॥ श्रीहरिः ॥

32

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(प्रथम खण्ड)

आदिपर्व और सभापर्व, सचित्र हिन्दी-अनुवादसहित

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

33

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(द्वितीय खण्ड)

वनपर्व और विराटपर्व, सचित्र, सरल हिन्दी-अनुवादसहित

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

34

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(तृतीय खण्ड)

उद्योगपर्व और भीष्मपर्व, सचित्र, सरल हिन्दी-अनुवादसहित

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

35

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(चतुर्थ खण्ड)

द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक और स्त्रीपर्व [सचित्र, सरल हिन्दी-अनुवादसहित]

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

36

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(पञ्चम खण्ड)

शान्तिपर्व [सचित्र, सरल हिन्दी-अनुवादसहित]

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

37

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(षष्ठ खण्ड)

अनुशासन, आश्वमेधिक, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहणपर्व [सचित्र, सरल हिन्दी-अनुवादसहित]

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

32

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(प्रथम खण्ड)

आदिपर्व और सभापर्व, सचित्र हिन्दी-अनुवादसहित

गीताप्रेस गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(प्रथम खण्ड)

[आदिपर्व और सभापर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवाद)

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

अनुवादक—

साहित्याचार्य पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः ।।

नम्र निवेदन

महाभारत आर्य-संस्कृति तथा भारतीय सनातनधर्मका एक महान् ग्रन्थ तथा अमूल्य रत्नोंका अपार भण्डार है। भगवान् वेदव्यास स्वयं कहते हैं कि 'इस महाभारतमें मैंने वेदोंके रहस्य और विस्तार, उपनिषदोंके सम्पूर्ण सार, इतिहास-पुराणोंके उन्मेष और निमेष, चातुर्वर्ण्यके विधान, पुराणोंके आशय, ग्रह-नक्षत्र-तारा आदिके परिमाण, न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान, पाशुपत (अन्तर्यामीकी महिमा), तीर्थों, पुण्य देशों, नदियों, पर्वतों, वनों तथा समुद्रोंका भी वर्णन किया गया है। अतएव महाभारत महाकाव्य है, गूढ़ार्थमय ज्ञान-विज्ञान-शास्त्र है, धर्मग्रन्थ है, राजनीतिक दर्शन है, कर्मयोग-दर्शन है, भक्ति-शास्त्र है, अध्यात्म-शास्त्र है, आर्यजातिका इतिहास है और सर्वार्थसाधक तथा सर्वशास्त्रसंग्रह है। सबसे अधिक महत्त्वकी बात तो यह है कि इसमें एक, अद्वितीय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, परमयोगेश्वर, अचिन्त्यानन्त गुणगणसम्पन्न, सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारी, विचित्र लीलाविहारी, भक्त-भक्तिमान्, भक्त-सर्वस्व, निखिलरसामृतसिन्धु, अनन्त प्रेमाधार, प्रेमघनविग्रह, सच्चिदानन्दघन, वासुदेव भगवान् श्रीकृष्णके गुण-गौरवका मधुर गान है। इसकी महिमा अपार है। औपनिषद ऋषिने भी इतिहास-पुराणको पंचम वेद बताकर महाभारतकी सर्वोपरि महत्ता स्वीकार की है।

इस महाभारतके हिन्दीमें कई अनुवाद इससे पहले प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु इस समय मूल संस्कृत तथा हिन्दी-अनुवादसहित सम्पूर्ण ग्रन्थ शायद उपलब्ध नहीं है। इसे गीताप्रेसने संवत् १९९९ में प्रकाशित किया था, किन्तु परिस्थिति एवं साधनोंके अभावमें पाठकोंकी सेवामें नहीं दिया जा सका। भगवत्कृपासे इसे पुनर्मुद्रित करनेका सुअवसर अब प्राप्त हुआ है।

इस महाभारतमें मुख्यतः नीलकण्ठीके अनुसार पाठ लिया गया है। साथ ही दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी अंशोंको सम्मिलित किया गया है और इसीके अनुसार बीच-बीचमें उसके श्लोक अर्थसहित दे दिये गये हैं पर उन श्लोकोंकी श्लोक-संख्या न तो मूलमें दी गयी है, न अर्थमें ही। अध्यायके अन्तमें दाक्षिणात्य पाठके श्लोकोंकी संख्या अलग बताकर उक्त अध्यायकी पूर्ण श्लोक-संख्या बता दी गयी है और इसी प्रकार पर्वके अन्तमें लिये हुए दाक्षिणात्य अधिक पाठके श्लोकोंकी संख्या अलग-अलग बताकर उस पर्वकी पूर्ण श्लोक-संख्या भी दे दी गयी है। इसके अतिरिक्त महाभारतके पूर्वप्रकाशित अन्यान्य संस्करणों तथा पूनाके संस्करणसे भी पाठ-

निर्णयमें सहायता ली गयी है और अच्छा प्रतीत होनेपर उनके मूलपाठ या पाठान्तरको भी ग्रहण किया गया है। इस संस्करणमें कुल श्लोक-संख्या १००२१७ है। इसमें उत्तर भारतीय पाठकी ८६६००, दाक्षिणात्य पाठकी ६५८४ तथा 'उवाच' की संख्या ७०३२ है।

इस विशाल ग्रन्थके हिन्दी-अनुवादका प्रायः सारा कार्य गीताप्रेसके प्रसिद्ध तथा सिद्धहस्त भाषान्तरकार संस्कृत-हिन्दी दोनों भाषाओंके सफल लेखक तथा कवि, परम विद्वान् पण्डितप्रवर श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री महोदयने किया है। इसीसे अनुवादकी भाषा सरल होनेके साथ ही इतनी सुमधुर हो सकी है। दार्शनिक वयोवृद्ध विद्वान् डॉ० श्रीभगवानदासजीने इस अनुवादकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

आदिपर्व तथा कुछ अन्य पर्वोंके कुछ अनुवादको हमारे परम आदरणीय विद्वान् स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी महाराजने भी कृपापूर्वक देखा है; इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

इसके अतिरिक्त, पाठनिर्णय तथा अनुवाद देखनेका सारा कार्य हमारे परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने समय-समयपर स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी, श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका, श्रीघनश्यामदासजी जालान, श्रीवासुदेवजी काबरा आदिको साथ रखकर किया है। श्रीगोयन्दकाजी तथा इन महानुभावोंने इतनी लगनके साथ बहुत लम्बा समय नियमितरूपसे देकर काम न किया होता तो इस विशाल ग्रन्थका प्रकाशन होना सम्भव नहीं था।

इस प्रकार भगवत्कृपासे यह महान् कार्य ६ खण्डोंमें पूरा हुआ है। आशा है, भारतीय जनता इससे लाभ उठाकर धार्मिक जीवनयापन एवं अपने जीवनको सफल बनानेमें सक्षम होगी।

विनीत—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

(आदिपर्व)

अध्याय विषय

(आस्तीकपर्व)

(अंशावतरणपर्व)

(सम्भवपर्व)

(जतुगृहपर्व)

(हिडिम्बवधपर्व)

(बकवधपर्व)

(चैत्ररथपर्व)

(स्वयंवरपर्व)

(वैवाहिकपर्व)

(विदुरागमनराज्यलम्भपर्व)

(अर्जुनवनवासपर्व)

(सुभद्राहरणपर्व)

(हरणाहरणपर्व)

(खाण्डवदाहपर्व)

(मयदर्शनपर्व)

(आदिपर्व सम्पूर्ण)

सभापर्व

(सभाक्रियापर्व)

(लोकपालसभाख्यानपर्व)

(राजसूयारम्भपर्व)

(जरासंधवधपर्व)

(दिग्विजयपर्व)

(राजसूयपर्व)

(अर्घाभिहरणपर्व)

(शिशुपालवधपर्व)

(द्यूतपर्व)

(अनुद्यूतपर्व)

(सभापर्व सम्पूर्ण)

चित्र-सूची
(सादा)

॥ श्रीहरिः ॥

* श्रीगणेशाय नमः *

॥ श्रीवेदव्यासाय नमः ॥

श्रीमहाभारतम्

आदिपर्व

अनुक्रमणिकापर्व

प्रथमोऽध्यायः

ग्रन्थका उपक्रम, ग्रन्थमें कहे हुए अधिकांश विषयोंकी संक्षिप्त सूची तथा इसके पाठकी महिमा

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

‘बदरिकाश्रमनिवासी प्रसिद्ध ऋषि श्रीनारायण तथा श्रीनर (अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, उनके नित्यसखा नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन), उनकी लीला प्रकट करनेवाली भगवती सरस्वती और उसके वक्ता महर्षि वेदव्यासको नमस्कार कर (आसुरी सम्पत्तियोंका नाश करके अन्तःकरणपर दैवी सम्पत्तियोंको विजय प्राप्त करानेवाले) जय[१] (महाभारत एवं अन्य इतिहास-पुराणादि)-का पाठ करना चाहिये।’[२]

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। ॐ नमः पितामहाय। ॐ नमः प्रजापतिभ्यः। ॐ नमः कृष्णद्वैपायनाय। ॐ नमः सर्वविघ्नविनायकेभ्यः।

ॐकारस्वरूप भगवान् वासुदेवको नमस्कार है। ॐकारस्वरूप भगवान् पितामहको नमस्कार है। ॐकारस्वरूप प्रजापतियोंको नमस्कार है। ॐकारस्वरूप श्रीकृष्णद्वैपायनको नमस्कार है। ॐकारस्वरूप सर्व-विघ्नविनाशक विनायकोंको नमस्कार है।

लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सौतिः पौराणिको
नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे ॥ १ ॥
सुखासीनानभ्यगच्छद् ब्रह्मर्षीन् संशितव्रतान् ।
विनयावनतो भूत्वा कदाचित् सूतनन्दनः ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, नैमिषारण्यमें[३] कुलपति[४] महर्षि शौनकके बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाले सत्रमें[५] जब उत्तम एवं कठोर ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करनेवाले ब्रह्मर्षिगण अवकाशके समय सुखपूर्वक बैठे थे, सूतकुलको आनन्दित करनेवाले लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवा सौति स्वयं कौतूहलवश उन ब्रह्मर्षियोंके समीप बड़े विनीतभावसे आये। वे पुराणोंके विद्वान् और कथावाचक थे ।। १-२ ।।

तमाश्रममनुप्राप्तं नैमिषारण्यवासिनाम् ।
चित्राः श्रोतुं कथास्तत्र परिवव्रुस्तपस्विनः ।। ३ ।।

उस समय नैमिषारण्यवासियोंके आश्रममें पधारे हुए उन उग्रश्रवाजीको, उनसे चित्र-विचित्र कथाएँ सुननेके लिये, सब तपस्वियोंने वहीं घेर लिया ।। ३ ।।

अभिवाद्य मुनींस्तांस्तु सर्वानेव कृताञ्जलिः ।
अपृच्छत् स तपोवृद्धिं सद्भिश्चैवाभिपूजितः ।। ४ ।।

उग्रश्रवाजीने पहले हाथ जोड़कर उन सभी मुनियोंको अभिवादन किया और 'आपलोगोंकी तपस्या सुखपूर्वक बढ़ रही है न?' इस प्रकार कुशल-प्रश्न किया। उन सत्पुरुषोंने भी उग्रश्रवाजीका भलीभाँति स्वागत-सत्कार किया ।। ४ ।।

अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव तपस्विषु ।
निर्दिष्टमासनं भेजे विनयाल्लौमहर्षणिः ।। ५ ।।

इसके अनन्तर जब वे सभी तपस्वी अपने-अपने आसनपर विराजमान हो गये, तब लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाजीने भी उनके बताये हुए आसनको विनयपूर्वक ग्रहण किया ।।

सुखासीनं ततस्तं तु विश्रान्तमुपलक्ष्य च ।
अथापृच्छदृषिस्तत्र कश्चित् प्रस्तावयन् कथाः ।। ६ ।।

तत्पश्चात् यह देखकर कि उग्रश्रवाजी थकावटसे रहित होकर आरामसे बैठे हुए हैं, किसी महर्षिने बातचीतका प्रसंग उपस्थित करते हुए यह प्रश्न पूछा— ।। ६ ।।

कुत आगम्यते सौते क्व चायं विहृतस्त्वया ।
कालः कमलपत्राक्ष शंसैतत् पृच्छतो मम ।। ७ ।।

कमलनयन सूतकुमार! आपका शुभागमन कहाँसे हो रहा है? अबतक आपने कहाँ आनन्दपूर्वक समय बिताया है? मेरे इस प्रश्नका उत्तर दीजिये ।। ७ ।।

एवं पृष्टोऽब्रवीत् सम्यग् यथावल्लौमहर्षणिः ।
वाक्यं वचनसम्पन्नस्तेषां च चरिताश्रयम् ।। ८ ।।
तस्मिन् सदसि विस्तीर्णे मुनीनां भावितात्मनाम् ।

उग्रश्रवाजी एक कुशल वक्ता थे। इस प्रकार प्रश्न किये जानेपर वे शुद्ध अन्तःकरणवाले मुनियोंकी उस विशाल सभामें ऋषियों तथा राजाओंसे सम्बन्ध रखनेवाली उत्तम एवं यथार्थ कथा कहने लगे ।। ८$\frac{१}{२}$ ।।

सौतिरुवाच

जनमेजयस्य राजर्षेः सर्पसत्रे महात्मनः ।। ९ ।।
समीपे पार्थिवेन्द्रस्य सम्यक् पारिक्षितस्य च ।
कृष्णद्वैपायनप्रोक्ताः सुपुण्या विविधाः कथाः ।। १० ।।
कथिताश्चापि विधिवद् या वैशम्पायनेन वै ।
श्रुत्वाहं ता विचित्रार्था महाभारतसंश्रिताः ।। ११ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—महर्षियो! चक्रवर्ती सम्राट् महात्मा राजर्षि परीक्षित्-नन्दन जनमेजयके सर्पयज्ञमें उन्हींके पास वैशम्पायनने श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीके द्वारा निर्मित परम पुण्यमयी चित्र-विचित्र अर्थसे युक्त महाभारतकी जो विविध कथाएँ विधिपूर्वक कही हैं, उन्हें सुनकर मैं आ रहा हूँ ।। ९—११ ।।

बहूनि सम्परिक्रम्य तीर्थान्यायतनानि च ।
समन्तपञ्चकं नाम पुण्यं द्विजनिषेवितम् ।। १२ ।।
गतवानस्मि तं देशं युद्धं यत्राभवत् पुरा ।
कुरूणां पाण्डवानां च सर्वेषां च महीक्षिताम् ।। १३ ।।

मैं बहुत-से तीर्थों एवं धामोंकी यात्रा करता हुआ ब्राह्मणोंके द्वारा सेवित उस परम पुण्यमय समन्तपंचक क्षेत्र कुरुक्षेत्र देशमें गया, जहाँ पहले कौरव-पाण्डव एवं अन्य सब राजाओंका युद्ध हुआ था ।। १२-१३ ।।

दिदृक्षुरागतस्तस्मात् समीपं भवतामिह ।
आयुष्मन्तः सर्व एव ब्रह्मभूता हि मे मताः ।
अस्मिन् यज्ञे महाभागाः सूर्यपावकवर्चसः ।। १४ ।।

वहींसे आपलोगोंके दर्शनकी इच्छा लेकर मैं यहाँ आपके पास आया हूँ। मेरी यह मान्यता है कि आप सभी दीर्घायु एवं ब्रह्मस्वरूप हैं। ब्राह्मणो! इस यज्ञमें सम्मिलित आप सभी महात्मा बड़े भाग्यशाली तथा सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी हैं ।। १४ ।।

कृताभिषेकाः शुचयः कृतजप्याहुताग्नयः ।
भवन्त आसने स्वस्था ब्रवीमि किमहं द्विजाः ।। १५ ।।
पुराणसंहिताः पुण्याः कथा धर्मार्थसंश्रिताः ।
इति वृत्तं नरेन्द्राणामृषीणां च महात्मनाम् ।। १६ ।।

इस समय आप सभी स्नान, संध्या-वन्दन, जप और अग्निहोत्र आदि करके शुद्ध हो अपने-अपने आसनपर स्वस्थचित्तसे विराजमान हैं। आज्ञा कीजिये, मैं आपलोगोंको क्या सुनाऊँ? क्या मैं आपलोगोंको धर्म और अर्थके गूढ़ रहस्यसे युक्त, अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाली भिन्न-भिन्न पुराणोंकी कथा सुनाऊँ अथवा उदारचरित महानुभाव ऋषियों एवं सम्राटोंके पवित्र इतिहास? ।। १५-१६ ।।

ऋषय ऊचुः

द्वैपायनेन यत् प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा ।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम् ।। १७ ।।
तस्याख्यानवरिष्ठस्य विचित्रपदपर्वणः ।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च ।। १८ ।।
भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थसंयुताम् ।
संस्कारोपगतां ब्राह्मीं नानाशास्त्रोपबृंहिताम् ।। १९ ।।
जनमेजयस्य यां राज्ञो वैशम्पायन उक्तवान् ।
यथावत् स ऋषिस्तुष्ट्या सत्रे द्वैपायनाज्ञया ।। २० ।।
वेदैश्चतुर्भिः संयुक्तां व्यासस्याद्भुतकर्मणः ।
संहितां श्रोतुमिच्छामः पुण्यां पापभयापहाम् ।। २१ ।।

ऋषियोंने कहा—उग्रश्रवाजी! परमर्षि श्रीकृष्ण-द्वैपायनने जिस प्राचीन इतिहासरूप पुराणका वर्णन किया है और देवताओं तथा ऋषियोंने अपने-अपने लोकमें श्रवण करके जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है, जो आख्यानोंमें सर्वश्रेष्ठ है, जिसका एक-एक पद, वाक्य एवं पर्व विचित्र शब्दविन्यास और रमणीय अर्थसे परिपूर्ण है, जिसमें आत्मा-परमात्माके सूक्ष्म स्वरूपका निर्णय एवं उनके अनुभवके लिये अनुकूल युक्तियाँ भरी हुई हैं और जो सम्पूर्ण वेदोंके तात्पर्यानुकूल अर्थसे अलंकृत है, उस भारत-इतिहासकी परम पुण्यमयी, ग्रन्थके गुप्त भावोंको स्पष्ट करनेवाली, पदों-वाक्योंकी व्युत्पत्तिसे युक्त, सब शास्त्रोंके अभिप्रायके अनुकूल और उनसे समर्थित जो अद्भुतकर्मा व्यासकी संहिता है, उसे हम सुनना चाहते हैं। अवश्य ही वह चारों वेदोंके अर्थोंसे भरी हुई तथा पुण्यस्वरूपा है। पाप और भयका नाश करनेवाली है। भगवान् वेदव्यासकी आज्ञासे राजा जनमेजयके यज्ञमें प्रसिद्ध ऋषि वैशम्पायनने आनन्दमें भरकर भलीभाँति इसका निरूपण किया है ।। १७—२१ ।।

सौतिरुवाच

आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ।। २२ ।।
असच्च सदसच्चैव यद् विश्वं सदसत्परम् ।
परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम् ।। २३ ।।
मङ्गल्यं मङ्गलं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम् ।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम् ।। २४ ।।
महर्षेः पूजितस्येह सर्वलोकैर्महात्मनः ।
प्रवक्ष्यामि मतं पुण्यं व्यासस्याद्भुतकर्मणः ।। २५ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—जो सबका आदि कारण, अन्तर्यामी और नियन्ता है, यज्ञोंमें जिसका आवाहन और जिसके उद्देश्यसे हवन किया जाता है, जिसकी अनेक पुरुषोंद्वारा अनेक नामोंसे स्तुति की गयी है, जो ऋत (सत्यस्वरूप), एकाक्षर ब्रह्म (प्रणव एवं एकमात्र अविनाशी और सर्वव्यापी परमात्मा), व्यक्ताव्यक्त (साकार-निराकार)-स्वरूप एवं सनातन है, असत्-सत् एवं उभयरूपसे जो स्वयं विराजमान है; फिर भी जिसका वास्तविक स्वरूप सत्-असत् दोनोंसे विलक्षण है, यह विश्व जिससे अभिन्न है, जो सम्पूर्ण परावर (स्थूल-सूक्ष्म) जगत्का स्रष्टा, पुराणपुरुष, सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर एवं वृद्धि-क्षय आदि विकारोंसे रहित है, जिसे पाप कभी छू नहीं सकता, जो सहज शुद्ध है, वह ब्रह्म ही मंगलकारी एवं मंगलमय विष्णु है। उन्हीं चराचरगुरु हृषीकेश (मन-इन्द्रियोंके प्रेरक) श्रीहरिको नमस्कार करके सर्वलोकपूजित अद्भुतकर्मा महात्मा महर्षि व्यासदेवके इस अन्तःकरणशोधक मतका मैं वर्णन करूँगा ।। २२—२५ ।।

आचख्युः कवयः केचित् सम्प्रत्याचक्षते परे ।
आख्यास्यन्ति तथैवान्ये इतिहासमिमं भुवि ।। २६ ।।

पृथ्वीपर इस इतिहासका अनेकों कवियोंने वर्णन किया है और इस समय भी बहुत-से वर्णन करते हैं। इसी प्रकार अन्य कवि आगे भी इसका वर्णन करते रहेंगे ।। २६ ।।

इदं तु त्रिषु लोकेषु महज्ज्ञानं प्रतिष्ठितम् ।
विस्तरैश्च समासैश्च धार्यते यद् द्विजातिभिः ।। २७ ।।

इस महाभारतकी तीनों लोकोंमें एक महान् ज्ञानके रूपमें प्रतिष्ठा है। ब्राह्मणादि द्विजाति संक्षेप और विस्तार दोनों ही रूपोंमें अध्ययन और अध्यापनकी परम्पराके द्वारा इसे अपने हृदयमें धारण करते हैं ।। २७ ।।

अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः ।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम् ।। २८ ।।

यह शुभ (ललित एवं मंगलमय) शब्दविन्याससे अलंकृत है तथा वैदिक-लौकिक या संस्कृत-प्राकृत संकेतोंसे सुशोभित है। अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा आदि नाना प्रकारके छन्द भी इसमें प्रयुक्त हुए हैं; अतः यह ग्रन्थ विद्वानोंको बहुत ही प्रिय है ।। २८ ।।

(पुण्ये हिमवतः पादे मध्ये गिरिगुहालये ।
विशोध्य देहं धर्मात्मा दर्भसंस्तरमाश्रितः ।।
शुचिः सनियमो व्यासः शान्तात्मा तपसि स्थितः ।
भारतस्येतिहासस्य धर्मेणान्वीक्ष्य तां गतिम् ।।
प्रविश्य योगं ज्ञानेन सोऽपश्यत् सर्वमन्ततः ।)

हिमालयकी पवित्र तलहटीमें पर्वतीय गुफाके भीतर धर्मात्मा व्यासजी स्नानादिसे शरीर-शुद्धि करके पवित्र हो कुशका आसन बिछाकर बैठे थे। उस समय नियमपालनपूर्वक शान्तचित्त हो वे तपस्यामें संलग्न थे। ध्यानयोगमें स्थित हो उन्होंने धर्मपूर्वक महाभारत-

इतिहासके स्वरूपका विचार करके ज्ञानदृष्टिद्वारा आदिसे अन्ततक सब कुछ प्रत्यक्षकी भाँति देखा (और इस ग्रन्थका निर्माण किया)।

निष्प्रभेऽस्मिन् निरालोके सर्वतस्तमसावृते ।
बृहदण्डमभूदेकं प्रजानां बीजमव्ययम् ।। २९ ।।

सृष्टिके प्रारम्भमें जब यहाँ वस्तुविशेष या नामरूप आदिका भान नहीं होता था, प्रकाशका कहीं नाम नहीं था, सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार छा रहा था, उस समय एक बहुत बड़ा अण्ड प्रकट हुआ, जो सम्पूर्ण प्रजाओंका अविनाशी बीज था ।। २९ ।।

युगस्यादौ निमित्तं तन्महद्दिव्यं प्रचक्षते ।
यस्मिन् संश्रूयते सत्यं ज्योतिर्ब्रह्म सनातनम् ।। ३० ।।

ब्रह्मकल्पके आदिमें उसी महान् एवं दिव्य अण्डको चार प्रकारके प्राणिसमुदायका कारण कहा जाता है। जिसमें सत्यस्वरूप ज्योतिर्मय सनातन ब्रह्म अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हुआ है, ऐसा श्रुति वर्णन करती है[१] ।। ३० ।।

अद्भुतं चाप्यचिन्त्यं च सर्वत्र समतां गतम् ।
अव्यक्तं कारणं सूक्ष्मं यत्तत् सदसदात्मकम् ।। ३१ ।।

वह ब्रह्म अद्‌भुत, अचिन्त्य, सर्वत्र समानरूपसे व्याप्त, अव्यक्त, सूक्ष्म, कारणस्वरूप एवं अनिर्वचनीय है और जो कुछ सत्-असत्‌रूपमें उपलब्ध होता है, सब वही है ।। ३१ ।।

यस्मात् पितामहो जज्ञे प्रभुरेकः प्रजापतिः ।
ब्रह्मा सुरगुरुः स्थाणुर्मनुः कः परमेष्ठ्यथ ।। ३२ ।।
प्राचेतसस्तथा दक्षो दक्षपुत्राश्च सप्त वै ।
ततः प्रजानां पतयः प्राभवन्नेकविंशतिः ।। ३३ ।।

उस अण्डसे ही प्रथम देहधारी, प्रजापालक प्रभु, देवगुरु पितामह ब्रह्मा तथा रुद्र, मनु, प्रजापति, परमेष्ठी, प्रचेताओंके पुत्र, दक्ष तथा दक्षके सात पुत्र (क्रोध, तम, दम, विक्रीत, अंगिरा, कर्दम और अश्व) प्रकट हुए। तत्पश्चात् इक्कीस प्रजापति (मरीचि आदि सात ऋषि और चौदह मनु)[२] पैदा हुए ।। ३२-३३ ।।

पुरुषश्चाप्रमेयात्मा यं सर्व ऋषयो विदुः ।
विश्वेदेवास्तथादित्या वसवोऽथाश्विनावपि ।। ३४ ।।

जिन्हें मत्स्य-कूर्म आदि अवतारोंके रूपमें सभी ऋषि-मुनि जानते हैं, वे अप्रमेयात्मा विष्णुरूप पुरुष और उनकी विभूतिरूप विश्वेदेव, आदित्य, वसु एवं अश्विनीकुमार आदि भी क्रमशः प्रकट हुए हैं ।। ३४ ।।

यक्षाः साध्याः पिशाचाश्च गुह्यकाः पितरस्तथा ।
ततः प्रसूता विद्वांसः शिष्टा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ।। ३५ ।।

तदनन्तर यक्ष, साध्य, पिशाच, गुह्यक और पितर एवं तत्त्वज्ञानी सदाचारपरायण साधुशिरोमणि ब्रह्मर्षिगण प्रकट हुए ।। ३५ ।।

राजर्षयश्च बहवः सर्वे समुदिता गुणैः ।
आपो द्यौः पृथिवी वायुरन्तरिक्षं दिशस्तथा ।। ३६ ।।

इसी प्रकार बहुत-से राजर्षियोंका प्रादुर्भाव हुआ है, जो सब-के-सब शौर्यादि सद्‌गुणोंसे सम्पन्न थे। क्रमशः उसी ब्रह्माण्डसे जल, द्युलोक, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष और दिशाएँ भी प्रकट हुई हैं ।। ३६ ।।

संवत्सरर्तवो मासाः पक्षाहोरात्रयः क्रमात् ।
यच्चान्यदपि तत् सर्वं सम्भूतं लोकसाक्षिकम् ।। ३७ ।।

संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, दिन तथा रात्रिका प्राकट्य भी क्रमशः उसीसे हुआ है। इसके सिवा और भी जो कुछ लोकमें देखा या सुना जाता है, वह सब उसी अण्डसे उत्पन्न हुआ है ।। ३७ ।।

यदिदं दृश्यते किंचिद् भूतं स्थावरजङ्गमम् ।
पुनः संक्षिप्यते सर्वं जगत् प्राप्ते युगक्षये ।। ३८ ।।

यह जो कुछ भी स्थावर-जंगम जगत् दृष्टिगोचर होता है, वह सब प्रलयकाल आनेपर अपने कारणमें विलीन हो जाता है ।। ३८ ।।

यथर्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ।। ३९ ।।

जैसे ऋतुके आनेपर उसके फल-पुष्प आदि नाना प्रकारके चिह्न प्रकट होते हैं और ऋतु बीत जानेपर वे सब समाप्त हो जाते हैं उसी प्रकार कल्पका आरम्भ होनेपर पूर्ववत् वे-वे पदार्थ दृष्टिगोचर होने लगते हैं और कल्पके अन्तमें उनका लय हो जाता है ।। ३९ ।।

एवमेतदनाद्यन्तं भूतसंहारकारकम् ।
अनादिनिधनं लोके चक्रं सम्परिवर्तते ।। ४० ।।

इस प्रकार यह अनादि और अनन्त काल-चक्र लोकमें प्रवाहरूपसे नित्य घूमता रहता है। इसीमें प्राणियोंकी उत्पत्ति और संहार हुआ करते हैं। इसका कभी उद्भव और विनाश नहीं होता ।। ४० ।।

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च ।
त्रयस्त्रिंशच्च देवानां सृष्टिः संक्षेपलक्षणा ।। ४१ ।।

देवताओंकी सृष्टि संक्षेपसे तैंतीस हजार, तैंतीस सौ और तैंतीस लक्षित होती है ।। ४१ ।।

दिवःपुत्रो बृहद्भानुश्चक्षुरात्मा विभावसुः ।
सविता स ऋचीकोऽर्को भानुराशावहो रविः ।। ४२ ।।
पुरा विवस्वतः सर्वे मह्यस्तेषां तथावरः ।

देवभ्राट् तनयस्तस्य सुभाडिति ततः स्मृतः ।। ४३ ।।

पूर्वकालमें दिवःपुत्र, बृहत्, भानु, चक्षु, आत्मा, विभावसु, सविता, ऋचीक, अर्क, भानु, आशावह तथा रवि—ये सब शब्द विवस्वान्‌के बोधक माने गये हैं, इन सबमें जो अन्तिम 'रवि' हैं वे 'मह्य' (मही—पृथ्वीमें गर्भ स्थापन करनेवाले एवं पूज्य) माने गये हैं। इनके तनय देवभ्राट् हैं और देवभ्राट्‌के तनय सुभ्राट् माने गये हैं ।। ४२-४३ ।।

सुभ्राजस्तु त्रयः पुत्राः प्रजावन्तो बहुश्रुताः ।
दशज्योतिः शतज्योतिः सहस्रज्योतिरेव च ।। ४४ ।।

सुभ्राट्‌के तीन पुत्र हुए, वे सब-के-सब संतानवान् और बहुश्रुत (अनेक शास्त्रोंके) ज्ञाता हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—दशज्योति, शतज्योति तथा सहस्रज्योति ।। ४४ ।।

दशपुत्रसहस्राणि दशज्योतेर्महात्मनः ।
ततो दशगुणाश्चान्ये शतज्योतेरिहात्मजाः ।। ४५ ।।

महात्मा दशज्योतिके दस हजार पुत्र हुए। उनसे भी दस गुने अर्थात् एक लाख पुत्र यहाँ शतज्योतिके हुए ।। ४५ ।।

भूयस्ततो दशगुणाः सहस्रज्योतिषः सुताः ।
तेभ्योऽयं कुरुवंशश्च यदूनां भरतस्य च ।। ४६ ।।
ययातीक्ष्वाकुवंशश्च राजर्षीणां च सर्वशः ।
सम्भूता बहवो वंशा भूतसर्गाः सुविस्तराः ।। ४७ ।।

फिर उनसे भी दस गुने अर्थात् दस लाख पुत्र सहस्रज्योतिके हुए। उन्हींसे यह कुरुवंश, यदुवंश, भरतवंश, ययाति और इक्ष्वाकुके वंश तथा अन्य राजर्षियोंके सब वंश चले। प्राणियोंकी सृष्टिपरम्परा और बहुत-से वंश भी इन्हींसे प्रकट हो विस्तारको प्राप्त हुए हैं ।। ४६-४७ ।।

भूतस्थानानि सर्वाणि रहस्यं त्रिविधं च यत् ।
वेदा योगः सविज्ञानो धर्मोऽर्थः काम एव च ।। ४८ ।।
धर्मकामार्थयुक्तानि शास्त्राणि विविधानि च ।
लोकयात्राविधानं च सर्वं तद् दृष्टवानृषिः ।। ४९ ।।

भगवान् वेदव्यासने, अपनी ज्ञानदृष्टिसे सम्पूर्ण प्राणियोंके निवासस्थान, धर्म, अर्थ और कामके भेदसे त्रिविध रहस्य, कर्मोपासनाज्ञानरूप वेद, विज्ञानसहित योग, धर्म, अर्थ एवं काम, इन धर्म, काम और अर्थरूप तीन पुरुषार्थोंके प्रतिपादन करनेवाले विविध शास्त्र, लोकव्यवहारकी सिद्धिके लिये आयुर्वेद, धनुर्वेद, स्थापत्यवेद, गान्धर्ववेद आदि लौकिक शास्त्र सब उन्हीं दशज्योति आदिसे हुए हैं—इस तत्त्वको और उनके स्वरूपको भलीभाँति अनुभव किया ।। ४८-४९ ।।

इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च ।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तं ग्रन्थस्य लक्षणम् ।। ५० ।।

उन्होंने ही इस महाभारत ग्रन्थमें, व्याख्याके साथ उस सब इतिहासका तथा विविध प्रकारकी श्रुतियोंके रहस्य आदिका पूर्णरूपसे निरूपण किया है और इस पूर्णताको ही इस ग्रन्थका लक्षण बताया गया है ।। ५० ।।

विस्तीर्यैतन्महज्ज्ञानमृषिः संक्षिप्य चाब्रवीत् ।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम् ।। ५१ ।।

महर्षिने इस महान् ज्ञानका संक्षेप और विस्तार दोनों ही प्रकारसे वर्णन किया है; क्योंकि संसारमें विद्वान् पुरुष संक्षेप और विस्तार दोनों ही रीतियोंको पसंद करते हैं ।। ५१ ।।

मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथा परे ।
तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते ।। ५२ ।।

कोई-कोई इस ग्रन्थका आरम्भ 'नारायणं नमस्कृत्य'-से मानते हैं और कोई-कोई आस्तीकपर्वसे। दूसरे विद्वान् ब्राह्मण उपरिचर वसुकी कथासे इसका विधिपूर्वक पाठ प्रारम्भ करते हैं ।। ५२ ।।

विविधं संहिताज्ञानं दीपयन्ति मनीषिणः ।
व्याख्यातुं कुशलाः केचिद् ग्रन्थान् धारयितुं परे ।। ५३ ।।

विद्वान् पुरुष इस भारतसंहिताके ज्ञानको विविध प्रकारसे प्रकाशित करते हैं। कोई-कोई ग्रन्थकी व्याख्या करके समझानेमें कुशल होते हैं तो दूसरे विद्वान् अपनी तीक्ष्ण मेधाशक्तिके द्वारा इन ग्रन्थोंको धारण करते हैं ।। ५३ ।।

तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदं सनातनम् ।
इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः ।। ५४ ।।

सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यासने अपनी तपस्या एवं ब्रह्मचर्यकी शक्तिसे सनातन वेदका विस्तार करके इस लोकपावन पवित्र इतिहासका निर्माण किया है ।। ५४ ।।

पराशरात्मजो विद्वान् ब्रह्मर्षिः संशितव्रतः ।
तदाख्यानवरिष्ठं स कृत्वा द्वैपायनः प्रभुः ।। ५५ ।।
कथमध्यापयानीह शिष्यान्नित्यन्वचिन्तयत् ।
तस्य तच्चिन्तितं ज्ञात्वा ऋषेर्द्वैपायनस्य च ।। ५६ ।।
तत्राजगाम भगवान् ब्रह्मा लोकगुरुः स्वयम् ।
प्रीत्यर्थं तस्य चैवर्षेर्लोकानां हितकाम्यया ।। ५७ ।।

प्रशस्त व्रतधारी, निग्रहानुग्रह-समर्थ, सर्वज्ञ पराशरनन्दन ब्रह्मर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन इस इतिहासशिरोमणि महाभारतकी रचना करके यह विचार करने लगे कि अब शिष्योंको इस ग्रन्थका अध्ययन कैसे कराऊँ? जनतामें इसका प्रचार कैसे हो? द्वैपायन ऋषिका यह विचार जानकर लोकगुरु भगवान् ब्रह्मा उन महात्माकी प्रसन्नता तथा लोककल्याणकी कामनासे स्वयं ही व्यासजीके आश्रमपर पधारे ।। ५५—५७ ।।

तं दृष्ट्वा विस्मितो भूत्वा प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ।
आसनं कल्पयामास सर्वैर्मुनिगणैर्वृतः ।। ५८ ।।

व्यासजी ब्रह्माजीको देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और खड़े रहे। फिर सावधान होकर सब ऋषि-मुनियोंके साथ उन्होंने ब्रह्माजीके लिये आसनकी व्यवस्था की ।। ५८ ।।

हिरण्यगर्भमासीनं तस्मिंस्तु परमासने ।
परिवृत्यासनाभ्याशे वासवेयः स्थितोऽभवत् ।। ५९ ।।

जब उस श्रेष्ठ आसनपर ब्रह्माजी विराज गये, तब व्यासजीने उनकी परिक्रमा की और ब्रह्माजीके आसनके समीप ही विनयपूर्वक खड़े हो गये ।। ५९ ।।

अनुज्ञातोऽथ कृष्णस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
निषसादासनाभ्याशे प्रीयमाणः शुचिस्मितः ।। ६० ।।

परमेष्ठी ब्रह्माजीकी आज्ञासे वे उनके आसनके पास ही बैठ गये। उस समय व्यासजीके हृदयमें आनन्दका समुद्र उमड़ रहा था और मुखपर मन्द-मन्द पवित्र मुसकान लहरा रही थी ।। ६० ।।

उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।
कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ।। ६१ ।।

परम तेजस्वी व्यासजीने परमेष्ठी ब्रह्माजीसे निवेदन किया—‘भगवन्! मैंने यह सम्पूर्ण लोकोंसे अत्यन्त पूजित एक महाकाव्यकी रचना की है’ ।। ६१ ।।

ब्रह्मन् वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया ।
साङ्गोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया ।। ६२ ।।

ब्रह्मन्! मैंने इस महाकाव्यमें सम्पूर्ण वेदोंका गुप्ततम रहस्य तथा अन्य सब शास्त्रोंका सार-सार संकलित करके स्थापित कर दिया है। केवल वेदोंका ही नहीं, उनके अंग एवं उपनिषदोंका भी इसमें विस्तारसे निरूपण किया है ।। ६२ ।।

इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम् ।। ६३ ।।

इस ग्रन्थमें इतिहास और पुराणोंका मन्थन करके उनका प्रशस्त रूप प्रकट किया गया है। भूत, वर्तमान और भविष्यकालकी इन तीनों संज्ञाओंका भी वर्णन हुआ है ।। ६३ ।।

जरामृत्युभयव्याधिभावाभावविनिश्चयः ।
विविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रमाणां च लक्षणम् ।। ६४ ।।

इस ग्रन्थमें बुढ़ापा, मृत्यु, भय, रोग और पदार्थोंके सत्यत्व और मिथ्यात्वका विशेषरूपसे निश्चय किया गया है तथा अधिकारी-भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके धर्मों एवं आश्रमोंका भी लक्षण बताया गया है ।। ६४ ।।

चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च कृत्स्नशः ।

तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः ।। ६५ ।।
ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह ।
ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च ।। ६६ ।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंके कर्तव्यका विधान, पुराणोंका सम्पूर्ण मूलतत्त्व भी प्रकट हुआ है। तपस्या एवं ब्रह्मचर्यके स्वरूप, अनुष्ठान एवं फलोंका विवरण, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग—इन सबके परिमाण और प्रमाण, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और इनके आध्यात्मिक अभिप्राय और अध्यात्मशास्त्रका इस ग्रन्थमें विस्तारसे वर्णन किया गया है ।। ६५-६६ ।।

न्यायशिक्षाचिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा ।
हेतुनैव समं जन्म दिव्यमानुषसंज्ञितम् ।। ६७ ।।

न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान तथा पाशुपत (अन्तर्यामीकी महिमा)-का भी इसमें विशद निरूपण है। साथ ही यह भी बतलाया गया है कि देवता, मनुष्य आदि भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्मका कारण क्या है? ।। ६७ ।।

तीर्थानां चैव पुण्यानां देशानां चैव कीर्तनम् ।
नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च ।। ६८ ।।

लोकपावन तीर्थों, देशों, नदियों, पर्वतों, वनों और समुद्रका भी इसमें वर्णन किया गया है ।। ६८ ।।

पुराणां चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम् ।
वाक्यजातिविशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः ।। ६९ ।।
यच्चापि सर्वगं वस्तु तच्चैव प्रतिपादितम् ।
परं न लेखकः कश्चिदेतस्य भुवि विद्यते ।। ७० ।।

दिव्य नगर एवं दुर्गोंके निर्माणका कौशल तथा युद्धकी निपुणताका भी वर्णन है। भिन्न-भिन्न भाषाओं और जातियोंकी जो विशेषताएँ हैं, लोकव्यवहारकी सिद्धिके लिये जो कुछ आवश्यक है तथा और भी जितने लोकोपयोगी पदार्थ हो सकते हैं, उन सबका इसमें प्रतिपादन किया गया है; परंतु मुझे इस बातकी चिन्ता है कि पृथ्वीमें इस ग्रन्थको लिख सके ऐसा कोई नहीं है' ।। ६९-७० ।।

ब्रह्मोवाच

तपोविशिष्टादपि वै विशिष्टान्मुनिसंचयात् ।
मन्ये श्रेष्ठतरं त्वां वै रहस्यज्ञानवेदनात् ।। ७१ ।।

ब्रह्माजीने कहा—व्यासजी! संसारमें विशिष्ट तपस्या और विशिष्ट कुलके कारण जितने भी श्रेष्ठ ऋषि-मुनि हैं, उनमें मैं तुम्हें सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ; क्योंकि तुम जगत्, जीव और ईश्वर-तत्त्वका जो ज्ञान है, उसके ज्ञाता हो ।। ७१ ।।

जन्मप्रभृति सत्यां ते वेद्मि गां ब्रह्मवादिनीम् ।
त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात् काव्यं भविष्यति ।। ७२ ।।

मैं जानता हूँ कि आजीवन तुम्हारी ब्रह्मवादिनी वाणी सत्य भाषण करती रही है और तुमने अपनी रचनाको काव्य कहा है, इसलिये अब यह काव्यके नामसे ही प्रसिद्ध होगी ।। ७२ ।।

अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे ।
विशेषणे गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ।। ७३ ।।
काव्यस्य लेखनार्थाय गणेशः स्मर्यतां मुने ।

संसारके बड़े-से-बड़े कवि भी इस काव्यसे बढ़कर कोई रचना नहीं कर सकेंगे। ठीक वैसे ही, जैसे ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास तीनों आश्रम अपनी विशेषताओंद्वारा गृहस्थाश्रमसे आगे नहीं बढ़ सकते। मुनिवर! अपने काव्यको लिखवानेके लिये तुम गणेशजीका स्मरण करो ।। ७३½ ।।

सौतिरुवाच

एवमाभाष्य तं ब्रह्मा जगाम स्वं निवेशनम् ।। ७४ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महात्माओ! ब्रह्माजी व्यासजीसे इस प्रकार सम्भाषण करके अपने धाम ब्रह्मलोकमें चले गये ।। ७४ ।।

ततः सस्मार हेरम्बं व्यासः सत्यवतीसुतः ।
स्मृतमात्रो गणेशानो भक्तचिन्तितपूरकः ।। ७५ ।।
तत्राजगाम विघ्नेशो वेदव्यासो यतः स्थितः ।
पूजितश्चोपविष्टश्च व्यासेनोक्तस्तदाऽनघ ।। ७६ ।।

निष्पाप शौनक! तदनन्तर सत्यवतीनन्दन व्यासजीने भगवान् गणेशका स्मरण किया और स्मरण करते ही भक्तवांछाकल्पतरु विघ्नेश्वर श्रीगणेशजी महाराज वहाँ आये, जहाँ व्यासजी विद्यमान थे। व्यासजीने गणेशजीका बड़े आदर और प्रेमसे स्वागत-सत्कार किया और वे जब बैठ गये, तब उनसे कहा— ।। ७५-७६ ।।

लेखको भारतस्यास्य भव त्वं गणनायक ।
मयैव प्रोच्यमानस्य मनसा कल्पितस्य च ।। ७७ ।।

‘गणनायक! आप मेरे द्वारा निर्मित इस महाभारत-ग्रन्थके लेखक बन जाइये; मैं बोलकर लिखाता जाऊँगा। मैंने मन-ही-मन इसकी रचना कर ली है’ ।। ७७ ।।

श्रुत्वैतत् प्राह विघ्नेशो यदि मे लेखनी क्षणम् ।
लिखितो नावतिष्ठेत तदा स्यां लेखको ह्यहम् ।। ७८ ।।

यह सुनकर विघ्नराज श्रीगणेशजीने कहा—‘व्यासजी! यदि लिखते समय क्षणभरके लिये भी मेरी लेखनी न रुके तो मैं इस ग्रन्थका लेखक बन सकता हूँ’ ।। ७८ ।।

व्यासोऽप्युवाच तं देवमबुद्ध्वा मा लिख क्वचित् ।
ओमित्युक्त्वा गणेशोऽपि बभूव किल लेखकः ।। ७९ ।।

व्यासजीने भी गणेशजीसे कहा—'बिना समझे किसी भी प्रसंगमें एक अक्षर भी न लिखियेगा।' गणेशजीने 'ॐ' कहकर स्वीकार किया और लेखक बन गये ।। ७९ ।।

ग्रन्थग्रन्थिं तदा चक्रे मुनिर्गूढं कुतूहलात् ।
यस्मिन् प्रतिज्ञया प्राह मुनिर्द्वैपायनस्त्विदम् ।। ८० ।।

तब व्यासजी भी कुतूहलवश ग्रन्थमें गाँठ लगाने लगे। वे ऐसे-ऐसे श्लोक बोल देते जिनका अर्थ बाहरसे दूसरा मालूम पड़ता और भीतर कुछ और होता। इसके सम्बन्धमें प्रतिज्ञापूर्वक श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिने यह बात कही है— ।। ८० ।।

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा ।। ८१ ।।

इस ग्रन्थमें ८,८०० (आठ हजार आठ सौ) श्लोक ऐसे हैं, जिनका अर्थ मैं समझता हूँ, शुकदेव समझते हैं और संजय समझते हैं या नहीं, इसमें संदेह है ।। ८१ ।।

तच्छ्लोककूटमद्यापि ग्रथितं सुदृढं मुने ।
भेत्तुं न शक्यतेऽर्थस्य गूढत्वात् प्रश्रितस्य च ।। ८२ ।।

मुनिवर! वे कूट श्लोक इतने गुँथे हुए और गम्भीरार्थक हैं कि आज भी उनका रहस्य-भेदन नहीं किया जा सकता; क्योंकि उनका अर्थ भी गूढ़ है और शब्द भी योगवृत्ति और रूढवृत्ति आदि रचनावैचित्र्यके कारण गम्भीर हैं ।। ८२ ।।

सर्वज्ञोऽपि गणेशो यत् क्षणमास्ते विचारयन् ।
तावच्चकार व्यासोऽपि श्लोकानन्यान् बहूनपि ।। ८३ ।।

स्वयं सर्वज्ञ गणेशजी भी उन श्लोकोंका विचार करते समय क्षणभरके लिये ठहर जाते थे। इतने समयमें व्यासजी भी और बहुत-से श्लोकोंकी रचना कर लेते थे ।। ८३ ।।

अज्ञानतिमिरान्धस्य लोकस्य तु विचेष्टतः ।
ज्ञानाञ्जनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम् ।। ८४ ।।
धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यासकीर्तनैः ।
तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहतं तमः ।। ८५ ।।

संसारी जीव अज्ञानान्धकारसे अंधे होकर छटपटा रहे हैं। यह महाभारत ज्ञानांजनकी शलाका लगाकर उनकी आँख खोल देता है। वह शलाका क्या है? धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थोंका संक्षेप और विस्तारसे वर्णन। यह न केवल अज्ञानकी रतौंधी दूर करता, प्रत्युत सूर्यके समान उदित होकर मनुष्योंकी आँखके सामनेका सम्पूर्ण अन्धकार ही नष्ट कर देता है ।। ८४-८५ ।।

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः ।
नृबुद्धिकैरवाणां च कृतमेतत् प्रकाशनम् ।। ८६ ।।

यह भारत-पुराण पूर्ण चन्द्रमाके समान है, जिससे श्रुतियोंकी चाँदनी छिटकती है और मनुष्योंकी बुद्धिरूपी कुमुदिनी सदाके लिये खिल जाती है ।। ८६ ।।

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना ।
लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् सम्प्रकाशितम् ।। ८७ ।।

यह भारत-इतिहास एक जाज्वल्यमान दीपक है। यह मोहका अन्धकार मिटाकर लोगोंके अन्तःकरण-रूप सम्पूर्ण अन्तरंग गृहको भलीभाँति ज्ञानालोकसे प्रकाशित कर देता है ।। ८७ ।।

संग्रहाध्यायबीजो वै पौलोमास्तीकमूलवान् ।
सम्भवस्कन्धविस्तारः सभारण्यविटङ्कवान् ।। ८८ ।।

महाभारत-वृक्षका बीज है संग्रहाध्याय और जड़ है पौलोम एवं आस्तीकपर्व। सम्भवपर्व इसके स्कन्धका विस्तार है और सभा तथा अरण्यपर्व पक्षियोंके रहनेयोग्य कोटर हैं ।। ८८ ।।

अरणीपर्वरूपाढ्यो विराटोद्योगसारवान् ।
भीष्मपर्वमहाशाखो द्रोणपर्वपलाशवान् ।। ८९ ।।

अरणीपर्व इस वृक्षका ग्रन्थिस्थल है। विराट और उद्योगपर्व इसका सारभाग है। भीष्मपर्व इसकी बड़ी शाखा है और द्रोणपर्व इसके पत्ते हैं ।। ८९ ।।

कर्णपर्वसितैः पुष्पैः शल्यपर्वसुगन्धिभिः ।
स्त्रीपर्वैषीकविश्रामः शान्तिपर्वमहाफलः ।। ९० ।।

कर्णपर्व इसके श्वेत पुष्प हैं और शल्यपर्व सुगन्ध। स्त्रीपर्व और ऐषीकपर्व इसकी छाया है तथा शान्तिपर्व इसका महान् फल है ।। ९० ।।

अश्वमेधामृतरसस्त्वाश्रमस्थानसंश्रयः ।
मौसलः श्रुतिसंक्षेपः शिष्टद्विजनिषेवितः ।। ९१ ।।

अश्वमेधपर्व इसका अमृतमय रस है और आश्रम-वासिकपर्व आश्रय लेकर बैठनेका स्थान। मौसलपर्व श्रुति-रूपा ऊँची-ऊँची शाखाओंका अन्तिम भाग है तथा सदाचार एवं विद्यासे सम्पन्न द्विजाति इसका सेवन करते हैं ।। ९१ ।।

सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति ।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः ।। ९२ ।।

संसारमें जितने भी श्रेष्ठ कवि होंगे उनके काव्यके लिये यह मूल आश्रय होगा। जैसे मेघ सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जीवनदाता है, वैसे ही यह अक्षय भारत-वृक्ष है ।। ९२ ।।

सौतिरुवाच

तस्य वृक्षस्य वक्ष्यामि शश्वत्पुष्पफलोदयम् ।
स्वादुमेध्यरसोपेतमच्छेद्यममरैरपि ।। ९३ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—यह भारत एक वृक्ष है। इसके स्वादु, पवित्र, सरस एवं अविनाशी पुष्प तथा फल हैं—धर्म और मोक्ष। उन्हें देवता भी इस वृक्षसे अलग नहीं कर सकते; अब मैं उन्हींका वर्णन करूँगा ।। ९३ ।।

मातुर्नियोगाद् धर्मात्मा गाङ्गेयस्य च धीमतः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य कृष्णद्वैपायनः पुरा ।। ९४ ।।
त्रीनग्नीनिव कौरव्यान् जनयामास वीर्यवान् ।
उत्पाद्य धृतराष्ट्रं च पाण्डुं विदुरमेव च ।। ९५ ।।

पहलेकी बात है—शक्तिशाली, धर्मात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन (व्यास)-ने अपनी माता सत्यवती और परमज्ञानी गंगापुत्र भीष्मपितामहकी आज्ञासे विचित्रवीर्यकी पत्नी अम्बिका आदिके गर्भसे तीन अग्नियोंके समान तेजस्वी तीन कुरुवंशी पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम हैं—धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ।। ९४-९५ ।।

जगाम तपसे धीमान् पुनरेवाश्रमं प्रति ।
तेषु जातेषु वृद्धेषु गतेषु परमां गतिम् ।। ९६ ।।
अब्रवीद् भारतं लोके मानुषेऽस्मिन् महानृषिः ।
जनमेजयेन पृष्टः सन् ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ।। ९७ ।।
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके ।
ससदस्यैः सहासीनः श्रावयामास भारतम् ।। ९८ ।।
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य चोद्यमानः पुनः पुनः ।

इन तीन पुत्रोंको जन्म देकर परम ज्ञानी व्यासजी फिर अपने आश्रमपर चले गये। जब वे तीनों पुत्र वृद्ध हो परम गतिको प्राप्त हुए, तब महर्षि व्यासजीने इस मनुष्यलोकमें महाभारतका प्रवचन किया। जनमेजय और हजारों ब्राह्मणोंके प्रश्न करनेपर व्यासजीने पास ही बैठे अपने शिष्य वैशम्पायनको आज्ञा दी कि तुम इन लोगोंको महाभारत सुनाओ। वैशम्पायन याज्ञिक सदस्योंके साथ ही बैठे थे, अतः जब यज्ञकर्ममें बीच-बीचमें अवकाश मिलता, तब यजमान आदिके बार-बार आग्रह करनेपर वे उन्हें महाभारत सुनाया करते थे ।। ९६-९८½ ।।

विस्तरं कुरुवंशस्य गान्धार्या धर्मशीलताम् ।। ९९ ।।
क्षत्तुः प्रज्ञां धृतिं कुन्त्याः सम्यग् द्वैपायनोऽब्रवीत् ।
वासुदेवस्य माहात्म्यं पाण्डवानां च सत्यताम् ।। १०० ।।
दुर्वृत्तं धार्तराष्ट्राणामुक्तवान् भगवानृषिः ।
इदं शतसहस्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम् ।। १०१ ।।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम् ।

इस महाभारत-ग्रन्थमें व्यासजीने कुरुवंशके विस्तार, गान्धारीकी धर्मशीलता, विदुरकी उत्तम प्रज्ञा और कुन्तीदेवीके धैर्यका भलीभाँति वर्णन किया है। महर्षि भगवान् व्यासने इसमें वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके माहात्म्य, पाण्डवोंकी सत्यपरायणता तथा धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन आदिके दुर्व्यवहारोंका स्पष्ट उल्लेख किया है। पुण्यकर्मा मानवोंके उपाख्यानोंसहित एक लाख श्लोकोंके इस उत्तम ग्रन्थको आद्यभारत (महाभारत) जानना चाहिये ।। ९९—१०१½ ।।

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् ।। १०२ ।।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ।
ततोऽप्यर्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः ।। १०३ ।।
अनुक्रमणिकाध्यायं वृत्तान्तं सर्वपर्वणाम् ।
इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुकम् ।। १०४ ।।

तदनन्तर व्यासजीने उपाख्यानभागको छोड़कर चौबीस हजार श्लोकोंकी भारतसंहिता बनायी; जिसे विद्वान् पुरुष भारत कहते हैं। इसके पश्चात् महर्षिने पुनः पर्वसहित ग्रन्थमें वर्णित वृत्तान्तोंकी अनुक्रमणिका (सूची)-का एक संक्षिप्त अध्याय बनाया, जिसमें केवल डेढ़ सौ श्लोक हैं। व्यासजीने सबसे पहले अपने पुत्र शुकदेवजीको इस महाभारत-ग्रन्थका अध्ययन कराया ।। १०२—१०४ ।।

ततोऽन्येभ्योऽनुरूपेभ्यः शिष्येभ्यः प्रददौ विभुः ।
षष्टिं शतसहस्राणि चकारान्यां स संहिताम् ।। १०५ ।।

तदनन्तर उन्होंने दूसरे-दूसरे सुयोग्य (अधिकारी एवं अनुगत) शिष्योंको इसका उपदेश दिया। तत्पश्चात् भगवान् व्यासने साठ लाख श्लोकोंकी एक दूसरी संहिता बनायी ।। १०५ ।।

त्रिंशच्छतसहस्रं च देवलोके प्रतिष्ठितम् ।
पित्र्ये पञ्चदश प्रोक्तं गन्धर्वेषु चतुर्दश ।। १०६ ।।

उसके तीस लाख श्लोक देवलोकमें समादृत हो रहे हैं, पितृलोकमें पंद्रह लाख तथा गन्धर्वलोकमें चौदह लाख श्लोकोंका पाठ होता है ।। १०६ ।।

एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम् ।
नारदोऽश्रावयद् देवानसितो देवलः पितॄन् ।। १०७ ।।

इस मनुष्यलोकमें एक लाख श्लोकोंका आद्यभारत (महाभारत) प्रतिष्ठित है। देवर्षि नारदने देवताओंको और असित-देवलने पितरोंको इसका श्रवण कराया है ।। १०७ ।।

गन्धर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः ।
अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान् ।। १०८ ।।
शिष्यो व्यासस्य धर्मात्मा सर्ववेदविदां वरः ।
एकं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत ।। १०९ ।।

शुकदेवजीने गन्धर्व, यक्ष तथा राक्षसोंको महाभारतकी कथा सुनायी है; परंतु इस मनुष्यलोकमें सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंके शिरोमणि व्यास-शिष्य धर्मात्मा वैशम्पायनजीने इसका प्रवचन किया है। मुनिवरो! वही एक लाख श्लोकोंका महाभारत आपलोग मुझसे श्रवण कीजिये ।। १०८-१०९ ।।

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः ।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ।। ११० ।।

दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्षके समान है। कर्ण स्कन्ध, शकुनि शाखा और दुःशासन समृद्ध फल-पुष्प है। अज्ञानी राजा धृतराष्ट्र ही इसके मूल हैं* ।। ११० ।।

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ।। १११ ।।

युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष हैं। अर्जुन स्कन्ध, भीमसेन शाखा और माद्रीनन्दन इसके समृद्ध फल-पुष्प हैं। श्रीकृष्ण, वेद और ब्राह्मण ही इस वृक्षके मूल (जड़) हैं* ।। १११ ।।

पाण्डुर्जित्वा बहून् देशान् बुद्ध्या विक्रमणेन च ।
अरण्ये मृगयाशीलो न्यवसन्मुनिभिः सह ।। ११२ ।।

महाराज पाण्डु अपनी बुद्धि और पराक्रमसे अनेक देशोंपर विजय पाकर (हिंसक) मृगोंको मारनेके स्वभाववाले होनेके कारण ऋषि-मुनियोंके साथ वनमें ही निवास करते थे ।। ११२ ।।

मृगव्यवायनिधनात् कृच्छ्रां प्राप स आपदम् ।
जन्मप्रभृति पार्थानां तत्राचारविधिक्रमः ।। ११३ ।।

एक दिन उन्होंने मृगरूपधारी महर्षिको मैथुनकालमें मार डाला। इससे वे बड़े भारी संकटमें पड़ गये (ऋषिने यह शाप दे दिया कि स्त्री-सहवास करनेपर तुम्हारी मृत्यु हो जायगी), यह संकट होते हुए भी युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंके जन्मसे लेकर जातकर्म आदि सब संस्कार वनमें ही हुए और वहीं उन्हें शील एवं सदाचारकी रक्षाका उपदेश हुआ ।। ११३ ।।

मात्रोरभ्युपपत्तिश्च धर्मोपनिषदं प्रति ।
धर्मस्य वायोः शक्रस्य देवयोश्च तथाश्विनोः ।। ११४ ।।

(पूर्वोक्त शाप होनेपर भी संतान होनेका कारण यह था कि) कुल-धर्मकी रक्षाके लिये दुर्वासाद्वारा प्राप्त हुई विद्याका आश्रय लेनेके कारण पाण्डवोंकी दोनों माताओं कुन्ती और

माद्रीके समीप क्रमशः धर्म, वायु, इन्द्र तथा दोनों अश्विनीकुमार—इन देवताओंका आगमन सम्भव हो सका (इन्हींकी कृपासे युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन एवं नकुल-सहदेवकी उत्पत्ति हुई) ।। ११४ ।।

(ततो धर्मोपनिषदः श्रुत्वा भर्तुः प्रिया पृथा ।
धर्मानिलेन्द्रान् स्तुतिभिर्जुहाव सुतवाञ्छया ।
तद्दत्तोपनिषन्माद्री चाश्विनावाजुहाव च ।)
तापसैः सह संवृद्धा मातृभ्यां परिरक्षिताः ।
मेध्यारण्येषु पुण्येषु महतामाश्रमेषु च ।। ११५ ।।

पतिप्रिया कुन्तीने पतिके मुखसे धर्म-रहस्यकी बातें सुनकर पुत्र पानेकी इच्छासे मन्त्र-जपपूर्वक स्तुतिद्वारा धर्म, वायु और इन्द्र देवताका आवाहन किया। कुन्तीके उपदेश देनेपर माद्री भी उस मन्त्र-विद्याको जान गयी और उसने संतानके लिये दोनों अश्विनीकुमारोंका आवाहन किया। इस प्रकार इन पाँचों देवताओंसे पाण्डवोंकी उत्पत्ति हुई। पाँचों पाण्डव अपनी दोनों माताओंद्वारा ही पाले-पोसे गये। वे वनोंमें और महात्माओंके परम पुण्य आश्रमोंमें ही तपस्वी लोगोंके साथ दिनोदिन बढ़ने लगे ।। ११५ ।।

ऋषिभिर्यत्तदाऽऽनीता धार्तराष्ट्रान् प्रति स्वयम् ।
शिशवश्चाभिरूपाश्च जटिला ब्रह्मचारिणः ।। ११६ ।।

(पाण्डुकी मृत्यु होनेके पश्चात्) बड़े-बड़े ऋषि-मुनि स्वयं ही पाण्डवोंको लेकर धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंके पास आये। उस समय पाण्डव नन्हे-नन्हे शिशुके रूपमें बड़े ही सुन्दर लगते थे। वे सिरपर जटा धारण किये ब्रह्मचारीके वेशमें थे ।। ११६ ।।

पुत्राश्च भ्रातरश्चेमे शिष्याश्च सुहृदश्च वः ।
पाण्डवा एत इत्युक्त्वा मुनयोऽन्तर्हितास्ततः ।। ११७ ।।

ऋषियोंने वहाँ जाकर धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंसे कहा—'ये तुम्हारे पुत्र, भाई, शिष्य और सुहृद् हैं। ये सभी महाराज पाण्डुके ही पुत्र हैं।' इतना कहकर वे मुनि वहाँसे अन्तर्धान हो गये ।। ११७ ।।

तांस्तैर्निवेदितान् दृष्ट्वा पाण्डवान् कौरवास्तदा ।
शिष्टाश्च वर्णाः पौरा ये ते हर्षाच्चुक्रुशुर्भृशम् ।। ११८ ।।

ऋषियोंद्वारा लाये हुए उन पाण्डवोंको देखकर सभी कौरव और नगरनिवासी, शिष्ट तथा वर्णाश्रमी हर्षसे भरकर अत्यन्त कोलाहल करने लगे ।। ११८ ।।

आहुः केचिन्न तस्यैते तस्यैत इति चापरे ।
यदा चिरमृतः पाण्डुः कथं तस्येति चापरे ।। ११९ ।।

कोई कहते, 'ये पाण्डुके पुत्र नहीं हैं।' दूसरे कहते, 'अजी! ये उन्हींके हैं।' कुछ लोग कहते, 'जब पाण्डुको मरे इतने दिन हो गये, तब ये उनके पुत्र कैसे हो सकते हैं?' ।।

स्वागतं सर्वथा दिष्ट्या पाण्डोः पश्याम संततिम् ।

उच्यतां स्वागतमिति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ।। १२० ।।

फिर सब लोग कहने लगे, 'हम तो सर्वथा इनका स्वागत करते हैं। हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज हम महाराज पाण्डुकी संतानको अपनी आँखोंसे देख रहे हैं।' फिर तो सब ओरसे स्वागत बोलनेवालोंकी ही बातें सुनायी देने लगीं ।। १२० ।।

तस्मिन्नुपरते शब्दे दिशः सर्वा निनादयन् ।
अन्तर्हितानां भूतानां निःस्वनस्तुमुलोऽभवत् ।। १२१ ।।

दर्शकोंका वह तुमुल शब्द बन्द होनेपर सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करती हुई अदृश्य भूतों—देवताओंकी यह सम्मिलित आवाज (आकाशवाणी) गूँज उठी—'ये पाण्डव ही हैं' ।। १२१ ।।

पुष्पवृष्टिः शुभा गन्धाः शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनाः ।
आसन् प्रवेशे पार्थानां तदद्भुतमिवाभवत् ।। १२२ ।।

जिस समय पाण्डवोंने नगरमें प्रवेश किया, उसी समय फूलोंकी वर्षा होने लगी, सब ओर सुगन्ध छा गयी तथा शंख और दुन्दुभियोंके मांगलिक शब्द सुनायी देने लगे। यह एक अद्भुत चमत्कारकी-सी बात हुई ।। १२२ ।।

तत्प्रीत्या चैव सर्वेषां पौराणां हर्षसम्भवः ।
शब्द आसीन्महांस्तत्र दिवःस्पृक्कीर्तिवर्धनः ।। १२३ ।।

सभी नागरिक पाण्डवोंके प्रेमसे आनन्दमें भरकर ऊँचे स्वरसे अभिनन्दन-ध्वनि करने लगे। उनका वह महान् शब्द स्वर्गलोकतक गूँज उठा जो पाण्डवोंकी कीर्ति बढ़ानेवाला था ।। १२३ ।।

तेऽधीत्य निखिलान् वेदाञ्छास्त्राणि विविधानि च ।
न्यवसन् पाण्डवास्तत्र पूजिता अकुतोभयाः ।। १२४ ।।

वे सम्पूर्ण वेद एवं विविध शास्त्रोंका अध्ययन करके वहीं निवास करने लगे। सभी उनका आदर करते थे और उन्हें किसीसे भय नहीं था ।। १२४ ।।

युधिष्ठिरस्य शौचेन प्रीताः प्रकृतयोऽभवन् ।
धृत्या च भीमसेनस्य विक्रमेणार्जुनस्य च ।। १२५ ।।
गुरुशुश्रूषया क्षान्त्या यमयोर्विनयेन च ।
तुतोष लोकः सकलस्तेषां शौर्यगुणेन च ।। १२६ ।।

राष्ट्रकी सम्पूर्ण प्रजा युधिष्ठिरके शौचाचार, भीमसेनकी धृति, अर्जुनके विक्रम तथा नकुल-सहदेवकी गुरुशुश्रूषा, क्षमाशीलता और विनयसे बहुत ही प्रसन्न होती थी। सब लोग पाण्डवोंके शौर्यगुणसे संतोषका अनुभव करते थे* ।।

समवाये ततो राज्ञां कन्यां भर्तृस्वयंवराम् ।
प्राप्तवानर्जुनः कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।। १२७ ।।

तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् राजाओंके समुदायमें अर्जुनने अत्यन्त दुष्कर पराक्रम करके स्वयं ही पति चुननेवाली द्रुपदकन्या कृष्णाको प्राप्त किया ।। १२७ ।।

ततः प्रभृति लोकेऽस्मिन् पूज्यः सर्वधनुष्मताम् ।
आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः समरेष्वपि चाभवत् ।। १२८ ।।

तभीसे वे इस लोकमें सम्पूर्ण धनुर्धारियोंके पूजनीय (आदरणीय) हो गये और समरांगणमें प्रचण्ड मार्तण्डकी भाँति प्रतापी अर्जुनकी ओर किसीके लिये आँख उठाकर देखना भी कठिन हो गया ।। १२८ ।।

स सर्वान् पार्थिवाञ् जित्वा सर्वांश्च महतो गणान् ।
आजहारार्जुनो राज्ञो राजसूयं महाक्रतुम् ।। १२९ ।।

उन्होंने पृथक्-पृथक् तथा महान् संघ बनाकर आये हुए सब राजाओंको जीतकर महाराज युधिष्ठिरके राजसूय नामक महायज्ञको सम्पन्न कराया ।। १२९ ।।

अन्नवान् दक्षिणावांश्च सर्वैः समुदितो गुणैः ।
युधिष्ठिरेण सम्प्राप्तो राजसूयो महाक्रतुः ।। १३० ।।
सुनयाद् वासुदेवस्य भीमार्जुनबलेन च ।
घातयित्वा जरासन्धं चैद्यं च बलगर्वितम् ।। १३१ ।।

भगवान् श्रीकृष्णकी सुन्दर नीति और भीमसेन तथा अर्जुनकी शक्तिसे बलके घमण्डमें चूर रहनेवाले जरासन्ध और चेदिराज शिशुपालको मरवाकर धर्मराज युधिष्ठिरने महायज्ञ राजसूयका सम्पादन किया। वह यज्ञ सभी उत्तम* गुणोंसे सम्पन्न था। उसमें प्रचुर अन्न और पर्याप्त दक्षिणाका वितरण किया गया था ।। १३०-१३१ ।।

दुर्योधनं समागच्छन्नर्हणानि ततस्ततः ।
मणिकाञ्चनरत्नानि गोहस्त्यश्वधनानि च ।। १३२ ।।
विचित्राणि च वासांसि प्रावारावरणानि च ।
कम्बलाजिनरत्नानि राङ्कवास्तरणानि च ।। १३३ ।।

उस समय इधर-उधर विभिन्न देशों तथा नृपतियोंके यहाँसे मणि, सुवर्ण, रत्न, गाय, हाथी, घोड़े, धन-सम्पत्ति, विचित्र वस्त्र, तम्बू, कनात, परदे, उत्तम कम्बल, श्रेष्ठ मृगचर्म तथा रंकुनामक मृगके बालोंसे बने हुए कोमल बिछौने आदि जो उपहारकी बहुमूल्य वस्तुएँ आतीं, वे दुर्योधनके हाथमें दी जातीं—उसीकी देख-रेखमें रखी जाती थीं ।। १३२-१३३ ।।

समृद्धां तां तथा दृष्ट्वा पाण्डवानां तदा श्रियम् ।
ईर्ष्यासमुत्थः सुमहांस्तस्य मन्युरजायत ।। १३४ ।।

उस समय पाण्डवोंकी वह बढ़ी-चढ़ी समृद्धि-सम्पत्ति देखकर दुर्योधनके मनमें ईर्ष्याजनित महान् रोष एवं दुःखका उदय हुआ ।। १३४ ।।

विमानप्रतिमां तत्र मयेन सुकृतां सभाम् ।
पाण्डवानामुपहृतां स दृष्ट्वा पर्यतप्यत ।। १३५ ।।

उस अवसरपर मयदानवने पाण्डवोंको एक सभाभवन भेंटमें दिया था, जिसकी रूपरेखा विमानके समान थी। वह भवन उसके शिल्पकौशलका एक अच्छा नमूना था। उसे देखकर दुर्योधनको और अधिक संताप हुआ ।। १३५ ।।

तत्रावहसितश्चासीत् प्रस्कन्दन्निव सम्भ्रमात् ।
प्रत्यक्षं वासुदेवस्य भीमेनानभिजातवत् ।। १३६ ।।

उसी सभाभवनमें जब सम्भ्रम (जलमें स्थल और स्थलमें जलका भ्रम) होनेके कारण दुर्योधनके पाँव फिसलने-से लगे, तब भगवान् श्रीकृष्णके सामने ही भीमसेनने उसे गँवार-सा सिद्ध करते हुए उसकी हँसी उड़ायी थी ।। १३६ ।।

स भोगान् विविधान् भुञ्जन् रत्नानि विविधानि च ।
कथितो धृतराष्ट्रस्य विवर्णो हरिणः कृशः ।। १३७ ।।

दुर्योधन नाना प्रकारके भोग तथा भाँति-भाँतिके रत्नोंका उपयोग करते रहनेपर भी दिनोदिन दुबला रहने लगा। उसका रंग फीका पड़ गया। इसकी सूचना कर्मचारियोंने महाराज धृतराष्ट्रको दी ।। १३७ ।।

अन्वजानात् ततो द्यूतं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य कोपः समभवन्महान् ।। १३८ ।।

धृतराष्ट्र अपने उस पुत्रके प्रति अधिक आसक्त थे, अतः उसकी इच्छा जानकर उन्होंने उसे पाण्डवोंके साथ जूआ खेलनेकी आज्ञा दे दी। जब भगवान् श्रीकृष्णने यह समाचार सुना, तब उन्हें धृतराष्ट्रपर बड़ा क्रोध आया ।। १३८ ।।

नातिप्रीतमनाश्चासीद् विवादांश्चान्वमोदत ।
द्यूतादीननयान् घोरान् विविधांश्चाप्युपैक्षत ।। १३९ ।।

यद्यपि उनके मनमें कलहकी सम्भावनाके कारण कुछ विशेष प्रसन्नता नहीं हुई, तथापि उन्होंने (मौन रहकर) इन विवादोंका अनुमोदन ही किया और भिन्न-भिन्न प्रकारके भयंकर अन्याय, द्यूत आदिको देखकर भी उनकी उपेक्षा कर दी ।। १३९ ।।

निरस्य विदुरं भीष्मं द्रोणं शारद्वतं कृपम् ।
विग्रहे तुमुले तस्मिन् दहन् क्षत्रं परस्परम् ।। १४० ।।

(इस अनुमोदन या उपेक्षाका कारण यह था कि वे धर्मनाशक दुष्ट राजाओंका संहार चाहते थे। अतः उन्हें विश्वास था कि) इस विग्रहजनित महान् युद्धमें विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्यकी अवहेलना करके सभी दुष्ट क्षत्रिय एक-दूसरेको अपनी क्रोधाग्निमें भस्म कर डालेंगे ।। १४० ।।

जयत्सु पाण्डुपुत्रेषु श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
दुर्योधनमतं ज्ञात्वा कर्णस्य शकुनेस्तथा ।। १४१ ।।
धृतराष्ट्रश्चिरं ध्यात्वा संजयं वाक्यमब्रवीत् ।
शृणु संजय सर्वं मे न चासूयितुमर्हसि ।। १४२ ।।

श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान् प्राज्ञसम्मतः ।
न विग्रहे मम मतिर्न च प्रीये कुलक्षये ।। १४३ ।।

जब युद्धमें पाण्डवोंकी जीत होती गयी, तब यह अत्यन्त अप्रिय समाचार सुनकर तथा दुर्योधन, कर्ण और शकुनिके दुराग्रहपूर्ण निश्चित विचार जानकर धृतराष्ट्र बहुत देरतक चिन्तामें पड़े रहे। फिर उन्होंने संजयसे कहा—'संजय! मेरी सब बातें सुन लो। फिर इस युद्ध या विनाशके लिये मुझे दोष न दे सकोगे। तुम विद्वान्, मेधावी, बुद्धिमान् और पण्डितके लिये भी आदरणीय हो। इस युद्धमें मेरी सम्मति बिलकुल नहीं थी और यह जो हमारे कुलका विनाश हो गया है, इससे मुझे तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई है ।। १४१—१४३ ।।

न मे विशेषः पुत्रेषु स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ।
वृद्धं मामभ्यसूयन्ति पुत्रा मन्युपरायणाः ।। १४४ ।।

मेरे लिये अपने पुत्रों और पाण्डवोंमें कोई भेद नहीं था। किंतु क्या करूँ? मेरे पुत्र क्रोधके वशीभूत हो मुझपर ही दोषारोपण करते थे और मेरी बात नहीं मानते थे ।। १४४ ।।

अहं त्वचक्षुः कार्पण्यात् पुत्रप्रीत्या सहामि तत् ।
मुह्यन्तं चानुमुह्यामि दुर्योधनमचेतनम् ।। १४५ ।।

मैं अंधा हूँ, अतः कुछ दीनताके कारण और कुछ पुत्रोंके प्रति अधिक आसक्ति होनेसे भी वह सब अन्याय सहता आ रहा हूँ। मन्दबुद्धि दुर्योधन जब मोहवश दुःखी होता था, तब मैं भी उसके साथ दुःखी हो जाता था ।। १४५ ।।

राजसूये श्रियं दृष्ट्वा पाण्डवस्य महौजसः ।
तच्चावहसनं प्राप्य सभारोहणदर्शने ।। १४६ ।।
अमर्षणः स्वयं जेतुमशक्तः पाण्डवान् रणे ।
निरुत्साहश्च सम्प्राप्तुं सुश्रियं क्षत्रियोऽपि सन् ।। १४७ ।।
गान्धारराजसहितश्छद्मद्यूतममन्त्रयत् ।
तत्र यद् यद् यथा ज्ञातं मया संजय तच्छृणु ।। १४८ ।।

राजसूय-यज्ञमें महापराक्रमी पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी सर्वोपरि समृद्धि-सम्पत्ति देखकर तथा सभाभवनकी सीढ़ियोंपर चढ़ते और उस भवनको देखते समय भीमसेनके द्वारा उपहास पाकर दुर्योधन भारी अमर्षमें भर गया था। युद्धमें पाण्डवोंको हरानेकी शक्ति तो उसमें थी नहीं; अतः क्षत्रिय होते हुए भी वह युद्धके लिये उत्साह नहीं दिखा सका। परंतु पाण्डवोंकी उस उत्तम सम्पत्तिको हथियानेके लिये उसने गान्धारराज शकुनिको साथ लेकर कपटपूर्ण द्यूत खेलनेका ही निश्चय किया। संजय! इस प्रकार जूआ खेलनेका निश्चय हो जानेपर उसके पहले और पीछे जो-जो घटनाएँ घटित हुई हैं उन सबका विचार करते हुए मैंने समय-समयपर विजयकी आशाके विपरीत जो-जो अनुभव किया है उसे कहता हूँ, सुनो— ।। १४६-१४८ ।।

श्रुत्वा तु मम वाक्यानि बुद्धियुक्तानि तत्त्वतः ।
ततो ज्ञास्यसि मां सौते प्रज्ञाचक्षुषमित्युत ।। १४९ ।।

सूतनन्दन! मेरे उन बुद्धिमत्तापूर्ण वचनोंको सुनकर तुम ठीक-ठीक समझ लोगे कि मैं कितना प्रज्ञाचक्षु हूँ ।। १४९ ।।

यदाश्रौषं धनुरायम्य चित्रं
विद्धं लक्ष्यं पातितं वै पृथिव्याम् ।
कृष्णां हृतां प्रेक्षतां सर्वराज्ञां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १५० ।।

संजय! जब मैंने सुना कि अर्जुनने धनुषपर बाण चढ़ाकर अद्‌भुत लक्ष्य बेध दिया और उसे धरतीपर गिरा दिया। साथ ही सब राजाओंके सामने, जबकि वे टुकुर-टुकुर देखते ही रह गये, बलपूर्वक द्रौपदीको ले आया, तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी ।। १५० ।।

यदाश्रौषं द्वारकायां सुभद्रां
प्रसह्योढां माधवीमर्जुनेन ।
इन्द्रप्रस्थं वृष्णिवीरौ च यातौ
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १५१ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि अर्जुनने द्वारकामें मधुवंशकी राजकुमारी (और श्रीकृष्णकी बहिन) सुभद्राको बलपूर्वक हरण कर लिया और श्रीकृष्ण एवं बलराम (इस घटनाका विरोध न कर) दहेज लेकर इन्द्रप्रस्थमें आये, तभी समझ लिया था कि मेरी विजय नहीं हो सकती ।। १५१ ।।

यदाश्रौषं देवराजं प्रविष्टं
शरैर्दिव्यैर्वारितं चार्जुनेन ।
अग्निं तथा तर्पितं खाण्डवे च
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १५२ ।।

जब मैंने सुना कि खाण्डवदाहके समय देवराज इन्द्र तो वर्षा करके आग बुझाना चाहते थे और अर्जुनने उसे अपने दिव्य बाणोंसे रोक दिया तथा अग्निदेवको तृप्त किया, संजय! तभी मैंने समझ लिया कि अब मेरी विजय नहीं हो सकती ।। १५२ ।।

यदाश्रौषं जातुषाद् वेश्मनस्तान्
मुक्तान् पार्थान् पञ्च कुन्त्या समेतान् ।
युक्तं चैषां विदुरं स्वार्थसिद्धौ
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १५३ ।।

जब मैंने सुना कि लाक्षाभवनसे अपनी मातासहित पाँचों पाण्डव बच गये हैं और स्वयं विदुर उनकी स्वार्थसिद्धिके प्रयत्नमें तत्पर हैं, संजय! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी ।। १५३ ।।

यदाश्रौषं द्रौपदीं रङ्गमध्ये
लक्ष्यं भित्त्वा निर्जितामर्जुनेन ।
शूरान् पञ्चालान् पाण्डवेयांश्च युक्तां-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १५४ ।।

जब मैंने सुना कि रंगभूमिमें लक्ष्यवेध करके अर्जुनने द्रौपदी प्राप्त कर ली है और पांचाल वीर तथा पाण्डव वीर परस्पर सम्बद्ध हो गये हैं, संजय! उसी समय मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ।। १५४ ।।

यदाश्रौषं मागधानां वरिष्ठं
जरासन्धं क्षत्रमध्ये ज्वलन्तम् ।
दोर्भ्यां हतं भीमसेनेन गत्वा
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १५५ ।।

जब मैंने सुना कि मगधराज-शिरोमणि, क्षत्रियजातिके जाज्वल्यमान रत्न जरासन्धको भीमसेनने उसकी राजधानीमें जाकर बिना अस्त्र-शस्त्रके हाथोंसे ही चीर दिया। संजय! मेरी जीतकी आशा तो तभी टूट गयी ।। १५५ ।।

यदाश्रौषं दिग्विजये पाण्डुपुत्रै-
र्वशीकृतान् भूमिपालान् प्रसह्य ।
महाक्रतुं राजसूयं कृतं च
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १५६ ।।

जब मैंने सुना कि दिग्विजयके समय पाण्डवोंने बलपूर्वक बड़े-बड़े भूमिपतियोंको अपने अधीन कर लिया और महायज्ञ राजसूय सम्पन्न कर दिया। संजय! तभी मैंने समझ लिया कि मेरी विजयकी कोई आशा नहीं है ।। १५६ ।।

यदाश्रौषं द्रौपदीमश्रुकण्ठीं
सभां नीतां दुःखितामेकवस्त्राम् ।
रजस्वलां नाथवतीमनाथवत्
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १५७ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि दुःखिता द्रौपदी रजस्वलावस्थामें आँखोंमें आँसू भरे केवल एक वस्त्र पहने वीर पतियोंके रहते हुए भी अनाथके समान भरी सभामें घसीटकर लायी गयी है, तभी मैंने समझ लिया था कि अब मेरी विजय नहीं हो सकती ।। १५७ ।।

यदाश्रौषं वाससां तत्र राशिं
समाक्षिपत् कितवो मन्दबुद्धिः ।
दुःशासनो गतवान् नैव चान्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १५८ ।।

जब मैंने सुना कि धूर्त एवं मन्दबुद्धि दुःशासनने द्रौपदीका वस्त्र खींचा और वहाँ वस्त्रोंका इतना ढेर लग गया कि वह उसका पार न पा सका; संजय! तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रही ।। १५८ ।।

यदाश्रौषं हृतराज्यं युधिष्ठिरं
पराजितं सौबलेनाक्षवत्याम् ।
अन्वागतं भ्रातृभिरप्रमेयै-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १५९ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि धर्मराज युधिष्ठिरको जूएमें शकुनिने हरा दिया और उनका राज्य छीन लिया, फिर भी उनके अतुल बलशाली धीर गम्भीर भाइयोंने युधिष्ठिरका अनुगमन ही किया, तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ।। १५९ ।।

यदाश्रौषं विविधास्तत्र चेष्टा
धर्मात्मनां प्रस्थितानां वनाय ।
ज्येष्ठप्रीत्या क्लिश्यतां पाण्डवानां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १६० ।।

जब मैंने सुना कि वनमें जाते समय धर्मात्मा पाण्डव धर्मराज युधिष्ठिरके प्रेमवश दुःख पा रहे थे और अपने हृदयका भाव प्रकाशित करनेके लिये विविध प्रकारकी चेष्टाएँ कर रहे थे; संजय! तभी मेरी विजयकी आशा नष्ट हो गयी ।। १६० ।।

यदाश्रौषं स्नातकानां सहस्रै-
रन्वागतं धर्मराजं वनस्थम् ।
भिक्षाभुजां ब्राह्मणानां महात्मनां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १६१ ।।

जब मैंने सुना कि हजारों स्नातक वनवासी युधिष्ठिरके साथ रह रहे हैं और वे तथा दूसरे महात्मा एवं ब्राह्मण उनसे भिक्षा प्राप्त करते हैं। संजय! तभी मैं विजयके सम्बन्धमें निराश हो गया ।। १६१ ।।

यदाश्रौषमर्जुनं देवदेवं
किरातरूपं त्र्यम्बकं तोष्य युद्धे ।
अवाप्तवन्तं पाशुपतं महास्त्रं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १६२ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि किरातवेषधारी देवदेव त्रिलोचन महादेवको युद्धमें संतुष्ट करके अर्जुनने पाशुपत नामक महान् अस्त्र प्राप्त कर लिया है, तभी मेरी आशा निराशामें परिणत हो गयी ।। १६२ ।।

(यदाश्रौषं वनवासे तु पार्थान्
समागतान् महर्षिभिः पुराणैः ।

उपास्यमानान् सगणैर्जातसख्यान्
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।।)
यदाश्रौषं त्रिदिवस्थं धनञ्जयं
शक्रात् साक्षाद् दिव्यमस्त्रं यथावत् ।
अधीयानं शंसितं सत्यसन्धं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १६३ ।।

जब मैंने सुना कि वनवासमें भी कुन्तीपुत्रोंके पास पुरातन महर्षिगण पधारते और उनसे मिलते हैं। उनके साथ उठते-बैठते और निवास करते हैं तथा सेवक-सम्बन्धियोंसहित पाण्डवोंके प्रति उनका मैत्रीभाव हो गया है। संजय! तभीसे मुझे अपने पक्षकी विजयका विश्वास नहीं रह गया था। जब मैंने सुना कि सत्यसंध धनंजय अर्जुन स्वर्गमें गये हुए हैं और वहाँ साक्षात् इन्द्रसे दिव्य अस्त्र-शस्त्रकी विधिपूर्वक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और वहाँ उनके पौरुष एवं ब्रह्मचर्य आदिकी प्रशंसा हो रही है, संजय! तभीसे मेरी युद्धमें विजयकी आशा जाती रही ।। १६३ ।।

यदाश्रौषं कालकेयास्ततस्ते
पौलोमानो वरदानाच्च दृप्ताः ।
देवैरजेया निर्जिताश्चार्जुनेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १६४ ।।

जबसे मैंने सुना कि वरदानके प्रभावसे घमंडके नशेमें चूर कालकेय तथा पौलोम नामके असुरोंको, जिन्हें बड़े-बड़े देवता भी नहीं जीत सकते थे, अर्जुनने बात-की-बातमें पराजित कर दिया, तभीसे संजय! मैंने विजयकी आशा कभी नहीं की ।। १६४ ।।

यदाश्रौषमसुराणां वधार्थे
किरीटिनं यान्तममित्रकर्शनम् ।
कृतार्थं चाप्यागतं शक्रलोकात्
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १६५ ।।

मैंने जब सुना कि शत्रुओंका संहार करनेवाले किरीटी अर्जुन असुरोंका वध करनेके लिये गये थे और इन्द्रलोकसे अपना काम पूरा करके लौट आये हैं, संजय! तभी मैंने समझ लिया—अब मेरी जीतकी कोई आशा नहीं ।। १६५ ।।

(यदाश्रौषं तीर्थयात्राप्रवृत्तं
पाण्डोः सुतं सहितं लोमशेन ।
तस्मादश्रौषीदर्जुनस्यार्थलाभं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।।)
यदाश्रौषं वैश्रवणेन सार्धं
समागतं भीममन्यांश्च पार्थान् ।

तस्मिन् देशे मानुषाणामगम्ये
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १६६ ।।

जब मैंने सुना कि पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर महर्षि लोमशजीके साथ तीर्थयात्रा कर रहे हैं और लोमशजीके मुखसे ही उन्होंने यह भी सुना है कि स्वर्गमें अर्जुनको अभीष्ट वस्तु (दिव्यास्त्र)-की प्राप्ति हो गयी है, संजय! तभीसे मैंने विजयकी आशा ही छोड़ दी। जब मैंने सुना कि भीमसेन तथा दूसरे भाई उस देशमें जाकर, जहाँ मनुष्योंकी गति नहीं है, कुबेरके साथ मेल-मिलाप कर आये, संजय! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी ।। १६६ ।।

यदाश्रौषं घोषयात्रागतानां
बन्धं गन्धर्वैर्मोक्षणं चार्जुनेन ।
स्वेषां सुतानां कर्णबुद्धौ रतानां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १६७ ।।

जब मैंने सुना कि कर्णकी बुद्धिपर विश्वास करके चलनेवाले मेरे पुत्र घोषयात्राके निमित्त गये और गन्धर्वोंके हाथ बन्दी बन गये और अर्जुनने उन्हें उनके हाथसे छुड़ाया। संजय! तभीसे मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ।। १६७ ।।

यदाश्रौषं यक्षरूपेण धर्मं
समागतं धर्मराजेन सूत ।
प्रश्नान् कांश्चिद् विब्रुवाणं च सम्यक्
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १६८ ।।

सूत संजय! जब मैंने सुना कि धर्मराज यक्षका रूप धारण करके युधिष्ठिरसे मिले और युधिष्ठिरने उनके द्वारा किये गये गूढ़ प्रश्नोंका ठीक-ठीक समाधान कर दिया, तभी विजयके सम्बन्धमें मेरी आशा टूट गयी ।। १६८ ।।

यदाश्रौषं न विदुर्मामकास्तान्
प्रच्छन्नरूपान् वसतः पाण्डवेयान् ।
विराटराष्ट्रे सह कृष्णया च
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १६९ ।।

संजय! विराटकी राजधानीमें गुप्तरूपसे द्रौपदीके साथ पाँचों पाण्डव निवास कर रहे थे, परंतु मेरे पुत्र और उनके सहायक इस बातका पता नहीं लगा सके; जब मैंने यह बात सुनी, मुझे यह निश्चय हो गया कि मेरी विजय सम्भव नहीं है ।। १६९ ।।

(यदाश्रौषं कीचकानां वरिष्ठं
निषूदितं भ्रातृशतेन सार्धम् ।
द्रौपद्यर्थं भीमसेनेन संख्ये
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।।)

यदाश्रौषं मामकानां वरिष्ठान्

धनञ्जयेनैकरथेन भग्नान् ।
विराटराष्ट्रे वसता महात्मना
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १७० ।।

संजय! जब मैंने सुना कि भीमसेनने द्रौपदीके प्रति किये हुए अपराधका बदला लेनेके लिये कीचकोंके सर्वश्रेष्ठ वीरको उसके सौ भाइयोंसहित युद्धमें मार डाला था, तभीसे मुझे विजयकी बिलकुल आशा नहीं रह गयी थी। संजय! जब मैंने सुना कि विराटकी राजधानीमें रहते समय महात्मा धनंजयने एकमात्र रथकी सहायतासे हमारे सभी श्रेष्ठ महारथियोंको (जो गो-हरणके लिये पूर्ण तैयारीके साथ वहाँ गये थे) मार भगाया, तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रही ।। १७० ।।

यदाश्रौषं सत्कृतां मत्स्यराज्ञा
सुतां दत्तामुत्तरामर्जुनाय ।
तां चार्जुनः प्रत्यगृह्णात् सुतार्थे
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १७१ ।।

जिस दिन मैंने यह बात सुनी कि मत्स्यराज विराटने अपनी प्रिय एवं सम्मानित पुत्री उत्तराको अर्जुनके हाथ अर्पित कर दिया, परंतु अर्जुनने अपने लिये नहीं, अपने पुत्रके लिये उसे स्वीकार किया, संजय! उसी दिनसे मैं विजयकी आशा नहीं करता था ।। १७१ ।।

यदाश्रौषं निर्जितस्याधनस्य
प्रव्राजितस्य स्वजनात् प्रच्युतस्य ।
अक्षौहिणीः सप्त युधिष्ठिरस्य
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १७२ ।।

संजय! युधिष्ठिर जूएमें पराजित हैं, निर्धन हैं, घरसे निकाले हुए हैं और अपने सगे-सम्बन्धियोंसे बिछुड़े हुए हैं। फिर भी जब मैंने सुना कि उनके पास सात अक्षौहिणी सेना एकत्र हो चुकी है, तभी विजयके लिये मेरे मनमें जो आशा थी, उसपर पानी फिर गया ।। १७२ ।।

यदाश्रौषं माधवं वासुदेवं
सर्वात्मना पाण्डवार्थे निविष्टम् ।
यस्येमां गां विक्रममेकमाहु-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १७३ ।।

(वामनावतारके समय) यह सम्पूर्ण पृथ्वी जिनके एक डगमें ही आ गयी बतायी जाती है, वे लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण पूरे हृदयसे पाण्डवोंकी कार्यसिद्धिके लिये तत्पर हैं, जब यह बात मैंने सुनी, संजय! तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रही ।। १७३ ।।

यदाश्रौषं नरनारायणौ तौ
कृष्णार्जुनौ वदतो नारदस्य ।

अहं द्रष्टा ब्रह्मलोके च सम्यक्
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १७४ ।।

जब देवर्षि नारदके मुखसे मैंने यह बात सुनी कि श्रीकृष्ण और अर्जुन साक्षात् नर और नारायण हैं और इन्हें मैंने ब्रह्मलोकमें भलीभाँति देखा है, तभीसे मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ।। १७४ ।।

यदाश्रौषं लोकहिताय कृष्णं
शमार्थिनमुपयातं कुरूणाम् ।
शमं कुर्वाणमकृतार्थं च यातं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १७५ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण लोककल्याणके लिये शान्तिकी इच्छासे आये हुए हैं और कौरव-पाण्डवोंमें शान्ति-सन्धि करवाना चाहते हैं, परंतु वे अपने प्रयासमें असफल होकर लौट गये, तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रही ।। १७५ ।।

यदाश्रौषं कर्णदुर्योधनाभ्यां
बुद्धिं कृतां निग्रहे केशवस्य ।
तं चात्मानं बहुधा दर्शयानं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १७६ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि कर्ण और दुर्योधन दोनोंने यह सलाह की है कि श्रीकृष्णको कैद कर लिया जाय और श्रीकृष्णने अपने-आपको अनेक रूपोंमें विराट् या अखिल विश्वके रूपमें दिखा दिया, तभीसे मैंने विजयाशा त्याग दी थी ।। १७६ ।।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्

देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्

गीताप्रेस, गोरखपुर

नमस्कार

अवतारके लिये प्रार्थना

सिंह-बाघोंमें बालक भरत

कुमार भीमसेनका साँपोंपर कोप

एकलव्यकी गुरु-दक्षिणा

द्रौपदी-स्वयंवर

प्रभासक्षेत्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका मिलन

कृपासिंधु भगवान् श्रीकृष्ण

यदाश्रौषं वासुदेवे प्रयाते
रथस्यैकामग्रतस्तिष्ठमानाम् ।
आर्तां पृथां सान्त्वितां केशवेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १७७ ।।

जब मैंने सुना—यहाँसे श्रीकृष्णके लौटते समय अकेली कुन्ती उनके रथके सामने आकर खड़ी हो गयी और अपने हृदयकी आर्ति-वेदना प्रकट करने लगी, तब श्रीकृष्णने उसे भलीभाँति सान्त्वना दी। संजय! तभीसे मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ।। १७७ ।।

यदाश्रौषं मन्त्रिणं वासुदेवं
तथा भीष्मं शान्तनवं च तेषाम् ।
भारद्वाजं चाशिषोऽनुब्रुवाणं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १७८ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि श्रीकृष्ण पाण्डवोंके मन्त्री हैं और शान्तनुनन्दन भीष्म तथा भारद्वाज द्रोणाचार्य उन्हें आशीर्वाद दे रहे हैं, तब मुझे विजय-प्राप्तिकी किंचित् भी आशा नहीं रही ।। १७८ ।।

यदाश्रौषं कर्ण उवाच भीष्मं
नाहं योत्स्ये युध्यमाने त्वयीति ।
हित्वा सेनामपचक्राम चापि
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १७९ ।।

जब कर्णने भीष्मसे यह बात कह दी कि ‘जबतक तुम युद्ध करते रहोगे तबतक मैं पाण्डवोंसे नहीं लड़ूँगा’, इतना ही नहीं—वह सेनाको छोड़कर हट गया, संजय! तभीसे मेरे मनमें विजयके लिये कुछ भी आशा नहीं रह गयी ।। १७९ ।।

यदाश्रौषं वासुदेवार्जुनौ तौ
तथा धनुर्गाण्डीवमप्रमेयम् ।
त्रीण्युग्रवीर्याणि समागतानि
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १८० ।।

संजय! जब मैंने सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण, वीरवर अर्जुन और अतुलित शक्तिशाली गाण्डीव धनुष—ये तीनों भयंकर प्रभावशाली शक्तियाँ इकट्ठी हो गयी हैं, तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ।। १८० ।।

यदाश्रौषं कश्मलेनाभिपन्ने
रथोपस्थे सीदमानेऽर्जुने वै ।
कृष्णं लोकान् दर्शयानं शरीरे

तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १८१ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि रथके पिछले भागमें स्थित मोहग्रस्त अर्जुन अत्यन्त दु:खी हो रहे थे और श्रीकृष्णने अपने शरीरमें उन्हें सब लोकोंका दर्शन करा दिया, तभी मेरे मनसे विजयकी सारी आशा समाप्त हो गयी ।। १८१ ।।

यदाश्रौषं भीष्मममित्रकर्शनं
निघ्नन्तमाजावयुतं रथानाम् ।
नैषां कश्चिद् वध्यते ख्यातरूप-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १८२ ।।

जब मैंने सुना कि शत्रुघाती भीष्म रणांगणमें प्रतिदिन दस हजार रथियोंका संहार कर रहे हैं, परंतु पाण्डवोंका कोई प्रसिद्ध योद्धा नहीं मारा जा रहा है, संजय! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ।। १८२ ।।

यदाश्रौषं चापगेयेन संख्ये
स्वयं मृत्युं विहितं धार्मिकेण ।
तच्चाकार्षुः पाण्डवेयाः प्रहृष्टा-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १८३ ।।

जब मैंने सुना कि परम धार्मिक गंगानन्दन भीष्मने युद्धभूमिमें पाण्डवोंको अपनी मृत्युका उपाय स्वयं बता दिया और पाण्डवोंने प्रसन्न होकर उनकी उस आज्ञाका पालन किया। संजय! तभी मुझे विजयकी आशा नहीं रही ।। १८३ ।।

यदाश्रौषं भीष्ममत्यन्तशूरं
हतं पार्थेनाहवेष्वप्रधृष्यम् ।
शिखण्डिनं पुरतः स्थापयित्वा
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १८४ ।।

जब मैंने सुना कि अर्जुनने सामने शिखण्डीको खड़ा करके उसकी ओटसे सर्वथा अजेय अत्यन्त शूर भीष्मपितामहको युद्धभूमिमें गिरा दिया। संजय! तभी मेरी विजयकी आशा समाप्त हो गयी ।। १८४ ।।

यदाश्रौषं शरतल्पे शयानं
वृद्धं वीरं सादितं चित्रपुङ्खैः ।
भीष्मं कृत्वा सोमकानल्पशेषां-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १८५ ।।

जब मैंने सुना कि हमारे वृद्ध वीर भीष्मपितामह अधिकांश सोमकवंशी योद्धाओंका वध करके अर्जुनके बाणोंसे क्षत-विक्षत शरीर हो शरशय्यापर शयन कर रहे हैं, संजय! तभी मैंने समझ लिया अब मेरी विजय नहीं हो सकती ।। १८५ ।।

यदाश्रौषं शान्तनवे शयाने
पानीयार्थे चोदितेनार्जुनेन ।
भूमिं भित्त्वा तर्पितं तत्र भीष्मं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १८६ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि शान्तनुनन्दन भीष्मपितामहने शरशय्यापर सोते समय अर्जुनको संकेत किया और उन्होंने बाणसे धरतीका भेदन करके उनकी प्यास बुझा दी, तब मैंने विजयकी आशा त्याग दी ।। १८६ ।।

यदा वायुश्चन्द्रसूर्यौ च युक्तौ
कौन्तेयानामनुलोमा जयाय ।
नित्यं चास्माञ्श्वापदा भीषयन्ति
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १८७ ।।

जब वायु अनुकूल बहकर और चन्द्रमा-सूर्य लाभस्थानमें संयुक्त होकर पाण्डवोंकी विजयकी सूचना दे रहे हैं और कुत्ते आदि भयंकर प्राणी प्रतिदिन हमलोगोंको डरा रहे हैं। संजय! तब मैंने विजयके सम्बन्धमें अपनी आशा छोड़ दी ।। १८७ ।।

यदा द्रोणो विविधानस्त्रमार्गान्
निदर्शयन् समरे चित्रयोधी ।
न पाण्डवाञ्श्रेष्ठतरान् निहन्ति
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १८८ ।।

संजय! हमारे आचार्य द्रोण बेजोड़ योद्धा थे और उन्होंने रणांगणमें अपने अस्त्र-शस्त्रके अनेकों विविध कौशल दिखलाये, परंतु जब मैंने सुना कि वे वीर-शिरोमणि पाण्डवोंमेंसे किसी एकका भी वध नहीं कर रहे हैं, तब मैंने विजयकी आशा त्याग दी ।। १८८ ।।

यदाश्रौषं चास्मदीयान् महारथान्
व्यवस्थितानर्जुनस्यान्तकाय ।
संशप्तकान् निहतानर्जुनेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १८९ ।।

संजय! मेरी विजयकी आशा तो तभी नहीं रही जब मैंने सुना कि मेरे जो महारथी वीर संशप्तक योद्धा अर्जुनके वधके लिये मोर्चेपर डटे हुए थे, उन्हें अकेले ही अर्जुनने मौतके घाट उतार दिया ।। १८९ ।।

यदाश्रौषं व्यूहमभेद्यमन्यै-
र्भारद्वाजेनात्तशस्त्रेण गुप्तम् ।
भित्त्वा सौभद्रं वीरमेकं प्रविष्टं

तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १९० ।।

संजय! स्वयं भारद्वाज द्रोणाचार्य अपने हाथमें शस्त्र उठाकर उस चक्रव्यूहकी रक्षा कर रहे थे, जिसको कोई दूसरा तोड़ ही नहीं सकता था, परंतु सुभद्रानन्दन वीर अभिमन्यु अकेला ही छिन्न-भिन्न करके उसमें घुस गया, जब यह बात मेरे कानोंतक पहुँची, तभी मेरी विजयकी आशा लुप्त हो गयी ।। १९० ।।

यदाभिमन्युं परिवार्य बालं
सर्वे हत्वा हृष्टरूपा बभूवुः ।
महारथाः पार्थमशक्नुवन्त-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १९१ ।।

संजय! मेरे बड़े-बड़े महारथी वीरवर अर्जुनके सामने तो टिक न सके और सबने मिलकर बालक अभिमन्युको घेर लिया और उसको मारकर हर्षित होने लगे, जब यह बात मुझतक पहुँची, तभीसे मैंने विजयकी आशा त्याग दी ।। १९१ ।।

यदाश्रौषमभिमन्युं निहत्य
हर्षान्मूढान् क्रोशतो धार्तराष्ट्रान् ।
क्रोधादुक्तं सैन्धवे चार्जुनेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १९२ ।।

जब मैंने सुना कि मेरे मूढ़ पुत्र अपने ही वंशके होनहार बालक अभिमन्युकी हत्या करके हर्षपूर्ण कोलाहल कर रहे हैं और अर्जुनने क्रोधवश जयद्रथको मारनेकी भीषण प्रतिज्ञा की है, संजय! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ।। १९२ ।।

यदाश्रौषं सैन्धवार्थे प्रतिज्ञां
प्रतिज्ञातां तद्वधायार्जुनेन ।
सत्यां तीर्णां शत्रुमध्ये च तेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १९३ ।।

जब मैंने सुना कि अर्जुनने जयद्रथको मार डालनेकी जो दृढ़ प्रतिज्ञा की थी, उसने वह शत्रुओंसे भरी रणभूमिमें सत्य एवं पूर्ण करके दिखा दी। संजय! तभीसे मुझे विजयकी सम्भावना नहीं रह गयी ।। १९३ ।।

यदाश्रौषं श्रान्तहये धनञ्जये
मुक्त्वा हयान् पाययित्वोपवृत्तान् ।
पुनर्युक्त्वा वासुदेवं प्रयातं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १९४ ।।

युद्धभूमिमें धनञ्जय अर्जुनके घोड़े अत्यन्त श्रान्त और प्याससे व्याकुल हो रहे थे। स्वयं श्रीकृष्णने उन्हें रथसे खोलकर पानी पिलाया। फिरसे रथके निकट लाकर उन्हें जोत दिया और अर्जुनसहित वे सकुशल लौट गये। जब मैंने यह बात सुनी, संजय! तभी मेरी विजयकी आशा समाप्त हो गयी ।। १९४ ।।

यदाश्रौषं वाहनेष्वक्षमेषु
रथोपस्थे तिष्ठता पाण्डवेन ।
सर्वान् योधान् वारितानर्जुनेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १९५ ।।

जब संग्रामभूमिमें रथके घोड़े अपना काम करनेमें असमर्थ हो गये, तब रथके समीप ही खड़े होकर पाण्डववीर अर्जुनने अकेले ही सब योद्धाओंका सामना किया और उन्हें रोक दिया। मैंने जिस समय यह बात सुनी, संजय! उसी समय मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ।। १९५ ।।

यदाश्रौषं नागबलैः सुदुःसहं
द्रोणानीकं युयुधानं प्रमथ्य ।
यातं वार्ष्णेयं यत्र तौ कृष्णपार्थौ
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १९६ ।।

जब मैंने सुना कि वृष्णिवंशावतंस युयुधान—सात्यकिने अकेले ही द्रोणाचार्यकी उस सेनाको, जिसका सामना हाथियोंकी सेना भी नहीं कर सकती थी, तितर-बितर और तहस-नहस कर दिया तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनके पास पहुँच गये। संजय! तभीसे मेरे लिये विजयकी आशा असम्भव हो गयी ।। १९६ ।।

यदाश्रौषं कर्णमासाद्य मुक्तं
वधाद् भीमं कुत्सयित्वा वचोभिः ।
धनुष्कोट्याऽऽतुद्य कर्णेन वीरं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १९७ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि वीर भीमसेन कर्णके पंजेमें फँस गये थे, परंतु कर्णने तिरस्कारपूर्वक झिड़ककर और धनुषकी नोक चुभाकर ही छोड़ दिया तथा भीमसेन मृत्युके मुखसे बच निकले। संजय! तभी मेरी विजयकी आशापर पानी फिर गया ।। १९७ ।।

यदा द्रोणः कृतवर्मा कृपश्च
कर्णो द्रौणिर्मद्रराजश्च शूरः ।
अमर्षयन् सैन्धवं वध्यमानं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १९८ ।।

जब मैंने सुना कि द्रोणाचार्य, कृतवर्मा, कृपाचार्य, कर्ण और अश्वत्थामा तथा वीर शल्यने भी सिन्धुराज जयद्रथका वध सह लिया, प्रतीकार नहीं किया। संजय! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ।। १९८ ।।

यदाश्रौषं देवराजेन दत्तां
दिव्यां शक्तिं व्यंसितां माधवेन ।
घटोत्कचे राक्षसे घोररूपे
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। १९९ ।।

संजय! देवराज इन्द्रने कर्णको कवचके बदले एक दिव्य शक्ति दे रखी थी और उसने उसे अर्जुनपर प्रयुक्त करनेके लिये रख छोड़ा था; परंतु मायापति श्रीकृष्णने भयंकर राक्षस घटोत्कचपर छुड़वाकर उससे भी वंचित करवा दिया। जिस समय यह बात मैंने सुनी, उसी समय मेरी विजयकी आशा टूट गयी ।। १९९ ।।

यदाश्रौषं कर्णघटोत्कचाभ्यां
युद्धे मुक्तां सूतपुत्रेण शक्तिम् ।
यया वध्यः समरे सव्यसाची
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २०० ।।

जब मैंने सुना कि कर्ण और घटोत्कचके युद्धमें कर्णने वह शक्ति घटोत्कचपर चला दी, जिससे रणांगणमें अर्जुनका वध किया जा सकता था। संजय! तब मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ।। २०० ।।

यदाश्रौषं द्रोणमाचार्यमेकं
धृष्टद्युम्नेनाभ्यतिक्रम्य धर्मम् ।
रथोपस्थे प्रायगतं विशस्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २०१ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि आचार्य द्रोण पुत्रकी मृत्युके शोकसे शस्त्रादि छोड़कर आमरण अनशन करनेके निश्चयसे अकेले रथके पास बैठे थे और धृष्टद्युम्नने धर्मयुद्धकी मर्यादाका उल्लंघन करके उन्हें मार डाला, तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी ।। २०१ ।।

यदाश्रौषं द्रौणिना द्वैरथस्थं
माद्रीसुतं नकुलं लोकमध्ये ।
समं युद्धे मण्डलेभ्यश्चरन्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २०२ ।।

जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा-जैसे वीरके साथ बड़े-बड़े वीरोंके सामने ही माद्रीनन्दन नकुल अकेले ही अच्छी तरह युद्ध कर रहे हैं। संजय! तब मुझे

जीतकी आशा न रही ।। २०२ ।।

यदा द्रोणे निहते द्रोणपुत्रो
नारायणं दिव्यमस्त्रं विकुर्वन् ।
नैषामन्तं गतवान् पाण्डवानां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २०३ ।।

जब द्रोणाचार्यकी हत्याके अनन्तर अश्वत्थामाने दिव्य नारायणास्त्रका प्रयोग किया; परंतु उससे वह पाण्डवोंका अन्त नहीं कर सका। संजय! तभी मेरी विजयकी आशा समाप्त हो गयी ।। २०३ ।।

यदाश्रौषं भीमसेनेन पीतं
रक्तं भ्रातुर्युधि दुःशासनस्य ।
निवारितं नान्यतमेन भीमं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २०४ ।।

जब मैंने सुना कि रणभूमिमें भीमसेनने अपने भाई दुःशासनका रक्तपान किया, परंतु वहाँ उपस्थित सत्पुरुषोंमेंसे किसी एकने भी निवारण नहीं किया। संजय! तभीसे मुझे विजयकी आशा बिलकुल नहीं रह गयी ।। २०४ ।।

यदाश्रौषं कर्णमत्यन्तशूरं
हतं पार्थेनाहवेष्वप्रधृष्यम् ।
तस्मिन् भ्रातॄणां विग्रहे देवगुह्ये
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २०५ ।।

संजय! वह भाईका भाईसे युद्ध देवताओंकी गुप्त प्रेरणासे हो रहा था। जब मैंने सुना कि भिन्न-भिन्न युद्धभूमियोंमें कभी पराजित न होनेवाले अत्यन्त शूरशिरोमणि कर्णको पृथापुत्र अर्जुनने मार डाला, तब मेरी विजयकी आशा नष्ट हो गयी ।। २०५ ।।

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रं च शूरं
दुःशासनं कृतवर्माणमुग्रम् ।
युधिष्ठिरं धर्मराजं जयन्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २०६ ।।

जब मैंने सुना कि धर्मराज युधिष्ठिर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, शूरवीर दुःशासन एवं उग्र योद्धा कृतवर्माको भी युद्धमें जीत रहे हैं, संजय! तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रह गयी ।। २०६ ।।

यदाश्रौषं निहतं मद्रराजं
रणे शूरं धर्मराजेन सूत ।
सदा संग्रामे स्पर्धते यस्तु कृष्णं

तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २०७ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि रणभूमिमें धर्मराज युधिष्ठिरने शूरशिरोमणि मद्रराज शल्यको मार डाला, जो सर्वदा युद्धमें घोड़े हाँकनेके सम्बन्धमें श्रीकृष्णकी होड़ करनेपर उतारू रहता था, तभीसे मैं विजयकी आशा नहीं करता था ।। २०७ ।।

यदाश्रौषं कलहद्यूतमूलं

मायाबलं सौबलं पाण्डवेन ।

हतं संग्रामे सहदेवेन पापं

तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २०८ ।।

जब मैंने सुना कि कलहकारी द्यूतके मूल कारण, केवल छल-कपटके बलसे बली पापी शकुनिको पाण्डुनन्दन सहदेवने रणभूमिमें यमराजके हवाले कर दिया, संजय! तभी मेरी विजयकी आशा समाप्त हो गयी ।। २०८ ।।

यदाश्रौषं श्रान्तमेकं शयानं

ह्रदं गत्वा स्तम्भयित्वा तदम्भः ।

दुर्योधनं विरथं भग्नशक्तिं

तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २०९ ।।

जब दुर्योधनका रथ छिन्न-भिन्न हो गया, शक्ति क्षीण हो गयी और वह थक गया, तब सरोवरपर जाकर वहाँका जल स्तम्भित करके उसमें अकेला ही सो गया। संजय! जब मैंने यह संवाद सुना, तब मेरी विजयकी आशा भी चली गयी ।। २०९ ।।

यदाश्रौषं पाण्डवांस्तिष्ठमानान्

गत्वा ह्रदे वासुदेवेन सार्धम् ।

अमर्षणं धर्षयतः सुतं मे

तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २१० ।।

जब मैंने सुना कि उसी सरोवरके तटपर श्रीकृष्णके साथ पाण्डव जाकर खड़े हैं और मेरे पुत्रको असह्य दुर्वचन कहकर नीचा दिखा रहे हैं, तभी संजय! मैंने विजयकी आशा सर्वथा त्याग दी ।। २१० ।।

यदाश्रौषं विविधांश्चित्रमार्गान्

गदायुद्धे मण्डलशश्चरन्तम् ।

मिथ्याहतं वासुदेवस्य बुद्ध्या

तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २११ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि गदायुद्धमें मेरा पुत्र बड़ी निपुणतासे पैंतरे बदलकर रणकौशल प्रकट कर रहा है और श्रीकृष्णकी सलाहसे भीमसेनने

गदायुद्धकी मर्यादाके विपरीत जाँघमें गदाका प्रहार करके उसे मार डाला, तब तो संजय! मेरे मनमें विजयकी आशा रह ही नहीं गयी ।। २११ ।।

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रादिभिस्तै-
र्हतान् पञ्चालान् द्रौपदेयांश्च सुप्तान् ।
कृतं बीभत्समयशस्यं च कर्म
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २१२ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा आदि दुष्टोंने सोते हुए पाञ्चाल नरपतियों और द्रौपदीके होनहार पुत्रोंको मारकर अत्यन्त बीभत्स और वंशके यशको कलंकित करनेवाला काम किया है, तब तो मुझे विजयकी आशा रही ही नहीं ।। २१२ ।।

यदाश्रौषं भीमसेनानुयाते-
नाश्वत्थाम्ना परमास्त्रं प्रयुक्तम् ।
क्रुद्धेनैषीकमवधीद् येन गर्भं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २१३ ।।

संजय! जब मैंने सुना कि भीमसेनके पीछा करनेपर अश्वत्थामाने क्रोधपूर्वक सींकके बाणपर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग कर दिया, जिससे कि पाण्डवोंका गर्भस्थ वंशधर भी नष्ट हो जाय, तभी मेरे मनमें विजयकी आशा नहीं रही ।। २१३ ।।

यदाश्रौषं ब्रह्मशिरोऽर्जुनेन
स्वस्तीत्युक्त्वास्त्रमस्त्रेण शान्तम् ।
अश्वत्थाम्ना मणिरत्नं च दत्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ।। २१४ ।।

जब मैंने सुना कि अश्वत्थामाके द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मशिर अस्त्रको अर्जुनने ‘स्वस्ति’, ‘स्वस्ति’ कहकर अपने अस्त्रसे शान्त कर दिया और अश्वत्थामाको अपना मणिरत्न भी देना पड़ा। संजय! उसी समय मुझे जीतकी आशा नहीं रही ।। २१४ ।।

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रेण गर्भे
वैराट्या वै पात्यमाने महास्त्रैः ।
द्वैपायनः केशवो द्रोणपुत्रं
परस्परेणाभिशापैः शशाप ।। २१५ ।।
शोच्या गान्धारी पुत्रपौत्रैर्विहीना
तथा बन्धुभिः पितृभिर्भ्रातृभिश्च ।
कृतं कार्यं दुष्करं पाण्डवेयैः

प्राप्तं राज्यमसपत्नं पुनस्तैः ।। २१६ ।।

जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा अपने महान् अस्त्रोंका प्रयोग करके उत्तराका गर्भ गिरानेकी चेष्टा कर रहा है तथा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने परस्पर विचार करके उसे शापोंसे अभिशप्त कर दिया है (तभी मेरी विजयकी आशा सदाके लिये समाप्त हो गयी)। इस समय गान्धारीकी दशा शोचनीय हो गयी है; क्योंकि उसके पुत्र-पौत्र, पिता तथा भाई-बन्धुओंमेंसे कोई नहीं रहा। पाण्डवोंने दुष्कर कार्य कर डाला। उन्होंने फिरसे अपना अकण्टक राज्य प्राप्त कर लिया ।। २१५-२१६ ।।

कष्टं युद्धे दश शेषाः श्रुता मे
त्रयोऽस्माकं पाण्डवानां च सप्त ।
द्व्यूना विंशतिराहताक्षौहिणीनां
तस्मिन् संग्रामे भैरवे क्षत्रियाणाम् ।। २१७ ।।

हाय-हाय! कितने कष्टकी बात है, मैंने सुना है कि इस भयंकर युद्धमें केवल दस व्यक्ति बचे हैं; मेरे पक्षके तीन—कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा तथा पाण्डवपक्षके सात—श्रीकृष्ण, सात्यकि और पाँचों पाण्डव। क्षत्रियोंके इस भीषण संग्राममें अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ नष्ट हो गयीं ।। २१७ ।।

तमस्त्वतीव विस्तीर्णं मोह आविशतीव माम् ।
संज्ञां नोपलभे सूत मनो विह्वलतीव मे ।। २१८ ।।

सारथे! यह सब सुनकर मेरी आँखोंके सामने घना अन्धकार छाया हुआ है। मेरे हृदयमें मोहका आवेश-सा होता जा रहा है। मैं चेतना-शून्य हो रहा हूँ। मेरा मन विह्वल-सा हो रहा है ।। २१८ ।।

सौतिरुवाच

इत्युक्त्वा धृतराष्ट्रोऽथ विलप्य बहुदुःखितः ।
मूर्च्छितः पुनराश्वस्तः संजयं वाक्यमब्रवीत् ।। २१९ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—धृतराष्ट्रने ऐसा कहकर बहुत विलाप किया और अत्यन्त दुःखके कारण वे मूर्च्छित हो गये। फिर होशमें आकर कहने लगे ।। २१९ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

संजयैवं गते प्राणांस्त्यक्तुमिच्छामि मा चिरम् ।
स्तोकं ह्यपि न पश्यामि फलं जीवितधारणे ।। २२० ।।

धृतराष्ट्रने कहा—संजय! युद्धका यह परिणाम निकलनेपर अब मैं अविलम्ब अपने प्राण छोड़ना चाहता हूँ। अब जीवन-धारण करनेका कुछ भी

फल मुझे दिखलायी नहीं देता ।। २२० ।।

सौतिरुवाच

तं तथावादिनं दीनं विलपन्तं महीपतिम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं मुह्यमानं पुनः पुनः ।। २२१ ।।
गावल्गणिरिदं धीमान् महार्थं वाक्यमब्रवीत् ।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—जब राजा धृतराष्ट्र दीनतापूर्वक विलाप करते हुए ऐसा कह रहे थे और नागके समान लम्बी साँस ले रहे थे तथा बार-बार मूर्च्छित होते जा रहे थे, तब बुद्धिमान् संजयने यह सारगर्भित प्रवचन किया ।। २२१½ ।।

संजय उवाच

श्रुतवानसि वै राजन् महोत्साहान् महाबलान् ।। २२२ ।।
द्वैपायनस्य वदतो नारदस्य च धीमतः ।

संजयने कहा—महाराज! आपने परम ज्ञानी देवर्षि नारद एवं महर्षि व्यासके मुखसे महान् उत्साहसे युक्त एवं परम पराक्रमी नृपतियोंका चरित्र श्रवण किया है ।। २२२½ ।।

महत्सु राजवंशेषु गुणैः समुदितेषु च ।। २२३ ।।
जातान् दिव्यास्त्रविदुषः शक्रप्रतिमतेजसः ।
धर्मेण पृथिवीं जित्वा यज्ञैरिष्ट्वाप्तदक्षिणैः ।। २२४ ।।
अस्मिँल्लोके यशः प्राप्य ततः कालवशं गतान् ।
शैब्यं महारथं वीरं सृञ्जयं जयतां वरम् ।। २२५ ।।
सुहोत्रं रन्तिदेवं च काक्षीवन्तमथौशिजम् ।
बाह्लीकं दमनं चैद्यं शर्यातिमजितं नलम् ।। २२६ ।।
विश्वामित्रममित्रघ्नमम्बरीषं महाबलम् ।
मरुत्तं मनुमिक्ष्वाकुं गयं भरतमेव च ।। २२७ ।।
रामं दाशरथिं चैव शशबिन्दुं भगीरथम् ।
कृतवीर्यं महाभागं तथैव जनमेजयम् ।। २२८ ।।
ययातिं शुभकर्माणं देवैर्यो याजितः स्वयम् ।
चैत्ययूपाङ्किता भूमिर्यस्येयं सवनाकरा ।। २२९ ।।
इति राज्ञां चतुर्विंशन्नारदेन सुरर्षिणा ।
पुत्रशोकाभितप्ताय पुरा श्वैत्याय कीर्तितम् ।। २३० ।।

आपने ऐसे-ऐसे राजाओंके चरित्र सुने हैं जो सर्वसद्‌गुणसम्पन्न महान् राजवंशोंमें उत्पन्न, दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंके पारदर्शी एवं देवराज इन्द्रके समान

प्रभावशाली थे। जिन्होंने धर्मयुद्धसे पृथ्वीपर विजय प्राप्त की, बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञ किये, इस लोकमें उज्ज्वल यश प्राप्त किया और फिर कालके गालमें समा गये। इनमेंसे महारथी शैब्य, विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ सृंजय, सुहोत्र, रन्तिदेव, काक्षीवान्, औशिज, बाह्लीक, दमन, चैद्य, शर्याति, अपराजित नल, शत्रुघाती विश्वामित्र, महाबली अम्बरीष, मरुत्त, मनु, इक्ष्वाकु, गय, भरत दशरथनन्दन श्रीराम, शशबिन्दु, भगीरथ, महाभाग्यशाली कृतवीर्य, जनमेजय और वे शुभकर्मा ययाति, जिनका यज्ञ देवताओंने स्वयं करवाया था, जिन्होंने अपनी राष्ट्रभूमिको यज्ञोंकी खान बना दिया था और सारी पृथ्वी यज्ञ-सम्बन्धी यूपों (खंभों)-से अंकित कर दी थी—इन चौबीस राजाओंका वर्णन पूर्वकालमें देवर्षि नारदने पुत्रशोकसे अत्यन्त संतप्त महाराज श्वैत्यका दुःख दूर करनेके लिये किया था ।। २२३—२३० ।।

तेभ्यश्चान्ये गताः पूर्वं राजानो बलवत्तराः ।
महारथा महात्मानः सर्वैः समुदिता गुणैः ।। २३१ ।।
पूरुः कुरुर्यदुः शूरो विष्वगश्वो महाद्युतिः ।
अणुहो युवनाश्वश्च ककुत्स्थो विक्रमी रघुः ।। २३२ ।।
विजयो वीतिहोत्रोऽङ्गो भवः श्वेतो बृहद्गुरुः ।
उशीनरः शतरथः कङ्को दुलिदुहो द्रुमः ।। २३३ ।।
दम्भोद्भवः परो वेनः सगरः संकृतिर्निमिः ।
अजेयः परशुः पुण्ड्रः शम्भुर्देवावृधोऽनघः ।। २३४ ।।
देवाह्वयः सुप्रतिमः सुप्रतीको बृहद्रथः ।
महोत्साहो विनीतात्मा सुक्रतुर्नैषधो नलः ।। २३५ ।।
सत्यव्रतः शान्तभयः सुमित्रः सुबलः प्रभुः ।
जानुजङ्घोऽनरण्योऽर्कः प्रियभृत्यः शुचिव्रतः ।। २३६ ।।
बलबन्धुर्निरामर्दः केतुशृङ्गो बृहद्बलः ।
धृष्टकेतुर्बृहत्केतुर्दीप्तकेतुर्निरामयः ।। २३७ ।।
अवीक्षिच्चपलो धूर्तः कृतबन्धुर्दृढेषुधिः ।
महापुराणसम्भाव्यः प्रत्यङ्गः परहा श्रुतिः ।। २३८ ।।
एते चान्ये च राजानः शतशोऽथ सहस्रशः ।
श्रूयन्ते शतशश्चान्ये संख्याताश्चैव पद्मशः ।। २३९ ।।
हित्वा सुविपुलान् भोगान् बुद्धिमन्तो महाबलाः ।
राजानो निधनं प्राप्तास्तव पुत्रा इव प्रभो ।। २४० ।।

महाराज! पिछले युगमें इन राजाओंके अतिरिक्त दूसरे और बहुत-से महारथी, महात्मा, शौर्य-वीर्य आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न, परम पराक्रमी राजा हो

गये हैं। जैसे—पूरु, कुरु, यदु, शूर, महातेजस्वी विष्वगश्व, अणुह, युवनाश्व, ककुत्स्थ, पराक्रमी रघु, विजय, वीतिहोत्र, अंग, भव, श्वेत, बृहद्‌गुरु, उशीनर, शतरथ, कंक, दुलिदुह, द्रुम, दम्भोद्भव, पर, वेन, सगर, संकृति, निमि, अजेय, परशु, पुण्ड्र, शम्भु, निष्पाप देवावृध, देवाह्वय, सुप्रतिम, सुप्रतीक, बृहद्रथ, महान् उत्साही और महाविनयी सुक्रतु, निषधराज नल, सत्यव्रत, शान्तभय, सुमित्र, सुबल, प्रभु, जानुजंघ, अनरण्य, अर्क, प्रियभृत्य, शुचिव्रत, बलबन्धु, निरामर्द, केतुशृंग, बृहद्बल, धृष्टकेतु, बृहत्केतु, दीप्तकेतु, निरामय, अवीक्षित्, चपल, धूर्त, कृतबन्धु, दृढेषुधि, महापुराणोंमें सम्मानित प्रत्यंग, परहा और श्रुति—ये और इनके अतिरिक्त दूसरे सैकड़ों तथा हजारों राजा सुने जाते हैं, जिनका सैकड़ों बार वर्णन किया गया है और इनके सिवा दूसरे भी, जिनकी संख्या पद्मोंमें कही गयी है, बड़े बुद्धिमान् और शक्तिशाली थे। महाराज! किंतु वे अपने विपुल भोग-वैभवको छोड़कर वैसे ही मर गये, जैसे आपके पुत्रोंकी मृत्यु हुई है ।। २३१—२४० ।।

येषां दिव्यानि कर्माणि विक्रमस्त्याग एव च ।
माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्यं शौचं दयार्जवम् ।। २४१ ।।
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ।
सर्वर्द्धिगुणसम्पन्नास्ते चापि निधनं गताः ।। २४२ ।।

जिनके दिव्य कर्म, पराक्रम, त्याग, माहात्म्य, आस्तिकता, सत्य, पवित्रता, दया और सरलता आदि सद्‌गुणोंका वर्णन बड़े-बड़े विद्वान् एवं श्रेष्ठतम कवि प्राचीन ग्रन्थोंमें तथा लोकमें भी करते रहते हैं, वे समस्त सम्पत्ति और सद्‌गुणोंसे सम्पन्न महापुरुष भी मृत्युको प्राप्त हो गये ।। २४१-२४२ ।।

तव पुत्रा दुरात्मानः प्रतप्ताश्चैव मन्युना ।
लुब्धा दुर्वृत्तभूयिष्ठा न ताञ्छोचितुमर्हसि ।। २४३ ।।

आपके पुत्र दुर्योधन आदि तो दुरात्मा, क्रोधसे जले-भुने, लोभी एवं अत्यन्त दुराचारी थे। उनकी मृत्युपर आपको शोक नहीं करना चाहिये ।। २४३ ।।

श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान् प्राज्ञसम्मतः ।
येषां शास्त्रानुगा बुद्धिर्न ते मुह्यन्ति भारत ।। २४४ ।।

आपने गुरुजनोंसे सत्-शास्त्रोंका श्रवण किया है। आपकी धारणाशक्ति तीव्र है, आप बुद्धिमान् हैं और ज्ञानवान् पुरुष आपका आदर करते हैं। भरतवंशशिरोमणे! जिनकी बुद्धि शास्त्रके अनुसार सोचती है, वे कभी शोक-मोहसे मोहित नहीं होते ।। २४४ ।।

निग्रहानुग्रहौ चापि विदितौ ते नराधिप ।
नात्यन्तमेवानुवृत्तिः कार्या ते पुत्ररक्षणे ।। २४५ ।।

महाराज! आपने पाण्डवोंके साथ निर्दयता और अपने पुत्रोंके प्रति पक्षपातका जो बर्ताव किया है, वह आपको विदित ही है। इसलिये अब पुत्रोंके जीवनके लिये आपको अत्यन्त व्याकुल नहीं होना चाहिये ।। २४५ ।।

भवितव्यं तथा तच्च नानुशोचितुमर्हसि ।
दैवं प्रज्ञाविशेषेण को निवर्तितुमर्हति ।। २४६ ।।

होनहार ही ऐसी थी, इसके लिये आपको शोक नहीं करना चाहिये। भला, इस सृष्टिमें ऐसा कौन-सा पुरुष है, जो अपनी बुद्धिकी विशेषतासे होनहार मिटा सके ।। २४६ ।।

विधातृविहितं मार्गं न कश्चिदतिवर्तते ।
कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे ।। २४७ ।।

अपने कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है—यह विधाताका विधान है। इसको कोई टाल नहीं सकता। जन्म-मृत्यु और सुख-दुःख सबका मूल कारण काल ही है ।। २४७ ।।

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ।। २४८ ।।

काल ही प्राणियोंकी सृष्टि करता है और काल ही समस्त प्रजाका संहार करता है। फिर प्रजाका संहार करनेवाले उस कालको महाकालस्वरूप परमात्मा ही शान्त करता है ।। २४८ ।।

कालो हि कुरुते भावान् सर्वलोके शुभाशुभान् ।
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः ।। २४९ ।।

सम्पूर्ण लोकोंमें यह काल ही शुभ-अशुभ सब पदार्थोंका कर्ता है। काल ही सम्पूर्ण प्रजाका संहार करता है और वही पुनः सबकी सृष्टि भी करता है ।। २४९ ।।

कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।
कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः ।। २५० ।।
अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम् ।
तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि ।। २५१ ।।

जब सुषुप्ति-अवस्थामें सब इन्द्रियाँ और मनोवृतियाँ लीन हो जाती हैं, तब भी यह काल जागता रहता है। कालकी गतिका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानरूपसे बेरोक-टोक अपनी क्रिया करता रहता है। इस सृष्टिमें जितने पदार्थ हो चुके, भविष्यमें होंगे और इस समय वर्तमान हैं, वे सब कालकी रचना हैं; ऐसा समझकर आपको अपने विवेकका परित्याग नहीं करना चाहिये ।। २५०-२५१ ।।

सौतिरुवाच

इत्येवं पुत्रशोकार्तं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
आश्वास्य स्वस्थमकरोत् सूतो गावल्गणिस्तदा ।। २५२ ।।
अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ।। २५३ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—सूतवंशी संजयने यह सब कहकर पुत्रशोकसे व्याकुल नरपति धृतराष्ट्रको समझाया-बुझाया और उन्हें स्वस्थ किया। इसी इतिहासके आधारपर श्रीकृष्णद्वैपायनने इस परम पुण्यमयी उपनिषद्-रूप महाभारतका (शोकातुर प्राणियोंका शोक नाश करनेके लिये) निरूपण किया। विद्वज्जन लोकमें और श्रेष्ठतम कवि पुराणोंमें सदासे इसीका वर्णन करते आये हैं ।। २५२-२५३ ।।

भारताध्ययनं पुण्यमपि पादमधीयतः ।
श्रद्दधानस्य पूयन्ते सर्वपापान्यशेषतः ।। २५४ ।।

महाभारतका अध्ययन अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाला है। जो कोई श्रद्धाके साथ इसके किसी एक श्लोकके एक पादका भी अध्ययन करता है, उसके सब पाप सम्पूर्णरूपसे मिट जाते हैं ।। २५४ ।।

देवा देवर्षयो ह्यत्र तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।
कीर्त्यन्ते शुभकर्माणस्तथा यक्षा महोरगाः ।। २५५ ।।

इस ग्रन्थरत्नमें शुभ कर्म करनेवाले देवता, देवर्षि, निर्मल ब्रह्मर्षि, यक्ष और महानागोंका वर्णन किया गया है ।। २५५ ।।

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ।। २५६ ।।

इस ग्रन्थके मुख्य विषय हैं स्वयं सनातन परब्रह्मस्वरूप वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण। उन्हींका इसमें संकीर्तन किया गया है। वे ही सत्य, ऋत, पवित्र एवं पुण्य हैं ।। २५६ ।।

शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम् ।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः ।। २५७ ।।

वे ही शाश्वत परब्रह्म हैं और वे ही अविनाशी सनातन ज्योति हैं। मनीषी पुरुष उन्हींकी दिव्य लीलाओंका संकीर्तन किया करते हैं ।। २५७ ।।

असच्च सदसच्चैव यस्माद् विश्वं प्रवर्तते ।
संततिश्च प्रवृत्तिश्च जन्ममृत्युपुनर्भवाः ।। २५८ ।।

उन्हींसे असत्, सत् तथा सदसत्—उभयरूप सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है। उन्हींसे संतति (प्रजा), प्रवृत्ति (कर्त्तव्य-कर्म), जन्म-मृत्यु तथा पुनर्जन्म होते

हैं ।। २५८ ।।

अध्यात्मं श्रूयते यच्च पञ्चभूतगुणात्मकम् ।
अव्यक्तादि परं यच्च स एव परिगीयते ।। २५९ ।।

इस महाभारतमें जीवात्माका स्वरूप भी बतलाया गया है एवं जो सत्त्व-रज-तम—इन तीनों गुणोंके कार्यरूप पाँच महाभूत हैं, उनका तथा जो अव्यक्त प्रकृति आदिके मूल कारण परम ब्रह्म परमात्मा हैं, उनका भी भलीभाँति निरूपण किया गया है ।। २५९ ।।

यत्तद् यतिवरा मुक्ता ध्यानयोगबलान्विताः ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।। २६० ।।

ध्यानयोगकी शक्तिसे सम्पन्न जीवन्मुक्त यतिवर, दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान अपने हृदयमें अवस्थित उन्हीं परमात्माका अनुभव करते हैं ।। २६० ।।

श्रद्दधानः सदा युक्तः सदा धर्मपरायणः ।
आसेवन्निममध्यायं नरः पापात् प्रमुच्यते ।। २६१ ।।

जो धर्मपरायण पुरुष श्रद्धाके साथ सर्वदा सावधान रहकर प्रतिदिन इस अध्यायका सेवन करता है, वह पाप-तापसे मुक्त हो जाता है ।। २६१ ।।

अनुक्रमणिकाध्यायं भारतस्येममादितः ।
आस्तिकः सततं शृण्वन् न कृच्छ्रेष्ववसीदति ।। २६२ ।।

जो आस्तिक पुरुष महाभारतके इस अनुक्रमणिका-अध्यायको आदिसे अन्ततक प्रतिदिन श्रवण करता है, वह संकटकालमें भी दुःखसे अभिभूत नहीं होता ।। २६२ ।।

उभे संध्ये जपन् किंचित् सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ।
अनुक्रमण्या यावत् स्यादह्ना रात्र्या च संचितम् ।। २६३ ।।

जो इस अनुक्रमणिका-अध्यायका कुछ अंश भी प्रातः-सायं अथवा मध्याह्नमें जपता है, वह दिन अथवा रात्रिके समय संचित सम्पूर्ण पापराशिसे तत्काल मुक्त हो जाता है ।। २६३ ।।

भारतस्य वपुर्ह्येतत् सत्यं चामृतमेव च ।
नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा ।। २६४ ।।
आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा ।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ।। २६५ ।।
यथैतानीतिहासानां तथा भारतमुच्यते ।
यश्चैनं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान् पादमन्ततः ।। २६६ ।।
अक्षय्यमन्नपानं वै पितृंस्तस्योपतिष्ठते ।

यह अध्याय महाभारतका मूल शरीर है। यह सत्य एवं अमृत है। जैसे दहीमें नवनीत, मनुष्योंमें ब्राह्मण, वेदोंमें उपनिषद्, ओषधियोंमें अमृत, सरोवरोंमें समुद्र और चौपायोंमें गाय सबसे श्रेष्ठ है, वैसे ही उन्हींके समान इतिहासोंमें यह महाभारत भी है। जो श्राद्धमें भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंको अन्तमें इस अध्यायका एक चौथाई भाग अथवा श्लोकका एक चरण भी सुनाता है, उसके पितरोंको अक्षय अन्न-पानकी प्राप्ति होती है ।। २६४-२६६½ ।।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।। २६७ ।।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्श्रावयित्वार्थमश्नुते ।। २६८ ।।

इतिहास और पुराणोंकी सहायतासे ही वेदोंके अर्थका विस्तार एवं समर्थन करना चाहिये। जो इतिहास एवं पुराणोंसे अनभिज्ञ है, उससे वेद डरते रहते हैं कि कहीं यह मुझपर प्रहार कर देगा। जो विद्वान् श्रीकृष्णद्वैपायनद्वारा कहे हुए इस वेदका दूसरोंको श्रवण कराते हैं, उन्हें मनोवांछित अर्थकी प्राप्ति होती है ।। २६७-२६८ ।।

भ्रूणहत्यादिकं चापि पापं जह्यादसंशयम् ।
य इमं शुचिरध्यायं पठेत् पर्वणि पर्वणि ।। २६९ ।।
अधीतं भारतं तेन कृत्स्नं स्यादिति मे मतिः ।
यश्चैनं शृणुयान्नित्यमार्षं श्रद्धासमन्वितः ।। २७० ।।
स दीर्घमायुः कीर्तिं च स्वर्गतिं चाप्नुयान्नरः ।
एकतश्चतुरो वेदान् भारतं चैतदेकतः ।। २७१ ।।
पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम् ।
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा ।। २७२ ।।
तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते ।
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम् ।। २७३ ।।

और इससे भ्रूणहत्या आदि पापोंका भी नाश हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है। जो पवित्र होकर प्रत्येक पर्वपर इस अध्यायका पाठ करता है, उसे सम्पूर्ण महाभारतके अध्ययनका फल मिलता है, ऐसा मेरा निश्चय है। जो पुरुष श्रद्धाके साथ प्रतिदिन इस महर्षि व्यासप्रणीत ग्रन्थरत्नका श्रवण करता है, उसे दीर्घ आयु, कीर्ति और स्वर्गकी प्राप्ति होती है। प्राचीन कालमें सब देवताओंने इकट्ठे होकर तराजूके एक पलड़ेपर चारों वेदोंको और दूसरेपर महाभारतको रखा। परंतु जब यह रहस्यसहित चारों वेदोंकी अपेक्षा अधिक भारी निकला, तभीसे संसारमें यह महाभारतके नामसे कहा जाने लगा। सत्यके तराजूपर तौलनेसे यह

ग्रन्थ महत्त्व, गौरव अथवा गम्भीरतामें वेदोंसे भी अधिक सिद्ध हुआ है ।। २६९—२७३ ।।

महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। २७४ ।।

अतएव महत्ता, भार अथवा गम्भीरताकी विशेषतासे ही इसको महाभारत कहते हैं। जो इस ग्रन्थके निर्वचनको जान लेता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ।। २७४ ।।

तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः
स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः ।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्क-
स्तान्येव भावोपहतानि कल्कः ।। २७५ ।।

तपस्या निर्मल है, शास्त्रोंका अध्ययन भी निर्मल है, वर्णाश्रमके अनुसार स्वाभाविक वेदोक्त विधि भी निर्मल है और कष्टपूर्वक उपार्जन किया हुआ धन भी निर्मल है, किंतु वे ही सब विपरीत भावसे किये जानेपर पापमय हैं अर्थात् दूसरेके अनिष्टके लिये किया हुआ तप, शास्त्राध्ययन और वेदोक्त स्वाभाविक कर्म तथा क्लेशपूर्वक उपार्जित धन भी पापयुक्त हो जाता है। (तात्पर्य यह कि इस ग्रन्थरत्नमें भावशुद्धिपर विशेष जोर दिया गया है; इसलिये महाभारत-ग्रन्थका अध्ययन करते समय भी भाव शुद्ध रखना चाहिये) ।। २७५ ।।

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अनुक्रमणिकापर्वणि प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अनुक्रमणिकापर्वमें पहला अध्याय पूरा हुआ ।। १ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ श्लोक मिलाकर कुल २८२ श्लोक हैं]

।। अनुक्रमणिकापर्व सम्पूर्ण ।।

---

१. जय शब्दका अर्थ महाभारत नामक इतिहास ही है। आगे चलकर कहा है—‘जयो नामेतिहासोऽयम्’ इत्यादि। अथवा अठारहों पुराण, वाल्मीकिरामायण आदि सभी आर्ष-ग्रन्थोंकी संज्ञा ‘जय’ है।

२. मंगलाचरणका श्लोक देखनेपर ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ नारायण शब्दका अर्थ है भगवान् श्रीकृष्ण और नरोत्तम नरका अर्थ है नररत्न अर्जुन। महाभारतमें प्रायः सर्वत्र इन्हीं दोनोंका नर-नारायणके अवतारके रूपमें उल्लेख हुआ है। इससे मंगलाचरणमें ग्रन्थके इन दोनों प्रधान पात्र तथा भगवान्के मूर्ति-युगलको प्रणाम करना मंगलाचरणको नमस्कारात्मक होनेके साथ ही वस्तुनिर्देशात्मक भी बना देता है। इसलिये अनुवादमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका ही उल्लेख किया गया है।

[३](). नैमिषारण्य नामकी व्याख्या वाराहपुराणमें इस प्रकार मिलती है—

एवं कृत्वा ततो देवो मुनिं गौरमुखं तदा। उवाच निमिषेणेदं निहतं दानवं बलम् ।।

अरण्येऽस्मिंस्ततस्त्वेतन्नैमिषारण्यसंज्ञितम् ।

ऐसा करके भगवान्ने उस समय गौरमुख मुनिसे कहा—'मैंने निमिषमात्रमें इस अरण्य (वन)-के भीतर इस दानव-सेनाका संहार किया है; अतः यह वन नैमिषारण्यके नामसे प्रसिद्ध होगा।'

[४](). जो विद्वान् ब्राह्मण अकेला ही दस सहस्र जिज्ञासु व्यक्तियोंका अन्न-दानादिके द्वारा भरण-पोषण करता है, उसे कुलपति कहते हैं।

[५](). जो कार्य अनेक व्यक्तियोंके सहयोगसे किया गया हो और जिसमें बहुतोंको ज्ञान, सदाचार आदिकी शिक्षा तथा अन्न-वस्त्रादि वस्तुएँ दी जाती हों, जो बहुतोंके लिये तृप्तिकारक एवं उपयोगी हो, उसे 'सत्र' कहते हैं।

[१](). 'तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' (तैत्तिरीय उपनिषद्)। ब्रह्मने अण्ड एवं पिण्डकी रचना करके मानो स्वयं ही उसमें प्रवेश किया है।

[२](). ऋषयः सप्त पूर्वे ये मनवश्च चतुर्दश । एते प्रजानां पतय एभिः कल्पः समाप्यते ।।

(नीलकण्ठीमें ब्रह्माण्डपुराणका वचन)

[*]() यह और इसके बादका श्लोक महाभारतके तात्पर्यके सूचक हैं। दुर्योधन क्रोध है। यहाँ क्रोध शब्दसे द्वेष-असूया आदि दुर्गुण भी समझ लेने चाहिये। कर्ण, शकुनि, दुःशासन आदि उससे एकताको प्राप्त हैं, उसीके स्वरूप हैं। इन सबका मूल है राजा धृतराष्ट्र। यह अज्ञानी अपने मनको वशमें करनेमें असमर्थ है। इसीने पुत्रोंकी आसक्तिसे अंधे होकर दुर्योधनको अवसर दिया, जिससे उसकी जड़ मजबूत हो गयी। यदि यह दुर्योधनको वशमें कर लेता अथवा बचपनमें ही विदुर आदिकी बात मानकर इसका त्याग कर देता तो विष-दान, लाक्षागृहदाह, द्रौपदी-केशाकर्षण आदि दुष्कर्मोंका अवसर ही नहीं आता और कुलक्षय न होता। इस प्रसंगसे यह भाव सूचित किया गया है कि यह जो मन्यु (दुर्योधन)-रूप वृक्ष है, इसका दृढ़ अज्ञान ही मूल है, क्रोध-लोभादि स्कन्ध हैं, हिंसा-चोरी आदि शाखाएँ हैं और बन्धन-नरकादि इसके फल-पुष्प हैं। पुरुषार्थकामी पुरुषको मूलाज्ञानका उच्छेद करके पहले ही इस (क्रोधरूप) वृक्षको नष्ट कर देना चाहिये।

[*]() युधिष्ठिर धर्म हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वे शम, दम, सत्य, अहिंसा आदि रूप धर्मकी मूर्ति हैं। अर्जुन-भीम आदिको धर्मकी शाखा बतलानेका अभिप्राय यह है कि वे सब युधिष्ठिरके ही स्वरूप हैं, उनसे अभिन्न हैं। शुद्धसत्त्वमय ज्ञानविग्रह श्रीकृष्णरूप परमात्मा ही उसके मूल हैं। उनके दृढ़ ज्ञानसे ही धर्मकी नींव मजबूत होती है। श्रुति भगवतीने कहा है कि 'हे गार्गी! इस अविनाशी परमात्माको जाने बिना इस लोकमें जो हजारों वर्षपर्यन्त यज्ञ करता है, दान देता है, तपस्या करता है, उन सबका फल नाशवान् ही होता है।' ज्ञानका मूल है ब्रह्म अर्थात् वेद। वेदसे ही परमधर्म योग और अपरधर्म यज्ञ-यागादिका ज्ञान होता है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि धर्मका मूल केवल शब्दप्रमाण ही है। वेदके भी मूल ब्राह्मण हैं; क्योंकि वे ही वेद-सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं। इस प्रकार उपदेशकके रूपमें ब्राह्मण, प्रमाणके रूपमें वेद और अनुग्राहकके रूपमें परमात्मा धर्मका मूल है। इससे यह बात सिद्ध हुई है कि वेद और ब्राह्मणका भक्त अधिकारी पुरुष भगवदाराधनके बलसे योगादिरूप धर्ममय वृक्षका सम्पादन करे। उस वृक्षके अहिंसा-सत्य आदि तने हैं। धारण-ध्यान आदि शाखाएँ हैं और तत्त्व-साक्षात्कार ही उसका फल है। इस धर्ममय वृक्षके समाश्रयसे ही पुरुषार्थकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।

[*]() शास्त्रोक्त आचारका परित्याग न करना, सदाचारी सत्पुरुषोंका संग करना और सदाचारमें दृढ़तासे स्थित रहना—इसको 'शौच' कहते हैं। अपनी इच्छाके अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर चित्तमें विकार न होना ही 'धृति' है। सबसे बढ़कर सामर्थ्यका होना ही 'विक्रम' है। सद्वृत्तकी अनुवृत्ति ही 'शुश्रूषा' है। (सदाचारपरायण गुरुजनोंका अनुसरण गुरुशुश्रूषा है।) किसीके द्वारा अपराध बन जानेपर भी उसके प्रति अपने चित्तमें क्रोध आदि विकारोंका न होना ही 'क्षमाशीलता' है। जितेन्द्रियता अथवा अनुद्धत रहना ही 'विनय' है। बलवान् शत्रुको भी पराजित कर देनेका अध्यवसाय 'शौर्य' है। इनके संग्राहक श्लोक इस प्रकार हैं—

आचारापरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः । आचारे च व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते ।।

इष्टानिष्टार्थसम्पत्तौ चित्तस्याविकृतिर्धृतिः । सर्वातिशयसामर्थ्यं विक्रमं परिचक्षते ।।
वृत्तानुवृत्तिः शुश्रूषा क्षान्तिरागस्यविक्रिया । जितेन्द्रियत्वं विनयोऽथवानुद्धतशीलता ।।
शौर्यमध्यवसायः स्याद् बलिनोऽपि पराभवे ।।

* आचार्य, ब्रह्मा, ऋत्विक्, सदस्य, यजमान, यजमानपत्नी, धन-सम्पत्ति, श्रद्धा-उत्साह, विधि-विधानका सम्यक् पालन एवं सद्बुद्धि आदि यज्ञकी उत्तम गुणसामग्रीके अन्तर्गत हैं।

(पर्वसंग्रहपर्व)

द्वितीयोऽध्यायः

समन्तपंचकक्षेत्रका वर्णन, अक्षौहिणी सेनाका प्रमाण, महाभारतमें वर्णित पर्वों और उनके संक्षिप्त विषयोंका संग्रह तथा महाभारतके श्रवण एवं पठनका फल

ऋषय ऊचुः

समन्तपञ्चकमिति यदुक्तं सूतनन्दन ।
एतत् सर्वं यथातत्त्वं श्रोतुमिच्छामहे वयम् ।। १ ।।

ऋषि बोले—सूतनन्दन! आपने अपने प्रवचनके प्रारम्भमें जो समन्तपंचक (कुरुक्षेत्र)-की चर्चा की थी, अब हम उस देश (तथा वहाँ हुए युद्ध)-के सम्बन्धमें पूर्णरूपसे सब कुछ यथावत् सुनना चाहते हैं ।। १ ।।

सौतिरुवाच

शृणुध्वं मम भो विप्रा ब्रुवतश्च कथाः शुभाः ।
समन्तपञ्चकाख्यं च श्रोतुमर्हथ सत्तमाः ।। २ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—साधुशिरोमणि विप्रगण! अब मैं कल्याणदायिनी शुभ कथाएँ कह रहा हूँ; उसे आपलोग सावधान चित्तसे सुनिये और इसी प्रसंगमें समन्तपंचकक्षेत्रका वर्णन भी सुन लीजिये ।। २ ।।

त्रेताद्वापरयोः सन्धौ रामः शस्त्रभृतां वरः ।
असकृत् पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः ।। ३ ।।

त्रेता और द्वापरकी सन्धिके समय शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने क्षत्रियोंके प्रति क्रोधसे प्रेरित होकर अनेकों बार क्षत्रिय राजाओंका संहार किया ।। ३ ।।

स सर्वं क्षत्रमुत्साद्य स्ववीर्येणानलद्युतिः ।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रौधिरान् ह्रदान् ।। ४ ।।

अग्निके समान तेजस्वी परशुरामजीने अपने पराक्रमसे सम्पूर्ण क्षत्रियवंशका संहार करके समन्तपंचकक्षेत्रमें रक्तके पाँच सरोवर बना दिये ।। ४ ।।

स तेषु रुधिराम्भःसु ह्रदेषु क्रोधमूर्च्छितः ।
पितॄन् संतर्पयामास रुधिरेणेति नः श्रुतम् ।। ५ ।।

क्रोधसे आविष्ट होकर परशुरामजीने उन रक्तरूप जलसे भरे हुए सरोवरोंमें रक्ताञ्जलिके द्वारा अपने पितरोंका तर्पण किया, यह बात हमने सुनी है ।। ५ ।।

अथर्चीकादयोऽभ्येत्य पितरो राममब्रुवन् ।
राम राम महाभाग प्रीताः स्म तव भार्गव ।। ६ ।।
अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण तव प्रभो ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते यमिच्छसि महाद्युते ।। ७ ।।

तदनन्तर, ऋचीक आदि पितृगण परशुरामजीके पास आकर बोले—'महाभाग राम! सामर्थ्यशाली भृगुवंशभूषण परशुराम!! तुम्हारी इस पितृभक्ति और पराक्रमसे हम बहुत ही प्रसन्न हैं। महाप्रतापी परशुराम! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हें जिस वरकी इच्छा हो हमसे माँग लो' ।। ६-७ ।।

राम उवाच

यदि मे पितरः प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ।
यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ।। ८ ।।
अतश्च पापान्मुच्येऽहमेष मे प्रार्थितो वरः ।
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः ।। ९ ।।

परशुरामजीने कहा—यदि आप सब हमारे पितर मुझपर प्रसन्न हैं और मुझे अपने अनुग्रहका पात्र समझते हैं तो मैंने जो क्रोधवश क्षत्रियवंशका विध्वंस किया है, इस कुकर्मके पापसे मैं मुक्त हो जाऊँ और ये मेरे बनाये हुए सरोवर पृथ्वीमें प्रसिद्ध तीर्थ हो जायँ। यही वर मैं आपलोगोंसे चाहता हूँ ।। ८-९ ।।

एवं भविष्यतीत्येवं पितरस्तमथाब्रुवन् ।
तं क्षमस्वेति निषिषिधुस्ततः स विरराम ह ।। १० ।।

तदनन्तर 'ऐसा ही होगा' यह कहकर पितरोंने वरदान दिया। साथ ही 'अब बचे-खुचे क्षत्रियवंशको क्षमा कर दो'—ऐसा कहकर उन्हें क्षत्रियोंके संहारसे भी रोक दिया। इसके पश्चात् परशुरामजी शान्त हो गये ।। १० ।।

तेषां समीपे यो देशो ह्रदानां रुधिराम्भसाम् ।
समन्तपञ्चकमिति पुण्यं तत् परिकीर्तितम् ।। ११ ।।

उन रक्तसे भरे सरोवरोंके पास जो प्रदेश है उसे ही समन्तपंचक कहते हैं। यह क्षेत्र बहुत ही पुण्यप्रद है ।। ११ ।।

येन लिङ्गेन यो देशो युक्तः समुपलक्ष्यते ।
तेनैव नाम्ना तं देशं वाच्यमाहुर्मनीषिणः ।। १२ ।।

जिस चिह्नसे जो देश युक्त होता है और जिससे जिसकी पहचान होती है, विद्वानोंका कहना है कि उस देशका वही नाम रखना चाहिये ।। १२ ।।

अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत् ।
समन्तपञ्चके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ।। १३ ।।

जब कलियुग और द्वापरकी सन्धिका समय आया, तब उसी समन्तपंचकक्षेत्रमें कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंका परस्पर भीषण युद्ध हुआ ।। १३ ।।

तस्मिन् परमधर्मिष्ठे देशे भूदोषवर्जिते ।
अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया ।। १४ ।।

भूमिसम्बन्धी दोषोंसे[१] रहित उस परम धार्मिक प्रदेशमें युद्ध करनेकी इच्छासे अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ इकट्ठी हुई थीं ।। १४ ।।

समेत्य तं द्विजास्ताश्च तत्रैव निधनं गताः ।
एतन्नामाभिनिर्वृत्तं तस्य देशस्य वै द्विजाः ।। १५ ।।

ब्राह्मणो! वे सब सेनाएँ वहाँ इकट्ठी हुईं और वहीं नष्ट हो गयीं। द्विजवरो! इसीसे उस देशका नाम समन्तपंचक[२] पड़ गया ।। १५ ।।

पुण्यश्च रमणीयश्च स देशो वः प्रकीर्तितः ।
तदेतत् कथितं सर्वं मया ब्राह्मणसत्तमाः ।
यथा देशः स विख्यातस्त्रिषु लोकेषु सुव्रताः ।। १६ ।।

वह देश अत्यन्त पुण्यमय एवं रमणीय कहा गया है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणो! तीनों लोकोंमें जिस प्रकार उस देशकी प्रसिद्धि हुई थी, वह सब मैंने आपलोगोंसे कह दिया ।। १६ ।।

ऋषय ऊचुः

अक्षौहिण्य इति प्रोक्तं यत्त्वया सूतनन्दन ।
एतदिच्छामहे श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ।। १७ ।।

ऋषियोंने पूछा—सूतनन्दन! अभी-अभी आपने जो अक्षौहिणी शब्दका उच्चारण किया है, इसके सम्बन्धमें हमलोग सारी बातें यथार्थरूपसे सुनना चाहते हैं ।। १७ ।।

अक्षौहिण्याः परीमाणं नराश्वरथदन्तिनाम् ।
यथावच्चैव नो ब्रूहि सर्वं हि विदितं तव ।। १८ ।।

अक्षौहिणी सेनामें कितने पैदल, घोड़े, रथ और हाथी होते हैं? इसका हमें यथार्थ वर्णन सुनाइये; क्योंकि आपको सब कुछ ज्ञात है ।। १८ ।।

सौतिरुवाच

एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः ।
त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ।। १९ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—एक रथ, एक हाथी, पाँच पैदल सैनिक और तीन घोड़े—बस, इन्हींको सेनाके मर्मज्ञ विद्वानोंने 'पत्ति' कहा है ।। १९ ।।

पत्तिं तु त्रिगुणामेतामाहुः सेनामुखं बुधाः ।
त्रीणि सेनामुखान्येको गुल्म इत्यभिधीयते ।। २० ।।

इसी पत्तिकी तिगुनी संख्याको विद्वान् पुरुष 'सेनामुख' कहते हैं। तीन 'सेनामुखों' को एक 'गुल्म' कहा जाता है ।। २० ।।

त्रयो गुल्मा गणो नाम वाहिनी तु गणास्त्रयः ।
स्मृतास्तिस्रस्तु वाहिन्यः पृतनेति विचक्षणैः ।। २१ ।।

तीन गुल्मका एक 'गण' होता है, तीन गणकी एक 'वाहिनी' होती है और तीन वाहिनियोंको सेनाका रहस्य जाननेवाले विद्वानोंने 'पृतना' कहा है ।। २१ ।।

चमूस्तु पृतनास्तिस्रस्तिस्रश्चम्बस्त्वनीकिनी ।
अनीकिनीं दशगुणां प्राहुरक्षौहिणीं बुधाः ।। २२ ।।

तीन पृतनाकी एक 'चमू', तीन चमूकी एक 'अनीकिनी' और दस अनीकिनीकी एक 'अक्षौहिणी' होती है। यह विद्वानोंका कथन है ।। २२ ।।

अक्षौहिण्याः प्रसंख्याता रथानां द्विजसत्तमाः ।
संख्या गणिततत्त्वज्ञैः सहस्राण्येकविंशतिः ।। २३ ।।
शतान्युपरि चैवाष्टौ तथा भूयश्च सप्ततिः ।
गजानां च परीमाणमेतदेव विनिर्दिशेत् ।। २४ ।।

श्रेष्ठ ब्राह्मणो! गणितके तत्त्वज्ञ विद्वानोंने एक अक्षौहिणी सेनामें रथोंकी संख्या इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर (२१,८७०) बतलायी है। हाथियोंकी संख्या भी इतनी ही कहनी चाहिये ।। २३-२४ ।।

ज्ञेयं शतसहस्रं तु सहस्राणि नवैव तु ।
नराणामपि पञ्चाशच्छतानि त्रीणि चानघाः ।। २५ ।।

निष्पाप ब्राह्मणो! एक अक्षौहिणीमें पैदल मनुष्योंकी संख्या एक लाख नौ हजार तीन सौ पचास (१,०९,३५०) जाननी चाहिये ।। २५ ।।

पञ्चषष्टिसहस्राणि तथाश्वानां शतानि च ।
दशोत्तराणि षट् प्राहुर्यथावदिह संख्यया ।। २६ ।।

एक अक्षौहिणी सेनामें, घोड़ोंकी ठीक-ठीक संख्या पैंसठ हजार छः सौ दस (६५,६१०) कही गयी है ।। २६ ।।

एतामक्षौहिणीं प्राहुः संख्यातत्त्वविदो जनाः ।
यां वः कथितवानस्मि विस्तरेण तपोधनाः ।। २७ ।।

तपोधनो! संख्याका तत्त्व जाननेवाले विद्वानोंने इसीको अक्षौहिणी कहा है, जिसे मैंने आपलोगोंको विस्तारपूर्वक बताया है ।। २७ ।।

एतया संख्यया ह्यासन् कुरुपाण्डवसेनयोः ।
अक्षौहिण्यो द्विजश्रेष्ठाः पिण्डिताष्टादशैव तु ।। २८ ।।

श्रेष्ठ ब्राह्मणो! इसी गणनाके अनुसार कौरव-पाण्डव दोनों सेनाओंकी संख्या अठारह अक्षौहिणी थी ।। २८ ।।

समेतास्तत्र वै देशे तत्रैव निधनं गताः ।
कौरवान् कारणं कृत्वा कालेनाद्भुतकर्मणा ।। २९ ।।

अद्भुत कर्म करनेवाले कालकी प्रेरणासे समन्तपंचकक्षेत्रमें कौरवोंको निमित्त बनाकर इतनी सेनाएँ इकट्ठी हुईं और वहीं नाशको प्राप्त हो गयीं ।। २९ ।।

अहानि युयुधे भीष्मो दशैव परमास्त्रवित् ।
अहानि पञ्च द्रोणस्तु ररक्ष कुरुवाहिनीम् ।। ३० ।।

अस्त्र-शस्त्रोंके सर्वोपरि मर्मज्ञ भीष्मपितामहने दस दिनोंतक युद्ध किया, आचार्य द्रोणने पाँच दिनोंतक कौरव-सेनाकी रक्षा की ।। ३० ।।

अहनी युयुधे द्वे तु कर्णः परबलार्दनः ।
शल्योऽर्धदिवसं चैव गदायुद्धमतः परम् ।। ३१ ।।

शत्रुसेनाको पीड़ित करनेवाले वीरवर कर्णने दो दिन युद्ध किया और शल्यने आधे दिनतक। इसके पश्चात् (दुर्योधन और भीमसेनका परस्पर) गदायुद्ध आधे दिनतक होता रहा ।। ३१ ।।

तस्यैव दिवसस्यान्ते द्रौणिहार्दिक्यगौतमाः ।
प्रसुप्तं निशि विश्वस्तं जघ्नुर्यौधिष्ठिरं बलम् ।। ३२ ।।

अठारहवाँ दिन बीत जानेपर रात्रिके समय अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्यने निःशंक सोते हुए युधिष्ठिरके सैनिकोंको मार डाला ।। ३२ ।।

यत्तु शौनक सत्रे ते भारताख्यानमुत्तमम् ।
जनमेजयस्य तत् सत्रे व्यासशिष्येण धीमता ।। ३३ ।।
कथितं विस्तरार्थं च यशो वीर्यं महीक्षिताम् ।
पौष्यं तत्र च पौलोममास्तीकं चादितः स्मृतम् ।। ३४ ।।

शौनकजी! आपके इस सत्संग-सत्रमें मैं यह जो उत्तम इतिहास महाभारत सुना रहा हूँ, यही जनमेजयके सर्पयज्ञमें व्यासजीके बुद्धिमान् शिष्य वैशम्पायनजीके द्वारा भी वर्णन किया गया था। उन्होंने बड़े-बड़े नरपतियोंके यश और पराक्रमका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये प्रारम्भमें पौष्य, पौलोम और आस्तीक—इन तीन पर्वोंका स्मरण किया है ।। ३३-३४ ।।

विचित्रार्थपदाख्यानमनेकसमयान्वितम् ।
प्रतिपन्नं नरैः प्राज्ञैर्वैराग्यमिव मोक्षिभिः ।। ३५ ।।

जैसे मोक्ष चाहनेवाले पुरुष पर-वैराग्यकी शरण ग्रहण करते हैं, वैसे ही प्रज्ञावान् मनुष्य अलौकिक अर्थ, विचित्र पद, अद्‌भुत आख्यान और भाँति-भाँतिकी परस्पर विलक्षण मर्यादाओंसे युक्त इस महाभारतका आश्रय ग्रहण करते हैं ।। ३५ ।।

आत्मेव वेदितव्येषु प्रियेष्विव हि जीवितम् ।
इतिहासः प्रधानार्थः श्रेष्ठः सर्वागमेष्वयम् ।। ३६ ।।

जैसे जाननेयोग्य पदार्थोंमें आत्मा, प्रिय पदार्थोंमें अपना जीवन सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही सम्पूर्ण शास्त्रोंमें परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप प्रयोजनको पूर्ण करनेवाला यह इतिहास श्रेष्ठ है ।। ३६ ।।

अनाश्रित्येदमाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ।। ३७ ।।

जैसे भोजन किये बिना शरीर-निर्वाह सम्भव नहीं है, वैसे ही इस इतिहासका आश्रय लिये बिना पृथ्वीपर कोई कथा नहीं है ।। ३७ ।।

तदेतद् भारतं नाम कविभिस्तूपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ।। ३८ ।।

जैसे अपनी उन्नति चाहनेवाले महत्त्वाकांक्षी सेवक अपने कुलीन और सद्भावसम्पन्न स्वामीकी सेवा करते हैं, इसी प्रकार संसारके श्रेष्ठ कवि इस महाभारतकी सेवा करके ही अपने काव्यकी रचना करते हैं ।। ३८ ।।

इतिहासोत्तमे यस्मिन्नर्पिता बुद्धिरुत्तमा ।
स्वरव्यञ्जनयोः कृत्स्ना लोकवेदाश्रयेव वाक् ।। ३९ ।।

जैसे लौकिक और वैदिक सब प्रकारके ज्ञानको प्रकाशित करनेवाली सम्पूर्ण वाणी स्वरों एवं व्यंजनोंमें समायी रहती है, वैसे ही (लोक, परलोक एवं परमार्थसम्बन्धी) सम्पूर्ण उत्तम विद्या-बुद्धि इस श्रेष्ठ इतिहासमें भरी हुई है ।। ३९ ।।

तस्य प्रज्ञाभिपन्नस्य विचित्रपदपर्वणः ।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च ।। ४० ।।
भारतस्येतिहासस्य श्रूयतां पर्वसंग्रहः ।
पर्वानुक्रमणी पूर्वं द्वितीयः पर्वसंग्रहः ।। ४१ ।।

यह महाभारत इतिहास ज्ञानका भण्डार है। इसमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थ और उनका अनुभव करानेवाली युक्तियाँ भरी हुई हैं। इसका एक-एक पद और पर्व आश्चर्यजनक है तथा यह वेदोंके धर्ममय अर्थसे अलंकृत है। अब इसके पर्वोंकी संग्रह-सूची सुनिये। पहले अध्यायमें पर्वानुक्रमणी है और दूसरेमें पर्वसंग्रह ।। ४०-४१ ।।

पौष्यं पौलोममास्तीकमादिरंशावतारणम् ।
ततः सम्भवपर्वोक्तमद्भुतं रोमहर्षणम् ।। ४२ ।।

इसके पश्चात् पौष्य, पौलोम, आस्तीक और आदिअंशावतरण पर्व हैं। तदनन्तर सम्भवपर्वका वर्णन है, जो अत्यन्त अद्‌भुत और रोमांचकारी है ।। ४२ ।।

दाहो जतुगृहस्यात्र हैडिम्बं पर्व चोच्यते ।
ततो बकवधः पर्व पर्व चैत्ररथं ततः ।। ४३ ।।

इसके पश्चात् जतुगृह (लाक्षाभवन) दाहपर्व है। तदनन्तर हिडिम्बवधपर्व है, फिर बकवध और उसके बाद चैत्ररथपर्व है ।। ४३ ।।

ततः स्वयंवरो देव्याः पाञ्चाल्याः पर्व चोच्यते ।
क्षात्रधर्मेण निर्जित्य ततो वैवाहिकं स्मृतम् ।। ४४ ।।

उसके बाद पांचालराजकुमारी देवी द्रौपदीके स्वयंवरपर्वका तथा क्षत्रियधर्मसे सब राजाओंपर विजय-प्राप्तिपूर्वक वैवाहिकपर्वका वर्णन है ।। ४४ ।।

विदुरागमनं पर्व राज्यलम्भस्तथैव च ।
अर्जुनस्य वने वासः सुभद्राहरणं ततः ।। ४५ ।।

विदुरागमन, राज्यलम्भपर्व, तत्पश्चात् अर्जुन-वनवासपर्व और फिर सुभद्राहरणपर्व है ।। ४५ ।।

सुभद्राहरणादूर्ध्वं ज्ञेया हरणहारिका ।
ततः खाण्डवदाहाख्यं तत्रैव मयदर्शनम् ।। ४६ ।।

सुभद्राहरणके बाद हरणाहरणपर्व है, पुनः खाण्डवदाह-पर्व है, उसीमें मयदानवके दर्शनकी कथा है ।। ४६ ।।

सभापर्व ततः प्रोक्तं मन्त्रपर्व ततः परम् ।
जरासन्धवधः पर्व पर्व दिग्विजयं तथा ।। ४७ ।।

इसके बाद क्रमशः सभापर्व, मन्त्रपर्व, जरासन्ध-वधपर्व और दिग्विजयपर्वका प्रवचन है ।। ४७ ।।

पर्व दिग्विजयादूर्ध्वं राजसूयिकमुच्यते ।
ततश्चार्घाभिहरणं शिशुपालवधस्ततः ।। ४८ ।।

तदनन्तर राजसूय, अर्घाभिहरण और शिशुपाल-वधपर्व कहे गये हैं ।। ४८ ।।

द्यूतपर्व ततः प्रोक्तमनुद्यूतमतः परम् ।
तत आरण्यकं पर्व किर्मीरवध एव च ।। ४९ ।।

इसके बाद क्रमशः द्यूत एवं अनुद्यूतपर्व हैं। तत्पश्चात् वनयात्रापर्व तथा किर्मीरवधपर्व है ।। ४९ ।।

अर्जुनस्याभिगमनं पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
ईश्वरार्जुनयोर्युद्धं पर्व कैरातसंज्ञितम् ।। ५० ।।

इसके बाद अर्जुनाभिगमनपर्व जानना चाहिये और फिर कैरातपर्व आता है, जिसमें सर्वेश्वर भगवान् शिव तथा अर्जुनके युद्धका वर्णन है ।। ५० ।।

इन्द्रलोकाभिगमनं पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
नलोपाख्यानमपि च धार्मिकं करुणोदयम् ।। ५१ ।।

तत्पश्चात् इन्द्रलोकाभिगमनपर्व है, फिर धार्मिक तथा करुणोत्पादक नलोपाख्यानपर्व है ।। ५१ ।।

तीर्थयात्रा ततः पर्व कुरुराजस्य धीमतः ।
जटासुरवधः पर्व यक्षयुद्धमतः परम् ।। ५२ ।।

तदनन्तर बुद्धिमान् कुरुराजका तीर्थयात्रापर्व, जटासुरवधपर्व और उसके बाद यक्षयुद्धपर्व है ।। ५२ ।।

निवातकवचैर्युद्धं पर्व चाजगरं ततः ।
मार्कण्डेयसमास्या च पर्वानन्तरमुच्यते ।। ५३ ।।

इसके पश्चात् निवातकवचयुद्ध, आजगर और मार्कण्डेयसमास्यापर्व क्रमशः कहे गये हैं ।। ५३ ।।

संवादश्च ततः पर्व द्रौपदीसत्यभामयोः ।
घोषयात्रा ततः पर्व मृगस्वप्नोद्भवं ततः ।। ५४ ।।
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानमैन्द्रद्युम्नं तथैव च ।
द्रौपदीहरणं पर्व जयद्रथविमोक्षणम् ।। ५५ ।।

इसके बाद आता है द्रौपदी और सत्यभामाके संवादका पर्व, इसके अनन्तर घोषयात्रापर्व है, उसीमें मृगस्वप्नोद्भव और व्रीहिद्रौणिक उपाख्यान है। तदनन्तर इन्द्रद्युम्नका आख्यान और उसके बाद द्रौपदीहरणपर्व है। उसीमें जयद्रथविमोक्षणपर्व है ।। ५४-५५ ।।

पतिव्रताया माहात्म्यं सावित्र्याश्चैवमद्भुतम् ।
रामोपाख्यानमत्रैव पर्व ज्ञेयमतः परम् ।। ५६ ।।

इसके बाद पतिव्रता सावित्रीके पातिव्रत्यका अद्भुत माहात्म्य है। फिर इसी स्थानपर रामोपाख्यानपर्व जानना चाहिये ।। ५६ ।।

कुण्डलाहरणं पर्व ततः परमिहोच्यते ।
आरणेयं ततः पर्व वैराटं तदनन्तरम् ।
पाण्डवानां प्रवेशश्च समयस्य च पालनम् ।। ५७ ।।

इसके बाद क्रमशः कुण्डलाहरण और आरणेय-पर्व कहे गये हैं। तदनन्तर विराटपर्वका आरम्भ होता है, जिसमें पाण्डवोंके नगरप्रवेश और समयपालन-सम्बन्धीपर्व हैं ।। ५७ ।।

कीचकानां वधः पर्व पर्व गोग्रहणं ततः ।
अभिमन्योश्च वैराट्याः पर्व वैवाहिकं स्मृतम् ।। ५८ ।।

इसके बाद कीचकवधपर्व, गोग्रहण (गोहरण)-पर्व तथा अभिमन्यु और उत्तराके विवाहका पर्व है ।। ५८ ।।

उद्योगपर्व विज्ञेयमत ऊर्ध्वं महाद्भुतम् ।

ततः संजययानाख्यं पर्व ज्ञेयमतः परम् ।। ५९ ।।
प्रजागरं तथा पर्व धृतराष्ट्रस्य चिन्तया ।
पर्व सानत्सुजातं वै गुह्यमध्यात्मदर्शनम् ।। ६० ।।

इसके पश्चात् परम अद्‌भुत उद्योगपर्व समझना चाहिये। इसीमें संजययानपर्व कहा गया है। तदनन्तर चिन्ताके कारण धृतराष्ट्रके रातभर जागनेसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रजागरपर्व समझना चाहिये। तत्पश्चात् वह प्रसिद्ध सनत्सुजातपर्व है, जिसमें अत्यन्त गोपनीय अध्यात्मदर्शनका समावेश हुआ है ।। ५९-६० ।।

यानसन्धिस्ततः पर्व भगवद्यानमेव च ।
मातलीयमुपाख्यानं चरितं गालवस्य च ।। ६१ ।।
सावित्रं वामदेव्यं च वैन्योपाख्यानमेव च ।
जामदग्न्यमुपाख्यानं पर्व षोडशराजिकम् ।। ६२ ।।

इसके पश्चात् यानसन्धि तथा भगवद्‌यानपर्व है, इसीमें मातलिका उपाख्यान, गालव-चरित, सावित्र, वामदेव तथा वैन्य-उपाख्यान, जामदग्न्य और षोडशराजिक-उपाख्यान आते हैं ।। ६१-६२ ।।

सभाप्रवेशः कृष्णस्य विदुलापुत्रशासनम् ।
उद्योगः सैन्यनिर्याणं विश्वोपाख्यानमेव च ।। ६३ ।।

फिर श्रीकृष्णका सभाप्रवेश, विदुलाका अपने पुत्रके प्रति उपदेश, युद्धका उद्योग, सैन्यनिर्याण तथा विश्वोपाख्यान—इनका क्रमशः उल्लेख हुआ है ।। ६३ ।।

ज्ञेयं विवादपर्वात्र कर्णस्यापि महात्मनः ।
निर्याणं च ततः पर्व कुरुपाण्डवसेनयोः ।। ६४ ।।

इसी प्रसंगमें महात्मा कर्णका विवादपर्व है। तदनन्तर कौरव एवं पाण्डव-सेनाका निर्याणपर्व है ।। ६४ ।।

रथातिरथसंख्या च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
उलूकदूतागमनं पर्वामर्षविवर्धनम् ।। ६५ ।।

तत्पश्चात् रथातिरथसंख्यापर्व और उसके बाद क्रोधकी आग प्रज्वलित करनेवाला उलूकदूतागमनपर्व है ।। ६५ ।।

अम्बोपाख्यानमत्रैव पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
भीष्माभिषेचनं पर्व ततश्चाद्भुतमुच्यते ।। ६६ ।।

इसके बाद ही अम्बोपाख्यानपर्व है। तत्पश्चात् अद्‌भुत भीष्माभिषेचनपर्व कहा गया है ।। ६६ ।।

जम्बूखण्डविनिर्माणं पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
भूमिपर्व ततः प्रोक्तं द्वीपविस्तारकीर्तनम् ।। ६७ ।।

इसके आगे जम्बूखण्ड विनिर्माणपर्व है। तदनन्तर भूमिपर्व कहा गया है, जिसमें द्वीपोंके विस्तारका कीर्तन किया गया है ।। ६७ ।।

पर्वोक्तं भगवद्गीता पर्व भीष्मवधस्ततः ।
द्रोणाभिषेचनं पर्व संशप्तकवधस्ततः ।। ६८ ।।

इसके बाद क्रमशः भगवद्गीता, भीष्मवध, द्रोणाभिषेक तथा संशप्तकवधपर्व हैं ।। ६८ ।।

अभिमन्युवधः पर्व प्रतिज्ञापर्व चोच्यते ।
जयद्रथवधः पर्व घटोत्कचवधस्ततः ।। ६९ ।।

इसके बाद अभिमन्युवधपर्व, प्रतिज्ञापर्व, जयद्रथवधपर्व और घटोत्कचवधपर्व हैं ।। ६९ ।।

ततो द्रोणवधः पर्व विज्ञेयं लोमहर्षणम् ।
मोक्षो नारायणास्त्रस्य पर्वानन्तरमुच्यते ।। ७० ।।

फिर रोंगटे खड़े कर देनेवाला द्रोणवधपर्व जानना चाहिये। तदनन्तर नारायणास्त्रमोक्षपर्व कहा गया है ।। ७० ।।

कर्णपर्व ततो ज्ञेयं शल्यपर्व ततः परम् ।
ह्रदप्रवेशनं पर्व गदायुद्धमतः परम् ।। ७१ ।।

फिर कर्णपर्व और उसके बाद शल्यपर्व है। इसी पर्वमें ह्रदप्रवेश और गदायुद्धपर्व भी हैं ।। ७१ ।।

सारस्वतं ततः पर्व तीर्थवंशानुकीर्तनम् ।
अत ऊर्ध्वं सुबीभत्सं पर्व सौप्तिकमुच्यते ।। ७२ ।।

तदनन्तर सारस्वतपर्व है, जिसमें तीर्थों और वंशोंका वर्णन किया गया है। इसके बाद है अत्यन्त बीभत्स सौप्तिकपर्व ।। ७२ ।।

ऐषीकं पर्व चोद्दिष्टमत ऊर्ध्वं सुदारुणम् ।
जलप्रदानिकं पर्व स्त्रीविलापस्ततः परम् ।। ७३ ।।

इसके बाद अत्यन्त दारुण ऐषीकपर्वकी कथा है। फिर जलप्रदानिक और स्त्रीविलापपर्व आते हैं ।। ७३ ।।

श्राद्धपर्व ततो ज्ञेयं कुरूणामौर्ध्वदेहिकम् ।
चार्वाकनिग्रहः पर्व रक्षसो ब्रह्मरूपिणः ।। ७४ ।।

तत्पश्चात् श्राद्धपर्व है, जिसमें मृत कौरवोंकी अन्त्येष्टिक्रियाका वर्णन है। उसके बाद ब्राह्मण-वेषधारी राक्षस चार्वाकके निग्रहका पर्व है ।। ७४ ।।

आभिषेचनिकं पर्व धर्मराजस्य धीमतः ।
प्रविभागो गृहाणां च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।। ७५ ।।

तदनन्तर धर्मबुद्धिसम्पन्न धर्मराज युधिष्ठिरके अभिषेकका पर्व है तथा इसके पश्चात् गृहप्रविभागपर्व है ।। ७५ ।।

शान्तिपर्व ततो यत्र राजधर्मानुशासनम् ।
आपद्धर्मश्च पर्वोक्तं मोक्षधर्मस्ततः परम् ।। ७६ ।।

इसके बाद शान्तिपर्व प्रारम्भ होता है; जिसमें राजधर्मानुशासन, आपद्धर्म और मोक्षधर्मपर्व हैं ।। ७६ ।।

शुकप्रश्नाभिगमनं ब्रह्मप्रश्नानुशासनम् ।
प्रादुर्भावश्च दुर्वासः संवादश्चैव मायया ।। ७७ ।।

फिर शुकप्रश्नाभिगमन, ब्रह्मप्रश्नानुशासन, दुर्वासाका प्रादुर्भाव और मायासंवादपर्व हैं ।। ७७ ।।

ततः पर्व परिज्ञेयमानुशासनिकं परम् ।
स्वर्गारोहणिकं चैव ततो भीष्मस्य धीमतः ।। ७८ ।।

इसके बाद धर्माधर्मका अनुशासन करनेवाला आनुशासनिकपर्व है, तदनन्तर बुद्धिमान् भीष्मजीका स्वर्गारोहणपर्व है ।। ७८ ।।

ततोऽऽश्वमेधिकं पर्व सर्वपापप्रणाशनम् ।
अनुगीता ततः पर्व ज्ञेयमध्यात्मवाचकम् ।। ७९ ।।

अब आता है आश्वमेधिकपर्व, जो सम्पूर्ण पापोंका नाशक है। उसीमें अनुगीतापर्व है, जिसमें अध्यात्मज्ञानका सुन्दर निरूपण हुआ है ।। ७९ ।।

पर्व चाश्रमवासाख्यं पुत्रदर्शनमेव च ।
नारदागमनं पर्व ततः परमिहोच्यते ।। ८० ।।

इसके बाद आश्रमवासिक, पुत्रदर्शन और तदनन्तर नारदागमनपर्व कहे गये हैं ।। ८० ।।

मौसलं पर्व चोद्दिष्टं ततो घोरं सुदारुणम् ।
महाप्रस्थानिकं पर्व स्वर्गारोहणिकं ततः ।। ८१ ।।

इसके बाद है अत्यन्त भयानक एवं दारुण मौसलपर्व। तत्पश्चात् महाप्रस्थानपर्व और स्वर्गारोहण-पर्व आते हैं ।। ८१ ।।

हरिवंशस्ततः पर्व पुराणं खिलसंज्ञितम् ।
विष्णुपर्व शिशोश्चर्या विष्णोः कंसवधस्तथा ।। ८२ ।।

इसके बाद हरिवंशपर्व है, जिसे खिल (परिशिष्ट) पुराण भी कहते हैं, इसमें विष्णुपर्व, श्रीकृष्णकी बाललीला एवं कंसवधका वर्णन है ।। ८२ ।।

भविष्यपर्व चाप्युक्तं खिलेष्वेवाद्भुतं महत् ।
एतत् पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना ।। ८३ ।।

इस खिलपर्वमें भविष्यपर्व भी कहा गया है, जो महान् अद्‌भुत है। महात्मा श्रीव्यासजीने इस प्रकार पूरे सौ पर्वोंकी रचना की है ।। ८३ ।।

यथावत् सूरपुत्रेण लौमहर्षणिना ततः ।
उक्तानि नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु ।। ८४ ।।

सूतवंशशिरोमणि लोमहर्षणके पुत्र उग्रश्रवाजीने व्यासजीकी रचना पूर्ण हो जानेपर नैमिषारण्यक्षेत्रमें इन्हीं सौ पर्वोंको अठारह पर्वोंके रूपमें सुव्यवस्थित करके ऋषियोंके सामने कहा ।। ८४ ।।

समासो भारतस्यायमत्रोक्तः पर्वसंग्रहः ।
पौष्यं पौलोममास्तीकमादिरंशावतारणम् ।। ८५ ।।
सम्भवो जतुवेश्माख्यं हिडिम्बबकयोर्वधः ।
तथा चैत्ररथं देव्याः पाञ्चाल्याश्च स्वयंवरः ।। ८६ ।।
क्षात्रधर्मेण निर्जित्य ततो वैवाहिकं स्मृतम् ।
विदुरागमनं चैव राज्यलम्भस्तथैव च ।। ८७ ।।
वनवासोऽर्जुनस्यापि सुभद्राहरणं ततः ।
हरणाहरणं चैव दहनं खाण्डवस्य च ।। ८८ ।।
मयस्य दर्शनं चैव आदिपर्वणि कथ्यते ।

इस प्रकार यहाँ संक्षेपसे महाभारतके पर्वोंका संग्रह बताया गया है। पौष्य, पौलोम, आस्तीक, आदिअंशावतरण, सम्भव, लाक्षागृह, हिडिम्बवध, बकवध, चैत्ररथ, देवी द्रौपदीका स्वयंवर, क्षत्रियधर्मसे राजाओंपर विजयप्राप्तिपूर्वक वैवाहिक विधि, विदुरागमन, राज्यलम्भ, अर्जुनका वनवास, सुभद्राका हरण, हरणाहरण, खाण्डवदाह तथा मयदानवसे मिलनेका प्रसंग—यहाँतककी कथा आदिपर्वमें कही गयी है ।। ८५-८८½ ।।

पौष्ये पर्वणि माहात्म्यमुत्तङ्कस्योपवर्णितम् ।। ८९ ।।
पौलोमे भृगुवंशस्य विस्तारः परिकीर्तितः ।
आस्तीके सर्वनागानां गरुडस्य च सम्भवः ।। ९० ।।

पौष्यपर्वमें उत्तंकके माहात्म्यका वर्णन है। पौलोमपर्वमें भृगुवंशके विस्तारका वर्णन है। आस्तीकपर्वमें सब नागों तथा गरुड़की उत्पत्तिकी कथा है ।। ८९-९० ।।

क्षीरोदमथनं चैव जन्मोच्चैःश्रवसस्तथा ।
यजतः सर्पसत्रेण राज्ञः पारीक्षितस्य च ।। ९१ ।।
कथेयमभिनिर्वृत्ता भरतानां महात्मनाम् ।
विविधाः सम्भवा राज्ञामुक्ताः सम्भवपर्वणि ।। ९२ ।।
अन्येषां चैव शूराणामृषेर्द्वैपायनस्य च ।
अंशावतरणं चात्र देवानां परिकीर्तितम् ।। ९३ ।।

इसी पर्वमें क्षीरसागरके मन्थन और उच्चैःश्रवा घोड़ेके जन्मकी भी कथा है। परीक्षित्‌नन्दन राजा जनमेजयके सर्पयज्ञमें इन भरतवंशी महात्मा राजाओंकी कथा कही गयी है। सम्भवपर्वमें राजाओंके भिन्न-भिन्न प्रकारके जन्मसम्बन्धी वृत्तान्तोंका वर्णन है। इसीमें दूसरे शूरवीरों तथा महर्षि द्वैपायनके जन्मकी कथा भी है। यहीं देवताओंके अंशावतरणकी कथा कही गयी है ।। ९१—९३ ।।

दैत्यानां दानवानां च यक्षाणां च महौजसाम् ।
नागानामथ सर्पाणां गन्धर्वाणां पतत्रिणाम् ।। ९४ ।।
अन्येषां चैव भूतानां विविधानां समुद्भवः ।
महर्षेराश्रमपदे कण्वस्य च तपस्विनः ।। ९५ ।।
शकुन्तलायां दुष्यन्ताद् भरतश्चापि जज्ञिवान् ।
यस्य लोकेषु नाम्नेदं प्रथितं भारतं कुलम् ।। ९६ ।।

इसी पर्वमें अत्यन्त प्रभावशाली दैत्य, दानव, यक्ष, नाग, सर्प, गन्धर्व और पक्षियों तथा अन्य विविध प्रकारके प्राणियोंकी उत्पत्तिका वर्णन है। परम तपस्वी महर्षि कण्वके आश्रममें दुष्यन्तके द्वारा शकुन्तलाके गर्भसे भरतके जन्मकी कथा भी इसीमें है। उन्हीं महात्मा भरतके नामसे यह भरतवंश संसारमें प्रसिद्ध हुआ है ।। ९४—९६ ।।

वसूनां पुनरुत्पत्तिर्भागीरथ्यां महात्मनाम् ।
शान्तनोर्वेश्मनि पुनस्तेषां चारोहणं दिवि ।। ९७ ।।

इसके बाद महाराज शान्तनुके गृहमें भागीरथी गंगाके गर्भसे महात्मा वसुओंकी उत्पत्ति एवं फिरसे उनके स्वर्गमें जानेका वर्णन किया गया है ।। ९७ ।।

तेजोंऽशानां च सम्पातो भीष्मस्याप्यत्र सम्भवः ।
राज्यान्निवर्तनं तस्य ब्रह्मचर्यव्रते स्थितिः ।। ९८ ।।
प्रतिज्ञापालनं चैव रक्षा चित्राङ्गदस्य च ।
हते चित्राङ्गदे चैव रक्षा भ्रातुर्यवीयसः ।। ९९ ।।
विचित्रवीर्यस्य तथा राज्ये सम्प्रतिपादनम् ।
धर्मस्य नृषु सम्भूतिरणीमाण्डव्यशापजा ।। १०० ।।
कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा ।
धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानां च सम्भवः ।। १०१ ।।

इसी पर्वमें वसुओंके तेजके अंशभूत भीष्मके जन्मकी कथा भी है। उनकी राज्यभोगसे निवृत्ति, आजीवन ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित रहनेकी प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञापालन, चित्रांगदकी रक्षा और चित्रांगदकी मृत्यु हो जानेपर छोटे भाई विचित्रवीर्यकी रक्षा, उन्हें राज्य-समर्पण, अणीमाण्डव्यके शापसे भगवान् धर्मकी विदुरके रूपमें मनुष्योंमें उत्पत्ति, श्रीकृष्णद्वैपायनके वरदानके कारण धृतराष्ट्र एवं पाण्डुका जन्म और इसी प्रसंगमें पाण्डवोंकी उत्पत्ति-कथा भी है ।। ९८—१०१ ।।

वारणावतयात्रायां मन्त्रो दुर्योधनस्य च ।
कूटस्य धार्तराष्ट्रेण प्रेषणं पाण्डवान् प्रति ।। १०२ ।।
हितोपदेशश्च पथि धर्मराजस्य धीमतः ।
विदुरेण कृतो यत्र हितार्थं म्लेच्छभाषया ।। १०३ ।।

लाक्षागृहदाहपर्वमें पाण्डवोंकी वारणावत-यात्राके प्रसंगमें दुर्योधनके गुप्त षड्यन्त्रका वर्णन है। उसका पाण्डवोंके पास कूटनीतिज्ञ पुरोचनको भेजनेका भी प्रसंग है। मार्गमें विदुरजीने बुद्धिमान् युधिष्ठिरके हितके लिये म्लेच्छभाषामें जो हितोपदेश किया, उसका भी वर्णन है ।। १०२-१०३ ।।

विदुरस्य च वाक्येन सुरङ्गोपक्रमक्रिया ।
निषाद्याः पञ्चपुत्रायाः सुप्ताया जतुवेश्मनि ।। १०४ ।।
पुरोचनस्य चात्रैव दहनं सम्प्रकीर्तितम् ।
पाण्डवानां वने घोरे हिडिम्बायाश्च दर्शनम् ।। १०५ ।।
तत्रैव च हिडिम्बस्य वधो भीमान्महाबलात् ।
घटोत्कचस्य चोत्पत्तिरत्रैव परिकीर्तिता ।। १०६ ।।

फिर विदुरकी बात मानकर सुरंग खुदवानेका कार्य आरम्भ किया गया। उसी लाक्षागृहमें अपने पाँच पुत्रोंके साथ सोती हुई एक भीलनी और पुरोचन भी जल मरे—यह सब कथा कही गयी है। हिडिम्बवधपर्वमें घोर वनके मार्गसे यात्रा करते समय पाण्डवोंको हिडिम्बाके दर्शन, महाबली भीमसेनके द्वारा हिडिम्बासुरके वध तथा घटोत्कचके जन्मकी कथा कही गयी है ।। १०४—१०६ ।।

महर्षेर्दर्शनं चैव व्यासस्यामिततेजसः ।
तदाज्ञयैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ।। १०७ ।।
अज्ञातचर्यया वासो यत्र तेषां प्रकीर्तितः ।
बकस्य निधनं चैव नागराणां च विस्मयः ।। १०८ ।।

अमिततेजस्वी महर्षि व्यासका पाण्डवोंसे मिलना और उनकी आज्ञासे एकचक्रा नगरीमें ब्राह्मणके घर पाण्डवोंके गुप्त निवासका वर्णन है। वहीं रहते समय उन्होंने बकासुरका वध किया, जिससे नागरिकोंको बड़ा भारी आश्चर्य हुआ ।। १०७-१०८ ।।

सम्भवश्चैव कृष्णाया धृष्टद्युम्नस्य चैव ह ।
ब्राह्मणात् समुपश्रुत्य व्यासवाक्यप्रचोदिताः ।। १०९ ।।
द्रौपदीं प्रार्थयन्तस्ते स्वयंवरदिदृक्षया ।
पञ्चालानभितो जग्मुर्यत्र कौतूहलान्विताः ।। ११० ।।

इसके अनन्तर कृष्णा (द्रौपदी) और उसके भाई धृष्टद्युम्नकी उत्पत्तिका वर्णन है। जब पाण्डवोंको ब्राह्मणके मुखसे यह संवाद मिला, तब वे महर्षि व्यासकी आज्ञासे द्रौपदीकी

प्राप्तिके लिये कौतूहलपूर्ण चित्तसे स्वयंवर देखने पांचालदेशकी ओर चल पड़े ।। १०९-११० ।।

अङ्गारपर्णं निर्जित्य गङ्गाकूलेऽर्जुनस्तदा ।
सख्यं कृत्वा ततस्तेन तस्मादेव च शुश्रुवे ।। १११ ।।
तापत्यमथ वासिष्ठमौर्वं चाख्यानमुत्तमम् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः पञ्चालानभितो ययौ ।। ११२ ।।
पाञ्चालनगरे चापि लक्ष्यं भित्त्वा धनंजयः ।
द्रौपदीं लब्धवानत्र मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ।। ११३ ।।
भीमसेनार्जुनौ यत्र संरब्धान् पृथिवीपतीन् ।
शल्यकर्णौ च तरसा जितवन्तौ महामृधे ।। ११४ ।।

चैत्ररथपर्वमें गंगाके तटपर अर्जुनने अंगारपर्ण गन्धर्वको जीतकर उससे मित्रता कर ली और उसीके मुखसे तपती, वसिष्ठ और और्वके उत्तम आख्यान सुने। फिर अर्जुनने वहाँसे अपने सभी भाइयोंके साथ पांचालकी ओर यात्रा की। तदनन्तर अर्जुनने पांचालनगरके बड़े-बड़े राजाओंसे भरी सभामें लक्ष्यवेध करके द्रौपदीको प्राप्त किया—यह कथा भी इसी पर्वमें है। वहीं भीमसेन और अर्जुनने रणांगणमें युद्धके लिये संनद्ध क्रोधान्ध राजाओंको तथा शल्य और कर्णको भी अपने पराक्रमसे पराजित कर दिया ।। १११—११४ ।।

दृष्ट्वा तयोश्च तद्वीर्यमप्रमेयममानुषम् ।
शङ्कमानौ पाण्डवांस्तान् रामकृष्णौ महामती ।। ११५ ।।
जग्मतुस्तैः समागन्तुं शालां भार्गववेश्मनि ।
पञ्चानामेकपत्नीत्वे विमर्शो द्रुपदस्य च ।। ११६ ।।

महामति बलराम एवं भगवान् श्रीकृष्णने जब भीमसेन एवं अर्जुनके अपरिमित और अतिमानुष बल-वीर्यको देखा, तब उन्हें यह शंका हुई कि कहीं ये पाण्डव तो नहीं हैं। फिर वे दोनों उनसे मिलनेके लिये कुम्हारके घर आये। इसके पश्चात् द्रुपदने 'पाँचों पाण्डवोंकी एक ही पत्नी कैसे हो सकती है'—इस सम्बन्धमें विचार-विमर्श किया ।। ११५-११६ ।।

पञ्चेन्द्राणामुपाख्यानमत्रैवाद्भुतमुच्यते ।
द्रौपद्या देवविहितो विवाहश्चाप्यमानुषः ।। ११७ ।।

इसी वैवाहिकपर्वमें पाँच इन्द्रोंका अद्‌भुत उपाख्यान और द्रौपदीके देवविहित तथा मनुष्य-परम्पराके विपरीत विवाहका वर्णन हुआ है ।। ११७ ।।

क्षत्तुश्च धृतराष्ट्रेण प्रेषणं पाण्डवान् प्रति ।
विदुरस्य च सम्प्राप्तिर्दर्शनं केशवस्य च ।। ११८ ।।

इसके बाद धृतराष्ट्रने पाण्डवोंके पास विदुरजीको भेजा है, विदुरजी पाण्डवोंसे मिले हैं तथा उन्हें श्रीकृष्णका दर्शन हुआ है ।। ११८ ।।

खाण्डवप्रस्थवासश्च तथा राज्यार्धसर्जनम् ।

नारदस्याज्ञया चैव द्रौपद्याः समयक्रिया ।। ११९ ।।

इसके पश्चात् धृतराष्ट्रका पाण्डवोंको आधा राज्य देना, इन्द्रप्रस्थमें पाण्डवोंका निवास करना एवं नारदजीकी आज्ञासे द्रौपदीके पास आने-जानेके सम्बन्धमें समय-निर्धारण आदि विषयोंका वर्णन है ।। ११९ ।।

सुन्दोपसुन्दयोस्तद्वदाख्यानं परिकीर्तितम् ।
अनन्तरं च द्रौपद्या सहासीनं युधिष्ठिरम् ।। १२० ।।
अनुप्रविश्य विप्रार्थे फाल्गुनो गृह्य चायुधम् ।
मोक्षयित्वा गृहं गत्वा विप्रार्थं कृतनिश्चयः ।। १२१ ।।
समयं पालयन् वीरो वनं यत्र जगाम ह ।
पार्थस्य वनवासे च उलूप्या पथि संगमः ।। १२२ ।।

इसी प्रसंगमें सुन्द और उपसुन्दके उपाख्यानका भी वर्णन है। तदनन्तर एक दिन धर्मराज युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ बैठे हुए थे। अर्जुनने ब्राह्मणके लिये नियम तोड़कर वहाँ प्रवेश किया और अपने आयुध लेकर ब्राह्मणकी वस्तु उसे प्राप्त करा दी और दृढ़ निश्चय करके वीरताके साथ मर्यादापालनके लिये वनमें चले गये। इसी प्रसंगमें यह कथा भी कही गयी है कि वनवासके अवसरपर मार्गमें ही अर्जुन और उलूपीका मेल-मिलाप हो गया ।। १२०-१२२ ।।

पुण्यतीर्थानुसंयानं बभ्रुवाहनजन्म च ।
तत्रैव मोक्षयामास पञ्च सोऽप्सरसः शुभाः ।। १२३ ।।
शापाद् ग्राहत्वमापन्ना ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
प्रभासतीर्थे पार्थेन कृष्णस्य च समागमः ।। १२४ ।।

इसके बाद अर्जुनने पवित्र तीर्थोंकी यात्रा की है। इसी समय चित्रांगदाके गर्भसे बभ्रुवाहनका जन्म हुआ है और इसी यात्रामें उन्होंने पाँच शुभ अप्सराओंको मुक्तिदान किया, जो एक तपस्वी ब्राह्मणके शापसे ग्राह हो गयी थीं। फिर प्रभासतीर्थमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके मिलनका वर्णन है ।। १२३-१२४ ।।

द्वारकायां सुभद्रा च कामयानेन कामिनी ।
वासुदेवस्यानुमते प्राप्ता चैव किरीटिना ।। १२५ ।।

तत्पश्चात् यह बताया गया है कि द्वारकामें सुभद्रा और अर्जुन परस्पर एक-दूसरेपर आसक्त हो गये, उसके बाद श्रीकृष्णकी अनुमतिसे अर्जुनने सुभद्राको हर लिया ।। १२५ ।।

गृहीत्वा हरणं प्राप्ते कृष्णे देवकिनन्दने ।
अभिमन्योः सुभद्रायां जन्म चोत्तमतेजसः ।। १२६ ।।

तदनन्तर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके दहेज लेकर पाण्डवोंके पास पहुँचनेकी और सुभद्राके गर्भसे परम तेजस्वी वीर बालक अभिमन्युके जन्मकी कथा है ।। १२६ ।।

द्रौपद्यास्तनयानां च सम्भवोऽनुप्रकीर्तितः ।

विहारार्थं च गतयोः कृष्णयोर्यमुनामनु ।। १२७ ।।
सम्प्राप्तिश्चक्रधनुषोः खाण्डवस्य च दाहनम् ।
मयस्य मोक्षो ज्वलनाद् भुजङ्गस्य च मोक्षणम् ।। १२८ ।।

इसके पश्चात् द्रौपदीके पुत्रोंकी उत्पत्तिकी कथा है। तदनन्तर जब श्रीकृष्ण और अर्जुन यमुनाजीके तटपर विहार करनेके लिये गये हुए थे, तब उन्हें जिस प्रकार चक्र और धनुषकी प्राप्ति हुई, उसका वर्णन है। साथ ही खाण्डववनके दाह, मयदानवके छुटकारे और अग्निकाण्डसे सर्पके सर्वथा बच जानेका वर्णन हुआ है ।। १२७-१२८ ।।

महर्षेर्मन्दपालस्य शार्ङ्गर्या तनयसम्भवः ।
इत्येतदादिपर्वोक्तं प्रथमं बहुविस्तरम् ।। १२९ ।।

इसके बाद महर्षि मन्दपालका शार्ङ्गी पक्षीके गर्भसे पुत्र उत्पन्न करनेकी कथा है। इस प्रकार इस अत्यन्त विस्तृत आदिपर्वका सबसे प्रथम निरूपण हुआ है ।। १२९ ।।

अध्यायानां शते द्वे तु संख्याते परमर्षिणा ।
सप्तविंशतिरध्याया व्यासेनोत्तमतेजसा ।। १३० ।।

परमर्षि एवं परम तेजस्वी महर्षि व्यासने इस पर्वमें दो सौ सत्ताईस (२२७) अध्यायोंकी रचना की है ।। १३० ।।

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।
श्लोकाश्च चतुराशीतिर्मुनिनोक्ता महात्मना ।। १३१ ।।

महात्मा व्यास मुनिने इन दो सौ सत्ताईस (२२७) अध्यायोंमें आठ हजार आठ सौ चौरासी (८,८८४) श्लोक कहे हैं ।। १३१ ।।

द्वितीयं तु सभापर्व बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
सभाक्रिया पाण्डवानां किङ्कराणां च दर्शनम् ।। १३२ ।।
लोकपालसभाख्यानं नारदाद् देवदर्शिनः ।
राजसूयस्य चारम्भो जरासन्धवधस्तथा ।। १३३ ।।
गिरिव्रजे निरुद्धानां राज्ञां कृष्णेन मोक्षणम् ।
तथा दिग्विजयोऽत्रैव पाण्डवानां प्रकीर्तितः ।। १३४ ।।

दूसरा सभापर्व है। इसमें बहुत-से वृत्तान्तोंका वर्णन है। पाण्डवोंका सभानिर्माण, किंकर नामक राक्षसोंका दीखना, देवर्षि नारदद्वारा लोकपालोंकी सभाका वर्णन, राजसूययज्ञका आरम्भ एवं जरासन्धवध, गिरिव्रजमें बंदी राजाओंका श्रीकृष्णके द्वारा छुड़ाया जाना और पाण्डवोंकी दिग्विजयका भी इसी सभापर्वमें वर्णन किया गया है ।। १३२—१३४ ।।

राज्ञामागमनं चैव सार्हणानां महाक्रतौ ।
राजसूयेऽर्घसंवादे शिशुपालवधस्तथा ।। १३५ ।।

राजसूय महायज्ञमें उपहार ले-लेकर राजाओंके आगमन तथा पहले किसकी पूजा हो इस विषयको लेकर छिड़े हुए विवादमें शिशुपालके वधका प्रसंग भी इसी सभापर्वमें आया है ।। १३५ ।।

यज्ञे विभूतिं तां दृष्ट्वा दुःखामर्षान्वितस्य च ।
दुर्योधनस्यावहासो भीमेन च सभातले ।। १३६ ।।

यज्ञमें पाण्डवोंका यह वैभव देखकर दुर्योधन दुःख और ईर्ष्यासे मन-ही-मनमें जलने लगा। इसी प्रसंगमें सभाभवनके सामने समतल भूमिपर भीमसेनने उसका उपहास किया ।। १३६ ।।

यत्रास्य मन्युरुद्भूतो येन द्यूतमकारयत् ।
यत्र धर्मसुतं द्यूते शकुनिः कितवोऽजयत् ।। १३७ ।।

उसी उपहासके कारण दुर्योधनके हृदयमें क्रोधाग्नि जल उठी। जिसके कारण उसने जूएके खेलका षड्यन्त्र रचा। इसी जूएमें कपटी शकुनिने धर्मपुत्र युधिष्ठिरको जीत लिया ।। १३७ ।।

यत्र द्यूतार्णवे मग्नां द्रौपदीं नौरिवार्णवात् ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः स्नुषां परमदुःखिताम् ।। १३८ ।।
तारयामास तांस्तीर्णान् ज्ञात्वा दुर्योधनो नृपः ।
पुनरेव ततो द्यूते समाह्वयत पाण्डवान् ।। १३९ ।।

जैसे समुद्रमें डूबी हुई नौकाको कोई फिरसे निकाल ले, वैसे ही द्यूतके समुद्रमें डूबी हुई परमदुःखिनी पुत्रवधू द्रौपदीको परम बुद्धिमान् धृतराष्ट्रने निकाल लिया। जब राजा दुर्योधनको जूएकी विपत्तिसे पाण्डवोंके बच जानेका समाचार मिला, तब उसने पुनः उन्हें (पितासे आग्रह करके) जूएके लिये बुलवाया ।। १३८-१३९ ।।

जित्वा स वनवासाय प्रेषयामास तांस्ततः ।
एतत् सर्वं सभापर्व समाख्यातं महात्मना ।। १४० ।।

दुर्योधनने उन्हें जूएमें जीतकर वनवासके लिये भेज दिया। महर्षि व्यासने सभापर्वमें यही सब कथा कही है ।। १४० ।।

अध्यायाः सप्ततिर्ज्ञेयास्तथा चाष्टौ प्रसंख्यया ।
श्लोकानां द्वे सहस्रे तु पञ्च श्लोकशतानि च ।। १४१ ।।
श्लोकाश्चैकादश ज्ञेयाः पर्वण्यस्मिन् द्विजोत्तमाः ।
अतः परं तृतीयं तु ज्ञेयमारण्यकं महत् ।। १४२ ।।

श्रेष्ठ ब्राह्मणो! इस पर्वमें अध्यायोंकी संख्या अठहत्तर (७८) है और श्लोकोंकी संख्या दो हजार पाँच सौ ग्यारह (२,५११) बतायी गयी है। इसके पश्चात् महत्त्वपूर्ण वनपर्वका आरम्भ होता है ।। १४१-१४२ ।।

वनवासं प्रयातेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।

पौरानुगमनं चैव धर्मपुत्रस्य धीमतः ।। १४३ ।।

जिस समय महात्मा पाण्डव वनवासके लिये यात्रा कर रहे थे, उस समय बहुत-से पुरवासी लोग बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके पीछे-पीछे चलने लगे ।। १४३ ।।

अन्नौषधीनां च कृते पाण्डवेन महात्मना ।
द्विजानां भरणार्थं च कृतमाराधनं रवेः ।। १४४ ।।

महात्मा युधिष्ठिरने पहले अनुयायी ब्राह्मणोंके भरण-पोषणके लिये अन्न और ओषधियाँ प्राप्त करनेके उद्देश्यसे सूर्यभगवान्की आराधना की ।। १४४ ।।

धौम्योपदेशात् तिग्मांशुप्रसादादन्नसम्भवः ।
हितं च ब्रुवतः क्षत्तुः परित्यागोऽम्बिकासुतात् ।। १४५ ।।
त्यक्तस्य पाण्डुपुत्राणां समीपगमनं तथा ।
पुनरागमनं चैव धृतराष्ट्रस्य शासनात् ।। १४६ ।।
कर्णप्रोत्साहनाच्चैव धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।
वनस्थान् पाण्डवान् हन्तुं मन्त्रो दुर्योधनस्य च ।। १४७ ।।

महर्षि धौम्यके उपदेशसे उन्हें सूर्यभगवान्की कृपा प्राप्त हुई और अक्षय अन्नका पात्र मिला। उधर विदुरजी धृतराष्ट्रको हितकारी उपदेश कर रहे थे, परंतु धृतराष्ट्रने उनका परित्याग कर दिया। धृतराष्ट्रके परित्यागपर विदुरजी पाण्डवोंके पास चले गये और फिर धृतराष्ट्रका आदेश प्राप्त होनेपर उनके पास लौट आये। धृतराष्ट्रनन्दन दुर्मति दुर्योधनने कर्णके प्रोत्साहनसे वनवासी पाण्डवोंको मार डालनेका विचार किया ।। १४५—१४७ ।।

तं दुष्टभावं विज्ञाय व्यासस्यागमनं द्रुतम् ।
निर्याणप्रतिषेधश्च सुरभ्याख्यानमेव च ।। १४८ ।।

दुर्योधनके इस दूषित भावको जानकर महर्षि व्यास झटपट वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने दुर्योधनकी यात्राका निषेध कर दिया। इसी प्रसंगमें सुरभिका आख्यान भी है ।। १४८ ।।

मैत्रेयागमनं चात्र राज्ञश्चैवानुशासनम् ।
शापोत्सर्गश्च तेनैव राज्ञो दुर्योधनस्य च ।। १४९ ।।

मैत्रेय ऋषिने आकर राजा धृतराष्ट्रको उपदेश किया और उन्होंने ही राजा दुर्योधनको शाप दे दिया ।। १४९ ।।

किर्मीरस्य वधश्चात्र भीमसेनेन संयुगे ।
वृष्णीनामागमश्चात्र पञ्चालानां च सर्वशः ।। १५० ।।

इसी पर्वमें यह कथा है कि युद्धमें भीमसेनने किर्मीरको मार डाला। पाण्डवोंके पास वृष्णिवंशी और पांचाल आये। पाण्डवोंने उन सबके साथ वार्तालाप किया ।। १५० ।।

श्रुत्वा शकुनिना द्यूते निकृत्या निर्जितांश्च तान् ।
क्रुद्धस्यानुप्रशमनं हरेश्चैव किरीटिना ।। १५१ ।।

जब श्रीकृष्णने यह सुना कि शकुनिने जूएमें पाण्डवोंको कपटसे हरा दिया है, तब वे अत्यन्त क्रोधित हुए; परंतु अर्जुनने हाथ जोड़कर उन्हें शान्त किया ।। १५१ ।।

परिदेवनं च पाञ्चाल्या वासुदेवस्य संनिधौ ।
आश्वासनं च कृष्णेन दुःखार्तायाः प्रकीर्तितम् ।। १५२ ।।

द्रौपदी श्रीकृष्णके पास बहुत रोयी-कलपी। श्रीकृष्णने दुःखार्त द्रौपदीको आश्वासन दिया। यह सब कथा वनपर्वमें है ।। १५२ ।।

तथा सौभवधाख्यानमत्रैवोक्तं महर्षिणा ।
सुभद्रायाः सपुत्रायाः कृष्णेन द्वारकां पुरीम् ।। १५३ ।।
नयनं द्रौपदेयानां धृष्टद्युम्नेन चैव ह ।
प्रवेशः पाण्डवेयानां रम्ये द्वैतवने ततः ।। १५४ ।।

इसी पर्वमें महर्षि व्यासने सौभवधकी कथा कही है। श्रीकृष्ण सुभद्राको पुत्रसहित द्वारकामें ले गये। धृष्टद्युम्न द्रौपदीके पुत्रोंको अपने साथ लिवा ले गये। तदनन्तर पाण्डवोंने परम रमणीय द्वैतवनमें प्रवेश किया ।। १५३-१५४ ।।

धर्मराजस्य चात्रैव संवादः कृष्णया सह ।
संवादश्च तथा राज्ञा भीमस्यापि प्रकीर्तितः ।। १५५ ।।

इसी पर्वमें युधिष्ठिर एवं द्रौपदीका संवाद तथा युधिष्ठिर और भीमसेनके संवादका भलीभाँति वर्णन किया गया है ।। १५५ ।।

समीपं पाण्डुपुत्राणां व्यासस्यागमनं तथा ।
प्रतिस्मृत्याथ विद्याया दानं राज्ञो महर्षिणा ।। १५६ ।।

महर्षि व्यास पाण्डवोंके पास आये और उन्होंने राजा युधिष्ठिरको प्रतिस्मृति नामक मन्त्रविद्याका उपदेश दिया ।। १५६ ।।

गमनं काम्यके चापि व्यासे प्रतिगते ततः ।
अस्त्रहेतोर्विवासश्च पार्थस्यामिततेजसः ।। १५७ ।।

व्यासजीके चले जानेपर पाण्डवोंने काम्यकवनकी यात्रा की। इसके बाद अमिततेजस्वी अर्जुन अस्त्र प्राप्त करनेके लिये अपने भाइयोंसे अलग चले गये ।। १५७ ।।

महादेवेन युद्धं च किरातवपुषा सह ।
दर्शनं लोकपालानामस्त्रप्राप्तिस्तथैव च ।। १५८ ।।

वहीं किरातवेशधारी महादेवजीके साथ अर्जुनका युद्ध हुआ, लोकपालोंके दर्शन हुए और अस्त्रकी प्राप्ति हुई ।। १५८ ।।

महेन्द्रलोकगमनमस्त्रार्थे च किरीटिनः ।
यत्र चिन्ता समुत्पन्ना धृतराष्ट्रस्य भूयसी ।। १५९ ।।

इसके बाद अर्जुन अस्त्रके लिये इन्द्रलोकमें गये यह सुनकर धृतराष्ट्रको बड़ी चिन्ता हुई ।। १५९ ।।

दर्शनं बृहदश्वस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
युधिष्ठिरस्य चार्तस्य व्यसनं परिदेवनम् ।। १६० ।।

इसके बाद धर्मराज युधिष्ठिरको शुद्धहृदय महर्षि बृहदश्वका दर्शन हुआ। युधिष्ठिरने आर्त होकर उन्हें अपनी दुःखगाथा सुनायी और विलाप किया ।। १६० ।।

नलोपाख्यानमत्रैव धर्मिष्ठं करुणोदयम् ।
दमयन्त्याः स्थितिर्यत्र नलस्य चरितं तथा ।। १६१ ।।

इसी प्रसंगमें नलोपाख्यान आता है, जिसमें धर्मनिष्ठाका अनुपम आदर्श है और जिसे पढ़-सुनकर हृदयमें करुणाकी धारा बहने लगती है। दमयन्तीका दृढ़ धैर्य और नलका चरित्र यहीं पढ़नेको मिलते हैं ।। १६१ ।।

तथाक्षहृदयप्राप्तिस्तस्मादेव महर्षितः ।
लोमशस्यागमस्तत्र स्वर्गात् पाण्डुसुतान् प्रति ।। १६२ ।।
वनवासगतानां च पाण्डवानां महात्मनाम् ।
स्वर्गे प्रवृत्तिराख्याता लोमशेनार्जुनस्य वै ।। १६३ ।।

उन्हीं महर्षिसे पाण्डवोंको अक्षहृदय (जूएके रहस्य)-की प्राप्ति हुई। यहीं स्वर्गसे महर्षि लोमश पाण्डवोंके पास पधारे। लोमशने ही वनवासी महात्मा पाण्डवोंको यह बात बतलायी कि अर्जुन स्वर्गमें किस प्रकार अस्त्र-विद्या सीख रहे हैं ।। १६२-१६३ ।।

संदेशादर्जुनस्यात्र तीर्थाभिगमनक्रिया ।
तीर्थानां च फलप्राप्तिः पुण्यत्वं चापि कीर्तितम् ।। १६४ ।।

इसी पर्वमें अर्जुनका संदेश पाकर पाण्डवोंने तीर्थयात्रा की। उन्हें तीर्थयात्राका फल प्राप्त हुआ और कौन तीर्थ कितने पुण्यप्रद होते हैं—इस बातका वर्णन हुआ है ।। १६४ ।।

पुलस्त्यतीर्थयात्रा च नारदेन महर्षिणा ।
तीर्थयात्रा च तत्रैव पाण्डवानां महात्मनाम् ।। १६५ ।।
कर्णस्य परिमोक्षोऽत्र कुण्डलाभ्यां पुरन्दरात् ।
तथा यज्ञविभूतिश्च गयस्यात्र प्रकीर्तिता ।। १६६ ।।

इसके बाद महर्षि नारदने पुलस्त्यतीर्थकी यात्रा करनेकी प्रेरणा दी और महात्मा पाण्डवोंने वहाँकी यात्रा की। यहीं इन्द्रके द्वारा कर्णको कुण्डलोंसे वंचित करनेका तथा राजा गयके यज्ञवैभवका वर्णन किया गया है ।। १६५-१६६ ।।

आगस्त्यमपि चाख्यानं यत्र वातापिभक्षणम् ।
लोपामुद्राभिगमनमपत्यार्थमृषेस्तथा ।। १६७ ।।

इसके बाद अगस्त्य-चरित्र है, जिसमें उनके वातापिभक्षण तथा संतानके लिये लोपामुद्राके साथ समागमका वर्णन है ।। १६७ ।।

ऋष्यशृङ्गस्य चरितं कौमारब्रह्मचारिणः ।
जामदग्न्यस्य रामस्य चरितं भूरितेजसः ।। १६८ ।।

इसके पश्चात् कौमार ब्रह्मचारी ऋष्यशृंगका चरित्र है। फिर परम तेजस्वी जमदग्निनन्दन परशुरामका चरित्र है ।। १६८ ।।

कार्तवीर्यवधो यत्र हैहयानां च वर्ण्यते ।
प्रभासतीर्थे पाण्डूनां वृष्णिभिश्च समागमः ।। १६९ ।।

इसी चरित्रमें कार्तवीर्य अर्जुन तथा हैहयवंशी राजाओंके वधका वर्णन किया गया है। प्रभासतीर्थमें पाण्डवों एवं यादवोंके मिलनेकी कथा भी इसीमें है ।। १६९ ।।

सौकन्यमपि चाख्यानं च्यवनो यत्र भार्गवः ।
शर्यातियज्ञे नासत्यौ कृतवान् सोमपीतिनौ ।। १७० ।।

इसके बाद सुकन्याका उपाख्यान है। इसीमें यह कथा है कि भृगुनन्दन च्यवनने शर्यातिके यज्ञमें अश्विनीकुमारोंको सोमपानका अधिकारी बना दिया ।। १७० ।।

ताभ्यां च यत्र स मुनिर्यौवनं प्रतिपादितः ।
मान्धातुश्चाप्युपाख्यानं राज्ञोऽत्रैव प्रकीर्तितम् ।। १७१ ।।

उन्हीं दोनोंने च्यवन मुनिको बूढ़ेसे जवान बना दिया। राजा मान्धाताकी कथा भी इसी पर्वमें कही गयी है ।। १७१ ।।

जन्तूपाख्यानमत्रैव यत्र पुत्रेण सोमकः ।
पुत्रार्थमयजद् राजा लेभे पुत्रशतं च सः ।। १७२ ।।

यहीं जन्तूपाख्यान है। इसमें राजा सोमकने बहुत-से पुत्र प्राप्त करनेके लिये एक पुत्रसे यजन किया और उसके फलस्वरूप सौ पुत्र प्राप्त किये ।। १७२ ।।

ततः श्येनकपोतीयमुपाख्यानमनुत्तमम् ।
इन्द्राग्नी यत्र धर्मस्य जिज्ञासार्थं शिबिं नृपम् ।। १७३ ।।

इसके बाद श्येन (बाज) और कपोत (कबूतर)-का सर्वोत्तम उपाख्यान है। इसमें इन्द्र और अग्नि राजा शिबिके धर्मकी परीक्षा लेनेके लिये आये हैं ।। १७३ ।।

अष्टावक्रीयमत्रैव विवादो यत्र बन्दिना ।
अष्टावक्रस्य विप्रर्षेर्जनकस्याध्वरेऽभवत् ।। १७४ ।।
नैयायिकानां मुख्येन वरुणस्यात्मजेन च ।
पराजितो यत्र बन्दी विवादेन महात्मना ।। १७५ ।।
विजित्य सागरं प्राप्तं पितरं लब्धवानृषिः ।
यवक्रीतस्य चाख्यानं रैभ्यस्य च महात्मनः ।
गन्धमादनयात्रा च वासो नारायणाश्रमे ।। १७६ ।।

इसी पर्वमें अष्टावक्रका चरित्र भी है। जिसमें बन्दीके साथ जनकके यज्ञमें ब्रह्मर्षि अष्टावक्रके शास्त्रार्थका वर्णन है। वह बन्दी वरुणका पुत्र था और नैयायिकोंमें प्रधान था। उसे महात्मा अष्टावक्रने वाद-विवादमें पराजित कर दिया। महर्षि अष्टावक्रने बन्दीको हराकर समुद्रमें डाले हुए अपने पिताको प्राप्त कर लिया। इसके बाद यवक्रीत और महात्मा

रैभ्यका उपाख्यान है। तदनन्तर पाण्डवोंकी गन्धमादनयात्रा और नारायणाश्रममें निवासका वर्णन है ।। १७४—१७६ ।।

नियुक्तो भीमसेनश्च द्रौपद्या गन्धमादने ।
व्रजन् पथि महाबाहुर्दृष्टवान् पवनात्मजम् ।। १७७ ।।
कदलीखण्डमध्यस्थं हनूमन्तं महाबलम् ।
यत्र सौगन्धिकार्थेऽसौ नलिनीं तामधर्षयत् ।। १७८ ।।

द्रौपदीने सौगन्धिक कमल लानेके लिये भीमसेनको गन्धमादन पर्वतपर भेजा। यात्रा करते समय महाबाहु भीमसेनने मार्गमें कदलीवनमें महाबली पवननन्दन श्रीहनुमान्‌जीका दर्शन किया। यहीं सौगन्धिक कमलके लिये भीमसेनने सरोवरमें घुसकर उसे मथ डाला ।। १७७-१७८ ।।

यत्रास्य युद्धमभवत् सुमहद् राक्षसैः सह ।
यक्षैश्चैव महावीर्यैर्मणिमत्प्रमुखैस्तथा ।। १७९ ।।

वहीं भीमसेनका राक्षसों एवं महाशक्तिशाली मणिमान् आदि यक्षोंके साथ घमासान युद्ध हुआ ।। १७९ ।।

जटासुरस्य च वधो राक्षसस्य वृकोदरात् ।
वृषपर्वणश्च राजर्षेस्ततोऽभिगमनं स्मृतम् ।। १८० ।।
आर्ष्टिषेणाश्रमे चैषां गमनं वास एव च ।
प्रोत्साहनं च पाञ्चाल्या भीमस्यात्र महात्मनः ।। १८१ ।।
कैलासारोहणं प्रोक्तं यत्र यक्षैर्बलोत्कटैः ।
युद्धमासीन्महाघोरं मणिमत्प्रमुखैः सह ।। १८२ ।।

तत्पश्चात् भीमसेनके द्वारा जटासुर राक्षसका वध हुआ। फिर पाण्डव क्रमशः राजर्षि वृषपर्वा और आर्ष्टिषेणके आश्रमपर गये और वहीं रहने लगे। यहीं द्रौपदी महात्मा भीमसेनको प्रोत्साहित करती रही। भीमसेन कैलासपर्वतपर चढ़ गये। यहीं अपनी शक्तिके नशेमें चूर मणिमान् आदि यक्षोंके साथ उनका अत्यन्त घोर युद्ध हुआ ।। १८०-१८२ ।।

समागमश्च पाण्डूनां यत्र वैश्रवणेन च ।
समागमश्चार्जुनस्य तत्रैव भ्रातृभिः सह ।। १८३ ।।

यहीं पाण्डवोंका कुबेरके साथ समागम हुआ। इसी स्थानपर अर्जुन आकर अपने भाइयोंसे मिले ।। १८३ ।।

अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि गुर्वर्थं सव्यसाचिना ।
निवातकवचैर्युद्धं हिरण्यपुरवासिभिः ।। १८४ ।।

इधर सव्यसाची अर्जुनने अपने बड़े भाईके लिये दिव्य अस्त्र प्राप्त कर लिये और हिरण्यपुरवासी निवातकवच दानवोंके साथ उनका घोर युद्ध हुआ ।। १८४ ।।

निवातकवचैर्घोरैर्दानवैः सुरशत्रुभिः ।

पौलोमैः कालकेयैश्च यत्र युद्धं किरीटिनः ।। १८५ ।।
वधश्चैषां समाख्यातों राज्ञस्तेनैव धीमता ।
अस्त्रसंदर्शनारम्भो धर्मराजस्य संनिधौ ।। १८६ ।।

वहाँ देवताओंके शत्रु भयंकर दानव निवातकवच, पौलोम और कालकेयोंके साथ अर्जुनने जैसा युद्ध किया और जिस प्रकार उन सबका वध हुआ था, वह सब बुद्धिमान् अर्जुनने स्वयं राजा युधिष्ठिरको सुनाया। इसके बाद अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरके पास अपने अस्त्र-शस्त्रोंका प्रदर्शन करना चाहा ।। १८५-१८६ ।।

पार्थस्य प्रतिषेधश्च नारदेन सुरर्षिणा ।
अवरोहणं पुनश्चैव पाण्डूनां गन्धमादनात् ।। १८७ ।।

इसी समय देवर्षि नारदने आकर अर्जुनको अस्त्र-प्रदर्शनसे रोक दिया। अब पाण्डव गन्धमादन पर्वतसे नीचे उतरने लगे ।। १८७ ।।

भीमस्य ग्रहणं चात्र पर्वताभोगवर्ष्मणा ।
भुजगेन्द्रेण बलिना तस्मिन् सुगहने वने ।। १८८ ।।

फिर एक बीहड़ वनमें पर्वतके समान विशाल शरीरधारी बलवान् अजगरने भीमसेनको पकड़ लिया ।। १८८ ।।

अमोक्षयद् यत्र चैनं प्रश्नानुक्त्वा युधिष्ठिरः ।
काम्यकागमनं चैव पुनस्तेषां महात्मनाम् ।। १८९ ।।

धर्मराज युधिष्ठिरने अजगर-वेशधारी नहुषके प्रश्नोंका उत्तर देकर भीमसेनको छुड़ा लिया। इसके बाद महानुभाव पाण्डव पुनः काम्यकवनमें आये ।। १८९ ।।

तत्रस्थांश्च पुनर्द्रष्टुं पाण्डवान् पुरुषर्षभान् ।
वासुदेवस्यागमनमत्रैव परिकीर्तितम् ।। १९० ।।

जब नरपुंगव पाण्डव काम्यकवनमें निवास करने लगे, तब उनसे मिलनेके लिये वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण उनके पास आये—यह कथा इसी प्रसंगमें कही गयी है ।। १९० ।।

मार्कण्डेयसमास्यायामुपाख्यानानि सर्वशः ।
पृथोर्वैन्यस्य यत्रोक्तमाख्यानं परमर्षिणा ।। १९१ ।।

पाण्डवोंका महामुनि मार्कण्डेयके साथ समागम हुआ। वहाँ महर्षिने बहुत-से उपाख्यान सुनाये। उनमें वेनपुत्र पृथुका भी उपाख्यान है ।। १९१ ।।

संवादश्च सरस्वत्यास्तार्क्ष्यर्षेः सुमहात्मनः ।
मत्स्योपाख्यानमत्रैव प्रोच्यते तदनन्तरम् ।। १९२ ।।

इसी प्रसंगमें प्रसिद्ध महात्मा महर्षि तार्क्ष्य और सरस्वतीका संवाद है। तदनन्तर मत्स्योपाख्यान भी कहा गया है ।। १९२ ।।

मार्कण्डेयसमास्या च पुराणं परिकीर्त्यते ।
ऐन्द्रद्युम्नमुपाख्यानं धौन्धुमारं तथैव च ।। १९३ ।।

इसी मार्कण्डेय-समागममें पुराणोंकी अनेक कथाएँ, राजा इन्द्रद्युम्नका उपाख्यान तथा धुन्धुमारकी कथा भी है ।। १९३ ।।

पतिव्रतायाश्चाख्यानं तथैवाङ्गिरसं स्मृतम् ।
द्रौपद्याः कीर्तितश्चात्र संवादः सत्यभामया ।। १९४ ।।

पतिव्रताका और आंगिरसका उपाख्यान भी इसी प्रसंगमें है। द्रौपदीका सत्यभामाके साथ संवाद भी इसीमें है ।। १९४ ।।

पुनर्द्वैतवनं चैव पाण्डवाः समुपागताः ।
घोषयात्रा च गन्धर्वैर्यत्र बद्धः सुयोधनः ।। १९५ ।।

तदनन्तर धर्मात्मा पाण्डव पुनः द्वैतवनमें आये। कौरवोंने घोषयात्रा की और गन्धर्वोंने दुर्योधनको बन्दी बना लिया ।। १९५ ।।

ह्रियमाणस्तु मन्दात्मा मोक्षितोऽसौ किरीटिना ।
धर्मराजस्य चात्रैव मृगस्वप्ननिदर्शनम् ।। १९६ ।।

वे मन्दमति दुर्योधनको कैद करके लिये जा रहे थे कि अर्जुनने युद्ध करके उसे छुड़ा लिया। इसके बाद धर्मराज युधिष्ठिरको स्वप्नमें हरिणके दर्शन हुए ।। १९६ ।।

काम्यके काननश्रेष्ठे पुनर्गमनमुच्यते ।
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानमत्रैव बहुविस्तरम् ।। १९७ ।।

इसके पश्चात् पाण्डवगण काम्यक नामक श्रेष्ठ वनमें फिरसे गये। इसी प्रसंगमें अत्यन्त विस्तारके साथ व्रीहिद्रौणिक उपाख्यान भी कहा गया है ।। १९७ ।।

दुर्वाससोऽप्युपाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम् ।
जयद्रथेनापहारो द्रौपद्याश्चाश्रमान्तरात् ।। १९८ ।।

इसीमें दुर्वासाजीका उपाख्यान और जयद्रथके द्वारा आश्रमसे द्रौपदीके हरणकी कथा भी कही गयी है ।। १९८ ।।

यत्रैनमन्वयाद् भीमो वायुवेगसमो जवे ।
चक्रे चैनं पञ्चशिखं यत्र भीमो महाबलः ।। १९९ ।।

उस समय महाबली भयंकर भीमसेनने वायुवेगसे दौड़कर उसका पीछा किया था तथा जयद्रथके सिरके सारे बाल मूँड़कर उसमें पाँच चोटियाँ रख दी थीं ।। १९९ ।।

रामायणमुपाख्यानमत्रैव बहुविस्तरम् ।
यत्र रामेण विक्रम्य निहतो रावणो युधि ।। २०० ।।

वनपर्वमें बड़े ही विस्तारके साथ रामायणका उपाख्यान है, जिसमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने युद्धभूमिमें अपने पराक्रमसे रावणका वध किया है ।। २०० ।।

सावित्र्याश्चाप्युपाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम् ।
कर्णस्य परिमोक्षोऽत्र कुण्डलाभ्यां पुरन्दरात् ।। २०१ ।।

इसके बाद ही सावित्रीका उपाख्यान और इन्द्रके द्वारा कर्णको कुण्डलोंसे वंचित कर देनेकी कथा है ।। २०१ ।।

यत्रास्य शक्तिं तुष्टोऽसावदादेकवधाय च ।
आरणेयमुपाख्यानं यत्र धर्मोऽन्वशात् सुतम् ।। २०२ ।।

इसी प्रसंगमें इन्द्रने प्रसन्न होकर कर्णको एक शक्ति दी थी, जिससे कोई भी एक वीर मारा जा सकता था। इसके बाद है आरणेय उपाख्यान, जिसमें धर्मराजने अपने पुत्र युधिष्ठिरको शिक्षा दी है ।। २०२ ।।

जग्मुर्लब्धवरा यत्र पाण्डवाः पश्चिमां दिशम् ।
एतदारण्यकं पर्व तृतीयं परिकीर्तितम् ।। २०३ ।।
अत्राध्यायशते द्वे तु संख्यया परिकीर्तिते ।
एकोनसप्ततिश्चैव तथाध्यायाः प्रकीर्तिताः ।। २०४ ।।

और उनसे वरदान प्राप्तकर पाण्डवोंने पश्चिम दिशाकी यात्रा की। यह तीसरे वनपर्वकी सूची कही गयी। इस पर्वमें गिनकर दो सौ उनहत्तर (२६९) अध्याय कहे गये

हैं ।। २०३-२०४ ।।

एकादशसहस्राणि श्लोकानां षट् शतानि च ।
चतुःषष्टिस्तथाश्लोकाः पर्वण्यस्मिन् प्रकीर्तिताः ।। २०५ ।।

ग्यारह हजार छः सौ चौंसठ (११,६६४) श्लोक इस पर्वमें हैं ।। २०५ ।।

अतः परं निबोधेदं वैराटं पर्व विस्तरम् ।
विराटनगरे गत्वा श्मशाने विपुलां शमीम् ।। २०६ ।।
दृष्ट्वा संनिदधुस्तत्र पाण्डवा ह्यायुधान्युत ।
यत्र प्रविश्य नगरं छद्मना न्यवसंस्तु ते ।। २०७ ।।

इसके बाद विराटपर्वकी विस्तृत सूची सुनो। पाण्डवोंने विराटनगरमें जाकर श्मशानके पास एक विशाल शमीका वृक्ष देखा। उसीपर उन्होंने अपने सारे अस्त्र-शस्त्र रख दिये। तदनन्तर उन्होंने नगरमें प्रवेश किया और छद्मवेशमें वहाँ निवास करने लगे ।। २०६-२०७ ।।

पाञ्चालीं प्रार्थयानस्य कामोपहतचेतसः ।
दुष्टात्मनो वधो यत्र कीचकस्य वृकोदरात् ।। २०८ ।।

कीचक स्वभावसे ही दुष्ट था। द्रौपदीको देखते ही उसका मन कामबाणसे घायल हो गया। वह द्रौपदीके पीछे पड़ गया। इसी अपराधसे भीमसेनने उसे मार डाला। यह कथा इसी पर्वमें है ।। २०८ ।।

पाण्डवान्वेषणार्थं च राज्ञो दुर्योधनस्य च ।
चाराः प्रस्थापिताश्चात्र निपुणाः सर्वतोदिशम् ।। २०९ ।।

राजा दुर्योधनने पाण्डवोंका पता चलानेके लिये बहुत-से निपुण गुप्तचर सब ओर भेजे ।। २०९ ।।

न च प्रवृत्तिस्तैर्लब्धा पाण्डवानां महात्मनाम् ।
गोग्रहश्च विराटस्य त्रिगर्तैः प्रथमं कृतः ।। २१० ।।

परंतु उन्हें महात्मा पाण्डवोंकी गतिविधिका कोई हालचाल न मिला। इन्हीं दिनों त्रिगर्तोंने राजा विराटकी गौओंका प्रथम बार अपहरण कर लिया ।। २१० ।।

यत्रास्य युद्धं सुमहत् तैरासील्लोमहर्षणम् ।
ह्रियमाणश्च यत्रासौ भीमसेनेन मोक्षितः ।। २११ ।।

राजा विराटने त्रिगर्तोंके साथ रोंगटे खड़े कर देनेवाला घमासान युद्ध किया। त्रिगर्त विराटको पकड़कर लिये जा रहे थे; किंतु भीमसेनने उन्हें छुड़ा लिया ।। २११ ।।

गोधनं च विराटस्य मोक्षितं यत्र पाण्डवैः ।
अनन्तरं च कुरुभिस्तस्य गोग्रहणं कृतम् ।। २१२ ।।

साथ ही पाण्डवोंने उनके गोधनको भी त्रिगर्तोंसे छुड़ा लिया। इसके बाद ही कौरवोंने विराटनगरपर चढ़ाई करके उनकी (उत्तर दिशाकी) गायोंकी लूटना प्रारम्भ कर

दिया ।। २१२ ।।

समस्ता यत्र पार्थेन निर्जिताः कुरवो युधि ।
प्रत्याहृतं गोधनं च विक्रमेण किरीटिना ।। २१३ ।।

इसी अवसरपर किरीटधारी अर्जुनने अपना पराक्रम प्रकट करके संग्रामभूमिमें सम्पूर्ण कौरवोंको पराजित कर दिया और विराटके गोधनको लौटा लिया ।। २१३ ।।

विराटेनोत्तरा दत्ता स्नुषा यत्र किरीटिनः ।
अभिमन्युं समुद्दिश्य सौभद्रमरिघातिनम् ।। २१४ ।।

(पाण्डवोंके पहचाने जानेपर) राजा विराटने अपनी पुत्री उत्तरा शत्रुघाती सुभद्रानन्दन अभिमन्युसे विवाह करनेके लिये पुत्रवधूके रूपमें अर्जुनको दे दी ।। २१४ ।।

चतुर्थमेतद् विपुलं वैराटं पर्व वर्णितम् ।
अत्रापि परिसंख्याता अध्यायाः परमर्षिणा ।। २१५ ।।
सप्तषष्टिरथो पूर्णा श्लोकानामपि मे शृणु ।
श्लोकानां द्वे सहस्रे तु श्लोकाः पञ्चाशदेव तु ।। २१६ ।।
उक्तानि वेदविदुषा पर्वण्यस्मिन् महर्षिणा ।
उद्योगपर्व विज्ञेयं पञ्चमं शृण्वतः परम् ।। २१७ ।।

इस प्रकार इस चौथे विराटपर्वकी सूचीका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया। परमर्षि व्यासजी महाराजने इस पर्वमें गिनकर सड़सठ (६७) अध्याय रखे हैं। अब तुम मुझसे श्लोकोंकी संख्या सुनो। इस पर्वमें दो हजार पचास (२,०५०) श्लोक वेदवेत्ता महर्षि वेदव्यासने कहे हैं। इसके बाद पाँचवाँ उद्योगपर्व समझना चाहिये। अब तुम उसकी विषय-सूची सुनो ।। २१५—२१७ ।।

उपप्लव्ये निविष्टेषु पाण्डवेषु जिगीषया ।
दुर्योधनोऽर्जुनश्चैव वासुदेवमुपस्थितौ ।। २१८ ।।

जब पाण्डव उपप्लव्यनगरमें रहने लगे, तब दुर्योधन और अर्जुन विजयकी आकांक्षासे भगवान् श्रीकृष्णके पास उपस्थित हुए ।। २१८ ।।

साहाय्यमस्मिन् समरे भवान् नौ कर्तुमर्हति ।
इत्युक्ते वचने कृष्णो यत्रोवाच महामतिः ।। २१९ ।।

दोनोंने ही भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की कि 'आप इस युद्धमें हमारी सहायता कीजिये।' इसपर महामना श्रीकृष्णने कहा— ।। २१९ ।।

अयुध्यमानमात्मानं मन्त्रिणं पुरुषर्षभौ ।
अक्षौहिणीं वा सैन्यस्य कस्य किं वा ददाम्यहम् ।। २२० ।।

'दुर्योधन और अर्जुन! तुम दोनों ही श्रेष्ठ पुरुष हो। मैं स्वयं युद्ध न करके एकका मन्त्री बन जाऊँगा और दूसरेको एक अक्षौहिणी सेना दे दूँगा। अब तुम्हीं दोनों निश्चय करो कि किसे क्या दूँ?' ।। २२० ।।

वव्रे दुर्योधनः सैन्यं मन्दात्मा यत्र दुर्मतिः ।
अयुध्यमानं सचिवं वव्रे कृष्णं धनञ्जयः ।। २२१ ।।

अपने स्वार्थके सम्बन्धमें अनजान एवं खोटी बुद्धिवाले दुर्योधनने एक अक्षौहिणी सेना माँग ली और अर्जुनने यह माँग की कि 'श्रीकृष्ण युद्ध भले ही न करें, परंतु मेरे मन्त्री बन जायँ' ।। २२१ ।।

मद्रराजं च राजानमायान्तं पाण्डवान् प्रति ।
उपहारैर्वञ्चयित्वा वर्त्मन्येव सुयोधनः ।। २२२ ।।
वरदं तं वरं वव्रे साहाय्यं क्रियतां मम ।
शल्यस्तस्मै प्रतिश्रुत्य जगामोद्दिश्य पाण्डवान् ।। २२३ ।।
शान्तिपूर्वं चाकथयद् यत्रेन्द्रविजयं नृपः ।
पुरोहितप्रेषणं च पाण्डवैः कौरवान् प्रति ।। २२४ ।।

मद्रदेशके अधिपति राजा शल्य पाण्डवोंकी ओरसे युद्ध करने आ रहे थे, परंतु दुर्योधनने मार्गमें ही उपहारोंसे धोखेमें डालकर उन्हें प्रसन्न कर लिया और उन वरदायक नरेशसे यह वर माँगा कि 'मेरी सहायता कीजिये।' शल्यने दुर्योधनसे सहायताकी प्रतिज्ञा कर ली। इसके बाद वे पाण्डवोंके पास गये और बड़ी शान्तिके साथ सब कुछ समझा-बुझाकर सब बात कह दी। राजाने इसी प्रसंगमें इन्द्रकी विजयकी कथा भी सुनायी। पाण्डवोंने अपने पुरोहितको कौरवोंके पास भेजा ।। २२२—२२४ ।।

वैचित्रवीर्यस्य वचः समादाय पुरोधसः ।
तथेन्द्रविजयं चापि यानं चैव पुरोधसः ।। २२५ ।।
संजयं प्रेषयामास शमार्थी पाण्डवान् प्रति ।
यत्र दूतं महाराजो धृतराष्ट्रः प्रतापवान् ।। २२६ ।।

धृतराष्ट्रने पाण्डवोंके पुरोहितके इन्द्रविजयविषयक वचनको सादर श्रवण करते हुए उनके आगमनके औचित्यको स्वीकार किया। तत्पश्चात् परम प्रतापी महाराज धृतराष्ट्रने भी शान्तिकी इच्छासे दूतके रूपमें संजयको पाण्डवोंके पास भेजा ।। २२५-२२६ ।।

श्रुत्वा च पाण्डवान् यत्र वासुदेवपुरोगमान् ।
प्रजागरः सम्प्रजज्ञे धृतराष्ट्रस्य चिन्तया ।। २२७ ।।
विदुरो यत्र वाक्यानि विचित्राणि हितानि च ।
श्रावयामास राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।। २२८ ।।

जब धृतराष्ट्रने सुना कि पाण्डवोंने श्रीकृष्णको अपना नेता चुन लिया है और वे उन्हें आगे करके युद्धके लिये प्रस्थान कर रहे हैं, तब चिन्ताके कारण उनकी नींद भाग गयी—वे रातभर जागते रह गये। उस समय महात्मा विदुरने मनीषी राजा धृतराष्ट्रको विविध प्रकारसे अत्यन्त आश्चर्यजनक नीतिका उपदेश किया है (वही विदुरनीतिके नामसे प्रसिद्ध है) ।। २२७-२२८ ।।

तथा सनत्सुजातेन यत्राध्यात्ममनुत्तमम् ।
मनस्तापान्वितो राजा श्रावितः शोकलालसः ।। २२९ ।।

उसी समय महर्षि सनत्सुजातने खिन्नचित्त एवं शोकविह्वल राजा धृतराष्ट्रको सर्वोत्तम अध्यात्मशास्त्रका श्रवण कराया ।। २२९ ।।

प्रभाते राजसमितौ संजयो यत्र वा विभोः ।
ऐकात्म्यं वासुदेवस्य प्रोक्तवानर्जुनस्य च ।। २३० ।।

प्रातःकाल राजसभामें संजयने राजा धृतराष्ट्रसे श्रीकृष्ण और अर्जुनके ऐकात्म्य अथवा मित्रताका भलीभाँति वर्णन किया ।। २३० ।।

यत्र कृष्णो दयापन्नः संधिमिच्छन् महामतिः ।
स्वयमागाच्छमं कर्तुं नगरं नागसाह्वयम् ।। २३१ ।।

इसी प्रसंगमें यह कथा भी है कि परम दयालु सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण दया-भावसे युक्त हो शान्ति-स्थापनके लिये सन्धि करानेके उद्देश्यसे स्वयं हस्तिनापुर नामक नगरमें पधारे ।। २३१ ।।

प्रत्याख्यानं च कृष्णस्य राज्ञा दुर्योधनेन वै ।
शमार्थे याचमानस्य पक्षयोरुभयोर्हितम् ।। २३२ ।।

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण दोनों ही पक्षोंका हित चाहते थे और शान्तिके लिये प्रार्थना कर रहे थे, परंतु राजा दुर्योधनने उनका विरोध कर दिया ।। २३२ ।।

दम्भोद्भवस्य चाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम् ।
वरान्वेषणमत्रैव मातलेश्च महात्मनः ।। २३३ ।।

इसी पर्वमें दम्भोद्भवकी कथा कही गयी है और साथ ही महात्मा मातलिका अपनी कन्याके लिये वर ढूँढ़नेका प्रसंग भी है ।। २३३ ।।

महर्षेश्चापि चरितं कथितं गालवस्य वै ।
विदुलायाश्च पुत्रस्य प्रोक्तं चाप्यनुशासनम् ।। २३४ ।।

इसके बाद महर्षि गालवके चरित्रका वर्णन है। साथ ही विदुलाने अपने पुत्रको जो शिक्षा दी है, वह भी कही गयी है ।। २३४ ।।

कर्णदुर्योधनादीनां दुष्टं विज्ञाय मन्त्रितम् ।
योगेश्वरत्वं कृष्णेन यत्र राज्ञां प्रदर्शितम् ।। २३५ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने कर्ण और दुर्योधन आदिकी दूषित मन्त्रणाको जानकर राजाओंकी भरी सभामें अपने योगैश्वर्यका प्रदर्शन किया ।। २३५ ।।

रथमारोप्य कृष्णेन यत्र कर्णोऽनुमन्त्रितः ।
उपायपूर्वं शौटीर्यात् प्रत्याख्यातश्च तेन सः ।। २३६ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने कर्णको अपने रथपर बैठाकर उसे (पाण्डवोंके पक्षमें आनेके लिये) अनेक युक्तियोंसे बहुत समझाया-बुझाया, परंतु कर्णने अहंकारवश उनकी बात अस्वीकार

कर दी ।। २३६ ।।

आगम्य ह्यस्तिनपुरादुपप्लव्यमरिन्दमः ।

पाण्डवानां यथावृत्तं सर्वमाख्यातवान् हरिः ।। २३७ ।।

शत्रुसूदन श्रीकृष्णने हस्तिनापुरसे उपप्लव्यनगर आकर जैसा कुछ वहाँ हुआ था, सब पाण्डवोंको कह सुनाया ।। २३७ ।।

ते तस्य वचनं श्रुत्वा मन्त्रयित्वा च यद्धितम् ।

सांग्रामिकं ततः सर्वं सज्जं चक्रुः परंतपाः ।। २३८ ।।

शत्रुघाती पाण्डव उनके वचन सुनकर और क्या करनेमें हमारा हित है—यह परामर्श करके युद्ध-सम्बन्धी सब सामग्री जुटानेमें लग गये ।। २३८ ।।

ततो युद्धाय निर्याता नराश्वरथदन्तिनः ।

नगराद्धास्तिनपुराद् बलसंख्यानमेव च ।। २३९ ।।

इसके पश्चात् हस्तिनापुर नामक नगरसे युद्धके लिये मनुष्य, घोड़े, रथ और हाथियोंकी चतुरंगिणी सेनाने कूच किया। इसी प्रसंगमें सेनाकी गिनती की गयी है ।। २३९ ।।

यत्र राज्ञा ह्युलूकस्य प्रेषणं पाण्डवान् प्रति ।

श्वोभाविनि महायुद्धे दौत्येन कृतवान् प्रभुः ।। २४० ।।

फिर यह कहा गया है कि शक्तिशाली राजा दुर्योधनने दूसरे दिन प्रातःकालसे होनेवाले महायुद्धके सम्बन्धमें उलूकको दूत बनाकर पाण्डवोंके पास भेजा ।। २४० ।।

रथातिरथसंख्यानमम्बोपाख्यानमेव च ।

एतत् सुबहुवृत्तान्तं पञ्चमं पर्व भारते ।। २४१ ।।

इसके अनन्तर इस पर्वमें रथी, अतिरथी आदिके स्वरूपका वर्णन तथा अम्बाका उपाख्यान आता है। इस प्रकार महाभारतमें उद्योगपर्व पाँचवाँ पर्व है और इसमें बहुत-से सुन्दर-सुन्दर वृत्तान्त हैं ।। २४१ ।।

उद्योगपर्व निर्दिष्टं संधिविग्रहमिश्रितम् ।

अध्यायानां शतं प्रोक्तं षडशीतिर्महर्षिणा ।। २४२ ।।

श्लोकानां षट्सहस्राणि तावन्त्येव शतानि च ।

श्लोकाश्च नवतिः प्रोक्तास्तथैवाष्टौ महात्मना ।। २४३ ।।

व्यासेनोदारमतिना पर्वण्यस्मिंस्तपोधनाः ।

इस उद्योगपर्वमें श्रीकृष्णके द्वारा सन्धि-संदेश और उलूकके विग्रह-संदेशका महत्त्वपूर्ण वर्णन हुआ है। तपोधन महर्षियो! विशालबुद्धि महर्षि व्यासने इस पर्वमें एक सौ छियासी (१८६) अध्याय रखे हैं और श्लोकोंकी संख्या छः हजार छः सौ अट्ठानबे (६,६९८) बतायी है ।। २४२-२४३½ ।।

अतः परं विचित्रार्थं भीष्मपर्व प्रचक्षते ।। २४४ ।।

जम्बूखण्डविनिर्माणं यत्रोक्तं संजयेन ह ।

यत्र यौधिष्ठिरं सैन्यं विषादमगमत् परम् ।। २४५ ।।
यत्र युद्धमभूद् घोरं दशाहानि सुदारुणम् ।
कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः ।। २४६ ।।
मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः ।
समीक्ष्याधोक्षजः क्षिप्रं युधिष्ठिरहिते रतः ।। २४७ ।।
रथादाप्लुत्य वेगेन स्वयं कृष्ण उदारधीः ।
प्रतोदपाणिराधावद् भीष्मं हन्तु व्यपेतभीः ।। २४८ ।।

इसके बाद विचित्र अर्थोंसे भरे भीष्मपर्वकी विषय-सूची कही जाती है, जिसमें संजयने जम्बूद्वीपकी रचनासम्बन्धी कथा कही है। इस पर्वमें दस दिनोंतक अत्यन्त भयंकर घोर युद्ध होनेका वर्णन आता है, जिसमें धर्मराज युधिष्ठिरकी सेनाके अत्यन्त दुःखी होनेकी कथा है। इसी युद्धके प्रारम्भमें महातेजस्वी भगवान् वासुदेवने मोक्षतत्त्वका ज्ञान करानेवाली युक्तियोंद्वारा अर्जुनके मोहजनित शोक-संतापका नाश किया था (जो कि भगवद्गीताके नामसे प्रसिद्ध है)। इसी पर्वमें यह कथा भी है कि युधिष्ठिरके हितमें संलग्न रहनेवाले निर्भय, उदारबुद्धि, अधोक्षज, भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनकी शिथिलता देख शीघ्र ही हाथमें चाबुक लेकर भीष्मको मारनेके लिये स्वयं रथसे कूद पड़े और बड़े वेगसे दौड़े ।। २४४—२४८ ।।

वाक्यप्रतोदाभिहतो यत्र कृष्णेन पाण्डवः ।
गाण्डीवधन्वा समरे सर्वशस्त्रभृतां वरः ।। २४९ ।।

साथ ही सब शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ गाण्डीवधन्वा अर्जुनको युद्धभूमिमें भगवान् श्रीकृष्णने व्यंग्य-वाक्यके चाबुकसे मार्मिक चोट पहुँचायी ।। २४९ ।।

शिखण्डिनं पुरस्कृत्य यत्र पार्थो महाधनुः ।
विनिघ्नन् निशितैर्बाणै रथाद् भीष्ममपातयत् ।। २५० ।।

तब महाधनुर्धर अर्जुनने शिखण्डीको सामने करके तीखे बाणोंसे घायल करते हुए भीष्मपितामहको रथसे गिरा दिया ।। २५० ।।

शरतल्पगतश्चैव भीष्मो यत्र बभूव ह ।
षष्ठमेतत् समाख्यातं भारते पर्व विस्तृतम् ।। २५१ ।।

जबकि भीष्मपितामह शरशय्यापर शयन करने लगे। महाभारतमें यह छठा पर्व विस्तारपूर्वक कहा गया है ।। २५१ ।।

अध्यायानां शतं प्रोक्तं तथा सप्तदशापरे ।
पञ्च श्लोकसहस्राणि संख्ययाष्टौ शतानि च ।। २५२ ।।
श्लोकाश्च चतुराशीतिरस्मिन् पर्वणि कीर्तिताः ।
व्यासेन वेदविदुषा संख्याता भीष्मपर्वणि ।। २५३ ।।

वेदके मर्मज्ञ विद्वान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने इस भीष्मपर्वमें एक सौ सत्रह (११७) अध्याय रखे हैं। श्लोकोंकी संख्या पाँच हजार आठ सौ चौरासी (५,८८४) कही गयी है ।। २५२-२५३ ।।

द्रोणपर्व ततश्चित्रं बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
सैनापत्येऽभिषिक्तोऽथ यत्राचार्यः प्रतापवान् ।। २५४ ।।

तदनन्तर अनेक वृत्तान्तोंसे पूर्ण अद्भुत द्रोणपर्वकी कथा आरम्भ होती है, जिसमें परम प्रतापी आचार्य द्रोणके सेनापतिपदपर अभिषिक्त होनेका वर्णन है ।। २५४ ।।

दुर्योधनस्य प्रीत्यर्थं प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ।
ग्रहणं धर्मराजस्य पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ।। २५५ ।।

वहीं यह भी कहा गया है कि अस्त्रविद्याके परमाचार्य द्रोणने दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरको पकड़नेकी प्रतिज्ञा कर ली ।। २५५ ।।

यत्र संशप्तकाः पार्थमपनिन्यू रणाजिरात् ।
भगदत्तो महाराजो यत्र शक्रसमो युधि ।। २५६ ।।
सुप्रतीकेन नागेन स हि शान्तः किरीटिना ।

इसी पर्वमें यह बताया गया है कि संशप्तक योद्धा अर्जुनको रणांगणसे दूर हटा ले गये। वहीं यह कथा भी आयी है कि ऐरावतवंशीय सुप्रतीक नामक हाथीके साथ महाराज भगदत्त भी, जो युद्धमें इन्द्रके समान थे, किरीटधारी अर्जुनके द्वारा मौतके घाट उतार दिये गये ।। २५६ १/२ ।।

यत्राभिमन्युं बहवो जघ्नुरेकं महारथाः ।। २५७ ।।
जयद्रथमुखा बालं शूरमप्राप्तयौवनम् ।

इसी पर्वमें यह भी कहा गया है कि शूरवीर बालक अभिमन्युको, जो अभी जवान भी नहीं हुआ था और अकेला था, जयद्रथ आदि बहुत-से विश्वविख्यात महारथियोंने मार डाला ।। २५७ १/२ ।।

हतेऽभिमन्यौ क्रुद्धेन यत्र पार्थेन संयुगे ।। २५८ ।।
अक्षौहिणीः सप्त हत्वा हतो राजा जयद्रथः ।

अभिमन्युके वधसे कुपित होकर अर्जुनने रणभूमिमें सात अक्षौहिणी सेनाओंका संहार करके राजा जयद्रथको भी मार डाला ।। २५८ १/२ ।।

यत्र भीमो महाबाहुः सात्यकिश्च महारथः ।। २५९ ।।
अन्वेषणार्थं पार्थस्य युधिष्ठिरनृपाज्ञया ।
प्रविष्टौ भारतीं सेनामप्रधृष्यां सुरैरपि ।। २६० ।।

उसी अवसरपर महाबाहु भीमसेन और महारथी सात्यकि धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे अर्जुनको ढूँढ़नेके लिये कौरवोंकी उस सेनामें घुस गये, जिसकी मोर्चेबन्दी बड़े-बड़े देवता भी नहीं तोड़ सकते थे ।। २५९-२६० ।।

संशप्तकावशेषं च कृतं निःशेषमाहवे ।
संशप्तकानां वीराणां कोट्यो नव महात्मनाम् ।। २६१ ।।
किरीटिनाभिनिष्क्रम्य प्रापिता यमसादनम् ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राश्च तथा पाषाणयोधिनः ।। २६२ ।।
नारायणाश्च गोपालाः समरे चित्रयोधिनः ।
अलम्बुषः श्रुतायुश्च जलसन्धश्च वीर्यवान् ।। २६३ ।।
सौमदत्तिर्विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।
घटोत्कचादयश्चान्ये निहता द्रोणपर्वणि ।। २६४ ।।

अर्जुनने संशप्तकोंमेंसे जो बच रहे थे, उन्हें भी युद्धभूमिमें निःशेष कर दिया। महामना संशप्तक वीरोंकी संख्या नौ करोड़ थी; परंतु किरीटधारी अर्जुनने आक्रमण करके अकेले ही उन सबको यमलोक भेज दिया। धृतराष्ट्रपुत्र, बड़े-बड़े पाषाणखण्ड लेकर युद्ध करनेवाले म्लेच्छ-सैनिक, समरांगणमें युद्धके विचित्र कला-कौशलका परिचय देनेवाले नारायण नामक गोप, अलम्बुष, श्रुतायु, पराक्रमी जलसन्ध, भूरिश्रवा, विराट, महारथी द्रुपद तथा घटोत्कच आदि जो बड़े-बड़े वीर मारे गये हैं, वह प्रसंग भी इसी पर्वमें है ।। २६१—२६४ ।।

अश्वत्थामापि चात्रैव द्रोणे युधि निपातिते ।
अस्त्रं प्रादुश्चकारोग्रं नारायणममर्षितः ।। २६५ ।।

इसी पर्वमें यह बात भी आयी है कि युद्धमें जब पिता द्रोणाचार्य मार गिराये गये, तब अश्वत्थामाने भी शत्रुओंके प्रति अमर्षमें भरकर 'नारायण' नामक भयानक अस्त्रको प्रकट किया था ।। २६५ ।।

आग्नेयं कीर्त्यते यत्र रुद्रमाहात्म्यमुत्तमम् ।
व्यासस्य चाप्यागमनं माहात्म्यं कृष्णपार्थयोः ।। २६६ ।।

इसीमें आग्नेयास्त्र तथा भगवान् रुद्रके उत्तम माहात्म्यका वर्णन किया गया है। व्यासजीके आगमन तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनके माहात्म्यकी कथा भी इसीमें है ।। २६६ ।।

सप्तमं भारते पर्व महदेतदुदाहृतम् ।
यत्र ते पृथिवीपालाः प्रायशो निधनं गताः ।। २६७ ।।
द्रोणपर्वणि ये शूरा निर्दिष्टाः पुरुषर्षभाः ।
अत्राध्यायशतं प्रोक्तं तथाध्यायाश्च सप्ततिः ।। २६८ ।।
अष्टौ श्लोकसहस्राणि तथा नव शतानि च ।
श्लोका नव तथैवात्र संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ।। २६९ ।।
पाराशर्येण मुनिना संचिन्त्य द्रोणपर्वणि ।

महाभारतमें यह सातवाँ महान् पर्व बताया गया है। कौरव-पाण्डवयुद्धमें जो नरश्रेष्ठ नरेश शूरवीर बताये गये हैं, उनमेंसे अधिकांशके मारे जानेका प्रसंग इस द्रोणपर्वमें ही आया है। तत्त्वदर्शी पराशरनन्दन मुनिवर व्यासने भलीभाँति सोच-विचारकर द्रोणपर्वमें एक सौ सत्तर (१७०) अध्यायों और आठ हजार नौ सौ नौ (८,९०९) श्लोकोंकी रचना एवं गणना की है ।। २६७—२६९½ ।।

अतः परं कर्णपर्व प्रोच्यते परमाद्भुतम् ।। २७० ।।
सारथ्ये विनियोगश्च मद्रराजस्य धीमतः ।
आख्यातं यत्र पौराणं त्रिपुरस्य निपातनम् ।। २७१ ।।

इसके बाद अत्यन्त अद्‌भुत कर्णपर्वका परिचय दिया गया है। इसीमें परम बुद्धिमान् मद्रराज शल्यको कर्णके सारथि बनानेका प्रसंग है, फिर त्रिपुरके संहारकी पुराणप्रसिद्ध कथा आयी है ।। २७०-२७१ ।।

प्रयागे परुषश्चात्र संवादः कर्णशल्ययोः ।
हंसकाकीयमाख्यानं तत्रैवाक्षेपसंहितम् ।। २७२ ।।

युद्धके लिये जाते समय कर्ण और शल्यमें जो कठोर संवाद हुआ है, उसका वर्णन भी इसी पर्वमें है। तदनन्तर हंस और कौएका आक्षेपपूर्ण उपाख्यान है ।। २७२ ।।

वधः पाण्ड्यस्य च तथा अश्वत्थाम्ना महात्मना ।
दण्डसेनस्य च ततो दण्डस्य च वधस्तथा ।। २७३ ।।

उसके बाद महात्मा अश्वत्थामाके द्वारा राजा पाण्ड्यके वधकी कथा है। फिर दण्डसेन और दण्डके वधका प्रसंग है ।। २७३ ।।

द्वैरथे यत्र कर्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
संशयं गमितो युद्धे मिषतां सर्वधन्विनाम् ।। २७४ ।।

इसी पर्वमें कर्णके साथ युधिष्ठिरके द्वैरथ (द्वन्द्व) युद्धका वर्णन है, जिसमें कर्णने सब धनुर्धर वीरोंके देखते-देखते धर्मराज युधिष्ठिरके प्राणोंको संकटमें डाल दिया था ।। २७४ ।।

अन्योन्यं प्रति च क्रोधो युधिष्ठिरकिरीटिनोः ।
यत्रैवानुनयः प्रोक्तो माधवेनार्जुनस्य हि ।। २७५ ।।

तत्पश्चात् युधिष्ठिर और अर्जुनके एक-दूसरेके प्रति क्रोधयुक्त उद्‌गार हैं, जहाँ भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको समझा-बुझाकर शान्त किया है ।। २७५ ।।

प्रतिज्ञापूर्वकं चापि वक्षो दुःशासनस्य च ।
भित्त्वा वृकोदरो रक्तं पीतवान् यत्र संयुगे ।। २७६ ।।

इसी पर्वमें यह बात भी आयी है कि भीमसेनने पहलेकी की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार दुःशासनका वक्षःस्थल विदीर्ण करके रक्त पीया था ।। २७६ ।।

द्वैरथे यत्र पार्थेन हतः कर्णो महारथः ।
अष्टमं पर्व निर्दिष्टमेतद् भारतचिन्तकैः ।। २७७ ।।

तदनन्तर द्वन्द्वयुद्धमें अर्जुनने महारथी कर्णको जो मार गिराया, वह प्रसंग भी कर्णपर्वमें ही है। महाभारतका विचार करनेवाले विद्वानोंने इस कर्णपर्वको आठवाँ पर्व कहा है ।। २७७ ।।

एकोनसप्ततिः प्रोक्ता अध्यायाः कर्णपर्वणि ।
चत्वार्येव सहस्राणि नव श्लोकशतानि च ।। २७८ ।।
चतुःषष्टिस्तथा श्लोकाः पर्वण्यस्मिन् प्रकीर्तिताः ।

कर्णपर्वमें उनहत्तर (६९) अध्याय कहे गये हैं और चार हजार नौ सौ चौंसठ (४,९६४) श्लोकोंका पाठ इस पर्वमें किया गया है ।। २७८½ ।।

अतः परं विचित्रार्थं शल्यपर्व प्रकीर्तितम् ।। २७९ ।।

तत्पश्चात् विचित्र अर्थयुक्त विषयोंसे भरा हुआ शल्यपर्व कहा गया है ।। २७९ ।।

हतप्रवीरे सैन्ये तु नेता मद्रेश्वरोऽभवत् ।
यत्र कौमारमाख्यानमभिषेकस्य कर्म च ।। २८० ।।

इसीमें यह कथा आयी है कि जब कौरवसेनाके सभी प्रमुख वीर मार दिये गये, तब मद्रराज शल्य सेनापति हुए। वहीं कुमार कार्तिकेयका उपाख्यान और अभिषेककर्म कहा गया है ।। २८० ।।

वृत्तानि रथयुद्धानि कीर्त्यन्ते यत्र भागशः ।
विनाशः कुरुमुख्यानां शल्यपर्वणि कीर्त्यते ।। २८१ ।।
शल्यस्य निधनं चात्र धर्मराजान्महात्मनः ।
शकुनेश्च वधोऽत्रैव सहदेवेन संयुगे ।। २८२ ।।

साथ ही वहाँ रथियोंके युद्धका भी विभागपूर्वक वर्णन किया गया है। शल्यपर्वमें ही कुरुकुलके प्रमुख वीरोंके विनाशका तथा महात्मा धर्मराजद्वारा शल्यके वधका वर्णन किया गया है। इसीमें सहदेवके द्वारा युद्धमें शकुनिके मारे जानेका प्रसंग है ।। २८१-२८२ ।।

सैन्ये च हतभूयिष्टे किंचिच्छिष्टे सुयोधनः ।
ह्रदं प्रविश्य यत्रासौ संस्तभ्यापो व्यवस्थितः ।। २८३ ।।

जब अधिक-से-अधिक कौरवसेना नष्ट हो गयी और थोड़ी-सी बच रही, तब दुर्योधन सरोवरमें प्रवेश करके पानीको स्तम्भित कर वहीं विश्रामके लिये बैठ गया ।। २८३ ।।

प्रवृत्तिस्तत्र चाख्याता यत्र भीमस्य लुब्धकैः ।
क्षेपयुक्तैर्वचोभिश्च धर्मराजस्य धीमतः ।। २८४ ।।
ह्रदात् समुत्थितो यत्र धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः ।
भीमेन गदया युद्धं यत्रासौ कृतवान् सह ।। २८५ ।।

किंतु व्याधोंने भीमसेनसे दुर्योधनकी यह चेष्टा बतला दी। तब बुद्धिमान् धर्मराजके आक्षेपयुक्त वचनोंसे अत्यन्त अमर्षमें भरकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन सरोवरसे बाहर निकला और उसने भीमसेनके साथ गदायुद्ध किया। ये सब प्रसंग शल्यपर्वमें ही हैं ।। २८४-२८५ ।।

समवाये च युद्धस्य रामस्यागमनं स्मृतम् ।
सरस्वत्याश्च तीर्थानां पुण्यता परिकीर्तिता ।। २८६ ।।
गदायुद्धं च तुमुलमत्रैव परिकीर्तितम् ।

उसीमें युद्धके समय बलरामजीके आगमनकी बात कही गयी है। इसी प्रसंगमें सरस्वतीतटवर्ती तीर्थोंके पावन माहात्म्यका परिचय दिया गया है। शल्यपर्वमें ही भयंकर गदायुद्धका वर्णन किया गया है ।। २८६ $\frac{१}{२}$ ।।

दुर्योधनस्य राज्ञोऽथ यत्र भीमेन संयुगे ।। २८७ ।।
ऊरू भग्नौ प्रसह्याजौ गदया भीमवेगया ।
नवमं पर्व निर्दिष्टमेतदद्भुतमर्थवत् ।। २८८ ।।

जिसमें युद्ध करते समय भीमसेनने हठपूर्वक (युद्धके नियमको भंग करके) अपनी भयानक वेग-शालिनी गदासे राजा दुर्योधनकी दोनों जाँघें तोड़ डालीं, यह अद्भुत अर्थसे युक्त नवाँ पर्व बताया गया है ।। २८७-२८८ ।।

एकोनषष्टिरध्यायाः पर्वण्यत्र प्रकीर्तिताः ।
संख्याता बहुवृत्तान्ताः श्लोकसंख्यात्र कथ्यते ।। २८९ ।।

इस पर्वमें उनसठ (५९) अध्याय कहे गये हैं, जिसमें बहुत-से वृत्तान्तोंका वर्णन आया है। अब इसकी श्लोक-संख्या कही जाती है ।। २८९ ।।

त्रीणि श्लोकसहस्राणि द्वे शते विंशतिस्तथा ।
मुनिना सम्प्रणीतानि कौरवाणां यशोभृता ।। २९० ।।

कौरव-पाण्डवोंके यशका पोषण करनेवाले मुनिवर व्यासने इस पर्वमें तीन हजार दो सौ बीस (३,२२०) श्लोकोंकी रचना की है ।। २९० ।।

अतः परं प्रवक्ष्यामि सौप्तिकं पर्व दारुणम् ।
भग्नोरुं यत्र राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।। २९१ ।।
अपयातेषु पार्थेषु त्रयस्तेऽभ्याययू रथाः ।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिः सायाह्ने रुधिरोक्षितम् ।। २९२ ।।

इसके पश्चात् मैं अत्यन्त दारुण सौप्तिकपर्वकी सूची बता रहा हूँ, जिसमें पाण्डवोंके चले जानेपर अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए टूटी जाँघवाले राजा दुर्योधनके पास, जो खूनसे लथपथ हुआ पड़ा था, सायंकालके समय कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा—ये तीन महारथी आये ।। २९१-२९२ ।।

समेत्य ददृशुर्भूमौ पतितं रणमूर्धनि ।
प्रतिजज्ञे दृढक्रोधो द्रौणिर्यत्र महारथः ।। २९३ ।।
अहत्वा सर्वपञ्चालान् धृष्टद्युम्नपुरोगमान् ।
पाण्डवांश्च सहामात्यान् न विमोक्ष्यामि दंशनम् ।। २९४ ।।

निकट आकर उन्होंने देखा, राजा दुर्योधन युद्धके मुहानेपर इस दुर्दशामें पड़ा था। यह देखकर महारथी अश्वत्थामाको बड़ा क्रोध हुआ और उसने प्रतिज्ञा की कि 'मैं धृष्टद्युम्न आदि सम्पूर्ण पांचालों और मन्त्रियोंसहित समस्त पाण्डवोंका वध किये बिना अपना कवच नहीं उतारूँगा' ।। २९३-२९४ ।।

यत्रैवमुक्त्वा राजानमपक्रम्य त्रयो रथाः ।
सूर्यास्तमनवेलायामासेदुस्ते महद् बनम् ।। २९५ ।।

सौप्तिकपर्वमें राजा दुर्योधनसे ऐसी बात कहकर वे तीनों महारथी वहाँसे चले गये और सूर्यास्त होते-होते एक बहुत बड़े वनमें जा पहुँचे ।। २९५ ।।

न्यग्रोधस्याथ महतो यत्राधस्ताद् व्यवस्थिताः ।
ततः काकान् बहून् रात्रौ दृष्ट्वोलूकेन हिंसितान् ।। २९६ ।।
द्रौणिः क्रोधसमाविष्टः पितुर्वधमनुस्मरन् ।
पञ्चालानां प्रसुप्तानां वधं प्रति मनो दधे ।। २९७ ।।

वहाँ तीनों एक बहुत बड़े बरगदके नीचे विश्रामके लिये बैठे। तदनन्तर वहाँ एक उल्लूने आकर रातमें बहुत-से कौओंको मार डाला। यह देखकर क्रोधमें भरे अश्वत्थामाने अपने पिताके अन्यायपूर्वक मारे जानेकी घटनाको स्मरण करके सोते समय ही पांचालोंके वधका निश्चय कर लिया ।। २९६-२९७ ।।

गत्वा च शिविरद्वारि दुर्दृशं तत्र राक्षसम् ।
घोररूपमपश्यत् स दिवमावृत्य धिष्ठितम् ।। २९८ ।।

तत्पश्चात् पाण्डवोंके शिविरके द्वारपर पहुँचकर उसने देखा, एक बड़ा भयंकर राक्षस, जिसकी ओर देखना अत्यन्त कठिन है, वहाँ खड़ा है। उसने पृथ्वीसे लेकर आकाशतकके प्रदेशको घेर रखा था ।। २९८ ।।

तेन व्याघातमस्त्राणां क्रियमाणमवेक्ष्य च ।
द्रौणिर्यत्र विरूपाक्षं रुद्रमाराध्य सत्वरः ।। २९९ ।।

अश्वत्थामा जितने भी अस्त्र चलाता, उन सबको वह राक्षस नष्ट कर देता था। यह देखकर द्रोणकुमारने तुरंत ही भयंकर नेत्रोंवाले भगवान् रुद्रकी आराधना करके उन्हें प्रसन्न किया ।। २९९ ।।

प्रसुप्तान् निशि विश्वस्तान् धृष्टद्युम्नपुरोगमान् ।
पञ्चालान् सपरीवारान् द्रौपदेयांश्च सर्वशः ।। ३०० ।।
कृतवर्मणा च सहितः कृपेण च निजघ्निवान् ।
यत्रामुच्यन्त ते पार्थाः पञ्च कृष्णबलाश्रयात् ।। ३०१ ।।
सात्यकिश्च महेष्वासः शेषाश्च निधनं गताः ।
पञ्चालानां प्रसुप्तानां यत्र द्रोणसुताद् वधः ।। ३०२ ।।
धृष्टद्युम्नस्य सूतेन पाण्डवेषु निवेदितः ।

द्रौपदी पुत्रशोकार्ता पितृभ्रातृवधार्दिता ।। ३०३ ।।

तत्पश्चात् अश्वत्थामाने रातमें निःशंक सोये हुए धृष्टद्युम्न आदि पांचालों तथा द्रौपदीपुत्रोंको कृतवर्मा और कृपाचार्यकी सहायतासे परिजनोंसहित मार डाला। भगवान् श्रीकृष्णकी शक्तिका आश्रय लेनेसे केवल पाँच पाण्डव और महान् धनुर्धर सात्यकि बच गये, शेष सभी वीर मारे गये। यह सब प्रसंग सौप्तिकपर्वमें वर्णित है। वहीं यह भी कहा गया है कि धृष्टद्युम्नके सारथिने जब पाण्डवोंको यह सूचित किया कि द्रोणपुत्रने सोये हुए पांचालोंका वध कर डाला है, तब द्रौपदी पुत्रशोकसे पीड़ित तथा पिता और भाईकी हत्यासे व्यथित हो उठी ।। ३००—३०३ ।।

कृतानशनसंकल्पा यत्र भर्तॄनुपाविशत् ।
द्रौपदीवचनाद् यत्र भीमो भीमपराक्रमः ।। ३०४ ।।
प्रियं तस्याश्चिकीर्षन् वै गदामादाय वीर्यवान् ।
अन्वधावत् सुसंक्रुद्धो भारद्वाजं गुरोः सुतम् ।। ३०५ ।।

वह पतियोंको अश्वत्थामासे इसका बदला लेनेके लिये उत्तेजित करती हुई आमरण अनशनका संकल्प ले अन्न-जल छोड़कर बैठ गयी। द्रौपदीके कहनेसे भयंकर पराक्रमी महाबली भीमसेन उसका प्रिय करनेकी इच्छासे हाथमें गदा ले अत्यन्त क्रोधमें भरकर गुरुपुत्र अश्वत्थामाके पीछे दौड़े ।। ३०४-३०५ ।।

भीमसेनभयाद् यत्र दैवेनाभिप्रचोदितः ।
अपाण्डवायेति रुषा द्रौणिरस्त्रमवासृजत् ।। ३०६ ।।

तब भीमसेनके भयसे घबराकर दैवकी प्रेरणासे पाण्डवोंके विनाशके लिये अश्वत्थामाने रोषपूर्वक दिव्यास्त्रका प्रयोग किया ।। ३०६ ।।

मैवमित्यब्रवीत् कृष्णः शमयंस्तस्य तद् वचः ।
यत्रास्त्रमस्त्रेण च तच्छमयामास फाल्गुनः ।। ३०७ ।।

किंतु भगवान् श्रीकृष्णने अश्वत्थामाके रोषपूर्ण वचनको शान्त करते हुए कहा —**‘मैवम्’**—‘पाण्डवोंका विनाश न हो।’ साथ ही अर्जुनने अपने दिव्यास्त्रद्वारा उसके अस्त्रको शान्त कर दिया ।। ३०७ ।।

द्रौणेश्च द्रोहबुद्धित्वं वीक्ष्य पापात्मनस्तदा ।
द्रौणिद्वैपायनादीनां शापाश्चान्योन्यकारिताः ।। ३०८ ।।

उस समय पापात्मा द्रोणपुत्रके द्रोहपूर्ण विचारको देखकर द्वैपायन व्यास एवं श्रीकृष्णने अश्वत्थामाको और अश्वत्थामाने उन्हें शाप दिया। इस प्रकार दोनों ओरसे एक-दूसरेको शाप प्रदान किया गया ।। ३०८ ।।

मणिं तथा समादाय द्रोणपुत्रान्महारथात् ।
पाण्डवाः प्रददुर्हृष्टा द्रौपद्यै जितकाशिनः ।। ३०९ ।।

महारथी अश्वत्थामासे मणि छीनकर विजयसे सुशोभित होनेवाले पाण्डवोंने प्रसन्नतापूर्वक द्रौपदीको दे दी ।। ३०९ ।।

एतद् वै दशामं पर्व सौप्तिकं समुदाहृतम् ।
अष्टादशास्मिन्नध्यायाः पर्वण्युक्ता महात्मना ।। ३१० ।।

इन सब वृत्तान्तोंसे युक्त सौप्तिकपर्व दसवाँ कहा गया है। महात्मा व्यासने इसमें अठारह (१८) अध्याय कहे हैं ।। ३१० ।।

श्लोकानां कथितान्यत्र शतान्यष्टौ प्रसंख्यया ।
श्लोकाश्च सप्ततिः प्रोक्ता मुनिना ब्रह्मवादिना ।। ३११ ।।

इसी प्रकार उन ब्रह्मवादी मुनिने इस पर्वमें श्लोकोंकी संख्या आठ सौ सत्तर (८७०) बतायी है ।। ३११ ।।

सौप्तिकैषीके सम्बद्धे पर्वण्युत्तमतेजसा ।
अत ऊर्ध्वमिदं प्राहुः स्त्रीपर्व करुणोदयम् ।। ३१२ ।।

उत्तम तेजस्वी व्यासजीने इस पर्वमें सौप्तिक और ऐषीक दोनोंकी कथाएँ सम्बद्ध कर दी हैं। इसके बाद विद्वानोंने स्त्रीपर्व कहा है, जो करुणरसकी धारा बहानेवाला है ।। ३१२ ।।

पुत्रशोकाभिसंतप्तः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
कृष्णोपनीतां यत्रासावायसीं प्रतिमां दृढाम् ।। ३१३ ।।
भीमसेनद्रोहबुद्धिर्धृतराष्ट्रो बभञ्ज ह ।
तथा शोकाभितप्तस्य धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।। ३१४ ।।
संसारगहनं बुद्ध्या हेतुभिर्मोक्षदर्शनैः ।
विदुरेण च यत्रास्य राज्ञ आश्वासनं कृतम् ।। ३१५ ।।

प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रने पुत्रशोकसे संतप्त हो भीमसेनके प्रति द्रोहबुद्धि कर ली और श्रीकृष्णद्वारा अपने समीप लायी हुई लोहेकी मजबूत प्रतिमाको भीमसेन समझकर भुजाओंमें भर लिया तथा उसे दबाकर टूक-टूक कर डाला। उस समय पुत्रशोकसे पीड़ित बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको विदुरजीने मोक्षका साक्षात्कार करानेवाली युक्तियों तथा विवेकपूर्ण बुद्धिके द्वारा संसारकी दुःखरूपताका प्रतिपादन करते हुए भलीभाँति समझा-बुझाकर शान्त किया ।। ३१३—३१५ ।।

धृतराष्ट्रस्य चात्रैव कौरवायोधनं तथा ।
सान्तःपुरस्य गमनं शोकार्तस्य प्रकीर्तितम् ।। ३१६ ।।

इसी पर्वमें शोकाकुल धृतराष्ट्रका अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ कौरवोंके युद्धस्थानमें जानेका वर्णन है ।। ३१६ ।।

विलापो वीरपत्नीनां यत्रातिकरुणः स्मृतः ।
क्रोधावेशः प्रमोहश्च गान्धारीधृतराष्ट्रयोः ।। ३१७ ।।

वहीं वीरपत्नियोंके अत्यन्त करुणापूर्ण विलापका कथन है। वहीं गान्धारी और धृतराष्ट्रके क्रोधावेश तथा मूर्च्छित होनेका उल्लेख है ।। ३१७ ।।

यत्र तान् क्षत्रियाः शूरान् संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
पुत्रान् भ्रातृन् पितृंश्चैव ददृशुर्निहतान् रणे ।। ३१८ ।।

उस समय उन क्षत्राणियोंने युद्धमें पीठ न दिखानेवाले अपने शूरवीर पुत्रों, भाइयों और पिताओंको रणभूमिमें मरा हुआ देखा ।। ३१८ ।।

पुत्रपौत्रवधार्तायास्तथात्रैव प्रकीर्तिता ।
गान्धार्याश्चापि कृष्णेन क्रोधोपशमनक्रिया ।। ३१९ ।।

पुत्रों और पौत्रोंके वधसे पीड़ित गान्धारीके पास आकर भगवान् श्रीकृष्णने उनके क्रोधको शान्त किया। इस प्रसंगका भी इसी पर्वमें वर्णन किया गया है ।। ३१९ ।।

यत्र राजा महाप्राज्ञः सर्वधर्मभृतां वरः ।
राज्ञां तानि शरीराणि दाहयामास शास्त्रतः ।। ३२० ।।

वहीं यह भी कहा गया है कि परम बुद्धिमान् और सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने वहाँ मारे गये समस्त राजाओंके शरीरोंका शास्त्रविधिसे दाह-संस्कार किया और कराया ।। ३२० ।।

तोयकर्मणि चारब्धे राज्ञामुदकदानिके ।
गूढोत्पन्नस्य चाख्यानं कर्णस्य पृथयाऽऽत्मनः ।। ३२१ ।।
सुतस्यैतदिह प्रोक्तं व्यासेन परमर्षिणा ।
एतदेकादशं पर्व शोकवैक्लव्यकारणम् ।। ३२२ ।।
प्रणीतं सज्जनमनोवैक्लव्याश्रुप्रवर्तकम् ।
सप्तविंशतिरध्यायाः पर्वण्यस्मिन् प्रकीर्तिताः ।। ३२३ ।।
श्लोकसप्तशती चापि पञ्चसप्ततिसंयुता ।
संख्यया भारताख्यानमुक्तं व्यासेन धीमता ।। ३२४ ।।

तदनन्तर राजाओंको जलांजलिदानके प्रसंगमें उन सबके लिये तर्पणका आरम्भ होते ही कुन्तीद्वारा गुप्तरूपसे उत्पन्न हुए अपने पुत्र कर्णका गूढ़ वृत्तान्त प्रकट किया गया, यह प्रसंग आता है। महर्षि व्यासने ये सब बातें स्त्रीपर्वमें कही हैं। शोक और विकलताका संचार करनेवाला यह ग्यारहवाँ पर्व श्रेष्ठ पुरुषोंके चित्तको भी विह्वल करके उनके नेत्रोंसे आँसूकी धारा प्रवाहित करा देता है। इस पर्वमें सत्ताईस (२७) अध्याय कहे गये हैं। इसके श्लोकोंकी संख्या सात सौ पचहत्तर (७७५) कही गयी है। इस प्रकार परम बुद्धिमान् व्यासजीने महाभारतका यह उपाख्यान कहा है ।। ३२१—३२४ ।।

अतः परं शान्तिपर्व द्वादशं बुद्धिवर्धनम् ।
यत्र निर्वेदमापन्नो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। ३२५ ।।
घातयित्वा पितॄन् भ्रातॄन् पुत्रान् सम्बन्धिमातुलान् ।

शान्तिपर्वणि धर्माश्च व्याख्याताः शारतल्पिकाः ।। ३२६ ।।

स्त्रीपर्वके पश्चात् बारहवाँ पर्व शान्तिपर्वके नामसे विख्यात है। यह बुद्धि और विवेकको बढ़ानेवाला है। इस पर्वमें यह कहा गया है कि अपने पितृतुल्य गुरुजनों, भाइयों, पुत्रों, सगे-सम्बन्धी एवं मामा आदिको मरवाकर राजा युधिष्ठिरके मनमें बड़ा निर्वेद (दुःख एवं वैराग्य) हुआ। शान्तिपर्वमें बाणशय्यापर शयन करनेवाले भीष्मजीके द्वारा उपदेश किये हुए धर्मोंका वर्णन है ।। ३२५-३२६ ।।

राजभिर्वेदितव्यास्ते सम्यग्ज्ञानबुभुत्सुभिः ।
आपद्धर्माश्च तत्रैव कालहेतुप्रदर्शिनः ।। ३२७ ।।
यान् बुद्ध्वा पुरुषः सम्यक् सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात् ।
मोक्षधर्माश्च कथिता विचित्रा बहुविस्तराः ।। ३२८ ।।

उत्तम ज्ञानकी इच्छा रखनेवाले राजाओंको उन्हें भलीभाँति जानना चाहिये। उसी पर्वमें काल और कारणकी अपेक्षा रखनेवाले देश और कालके अनुसार व्यवहारमें लानेयोग्य आपद्धर्मोंका भी निरूपण किया गया है, जिन्हें अच्छी तरह जान लेनेपर मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है। शान्तिपर्वमें विविध एवं अद्भुत मोक्ष-धर्मोंका भी बड़े विस्तारके साथ प्रतिपादन किया गया है ।। ३२७-३२८ ।।

द्वादशं पर्व निर्दिष्टमेतत् प्राज्ञजनप्रियम् ।
अत्र पर्वणि विज्ञेयमध्यायानां शतत्रयम् ।। ३२९ ।।
त्रिंशच्चैव तथाध्याया नव चैव तपोधनाः ।
चतुर्दश सहस्राणि तथा सप्त शतानि च ।। ३३० ।।
सप्त श्लोकास्तथैवात्र पञ्चविंशतिसंख्यया ।
अत ऊर्ध्वं च विज्ञेयमनुशासनमुत्तमम् ।। ३३१ ।।

इस प्रकार यह बारहवाँ पर्व कहा गया है, जो ज्ञानीजनोंको अत्यन्त प्रिय है। इस पर्वमें तीन सौ उन्तालीस (३३९) अध्याय हैं और तपोधनो! इसकी श्लोक-संख्या चौदह हजार सात सौ बत्तीस (१४,७३२) है। इसके बाद उत्तम अनुशासनपर्व है, यह जानना चाहिये ।। ३२९—३३१ ।।

यत्र प्रकृतिमापन्नः श्रुत्वा धर्मविनिश्चयम् ।
भीष्माद् भागीरथीपुत्रात् कुरुराजो युधिष्ठिरः ।। ३३२ ।।

जिसमें कुरुराज युधिष्ठिर गंगानन्दन भीष्मजीसे धर्मका निश्चित सिद्धान्त सुनकर प्रकृतिस्थ हुए, यह बात कही गयी है ।। ३३२ ।।

व्यवहारोऽत्र कार्त्स्न्येन धर्मार्थीं यः प्रकीर्तितः ।
विविधानां च दानानां फलयोगाः प्रकीर्तिताः ।। ३३३ ।।

इसमें धर्म और अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाले हितकारी आचार-व्यवहारका निरूपण किया गया है। साथ ही नाना प्रकारके दानोंके फल भी कहे गये हैं ।। ३३३ ।।

तथा पात्रविशेषाश्च दानानां च परो विधिः ।
आचारविधियोगश्च सत्यस्य च परा गतिः ।। ३३४ ।।
महाभाग्यं गवां चैव ब्राह्मणानां तथैव च ।
रहस्यं चैव धर्माणां देशकालोपसंहितम् ।। ३३५ ।।
एतत् सुबहुवृत्तान्तमुत्तमं चानुशासनम् ।
भीष्मस्यात्रैव सम्प्राप्तिः स्वर्गस्य परिकीर्तिता ।। ३३६ ।।

दानके विशेष पात्र, दानकी उत्तम विधि, आचार और उसका विधान, सत्यभाषणकी पराकाष्ठा, गौओं और ब्राह्मणोंका माहात्म्य, धर्मोंका रहस्य तथा देश और काल (तीर्थ और पर्व)-की महिमा—ये सब अनेक वृत्तान्त जिसमें वर्णित हैं, वह उत्तम अनुशासन-पर्व है। इसीमें भीष्मको स्वर्गकी प्राप्ति कही गयी है ।। ३३४—३३६ ।।

एतत् त्रयोदशं पर्व धर्मनिश्चयकारकम् ।
अध्यायानां शतं त्वत्र षट्चत्वारिंशदेव तु ।। ३३७ ।।

धर्मका निर्णय करनेवाला यह पर्व तेरहवाँ है। इसमें एक सौ छियालीस (१४६) अध्याय हैं ।। ३३७ ।।

श्लोकानां तु सहस्राणि प्रोक्तान्यष्टौ प्रसंख्यया ।
ततोऽश्वमेधिकं नाम पर्व प्रोक्तं चतुर्दशम् ।। ३३८ ।।

और पूरे आठ हजार (८,०००) श्लोक कहे गये हैं। तदनन्तर चौदहवें आश्वमेधिक नामक पर्वकी कथा है ।। ३३८ ।।

तत् संवर्तमरुत्तीयं यत्राख्यानमनुत्तमम् ।
सुवर्णकोषसम्प्राप्तिर्जन्म चोक्तं परीक्षितः ।। ३३९ ।।

जिसमें परम उत्तम योगी संवर्त तथा राजा मरुत्तका उपाख्यान है। युधिष्ठिरको सुवर्णके खजानेकी प्राप्ति और परीक्षित्‌के जन्मका वर्णन है ।। ३३९ ।।

दग्धस्यास्त्राग्निना पूर्वं कृष्णात् संजीवनं पुनः ।
चर्यायां हयमुत्सृष्टं पाण्डवस्यानुगच्छतः ।। ३४० ।।
तत्र तत्र च युद्धानि राजपुत्रैरमर्षणैः ।
चित्राङ्गदायाः पुत्रेण पुत्रिकाया धनंजयः ।। ३४१ ।।
संग्रामे बभ्रुवाहेण संशयं चात्र दर्शितः ।
अश्वमेधे महायज्ञे नकुलाख्यानमेव च ।। ३४२ ।।
इत्याश्वमेधिकं पर्व प्रोक्तमेतन्महाद्भुतम् ।
अध्यायानां शतं चैव त्रयोऽध्यायाश्च कीर्तिताः ।। ३४३ ।।
त्रीणि श्लोकसहस्राणि तावन्त्येव शतानि च ।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ।। ३४४ ।।

पहले अश्वत्थामाके अस्त्रकी अग्निसे दग्ध हुए बालक परीक्षित्‌का पुनः श्रीकृष्णके अनुग्रहसे जीवित होना कहा गया है। सम्पूर्ण राष्ट्रोंमें घूमनेके लिये छोड़े गये अश्वमेधसम्बन्धी अश्वके पीछे पाण्डुनन्दन अर्जुनके जाने और उन-उन देशोंमें कुपित राजकुमारोंके साथ उनके युद्ध करनेका वर्णन है। पुत्रिकाधर्मके अनुसार उत्पन्न हुए चित्रांगदाकुमार बभ्रुवाहनने युद्धमें अर्जुनको प्राणसंकटकी स्थितिमें डाल दिया था; यह कथा भी अश्वमेधपर्वमें ही आयी है। वहीं अश्वमेध-महायज्ञमें नकुलोपाख्यान आया है। इस प्रकार यह परम अद्भुत आश्वमेधिकपर्व कहा गया है। इसमें एक सौ तीन अध्याय पढ़े गये हैं। तत्त्वदर्शी व्यासजीने इस पर्वमें तीन हजार तीन सौ बीस (३, ३२०) श्लोकोंकी रचना की है ।। ३४०—३४४ ।।

ततस्त्वाश्रमवासाख्यं पर्व पञ्चदशं स्मृतम् ।
यत्र राज्यं समुत्सृज्य गान्धार्या सहितो नृपः ।। ३४५ ।।
धृतराष्ट्रोऽऽश्रमपदं विदुरश्च जगाम ह ।
यं दृष्ट्वा प्रस्थितं साध्वी पृथाप्यनुययौ तदा ।। ३४६ ।।
पुत्रराज्यं परित्यज्य गुरुशुश्रूषणे रता ।

तदनन्तर आश्रमवासिक नामक पंद्रहवें पर्वका वर्णन है। जिसमें गान्धारीसहित राजा धृतराष्ट्र और विदुरके राज्य छोड़कर वनके आश्रममें जानेका उल्लेख हुआ है। उस समय धृतराष्ट्रको प्रस्थान करते देख सती साध्वी कुन्ती भी गुरुजनोंकी सेवामें अनुरक्त हो अपने पुत्रका राज्य छोड़कर उन्हींके पीछे-पीछे चली गयीं ।। ३४५-३४६½ ।।

यत्र राजा हतान् पुत्रान् पौत्रानन्यांश्च पार्थिवान् ।। ३४७ ।।
लोकान्तरगतान् वीरानपश्यत् पुनरागतान् ।
ऋषेः प्रसादात् कृष्णस्य दृष्ट्वाश्चर्यमनुत्तमम् ।। ३४८ ।।
त्यक्त्वा शोकं सदारश्च सिद्धिं परमिकां गतः ।
यत्र धर्मं समाश्रित्य विदुरः सुगतिं गतः ।। ३४९ ।।
संजयश्च सहामात्यो विद्वान् गावल्गणिर्वशी ।
ददर्श नारदं यत्र धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। ३५० ।।

जहाँ राजा धृतराष्ट्रने युद्धमें मरकर परलोकमें गये हुए अपने वीर पुत्रों, पौत्रों तथा अन्यान्य राजाओंको भी पुनः अपने पास आया हुआ देखा। महर्षि व्यासजीके प्रसादसे यह उत्तम आश्चर्य देखकर गान्धारीसहित धृतराष्ट्रने शोक त्याग दिया और उत्तम सिद्धि प्राप्त कर ली। इसी पर्वमें यह बात भी आयी है कि विदुरजीने धर्मका आश्रय लेकर उत्तम गति प्राप्त की। साथ ही मन्त्रियोंसहित जितेन्द्रिय विद्वान् गवल्गणपुत्र संजयने भी उत्तम पद प्राप्त कर लिया। इसी पर्वमें यह बात भी आयी है कि धर्मराज युधिष्ठिरको नारदजीका दर्शन हुआ ।। ३४७—३५० ।।

नारदाच्चैव शुश्राव वृष्णीनां कदनं महत् ।

एतदाश्रमवासाख्यं पर्वोक्तं महदद्भुतम् ।। ३५१ ।।

नारदजीसे ही उन्होंने यदुवंशियोंके महान् संहारका समाचार सुना। यह अत्यन्त अद्‌भुत आश्रमवासिकपर्व कहा गया है ।। ३५१ ।।

द्विचत्वारिंशदध्यायाः पर्वैतदभिसंख्यया ।
सहस्रमेकं श्लोकानां पञ्च श्लोकशतानि च ।। ३५२ ।।
षडेव च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ।
अतः परं निबोधेदं मौसलं पर्व दारुणम् ।। ३५३ ।।

इस पर्वमें अध्यायोंकी संख्या बयालीस (४२) है। तत्त्वदर्शी व्यासजीने इसमें एक हजार पाँच सौ छः (१,५०६) श्लोक रखे हैं। इसके बाद मौसलपर्वकी सूची सुनो—यह पर्व अत्यन्त दारुण है ।। ३५२-३५३ ।।

यत्र ते पुरुषव्याघ्राः शस्त्रस्पर्शहता युधि ।
ब्रह्मदण्डविनिष्पिष्टाः समीपे लवणाम्भसः ।। ३५४ ।।

इसीमें यह बात आयी है कि वे श्रेष्ठ यदुवंशी वीर क्षारसमुद्रके तटपर आपसके युद्धमें अस्त्र-शस्त्रोंके स्पर्शमात्रसे मारे गये। ब्राह्मणोंके शापने उन्हें पहले ही पीस डाला था ।। ३५४ ।।

आपाने पानकलिता दैवेनाभिप्रचोदिताः ।
एरकारूपिभिर्वज्रैर्निजघ्नुरितरेतरम् ।। ३५५ ।।

उन सबने मधुपानके स्थानमें जाकर खूब पीया और नशेसे होश-हवास खो बैठे। फिर दैवसे प्रेरित हो परस्पर संघर्ष करके उन्होंने एरकारूपी वज्रसे एक-दूसरेको मार डाला ।। ३५५ ।।

यत्र सर्वक्षयं कृत्वा तावुभौ रामकेशवौ ।
नातिचक्रामतुः कालं प्राप्तं सर्वहरं महत् ।। ३५६ ।।

वहीं सबका संहार करके बलराम और श्रीकृष्ण दोनों भाइयोंने समर्थ होते हुए भी अपने ऊपर आये हुए सर्वसंहारकारी महान् कालका उल्लंघन नहीं किया (महर्षियोंकी वाणी सत्य करनेके लिये कालका आदेश स्वेच्छासे अंगीकार कर लिया) ।। ३५६ ।।

यत्रार्जुनो द्वारवतीमेत्य वृष्णिविनाकृताम् ।
दृष्ट्वा विषादमगमत् परां चार्तिं नरर्षभः ।। ३५७ ।।

वहीं यह प्रसंग भी है कि नरश्रेष्ठ अर्जुन द्वारकामें आये और उसे वृष्णिवंशियोंसे सूनी देखकर विषादमें डूब गये। उस समय उनके मनमें बड़ी पीड़ा हुई ।। ३५७ ।।

स संस्कृत्य नरश्रेष्ठं मातुलं शौरिमात्मनः ।
ददर्श यदुवीराणामापाने वैशसं महत् ।। ३५८ ।।

उन्होंने अपने मामा नरश्रेष्ठ वसुदेवजीका दाहसंस्कार करके आपानस्थानमें जाकर यदुवंशी वीरोंके विकट विनाशका रोमांचकारी दृश्य देखा ।। ३५८ ।।

शरीरं वासुदेवस्य रामस्य च महात्मनः ।
संस्कारं लम्भयामास वृष्णीनां च प्रधानतः ।। ३५९ ।।

वहाँसे भगवान् श्रीकृष्ण, महात्मा बलराम तथा प्रधान-प्रधान वृष्णिवंशी वीरोंके शरीरोंको लेकर उन्होंने उनका संस्कार सम्पन्न किया ।। ३५९ ।।

स वृद्धबालमादाय द्वारवत्यास्ततो जनम् ।
ददर्शापदि कष्टायां गाण्डीवस्य पराभवम् ।। ३६० ।।

तदनन्तर अर्जुनने द्वारकाके बालक, वृद्ध तथा स्त्रियोंको साथ ले वहाँसे प्रस्थान किया; परंतु उस दुःखदायिनी विपत्तिमें उन्होंने अपने गाण्डीव धनुषकी अभूतपूर्व पराजय देखी ।। ३६० ।।

सर्वेषां चैव दिव्यानामस्त्राणामप्रसन्नताम् ।
नाशं वृष्णिकलत्राणां प्रभावाणामनित्यताम् ।। ३६१ ।।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नो व्यासवाक्यप्रचोदितः ।
धर्मराजं समासाद्य संन्यासं समरोचयत् ।। ३६२ ।।

उनके सभी दिव्यास्त्र उस समय अप्रसन्न-से होकर विस्मृत हो गये। वृष्णिकुलकी स्त्रियोंका देखते-देखते अपहरण हो जाना और अपने प्रभावोंका स्थिर न रहना—यह सब देखकर अर्जुनको बड़ा निर्वेद (दुःख) हुआ। फिर उन्होंने व्यासजीके वचनोंसे प्रेरित हो धर्मराज युधिष्ठिरसे मिलकर संन्यासमें अभिरुचि दिखायी ।। ३६१-३६२ ।।

इत्येतन्मौसलं पर्व षोडशं परिकीर्तितम् ।
अध्यायाष्टौ समाख्याताः श्लोकानां च शतत्रयम् ।। ३६३ ।।
श्लोकानां विंशतिश्चैव संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ।
महाप्रस्थानिकं तस्मादूर्ध्वं सप्तदशं स्मृतम् ।। ३६४ ।।

इस प्रकार यह सोलहवाँ मौसलपर्व कहा गया है। इसमें तत्त्वज्ञानी व्यासने गिनकर आठ (८) अध्याय और तीन सौ बीस (३२०) श्लोक कहे हैं। इसके पश्चात् सत्रहवाँ महाप्रस्थानिकपर्व कहा गया है ।। ३६३—३६४ ।।

यत्र राज्यं परित्यज्य पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।
द्रौपद्या सहिता देव्या महाप्रस्थानमास्थिताः ।। ३६५ ।।

जिसमें नरश्रेष्ठ पाण्डव अपना राज्य छोड़कर द्रौपदीके साथ महाप्रस्थानके* पथपर आ गये ।। ३६५ ।।

यत्र तेऽग्निं ददृशिरे लौहित्यं प्राप्य सागरम् ।
यत्राग्निना चोदितश्च पार्थस्तस्मै महात्मने ।। ३६६ ।।
ददौ सम्पूज्य तद् दिव्यं गाण्डीवं धनुरुत्तमम् ।
यत्र भ्रातॄन् निपतितान् द्रौपदीं च युधिष्ठिरः ।। ३६७ ।।
दृष्ट्वा हित्वा जगामैव सर्वाननवलोकयन् ।

एतत् सप्तदशं पर्व महाप्रस्थानिकं स्मृतम् ।। ३६८ ।।

उस यात्रामें उन्होंने लाल सागरके पास पहुँचकर साक्षात् अग्निदेवको देखा और उन्हींकी प्रेरणासे पार्थने उन महात्माको आदरपूर्वक अपना उत्तम एवं दिव्य गाण्डीव धनुष अर्पण कर दिया। उसी पर्वमें यह भी कहा गया है कि राजा युधिष्ठिरने मार्गमें गिरे हुए अपने भाइयों और द्रौपदीको देखकर भी उनकी क्या दशा हुई यह जाननेके लिये पीछेकी ओर फिरकर नहीं देखा और उन सबको छोड़कर आगे बढ़ गये। यह सत्रहवाँ महाप्रस्थानिकपर्व कहा गया है ।। ३६६-३६८ ।।

यत्राध्यायास्त्रयः प्रोक्ताः श्लोकानां च शतत्रयम् ।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ।। ३६९ ।।

इसमें तत्त्वज्ञानी व्यासजीने तीन (३) अध्याय और एक सौ तेईस (१२३) श्लोक गिनकर कहे हैं ।। ३६९ ।।

स्वर्गपर्व ततो ज्ञेयं दिव्यं यत् तदमानुषम् ।
प्राप्तं दैवरथं स्वर्गान्नेष्टवान् यत्र धर्मराट् ।। ३७० ।।
आरोढुं सुमहाप्राज्ञ आनृशंस्याच्छुना विना ।
तामस्याविचलां ज्ञात्वा स्थितिं धर्मे महात्मनः ।। ३७१ ।।
श्वरूपं यत्र तत् त्यक्त्वा धर्मेणासौ समन्वितः ।
स्वर्गं प्राप्तः स च तथा यातना विपुला भृशम् ।। ३७२ ।।
देवदूतेन नरकं यत्र व्याजेन दर्शितम् ।
शुश्राव यत्र धर्मात्मा भ्रातॄणां करुणा गिरः ।। ३७३ ।।
निदेशे वर्तमानानां देशे तत्रैव वर्तताम् ।
अनुदर्शितश्च धर्मेण देवराजेन पाण्डवः ।। ३७४ ।।

तदनन्तर स्वर्गारोहणपर्व जानना चाहिये। जो दिव्य वृत्तान्तोंसे युक्त और अलौकिक है। उसमें यह वर्णन आया है कि स्वर्गसे युधिष्ठिरको लेनेके लिये एक दिव्य रथ आया, किंतु महाज्ञानी धर्मराज युधिष्ठिरने दयावश अपने साथ आये हुए कुत्तेको छोड़कर अकेले उसपर चढ़ना स्वीकार नहीं किया। महात्मा युधिष्ठिरकी धर्ममें इस प्रकार अविचल स्थिति जानकर कुत्तेने अपने मायामय स्वरूपको त्याग दिया और अब वह साक्षात् धर्मके रूपमें स्थित हो गया। धर्मके साथ युधिष्ठिर स्वर्गमें गये। वहाँ देवदूतने व्याजसे उन्हें नरककी विपुल यातनाओंका दर्शन कराया। वहीं धर्मात्मा युधिष्ठिरने अपने भाइयोंकी करुणाजनक पुकार सुनी थी। वे सब वहीं नरकप्रदेशमें यमराजकी आज्ञाके अधीन रहकर यातना भोगते थे। तत्पश्चात् धर्मराज तथा देवराजने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको वास्तवमें उनके भाइयोंको जो सद्गति प्राप्त हुई थी, उसका दर्शन कराया ।। ३७०—३७४ ।।

आप्लुत्याकाशगङ्गायां देहं त्यक्त्वा स मानुषम् ।
स्वधर्मनिर्जितं स्थानं स्वर्गे प्राप्य स धर्मराट् ।। ३७५ ।।

मुमुदे पूजितः सर्वैः सेन्द्रैः सुरगणैः सह ।
एतदष्टादशं पर्व प्रोक्तं व्यासेन धीमता ।। ३७६ ।।

इसके बाद धर्मराजने आकाशगंगामें गोता लगाकर मानवशरीरको त्याग दिया और स्वर्गलोकमें अपने धर्मसे उपार्जित उत्तम स्थान पाकर वे इन्द्रादि देवताओंके साथ उनसे सम्मानित हो आनन्दपूर्वक रहने लगे। इस प्रकार बुद्धिमान् व्यासजीने यह अठारहवाँ पर्व कहा है ।। ३७५-३७६ ।।

अध्यायाः पञ्च संख्याताः पर्वण्यस्मिन् महात्मना ।
श्लोकानां द्वे शते चैव प्रसंख्याते तपोधनाः ।। ३७७ ।।
नव श्लोकास्तथैवान्ये संख्याताः परमर्षिणा ।
अष्टादशैवमेतानि पर्वाण्युक्तान्यशेषतः ।। ३७८ ।।

तपोधनो! परम ऋषि महात्मा व्यासजीने इस पर्वमें गिने-गिनाये पाँच (५) अध्याय और दो सौ नौ (२०९) श्लोक कहे हैं। इस प्रकार ये कुल मिलाकर अठारह पर्व कहे गये हैं ।। ३७७-३७८ ।।

खिलेषु हरिवंशश्च भविष्यं च प्रकीर्तितम् ।
दशश्लोकसहस्राणि विंशच्छ्लोकशतानि च ।। ३७९ ।।
खिलेषु हरिवंशे च संख्यातानि महर्षिणा ।
एतत् सर्वं समाख्यातं भारते पर्वसंग्रहः ।। ३८० ।।

खिलपर्वोंमें हरिवंश तथा भविष्यका वर्णन किया गया है। हरिवंशके खिलपर्वोंमें महर्षि व्यासने गणनापूर्वक बारह हजार (१२,०००) श्लोक रखे हैं। इस प्रकार महाभारतमें यह सब पर्वोंका संग्रह बताया गया है ।। ३७९-३८० ।।

अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया ।
तन्महादारुणं युद्धमहान्यष्टादशाभवत् ।। ३८१ ।।

कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं और वह महाभयंकर युद्ध अठारह दिनोंतक चलता रहा ।। ३८१ ।।

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः ।। ३८२ ।।

जो द्विज अंगों और उपनिषदोंसहित चारों वेदोंको जानता है, परंतु इस महाभारत-इतिहासको नहीं जानता, वह विशिष्ट विद्वान् नहीं है ।। ३८२ ।।

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत् ।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ।। ३८३ ।।

असीम बुद्धिवाले महात्मा व्यासने यह अर्थशास्त्र कहा है। यह महान् धर्मशास्त्र भी है, इसे कामशास्त्र भी कहा गया है (और मोक्षशास्त्र तो यह है ही) ।। ३८३ ।।

श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते ।

पुंस्कोकिलरुतं श्रुत्वा रूक्षा ध्वाङ्क्षस्य वागिव ।। ३८४ ।।

इस उपाख्यानको सुन लेनेपर और कुछ सुनना अच्छा नहीं लगता। भला कोकिलका कलरव सुनकर कौओंकी कठोर 'काँय-काँय' किसे पसंद आयेगी? ।। ३८४ ।।

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः ।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः ।। ३८५ ।।

जैसे पाँच भूतोंसे त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) लोकसृष्टियाँ प्रकट होती हैं, उसी प्रकार इस उत्तम इतिहाससे कवियोंको काव्यरचनाविषयक बुद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।। ३८५ ।।

अस्याख्यानस्य विषये पुराणं वर्तते द्विजाः ।
अन्तरिक्षस्य विषये प्रजा इव चतुर्विधाः ।। ३८६ ।।

द्विजवरो! इस महाभारत-इतिहासके भीतर ही अठारह पुराण स्थित हैं, ठीक उसी तरह, जैसे आकाशमें ही चारों प्रकारकी प्रजा (जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज्ज) विद्यमान हैं ।। ३८६ ।।

क्रियागुणानां सर्वेषामिदमाख्यानमाश्रयः ।
इन्द्रियाणां समस्तानां चित्रा इव मनःक्रियाः ।। ३८७ ।।

जैसे विचित्र मानसिक क्रियाएँ ही समस्त इन्द्रियोंकी चेष्टाओंका आधार हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण लौकिक-वैदिक कर्मोंके उत्कृष्ट फल-साधनोंका यह आख्यान ही आधार है ।। ३८७ ।।

अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ।। ३८८ ।।

जैसे भोजन किये बिना शरीर नहीं रह सकता, वैसे ही इस पृथ्वीपर कोई भी ऐसी कथा नहीं है जो इस महाभारतका आश्रय लिये बिना प्रकट हुई हो ।। ३८८ ।।

इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ।। ३८९ ।।
अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे ।
साधोरिव गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ।। ३९० ।।

सभी श्रेष्ठ कवि इस महाभारतकी कथाका आश्रय लेते हैं और लेंगे। ठीक वैसे ही, जैसे उन्नति चाहनेवाले सेवक श्रेष्ठ स्वामीका सहारा लेते हैं। जैसे शेष तीन आश्रम उत्तम गृहस्थ आश्रमसे बढ़कर नहीं हो सकते, उसी प्रकार संसारके कवि इस महाभारत काव्यसे बढ़कर काव्य-रचना करनेमें समर्थ नहीं हो सकते ।। ३८९-३९० ।।

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः ।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना

नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ।। ३९१ ।।

तपस्वी महर्षियो! (तथा महाभारतके पाठको!) आप सब लोग सदा सांसारिक आसक्तियोंसे ऊँचे उठें और आपका मन सदा धर्ममें लगा रहे; क्योंकि परलोकमें गये हुए जीवका बन्धु या सहायक एकमात्र धर्म ही है। चतुर मनुष्य भी धन और स्त्रियोंका सेवन तो करते हैं, किंतु वे उनकी श्रेष्ठतापर विश्वास नहीं करते और न उन्हें स्थिर ही मानते हैं ।। ३९१ ।।

द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं
पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च ।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं
किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ।। ३९२ ।।

जो व्यासजीके मुखसे निकले हुए इस अप्रमेय (अतुलनीय) पुण्यदायक, पवित्र, पापहारी और कल्याणमय महाभारतको दूसरोंके मुखसे सुनता है, उसे पुष्करतीर्थके जलमें गोता लगानेकी क्या आवश्यकता है? ।। ३९२ ।।

यदह्ना कुरुते पापं ब्राह्मणस्त्विन्द्रियैश्चरन् ।
महाभारतमाख्याय संध्यां मुच्यति पश्चिमाम् ।। ३९३ ।।

ब्राह्मण दिनमें अपनी इन्द्रियोंद्वारा जो पाप करता है, उससे सायंकाल महाभारतका पाठ करके मुक्त हो जाता है ।। ३९३ ।।

यद् रात्रौ कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा ।
महाभारतमाख्याय पूर्वां संध्यां प्रमुच्यते ।। ३९४ ।।

इसी प्रकार वह मन, वाणी और क्रियाद्वारा रातमें जो पाप करता है, उससे प्रातःकाल महाभारतका पाठ करके छूट जाता है ।। ३९४ ।।

यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे च बहुश्रुताय ।
पुण्यां च भारतकथां शृणुयाच्च नित्यं
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ।। ३९५ ।।

जो गौओंके सींगमें सोना मढ़ाकर वेदवेत्ता एवं बहुज्ञ ब्राह्मणको प्रतिदिन सौ गौएँ दान देता है और जो केवल महाभारत-कथाका श्रवणमात्र करता है, इन दोनोंमेंसे प्रत्येकको बराबर ही फल मिलता है ।। ३९५ ।।

आख्यानं तदिदमनुत्तमं महार्थं
विज्ञेयं महदिह पर्वसंग्रहेण ।
श्रुत्वादौ भवति नृणां सुखावगाहं
विस्तीर्णं लवणजलं यथा प्लवेन ।। ३९६ ।।

यह महान् अर्थसे भरा हुआ परम उत्तम महाभारत-आख्यान यहाँ पर्वसंग्रहाध्यायके द्वारा समझना चाहिये। इस अध्यायको पहले सुन लेनेपर मनुष्योंके लिये महाभारत-जैसे महासमुद्रमें प्रवेश करना उसी प्रकार सुगम हो जाता है जैसे जहाजकी सहायतासे अनन्त जल-राशिवाले समुद्रमें प्रवेश सहज हो जाता है ।। ३९६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पर्वसंग्रहपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पर्वसंग्रहपर्वमें दूसरा अध्याय पूरा हुआ ।। २ ।।

---

१. अधिक नीचा-ऊँचा होना, काँटेदार वृक्षोंसे व्याप्तहोना तथा कंकड़-पत्थरोंकी अधिकताका होना आदि भूमिसम्बन्धी दोष माने गये हैं।

२. समन्त नामक क्षेत्रमें पाँच कुण्ड या सरोवर होनेसे उस क्षेत्र और उसके समीपवर्ती प्रदेशका भी समन्तपंचक नाम हुआ। परंतु उसका समन्त नाम क्यों पड़ा, इसका कारण इस श्लोकमें बता रहे हैं—‘समेतानाम् अन्तो यस्मिन् स समन्तः’—समागत सेनाओंका अन्त हुआ हो जिस स्थानपर, उसे समन्त कहते हैं। इसी व्युत्पत्तिके अनुसार वह क्षेत्र समन्त कहलाता है।

* घर छोड़कर निराहार रहते हुए, स्वेच्छासे मृत्युका वरण करनेके लिये निकल जाना और विभिन्न दिशाओंमें भ्रमण करते हुए अन्तमें उत्तर दिशा—हिमालयकी ओर जाना—महाप्रस्थान कहलाता है—पाण्डवोंने ऐसा ही किया।

(पौष्यपर्व)

तृतीयोऽध्यायः

जनमेजयको सरमाका शाप, जनमेजयद्वारा सोमश्रवाका पुरोहितके पदपर वरण, आरुणि, उपमन्यु, वेद और उत्तंककी गुरुभक्ति तथा उत्तंकका सर्पयज्ञके लिये जनमेजयको प्रोत्साहन देना

सौतिरुवाच

जनमेजयः पारीक्षितः सह भ्रातृभिः कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्रमुपास्ते । तस्य भ्रातरस्त्रयः श्रुतसेन उग्रसेनो भीमसेन इति । तेषु तत्सत्रमुपासीनेष्वागच्छत् सारमेयः ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—परीक्षित्‌के पुत्र जनमेजय अपने भाइयोंके साथ कुरुक्षेत्रमें दीर्घकालतक चलनेवाले यज्ञका अनुष्ठान करते थे। उनके तीन भाई थे—श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन। वे तीनों उस यज्ञमें बैठे थे। इतनेमें ही देवताओंकी कुतिया सरमाका पुत्र सारमेय वहाँ आया ।। १ ।।

स जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतो रोरूयमाणो मातुः समीपमुपागच्छत् ।। २ ।।

जनमेजयके भाइयोंने उस कुत्तेको मारा। तब वह रोता हुआ अपनी माँके पास गया ।। २ ।।

तं माता रोरूयमाणमुवाच । किं रोदिषि केनास्यभिहत इति ।। ३ ।।

बार-बार रोते हुए अपने उस पुत्रसे माताने पूछा—‘बेटा! क्यों रोता है? किसने तुझे मारा है?’ ।। ३ ।।

स एवमुक्तो मातरं प्रत्युवाच जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतोऽस्मीति ।। ४ ।।

माताके इस प्रकार पूछनेपर उसने उत्तर दिया—‘माँ! मुझे जनमेजयके भाइयोंने मारा है’ ।। ४ ।।

तं माता प्रत्युवाच व्यक्तं त्वया तत्रापराद्धं येनास्यभिहत इति ।। ५ ।।

तब माता उससे बोली—‘बेटा! अवश्य ही तूने उनका कोई प्रकटरूपमें अपराध किया होगा, जिसके कारण उन्होंने तुझे मारा है’ ।। ५ ।।

स तां पुनरुवाच नापराध्यामि किंचिन्नावेक्षे हवींषि नावलिह इति ।। ६ ।।

तब उसने मातासे पुनः इस प्रकार कहा—'मैंने कोई अपराध नहीं किया है। न तो उनके हविष्यकी ओर देखा और न उसे चाटा ही है' ।। ६ ।।

तच्छ्रुत्वा तस्य माता सरमा पुत्रदुःखार्ता तत् सत्रमुपागच्छद् यत्र स जनमेजयः सह भ्रातृभिर्दीर्घ-सत्रमुपास्ते ।। ७ ।।

यह सुनकर पुत्रके दुःखसे दुःखी हुई उसकी माता सरमा उस सत्रमें आयी, जहाँ जनमेजय अपने भाइयोंके साथ दीर्घकालीन सत्रका अनुष्ठान कर रहे थे ।। ७ ।।

स तया क्रुद्धया तत्रोक्तोऽयं मे पुत्रो न किंचिदपराध्यति नावेक्षते हवींषि नावलेढि किमर्थमभिहत इति ।। ८ ।।

वहाँ क्रोधमें भरी हुई सरमाने जनमेजयसे कहा—'मेरे इस पुत्रने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया था, न तो इसने हविष्यकी ओर देखा और न उसे चाटा ही था, तब तुमने इसे क्यों मारा?' ।। ८ ।।

न किञ्चिदुक्तवन्तस्ते सा तानुवाच यस्मादयमभिहतोऽनपकारी तस्माददृष्टं त्वां भयमागमिष्यतीति ।। ९ ।।

किंतु जनमेजय और उनके भाइयोंने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब सरमाने उनसे कहा, 'मेरा पुत्र निरपराध था, तो भी तुमने इसे मारा है; अतः तुम्हारे ऊपर अकस्मात् ऐसा भय उपस्थित होगा, जिसकी पहलेसे कोई सम्भावना न रही हो' ।। ९ ।।

जनमेजय एवमुक्तो देवशुन्या सरमया भृशं सम्भ्रान्तो विषण्णश्चासीत् ।। १० ।।

देवताओंकी कुतिया सरमाके इस प्रकार शाप देनेपर जनमेजयको बड़ी घबराहट हुई और वे बहुत दुःखी हो गये ।। १० ।।

स तस्मिन् सत्रे समाप्ते हास्तिनपुरं प्रत्येत्य पुरोहितमनुरूपमन्विच्छमानः परं यत्नमकरोद् यो मे पापकृत्यां शमयेदिति ।। ११ ।।

उस सत्रके समाप्त होनेपर वे हस्तिनापुरमें आये और अपनेयोग्य पुरोहितकी खोज करते हुए इसके लिये बड़ा यत्न करने लगे। पुरोहितके ढूँढ़नेका उद्देश्य यह था कि वह मेरी इस शापरूप पापकृत्याको (जो बल, आयु और प्राणका नाश करनेवाली है) शान्त कर दे ।। ११ ।।

स कदाचिन्मृगयां गतः पारीक्षितो जनमेजयः कस्मिंश्चित् स्वविषय आश्रममपश्यत् ।। १२ ।।

एक दिन परीक्षित्पुत्र जनमेजय शिकार खेलनेके लिये वनमें गये। वहाँ उन्होंने एक आश्रम देखा, जो उन्हींके राज्यके किसी प्रदेशमें विद्यमान था ।। १२ ।।

तत्र कश्चिदृषिरासांचक्रे श्रुतश्रवा नाम । तस्य तपस्यभिरतः पुत्र आस्ते सोमश्रवा नाम ।। १३ ।।

उस आश्रममें श्रुतश्रवा नामसे प्रसिद्ध एक ऋषि रहते थे। उनके पुत्रका नाम था सोमश्रवा। सोमश्रवा सदा तपस्यामें ही लगे रहते थे ।। १३ ।।

तस्य तं पुत्रमभिगम्य जनमेजयः पारीक्षितः पौरोहित्याय वव्रे ।। १४ ।।

परीक्षित्‌कुमार जनमेजयने महर्षि श्रुतश्रवाके पास जाकर उनके पुत्र सोमश्रवाका पुरोहितपदके लिये वरण किया ।। १४ ।।

स नमस्कृत्य तमृषिमुवाच भगवन्नयं तव पुत्रो मम पुरोहितोऽस्त्विति ।। १५ ।।

राजाने पहले महर्षिको नमस्कार करके कहा—'भगवन्! आपके ये पुत्र सोमश्रवा मेरे पुरोहित हों' ।। १५ ।।

स एवमुक्तः प्रत्युवाच जनमेजयं भो जनमेजय पुत्रोऽयं मम सर्प्यां जातो महातपस्वी स्वाध्याय-सम्पन्नो मत्तपोवीर्यसम्भृतो मच्छुक्रं पीतवत्यास्तस्याः कुक्षौ जातः ।। १६ ।।

उनके ऐसा कहनेपर श्रुतश्रवाने जनमेजयको इस प्रकार उत्तर दिया—'महाराज जनमेजय! मेरा यह पुत्र सोमश्रवा सर्पिणीके गर्भसे पैदा हुआ है। यह बड़ा तपस्वी और स्वाध्यायशील है। मेरे तपोबलसे इसका भरण-पोषण हुआ है। एक समय एक सर्पिणीने मेरा वीर्यपान कर लिया था, अतः उसीके पेटसे इसका जन्म हुआ है ।। १६ ।।

समर्थोऽयं भवतः सर्वाः पापकृत्याः शमयितु-मन्तरेण महादेवकृत्याम् ।। १७ ।।

यह तुम्हारी सम्पूर्ण पापकृत्याओं (शापजनित उपद्रवों)-का निवारण करनेमें समर्थ है। केवल भगवान् शंकरकी कृत्याको यह नहीं टाल सकता ।। १७ ।।

अस्य त्वेकमुपांशुव्रतं यदेनं कश्चिद् ब्राह्मणः कंचिदर्थमभियाचेत् तं तस्मै दद्यादयं यद्येतदुत्सहसे ततो नयस्वैनमिति ।। १८ ।।

किंतु इसका एक गुप्त नियम है। यदि कोई ब्राह्मण इसके पास आकर इससे किसी वस्तुकी याचना करेगा तो यह उसे उसकी अभीष्ट वस्तु अवश्य देगा। यदि तुम उदारतापूर्वक इसके इस व्यवहारको सहन कर सको अथवा इसकी इच्छापूर्तिका उत्साह दिखा सको तो इसे ले जाओ' ।। १८ ।।

तेनैवमुक्तो जनमेजयस्तं प्रत्युवाच भगवंस्तत् तथा भविष्यतीति ।। १९ ।।

श्रुतश्रवाके ऐसा कहनेपर जनमेजयने उत्तर दिया—'भगवन्! सब कुछ उनकी रुचिके अनुसार ही होगा' ।। १९ ।।

स तं पुरोहितमुपादायोपावृत्तो भ्रातॄनुवाच मयायं वृत उपाध्यायो यदयं ब्रूयात् तत् कार्यमविचारयद्भिर्भवद्भिरिति । तेनैवमुक्ता भ्रातरस्तस्य तथा चक्रुः । स तथा भ्रातॄन् संदिश्य तक्षशिलां प्रत्यभिप्रतस्थे तं च देशं वशे स्थापयामास ।। २० ।।

फिर वे सोमश्रवा पुरोहितको साथ लेकर लौटे और अपने भाइयोंसे बोले—'इन्हें मैंने अपना उपाध्याय (पुरोहित) बनाया है। ये जो कुछ भी कहें, उसे तुम्हें बिना किसी सोच-विचारके पालन करना चाहिये।' जनमेजयके ऐसा कहनेपर उनके तीनों भाई पुरोहितकी प्रत्येक आज्ञाका ठीक-ठीक पालन करने लगे। इधर राजा जनमेजय अपने भाइयोंको

पूर्वोक्त आदेश देकर स्वयं तक्षशिला जीतनेके लिये चले गये और उस प्रदेशको अपने अधिकारमें कर लिया ।। २० ।।

एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदृषिर्धौम्यो नामायोदस्तस्य शिष्यास्त्रयो बभूवुरुपमन्युरारुणिर्वेदश्चेति ।। २१ ।।

(गुरुकी आज्ञाका किस प्रकार पालन करना चाहिये, इस विषयमें आगेका प्रसंग कहा जाता है—) इन्हीं दिनों आयोदधौम्य नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि थे। उनके तीन शिष्य हुए—उपमन्यु, आरुणि पांचाल तथा वेद ।। २१ ।।

स एकं शिष्यमारुणिं पाञ्चाल्यं प्रेषयामास गच्छ केदारखण्डं बधानेति ।। २२ ।।

एक दिन उपाध्यायने अपने एक शिष्य पांचालदेशवासी आरुणिको खेतपर भेजा और कहा—'वत्स! जाओ, क्यारियोंकी टूटी हुई मेड़ बाँध दो' ।। २२ ।।

स उपाध्यायेन संदिष्ट आरुणिः पाञ्चाल्यस्तत्र गत्वा तत् केदारखण्डं बद्धुं नाशकत् । स क्लिश्यमानोऽपश्यदुपायं भवत्वेवं करिष्यामि ।। २३ ।।

उपाध्यायके इस प्रकार आदेश देनेपर पांचालदेशवासी आरुणि वहाँ जाकर उस धानकी क्यारीकी मेड़ बाँधने लगा; परंतु बाँध न सका। मेड़ बाँधनेके प्रयत्नमें ही परिश्रम करते-करते उसे एक उपाय सूझ गया और वह मन-ही-मन बोल उठा—'अच्छा; ऐसा ही करूँ' ।। २३ ।।

स तत्र संविवेश केदारखण्डे शयाने च तथा तस्मिंस्तदुदकं तस्थौ ।। २४ ।।

वह क्यारीकी टूटी हुई मेड़की जगह स्वयं ही लेट गया। उसके लेट जानेपर वहाँका बहता हुआ जल रुक गया ।। २४ ।।

ततः कदाचिदुपाध्याय आयोदो धौम्यः शिष्यानपृच्छत् क्व आरुणिः पाञ्चाल्यो गत इति ।। २५ ।।

फिर कुछ कालके पश्चात् उपाध्याय आयोदधौम्यने अपने शिष्योंसे पूछा—'पांचालनिवासी आरुणि कहाँ चला गया?' ।। २५ ।।

ते तं प्रत्यूचुर्भगवंस्त्वयैव प्रेषितो गच्छ केदारखण्डं बधानेति । स एवमुक्तस्ताञ्छिष्यान् प्रत्युवाच तस्मात् तत्र सर्वे गच्छामो यत्र स गत इति ।। २६ ।।

शिष्योंने उत्तर दिया—'भगवन्! आपहीने तो उसे यह कहकर भेजा था कि 'जाओ, क्यारीकी टूटी हुई मेड़ बाँध दो।' शिष्योंके ऐसा कहनेपर उपाध्यायने उनसे कहा—'तो चलो, हम सब लोग वहीं चलें, जहाँ आरुणि गया है' ।। २६ ।।

स तत्र गत्वा तस्याह्वानाय शब्दं चकार । भो आरुणे पाञ्चाल्य क्वासि वत्सैहीति ।। २७ ।।

वहाँ जाकर उपाध्यायने उसे आनेके लिये आवाज दी—'पांचालनिवासी आरुणि! कहाँ हो वत्स! यहाँ आओ' ।। २७ ।।

स तच्छ्रुत्वा आरुणिरुपाध्यायवाक्यं तस्मात् केदारखण्डात् सहसोत्थाय तमुपाध्यायमुपतस्थे ।। २८ ।।

उपाध्यायका यह वचन सुनकर आरुणि पांचाल सहसा उस क्यारीकी मेड़से उठा और उपाध्यायके समीप आकर खड़ा हो गया ।। २८ ।।

प्रोवाच चैनमयमस्म्यत्र केदारखण्डे निःसरमाणमुदकमवारणीयं संरोद्धुं संविष्टो भगवच्छब्दं श्रुत्वैव सहसा विदार्य केदारखण्डं भवन्तमुपस्थितः ।। २९ ।।

फिर उनसे विनयपूर्वक बोला—'भगवन्! मैं यह हूँ, क्यारीकी टूटी हुई मेड़से निकलते हुए अनिवार्य जलको रोकनेके लिये स्वयं ही यहाँ लेट गया था। इस समय आपकी आवाज सुनते ही सहसा उस मेड़को विदीर्ण करके आपके पास आ खड़ा हुआ ।। २९ ।।

तदभिवादये भगवन्तमाज्ञापयतु भवान् कमर्थं करवाणीति ।। ३० ।।

'मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ, आप आज्ञा दीजिये, मैं कौन-सा कार्य करूँ?' ।। ३० ।।

स एवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच यस्माद् भवान् केदारखण्डं विदार्योत्थितस्तस्मादुद्दालक एव नाम्ना भवान् भविष्यतीत्युपाध्यायेनानुगृहीतः ।। ३१ ।।

आरुणिके ऐसा कहनेपर उपाध्यायने उत्तर दिया—'तुम क्यारीके मेड़को विदीर्ण करके उठे हो, अतः इस उद्दलनकर्मके कारण उद्दालक नामसे ही प्रसिद्ध होओगे।' ऐसा कहकर उपाध्यायने आरुणिको अनुगृहीत किया ।। ३१ ।।

यस्माच्च त्वया मद्वचनमनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोऽवाप्स्यसि । सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति ।। ३२ ।।

साथ ही यह भी कहा कि, 'तुमने मेरी आज्ञाका पालन किया है, इसलिये तुम कल्याणके भागी होओगे। सम्पूर्ण वेद और समस्त धर्मशास्त्र तुम्हारी बुद्धिमें स्वयं प्रकाशित हो जायँगे' ।। ३२ ।।

स एवमुक्त उपाध्यायेनेष्टं देशं जगाम । अथापरः शिष्यस्तस्यैवायोदस्य धौम्यस्योपमन्युर्नाम ।। ३३ ।।

उपाध्यायके इस प्रकार आशीर्वाद देनेपर आरुणि कृतकृत्य हो अपने अभीष्ट देशको चला गया। उन्हीं आयोदधौम्य उपाध्यायका उपमन्यु नामक दूसरा शिष्य था ।। ३३ ।।

तं चोपाध्यायः प्रेषयामास वत्सोपमन्यो गा रक्षस्वेति ।। ३४ ।।

उसे उपाध्यायने आदेश दिया—'वत्स उपमन्यु! तुम गौओंकी रक्षा करो' ।। ३४ ।।

स उपाध्यायवचनादरक्षद् गाः; स चाहनि गा रक्षित्वा दिवसक्षये गुरुगृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ।। ३५ ।।

उपाध्यायकी आज्ञासे उपमन्यु गौओंकी रक्षा करने लगा। वह दिनभर गौओंकी रक्षामें रहकर संध्याके समय गुरुजीके घरपर आता और उनके सामने खड़ा हो नमस्कार

करता ।। ३५ ।।

तमुपाध्यायः पीवानमपश्यदुवाच चैनं वत्सोपमन्यो केन वृत्तिं कल्पयसि पीवानसि दृढमिति ।। ३६ ।।

उपाध्यायने देखा उपमन्यु खूब मोटा-ताजा हो रहा है, तब उन्होंने पूछा—'बेटा उपमन्यु! तुम कैसे जीविका चलाते हो, जिससे इतने अधिक हृष्ट-पुष्ट हो रहे हो?' ।। ३६ ।।

स उपाध्यायं प्रत्युवाच भो भैक्ष्यैण वृत्तिं कल्पयामीति ।। ३७ ।।

उसने उपाध्यायसे कहा—'गुरुदेव! मैं भिक्षासे जीवन-निर्वाह करता हूँ' ।। ३७ ।।

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच मय्यनिवेद्य भैक्ष्यं नोपयोक्तव्यमिति । स तथेत्युक्त्वा भैक्ष्यं चरित्वोपाध्यायाय न्यवेदयत् ।। ३८ ।।

यह सुनकर उपाध्याय उपमन्युसे बोले—'मुझे अर्पण किये बिना तुम्हें भिक्षाका अन्न अपने उपयोगमें नहीं लाना चाहिये।' उपमन्युने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। अब वह भिक्षा लाकर उपाध्यायको अर्पण करने लगा ।। ३८ ।।

स तस्मादुपाध्यायः सर्वमेव भैक्ष्यमगृह्णात् । स तथेत्युक्त्वा पुनररक्षद् गाः । अहनि रक्षित्वा निशामुखे गुरुकुलमागम्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ।। ३९ ।।

उपाध्याय उपमन्युसे सारी भिक्षा ले लेते थे। उपमन्यु 'तथास्तु' कहकर पुनः पूर्ववत् गौओंकी रक्षा करता रहा। वह दिनभर गौओंकी रक्षामें रहता और (संध्याके समय) पुनः गुरुके घरपर आकर गुरुके सामने खड़ा हो नमस्कार करता था ।। ३९ ।।

तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो सर्वमशेषतस्ते भैक्ष्यं गृह्णामि केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति ।। ४० ।।

उस दशामें भी उपमन्युको पूर्ववत् हृष्ट-पुष्ट ही देखकर उपाध्यायने पूछा—'बेटा उपमन्यु! तुम्हारी सारी भिक्षा तो मैं ले लेता हूँ, फिर तुम इस समय कैसे जीवन-निर्वाह करते हो?' ।। ४० ।।

स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच भगवते निवेद्य पूर्वमपरं चरामि तेन वृत्तिं कल्पयामीति ।। ४१ ।।

उपाध्यायके ऐसा कहनेपर उपमन्युने उन्हें उत्तर दिया—'भगवन्! पहलेकी लायी हुई भिक्षा आपको अर्पित करके अपने लिये दूसरी भिक्षा लाता हूँ और उसीसे अपनी जीविका चलाता हूँ' ।। ४१ ।।

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच नैषा न्याय्या गुरुवृत्तिरन्येषामपि भैक्ष्योपजीविनां वृत्त्युपरोधं करोषि इत्येवं वर्तमानो लुब्धोऽसीति ।। ४२ ।।

यह सुनकर उपाध्यायने कहा—'यह न्याययुक्त एवं श्रेष्ठ वृत्ति नहीं है। तुम ऐसा करके दूसरे भिक्षाजीवी लोगोंकी जीविकामें बाधा डालते हो; अतः लोभी हो (तुम्हें दुबारा भिक्षा नहीं लानी चाहिये)' ।। ४२ ।।

स तथेत्युक्त्वा गा अरक्षत् । रक्षित्वा च पुनरुपाध्यायगृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ।। ४३ ।।

उसने 'तथास्तु' कहकर गुरुकी आज्ञा मान ली और पूर्ववत् गौओंकी रक्षा करने लगा। एक दिन गायें चराकर वह फिर (सायंकालको) उपाध्यायके घर आया और उनके सामने खड़े होकर उसने नमस्कार किया ।। ४३ ।।

तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वा पुनरुवाच वत्सोपमन्यो अहं ते सर्वं भैक्ष्यं गृह्णामि न चान्यच्चरसि पीवानसि भृशं केन वृत्तिं कल्पयसीति ।। ४४ ।।

उपाध्यायने उसे फिर भी मोटा-ताजा ही देखकर पूछा—'बेटा उपमन्यु! मैं तुम्हारी सारी भिक्षा ले लेता हूँ और अब तुम दुबारा भिक्षा नहीं माँगते, फिर भी बहुत मोटे हो। आजकल कैसे खाना-पीना चलाते हो?' ।। ४४ ।।

स एवमुक्तस्तमुपाध्यायं प्रत्युवाच भो एतासां गवां पयसा वृत्तिं कल्पयामीति । तमुवाचोपाध्यायो नैतन्न्याय्यं पय उपयोक्तुं भवतो मया नाभ्यनुज्ञातमिति ।। ४५ ।।

इस प्रकार पूछनेपर उपमन्युने उपाध्यायको उत्तर दिया—'भगवन्! मैं इन गौओंके दूधसे जीवन-निर्वाह करता हूँ।' (यह सुनकर) उपाध्यायने उससे कहा—'मैंने तुम्हें दूध पीनेकी आज्ञा नहीं दी है, अतः इन गौओंके दूधका उपयोग करना तुम्हारे लिये अनुचित है' ।। ४५ ।।

स तथेति प्रतिज्ञाय गा रक्षित्वा पुनरुपाध्यायगृहमेत्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ।। ४६ ।।

उपमन्युने 'बहुत अच्छा' कहकर दूध न पीनेकी भी प्रतिज्ञा कर ली और पूर्ववत् गोपालन करता रहा। एक दिन गोचारणके पश्चात् वह पुनः उपाध्यायके घर आया और उनके सामने खड़े होकर उसने नमस्कार किया ।। ४६ ।।

तमुपाध्यायः पीवानमेव दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो भैक्ष्यं नाश्नासि न चान्यच्चरसि पयो न पिबसि पीवानसि भृशं केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति ।। ४७ ।।

उपाध्यायने अब भी उसे हृष्ट-पुष्ट ही देखकर पूछा—'बेटा उपमन्यु! तुम भिक्षाका अन्न नहीं खाते, दुबारा भिक्षा भी नहीं माँगते और गौओंका दूध भी नहीं पीते; फिर भी बहुत मोटे हो। इस समय कैसे निर्वाह करते हो?' ।। ४७ ।।

स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच भोः फेनं पिबामि यमिमे वत्सा मातॄणां स्तनात् पिबन्त उद्गिरन्ति ।। ४८ ।।

इस प्रकार पूछनेपर उसने उपाध्यायको उत्तर दिया—'भगवन्! ये बछड़े अपनी माताओंके स्तनोंका दूध पीते समय जो फेन उगल देते हैं, उसीको पी लेता हूँ' ।। ४८ ।।

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच—एते त्वदनुकम्पया गुणवन्तो वत्साः प्रभूततरं फेनमुद्गिरन्ति । तदेषामपि वत्सानां वृत्त्युपरोधं करोष्येवं वर्तमानः । फेनमपि भवान् न पातुमर्हतीति । स तथेति प्रतिश्रुत्य पुनररक्षद् गाः ।। ४९ ।।

यह सुनकर उपाध्यायने कहा—'ये बछड़े उत्तम गुणोंसे युक्त हैं, अतः तुमपर दया करके बहुत-सा फेन उगल देते होंगे। इसलिये तुम फेन पीकर तो इन सभी बछड़ोंकी जीविकामें बाधा उपस्थित करते हो, अतः आजसे फेन भी न पिया करो।' उपमन्युने 'बहुत अच्छा' कहकर उसे न पीनेकी प्रतिज्ञा कर ली और पूर्ववत् गौओंकी रक्षा करने लगा ।। ४९ ।।

तथा प्रतिषिद्धो भैक्ष्यं नाश्नाति न चान्यच्चरति पयो न पिबति फेनं नोपयुङ्क्ते । स कदाचिदरण्ये क्षुधार्तोऽर्कपत्राण्यभक्षयत् ।। ५० ।।

इस प्रकार मना करनेपर उपमन्यु न तो भिक्षाका अन्न खाता, न दुबारा भिक्षा लाता, न गौओंका दूध पीता और न बछड़ोंके फेनको ही उपयोगमें लाता था (अब वह भूखा रहने लगा)। एक दिन वनमें भूखसे पीड़ित होकर उसने आकके पत्ते चबा लिये ।। ५० ।।

स तैरर्कपत्रैर्भक्षितैः क्षारतिक्तकटुरूक्षैस्तीक्ष्णविपाकैश्चक्षुष्युपहतोऽन्धो बभूव । ततः सोऽन्धोऽपि चङ्क्रम्यमाणः कूपे पपात ।। ५१ ।।

आकके पत्ते खारे, तीखे, कड़वे और रूखे होते हैं। उनका परिणाम तीक्ष्ण होता है (पाचनकालमें वे पेटके अंदर आगकी ज्वाला-सी उठा देते हैं); अतः उनको खानेसे उपमन्युकी आँखोंकी ज्योति नष्ट हो गयी। वह अन्धा हो गया। अन्धा होनेपर भी वह इधर-उधर घूमता रहा; अतः कुएँमें गिर पड़ा ।। ५१ ।।

अथ तस्मिन्ननागच्छति सूर्ये चास्ताचलावलम्बिनि उपाध्यायः शिष्यानवोचत्—नायात्युपमन्युस्त ऊचुर्वनं गतो गा रक्षितुमिति ।। ५२ ।।

तदनन्तर जब सूर्यदेव अस्ताचलकी चोटीपर पहुँच गये, तब भी उपमन्यु गुरुके घरपर नहीं आया, तो उपाध्यायने शिष्योंसे पूछा—'उपमन्यु क्यों नहीं आया?' वे बोले—'वह तो गाय चरानेके लिये वनमें गया था' ।। ५२ ।।

तानाह उपाध्यायो मयोपमन्युः सर्वतः प्रतिषिद्धः स नियतं कुपितस्ततो नागच्छति चिरं ततोऽन्वेष्य इत्येवमुक्त्वा शिष्यैः सार्धमरण्यं गत्वा तस्याह्वानाय शब्दं चकार भो उपमन्यो क्वासि वत्सैहीति ।। ५३ ।।

तब उपाध्यायने कहा—'मैंने उपमन्युकी जीविकाके सभी मार्ग बंद कर दिये हैं, अतः निश्चय ही वह रूठ गया है; इसीलिये इतनी देर हो जानेपर भी वह नहीं आया, अतः हमें चलकर उसे खोजना चाहिये।' ऐसा कहकर शिष्योंके साथ वनमें जाकर उपाध्यायने उसे बुलानेके लिये आवाज दी—'ओ उपमन्यु! कहाँ हो बेटा! चले आओ' ।। ५३ ।।

स उपाध्यायवचनं श्रुत्वा प्रत्युवाचोच्चैरयमस्मिन् कूपे पतितोऽहमिति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच कथं त्वमस्मिन् कूपे पतित इति ।। ५४ ।।

उसने उपाध्यायकी बात सुनकर उच्च स्वरसे उत्तर दिया—'गुरुजी! मैं कुएँमें गिर पड़ा हूँ।' तब उपाध्यायने उससे पूछा—'वत्स! तुम कुएँमें कैसे गिर गये?' ।। ५४ ।।

स उपाध्यायं प्रत्युवाच—अर्कपत्राणि भक्षयित्वान्धीभूतोऽस्म्यतः कूपे पतित इति ॥ ५५ ॥

उसने उपाध्यायको उत्तर दिया—'भगवन्! मैं आकके पत्ते खाकर अन्धा हो गया हूँ; इसीलिये कुएँमें गिर गया' ॥ ५५ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच—अश्विनौ स्तुहि । तौ देवभिषजौ त्वां चक्षुष्मन्तं कर्ताराविति । स एवमुक्त उपाध्यायेनोपमन्युरश्विनौ स्तोतुमुपचक्रमे देवावश्विनौ वाग्भिर्ऋग्भिः ॥ ५६ ॥

तब उपाध्यायने कहा—'वत्स! दोनों अश्विनीकुमार देवताओंके वैद्य हैं। तुम उन्हींकी स्तुति करो। वे तुम्हारी आँखें ठीक कर देंगे।' उपाध्यायके ऐसा कहनेपर उपमन्युने अश्विनीकुमार नामक दोनों देवताओंकी ऋग्वेदके मन्त्रोंद्वारा स्तुति प्रारम्भ की ॥ ५६ ॥

प्रपूर्वगौ पूर्वजौ चित्रभानू
गिरा वाऽऽशंसामि तपसा ह्यनन्तौ ।
दिव्यौ सुपर्णौ विरजौ विमाना-
वधिक्षिपन्तौ भुवनानि विश्वा ॥ ५७ ॥

हे अश्विनीकुमारो! आप दोनों सृष्टिसे पहले विद्यमान थे। आप ही पूर्वज हैं। आप ही चित्रभानु हैं। मैं वाणी और तपके द्वारा आपकी स्तुति करता हूँ; क्योंकि आप अनन्त हैं। दिव्यस्वरूप हैं। सुन्दर पंखवाले दो पक्षीकी भाँति सदा साथ रहनेवाले हैं। रजोगुणशून्य तथा अभिमानसे रहित हैं। सम्पूर्ण विश्वमें आरोग्यका विस्तार करते हैं ॥ ५७ ॥

हिरण्मयौ शकुनी साम्परायौ
नासत्यदस्रौ सुनसौ वै जयन्तौ ।
शुक्लं वयन्तौ तरसा सुवेमा-
वधिव्ययन्तावसितं विवस्वतः ॥ ५८ ॥

सुनहरे पंखवाले दो सुन्दर विहंगमोंकी भाँति आप दोनों बन्धु बड़े सुन्दर हैं। पारलौकिक उन्नतिके साधनोंसे सम्पन्न हैं। नासत्य तथा दस्र—ये दोनों आपके नाम हैं। आपकी नासिका बड़ी सुन्दर है। आप दोनों निश्चितरूपसे विजय प्राप्त करनेवाले हैं। आप ही विवस्वान् (सूर्यदेव)-के सुपुत्र हैं; अतः स्वयं ही सूर्यरूपमें स्थित हो दिन तथा रात्रिरूप काले तन्तुओंसे संवत्सररूप वस्त्र बुनते रहते हैं और उस वस्त्रद्वारा वेगपूर्वक देवयान और पितृयान नामक सुन्दर मार्गोंको प्राप्त कराते हैं ॥ ५८ ॥

ग्रस्तां सुपर्णस्य बलेन वर्तिका-
ममुञ्चतामश्विनौ सौभगाय ।
तावत् सुवृत्तावनमन्त मायया
वसत्तमा गा अरुणा उदावहन् ॥ ५९ ॥

परमात्माकी कालशक्तिने जीवरूपी पक्षीको अपना ग्रास बना रखा है। आप दोनों अश्विनीकुमार नामक जीवन्मुक्त महापुरुषोंने ज्ञान देकर कैवल्यरूप महान् सौभाग्यकी प्राप्तिके लिये उस जीवको कालके बन्धनसे मुक्त किया है। मायाके सहवासी अत्यन्त अज्ञानी जीव जबतक राग आदि विषयोंसे आक्रान्त हो अपनी इन्द्रियोंके समक्ष नत-मस्तक रहते हैं, तबतक वे अपने-आपको शरीरसे आबद्ध ही मानते हैं ।। ५९ ।।

षष्टिश्च गावस्त्रिशताश्च धेनव
एकं वत्सं सुवते तं दुहन्ति ।
नानागोष्ठा विहिता एकदोहना-
स्तावश्विनौ दुहतो घर्ममुक्थ्यम् ।। ६० ।।

दिन एवं रात—ये मनोवांछित फल देनेवाली तीन सौ साठ दुधारू गौएँ हैं। वे सब एक ही संवत्सररूपी बछड़ेको जन्म देती और उसको पुष्ट करती हैं। वह बछड़ा सबका उत्पादक और संहारक है। जिज्ञासु पुरुष उक्त बछड़ेको निमित्त बनाकर उन गौओंसे विभिन्न फल देनेवाली शास्त्रविहित क्रियाएँ दुहते रहते हैं; उन सब क्रियाओंका एक (तत्त्वज्ञानकी इच्छा) ही दोहनीय फल है। पूर्वोक्त गौओंको आप दोनों अश्विनीकुमार ही दुहते हैं ।। ६० ।।

एकां नाभिं सप्तशता अराः श्रिताः
प्रधिष्वन्या विंशतिरर्पिता अराः ।
अनेमि चक्रं परिवर्ततेऽजरं
मायाश्विनौ समनक्ति चर्षणी ।। ६१ ।।

हे अश्विनीकुमारो! इस कालचक्रकी एकमात्र संवत्सर ही नाभि है, जिसपर रात और दिन मिलाकर सात सौ बीस अरे टिके हुए हैं। वे सब बारह मासरूपी प्रधियों (अरोंको थामनेवाले पुट्ठों)-में जुड़े हुए हैं। अश्विनीकुमारो! यह अविनाशी एवं मायामय कालचक्र बिना नेमिके ही अनियत गतिसे घूमता तथा इहलोक और परलोक दोनों लोकोंकी प्रजाओंका विनाश करता रहता है ।। ६१ ।।

एकं चक्रं वर्तते द्वादशारं
षण्णाभिमेकाक्षमृतस्य धारणम् ।
यस्मिन् देवा अधि विश्वे विषक्ता-
स्तावश्विनौ मुञ्चतं मा विषीदतम् ।। ६२ ।।

अश्विनीकुमारो! मेष आदि बारह राशियाँ जिसके बारह अरे, छहों ऋतुएँ जिसकी छः नाभियाँ हैं और संवत्सर जिसकी एक धुरी है, वह एकमात्र कालचक्र सब ओर चल रहा है। यही कर्मफलको धारण करनेवाला आधार है। इसीमें सम्पूर्ण कालाभिमानी देवता स्थित हैं। आप दोनों मुझे इस कालचक्रसे मुक्त करें, क्योंकि मैं यहाँ जन्म आदिके दुःखसे अत्यन्त कष्ट पा रहा हूँ ।। ६२ ।।

अश्विनाविन्दुममृतं वृत्तभूयौ
तिरोधत्तामश्विनौ दासपत्नी ।
हित्वा गिरिमश्विनौ गा मुदा चरन्तौ
तद्वृष्टिमह्ना प्रस्थितौ बलस्य ।। ६३ ।।

हे अश्विनीकुमारो! आप दोनोंमें सदाचारका बाहुल्य है। आप अपने सुयशसे चन्द्रमा, अमृत तथा जलकी उज्ज्वलताको भी तिरस्कृत कर देते हैं। इस समय मेरु पर्वतको छोड़कर आप पृथ्वीपर सानन्द विचर रहे हैं। आनन्द और बलकी वर्षा करनेके लिये ही आप दोनों भाई दिनमें प्रस्थान करते हैं ।। ६३ ।।

युवां दिशो जनयथो दशाग्रे
समानं मूर्ध्नि रथयानं वियन्ति ।
तासां यातमृषयोऽनुप्रयान्ति
देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ।। ६४ ।।

हे अश्विनीकुमारो! आप दोनों ही सृष्टिके प्रारम्भकालमें पूर्वादि दसों दिशाओंको प्रकट करते—उनका ज्ञान कराते हैं। उन दिशाओंके मस्तक अर्थात् अन्तरिक्ष-लोकमें रथसे यात्रा करनेवाले तथा सबको समानरूपसे प्रकाश देनेवाले सूर्यदेवका और आकाश आदि पाँच भूतोंका भी आप ही ज्ञान कराते हैं। उन-उन दिशाओंमें सूर्यका जाना देखकर ऋषिलोग भी उनका अनुसरण करते हैं तथा देवता और मनुष्य (अपने अधिकारके अनुसार) स्वर्ग या मर्त्यलोककी भूमिका उपयोग करते हैं ।। ६४ ।।

युवां वर्णान् विकुरुथो विश्वरूपां-
स्तेऽधिक्षियन्ते भुवनानि विश्वा ।
ते भानवोऽप्यनुसृताश्चरन्ति
देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ।। ६५ ।।

हे अश्विनीकुमारो! आप अनेक रंगकी वस्तुओंके सम्मिश्रणसे सब प्रकारकी ओषधियाँ तैयार करते हैं, जो सम्पूर्ण विश्वका पोषण करती हैं। वे प्रकाशमान ओषधियाँ सदा आपका अनुसरण करती हुई आपके साथ ही विचरती हैं। देवता और मनुष्य आदि प्राणी अपने अधिकारके अनुसार स्वर्ग और मर्त्यलोककी भूमिमें रहकर उन ओषधियोंका सेवन करते हैं ।। ६५ ।।

तौ नासत्यावश्विनौ वां महेऽहं
स्रजं च यां बिभृथः पुष्करस्य ।
तौ नासत्यावमृतावृतावृधा-
वृते देवास्तत्प्रपदे न सूते ।। ६६ ।।

अश्विनीकुमारो! आप ही दोनों 'नासत्य' नामसे प्रसिद्ध हैं। मैं आपकी तथा आपने जो कमलकी माला धारण कर रखी है, उसकी पूजा करता हूँ। आप अमर होनेके साथ ही

सत्यका पोषण और विस्तार करनेवाले हैं। आपके सहयोगके बिना देवता भी उस सनातन सत्यकी प्राप्तिमें समर्थ नहीं हैं ।। ६६ ।।

मुखेन गर्भं लभेतां युवानौ
गतासुरेतत् प्रपदेन सूते ।
सद्यो जातो मातरमत्ति गर्भ-
स्तावश्विनौ मुञ्चथो जीवसे गाः ।। ६७ ।।

युवक माता-पिता संतानोत्पत्तिके लिये पहले मुखसे अन्नरूप गर्भ धारण करते हैं। तत्पश्चात् पुरुषोंमें वीर्यरूपमें और स्त्रीमें रजोरूपसे परिणत होकर वह अन्न जड शरीर बन जाता है। तत्पश्चात् जन्म लेनेवाला गर्भस्थ जीव उत्पन्न होते ही माताके स्तनोंका दूध पीने लगता है। हे अश्विनीकुमारो! पूर्वोक्त रूपसे संसार-बन्धनमें बँधे हुए जीवोंको आप तत्त्वज्ञान देकर मुक्त करते हैं। मेरे जीवन-निर्वाहके लिये मेरी नेत्रेन्द्रियको भी रोगसे मुक्त करें ।। ६७ ।।

स्तोतुं न शक्नोमि गुणैर्भवन्तौ
चक्षुर्विहीनः पथि सम्प्रमोहः ।
दुर्गेऽहमस्मिन् पतितोऽस्मि कूपे
युवां शरण्यौ शरणं प्रपद्ये ।। ६८ ।।

अश्विनीकुमारो! मैं आपके गुणोंका बखान करके आप दोनोंकी स्तुति नहीं कर सकता। इस समय नेत्रहीन (अन्धा) हो गया हूँ। रास्ता पहचाननेमें भी भूल हो जाती है; इसीलिये इस दुर्गम कूपमें गिर पड़ा हूँ। आप दोनों शरणागतवत्सल देवता हैं; अतः मैं आपकी शरण लेता हूँ ।। ६८ ।।

इत्येवं तेनाभिष्टुतावश्विनावाजग्मतुराहतुश्चैनं प्रीतौ स्व एष तेऽपूपोऽशानैनमिति ।। ६९ ।।

इस प्रकार उपमन्युके स्तवन करनेपर दोनों अश्विनीकुमार वहाँ आये और उससे बोले—'उपमन्यु! हम तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हैं। यह तुम्हारे खानेके लिये पूआ है, इसे खा लो' ।। ६९ ।।

स एवमुक्तः प्रत्युवाच नानृतमूचतुर्भगवन्तौ न त्वहमेतमपूपमुपयोक्तुमुत्सहे गुरवेऽनिवेद्येति ।। ७० ।।

उनके ऐसा कहनेपर उपमन्यु बोला—'भगवन्! आपने ठीक कहा है, तथापि मैं गुरुजीको निवेदन किये बिना इस पूएको अपने उपयोगमें नहीं ला सकता' ।। ७० ।।

ततस्तमश्विनावूचतुः—आवाभ्यां पुरस्ताद् भवत उपाध्यायेनैवमेवाभिष्टुताभ्यामपूपो दत्त उपयुक्तः स तेनानिवेद्य गुरवे त्वमपि तथैव कुरुष्व यथा कृतमुपाध्यायेनेति ।। ७१ ।।

तब दोनों अश्विनीकुमार बोले—'वत्स! पहले तुम्हारे उपाध्यायने भी हमारी इसी प्रकार स्तुति की थी। उस समय हमने उन्हें जो पूआ दिया था, उसे उन्होंने अपने गुरुजीको निवेदन किये बिना ही काममें ले लिया था। तुम्हारे उपाध्यायने जैसा किया है, वैसा ही तुम भी करो' ।। ७१ ।।

स एवमुक्तः प्रत्युवाच—एतत् प्रत्यनुनये भवन्तावश्विनौ नोत्सहेऽहमनिवेद्य गुरवेऽपूपमुपयोक्तुमिति ।। ७२ ।।

उनके ऐसा कहनेपर उपमन्युने उत्तर दिया—'इसके लिये तो आप दोनों अश्विनीकुमारोंकी मैं बड़ी अनुनय-विनय करता हूँ। गुरुजीके निवेदन किये बिना मैं इस पूएको नहीं खा सकता' ।। ७२ ।।

तमश्विनावाहतुः प्रीतौ स्वस्तवानया गुरुभक्त्या उपाध्यायस्य ते कार्ष्णायसा दन्ता भवतोऽपि हिरण्मया भविष्यन्ति चक्षुष्मांश्च भविष्यसीति श्रेयश्चावाप्स्यसीति ।। ७३ ।।

तब अश्विनीकुमार उससे बोले, 'तुम्हारी इस गुरु-भक्तिसे हम बड़े प्रसन्न हैं। तुम्हारे उपाध्यायके दाँत काले लोहेके समान हैं। तुम्हारे दाँत सुवर्णमय हो जायँगे। तुम्हारी आँखें भी ठीक हो जायँगी और तुम कल्याणके भागी भी होओगे' ।। ७३ ।।

स एवमुक्तोऽश्विभ्यां लब्धचक्षुरुपाध्यायसकाशमागम्याभ्यवादयत् ।। ७४ ।।

अश्विनीकुमारोंके ऐसा कहनेपर उपमन्युको आँखें मिल गयीं और उसने उपाध्यायके समीप आकर उन्हें प्रणाम किया ।। ७४ ।।

आचचक्षे च स चास्य प्रीतिमान् बभूव ।। ७५ ।।

तथा सब बातें गुरुजीसे कह सुनायीं। उपाध्याय उसके ऊपर बड़े प्रसन्न हुए ।। ७५ ।।

आह चैनं यथाश्विनावाहतुस्तथा त्वं श्रेयोऽवाप्स्यसि ।। ७६ ।।

और उससे बोले—'जैसा अश्विनीकुमारोंने कहा है, उसी प्रकार तुम कल्याणके भागी होओगे ।। ७६ ।।

सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति । एषा तस्यापि परीक्षोपमन्योः ।। ७७ ।।

'तुम्हारी बुद्धिमें सम्पूर्ण वेद और सभी धर्मशास्त्र स्वतः स्फुरित हो जायँगे।' इस प्रकार यह उपमन्युकी परीक्षा बतायी गयी ।। ७७ ।।

अथापरः शिष्यस्तस्यैवायोदस्य धौम्यस्य वेदो नाम तमुपाध्यायः समादिदेश वत्स वेद इहास्यतां तावन्मम गृहे कंचित् कालं शुश्रूषुणा च भवितव्यं श्रेयस्ते भविष्यतीति ।। ७८ ।।

उन्हीं आयोदधौम्यके तीसरे शिष्य थे वेद। उन्हें उपाध्यायने आज्ञा दी, 'वत्स वेद! तुम कुछ कालतक यहाँ मेरे घरमें निवास करो। सदा शुश्रूषामें लगे रहना, इससे तुम्हारा कल्याण होगा' ।। ७८ ।।

स तथेत्युक्त्वा गुरुकुले दीर्घकालं गुरुशुश्रूषणपरोऽवसद् गौरिव नित्यं गुरुणा धूर्षु नियोज्यमानः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादुःखसहः सर्वत्राप्रतिकूलस्तस्य महता कालेन गुरुः परितोषं जगाम ।। ७९ ।।

वेद 'बहुत अच्छा' कहकर गुरुके घरमें रहने लगे। उन्होंने दीर्घकालतक गुरुकी सेवा की। गुरुजी उन्हें बैलकी तरह सदा भारी बोझ ढोनेमें लगाये रखते थे और वेद सरदी-गरमी तथा भूख-प्यासका कष्ट सहन करते हुए सभी अवस्थाओंमें गुरुके अनुकूल ही रहते थे। इस प्रकार जब बहुत समय बीत गया, तब गुरुजी उनपर पूर्णतः संतुष्ट हुए ।। ७९ ।।

तत्परितोषाच्च श्रेयः सर्वज्ञतां चावाप । एषा तस्यापि परीक्षा वेदस्य ।। ८० ।।

गुरुके संतोषसे वेदने श्रेय तथा सर्वज्ञता प्राप्त कर ली। इस प्रकार यह वेदकी परीक्षाका वृत्तान्त कहा गया ।। ८० ।।

स उपाध्यायेनानुज्ञातः समावृतस्तस्माद् गुरुकुलवासाद् गृहाश्रमं प्रत्यपद्यत । तस्यापि स्वगृहे वसतस्त्रयः शिष्या बभूवुः स शिष्यान् न किंचिदुवाच कर्म वा क्रियतां गुरुशुश्रूषा चेति । दुःखाभिज्ञो हि गुरुकुलवासस्य शिष्यान् परिक्लेशेन योजयितुं नेयेष ।। ८१ ।।

तदनन्तर उपाध्यायकी आज्ञा होनेपर वेद समावर्तन-संस्कारके पश्चात् स्नातक होकर गुरुगृहसे लौटे। घर आकर उन्होंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया। अपने घरमें निवास करते समय आचार्य वेदके पास तीन शिष्य रहते थे, किंतु वे 'काम करो अथवा गुरुसेवामें लगे रहो' इत्यादि रूपसे किसी प्रकारका आदेश अपने शिष्योंको नहीं देते थे; क्योंकि गुरुके घरमें रहनेपर छात्रोंको जो कष्ट सहन करना पड़ता है, उससे वे परिचित थे। इसलिये उनके मनमें अपने शिष्योंको क्लेशदायक कार्यमें लगानेकी कभी इच्छा नहीं होती थी ।। ८१ ।।

अथ कस्मिंश्चित् काले वेदं ब्राह्मणं जनमेजयः पौष्यश्च क्षत्रियावुपेत्य वरयित्वोपाध्यायं चक्रतुः ।। ८२ ।। स कदाचिद् याज्यकार्येणाभिप्रस्थित उत्तङ्कनामानं शिष्यं नियोजयामास ।। ८३ ।। भो यत् किंचिदस्मद्गृहे परिहीयते तदिच्छाम्यहमपरिहीयमानं भवता क्रियमाणमिति स एवं प्रतिसंदिश्योत्तङ्कं वेदः प्रवासं जगाम ।। ८४ ।।

एक समयकी बात है—ब्रह्मवेत्ता आचार्य वेदके पास आकर 'जनमेजय और पौष्य' नामवाले दो क्षत्रियोंने उनका वरण किया और उन्हें अपना उपाध्याय बना लिया। तदनन्तर एक दिन उपाध्याय वेदने यजमानके कार्यसे बाहर जानेके लिये उद्यत हो उत्तंक नामवाले शिष्यको अग्निहोत्र आदिके कार्यमें नियुक्त किया और कहा—'वत्स उत्तंक! मेरे घरमें मेरे बिना जिस किसी वस्तुकी कमी हो जाय, उसकी पूर्ति तुम कर देना, ऐसी मेरी इच्छा है।' उत्तंकको ऐसा आदेश देकर आचार्य वेद बाहर चले गये ।। ८२—८४ ।।

अथोत्तङ्कः शुश्रूषुर्गुरुनियोगमनुतिष्ठमानो गुरुकुले वसति स्म । स तत्र वसमान उपाध्यायस्त्रीभिः सहिताभिराहूयोक्तः ।। ८५ ।।

उत्तंक गुरुकी आज्ञाका पालन करते हुए सेवापरायण हो गुरुके घरमें रहने लगे। वहाँ रहते समय उन्हें उपाध्यायके आश्रयमें रहनेवाली सब स्त्रियोंने मिलकर बुलाया और कहा — ।। ८५ ।।

उपाध्यायानी ते ऋतुमती, उपाध्यायश्च प्रोषितोऽस्या यथायमृतुर्वन्ध्यो न भवति तथा क्रियतामेषा विषीदतीति ।। ८६ ।।

तुम्हारी गुरुपत्नी रजस्वला हुई हैं और उपाध्याय परदेश गये हैं। उनका यह ऋतुकाल जिस प्रकार निष्फल न हो, वैसा करो; इसके लिये गुरुपत्नी बड़ी चिन्तामें पड़ी हैं ।। ८६ ।।

एवमुक्तस्ताः स्त्रियः प्रत्युवाच न मया स्त्रीणां वचनादिदमकार्यं करणीयम् । न ह्यहमुपाध्यायेन संदिष्टोऽकार्यमपि त्वया कार्यमिति ।। ८७ ।।

यह सुनकर उत्तंकने उत्तर दिया—‘मैं स्त्रियोंके कहनेसे यह न करनेयोग्य निन्द्य कर्म नहीं कर सकता। उपाध्यायने मुझे ऐसी आज्ञा नहीं दी है कि ‘तुम न करनेयोग्य कार्य भी कर डालना’ ।। ८७ ।।

तस्य पुनरुपाध्यायः कालान्तरेण गृहमाजगाम तस्मात् प्रवासात् । स तु तद् वृत्तं तस्याशेषमुपलभ्य प्रीतिमानभूत् ।। ८८ ।।

इसके बाद कुछ काल बीतनेपर उपाध्याय वेद परदेशसे अपने घर लौट आये। आनेपर उन्हें उत्तंकका सारा वृत्तान्त मालूम हुआ, इससे वे बड़े प्रसन्न हुए ।। ८८ ।।

उवाच चैनं वत्सोत्तङ्क किं ते प्रियं करवाणीति । धर्मतो हि शुश्रूषितोऽस्मि भवता तेन प्रीतिः परस्परेण नौ संवृद्धा तदनुजाने भवन्तं सर्वानेव कामानवाप्स्यसि गम्यतामिति ।। ८९ ।।

और बोले—‘बेटा उत्तंक! तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? तुमने धर्मपूर्वक मेरी सेवा की है। इससे हम दोनोंकी एक-दूसरेके प्रति प्रीति बहुत बढ़ गयी है। अब मैं तुम्हें घर लौटनेकी आज्ञा देता हूँ—जाओ, तुम्हारी सभी कामनाएँ पूर्ण होंगी’ ।। ८९ ।।

स एवमुक्तः प्रत्युवाच किं ते प्रियं करवाणीति, एवमाहुः ।। ९० ।।

गुरुके ऐसा कहनेपर उत्तंक बोले—‘भगवन्! मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? वृद्ध पुरुष कहते भी हैं ।। ९० ।।

यश्चाधर्मेण वै ब्रूयाद् यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं चाधिगच्छति ।। ९१ ।।

जो अधर्मपूर्वक अध्यापन या उपदेश करता है अथवा जो अधर्मपूर्वक प्रश्न या अध्ययन करता है, उन दोनोंमेंसे एक (गुरु अथवा शिष्य) मृत्यु एवं विद्वेषको प्राप्त होता है ।। ९१ ।।

सोऽहमनुज्ञातो भवतेच्छामीष्टं गुर्वर्थमुपहर्तुमिति । तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क उष्यतां तावदिति ।। ९२ ।।

अतः आपकी आज्ञा मिलनेपर मैं अभीष्ट गुरुदक्षिणा भेंट करना चाहता हूँ।’ उत्तंकके ऐसा कहनेपर उपाध्याय बोले—‘बेटा उत्तंक! तब कुछ दिन और यहीं ठहरो’ ।। ९२ ।।

स कदाचिदुपाध्यायमाहोत्तङ्क आज्ञापयतु भवान् किं ते प्रियमुपाहरामि गुर्वर्थमिति ।। ९३ ।।

तदनन्तर किसी दिन उत्तंकने फिर उपाध्यायसे कहा—'भगवन्! आज्ञा दीजिये, मैं आपको कौन-सी प्रिय वस्तु गुरुदक्षिणाके रूपमें भेंट करूँ?' ।। ९३ ।।

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क बहुशो मां चोदयसि गुर्वर्थमुपाहरामीति तद् गच्छैनां प्रविश्योपाध्यायानीं पृच्छ किमुपाहरामीति ।। ९४ ।। एषा यद् ब्रवीति तदुपाहरस्वेति ।

यह सुनकर उपाध्यायने उनसे कहा—'वत्स उत्तंक! तुम बार-बार मुझसे कहते हो कि 'मैं क्या गुरुदक्षिणा भेंट करूँ?' अतः जाओ, घरके भीतर प्रवेश करके अपनी गुरुपत्नीसे पूछ लो कि 'मैं क्या गुरुदक्षिणा भेंट करूँ?' ।। ९४ ।। 'वे जो बतावें वही वस्तु उन्हें भेंट करो।'

स एवमुक्त उपाध्यायेनोपाध्यायानीमपृच्छद् भगवत्युपाध्यायेनास्म्यनुज्ञातो गृहं गन्तुमिच्छामीष्टं ते गुर्वर्थमुपहृत्यानृणो गन्तुमिति ।। ९५ ।। तदाज्ञापयतु भवती किमुपाहरामि गुर्वर्थमिति ।

उपाध्यायके ऐसा कहनेपर उत्तंकने गुरुपत्नीसे पूछा—'देवि! उपाध्यायने मुझे घर जानेकी आज्ञा दी है, अतः मैं आपको कोई अभीष्ट वस्तु गुरुदक्षिणाके रूपमें भेंट करके गुरुके ऋणसे उऋण होकर जाना चाहता हूँ ।। ९५ ।। अतः आप आज्ञा दें; मैं गुरुदक्षिणाके रूपमें कौन-सी वस्तु ला दूँ।'

सैवमुक्तोपाध्यायानी तमुत्तङ्कं प्रत्युवाच गच्छ पौष्यं प्रति राजानं कुण्डले भिक्षितुं तस्य क्षत्रियया पिनद्धे ।। ९६ ।।

उत्तंकके ऐसा कहनेपर गुरुपत्नी उनसे बोलीं—'वत्स! तुम राजा पौष्यके यहाँ, उनकी क्षत्राणी पत्नीने जो दोनों कुण्डल पहन रखे हैं, उन्हें माँग लानेके लिये जाओ ।। १६ ।।

ते आनयस्व चतुर्थेऽहनि पुण्यकं भविता ताभ्यामाबद्धाभ्यां शोभमाना ब्राह्मणान् परिवेष्टुमिच्छामि । तत् सम्पादयस्व, एवं हि कुर्वतः श्रेयो भवितान्यथा कुतः श्रेय इति ।। ९७ ।।

'और उन कुण्डलोंको शीघ्र ले आओ। आजके चौथे दिन पुण्यक व्रत होनेवाला है, मैं उस दिन कानोंमें उन कुण्डलोंको पहनकर सुशोभित हो ब्राह्मणोंको भोजन परोसना चाहती हूँ; अतः तुम मेरा यह मनोरथ पूर्ण करो। तुम्हारा कल्याण होगा। अन्यथा कल्याणकी प्राप्ति कैसे सम्भव है?' ।। ९७ ।।

स एवमुक्तस्तया प्रातिष्ठतोत्तङ्कः स पथि गच्छन्नपश्यदृषभमतिप्रमाणं तमधिरूढं च पुरुषमतिप्रमाणमेव स पुरुष उत्तङ्कमभ्यभाषत ।। ९८ ।।

गुरुपत्नीके ऐसा कहनेपर उत्तंक वहाँसे चल दिये। मार्गमें जाते समय उन्होंने एक बहुत बड़े बैलको और उसपर चढ़े हुए एक विशालकाय पुरुषको भी देखा। उस पुरुषने उत्तंकसे

कहा— ।। ९८ ।।

भो उत्तङ्कैतत् पुरीषमस्य ऋषभस्य भक्षयस्वेति स एवमुक्तो नैच्छत् ।। ९९ ।।

'उत्तंक! तुम इस बैलका गोबर खा लो।' किंतु उसके ऐसा कहनेपर भी उत्तंकको वह गोबर खानेकी इच्छा नहीं हुई ।। ९९ ।।

तमाह पुरुषो भूयो भक्षयस्वोत्तङ्क मा विचारयोपाध्यायेनापि ते भक्षितं पूर्वमिति ।। १०० ।।

तब वह पुरुष फिर उनसे बोला—'उत्तंक! खा लो, विचार न करो। तुम्हारे उपाध्यायने भी पहले इसे खाया था' ।। १०० ।।

स एवमुक्तो बाढमित्युक्त्वा तदा तद् वृषभस्य मूत्रं पुरीषं च भक्षयित्वोत्तङ्कः सम्भ्रमादुत्थित एवाप उपस्पृश्य प्रतस्थे ।। १०१ ।।

उसके पुनः ऐसा कहनेपर उत्तंकने 'बहुत अच्छा' कहकर उसकी बात मान ली और उस बैलके गोबर तथा मूत्रको खा-पीकर उतावलीके कारण खड़े-खड़े ही आचमन किया। फिर वे चल दिये ।। १०१ ।।

यत्र स क्षत्रियः पौष्यस्तमुपेत्यासीनमपश्यदुत्तङ्कः । स उत्तङ्कस्तमुपेत्याशीर्भिरभिनन्द्योवाच ।। १०२ ।।

जहाँ वे क्षत्रिय राजा पौष्य रहते थे, वहाँ पहुँचकर उत्तंकने देखा—वे आसनपर बैठे हुए हैं, तब उत्तंकने उनके समीप जाकर आशीर्वादसे उन्हें प्रसन्न करते हुए कहा— ।। १०२ ।।

अर्थी भवन्तमुपागतोऽस्मीति स एनमभिवाद्योवाच भगवन् पौष्यः खल्वहं किं करवाणीति ।। १०३ ।।

'राजन्! मैं याचक होकर आपके पास आया हूँ।' राजाने उन्हें प्रणाम करके कहा—'भगवन्! मैं आपका सेवक पौष्य हूँ; कहिये, किस आज्ञाका पालन करूँ?' ।। १०३ ।।

तमुवाच गुर्वर्थं कुण्डलयोरर्थेनाभ्यागतोऽस्मीति । ये वै ते क्षत्रियया पिनद्धे कुण्डले ते भवान् दातुमर्हतीति ।। १०४ ।।

उत्तंकने पौष्यसे कहा—'राजन्! मैं गुरुदक्षिणाके निमित्त दो कुण्डलोंके लिये आपके यहाँ आया हूँ। आपकी क्षत्राणीने जिन्हें पहन रखा है, उन्हीं दोनों कुण्डलोंको आप मुझे दे दें। यह आपके योग्य कार्य है' ।। १०४ ।।

तं प्रत्युवाच पौष्यः प्रविश्यान्तःपुरं क्षत्रिया याच्यतामिति । स तेनैवमुक्तः प्रविश्यान्तःपुरं क्षत्रियां नापश्यत् ।। १०५ ।।

यह सुनकर पौष्यने उत्तंकसे कहा—'ब्रह्मन्! आप अन्तःपुरमें जाकर क्षत्राणीसे वे कुण्डल माँग लें।' राजाके ऐसा कहनेपर उत्तंकने अन्तःपुरमें प्रवेश किया, किंतु वहाँ उन्हें क्षत्राणी नहीं दिखायी दी ।। १०५ ।।

स पौष्यं पुनरुवाच न युक्तं भवताहमनृतेनोपचरितुं न हि तेऽन्तःपुरे क्षत्रिया सन्निहिता नैनां पश्यामि ।। १०६ ।।

तब वे पुनः राजा पौष्यके पास आकर बोले—'राजन्! आप मुझे संतुष्ट करनेके लिये झूठी बात कहकर मेरे साथ छल करें, यह आपको शोभा नहीं देता है। आपके अन्तःपुरमें क्षत्राणी नहीं हैं, क्योंकि वहाँ वे मुझे नहीं दिखायी देती हैं' ।। १०६ ।।

स एवमुक्तः पौष्यः क्षणमात्रं विमृश्योत्तङ्कं प्रत्युवाच नियतं भवानुच्छिष्टः स्मर तावन्न हि सा क्षत्रिया उच्छिष्टेनाशुचिना शक्या द्रष्टुं पतिव्रतात्वात् सैषा नाशुचेर्दर्शनमुपैतीति ।। १०७ ।।

उत्तंकके ऐसा कहनेपर पौष्यने एक क्षणतक विचार करके उन्हें उत्तर दिया—'निश्चय ही आप जूँठे मुँह हैं, स्मरण तो कीजिये, क्योंकि मेरी क्षत्राणी पतिव्रता होनेके कारण उच्छिष्ट— अपवित्र मनुष्यके द्वारा नहीं देखी जा सकती हैं। आप उच्छिष्ट होनेके कारण अपवित्र हैं, इसलिये वे आपकी दृष्टिमें नहीं आ रही हैं' ।। १०७ ।।

अथैवमुक्त उत्तङ्कः स्मृत्वोवाचास्ति खलु मयोत्थितेनोपस्पृष्टं गच्छतां चेति । तं पौष्यः प्रत्युवाच—एष ते व्यतिक्रमो नोत्थितेनोपस्पृष्टं भवतीति शीघ्रं गच्छता चेति ।। १०८ ।।

उनके ऐसा कहनेपर उत्तंकने स्मरण करके कहा—'हाँ, अवश्य ही मुझमें अशुद्धि रह गयी है। यहाँकी यात्रा करते समय मैंने खड़े होकर चलते-चलते आचमन किया है।' तब पौष्यने उनसे कहा—'ब्रह्मन्! यही आपके द्वारा विधिका उल्लंघन हुआ है। खड़े होकर और शीघ्रतापूर्वक चलते-चलते किया हुआ आचमन नहींके बराबर है' ।। १०८ ।।

अथोत्तङ्कस्तं तथेत्युक्त्वा प्राङ्मुख उपविश्य सुप्रक्षालितपाणिपादवदनो निःशब्दाभिरफेनाभिरनुष्णाभिर्हृद्गताभिरद्भिस्त्रिः पीत्वा द्विः परिमृज्य खान्यद्भिरुपस्पृश्य चान्तःपुरं प्रविवेश ।। १०९ ।।

तत्पश्चात् उत्तंक राजासे 'ठीक है' ऐसा कहकर हाथ, पैर और मुँह भलीभाँति धोकर पूर्वाभिमुख हो आसनपर बैठे और हृदयतक पहुँचनेयोग्य शब्द तथा फेनसे रहित शीतल जलके द्वारा तीन बार आचमन करके उन्होंने दो बार अँगूठेके मूल भागसे मुख पोंछा और नेत्र, नासिका आदि इन्द्रिय-गोलकोंका जलसहित अंगुलियोंद्वारा स्पर्श करके अन्तःपुरमें प्रवेश किया ।। १०९ ।।

ततस्तां क्षत्रियामपश्यत्, सा च दृष्ट्वैवोत्तङ्कं प्रत्युत्थायाभिवाद्योवाच स्वागतं ते भगवन्नाज्ञापय किं करवाणीति ।। ११० ।।

तब उन्हें क्षत्राणीका दर्शन हुआ। महारानी उत्तंकको देखते ही उठकर खड़ी हो गयीं और प्रणाम करके बोलीं—'भगवन्! आपका स्वागत है, आज्ञा दीजिये, मैं क्या सेवा करूँ?' ।। ११० ।।

स तामुवाचैते कुण्डले गुर्वर्थं मे भिक्षिते दातुमर्हसीति । सा प्रीता तेन तस्य सद्भावेन पात्रमयमनतिक्रमणीयश्चेति मत्वा ते कुण्डलेऽवमुच्यास्मै प्रायच्छदाह तक्षको नागराजः सुभृशं प्रार्थयत्यप्रमत्तो नेतुमर्हसीति ।। १११ ।।

उत्तंकने महारानीसे कहा—'देवि! मैंने गुरुके लिये आपके दोनों कुण्डलोंकी याचना की है। वे ही मुझे दे दें।' महारानी उत्तंकके उस सद्भाव (गुरुभक्ति)-से बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने यह सोचकर कि 'ये सुपात्र ब्राह्मण हैं, इन्हें निराश नहीं लौटाना चाहिये'—अपने दोनों कुण्डल स्वयं उतारकर उन्हें दे दिये और उनसे कहा—'ब्रह्मन्! नागराज तक्षक इन कुण्डलोंको पानेके लिये बहुत प्रयत्नशील हैं। अतः आपको सावधान होकर इन्हें ले जाना चाहिये' ।। १११ ।।

स एवमुक्तस्तां क्षत्रियां प्रत्युवाच भगवति सुनिर्वृता भव । न मां शक्तस्तक्षको नागराजो धर्षयितुमिति ।। ११२ ।।

रानीके ऐसा कहनेपर उत्तंकने उन क्षत्राणीसे कहा—'देवि! आप निश्चिन्त रहें। नागराज तक्षक मुझसे भिड़नेका साहस नहीं कर सकता' ।। ११२ ।।

स एवमुक्त्वा तां क्षत्रियामामन्त्र्य पौष्यसकाशमागच्छत् । आह चैनं भोः पौष्य प्रीतोऽस्मीति तमुत्तङ्कं पौष्यः प्रत्युवाच ।। ११३ ।।

महारानीसे ऐसा कहकर उनसे आज्ञा ले उत्तंक राजा पौष्यके निकट आये और बोले—'महाराज पौष्य! मैं बहुत प्रसन्न हूँ (और आपसे विदा लेना चाहता हूँ)।' यह सुनकर पौष्यने उत्तंकसे कहा— ।। ११३ ।।

भगवंश्चिरेण पात्रमासाद्यते भवांश्च गुणवानतिथिस्तदिच्छे श्राद्धं कर्तुं क्रियतां क्षण इति ।। ११४ ।।

'भगवन्! बहुत दिनोंपर कोई सुपात्र ब्राह्मण मिलता है। आप गुणवान् अतिथि पधारे हैं, अतः मैं श्राद्ध करना चाहता हूँ। आप इसमें समय दीजिये' ।। ११४ ।।

तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच कृतक्षण एवास्मि शीघ्रमिच्छामि यथोपपन्नमन्नमुपस्कृतं भवतेति स तथेत्युक्त्वा यथोपपन्नेनान्नेनैनं भोजयामास ।। ११५ ।।

तब उत्तंकने राजासे कहा—'मेरा समय तो दिया ही हुआ है, किंतु शीघ्रता चाहता हूँ। आपके यहाँ जो शुद्ध एवं सुसंस्कृत भोजन तैयार हो उसे मँगाइये।' राजाने 'बहुत अच्छा' कहकर जो भोजन-सामग्री प्रस्तुत थी, उसके द्वारा उन्हें भोजन कराया ।। ११५ ।।

अथोत्तङ्कः सकेशं शीतमन्नं दृष्ट्वा अशुच्येतदिति मत्वा तं पौष्यमुवाच यस्मान्मेऽशुच्यन्नं ददासि तस्मादन्धो भविष्यसीति ।। ११६ ।।

परंतु जब भोजन सामने आया, तब उत्तंकने देखा, उसमें बाल पड़ा है और वह ठण्डा हो चुका है। फिर तो 'यह अपवित्र अन्न है' ऐसा निश्चय करके वे राजा पौष्यसे बोले—'आप मुझे अपवित्र अन्न दे रहे हैं, अतः अन्धे हो जायँगे' ।। ११६ ।।

तं पौष्यः प्रत्युवाच यस्मात्त्वमप्यदुष्टमन्नं दूषयसि तस्मात्त्वमनपत्यो भविष्यसीति तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच ।। ११७ ।।

तब पौष्यने भी उन्हें शापके बदले शाप देते हुए कहा—'आप शुद्ध अन्नको भी दूषित बता रहे हैं, अतः आप भी संतानहीन हो जायँगे।' तब उत्तंक राजा पौष्यसे बोले

— ।। ११७ ।।

न युक्तं भवतान्नमशुचि दत्त्वा प्रतिशापं दातुं तस्मादन्नमेव प्रत्यक्षीकुरु । ततः पौष्यस्तदन्नमशुचि दृष्ट्वा तस्याशुचिभावमपरोक्षयामास ।। ११८ ।।

'महाराज! अपवित्र अन्न देकर फिर बदलेमें शाप देना आपके लिये कदापि उचित नहीं है। अतः पहले अन्नको ही प्रत्यक्ष देख लीजिये।' तब पौष्यने उस अन्नको अपवित्र देखकर उसकी अपवित्रताके कारणका पता लगाया ।। ११८ ।।

अथ तदन्नं मुक्तकेश्या स्त्रिया यत् कृतमनुष्णं सकेशं चाशुच्येतदिति मत्वा तमृषिमुत्तङ्कं प्रसादयामास ।। ११९ ।।

वह भोजन खुले केशवाली स्त्रीने तैयार किया था। अतः उसमें केश पड़ गया था। देरका बना होनेसे वह ठण्डा भी हो गया था। इसलिये वह अपवित्र है, इस निश्चयपर पहुँचकर राजाने उत्तंक ऋषिको प्रसन्न करते हुए कहा— ।। ११९ ।।

भगवन्नेतदज्ञानादन्नं सकेशमुपाहृतं शीतं तत् क्षामये भवन्तं न भवेयमन्ध इति तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच ।। १२० ।।

'भगवन्! यह केशयुक्त और शीतल अन्न अनजानमें आपके पास लाया गया है। अतः इस अपराधके लिये मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। आप ऐसी कृपा कीजिये, जिससे मैं अन्धा न होऊँ।' तब उत्तंकने राजासे कहा— ।। १२० ।।

न मृषा ब्रवीमि भूत्वा त्वमन्धो न चिरादनन्धो भविष्यसीति । ममापि शापो भवता दत्तो न भवेदिति ।। १२१ ।।

'राजन्! मैं झूठ नहीं बोलता। आप पहले अन्धे होकर फिर थोड़े ही दिनोंमें इस दोषसे रहित हो जायँगे। अब आप भी ऐसी चेष्टा करें, जिससे आपका दिया हुआ शाप मुझपर लागू न हो' ।। १२१ ।।

तं पौष्यः प्रत्युवाच न चाहं शक्तः शापं प्रत्यादातुं न हि मे मन्युरद्याप्युपशमं गच्छति किं चैतद् भवता न ज्ञायते यथा— ।। १२२ ।।

नवनीतं हृदयं ब्राह्मणस्य
वाचि क्षुरो निहितस्तीक्ष्णधारः ।
तदुभयमेतद् विपरीतं क्षत्रियस्य
वाङ्नवनीतं हृदयं तीक्ष्णधारम् । इति ।। १२३ ।।

यह सुनकर पौष्यने उत्तंकसे कहा—'मैं शापको लौटानेमें असमर्थ हूँ, मेरा क्रोध अभीतक शान्त नहीं हो रहा है। क्या आप यह नहीं जानते कि ब्राह्मणका हृदय मक्खनके समान मुलायम और जल्दी पिघलनेवाला होता है? केवल उसकी वाणीमें ही तीखी धारवाले छुरेका-सा प्रभाव होता है। किंतु ये दोनों ही बातें क्षत्रियके लिये विपरीत हैं। उसकी वाणी तो नवनीतके समान कोमल होती है, लेकिन हृदय पैनी धारवाले छुरेके समान तीखा होता है ।। १२२-१२३ ।।

तदेवं गते न शक्तोऽहं तीक्ष्णहृदयत्वात् तं शापमन्यथा कर्तुं गम्यतामिति । तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच भवताहमन्नस्याशुचिभावमालक्ष्य प्रत्यनुनीतः प्राक् च तेऽभिहितम् ।। १२४ ।। यस्माददुष्टमन्नं दूषयसि तस्मादनपत्यो भविष्यसीति । दुष्टे चान्ने नैष मम शापो भविष्यतीति ।। १२५ ।।

'अतः ऐसी दशामें कठोरहृदय होनेके कारण मैं उस शापको बदलनेमें असमर्थ हूँ। इसलिये आप जाइये।' तब उत्तंक बोले—'राजन्! आपने अन्नकी अपवित्रता देखकर मुझसे क्षमाके लिये अनुनय-विनय की है, किंतु पहले आपने कहा था कि 'तुम शुद्ध अन्नको दूषित बता रहे हो, इसलिये संतानहीन हो जाओगे।' इसके बाद अन्नका दोषयुक्त होना प्रमाणित हो गया, अतः आपका यह शाप मुझपर लागू नहीं होगा' ।। १२४-१२५ ।।

साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च ।। १२६ ।।

'अब हम अपना कार्यसाधन कर रहे हैं।' ऐसा कहकर उत्तंक दोनों कुण्डलोंको लेकर वहाँसे चल दिये। मार्गमें उन्होंने अपने पीछे आते हुए एक नग्न क्षपणकको देखा जो बार-बार दिखायी देता और छिप जाता था ।। १२६ ।।

अथोत्तङ्कस्ते कुण्डले संन्यस्य भूमावुदकार्थं प्रचक्रमे । एतस्मिन्नन्तरे स क्षपणकस्त्वरमाण उपसृत्य ते कुण्डले गृहीत्वा प्राद्रवत् ।। १२७ ।।

कुछ दूर जानेके बाद उत्तंकने उन कुण्डलोंको एक जलाशयके किनारे भूमिपर रख दिया और स्वयं जलसम्बन्धी कृत्य (शौच, स्नान, आचमन, संध्यातर्पण आदि) करने लगे। इतनेमें ही वह क्षपणक बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आया और दोनों कुण्डलोंको लेकर चंपत हो गया ।। १२७ ।।

तमुत्तङ्कोऽभिसृत्य कृतोदककार्यः शुचिः प्रयतो नमो देवेभ्यो गुरुभ्यश्च कृत्वा महता जवेन तमन्वयात् ।। १२८ ।।

उत्तंकने स्नान-तर्पण आदि जलसम्बन्धी कार्य पूर्ण करके शुद्ध एवं पवित्र होकर देवताओं तथा गुरुओंको नमस्कार किया और जलसे बाहर निकलकर बड़े वेगसे उस क्षपणकका पीछा किया ।। १२८ ।।

तस्य तक्षको दृढमासन्नः स तं जग्राह गृहीतमात्रः स तद्रूपं विहाय तक्षकस्वरूपं कृत्वा सहसा धरण्यां विवृतं महाबिलं प्रविवेश ।। १२९ ।।

वास्तवमें वह नागराज तक्षक ही था। दौड़नेसे उत्तंकके अत्यन्त समीपवर्ती हो गया। उत्तंकने उसे पकड़ लिया। पकड़में आते ही उसने क्षपणकका रूप त्याग दिया और तक्षक नागका रूप धारण करके वह सहसा प्रकट हुए पृथ्वीके एक बहुत बड़े विवरमें घुस गया ।। १२९ ।।

प्रविश्य च नागलोकं स्वभवनमगच्छत् । अथोत्तङ्कस्तस्याः क्षत्रियाया वचः स्मृत्वा तं तक्षकमन्वगच्छत् ।। १३० ।।

बिलमें प्रवेश करके वह नागलोकमें अपने घर चला गया। तदनन्तर उस क्षत्राणीकी बातका स्मरण करके उत्तंकने नागलोकतक उस तक्षकका पीछा किया ।। १३० ।।

स तद् बिलं दण्डकाष्ठेन चखान न चाशकत् । तं क्लिश्यमानमिन्द्रोऽपश्यत् स वज्रं प्रेषयामास ।। १३१ ।।

पहले तो उन्होंने उस विवरको अपने डंडेकी लकड़ीसे खोदना आरम्भ किया, किंतु इसमें उन्हें सफलता न मिली। उस समय इन्द्रने उन्हें क्लेश उठाते देखा तो उनकी सहायताके लिये अपना वज्र भेज दिया ।। १३१ ।।

गच्छास्य ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुरुष्वेति । अथ वज्रं दण्डकाष्ठमनुप्रविश्य तद् बिलमदारयत् ।। १३२ ।।

उन्होंने वज्रसे कहा—'जाओ, इस ब्राह्मणकी सहायता करो।' तब वज्रने डंडेकी लकड़ीमें प्रवेश करके उस बिलको विदीर्ण कर दिया (इससे पातालमें जानेके लिये मार्ग बन गया) ।। १३२ ।।

तमुत्तङ्कोऽनुविवेश तेनैव बिलेन प्रविश्य च तं नागलोकमपर्यन्तमनेकविधप्रासादहर्म्यवलभीनिर्यूहशतसंकुलमुच्चावचक्रीडाश्चर्यस्थानावकीर्णमपश्यत् ।। १३३ ।। स तत्र नागांस्तानस्तुवदेभिः श्लोकैः—

य ऐरावतराजानः सर्पाः समितिशोभनाः ।
क्षरन्त इव जीमूताः सविद्युत्पवनेरिताः ।। १३४ ।।

तब उत्तंक उस बिलमें घुस गये और उसी मार्गसे भीतर प्रवेश करके उन्होंने नागलोकका दर्शन किया, जिसकी कहीं सीमा नहीं थी। जो अनेक प्रकारके मन्दिरों, महलों, झुके हुए छज्जोंवाले ऊँचे-ऊँचे मण्डपों तथा सैकड़ों दरवाजोंसे सुशोभित और छोटे-बड़े अद्भुत क्रीडास्थानोंसे व्याप्त था। वहाँ उन्होंने इन श्लोकोंद्वारा उन नागोंका स्तवन किया—ऐरावत जिनके राजा हैं, जो समरांगणमें विशेष शोभा पाते हैं, बिजली और वायुसे प्रेरित हो जलकी वर्षा करनेवाले बादलोंकी भाँति बाणोंकी धारावाहिक वृष्टि करते हैं, उन सर्पोंकी जय हो ।। १३३-१३४ ।।

सुरूपा बहुरूपाश्च तथा कल्माषकुण्डलाः ।
आदित्यवन्नाकपृष्ठे रेजुरैरावतोद्भवाः ।। १३५ ।।

ऐरावतकुलमें उत्पन्न नागगणोंमेंसे कितने ही सुन्दर रूपवाले हैं, उनके अनेक रूप हैं, वे विचित्र कुण्डल धारण करते हैं तथा आकाशमें सूर्यदेवकी भाँति स्वर्गलोकमें प्रकाशित होते हैं ।। १३५ ।।

बहूनि नागवेश्मानि गङ्गायास्तीर उत्तरे ।
तत्रस्थानपि संस्तौमि महतः पन्नगानहम् ।। १३६ ।।

गंगाजीके उत्तर तटपर बहुत-से नागोंके घर हैं, वहाँ रहनेवाले बड़े-बड़े सर्पोंकी भी मैं स्तुति करता हूँ ।। १३६ ।।

इच्छेत् कोऽर्कांशुसेनायां चर्तुमैरावतं विना ।
शतान्यशीतिरष्टौ च सहस्राणि च विंशतिः ।। १३७ ।।
सर्पाणां प्रग्रहा यान्ति धृतराष्ट्रो यदैजति ।
ये चैनमुपसर्पन्ति ये च दूरपथं गताः ।। १३८ ।।
अहमैरावतज्येष्ठभ्रातृभ्योऽकरवं नमः ।
यस्य वासः कुरुक्षेत्रे खाण्डवे चाभवत् पुरा ।। १३९ ।।
तं नागराजमस्तौषं कुण्डलार्थाय तक्षकम् ।
तक्षकश्चाश्वसेनश्च नित्यं सहचरावुभौ ।। १४० ।।
कुरुक्षेत्रं च वसतां नदीमिक्षुमतीमनु ।
जघन्यजस्तक्षकस्य श्रुतसेनेति यः श्रुतः ।। १४१ ।।
अवसद् यो महद्युम्नि प्रार्थयन् नागमुख्यताम् ।
करवाणि सदा चाहं नमस्तस्मै महात्मने ।। १४२ ।।

ऐरावत नागके सिवा दूसरा कौन है, जो सूर्यदेवकी प्रचण्ड किरणोंके सैन्यमें विचरनेकी इच्छा कर सकता है? ऐरावतके भाई धृतराष्ट्र जब सूर्यदेवके साथ प्रकाशित होते और चलते हैं, उस समय अट्ठाईस हजार आठ सर्प सूर्यके घोड़ोंकी बागडोर बनकर जाते हैं। जो इनके साथ जाते हैं और जो दूरके मार्गपर जा पहुँचे हैं, ऐरावतके उन सभी छोटे बन्धुओंकों मैंने नमस्कार किया है। जिनका निवास सदा कुरुक्षेत्र और खाण्डववनमें रहा है, उन नागराज तक्षककी मैं कुण्डलोंके लिये स्तुति करता हूँ। तक्षक और अश्वसेन—ये दोनों नाग सदा साथ विचरनेवाले हैं। ये दोनों कुरुक्षेत्रमें इक्षुमती नदीके तटपर रहा करते थे। जो तक्षकके छोटे भाई हैं, श्रुतसेन नामसे जिनकी ख्याति है तथा जो पाताललोकमें नागराजकी पदवी पानेके लिये सूर्यदेवकी उपासना करते हुए कुरुक्षेत्रमें रहे हैं, उन महात्माको मैं सदा नमस्कार करता हूँ ।। १३७—१४२ ।।

एवं स्तुत्वा स विप्रर्षिरुत्तङ्को भुजगोत्तमान् ।
नैव ते कुण्डले लेभे ततश्चिन्तामुपागमत् ।। १४३ ।।

इस प्रकार उन श्रेष्ठ नागोंकी स्तुति करनेपर भी जब ब्रह्मर्षि उत्तंक उन कुण्डलोंको न पा सके तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई ।। १४३ ।।

एवं स्तुवन्नपि नागान् यदा ते कुण्डले नालभत तदापश्यत् स्त्रियौ तन्त्रे अधिरोप्य सुवेमे पटं वयन्त्यौ । तस्मिंस्तन्त्रे कृष्णाः सिताश्च तन्तवश्चक्रं चापश्यद् द्वादशारं षड्भिः कुमारैः परिवर्त्यमानं पुरुषं चापश्यदश्वं च दर्शनीयम् ।। १४४ ।। स तान् सर्वांस्तुष्टाव एभिर्मन्त्रवदेव श्लोकैः ।। १४५ ।।

इस प्रकार नागोंकी स्तुति करते रहनेपर भी जब वे उन दोनों कुण्डलोंको प्राप्त न कर सके, तब उन्हें वहाँ दो स्त्रियाँ दिखायी दीं, जो सुन्दर करघेपर रखकर सूतके तानेमें वस्त्र बुन रही थीं, उस तानेमें उत्तंक मुनिने काले और सफेद दो प्रकारके सूत और बारह अरोंका

एक चक्र भी देखा, जिसे छः कुमार घुमा रहे थे। वहीं एक श्रेष्ठ पुरुष भी दिखायी दिये। जिनके साथ एक दर्शनीय अश्व भी था। उत्तंकने इन मन्त्रतुल्य श्लोकोंद्वारा उनकी स्तुति की — ।। १४४-१४५ ।।

त्रीण्यर्पितान्यत्र शतानि मध्ये
षष्टिश्च नित्यं चरति ध्रुवेऽस्मिन् ।
चक्रे चतुर्विंशतिपर्वयोगे
षड् वै कुमाराः परिवर्तयन्ति ।। १४६ ।।

यह जो अविनाशी कालचक्र निरन्तर चल रहा है, इसके भीतर तीन सौ साठ अरे हैं, चौबीस पर्व हैं और इस चक्रको छः कुमार घुमा रहे हैं ।। १४६ ।।

तन्त्रं चेदं विश्वरूपे युवत्यौ
वयतस्तन्तून् सततं वर्तयन्त्यौ ।
कृष्णान् सितांश्चैव विवर्तयन्त्यौ
भूतान्यजस्रं भुवनानि चैव ।। १४७ ।।

यह सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, ऐसी दो युवतियाँ सदा काले और सफेद तन्तुओंको इधर-उधर चलाती हुई इस वासना-जालरूपी वस्त्रको बुन रही हैं तथा वे ही सम्पूर्ण भूतों और समस्त भुवनोंका निरन्तर संचालन करती हैं ।। १४७ ।।

वज्रस्य भर्ता भुवनस्य गोप्ता
वृत्रस्य हन्ता नमुचेर्निहन्ता ।
कृष्णे वसानो वसने महात्मा
सत्यानृते यो विविनक्ति लोके ।। १४८ ।।
यो वाजिनं गर्भमपां पुराणं
वैश्वानरं वाहनमभ्युपैति ।
नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय
लोकत्रयेशाय पुरन्दराय ।। १४९ ।।

जो महात्मा वज्र धारण करके तीनों लोकोंकी रक्षा करते हैं, जिन्होंने वृत्रासुरका वध तथा नमुचि दानवका संहार किया है, जो काले रंगके दो वस्त्र पहनते और लोकमें सत्य एवं असत्यका विवेचन करते हैं; जलसे प्रकट हुए प्राचीन वैश्वानररूप अश्वको वाहन बनाकर उसपर चढ़ते हैं तथा जो तीनों लोकोंके शासक हैं, उन जगदीश्वर पुरन्दरको मेरा नमस्कार है ।। १४८-१४९ ।।

ततः स एनं पुरुषः प्राह प्रीतोऽस्मि तेऽहमनेन स्तोत्रेण किं ते प्रियं करवाणीति स तमुवाच ।। १५० ।।

तब वह पुरुष उत्तंकसे बोला—‘ब्रह्मन्! मैं तुम्हारे इस स्तोत्रसे बहुत प्रसन्न हूँ। कहो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?’ यह सुनकर उत्तंकने कहा— ।। १५० ।।

नागा मे वशमीयुरिति स चैनं पुरुषः पुनरुवाच एतमश्वमपाने धमस्वेति ।। १५१ ।।

‘सब नाग मेरे अधीन हो जायँ’—उनके ऐसा कहनेपर वह पुरुष पुनः उत्तंकसे बोला—‘इस घोड़ेकी गुदामें फूँक मारो’ ।। १५१ ।।

ततोऽश्वस्यापानमधमत् ततोऽश्वाद्धम्यमानात् सर्वस्रोतोभ्यः पावकार्चिषः सधूमा निष्पेतुः ।। १५२ ।।

यह सुनकर उत्तंकने घोड़ेकी गुदामें फूँक मारी। फूँकनेसे घोड़ेके शरीरके समस्त छिद्रोंसे धूएँसहित आगकी लपटें निकलने लगीं ।। १५२ ।।

ताभिर्नागलोक उपधूपितेऽथ सम्भ्रान्तस्तक्षकोऽग्नेस्तेजोभयाद् विषण्णः कुण्डले गृहीत्वा सहसा भवनान्निष्क्रम्योत्तङ्कमुवाच ।। १५३ ।।

उस समय सारा नागलोक धूएँसे भर गया। फिर तो तक्षक घबरा गया और आगकी ज्वालाके भयसे दु:खी हो दोनों कुण्डल लिये सहसा घरसे निकल आया और उत्तंकसे बोला— ।। १५३ ।।

इमे कुण्डले गृह्णातु भवानिति स ते प्रतिजग्राहोत्तङ्कः प्रतिगृह्य च कुण्डलेऽचिन्तयत् ।। १५४ ।।

‘ब्रह्मन्! आप ये दोनों कुण्डल ग्रहण कीजिये।’ उत्तंकने उन कुण्डलोंको ले लिया। कुण्डल लेकर वे सोचने लगे— ।। १५४ ।।

अद्य तत् पुण्यकमुपाध्यायान्या दूरं चाहमभ्यागतः स कथं सम्भावयेयमिति तत एनं चिन्तयानमेव स पुरुष उवाच ।। १५५ ।।

‘अहो! आज ही गुरुपत्नीका वह पुण्यकव्रत है और मैं बहुत दूर चला आया हूँ। ऐसी दशामें किस प्रकार इन कुण्डलोंद्वारा उनका सत्कार कर सकूँगा?’ तब इस प्रकार चिन्तामें पड़े हुए उत्तंकसे उस पुरुषने कहा— ।। १५५ ।।

उत्तङ्क एनमेवाश्वमधिरोह त्वां क्षणेनैवोपाध्यायकुलं प्रापयिष्यतीति ।। १५६ ।।

‘उत्तंक! इसी घोड़ेपर चढ़ जाओ। यह तुम्हें क्षणभरमें उपाध्यायके घर पहुँचा देगा’ ।। १५६ ।।

स तथेत्युक्त्वा तमश्वमधिरुह्य प्रत्याजगामोपाध्यायकुलमुपाध्यायानी च स्नाता केशानावापयन्त्युपविष्टोत्तङ्को नागच्छतीति शापायास्य मनो दधे ।। १५७ ।।

‘बहुत अच्छा’ कहकर उत्तंक उस घोड़ेपर चढ़े और तुरंत उपाध्यायके घर आ पहुँचे। इधर गुरुपत्नी स्नान करके बैठी हुई अपने केश सँवार रही थीं। ‘उत्तंक अबतक नहीं आया’—यह सोचकर उन्होंने शिष्यको शाप देनेका विचार कर लिया ।। १५७ ।।

अथ तस्मिन्नन्तरे स उत्तङ्कः प्रविश्य उपाध्यायकुलमुपाध्यायानीमभ्यवादयत् ते चास्यै कुण्डले प्रायच्छत् सा चैनं प्रत्युवाच ।। १५८ ।।

इसी बीचमें उत्तंकने उपाध्यायके घरमें प्रवेश करके गुरुपत्नीको प्रणाम किया और उन्हें वे दोनों कुण्डल दे दिये। तब गुरुपत्नीने उत्तंकसे कहा— ।। १५८ ।।

उत्तङ्क देशे कालेऽभ्यागतः स्वागतं ते वत्स त्वमनागसि मया न शप्तः श्रेयस्तवोपस्थितं सिद्धिमाप्नुहीति ।। १५९ ।।

'उत्तंक! तू ठीक समयपर उचित स्थानमें आ पहुँचा। वत्स! तेरा स्वागत है। अच्छा हुआ जो बिना अपराधके ही तुझे शाप नहीं दिया। तेरा कल्याण उपस्थित है, तुझे सिद्धि प्राप्त हो' ।। १५९ ।।

अथोत्तङ्क उपाध्यायमभ्यवादयत् । तमुपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क स्वागतं ते किं चिरं कृतमिति ।। १६० ।।

तदनन्तर उत्तंकने उपाध्यायके चरणोंमें प्रणाम किया। उपाध्यायने उससे कहा—'वत्स उत्तंक! तुम्हारा स्वागत है। लौटनेमें देर क्यों लगायी?' ।। १६० ।।

तमुत्तङ्क उपाध्यायं प्रत्युवाच भोस्तक्षकेण मे नागराजेन विघ्नः कृतोऽस्मिन् कर्मणि तेनास्मि नागलोकं गतः ।। १६१ ।।

तब उत्तंकने उपाध्यायको उत्तर दिया—'भगवन्! नागराज तक्षकने इस कार्यमें विघ्न डाल दिया था। इसलिये मैं नागलोकमें चला गया था ।। १६१ ।।

तत्र च मया दृष्टे स्त्रियौ तन्त्रेऽधिरोप्य पटं वयन्त्यौ तस्मिंश्च कृष्णाः सिताश्च तन्तवः किं तत् ।। १६२ ।।

'वहीं मैंने दो स्त्रियाँ देखीं, जो करघेपर सूत रखकर कपड़ा बुन रही थीं। उस करघेमें काले और सफेद रंगके सूत लगे थे। वह सब क्या था? ।। १६२ ।।

तत्र च मया चक्रं दृष्टं द्वादशारं षट् चैनं कुमाराः परिवर्तयन्ति तदपि किम् । पुरुषश्चापि मया दृष्टः स चापि कः । अश्वश्चातिप्रमाणो दृष्टः स चापि कः ।। १६३ ।।

'वहीं मैंने एक चक्र भी देखा, जिसमें बारह अरे थे। छः कुमार उस चक्रको घुमा रहे थे। वह भी क्या था? वहाँ एक पुरुष भी मेरे देखनेमें आया था। वह कौन था? तथा एक बहुत बड़ा अश्व भी दिखायी दिया था। वह कौन था? ।। १६३ ।।

पथि गच्छता च मया ऋषभो दृष्टस्तं च पुरुषोऽधिरूढस्तेनास्मि सोपचारमुक्त उत्तङ्कास्य ऋषभस्य पुरीषं भक्षय उपाध्यायेनापि ते भक्षितमिति ।। १६४ ।।

इधरसे जाते समय मार्गमें मैंने एक बैल देखा, उसपर एक पुरुष सवार था। उस पुरुषने मुझसे आग्रहपूर्वक कहा—'उत्तंक! इस बैलका गोबर खा लो। तुम्हारे उपाध्यायने भी पहले इसे खाया है' ।। १६४ ।।

ततस्तस्य वचनान्मया तदृषभस्य पुरीषमुपयुक्तं स चापि कः । तदेतद् भवतोपदिष्टमिच्छेयं श्रोतुं किं तदिति । स तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच ।। १६५ ।।

'तब उस पुरुषके कहनेसे मैंने उस बैलका गोबर खा लिया। अतः वह बैल और पुरुष कौन थे? मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ, वह सब क्या था?' उत्तंकके इस प्रकार

पूछनेपर उपाध्यायने उत्तर दिया— ।। १६५ ।।

ये ते स्त्रियौ धाता विधाता च ये च ते कृष्णाः सितास्तन्तवस्ते रात्र्यहनी । यदपि तच्चक्रं द्वादशारं षड् वै कुमाराः परिवर्तयन्ति तेऽपि षड् ऋतवः द्वादशारा द्वादश मासाः संवत्सरश्चक्रम् ।। १६६ ।।

'वे जो दोनों स्त्रियाँ थीं, वे धाता और विधाता हैं। जो काले और सफेद तन्तु थे, वे रात और दिन हैं। बारह अरोंसे युक्त चक्रको जो छः कुमार घुमा रहे थे, वे छः ऋतुएँ हैं। बारह महीने ही बारह अरे हैं। संवत्सर ही वह चक्र है ।। १६६ ।।

यः पुरुषः स पर्जन्यो योऽश्वः सोऽग्निर्य ऋषभस्त्वया पथि गच्छता दृष्टः स ऐरावतो नागराट् ।। १६७ ।।

'जो पुरुष था, वह पर्जन्य (इन्द्र) है। जो अश्व था वह अग्नि है। इधरसे जाते समय मार्गमें तुमने जिस बैलको देखा था, वह नागराज ऐरावत हैं ।। १६७ ।।

यश्चैनमधिरूढः पुरुषः स चेन्द्रो यदपि ते भक्षितं तस्य ऋषभस्य पुरीषं तदमृतं तेन खल्वसि तस्मिन् नागभवने न व्यापन्नस्त्वम् ।। १६८ ।।

'और जो उसपर चढ़ा हुआ पुरुष था, वह इन्द्र है। तुमने बैलके जिस गोबरको खाया है, वह अमृत था। इसीलिये तुम नागलोकमें जाकर भी मरे नहीं ।। १६८ ।।

स हि भगवानिन्द्रो मम सखा त्वदनुक्रोशादि-ममनुग्रहं कृतवान् । तस्मात् कुण्डले गृहीत्वा पुनरागतोऽसि ।। १६९ ।।

'वे भगवान् इन्द्र मेरे सखा हैं। तुमपर कृपा करके ही उन्होंने यह अनुग्रह किया है। यही कारण है कि तुम दोनों कुण्डल लेकर फिर यहाँ लौट आये हो ।। १६९ ।।

तत् सौम्य गम्यतामनुजाने भवन्तं श्रेयोऽवाप्स्यसीति । स उपाध्यायेनानुज्ञातो भगवानुत्तङ्कः क्रुद्धस्तक्षकं प्रतिचिकीर्षमाणो हास्तिनपुरं प्रतस्थे ।। १७० ।।

'अतः सौम्य! अब तुम जाओ, मैं तुम्हें जानेकी आज्ञा देता हूँ। तुम कल्याणके भागी होओगे।' उपाध्यायकी आज्ञा पाकर उत्तंक तक्षकके प्रति कुपित हो उससे बदला लेनेकी इच्छासे हस्तिनापुरकी ओर चल दिये ।। १७० ।।

स हास्तिनपुरं प्राप्य न चिराद् विप्रसत्तमः ।
समागच्छत राजानमुत्तङ्को जनमेजयम् ।। १७१ ।।

हस्तिनापुरमें शीघ्र पहुँचकर विप्रवर उत्तंक राजा जनमेजयसे मिले ।। १७१ ।।

पुरा तक्षशिलासंस्थं निवृत्तमपराजितम् ।
सम्यग्विजयिनं दृष्ट्वा समन्तान्मन्त्रिभिर्वृतम् ।। १७२ ।।
तस्मै जयाशिषः पूर्वं यथान्यायं प्रयुज्य सः ।
उवाचैनं वचः काले शब्दसम्पन्नया गिरा ।। १७३ ।।

जनमेजय पहले तक्षशिला गये थे। वे वहाँ जाकर पूर्ण विजय पा चुके थे। उत्तंकने मन्त्रियोंसे घिरे हुए उत्तम विजयसे सम्पन्न राजा जनमेजयको देखकर पहले उन्हें न्यायपूर्वक

जयसम्बन्धी आशीर्वाद दिया। तत्पश्चात् उचित समयपर उपयुक्त शब्दोंसे विभूषित वाणीद्वारा उनसे इस प्रकार कहा— ।। १७२-१७३ ।।

उत्तङ्क उवाच

अन्यस्मिन् करणीये तु कार्ये पार्थिवसत्तम ।
बाल्यादिवान्यदेव त्वं कुरुषे नृपसत्तम ।। १७४ ।।

उत्तंक बोले—नृपश्रेष्ठ! जहाँ तुम्हारे लिये करनेयोग्य दूसरा कार्य उपस्थित हो, वहाँ अज्ञानवश तुम कोई और ही कार्य कर रहे हो ।। १७४ ।।

सौतिरुवाच

एवमुक्तस्तु विप्रेण स राजा जनमेजयः ।
अर्चयित्वा यथान्यायं प्रत्युवाच द्विजोत्तमम् ।। १७५ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—विप्रवर उत्तंकके ऐसा कहनेपर राजा जनमेजयने उन द्विजश्रेष्ठका विधिपूर्वक पूजन किया और इस प्रकार कहा ।। १७५ ।।

जनमेजय उवाच

आसां प्रजानां परिपालनेन
स्वं क्षत्रधर्मं परिपालयामि ।
प्रब्रूहि मे किं करणीयमद्य
येनासि कार्येण समागतस्त्वम् ।। १७६ ।।

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! मैं इन प्रजाओंकी रक्षाद्वारा अपने क्षत्रियधर्मका पालन करता हूँ। बताइये, आज मेरे करनेयोग्य कौन-सा कार्य उपस्थित है? जिसके कारण आप यहाँ पधारे हैं ।। १७६ ।।

सौतिरुवाच

स एवमुक्तस्तु नृपोत्तमेन
द्विजोत्तमः पुण्यकृतां वरिष्ठः ।
उवाच राजानमदीनसत्त्वं
स्वमेव कार्यं नृपते कुरुष्व ।। १७७ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—राजाओंमें श्रेष्ठ जनमेजयके इस प्रकार कहनेपर पुण्यात्माओंमें अग्रगण्य विप्रवर उत्तंकने उन उदार हृदयवाले नरेशसे कहा—‘महाराज! वह कार्य मेरा नहीं, आपका ही है, आप उसे अवश्य कीजिये’ ।। १७७ ।।

उत्तङ्क उवाच

तक्षकेण महीन्द्रेन्द्र येन ते हिंसितः पिता ।

तस्मै प्रतिकुरुष्व त्वं पन्नगाय दुरात्मने ।। १७८ ।।

इतना कहकर उत्तंक फिर बोले—भूपालशिरोमणे! नागराज तक्षकने आपके पिताकी हत्या की है; अतः आप उस दुरात्मा सर्पसे इसका बदला लीजिये ।। १७८ ।।

कार्यकालं हि मन्येऽहं विधिदृष्टस्य कर्मणः ।
तद्‌गच्छापचितिं राजन् पितुस्तस्य महात्मनः ।। १७९ ।।

मैं समझता हूँ, शत्रुनाशन-कार्यकी सिद्धिके लिये जो सर्पयज्ञरूप कर्म शास्त्रमें देखा गया है, उसके अनुष्ठानका यह उचित अवसर प्राप्त हुआ है। अतः राजन्! अपने महात्मा पिताकी मृत्युका बदला आप अवश्य लें ।। १७९ ।।

तेन ह्यनपराधी स दष्टो दुष्टान्तरात्मना ।
पञ्चत्वमगमद् राजा वज्राहत इव द्रुमः ।। १८० ।।

यद्यपि आपके पिता महाराज परीक्षित्‌ने कोई अपराध नहीं किया था तो भी उस दुष्टात्मा सर्पने उन्हें डँस लिया और वे वज्रके मारे हुए वृक्षकी भाँति तुरंत ही गिरकर कालके गालमें चले गये ।। १८० ।।

बलदर्पसमुत्सिक्तस्तक्षकः पन्नगाधमः ।
अकार्यं कृतवान् पापो योऽदशत् पितरं तव ।। १८१ ।।

सर्पोंमें अधम तक्षक अपने बलके घमण्डसे उन्मत्त रहता है। उस पापीने यह बड़ा भारी अनुचित कर्म किया जो आपके पिताको डँस लिया ।। १८१ ।।

राजर्षिवंशगोप्तारममरप्रतिमं नृपम् ।
यियासुं काश्यपं चैव न्यवर्तयत पापकृत् ।। १८२ ।।

वे महाराज परीक्षित् राजर्षियोंके वंशकी रक्षा करनेवाले और देवताओंके समान तेजस्वी थे, काश्यप नामक एक ब्राह्मण आपके पिताकी रक्षा करनेके लिये उनके पास आना चाहते थे, किंतु उस पापाचारीने उन्हें लौटा दिया ।। १८२ ।।

होतुमर्हसि तं पापं ज्वलिते हव्यवाहने ।
सर्पसत्रे महाराज त्वरितं तद् विधीयताम् ।। १८३ ।।

अतः महाराज! आप सर्पयज्ञका अनुष्ठान करके उसकी प्रज्वलित अग्निमें उस पापीको होम दीजिये; और जल्दी-से-जल्दी यह कार्य कर डालिये ।। १८३ ।।

एवं पितुश्चापचितिं कृतवांस्त्वं भविष्यसि ।
मम प्रियं च सुमहत् कृतं राजन् भविष्यति ।। १८४ ।।
कर्मणः पृथिवीपाल मम येन दुरात्मना ।
विघ्नः कृतो महाराज गुर्वर्थं चरतोऽनघ ।। १८५ ।।

ऐसा करके आप अपने पिताकी मृत्युका बदला चुका सकेंगे एवं मेरा भी अत्यन्त प्रिय कार्य सम्पन्न हो जायगा। समूची पृथ्वीका पालन करनेवाले नरेश! तक्षक बड़ा दुरात्मा है।

पापरहित महाराज! मैं गुरुजीके लिये एक कार्य करने जा रहा था, जिसमें उस दुष्टने बहुत बड़ा विघ्न डाल दिया था ।। १८४-१८५ ।।

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा तु नृपतिस्तक्षकाय चुकोप ह ।
उत्तङ्कवाक्यहविषा दीप्तोऽग्निर्हविषा यथा ।। १८६ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महर्षियो! यह समाचार सुनकर राजा जनमेजय तक्षकपर कुपित हो उठे। उत्तंकके वाक्यने उनकी क्रोधाग्निमें घीका काम किया। जैसे घीकी आहुति पड़नेसे अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार वे क्रोधसे अत्यन्त कुपित हो गये ।। १८६ ।।

अपृच्छत् स तदा राजा मन्त्रिणस्तान् सुदुःखितः ।
उत्तङ्कस्यैव सांनिध्ये पितुः स्वर्गगतिं प्रति ।। १८७ ।।

उस समय राजा जनमेजयने अत्यन्त दुःखी होकर उत्तंकके निकट ही मन्त्रियोंसे पिताके स्वर्गगमनका समाचार पूछा ।। १८७ ।।

तदैव हि स राजेन्द्रो दुःखशोकाप्लुतोऽभवत् ।
यदैव वृत्तं पितरमुत्तङ्कादशृणोत् तदा ।। १८८ ।।

उत्तंकके मुखसे जिस समय उन्होंने पिताके मरनेकी बात सुनी, उसी समय वे महाराज दुःख और शोकमें डूब गये ।। १८८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौष्यपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौष्यपर्वमें (पौष्याख्यानविषयक) तीसरा अध्याय पूरा हुआ ।। ३ ।।

(पौलोमपर्व)

चतुर्थोऽध्यायः

कथा-प्रवेश

लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सौतिः पौराणिको नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे ऋषीनभ्यागतानुपतस्थे ।। १ ।।

नैमिषारण्यमें कुलपति शौनकके बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाले सत्रमें उपस्थित महर्षियोंके समीप एक दिन लोमहर्षणपुत्र सूतनन्दन उग्रश्रवा आये। वे पुराणोंकी कथा कहनेमें कुशल थे ।। १ ।।

पौराणिकः पुराणे कृतश्रमः स कृताञ्जलिस्तानुवाच । किं भवन्तः श्रोतुमिच्छन्ति किमहं ब्रवाणीति ।। २ ।।

वे पुराणोंके ज्ञाता थे। उन्होंने पुराणविद्यामें बहुत परिश्रम किया था। वे नैमिषारण्यवासी महर्षियोंसे हाथ जोड़कर बोले—'पूज्यपाद महर्षिगण! आपलोग क्या सुनना चाहते हैं? मैं किस प्रसंगपर बोलूँ?' ।। २ ।।

तमृषय ऊचुः परमं लौमहर्षणे वक्ष्यामस्त्वां नः प्रतिवक्ष्यसि वचः शुश्रूषतां कथायोगं नः कथायोगे ।। ३ ।।

तब ऋषियोंने उनसे कहा—लोमहर्षणकुमार! हम आपको उत्तम प्रसंग बतलायेंगे और कथा-प्रसंग प्रारम्भ होनेपर सुननेकी इच्छा रखनेवाले हमलोगोंके समक्ष आप बहुत-सी कथाएँ कहेंगे ।। ३ ।।

तत्र भगवान् कुलपतिस्तु शौनकोऽग्निशरणमध्यास्ते ।। ४ ।।

किंतु पूज्यपाद कुलपति भगवान् शौनक अभी अग्निकी उपासनामें संलग्न हैं ।। ४ ।।

योऽसौ दिव्याः कथा वेद देवतासुरसंश्रिताः ।
मनुष्योरगगन्धर्वकथा वेद च सर्वशः ।। ५ ।।

वे देवताओं और असुरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी दिव्य कथाएँ जानते हैं। मनुष्यों, नागों तथा गन्धर्वोंकी कथाओंसे भी वे सर्वथा परिचित हैं ।। ५ ।।

स चाप्यस्मिन् मखे सौते विद्वान् कुलपतिर्द्विजः ।
दक्षो धृतव्रतो धीमाञ्छास्त्रे चारण्यके गुरुः ।। ६ ।।

सूतनन्दन! वे विद्वान् कुलपति विप्रवर शौनकजी भी इस यज्ञमें उपस्थित हैं। वे चतुर, उत्तम व्रतधारी तथा बुद्धिमान् हैं। शास्त्र (श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण) तथा आरण्यक

(बृहदारण्यक आदि)-के तो वे आचार्य ही हैं ।। ६ ।।

सत्यवादी शमपरस्तपस्वी नियतव्रतः ।
सर्वेषामेव नो मान्यः स तावत् प्रतिपाल्यताम् ।। ७ ।।

उग्रश्रवाजीके द्वारा महाभारतकी कथा

वे सदा सत्य बोलनेवाले, मन और इन्द्रियोंके संयममें तत्पर, तपस्वी और नियमपूर्वक व्रतको निबाहनेवाले हैं। वे हम सभी लोगोंके लिये सम्माननीय हैं; अतः जबतक उनका आना न हो, तबतक प्रतीक्षा कीजिये ।। ७ ।।

तस्मिन्नध्यासति गुरावासनं परमार्चितम् ।
ततो वक्ष्यसि यत्त्वां स प्रक्ष्यति द्विजसत्तमः ।। ८ ।।

गुरुदेव शौनक जब यहाँ उत्तम आसनपर विराजमान हो जायँ, उस समय वे द्विजश्रेष्ठ आपसे जो कुछ पूछें, उसी प्रसंगको लेकर आप बोलियेगा ।। ८ ।।

सौतिरुवाच

एवमस्तु गुरौ तस्मिन्नुपविष्टे महात्मनि ।
तेन पृष्टः कथाः पुण्या वक्ष्यामि विविधाश्रयाः ।। ९ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—एवमस्तु (ऐसा ही होगा), गुरुदेव महात्मा शौनकजीके बैठ जानेपर उन्हींके पूछनेके अनुसार मैं नाना प्रकारकी पुण्यदायिनी कथाएँ कहूँगा ।। ९ ।।

सोऽथ विप्रर्षभः सर्वं कृत्वा कार्यं यथाविधि ।
देवान् वाग्भिः पितॄनद्भिस्तर्पयित्वाऽऽजगाम ह ।। १० ।।
यत्र ब्रह्मर्षयः सिद्धाः सुखासीना धृतव्रताः ।
यज्ञायतनमाश्रित्य सूतपुत्रपुरःसराः ।। ११ ।।

तदनन्तर विप्रशिरोमणि शौनकजी क्रमशः सब कार्योंका विधिपूर्वक सम्पादन करके वैदिक स्तुतियोंद्वारा देवताओंको और जलकी अंजलिद्वारा पितरोंको तृप्त करनेके पश्चात् उस स्थानपर आये, जहाँ उत्तम व्रतधारी सिद्ध-ब्रह्मर्षिगण यज्ञमण्डपमें सूतजीको आगे विराजमान करके सुखपूर्वक बैठे थे ।। १०-११ ।।

ऋत्विक्ष्वथ सदस्येषु स वै गृहपतिस्तदा ।
उपविष्टेषूपविष्टः शौनकोऽथाब्रवीदिदम् ।। १२ ।।

ऋत्विजों और सदस्योंके बैठ जानेपर कुलपति शौनकजी भी वहाँ बैठे और इस प्रकार बोले ।। १२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि कथाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।। ४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें कथा-प्रवेश नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ।। ४ ।।

पञ्चमोऽध्यायः

भृगुके आश्रमपर पुलोमा दानवका आगमन और उसकी अग्निदेवके साथ बातचीत

शौनक उवाच

पुराणमखिलं तात पिता तेऽधीतवान् पुरा ।
कच्चित् त्वमपि तत् सर्वमधीषे लौमहर्षणे ।। १ ।।

शौनकजीने कहा—तात लोमहर्षणकुमार! पूर्वकालमें आपके पिताने सब पुराणोंका अध्ययन किया था। क्या आपने भी उन सबका अध्ययन किया है? ।। १ ।।

पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम् ।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव ।। २ ।।

पुराणमें दिव्य कथाएँ वर्णित हैं। परम बुद्धिमान् राजर्षियों और ब्रह्मर्षियोंके आदिवंश भी बताये गये हैं। जिनको पहले हमने आपके पिताके मुखसे सुना है ।। २ ।।

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम् ।
कथयस्व कथामेतां कल्याः स्म श्रवणे तव ।। ३ ।।

उनमेंसे प्रथम तो मैं भृगुवंशका ही वर्णन सुनना चाहता हूँ। अतः आप इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा कहिये। हम सब लोग आपकी कथा सुननेके लिये सर्वथा उद्यत हैं ।। ३ ।।

सौतिरुवाच

यदधीतं पुरा सम्यग् द्विजश्रेष्ठैर्महात्मभिः ।
वैशम्पायनविप्राग्र्यैस्तैश्चापि कथितं यथा ।। ४ ।।

सूतपुत्र उग्रश्रवाने कहा—भृगुनन्दन! वैशम्पायन आदि श्रेष्ठ ब्राह्मणों और महात्मा द्विजवरोंने पूर्वकालमें जो पुराण भलीभाँति पढ़ा था और उन विद्वानोंने जिस प्रकार पुराणका वर्णन किया है, वह सब मुझे ज्ञात है ।। ४ ।।

यदधीतं च पित्रा मे सम्यक् चैव ततो मया ।
तावच्छृणुष्व यो देवैः सेन्द्रैः सर्षिमरुद्गणैः ।। ५ ।।
पूजितः प्रवरो वंशो भार्गवो भृगुनन्दन ।
इमं वंशमहं पूर्वं भार्गवं ते महामुने ।। ६ ।।
निगदामि यथा युक्तं पुराणाश्रयसंयुतम् ।
भृगुर्महर्षिर्भगवान् ब्रह्मणा वै स्वयम्भुवा ।। ७ ।।
वरुणस्य क्रतौ जातः पावकादिति नः श्रुतम् ।
भृगोः सुदयितः पुत्रश्च्यवनो नाम भार्गवः ।। ८ ।।

मेरे पिताने जिस पुराणविद्याका भलीभाँति अध्ययन किया था, वह सब मैंने उन्हींके मुखसे पढ़ी और सुनी है। भृगुनन्दन! आप पहले उस सर्वश्रेष्ठ भृगुवंशका वर्णन सुनिये, जो देवता, इन्द्र, ऋषि और मरुद्‌गणोंसे पूजित है। महामुने! आपके इस अत्यन्त दिव्य भार्गववंशका परिचय देता हूँ। यह परिचय अद्‌भुत एवं युक्तियुक्त तो होगा ही, पुराणोंके आश्रयसे भी संयुक्त होगा। हमने सुना है कि स्वयम्भू ब्रह्माजीने वरुणके यज्ञमें महर्षि भगवान् भृगुको अग्निसे उत्पन्न किया था। भृगुके अत्यन्त प्रिय पुत्र च्यवन हुए, जिन्हें भार्गव भी कहते हैं ।। ५—८ ।।

च्यवनस्य च दायादः प्रमतिर्नाम धार्मिकः ।
प्रमतेरप्यभूत् पुत्रो घृताच्यां रुरुरित्युत ।। ९ ।।

च्यवनके पुत्रका नाम प्रमति था, जो बड़े धर्मात्मा हुए। प्रमतिके घृताची नामक अप्सराके गर्भसे रुरु नामक पुत्रका जन्म हुआ ।। ९ ।।

रुरोरपि सुतो जज्ञे शुनको वेदपारगः ।
प्रमद्वरायां धर्मात्मा तव पूर्वपितामहः ।। १० ।।

रुरुके पुत्र शुनक थे, जिनका जन्म प्रमद्वराके गर्भसे हुआ था। शुनक वेदोंके पारंगत विद्वान् और धर्मात्मा थे। वे आपके पूर्व पितामह थे ।। १० ।।

तपस्वी च यशस्वी च श्रुतवान् ब्रह्मवित्तमः ।
धार्मिकः सत्यवादी च नियतो नियताशनः ।। ११ ।।

वे तपस्वी, यशस्वी, शास्त्रज्ञ तथा ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे। धर्मात्मा, सत्यवादी और मन-इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले थे। उनका आहार-विहार नियमित एवं परिमित था ।। ११ ।।

शौनक उवाच

सूतपुत्र यथा तस्य भार्गवस्य महात्मनः ।
च्यवनत्वं परिख्यातं तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।। १२ ।।

शौनकजी बोले—सूतपुत्र! मैं पूछता हूँ कि महात्मा भार्गवका नाम च्यवन कैसे प्रसिद्ध हुआ? यह मुझे बताइये ।। १२ ।।

सौतिरुवाच

भृगोः सुदयिता भार्या पुलोमेत्यभिविश्रुता ।
तस्यां समभवद् गर्भो भृगुवीर्यसमुद्भवः ।। १३ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—महामुने! भृगुकी पत्नीका नाम पुलोमा था। वह अपने पतिको बहुत ही प्यारी थी। उसके उदरमें भृगुजीके वीर्यसे उत्पन्न गर्भ पल रहा था ।। १३ ।।

तस्मिन् गर्भेऽथ सम्भूते पुलोमायां भृगूद्वह ।
समये समशीलिन्यां धर्मपत्न्यां यशस्विनः ।। १४ ।।
अभिषेकाय निष्क्रान्ते भृगौ धर्मभृतां वरे ।

आश्रमं तस्य रक्षोऽथ पुलोमाभ्याजगाम ह ।। १५ ।।

भृगुवंशशिरोमणे! पुलोमा यशस्वी भृगुकी अनुकूल शील-स्वभाववाली धर्मपत्नी थी। उसकी कुक्षिमें उस गर्भके प्रकट होनेपर एक समय धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भृगुजी स्नान करनेके लिये आश्रमसे बाहर निकले। उस समय एक राक्षस, जिसका नाम भी पुलोमा ही था, उनके आश्रमपर आया ।। १४-१५ ।।

तं प्रविश्याश्रमं दृष्ट्वा भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ।
हृच्छयेन समाविष्टो विचेताः समपद्यत ।। १६ ।।

आश्रममें प्रवेश करते ही उसकी दृष्टि महर्षि भृगुकी पतिव्रता पत्नीपर पड़ी और वह कामदेवके वशीभूत हो अपनी सुध-बुध खो बैठा ।। १६ ।।

अभ्यागतं तु तद्रक्षः पुलोमा चारुदर्शना ।
न्यमन्त्रयत वन्येन फलमूलादिना तदा ।। १७ ।।

सुन्दरी पुलोमाने उस राक्षसको अभ्यागत अतिथि मानकर वनके फल-मूल आदिसे उसका सत्कार करनेके लिये उसे न्योता दिया ।। १७ ।।

तां तु रक्षस्तदा ब्रह्मन् हृच्छयेनाभिपीडितम् ।
दृष्ट्वा हृष्टमभूद् राजन् जिहीर्षुस्तामनिन्दिताम् ।। १८ ।।

ब्रह्मन्! वह राक्षस कामसे पीड़ित हो रहा था। उस समय उसने वहाँ पुलोमाको अकेली देख बड़े हर्षका अनुभव किया, क्योंकि वह सती-साध्वी पुलोमाको हर ले जाना चाहता था ।। १८ ।।

जातमित्यब्रवीत् कार्यं जिहीर्षुर्मुदितः शुभाम् ।
सा हि पूर्वं वृता तेन पुलोम्ना तु शुचिस्मिता ।। १९ ।।

मनमें उस शुभलक्षणा सतीके अपहरणकी इच्छा रखकर वह प्रसन्नतासे फूल उठा और मन-ही-मन बोला, 'मेरा तो काम बन गया।' पवित्र मुसकानवाली पुलोमाको पहले उस पुलोमा नामक राक्षसने वरण* किया था ।। १९ ।।

तां तु प्रादात् पिता पश्चाद् भृगवे शास्त्रवत्तदा ।
तस्य तत् किल्बिषं नित्यं हृदि वर्तति भार्गव ।। २० ।।

किंतु पीछे उसके पिताने शास्त्रविधिके अनुसार महर्षि भृगुके साथ उसका विवाह कर दिया। भृगुनन्दन! उसके पिताका वह अपराध राक्षसके हृदयमें सदा काँटे-सा कसकता रहता था ।। २० ।।

इदमन्तरमित्येवं हर्तुं चक्रे मनस्तदा ।
अथाग्निशरणेऽपश्यज्ज्वलन्तं जातवेदसम् ।। २१ ।।

यही अच्छा मौका है, ऐसा विचारकर उसने उस समय पुलोमाको हर ले जानेका पक्का निश्चय कर लिया। इतनेहीमें राक्षसने देखा, अग्निहोत्र-गृहमें अग्निदेव प्रज्वलित हो रहे हैं ।। २१ ।।

तमपृच्छत् ततो रक्षः पावकं ज्वलितं तदा ।
शंस मे कस्य भार्येयमग्ने पृच्छे ऋतेन वै ।। २२ ।।

तब पुलोमाने उस समय उस प्रज्वलित पावकसे पूछा—'अग्निदेव! मैं सत्यकी शपथ देकर पूछता हूँ, बताओ, यह किसकी पत्नी है?' ।। २२ ।।

मुखं त्वमसि देवानां वद पावक पृच्छते ।
मया हीयं वृता पूर्वं भार्यार्थे वरवर्णिनी ।। २३ ।।

'पावक! तुम देवताओंके मुख हो। अतः मेरे पूछनेपर ठीक-ठीक बताओ। पहले तो मैंने ही इस सुन्दरीको अपनी पत्नी बनानेके लिये वरण किया था ।। २३ ।।

पश्चादिमां पिता प्रादाद् भृगवेऽनृतकारकः ।
सेयं यदि वरारोहा भृगोर्भार्या रहोगता ।। २४ ।।
तथा सत्यं समाख्याहि जिहीर्षाम्याश्रमादिमाम् ।
स मन्युस्तत्र हृदयं प्रदहन्निव तिष्ठति ।
मत्पूर्वभार्यां यदिमां भृगुराप सुमध्यमाम् ।। २५ ।।

'किंतु बादमें असत्य व्यवहार करनेवाले इसके पिताने भृगुके साथ इसका विवाह कर दिया। यदि यह एकान्तमें मिली हुई सुन्दरी भृगुकी भार्या है तो वैसी बात सच-सच बता दो; क्योंकि मैं इसे इस आश्रमसे हर ले जाना चाहता हूँ। वह क्रोध आज मेरे हृदयको दग्ध-सा कर रहा है; इस सुमध्यमाको, जो पहले मेरी भार्या थी, भृगुने अन्यायपूर्वक हड़प लिया है' ।। २४-२५ ।।

सौतिरुवाच

एवं रक्षस्तमामन्त्र्य ज्वलितं जातवेदसम् ।
शङ्कमानं भृगोर्भार्यां पुनः पुनरपृच्छत ।। २६ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इस प्रकार वह राक्षस भृगुकी पत्नीके प्रति, यह मेरी है या भृगुकी—ऐसा संशय रखते हुए, प्रज्वलित अग्निको सम्बोधित करके बार-बार पूछने लगा— ।। २६ ।।

त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि नित्यदा ।
साक्षिवत् पुण्यपापेषु सत्यं ब्रूहि कवे वचः ।। २७ ।।

'अग्निदेव! तुम सदा सब प्राणियोंके भीतर निवास करते हो। सर्वज्ञ अग्ने! तुम पुण्य और पापके विषयमें साक्षीकी भाँति स्थित रहते हो; अतः सच्ची बात बताओ ।। २७ ।।

मत्पूर्वापहृता भार्या भृगुणानृतकारिणा ।
सेयं यदि तथा मे त्वं सत्यमाख्यातुमर्हसि ।। २८ ।।

'असत्य बर्ताव करनेवाले भृगुने, जो पहले मेरी ही थी, उस भार्याका अपहरण किया है। यदि यह वही है, तो वैसी बात ठीक-ठीक बता दो ।। २८ ।।

श्रुत्वा त्वत्तो भृगोर्भार्यां हरिष्याम्याश्रमादिमाम् ।
जातवेदः पश्यतस्ते वद सत्यां गिरं मम ।। २९ ।।

'सर्वज्ञ अग्निदेव! तुम्हारे मुखसे सब बातें सुनकर मैं भृगुकी इस भार्याको तुम्हारे देखते-देखते इस आश्रमसे हर ले जाऊँगा; इसलिये मुझसे सच्ची बात कहो' ।। २९ ।।

सौतिरुवाच

तस्यैतद् वचनं श्रुत्वा सप्तार्चिर्दुःखितोऽभवत् ।
भीतोऽनृताच्च शापाच्च भृगोरित्यब्रवीच्छनैः ।। ३० ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—राक्षसकी यह बात सुनकर ज्वालामयी सात जिह्वाओंवाले अग्निदेव बहुत दुःखी हुए। एक ओर वे झूठसे डरते थे तो दूसरी ओर भृगुके शापसे; अतः धीरेसे इस प्रकार बोले ।। ३० ।।

अग्निरुवाच

त्वया वृता पुलोमेयं पूर्वं दानवनन्दन ।
किन्त्वियं विधिना पूर्वं मन्त्रवन्न वृता त्वया ।। ३१ ।।

अग्निदेव बोले—दानवनन्दन! इसमें संदेह नहीं कि पहले तुम्हींने इस पुलोमाका वरण किया था, किंतु विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारण करते हुए इसके साथ तुमने विवाह नहीं किया था ।। ३१ ।।

पित्रा तु भृगवे दत्ता पुलोमेयं यशस्विनी ।
ददाति न पिता तुभ्यं वरलोभान्महायशाः ।। ३२ ।।

पिताने तो यह यशस्विनी पुलोमा भृगुको ही दी है। तुम्हारे वरण करनेपर भी इसके महायशस्वी पिता तुम्हारे हाथमें इसे इसलिये नहीं देते थे कि उनके मनमें तुमसे श्रेष्ठ वर मिल जानेका लोभ था ।। ३२ ।।

अथेमां वेददृष्टेन कर्मणा विधिपूर्वकम् ।
भार्यामृषिर्भृगुः प्राप मां पुरस्कृत्य दानव ।। ३३ ।।

दानव! तदनन्तर महर्षि भृगुने मुझे साक्षी बनाकर वेदोक्त क्रियाद्वारा विधिपूर्वक इसका पाणिग्रहण किया था ।। ३३ ।।

सेयमित्यवगच्छामि नानृतं वक्तुमुत्सहे ।
नानृतं हि सदा लोके पूज्यते दानवोत्तम ।। ३४ ।।

यह वही है, ऐसा मैं जानता हूँ। इस विषयमें मैं झूठ नहीं बोल सकता। दानवश्रेष्ठ! लोकमें असत्यकी कभी पूजा नहीं होती है ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि पुलोमाग्निसंवादे पञ्चमोऽध्यायः ।। ५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें पुलोमा-अग्निसंवादविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५ ।।

---

* बाल्यावस्थामें पुलोमा रो रही थी। उसके रोदनकी निवृत्तिके लिये पिताने डराते हुए कहा—‘रे राक्षस! तू इसे पकड़ ले।’ घरमें पुलोमा राक्षस पहलेसे ही छिपा हुआ था। उसने मन-ही-मन वरण कर लिया—‘यह मेरी पत्नी है।’ बात केवल इतनी ही थी। इसका अभिप्राय यह है कि हँसी-खेलमें भी या डाँटने-डपटनेके लिये भी बालकोंसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये और राक्षसका नाम भी नहीं रखना चाहिये।

षष्ठोऽध्यायः

महर्षि च्यवनका जन्म, उनके तेजसे पुलोमा राक्षसका भस्म होना तथा भृगुका अग्निदेवको शाप देना

सौतिरुवाच

अग्नेरथ वचः श्रुत्वा तद् रक्षः प्रजहार ताम् ।
ब्रह्मन् वराहरूपेण मनोमारुतरंहसा ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—ब्रह्मन्! अग्निका यह वचन सुनकर उस राक्षसने वराहका रूप धारण करके मन और वायुके समान वेगसे उसका अपहरण किया ।। १ ।।

ततः स गर्भो निवसन् कुक्षौ भृगुकुलोद्वह ।
रोषान्मातुश्च्युतः कुक्षेश्च्यवनस्तेन सोऽभवत् ।। २ ।।

भृगुवंशशिरोमणे! उस समय वह गर्भ जो अपनी माताकी कुक्षिमें निवास कर रहा था, अत्यन्त रोषके कारण योगबलसे माताके उदरसे च्युत होकर बाहर निकल आया। च्युत होनेके कारण ही उसका नाम च्यवन हुआ ।। २ ।।

तं दृष्ट्वा मातुरुदराच्च्युतमादित्यवर्चसम् ।
तद् रक्षो भस्मसाद्भूतं पपात परिमुच्य ताम् ।। ३ ।।

माताके उदरसे च्युत होकर गिरे हुए उस सूर्यके समान तेजस्वी गर्भको देखते ही वह राक्षस पुलोमाको छोड़कर गिर पड़ा और तत्काल जलकर भस्म हो गया ।। ३ ।।

सा तमादाय सुश्रोणी ससार भृगुनन्दनम् ।
च्यवनं भार्गवं पुत्रं पुलोमा दुःखमूर्च्छिता ।। ४ ।।

सुन्दर कटिप्रदेशवाली पुलोमा दुःखसे मूर्च्छित हो गयी और किसी तरह सँभलकर भृगुकुलको आनन्दित करनेवाले अपने पुत्र भार्गव च्यवनको गोदमें लेकर ब्रह्माजीके पास चली ।। ४ ।।

तां ददर्श स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।
रुदतीं बाष्पपूर्णाक्षीं भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ।। ५ ।।
सान्त्वयामास भगवान् वधूं ब्रह्मा पितामहः ।
अश्रुबिन्दूद्भवा तस्याः प्रावर्तत महानदी ।। ६ ।।

सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने स्वयं भृगुकी उस पतिव्रता पत्नीको रोती और नेत्रोंसे आँसू बहाती देखा। तब पितामह भगवान् ब्रह्माने अपनी पुत्रवधूको सान्त्वना दी—उसे धीरज बँधाया। उसके आँसुओंकी बूँदोंसे एक बहुत बड़ी नदी प्रकट हो गयी ।। ५-६ ।।

आवर्तन्ती सृतिं तस्या भृगोः पन्त्यास्तपस्विनः ।

तस्या मार्गं सृतवतीं दृष्ट्वा तु सरितं तदा ।। ७ ।।
नाम तस्यास्तदा नद्याश्चक्रे लोकपितामहः ।
वधूसरेति भगवांश्च्यवनस्याश्रमं प्रति ।। ८ ।।

वह नदी तपस्वी भृगुकी उस पत्नीके मार्गको आप्लावित किये हुए थी। उस समय लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने पुलोमाके मार्गका अनुसरण करनेवाली उस नदीको देखकर उसका नाम वधूसरा रख दिया, जो च्यवनके आश्रमके पास प्रवाहित होती है ।। ७-८ ।।

स एव च्यवनो जज्ञे भृगोः पुत्रः प्रतापवान् ।
तं ददर्श पिता तत्र च्यवनं तां च भामिनीम् ।
स पुलोमां ततो भार्यां पप्रच्छ कुपितो भृगुः ।। ९ ।।

इस प्रकार भृगुपुत्र प्रतापी च्यवनका जन्म हुआ। तदनन्तर पिता भृगुने वहाँ अपने पुत्र च्यवन तथा पत्नी पुलोमाको देखा और सब बातें जानकर उन्होंने अपनी भार्या पुलोमासे कुपित होकर पूछा— ।। ९ ।।

भृगुरुवाच

केनासि रक्षसे तस्मै कथिता त्वं जिहीर्षते ।
न हि त्वां वेद तद् रक्षो मद्भार्यां चारुहासिनीम् ।। १० ।।

भृगु बोले—कल्याणी! तुम्हें हर लेनेकी इच्छासे आये हुए उस राक्षसको किसने तुम्हारा परिचय दे दिया? मनोहर मुसकानवाली मेरी पत्नी तुझ पुलोमाको वह राक्षस नहीं जानता था ।। १० ।।

तत्त्वमाख्याहि तं ह्यद्य शप्तुमिच्छाम्यहं रुषा ।
बिभेति को न शापान्मे कस्य चायं व्यतिक्रमः ।। ११ ।।

प्रिये! ठीक-ठीक बताओ। आज मैं कुपित होकर अपने उस अपराधीको शाप देना चाहता हूँ। कौन मेरे शापसे नहीं डरता है? किसके द्वारा यह अपराध हुआ है? ।। ११ ।।

पुलोमोवाच

अग्निना भगवंस्तस्मै रक्षसेऽहं निवेदिता ।
ततो मामनयद् रक्षः क्रोशन्तीं कुररीमिव ।। १२ ।।

पुलोमा बोली—भगवन्! अग्निदेवने उस राक्षसको मेरा परिचय दे दिया। इससे कुररीकी भाँति विलाप करती हुई मुझ अबलाको वह राक्षस उठा ले गया ।। १२ ।।

साहं तव सुतस्यास्य तेजसा परिमोक्षिता ।
भस्मीभूतं च तद् रक्षो मामुत्सृज्य पपात वै ।। १३ ।।

आपके इस पुत्रके तेजसे मैं उस राक्षसके चंगुलसे छूट सकी हूँ। राक्षस मुझे छोड़कर गिरा और जलकर भस्म हो गया ।। १३ ।।

सौतिरुवाच

इति श्रुत्वा पुलोमाया भृगुः परममन्युमान् ।
शशापाग्निमतिक्रुद्धः सर्वभक्षो भविष्यसि ।। १४ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—पुलोमाका यह वचन सुनकर परम क्रोधी महर्षि भृगुका क्रोध और भी बढ़ गया। उन्होंने अग्निदेवको शाप दिया—‘तुम सर्वभक्षी हो जाओगे’ ।। १४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि अग्निशापे षष्ठोऽध्यायः ।। ६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें अग्निशापविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ।। ६ ।।

सप्तमोऽध्यायः

शापसे कुपित हुए अग्निदेवका अदृश्य होना और ब्रह्माजीका उनके शापको संकुचित करके उन्हें प्रसन्न करना

सौतिरुवाच

शप्तस्तु भृगुणा वह्निः क्रुद्धो वाक्यमथाब्रवीत् ।
किमिदं साहसं ब्रह्मन् कृतवानसि मां प्रति ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महर्षि भृगुके शाप देनेपर अग्निदेवने कुपित होकर यह बात कही—'ब्रह्मन्! तुमने मुझे शाप देनेका यह दुस्साहसपूर्ण कार्य क्यों किया हे?' ।। १ ।।

धर्मे प्रयतमानस्य सत्यं च वदतः समम् ।
पृष्टो यदब्रवं सत्यं व्यभिचारोऽत्र को मम ।। २ ।।

'मैं सदा धर्मके लिये प्रयत्नशील रहता और सत्य एवं पक्षपातशून्य वचन बोलता हूँ; अतः उस राक्षसके पूछनेपर यदि मैंने सच्ची बात कह दी तो इसमें मेरा क्या अपराध है? ।। २ ।।

पृष्टो हि साक्षी यः साक्ष्यं जानानोऽप्यन्यथा वदेत् ।
स पूर्वानात्मनः सप्त कुले हन्यात् तथा परान् ।। ३ ।।

'जो साक्षी किसी बातको ठीक-ठीक जानते हुए भी पूछनेपर कुछ-का-कुछ कह देता—झूठ बोलता है, वह अपने कुलमें पहले और पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंका नाश करता—उन्हें नरकमें ढकेलता है ।। ३ ।।

यश्च कार्यार्थतत्त्वज्ञो जानानोऽपि न भाषते ।
सोऽपि तेनैव पापेन लिप्यते नात्र संशयः ।। ४ ।।

'इसी प्रकार जो किसी कार्यके वास्तविक रहस्यका ज्ञाता है, वह उसके पूछनेपर यदि जानते हुए भी नहीं बतलाता—मौन रह जाता है तो वह भी उसी पापसे लिप्त होता है; इसमें संशय नहीं है ।। ४ ।।

शक्तोऽहमपि शप्तुं त्वां मान्यास्तु ब्राह्मणा मम ।
जानतोऽपि च ते ब्रह्मन् कथयिष्ये निबोध तत् ।। ५ ।।

'मैं भी तुम्हें शाप देनेकी शक्ति रखता हूँ तो भी नहीं देता हूँ; क्योंकि ब्राह्मण मेरे मान्य हैं। ब्रह्मन्! यद्यपि तुम सब कुछ जानते हो, तथापि मैं तुम्हें जो बता रहा हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो— ।। ५ ।।

योगेन बहुधात्मानं कृत्वा तिष्ठामि मूर्तिषु ।

अग्निहोत्रेषु सत्रेषु क्रियासु च मखेषु च ।। ६ ।।

'मैं योगसिद्धिके बलसे अपने-आपको अनेक रूपोंमें प्रकट करके गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि आदि मूर्तियोंमें, नित्य किये जानेवाले अग्निहोत्रोंमें, अनेक व्यक्तियोंद्वारा संचालित सत्रोंमें, गर्भाधान आदि क्रियाओंमें तथा ज्योतिष्टोम आदि मखों (यज्ञों)-में सदा निवास करता हूँ ।। ६ ।।

वेदोक्तेन विधानेन मयि यद् हूयते हविः ।
देवताः पितरश्चैव तेन तृप्ता भवन्ति वै ।। ७ ।।

'मुझमें वेदोक्त विधिसे जिस हविष्यकी आहुति दी जाती है, उसके द्वारा निश्चय ही देवता तथा पितृगण तृप्त होते हैं ।। ७ ।।

आपो देवगणाः सर्वे आपः पितृगणास्तथा ।
दर्शश्च पौर्णमासश्च देवानां पितृभिः सह ।। ८ ।।

'जल ही देवता हैं तथा जल ही पितृगण हैं। दर्श और पौर्णमास याग पितरों तथा देवताओंके लिये किये जाते हैं ।। ८ ।।

देवताः पितरस्तस्मात् पितरश्चापि देवताः ।
एकीभूताश्च पूज्यन्ते पृथक्त्वेन च पर्वसु ।। ९ ।।

'अतः देवता पितर हैं और पितर ही देवता हैं। विभिन्न पर्वोंपर ये दोनों एक रूपमें भी पूजे जाते हैं और पृथक्-पृथक् भी ।। ९ ।।

देवताः पितरश्चैव भुञ्जते मयि यद् हुतम् ।
देवतानां पितॄणां च मुखमेतदहं स्मृतम् ।। १० ।।

'मुझमें जो आहुति दी जाती है, उसे देवता और पितर दोनों भक्षण करते हैं। इसीलिये मैं देवताओं और पितरोंका मुख माना जाता हूँ ।। १० ।।

अमावास्यां हि पितरः पौर्णमास्यां हि देवताः ।
मन्मुखेनैव हूयन्ते भुञ्जते च हुतं हविः ।। ११ ।।
सर्वभक्षः कथं त्वेषां भविष्यामि मुखं त्वहम् ।

'अमावास्याको पितरोंके लिये और पूर्णिमाको देवताओंके लिये मेरे मुखसे ही आहुति दी जाती है और उस आहुतिके रूपमें प्राप्त हुए हविष्यका वे देवता और पितर उपभोग करते हैं, सर्वभक्षी होनेपर मैं इन सबका मुँह कैसे हो सकता हूँ?' ।। ११½ ।।

सौतिरुवाच

चिन्तयित्वा ततो वह्निश्चक्रे संहारमात्मनः ।। १२ ।।
द्विजानामग्निहोत्रेषु यज्ञसत्रक्रियासु च ।
निरोंकारवषट्काराः स्वधास्वाहाविवर्जिताः ।। १३ ।।
विनाग्निना प्रजाः सर्वास्तत आसन् सुदुःखिताः ।

अथर्षयः समुद्विग्ना देवान् गत्वाब्रुवन् वचः ।। १४ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महर्षियो! तदनन्तर अग्निदेवने कुछ सोच-विचारकर द्विजोंके अग्निहोत्र, यज्ञ, सत्र तथा संस्कारसम्बन्धी क्रियाओंमेंसे अपने-आपको समेट लिया। फिर तो अग्निके बिना समस्त प्रजा ॐकार, वषट्कार, स्वधा और स्वाहा आदिसे वंचित होकर अत्यन्त दुःखी हो गयी। तब महर्षिगण अत्यन्त उद्विग्न हो देवताओंके पास जाकर बोले — ।। १२—१४ ।।

अग्निनाशात् क्रियाभ्रंशाद् भ्रान्ता लोकास्त्रयोऽनघाः ।
विदध्वमत्र यत् कार्यं न स्यात् कालात्ययो यथा ।। १५ ।।

'पापरहित देवगण! अग्निके अदृश्य हो जानेसे अग्निहोत्र आदि सम्पूर्ण क्रियाओंका लोप हो गया है। इससे तीनों लोकोंके प्राणी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये हैं; अतः इस विषयमें जो आवश्यक कर्तव्य हो, उसे आपलोग करें। इसमें अधिक विलम्ब नहीं होना चाहिये' ।। १५ ।।

अथर्षयश्च देवाश्च ब्रह्माणमुपगम्य तु ।
अग्नेरावेदयञ्छापं क्रियासंहारमेव च ।। १६ ।।

तत्पश्चात् ऋषि और देवता ब्रह्माजीके पास गये और अग्निको जो शाप मिला था एवं अग्निने सम्पूर्ण क्रियाओंसे जो अपने-आपको समेटकर अदृश्य कर लिया था, वह सब समाचार निवेदन करते हुए बोले— ।। १६ ।।

भृगुणा वै महाभाग शप्तोऽग्निः कारणान्तरे ।
कथं देवमुखो भूत्वा यज्ञभागाग्रभुक् तथा ।। १७ ।।
हुतभुक् सर्वलोकेषु सर्वभक्षत्वमेष्यति ।

'महाभाग! किसी कारणवश महर्षि भृगुने अग्निदेवको सर्वभक्षी होनेका शाप दे दिया है, किंतु वे सम्पूर्ण देवताओंके मुख, यज्ञभागके अग्रभोक्ता तथा सम्पूर्ण लोकोंमें दी हुई आहुतियोंका उपभोग करनेवाले होकर भी सर्वभक्षी कैसे हो सकेंगे?' ।। १७½ ।।

श्रुत्वा तु तद् वचस्तेषामग्निमाहूय विश्वकृत् ।। १८ ।।
उवाच वचनं श्लक्ष्णं भूताभावनमव्ययम् ।
लोकानामिह सर्वेषां त्वं कर्ता चान्त एव च ।। १९ ।।
त्वं धारयसि लोकांस्त्रीन् क्रियाणां च प्रवर्तकः ।
स तथा कुरु लोकेश नोच्छिद्येरन् यथा क्रियाः ।। २० ।।
कस्मादेवं विमूढस्त्वमीश्वरः सन् हुताशन ।
त्वं पवित्रं सदा लोके सर्वभूतगतिश्च ह ।। २१ ।।

देवताओं तथा ऋषियोंकी बात सुनकर विश्वविधाता ब्रह्माजीने प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले अविनाशी अग्निको बुलाकर मधुर वाणीमें कहा—'हुताशन! यहाँ समस्त लोकोंके स्रष्टा और संहारक तुम्हीं हो, तुम्हीं तीनों लोकोंको धारण करनेवाले हो, सम्पूर्ण

क्रियाओंके प्रवर्तक भी तुम्हीं हो। अतः लोकेश्वर! तुम ऐसा करो जिससे अग्निहोत्र आदि क्रियाओंका लोप न हो। तुम सबके स्वामी होकर भी इस प्रकार मूढ़ (मोहग्रस्त) कैसे हो गये? तुम संसारमें सदा पवित्र हो, समस्त प्राणियोंकी गति भी तुम्हीं हो ।। १८—२१ ।।

न त्वं सर्वशरीरेण सर्वभक्षत्वमेष्यसि ।
अपाने ह्यर्चिषो यास्ते सर्वं भक्ष्यन्ति ताः शिखिन् ।। २२ ।।

'तुम सारे शरीरसे सर्वभक्षी नहीं होओगे। अग्निदेव! तुम्हारे अपानदेशमें जो ज्वालाएँ होंगी, वे ही सब कुछ भक्षण करेंगी ।। २२ ।।

क्रव्यादा च तनुर्या ते सा सर्वं भक्षयिष्यति ।
यथा सूर्यांशुभिः स्पृष्टं सर्वं शुचि विभाव्यते ।। २३ ।।
तथा त्वदर्चिर्निर्दग्धं सर्वं शुचि भविष्यति ।
त्वमग्ने परमं तेजः स्वप्रभावाद् विनिर्गतम् ।। २४ ।।
स्वतेजसैव तं शापं कुरु सत्यमृषेर्विभो ।
देवानां चात्मनो भागं गृहाण त्वं मुखे हुतम् ।। २५ ।।

'इसके सिवा जो तुम्हारी क्रव्याद मूर्ति है (कच्चा मांस या मुर्दा जलानेवाली जो चिताकी आग है) वही सब कुछ भक्षण करेगी। जैसे सूर्यकी किरणोंसे स्पर्श होनेपर सब वस्तुएँ शुद्ध मानी जाती हैं, उसी प्रकार तुम्हारी ज्वालाओंसे दग्ध होनेपर सब कुछ शुद्ध हो जायगा। अग्निदेव! तुम अपने प्रभावसे ही प्रकट हुए उत्कृष्ट तेज हो; अतः विभो! अपने तेजसे ही महर्षिके उस शापको सत्य कर दिखाओ और अपने मुखमें आहुतिके रूपमें पड़े हुए देवताओंके तथा अपने भागको भी ग्रहण करो' ।। २३—२५ ।।

सौतिरुवाच

एवमस्त्विति तं वह्निः प्रत्युवाच पितामहम् ।
जगाम शासनं कर्तुं देवस्य परमेष्ठिनः ।। २६ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—यह सुनकर अग्निदेवने पितामह ब्रह्माजीसे कहा—'एवमस्तु (ऐसा ही हो)।' यों कहकर वे भगवान् ब्रह्माजीके आदेशका पालन करनेके लिये चल दिये ।। २६ ।।

देवर्षयश्च मुदितास्ततो जग्मुर्यथागतम् ।
ऋषयश्च यथापूर्वं क्रियाः सर्वाः प्रचक्रिरे ।। २७ ।।

इसके बाद देवर्षिगण अत्यन्त प्रसन्न हो जैसे आये थे वैसे ही चले गये। फिर ऋषि-महर्षि भी अग्निहोत्र आदि सम्पूर्ण कर्मोंका पूर्ववत् पालन करने लगे ।। २७ ।।

दिवि देवा मुमुदिरे भूतसङ्घाश्च लौकिकाः ।
अग्निश्च परमां प्रीतिमवाप हतकल्मषः ।। २८ ।।

देवतालोग स्वर्गलोकमें आनन्दित हो गये और इस लोकके समस्त प्राणी भी बड़े प्रसन्न हुए। साथ ही शापजनित पाप कट जानेसे अग्निदेवको भी बड़ी प्रसन्नता हुई ।। २८ ।।

एवं स भगवाञ्छापं लेभेऽग्निर्भृगुतः पुरा ।
एवमेष पुरावृत्त इतिहासोऽग्निशापजः ।
पुलोम्नश्च विनाशोऽयं च्यवनस्य च सम्भवः ।। २९ ।।

इस प्रकार पूर्वकालमें भगवान् अग्निदेवको महर्षि भृगुसे शाप प्राप्त हुआ था। यही अग्निशापसम्बन्धी प्राचीन इतिहास है। पुलोमा राक्षसके विनाश और च्यवन मुनिके जन्मका वृत्तान्त भी यही है ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि अग्निशापमोचने सप्तमोऽध्यायः ।। ७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें अग्निशापमोचनसम्बन्धी सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७ ।।

अष्टमोऽध्यायः

प्रमद्वराका जन्म, रुरुके साथ उसका वाग्दान तथा विवाहके पहले ही साँपके काटनेसे प्रमद्वराकी मृत्यु

सौतिरुवाच

स चापि च्यवनो ब्रह्मन् भार्गवोऽजनयत् सुतम् ।
सुकन्यायां महात्मानं प्रमतिं दीप्ततेजसम् ।। १ ।।
प्रमतिस्तु रुरुं नाम घृताच्यां समजीजनत् ।
रुरुः प्रमद्वरायां तु शुनकं समजीजनत् ।। २ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—ब्रह्मन्! भृगुपुत्र च्यवनने अपनी पत्नी सुकन्याके गर्भसे एक पुत्रको जन्म दिया, जिसका नाम प्रमति था। महात्मा प्रमति बड़े तेजस्वी थे। फिर प्रमतिने घृताची अप्सरासे रुरु नामक पुत्र उत्पन्न किया तथा रुरुके द्वारा प्रमद्वराके गर्भसे शुनकका जन्म हुआ ।। १-२ ।।

(शौनकस्तु महाभाग शुनकस्य सुतो भवान् ।)
शुनकस्तु महासत्त्वः सर्वभार्गवनन्दनः ।
जातस्तपसि तीव्रे च स्थितः स्थिरयशास्ततः ।। ३ ।।

महाभाग शौनकजी! आप शुनकके ही पुत्र होनेके कारण 'शौनक' कहलाते हैं। शुनक महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न तथा सम्पूर्ण भृगुवंशका आनन्द बढ़ानेवाले थे। वे जन्म लेते ही तीव्र तपस्यामें संलग्न हो गये। इससे उनका अविचल यश सब ओर फैल गया ।। ३ ।।

तस्य ब्रह्मन् रुरोः सर्वं चरितं भूरितेजसः ।
विस्तरेण प्रवक्ष्यामि तच्छृणु त्वमशेषतः ।। ४ ।।

ब्रह्मन्! मैं महातेजस्वी रुरुके सम्पूर्ण चरित्रका विस्तारपूर्वक वर्णन करूँगा। वह सब-का-सब आप सुनिये ।। ४ ।।

ऋषिरासीन्महान् पूर्वं तपोविद्यासमन्वितः ।
स्थूलकेश इति ख्यातः सर्वभूतहिते रतः ।। ५ ।।

पूर्वकालमें स्थूलकेश नामसे विख्यात एक तप और विद्यासे सम्पन्न महर्षि थे; जो समस्त प्राणियोंके हितमें लगे रहते थे ।। ५ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु मेनकायां प्रजज्ञिवान् ।
गन्धर्वराजो विप्रर्षे विश्वावसुरिति स्मृतः ।। ६ ।।

विप्रर्षे! इन्हीं महर्षिके समयकी बात हैं—गन्धर्वराज विश्वावसुने मेनकाके गर्भसे एक संतान उत्पन्न की ।। ६ ।।

अप्सरा मेनका तस्य तं गर्भं भृगुनन्दन ।
उत्ससर्ज यथाकालं स्थूलकेशाश्रमं प्रति ।। ७ ।।

भृगुनन्दन! मेनका अप्सराने गन्धर्वराजद्वारा स्थापित किये हुए उस गर्भको समय पूरा होनेपर स्थूलकेश मुनिके आश्रमके निकट जन्म दिया ।। ७ ।।

उत्सृज्य चैव तं गर्भं नद्यास्तीरे जगाम सा ।
अप्सरा मेनका ब्रह्मन् निर्दया निरपत्रपा ।। ८ ।।

ब्रह्मन्! निर्दय और निर्लज्ज मेनका अप्सरा उस नवजात गर्भको वहीं नदीके तटपर छोड़कर चली गयी ।। ८ ।।

कन्याममरगर्भाभां ज्वलन्तीमिव च श्रिया ।
तां ददर्श समुत्सृष्टां नदीतीरे महानृषिः ।। ९ ।।
स्थूलकेशः स तेजस्वी विजने बन्धुवर्जिताम् ।
स तां दृष्ट्वा तदा कन्यां स्थूलकेशो महाद्विजः ।। १० ।।
जग्राह च मुनिश्रेष्ठः कृपाविष्टः पुपोष च ।
ववृधे सा वरारोहा तस्याश्रमपदे शुभे ।। ११ ।।

तदनन्तर तेजस्वी महर्षि स्थूलकेशने एकान्त स्थानमें त्यागी हुई उस बन्धुहीन कन्याको देखा, जो देवताओंकी बालिकाके समान दिव्य शोभासे प्रकाशित हो रही थी। उस समय उस कन्याको वैसी दशामें देखकर द्विजश्रेष्ठ मुनिवर स्थूलकेशके मनमें बड़ी दया आयी; अतः वे उसे उठा लाये और उसका पालन-पोषण करने लगे। वह सुन्दरी कन्या उनके शुभ आश्रमपर दिनोदिन बढ़ने लगी ।। ९—११ ।।

जातकाद्याः क्रियाश्चास्या विधिपूर्वं यथाक्रमम् ।
स्थूलकेशो महाभागश्चकार सुमहानृषिः ।। १२ ।।

महाभाग महर्षि स्थूलकेशने क्रमशः उस बालिकाके जात-कर्मादि सब संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न किये ।। १२ ।।

प्रमदाभ्यो वरा सा तु सत्त्वरूपगुणान्विता ।
ततः प्रमद्वरेत्यस्या नाम चक्रे महानृषिः ।। १३ ।।

वह बुद्धि, रूप और सब उत्तम गुणोंसे सुशोभित हो संसारकी समस्त प्रमदाओं (सुन्दरी स्त्रियों)-से श्रेष्ठ जान पड़ती थी; इसलिये महर्षिने उसका नाम 'प्रमद्वरा' रख दिया ।। १३ ।।

तामाश्रमपदे तस्य रुरुर्दृष्ट्वा प्रमद्वराम् ।
बभूव किल धर्मात्मा मदनोपहतस्तदा ।। १४ ।।

एक दिन धर्मात्मा रुरुने महर्षिके आश्रममें उस प्रमद्वराको देखा। उसे देखते ही उनका हृदय तत्काल कामदेवके वशीभूत हो गया ।। १४ ।।

पितरं सखिभिः सोऽथ श्रावयामास भार्गवम् ।
प्रमतिश्चाभ्ययाचत् तां स्थूलकेशं यशस्विनम् ।। १५ ।।

तब उन्होंने मित्रोंद्वारा अपने पिता भृगुवंशी प्रमतिको अपनी अवस्था कहलायी। तदनन्तर प्रमतिने यशस्वी स्थूलकेश मुनिसे (अपने पुत्रके लिये) उनकी वह कन्या माँगी ।। १५ ।।

ततः प्रादात् पिता कन्यां रुरवे तां प्रमद्वराम् ।
विवाहं स्थापयित्वाग्रे नक्षत्रे भगदैवते ।। १६ ।।

तब पिताने अपनी कन्या प्रमद्वराका रुरुके लिये वाग्दान कर दिया और आगामी उत्तरफाल्गुनी नक्षत्रमें विवाहका मुहूर्त निश्चित किया ।। १६ ।।

ततः कतिपयाहस्य विवाहे समुपस्थिते ।
सखीभिः क्रीडती सार्धं सा कन्या वरवर्णिनी ।। १७ ।।

तदनन्तर जब विवाहका मुहूर्त निकट आ गया, उसी समय वह सुन्दरी कन्या सखियोंके साथ क्रीड़ा करती हुई वनमें घूमने लगी ।। १७ ।।

नापश्यत् सम्प्रसुप्तं वै भुजङ्गं तिर्यगायतम् ।
पदा चैनं समाक्रामन्मुमूर्षुः कालचोदिता ।। १८ ।।

मार्गमें एक साँप चौड़ी जगह घेरकर तिरछा सो रहा था। प्रमद्वराने उसे नहीं देखा। वह कालसे प्रेरित होकर मरना चाहती थी, इसलिये सर्पको पैरसे कुचलती हुई आगे निकल गयी ।। १८ ।।

स तस्याः सम्प्रमत्तायाश्चोदितः कालधर्मणा ।
विषोपलिप्तान् दशनान् भृशमङ्गे न्यपातयत् ।। १९ ।।

उस समय कालधर्मसे प्रेरित हुए उस सर्पने उस असावधान कन्याके अंगमें बड़े जोरसे अपने विषभरे दाँत गड़ा दिये ।। १९ ।।

सा दष्टा तेन सर्पेण पपात सहसा भुवि ।
विवर्णा विगतश्रीका भ्रष्टाभरणचेतना ।। २० ।।
निरानन्दकरी तेषां बन्धूनां मुक्तमूर्धजा ।
व्यसुरप्रेक्षणीया सा प्रेक्षणीयतमाभवत् ।। २१ ।।

उस सर्पके डँस लेनेपर वह सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी। उसके शरीरका रंग उड़ गया, शोभा नष्ट हो गयी, आभूषण इधर-उधर बिखर गये और चेतना लुप्त हो गयी। उसके बाल खुले हुए थे। अब वह अपने उन बन्धुजनोंके हृदयमें विषाद उत्पन्न कर रही थी। जो कुछ ही क्षण पहले अत्यन्त सुन्दरी एवं दर्शनीय थी, वही प्राणशून्य होनेके कारण अब देखनेयोग्य नहीं रह गयी ।। २०-२१ ।।

प्रसुप्ते वाभवच्चापि भुवि सर्पविषार्दिता ।
भूयो मनोहरतरा बभूव तनुमध्यमा ।। २२ ।।

वह सर्पके विषसे पीड़ित होकर गाढ़ निद्रामें सोयी हुईकी भाँति भूमिपर पड़ी थी। उसके शरीरका मध्यभाग अत्यन्त कृश था। वह उस अचेतनावस्थामें भी अत्यन्त

मनोहारिणी जान पड़ती थी ।। २२ ।।

ददर्श तां पिता चैव ये चैवान्ये तपस्विनः ।

विचेष्टमानां पतितां भूतले पद्मवर्चसम् ।। २३ ।।

उसके पिता स्थूलकेशने तथा अन्य तपस्वी महात्माओंने भी आकर उसे देखा। वह कमलकी-सी कान्तिवाली किशोरी धरतीपर चेष्टारहित पड़ी थी ।। २३ ।।

ततः सर्वे द्विजवराः समाजग्मुः कृपान्विताः ।

स्वस्त्यात्रेयो महाजानुः कुशिकः शङ्खमेखलः ।। २४ ।।

उद्दालकः कठश्चैव श्वेतश्चैव महायशाः ।

भरद्वाजः कौणकुत्स्य आर्ष्टिषेणोऽथ गौतमः ।। २५ ।।

प्रमतिः सह पुत्रेण तथान्ये वनवासिनः ।

तदनन्तर स्वस्त्यात्रेय, महाजानु, कुशिक, शंखमेखल, उद्दालक, कठ, महायशस्वी श्वेत, भरद्वाज, कौणकुत्स्य, आर्ष्टिषेण, गौतम, अपने पुत्र रुरुसहित प्रमति तथा अन्य सभी वनवासी श्रेष्ठ द्विज दयासे द्रवित होकर वहाँ आये ।। २४-२५½ ।।

तां ते कन्यां व्यसुं दृष्ट्वा भुजङ्गस्य विषार्दिताम् ।। २६ ।।

रुरुदुः कृपयाविष्टा रुरुस्त्वार्तो बहिर्ययौ ।

ते च सर्वे द्विजश्रेष्ठास्तत्रैवोपाविशंस्तदा ।। २७ ।।

वे सब लोग उस कन्याको सर्पके विषसे पीड़ित हो प्राणशून्य हुई देख करुणावश रोने लगे। रुरु तो अत्यन्त आर्त होकर वहाँसे बाहर चला गया और शेष सभी द्विज उस समय वहीं बैठे रहे ।। २६-२७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि प्रमद्वरासर्पदंशेऽष्टमोऽध्यायः ।। ८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें प्रमद्वराके सर्पदंशनसे सम्बन्ध रखनेवाला आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २७½ श्लोक हैं)

नवमोऽध्यायः

रुरुकी आधी आयुसे प्रमद्वराका जीवित होना, रुरुके साथ उसका विवाह, रुरुका सर्पोंको मारनेका निश्चय तथा रुरु-डुण्डुभ-संवाद

सौतिरुवाच

तेषु तत्रोपविष्टेषु ब्राह्मणेषु महात्मसु ।
रुरुश्चुक्रोश गहनं वनं गत्वातिदुःखितः ।। १ ।।
शोकेनाभिहतः सोऽथ विलपन् करुणं बहु ।
अब्रवीद् वचनं शोचन् प्रियां स्मृत्वा प्रमद्वराम् ।। २ ।।
शेते सा भुवि तन्वङ्गी मम शोकविवर्धिनी ।
बान्धवानां च सर्वेषां किं नु दुःखमतः परम् ।। ३ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! वे ब्राह्मण प्रमद्वराके चारों ओर वहाँ बैठे थे, उसी समय रुरु अत्यन्त दुःखित हो गहन वनमें जाकर जोर-जोरसे रुदन करने लगा। शोकसे पीड़ित होकर उसने बहुत करुणाजनक विलाप किया और अपनी प्रियतमा प्रमद्वराका स्मरण करके शोकमग्न हो इस प्रकार बोला—'हाय! वह कृशांगी बाला मेरा तथा समस्त बान्धवोंका शोक बढ़ाती हुई भूमिपर सो रही है; इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है? ।। १—३ ।।

यदि दत्तं तपस्तप्तं गुरवो वा मया यदि ।
सम्यगाराधितास्तेन संजीवतु मम प्रिया ।। ४ ।।

'यदि मैंने दान दिया हो, तपस्या की हो अथवा गुरुजनोंकी भलीभाँति आराधना की हो तो उसके पुण्यसे मेरी प्रिया जीवित हो जाय ।। ४ ।।

यथा च जन्मप्रभृति यतात्माहं धृतव्रतः ।
प्रमद्वरा तथा ह्येषा समुत्तिष्ठतु भामिनी ।। ५ ।।

'यदि मैंने जन्मसे लेकर अबतक मन और इन्द्रियोंपर संयम रखा हो और ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका दृढ़तापूर्वक पालन किया हो तो यह मेरी प्रिया प्रमद्वरा अभी जी उठे' ।। ५ ।।

(कृष्णे विष्णौ हृषीकेशे लोकेशेऽसुरविद्विषि ।
यदि मे निश्चला भक्तिर्मम जीवतु सा प्रिया ।।)

'यदि पापी असुरोंका नाश करनेवाले, इन्द्रियोंके स्वामी जगदीश्वर एवं सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्णमें मेरी अविचल भक्ति हो तो यह कल्याणी प्रमद्वरा जी उठे'।

एवं लालप्यतस्तस्य भार्यार्थे दुःखितस्य च ।

देवदूतस्तदाभ्येत्य वाक्यमाह रुरुं वने ।। ६ ।।

इस प्रकार जब रुरु पत्नीके लिये दुःखित हो अत्यन्त विलाप कर रहा था, उस समय एक देवदूत उसके पास आया और वनमें रुरुसे बोला ।। ६ ।।

देवदूत उवाच

अभिधत्से ह यद् वाचा रुरो दुःखेन तन्मृषा ।
यतो मर्त्यस्य धर्मात्मन् नायुरस्ति गतायुषः ।। ७ ।।
गतायुरेषा कृपणा गन्धर्वाप्सरसोः सुता ।
तस्माच्छोके मनस्तात मा कृथास्त्वं कथंचन ।। ८ ।।

देवदूतने कहा—धर्मात्मा रुरु! तुम दुःखसे व्याकुल हो अपनी वाणीद्वारा जो कुछ कहते हो, वह सब व्यर्थ है; क्योंकि जिस मनुष्यकी आयु समाप्त हो गयी है, उसे फिर आयु नहीं मिल सकती। यह बेचारी प्रमद्वरा गन्धर्व और अप्सराकी पुत्री थी। इसे जितनी आयु मिली थी, वह पूरी हो चुकी है। अतः तात! तुम किसी तरह भी मनको शोकमें न डालो ।। ७-८ ।।

उपायश्चात्र विहितः पूर्वं देवैर्महात्मभिः ।
तं यदीच्छसि कर्तुं त्वं प्राप्स्यसीह प्रमद्वराम् ।। ९ ।।

इस विषयमें महात्मा देवताओंने एक उपाय निश्चित किया है। यदि तुम उसे करना चाहो तो इस लोकमें प्रमद्वराको पा सकोगे ।। ९ ।।

रुरुरुवाच

क उपायः कृतो देवैर्ब्रूहि तत्त्वेन खेचर ।
करिष्येऽहं तथा श्रुत्वा त्रातुमर्हति मां भवान् ।। १० ।।

रुरु बोला—आकाशचारी देवदूत! देवताओंने कौन-सा उपाय निश्चित किया है, उसे ठीक-ठीक बताओ? उसे सुनकर मैं अवश्य वैसा ही करूँगा। तुम मुझे इस दुःखसे बचाओ ।। १० ।।

देवदूत उवाच

आयुषोउर्धं प्रयच्छ त्वं कन्यायै भृगुनन्दन ।
एवमुत्थास्यति रुरो तव भार्या प्रमद्वरा ।। ११ ।।

देवदूतने कहा—भृगुनन्दन रुरु! तुम उस कन्याके लिये अपनी आधी आयु दे दो। ऐसा करनेसे तुम्हारी भार्या प्रमद्वरा जी उठेगी ।। ११ ।।

रुरुरुवाच

आयुषोऽर्धं प्रयच्छामि कन्यायै खेचरोत्तम ।
शृङ्गाररूपाभरणा समुत्तिष्ठतु मे प्रिया ।। १२ ।।

रुरु बोला—देवश्रेष्ठ! मैं उस कन्याको अपनी आधी आयु देता हूँ। मेरी प्रिया अपने शृंगार, सुन्दर रूप और आभूषणोंके साथ जीवित हो उठे ।। १२ ।।

सौतिरुवाच

ततो गन्धर्वराजश्च देवदूतश्च सत्तमौ ।
धर्मराजमुपेत्येदं वचनं प्रत्यभाषताम् ।। १३ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तब गन्धर्वराज विश्वावसु और देवदूत दोनों सत्पुरुषोंने धर्मराजके पास जाकर कहा— ।। १३ ।।

धर्मराजायुषोऽर्धेन रुरोर्भार्या प्रमद्वरा ।
समुत्तिष्ठतु कल्याणी मृतैवं यदि मन्यसे ।। १४ ।।

'धर्मराज! रुरुकी भार्या कल्याणी प्रमद्वरा मर चुकी है। यदि आप मान लें तो वह रुरुकी आधी आयुसे जीवित हो जाय' ।। १४ ।।

धर्मराज उवाच

प्रमद्वरां रुरोर्भार्यां देवदूत यदीच्छसि ।
उत्तिष्ठत्वायुषोऽर्धेन रुरोरेव समन्विता ।। १५ ।।

धर्मराज बोले—देवदूत! यदि तुम रुरुकी भार्या प्रमद्वराको जिलाना चाहते हो तो वह रुरुकी ही आधी आयुसे संयुक्त होकर जीवित हो उठे ।। १५ ।।

सौतिरुवाच

एवमुक्ते ततः कन्या सोदतिष्ठत् प्रमद्वरा ।
रुरोस्तस्यायुषोऽर्धेन सुप्तेव वरवर्णिनी ।। १६ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—धर्मराजके ऐसा कहते ही वह सुन्दरी मुनिकन्या प्रमद्वरा रुरुकी आधी आयुसे संयुक्त हो सोयी हुईकी भाँति जाग उठी ।। १६ ।।

एतद् दृष्टं भविष्ये हि रुरोरुत्तमतेजसः ।
आयुषोऽतिप्रवृद्धस्य भार्यार्थेऽर्धमलुप्यत ।। १७ ।।
तत इष्टेऽहनि तयोः पितरौ चक्रतुर्मुदा ।
विवाहं तौ च रेमाते परस्परहितैषिणौ ।। १८ ।।

उत्तम तेजस्वी रुरुके भाग्यमें ऐसी बात देखी गयी थी। उनकी आयु बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। जब उन्होंने भार्याके लिये अपनी आधी आयु दे दी, तब दोनोंके पिताओंने निश्चित दिनमें प्रसन्नतापूर्वक उनका विवाह कर दिया। वे दोनों दम्पति एक-दूसरेके हितैषी होकर आनन्दपूर्वक रहने लगे ।। १७-१८ ।।

स लब्ध्वा दुर्लभां भार्यां पद्मकिञ्जल्कसुप्रभाम् ।
व्रतं चक्रे विनाशाय जिह्मगानां धृतव्रतः ।। १९ ।।

कमलके केसरकी-सी कान्तिवाली उस दुर्लभ भार्याको पाकर व्रतधारी रुरुने सर्पोंके विनाशका निश्चय कर लिया ।। १९ ।।

स दृष्ट्वा जिह्मगान् सर्वांस्तीव्रकोपसमन्वितः ।
अभिहन्ति यथासत्त्वं गृह्य प्रहरणं सदा ।। २० ।।

वह सर्पोंको देखते ही अत्यन्त क्रोधमें भर जाता और हाथमें डंडा ले उनपर यथाशक्ति प्रहार करता था ।। २० ।।

स कदाचिद् वनं विप्रो रुरुरभ्यागमन्महत् ।
शयानं तत्र चापश्यद् डुण्डुभं वयसान्वितम् ।। २१ ।।

एक दिनकी बात है, ब्राह्मण रुरु किसी विशाल वनमें गया, वहाँ उसने डुण्डुभ जातिके एक बूढ़े साँपको सोते देखा ।। २१ ।।

तत उद्यम्य दण्डं स कालदण्डोपमं तदा ।
जिघांसुः कुपितो विप्रस्तमुवाचाथ डुण्डुभः ।। २२ ।।

उसे देखते ही उसके क्रोधका पारा चढ़ गया और उस ब्राह्मणने उस समय सर्पको मार डालनेकी इच्छासे कालदण्डके समान भयंकर डंडा उठाया। तब उस डुण्डुभने मनुष्यकी बोलीमें कहा— ।। २२ ।।

नापराध्यामि ते किञ्चिदहमद्य तपोधन ।
संरम्भाच्च किमर्थं मामभिहंसि रुषान्वितः ।। २३ ।।

‘तपोधन! आज मैंने तुम्हारा कोई अपराध तो नहीं किया है? फिर किसलिये क्रोधके आवेशमें आकर तुम मुझे मार रहे हो’ ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि प्रमद्वराजीवने नवमोऽध्यायः ।। ९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें प्रमद्वराके जीवित होनेसे सम्बन्ध रखनेवाला नवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

दशमोऽध्यायः

रुरु मुनि और डुण्डुभका संवाद

रुरुरुवाच

मम प्राणसमा भार्या दष्टासीद् भुजगेन ह ।
तत्र मे समयो घोर आत्मनोरग वै कृतः ।। १ ।।
भुजङ्गं वै सदा हन्यां यं यं पश्येयमित्युत ।
ततोऽहं त्वां जिघांसामि जीवितेनाद्य मोक्ष्यसे ।। २ ।।

रुरु बोला—सर्प! मेरी प्राणोंके समान प्यारी पत्नीको एक साँपने डँस लिया था। उसी समय मैंने यह घोर प्रतिज्ञा कर ली कि जिस-जिस सर्पको देख लूँगा, उसे-उसे अवश्य मार डालूँगा। उसी प्रतिज्ञाके अनुसार मैं तुम्हें मार डालना चाहता हूँ। अतः आज तुम्हें अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा ।। १-२ ।।

डुण्डुभ उवाच

अन्ये ते भुजगा ब्रह्मन् ये दशन्तीह मानवान् ।
डुण्डुभानहिगन्धेन न त्वं हिंसितुमर्हसि ।। ३ ।।

डुण्डुभने कहा—ब्रह्मन्! वे दूसरे ही साँप हैं जो इस लोकमें मनुष्योंको डँसते हैं। साँपोंकी आकृति-मात्रसे ही तुम्हें डुण्डुभोंको नहीं मारना चाहिये ।। ३ ।।

रुरुके दर्शनसे सहस्रपाद ऋषिकी सर्पयोनिसे मुक्ति

एकानर्थान् पृथगर्थानेकदुःखान् पृथक्सुखान् ।
डुण्डुभान् धर्मविद् भूत्वा न त्वं हिंसितुमर्हसि ।। ४ ।।

अहो! आश्चर्य है, बेचारे डुण्डुभ अनर्थ भोगनेमें सब सर्पोंके साथ एक हैं; परंतु उनका स्वभाव दूसरे सर्पोंसे भिन्न है तथा दुःख भोगनेमें तो वे सब सर्पोंके साथ एक हैं; किंतु सुख सबका अलग-अलग है। तुम धर्मज्ञ हो, अतः तुम्हें डुण्डुभोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये ।। ४ ।।

सौतिरुवाच

इति श्रुत्वा वचस्तस्य भुजगस्य रुरुस्तदा ।
नावधीद् भयसंविग्नमृषिं मत्वाथ डुण्डुभम् ।। ५ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—डुण्डुभ सर्पका यह वचन सुनकर रुरुने उसे कोई भयभीत ऋषि समझा, अतः उसका वध नहीं किया ।। ५ ।।

उवाच चैनं भगवान् रुरुः संशमयन्निव ।
कामं मां भुजग ब्रूहि कोऽसीमां विक्रियां गतः ।। ६ ।।

इसके सिवा, बड़भागी रुरुने उसे शान्ति प्रदान करते हुए-से कहा—‘भुजंगम! बताओ, इस विकृत (सर्प)-योनिमें पड़े हुए तुम कौन हो?’ ।। ६ ।।

डुण्डुभ उवाच

अहं पुरा रुरो नाम्ना ऋषिरासं सहस्रपात् ।
सोऽहं शापेन विप्रस्य भुजगत्वमुपागतः ।। ७ ।।

डुण्डुभने कहा—रुरो! मैं पूर्वजन्ममें सहस्रपाद नामक ऋषि था; किंतु एक ब्राह्मणके शापसे मुझे सर्पयोनिमें आना पड़ा है ।। ७ ।।

रुरुरुवाच

किमर्थं शप्तवान् क्रुद्धो द्विजस्त्वां भुजगोत्तम ।
कियन्तं चैव कालं ते वपुरेतद् भविष्यति ।। ८ ।।

रुरुने पूछा—भुजगोत्तम! उस ब्राह्मणने किसलिये कुपित होकर तुम्हें शाप दिया? तुम्हारा यह शरीर अभी कितने समयतक रहेगा? ।। ८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि रुरुडुण्डुभसंवादे दशमोऽध्यायः ।। १० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें रुरु-डुण्डुभसंवादविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १० ।।

एकादशोऽध्यायः

डुण्डुभकी आत्मकथा तथा उसके द्वारा रुरुको अहिंसाका उपदेश

डुण्डुभ उवाच

सखा बभूव मे पूर्वं खगमो नाम वै द्विजः ।
भृशं संशितवाक् तात तपोबलसमन्वितः ।। १ ।।
स मया क्रीडता बाल्ये कृत्वा तार्णं भुजङ्गमम् ।
अग्निहोत्रे प्रसक्तस्तु भीषितः प्रमुमोह वै ।। २ ।।

डुण्डुभने कहा—तात! पूर्वकालमें खगम नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण मेरा मित्र था। वह महान् तपोबलसे सम्पन्न होकर भी बहुत कठोर वचन बोला करता था। एक दिन वह अग्निहोत्रमें लगा था। मैंने खिलवाड़में तिनकोंका एक सर्प बनाकर उसे डरा दिया। वह भयके मारे मूर्च्छित हो गया ।। १-२ ।।

लब्ध्वा स च पुनः संज्ञां मामुवाच तपोधनः ।
निर्दहन्निव कोपेन सत्यवाक् संशितव्रतः ।। ३ ।।

फिर होशमें आनेपर वह सत्यवादी एवं कठोरव्रती तपस्वी मुझे क्रोधसे दग्ध-सा करता हुआ बोला— ।। ३ ।।

यथावीर्यस्त्वया सर्पः कृतोऽयं मद्बिभीषया ।
तथावीर्यो भुजङ्गस्त्वं मम शापाद् भविष्यसि ।। ४ ।।

'अरे! तूने मुझे डरानेके लिये जैसा अल्प शक्तिवाला सर्प बनाया था, मेरे शापवश ऐसा ही अल्पशक्तिसम्पन्न सर्प तुझे भी होना पड़ेगा' ।। ४ ।।

तस्याहं तपसो वीर्यं जानन्नासं तपोधन ।
भृशमुद्विग्नहृदयस्तमवोचमहं तदा ।। ५ ।।
प्रणतः सम्भ्रमाच्चैव प्राञ्जलिः पुरतः स्थितः ।
सखेति सहसेदं ते नर्मार्थं वै कृतं मया ।। ६ ।।
क्षन्तुमर्हसि मे ब्रह्मन् शापोऽयं विनिवर्त्यताम् ।
सोऽथ मामब्रवीद् दृष्ट्वा भृशमुद्विग्नचेतसम् ।। ७ ।।
मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य सुसम्भ्रान्तस्तपोधनः ।
नानृतं वै मया प्रोक्तं भवितेदं कथंचन ।। ८ ।।

तपोधन! मैं उसकी तपस्याका बल जानता था, अतः मेरा हृदय अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और बड़े वेगसे उसके चरणोंमें प्रणाम करके, हाथ जोड़, सामने खड़ा हो, उस तपोधनसे

बोला—सखे! मैंने परिहासके लिये सहसा यह कार्य कर डाला है। ब्रह्मन्! इसके लिये क्षमा करो और अपना यह शाप लौटा लो। मुझे अत्यन्त घबराया हुआ देखकर सम्भ्रममें पड़े हुए उस तपस्वीने बार-बार गरम साँस खींचते हुए कहा—'मेरी कही हुई यह बात किसी प्रकार झूठी नहीं हो सकती' ।। ५—८ ।।

यत्तु वक्ष्यामि ते वाक्यं शृणु तन्मे तपोधन ।
श्रुत्वा च हृदि ते वाक्यमिदमस्तु सदानघ ।। ९ ।।

'निष्पाप तपोधन! इस समय मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनो और सुनकर अपने हृदयमें सदा धारण करो ।। ९ ।।

उत्पत्स्यति रुरुर्नाम प्रमतेरात्मजः शुचिः ।
तं दृष्ट्वा शापमोक्षस्ते भविता नचिरादिव ।। १० ।।

'भविष्यमें महर्षि प्रमतिके पवित्र पुत्र रुरु उत्पन्न होंगे, उनका दर्शन करके तुम्हें शीघ्र ही इस शापसे छुटकारा मिल जायगा' ।। १० ।।

स त्वं रुरुरिति ख्यातः प्रमतेरात्मजोऽपि च ।
स्वरूपं प्रतिपद्याहमद्य वक्ष्यामि ते हितम् ।। ११ ।।

जान पड़ता है तुम वही रुरु नामसे विख्यात महर्षि प्रमतिके पुत्र हो। अब मैं अपना स्वरूप धारण करके तुम्हारे हितकी बात बताऊँगा ।। ११ ।।

स डौण्डुभं परित्यज्य रूपं विप्रर्षभस्तदा ।
स्वरूपं भास्वरं भूयः प्रतिपेदे महायशाः ।। १२ ।।
इदं चोवाच वचनं रुरुमप्रतिमौजसम् ।
अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां वर ।। १३ ।।

इतना कहकर महायशस्वी विप्रवर सहस्रपादने डुण्डुभका रूप त्यागकर पुनः अपने प्रकाशमान स्वरूपको प्राप्त कर लिया। फिर अनुपम ओजवाले रुरुसे यह बात कही—'समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण! अहिंसा सबसे उत्तम धर्म है ।। १२-१३ ।।

तस्मात् प्राणभृतः सर्वान् न हिंस्याद् ब्राह्मणः क्वचित् ।
ब्राह्मणः सौम्य एवेह भवतीति परा श्रुतिः ।। १४ ।।

'अतः ब्राह्मणको समस्त प्राणियोंमेंसे किसीकी कभी और कहीं भी हिंसा नहीं करनी चाहिये। ब्राह्मण इस लोकमें सदा सौम्य स्वभावका ही होता है, ऐसा श्रुतिका उत्तम वचन है ।। १४ ।।

वेदवेदाङ्गविन्नाम सर्वभूताभयप्रदः ।
अहिंसा सत्यवचनं क्षमा चेति विनिश्चितम् ।। १५ ।।
ब्राह्मणस्य परो धर्मो वेदानां धारणापि च ।
क्षत्रियस्य हि यो धर्मः स हि नेष्येत वै तव ।। १६ ।।

‘वह वेद-वेदांगोंका विद्वान् और समस्त प्राणियोंको अभय देनेवाला होता है। अहिंसा, सत्यभाषण, क्षमा और वेदोंका स्वाध्याय निश्चय ही ये ब्राह्मणके उत्तम धर्म हैं। क्षत्रियका जो धर्म है वह तुम्हारे लिये अभीष्ट नहीं है ।। १५-१६ ।।

दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ।
तदिदं क्षत्रियस्यासीत् कर्म वै शृणु मे रुरो ।। १७ ।।
जनमेजयस्य यज्ञेऽस्मिन् सर्पाणां हिंसनं पुरा ।
परित्राणं च भीतानां सर्पाणां ब्राह्मणादपि ।। १८ ।।
तपोवीर्यबलोपेताद् वेदवेदाङ्गपारगात् ।
आस्तीकाद् द्विजमुख्याद् वै सर्पसत्रे द्विजोत्तम ।। १९ ।।

‘रुरो! दण्डधारण, उग्रता और प्रजापालन—ये सब क्षत्रियोंके कर्म रहे हैं। मेरी बात सुनो, पहले राजा जनमेजयके यज्ञमें सर्पोंकी बड़ी भारी हिंसा हुई। द्विजश्रेष्ठ! फिर उसी सर्पसत्रमें तपस्याके बल-वीर्यसे सम्पन्न, वेद वेदांगोंके पारंगत विद्वान् विप्रवर आस्तीक नामक ब्राह्मणके द्वारा भयभीत सर्पोंकी प्राणरक्षा हुई’ ।। १७—१९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि डुण्डुभशापमोक्षे एकादशोऽध्यायः ।। ११ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें डुण्डुभशापमोक्षविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११ ।।

द्वादशोऽध्यायः

जनमेजयके सर्पसत्रके विषयमें रुरुकी जिज्ञासा और पिताद्वारा उसकी पूर्ति

रुरुरुवाच

कथं हिंसितवान् सर्पान् स राजा जनमेजयः ।
सर्पा वा हिंसितास्तत्र किमर्थं द्विजसत्तम ।। १ ।।

रुरुने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! राजा जनमेजयने सर्पोंकी हिंसा कैसे की? अथवा उन्होंने किसलिये यज्ञमें सर्पोंकी हिंसा करवायी? ।। १ ।।

किमर्थं मोक्षिताश्चैव पन्नगास्तेन धीमता ।
आस्तीकेन द्विजश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छाम्यशेषतः ।। २ ।।

विप्रवर! परम बुद्धिमान् महात्मा आस्तीकने किसलिये सर्पोंको उस यज्ञसे बचाया था? यह सब मैं पूर्णरूपसे सुनना चाहता हूँ ।। २ ।।

ऋषिरुवाच

श्रोष्यसि त्वं रुरो सर्वमास्तीकचरितं महत् ।
ब्राह्मणानां कथयतामित्युक्त्वान्तरधीयत ।। ३ ।।

ऋषिने कहा—'रुरो! तुम कथावाचक ब्राह्मणोंके मुखसे आस्तीकका महान् चरित्र सुनोगे।' ऐसा कहकर सहस्रपाद मुनि अन्तर्धान हो गये ।। ३ ।।

सौतिरुवाच

रुरुश्चापि वनं सर्वं पर्यधावत् समन्ततः ।
तमृषिं नष्टमन्विच्छन् संश्रान्तो न्यपतद् भुवि ।। ४ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर रुरु वहाँ अदृश्य हुए मुनिकी खोजमें उस वनके भीतर सब ओर दौड़ता रहा और अन्तमें थककर पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। ४ ।।

स मोहं परमं गत्वा नष्टसंज्ञ इवाभवत् ।
तदृषेर्वचनं तथ्यं चिन्तयानः पुनः पुनः ।। ५ ।।
लब्धसंज्ञो रुरुश्चायात् तदाचख्यौ पितुस्तदा ।
पिता चास्य तदाख्यानं पृष्टः सर्वं न्यवेदयत् ।। ६ ।।

गिरनेपर उसे बड़ी भारी मूर्च्छाने दबा लिया। उसकी चेतना नष्ट-सी हो गयी। महर्षिके यथार्थ वचनका बार-बार चिन्तन करते हुए होशमें आनेपर रुरु घर लौट आया। उस समय उसने पितासे वे सब बातें कह सुनायीं और पितासे भी आस्तीकका उपाख्यान पूछा। रुरुके पूछनेपर पिताने सब कुछ बता दिया ।। ५-६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि सर्पसत्रप्रस्तावनायां द्वादशोऽध्यायः ।। १२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें सर्पसत्रप्रस्तावनाविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२ ।।

(आस्तीकपर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

जरत्कारुका अपने पितरोंके अनुरोधसे विवाहके लिये उद्यत होना

शौनक उवाच

किमर्थं राजशार्दूलः स राजा जनमेजयः ।
सर्पसत्रेण सर्पाणां गतोऽन्तं तद् वदस्व मे ।। १ ।।
निखिलेन यथातत्त्वं सौते सर्वमशेषतः ।
आस्तीकश्च द्विजश्रेष्ठः किमर्थं जपतां वरः ।। २ ।।
मोक्षयामास भुजगान् प्रदीप्ताद् वसुरेतसः ।
कस्य पुत्रः स राजासीत् सर्पसत्रं य आहरत् ।। ३ ।।
स च द्विजातिप्रवरः कस्य पुत्रोऽभिधत्स्व मे ।

शौनकजीने पूछा—सूतजी! राजाओंमें श्रेष्ठ जनमेजयने किसलिये सर्पसत्रद्वारा सर्पोंका अन्त किया? यह प्रसंग मुझसे कहिये। सूतनन्दन! इस विषयकी सब बातोंका यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये। जप-यज्ञ करनेवाले पुरुषोंमें श्रेष्ठ विप्रवर आस्तीकने किसलिये सर्पोंको प्रज्वलित अग्निमें जलनेसे बचाया और वे राजा जनमेजय, जिन्होंने सर्पसत्रका आयोजन किया था, किसके पुत्र थे? तथा द्विजवंशशिरोमणि आस्तीक भी किसके पुत्र थे? यह मुझे बताइये ।। १—३½ ।।

सौतिरुवाच

महदाख्यानमास्तीकं यथैतत् प्रोच्यते द्विज ।। ४ ।।
सर्वमेतदशेषेण शृणु मे वदतां वर ।

उग्रश्रवाजीने कहा—ब्रह्मन्! आस्तीकका उपाख्यान बहुत बड़ा है। वक्ताओंमें श्रेष्ठ! यह प्रसंग जैसे कहा जाता है, वह सब पूरा-पूरा सुनो ।। ४½ ।।

शौनक उवाच

श्रोतुमिच्छाम्यशेषेण कथामेतां मनोरमाम् ।। ५ ।।
आस्तीकस्य पुराणर्षेर्ब्राह्मणस्य यशस्विनः ।

शौनकजीने कहा—सूतनन्दन! पुरातन ऋषि एवं यशस्वी ब्राह्मण आस्तीककी इस मनोरम कथाको मैं पूर्णरूपसे सुनना चाहता हूँ ।। ५½ ।।

सौतिरुवाच

इतिहासमिमं विप्राः पुराणं परिचक्षते ।। ६ ।।
कृष्णद्वैपायनप्रोक्तं नैमिषारण्यवासिषु ।
पूर्वं प्रचोदितः सूतः पिता मे लोमहर्षणः ।। ७ ।।
शिष्यो व्यासस्य मेधावी ब्राह्मणेष्विदमुक्तवान् ।
तस्मादहमुपश्रुत्य प्रवक्ष्यामि यथातथम् ।। ८ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनकजी! ब्राह्मणलोग इस इतिहासको बहुत पुराना बताते हैं। पहले मेरे पिता लोमहर्षणजीने, जो व्यासजीके मेधावी शिष्य थे, ऋषियोंके पूछनेपर साक्षात् श्रीकृष्णद्वैपायन (व्यास)-के कहे हुए इस इतिहासका नैमिषारण्यवासी ब्राह्मणोंके समुदायमें वर्णन किया था। उन्हींके मुखसे सुनकर मैं भी इसका यथावत् वर्णन करता हूँ ।। ६—८ ।।

इदमास्तीकमाख्यानं तुभ्यं शौनक पृच्छते ।
कथयिष्याम्यशेषेण सर्वपापप्रणाशनम् ।। ९ ।।

शौनकजी! यह आस्तीक मुनिका उपाख्यान सब पापोंका नाश करनेवाला है। आपके पूछनेपर मैं इसका पूरा-पूरा वर्णन कर रहा हूँ ।। ९ ।।

आस्तीकस्य पिता ह्यासीत् प्रजापतिसमः प्रभुः ।
ब्रह्मचारी यताहारस्तपस्युग्रे रतः सदा ।। १० ।।

आस्तीकके पिता प्रजापतिके समान प्रभावशाली थे। ब्रह्मचारी होनेके साथ ही उन्होंने आहारपर भी संयम कर लिया था। वे सदा उग्र तपस्यामें संलग्न रहते थे ।। १० ।।

जरत्कारुरिति ख्यात ऊर्ध्वरेता महातपाः ।
यायावराणां प्रवरो धर्मज्ञः संशितव्रतः ।। ११ ।।
स कदाचिन्महाभागस्तपोबलसमन्वितः ।
चचार पृथिवीं सर्वां यत्रसायंगृहो मुनिः ।। १२ ।।

उनका नाम था जरत्कारु। वे ऊर्ध्वरेता और महान् ऋषि थे। यायावरोंमें[१] उनका स्थान सबसे ऊँचा था। वे धर्मके ज्ञाता थे। एक समय तपोबलसे सम्पन्न उन महाभाग जरत्कारुने यात्रा प्रारम्भ की। वे मुनि-वृत्तिसे रहते हुए जहाँ शाम होती वहीं डेरा डाल देते थे ।। ११-१२ ।।

तीर्थेषु च समाप्लावं कुर्वन्नटति सर्वशः ।
चरन् दीक्षां महातेजा दुश्चरामकृतात्मभिः ।। १३ ।।

वे सब तीर्थोंमें स्नान करते हुए घूमते थे। उन महातेजस्वी मुनिने कठोर व्रतोंकी ऐसी दीक्षा लेकर यात्रा प्रारम्भ की थी, जो अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुःसाध्य थी ।। १३ ।।

वायुभक्षो निराहारः शुष्यन्ननिमिषो मुनिः ।
इतस्ततः परिचरन् दीप्तपावकसप्रभः ।। १४ ।।
अटमानः कदाचित् स्वान् स ददर्श पितामहान् ।
लम्बमानान् महागर्ते पादैरूर्ध्वैरवाङ्मुखान् ।। १५ ।।

वे कभी वायु पीकर रहते और कभी भोजनका सर्वथा त्याग करके अपने शरीरको सुखाते रहते थे। उन महर्षिने निद्रापर भी विजय प्राप्त कर ली थी, इसलिये उनकी पलक नहीं लगती थी। इधर-उधर विचरण करते हुए वे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी जान पड़ते थे। घूमते-घूमते किसी समय उन्होंने अपने पितामहोंको देखा जो ऊपरको पैर और नीचेको सिर किये एक विशाल गड्ढेमें लटक रहे थे ।। १४-१५ ।।

तानब्रवीत् स दृष्ट्वैव जरत्कारुः पितामहान् ।
के भवन्तोऽवलम्बन्ते गर्ते ह्यस्मिन्नधोमुखाः ।। १६ ।।

उन्हें देखते ही जरत्कारुने उनसे पूछा—'आपलोग कौन हैं, जो इस गड्ढेमें नीचेको मुख किये लटक रहे हैं ।। १६ ।।

वीरणस्तम्बके लग्नाः सर्वतः परिभक्षिते ।
मूषकेन निगूढेन गर्तेऽस्मिन् नित्यवासिना ।। १७ ।।

'आप जिस वीरणस्तम्ब (खस नामक तिनकोंके समूह) -को पकड़कर लटक रहे हैं, उसे इस गड्ढेमें गुप्तरूपसे नित्य निवास करनेवाले चूहेने सब ओरसे प्रायः खा लिया है' ।। १७ ।।[२]

पितर ऊचुः

यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः ।
संतानप्रक्षयाद् ब्रह्मन्नधो गच्छाम मेदिनीम् ।। १८ ।।

पितर बोले—ब्रह्मन्! हमलोग कठोर व्रतका पालन करनेवाले यायावर नामक मुनि हैं। अपनी संतान-परम्पराका नाश होनेसे हम नीचे—पृथ्वीपर गिरना चाहते हैं ।। १८ ।।

अस्माकं संततिस्त्वेको जरत्कारुरिति स्मृतः ।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एव समास्थितः ।। १९ ।।

हमारी एक संतति बच गयी है, जिसका नाम है जरत्कारु। हम भाग्यहीनोंकी वह अभागी संतान केवल तपस्यामें ही संलग्न है ।। १९ ।।

न स पुत्राञ्जनयितुं दारान् मूढश्चिकीर्षति ।
तेन लम्बामहे गर्ते संतानस्य क्षयादिह ।। २० ।।
अनाथास्तेन नाथेन यया दुष्कृतिनस्तथा ।
कस्त्वं बन्धुरिवास्माकमनुशोचसि सत्तम ।। २१ ।।
ज्ञातुमिच्छामहे ब्रह्मन् को भवानिह नः स्थितः ।
किमर्थं चैव नः शोच्याननुशोचसि सत्तम ।। २२ ।।

वह मूढ़ पुत्र उत्पन्न करनेके लिये किसी स्त्रीसे विवाह करना नहीं चाहता है। अतः वंशपरम्पराका विनाश होनेसे हम यहाँ इस गड्ढेमें लटक रहे हैं। हमारी रक्षा करनेवाला वह वंशधर मौजूद है, तो भी पापकर्मी मनुष्योंकी भाँति हम अनाथ हो गये हैं। साधुशिरोमणे! तुम कौन हो जो हमारे बन्धु-बान्धवोंकी भाँति हमलोगोंकी इस दयनीय दशाके लिये शोक कर रहे हो? ब्रह्मन्! हम यह जानना चाहते हैं कि तुम कौन हो जो आत्मीयकी भाँति यहाँ हमारे पास खड़े हो? सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ! हम शोचनीय प्राणियोंके लिये तुम क्यों शोकमग्न होते हो ।। २०—२२ ।।

जरत्कारुरुवाच

मम पूर्वे भवन्तो वै पितरः सपितामहाः ।
ब्रूत किं करवाण्यद्य जरत्कारुरहं स्वयम् ।। २३ ।।

जरत्कारुने कहा—महात्माओ! आपलोग मेरे ही पितामह और पूर्वज पितृगण हैं। स्वयं मैं ही जरत्कारु हूँ। बताइये, आज आपकी क्या सेवा करूँ? ।। २३ ।।

पितर ऊचुः

यतस्व यत्नवांस्तात संतानाय कुलस्य नः ।
आत्मनोऽर्थेऽस्मदर्थे च धर्म इत्येव वा विभो ।। २४ ।।

पितर बोले—तात! तुम हमारे कुलकी संतान-परम्पराको बनाये रखनेके लिये निरन्तर यत्नशील रहकर विवाहके लिये प्रयत्न करो। प्रभो! तुम अपने लिये, हमारे लिये अथवा धर्मका पालन हो, इस उद्देश्यसे पुत्रकी उत्पत्तिके लिये यत्न करो ।। २४ ।।

न हि धर्मफलैस्तात न तपोभिः सुसंचितैः ।
तां गतिं प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो यां व्रजन्ति वै ।। २५ ।।

तात! पुत्रवाले मनुष्य इस लोकमें जिस उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं, उसे अन्य लोग धर्मानुकूल फल देनेवाले भलीभाँति संचित किये हुए तपसे भी नहीं पाते ।। २५ ।।

तद् दारग्रहणे यत्नं संतत्यां च मनः कुरु ।
पुत्रकास्मन्नियोगात् त्वमेतन्नः परमं हितम् ।। २६ ।।

अतः बेटा! तुम हमारी आज्ञासे विवाह करनेका प्रयत्न करो और संतानोत्पादनकी ओर ध्यान दो। यही हमारे लिये सर्वोत्तम हितकी बात होगी ।। २६ ।।

जरत्कारुरुवाच

न दारान् वै करिष्येऽहं न धनं जीवितार्थतः ।
भवतां तु हितार्थाय करिष्ये दारसंग्रहम् ।। २७ ।।

जरत्कारुने कहा—पितामहगण! मैंने अपने मनमें यह निश्चय कर लिया था कि मैं जीवनके सुख-भोगके लिये कभी न तो पत्नीका परिग्रह करूँगा और न धनका संग्रह ही; परंतु यदि ऐसा करनेसे आपलोगोंका हित होता है तो उसके लिये अवश्य विवाह कर लूँगा ।। २७ ।।

समयेन च कर्ताहमनेन विधिपूर्वकम् ।
तथा यद्युपलप्स्यामि करिष्ये नान्यथा ह्यहम् ।। २८ ।।

किंतु एक शर्तके साथ मुझे विधिपूर्वक विवाह करना है। यदि उस शर्तके अनुसार किसी कुमारी कन्याको पाऊँगा, तभी उससे विवाह करूँगा, अन्यथा विवाह करूँगा ही नहीं ।। २८ ।।

सनाम्नी या भवित्री मे दित्सिता चैव बन्धुभिः ।
भैक्ष्यवत्तामहं कन्यामुपयंस्ये विधानतः ।। २९ ।।

(वह शर्त यों है—) जिस कन्याका नाम मेरे नामके ही समान हो, जिसे उसके भाई-बन्धु स्वयं मुझे देनेकी इच्छासे रखते हों और जो भिक्षाकी भाँति स्वयं प्राप्त हुई हो, उसी कन्याका मैं शास्त्रीय विधिके अनुसार पाणिग्रहण करूँगा ।। २९ ।।

दरिद्राय हि मे भार्यां को दास्यति विशेषतः ।
प्रतिग्रहीष्ये भिक्षां तु यदि कश्चित् प्रदास्यति ।। ३० ।।

विशेष बात तो यह है कि मैं दरिद्र हूँ, भला मुझे माँगनेपर भी कौन अपनी कन्या पत्नीरूपमें प्रदान करेगा? इसलिये मेरा विचार है कि यदि कोई भिक्षाके तौरपर अपनी कन्या देगा तो उसे ग्रहण करूँगा ।। ३० ।।

एवं दारक्रियाहेतोः प्रयतिष्ये पितामहाः ।
अनेन विधिना शश्वन्न करिष्येऽहमन्यथा ।। ३१ ।।

पितामहो! मैं इसी प्रकार, इसी विधिसे विवाहके लिये सदा प्रयत्न करता रहूँगा। इसके विपरीत कुछ नहीं करूँगा ।। ३१ ।।

तत्र चोत्पत्स्यते जन्तुर्भवतां तारणाय वै ।
शाश्वतं स्थानमासाद्य मोदन्तां पितरो मम ।। ३२ ।।

इस प्रकार मिली हुई पत्नीके गर्भसे यदि कोई प्राणी जन्म लेगा तो वह आपलोगोंका उद्धार करेगा, अतः आप मेरे पितर अपने सनातन स्थानपर जाकर वहाँ प्रसन्नतापूर्वक रहें ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कारुतत्पितृसंवादे त्रयोदशोऽध्यायः ।। १३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जरत्कारु तथा उनके पितरोंका संवाद नामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३ ।।

---

१. यायावरका अर्थ है सदा विचरनेवाला मुनि। मुनिवृत्तिसे रहते हुए सदा इधर-उधर घूमते रहनेवाले गृहस्थ ब्राह्मणोंके एक समूहविशेषकी यायावर संज्ञा है। ये लोग एक गाँवमें एक रातसे अधिक नहीं ठहरते और पक्षमें एक बार अग्निहोत्र करते हैं। पक्षहोम सम्प्रदायकी प्रवृत्ति इन्हींसे हुई है। इनके विषयमें भारद्वाजका वचन इस प्रकार मिलता है—

यायावरा नाम ब्राह्मणा आसंस्ते अर्धमासादग्निहोत्रमजुह्वन् ।

यायावरलोग घूमते-घूमते जहाँ संध्या हो जाती है वहीं ठहर जाते हैं।

२. यहाँ भूलोक ही गड्ढा है। स्वर्गवासी पितरोंको जो नीचे गिरनेका भय लगा रहता है उसीको सूचित करनेके लिये यह कहा गया है कि उनके पैर ऊपर थे और सिर नीचे। काल ही चूहा है और वंशपरम्परा ही वीरणस्तम्ब (खस नामक तिनकोंका समुदाय) है। उस वंशमें केवल जरत्कारु बच गये थे और अन्य सब पुरुष कालके अधीन हो चुके थे। यही व्यक्त करनेके लिये चूहेके द्वारा तिनकोंके समुदायको सब ओरसे खाया हुआ बताया गया है। जरत्कारुके विवाह न करनेसे उस वंशका वह शेष अंश भी नष्ट होना चाहता था। इसीलिये पितर व्याकुल थे और जरत्कारुको इसका बोध करानेके लिये उन्होंने इस प्रकार दर्शन दिया था।

चतुर्दशोऽध्यायः

जरत्कारुद्वारा वासुकिकी बहिनका पाणिग्रहण

सौतिरुवाच

ततो निवेशाय तदा स विप्रः संशितव्रतः ।
महीं चचार दारार्थी न च दारानविन्दत ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण भार्याकी प्राप्तिके लिये इच्छुक होकर पृथ्वीपर सब ओर विचरने लगे; किंतु उन्हें पत्नीकी उपलब्धि नहीं हुई ।। १ ।।

स कदाचिद् वनं गत्वा विप्रः पितृवचः स्मरन् ।
चुक्रोश कन्याभिक्षार्थी तिस्रो वाचः शनैरिव ।। २ ।।

एक दिन किसी वनमें जाकर विप्रवर जरत्कारुने पितरोंके वचनका स्मरण करके कन्याकी भिक्षाके लिये तीन बार धीरे-धीरे पुकार लगायी—'कोई भिक्षारूपमें कन्या दे जाय' ।। २ ।।

तं वासुकिः प्रत्यगृह्णादुद्यम्य भगिनीं तदा ।
न स तां प्रतिजग्राह न सनाम्नीति चिन्तयन् ।। ३ ।।

इसी समय नागराज वासुकि अपनी बहिनको लेकर मुनिकी सेवामें उपस्थित हो गये और बोले, 'यह भिक्षा ग्रहण कीजिये।' किंतु उन्होंने यह सोचकर कि शायद यह मेरे-जैसे नामवाली न हो, उसे तत्काल ग्रहण नहीं किया ।। ३ ।।

सनाम्नीं चोद्यतां भार्यां गृह्णीयामिति तस्य हि ।
मनो निविष्टमभवज्जरत्कारोर्महात्मनः ।। ४ ।।

उन महात्मा जरत्कारुका मन इस बातपर स्थिर हो गया था कि मेरे-जैसे नामवाली कन्या यदि उपलब्ध हो तो उसीको पत्नीरूपमें ग्रहण करूँ ।। ४ ।।

तमुवाच महाप्राज्ञो जरत्कारुर्महातपाः ।
किंनाम्नी भगिनीयं ते ब्रूहि सत्यं भुजंगम ।। ५ ।।

ऐसा निश्चय करके परम बुद्धिमान् एवं महान् तपस्वी जरत्कारुने पूछा—'नागराज! सच-सच बताओ, तुम्हारी इस बहिनका क्या नाम है?' ।। ५ ।।

वासुकिरुवाच

जरत्कारो जरत्कारुः स्वसेयमनुजा मम ।
प्रतिगृह्णीष्व भार्यार्थे मया दत्तां सुमध्यमाम् ।
त्वदर्थं रक्षिता पूर्वं प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम ।। ६ ।।

वासुकिने कहा—जरत्कारो! यह मेरी छोटी बहिन जरत्कारु नामसे ही प्रसिद्ध है। इस सुन्दर कटिप्रदेशवाली कुमारीको पत्नी बनानेके लिये मैंने स्वयं आपकी सेवामें समर्पित किया है। इसे स्वीकार कीजिये। द्विजश्रेष्ठ! यह बहुत पहलेसे आपहीके लिये सुरक्षित रखी गयी है, अतः इसे ग्रहण करें ।। ६ ।।

एवमुक्त्वा ततः प्रादाद् भार्यार्थे वरवर्णिनीम् ।
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।। ७ ।।

ऐसा कहकर वासुकिने वह सुन्दरी कन्या मुनिको पत्नीरूपमें प्रदान की। मुनिने भी शास्त्रीय विधिके अनुसार उसका पाणिग्रहण किया ।। ७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि वासुकिस्वसृवरणे चतुर्दशोऽध्यायः ।। १४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें वासुकिकी बहिनके वरणसे सम्बन्ध रखनेवाला चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४ ।।

पञ्चदशोऽध्यायः

आस्तीकका जन्म तथा मातृशापसे सर्पसत्रमें नष्ट होनेवाले नागवंशकी उनके द्वारा रक्षा

सौतिरुवाच

मात्रा हि भुजगाः शप्ताः पूर्वं ब्रह्मविदां वर ।
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ शौनक! पूर्वकालमें नागमाता कद्रूने सर्पोंको यह शाप दिया था कि तुम्हें जनमेजयके यज्ञमें अग्नि भस्म कर डालेगी ।। १ ।।

तस्य शापस्य शान्त्यर्थं प्रददौ पन्नगोत्तमः ।
स्वसारमृषये तस्मै सुव्रताय महात्मने ।। २ ।।
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
आस्तीको नाम पुत्रश्च तस्यां जज्ञे महामनाः ।। ३ ।।

उसी शापकी शान्तिके लिये नागप्रवर वासुकिने सदाचारका पालन करनेवाले महात्मा जरत्कारुको अपनी बहिन ब्याह दी थी। महामना जरत्कारुने शास्त्रीय विधिके अनुसार उस नागकन्याका पाणिग्रहण किया और उसके गर्भसे आस्तीक नामक पुत्रको जन्म दिया ।। २-३ ।।

तपस्वी च महात्मा च वेदवेदाङ्गपारगः ।
समः सर्वस्य लोकस्य पितृमातृभयापहः ।। ४ ।।

आस्तीक वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान्, तपस्वी, महात्मा, सब लोगोंके प्रति समानभाव रखनेवाले तथा पितृकुल और मातृकुलके भयको दूर करनेवाले थे ।। ४ ।।

अथ दीर्घस्य कालस्य पाण्डवेयो नराधिपः ।
आजहार महायज्ञं सर्पसत्रमिति श्रुतिः ।। ५ ।।
तस्मिन् प्रवृत्ते सत्रे तु सर्पाणामन्तकाय वै ।
मोचयामास तान् नागानास्तीकः सुमहातपाः ।। ६ ।।

तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् पाण्डववंशीय नरेश जनमेजयने सर्पसत्र नामक महान् यज्ञका आयोजन किया, ऐसा सुननेमें आता है। सर्पोंके संहारके लिये आरम्भ किये हुए उस सत्रमें आकर महातपस्वी आस्तीकने नागोंको मौतसे छुड़ाया ।। ५-६ ।।

भ्रातॄंश्च मातुलांश्चैव तथैवान्यान् स पन्नगान् ।
पितॄंश्च तारयामास संतत्या तपसा तथा ।। ७ ।।

उन्होंने मामा तथा ममेरे भाइयोंको एवं अन्यान्य सम्बन्धोंमें आनेवाले सब नागोंको संकटमुक्त किया। इसी प्रकार तपस्या तथा संतानोत्पादनद्वारा उन्होंने पितरोंका भी उद्धार किया ।। ७ ।।

व्रतैश्च विविधैर्ब्रह्मन् स्वाध्यायैश्चानृणोऽभवत् ।
देवांश्च तर्पयामास यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ।। ८ ।।
ऋषींश्च ब्रह्मचर्येण संतत्या च पितामहान् ।
अपहृत्य गुरुं भारं पितॄणां संशितव्रतः ।। ९ ।।
जरत्कारुर्गतः स्वर्गं सहितः स्वैः पितामहैः ।
आस्तीकं च सुतं प्राप्य धर्मं चानुत्तमं मुनिः ।। १० ।।
जरत्कारुः सुमहता कालेन स्वर्गमेयिवान् ।
एतदाख्यानमास्तीकं यथावत् कथितं मया ।
प्रब्रूहि भृगुशार्दूल किमन्यत् कथयामि ते ।। ११ ।।

ब्रह्मन्! भाँति-भाँतिके व्रतों और स्वाध्यायोंका अनुष्ठान करके वे सब प्रकारके ऋणोंसे उऋण हो गये। अनेक प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करके उन्होंने देवताओं, ब्रह्मचर्यव्रतके पालनसे ऋषियों और संतानकी उत्पत्तिद्वारा पितरोंको तृप्त किया। कठोर व्रतका पालन करनेवाले जरत्कारु मुनि पितरोंकी चिन्ताका भारी भार उतारकर अपने उन पितामहोंके साथ स्वर्गलोकको चले गये। आस्तीक-जैसे पुत्र तथा परम धर्मकी प्राप्ति करके मुनिवर जरत्कारुने दीर्घकालके पश्चात् स्वर्गलोककी यात्रा की। भृगुकुलशिरोमणे! इस प्रकार मैंने आस्तीकके उपाख्यानका यथावत् वर्णन किया है। बताइये, अब और क्या कहा जाय? ।। ८—११ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पाणां मातृशापप्रस्तावे पञ्चदशोऽध्यायः ।। १५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पोंको मातृशाप प्राप्त होनेकी प्रस्तावनासे युक्त पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५ ।।

षोडशोऽध्यायः

कद्रू और विनताको कश्यपजीके वरदानसे अभीष्ट पुत्रोंकी प्राप्ति

शौनक उवाच

सौते त्वं कथयस्वेमां विस्तरेण कथां पुनः ।
आस्तीकस्य कवेः साधोः शुश्रूषा परमा हि नः ।। १ ।।

शौनकजी बोले—सूतनन्दन! आप ज्ञानी महात्मा आस्तीककी इस कथाको पुनः विस्तारके साथ कहिये। हमें उसे सुननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा है ।। १ ।।

मधुरं कथ्यते सौम्य श्लक्ष्णाक्षरपदं त्वया ।
प्रीयामहे भृशं तात पितेवेदं प्रभाषसे ।। २ ।।

सौम्य! आप बड़ी मधुर कथा कहते हैं। उसका एक-एक अक्षर और एक-एक पद कोमल है। तात! इसे सुनकर हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। आप अपने पिता लोमहर्षणकी भाँति ही प्रवचन कर रहे हैं ।। २ ।।

अस्मच्छुश्रूषणे नित्यं पिता हि निरतस्तव ।
आचष्टैतद् यथाख्यानं पिता ते त्वं तथा वद ।। ३ ।।

आपके पिता सदा हमलोगोंकी सेवामें लगे रहते थे। उन्होंने इस उपाख्यानको जिस प्रकार कहा है, उसी रूपमें आप भी कहिये ।। ३ ।।

सौतिरुवाच

आयुष्मन्निदमाख्यानमास्तीकं कथयामि ते ।
यथाश्रुतं कथयतः सकाशाद् वै पितुर्मया ।। ४ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—आयुष्मन्! मैंने अपने कथावाचक पिताजीके मुखसे यह आस्तीककी कथा, जिस रूपमें सुनी है, उसी प्रकार आपसे कहता हूँ ।। ४ ।।

पुरा देवयुगे ब्रह्मन् प्रजापतिसुते शुभे ।
आस्तां भगिन्यौ रूपेण समुपेतेऽद्भुतेऽनघ ।। ५ ।।
ते भार्ये कश्यपस्यास्तां कद्रूश्च विनता च ह ।
प्रादात् ताभ्यां वरं प्रीतः प्रजापतिसमः पतिः ।। ६ ।।
कश्यपो धर्मपत्नीभ्यां मुदा परमया युतः ।
वरातिसर्गं श्रुत्वैवं कश्यपादुत्तमं च ते ।। ७ ।।
हर्षादप्रतिमां प्रीतिं प्रापतुः स्म वरस्त्रियौ ।
वव्रे कद्रूः सुतान् नागान् सहस्रं तुल्यवर्चसः ।। ८ ।।

ब्रह्मन्! पहले सत्ययुगमें दक्ष प्रजापतिकी दो शुभलक्षणा कन्याएँ थीं—कद्रू और विनता। वे दोनों बहिनें रूप-सौन्दर्यसे सम्पन्न तथा अद्भुत थीं। अनघ! उन दोनोंका विवाह महर्षि कश्यपजीके साथ हुआ था। एक दिन प्रजापति ब्रह्माजीके समान शक्तिशाली पति महर्षि कश्यपने अत्यन्त हर्षमें भरकर अपनी उन दोनों धर्मपत्नियोंको प्रसन्नतापूर्वक वर देते हुए कहा—'तुममेंसे जिसकी जो इच्छा हो वर माँग लो।' इस प्रकार कश्यपजीसे उत्तम वरदान मिलनेकी बात सुनकर प्रसन्नताके कारण उन दोनों सुन्दरी स्त्रियोंको अनुपम आनन्द प्राप्त हुआ। कद्रूने समान तेजस्वी एक हजार नागोंको पुत्ररूपमें पानेका वर माँगा ।। ५—८ ।।

द्वौ पुत्रौ विनता वव्रे कद्रूपुत्राधिकौ बले ।
तेजसा वपुषा चैव विक्रमेणाधिकौ च तौ ।। ९ ।।

विनताने बल, तेज, शरीर तथा पराक्रममें कद्रूके पुत्रोंसे श्रेष्ठ केवल दो ही पुत्र माँगे ।। ९ ।।

तस्यै भर्ता वरं प्रादादत्यर्थं पुत्रमीप्सितम् ।
एवमस्त्विति तं चाह कश्यपं विनता तदा ।। १० ।।

विनताको पतिदेवने, अत्यन्त अभीष्ट दो पुत्रोंके होनेका वरदान दे दिया। उस समय विनताने कश्यपजीसे 'एवमस्तु 'कहकर उनके दिये हुए वरको शिरोधार्य किया ।। १० ।।

यथावत् प्रार्थितं लब्ध्वा वरं तुष्टाभवत् तदा ।
कृतकृत्या तु विनता लब्ध्वा वीर्याधिकौ सुतौ ।। ११ ।।

अपनी प्रार्थनाके अनुसार ठीक वर पाकर वह बहुत प्रसन्न हुई। कद्रूके पुत्रोंसे अधिक बलवान् और पराक्रमी—दो पुत्रोंके होनेका वर प्राप्त करके विनता अपनेको कृतकृत्य मानने लगी ।। ११ ।।

कद्रूश्च लब्ध्वा पुत्राणां सहस्रं तुल्यवर्चसाम् ।
धार्यौ प्रयत्नतो गर्भावित्युक्त्वा स महातपाः ।। १२ ।।
ते भार्ये वरसंतुष्टे कश्यपो वनमाविशत् ।

समान तेजस्वी एक हजार पुत्र होनेका वर पाकर कद्रू भी अपना मनोरथ सिद्ध हुआ समझने लगी। वरदान पाकर संतुष्ट हुई अपनी उन धर्मपत्नियोंसे यह कहकर कि 'तुम दोनों यत्नपूर्वक अपने-अपने गर्भकी रक्षा करना' महातपस्वी कश्यपजी वनमें चले गये ।। १२½ ।।

सौतिरुवाच

कालेन महता कद्रूरण्डानां दशतीर्दश ।। १३ ।।
जनयामास विप्रेन्द्र द्वे चाण्डे विनता तदा ।

उग्रश्रवाजीने कहा—ब्रह्मन्! तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् कद्रूने एक हजार और विनताने दो अण्डे दिये ।। १३½ ।।

तयोरण्डानि निदधुः प्रहृष्टाः परिचारिकाः ।। १४ ।।
सोपस्वेदेषु भाण्डेषु पञ्चवर्षशतानि च ।
ततः पञ्चशते काले कद्रूपुत्रा विनिःसृताः ।। १५ ।।
अण्डाभ्यां विनतायास्तु मिथुनं न व्यदृश्यत ।

दासियोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर दोनोंके अण्डोंको गरम बर्तनोंमें रख दिया। वे अण्डे पाँच सौ वर्षोंतक उन्हीं बर्तनोंमें पड़े रहे। तत्पश्चात् पाँच सौ वर्ष पूरे होनेपर कद्रूके एक हजार पुत्र अण्डोंको फोड़कर बाहर निकल आये; परंतु विनताके अण्डोंसे उसके दो बच्चे निकलते नहीं दिखायी दिये ।। १४-१५½ ।।

ततः पुत्रार्थिनी देवी व्रीडिता च तपस्विनी ।। १६ ।।
अण्डं बिभेद विनता तत्र पुत्रमपश्यत ।
पूर्वार्धकायसम्पन्नमितरेणाप्रकाशता ।। १७ ।।

इससे पुत्रार्थिनी और तपस्विनी देवी विनता सौतके सामने लज्जित हो गयी। फिर उसने अपने हाथोंसे एक अण्डा फोड़ डाला। फूटनेपर उस अण्डेमें विनताने अपने पुत्रको देखा, उसके शरीरका ऊपरी भाग पूर्णरूपसे विकसित एवं पुष्ट था, किंतु नीचेका आधा अंग अभी अधूरा रह गया था ।। १६-१७ ।।

स पुत्रः क्रोधसंरब्धः शशापैनामिति श्रुतिः ।
योऽहमेवं कृतो मातस्त्वया लोभपरीतया ।। १८ ।।
शरीरेणासमग्रेण तस्माद् दासी भविष्यसि ।
पञ्चवर्षशतान्यस्या यया विस्पर्धसे सह ।। १९ ।।

सुना जाता है, उस पुत्रने क्रोधके आवेशमें आकर विनताको शाप दे दिया—'माँ! तूने लोभके वशीभूत होकर मुझे इस प्रकार अधूरे शरीरका बना दिया—मेरे समस्त अंगोंको पूर्णतः विकसित एवं पुष्ट नहीं होने दिया; इसलिये जिस सौतके साथ तू लाग-डाँट रखती है, उसीकी पाँच सौ वर्षोंतक दासी बनी रहेगी ।। १८-१९ ।।

एष च त्वां सुतो मातर्दासीत्वान्मोचयिष्यति ।
यद्येनमपि मातस्त्वं मामिवाण्डविभेदनात् ।। २० ।।
न करिष्यस्यनङ्गं वा व्यङ्गं वापि तपस्विनम् ।

'और मा! यह जो दूसरे अण्डेमें तेरा पुत्र है, यही तुझे दासीभावसे छुटकारा दिलायेगा; किंतु माता! ऐसा तभी हो सकता है जब तू इस तपस्वी पुत्रको मेरी ही तरह अण्डा फोड़कर अंगहीन या अधूरे अंगोंसे युक्त न बना देगी ।। २०½ ।।

प्रतिपालयितव्यस्ते जन्मकालोऽस्य धीरया ।। २१ ।।
विशिष्टं बलमीप्सन्त्या पञ्चवर्षशतात् परः ।

'इसलिये यदि तू इस बालकको विशेष बलवान् बनाना चाहती है तो पाँच सौ वर्षके बादतक तुझे धैर्य धारण करके इसके जन्मकी प्रतीक्षा करनी चाहिये' ।। २१½ ।।

एवं शप्त्वा ततः पुत्रो विनतामन्तरिक्षगः ।। २२ ।।

अरुणो दृश्यते ब्रह्मन् प्रभातसमये सदा ।

आदित्यरथमध्यास्ते सारथ्यं समकल्पयत् ।। २३ ।।

इस प्रकार विनताको शाप देकर वह बालक अरुण अन्तरिक्षमें उड़ गया। ब्रह्मन्! तभीसे प्रातःकाल (प्राची दिशामें) सदा जो लाली दिखायी देती है, उसके रूपमें विनताके पुत्र अरुणका ही दर्शन होता है। वह सूर्यदेवके रथपर जा बैठा और उनके सारथिका काम सँभालने लगा ।। २२-२३ ।।

गरुडोऽपि यथाकालं जज्ञे पन्नगभोजनः ।

स जातमात्रो विनतां परित्यज्य खमाविशत् ।। २४ ।।

आदास्यन्नात्मनो भोज्यमन्नं विहितमस्य यत् ।

विधात्रा भृगुशार्दूल क्षुधितः पतगेश्वरः ।। २५ ।।

तदनन्तर समय पूरा होनेपर सर्पसंहारक गरुडका जन्म हुआ। भृगुश्रेष्ठ! पक्षिराज गरुड जन्म लेते ही क्षुधासे व्याकुल हो गये और विधाताने उनके लिये जो आहार नियत किया था, अपने उस भोज्य पदार्थको प्राप्त करनेके लिये माता विनताको छोड़कर आकाशमें उड़ गये ।। २४-२५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पादीनामुत्पत्तौ षोडशोऽध्यायः ।। १६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्प आदिकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६ ।।

सप्तदशोऽध्यायः

मेरुपर्वतपर अमृतके लिये विचार करनेवाले देवताओंको भगवान् नारायणका समुद्रमन्थनके लिये आदेश

सौतिरुवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भगिन्यौ ते तपोधन ।
अपश्यतां समायाते उच्चैःश्रवसमन्तिकात् ।। १ ।।
यं तं देवगणाः सर्वे हृष्टरूपमपूजयन् ।
मथ्यमानेऽमृते जातमश्वरत्नमनुत्तमम् ।। २ ।।
अमोघबलमश्वानामुत्तमं जगतां वरम् ।
श्रीमन्तमजरं दिव्यं सर्वलक्षणपूजितम् ।। ३ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तपोधन! इसी समय कद्रू और विनता दोनों बहनें एक साथ ही घूमनेके लिये निकलीं। उस समय उन्होंने उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेको निकटसे जाते देखा। वह परम उत्तम अश्वरत्न अमृतके लिये समुद्रका मन्थन करते समय प्रकट हुआ था। उसमें अमोघ बल था। वह संसारके समस्त अश्वोंमें श्रेष्ठ, उत्तम गुणोंसे युक्त, सुन्दर, अजर, दिव्य एवं सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे संयुक्त था। उसके अंग बड़े हृष्ट-पुष्ट थे। सम्पूर्ण देवताओंने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी ।। १—३ ।।

शौनक उवाच

कथं तदमृतं देवैर्मथितं क्व च शंस मे ।
यत्र जज्ञे महावीर्यः सोऽश्वराजो महाद्युतिः ।। ४ ।।

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन! अब मुझे यह बताइये कि देवताओंने अमृत-मन्थन किस प्रकार और किस स्थानपर किया था, जिसमें वह महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न और अत्यन्त तेजस्वी अश्वराज उच्चैःश्रवा प्रकट हुआ? ।। ४ ।।

सौतिरुवाच

ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
आक्षिपन्तं प्रभां भानोः स्वशृङ्गैः काञ्चनोज्ज्वलैः ।। ५ ।।
कनकाभरणं चित्रं देवगन्धर्वसेवितम् ।
अप्रमेयमनाधृष्यमधर्मबहुलैर्जनैः ।। ६ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनकजी! मेरु नामसे प्रसिद्ध एक पर्वत है, जो अपनी प्रभासे प्रज्वलित होता रहता है। वह तेजका महान् पुंज और परम उत्तम है। अपने अत्यन्त प्रकाशमान सुवर्णमय शिखरोंसे वह सूर्यदेवकी प्रभाको भी तिरस्कृत किये देता है। उस

स्वर्णभूषित विचित्र शैलपर देवता और गन्धर्व निवास करते हैं। उसका कोई माप नहीं है। जिनमें पापकी मात्रा अधिक है, ऐसे मनुष्य वहाँ पैर नहीं रख सकते ।। ५-६ ।।

व्यालैरावारितं घोरैर्दिव्यौषधिविदीपितम् ।
नाकमावृत्य तिष्ठन्तमुच्छ्रयेण महागिरिम् ।। ७ ।।
अगम्यं मनसाप्यन्यैर्नदीवृक्षसमन्वितम् ।
नानापतगसङ्घैश्च नादितं सुमनोहरैः ।। ८ ।।

वहाँ सब ओर भयंकर सर्प भरे पड़े हैं। दिव्य ओषधियाँ उस तेजोमय पर्वतको और भी उद्भासित करती रहती हैं। वह महान् गिरिराज अपनी ऊँचाईसे स्वर्गलोकको घेरकर खड़ा है। प्राकृत मनुष्योंके लिये वहाँ मनसे भी पहुँचना असम्भव है। वह गिरिप्रदेश बहुत-सी नदियों और असंख्य वृक्षोंसे सुशोभित है। भिन्न-भिन्न प्रकारके अत्यन्त मनोहर पक्षियोंके समुदाय अपने कलरवसे उस पर्वतको कोलाहलपूर्ण किये रहते हैं ।। ७-८ ।।

तस्य शृङ्गमुपारुह्य बहुरत्नाचितं शुभम् ।
अनन्तकल्पमुद्विद्धं सुराः सर्वे महौजसः ।। ९ ।।
ते मन्त्रयितुमारब्धास्तत्रासीना दिवौकसः ।
अमृताय समागम्य तपोनियमसंयुताः ।। १० ।।
तत्र नारायणो देवो ब्रह्माणमिदमब्रवीत् ।
चिन्तयत्सु सुरेष्वेवं मन्त्रयत्सु च सर्वशः ।। ११ ।।
देवैरसुरसङ्घैश्च मथ्यतां कलशोदधिः ।
भविष्यत्यमृतं तत्र मथ्यमाने महोदधौ ।। १२ ।।

उसके शुभ एवं उच्चतम शृंग असंख्य चमकीले रत्नोंसे व्याप्त हैं। वे अपनी विशालताके कारण आकाशके समान अनन्त जान पड़ते हैं। समस्त महातेजस्वी देवता मेरुगिरिके उस महान् शिखरपर चढ़कर एक स्थानमें बैठ गये और सब मिलकर अमृत-प्राप्तिके लिये क्या उपाय किया जाय, इसका विचार करने लगे। वे सभी तपस्वी तथा शौच-संतोष आदि नियमोंसे संयुक्त थे। इस प्रकार परस्पर विचार एवं सबके साथ मन्त्रणामें लगे हुए देवताओंके समुदायमें उपस्थित हो भगवान् नारायणने ब्रह्माजीसे यों कहा—'समस्त देवता और असुर मिलकर महासागरका मन्थन करें। उस महासागरका मन्थन आरम्भ होनेपर उसमेंसे अमृत प्रकट होगा ।। ९—१२ ।।

सर्वौषधीः समावाप्य सर्वरत्नानि चैव ह ।
मन्थध्वमुदधिं देवा वेत्स्यध्वममृतं ततः ।। १३ ।।

'देवताओ! पहले समस्त ओषधियों, फिर सम्पूर्ण रत्नोंको पाकर भी समुद्रका मन्थन जारी रखो। इससे अन्तमें तुमलोगोंको निश्चय ही अमृतकी प्राप्ति होगी' ।। १३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि अमृतमन्थने सप्तदशोऽध्यायः ।। १७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें अमृतमन्थनविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७ ।।

अष्टादशोऽध्यायः

देवताओं और दैत्योंद्वारा अमृतके लिये समुद्रका मन्थन, अनेक रत्नोंके साथ अमृतकी उत्पत्ति और भगवान्‌का मोहिनीरूप धारण करके दैत्योंके हाथसे अमृत ले लेना

सौतिरुवाच

ततोऽभ्रशिखराकारैर्गिरिशृङ्गैरलंकृतम् ।
मन्दरं पर्वतवरं लताजालसमाकुलम् ।। १ ।।
नानाविहगसंघुष्टं नानादंष्ट्रिसमाकुलम् ।
किन्नरैरप्सरोभिश्च देवैरपि च सेवितम् ।। २ ।।
एकादश सहस्राणि योजनानां समुच्छ्रितम् ।
अधो भूमेः सहस्रेषु तावत्स्वेव प्रतिष्ठितम् ।। ३ ।।
तमुद्धर्तुमशक्ता वै सर्वे देवगणास्तदा ।
विष्णुमासीनमभ्येत्य ब्रह्माणं चेदमब्रुवन् ।। ४ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! तदनन्तर सम्पूर्ण देवता मिलकर पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचलको उखाड़नेके लिये उसके समीप गये। वह पर्वत श्वेत मेघखण्डोंके समान प्रतीत होनेवाले गगनचुम्बी शिखरोंसे सुशोभित था। सब ओर फैली हुई लताओंके समुदायने उसे आच्छादित कर रखा था। उसपर चारों ओर भाँति-भाँतिके विहंगम कलरव कर रहे थे। बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले व्याघ्र-सिंह आदि अनेक हिंसक जीव वहाँ सर्वत्र भरे हुए थे। उस पर्वतके विभिन्न प्रदेशोंमें किन्नरगण, अप्सराएँ तथा देवतालोग निवास करते थे। उसकी ऊँचाई ग्यारह हजार योजन थी और भूमिके नीचे भी वह उतने ही सहस्र योजनोंमें प्रतिष्ठित था। जब देवता उसे उखाड़ न सके, तब वहाँ बैठे हुए भगवान् विष्णु और ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले— ।। १—४ ।।

भवन्तावत्र कुर्वीतां बुद्धिं नैःश्रेयसीं पराम् ।
मन्दरोद्धरणे यत्नः क्रियतां च हिताय नः ।। ५ ।।

‘आप दोनों इस विषयमें कल्याणमयी उत्तम बुद्धि प्रदान करें और हमारे हितके लिये मन्दराचल पर्वतको उखाड़नेका यत्न करें’ ।। ५ ।।

सौतिरुवाच

तथेति चाब्रवीद् विष्णुर्ब्रह्मणा सह भार्गव ।
अचोदयदमेयात्मा फणीन्द्रं पद्मलोचनः ।। ६ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—भृगुनन्दन! देवताओंके ऐसा कहनेपर ब्रह्माजीसहित भगवान् विष्णुने कहा—'तथास्तु (ऐसा ही हो)'। तदनन्तर जिनका स्वरूप मन, बुद्धि एवं प्रमाणोंकी पहुँचसे परे है, उन कमलनयन भगवान् विष्णुने नागराज अनन्तको मन्दराचल उखाड़नेके लिये आज्ञा दी ।। ६ ।।

ततोऽनन्तः समुत्थाय ब्रह्मणा परिचोदितः ।
नारायणेन चाप्युक्तस्तस्मिन् कर्मणि वीर्यवान् ।। ७ ।।

जब ब्रह्माजीने प्रेरणा दी और भगवान् नारायणने भी आदेश दे दिया, तब अतुलपराक्रमी अनन्त (शेषनाग) उठकर उस कार्यमें लगे ।। ७ ।।

अथ पर्वतराजानं तमनन्तो महाबलः ।
उज्जहार बलाद् ब्रह्मन् सवनं सवनौकसम् ।। ८ ।।

ब्रह्मन्! फिर तो महाबली अनन्तने जोर लगाकर गिरिराज मन्दराचलको वन और वनवासी जन्तुओंसहित उखाड़ लिया ।। ८ ।।

ततस्तेन सुराः सार्धं समुद्रमुपतस्थिरे ।
तमूचुरमृतस्यार्थे निर्मथिष्यामहे जलम् ।। ९ ।।
अपां पतिरथोवाच ममाप्यंशो भवेत् ततः ।
सोढास्मि विपुलं मर्दं मन्दरभ्रमणादिति ।। १० ।।

तत्पश्चात् देवतालोग उस पर्वतके साथ समुद्रतटपर उपस्थित हुए और समुद्रसे बोले —'हम अमृतके लिये तुम्हारा मन्थन करेंगे।' यह सुनकर जलके स्वामी समुद्रने कहा —'यदि अमृतमें मेरा भी हिस्सा रहे तो मैं मन्दराचलको घुमानेसे जो भारी पीड़ा होगी, उसे सह लूँगा' ।। ९-१० ।।

ऊचुश्च कूर्मराजानमकूपारे सुरासुराः ।
अधिष्ठानं गिरेरस्य भवान् भवितुमर्हति ।। ११ ।।

तब देवताओं और असुरोंने (समुद्रकी बात स्वीकार करके) समुद्रतलमें स्थित कच्छपराजसे कहा—'भगवन्! आप इस मन्दराचलके आधार बनिये' ।। ११ ।।

कूर्मेण तु तथेत्युक्त्वा पृष्ठमस्य समर्पितम् ।
तं शैलं तस्य पृष्ठस्थं वज्रेणेन्द्रो न्यपीडयत् ।। १२ ।।

तब कच्छपराजने 'तथास्तु' कहकर मन्दराचलके नीचे अपनी पीठ लगा दी। देवराज इन्द्रने उस पर्वतको वज्रद्वारा दबाये रखा ।। १२ ।।

मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकिम् ।
देवा मथितुमारब्धाः समुद्रं निधिमम्भसाम् ।। १३ ।।
अमृतार्थे पुरा ब्रह्मंस्तथैवासुरदानवाः ।
एकमन्तमुपाश्लिष्टा नागराज्ञो महासुराः ।। १४ ।।
विबुधाः सहिताः सर्वे यतः पुच्छं ततः स्थिताः ।

ब्रह्मन्! इस प्रकार पूर्वकालमें देवताओं, दैत्यों और दानवोंने मन्दराचलको मथानी और वासुकि नागको डोरी बनाकर अमृतके लिये जलनिधि समुद्रको मथना आरम्भ किया। उन महान् असुरोंने नागराज वासुकिके मुखभागको दृढ़तापूर्वक पकड़ रखा था और जिस ओर उसकी पूँछ थी उधर सम्पूर्ण देवता उसे पकड़कर खड़े थे ।। १३-१४½ ।।

अनन्तो भगवान् देवो यतो नारायणस्ततः ।
शिर उत्क्षिप्य नागस्य पुनः पुनरवाक्षिपत् ।। १५ ।।

भगवान् अनन्तदेव उधर ही खड़े थे, जिधर भगवान् नारायण थे। वे वासुकि नागके सिरको बार-बार ऊपर उठाकर झटकते थे ।। १५ ।।

वासुकेरथ नागस्य सहसाऽऽक्षिप्यतः सुरैः ।
सधूमाः सार्चिषो वाता निष्पेतुरसकृन्मुखात् ।। १६ ।।

तब देवताओंद्वारा बार-बार खींचे जाते हुए वासुकि नागके मुखसे निरन्तर धूएँ तथा आगकी लपटोंके साथ गर्म-गर्म साँसें निकलने लगीं ।। १६ ।।

ते धूमसङ्घाः सम्भूता मेघसङ्घाः सविद्युतः ।
अभ्यवर्षन् सुरगणान् श्रमसंतापकर्शितान् ।। १७ ।।

वे धूमसमुदाय बिजलियोंसहित मेघोंकी घटा बनकर परिश्रम एवं संतापसे कष्ट पानेवाले देवताओंपर जलकी धारा बरसाते रहते थे ।। १७ ।।

तस्माच्च गिरिकूटाग्रात् प्रच्युताः पुष्पवृष्टयः ।
सुरासुरगणान् सर्वान् समन्तात् समवाकिरन् ।। १८ ।।

उस पर्वतशिखरके अग्रभागसे सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंपर सब ओरसे फूलोंकी वर्षा होने लगी ।। १८ ।।

बभूवात्र महानादो महामेघरवोपमः ।
उदधेर्मथ्यमानस्य मन्दरेण सुरासुरैः ।। १९ ।।

देवताओं और असुरोंद्वारा मन्दराचलसे समुद्रका मन्थन होते समय वहाँ महान् मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान जोर-जोरसे शब्द होने लगा ।। १९ ।।

तत्र नाना जलचरा विनिष्पिष्टा महाद्रिणा ।
विलयं समुपाजग्मुः शतशो लवणाम्भसि ।। २० ।।

उस समय उस महान् पर्वतके द्वारा सैकड़ों जलचर जन्तु पिस गये और खारे पानीके उस महासागरमें विलीन हो गये ।। २० ।।

वारुणानि च भूतानि विविधानि महीधरः ।
पातालतलवासीनि विलयं समुपानयत् ।। २१ ।।

मन्दराचलने वरुणालय (समुद्र) तथा पातालतलमें निवास करनेवाले नाना प्रकारके प्राणियोंका संहार कर डाला ।। २१ ।।

तस्मिंश्च भ्राम्यमाणेऽद्रौ संघृष्यन्तः परस्परम् ।

न्यपतन् पतगोपेताः पर्वताग्रान्महाद्रुमाः ।। २२ ।।

जब वह पर्वत घुमाया जाने लगा, उस समय उसके शिखरसे बड़े-बड़े वृक्ष आपसमें टकराकर उनपर निवास करनेवाले पक्षियोंसहित नीचे गिर पड़े ।। २२ ।।

तेषां संघर्षजश्चाग्निरर्चिर्भिः प्रज्वलन् मुहुः ।
विद्युद्भिरिव नीलाभ्रमावृणोन्मन्दरं गिरिम् ।। २३ ।।

उनकी आपसकी रगड़से बार-बार आग प्रकट होकर ज्वालाओंके साथ प्रज्वलित हो उठी और जैसे बिजली नीले मेघको ढक ले, उसी प्रकार उसने मन्दराचलको आच्छादित कर लिया ।। २३ ।।

ददाह कुञ्जरांस्तत्र सिंहांश्चैव विनिर्गतान् ।
विगतासूनि सर्वाणि सत्त्वानि विविधानि च ।। २४ ।।

उस दावानलने पर्वतीय गजराजों, गुफाओंसे निकले हुए सिंहों तथा अन्यान्य सहस्रों जन्तुओंको जलाकर भस्म कर दिया। उस पर्वतपर जो नाना प्रकारके जीव रहते थे, वे सब अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे ।। २४ ।।

तमग्निममरश्रेष्ठः प्रदहन्तमितस्ततः ।
वारिणा मेघजेनेन्द्रः शमयामास सर्वशः ।। २५ ।।

तब देवराज इन्द्रने इधर-उधर सबको जलाती हुई उस आगको मेघोंके द्वारा जल बरसाकर सब ओरसे बुझा दिया ।। २५ ।।

ततो नानाविधास्तत्र सुस्रुवुः सागराम्भसि ।
महाद्रुमाणां निर्यासा बहवश्चौषधीरसाः ।। २६ ।।

तदनन्तर समुद्रके जलमें बड़े-बड़े वृक्षोंके भाँति-भाँतिके गोंद तथा ओषधियोंके प्रचुर रस चू-चूकर गिरने लगे ।। २६ ।।

तेषाममृतवीर्याणां रसानां पयसैव च ।
अमरत्वं सुरा जग्मुः काञ्चनस्य च निःस्रवात् ।। २७ ।।

वृक्षों और ओषधियोंके अमृततुल्य प्रभावशाली रसोंके जलसे तथा सुवर्णमय मन्दराचलकी अनेक दिव्य प्रभावशाली मणियोंसे चूनेवाले रससे ही देवतालोग अमरत्वको प्राप्त होने लगे ।। २७ ।।

ततस्तस्य समुद्रस्य तज्जातमुदकं पयः ।
रसोत्तमैर्विमिश्रं च ततः क्षीरादभूद् घृतम् ।। २८ ।।

उन उत्तम रसोंके सम्मिश्रणसे समुद्रका सारा जल दूध बन गया और दूधसे घी बनने लगा ।। २८ ।।

ततो ब्रह्माणमासीनं देवा वरदमब्रुवन् ।
श्रान्ताः स्म सुभृशं ब्रह्मन् नोद्भवत्यमृतं च तत् ।। २९ ।।
विना नारायणं देवं सर्वेऽन्ये देवदानवाः ।

चिरारब्धमिदं चापि सागरस्यापि मन्थनम् ।। ३० ।।

तब देवतालोग वहाँ बैठे हुए वरदायक ब्रह्माजीसे बोले—'ब्रह्मन्! भगवान् नारायणके अतिरिक्त हम सभी देवता और दानव बहुत थक गये हैं; किंतु अभीतक वह अमृत प्रकट नहीं हो रहा है। इधर समुद्रका मन्थन आरम्भ हुए बहुत समय बीत चुका है' ।। २९-३० ।।

ततो नारायणं देवं ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
विधत्स्वैषां बलं विष्णो भवानत्र परायणम् ।। ३१ ।।

यह सुनकर ब्रह्माजीने भगवान् नारायणसे यह बात कही—'सर्वव्यापी परमात्मन्! इन्हें बल प्रदान कीजिये, यहाँ एकमात्र आप ही सबके आश्रय हैं' ।। ३१ ।।

विष्णुरुवाच

बलं ददामि सर्वेषां कर्मैतद् ये समास्थिताः ।
क्षोभ्यतां कलशः सर्वैर्मन्दरः परिवर्त्यताम् ।। ३२ ।।

श्रीविष्णु बोले—जो लोग इस कार्यमें लगे हुए हैं, उन सबको मैं बल दे रहा हूँ। सब लोग पूरी शक्ति लगाकर मन्दराचलको घुमावें और इस सागरको क्षुब्ध कर दें ।। ३२ ।।

सौतिरुवाच

नारायणवचः श्रुत्वा बलिनस्ते महोदधेः ।
तत् पयः सहिता भूयश्चक्रिरे भृशमाकुलम् ।। ३३ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! भगवान् नारायणका वचन सुनकर देवताओं और दानवोंका बल बढ़ गया। उन सबने मिलकर पुनः वेगपूर्वक महासागरका वह जल मथना आरम्भ किया और उस समस्त जलराशिको अत्यन्त क्षुब्ध कर डाला ।। ३३ ।।

ततः शतसहस्रांशुर्मथ्यमानात्तु सागरात् ।
प्रसन्नात्मा समुत्पन्नः सोमः शीतांशुरुज्ज्वलः ।। ३४ ।।

फिर तो उस महासागरसे अनन्त किरणोंवाले सूर्यके समान तेजस्वी, शीतल प्रकाशसे युक्त, श्वेतवर्ण एवं प्रसन्नात्मा चन्द्रमा प्रकट हुआ ।। ३४ ।।

श्रीरनन्तरमुत्पन्ना घृतात् पाण्डुरवासिनी ।
सुरादेवी समुत्पन्ना तुरगः पाण्डुरस्तथा ।। ३५ ।।

तदनन्तर उस घृतस्वरूप जलसे श्वेतवस्त्रधारिणी लक्ष्मीदेवीका आविर्भाव हुआ। इसके बाद सुरादेवी और श्वेत अश्व प्रकट हुए ।। ३५ ।।

कौस्तुभस्तु मणिर्दिव्य उत्पन्नो घृतसम्भवः ।
मरीचिविकचः श्रीमान् नारायण उरोगतः ।। ३६ ।।

फिर अनन्त किरणोंसे समुज्ज्वल दिव्य कौस्तुभमणिका उस जलसे प्रादुर्भाव हुआ, जो भगवान् नारायणके वक्षःस्थलपर सुशोभित हुई ।। ३६ ।।

(पारिजातश्च तत्रैव सुरभिश्च महामुने ।

जज्ञाते तौ तदा ब्रह्मन् सर्वकामफलप्रदौ ।।)
श्रीः सुरा चैव सोमश्च तुरगश्च मनोजवः ।
यतो देवास्ततो जग्मुरादित्यपथमाश्रिताः ।। ३७ ।।

ब्रह्मन्! महामुने! वहाँ सम्पूर्ण कामनाओंका फल देनेवाले पारिजात वृक्ष एवं सुरभि गौकी उत्पत्ति हुई। फिर लक्ष्मी, सुरा, चन्द्रमा तथा मनके समान वेगशाली उच्चैःश्रवा घोड़ा—ये सब सूर्यके मार्ग आकाशका आश्रय ले, जहाँ देवता रहते हैं, उस लोकमें चले गये ।। ३७ ।।

धन्वन्तरिस्ततो देवो वपुष्मानुदतिष्ठत ।
श्वेतं कमण्डलुं बिभ्रदमृतं यत्र तिष्ठति ।। ३८ ।।

इसके बाद दिव्य शरीरधारी धन्वन्तरि देव प्रकट हुए। वे अपने हाथमें श्वेत कलश लिये हुए थे, जिसमें अमृत भरा था ।। ३८ ।।

एतदत्यद्भुतं दृष्ट्वा दानवानां समुत्थितः ।
अमृतार्थे महान् नादो ममेदमिति जल्पताम् ।। ३९ ।।

यह अत्यन्त अद्‌भुत दृश्य देखकर दानवोंमें अमृतके लिये कोलाहल मच गया। वे सब कहने लगे 'यह मेरा है, यह मेरा है' ।। ३९ ।।

श्वेतैर्दन्तैश्चतुर्भिस्तु महाकायस्ततः परम् ।
ऐरावतो महानागोऽभवद् वज्रभृता धृतः ।। ४० ।।

तत्पश्चात् श्वेत रंगके चार दाँतोंसे सुशोभित विशालकाय महानाग ऐरावत प्रकट हुआ, जिसे वज्रधारी इन्द्रने अपने अधिकारमें कर लिया ।। ४० ।।

अतिनिर्मथनादेव कालकूटस्ततः परः ।
जगदावृत्य सहसा सधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ।। ४१ ।।

तदनन्तर अत्यन्त वेगसे मथनेपर कालकूट महाविष उत्पन्न हुआ, वह धूमयुक्त अग्निकी भाँति एकाएक सम्पूर्ण जगत्‌को घेरकर जलाने लगा ।। ४१ ।।

त्रैलोक्यं मोहितं यस्य गन्धमाघ्राय तद् विषम् ।
प्राग्रसल्लोकरक्षार्थं ब्रह्मणो वचनाच्छिवः ।। ४२ ।।

उस विषकी गन्ध सूँघते ही त्रिलोकीके प्राणी मूर्च्छित हो गये। तब ब्रह्माजीके प्रार्थना करनेपर भगवान् श्रीशंकरने त्रिलोकीकी रक्षाके लिये उस महान् विषको पी लिया ।। ४२ ।।

दधार भगवान् कण्ठे मन्त्रमूर्तिर्महेश्वरः ।
तदाप्रभृति देवस्तु नीलकण्ठ इति श्रुतिः ।। ४३ ।।

मन्त्रमूर्ति भगवान् महेश्वरने विषपान करके उसे अपने कण्ठमें धारण कर लिया। तभीसे महादेवजी नीलकण्ठके नामसे विख्यात हुए, ऐसी जनश्रुति है ।। ४३ ।।

एतत् तदद्भुतं दृष्ट्वा निराशा दानवाः स्थिताः ।
अमृतार्थे च लक्ष्म्यर्थे महान्तं वैरमाश्रिताः ।। ४४ ।।

ये सब अद्‌भुत बातें देखकर दानव निराश हो गये और अमृत तथा लक्ष्मीके लिये उन्होंने देवताओंके साथ महान् वैर बाँध लिया ।। ४४ ।।

ततो नारायणो मायां मोहिनीं समुपाश्रितः ।

स्त्रीरूपमद्भुतं कृत्वा दानवानभिसंश्रितः ।। ४५ ।।

उसी समय भगवान् विष्णुने मोहिनी मायाका आश्रय ले मनोहारिणी स्त्रीका अद्भुत रूप बनाकर, दानवोंके पास पदार्पण किया ।। ४५ ।।

ततस्तदमृतं तस्यै ददुस्ते मूढचेतसः ।

स्त्रियै दानवदैतेयाः सर्वे तद्‌गतमानसाः ।। ४६ ।।

समस्त दैत्यों और दानवोंने उस मोहिनीपर अपना हृदय निछावर कर दिया। उनके चित्तमें मूढ़ता छा गयी। अतः उन सबने स्त्रीरूपधारी भगवान्‌को वह अमृत सौंप दिया ।। ४६ ।।

(सा तु नारायणी माया धारयन्ती कमण्डलुम् ।

आस्यमानेषु दैत्येषु पङ्क्त्या च प्रति दानवैः ।

देवानपाययद् देवी न दैत्यांस्ते च चुक्रुशुः ।।)

भगवान् नारायणकी वह मूर्तिमती माया हाथमें कलश लिये अमृत परोसने लगी। उस समय दानवोंसहित दैत्य पंगत लगाकर बैठे ही रह गये, परंतु उस देवीने देवताओंको ही अमृत पिलाया; दैत्योंको नहीं दिया, इससे उन्होंने बड़ा कोलाहल मचाया।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि अमृतमन्थनेऽष्टादशोऽध्यायः ।। १८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें अमृतमन्थनविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ४८½ श्लोक हैं)

एकोनविंशोऽध्यायः

देवताओंका अमृतपान, देवासुरसंग्राम तथा देवताओंकी विजय

सौतिरुवाच

अथावरणमुख्यानि नानाप्रहरणानि च ।
प्रगृह्याभ्यद्रवन् देवान् सहिता दैत्यदानवाः ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—अमृत हाथसे निकल जानेपर दैत्य और दानव संगठित हो गये और उत्तम-उत्तम कवच तथा नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर देवताओंपर टूट पड़े ।। १ ।।

ततस्तदमृतं देवो विष्णुरादाय वीर्यवान् ।
जहार दानवेन्द्रेभ्यो नरेण सहितः प्रभुः ।। २ ।।
ततो देवगणाः सर्वे पपुस्तदमृतं तदा ।
विष्णोः सकाशात् सम्प्राप्य सम्भ्रमे तुमुले सति ।। ३ ।।

उधर अनन्त शक्तिशाली नरसहित भगवान् नारायणने जब मोहिनीरूप धारण करके दानवेन्द्रोंके हाथसे अमृत लेकर हड़प लिया, तब सब देवता भगवान् विष्णुसे अमृत ले-लेकर पीने लगे; क्योंकि उस समय घमासान युद्धकी सम्भावना हो गयी थी ।। २-३ ।।

ततः पिबत्सु तत्कालं देवेष्वमृतमीप्सितम् ।
राहुर्विबुधरूपेण दानवः प्रापिबत् तदा ।। ४ ।।

जिस समय देवता उस अभीष्ट अमृतका पान कर रहे थे, ठीक उसी समय राहु नामक दानवने देवतारूपसे आकर अमृत पीना आरम्भ किया ।। ४ ।।

तस्य कण्ठमनुप्राप्ते दानवस्यामृते तदा ।
आख्यातं चन्द्रसूर्याभ्यां सुराणां हितकाम्यया ।। ५ ।।

वह अमृत अभी उस दानवके कण्ठतक ही पहुँचा था कि चन्द्रमा और सूर्यने देवताओंके हितकी इच्छासे उसका भेद बतला दिया ।। ५ ।।

ततो भगवता तस्य शिरश्छिन्नमलंकृतम् ।
चक्रायुधेन चक्रेण पिबतोऽमृतमोजसा ।। ६ ।।

तब चक्रधारी भगवान् श्रीहरिने अमृत पीनेवाले उस दानवका मुकुटमण्डित मस्तक चक्रद्वारा बलपूर्वक काट दिया ।। ६ ।।

भगवान् विष्णुने चक्रसे राहुका सिर काट दिया

तच्छैलशृङ्गप्रतिमं दानवस्य शिरो महत् ।
चक्रच्छिन्नं खमुत्पत्य ननादातिभयंकरम् ।। ७ ।।

चक्रसे कटा हुआ दानवका महान् मस्तक पर्वतके शिखर-सा जान पड़ता था। वह आकाशमें उछल-उछलकर अत्यन्त भयंकर गर्जना करने लगा ।। ७ ।।

तत् कबन्धं पपातास्य विस्फुरद् धरणीतले ।
सपर्वतवनद्वीपां दैत्यस्याकम्पयन् महीम् ।। ८ ।।

किंतु उस दैत्यका वह धड़ धरतीपर गिर पड़ा और पर्वत, वन तथा द्वीपोंसहित समूची पृथ्वीको कँपाता हुआ तड़फड़ाने लगा ।। ८ ।।

ततो वैरविनिर्बन्धः कृतो राहुमुखेन वै ।
शाश्वतश्चन्द्रसूर्याभ्यां ग्रसत्यद्यापि चैव तौ ।। ९ ।।

तभीसे राहुके मुखने चन्द्रमा और सूर्यके साथ भारी एवं स्थायी वैर बाँध लिया; इसीलिये वह आज भी दोनोंपर ग्रहण लगाता है ।। ९ ।।

विहाय भगवांश्चापि स्त्रीरूपमतुलं हरिः ।
नानाप्रहरणैर्भीमैर्दानवान् समकम्पयत् ।। १० ।।

(देवताओंको अमृत पिलानेके बाद) भगवान् श्रीहरिने भी अपना अनुपम मोहिनीरूप त्यागकर नाना प्रकारके भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा दानवोंको अत्यन्त कम्पित कर दिया ।। १० ।।

ततः प्रवृत्तः संग्रामः समीपे लवणाम्भसः ।
सुराणामसुराणां च सर्वघोरतरो महान् ।। ११ ।।

फिर तो क्षारसागरके समीप देवताओं और असुरोंका सबसे भयंकर महासंग्राम छिड़ गया ।। ११ ।।

प्रासाश्च विपुलास्तीक्ष्णा न्यपतन्त सहस्रशः ।
तोमराश्च सुतीक्ष्णाग्राः शस्त्राणि विविधानि च ।। १२ ।।

दोनों दलोंपर सहस्रों तीखी धारवाले बड़े-बड़े भालोंकी मार पड़ने लगी। तेज नोकवाले तोमर तथा भाँति-भाँतिके शस्त्र बरसने लगे ।। १२ ।।

ततोऽसुराश्चक्रभिन्ना वमन्तो रुधिरं बहु ।
असिशक्तिगदारुग्णा निपेतुर्धरणीतले ।। १३ ।।
छिन्नानि पट्टिशैश्चैव शिरांसि युधि दारुणैः ।
तप्तकाञ्चनमालीनि निपेतुरनिशं तदा ।। १४ ।।

भगवान्‌के चक्रसे छिन्न-भिन्न तथा देवताओंके खड्ग, शक्ति और गदासे घायल हुए असुर मुखसे अधिकाधिक रक्त वमन करते हुए पृथ्वीपर लोटने लगे। उस समय तपाये हुए सुवर्णकी मालाओंसे विभूषित दानवोंके सिर भयंकर पट्टिशोंसे कटकर निरन्तर युद्धभूमिमें गिर रहे थे ।। १३-१४ ।।

रुधिरेणानुलिप्ताङ्गा निहताश्च महासुराः ।
अद्रीणामिव कूटानि धातुरक्तानि शेरते ।। १५ ।।

वहाँ खूनसे लथपथ अंगवाले मरे हुए महान् असुर, जो समरभूमिमें सो रहे थे, गेरू आदि धातुओंसे रँगे हुए पर्वत-शिखरोंके समान जान पड़ते थे ।। १५ ।।

हाहाकारः समभवत् तत्र तत्र सहस्रशः ।
अन्योन्यं छिन्दतां शस्त्रैरादित्ये लोहितायति ।। १६ ।।

संध्याके समय जब सूर्यमण्डल लाल हो रहा था, एक-दूसरेके शस्त्रोंसे कटनेवाले सहस्रों योद्धाओंका हाहाकार इधर-उधर सब ओर गूँज उठा ।। १६ ।।

परिघैरायसैस्तीक्ष्णैः संनिकर्षे च मुष्टिभिः ।
निघ्नतां समरेऽन्योन्यं शब्दो दिवमिवास्पृशत् ।। १७ ।।

उस समरांगणमें दूरवर्ती देवता और दानव लोहेके तीखे परिघोंसे एक-दूसरेपर चोट करते थे और निकट आ जानेपर आपसमें मुक्का-मुक्की करने लगते थे। इस प्रकार उनके पारस्परिक आघात-प्रत्याघातका शब्द मानो सारे आकाशमें गूँज उठा ।। १७ ।।

छिन्धि भिन्धि प्रधाव त्वं पातयाभिसरेति च ।
व्यश्रूयन्त महाघोराः शब्दास्तत्र समन्ततः ।। १८ ।।

उस रणभूमिमें चारों ओर ये ही अत्यन्त भयंकर शब्द सुनायी पड़ते थे कि 'टुकड़े-टुकड़े कर दो, चीर डालो, दौड़ो, गिरा दो और पीछा करो' ।। १८ ।।

एवं सुतुमुले युद्धे वर्तमाने महाभये ।
नरनारायणौ देवौ समाजग्मतुराहवम् ।। १९ ।।

इस प्रकार अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्ध हो ही रहा था कि भगवान् विष्णुके दो रूप नर और नारायणदेव भी युद्धभूमिमें आ गये ।। १९ ।।

तत्र दिव्यं धनुर्दृष्ट्वा नरस्य भगवानपि ।
चिन्तयामास तच्चक्रं विष्णुर्दानवसूदनम् ।। २० ।।

भगवान् नारायणने वहाँ नरके हाथमें दिव्य धनुष देखकर स्वयं भी दानवसंहारक दिव्य चक्रका चिन्तन किया ।। २० ।।

ततोऽम्बराच्चिन्तितमात्रमागतं
महाप्रभं चक्रममित्रतापनम् ।
विभावसोस्तुल्यमकुण्ठमण्डलं
सुदर्शनं संयति भीमदर्शनम् ।। २१ ।।

चिन्तन करते ही शत्रुओंको संताप देनेवाला अत्यन्त तेजस्वी चक्र आकाशमार्गसे उनके हाथमें आ गया। वह सूर्य एवं अग्निके समान जाज्वल्यमान हो रहा था। उस मण्डलाकार चक्रकी गति कहीं भी कुण्ठित नहीं होती थी। उसका नाम तो सुदर्शन था, किंतु वह युद्धमें शत्रुओंके लिये अत्यन्त भयंकर दिखायी देता था ।। २१ ।।

तदागतं ज्वलितहुताशनप्रभं
भयंकरं करिकरबाहुरच्युतः ।
मुमोच वै प्रबलवदुग्रवेगवान्
महाप्रभं परनगरावदारणम् ।। २२ ।।

वहाँ आया हुआ वह भयंकर चक्र प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था। उसमें शत्रुओंके बड़े-बड़े नगरोंको विध्वंस कर डालनेकी शक्ति थी। हाथीकी सूँड़के समान विशाल भुजदण्डवाले उग्रवेगशाली भगवान् नारायणने उस महातेजस्वी एवं महाबलशाली चक्रको दानवोंके दलपर चलाया ।। २२ ।।

तदन्तकज्वलनसमानवर्चसं
पुनः पुनर्न्यपतत वेगवत्तदा ।
विदारयद् दितिदनुजान् सहस्रशः
करेरितं पुरुषवरेण संयुगे ।। २३ ।।

उस महासमरमें पुरुषोत्तम श्रीहरिके हाथोंसे संचालित हो वह चक्र प्रलयकालीन अग्निके समान जाज्वल्यमान हो उठा और सहस्रों दैत्यों तथा दानवोंको विदीर्ण करता हुआ बड़े वेगसे बारम्बार उनकी सेनापर पड़ने लगा ।। २३ ।।

दहत् क्वचिज्ज्वलन इवावलेलिहत्
प्रसह्य तानसुरगणान् न्यकृन्तत ।
प्रवेरितं वियति मुहुः क्षितौ तथा
पपौ रणे रुधिरमथो पिशाचवत् ।। २४ ।।

श्रीहरिके हाथोंसे चलाया हुआ सुदर्शन चक्र कभी प्रज्वलित अग्निकी भाँति अपनी लपलपाती लपटोंसे असुरोंको चाटता हुआ भस्म कर देता और कभी हठपूर्वक उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालता था। इस प्रकार रणभूमिके भीतर पृथ्वी और आकाशमें घूम-घूमकर वह पिशाचकी भाँति बार-बार रक्त पीने लगा ।। २४ ।।

तथासुरा गिरिभिरदीनचेतसो
मुहुर्मुहुः सुरगणमार्दयंस्तदा ।
महाबला विगलितमेघवर्चसः
सहस्रशो गगनमभिप्रपद्य ह ।। २५ ।।

इसी प्रकार उदार एवं उत्साहभरे हृदयवाले महाबली असुर भी, जो जलरहित बादलोंके समान श्वेत रंगके दिखायी देते थे, उस समय सहस्रोंकी संख्यामें आकाशमें उड़-उड़कर शिलाखण्डोंकी वर्षासे बार-बार देवताओंको पीड़ित करने लगे ।। २५ ।।

अथाम्बराद् भयजननाः प्रपेदिरे
सपादपा बहुविधमेघरूपिणः ।
महाद्रयः परिगलिताग्रसानवः

परस्परं द्रुतमभिहत्य सस्वनाः ।। २६ ।।

तत्पश्चात् आकाशसे नाना प्रकारके लाल, पीले, नीले आदि रंगवाले बादलों-जैसे बड़े-बड़े पर्वत भय उत्पन्न करते हुए वृक्षोंसहित पृथ्वीपर गिरने लगे। उनके ऊँचे-ऊँचे शिखर गलते जा रहे थे और वे एक-दूसरेसे टकराकर बड़े जोरका शब्द करते थे ।। २६ ।।

ततो मही प्रविचलिता सकानना
महाद्रिपाताभिहता समन्ततः ।
परस्परं भृशमभिगर्जतां मुहू
रणाजिरे भृशमभिसम्प्रवर्तिते ।। २७ ।।

उस समय एक-दूसरेको लक्ष्य करके बार-बार जोर-जोरसे गरजनेवाले देवताओं और असुरोंके उस समरांगणमें सब ओर भयंकर मार-काट मच रही थी; बड़े-बड़े पर्वतोंके गिरनेसे आहत हुई वनसहित सारी भूमि काँपने लगी ।। २७ ।।

नरस्ततो वरकनकाग्रभूषणै-
र्महेषुभिर्गगनपथं समावृणोत् ।
विदारयन् गिरिशिखराणि पत्रिभिः
महाभयेऽसुरगणविग्रहे तदा ।। २८ ।।

तब उस महाभयंकर देवासुर-संग्राममें भगवान् नरने उत्तम सुवर्ण-भूषित अग्रभागवाले पंखयुक्त बड़े-बड़े बाणोंद्वारा पर्वत-शिखरोंको विदीर्ण करते हुए समस्त आकाशमार्गको आच्छादित कर दिया ।। २८ ।।

ततो महीं लवणजलं च सागरं
महासुराः प्रविविशुरर्दिताः सुरैः ।
वियद्गतं ज्वलितहुताशनप्रभं
सुदर्शनं परिकुपितं निशम्य ते ।। २९ ।।

इस प्रकार देवताओंके द्वारा पीड़ित हुए महादैत्य आकाशमें जलती हुई आगके समान उद्भासित होनेवाले सुदर्शन चक्रको अपने ऊपर कुपित देख पृथ्वीके भीतर और खारे पानीके समुद्रमें घुस गये ।। २९ ।।

ततः सुरैर्विजयमवाप्य मन्दरः
स्वमेव देशं गमितः सुपूजितः ।
विनाद्य खं दिवमपि चैव सर्वशः
ततो गताः सलिलधरा यथागतम् ।। ३० ।।

तदनन्तर देवताओंने विजय पाकर मन्दराचलको सम्मानपूर्वक उसके पूर्वस्थानपर ही पहुँचा दिया। इसके बाद वे अमृत धारण करनेवाले देवता अपने सिंहनादसे अन्तरिक्ष और स्वर्गलोकको भी सब ओरसे गुँजाते हुए अपने-अपने स्थानको चले गये ।। ३० ।।

ततोऽमृतं सुनिहितमेव चक्रिरे

सुराः परां मुदमभिगम्य पुष्कलाम् ।
ददौ च तं निधिममृतस्य रक्षितुं
किरीटिने बलभिदथामरैः सह ।। ३१ ।।

देवताओंको इस विजयसे बड़ी भारी प्रसन्नता प्राप्त हुई। उन्होंने उस अमृतको बड़ी सुव्यवस्थासे रखा। अमरोंसहित इन्द्रने अमृतकी वह निधि किरीटधारी भगवान् नरको रक्षाके लिये सौंप दी ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि
अमृतमन्थनसमाप्तिर्नामैकोनविंशोऽध्यायः ।। १९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें अमृतमन्थन-समाप्ति नामक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९ ।।

विंशोऽध्यायः

कद्रू और विनताकी होड़, कद्रूद्वारा अपने पुत्रोंको शाप एवं ब्रह्माजीद्वारा उसका अनुमोदन

सौतिरुवाच

एतत् ते कथितं सर्वममृतं मथितं यथा ।
यत्र सोऽश्वः समुत्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः ।। १ ।।
यं निशम्य तदा कद्रूर्विनतामिदमब्रवीत् ।
उच्चैःश्रवा हि किं वर्णो भद्रे प्रब्रूहि माचिरम् ।। २ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो! जिस प्रकार अमृत मथकर निकाला गया, वह सब प्रसंग मैंने आपलोगोंसे कह सुनाया। उस अमृत-मन्थनके समय ही वह अनुपम वेगशाली सुन्दर अश्व उत्पन्न हुआ था, जिसे देखकर कद्रूने विनतासे कहा—'भद्रे! शीघ्र बताओ तो यह उच्चैःश्रवा घोड़ा किस रंगका है?' ।। १-२ ।।

विनतोवाच

श्वेत एवाश्वराजोऽयं किं वा त्वं मन्यसे शुभे ।
ब्रूहि वर्णं त्वमप्यस्य ततोऽत्र विपणावहे ।। ३ ।।

विनता बोली—शुभे! यह अश्वराज श्वेत वर्णका ही है। तुम इसे कैसा समझती हो? तुम भी इसका रंग बताओ, तब हम दोनों इसके लिये बाजी लगायेंगी ।। ३ ।।

कद्रूरुवाच

कृष्णवालमहं मन्ये हयमेनं शुचिस्मिते ।
एहि सार्धं मया दीव्य दासीभावाय भामिनि ।। ४ ।।

कद्रूने कहा—पवित्र मुसकानवाली बहन! इस घोड़े (का रंग तो अवश्य सफेद है, किंतु इस)-की पूँछको मैं काले रंगकी ही मानती हूँ। भामिनि! आओ, दासी होनेकी शर्त रखकर मेरे साथ बाजी लगाओ (यदि तुम्हारी बात ठीक हुई तो मैं दासी बनकर रहूँगी; अन्यथा तुम्हें मेरी दासी बनना होगा) ।। ४ ।।

सौतिरुवाच

एवं ते समयं कृत्वा दासीभावाय वै मिथः ।
जग्मतुः स्वगृहानेव श्वो द्रक्ष्याव इति स्म ह ।। ५ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इस प्रकार वे दोनों बहनें आपसमें एक-दूसरेकी दासी होनेकी शर्त रखकर अपने-अपने घर चली गयीं और उन्होंने यह निश्चय किया कि कल आकर

घोड़ेको देखेंगी ।। ५ ।।

ततः पुत्रसहस्रं तु कद्रूर्जिह्मं चिकीर्षती ।
आज्ञापयामास तदा वाला भूत्वाञ्जनप्रभाः ।। ६ ।।
आविशध्वं हयं क्षिप्रं दासी न स्यामहं यथा ।
नावपद्यन्त ये वाक्यं ताञ्छशाप भुजङ्गमान् ।। ७ ।।
सर्पसत्रे वर्तमाने पावको वः प्रधक्ष्यति ।
जनमेजयस्य राजर्षेः पाण्डवेयस्य धीमतः ।। ८ ।।

कद्रू कुटिलता एवं छलसे काम लेना चाहती थी। उसने अपने सहस्र पुत्रोंको इस समय आज्ञा दी कि तुम काले रंगके बाल बनकर शीघ्र उस घोड़ेकी पूँछमें लग जाओ, जिससे मुझे दासी न होना पड़े। उस समय जिन सर्पोंने उसकी आज्ञा न मानी उन्हें उसने शाप दिया कि, 'जाओ, पाण्डववंशी बुद्धिमान् राजर्षि जनमेजयके सर्पयज्ञका आरम्भ होनेपर उसमें प्रज्वलित अग्नि तुम्हें जलाकर भस्म कर देगी' ।। ६—८ ।।

शापमेनं तु शुश्राव स्वयमेव पितामहः ।
अतिक्रूरं समुत्सृष्टं कद्र्वा दैवादतीव हि ।। ९ ।।

इस शापको स्वयं ब्रह्माजीने सुना। यह दैवसंयोगकी बात है कि सर्पोंको उनकी माता कद्रूकी ओरसे ही अत्यन्त कठोर शाप प्राप्त हो गया ।। ९ ।।

सार्धं देवगणैः सर्वैर्वाचं तामन्वमोदत ।
बहुत्वं प्रेक्ष्य सर्पाणां प्रजानां हितकाम्यया ।। १० ।।

सम्पूर्ण देवताओंसहित ब्रह्माजीने सर्पोंकी संख्या बढ़ती देख प्रजाके हितकी इच्छासे कद्रूकी उस बातका अनुमोदन ही किया ।। १० ।।

तिग्मवीर्यविषा ह्येते दन्दशूका महाबलाः ।
तेषां तीक्ष्णविषत्वाद्धि प्रजानां च हिताय च ।। ११ ।।
युक्तं मात्रा कृतं तेषां परपीडोपसर्पिणाम् ।
अन्येषामपि सत्त्वानां नित्यं दोषपरास्तु ये ।। १२ ।।
तेषां प्राणान्तको दण्डो देवेन विनिपात्यते ।
एवं सम्भाष्य देवस्तु पूज्य कद्रूं च तां तदा ।। १३ ।।
आहूय कश्यपं देव इदं वचनमब्रवीत् ।
यदेते दन्दशूकाश्च सर्पा जातास्त्वयानघ ।। १४ ।।
विषोल्बणा महाभोगा मात्रा शप्ताः परंतप ।
तत्र मन्युस्त्वया तात न कर्तव्यः कथंचन ।। १५ ।।
दृष्टं पुरातनं ह्येतद् यज्ञे सर्पविनाशनम् ।
इत्युक्त्वा सृष्टिकृद् देवस्तं प्रसाद्य प्रजापतिम् ।
प्रादाद् विषहरीं विद्यां कश्यपाय महात्मने ।। १६ ।।

‘ये महाबली दुःसह पराक्रम तथा प्रचण्ड विषसे युक्त हैं। अपने तीखे विषके कारण ये सदा दूसरोंको पीड़ा देनेके लिये दौड़ते-फिरते हैं। अतः समस्त प्राणियोंके हितकी दृष्टिसे इन्हें शाप देकर माता कद्रूने उचित ही किया है। जो सदा दूसरे प्राणियोंको हानि पहुँचाते रहते हैं, उनके ऊपर दैवके द्वारा ही प्राणनाशक दण्ड आ पड़ता है।’ ऐसी बात कहकर ब्रह्माजीने कद्रूकी प्रशंसा की और कश्यपजीको बुलाकर यह बात कही—‘अनघ! तुम्हारे द्वारा जो ये लोगोंको डँसनेवाले सर्प उत्पन्न हो गये हैं, इनके शरीर बहुत विशाल और विष बड़े भयंकर हैं। परंतप! इन्हें इनकी माताने शाप दे दिया है, इसके कारण तुम किसी तरह भी उसपर क्रोध न करना। तात! यज्ञमें सर्पोंका नाश होनेवाला है, यह पुराणवृत्तान्त तुम्हारी दृष्टिमें भी है ही।’ ऐसा कहकर सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीने प्रजापति कश्यपको प्रसन्न करके उन महात्माको सर्पोंका विष उतारनेवाली विद्या प्रदान की ।। ११—१६ ।।

(एवं शप्तेषु नागेषु कद्र्वा च द्विजसत्तम ।
उद्विग्नः शापतस्तस्याः कद्रूं कर्कोटकोऽब्रवीत् ।।
मातरं परमप्रीतस्तदा भुजगसत्तमः ।
आविश्य वाजिनं मुख्यं वालो भूत्वाञ्जनप्रभः ।।
दर्शयिष्यामि तत्राहमात्मानं काममाश्वस ।
एवमस्त्विति तं पुत्रं प्रत्युवाच यशस्विनी ।।)

द्विजश्रेष्ठ! इस प्रकार माता कद्रूने जब नागोंको शाप दे दिया, तब उस शापसे उद्विग्न हो भुजंगप्रवर कर्कोटकने परम प्रसन्नता व्यक्त करते हुए अपनी मातासे कहा—‘मा! तुम धैर्य रखो, मैं काले रंगका बाल बनकर उस श्रेष्ठ अश्वके शरीरमें प्रविष्ट हो अपने-आपको ही इसकी काली पूँछके रूपमें दिखाऊँगा।’ यह सुनकर यशस्विनी कद्रूने पुत्रको उत्तर दिया—‘बेटा! ऐसा ही होना चाहिये’।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे विंशोऽध्यायः ।। २० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरितविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २० ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल १९ श्लोक हैं)

एकविंशोऽध्यायः

समुद्रका विस्तारसे वर्णन

सौतिरुवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां प्रभातेऽभ्युदिते रवौ ।
कद्रूश्च विनता चैव भगिन्यौ ते तपोधन ।। १ ।।
अमर्षिते सुसंरब्धे दास्ये कृतपणे तदा ।
जग्मतुस्तुरगं द्रष्टुमुच्चैःश्रवसमन्तिकात् ।। २ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तपोधन! तदनन्तर जब रात बीती, प्रातःकाल हुआ और भगवान् सूर्यका उदय हो गया, उस समय कद्रू और विनता दोनों बहनें बड़े जोश और रोषके साथ दासी होनेकी बाजी लगाकर उच्चैःश्रवा नामक अश्वको निकटसे देखनेके लिये गयीं ।। १-२ ।।

ददृशातेऽथ ते तत्र समुद्रं निधिमम्भसाम् ।
महान्तमुदकागाधं क्षोभ्यमाणं महास्वनम् ।। ३ ।।

कुछ दूर जानेपर उन्होंने मार्गमें जलनिधि समुद्रको देखा, जो महान् होनेके साथ ही अगाध जलसे भरा था। मगर आदि जल-जन्तु उसे विक्षुब्ध कर रहे थे और उससे बड़े जोरकी गर्जना हो रही थी ।। ३ ।।

तिमिङ्गिलझषाकीर्णं मकरैरावृतं तथा ।
सत्त्वैश्च बहुसाहस्रैर्नानारूपैः समावृतम् ।। ४ ।।

वह तिमि नामक बड़े-बड़े मत्स्योंको भी निगल जानेवाले तिमिंगिलों, मत्स्यों तथा मगर आदिसे व्याप्त था। नाना प्रकारकी आकृतिवाले सहस्रों जल-जन्तु उसमें भरे हुए थे ।। ४ ।।

भीषणैर्विकृतैरन्यैर्घोरैर्जलचरैस्तथा ।
उग्रैर्नित्यमनाधृष्यं कूर्मग्राहसमाकुलम् ।। ५ ।।

विकट आकारवाले दूसरे-दूसरे घोर डरावने जलचरों तथा उग्र जल-जन्तुओंके कारण वह महासागर सदा सबके लिये दुर्धर्ष बना हुआ था। उसके भीतर बहुत-से कछुए और ग्राह निवास करते थे ।। ५ ।।

आकरं सर्वरत्नानामालयं वरुणस्य च ।
नागानामालयं रम्यमुत्तमं सरितां पतिम् ।। ६ ।।

सरिताओंका स्वामी वह महासागर सम्पूर्ण रत्नोंकी खान, वरुणदेवका निवासस्थान और नागोंका रमणीय उत्तम गृह है ।। ६ ।।

पातालज्वलनावासमसुराणां च बान्धवम् ।
भयंकरं च सत्त्वानां पयसां निधिमर्णवम् ।। ७ ।।

पातालकी अग्नि—बड़वानलका निवास भी उसीमें है। असुरोंको तो वह जलनिधि समुद्र भाई-बन्धुकी भाँति शरण देनेवाला है तथा दूसरे थलचर जीवोंके लिये अत्यन्त भयदायक है ।। ७ ।।

शुभं दिव्यममर्त्यानाममृतस्याकरं परम् ।
अप्रमेयमचिन्त्यं च सुपुण्यजलमद्भुतम् ।। ८ ।।

अमरोंके अमृतकी खान होनेसे वह अत्यन्त शुभ एवं दिव्य माना जाता है। उसका कोई माप नहीं है। वह अचिन्त्य, पवित्र जलसे परिपूर्ण तथा अद्भुत है ।। ८ ।।

घोरं जलचरारावरौद्रं भैरवनिःस्वनम् ।
गम्भीरावर्तकलिलं सर्वभूतभयंकरम् ।। ९ ।।

वह घोर समुद्र जल-जन्तुओंके शब्दोंसे और भी भयंकर प्रतीत होता था, उससे भयंकर गर्जना हो रही थी, उसमें गहरी भँवरें उठ रही थीं तथा वह समस्त प्राणियोंके लिये भय-सा उत्पन्न करता था ।। ९ ।।

वेलादोलानिलचलं क्षोभोद्वेगसमुच्छ्रितम् ।
वीचीहस्तैः प्रचलितैर्नृत्यन्तमिव सर्वतः ।। १० ।।

तटपर तीव्रवेगसे बहनेवाली वायु मानो झूला बनकर उस महासागरको चंचल किये देती थी। वह क्षोभ और उद्वेगसे बहुत ऊँचेतक लहरें उठाता था और सब ओर चंचल तरंगरूपी हाथोंको हिला-हिलाकर नृत्य-सा कर रहा था ।। १० ।।

चन्द्रवृद्धिक्षयवशादुद्वृत्तोर्मिसमाकुलम् ।
पाञ्चजन्यस्य जननं रत्नाकरमनुत्तमम् ।। ११ ।।

चन्द्रमाकी वृद्धि और क्षयके कारण उसकी लहरें बहुत ऊँचे उठतीं और उतरती थीं (उसमें ज्वार-भाटे आया करते थे), अतः वह उत्ताल-तरंगोंसे व्याप्त जान पड़ता था। उसीने पांचजन्य शंखको जन्म दिया था। वह रत्नोंका आकर और परम उत्तम था ।। ११ ।।

गां विन्दता भगवता गोविन्देनामितौजसा ।
वराहरूपिणा चान्तर्विक्षोभितजलाविलम् ।। १२ ।।

अमिततेजस्वी भगवान् गोविन्दने वराहरूपसे पृथ्वीको उपलब्ध करते समय उस समुद्रको भीतरसे मथ डाला था और उस मथित जलसे वह समस्त महासागर मलिन-सा जान पड़ता था ।। १२ ।।

ब्रह्मर्षिणा व्रतवता वर्षाणां शतमत्रिणा ।
अनासादितगाधं च पातालतलमव्ययम् ।। १३ ।।

व्रतधारी ब्रह्मर्षि अत्रिने समुद्रके भीतरी तलका अन्वेषण करते हुए सौ वर्षोंतक चेष्टा करके भी उसका पता नहीं पाया। वह पातालके नीचेतक व्याप्त है और पातालके नष्ट होनेपर भी बना रहता है, इसलिये अविनाशी है ।। १३ ।।

अध्यात्मयोगनिद्रां च पद्मनाभस्य सेवतः ।

युगादिकालशयनं विष्णोरमिततेजसः ।। १४ ।।

आध्यात्मिक योगनिद्राका सेवन करनेवाले अमित-तेजस्वी कमलनाभ भगवान् विष्णुके लिये वह (युगान्तकालसे लेकर) युगादिकालतक शयनागार बना रहता है ।। १४ ।।

वज्रपातनसंत्रस्तमैनाकस्याभयप्रदम् ।
डिम्बाहवार्दितानां च असुराणां परायणम् ।। १५ ।।

उसीने वज्रपातसे डरे हुए मैनाक पर्वतको अभयदान दिया है तथा जहाँ भयके मारे हाहाकार करना पड़ता है, ऐसे युद्धसे पीड़ित हुए असुरोंका वह सबसे बड़ा आश्रय है ।। १५ ।।

वडवामुखदीप्താग्नेस्तोयहव्यप्रदं शिवम् ।
अगाधपारं विस्तीर्णमप्रमेयं सरित्पतिम् ।। १६ ।।

बड़वानलके प्रज्वलित मुखमें वह सदा अपने जलरूपी हविष्यकी आहुति देता रहता है और जगत्‌के लिये कल्याणकारी है। इस प्रकार वह सरिताओंका स्वामी समुद्र अगाध, अपार, विस्तृत और अप्रमेय है ।। १६ ।।

महानदीभिर्बह्वीभिः स्पर्धयेव सहस्रशः ।
अभिसार्यमाणमनिशं ददृशाते महार्णवम् ।
आपूर्यमाणमत्यर्थं नृत्यमानमिवोर्मिभिः ।। १७ ।।

सहस्रों बड़ी-बड़ी नदियाँ आपसमें होड़-सी लगाकर उस विस्तृत महासागरमें निरन्तर मिलती रहती हैं और अपने जलसे उसे सदा परिपूर्ण किया करती हैं। वह ऊँची-ऊँची लहरोंकी भुजाएँ ऊपर उठाये निरन्तर नृत्य करता-सा जान पड़ता है ।। १७ ।।

गम्भीरं तिमिमकरोग्रसंकुलं तं
गर्जन्तं जलचररावरौद्रनादैः ।
विस्तीर्णं ददृशतुरम्बरप्रकाशं
तेऽगाधं निधिमुरुमम्भसामनन्तम् ।। १८ ।।

इस प्रकार गम्भीर, तिमि और मकर आदि भयंकर जल-जन्तुओंसे व्याप्त, जलचर जीवोंके शब्दरूप भयंकर नादसे निरन्तर गर्जना करनेवाले, अत्यन्त विस्तृत, आकाशके समान स्वच्छ, अगाध, अनन्त एवं महान् जलनिधि समुद्रको कद्रू और विनताने देखा ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे एकविंशोऽध्यायः ।। २१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरितके प्रसंगमें इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१ ।।

द्वाविंशोऽध्यायः

नागोंद्वारा उच्चैःश्रवाकी पूँछको काली बनाना; कद्रू और विनताका समुद्रको देखते हुए आगे बढ़ना

सौतिरुवाच

नागाश्च संविदं कृत्वा कर्तव्यमिति तद्वचः ।
निःस्नेहा वै दहेन्माता असम्प्राप्तमनोरथा ।। १ ।।
प्रसन्ना मोक्षयेदस्मांस्तस्माच्छापाच्च भामिनी ।
कृष्णं पुच्छं करिष्यामस्तुरगस्य न संशयः ।। २ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महर्षियो! इधर नागोंने परस्पर विचार करके यह निश्चय किया कि 'हमें माताकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। यदि इसका मनोरथ पूरा न होगा तो वह स्नेहभाव छोड़कर रोषपूर्वक हमें जला देगी। यदि इच्छा पूर्ण हो जानेसे प्रसन्न हो गयी तो वह भामिनी हमें अपने शापसे मुक्त कर सकती है; इसलिये हम निश्चय ही उस घोड़ेकी पूँछको काली कर देंगे' ।। १-२ ।।

तथा हि गत्वा ते तस्य पुच्छे वाला इव स्थिताः ।
एतस्मिन्नन्तरे ते तु सपत्न्यौ पणिते तदा ।। ३ ।।
ततस्ते पणितं कृत्वा भगिन्यौ द्विजसत्तम ।
जग्मतुः परया प्रीत्या परं पारं महोदधेः ।। ४ ।।
कद्रूश्च विनता चैव दाक्षायण्यौ विहायसा ।
आलोकयन्त्यावक्षोभ्यं समुद्रं निधिमम्भसाम् ।। ५ ।।
वायुनातीव सहसा क्षोभ्यमाणं महास्वनम् ।
तिमिंगिलसमाकीर्णं मकरैरावृतं तथा ।। ६ ।।
संयुतं बहुसाहस्रैः सत्त्वैर्नानाविधैरपि ।
घोरैर्घोरमनाधृष्यं गम्भीरमतिभैरवम् ।। ७ ।।

ऐसा विचार करके वे वहाँ गये और काले रंगके बाल बनकर उसकी पूँछमें लिपट गये। द्विजश्रेष्ठ! इसी बीचमें बाजी लगाकर आयी हुई दोनों सौतें और सगी बहनें पुनः अपनी शर्तको दुहराकर बड़ी प्रसन्नताके साथ समुद्रके दूसरे पार जा पहुँचीं। दक्षकुमारी कद्रू और विनता आकाशमार्गसे अक्षोभ्य जलनिधि समुद्रको देखती हुई आगे बढ़ीं। वह महासागर अत्यन्त प्रबल वायुके थपेड़े खाकर सहसा विक्षुब्ध हो रहा था। उससे बड़े जोरकी गर्जना होती थी। तिमिंगिल और मगरमच्छ आदि जलजन्तु उसमें सब ओर व्याप्त थे। नाना प्रकारके भयंकर जन्तु सहस्रोंकी संख्यामें उसके भीतर निवास करते थे। इन सबके कारण

वह अत्यन्त घोर और दुर्धर्ष जान पड़ता था तथा गहरा होनेके साथ ही अत्यन्त भयंकर था ।। ३—७ ।।

आकरं सर्वरत्नानामालयं वरुणस्य च ।
नागानामालयं चापि सुरम्यं सरितां पतिम् ।। ८ ।।

नदियोंका वह स्वामी सब प्रकारके रत्नोंकी खान, वरुणका निवासस्थान तथा नागोंका सुरम्य गृह था ।। ८ ।।

पातालज्वलनावासमसुराणां तथाऽऽलयम् ।
भयंकराणां सत्त्वानां पयसो निधिमव्ययम् ।। ९ ।।

वह पातालव्यापी बड़वानलका आश्रय, असुरोंके छिपनेका स्थान, भयंकर जन्तुओंका घर, अनन्त जलका भण्डार और अविनाशी था ।। ९ ।।

शुभ्रं दिव्यममर्त्यानाममृतस्याकरं परम् ।
अप्रमेयमचिन्त्यं च सुपुण्यजलसम्मितम् ।। १० ।।

वह शुभ्र, दिव्य, अमरोंके अमृतका उत्तम उत्पत्ति-स्थान, अप्रमेय, अचिन्त्य तथा परम पवित्र जलसे परिपूर्ण था ।। १० ।।

महानदीभिर्बह्वीभिस्तत्र तत्र सहस्रशः ।
आपूर्यमाणमत्यर्थं नृत्यन्तमिव चोर्मिभिः ।। ११ ।।

बहुत-सी बड़ी-बड़ी नदियाँ सहस्रोंकी संख्यामें आकर उसमें यत्र-तत्र मिलतीं और उसे अधिकाधिक भरती रहती थीं। वह भुजाओंके समान ऊँची लहरोंको ऊपर उठाये नृत्य-सा कर रहा था ।। ११ ।।

इत्येवं तरलतरोर्मिसंकुलं तं
गम्भीरं विकसितमम्बरप्रकाशम् ।
पातालज्वलनशिखाविदीपिताङ्गं
गर्जन्तं द्रुतमभिजग्मतुस्ततस्ते ।। १२ ।।

इस प्रकार अत्यन्त तरल तरंगोंसे व्याप्त, आकाशके समान स्वच्छ, बड़वानलकी शिखाओंसे उद्भासित, गम्भीर, विकसित और निरन्तर गर्जन करनेवाले महासागरको देखती हुई वे दोनों बहनें तुरंत आगे बढ़ गयीं ।। १२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे समुद्रदर्शनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ।। २२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरितके प्रसंगमें समुद्रदर्शन नामक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२ ।।

त्रयोविंशोऽध्यायः

पराजित विनताका कद्रूकी दासी होना, गरुडकी उत्पत्ति तथा देवताओंद्वारा उनकी स्तुति

सौतिरुवाच

तं समुद्रमतिक्रम्य कद्रूर्विनतया सह ।
न्यपतत् तुरगाभ्याशे नचिरादिव शीघ्रगा ।। १ ।।
ततस्ते तं हयश्रेष्ठं ददृशाते महाजवम् ।
शशाङ्ककिरणप्रख्यं कालवालमुभे तदा ।। २ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! तदनन्तर शीघ्रगामिनी कद्रू विनताके साथ उस समुद्रको लाँघकर तुरंत ही उच्चैःश्रवा घोड़ेके पास पहुँच गयीं। उस समय चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेत वर्णवाले उस महान् वेगशाली श्रेष्ठ अश्वको उन दोनोंने काली पूँछवाला देखा ।। १-२ ।।

निशम्य च बहून् बालान् कृष्णान् पुच्छसमाश्रितान् ।
विषण्णरूपां विनतां कद्रूर्दास्ये न्ययोजयत् ।। ३ ।।

पूँछके घनीभूत बालोंको काले रंगका देखकर विनता विषादकी मूर्ति बन गयी और कद्रूने उसे अपनी दासीके काममें लगा दिया ।। ३ ।।

ततः सा विनता तस्मिन् पणितेन पराजिता ।
अभवद् दुःखसंतप्ता दासीभावं समास्थिता ।। ४ ।।

पहलेकी लगायी हुई बाजी हारकर विनता उस स्थानपर दुःखसे संतप्त हो उठी और उसने दासीभाव स्वीकार कर लिया ।। ४ ।।

एतस्मिन्नन्तरे चापि गरुडः काल आगते ।
विना मात्रा महातेजा विदार्याण्डमजायत ।। ५ ।।

इसी बीचमें समय पूरा होनेपर महातेजस्वी गरुड माताकी सहायताके बिना ही अण्डा फोड़कर बाहर निकल आये ।। ५ ।।

महासत्त्वबलोपेतः सर्वा विद्योतयन् दिशः ।
कामरूपः कामगमः कामवीर्यो विहंगमः ।। ६ ।।

वे महान् साहस और पराक्रमसे सम्पन्न थे। अपने तेजसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे। उनमें इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्ति थी। वे जहाँ जितनी जल्दी जाना चाहें जा सकते थे और अपनी रुचिके अनुसार पराक्रम दिखला सकते थे। उनका प्राकट्य आकाशचारी पक्षीके रूपमें हुआ था ।। ६ ।।

अग्निराशिरिवोद्भासन् समिद्धोऽतिभयंकरः ।
विद्युद्विस्पष्टपिङ्गाक्षो युगान्ताग्निसमप्रभः ।। ७ ।।

वे प्रज्वलित अग्नि-पुंजके समान उद्भासित होकर अत्यन्त भयंकर जान पड़ते थे। उनकी आँखें बिजलीके समान चमकनेवाली और पिंगलवर्णकी थीं। वे प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित एवं प्रकाशित हो रहे थे ।। ७ ।।

प्रवृद्धः सहसा पक्षी महाकायो नभोगतः ।
घोरो घोरस्वनो रौद्रो वह्निरौर्व इवापरः ।। ८ ।।

उनका शरीर थोड़ी ही देरमें बढ़कर विशाल हो गया। पक्षी गरुड आकाशमें उड़ चले। वे स्वयं तो भयंकर थे ही, उनकी आवाज भी बड़ी भयानक थी। वे दूसरे बड़वानलकी भाँति बड़े भीषण जान पड़ते थे ।। ८ ।।

तं दृष्ट्वा शरणं जग्मुर्देवाः सर्वे विभावसुम् ।
प्रणिपत्याब्रुवंश्चैनमासीनं विश्वरूपिणम् ।। ९ ।।

उन्हें देखकर सब देवता विश्वरूपधारी अग्निदेवकी शरणमें गये और उन्हें प्रणाम करके बैठे हुए उन अग्निदेवसे इस प्रकार बोले— ।। ९ ।।

अग्ने मा त्वं प्रवर्धिष्ठाः कच्चिन्नो न दिधक्षसि ।
असौ हि राशिः सुमहान् समिद्धस्तव सर्पति ।। १० ।।

'अग्ने! आप इस प्रकार न बढ़ें। आप हमलोगोंको जलाकर भस्म तो नहीं कर डालना चाहते हैं? देखिये, वह आपका महान्, प्रज्वलित तेजःपुंज इधर ही फैलता आ रहा है' ।। १० ।।

अग्निरुवाच

नैतदेवं यथा यूयं मन्यध्वमसुरार्दनाः ।
गरुडो बलवानेष मम तुल्यश्च तेजसा ।। ११ ।।

अग्निदेवने कहा—असुरविनाशक देवताओ! तुम जैसा समझ रहे हो, वैसी बात नहीं है। ये महाबली गरुड हैं, जो तेजमें मेरे ही तुल्य हैं ।। ११ ।।

जातः परमतेजस्वी विनतानन्दवर्धनः।
तेजोराशिमिमं दृष्ट्वा युष्मान् मोहः समाविशत् ।। १२ ।।

विनताका आनन्द बढ़ानेवाले ये परम तेजस्वी गरुड इसी रूपमें उत्पन्न हुए हैं। तेजके पुंजरूप इन गरुडको देखकर ही तुमलोगोंपर मोह छा गया है ।। १२ ।।

नागक्षयकरश्चैव काश्यपेयो महाबलः ।
देवानां च हिते युक्तस्त्वहितो दैत्यरक्षसाम् ।। १३ ।।

कश्यपनन्दन महाबली गरुड नागोंके विनाशक, देवताओंके हितैषी और दैत्यों तथा राक्षसोंके शत्रु हैं ।। १३ ।।

न भीः कार्या कथं चात्र पश्यध्वं सहिता मम ।
एवमुक्तास्तदा गत्वा गरुडं वाग्भिरस्तुवन् ।। १४ ।।
ते दूरसदभ्युपेत्यैनं देवाः सर्षिगणास्तदा ।

इनसे किसी प्रकारका भय नहीं करना चाहिये। तुम मेरे साथ चलकर इनका दर्शन करो। अग्निदेवके ऐसा कहनेपर उस समय देवताओं तथा ऋषियोंने गरुडके पास जाकर अपनी वाणीद्वारा उनका इस प्रकार स्तवन किया (यहाँ परमात्माके रूपमें गरुडकी स्तुति की गयी है) ।। १४½ ।।

देवा ऊचुः

त्वमृषिस्त्वं महाभागस्त्वं देवः पतगेश्वरः ।। १५ ।।

देवता बोले—प्रभो! आप मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं; आप ही महाभाग देवता तथा आप ही पतगेश्वर (पक्षियों तथा जीवोंके स्वामी) हैं ।। १५ ।।

त्वं प्रभुस्तपनः सूर्यः परमेष्ठी प्रजापतिः ।
त्वमिन्द्रस्त्वं हयमुखस्त्वं शर्वस्त्वं जगत्पतिः ।। १६ ।।

आप ही प्रभु, तपन, सूर्य, परमेष्ठी तथा प्रजापति हैं। आप ही इन्द्र हैं, आप ही हयग्रीव हैं, आप ही शिव हैं तथा आप ही जगत्‌के स्वामी हैं ।। १६ ।।

त्वं मुखं पद्मजो विप्रस्त्वमग्निः पवनस्तथा ।
त्वं हि धाता विधाता च त्वं विष्णुः सुरसत्तमः ।। १७ ।।

आप ही भगवान्‌के मुखस्वरूप ब्राह्मण, पद्मयोनि ब्रह्मा और विज्ञानवान् विप्र हैं, आप ही अग्नि तथा वायु हैं, आप ही धाता, विधाता और देवश्रेष्ठ विष्णु हैं ।। १७ ।।

त्वं महानभिभूः शश्वदमृतं त्वं महद् यशः ।
त्वं प्रभास्त्वमभिप्रेतं त्वं नस्त्राणमनुत्तमम् ।। १८ ।।

आप ही महत्तत्त्व और अहंकार हैं। आप ही सनातन, अमृत और महान् यश हैं। आप ही प्रभा और आप ही अभीष्ट पदार्थ हैं। आप ही हमलोगोंके सर्वोत्तम रक्षक हैं ।। १८ ।।

बलोर्मिमान् साधुरदीनसत्त्वः
समृद्धिमान् दुर्विषहस्त्वमेव ।
त्वत्तः सृतं सर्वमहीनकीर्ते
ह्यनागतं चोपगतं च सर्वम् ।। १९ ।।

आप बलके सागर और साधु पुरुष हैं। आपमें उदार सत्त्वगुण विराजमान है। आप महान् ऐश्वर्यशाली हैं। युद्धमें आपके वेगको सह लेना सभीके लिये सर्वथा कठिन है। पुण्यश्लोक! यह सम्पूर्ण जगत् आपसे ही प्रकट हुआ है। भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ आप ही हैं ।। १९ ।।

त्वमुत्तमः सर्वमिदं चराचरं

गभस्तिभिर्भानुरिवावभाससे ।
समाक्षिपन् भानुमतः प्रभां मुहु-
स्त्वमन्तकः सर्वमिदं ध्रुवाध्रुवम् ।। २० ।।

आप उत्तम हैं। जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे सबको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आप इस सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करते हैं। आप ही सबका अन्त करनेवाले काल हैं और बारम्बार सूर्यकी प्रभाका उपसंहार करते हुए इस समस्त क्षर और अक्षररूप जगत्‌का संहार करते हैं ।। २० ।।

दिवाकरः परिकुपितो यथा दहेत्
प्रजास्तथा दहसि हुताशनप्रभ ।
भयंकरः प्रलय इवाग्निरुत्थितो
विनाशयन् युगपरिवर्तनान्तकृत् ।। २१ ।।

अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले देव! जैसे सूर्य क्रुद्ध होनेपर सबको जला सकते हैं, उसी प्रकार आप भी कुपित होनेपर सम्पूर्ण प्रजाको दग्ध कर डालते हैं। आप युगान्तकारी कालके भी काल हैं और प्रलयकालमें सबका विनाश करनेके लिये भयंकर संवर्तकाग्निके रूपमें प्रकट होते हैं ।। २१ ।।

खगेश्वरं शरणमुपागता वयं
महौजसं ज्वलनसमानवर्चसम् ।
तडित्प्रभं वितिमिरमभ्रगोचरं
महाबलं गरुडमुपेत्य खेचरम् ।। २२ ।।

आप सम्पूर्ण पक्षियों एवं जीवोंके अधीश्वर हैं। आपका ओज महान् है। आप अग्निके समान तेजस्वी हैं। आप बिजलीके समान प्रकाशित होते हैं। आपके द्वारा अज्ञानपुंजका निवारण होता है। आप आकाशमें मेघोंकी भाँति विचरनेवाले महापराक्रमी गरुड हैं। हम यहाँ आकर आपके शरणागत हो रहे हैं ।। २२ ।।

परावरं वरदमजय्यविक्रमं
तवौजसा सर्वमिदं प्रतापितम् ।
जगत्प्रभो तप्तसुवर्णवर्चसा
त्वं पाहि सर्वांश्च सुरान् महात्मनः ।। २३ ।।

आप ही कार्य और कारणरूप हैं। आपसे ही सबको वर मिलता है। आपका पराक्रम अजेय है। आपके तेजसे यह सम्पूर्ण जगत् संतप्त हो उठा है। जगदीश्वर! आप तपाये हुए सुवर्णके समान अपने दिव्य तेजसे सम्पूर्ण देवताओं और महात्मा पुरुषोंकी रक्षा करें ।। २३ ।।

भयान्विता नभसि विमानगामिनो
विमानिता विपथगतिं प्रयान्ति ते ।

ऋषेः सुतस्त्वमसि दयावतः प्रभो
महात्मनः खगवर कश्यपस्य ह ।। २४ ।।

पक्षिराज! प्रभो! विमानपर चलनेवाले देवता आपके तेजसे तिरस्कृत एवं भयभीत हो आकाशमें पथभ्रष्ट हो जाते हैं। आप दयालु महात्मा महर्षि कश्यपके पुत्र हैं ।। २४ ।।

स मा क्रुधः कुरु जगतो दयां परां
त्वमीश्वरः प्रशममुपैहि पाहि नः ।
महाशनिस्फुरितसमस्वनेन ते
दिशोऽम्बरं त्रिदिवमियं च मेदिनी ।। २५ ।।
चलन्ति नः खग हृदयानि चानिशं
निगृह्यतां वपुरिदमग्निसंनिभम् ।
तव द्युतिं कुपितकृतान्तसंनिभां
निशम्य नश्चलति मनोऽव्यवस्थितम् ।
प्रसीद नः पतगपते प्रयाचतां
शिवश्च नो भव भगवन् सुखावहः ।। २६ ।।

प्रभो! आप कुपित न हों, सम्पूर्ण जगत्पर उत्तम दयाका विस्तार करें। आप ईश्वर हैं, अतः शान्ति धारण करें और हम सबकी रक्षा करें। महान् वज्रकी गड़गड़ाहटके समान आपकी गर्जनासे सम्पूर्ण दिशाएँ, आकाश, स्वर्ग तथा यह पृथ्वी सब-के-सब विचलित हो उठे हैं और हमारा हृदय भी निरन्तर काँपता रहता है। अतः खगश्रेष्ठ! आप अग्निके समान तेजस्वी अपने इस भयंकर रूपको शान्त कीजिये। क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान आपकी उग्र कान्ति देखकर हमारा मन अस्थिर एवं चंचल हो जाता है। आप हम याचकोंपर प्रसन्न होइये। भगवन्! आप हमारे लिये कल्याणस्वरूप और सुखदायक हो जाइये ।। २५-२६ ।।

एवं स्तुतः सुपर्णस्तु देवैः सर्षिगणैस्तदा ।
तेजसः प्रतिसंहारमात्मनः स चकार ह ।। २७ ।।

ऋषियोंसहित देवताओंके इस प्रकार स्तुति करनेपर उत्तम पंखोंवाले गरुडने उस समय अपने तेजको समेट लिया ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रयोविंशोऽध्यायः ।। २३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३ ।।

चतुर्विंशोऽध्यायः

गरुडके द्वारा अपने तेज और शरीरका संकोच तथा सूर्यके क्रोधजनित तीव्र तेजकी शान्तिके लिये अरुणका उनके रथपर स्थित होना

सौतिरुवाच

स श्रुत्वाथात्मनो देहं सुपर्णः प्रेक्ष्य च स्वयम् ।
शरीरप्रतिसंहारमात्मनः सम्प्रचक्रमे ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो! देवताओंद्वारा की हुई स्तुति सुनकर गरुडजीने स्वयं भी अपने शरीरकी ओर दृष्टिपात किया और उसे संकुचित कर लेनेकी तैयारी करने लगे ।। १ ।।

सुपर्ण उवाच

न मे सर्वाणि भूतानि विभियुर्देहदर्शनात् ।
भीमरूपात् समुद्विग्नास्तस्मात् तेजस्तु संहरे ।। २ ।।

गरुडजीने कहा—देवताओ! मेरे इस शरीरको देखनेसे संसारके समस्त प्राणी उस भयानक स्वरूपसे उद्विग्न होकर डर न जायँ इसलिये मैं अपने तेजको समेट लेता हूँ ।। २ ।।

सौतिरुवाच

ततः कामगमः पक्षी कामवीर्यो विहंगमः ।
अरुणं चात्मनः पृष्ठमारोप्य स पितुर्गृहात् ।। ३ ।।
मातुरन्तिकमागच्छत् परं तीरं महोदधेः ।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर इच्छानुसार चलने तथा रुचिके अनुसार पराक्रम प्रकट करनेवाले पक्षी गरुड अपने भाई अरुणको पीठपर चढ़ाकर पिताके घरसे माताके समीप महासागरके दूसरे तटपर आये ।। ३½ ।।

तत्रारुणश्च निक्षिप्तो दिशं पूर्वां महाद्युतिः ।। ४ ।।
सूर्यस्तेजोभिरत्युग्रैर्लोकान् दग्धुमना यदा ।

जब सूर्यने अपने भयंकर तेजके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध करनेका विचार किया, उस समय गरुडजी महान् तेजस्वी अरुणको पुनः पूर्व दिशामें लाकर सूर्यके समीप रख आये ।। ४½ ।।

रुरुरुवाच

किमर्थं भगवान् सूर्यो लोकान् दग्धुमनास्तदा ।। ५ ।।

किमस्यापहृतं देवैर्येनेमं मन्युराविशत् ।

रुरुने पूछा—पिताजी! भगवान् सूर्यने उस समय सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध कर डालनेका विचार क्यों किया? देवताओंने उनका क्या हड़प लिया था, जिससे उनके मनमें क्रोधका संचार हो गया? ।। ५½ ।।

प्रमतिरुवाच

चन्द्रार्काभ्यां यदा राहुराख्यातो ह्यमृतं पिबन् ।। ६ ।।

वैरानुबन्धं कृतवांश्चन्द्रादित्यौ तदानघ ।

वध्यमाने ग्रहेणाथ आदित्ये मन्युराविशत् ।। ७ ।।

प्रमतिने कहा—अनघ! जब राहु अमृत पी रहा था, उस समय चन्द्रमा और सूर्यने उसका भेद बता दिया; इसीलिये उसने चन्द्रमा और सूर्यसे भारी वैर बाँध लिया और उन्हें सताने लगा। राहुसे पीड़ित होनेपर सूर्यके मनमें क्रोधका आवेश हुआ ।। ६-७ ।।

सुरार्थाय समुत्पन्नो रोषो राहोस्तु मां प्रति ।

बह्वनर्थकरं पापमेकोऽहं समवाप्नुयाम् ।। ८ ।।

वे सोचने लगे, 'देवताओंके हितके लिये ही मैंने राहुका भेद खोला था जिससे मेरे प्रति राहुका रोष बढ़ गया। अब उसका अत्यन्त अनर्थकारी परिणाम दुःखके रूपमें अकेले मुझे प्राप्त होता है ।। ८ ।।

सहाय एव कार्येषु न च कृच्छ्रेषु दृश्यते ।

पश्यन्ति ग्रस्यमानं मां सहन्ते वै दिवौकसः ।। ९ ।।

'संकटके अवसरोंपर मुझे अपना कोई सहायक ही नहीं दिखायी देता। देवतालोग मुझे राहुसे ग्रस्त होते देखते हैं तो भी चुपचाप सह लेते हैं ।। ९ ।।

तस्माल्लोकविनाशार्थं ह्यवतिष्ठे न संशयः ।

एवं कृतमतिः सूर्यो ह्यस्तमभ्यगमद् गिरिम् ।। १० ।।

'अतः सम्पूर्ण लोकोंका विनाश करनेके लिये निःसंदेह मैं अस्ताचलपर जाकर वहीं ठहर जाऊँगा।' ऐसा निश्चय करके सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये ।। १० ।।

तस्माल्लोकविनाशाय संतापयत भास्करः ।

ततो देवानुपागम्य प्रोचुरेवं महर्षयः ।। ११ ।।

और वहींसे सूर्यदेवने सम्पूर्ण जगत्का विनाश करनेके लिये सबको संताप देना आरम्भ किया। तब महर्षिगण देवताओंके पास जाकर इस प्रकार बोले— ।। ११ ।।

अद्यार्धरात्रसमये सर्वलोकभयावहः ।

उत्पत्स्यते महान् दाहस्त्रैलोक्यस्य विनाशनः ।। १२ ।।

‘देवगण! आज आधी रातके समय सब लोकोंको भयभीत करनेवाला महान् दाह उत्पन्न होगा, जो तीनों लोकोंका विनाश करनेवाला हो सकता है’ ।। १२ ।।

ततो देवाः सर्षिगणा उपगम्य पितामहम् ।
अब्रुवन् किमिवेहाद्य महद् दाहकृतं भयम् ।। १३ ।।
न तावद् दृश्यते सूर्यः क्षयोऽयं प्रतिभाति च ।
उदिते भगवन् भानौ कथमेतद् भविष्यति ।। १४ ।।

तदनन्तर देवता ऋषियोंको साथ ले ब्रह्माजीके पास जाकर बोले—‘भगवन्! आज यह कैसा महान् दाहजनित भय उपस्थित होना चाहता है? अभी सूर्य नहीं दिखायी देते तो भी ऐसी गरमी प्रतीत होती है मानो जगत्का विनाश हो जायगा। फिर सूर्योदय होनेपर गरमी कैसी तीव्र होगी, यह कौन कह सकता है?’ ।। १३-१४ ।।

पितामह उवाच

एष लोकविनाशाय रविरुद्यन्तुमुद्यतः ।
दृश्यन्नेव हि लोकान् स भस्मराशीकरिष्यति ।। १५ ।।

ब्रह्माजीने कहा—ये सूर्यदेव आज सम्पूर्ण लोकोंका विनाश करनेके लिये ही उद्यत होना चाहते हैं। जान पड़ता है, ये दृष्टिमें आते ही सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर देंगे ।। १५ ।।

तस्य प्रतिविधानं च विहितं पूर्वमेव हि ।
कश्यपस्य सुतो धीमानरुणेत्यभिविश्रुतः ।। १६ ।।

किंतु उनके भीषण संतापसे बचनेका उपाय मैंने पहलेसे ही कर रखा है। महर्षि कश्यपके एक बुद्धिमान् पुत्र हैं, जो अरुण नामसे विख्यात हैं ।। १६ ।।

महाकायो महातेजाः स स्थास्यति पुरो रवेः ।
करिष्यति च सारथ्यं तेजश्चास्य हरिष्यति ।। १७ ।।
लोकानां स्वस्ति चैवं स्याद् ऋषीणां च दिवौकसाम् ।

उनका शरीर विशाल है। वे महान् तेजस्वी हैं। वे ही सूर्यके आगे रथपर बैठेंगे। उनके सारथिका कार्य करेंगे और उनके तेजका भी अपहरण करेंगे। ऐसा करनेसे सम्पूर्ण लोकों, ऋषि-महर्षियों तथा देवताओंका भी कल्याण होगा ।। १७½ ।।

प्रमतिरुवाच

ततः पितामहाज्ञातः सर्वं चक्रे तदारुणः ।। १८ ।।
उदितश्चैव सविता ह्यरुणेन समावृतः ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यत् सूर्यं मन्युराविशत् ।। १९ ।।

प्रमति कहते हैं—तत्पश्चात् पितामह ब्रह्माजीकी आज्ञासे अरुणने उस समय सब कार्य उसी प्रकार किया। सूर्य अरुणसे आवृत होकर उदित हुए। वत्स! सूर्यके मनमें क्यों क्रोधका आवेश हुआ था, इस प्रश्नके उत्तरमें मैंने ये सब बातें कही हैं ।। १८-१९ ।।

अरुणश्च यथैवास्य सारथ्यमकरोत् प्रभुः ।
भूय एवापरं प्रश्नं शृणु पूर्वमुदाहृतम् ।। २० ।।

शक्तिशाली अरुणने सूर्यके सारथिका कार्य क्यों किया, यह बात भी इस प्रसंगमें स्पष्ट हो गयी है। अब अपने पूर्वकथित दूसरे प्रश्नका पुनः उत्तर सुनो ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे चतुर्विंशोऽध्यायः ।। २४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४ ।।

पञ्चविंशोऽध्यायः

सूर्यके तापसे मूर्च्छित हुए सर्पोंकी रक्षाके लिये कद्रूद्वारा इन्द्रदेवकी स्तुति

सौतिरुवाच

ततः कामगमः पक्षी महावीर्यो महाबलः ।
मातुरन्तिकमागच्छत् परं पारं महोदधेः ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो! तदनन्तर इच्छानुसार गमन करनेवाले महान् पराक्रमी तथा महाबली गरुड समुद्रके दूसरे पार अपनी माताके समीप आये ।। १ ।।

यत्र सा विनता तस्मिन् पणितेन पराजिता ।
अतीव दुःखसंतप्ता दासीभावमुपागता ।। २ ।।

जहाँ उनकी माता विनता बाजी हार जानेसे दासी-भावको प्राप्त हो अत्यन्त दुःखसे संतप्त रहती थीं ।। २ ।।

ततः कदाचिद् विनतां प्रणतां पुत्रसंनिधौ ।
काले चाहूय वचनं कद्रूरिदमभाषत ।। ३ ।।

एक दिन अपने पुत्रके समीप बैठी हुई विनय-शील विनताको किसी समय बुलाकर कद्रूने यह बात कही— ।। ३ ।।

नागानामालयं भद्रे सुरम्यं चारुदर्शनम् ।
समुद्रकुक्षावेकान्ते तत्र मां विनते नय ।। ४ ।।

‘कल्याणी विनते! समुद्रके भीतर निर्जन प्रदेशमें एक बहुत रमणीय तथा देखनेमें अत्यन्त मनोहर नागोंका निवासस्थान है। तू वहाँ मुझे ले चल’ ।। ४ ।।

ततः सुपर्णमाता तामवहत् सर्पमातरम् ।
पन्नगान् गरुडश्चापि मातुर्वचनचोदितः ।। ५ ।।

तब गरुडकी माता विनता सर्पोंकी माता कद्रूको अपनी पीठपर ढोने लगी। इधर माताकी आज्ञासे गरुड भी सर्पोंको अपनी पीठपर चढ़ाकर ले चले ।। ५ ।।

स सूर्यमभितो याति वैनतेयो विहंगमः ।
सूर्यरश्मिप्रतप्ताश्च मूर्च्छिताः पन्नगाभवन् ।। ६ ।।

पक्षिराज गरुड आकाशमें सूर्यके निकट होकर चलने लगे। अतः सर्प सूर्यकी किरणोंसे संतप्त हो मूर्च्छित हो गये ।। ६ ।।

तदवस्थान् सुतान् दृष्ट्वा कद्रूः शक्रमथास्तुवत् ।
नमस्ते सर्वदेवेश नमस्ते बलसूदन ।। ७ ।।

अपने पुत्रोंको इस दशामें देखकर कद्रू इन्द्रकी स्तुति करने लगी—'सम्पूर्ण देवताओंके ईश्वर! तुम्हें नमस्कार है। बलसूदन! तुम्हें नमस्कार है ।। ७ ।।

नमुचिघ्न नमस्तेऽस्तु सहस्राक्ष शचीपते ।
सर्पाणां सूर्यतप्तानां वारिणा त्वं प्लवो भव ।। ८ ।।

'सहस्र नेत्रोंवाले नमुचिनाशन! शचीपते! तुम्हें नमस्कार है। तुम सूर्यके तापसे संतप्त हुए सर्पोंको जलसे नहलाकर नौकाकी भाँति उनके रक्षक हो जाओ ।। ८ ।।

त्वमेव परमं त्राणमस्माकममरोत्तम ।
ईशो ह्यसि पयः स्रष्टुं त्वमनल्पं पुरन्दर ।। ९ ।।

'अमरोत्तम! तुम्हीं हमारे सबसे बड़े रक्षक हो । पुरन्दर! तुम अधिक-से-अधिक जल बरसानेकी शक्ति रखते हो ।। ९ ।।

त्वमेव मेघस्त्वं वायुस्त्वमग्निर्विद्युतोऽम्बरे ।
त्वमभ्रगणविक्षेप्ता त्वामेवाहुर्महाघनम् ।। १० ।।

'तुम्हीं मेघ हो, तुम्हीं वायु हो और तुम्हीं आकाशमें बिजली बनकर प्रकाशित होते हो। तुम्हीं बादलोंको छिन्न-भिन्न करनेवाले हो और विद्वान् पुरुष तुम्हें ही महामेघ कहते हैं ।। १० ।।

त्वं वज्रमतुलं घोरं घोषवांस्त्वं बलाहकः ।
स्रष्टा त्वमेव लोकानां संहर्ता चापराजितः ।। ११ ।।

'संसारमें जिसकी कहीं तुलना नहीं है, वह भयानक वज्र तुम्हीं हो, तुम्हीं भयंकर गर्जना करनेवाले बलाहक (प्रलयकालीन मेघ) हो। तुम्हीं सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि और संहार करनेवाले हो। तुम कभी परास्त नहीं होते ।। ११ ।।

त्वं ज्योतिः सर्वभूतानां त्वमादित्यो विभावसुः ।
त्वं महद्भूतमाश्चर्यं त्वं राजा त्वं सुरोत्तमः ।। १२ ।।

'तुम्हीं समस्त प्राणियोंकी ज्योति हो। सूर्य और अग्नि भी तुम्हीं हो। तुम आश्चर्यमय महान् भूत हो, तुम राजा हो और तुम देवताओंमें सबसे श्रेष्ठ हो ।। १२ ।।

त्वं विष्णुस्त्वं सहस्राक्षस्त्वं देवस्त्वं परायणम् ।
त्वं सर्वममृतं देव त्वं सोमः परमार्चितः ।। १३ ।।

'तुम्हीं सर्वव्यापी विष्णु, सहस्रलोचन इन्द्र, द्युतिमान् देवता और सबके परम आश्रय हो। देव! तुम्हीं सब कुछ हो। तुम्हीं अमृत हो और तुम्हीं परम पूजित सोम हो ।। १३ ।।

त्वं मुहूर्तस्तिथिस्त्वं च त्वं लवस्त्वं पुनः क्षणः ।
शुक्लस्त्वं बहुलस्त्वं च कला काष्ठा त्रुटिस्तथा ।
संवत्सरर्तवो मासा रजन्यश्च दिनानि च ।। १४ ।।

'तुम मुहूर्त हो, तुम्हीं तिथि हो, तुम्हीं लव तथा तुम्हीं क्षण हो। शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष भी तुमसे भिन्न नहीं हैं। कला, काष्ठा और त्रुटि सब तुम्हारे ही स्वरूप हैं। संवत्सर, ऋतु,

मास, रात्रि तथा दिन भी तुम्हीं हो ।। १४ ।।

त्वमुत्तमा सगिरिवना वसुन्धरा
सभास्करं वितिमिरमम्बरं तथा ।
महोदधिः सतिमितिमिंगिलस्तथा
महोर्मिमान् बहुमकरो झषाकुलः ।। १५ ।।

'तुम्हीं पर्वत और वनोंसहित उत्तम वसुन्धरा हो और तुम्हीं अन्धकाररहित एवं सूर्यसहित आकाश हो। तिमि और तिमिंगिलोंसे भरपूर, बहुतेरे मगरों और मत्स्योंसे व्याप्त तथा उत्ताल तरंगोंसे सुशोभित महासागर भी तुम्हीं हो ।। १५ ।।

महायशास्त्वमिति सदाभिपूज्यसे
मनीषिभिर्मुदितमना महर्षिभिः ।
अभिष्टुतः पिबसि च सोममध्वरे
वषट्कृतान्यपि च हवींषि भूतये ।। १६ ।।

'तुम महान् यशस्वी हो। ऐसा समझकर मनीषी पुरुष सदा तुम्हारी पूजा करते हैं। महर्षिगण निरन्तर तुम्हारा स्तवन करते हैं। तुम यजमानकी अभीष्टसिद्धि करनेके लिये यज्ञमें मुदित मनसे सोमरस पीते हो और वषट्कारपूर्वक समर्पित किये हुए हविष्य भी ग्रहण करते हो ।। १६ ।।

त्वं विप्रैः सततमिहेज्यसे फलार्थं
वेदाङ्गेष्वतुलबलौघ गीयसे च ।
त्वद्धेतोर्यजनपरायणा द्विजेन्द्रा
वेदाङ्गान्यभिगमयन्ति सर्वयत्नैः ।। १७ ।।

'इस जगत्में अभीष्ट फलकी प्राप्तिके लिये विप्रगण तुम्हारी पूजा करते हैं। अतुलित बलके भण्डार इन्द्र! वेदांगोंमें भी तुम्हारी ही महिमाका गान किया गया है। यज्ञपरायण श्रेष्ठ द्विज तुम्हारी प्राप्तिके लिये ही सर्वथा प्रयत्न करके वेदांगोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं (यहाँ कद्रूके द्वारा ईश्वररूपसे इन्द्रकी स्तुति की गयी है)' ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे पञ्चविंशोऽध्यायः ।। २५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५ ।।

षड्विंशोऽध्यायः

इन्द्रद्वारा की हुई वर्षासे सर्पोंकी प्रसन्नता

सौतिरुवाच

एवं स्तुतस्तदा कद्र्वा भगवान् हरिवाहनः ।
नीलजीमूतसंघातैः सर्वमम्बरमावृणोत् ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—नागमाता कद्रूके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् इन्द्रने मेघोंकी काली घटाओंद्वारा सम्पूर्ण आकाशको आच्छादित कर दिया ।। १ ।।

मेघानाज्ञापयामास वर्षध्वममृतं शुभम् ।
ते मेघा मुमुचुस्तोयं प्रभूतं विद्युदुज्ज्वलाः ।। २ ।।

साथ ही मेघोंको आज्ञा दी—'तुम सब शीतल जलकी वर्षा करो।' आज्ञा पाकर बिजलियोंसे प्रकाशित होनेवाले उन मेघोंने प्रचुर जलकी वृष्टि की ।। २ ।।

परस्परमिवात्यर्थं गर्जन्तः सततं दिवि ।
संवर्तितमिवाकाशं जलदैः सुमहाद्भुतैः ।। ३ ।।
सृजद्भिरतुलं तोयमजस्रं सुमहारवैः ।
सम्प्रनृत्तमिवाकाशं धारोर्मिभिरनेकशः ।। ४ ।।

वे परस्पर अत्यन्त गर्जना करते हुए आकाशसे निरन्तर पानी बरसाते रहे। जोर-जोरसे गर्जने और लगातार असीम जलकी वर्षा करनेवाले अत्यन्त अद्भुत जलधरोंने सारे आकाशको घेर-सा लिया था। असंख्य धारारूप लहरोंसे युक्त वह व्योमसमुद्र मानो नृत्य-सा कर रहा था ।। ३-४ ।।

मेघस्तनितनिर्घोषैर्विद्युत्पवनकम्पितैः ।
तैर्मेघैः सततासारं वर्षद्भिरनिशं तदा ।। ५ ।।
नष्टचन्द्रार्ककिरणमम्बरं समपद्यत ।
नागानामुत्तमो हर्षस्तथा वर्षति वासवे ।। ६ ।।

भयंकर गर्जन-तर्जन करनेवाले वे मेघ बिजली और वायुसे प्रकम्पित हो उस समय निरन्तर मूसलाधार पानी गिरा रहे थे। उनके द्वारा आच्छादित आकाशमें चन्द्रमा और सूर्यकी किरणें भी अदृश्य हो गयी थीं। इन्द्रदेवके इस प्रकार वर्षा करनेपर नागोंको बड़ा हर्ष हुआ ।। ५-६ ।।

आपूर्यत मही चापि सलिलेन समन्ततः ।
रसातलमनुप्राप्तं शीतलं विमलं जलम् ।। ७ ।।

पृथ्वीपर सब ओर पानी-ही-पानी भर गया। वह शीतल और निर्मल जल रसातलतक पहुँच गया ।। ७ ।।

तदा भूरभवच्छन्ना जलोर्मिभिरनेकशः ।

रामणीयकमागच्छन् मात्रा सह भुजङ्गमाः ।। ८ ।।

उस समय सारा भूतल जलकी असंख्य तरंगोंसे आच्छादित हो गया था। इस प्रकार वर्षासे संतुष्ट हुए सर्प अपनी माताके साथ रामणीयक द्वीपमें आ गये ।। ८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे षड्विंशोऽध्यायः ।। २६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६ ।।

सप्तविंशोऽध्यायः

रामणीयक द्वीपके मनोरम वनका वर्णन तथा गरुडका दास्यभावसे छूटनेके लिये सर्पोंसे उपाय पूछना

सौतिरुवाच

सम्प्रहृष्टास्ततो नागा जलधाराप्लुतास्तदा ।
सुपर्णेनोह्यमानास्ते जग्मुस्तं द्वीपमाशु वै ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—गरुडपर सवार होकर यात्रा करनेवाले वे नाग उस समय जलधारासे नहाकर अत्यन्त प्रसन्न हो शीघ्र ही रामणीयक द्वीपमें जा पहुँचे ।। १ ।।

तं द्वीपं मकरावासं विहितं विश्वकर्मणा ।
तत्र ते लवणं घोरं ददृशुः पूर्वमागताः ।। २ ।।

विश्वकर्माजीके बनाये हुए उस द्वीपमें, जहाँ अब मगर निवास करते थे, जब पहली बार नाग आये थे तो उन्हें वहाँ भयंकर लवणासुरका दर्शन हुआ था ।। २ ।।

सुपर्णसहिताः सर्पाः काननं च मनोरमम् ।
सागराम्बुपरिक्षिप्तं पक्षिसङ्घनिनादितम् ।। ३ ।।

सर्प गरुडके साथ उस द्वीपके मनोरम वनमें आये, जो चारों ओरसे समुद्रद्वारा घिरकर उसके जलसे अभिषिक्त हो रहा था। वहाँ झुंड-के-झुंड पक्षी कलरव कर रहे थे ।। ३ ।।

विचित्रफलपुष्पाभिर्वनराजिभिरावृतम् ।
भवनैरावृतं रम्यैस्तथा पद्माकरैरपि ।। ४ ।।

विचित्र फूलों और फलोंसे भरी हुई वनश्रेणियाँ उस दिव्य वनको घेरे हुए थीं। वह वन बहुत-से रमणीय भवनों और कमलयुक्त सरोवरोंसे आवृत था ।। ४ ।।

प्रसन्नसलिलैश्चापि ह्रदैर्दिव्यैर्विभूषितम् ।
दिव्यगन्धवहैः पुण्यैर्मारुतैरुपवीजितम् ।। ५ ।।

स्वच्छ जलवाले कितने ही दिव्य सरोवर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। दिव्य सुगन्धका भार वहन करनेवाली पावन वायु मानो वहाँ चँवर डुला रही थी ।। ५ ।।

उत्पतद्भिरिवाकाशं वृक्षैर्मलयजैरपि ।
शोभितं पुष्पवर्षाणि मुञ्चद्भिर्मारुतोद्धतैः ।। ६ ।।

वहाँ ऊँचे-ऊँचे मलयज वृक्ष ऐसे प्रतीत होते थे, मानो आकाशमें उड़े जा रहे हों। वे वायुके वेगसे विकम्पित हो फूलोंकी वर्षा करते हुए उस प्रदेशकी शोभा बढ़ा रहे थे ।। ६ ।।

वायुविक्षिप्तकुसुमैस्तथान्यैरपि पादपैः ।
किरद्भिरिव तत्रस्थान् नागान् पुष्पाम्बुवृष्टिभिः ।। ७ ।।

हवाके झोंकेसे दूसरे-दूसरे वृक्षोंके भी फूल झड़ रहे थे, मानो वहाँके वृक्षसमूह वहाँ उपस्थित हुए नागोंपर फूलोंकी वर्षा करते हुए उनके लिये अर्घ्य दे रहे हों ।। ७ ।।

मनःसंहर्षजं दिव्यं गन्धर्वाप्सरसां प्रियम् ।

मत्तभ्रमरसंघुष्टं मनोज्ञाकृतिदर्शनम् ।। ८ ।।

वह दिव्य वन हृदयके हर्षको बढ़ानेवाला था। गन्धर्व और अप्सराएँ उसे अधिक पसंद करती थीं। मतवाले भ्रमर वहाँ सब ओर गूँज रहे थे। अपनी मनोहर छटाके द्वारा वह अत्यन्त दर्शनीय जान पड़ता था ।। ८ ।।

रमणीयं शिवं पुण्यं सर्वैर्जनमनोहरैः ।

नानापक्षिरुतं रम्यं कद्रूपुत्रप्रहर्षणम् ।। ९ ।।

वह वन रमणीय, मंगलकारी और पवित्र होनेके साथ ही लोगोंके मनको मोहनेवाले सभी उत्तम गुणोंसे युक्त था। भाँति भाँतिके पक्षियोंके कलरवोंसे व्याप्त एवं परम सुन्दर होनेके कारण वह कद्रूके पुत्रोंका आनन्द बढ़ा रहा था ।। ९ ।।

तत् ते वनं समासाद्य विजह्रुः पन्नगास्तदा ।

अब्रुवंश्च महावीर्यं सुपर्णं पतगेश्वरम् ।। १० ।।

उस वनमें पहुँचकर वे सर्प उस समय सब ओर विहार करने लगे और महापराक्रमी पक्षिराज गरुडसे इस प्रकार बोले— ।। १० ।।

वहास्मानपरं द्वीपं सुरम्यं विमलोदकम् ।

त्वं हि देशान् बहून् रम्यान् व्रजन् पश्यसि खेचर ।। ११ ।।

‘खेचर! तुम आकाशमें उड़ते समय बहुत-से रमणीय प्रदेश देखा करते हो; अतः हमें निर्मल जलवाले किसी दूसरे रमणीय द्वीपमें ले चलो’ ।। ११ ।।

स विचिन्त्याब्रवीत् पक्षी मातरं विनतां तदा ।

किं कारणं मया मातः कर्तव्यं सर्पभाषितम् ।। १२ ।।

गरुडने कुछ सोचकर अपनी माता विनतासे पूछा—‘माँ! क्या कारण है कि मुझे सर्पोंकी आज्ञाका पालन करना पड़ता है?’ ।। १२ ।।

विनतोवाच

दासीभूतास्मि दुर्योगात् सपत्न्याः पतगोत्तम ।

पणं वितथमास्थाय सर्पैरुपधिना कृतम् ।। १३ ।।

विनता बोली—बेटा पक्षिराज! मैं दुर्भाग्यवश सौतकी दासी हूँ, इन सर्पोंने छल करके मेरी जीती हुई बाजीको पलट दिया था ।। १३ ।।

तस्मिंस्तु कथिते मात्रा कारणे गगनेचरः ।

उवाच वचनं सर्पांस्तेन दुःखेन दुःखितः ।। १४ ।।

माताके यह कारण बतानेपर आकाशचारी गरुडने उस दुःखसे दुःखी होकर सर्पोंसे कहा— ।। १४ ।।

किमाहृत्य विदित्वा वा किं वा कृत्वेह पौरुषम् ।
दास्याद् वो विप्रमुच्येयं तथ्यं वदत लेलिहाः ।। १५ ।।

'जीभ लपलपानेवाले सर्पो! तुमलोग सच-सच बताओ मैं तुम्हें क्या लाकर दे दूँ? किस विद्याका लाभ करा दूँ अथवा यहाँ कौन-सा पुरुषार्थ करके दिखा दूँ; जिससे मुझे तथा मेरी माताको तुम्हारी दासतासे छुटकारा मिल जाय' ।। १५ ।।

सौतिरुवाच

श्रुत्वा तमब्रुवन् सर्पा आहरामृतमोजसा ।
ततो दास्याद् विप्रमोक्षो भविता तव खेचर ।। १६ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—गरुडकी बात सुनकर सर्पोंने कहा—'गरुड! तुम पराक्रम करके हमारे लिये अमृत ला दो। इससे तुम्हें दास्यभावसे छुटकारा मिल जायगा' ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे सप्तविंशोऽध्यायः ।। २७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७ ।।

अष्टाविंशोऽध्यायः

गरुडका अमृतके लिये जाना और अपनी माताकी आज्ञाके अनुसार निषादोंका भक्षण करना

सौतिरुवाच

इत्युक्तो गरुडः सर्पैस्ततो मातरमब्रवीत् ।
गच्छाम्यमृतमाहर्तुं भक्ष्यमिच्छामि वेदितुम् ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—सर्पोंकी यह बात सुनकर गरुड अपनी मातासे बोले—'माँ! मैं अमृत लानेके लिये जा रहा हूँ, किंतु मेरे लिये भोजन-सामग्री क्या होगी? यह मैं जानना चाहता हूँ' ।। १ ।।

विनतोवाच

समुद्रकुक्षावेकान्ते निषादालयमुत्तमम् ।
निषादानां सहस्राणि तान् भुक्त्वामृतमानय ।। २ ।।

विनताने कहा—समुद्रके बीचमें एक टापू है, जिसके एकान्त प्रदेशमें निषादों (जीवहिंसकों)-का निवास है। वहाँ सहस्रों निषाद रहते हैं। उन्हींको मारकर खा लो और अमृत ले आओ ।। २ ।।

न च ते ब्राह्मणं हन्तुं कार्या बुद्धिः कथंचन ।
अवध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणो ह्यनलोपमः ।। ३ ।।

किंतु तुम्हें किसी प्रकार ब्राह्मणको मारनेका विचार नहीं करना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मण समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य है। वह अग्निके समान दाहक होता है ।। ३ ।।

अग्निरर्को विषं शस्त्रं विप्रो भवति कोपितः ।
गुरुर्हि सर्वभूतानां ब्राह्मणः परिकीर्तितः ।। ४ ।।

कुपित किया हुआ ब्राह्मण अग्नि, सूर्य, विष एवं शस्त्रके समान भयंकर होता है। ब्राह्मणको समस्त प्राणियोंका गुरु कहा गया है ।। ४ ।।

एवमादिस्वरूपैस्तु सतां वै ब्राह्मणो मतः ।
स ते तात न हन्तव्यः संक्रुद्धेनापि सर्वथा ।। ५ ।।

इन्हीं रूपोंमें सत्पुरुषोंके लिये ब्राह्मण आदरणीय माना गया है। तात! तुम्हें क्रोध आ जाय तो भी ब्राह्मणकी हत्यासे सर्वथा दूर रहना चाहिये ।। ५ ।।

ब्राह्मणानामभिद्रोहो न कर्तव्यः कथंचन ।
न ह्येवमग्निर्नादित्यो भस्म कुर्यात् तथानघ ।। ६ ।।
यथा कुर्यादभिक्रुद्धो ब्राह्मणः संशितव्रतः ।

तदेतैर्विविधैर्लिङ्गैस्त्वं विद्यास्तं द्विजोत्तमम् ।। ७ ।।

भूतानामग्रभूर्विप्रो वर्णश्रेष्ठः पिता गुरुः ।

ब्राह्मणोंके साथ किसी प्रकार द्रोह नहीं करना चाहिये। अनघ! कठोर व्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण क्रोधमें आनेपर अपराधीको जिस प्रकार जलाकर भस्म कर देता है, उस तरह अग्नि और सूर्य भी नहीं जला सकते। इस प्रकार विविध चिह्नोंके द्वारा तुम्हें ब्राह्मणको पहचान लेना चाहिये। ब्राह्मण समस्त प्राणियोंका अग्रज, सब वर्णोंमें श्रेष्ठ, पिता और गुरु है ।। ६-७½ ।।

गरुड उवाच

किंरूपो ब्राह्मणो मातः किंशीलः किंपराक्रमः ।। ८ ।।

गरुडने पूछा—माँ! ब्राह्मणका रूप कैसा होता है? उसका शील-स्वभाव कैसा है? तथा उसमें कौन-सा पराक्रम है ।। ८ ।।

किंस्विदग्निनिभो भाति किंस्वित् सौम्यप्रदर्शनः ।

यथाहमभिजानीयां ब्राह्मणं लक्षणैः शुभैः ।। ९ ।।

तन्मे कारणतो मातः पृच्छतो वक्तुमर्हसि ।

वह देखनेमें अग्नि-जैसा जान पड़ता है? अथवा सौम्य दिखायी देता है? माँ! जिस प्रकार शुभ लक्षणोंद्वारा मैं ब्राह्मणको पहचान सकूँ, वह सब उपाय मुझे बताओ ।। ९½ ।।

विनतोवाच

यस्ते कण्ठमनुप्राप्तो निगीर्णं बडिशं यथा ।। १० ।।

दहेदङ्गारवत् पुत्र तं विद्या ब्राह्मणर्षभम् ।

विप्रस्त्वया न हन्तव्यः संक्रुद्धेनापि सर्वदा ।। ११ ।।

विनता बोली—बेटा! जो तुम्हारे कण्ठमें पड़नेपर अंगारकी तरह जलाने लगे और मानो बंसीका काँटा निगल लिया गया हो, इस प्रकार कष्ट देने लगे, उसे वर्णोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण समझना। क्रोधमें भरे होनेपर भी तुम्हें ब्रह्महत्या नहीं करनी चाहिये ।। १०-११ ।।

प्रोवाच चैनं विनता पुत्रहार्दादिदं वचः ।

जठरे न च जीर्येद् यस्तं जानीहि द्विजोत्तमम् ।। १२ ।।

विनताने पुत्रके प्रति स्नेह होनेके कारण पुनः इस प्रकार कहा—‘बेटा! जो तुम्हारे पेटमें पच न सके, उसे ब्राह्मण जानना’ ।। १२ ।।

पुनः प्रोवाच विनता पुत्रहार्दादिदं वचः ।

जानन्त्यप्यतुलं वीर्यमाशीर्वादपरायणा ।। १३ ।।

प्रीता परमदुःखार्ता नागैर्विप्रकृता सती ।

पुत्रके प्रति स्नेह होनेके कारण विनताने पुनः इस प्रकार कहा—वह पुत्रके अनुपम बलको जानती थी तो भी नागोंद्वारा ठगी जानेके कारण बड़े भारी दुःखसे आतुर हो गयी थी। अतः अपने पुत्रको प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देने लगी ।। १३½ ।।

विनतोवाच

पक्षौ ते मारुतः पातु चन्द्रसूर्यौ च पृष्ठतः ।। १४ ।।

विनताने कहा—बेटा! वायु तुम्हारे दोनों पंखोंकी रक्षा करें, चन्द्रमा और सूर्य पृष्ठभागका संरक्षण करें ।। १४ ।।

शिरश्च पातु वह्निस्ते वसवः सर्वतस्तनुम् ।
अहं च ते सदा पुत्र शान्तिस्वस्तिपरायणा ।। १५ ।।
इहासीना भविष्यामि स्वस्तिकारे रता सदा ।
अरिष्टं व्रज पन्थानं पुत्र कार्यार्थसिद्धये ।। १६ ।।

अग्निदेव तुम्हारे सिरकी और वसुगण तुम्हारे सम्पूर्ण शरीरकी सब ओरसे रक्षा करें। पुत्र! मैं भी तुम्हारे लिये शान्ति एवं कल्याणसाधक कर्ममें संलग्न हो यहाँ निरन्तर कुशल मनाती रहूँगी। वत्स! तुम्हारा मार्ग विघ्नरहित हो, तुम अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये यात्रा करो ।। १५-१६ ।।

सौतिरुवाच

ततः स मातुर्वचनं निशम्य
वितत्य पक्षौ नभ उत्पपात ।
ततो निषादान् बलवानुपागतो
बुभुक्षितः काल इवान्तकोऽपरः ।। १७ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो! माताकी बात सुनकर महाबली गरुड पंख पसारकर आकाशमें उड़ गये तथा क्षुधातुर काल या दूसरे यमराजकी भाँति उन निषादोंके पास जा पहुँचे ।। १७ ।।

स तान् निषादानुपसंहरंस्तदा
रजः समुद्धूय नभःस्पृशं महत् ।
समुद्रकुक्षौ च विशोषयन् पयः
समीपजान् भूधरजान् विचालयन् ।। १८ ।।

उन निषादोंका संहार करनेके लिये उन्होंने उस समय इतनी अधिक धूल उड़ायी, जो पृथ्वीसे आकाशतक छा गयी। वहाँ समुद्रकी कुक्षिमें जो जल था, उसका शोषण करके उन्होंने समीपवर्ती पर्वतीय वृक्षोंको भी विकम्पित कर दिया ।। १८ ।।

ततः स चक्रे महदाननं तदा
निषादमार्गं प्रतिरुध्य पक्षिराट् ।

ततो निषादास्त्वरिताः प्रवव्रजुः
यतो मुखं तस्य भुजङ्गभोजिनः ।। १९ ।।

इसके बाद पक्षिराजने अपना मुख बहुत बड़ा कर लिया और निषादोंका मार्ग रोककर खड़े हो गये। तदनन्तर वे निषाद उतावलीमें पड़कर उसी ओर भागे, जिधर सर्पभोजी गरुडका मुख था ।। १९ ।।

तदाननं विवृतमतिप्रमाणवत्
समभ्ययुर्गगनमिवार्दिताः खगाः ।
सहस्रशः पवनरजोविमोहिता
यथानिलप्रचलितपादपे वने ।। २० ।।

जैसे आँधीसे कम्पित वृक्षवाले वनमें पवन और धूलसे विमोहित एवं पीड़ित सहस्रों पक्षी उन्मुक्त आकाशमें उड़ने लगते हैं, उसी प्रकार हवा और धूलकी वर्षासे बेसुध हुए हजारों निषाद गरुडके खुले हुए अत्यन्त विशाल मुखमें समा गये ।। २० ।।

ततः खगो वदनममित्रतापनः
समाहरत् परिचपलो महाबलः ।
निषूदयन् बहुविधमत्स्यजीविनो
बुभुक्षितो गगनचरेश्वरस्तदा ।। २१ ।।

तत्पश्चात् शत्रुओंको संताप देनेवाले, अत्यन्त चपल, महाबली और क्षुधातुर पक्षिराज गरुडने मछली मारकर जीविका चलानेवाले उन अनेकानेक निषादोंका विनाश करनेके लिये अपने मुखको संकुचित कर लिया ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे अष्टाविंशोऽध्यायः ।। २८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८ ।।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

कश्यपजीका गरुडको हाथी और कछुएके पूर्वजन्मकी कथा सुनाना, गरुडका उन दोनोंको पकड़कर एक दिव्य वटवृक्षकी शाखापर ले जाना और उस शाखाका टूटना

सौतिरुवाच

तस्य कण्ठमनुप्राप्तो ब्राह्मणः सह भार्यया ।
दहन् दीप्त इवाङ्गारस्तमुवाचान्तरिक्षगः ।। १ ।।
द्विजोत्तम विनिर्गच्छ तूर्णमास्यादपावृतात् ।
न हि मे ब्राह्मणो वध्यः पापेष्वपि रतः सदा ।। २ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—निषादोंके साथ एक ब्राह्मण भी भार्यासहित गरुडके कण्ठमें चला गया था। वह दहकते हुए अंगारकी भाँति जलन पैदा करने लगा। तब आकाशचारी गरुडने उस ब्राह्मणसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ! तुम मेरे खुले हुए मुखसे जल्दी निकल जाओ। ब्राह्मण पापपरायण ही क्यों न हो मेरे लिये सदा अवध्य है' ।। १-२ ।।

ब्रुवाणमेवं गरुडं ब्राह्मणः प्रत्यभाषत ।
निषादी मम भार्येयं निर्गच्छतु मया सह ।। ३ ।।

ऐसी बात कहनेवाले गरुडसे वह ब्राह्मण बोला—'यह निषाद-जातिकी कन्या मेरी भार्या है; अतः मेरे साथ यह भी निकले (तभी मैं निकल सकता हूँ)' ।। ३ ।।

गरुड उवाच

एतामपि निषादीं त्वं परिगृह्याशु निष्पत ।
तूर्णं सम्भावयात्मानमजीर्णं मम तेजसा ।। ४ ।।

गरुडने कहा—ब्राह्मण! तुम इस निषादीको भी लेकर जल्दी निकल जाओ। तुम अभीतक मेरी जठराग्निके तेजसे पचे नहीं हो; अतः शीघ्र अपने जीवनकी रक्षा करो ।। ४ ।।

सौतिरुवाच

ततः स विप्रो निष्क्रान्तो निषादीसहितस्तदा ।
वर्धयित्वा च गरुडमिष्टं देशं जगाम ह ।। ५ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—उनके ऐसा कहनेपर वह ब्राह्मण निषादीसहित गरुडके मुखसे निकल आया और उन्हें आशीर्वाद देकर अभीष्ट देशको चला गया ।। ५ ।।

सहभार्ये विनिष्क्रान्ते तस्मिन् विप्रे च पक्षिराट् ।

वितत्य पक्षावाकाशमुत्पपात मनोजवः ।। ६ ।।

भार्यासहित उस ब्राह्मणके निकल जानेपर पक्षिराज गरुड पंख फैलाकर मनके समान तीव्र वेगसे आकाशमें उड़े ।। ६ ।।

ततोऽपश्यत् स पितरं पृष्टश्चाख्यातवान् पितुः ।
यथान्यायममेयात्मा तं चोवाच महानृषिः ।। ७ ।।

तदनन्तर उन्हें अपने पिता कश्यपजीका दर्शन हुआ। उनके पूछनेपर अमेयात्मा गरुडने पितासे यथोचित कुशल-समाचार कहा। महर्षि कश्यप उनसे इस प्रकार बोले ।। ७ ।।

कश्यप उवाच

कच्चिद् वः कुशलं नित्यं भोजने बहुलं सुत ।
कच्चिच्च मानुषे लोके तवान्नं विद्यते बहु ।। ८ ।।

कश्यपजीने पूछा—बेटा! तुमलोग कुशलसे तो हो न? विशेषतः प्रतिदिन भोजनके सम्बन्धमें तुम्हें विशेष सुविधा है न? क्या मनुष्यलोकमें तुम्हारे लिये पर्याप्त अन्न मिल जाता है ।। ८ ।।

गरुड उवाच

माता मे कुशला शाश्वत् तथा भ्राता तथा ह्यहम् ।
न हि मे कुशलं तात भोजने बहुले सदा ।। ९ ।।

गरुडने कहा—मेरी माता सदा कुशलसे रहती हैं। मेरे भाई तथा मैं दोनों सकुशल हैं। परंतु पिताजी! पर्याप्त भोजनके विषयमें तो सदा मेरे लिये कुशलका अभाव ही है ।। ९ ।।

अहं हि सर्पैः प्रहितः सोममाहर्तुमुत्तमम् ।
मातुर्दास्यविमोक्षार्थमाहरिष्ये तमद्य वै ।। १० ।।

मुझे सर्पोंने उत्तम अमृत लानेके लिये भेजा है। माताको दासीपनसे छुटकारा दिलानेके लिये आज मैं निश्चय ही उस अमृतको लाऊँगा ।। १० ।।

मात्रा चात्र समादिष्टो निषादान् भक्षयेति ह ।
न च मे तृप्तिरभवद् भक्षयित्वा सहस्रशः ।। ११ ।।

भोजनके विषयमें पूछनेपर माताने कहा—'निषादोंका भक्षण करो', परंतु हजारों निषादोंको खा लेनेपर भी मुझे तृप्ति नहीं हुई है ।। ११ ।।

तस्माद् भक्ष्यं त्वमपरं भगवन् प्रदिशस्व मे ।
यद् भुक्त्वामृतमाहर्तुं समर्थः स्यामहं प्रभो ।। १२ ।।
क्षुत्पिपासाविघातार्थं भक्ष्यमाख्यातु मे भवान् ।

अतः भगवन्! आप मेरे लिये कोई दूसरा भोजन बताइये। प्रभो! वह भोजन ऐसा हो जिसे खाकर मैं अमृत लानेमें समर्थ हो सकूँ। मेरी भूख-प्यासको मिटा देनेके लिये आप पर्याप्त भोजन बताइये ।। १२½ ।।

कश्यप उवाच

इदं सरो महापुण्यं देवलोकेऽपि विश्रुतम् ।। १३ ।।

कश्यपजी बोले—बेटा! यह महान् पुण्यदायक सरोवर है, जो देवलोकमें भी विख्यात है ।। १३ ।।

यत्र कूर्माग्रजं हस्ती सदा कर्षत्यवाङ्मुखः ।
तयोर्जन्मान्तरे वैरं सम्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ।। १४ ।।
तन्मे तत्त्वं निबोधत्स्व यत्प्रमाणौ च तावुभौ ।

उसमें एक हाथी नीचेको मुँह किये सदा सूँड़से पकड़कर एक कछुएको खींचता रहता है। वह कछुआ पूर्वजन्ममें उसका बड़ा भाई था। दोनोंमें पूर्वजन्मका वैर चला आ रहा है। उनमें यह वैर क्यों और कैसे हुआ तथा उन दोनोंके शरीरकी लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई कितनी है, ये सारी बातें मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ। तुम ध्यान देकर सुनो ।। १४½ ।।

आसीद् विभावसुर्नाम महर्षिः कोपनो भृशम् ।। १५ ।।
भ्राता तस्यानुजश्चासीत् सुप्रतीको महातपाः ।
स नेच्छति धनं भ्राता सहैकस्थं महामुनिः ।। १६ ।।

पूर्वकालमें विभावसु नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि थे। वे स्वभावके बड़े क्रोधी थे। उनके छोटे भाईका नाम था सुप्रतीक। वे भी बड़े तपस्वी थे। महामुनि सुप्रतीक अपने धनको बड़े भाईके साथ एक जगह नहीं रखना चाहते थे ।। १५-१६ ।।

विभागं कीर्तयत्येव सुप्रतीको हि नित्यशः ।
अथाब्रवीच्च तं भ्राता सुप्रतीकं विभावसुः ।। १७ ।।

सुप्रतीक प्रतिदिन बँटवारेके लिये आग्रह करते ही रहते थे। तब एक दिन बड़े भाई विभावसुने सुप्रतीकसे कहा— ।। १७ ।।

विभागं बहवो मोहात् कर्तुमिच्छन्ति नित्यशः ।
ततो विभक्तास्त्वन्योन्यं विक्रुध्यन्तेऽर्थमोहिताः ।। १८ ।।

'भाई! बहुत-से मनुष्य मोहवश सदा धनका बँटवारा कर लेनेकी इच्छा रखते हैं। तदनन्तर बँटवारा हो जानेपर धनके मोहमें फँसकर वे एक-दूसरेके विरोधी हो परस्पर क्रोध करने लगते हैं ।। १८ ।।

ततः स्वार्थपरान् मूढान् पृथग्भूतान् स्वकैर्धनैः ।
विदित्वा भेदयन्त्येतानमित्रा मित्ररूपिणः ।। १९ ।।

'वे स्वार्थपरायण मूढ़ मनुष्य अपने धनके साथ जब अलग-अलग हो जाते हैं, तब उनकी यह अवस्था जानकर शत्रु भी मित्ररूपमें आकर मिलते और उनमें भेद डालते रहते हैं ।। १९ ।।

विदित्वा चापरे भिन्नानन्तरेषु पतन्त्यथ ।

भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्तते ।। २० ।।

'दूसरे लोग, उनमें फूट हो गयी है, यह जानकर उनके छिद्र देखा करते हैं एवं छिद्र मिल जानेपर उनमें परस्पर वैर बढ़ानेके लिये स्वयं बीचमें आ पड़ते हैं। इसलिये जो लोग अलग-अलग होकर आपसमें फूट पैदा कर लेते हैं, उनका शीघ्र ही ऐसा विनाश हो जाता है, जिसकी कहीं तुलना नहीं है ।। २० ।।

तस्माद् विभागं भ्रातॄणां न प्रशंसन्ति साधवः ।
गुरुशास्त्रे निबद्धानामन्योन्येनाभिशङ्किनाम् ।। २१ ।।

'अतः साधु पुरुष भाइयोंके बिलगाव या बँटवारेकी प्रशंसा नहीं करते; क्योंकि इस प्रकार बँट जानेवाले भाई गुरुस्वरूप शास्त्रकी अलंघनीय आज्ञाके अधीन नहीं रह जाते और एक-दूसरेको संदेहकी दृष्टिसे देखने लगते हैं' ।। २१ ।।*

नियन्तुं न हि शक्यस्त्वं भेदतो धनमिच्छसि ।
यस्मात् तस्मात् सुप्रतीक हस्तित्वं समवाप्स्यसि ।। २२ ।।

'सुप्रतीक! तुम्हें वशमें करना असम्भव हो रहा है और तुम भेदभावके कारण ही बँटवारा करके धन लेना चाहते हो, इसलिये तुम्हें हाथीकी योनिमें जन्म लेना पड़ेगा' ।। २२ ।।

शप्तस्त्वेवं सुप्रतीको विभावसुमथाब्रवीत् ।
त्वमप्यन्तर्जलचरः कच्छपः सम्भविष्यसि ।। २३ ।।

इस प्रकार शाप मिलनेपर सुप्रतीकने विभावसुसे कहा—'तुम भी पानीके भीतर विचरनेवाले कछुए होओगे' ।। २३ ।।

एवमन्योन्यशापात् तौ सुप्रतीकविभावसू ।
गजकच्छपतां प्राप्तावर्थार्थं मूढचेतसौ ।। २४ ।।

इस प्रकार सुप्रतीक और विभावसु मुनि एक-दूसरेके शापसे हाथी और कछुएकी योनिमें पड़े हैं। धनके लिये उनके मनमें मोह छा गया था ।। २४ ।।

रोषदोषानुषङ्गेण तिर्यग्योनिगतावुभौ ।
परस्परद्वेषरतौ प्रमाणबलदर्पितौ ।। २५ ।।
सरस्यस्मिन् महाकायौ पूर्ववैरानुसारिणौ ।
तयोरन्यतरः श्रीमान् समुपैति महागजः ।। २६ ।।
यस्य बृंहितशब्देन कूर्मोऽप्यन्तर्जलेशयः ।
उत्थितोऽसौ महाकायः कृत्स्नं विक्षोभयन् सरः ।। २७ ।।

रोष और लोभरूपी दोषके सम्बन्धसे उन दोनोंको तिर्यक्-योनिमें जाना पड़ा है। वे दोनों विशालकाय जन्तु पूर्व जन्मके वैरका अनुसरण करके अपनी विशालता और बलके घमण्डमें चूर हो एक-दूसरेसे द्वेष रखते हुए इस सरोवरमें रहते हैं। इन दोनोंमें एक जो सुन्दर महान् गजराज है, वह जब सरोवरके तटपर आता है, तब उसके चिग्घाड़नेकी आवाज

सुनकर जलके भीतर शयन करनेवाला विशालकाय कछुआ भी पानीसे ऊपर उठता है। उस समय वह सारे सरोवरको मथ डालता है ।। २५—२७ ।।

यं दृष्ट्वा वेष्टितकरः पतत्येष गजो जलम् ।
दन्तहस्ताग्रलाङ्गूलपादवेगेन वीर्यवान् ।। २८ ।।
विक्षोभयंस्ततो नागः सरो बहुझषाकुलम् ।
कूर्मोऽप्यभ्युद्यतशिरा युद्धायाभ्येति वीर्यवान् ।। २९ ।।

उसे देखते ही यह पराक्रमी हाथी अपनी सूँड़ लपेटे हुए जलमें टूट पड़ता है तथा दाँत, सूँड़, पूँछ और पैरोंके वेगसे असंख्य मछलियोंसे भरे हुए समूचे सरोवरमें हलचल मचा देता है। उस समय पराक्रमी कच्छप भी सिर उठाकर युद्धके लिये निकट आ जाता है ।। २८-२९ ।।

षडुच्छ्रितो योजनानि गजस्तद्द्विगुणायतः ।
कूर्मस्त्रियोजनोत्सेधो दशयोजनमण्डलः ।। ३० ।।

हाथीका शरीर छः योजन ऊँचा और बारह योजन लंबा है। कछुआ तीन योजन ऊँचा और दस योजन गोल है ।। ३० ।।

तावुभौ युद्धसम्मत्तौ परस्परवधैषिणौ ।
उपयुज्याशु कर्मेदं साधयेप्सितमात्मनः ।। ३१ ।।

वे दोनों एक-दूसरेको मारनेकी इच्छासे युद्धके लिये मतवाले बने रहते हैं। तुम शीघ्र जाकर उन्हीं दोनोंको भोजनके उपयोगमें लाओ और अपने इस अभीष्ट कार्यका साधन करो ।। ३१ ।।

महाभ्रघनसंकाशं तं भुक्त्वामृतमानय ।
महागिरिसमप्रख्यं घोररूपं च हस्तिनम् ।। ३२ ।।

कछुआ महान् मेघ-खण्डके समान है और हाथी भी महान् पर्वतके समान भयंकर है। उन्हीं दोनोंको खाकर अमृत ले आओ ।। ३२ ।।

सौतिरुवाच

इत्युक्त्वा गरुडं सोऽथ माङ्गल्यमकरोत् तदा ।
युध्यतः सह देवैस्ते युद्धे भवतु मङ्गलम् ।। ३३ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! कश्यपजी गरुडसे ऐसा कहकर उस समय उनके लिये मंगल मनाते हुए बोले—‘गरुड! युद्धमें देवताओंके साथ लड़ते हुए तुम्हारा मंगल हो ।। ३३ ।।

पूर्णकुम्भो द्विजा गावो यच्चान्यत् किंचिदुत्तमम् ।
शुभं स्वस्त्ययनं चापि भविष्यति तवाण्डज ।। ३४ ।।

'पक्षिप्रवर! भरा हुआ कलश, ब्राह्मण, गौएँ तथा और जो कुछ भी मांगलिक वस्तुएँ हैं, वे तुम्हारे लिये कल्याणकारी होंगी ।। ३४ ।।

युध्यमानस्य संग्रामे देवैः सार्धं महाबल ।
ऋचो यजूंषि सामानि पवित्राणि हवींषि च ।। ३५ ।।
रहस्यानि च सर्वाणि सर्वे वेदाश्च ते बलम् ।
इत्युक्तो गरुडः पित्रा गतस्तं ह्रदमन्तिकात् ।। ३६ ।।

'महाबली पक्षिराज! संग्राममें देवताओंके साथ युद्ध करते समय ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, पवित्र हविष्य, सम्पूर्ण रहस्य तथा सभी वेद तुम्हें बल प्रदान करें।' पिताके ऐसा कहनेपर गरुड उस सरोवरके निकट गये ।। ३५-३६ ।।

अपश्यन्निर्मलजलं नानापक्षिसमाकुलम् ।
स तत् स्मृत्वा पितुर्वाक्यं भीमवेगोऽन्तरिक्षगः ।। ३७ ।।
नखेन गजमेकेन कूर्ममेकेन चाक्षिपत् ।
समुत्पपात चाकाशं तत उच्चैर्विहंगमः ।। ३८ ।।

उन्होंने देखा, सरोवरका जल अत्यन्त निर्मल है और नाना प्रकारके पक्षी इसमें सब ओर चहचहा रहे हैं। तदनन्तर भयंकर वेगशाली अन्तरिक्षगामी गरुडने पिताके वचनका स्मरण करके एक पंजेसे हाथीको और दूसरेसे कछुएको पकड़ लिया। फिर वे पक्षिराज आकाशमें ऊँचे उड़ गये ।। ३७-३८ ।।

सोऽलम्बं तीर्थमासाद्य देववृक्षानुपागमत् ।
ते भीताः समकम्पन्त तस्य पक्षानिलाहताः ।। ३९ ।।
न नो भञ्ज्यादिति तदा दिव्याः कनकशाखिनः ।
प्रचलाङ्गान् स तान् दृष्ट्वा मनोरथफलद्रुमान् ।। ४० ।।
अन्यानतुलरूपाङ्गानुपचक्राम खेचरः ।
काञ्चनै राजतैश्चैव फलैर्वैदूर्यशाखिनः ।
सागराम्बुपरिक्षिप्तान् भ्राजमानान् महाद्रुमान् ।। ४१ ।।

उड़कर वे फिर अलम्बतीर्थमें जा पहुँचे। वहाँ (मेरुगिरिपर) बहुत-से दिव्य वृक्ष अपनी सुवर्णमय शाखा-प्रशाखाओंके साथ लहलहा रहे थे। जब गरुड उनके पास गये, तब उनके पंखोंकी वायुसे आहत होकर वे सभी दिव्य वृक्ष इस भयसे कम्पित हो उठे कि कहीं ये हमें तोड़ न डालें। गरुड रुचिके अनुसार फल देनेवाले उन कल्पवृक्षोंको काँपते देख अनुपम रूप-रंग तथा अंगोंवाले दूसरे-दूसरे महावृक्षोंकी ओर चल दिये। उनकी शाखाएँ वैदूर्य मणिकी थीं और वे सुवर्ण तथा रजतमय फलोंसे सुशोभित हो रहे थे। वे सभी महावृक्ष समुद्रके जलसे अभिषिक्त होते रहते थे ।। ३९—४१ ।।

तमुवाच खगश्रेष्ठं तत्र रौहिणपादपः ।
अतिप्रवृद्धः सुमहानापतन्तं मनोजवम् ।। ४२ ।।

वहीं एक बहुत बड़ा विशाल वटवृक्ष था। उसने मनके समान तीव्र-वेगसे आते हुए पक्षियोंके सरदार गरुडसे कहा ।। ४२ ।।

रौहिण उवाच

यैषा मम महाशाखा शतयोजनमायता ।
एतामास्थाय शाखां त्वं खादेमौ गजकच्छपौ ।। ४३ ।।

वटवृक्ष बोला—पक्षिराज! यह जो मेरी सौ योजनतक फैली हुई सबसे बड़ी शाखा है, इसीपर बैठकर तुम इस हाथी और कछुएको खा लो ।। ४३ ।।

ततो द्रुमं पतगसहस्रसेवितं
महीधरप्रतिमवपुः प्रकम्पयन् ।
खगोत्तमो द्रुतमभिपत्य वेगवान्
बभञ्ज तामविरलपत्रसंचयाम् ।। ४४ ।।

तब पर्वतके समान विशाल शरीरवाले, पक्षियोंमें श्रेष्ठ, वेगशाली गरुड सहस्रों विहंगमोंसे सेवित उस महान् वृक्षको कम्पित करते हुए तुरंत उसपर जा बैठे। बैठते ही अपने असह्य वेगसे उन्होंने सघन पल्लवोंसे सुशोभित उस विशाल शाखाको तोड़ डाला ।। ४४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ।। २९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्र-विषयक उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९ ।।

---

* ‘कनिष्ठान् पुत्रवत् पश्येज्ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः’ अर्थात् ‘बड़ा भाई पिताके समान होता है। वह अपने छोटे भाइयोंको पुत्रके समान देखे।’ यह शास्त्रकी आज्ञा है। जिनमें फूट हो जाती है, वे पीछे इस आज्ञाका पालन नहीं कर पाते।

त्रिंशोऽध्यायः

गरुडका कश्यपजीसे मिलना, उनकी प्रार्थनासे वालखिल्य ऋषियोंका शाखा छोड़कर तपके लिये प्रस्थान और गरुडका निर्जन पर्वतपर उस शाखाको छोड़ना

सौतिरुवाच

स्पृष्टमात्रा तु पद्भ्यां सा गरुडेन बलीयसा ।
अभज्यत तरोः शाखा भग्नां चैनामधारयत् ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो! महाबली गरुडके पैरोंका स्पर्श होते ही उस वृक्षकी वह महाशाखा टूट गयी; किंतु उस टूटी हुई शाखाको उन्होंने फिर पकड़ लिया ।। १ ।।

तां भङ्क्त्वा स महाशाखां स्मयमानो विलोकयन् ।
अथात्र लम्बतोऽपश्यद् वालखिल्यानधोमुखान् ।। २ ।।

उस महाशाखाको तोड़कर गरुड मुसकराते हुए उसकी ओर देखने लगे। इतनेहीमें उनकी दृष्टि वालखिल्य नामवाले महर्षियोंपर पड़ी, जो नीचे मुँह किये उसी शाखामें लटक रहे थे ।। २ ।।

ऋषयो ह्यत्र लम्बन्ते न हन्यामिति तानृषीन् ।
तपोरतान् लम्बमानान् ब्रह्मर्षीनभिवीक्ष्य सः ।। ३ ।।
हन्यादेतान् सम्पतन्ती शाखेत्यथ विचिन्त्य सः ।
नखैर्दृढतरं वीरः संगृह्य गजकच्छपौ ।। ४ ।।
स तद्विनाशसंत्रासादभिपत्य खगाधिपः ।
शाखामास्येन जग्राह तेषामेवान्ववेक्षया ।। ५ ।।

तपस्यामें तत्पर हुए उन ब्रह्मर्षियोंको वटकी शाखामें लटकते देख गरुडने सोचा—'इसमें ऋषि लटक रहे हैं। मेरे द्वारा इनका वध न हो जाय। यह गिरती हुई शाखा इन ऋषियोंका अवश्य वध कर डालेगी।' यह विचारकर वीरवर पक्षिराज गरुडने हाथी और कछुएको तो अपने पंजोंसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया और उन महर्षियोंके विनाशके भयसे झपटकर वह शाखा अपनी चोंचमें ले ली। उन मुनियोंकी रक्षाके लिये ही गरुडने ऐसा अद्भुत पराक्रम किया था ।। ३—५ ।।

अतिदैवं तु तत् तस्य कर्म दृष्ट्वा महर्षयः ।
विस्मयोत्कम्पहृदया नाम चक्रुर्महाखगे ।। ६ ।।

जिसे देवता भी नहीं कर सकते थे, गरुडका ऐसा अलौकिक कर्म देखकर वे महर्षि आश्चर्यसे चकित हो उठे। उनके हृदयमें कम्प छा गया और उन्होंने उस महान् पक्षीका नाम इस प्रकार रखा (उनके गरुड नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की)— ।। ६ ।।

गुरुं भारं समासाद्योड्डीन एष विहंगमः ।
गरुडस्तु खगश्रेष्ठस्तस्मात् पन्नगभोजनः ।। ७ ।।

ये आकाशमें विचरनेवाले सर्पभोजी पक्षिराज भारी भार लेकर उड़े हैं; इसलिये (**'गुरुम् आदाय उड्डीन इति गरुडः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार) ये गरुड कहलायेंगे ।। ७ ।।

ततः शनैः पर्यपतत् पक्षैः शैलान् प्रकम्पयन् ।
एवं सोऽभ्यपतद् देशान् बहून् सगजकच्छपः ।। ८ ।।

तदनन्तर गरुड अपने पंखोंकी हवासे बड़े-बड़े पर्वतोंको कम्पित करते हुए धीरे-धीरे उड़ने लगे। इस प्रकार वे हाथी और कछुएको साथ लिये हुए ही अनेक देशोंमें उड़ते फिरे ।। ८ ।।

दयार्थं वालखिल्यानां न च स्थानमविन्दत ।
स गत्वा पर्वतश्रेष्ठं गन्धमादनमञ्जसा ।। ९ ।।

वालखिल्य ऋषियोंके ऊपर दयाभाव होनेके कारण ही वे कहीं बैठ न सके और उड़ते-उड़ते अनायास ही पर्वतश्रेष्ठ गन्धमादनपर जा पहुँचे ।। ९ ।।

ददर्श कश्यपं तत्र पितरं तपसि स्थितम् ।
ददर्श तं पिता चापि दिव्यरूपं विहंगमम् ।। १० ।।
तेजोवीर्यबलोपेतं मनोमारुतरंहसम् ।
शैलशृङ्गप्रतीकाशं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ।। ११ ।।

वहाँ उन्होंने तपस्यामें लगे हुए अपने पिता कश्यपजीको देखा। पिताने भी अपने पुत्रको देखा। पक्षिराजका स्वरूप दिव्य था। वे तेज, पराक्रम और बलसे सम्पन्न तथा मन और वायुके समान वेगशाली थे। उन्हें देखकर पर्वतके शिखरका भान होता था। वे उठे हुए ब्रह्मदण्डके समान जान पड़ते थे ।। १०-११ ।।

अचिन्त्यमनभिध्येयं सर्वभूतभयंकरम् ।
महावीर्यधरं रौद्रं साक्षादग्निमिवोद्यतम् ।। १२ ।।

उनका स्वरूप ऐसा था, जो चिन्तन और ध्यानमें नहीं आ सकता था। वे समस्त प्राणियोंके लिये भय उत्पन्न कर रहे थे। उन्होंने अपने भीतर महान् पराक्रम धारण कर रखा था। वे बहुत भयंकर प्रतीत होते थे। जान पड़ता था, उनके रूपमें स्वयं अग्निदेव प्रकट हो गये हैं ।। १२ ।।

अप्रधृष्यमजेयं च देवदानवराक्षसैः ।
भेत्तारं गिरिशृङ्गाणां समुद्रजलशोषणम् ।। १३ ।।

देवता, दानव तथा राक्षस कोई भी न तो उन्हें दबा सकता था और न जीत ही सकता था। वे पर्वत-शिखरोंको विदीर्ण करने और समुद्रके जलको सोख लेनेकी शक्ति रखते थे ।। १३ ।।

लोकसंलोडनं घोरं कृतान्तसमदर्शनम् ।
तमागतमभिप्रेक्ष्य भगवान् कश्यपस्तदा ।
विदित्वा चास्य संकल्पमिदं वचनमब्रवीत् ।। १४ ।।

वे समस्त संसारको भयसे कम्पित किये देते थे। उनकी मूर्ति बड़ी भयंकर थी। वे साक्षात् यमराजके समान दिखायी देते थे। उन्हें आया देख उस समय भगवान् कश्यपने उनका संकल्प जानकर इस प्रकार कहा ।। १४ ।।

कश्यप उवाच

पुत्र मा साहसं कार्षीर्मा सद्यो लप्स्यसे व्यथाम् ।
मा त्वां दहेयुः संक्रुद्धा वालखिल्या मरीचिपाः ।। १५ ।।

कश्यपजी बोले—बेटा! कहीं दुःसाहसका काम न कर बैठना, नहीं तो तत्काल भारी दुःखमें पड़ जाओगे। सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले वालखिल्य महर्षि कुपित होकर तुम्हें भस्म न कर डालें ।। १५ ।।

सौतिरुवाच

ततः प्रसादयामास कश्यपः पुत्रकारणात् ।
वालखिल्यान् महाभागांस्तपसा हतकल्मषान् ।। १६ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर पुत्रके लिये महर्षि कश्यपने तपस्यासे निष्पाप हुए महाभाग वालखिल्य मुनियोंको इस प्रकार प्रसन्न किया ।। १६ ।।

कश्यप उवाच

प्रजाहितार्थमारम्भो गरुडस्य तपोधनाः ।
चिकीर्षति महत्कर्म तदनुज्ञातुमर्हथ ।। १७ ।।

कश्यपजी बोले—तपोधनो! गरुडका यह उद्योग प्रजाके हितके लिये हो रहा है। ये महान् पराक्रम करना चाहते हैं, आपलोग इन्हें आज्ञा दें ।। १७ ।।

सौतिरुवाच

एवमुक्ता भगवता मुनयस्ते समभ्ययुः ।
मुक्त्वा शाखां गिरिं पुण्यं हिमवन्तं तपोऽर्थिनः ।। १८ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—भगवान् कश्यपके इस प्रकार अनुरोध करनेपर वे वालखिल्य मुनि उस शाखाको छोड़कर तपस्या करनेके लिये परम पुण्यमय हिमालयपर चले गये ।। १८ ।।

ततस्तेष्वपयातेषु पितरं विनतासुतः ।
शाखाव्याक्षिप्तवदनः पर्यपृच्छत कश्यपम् ।। १९ ।।

उनके चले जानेपर विनतानन्दन गरुडने, जो मुँहमें शाखा लिये रहनेके कारण कठिनाईसे बोल पाते थे, अपने पिता कश्यपजीसे पूछा— ।। १९ ।।

भगवन् क्व विमुञ्चामि तरोः शाखामिमामहम् ।
वर्जितं मानुषैर्देशमाख्यातु भगवान् मम ।। २० ।।

'भगवन्! इस वृक्षकी शाखाको मैं कहाँ छोड़ दूँ? आप मुझे ऐसा कोई स्थान बतावें जहाँ बहुत दूरतक मनुष्य न रहते हों' ।। २० ।।

ततो निःपुरुषं शैलं हिमसंरुद्धकन्दरम् ।
अगम्यं मनसाप्यन्यैस्तस्याचख्यौ स कश्यपः ।। २१ ।।

तब कश्यपजीने उन्हें एक ऐसा पर्वत बता दिया, जो सर्वथा निर्जन था। जिसकी कन्दराएँ बर्फसे ढँकी हुई थीं और जहाँ दूसरा कोई मनसे भी नहीं पहुँच सकता था ।। २१ ।।

तं पर्वतं महाकुक्षिमुद्दिश्य स महाखगः ।
जवेनाभ्यपतत् तार्क्ष्यः सशाखागजकच्छपः ।। २२ ।।

उस बड़े पेटवाले पर्वतका पता पाकर महान् पक्षी गरुड उसीको लक्ष्य करके शाखा, हाथी और कछुएसहित बड़े वेगसे उड़े ।। २२ ।।

न तां वध्री परिणहेच्छतचर्मा महातनुम् ।
शाखिनो महतीं शाखां यां प्रगृह्य ययौ खगः ।। २३ ।।

गरुड वटवृक्षकी जिस विशाल शाखाको चोंचमें लेकर जा रहे थे, वह इतनी मोटी थी कि सौ पशुओंके चमड़ोंसे बनायी हुई रस्सी भी उसे लपेट नहीं सकती थी ।। २३ ।।

स ततः शतसाहस्रं योजनान्तरमागतः ।
कालेन नातिमहता गरुडः पतगेश्वरः ।। २४ ।।

पक्षिराज गरुड उसे लेकर थोड़ी ही देरमें वहाँसे एक लाख योजन दूर चले आये ।। २४ ।।

स तं गत्वा क्षणेनैव पर्वतं वचनात् पितुः ।
अमुञ्चन्महतीं शाखां सस्वनं तत्र खेचरः ।। २५ ।।

पिताके आदेशसे क्षणभरमें उस पर्वतपर पहुँचकर उन्होंने वह विशाल शाखा वहीं छोड़ दी। गिरते समय उससे बड़ा भारी शब्द हुआ ।। २५ ।।

पक्षानिलहतश्चास्य प्राकम्पत स शैलराट् ।
मुमोच पुष्पवर्षं च समागलितपादपः ।। २६ ।।

वह पर्वतराज उनके पंखोंकी वायुसे आहत होकर काँप उठा। उसपर उगे हुए बहुतेरे वृक्ष गिर पड़े और वह फूलोंकी वर्षा-सी करने लगा ।। २६ ।।

शृङ्गाणि च व्यशीर्यन्त गिरेस्तस्य समन्ततः ।
मणिकाञ्चनचित्राणि शोभयन्ति महागिरिम् ।। २७ ।।

उस पर्वतके मणिकांचनमय विचित्र शिखर, जो उस महान् शैलकी शोभा बढ़ा रहे थे, सब ओरसे चूर-चूर होकर गिर पड़े ।। २७ ।।

शाखिनो बहवश्चापि शाखयाभिहतास्तया ।
काञ्चनैः कुसुमैर्भान्ति विद्युत्वन्त इवाम्बुदाः ।। २८ ।।

उस विशाल शाखासे टकराकर बहुत-से वृक्ष भी धराशायी हो गये। वे अपने सुवर्णमय फूलोंके कारण बिजलीसहित मेघोंकी भाँति शोभा पाते थे ।। २८ ।।

ते हेमविकचा भूमौ युताः पर्वतधातुभिः ।
व्यराजञ्छाखिनस्तत्र सूर्यांशुप्रतिरञ्जिताः ।। २९ ।।

सुवर्णमय पुष्पवाले वे वृक्ष धरतीपर गिरकर पर्वतके गेरू आदि धातुओंसे संयुक्त हो सूर्यकी किरणोंद्वारा रँगे हुए-से सुशोभित होते थे ।। २९ ।।

ततस्तस्य गिरेः शृङ्गमास्थाय स खगोत्तमः ।
भक्षयामास गरुडस्तावुभौ गजकच्छपौ ।। ३० ।।

तदनन्तर पक्षिराज गरुडने उसी पर्वतकी एक चोटीपर बैठकर उन दोनों—हाथी और कछुएको खाया ।। ३० ।।

तावुभौ भक्षयित्वा तु स तार्क्ष्यः कूर्मकुञ्जरौ ।
ततः पर्वतकूटाग्रादुत्पपात महाजवः ।। ३१ ।।

इस प्रकार कछुए और हाथी दोनोंको खाकर महान् वेगशाली गरुड पर्वतकी उस चोटीसे ही ऊपरकी ओर उड़े ।। ३१ ।।

प्रावर्तन्ताथ देवानामुत्पाता भयशंसिनः ।
इन्द्रस्य वज्रं दयितं प्रजज्वाल भयात् ततः ।। ३२ ।।

उस समय देवताओंके यहाँ बहुत-से भयसूचक उत्पात होने लगे। देवराज इन्द्रका प्रिय आयुध वज्र भयसे जल उठा ।। ३२ ।।

सधूमा न्यपतत् सार्चिर्दिवोल्का नभसश्च्युता ।
तथा वसूनां रुद्राणामादित्यानां च सर्वशः ।। ३३ ।।
साध्यानां मरुतां चैव ये चान्ये देवतागणाः ।
स्वं स्वं प्रहरणं तेषां परस्परमुपाद्रवत् ।। ३४ ।।
अभूतपूर्वं संग्रामे तदा देवासुरेऽपि च ।
ववुर्वाताः सनिर्घाताः पेतुरुल्काः सहस्रशः ।। ३५ ।।

आकाशसे दिनमें ही धूएँ और लपटोंके साथ उल्का गिरने लगी। वसु, रुद्र, आदित्य, साध्य, मरुद्गण तथा और जो-जो देवता हैं, उन सबके आयुध परस्पर इस प्रकार उपद्रव करने लगे, जैसा पहले कभी देखनेमें नहीं आया था। देवासुर-संग्रामके समय भी ऐसी

अनहोनी बात नहीं हुई थी। उस समय वज्रकी गड़गड़ाहटके साथ बड़े जोरकी आँधी उठने लगी। हजारों उल्काएँ गिरने लगीं ।। ३३—३५ ।।

निरभ्रमेव चाकाशं प्रजगर्ज महास्वनम् ।
देवानामपि यो देवः सोऽप्यवर्षत शोणितम् ।। ३६ ।।

आकाशमें बादल नहीं थे तो भी बड़ी भारी आवाजमें विकट गर्जना होने लगी। देवताओंके भी देवता पर्जन्य रक्तकी वर्षा करने लगे ।। ३६ ।।

मम्लुर्माल्यानि देवानां नेशुस्तेजांसि चैव हि ।
उत्पातमेघा रौद्राश्च ववृषुः शोणितं बहु ।। ३७ ।।

देवताओंके दिव्य पुष्पहार मुरझा गये, उनके तेज नष्ट होने लगे। उत्पातकालिक बहुत-से भयंकर मेघ प्रकट हो अधिक मात्रामें रुधिरकी वर्षा करने लगे ।। ३७ ।।

रजांसि मुकुटान्येषामुत्थितानि व्यधर्षयन् ।
ततस्त्राससमुद्विग्नः सह देवैः शतक्रतुः ।
उत्पातान् दारुणान् पश्यन्नित्युवाच बृहस्पतिम् ।। ३८ ।।

बहुत-सी धूलें उड़कर देवताओंके मुकुटोंको मलिन करने लगीं। ये भयंकर उत्पात देखकर देवताओं-सहित इन्द्र भयसे व्याकुल हो गये और बृहस्पतिजीसे इस प्रकार बोले ।। ३८ ।।

इन्द्र उवाच

किमर्थं भगवन् घोरा उत्पाताः सहसोत्थिताः ।
न च शत्रुं प्रपश्यामि युधि यो नः प्रधर्षयेत् ।। ३९ ।।

इन्द्रने पूछा—भगवन्! सहसा ये भयंकर उत्पात क्यों होने लगे हैं? मैं ऐसा कोई शुत्र नहीं देखता, जो युद्धमें हम देवताओंका तिरस्कार कर सके ।। ३९ ।।

बृहस्पतिरुवाच

तवापराधाद् देवेन्द्र प्रमादाच्च शतक्रतो ।
तपसा वालखिल्यानां महर्षीणां महात्मनाम् ।। ४० ।।
कश्यपस्य मुनेः पुत्रो विनतायाश्च खेचरः ।
हर्तुं सोममभिप्राप्तो बलवान् कामरूपधृक् ।। ४१ ।।

बृहस्पतिजीने कहा—देवराज इन्द्र! तुम्हारे ही अपराध और प्रमादसे तथा महात्मा वालखिल्य महर्षियोंके तपके प्रभावसे कश्यप मुनि और विनताके पुत्र पक्षिराज गरुड अमृतका अपहरण करनेके लिये आ रहे हैं। वे बड़े बलवान् और इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हैं ।। ४०-४१ ।।

समर्थो बलिनां श्रेष्ठो हर्तुं सोमं विहंगमः ।
सर्वं सम्भावयाम्यस्मिन्नसाध्यमपि साधयेत् ।। ४२ ।।

बलवानोंमें श्रेष्ठ आकाशचारी गरुड अमृत हर ले जानेमें समर्थ हैं। मैं उनमें सब प्रकारकी शक्तियोंके होनेकी सम्भावना करता हूँ। वे असाध्य कार्य भी सिद्ध कर सकते हैं ।। ४२ ।।

सौतिरुवाच

श्रुत्वैतद् वचनं शक्रः प्रोवाचामृतरक्षिणः ।
महावीर्यबलः पक्षी हर्तुं सोममिहोद्यतः ।। ४३ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—बृहस्पतिजीकी यह बात सुनकर देवराज इन्द्र अमृतकी रक्षा करनेवाले देवताओंसे बोले—'रक्षको! महान् पराक्रमी और बलवान् पक्षी गरुड यहाँसे अमृत हर ले जानेको उद्यत हैं ।। ४३ ।।

युष्मान् सम्बोधयाम्येष यथा न स हरेद् बलात् ।
अतुलं हि बलं तस्य बृहस्पतिरुवाच ह ।। ४४ ।।

'मैं तुम्हें सचेत कर देता हूँ, जिससे वे बलपूर्वक इस अमृतको न ले जा सकें। बृहस्पतिजीने कहा है कि उनके बलकी कहीं तुलना नहीं है' ।। ४४ ।।

तच्छ्रुत्वा विबुधा वाक्यं विस्मिता यत्नमास्थिताः ।
परिवार्यामृतं तस्थुर्वज्री चेन्द्रः प्रतापवान् ।। ४५ ।।

इन्द्रकी यह बात सुनकर देवता बड़े आश्चर्यमें पड़ गये और यत्नपूर्वक अमृतको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। प्रतापी इन्द्र भी हाथमें वज्र लेकर वहाँ डट गये ।। ४५ ।।

धारयन्तो विचित्राणि काञ्चनानि मनस्विनः ।
कवचानि महार्हाणि वैदूर्यविकृतानि च ।। ४६ ।।

मनस्वी देवता विचित्र सुवर्णमय तथा बहुमूल्य वैदूर्य मणिमय कवच धारण करने लगे ।। ४६ ।।

चर्माण्यपि च गात्रेषु भानुमन्ति दृढानि च ।
विविधानि च शस्त्राणि घोररूपाण्यनेकशः ।। ४७ ।।
शिततीक्ष्णाग्रधाराणि समुद्यम्य सुरोत्तमाः ।
सविस्फुलिङ्गज्वालानि सधूमानि च सर्वशः ।। ४८ ।।
चक्राणि परिघांश्चैव त्रिशूलानि परश्वधान् ।
शक्तीश्च विविधास्तीक्ष्णाः करवालांश्च निर्मलान् ।
स्वदेहरूपाण्यादाय गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।। ४९ ।।

उन्होंने अपने अंगोंमें यथास्थान मजबूत और चमकीले चमड़ेके बने हुए हाथके मोजे आदि धारण किये। नाना प्रकारके भयंकर अस्त्र-शस्त्र भी ले लिये। उन सब आयुधोंकी धार बहुत तीखी थी। वे श्रेष्ठ देवता सब प्रकारके आयुध लेकर युद्धके लिये उद्यत हो गये। उनके पास ऐसे-ऐसे चक्र थे, जिनसे सब ओर आगकी चिनगारियाँ और धूमसहित लपटें प्रकट

होती थीं। उनके सिवा परिघ, त्रिशूल, फरसे, भाँति-भाँतिकी तीखी शक्तियाँ चमकीले खड्ग और भयंकर दिखायी देनेवाली गदाएँ भी थीं। अपने शरीरके अनुरूप इन अस्त्र-शस्त्रोंको लेकर देवता डट गये ।। ४७—४९ ।।

तैः शस्त्रैर्भानुमद्भिस्ते दिव्याभरणभूषिताः ।
भानुमन्तः सुरगणास्तस्थुर्विगतकल्मषाः ।। ५० ।।

दिव्य आभूषणोंसे विभूषित निष्पाप देवगण तेजस्वी अस्त्र-शस्त्रोंके साथ अधिक प्रकाशमान हो रहे थे ।। ५० ।।

अनुपमबलवीर्यतेजसो
धृतमनसः परिरक्षणेऽमृतस्य ।
असुरपुरविदारणाः सुरा
ज्वलनसमिद्धवपुःप्रकाशिनः ।। ५१ ।।

उनके बल, पराक्रम और तेज अनुपम थे, जो असुरोंके नगरोंका विनाश करनेमें समर्थ एवं अग्निके समान देदीप्यमान शरीरसे प्रकाशित होनेवाले थे; उन्होंने अमृतकी रक्षाके लिये अपने मनमें दृढ निश्चय कर लिया था ।। ५१ ।।

इति समरवरं सुराः स्थितास्ते
परिघसहस्रशतैः समाकुलम् ।
विगलितमिव चाम्बरान्तरं
तपनमरीचिविकाशितं बभासे ।। ५२ ।।

इस प्रकार वे तेजस्वी देवता उस श्रेष्ठ समरके लिये तैयार खड़े थे। वह रणांगण लाखों परिघ आदि आयुधोंसे व्याप्त होकर सूर्यकी किरणोंद्वारा प्रकाशित एवं टूटकर गिरे हुए दूसरे आकाशके समान सुशोभित हो रहा था ।। ५२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रिंशोऽध्यायः ।। ३० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३० ।।

एकत्रिंशोऽध्यायः

इन्द्रके द्वारा वालखिल्योंका अपमान और उनकी तपस्याके प्रभावसे अरुण एवं गरुडकी उत्पत्ति

शौनक उवाच

कोऽपराधो महेन्द्रस्य कः प्रमादश्च सूतज ।
तपसा वालखिल्यानां सम्भूतो गरुडः कथम् ।। १ ।।

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन! इन्द्रका क्या अपराध और कौन-सा प्रमाद था? वालखिल्य मुनियोंकी तपस्याके प्रभावसे गरुडकी उत्पत्ति कैसे हुई थी? ।। १ ।।

कश्यपस्य द्विजातेश्च कथं वै पक्षिराट् सुतः ।
अधृष्यः सर्वभूतानामवध्यश्चाभवत् कथम् ।। २ ।।

कश्यपजी तो ब्राह्मण हैं, उनका पुत्र पक्षिराज कैसे हुआ? साथ ही वह समस्त प्राणियोंके लिये दुर्धर्ष एवं अवध्य कैसे हो गया? ।। २ ।।

कथं च कामचारी स कामवीर्यश्च खेचरः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पुराणे यदि पठ्यते ।। ३ ।।

उस पक्षीमें इच्छानुसार चलने तथा रुचिके अनुसार पराक्रम करनेकी शक्ति कैसे आ गयी? मैं यह सब सुनना चाहता हूँ। यदि पुराणमें कहीं इसका वर्णन हो तो सुनाइये ।। ३ ।।

सौतिरुवाच

विषयोऽयं पुराणस्य यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
शृणु मे वदतः सर्वमेतत् संक्षेपतो द्विज ।। ४ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—ब्रह्मन्! आप मुझसे जो पूछ रहे हैं, वह पुराणका ही विषय है। मैं संक्षेपमें ये सब बातें बता रहा हूँ, सुनिये ।। ४ ।।

यजतः पुत्रकामस्य कश्यपस्य प्रजापतेः ।
साहाय्यमृषयो देवा गन्धर्वाश्च ददुः किल ।। ५ ।।

कहते हैं, प्रजापति कश्यपजी पुत्रकी कामनासे यज्ञ कर रहे थे, उसमें ऋषियों, देवताओं तथा गन्धर्वोंने भी उन्हें बड़ी सहायता दी ।। ५ ।।

तत्रेध्मानयने शक्रो नियुक्तः कश्यपेन ह ।
मुनयो वालखिल्याश्च ये चान्ये देवतागणाः ।। ६ ।।

उस यज्ञमें कश्यपजीने इन्द्रको समिधा लानेके कामपर नियुक्त किया था। वालखिल्य मुनियों तथा अन्य देवगणोंको भी यही कार्य सौंपा गया था ।। ६ ।।

शक्रस्तु वीर्यसदृशमिध्मभारं गिरिप्रभम् ।

समुद्यम्यानयामास नातिकृच्छ्रादिव प्रभुः ।। ७ ।।

इन्द्र शक्तिशाली थे। उन्होंने अपने बलके अनुसार लकड़ीका एक पहाड़-जैसा बोझ उठा लिया और उसे बिना कष्टके ही वे ले आये ।। ७ ।।

अथापश्यदृषीन् ह्रस्वानङ्गुष्ठोदरवर्ष्मणः ।
पलाशवर्तिकामेकां वहतः संहतान् पथि ।। ८ ।।

उन्होंने मार्गमें बहुत-से ऐसे ऋषियोंको देखा जो कदमें बहुत ही छोटे थे। उनका सारा शरीर अँगूठेके मध्यभागके बराबर था। वे सब मिलकर पलाशकी एक बाती (छोटी-सी टहनी) लिये आ रहे थे ।। ८ ।।

प्रलीनान् स्वेष्विवाङ्गेषु निराहारांस्तपोधनान् ।
क्लिश्यमानान् मन्दबलान् गोष्पदे सम्प्लुतोदके ।। ९ ।।

उन्होंने आहार छोड़ रखा था। तपस्या ही उनका धन था। वे अपने अंगोंमें ही समाये हुए-से जान पड़ते थे। पानीसे भरे हुए गोखुरके लाँघनेमें भी उन्हें बड़ा क्लेश होता था। उनमें शारीरिक बल बहुत कम था ।। ९ ।।

तान् सर्वान् विस्मयाविष्टो वीर्योन्मत्तः पुरन्दरः ।
अवहस्याभ्यगाच्छीघ्रं लङ्घयित्वावमन्य च ।। १० ।।

अपने बलके घमंडमें मतवाले इन्द्रने आश्चर्य-चकित होकर उन सबको देखा और उनकी हँसी उड़ाते हुए वे अपमानपूर्वक उन्हें लाँघकर शीघ्रताके साथ आगे बढ़ गये ।। १० ।।

तेऽथ रोषसमाविष्टाः सुभृशं जातमन्यवः ।
आरेभिरे महत् कर्म तदा शक्रभयंकरम् ।। ११ ।।

इन्द्रके इस व्यवहारसे वालखिल्य मुनियोंको बड़ा रोष हुआ। उनके हृदयमें भारी क्रोधका उदय हो गया। अतः उन्होंने उस समय एक ऐसे महान् कर्मका आरम्भ किया, जिसका परिणाम इन्द्रके लिये भयंकर था ।। ११ ।।

जुहुवुस्ते सुतपसो विधिवज्जातवेदसम् ।
मन्त्रैरुच्चावचैर्विप्रा येन कामेन तच्छृणु ।। १२ ।।

ब्राह्मणो! वे उत्तम तपस्वी वालखिल्य मनमें जो कामना रखकर छोटे-बड़े मन्त्रोंद्वारा विधिपूर्वक अग्निमें आहुति देते थे, वह बताता हूँ, सुनिये ।। १२ ।।

कामवीर्यः कामगमो देवराजभयप्रदः ।
इन्द्रोऽन्यः सर्वदेवानां भवेदिति यतव्रताः ।। १३ ।।

संयमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे महर्षि यह संकल्प करते थे कि—'सम्पूर्ण देवताओंके लिये कोई दूसरा ही इन्द्र उत्पन्न हो, जो वर्तमान देवराजके लिये भयदायक, इच्छानुसार पराक्रम करने-वाला और अपनी रुचिके अनुसार चलनेकी शक्ति रखनेवाला हो ।। १३ ।।

इन्द्राच्छतगुणः शौर्ये वीर्ये चैव मनोजवः ।
तपसो नः फलेनाद्य दारुणः सम्भवत्विति ।। १४ ।।

'शौर्य और वीर्यमें इन्द्रसे वह सौगुना बढ़कर हो। उसका वेग मनके समान तीव्र हो। हमारी तपस्याके फलसे अब ऐसा ही वीर प्रकट हो जो इन्द्रके लिये भयंकर हो' ।। १४ ।।

तद् बुद्ध्वा भृशसंतप्तो देवराजः शतक्रतुः ।
जगाम शरणं तत्र कश्यपं संशितव्रतम् ।। १५ ।।

उनका यह संकल्प सुनकर सौ यज्ञोंका अनुष्ठान पूर्ण करनेवाले देवराज इन्द्रको बड़ा संताप हुआ और वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले कश्यपजीकी शरणमें गये ।। १५ ।।

तच्छ्रुत्वा देवराजस्य कश्यपोऽथ प्रजापतिः ।
वालखिल्यानुपागम्य कर्मसिद्धिमपृच्छत ।। १६ ।।

देवराज इन्द्रके मुखसे उनका संकल्प सुनकर प्रजापति कश्यप वालखिल्योंके पास गये और उनसे उस कर्मकी सिद्धिके सम्बन्धमें प्रश्न किया ।। १६ ।।

एवमस्त्विति तं चापि प्रत्यूचुः सत्यवादिनः ।
तान् कश्यप उवाचेदं सान्त्वपूर्वं प्रजापतिः ।। १७ ।।

सत्यवादी महर्षि वालखिल्योंने 'हाँ ऐसी ही बात है' कहकर अपने कर्मकी सिद्धिका प्रतिपादन किया। तब प्रजापति कश्यपने उन्हें सान्त्वनापूर्वक समझाते हुए कहा — ।। १७ ।।

अयमिन्द्रस्त्रिभुवने नियोगाद् ब्रह्मणः कृतः ।
इन्द्रार्थे च भवन्तोऽपि यत्नवन्तस्तपोधनाः ।। १८ ।।

'तपोधनो! ब्रह्माजीकी आज्ञासे ये पुरन्दर तीनों लोकोंके इन्द्र बनाये गये हैं और आपलोग भी दूसरे इन्द्रकी उत्पत्तिके लिये प्रयत्नशील हैं ।। १८ ।।

न मिथ्या ब्रह्मणो वाक्यं कर्तुमर्हथ सत्तमाः ।
भवतां हि न मिथ्यायं संकल्पो वै चिकीर्षितः ।। १९ ।।

'संत-महात्माओ! आप ब्रह्माजीका वचन मिथ्या न करें। साथ ही मैं यह भी चाहता हूँ कि आपके द्वारा किया हुआ यह अभीष्ट संकल्प भी मिथ्या न हो ।। १९ ।।

भवत्वेष पतत्रीणामिन्द्रोऽतिबलसत्त्ववान् ।
प्रसादः क्रियतामस्य देवराजस्य याचतः ।। २० ।।

'अतः अत्यन्त बल और सत्त्वगुणसे सम्पन्न जो यह भावी पुत्र है, यह पक्षियोंका इन्द्र हो। देवराज इन्द्र आपके पास याचक बनकर आये हैं, आप इनपर अनुग्रह करें' ।। २० ।।

एवमुक्ताः कश्यपेन वालखिल्यास्तपोधनाः ।
प्रत्यूचुरभिसम्पूज्य मुनिश्रेष्ठं प्रजापतिम् ।। २१ ।।

महर्षि कश्यपके ऐसा कहनेपर तपस्याके धनी वालखिल्य मुनि उन मुनिश्रेष्ठ प्रजापतिका सत्कार करके बोले ।। २१ ।।

वालखिल्या ऊचुः

इन्द्रार्थोऽयं समारम्भः सर्वेषां नः प्रजापते ।
अपत्यार्थं समारम्भो भवतश्चायमीप्सितः ।। २२ ।।
तदिदं सफलं कर्म त्वयैव प्रतिगृह्यताम् ।
तथा चैवं विधत्स्वात्र यथा श्रेयोऽनुपश्यसि ।। २३ ।।

वालखिल्योंने कहा—प्रजापते! हम सब लोगोंका यह अनुष्ठान इन्द्रके लिये हुआ था और आपका यह यज्ञसमारोह संतानके लिये अभीष्ट था। अतः इस फलसहित कर्मको आप ही स्वीकार करें और जिसमें सबकी भलाई दिखायी दे, वैसा ही करें ।। २२-२३ ।।

सौतिरुवाच

एतस्मिन्नेव काले तु देवी दाक्षायणी शुभा ।
विनता नाम कल्याणी पुत्रकामा यशस्विनी ।। २४ ।।
तपस्तप्त्वा व्रतपरा स्नाता पुंसवने शुचिः ।
उपचक्राम भर्तारं तामुवाचाथ कश्यपः ।। २५ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इसी समय शुभलक्षणा दक्षकन्या कल्याणमयी विनता देवी, जो उत्तम यशसे सुशोभित थी, पुत्रकी कामनासे तपस्यापूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करने लगी। ऋतुकाल आनेपर जब वह स्नान करके शुद्ध हुई, तब अपने स्वामीकी सेवामें गयी। उस समय कश्यपजीने उससे कहा— ।। २४-२५ ।।

आरम्भः सफलो देवि भविता यस्त्वयेप्सितः ।
जनयिष्यसि पुत्रौ द्वौ वीरौ त्रिभुवनेश्वरौ ।। २६ ।।

‘देवि! तुम्हारा यह अभीष्ट समारम्भ अवश्य सफल होगा। तुम ऐसे दो पुत्रोंको जन्म दोगी, जो बड़े वीर और तीनों लोकोंपर शासन करनेकी शक्ति रखनेवाले होंगे ।। २६ ।।

तपसा वालखिल्यानां मम संकल्पजौ तथा ।
भविष्यतो महाभागौ पुत्रौ त्रैलोक्यपूजितौ ।। २७ ।।

‘वालखिल्योंकी तपस्या तथा मेरे संकल्पसे तुम्हें दो परम सौभाग्यशाली पुत्र प्राप्त होंगे, जिनकी तीनों लोकोंमें पूजा होगी’ ।। २७ ।।

उवाच चैनां भगवान् कश्यपः पुनरेव ह ।
धार्यतामप्रमादेन गर्भोऽयं सुमहोदयः ।। २८ ।।

इतना कहकर भगवान् कश्यपने पुनः विनतासे कहा—‘देवि! यह गर्भ महान् अभ्युदयकारी होगा, अतः इसे सावधानीसे धारण करो ।। २८ ।।

एतौ सर्वपतत्त्रीणामिन्द्रत्वं कारयिष्यतः ।
लोकसम्भावितौ वीरौ कामरूपौ विहंगमौ ।। २९ ।।

‘तुम्हारे ये दोनों पुत्र सम्पूर्ण पक्षियोंके इन्द्रपदका उपभोग करेंगे। स्वरूपसे पक्षी होते हुए भी इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ और लोक-सम्भावित वीर होंगे’ ।। २९ ।।

शतक्रतुमथोवाच प्रीयमाणः प्रजापतिः ।
त्वत्सहायौ महावीर्यौ भ्रातरौ ते भविष्यतः ।। ३० ।।
नैताभ्यां भविता दोषः सकाशात् ते पुरन्दर ।
व्येतु ते शक्र संतापस्त्वमेवेन्द्रो भविष्यसि ।। ३१ ।।

विनतासे ऐसा कहकर प्रसन्न हुए प्रजापतिने शतक्रतु इन्द्रसे कहा—‘पुरन्दर! ये दोनों महापराक्रमी भ्राता तुम्हारे सहायक होंगे। तुम्हें इनसे कोई हानि नहीं होगी। इन्द्र! तुम्हारा संताप दूर हो जाना चाहिये। देवताओंके इन्द्र तुम्हीं बने रहोगे ।। ३०-३१ ।।

न चाप्येवं त्वया भूयः क्षेप्तव्या ब्रह्मवादिनः ।
न चावमान्या दर्पात् ते वाग्वज्रा भृशकोपनाः ।। ३२ ।।

‘एक बात ध्यान रखना—आजसे फिर कभी तुम घमंडमें आकर ब्रह्मवादी महात्माओंका उपहास और अपमान न करना; क्योंकि उनके पास वाणीरूप अमोघ वज्र है तथा वे तीक्ष्ण कोपवाले होते हैं’ ।। ३२ ।।

एवमुक्तो जगामेन्द्रो निर्विशङ्कस्त्रिविष्टपम् ।
विनता चापि सिद्धार्था बभूव मुदिता तथा ।। ३३ ।।

कश्यपजीके ऐसा कहनेपर देवराज इन्द्र निःशंक होकर स्वर्गलोकमें चले गये। अपना मनोरथ सिद्ध होनेसे विनता भी बहुत प्रसन्न हुई ।। ३३ ।।

जनयामास पुत्रौ द्वावरुणं गरुडं तथा ।
विकलाङ्गोऽरुणस्तत्र भास्करस्य पुरःसरः ।। ३४ ।।

उसने दो पुत्र उत्पन्न किये—अरुण और गरुड। जिनके अंग कुछ अधूरे रह गये थे, वे अरुण कहलाते हैं, वे ही सूर्यदेवके सारथि बनकर उनके आगे-आगे चलते हैं ।। ३४ ।।

पतत्त्रीणां च गरुडमिन्द्रत्वेनाभ्यषिञ्चत ।
तस्यैतत् कर्म सुमहच्छ्रूयतां भृगुनन्दन ।। ३५ ।।

भृगुनन्दन! दूसरे पुत्र गरुडका पक्षियोंके इन्द्र-पदपर अभिषेक किया गया। अब तुम गरुडका यह महान् पराक्रम सुनो ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे एकत्रिंशोऽध्यायः ।। ३१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३१ ।।

द्वात्रिंशोऽध्यायः

गरुडका देवताओंके साथ युद्ध और देवताओंकी पराजय

सौतिरुवाच

ततस्तस्मिन् द्विजश्रेष्ठ समुदीर्णे तथाविधे ।
गरुडः पक्षिराट् तूर्णं सम्प्राप्तो विबुधान् प्रति ।। १ ।।
तं दृष्ट्वातिबलं चैव प्राकम्पन्त सुरास्ततः ।
परस्परं च प्रत्यघ्नन् सर्वप्रहरणान्युत ।। २ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—द्विजश्रेष्ठ! देवताओंका समुदाय जब इस प्रकार भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो युद्धके लिये उद्यत हो गया, उसी समय पक्षिराज गरुड तुरंत ही देवताओंके पास जा पहुँचे। उन अत्यन्त बलवान् गरुडको देखकर सम्पूर्ण देवता काँप उठे। उनके सभी आयुध आपसमें ही आघात-प्रत्याघात करने लगे ।। १-२ ।।

तत्र चासीदमेयात्मा विद्युदग्निसमप्रभः ।
भौमनः सुमहावीर्यः सोमस्य परिरक्षिता ।। ३ ।।

वहाँ विद्युत् एवं अग्निके समान तेजस्वी और महापराक्रमी अमेयात्मा भौमन (विश्वकर्मा) अमृतकी रक्षा कर रहे थे ।। ३ ।।

स तेन पतगेन्द्रेण पक्षतुण्डनखक्षतः ।
मुहूर्तमतुलं युद्धं कृत्वा विनिहतो युधि ।। ४ ।।

वे पक्षिराजके साथ दो घड़ीतक अनुपम युद्ध करके उनके पंख, चोंच और नखोंसे घायल हो उस रणांगणमें मृतकतुल्य हो गये ।। ४ ।।

रजश्चोद्धूय सुमहत् पक्षवातेन खेचरः ।
कृत्वा लोकान् निरालोकांस्तेन देवानवाकिरत् ।। ५ ।।

तदनन्तर पक्षिराजने अपने पंखोंकी प्रचण्ड वायुसे बहुत धूल उड़ाकर समस्त लोकोंमें अन्धकार फैला दिया और उसी धूलसे देवताओंको ढक दिया ।। ५ ।।

तेनावकीर्णा रजसा देवा मोहमुपागमन् ।
न चैवं ददृशुश्छन्ना रजसामृतरक्षिणः ।। ६ ।।

उस धूलसे आच्छादित होकर देवता मोहित हो गये। अमृतकी रक्षा करनेवाले देवता भी इसी प्रकार धूलसे ढक जानेके कारण कुछ देख नहीं पाते थे ।। ६ ।।

एवं संलोडयामास गरुडस्त्रिदिवालयम् ।
पक्षतुण्डप्रहारैस्तु देवान् स विददार ह ।। ७ ।।

इस तरह गरुडने स्वर्गलोकको व्याकुल कर दिया और पंखों तथा चोंचोंकी मारसे देवताओंका अंग-अंग विदीर्ण कर डाला ।। ७ ।।

ततो देवः सहस्राक्षस्तूर्णं वायुमचोदयत् ।
विक्षिपेमां रजोवृष्टिं तवेदं कर्म मारुत ।। ८ ।।

तब सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्रदेवने तुरंत ही वायुको आज्ञा दी—'मारुत! तुम इस धूलकी वृष्टिको दूर हटा दो; क्योंकि यह काम तुम्हारे ही वशका है' ।। ८ ।।

अथ वायुरपोवाह तद् रजस्तरसा बली ।
ततो वितिमिरे जाते देवाः शकुनिमार्दयन् ।। ९ ।।

तब बलवान् वायुदेवने बड़े वेगसे उस धूलको दूर उड़ा दिया। इससे वहाँ फैला हुआ अन्धकार दूर हो गया। अब देवता अपने अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा पक्षी गरुडको पीडित करने लगे ।। ९ ।।

ननादोच्चैः स बलवान् महामेघ इवाम्बरे ।
वध्यमानः सुरगणैः सर्वभूतानि भीषयन् ।। १० ।।

देवताओंके प्रहारको सहते हुए महाबली गरुड आकाशमें छाये हुए महामेघकी भाँति समस्त प्राणियोंको डराते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ।। १० ।।

उत्पपात महावीर्यः पक्षिराट् परवीरहा ।
समुत्पत्यान्तरिक्षस्थं देवानामुपरि स्थितम् ।। ११ ।।
वर्मिणो विबुधाः सर्वे नानाशस्त्रैरवाकिरन् ।
पट्टिशैः परिघैः शूलैर्गदाभिश्च सवासवाः ।। १२ ।।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पक्षिराज बड़े पराक्रमी थे। वे आकाशमें बहुत ऊँचे उड़ गये। उड़कर अन्तरिक्षमें देवताओंके ऊपर (ठीक सिरकी सीधमें) खड़े हो गये। उस समय कवच धारण किये इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता उनपर पट्टिश, परिघ, शूल और गदा आदि नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रहार करने लगे ।। ११-१२ ।।

क्षुरप्रैर्ज्वलितैश्चापि चक्रैरादित्यरूपिभिः ।
नानाशस्त्रविसर्गैस्तैर्वध्यमानः समन्ततः ।। १३ ।।

अग्निके समान प्रज्वलित क्षुरप्र, सूर्यके समान उद्भासित होनेवाले चक्र तथा नाना प्रकारके दूसरे-दूसरे शस्त्रोंके प्रहारद्वारा उनपर सब ओरसे मार पड़ रही थी ।। १३ ।।

कुर्वन् सुतुमुलं युद्धं पक्षिराण्न व्यकम्पत ।
निर्दहन्निव चाकाशे वैनतेयः प्रतापवान् ।
पक्षाभ्यामुरसा चैव समन्ताद् व्याक्षिपत् सुरान् ।। १४ ।।

तो भी पक्षिराज गरुड देवताओंके साथ तुमुल युद्ध करते हुए तनिक भी विचलित न हुए। परम प्रतापी विनतानन्दन गरुडने, मानो देवताओंको दग्ध कर डालेंगे, इस प्रकार रोषमें भरकर आकाशमें खड़े-खड़े ही पंखों और छातीके धक्केसे उन सबको चारों ओर मार गिराया ।। १४ ।।

ते विक्षिप्तास्ततो देवा दुद्रुवुर्गरुडार्दिताः ।

नखतुण्डक्षताश्चैव सुस्रुवुः शोणितं बहु ।। १५ ।।

गरुडसे पीड़ित और दूर फेंके गये देवता इधर-उधर भागने लगे। उनके नखों और चोंचसे क्षत-विक्षत हो वे अपने अंगोंसे बहुत-सा रक्त बहाने लगे ।। १५ ।।

साध्याः प्राचीं सगन्धर्वा वसवो दक्षिणां दिशम् ।
प्रजग्मुः सहिता रुद्राः पतगेन्द्रप्रधर्षिताः ।। १६ ।।

पक्षिराजसे पराजित हो साध्य और गन्धर्व पूर्व दिशाकी ओर भाग चले। वसुओं तथा रुद्रोंने दक्षिण दिशाकी शरण ली ।। १६ ।।

दिशं प्रतीचीमादित्या नासत्यावुत्तरां दिशम् ।
मुहुर्मुहुः प्रेक्षमाणा युध्यमाना महौजसः ।। १७ ।।

आदित्यगण पश्चिम दिशाकी ओर भागे तथा अश्विनीकुमारोंने उत्तर दिशाका आश्रय लिया। ये महा-पराक्रमी योद्धा बार-बार पीछेकी ओर देखते हुए भाग रहे थे ।। १७ ।।

अश्वक्रन्देन वीरेण रेणुकेन च पक्षिराट् ।
क्रथनेन च शूरेण तपनेन च खेचरः ।। १८ ।।
उलूकश्वसनाभ्यां च निमेषेण च पक्षिराट् ।
प्ररुजेन च संग्रामं चकार पुलिनेन च ।। १९ ।।

इसके बाद आकाशचारी पक्षिराज गरुडने वीर अश्वक्रन्द, रेणुक, शूरवीर क्रथन, तपन, उलूक, श्वसन, निमेष, प्ररुज तथा पुलिन—इन नौ यक्षोंके साथ युद्ध किया ।। १८-१९ ।।

तान् पक्षनखतुण्डाग्रैरभिनद् विनतासुतः ।
युगान्तकाले संक्रुद्धः पिनाकीव परंतपः ।। २० ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले विनताकुमारने प्रलय-कालमें कुपित हुए पिनाकधारी रुद्रकी भाँति क्रोधमें भरकर उन सबको पंखों, नखों और चोंचके अग्रभागसे विदीर्ण कर डाला ।। २० ।।

महाबला महोत्साहास्तेन ते बहुधा क्षताः ।
रेजुरभ्रघनप्रख्या रुधिरौघप्रवर्षिणः ।। २१ ।।

वे सभी यक्ष बड़े बलवान् और अत्यन्त उत्साही थे; उस युद्धमें गरुडद्वारा बार-बार क्षत-विक्षत होकर वे सूनकी धारा बहाते हुए बादलोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ।। २१ ।।

तान् कृत्वा पतगश्रेष्ठः सर्वानुत्क्रान्तजीवितान् ।
अतिक्रान्तोऽमृतस्यार्थे सर्वतोऽग्निमपश्यत ।। २२ ।।

पक्षिराज उन सबके प्राण लेकर जब अमृत उठानेके लिये आगे बढ़े, तब उसके चारों ओर उन्होंने आग जलती देखी ।। २२ ।।

आवृण्वानं महाज्वालमर्चिर्भिः सर्वतोऽम्बरम् ।
दहन्तमिव तीक्ष्णांशुं चण्डवायुसमीरितम् ।। २३ ।।

वह आग अपनी लपटोंसे वहाँके समस्त आकाशको आवृत किये हुए थी। उससे बड़ी ऊँची ज्वालाएँ उठ रही थीं। वह सूर्यमण्डलकी भाँति दाह उत्पन्न करती और प्रचण्ड वायुसे प्रेरित हो अधिकाधिक प्रज्वलित होती रहती थी ।। २३ ।।

ततो नवत्या नवतीर्मुखानां
कृत्वा महात्मा गरुडस्तरस्वी ।
नदीः समापीय मुखैस्ततस्तैः
सुशीघ्रमागम्य पुनर्जवेन ।। २४ ।।
ज्वलन्तमग्निं तममित्रतापनः
समास्तरत्पत्ररथो नदीभिः ।
ततः प्रचक्रे वपुरन्यदल्पं
प्रवेष्टुकामोऽग्निमभिप्रशाम्य ।। २५ ।।

तब वेगशाली महात्मा गरुडने अपने शरीरमें आठ हजार एक सौ मुख प्रकट करके उनके द्वारा नदियोंका जल पी लिया और पुनः बड़े वेगसे शीघ्रतापूर्वक वहाँ आकर उस जलती हुई आगपर वह सब जल उड़ेल दिया। इस प्रकार शत्रुओंको ताप देनेवाले पक्षवाहन गरुडने नदियोंके जलसे उस आगको बुझाकर अमृतके पास पहुँचनेकी इच्छासे एक दूसरा बहुत छोटा रूप धारण कर लिया ।। २४-२५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे द्वात्रिंशोऽध्यायः ।। ३२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२ ।।

त्रयस्त्रिंशोऽध्याय:

गरुडका अमृत लेकर लौटना, मार्गमें भगवान् विष्णुसे वर पाना एवं उनपर इन्द्रके द्वारा वज्र-प्रहार

सौतिरुवाच

जाम्बूनदमयो भूत्वा मरीचिनिकरोज्ज्वलः ।
प्रविवेश बलात् पक्षी वारिवेग इवार्णवम् ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर जैसे जलका वेग समुद्रमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार पक्षिराज गरुड सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशमान सुवर्णमय स्वरूप धारण करके बलपूर्वक जहाँ अमृत था, उस स्थानमें घुस गये ।। १ ।।

सचक्रं क्षुरपर्यन्तमपश्यदमृतान्तिके ।
परिभ्रमन्तमनिशं तीक्ष्णधारमयस्मयम् ।। २ ।।

उन्होंने देखा, अमृतके निकट एक लोहेका चक्र घूम रहा है। उसके चारों ओर छुरे लगे हुए हैं। वह निरन्तर चलता रहता है और उसकी धार बड़ी तीखी है ।। २ ।।

ज्वलनार्कप्रभं घोरं छेदनं सोमहारिणाम् ।
घोररूपं तदत्यर्थं यन्त्रं देवैः सुनिर्मितम् ।। ३ ।।

वह घोर चक्र अग्नि और सूर्यके समान जाज्वल्यमान था। देवताओंने उस अत्यन्त भयंकर यन्त्रका निर्माण इसलिये किया था कि वह अमृत चुरानेके लिये आये हुए चोरोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ।। ३ ।।

तस्यान्तरं स दृष्ट्वैव पर्यवर्तत खेचरः ।
अरान्तरेणाभ्यपतत् संक्षिप्याङ्गं क्षणेन ह ।। ४ ।।

पक्षी गरुड उसके भीतरका छिद्र—उसमें घुसनेका मार्ग देखते हुए खड़े रहे। फिर एक क्षणमें ही वे अपने शरीरको संकुचित करके उस चक्रके अरोंके बीचसे होकर भीतर घुस गये ।। ४ ।।

अधश्चक्रस्य चैवात्र दीप्तानलसमद्युती ।
विद्युज्जिह्वौ महावीर्यौ दीप्तास्यौ दीप्तलोचनौ ।। ५ ।।
चक्षुर्विषौ महाघोरौ नित्यं क्रुद्धौ तरस्विनौ ।
रक्षार्थमेवामृतस्य ददर्श भुजगोत्तमौ ।। ६ ।।

वहाँ चक्रके नीचे अमृतकी रक्षाके लिये ही दो श्रेष्ठ सर्प नियुक्त किये गये थे। उनकी कान्ति प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ती थी। बिजलीके समान उनकी लपलपाती हुई जीभें, देदीप्यमान मुख और चमकती हुई आँखें थीं। वे दोनों सर्प बड़े पराक्रमी थे। उनके

नेत्रोंमें ही विष भरा था। वे बड़े भयंकर, नित्य क्रोधी और अत्यन्त वेगशाली थे। गरुडने उन दोनोंको देखा ।। ५-६ ।।

सदा संरब्धनयनौ सदा चानिमिषेक्षणौ ।
तयोरेकोऽपि यं पश्येत् स तूर्णं भस्मसाद् भवेत् ।। ७ ।।

उनके नेत्रोंमें सदा क्रोध भरा रहता था। वे निरन्तर एकटक दृष्टिसे देखा करते थे (उनकी आँखें कभी बंद नहीं होती थीं)। उनमेंसे एक भी जिसे देख ले, वह तत्काल भस्म हो सकता था ।। ७ ।।

तयोश्चक्षूंषि रजसा सुपर्णः सहसावृणोत् ।
ताभ्यामदृष्टरूपोऽसौ सर्वतः समताडयत् ।। ८ ।।

सुंदर पंखवाले गरुडजीने सहसा धूल झोंककर उनकी आँखें बंद कर दीं और उनसे अदृश्य रहकर ही वे सब ओरसे उन्हें मारने और कुचलने लगे ।। ८ ।।

तयोरङ्गे समाक्रम्य वैनतेयोऽन्तरिक्षगः ।
आच्छिनत् तरसा मध्ये सोममभ्यद्रवत् ततः ।। ९ ।।
समुत्पाट्यामृतं तत्र वैनतेयस्ततो बली ।
उत्पपात जवेनैव यन्त्रमुन्मथ्य वीर्यवान् ।। १० ।।

आकाशमें विचरनेवाले महापराक्रमी विनता-कुमारने वेगपूर्वक आक्रमण करके उन दोनों सर्पोंके शरीरको बीचसे काट डाला; फिर वे अमृतकी ओर झपटे और चक्रको तोड़-फोड़कर अमृतके पात्रको उठाकर बड़ी तेजीके साथ वहाँसे उड़ चले ।। ९-१० ।।

अपीत्वैवामृतं पक्षी परिगृह्याशु निःसृतः ।
आगच्छदपरिश्रान्त आवार्यार्कप्रभां ततः ।। ११ ।।

उन्होंने स्वयं अमृतको नहीं पीया, केवल उसे लेकर शीघ्रतापूर्वक वहाँसे निकल गये और सूर्यकी प्रभाका तिरस्कार करते हुए बिना थकावटके चले आये ।। ११ ।।

विष्णुना च तदाकाशे वैनतेयः समेयिवान् ।
तस्य नारायणस्तुष्टस्तेनालौल्येन कर्मणा ।। १२ ।।

उस समय आकाशमें विनतानन्दन गरुडकी भगवान् विष्णुसे भेंट हो गयी। भगवान् नारायण गरुडके लोलुपतारहित पराक्रमसे बहुत संतुष्ट हुए थे ।। १२ ।।

तमुवाचाव्ययो देवो वरदोऽस्मीति खेचरम् ।
स वव्रे तव तिष्ठेयमुपरीत्यन्तरिक्षगः ।। १३ ।।

अतः उन अविनाशी भगवान् विष्णुने आकाशचारी गरुडसे कहा—‘मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ।’ अन्तरिक्षमें विचरनेवाले गरुडने यह वर माँगा—‘प्रभो! मैं आपके ऊपर (ध्वजमें) स्थित होऊँ’ ।। १३ ।।

उवाच चैनं भूयोऽपि नारायणमिदं वचः ।
अजरश्चामरश्च स्याममृतेन विनाप्यहम् ।। १४ ।।

इतना कहकर वे भगवान् नारायणसे फिर यों बोले—'भगवन्! मैं अमृत पीये बिना ही अजर-अमर हो जाऊँ' ।। १४ ।।

एवमस्त्विति तं विष्णुरुवाच विनतासुतम् ।
प्रतिगृह्य वरौ तौ च गरुडो विष्णुमब्रवीत् ।। १५ ।।

तब भगवान् विष्णुने विनतानन्दन गरुडसे कहा—'एवमस्तु'—ऐसा ही हो। वे दोनों वर ग्रहण करके गरुडने भगवान् विष्णुसे कहा— ।। १५ ।।

भवतेऽपि वरं दद्यां वृणोतु भगवानपि ।
तं वव्रे वाहनं विष्णुर्गरुत्मन्तं महाबलम् ।। १६ ।।

'देव! मैं भी आपको वर देना चाहता हूँ। भगवान् भी कोई वर माँगें।' तब श्रीहरिने महाबली गरुत्मान्से अपना वाहन होनेका वर माँगा ।। १६ ।।

ध्वजं च चक्रे भगवानुपरि स्थास्यसीति तम् ।
एवमस्त्विति तं देवमुक्त्वा नारायणं खगः ।। १७ ।।
वव्राज तरसा वेगाद् वायुं स्पर्धन् महाजवः ।
तं व्रजन्तं खगश्रेष्ठं वज्रेणेन्द्रोऽभ्यताडयत् ।। १८ ।।
हरन्तममृतं रोषाद् गरुडं पक्षिणां वरम् ।

भगवान् विष्णुने गरुडको अपना ध्वज बना लिया—उन्हें ध्वजके ऊपर स्थान दिया और कहा—'इस प्रकार तुम मेरे ऊपर रहोगे।' तदनन्तर उन भगवान् नारायणसे 'एवमस्तु' कहकर पक्षी गरुड वहाँसे वेग-पूर्वक चले गये। महान् वेगशाली गरुड उस समय वायुसे होड़ लगाते चल रहे थे। पक्षियोंके सरदार उन खगश्रेष्ठ गरुडको अमृतका अपहरण करके लिये जाते देख इन्द्रने रोषमें भरकर उनके ऊपर वज्रसे आघात किया ।। १७-१८½ ।।

तमुवाचेन्द्रमाक्रन्दे गरुडः पततां वरः ।। १९ ।।
प्रहसञ्श्लक्ष्णया वाचा तथा वज्रसमाहतः ।
ऋषेर्मानं करिष्यामि वज्रं यस्यास्थिसम्भवम् ।। २० ।।
वज्रस्य च करिष्यामि तवैव च शतक्रतो ।
एतत् पत्रं त्यजाम्येकं यस्यान्तं नोपलप्स्यसे ।। २१ ।।

विहंगप्रवर गरुडने उस युद्धमें वज्राहत होकर भी हँसते हुए मधुर वाणीमें इन्द्रसे कहा—'देवराज! जिनकी हड्डीसे यह वज्र बना है, उन महर्षिका सम्मान मैं अवश्य करूँगा। शतक्रतो! ऋषिके साथ-साथ तुम्हारा और तुम्हारे वज्रका भी आदर करूँगा; इसीलिये मैं अपनी एक पाँख, जिसका तुम कहीं अन्त नहीं पा सकोगे, त्याग देता हूँ ।। १९—२१ ।।

न च वज्रनिपातेन रुजा मेऽस्तीह काचन ।
एवमुक्त्वा ततः पत्रमुत्ससर्ज स पक्षिराट् ।। २२ ।।

'तुम्हारे वज्रके प्रहारसे मेरे शरीरमें कुछ भी पीड़ा नहीं हुई है।' ऐसा कहकर पक्षिराजने अपना एक पंख गिरा दिया ।। २२ ।।

तदुत्सृष्टमभिप्रेक्ष्य तस्य पर्णमनुत्तमम् ।
हृष्टानि सर्वभूतानि नाम चक्रुर्गरुत्मतः ।। २३ ।।

उस गिरे हुए परम उत्तम पंखको देखकर सब प्राणियोंको बड़ा हर्ष हुआ और उसीके आधारपर उन्होंने गरुडका नामकरण किया ।। २३ ।।

सुरूपं पत्रमालक्ष्य सुपर्णोऽयं भवत्विति ।
तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं सहस्राक्षः पुरन्दरः ।
खगो महदिदं भूतमिति मत्वाभ्यभाषत ।। २४ ।।

वह सुन्दर पाँख देखकर लोगोंने कहा—‘जिसका यह सुन्दर पर्ण (पंख) है, वह पक्षी सुपर्ण नामसे विख्यात हो।’ (गरुडपर वज्र भी निष्फल हो गया) यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्रने मन-ही-मन विचार किया—अहो! यह पक्षीरूपमें कोई महान् प्राणी है, ऐसा सोचकर उन्होंने कहा ।। २४ ।।

शक्र उवाच

बलं विज्ञातुमिच्छामि यत् ते परमनुत्तमम् ।
सख्यं चानन्तमिच्छामि त्वया सह खगोत्तम ।। २५ ।।

इन्द्रने कहा—विहंगप्रवर! मैं तुम्हारे सर्वोत्तम उत्कृष्ट बलको जानना चाहता हूँ और तुम्हारे साथ ऐसी मैत्री स्थापित करना चाहता हूँ, जिसका कभी अन्त न हो ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३३ ।।

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

इन्द्र और गरुडकी मित्रता, गरुडका अमृत लेकर नागोंके पास आना और विनताको दासीभावसे छुड़ाना तथा इन्द्रद्वारा अमृतका अपहरण

गरुड उवाच

सख्यं मेऽस्तु त्वया देव यथेच्छसि पुरन्दर ।
बलं तु मम जानीहि महच्चासह्यमेव च ।। १ ।।

गरुडने कहा—देव पुरन्दर! जैसी तुम्हारी इच्छा है, उसके अनुसार तुम्हारे साथ (मेरी) मित्रता स्थापित हो। मेरा बल भी जान लो, वह महान् और असह्य है ।। १ ।।

कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम् ।
गुणसंकीर्तनं चापि स्वयमेव शतक्रतो ।। २ ।।

शतक्रतो! साधु पुरुष स्वेच्छासे अपने बलकी स्तुति और अपने ही मुखसे अपने गुणोंका बखान अच्छा नहीं मानते ।। २ ।।

सखेति कृत्वा तु सखे पृष्टो वक्ष्याम्यहं त्वया ।
न ह्यात्मस्तवसंयुक्तं वक्तव्यमनिमित्ततः ।। ३ ।।

किंतु सखे! तुमने मित्र मानकर पूछा है, इसलिये मैं बता रहा हूँ; क्योंकि अकारण ही अपनी प्रशंसासे भरी हुई बात नहीं कहनी चाहिये (किंतु किसी मित्रके पूछनेपर सच्ची बात कहनेमें कोई हर्ज नहीं है।) ।। ३ ।।

सपर्वतवनामुर्वीं ससागरजलामिमाम् ।
वहे पक्षेण वै शक्र त्वामप्यत्रावलम्बिनम् ।। ४ ।।

इन्द्र! पर्वत, वन और समुद्रके जलसहित सारी पृथ्वीको तथा इसके ऊपर रहनेवाले आपको भी अपने एक पंखपर उठाकर मैं बिना परिश्रमके उड़ सकता हूँ ।। ४ ।।

सर्वान् सम्पिण्डितान् वापि लोकान् सस्थाणुजङ्गमान् ।
वहेयमपरिश्रान्तो विद्धीदं मे महद् बलम् ।। ५ ।।

अथवा सम्पूर्ण चराचर लोकोंको एकत्र करके यदि मेरे ऊपर रख दिया जाय तो मैं सबको बिना परिश्रमके ढो सकता हूँ। इससे तुम मेरे महान् बलको समझ लो ।। ५ ।।

सौतिरुवाच

इत्युक्तवचनं वीरं किरीटी श्रीमतां वरः ।
आह शौनक देवेन्द्रः सर्वलोकहितः प्रभुः ।। ६ ।।
एवमेव यथात्थ त्वं सर्वं सम्भाव्यते त्वयि ।

संगृह्यतामिदानीं मे सख्यमत्यन्तमुत्तमम् ।। ७ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! वीरवर गरुडके इस प्रकार कहनेपर श्रीमानोंमें श्रेष्ठ किरीटधारी सर्वलोक-हितकारी भगवान् देवेन्द्रने कहा—'मित्र! तुम जैसा कहते हो, वैसी ही बात है। तुममें सब कुछ सम्भव है। इस समय मेरी अत्यन्त उत्तम मित्रता स्वीकार करो ।। ६-७ ।।

न कार्यं यदि सोमेन मम सोमः प्रदीयताम् ।
अस्मांस्ते हि प्रबाधेयुर्येभ्यो दद्याद् भवानिमम् ।। ८ ।।

'यदि तुम्हें स्वयं अमृतकी आवश्यकता नहीं है तो वह मुझे वापस दे दो। तुम जिनको यह अमृत देना चाहते हो, वे इसे पीकर हमें कष्ट पहुँचावेंगे' ।। ८ ।।

गरुड उवाच

किंचित् कारणमुद्दिश्य सोमोऽयं नीयते मया ।
न दास्यामि समादातुं सोमं कस्मैचिदप्यहम् ।। ९ ।।
यत्रेमं तु सहस्राक्ष निक्षिपेयमहं स्वयम् ।
त्वमादाय ततस्तूर्णं हरेथास्त्रिदिवेश्वर ।। १० ।।

गरुडने कहा—स्वर्गके सम्राट् सहस्राक्ष! किसी कारणवश मैं यह अमृत ले जाता हूँ। इसे किसीको भी पीनेके लिये नहीं दूँगा। मैं स्वयं जहाँ इसे रख दूँ, वहाँसे तुरंत तुम उठा ले जा सकते हो ।। ९-१० ।।

शक्र उवाच

वाक्येनानेन तुष्टोऽहं यत् त्वयोक्तमिहाण्डज ।
यमिच्छसि वरं मत्तस्तं गृहाण खगोत्तम ।। ११ ।।

इन्द्र बोले—पक्षिराज! तुमने यहाँ जो बात कही है, उससे मैं बहुत संतुष्ट हूँ। खगश्रेष्ठ! तुम मुझसे जो चाहो, वर माँग लो ।। ११ ।।

सौतिरुवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं कद्रूपुत्राननुस्मरन् ।
स्मृत्वा चैवोपधिकृतं मातुर्दास्यनिमित्ततः ।। १२ ।।
ईशोऽहमपि सर्वस्य करिष्यामि तु तेऽर्थिताम् ।
भवेयुर्भुजगाः शक्र मम भक्ष्या महाबलाः ।। १३ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इन्द्रके ऐसा कहनेपर गरुडको कद्रूपुत्रोंकी दुष्टताका स्मरण हो आया। साथ ही उनके उस कपटपूर्ण बर्तावकी भी याद आ गयी, जो माताको दासी बनानेमें कारण था। अतः उन्होंने इन्द्रसे कहा—'इन्द्र! यद्यपि मैं सब कुछ करनेमें समर्थ हूँ, तो भी तुम्हारी इस याचनाको पूर्ण करूँगा कि अमृत दूसरोंको न दिया जाय। साथ ही तुम्हारे

कथनानुसार यह वर भी माँगता हूँ कि महाबली सर्प मेरे भोजनकी सामग्री हो जायँ' ।। १२-१३ ।।

तथेत्युक्त्वान्वगच्छत् तं ततो दानवसूदनः ।
देवदेवं महात्मानं योगिनामीश्वरं हरिम् ।। १४ ।।

तब दानवशत्रु इन्द्र 'तथास्तु' कहकर योगीश्वर देवाधिदेव परमात्मा श्रीहरिके पास गये ।। १४ ।।

स चान्वमोदत् तं चार्थं यथोक्तं गरुडेन वै ।
इदं भूयो वचः प्राह भगवांस्त्रिदशेश्वरः ।। १५ ।।
हरिष्यामि विनिक्षिप्तं सोममित्यनुभाष्य तम् ।
आजगाम ततस्तूर्णं सुपर्णो मातुरन्तिकम् ।। १६ ।।

श्रीहरिने भी गरुडकी कही हुई बातका अनुमोदन किया। तदनन्तर स्वर्गलोकके स्वामी भगवान् इन्द्र पुनः गरुडको सम्बोधित करके इस प्रकार बोले—'तुम जिस समय इस अमृतको कहीं रख दोगे उसी समय मैं इसे हर ले आऊँगा' (ऐसा कहकर इन्द्र चले गये)। फिर सुन्दर पंखवाले गरुड तुरंत ही अपनी माताके समीप आ पहुँचे ।। १५-१६ ।।

अथ सर्पानुवाचेदं सर्वान् परमहृष्टवत् ।
इदमानीतममृतं निक्षेप्स्यामि कुशेषु वः ।। १७ ।।
स्नाता मंगलसंयुक्तास्ततः प्राश्नीत पन्नगाः ।
भवद्भिरिदमासीनैर्यदुक्तं तद्वचस्तदा ।। १८ ।।
अदासी चैव मातेयमद्यप्रभृति चास्तु मे ।
यथोक्तं भवतामेतद् वचो मे प्रतिपादितम् ।। १९ ।।

तदनन्तर अत्यन्त प्रसन्न-से होकर वे समस्त सर्पोंसे इस प्रकार बोले—'पन्नगो! मैंने तुम्हारे लिये यह अमृत ला दिया है। इसे कुशोंपर रख देता हूँ। तुम सब लोग स्नान और मंगल-कर्म (स्वस्ति-वाचन आदि) करके इस अमृतका पान करो। अमृतके लिये भेजते समय तुमने यहाँ बैठकर मुझसे जो बातें कही थीं, उनके अनुसार आजसे मेरी ये माता दासीपनसे मुक्त हो जायँ; क्योंकि तुमने मेरे लिये जो काम बताया था, उसे मैंने पूर्ण कर दिया है' ।। १७—१९ ।।

ततः स्नातुं गताः सर्पाः प्रत्युक्त्वा तं तथेत्युत ।
शक्रोऽप्यमृतमाक्षिप्य जगाम त्रिदिवं पुनः ।। २० ।।

तब सर्पगण 'तथास्तु' कहकर स्नानके लिये गये। इसी बीचमें इन्द्र वह अमृत लेकर पुनः स्वर्गलोकको चले गये ।। २० ।।

अथागतास्तमुद्देशं सर्पाः सोमार्थिनस्तदा ।
स्नाताश्च कृतजप्याश्च प्रहृष्टाः कृतमंगलाः ।। २१ ।।
यत्रैतदमृतं चापि स्थापितं कुशसंस्तरे ।

तद् विज्ञाय हृतं सर्पाः प्रतिमायाकृतं च तत् ।। २२ ।।

इसके अनन्तर अमृत पीनेकी इच्छावाले सर्प स्नान, जप और मंगल-कार्य करके प्रसन्नतापूर्वक उस स्थानपर आये, जहाँ कुशके आसनपर अमृत रखा गया था। आनेपर उन्हें मालूम हुआ कि कोई उसे हर ले गया। तब सर्पोंने यह सोचकर संतोष किया कि यह हमारे कपटपूर्ण बर्तावका बदला है ।। २१-२२ ।।

सोमस्थानमिदं चेति दर्भांस्ते लिलिहुस्तदा ।
ततो द्विधाकृता जिह्वाः सर्पाणां तेन कर्मणा ।। २३ ।।

फिर यह समझकर कि यहाँ अमृत रखा गया था, इसलिये सम्भव है इसमें उसका कुछ अंश लगा हो, सर्पोंने उस समय कुशोंको चाटना शुरू किया। ऐसा करनेसे सर्पोंकी जीभके दो भाग हो गये ।। २३ ।।

अभवंश्चामृतस्पर्शाद् दर्भास्तेऽथ पवित्रिणः ।
एवं तदमृतं तेन हृतमाहृतमेव च ।
द्विजिह्वाश्च कृताः सर्पा गरुडेन महात्मना ।। २४ ।।

तभीसे पवित्र अमृतका स्पर्श होनेके कारण कुशोंकी ‘पवित्री’ संज्ञा हो गयी। इस प्रकार महात्मा गरुडने देवलोकसे अमृतका अपहरण किया और सर्पोंके समीपतक उसे पहुँचाया; साथ ही सर्पोंको द्विजिह्व (दो जिह्वाओंसे युक्त) बना दिया ।। २४ ।।

ततः सुपर्णः परमप्रहर्षवान्
विहृत्य मात्रा सह तत्र कानने ।
भुजङ्गभक्षः परमार्चितः खगै-
रहीनकीर्तिर्विनतामनन्दयत् ।। २५ ।।

उस दिनसे सुन्दर पंखवाले गरुड अत्यन्त प्रसन्न हो अपनी माताके साथ रहकर वहाँ वनमें इच्छानुसार घूमने-फिरने लगे। वे सर्पोंको खाते और पक्षियोंसे सादर सम्मानित होकर अपनी उज्ज्वल कीर्ति चारों ओर फैलाते हुए माता विनताको आनन्द देने लगे ।। २५ ।।

इमां कथां यः शृणुयान्नरः सदा
पठेत वा द्विजगणमुख्यसंसदि ।
असंशयं त्रिदिवमियात् स पुण्यभाक्
महात्मनः पतगपतेः प्रकीर्तनात् ।। २६ ।।

जो मनुष्य इस कथाको श्रेष्ठ द्विजोंकी उत्तम गोष्ठीमें सदा पढ़ता अथवा सुनता है, वह पक्षिराज महात्मा गरुडके गुणोंका गान करनेसे पुण्यका भागी होकर निश्चय ही स्वर्गलोकमें जाता है ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३४ ।।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

मुख्य-मुख्य नागोंके नाम

शौनक उवाच

भुजङ्गमानां शापस्य मात्रा चैव सुतेन च ।
विनतायास्त्वया प्रोक्तं कारणं सूतनन्दन ।। १ ।।

शौनकजीने कहा—सूतनन्दन! सर्पोंको उनकी मातासे और विनता देवीको उनके पुत्रसे जो शाप प्राप्त हुआ था, उसका कारण आपने बता दिया ।। १ ।।

वरप्रदानं भर्त्रा च कद्रूविनतयोस्तथा ।
नामनी चैव ते प्रोक्ते पक्षिणोर्वैनतेययोः ।। २ ।।

कद्रू और विनताको उनके पति कश्यपजीसे जो वर मिले थे, वह कथा भी कह सुनायी तथा विनताके जो दोनों पुत्र पक्षीरूपमें प्रकट हुए थे, उनके नाम भी आपने बताये हैं ।। २ ।।

पन्नगानां तु नामानि न कीर्तयसि सूतज ।
प्राधान्येनापि नामानि श्रोतुमिच्छामहे वयम् ।। ३ ।।

किंतु सूतपुत्र! आप सर्पोंके नाम नहीं बता रहे हैं। यदि सबका नाम बताना सम्भव न हो, तो उनमें जो मुख्य-मुख्य सर्प हैं, उन्हींके नाम हम सुनना चाहते हैं ।। ३ ।।

सौतिरुवाच

बहुत्वान्नामधेयानि पन्नगानां तपोधन ।
न कीर्तयिष्ये सर्वेषां प्राधान्येन तु मे शृणु ।। ४ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—तपोधन! सर्पोंकी संख्या बहुत है; अतः उन सबके नाम तो नहीं कहूँगा, किंतु उनमें जो मुख्य-मुख्य सर्प हैं, उनके नाम मुझसे सुनिये ।। ४ ।।

शेषः प्रथमतो जातो वासुकिस्तदनन्तरम् ।
ऐरावतस्तक्षकश्च कर्कोटकधनंजयौ ।। ५ ।।
कालियो मणिनागश्च नागश्चापूरणस्तथा ।
नागस्तथा पिञ्जरक एलापत्रोऽथ वामनः ।। ६ ।।
नीलानीलौ तथा नागौ कल्माषशबलौ तथा ।
आर्यकश्चोग्रकश्चैव नागः कलशपोतकः ।। ७ ।।
सुमनाख्यो दधिमुखस्तथा विमलपिण्डकः ।
आप्तः कर्कोटकश्चैव शङ्खो वालिशिखस्तथा ।। ८ ।।
निष्टानको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा ।

बाह्यकर्णो हस्तिपदस्तथा मुद्गरपिण्डकः ।। ९ ।।
कम्बलाश्वतरौ चापि नागः कालीयकस्तथा ।
वृत्तसंवर्तकौ नागौ द्वौ च पद्माविति श्रुतौ ।। १० ।।
नागः शङ्खमुखश्चैव तथा कूष्माण्डकोऽपरः ।
क्षेमकश्च तथा नागो नागः पिण्डारकस्तथा ।। ११ ।।
करवीरः पुष्पदंष्ट्रो बिल्वको बिल्वपाण्डुरः ।
मूषकादः शङ्खशिराः पूर्णभद्रो हरिद्रकः ।। १२ ।।
अपराजितो ज्योतिकश्च पन्नगः श्रीवहस्तथा ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च शङ्खपिण्डश्च वीर्यवान् ।। १३ ।।
विरजाश्च सुबाहुश्च शालिपिण्डश्च वीर्यवान् ।
हस्तिपिण्डः पिठरकः सुमुखः कौणपाशनः ।। १४ ।।
कुठरः कुञ्जरश्चैव तथा नागः प्रभाकरः ।
कुमुदः कुमुदाक्षश्च तित्तिरिर्हलिकस्तथा ।। १५ ।।
कर्दमश्च महानागो नागश्च बहुमूलकः ।
कर्कराकर्करौ नागौ कुण्डोदरमहोदरौ ।। १६ ।।

नागोंमें सबसे पहले शेषजी प्रकट हुए हैं। तदनन्तर वासुकि, ऐरावत, तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, कालिय, मणिनाग, आपूरण, पिंजरक, एलापत्र, वामन, नील, अनील, कल्माष, शबल, आर्यक, उग्रक, कलशपोतक, सुमनाख्य, दधिमुख, विमलपिण्डक, आप्त, कर्कोटक (द्वितीय), शंख, वालिशिख, निष्टानक, हेमगुह, नहुष, पिंगल, बाह्यकर्ण, हस्तिपद, मुद्गरपिण्डक, कम्बल, अश्वतर, कालीयक, वृत्त, संवर्तक, पद्म (प्रथम), पद्म (द्वितीय), शंखमुख, कूष्माण्डक, क्षेमक, पिण्डारक, करवीर, पुष्पदंष्ट्र, बिल्वक, बिल्वपाण्डुर, मूषकाद, शंखशिरा, पूर्णभद्र, हरिद्रक, अपराजित, ज्योतिक, श्रीवह, कौरव्य, धृतराष्ट्र, पराक्रमी शंखपिण्ड, विरजा, सुबाहु, वीर्यवान् शालिपिण्ड, हस्तिपिण्ड, पिठरक, सुमुख, कौणपाशन, कुठर, कुंजर, प्रभाकर, कुमुद, कुमुदाक्ष, तित्तिरि, हलिक, महानाग कर्दम, बहुमूलक, कर्कर, अकर्कर, कुण्डोदर और महोदर—ये नाग उत्पन्न हुए ।। ५—१६ ।।

एते प्राधान्यतो नागाः कीर्तिता द्विजसत्तम ।
बहुत्वान्नामधेयानामितरे नानुकीर्तिताः ।। १७ ।।

द्विजश्रेष्ठ! ये मुख्य-मुख्य नाग यहाँ बताये गये हैं। सर्पोंकी संख्या अधिक होनेसे उनके नाम भी बहुत हैं। अतः अन्य अप्रधान नागोंके नाम यहाँ नहीं कहे गये हैं ।। १७ ।।

एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च संततिः ।
असंख्येयेति मत्वा तान् न ब्रवीमि तपोधन ।। १८ ।।

तपोधन! इन नागोंकी संतान तथा उन संतानोंकी भी संतति असंख्य हैं। ऐसा समझकर उनके नाम मैं नहीं कहता हूँ ।। १८ ।।

बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
अशक्यान्येव संख्यातुं पन्नगानां तपोधन ।। १९ ।।

तपस्वी शौनकजी! नागोंकी संख्या यहाँ कई हजारोंसे लेकर लाखों-अरबोंतक पहुँच जाती है। अतः उनकी गणना नहीं की जा सकती है ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पनामकथने पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ।। ३५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पनामकथनविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३५ ।।

षट्त्रिंशोऽध्यायः

शेषनागकी तपस्या, ब्रह्माजीसे वर-प्राप्ति तथा पृथ्वीको सिरपर धारण करना

शौनक उवाच

आख्याता भुजगास्तात वीर्यवन्तो दुरासदाः ।
शापं तं तेऽभिविज्ञाय कृतवन्तः किमुत्तरम् ।। १ ।।

शौनकजीने पूछा—तात सूतनन्दन! आपने महापराक्रमी और दुर्धर्ष नागोंका वर्णन किया। अब यह बताइये कि माता कद्रूके उस शापकी बात मालूम हो जानेपर उन्होंने उसके निवारणके लिये आगे चलकर कौन-सा कार्य किया? ।। १ ।।

सौतिरुवाच

तेषां तु भगवाञ्च्छेषः कद्रूं त्यक्त्वा महायशाः ।
उग्रं तपः समातस्थे वायुभक्षो यतव्रतः ।। २ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनक! उन नागोंमेंसे महा-यशस्वी भगवान् शेषनागने कद्रूका साथ छोड़कर कठोर तपस्या प्रारम्भ की। वे केवल वायु पीकर रहते और संयमपूर्वक व्रतका पालन करते थे ।। २ ।।

गन्धमादनमासाद्य बदर्यां च तपोरतः ।
गोकर्णे पुष्करारण्ये तथा हिमवतस्तटे ।। ३ ।।
तेषु तेषु च पुण्येषु तीर्थेष्वायतनेषु च ।
एकान्तशीलो नियतः सततं विजितेन्द्रियः ।। ४ ।।

अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके सदा नियमपूर्वक रहते हुए शेषजी गन्धमादन पर्वतपर जाकर बदरिकाश्रम तीर्थमें तप करने लगे। तत्पश्चात् गोकर्ण, पुष्कर, हिमालयके तटवर्ती प्रदेश तथा भिन्न-भिन्न पुण्य-तीर्थों और देवालयोंमें जा-जाकर संयम-नियमके साथ एकान्तवास करने लगे ।। ३-४ ।।

तप्यमानं तपो घोरं तं ददर्श पितामहः ।
संशुष्कमांसत्वक्स्नायुं जटाचीरधरं मुनिम् ।। ५ ।।
तमब्रवीत् सत्यधृतिं तप्यमानं पितामहः ।
किमिदं कुरुषे शेष प्रजानां स्वस्ति वै कुरु ।। ६ ।।

ब्रह्माजीने देखा, शेषनाग घोर तप कर रहे हैं। उनके शरीरका मांस, त्वचा और नाड़ियाँ सूख गयी हैं। वे सिरपर जटा और शरीरपर वल्कल वस्त्र धारण किये मुनिवृत्तिसे रहते हैं।

उनमें सच्चा धैर्य है और वे निरन्तर तपमें संलग्न हैं। यह सब देखकर ब्रह्माजी उनके पास आये और बोले—'शेष! तुम यह क्या कर रहे हो? समस्त प्रजाका कल्याण करो ।। ५-६ ।।

त्वं हि तीव्रेण तपसा प्रजास्तापयसेऽनघ ।
ब्रूहि कामं च मे शेष यस्ते हृदि व्यवस्थितः ।। ७ ।।

'अनघ! इस तीव्र तपस्याके द्वारा तुम सम्पूर्ण प्रजावर्गको संतप्त कर रहे हो। शेषनाग! तुम्हारे हृदयमें जो कामना हो वह मुझसे कहो' ।। ७ ।।

शेष उवाच

सोदर्या मम सर्वे हि भ्रातरो मन्दचेतसः ।
सह तैर्नोत्सहे वस्तुं तद् भवाननुमन्यताम् ।। ८ ।।

शेषनाग बोले—भगवन्! मेरे सब सहोदर भाई बड़े मन्दबुद्धि हैं, अतः मैं उनके साथ नहीं रहना चाहता। आप मेरी इस इच्छाका अनुमोदन करें ।। ८ ।।

अभ्यसूयन्ति सततं परस्परममित्रवत् ।
ततोऽहं तप आतिष्ठं नैतान् पश्येयमित्युत ।। ९ ।।

वे सदा परस्पर शत्रुकी भाँति एक-दूसरेके दोष निकाला करते हैं। इससे ऊबकर मैं तपस्यामें लग गया हूँ; जिससे मैं उन्हें देख न सकूँ ।। ९ ।।

न मर्षयन्ति ससुतां सततं विनतां च ते ।
अस्माकं चापरो भ्राता वैनतेयोऽन्तरिक्षगः ।। १० ।।

वे विनता और उसके पुत्रोंसे डाह रखते हैं, इसलिये उनकी सुख-सुविधा सहन नहीं कर पाते। आकाशमें विचरने-वाले विनतापुत्र गरुड भी हमारे दूसरे भाई ही हैं ।। १० ।।

तं च द्विषन्ति सततं स चापि बलवत्तरः ।
वरप्रदानात् स पितुः कश्यपस्य महात्मनः ।। ११ ।।

किंतु वे नाग उनसे भी सदा द्वेष रखते हैं। मेरे पिता महात्मा कश्यपजीके वरदानसे गरुड भी बड़े ही बलवान् हैं ।। ११ ।।

सोऽहं तपः समास्थाय मोक्ष्यामीदं कलेवरम् ।
कथं मे प्रेत्यभावेऽपि न तैः स्यात् सह संगमः ।। १२ ।।

इन सब कारणोंसे मैंने यही निश्चय किया है कि तपस्या करके मैं इस शरीरको त्याग दूँगा, जिससे मरनेके बाद भी किसी तरह उन दुष्टोंके साथ मेरा समागम न हो ।। १२ ।।

तमेवंवादिनं शेषं पितामह उवाच ह ।
जानामि शेष सर्वेषां भ्रातॄणां ते विचेष्टितम् ।। १३ ।।

ऐसी बातें करनेवाले शेषनागसे पितामह ब्रह्माजीने कहा—'शेष! मैं तुम्हारे सब भाइयोंकी कुचेष्टा जानता हूँ' ।। १३ ।।

मातुश्चाप्यपराधाद् वै भ्रातॄणां ते महद् भयम् ।

कृतोऽत्र परिहारश्च पूर्वमेव भुजङ्गम ।। १४ ।।

'माताका अपराध करनेके कारण निश्चय ही तुम्हारे उन सभी भाइयोंके लिये महान् भय उपस्थित हो गया है; परंतु भुजंगम! इस विषयमें जो परिहार अपेक्षित है, उसकी व्यवस्था मैंने पहलेसे ही कर रखी है ।। १४ ।।

भ्रातॄणां तव सर्वेषां न शोकं कर्तुमर्हसि ।
वृणीष्व च वरं मत्तः शेष यत् तेऽभिकाङ्क्षितम् ।। १५ ।।

'अतः अपने सम्पूर्ण भाइयोंके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। शेष! तुम्हें जो अभीष्ट हो, वह वर मुझसे माँग लो ।। १५ ।।

दास्यामि हि वरं तेऽद्य प्रीतिर्मे परमा त्वयि ।
दिष्ट्या बुद्धिश्च ते धर्मे निविष्टा पन्नगोत्तम ।
भूयो भूयश्च ते बुद्धिर्धर्मे भवतु सुस्थिरा ।। १६ ।।

'तुम्हारे ऊपर मेरा बड़ा प्रेम है; अतः आज मैं तुम्हें अवश्य वर दूँगा। पन्नगोत्तम! यह सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारी बुद्धि धर्ममें दृढ़तापूर्वक लगी हुई है। मैं भी आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी बुद्धि उत्तरोत्तर धर्ममें स्थिर रहे' ।। १६ ।।

शेष उवाच

एष एव वरो देव काङ्क्षितो मे पितामह ।
धर्मे मे रमतां बुद्धिः शमे तपसि चेश्वर ।। १७ ।।

शेषजीने कहा—देव! पितामह! परमेश्वर! मेरे लिये यही अभीष्ट वर है कि मेरी बुद्धि सदा धर्म, मनोनिग्रह तथा तपस्यामें लगी रहे ।। १७ ।।

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्म्यनेन ते शेष दमेन च शमेन च ।
त्वया त्विदं वचः कार्यं मन्नियोगात् प्रजाहितम् ।। १८ ।।

ब्रह्माजी बोले—शेष! तुम्हारे इस इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अब मेरी आज्ञासे प्रजाके हितके लिये यह कार्य, जिसे मैं बता रहा हूँ, तुम्हें करना चाहिये ।। १८ ।।

इमां महीं शैलवनोपपन्नां
ससागरग्रामविहारपत्तनाम् ।
त्वं शेष सम्यक् चलितां यथावत्
संगृह्य तिष्ठस्व यथाचला स्यात् ।। १९ ।।

शेषनाग! पर्वत, वन, सागर, ग्राम, विहार और नगरोंसहित यह समूची पृथ्वी प्रायः हिलती-डुलती रहती है। तुम इसे भलीभाँति धारण करके इस प्रकार स्थित रहो, जिससे यह पूर्णतः अचल हो जाय ।। १९ ।।

ब्रह्माजीने शेषजीको वरदान तथा पृथ्वी धारण करनेकी आज्ञा दी

शेष उवाच

यथाह देवो वरदः प्रजापति-
र्महीपतिर्भूतपतिर्जगत्पतिः ।
तथा महीं धारयितास्मि निश्चलां
प्रयच्छतां मे शिरसि प्रजापते ।। २० ।।

शेषनागने कहा—प्रजापते! आप वरदायक देवता, समस्त प्रजाके पालक, पृथ्वीके रक्षक, भूत-प्राणियोंके स्वामी और सम्पूर्ण जगत्के अधिपति हैं। आप जैसी आज्ञा देते हैं, उसके अनुसार मैं इस पृथ्वीको इस तरह धारण करूँगा, जिससे यह हिले-डुले नहीं। आप इसे मेरे सिरपर रख दें ।। २० ।।

ब्रह्मोवाच

अधो महीं गच्छ भुजङ्गमोत्तम
स्वयं तवैषा विवरं प्रदास्यति ।
इमां धरां धारयता त्वया हि मे
महत् प्रियं शेष कृतं भविष्यति ।। २१ ।।

ब्रह्माजीने कहा—नागराज शेष! तुम पृथ्वीके नीचे चले जाओ। यह स्वयं तुम्हें वहाँ जानेके लिये मार्ग दे देगी। इस पृथ्वीको धारण कर लेनेपर तुम्हारे द्वारा मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य सम्पन्न हो जायगा ।। २१ ।।

सौतिरुवाच

तथैव कृत्वा विवरं प्रविश्य स
प्रभुर्भुवो भुजगवराग्रजः स्थितः ।
बिभर्ति देवीं शिरसा महीमिमां
समुद्रनेमिं परिगृह्य सर्वतः ।। २२ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—नागराज वासुकिके बड़े भाई सर्वसमर्थ भगवान् शेषने 'बहुत अच्छा' कहकर ब्रह्माजीकी आज्ञा शिरोधार्य की और पृथ्वीके विवरमें प्रवेश करके समुद्रसे घिरी हुई इस वसुधा-देवीको उन्होंने सब ओरसे पकड़कर सिरपर धारण कर लिया (तभीसे यह पृथ्वी स्थिर हो गयी) ।। २२ ।।

ब्रह्मोवाच

शेषोऽसि नागोत्तम धर्मदेवो
महीमिमां धारयसे यदेकः ।
अनन्तभोगैः परिगृह्य सर्वां
यथाहमेवं बलभिद् यथा वा ।। २३ ।।

तदनन्तर ब्रह्माजी बोले—नागोत्तम! तुम शेष हो, धर्म ही तुम्हारा आराध्यदेव है, तुम अकेले अपने अनन्त फणोंसे इस सारी पृथ्वीको पकड़कर उसी प्रकार धारण करते हो, जैसे मैं अथवा इन्द्र ।। २३ ।।

सौतिरुवाच

अधोभूमौ वसत्येवं नागोऽनन्तः प्रतापवान् ।
धारयन् वसुधामेकः शासनाद् ब्रह्मणो विभुः ।। २४ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! इस प्रकार प्रतापी नाग भगवान् अनन्त अकेले ही ब्रह्माजीके आदेशसे इस सारी पृथ्वीको धारण करते हुए भूमिके नीचे पाताल-लोकमें निवास करते हैं ।। २४ ।।

सुपर्णं च सहायं वै भगवानमरोत्तमः ।
प्रादादनन्ताय तदा वैनतेयं पितामहः ।। २५ ।।

तत्पश्चात् देवताओंमें श्रेष्ठ भगवान् पितामहने शेषनागके लिये विनतानन्दन गरुडको सहायक बना दिया ।। २५ ।।

(अनन्ते च प्रयाते तु वासुकिः सुमहाबलः ।
अभ्यषिच्यत नागैस्तु दैवतैरिव वासवः ।।)

अनन्त नागके चले जानेपर नागोंने महाबली वासुकिका नागराजके पदपर उसी प्रकार अभिषेक किया, जैसे देवताओंने इन्द्रका देवराजके पदपर अभिषेक किया था।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि शेषवृत्तकथने षट्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें शेषनागवृत्तान्त-कथनविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

माताके शापसे बचनेके लिये वासुकि आदि नागोंका परस्पर परामर्श

सौतिरुवाच

मातुः सकाशात् तं शापं श्रुत्वा वै पन्नगोत्तमः ।
वासुकिश्चिन्तयामास शापोऽयं न भवेत् कथम् ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! माता कद्रूसे नागोंके लिये वह शाप प्राप्त हुआ सुनकर नागराज वासुकिको बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे 'किस प्रकार यह शाप दूर हो सकता है' ।। १ ।।

ततः स मन्त्रयामास भ्रातृभिः सह सर्वशः ।
ऐरावतप्रभृतिभिः सर्वधर्मपरायणैः ।। २ ।।

तदनन्तर उन्होंने ऐरावत आदि सर्वधर्मपरायण बन्धुओंके साथ उस शापके विषयमें विचार किया ।। २ ।।

वासुकिरुवाच

अयं शापो यथोद्दिष्टो विदितं वस्तथानघाः ।
तस्य शापस्य मोक्षार्थं मन्त्रयित्वा यतामहे ।। ३ ।।
सर्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते ।
न तु मात्राभिशप्तानां मोक्षः क्वचन विद्यते ।। ४ ।।

वासुकि बोले—निष्पाप नागगण! माताने हमें जिस प्रकार यह शाप दिया है, वह सब आपलोगोंको विदित ही है। उस शापसे छूटनेके लिये क्या उपाय हो सकता है? इसके विषयमें सलाह करके हम सब लोगोंको उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। सब शापोंका प्रतीकार सम्भव है, परंतु जो माताके शापसे ग्रस्त हैं, उनके छूटनेका कोई उपाय नहीं है ।। ३-४ ।।

अव्ययस्याप्रमेयस्य सत्यस्य च तथाग्रतः ।
शप्ता इत्येव मे श्रुत्वा जायते हृदि वेपथुः ।। ५ ।।

अविनाशी, अप्रमेय तथा सत्यस्वरूप ब्रह्माजीके आगे माताने हमें शाप दिया है—यह सुनकर ही हमारे हृदयमें कम्प छा जाता है ।। ५ ।।

नूनं सर्वविनाशोऽयमस्माकं समुपागतः ।
न ह्येतां सोऽव्ययो देवः शपन्तीं प्रत्यषेधयत् ।। ६ ।।

निश्चय ही यह हमारे सर्वनाशका समय आ गया है, क्योंकि अविनाशी देव भगवान् ब्रह्माने भी शाप देते समय माताको मना नहीं किया ।। ६ ।।

तस्मात् सम्मन्त्रयामोऽद्य भुजङ्गानामनामयम् ।
यथा भवेद्धि सर्वेषां मा नः कालोऽत्यगादयम् ।। ७ ।।
सर्व एव हि नस्तावद् बुद्धिमन्तो विचक्षणाः ।
अपि मन्त्रयमाणा हि हेतुं पश्याम मोक्षणे ।। ८ ।।
यथा नष्टं पुरा देवा गुढमग्निं गुहागतम् ।

इसलिये आज हमें अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिये कि किस उपायसे हम सभी नाग कुशलपूर्वक रह सकते हैं। अब हमें व्यर्थ समय नहीं गँवाना चाहिये। हमलोगोंमें प्रायः सब नाग बुद्धिमान् और चतुर हैं। यदि हम मिल-जुलकर सलाह करें तो इस संकटसे छूटनेका कोई उपाय ढूँढ़ निकालेंगे; जैसे पूर्वकालमें देवताओंने गुफामें छिपे हुए अग्निको खोज निकाला था ।। ७-८$\frac{१}{२}$ ।।

यथा स यज्ञो न भवेद् यथा वापि पराभवः ।
जनमेजयस्य सर्पाणां विनाशकरणाय वै ।। ९ ।।

सर्पोंके विनाशके लिये आरम्भ होनेवाला जनमेजयका यज्ञ जिस प्रकार टल जाय अथवा जिस तरह उसमें विघ्न पड़ जाय, वह उपाय हमें सोचना चाहिये ।। ९ ।।

सौतिरुवाच

तथेत्युक्त्वा ततः सर्वे काद्रवेयाः समागताः ।
समयं चक्रिरे तत्र मन्त्रबुद्धिविशारदाः ।। १० ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! वहाँ एकत्र हुए सभी कद्रूपुत्र ‘बहुत अच्छा’ कहकर एक निश्चयपर पहुँच गये, क्योंकि वे नीतिका निश्चय करनेमें निपुण थे ।। १० ।।

एके तत्राब्रुवन् नागा वयं भूत्वा द्विजर्षभाः ।
जनमेजयं तु भिक्षामो यज्ञस्ते न भवेदिति ।। ११ ।।

उस समय वहाँ कुछ नागोंने कहा—‘हमलोग श्रेष्ठ ब्राह्मण बनकर जनमेजयसे यह भिक्षा माँगें कि तुम्हारा यज्ञ न हो ’ ।। ११ ।।

अपरे त्वब्रुवन् नागास्तत्र पण्डितमानिनः ।
मन्त्रिणोउस्य वयं सर्वे भविष्यामः सुसम्मताः ।। १२ ।।

अपनेको बड़ा भारी पण्डित माननेवाले दूसरे नागोंने कहा—‘हम सब लोग जनमेजयके विश्वासपात्र मन्त्री बन जायँगे ।। १२ ।।

स नः प्रक्ष्यति सर्वेषु कार्येष्वर्थविनिश्चयम् ।
तत्र बुद्धिं प्रदास्यामो यथा यज्ञो निवर्त्स्यति ।। १३ ।।

'फिर वे सभी कार्योंमें अभीष्ट प्रयोजनका निश्चय करनेके लिये हमसे सलाह पूछेंगे। उस समय हम उन्हें ऐसी बुद्धि देंगे, जिससे यज्ञ होगा ही नहीं ।। १३ ।।

स नो बहुमतान् राजा बुद्ध्या बुद्धिमतां वरः ।
यज्ञार्थं प्रक्ष्यति व्यक्तं नेति वक्ष्यामहे वयम् ।। १४ ।।

'हम वहाँ बहुत विश्वस्त एवं सम्मानित होकर रहेंगे। अतः बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राजा जनमेजय यज्ञके विषयमें हमारी सम्मति जाननेके लिये अवश्य पूछेंगे। उस समय हम स्पष्ट कह देंगे—'यज्ञ न करो' ।। १४ ।।

दर्शयन्तो बहून् दोषान् प्रेत्य चेह च दारुणान् ।
हेतुभिः कारणैश्चैव यथा यज्ञो भवेन्न सः ।। १५ ।।

'हम युक्तियों और कारणोंद्वारा यह दिखायेंगे कि उस यज्ञसे इहलोक और परलोकमें अनेक भयंकर दोष प्राप्त होंगे; इससे वह यज्ञ होगा ही नहीं ।। १५ ।।

अथवा य उपाध्यायः क्रतोस्तस्य भविष्यति ।
सर्पसत्रविधानज्ञो राजकार्यहिते रतः ।। १६ ।।
तं गत्वा दशतां कश्चिद् भुजङ्गः स मरिष्यति ।
तस्मिन् मृते यज्ञकारे क्रतुः स न भविष्यति ।। १७ ।।

'अथवा जो उस यज्ञके आचार्य होंगे, जिन्हें सर्पयज्ञकी विधिका ज्ञान हो और जो राजाके कार्य एवं हितमें लगे रहते हों, उन्हें कोई सर्प जाकर डँस ले। फिर वे मर जायँगे। यज्ञ करानेवाले आचार्यके मर जानेपर वह यज्ञ अपने-आप बंद हो जायगा ।। १६-१७ ।।

ये चान्ये सर्पसत्रज्ञा भविष्यन्त्यस्य चर्त्विजः ।
तांश्च सर्वान् दशिष्यामः कृतमेवं भविष्यति ।। १८ ।।

'आचार्यके सिवा दूसरे जो-जो ब्राह्मण सर्पयज्ञकी विधिको जानते होंगे और जनमेजयके यज्ञमें ऋत्विज् बननेवाले होंगे, उन सबको हम डँस लेंगे। इस प्रकार सारा काम बन जायगा' ।। १८ ।।

अपरे त्वब्रुवन् नागा धर्मात्मानो दयालवः ।
अबुद्धिरेषा भवतां ब्रह्महत्या न शोभनम् ।। १९ ।।

यह सुनकर दूसरे धर्मात्मा और दयालु नागोंने कहा—'ऐसा सोचना तुम्हारी मूर्खता है। ब्रह्म-हत्या कभी शुभकारक नहीं हो सकती ।। १९ ।।

सम्यक्सद्धर्ममूला वै व्यसने शान्तिरुत्तमा ।
अधर्मोत्तरता नाम कृत्स्नं व्यापादयेज्जगत् ।। २० ।।

'आपत्तिकालमें शान्तिके लिये वही उपाय उत्तम माना गया है जो भलीभाँति श्रेष्ठ धर्मके अनुकूल किया गया हो। संकटसे बचनेके लिये उत्तरोत्तर अधर्म करनेकी प्रवृत्ति तो सम्पूर्ण जगत्का नाश कर डालेगी' ।। २० ।।

अपरे त्वब्रुवन् नागाः समिद्धं जातवेदसम् ।

वर्षैर्निर्वापयिष्यामो मेघा भूत्वा सविद्युतः ।। २१ ।।

इसपर दूसरे नाग बोल उठे—'जिस समय सर्पयज्ञके लिये अग्नि प्रज्वलित होगी, उस समय हम बिजलियोंसहित मेघ बनकर पानीकी वर्षाद्वारा उसे बुझा देंगे ।। २१ ।।

स्रुग्भाण्डं निशि गत्वा च अपरे भुजगोत्तमाः ।
प्रमत्तानां हरन्त्वाशु विघ्न एवं भविष्यति ।। २२ ।।

'दूसरे श्रेष्ठ नाग रातमें वहाँ जाकर असावधानीसे सोये हुए ऋत्विजोंके स्रुक्, स्रुवा और यज्ञपात्र आदि शीघ्र चुरा लावें। इस प्रकार उसमें विघ्न पड़ जायगा ।। २२ ।।

यज्ञे वा भुजगास्तस्मिञ्छतशोऽथ सहस्रशः ।
जनान् दशन्तु वै सर्वे नैवं त्रासो भविष्यति ।। २३ ।।

'अथवा उस यज्ञमें सभी सर्प जाकर सैकड़ों और हजारों मनुष्योंको डँस लें; ऐसा करनेसे हमारे लिये भय नहीं रहेगा ।। २३ ।।

अथवा संस्कृतं भोज्यं दूषयन्तु भुजङ्गमाः ।
स्वेन मूत्रपुरीषेण सर्वभोज्यविनाशिना ।। २४ ।।

'अथवा सर्पगण उस यज्ञके संस्कारयुक्त भोज्य पदार्थको अपने मल-मूत्रोंद्वारा, जो सब प्रकारकी भोजन-सामग्रीका विनाश करनेवाले हैं, दूषित कर दें' ।। २४ ।।

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र ऋत्विजोऽस्य भवामहे ।
यज्ञविघ्नं करिष्यामो दीयतां दक्षिणा इति ।। २५ ।।
वश्यतां च गतोऽसौ नः करिष्यति यथेप्सितम् ।

इसके बाद अन्य सर्पोंने कहा—'हम उस यज्ञमें ऋत्विज् हो जायँगे और यह कहकर कि 'हमें मुँहमाँगी दक्षिणा दो' यज्ञमें विघ्न खड़ा कर देंगे। उस समय राजा हमारे वशमें पड़कर जैसी हमारी इच्छा होगी, वैसा करेंगे' ।। २५½ ।।

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र जले प्रक्रीडितं नृपम् ।। २६ ।।
गृहमानीय बध्नीमः क्रतुरेवं भवेन्न सः ।

फिर अन्य नाग बोले—'जब राजा जनमेजय जल-क्रीड़ा करते हों, उस समय उन्हें वहाँसे खींचकर हम अपने घर ले आवें और बाँधकर रख लें। ऐसा करनेसे वह यज्ञ होगा ही नहीं'— ।। २६½ ।।

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र नागाः पण्डितमानिनः ।। २७ ।।
दशामस्तं प्रगृह्याशु कृतमेवं भविष्यति ।
छिन्नं मूलमनर्थानां मृते तस्मिन् भविष्यति ।। २८ ।।

इसपर अपनेको पण्डित माननेवाले दूसरे नाग बोल उठे—'हम जनमेजयको पकड़कर डँस लेंगे।' ऐसा करनेसे तुरंत ही सब काम बन जायगा। उस राजाके मरनेपर हमारे लिये अनर्थोंकी जड़ ही कट जायगी ।। २७-२८ ।।

एषा नो नैष्ठिकी बुद्धिः सर्वेषामीक्षणश्रवः ।

अथ यन्मन्यसे राजन् द्रुतं तत् संविधीयताम् ।। २९ ।।

'नेत्रोंसे सुननेवाले नागराज! हम सब लोगोंकी बुद्धि तो इसी निश्चयपर पहुँची है। अब आप जैसा ठीक समझते हों, वैसा शीघ्र करें' ।। २९ ।।

इत्युक्त्वा समुदैक्षन्त वासुकिं पन्नगोत्तमम् ।
वासुकिश्चापि संचिन्त्य तानुवाच भुजङ्गमान् ।। ३० ।।

यह कहकर वे सर्प नागराज वासुकिकी ओर देखने लगे। तब वासुकिने भी खूब सोच-विचारकर उन सर्पोंसे कहा— ।। ३० ।।

नैषा वो नैष्ठिकी बुद्धिर्मता कर्तुं भुजङ्गमाः ।
सर्वेषामेव मे बुद्धिः पन्नगानां न रोचते ।। ३१ ।।

'नागगण! तुम्हारी बुद्धिने जो निश्चय किया है, वह व्यवहारमें लानेयोग्य नहीं है। इसी प्रकार मेरा विचार भी सब सर्पोंको जँच जाय, यह सम्भव नहीं है ।। ३१ ।।

किं तत्र संविधातव्यं भवतां स्याद्धितं तु यत् ।
श्रेयःप्रसाधनं मन्ये कश्यपस्य महात्मनः ।। ३२ ।।

'ऐसी दशामें क्या करना चाहिये, जो तुम्हारे लिये हितकर हो। मुझे तो महात्मा कश्यपजीको प्रसन्न करनेमें ही अपना कल्याण जान पड़ता है ।। ३२ ।।

ज्ञातिवर्गस्य सौहार्दादात्मनश्च भुजङ्गमाः ।
न च जानाति मे बुद्धिः किंचित् कर्तुं वचो हि वः ।। ३३ ।।

'भुजंगमो! अपने जाति-भाइयोंके और अपने हितको दृष्टिमें रखकर तुम्हारे कथनानुसार कोई भी कार्य करना मेरी समझमें नहीं आया ।। ३३ ।।

मया हीदं विधातव्यं भवतां यद्धितं भवेत् ।
अनेनाहं भृशं तप्ये गुणदोषौ मदाश्रयौ ।। ३४ ।।

'मुझे वही काम करना है, जिसमें तुम-लोगोंका वास्तविक हित हो। इसीलिये मैं अधिक चिन्तित हूँ; क्योंकि तुम सबमें बड़ा होनेके कारण गुण और दोषका सारा उत्तरदायित्व मुझपर ही है' ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि वासुक्यादिमन्त्रणे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ।। ३७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें वासुकि आदि नागोंकी मन्त्रणा नामक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३७ ।।

अष्टत्रिंशोऽध्यायः

वासुकिकी बहिन जरत्कारुका जरत्कारु मुनिके साथ विवाह करनेका निश्चय

सौतिरुवाच

सर्पाणां तु वचः श्रुत्वा सर्वेषामिति चेति च ।
वासुकेश्च वचः श्रुत्वा एलापत्रोऽब्रवीदिदम् ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! समस्त सर्पोंकी भिन्न-भिन्न राय सुनकर और अन्तमें वासुकिके वचनोंका श्रवण कर एलापत्र नामक नागने इस प्रकार कहा— ।। १ ।।

न स यज्ञो न भविता न स राजा तथाविधः ।
जनमेजयः पाण्डवेयो यतोऽस्माकं महद् भयम् ।। २ ।।

'भाइयो! यह सम्भव नहीं कि वह यज्ञ न हो तथा पाण्डववंशी राजा जनमेजय भी, जिससे हमें महान् भय प्राप्त हुआ है, ऐसा नहीं है कि हम उसका कुछ बिगाड़ सकें ।। २ ।।

दैवेनोपहतो राजन् यो भवेदिह पूरुषः ।
स दैवमेवाश्रयते नान्यत् तत्र परायणम् ।। ३ ।।

'राजन्! इस लोकमें जो पुरुष दैवका मारा हुआ है, उसे दैवकी ही शरण लेनी चाहिये। वहाँ दूसरा कोई आश्रय नहीं काम देता ।। ३ ।।

तदिदं चैवमस्माकं भयं पन्नगसत्तमाः ।
दैवमेवाश्रयामोऽत्र शृणुध्वं च वचो मम ।। ४ ।।
अहं शापे समुत्सृष्टे समश्रौषं वचस्तदा ।
मातुरुत्संगमारूढो भयात् पन्नगसत्तमाः ।। ५ ।।
देवानां पन्नगश्रेष्ठास्तीक्ष्णास्तीक्ष्णा इति प्रभो ।
पितामहमुपागम्य दुःखार्तानां महाद्युते ।। ६ ।।

'श्रेष्ठ नागगण! हमारे ऊपर आया हुआ यह भय भी दैवजनित ही है, अतः हमें दैवका ही आश्रय लेना चाहिये। उत्तम सर्पगण! इस विषयमें आपलोग मेरी बात सुनें। जब माताने सर्पोंको यह शाप दिया था, उस समय भयके मारे मैं माताकी गोदमें चढ़ गया था। पन्नगप्रवर महातेजस्वी नागराजगण! तभी दुःखसे आतुर होकर ब्रह्माजीके समीप आये हुए देवताओंकी यह वाणी मेरे कानोंमें पड़ी—'अहो! स्त्रियाँ बड़ी कठोर होती हैं, बड़ी कठोर होती हैं' ।। ४—६ ।।

देवा ऊचुः

का हि लब्ध्वा प्रियान् पुत्राञ्छपेदेवं पितामह ।

ऋते कद्रूं तीक्ष्णरूपां देवदेव तवाग्रतः ।। ७ ।।

देवता बोले—पितामह! देवदेव! तीखे स्वभाववाली इस क्रूर कद्रूको छोड़कर दूसरी कौन स्त्री होगी जो प्रिय पुत्रोंको पाकर उन्हें इस प्रकार शाप दे सके और वह भी आपके सामने ।। ७ ।।

तथेति च वचस्तस्यास्त्वयाप्युक्तं पितामह ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं कारणं यन्न वारिता ।। ८ ।।

पितामह! आपने भी 'तथास्तु' कहकर कद्रूकी बातका अनुमोदन ही किया है; उसे शाप देनेसे रोका नहीं है। इसका क्या कारण है, हम यह जानना चाहते हैं ।। ८ ।।

ब्रह्मोवाच

बहवः पन्नगास्तीक्ष्णा घोररूपा विषोल्बणाः ।
प्रजानां हितकामोऽहं न च वारितवांस्तदा ।। ९ ।।

ब्रह्माजीने कहा—इन दिनों भयानक रूप और प्रचण्ड विषवाले क्रूर सर्प बहुत हो गये हैं (जो प्रजाको कष्ट दे रहे हैं)। मैंने प्रजाजनोंके हितकी इच्छासे ही उस समय कद्रूको मना नहीं किया ।। ९ ।।

ये दन्दशूकाः क्षुद्राश्च पापाचारा विषोल्बणाः ।
तेषां विनाशो भविता न तु ये धर्मचारिणः ।। १० ।।

जनमेजयके सर्पयज्ञमें उन्हीं सर्पोंका विनाश होगा जो प्रायः लोगोंको डँसते रहते हैं, क्षुद्र स्वभावके हैं और पापाचारी तथा प्रचण्ड विषवाले हैं। किंतु जो धर्मात्मा हैं, उनका नाश नहीं होगा ।। १० ।।

यन्निमित्तं च भविता मोक्षस्तेषां महाभयात् ।
पन्नगानां निबोधध्वं तस्मिन् काले समागते ।। ११ ।।

वह समय आनेपर सर्पोंका उस महान् भयसे जिस निमित्तसे छुटकारा होगा, उसे बतलाता हूँ, तुम सब लोग सुनो ।। ११ ।।

यायावरकुले धीमान् भविष्यति महानृषिः ।
जरत्कारुरिति ख्यातस्तपस्वी नियतेन्द्रियः ।। १२ ।।

यायावरकुलमें जरत्कारु नामसे विख्यात एक बुद्धिमान् महर्षि होंगे। वे तपस्यामें तत्पर रहकर अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखेंगे ।। १२ ।।

तस्य पुत्रो जरत्कारोर्भविष्यति तपोधनः ।
आस्तीको नाम यज्ञं स प्रतिषेत्स्यति तं तदा ।
तत्र मोक्ष्यन्ति भुजगा ये भविष्यन्ति धार्मिकाः ।। १३ ।।

उन्हींके आस्तीक नामका एक महातपस्वी पुत्र उत्पन्न होगा जो उस यज्ञको बंद करा देगा। अतः जो सर्प धार्मिक होंगे, वे उसमें जलनेसे बच जायँगे ।। १३ ।।

देवा ऊचुः

स मुनिप्रवरो ब्रह्मञ्जरत्कारुर्महातपाः ।

कस्यां पुत्रं महात्मानं जनयिष्यति वीर्यवान् ।। १४ ।।

देवताओंने पूछा—ब्रह्मन्! वे मुनिशिरोमणि महातपस्वी शक्तिशाली जरत्कारु किसके गर्भसे अपने उस महात्मा पुत्रको उत्पन्न करेंगे? ।। १४ ।।

ब्रह्मोवाच

सनामायां सनामा स कन्यायां द्विजसत्तमः ।

अपत्यं वीर्यसम्पन्नं वीर्यवाञ्जनयिष्यति ।। १५ ।।

ब्रह्माजीने कहा—वे शक्तिशाली द्विजश्रेष्ठ जिस 'जरत्कारु' नामसे प्रसिद्ध होंगे, उसी नामवाली कन्याको पत्नीरूपमें प्राप्त करके उसके गर्भसे एक शक्तिसम्पन्न पुत्र उत्पन्न करेंगे ।। १५ ।।

वासुकेः सर्पराजस्य जरत्कारुः स्वसा किल ।

स तस्यां भविता पुत्रः शापान्नागांश्च मोक्ष्यति ।। १६ ।।

सर्पराज वासुकिकी बहिनका नाम जरत्कारु है। उसीके गर्भसे वह पुत्र उत्पन्न होगा, जो नागोंको शापसे छुड़ायेगा ।। १६ ।।

एलापत्र उवाच

एवमस्त्विति तं देवाः पितामहमथाब्रुवन् ।

उक्त्वैवं वचनं देवान् विरिञ्चिस्त्रिदिवं ययौ ।। १७ ।।

एलापत्र कहते हैं—यह सुनकर देवता ब्रह्माजीसे कहने लगे—'एवमस्तु' (ऐसा ही हो)। देवताओंसे ये सब बातें बताकर ब्रह्माजी ब्रह्मलोकमें चले गये ।। १७ ।।

सोऽहमेवं प्रपश्यामि वासुके भगिनीं तव ।

जरत्कारुरिति ख्यातां तां तस्मै प्रतिपादय ।। १८ ।।

भैक्षवद् भिक्षमाणाय नागानां भयशान्तये ।

ऋषये सुव्रतायैनामेष मोक्षः श्रुतो मया ।। १९ ।।

अतः नागराज वासुके! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आप नागोंका भय दूर करनेके लिये कन्याकी भिक्षा माँगनेवाले, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि जरत्कारुको अपनी जरत्कारु नामवाली यह बहिन ही भिक्षारूपमें अर्पित कर दें। उस शापसे छूटनेका यही उपाय मैंने सुना है ।। १८-१९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि एलापत्रवाक्ये अष्टत्रिंशोऽध्यायः ।। ३८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें एलापत्र-वाक्यसम्बन्धी अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३८ ।।

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी आज्ञासे वासुकिका जरत्कारु मुनिके साथ अपनी बहिनको ब्याहनेके लिये प्रयत्नशील होना

सौतिरुवाच

एलापत्रवचः श्रुत्वा ते नागा द्विजसत्तम ।
सर्वे प्रहृष्टमनसः साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ।। १ ।।
ततः प्रभृति तां कन्यां वासुकिः पर्यरक्षत ।
जरत्कारुं स्वसारं वै परं हर्षमवाप च ।। २ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—द्विजश्रेष्ठ! एलापत्रकी बात सुनकर नागोंका चित्त प्रसन्न हो गया। वे सब-के-सब एक साथ बोल उठे—‘ठीक है, ठीक है।’ वासुकिको भी इस बातसे बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उसी दिनसे अपनी बहिन जरत्कारुका बड़े चावसे पालन-पोषण करने लगे ।। १-२ ।।

ततो नातिमहान् कालः समतीत इवाभवत् ।
अथ देवासुराः सर्वे ममन्थुर्वरुणालयम् ।। ३ ।।
तत्र नेत्रमभून्नागो वासुकिर्बलिनां वरः ।
समाप्यैव च तत् कर्म पितामहमुपागमन् ।। ४ ।।
देवा वासुकिना सार्धं पितामहमथाब्रुवन् ।
भगवञ्छापभीतोऽयं वासुकिस्तप्यते भृशम् ।। ५ ।।

तदनन्तर थोड़ा ही समय व्यतीत होनेपर सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंने समुद्रका मन्थन किया। उसमें बलवानोंमें श्रेष्ठ वासुकि नाग मन्दराचलरूप मथानीमें लपेटनेके लिये रस्सी बने हुए थे। समुद्र-मन्थनका कार्य पूरा करके देवता वासुकि नागके साथ पितामह ब्रह्माजीके पास गये और उनसे बोले—‘भगवन्! ये वासुकि माताके शापसे भयभीत हो बहुत संतप्त होते रहते हैं ।। ३—५ ।।

अस्यैतन्मानसं शल्यं समुद्धर्तुं त्वमर्हसि ।
जनन्याः शापजं देव ज्ञातीनां हितमिच्छतः ।। ६ ।।

‘देव! अपने भाई-बन्धुओंका हित चाहनेवाले इन नागराजके हृदयमें माताका शाप काँटा बनकर चुभा हुआ है और कसक पैदा करता है। आप इनके उस काँटेको निकाल दीजिये ।। ६ ।।

हितो ह्ययं सदास्माकं प्रियकारी च नागराट् ।
प्रसादं कुरु देवेश शमयास्य मनोज्वरम् ।। ७ ।।

'देवेश्वर! नागराज वासुकि हमारे हितैषी हैं और सदा हमलोगोंके प्रिय कार्यमें लगे रहते हैं; अतः आप इनपर कृपा करें और इनके मनमें जो चिन्ताकी आग जल रही है, उसे बुझा दें' ।। ७ ।।

ब्रह्मोवाच

मयैव तद् वितीर्णं वै वचनं मनसामराः ।
एलापत्रेण नागेन यदस्याभिहितं पुरा ।। ८ ।।

ब्रह्माजीने कहा—'देवताओ! एलापत्र नागने वासुकिके समक्ष पहले जो बात कही थी, वह मैंने ही मानसिक संकल्पद्वारा उसे दी थी (मेरी ही प्रेरणासे एलापत्रने वे बातें वासुकि आदि नागोंके सम्मुख कही थीं) ।। ८ ।।

तत् करोत्वेष नागेन्द्रः प्राप्तकालं वचः स्वयम् ।
विनशिष्यन्ति ये पापा न तु ये धर्मचारिणः ।। ९ ।।

ये नागराज समय आनेपर स्वयं तदनुसार ही कार्य करें। जनमेजयके यज्ञमें पापी सर्प ही नष्ट होंगे, किंतु जो धर्मात्मा हैं वे नहीं ।। ९ ।।

उत्पन्नः स जरत्कारुस्तपस्युग्रे रतो द्विजः ।
तस्यैष भगिनीं काले जरत्कारुं प्रयच्छतु ।। १० ।।

अब जरत्कारु ब्राह्मण उत्पन्न होकर उग्र तपस्यामें लगे हैं। अवसर देखकर ये वासुकि अपनी बहिन जरत्कारुको उन महर्षिकी सेवामें समर्पित कर दें ।। १० ।।

एलापत्रेण यत् प्रोक्तं वचनं भुजगेन ह ।
पन्नगानां हितं देवास्तत् तथा न तदन्यथा ।। ११ ।।

देवताओ! एलापत्र नागने जो बात कही है, वही सर्पोंके लिये हितकर है। वही बात होनेवाली है। उससे विपरीत कुछ भी नहीं हो सकता ।। ११ ।।

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा तु नागेन्द्रः पितामहवचस्तदा ।
संदिश्य पन्नगान् सर्वान् वासुकिः शापमोहितः ।। १२ ।।
स्वसारमुद्यम्य तदा जरत्कारुमृषिं प्रति ।
सर्पान् बहूञ्जरत्कारौ नित्ययुक्तान् समादधत् ।। १३ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—ब्रह्माजीकी बात सुनकर शापसे मोहित हुए नागराज वासुकिने सब सर्पोंको यह संदेश दे दिया कि मुझे अपनी बहिनका विवाह जरत्कारु मुनिके साथ करना है। फिर उन्होंने जरत्कारु मुनिकी खोजके लिये नित्य आज्ञामें रहनेवाले बहुत-से सर्पोंको नियुक्त कर दिया ।। १२-१३ ।।

जरत्कारुर्यदा भार्यामिच्छेद् वरयितुं प्रभुः ।
शीघ्रमेत्य तदाख्येयं तन्नः श्रेयो भविष्यति ।। १४ ।।

और यह कहा—‘सामर्थ्यशाली जरत्कारु मुनि जब पत्नीका वरण करना चाहें, उस समय शीघ्र आकर यह बात मुझे सूचित करनी चाहिये। उसीसे हमलोगोंका कल्याण होगा’ ।। १४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कार्वन्वेषणे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ३९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जरत्कारु मुनिका अन्वेषणविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३९ ।।

चत्वारिंशोऽध्यायः

जरत्कारुकी तपस्या, राजा परीक्षित्‌का उपाख्यान तथा राजाद्वारा मुनिके कंधेपर मृतक साँप रखनेके कारण दुःखी हुए कृशका शृंगीको उत्तेजित करना

शौनक उवाच

जरत्कारुरिति ख्यातो यस्त्वया सूतनन्दन ।
इच्छामि तदहं श्रोतुं ऋषेस्तस्य महात्मनः ।। १ ।।
किं कारणं जरत्कारोर्नामैतत् प्रथितं भुवि ।
जरत्कारुनिरुक्तिं त्वं यथावद् वक्तुमर्हसि ।। २ ।।

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन! आपने जिन जरत्कारु ऋषिका नाम लिया है, उन महात्मा मुनिके सम्बन्धमें मैं यह सुनना चाहता हूँ कि पृथ्वीपर उनका जरत्कारु नाम क्यों प्रसिद्ध हुआ? जरत्कारु शब्दकी व्युत्पत्ति क्या है? यह आप ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें ।। १-२ ।।

सौतिरुवाच

जरेति क्षयमाहुर्वै दारुणं कारुसंज्ञितम् ।
शरीरं कारु तस्यासीत्तत् स धीमाञ्छनैः शनैः ।। ३ ।।
क्षपयामास तीव्रेण तपसेत्यत उच्यते ।
जरत्कारुरिति ब्रह्मन् वासुकेर्भगिनी तथा ।। ४ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनकजी! जरा कहते हैं क्षयको और कारु शब्द दारुणका वाचक है। पहले उनका शरीर कारु अर्थात् खूब हट्टा-कट्टा था। उसे परम बुद्धिमान् महर्षिने धीरे-धीरे तीव्र तपस्याद्वारा क्षीण बना दिया। ब्रह्मन्! इसलिये उनका नाम जरत्कारु पड़ा। वासुकिकी बहिनके भी जरत्कारु नाम पड़नेका यही कारण था ।। ३-४ ।।

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा शौनकः प्राहसत् तदा ।
उग्रश्रवासमामन्त्र्य उपपन्नमिति ब्रुवन् ।। ५ ।।

उग्रश्रवाजीके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा शौनक उस समय खिलखिलाकर हँस पड़े और फिर उग्रश्रवाजीको सम्बोधित करके बोले—‘तुम्हारी बात उचित है’ ।। ५ ।।

शौनक उवाच

उक्तं नाम यथापूर्वं सर्वं तच्छ्रुमतवानहम् ।
यथा तु जातो ह्यास्तीक एतदिच्छामि वेदितुम् ।

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सौतिः प्रोवाच शास्त्रतः ।। ६ ।।

शौनकजी बोले—सूतपुत्र! आपने पहले जो जरत्कारु नामकी व्युत्पत्ति बतायी है, वह सब मैंने सुन ली। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आस्तीक मुनिका जन्म किस प्रकार हुआ? शौनकजीका यह वचन सुनकर उग्रश्रवाजीने पुराणशास्त्रके अनुसार आस्तीकके जन्मका वृत्तान्त बताया ।। ६ ।।

सौतिरुवाच

संदिश्य पन्नगान् सर्वान् वासुकिः सुसमाहितः ।
स्वसारमुद्यम्य तदा जरत्कारुमृषिं प्रति ।। ७ ।।

उग्रश्रवाजी बोले—नागराज वासुकिने एकाग्रचित्त हो खूब सोच-समझकर सब सर्पोंको यह संदेश दे दिया—'मुझे अपनी बहिनका विवाह जरत्कारु मुनिके साथ करना है' ।। ७ ।।

अथ कालस्य महतः स मुनिः संशितव्रतः ।
तपस्यभिरतो धीमान् स दारान् नाभ्यकाङ्क्षत ।। ८ ।।

तदनन्तर दीर्घकाल बीत जानेपर भी कठोर व्रतका पालन करनेवाले परम बुद्धिमान् जरत्कारु मुनि केवल तपमें ही लगे रहे। उन्होंने स्त्रीसंग्रहकी इच्छा नहीं की ।। ८ ।।

स तूर्ध्वरेतास्तपसि प्रसक्तः
स्वाध्यायवान् वीतभयः कृतात्मा ।
चचार सर्वां पृथिवीं महात्मा
न चापि दारान् मनसाध्यकाङ्क्षत ।। ९ ।।

वे ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी थे। तपस्यामें संलग्न रहते थे। नित्य नियमपूर्वक वेदोंका स्वाध्याय करते थे। उन्हें कहींसे कोई भय नहीं था। वे मन और इन्द्रियोंको सदा काबूमें रखते थे। महात्मा जरत्कारु सारी पृथ्वीपर घूम आये; किंतु उन्होंने मनसे कभी स्त्रीकी अभिलाषा नहीं की ।। ९ ।।

ततोऽपरस्मिन् सम्प्राप्ते काले कस्मिंश्चिदेव तु ।
परिक्षिन्नाम राजासीद् ब्रह्मन् कौरववंशजः ।। १० ।।

ब्रह्मन्! तदनन्तर किसी दूसरे समयमें इस पृथ्वीपर कौरववंशी राजा परीक्षित् राज्य करने लगे ।। १० ।।

यथा पाण्डुर्महाबाहुर्धनुर्धरवरो युधि ।
बभूव मृगयाशीलः पुरास्य प्रपितामहः ।। ११ ।।

युद्धमें समस्त धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ उनके प्रपितामह महाबाहु पाण्डु जिस प्रकार पूर्वकालमें शिकार खेलनेके शौकीन हुए थे, उसी प्रकार राजा परीक्षित् भी थे ।। ११ ।।

मृगान् विध्यन् वराहांश्च तरक्षून् महिषांस्तथा ।

अन्यांश्च विविधान् वन्यांश्चचार पृथिवीपतिः ।। १२ ।।

महाराज परीक्षित् वराह, तरक्षु (व्याघ्रविशेष), महिष तथा दूसरे-दूसरे नाना प्रकारके वनके हिंसक पशुओंका शिकार खेलते हुए वनमें घूमते रहते थे ।। १२ ।।

स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा बाणेनानतपर्वणा ।
पृष्ठतो धनुरादाय ससार गहने वने ।। १३ ।।

एक दिन उन्होंने गहन वनमें धनुष लेकर झुकी हुई गाँठवाले बाणसे एक हिंसक पशुको बींध डाला और भागनेपर बहुत दूरतक उसका पीछा किया ।। १३ ।।

यथैव भगवान् रुद्रो विद्ध्वा यज्ञमृगं दिवि ।
अन्वगच्छद् धनुष्पाणिः पर्यन्वेष्टुमितस्ततः ।। १४ ।।

जैसे भगवान् रुद्र आकाशमें मृगशिरा नक्षत्रको बींध-कर उसे खोजनेके लिये धनुष हाथमें लिये इधर-उधर घूमते फिरे, उसी प्रकार परीक्षित् भी घूम रहे थे ।। १४ ।।

न हि तेन मृगो विद्धो जीवन् गच्छति वै वने ।
पूर्वरूपं तु तत्तूर्णं सोऽगात् स्वर्गगतिं प्रति ।। १५ ।।
परिक्षितो नरेन्द्रस्य विद्धो यन्नष्टवान् मृगः ।
दूरं चापहृतस्तेन मृगेण स महीपतिः ।। १६ ।।

उनके द्वारा घायल किया हुआ मृग कभी वनमें जीवित बचकर नहीं जाता था; परंतु आज जो महाराज परीक्षित्का घायल किया हुआ मृग तत्काल अदृश्य हो गया था, वह वास्तवमें उनके स्वर्गवासका मूर्तिमान् कारण था। उस मृगके साथ राजा परीक्षित् बहुत दूरतक खिंचे चले गये ।। १५-१६ ।।

परिश्रान्तः पिपासार्त आससाद मुनिं वने ।
गवां प्रचारेष्वासीनं वत्सानां मुखनिःसृतम् ।। १७ ।।
भूयिष्ठमुपयुञ्जानं फेनमापिबतां पयः ।
तमभिद्रुत्य वेगेन स राजा संशितव्रतम् ।। १८ ।।
अपृच्छद् धनुरुद्यम्य तं मुनिं क्षुच्छ्रमान्वितः ।
भो भो ब्रह्मन्नहं राजा परीक्षिदभिमन्युजः ।। १९ ।।
मया विद्धो मृगो नष्टः कच्चित् तं दृष्टवानसि ।
स मुनिस्तं तु नोवाच किंचिन्मौनव्रते स्थितः ।। २० ।।

उन्हें बड़ी थकावट आ गयी। वे प्याससे व्याकुल हो उठे और इसी दशामें वनमें शमीक मुनिके पास आये। वे मुनि गौओंके रहनेके स्थानमें आसनपर बैठे थे और गौओंका दूध पीते समय बछड़ोंके मुखसे जो बहुत-सा फेन निकलता, उसीको खा-पीकर तपस्या करते थे। राजा परीक्षित्ने कठोर व्रतका पालन करनेवाले उन महर्षिके पास बड़े वेगसे आकर पूछा। पूछते समय वे भूख और थकावटसे बहुत आतुर हो रहे थे और धनुषको उन्होंने ऊपर उठा रखा था। वे बोले—‘ब्रह्मन्! मैं अभिमन्युका पुत्र राजा परीक्षित् हूँ। मेरे बाणोंसे विद्ध होकर

एक मृग कहीं भाग निकला है। क्या आपने उसे देखा है?' मुनि मौन-व्रतका पालन कर रहे थे, अतः उन्होंने राजाको कुछ भी उत्तर नहीं दिया ।। १७—२० ।।

तस्य स्कन्धे मृतं सर्पं क्रुद्धो राजा समासजत् ।
समुत्क्षिप्य धनुष्कोट्या स चैनं समुपैक्षत ।। २१ ।।

तब राजाने कुपित हो धनुषकी नोकसे एक मरे हुए साँपको उठाकर उनके कंधेपर रख दिया, तो भी मुनिने उनकी उपेक्षा कर दी ।। २१ ।।

न स किंचिदुवाचैनं शुभं वा यदि वाशुभम् ।
स राजा क्रोधमुत्सृज्य व्यथितस्तं तथागतम् ।
दृष्ट्वा जगाम नगरमृषिस्त्वासीत् तथैव सः ।। २२ ।।

उन्होंने राजासे भला या बुरा कुछ भी नहीं कहा। उन्हें इस अवस्थामें देख राजा परीक्षित्‌ने क्रोध त्याग दिया और मन-ही-मन व्यथित हो पश्चात्ताप करते हुए वे अपनी राजधानीको चले गये। वे महर्षि ज्यों-कें-त्यों बैठे रहे ।। २२ ।।

न हि तं राजशार्दूलं क्षमाशीलो महामुनिः ।
स्वधर्मनिरतं भूपं समाक्षिप्तोऽप्यधर्षयत् ।। २३ ।।

राजाओंमें श्रेष्ठ भूपाल परीक्षित् अपने धर्मके पालनमें तत्पर रहते थे, अतः उस समय उनके द्वारा तिरस्कृत होनेपर भी क्षमाशील महामुनिने उन्हें अपमानित नहीं किया ।। २३ ।।

न हि तं राजशार्दूलस्तथा धर्मपरायणम् ।
जानाति भरतश्रेष्ठस्तत एनमधर्षयत् ।। २४ ।।

भरतवंशशिरोमणि नृपश्रेष्ठ परीक्षित् उन धर्मपरायण मुनिको यथार्थरूपमें नहीं जानते थे; इसीलिये उन्होंने महर्षिका अपमान किया ।। २४ ।।

तरुणस्तस्य पुत्रोऽभूत् तिग्मतेजा महातपाः ।
शृङ्गी नाम महाक्रोधो दुष्प्रसादो महाव्रतः ।। २५ ।।

मुनिके शृंगी नामक एक पुत्र था, जिसकी अभी तरुणावस्था थी। वह महान् तपस्वी, दुःसह तेजसे सम्पन्न और महान् व्रतधारी था। उसमें क्रोधकी मात्रा बहुत अधिक थी; अतः उसे प्रसन्न करना अत्यन्त कठिन था ।। २५ ।।

स देवं परमासीनं सर्वभूतहिते रतम् ।
ब्रह्माणमुपतस्थे वै काले काले सुसंयतः ।। २६ ।।

वह समय-समयपर मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले, उत्तम आसनपर विराजमान आचार्यदेवकी सेवामें उपस्थित हुआ करता था ।। २६ ।।

स तेन समनुज्ञातो ब्रह्मणा गृहमेयिवान् ।
सख्योक्तः क्रीडमानेन स तत्र हसता किल ।। २७ ।।
संरम्भात् कोपनोऽतीव विषकल्पो मुनेः सुतः ।

उद्दिश्य पितरं तस्य यच्छ्रुत्वा रोषमाहरत् ।
ऋषिपुत्रेण धर्मार्थे कृशेन द्विजसत्तम ।। २८ ।।

शृंगी उस दिन आचार्यकी आज्ञा लेकर घरको लौट रहा था। रास्तेमें उसका मित्र ऋषिकुमार कृश, जो धर्मके लिये कष्ट उठानेके कारण सदा ही कृश (दुर्बल) रहा करता था, खेलता मिला। उसने हँसते-हँसते शृंगी ऋषिको उसके पिताके सम्बन्धमें ऐसी बात बतायी, जिसे सुनते ही वह रोषमें भर गया। द्विजश्रेष्ठ! मुनिकुमार शृंगी क्रोधके आवेशमें आनेपर अत्यन्त तीक्ष्ण (कठोर) एवं विषके समान विनाशकारी हो जाता था ।। २७-२८ ।।

कृश उवाच

तेजस्विनस्तव पिता तथैव च तपस्विनः ।
शवं स्कन्धेन वहति मा शृंगिन् गर्वितो भव ।। २९ ।।

कृशने कहा—शृंगिन्! तुम बड़े तपस्वी और तेजस्वी बनते हो, किंतु तुम्हारे पिता अपने कंधेपर मुर्दा सर्प ढो रहे हैं। अब कभी अपनी तपस्यापर गर्व न करना ।। २९ ।।

व्याहरत्स्वृषिपुत्रेषु मा स्म किंचिद् वचो वद ।
अस्मद्विधेषु सिद्धेषु ब्रह्मवित्सु तपस्विषु ।। ३० ।।

हम-जैसे सिद्ध, ब्रह्मवेत्ता तथा तपस्वी ऋषिपुत्र जब कभी बातें करते हों, उस समय तुम वहाँ कुछ न बोलना ।। ३० ।।

क्व ते पुरुषमानित्वं क्व ते वाचस्तथाविधाः ।
दर्पजाः पितरं द्रष्टा यस्त्वं शवधरं तथा ।। ३१ ।।

कहाँ है तुम्हारा पौरुषका अभिमान, कहाँ गयीं तुम्हारी वे दर्पभरी बातें? जब तुम अपने पिताको मुर्दा ढोते चुपचाप देख रहे हो! ।। ३१ ।।

पित्रा च तव तत् कर्म नानुरूपमिवात्मनः ।
कृतं मुनिजनश्रेष्ठ येनाहं भृशदुःखितः ।। ३२ ।।

मुनिजनशिरोमणे! तुम्हारे पिताके द्वारा कोई अनुचित कर्म नहीं बना था; इसलिये जैसे मेरे ही पिताका अपमान हुआ हो उस प्रकार तुम्हारे पिताके तिरस्कारसे मैं अत्यन्त दुःखी हो रहा हूँ ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि परिक्षिदुपाख्याने चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें परीक्षित्-उपाख्यानविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४० ।।

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

शृंगी ऋषिका राजा परीक्षित्‌को शाप देना और शमीकका अपने पुत्रको शान्त करते हुए शापको अनुचित बताना

सौतिरुवाच

एवमुक्तः स तेजस्वी शृङ्गी कोपसमन्वितः ।
मृतधारं गुरुं श्रुत्वा पर्यतप्यत मन्युना ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! कृशके ऐसा कहनेपर तेजस्वी शृंगी ऋषिको बड़ा क्रोध हुआ। अपने पिताके कंधेपर मृतक (सर्प) रखे जानेकी बात सुनकर वह रोष और शोकसे संतप्त हो उठा ।। १ ।।

स तं कृशमभिप्रेक्ष्य सूनृतां वाचमुत्सृजन् ।
अपृच्छत् तं कथं तातः स मेऽद्य मृतधारकः ।। २ ।।

उसने कृशकी ओर देखकर मधुर वाणीमें पूछा—‘भैया! बताओ तो, आज मेरे पिता अपने कंधेपर मृतक कैसे धारण कर रहे हैं?’ ।। २ ।।

कृश उवाच

राज्ञा परिक्षिता तात मृगयां परिधावता ।
अवसक्तः पितुस्तेऽद्य मृतः स्कन्धे भुजङ्गमः ।। ३ ।।

कृशने कहा—तात! आज राजा परीक्षित् अपने शिकारके पीछे दौड़ते हुए आये थे। उन्होंने तुम्हारे पिताके कंधेपर मृतक साँप रख दिया है ।। ३ ।।

शृंग्युवाच

किं मे पित्रा कृतं तस्य राज्ञोऽनिष्टं दुरात्मनः ।
ब्रूहि तत् कृश तत्त्वेन पश्य मे तपसो बलम् ।। ४ ।।

शृंगी बोला—कृश! ठीक-ठीक बताओ, मेरे पिताने उस दुरात्मा राजाका क्या अपराध किया था? फिर मेरी तपस्याका बल देखना ।। ४ ।।

कृश उवाच

स राजा मृगयां यातः परिक्षिदभिमन्युजः ।
ससार मृगमेकाकी विद्ध्वा बाणेन शीघ्रगम् ।। ५ ।।
न चापश्यन्मृगं राजा चरंस्तस्मिन् महावने ।
पितरं ते स दृष्ट्वैव पप्रच्छानभिभाषिणम् ।। ६ ।।

कृशने कहा—अभिमन्युपुत्र राजा परीक्षित् अकेले शिकार खेलने आये थे। उन्होंने एक शीघ्रगामी हिंसक मृग (पशु)-को बाणसे बींध डाला; किंतु उस विशाल वनमें विचरते हुए राजाको वह मृग कहीं दिखायी न दिया। फिर उन्होंने तुम्हारे मौनी पिताको देखकर उसके विषयमें पूछा ।। ५-६ ।।

तं स्थाणुभूतं तिष्ठन्तं क्षुत्पिपासाश्रमातुरः ।
पुनः पुनर्मृगं नष्टं पप्रच्छ पितरं तव ।। ७ ।।
स च मौनव्रतोपेतो नैव तं प्रत्यभाषत ।
तस्य राजा धनुष्कोट्या सर्पं स्कन्धे समासजत् ।। ८ ।।

राजा भूख-प्यास और थकावटसे व्याकुल थे। इधर तुम्हारे पिता काठकी भाँति अविचल भावसे बैठे थे। राजाने बार-बार तुम्हारे पितासे उस भागे हुए मृगके विषयमें प्रश्न किया, परंतु मौन-व्रतावलम्बी होनेके कारण उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। तब राजाने धनुषकी नोकसे एक मरा हुआ साँप उठाकर उनके कंधेपर डाल दिया ।। ७-८ ।।

शृङ्गिंस्तव पिता सोऽपि तथैवास्ते यतव्रतः ।
सोऽपि राजा स्वनगरं प्रस्थितो गजसाह्वयम् ।। ९ ।।

शृंगिन्! संयमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले तुम्हारे पिता अभी उसी अवस्थामें बैठे हैं और वे राजा परीक्षित् अपनी राजधानी हस्तिनापुरको चले गये हैं ।। ९ ।।

सौतिरुवाच

श्रुत्वैवमृषिपुत्रस्तु शवं कन्धे प्रतिष्ठितम् ।
कोपसंरक्तनयनः प्रज्वलन्निव मन्युना ।। १० ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! इस प्रकार अपने पिताके कंधेपर मृतक सर्पके रखे जानेका समाचार सुनकर ऋषिकुमार शृंगी क्रोधसे जल उठा। कोपसे उसकी आँखें लाल हो गयीं ।। १० ।।

आविष्टः स हि कोपेन शशाप नृपतिं तदा ।
वार्युपस्पृश्य तेजस्वी क्रोधवेगबलात्कृतः ।। ११ ।।

वह तेजस्वी बालक रोषके आवेशमें आकर प्रचण्ड क्रोधके वेगसे युक्त हो गया था। उसने जलसे आचमन करके हाथमें जल लेकर उस समय राजा परीक्षित्को इस प्रकार शाप दिया ।। ११ ।।

शृंग्युवाच

योऽसौ वृद्धस्य तातस्य तथा कृच्छ्रगतस्य ह ।
स्कन्धे मृतं समास्राक्षीत् पन्नगं राजकिल्बिषी ।। १२ ।।
तं पापमतिसंक्रुद्धस्तक्षकः पन्नगेश्वरः ।
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः ।। १३ ।।

सप्तरात्रादितो नेता यमस्य सदनं प्रति ।

द्विजानामवमन्तारं कुरूणामयशस्करम् ।। १४ ।।

शृंगी बोला—जिस पापात्मा नरेशने वैसे धर्म-संकटमें पड़े हुए मेरे बूढ़े पिताके कंधेपर मरा साँप रख दिया है, ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाले उस कुरुकुलकलंक पापी परीक्षित्‌को आजसे सात रातके बाद प्रचण्ड तेजस्वी पन्नगोत्तम तक्षक नामक विषैला नाग अत्यन्त कोपमें भरकर मेरे वाक्यबलसे प्रेरित हो यमलोक पहुँचा देगा ।। १२—१४ ।।

सौतिरुवाच

इति शप्त्वातिसंक्रुद्धः शृंगी पितरमभ्यगात् ।

आसीनं गोव्रजे तस्मिन् वहन्तं शवपन्नगम् ।। १५ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इस प्रकार अत्यन्त क्रोधपूर्वक शाप देकर शृंगी अपने पिताके पास आया, जो उस गोष्ठमें कंधेपर मृतक सर्प धारण किये बैठे थे ।। १५ ।।

स तमालक्ष्य पितरं शृङ्गी स्कन्धगतेन वै ।

शवेन भुजगेनासीद् भूयः क्रोधसमाकुलः ।। १६ ।।

कंधेपर रखे हुए मुर्दे साँपसे संयुक्त पिताको देखकर शृंगी पुनः क्रोधसे व्याकुल हो उठा ।। १६ ।।

दुःखाच्चाश्रूणि मुमुचे पितरं चेदमब्रवीत् ।

श्रुत्वेमां धर्षणां तात तव तेन दुरात्मना ।। १७ ।।

राज्ञा परिक्षिता कोपादशपं तमहं नृपम् ।

यथार्हति स एवोग्रं शापं कुरुकुलाधमः ।

सप्तमेऽहनि तं पापं तक्षकः पन्नगोत्तमः ।। १८ ।।

वैवस्वतस्य सदनं नेता परमदारुणम् ।

तमब्रवीत् पिता ब्रह्मंस्तथा कोपसमन्वितम् ।। १९ ।।

वह दुःखसे आँसू बहाने लगा। उसने पितासे कहा—‘तात! उस दुरात्मा राजा परीक्षित्‌के द्वारा आपके इस अपमानकी बात सुनकर मैंने उसे क्रोधपूर्वक जैसा शाप दिया है, वह कुरुकुलाधम वैसे ही भयंकर शापके योग्य है। आजके सातवें दिन नागराज तक्षक उस पापीको अत्यन्त भयंकर यमलोकमें पहुँचा देगा।’ ब्रह्मन्! इस प्रकार क्रोधमें भरे हुए पुत्रसे उसके पिता शमीकने कहा ।। १७—१९ ।।

शमीक उवाच

न मे प्रियं कृतं तात नैष धर्मस्तपस्विनाम् ।

वयं तस्य नरेन्द्रस्य विषये निवसामहे ।। २० ।।

न्यायतो रक्षितास्तेन तस्य शापं न रोचये ।

सर्वथा वर्तमानस्य राज्ञो ह्यस्मद्विधैः सदा ।। २१ ।।

क्षन्तव्यं पुत्र धर्मो हि हतो हन्ति न संशयः ।
यदि राजा न संरक्षेत् पीडा नः परमा भवेत् ।। २२ ।।

शमीक बोले—वत्स! तुमने शाप देकर मेरा प्रिय कार्य नहीं किया है। यह तपस्वियोंका धर्म नहीं है। हमलोग उन महाराज परीक्षित्के राज्यमें निवास करते हैं और उनके द्वारा न्यायपूर्वक हमारी रक्षा होती है। अतः उनको शाप देना मुझे पसंद नहीं है। हमारे-जैसे साधु पुरुषोंको तो वर्तमान राजा परीक्षित्के अपराधको सब प्रकारसे क्षमा ही करना चाहिये। बेटा! यदि धर्मको नष्ट किया जाय तो वह मनुष्यका नाश कर देता है, इसमें संशय नहीं है। यदि राजा रक्षा न करे तो हमें भारी कष्ट पहुँच सकता है ।। २०—२२ ।।

न शक्नुयाम चरितुं धर्मं पुत्र यथासुखम् ।
रक्ष्यमाणा वयं तात राजभिर्धर्मदृष्टिभिः ।। २३ ।।
चरामो विपुलं धर्मं तेषां भागोऽस्ति धर्मतः ।
सर्वथा वर्तमानस्य राज्ञः क्षन्तव्यमेव हि ।। २४ ।।

पुत्र! हम राजाके बिना सुखपूर्वक धर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकते। तात! धर्मपर दृष्टि रखनेवाले राजाओंके द्वारा सुरक्षित होकर हम अधिक-से-अधिक धर्मका आचरण कर पाते हैं। अतः हमारे पुण्यकर्मोंमें धर्मतः उनका भी भाग है। इसलिये वर्तमान राजा परीक्षित्के अपराधको तो क्षमा ही कर देना चाहिये ।। २३-२४ ।।

परिक्षित्तु विशेषेण यथास्य प्रपितामहः ।
रक्षत्यस्मांस्तथा राज्ञा रक्षितव्याः प्रजा विभो ।। २५ ।।

परीक्षित् तो विशेषरूपसे अपने प्रपितामह युधिष्ठिर आदिकी भाँति हमारी रक्षा करते हैं। शक्तिशाली पुत्र! प्रत्येक राजाको इसी प्रकार प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ।। २५ ।।

तेनेह क्षुधितेनाद्य श्रान्तेन च तपस्विना ।
अजानता कृतं मन्ये व्रतमेतदिदं मम ।। २६ ।।

वे आज भूखे और थके-माँदे यहाँ आये थे। वे तपस्वी नरेश मेरे इस मौन-व्रतको नहीं जानते थे; मैं समझता हूँ इसीलिये उन्होंने मेरे साथ ऐसा बर्ताव कर दिया ।। २६ ।।

अराजके जनपदे दोषा जायन्ति वै सदा ।
उद्वृत्तं सततं लोकं राजा दण्डेन शास्ति वै ।। २७ ।।

जिस देशमें राजा न हो वहाँ अनेक प्रकारके दोष (चोर आदिके भय) पैदा होते हैं। धर्मकी मर्यादा त्यागकर उच्छृंखल बने हुए लोगोंको राजा अपने दण्डके द्वारा शिक्षा देता है ।। २७ ।।

दण्डात् प्रतिभयं भूयः शान्तिरुत्पद्यते तदा ।
नोद्विग्नश्चरते धर्मं नोद्विग्नश्चरते क्रियाम् ।। २८ ।।

दण्डसे भय होता है, फिर भयसे तत्काल शान्ति स्थापित होती है। जो चोर आदिके भयसे उद्विग्न है, वह धर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकता। वह उद्विग्न पुरुष यज्ञ, श्राद्ध आदि

शास्त्रीय कर्मोंका आचरण भी नहीं कर सकता ।। २८ ।।

राज्ञा प्रतिष्ठितो धर्मो धर्मात् स्वर्गः प्रतिष्ठितः ।
राज्ञो यज्ञक्रियाः सर्वा यज्ञाद् देवाः प्रतिष्ठिताः ।। २९ ।।

राजासे धर्मकी स्थापना होती है और धर्मसे स्वर्गलोककी प्रतिष्ठा (प्राप्ति) होती है। राजासे सम्पूर्ण यज्ञकर्म प्रतिष्ठित होते हैं और यज्ञसे देवताओंकी प्रतिष्ठा होती है ।। २९ ।।

देवाद् वृष्टिः प्रवर्तेत वृष्टेरोषधयः स्मृताः ।
ओषधिभ्यो मनुष्याणां धारयन् सततं हितम् ।। ३० ।।
मनुष्याणां च यो धाता राजा राज्यकरः पुनः ।
दशश्रोत्रियसमो राजा इत्येवं मनुरब्रवीत् ।। ३१ ।।

देवताके प्रसन्न होनेसे वर्षा होती है, वर्षासे अन्न पैदा होता है और अन्नसे निरन्तर मनुष्योंके हितका पोषण करते हुए राज्यका पालन करनेवाला राजा मनुष्योंके लिये विधाता (धारण-पोषण करनेवाला) है। राजा दस श्रोत्रियके समान है, ऐसा मनुजीने कहा है ।। ३०-३१ ।।

तेनेह क्षुधितेनाद्य श्रान्तेन च तपस्विना ।
अजानता कृतं मन्ये व्रतमेतदिदं मम ।। ३२ ।।

वे तपस्वी राजा यहाँ भूखे-प्यासे और थके-माँदे आये थे। उन्हें मेरे इस मौन-व्रतका पता नहीं था, इसलिये मेरे न बोलनेसे रुष्ट होकर उन्होंने ऐसा किया है ।। ३२ ।।

कस्मादिदं त्वया बाल्यात् सहसा दुष्कृतं कृतम् ।
न ह्यर्हति नृपः शापमस्मत्तः पुत्र सर्वथा ।। ३३ ।।

तुमने मूर्खतावश बिना विचारे क्यों यह दुष्कर्म कर डाला? बेटा! राजा हमलोगोंसे शाप पानेके योग्य नहीं हैं ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि परिक्षिच्छापे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें परीक्षित्-शापविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४१ ।।

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

शमीकका अपने पुत्रको समझाना और गौरमुखको राजा परीक्षित्‌के पास भेजना, राजाद्वारा आत्मरक्षाकी व्यवस्था तथा तक्षक नाग और काश्यपकी बातचीत

शृङ्ग्युवाच

यद्येतत् साहसं तात यदि वा दुष्कृतं कृतम् ।
प्रियं वाप्यप्रियं वा ते वागुक्ता न मृषा भवेत् ।। १ ।।

शृंगी बोला—तात! यदि यह साहस है अथवा यदि मेरे द्वारा दुष्कर्म हो गया है तो हो जाय। आपको यह प्रिय लगे या अप्रिय, किंतु मैंने जो बात कह दी है, वह झूठी नहीं हो सकती ।। १ ।।

नैवान्यथेदं भविता पितरेष ब्रवीमि ते ।
नाहं मृषा ब्रवीम्येवं स्वैरेष्वपि कुतः शपन् ।। २ ।।

पिताजी! मैं आपसे सच कहता हूँ, अब यह शाप टल नहीं सकता। मैं हँसी-मजाकमें भी झूठ नहीं बोलता, फिर शाप देते समय कैसे झूठी बात कह सकता हूँ ।। २ ।।

शमीक उवाच

जानाम्युग्रप्रभावं त्वां तात सत्यगिरं तथा ।
नानृतं चोक्तपूर्वं ते नैतन्मिथ्या भविष्यति ।। ३ ।।

शमीकने कहा—बेटा! मैं जानता हूँ तुम्हारा प्रभाव उग्र है, तुम बड़े सत्यवादी हो, तुमने पहले भी कभी झूठी बात नहीं कही है; अतः यह शाप मिथ्या नहीं होगा ।। ३ ।।

पित्रा पुत्रो वयःस्थोऽपि सततं वाच्य एव तु ।
यथा स्याद् गुणसंयुक्तः प्राप्नुयाच्च महद् यशः ।। ४ ।।

तथापि पिताको उचित है कि वह अपने पुत्रको बड़ी अवस्थाका हो जानेपर भी सदा सत्कर्मोंका उपदेश देता रहे; जिससे वह गुणवान् हो और महान् यश प्राप्त करे ।। ४ ।।

किं पुनर्बाल एव त्वं तपसा भावितः सदा ।
वर्धते च प्रभवतां कोपोऽतीव महात्मनाम् ।। ५ ।।

फिर तुम्हें उपदेश देनेकी तो बात ही क्या है, तुम तो अभी बालक ही हो। तुमने सदा तपस्याके द्वारा अपनेको दिव्य शक्तिसे सम्पन्न किया है। जो योगजनित ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं, ऐसे प्रभावशाली तेजस्वी पुरुषोंका भी क्रोध अधिक बढ़ जाता है; फिर तुम-जैसे बालकको क्रोध हो, इसमें कहना ही क्या है ।। ५ ।।

सोऽहं पश्यामि वक्तव्यं त्वयि धर्मभृतां वर ।

पुत्रत्वं बालतां चैव तवावेक्ष्य च साहसम् ।। ६ ।।

(किंतु यह क्रोध धर्मका नाशक होता है) इसलिये धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पुत्र! तुम्हारे बचपन और दुःसाहसपूर्ण कार्यको देखकर मैं तुम्हें कुछ कालतक उपदेश देनेकी आवश्यकता समझता हूँ ।। ६ ।।

स त्वं शमपरो भूत्वा वन्यमाहारमाचरन् ।
चर क्रोधमिमं हत्वा नैवं धर्मं प्रहास्यसि ।। ७ ।।

तुम मन और इन्द्रियोंके निग्रहमें तत्पर होकर जंगली कन्द, मूल, फलका आहार करते हुए इस क्रोधको मिटाकर उत्तम आचरण करो; ऐसा करनेसे तुम्हारे धर्मकी हानि नहीं होगी ।। ७ ।।

क्रोधो हि धर्मं हरति यतीनां दुःखसंचितम् ।
ततो धर्मविहीनानां गतिरिष्टा न विद्यते ।। ८ ।।

क्रोध प्रयत्नशील साधकोंके अत्यन्त दुःखसे उपार्जित धर्मका नाश कर देता है। फिर धर्महीन मनुष्योंको अभीष्ट गति नहीं मिलती है ।। ८ ।।

शम एव यतीनां हि क्षमिणां सिद्धिकारकः ।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।। ९ ।।

शम (मनोनिग्रह) ही क्षमाशील साधकोंको सिद्धिकी प्राप्ति करानेवाला है। जिनमें क्षमा है, उन्हींके लिये यह लोक और परलोक दोनों कल्याणकारक हैं ।। ९ ।।

तस्माच्चरेथाः सततं क्षमाशीलो जितेन्द्रियः ।
क्षमया प्राप्स्यसे लोकान् ब्रह्मणः समनन्तरान् ।। १० ।।

इसलिये तुम सदा इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए क्षमाशील बनो। क्षमासे ही ब्रह्माजीके निकटवर्ती लोकोंमें जा सकोगे ।। १० ।।

मया तु शममास्थाय यच्छक्यं कर्तुमद्य वै ।
तत् करिष्याम्यहं तात प्रेषयिष्ये नृपाय वै ।। ११ ।।
मम पुत्रेण शप्तोऽसि बालेन कृशबुद्धिना ।
ममेमां धर्षणां त्वत्तः प्रेक्ष्य राजन्नमर्षिणा ।। १२ ।।

तात! मैं तो शान्ति धारण करके अब जो कुछ किया जा सकता है, वह करूँगा। राजाके पास यह संदेश भेज दूँगा कि ‘राजन्! तुम्हारे द्वारा मुझे जो तिरस्कार प्राप्त हुआ है उसे देखकर अमर्षमें भरे हुए मेरे अल्पबुद्धि एवं मूढ़ पुत्रने तुम्हें शाप दे दिया है’ ।। ११-१२ ।।

सौतिरुवाच

एवमादिश्य शिष्यं स प्रेषयामास सुव्रतः ।
परिक्षिते नृपतये दयापन्नो महातपाः ।। १३ ।।

संदिश्य कुशलप्रश्नं कार्यवृत्तान्तमेव च ।
शिष्यं गौरमुखं नाम शीलवन्तं समाहितम् ।। १४ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले दयालु एवं महातपस्वी शमीक मुनिने अपने गौरमुख नामवाले एकाग्रचित्त एवं शीलवान् शिष्यको इस प्रकार आदेश दे कुशल-प्रश्न, कार्य एवं वृतान्तका संदेश देकर राजा परीक्षित्के पास भेजा ।। १३-१४ ।।

सोऽभिगम्य ततः शीघ्रं नरेन्द्रं कुरुवर्धनम् ।
विवेश भवनं राज्ञः पूर्वं द्वाःस्थैर्निवेदितः ।। १५ ।।

गौरमुख वहाँसे शीघ्र कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले महाराज परीक्षित्के पास चला गया। राजधानीमें पहुँचनेपर द्वारपालने पहले महाराजको उसके आनेकी सूचना दी और उनकी आज्ञा मिलनेपर गौरमुखने राजभवनमें प्रवेश किया ।। १५ ।।

पूजितस्तु नरेन्द्रेण द्विजो गौरमुखस्तदा ।
आचख्यौ च परिश्रान्तो राज्ञः सर्वमशेषतः ।। १६ ।।
शमीकवचनं घोरं यथोक्तं मन्त्रिसन्निधौ ।

महाराज परीक्षित्ने उस समय गौरमुख ब्राह्मणका बड़ा सत्कार किया। जब उसने विश्राम कर लिया, तब शमीकके कहे हुए घोर वचनको मन्त्रियोंके समीप राजाके सामने पूर्णरूपसे कह सुनाया ।। १६½ ।।

गौरमुख उवाच

शमीको नाम राजेन्द्र वर्तते विषये तव ।। १७ ।।
ऋषिः परमधर्मात्मा दान्तः शान्तो महातपाः ।
तस्य त्वया नरव्याघ्र सर्पः प्राणैर्वियोजितः ।। १८ ।।
अवसक्तो धनुष्कोट्या स्कन्धे मौनान्वितस्य च ।
क्षान्तवांस्तव तत् कर्म पुत्रस्तस्य न चक्षमे ।। १९ ।।

गौरमुख बोला—महाराज! आपके राज्यमें शमीक नामवाले एक परम धर्मात्मा महर्षि रहते हैं। वे जितेन्द्रिय, मनको वशमें रखनेवाले और महान् तपस्वी हैं। नरव्याघ्र! आपने मौन व्रत धारण करनेवाले उन महात्माके कंधेपर धनुषकी नोकसे उठाकर एक मरा हुआ साँप रख दिया था। महर्षिने तो उसके लिये आपको क्षमा कर दिया था, किंतु उनके पुत्रको वह सहन नहीं हुआ ।। १७—१९ ।।

तेन शप्तोऽसि राजेन्द्र पितुरज्ञातमद्य वै ।
तक्षकः सप्तरात्रेण मृत्युस्तव भविष्यति ।। २० ।।

राजेन्द्र! उस ऋषिकुमारने आज अपने पिताके अनजानमें ही आपके लिये यह शाप दिया है कि ‘आजसे सात रातके बाद ही तक्षक नाग आपकी मृत्युका कारण हो जायगा’ ।। २० ।।

तत्र रक्षां कुरुष्वेति पुनः पुनरथाब्रवीत् ।
तदन्यथा न शक्यं च कर्तुं केनचिदप्युत ।। २१ ।।

इस दशामें आप अपनी रक्षाकी व्यवस्था करें। यह मुनिने बार-बार कहा है। उस शापको कोई भी टाल नहीं सकता ।। २१ ।।

न हि शक्नोति तं यन्तुं पुत्रं कोपसमन्वितम् ।
ततोऽहं प्रेषितस्तेन तव राजन् हितार्थिना ।। २२ ।।

स्वयं महर्षि भी क्रोधमें भरे हुए अपने पुत्रको शान्त नहीं कर पा रहे हैं। अतः राजन्! आपके हितकी इच्छासे उन्होंने मुझे यहाँ भेजा है ।। २२ ।।

सौतिरुवाच

इति श्रुत्वा वचो घोरं स राजा कुरुनन्दनः ।
पर्यतप्यत तत् पापं कृत्वा राजा महातपाः ।। २३ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—यह घोर वचन सुनकर कुरुनन्दन राजा परीक्षित् मुनिका अपराध करनेके कारण मन-ही-मन संतप्त हो उठे ।। २३ ।।

तं च मौनव्रतं श्रुत्वा वने मुनिवरं तदा ।
भूय एवाभवद् राजा शोकसंतप्तमानसः ।। २४ ।।

वे श्रेष्ठ महर्षि उस समय वनमें मौन-व्रतका पालन कर रहे थे, यह सुनकर राजा परीक्षित्का मन और भी शोक एवं संतापमें डूब गया ।। २४ ।।

अनुक्रोशात्मतां तस्य शमीकस्यावधार्य च ।
पर्यतप्यत भूयोऽपि कृत्वा तत् किल्बिषं मुनेः ।। २५ ।।

शमीक मुनिकी दयालुता और अपने द्वारा उनके प्रति किये हुए उस अपराधका विचार करके वे अधिकाधिक संतप्त होने लगे ।। २५ ।।

न हि मृत्युं तथा राजा श्रुत्वा वै सोऽन्वतप्यत ।
अशोचदमरप्रख्यो यथा कृत्वेह कर्म तत् ।। २६ ।।

देवतुल्य राजा परीक्षित्को अपनी मृत्युका शाप सुनकर वैसा संताप नहीं हुआ जैसा कि मुनिके प्रति किये हुए अपने उस बर्तावको याद करके वे शोकमग्न हो रहे थे ।। २६ ।।

ततस्तं प्रेषयामास राजा गौरमुखं तदा ।
भूयः प्रसादं भगवान् करोत्विह ममेति वै ।। २७ ।।

तदनन्तर राजाने यह संदेश देकर उस समय गौरमुखको विदा किया कि ‘भगवान् शमीक मुनि यहाँ पधारकर पुनः मुझपर कृपा करें’ ।। २७ ।।

तस्मिंश्च गतमात्रेऽथ राजा गौरमुखे तदा ।
मन्त्रिभिर्मन्त्रयामास सह संविग्नमानसः ।। २८ ।।

गौरमुखके चले जानेपर राजाने उद्विग्नचित्त हो मन्त्रियोंके साथ गुप्त मन्त्रणा की ।। २८ ।।

सम्मन्त्र्य मन्त्रिभिश्चैव स तथा मन्त्रतत्त्ववित् ।
प्रासादं कारयामास एकस्तम्भं सुरक्षितम् ।। २९ ।।

मन्त्र-तत्त्वके ज्ञाता महाराजने मन्त्रियोंसे सलाह करके एक ऊँचा महल बनवाया; जिसमें एक ही खंभा लगा था। वह भवन सब ओरसे सुरक्षित था ।। २९ ।।

रक्षां च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च ।
ब्राह्मणान् मन्त्रसिद्धांश्च सर्वतो वै न्ययोजयत् ।। ३० ।।

राजाने वहाँ रक्षाके लिये आवश्यक प्रबन्ध किया, उन्होंने सब प्रकारकी ओषधियाँ जुटा लीं और वैद्यों तथा मन्त्रसिद्ध ब्राह्मणोंको सब ओर नियुक्त कर दिया ।। ३० ।।

राजकार्याणि तत्रस्थः सर्वाण्येवाकरोच्च सः ।
मन्त्रिभिः सह धर्मज्ञः समन्तात् परिरक्षितः ।। ३१ ।।

वहीं रहकर वे धर्मज्ञ नरेश सब ओरसे सुरक्षित हो मन्त्रियोंके साथ सम्पूर्ण राज-कार्यकी व्यवस्था करने लगे ।। ३१ ।।

न चैनं कश्चिदारूढं लभते राजसत्तमम् ।
वातोऽपि निश्चरंस्तत्र प्रवेशे विनिवार्यते ।। ३२ ।।

उस समय महलमें बैठे हुए महाराजसे कोई भी मिलने नहीं पाता था। वायुको भी वहाँसे निकल जानेपर पुनः प्रवेशके समय रोका जाता था ।। ३२ ।।

प्राप्ते च दिवसे तस्मिन् सप्तमे द्विजसत्तमः ।
काश्यपोऽभ्यागमद् विद्वांस्तं राजानं चिकित्सितुम् ।। ३३ ।।

सातवाँ दिन आनेपर मन्त्रशास्त्रके ज्ञाता द्विजश्रेष्ठ काश्यप राजाकी चिकित्सा करनेके लिये आ रहे थे ।। ३३ ।।

श्रुतं हि तेन तदभूद् यथा तं राजसत्तमम् ।
तक्षकः पन्नगश्रेष्ठो नेष्यते यमसादनम् ।। ३४ ।।

उन्होंने सुन रखा था कि ‘भूपशिरोमणि परीक्षित्‌को आज नागोंमें श्रेष्ठ तक्षक यमलोक पहुँचा देगा’ ।। ३४ ।।

तं दष्टं पन्नगेन्द्रेण करिष्येऽहमपज्वरम् ।
तत्र मेऽर्थश्च धर्मश्च भवितेति विचिन्तयन् ।। ३५ ।।

अतः उन्होंने सोचा कि नागराजके डँसे हुए महाराजका विष उतारकर मैं उन्हें जीवित कर दूँगा। ऐसा करनेसे वहाँ मुझे धन तो मिलेगा ही, लोकोपकारी राजाको जिलानेसे धर्म भी होगा ।। ३५ ।।

तं ददर्श स नागेन्द्रस्तक्षकः काश्यपं पथि ।
गच्छन्तमेकमनसं द्विजो भूत्वा वयोऽतिगः ।। ३६ ।।

तमब्रवीत् पन्नगेन्द्रः काश्यपं मुनिपुङ्गवम् ।
क्व भवांस्त्वरितो याति किं च कार्यं चिकीर्षति ।। ३७ ।।

मार्गमें नागराज तक्षकने काश्यपको देखा। वे एकचित्त होकर हस्तिनापुरकी ओर बढ़े जा रहे थे। तब नागराजने बूढ़े ब्राह्मणका वेश बनाकर मुनिवर काश्यपसे पूछा—'आप कहाँ बड़ी उतावलीके साथ जा रहे हैं और कौन-सा कार्य करना चाहते हैं?' ।। ३६-३७ ।।

काश्यप उवाच

नृपं कुरुकुलोत्पन्नं परिक्षितमरिन्दमम् ।
तक्षकः पन्नगश्रेष्ठस्तेजसाद्य प्रधक्ष्यति ।। ३८ ।।

काश्यपने कहा—कुरुकुलमें उत्पन्न शत्रुदमन महाराज परीक्षित्को आज नागराज तक्षक अपनी विषाग्निसे दग्ध कर देगा ।। ३८ ।।

तं दष्टं पन्नगेन्द्रेण तेनाग्निसमतेजसा ।
पाण्डवानां कुलकरं राजानममितौजसम् ।
गच्छामि त्वरितं सौम्य सद्यः कर्तुमपज्वरम् ।। ३९ ।।

वे राजा पाण्डवोंकी वंशपरम्पराको सुरक्षित रखने-वाले तथा अत्यन्त पराक्रमी हैं। अतः सौम्य! अग्निके समान तेजस्वी नागराजके डँस लेनेपर उन्हें तत्काल विषरहित करके जीवित कर देनेके लिये मैं जल्दी-जल्दी जा रहा हूँ ।। ३९ ।।

तक्षक उवाच

अहं स तक्षको ब्रह्मंस्तं धक्ष्यामि महीपतिम् ।
निवर्तस्व न शक्तस्त्वं मया दष्टं चिकित्सितुम् ।। ४० ।।

तक्षक बोला—ब्रह्मन्! मैं ही वह तक्षक हूँ। आज राजाको भस्म कर डालूँगा। आप लौट जाइये। मैं जिसे डँस लूँ, उसकी चिकित्सा आप नहीं कर सकते ।। ४० ।।

काश्यप उवाच

अहं तं नृपतिं गत्वा त्वया दष्टमपज्वरम् ।
करिष्यामीति मे बुद्धिर्विद्याबलसमन्विता ।। ४१ ।।

काश्यपने कहा—मैं तुम्हारे डँसे हुए राजाको वहाँ जाकर विषसे रहित कर दूँगा। यह विद्याबलसे सम्पन्न मेरी बुद्धिका निश्चय है ।। ४१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि काश्यपागमने द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें काश्यपागमनविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४२ ।।

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

तक्षकका धन देकर काश्यपको लौटा देना और छलसे राजा परीक्षित्‌के समीप पहुँचकर उन्हें डँसना

तक्षक उवाच

यदि दष्टं मयेह त्वं शक्तः किंचिच्चिकित्सितुम् ।
ततो वृक्षं मया दष्टमिमं जीवय काश्यप ।। १ ।।

तक्षक बोला—काश्यप! यदि इस जगत्‌में मेरे डँसे हुए रोगीकी कुछ भी चिकित्सा करनेमें तुम समर्थ हो तो मेरे डँसे हुए इस वृक्षको जीवित कर दो ।। १ ।।

परं मन्त्रबलं यत् ते तद् दर्शय यतस्व च ।
न्यग्रोधमेनं धक्ष्यामि पश्यतस्ते द्विजोत्तम ।। २ ।।

द्विजश्रेष्ठ! तुम्हारे पास जो उत्तम मन्त्रका बल है, उसे दिखाओ और यत्न करो। लो, तुम्हारे देखते-देखते इस वटवृक्षको मैं भस्म कर देता हूँ ।। २ ।।

काश्यप उवाच

दश नागेन्द्र वृक्षं त्वं यद्येतदभिमन्यसे ।
अहमेनं त्वया दष्टं जीवयिष्ये भुजङ्गम ।। ३ ।।

काश्यपने कहा—नागराज! यदि तुम्हें इतना अभिमान है तो इस वृक्षको डँसो। भुजंगम! तुम्हारे डँसे हुए इस वृक्षको मैं अभी जीवित कर दूँगा ।। ३ ।।

सौतिरुवाच

एवमुक्तः स नागेन्द्रः काश्यपेन महात्मना ।
अदशद् वृक्षमभ्येत्य न्यग्रोधं पन्नगोत्तमः ।। ४ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महात्मा काश्यपके ऐसा कहनेपर सर्पोंमें श्रेष्ठ नागराज तक्षकने निकट जाकर बरगदके वृक्षको डँस लिया ।। ४ ।।

स वृक्षस्तेन दष्टस्तु पन्नगेन महात्मना ।
आशीविषविषोपेतः प्रजज्वाल समन्ततः ।। ५ ।।

उस महाकाय विषधर सर्पके डँसते ही उसके विषसे व्याप्त हो वह वृक्ष सब ओरसे जल उठा ।। ५ ।।

तं दग्ध्वा स नगं नागः काश्यपं पुनरब्रवीत् ।
कुरु यत्नं द्विजश्रेष्ठ जीवयैनं वनस्पतिम् ।। ६ ।।

इस प्रकार उस वृक्षको जलाकर नागराज पुनः काश्यपसे बोला—‘द्विजश्रेष्ठ! अब तुम यत्न करो और इस वृक्षको जिला दो’ ।। ६ ।।

सौतिरुवाच

भस्मीभूतं ततो वृक्षं पन्नगेन्द्रस्य तेजसा ।
भस्म सर्वं समाहृत्य काश्यपो वाक्यमब्रवीत् ।। ७ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! नागराजके तेजसे भस्म हुए उस वृक्षकी सारी भस्मराशिको एकत्र करके काश्यपने कहा— ।। ७ ।।

विद्याबलं पन्नगेन्द्र पश्य मेऽद्य वनस्पतौ ।
अहं संजीवयाम्येनं पश्यतस्ते भुजङ्गम ।। ८ ।।

'नागराज! इस वनस्पतिपर आज मेरी विद्याका बल देखो। भुजंगम! मैं तुम्हारे देखते-देखते इस वृक्षको जीवित कर देता हूँ' ।। ८ ।।

ततः स भगवान् विद्वान् काश्यपो द्विजसत्तमः ।
भस्मराशीकृतं वृक्षं विद्यया समजीवयत् ।। ९ ।।

तदनन्तर सौभाग्यशाली विद्वान् द्विजश्रेष्ठ काश्यपने भस्मराशिके रूपमें विद्यमान उस वृक्षको विद्याके बलसे जीवित कर दिया ।। ९ ।।

अङ्कुरं कृतवांस्तत्र ततः पर्णद्वयान्वितम् ।
पलाशिनं शाखिनं च तथा विटपिनं पुनः ।। १० ।।

पहले उन्होंने उसमेंसे अंकुर निकाला, फिर उसे दो पत्तेका कर दिया। इसी प्रकार क्रमशः पल्लव, शाखा और प्रशाखाओंसे युक्त उस महान् वृक्षको पुनः पूर्ववत् खड़ा कर दिया ।। १० ।।

तं दृष्ट्वा जीवितं वृक्षं काश्यपेन महात्मना ।
उवाच तक्षको ब्रह्मन् नैतदत्यद्भुतं त्वयि ।। ११ ।।

महात्मा काश्यपद्वारा जिलाये हुए उस वृक्षको देखकर तक्षकने कहा—'ब्रह्मन्! तुम-जैसे मन्त्रवेत्तामें ऐसे चमत्कारका होना कोई अद्भुत बात नहीं है ।। ११ ।।

द्विजेन्द्र यद् विषं हन्या मम वा मद्विधस्य वा ।
कं त्वमर्थमभिप्रेप्सुर्यासि तत्र तपोधन ।। १२ ।।

'तपस्याके धनी द्विजेन्द्र! जब तुम मेरे या मेरे-जैसे दूसरे सर्पके विषको अपनी विद्याके बलसे नष्ट कर सकते हो तो बताओ, तुम कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करनेकी इच्छासे वहाँ जा रहे हो ।। १२ ।।

यत् तेऽभिलषितं प्राप्तुं फलं तस्मान्नृपोत्तमात् ।
अहमेव प्रदास्यामि तत् ते यद्यपि दुर्लभम् ।। १३ ।।

'उस श्रेष्ठ राजासे जो फल प्राप्त करना तुम्हें अभीष्ट है, वह अत्यन्त दुर्लभ हो तो भी मैं ही तुम्हें दे दूँगा ।। १३ ।।

विप्रशापाभिभूते च क्षीणायुषि नराधिपे ।
घटमानस्य ते विप्र सिद्धिः संशयिता भवेत् ।। १४ ।।

‘विप्रवर! महाराज परीक्षित् ब्राह्मणके शापसे तिरस्कृत हैं और उनकी आयु भी समाप्त हो चली है। ऐसी दशामें उन्हें जिलानेके लिये चेष्टा करनेपर तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी, इसमें संदेह है ।। १४ ।।

ततो यशः प्रदीप्तं ते त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
निरंशुरिव घर्मांशुरन्तर्धानमितो व्रजेत् ।। १५ ।।

‘यदि तुम सफल न हुए तो तीनों लोकोंमें विख्यात एवं प्रकाशित तुम्हारा यश किरणरहित सूर्यके समान इस लोकसे अदृश्य हो जायगा’ ।। १५ ।।

काश्यप उवाच

धनार्थी याम्यहं तत्र तन्मे देहि भुजङ्गम ।
ततोऽहं विनिवर्तिष्ये स्वापतेयं प्रगृह्य वै ।। १६ ।।

काश्यपने कहा—नागराज तक्षक! मैं तो वहाँ धनके लिये ही जाता हूँ, वह तुम्हीं मुझे दे दो तो उस धनको लेकर मैं घर लौट जाऊँगा ।। १६ ।।

तक्षक उवाच

यावद्धनं प्रार्थयसे तस्माद् राज्ञस्ततोऽधिकम् ।
अहमेव प्रदास्यामि निवर्तस्व द्विजोत्तम ।। १७ ।।

तक्षक बोला—द्विजश्रेष्ठ! तुम राजा परीक्षित्‌से जितना धन पाना चाहते हो, उससे अधिक मैं ही दे दूँगा, अतः लौट जाओ ।। १७ ।।

सौतिरुवाच

तक्षकस्य वचः श्रुत्वा काश्यपो द्विजसत्तमः ।
प्रदध्यौ सुमहातेजा राजानं प्रति बुद्धिमान् ।। १८ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तक्षककी बात सुनकर परम बुद्धिमान् महातेजस्वी विप्रवर काश्यपने राजा परीक्षित्‌के विषयमें कुछ देर ध्यान लगाकर सोचा ।। १८ ।।

दिव्यज्ञानः स तेजस्वी ज्ञात्वा तं नृपतिं तदा ।
क्षीणायुषं पाण्डवेयमपावर्तत काश्यपः ।। १९ ।।
लब्ध्वा वित्तं मुनिवरस्तक्षकाद् यावदीप्सितम् ।
निवृत्ते काश्यपे तस्मिन् समयेन महात्मनि ।। २० ।।
जगाम तक्षकस्तूर्णं नगरं नागसाह्वयम् ।
अथ शुश्राव गच्छन् स तक्षको जगतीपतिम् ।। २१ ।।
मन्त्रैर्गदैर्विषहरै रक्ष्यमाणं प्रयत्नतः ।

तेजस्वी काश्यप दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न थे। उस समय उन्होंने जान लिया कि पाण्डववंशी राजा परीक्षित्‌की आयु अब समाप्त हो गयी है, अतः वे मुनिश्रेष्ठ तक्षकसे अपनी रुचिके अनुसार धन लेकर वहाँसे लौट गये। महात्मा काश्यपके समय रहते लौट जानेपर तक्षक तुरंत हस्तिनापुर नगरमें जा पहुँचा। वहाँ जानेपर उसने सुना, राजा परीक्षित्‌की मन्त्रों तथा विष उतारनेवाली ओषधियोंद्वारा प्रयत्नपूर्वक रक्षा की जा रही है ।। १९—२१½ ।।

सौतिरुवाच

स चिन्तयामास तदा मायायोगेन पार्थिवः ।। २२ ।।
मया वञ्चयितव्योऽसौ क उपायो भवेदिति ।
ततस्तापसरूपेण प्राहिणोत् स भुजङ्गमान् ।। २३ ।।
फलदर्भोदकं गृह्य राज्ञे नागोऽथ तक्षकः ।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! तब तक्षकने विचार किया, मुझे मायाका आश्रय लेकर राजाको ठग लेना चाहिये; किंतु इसके लिये क्या उपाय हो? तदनन्तर तक्षक नागने फल, दर्भ (कुशा) और जल लेकर कुछ नागोंको तपस्वीरूपमें राजाके पास जानेकी आज्ञा दी ।। २२-२३½ ।।

तक्षक उवाच

गच्छध्वं यूयमव्यग्रा राजानं कार्यवत्तया ।। २४ ।।
फलपुष्पोदकं नाम प्रतिग्राहयितुं नृपम् ।

तक्षकने कहा—तुमलोग कार्यकी सफलताके लिये राजाके पास जाओ, किंतु तनिक भी व्यग्र न होना। तुम्हारे जानेका उद्देश्य है—महाराजको फल, फूल और जल भेंट करना ।। २४½ ।।

सौतिरुवाच

ते तक्षकसमादिष्टास्तथा चक्रुर्भुजङ्गमाः ।। २५ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तक्षकके आदेश देनेपर उन नागोंने वैसा ही किया ।। २५ ।।

उपनिन्युस्तथा राज्ञे दर्भानापः फलानि च ।
तच्च सर्वं स राजेन्द्रः प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।। २६ ।।

वे राजाके पास कुश, जल और फल लेकर गये। परम पराक्रमी महाराज परीक्षित्‌ने उनकी दी हुई वे सब वस्तुएँ ग्रहण कर लीं ।। २६ ।।

कृत्वा तेषां च कार्याणि गम्यतामित्युवाच तान् ।
गतेषु तेषु नागेषु तापसच्छद्मरूपिषु ।। २७ ।।
अमात्यान् सुहृदश्चैव प्रोवाच स नराधिपः ।
भक्षयन्तु भवन्तो वै स्वादूनीमानि सर्वशः ।। २८ ।।

तापसैरुपनीतानि फलानि सहिता मया ।
ततो राजा ससचिवः फलान्यादातुमैच्छत ।। २९ ।।

तदनन्तर उन्हें पारितोषिक देने आदिका कार्य करके कहा—‘अब आपलोग जायँ।’ तपस्वियोंके वेषमें छिपे हुए उन नागोंके चले जानेपर राजाने अपने मन्त्रियों और सुहृदोंसे कहा—‘ये सब तपस्वियोंद्वारा लाये हुए बड़े स्वादिष्ठ फल हैं। इन्हें मेरे साथ आपलोग भी खायँ।’ ऐसा कहकर मन्त्रियोंसहित राजाने उन फलोंको लेनेकी इच्छा की ।। २७—२९ ।।

विधिना सम्प्रयुक्तो वै ऋषिवाक्येन तेन तु ।
यस्मिन्नेव फले नागस्तमेवाभक्षयत् स्वयम् ।। ३० ।।

विधाताके विधान एवं महर्षिके वचनसे प्रेरित होकर राजाने वही फल स्वयं खाया, जिसपर तक्षक नाग बैठा था ।। ३० ।।

ततो भक्षयतस्तस्य फलात् कृमिरभूदणुः ।
ह्रस्वकः कृष्णनयनस्ताम्रवर्णोऽथ शौनक ।। ३१ ।।

शौनकजी! खाते समय राजाके हाथमें जो फल था, उससे एक छोटा-सा कीट प्रकट हुआ। देखनेमें वह अत्यन्त लघु था, उसकी आँखें काली और शरीरका रंग ताँबेके समान था ।। ३१ ।।

स तं गृह्य नृपश्रेष्ठः सचिवानिदमब्रवीत् ।
अस्तमभ्येति सविता विषादद्य न मे भयम् ।। ३२ ।।

नृपश्रेष्ठ परीक्षित्ने उस कीड़ेको हाथमें लेकर मन्त्रियोंसे इस प्रकार कहा—‘अब सूर्यदेव अस्ताचलको जा रहे हैं; इसलिये इस समय मुझे सर्पके विषसे कोई भय नहीं है ।। ३२ ।।

सत्यवागस्तु स मुनिः कृमिर्मां दशतामयम् ।
तक्षको नाम भूत्वा वै तथा परिहृतं भवेत् ।। ३३ ।।

‘वे मुनि सत्यवादी हों, इसके लिये यह कीट ही तक्षक नाम धारण करके मुझे डँस ले। ऐसा करनेसे मेरे दोषका परिहार हो जायगा ।। ३३ ।।

ते चैनमन्ववर्तन्त मन्त्रिणः कालचोदिताः ।
एवमुक्त्वा स राजेन्द्रो ग्रीवायां संनिवेश्य ह ।। ३४ ।।
कृमिकं प्राहसत् तूर्णं मुमूर्षुर्नष्टचेतनः ।
प्रहसन्नेव भोगेन तक्षकेण त्ववेष्ट्यत ।। ३५ ।।
तस्मात् फलाद् विनिष्क्रम्य यत् तद् राज्ञे निवेदितम् ।
वेष्टयित्वा च वेगेन विनद्य च महास्वनम् ।
अदशत् पृथिवीपालं तक्षकः पन्नगेश्वरः ।। ३६ ।।

कालसे प्रेरित होकर मन्त्रियोंने भी उनकी हाँ-में-हाँ मिला दी। मन्त्रियोंसे पूर्वोक्त बात कहकर राजाधिराज परीक्षित् उस लघु कीटको कंधेपर रखकर जोर-जोरसे हँसने लगे। वे

तत्काल ही मरनेवाले थे; अतः उनकी बुद्धि मारी गयी थी। राजा अभी हँस ही रहे थे कि उन्हें जो निवेदित किया गया था उस फलसे निकलकर तक्षक नागने अपने शरीरसे उनको जकड़ लिया। इस प्रकार वेगपूर्वक उनके शरीरमें लिपटकर नागराज तक्षकने बड़े जोरसे गर्जना की और भूपाल परीक्षित्को डँस लिया ।। ३४—३६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि तक्षकदंशे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें तक्षक-दंशनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४३ ।।

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

जनमेजयका राज्याभिषेक और विवाह

सौतिरुवाच

ते तथा मन्त्रिणो दृष्ट्वा भोगेन परिवेष्टितम् ।
विषण्णवदनाः सर्वे रुरुदुर्भृशदुःखिताः ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! मन्त्रीगण राजा परीक्षित्को तक्षक नागसे जकड़ा हुआ देख अत्यन्त दुःखी हो गये। उनके मुखपर विषाद छा गया और वे सब-के-सब रोने लगे ।। १ ।।

तं तु नादं ततः श्रुत्वा मन्त्रिणस्ते प्रदुद्रुवुः ।
अपश्यन्त तथा यान्तमाकाशे नागमद्भुतम् ।। २ ।।
सीमन्तमिव कुर्वाणं नभसः पद्मवर्चसम् ।
तक्षकं पन्नगश्रेष्ठं भृशं शोकपरायणाः ।। ३ ।।

तक्षककी फुंकारभरी गर्जना सुनकर मन्त्रीलोग भाग चले। उन्होंने देखा लाल कमलकी-सी कान्ति-वाला वह अद्भुत नाग आकाशमें सिन्दूरकी रेखा-सी खींचता हुआ चला जा रहा है। नागोंमें श्रेष्ठ तक्षकको इस प्रकार जाते देख वे राजमन्त्री अत्यन्त शोकमें डूब गये ।। २-३ ।।

ततस्तु ते तद् गृहमग्निनाऽऽवृतं
प्रदीप्यमानं विषजेन भोगिनः ।
भयात् परित्यज्य दिशः प्रपेदिरे
पपात राजाशनिताडितो यथा ।। ४ ।।

वह राजमहल सर्पके विषजनित अग्निसे आवृत हो धू-धू करके जलने लगा। यह देख उन सब मन्त्रियोंने भयसे उस स्थानको छोड़कर भिन्न-भिन्न दिशाओंकी शरण ली तथा राजा परीक्षित् वज्रके मारे हुएकी भाँति धरतीपर गिर पड़े ।। ४ ।।

ततो नृपे तक्षकतेजसा हते
प्रयुज्य सर्वाः परलोकसत्क्रियाः ।
शुचिर्द्विजो राजपुरोहितस्तदा
तथैव ते तस्य नृपस्य मन्त्रिणः ।। ५ ।।
नृपं शिशुं तस्य सुतं प्रचक्रिरे
समेत्य सर्वे पुरवासिनो जनाः ।
नृपं यमाहुस्तममित्रघातिनं

कुरुप्रवीरं जनमेजयं जनाः ।। ६ ।।

तक्षककी विषाग्निद्वारा राजा परीक्षित्‌के दग्ध हो जानेपर उनकी समस्त पारलौकिक क्रियाएँ करके पवित्र ब्राह्मण राजपुरोहित, उन महाराजके मन्त्री तथा समस्त पुरवासी मनुष्योंने मिलकर उन्हींके पुत्रको, जिसकी अवस्था अभी बहुत छोटी थी, राजा बना दिया। कुरुकुलका वह श्रेष्ठ वीर अपने शत्रुओंका विनाश करनेवाला था। लोग उसे राजा जनमेजय कहते थे ।। ५-६ ।।

स बाल एवार्यमतिर्नृपोत्तमः
सहैव तैर्मन्त्रिपुरोहितैस्तदा ।
शशास राज्यं कुरुपुङ्गवाग्रजो
यथास्य वीरः प्रपितामहस्तथा ।। ७ ।।

बचपनमें ही नृपश्रेष्ठ जनमेजयकी बुद्धि श्रेष्ठ पुरुषोंके समान थी। अपने वीर प्रपितामह महाराज युधिष्ठिरकी भाँति कुरुश्रेष्ठ वीरोंके अग्रगण्य जनमेजय भी उस समय मन्त्री और पुरोहितोंके साथ धर्मपूर्वक राज्यका पालन करने लगे ।। ७ ।।

ततस्तु राजानममित्रतापनं
समीक्ष्य ते तस्य नृपस्य मन्त्रिणः ।
सुवर्णवर्माणमुपेत्य काशिपं
वपुष्टमार्थं वरयाम्प्रचक्रमुः ।। ८ ।।

राजमन्त्रियोंने देखा, राजा जनमेजय शत्रुओंको दबानेमें समर्थ हो गये हैं, तब उन्होंने काशिराज सुवर्णवर्माकि पास जाकर उनकी पुत्री वपुष्टमाके लिये याचना की ।। ८ ।।

ततः स राजा प्रददौ वपुष्टमां
कुरुप्रवीराय परीक्ष्य धर्मतः ।
स चापि तां प्राप्य मुदायुतोऽभव-
न्न चान्यनारीषु मनोदधे क्वचित् ।। ९ ।।

काशिराजने धर्मकी दृष्टिसे भलीभाँति जाँच-पड़ताल करके अपनी कन्या वपुष्टमाका विवाह कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर जनमेजयके साथ कर दिया। जनमेजयने भी वपुष्टमाको पाकर बड़ी प्रसन्नताका अनुभव किया और दूसरी स्त्रियोंकी ओर कभी अपने मनको नहीं जाने दिया ।। ९ ।।

सरःसु फुल्लेषु वनेषु चैव हि
प्रसन्नचेता विजहार वीर्यवान् ।
तथा स राजन्यवरो विजह्रिवान्
यथोर्वशीं प्राप्य पुरा पुरूरवाः ।। १० ।।

राजाओंमें श्रेष्ठ महापराक्रमी जनमेजयने प्रसन्न-चित्त होकर सरोवरों तथा पुष्पशोभित उपवनोंमें रानी वपुष्टमाके साथ उसी प्रकार विहार किया, जैसे पूर्वकालमें उर्वशीको पाकर

महाराज पुरूरवाने किया था ।। १० ।।

वपुष्टमा चापि वरं पतिव्रता
प्रतीतरूपा समवाप्य भूपतिम् ।
भावेन रामा रमयाम्बभूव सा
विहारकालेष्ववरोधसुन्दरी ।। ११ ।।

वपुष्टमा पतिव्रता थी। उसका रूपसौन्दर्य सर्वत्र विख्यात था। वह राजाके अन्तःपुरमें सबसे सुन्दरी रमणी थी। राजा जनमेजयको पतिरूपमें प्राप्त करके वह विहारकालमें बड़े अनुरागके साथ उन्हें आनन्द प्रदान करती थी ।। ११ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जनमेजयराज्याभिषेके चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जनमेजयराज्याभिषेकसम्बन्धी चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४४ ।।

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

जरत्कारुको अपने पितरोंका दर्शन और उनसे वार्तालाप

सौतिरुवाच

एतस्मिन्नेव काले तु जरत्कारुर्महातपाः ।
चचार पृथिवीं कृत्स्नां यत्रसायंगृहो मुनिः ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इन्हीं दिनोंकी बात है, महातपस्वी जरत्कारु मुनि सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरण कर रहे थे। जहाँ सायंकाल हो जाता, वहीं वे ठहर जाते थे ।। १ ।।

चरन् दीक्षां महातेजा दुश्चरामकृतात्मभिः ।
तीर्थेष्वाप्लवनं कृत्वा पुण्येषु विचचार ह ।। २ ।।

उन महातेजस्वी महर्षिने ऐसे कठोर नियमोंकी दीक्षा ले रखी थी, जिनका पालन करना दूसरे अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये सर्वथा कठिन था। वे पवित्र तीर्थोंमें स्नान करते हुए विचर रहे थे ।। २ ।।

वायुभक्षो निराहारः शुष्यन्नहरहर्मुनिः ।
स ददर्श पितॄन् गर्ते लम्बमानानधोमुखान् ।। ३ ।।
एकतन्त्ववशिष्टं वै वीरणस्तम्बमाश्रितान् ।
तं तन्तुं च शनैराखुमाददानं बिलेशयम् ।। ४ ।।

वे मुनि वायु पीते और निराहार रहते थे; इसलिये दिन-पर-दिन सूखते चले जाते थे। एक दिन उन्होंने पितरोंको देखा, जो नीचे मुँह किये एक गड्ढेमें लटक रहे थे। उन्होंने खश नामक तिनकोंके समूहको पकड़ रखा था, जिसकी जड़में केवल एक तन्तु बच गया था। उस बचे हुए तन्तुको भी वहीं बिलमें रहनेवाला एक चूहा धीरे-धीरे खा रहा था ।। ३-४ ।।

निराहारान् कृशान् दीनान् गर्ते स्वत्राणमिच्छतः ।
उपसृत्य स तान् दीनान् दीनरूपोऽभ्यभाषत ।। ५ ।।

वे पितर निराहार, दीन और दुर्बल हो गये थे और चाहते थे कि कोई हमें इस गड्ढेमें गिरनेसे बचा ले। जरत्कारु उनकी दयनीय दशा देखकर दयासे द्रवित हो स्वयं भी दीन हो गये और उन दीन-दुःखी पितरोंके समीप जाकर बोले— ।। ५ ।।

के भवन्तोऽवलम्बन्ते वीरणस्तम्बमाश्रिताः ।
दुर्बलं खादितैर्मूलैराखुना बिलवासिना ।। ६ ।।

'आपलोग कौन हैं जो खशके गुच्छेके सहारे लटक रहे हैं? इस खशकी जड़ें यहाँ बिलमें रहनेवाले चूहेने खा डाली हैं, इसलिये यह बहुत कमजोर है ।। ६ ।।

वीरणस्तम्बके मूलं यदप्येकमिह स्थितम् ।
तदप्ययं शनैराखुरादत्ते दशनैः शितैः ।। ७ ।।

‘खशके इस गुच्छेमें जो मूलका एक तन्तु यहाँ बचा है, उसे भी यह चूहा अपने तीखे दाँतोंसे धीरे-धीरे कुतर रहा है ।। ७ ।।

छेत्स्यतेऽल्पावशिष्टत्वादेतदप्यचिरादिव ।
ततस्तु पतितारोऽत्र गर्ते व्यक्तमधोमुखाः ।। ८ ।।

‘उसका स्वल्प भाग शेष है, वह भी बात-की-बातमें कट जायगा। फिर तो आपलोग नीचे मुँह किये निश्चय ही इस गड्ढेमें गिर जायँगे ।। ८ ।।

तस्य मे दुःखमुत्पन्नं दृष्ट्वा युष्मानधोमुखान् ।
कृच्छ्रमापदमापन्नान् प्रियं किं करवाणि वः ।। ९ ।।
तपसोऽस्य चतुर्थेन तृतीयेनाथवा पुनः ।
अर्धेन वापि निस्तर्तुमापदं ब्रूत मा चिरम् ।। १० ।।

‘आपको इस प्रकार नीचे मुँह किये लटकते देख मेरे मनमें बड़ा दुःख हो रहा है। आपलोग बड़ी कठिन विपत्तिमें पड़े हैं। मैं आपलोगोंका कौन प्रिय कार्य करूँ? आपलोग मेरी इस तपस्याके चौथे, तीसरे अथवा आधे भागके द्वारा भी इस विपत्तिसे बचाये जा सकें तो शीघ्र बतलावें ।। ९-१० ।।

अथवापि समग्रेण तरन्तु तपसा मम ।
भवन्तः सर्व एवेह काममेवं विधीयताम् ।। ११ ।।

‘अथवा मेरी सारी तपस्याके द्वारा भी यदि आप सभी लोग यहाँ इस संकटसे पार हो सकें तो भले ही ऐसा कर लें’ ।। ११ ।।

पितर ऊचुः

वृद्धो भवान् ब्रह्मचारी यो नस्त्रातुमिहेच्छसि ।
न तु विप्राग्रय तपसा शक्यते तद् व्यपोहितुम् ।। १२ ।।

पितरोंने कहा—विप्रवर! आप बूढ़े ब्रह्मचारी हैं, जो यहाँ हमारी रक्षा करना चाहते हैं; किंतु हमारा संकट तपस्यासे नहीं टाला जा सकता ।। १२ ।।

अस्ति नस्तात तपसः फलं प्रवदतां वर ।
संतानप्रक्षयाद् ब्रह्मन् पताम निरयेऽशुचौ ।। १३ ।।

तात! तपस्याका बल तो हमारे पास भी है। वक्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण! हम तो वंशपरम्पराका विच्छेद होनेके कारण अपवित्र नरकमें गिर रहे हैं ।। १३ ।।

संतानं हि परो धर्म एवमाह पितामहः ।
लम्बतामिह नस्तात न ज्ञानं प्रतिभाति वै ।। १४ ।।

ब्रह्माजीका वचन है कि संतान ही सबसे उत्कृष्ट धर्म है। तात! यहाँ लटकते हुए हमलोगोंकी सुध-बुध प्रायः खो गयी है, हमें कुछ ज्ञात नहीं होता ।। १४ ।।

येन त्वा नाभिजानीमो लोके विख्यातपौरुषम् ।

वृद्धो भवान् महाभागो यो नः शोच्यान् सुदुःखितान् ।। १५ ।।
शोचते चैव कारुण्याच्छृणु ये वै वयं द्विज ।
यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः ।। १६ ।।

इसीलिये लोकमें विख्यात पौरुषवाले आप-जैसे महापुरुषको हम पहचान नहीं पा रहे हैं। आप कोई महान् सौभाग्यशाली महापुरुष हैं, जो अत्यन्त दुःखमें पड़े हुए हम-जैसे शोचनीय प्राणियोंके लिये करुणावश शोक कर रहे हैं। ब्रह्मन्! हमलोग कौन हैं इसका परिचय देते हैं, सुनिये। हम अत्यन्त कठोर व्रतका पालन करनेवाले यायावर नामक महर्षि हैं ।। १५-१६ ।।

लोकात् पुण्यादिह भ्रष्टाः संतानप्रक्षयान्मुने ।
प्रणष्टं नस्तपस्तीव्रं न हि नस्तन्तुरस्ति वै ।। १७ ।।

मुने! वंशपरम्पराका क्षय होनेके कारण हमें पुण्य-लोकसे भ्रष्ट होना पड़ा है। हमारी तीव्र तपस्या नष्ट हो गयी; क्योंकि हमारे कुलमें अब कोई संतति नहीं रह गयी है ।। १७ ।।

अस्ति त्वेकोऽद्य नस्तन्तुः सोऽपि नास्ति यथा तथा ।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एकं समास्थितः ।। १८ ।।

आजकल हमारी परम्परामें एक ही तन्तु या संतति शेष है, किंतु वह भी नहींके बराबर है। हम अल्पभाग्य हैं, इसीसे वह मन्दभाग्य संतति एकमात्र तपमें लगी हुई है ।। १८ ।।

जरत्कारुरिति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः ।
नियतात्मा महात्मा च सुव्रतः सुमहातपाः ।। १९ ।।

उसका नाम है जरत्कारु। वह वेद-वेदांगोंका पारंगत विद्वान् होनेके साथ ही मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला, महात्मा, उत्तम व्रतका पालक और महान् तपस्वी है ।। १९ ।।

तेन स्म तपसो लोभात् कृच्छ्रमापादिता वयम् ।
न तस्य भार्या पुत्रो वा बान्धवो वास्ति कश्चन ।। २० ।।

उसने तपस्याके लोभसे हमें संकटमें डाल दिया है। उसके न पत्नी है, न पुत्र और न कोई भाई-बन्धु ही है ।। २० ।।

तस्माल्लम्बामहे गर्ते नष्टसंज्ञा ह्यनाथवत् ।
स वक्तव्यस्त्वया दृष्टो ह्यस्माकं नाथवत्तया ।। २१ ।।

इसीसे हमलोग अपनी सुध-बुध खोकर अनाथकी तरह इस गड्ढेमें लटक रहे हैं। यदि वह आपके देखनेमें आवे तो हम अनाथोंको सनाथ करनेके लिये उससे इस प्रकार कहियेगा — ।। २१ ।।

पितरस्तेऽवलम्बन्ते गर्ते दीना अधोमुखाः ।
साधु दारान् कुरुष्वेति प्रजामुत्पादयेति च ।। २२ ।।

‘जरत्कारो! तुम्हारे पितर अत्यन्त दीन हो नीचे मुँह करके गड्ढेमें लटक रहे हैं। तुम उत्तम रीतिसे पत्नीके साथ विवाह कर लो और उसके द्वारा संतान उत्पन्न करो ।। २२ ।।

कुलतन्तुर्हि नः शिष्टस्त्वमेवैकस्तपोधन ।
यस्त्वं पश्यसि नो ब्रह्मन् वीरणस्तम्बमाश्रितान् ।। २३ ।।
एषोऽस्माकं कुलस्तम्ब आस्ते स्वकुलवर्धनः ।
यानि पश्यसि वै ब्रह्मन् मूलानीहास्य वीरुधः ।। २४ ।।
एते नस्तन्तवस्तात कालेन परिभक्षिताः ।
यत्त्वेतत् पश्यसि ब्रह्मन् मूलमस्यार्धभक्षितम् ।। २५ ।।
यत्र लम्बामहे गर्ते सोऽप्येकस्तप आस्थितः ।
यमाखुं पश्यसि ब्रह्मन् काल एष महाबलः ।। २६ ।।

‘तपोधन! तुम्हीं अपने पूर्वजोंके कुलमें एकमात्र तन्तु बच रहे हो। ब्रह्मन्! आप जो हमें खशके गुच्छेका सहारा लेकर लटकते देख रहे हैं, यह खशका गुच्छा नहीं है, हमारे कुलका आश्रय है, जो अपने कुलको बढ़ानेवाला है। विप्रवर! इस खशकी जो कटी हुई जड़ें यहाँ आपकी दृष्टिमें आ रही हैं, ये ही हमारे वंशके वे तन्तु (संतान) हैं, जिन्हें कालरूपी चूहेने खा लिया है। ब्राह्मण! आप जो इस खशकी यह अधकटी जड़ देखते हैं, जिसके सहारे हम गड्ढेमें लटक रहे हैं, यह वही एकमात्र संतान जरत्कारु है, जो तपस्यामें लगा है और ब्राह्मण देवता! जिसे आप चूहेके रूपमें देख रहे हैं, यह महाबली काल है ।। २३—२६ ।।

स तं तपोरतं मन्दं शनैः क्षपयते तुदन् ।
जरत्कारुं तपोलब्धं मन्दात्मानमचेतसम् ।। २७ ।।

‘वह उस तपस्वी एवं मूढ़ जरत्कारुको, जो तपको ही लाभ माननेवाला, मन्दात्मा (अदूरदर्शी) और अचेत (जड) हो रहा है, धीरे-धीरे पीड़ा देते हुए दाँतोंसे काट रहा है ।। २७ ।।

न हि नस्तत् तपस्तस्य तारयिष्यति सत्तम ।
छिन्नमूलान् परिभ्रष्टान् कालोपहतचेतसः ।। २८ ।।
अधःप्रविष्टान् पश्यास्मान् यथा दुष्कृतिनस्तथा ।
अस्मासु पतितेष्वत्र सह सर्वैः सबान्धवैः ।। २९ ।।
छिन्नः कालेन सोऽप्यत्र गन्ता वै नरकं ततः ।
तपो वाप्यथवा यज्ञो यच्चान्यत् पावनं महत् ।। ३० ।।
तत् सर्वमपरं तात न संतत्या समं मतम् ।
स तात दृष्ट्वा ब्रूयास्तं जरत्कारुं तपोधन ।। ३१ ।।
यथा दृष्टमिदं चात्र त्वयाख्येयमशेषतः ।
यथा दारान् प्रकुर्यात् स पुत्रानुत्पादयेद् यथा ।। ३२ ।।
तथा ब्रह्मंस्त्वया वाच्यः सोऽस्माकं नाथवत्तया ।

बान्धवानां हितस्येह यथा चात्मकुलं तथा ।। ३३ ।।
कस्त्वं बन्धुमिवास्माकमनुशोचसि सत्तम ।
श्रोतुमिच्छाम सर्वेषां को भवानिह तिष्ठति ।। ३४ ।।

'साधुशिरोमणे! उस जरत्कारुकी तपस्या हमें इस संकटसे नहीं उबारेगी। देखिये, हमारी जड़ें कट गयी हैं, कालने हमारी चेतनाशक्ति नष्ट कर दी है और हम अपने स्थानसे भ्रष्ट होकर नीचे इस गड्ढेमें गिर रहे हैं। जैसे पापियोंकी दुर्गति होती है, वैसे ही हमारी होती है। हम समस्त बन्धु-बान्धवोंके साथ जब इस गड्ढेमें गिर जायँगे, तब वह जरत्कारु भी कालका ग्रास बनकर अवश्य इसी नरकमें आ गिरेगा। तात! तपस्या, यज्ञ अथवा अन्य जो महान् एवं पवित्र साधन हैं, वे सब संतानके समान नहीं हैं। तात! आप तपस्याके धनी जान पड़ते हैं। आपको तपस्वी जरत्कारु मिल जाय तो उससे हमारा संदेश कहियेगा और आपने यहाँ जो कुछ देखा है, वह सब उसे बता दीजियेगा! ब्रह्मन्! हमें सनाथ बनानेकी दृष्टिसे आप जरत्कारुके साथ इस प्रकार वार्तालाप कीजियेगा, जिससे वह पत्नी-संग्रह करे और उसके द्वारा पुत्रोंको जन्म दे। तात! जरत्कारुके बान्धव जो हमलोग हैं, हमारे लिये अपने कुलकी भाँति अपने भाई-बन्धुके समान आप सोच कर रहे हैं। अतः साधुशिरोमणे! बताइये, आप कौन हैं? हम सब लोगोंमेंसे आप किसके क्या लगते हैं, जो यहाँ खड़े हुए हैं? हम आपका परिचय सुनना चाहते हैं' ।। २८—३४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कारुपितृदर्शने पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जरत्कारुके पितृदर्शनविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४५ ।।

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

जरत्कारुका शर्तके साथ विवाहके लिये उद्यत होना और नागराज वासुकिका जरत्कारु नामकी कन्याको लेकर आना

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा जरत्कारुर्भृशं शोकपरायणः ।
उवाच तान् पितॄन् दुःखाद् वाष्पसंदिग्धया गिरा ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! यह सुनकर जरत्कारु अत्यन्त शोकमें मग्न हो गये और दुःखसे आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीमें अपने पितरोंसे बोले ।। १ ।।

जरत्कारुरुवाच

मम पूर्वे भवन्तो वै पितरः सपितामहाः ।
तद् ब्रूत यन्मया कार्यं भवतां प्रियकाम्यया ।। २ ।।
अहमेव जरत्कारुः किल्बिषी भवतां सुतः ।
ते दण्डं धारयत मे दुष्कृतेरकृतात्मनः ।। ३ ।।

जरत्कारुने कहा—आप मेरे ही पूर्वज पिता और पितामह आदि हैं। अतः बताइये आपका प्रिय करनेके लिये मुझे क्या करना चाहिये। मैं ही आपलोगोंका पुत्र पापी जरत्कारु हूँ। आप मुझ अकृतात्मा पापीको इच्छानुसार दण्ड दें ।। २-३ ।।

पितर ऊचुः

पुत्र दिष्ट्यासि सम्प्राप्त इमं देशं यदृच्छया ।
किमर्थं च त्वया ब्रह्मन् न कृतो दारसंग्रहः ।। ४ ।।

पितर बोले—पुत्र! बड़े सौभाग्यकी बात है जो तुम अकस्मात् इस स्थानपर आ गये। ब्रह्मन्! तुमने अबतक विवाह क्यों नहीं किया? ।। ४ ।।

जरत्कारुरुवाच

ममायं पितरो नित्यं यद्यर्थः परिवर्तते ।
ऊर्ध्वरेताः शरीरं वै प्रापयेयममुत्र वै ।। ५ ।।

जरत्कारुने कहा—पितृगण! मेरे हृदयमें यह बात निरन्तर घूमती रहती थी कि मैं ऊर्ध्वरेता (अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालक) होकर इस शरीरको परलोक (पुण्यधाम)-में पहुँचाऊँ ।। ५ ।।

न दारान् वै करिष्येऽहमिति मे भावितं मनः ।

एवं दृष्ट्वा तु भवतः शकुन्तानिव लम्बतः ।। ६ ।।
मया निवर्तिता बुद्धिर्ब्रह्मचर्यात् पितामहाः ।
करिष्ये वः प्रियं कामं निवेक्ष्येऽहमसंशयम् ।। ७ ।।

अतः मैंने अपने मनमें यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि 'मैं कभी पत्नी-परिग्रह (विवाह) नहीं करूँगा।' किंतु पितामहो! आपको पक्षियोंकी भाँति लटकते देख अखण्ड ब्रह्मचर्यके पालन-सम्बन्धी निश्चयसे मैंने अपनी बुद्धि लौटा ली है। अब मैं आपका प्रिय मनोरथ पूर्ण करूँगा, निश्चय ही विवाह कर लूँगा ।। ६-७ ।।

सनाम्नीं यद्यहं कन्यामुपलप्स्ये कदाचन ।
भविष्यति च या काचिद् भैक्ष्यवत् स्वयमुद्यता ।। ८ ।।
प्रतिग्रहीता तामस्मि न भरेयं च यामहम् ।
एवंविधमहं कुर्यां निवेशं प्राप्नुयां यदि ।
अन्यथा न करिष्येऽहं सत्यमेतत् पितामहाः ।। ९ ।।

(परंतु इसके लिये एक शर्त होगी—) 'यदि मैं कभी अपने ही जैसे नामवाली कुमारी कन्या पाऊँगा, उसमें भी जो भिक्षाकी भाँति बिना माँगे स्वयं ही विवाहके लिये प्रस्तुत हो जायगी और जिसके पालन-पोषणका भार मुझपर न होगा, उसीका मैं पाणिग्रहण करूँगा।' यदि ऐसा विवाह मुझे सुलभ हो जाय तो कर लूँगा, अन्यथा विवाह करूँगा ही नहीं। पितामहो! यह मेरा सत्य निश्चय है ।। ८-९ ।।

तत्र चोत्पत्स्यते जन्तुर्भवतां तारणाय वै ।
शाश्वताश्चाव्ययाश्चैव तिष्ठन्तु पितरो मम ।। १० ।।

वैसे विवाहसे जो पत्नी मिलेगी, उसीके गर्भसे आपलोगोंको तारनेके लिये कोई प्राणी उत्पन्न होगा। मैं चाहता हूँ मेरे पितर नित्य शाश्वत लोकोंमें बने रहें, वहाँ वे अक्षय सुखके भागी हों ।। १० ।।

सौतिरुवाच

एवमुक्त्वा तु स पितॄंश्चचार पृथिवीं मुनिः ।
न च स्म लभते भार्यां वृद्धोऽयमिति शौनक ।। ११ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! इस प्रकार पितरोंसे कहकर जरत्कारु मुनि पूर्ववत् पृथ्वीपर विचरने लगे। परंतु 'यह बूढ़ा है' ऐसा समझकर किसीने कन्या नहीं दी, अतः उन्हें पत्नी उपलब्ध न हो सकी ।। ११ ।।

यदा निर्वेदमापन्नः पितृभिश्चोदितस्तथा ।
तदारण्यं स गत्वोच्चैश्चुक्रोश भृशदुःखितः ।। १२ ।।

जब वे विवाहकी प्रतीक्षामें खिन्न हो गये, तब पितरोंसे प्रेरित होनेके कारण वनमें जाकर अत्यन्त दुःखी हो जोर-जोरसे ब्याहके लिये पुकारने लगे ।। १२ ।।

स त्वरण्यगतः प्राज्ञः पितॄणां हितकाम्यया ।
उवाच कन्यां याचामि तिस्रो वाचः शनैरिमाः ।। १३ ।।

वनमें जानेपर विद्वान् जरत्कारुने पितरोंके हितकी कामनासे तीन बार धीरे-धीरे यह बात कही—'मैं कन्या माँगता हूँ' ।। १३ ।।

यानि भूतानि सन्तीह स्थावराणि चराणि च ।
अन्तर्हितानि वा यानि तानि शृण्वन्तु मे वचः ।। १४ ।।

(फिर जोरसे बोले—) 'यहाँ जो स्थावर-जंगम, दृश्य या अदृश्य प्राणी हैं, वे सब मेरी बात सुनें— ।। १४ ।।

उग्रे तपसि वर्तन्ते पितरश्चोदयन्ति माम् ।
निविशस्वेति दुःखार्ताः संतानस्य चिकीर्षया ।। १५ ।।

'मेरे पितर भयंकर कष्टमें पड़े हैं और दुःखसे आतुर हो संतान-प्राप्तिकी इच्छा रखकर मुझे प्रेरित कर रहे हैं कि 'तुम विवाह कर लो' ।। १५ ।।

निवेशायाखिलां भूमिं कन्याभैक्ष्यं चरामि भोः ।
दरिद्रो दुःखशीलश्च पितृभिः संनियोजितः ।। १६ ।।

'अतः विवाहके लिये मैं सारी पृथ्वीपर घूमकर कन्याकी भिक्षा चाहता हूँ। यद्यपि मैं दरिद्र हूँ और सुविधाओंके अभावमें दुःखी हूँ, तो भी पितरोंकी आज्ञासे विवाहके लिये उद्यत हूँ ।। १६ ।।

यस्य कन्यास्ति भूतस्य ये मयेह प्रकीर्तिताः ।
ते मे कन्यां प्रयच्छन्तु चरतः सर्वतोदिशम् ।। १७ ।।

'मैंने यहाँ जिनका नाम लेकर पुकारा है, उनमेंसे जिस किसी भी प्राणीके पास विवाहके योग्य विख्यात गुणोंवाली कन्या हो, वह सब दिशाओंमें विचरनेवाले मुझ ब्राह्मणको अपनी कन्या दे ।। १७ ।।

मम कन्या सनाम्नी या भैक्ष्यवच्चोदिता भवेत् ।
भरेयं चैव यां नाहं तां मे कन्यां प्रयच्छत ।। १८ ।।

'जो कन्या मेरे ही जैसे नामवाली हो, भिक्षाकी भाँति मुझे दी जा सकती हो और जिसके भरण-पोषणका भार मुझपर न हो, ऐसी कन्या कोई मुझे दे' ।। १८ ।।

ततस्ते पन्नगा ये वै जरत्कारौ समाहिताः ।
तामादाय प्रवृत्तिं ते वासुकेः प्रत्यवेदयन् ।। १९ ।।

तब उन नागोंने जो जरत्कारु मुनिकी खोजमें लगाये गये थे, उनका यह समाचार पाकर उन्होंने नागराज वासुकिको सूचित किया ।। १९ ।।

तेषां श्रुत्वा स नागेन्द्रस्तां कन्यां समलंकृताम् ।
प्रगृह्यारण्यमगमत् समीपं तस्य पन्नगः ।। २० ।।

उनकी बात सुनकर नागराज वासुकि अपनी उस कुमारी बहिनको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके साथ ले वनमें मुनिके समीप गये ।। २० ।।

तत्र तां भैक्ष्यवत् कन्यां प्रादात् तस्मै महात्मने ।
नागेन्द्रो वासुकिर्ब्रह्मन् न स तां प्रत्यगृह्णत ।। २१ ।।

ब्रह्मन्! वहाँ नागेन्द्र वासुकिने महात्मा जरत्कारुको भिक्षाकी भाँति वह कन्या समर्पित की; किंतु उन्होंने सहसा उसे स्वीकार नहीं किया ।। २१ ।।

असनामेति वै मत्वा भरणे चाविचारिते ।
मोक्षभावे स्थितश्चापि मन्दीभूतः परिग्रहे ।। २२ ।।
ततो नाम स कन्यायाः पप्रच्छ भृगुनन्दन ।
वासुकिं भरणं चास्या न कुर्यामित्युवाच ह ।। २३ ।।

सोचा, सम्भव है। यह कन्या मेरे-जैसे नामवाली न हो। इसके भरण-पोषणका भार किसपर रहेगा, इस बातका निर्णय भी अभीतक नहीं हो पाया है। इसके सिवा मैं मोक्षभावमें स्थित हूँ, यही सोचकर उन्होंने पत्नी-परिग्रहमें शिथिलता दिखायी। भृगुनन्दन! इसीलिये पहले उन्होंने वासुकिसे उस कन्याका नाम पूछा और यह स्पष्ट कह दिया—‘मैं इसका भरण-पोषण नहीं करूँगा’ ।। २२-२३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि वासुकिजरत्कारुसमागमे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें वासुकि-जरत्कारु-समागमसम्बन्धी छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४६ ।।

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

जरत्कारु मुनिका नागकन्याके साथ विवाह, नागकन्या जरत्कारुद्वारा पतिसेवा तथा पतिका उसे त्यागकर तपस्याके लिये गमन

सौतिरुवाच

वासुकिस्त्वब्रवीद् वाक्यं जरत्कारुमृषिं तदा ।
सनाम्नी तव कन्येयं स्वसा मे तपसान्विता ।। १ ।।
भरिष्यामि च ते भार्यां प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम ।
रक्षणं च करिष्येऽस्याः सर्वशक्त्या तपोधन ।
त्वदर्थं रक्ष्यते चैषा मया मुनिवरोत्तम ।। २ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! उस समय वासुकिने जरत्कारु मुनिसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ! इस कन्याका वही नाम है, जो आपका है। यह मेरी बहिन है और आपकी ही भाँति तपस्विनी भी है। आप इसे ग्रहण करें। आपकी पत्नीका भरण-पोषण मैं करूँगा। तपोधन! अपनी सारी शक्ति लगाकर मैं इसकी रक्षा करता रहूँगा। मुनिश्रेष्ठ! अबतक आपहीके लिये मैंने इसकी रक्षा की है ।। १-२ ।।

ऋषिरुवाच

न भरिष्येऽहमेतां वै एष मे समयः कृतः ।
अप्रियं च न कर्तव्यं कृते चैनां त्यजाम्यहम् ।। ३ ।।

ऋषिने कहा—नागराज! मैं इसका भरण-पोषण नहीं करूँगा, मेरी यह शर्त तो तय हो गयी। अब दूसरी शर्त यह है कि तुम्हारी इस बहिनको कभी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जो मुझे अप्रिय लगे। यदि अप्रिय कार्य कर बैठेगी तो उसी समय मैं इसे त्याग दूँगा ।। ३ ।।

सौतिरुवाच

प्रतिश्रुते तु नागेन भरिष्ये भगिनीमिति ।
जरत्कारुस्तदा वेश्म भुजगस्य जगाम ह ।। ४ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—नागराजने यह शर्त स्वीकार कर ली कि 'मैं अपनी बहिनका भरण-पोषण करूँगा।' तब जरत्कारु मुनि वासुकिके भवनमें गये ।। ४ ।।

तत्र मन्त्रविदां श्रेष्ठस्तपोवृद्धो महाव्रतः ।
जग्राह पाणिं धर्मात्मा विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ।। ५ ।।

वहाँ मन्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ तपोवृद्ध महाव्रती धर्मात्मा जरत्कारुने शास्त्रीय विधि और मन्त्रोच्चारणके साथ नागकन्याका पाणिग्रहण किया ।। ५ ।।

ततो वासगृहं रम्यं पन्नगेन्द्रस्य सम्मतम् ।
जगाम भार्यामादाय स्तूयमानो महर्षिभिः ।। ६ ।।

तदनन्तर महर्षियोंसे प्रशंसित होते हुए वे नागराजके रमणीय भवनमें, जो मनके अनुकूल था, अपनी पत्नीको लेकर गये ।। ६ ।।

शयनं तत्र संक्लृप्तं स्पर्ध्यास्तरणसंवृतम् ।
तत्र भार्यासहायो वै जरत्कारुरुवास ह ।। ७ ।।

वहाँ बहुमूल्य बिछौनोंसे सजी हुई शय्या बिछी थी। जरत्कारु मुनि अपनी पत्नीके साथ उसी भवनमें रहने लगे ।। ७ ।।

स तत्र समयं चक्रे भार्यया सह सत्तमः ।
विप्रियं मे न कर्तव्यं न च वाच्यं कदाचन ।। ८ ।।

उन साधुशिरोमणिने वहाँ अपनी पत्नीके सामने यह शर्त रखी—'तुम्हें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये, जो मुझे अप्रिय लगे। साथ ही कभी अप्रिय वचन भी नहीं बोलना चाहिये ।। ८ ।।

त्यजेयं विप्रिये च त्वां कृते वासं च ते गृहे ।
एतद् गृहाण वचनं मया यत् समुदीरितम् ।। ९ ।।

'तुमसे अप्रिय कार्य हो जानेपर मैं तुम्हें और तुम्हारे घरमें रहना छोड़ दूँगा। मैंने जो कुछ कहा है, मेरे इस वचनको दृढ़तापूर्वक धारण कर लो' ।। ९ ।।

ततः परमसंविग्ना स्वसा नागपतेस्तदा ।
अतिदुःखान्विता वाक्यं तमुवाचैवमस्त्विति ।। १० ।।

यह सुनकर नागराजकी बहिन अत्यन्त उद्विग्न हो गयी और उस समय बहुत दुःखी होकर बोली—'भगवन्! ऐसा ही होगा' ।। १० ।।

तथैव सा च भर्तारं दुःखशीलमुपाचरत् ।
उपायैः श्वेतकाकीयैः प्रियकामा यशस्विनी ।। ११ ।।

फिर वह यशस्विनी नागकन्या दुःखद स्वभाववाले पतिकी उसी शर्तके अनुसार सेवा करने लगी। वह श्वेतकाकीय* उपायोंसे सदा पतिका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर निरन्तर उनकी आराधनामें लगी रहती थी ।। ११ ।।

ऋतुकाले ततः स्नाता कदाचिद् वासुकेः स्वसा ।
भर्तारं वै यथान्यायमुपतस्थे महामुनिम् ।। १२ ।।

तदनन्तर किसी समय ऋतुकाल आनेपर वासुकिकी बहिन स्नान करके न्यायपूर्वक अपने पति महामुनि जरत्कारुकी सेवामें उपस्थित हुई ।। १२ ।।

तत्र तस्याः समभवद् गर्भो ज्वलनसंनिभः ।

अतीवतेजसा युक्तो वैश्वानरसमद्युतिः ।। १३ ।।

वहाँ उसे गर्भ रह गया, जो प्रज्वलित अग्निके समान अत्यन्त तेजस्वी तथा तपःशक्तिसे सम्पन्न था। उसकी अंगकान्ति अग्निके तुल्य थी ।। १३ ।।

शुक्लपक्षे यथा सोमो व्यवर्धत तथैव सः ।
ततः कतिपयाहस्य जरत्कारुर्महायशाः ।। १४ ।।
उत्सङ्गेऽस्याः शिरः कृत्वा सुष्वाप परिखिन्नवत् ।
तस्मिंश्च सुप्ते विप्रेन्द्रे सवितास्तमियाद् गिरिम् ।। १५ ।।

जैसे शुक्लपक्षमें चन्द्रमा बढ़ते हैं, उसी प्रकार वह गर्भ भी नित्य परिपुष्ट होने लगा। तत्पश्चात् कुछ दिनोंके बाद महातपस्वी जरत्कारु कुछ खिन्न-से होकर अपनी पत्नीकी गोदमें सिर रखकर सो गये। उन विप्रवर जरत्कारुके सोते समय ही सूर्य अस्ताचलको जाने लगे ।। १४-१५ ।।

अह्नः परिक्षये ब्रह्मंस्ततः साचिन्तयत् तदा ।
वासुकेर्भगिनी भीता धर्मलोपान्मनस्विनी ।। १६ ।।
किं नु मे सुकृतं भूयाद् भर्तुरुत्थापनं न वा ।
दुःखशीलो हि धर्मात्मा कथं नास्यापराध्नुयाम् ।। १७ ।।

ब्रह्मन्! दिन समाप्त होने ही वाला था। अतः वासुकिकी मनस्विनी बहिन जरत्कारु अपने पतिके धर्मलोपसे भयभीत हो उस समय इस प्रकार सोचने लगी—'इस समय पतिको जगाना मेरे लिये अच्छा (धर्मानुकूल) होगा या नहीं? मेरे धर्मात्मा पतिका स्वभाव बड़ा दुःखद है। मैं कैसा बर्ताव करूँ, जिससे उनकी दृष्टिमें अपराधिनी न बनूँ ।। १६-१७ ।।

कोपो वा धर्मशीलस्य धर्मलोपोऽथवा पुनः ।
धर्मलोपो गरीयान् वै स्यादित्यत्राकरोन्मतिम् ।। १८ ।।
उत्थापयिष्ये यद्येनं ध्रुवं कोपं करिष्यति ।
धर्मलोपो भवेदस्य संध्यातिक्रमणे ध्रुवम् ।। १९ ।।

'यदि इन्हें जगाऊँगी तो निश्चय ही इन्हें मुझपर क्रोध होगा और यदि सोते-सोते संध्योपासनका समय बीत गया तो अवश्य इनके धर्मका लोप हो जायगा, ऐसी दशामें धर्मात्मा पतिका कोप स्वीकार करूँ या उनके धर्मका लोप? इन दोनोंमें धर्मका लोप ही भारी जान पड़ता है।' अतः जिससे उनके धर्मका लोप न हो, वही कार्य करनेका उसने निश्चय किया ।। १८-१९ ।।

इति निश्चित्य मनसा जरत्कारुर्भुजङ्गमा ।
तमृषिं दीप्ततपसं शयानमनलोपमम् ।। २० ।।
उवाचेदं वचः श्लक्ष्णं ततो मधुरभाषिणी ।
उत्तिष्ठ त्वं महाभाग सूर्योऽस्तमुपगच्छति ।। २१ ।।

मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके मीठे वचन बोलनेवाली नागकन्या जरत्कारुने वहाँ सोते हुए अग्निके समान तेजस्वी एवं तीव्र तपस्वी महर्षिसे मधुरवाणीमें यों कहा—'महाभाग! उठिये, सूर्यदेव अस्ताचलको जा रहे हैं ।। २०-२१ ।।

संध्यामुपास्स्व भगवन्नपः स्पृष्ट्वा यतव्रतः ।
प्रादुष्कृताग्निहोत्रोऽयं मुहूर्तो रम्यदारुणः ।। २२ ।।
संध्या प्रवर्तते चेयं पश्चिमायां दिशि प्रभो ।

'भगवन्! आप संयमपूर्वक आचमन करके संध्योपासन कीजिये। अब अग्निहोत्रकी बेला हो रही है। यह मुहूर्त धर्मका साधन होनेके कारण अत्यन्त रमणीय जान पड़ता है। इसमें भूत आदि प्राणी विचरते हैं, अतः भयंकर भी है। प्रभो! पश्चिम दिशामें संध्या प्रकट हो रही है—उधरका आकाश लाल हो रहा है' ।। २२½ ।।

एवमुक्तः स भगवान् जरत्कारुर्महातपाः ।। २३ ।।
भार्यां प्रस्फुरमाणौष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।
अवमानः प्रयुक्तोऽयं त्वया मम भुजङ्गमे ।। २४ ।।

नागकन्याके ऐसा कहनेपर महातपस्वी भगवान् जरत्कारु जाग उठे। उस समय क्रोधके मारे उनके होठ काँपने लगे। वे इस प्रकार बोले—'नागकन्ये! तूने मेरा यह अपमान किया है ।। २३-२४ ।।

समीपे ते न वत्स्यामि गमिष्यामि यथागतम् ।
शक्तिरस्ति न वामोरु मयि सुप्ते विभावसोः ।। २५ ।।
अस्तं गन्तुं यथाकालमिति मे हृदि वर्तते ।
न चाप्यवमतस्येह वासो रोचेत कस्यचित् ।। २६ ।।
किं पुनर्धर्मशीलस्य मम वा मद्विधस्य वा ।

'इसलिये अब मैं तेरे पास नहीं रहूँगा। जैसे आया हूँ, वैसे ही चला जाऊँगा। वामोरु! सूर्यमें इतनी शक्ति नहीं है कि मैं सोता रहूँ और वे अस्त हो जायँ। यह मेरे हृदयमें निश्चय है। जिसका कहीं अपमान हो जाय ऐसे किसी भी पुरुषको वहाँ रहना अच्छा नहीं लगता। फिर मेरी अथवा मेरे-जैसे दूसरे धर्मशील पुरुषकी तो बात ही क्या है' ।। २५-२६½ ।।

एवमुक्ता जरत्कारुर्भर्त्रा हृदयकम्पनम् ।। २७ ।।
अब्रवीद् भगिनी तत्र वासुकेः संनिवेशने ।
नावमानात् कृतवती तवाहं विप्र बोधनम् ।। २८ ।।
धर्मलोपो न ते विप्र स्यादित्येतन्मया कृतम् ।
उवाच भार्यामित्युक्तो जरत्कारुर्महातपाः ।। २९ ।।
ऋषिः कोपसमाविष्टस्त्यक्तुकामो भुजङ्गमाम् ।
न मे वागनृतं प्राह गमिष्येऽहं भुजङ्गमे ।। ३० ।।

जब पतिने इस प्रकार हृदयमें कँपकँपी पैदा करनेवाली बात कही, तब उस घरमें स्थित वासुकिकी बहिन इस प्रकार बोली—'विप्रवर! मैंने अपमान करनेके लिये आपको नहीं जगाया था। आपके धर्मका लोप न हो जाय, यही ध्यानमें रखकर मैंने ऐसा किया है।' यह सुनकर क्रोधमें भरे हुए महातपस्वी ऋषि जरत्कारुने अपनी पत्नी नागकन्याको त्याग देनेकी इच्छा रखकर उससे कहा—'नागकन्ये! मैंने कभी झूठी बात मुँहसे नहीं निकाली है, अतः अवश्य जाऊँगा' ।। २७—३० ।।

समयो ह्येष मे पूर्वं त्वया सह मिथः कृतः ।
सुखमस्म्युषितो भद्रे ब्रूयास्त्वं भ्रातरं शुभे ।। ३१ ।।
इतो मयि गते भीरु गतः स भगवानिति ।
त्वं चापि मयि निष्क्रान्ते न शोकं कर्तुमर्हसि ।। ३२ ।।

'मैंने तुम्हारे साथ आपसमें पहले ही ऐसी शर्त कर ली थी। भद्रे! मैं यहाँ बड़े सुखसे रहा हूँ। यहाँसे मेरे चले जानेके बाद अपने भाईसे कहना—'भगवान् जरत्कारु चले गये।' शुभे! भीरु! मेरे निकल जानेपर तुम्हें भी शोक नहीं करना चाहिये' ।। ३१-३२ ।।

इत्युक्ता सानवद्याङ्गी प्रत्युवाच मुनिं तदा ।
जरत्कारुं जरत्कारुश्चिन्ताशोकपरायणा ।। ३३ ।।
बाष्पगद्गदया वाचा मुखेन परिशुष्यता ।
कृताञ्जलिर्वरारोहा पर्यश्रुनयना ततः ।। ३४ ।।
धैर्यमालम्ब्य वामोरुर्हृदयेन प्रवेपता ।
न मामर्हसि धर्मज्ञ परित्यक्तुमनागसम् ।। ३५ ।।
धर्मे स्थितां स्थितो धर्मे सदा प्रियहिते रताम् ।
प्रदाने कारणं यच्च मम तुभ्यं द्विजोत्तम ।। ३६ ।।
तदलब्धवतीं मन्दां किं मां वक्ष्यति वासुकिः ।
मातृशापाभिभूतानां ज्ञातीनां मम सत्तम ।। ३७ ।।
अपत्यमीप्सितं त्वत्तस्तच्च तावन्न दृश्यते ।
त्वत्तो ह्यपत्यलाभेन ज्ञातीनां मे शिवं भवेत् ।। ३८ ।।

उनके ऐसा कहनेपर अनिन्द्य सुन्दरी जरत्कारु भाईके कार्यकी चिन्ता और पतिके वियोगजनित शोकमें डूब गयी। उसका मुँह सूख गया, नेत्रोंमें आँसू छलक आये और हृदय काँपने लगा। फिर किसी प्रकार धैर्य धारण करके सुन्दर जाँघों और मनोहर शरीरवाली वह नागकन्या हाथ जोड़ गद्गद वाणीमें जरत्कारु मुनिसे बोली—'धर्मज्ञ! आप सदा धर्ममें स्थित रहनेवाले हैं। मैं भी पत्नी-धर्ममें स्थित तथा आप प्रियतमके हितमें लगी रहनेवाली हूँ। आपको मुझ निरपराध अबलाका त्याग नहीं करना चाहिये। द्विजश्रेष्ठ! मेरे भाईने जिस उद्देश्यको लेकर आपके साथ मेरा विवाह किया था, मैं मन्दभागिनी अबतक उसे पा न सकी। नागराज वासुकि मुझसे क्या कहेंगे? साधुशिरोमणे! मेरे कुटुम्बीजन माताके शापसे

दबे हुए हैं। उन्हें मेरे द्वारा आपसे एक संतानकी प्राप्ति अभीष्ट थी, किंतु उसका भी अबतक दर्शन नहीं हुआ। आपसे पुत्रकी प्राप्ति हो जाय तो उसके द्वारा मेरे जाति-भाइयोंका कल्याण हो सकता है ।। ३३—३८ ।।

सम्प्रयोगो भवेन्नायं मम मोघस्त्वया द्विज ।
ज्ञातीनां हितमिच्छन्ती भगवंस्त्वां प्रसादये ।। ३९ ।।

'ब्रह्मन्! आपसे जो मेरा सम्बन्ध हुआ, वह व्यर्थ नहीं जाना चाहिये। भगवन्! अपने बान्धवजनोंका हित चाहती हुई मैं आपसे प्रसन्न होनेकी प्रार्थना करती हूँ ।। ३९ ।।

इममव्यक्तरूपं मे गर्भमाधाय सत्तम ।
कथं त्यक्त्वा महात्मा सन् गन्तुमिच्छस्यनागसम् ।। ४० ।।

'महाभाग! आपने जो गर्भ स्थापित किया है, उसका स्वरूप या लक्षण अभी प्रकट नहीं हुआ। महात्मा होकर ऐसी दशामें आप मुझ निरपराध पत्नीको त्यागकर कैसे जाना चाहते हैं?' ।। ४० ।।

एवमुक्तस्तु स मुनिर्भार्यां वचनमब्रवीत् ।
यद् युक्तमनुरूपं च जरत्कारुं तपोधनः ।। ४१ ।।

यह सुनकर उन तपोधन महर्षिने अपनी पत्नी जरत्कारुसे उचित तथा अवसरके अनुरूप बात कही— ।। ४१ ।।

अस्त्ययं सुभगे गर्भस्तव वैश्वानरोपमः ।
ऋषिः परमधर्मात्मा वेदवेदाङ्गपारगः ।। ४२ ।।

सुभगे! **'अयं अस्ति'**—तुम्हारे उदरमें गर्भ है। तुम्हारा यह गर्भस्थ बालक अग्निके समान तेजस्वी, परम धर्मात्मा मुनि तथा वेद-वेदांगोंका पारंगत विद्वान् होगा' ।। ४२ ।।

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा जरत्कारुर्महानृषिः ।
उग्राय तपसे भूयो जगाम कृतनिश्चयः ।। ४३ ।।

ऐसा कहकर धर्मात्मा महामुनि जरत्कारु, जिन्होंने जानेका दृढ़ निश्चय कर लिया था, फिर कठोर तपस्याके लिये वनमें चले गये ।। ४३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कारुनिर्गमे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जरत्कारुका तपस्याके लिये निष्क्रमणविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४७ ।।

---

* श्वेतकाकका अर्थ यह है—श्वा, एत और काक; जिसका क्रमशः अर्थ है—कुत्ता, हरिण और कौआ (श्वा+एतमें पररूप हुआ है)। तात्पर्य यह है कि यह कुतियाकी भाँति सदा जागती और कम सोती थी, हरिणीके समान भयसे चकित रहती और कौएकी भाँति उनके इंगित (इशारे) समझनेके लिये सावधान रहती थी।

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

वासुकि नागकी चिन्ता, बहिनद्वारा उसका निवारण तथा आस्तीकका जन्म एवं विद्याध्ययन

सौतिरुवाच

गतमात्रं तु भर्तारं जरत्कारुरवेदयत् ।
भ्रातुः सकाशमागत्य याथातथ्यं तपोधन ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तपोधन शौनक! पतिके निकलते ही नागकन्या जरत्कारुने अपने भाई वासुकिके पास जाकर उनके चले जानेका सब हाल ज्यों-का-त्यों सुना दिया ।। १ ।।

ततः स भुजगश्रेष्ठः श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
उवाच भगिनीं दीनां तदा दीनतरः स्वयम् ।। २ ।।

यह अत्यन्त अप्रिय समाचार सुनकर सर्पोंमें श्रेष्ठ वासुकि स्वयं भी बहुत दुःखी हो गये और दुःखमें पड़ी हुई अपनी बहिनसे बोले ।। २ ।।

वासुकिरुवाच

जानासि भद्रे यत् कार्यं प्रदाने कारणं च यत् ।
पन्नगानां हितार्थाय पुत्रस्ते स्यात् ततो यदि ।। ३ ।।

वासुकिने कहा—भद्रे! सर्पोंका जो महान् कार्य है और मुनिके साथ तुम्हारा विवाह होनेमें जो उद्देश्य रहा है, उसे तो तुम जानती ही हो। यदि उनके द्वारा तुम्हारे गर्भसे कोई पुत्र उत्पन्न हो जाता तो उससे सर्पोंका बहुत बड़ा हित होता ।। ३ ।।

स सर्पसत्रात् किल नो मोक्षयिष्यति वीर्यवान् ।
एवं पितामहः पूर्वमुक्तवांस्तु सुरैः सह ।। ४ ।।

वह शक्तिशाली मुनिकुमार ही हमलोगोंको जनमेजयके सर्पयज्ञमें जलनेसे बचायेगा; यह बात पहले देवताओंके साथ भगवान् ब्रह्माजीने कही थी ।। ४ ।।

अप्यस्ति गर्भः सुभगे तस्मात् ते मुनिसत्तमात् ।
न चेच्छाम्यफलं तस्य दारकर्म मनीषिणः ।। ५ ।।
कार्यं च मम न न्याय्यं प्रष्टुं त्वां कार्यमीदृशम्।
किंतु कार्यगरीयस्त्वात् ततस्त्वाहमचूचुदम् ।। ६ ।।

सुभगे! क्या उन मुनिश्रेष्ठसे तुम्हें गर्भ रह गया है? तुम्हारे साथ उन मनीषी महात्माका विवाह-कर्म निष्फल हो, यह मैं नहीं चाहता। मैं तुम्हारा भाई हूँ, ऐसे कार्य (पुत्रोत्पत्ति)-के

विषयमें तुमसे कुछ पूछना मेरे लिये उचित नहीं है, परंतु कार्यके गौरवका विचार करके मैंने तुम्हें इस विषयमें सब बातें बतानेके लिये प्रेरित किया है ।। ५-६ ।।

दुर्वार्यतां विदित्वा च भर्तुस्तेऽतितपस्विनः ।
नैनमन्वागमिष्यामि कदाचिद्धि शपेत् स माम् ।। ७ ।।

तुम्हारे महातपस्वी पतिको जानेसे रोकना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है, यह जानकर मैं उन्हें लौटा लानेके लिये उनके पीछे नहीं जा रहा हूँ। लौटनेका आग्रह करूँ तो कदाचित् वे मुझे शाप भी दे सकते हैं ।। ७ ।।

आचक्ष्व भद्रे भर्तुः स्वं सर्वमेव विचेष्टितम् ।
उद्धरस्व च शल्यं मे घोरं हृदि चिरस्थितम् ।। ८ ।।

अतः भद्रे! तुम अपने पतिकी सारी चेष्टा बताओ और मेरे हृदयमें दीर्घकालसे जो भयंकर काँटा चुभा हुआ है, उसे निकाल दो ।। ८ ।।

जरत्कारुस्ततो वाक्यमित्युक्ता प्रत्यभाषत ।
आश्वासयन्ती संतप्तं वासुकिं पन्नगेश्वरम् ।। ९ ।।

भाईके इस प्रकार पूछनेपर तब जरत्कारु अपने संतप्त भ्राता नागराज वासुकिको धीरज बँधाती हुई इस प्रकार बोली ।। ९ ।।

जरत्कारुरुवाच

पृष्टो मयापत्यहेतोः स महात्मा महातपाः ।
अस्तीत्युत्तरमुद्दिश्य ममेदं गतवांश्च सः ।। १० ।।

जरत्कारुने कहा—भाई! मैंने संतानके लिये उन महातपस्वी महात्मासे पूछा था। मेरे गर्भके विषयमें **‘अस्ति’** (तुम्हारे गर्भमें पुत्र है) इतना ही कहकर वे चले गये ।। १० ।।

स्वैरेष्वपि न तेनाहं स्मरामि वितथं वचः ।
उक्तपूर्वं कुतो राजन् साम्पराये स वक्ष्यति ।। ११ ।।
न संतापस्त्वया कार्यः कार्यं प्रति भुजङ्गमे ।
उत्पत्स्यति च ते पुत्रो ज्वलनार्कसमप्रभः ।। १२ ।।
इत्युक्त्वा स हि मां भ्रातर्गतो भर्ता तपोधनः ।
तस्माद् व्येतु परं दुःखं तवेदं मनसि स्थितम् ।। १३ ।।

राजन्! उन्होंने पहले कभी विनोदमें भी झूठी बात कही हो, यह मुझे स्मरण नहीं है। फिर इस संकटके समय तो वे झूठ बोलेंगे ही क्यों? भैया! मेरे पति तपस्याके धनी हैं। उन्होंने जाते समय मुझसे यह कहा—‘नागकन्ये! तुम अपनी कार्य-सिद्धिके सम्बन्धमें कोई चिन्ता न करना। तुम्हारे गर्भसे अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होगा।’ इतना कहकर वे तपोवनमें चले गये। अतः भैया! तुम्हारे मनमें जो महान् दुःख है, वह दूर हो जाना चाहिये ।। ११—१३ ।।

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा स नागेन्द्रो वासुकिः परया मुदा ।
एवमस्त्विति तद् वाक्यं भगिन्याः प्रत्यगृह्णत ।। १४ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! यह सुनकर नागराज वासुकि बड़ी प्रसन्नतासे बोले —'एवमस्तु' (ऐसा ही हो)। इस प्रकार उन्होंने बहिनकी बातको विश्वासपूर्वक ग्रहण किया ।। १४ ।।

सान्त्वमानार्थदानैश्च पूजया चानुरूपया ।
सोदर्यां पूजयामास स्वसारं पन्नगोत्तमः ।। १५ ।।

सर्पोंमें श्रेष्ठ वासुकि अपनी सहोदरा बहिनको सान्त्वना, सम्मान तथा धन देकर एवं सुन्दररूपसे उसका स्वागत-सत्कार करके उसकी समाराधना करने लगे ।। १५ ।।

ततः प्रववृधे गर्भो महातेजा महाप्रभः ।
यथा सोमो द्विजश्रेष्ठ शुक्लपक्षोदितो दिवि ।। १६ ।।

द्विजश्रेष्ठ! जैसे शुक्लपक्षमें आकाशमें उदित होनेवाला चन्द्रमा प्रतिदिन बढ़ता है, उसी प्रकार जरत्कारुका वह महातेजस्वी और परम कान्तिमान् गर्भ बढ़ने लगा ।। १६ ।।

अथ काले तु सा ब्रह्मन् प्रजज्ञे भुजगस्वसा ।
कुमारं देवगर्भाभं पितृमातृभयापहम् ।। १७ ।।

ब्रह्मन्! तदनन्तर समय आनेपर वासुकिकी बहिनने एक दिव्य कुमारको जन्म दिया, जो देवताओंके बालक-सा तेजस्वी जान पड़ता था। वह पिता और माता—दोनों पक्षोंके भयको नष्ट करनेवाला था ।। १७ ।।

ववृधे स तु तत्रैव नागराजनिवेशने ।
वेदांश्चाधिजगे साङ्गान् भार्गवाच्च्यवनान्मुनेः ।। १८ ।।

वह वहीं नागराजके भवनमें बढ़ने लगा। बड़े होनेपर उसने भृगुकुलोत्पन्न च्यवन मुनिसे छहों अंगोंसहित वेदोंका अध्ययन किया ।। १८ ।।

चीर्णव्रतो बाल एव बुद्धिसत्त्वगुणान्वितः ।
नाम चास्याभवत् ख्यातं लोकेष्वास्तीक इत्युत ।। १९ ।।

वह बचपनसे ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाला, बुद्धिमान् तथा सत्त्वगुणसम्पन्न हुआ। लोकमें आस्तीक नामसे उसकी ख्याति हुई ।। १९ ।।

अस्तीत्युक्त्वा गतो यस्मात् पिता गर्भस्थमेव तम् ।
वनं तस्मादिदं तस्य नामास्तीकेति विश्रुतम् ।। २० ।।

वह बालक अभी गर्भमें ही था, तभी उसके पिता **'अस्ति'** कहकर वनमें चले गये थे। इसलिये संसारमें उसका आस्तीक नाम प्रसिद्ध हुआ ।। २० ।।

स बाल एव तत्रस्थश्चरन्नमितबुद्धिमान् ।
गृहे पन्नगराजस्य प्रयत्नात् परिरक्षितः ।। २१ ।।

भगवानिव देवेशः शूलपाणिर्हिरण्मयः ।
विवर्धमानः सर्वांस्तान् पन्नगानभ्यहर्षयत् ।। २२ ।।

अमित बुद्धिमान् आस्तीक बाल्यावस्थामें ही वहाँ रहकर ब्रह्मचर्यका पालन एवं धर्मका आचरण करने लगा। नागराजके भवनमें उसका भलीभाँति यत्नपूर्वक लालन-पालन किया गया। सुवर्णके समान कान्तिमान् शूलपाणि देवेश्वर भगवान् शिवकी भाँति वह बालक दिनोदिन बढ़ता हुआ समस्त नागोंका आनन्द बढ़ाने लगा ।। २१-२२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि आस्तीकोत्पत्तौ अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें आस्तीककी उत्पत्तिविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४८ ।।

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजा परीक्षित्‌के धर्ममय आचार तथा उत्तम गुणोंका वर्णन, राजाका शिकारके लिये जाना और उनके द्वारा शमीक मुनिका तिरस्कार

शौनक उवाच

यदपृच्छत् तदा राजा मन्त्रिणो जनमेजयः ।
पितुः स्वर्गगतिं तन्मे विस्तरेण पुनर्वद ।। १ ।।

शौनकजी बोले—सूतनन्दन! राजा जनमेजयने (उत्तंककी बात सुनकर) अपने पिता परीक्षित्‌के स्वर्गवासके सम्बन्धमें मन्त्रियोंसे जो पूछ-ताछ की थी, उसका आप विस्तारपूर्वक पुनः वर्णन कीजिये ।। १ ।।

सौतिरुवाच

शृणु ब्रह्मन् यथापृच्छन्मन्त्रिणो नृपतिस्तदा ।
यथा चाख्यातवन्तस्ते निधनं तत् परीक्षितः ।। २ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—ब्रह्मन्! सुनिये, उस समय राजाने मन्त्रियोंसे जो कुछ पूछा और उन्होंने परीक्षित्‌की मृत्युके सम्बन्धमें जैसी बातें बतायीं, वह सब मैं सुना रहा हूँ ।। २ ।।

जनमेजय उवाच

जानन्ति स्म भवन्तस्तद् यथा वृत्तं पितुर्मम ।
आसीद् यथा स निधनं गतः काले महायशाः ।। ३ ।।

जनमेजयने पूछा—आपलोग यह जानते होंगे कि मेरे पिताके जीवनकालमें उनका आचार-व्यवहार कैसा था? और अन्तकाल आनेपर वे महायशस्वी नरेश किस प्रकार मृत्युको प्राप्त हुए थे? ।। ३ ।।

श्रुत्वा भवत्सकाशाद्धि पितुर्वृत्तमशेषतः ।
कल्याणं प्रतिपत्स्यामि विपरीतं न जातुचित् ।। ४ ।।

आपलोगोंसे अपने पिताके सम्बन्धमें सारा वृत्तान्त सुनकर ही मुझे शान्ति प्राप्त होगी; अन्यथा मैं कभी शान्त न रह सकूँगा ।। ४ ।।

सौतिरुवाच

मन्त्रिणोऽथाब्रुवन् वाक्यं पृष्टास्तेन महात्मना ।
सर्वे धर्मविदः प्राज्ञा राजानं जनमेजयम् ।। ५ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—राजाके सब मन्त्री धर्मज्ञ और बुद्धिमान् थे। उन महात्मा राजा जनमेजयके इस प्रकार पूछनेपर वे सभी उनसे यों बोले ।। ५ ।।

मन्त्रिण ऊचुः

शृणु पार्थिव यद् ब्रूषे पितुस्तव महात्मनः ।
चरितं पार्थिवेन्द्रस्य यथा निष्ठां गतश्च सः ।। ६ ।।

मन्त्रियोंने कहा—भूपाल! तुम जो कुछ पूछते हो, वह सुनो। तुम्हारे महात्मा पिता राजराजेश्वर परीक्षित्‌का चरित्र जैसा था और जिस प्रकार वे मृत्युको प्राप्त हुए वह सब हम बता रहे हैं ।। ६ ।।

धर्मात्मा च महात्मा च प्रजापालः पिता तव ।
आसीदिह यथावृत्तः स महात्मा शृणुष्व तत् ।। ७ ।।

महाराज! आपके पिता बड़े धर्मात्मा, महात्मा और प्रजापालक थे। वे महामना नरेश इस जगत्‌में जैसे आचार-व्यवहारका पालन करते थे, वह सुनो ।। ७ ।।

चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मस्थं स कृत्वा पर्यरक्षत ।
धर्मतो धर्मविद् राजा धर्मो विग्रहवानिव ।। ८ ।।

वे चारों वर्णोंको अपने-अपने धर्ममें स्थापित करके उन सबकी धर्मपूर्वक रक्षा करते थे। राजा परीक्षित् केवल धर्मके ज्ञाता ही नहीं थे, वे धर्मके साक्षात् स्वरूप थे ।। ८ ।।

ररक्ष पृथिवीं देवीं श्रीमानतुलविक्रमः ।
द्वेष्टारस्तस्य नैवासन् स च द्वेष्टि न कंचन ।। ९ ।।

उनके पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं थी। वे श्रीसम्पन्न होकर इस वसुधादेवीका पालन करते थे। जगत्‌में उनसे द्वेष रखनेवाले कोई न थे और वे भी किसीसे द्वेष नहीं रखते थे ।। ९ ।।

समः सर्वेषु भूतेषु प्रजापतिरिवाभवत् ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव स्वकर्मसु ।। १० ।।
स्थिताः सुमनसो राजंस्तेन राज्ञा स्वधिष्ठिताः ।
विधवानाथविकलान् कृपणांश्च बभार सः ।। ११ ।।

प्रजापति ब्रह्माजीके समान वे समस्त प्राणियोंके प्रति समभाव रखते थे। राजन्! महाराज परीक्षित्‌के शासनमें रहकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंमें संलग्न और प्रसन्नचित्त रहते थे। वे महाराज विधवाओं, अनाथों, अंगहीनों और दीनोंका भी भरण-पोषण करते थे ।। १०-११ ।।

सुदर्शः सर्वभूतानामासीत् सोम इवापरः ।
तुष्टपुष्टजनः श्रीमान् सत्यवाग् दृढविक्रमः ।। १२ ।।

दूसरे चन्द्रमाकी भाँति उनका दर्शन सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये सुखद एवं सुलभ था। उनके राज्यमें सब लोग हृष्ट-पुष्ट थे। वे लक्ष्मीवान्, सत्यवादी तथा अटल पराक्रमी थे ।। १२ ।।

धनुर्वेदे तु शिष्योऽभून्नृपः शारद्वतस्य सः ।
गोविन्दस्य प्रियश्चासीत् पिता ते जनमेजय ।। १३ ।।

राजा परीक्षित् धनुर्वेदमें कृपाचार्यके शिष्य थे। जनमेजय! तुम्हारे पिता भगवान् श्रीकृष्णके भी प्रिय थे ।। १३ ।।

लोकस्य चैव सर्वस्य प्रिय आसीन्महायशाः ।
परिक्षीणेषु कुरुषु सोत्तरायामजीजनत् ।। १४ ।।
परीक्षिदभवत् तेन सौभद्रस्यात्मजो बली ।
राजधर्मार्थकुशलो युक्तः सर्वगुणैर्वृतः ।। १५ ।।

वे महायशस्वी महाराज सम्पूर्ण जगत्के प्रेमपात्र थे। जब कुरुकुल परिक्षीण (सर्वथा नष्ट) हो चला था, उस समय उत्तराके गर्भसे उनका जन्म हुआ। इसलिये वे महाबली अभिमन्युकुमार परीक्षित् नामसे विख्यात हुए। राजधर्म और अर्थनीतिमें वे अत्यन्त निपुण थे। समस्त सद्‌गुणोंने स्वयं उनका वरण किया था। वे सदा उनसे संयुक्त रहते थे ।। १४-१५ ।।

जितेन्द्रियश्चात्मवांश्च मेधावी धर्मसेविता ।
षड्वर्गजिन्महाबुद्धिर्नीतिशास्त्रविदुत्तमः ।। १६ ।।

उन्होंने अपनी इन्द्रियोंको जीतकर मनको अपने वशमें कर रखा था। वे मेधावी तथा धर्मका सेवन करनेवाले थे। उन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छहों शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली थी। उनकी बुद्धि विशाल थी। वे नीतिके विद्वानोंमें सर्वश्रेष्ठ थे ।। १६ ।।

प्रजा इमास्तव पिता षष्टिवर्षाण्यपालयत् ।
ततो दिष्टान्तमापन्नः सर्वेषां दुःखमावहन् ।। १७ ।।
ततस्त्वं पुरुषश्रेष्ठ धर्मेण प्रतिपेदिवान् ।
इदं वर्षसहस्राणि राज्यं कुरुकुलागतम् ।
बाल एवाभिषिक्तस्त्वं सर्वभूतानुपालकः ।। १८ ।।

तुम्हारे पिताने साठ वर्षकी आयुतक इन समस्त प्रजाजनोंका पालन किया था। तदनन्तर हम सबको दुःख देकर उन्होंने विदेह-कैवल्य प्राप्त किया। पुरुषश्रेष्ठ! पिताके देहावसानके बाद तुमने धर्मपूर्वक इस राज्यको ग्रहण किया है, जो सहस्रों वर्षोंसे कुरुकुलके अधीन चला आ रहा है। बाल्यावस्थामें ही तुम्हारा राज्याभिषेक हुआ था। तबसे तुम्हीं इस राज्यके समस्त प्राणियोंका पालन करते हो ।। १७-१८ ।।

जनमेजय उवाच

नास्मिन् कुले जातु बभूव राजा
यो न प्रजानां प्रियकृत् प्रियश्च ।
विशेषतः प्रेक्ष्य पितामहानां
वृत्तं महद्वृत्तपरायणानाम् ।। १९ ।।

जनमेजयने पूछा—मन्त्रियो! हमारे इस कुलमें कभी कोई ऐसा राजा नहीं हुआ, जो प्रजाका प्रिय करनेवाला तथा सब लोगोंका प्रेमपात्र न रहा हो। विशेषतः महापुरुषोंके आचारमें प्रवृत्त रहनेवाले हमारे प्रपितामह पाण्डवोंके सदाचारको देखकर प्रायः सभी धर्मपरायण ही होंगे ।। १९ ।।

कथं निधनमापन्नः पिता मम तथाविधः ।
आचक्षध्वं यथावन्मे श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।। २० ।।

अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि मेरे वैसे धर्मात्मा पिताकी मृत्यु किस प्रकार हुई? आपलोग मुझसे इसका यथावत् वर्णन करें। मैं इस विषयमें सब बातें ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ ।। २० ।।

सौतिरुवाच

एवं संचोदिता राज्ञा मन्त्रिणस्ते नराधिपम् ।
ऊचुः सर्वे यथावृत्तं राज्ञः प्रियहितैषिणः ।। २१ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! राजा जनमेजयके इस प्रकार पूछनेपर उन मन्त्रियोंने महाराजसे सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बताया; क्योंकि वे सभी राजाका प्रिय चाहनेवाले और हितैषी थे ।। २१ ।।

मन्त्रिण ऊचुः

स राजा पृथिवीपालः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
बभूव मृगयाशीलस्तव राजन् पिता सदा ।। २२ ।।
यथा पाण्डुर्महाबाहुर्धनुर्धरवरो युधि ।
अस्मास्वासज्य सर्वाणि राजकार्याण्यशेषतः ।। २३ ।।
स कदाचिद् वनगतो मृगं विव्याध पत्रिणा ।
विद्ध्वा चान्वसरत् तूर्णं तं मृगं गहने वने ।। २४ ।।

मन्त्री बोले—राजन्! समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे पिता भूपाल परीक्षित्‌का सदा महाबाहु पाण्डुकी भाँति हिंसक पशुओंको मारनेका स्वभाव था और युद्धमें वे उन्हींकी भाँति सम्पूर्ण धनुर्धर वीरोंमें श्रेष्ठ सिद्ध होते थे। एक दिनकी बात है, वे सम्पूर्ण राजकार्यका भार हमलोगोंपर रखकर वनमें शिकार खेलनेके लिये गये। वहाँ उन्होंने पंखयुक्त बाणसे एक हिंसक पशुको बींध डाला। बींधकर तुरंत ही गहन वनमें उसका पीछा किया ।। २२—२४ ।।

पदातिर्बद्धनिस्त्रिंशस्ततायुधकलापवान् ।
न चाससाद गहने मृगं नष्टं पिता तव ।। २५ ।।

वे तलवार बाँधे पैदल ही चल रहे थे। उनके पास बाणोंसे भरा हुआ विशाल तूणीर था। वह घायल पशु उस घने वनमें कहीं छिप गया। तुम्हारे पिता बहुत खोजनेपर भी उसे पा न सके ।। २५ ।।

परिश्रान्तो वयःस्थश्च षष्टिवर्षो जरान्वितः ।
क्षुधितः स महारण्ये ददर्श मुनिसत्तमम् ।। २६ ।।
स तं पप्रच्छ राजेन्द्रो मुनिं मौनव्रते स्थितम् ।
न च किंचिदुवाचैनं पृष्टोऽपि स मुनिस्तदा ।। २७ ।।

प्रौढ़ अवस्था, साठ वर्षकी आयु और बुढ़ापेका संयोग इन सबके कारण वे बहुत थक गये थे। उस विशाल वनमें उन्हें भूख सताने लगी। इसी दशामें महाराजने वहाँ मुनिश्रेष्ठ शमीकको देखा। राजेन्द्र परीक्षित्ने उनसे मृगका पता पूछा; किंतु वे मुनि उस समय मौनव्रतके पालनमें संलग्न थे। उनके पूछनेपर भी महर्षि शमीक उस समय कुछ न बोले ।। २६-२७ ।।

ततो राजा क्षुच्छ्रमार्तस्तं मुनिं स्थाणुवत् स्थितम् ।
मौनव्रतधरं शान्तं सद्यो मन्युवशं गतः ।। २८ ।।

वे काठकी भाँति चुपचाप, निश्चेष्ट एवं अविचल भावसे स्थित थे। यह देख भूख-प्यास और थकावटसे व्याकुल हुए राजा परीक्षित्को उन मौनव्रतधारी शान्त महर्षिपर तत्काल क्रोध आ गया ।। २८ ।।

न बुबोध च तं राजा मौनव्रतधरं मुनिम् ।
स तं क्रोधसमाविष्टो धर्षयामास ते पिता ।। २९ ।।

राजाको यह पता नहीं था कि महर्षि मौनव्रतधारी हैं; अतः क्रोधमें भरे हुए आपके पिताने उनका तिरस्कार कर दिया ।। २९ ।।

मृतं सर्पं धनुष्कोट्या समुत्क्षिप्य धरातलात् ।
तस्य शुद्धात्मनः प्रादात् स्कन्धे भरतसत्तम ।। ३० ।।

भरतश्रेष्ठ! उन्होंने धनुषकी नोकसे पृथ्वीपर पड़े हुए एक मृत सर्पको उठाकर उन शुद्धात्मा महर्षिके कंधेपर डाल दिया ।। ३० ।।

न चोवाच स मेधावी तमथो साध्वसाधु वा ।
तस्थौ तथैव चाक्रुद्धः सर्पं स्कन्धेन धारयन् ।। ३१ ।।

किंतु उन मेधावी मुनिने इसके लिये उन्हें भला या बुरा कुछ नहीं कहा। वे क्रोधरहित हो कंधेपर मरा सर्प लिये हुए पूर्ववत् शान्त-भावसे बैठे रहे ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि पारीक्षितीये एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ४९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें परीक्षित्-चरित्रविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४९ ।।

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

शृंगी ऋषिका परीक्षित्‌को शाप, तक्षकका काश्यपको लौटाकर छलसे परीक्षित्‌को डँसना और पिताकी मृत्युका वृत्तान्त सुनकर जनमेजयकी तक्षकसे बदला लेनेकी प्रतिज्ञा

मन्त्रिण ऊचुः

ततः स राजा राजेन्द्र स्कन्धे तस्य भुजङ्गमम् ।
मुनेः क्षुत्क्षाम आसज्य स्वपुरं पुनराययौ ।। १ ।।

मन्त्री बोले—राजेन्द्र! उस समय राजा परीक्षित् भूखसे पीड़ित हो शमीक मुनिके कंधेपर मृतक सर्प डालकर पुनः अपनी राजधानीमें लौट आये ।। १ ।।

ऋषेस्तस्य तु पुत्रोऽभूद् गवि जातो महायशाः ।
शृङ्गी नाम महातेजास्तिग्मवीर्योऽतिकोपनः ।। २ ।।

उन महर्षिके शृंगी नामक एक महातेजस्वी पुत्र था, जिसका जन्म गायके पेटसे हुआ था। वह महान् यशस्वी, तीव्र शक्तिशाली और अत्यन्त क्रोधी था ।। २ ।।

ब्रह्माणं समुपागम्य मुनिः पूजां चकार ह ।
सोऽनुज्ञातस्ततस्तत्र शृङ्गी शुश्राव तं तदा ।। ३ ।।
सख्युः सकाशात् पितरं पित्रा ते धर्षितं पुरा ।
मृतं सर्पं समासक्तं स्थाणुभूतस्य तस्य तम् ।। ४ ।।
वहन्तं राजशार्दूल स्कन्धेनानपकारिणम् ।
तपस्विनमतीवाथ तं मुनिप्रवरं नृप ।। ५ ।।
जितेन्द्रियं विशुद्धं च स्थितं कर्मण्यथाद्भुतम् ।
तपसा द्योतितात्मानं स्वेष्वङ्गेषु यतं तदा ।। ६ ।।
शुभाचारं शुभकथं सुस्थितं तमलोलुपम् ।
अक्षुद्रमनसूयं च वृद्धं मौनव्रते स्थितम् ।
शरण्यं सर्वभूतानां पित्रा विनिकृतं तव ।। ७ ।।

एक दिन उसने आचार्यदेवके समीप जाकर पूजा की और उनकी आज्ञा ले वह घरको लौटा। उसी समय शृंगी ऋषिने अपने एक सहपाठी मित्रके मुखसे तुम्हारे पिताद्वारा अपने पिताके तिरस्कृत होनेकी बात सुनी। राजसिंह! शृंगीको यह मालूम हुआ कि मेरे पिता काठकी भाँति चुपचाप बैठे थे और उनके कंधेपर मृतक साँप डाल दिया गया। वे अब भी उस सर्पको अपने कंधेपर रखे हुए हैं। यद्यपि उन्होंने कोई अपराध नहीं किया था। वे

मुनिश्रेष्ठ तपस्वी, जितेन्द्रिय, विशुद्धात्मा, कर्मनिष्ठ, अद्भुत शक्तिशाली, तपस्याद्वारा कान्तिमान् शरीरवाले, अपने अंगोंको संयममें रखनेवाले, सदाचारी, शुभवक्ता, निश्चल भावसे स्थित, लोभरहित, क्षुद्रताशून्य (गम्भीर), दोषदृष्टिसे रहित, वृद्ध, मौनव्रतावलम्बी तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको आश्रय देनेवाले थे, तो भी आपके पिता परीक्षित्‌ने उनका तिरस्कार किया ।। ३—७ ।।

शशापाथ महातेजाः पितरं ते रुषान्वितः ।
ऋषेः पुत्रो महातेजा बालोऽपि स्थविरद्युतिः ।। ८ ।।

यह सब जानकर वह बाल्यावस्थामें भी वृद्धोंका-सा तेज धारण करनेवाला महातेजस्वी ऋषिकुमार क्रोधसे आगबबूला हो उठा और उसने तुम्हारे पिताको शाप दे दिया ।। ८ ।।

स क्षिप्रमुदकं स्पृष्ट्वा रोषादिदमुवाच ह ।
पितरं तेऽभिसंधाय तेजसा प्रज्वलन्निव ।। ९ ।।
अनागसि गुरौ यो मे मृतं सर्पमवासृजत् ।
तं नागस्तक्षकः क्रुद्धस्तेजसा प्रदहिष्यति ।। १० ।।
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः ।
सप्तरात्रादितः पापं पश्य मे तपसो बलम् ।। ११ ।।

शृंगी तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था। उसने शीघ्र ही हाथमें जल लेकर तुम्हारे पिताको लक्ष्य करके रोषपूर्वक यह बात कही—‘जिसने मेरे निरपराध पितापर मरा साँप डाल दिया है, उस पापीको आजसे सात रातके बाद मेरी वाक्‌शक्तिसे प्रेरित प्रचण्ड तेजस्वी विषधर तक्षक नाग कुपित हो अपनी विषाग्निसे जला देगा। देखो, मेरी तपस्याका बल’ ।। ९—११ ।।

इत्युक्त्वा प्रययौ तत्र पिता यत्रास्य सोऽभवत् ।
दृष्ट्वा च पितरं तस्मै तं शापं प्रत्यवेदयत् ।। १२ ।।

ऐसा कहकर वह बालक उस स्थानपर गया, जहाँ उसके पिता बैठे थे। पिताको देखकर उसने राजाको शाप देनेकी बात बतायी ।। १२ ।।

स चापि मुनिशार्दूलः प्रेषयामास ते पितुः ।
शिष्यं गौरमुखं नाम शीलवन्तं गुणान्वितम् ।। १३ ।।
आचख्यौ स च विश्रान्तो राज्ञः सर्वमशेषतः ।
शप्तोऽसि मम पुत्रेण यत्तो भव महीपते ।। १४ ।।

तब मुनिश्रेष्ठ शमीकने तुम्हारे पिताके पास अपने शिष्य गौरमुखको भेजा, जो सुशील और गुणवान् था। उसने विश्राम कर लेनेपर राजासे सब बातें बतायीं और महर्षिका संदेश इस प्रकार सुनाया—‘भूपाल! मेरे पुत्रने तुम्हें शाप दे दिया है; अतः सावधान हो जाओ ।। १३-१४ ।।

तक्षकस्त्वां महाराज तेजसासौ दहिष्यति ।

श्रुत्वा च तद् वचो घोरं पिता ते जनमेजय ।। १५ ।।
यत्तोऽभवत् परित्रस्तस्तक्षकात् पन्नगोत्तमात् ।
ततस्तस्मिंस्तु दिवसे सप्तमे समुपस्थिते ।। १६ ।।
राज्ञः समीपं ब्रह्मर्षिः काश्यपो गन्तुमैच्छत ।
तं ददर्शाथ नागेन्द्रस्तक्षकः काश्यपं तदा ।। १७ ।।

'महाराज! (सात दिनके बाद) तक्षक नाग तुम्हें अपने तेजसे जला देगा।' जनमेजय! यह भयंकर बात सुनकर तुम्हारे पिता नागश्रेष्ठ तक्षकसे अत्यन्त भयभीत हो सतत सावधान रहने लगे। तदनन्तर जब सातवाँ दिन उपस्थित हुआ, तब उस दिन ब्रह्मर्षि काश्यपने राजाके समीप जानेका विचार किया। मार्गमें नागराज तक्षकने उस समय काश्यपको देखा ।। १५—१७ ।।

तमब्रवीत् पन्नगेन्द्रः काश्यपं त्वरितं द्विजम् ।
क्व भवांस्त्वरितो याति किं च कार्यं चिकीर्षति ।। १८ ।।

विप्रवर काश्यप बड़ी उतावलीसे पैर बढ़ा रहे थे। उन्हें देखकर नागराजने (ब्राह्मणका वेष धारण करके) इस प्रकार पूछा—'द्विजश्रेष्ठ! आप कहाँ इतनी तीव्र गतिसे जा रहे हैं और कौन-सा कार्य करना चाहते हैं?' ।। १८ ।।

काश्यप उवाच

यत्र राजा कुरुश्रेष्ठः परिक्षिन्नाम वै द्विज ।
तक्षकेण भुजङ्गेन धक्ष्यते किल सोऽद्य वै ।। १९ ।।
गच्छाम्यहं तं त्वरितः सद्यः कर्तुमपज्वरम् ।
मयाभिपन्नं तं चापि न सर्पो धर्षयिष्यति ।। २० ।।

काश्यपने कहा—ब्रह्मन्! मैं वहाँ जाता हूँ जहाँ कुरुकुलके श्रेष्ठ राजा परीक्षित् रहते हैं। सुना है कि आज ही तक्षक नाग उन्हें डँसेगा। अतः मैं तत्काल ही उन्हें नीरोग करनेके लिये जल्दी-जल्दी वहाँ जा रहा हूँ। मेरे द्वारा सुरक्षित नरेशको वह सर्प नष्ट नहीं कर सकेगा ।। १९-२० ।।

तक्षक उवाच

किमर्थं तं मया दष्टं संजीवयितुमिच्छसि ।
अहं स तक्षको ब्रह्मन् पश्य मे वीर्यमद्भुतम् ।। २१ ।।
न शक्तस्त्वं मया दष्टं तं संजीवयितुं नृपम् ।
इत्युक्त्वा तक्षकस्तत्र सोऽदशद् वै वनस्पतिम् ।। २२ ।।

तक्षकने कहा—ब्रह्मन्! मेरे डँसे हुए मनुष्यको जिलानेकी इच्छा आप कैसे रखते हैं। मैं ही वह तक्षक हूँ। मेरी अद्भुत शक्ति देखिये। मेरे डँस लेनेपर उस राजाको आप जीवित नहीं कर सकते। ऐसा कहकर तक्षकने एक वृक्षको डँस लिया ।। २१-२२ ।।

स दष्टमात्रो नागेन भस्मीभूतोऽभवन्नगः ।
काश्यपश्च ततो राजन्नजीवयत तं नगम् ।। २३ ।।

नागके डँसते ही वह वृक्ष जलकर भस्म हो गया। राजन्! तदनन्तर काश्यपने (अपनी मन्त्र-विद्याके बलसे) उस वृक्षको पूर्ववत् जीवित (हरा-भरा) कर दिया ।। २३ ।।

ततस्तं लोभयामास कामं ब्रूहीति तक्षकः ।
स एवमुक्तस्तं प्राह काश्यपस्तक्षकं पुनः ।। २४ ।।
धनलिप्सुरहं तत्र यामीत्युक्तश्च तेन सः ।
तमुवाच महात्मानं तक्षकः श्लक्ष्णया गिरा ।। २५ ।।

अब तक्षक काश्यपको प्रलोभन देने लगा। उसने कहा—'तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे माँग लो।' तक्षकके ऐसा कहनेपर काश्यपने उससे कहा—'मैं तो वहाँ धनकी इच्छासे जा रहा हूँ।' उनके ऐसा कहनेपर तक्षकने महात्मा काश्यपसे मधुर वाणीमें कहा— ।। २४-२५ ।।

यावद्धनं प्रार्थयसे राज्ञस्तस्मात् ततोऽधिकम् ।
गृहाण मत्त एव त्वं संनिवर्तस्व चानघ ।। २६ ।।

'अनघ! तुम राजासे जितना धन पाना चाहते हो, उससे भी अधिक मुझसे ही ले लो और लौट जाओ' ।। २६ ।।

स एवमुक्तो नागेन काश्यपो द्विपदां वरः ।
लब्ध्वा वित्तं निववृते तक्षकाद् यावदीप्सितम् ।। २७ ।।

तक्षक नागकी यह बात सुनकर मनुष्योंमें श्रेष्ठ काश्यप उससे इच्छानुसार धन लेकर लौट गये ।। २७ ।।

तस्मिन् प्रतिगते विप्रे छद्मनोपेत्य तक्षकः ।
तं नृपं नृपतिश्रेष्ठं पितरं धार्मिकं तव ।। २८ ।।
प्रासादस्थं यत्तमपि दग्धवान् विषवह्निना ।
ततस्त्वं पुरुषव्याघ्र विजयायाभिषेचितः ।। २९ ।।

ब्राह्मणके चले जानेपर तक्षकने छलसे भूपालोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे धर्मात्मा पिता राजा परीक्षित्के पास पहुँचकर, यद्यपि वे महलमें सावधानीके साथ रहते थे, तो भी उन्हें अपनी विषाग्निसे भस्म कर दिया। नरश्रेष्ठ! तदनन्तर विजयकी प्राप्तिके लिये तुम्हारा राजाके पदपर अभिषेक किया गया ।। २८-२९ ।।

एतद् दृष्टं श्रुतं चापि यथावन्नृपसत्तम ।
अस्माभिर्निखिलं सर्वं कथितं तेऽतिदारुणम् ।। ३० ।।

नृपश्रेष्ठ! यद्यपि यह प्रसंग बड़ा ही निष्ठुर और दुःखदायक है, तथापि तुम्हारे पूछनेसे हमने सब बातें तुमसे कही हैं। यह सब कुछ हमने अपनी आँखों देखा और कानोंसे भी ठीक-ठीक सुना है ।। ३० ।।

श्रुत्वा चैनं नरश्रेष्ठ पार्थिवस्य पराभवम् ।
अस्य चर्षेरुतंकस्य विधत्स्व यदनन्तरम् ।। ३१ ।।

महाराज! इस प्रकार तक्षकने तुम्हारे पिता राजा परीक्षित्‌का तिरस्कार किया है। इन महर्षि उत्तंकको भी उसने बहुत तंग किया है। यह सब तुमने सुन लिया, अब तुम जैसा उचित समझो, करो ।। ३१ ।।

सौतिरुवाच

एतस्मिन्नेव काले तु स राजा जनमेजयः ।
उवाच मन्त्रिणः सर्वानिदं वाक्यमरिन्दमः ।। ३२ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! उस समय शत्रुओंका दमन करनेवाले राजा जनमेजय अपने सम्पूर्ण मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले ।। ३२ ।।

जनमेजय उवाच

अथ तत् कथितं केन यद् वृत्तं तद् वनस्पतौ ।
आश्चर्यभूतं लोकस्य भस्मराशीकृतं तदा ।। ३३ ।।
यद् वृक्षं जीवयामास काश्यपस्तक्षकेण वै ।
नूनं मन्त्रैर्हतविषो न प्रणश्येत काश्यपात् ।। ३४ ।।

जनमेजयने कहा—उस वृक्षके डँसे जाने और फिर हरे होनेकी बात आपलोगोंसे किसने कही? उस समय तक्षकके काटनेसे जो वृक्ष राखका ढेर बन गया था, उसे काश्यपने पुनः जिलाकर हरा-भरा कर दिया। यह सब लोगोंके लिये बड़े आश्चर्यकी बात है। यदि काश्यपके आ जानेसे उनके मन्त्रोंद्वारा तक्षकका विष नष्ट कर दिया जाता तो निश्चय ही मेरे पिताजी बच जाते ।। ३३-३४ ।।

चिन्तयामास पापात्मा मनसा पन्नगाधमः ।
दष्टं यदि मया विप्रः पार्थिवं जीवयिष्यति ।। ३५ ।।
तक्षकः संहतविषो लोके यास्यति हास्यताम् ।
विचिन्त्यैवं कृता तेन ध्रुवं तुष्टिर्द्विजस्य वै ।। ३६ ।।

परंतु उस पापात्मा नीच सर्पने अपने मनमें यह सोचा होगा—'यदि मेरे डँसे हुए राजाको ब्राह्मण जिला देंगे तो लोग कहेंगे कि तक्षकका विष भी नष्ट हो गया। इस प्रकार तक्षक लोकमें उपहासका पात्र बन जायगा।' अवश्य ही ऐसा सोचकर उसने ब्राह्मणको धनके द्वारा संतुष्ट किया था ।। ३५-३६ ।।

भविष्यति ह्युपायेन यस्य दास्यामि यातनाम् ।
एकं तु श्रोतुमिच्छामि तद् वृत्तं निर्जने वने ।। ३७ ।।
संवादं पन्नगेन्द्रस्य काश्यपस्य च कस्तदा ।
श्रुतवान् दृष्टवांश्चापि भवत्सु कथमागतम् ।

श्रुत्वा तस्य विधास्येऽहं पन्नगान्तकरीं मतिम् ।। ३८ ।।

अच्छा, भविष्यमें प्रयत्नपूर्वक कोई-न-कोई उपाय करके तक्षकको इसके लिये दण्ड दूँगा। परंतु एक बात मैं सुनना चाहता हूँ। नागराज तक्षक और काश्यप ब्राह्मणका वह संवाद तो निर्जन वनमें हुआ होगा। यह सब वृत्तान्त किसने देखा और सुना था? आपलोगोंतक यह बात कैसे आयी? यह सब सुनकर मैं सर्पोंके नाशका विचार करूँगा ।। ३७-३८ ।।

मन्त्रिण ऊचुः

शृणु राजन् यथास्माकं येन तत् कथितं पुरा ।
समागतं द्विजेन्द्रस्य पन्नगेन्द्रस्य चाध्वनि ।। ३९ ।।
तस्मिन् वृक्षे नरः कश्चिदिन्धनार्थाय पार्थिव ।
विचिन्वन् पूर्वमारूढः शुष्कशाखां वनस्पतौ ।। ४० ।।

मन्त्री बोले—राजन्! सुनो, विप्रवर काश्यप और नागराज तक्षकका मार्गमें एक-दूसरेके साथ जो समागम हुआ था, उसका समाचार जिसने और जिस प्रकार हमारे सामने बताया था, उसका वर्णन करते हैं। भूपाल! उस वृक्षपर पहलेसे ही कोई मनुष्य लकड़ी लेनेके लिये सूखी डाली खोजता हुआ चढ़ गया था ।। ३९-४० ।।

न बुध्येतामुभौ तौ च नगस्थं पन्नगद्विजौ ।
सह तेनैव वृक्षेण भस्मीभूतोऽभवन्नृप ।। ४१ ।।

तक्षक नाग और ब्राह्मण—दोनों ही नहीं जानते थे कि इस वृक्षपर कोई दूसरा मनुष्य भी है। राजन्! तक्षकके काटनेपर उस वृक्षके साथ ही वह मनुष्य भी जलकर भस्म हो गया था ।। ४१ ।।

द्विजप्रभावाद् राजेन्द्र व्यजीवत् सवनस्पतिः ।
तेनागम्य नरश्रेष्ठ पुंसास्मासु निवेदितम् ।। ४२ ।।

परंतु राजेन्द्र! ब्राह्मणके प्रभावसे वह भी उस वृक्षके साथ जी उठा। नरश्रेष्ठ! उसी मनुष्यने आकर हमलोगोंसे तक्षक और ब्राह्मणकी जो घटना थी, वह सुनायी ।। ४२ ।।

यथावृत्तं तु तत् सर्वं तक्षकस्य द्विजस्य च ।
एतत् ते कथितं राजन् यथा दृष्टं श्रुतं च यत् ।
श्रुत्वा च नृपशार्दूल विधत्स्व यदनन्तरम् ।। ४३ ।।

राजन्! इस प्रकार हमने जो कुछ सुना और देखा है, वह सब तुम्हें कह सुनाया। भूपालशिरोमणे! यह सुनकर अब तुम्हें जैसा उचित जान पड़े, वह करो ।। ४३ ।।

सौतिरुवाच

मन्त्रिणां तु वचः श्रुत्वा स राजा जनमेजयः ।
पर्यतप्यत दुःखार्तः प्रत्यपिंषत् करं करे ।। ४४ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—मन्त्रियोंकी बात सुनकर राजा जनमेजय दुःखसे आतुर हो संतप्त हो उठे और कुपित होकर हाथसे हाथ मलने लगे ।। ४४ ।।

निःश्वासमुष्णमसकृद् दीर्घं राजीवलोचनः ।
मुमोचाश्रूणि च तदा नेत्राभ्यां प्ररुदन् नृपः ।। ४५ ।।

वे बारम्बार लम्बी और गरम साँस छोड़ने लगे। कमलके समान नेत्रोंवाले राजा जनमेजय उस समय नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए फूट-फूटकर रोने लगे ।। ४५ ।।

उवाच च महीपालो दुःखशोकसमन्वितः ।
दुर्धरं वाष्पमुत्सृज्य स्पृष्ट्वा चापो यथाविधि ।। ४६ ।।
मुहूर्तमिव च ध्यात्वा निश्चित्य मनसा नृपः ।
अमर्षी मन्त्रिणः सर्वानिदं वचनमब्रवीत् ।। ४७ ।।

राजाने दो घड़ीतक ध्यान करके मन-ही-मन कुछ निश्चय किया, फिर दुःख-शोक और अमर्षमें डूबे हुए नरेश न थमनेवाले आँसुओंकी अविच्छिन्न धारा बहाते हुए विधिपूर्वक जलका स्पर्श करके सम्पूर्ण मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले— ।। ४६-४७ ।।

जनमेजय उवाच

श्रुत्वैतद् भवतां वाक्यं पितुर्मे स्वर्गतिं प्रति ।
निश्चितेयं मम मतिर्या च तां मे निबोधत ।
अनन्तरं च मन्येऽहं तक्षकाय दुरात्मने ।। ४८ ।।
प्रतिकर्तव्यमित्येवं येन मे हिंसितः पिता ।
शृङ्गिणं हेतुमात्रं यः कृत्वा दग्ध्वा च पार्थिवम् ।। ४९ ।।

जनमेजयने कहा—मन्त्रियो! मेरे पिताके स्वर्गलोकगमनके विषयमें आपलोगोंका यह वचन सुनकर मैंने अपनी बुद्धिद्वारा जो कर्तव्य निश्चित किया है, उसे आप सुन लें। मेरा विचार है, उस दुरात्मा तक्षकसे तुरंत बदला लेना चाहिये, जिसने शृंगी ऋषिको निमित्तमात्र बनाकर स्वयं ही मेरे पिता महाराजको अपनी विषाग्निसे दग्ध करके मारा है ।। ४८-४९ ।।

इयं दुरात्मता तस्य काश्यपं यो न्यवर्तयत् ।
यदाऽऽगच्छेत् स वै विप्रो ननु जीवेत् पिता मम ।। ५० ।।

उसकी सबसे बड़ी दुष्टता यह है कि उसने काश्यपको लौटा दिया। यदि वे ब्राह्मणदेवता आ जाते तो मेरे पिता निश्चय ही जीवित हो सकते थे ।। ५० ।।

परिहीयेत किं तस्य यदि जीवेत् स पार्थिवः ।
काश्यपस्य प्रसादेन मन्त्रिणां विनयेन च ।। ५१ ।।

यदि मन्त्रियोंके विनय और काश्यपके कृपाप्रसादसे महाराज जीवित हो जाते तो इसमें उस दुष्टकी क्या हानि हो जाती? ।। ५१ ।।

स तु वारितवान् मोहात् काश्यपं द्विजसत्तमम् ।

संजिजीवयिषुं प्राप्तं राजानमपराजितम् ।। ५२ ।।

जो कहीं भी परास्त न होते थे, ऐसे मेरे पिता राजा परीक्षित्को जीवित करनेकी इच्छासे द्विजश्रेष्ठ काश्यप आ पहुँचे थे, किंतु तक्षकने मोहवश उन्हें रोक दिया ।। ५२ ।।

महानतिक्रमो ह्येष तक्षकस्य दुरात्मनः ।
द्विजस्य योऽददद् द्रव्यं मा नृपं जीवयेदिति ।। ५३ ।।

दुरात्मा तक्षकका यह सबसे बड़ा अपराध है कि उसने ब्राह्मणदेवको इसलिये धन दिया कि वे महाराजको जिला न दें ।। ५३ ।।

उत्तङ्कस्य प्रियं कर्तुमात्मनश्च महत् प्रियम् ।
भवतां चैव सर्वेषां गच्छाम्यपचितिं पितुः ।। ५४ ।।

इसलिये मैं महर्षि उत्तंकका, अपना तथा आप सब लोगोंका अत्यन्त प्रिय करनेके लिये पिताके वैरका अवश्य बदला लूँगा ।। ५४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि पारिक्षिन्मन्त्रिसंवादे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जनमेजय और मन्त्रियोंका संवादविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५० ।।

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

जनमेजयके सर्पयज्ञका उपक्रम

सौतिरुवाच

एवमुक्त्वा ततः श्रीमान् मन्त्रिभिश्चानुमोदितः ।
आरुरोह प्रतिज्ञां स सर्पसत्राय पार्थिवः ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! श्रीमान् राजा जनमेजयने जब ऐसा कहा, तब उनके मन्त्रियोंने भी उस बातका समर्थन किया। तत्पश्चात् राजा सर्पयज्ञ करनेकी प्रतिज्ञापर आरूढ़ हो गये ।। १ ।।

ब्रह्मन् भरतशार्दूलो राजा पारिक्षितस्तदा ।
पुरोहितमथाहूय ऋत्विजो वसुधाधिपः ।। २ ।।
अब्रवीद् वाक्यसम्पन्नः कार्यसम्पत्करं वचः ।

ब्रह्मन्! सम्पूर्ण वसुधाके स्वामी भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ परीक्षित्‌कुमार राजा जनमेजयने उस समय पुरोहित तथा ऋत्विजोंको बुलाकर कार्य सिद्ध करनेवाली बात कही— ।। २१/२ ।।

यो मे हिंसितवांस्तातं तक्षकः स दुरात्मवान् ।। ३ ।।
प्रतिकुर्यां तथा तस्य तद् भवन्तो ब्रुवन्तु मे ।
अपि तत् कर्म विदितं भवतां येन पन्नगम् ।। ४ ।।
तक्षकं सम्प्रदीप्तेऽग्नौ प्रक्षिपेयं सबान्धवम् ।
यथा तेन पिता मह्यं पूर्वं दग्धो विषाग्निना ।
तथाहमपि तं पापं दग्धुमिच्छामि पन्नगम् ।। ५ ।।

'ब्राह्मणो! जिस दुरात्मा तक्षकने मेरे पिताकी हत्या की है, उससे मैं उसी प्रकारका बदला लेना चाहता हूँ। इसके लिये मुझे क्या करना चाहिये, यह आपलोग बतावें। क्या आपलोगोंको ऐसा कोई कर्म विदित है जिसके द्वारा मैं तक्षक नागको उसके बन्धु-बान्धवोंसहित जलती हुई आगमें झोंक सकूँ? उसने अपनी विषाग्निसे पूर्वकालमें मेरे पिताको जिस प्रकार दग्ध किया था, उसी प्रकार मैं भी उस पापी सर्पको जलाकर भस्म कर देना चाहता हूँ' ।। ३—५ ।।

ऋत्विज ऊचुः

अस्ति राजन् महत् सत्रं त्वदर्थं देवनिर्मितम् ।
सर्पसत्रमिति ख्यातं पुराणे परिपठ्यते ।। ६ ।।

ऋत्विजोंने कहा—राजन्! इसके लिये एक महान् यज्ञ है, जिसका देवताओंने आपके लिये पहलेसे ही निर्माण कर रखा है। उसका नाम है सर्पसत्र। पुराणोंमें उसका वर्णन आया है ।। ६ ।।

आहर्ता तस्य सत्रस्य त्वन्नान्योऽस्ति नराधिप ।
इति पौराणिकाः प्राहुरस्माकं चास्ति स क्रतुः ।। ७ ।।

नरेश्वर! उस यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है, ऐसा पौराणिक विद्वान् कहते हैं। उस यज्ञका विधान हमलोगोंको मालूम है ।। ७ ।।

एवमुक्तः स राजर्षिर्मेने दग्धं हि तक्षकम् ।
हुताशनमुखे दीप्ते प्रविष्टमिति सत्तम ।। ८ ।।

साधुशिरोमणे! ऋत्विजोंके ऐसा कहनेपर राजर्षि जनमेजयको विश्वास हो गया कि अब तक्षक निश्चय ही प्रज्वलित अग्निके मुखमें समाकर भस्म हो जायगा ।। ८ ।।

ततोऽब्रवीन्मन्त्रविदस्तान् राजा ब्राह्मणांस्तदा ।
आहरिष्यामि तत् सत्रं सम्भाराः सम्भ्रियन्तु मे ।। ९ ।।

तब राजाने उस समय उन मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंसे कहा—'मैं उस यज्ञका अनुष्ठान करूँगा। आपलोग उसके लिये आवश्यक सामग्री संग्रह कीजिये' ।। ९ ।।

ततस्ते ऋत्विजस्तस्य शास्त्रतो द्विजसत्तम ।
तं देशं मापयामासुर्यज्ञायतनकारणात् ।। १० ।।

द्विजश्रेष्ठ! तब उन ऋत्विजोंने शास्त्रीय विधिके अनुसार यज्ञमण्डप बनानेके लिये वहाँकी भूमि नाप ली ।। १० ।।

यथावद् वेदविद्वांसः सर्वे बुद्धेः परं गताः ।
ऋद्धया परमया युक्तमिष्टं द्विजगणैर्युतम् ।। ११ ।।
प्रभूतधनधान्याढ्यमृत्विग्भिः सुनिषेवितम् ।
निर्माय चापि विधिवद् यज्ञायतनमीप्सितम् ।। १२ ।।
राजानं दीक्षयामासुः सर्पसत्राप्तये तदा ।
इदं चासीत् तत्र पूर्वं सर्पसत्रे भविष्यति ।। १३ ।।

वे सभी ऋत्विज् वेदोंके यथावत् विद्वान् तथा परम बुद्धिमान् थे। उन्होंने विधिपूर्वक मनके अनुरूप एक यज्ञ-मण्डप बनाया, जो परम समृद्धिसे सम्पन्न, उत्तम द्विजोंके समुदायसे सुशोभित, प्रचुर धनधान्यसे परिपूर्ण तथा ऋत्विजोंसे सुसेवित था। उस यज्ञमण्डपका निर्माण कराकर ऋत्विजोंने सर्पयज्ञकी सिद्धिके लिये उस समय राजा जनमेजयको दीक्षा दी। इसी समय जब कि सर्पसत्र अभी प्रारम्भ होनेवाला था, वहाँ पहले ही यह घटना घटित हुई ।। ११—१३ ।।

निमित्तं महदुत्पन्नं यज्ञविघ्नकरं तदा ।
यज्ञस्यायतने तस्मिन् क्रियमाणे वचोऽब्रवीत् ।। १४ ।।

स्थपतिर्बुद्धिसम्पन्नो वास्तुविद्याविशारदः ।
इत्यब्रवीत् सूत्रधारः सूतः पौराणिकस्तदा ।। १५ ।।

उस यज्ञमें विघ्न डालनेवाला बहुत बड़ा कारण प्रकट हो गया। जब वह यज्ञमण्डप बनाया जा रहा था, उस समय वास्तुशास्त्रके पारंगत विद्वान्, बुद्धिमान् एवं अनुभवी सूत्रधार शिल्पवेत्ता सूतने वहाँ आकर कहा— ।। १४-१५ ।।

यस्मिन् देशे च काले च मापनेयं प्रवर्तिता ।
ब्राह्मणं कारणं कृत्वा नायं संस्थास्यते क्रतुः ।। १६ ।।

'जिस स्थान और समयमें यह यज्ञमण्डप मापनेकी क्रिया प्रारम्भ हुई है, उसे देखकर यह मालूम होता है कि एक ब्राह्मणको निमित्त बनाकर यह यज्ञ पूर्ण न हो सकेगा' ।। १६ ।।

एतच्छ्रुत्वा तु राजासौ प्राग्दीक्षाकालमब्रवीत् ।
क्षत्तारं न हि मे कश्चिदज्ञातः प्रविशेदिति ।। १७ ।।

यह सुनकर राजा जनमेजयने दीक्षा लेनेसे पहले ही सेवकको यह आदेश दे दिया —'मुझे सूचित किये बिना किसी अपरिचित व्यक्तिको यज्ञमण्डपमें प्रवेश न करने दिया जाय' ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रोपक्रमे
एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रोपक्रमसम्बन्धी
इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५१ ।।

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सर्पसत्रका आरम्भ और उसमें सर्पोंका विनाश

सौतिरुवाच

ततः कर्म प्रववृते सर्पसत्रविधानतः ।
पर्यक्रामंश्च विधिवत् स्वे स्वे कर्मणि याजकाः ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! तदनन्तर सर्पयज्ञकी विधिसे कार्य प्रारम्भ हुआ। सब याजक विधिपूर्वक अपने-अपने कर्ममें संलग्न हो गये ।। १ ।।

प्रावृत्य कृष्णवासांसि धूमसंरक्तलोचनाः ।
जुहुवुर्मन्त्रवच्चैव समिद्धं जातवेदसम् ।। २ ।।

सबकी आँखें धूएँसे लाल हो रही थीं। वे सभी ऋत्विज् काले वस्त्र पहनकर मन्त्रोच्चारणपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें होम करने लगे ।। २ ।।

कम्पयन्तश्च सर्वेषामुरगाणां मनांसि च ।
सर्पानाजुहुवुस्तत्र सर्वानग्निमुखे तदा ।। ३ ।।

वे समस्त सर्पोंके हृदयमें कँपकँपी पैदा करते हुए उनके नाम ले-लेकर उन सबका वहाँ आगके मुखमें होम करने लगे ।। ३ ।।

ततः सर्पाः समापेतुः प्रदीप्ते हव्यवाहने ।
विचेष्टमानाः कृपणमाह्वयन्तः परस्परम् ।। ४ ।।

तत्पश्चात् सर्पगण तड़फड़ाते और दीनस्वरमें एक-दूसरेको पुकारते हुए प्रज्वलित अग्निमें टपाटप गिरने लगे ।। ४ ।।

विस्फुरन्तः श्वसन्तश्च वेष्टयन्तः परस्परम् ।
पुच्छैः शिरोभिश्च भृशं चित्रभानुं प्रपेदिरे ।। ५ ।।

वे उछलते, लम्बी साँसें लेते, पूँछ और फनोंसे एक-दूसरेको लपेटते हुए धधकती आगके भीतर अधिकाधिक संख्यामें गिरने लगे ।। ५ ।।

श्वेताः कृष्णाश्च नीलाश्च स्थविराः शिशवस्तथा ।
नदन्तो विविधान् नादान् पेतुर्दीप्ते विभावसौ ।। ६ ।।

सफेद, काले, नीले, बूढ़े और बच्चे सभी प्रकारके सर्प विविध प्रकारसे चीत्कार करते हुए जलती आगमें विवश होकर गिर रहे थे ।। ६ ।।

क्रोशयोजनमात्रा हि गोकर्णस्य प्रमाणतः ।
पतन्त्यजस्रं वेगेन वह्नावग्निमतां वर ।। ७ ।।

कोई एक कोस लम्बे थे, तो कोई चार कोस और किन्हीं-किन्हींकी लम्बाई तो केवल गायके कानके बराबर थी। अग्निहोत्रियोंमें श्रेष्ठ शौनक! वे छोटे-बड़े सभी सर्प बड़े वेगसे

आगकी ज्वालामें निरन्तर आहुति बन रहे थे ।। ७ ।।

एवं शतसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
अवशानि विनष्टानि पन्नगानां तु तत्र वै ।। ८ ।।

इस प्रकार लाखों, करोड़ों तथा अरबों सर्प वहाँ विवश होकर नष्ट हो गये ।। ८ ।।

तुरगा इव तत्रान्ये हस्तिहस्ता इवापरे ।
मत्ता इव च मातङ्गा महाकाया महाबलाः ।। ९ ।।

कुछ सर्पोंकी आकृति घोड़ोंके समान थी और कुछकी हाथीकी सूँड़के सदृश। कितने ही विशाल-काय महाबली नाग मतवाले गजराजोंको मात कर रहे थे ।। ९ ।।

उच्चावचाश्च बहवो नानावर्णा विषोल्बणाः ।
घोराश्च परिघप्रख्या दन्दशूका महाबलाः ।
प्रपेतुरग्नावुरगा मातृवाग्दण्डपीडिताः ।। १० ।।

भयंकर विषवाले छोटे-बड़े अनेक रंगके बहु-संख्यक सर्प, जो देखनेमें भयानक, परिघके समान मोटे, अकारण ही डँस लेनेवाले और अत्यन्त शक्तिशाली थे, अपनी माताके शापसे पीड़ित होकर स्वयं ही आगमें पड़ रहे थे ।। १० ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रोपक्रमे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रोपक्रमविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५२ ।।

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सर्पयज्ञके ऋत्विजोंकी नामावली, सर्पोंका भयंकर विनाश, तक्षकका इन्द्रकी शरणमें जाना तथा वासुकिका अपनी बहिनसे आस्तीकको यज्ञमें भेजनेके लिये कहना

शौनक उवाच

सर्पसत्रे तदा राज्ञः पाण्डवेयस्य धीमतः ।
जनमेजयस्य के त्वासन्नृत्विजः परमर्षयः ।। १ ।।

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन! पाण्डववंशी बुद्धिमान् राजा जनमेजयके उस सर्पयज्ञमें कौन-कौनसे महर्षि ऋत्विज् बने थे? ।। १ ।।

के सदस्या बभूवुश्च सर्पसत्रे सुदारुणे ।
विषादजननेऽत्यर्थं पन्नगानां महाभये ।। २ ।।

उस अत्यन्त भयंकर सर्पसत्रमें, जो सर्पोंके लिये महान् भयदायक और विषादजनक था, कौन-कौनसे मुनि सदस्य हुए थे? ।। २ ।।

सर्वं विस्तरशस्तात भवाञ्छंसितुमर्हति ।
सर्पसत्रविधानज्ञविज्ञेयाः के च सूतज ।। ३ ।।

तात! ये सब बातें आप विस्तारपूर्वक बताइये। सूतपुत्र! यह भी सूचित कीजिये कि सर्पसत्रकी विधिको जाननेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ समझे जानेयोग्य कौन-कौनसे महर्षि वहाँ उपस्थित थे ।। ३ ।।

सौतिरुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि नामानीह मनीषिणाम् ।
ये ऋत्विजः सदस्याश्च तस्यासन् नृपतेस्तदा ।। ४ ।।
तत्र होता बभूवाथ ब्राह्मणश्चण्डभार्गवः ।
च्यवनस्यान्वये ख्यातो जातो वेदविदां वरः ।। ५ ।।
उद्गाता ब्राह्मणो वृद्धो विद्वान् कौत्सोऽथ जैमिनिः ।
ब्रह्माभवच्छार्ङ्गरवोऽथाध्वर्युश्चापि पिङ्गलः ।। ६ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनकजी! मैं आपको उन मनीषी महात्माओंके नाम बता रहा हूँ, जो उस समय राजा जनमेजयके ऋत्विज् और सदस्य थे। उस यज्ञमें वेद-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण चण्डभार्गव होता थे। उनका जन्म च्यवन मुनिके वंशमें हुआ था। वे उस समयके विख्यात कर्मकाण्डी थे। वृद्ध एवं विद्वान् ब्राह्मण कौत्स उद्गाता, जैमिनि ब्रह्मा तथा शार्ङ्गरव और पिंगल अध्वर्यु थे ।। ४—६ ।।

सदस्यश्चाभवद् व्यासः पुत्रशिष्यसहायवान् ।
उद्दालकः प्रमतकः श्वेतकेतुश्च पिङ्गलः ।। ७ ।।
असितो देवलश्चैव नारदः पर्वतस्तथा ।
आत्रेयः कुण्डजठरौ द्विजः कालघटस्तथा ।। ८ ।।
वात्स्यः श्रुतश्रवा वृद्धो जपस्वाध्यायशीलवान् ।
कोहलो देवशर्मा च मौद्गल्यः समसौरभः ।। ९ ।।
एते चान्ये च बहवो ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
सदस्याश्चाभवंस्तत्र सत्रे पारीक्षितस्य ह ।। १० ।।

इसी प्रकार पुत्र और शिष्योंसहित भगवान् वेदव्यास, उद्दालक, प्रमतक, श्वेतकेतु, पिंगल, असित, देवल, नारद, पर्वत, आत्रेय, कुण्ड, जठर, द्विजश्रेष्ठ कालघट, वात्स्य, जप और स्वाध्यायमें लगे रहनेवाले बूढ़े श्रुतश्रवा, कोहल, देवशर्मा, मौद्गल्य तथा समसौरभ— ये और अन्य बहुत-से वेदविद्याके पारंगत ब्राह्मण जनमेजयके उस सर्पयज्ञमें सदस्य बने थे ।। ७—१० ।।

जुह्वत्स्वृत्विक्ष्वथ तदा सर्पसत्रे महाक्रतौ ।
अहयः प्रापतंस्तत्र घोराः प्राणिभयावहाः ।। ११ ।।

उस समय उस महान् यज्ञ सर्पसत्रमें ज्यों-ज्यों ऋत्विज् लोग आहुतियाँ डालते, त्यों-त्यों प्राणिमात्रको भय देनेवाले घोर सर्प वहाँ आ-आकर गिरते थे ।। ११ ।।

वसामेदोवहाः कुल्या नागानां सम्प्रवर्तिताः ।
ववौ गन्धश्च तुमुलो दह्यतामनिशं तदा ।। १२ ।।

नागोंकी चर्बी और मेदसे भरे हुए कितने ही नाले बह चले। निरन्तर जलनेवाले सर्पोंकी तीखी दुर्गन्ध चारों ओर फैल रही थी ।। १२ ।।

पततां चैव नागानां धिष्ठितानां तथाम्बरे ।
अश्रूयतानिशं शब्दः पच्यतां चाग्निना भृशम् ।। १३ ।।

जो आगमें पड़ रहे थे, जो आकाशमें ठहरे हुए थे और जो जलती हुई आगकी ज्वालामें पक रहे थे, उन सभी सर्पोंका करुण क्रन्दन निरन्तर जोर-जोरसे सुनायी पड़ता था ।। १३ ।।

तक्षकस्तु स नागेन्द्रः पुरन्दरनिवेशनम् ।
गतः श्रुत्वैव राजानं दीक्षितं जनमेजयम् ।। १४ ।।

नागराज तक्षकने जब सुना कि राजा जनमेजयने सर्पयज्ञकी दीक्षा ली है, तब उसे सुनते ही वह देवराज इन्द्रके भवनमें चला गया ।। १४ ।।

ततः सर्वं यथावृत्तमाख्याय भुजगोत्तमः ।
अगच्छच्छरणं भीत आगः कृत्वा पुरन्दरम् ।। १५ ।।

वहाँ उसने सब बातें ठीक-ठीक कह सुनायीं। फिर सर्पोंमें श्रेष्ठ तक्षकने अपराध करनेके कारण भयभीत हो इन्द्रदेवकी शरण ली ।। १५ ।।

तमिन्द्रः प्राह सुप्रीतो न तवास्तीह तक्षक ।

भयं नागेन्द्र तस्माद् वै सर्पसत्रात् कदाचन ।। १६ ।।

तब इन्द्रने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा—'नागराज तक्षक! तुम्हें यहाँ उस सर्पयज्ञसे कदापि कोई भय नहीं है ।। १६ ।।

प्रसादितो मया पूर्वं तवार्थाय पितामहः ।

तस्मात् तव भयं नास्ति व्येतु ते मानसो ज्वरः ।। १७ ।।

तुम्हारे लिये मैंने पहलेसे ही पितामह ब्रह्माजीको प्रसन्न कर लिया है, अतः तुम्हें कुछ भी भय नहीं है। तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये' ।। १७ ।।

सौतिरुवाच

एवमाश्वासितस्तेन ततः स भुजगोत्तमः ।

उवास भवने तस्मिञ्छक्रस्य मुदितः सुखी ।। १८ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इन्द्रके इस प्रकार आश्वासन देनेपर सर्पोंमें श्रेष्ठ तक्षक उस इन्द्रभवनमें ही सुखी एवं प्रसन्न होकर रहने लगा ।। १८ ।।

अजस्रं निपतत्स्वग्नौ नागेषु भृशदुःखितः ।

अल्पशेषपरीवारो वासुकिः पर्यतप्यत ।। १९ ।।

नाग निरन्तर उस यज्ञकी आगमें आहुति बनते जा रहे थे। सर्पोंका परिवार अब बहुत थोड़ा बच गया था। यह देख वासुकि नाग अत्यन्त दुःखी हो मन-ही-मन संतप्त होने लगे ।। १९ ।।

कश्मलं चाविशद् घोरं वासुकिं पन्नगोत्तमम् ।

स घूर्णमानहृदयो भगिनीमिदमब्रवीत् ।। २० ।।

सर्पोंमें श्रेष्ठ वासुकिपर भयानक मोह-सा छा गया, उनके हृदयमें चक्कर आने लगा। अतः वे अपनी बहिनसे इस प्रकार बोले— ।। २० ।।

दह्यन्त्यङ्गानि मे भद्रे न दिशः प्रतिभान्ति च ।

सीदामीव च सम्मोहात् घूर्णतीव च मे मनः ।। २१ ।।

दृष्टिर्भ्राम्यति मेऽतीव हृदयं दीर्यतीव च ।

पतिष्याम्यवशोऽद्याहं तस्मिन् दीप्ते विभावसौ ।। २२ ।।

'भद्रे! मेरे अंगोंमें जलन हो रही है। मुझे दिशाएँ नहीं सूझतीं। मैं शिथिल-सा हो रहा हूँ और मोहवश मेरे मस्तिष्कमें चक्कर-सा आ रहा है, मेरे नेत्र घूम रहे हैं, हृदय अत्यन्त विदीर्ण-सा होता जा रहा है। जान पड़ता है, आज मैं भी विवश होकर उस यज्ञकी प्रज्वलित अग्निमें गिर पड़ूँगा ।। २१-२२ ।।

पारिक्षितस्य यज्ञोऽसौ वर्ततेऽस्मज्जिघांसया ।
व्यक्तं मयापि गन्तव्यं प्रेतराजनिवेशनम् ।। २३ ।।

‘जनमेजयका वह यज्ञ हमलोगोंकी हिंसाके लिये ही हो रहा है। निश्चय ही अब मुझे भी यमलोक जाना पड़ेगा ।। २३ ।।

अयं स कालः सम्प्राप्तो यदर्थमसि मे स्वसः ।
जरत्कारौ मया दत्ता त्रायस्वास्मान् सबान्धवान् ।। २४ ।।

‘बहिन! जिसके लिये मैंने तुम्हारा विवाह जरत्कारु मुनिसे किया था, उसका यह अवसर आ गया है। तुम बान्धवोंसहित हमारी रक्षा करो ।। २४ ।।

आस्तीकः किल यज्ञं तं वर्तन्तं भुजगोत्तमे ।
प्रतिषेत्स्यति मां पूर्वं स्वयमाह पितामहः ।। २५ ।।

‘श्रेष्ठ नागकन्ये! पूर्वकालमें साक्षात् ब्रह्माजीने मुझसे कहा था—‘आस्तीक उस यज्ञको बंद कर देगा’ ।। २५ ।।

तद् वत्से ब्रूहि वत्सं स्वं कुमारं वृद्धसम्मतम् ।
ममाद्य त्वं सभृत्यस्य मोक्षार्थं वेदवित्तमम् ।। २६ ।।

‘अतः वत्से! आज तुम बन्धु-बान्धवोंसहित मेरे जीवनको संकटसे छुड़ानेके लिये वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ अपने पुत्र कुमार आस्तीकसे कहो। वह बालक होनेपर भी वृद्ध पुरुषोंके लिये भी आदरणीय है’ ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रे वासुकिवाक्ये त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रके विषयमें वासुकिवचनसम्बन्धी तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५३ ।।

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

माताकी आज्ञासे मामाको सान्त्वना देकर आस्तीकका सर्पयज्ञमें जाना

सौतिरुवाच

तत आहूय पुत्रं स्वं जरत्कारुर्भुजङ्गमा ।
वासुकेर्नागराजस्य वचनादिदमब्रवीत् ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तब नागकन्या जरत्कारु नागराज वासुकिके कथनानुसार अपने पुत्रको बुलाकर इस प्रकार बोली— ।। १ ।।

अहं तव पितुः पुत्र भ्रात्रा दत्ता निमित्ततः ।
कालः स चायं सम्प्राप्तस्तत् कुरुष्व यथातथम् ।। २ ।।

'बेटा! मेरे भैयाने एक निमित्तको लेकर तुम्हारे पिताके साथ मेरा विवाह किया था। उसकी पूर्तिका यही उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ है। अतः तुम यथावत्‌रूपसे उस उद्देश्यकी पूर्ति करो' ।। २ ।।

आस्तीक उवाच

किं निमित्तं मम पितुर्दत्ता त्वं मातुलेन मे ।
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन श्रुत्वा कर्तास्मि तत् तथा ।। ३ ।।

आस्तीकने पूछा—माँ! मामाजीने किस निमित्तको लेकर पिताजीके साथ तुम्हारा विवाह किया था? वह मुझे ठीक-ठीक बताओ। उसे सुनकर मैं उसकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करूँगा ।। ३ ।।

सौतिरुवाच

तत आचष्ट सा तस्मै बान्धवानां हितैषिणी ।
भगिनी नागराजस्य जरत्कारुरविक्लवा ।। ४ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर अपने भाई-बन्धुओंका हित चाहनेवाली नागराजकी बहिन जरत्कारु शान्तचित्त हो आस्तीकसे बोली ।। ४ ।।

जरत्कारुरुवाच

पन्नगानामशेषाणां माता कद्रूरिति श्रुता ।
तया शप्ता रुषितया सुता यस्मान्निबोध तत् ।। ५ ।।

जरत्कारुने कहा—वत्स! सम्पूर्ण नागोंकी माता कद्रू नामसे विख्यात हैं। उन्होंने किसी समय रुष्ट होकर अपने पुत्रोंको शाप दे दिया था। जिस कारणसे वह शाप दिया, वह

बताती हूँ, सुनो ।। ५ ।।

उच्चैःश्रवाः सोऽश्वराजो यन्मिथ्या न कृतो मम ।
विनतार्थाय पणिते दासीभावाय पुत्रकाः ।। ६ ।।
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः ।
तत्र पञ्चत्वमापन्नाः प्रेतलोकं गमिष्यथ ।। ७ ।।

(अश्वोंका राजा जो उच्चैःश्रवा है, उसके रंगको लेकर विनताके साथ कद्रूने बाजी लगायी थी। उसमें यह शर्त थी—'जो हारे वह जीतनेवालीकी दासी बने।' कद्रू उच्चैःश्रवाकी पूँछ काली बता चुकी थी। अतः उसने अपने पुत्रोंसे कहा—'तुमलोग छलपूर्वक उस घोड़ेकी पूँछ काले रंगकी कर दो।' सर्प इससे सहमत न हुए। तब उन्होंने सर्पोंको शाप देते हुए कहा—) 'पुत्रो! तुमलोगोंने मेरे कहनेसे अश्वराज उच्चैःश्रवाकी पूँछका रंग न बदलकर विनताके साथ जो मेरी दासी होनेकी शर्त थी, उसमें—उस घोड़ेके सम्बन्धमें विनताके कथनको मिथ्या नहीं कर दिखाया, इसलिये जनमेजयके यज्ञमें तुमलोगोंको आग जलाकर भस्म कर देगी और तुम सभी मरकर प्रेतलोकको चले जाओगे' ।। ६-७ ।।

तां च शप्तवतीं देवः साक्षाल्लोकपितामहः ।
एवमस्त्विति तद्वाक्यं प्रोवाचानुमुमोद च ।। ८ ।।

कद्रूने जब इस प्रकार शाप दे दिया, तब साक्षात् लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने 'एवमस्तु' कहकर उनके वचनका अनुमोदन किया ।। ८ ।।

वासुकिश्चापि तच्छ्रुत्वा पितामहवचस्तदा ।
अमृते मथिते तात देवाञ्छरणमीयिवान् ।। ९ ।।

तात! मेरे भाई वासुकिने भी उस समय पितामहकी बात सुनी थी। फिर अमृत-मन्थनका कार्य हो जानेपर वे देवताओंकी शरणमें गये ।। ९ ।।

सिद्धार्थाश्च सुराः सर्वे प्राप्यामृतमनुत्तमम् ।
भ्रातरं मे पुरस्कृत्य पितामहमुपागमन् ।। १० ।।
ते तं प्रसादयामासुः सुराः सर्वेऽब्जसम्भवम् ।
राज्ञा वासुकिना सार्धं शापोऽसौ न भवेदिति ।। ११ ।।

देवतालोग मेरे भाईकी सहायतासे उत्तम अमृत पाकर अपना मनोरथ सिद्ध कर चुके थे। अतः वे मेरे भाईको आगे करके पितामह ब्रह्माजीके पास गये। वहाँ समस्त देवताओंने नागराज वासुकिके साथ रहकर पितामह ब्रह्माजीको प्रसन्न किया। उन्हें प्रसन्न करनेका उद्देश्य यह था कि माताका वह शाप लागू न हो ।। १०-११ ।।

देवा ऊचुः

वासुकिर्नागराजोऽयं दुःखितो ज्ञातिकारणात् ।
अभिशापः स मातुस्तु भगवन् न भवेत् कथम् ।। १२ ।।

देवता बोले—भगवन्! ये नागराज वासुकि अपने जाति-भाइयोंके लिये बहुत दुःखी हैं। कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे माताका शाप इन लोगोंपर लागू न हो ।। १२ ।।

ब्रह्मोवाच

जरत्कारुर्जरत्कारुं यां भार्यां समवाप्स्यति ।
तत्र जातो द्विजः शापान्मोक्षयिष्यति पन्नगान् ।। १३ ।।

ब्रह्माजीने कहा—जरत्कारु मुनि जरत्कारु नामवाली जिस पत्नीको ग्रहण करेंगे, उसके गर्भसे उत्पन्न ब्राह्मण सर्पोंको माताके शापसे मुक्त करेगा ।। १३ ।।

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं वासुकिः पन्नगोत्तमः ।
प्रादान्मामरप्रख्य तव पित्रे महात्मने ।। १४ ।।
प्रागेवानागते काले तस्मात् त्वं मय्यजायथाः ।
अयं स कालः सम्प्राप्तो भयान्नस्त्रातुमर्हसि ।। १५ ।।
भ्रातरं चापि मे तस्मात् त्रातुमर्हसि पावकात् ।
न मोघं तु कृतं तत् स्याद् यदहं तव धीमते ।
पित्रे दत्ता विमोक्षार्थं कथं वा पुत्र मन्यसे ।। १६ ।।

देवताके समान तेजस्वी पुत्र! ब्रह्माजीकी वह बात सुनकर नागश्रेष्ठ वासुकिने मुझे तुम्हारे महात्मा पिताकी सेवामें समर्पित कर दिया। यह अवसर आनेसे बहुत पहले इसी निमित्तसे मेरा विवाह किया गया। तदनन्तर उन महर्षिद्वारा मेरे गर्भसे तुम्हारा जन्म हुआ। जनमेजयके सर्पयज्ञका वह पूर्वनिर्दिष्ट काल आज उपस्थित है (उस यज्ञमें निरन्तर सर्प जल रहे हैं), अतः उस भयसे तुम उन सबका उद्धार करो। मेरे भाईको भी उस भयंकर अग्निसे बचा लो। जिस उद्देश्यको लेकर तुम्हारे बुद्धिमान् पिताकी सेवामें मैं दी गयी, वह व्यर्थ नहीं जाना चाहिये। अथवा बेटा! सर्पोंको इस संकटसे बचानेके लिये तुम क्या उचित समझते हो? ।। १४—१६ ।।

सौतिरुवाच

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सास्तीको मातरं तदा ।
अब्रवीद् दुःखसंतप्तं वासुकिं जीवयन्निव ।। १७ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—माताके ऐसा कहनेपर आस्तीकने उससे कहा—'माँ! तुम्हारी जैसी आज्ञा है वैसा ही करूँगा।' इसके बाद वे दुःखपीड़ित वासुकिको जीवनदान देते हुए-से बोले— ।। १७ ।।

अहं त्वां मोक्षयिष्यामि वासुके पन्नगोत्तम ।
तस्माच्छापान्महासत्त्व सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। १८ ।।

'महान् शक्तिशाली नागराज वासुके! मैं आपको माताके उस शापसे छुड़ा दूँगा। यह आपसे सत्य कहता हूँ ।। १८ ।।

भव स्वस्थमना नाग न हि ते विद्यते भयम् ।
प्रयतिष्ये तथा राजन् यथा श्रेयो भविष्यति ।। १९ ।।

'नागप्रवर! आप निश्चिन्त रहें। आपके लिये कोई भय नहीं है। राजन्! जैसे भी आपका कल्याण होगा, मैं वैसा प्रयत्न करूँगा ।। १९ ।।

न मे वागनृतं प्राह स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।
तं वै नृपवरं गत्वा दीक्षितं जनमेजयम् ।। २० ।।
वाग्भिर्मङ्गलयुक्ताभिस्तोषयिष्येऽद्य मातुल ।
यथा स यज्ञो नृपतेर्निवर्तिष्यति सत्तम ।। २१ ।।

'मैंने कभी हँसी-मजाकमें भी झूठी बात नहीं कही है, फिर इस संकटके समय तो कह ही कैसे सकता हूँ। सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ मामाजी! सर्पयज्ञके लिये दीक्षित नृपश्रेष्ठ जनमेजयके पास जाकर अपनी मंगलमयी वाणीसे आज उन्हें ऐसा संतुष्ट करूँगा, जिससे राजाका वह यज्ञ बंद हो जायगा ।। २०-२१ ।।

स सम्भावय नागेन्द्र मयि सर्वं महामते ।
न ते मयि मनो जातु मिथ्या भवितुमर्हति ।। २२ ।।

'महाबुद्धिमान् नागराज! मुझमें यह सब कुछ करनेकी योग्यता है, आप इसपर विश्वास रखें। आपके मनमें मेरे प्रति जो आशा-भरोसा है, वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता' ।। २२ ।।

वासुकिरुवाच

आस्तीक परिघूर्णामि हृदयं मे विदीर्यते ।
दिशो न प्रतिजानामि ब्रह्मदण्डनिपीडितः ।। २३ ।।

वासुकि बोले—आस्तीक! माताके शापरूप ब्रह्मदण्डसे पीड़ित होनेके कारण मुझे चक्कर आ रहा है, मेरा हृदय विदीर्ण होने लगा है और मुझे दिशाओंका ज्ञान नहीं हो रहा है ।। २३ ।।

आस्तीक उवाच

न संतापस्त्वया कार्यः कथंचित् पन्नगोत्तम ।
प्रदीप्ताग्नेः समुत्पन्नं नाशयिष्यामि ते भयम् ।। २४ ।।

आस्तीकने कहा—नागप्रवर! आपको मनमें किसी प्रकार संताप नहीं करना चाहिये। सर्पयज्ञकी धधकती हुई आगसे जो भय आपको प्राप्त हुआ है, मैं उसका नाश कर दूँगा ।। २४ ।।

ब्रह्मदण्डं महाघोरं कालाग्निसमतेजसम् ।
नाशयिष्यामि मात्र त्वं भयं कार्षीः कथंचन ।। २५ ।।

कालाग्निके समान दाहक और अत्यन्त भयंकर शापका यहाँ मैं अवश्य नाश कर डालूँगा। अतः आप उससे किसी तरह भय न करें ।। २५ ।।

सौतिरुवाच

ततः स वासुकेर्घोरमपनीय मनोज्वरम् ।
आधाय चात्मनोऽङ्गेषु जगाम त्वरितो भृशम् ।। २६ ।।
जनमेजयस्य तं यज्ञं सर्वैः समुदितं गुणैः ।
मोक्षाय भुजगेन्द्राणामास्तीको द्विजसत्तमः ।। २७ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर नागराज वासुकिके भयंकर चिन्ता-ज्वरको दूर कर और उसे अपने ऊपर लेकर द्विजश्रेष्ठ आस्तीक बड़ी उतावलीके साथ नागराज वासुकि आदिको प्राण-संकटसे छुड़ानेके लिये राजा जनमेजयके उस सर्पयज्ञमें गये, जो समस्त उत्तम गुणोंसे सम्पन्न था ।। २६-२७ ।।

स गत्वापश्यदास्तीको यज्ञायतनमुत्तमम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिः सूर्यवह्निसमप्रभैः ।। २८ ।।

वहाँ पहुँचकर आस्तीकने परम उत्तम यज्ञमण्डप देखा, जो सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी अनेक सदस्योंसे भरा हुआ था ।। २८ ।।

स तत्र वारितो द्वाःस्थैः प्रविशन् द्विजसत्तमः ।
अभितुष्टाव तं यज्ञं प्रवेशार्थी परंतपः ।। २९ ।।

द्विजश्रेष्ठ आस्तीक जब यज्ञमण्डपमें प्रवेश करने लगे, उस समय द्वारपालोंने उन्हें रोक दिया। तब काम-क्रोध आदि शत्रुओंको संतप्त करनेवाले आस्तीक उसमें प्रवेश करनेकी इच्छा रखकर उस यज्ञकी स्तुति करने लगे ।। २९ ।।

स प्राप्य यज्ञायतनं वरिष्ठं
द्विजोत्तमः पुण्यकृतां वरिष्ठः ।
तुष्टाव राजानमनन्तकीर्ति-
मृत्विक्सदस्यांश्च तथैव चाग्निम् ।। ३० ।।

इस प्रकार उस परम उत्तम यज्ञमण्डपके निकट पहुँचकर पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ विप्रवर आस्तीकने अक्षय कीर्तिसे सुशोभित यजमान राजा जनमेजय, ऋत्विजों, सदस्यों तथा अग्निदेवका स्तवन आरम्भ किया ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रे आस्तीकागमने चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रमें आस्तीकका आगमनविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५४ ।।

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

आस्तीकके द्वारा यजमान, यज्ञ, ऋत्विज्, सदस्यगण और अग्निदेवकी स्तुति-प्रशंसा

आस्तीक उवाच

सोमस्य यज्ञो वरुणस्य यज्ञः
प्रजापतेर्यज्ञ आसीत् प्रयागे ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ।। १ ।।

आस्तीकने कहा—भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ जनमेजय! चन्द्रमाका जैसा यज्ञ हुआ था, वरुणने जैसा यज्ञ किया था और प्रयागमें प्रजापति ब्रह्माजीका यज्ञ जिस प्रकार समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न हुआ था, उसी प्रकार तुम्हारा यह यज्ञ भी उत्तम गुणोंसे युक्त है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ।। १ ।।

शक्रस्य यज्ञः शतसंख्य उक्त-
स्तथा पूरोस्तुल्यसंख्यं शतं वै ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ।। २ ।।

भरतकुलशिरोमणि परीक्षित्‌कुमार! इन्द्रके यज्ञोंकी संख्या सौ बतायी गयी है, राजा पूरुके यज्ञोंकी संख्या भी उनके समान ही सौ है। उन सबके यज्ञोंके तुल्य ही तुम्हारा यह यज्ञ शोभा पा रहा है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ।। २ ।।

यमस्य यज्ञो हरिमेधसश्च
यथा यज्ञो रन्तिदेवस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ।। ३ ।।

जनमेजय! यमराजका यज्ञ, हरिमेधाका यज्ञ तथा राजा रन्तिदेवका यज्ञ जिस प्रकार श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न था, वैसे ही तुम्हारा यह यज्ञ है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ।। ३ ।।

गयस्य यज्ञः शशबिन्दोश्च राज्ञो
यज्ञस्तथा वैश्रवणस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ।। ४ ।।

भरतवंशियोंमें अग्रगण्य जनमेजय! महाराज गयका यज्ञ, राजा शशबिन्दुका यज्ञ तथा राजाधिराज कुबेरका यज्ञ जिस प्रकार उत्तम विधि-विधानसे सम्पन्न हुआ था, वैसा ही तुम्हारा यह यज्ञ है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ।। ४ ।।

नृगस्य यज्ञस्त्वजमीढस्य चासीद्
यथा यज्ञो दाशरथेश्च राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्रय
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ।। ५ ।।

परीक्षित्‌कुमार! राजा नृग, राजा अजमीढ़ और महाराज दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीने जिस प्रकार यज्ञ किया था, वैसा ही तुम्हारा यह यज्ञ भी है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ।। ५ ।।

यज्ञः श्रुतो दिवि देवस्य सूनो-
र्युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्रय
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ।। ६ ।।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! अजमीढ़वंशी धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिरके यज्ञकी ख्याति स्वर्गके श्रेष्ठ देवताओंने भी सुन रखी थी, वैसा ही तुम्हारा भी यह यज्ञ है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ।। ६ ।।

कृष्णस्य यज्ञः सत्यवत्याः सुतस्य
स्वयं च कर्म प्रचकार यत्र ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्रय
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ।। ७ ।।

भरताग्रगण्य जनमेजय! सत्यवतीनन्दन व्यासजीका यज्ञ जिसमें उन्होंने स्वयं सब कार्य सम्पन्न किया था, जैसा हो पाया था, वैसा ही तुम्हारा यह यज्ञ भी है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ।। ७ ।।

इमे च ते सूर्यसमानवर्चसः
समासते वृत्रहणः क्रतुं यथा ।
नैषां ज्ञातुं विद्यते ज्ञानमद्य
दत्तं येभ्यो न प्रणश्येत् कदाचित् ।। ८ ।।

तुम्हारे ये ऋत्विज सूर्यके समान तेजस्वी हैं और इन्द्रके यज्ञकी भाँति तुम्हारे इस यज्ञका भलीभाँति अनुष्ठान करते हैं। कोई भी ऐसी जानने योग्य वस्तु नहीं है, जिसका इन्हें ज्ञान न हो। इन्हें दिया हुआ दान कभी नष्ट नहीं हो सकता ।। ८ ।।

ऋत्विक् समो नास्ति लोकेषु चैव
द्वैपायनेनेति विनिश्चितं मे ।

एतस्य शिष्याः क्षितिमाचरन्ति
सर्वर्त्विजः कर्मसु स्वेषु दक्षाः ।। ९ ।।

द्वैपायन व्यासजीके समान पारलौकिक साधनोंमें कुशल दूसरा कोई ऋत्विज नहीं है, यह मेरा निश्चित मत है। इनके शिष्य ही अपने-अपने कर्मोंमें निपुण होता, उद्गाता आदि सभी प्रकारके ऋत्विज हैं, जो यज्ञ करानेके लिये सम्पूर्ण भूमण्डलमें विचरते रहते हैं ।। ९ ।।

विभावसुश्चित्रभानुर्महात्मा
हिरण्यरेता हुतभुक् कृष्णवर्त्मा ।
प्रदक्षिणावर्तशिखः प्रदीप्तो
हव्यं तवेदं हुतभुग् वष्टि देवः ।। १० ।।

जो विभावसु, चित्रभानु, महात्मा, हिरण्यरेता, हविष्यभोजी तथा कृष्णवर्त्मा कहलाते हैं, वे अग्निदेव तुम्हारे इस यज्ञमें दक्षिणावर्त शिखाओंसे प्रज्वलित हो दी हुई आहुतिको भोग लगाते हुए तुम्हारे इस हविष्यकी सदा इच्छा रखते हैं ।। १० ।।

नेह त्वदन्यो विद्यते जीवलोके
समो नृपः पालयिता प्रजानाम् ।
धृत्या च ते प्रीतमनाः सदाहं
त्वं वा वरुणो धर्मराजो यमो वा ।। ११ ।।

इस मृत्युलोकमें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा राजा नहीं है, जो तुम्हारी भाँति प्रजाका पालन कर सके। तुम्हारे धैर्यसे मेरा मन सदा प्रसन्न रहता है। तुम साक्षात् वरुण, धर्मराज एवं यमके समान प्रभावशाली हो ।। ११ ।।

शक्रः साक्षाद् वज्रपाणिर्यथेह
त्राता लोकेऽस्मिंस्त्वं तथेह प्रजानाम् ।
मतस्त्वं नः पुरुषेन्द्रेह लोके
न च त्वदन्यो भूपतिरस्ति जज्ञे ।। १२ ।।

पुरुषोमें श्रेष्ठ जनमेजय! जैसे साक्षात् वज्रपाणि इन्द्र सम्पूर्ण प्रजाकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार तुम भी इस लोकमें हम प्रजावर्गके पालक माने गये हो। संसारमें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई भूपाल तुम-जैसा प्रजापालक नहीं है ।। १२ ।।

खट्वाङ्गनाभागदिलीपकल्प
ययातिमान्धातृसमप्रभाव ।
आदित्यतेजःप्रतिमानतेजा
भीष्मो यथा राजसि सुव्रतस्त्वम् ।। १३ ।।

राजन्! तुम खट्वांग, नाभाग और दिलीपके समान प्रतापी हो। तुम्हारा प्रभाव राजा ययाति और मान्धाताके समान है। तुम अपने तेजसे भगवान् सूर्यके प्रचण्ड तेजकी

समानता कर रहे हो। जैसे भीष्मपितामहने उत्तम ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया था, उसी प्रकार तुम भी इस यज्ञमें परम उत्तम व्रतका पालन करते हुए शोभा पा रहे हो ।। १३ ।।

वाल्मीकिवत् ते निभृतं स्ववीर्यं
वसिष्ठवत् ते नियतश्च कोपः ।
प्रभुत्वमिन्द्रत्वसमं मतं मे
द्युतिश्च नारायणवद् विभाति ।। १४ ।।

महर्षि वाल्मीकिकी भाँति तुम्हारा अद्‌भुत पराक्रम तुममें ही छिपा हुआ है। महर्षि वसिष्ठजीके समान तुमने अपने क्रोधको काबूमें कर रखा है। मेरी ऐसी मान्यता है कि तुम्हारा प्रभुत्व इन्द्रके ऐश्वर्यके तुल्य है और तुम्हारी अंगकान्ति भगवान् नारायणके समान सुशोभित होती है ।। १४ ।।

यमो यथा धर्मविनिश्चयज्ञः
कृष्णो यथा सर्वगुणोपपन्नः ।
श्रियां निवासोऽसि यथा वसूनां
निधानभूतोऽसि तथा क्रतूनाम् ।। १५ ।।

तुम यमराजकी भाँति धर्मके निश्चित सिद्धान्तको जाननेवाले हो। भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति सर्वगुणसम्पन्न हो। वसुगणोंके पास जो सम्पत्तियाँ हैं, वैसी ही सम्पदाओंके तुम निवासस्थान हो तथा यज्ञोंकी तो तुम साक्षात् निधि ही हो ।। १५ ।।

दम्भोद्भवेनासि समो बलेन
रामो यथा शास्त्रविदस्त्रविच्च ।
और्वत्रिताभ्यामसि तुल्यतेजा
दुष्प्रेक्षणीयोऽसि भगीरथेन ।। १६ ।।

राजन्! तुम बलमें दम्भोद्भवके समान और अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें परशुरामके सदृश हो। तुम्हारा तेज और्व और त्रित नामक महर्षियोंके तुल्य है। राजा भगीरथकी भाँति तुम्हारी ओर देखना भी कठिन है ।। १६ ।।

सौतिरुवाच

एवं स्तुताः सर्व एव प्रसन्ना
राजा सदस्या ऋत्विजो हव्यवाहः ।
तेषां दृष्ट्वा भावितानीङ्गितानि
प्रोवाच राजा जनमेजयोऽथ ।। १७ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—आस्तीकके इस प्रकार स्तुति करनेपर यजमान राजा जनमेजय, सदस्य, ऋत्विज् और अग्निदेव सभी बड़े प्रसन्न हुए। इन सबके मनोभावों तथा बाह्य चेष्टाओंको लक्ष्य करके राजा जनमेजय इस प्रकार बोले ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रे आस्तीककृतराजस्तवे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्याय ।। ५५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें आस्तीकद्वारा सर्पसत्रमें राजा जनमेजयकी स्तुतिविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५५ ।।

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजाका आस्तीकको वर देनेके लिये तैयार होना, तक्षक नागकी व्याकुलता तथा आस्तीकका वर माँगना

जनमेजय उवाच

बालोऽप्ययं स्थविर इवावभाषते
नायं बालः स्थविरोऽयं मतो मे ।
इच्छाम्यहं वरमस्मै प्रदातुं
तन्मे विप्राः संविदध्वं यथावत् ।। १ ।।

जनमेजयने कहा—ब्राह्मणो! यह बालक है तो भी वृद्ध पुरुषोंके समान बात करता है, इसलिये मैं इसे बालक नहीं, वृद्ध मानता हूँ और इसको वर देना चाहता हूँ। इस विषयमें आपलोग अच्छी तरह विचार करके अपनी सम्मति दें ।। १ ।।

सदस्या ऊचुः

बालोऽपि विप्रो मान्य एवेह राज्ञां
विद्वान् यो वै स पुनर्वै यथावत् ।
सर्वान् कामांस्त्वत्त एवार्हतेऽद्य
यथा च नस्तक्षक एति शीघ्रम् ।। २ ।।

सदस्योंने कहा—ब्राह्मण यदि बालक हो तो भी यहाँ राजाओंके लिये सम्माननीय ही है। यदि वह विद्वान् हो तब तो कहना ही क्या है? अतः यह ब्राह्मण बालक आज आपसे यथोचित रीतिसे अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको पानेके योग्य है, किंतु वर देनेसे पहले तक्षक नाग चाहे जैसे भी शीघ्रतापूर्वक हमारे पास आ पहुँचे, वैसा उपाय करना चाहिये ।। २ ।।

सौतिरुवाच

व्याहर्तुकामे वरदे नृपे द्विजं
वरं वृणीष्वेति ततोऽभ्युवाच ।
होता वाक्यं नातिहृष्टान्तरात्मा
कर्मण्यस्मिंस्तक्षको नैति तावत् ।। ३ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! तदनन्तर वर देनेके लिये उद्यत राजा जनमेजय विप्रवर आस्तीकसे यह कहना ही चाहते थे कि 'तुम मुँहमाँगा वर माँग लो।' इतनेमें ही होता, जिसका मन अधिक प्रसन्न नहीं था, बोल उठा—'हमारे इस यज्ञकर्ममें तक्षक नाग तो अभीतक आया ही नहीं' ।। ३ ।।

जनमेजय उवाच

यथा चेदं कर्म समाप्यते मे
यथा च वै तक्षक एति शीघ्रम् ।
तथा भवन्तः प्रयतन्तु सर्वे
परं शक्त्या स हि मे विद्विषाणः ।। ४ ।।

जनमेजयने कहा—ब्राह्मणो! जैसे भी यह कर्म पूरा हो जाय और जिस प्रकार भी तक्षक नाग शीघ्र यहाँ आ जाय, आपलोग पूरी शक्ति लगाकर वैसा ही प्रयत्न कीजिये; क्योंकि मेरा असली शत्रु तो वही है ।। ४ ।।

ऋत्विज ऊचुः

यथा शास्त्राणि नः प्राहुर्यथा शंसति पावकः ।
इन्द्रस्य भवने राजंस्तक्षको भयपीडितः ।। ५ ।।

ऋत्विज बोले—राजन्! हमारे शास्त्र जैसा कहते हैं तथा अग्निदेव जैसी बात बता रहे हैं, उसके अनुसार तो तक्षक नाग भयसे पीड़ित हो इन्द्रके भवनमें छिपा हुआ है ।। ५ ।।

यथा सूतो लोहिताक्षो महात्मा
पौराणिको वेदितवान् पुरस्तात् ।
स राजानं प्राह पृष्टस्तदानीं
यथाहुर्विप्रास्तद्वदेतन्नृदेव ।। ६ ।।

लाल नेत्रोंवाले पुराणवेत्ता महात्मा सूतजीने पहले ही यह बात सूचित कर दी थी। तब राजाने सूतजीसे इसके विषयमें पूछा। पूछनेपर उन्होंने राजासे कहा—‘नरदेव! ब्राह्मणलोग जैसी बात कह रहे हैं, वह ठीक वैसी ही है ।। ६ ।।

पुराणमागम्य ततो ब्रवीम्यहं
दत्तं तस्मै वरमिन्द्रेण राजन् ।
वसेह त्वं मत्सकाशे सुगुप्तो
न पावकस्त्वां प्रदहिष्यतीति ।। ७ ।।

‘राजन्! पुराणको जानकर मैं यह कह रहा हूँ कि इन्द्रने तक्षकको वर दिया है—‘नागराज! तुम यहाँ मेरे समीप सुरक्षित होकर रहो। सर्पसत्रकी आग तुम्हें नहीं जला सकेगी’ ।। ७ ।।

एतच्छ्रुत्वा दीक्षितस्तप्यमान
आस्ते होतारं चोदयन् कर्मकाले ।
होता च यत्तोऽस्याजुहावाथ मन्त्रै-
रथो महेन्द्रः स्वयमाजगाम ।। ८ ।।
विमानमारुह्य महानुभावः

सर्वैर्देवैः परिसंस्तूयमानः ।
बलाहकैश्चाप्यनुगम्यमानो
विद्याधरैरप्सरसां गणैश्च ।। ९ ।।

यह सुनकर यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करनेवाले यजमान राजा जनमेजय संतप्त हो उठे और कर्मके समय होता-को इन्द्रसहित तक्षक नागका आकर्षण करनेके लिये प्रेरित करने लगे। तब होताने एकाग्रचित्त होकर मन्त्रोंद्वारा इन्द्रसहित तक्षकका आवाहन किया। तब स्वयं देवराज इन्द्र विमानपर बैठकर आकाशमार्गसे चल पड़े। उस समय सम्पूर्ण देवता सब ओरसे घेरकर उन महानुभाव इन्द्रकी स्तुति कर रहे थे। अप्सराएँ, मेघ और विद्याधर भी उनके पीछे-पीछे आ रहे थे ।। ८-९ ।।

तस्योत्तरीये निहितः स नागो
भयोद्विग्नः शर्म नैवाभ्यगच्छत् ।
ततो राजा मन्त्रविदोऽब्रवीत् पुनः
क्रुद्धो वाक्यं तक्षकस्यान्तमिच्छन् ।। १० ।।

तक्षक नाग उन्हींके उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टे)-में छिपा था। भयसे उद्विग्न होनेके कारण तक्षकको तनिक भी चैन नहीं आता था। इधर राजा जनमेजय तक्षकका नाश चाहते हुए कुपित होकर पुनः मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंसे बोले ।। १० ।।

जनमेजय उवाच

इन्द्रस्य भवने विप्रा यदि नागः स तक्षकः ।
तमिन्द्रेणैव सहितं पातयध्वं विभावसौ ।। ११ ।।

जनमेजयने कहा—विप्रगण! यदि तक्षक नाग इन्द्रके विमानमें छिपा हुआ है तो उसे इन्द्रके साथ ही अग्निमें गिरा दो ।। ११ ।।

सौतिरुवाच

जनमेजयेन राज्ञा तु नोदितस्तक्षकं प्रति ।
होता जुहाव तत्रस्थं तक्षकं पन्नगं तथा ।। १२ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—राजा जनमेजयके द्वारा इस प्रकार तक्षककी आहुतिके लिये प्रेरित हो होताने इन्द्रके समीपवर्ती तक्षक नागका अग्निमें आवाहन किया—उसके नामकी आहुति डाली ।। १२ ।।

हूयमाने तथा चैव तक्षकः सपुरन्दरः ।
आकाशे ददृशे चैव क्षणेन व्यथितस्तदा ।। १३ ।।

इस प्रकार आहुति दी जानेपर क्षणभरमें इन्द्रसहित तक्षक नाग आकाशमें दिखायी दिया। उस समय उसे बड़ी पीड़ा हो रही थी ।। १३ ।।

पुरन्दरस्तु तं यज्ञं दृष्ट्वोरुभयमाविशत् ।

हित्वा तु तक्षकं त्रस्तः स्वमेव भवनं ययौ ।। १४ ।।

उस यज्ञको देखते ही इन्द्र अत्यन्त भयभीत हो उठे और तक्षक नागको वहीं छोड़कर बड़ी घबराहटके साथ अपने भवनको ही चलते बने ।। १४ ।।

इन्द्रे गते तु नागेन्द्रस्तक्षको भयमोहितः ।
मन्त्रशक्त्या पावकार्चिः समीपमवशो गतः ।। १५ ।।

इन्द्रके चले जानेपर नागराज तक्षक भयसे मोहित हो मन्त्रशक्तिसे खिंचकर विवशतापूर्वक अग्निकी ज्वालाके समीप आने लगा ।। १५ ।।

ऋत्विज ऊचुः

वर्तते तव राजेन्द्र कर्मैतद् विधिवत् प्रभो ।
अस्मै तु द्विजमुख्याय वरं त्वं दातुमर्हसि ।। १६ ।।

ऋत्विजोंने कहा—राजेन्द्र! आपका यह यज्ञकर्म विधिपूर्वक सम्पन्न हो रहा है। अब आप इन विप्रवर आस्तीकको मनोवांछित वर दे सकते हैं ।। १६ ।।

जनमेजय उवाच

बालाभिरूपस्य तवाप्रमेय
वरं प्रयच्छामि यथानुरूपम् ।
वृणीष्व यत् तेऽभिमतं हृदि स्थितं
तत् ते प्रदास्याम्यपि चेददेयम् ।। १७ ।।

जनमेजयने कहा—ब्राह्मणबालक! तुम अप्रमेय हो—तुम्हारी प्रतिभाकी कोई सीमा नहीं है। मैं तुम-जैसे विद्वान्‌के लिये वर देना चाहता हूँ। तुम्हारे मनमें जो अभीष्ट कामना हो, उसे बताओ। वह देनेयोग्य न होगी, तो भी तुम्हें अवश्य दे दूँगा ।। १७ ।।

ऋत्विज ऊचुः

अयमायाति तूर्णं स तक्षकस्ते वशं नृप ।
श्रूयतेऽस्य महान् नादो नदतो भैरवं रवम् ।। १८ ।।

ऋत्विज बोले—राजन्! यह तक्षक नाग अब शीघ्र ही तुम्हारे वशमें आ रहा है। वह बड़ी भयानक आवाजमें चीत्कार कर रहा है। उसकी भारी चिल्लाहट अब सुनायी देने लगी है ।। १८ ।।

नूनं मुक्तो वज्रभृता स नागो
भ्रष्टो नाकान्मन्त्रविस्रस्तकायः ।
घूर्णन्नाकाशे नष्टसंज्ञोऽभ्युपैति
तीव्रान् निःश्वासान् निःश्वसन् पन्नगेन्द्रः ।। १९ ।।

निश्चय ही इन्द्रने उस नागराज तक्षकको त्याग दिया है। उसका विशाल शरीर मन्त्रद्वारा आकृष्ट होकर स्वर्गलोकसे नीचे गिर पड़ा है। वह आकाशमें चक्कर काटता अपनी सुध-बुध खो चुका है और बड़े वेगसे लम्बी साँसें छोड़ता हुआ अग्निकुण्डके समीप आ रहा है ।। १९ ।।

सौतिरुवाच

पतिष्यमाणे नागेन्द्रे तक्षके जातवेदसि ।
इदमन्तरमित्येव तदाऽऽस्तीकोऽभ्यचोदयत् ।। २० ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! नागराज तक्षक अब कुछ ही क्षणोंमें आगकी ज्वालामें गिरनेवाला था। उस समय आस्तीकने यह सोचकर कि 'यही वर माँगनेका अच्छा अवसर है' राजाको वर देनेके लिये प्रेरित किया ।। २० ।।

आस्तीक उवाच

वरं ददासि चेन्मह्यं वृणोमि जनमेजय ।
सत्रं ते विरमत्वेतन्न पतेयुरिहोरगाः ।। २१ ।।

आस्तीकने कहा—राजा जनमेजय! यदि तुम मुझे वर देना चाहते हो तो सुनो, मैं माँगता हूँ कि तुम्हारा यह यज्ञ बंद हो जाय और अब इसमें सर्प न गिरने पावें ।। २१ ।।

एवमुक्तस्तदा तेन ब्रह्मन् पारिक्षितस्तु सः ।
नातिहृष्टमनाश्चेदमास्तीकं वाक्यमब्रवीत् ।। २२ ।।

ब्रह्मन्! आस्तीकके ऐसा कहनेपर वे परीक्षित्-कुमार जनमेजय खिन्नचित्त होकर बोले — ।। २२ ।।

सुवर्णं रजतं गाश्च यच्चान्यन्मन्यसे विभो ।
तत् ते दद्यां वरं विप्र न निवर्तेत् क्रतुर्मम ।। २३ ।।

'विप्रवर! आप सोना, चाँदी, गौ तथा अन्य अभीष्ट वस्तुओंको, जिन्हें आप ठीक समझते हों, माँग लें। प्रभो! वह मुँहमाँगा वर मैं आपको दे सकता हूँ, किंतु मेरा यह यज्ञ बंद नहीं होना चाहिये' ।। २३ ।।

आस्तीक उवाच

सुवर्णं रजतं गाश्च न त्वां राजन् वृणोम्यहम् ।
सत्रं ते विरमत्वेतत् स्वस्ति मातृकुलस्य नः ।। २४ ।।

आस्तीकने कहा—राजन्! मैं तुमसे सोना, चाँदी और गौएँ नहीं माँगूँगा, मेरी यही इच्छा है कि तुम्हारा यह यज्ञ बंद हो जाय, जिससे मेरी माताके कुलका कल्याण हो ।। २४ ।।

सौतिरुवाच

आस्तीकेनैवमुक्तस्तु राजा पारिक्षितस्तदा ।
पुनः पुनरुवाचेदमास्तीकं वदतां वरः ।। २५ ।।
अन्यं वरय भद्रं ते वरं द्विजवरोत्तम ।
अयाचत न चाप्यन्यं वरं स भृगुनन्दन ।। २६ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—भृगुनन्दन शौनक! आस्तीकके ऐसा कहनेपर उस समय वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा जनमेजयने उनसे बार-बार अनुरोध किया—'विप्रशिरोमणे! आपका कल्याण हो, कोई दूसरा वर माँगिये।' किंतु आस्तीकने दूसरा कोई वर नहीं माँगा ।। २५-२६ ।।

ततो वेदविदस्तात सदस्याः सर्व एव तम् ।
राजानमूचुः सहिता लभतां ब्राह्मणो वरम् ।। २७ ।।

तब सम्पूर्ण वेदवेत्ता सभासदोंने एक साथ संगठित होकर राजासे कहा—'ब्राह्मणको (स्वीकार किया हुआ) वर मिलना ही चाहिये' ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि आस्तीकवरप्रदानं नाम षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें आस्तीकको वरप्रदान नामक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५६ ।।

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सर्पयज्ञमें दग्ध हुए प्रधान-प्रधान सर्पोंके नाम

शौनक उवाच

ये सर्पाः सर्पसत्रेऽस्मिन् पतिता हव्यवाहने ।
तेषां नामानि सर्वेषां श्रोतुमिच्छामि सूतज ।। १ ।।

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन! इस सर्पसत्रकी धधकती हुई आगमें जो-जो सर्प गिरे थे, उन सबके नाम मैं सुनना चाहता हूँ ।। १ ।।

सौतिरुवाच

सहस्राणि बहून्यस्मिन् प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
न शक्यं परिसंख्यातुं बहुत्वाद् द्विजसत्तम ।। २ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—द्विजश्रेष्ठ! इस यज्ञमें सहस्रों, लाखों एवं अरबों सर्प गिरे थे, उनकी संख्या बहुत होनेके कारण गणना नहीं की जा सकती ।। २ ।।

यथास्मृति तु नामानि पन्नगानां निबोध मे ।
उच्यमानानि मुख्यानां हुतानां जातवेदसि ।। ३ ।।

परंतु सर्पयज्ञकी अग्निमें जिन प्रधान-प्रधान नागोंकी आहुति दी गयी थी, उन सबके नाम अपनी स्मृतिके अनुसार बता रहा हूँ, सुनो ।। ३ ।।

वासुकेः कुलजातांस्तु प्राधान्येन निबोध मे ।
नीलरक्तान् सितान् घोरान् महाकायान् विषोल्बणान् ।। ४ ।।

पहले वासुकिके कुलमें उत्पन्न हुए मुख्य-मुख्य सर्पोंके नाम सुनो—वे सब-के-सब नीले, लाल, सफेद और भयानक थे। उनके शरीर विशाल और विष अत्यन्त भयंकर थे ।। ४ ।।

अवशान् मातृवाग्दण्डपीडिताम् कृपणान् हुतान् ।
कोटिशो मानसः पूर्णः शलः पालो हलीमकः ।। ५ ।।
पिच्छलः कौणपश्चक्रः कालवेगः प्रकालनः ।
हिरण्यबाहुः शरणः कक्षकः कालदन्तकः ।। ६ ।।

वे बेचारे सर्प माताके शापसे पीड़ित हो विवशतापूर्वक सर्पयज्ञकी आगमें होम दिये गये थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—कोटिश, मानस, पूर्ण, शल, पाल, हलीमक, पिच्छल, कौणप, चक्र, कालवेग, प्रकालन, हिरण्यबाहु, शरण, कक्षक और कालदन्तक ।। ५-६ ।।

एते वासुकिजा नागाः प्रविष्टा हव्यवाहने ।
अन्ये च बहवो विप्र तथा वै कुलसम्भवाः ।

प्रदीप्ताग्नौ हुताः सर्वे घोररूपा महाबलाः ।। ७ ।।

ये वासुकिके वंशज नाग थे, जिन्हें अग्निमें प्रवेश करना पड़ा। विप्रवर! ऐसे ही दूसरे भी बहुत-से महाबली और भयंकर सर्प थे, जो उसी कुलमें उत्पन्न हुए थे। वे सब-के-सब सर्पसत्रकी प्रज्वलित अग्निमें आहुति बन गये थे ।। ७ ।।

आस्तीकने तक्षकको अग्निकुण्डमें गिरनेसे रोक दिया

तक्षकस्य कुले जातान् प्रवक्ष्यामि निबोध तान् ।
पुच्छाण्डको मण्डलकः पिण्डसेक्ता रभेणकः ।। ८ ।।
उच्छिखः शरभो भङ्गो बिल्वतेजा विरोहणः ।
शिली शलकरो मूकः सुकुमारः प्रवेपनः ।। ९ ।।
मुद्गरः शिशुरोमा च सुरोमा च महाहनुः ।
एते तक्षकजा नागाः प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।। १० ।।

अब तक्षकके कुलमें उत्पन्न नागोंका वर्णन करूँगा, उनके नाम सुनो—पुच्छाण्डक, मण्डलक, पिण्डसेक्ता, रभेणक, उच्छिख, शरभ, भंग, बिल्वतेजा, विरोहण, शिली, शलकर, मूक, सुकुमार, प्रवेपन, मुद्गर, शिशुरोमा, सुरोमा और महाहनु—ये तक्षकके वंशज नाग थे, जो सर्पसत्रकी आगमें समा गये ।। ८—१० ।।

पारावतः पारिजातः पाण्डरो हरिणः कृशः ।
विहङ्गः शरभो मेदः प्रमोदः संहतापनः ।। ११ ।।
ऐरावतकुलादेते प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।

पारावत, पारिजात, पाण्डर, हरिण, कृश, विहंग, शरभ, मेद, प्रमोद और संहतापन—ये ऐरावतके कुलसे आकर आगमें आहुति बन गये थे ।। ११½ ।।

कौरव्यकुलजान् नागाञ्छृणु मे त्वं द्विजोत्तम ।। १२ ।।

द्विजश्रेष्ठ! अब तुम मुझसे कौरव्यके कुलमें उत्पन्न हुए नागोंके नाम सुनो ।। १२ ।।

एरकः कुण्डलो वेणी वेणीस्कन्धः कुमारकः ।
बाहुकः शृंगवेरश्च धूर्तकः प्रातरातकौ ।। १३ ।।
कौरव्यकुलजास्त्वेते प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।

एरक, कुण्डल, वेणी, वेणीस्कन्ध, कुमारक, बाहुक, शृंगवेर, धूर्तक, प्रातर और आतक—ये कौरव्य-कुलके नाग यज्ञाग्निमें जल मरे थे ।। १३½ ।।

धृतराष्ट्रकुले जाताञ्छृणु नागान् यथातथम् ।। १४ ।।
कीर्त्यमानान् मया ब्रह्मन् वातवेगान् विषोल्बणान् ।
शङ्कुकर्णः पिठरकः कुठारमुखसेचकौ ।। १५ ।।
पूर्णाङ्गदः पूर्णमुखः प्रहासः शकुनिर्दरिः ।
अमाहठः कामठकः सुषेणो मानसोऽव्ययः ।। १६ ।।
भैरवो मुण्डवेदाङ्गः पिशङ्गश्चोद्रपारकः ।
ऋषभो वेगवान् नागः पिण्डारकमहाहनू ।। १७ ।।
रक्ताङ्गः सर्वसारङ्गः समृद्धपटवासकौ ।
वराहको वीरणकः सुचित्रश्चित्रवेगिकः ।। १८ ।।
पराशरस्तरुणको मणिः स्कन्धस्तथारुणिः ।
इति नागा मया ब्रह्मन् कीर्तिताः कीर्तिवर्धनाः ।। १९ ।।

प्राधान्येन बहुत्वात् तु न सर्वे परिकीर्तिताः ।
एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च संततिः ।। २० ।।
न शक्यं परिसंख्यातुं ये दीप्तं पावकं गताः ।
त्रिशीर्षाः सप्तशीर्षाश्च दशशीर्षास्तथापरे ।। २१ ।।

ब्रह्मन्! अब धृतराष्ट्रके कुलमें उत्पन्न नागोंके नामोंका मुझसे यथावत् वर्णन सुनो। वे वायुके समान वेगशाली और अत्यन्त विषैले थे। (उनके नाम इस प्रकार हैं—) शंकुकर्ण, पिठरक, कुठार, मुखसेचक, पूर्णांगद, पूर्णमुख, प्रहास, शकुनि, दरि, अमाहठ, कामठक, सुषेण, मानस, अव्यय, भैरव, मुण्डवेदांग, पिशंग, उद्रपारक, ऋषभ, वेगवान् नाग, पिण्डारक, महाहनु, रक्तांग, सर्वसारंग, समृद्ध, पटवासक, वराहक, वीरणक, सुचित्र, चित्रवेगिक, पराशर, तरुणक, मणि, स्कन्ध और आरुणि—(ये सभी धृतराष्ट्रवंशी नाग सर्पसत्रकी आगमें जलकर भस्म हो गये थे।) ब्रह्मन्! इस प्रकार मैंने अपने कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले मुख्य-मुख्य नागोंका वर्णन किया है। उनकी संख्या बहुत है, इसलिये सबका नामोल्लेख नहीं किया गया है। इन सबकी संतानोंकी और संतानोंकी संततिकी, जो प्रज्वलित अग्निमें जल मरी थीं, गणना नहीं की जा सकती। किसीके तीन सिर थे तो किसीके सात तथा कितने ही दस-दस सिरवाले नाग थे ।। १४—२१ ।।

कालानलविषा घोरा हुताः शतसहस्रशः ।
महाकाया महावेगाः शैलशृङ्गसमुच्छ्रयाः ।। २२ ।।

उनके विष प्रलयाग्निके समान दाहक थे। वे नाग बड़े ही भयंकर थे। उनके शरीर विशाल और वेग महान् थे। वे ऊँचे तो ऐसे थे, मानो पर्वतके शिखर हों। ऐसे नाग लाखोंकी संख्यामें यज्ञाग्निकी आहुति बन गये ।। २२ ।।

योजनायामविस्तारा द्वियोजनसमायताः ।
कामरूपाः कामबला दीप्तानलविषोल्बणाः ।। २३ ।।
दग्धास्तत्र महासत्रे ब्रह्मदण्डनिपीडिताः ।। २४ ।।

उनकी लम्बाई-चौड़ाई एक-एक, दो-दो योजनतककी थी। वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले तथा इच्छानुरूप बल-पराक्रमसे सम्पन्न थे। वे सब-के-सब धधकती हुई आगके समान भयंकर विषसे भरे थे। माताके शापरूपी ब्रह्मदण्डसे पीड़ित होनेके कारण वे उस महासत्रमें जलकर भस्म हो गये ।। २३-२४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पनामकथने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पनामकथनविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५७ ।।

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

यज्ञकी समाप्ति एवं आस्तीकका सर्पोंसे वर प्राप्त करना

सौतिरुवाच

इदमत्यद्भुतं चान्यदास्तीकस्यानुशुश्रुम ।
तथा वरैश्छन्द्यामाने राज्ञा पारिक्षितेन हि ।। १ ।।
इन्द्रहस्ताच्च्युतो नागः ख एव यदतिष्ठत ।
ततश्चिन्तापरो राजा बभूव जनमेजयः ।। २ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! आस्तीकके सम्बन्धमें यह एक और अद्‌भुत बात मैंने सुन रखी है कि जब राजा जनमेजयने उनसे पूर्वोक्त रूपसे वर माँगनेका अनुरोध किया और उनके वर माँगनेपर इन्द्रके हाथसे छूटकर गिरा हुआ तक्षक नाग आकाशमें ही ठहर गया, तब महाराज जनमेजयको बड़ी चिन्ता हुई ।। १-२ ।।

हूयमाने भृशं दीप्ते विधिवद् वसुरेतसि ।
न स्म स प्रापतद् वह्नौ तक्षको भयपीडितः ।। ३ ।।

क्योंकि अग्नि पूर्णरूपसे प्रज्वलित थी और उसमें विधिपूर्वक आहुतियाँ दी जा रही थीं तो भी भयसे पीड़ित तक्षक नाग उस अग्निमें नहीं गिरा ।। ३ ।।

शौनक उवाच

किं सूत तेषां विप्राणां मन्त्रग्रामो मनीषिणाम् ।
न प्रत्यभात् तदाग्नौ यत् स पपात न तक्षकः ।। ४ ।।

शौनकजीने पूछा—सूत! उस यज्ञमें बड़े-बड़े मनीषी ब्राह्मण उपस्थित थे। क्या उन्हें ऐसे मन्त्र नहीं सूझे, जिनसे तक्षक शीघ्र अग्निमें आ गिरे? क्या कारण था जो तक्षक अग्निकुण्डमें न गिरा? ।। ४ ।।

सौतिरुवाच

तमिन्द्रहस्ताद् वित्रस्तं विसंज्ञं पन्नगोत्तमम् ।
आस्तीकस्तिष्ठ तिष्ठेति वाचस्तिस्रोऽभ्युदैरयत् ।। ५ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनक! इन्द्रके हाथसे छूटनेपर नागप्रवर तक्षक भयसे थर्रा उठा। उसकी चेतना लुप्त हो गयी। उस समय आस्तीकने उसे लक्ष्य करके तीन बार इस प्रकार कहा—'ठहर जा, ठहर जा, ठहर जा' ।। ५ ।।

वितस्थे सोऽन्तरिक्षे च हृदयेन विदूयता ।
यथा तिष्ठति वै कश्चित् खं च गां चान्तरा नरः ।। ६ ।।

तब तक्षक पीड़ित हृदयसे आकाशमें उसी प्रकार ठहर गया, जैसे कोई मनुष्य आकाश और पृथ्वीके बीचमें लटक रहा हो ।। ६ ।।

ततो राजाब्रवीद् वाक्यं सदस्यैश्चोदितो भृशम् ।
काममेतद् भवत्वेवं यथाऽऽस्तीकस्य भाषितम् ।। ७ ।।

तदनन्तर सभासदोंके बार-बार प्रेरित करनेपर राजा जनमेजयने यह बात कही—‘अच्छा, आस्तीकने जैसा कहा है, वही हो ।। ७ ।।

समाप्यतामिदं कर्म पन्नगाः सन्त्वनामयाः ।
प्रीयतामयमास्तीकः सत्यं सूतवचोऽस्तु तत् ।। ८ ।।

‘यह यज्ञकर्म समाप्त किया जाय। नागगण कुशलपूर्वक रहें और ये आस्तीक प्रसन्न हों। साथ ही सूतजीकी कही हुई बात भी सत्य हो’ ।। ८ ।।

ततो हलहलाशब्दः प्रीतिदः समजायत ।
आस्तीकस्य वरे दत्ते तथैवोपरराम च ।। ९ ।।
स यज्ञः पाण्डवेयस्य राज्ञः पारिक्षितस्य ह ।
प्रीतिमांश्चाभवद् राजा भारतो जनमेजयः ।। १० ।।

जनमेजयके द्वारा आस्तीकको यह वरदान प्राप्त होते ही सब ओर प्रसन्नता बढ़ानेवाली हर्षध्वनि छा गयी और पाण्डववंशी महाराज जनमेजयका वह यज्ञ बंद हो गया। ब्राह्मणको वर देकर भरतवंशी राजा जनमेजयको भी प्रसन्नता हुई ।। ९-१० ।।

ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो ये तत्रासन् समागताः ।
तेभ्यश्च प्रददौ वित्तं शतशोऽथ सहस्रशः ।। ११ ।।

उस यज्ञमें जो ऋत्विज् और सदस्य पधारे थे, उन सबको राजा जनमेजयने सैकड़ों और सहस्रोंकी संख्यामें धन-दान किया ।। ११ ।।

लोहिताक्षाय सूताय तथा स्थपतये विभुः ।
येनोक्तं तस्य तत्राग्रे सर्पसत्रनिवर्तने ।। १२ ।।
निमित्तं ब्राह्मण इति तस्मै वित्तं ददौ बहु ।
दत्त्वा द्रव्यं यथान्यायं भोजनाच्छादनान्वितम् ।। १३ ।।
प्रीतस्तस्मै नरपतिरप्रमेयपराक्रमः ।
ततश्चकारावभृथं विधिदृष्टेन कर्मणा ।। १४ ।।

लोहिताक्ष, सूत तथा शिल्पीको, जिसने यज्ञके पहले ही बता दिया था कि इस सर्पसत्रको बंद करनेमें एक ब्राह्मण निमित्त बनेगा, प्रभावशाली राजा जनमेजयने बहुत धन दिया। जिनके पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं है, उन नरेश्वर जनमेजयने प्रसन्न होकर यथायोग्य द्रव्य और भोजन-वस्त्र आदिका दान करनेके पश्चात् शास्त्रीय विधिके अनुसार अवभृथ-स्नान किया ।। १२—१४ ।।

आस्तीकं प्रेषयामास गृहानेव सुसंस्कृतम् ।

राजा प्रीतमनाः प्रीतं कृतकृत्यं मनीषिणम् ।। १५ ।।
पुनरागमनं कार्यमिति चैनं वचोऽब्रवीत् ।
भविष्यसि सदस्यो मे वाजिमेधे महाक्रतौ ।। १६ ।।

आस्तीक शुभ-संस्कारोंसे सम्पन्न और मनीषी विद्वान् थे। अपना कर्तव्य पूर्ण कर लेनेके कारण वे कृतकृत्य एवं प्रसन्न थे। राजा जनमेजयने उन्हें प्रसन्नचित्त होकर घरके लिये विदा दी और कहा—'ब्रह्मन्! मेरे भावी अश्वमेध नामक महायज्ञमें आप सदस्य हों और उस समय पुनः पधारनेकी कृपा करें' ।। १५-१६ ।।

तथेत्युक्त्वा प्रदुद्राव तदाऽऽस्तीको मुदा युतः ।
कृत्वा स्वकार्यमतुलं तोषयित्वा च पार्थिवम् ।। १७ ।।

आस्तीकने प्रसन्नतापूर्वक 'बहुत अच्छा' कहकर राजाकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और अपने अनुपम कार्यका साधन करके राजाको संतुष्ट करनेके पश्चात् वहाँसे शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान किया ।। १७ ।।

स गत्वा परमप्रीतो मातुलं मातरं च ताम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य तथावृत्तं न्यवेदयत् ।। १८ ।।

वे अत्यन्त प्रसन्न हो घर जाकर मामा और मातासे मिले और उनके चरणोंमें प्रणाम करके वहाँका सब समाचार सुनाया ।। १८ ।।

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा प्रीयमाणाः समेता
ये तत्रासन् पन्नगा वीतमोहाः ।
आस्तीके वै प्रीतिमन्तो बभूवु-
रूचुश्चैनं वरमिष्टं वृणीष्व ।। १९ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! सर्पसत्रसे बचे हुए जो-जो नाग मोहरहित हो उस समय वासुकि नागके यहाँ उपस्थित थे, वे सब आस्तीकके मुखसे उस यज्ञके बंद होनेका समाचार सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। आस्तीकपर उनका प्रेम बहुत बढ़ गया और वे उनसे बोले—'वत्स! तुम कोई अभीष्ट वर माँग लो' ।। १९ ।।

भूयो भूयः सर्वशस्तेऽब्रुवंस्तं
किं ते प्रियं करवामाद्य विद्वन् ।
प्रीता वयं मोक्षिताश्चैव सर्वे
कामं किं ते करवामाद्य वत्स ।। २० ।।

वे सब-के-सब बार-बार यह कहने लगे—'विद्वान्! आज हम तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करें? वत्स! तुमने हमें मृत्युके मुखसे बचाया है; अतः हम सब लोग तुमसे बहुत प्रसन्न हैं। बोलो, तुम्हारा कौन-सा मनोरथ पूर्ण करें?' ।। २० ।।

आस्तीक उवाच

सायं प्रातर्ये प्रसन्नात्मरूपा
लोके विप्रा मानवा ये परेऽपि ।
धर्माख्यानं ये पठेयुर्ममेदं
तेषां युष्मन्नैव किंचिद् भयं स्यात् ।। २१ ।।

आस्तीकने कहा—नागगण! लोकमें जो ब्राह्मण अथवा कोई दूसरा मनुष्य प्रसन्नचित्त होकर मेरे इस धर्ममय उपाख्यानका पाठ करे, उसे आपलोगोंसे कोई भय न हो ।। २१ ।।

तैश्चाप्युक्तो भागिनेयः प्रसन्नै-
रेतत् सत्यं काममेवं वरं ते ।
प्रीत्या युक्ताः कामितं सर्वशस्ते
कर्तारः स्म प्रवणा भागिनेय ।। २२ ।।

यह सुनकर सभी सर्प बहुत प्रसन्न हुए और अपने भानजेसे बोले—‘प्रिय वत्स! तुम्हारी यह कामना पूर्ण हो। भगिनीपुत्र! हम बड़े प्रेम और नम्रतासे युक्त होकर सर्वथा तुम्हारे इस मनोरथको पूर्ण करते रहेंगे ।। २२ ।।

असितं चार्तिमन्तं च सुनीथं चापि यः स्मरेत् ।
दिवा वा यदि वा रात्रौ नास्य सर्पभयं भवेत् ।। २३ ।।

‘जो कोई असित, आर्तिमान् और सुनीथ मन्त्रका दिन अथवा रातके समय स्मरण करेगा, उसे सर्पोंसे कोई भय नहीं होगा ।। २३ ।।

यो जरत्कारुणा जातो जरत्कारौ महायशाः ।
आस्तीकः सर्पसत्रे वः पन्नगान् योऽभ्यरक्षत ।
तं स्मरन्तं महाभागा न मां हिंसितुमर्हथ ।। २४ ।।

‘(मन्त्र और उनके भाव इस प्रकार हैं—) जरत्कारु ऋषिसे जरत्कारु नामक नागकन्यासे जो आस्तीक नामक यशस्वी ऋषि उत्पन्न हुए तथा जिन्होंने सर्पसत्रमें तुम सर्पोंकी रक्षा की थी, उनका मैं स्मरण कर रहा हूँ। महाभाग्यवान् सर्पो! तुमलोग मुझे मत डँसो ।। २४ ।।

सर्पापसर्प भद्रं ते गच्छ सर्प महाविष ।
जनमेजयस्य यज्ञान्ते आस्तीकवचनं स्मर ।। २५ ।।

‘महाविषधर सर्प! तुम भाग जाओ! तुम्हारा कल्याण हो! अब तुम जाओ। जनमेजयके यज्ञकी समाप्तिमें आस्तीकको तुमने जो वचन दिया था, उसका स्मरण करो ।। २५ ।।

आस्तीकस्य वचः श्रुत्वा यः सर्पो न निवर्तते ।
शतधा भिद्यते मूर्ध्नि शिंशवृक्षफलं यथा ।। २६ ।।

‘जो सर्प आस्तीकके वचनकी शपथ सुनकर भी नहीं लौटेगा, उसके फनके शीशमके फलके समान सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे’ ।। २६ ।।

सौतिरुवाच

स एवमुक्तस्तु तदा द्विजेन्द्रः
समागतैस्तैर्भुजगेन्द्रमुख्यैः ।
सम्प्राप्य प्रीतिं विपुलां महात्मा
ततो मनो गमनायाथ दध्रे ।। २७ ।।
मोक्षयित्वा तु भुजगान् सर्पसत्राद् द्विजोत्तमः ।
जगाम काले धर्मात्मा दिष्टान्तं पुत्रपौत्रवान् ।। २८ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—विप्रवर शौनक! उस समय वहाँ आये हुए प्रधान-प्रधान नागराजोंके इस प्रकार कहनेपर महात्मा आस्तीकको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई। तदनन्तर उन्होंने वहाँसे चले जानेका विचार किया। इस प्रकार सर्पसत्रसे नागोंका उद्धार करके द्विजश्रेष्ठ धर्मात्मा आस्तीकने विवाह करके पुत्र-पौत्रादि उत्पन्न किये और समय आनेपर (प्रारब्ध शेष होनेसे) मोक्ष प्राप्त कर लिया ।। २७-२८ ।।

इत्याख्यानं मयाऽऽस्तीकं यथावत् तव कीर्तितम् ।
यत् कीर्तयित्वा सर्पेभ्यो न भयं विद्यते क्वचित् ।। २९ ।।

इस प्रकार मैंने आपसे आस्तीकके उपाख्यानका यथावत् वर्णन किया है; जिसका पाठ कर लेनेपर कहीं भी सर्पोंसे भय नहीं होता ।। २९ ।।

यथा कथितवान् ब्रह्मन् प्रमतिः पूर्वजस्तव ।
पुत्राय रुरवे प्रीतः पृच्छते भार्गवोत्तम ।। ३० ।।
यद् वाक्यं श्रुतवांश्चाहं तथा च कथितं मया ।
आस्तीकस्य कवेर्विप्र श्रीमच्चरितमादितः ।। ३१ ।।

ब्रह्मन्! भृगुवंशशिरोमणे! आपके पूर्वज प्रमतिने अपने पुत्र रुरुके पूछनेपर जिस प्रकार आस्तीकोपाख्यान कहा था और जिसे मैंने भी सुना था, उसी प्रकार विद्वान् महात्मा आस्तीकके मंगलमय चरित्रका मैंने प्रारम्भसे ही वर्णन किया है ।। ३०-३१ ।।

श्रुत्वा धर्मिष्ठमाख्यानमास्तीकं पुण्यवर्धनम् ।
यन्मां त्वं पृष्टवान् ब्रह्मञ्छ्रुत्वा डुण्डुभभाषितम् ।
व्येतु ते सुमहद् ब्रह्मन् कौतूहलमरिन्दम ।। ३२ ।।

आस्तीकका यह धर्ममय उपाख्यान पुण्यकी वृद्धि करनेवाला है। काम-क्रोधादि शत्रुओंका दमन करनेवाले ब्राह्मण! कथाप्रसंगमें डुण्डुभकी बात सुनकर आपने मुझसे जिसके विषयमें पूछा था, वह सब उपाख्यान मैंने कह सुनाया। इसे सुनकर आपके मनका महान् कौतूहल अब निवृत्त हो जाना चाहिये ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५८ ।।

(अंशावतरणपर्व)

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

महाभारतका उपक्रम

शौनक उवाच

भृगुवंशात् प्रभृत्येव त्वया मे कीर्तितं महत् ।
आख्यानमखिलं तात सौते प्रीतोऽस्मि तेन ते ।। १ ।।

शौनकजी बोले—तात सूतनन्दन! आपने भृगुवंशसे ही प्रारम्भ करके जो मुझे यह सब महान् उपाख्यान सुनाया है, इससे मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ ।। १ ।।

वक्ष्यामि चैव भूयस्त्वां यथावत् सूतनन्दन ।
याः कथा व्याससम्पन्नास्ताश्च भूयो विचक्ष्व मे ।। २ ।।

सूतपुत्र! अब मैं पुनः आपसे यह कहना चाहता हूँ कि भगवान् व्यासने जो कथाएँ कही हैं, उनका मुझसे यथावत् वर्णन कीजिये ।। २ ।।

तस्मिन् परमदुष्पारे सर्पसत्रे महात्मनाम् ।
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य सदस्यानां तथाध्वरे ।। ३ ।।
या बभूवुः कथाश्चित्रा येष्वर्थेषु यथातथम् ।
त्वत्त इच्छामहे श्रोतुं सौते त्वं वै प्रचक्ष्व नः ।। ४ ।।

जिसका पार होना कठिन था, ऐसे सर्पयज्ञमें आये हुए महात्माओं एवं सभासदोंको जब यज्ञकर्मसे अवकाश मिलता था, उस समय उनमें जिन-जिन विषयोंको लेकर जो-जो विचित्र कथाएँ होती थीं उन सबका आपके मुखसे हम यथार्थ वर्णन सुनना चाहते हैं। सूतनन्दन! आप हमसे अवश्य कहें ।। ३-४ ।।

सौतिरुवाच

कर्मान्तरेष्वकथयन् द्विजा वेदाश्रयाः कथाः ।
व्यासस्त्वकथयच्चित्रमाख्यानं भारतं महत् ।। ५ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनक! यज्ञकर्मसे अवकाश मिलनेपर अन्य ब्राह्मण तो वेदोंकी कथाएँ कहते थे, परंतु व्यासदेवजी अति विचित्र महाभारतकी कथा सुनाया करते थे ।। ५ ।।

शौनक उवाच

महाभारतमाख्यानं पाण्डवानां यशस्करम् ।
जनमेजयेन पृष्टः सन् कृष्णद्वैपायनस्तदा ।। ६ ।।
श्रावयामास विधिवत् तदा कर्मान्तरे तु सः ।
तामहं विधिवत् पुण्यां श्रोतुमिच्छामि वै कथाम् ।। ७ ।।

शौनकजी बोले—सूतनन्दन! महाभारत नामक इतिहास तो पाण्डवोंके यशका विस्तार करनेवाला है। सर्पयज्ञके विभिन्न कर्मोंके बीचमें अवकाश मिलने-पर जब राजा जनमेजय प्रश्न करते, तब श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यासजी उन्हें विधिपूर्वक महाभारतकी कथा सुनाते थे। मैं उसी पुण्यमयी कथाको विधिपूर्वक सुनना चाहता हूँ ।। ६-७ ।।

मनःसागरसम्भूतां महर्षेर्भावितात्मनः ।
कथयस्व सतां श्रेष्ठ सर्वरत्नमयीमिमाम् ।। ८ ।।

यह कथा पवित्र अन्तःकरणवाले महर्षि वेद-व्यासके हृदयरूपी समुद्रसे प्रकट हुए सब प्रकारके शुभ विचाररूपी रत्नोंसे परिपूर्ण है। साधुशिरोमणे! आप इस कथाको मुझे सुनाइये ।। ८ ।।

सौतिरुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम् ।
कृष्णद्वैपायनमतं महाभारतमादितः ।। ९ ।।

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनक! मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ महाभारत नामक उत्तम उपाख्यानका आरम्भसे ही वर्णन करूँगा, जो श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासको अभिमत है ।। ९ ।।

शृणु सर्वमशेषेण कथ्यमानं मया द्विज ।
शंसितुं तन्महान् हर्षो ममापीह प्रवर्तते ।। १० ।।

विप्रवर! मेरे द्वारा कही जानेवाली इस सम्पूर्ण महाभारत-कथाको आप पूर्णरूपसे सुनिये। यह कथा सुनाते समय मुझे भी महान् हर्ष प्राप्त होता है ।। १० ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि कथानुबन्धे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ।। ५९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें कथानुबन्धविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५९ ।।

षष्टितमोऽध्यायः

जनमेजयके यज्ञमें व्यासजीका आगमन, सत्कार तथा राजाकी प्रार्थनासे व्यासजीका वैशम्पायनजीसे महाभारत-कथा सुनानेके लिये कहना

सौतिरुवाच

श्रुत्वा तु सर्पसत्राय दीक्षितं जनमेजयम् ।
अभ्यगच्छदृषिर्विद्वान् कृष्णद्वैपायनस्तदा ।। १ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! जब विद्वान् महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायनने यह सुना कि राजा जनमेजय सर्पयज्ञकी दीक्षा ले चुके हैं, तब वे वहाँ आये ।। १ ।।

जनयामास यं काली शक्तेः पुत्रात् पराशरात् ।
कन्यैव यमुनाद्वीपे पाण्डवानां पितामहम् ।। २ ।।

वेदव्यासजीको सत्यवतीने कन्यावस्थामें ही शक्तिनन्दन पराशरजीसे यमुनाजीके द्वीपमें उत्पन्न किया था। वे पाण्डवोंके पितामह हैं ।। २ ।।

जातमात्रश्च यः सद्य इष्ट्या देहमवीवृधत् ।
वेदांश्चाधिजगे साङ्गान् सेतिहासान् महायशाः ।। ३ ।।
यन्नैति तपसा कश्चिन्न वेदाध्ययनेन च ।
न व्रतैर्नोपवासैश्च न प्रशान्त्या न मन्युना ।। ४ ।।

जन्म लेते ही उन्होंने अपनी इच्छासे शरीरको बढ़ा लिया तथा उन महायशस्वी व्यासजीको (स्वतः ही) अंगों और इतिहासोंसहित सम्पूर्ण वेदों और उस परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त हो गया, जिसे कोई तपस्या, वेदाध्ययन, व्रत, उपवास, शम और यज्ञ आदिके द्वारा भी नहीं प्राप्त कर सकता ।। ३-४ ।।

विव्यासैकं चतुर्धा यो वेदं वेदविदां वरः ।
परावरज्ञो ब्रह्मर्षिः कविः सत्यव्रत शुचिः ।। ५ ।।

वे वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे और उन्होंने एक ही वेदको चार भागोंमें विभक्त किया था। ब्रह्मर्षि व्यासजी परब्रह्म और अपरब्रह्मके ज्ञाता, कवि (त्रिकालदर्शी), सत्यव्रतपरायण तथा परम पवित्र हैं ।। ५ ।।

यः पाण्डुं धृतराष्ट्रं च विदुरं चाप्यजीजनत् ।
शान्तनोः संततिं तन्वन् पुण्यकीर्तिर्महायशाः ।। ६ ।।

उनकी कीर्ति पुण्यमयी है और वे महान् यशस्वी हैं। उन्होंने ही शान्तनुकी संतान-परम्पराका विस्तार करनेके लिये पाण्डु, धृतराष्ट्र तथा विदुरको जन्म दिया था ।। ६ ।।

जनमेजयस्य राजर्षेः स महात्मा सदस्तदा ।
विवेश सहितः शिष्यैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ।। ७ ।।

उन महात्मा व्यासने वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान् शिष्योंके साथ उस समय राजर्षि जनमेजयके यज्ञमण्डपमें प्रवेश किया ।। ७ ।।

तत्र राजानमासीनं ददर्श जनमेजयम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्देवैरिव पुरन्दरम् ।। ८ ।।

वहाँ पहुँचकर उन्होंने सिंहासनपर बैठे हुए राजा जनमेजयको देखा, जो बहुत-से सभासदोंद्वारा इस प्रकार घिरे हुए थे, मानो देवराज इन्द्र देवताओंसे घिरे हुए हों ।। ८ ।।

तथा मूर्धाभिषिक्तैश्च नानाजनपदेश्वरैः ।
ऋत्विग्भिर्ब्रह्मकल्पैश्च कुशलैर्यज्ञसंस्तरे ।। ९ ।।

जिनके मस्तकोंपर अभिषेक किया गया था, ऐसे अनेक जनपदोंके नरेश तथा यज्ञानुष्ठानमें कुशल ब्रह्माजीके समान योग्यतावाले ऋत्विज् भी उन्हें सब ओरसे घेरे हुए थे ।। ९ ।।

जनमेजयस्तु राजर्षिर्दृष्ट्वा तमृषिमागतम् ।
सगणोऽभ्युद्ययौ तूर्णं प्रीत्या भरतसत्तमः ।। १० ।।

भरतश्रेष्ठ राजर्षि जनमेजय महर्षि व्यासको आया देख बड़ी प्रसन्नताके साथ उठकर खड़े हो गये और अपने सेवकगणोंके साथ तुरंत ही उनकी अगवानी करनेके लिये चल दिये ।। १० ।।

काञ्चनं विष्टरं तस्मै सदस्यानुमतः प्रभुः ।
आसनं कल्पयामास यथा शक्रो बृहस्पतेः ।। ११ ।।

जैसे इन्द्र बृहस्पतिजीको आसन देते हैं, उसी प्रकार राजाने सदस्योंकी अनुमति लेकर व्यासजीके लिये सुवर्णका विष्टर दे आसनकी व्यवस्था की ।। ११ ।।

तत्रोपविष्टं वरदं देवर्षिगणपूजितम् ।
पूजयामास राजेन्द्रः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।। १२ ।।

देवर्षियोंद्वारा पूजित वरदायक व्यासजी जब वहाँ बैठ गये, तब राजेन्द्र जनमेजयने शास्त्रीय विधिके अनुसार उनका पूजन किया ।। १२ ।।

पाद्यमाचमनीयं च अर्घ्यं गां च विधानतः ।
पितामहाय कृष्णाय तदर्हाय न्यवेदयत् ।। १३ ।।

उन्होंने अपने पितामह श्रीकृष्णद्वैपायनको विधि-विधानके साथ पाद्य, आचमनीय, अर्घ्य और गौ भेंट की, जो इन वस्तुओंको पानेके अधिकारी थे ।। १३ ।।

प्रतिगृह्य तु तां पूजां पाण्डवाज्जनमेजयात् ।
गां चैव समनुज्ञाप्य व्यासः प्रीतोऽभवत् तदा ।। १४ ।।

पाण्डववंशी जनमेजयसे वह पूजा ग्रहण करके गौके सम्बन्धमें अपना आदर व्यक्त करते हुए व्यासजी उस समय बड़े प्रसन्न हुए ।। १४ ।।

तथा च पूजयित्वा तं प्रणयात् प्रपितामहम् ।
उपोपविश्य प्रीतात्मा पर्यपृच्छदनामयम् ।। १५ ।।

पितामह व्यासजीका प्रेमपूर्वक पूजन करके जनमेजयका चित्त प्रसन्न हो गया और वे उनके पास बैठकर कुशल-मंगल पूछने लगे ।। १५ ।।

भगवानपि तं दृष्ट्वा कुशलं प्रतिवेद्य च ।
सदस्यैः पूजितः सर्वैः सदस्यान् प्रत्यपूजयत् ।। १६ ।।

भगवान् व्यासने भी जनमेजयकी ओर देखकर अपना कुशल-समाचार बताया तथा अन्य सभासदोंद्वारा सम्मानित हो उनका भी सम्मान किया ।। १६ ।।

ततस्तु सहितः सर्वैः सदस्यैर्जनमेजयः ।
इदं पश्चाद् द्विजश्रेष्ठं पर्यपृच्छत् कृताञ्जलिः ।। १७ ।।

तदनन्तर सब सदस्योंसहित राजा जनमेजयने हाथ जोड़कर द्विजश्रेष्ठ व्यासजीसे इस प्रकार प्रश्न किया ।। १७ ।।

जनमेजय उवाच

कुरूणां पाण्डवानां च भवान् प्रत्यक्षदर्शिवान् ।
तेषां चरितमिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज ।। १८ ।।

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन्! आप कौरवों और पाण्डवोंको प्रत्यक्ष देख चुके हैं; अतः मैं आपके द्वारा वर्णित उनके चरित्रको सुनना चाहता हूँ ।। १८ ।।

कथं समभवद् भेदस्तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तच्च युद्धं कथं वृत्तं भूतान्तकरणं महत् ।। १९ ।।

वे तो राग-द्वेष आदि दोषोंसे रहित सत्कर्म करनेवाले थे, उनमें भेद-बुद्धि कैसे उत्पन्न हुई? तथा प्राणियोंका अन्त करनेवाला उनका वह महायुद्ध किस प्रकार हुआ? ।। १९ ।।

पितामहानां सर्वेषां दैवेनानिष्टचेतसाम् ।
कार्त्स्न्येनैतन्ममाचक्ष्व यथावृत्तं द्विजोत्तम ।। २० ।।

द्विजश्रेष्ठ! जान पड़ता है, प्रारब्धने ही प्रेरणा करके मेरे सब प्रपितामहोंके मनको युद्धरूपी अनिष्टमें लगा दिया था। उनके इस सम्पूर्ण वृत्तान्तका आप यथावत् रूपसे वर्णन करें ।। २० ।।

सौतिरुवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनस्तदा ।
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके ।। २१ ।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—जनमेजयकी यह बात सुनकर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने पास ही बैठे हुए अपने शिष्य वैशम्पायनको उस समय इस प्रकार आदेश दिया ।। २१ ।।

व्यास उवाच

कुरूणां पाण्डवानां च यथा भेदोऽभवत् पुरा ।
तदस्मै सर्वमाचक्ष्व यन्मत्तः श्रुतवानसि ।। २२ ।।

व्यासजी बोले—वैशम्पायन! पूर्वकालमें कौरवों और पाण्डवोंमें जिस प्रकार फूट पड़ी थी; जिसे तुम मुझसे सुन चुके हो, वह सब इस समय इन राजा जनमेजयको सुनाओ ।। २२ ।।

गुरोर्वचनमाज्ञाय स तु विप्रर्षभस्तदा ।
आचचक्षे ततः सर्वमितिहासं पुरातनम् ।। २३ ।।
राज्ञे तस्मै सदस्येभ्यः पार्थिवेभ्यश्च सर्वशः ।
भेदं सर्वविनाशं च कुरुपाण्डवयोस्तदा ।। २४ ।।

उस समय गुरुदेव व्यासजीकी यह आज्ञा पाकर विप्रवर वैशम्पायनने राजा जनमेजय, सभासद्गण तथा अन्य सब भूपालोंसे कौरव-पाण्डवोंमें जिस प्रकार फूट पड़ी और उनका सर्वनाश हुआ, वह सब पुरातन इतिहास कहना प्रारम्भ किया ।। २३-२४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि कथानुबन्धे षष्टितमोऽध्यायः ।। ६० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें कथानुबन्धविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६० ।।

एकषष्टितमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डवोंमें फूट और युद्ध होनेके वृत्तान्तका सूत्ररूपमें निर्देश

वैशम्पायन उवाच

गुरवे प्राङ्नमस्कृत्य मनोबुद्धिसमाधिभिः ।
सम्पूज्य च द्विजान् सर्वांस्तथान्यान् विदुषो जनान् ।। १ ।।
महर्षेर्विश्रुतस्येह सर्वलोकेषु धीमतः ।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यास्य महात्मनः ।। २ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! मैं सबसे पहले श्रद्धा-भक्तिपूर्वक एकाग्रचित्तसे अपने गुरुदेव श्रीव्यासजी महाराजको साष्टांग नमस्कार करके सम्पूर्ण द्विजों तथा अन्यान्य विद्वानोंका समादर करते हुए यहाँ सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात महर्षि एवं महात्मा इन परम बुद्धिमान् व्यासजीके मतका पूर्णरूपसे वर्णन करता हूँ ।। १-२ ।।

श्रीतुं पात्रं च राजंस्त्वं प्राप्येमां भारतीं कथाम् ।
गुरोर्वक्त्रपरिस्पन्दो मनः प्रोत्साहतीव मे ।। ३ ।।

जनमेजय! तुम इस महाभारतकी कथाको सुननेके लिये उत्तम पात्र हो और मुझे यह कथा उपलब्ध है तथा श्रीगुरुजीके मुखारविन्दसे मुझे यह आदेश मिल गया है कि मैं तुम्हें कथा सुनाऊँ, इससे मेरे मनको बड़ा उत्साह प्राप्त होता है ।। ३ ।।

शृणु राजन् यथा भेदः कुरुपाण्डवयोरभूत् ।
राज्यार्थे द्यूतसम्भूतो वनवासस्तथैव च ।। ४ ।।
यथा च युद्धमभवत् पृथिवीक्षयकारकम् ।
तत् तेऽहं कथयिष्यामि पृच्छते भरतर्षभ ।। ५ ।।

राजन्! जिस प्रकार कौरव और पाण्डवोंमें फूट पड़ी, वह प्रसंग सुनो। राज्यके लिये जो जुआ खेला गया, उससे उनमें फूट हुई और उसीके कारण पाण्डवोंका वनवास हुआ। भरतश्रेष्ठ! फिर जिस प्रकार पृथ्वीके वीरोंका विनाश करनेवाला महाभारत-युद्ध हुआ, वह तुम्हारे प्रश्नके अनुसार तुमसे कहता हूँ, सुनो ।। ४-५ ।।

मृते पितरि ते वीरा वनादेत्य स्वमन्दिरम् ।
नचिरादेव विद्वांसो वेदे धनुषि चाभवन् ।। ६ ।।

अपने पिता महाराज पाण्डुके स्वर्गवासी हो जानेपर वे वीर पाण्डव वनसे अपने राजभवनमें आकर रहने लगे। वहाँ थोड़े ही दिनोंमें वे वेद तथा धनुर्वेदके पूरे पण्डित हो गये ।। ६ ।।

तांस्तथा सत्त्ववीर्यौजः सम्पन्नान् पौरसम्मतान् ।
नामृष्यन् कुरवो दृष्ट्वा पाण्डवाञ्छ्रीयशोभृतः ।। ७ ।।

सत्त्व (धैर्य और उत्साह), वीर्य (पराक्रम) तथा ओज (देहबल)-से सम्पन्न होनेके कारण पाण्डवलोग पुरवासियोंके प्रेम और सम्मानके पात्र थे। उनके धन, सम्पत्ति और यशकी वृद्धि होने लगी। यह सब देखकर कौरव उनके उत्कर्षको सहन न कर सके ।। ७ ।।

ततो दुर्योधनः क्रूरः कर्णश्च सहसौबलः ।
तेषां निग्रहनिर्वासान् विविधांस्ते समारभन् ।। ८ ।।

तब क्रूर दुर्योधन, कर्ण और शकुनि तीनोंने मिलकर पाण्डवोंको वशमें करने या देशसे निकाल देनेके लिये नाना प्रकारके यत्न आरम्भ किये ।। ८ ।।

ततो दुर्योधनः शूरः कुलिङ्गस्य मते स्थितः ।
पाण्डवान् विविधोपायै राज्यहेतोरपीडयत् ।। ९ ।।

शकुनिकी सम्मतिसे चलनेवाले शूरवीर दुर्योधनने राज्यके लिये भाँति-भाँतिके उपाय करके पाण्डवोंको पीड़ा दी ।। ९ ।।

ददावथ विषं पापो भीमाय धृतराष्ट्रजः ।
जरयामास तद् वीरः सहान्तेन वृकोदरः ।। १० ।।

उस पापी धृतराष्ट्रपुत्रने भीमसेनको विष दे दिया, किंतु वीरवर भीमसेनने भोजनके साथ उस विषको भी पचा लिया ।। १० ।।

प्रमाणकोट्यां संसुप्तं पुनर्बद्ध्वा वृकोदरम् ।
तोयेषु भीमं गंगायाः प्रक्षिप्य पुरमाव्रजत् ।। ११ ।।

फिर दुर्योधनने गंगाके प्रमाणकोटि नामक तीर्थपर सोये हुए भीमसेनको बाँधकर गंगाजीके गहरे जलमें डाल दिया और स्वयं चुपचाप नगरमें लौट आया ।। ११ ।।

यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा संछिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो गतव्यथः ।। १२ ।।

जब कुन्तीनन्दन महाबाहु भीमकी आँख खुली, तब वे सारा बन्धन तोड़कर बिना किसी पीड़ाके उठ खड़े हुए ।। १२ ।।

आशीविषैः कृष्णसर्पैः सुप्तं चैनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ।। १३ ।।

एक दिन दुर्योधनने भीमसेनको सोते समय उनके सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगोंमें काले साँपोंसे डँसवा दिया, किंतु शत्रुघाती भीम मर न सके ।। १३ ।।

तेषां तु विप्रकारेषु तेषु तेषु महामतिः ।
मोक्षणे प्रतिकारे च विदुरोऽवहितोऽभवत् ।। १४ ।।

कौरवोंके द्वारा किये हुए उन सभी अपकारोंके समय पाण्डवोंको उनसे छुड़ाने अथवा उनका प्रतीकार करनेके लिये परम बुद्धिमान् विदुरजी सदा सावधान रहते थे ।। १४ ।।

स्वर्गस्थो जीवलोकस्य यथा शक्रः सुखावहः ।
पाण्डवानां तथा नित्यं विदुरोऽपि सुखावहः ।। १५ ।।

जैसे स्वर्गलोकमें निवास करनेवाले इन्द्र सम्पूर्ण जीव-जगत्को सुख पहुँचाते रहते हैं, उसी प्रकार विदुरजी भी सदा पाण्डवोंको सुख दिया करते थे ।। १५ ।।

यदा तु विविधोपायैः संवृतैर्विवृतैरपि ।
नाशकद् विनिहन्तुं तान् दैवभाव्यर्थरक्षितान् ।। १६ ।।
ततः सम्मन्त्र्य सचिवैर्वृषदुःशासनादिभिः ।
धृतराष्ट्रमनुज्ञाप्य जातुषं गृहमादिशत् ।। १७ ।।

भविष्यमें जो घटना घटित होनेवाली थी, उसके लिये मानो दैव ही पाण्डवोंकी रक्षा कर रहा था। जब छिपकर या प्रकटरूपमें किये हुए अनेक उपायोंसे भी दुर्योधन पाण्डवोंका नाश न कर सका, तब उसने कर्ण और दुःशासन आदि मन्त्रियोंसे सलाह करके धृतराष्ट्रकी आज्ञासे वारणावत नगरमें एक लाहका घर बनानेकी आज्ञा दी ।। १६-१७ ।।

सुतप्रियैषी तान् राजा पाण्डवानम्बिकासुतः ।
ततो विवासयामास राज्यभोगबुभुक्षया ।। १८ ।।

अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र अपने पुत्रका प्रिय चाहनेवाले थे। अतः उन्होंने राज्यभोगकी इच्छासे पाण्डवोंको हस्तिनापुर छोड़कर वारणावतके लाक्षागृहमें रहनेकी आज्ञा दे दी ।। १८ ।।

ते प्रातिष्ठन्त सहिता नगरान्नागसाह्वयात् ।
प्रस्थाने चाभवन्मन्त्री क्षत्ता तेषां महात्मनाम् ।। १९ ।।
तेन मुक्ता जतुगृहान्निशीथे प्राद्रवन् वनम् ।

मातासहित पाँचों पाण्डव एक साथ हस्तिनापुरसे प्रस्थित हुए। उन महात्मा पाण्डवोंके प्रस्थानकालमें विदुरजी सलाह देनेवाले हुए। उन्हींकी सलाह एवं सहायतासे पाण्डवलोग लाक्षागृहसे बचकर आधीरातके समय वनमें भाग निकले थे ।। १९ १/२ ।।

ततः सम्प्राप्य कौन्तेया नगरं वारणावतम् ।। २० ।।
न्यवसन्त महात्मानो मात्रा सह परंतपाः ।
धृतराष्ट्रेण चाज्ञप्ता उषिता जातुषे गृहे ।। २१ ।।
पुरोचनाद् रक्षमाणाः संवत्सरमतन्द्रिताः ।
सुरुङ्गां कारयित्वा तु विदुरेण प्रचोदिताः ।। २२ ।।
आदीप्य जातुषं वेश्म दग्ध्वा चैव पुरोचनम् ।
प्राद्रवन् भयसंविग्ना मात्रा सह परंतपाः ।। २३ ।।

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीकुमार महात्मा पाण्डव वारणावत नगरमें आकर लाक्षागृहमें अपनी माताके साथ रहने लगे। पुरोचनसे सुरक्षित हो सदा सजग रहकर उन्होंने एक वर्षतक वहाँ निवास किया। फिर विदुरकी प्रेरणा (विदुरके भेजे हुए

आदमियों)-से पाण्डवोंने एक सुरंग खुदवायी। तत्पश्चात् वे शत्रुसंतापी पाण्डव उस लाक्षागृहमें आग लगा पुरोचनको दग्ध करके भयसे व्याकुल हो मातासहित सुरंगद्वारा वहाँसे निकल भागे ।। २०—२३ ।।

ददृशुर्दारुणं रक्षो हिडिम्बं वननिर्झरे ।
हत्वा च तं राक्षसेन्द्रं भीताः समवबोधनात् ।। २४ ।।
निशि सम्प्राद्रवन् पार्था धार्तराष्ट्रभयार्दिताः ।
प्राप्ता हिडिम्बा भीमेन यत्र जातो घटोत्कचः ।। २५ ।।

तत्पश्चात् वनमें एक झरनेके पास उन्होंने एक भयंकर राक्षसको देखा, जिसका नाम हिडिम्ब था। राक्षसराज हिडिम्बको मारकर पाण्डवलोग प्रकट होनेके भयसे रातमें ही वहाँसे दूर निकल गये। उस समय उन्हें धृतराष्ट्रके पुत्रोंका भय सता रहा था। हिडिम्ब-वधके पश्चात् भीमको हिडिम्बा नामकी राक्षसी पत्नीरूपमें प्राप्त हुई, जिसके गर्भसे घटोत्कचका जन्म हुआ ।। २४-२५ ।।

एकचक्रां ततो गत्वा पाण्डवाः संशितव्रताः ।
वेदाध्ययनसम्पन्नास्तेऽभवन् ब्रह्मचारिणः ।। २६ ।।

तदनन्तर कठोर व्रतका पालन करनेवाले पाण्डव एकचक्रा नगरीमें जाकर वेदाध्ययनपरायण ब्रह्मचारी बन गये ।। २६ ।।

ते तत्र नियताः कालं कंचिदूषुर्नरर्षभाः ।
मात्रा सहैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ।। २७ ।।

उस एकचक्रा नगरीमें वे नरश्रेष्ठ पाण्डव अपनी माताके साथ एक ब्राह्मणके घरमें कुछ कालतक टिके रहे ।। २७ ।।

तत्रासससाद क्षुधितं पुरुषादं वृकोदरः ।
भीमसेनो महाबाहुर्बकं नाम महाबलम् ।। २८ ।।

उस नगरके समीप एक मनुष्यभक्षी राक्षस रहता था, जिसका नाम था बक। एक दिन महाबाहु भीमसेन उस क्षुधातुर महाबली राक्षस बकके समीप गये ।। २८ ।।

तं चापि पुरुषव्याघ्रो बाहुवीर्येण पाण्डवः ।
निहत्य तरसा वीरो नागरान् पर्यसान्त्वयत् ।। २९ ।।

नरश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन वीरवर भीमने अपने बाहुबलसे उस राक्षसको वेगपूर्वक मारकर वहाँके नगरनिवासियोंको धैर्य बँधाया ।। २९ ।।

ततस्ते शुश्रुवुः कृष्णां पञ्चालेषु स्वयंवराम् ।
श्रुत्वा चैवाभ्यगच्छन्त गत्वा चैवालभन्त ताम् ।। ३० ।।
ते तत्र द्रौपदीं लब्ध्वा परिसंवत्सरोषिताः ।
विदिता हास्तिनपुरं प्रत्याजग्मुररिंदमाः ।। ३१ ।।

वहीं सुननेमें आया कि पांचाल देशकी राजकुमारी कृष्णाका स्वयंवर होनेवाला है। यह सुनकर पाण्डव वहाँ गये और जाकर उन्होंने राजकुमारीको प्राप्त कर लिया। द्रौपदीको प्राप्त करनेके बाद पहचान लिये जानेपर भी वे एक वर्षतक पांचाल देशमें ही रहे। फिर वे शत्रुदमन पाण्डव पुनः हस्तिनापुर लौट आये ।। ३०-३१ ।।

ते उक्ता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ।
भ्रातृभिर्विग्रहस्तात कथं वो न भवेदिति ।। ३२ ।।
अस्माभिः खाण्डवप्रस्थे युष्मद्वासोऽनुचिन्तितः ।
तस्माज्जनपदोपेतं सुविभक्तमहापथम् ।। ३३ ।।
वासाय खाण्डवप्रस्थं व्रजध्वं गतमत्सराः ।
तयोस्ते वचनाज्जग्मुः सह सर्वैः सुहृज्जनैः ।। ३४ ।।
नगरं खाण्डवप्रस्थं रत्नान्यादाय सर्वशः ।
तत्र ते न्यवसन् पार्थाः संवत्सरगणान् बहून् ।। ३५ ।।
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान् महीभृतः ।
एवं धर्मप्रधानास्ते सत्यव्रतपरायणाः ।। ३६ ।।
अप्रमत्तोत्थिताः क्षान्ताः प्रतपन्तोऽहितान् बहून् ।

वहाँ आनेपर राजा धृतराष्ट्र तथा शान्तनुनन्दन भीष्मजीने उनसे कहा—'तात! तुम्हें अपने भाई कौरवोंके साथ लड़ने-झगड़नेका अवसर न प्राप्त हो इसके लिये हमने विचार किया है कि तुमलोग खाण्डवप्रस्थमें रहो। वहाँ अनेक जनपद उससे जुड़े हुए हैं। वहाँ सुन्दर विभागपूर्वक बड़ी-बड़ी सड़कें बनी हुई हैं। अतः तुमलोग ईर्ष्याका त्याग करके खाण्डवप्रस्थमें रहनेके लिये जाओ।' उन दोनोंके इस प्रकार आज्ञा देनेपर सब पाण्डव अपने समस्त सुहृदोंके साथ सब प्रकारके रत्न लेकर खाण्डवप्रस्थको चले गये। वहाँ वे कुन्तीपुत्र अपने अस्त्र-शस्त्रोंके प्रतापसे अन्यान्य राजाओंको अपने वशमें करते हुए बहुत वर्षोंतक निवास करते रहे। इस प्रकार धर्मको प्रधानता देनेवाले, सत्यव्रतके पालनमें तत्पर, सदा सावधान एवं सजग रहनेवाले, क्षमाशील पाण्डव वीर बहुत-से शत्रुओंको संतप्त करते हुए वहाँ निवास करने लगे ।। ३२—३६½ ।।

अजयद् भीमसेनस्तु दिशं प्राचीं महायशाः ।। ३७ ।।
उदीचीमर्जुनो वीरः प्रतीचीं नकुलस्तथा ।
दक्षिणां सहदेवस्तु विजिग्ये परवीरहा ।। ३८ ।।

महायशस्वी भीमसेनने पूर्व दिशापर विजय पायी। वीर अर्जुनने उत्तर, नकुलने पश्चिम और शत्रु वीरोंका संहार करनेवाले सहदेवने दक्षिण दिशापर विजय प्राप्त की ।। ३७-३८ ।।

एवं चक्रुरिमां सर्वे वशे कृत्स्नां वसुन्धराम् ।
पञ्चभिः सूर्यसंकाशैः सूर्येण च विराजता ।। ३९ ।।
षट्सूर्येवाभवत् पृथ्वी पाण्डवैः सत्यविक्रमैः ।

ततो निमित्ते कस्मिंश्चिद् धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। ४० ।।
वनं प्रस्थापयामास तेजस्वी सत्यविक्रमः ।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरं भ्रातरं सव्यसाचिनम् ।। ४१ ।।
अर्जुनं पुरुषव्याघ्रं स्थिरात्मानं गुणैर्युतम् ।
(धैर्यात् सत्याच्च धर्माच्च विजयाच्चाधिकप्रियः ।
अर्जुनो भ्रातरं ज्येष्ठं नात्यवर्तत जातुचित् ।।)
स वै संवत्सरं पूर्णं मासं चैकं वने वसन् ।। ४२ ।।

इस तरह सब पाण्डवोंने समूची पृथ्वीको अपने वशमें कर लिया। वे पाँचों भाई सूर्यके समान तेजस्वी थे और आकाशमें नित्य उदित होनेवाले सूर्य तो प्रकाशित थे ही; इस तरह सत्यपराक्रमी पाण्डवोंके होनेसे यह पृथ्वी मानो छः सूर्योंसे प्रकाशित होनेवाली बन गयी। तदनन्तर कोई निमित्त बन जानेके कारण सत्यपराक्रमी तेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने अपने प्राणोंसे भी अत्यन्त प्रिय, स्थिर-बुद्धि तथा सद्गुणयुक्त भाई नरश्रेष्ठ सव्यसाची अर्जुनको वनमें भेज दिया। अर्जुन अपने धैर्य, सत्य, धर्म और विजयशीलताके कारण भाइयोंको अधिक प्रिय थे। उन्होंने अपने बड़े भाईकी आज्ञाका कभी उल्लंघन नहीं किया था। वे पूरे बारह वर्ष और एक मासतक वनमें रहे ।। ३९—४२ ।।

(तीर्थयात्रां च कृतवान् नागकन्यामवाप्य च ।
पाण्ड्यस्य तनयां लब्ध्वा तत्र ताभ्यां सहोषितः ।।)
ततोऽगच्छद्धृषीकेशं द्वारवत्यां कदाचन ।
लब्धवांस्तत्र बीभत्सुर्भार्यां राजीवलोचनाम् ।। ४३ ।।
अनुजां वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ।
सा शचीव महेन्द्रेण श्रीः कृष्णेनेव संगता ।। ४४ ।।
सुभद्रा युयुजे प्रीत्या पाण्डवेनार्जुनेन ह ।

उसी समय उन्होंने निर्मल तीर्थोंकी यात्रा की और नागकन्या उलूपीको पाकर पाण्ड्यदेशीय नरेश चित्रवाहनकी पुत्री चित्रांगदाको भी प्राप्त किया और उन-उन स्थानोंमें उन दोनोंके साथ कुछ कालतक निवास किया। तत्पश्चात् वे किसी समय द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णके पास गये। वहाँ अर्जुनने मंगलमय वचन बोलनेवाली कमललोचना सुभद्राको, जो वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी छोटी बहिन थी, पत्नीरूपमें प्राप्त किया। जैसे इन्द्रसे शची और भगवान् विष्णुसे लक्ष्मी संयुक्त हुई हैं, उसी प्रकार सुभद्रा बड़े प्रेमसे पाण्डुनन्दन अर्जुनसे मिली ।। ४३-४४½ ।।

अतर्पयच्च कौन्तेयः खाण्डवे हव्यवाहनम् ।। ४५ ।।
बीभत्सुर्वासुदेवेन सहितो नृपसत्तम ।
नातिभारो हि पार्थस्य केशवेन सहाभवत् ।। ४६ ।।
व्यवसायसहायस्य विष्णोः शत्रुवधेष्विव ।

तत्पश्चात् कुन्तीकुमार अर्जुनने खाण्डवप्रस्थमें भगवान् वासुदेवके साथ रहकर अग्निदेवको तृप्त किया। नृपश्रेष्ठ जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णका साथ होनेसे अर्जुनको इस कार्यमें ठीक उसी तरह अधिक परिश्रम या भारका अनुभव नहीं हुआ, जैसे दृढ़ निश्चयको सहायक बनाकर देवशत्रुओंका वध करते समय भगवान् विष्णुको भार या परिश्रमकी प्रतीति नहीं होती है ।। ४५-४६ १/२ ।।

पार्थायाग्निर्ददौ चापि गाण्डीवं धनुरुत्तमम् ।। ४७ ।।
इषुधी चाक्षयैर्बाणै रथं च कपिलक्षणम् ।
मोक्षयामास बीभत्सुर्मयं यत्र महासुरम् ।। ४८ ।।

तदनन्तर अग्निदेवने संतुष्ट हो अर्जुनको उत्तम गाण्डीव धनुष, अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तूणीर और एक कपिध्वज रथ प्रदान किया। उसी समय अर्जुनने महान् असुर मयको खाण्डव वनमें जलनेसे बचाया था ।। ४७-४८ ।।

स चकार सभां दिव्यां सर्वरत्नसमाचिताम् ।
तस्यां दुर्योधनो मन्दो लोभं चक्रे सुदुर्मतिः ।। ४९ ।।

इससे संतुष्ट होकर उसने अर्जुनके लिये एक दिव्य सभाभवनका निर्माण किया, जो सब प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित था। खोटी बुद्धिवाले मूर्ख दुर्योधनके मनमें उस सभाको ले लेनेके लिये लोभ पैदा हुआ ।। ४९ ।।

ततोऽक्षैर्वञ्चयित्वा च सौबलेन युधिष्ठिरम् ।
वनं प्रस्थापयामास सप्त वर्षाणि पञ्च च ।। ५० ।।
अज्ञातमेकं राष्ट्रे च ततो वर्षं त्रयोदशम् ।
ततश्चतुर्दशे वर्षे याचमानाः स्वकं वसु ।। ५१ ।।

तब उसने शकुनिकी सहायतासे कपटपूर्ण जुएके द्वारा युधिष्ठिरको ठग लिया और उन्हें बारह वर्षतक वनमें और तेरहवें वर्ष एक राष्ट्रमें अज्ञात-रूपसे वास करनेके लिये भेज दिया। इसके बाद चौदहवें वर्षमें पाण्डवोंने लौटकर अपना राज्य और धन माँगा ।। ५०-५१ ।।

नालभन्त महाराज ततो युद्धमवर्तत ।
ततस्ते क्षत्रमुत्साद्य हत्वा दुर्योधनं नृपम् ।। ५२ ।।
राज्यं विहतभूयिष्ठं प्रत्यपद्यन्त पाण्डवाः ।
एवमेतत् पुरावृत्तं तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
भेदो राज्यविनाशाय जयश्च जयतां वर ।। ५३ ।।

महाराज! जब इस प्रकार न्यायपूर्वक माँगनेपर भी उन्हें राज्य नहीं मिला, तब दोनों दलोंमें युद्ध छिड़ गया। फिर तो पाण्डव-वीरोंने क्षत्रियकुलका संहार करके राजा दुर्योधनको भी मार डाला और अपने राज्यको, जिसका अधिकांश भाग उजाड़ हो गया था, पुनः अपने अधिकारमें कर लिया। विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ जनमेजय! अनायास महान् कर्म करनेवाले

पाण्डवोंका यही पुरातन इतिहास है। इस प्रकार राज्यके विनाशके लिये उनमें फूट पड़ी और युद्धके बाद उन्हें विजय प्राप्त हुई ।। ५२-५३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि भारतसूत्रं नामैकषष्टितमोऽध्यायः ।। ६१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें भारतसूत्र नामक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं)

द्विषष्टितमोऽध्यायः

महाभारतकी महत्ता

जनमेजय उवाच

कथितं वै समासेन त्वया सर्वं द्विजोत्तम ।
महाभारतमाख्यानं कुरूणां चरितं महत् ।। १ ।।

जनमेजयने कहा—द्विजश्रेष्ठ! आपने कुरुवंशियोंके चरित्ररूप महान् महाभारत नामक सम्पूर्ण इतिहासका बहुत संक्षेपसे वर्णन किया है ।। १ ।।

कथां त्वनघ चित्रार्थां कथयस्व तपोधन ।
विस्तरश्रवणे जातं कौतूहलमतीव मे ।। २ ।।

निष्पाप तपोधन! अब उस विचित्र अर्थवाली कथाको विस्तारके साथ कहिये; क्योंकि उसे विस्तारपूर्वक सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है ।। २ ।।

स भवान् विस्तरेणेमां पुनराख्यातुमर्हति ।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ।। ३ ।।

विप्रवर! आप पुनः पूरे विस्तारके साथ यह कथा सुनावें। मैं अपने पूर्वजोंके इस महान् चरित्रको सुनते-सुनते तृप्त नहीं हो रहा हूँ ।। ३ ।।

न तत् कारणमल्पं वै धर्मज्ञा यत्र पाण्डवाः ।
अवध्यान् सर्वशो जघ्नुः प्रशस्यन्ते च मानवैः ।। ४ ।।

सब मनुष्योंद्वारा जिनकी प्रशंसा की जाती है, उन धर्मज्ञ पाण्डवोंने जो युद्धभूमिमें समस्त अवध्य सैनिकोंका भी वध किया था, इसका कोई छोटा या साधारण कारण नहीं हो सकता ।। ४ ।।

किमर्थं ते नरव्याघ्राः शक्ताः सन्तो ह्यनागसः ।
प्रयुज्यमानान् संक्लेशान् क्षान्तवन्तो दुरात्मनाम् ।। ५ ।।

नरश्रेष्ठ पाण्डव शक्तिशाली और निरपराध थे तो भी उन्होंने दुरात्मा कौरवोंके दिये हुए महान् क्लेशोंको कैसे चुपचाप सहन कर लिया? ।। ५ ।।

कथं नागायुतप्राणो बाहुशाली वृकोदरः ।
परिक्लिश्यन्नपि क्रोधं धृतवान् वै द्विजोत्तम ।। ६ ।।

द्विजोत्तम! अपनी विशाल भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले भीमसेनमें तो दस हजार हाथियोंका बल था। फिर उन्होंने क्लेश उठाते हुए भी क्रोधको किसलिये रोक रखा था? ।। ६ ।।

कथं सा द्रौपदी कृष्णा क्लिश्यमाना दुरात्मभिः ।
शक्ता सती धार्तराष्ट्रान् नादहत् क्रोधचक्षुषा ।। ७ ।।

द्रुपदकुमारी कृष्णा भी सब कुछ करनेमें समर्थ, सती-साध्वी देवी थीं। धृतराष्ट्रके दुरात्मा पुत्रोंद्वारा सतायी जानेपर भी उन्होंने अपनी क्रोधपूर्ण दृष्टिसे उन सबको जलाकर भस्म क्यों नहीं कर दिया? ।। ७ ।।

कथं व्यसनिनं द्युते पार्थौ माद्रीसुतौ तदा ।
अन्वयुस्ते नरव्याघ्रा बाध्यमाना दुरात्मभिः ।। ८ ।।

कुन्तीके दोनों पुत्र भीमसेन और अर्जुन तथा माद्री-नन्दन नकुल और सहदेव भी उस समय दुष्ट कौरवोंद्वारा अकारण सताये गये थे। उन चारों भाइयोंने जुएके दुर्व्यसनमें फँसे हुए राजा युधिष्ठिरका साथ क्यों दिया? ।। ८ ।।

कथं धर्मभृतां श्रेष्ठः सुतो धर्मस्य धर्मवित् ।
अनर्हः परमं क्लेशं सोढवान् स युधिष्ठिरः ।। ९ ।।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मपुत्र युधिष्ठिर धर्मके ज्ञाता थे, महान् क्लेशमें पड़नेयोग्य कदापि नहीं थे, तो भी उन्होंने वह सब कैसे सहन कर लिया? ।। ९ ।।

कथं च बहुलाः सेनाः पाण्डवः कृष्णसारथिः ।
अस्यन्नेकोऽनयत् सर्वाः पितृलोकं धनंजयः ।। १० ।।

भगवान् श्रीकृष्ण जिनके सारथि थे, उन पाण्डुनन्दन अर्जुनने अकेले ही बाणोंकी वर्षा करके समस्त सेनाओंको, जिनकी संख्या बहुत बड़ी थी, किस प्रकार यमलोक पहुँचा दिया? ।। १० ।।

एतदाचक्ष्व मे सर्वं यथावृत्तं तपोधन ।
यद् यच्च कृतवन्तस्ते तत्र तत्र महारथाः ।। ११ ।।

तपोधन! यह सब वृत्तान्त आप ठीक-ठीक मुझे बताइये। उन महारथी वीरोंने विभिन्न स्थानों और अवसरोंमें जो-जो कर्म किये थे, वह सब सुनाइये ।। ११ ।।

वैशम्पायन उवाच

क्षणं कुरु महाराज विपुलोऽयमनुक्रमः ।
पुण्याख्यानस्य वक्तव्यः कृष्णद्वैपायनेरितः ।। १२ ।।

वैशम्पायनजी बोले—महाराज! इसके लिये कुछ समय नियत कीजिये; क्योंकि इस पवित्र आख्यानका श्रीव्यासजीके द्वारा जो क्रमानुसार वर्णन किया गया है, वह बहुत विस्तृत है और वह सब आपके समक्ष कहकर सुनाना है ।। १२ ।।

महर्षेः सर्वलोकेषु पूजितस्य महात्मनः ।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यामिततेजसः ।। १३ ।।

सर्वलोकपूजित अमित तेजस्वी महामना महर्षि व्यासजीके सम्पूर्ण मतका यहाँ वर्णन करूँगा ।। १३ ।।

इदं शतसहस्रं हि श्लोकानां पुण्यकर्मणाम् ।

सत्यवत्यात्मजेनेह व्याख्यातममितौजसा ।। १४ ।।

असीम प्रभावशाली सत्यवतीनन्दन व्यासजीने पुण्यात्मा पाण्डवोंकी यह कथा एक लाख श्लोकोंमें कही है ।। १४ ।।

य इदं श्रावयेद् विद्वान् ये चेदं शृणुयुर्नराः ।
ते ब्रह्मणः स्थानमेत्य प्राप्नुयुर्देवतुल्यताम् ।। १५ ।।

जो विद्वान् इस आख्यानको सुनाता है और जो मनुष्य सुनते हैं, वे ब्रह्मलोकमें जाकर देवताओंके समान हो जाते हैं ।। १५ ।।

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।
श्राव्याणामुत्तमं चेदं पुराणमृषिसंस्तुतम् ।। १६ ।।

यह ऋषियोंद्वारा प्रशंसित पुरातन इतिहास श्रवण करनेयोग्य सब ग्रन्थोंमें श्रेष्ठ है। यह वेदोंके समान ही पवित्र तथा उत्तम है ।। १६ ।।

अस्मिन्नर्थश्च धर्मश्च निखिलेनोपदिश्यते ।
इतिहासे महापुण्ये बुद्धिश्च परिनैष्ठिकी ।। १७ ।।
अक्षुद्रान् दानशीलांश्च सत्यशीलाननास्तिकान् ।
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्छ्रावयित्वार्थमश्नुते ।। १८ ।।

इसमें अर्थ और धर्मका भी पूर्णरूपसे उपदेश किया जाता है। इस परम पावन इतिहाससे मोक्षबुद्धि प्राप्त होती है। जिनका स्वभाव अथवा विचार खोटा नहीं है, जो दानशील, सत्यवादी और आस्तिक हैं, ऐसे लोगोंको व्यासद्वारा विरचित वेदस्वरूप इस महाभारतका जो श्रवण कराता है, वह विद्वान् अभीष्ट अर्थको प्राप्त कर लेता है ।। १७-१८ ।।

भ्रूणहत्याकृतं चापि पापं जह्यादसंशयम् ।
इतिहासमिमं श्रुत्वा पुरुषोऽपि सुदारुणः ।। १९ ।।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो राहुणा चन्द्रमा यथा ।
जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ।। २० ।।

साथ ही वह भ्रूणहत्या-जैसे पापको भी नष्ट कर देता है, इसमें संशय नहीं है। इस इतिहासको श्रवण करके अत्यन्त क्रूर मनुष्य भी राहुसे छूटे हुए चन्द्रमाकी भाँति सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। यह 'जय' नामक इतिहास विजयकी इच्छावाले पुरुषको अवश्य सुनना चाहिये ।। १९-२० ।।

महीं विजयते राजा शत्रूंश्चापि पराजयेत् ।
इदं पुंसवनं श्रेष्ठमिदं स्वस्त्ययनं महत् ।। २१ ।।

इसका श्रवण करनेवाला राजा भूमिपर विजय पाता और सब शत्रुओंको परास्त कर देता है। यह पुत्रकी प्राप्ति करानेवाला और महान् मंगलकारी श्रेष्ठ साधन है ।। २१ ।।

महिषीयुवराजाभ्यां श्रोतव्यं बहुशस्तथा ।

वीरं जनयते पुत्रं कन्यां वा राज्यभागिनीम् ।। २२ ।।

युवराज तथा रानीको बारम्बार इसका श्रवण करते रहना चाहिये, इससे वह वीर पुत्र अथवा राज्यसिंहासनपर बैठनेवाली कन्याको जन्म देती है ।। २२ ।।

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम् ।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ।। २३ ।।

अमित मेधावी व्यासजीने इसे पुण्यमय धर्मशास्त्र, उत्तम अर्थशास्त्र तथा सर्वोत्तम मोक्षशास्त्र भी कहा है ।। २३ ।।

सम्प्रत्याचक्षते चेदं तथा श्रोष्यन्ति चापरे ।
पुत्राः शुश्रूषवः सन्ति प्रेष्याश्च प्रियकारिणः ।। २४ ।।

जो वर्तमानकालमें इसका पाठ करते हैं तथा जो भविष्यमें इसे सुनेंगे, उनके पुत्र सेवापरायण और सेवक स्वामीका प्रिय करनेवाले होंगे ।। २४ ।।

शरीरेण कृतं पापं वाचा च मनसैव च ।
सर्वं संत्यजति क्षिप्रं य इदं शृणुयान्नरः ।। २५ ।।

जो मानव इस महाभारतको सुनता है, वह शरीर, वाणी और मनके द्वारा किये हुए सम्पूर्ण पापोंको त्याग देता है ।। २५ ।।

भरतानां महज्जन्म शृण्वतामनसूयताम् ।
नास्ति व्याधिभयं तेषां परलोकभयं कुतः ।। २६ ।।

जो दूसरोंके दोष न देखनेवाले भरतवंशियोंके महान् जन्म-वृत्तान्तरूप महाभारतका श्रवण करते हैं, उन्हें इस लोकमें भी रोग-व्याधिका भय नहीं होता, फिर परलोकमें तो हो ही कैसे सकता है? ।। २६ ।।

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्ग्यं तथैव च ।
कृष्णद्वैपायनेनेदं कृतं पुण्यचिकीर्षुणा ।। २७ ।।
कीर्तिं प्रथयता लोके पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अन्येषां क्षत्रियाणां च भूरिद्रविणतेजसाम् ।। २८ ।।
सर्वविद्यावदातानां लोके प्रथितकर्मणाम् ।
य इदं मानवो लोके पुण्यार्थे ब्राह्मणाञ्छुचीन् ।। २९ ।।
श्रावयेत महापुण्यं तस्य धर्मः सनातनः ।
कुरूणां प्रथितं वंशं कीर्तयन् सततं शुचिः ।। ३० ।।

लोकमें जिनके महान् कर्म विख्यात हैं, जो सम्पूर्ण विद्याओंके ज्ञानद्वारा उद्भासित होते थे और जिनके धन एवं तेज महान् थे, ऐसे महामना पाण्डवों तथा अन्य क्षत्रियोंकी उज्ज्वल कीर्तिको लोकमें फैलानेवाले और पुण्यकर्मके इच्छुक श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासने इस पुण्यमय महाभारत ग्रन्थका निर्माण किया है। यह धन, यश, आयु, पुण्य तथा स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है। जो मानव इस लोकमें पुण्यके लिये पवित्र ब्राह्मणोंको इस परम

पुण्यमय ग्रन्थका श्रवण कराता है, उसे शाश्वत धर्मकी प्राप्ति होती है। जो सदा कौरवोंके इस विख्यात वंशका कीर्तन करता है, वह पवित्र हो जाता है ।। २७—३० ।।

वंशमाप्नोति विपुलं लोके पूज्यतमो भवेत् ।
योऽधीते भारतं पुण्यं ब्राह्मणो नियतव्रतः ।। ३१ ।।
चतुरो वार्षिकान् मासान् सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
विज्ञेयः स च वेदानां पारगो भारतं पठन् ।। ३२ ।।

इसके सिवा, उसे विपुल वंशकी प्राप्ति होती है और वह लोकमें अत्यन्त पूजनीय होता है। जो ब्राह्मण नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए वर्षाके चार महीनेतक निरन्तर इस पुण्यप्रद महाभारतका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो महाभारतका पाठ करता है, उसे सम्पूर्ण वेदोंका पारंगत विद्वान् जानना चाहिये ।। ३१-३२ ।।

देवा राजर्षयो ह्यत्र पुण्या ब्रह्मर्षयस्तथा ।
कीर्त्यन्ते धूतपाप्मानः कीर्त्यते केशवस्तथा ।। ३३ ।।

इसमें देवताओं, राजर्षियों तथा पुण्यात्मा ब्रह्मर्षियोंके, जिन्होंने अपने सब पाप धो दिये हैं, चरित्रका वर्णन किया गया है। इसके सिवा इस ग्रन्थमें भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका भी कीर्तन किया जाता है ।। ३३ ।।

भगवांश्चापि देवेशो यत्र देवी च कीर्त्यते ।
अनेकजननो यत्र कार्तिकेयस्य सम्भवः ।। ३४ ।।

देवेश्वर भगवान् शिव और देवी पार्वतीका भी इसमें वर्णन है तथा अनेक माताओंसे उत्पन्न होनेवाले कार्तिकेय-जीके जन्मका प्रसंग भी इसमें कहा गया है ।। ३४ ।।

ब्राह्मणानां गवां चैव माहात्म्यं यत्र कीर्त्यते ।
सर्वश्रुतिसमूहोऽयं श्रोतव्यो धर्मबुद्धिभिः ।। ३५ ।।

ब्राह्मणों तथा गौओंके माहात्म्यका निरूपण भी इस ग्रन्थमें किया गया है। इस प्रकार यह महाभारत सम्पूर्ण श्रुतियोंका समूह है। धर्मात्मा पुरुषोंको सदा इसका श्रवण करना चाहिये ।। ३५ ।।

य इदं श्रावयेद् विद्वान् ब्राह्मणानिह पर्वसु ।
धूतपाप्मा जितस्वर्गो ब्रह्म गच्छति शाश्वतम् ।। ३६ ।।

जो विद्वान् पर्वके दिन ब्राह्मणोंको इसका श्रवण कराता है, उसके सब पाप धुल जाते हैं और वह स्वर्ग-लोकको जीतकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है ।। ३६ ।।

(यस्तु राजा शृणोतीदमखिलामश्नुते महीम् ।
प्रसूते गर्भिणी पुत्रं कन्या चाशु प्रदीयते ।।
वणिजः सिद्धयात्राः स्युर्वीरा विजयमाप्नुयुः ।
आस्तिकाञ्छ्रावयेन्नित्यं ब्राह्मणाननसूयकान् ।।

वेदविद्याव्रतस्नातान् क्षत्रियाञ्जयमास्थितान् ।
स्वधर्मनित्यान् वैश्यांश्च श्रावयेत् क्षत्रसंश्रितान् ।।)

जो राजा इस महाभारतको सुनता है, वह सारी पृथ्वीके राज्यका उपभोग करता है। गर्भवती स्त्री इसका श्रवण करे तो वह पुत्रको जन्म देती है। कुमारी कन्या इसे सुने तो उसका शीघ्र विवाह हो जाता है। व्यापारी वैश्य यदि महाभारत श्रवण करें तो उनकी व्यापारके लिये की हुई यात्रा सफल होती है। शूरवीर सैनिक इसे सुननेसे युद्धमें विजय पाते हैं। जो आस्तिक और दोषदृष्टिसे रहित हों, उन ब्राह्मणोंको नित्य इसका श्रवण कराना चाहिये। वेद-विद्याका अध्ययन एवं ब्रह्मचर्यव्रत पूर्ण करके जो स्नातक हो चुके हैं, उन विजयी क्षत्रियोंको और क्षत्रियोंके अधीन रहनेवाले स्वधर्म-परायण वैश्योंको भी महाभारत श्रवण कराना चाहिये।

(एष धर्मः पुरा दृष्टः सर्वधर्मेषु भारत ।
ब्राह्मणाच्छ्रवणं राजन् विशेषेण विधीयते ।।
भूयो वा यः पठेन्नित्यं स गच्छेत् परमां गतिम् ।
श्लोकं वाप्यनु गृह्णीत तथार्धश्लोकमेव वा ।।
अपि पादं पठेन्नित्यं न च निर्भारतो भवेत् ।)

भारत! सब धर्मोंमें यह महाभारत-श्रवणरूप श्रेष्ठ धर्म पूर्वकालसे ही देखा गया है। राजन्! विशेषतः ब्राह्मणके मुखसे इसे सुननेका विधान है। जो बारम्बार अथवा प्रतिदिन इसका पाठ करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। प्रतिदिन चाहे एक श्लोक या आधे श्लोक अथवा श्लोकके एक चरणका ही पाठ कर ले, किंतु महाभारतके अध्ययनसे शून्य कभी नहीं रहना चाहिये।

(इह नैकाश्रयं जन्म राजर्षीणां महात्मनाम् ।।
इह मन्त्रपदं युक्तं धर्मं चानेकदर्शनम् ।
इह युद्धानि चित्राणि राज्ञां वृद्धिरिहैव च ।।
ऋषीणां च कथास्तात इह गन्धर्वरक्षसाम् ।
इह तत् तत् समासाद्य विहितो वाक्यविस्तरः ।।
तीर्थानां नाम पुण्यानां देशानां चेह कीर्तनम् ।
वनानां पर्वतानां च नदीनां सागरस्य च ।।)

इस महाभारतमें महात्मा राजर्षियोंके विभिन्न प्रकारके जन्म-वृत्तान्तोंका वर्णन है। इसमें मन्त्र-पदोंका प्रयोग है। अनेक दृष्टियों (मतों)-के अनुसार धर्मके स्वरूपका विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थमें विचित्र युद्धोंका वर्णन तथा राजाओंके अभ्युदयकी कथा है। तात! इस महाभारतमें ऋषियों तथा गन्धर्वों एवं राक्षसोंकी भी कथाएँ हैं। इसमें विभिन्न प्रसंगोंको लेकर विस्तारपूर्वक वाक्यरचना की गयी है। इसमें पुण्यतीर्थों, पवित्र देशों, वनों, पर्वतों, नदियों और समुद्रके भी माहात्म्यका प्रतिपादन किया गया है।

(देशानां चैव पुण्यानां पुराणां चैव कीर्तनम् ।
उपचारस्तथैवाग्र्यो वीर्यमप्यतिमानुषम् ।।
इह सत्कारयोगश्च भारते परमर्षिणा ।
रथाश्ववारणेन्द्राणां कल्पना युद्धकौशलम् ।।
वाक्यजातिरनेका च सर्वमस्मिन् समर्पितम् ।)

पुण्यप्रदेशों तथा नगरोंका भी वर्णन किया गया है। श्रेष्ठ उपचार और अलौकिक पराक्रमका भी वर्णन है। इस महाभारतमें महर्षि व्यासने सत्कार-योग (स्वागत-सत्कारके विविध प्रकार)-का निरूपण किया है तथा रथसेना, अश्वसेना और गजसेनाकी व्यूहरचना तथा युद्धकौशलका वर्णन किया है। इसमें अनेक शैलीकी वाक्ययोजना—कथोपकथनका समावेश हुआ है। सारांश यह कि इस ग्रन्थमें सभी विषयोंका वर्णन है।

श्रावयेद् ब्राह्मणाञ्छ्राद्धे यश्चेमं पादमन्ततः ।
अक्षय्यं तस्य तच्छ्राद्धमुपावर्तेत् पितृनिह ।। ३७ ।।

जो श्राद्ध करते समय अन्तमें ब्राह्मणोंको महाभारतके श्लोकका एक चतुर्थांश भी सुना देता है, उसका किया हुआ वह श्राद्ध अक्षय होकर पितरोंको अवश्य प्राप्त हो जाता है ।। ३७ ।।

अह्ना यदेनः क्रियते इन्द्रियैर्मनसापि वा ।
ज्ञानादज्ञानतो वापि प्रकरोति नरश्च यत् ।। ३८ ।।
तन्महाभारताख्यानं श्रुत्वैव प्रविलीयते ।
भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते ।। ३९ ।।

दिनमें इन्द्रियों अथवा मनके द्वारा जो पाप बन जाता है अथवा मनुष्य जानकर या अनजानमें जो पाप कर बैठता है, वह सब महाभारतकी कथा सुनते ही नष्ट हो जाता है। इसमें भरतवंशियोंके महान् जन्म-वृत्तान्तका वर्णन है, इसलिये इसको ‘महाभारत’ कहते हैं ।। ३८-३९ ।।

निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
भरतानां यतश्चायमितिहासो महाद्भुतः ।। ४० ।।
महतो ह्येनसो मर्त्यान् मोचयेदनुकीर्तितः ।
त्रिभिर्वर्षैर्लब्धकामः कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।। ४१ ।।
नित्योत्थितः शुचिः शक्तो महाभारतमादितः ।
तपो नियममास्थाय कृतमेतन्महर्षिणा ।। ४२ ।।
तस्मान्नियमसंयुक्तैः श्रोतव्यं ब्राह्मणैरिदम् ।
कृष्णप्रोक्तामिमां पुण्यां भारतीमुत्तमां कथाम् ।। ४३ ।।
श्रावयिष्यन्ति ये विप्रा ये च श्रोष्यन्ति मानवाः ।
सर्वथा वर्तमाना वै न ते शोच्याः कृताकृतैः ।। ४४ ।।

जो महाभारत नामका यह निरुक्त (व्युत्पत्तियुक्त अर्थ) जानता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। यह भरतवंशी क्षत्रियोंका महान् और अद्‌भुत इतिहास है। अतः निरन्तर पाठ करनेपर मनुष्योंको बड़े-से-बड़े पापसे छुड़ा देता है। शक्तिशाली आप्तकाम मुनिवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर स्नान-संध्या आदिसे शुद्ध हो आदिसे ही महाभारतकी रचना करते थे। महर्षिने तपस्या और नियमका आश्रय लेकर तीन वर्षोंमें इस ग्रन्थको पूरा किया है। इसलिये ब्राह्मणोंको भी नियममें स्थित होकर ही इस कथाका श्रवण करना चाहिये। जो ब्राह्मण श्रीव्यासजीकी कही हुई इस पुण्यदायिनी उत्तम भारती कथाका श्रवण करायेंगे और जो मनुष्य इसे सुनेंगे, वे सब प्रकारकी चेष्टा करते हुए भी इस बातके लिये शोक करने योग्य नहीं हैं कि उन्होंने अमुक कर्म क्यों किया और अमुक कर्म क्यों नहीं किया ।। ४०—४४ ।।

नरेण धर्मकामेन सर्वः श्रोतव्य इत्यपि ।

निखिलेनेतिहासोऽयं ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ।। ४५ ।।

धर्मकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यके द्वारा यह सारा महाभारत इतिहास पूर्णरूपसे श्रवण करनेयोग्य है। ऐसा करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर लेता है ।। ४५ ।।

न तां स्वर्गगतिं प्राप्य तुष्टिं प्राप्नोति मानवः ।

यां श्रुत्वैव महापुण्यमितिहासमुपाश्नुते ।। ४६ ।।

इस महान् पुण्यदायक इतिहासको सुननेमात्रसे ही मनुष्यको जो संतोष प्राप्त होता है, वह स्वर्गलोक प्राप्त कर लेनेसे भी नहीं मिलता ।। ४६ ।।

शृण्वञ्छ्राद्धः पुण्यशीलः श्रावयंश्चेदमद्भुतम् ।

नरः फलमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ।। ४७ ।।

जो पुण्यात्मा मनुष्य श्रद्धापूर्वक इस अद्‌भुत इतिहासको सुनता और सुनाता है, वह राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ।। ४७ ।।

यथा समुद्रो भगवान् यथा मेरुर्महागिरिः ।

उभौ ख्यातौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ।। ४८ ।।

जैसे ऐश्वर्यपूर्ण समुद्र और महान् पर्वत मेरु दोनों रत्नोंकी खान कहे गये हैं, वैसे ही महाभारत रत्नस्वरूप कथाओं और उपदेशोंका भण्डार कहा जाता है ।। ४८ ।।

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।

श्रव्यं श्रुतिसुखं चैव पावनं शीलवर्धनम् ।। ४९ ।।

यह महाभारत वेदोंके समान पवित्र और उत्तम है। यह सुननेयोग्य तो है ही, सुनते समय कानोंको सुख देनेवाला भी है। इसके श्रवणसे अन्तःकरण पवित्र होता और उत्तम शील-स्वभावकी वृद्धि होती है ।। ४९ ।।

य इदं भारतं राजन् वाचकाय प्रयच्छति ।

तेन सर्वा मही दत्ता भवेत् सागरमेखला ।। ५० ।।

राजन्! जो वाचकको यह महाभारत दान करता है, उसके द्वारा समुद्रसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीका दान सम्पन्न हो जाता है ।। ५० ।।

पारिक्षितकथां दिव्यां पुण्याय विजयाय च ।
कथ्यमानां मया कृत्स्नां शृणु हर्षकरीमिमाम् ।। ५१ ।।

जनमेजय! मेरे द्वारा कही हुई इस आनन्ददायिनी दिव्य कथाको तुम पुण्य और विजयकी प्राप्तिके लिये पूर्णरूपसे सुनो ।। ५१ ।।

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमद्भुतम् ।। ५२ ।।

प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर इस ग्रन्थका निर्माण करनेवाले महामुनि श्रीकृष्णद्वैपायनने महाभारत नामक इस अद्‌भुत इतिहासको तीन वर्षोंमें पूर्ण किया है ।। ५२ ।।

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।। ५३ ।।

भरतश्रेष्ठ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सम्बन्धमें जो बात इस ग्रन्थमें है, वही अन्यत्र भी है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है ।। ५३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि महाभारतप्रशंसायां द्विषष्टितमोऽध्यायः ।। ६२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें महाभारतप्रशंसाविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ११½ श्लोक मिलाकर कुल ६४½ श्लोक हैं)

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

राजा उपरिचरका चरित्र तथा सत्यवती, व्यासादि प्रमुख पात्रोंकी संक्षिप्त जन्मकथा

वैशम्पायन उवाच

राजोपरिचरो नाम धर्मनित्यो महीपतिः ।
बभूव मृगयां गन्तुं सदा किल धृतव्रतः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पहले उपरिचर नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जो नित्य-निरन्तर धर्ममें ही लगे रहते थे। साथ ही सदा हिंसक पशुओंके शिकारके लिये वनमें जानेका उनका नियम था ।। १ ।।

स चेदिविषयं रम्यं वसुः पौरवनन्दनः ।
इन्द्रोपदेशाज्जग्राह रमणीयं महीपतिः ।। २ ।।

पौरवनन्दन राजा उपरिचर वसुने इन्द्रके कहनेसे अत्यन्त रमणीय चेदिदेशका राज्य स्वीकार किया था ।। २ ।।

तमाश्रमे न्यस्तशस्त्रं निवसन्तं तपोनिधिम् ।
देवाः शक्रपुरोगा वै राजानमुपतस्थिरे ।। ३ ।।
इन्द्रत्वमर्हो राजायं तपसेत्यनुचिन्त्य वै ।
तं सान्त्वेन नृपं साक्षात् तपसः संन्यवर्तयन् ।। ४ ।।

एक समयकी बात है, राजा वसु अस्त्र-शस्त्रोंका त्याग करके आश्रममें निवास करने लगे। उन्होंने बड़ा भारी तप किया, जिससे वे तपोनिधि माने जाने लगे। उस समय इन्द्र आदि देवता यह सोचकर कि यह राजा तपस्याके द्वारा इन्द्रपद प्राप्त करना चाहता है, उनके समीप गये। देवताओंने राजाको प्रत्यक्ष दर्शन देकर उन्हें शान्तिपूर्वक समझाया और तपस्यासे निवृत्त कर दिया ।। ३-४ ।।

देवा ऊचुः

न संकीर्येत धर्मोऽयं पृथिव्यां पृथिवीपते ।
त्वया हि धर्मो विधृतः कृत्स्नं धारयते जगत् ।। ५ ।।

देवता बोले—पृथ्वीपते! तुम्हें ऐसी चेष्टा रखनी चाहिये जिससे इस भूमिपर वर्णसंकरता न फैलने पावे (तुम्हारे न रहनेसे अराजकता फैलनेका भय है, जिससे प्रजा स्वधर्ममें स्थित नहीं रह सकेगी। अतः तुम्हें तपस्या न करके इस वसुधाका संरक्षण करना चाहिये)। राजन्! तुम्हारे द्वारा सुरक्षित धर्म ही सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रहा है ।। ५ ।।

इन्द्र उवाच

लोके धर्मं पालय त्वं नित्ययुक्तः समाहितः ।
धर्मयुक्तस्ततो लोकान् पुण्यान् प्राप्स्यसि शाश्वतान् ।। ६ ।।

इन्द्रने कहा—राजन्! तुम इस लोकमें सदा सावधान और प्रयत्नशील रहकर धर्मका पालन करो। धर्मयुक्त रहनेपर तुम सनातन पुण्यलोकोंको प्राप्त कर सकोगे ।। ६ ।।

दिविष्ठस्य भुविष्ठस्त्वं सखाभूतो मम प्रियः ।
रम्यः पृथिव्यां यो देशस्तमावस नराधिप ।। ७ ।।

यद्यपि मैं स्वर्गमें रहता हूँ और तुम भूमिपर; तथापि आजसे तुम मेरे प्रिय सखा हो गये। नरेश्वर! इस पृथ्वीपर जो सबसे सुन्दर एवं रमणीय देश हो, उसीमें तुम निवास करो ।। ७ ।।

पशव्यश्चैव पुण्यश्च प्रभूतधनधान्यवान् ।
स्वारक्ष्यश्चैव सौम्यश्च भोग्यैर्भूमिगुणैर्युतः ।। ८ ।।
अर्थवानेष देशो हि धनरत्नादिभिर्युतः ।
वसुपूर्णा च वसुधा वस चेदिषु चेदिप ।। ९ ।।
धर्मशीला जनपदाः सुसंतोषाश्च साधवः ।
न च मिथ्याप्रलापोऽत्र स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।। १० ।।
न च पित्रा विभज्यन्ते पुत्रा गुरुहिते रताः ।
युञ्जते धुरि नो गाश्च कृशान् संधुक्षयन्ति च ।। ११ ।।
सर्वे वर्णाः स्वधर्मस्थाः सदा चेदिषु मानद ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित् त्रिषु लोकेषु यद् भवेत् ।। १२ ।।

इस समय चेदिदेश पशुओंके लिये हितकर, पुण्यजनक, प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न, स्वर्गके समान सुखद होनेके कारण रक्षणीय, सौम्य तथा भोग्य पदार्थों और भूमिसम्बन्धी उत्तम गुणोंसे युक्त है। यह देश अनेक पदार्थोंसे युक्त और धन-रत्न आदिसे सम्पन्न है। यहाँकी वसुधा वास्तवमें वसु (धन-सम्पत्ति)-से भरी-पूरी है। अतः तुम चेदिदेशके पालक होकर उसीमें निवास करो। यहाँके जनपद धर्मशील, संतोषी और साधु हैं। यहाँ हास-परिहासमें भी कोई झूठ नहीं बोलता, फिर अन्य अवसरोंपर तो बोल ही कैसे सकता है। पुत्र सदा गुरुजनोंके हितमें लगे रहते हैं, पिता अपने जीते-जी उनका बँटवारा नहीं करते। यहाँके लोग बैलोंको भार ढोनेमें नहीं लगाते और दीनों एवं अनाथोंका पोषण करते हैं। मानद! चेदिदेशमें सब वर्णोंके लोग सदा अपने-अपने धर्ममें स्थित रहते हैं। तीनों लोकोंमें जो कोई घटना होगी, वह सब यहाँ रहते हुए भी तुमसे छिपी न रहेगी—तुम सर्वज्ञ बने रहोगे ।। ८—१२ ।।

देवोपभोग्यं दिव्यं त्वामाकाशे स्फाटिकं महत् ।
आकाशगं त्वां मद्दत्तं विमानमुपपत्स्यते ।। १३ ।।

जो देवताओंके उपभोगमें आने योग्य है, ऐसा स्फटिक मणिका बना हुआ एक दिव्य, आकाशचारी एवं विशाल विमान मैंने तुम्हें भेंट किया है। वह आकाशमें तुम्हारी सेवाके लिये

सदा उपस्थित रहेगा ।। १३ ।।

त्वमेकः सर्वमर्त्येषु विमानवरमास्थितः ।
चरिष्यस्युपरिस्थो हि देवो विग्रहवानिव ।। १४ ।।

सम्पूर्ण मनुष्योंमें एक तुम्हीं इस श्रेष्ठ विमानपर बैठकर मूर्तिमान् देवताकी भाँति सबके ऊपर-ऊपर विचरोगे ।। १४ ।।

ददामि ते वैजयन्तीं मालामम्लानपंकजाम् ।
धारयिष्यति संग्रामे या त्वां शस्त्रैरविक्षतम् ।। १५ ।।

मैं तुम्हें यह वैजयन्ती माला देता हूँ, जिसमें पिरोये हुए कमल कभी कुम्हलाते नहीं हैं। इसे धारण कर लेनेपर यह माला संग्राममें तुम्हें अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे बचायेगी ।। १५ ।।

लक्षणं चैतदेवेह भविता ते नराधिप ।
इन्द्रमालेति विख्यातं धन्यमप्रतिमं महत् ।। १६ ।।

नरेश्वर! यह माला ही इन्द्रमालाके नामसे विख्यात होकर इस जगत्में तुम्हारी पहचान करानेके लिये परम धन्य एवं अनुपम चिह्न होगी ।। १६ ।।

यष्टिं च वैणवीं तस्मै ददौ वृत्रनिषूदनः ।
इष्टप्रदानमुद्दिश्य शिष्टानां प्रतिपालिनीम् ।। १७ ।।

ऐसा कहकर वृत्रासुरका नाश करनेवाले इन्द्रने राजाको प्रेमोपहारस्वरूप बाँसकी एक छड़ी दी, जो शिष्ट पुरुषोंकी रक्षा करनेवाली थी ।। १७ ।।

तस्याः शक्रस्य पूजार्थं भूमौ भूमिपतिस्तदा ।
प्रवेशं कारयामास गते संवत्सरे तदा ।। १८ ।।

तदनन्तर एक वर्ष बीतनेपर भूपाल वसुने इन्द्रकी पूजाके लिये उस छड़ीको भूमिमें गाड़ दिया ।। १८ ।।

ततः प्रभृति चाद्यापि यष्टेः क्षितिपसत्तमैः ।
प्रवेशः क्रियते राजन् यथा तेन प्रवर्तितः ।। १९ ।।

राजन्! तबसे लेकर आजतक श्रेष्ठ राजाओंद्वारा छड़ी धरतीमें गाड़ी जाती है। वसुने जो प्रथा चला दी, वह अबतक चली आती है ।। १९ ।।

अपरेद्युस्ततस्तस्याः क्रियतेऽत्युच्छ्रयो नृपैः ।
अलंकृतायाः पिटकैर्गन्धमाल्यैश्च भूषणैः ।। २० ।।
माल्यदामपरिक्षिप्ता विधिवत् क्रियतेऽपि च ।
भगवान् पूज्यते चात्र हंसरूपेण चेश्वरः ।। २१ ।।

दूसरे दिन अर्थात् नवीन संवत्सरके प्रथम दिन प्रति-पदाको वह छड़ी वहाँसे निकालकर बहुत ऊँचे स्थानमें रखी जाती है; फिर कपड़ेकी पेटी, चन्दन, माला और आभूषणोंसे उसको सजाया जाता है। उसमें विधिपूर्वक फूलोंके हार और सूत लपेटे जाते

हैं। तत्पश्चात् उसी छड़ीपर देवेश्वर भगवान् इन्द्रका हंसरूपसे पूजन किया जाता है ।। २०-२१ ।।

स्वयमेव गृहीतेन वसोः प्रीत्या महात्मनः ।
स तां पूजां महेन्द्रस्तु दृष्ट्वा देवः कृतां शुभाम् ।। २२ ।।
वसुना राजमुख्येन प्रीतिमानब्रवीत् प्रभुः ।
ये पूजयिष्यन्ति नरा राजानश्च महं मम ।। २३ ।।
कारयिष्यन्ति च मुदा यथा चेदिपतिर्नृपः ।
तेषां श्रीर्विजयश्चैव सराष्ट्राणां भविष्यति ।। २४ ।।

इन्द्रने महात्मा वसुके प्रेमवश स्वयं हंसका रूप धारण करके वह पूजा ग्रहण की। नृपश्रेष्ठ वसुके द्वारा की हुई उस शुभ पूजाको देखकर प्रभावशाली भगवान् महेन्द्र प्रसन्न हो गये और इस प्रकार बोले—'चेदिदेशके अधिपति उपरिचर वसु जिस प्रकार मेरी पूजा करते हैं, उसी तरह जो मनुष्य तथा राजा मेरी पूजा करेंगे और मेरे इस उत्सवको रचायेंगे, उनको और उनके समूचे राष्ट्रको लक्ष्मी एवं विजयकी प्राप्ति होगी ।। २२—२४ ।।

तथा स्फीतो जनपदो मुदितश्च भविष्यति ।
एवं महात्मना तेन महेन्द्रेण नराधिप ।। २५ ।।
वसुः प्रीत्या मघवता महाराजोऽभिसत्कृतः ।
उत्सवं कारयिष्यन्ति सदा शक्रस्य ये नराः ।। २६ ।।
भूमिरत्नादिभिर्दानैस्तथा पूज्या भवन्ति ते ।
वरदानमहायज्ञैस्तथा शक्रोत्सवेन च ।। २७ ।।

'इतना ही नहीं, उनका सारा जनपद ही उत्तरोत्तर उन्नतिशील और प्रसन्न होगा।' राजन्! इस प्रकार महात्मा महेन्द्रने, जिन्हें मघवा भी कहते हैं, प्रेमपूर्वक महाराज वसुका भलीभाँति सत्कार किया। जो मनुष्य भूमि तथा रत्न आदिका दान करते हुए सदा देवराज इन्द्रका उत्सव रचायेंगे, वे इन्द्रोत्सवद्वारा इन्द्रका वरदान पाकर उसी उत्तम गतिको पा जायँगे, जिसे भूमिदान आदिके पुण्योंसे युक्त मानव प्राप्त करते हैं ।। २५—२७ ।।

सम्पूजितो मघवता वसुश्चेदीश्वरो नृपः ।
पालयामास धर्मेण चेदिस्थः पृथिवीमिमाम् ।। २८ ।।

इन्द्रके द्वारा उपर्युक्त रूपसे सम्मानित चेदिराज वसुने चेदिदेशमें ही रहकर इस पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन किया ।। २८ ।।

इन्द्रप्रीत्या चेदिपतिश्चकारेन्द्रमहं वसुः ।
पुत्राश्चास्य महावीर्याः पञ्चासन्नमितौजसः ।। २९ ।।

इन्द्रकी प्रसन्नताके लिये चेदिराज वसु प्रतिवर्ष इन्द्रोत्सव मनाया करते थे। उनके अनन्त बलशाली महापराक्रमी पाँच पुत्र थे ।। २९ ।।

नानाराज्येषु च सुतान् स सम्राडभ्यषेचयत् ।

महारथो मागधानां विश्रुतो यो बृहद्रथः ।। ३० ।।

सम्राट् वसुने विभिन्न राज्योंपर अपने पुत्रोंको अभिषिक्त कर दिया। उनमें महारथी बृहद्रथ मगध देशका विख्यात राजा हुआ ।। ३० ।।

प्रत्यग्रहः कुशाम्बश्च यमाहुर्मणिवाहनम् ।
मावेल्लश्च यदुश्चैव राजन्यश्चापराजितः ।। ३१ ।।

दूसरे पुत्रका नाम प्रत्यग्रह था, तीसरा कुशाम्ब था, जिसे मणिवाहन भी कहते हैं। चौथा मावेल्ल था। पाँचवाँ राजकुमार यदु था, जो युद्धमें किसीसे पराजित नहीं होता था ।। ३१ ।।

एते तस्य सुता राजन् राजर्षेर्भूरितेजसः ।
न्यवासयन् नामभिः स्वैस्ते देशांश्च पुराणि च ।। ३२ ।।

राजा जनमेजय! महातेजस्वी राजर्षि वसुके इन पुत्रोंने अपने-अपने नामसे देश और नगर बसाये ।। ३२ ।।

वासवाः पञ्च राजानः पृथग्वंशाश्च शाश्वताः ।
वसन्तमिन्द्रप्रासादे आकाशे स्फाटिके च तम् ।। ३३ ।।
उपतस्थुर्महात्मानं गन्धर्वाप्सरसो नृपम् ।
राजोपरिचरेत्येवं नाम तस्याथ विश्रुतम् ।। ३४ ।।

पाँचों वसुपुत्र भिन्न-भिन्न देशोंके राजा थे और उन्होंने पृथक्-पृथक् अपनी सनातन वंशपरम्परा चलायी। चेदिराज वसु इन्द्रके दिये हुए स्फटिक मणिमय विमानमें रहते हुए आकाशमें ही निवास करते थे। उस समय उन महात्मा नरेशकी सेवामें गन्धर्व और अप्सराएँ उपस्थित होती थीं। सदा ऊपर-ही-ऊपर चलनेके कारण उनका नाम 'राजा उपरिचर' के रूपमें विख्यात हो गया ।। ३३-३४ ।।

पुरोपवाहिनीं तस्य नदीं शुक्तिमतीं गिरिः ।
अरौत्सीच्चेतनायुक्तः कामात् कोलाहलः किल ।। ३५ ।।

उनकी राजधानीके समीप शुक्तिमती नदी बहती थी। एक समय कोलाहल नामक सचेतन पर्वतने कामवश उस दिव्यरूपधारिणी नदीको रोक लिया ।। ३५ ।।

गिरिं कोलाहलं तं तु पदा वसुरताडयत् ।
निश्चक्राम ततस्तेन प्रहारविवरेण सा ।। ३६ ।।

उसके रोकनेसे नदीकी धारा रुक गयी। यह देख उपरिचर वसुने कोलाहल पर्वतपर अपने पैरसे प्रहार किया। प्रहार करते ही पर्वतमें दरार पड़ गयी, जिससे निकलकर वह नदी पहलेके समान बहने लगी ।। ३६ ।।

तस्यां नद्यामजनयन्मिथुनं पर्वतः स्वयम् ।
तस्माद् विमोक्षणात् प्रीता नदी राज्ञे न्यवेदयत् ।। ३७ ।।

पर्वतने उस नदीके गर्भसे एक पुत्र और एक कन्या, जुड़वीं संतान उत्पन्न की थी। उसके अवरोधसे मुक्त करनेके कारण प्रसन्न हुई नदीने राजा उपरिचरको अपनी दोनों संतानें समर्पित कर दीं ।। ३७ ।।

यः पुमानभवत् तत्र तं स राजर्षिसत्तमः ।
वसुर्वसुप्रदश्चक्रे सेनापतिमरिन्दमः ।। ३८ ।।

उनमें जो पुरुष था, उसे शत्रुओंका दमन करनेवाले धनदाता राजर्षिप्रवर वसुने अपना सेनापति बना लिया ।। ३८ ।।

चकार पत्नीं कन्यां तु तथा तां गिरिकां नृपः ।
वसोः पत्नी तु गिरिका कामकालं न्यवेदयत् ।। ३९ ।।
ऋतुकालमनुप्राप्ता स्नाता पुंसवने शुचिः ।
तदहः पितरश्चैनमूचुर्जहि मृगानिति ।। ४० ।।
तं राजसत्तमं प्रीतास्तदा मतिमतां वर ।
स पितॄणां नियोगं तमनतिक्रम्य पार्थिवः ।। ४१ ।।
चकार मृगयां कामी गिरिकामेव संस्मरन् ।
अतीवरूपसम्पन्नां साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ।। ४२ ।।

और जो कन्या थी उसे राजाने अपनी पत्नी बना लिया। उसका नाम था गिरिका। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ जनमेजय! एक दिन ऋतुकालको प्राप्त हो स्नानके पश्चात् शुद्ध हुई वसुपत्नी गिरिकाने पुत्र उत्पन्न होने योग्य समयमें राजासे समागमकी इच्छा प्रकट की। उसी दिन पितरोंने राजाओंमें श्रेष्ठ वसुपर प्रसन्न हो उन्हें आज्ञा दी—‘तुम हिंसक पशुओंका वध करो।’ तब राजा पितरोंकी आज्ञाका उल्लंघन न करके कामनावश साक्षात् दूसरी लक्ष्मीके समान अत्यन्त रूप और सौन्दर्यके वैभवसे सम्पन्न गिरिकाका ही चिन्तन करते हुए हिंसक पशुओंको मारनेके लिये वनमें गये ।। ३९—४२ ।।

अशोकैश्चम्पकैश्चूतैरनेकैरतिमुक्तकैः ।
पुन्नागैः कर्णिकारैश्च वकुलैर्दिव्यपाटलैः ।। ४३ ।।
पाटलैर्नारिकेलैश्च चन्दनैश्चार्जुनैस्तथा ।
एतै रम्यैर्महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्युतम् ।। ४४ ।।
कोकिलाकुलसंनादं मत्तभ्रमरनादितम् ।
वसन्तकाले तत् तस्य वनं चैत्ररथोपमम् ।। ४५ ।।

राजाका वह वन देवताओंके चैत्ररथ नामक वनके समान शोभा पा रहा था। वसन्तका समय था; अशोक, चम्पा, आम, अतिमुक्तक (माधवीलता), पुन्नाग (नागकेसर), कनेर, मौलसिरी, दिव्य पाटल, पाटल, नारियल, चन्दन तथा अर्जुन—से स्वादिष्ट फलोंसे युक्त, रमणीय तथा पवित्र महावृक्ष उस वनकी शोभा बढ़ा रहे थे। कोकिलाओंके कल-कूजनसे समस्त वन गूँज उठा था। चारों ओर मतवाले भौंरे कल-कल नाद कर रहे थे ।। ४३—४५ ।।

मन्मथाभिपरीतात्मा नापश्यद् गिरिकां तदा ।
अपश्यन् कामसंतप्तश्चरमाणो यदृच्छया ।। ४६ ।।

यह उद्दीपन-सामग्री पाकर राजाका हृदय कामवेदनासे पीड़ित हो उठा। उस समय उन्हें अपनी रानी गिरिकाका दर्शन नहीं हुआ। उसे न देखकर कामाग्निसे संतप्त हो वे इच्छानुसार इधर-उधर घूमने लगे ।। ४६ ।।

पुष्पसंछन्नशाखाग्रं पल्लवैरुपशोभितम् ।
अशोकं स्तबकैश्छन्नं रमणीयमपश्यत ।। ४७ ।।

घूमते-घूमते उन्होंने एक रमणीय अशोकका वृक्ष देखा, जो पल्लवोंसे सुशोभित और पुष्पके गुच्छोंसे आच्छादित था। उसकी शाखाओंके अग्रभाग फूलोंसे ढके हुए थे ।। ४७ ।।

अधस्तात् तस्य छायायां सुखासीनो नराधिपः ।
मधुगन्धैश्च संयुक्तं पुष्पगन्धमनोहरम् ।। ४८ ।।

राजा उसी वृक्षके नीचे उसकी छायामें सुखपूर्वक बैठ गये। वह वृक्ष मकरन्द और सुगन्धसे भरा था। फूलोंकी गन्धसे वह बरबस मनको मोह लेता था ।। ४८ ।।

वायुना प्रेर्यमाणस्तु धूम्राय मुदमन्वगात् ।
तस्य रेतः प्रचस्कन्द चरतो गहने वने ।। ४९ ।।

उस समय कामोद्दीपक वायुसे प्रेरित हो राजाके मनमें रतिके लिये स्त्रीविषयक प्रीति उत्पन्न हुई। इस प्रकार वनमें विचरनेवाले राजा उपरिचरका वीर्य स्खलित हो गया ।। ४९ ।।

स्कन्नमात्रं च तद् रेतो वृक्षपत्रेण भूमिपः ।
प्रतिजग्राह मिथ्या मे न पतेद् रेत इत्युत ।। ५० ।।

उसके स्खलित होते ही राजाने यह सोचकर कि मेरा वीर्य व्यर्थ न जाय, उसे वृक्षके पत्तेपर उठा लिया ।। ५० ।।

इदं मिथ्या परिस्कन्नं रेतो मे न भवेदिति ।
ऋतुश्च तस्याः पत्न्या मे न मोघः स्यादिति प्रभुः ।। ५१ ।।
संचिन्त्यैवं तदा राजा विचार्य च पुनः पुनः ।
अमोघत्वं च विज्ञाय रेतसो राजसत्तमः ।। ५२ ।।

उन्होंने विचार किया, ‘मेरा यह स्खलित वीर्य व्यर्थ न हो, साथ ही मेरी पत्नी गिरिकाका ऋतुकाल भी व्यर्थ न जाय’ इस प्रकार बारम्बार विचारकर राजाओंमें श्रेष्ठ वसुने उस वीर्यको अमोघ बनानेका ही निश्चय किया ।। ५१-५२ ।।

शुक्रप्रस्थापने कालं महिष्याः प्रसमीक्ष्य वै ।
अभिमन्त्र्याथ तच्छुक्रमारात् तिष्ठन्तमाशुगम् ।। ५३ ।।
सूक्ष्मधर्मार्थतत्त्वज्ञो गत्वा श्येनं ततोऽब्रवीत् ।
मत्प्रियार्थमिदं सौम्य शुक्रं मम गृहं नय ।। ५४ ।।
गिरिकायाः प्रयच्छाशु तस्या ह्यार्तवमद्य वै ।

गृहीत्वा तत् तदा श्येनस्तूर्णमुत्पत्य वेगवान् ।। ५५ ।।

तदनन्तर रानीके पास अपना वीर्य भेजनेका उपयुक्त अवसर देख उन्होंने उस वीर्यको पुत्रोत्पत्तिकारक मन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित किया। राजा वसु धर्म और अर्थके सूक्ष्मतत्त्वको जाननेवाले थे। उन्होंने अपने विमानके समीप ही बैठे हुए शीघ्रगामी श्येन पक्षी (बाज)-के पास जाकर कहा—'सौम्य! तुम मेरा प्रिय करनेके लिये यह वीर्य मेरे घर ले जाओ और महारानी गिरिकाको शीघ्र दे दो; क्योंकि आज ही उनका ऋतुकाल है।' बाज वह वीर्य लेकर बड़े वेगके साथ तुरंत वहाँसे उड़ गया ।। ५३—५५ ।।

जवं परममास्थाय प्रदुद्राव विहंगमः ।
तमपश्यदथायान्तं श्येनं श्येनस्तथापरः ।। ५६ ।।

वह आकाशचारी पक्षी सर्वोत्तम वेगका आश्रय ले उड़ा जा रहा था, इतनेहीमें एक दूसरे बाजने उसे आते देखा ।। ५६ ।।

अभ्यद्रवच्च तं सद्यो दृष्ट्वैवामिषशङ्कया ।
तुण्डयुद्धमथाकाशे तावुभौ सम्प्रचक्रतुः ।। ५७ ।।

उस बाजको देखते ही उसके पास मांस होनेकी आशंकासे दूसरा बाज तत्काल उसपर टूट पड़ा। फिर वे दोनों पक्षी आकाशमें एक-दूसरेको चोंचोंसे मारते हुए युद्ध करने लगे ।। ५७ ।।

युध्यतोरपतद् रेतस्तच्चापि यमुनाम्भसि ।
तत्राद्रिकेति विख्याता ब्रह्मशापाद् वराप्सराः ।। ५८ ।।
मीनभावमनुप्राप्ता बभूव यमुनाचरी ।
श्येनपादपरिभ्रष्टं तद् वीर्यमथ वासवम् ।। ५९ ।।
जग्राह तरसोपेत्य साद्रिका मत्स्यरूपिणी ।
कदाचिदपि मत्सीं तां बबन्धुर्मत्स्यजीविनः ।। ६० ।।
मासे च दशमे प्राप्ते तदा भरतसत्तम ।
उज्जह्रुरुदरात् तस्याः स्त्रीं पुमांसं च मानुषम् ।। ६१ ।।

उन दोनोंके युद्ध करते समय वह वीर्य यमुनाजीके जलमें गिर पड़ा। अद्रिका नामसे विख्यात एक सुन्दरी अप्सरा ब्रह्माजीके शापसे मछली होकर वहीं यमुनाजीके जलमें रहती थी। बाजके पंजेसे छूटकर गिरे हुए वसुसम्बन्धी उस वीर्यको मत्स्यरूपधारिणी अद्रिकाने वेगपूर्वक आकर निगल लिया। भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् दसवाँ मास आनेपर मत्स्यजीवी मल्लाहोंने उस मछलीको जालमें बाँध लिया और उसके उदरको चीरकर एक कन्या और एक पुरुष निकाला ।। ५८—६१ ।।

आश्चर्यभूतं तद् गत्वा राज्ञेऽथ प्रत्यवेदयन् ।
काये मत्स्या इमौ राजन् सम्भूतौ मानुषाविति ।। ६२ ।।

यह आश्चर्यजनक घटना देखकर मछेरोंने राजाके पास जाकर निवेदन किया—‘महाराज! मछलीके पेटसे ये दो मनुष्य बालक उत्पन्न हुए हैं’ ।। ६२ ।।

तयोः पुमांसं जग्राह राजोपरिचरस्तदा ।
स मत्स्यो नाम राजासीद् धार्मिकः सत्यसंगरः ।। ६३ ।।

मछेरोंकी बात सुनकर राजा उपरिचरने उस समय उन दोनों बालकोंमेंसे जो पुरुष था, उसे स्वयं ग्रहण कर लिया। वही मत्स्य नामक धर्मात्मा एवं सत्यप्रतिज्ञ राजा हुआ ।। ६३ ।।

साप्सरा मुक्तशापा च क्षणेन समपद्यत ।
या पुरोक्ता भगवता तिर्यग्योनिगता शुभा ।। ६४ ।।
मानुषौ जनयित्वा त्वं शापमोक्षमवाप्स्यसि ।
ततः सा जनयित्वा तौ विशस्ता मत्स्यघातिना ।। ६५ ।।
संत्यज्य मत्स्यरूपं सा दिव्यं रूपमवाप्य च ।
सिद्धर्षिचारणपथं जगामाथ वराप्सराः ।। ६६ ।।

इधर वह शुभलक्षणा अप्सरा अद्रिका क्षणभरमें शापमुक्त हो गयी। भगवान् ब्रह्माजीने पहले ही उससे कह दिया था कि ‘तिर्यग्-योनिमें पड़ी हुई तुम दो मानव-संतानोंको जन्म देकर शापसे छूट जाओगी।’ अतः मछली मारनेवाले मल्लाहने जब उसे काटा तो वह मानव-बालकोंको जन्म देकर मछलीका रूप छोड़ दिव्य रूपको प्राप्त हो गयी। इस प्रकार वह सुन्दरी अप्सरा सिद्ध महर्षि और चारणोंके पथसे स्वर्गलोकमें चली गयी ।। ६४—६६ ।।

सा कन्या दुहिता तस्या मत्स्या मत्स्यसगन्धिनी ।
राज्ञा दत्ता च दाशाय कन्येयं ते भवत्विति ।। ६७ ।।

उन जुड़वी संतानोंमें जो कन्या थी, मछलीकी पुत्री होनेसे उसके शरीरसे मछलीकी गन्ध आती थी। अतः राजाने उसे मल्लाहको सौंप दिया और कहा—‘यह तेरी पुत्री होकर रहे’ ।। ६७ ।।

रूपसत्त्वसमायुक्ता सर्वैः समुदिता गुणैः ।
सा तु सत्यवती नाम मत्स्यघात्यभिसंश्रयात् ।। ६८ ।।
आसीत् सा मत्स्यगन्धैव कंचित् कालं शुचिस्मिता ।
शुश्रूषार्थं पितुर्नावं वाहयन्तीं जले च ताम् ।। ६९ ।।
तीर्थयात्रां परिक्रामन्नपश्यद् वै पराशरः ।
अतीवरूपसम्पन्नां सिद्धानामपि काङ्क्षिताम् ।। ७० ।।

वह रूप और सत्त्व (सत्य)-से संयुक्त तथा समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न होनेके कारण ‘सत्यवती’ नामसे प्रसिद्ध हुई। मछेरोंके आश्रयमें रहनेके कारण वह पवित्र मुसकानवाली कन्या कुछ कालतक मत्स्यगन्धा नामसे ही विख्यात रही। वह पिताकी सेवाके लिये यमुनाजीके जलमें नाव चलाया करती थी। एक दिन तीर्थयात्राके उद्देश्यसे सब ओर

विचरनेवाले महर्षि पराशरने उसे देखा। वह अतिशय रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित थी। सिद्धोंके हृदयमें भी उसे पानेकी अभिलाषा जाग उठती थी ।। ६८—७० ।।

दृष्ट्वैव स च तां धीमांश्चकमे चारुहासिनीम् ।
दिव्यां तां वासवीं कन्यां रम्भोरुं मुनिपुङ्गवः ।। ७१ ।।

उसकी हँसी बड़ी मोहक थी, उसकी जाँघें कदलीकी-सी शोभा धारण करती थीं। उस दिव्य वसुकुमारीको देखकर परम बुद्धिमान् मुनिवर पराशरने उसके साथ समागमकी इच्छा प्रकट की ।। ७१ ।।

संगमं मम कल्याणि कुरुष्वेत्यभ्यभाषत ।
साब्रवीत् पश्य भगवन् पारावारे स्थितानृषीन् ।। ७२ ।।

और कहा—‘कल्याणी! मेरे साथ संगम करो।’ वह बोली—‘भगवन्! देखिये, नदीके आर-पार दोनों तटोंपर बहुत-से ऋषि खड़े हैं ।। ७२ ।।

आवयोर्दृष्टयोरेभिः कथं तु स्यात् समागमः ।
एवं तयोक्तो भगवान् नीहारमसृजत् प्रभुः ।। ७३ ।।

‘और हम दोनोंको देख रहे हैं। ऐसी दशामें हमारा समागम कैसे हो सकता है?’ उसके ऐसा कहनेपर शक्तिशाली भगवान् पराशरने कुहरेकी सृष्टि की ।। ७३ ।।

येन देशः स सर्वस्तु तमोभूत इवाभवत् ।
दृष्ट्वा सृष्टं तु नीहारं ततस्तं परमर्षिणा ।। ७४ ।।
विस्मिता साभवत् कन्या व्रीडिता च तपस्विनी ।

जिससे वहाँका सारा प्रदेश अन्धकारसे आच्छादित-सा हो गया। महर्षिद्वारा कुहरेकी सृष्टि देखकर वह तपस्विनी कन्या आश्चर्यचकित एवं लज्जित हो गयी ।। ७४ $\frac{१}{२}$ ।।

सत्यवत्युवाच

विद्धि मां भगवन् कन्यां सदा पितृवशानुगाम् ।। ७५ ।।

सत्यवतीने कहा—भगवन्! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं सदा अपने पिताके अधीन रहनेवाली कुमारी कन्या हूँ ।। ७५ ।।

त्वत्संयोगाच्च दुष्येत कन्याभावो ममानघ ।
कन्यात्वे दूषिते वापि कथं शक्ष्ये द्विजोत्तम ।। ७६ ।।
गृहं गन्तुमृषे चाहं धीमन् न स्थातुमुत्सहे ।
एतत् संचिन्त्य भगवन् विधत्स्व यदनन्तरम् ।। ७७ ।।

निष्पाप महर्षे! आपके संयोगसे मेरा कन्याभाव (कुमारीपन) दूषित हो जायगा। द्विजश्रेष्ठ! कन्याभाव दूषित हो जानेपर मैं कैसे अपने घर जा सकती हूँ। बुद्धिमान् मुनीश्वर! अपने कन्यापनके कलंकित हो जानेपर मैं जीवित रहना नहीं चाहती। भगवन्! इस बातपर भलीभाँति विचार करके जो उचित जान पड़े, वह कीजिये ।। ७६-७७ ।।

एवमुक्तवतीं तां तु प्रीतिमानृषिसत्तमः ।
उवाच मत्प्रियं कृत्वा कन्यैव त्वं भविष्यसि ।। ७८ ।।
वृणीष्व च वरं भीरु यं त्वमिच्छसि भामिनि ।
वृथा हि न प्रसादो मे भूतपूर्वः शुचिस्मिते ।। ७९ ।।

सत्यवतीके ऐसा कहनेपर मुनिश्रेष्ठ पराशर प्रसन्न होकर बोले—'भीरु! मेरा प्रिय कार्य करके भी तुम कन्या ही रहोगी। भामिनि! तुम जो चाहो, वह मुझसे वर माँग लो। शुचिस्मिते! आजसे पहले कभी भी मेरा अनुग्रह व्यर्थ नहीं गया है' ।। ७८-७९ ।।

एवमुक्ता वरं वव्रे गात्रसौगन्ध्यमुत्तमम् ।
स चास्यै भगवान् प्रादान्मनसःकाङ्क्षितं भुवि ।। ८० ।।

महर्षिके ऐसा कहनेपर सत्यवतीने अपने शरीरमें उत्तम सुगन्ध होनेका वरदान माँगा। भगवान् पराशरने इस भूतलपर उसे वह मनोवांछित वर दे दिया ।। ८० ।।

ततो लब्धवरा प्रीता स्त्रीभावगुणभूषिता ।
जगाम सह संसर्गमृषिणाद्भुतकर्मणा ।। ८१ ।।
तेन गन्धवतीत्येवं नामास्याः प्रथितं भुवि ।
तस्यास्तु योजनाद् गन्धमाजिघ्रन्त नरा भुवि ।। ८२ ।।
तस्या योजनगन्धेति ततो नामापरं स्मृतम् ।

तदनन्तर वरदान पाकर प्रसन्न हुई सत्यवती नारीपनके समागमोचित गुण (सद्यः ऋतुस्नान आदि)-से विभूषित हो गयी और उसने अद्भुतकर्मा महर्षि पराशरके साथ समागम किया। उसके शरीरसे उत्तम गन्ध फैलनेके कारण पृथ्वीपर उसका गन्धवती नाम विख्यात हो गया। इस पृथ्वीपर एक योजन दूरके मनुष्य भी उसकी दिव्य सुगन्धका अनुभव करते थे। इस कारण उसका दूसरा नाम योजनगन्धा हो गया ।। ८१-८२½ ।।

इति सत्यवती हृष्टा लब्ध्वा वरमनुत्तमम् ।। ८३ ।।
पराशरेण संयुक्ता सद्यो गर्भं सुषाव सा ।
जज्ञे च यमुनाद्वीपे पाराशर्यः स वीर्यवान् ।। ८४ ।।

इस प्रकार परम उत्तम वर पाकर हर्षोल्लाससे भरी हुई सत्यवतीने महर्षि पराशरका संयोग प्राप्त किया और तत्काल ही एक शिशुको जन्म दिया। यमुनाके द्वीपमें अत्यन्त शक्तिशाली पराशरनन्दन व्यास प्रकट हुए ।। ८३-८४ ।।

स मातरमनुज्ञाप्य तपस्येव मनो दधे ।
स्मृतोऽहं दर्शयिष्यामि कृत्येष्विति च सोऽब्रवीत् ।। ८५ ।।

उन्होंने मातासे यह कहा—'आवश्यकता पड़नेपर तुम मेरा स्मरण करना। मैं अवश्य दर्शन दूँगा।' इतना कहकर माताकी आज्ञा ले व्यासजीने तपस्यामें ही मन लगाया ।। ८५ ।।

एवं द्वैपायनो जज्ञे सत्यवत्यां पराशरात् ।
न्यस्तो द्वीपे स यद् बालस्तस्माद् द्वैपायनः स्मृतः ।। ८६ ।।

इस प्रकार महर्षि पराशरद्वारा सत्यवतीके गर्भसे द्वैपायन व्यासजीका जन्म हुआ। वे बाल्यावस्थामें ही यमुनाके द्वीपमें छोड़ दिये गये, इसलिये 'द्वैपायन' नामसे प्रसिद्ध हुए ।। ८६ ।।

(ततः सत्यवती हृष्टा जगाम स्वं निवेशनम् ।
तस्यास्त्वायोजनाद् गन्धमाजिघ्रन्ति नरा भुवि ।।
दाशराजस्तु तद्गन्धमाजिघ्रन् प्रीतिमावहत् ।)

तदनन्तर सत्यवती प्रसन्नतापूर्वक अपने घरपर गयी। उस दिनसे भूमण्डलके मनुष्य एक योजन दूरसे ही उसकी दिव्य गन्धका अनुभव करने लगे। उसका पिता दाशराज भी उसकी गन्ध सूँघकर बहुत प्रसन्न हुआ।

दाश उवाच

(त्वामाहुर्मत्स्यगन्धेति कथं बाले सुगन्धता ।
अपास्य मत्स्यगन्धत्वं केन दत्ता सुगन्धता ।।)

दाशराजने पूछा—बेटी! तेरे शरीरसे मछलीकी-सी दुर्गन्ध आनेके कारण लोग तुझे 'मत्स्यगन्धा' कहा करते थे, फिर तुझमें यह सुगन्ध कहाँसे आ गयी? किसने यह मछलीकी दुर्गन्ध दूर कर तेरे शरीरको सुगन्ध प्रदान की है?

सत्यवत्युवाच

(शक्तेः पुत्रो महाप्राज्ञः पराशर इति स्मृतः ।।
नावं वाहयमानाया मम दृष्ट्वा सुगर्हितम् ।
अपास्य मत्स्यगन्धत्वं योजनाद् गन्धतां ददौ ।।
ऋषेः प्रसादं दृष्ट्वा तु जनाः प्रीतिमुपागमन् ।)

सत्यवती बोली—पिताजी! महर्षि शक्तिके पुत्र महाज्ञानी पराशर हैं, (वे यमुनाजीके तटपर आये थे; उस समय) मैं नाव खे रही थी। उन्होंने मेरी दुर्गन्धताकी ओर लक्ष्य करके मुझपर कृपा की और मेरे शरीरसे मछलीकी गन्ध दूर करके ऐसी सुगन्ध दे दी, जो एक योजन दूरतक अपना प्रभाव रखती है। महर्षिका यह कृपाप्रसाद देखकर सब लोग बड़े प्रसन्न हुए।

पादापसारिणं धर्मं स तु विद्वान् युगे युगे ।
आयुः शक्तिं च मर्त्यानां युगावस्थामवेक्ष्य च ।। ८७ ।।
ब्रह्मणो ब्राह्मणानां च तथानुग्रहकाङ्क्षया ।
विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः ।। ८८ ।।

विद्वान् द्वैपायनजीने देखा कि प्रत्येक युगमें धर्मका एक-एक पाद लुप्त होता जा रहा है। मनुष्योंकी आयु और शक्ति क्षीण हो चली है और युगकी ऐसी दुरवस्था हो गयी है। यह

सब देख-सुनकर उन्होंने वेद और ब्राह्मणोंपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे वेदोंका व्यास (विस्तार) किया। इसलिये वे व्यास नामसे विख्यात हुए ।। ८७-८८ ।।

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ।
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम् ।। ८९ ।।
प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च ।
संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिताः ।। ९० ।।

सर्वश्रेष्ठ वरदायक भगवान् व्यासने चारों वेदों तथा पाँचवें वेद महाभारतका अध्ययन सुमन्तु, जैमिनि, पैल, अपने पुत्र शुकदेव तथा मुझ वैशम्पायनको कराया। फिर उन सबने पृथक्-पृथक् महाभारतकी संहिताएँ प्रकाशित कीं ।। ८९-९० ।।

तथा भीष्मः शान्तनवो गङ्गायाममितद्युतिः ।
वसुवीर्यात् समभवन्महावीर्यो महायशाः ।। ९१ ।।

अमिततेजस्वी शान्तनुनन्दन भीष्म आठवें वसुके अंशसे तथा गंगाजीके गर्भसे उत्पन्न हुए। वे महान् पराक्रमी और अत्यन्त यशस्वी थे ।। ९१ ।।

वेदार्थविच्च भगवानृषिर्विप्रो महायशाः ।
शूले प्रोतः पुराणर्षिरचौरश्चौरशङ्कया ।। ९२ ।।
अणीमाण्डव्य इत्येवं विख्यातः स महायशाः ।
स धर्ममाहूय पुरा महर्षिरिदमुक्तवान् ।। ९३ ।।

पूर्वकालकी बात है वेदार्थोंके ज्ञाता, महान् यशस्वी, पुरातन मुनि, ब्रह्मर्षि भगवान् अणीमाण्डव्य चोर न होते हुए भी चोरके संदेहसे शूलीपर चढ़ा दिये गये। परलोकमें जानेपर उन महायशस्वी महर्षिने पहले धर्मको बुलाकर इस प्रकार कहा— ।। ९२-९३ ।।

इषीकया मया बाल्याद् विद्धा ह्येका शकुन्तिका ।
तत् किल्बिषं स्मरे धर्म नान्यत् पापमहं स्मरे ।। ९४ ।।

‘धर्मराज! पहले कभी मैंने बाल्यावस्थाके कारण सींकसे एक चिड़ियेके बच्चेको छेद दिया था। वही एक पाप मुझे याद आ रहा है। अपने दूसरे किसी पापका मुझे स्मरण नहीं है ।। ९४ ।।

तन्मे सहस्रममितं कस्मान्नेहाजयत् तपः ।
गरीयान् ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधाद् यतः ।। ९५ ।।

‘मैंने अगणित सहस्रगुना तप किया है। फिर उस तपने मेरे छोटे-से पापको क्यों नहीं नष्ट कर दिया। ब्राह्मणका वध समस्त प्राणियोंके वधसे बड़ा है ।। ९५ ।।

तस्मात् त्वं किल्बिषी धर्म शूद्रयोनौ जनिष्यसि ।
तेन शापेन धर्मोऽपि शूद्रयोनावजायत ।। ९६ ।।

‘(तुमने मुझे शूलीपर चढ़वाकर वही पाप किया है) इसलिये तुम पापी हो। अतः पृथ्वीपर शूद्रकी योनिमें तुम्हें जन्म लेना पड़ेगा।’ अणीमाण्डव्यके उस शापसे धर्म भी

शूद्रकी योनिमें उत्पन्न हुए ।। ९६ ।।

विद्वान् विदुररूपेण धार्मी तनुरकिल्बिषी ।
संजयो मुनिकल्पस्तु जज्ञे सूतो गवल्गणात् ।। ९७ ।।

पापरहित विद्वान् विदुरके रूपमें धर्मराजका शरीर ही प्रकट हुआ था। उसी समय गवल्गणसे संजय नामक सूतका जन्म हुआ, जो मुनियोंके समान ज्ञानी और धर्मात्मा थे ।। ९७ ।।

सूर्याच्च कुन्तिकन्याया जज्ञे कर्णो महाबलः ।
सहजं कवचं बिभ्रत् कुण्डलो द्योतिताननः ।। ९८ ।।

राजा कुन्तिभोजकी कन्या कुन्तीके गर्भसे सूर्यके अंशसे महाबली कर्णकी उत्पत्ति हुई। वह बालक जन्मके साथ ही कवचधारी था। उसका मुख शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए कुण्डलकी प्रभासे प्रकाशित होता था ।। ९८ ।।

अनुग्रहार्थं लोकानां विष्णुर्लोकनमस्कृतः ।
वसुदेवात् तु देवक्यां प्रादुर्भूतो महायशाः ।। ९९ ।।

उन्हीं दिनों विश्ववन्दित महायशस्वी भगवान् विष्णु जगत्के जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये वसुदेवजीके द्वारा देवकीके गर्भसे प्रकट हुए ।। ९९ ।।

अनादिनिधनो देवः स कर्ता जगतः प्रभुः ।
अव्यक्तमक्षरं ब्रह्म प्रधानं त्रिगुणात्मकम् ।। १०० ।।

वे भगवान् आदि-अन्तसे रहित, द्युतिमान्, सम्पूर्ण जगत्के कर्ता तथा प्रभु हैं। उन्हींको अव्यक्त अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म और त्रिगुणमय प्रधान कहते हैं ।। १०० ।।

आत्मानमव्ययं चैव प्रकृतिं प्रभवं प्रभुम् ।
पुरुषं विश्वकर्माणं सत्त्वयोगं ध्रुवाक्षरम् ।। १०१ ।।
अनन्तमचलं देवं हंसं नारायणं प्रभुम् ।
धातारमजमव्यक्तं यमाहुः परमव्ययम् ।। १०२ ।।
कैवल्यं निर्गुणं विश्वमनादिमजमव्ययम् ।
पुरुषः स विभुः कर्ता सर्वभूतपितामहः ।। १०३ ।।

आत्मा, अव्यय, प्रकृति (उपादान), प्रभव (उत्पत्ति-कारण), प्रभु (अधिष्ठाता), पुरुष (अन्तर्यामी), विश्वकर्मा, सत्त्वगुणसे प्राप्त होने योग्य तथा प्रणवाक्षर भी वे ही हैं; उन्हींको अनन्त, अचल, देव, हंस, नारायण, प्रभु, धाता, अजन्मा, अव्यक्त, पर, अव्यय, कैवल्य, निर्गुण, विश्वरूप, अनादि, जन्मरहित और अविकारी कहा गया है। वे सर्वव्यापी, परम पुरुष परमात्मा, सबके कर्ता और सम्पूर्ण भूतोंके पितामह हैं ।। १०१—१०३ ।।

धर्मसंवर्धनार्थाय प्रजज्ञेऽन्धकवृष्णिषु ।
अस्त्रज्ञौ तु महावीर्यौ सर्वशास्त्रविशारदौ ।। १०४ ।।

उन्होंने ही धर्मकी वृद्धिके लिये अन्धक और वृष्णिकुलमें बलराम और श्रीकृष्णरूपमें अवतार लिया था। वे दोनों भाई सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता, महापराक्रमी और समस्त शास्त्रोंके ज्ञानमें परम प्रवीण थे ।। १०४ ।।

सात्यकिः कृतवर्मा च नारायणमनुव्रतौ ।
सत्यकाद् हृदिकाच्चैव जज्ञातेऽस्त्रविशारदौ ।। १०५ ।।

सत्यकसे सात्यकि और हृदिकसे कृतवर्माका जन्म हुआ था। वे दोनों अस्त्रविद्यामें अत्यन्त निपुण और भगवान् श्रीकृष्णके अनुगामी थे ।। १०५ ।।

भरद्वाजस्य च स्कन्नं द्रोण्यां शुक्रमवर्धत ।
महर्षेरुग्रतपसस्तस्माद् द्रोणो व्यजायत ।। १०६ ।।

एक समय उग्रतपस्वी महर्षि भरद्वाजका वीर्य किसी द्रोणी (पर्वतकी गुफा)-में स्खलित होकर धीरे-धीरे पुष्ट होने लगा। उसीसे द्रोणका जन्म हुआ ।। १०६ ।।

गौतमान्मिथुनं जज्ञे शरस्तम्बाच्छरद्वतः ।
अश्वत्थाम्नश्च जननी कृपश्चैव महाबलः ।। १०७ ।।

किसी समय गौतमगोत्रीय शरद्वान्‌का वीर्य सरकंडेके समूहपर गिरा और दो भागोंमें बँट गया। उसीसे एक कन्या और एक पुत्रका जन्म हुआ। कन्याका नाम कृपी था, जो अश्वत्थामाकी जननी हुई। पुत्र महाबली कृपके नामसे विख्यात हुआ ।। १०७ ।।

अश्वत्थामा ततो जज्ञे द्रोणादेव महाबलः ।
तथैव धृष्टद्युम्नोऽपि साक्षादग्निसमद्युतिः ।। १०८ ।।
वैताने कर्मणि ततः पावकात् समजायत ।
वीरो द्रोणविनाशाय धनुरादाय वीर्यवान् ।। १०९ ।।

तदनन्तर द्रोणाचार्यसे महाबली अश्वत्थामाका जन्म हुआ। इसी प्रकार यज्ञकर्मका अनुष्ठान होते समय प्रज्वलित अग्निसे धृष्टद्युम्नका प्रादुर्भाव हुआ, जो साक्षात् अग्निदेवके समान तेजस्वी था। पराक्रमी वीर धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्यका विनाश करनेके लिये धनुष लेकर प्रकट हुआ था ।। १०८-१०९ ।।

तत्रैव वेद्यां कृष्णापि जज्ञे तेजस्विनी शुभा ।
विभ्राजमाना वपुषा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।। ११० ।।

उसी यज्ञकी वेदीसे शुभस्वरूपा तेजस्विनी द्रौपदी उत्पन्न हुई, जो परम उत्तम रूप धारण करके अपने सुन्दर शरीरसे अत्यन्त शोभा पा रही थी ।। ११० ।।

प्रह्लादशिष्यो नग्नजित् सुबलश्चाभवत् ततः ।
तस्य प्रजा धर्महन्त्री जज्ञे देवप्रकोपनात् ।। १११ ।।
गान्धारराजपुत्रोऽभूच्छकुनिः सौबलस्तथा ।
दुर्योधनस्य जननी जज्ञातेऽर्थविशारदौ ।। ११२ ।।

प्रह्लादका शिष्य नग्नजित् राजा सुबलके रूपमें प्रकट हुआ। देवताओंके कोपसे उसकी संतति (शकुनि) धर्मका नाश करनेवाली हुई। गान्धारराज सुबलका पुत्र शकुनि एवं सौबल नामसे विख्यात हुआ तथा उनकी पुत्री गान्धारी दुर्योधनकी माता थी। ये दोनों भाई-बहिन अर्थशास्त्रके ज्ञानमें निपुण थे ।। १११-११२ ।।

कृष्णद्वैपायनाज्जज्ञे धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य पाण्डुश्चैव महाबलः ।। ११३ ।।
धर्मार्थकुशलो धीमान् मेधावी धूतकल्मषः ।
विदुरः शूद्रयोनौ तु जज्ञे द्वैपायनादपि ।। ११४ ।।
पाण्डोस्तु जज्ञिरे पञ्च पुत्रा देवसमाः पृथक् ।
द्वयोः स्त्रियोर्गुणज्येष्ठस्तेषामासीद् युधिष्ठिरः ।। ११५ ।।

राजा विचित्रवीर्यकी क्षेत्रभूता अम्बिका और अम्बालिकाके गर्भसे कृष्णद्वैपायन व्यासद्वारा राजा धृतराष्ट्र और महाबली पाण्डुका जन्म हुआ। द्वैपायन व्याससे ही शूद्रजातीय स्त्रीके गर्भसे विदुरजीका भी जन्म हुआ था। वे धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण, बुद्धिमान्, मेधावी और निष्पाप थे। पाण्डुसे दो स्त्रियोंके द्वारा पृथक्-पृथक् पाँच पुत्र उत्पन्न हुए, जो सब-के-सब देवताओंके समान थे। उन सबमें बड़े युधिष्ठिर थे। वे उत्तम गुणोंमें भी सबसे बढ़-चढ़कर थे ।। ११३—११५ ।।

धर्माद् युधिष्ठिरो जज्ञे मारुताच्च वृकोदरः ।
इन्द्राद् धनंजयः श्रीमान् सर्वशस्त्रभृतां वरः ।। ११६ ।।
जज्ञाते रूपसम्पन्नावश्विभ्यां च यमावपि ।
नकुलः सहदेवश्च गुरुशुश्रूषणे रतौ ।। ११७ ।।

युधिष्ठिर धर्मसे, भीमसेन वायुदेवतासे, सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीमान् अर्जुन इन्द्रदेवसे तथा सुन्दर रूपवाले नकुल और सहदेव अश्विनीकुमारोंसे उत्पन्न हुए थे। वे जुड़वें पैदा हुए थे। नकुल और सहदेव सदा गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर रहते थे ।। ११६-११७ ।।

तथा पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
दुर्योधनप्रभृतयो युयुत्सुः करणस्तथा ।। ११८ ।।

परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सौ पुत्र हुए। इनके अतिरिक्त युयुत्सु भी उन्हींका पुत्र था। वह वैश्यजातीय मातासे उत्पन्न होनेके कारण 'करण*' कहलाता था ।। ११८ ।।

ततो दुःशासनश्चैव दुःसहश्चापि भारत ।
दुर्मर्षणो विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः ।। ११९ ।।
जयः सत्यव्रतश्चैव पुरुमित्रश्च भारत ।
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च एकादश महारथाः ।। १२० ।।

भरतवंशी जनमेजय! धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें दुर्योधन, दुःशासन, दुःसह, दुर्मर्षण, विकर्ण, चित्रसेन, विविंशति, जय, सत्यव्रत, पुरुमित्र तथा वैश्यापुत्र युयुत्सु—ये ग्यारह महारथी थे ।। ११९-१२० ।।

अभिमन्युः सुभद्रायामर्जुनादभ्यजायत ।
स्वस्रीयो वासुदेवस्य पौत्रः पाण्डोर्महात्मनः ।। १२१ ।।

अर्जुनद्वारा सुभद्राके गर्भसे अभिमन्युका जन्म हुआ। वह महात्मा पाण्डुका पौत्र और भगवान् श्रीकृष्णका भानजा था ।। १२१ ।।

पाण्डवेभ्यो हि पाञ्चाल्यां द्रौपद्यां पञ्च जज्ञिरे ।
कुमारा रूपसम्पन्नाः सर्वशास्त्रविशारदाः ।। १२२ ।।

पाण्डवोंद्वारा द्रौपदीके गर्भसे पाँच पुत्र उत्पन्न हुए थे, जो बड़े ही सुन्दर और सब शास्त्रोंमें निपुण थे ।। १२२ ।।

प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात् सुतसोमो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ।। १२३ ।।
तथैव सहदेवाच्च श्रुतसेनः प्रतापवान् ।
हिडिम्बायां च भीमेन वने जज्ञे घटोत्कचः ।। १२४ ।।

युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक तथा सहदेवसे प्रतापी श्रुतसेनका जन्म हुआ था। भीमसेनके द्वारा हिडिम्बासे वनमें घटोत्कच नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ।। १२३-१२४ ।।

शिखण्डी द्रुपदाज्जज्ञे कन्या पुत्रत्वमागता ।
यां यक्षः पुरुषं चक्रे स्थूणः प्रियचिकीर्षया ।। १२५ ।।

राजा द्रुपदसे शिखण्डी नामकी एक कन्या हुई, जो आगे चलकर पुत्ररूपमें परिणत हो गयी। स्थूणाकर्ण नामक यक्षने उसका प्रिय करनेकी इच्छासे उसे पुरुष बना दिया था ।। १२५ ।।

कुरूणां विग्रहे तस्मिन् समागच्छन् बहून् यथा ।
राज्ञां शतसहस्राणि योत्स्यमानानि संयुगे ।। १२६ ।।
तेषामपरिमेयानां नामधेयानि सर्वशः ।
न शक्यानि समाख्यातुं वर्षाणामयुतैरपि ।
एते तु कीर्तिता मुख्या यैराख्यानमिदं ततम् ।। १२७ ।।

कौरवोंके उस महासमरमें युद्ध करनेके लिये राजाओंके कई लाख योद्धा आये थे। दस हजार वर्षोंतक गिनती की जाय तो भी उन असंख्य योद्धाओंके नाम पूर्णतः नहीं बताये जा सकते। यहाँ कुछ मुख्य-मुख्य राजाओंके नाम बताये गये हैं, जिनके चरित्रोंसे इस महाभारत-कथाका विस्तार हुआ है ।। १२६-१२७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि व्यासाद्युत्पत्तौ त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें व्यास आदिकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ १/२ श्लोक मिलाकर कुल १३१ १/२ श्लोक हैं)

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंद्वारा क्षत्रियवंशकी उत्पत्ति और वृद्धि तथा उस समयके धार्मिक राज्यका वर्णन; असुरोंका जन्म और उनके भारसे पीड़ित पृथ्वीका ब्रह्माजीकी शरणमें जाना तथा ब्रह्माजीका देवताओंको अपने अंशसे पृथ्वीपर जन्म लेनेका आदेश

जनमेजय उवाच

य एते कीर्तिता ब्रह्मन् ये चान्ये नानुकीर्तिताः ।
सम्यक् ताञ्छ्रोतुमिच्छामि राज्ञश्चान्यान् सहस्रशः ।। १ ।।

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! आपने यहाँ जिन राजाओंके नाम बताये हैं और जिन दूसरे नरेशोंके नाम यहाँ नहीं लिये हैं, उन सब सहस्रों राजाओंका मैं भलीभाँति परिचय सुनना चाहता हूँ ।। १ ।।

यदर्थमिह सम्भूता देवकल्पा महारथाः ।
भुवि तन्मे महाभाग सम्यगाख्यातुमर्हसि ।। २ ।।

महाभाग! वे देवतुल्य महारथी इस पृथ्वीपर जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये उत्पन्न हुए थे, उसका यथावत् वर्णन कीजिये ।। २ ।।

वैशम्पायन उवाच

रहस्यं खल्विदं राजन् देवानामिति नः श्रुतम् ।
तत्तु ते कथयिष्यामि नमस्कृत्य स्वयम्भुवे ।। ३ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! यह देवताओंका रहस्य है, ऐसा मैंने सुन रखा है। स्वयम्भू ब्रह्माजीको नमस्कार करके आज उसी रहस्यका तुमसे वर्णन करूँगा ।। ३ ।।

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां पुरा ।
जामदग्न्यस्तपस्तेपे महेन्द्रे पर्वतोत्तमे ।। ४ ।।
तदा निःक्षत्रिये लोके भार्गवेण कृते सति ।
ब्राह्मणान् क्षत्रिया राजन् सुतार्थिन्योऽभिचक्रमुः ।। ५ ।।

पूर्वकालमें जमदग्निनन्दन परशुरामने इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियरहित करके उत्तम पर्वत महेन्द्रपर तपस्या की थी। उस समय जब भृगुनन्दनने इस लोकको क्षत्रियशून्य कर दिया था, क्षत्रिय-नारियोंने पुत्रकी अभिलाषासे ब्राह्मणोंकी शरण ग्रहण की थी ।। ४-५ ।।

ताभिः सह समापेतुर्ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।

ऋतावृतौ नरव्याघ्र न कामान्नानृतौ तथा ।। ६ ।।

नररत्न! वे कठोर व्रतधारी ब्राह्मण केवल ऋतुकालमें ही उनके साथ मिलते थे; न तो कामवश और न बिना ऋतुकालके ही ।। ६ ।।

तेभ्यश्च लेभिरे गर्भं क्षत्रियास्ताः सहस्रशः ।
ततः सुषुविरे राजन् क्षत्रियान् वीर्यवत्तरान् ।। ७ ।।
कुमारांश्च कुमारीश्च पुनः क्षत्राभिवृद्धये ।
एवं तद् ब्राह्मणैः क्षत्रं क्षत्रियासु तपस्विभिः ।। ८ ।।
जातं वृद्धं च धर्मेण सुदीर्घेणायुषान्वितम् ।
चत्वारोऽपि ततो वर्णा बभूवुर्ब्राह्मणोत्तराः ।। ९ ।।

राजन्! उन सहस्रों क्षत्राणियोंने ब्राह्मणोंसे गर्भ धारण किया और पुनः क्षत्रियकुलकी वृद्धिके लिये अत्यन्त बलशाली क्षत्रियकुमारों तथा कुमारियोंको जन्म दिया। इस प्रकार तपस्वी ब्राह्मणोंद्वारा क्षत्राणियोंके गर्भसे धर्मपूर्वक क्षत्रिय-संतानकी उत्पत्ति और वृद्धि हुई। वे सब संतानें दीर्घायु होती थीं। तदनन्तर जगत्में पुनः ब्राह्मणप्रधान चारों वर्ण प्रतिष्ठित हुए ।। ७—९ ।।

अभ्यगच्छन्नृतौ नारीं न कामान्नानृतौ तथा ।
तथैवान्यानि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ।। १० ।।
ऋतौ दारांश्च गच्छन्ति तत् तथा भरतर्षभ ।
ततोऽवर्धन्त धर्मेण सहस्रशतजीविनः ।। ११ ।।

उस समय सब लोग ऋतुकालमें ही पत्नीसमागम करते थे; केवल कामनावश या ऋतुकालके बिना नहीं करते थे। इसी प्रकार पशु-पक्षी आदिकी योनिमें पड़े हुए जीव भी ऋतुकालमें ही अपनी स्त्रियोंसे संयोग करते थे। भरतश्रेष्ठ! उस समय धर्मका आश्रय लेनेसे सब लोग सहस्र एवं शत वर्षोंतक जीवित रहते थे और उत्तरोत्तर उन्नति करते थे ।। १०-११ ।।

ताः प्रजाः पृथिवीपाल धर्मव्रतपरायणाः ।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव विमुक्ताः सर्वशो नराः ।। १२ ।।

भूपाल! उस समयकी प्रजा धर्म एवं व्रतके पालनमें तत्पर रहती थी; अतः सभी लोग रोगों तथा मानसिक चिन्ताओंसे मुक्त रहते थे ।। १२ ।।

अथेमां सागरापाङ्गीं गां गजेन्द्रगताखिलाम् ।
अध्यतिष्ठत् पुनः क्षत्रं सशैलवनपत्तनाम् ।। १३ ।।

गजराजके समान गमन करनेवाले राजा जनमेजय! तदनन्तर धीरे-धीरे समुद्रसे घिरी हुई पर्वत, वन और नगरोंसहित इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर पुनः क्षत्रियजातिका ही अधिकार हो गया ।। १३ ।।

प्रशासति पुनः क्षत्रे धर्मेणेमां वसुन्धराम् ।

ब्राह्मणाद्यास्ततो वर्णा लेभिरे मुदमुत्तमाम् ।। १४ ।।

जब पुनः क्षत्रिय शासक धर्मपूर्वक इस पृथ्वीका पालन करने लगे, तब ब्राह्मण आदि वर्णोंको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई ।। १४ ।।

कामक्रोधोद्भवान् दोषान् निरस्य च नराधिपाः ।
धर्मेण दण्डं दण्ड्येषु प्रणयन्तोऽन्वपालयन् ।। १५ ।।

उन दिनों राजालोग काम और क्रोधजनित दोषोंको दूर करके दण्डनीय अपराधियोंको धर्मानुसार दण्ड देते हुए पृथ्वीका पालन करते थे ।। १५ ।।

तथा धर्मपरे क्षत्रे सहस्राक्षः शतक्रतुः ।
स्वादु देशे च काले च वर्षेणापालयत् प्रजाः ।। १६ ।।

इस तरह धर्मपरायण क्षत्रियोंके शासनमें सारा देश-काल अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होने लगा। उस समय सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्र समयपर वर्षा करके प्रजाओंका पालन करते थे ।। १६ ।।

न बाल एव म्रियते तदा कश्चिज्जनाधिप ।
न च स्त्रियं प्रजानाति कश्चिदप्राप्तयौवनः ।। १७ ।।

राजन्! उन दिनों कोई भी बाल्यावस्थामें नहीं मरता था। कोई भी पुरुष युवावस्था प्राप्त हुए बिना स्त्री-सुखका अनुभव नहीं करता था ।। १७ ।।

एवमायुष्मतीभिस्तु प्रजाभिर्भरतर्षभ ।
इयं सागरपर्यन्ता समापूर्यत मेदिनी ।। १८ ।।

भरतश्रेष्ठ! ऐसी व्यवस्था हो जानेसे समुद्रपर्यन्त यह सारी पृथ्वी दीर्घकालतक जीवित रहनेवाली प्रजाओंसे भर गयी ।। १८ ।।

ईजिरे च महायज्ञैः क्षत्रिया बहुदक्षिणैः ।
साङ्गोपनिषदान् वेदान् विप्राश्चाधीयते तदा ।। १९ ।।

क्षत्रियलोग बहुत-सी दक्षिणावाले बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा यजन करते थे। ब्राह्मण अंगों और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करते थे ।। १९ ।।

न च विक्रीणते ब्रह्म ब्राह्मणाश्च तदा नृप ।
न च शूद्रसमभ्याशे वेदानुच्चारयन्त्युत ।। २० ।।

राजन्! उस समय ब्राह्मण न तो वेदका विक्रय करते और न शूद्रोंके निकट वेदमन्त्रोंका उच्चारण ही करते थे ।। २० ।।

कारयन्तः कृषिं गोभिस्तथा वैश्याः क्षिताविह ।
युञ्जते धुरि नो गाश्च कृशाङ्गांश्चाप्यजीवयन् ।। २१ ।।

वैश्यगण बैलोंद्वारा इस पृथ्वीपर दूसरोंसे खेती कराते हुए भी स्वयं उनके कंधेपर जुआ नहीं रखते थे—उन्हें बोझ ढोनेमें नहीं लगाते थे और दुर्बल अंगोंवाले निकम्मे पशुओंको भी दाना-घास देकर उनके जीवनकी रक्षा करते थे ।। २१ ।।

फेनपांश्च तथा वत्सान् न दुहन्ति स्म मानवाः ।
न कूटमानैर्वणिजः पाण्यं विक्रीणते तदा ।। २२ ।।

जबतक बछड़े केवल दूधपर रहते, घास नहीं चरते, तबतक मनुष्य गौओंका दूध नहीं दुहते थे। व्यापारीलोग बेचने योग्य वस्तुओंका झूठे माप-तौलद्वारा विक्रय नहीं करते थे ।। २२ ।।

कर्माणि च नरव्याघ्र धर्मोपेतानि मानवाः ।
धर्ममेवानुपश्यन्तश्चक्रुर्धर्मपरायणाः ।। २३ ।।

नरश्रेष्ठ! सब मनुष्य धर्मकी ही ओर दृष्टि रखकर धर्ममें ही तत्पर हो धर्मयुक्त कर्मोंका ही अनुष्ठान करते थे ।। २३ ।।

स्वकर्मनिरताश्चासन् सर्वे वर्णा नराधिप ।
एवं तदा नरव्याघ्र धर्मो न ह्रसते क्वचित् ।। २४ ।।

राजन्! उस समय सब वर्णोंके लोग अपने-अपने कर्मके पालनमें लगे रहते थे। नरश्रेष्ठ! इस प्रकार उस समय कहीं भी धर्मका ह्रास नहीं होता था ।। २४ ।।

काले गावः प्रसूयन्ते नार्यश्च भरतर्षभ ।
भवन्त्यृतुषु वृक्षाणां पुष्पाणि च फलानि च ।। २५ ।।

भरतश्रेष्ठ! गौएँ तथा स्त्रियाँ भी ठीक समयपर ही संतान उत्पन्न करती थीं। ऋतु आनेपर ही वृक्षोंमें फूल और फल लगते थे ।। २५ ।।

एवं कृतयुगे सम्यग् वर्तमाने तदा नृप ।
आपूर्यत मही कृत्स्ना प्राणिभिर्बहुभिर्भृशम् ।। २६ ।।

नरेश्वर! इस तरह उस समय सब ओर सत्ययुग छा रहा था। सारी पृथ्वी नाना प्रकारके प्राणियोंसे खूब भरी-पूरी रहती थी ।। २६ ।।

एवं समुदिते लोके मानुषे भरतर्षभ ।
असुरा जज्ञिरे क्षेत्रे राज्ञां तु मनुजेश्वर ।। २७ ।।

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार सम्पूर्ण मानव-जगत् बहुत प्रसन्न था। मनुजेश्वर! इसी समय असुरलोग राजपत्नियोंके गर्भसे जन्म लेने लगे ।। २७ ।।

आदित्यैर्हि तदा दैत्या बहुशो निर्जिता युधि ।
ऐश्वर्याद् भ्रंशिताः स्वर्गात् सम्बभूवुः क्षिताविह ।। २८ ।।

उन दिनों अदितिके पुत्रों (देवताओं)-द्वारा दैत्यगण अनेक बार युद्धमें पराजित हो चुके थे। स्वर्गके ऐश्वर्यसे भ्रष्ट होनेपर वे इस पृथ्वीपर ही जन्म लेने लगे ।। २८ ।।

इह देवत्वमिच्छन्तो मानुषेषु मनस्विनः ।
जज्ञिरे भुवि भूतेषु तेषु तेष्वसुरा विभो ।। २९ ।।

प्रभो! यहीं रहकर देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छासे वे मनस्वी असुर भूतलपर मनुष्यों तथा भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें जन्म लेने लगे ।। २९ ।।

गोष्वश्वेषु च राजेन्द्र खरोष्ट्रमहिषेषु च ।
क्रव्यात्सु चैव भूतेषु गजेषु च मृगेषु च ।। ३० ।।
जातैरिह महीपाल जायमानैश्च तैर्मही ।
न शशाकात्मनाऽऽत्मानमियं धारयितुं धरा ।। ३१ ।।

राजेन्द्र! गौओं, घोड़ों, गदहों, ऊँटों, भैसों, कच्चे मांस खानेवाले पशुओं, हाथियों और मृगोंकी योनिमें भी यहाँ असुरोंने जन्म लिया और अभीतक वे जन्म धारण करते जा रहे थे। उन सबसे यह पृथ्वी इस प्रकार भर गयी कि अपने-आपको भी धारण करनेमें समर्थ न हो सकी ।। ३०-३१ ।।

अथ जाता महीपालाः केचिद् बहुमदान्विताः ।
दितेः पुत्रा दनोश्चैव तदा लोक इह च्युताः ।। ३२ ।।
वीर्यवन्तोऽवलिप्तास्ते नानारूपधरा महीम् ।
इमां सागरपर्यन्तां परीयुररिमर्दनाः ।। ३३ ।।

स्वर्गसे इस लोकमें गिरे हुए तथा राजाओंके रूपमें उत्पन्न हुए कितने ही दैत्य और दानव अत्यन्त मदसे उन्मत्त रहते थे। वे पराक्रमी होनेके साथ ही अहंकारी भी थे। अनेक प्रकारके रूप धारण कर अपने शत्रुओंका मान-मर्दन करते हुए समुद्रपर्यज सारी पृथ्वीपर विचरते रहते थे ।। ३२-३३ ।।

ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्छूद्रांश्चैवाप्यपीडयन् ।
अन्यानि चैव सत्त्वानि पीडयामासुरोजसा ।। ३४ ।।

वे ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रोंको भी सताया करते थे। अन्यान्य जीवोंको भी अपने बल और पराक्रमसे पीड़ा देते थे ।। ३४ ।।

त्रासयन्तोऽभिनिघ्नन्तः सर्वभूतगणांश्च ते ।
विचेरुः सर्वशो राजन् महीं शतसहस्रशः ।। ३५ ।।

राजन्! वे असुर लाखोंकी संख्यामें उत्पन्न हुए थे और समस्त प्राणियोंको डराते-धमकाते तथा उनकी हिंसा करते हुए भूमण्डलमें सब ओर घूमते रहते थे ।। ३५ ।।

आश्रमस्थान् महर्षींश्च धर्षयन्तस्ततस्ततः ।
अब्रह्मण्या वीर्यमदा मत्ता मदबलेन च ।। ३६ ।।

वे वेद और ब्राह्मणके विरोधी, पराक्रमके नशेमें चूर तथा अहंकार और बलसे मतवाले होकर इधर-उधर आश्रमवासी महर्षियोंका भी तिरस्कार करने लगे ।। ३६ ।।

एवं वीर्यबलोत्सिक्तैर्भूरियत्नैर्महासुरैः ।
पीड्यमाना मही राजन् ब्रह्माणमुपचक्रमे ।। ३७ ।।

राजन्! जब इस प्रकार बल और पराक्रमके मदसे उन्मत्त महादैत्य विशेष यत्नपूर्वक इस पृथ्वीको पीड़ा देने लगे, तब यह ब्रह्माजीकी शरणमें जानेको उद्यत हुई ।। ३७ ।।

न ह्यमी भूतसत्त्वौघाः पन्नगाः सनगां महीम् ।

तदा धारयितुं शेकुः संक्रान्तां दानवैर्बलात् ।। ३८ ।।
ततो मही महीपाल भारार्ता भयपीडिता ।
जगाम शरणं देवं सर्वभूतपितामहम् ।। ३९ ।।
सा संवृतं महाभागैर्देवद्विजमहर्षिभिः ।
ददर्श देवं ब्रह्माणं लोककर्तारमव्ययम् ।। ४० ।।

दानवोंने बलपूर्वक जिसपर अधिकार कर लिया था, पर्वतों और वृक्षोंसहित उस पृथ्वीको उस समय कच्छप और दिग्गज आदिकी संगठित शक्तियाँ तथा शेषनाग भी धारण करनेमें समर्थ न हो सके। महीपाल! तब असुरोंके भारसे आतुर तथा भयसे पीड़ित हुई पृथ्वी सम्पूर्ण भूतोंके पितामह भगवान् ब्रह्माजीकी शरणमें उपस्थित हुई। ब्रह्मलोकमें जाकर पृथ्वीने उन लोकस्रष्टा अविनाशी देव भगवान् ब्रह्माजीका दर्शन किया, जिन्हें महाभाग देवता, द्विज और महर्षि घेरे हुए थे ।। ३८—४० ।।

गन्धर्वैरप्सतेभिश्च दैवकर्मसु निष्ठितैः ।
वन्द्यमानं मुदोपेतैर्ववन्दे चैनमेत्य सा ।। ४१ ।।

देवकर्ममें संलग्न रहनेवाले अप्सराएँ और गन्धर्व उन्हें प्रसन्नतापूर्वक प्रणाम करते थे। पृथ्वीने उनके निकट जाकर प्रणाम किया ।। ४१ ।।

अथ विज्ञापयामास भूमिस्तं शरणार्थिनी ।
संनिधौ लोकपालानां सर्वेषामेव भारत ।। ४२ ।।
तत् प्रधानात्मनस्तस्य भूमेः कृत्यं स्वयम्भुवः ।
पूर्वमेवाभवद् राजन् विदितं परमेष्ठिनः ।। ४३ ।।

भारत! तदनन्तर शरण चाहनेवाली भूमिने समस्त लोकपालोंके समीप अपना सारा दुःख ब्रह्माजीसे निवेदन किया। राजन्! स्वयम्भू ब्रह्मा सबके कारणरूप हैं, अतः पृथ्वीका जो आवश्यक कार्य था वह उन्हें पहलेसे ही ज्ञात हो गया था ।। ४२-४३ ।।

स्रष्टा हि जगतः कस्मान्न सम्बुध्येत भारत ।
ससुरासुरलोकानामशेषेण मनोगतम् ।। ४४ ।।

भारत! भला जो जगत्के स्रष्टा हैं, वे देवताओं और असुरोंसहित समस्त जगत्का सम्पूर्ण मनोगत भाव क्यों न समझ लें ।। ४४ ।।

तामुवाच महाराज भूमिं भूमिपतिः प्रभुः ।
प्रभवः सर्वभूतानामीशः शम्भुः प्रजापतिः ।। ४५ ।।

महाराज! जो इस भूमिके पालक और प्रभु हैं, सबकी उत्पत्तिके कारण तथा समस्त प्राणियोंके अधीश्वर हैं, वे कल्याणमय प्रजापति ब्रह्माजी उस समय भूमिसे इस प्रकार बोले ।। ४५ ।।

ब्रह्मोवाच

यदर्थमभिसम्प्राप्ता मत्सकाशं वसुन्धरे ।
तदर्थं संनियोक्ष्यामि सर्वानेव दिवौकसः ।। ४६ ।।

ब्रह्माजीने कहा—वसुन्धरे! तुम जिस उद्देश्यसे मेरे पास आयी हो, उसकी सिद्धिके लिये मैं सम्पूर्ण देवताओंको नियुक्त कर रहा हूँ ।। ४६ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा स महीं देवो ब्रह्मा राजन् विसृज्य च ।
आदिदेश तदा सर्वान् विबुधान् भूतकृत् स्वयम् ।। ४७ ।।
अस्या भूमेर्निरसितुं भारं भागैः पृथक् पृथक् ।
अस्यामेव प्रसूयध्वं विरोधायेति चाब्रवीत् ।। ४८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले भगवान् ब्रह्माजीने ऐसा कहकर उस समय पृथ्वीको तो विदा कर दिया और समस्त देवताओंको यह आदेश दिया—'देवताओ! तुम इस पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अपने-अपने अंशसे पृथ्वीके विभिन्न भागोंमें पृथक्-पृथक् जन्म ग्रहण करो। वहाँ असुरोंसे विरोध करके अभीष्ट उद्देश्यकी सिद्धि करनी होगी' ।। ४७-४८ ।।

तथैव स समानीय गन्धर्वाप्सरसां गणान् ।
उवाच भगवान् सर्वानिदं वचनमर्थवत् ।। ४९ ।।

इसी प्रकार भगवान् ब्रह्माने सम्पूर्ण गन्धर्वों और अप्सराओंको भी बुलाकर यह अर्थसाधक वचन कहा ।। ४९ ।।

ब्रह्मोवाच

स्वैः स्वैरंशैः प्रसूयध्वं यथेष्टं मानुषेषु च ।
अथ शक्रादयः सर्वे श्रुत्वा सुरगुरोर्वचः ।
तथ्यमर्थ्यं च पथ्यं च तस्य ते जगृहुस्तदा ।। ५० ।।

ब्रह्माजी बोले—तुम सब लोग अपने-अपने अंशसे मनुष्योंमें इच्छानुसार जन्म ग्रहण करो। तदनन्तर इन्द्र आदि सब देवताओंने देवगुरु ब्रह्माजीकी सत्य, अर्थसाधक और हितकर बात सुनकर उस समय उसे शिरोधार्य कर लिया ।। ५० ।।

अथ ते सर्वशोंऽशैः स्वैर्गन्तुं भूमिं कृतक्षणाः ।
नारायणममित्रघ्नं वैकुण्ठमुपचक्रमुः ।। ५१ ।।

अब वे अपने-अपने अंशोंसे भूलोकमें सब ओर जानेका निश्चय करके शत्रुओंका नाश करनेवाले भगवान् नारायणके समीप वैकुण्ठधाममें जानेको उद्यत हुए ।। ५१ ।।

यः स चक्रगदापाणिः पीतवासाः शितिप्रभः ।
पद्मनाभः सुरारिघ्नः पृथुचार्वञ्चितेक्षणः ।। ५२ ।।

जो अपने हाथोंमें चक्र और गदा धारण करते हैं, पीताम्बर पहनते हैं, जिनके अंगोंकी कान्ति श्याम रंगकी है, जिनकी नाभिसे कमलका प्रादुर्भाव हुआ है, जो देव-शत्रुओंके नाशक तथा विशाल और मनोहर नेत्रोंसे युक्त हैं ।। ५२ ।।

प्रजापतिपतिर्देवः सुरनाथो महाबलः ।

श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः ।। ५३ ।।

जो प्रजापतियोंके भी पति, दिव्यस्वरूप, देवताओंके रक्षक, महाबली, श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित, इन्द्रियोंके अधिष्ठाता तथा सम्पूर्ण देवताओंद्वारा पूजित हैं ।। ५३ ।।

तं भुवः शोधनायेन्द्र उवाच पुरुषोत्तमम् ।

अंशेनावतरेत्येवं तथेत्याह च तं हरिः ।। ५४ ।।

उन भगवान् पुरुषोत्तमके पास जाकर इन्द्रने उनसे कहा—‘प्रभो! आप पृथ्वीका शोधन (भार-हरण) करनेके लिये अपने अंशसे अवतार ग्रहण करें।’ तब श्रीहरिने ‘तथास्तु’ कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली ।। ५४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि चतुःषष्टितमोऽध्यायः ।। ६४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६४ ।।

---

* ‘वैश्यायां क्षत्रियाज्जातः करणः परिकीर्तितः ।’ (वैश्य माता और क्षत्रिय पितासे उत्पन्न पुत्र ‘करण’ कहलाता है) इस धर्मशास्त्रीय वचनके अनुसार युयुत्सुकी ‘करण’ संज्ञा बतायी गयी है।

(सम्भवपर्व)

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

मरीचि आदि महर्षियों तथा अदिति आदि दक्षकन्याओंके वंशका विवरण

वैशम्पायन उवाच

अथ नारायणेनेन्द्रश्चकार सह संविदम् ।
अवतर्तुं महीं स्वर्गादंशतः सहितः सुरैः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! देवताओंसहित इन्द्रने भगवान् विष्णुके साथ स्वर्ग एवं वैकुण्ठसे पृथ्वीपर अंशतः अवतार ग्रहण करनेके सम्बन्धमें कुछ सलाह की ।। १ ।।

आदिश्य च स्वयं शक्रः सर्वानेव दिवौकसः ।
निर्जगाम पुनस्तस्मात् क्षयान्नारायणस्य ह ।। २ ।।

तत्पश्चात् सभी देवताओंको तदनुसार कार्य करनेके लिये आदेश देकर वे भगवान् नारायणके निवासस्थान वैकुण्ठधामसे पुनः चले आये ।। २ ।।

तेऽमरारिविनाशाय सर्वलोकहिताय च ।
अवतेरुः क्रमेणैव महीं स्वर्गाद् दिवौकसः ।। ३ ।।

तब देवतालोग सम्पूर्ण लोकोंके हित तथा राक्षसोंके विनाशके लिये स्वर्गसे पृथ्वीपर आकर क्रमशः अवतीर्ण होने लगे ।। ३ ।।

ततो ब्रह्मर्षिवंशेषु पार्थिवर्षिकुलेषु च ।
जज्ञिरे राजशार्दूल यथाकामं दिवौकसः ।। ४ ।।

नृपश्रेष्ठ! वे देवगण अपनी इच्छाके अनुसार ब्रह्मर्षियों अथवा राजर्षियोंके वंशमें उत्पन्न हुए ।। ४ ।।

दानवान् राक्षसांश्चैव गन्धर्वान् पन्नगांस्तथा ।
पुरुषादानि चान्यानि जघ्नुः सत्त्वान्यनेकशः ।। ५ ।।
दानवा राक्षसाश्चैव गन्धर्वाः पन्नगास्तथा ।
न तान् बलस्थान् बाल्येऽपि जघ्नुर्भरतसत्तम ।। ६ ।।

वे दानव, राक्षस, दुष्ट गन्धर्व, सर्प तथा अन्यान्य मनुष्यभक्षी जीवोंका बारम्बार संहार करने लगे। भरतश्रेष्ठ! वे बचपनमें भी इतने बलवान् थे कि दानव, राक्षस, गन्धर्व तथा सर्प उनका बाल बाँका तक नहीं कर पाते थे ।। ५-६ ।।

जनमेजय उवाच

देवदानवसङ्घानां गन्धर्वाप्सरसां तथा ।
मानवानां च सर्वेषां तथा वै यक्षरक्षसाम् ।। ७ ।।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन सम्भवं कृत्स्नमादितः ।
प्राणिनां चैव सर्वेषां सम्भवं वक्तुमर्हसि ।। ८ ।।

जनमेजय बोले—भगवन्! मैं देवता, दानवसमुदाय, गन्धर्व, अप्सरा, मनुष्य, यक्ष, राक्षस तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ। आप कृपा करके आरम्भसे ही इन सबकी उत्पत्तिका यथावत् वर्णन कीजिये ।। ७-८ ।।

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि नमस्कृत्य स्वयम्भुवे ।
सुरादीनामहं सम्यग् लोकानां प्रभवाप्ययम् ।। ९ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—अच्छा, मैं स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा एवं नारायणको नमस्कार करके तुमसे देवता आदि सम्पूर्ण लोगोंकी उत्पत्ति और नाशका यथावत् वर्णन करता हूँ ।। ९ ।।

ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः ।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।। १० ।।

ब्रह्माजीके मानस पुत्र छः महर्षि विख्यात हैं—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु ।। १० ।।

मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपात् तु इमाः प्रजाः ।
प्रजज्ञिरे महाभागा दक्षकन्यास्त्रयोदश ।। ११ ।।

मरीचिके पुत्र कश्यप थे और कश्यपसे ही ये समस्त प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं। (ब्रह्माजीके एक पुत्र दक्ष भी हैं) प्रजापति दक्षके परम सौभाग्यशालिनी तेरह कन्याएँ थीं ।। ११ ।।

अदितिर्दितिर्दनुः काला दनायुः सिंहिका तथा ।
क्रोधा प्राधा च विश्वा च विनता कपिला मुनिः ।। १२ ।।
कद्रूश्च मनुजव्याघ्र दक्षकन्यैव भारत ।
एतासां वीर्यसम्पन्नं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ।। १३ ।।

नरश्रेष्ठ! उनके नाम इस प्रकार हैं—अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा (क्रूरा), प्राधा, विश्वा, विनता, कपिला, मुनि और कद्रू। भारत! ये सभी दक्षकी कन्याएँ हैं। इनके बल-पराक्रमसम्पन्न पुत्र-पौत्रोंकी संख्या अनन्त है ।। १२-१३ ।।

अदित्यां द्वादशादित्याः सम्भूता भुवनेश्वराः ।
ये राजन् नामतस्तांस्ते कीर्तयिष्यामि भारत ।। १४ ।।

अदितिके पुत्र बारह आदित्य हुए, जो लोकेश्वर हैं। भरतवंशी नरेश! उन सबके नाम तुम्हें बता रहा हूँ— ।। १४ ।।

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च ।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ।। १५ ।।
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते ।
जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ।। १६ ।।

धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, दसवें सविता, ग्यारहवें त्वष्टा और बारहवें विष्णु कहे जाते हैं। इन सब आदित्योंमें विष्णु छोटे हैं; किंतु गुणोंमें वे सबसे बढ़कर हैं ।। १५-१६ ।।

एक एव दितेः पुत्रो हिरण्यकशिपुः स्मृतः ।
नाम्ना ख्यातास्तु तस्येमे पञ्च पुत्रा महात्मनः ।। १७ ।।

दितिका एक ही पुत्र हिरण्यकशिपु अपने नामसे विख्यात हुआ। उस महामना दैत्यके पाँच पुत्र थे ।। १७ ।।

प्रह्लादः पूर्वजस्तेषां संह्लादस्तदनन्तरम् ।
अनुह्लादस्तृतीयोऽभूत् तस्माच्च शिबिबाष्कलौ ।। १८ ।।

उन पाँचोंमें प्रथमका नाम प्रह्लाद है। उससे छोटेको संह्लाद कहते हैं। तीसरेका नाम अनुह्लाद है। उसके बाद चौथे शिबि और पाँचवें बाष्कल हैं ।। १८ ।।

प्रह्लादस्य त्रयः पुत्राः ख्याताः सर्वत्र भारत ।
विरोचनश्च कुम्भश्च निकुम्भश्चेति भारत ।। १९ ।।

भारत! प्रह्लादके तीन पुत्र हुए, जो सर्वत्र विख्यात हैं। उनके नाम ये हैं—विरोचन, कुम्भ और निकुम्भ ।। १९ ।।

विरोचनस्य पुत्रोऽभूद् बलिरेकः प्रतापवान् ।
बलेश्च प्रथितः पुत्रो बाणो नाम महासुरः ।। २० ।।

विरोचनके एक ही पुत्र हुआ, जो महाप्रतापी बलिके नामसे प्रसिद्ध है। बलिका विश्वविख्यात पुत्र बाण नामक महान् असुर है ।। २० ।।

रुद्रस्यानुचरः श्रीमान् महाकालेति यं विदुः ।
चतुस्त्रिंशद् दनोः पुत्राः ख्याताः सर्वत्र भारत ।। २१ ।।

जिसे सब लोग भगवान् शंकरके पार्षद श्रीमान् महाकालके नामसे जानते हैं। भारत! दनुके चौंतीस पुत्र हुए, जो सर्वत्र विख्यात हैं ।। २१ ।।

तेषां प्रथमजो राजा विप्रचित्तिर्महायशाः ।
शम्बरो नमुचिश्चैव पुलोमा चेति विश्रुतः ।। २२ ।।
असिलोमा च केशी च दुर्जयश्चैव दानवः ।
अयःशिरा अश्वशिरा अश्वशंकुश्च वीर्यवान् ।। २३ ।।

तथा गगनमूर्धा च वेगवान् केतुमांश्च सः ।
स्वर्भानुरश्वोऽश्वपतिर्वृषपर्वाजकस्तथा ।। २४ ।।
अश्वग्रीवश्च सूक्ष्मश्च तुहुण्डश्च महाबलः ।
इषुपादेकचक्रश्च विरूपाक्षो हराहरौ ।। २५ ।।
निचन्द्रश्च निकुम्भश्च कुपटः कपटस्तथा ।
शरभः शलभश्चैव सूर्याचन्द्रमसौ तथा ।
एते ख्याता दनोर्वंशे दानवाः परिकीर्तिताः ।। २६ ।।

उनमें महायशस्वी राजा विप्रचित्ति सबसे बड़ा था। उसके बाद शम्बर, नमुचि, पुलोमा, असिलोमा, केशी, दुर्जय, अयःशिरा, अश्वशिरा, पराक्रमी अश्वशंकु, गगनमूर्धा, वेगवान्, केतुमान्, स्वर्भानु, अश्व, अश्वपति, वृषपर्वा, अजक, अश्वग्रीव, सूक्ष्म, महाबली तुहुण्ड, इषुपाद, एकचक्र, विरूपाक्ष, हर, अहर, निचन्द्र, निकुम्भ, कुपट, कपट, शरभ, शलभ, सूर्य और चन्द्रमा हैं। ये दनुके वंशमें विख्यात दानव बताये गये हैं ।। २२—२६ ।।

अन्यौ तु खलु देवानां सूर्याचन्द्रमसौ स्मृतौ ।
अन्यौ दानवमुख्यानां सूर्याचन्द्रमसौ तथा ।। २७ ।।

देवताओंमें जो सूर्य और चन्द्रमा माने गये हैं, वे दूसरे हैं और प्रधान दानवोंमें सूर्य तथा चन्द्रमा दूसरे हैं ।। २७ ।।

इमे च वंशाः प्रथिताः सत्त्ववन्तो महाबलाः ।
दनुपुत्रा महाराज दश दानववंशजाः ।। २८ ।।

महाराज! ये विख्यात दानववंश कहे गये हैं, जो बड़े धैर्यवान् और महाबलवान् हुए हैं। दनुके पुत्रोंमें निम्नांकित दानवोंके दस कुल बहुत प्रसिद्ध हैं— ।। २८ ।।

एकाक्षो मृतपा वीरः प्रलम्बनरकावपि ।
वातापी शत्रुतपनः शठश्चैव महासुरः ।। २९ ।।
गविष्ठश्च वनायुश्च दीर्घजिह्वश्च दानवः ।
असंख्येयाः स्मृतास्तेषां पुत्राः पौत्राश्च भारत ।। ३० ।।

एकाक्ष, वीर मृतपा, प्रलम्ब, नरक, वातापी, शत्रुतपन, महान् असुर शठ, गविष्ठ, वनायु तथा दानव दीर्घजिह्व। भारत! इन सबके पुत्र-पौत्र असंख्य बताये गये हैं ।। २९-३० ।।

सिंहिका सुषुवे पुत्रं राहुं चन्द्रार्कमर्दनम् ।
सुचन्द्रं चन्द्रहर्तारं तथा चन्द्रप्रमर्दनम् ।। ३१ ।।

सिंहिकाने राहु नामक पुत्रको उत्पन्न किया, जो चन्द्रमा और सूर्यका मान-मर्दन करनेवाला है। इसके सिवा सुचन्द्र, चन्द्रहर्ता तथा चन्द्रप्रमर्दनको भी उसीने जन्म दिया ।। ३१ ।।

क्रूरस्वभावं क्रूरायाः पुत्रपौत्रमनन्तकम् ।
गणः क्रोधवशो नाम क्रूरकर्मारिमर्दनः ।। ३२ ।।

क्रूरा (क्रोधा)-के क्रूर स्वभाववाले असंख्य पुत्र-पौत्र उत्पन्न हुए। शत्रुओंका नाश करनेवाला क्रूरकर्मा क्रोधवश नामक गण भी क्रूराकी ही संतान हैं ।। ३२ ।।

दनायुषः पुनः पुत्राश्चत्वारोऽसुरपुङ्गवाः ।
विक्षरो बलवीरौ च वृत्रश्चैव महासुरः ।। ३३ ।।

दनायुके असुरोंमें श्रेष्ठ चार पुत्र हुए—विक्षर, बल, वीर और महान् असुर वृत्र ।। ३३ ।।

कालायाः प्रथिताः पुत्राः कालकल्पाः प्रहारिणः ।
प्रविख्याता महावीर्या दानवेषु परंतपाः ।। ३४ ।।

कालाके विख्यात पुत्र अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करनेमें कुशल और साक्षात् कालके समान भयंकर थे। दानवोंमें उनकी बड़ी ख्याति थी। वे महान् पराक्रमी और शत्रुओंको संताप देनेवाले थे ।। ३४ ।।

विनाशनश्च क्रोधश्च क्रोधहन्ता तथैव च ।
क्रोधशत्रुस्तथैवान्ये कालकेया इति श्रुताः ।। ३५ ।।

उनके नाम इस प्रकार हैं—विनाशन, क्रोध, क्रोधहन्ता तथा क्रोधशत्रु। कालकेय नामसे विख्यात दूसरे-दूसरे असुर भी कालाके ही पुत्र थे ।। ३५ ।।

असुराणामुपाध्यायः शुक्रस्त्वृषिसुतोऽभवत् ।
ख्याताश्चोशनसः पुत्राश्चत्वारोऽसुरयाजकाः ।। ३६ ।।

असुरोंके उपाध्याय (अध्यापक एवं पुरोहित) शुक्राचार्य महर्षि भृगुके पुत्र थे। उन्हें उशना भी कहते हैं। उशनाके चार पुत्र हुए, जो असुरोंके पुरोहित थे ।। ३६ ।।

त्वष्टाधरस्तथात्रिश्च द्वावन्यौ रौद्रकर्मिणौ ।
तेजसा सूर्यसंकाशा ब्रह्मलोकपरायणाः ।। ३७ ।।

इनके अतिरिक्त त्वष्टाधर तथा अत्रि ये दो पुत्र और हुए, जो रौद्र कर्म करने और करानेवाले थे। उशनाके सभी पुत्र सूर्यके समान तेजस्वी तथा ब्रह्मलोकको ही परम आश्रय माननेवाले थे ।। ३७ ।।

इत्येष वंशप्रभवः कथितस्ते तरस्विनाम् ।
असुराणां सुराणां च पुराणे संश्रुतो मया ।। ३८ ।।

राजन्! मैंने पुराणमें जैसा सुन रखा है, उसके अनुसार तुमसे यह वेगशाली असुरों और देवताओंके वंशकी उत्पत्तिका वृत्तान्त बताया है ।। ३८ ।।

एतेषां यदपत्यं तु न शक्यं तदशेषतः ।
प्रसंख्यातुं महीपाल गुणभूतमनन्तकम् ।। ३९ ।।
तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च तथैव गरुडारुणौ ।
आरुणिर्वारुणिश्चैव वैनतेयाः प्रकीर्तिताः ।। ४० ।।

महीपाल! इनकी जो संतानें हैं, उन सबकी पूर्णरूपसे गणना नहीं की जा सकती; क्योंकि वे सब अनन्त गुने हैं। तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि, गरुड, अरुण, आरुणि तथा वारुणि—ये

विनताके पुत्र कहे गये हैं ।। ३९-४० ।।

शेषोऽनन्तो वासुकिश्च तक्षकश्च भुजङ्गमः ।
कूर्मश्च कुलिकश्चैव काद्रवेयाः प्रकीर्तिताः ।। ४१ ।।

शेष, अनन्त, वासुकि, तक्षक, कूर्म और कुलिक आदि नागगण कद्रूके पुत्र कहलाते हैं ।। ४१ ।।

भीमसेनोग्रसेनौ च सुपर्णो वरुणस्तथा ।
गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चाश्च सप्तमः ।। ४२ ।।
सत्यवागर्कपर्णश्च प्रयुतश्चापि विश्रुतः ।
भीमश्चित्ररथश्चैव विख्यातः सर्वविद् वशी ।। ४३ ।।
तथा शालिशिरा राजन् पर्जन्यश्च चतुर्दशः ।
कलिः पञ्चदशस्तेषां नारदश्चैव षोडशः ।
इत्येते देवगन्धर्वा मौनेयाः परिकीर्तिताः ।। ४४ ।।

राजन्! भीमसेन, उग्रसेन, सुपर्ण, वरुण, गोपति, धृतराष्ट्र, सातवें सूर्यवर्चा, सत्यवाक्, अर्कपर्ण, विख्यात प्रयुत, भीम, सर्वज्ञ और जितेन्द्रिय चित्ररथ, शालिशिरा, चौदहवें पर्जन्य, पंद्रहवें कलि और सोलहवें नारद—से सब देवगन्धर्व जातिवाले सोलह पुत्र मुनिके गर्भसे उत्पन्न कहे गये हैं ।। ४२—४४ ।।

अथ प्रभूतान्यन्यानि कीर्तयिष्यामि भारत ।
अनवद्यां मनुं वंशामसुरां मार्गणप्रियाम् ।। ४५ ।।
अरूपां सुभगां भासीमिति प्राधा व्यजायत ।
सिद्धः पूर्णश्च बर्हिश्च पूर्णायुश्च महायशाः ।। ४६ ।।
ब्रह्मचारी रतिगुणः सुपर्णश्चैव सप्तमः ।
विश्वावसुश्च भानुश्च सुचन्द्रो दशमस्तथा ।। ४७ ।।
इत्येते देवगन्धर्वाः प्राधेयाः परिकीर्तिताः ।
इमं त्वप्सरसां वंशं विदितं पुण्यलक्षणम् ।। ४८ ।।
प्राधासूत महाभागा देवी देवर्षितः पुरा ।
अलम्बुषा मिश्रकेशी विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा ।। ४९ ।।
अरुणा रक्षिता चैव रम्भा तद्वन्मनोरमा ।
केशिनी च सुबाहुश्च सुरता सुरजा तथा ।। ५० ।।
सुप्रिया चातिबाहुश्च विख्यातौ च हाहा हूहूः ।
तुम्बुरुश्चेति चत्वारः स्मृता गन्धर्वसत्तमाः ।। ५१ ।।

भारत! इसके अतिरिक्त अन्य बहुत-से वंशोंकी उत्पत्तिका वर्णन करता हूँ। प्राधा नामवाली दक्षकन्याने अनवद्या, मनु, वंशा, असुरा, मार्गणप्रिया, अरूपा, सुभगा और भासी इन कन्याओंको उत्पन्न किया। सिद्ध, पूर्ण, बार्हि, महायशस्वी पूर्णायु, ब्रह्मचारी, रतिगुण,

सातवें सुपर्ण, विश्वावसु, भानु और दसवें सुचन्द्र—से दस देव-गन्धर्व भी प्राधाके ही पुत्र बताये गये हैं। इनके सिवा महाभागा देवी प्राधाने पहले देवर्षि (कश्यप)-के समागमसे इन प्रसिद्ध अप्सराओंके शुभ लक्षणवाले समुदायको उत्पन्न किया था। उनके नाम ये हैं—अलम्बुषा, मिश्रकेशी, विद्युत्पर्णा, तिलोत्तमा, अरुणा, रक्षिता, रम्भा, मनोरमा, केशिनी, सुबाहु, सुरता, सुरजा और सुप्रिया। अतिबाहु, सुप्रसिद्ध हाहा और हूहू तथा तुम्बुरु—ये चार श्रेष्ठ गन्धर्व भी प्राधाके ही पुत्र माने गये हैं ।। ४५—५१ ।।

अमृतं ब्राह्मणा गावो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
अपत्यं कपिलायास्तु पुराणे परिकीर्तितम् ।। ५२ ।।

अमृत, ब्राह्मण, गौएँ, गन्धर्व तथा अप्सराएँ—ये सब पुराणमें कपिलाकी संतानें बतायी गयी हैं ।। ५२ ।।

इति ते सर्वभूतानां सम्भवः कथितो मया ।
यथावत् सम्परिख्यातो गन्धर्वाप्सरसां तथा ।। ५३ ।।
भुजङ्गानां सुपर्णानां रुद्राणां मरुतां तथा ।
गवां च ब्राह्मणानां च श्रीमतां पुण्यकर्मणाम् ।। ५४ ।।

राजन्! इस प्रकार मैंने तुम्हें सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिका वृत्तान्त बताया है। इसी तरह गन्धर्वों, अप्सराओं, नागों, सुपर्णों, रुद्रों, मरुद्गणों, गौओं तथा श्रीसम्पन्न पुण्यकर्मा ब्राह्मणोंके जन्मकी कथा भी भलीभाँति कही है ।। ५३-५४ ।।

आयुष्यश्चैव पुण्यश्च धन्यः श्रुतिसुखावहः ।
श्रोतव्यश्चैव सततं श्राव्यश्चैवानसूयता ।। ५५ ।।

यह प्रसंग आयु देनेवाला, पुण्यमय, प्रशंसनीय तथा सुननेमें सुखद है। मनुष्यको चाहिये कि वह दोषदृष्टि न रखकर सदा इसे सुने और सुनावे ।। ५५ ।।

इमं तु वंशं नियमेन यः पठेत्
महात्मनां ब्राह्मणदेवसंनिधौ ।
अपत्यलाभं लभते स पुष्कलं
श्रियं यशः प्रेत्य च शोभनां गतिम् ।। ५६ ।।

जो ब्राह्मण और देवताओंके समीप महात्माओंकी इस वंशावलीका नियमपूर्वक पाठ करता है, वह प्रचुर संतान, सम्पत्ति और यश प्राप्त करता है तथा मृत्युके पश्चात् उत्तम गति पाता है ।। ५६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि आदित्यादिवंशकथने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ।। ६५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें आदित्यादिवंशकथनविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६५ ।।

षट्षष्टितमोऽध्यायः

महर्षियों तथा कश्यप-पत्नियोंकी संतान-परम्पराका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः ।
एकादश सुताः स्थाणोः ख्याताः परमतेजसः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ब्रह्माके मानस पुत्र छः महर्षियोंके नाम तुम्हें ज्ञात हो चुके हैं। उनके सातवें पुत्र थे स्थाणु। स्थाणुके परम तेजस्वी ग्यारह पुत्र विख्यात हैं ।। १ ।।

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतपः ।। २ ।।
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः ।
स्थाणुर्भवश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः ।। ३ ।।

मृगव्याध, सर्प, महायशस्वी निर्ऋति, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, शत्रुसंतापन पिनाकी, दहन, ईश्वर, परम कान्तिमान् कपाली, स्थाणु और भगवान् भव—ये ग्यारह रुद्र माने गये हैं ।। २-३ ।।

मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
षडेते ब्रह्मणः पुत्रा वीर्यवन्तो महर्षयः ।। ४ ।।

मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु—ये ब्रह्माजीके छः पुत्र बड़े शक्तिशाली महर्षि हैं ।। ४ ।।

त्रयस्त्वङ्गिरसः पुत्रा लोके सर्वत्र विश्रुताः ।
बृहस्पतिरुतथ्यश्च संवर्तश्च धृतव्रताः ।। ५ ।।
अत्रेस्तु बहवः पुत्राः श्रूयन्ते मनुजाधिप ।
सर्वे वेदविदः सिद्धाः शान्तात्मानो महर्षयः ।। ६ ।।

अंगिराके तीन पुत्र हुए, जो लोकमें सर्वत्र विख्यात हैं। उनके नाम ये हैं—बृहस्पति, उतथ्य और संवर्त। ये तीनों ही उत्तम व्रत धारण करनेवाले हैं। मनुजेश्वर! अत्रिके बहुत-से पुत्र सुने जाते हैं। वे सब-के-सब वेदवेत्ता, सिद्ध और शान्तचित्त महर्षि हैं ।। ५-६ ।।

राक्षसाश्च पुलस्त्यस्य वानराः किन्नरास्तथा ।
यक्षाश्च मनुजव्याघ्र पुत्रास्तस्य च धीमतः ।। ७ ।।

नरश्रेष्ठ! बुद्धिमान् पुलस्त्य मुनिके पुत्र राक्षस, वानर, किन्नर तथा यक्ष हैं ।। ७ ।।

पुलहस्य सुता राजञ्छरभाश्च प्रकीर्तिताः ।
सिंहाः किम्पुरुषा व्याघ्रा ऋक्षा ईहामृगास्तथा ।। ८ ।।

राजन्! पुलहके शरभ, सिंह, किम्पुरुष, व्याघ्र, रीछ, और ईहामृग (भेड़िया) जातिके पुत्र हुए ।। ८ ।।

क्रतोः क्रतुसमाः पुत्राः पतङ्गसहचारिणः ।
विश्रुतास्त्रिषु लोकेषु सत्यव्रतपरायणाः ।। ९ ।।

क्रतु (यज्ञ)-के पुत्र क्रतुके ही समान पवित्र, तीनों लोकोंमें विख्यात, सत्यवादी, व्रतपरायण तथा भगवान् सूर्यके आगे चलनेवाले साठ हजार वालखिल्य ऋषि हुए ।। ९ ।।

दक्षस्त्वजायताङ्गुष्ठाद् दक्षिणाद् भगवानृषिः ।
ब्रह्मणः पृथिवीपाल शान्तात्मा सुमहातपाः ।। १० ।।

भूमिपाल! ब्रह्माजीके दाहिने अँगूठेसे महातपस्वी शान्तचित्त महर्षि भगवान् दक्ष उत्पन्न हुए ।। १० ।।

वामादजायताङ्गुष्ठाद् भार्या तस्य महात्मनः ।
तस्यां पञ्चाशतं कन्याः स एवाजनयन्मुनिः ।। ११ ।।

इसी प्रकार उन महात्माके बायें अँगूठेसे उनकी पत्नीका प्रादुर्भाव हुआ। महर्षिने उसके गर्भसे पचास कन्याएँ उत्पन्न कीं ।। ११ ।।

ताः सर्वास्त्वनवद्याङ्ग्यः कन्याः कमललोचनाः ।
पुत्रिकाः स्थापयामास नष्टपुत्रः प्रजापतिः ।। १२ ।।

वे सभी कन्याएँ परम सुन्दर अंगोंवाली तथा विकसित कमलके सदृश विशाल लोचनोंसे सुशोभित थीं। प्रजापति दक्षके पुत्र जब नष्ट हो गये, तब उन्होंने अपनी उन कन्याओंको पुत्रिका बनाकर रखा (और उनका विवाह पुत्रिकाधर्मके अनुसार ही किया*) ।। १२ ।।

ददौ स दश धर्माय सप्तविंशतिमिन्दवे ।
दिव्येन विधिना राजन् कश्यपाय त्रयोदश ।। १३ ।।

राजन्! दक्षने दस कन्याएँ धर्मको, सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमाको और तेरह कन्याएँ महर्षि कश्यपको दिव्य विधिके अनुसार समर्पित कर दीं ।। १३ ।।

नामतो धर्मपत्न्यस्ताः कीर्त्यमाना निबोध मे ।
कीर्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया तथा ।। १४ ।।
बुद्धिर्लज्जा मतिश्चैव पत्न्यो धर्मस्य ता दश ।
द्वाराण्येतानि धर्मस्य विहितानि स्वयम्भुवा ।। १५ ।।

अब मैं धर्मकी पत्नियोंके नाम बता रहा हूँ, सुनो—कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा और मति—ये धर्मकी दस पत्नियाँ हैं। स्वयम्भू ब्रह्माजीने इन सबको धर्मका द्वार निश्चित किया है अर्थात् इनके द्वारा धर्ममें प्रवेश होता है ।। १४-१५ ।।

सप्तविंशतिः सोमस्य पत्न्यो लोकस्य विश्रुताः ।
कालस्य नयने युक्ताः सोमपत्न्यः शुचिव्रताः ।। १६ ।।

चन्द्रमाकी सत्ताईस स्त्रियाँ समस्त लोकोंमें विख्यात हैं। वे पवित्र व्रत धारण करनेवाली सोमपत्नियाँ काल-विभागका ज्ञापन करनेमें नियुक्त हैं ।। १६ ।।

सर्वा नक्षत्रयोगिन्यो लोकयात्राविधानतः ।
पैतामहो मुनिर्देवस्तस्य पुत्रः प्रजापतिः ।
तस्याष्टौ वसवः पुत्रास्तेषां वक्ष्यामि विस्तरम् ।। १७ ।।
धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ।। १८ ।।

लोक-व्यवहारका निर्वाह करनेके लिये वे सब-की-सब नक्षत्र-वाचक नामोंसे युक्त हैं। पितामह ब्रह्माजीके स्तनसे उत्पन्न होनेके कारण मुनिवर धर्मदेव उनके पुत्र माने गये हैं। प्रजापति दक्ष भी ब्रह्माजीके ही पुत्र हैं। दक्षकी कन्याओंके गर्भसे धर्मके आठ पुत्र उत्पन्न हुए, जिन्हें वसुगण कहते हैं। अब मैं वसुओंका विस्तारपूर्वक परिचय देता हूँ। धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—ये आठ वसु कहे गये हैं ।। १७-१८ ।।

धूम्रायास्तु धरः पुत्रो ब्रह्मविद्यो ध्रुवस्तथा ।
चन्द्रमास्तु मनस्विन्याः श्वासायाः श्वसनस्तथा ।। १९ ।।
रतायाश्चाप्यहः पुत्रः शाण्डिल्याश्च हुताशनः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च प्रभातायाः सुतौ स्मृतौ ।। २० ।।

धर और ब्रह्मवेत्ता ध्रुव धूम्राके पुत्र हैं। चन्द्रमा मनस्विनीके और अनिल श्वासाके पुत्र हैं। अह रताके और अनल शाण्डिलीके पुत्र हैं तथा प्रत्यूष और प्रभास ये दोनों प्रभाताके पुत्र बताये गये हैं ।। १९-२० ।।

धरस्य पुत्रो द्रविणो हुतहव्यवहस्तथा ।
ध्रुवस्य पुत्रो भगवान् कालो लोकप्रकालनः ।। २१ ।।

धरके दो पुत्र हुए—द्रविण तथा हुतहव्यवह। सब लोकोंको अपना ग्रास बनानेवाले भगवान् काल ध्रुवके पुत्र हैं ।। २१ ।।

सोमस्य तु सुतो वर्चा वर्चस्वी येन जायते ।
मनोहरायाः शिशिरः प्राणोऽथ रमणस्तथा ।। २२ ।।

सोमके मनोहरा नामक स्त्रीके गर्भसे प्रथम तो वर्चा नामक पुत्र हुआ, जिससे लोग वर्चस्वी (तेज, कान्ति और पराक्रमसे सम्पन्न) होते हैं, फिर शिशिर, प्राण तथा रमण नामक पुत्र उत्पन्न हुए ।। २२ ।।

अह्नः सुतस्तथा ज्योतिः शमः शान्तस्तथा मुनिः ।
अग्नेः पुत्रः कुमारस्तु श्रीमाञ्छरवणालयः ।। २३ ।।

अहके चार पुत्र हुए—ज्योति, शम, शान्त तथा मुनि। अनलके पुत्र श्रीमान् कुमार (स्कन्द) हुए, जिनका जन्मकालमें सरकंडोंके वनमें निवास था ।। २३ ।।

तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठजः ।
कृत्तिकाभ्युपपत्तेश्च कार्तिकेय इति स्मृतः ।। २४ ।।

शाख, विशाख और नैगमेय*—ये तीनों कुमारके छोटे भाई हैं। छः कृत्तिकाओंको मातारूपमें स्वीकार कर लेनेके कारण कुमारका दूसरा नाम कार्तिकेय भी है ।। २४ ।।

अनिलस्य शिवा भार्या तस्याः पुत्रो मनोजवः ।
अविज्ञातगतिश्चैव द्वौ पुत्रावनिलस्य तु ।। २५ ।।

अनिलकी भार्याका नाम शिवा है। उसके दो पुत्र हैं—मनोजव तथा अविज्ञातगति। इस प्रकार अनिलके दो पुत्र कहे गये हैं ।। २५ ।।

प्रत्यूषस्य विदुः पुत्रमृषिं नाम्नाथ देवलम् ।
द्वौ पुत्रौ देवलस्यापि क्षमावन्तौ मनीषिणौ ।
बृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मवादिनी ।। २६ ।।
योगसक्ता जगत् कृत्स्नमसक्ता विचचार ह ।
प्रभासस्य तु भार्या सा वसूनामष्टमस्य ह ।। २७ ।।

देवल नामक सुप्रसिद्ध मुनिको प्रत्यूषका पुत्र माना जाता है। देवलके भी दो पुत्र हुए। वे दोनों ही क्षमावान् और मनीषी थे। बृहस्पतिकी बहिन स्त्रियोंमें श्रेष्ठ एवं ब्रह्मवादिनी थीं। वे योगमें तत्पर हो सम्पूर्ण जगत्में अनासक्त भावसे विचरती रहीं। वे ही वसुओंमें आठवें वसु प्रभासकी धर्मपत्नी थीं ।। २६-२७ ।।

विश्वकर्मा महाभागो जज्ञे शिल्पप्रजापतिः ।
कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वर्धकिः ।। २८ ।।

शिल्पकर्मके ब्रह्मा महाभाग विश्वकर्मा उन्हींसे उत्पन्न हुए हैं। वे सहस्रों शिल्पोंके निर्माता तथा देवताओंके बढ़ई कहे जाते हैं ।। २८ ।।

भूषणानां च सर्वेषां कर्ता शिल्पवतां वरः ।
यो दिव्यानि विमानानि त्रिदशानां चकार ह ।। २९ ।।

वे सब प्रकारके भूषणोंको बनानेवाले और शिल्पियोंमें श्रेष्ठ हैं। उन्होंने देवताओंके असंख्य दिव्य विमान बनाये हैं ।। २९ ।।

मनुष्याश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पं महात्मनः ।
पूजयन्ति च यं नित्यं विश्वकर्माणमव्ययम् ।। ३० ।।

मनुष्य भी महात्मा विश्वकर्माके शिल्पका आश्रय ले जीवननिर्वाह करते हैं और सदा उन अविनाशी विश्वकर्माकी पूजा करते रहते हैं ।। ३० ।।

स्तनं तु दक्षिणं भित्त्वा ब्रह्मणो नरविग्रहः ।
निःसृतो भगवान् धर्मः सर्वलोकसुखावहः ।। ३१ ।।

ब्रह्माजीके दाहिने स्तनको विदीर्ण करके मनुष्यरूपमें भगवान् धर्म प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण लोकोंको सुख देनेवाले हैं ।। ३१ ।।

त्रयस्तस्य वराः पुत्राः सर्वभूतमनोहराः ।
शमः कामश्च हर्षश्च तेजसा लोकधारिणः ।। ३२ ।।

उनके तीन श्रेष्ठ पुत्र हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके मनको हर लेते हैं। उनके नाम हैं—शम, काम और हर्ष। वे अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत्‌को धारण करनेवाले हैं ।। ३२ ।।

कामस्य तु रतिर्भार्या शमस्य प्राप्तिरङ्गना ।
नन्दा तु भार्या हर्षस्य यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः ।। ३३ ।।

कामकी पत्नीका नाम रति है। शमकी भार्या प्राप्ति है। हर्षकी पत्नी नन्दा है। इन्हींमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं ।। ३३ ।।

मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपस्य सुरासुराः ।
जज्ञिरे नृपशार्दूल लोकानां प्रभवस्तु सः ।। ३४ ।।

मरीचिके पुत्र कश्यप और कश्यपके सम्पूर्ण देवता तथा असुर उत्पन्न हुए। नृपश्रेष्ठ! इस प्रकार कश्यप सम्पूर्ण लोकोंके आदि कारण हैं ।। ३४ ।।

त्वाष्ट्री तु सवितुर्भार्या वडवारूपधारिणी ।
असूयत महाभागा सान्तरिक्षेऽश्विनावुभौ ।। ३५ ।।
द्वादशैवादितेः पुत्राः शक्रमुख्या नराधिप ।
तेषामवरजो विष्णुर्यत्र लोकाः प्रतिष्ठिताः ।। ३६ ।।

त्वष्टाकी पुत्री संज्ञा भगवान् सूर्यकी धर्मपत्नी हैं। वे परम सौभाग्यवती हैं। उन्होंने अश्विनी (घोड़ी)-का रूप धारण करके अन्तरिक्षमें दोनों अश्विनीकुमारोंको जन्म दिया। राजन्! अदितिके इन्द्र आदि बारह पुत्र ही हैं। उनमें भगवान् विष्णु सबसे छोटे हैं, जिनमें ये सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं ।। ३५-३६ ।।

त्रयस्त्रिंशत इत्येते देवास्तेषामहं तव ।
अन्वयं सम्प्रवक्ष्यामि पक्षैश्च कुलतो गणान् ।। ३७ ।।

इस प्रकार आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य तथा प्रजापति और वषट्कार—ये तैंतीस मुख्य देवता हैं। अब मैं तुम्हें इनके पक्ष और कुल आदिके उल्लेखपूर्वक वंश और गण आदिका परिचय देता हूँ ।। ३७ ।।

रुद्राणामपरः पक्षः साध्यानां मरुतां तथा ।
वसूनां भार्गवं विद्याद् विश्वेदेवांस्तथैव च ।। ३८ ।।

रुद्रोंका एक अलग पक्ष या गण है, साध्य, मरुत् तथा वसुओंका भी पृथक्-पृथक् गण है। इसी प्रकार भार्गव तथा विश्वेदेवगणको भी जानना चाहिये ।। ३८ ।।

वैनतेयस्तु गरुडो बलवानरुणस्तथा ।
बृहस्पतिश्च भगवानादित्येष्वेव गण्यते ।। ३९ ।।

विनतानन्दन गरुड, बलवान् अरुण तथा भगवान् बृहस्पतिकी गणना आदित्योंमें ही की जाती है ।। ३९ ।।

अश्विनौ गुह्यकान् विद्धि सर्वौषध्यस्तथा पशून् ।
एते देवगणा राजन् कीर्तितास्तेऽनुपूर्वशः ।। ४० ।।

अश्विनीकुमार, सर्वौषधि तथा पशु—इन सबको गुह्यकसमुदायके भीतर समझो। राजन्! ये देवगण तुम्हें क्रमशः बताये गये हैं ।। ४० ।।

यान् कीर्तयित्वा मनुजः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
ब्रह्मणो हृदयं भित्त्वा निःसृतो भगवान् भृगुः ।। ४१ ।।

मनुष्य इन सबका कीर्तन करके सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। भगवान् भृगु ब्रह्माजीके हृदयका भेदन करके प्रकट हुए थे ।। ४१ ।।

भृगोः पुत्रः कविर्विद्वाञ्छुक्रः कविसुतो ग्रहः ।
त्रैलोक्यप्राणयात्रार्थं वर्षावर्षे भयाभये ।
स्वयम्भुवा नियुक्तः सन् भुवनं परिधावति ।। ४२ ।।

भृगुके विद्वान् पुत्र कवि हुए और कविके पुत्र शुक्राचार्य हुए, जो ग्रह होकर तीनों लोकोंके जीवनकी रक्षाके लिये वृष्टि, अनावृष्टि तथा भय और अभय उत्पन्न करते हैं। स्वयम्भू ब्रह्माजीकी प्रेरणासे वे समस्त लोकोंका चक्कर लगाते रहते हैं ।। ४२ ।।

योगाचार्यो महाबुद्धिर्दैत्यानामभवद् गुरुः ।
सुराणां चापि मेधावी ब्रह्मचारी यतव्रतः ।। ४३ ।।

महाबुद्धिमान् शुक्र ही योगके आचार्य और दैत्योंके गुरु हुए। वे ही योगबलसे मेधावी, ब्रह्मचारी एवं व्रतपरायण बृहस्पतिके रूपमें प्रकट हो देवताओंके भी गुरु होते हैं ।। ४३ ।।

तस्मिन् नियुक्ते विधिना योगक्षेमाय भार्गवे ।

अन्यमुत्पादयामास पुत्रं भृगुरनिन्दितम् ।। ४४ ।।

ब्रह्माजीने जब भृगुपुत्र शुक्रको जगत्के योगक्षेमके कार्यमें नियुक्त कर दिया, तब महर्षि भृगुने एक दूसरे निर्दोष पुत्रको जन्म दिया ।। ४४ ।।

च्यवनं दीप्ततपसं धर्मात्मानं यशस्विनम् ।
यः स रोषाच्च्युतो गर्भान्मातुर्मोक्षाय भारत ।। ४५ ।।

जिसका नाम था च्यवन। महर्षि च्यवनकी तपस्या सदा उद्दीप्त रहती है। वे धर्मात्मा और यशस्वी हैं। भारत! वे अपनी माताको संकटसे बचानेके लिये रोषपूर्वक गर्भसे च्युत हो गये थे (इसीलिये च्यवन कहलाये) ।। ४५ ।।

आरुषी तु मनोः कन्या तस्य पत्नी मनीषिणः ।
और्वस्तस्यां समभवदूरुं भित्त्वा महायशाः ।। ४६ ।।

मनुकी पुत्री आरुषी मनीषी च्यवन मुनिकी पत्नी थी। उससे महायशस्वी और्व मुनिका जन्म हुआ। वे अपनी माताकी ऊरु (जाँघ) फाड़कर प्रकट हुए थे; इसलिये और्व कहलाये ।। ४६ ।।

महातेजा महावीर्यो बाल एव गुणैर्युतः ।
ऋचीकस्तस्य पुत्रस्तु जमदग्निस्ततोऽभवत् ।। ४७ ।।

वे महान् तेजस्वी और अत्यन्त शक्तिशाली थे। बचपनमें ही अनेक सद्गुण उनकी शोभा बढ़ाने लगे। और्वके पुत्र ऋचीक तथा ऋचीकके पुत्र जमदग्नि हुए ।। ४७ ।।

जमदग्नेस्तु चत्वार आसन् पुत्रा महात्मनः ।
रामस्तेषां जघन्योऽभूदजघन्यैर्गुणैर्युतः ।
सर्वशस्त्रेषु कुशलः क्षत्रियान्तकरो वशी ।। ४८ ।।

महात्मा जमदग्निके चार पुत्र थे, जिनमें परशुरामजी सबसे छोटे थे; किंतु उनके गुण छोटे नहीं थे। वे श्रेष्ठ सद्गुणोंसे विभूषित थे, सम्पूर्ण शस्त्रविद्यामें कुशल, क्षत्रिय-कुलका संहार करनेवाले तथा जितेन्द्रिय थे ।। ४८ ।।

और्वस्यासीत् पुत्रशतं जमदग्निपुरोगमम् ।
तेषां पुत्रसहस्राणि बभूवुर्भुवि विस्तरः ।। ४९ ।।

और्व मुनिके जमदग्नि आदि सौ पुत्र थे। फिर उनके भी सहस्रों पुत्र हुए। इस प्रकार इस पृथ्वीपर भृगुवंशका विस्तार हुआ ।। ४९ ।।

द्वौ पुत्रौ ब्रह्मणस्त्वन्यौ ययोस्तिष्ठति लक्षणम् ।
लोके धाता विधाता च यौ स्थितौ मनुना सह ।। ५० ।।

ब्रह्माजीके दो पुत्र और थे, जिनका धारण-पोषण और सृष्टिरूप लक्षण लोकमें सदा ही उपलब्ध होता है। उनके नाम हैं धाता और विधाता। ये मनुके साथ रहते हैं ।। ५० ।।

तयोरेव स्वसा देवी लक्ष्मीः पद्मगृहा शुभा ।
तस्यास्तु मानसाः पुत्रास्तुरगा व्योमचारिणः ।। ५१ ।।
वरुणस्य भार्या या ज्येष्ठा शुक्राद् देवी व्यजायत ।
तस्याः पुत्रं बलं विद्धि सुरां च सुरनन्दिनीम् ।। ५२ ।।

कमलोंमें निवास करनेवाली शुभस्वरूपा लक्ष्मीदेवी उन दोनोंकी बहिन हैं। आकाशमें विचरनेवाले अश्व लक्ष्मीदेवीके मानस पुत्र हैं। राजन्! वरुणके बीजसे उनकी ज्येष्ठ पत्नी देवीने एक पुत्र और एक पुत्रीको जन्म दिया। उसके पुत्रको तो बल और देवनन्दिनी पुत्रीको सुरा समझो ।। ५१-५२ ।।

प्रजानामन्नकामानामन्योन्यपरिभक्षणात् ।
अधर्मस्तत्र संजातः सर्वभूतविनाशकः ।। ५३ ।।

तदनन्तर एक समय ऐसा आया, जब प्रजा भूखसे पीड़ित हो भोजनकी इच्छासे एक-दूसरेको मारकर खाने लगी, उस समय वहाँ अधर्म प्रकट हुआ, जो समस्त प्राणियोंका नाश करनेवाला है ।। ५३ ।।

तस्यापि निर्ऋतिर्भार्या नैर्ऋता येन राक्षसाः ।
घोरास्तस्यास्त्रयः पुत्राः पापकर्मरताः सदा ।। ५४ ।।

अधर्मकी स्त्री निर्ऋति हुई, जिससे नैर्ऋत नामवाले तीन भयंकर राक्षस पुत्र उत्पन्न हुए, जो सदा पापकर्ममें ही लगे रहनेवाले हैं ।। ५४ ।।

भयो महाभयश्चैव मृत्युर्भूतान्तकस्तथा ।
न तस्य भार्या पुत्रो वा कश्चिदस्त्यन्तको हि सः ।। ५५ ।।

उनके नाम इस प्रकार हैं—भय, महाभय और मृत्यु। उनमें मृत्यु समस्त प्राणियोंका अन्त करनेवाला है। उसके पत्नी या पुत्र कोई नहीं है, क्योंकि वह सबका अन्त करनेवाला है ।। ५५ ।।

काकीं श्येनीं तथा भासीं धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम् ।
ताम्रा तु सुषुवे देवी पञ्चैता लोकविश्रुताः ।। ५६ ।।

देवी ताम्राने काकी, श्येनी, भासी, धृतराष्ट्री तथा शुकी—इन पाँच लोकविख्यात कन्याओंको उत्पन्न किया ।। ५६ ।।

उलूकान् सुषुवे काकी श्येनी श्येनान् व्यजायत ।
भासी भासानजनयद् गृध्रांश्चैव जनाधिप ।। ५७ ।।

जनेश्वर! काकीने उल्लुओं और श्येनीने बाजोंको जन्म दिया; भासीने मुर्गों तथा गीधोंको उत्पन्न किया ।। ५७ ।।

धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः ।
चक्रवाकांश्च भद्रा तु जनयामास सैव तु ।। ५८ ।।
शुकी च जनयामास शुकानेव यशस्विनी ।

कल्याणगुणसम्पन्ना सर्वलक्षणपूजिता ।। ५९ ।।

कल्याणमयी धृतराष्ट्रीने सब प्रकारके हंसों, कल-हंसों तथा चक्रवाकोंको जन्म दिया। कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न तथा समस्त शुभ लक्षणोंसे युक्त यशस्विनी शुकीने शुकों (तोतों)-को ही उत्पन्न किया ।। ५८-५९ ।।

नव क्रोधवशा नारीः प्रजज्ञे क्रोधसम्भवाः ।
मृगी च मृगमन्दा च हरी भद्रमना अपि ।। ६० ।।
मातङ्गी त्वथ शार्दूली श्वेता सुरभिरेव च ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना सुरसा चैव भामिनी ।। ६१ ।।

क्रोधवशाने नौ प्रकारकी क्रोधजनित कन्याओंको जन्म दिया। उनके नाम ये हैं—मृगी, मृगमन्दा, हरी, भद्रमना, मातंगी, शार्दूली, श्वेता, सुरभि तथा सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न सुन्दरी सुरसा ।। ६०-६१ ।।

अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरवरोत्तम ।
ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सृमराश्च परंतप ।। ६२ ।।
ततस्त्वैसवतं नागं जज्ञे भद्रमनाः सुतम् ।
ऐरावतः सुतस्तस्या देवनागो महागजः ।। ६३ ।।

नरश्रेष्ठ! समस्त मृग मृगीकी संतानें हैं। परंतप! मृगमन्दासे रीछ तथा सृमर (छोटी जातिके मृग) उत्पन्न हुए। भद्रमनाने ऐरावत हाथीको अपने पुत्ररूपमें उत्पन्न किया। देवताओंका हाथी महान् गजराज ऐरावत भद्रमनाका ही पुत्र है ।। ६२-६३ ।।

हर्याश्च हरयोऽपत्यं वानराश्च तरस्विनः ।
गोलांगूलांश्च भद्रं ते हर्याः पुत्रान् प्रचक्षते ।। ६४ ।।
प्रजज्ञे त्वथ शार्दूली सिंहान् व्याघ्राननेकशः ।
द्वीपिनश्च महासत्त्वान् सर्वानेव न संशयः ।। ६५ ।।

राजन्! तुम्हारा कल्याण हो, वेगवान् घोड़े और वानर हरीके पुत्र हैं। गायके समान पूँछवाले लंगूरोंको भी हरीका ही पुत्र बताया जाता है। शार्दूलीने सिंहों, अनेक प्रकारके बाघों और महान् बलशाली सभी प्रकारके चीतोंको भी जन्म दिया, इसमें संशय नहीं है ।। ६४-६५ ।।

मातङ्ग्यपि च मातङ्गानपत्यानि नराधिप ।
दिशां गजं तु श्वेताख्यं श्वेताजनयदाशुगम् ।। ६६ ।।
तथा दुहितरौ राजन् सुरभिर्वै व्यजायत ।
रोहिणी चैव भद्रं ते गन्धर्वी तु यशस्विनी ।। ६७ ।।

नरेश्वर! मातंगीने मतवाले हाथियोंको संतानके रूपमें उत्पन्न किया। श्वेताने शीघ्रगामी दिग्गज श्वेतको जन्म दिया। राजन्! तुम्हारा भला हो, सुरभिने दो

कन्याओंको उत्पन्न किया। उनमेंसे एकका नाम रोहिणी था और दूसरीका गन्धर्वी। गन्धर्वी बड़ी यशस्विनी थी ।। ६६-६७ ।।

विमलामपि भद्रं ते अनलामपि भारत ।
रोहिण्यां जज्ञिरे गावो गन्धर्व्यां वाजिनः सुताः ।
सप्त पिण्डफलान् वृक्षाननलापि व्यजायत ।। ६८ ।।

भारत! तत्पश्चात् रोहिणीने विमला और अनला नामवाली दो कन्याएँ और उत्पन्न कीं। रोहिणीसे गाय-बैल और गन्धर्वीसे घोड़े ही पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए। अनलाने सात प्रकारके वृक्षोंको* उत्पन्न किया, जिनमें पिण्डाकार फल लगते हैं ।। ६८ ।।

अनलायाः शुकी पुत्री कङ्कस्तु सुरसासुतः ।
अरुणस्य भार्या श्येनी तु वीर्यवन्तौ महाबलौ ।। ६९ ।।
सम्पातिं जनयामास वीर्यवन्तं जटायुषम् ।
सुरसाजनयन्नागान् कद्रूः पुत्रांस्तु पन्नगान् ।। ७० ।।
द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु विख्यातौ गरुडारुणौ ।

अनलाके शुकी नामकी एक कन्या भी हुई। कंक पक्षी सुरसाका पुत्र है। अरुणकी पत्नी श्येनीने दो महाबली और पराक्रमी पुत्र उत्पन्न किये। एकका नाम था सम्पाती और दूसरेका जटायु। जटायु बड़ा शक्तिशाली था। सुरसा और कद्रूने नाग एवं पन्नग जातिके पुत्रोंको उत्पन्न किया। विनताके दो ही पुत्र विख्यात हैं, गरुड और अरुण ।। ६९-७०½ ।।

(सुरसाजनयत् सर्पाञ्छतमेकशिरोधरान् ।
सुरसाकन्यका जातास्तिस्रः कमललोचनाः ।।
वनस्पतीनां वृक्षाणां वीरुधां चैव मातरः ।
अनला रुहा च द्वे प्रोक्ते वीरुधां चैव ताः स्मृताः ।।
गृह्णन्ति ये विना पुष्पं फलानि तरवः पृथक् ।
अनलासुतास्ते विज्ञेयाः तानेवाहुर्वनस्पतीन् ।।
पुष्पैः फलग्रहान् वृक्षान् रुहायाः प्रसवान् विभो ।
लतागुल्मानि वल्यश्च त्वक्सारतृणजातयः ।।
वीरुधायाः प्रजास्ताः स्युरत्रवंशः समाप्यते ।)

सुरसाने एक सौ एक सिरवाले सर्पोंको जन्म दिया था। सुरसासे तीन कमलनयनी कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जो वनस्पतियों, वृक्षों और लता-गुल्मोंकी जननी हुईं। उनके नाम इस प्रकार हैं—अनला, रुहा और वीरुधा। जो वृक्ष बिना फूलके ही फल ग्रहण करते हैं उन सबको अनलाका पुत्र जानना चाहिये; वे ही

वनस्पति कहलाते हैं। प्रभो! जो फूलसे फल ग्रहण करते हैं उन वृक्षोंको रुहाकी संतान समझो। लता, गुल्म, वल्ली, बाँस और तिनकोंकी जितनी जातियाँ हैं उन सबकी उत्पत्ति वीरुधासे हुई है। यहाँ वंशवर्णन समाप्त होता है।

इत्येष सर्वभूतानां महतां मनुजाधिप ।
प्रभवः कीर्तितः सम्यङ्मया मतिमतां वर ।। ७१ ।।
यं श्रुत्वा पुरुषः सम्यङ्मुक्तो भवति पाप्मनः ।
सर्वज्ञतां च लभते गतिमग्र्यां च विन्दति ।। ७२ ।।

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राजा जनमेजय! इस प्रकार मैंने सम्पूर्ण महाभूतोंकी उत्पत्तिका भलीभाँति वर्णन किया है। जिसे अच्छी तरह सुनकर मनुष्य सब पापोंसे पूर्णतः मुक्त हो जाता है और सर्वज्ञता तथा उत्तम गति प्राप्त कर लेता है ।। ७१-७२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि षट्षष्टितमोऽध्यायः ।। ६६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अंशावतरणविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ७६ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं)

---

* मनुस्मृतिमें प्रजापति दक्षको ही पुत्रिका-विधिका प्रवर्तक बताकर उसका लक्षण इस प्रकार दिया है—
अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् । यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात् स्वधाकरम् ।। (९।१२७)
जिसके पुत्र न हों वह निम्नांकित विधिसे अपनी कन्याको पुत्रिका बना ले—यह संकल्प कर ले कि इस कन्याके गर्भसे जो बालक उत्पन्न हो, वह मेरा श्राद्धादि कर्म करनेवाला पुत्ररूप हो।

* किसी-किसीके मतमें शाख, विशाख और नैगमेय—ये तीनों नाम कुमार कार्तिकेयके ही हैं। किन्हींके मतमें कुमार कार्तिकेयके पुत्रोंकी संज्ञा शाख, विशाख और नैगमेय है। कल्पभेदसे सभी ठीक हो सकते हैं।

* खर्जूरं तालहिन्तालौ ताली खर्जूरिका तथा । गुणका नारिकेलश्च सप्त पिण्डफला द्रुमाः ।। (खजूर, ताल, हिन्ताल, ताली, छोटे खजूर, सोपारी और नारियल—ये सात पिण्डाकार फलवाले वृक्ष हैं।)

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

देवता और दैत्य आदिके अंशावतारोंका दिग्दर्शन

जनमेजय उवाच

देवानां दानवानां च गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सिंहव्याघ्रमृदगाणां च पन्नगानां पतत्त्रिणाम् ।। १ ।।
सर्वेषां चैव भूतानां सम्भवं भगवन्नहम् ।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन मानुषेषु महात्मनाम् ।
जन्म कर्म च भूतानामेतेषामनुपूर्वशः ।। २ ।।

जनमेजयने कहा—भगवन्! मैं मनुष्य-योनिमें अंशतः उत्पन्न हुए देवता, दानव, गन्धर्व, नाग, राक्षस, सिंह, व्याघ्र, हरिण, सर्प, पक्षी एवं सम्पूर्ण भूतोंके जन्मका वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ। मनुष्योंमें जो महात्मा पुरुष हैं, उनके तथा इन सभी प्राणियोंके जन्म-कर्मका क्रमशः वर्णन सुनना चाहता हूँ ।। १२ ।।

वैशम्पायन उवाच

मानुषेषु मनुष्येन्द्र सम्भूता ये दिवौकसः ।
प्रथमं दानवांश्चैव तांस्ते वक्ष्यामि सर्वशः ।। ३ ।।
विप्रचित्तिरिति ख्यातो य आसीद् दानवर्षभः ।
जरासन्ध इति ख्यातः स आसीन्मनुजर्षभः ।। ४ ।।
दितेः पुत्रस्तु यो राजन् हिरण्यकशिपुः स्मृतः ।
स जज्ञे मानुषे लोके शिशुपालो नरर्षभः ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी बोले—नरेन्द्र! मनुष्योंमें जो देवता और दानव प्रकट हुए थे, उन सबके जन्मका ही पहले तुम्हें परिचय दे रहा हूँ। विप्रचित्ति नामसे विख्यात जो दानवोंका राजा था, वही मनुष्योंमें श्रेष्ठ जरासन्ध नामसे विख्यात हुआ। राजन्! हिरण्यकशिपु नामसे प्रसिद्ध जो दितिका पुत्र था, वही मनुष्यलोकमें नरश्रेष्ठ शिशुपालके रूपमें उत्पन्न हुआ ।। ३-५ ।।

संह्राद इति विख्यातः प्रह्रादस्यानुजस्तु यः ।
स शल्य इति विख्यातो जज्ञे बाह्लीकपुङ्गवः ।। ६ ।।
अनुह्रादस्तु तेजस्वी योऽभूत् ख्यातो जघन्यजः ।
धृष्टकेतुरिति ख्यातः स बभूव नरेश्वरः ।। ७ ।।

प्रह्रादका छोटा भाई जो संह्रादके नामसे विख्यात था, वही बाह्लीक देशका सुप्रसिद्ध राजा शल्य हुआ। प्रह्रादका ही दूसरा छोटा भाई जिसका नाम अनुह्राद था, धृष्टकेतु नामक राजा हुआ ।। ६-७ ।।

यस्तु राजञ्छिबिर्नाम दैतेयः परिकीर्तितः ।
द्रुम इत्यभिविख्यातः स आसीद् भुवि पार्थिवः ।। ८ ।।

राजन्! जो शिबि नामका दैत्य कहा गया है, वही इस पृथ्वीपर द्रुम नामसे विख्यात राजा हुआ ।। ८ ।।

बाष्कलो नाम यस्तेषामासीदसुरसत्तमः ।
भगदत्त इति ख्यातः स जज्ञे पुरुषर्षभः ।। ९ ।।

असुरोंमें श्रेष्ठ जो बाष्कल था, वही नरश्रेष्ठ भगदत्तके नामसे उत्पन्न हुआ ।। ९ ।।

अयःशिरा अश्वशिरा अयःशङ्कुश्च वीर्यवान् ।
तथा गगनमूर्धा च वेगवांश्चात्र पञ्चमः ।। १० ।।
पञ्चैते जज्ञिरे राजन् वीर्यवन्तो महासुराः ।
केकयेषु महात्मानः पार्थिवर्षभसत्तमाः ।
केतुमानिति विख्यातो यस्ततोऽन्यः प्रतापवान् ।। ११ ।।
अमितौजा इति ख्यातः सोग्रकर्मा नराधिपः ।
स्वर्भानुरिति विख्यातः श्रीमान् यस्तु महासुरः ।। १२ ।।
उग्रसेन इति ख्यात उग्रकर्मा नराधिपः ।
यस्त्वश्व इति विख्यातः श्रीमानासीन्महासुरः ।। १३ ।।
अशोको नाम राजाभून्महावीर्योऽपराजितः ।
तस्मादवरजो यस्तु राजन्नश्वपतिः स्मृतः ।। १४ ।।
दैतेयः सोऽभवद् राजा हार्दिक्यो मनुजर्षभः ।
वृषपर्वेति विख्यातः श्रीमान् यस्तु महासुरः ।। १५ ।।
दीर्घप्रज्ञ इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।
अजकस्त्ववरो राजन् य आसीद् वृषपर्वणः ।। १६ ।।
स शाल्व इति विख्यातः पृथिव्यामभवन्नृपः ।
अश्वग्रीव इति ख्यातः सत्त्ववान् यो महासुरः ।। १७ ।।
रोचमान इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।
सूक्ष्मस्तु मतिमान् राजन् कीर्तिमान् यः प्रकीर्तितः ।। १८ ।।
बृहद्रथ इति ख्यातः क्षितावासीत् स पार्थिवः ।
तुहुण्ड इति विख्यातो य आसीदसुरोत्तमः ।। १९ ।।
सेनाबिन्दुरिति ख्यातः स बभूव नराधिपः ।
इषुपान्नाम यस्तेषामसुराणां बलाधिकः ।। २० ।।
नग्नजिन्नाम राजासीद् भुवि विख्यातविक्रमः ।
एकचक्र इति ख्यात आसीद् यस्तु महासुरः ।। २१ ।।
प्रतिविन्ध्य इति ख्यातो बभूव प्रथितः क्षितौ ।

विरूपाक्षस्तु दैतेयश्चित्रयोधी महासुरः ।। २२ ।।
चित्रधर्मेति विख्यातः क्षितावासीत् स पार्थिवः ।
हरस्त्वरिहरो वीर आसीद् यो दानवोत्तमः ।। २३ ।।
सुबाहुरिति विख्यातः श्रीमानासीत् स पार्थिवः ।
अहरस्तु महातेजाः शत्रुपक्षक्षयंकरः ।। २४ ।।
बाह्लीको नाम राजा स बभूव प्रथितः क्षितौ ।
निचन्द्रश्चन्द्रवक्त्रस्तु य आसीदसुरोत्तमः ।। २५ ।।
मुञ्जकेश इति ख्यातः श्रीमानासीत् स पार्थिवः ।
निकुम्भस्त्वजितः संख्ये महामतिरजायत ।। २६ ।।
भूमौ भूमिपतिः श्रेष्ठो देवाधिप इति स्मृतः ।
शरभो नाम यस्तेषां दैतेयानां महासुरः ।। २७ ।।
पौरवो नाम राजर्षिः स बभूव नरोत्तमः ।
कुपटस्तु महावीर्यः श्रीमान् राजन् महासुरः ।। २८ ।।
सुपार्श्व इति विख्यातः क्षितौ जज्ञे महीपतिः ।
क्रथस्तु राजन् राजर्षिः क्षितौ जज्ञे महासुरः ।। २९ ।।
पार्वतेय इति ख्यातः काञ्चनाचलसंनिभः ।
द्वितीयः शलभस्तेषामसुराणां बभूव ह ।। ३० ।।
प्रह्रादो नाम बाह्लीकः स बभूव नराधिपः ।
चन्द्रस्तु दितिजश्रेष्ठो लोके ताराधिपोपमः ।। ३१ ।।
चन्द्रवर्मेति विख्यातः काम्बोजानां नराधिपः ।
अर्क इत्यभिविख्यातो यस्तु दानवपुङ्गवः ।। ३२ ।।
ऋषिको नाम राजर्षिर्बभूव नृपसत्तमः ।
मृतपा इति विख्यातो य आसीदसुरोत्तमः ।। ३३ ।।
पश्चिमानूपकं विद्धि तं नृपं नृपसत्तम ।
गविष्ठस्तु महातेजा यः प्रख्यातो महासुरः ।। ३४ ।।
द्रुमसेन इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।
मयूर इति विख्यातः श्रीमान् यस्तु महासुरः ।। ३५ ।।
स विश्व इति विख्यातो बभूव पृथिवीपतिः ।
सुपर्ण इति विख्यातस्तस्मादवरजस्तु यः ।। ३६ ।।
कालकीर्तिरिति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः ।
चन्द्रहन्तेति यस्तेषां कीर्तितः प्रवरोऽसुरः ।। ३७ ।।
शुनको नाम राजर्षिः स बभूव नराधिपः ।
विनाशनस्तु चन्द्रस्य य आख्यातो महासुरः ।। ३८ ।।

जानकिर्नाम विख्यातः सोऽभवन्मनुजाधिपः ।
दीर्घजिह्वस्तु कौरव्य य उक्तो दानवर्षभः ।। ३९ ।।
काशिराजः स विख्यातः पृथिव्यां पृथिवीपते ।
ग्रहं तु सुषुवे यं तु सिंहिकार्केन्दुमर्दनम् ।
स क्राथ इति विख्यातो बभूव मनुजाधिपः ।। ४० ।।

अय:शिरा, अश्वशिरा, वीर्यवान् अय:शंकु, गगनमूर्धा और वेगवान्—राजन्! ये पाँच पराक्रमी महादैत्य केकय देशके प्रधान-प्रधान महात्मा राजाओंके रूपमें उत्पन्न हुए। उनसे भिन्न केतुमान् नामसे प्रसिद्ध प्रतापी महान् असुर अमितौजा नामसे विख्यात राजा हुआ, जो भयानक कर्म करनेवाला था। स्वर्भानु नामवाला जो श्रीसम्पन्न महान् असुर था, वही भयंकर कर्म करनेवाला राजा उग्रसेन कहलाया। अश्व नामसे विख्यात जो श्रीसम्पन्न महान् असुर था, वही किसीसे परास्त न होनेवाला महापराक्रमी राजा अशोक हुआ। राजन्! उसका छोटा भाई जो अश्वपति नामक दैत्य था, वही मनुष्योंमें श्रेष्ठ हार्दिक्य नामवाला राजा हुआ। वृषपर्वा नामसे प्रसिद्ध जो श्रीमान् महादैत्य था, वह पृथ्वीपर दीर्घप्रज्ञ नामक राजा हुआ। राजन्! वृषपर्वाका छोटा भाई जो अजक था, वही इस भूमण्डलमें शाल्व नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ। अश्वग्रीव नामवाला जो धैर्यवान् महादैत्य था, वह पृथ्वीपर रोचमान नामसे विख्यात राजा हुआ। राजन्! बुद्धिमान् और यशस्वी सूक्ष्म नामसे प्रसिद्ध जो दैत्य कहा गया है, वह इस पृथ्वीपर बृहद्रथ नामसे विख्यात राजा हुआ है। असुरोंमें श्रेष्ठ जो तुहुण्ड नामक दैत्य था, वही यहाँ सेनाबिन्दु नामसे विख्यात राजा हुआ। असुरोंके समाजमें जो सबसे अधिक बलवान् था, वह इषुपाद नामक दैत्य इस पृथ्वीपर विख्यात पराक्रमी नग्नजित् नामक राजा हुआ। एकचक्र नामसे प्रसिद्ध जो महान् असुर था, वही इस पृथ्वीपर प्रतिविन्ध्य नामसे विख्यात राजा हुआ। विचित्र युद्ध करनेवाला महादैत्य विरूपाक्ष इस पृथ्वीपर चित्रधर्मा नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ। शत्रुओंका संहार करनेवाला जो वीर दानवश्रेष्ठ हर था, वही सुबाहु नामक श्रीसम्पन्न राजा हुआ। शत्रुपक्षका विनाश करनेवाला महातेजस्वी अहर इस भूमण्डलमें बाह्लिक नामसे विख्यात राजा हुआ। चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाला जो असुरश्रेष्ठ निचन्द्र था, वही मुंजकेश नामसे विख्यात श्रीसम्पन्न राजा हुआ। परम बुद्धिमान् निकुम्भ जो युद्धमें अजेय था, वह इस भूमिपर भूपालोंमें श्रेष्ठ देवाधिप कहलाया। दैत्योंमें जो शरभ नामसे प्रसिद्ध महान् असुर था, वही मनुष्योंमें श्रेष्ठ राजर्षि पौरव हुआ। राजन्! महापराक्रमी महान् असुर कुपट ही इस पृथ्वीपर राजा सुपार्श्वके रूपमें उत्पन्न हुआ। महाराज! महादैत्य क्रथ इस पृथ्वीपर राजर्षि पार्वतेयके नामसे उत्पन्न हुआ, उसका शरीर मेरु पर्वतके समान विशाल था। असुरोंमें शलभ नामसे प्रसिद्ध जो दूसरा दैत्य था, वह बाह्लीकवंशी राजा प्रह्लाद हुआ। दैत्यश्रेष्ठ चन्द्र इस लोकमें चन्द्रमाके समान सुन्दर और चन्द्रवर्मा नामसे विख्यात काम्बोज देशका राजा हुआ। अर्क नामसे विख्यात जो दानवोंका सरदार था, वही नरपतियोंमें श्रेष्ठ राजर्षि ऋषिक हुआ। नृपशिरोमणे! मृतपा

नामसे प्रसिद्ध जो श्रेष्ठ असुर था, उसे पश्चिम अनूप देशका राजा समझो। गविष्ठ नामसे प्रसिद्ध जो महातेजस्वी असुर था, वही इस पृथ्वीपर द्रुमसेन नामक राजा हुआ। मयूर नामसे प्रसिद्ध जो श्रीमान् एवं महान् असुर था, वही विश्व नामसे विख्यात राजा हुआ। मयूरका छोटा भाई सुपर्ण ही भूमण्डलमें कालकीर्ति नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ। दैत्योंमें जो चन्द्रहन्ता नामसे प्रसिद्ध श्रेष्ठ असुर कहा गया है, वही मनुष्योंका स्वामी राजर्षि शुनक हुआ। इसी प्रकार जो चन्द्रविनाशन नामक महान् असुर बताया गया है, वही जानकि नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ। कुरुश्रेष्ठ जनमेजय! दीर्घजिह्व नामसे प्रसिद्ध दानवराज ही इस पृथ्वीपर काशिराजके नामसे विख्यात था। सिंहिकाने सूर्य और चन्द्रमाका मान मर्दन करनेवाले जिस राहु नामक ग्रहको जन्म दिया था, वही यहाँ क्राथ नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ ।। १०-४० ।।

दनायुषस्तु पुत्राणां चतुर्णां प्रवरोऽसुरः ।
विक्षरो नाम तेजस्वी वसुमित्रो नृपः स्मृतः ।। ४१ ।।

दनायुके चार पुत्रोंमें जो सबसे बड़ा है, वह विक्षर नामक तेजस्वी असुर यहाँ राजा वसुमित्र बताया गया है ।। ४१ ।।

द्वितीयो विक्षराद् यस्तु नराधिप महासुरः ।
पाण्ड्यराष्ट्राधिप इति विख्यातः सोऽभवन्नृपः ।। ४२ ।।

नराधिप! विक्षरसे छोटा उसका दूसरा भाई बल, जो असुरोंका राजा था, पाण्ड्य देशका सुविख्यात राजा हुआ ।। ४२ ।।

बली वीर इति ख्यातो यस्त्वासीदसुरोत्तमः ।
पौण्ड्रमात्स्यक इत्येवं बभूव स नराधिपः ।। ४३ ।।

महाबली वीर नामसे विख्यात जो श्रेष्ठ असुर (विक्षरका तीसरा भाई) था, पौण्ड्रमात्स्यक नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ ।। ४३ ।।

वृत्र इत्यभिविख्यातो यस्तु राजन् महासुरः ।
मणिमान्नाम राजर्षिः स बभूव नराधिपः ।। ४४ ।।

राजन्! जो वृत्र नामसे विख्यात (और विक्षरका चौथा भाई) महान् असुर था, वही पृथ्वीपर राजर्षि मणिमान्‌के नामसे प्रसिद्ध भूपाल हुआ ।। ४४ ।।

क्रोधहन्तेति यस्तस्य बभूवावरजोऽसुरः ।
दण्ड इत्यभिविख्यातः स आसीन्नृपतिः क्षितौ ।। ४५ ।।

क्रोधहन्ता नामक असुर जो उसका छोटा भाई (कालाके पुत्रोंमें तीसरा) था, वह इस पृथ्वीपर दण्ड नामसे विख्यात नरेश हुआ ।। ४५ ।।

क्रोधवर्धन इत्येवं यस्त्वन्यः परिकीर्तितः ।
दण्डधार इति ख्यातः सोऽभवन्मनुजर्षभः ।। ४६ ।।

क्रोधवर्धन नामक जो दूसरा दैत्य कहा गया है, वह मनुष्योंमें श्रेष्ठ दण्डधार नामसे विख्यात हुआ ।। ४६ ।।

कालेयानां तु ये पुत्रास्तेषामष्टौ नराधिपाः ।
जज्ञिरे राजशार्दूल शार्दूलसमविक्रमाः ।। ४७ ।।

नृपश्रेष्ठ! कालेय नामक दैत्योंके जो पुत्र थे, उनमेंसे आठ इस पृथ्वीपर सिंहके समान पराक्रमी राजा हुए ।। ४७ ।।

मगधेषु जयत्सेनस्तेषामासीत् स पार्थिवः ।
अष्टानां प्रवरस्तेषां कालेयानां महासुरः ।। ४८ ।।

उन आठों कालेयोंमें श्रेष्ठ जो महान् असुर था, वही मगध देशमें जयत्सेन नामक राजा हुआ ।। ४८ ।।

द्वितीयस्तु ततस्तेषां श्रीमान् हरिहयोपमः ।
अपराजित इत्येवं स बभूव नराधिपः ।। ४९ ।।

उन कालेयोंमेंसे जो दूसरा इन्द्रके समान श्रीसम्पन्न था, वही अपराजित नामक राजा हुआ ।। ४९ ।।

तृतीयस्तु महातेजा महामायो महासुरः ।
निषादाधिपतिर्जज्ञे भुवि भीमपराक्रमः ।। ५० ।।

तीसरा जो महान् तेजस्वी और महामायावी महादैत्य था, वह इस पृथ्वीपर भयंकर पराक्रमी निषादनरेशके रूपमें उत्पन्न हुआ ।। ५० ।।

तेषामन्यतमो यस्तु चतुर्थः परिकीर्तितः ।
श्रेणिमानिति विख्यातः क्षितौ राजर्षिसत्तमः ।। ५१ ।।

कालेयोंमेंसे ही एक जो चौथा बताया गया है, वह इस भूमण्डलमें राजर्षिप्रवर श्रेणिमान्के नामसे विख्यात हुआ ।। ५१ ।।

पञ्चमस्त्वभवत् तेषां प्रवरो यो महासुरः ।
महौजा इति विख्यातो बभूवेह परंतपः ।। ५२ ।।

कालेयोंमें जो पाँचवाँ श्रेष्ठ महादैत्य था, वही इस लोकमें शत्रुतापन महौजाके नामसे विख्यात हुआ ।। ५२ ।।

षष्ठस्तु मतिमान् यो वै तेषामासीन्महासुरः ।
अभीरुरिति विख्यातः क्षितौ राजर्षिसत्तमः ।। ५३ ।।

उन कालेयोंमें जो छठा महान् असुर था, वह भूमण्डलमें राजर्षिशिरोमणि अभीरुके नामसे प्रसिद्ध हुआ ।। ५३ ।।

समुद्रसेनस्तु नृपस्तेषामेवाभवद् गणात् ।
विश्रुतः सागरान्तायां क्षितौ धर्मार्थतत्त्ववित् ।। ५४ ।।

उन्हींमेंसे सातवाँ असुर राजा समुद्रसेन हुआ, जो समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर सब ओर विख्यात और धर्म एवं अर्थतत्त्वका ज्ञाता था ।। ५४ ।।

बृहन्नामाष्टमस्तेषां कालेयानां नराधिप ।

बभूव राजा धर्मात्मा सर्वभूतहिते रतः ।। ५५ ।।

राजन्! कालेयोंमें जो आठवाँ था, वह बृहत् नामसे प्रसिद्ध सर्वभूतहितकारी धर्मात्मा राजा हुआ ।। ५५ ।।

कुक्षिस्तु राजन् विख्यातो दानवानां महाबलः ।
पार्वतीय इति ख्यातः काञ्चनाचलसंनिभः ।। ५६ ।।

महाराज! दानवोंमें कुक्षि नामसे प्रसिद्ध जो महाबली राजा था, वह पार्वतीय नामक राजा हुआ; जो मेरुगिरिके समान तेजस्वी एवं विशाल था ।। ५६ ।।

क्रथनश्च महावीर्यः श्रीमान् राजा महासुरः ।
सूर्याक्ष इति विख्यातः क्षितौ जज्ञे महीपतिः ।। ५७ ।।

महापराक्रमी क्रथन नामक जो श्रीसम्पन्न महान् असुर था, वह भूमण्डलमें पृथ्वीपति राजा सूर्याक्ष नामसे उत्पन्न हुआ ।। ५७ ।।

असुराणां तु यः सूर्यः श्रीमांश्चैव महासुरः ।
दरदो नाम बाह्लीको वरः सर्वमहीक्षिताम् ।। ५८ ।।

असुरोंमें जो सूर्य नामक श्रीसम्पन्न महान् असुर था, वही पृथ्वीपर सब राजाओंमें श्रेष्ठ दरद नामक बाह्लीकराज हुआ ।। ५८ ।।

गणः क्रोधवशो नाम यस्ते राजन् प्रकीर्तितः ।
ततः संजज्ञिरे वीराः क्षिताविह नराधिपाः ।। ५९ ।।

राजन्! क्रोधवश नामक जिन असुरगणोंका तुम्हें परिचय दिया है, उन्हींमेंसे कुछ लोग इस पृथ्वीपर निम्नांकित वीर राजाओंके रूपमें उत्पन्न हुए ।। ५९ ।।

मद्रकः कर्णवेष्टश्च सिद्धार्थः कीटकस्तथा ।
सुवीरश्च सुबाहुश्च महावीरोऽथ बाह्लिकः ।। ६० ।।
क्रथो विचित्रः सुरथः श्रीमान् नीलश्च भूमिपः ।
चीरवासाश्च कौरव्य भूमिपालश्च नामतः ।। ६१ ।।
दन्तवक्त्रश्च नामासीद् दुर्जयश्चैव दानवः ।
रुक्मी च नृपशार्दूलो राजा च जनमेजयः ।। ६२ ।।
आषाढो वायुवेगश्च भूरितेजास्तथैव च ।
एकलव्यः सुमित्रश्च वाटधानोऽथ गोमुखः ।। ६३ ।।
कारूषकाश्च राजानः क्षेमधूर्तिस्तथैव च ।
श्रुतायुरुद्वहश्चैव बृहत्सेनस्तथैव च ।। ६४ ।।
क्षेमोग्रतीर्थः कुहरः कलिङ्गेषु नराधिपः ।
मतिमांश्च मनुष्येन्द्र ईश्वरश्चेति विश्रुतः ।। ६५ ।।

मद्रक, कर्णवेष्ट, सिद्धार्थ, कीटक, सुवीर, सुबाहु, महावीर, बाह्लिक, क्रथ, विचित्र, सुरथ, श्रीमान् नील नरेश, चीरवासा, भूमिपाल, दन्तवक्त्र, दानव दुर्जय, नृपश्रेष्ठ रुक्मी,

राजा जनमेजय, आषाढ, वायुवेग, भूरितेजा, एकलव्य, सुमित्र, वाटधान, गोमुख, करूषदेशके अनेक राजा, क्षेमधूर्ति, श्रुतायु, उद्वह, बृहत्सेन, क्षेम, उग्रतीर्थ, कलिंग-नरेश कुहर तथा परम बुद्धिमान् मनुष्योंका राजा ईश्वर ।। ६०—६५ ।।

गणात् क्रोधवशादेष राजपूगोऽभवत् क्षितौ ।
जातः पुरा महाभागो महाकीर्तिर्महाबलः ।। ६६ ।।

इतने राजाओंका समुदाय पहले इस पृथ्वीपर क्रोधवश नामक दैत्यगणसे उत्पन्न हुआ था। ये सब राजा परम सौभाग्यशाली, महान् यशस्वी और अत्यन्त बलशाली थे ।। ६६ ।।

कालनेमिरिति ख्यातो दानवानां महाबलः ।
स कंस इति विख्यात उग्रसेनसुतो बली ।। ६७ ।।

दानवोंमें जो महाबली कालनेमि था, वही राजा उग्रसेनके पुत्र बलवान् कंसके नामसे विख्यात हुआ ।। ६७ ।।

यस्त्वासीद् देवको नाम देवराजसमद्युतिः ।
स गन्धर्वपतिर्मुख्यः क्षितौ जज्ञे नराधिपः ।। ६८ ।।

इन्द्रके समान कान्तिमान् राजा देवकके रूपमें इस पृथ्वीपर श्रेष्ठ गन्धर्वराज ही उत्पन्न हुआ था ।। ६८ ।।

बृहस्पतेर्बृहत्कीर्तेर्देवर्षेर्विद्धि भारत ।
अंशाद् द्रोणं समुत्पन्नं भारद्वाजमयोनिजम् ।। ६९ ।।

भारत! महान् कीर्तिशाली देवर्षि बृहस्पतिके अंशसे अयोनिज भरद्वाजनन्दन द्रोण उत्पन्न हुए, यह जान लो ।। ६९ ।।

धन्विनां नृपशार्दूल यः सर्वास्त्रविदुत्तमः ।
महाकीर्तिर्महातेजाः स जज्ञे मनुजेश्वर ।। ७० ।।

नृपश्रेष्ठ राजा जनमेजय! आचार्य द्रोण समस्त धनुर्धर वीरोंमें उत्तम और सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता थे। उनकी कीर्ति बहुत दूरतक फैली हुई थी। वे महान् तेजस्वी थे ।। ७० ।।

धनुर्वेदे च वेदे च यं तं वेदविदो विदुः ।
वरिष्ठं चित्रकर्माणं द्रोणं स्वकुलवर्धनम् ।। ७१ ।।

वेदवेत्ता विद्वान् द्रोणको धनुर्वेद और वेद दोनोंमें सर्वश्रेष्ठ मानते थे। वे विचित्र कर्म करनेवाले तथा अपने कुलकी मर्यादाको बढ़ानेवाले थे ।। ७१ ।।

महादेवान्तकाभ्यां च कामात् क्रोधाच्च भारत ।
एकत्वमुपपन्नानां जज्ञे शूरः परंतपः ।। ७२ ।।
अश्वत्थामा महावीर्यः शत्रुपक्षभयावहः ।
वीरः कमलपत्राक्षः क्षितावासीन्नराधिप ।। ७३ ।।

भारत! उनके यहाँ महादेव, यम, काम और क्रोधके सम्मिलित अंशसे शत्रुसंतापी शूरवीर अश्वत्थामाका जन्म हुआ, जो इस पृथ्वीपर महापराक्रमी और शत्रुपक्षका संहार

करनेवाला वीर था। राजन्! उसके नेत्र कमलदलके समान विशाल थे ।। ७२-७३ ।।

जज्ञिरे वसवस्त्वष्टौ गङ्गायां शान्तनोः सुताः ।
वसिष्ठस्य च शापेन नियोगाद् वासवस्य च ।। ७४ ।।

महर्षि वसिष्ठके शाप और इन्द्रके आदेशसे आठों वसु गंगाजीके गर्भसे राजा शान्तनुके पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए ।। ७४ ।।

तेषामवरजो भीष्मः कुरूणामभयंकरः ।
मतिमान् वेदविद् वाग्मी शत्रुपक्षक्षयंकरः ।। ७५ ।।

उनमें सबसे छोटे भीष्म थे, जिन्होंने कौरववंशको निर्भय बना दिया था। वे परम बुद्धिमान्, वेदवेत्ता, वक्ता तथा शत्रुपक्षका संहार करनेवाले थे ।। ७५ ।।

जामदग्न्येन रामेण सर्वास्त्रविदुषां वरः ।
योऽयुध्यत महातेजा भार्गवेण महात्मना ।। ७६ ।।

सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वानोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी भीष्मने भृगुवंशी महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध किया था ।। ७६ ।।

यस्तु राजन् कृपो नाम ब्रह्मर्षिरभवत् क्षितौ ।
रुद्राणां तु गणाद् विद्धि सम्भूतमतिपौरुषम् ।। ७७ ।।

महाराज! जो कृप नामसे प्रसिद्ध ब्रह्मर्षि इस पृथ्वीपर प्रकट हुए थे, उनका पुरुषार्थ असीम था। उन्हें रुद्रगणके अंशसे उत्पन्न हुआ समझो ।। ७७ ।।

शकुनिर्नाम यस्त्वासीद् राजा लोके महारथः ।
द्वापरं विद्धि तं राजन् सम्भूतमरिमर्दनम् ।। ७८ ।।

राजन्! जो इस जगत्में महारथी राजा शकुनिके नामसे विख्यात था, उसे तुम द्वापरके अंशसे उत्पन्न हुआ मानो। वह शत्रुओंका मान-मर्दन करनेवाला था ।। ७८ ।।

सात्यकिः सत्यसन्धश्च योऽसौ वृष्णिकुलोद्वहः ।
पक्षात् स जज्ञे मरुतां देवानामरिमर्दनः ।। ७९ ।।

वृष्णिवंशका भार वहन करनेवाले जो सत्यप्रतिज्ञ शत्रुमर्दन सात्यकि थे, वे मरुत्-देवताओंके अंशसे उत्पन्न हुए थे ।। ७९ ।।

द्रुपदश्चैव राजर्षिस्तत एवाभवद् गणात् ।
मानुषे नृप लोकेऽस्मिन् सर्वशस्त्रभृतां वरः ।। ८० ।।

राजा जनमेजय! सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ राजर्षि द्रुपद भी इस मनुष्यलोकमें उस मरुद्गणसे ही उत्पन्न हुए थे ।। ८० ।।

ततश्च कृतवर्माणं विद्धि राजञ्जनाधिपम् ।
तमप्रतिमकर्माणं क्षत्रियर्षभसत्तमम् ।। ८१ ।।

महाराज! अनुपम कर्म करनेवाले, क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ राजा कृतवर्माको भी तुम मरुद्गणोंसे ही उत्पन्न मानो ।। ८१ ।।

मरुतां तु गणाद् विद्धि संजातमरिमर्दनम् ।
विराटं नाम राजानं परराष्ट्रप्रतापनम् ।। ८२ ।।

शत्रुराष्ट्रको संताप देनेवाले शत्रुमर्दन राजा विराटको भी मरुद्‌गणोंसे ही उत्पन्न समझो ।। ८२ ।।

अरिष्टायास्तु यः पुत्रो हंस इत्यभिविश्रुतः ।
स गन्धर्वपतिर्जज्ञे कुरुवंशविवर्धनः ।। ८३ ।।
धृतराष्ट्र इति ख्यातः कृष्णद्वैपायनात्मजः ।
दीर्घबाहुर्महातेजाः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।। ८४ ।।
मातुर्दोषादृषेः कोपादन्ध एव व्यजायत ।

अरिष्टाका पुत्र जो हंस नामसे विख्यात गन्धर्वराज था, वही कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले व्यासनन्दन धृतराष्ट्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ। धृतराष्ट्रकी बाँहें बहुत बड़ी थीं। वे महातेजस्वी नरेश प्रज्ञाचक्षु (अन्धे) थे। वे माताके दोष और महर्षिके क्रोधसे अन्धे ही उत्पन्न हुए ।। ८३-८४½ ।।

तस्यैवावरजो भ्राता महासत्त्वो महाबलः ।। ८५ ।।
स पाण्डुरिति विख्यातः सत्यधर्मरतः शुचिः ।
अत्रेस्तु* सुमहाभागं पुत्रं पुत्रवतां वरम् ।
विदुरं विद्धि तं लोके जातं बुद्धिमतां वरम् ।। ८६ ।।

उन्हींके छोटे भाई महान् शक्तिशाली महाबली पाण्डुके नामसे विख्यात हुए। वे सत्य-धर्ममें तत्पर और पवित्र थे। पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ और बुद्धिमानोंमें उत्तम परम सौभाग्यशाली विदुरको तुम इस लोकमें सूर्यपुत्र धर्मके अंशसे उत्पन्न हुआ समझो ।। ८५-८६ ।।

कलेरंशस्तु संजज्ञे भुवि दुर्योधनो नृपः ।
दुर्बुद्धिर्दुर्मतिश्चैव कुरूणामयशस्करः ।। ८७ ।।

खोटी बुद्धि और दूषित विचारवाले कुरुकुलकलंक राजा दुर्योधनके रूपमें इस पृथ्वीपर कलिका अंश ही उत्पन्न हुआ था ।। ८७ ।।

जगतो यस्तु सर्वस्य विद्विष्टः कलिपूरुषः ।
यः सर्वां घातयामास पृथिवीं पृथिवीपते ।। ८८ ।।

राजन्! वह कलिस्वरूप पुरुष सबका द्वेषपात्र था। उसने सारी पृथ्वीके वीरोंको लड़ाकर मरवा दिया था ।। ८८ ।।

उद्दीपितं येन वैरं भूतान्तकरणं महत् ।
पौलस्त्या भ्रातरश्चास्य जज्ञिरे मनुजेष्विह ।। ८९ ।।

उसके द्वारा प्रज्वलित की हुई वैरकी भारी आग असंख्य प्राणियोंके विनाशका कारण बन गयी। पुलस्त्य-कुलके राक्षस भी मनुष्योंमें दुर्योधनके भाइयोंके रूपमें उत्पन्न हुए

थे ।। ८९ ।।

शतं दुःशासनादीनां सर्वेषां क्रूरकर्मणाम् ।
दुर्मुखो दुःसहश्चैव ये चान्ये नानुकीर्तिताः ।। ९० ।।
दुर्योधनसहायास्ते पौलस्त्या भरतर्षभ ।
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च धार्तराष्ट्रः शताधिकः ।। ९१ ।।

उसके दुःशासन आदि सौ भाई थे। वे सभी क्रूरतापूर्ण कर्म किया करते थे। दुर्मुख, दुःसह तथा अन्य कौरव जिनका नाम यहाँ नहीं लिया गया है, दुर्योधनके सहायक थे। भरतश्रेष्ठ! धृतराष्ट्रके वे सब पुत्र पूर्वजन्मके राक्षस थे। धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सु वैश्य-जातीय स्त्रीसे उत्पन्न हुआ था। वह दुर्योधन आदि सौ भाइयोंके अतिरिक्त था ।। ९०-९१ ।।

जनमेजय उवाच

ज्येष्ठानुज्येष्ठतामेषां नामधेयानि वा विभो ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्येण कीर्तय ।। ९२ ।।

जनमेजयने कहा—प्रभो! धृतराष्ट्रके जो सौ पुत्र थे, उनके नाम मुझे बड़े-छोटेके क्रमसे एक-एक करके बताइये ।। ९२ ।।

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन् दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव दुर्मुखश्च तथापरः ।। ९३ ।।
विविंशतिर्विकर्णश्च जलसन्धः सुलोचनः ।
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ।। ९४ ।।
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुश्चित्राङ्गदश्च ह ।। ९५ ।।
दुर्मदो दुष्प्रधर्षश्च विवित्सुर्विकटः समः ।
ऊर्णनाभः पद्मनाभस्तथा नन्दोपनन्दकौ ।। ९६ ।।
सेनापतिः सुषेणश्च कुण्डोदरमहोदरौ ।
चित्रबाहुश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विरोचनः ।। ९७ ।।
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्रचापसुकुण्डलौ ।
भीमवेगो भीमबलो बलाकी भीमविक्रमौ ।। ९८ ।।
उग्रायुधो भीमशरः कनकायुर्दृढायुधः ।
दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ।। ९९ ।।
जरासन्धो दृढसन्धः सत्यसन्धः सहस्रवाक् ।
उग्रश्रवा उग्रसेनः क्षेममूर्तिस्तथैव च ।। १०० ।।
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षो दुराधनः ।। १०१ ।।

दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ।
आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तानुयायिनौ ।। १०२ ।।
कवची निषङ्गी दण्डी दण्डधारो धनुर्ग्रहः ।
उग्रो भीमरथो वीरो वीरबाहुरलोलुपः ।। १०३ ।।
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथश्च यः ।
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी दीर्घलोचनः ।। १०४ ।।
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकाङ्गदः ।
कुण्डजश्चित्रकश्चैव दुःशला च शताधिका ।। १०५ ।।

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! सुनो—१ दुर्योधन, २ युयुत्सु, ३ दुःशासन, ४ दुःसह, ५ दुःशल, ६ दुर्मुख, ७ विविंशति, ८ विकर्ण, ९ जलसन्ध, १० सुलोचन, ११ विन्द, १२ अनुविन्द, १३ दुर्धर्ष, १४ सुबाहु, १५ दुष्प्रधर्षण, १६ दुर्मर्षण, १७ दुर्मुख, १८ दुष्कर्ण, १९ कर्ण, २० चित्र, २१ उपचित्र, २२ चित्राक्ष, २३ चारु, २४ चित्रांगद, २५ दुर्मद, २६ दुष्प्रधर्ष, २७ विवित्सु, २८ विकट, २९ सम, ३० ऊर्णनाभ, ३१ पद्मनाभ, ३२ नन्द, ३३ उपनन्द, ३४ सेनापति, ३५ सुषेण, ३६ कुण्डोदर, ३७ महोदर, ३८ चित्रबाहु, ३९ चित्रवर्मा, ४० सुवर्मा, ४१ दुर्विरोचन, ४२ अयोबाहु, ४३ महाबाहु, ४४ चित्रचाप, ४५ सुकुण्डल, ४६ भीमवेग, ४७ भीमबल, ४८ बलाकी, ४९ भीम, ५० विक्रम, ५१ उग्रायुध, ५२ भीमशर, ५३ कनकायु, ५४ दृढायुध, ५५ दृढवर्मा, ५६ दृढक्षत्र, ५७ सोमकीर्ति, ५८ अनूदर, ५९ जरासन्ध, ६० दृढसन्ध, ६१ सत्यसन्ध, ६२ सहस्रवाक्, ६३ उग्रश्रवा, ६४ उग्रसेन, ६५ क्षेममूर्ति, ६६ अपराजित, ६७ पण्डितक, ६८ विशालाक्ष, ६९ दुराधन, ७० दृढहस्त, ७१ सुहस्त, ७२ वातवेग, ७३ सुवर्चा, ७४ आदित्यकेतु, ७५ बह्वाशी, ७६ नागदत्त, ७७ अनुयायी, ७८ कवची, ७९ निषंगी, ८० दण्डी, ८१ दण्डधार, ८२ धनुर्ग्रह, ८३ उग्र, ८४ भीमरथ, ८५ वीर, ८६ वीरबाहु, ८७ अलोलुप, ८८ अभय, ८९ रौद्रकर्मा, ९० दृढरथ, ९१ अनाधृष्य, ९२ कुण्डभेदी, ९३ विरावी, ९४ दीर्घलोचन, ९५ दीर्घबाहु, ९६ महाबाहु, ९७ व्यूढोरु, ९८ कनकांगद, ९९ कुण्डज और १०० चित्रक—ये धृतराष्ट्रके सौ पुत्र थे। इनके सिवा दुःशला नामकी एक कन्या थी ।। ९३—१०५ ।।

वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च धार्तराष्ट्रः शताधिकः ।
एतदेकशतं राजन् कन्या चैका प्रकीर्तिता ।। १०६ ।।

धृतराष्ट्रका वह पुत्र जिसका नाम युयुत्सु था, वैश्याके गर्भसे उत्पन्न हुआ था। वह दुर्योधन आदि सौ पुत्रोंसे अतिरिक्त था। राजन्! इस प्रकार धृतराष्ट्रके एक सौ एक पुत्र तथा एक कन्या बतायी गयी है ।। १०६ ।।

नामधेयानुपूर्व्या च ज्येष्ठानुज्जेष्ठतां विदुः ।
सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ।। १०७ ।।

इनके नामोंका जो क्रम दिया गया है, उसीके अनुसार विद्वान् पुरुष इन्हें जेठा और छोटा समझते हैं। धृतराष्ट्रके सभी पुत्र उत्कृष्ट रथी, शूरवीर और युद्धकी कलामें कुशल थे ।। १०७ ।।

सर्वे वेदविदश्चैव राजच्छास्त्रे च पारगाः ।
सर्वे संग्रामविद्यासु विद्याभिजनशोभिनः ।। १०८ ।।

राजन्! वे सब-के-सब वेदवेत्ता, शास्त्रोंके पारंगत विद्वान्, संग्राम-विद्यामें प्रवीण तथा उत्तम विद्या और उत्तम कुलसे सुशोभित थे ।। १०८ ।।

सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते ।
दुःशलां समये राजन् सिन्धुराजाय कौरवः ।। १०९ ।।
जयद्रथाय प्रददौ सौबलानुमते तदा ।
धर्मस्यांशं तु राजानं विद्धि राजन् युधिष्ठिरम् ।। ११० ।।

भूपाल! उन सबका सुयोग्य स्त्रियोंके साथ विवाह हुआ था। महाराज! कुरुराज दुर्योधनने समय आनेपर शकुनिकी सलाहसे अपनी बहिन दुःशलाका विवाह सिन्धुदेशके राजा जयद्रथके साथ कर दिया। जनमेजय! राजा युधिष्ठिरको तो तुम धर्मका अंश जानो ।। १०९-११० ।।

भीमसेनं तु वातस्य देवराजस्य चार्जुनम् ।
अश्विनोस्तु तथैवांशौ रूपेणाप्रतिमौ भुवि ।। १११ ।।
नकुलः सहदेवश्च सर्वभूतमनोहरौ ।
यस्तु वर्चा इति ख्यातः सोमपुत्रः प्रतापवान् ।। ११२ ।।
सोऽभिमन्युर्बृहत्कीर्तिरर्जुनस्य सुतोऽभवत् ।
यस्यावतरणे राजन् सुरान् सोमोऽब्रवीदिदम् ।। ११३ ।।

भीमसेनको वायुका और अर्जुनको देवराज इन्द्रका अंश जानो। रूप-सौन्दर्यकी दृष्टिसे इस पृथ्वीपर जिनकी समानता करनेवाला कोई नहीं था, वे समस्त प्राणियोंका मन मोह लेनेवाले नकुल और सहदेव अश्विनीकुमारोंके अंशसे उत्पन्न हुए थे। वर्चा नामसे विख्यात जो चन्द्रमाका प्रतापी पुत्र था, वही महायशस्वी अर्जुनकुमार अभिमन्यु हुआ। जनमेजय! उसके अवतार-कालमें चन्द्रमाने देवताओंसे इस प्रकार कहा— ।। १११—११३ ।।

नाहं दद्यां प्रियं पुत्रं मम प्राणैर्गरीयसम् ।
समयः क्रियतामेष न शक्यमतिवर्तितुम् ।। ११४ ।।

'मेरा पुत्र मुझे अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है, अतः मैं इसे अधिक दिनोंके लिये नहीं दे सकता। इसलिये मृत्युलोकमें इसके रहनेकी कोई अवधि निश्चित कर दी जाय। फिर उस अवधिका उल्लंघन नहीं किया जा सकता ।। ११४ ।।

सुरकार्यं हि नः कार्यमसुराणां क्षितौ वधः ।
तत्र यास्यत्ययं वर्चा न च स्थास्यति वै चिरम् ।। ११५ ।।

‘पृथ्वीपर असुरोंका वध करना देवताओंका कार्य है और वह हम सबके लिये करनेयोग्य है। अतः उस कार्यकी सिद्धिके लिये यह वर्चा भी वहाँ अवश्य जायगा। परंतु दीर्घकालतक वहाँ नहीं रह सकेगा ।। ११५ ।।

ऐन्द्रिर्नरस्तु भविता यस्य नारायणः सखा ।
सोऽर्जुनेत्यभिविख्यातः पाण्डोः पुत्रः प्रतापवान् ।। ११६ ।।

‘भगवान् नर, जिनके सखा भगवान् नारायण हैं, इन्द्रके अंशसे भूतलमें अवतीर्ण होंगे। वहाँ उनका नाम अर्जुन होगा और वे पाण्डुके प्रतापी पुत्र माने जायँगे ।। ११६ ।।

तस्यायं भविता पुत्रो बालो भुवि महारथः ।
ततः षोडश वर्षाणि स्थास्यत्यमरसत्तमाः ।। ११७ ।।

‘श्रेष्ठ देवगण! पृथ्वीपर यह वर्चा उन्हीं अर्जुनका पुत्र होगा, जो बाल्यावस्थामें ही महारथी माना जायगा। जन्म लेनेके बाद सोलह वर्षकी अवस्थातक यह वहाँ रहेगा ।। ११७ ।।

अस्य षोडशवर्षस्य स संग्रामो भविष्यति ।
यत्रांशा वः करिष्यन्ति कर्म वीरनिषूदनम् ।। ११८ ।।

‘इसके सोलहवें वर्षमें वह महाभारत-युद्ध होगा, जिसमें आपलोगोंके अंशसे उत्पन्न हुए वीर-पुरुष शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला अद्‌भुत पराक्रम कर दिखायेंगे ।। ११८ ।।

नरनारायणाभ्यां तु स संग्रामो विना कृतः ।
चक्रव्यूहं समास्थाय योधयिष्यन्ति वः सुराः ।। ११९ ।।
विमुखाञ्छात्रवान् सर्वान् कारयिष्यति मे सुतः ।
बालः प्रविश्य च व्यूहमभेद्यं विचरिष्यति ।। १२० ।।

‘देवताओ! एक दिन जब कि उस युद्धमें नर और नारायण (अर्जुन और श्रीकृष्ण) उपस्थित न रहेंगे, उस समय शत्रुपक्षके लोग चक्रव्यूहकी रचना करके आप-लोगोंके साथ युद्ध करेंगे। उस युद्धमें मेरा यह पुत्र समस्त शत्रु-सैनिकोंको युद्धसे मार भगायेगा और बालक होनेपर भी उस अभेद्य व्यूहमें घुसकर निर्भय विचरण करेगा ।। ११९-१२० ।।

महारथानां वीराणां कदनं च करिष्यति ।
सर्वेषामेव शत्रूणां चतुर्थांशं नयिष्यति ।। १२१ ।।
दिनार्धेन महाबाहुः प्रेतराजपुरं प्रति ।
ततो महारथैर्वीरैः समेत्य बहुशो रणे ।। १२२ ।।
दिनक्षये महाबाहुर्मया भूयः समेष्यति ।
एकं वंशकरं पुत्रं वीरं वै जनयिष्यति ।। १२३ ।।
प्रणष्टं भारतं वंशं स भूयो धारयिष्यति ।
एतत् सोमवचः श्रुत्वा तथास्त्विति दिवौकसः ।। १२४ ।।
प्रत्यूचुः सहिताः सर्वे ताराधिपमपूजयन् ।

एवं ते कथितं राजंस्तव जन्म पितुः पितुः ।। १२५ ।।

'तथा बड़े-बड़े महारथी वीरोंका संहार कर डालेगा। आधे दिनमें ही महाबाहु अभिमन्यु समस्त शत्रुओंके एक चौथाई भागको यमलोक पहुँचा देगा। तदनन्तर बहुत-से महारथी एक साथ ही उसपर टूट पड़ेंगे और वह महाबाहु उन सबका सामना करते हुए संध्या होते-होते पुनः मुझसे आ मिलेगा। वह एक ही वंशप्रवर्तक वीर पुत्रको जन्म देगा, जो नष्ट हुए भरतकुलको पुनः धारण करेगा।' सोमका यह वचन सुनकर समस्त देवताओंने 'तथास्तु' कहकर उनकी बात मान ली और सबने चन्द्रमाका पूजन किया। राजा जनमेजय! इस प्रकार मैंने तुम्हारे पिताके पिताका जन्म-रहस्य बताया है ।। १२१—१२५ ।।

अग्नेर्भागं तु विद्धि त्वं धृष्टद्युम्नं महारथम् ।
शिखण्डिनमथो राजन् स्त्रीपूर्वं विद्धि राक्षसम् ।। १२६ ।।

महाराज! महारथी धृष्टद्युम्नको तुम अग्निका भाग समझो। शिखण्डी राक्षसके अंशसे उत्पन्न हुआ था। वह पहले कन्यारूपमें उत्पन्न होकर पुनः पुरुष हो गया था ।। १२६ ।।

द्रौपदेयाश्च ये पञ्च बभूवुर्भरतर्षभ ।
विश्वान् देवगणान् विद्धि संजातान् भरतर्षभ ।। १२७ ।।

भरतर्षभ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि द्रौपदीके जो पाँच पुत्र थे, उनके रूपमें पाँच विश्वेदेवगण ही प्रकट हुए थे ।। १२७ ।।

प्रतिविन्ध्यः सुतसोमः श्रुतकीर्तिस्तथापरः ।
नाकुलिस्तु शतानीकः श्रुतसेनश्च वीर्यवान् ।। १२८ ।।

उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्ति, नकुलनन्दन शतानीक तथा पराक्रमी श्रुतसेन ।। १२८ ।।

शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताभवत् ।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणासदृशी भुवि ।। १२९ ।।

वसुदेवजीके पिताका नाम था शूरसेन। वे यदुवंशके एक श्रेष्ठ पुरुष थे। उनके पृथा नामवाली एक कन्या हुई, जिसके समान रूपवती स्त्री इस पृथ्वीपर दूसरी नहीं थी ।। १२९ ।।

पितुः स्वस्रीयपुत्राय सोऽनपत्याय वीर्यवान् ।
अग्रमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यस्य वै तदा ।। १३० ।।

उग्रसेनके फुफेरे भाई कुन्तिभोज संतानहीन थे। पराक्रमी शूरसेनने पहले कभी उनके सामने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं अपनी पहली संतान आपको दे दूँगा' ।। १३० ।।

अग्रजातेति तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकाङ्क्षया ।
अददात् कुन्तिभोजाय स तां दुहितरं तदा ।। १३१ ।।

तदनन्तर सबसे पहले उनके यहाँ कन्या ही उत्पन्न हुई। शूरसेनने अनुग्रहकी इच्छासे राजा कुन्तिभोजको अपनी वह पुत्री पृथा प्रथम संतान होनेके कारण गोद दे दी ।। १३१ ।।

सा नियुक्ता पितुर्गेहे ब्राह्मणातिथिपूजने ।
उग्रं पर्यचरद् घोरं ब्राह्मणं संशितव्रतम् ।। १३२ ।।
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः ।
तमुग्रं शंसितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयत् ।। १३३ ।।

पिताके घरपर रहते समय पृथाको ब्राह्मणों और अतिथियोंके स्वागत-सत्कारका कार्य सौंपा गया था। एक दिन उसने कठोर व्रतका पालन करनेवाले भयंकर क्रोधी तथा उग्र प्रकृतिवाले एक ब्राह्मण महर्षिकी, जो धर्मके विषयमें अपने निश्चयको छिपाये रखते थे और लोग जिन्हें दुर्वासाके नामसे जानते हैं, सेवा की। वे ऊपरसे तो उग्र स्वभावके थे, परंतु उनका हृदय महान् होनेके कारण सबके द्वारा प्रशंसित था। पृथाने पूरा प्रयत्न करके अपनी सेवाओंद्वारा मुनिको संतुष्ट किया ।। १३२-१३३ ।।

तुष्टोऽभिचारसंयुक्तमाचचक्षे यथाविधि ।
उवाच चैनां भगवान् प्रीतोऽस्मि सुभगे तव ।। १३४ ।।

भगवान् दुर्वासाने संतुष्ट होकर पृथाको प्रयोग-विधिसहित एक मन्त्रका विधिपूर्वक उपदेश किया और कहा—'सुभगे! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ ।। १३४ ।।

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
तस्य तस्य प्रसादात् त्वं देवि पुत्राञ्जनिष्यसि ।। १३५ ।।

'देवि! तुम इस मन्त्रद्वारा जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी, उसी-उसीके कृपाप्रसादसे पुत्र उत्पन्न करोगी' ।। १३५ ।।

एवमुक्ता च सा बाला तदा कौतूहलान्विता ।
कन्या सती देवमर्कमाजुहाव यशस्विनी ।। १३६ ।।

दुर्वासाके ऐसा कहनेपर वह सती-साध्वी यशस्विनी बाला यद्यपि अभी कुमारी कन्या थी, तो भी कौतूहलवश उसने भगवान् सूर्यका आवाहन किया ।। १३६ ।।

प्रकाशकर्ता भगवांस्तस्यां गर्भं दधौ तदा ।
अजीजनत् सुतं चास्यां सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।। १३७ ।।

तब सम्पूर्ण जगत्‌में प्रकाश फैलानेवाले भगवान् सूर्यने कुन्तीके उदरमें गर्भ स्थापित किया और उस गर्भसे एक ऐसे पुत्रको जन्म दिया, जो समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था ।। १३७ ।।

सकुण्डलं सकवचं देवगर्भश्रियान्वितम् ।
दिवाकरसमं दीप्त्या चारुसर्वाङ्गभूषितम् ।। १३८ ।।

वह कुण्डल और कवचके साथ ही प्रकट हुआ था। देवताओंके बालकोंमें जो सहज कान्ति होती है, उसीसे वह सुशोभित था। अपने तेजसे वह सूर्यके समान जान पड़ता था। उसके सभी अंग मनोहर थे, जो उसके सम्पूर्ण शरीरकी शोभा बढ़ा रहे थे ।। १३८ ।।

निगूहमाना जातं वै बन्धुपक्षभयात् तदा ।

उत्ससर्ज जले कुन्ती तं कुमारं यशस्विनम् ।। १३९ ।।

उस समय कुन्तीने पिता-माता आदि बान्धव-पक्षके भयसे उस यशस्वी कुमारको छिपाकर एक पेटीमें रखकर जलमें छोड़ दिया ।। १३९ ।।

तमुत्सृष्टं जले गर्भं राधाभर्ता महायशाः ।
राधायाः कल्पयामास पुत्रं सोऽधिरथस्तदा ।। १४० ।।

जलमें छोड़े हुए उस बालकको राधाके पति महायशस्वी अधिरथ सूतने लेकर राधाकी गोदमें दे दिया और उसे राधाका पुत्र बना लिया ।। १४० ।।

चक्रतुर्नामधेयं च तस्य बालस्य तावुभौ ।
दम्पती वसुषेणेति दिक्षु सर्वासु विश्रुतम् ।। १४१ ।।

उन दोनों दम्पतिने उस बालकका नाम वसुषेण रखा। वह सम्पूर्ण दिशाओंमें भलीभाँति विख्यात था ।। १४१ ।।

संवर्धमानो बलवान् सर्वास्त्रेषूत्तमोऽभवत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि जजाप जयतां वरः ।। १४२ ।।

बड़ा होनेपर वह बलवान् बालक सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंको चलानेकी कलामें उत्तम हुआ। उस विजयी वीरने सम्पूर्ण वेदांगोंका अध्ययन कर लिया ।। १४२ ।।

यस्मिन् काले जपन्नास्ते धीमान् सत्यपराक्रमः ।
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीत् तस्मिन् काले महात्मनः ।। १४३ ।।

वसुषेण (कर्ण) बड़ा बुद्धिमान् और सत्यपराक्रमी था। जिस समय वह जपमें लगा होता, उस समय उस महात्माके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं थी, जिसे वह ब्राह्मणोंके माँगनेपर न दे डाले ।। १४३ ।।

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा पुत्रार्थे भूतभावनः ।
ययाचे कुण्डले वीरं कवचं च सहाङ्गजम् ।। १४४ ।।

भूतभावन इन्द्रने अपने पुत्र अर्जुनके हितके लिये ब्राह्मणका रूप धारण करके वीर कर्णसे दोनों कुण्डल तथा उसके शरीरके साथ ही उत्पन्न हुआ कवच माँगा ।। १४४ ।।

उत्कृत्य कर्णो ह्यददात् कवचं कुण्डले तथा ।
शक्तिं शक्रो ददौ तस्मै विस्मितश्चेदमब्रवीत् ।। १४५ ।।
देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
यस्मिन् क्षेप्स्यसि दुर्धर्ष स एको न भविष्यति ।। १४६ ।।

कर्णने अपने शरीरमें चिपके हुए कवच और कुण्डलोंको उधेड़कर दे दिया। इन्द्रने विस्मित होकर कर्णको एक शक्ति प्रदान की और कहा—'दुर्धर्ष वीर! तुम देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग और राक्षसोंमेंसे जिसपर भी इस शक्तिको चलाओगे, वह एक व्यक्ति निश्चय ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा' ।। १४५-१४६ ।।

पुरा नाम च तस्यासीद् वसुषेण इति क्षितौ ।

ततो वैकर्तनः कर्णः कर्मणा तेन सोऽभवत् ।। १४७ ।।

पहले कर्णका नाम इस पृथ्वीपर वसुषेण था। फिर कवच और कुण्डल काटनेके कारण वह वैकर्तन नामसे प्रसिद्ध हुआ ।। १४७ ।।

आमुक्तकवचो वीरो यस्तु जज्ञे महायशाः ।
स कर्ण इति विख्यातः पृथायाः प्रथमः सुतः ।। १४८ ।।

जो महायशस्वी वीर कवच धारण किये हुए ही उत्पन्न हुआ, वह पृथाका प्रथम पुत्र कर्ण नामसे ही सर्वत्र विख्यात था ।। १४८ ।।

स तु सूतकुले वीरो ववृधे राजसत्तम ।
कर्णं नरवरश्रेष्ठं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।। १४९ ।।

महाराज! वह वीर सूतकुलमें पाला-पोसा जाकर बड़ा हुआ था। नरश्रेष्ठ कर्ण सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था ।। १४९ ।।

दुर्योधनस्य सचिवं मित्रं शत्रुविनाशनम् ।
दिवाकरस्य तं विद्धि राजन्नंशमनुत्तमम् ।। १५० ।।

वह दुर्योधनका मन्त्री और मित्र होनेके साथ ही उसके शत्रुओंका नाश करनेवाला था। राजन्! तुम कर्णको साक्षात् सूर्यदेवका सर्वोत्तम अंश जानो ।। १५० ।।

यस्तु नारायणो नाम देवदेवः सनातनः ।
तस्यांशो मानुषेष्वासीद् वासुदेवः प्रतापवान् ।। १५१ ।।

देवताओंके भी देवता जो सनातन पुरुष भगवान् नारायण हैं, उन्हींके अंशस्वरूप प्रतापी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण मनुष्योंमें अवतीर्ण हुए थे ।। १५१ ।।

शेषस्यांशश्च नागस्य बलदेवो महाबलः ।
सनत्कुमारं प्रद्युम्नं विद्धि राजन् महौजसम् ।। १५२ ।।

महाबली बलदेवजी शेषनागके अंश थे। राजन्! महातेजस्वी प्रद्युम्नको तुम सनत्कुमारका अंश जानो ।। १५२ ।।

एवमन्ये मनुष्येन्द्रा बहवोंऽशा दिवौकसाम् ।
जज्ञिरे वसुदेवस्य कुले कुलविवर्धनाः ।। १५३ ।।

इस प्रकार वसुदेवजीके कुलमें बहुत-से दूसरे-दूसरे नरेन्द्र उत्पन्न हुए, जो देवताओंके अंश थे। वे सभी अपने कुलकी वृद्धि करनेवाले थे ।। १५३ ।।

गणस्त्वप्सरसां यो वै मया राजन् प्रकीर्तितः ।
तस्य भागः क्षितौ जज्ञे नियोगाद् वासवस्य ह ।। १५४ ।।

महाराज! मैंने अप्सराओंके जिस समुदायका वर्णन किया है, उसका अंश भी इन्द्रके आदेशसे इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुआ था ।। १५४ ।।

तानि षोडश देवीनां सहस्राणि नराधिप ।
बभूवुर्मानुषे लोके वासुदेवपरिग्रहः ।। १५५ ।।

नरेश्वर! वे अप्सराएँ मनुष्यलोकमें सोलह हजार देवियोंके रूपमें उत्पन्न हुई थीं, जो सब-की-सब भगवान् श्रीकृष्णकी पत्नियाँ हुईं ।। १५५ ।।

श्रियस्तु भागः संजज्ञे रत्यर्थं पृथिवीतले ।

भीष्मकस्य कुले साध्वी रुक्मिणी नाम नामतः ।। १५६ ।।

नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करनेके लिये भूतलपर विदर्भराज भीष्मकके कुलमें सती-साध्वी रुक्मिणीदेवीके नामसे लक्ष्मीजीका ही अंश प्रकट हुआ था ।। १५६ ।।

द्रौपदी त्वथ संजज्ञे शचीभागादनिन्दिता ।

द्रुपदस्य कुले कन्या वेदिमध्यादनिन्दिता ।। १५७ ।।

सती-साध्वी द्रौपदी शचीके अंशसे उत्पन्न हुई थी। वह राजा द्रुपदके कुलमें यज्ञकी वेदीके मध्यभागसे एक अनिन्द्य सुन्दरी कुमारी कन्याके रूपमें प्रकट हुई थी ।। १५७ ।।

नातिह्रस्वा न महती नीलोत्पलसुगन्धिनी ।

पद्मायताक्षी सुश्रोणी स्वसिताञ्चितमूर्धजा ।। १५८ ।।

वह न तो बहुत छोटी थी और न बहुत बड़ी ही। उसके अंगोंसे नीलकमलकी सुगन्ध फैलती रहती थी। उसके नेत्र कमलदलके समान सुन्दर और विशाल थे, नितम्बभाग बड़ा ही मनोहर था और उसके काले-काले घुँघराले बालोंका सौन्दर्य भी अद्भुत था ।। १५८ ।।

सर्वलक्षणसम्पूर्णा वैदूर्यमणिसंनिभा ।

पञ्चानां पुरुषेन्द्राणां चित्तप्रमथनी रहः ।। १५९ ।।

वह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न तथा वैदूर्य मणिके समान कान्तिमती थी। एकान्तमें रहकर वह पाँचों पुरुषप्रवर पाण्डवोंके मनको मुग्ध किये रहती थी ।। १५९ ।।

सिद्धिर्धृतिश्च ये देव्यौ पञ्चानां मातरौ तु ते ।

कुन्ती माद्री च जज्ञाते मतिस्तु सुबलात्मजा ।। १६० ।।

सिद्धि और धृति नामवाली जो दो देवियाँ हैं, वे ही पाँचों पाण्डवोंकी दोनों माताओं—कुन्ती और माद्रीके रूपमें उत्पन्न हुई थीं। सुबल-नरेशकी पुत्री गान्धारीके रूपमें साक्षात् मतिदेवी ही प्रकट हुई थीं ।। १६० ।।

इति देवासुराणां ते गन्धर्वाप्सरसां तथा ।

अंशावतरणं राजन् राक्षसानां च कीर्तितम् ।। १६१ ।।

ये पृथिव्यां समुद्भूता राजानो युद्ध दुर्मदाः ।

महात्मानो यदूनां च ये जाता विपुले कुले ।। १६२ ।।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मया ते परिकीर्तिताः ।

धन्यं यशस्यं पुत्रीयमायुष्यं विजयावहम् ।

इदमंशावतरणं श्रोतव्यमनसूयता ।। १६३ ।।

राजन्! इस प्रकार तुम्हें देवताओं, असुरों, गन्धर्वों, अप्सराओं तथा राक्षसोंके अंशोंका अवतरण बताया गया। युद्धमें उन्मत्त रहनेवाले जो-जो राजा इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुए थे और जो-जो महात्मा क्षत्रिय यादवोंके विशाल कुलमें प्रकट हुए थे, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य जो भी रहे हैं, उन सबके स्वरूपका परिचय मैंने तुम्हें दे दिया है। मनुष्यको चाहिये कि वह दोष-दृष्टिका त्याग करके इस अंशावतरणके प्रसंगको सुने। यह धन, यश, पुत्र, आयु तथा विजयकी प्राप्ति करानेवाला है ।। १६१—१६३ ।।

अंशावतरणं श्रुत्वा देवगन्धर्वरक्षसाम् ।
प्रभवाप्ययवित् प्राज्ञो न कृच्छ्रेष्ववसीदति ।। १६४ ।।

देवता, गन्धर्व तथा राक्षसोंके इस अंशावतरणको सुनकर विश्वकी उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान परमात्माके स्वरूपको जाननेवाला प्राज्ञ पुरुष बड़ी-बड़ी विपत्तियोंमें भी दुःखी नहीं होता ।। १६४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अंशावतरणसमाप्तौ सप्तषष्टितमोऽध्यायः ।। ६७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अंशावतरणसमाप्तिविषयक सड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६७ ।।

---

* ‘अत्रि’ शब्दसे यहाँ सूर्यको ग्रहण किया गया है। नीलकण्ठने भी यही अर्थ लिया है।

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

राजा दुष्यन्तकी अद्भुत शक्ति तथा राज्यशासनकी क्षमताका वर्णन

जनमेजय उवाच

त्वत्तः श्रुतमिदं ब्रह्मन् देवदानवरक्षसाम् ।
अंशावतरणं सम्यग् गन्धर्वाप्सरसां तथा ।। १ ।।

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! मैंने आपके मुखसे देवता, दानव, राक्षस, गन्धर्व तथा अप्सराओंके अंशावतरणका वर्णन अच्छी तरह सुन लिया ।। १ ।।

इमं तु भूय इच्छामि कुरूणां वंशमादितः ।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसंनिधौ ।। २ ।।

विप्रवर! अब इन ब्रह्मर्षियोंके समीप आपके द्वारा वर्णित कुरुवंशका वृत्तान्त पुनः आदिसे ही सुनना चाहता हूँ ।। २ ।।

वैशम्पायन उवाच

पौरवाणां वंशकरो दुष्यन्तो नाम वीर्यवान् ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता भरतसत्तम ।। ३ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—भरतवंशशिरोमणे! पूरुवंशका विस्तार करनेवाले एक राजा हो गये हैं, जिनका नाम था दुष्यन्त। वे महान् पराक्रमी तथा चारों समुद्रोंसे घिरी हुई समूची पृथ्वीके पालक थे ।। ३ ।।

चतुर्भागं भुवः कृत्स्नं यो भुङ्क्ते मनुजेश्वरः ।
समुद्रावरणांश्चापि देशान् स समितिंजयः ।। ४ ।।
आम्लेच्छावधिकान् सर्वान् स भुङ्क्ते रिपुमर्दनः ।
रत्नाकरसमुद्रान्तांश्चातुर्वर्ण्यजनावृतान् ।। ५ ।।

राजा दुष्यन्त पृथ्वीके चारों भागोंका तथा समुद्रसे आवृत सम्पूर्ण देशोंका भी पूर्णरूपसे पालन करते थे। उन्होंने अनेक युद्धोंमें विजय पायी थी। रत्नाकर समुद्रतक फैले हुए, चारों वर्णके लोगोंसे भरे-पूरे तथा म्लेच्छ देशकी सीमासे मिले-जुले सम्पूर्ण भूभागोंका वे शत्रुमर्दन नरेश अकेले ही शासन तथा संरक्षण करते थे ।। ४-५ ।।

न वर्णसंकरकरो न कृष्याकरकृज्जनः ।
न पापकृत् कश्चिदासीत् तस्मिन् राजनि शासति ।। ६ ।।

उस राजाके शासनकालमें कोई मनुष्य वर्णसंकर संतान उत्पन्न नहीं करता था; पृथ्वी बिना जोते-बोये ही अनाज पैदा करती थी और सारी भूमि ही रत्नोंकी खान बनी हुई थी,

इसलिये कोई भी खेती करने या रत्नोंकी खानका पता लगानेकी चेष्टा नहीं करता था। पाप करनेवाला तो उस राज्यमें कोई था ही नहीं ।। ६ ।।

धर्मे रतिं सेवमाना धर्मार्थावभिपेदिरे ।
तदा नरा नरव्याघ्र तस्मिञ्जनपदेश्वरे ।। ७ ।।
नासीच्चौरभयं तात न क्षुधाभयमण्वपि ।
नासीद् व्याधिभयं चापि तस्मिञ्जनपदेश्वरे ।। ८ ।।

नरश्रेष्ठ! सभी लोग धर्ममें अनुराग रखते और उसीका सेवन करते थे। अतः धर्म और अर्थ दोनों ही उन्हें स्वतः प्राप्त हो जाते थे। तात! राजा दुष्यन्त जब इस देशके शासक थे, उस समय कहीं चोरोंका भय नहीं था। भूखका भय तो नाममात्रको भी नहीं था। इस देशपर दुष्यन्तके शासनकालमें रोग-व्याधिका डर तो बिलकुल ही नहीं रह गया था ।। ७-८ ।।

स्वधर्मे रेमिरे वर्णा दैवे कर्मणि निःस्पृहाः ।
तमाश्रित्य महीपालमासंश्चैवाकुतोभयाः ।। ९ ।।

सब वर्णोंके लोग अपने-अपने धर्मके पालनमें रत रहते थे। देवाराधन आदि कर्मोंको निष्कामभावसे ही करते थे। राजा दुष्यन्तका आश्रय लेकर समस्त प्रजा निर्भय हो गयी थी ।। ९ ।।

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि रसवन्ति च ।
सर्वरत्नसमृद्धा च मही पशुमती तथा ।। १० ।।

मेघ समयपर पानी बरसाता और अनाज रसयुक्त होते थे। पृथ्वी सब प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न तथा पशु-धनसे परिपूर्ण थी ।। १० ।।

स्वकर्मनिरता विप्रा नानृतं तेषु विद्यते ।
स चाद्भुतमहावीर्यो वज्रसंहननो युवा ।। ११ ।।

ब्राह्मण अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंमें तत्पर थे। उनमें झूठ एवं छल-कपट आदिका अभाव था। राजा दुष्यन्त स्वयं भी नवयुवक थे। उनका शरीर वज्रके सदृश दृढ था। वे अद्भुत एवं महान् पराक्रमसे सम्पन्न थे ।। ११ ।।

उद्यम्य मन्दरं दोर्भ्यां वहेत् सवनकाननम् ।
चतुष्पथगदायुद्धे सर्वप्रहरणेषु च ।। १२ ।।
नागपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च बभूव परिनिष्ठितः ।
बले विष्णुसमश्चासीत् तेजसा भास्करोपमः ।। १३ ।।

वे अपने दोनों हाथोंद्वारा उपवनों और काननोंसहित मन्दराचलको उठाकर ले जानेकी शक्ति रखते थे। गदायुद्धके प्रक्षेप[१], विक्षेप[२], परिक्षेप[३], और अभिक्षेप[४]—इन चारों प्रकारोंमें कुशल तथा सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी विद्यामें अत्यन्त निपुण थे। घोड़े और हाथीकी पीठपर बैठनेकी कलामें वे अत्यन्त प्रवीण थे। बलमें भगवान् विष्णुके समान और तेजमें भगवान् सूर्यके सदृश थे ।। १२-१३ ।।

अक्षोभ्यत्वेऽर्णवसमः सहिष्णुत्वे धरासमः ।
सम्मतः स महीपालः प्रसन्नपुरराष्ट्रवान् ।। १४ ।।
भूयो धर्मपरैर्भावैर्मुदितं जनमादिशत् ।। १५ ।।

वे समुद्रके समान अक्षोभ्य और पृथ्वीके समान सहनशील थे। महाराज दुष्यन्तका सर्वत्र सम्मान था। उनके नगर तथा राष्ट्रके लोग सदा प्रसन्न रहते थे। वे अत्यन्त धर्मयुक्त भावनासे सदा प्रसन्न रहनेवाली प्रजाका शासन करते थे ।। १४-१५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने अष्टषष्टितमोऽध्यायः ।। ६८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यानविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६८ ।।

---

१. दूरवर्ती शत्रुपर गदा फेंकना ‘प्रक्षेप’ कहलाता है। २. समीपवर्ती शत्रुपर गदाकी कोटिसे प्रहार करना ‘विक्षेप’ कहा गया है। ३. जब शत्रु बहुत हों तो सब ओर गदाको घुमाते हुए शत्रुओंपर उसका प्रहार करना ‘परिक्षेप’ है। ४. गदाके अग्रभागसे मारना ‘अभिक्षेप’ कहलाता है।

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

दुष्यन्तका शिकारके लिये वनमें जाना और विविध हिंसक वन-जन्तुओंका वध करना

जनमेजय उवाच

सम्भवं भरतस्याहं चरितं च महामतेः ।
शकुन्तलायाश्चोत्पत्तिं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।। १ ।।

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! मैं परम बुद्धिमान् भरतकी उत्पत्ति और चरित्रको तथा शकुन्तलाकी उत्पत्तिके प्रसंगको भी यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ।। १ ।।

दुष्यन्तेन च वीरेण यथा प्राप्ता शकुन्तला ।
तं वै पुरुषसिंहस्य भगवन् विस्तरं त्वहम् ।। २ ।।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वज्ञ सर्वं मतिमतां वर ।

भगवन्! वीरवर दुष्यन्तने शकुन्तलाको कैसे प्राप्त किया? मैं पुरुषसिंह दुष्यन्तके उस चरित्रको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। तत्त्वज्ञ मुने! आप बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं। अतः ये सब बातें बताइये ।। २½ ।।

वैशम्पायन उवाच

स कदाचिन्महाबाहुः प्रभूतबलवाहनः ।। ३ ।।
वनं जगाम गहनं हयनागशतैर्वृतः ।
बलेन चतुरङ्गेण वृतः परमवल्गुना ।। ४ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—एक समयकी बात है, महाबाहु राजा दुष्यन्त बहुत-से सैनिक और सवारियोंको साथ लिये सैकड़ों हाथी-घोड़ोंसे घिरकर परम सुन्दर चतुरंगिणी सेनाके साथ एक गहन वनकी ओर चले ।। ३-४ ।।

खड्गशक्तिधरैर्वीरैर्गदामुसलपाणिभिः ।
प्रासतोमरहस्तैश्च ययौ योधशतैर्वृतः ।। ५ ।।

जब राजाने यात्रा की, उस समय खड्ग, शक्ति, गदा, मुसल, प्रास और तोमर हाथमें लिये सैकड़ों योद्धा उन्हें घेरे हुए थे ।। ५ ।।

सिंहनादैश्च योधानां शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः ।
रथनेमिस्वनैश्चैव सनागवरबृंहितैः ।। ६ ।।
नानायुधधरैश्चापि नानावेषधरैस्तथा ।
ह्रेषितस्वनमिश्रैश्च क्ष्वेडितास्फोटितस्वनैः ।। ७ ।।
आसीत् किलकिलाशब्दस्तस्मिन् गच्छति पार्थिवे ।

प्रासादवरशृङ्गस्थाः परया नृपशोभया ।। ८ ।।
ददृशुस्तं स्त्रियस्तत्र शूरमात्मयशस्करम् ।
शक्रोपमममित्रघ्नं परवारणवारणम् ।। ९ ।।

महाराज दुष्यन्तके यात्रा करते समय योद्धाओंके सिंहनाद, शंख और नगाड़ोंकी आवाज, रथके पहियोंकी घरघराहट, बड़े-बड़े गजराजोंकी चिग्घाड़, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, नाना प्रकारके आयुध तथा भाँति-भाँतिके वेष धारण करनेवाले योद्धाओंद्वारा की हुई गर्जना और ताल ठोंकनेकी आवाजोंसे चारों ओर भारी कोलाहल मच गया था। महलके श्रेष्ठ शिखरपर बैठी हुई स्त्रियाँ उत्तम राजोचित शोभासे सम्पन्न शूरवीर दुष्यन्तको देख रही थीं। वे अपने यशको बढ़ानेवाले, इन्द्रके समान पराक्रमी और शत्रुओंका नाश करनेवाले थे। शत्रुरूपी मतवाले हाथीको रोकनेके लिये उनमें सिंहके समान शक्ति थी ।। ६—९ ।।

पश्यन्तः स्त्रीगणास्तत्र वज्रपाणिं स्म मेनिरे ।
अयं स पुरुषव्याघ्रो रणे वसुपराक्रमः ।। १० ।।
यस्य बाहुबलं प्राप्य न भवन्त्यसुहृद्‌गणाः ।

वहाँ देखती हुई स्त्रियोंने उन्हें वज्रपाणि इन्द्रके समान समझा और आपसमें वे इस प्रकार बातें करने लगीं—‘सखियो! देखो तो सही, ये ही वे पुरुषसिंह महाराज दुष्यन्त हैं, जो संग्रामभूमिमें वसुओंके समान पराक्रम दिखाते हैं, जिनके बाहुबलमें पड़कर शत्रुओंका अस्तित्व मिट जाता है’ ।। १० १/२ ।।

इति वाचो ब्रुवन्त्यस्ताः स्त्रियः प्रेम्णा नराधिपम् ।। ११ ।।
तुष्टुवुः पुष्पवृष्टीश्च ससृजुस्तस्य मूर्धनि ।
तत्र तत्र च विप्रेन्द्रैः स्तूयमानः समन्ततः ।। १२ ।।

ऐसी बातें करती हुई वे स्त्रियाँ बड़े प्रेमसे महाराज दुष्यन्तकी स्तुति करतीं और उनके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा करती थीं। यत्र-तत्र खड़े हुए श्रेष्ठ ब्राह्मण सब ओर उनकी स्तुति-प्रशंसा करते थे ।। ११-१२ ।।

निर्ययौ परमप्रीत्या वनं मृगजिघांसया ।
तं देवराजप्रतिमं मत्तवारणधूर्गतम् ।। १३ ।।
द्विजक्षत्रियविट्‌शूद्रा निर्यान्तमनुजग्मिरे ।
ददृशुर्वर्धमानास्ते आशीर्भिश्च जयेन च ।। १४ ।।

इस प्रकार महाराज वनमें हिंसक पशुओंका शिकार खेलनेके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ नगरसे बाहर निकले। वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी थे। मतवाले हाथीकी पीठपर बैठकर यात्रा करनेवाले उन महाराज दुष्यन्तके पीछे-पीछे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्णोंके लोग गये और सब आशीर्वाद एवं विजयसूचक वचनोंद्वारा उनके अभ्युदयकी कामना करते हुए उनकी ओर देखते रहे ।। १३-१४ ।।

सुदूरमनुजग्मुस्तं पौरजानपदास्तथा ।

न्यवर्तन्त ततः पश्चादनुज्ञाता नृपेण ह ।। १५ ।।

नगर और जनपदके लोग बहुत दूरतक उनके पीछे-पीछे गये। फिर महाराजकी आज्ञा होनेपर लौट आये ।। १५ ।।

सुपर्णप्रतिमेनाथ रथेन वसुधाधिपः ।
महीमापूरयामास घोषेण त्रिदिवं तथा ।। १६ ।।
स गच्छन् ददृशे धीमान् नन्दनप्रतिमं वनम् ।
बिल्वार्कखदिराकीर्णं कपित्थधवसंकुलम् ।। १७ ।।

उनका रथ गरुडके समान वेगशाली था। उसके द्वारा यात्रा करनेवाले नरेशने घरघराहटकी आवाजसे पृथ्वी और आकाशको गुँजा दिया। जाते-जाते बुद्धिमान् दुष्यन्तने एक नन्दनवनके समान मनोहर वन देखा, जो बेल, आक, खैर, कैथ और धव (बाकली) आदि वृक्षोंसे भरपूर था ।। १६-१७ ।।

विषमं पर्वतस्रस्तैरश्मभिश्च समावृतम् ।
निर्जलं निर्मनुष्यं च बहुयोजनमायतम् ।। १८ ।।

पर्वतकी चोटीसे गिरे हुए बहुत-से शिला-खण्ड वहाँ इधर-उधर पड़े थे। ऊँची-नीची भूमिके कारण वह वन बड़ा दुर्गम जान पड़ता था। अनेक योजनतक फैले हुए उस वनमें कहीं जल या मनुष्यका पता नहीं चलता था ।। १८ ।।

मृगसिंहैर्वृतं घोरैरन्यैश्चापि वनेचरैः ।
तद् वनं मनुजव्याघ्रः सभृत्यबलवाहनः ।। १९ ।।
लोडयामास दुष्यन्तः सूदयन् विविधान् मृगान् ।
बाणगोचरसम्प्राप्तांस्तत्र व्याघ्रगणान् बहून् ।। २० ।।
पातयामास दुष्यन्तो निर्बिभेद च सायकैः ।
दूरस्थान् सायकैः कांश्चिदभिनत् स नराधिपः ।। २१ ।।
अभ्याशमागतांश्चान्यान् खड्गेन निरकृन्तत ।
कांश्चिदेणान् समाजघ्ने शक्त्या शक्तिमतां वरः ।। २२ ।।

वह सब ओर मृग और सिंह आदि भयंकर जन्तुओं तथा अन्य वनवासी जीवोंसे भरा हुआ था। नरश्रेष्ठ राजा दुष्यन्तने सेवक, सैनिक और सवारियोंके साथ नाना प्रकारके हिंसक पशुओंका शिकार करते हुए उस वनको रौंद डाला। वहाँ बाणोंके लक्ष्यमें आये हुए बहुत-से व्याघ्रोंको महाराज दुष्यन्तने मार गिराया और कितनोंको सायकोंसे बींध डाला। शक्तिशाली पुरुषोंमें श्रेष्ठ नरेशने कितने ही दूरवर्ती हिंसक पशुओंको बाणोंद्वारा घायल किया। जो निकट आ गये, उन्हें तलवारसे काट डाला और कितने ही एण जातिके पशुओंको शक्ति नामक शस्त्रद्वारा मौतके घाट उतार दिया ।। १९—२२ ।।

गदामण्डलतत्त्वज्ञश्चचारामितविक्रमः ।
तोमरैरसिभिश्चापि गदामुसलकम्पनैः ।। २३ ।।

चचार स विनिघ्नन् वै स्वैरचारान् वनद्विपान् ।
राज्ञा चाद्भुतवीर्येण योधैश्च समरप्रियैः ।। २४ ।।
लोड्यमानं महारण्यं तत्यजुः स्म मृगाधिपाः ।
तत्र विद्रुतयूथानि हतयूथपतीनि च ।। २५ ।।
मृगयूथान्यथौत्सुक्याच्छब्दं चक्रुस्ततस्ततः ।
शुष्काश्चापि नदीर्गत्वा जलनैराश्यकर्शिताः ।। २६ ।।
व्यायामक्लान्तहृदयाः पतन्ति स्म विचेतसः ।
क्षुत्पिपासापरीताश्च श्रान्ताश्च पतिता भुवि ।। २७ ।।

असीम पराक्रमवाले राजा गदा घुमानेकी कलामें अत्यन्त प्रवीण थे। अतः वे तोमर, तलवार, गदा तथा मुसलोंकी मारसे स्वेच्छापूर्वक विचरनेवाले जंगली हाथियोंका वध करते हुए वहाँ सब ओर विचरने लगे। अद्‌भुत पराक्रमी नरेश और उनके युद्ध-प्रेमी सैनिकोंने उस विशाल वनका कोना-कोना छान डाला। अतः सिंह और बाघ उस वनको छोड़कर भाग गये। पशुओंके कितने ही झुंड, जिनके यूथपति मारे गये थे, व्यग्र होकर भागे जा रहे थे और कितने ही यूथ इधर-उधर आर्तनाद करते थे। वे प्याससे पीड़ित हो सूखी नदियोंमें जाकर जब जल नहीं पाते, तब निराशासे अत्यन्त खिन्न हो दौड़नेके परिश्रमसे क्लान्तचित्त होनेके कारण मूर्च्छित होकर गिर पड़ते थे। भूख, प्यास और थकावटसे चूर-चूर हो बहुत-से पशु धरतीपर गिर पड़े ।। २३—२७ ।।

केचित् तत्र नरव्याघ्रैरभक्ष्यन्त बुभुक्षितैः ।
केचिदग्निमथोत्पाद्य संसाध्य च वनेचराः ।। २८ ।।
भक्षयन्ति स्म मांसानि प्रकुट्य विधिवत् तदा ।
तत्र केचिद् गजा मत्ता बलिनः शस्त्रविक्षताः ।। २९ ।।
संकोच्याग्रकरान् भीताः प्रद्रवन्ति स्म वेगिताः ।
शकृन्मूत्रं सृजन्तश्च क्षरन्तः शोणितं बहु ।। ३० ।।

वहाँ कितने ही व्याघ्र-स्वभावके नृशंस जंगली मनुष्य भूखे होनेके कारण कुछ मृगोंको कच्चे ही चबा गये। कितने ही वनमें विचरनेवाले व्याध वहाँ आग जलाकर मांस पकानेकी अपनी रीतिके अनुसार मांसको कूट-कूटकर राँधने और खाने लगे। उस वनमें कितने ही बलवान् और मतवाले हाथी अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे क्षत-विक्षत होकर सूँड़को समेटे हुए भयके मारे वेगपूर्वक भाग रहे थे। उस समय उनके घावोंसे बहुत-सा रक्त बह रहा था और वे मल-मूत्र करते जाते थे ।। २८—३० ।।

वन्या गजवरास्तत्र ममृदुर्मनुजान् बहून् ।
तद् वनं बलमेघेन शरधारेण संवृतम् ।
व्यरोचत मृगाकीर्णं राज्ञा हतमृगाधिपम् ।। ३१ ।।

बड़े-बड़े जंगली हाथियोंने भी वहाँ भागते समय बहुत-से मनुष्योंको कुचल डाला। वहाँ बाणरूपी जलकी धारा बरसानेवाले सैन्यरूपी बादलोंने उस वनरूपी व्योमको सब ओरसे घेर लिया था। महाराज दुष्यन्तने जहाँके सिंहोंको मार डाला था, वह हिंसक पशुओंसे भरा हुआ वन बड़ी शोभा पा रहा था ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ।। ६९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यानविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६९ ।।

सप्ततितमोऽध्यायः

तपोवन और कण्वके आश्रमका वर्णन तथा राजा दुष्यन्तका उस आश्रममें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

ततो मृगसहस्राणि हत्वा सबलवाहनः ।
राजा मृगप्रसङ्गेन वनमन्यद् विवेश ह ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सेना और सवारियोंके साथ राजा दुष्यन्तने सहस्रों हिंसक पशुओंका वध करके एक हिंसक पशुका ही पीछा करते हुए दूसरे वनमें प्रवेश किया ।। १ ।।

एक एवोत्तमबलः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ।
स वनस्यान्तमासाद्य महच्छून्यं समासदत् ।। २ ।।

उस समय उत्तम बलसे युक्त महाराज दुष्यन्त अकेले ही थे तथा भूख, प्यास और थकावटसे शिथिल हो रहे थे। उस वनके दूसरे छोरमें पहुँचनेपर उन्हें एक बहुत बड़ा ऊसर मैदान मिला, जहाँ वृक्ष आदि नहीं थे ।। २ ।।

तच्चाप्यतीत्य नृपतिरुत्तमाश्रमसंयुतम् ।
मनःप्रह्लादजननं दृष्टिकान्तमतीव च ।। ३ ।।
शीतमारुतसंयुक्तं जगामान्यन्महद् वनम् ।
पुष्पितैः पादपैः कीर्णमतीव सुखशाद्वलम् ।। ४ ।।

उस वृक्षशून्य ऊसर भूमिको लाँघकर महाराज दुष्यन्त दूसरे विशालवनमें जा पहुँचे, जो अनेक उत्तम आश्रमोंसे सुशोभित था। देखनेमें अत्यन्त सुन्दर होनेके साथ ही वह मनमें अद्‌भुत आनन्दोल्लासकी सृष्टि कर रहा था। उस वनमें शीतल वायु चल रही थी। वहाँके वृक्ष फूलोंसे भरे थे और वनमें सब ओर व्याप्त हो उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। वहाँ अत्यन्त सुखद हरी-हरी कोमल घास उगी हुई थी ।। ३-४ ।।

विपुलं मधुरारावैर्नादितं विहगैस्तथा ।
पुंस्कोकिलनिनादैश्च झिल्लीकगणनादितम् ।। ५ ।।

वह वन बहुत बड़ा था और मीठी बोली बोलनेवाले विविध विहंगमोंके कलरवोंसे गूँज रहा था। उसमें कहीं कोकिलोंकी कुहू-कुहू सुन पड़ती थी तो कहीं झींगुरोंकी झीनी झनकार गूँज रही थी ।। ५ ।।

प्रवृद्धविटपैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम् ।
षट्पदाघूर्णिततलं लक्ष्म्या परमया युतम् ।। ६ ।।

वहाँ सब ओर बड़ी-बड़ी शाखाओंवाले विशाल वृक्ष अपनी सुखद शीतल छाया किये हुए थे और उन वृक्षोंके नीचे सब ओर भ्रमर मँड़रा रहे थे। इस प्रकार वहाँ सर्वत्र बड़ी भारी शोभा छा रही थी ।। ६ ।।

नापुष्पः पादपः कश्चिन्नाफलो नापि कण्टकी ।
षट्पदैर्नाप्यपाकीर्णस्तस्मिन् वै काननेऽभवत् ।। ७ ।।

उस वनमें एक भी वृक्ष ऐसा नहीं था, जिसमें फूल और फल न लगे हों तथा भौंरे न बैठे हों। काँटेदार वृक्ष तो वहाँ ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलता था ।। ७ ।।

विहगैर्नादितं पुष्पैरलंकृतमतीव च ।
सर्वर्तुकुसुमैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम् ।। ८ ।।

सब ओर अनेकानेक पक्षी चहक रहे थे। भाँति-भाँतिके पुष्प उस वनकी अत्यन्त शोभा बढ़ा रहे थे। सभी ऋतुओंमें फूल देनेवाले सुखद छायायुक्त वृक्ष वहाँ चारों ओर फैले हुए थे ।। ८ ।।

मनोरमं महेष्वासो विवेश वनमुत्तमम् ।
मारुताकलितास्तत्र द्रुमाः कुसुमशाखिनः ।। ९ ।।
पुष्पवृष्टिं विचित्रां तु व्यसृजंस्ते पुनः पुनः ।
दिवःस्पृशोऽथ संघुष्टाः पक्षिभिर्मधुरस्वनैः ।। १० ।।

महान् धनुर्धर राजा दुष्यन्तने इस प्रकार मनको मोह लेनेवाले उस उत्तम वनमें प्रवेश किया। उस समय फूलोंसे भरी हुई डालियोंवाले वृक्ष वायुके झकोरोंसे हिल-हिलकर उनके ऊपर बार-बार अद्भुत पुष्प-वर्षा करने लगे। वे वृक्ष इतने ऊँचे थे, मानो आकाशको छू लेंगे। उनपर बैठे हुए मीठी बोली बोलनेवाले पक्षियोंके मधुर शब्द वहाँ गूँज रहे थे ।। ९—१० ।।

विरेजुः पादपास्तत्र विचित्रकुसुमाम्बराः ।
तेषां तत्र प्रवालेषु पुष्पभारावनामिषु ।। ११ ।।
रुवन्ति रावान् मधुरान् षट्पदा मधुलिप्सवः ।
तत्र प्रदेशांश्च बहून् कुसुमोत्करमण्डितान् ।। १२ ।।
लतागृहपरिक्षिप्तान् मनसः प्रीतिवर्धनान् ।
सम्पश्यन् सुमहातेजा बभूव मुदितस्तदा ।। १३ ।।

उस वनमें पुष्परूपी विचित्र वस्त्र धारण करनेवाले वृक्ष अद्भुत शोभा पा रहे थे। फूलोंके भारसे झुके हुए उनके कोमल पल्लवोंपर बैठे हुए मधुलोभी भ्रमर मधुर गुंजार कर रहे थे। राजा दुष्यन्तने वहाँ बहुत-से ऐसे रमणीय प्रदेश देखे जो फूलोंके ढेरसे सुशोभित तथा लतामण्डपोंसे अलंकृत थे। मनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले उन मनोहर प्रदेशोंका अवलोकन करके उस समय महातेजस्वी राजाको बड़ा हर्ष हुआ ।। ११—१३ ।।

परस्पराश्लिष्टशाखैः पादपैः कुसुमान्वितैः ।

अशोभत वनं तत् तु महेन्द्रध्वजसंनिभैः ।। १४ ।।

फूलोंसे लदे हुए वृक्ष एक-दूसरेसे अपनी डालियोंको सटाकर मानो गले मिल रहे थे। वे गगनचुम्बी वृक्ष इन्द्रकी ध्वजाके समान जान पड़ते थे और उनके कारण उस वनकी बड़ी शोभा हो रही थी ।। १४ ।।

सिद्धचारणसंघैश्च गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
सेवितं वनमत्यर्थं मत्तवानरकिन्नरम् ।। १५ ।।

सिद्ध-चारणसमुदाय तथा गन्धर्व और अप्सराओंके समूह भी उस वनका अत्यन्त सेवन करते थे। वहाँ मतवाले वानर और किन्नर निवास करते थे ।। १५ ।।

सुखः शीतः सुगन्धी च पुष्परेणुवहोऽनिलः ।
परिक्रामन् वने वृक्षानुपैतीव रिरंसया ।। १६ ।।

उस वनमें शीतल, सुगन्ध, सुखदायिनी मन्द वायु फूलोंके पराग वहन करती हुई मानो रमणकी इच्छासे बार-बार वृक्षोंके समीप आती थी ।। १६ ।।

एवंगुणसमायुक्तं ददर्श स वनं नृपः ।
नदीकच्छोद्भवं कान्तमुच्छ्रितध्वजसंनिभम् ।। १७ ।।

वह वन मालिनी नदीके कछारमें फैला हुआ था और ऊँची ध्वजाओंके समान ऊँचे वृक्षोंसे भरा होनेके कारण अत्यन्त मनोहर जान पड़ता था। राजाने इस प्रकार उत्तम गुणोंसे युक्त उस वनका भलीभाँति अवलोकन किया ।। १७ ।।

प्रेक्षमाणो वनं तत् तु सुप्रहृष्टविहङ्गमम् ।
आश्रमप्रवरं रम्यं ददर्श च मनोरमम् ।। १८ ।।

इस प्रकार राजा अभी वनकी शोभा देख ही रहे थे कि उनकी दृष्टि एक उत्तम आश्रमपर पड़ी, जो अत्यन्त रमणीय और मनोरम था। वहाँ बहुत-से पक्षी हर्षोल्लासमें भरकर चहक रहे थे ।। १८ ।।

नानावृक्षसमाकीर्णं सम्प्रज्वलितपावकम् ।
तं तदाप्रतिमं श्रीमानाश्रमं प्रत्यपूजयत् ।। १९ ।।

नाना प्रकारके वृक्षोंसे भरपूर उस वनमें स्थान-स्थानपर अग्निहोत्रकी आग प्रज्वलित हो रही थी। इस प्रकार उस अनुपम आश्रमका श्रीमान् दुष्यन्त नरेशने मन-ही-मन बड़ा सम्मान किया ।। १९ ।।

यतिभिर्वालखिल्यैश्च वृतं मुनिगणान्वितम् ।
अग्न्यगारैश्च बहुभिः पुष्पसंस्तरसंस्तृतम् ।। २० ।।

वहाँ बहुत-से त्यागी विरागी यति, बालखिल्य ऋषि तथा अन्य मुनिगण निवास करते थे। अनेकानेक अग्निहोत्रगृह उस आश्रमकी शोभा बढ़ा रहे थे। वहाँ इतने फूल झड़कर गिरे थे कि उनके बिछौने-से बिछ गये थे ।। २० ।।

महाकच्छैर्बृहद्भिश्च विभ्राजितमतीव च ।

मालिनीमभितो राजन् नदीं पुण्यां सुखोदकाम् ।। २१ ।।

बड़े-बड़े तूनके वृक्षोंसे उस आश्रमकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी। राजन्! बीचमें पुण्यसलिला मालिनी नदी बहती थी, जिसका जल बड़ा ही सुखद एवं स्वादिष्ट था। उसके दोनों तटोंपर वह आश्रम फैला हुआ था ।। २१ ।।

नैकपक्षिगणाकीर्णां तपोवनमनोरमाम् ।
तत्र व्यालमृगान् सौम्यान् पश्यन् प्रीतिमवाप सः ।। २२ ।।

मालिनीमें अनेक प्रकारके जलपक्षी निवास करते थे तथा तटवर्ती तपोवनके कारण उसकी मनोहरता और बढ़ गयी थी। वहाँ विषधर सर्प और हिंसक वनजन्तु भी सौम्यभाव (हिंसाशून्य कोमलवृत्ति)-से रहते थे। यह सब देखकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई ।। २२ ।।

तं चाप्रतिरथः श्रीमानाश्रमं प्रत्यपद्यत ।
देवलोकप्रतीकाशं सर्वतः सुमनोहरम् ।। २३ ।।

श्रीमान् दुष्यन्त नरेश अप्रतिरथ वीर थे—उस समय उनकी समानता करनेवाला भूमण्डलमें दूसरा कोई रथी योद्धा नहीं था। वे उक्त आश्रमके समीप जा पहुँचे, जो देवताओंके लोक-सा प्रतीत होता था। वह आश्रम सब ओरसे अत्यन्त मनोहर था ।। २३ ।।

नदीं चाश्रमसंश्लिष्टां पुण्यतोयां ददर्श सः ।
सर्वप्राणभृतां तत्र जननीमिव धिष्ठिताम् ।। २४ ।।

राजाने आश्रमसे सटकर बहनेवाली पुण्यसलिला मालिनी नदीकी ओर भी दृष्टिपात किया; जो वहाँ समस्त प्राणियोंकी जननी-सी विराज रही थी ।। २४ ।।

सचक्रवाकपुलिनां पुष्पफेनप्रवाहिनीम् ।
सकिन्नरगणावासां वानरर्क्षनिषेविताम् ।। २५ ।।

उसके तटपर चकवा-चकई किलोल कर रहे थे। नदीके जलमें बहुत-से फूल इस प्रकार बह रहे थे, मानो फेन हों। उसके तटप्रान्तमें किन्नरोंके निवास-स्थान थे। वानर और रीछ भी उस नदीका सेवन करते थे ।। २५ ।।

पुण्यस्वाध्यायसंघुष्टां पुलिनैरुपशोभिताम् ।
मत्तवारणशार्दूलभुजगेन्द्रनिषेविताम् ।। २६ ।।

अनेक सुन्दर पुलिन मालिनीकी शोभा बढ़ा रहे थे। वेद-शास्त्रोंके पवित्र स्वाध्यायकी ध्वनिसे उस सरिताका निकटवर्ती प्रदेश गूँज रहा था। मतवाले हाथी, सिंह और बड़े-बड़े सर्प भी मालिनीके तटका आश्रय लेकर रहते थे ।। २६ ।।

तस्यास्तीरे भगवतः काश्यपस्य महात्मनः ।
आश्रमप्रवरं रम्यं महर्षिगणसेवितम् ।। २७ ।।

उसके तटपर ही कश्यपगोत्रीय महात्मा कण्वका वह उत्तम एवं रमणीय आश्रम था। वहाँ महर्षियोंके समुदाय निवास करते थे ।। २७ ।।

नदीमाश्रमसम्बद्धां दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं तथा ।

चकाराभिप्रवेशाय मतिं स नृपतिस्तदा ।। २८ ।।

उस मनोहर आश्रम और आश्रमसे सटी हुई नदीको देखकर राजाने उस समय उसमें प्रवेश करनेका विचार किया ।। २८ ।।

अलंकृतं द्वीपवत्या मालिन्या रम्यतीरया ।
नरनारायणस्थानं गङ्गयेवोपशोभितम् ।। २९ ।।

टापुओंसे युक्त तथा सुरम्य तटवाली मालिनी नदीसे सुशोभित वह आश्रम गंगा नदीसे शोभायमान भगवान् नर-नारायणके आश्रम-सा जान पड़ता था ।। २९ ।।

मत्तबर्हिणसंघुष्टं प्रविवेश महद् वनम् ।
तत् स चैत्ररथप्रख्यं समुपेत्य नरर्षभः ।। ३० ।।
अतीवगुणसम्पन्नमनिर्देश्यं च वर्चसा ।
महर्षिं काश्यपं द्रष्टुमथ कण्वं तपोधनम् ।। ३१ ।।
ध्वजिनीमश्वसम्बाधां पदातिगजसंकुलाम् ।
अवस्थाप्य वनद्वारि सेनामिदमुवाच सः ।। ३२ ।।

तदनन्तर नरश्रेष्ठ दुष्यन्तने अत्यन्त उत्तम गुणोंसे सम्पन्न कश्यपगोत्रीय महर्षि तपोधन कण्वका, जिनके तेजका वाणीद्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता था, दर्शन करनेके लिये कुबेरके चैत्ररथवनके समान मनोहर उस महान् वनमें प्रवेश किया, जहाँ मतवाले मयूर अपनी केकाध्वनि फैला रहे थे। वहाँ पहुँचकर नरेशने रथ, घोड़े, हाथी और पैदलोंसे भरी हुई अपनी चतुरंगिणी सेनाको उस तपोवनके किनारे ठहरा दिया और कहा— ।। ३०—३२ ।।

मुनिं विरजसं द्रष्टुं गमिष्यामि तपोधनम् ।
काश्यपं स्थीयतामत्र यावदागमनं मम ।। ३३ ।।

‘सेनापति! और सैनिको! मैं रजोगुणरहित तपस्वी महर्षि कश्यपनन्दन कण्वका दर्शन करनेके लिये उनके आश्रममें जाऊँगा। जबतक मैं वहाँसे लौट न आऊँ, तबतक तुमलोग यहीं ठहरो’ ।। ३३ ।।

तद् वनं नन्दनप्रख्यमासाद्य मनुजेश्वरः ।
क्षुत्पिपासे जहौ राजा मुदं चावाप पुष्कलाम् ।। ३४ ।।

इस प्रकार आदेश दे नरेश्वर दुष्यन्तने नन्दनवनके समान सुशोभित उस तपोवनमें पहुँचकर भूख-प्यासको भुला दिया। वहाँ उन्हें बड़ा आनन्द मिला ।। ३४ ।।

सामात्यो राजलिङ्गानि सोऽपनीय नराधिपः ।
पुरोहितसहायश्च जगामाश्रममुत्तमम् ।। ३५ ।।

वे नरेश मुकुट आदि राजचिह्नोंको हटाकर साधारण वेश-भूषामें मन्त्रियों और पुरोहितके साथ उस उत्तम आश्रमके भीतर गये ।। ३५ ।।

दिदृक्षुस्तत्र तमृषिं तपोराशिमथाव्ययम् ।

ब्रह्मलोकप्रतीकाशमाश्रमं सोऽभिवीक्ष्य ह ।
षट्पदोद्गीतसंघुष्टं नानाद्विजगणायुतम् ।। ३६ ।।

वहाँ ये तपस्याके भण्डार अविकारी महर्षि कण्वका दर्शन करना चाहते थे। राजाने उस आश्रमको देखा, मानो दूसरा ब्रह्मलोक हो। नाना प्रकारके पक्षी वहाँ कलरव कर रहे थे। भ्रमरोंके गुंजनसे सारा आश्रम गूँज रहा था ।। ३६ ।।

ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः ।
शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेष्विह कर्मसु ।। ३७ ।।

श्रेष्ठ ऋग्वेदी ब्राह्मण पद और क्रमपूर्वक ऋचाओंका पाठ कर रहे थे। नरश्रेष्ठ दुष्यन्तने अनेक प्रकारके यज्ञसम्बन्धी कर्मोंमें पढ़ी जाती हुई वैदिक ऋचाओंको सुना ।। ३७ ।।

यज्ञविद्याङ्गविद्भिश्च यजुर्विद्भिश्च शोभितम् ।
मधुरैः सामगीतैश्च ऋषिभिर्नियतव्रतैः ।। ३८ ।।
भारुण्डसामगीताभिरथर्वशिरसोद्गतैः ।
यतात्मभिः सुनियतैः शुशुभे स तदाश्रमः ।। ३९ ।।

यज्ञविद्या और उसके अंगोंकी जानकारी रखनेवाले यजुर्वेदी विद्वान् भी आश्रमकी शोभा बढ़ा रहे थे। नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले सामवेदी महर्षियोंद्वारा वहाँ मधुरस्वरसे सामवेदका गान किया जा रहा था। मनको संयममें रखकर नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सामवेदी और अथर्ववेदी महर्षि भारुण्डसंज्ञक साममन्त्रोंके गीत गाते और अथर्ववेदके मन्त्रोंका उच्चारण करते थे; जिससे उस आश्रमकी बड़ी शोभा होती थी ।। ३८-३९ ।।

अथर्ववेदप्रवराः पूगयज्ञियसामगाः ।
संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते ।। ४० ।।

श्रेष्ठ अथर्ववेदीय विद्वान् तथा पूगयज्ञिय नामक सामके गायक सामवेदी महर्षि पद और क्रमसहित अपनी-अपनी संहिताका पाठ करते थे ।। ४० ।।

शब्दसंस्कारसंयुक्तैर्ब्रुवद्भिश्चापरैर्द्विजैः ।
नादितः स बभौ श्रीमान् ब्रह्मलोक इवापरः ।। ४१ ।।

दूसरे द्विजबालक शब्द-संस्कारसे सम्पन्न थे—वे स्थान, करण और प्रयत्नका ध्यान रखते हुए संस्कृतवाक्योंका उच्चारण कर रहे थे। इन सबके तुमुल शब्दोंसे गूँजता हुआ वह सुन्दर आश्रम द्वितीय ब्रह्मलोकके समान सुशोभित होता था ।। ४१ ।।

यज्ञसंस्तरविद्भिश्च क्रमशिक्षाविशारदैः ।
न्यायतत्त्वात्मविज्ञानसम्पन्नैर्वेदपारगैः ।। ४२ ।।
नानावाक्यसमाहारसमवायविशारदैः ।
विशेषकार्यविद्भिश्च मोक्षधर्मपरायणैः ।। ४३ ।।
स्थापनाक्षेपसिद्धान्तपरमार्थज्ञतां गतैः ।

शब्दच्छन्दोनिरुक्तज्ञैः कालज्ञानविशारदैः ।। ४४ ।।
द्रव्यकर्मगुणज्ञैश्च कार्यकारणवेदिभिः ।
पक्षिवानररुतज्ञैश्च व्यासग्रन्थसमाश्रितैः ।। ४५ ।।
नानाशास्त्रेषु मुख्यैश्च शुश्राव स्वनमीरितम् ।
लोकायतिकमुख्यैश्च समन्तादनुनादितम् ।। ४६ ।।

यज्ञवेदीकी रचनाके ज्ञाता, क्रम और शिक्षामें कुशल, न्यायके तत्त्व और आत्मानुभवसे सम्पन्न, वेदोंके पारंगत, परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनेक वाक्योंकी एकवाक्यता करनेमें कुशल तथा विभिन्न शाखाओंकी गुणविधियोंका एक शाखामें उपसंहार करनेकी कलामें निपुण, उपासना आदि विशेषकार्योंके ज्ञाता, मोक्षधर्ममें तत्पर, अपने सिद्धान्तकी स्थापना करके उसमें शंका उठाकर उसके परिहारपूर्वक उस सिद्धान्तके समर्थनमें परम प्रवीण, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष तथा शिक्षा और कल्प—वेदके इन छहों अंगोंके विद्वान्, पदार्थ, शुभाशुभ कर्म, सत्त्व, रज, तम आदि गुणोंको जाननेवाले तथा कार्य (दृश्यवर्ग) और कारण (मूल प्रकृति)-के ज्ञाता, पशु-पक्षियोंकी बोली समझनेवाले, व्यासग्रन्थका आश्रय लेकर मन्त्रोंकी व्याख्या करनेवाले तथा विभिन्न शास्त्रोंके प्रमुख विद्वान् वहाँ रहकर जो शब्दोच्चारण कर रहे थे, उन सबको राजा दुष्यन्तने सुना। कुछ लोकरंजन करनेवाले लोगोंकी बातें भी उस आश्रममें चारों ओर सुनायी पड़ती थीं ।। ४२—४६ ।।

तत्र तत्र च विप्रेन्द्रान् नियतान् संशितव्रतान् ।
जपहोमपरान् विप्रान् ददर्श परवीरहा ।। ४७ ।।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले दुष्यन्तने स्थान-स्थानपर नियमपूर्वक उत्तम एवं कठोर व्रतका पालन करनेवाले श्रेष्ठ एवं बुद्धिमान् ब्राह्मणोंको जप और होममें लगे हुए देखा ।। ४७ ।।

आसनानि विचित्राणि रुचिराणि महीपतिः ।
प्रयत्नोपहितानि स्म दृष्ट्वा विस्मयमागमत् ।। ४८ ।।

वहाँ प्रयत्नपूर्वक तैयार किये हुए बहुत सुन्दर एवं विचित्र आसन देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ ।। ४८ ।।

देवतायतनानां च प्रेक्ष्य पूजां कृतां द्विजैः ।
ब्रह्मलोकस्थमात्मानं मेने स नृपसत्तमः ।। ४९ ।।

द्विजोंद्वारा की हुई देवालयोंकी पूजा-पद्धति देखकर नृपश्रेष्ठ दुष्यन्तने ऐसा समझा कि मैं ब्रह्मलोकमें आ पहुँचा हूँ ।। ४९ ।।

स काश्यपतपोगुप्तमाश्रमप्रवरं शुभम् ।
नातृप्यत् प्रेक्षमाणो वै तपोवनगुणैर्युतम् ।। ५० ।।

वह श्रेष्ठ एवं शुभ आश्रम कश्यपनन्दन महर्षि कण्वकी तपस्यासे सुरक्षित तथा तपोवनके उत्तम गुणोंसे संयुक्त था। राजा उसे देखकर तृप्त नहीं होते थे ।। ५० ।।

स काश्यपस्यायतनं महाव्रतै-
र्वृतं समन्तादृषिभिस्तपोधनैः ।
विवेश सामात्यपुरोहितोऽरिहा
विविक्तमत्यर्थमनोहरं शुभम् ।। ५१ ।।

महर्षि कण्वका वह आश्रम, जिसमें वे स्वयं रहते थे, सब ओरसे महान् व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी महर्षियोंद्वारा घिरा हुआ था। वह अत्यन्त मनोहर, मंगलमय और एकान्त स्थान था। शत्रुनाशक राजा दुष्यन्तने मन्त्री और पुरोहितके साथ उसकी सीमामें प्रवेश किया ।। ५१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने सप्ततितमोऽध्यायः ।। ७० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यानविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७० ।।

एकसप्ततितमोऽध्यायः

राजा दुष्यन्तका शकुन्तलाके साथ वार्तालाप, शकुन्तलाके द्वारा अपने जन्मका कारण बतलाना तथा उसी प्रसंगमें विश्वामित्रकी तपस्यासे इन्द्रका चिन्तित होकर मेनकाको मुनिका तपोभंग करनेके लिये भेजना

वैशम्पायन उवाच

ततोऽगच्छन्महाबाहुरेकोऽमात्यान् विसृज्य तान् ।
नापश्यच्चाश्रमे तस्मिंस्तमृषिं संशितव्रतम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर महाबाहु राजा दुष्यन्त साथ आये हुए अपने उन मन्त्रियोंको भी बाहर छोड़कर अकेले ही उस आश्रममें गये, किंतु वहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले महर्षि नहीं दिखायी दिये ।। १ ।।

सोऽपश्यमानस्तमृषिं शून्यं दृष्ट्वा तथाऽऽश्रमम् ।
उवाच क इहेत्युच्चैर्वनं संनादयन्निव ।। २ ।।

महर्षि कण्वको न देखकर और आश्रमको सूना पाकर राजाने सम्पूर्ण वनको प्रतिध्वनित करते हुए-से पूछा—'यहाँ कौन है?' ।। २ ।।

श्रुत्वाथ तस्य तं शब्दं कन्या श्रीरिव रूपिणी ।
निश्चक्रामाश्रमात् तस्मात् तापसीवेषधारिणी ।। ३ ।।

दुष्यन्तके उस शब्दको सुनकर एक मूर्तिमती लक्ष्मी-सी सुन्दरी कन्या तापसीका वेष धारण किये आश्रमके भीतरसे निकली ।। ३ ।।

सा तं दृष्ट्वैव राजानं दुष्यन्तमसितेक्षणा ।
(सुव्रताभ्यागतं तं तु पूज्यं प्राप्तमथेश्वरम् ।
रूपयौवनसम्पन्ना शीलाचारवती शुभा ।
सा तमायतपद्माक्षं व्यूढोरस्कं सुसंहतम् ।।
सिंहस्कन्धं दीर्घबाहुं सर्वलक्षणपूजितम् ।
विस्पष्टं मधुरां वाचं साब्रवीज्जनमेजय ।)
स्वागतं त इति क्षिप्रमुवाच प्रतिपूज्य च ।। ४ ।।

जनमेजय! उत्तम व्रतका पालन करनेवाली वह सुन्दरी कन्या रूप, यौवन, शील और सदाचारसे सम्पन्न थी। राजा दुष्यन्तके विशाल नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान सुशोभित थे। उनकी छाती चौड़ी, शरीरकी गठन सुन्दर, कंधे सिंहके सदृश और भुजाएँ लंबी थीं। वे समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्मानित थे। श्याम नेत्रोंवाली उस शुभलक्षणा कन्याने सम्मान्य

राजा दुष्यन्तको देखते ही मधुर वाणीमें उनके प्रति सम्मानका भाव प्रदर्शित करते हुए शीघ्रतापूर्वक स्पष्ट शब्दोंमें कहा—‘अतिथिदेव! आपका स्वागत है’ ।। ४ ।।

आसनेनार्चयित्वा च पाद्येनार्घ्येण चैव हि ।
पप्रच्छानामयं राजन् कुशलं च नराधिपम् ।। ५ ।।

महाराज! फिर आसन, पाद्य और अर्घ्य अर्पण करके उनका समादर करनेके पश्चात् उसने राजासे पूछा—‘आपका शरीर नीरोग है न? घरपर कुशल तो है?’ ।। ५ ।।

यथावदर्चयित्वाथ पृष्ट्वा चानामयं तदा ।
उवाच स्मयमानेव किं कार्यं क्रियतामिति ।। ६ ।।

उस समय विधिपूर्वक आदर-सत्कार करके आरोग्य और कुशल पूछकर वह तपस्विनी कन्या मुसकराती हुई-सी बोली—‘कहिये आपकी क्या सेवा की जाय?’ ।। ६ ।।

(आश्रमस्याभिगमने किं त्वं कार्यं चिकीर्षसि ।
कस्त्वमद्येह सम्प्राप्तो महर्षेराश्रमं शुभम् ।।)

‘आपके आश्रमकी ओर पधारनेका क्या कारण है? आप यहाँ कौन-सा कार्य सिद्ध करना चाहते हैं? आपका परिचय क्या है? आप कौन हैं? और आज यहाँ महर्षिके इस शुभ आश्रमपर (किस उद्देश्यसे) आये हैं?’

तामब्रवीत् ततो राजा कन्यां मधुरभाषिणीम् ।
दृष्ट्वा चैवानवद्याङ्गीं यथावत् प्रतिपूजितः ।। ७ ।।

उसके द्वारा विधिवत् किये हुए आतिथ्य सत्कारको ग्रहण करके राजाने उस सर्वांगसुन्दरी एवं मधुरभाषिणी कन्याकी ओर देखकर कहा ।। ७ ।।

(दुष्यन्त उवाच

राजर्षेरस्मि पुत्रोऽहमिलिलस्य महात्मनः ।
दुष्यन्त इति मे नाम सत्यं पुष्करलोचने ।।)
आगतोऽहं महाभागमृषिं कण्वमुपासितुम् ।
क्व गतो भगवान् भद्रे तन्ममाचक्ष्व शोभने ।। ८ ।।

दुष्यन्त बोले—कमललोचने! मैं राजर्षि महात्मा इलिल* का पुत्र हूँ और मेरा नाम दुष्यन्त है। मैं यह सत्य कहता हूँ। भद्रे! मैं परम भाग्यशाली महर्षि कण्वकी उपासना करने—उनके सत्संगका लाभ लेनेके लिये आया हूँ। शोभने! बताओ तो, भगवान् कण्व कहाँ गये हैं? ।। ८ ।।

शकुन्तलोवाच

गतः पिता मे भगवान् फलान्याहर्तुमाश्रमात् ।
मुहूर्तं सम्प्रतीक्षस्व द्रष्टास्येनमुपागतम् ।। ९ ।।

शकुन्तला बोली—अभ्यागत! मेरे पूज्य पिताजी फल लानेके लिये आश्रमसे बाहर गये हैं। अतः दो घड़ी प्रतीक्षा कीजिये। लौटनेपर उनसे मिलियेगा ।। ९ ।।

वैशम्पायन उवाच

अपश्यमानस्तमृषिं तथा चोक्तस्तया च सः ।
तां दृष्ट्वा च वरारोहां श्रीमतीं चारुहासिनीम् ।। १० ।।
विभ्राजमानां वपुषा तपसा च दमेन च ।
रूपयौवनसम्पन्नामित्युवाच महीपतिः ।। ११ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा दुष्यन्तने देखा—महर्षि कण्व आश्रमपर नहीं हैं और वह तापसी कन्या उन्हें वहाँ ठहरनेके लिये कह रही है; साथ ही उनकी दृष्टि इस बातकी ओर भी गयी कि यह कन्या सर्वांगसुन्दरी, अपूर्व शोभासे सम्पन्न तथा मनोहर मुसकानसे सुशोभित है। इसका शरीर सौन्दर्यकी प्रभासे प्रकाशित हो रहा है, तपस्या तथा मन-इन्द्रियोंके संयमने इसमें अपूर्व तेज भर दिया है। यह अनुपम रूप और नयी जवानीसे उद्भासित हो रही है, यह सब सोचकर राजाने पूछा— ।। १०-११ ।।

का त्वं कस्यासि सुश्रोणि किमर्थं चागता वनम् ।
एवंरूपगुणोपेता कुतस्त्वमसि शोभने ।। १२ ।।

‘मनोहर कटिप्रदेशसे सुशोभित सुन्दरी! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? और किसलिये इस वनमें आयी हो? शोभने! तुममें ऐसे अद्‌भुत रूप और गुणोंका विकास कैसे हुआ है? ।। १२ ।।

दर्शनादेव हि शुभे त्वया मेऽपहृतं मनः ।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं तन्ममाचक्ष्व शोभने ।। १३ ।।

‘शुभे! तुमने दर्शनमात्रसे मेरे मनको हर लिया है। कल्याणि! मैं तुम्हारा परिचय जानना चाहता हूँ, अतः मुझे सब कुछ ठीक-ठीक बताओ ।। १३ ।।

(शृणु मे नागनासोरु वचनं मत्तकाशिनि ।।
राजर्षेरन्वये जातः पूरोरस्मि विशेषतः ।
वृणे त्वामद्य सुश्रोणि दुष्यन्तो वरवर्णिनि ।।
न मेऽन्यत्र क्षत्रियायां मनो जातु प्रवर्तते ।
ऋषिपुत्रीषु चान्यासु नावर्णासु परासु वा ।।
तस्मात् प्रणिहितात्मानं विद्धि मां कलभाषिणि ।
तस्य मे त्वयि भावोऽस्ति क्षत्रिया ह्यसि का वद ।।
न हि मे भीरु विप्रायांमनः प्रसहते गतिम् ।
भजे त्वामायतापाङ्गि भक्तं भजितुमर्हसि ।।
भुङ्क्ष्व राज्यं विशालाक्षि बुद्धिं मा त्वन्यथा कृथाः ।)

'हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली मतवाली सुन्दरी! मेरी बात सुनो; मैं राजर्षि पूरुके वंशमें उत्पन्न राजा दुष्यन्त हूँ। आज मैं अपनी पत्नी बनानेके लिये तुम्हारा वरण करता हूँ। क्षत्रिय-कन्याके सिवा दूसरी किसी स्त्रीकि ओर मेरा मन कभी नहीं जाता। अन्यान्य ऋषिपुत्रियों, अपनेसे भिन्न वर्णकी कुमारियों तथा परायी स्त्रियोंकी ओर भी मेरे मनकी गति नहीं होती। मधुरभाषिणि! तुम्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि मैं अपने मनको पूर्णतः संयममें रखता हूँ। ऐसा होनेपर भी तुमपर मेरा अनुराग हो रहा है, अतः तुम क्षत्रिय-कन्या ही हो। बताओ, तुम कौन हो? भीरु! ब्राह्मण-कन्याकी ओर आकृष्ट होना मेरे मनको कदापि सह्य नहीं है। विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरी! मैं तुम्हारा भक्त हूँ; तुम्हारी सेवा चाहता हूँ; तुम मुझे स्वीकार करो। विशाललोचने! मेरा राज्य भोगो। मेरे प्रति अन्यथा विचार न करो, मुझे पराया न समझो'।

एवमुक्ता तु सा कन्या तेन राज्ञा तमाश्रमे ।
उवाच हसती वाक्यमिदं सुमधुराक्षरम् ।। १४ ।।

उस आश्रममें राजाके इस प्रकार पूछनेपर वह कन्या हँसती हुई मिठासभरे वचनोंमें उनसे इस प्रकार बोली— ।। १४ ।।

कण्वस्याहं भगवतो दुष्यन्त दुहिता मता ।
तपस्विनो धृतिमतो धर्मज्ञस्य महात्मनः ।। १५ ।।

'महाराज दुष्यन्त! मैं तपस्वी, धृतिमान्, धर्मज्ञ तथा महात्मा भगवान् कण्वकी पुत्री मानी जाती हूँ ।। १५ ।।

(अस्वतन्त्रास्मि राजेन्द्र काश्यपो मे गुरुः पिता ।
तमेव प्रार्थय स्वार्थं नायुक्तं कर्तुमर्हसि ।।)

'राजेन्द्र! मैं परतन्त्र हूँ। कश्यपनन्दन महर्षि कण्व मेरे गुरु और पिता हैं। उन्हींसे आप अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये प्रार्थना करें। आपको अनुचित कार्य नहीं करना चाहिये'।

दुष्यन्त उवाच

ऊर्ध्वरेता महाभागे भगवाँल्लोकपूजितः ।
चलेद्धि वृत्ताद् धर्मोऽपि न चलेत् संशितव्रतः ।। १६ ।।

दुष्यन्त बोले—महाभागे! विश्ववन्द्य कण्व तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। वे बड़े कठोर व्रतका पालन करते हैं। साक्षात् धर्मराज भी अपने सदाचारसे विचलित हो सकते हैं, परंतु महर्षि कण्व नहीं ।। १६ ।।

कथं त्वं तस्य दुहिता सम्भूता वरवर्णिनी ।
संशयो मे महानत्र तन्मे छेत्तुमिहार्हसि ।। १७ ।।

ऐसी दशामें तुम-जैसी सुन्दरी देवी उनकी पुत्री कैसे हो सकती है? इस विषयमें मुझे बड़ा भारी संदेह हो रहा है। मेरे इस संदेहका निवारण तुम्हीं कर सकती हो ।। १७ ।।

शकुन्तलोवाच

यथायमागमो मह्यं यथा चेदमभूत् पुरा ।
शृणु राजन् यथातत्त्वं यथास्मि दुहिता मुनेः ।। १८ ।।

शकुन्तलाने कहा—राजन्! ये सब बातें मुझे जिस प्रकार ज्ञात हुई हैं, मेरा यह जन्म आदि पूर्वकालमें जिस प्रकार हुआ है और मैं जिस प्रकार कण्व मुनिकी पुत्री हूँ, वह सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बता रही हूँ; सुनिये ।। १८ ।।

(अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापेनावृतो मूर्खः स्तेन आत्मापहारकः ।।)

जिसका स्वरूप तो अन्य प्रकारका है, किंतु जो सत्पुरुषोंके सामने उसका अन्य प्रकारसे ही परिचय देता है, अर्थात् जो पापात्मा होते हुए भी अपनेको धर्मात्मा कहता है, वह मूर्ख, पापसे आवृत, चोर एवं आत्मवंचक है।

ऋषिः कश्चिदिहागम्य मम जन्माभ्यचोदयत् ।
(ऊर्ध्वरेता यथासि त्वं कुतस्त्येयं शकुन्तला ।
पुत्री त्वत्तः कथं जाता सत्यं मे ब्रूहि काश्यप ।।)
तस्मै प्रोवाच भगवान् यथा तच्छृणु पार्थिव ।। १९ ।।

पृथ्वीपते! एक दिन किसी ऋषिने यहाँ आकर मेरे जन्मके सम्बन्धमें मुनिसे पूछा—'कश्यपनन्दन! आप तो ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हैं, फिर यह शकुन्तला कहाँसे आयी? आपसे पुत्रीका जन्म कैसे हुआ? यह मुझे सच-सच बताइये।' उस समय भगवान् कण्वने उससे जो बात बतायी, वही कहती हूँ, सुनिये ।। १९ ।।

कण्व उवाच

तप्यमानः किल पुरा विश्वामित्रो महत् तपः ।
सुभृशं तापयामास शक्रं सुरगणेश्वरम् ।। २० ।।

कण्व बोले—पहलेकी बात है, महर्षि विश्वामित्र बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे। उन्होंने देवताओंके स्वामी इन्द्रको अपनी तपस्यासे अत्यन्त संतापमें डाल दिया ।। २० ।।

तपसा दीप्तवीर्योऽयं स्थानान्मां च्यावयेदिति ।
भीतः पुरंदरस्तस्मान्मेनकामिदमब्रवीत् ।। २१ ।।

इन्द्रको यह भय हो गया कि तपस्यासे अधिक शक्तिशाली होकर ये विश्वामित्र मुझे अपने स्थानसे भ्रष्ट कर देंगे, अतः उन्होंने मेनकासे इस प्रकार कहा— ।। २१ ।।

गुणैरप्सरसां दिव्यैर्मेनके त्वं विशिष्यसे ।
श्रेयो मे कुरु कल्याणि यत् त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ।। २२ ।।
असावादित्यसंकाशो विश्वामित्रो महातपाः ।
तप्यमानस्तपो घोरं मम कम्पयते मनः ।। २३ ।।

'मेनके! अप्सराओंके जो दिव्य गुण हैं, वे तुममें सबसे अधिक हैं। कल्याणि! तुम मेरा भला करो और मैं तुमसे जो बात कहता हूँ, सुनो। वे सूर्यके समान तेजस्वी, महातपस्वी विश्वामित्र घोर तपस्यामें संलग्न हो मेरे मनको कम्पित कर रहे हैं ।। २२-२३ ।।

मेनके तव भारोऽयं विश्वामित्रः सुमध्यमे ।
शंसितात्मा सुदुर्धर्ष उग्रे तपसि वर्तते ।। २४ ।।

'सुन्दरी मेनके! उन्हें तपस्यासे विचलित करनेका यह महान् भार मैं तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ। विश्वामित्रका अन्तःकरण शुद्ध है। उन्हें पराजित करना अत्यन्त कठिन है और वे इस समय घोर तपस्यामें लगे हैं ।। २४ ।।

स मां न च्यावयेत् स्थानात् तं वै गत्वा प्रलोभय ।
चर तस्य तपोविघ्नं कुरु मेऽविघ्नमुत्तमम् ।। २५ ।।

'अतः ऐसा करो, जिससे वे मुझे अपने स्थानसे भ्रष्ट न कर सकें। तुम उनके पास जाकर उन्हें लुभाओ, उनकी तपस्यामें विघ्न डाल दो और इस प्रकार मेरे विघ्नके निवारणका उत्तम साधन प्रस्तुत करो ।। २५ ।।

रूपयौवनमाधुर्यचेष्टितस्मितभाषणैः ।
लोभयित्वा वरारोहे तपसस्तं निवर्तय ।। २६ ।।

'वरारोहे! अपने रूप, जवानी, मधुर स्वभाव, हाव-भाव, मन्द मुसकान और सरस वार्तालाप आदिके द्वारा मुनिको लुभाकर उन्हें तपस्यासे निवृत्त कर दो' ।। २६ ।।

मेनकोवाच

महातेजाः स भगवांस्तथैव च महातपाः ।
कोपनश्च तथा ह्येनं जानाति भगवानपि ।। २७ ।।

मेनका बोली—देवराज! भगवान् विश्वामित्र बड़े भारी तेजस्वी और महान् तपस्वी हैं। वे क्रोधी भी बहुत हैं। उनके इस स्वभावको आप भी जानते हैं ।। २७ ।।

तेजसस्तपसश्चैव कोपस्य च महात्मनः ।
त्वमप्युद्विजसे यस्य नोद्विजेयमहं कथम् ।। २८ ।।

जिन महात्माके तेज, तप और क्रोधसे आप भी उद्विग्न हो उठते हैं, उनसे मैं कैसे नहीं डरूँगी? ।। २८ ।।

महाभागं वसिष्ठं यः पुत्रैरिष्टैर्व्ययोजयत् ।
क्षत्रजातश्च यः पूर्वमभवद् ब्राह्मणो बलात् ।। २९ ।।
शौचार्थं यो नदीं चक्रे दुर्गमां बहुभिर्जलैः ।
यां तां पुण्यतमां लोके कौशिकीति विदुर्जनाः ।। ३० ।।

विश्वामित्र ऋषि वे ही हैं, जिन्होंने महाभाग महर्षि वसिष्ठका उनके प्यारे पुत्रोंसे सदाके लिये वियोग करा दिया; जो पहले क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर भी तपस्याके बलसे ब्राह्मण

बन गये; जिन्होंने अपने शौच-स्नानकी सुविधाके लिये अगाध जलसे भरी हुई उस दुर्गम नदीका निर्माण किया, जिसे लोकमें सब मनुष्य अत्यन्त पुण्यमयी कौशिकी नदीके नामसे जानते हैं ।। २९-३० ।।

बभार यत्रास्य पुरा काले दुर्गे महात्मनः ।
दारान्मतङ्गो धर्मात्मा राजर्षिर्व्याधतां गतः ।। ३१ ।।

विश्वामित्र महर्षि वे ही हैं, जिनकी पत्नीका पूर्वकालमें संकटके समय शापवश व्याध बने हुए धर्मात्मा राजर्षि मतंगने भरण-पोषण किया था ।। ३१ ।।

अतीतकाले दुर्भिक्षे अभ्येत्य पुनराश्रमम् ।
मुनिः पारेति नद्या वै नाम चक्रे तदा प्रभुः ।। ३२ ।।

दुर्भिक्ष बीत जानेपर उन शक्तिशाली मुनिने पुनः आश्रमपर आकर उस नदीका नाम 'पारा' रख दिया था ।। ३२ ।।

मतङ्गं याजयाञ्चक्रे यत्र प्रीतमनाः स्वयम् ।
त्वं च सोमं भयाद् यस्य गतः पातुं सुरेश्वर ।। ३३ ।।

सुरेश्वर! उन्होंने मतंग मुनिके किये हुए उपकारसे प्रसन्न होकर स्वयं पुरोहित बनकर उनका यज्ञ कराया; जिसमें उनके भयसे आप भी सोमपान करनेके लिये पधारे थे ।। ३३ ।।

चकारान्यं च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा ।
प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः ।
गुरुशापहतस्यापि त्रिशङ्कोः शरणं ददौ ।। ३४ ।।

उन्होंने ही कुपित होकर दूसरे लोककी सृष्टि की और नक्षत्र-सम्पत्तिसे रूठकर प्रतिश्रवण आदि नूतन नक्षत्रोंका निर्माण किया था। ये वे ही महात्मा हैं, जिन्होंने गुरुके शापसे हीनावस्थामें पड़े हुए राजा त्रिशंकुको भी शरण दी थी ।। ३४ ।।

(ब्रह्मर्षिशापं राजर्षिः कथं मोक्ष्यति कौशिकः ।
अवमत्य तदा देवैर्यज्ञाङ्गं तद् विनाशितम् ।।
अन्यानि च महातेजा यज्ञाङ्गान्यसृजत् प्रभुः ।
निनाय च तदा स्वर्गं त्रिशंकुं स महातपाः ।।)

उस समय यह सोचकर कि 'विश्वामित्र ब्रह्मर्षि वसिष्ठके शापको कैसे छुड़ा देंगे?' देवताओंने उनकी अवहेलना करके त्रिशंकुके यज्ञकी वह सारी सामग्री नष्ट कर दी। परंतु महातेजस्वी शक्तिशाली विश्वामित्रने दूसरी यज्ञ-सामग्रियोंकी सृष्टि कर ली तथा उन महातपस्वीने त्रिशंकुको स्वर्गलोकमें पहुँचा ही दिया।

एतानि यस्य कर्माणि तस्याहं भृशमुद्विजे ।
यथासौ न दहेत् क्रुद्धस्तथाऽऽज्ञापय मां विभो ।। ३५ ।।

जिनके ऐसे-ऐसे अद्भुत कर्म हैं, उन महात्मासे मैं बहुत डरती हूँ। प्रभो! जिससे वे कुपित हो मुझे भस्म न कर दें, ऐसे कार्यके लिये मुझे आज्ञा दीजिये ।। ३५ ।।

तेजसा निर्दहेल्लोकान् कम्पयेद् धरणीं पदा ।
संक्षिपेच्च महामेरुं तूर्णमावर्तयेद् दिशः ।। ३६ ।।

वे अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर सकते हैं, पैरके आघातसे पृथ्वीको कँपा सकते हैं, विशाल मेरुपर्वतको छोटा बना सकते हैं और सम्पूर्ण दिशाओंमें तुरंत उलट-फेर कर सकते हैं ।। ३६ ।।

तादृशं तपसा युक्तं प्रदीप्तमिव पावकम् ।
कथमस्मद्विधा नारी जितेन्द्रियमभिस्पृशेत् ।। ३७ ।।

ऐसे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी, तपस्वी और जितेन्द्रिय महात्माका मुझ-जैसी नारी कैसे स्पर्श कर सकती है? ।। ३७ ।।

हुताशनमुखं दीप्तं सूर्यचन्द्राक्षितारकम् ।
कालजिह्वं सुरश्रेष्ठ कथमस्मद्विधा स्पृशेत् ।। ३८ ।।

सुरश्रेष्ठ! अग्नि जिनका मुख है, सूर्य और चन्द्रमा जिनकी आँखोंके तारे हैं और काल जिनकी जिह्वा है, उन तेजस्वी महर्षिको मेरी-जैसी स्त्री कैसे छू सकती है? ।। ३८ ।।

यमश्च सोमश्च महर्षयश्च
साध्या विश्वे वालखिल्याश्च सर्वे ।
एतेऽपि यस्योद्विजन्ते प्रभावात्
तस्मात् कस्मान्मादृशी नोद्विजेत ।। ३९ ।।

यमराज, चन्द्रमा, महर्षिगण, साध्यगण, विश्वेदेव और सम्पूर्ण बालखिल्य ऋषि—ये भी जिनके प्रभावसे उद्विग्न रहते हैं, उन विश्वामित्र मुनिसे मेरी-जैसी स्त्री कैसे नहीं डरेगी? ।। ३९ ।।

त्वयैवमुक्ता च कथं समीप-
मृषेर्न गच्छेयमहं सुरेन्द्र ।
रक्षां तु मे चिन्तय देवराज
यथा त्वदर्थं रक्षिताहं चरेयम् ।। ४० ।।

सुरेन्द्र! आपके इस प्रकार वहाँ जानेका आदेश देनेपर मैं उन महर्षिके समीप कैसे नहीं जाऊँगी? किंतु देवराज! पहले मेरी रक्षाका कोई उपाय सोचिये; जिससे सुरक्षित रहकर मैं आपके कार्यकी सिद्धिके लिये चेष्टा कर सकूँ ।। ४० ।।

कामं तु मे मारुतस्तत्र वासः
प्रक्रीडिताया विवृणोतु देव ।
भवेच्च मे मन्मथस्तत्र कार्ये
सहायभूतस्तु तव प्रसादात् ।। ४१ ।।

देव! मैं वहाँ जाकर जब क्रीड़ामें निमग्न हो जाऊँ, उस समय वायुदेव आवश्यकता समझकर मेरा वस्त्र उड़ा दें और इस कार्यमें आपके प्रसादसे कामदेव भी मेरे सहायक

हों ।। ४१ ।।

वनाच्च वायुः सुरभिः प्रवायात्
तस्मिन् काले तमृषिं लोभयन्त्याः ।
तथेत्युक्त्वा विहिते चैव तस्मिं-
स्ततो ययौ साऽऽश्रमं कौशिकस्य ।। ४२ ।।

जब मैं ऋषिको लुभाने लगूँ, उस समय वनसे सुगन्धभरी वायु चलनी चाहिये। 'तथास्तु' कहकर इन्द्रने जब इस प्रकारकी व्यवस्था कर दी, तब मेनका विश्वामित्र मुनिके आश्रमपर गयी ।। ४२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने एकसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यानविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक मिलाकर कुल ५७ श्लोक हैं)

---

* दुष्यन्तके पिताके 'इलिल' और 'ईलिन' दोनों ही नाम मिलते हैं।

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

मेनका-विश्वामित्र-मिलन, कन्याकी उत्पत्ति, शकुन्त पक्षियोंके द्वारा उसकी रक्षा और कण्वका उसे अपने आश्रमपर लाकर शकुन्तला नाम रखकर पालन करना

कण्व उवाच

एवमुक्तस्तया शक्रः संदिदेश सदागतिम् ।
प्रातिष्ठत तदा काले मेनका वायुना सह ।। १ ।।

(शकुन्तला दुष्यन्तसे कहती है—) महर्षि कण्वने (पूर्वोक्त ऋषिसे शेष वृत्तान्त इस प्रकार) कहा—मेनकाके ऐसा कहनेपर इन्द्रदेवने वायुको उसके साथ जानेका आदेश दिया। तब मेनका वायुदेवके साथ समयानुसार वहाँसे प्रस्थित हुई ।। १ ।।

अथापश्यद् वरारोहा तपसा दग्धकिल्बिषम् ।
विश्वामित्रं तप्यमानं मेनका भीरुराश्रमे ।। २ ।।

वनमें पहुँचकर भीरु स्वभाववाली सुन्दरी मेनकाने एक आश्रममें विश्वामित्र मुनिको तप करते देखा। वे तपस्याद्वारा अपने समस्त पाप दग्ध कर चुके थे ।। २ ।।

अभिवाद्य ततः सा तं प्राक्रीडदृषिसंनिधौ ।
अपोवाह च वासोऽस्या मारुतः शशिसंनिभम् ।। ३ ।।

उस समय महर्षिको प्रणाम करके वह अप्सरा उनके समीपवर्ती स्थानमें ही भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करने लगी। इतनेमें ही वायुने मेनकाका चन्द्रमाके समान उज्ज्वल वस्त्र उसके शरीरसे हटा दिया ।। ३ ।।

सागच्छत् त्वरिता भूमिं वासस्तदभिलिप्सती ।
स्मयमानेव सव्रीडं मारुतं वरवर्णिनी ।। ४ ।।

यह देख सुन्दरी मेनका लजाकर वायुदेवको कोसती एवं मुसकराती हुई-सी वह वस्त्र लेनेकी इच्छासे तुरंत ही उस स्थानकी ओर दौड़ी गयी, जहाँ वह गिरा था ।। ४ ।।

पश्यतस्तस्य तत्रर्षेरप्यग्निसमतेजसः ।
विश्वामित्रस्ततस्तां तु विषमस्थामनिन्दिताम् ।। ५ ।।
गृद्धां वाससि सम्भ्रान्तां मेनकां मुनिसत्तमः ।
अनिर्देश्यवयोरूपामपश्यद् विवृतां तदा ।। ६ ।।

अग्निके समान तेजस्वी महर्षि विश्वामित्रके देखते-देखते वहाँ यह घटना घटित हुई। वह अनिन्द्य सुन्दरी विषम परिस्थितिमें पड़ गयी थी और घबराकर वस्त्र लेनेकी इच्छा कर रही

थी। उसका रूप-सौन्दर्य अवर्णनीय था। तरुणावस्था भी अद्‌भुत थी। उस सुन्दरी अप्सराको मुनिवर विश्वामित्रने वहाँ नंगी देख लिया ।। ५६ ।।

तस्या रूपगुणान् दृष्ट्वा स तु विप्रर्षभस्तदा ।
चकार भावं संसर्गात् तया कामवशं गतः ।। ७ ।।

उसके रूप और गुणोंको देखते ही विप्रवर विश्वामित्र कामके अधीन हो गये। सम्पर्कमें आनेके कारण मेनकामें उनका अनुराग हो गया ।। ७ ।।

न्यमन्त्रयत चाप्येनां सा चाप्यैच्छदनिन्दिता ।
तौ तत्र सुचिरं कालमुभौ व्यहरतां तदा ।। ८ ।।
रममाणौ यथाकामं यथैकदिवसं तथा ।
(कामक्रोधावजितवान् मुनिर्नित्यं क्षमान्वितः ।
चिरार्जितस्य तपसः क्षयं स कृतवानृषिः ।।
तपसः संक्षयादेव मुनिर्मोहं समाविशत् ।
कामरागाभिभूतस्य मुनेः पार्श्वं जगाम सा ।।)
जनयामास स मुनिर्मेनकायां शकुन्तलाम् ।। ९ ।।
प्रस्थे हिमवतो रम्ये मालिनीमभितो नदीम् ।
जातमुत्सृज्य तं गर्भं मेनका मालिनीमनु ।। १० ।।
कृतकार्या ततस्तूर्णमगच्छच्छक्रसंसदम् ।
तं वने विजने गर्भं सिंहव्याघ्रसमाकुले ।। ११ ।।
दृष्ट्वा शयानं शकुनाः समन्तात् पर्यवारयन् ।
नेमां हिंस्युर्वने बालां क्रव्यादा मांसगृद्धिनः ।। १२ ।।

उन्होंने मेनकाको अपने निकट आनेका निमन्त्रण दिया। अनिन्द्य सुन्दरी मेनका तो यह चाहती ही थी, उनसे सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये वह राजी हो गयी। तदनन्तर वे दोनों वहाँ सुदीर्घ कालतक इच्छानुसार विहार तथा रमण करते रहे। वह महान् काल उन्हें एक दिनके समान प्रतीत हुआ। काम और क्रोधपर विजय न पा सकनेवाले उन सदा क्षमाशील महर्षिने दीर्घकालसे उपार्जित की हुई तपस्याको नष्ट कर दिया। तपस्याका क्षय होनेसे मुनिके मनपर मोह छा गया। तब मेनका काम तथा रागके वशीभूत हुए मुनिके पास गयी। ब्रह्मन्! फिर मुनिने मेनकाके गर्भसे हिमालयके रमणीय शिखरपर मालिनी नदीके किनारे शकुन्तलाको जन्म दिया। मेनकाका काम पूरा हो चुका था; वह उस नवजात गर्भको मालिनीके तटपर छोड़कर तुरंत इन्द्र-लोकको चली गयी। सिंह और व्याघ्रोंसे भरे हुए निर्जन वनमें उस शिशुको सोते देख शकुन्तों (पक्षियों)-ने उसे सब ओरसे पाँखोंद्वारा ढक लिया; जिससे कच्चे मांस खानेवाले गीध आदि जीव वनमें इस कन्याकी हिंसा न कर सकें ।। ८—१२ ।।

पर्यरक्षन्त तां तत्र शकुन्ता मेनकात्मजाम् ।

उपस्प्रष्टुं गतश्चाहमपश्यं शयितामिमाम् ।। १३ ।।
निर्जने विपिने रम्ये शकुन्तैः परिवारिताम् ।
(मां दृष्ट्वैवान्वपद्यन्त पादयोः पतिता द्विजाः ।
अब्रुवञ्छकुनाः सर्वे कलं मधुरभाषिणः ।।

इस प्रकार वहाँ शकुन्त ही मेनकाकुमारीकी रक्षा कर रहे थे। उसी समय आचमन करनेके लिये जब मैं मालिनीतटपर गया तो देखा—यह रमणीय निर्जन वनमें पक्षियोंसे घिरी हुई सो रही है। मुझे देखते ही वे सब मधुरभाषी पक्षी मेरे पैरोंपर गिर गये और सुन्दर वाणीमें इस प्रकार कहने लगे ।। १३ १/२ ।।

द्विजा ऊचुः

विश्वामित्रसुतां ब्रह्मन् न्यासभूतां भरस्व वै ।
कामक्रोधावजितवान् सखा ते कौशिकीं गतः ।।
तस्मात् पोषय तत्पुत्रीं दयावानिति तेऽब्रुवन् ।

पक्षी बोले—ब्रह्मन्! यह विश्वामित्रकी कन्या आपके यहाँ धरोहरके रूपमें आयी है। आप इसका पालन-पोषण कीजिये। कौशिकीके तटपर गये हुए आपके सखा विश्वामित्र काम और क्रोधको नहीं जीत सके थे। आप दयालु हैं; इसलिये उनकी पुत्रीका पालन कीजिये। इस प्रकार पक्षियोंने कहा।

कण्व उवाच

सर्वभूतरुतज्ञोऽहं दयावान् सर्वजन्तुषु ।
निर्जनेऽपि महारण्ये शकुनैः परिवारिताम् ।।)
आनयित्वा ततश्चैनां दुहितृत्वे न्यवेशयम् ।। १४ ।।

कण्व मुनि कहते हैं—ब्रह्मन्! मैं समस्त प्राणियोंकी बोली समझता हूँ और सब जीवोंके प्रति दयाभाव रखता हूँ। अतः उस निर्जन महावनमें पक्षियोंसे घिरी हुई इस कन्याको वहाँसे लाकर मैंने इसे अपनी पुत्रीके पदपर प्रतिष्ठित किया ।। १४ ।।

शरीरकृत् प्राणदाता यस्य चान्नानि भुञ्जते ।
क्रमेणैते त्रयोऽप्युक्ताः पितरो धर्मशासने ।। १५ ।।

जो गर्भाधानके द्वारा शरीरका निर्माण करता है, जो अभयदान देकर प्राणोंकी रक्षा करता है और जिसका अन्न भोजन किया जाता है, धर्मशास्त्रमें क्रमशः ये तीनों पुरुष पिता कहे गये हैं ।। १५ ।।

निर्जने तु वने यस्माच्छकुन्तैः परिवारिता ।
शकुन्तलेति नामास्याः कृतं चापि ततो मया ।। १६ ।।

निर्जन वनमें इसे शकुन्तोंने घेर रखा था, इसलिये ‘शकुन्तान् लाति रक्षकत्वेन गृह्णाति’ इस व्युत्पत्तिके अनुसार इस कन्याका नाम मैंने ‘शकुन्तला’ रख दिया ।। १६ ।।

एवं दुहितरं विद्धि मम विप्र शकुन्तलाम् ।
शकुन्तला च पितरं मन्यते मामनिन्दिता ।। १७ ।।

ब्रह्मन्! इस प्रकार शकुन्तला मेरी बेटी हुई, आप यह जान लें। प्रशंसनीय शील-स्वभाववाली शकुन्तला भी मुझे अपना पिता मानती है ।। १७ ।।

शकुन्तलोवाच

एतदाचष्ट पृष्टः सन् मम जन्म महर्षये ।
सुतां कण्वस्य मामेवं विद्धि त्वं मनुजाधिप ।। १८ ।।
कण्वं हि पितरं मन्ये पितरं स्वमजानती ।
इति ते कथितं राजन् यथावृत्तं श्रुतं मया ।। १९ ।।

शकुन्तला कहती है—राजन्! उन महर्षिके पूछनेपर पिता कण्वने मेरे जन्मका यह वृत्तान्त उन्हें बताया था। इस तरह आप मुझे कण्वकी ही पुत्री समझिये। मैं अपने जन्मदाता पिताको तो जानती नहीं, कण्वको ही पिता मानती हूँ। महाराज! इस प्रकार जो वृत्तान्त मैंने सुन रखा था, वह सब आपको बता दिया ।। १८-१९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने द्विसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यानविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल २४½ श्लोक हैं)

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

शकुन्तला और दुष्यन्तका गान्धर्व विवाह और महर्षि कण्वके द्वारा उसका अनुमोदन

दुष्यन्त उवाच

सुव्यक्तं राजपुत्री त्वं यथा कल्याणि भाषसे ।
भार्या मे भव सुश्रोणि ब्रूहि किं करवाणि ते ।। १ ।।

दुष्यन्त बोले—कल्याणि! तुम जैसी बातें कह चुकी हो, उनसे भलीभाँति स्पष्ट हो गया कि तुम क्षत्रिय-कन्या हो (क्योंकि विश्वामित्र मुनि जन्मसे तो क्षत्रिय ही हैं)। सुश्रोणि! मेरी पत्नी बन जाओ। बोलो, मैं तुम्हारी प्रसन्नताके लिये क्या करूँ ।। १ ।।

सुवर्णमालां वासांसि कुण्डले परिहाटके ।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्ने च शोभने ।। २ ।।
आहरामि तवाद्याहं निष्कादीन्यजिनानि च ।
सर्वं राज्यं तवाद्यास्तु भार्या मे भव शोभने ।। ३ ।।

सोनेके हार, सुन्दर वस्त्र, तपाये हुए सुवर्णके दो कुण्डल, विभिन्न नगरोंके बने हुए सुन्दर और चमकीले मणिरत्ननिर्मित आभूषण, स्वर्णपदक और कोमल मृगचर्म आदि वस्तुएँ तुम्हारे लिये मैं अभी लाये देता हूँ। शोभने! अधिक क्या कहूँ, मेरा सारा राज्य आजसे तुम्हारा हो जाय, तुम मेरी महारानी बन जाओ ।। २-३ ।।

गान्धर्वेण च मां भीरु विवाहेनैहि सुन्दरि ।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते ।। ४ ।।

भीरु! सुन्दरि! गान्धर्व विवाहके द्वारा मुझे अंगीकार करो। रम्भोरु! विवाहोंमें गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ कहलाता है ।। ४ ।।

शकुन्तलोवाच

फलाहारो गतो राजन् पिता मे इत आश्रमात् ।
मुहूर्तं सम्प्रतीक्षस्व स मां तुभ्यं प्रदास्यति ।। ५ ।।

शकुन्तलाने कहा—राजन्! मेरे पिता कण्व फल लानेके लिये इस आश्रमसे बाहर गये हैं। दो घड़ी प्रतीक्षा कीजिये। वे ही मुझे आपकी सेवामें समर्पित करेंगे ।। ५ ।।

(पिता हि मे प्रभुर्नित्यं दैवतं परमं मतम् ।
यस्य वा दास्यति पिता स मे भर्ता भविष्यति ।।
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।।

अमन्यमाना राजेन्द्र पितरं मे तपस्विनम् ।
अधर्मेण हि धर्मिष्ठ कथं वरमुपास्महे ।।

महाराज! पिता ही मेरे प्रभु हैं। उन्हें ही मैं सदा अपना सर्वोत्कृष्ट देवता मानती हूँ। पिताजी मुझे जिसको सौंप देंगे, वही मेरा पति होगा। कुमारावस्थामें पिता, जवानीमें पति और बुढ़ापेमें पुत्र रक्षा करता है। अतः स्त्रीको कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये। धर्मिष्ठ राजेन्द्र! मैं अपने तपस्वी पिताकी अवहेलना करके अधर्मपूर्वक पतिका वरण कैसे कर सकती हूँ?

दुष्यन्त उवाच

मा मैवं वद सुश्रोणि तपोराशिं दयात्मकम् ।

दुष्यन्त बोले—सुन्दरी! ऐसा न कहो। तपोराशि महात्मा कण्व बड़े ही दयालु हैं।

शकुन्तलोवाच

मत्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रपाणयः ।।
अग्निर्दहति तेजोभिः सूर्यो दहति रश्मिभिः ।
राजा दहति दण्डेन ब्राह्मणो मन्युना दहेत् ।।
क्रोधितो मन्युना हन्ति वज्रपाणिरिवासुरान् ।)

शकुन्तलाने कहा—राजन्! ब्राह्मण क्रोधके द्वारा ही प्रहार करते हैं। वे हाथमें लोहेका हथियार नहीं धारण करते। अग्नि अपने तेजसे, सूर्य अपनी किरणोंसे, राजा दण्डसे और ब्राह्मण क्रोधसे दग्ध करते हैं। कुपित ब्राह्मण अपने क्रोधसे अपराधीको वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंको।

दुष्यन्त उवाच

इच्छामि त्वां वरारोहे भजमानामनिन्दिते ।
त्वदर्थं मां स्थितं विद्धि त्वद्गतं हि मनो मम ।। ६ ।।

दुष्यन्त बोले—वरारोहे! तुम्हारा शील और स्वभाव प्रशंसाके योग्य है। मैं चाहता हूँ, तुम मुझे स्वेच्छासे स्वीकार करो। मैं तुम्हारे लिये ही यहाँ ठहरा हूँ। मेरा मन तुममें ही लगा हुआ है ।। ६ ।।

आत्मनो बन्धुरात्मैव गतिरात्मैव चात्मनः ।
आत्मनो मित्रमात्मैव तथाऽऽत्मा चात्मनः पिता ।
आत्मनैवात्मनो दानं कर्तुमर्हसि धर्मतः ।। ७ ।।

आत्मा ही अपना बन्धु है। आत्मा ही अपना आश्रय है। आत्मा ही अपना मित्र है और वही अपना पिता है, अतः तुम स्वयं ही धर्मपूर्वक आत्मसमर्पण करनेयोग्य हो ।। ७ ।।

अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मतः स्मृताः ।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।। ८ ।।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमः स्मृतः ।
तेषां धर्म्यान् यथापूर्वं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।। ९ ।।

धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे संक्षेपसे आठ प्रकारके ही विवाह माने गये हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा आठवाँ पैशाच।* स्वायम्भुव मनुका कथन है कि इनमें बादवालोंकी अपेक्षा पहलेवाले विवाह धर्मानुकूल हैं ।। ८-९ ।।

प्रशस्तांश्चतुरः पूर्वान् ब्राह्मणस्योपधारय ।
षडानुपूर्व्या क्षत्रस्य विद्धि धर्म्याननिन्दिते ।। १० ।।

पूर्वकथित जो चार विवाह—ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापात्य हैं, उन्हें ब्राह्मणके लिये उत्तम समझो। अनिन्दिते! ब्राह्मसे लेकर गान्धर्वतक क्रमशः छः विवाह क्षत्रियके लिये धर्मानुकूल जानो ।। १० ।।

राज्ञां तु राक्षसोऽप्युक्तो विट्शूद्रेष्वासुरः स्मृतः ।
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या अधर्म्यौ द्वौ स्मृताविह ।। ११ ।।

राजाओंके लिये तो राक्षस विवाहका भी विधान है। वैश्यों और शूद्रोंमें आसुर विवाह ग्राह्य माना गया है। अन्तिम पाँच विवाहोंमें तीन तो धर्मसम्मत हैं और दो अधर्मरूप माने गये हैं ।। ११ ।।

पैशाच आसुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ।
अनेन विधिना कार्यो धर्मस्यैषा गतिः स्मृता ।। १२ ।।

पैशाच और आसुर विवाह कदापि करनेयोग्य नहीं हैं। इस विधिके अनुसार विवाह करना चाहिये। यह धर्मका मार्ग बताया गया है ।। १२ ।।

गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रे धर्म्यौ तौ मा विशङ्‌किथाः ।
पृथग् वा यदि वा मिश्रौ कर्तव्यौ नात्र संशयः ।। १३ ।।

गान्धर्व और राक्षस—दोनों विवाह क्षत्रियजातिके लिये धर्मानुकूल ही हैं। अतः उनके विषयमें तुम्हें संदेह नहीं करना चाहिये। वे दोनों विवाह परस्पर मिले हों या पृथक्-पृथक् हों, क्षत्रियके लिये करनेयोग्य ही हैं, इसमें संशय नहीं है ।। १३ ।।

सा त्वं मम सकामस्य सकामा वरवर्णिनि ।
गान्धर्वेण विवाहेन भार्या भवितुमर्हसि ।। १४ ।।

अतः सुन्दरी! मैं तुम्हें पानेके लिये इच्छुक हूँ। तुम भी मुझे पानेकी इच्छा रखकर गान्धर्व विवाहके द्वारा मेरी पत्नी बन जाओ ।। १४ ।।

शकुन्तलोवाच

यदि धर्मपथस्त्वेष यदि चात्मा प्रभुर्मम ।
प्रदाने पौरवश्रेष्ठ शृणु मे समयं प्रभो ।। १५ ।।

शकुन्तलाने कहा—पौरवश्रेष्ठ! यदि यह गान्धर्व विवाह धर्मका मार्ग है, यदि आत्मा स्वयं ही अपना दान करनेमें समर्थ है तो इसके लिये मैं तैयार हूँ; किंतु प्रभो! मेरी एक शर्त है, उसे सुन लीजिये ।। १५ ।।

सत्यं मे प्रतिजानीहि यथा वक्ष्याम्यहं रहः ।
मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत् त्वदनन्तरः ।। १६ ।।
युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
यद्येतदेवं दुष्यन्त अस्तु मे सङ्गमस्त्वया ।। १७ ।।

और उसका पालन करनेके लिये मुझसे सच्ची प्रतिज्ञा कीजिये। वह शर्त क्या है, यह मैं एकान्तमें आपसे कह रही हूँ—महाराज दुष्यन्त! मेरे गर्भसे आपके द्वारा जो पुत्र उत्पन्न हो, वही आपके बाद युवराज हो, ऐसी मेरी इच्छा है। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ। यदि यह शर्त इसी रूपमें आपको स्वीकार हो तो आपके साथ मेरा समागम हो सकता है ।। १६-१७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमस्त्विति तां राजा प्रत्युवाचाविचारयन् ।
अपि च त्वां हि नेष्यामि नगरं स्वं शुचिस्मिते ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शकुन्तलाकी यह बात सुनकर राजा दुष्यन्तने बिना कुछ सोचे-विचारे यह उत्तर दे दिया कि 'ऐसा ही होगा।' वे शकुन्तलासे बोले —'शुचिस्मिते! मैं शीघ्र तुम्हें अपने नगरमें ले चलूँगा ।। १८ ।।

यथा त्वमर्हा सुश्रोणि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
एवमुक्त्वा स राजर्षिस्तामनिन्दितगामिनीम् ।। १९ ।।
जग्राह विधिवत् पाणावुवास च तया सह ।
विश्वास्य चैनां स प्रायादब्रवीच्च पुनः पुनः ।। २० ।।
प्रेषयिष्ये तवार्थाय वाहिनीं चतुरङ्गिणीम् ।
तया त्वानाययिष्यामि निवासं स्वं शुचिस्मिते ।। २१ ।।

'सुश्रोणि! तुम राजभवनमें ही रहनेयोग्य हो। मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ।' ऐसा कहकर राजर्षि दुष्यन्तने अनिन्द्यगामिनी शकुन्तलाका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया और उसके साथ एकान्तवास किया। फिर उसे विश्वास दिलाकर वहाँसे विदा हुए। जाते समय उन्होंने बार-बार कहा—'पवित्र मुसकानवाली सुन्दरी! मैं तुम्हारे लिये चतुरंगिणी सेना भेजूँगा और उसीके साथ अपने राजभवनमें बुलवाऊँगा' ।। १९—२१ ।।

(एवमुक्त्वा स राजर्षिस्तामनिन्दितगामिनीम् ।
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां स्मितपूर्वमुदैक्षत ।।
प्रदक्षिणीकृतां देवीं राजा सम्परिषस्वजे ।

शकुन्तला ह्यश्रुमुखी पपात नृपपादयोः ।।
तां देवीं पुनरुत्थाप्य मा शुचेति पुनः पुनः ।
शपेयं सुकृतेनैव प्रापयिष्ये नृपात्मजे ।।)

अनिन्द्यगामिनी शकुन्तलासे ऐसा कहकर राजर्षि दुष्यन्तने उसे अपनी भुजाओंमें भर लिया और उसकी ओर मुसकराते हुए देखा। देवी शकुन्तला राजाकी परिक्रमा करके खड़ी थी। उस समय उन्होंने उसे हृदयसे लगा लिया। शकुन्तलाके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वह नरेशके चरणोंमें गिर पड़ी। राजाने देवी शकुन्तलाको फिर उठाकर बार-बार कहा—'राजकुमारी! चिन्ता न करो। मैं अपने पुण्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, तुम्हें अवश्य बुला लूँगा।'

वैशम्पायन उवाच

इति तस्याः प्रतिश्रुत्य स नृपो जनमेजय ।
मनसा चिन्तयन् प्रायात् काश्यपं प्रति पार्थिवः ।। २२ ।।
भगवांस्तपसा युक्तः श्रुत्वा किं नु करिष्यति ।
एवं स चिन्तयन्नेव प्रविवेश स्वकं पुरम् ।। २३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार शकुन्तलासे प्रतिज्ञा करके नरेश्वर राजा दुष्यन्त आश्रमसे चल दिये। उनके मनमें महर्षि कण्वकी ओरसे बड़ी चिन्ता थी कि तपस्वी भगवान् कण्व यह सब सुनकर न जाने क्या कर बैठेंगे? इस तरह चिन्ता करते हुए ही राजाने अपने नगरमें प्रवेश किया ।। २२-२३ ।।

मुहूर्तयाते तस्मिंस्तु कण्वोऽप्याश्रममागमत् ।
शकुन्तला च पितरं ह्रिया नोपजगाम तम् ।। २४ ।।

उनके गये दो ही घड़ी बीती थी कि महर्षि कण्व भी आश्रमपर आ गये; परंतु शकुन्तला लज्जावश पहलेके समान पिताके समीप नहीं गयी ।। २४ ।।

(शङ्कितैव च विप्रर्षिमुपचक्राम सा शनैः ।
ततोऽस्य राजञ्जग्राह आसनं चाप्यकल्पयत् ।।
शकुन्तला च सव्रीडा तमृषिं नाभ्यभाषत ।
तस्मात् स्वधर्मात् स्खलिता भीता सा भरतर्षभ ।।
अभवद् दोषदर्शित्वाद् ब्रह्मचारिण्ययन्त्रिता ।
स तदा व्रीडितां दृष्ट्वा ऋषिस्तां प्रत्यभाषत ।।

तत्पश्चात् वह डरती हुई ब्रह्मर्षिके निकट धीरे-धीरे गयी। फिर उसने उनके लिये आसन लेकर बिछाया। शकुन्तला इतनी लज्जित हो गयी थी कि महर्षिसे कोई बाततक न कर सकी। भरतश्रेष्ठ! वह अपने धर्मसे गिर जानेके कारण भयभीत हो रही थी। जो कुछ समय

पहलेतक स्वाधीन ब्रह्मचारिणी थी, वही उस समय अपना दोष देखनेके कारण घबरा गयी थी। शकुन्तलाको लज्जामें डूबी हुई देख महर्षि कण्वने उससे कहा।

कण्व उवाच

सव्रीडैव च दीर्घायुः पुरेव भविता न च ।
वृत्तं कथय रम्भोरु मा त्रासं च प्रकल्पय ।।

कण्व बोले—बेटी! तू सलज्ज रहकर ही दीर्घायु होगी। अब पहले जैसी चपल न रह सकेगी। शुभे! सारी बातें स्पष्ट बता; भय न कर।

वैशम्पायन उवाच

ततः कृच्छ्रादतिशुभा सव्रीडा श्रीमती तदा ।
सगद्‌गदमुवाचेदं काश्यपं सा शुचिस्मिता ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पवित्र मुसकान-वाली वह सुन्दरी अत्यन्त सदाचारिणी थी; तो भी अपने व्यवहारसे लज्जाका अनुभव करती हुई महर्षि कण्वसे बड़ी कठिनाईके साथ गद्‌गदकण्ठ होकर बोली।

शकुन्तलोवाच

राजा ताताजगामेह दुष्यन्त इलिलात्मजः ।
मया पतिर्वृतो योऽसौ दैवयोगादिहागतः ।।
तस्य तात प्रसीदस्व भर्ता मे सुमहायशाः ।
अतः सर्वं तु यद् वृत्तं दिव्यज्ञानेन पश्यसि ।
अभयं क्षत्रियकुले प्रसादं कर्तुमर्हसि ।।)

शकुन्तला बोली—तात! इलिलकुमार महाराज दुष्यन्त इस वनमें आये थे। दैवयोगसे इस आश्रमपर भी उनका आगमन हुआ और मैंने उन्हें अपना पति स्वीकार कर लिया। पिताजी! आप उनपर प्रसन्न हों। वे महायशस्वी नरेश अब मेरे स्वामी हैं। इसके बादका सारा वृत्तान्त आप दिव्य ज्ञानदृष्टिसे देख सकते हैं। क्षत्रियकुलको अभयदान देकर उनपर कृपादृष्टि करें।

विज्ञायाथ च तां कण्वो दिव्यज्ञानो महातपाः ।
उवाच भगवान् प्रीतः पश्यन् दिव्येन चक्षुषा ।। २५ ।।

महातपस्वी भगवान् कण्व दिव्यज्ञानसे सम्पन्न थे। वे दिव्य दृष्टिसे देखकर शकुन्तलाकी तात्कालिक अवस्थाको जान गये; अतः प्रसन्न होकर बोले— ।। २५ ।।

त्वयाद्य भद्रे रहसि मामनादृत्य यः कृतः ।
पुंसा सह समायोगो न स धर्मोपघातकः ।। २६ ।।

'भद्रे! आज तुमने मेरी अवहेलना करके जो एकान्तमें किसी पुरुषके साथ सम्बन्ध स्थापित किया है, वह तुम्हारे धर्मका नाशक नहीं है ।। २६ ।।

क्षत्रियस्य हि गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते ।
सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः ।। २७ ।।

'क्षत्रियके लिये गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ कहा गया है। स्त्री और पुरुष दोनों एक दूसरेको चाहते हों, उस दशामें उन दोनोंका एकान्तमें जो मन्त्रहीन सम्बन्ध स्थापित होता है, उसे गान्धर्व विवाह कहा गया है ।। २७ ।।

धर्मात्मा च महात्मा च दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः ।
अध्यगच्छः पतिं यत् त्वं भजमानं शकुन्तले ।। २८ ।।
महात्मा जनिता लोके पुत्रस्तव महाबलः ।
य इमां सागरापाङ्गीं कृत्स्नां भोक्ष्यति मेदिनीम् ।। २९ ।।

'शकुन्तले! महामना दुष्यन्त धर्मात्मा और श्रेष्ठ पुरुष हैं। वे तुम्हें चाहते थे। तुमने योग्य पतिके साथ सम्बन्ध स्थापित किया है; इसलिये लोकमें तुम्हारे गर्भसे एक महाबली और महात्मा पुत्र उत्पन्न होगा, जो समुद्रसे घिरी हुई इस समूची पृथ्वीका उपभोग करेगा ।। २८-२९ ।।

परं चाभिप्रयातस्य चक्रं तस्य महात्मनः ।
भविष्यत्यप्रतिहतं सततं चक्रवर्तिनः ।। ३० ।।

'शत्रुओंपर आक्रमण करनेवाले उस महामना चक्रवर्ती नरेशकी सेना सदा अप्रतिहत होगी। उसकी गतिको कोई रोक नहीं सकेगा' ।। ३० ।।

ततः प्रक्षाल्य पादौ सा विश्रान्तं मुनिमब्रवीत् ।
विनिधाय ततो भारं संनिधाय फलानि च ।। ३१ ।।

तदनन्तर शकुन्तलाने उनके लाये हुए फलके भारको लेकर यथास्थान रख दिया। फिर उनके दोनों पैर धोये तथा जब वे भोजन और विश्राम कर चुके, तब वह मुनिसे इस प्रकार बोली ।। ३१ ।।

शकुन्तलोवाच

मया पतिर्वृतो राजा दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः ।
तस्मै ससचिवाय त्वं प्रसादं कर्तुमर्हसि ।। ३२ ।।

शकुन्तलाने कहा—भगवन्! मैंने पुरुषोंमें श्रेष्ठ राजा दुष्यन्तका पतिरूपमें वरण किया है। अतः मन्त्रियोंसहित उन नरेशपर आपको कृपा करनी चाहिये ।। ३२ ।।

कण्व उवाच

प्रसन्न एव तस्याहं त्वत्कृते वरवर्णिनि ।
(ऋतवो बहवस्ते वै गता व्यर्थाः शुचिस्मिते ।

सार्थकं साम्प्रतं ह्येतन्न च पापोऽस्ति तेऽनघे ।।)

गृहाण च वरं मत्तस्त्वं शुभे यदभीप्सितम् ।। ३३ ।।

कण्व बोले—उत्तम वर्णवाली पुत्री! मैं तुम्हारे भलेके लिये राजा दुष्यन्तपर भी प्रसन्न ही हूँ। शुचिस्मिते! अबतक तेरे बहुत-से ऋतु व्यर्थ बीत गये हैं। इस बार यह सार्थक हुआ है। अनघे! तुम्हें पाप नहीं लगेगा। शुभे! तुम्हारी जो इच्छा हो, वह वर मुझसे माँग लो ।। ३३ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मिष्ठतां वव्रे राज्याच्चास्खलनं तथा ।

शकुन्तला पौरवाणां दुष्यन्तहितकाम्यया ।। ३४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब शकुन्तलाने दुष्यन्तके हितकी इच्छासे यह वर माँगा कि पुरुवंशी नरेश सदा धर्ममें स्थिर रहें और वे कभी राज्यसे भ्रष्ट न हों ।। ३४ ।।

(एवमस्त्विति तां प्राह कण्वो धर्मभृतां वरः ।

पस्पर्श चापि पाणिभ्यां सुतां श्रीमिव रूपिणीम् ।।

उस समय धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कण्वने उससे कहा—'एवमस्तु' (ऐसा ही हो)। यह कहकर उन्होंने मूर्तिमती लक्ष्मी-सी पुत्री शकुन्तलाका दोनों हाथोंसे स्पर्श किया और कहा।

कण्व उवाच

अद्यप्रभृति देवी त्वं दुष्यन्तस्य महात्मनः ।

पतिव्रतानां या वृत्तिस्तां वृत्तिमनुपालय ।।)

कण्व बोले—बेटी! आजसे तू महात्मा राजा दुष्यन्तकी महारानी है। अतः पतिव्रता स्त्रियोंका जो बर्ताव तथा सदाचार है, उसका निरन्तर पालन कर।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने त्रिसप्ततितमोध्यायः ।। ७३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यानविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १९½ श्लोक मिलाकर कुल ५३½ श्लोक हैं)

---

* कन्याको वस्त्र और आभूषणोंसे अलंकृत करके सजातीय योग्य वरके हाथमें देना 'ब्राह्म' विवाह कहलाता है। अपने घरपर देवयज्ञ करके यज्ञान्तमें ऋत्विज्को अपनी कन्याका दान करना 'दैव' विवाह कहा गया है। वरसे एक गाय और एक बैल शुल्कके रूपमें लेकर कन्यादान करना 'आर्ष' विवाह बताया गया है। वर और कन्या दोनों साथ रहकर धर्माचरण करें, इस बुद्धिसे कन्यादान करना 'प्राजापत्य' विवाह माना गया है। वरसे मूल्यके रूपमें बहुत-सा धन लेकर कन्या देना 'आसुर' विवाह माना गया है। वर और वधू दोनों एक-दूसरेको स्वेच्छासे स्वीकार कर लें, यह 'गान्धर्व' विवाह है। युद्ध

करके मार-काट मचाकर रोती हुई कन्याको उसके रोते हुए भाई-बन्धुओंसे छीन लाना ‘राक्षस’ विवाह माना गया है। जब घरके लोग सोये हों अथवा असावधान हों, उस दशामें कन्याको चुरा लेना ‘पैशाच’ विवाह है।

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

शकुन्तलाके पुत्रका जन्म, उसकी अद्भुत शक्ति, पुत्रसहित शकुन्तलाका दुष्यन्तके यहाँ जाना, दुष्यन्त-शकुन्तला-संवाद, आकाशवाणीद्वारा शकुन्तलाकी शुद्धिका समर्थन और भरतका राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच

प्रतिज्ञाय तु दुष्यन्ते प्रतियाते शकुन्तलाम् ।
(गर्भश्च ववृधे तस्यां राजपुत्र्यां महात्मनः ।
शकुन्तला चिन्तयन्ती राजानं कार्यगौरवात् ।।
दिवारात्रमनिद्रैव स्नानभोजनवर्जिता ।।
राजप्रेषणिका विप्राश्चतुरङ्गबलैः सह ।
अद्य श्वो वा परश्वो वा समायान्तीति निश्चिता ।।
दिवसान् पक्षानृतून् मासानयनानि च सर्वशः ।
गण्यमानेषु सर्वेषु व्यतीयुस्त्रीणि भारत ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब शकुन्तलासे पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करके राजा दुष्यन्त चले गये, तब क्षत्रियकन्या शकुन्तलाके उदरमें उन महात्मा दुष्यन्तके द्वारा स्थापित किया हुआ गर्भ धीरे-धीरे बढ़ने और पुष्ट होने लगा। शकुन्तला कार्यकी गुरुतापर दृष्टि रखकर निरन्तर राजा दुष्यन्तका ही चिन्तन करती रहती थी। उसे न तो दिनमें नींद आती थी और न रातमें ही। उसका स्नान और भोजन छूट गया था। उसे यह दृढ़ विश्वास था कि राजाके भेजे हुए ब्राह्मण चतुरंगिणी सेनाके साथ आज, कल या परसोंतक मुझे लेनेके लिये अवश्य आ जायँगे। भरतनन्दन! शकुन्तलाको दिन, पक्ष, मास, ॠतु, अयन तथा वर्ष—इन सबकी गणना करते-करते तीन वर्ष बीत गये।

गर्भं सुषाव वामोरूः कुमारममितौजसम् ।। १ ।।
त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु दीप्तानलसमद्युतिम् ।
रूपौदार्यगुणोपेतं दौष्यन्तिं जनमेजय ।। २ ।।

जनमेजय! तदनन्तर पूरे तीन वर्ष व्यतीत होनेके बाद सुन्दर जाँघोंवाली शकुन्तलाने अपने गर्भसे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी, रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न, अमित पराक्रमी कुमारको जन्म दिया, जो दुष्यन्तके वीर्यसे उत्पन्न हुआ था ।। १-२ ।।

(तस्मै तदान्तरिक्षात् तु पुष्पवृष्टिः पपात ह ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।।

गायन्त्यो मधुरं तत्र देवैः शक्रोऽभ्युवाच ह ।

उस समय आकाशसे उस बालकके लिये फूलोंकी वर्षा हुई, देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं और अप्सराएँ मधुर स्वरमें गाती हुई नृत्य करने लगीं। उस अवसरपर वहाँ देवताओंसहित इन्द्रने आकर कहा।

शक्र उवाच

शकुन्तले तव सुतश्चक्रवर्ती भविष्यति ।।
बलं तेजश्च रूपं च न समं भुवि केनचित् ।
आहर्ता वाजिमेधस्य शतसंख्यस्य पौरवः ।।
अनेकानि सहस्राणि राजसूयादिभिर्मखैः ।
स्वार्थं ब्राह्मणसात् कृत्वा दक्षिणाममितां ददात् ।।

इन्द्र बोले—शकुन्तले! तुम्हारा यह पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा। पृथ्वीपर कोई भी इसके बल, तेज तथा रूपकी समानता नहीं कर सकता। यह पूरुवंशका रत्न सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा। राजसूय आदि यज्ञोंद्वारा सहस्रों बार अपना सारा धन ब्राह्मणोंके अधीन करके उन्हें अपरिमित दक्षिणा देगा।

वैशम्पायन उवाच

देवतानां वचः श्रुत्वा कण्वाश्रमनिवासिनः ।
सभाजयन्त कण्वस्य सुतां सर्वे महर्षयः ।।
शकुन्तला च तच्छ्रुत्वा परं हर्षमवाप सा ।
द्विजानाहूय मुनिभिः सत्कृत्य च महायशाः ।।)
जातकर्मादिसंस्कारं कण्वः पुण्यकृतां वरः ।
विधिवत् कारयामास वर्धमानस्य धीमतः ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—इन्द्रादि देवताओंका यह वचन सुनकर कण्वके आश्रममें रहनेवाले सभी महर्षि कण्वकन्या शकुन्तलाके सौभाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। यह सब सुनकर शकुन्तलाको भी बड़ा हर्ष हुआ। पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ महायशस्वी कण्वने मुनियोंसे ब्राह्मणोंको बुलाकर उनका पूर्ण सत्कार करके बालकका विधिपूर्वक जातकर्म आदि संस्कार कराया। वह बुद्धिमान् बालक प्रतिदिन बढ़ने लगा ।। ३ ।।

दन्तैः शुक्लैः शिखरिभिः सिंहसंहननो महान् ।
चक्राङ्कितकरः श्रीमान् महामूर्धा महाबलः ।। ४ ।।

वह सफेद और नुकीले दाँतोंसे शोभा पा रहा था। उसके शरीरका गठन सिंहके समान था। वह ऊँचे कदका था। उसके हाथोंमें चक्रके चिह्न थे। वह अद्‌भुत शोभासे सम्पन्न, विशाल मस्तकवाला और महान् बलवान् था ।। ४ ।।

कुमारो देवगर्भाभः स तत्राशु व्यवर्धत ।

षड्वर्ष एव बालः स कण्वाश्रमपदं प्रति ।। ५ ।।
सिंहव्याघ्रान् वराहांश्च महिषांश्च गजांस्तथा ।
बबन्ध वृक्षे बलवानाश्रमस्य समीपतः ।। ६ ।।

देवताओंके बालक-सा प्रतीत होनेवाला वह तेजस्वी कुमार वहाँ शीघ्रतापूर्वक बढ़ने लगा। छः वर्षकी अवस्थामें ही वह बलवान् बालक कण्वके आश्रममें सिंहों, व्याघ्रों, वराहों, भैंसों और हाथियोंको पकड़कर खींच लाता और आश्रमके समीपवर्ती वृक्षोंमें बाँध देता था ।। ५-६ ।।

आरोहन् दमयंश्चैव क्रीडंश्च परिधावति ।
(ततश्च राक्षसान् सर्वान् पिशाचांश्च रिपून् रणे ।
मुष्टियुद्धेन ताञ्जित्वा ऋषीनाराधयत् तदा ।।
कश्चिद् दितिसुतस्तं तु हन्तुकामो महाबलः ।
वध्यमानांस्तु दैतेयानमर्षी तं समभ्ययात् ।।
तमागतं प्रहस्यैव बाहुभ्यां परिगृह्य च ।
दृढं चाबध्य बाहुभ्यां पीडयामास तं तदा ।।
मर्दितो न शशाकास्य मोचितुं बलवत्तया ।
प्राक्रोशद् भैरवं तत्र द्वारेभ्यो निःसृतं त्वसृक् ।।
तेन शब्देन वित्रस्ता मृगाः सिंहादयो गणाः ।
सुस्रुवुश्च शकृन्मूत्रमाश्रमस्थाश्च सुस्रुवुः ।।
निरसुं जानुभिः कृत्वा विससर्ज च सोऽपतत् ।
तं दृष्ट्वा विस्मयं चक्रुः कुमारस्य विचेष्टितम् ।।
नित्यकालं वध्यमाना दैतेया राक्षसैः सह ।
कुमारस्य भयादेव नैव जग्मुस्तदाश्रमम् ।।)
ततोऽस्य नाम चक्रुस्ते कण्वाश्रमनिवासिनः ।। ७ ।।

फिर वह सबका दमन करते हुए उनकी पीठपर चढ़ जाता और क्रीड़ा करते हुए उन्हें सब ओर दौड़ाता हुआ दौड़ता था। वहाँ सब राक्षस और पिशाच आदि शत्रुओंको युद्धमें मुष्टिप्रहारके द्वारा परास्त करके वह राजकुमार ऋषि-मुनियोंकी आराधनामें लगा रहता था। एक दिन कोई महाबली दैत्य उसे मार डालनेकी इच्छासे उस वनमें आया। वह उसके द्वारा प्रतिदिन सताये जाते हुए दूसरे दैत्योंकी दशा देखकर अमर्षमें भरा हुआ था। उसके आते ही राजकुमारने हँसकर उसे दोनों हाथोंसे पकड़ लिया और अपनी बाँहोंमें दृढ़तापूर्वक कसकर दबाया। वह बहुत जोर लगानेपर भी अपनेको उस बालकके चंगुलसे छुड़ा न सका, अतः भयंकर स्वरसे चीत्कार करने लगा। उस समय दबावके कारण उसकी इन्द्रियोंसे रक्त बह चला। उसकी चीत्कारसे भयभीत हो मृग और सिंह आदि जंगली जीव मल-मूत्र करने लगे तथा आश्रमपर रहनेवाले प्राणियोंकी भी यही दशा हुई। दुष्यन्तकुमारने घुटनोंसे मार-

मारकर उस दैत्यके प्राण ले लिये; तत्पश्चात् उसे छोड़ दिया। उसके हाथसे छूटते ही वह दैत्य गिर पड़ा। उस बालकका यह पराक्रम देखकर सब लोगोंको बड़ा विस्मय हुआ। कितने ही दैत्य और राक्षस प्रतिदिन उस दुष्यन्तकुमारके हाथों मारे जाते थे। कुमारके भयसे ही उन्होंने कण्वके आश्रमपर जाना छोड़ दिया। यह देख कण्वके आश्रममें रहनेवाले ऋषियोंने उसका नया नामकरण किया— ।। ७ ।।

अस्त्वयं सर्वदमनः सर्वं हि दमयत्यसौ ।
स सर्वदमनो नाम कुमारः समपद्यत ।। ८ ।।
विक्रमेणौजसा चैव बलेन च समन्वितः ।

'यह सब जीवोंका दमन करता है, इसलिये 'सर्वदमन' नामसे प्रसिद्ध हो।' तबसे उस कुमारका नाम सर्वदमन हो गया। वह पराक्रम, तेज और बलसे सम्पन्न था ।। ८½ ।।

(अप्रेषयति दुष्यन्ते महिष्यास्तनयस्य च ।
पाण्डुभावपरीताङ्गीं चिन्तया समभिप्लुताम् ।।
लम्बालकां कृशां दीनां तथा मलिनवाससम् ।
शकुन्तलां च सम्प्रेक्ष्य प्रदध्यौ स मुनिस्तदा ।।
शास्त्राणि सर्ववेदाश्च द्वादशाब्दस्य चाभवन् ।।)

राजा दुष्यन्तने अपनी रानी और पुत्रको बुलानेके लिये जब किसी भी मनुष्यको नहीं भेजा, तब शकुन्तला चिन्तामग्न हो गयी। उसके सारे अंग सफेद पड़ने लगे। उसके खुले हुए लंबे केश लटक रहे थे, वस्त्र मैले हो गये थे, वह अत्यन्त दुर्बल और दीन दिखायी देती थी। शकुन्तलाको इस दयनीय दशामें देखकर कण्व मुनिने कुमार सर्वदमनके लिये विद्याका चिन्तन किया। इससे उस बारह वर्षके ही बालकके हृदयमें समस्त शास्त्रों और सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्रकाशित हो गया।

तं कुमारमृषिर्दृष्ट्वा कर्म चास्यातिमानुषम् ।। ९ ।।
समयो यौवराज्यायेत्यब्रवीच्च शकुन्तलाम् ।

महर्षि कण्वने उस कुमार और उसके लोकोत्तर कर्मको देखकर शकुन्तलासे कहा —'अब इसके युवराज-पदपर अभिषिक्त होनेका समय आया है ।। ९½ ।।

(शृणु भद्रे मम सुते मम वाक्यं शुचिस्मिते ।
पतिव्रतानां नारीणां विशिष्टमिति चोच्यते ।।

'मेरी कल्याणमयी पुत्री! मेरा यह वचन सुनो। पवित्र मुसकानवाली शकुन्तले! पतिव्रता स्त्रियोंके लिये यह विशेष ध्यान देनेयोग्य बात है; इसलिये बता रहा हूँ।

पतिशुश्रूषणं पूर्वं मनोवाक्कायचेष्टितैः ।
अनुज्ञाता मया पूर्वं पूजयैतद् व्रतं तव ।।
एतेनैव च वृत्तेन विशिष्टां लप्स्यसे श्रियम् ।

'सती स्त्रियोंके लिये सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि वे मन, वाणी, शरीर और चेष्टाओंद्वारा निरन्तर पतिकी सेवा करती रहें। मैंने पहले भी तुम्हें इसके लिये आदेश दिया है। तुम अपने इस व्रतका पालन करो। इस पतिव्रतोचित आचार-व्यवहारसे ही विशिष्ट शोभा प्राप्त कर सकोगी।

तस्माद् भद्रे प्रयातव्यं समीपं पौरवस्य ह ।।
स्वयं नायाति मत्वा ते गतं कालं शुचिस्मिते ।
गत्वाऽऽराधय राजानं दुष्यन्तं हितकाम्यया ।।

'भद्रे! तुम्हें पूरुनन्दन दुष्यन्तके पास जाना चाहिये। वे स्वयं नहीं आ रहे हैं, ऐसा सोचकर तुमने बहुत-सा समय उनकी सेवासे दूर रहकर बिता दिया। शुचिस्मिते! अब तुम अपने हितकी इच्छासे स्वयं जाकर राजा दुष्यन्तकी आराधना करो।

दौष्यन्तिं यौवराज्यस्थं दृष्ट्वा प्रीतिमवाप्स्यसि ।
देवतानां गुरूणां च क्षत्रियाणां च भामिनि ।
भर्तॄणां च विशेषेण हितं संगमनं सताम् ।।
तस्मात् पुत्रि कुमारेण गन्तव्यं मत्प्रियेप्सया ।
प्रतिवाक्यं न दद्यास्त्वं शापिता मम पादयोः ।।

'वहाँ दुष्यन्तकुमार सर्वदमनको युवराज-पदपर प्रतिष्ठित देख तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होगी। देवता, गुरु, क्षत्रिय, स्वामी तथा साधु पुरुष—इनका संग विशेष हितकर है। अतः बेटी! तुम्हें मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे कुमारके साथ अवश्य अपने पतिके यहाँ जाना चाहिये। मैं अपने चरणोंकी शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम मुझे मेरी इस आज्ञाके विपरीत कोई उत्तर न देना'।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुतां तत्र पौत्रं कण्वोऽभ्यभाषत ।
परिष्वज्य च बाहुभ्यां मूर्ध्न्युपाघ्राय पौरवम् ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—पुत्रीसे ऐसा कहकर महर्षि कण्वने उसके पुत्र भरतको दोनों बाँहोंसे पकड़कर अंकमें भर लिया और उसका मस्तक सूँघकर कहा।

कण्व उवाच

सोमवंशोद्भवो राजा दुष्यन्तो नाम विश्रुतः ।
तस्याग्रमहिषी चैषा तव माता शुचिव्रता ।।
गन्तुकामा भर्तृवशं त्वया सह सुमध्यमा ।
गत्वाभिवाद्य राजानं यौवराज्यमवाप्स्यसि ।।
स पिता तव राजेन्द्रस्तस्य त्वं वशगो भव ।
पितृपैतामहं राज्यमनुतिष्ठस्व भावतः ।।

कण्व बोले—वत्स! चन्द्रवंशमें दुष्यन्त नामसे प्रसिद्ध एक राजा हैं। पवित्र व्रतका पालन करनेवाली यह तुम्हारी माता उन्हींकी महारानी है। यह सुन्दरी तुम्हें साथ लेकर अब पतिकी सेवामें जाना चाहती है। तुम वहाँ जाकर राजाको प्रणाम करके युवराज-पद प्राप्त करोगे। वे महाराज दुष्यन्त ही तुम्हारे पिता हैं। तुम सदा उनकी आज्ञाके अधीन रहना और बाप-दादेके राज्यका प्रेमपूर्वक पालन करना।

शकुन्तले शृणुष्वेदं हितं पथ्यं च भामिनि ।
पतिव्रताभावगुणान् हित्वा साध्यं न किञ्चन ।।
पतिव्रतानां देवा वै तुष्टाः सर्ववरप्रदाः ।
प्रसादं च करिष्यन्ति ह्यापदर्थे च भामिनि ।।
पतिप्रसादात् पुण्यगतिं प्राप्नुवन्ति न चाशुभम् ।
तस्माद् गत्वा तु राजानमाराधय शुचिस्मिते ।।)

(फिर कण्व शकुन्तलासे बोले—) ‘भामिनि! शकुन्तले! यह मेरी हितकर एवं लाभप्रद बात सुनो। पतिव्रताभाव-सम्बन्धी गुणोंको छोड़कर तुम्हारे लिये और कोई वस्तु साध्य नहीं है। पतिव्रताओंपर सम्पूर्ण वरोंको देनेवाले देवतालोग भी संतुष्ट रहते हैं। भामिनि! वे आपत्तिके निवारणके लिये अपने कृपा-प्रसादका भी परिचय देंगे। शुचिस्मिते! पतिव्रता देवियाँ पतिके प्रसादसे पुण्यगतिको ही प्राप्त होती हैं; अशुभ गतिको नहीं। अतः तुम जाकर राजाकी आराधना करो’।

तस्य तद् बलमाज्ञाय कण्वः शिष्यानुवाच ह ।। १० ।।
शकुन्तलामिमां शीघ्रं सहपुत्रामितो गृहात् ।
भर्तुः प्रापयतागारं सर्वलक्षणपूजिताम् ।। ११ ।।

फिर उस बालकके बलको समझकर कण्वने अपने शिष्योंसे कहा—‘तुमलोग समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्मानित मेरी पुत्री शकुन्तला और इसके पुत्रको शीघ्र ही इस घरसे ले जाकर पतिके घरमें पहुँचा दो ।। १०-११ ।।

नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते ।
कीर्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम् ।। १२ ।।

‘स्त्रियोंका अपने भाई-बन्धुओंके यहाँ अधिक दिनोंतक रहना अच्छा नहीं होता। वह उनकी कीर्ति, शील तथा पातिव्रत्य धर्मका नाश करनेवाला होता है। अतः इसे अविलम्ब पतिके घरमें पहुँचा दो’ ।। १२ ।।

(वैशम्पायन उवाच

धर्माभिपूजितं पुत्रं काश्यपेन निशाम्य तु ।
काश्यपात् प्राप्य चानुज्ञां मुमुदे च शकुन्तला ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कश्यपनन्दन कण्वने धर्मानुसार मेरे पुत्रका बड़ा आदर किया है, यह देखकर तथा उनकी ओरसे पतिके घर जानेकी आज्ञा पाकर शकुन्तला मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुई।

कण्वस्य वचनं श्रुत्वा प्रतिगच्छेति चासकृत् ।
तथेत्युक्त्वा तु कण्वं च मातरं पौरवोऽब्रवीत् ।।
किं चिरायसि मातस्त्वं गमिष्यामो नृपालयम् ।

कण्वके मुखसे बारंबार 'जाओ-जाओ' यह आदेश सुनकर पूरुनन्दन सर्वदमनने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और मातासे कहा—'माँ! तुम क्यों विलम्ब करती हो, चलो राजमहल चलें'।

एवमुक्त्वा तु तां देवीं दुष्यन्तस्य महात्मनः ।।
अभिवाद्य मुनेः पादौ गन्तुमैच्छत् स पौरवः ।

देवी शकुन्तलासे ऐसा कहकर पौरवराजकुमारने मुनिके चरणोंमें मस्तक झुकाकर महात्मा राजा दुष्यन्तके यहाँ जानेका विचार किया।

शकुन्तला च पितरमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।।
प्रदक्षिणीकृत्य तदा पितरं वाक्यमब्रवीत् ।
अज्ञानान्मे पिता चेति दुरुक्तं वापि चानृतम् ।।
अकार्यं वाप्यनिष्टं वा क्षन्तुमर्हति काश्यप ।

शकुन्तलाने भी हाथ जोड़कर पिताको प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा करके उस समय यह बात कही—'भगवन्! काश्यप! आप मेरे पिता हैं, यह समझकर मैंने अज्ञानवश यदि कोई कठोर या असत्य बात कह दी हो अथवा न करनेयोग्य या अप्रिय कार्य कर डाला हो, तो उसे आप क्षमा कर देंगे'।

एवमुक्तो नतशिरा मुनिर्नोवाच किञ्चन ।।
मनुष्यभावात् कण्वोऽपि मुनिरश्रूण्यवर्तयत् ।

शकुन्तलाके ऐसा कहनेपर सिर झुकाकर बैठे हुए कण्व मुनि कुछ बोल न सके; मानव-स्वभावके अनुसार करुणाका उदय हो जानेसे नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे।

अब्भक्षान् वायुभक्षांश्च शीर्णपर्णाशनान् मुनीन् ।।
फलमूलाशिनो दान्तान् कृशान् धमनिसंततान् ।
व्रतिनो जटिलान् मुण्डान् वल्कलाजिनसंवृतान् ।।

उनके आश्रममें बहुत-से ऐसे मुनि रहते थे, जो जल पीकर, वायु पीकर अथवा सूखे पत्ते खाकर तपस्या करते थे। फल-मूल खाकर रहनेवाले भी बहुत थे। वे सब-के-सब जितेन्द्रिय एवं दुर्बल शरीरवाले थे। उनके शरीरकी नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं। उत्तम व्रतोंका पालन करनेवाले उन महर्षियोंमेंसे कितने ही सिरपर जटा धारण करते थे

और कितने ही सिर मुड़ाये रहते थे। कोई वल्कल धारण करते थे और कोई मृगचर्म लपेटे रहते थे।

समाहूय मुनीन् कण्वः कारुण्यादिदमब्रवीत् ।।
मया तु लालिता नित्यं मम पुत्री यशस्विनी ।
वने जाता विवृद्धा च न च जानाति किञ्चन ।।
अश्रमेण पथा सर्वैर्नीयतां क्षत्रियालयम् ।)

महर्षि कण्वने उन मुनियोंको बुलाकर करुण भावसे कहा—'महर्षियो! यह मेरी यशस्विनी पुत्री वनमें उत्पन्न हुई और यहीं पलकर इतनी बड़ी हुई है। मैंने सदा इसे लाड़-प्यार किया है। यह कुछ नहीं जानती है। विप्रगण! तुम सब लोग इसे ऐसे मार्गसे राजा दुष्यन्तके घर ले जाओ जिसमें अधिक श्रम न हो'।

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे प्रातिष्ठन्त महौजसः ।
शकुन्तलां पुरस्कृत्य दुष्यन्तस्य पुरं प्रति ।। १३ ।।

'बहुत अच्छा' कहकर वे सभी महातेजस्वी शिष्य (पुत्रसहित) शकुन्तलाको आगे करके दुष्यन्तके नगरकी ओर चले ।। १३ ।।

गृहीत्वामरगर्भाभं पुत्रं कमललोचनम् ।
आजगाम ततः सुभ्रूर्दुष्यन्तं विदिताद् वनात् ।। १४ ।।

तदनन्तर सुन्दर भौंहोंवाली शकुन्तला कमलके समान नेत्रोंवाले देवबालकके सदृश तेजस्वी पुत्रको साथ ले अपने परिचित तपोवनसे चलकर महाराज दुष्यन्तके यहाँ आयी ।। १४ ।।

अभिसृत्य च राजानं विदिता च प्रवेशिता ।
सह तेनैव पुत्रेण बालार्कसमतेजसा ।। १५ ।।

राजाके यहाँ पहुँचकर अपने आगमनकी सूचना दे अनुमति लेकर वह उसी बालसूर्यके समान तेजस्वी पुत्रके साथ राजसभामें प्रविष्ट हुई ।। १५ ।।

निवेदयित्वा ते सर्वे आश्रमं पुनरागताः ।
पूजयित्वा यथान्यायमब्रवीच्च शकुन्तला ।। १६ ।।

सब शिष्यगण राजाको महर्षिका संदेश सुनाकर पुनः आश्रमको लौट आये और शकुन्तला न्यायपूर्वक महाराजके प्रति सम्मानका भाव प्रकट करती हुई पुत्रसे बोली— ।। १६ ।।

(अभिवादय राजानं पितरं ते दृढव्रतम् ।
एवमुक्त्वा तु पुत्रं सा लज्जानतमुखी स्थिता ।।
स्तम्भमालिङ्ग्य राजानं प्रसीदस्वेत्युवाच सा ।
शाकुन्तलोऽपि राजानमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।।
हर्षेणोत्फुल्लनयनो राजानं चान्ववैक्षत ।

दुष्यन्तो धर्मबुद्ध्या तु चिन्तयन्नेव सोऽब्रवीत् ।।

'बेटा! दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ये महाराज तुम्हारे पिता हैं; इन्हें प्रणाम करो।' पुत्रसे ऐसा कहकर शकुन्तला लज्जासे मुख नीचा किये एक खंभेका सहारा लेकर खड़ी हो गयी और महाराजसे बोली—'देव! प्रसन्न हों।' शकुन्तलाका पुत्र भी हाथ जोड़कर राजाको प्रणाम करके उन्हींकी ओर देखने लगा। उसके नेत्र हर्षसे खिल उठे थे। राजा दुष्यन्तने उस समय धर्मबुद्धिसे कुछ विचार करते हुए ही कहा।

दुष्यन्त उवाच

किमागमनकार्यं ते ब्रूहि त्वं वरवर्णिनि ।

करिष्यामि न संदेहः सपुत्राया विशेषतः ।।

दुष्यन्त बोले—सुन्दरि! यहाँ तुम्हारे आगमनका क्या उद्देश्य है? बताओ। विशेषतः उस दशामें, जबकि तुम पुत्रके साथ आयी हो, मैं तुम्हारा कार्य अवश्य सिद्ध करूँगा; इसमें संदेह नहीं।

शकुन्तलोवाच

प्रसीदस्व महाराज वक्ष्यामि पुरुषोत्तम ।।)

शकुन्तलाने कहा—महाराज! आप प्रसन्न हों। पुरुषोत्तम! मैं अपने आगमनका उद्देश्य बताती हूँ, सुनिये।

अयं पुत्रस्त्वया राजन् यौवराज्येऽभिषिच्यताम् ।

त्वया ह्ययं सुतो राजन् मय्युत्पन्नः सुरोपमः ।

यथासमयमेतस्मिन् वर्तस्व पुरुषोत्तम ।। १७ ।।

राजन्! यह आपका पुत्र है। इसे आप युवराज-पदपर अभिषिक्त कीजिये। महाराज! यह देवोपम कुमार आपके द्वारा मेरे गर्भसे उत्पन्न हुआ है। पुरुषोत्तम! इसके लिये आपने मेरे साथ जो शर्त कर रखी है, उसका पालन कीजिये ।। १७ ।।

यथा मत्सङ्गमे पूर्वं यः कृतः समयस्त्वया ।

तं स्मरस्व महाभाग कण्वाश्रमपदं प्रति ।। १८ ।।

महाभाग! आपने कण्वके आश्रमपर मेरे साथ समागमके समय पहले जो प्रतिज्ञा की थी, उसका इस समय स्मरण कीजिये ।। १८ ।।

सोऽथ श्रुत्वैव तद् वाक्यं तस्या राजा स्मरन्नपि ।

अब्रवीन्न स्मरामीति कस्य त्वं दुष्टतापसि ।। १९ ।।

राजा दुष्यन्तने शकुन्तलाका यह वचन सुनकर सब बातोंको याद रखते हुए भी उससे इस प्रकार कहा—'दुष्ट तपस्विनि! मुझे कुछ भी याद नहीं है। तुम किसकी स्त्री हो? ।। १९ ।।

धर्मकामार्थसम्बन्धं न स्मरामि त्वया सह ।

गच्छ वा तिष्ठ वा कामं यद् वापीच्छसि तत् कुरु ।। २० ।।

'तुम्हारे साथ मेरा धर्म, काम अथवा अर्थको लेकर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ है, इस बातका मुझे तनिक भी स्मरण नहीं है। तुम इच्छानुसार जाओ या रहो अथवा जैसी तुम्हारी रुचि हो, वैसा करो' ।। २० ।।

सैवमुक्ता वरारोहा व्रीडितेव तपस्विनी ।
निःसंज्ञेव च दुःखेन तस्थौ स्थूणेव निश्चला ।। २१ ।।

सुन्दर अंगवाली तपस्विनी शकुन्तला दुष्यन्तके ऐसा कहनेपर लज्जित हो दुःखसे बेहोश-सी हो गयी और खंभेकी तरह निश्चलभावसे खड़ी रह गयी ।। २१ ।।

संरम्भामर्षताम्राक्षी स्फुरमाणौष्ठसम्पुटा ।
कटाक्षैर्निर्दहन्तीव तिर्यग् राजानमैक्षत ।। २२ ।।

क्रोध और अमर्षसे उसकी आँखें लाल हो गयीं, ओठ फड़कने लगे और मानो जला देगी, इस भावसे टेढ़ी चितवनद्वारा राजाकी ओर देखने लगी ।। २२ ।।

आकारं गूहमाना च मन्युना च समीरिता ।
तपसा सम्भृतं तेजो धारयामास वै तदा ।। २३ ।।

क्रोध उसे उत्तेजित कर रहा था, फिर भी उसने अपने आकारको छिपाये रखा और तपस्याद्वारा संचित किये हुए अपने तेजको वह अपने भीतर ही धारण किये रही ।। २३ ।।

सा मुहूर्तमिव ध्यात्वा दुःखामर्षसमन्विता ।
भर्तारमभिसम्प्रेक्ष्य क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ।। २४ ।।
जानन्नपि महाराज कस्मादेवं प्रभाषसे ।
न जानामीति निःशङ्कं यथान्यः प्राकृतो जनः ।। २५ ।।

वह दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार-सा करती रही, फिर दुःख और अमर्षमें भरकर पतिकी ओर देखती हुई क्रोधपूर्वक बोली—'महाराज! आप जान-बूझकर भी दूसरे-दूसरे निम्न कोटिके मनुष्योंकी भाँति निःशंक होकर ऐसी बात क्यों कहते हैं कि 'मैं नहीं जानता' ।। २४-२५ ।।

अत्र ते हृदयं वेद सत्यस्यैवानृतस्य च ।
कल्याणं वद साक्ष्येण माऽऽत्मानमवमन्यथाः ।। २६ ।।

'इस विषयमें यहाँ क्या झूठ है और क्या सच, इस बातको आपका हृदय ही जानता होगा। उसीको साक्षी बनाकर—हृदयपर हाथ रखकर सही-सही बात कहिये, जिससे आपका कल्याण हो। आप अपने आत्माकी अवहेलना न कीजिये ।। २६ ।।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ।। २७ ।।

'(आपका स्वरूप तो कुछ और है' परंतु आप बन कुछ और रहे हैं।) जो अपने असली स्वरूपको छिपाकर अपनेको कुछ-का-कुछ दिखाता है, अपने आत्माका अपहरण

करनेवाले उस चोरने कौन-सा पाप नहीं किया? ।। २७ ।।

एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं
न हृच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणम् ।
यो वेदिता कर्मणः पापकस्य
तस्यान्तिके त्वं वृजिनं करोषि ।। २८ ।।

'आप समझ रहे हैं कि उस समय मैं अकेला था (कोई देखनेवाला नहीं था), परंतु आपको पता नहीं कि वह सनातन मुनि (परमात्मा) सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विद्यमान है। वह सबके पाप-पुण्यको जानता है और आप उसीके निकट रहकर पाप कर रहे हैं ।। २८ ।।

(धर्म एव हि साधूनां सर्वेषां हितकारणम् ।
नित्यं मिथ्याविहीनानां न च दुःखावहो भवेत् ।।)
मन्यते पापकं कृत्वा न कश्चिद् वेत्ति मामिति ।
विदन्ति चैनं देवाश्च यश्चैवान्तरपूरुषः ।। २९ ।।

'जो सदा असत्यसे दूर रहनेवाले हैं, उन समस्त साधु पुरुषोंकी दृष्टिमें केवल धर्म ही हितकारक है। धर्म कभी दुःखदायक नहीं होता। मनुष्य पाप करके यह समझता है कि मुझे कोई नहीं जानता, किंतु उसका यह समझना भारी भूल है; क्योंकि सब देवता और अन्तर्यामी परमात्मा भी मनुष्यके उस पाप-पुण्यको देखते और जानते हैं ।। २९ ।।

आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ।। ३० ।।

'सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल, हृदय, यमराज, दिन, रात, दोनों संध्याएँ और धर्म—ये सभी मनुष्यके भले-बुरे आचार-व्यवहारको जानते हैं ।। ३० ।।

यमो वैवस्वतस्तस्य निर्यातयति दुष्कृतम् ।
हृदि स्थितः कर्मसाक्षी क्षेत्रज्ञो यस्य तुष्यति ।। ३१ ।।

'जिसपर हृदयस्थित कर्मसाक्षी क्षेत्रज्ञ परमात्मा संतुष्ट रहते हैं, सूर्यपुत्र यमराज उसके सभी पापोंको स्वयं नष्ट कर देते हैं ।। ३१ ।।

न तु तुष्यति यस्यैष पुरुषस्य दुरात्मनः ।
तं यमः पापकर्माणं वियातयति दुष्कृतम् ।। ३२ ।।

'परंतु जिस दुरात्मापर अन्तर्यामी संतुष्ट नहीं होते, यमराज उस पापीको उसके पापोंका स्वयं ही दण्ड देते हैं ।। ३२ ।।

योऽवमन्यात्मनाऽऽत्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
न तस्य देवाः श्रेयांसो यस्यात्मापि न कारणम् ।। ३३ ।।

स्वयं प्राप्तेति मामेवं मावमंस्थाः पतिव्रताम् ।
अर्चार्हां नार्चयसि मां स्वयं भार्यामुपस्थिताम् ।। ३४ ।।

'जो स्वयं अपने आत्माका तिरस्कार करके कुछ-का-कुछ समझता और करता है, देवता भी उसका भला नहीं कर सकते और उसका आत्मा भी उसके हितका साधन नहीं कर सकता। मैं स्वयं आपके पास आयी हूँ, ऐसा समझकर मुझ पतिव्रता पत्नीका तिरस्कार न कीजिये। मैं आपके द्वारा आदर पानेयोग्य हूँ और स्वयं आपके निकट आयी हुई आपहीकी पत्नी हूँ, तथापि आप मेरा आदर नहीं करते हैं ।। ३३-३४ ।।

किमर्थं मां प्राकृतवदुपप्रेक्षसि संसदि ।
न खल्वहमिदं शून्ये रौमि किं न शृणोषि मे ।। ३५ ।।

'आप किसलिये नीच पुरुषकी भाँति भरी सभामें मुझे अपमानित कर रहे हैं? मैं सूने जंगलमें तो नहीं रो रही हूँ? फिर आप मेरी बात क्यों नहीं सुनते? ।। ३५ ।।

यदि मे याचमानाया वचनं न करिष्यसि ।
दुष्यन्त शतधा मूर्धा ततस्तेऽद्य स्फुटिष्यति ।। ३६ ।।

'महाराज दुष्यन्त! यदि मेरे उचित याचना करनेपर भी आप मेरी बात नहीं मानेंगे, तो आज आपके सिरके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे ।। ३६ ।।

भार्यां पतिः सम्प्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः ।
जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः ।। ३७ ।।

'पति ही पत्नीके भीतर गर्भरूपसे प्रवेश करके पुत्ररूपमें जन्म लेता है। यही जाया (जन्म देनेवाली स्त्री)-का जायात्व है, जिसे पुराणवेत्ता विद्वान् जानते हैं ।। ३७ ।।

यदागमवतः पुंसस्तदपत्यं प्रजायते ।
तत् तारयति संतत्या पूर्वप्रेतान् पितामहान् ।। ३८ ।।

'शास्त्रके ज्ञाता पुरुषके इस प्रकार जो संतान उत्पन्न होती है, वह संततिकी परम्पराद्वारा अपने पहलेके मरे हुए पितामहोंका उद्धार कर देती है ।। ३८ ।।

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ।। ३९ ।।

'पुत्र' 'पुत्' नामक नरकसे पिताका त्राण करता है, इसलिये साक्षात् ब्रह्माजीने उसे 'पुत्र' कहा है ।। ३९ ।।

(पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।
अथ पौत्रस्य पुत्रेण मोदन्ते प्रपितामहाः ।।)

'मनुष्य पुत्रसे पुण्यलोकोंपर विजय पाता है, पौत्रसे अक्षय सुखका भागी होता है तथा पौत्रके पुत्रसे प्रपितामहगण आनन्दके भागी होते हैं।

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ।। ४० ।।

'वही भार्या है, जो घरके काम-काजमें कुशल हो। वही भार्या है, जो संतानवती हो। वही भार्या है, जो अपने पतिको प्राणोंके समान प्रिय मानती हो और वही भार्या है, जो पतिव्रता हो ।। ४० ।।

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ।। ४१ ।।

'भार्या पुरुषका आधा अंग है। भार्या उसका सबसे उत्तम मित्र है। भार्या धर्म, अर्थ और कामका मूल है और संसार-सागरसे तरनेकी इच्छावाले पुरुषके लिये भार्या ही प्रमुख साधन है ।। ४१ ।।

भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या गृहमेधिनः ।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियान्विताः ।। ४२ ।।

'जिनके पत्नी है, वे ही यज्ञ आदि कर्म कर सकते हैं। सपत्नीक पुरुष ही सच्चे गृहस्थ हैं। पत्नीवाले पुरुष सुखी और प्रसन्न रहते हैं तथा जो पत्नीसे युक्त हैं, वे मानो लक्ष्मीसे सम्पन्न हैं (क्योंकि पत्नी ही घरकी लक्ष्मी है) ।। ४२ ।।

सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः ।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्तस्य मातरः ।। ४३ ।।

'पत्नी ही एकान्तमें प्रिय वचन बोलनेवाली संगिनी या मित्र है। धर्मकार्योंमें ये स्त्रियाँ पिताकी भाँति पतिकी हितैषिणी होती हैं और संकटके समय माताकी भाँति दुःखमें हाथ बँटाती तथा कष्ट-निवारणकी चेष्टा करती हैं ।। ४३ ।।

कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याध्वनिकस्य वै ।
यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद् दाराः परा गतिः ।। ४४ ।।

'परदेशमें यात्रा करनेवाले पुरुषके साथ यदि उसकी स्त्री हो तो वह घोर-से-घोर जंगलमें भी विश्राम पा सकता है—सुखसे रह सकता है। लोक-व्यवहारमें भी जिसके स्त्री है, उसीपर सब विश्वास करते हैं। इसलिये स्त्री ही पुरुषकी श्रेष्ठ गति है ।। ४४ ।।

संसरन्तमपि प्रेतं विषमेष्वेकपातिनम् ।
भार्यैवान्वेति भर्तारं सततं या पतिव्रता ।। ४५ ।।

'पति संसारमें हो या मर गया हो अथवा अकेले ही नरकमें पड़ा हो; पतिव्रता स्त्री ही सदा उसका अनुगमन करती है ।। ४५ ।।

प्रथमं संस्थिता भार्या पतिं प्रेत्य प्रतीक्षते ।
पूर्वं मृतं च भर्तारं पश्चात् साध्व्यनुगच्छति ।। ४६ ।।

'साध्वी स्त्री यदि पहले मर गयी हो तो परलोकमें जाकर वह पतिकी प्रतीक्षा करती है और यदि पहले पति मर गया हो तो सती स्त्री पीछेसे उसका अनुसरण करती है ।। ४६ ।।

एतस्मात् कारणाद् राजन् पाणिग्रहणमिष्यते ।
यदाप्नोति पतिर्भार्यामिहलोके परत्र च ।। ४७ ।।

'राजन्! इसीलिये सुशीला स्त्रीका पाणिग्रहण करना सबके लिये अभीष्ट होता है; क्योंकि पति अपनी पतिव्रता स्त्रीको इहलोकमें तो पाता ही है, परलोकमें भी प्राप्त करता है ।। ४७ ।।

आत्माऽऽत्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ।
तस्माद् भार्यां नरः पश्येन्मातृवत् पुत्रमातरम् ।। ४८ ।।

'पत्नीके गर्भसे अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए आत्माको ही विद्वान् पुरुष पुत्र कहते हैं, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपनी उस धर्मपत्नीको जो पुत्रकी माता बन चुकी है, माताके ही समान देखे ।। ४८ ।।

(अन्तरात्मैव सर्वस्य पुत्रनाम्नोच्यते सदा ।
गती रूपं च चेष्टा च आवर्ता लक्षणानि च ।।
पितॄणां यानि दृश्यन्ते पुत्राणां सन्ति तानि च ।
तेषां शीलाचारगुणास्तत्सम्पर्काच्छुभाशुभाः ।।)

'सबका अन्तरात्मा ही सदा पुत्र नामसे प्रतिपादित होता है। पिताकी जैसी चाल होती है, जैसे रूप, चेष्टा, आवर्त (भँवर) और लक्षण आदि होते हैं, पुत्रमें भी वैसी ही चाल और वैसे ही रूप-लक्षण आदि देखे जाते हैं। पिताके सम्पर्कसे ही पुत्रोंमें शुभ-अशुभ शील, गुण एवं आचार आदि आते हैं।

भार्यायां जनितं पुत्रमादर्शेष्विव चाननम् ।
ह्लादते जनिता प्रेक्ष्य स्वर्गं प्राप्येव पुण्यकृत् ।। ४९ ।।

'जैसे दर्पणमें अपना मुँह देखा जाता है, उसी प्रकार पत्नीके गर्भसे उत्पन्न हुए अपने आत्माको ही पुत्ररूपमें देखकर पिताको वैसा ही आनन्द होता है, जैसा पुण्यात्मा पुरुषको स्वर्गलोककी प्राप्ति हो जानेपर होता है ।। ४९ ।।

दह्यमाना मनोदुःखैर्व्याधिभिश्चातुरा नराः ।
ह्लादन्ते स्वेषु दारेषु घर्मार्ताः सलिलेष्विव ।। ५० ।।

'जैसे धूपसे तपे हुए जीव जलमें स्नान कर लेनेपर शान्तिका अनुभव करते हैं, उसी प्रकार जो मानसिक दुःख और चिन्ताओंकी आगमें जल रहे हैं तथा जो नाना प्रकारके रोगोंसे पीड़ित हैं, वे मानव अपनी पत्नीके समीप होनेपर आनन्दका अनुभव करते हैं ।। ५० ।।

(विप्रवासकृशा दीना नरा मलिनवाससः ।
तेऽपि स्वदारांस्तुष्यन्ति दरिद्रा धनलाभवत् ।।)

'जो परदेशमें रहकर अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं, जो दीन और मलिन वस्त्र धारण करनेवाले हैं, वे दरिद्र मनुष्य भी अपनी पत्नीको पाकर ऐसे संतुष्ट होते हैं, मानो उन्हें कोई धन मिल गया हो।

सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः ।

रतिं प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्तमवेक्ष्य हि ।। ५१ ।।

'रति, प्रीति तथा धर्म पत्नीके ही अधीन हैं, ऐसा सोचकर पुरुषको चाहिये कि वह कुपित होनेपर भी पत्नीके साथ कोई अप्रिय बर्ताव न करे ।। ५१ ।।

(आत्मनोऽर्धमिति श्रौतं सा रक्षति धनं प्रजाः ।
शरीरं लोकयात्रां वै धर्मं स्वर्गमृषीन् पितॄन् ।।)

'पत्नी अपना आधा अंग है, यह श्रुतिका वचन है। वह धन, प्रजा, शरीर, लोकयात्रा, धर्म, स्वर्ग, ऋषि तथा पितर—इन सबकी रक्षा करती है।

आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम् ।
ऋषीणामपि का शक्तिः स्रष्टुं रामामृते प्रजाम् ।। ५२ ।।

'स्त्रियाँ पतिके आत्माके जन्म लेनेका सनातन पुण्य क्षेत्र हैं। ऋषियोंमें भी क्या शक्ति है कि बिना स्त्रीके संतान उत्पन्न कर सकें ।। ५२ ।।

प्रतिपद्य यदा सूनुर्धरणीरेणुगुण्ठितः ।
पितुराश्लिष्यतेऽङ्गानि किमस्त्यभ्यधिकं ततः ।। ५३ ।।

'जब पुत्र धरतीकी धूलमें सना हुआ पास आता और पिताके अंगोंसे लिपट जाता है, उस समय जो सुख मिलता है, उससे बढ़कर और क्या हो सकता है? ।। ५३ ।।

स त्वं स्वयमभिप्राप्तं साभिलाषमिमं सुतम् ।
प्रेक्षमाणं कटाक्षेण किमर्थमवमन्यसे ।। ५४ ।।
अण्डानि बिभ्रति स्वानि न भिन्दन्ति पिपीलिकाः ।
न भरेथाः कथं नु त्वं धर्मज्ञः सन् स्वमात्मजम् ।। ५५ ।।

'देखिये, आपका यह पुत्र स्वयं आपके पास आया है और प्रेमपूर्ण तिरछी चितवनसे आपकी ओर देखता हुआ आपकी गोदमें बैठनेके लिये उत्सुक है; फिर आप किसलिये इसका तिरस्कार करते हैं। चींटियाँ भी अपने अण्डोंका पालन ही करती हैं; उन्हें फोड़तीं नहीं। फिर आप धर्मज्ञ होकर भी अपने पुत्रका भरण-पोषण क्यों नहीं करते? ।। ५४-५५ ।।

(ममाण्डानीति वर्धन्ते कोकिलानपि वायसाः ।
किं पुनस्त्वं न मन्येथाः सर्वज्ञः पुत्रमीदृशम् ।।
मलयाच्चन्दनं जातमतिशीतं वदन्ति वै ।
शिशोरालिङ्ग्यमानस्य चन्दनादधिकं भवेत् ।।)

'ये मेरे अपने ही अण्डे हैं' ऐसा समझकर कौए कोयलके अण्डोंका भी पालन-पोषण करते हैं; फिर आप सर्वज्ञ होकर अपनेसे ही उत्पन्न हुए ऐसे सुयोग्य पुत्रका सम्मान क्यों नहीं करते? लोग मलयगिरिके चन्दनको अत्यन्त शीतल बताते हैं, परंतु गोदमें सटाये हुए शिशुका स्पर्श चन्दनसे भी अधिक शीतल एवं सुखद होता है।

न वाससां न रामाणां नापां स्पर्शस्तथाविधः ।
शिशोरालिङ्ग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर्यथा सुखः ।। ५६ ।।

'अपने शिशु पुत्रको हृदयसे लगा लेनेपर उसका स्पर्श जितना सुखदायक जान पड़ता है, वैसा सुखद स्पर्श न तो कोमल वस्त्रोंका है, न रमणीय सुन्दरियोंका है और न शीतल जलका ही है ।। ५६ ।।

ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ।
गुरुर्गरीयसां श्रेष्ठः पुत्रः स्पर्शवतां वरः ।। ५७ ।।

'मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ है, चतुष्पदों (चौपायों)-में गौ श्रेष्ठतम है, गौरवशाली व्यक्तियोंमें गुरु श्रेष्ठ है और स्पर्श करनेयोग्य वस्तुओंमें पुत्र ही सबसे श्रेष्ठ है ।। ५७ ।।

स्पृशतु त्वां समाश्लिष्य पुत्रोऽयं प्रियदर्शनः ।
पुत्रस्पर्शात् सुखतरः स्पर्शो लोके न विद्यते ।। ५८ ।।

'आपका यह पुत्र देखनेमें कितना प्यारा है। यह आपके अंगोंसे लिपटकर आपका स्पर्श करे। संसारमें पुत्रके स्पर्शसे बढ़कर सुखदायक स्पर्श और किसीका नहीं है ।। ५८ ।।

त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु प्रजाताहमरिंदम ।
इमं कुमारं राजेन्द्र तव शोकविनाशनम् ।। ५९ ।।
आहर्ता वाजिमेधस्य शतसंख्यस्य पौरव ।
इति वागन्तरिक्षे मां सूतकेऽभ्यवदत् पुरा ।। ६० ।।

'शत्रुओंका दमन करनेवाले सम्राट्! मैंने पूरे तीन वर्षोंतक अपने गर्भमें धारण करनेके पश्चात् आपके इस पुत्रको जन्म दिया है। यह आपके शोकका विनाश करनेवाला होगा। पौरव! पहले जब मैं सौरमें थी, उस समय आकाशवाणीने मुझसे कहा था कि यह बालक सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला होगा ।। ५९-६० ।।

ननु नामाङ्कमारोप्य स्नेहाद् ग्रामान्तरं गताः ।
मूर्ध्नि पुत्रानुपाघ्राय प्रतिनन्दन्ति मानवाः ।। ६१ ।।

'प्रायः देखा जाता है कि दूसरे गाँवकी यात्रा करके लौटे हुए मनुष्य घर आनेपर बड़े स्नेहसे पुत्रोंको गोदमें उठा लेते हैं और उनके मस्तक सूँघकर आनन्दित होते हैं ।। ६१ ।।

वेदेष्वपि वदन्तीमें मन्त्रग्रामं द्विजातयः ।
जातकर्मणि पुत्राणां तवापि विदितं तथा ।। ६२ ।।

'पुत्रोंके जातकर्म संस्कारके समय वेदज्ञ ब्राह्मण जिस वैदिक मन्त्रसमुदायका उच्चारण करते हैं, उसे आप भी जानते हैं ।। ६२ ।।

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ।। ६३ ।।

'(उस मन्त्रसमुदायका भाव इस प्रकार है—) हे बालक! तुम मेरे अंग-अंगसे प्रकट हुए हो; हृदयसे उत्पन्न हुए हो। तुम पुत्र नामसे प्रसिद्ध मेरे आत्मा ही हो, अतः वत्स! तुम सौ वर्षोंतक जीवित रहो ।। ६३ ।।

जीवितं त्वदधीनं मे संतानमपि चाक्षयम् ।

तस्मात् त्वं जीव मे पुत्र सुसुखी शरदां शतम् ।। ६४ ।।

'मेरा जीवन तथा अक्षय संतान-परम्परा भी तुम्हारे ही अधीन है, अतः पुत्र! तुम अत्यन्त सुखी होकर सौ वर्षोंतक जीवन धारण करो ।। ६४ ।।

त्वदङ्गेभ्यः प्रसूतोऽयं पुरुषात् पुरुषोऽपरः ।
सरसीवामलेऽऽत्मानं द्वितीयं पश्य वै सुतम् ।। ६५ ।।

'यह बालक आपके अंगोंसे उत्पन्न हुआ है; मानो एक पुरुषसे दूसरा पुरुष प्रकट हुआ है। निर्मल सरोवरमें दिखायी देनेवाले प्रतिबिम्बकी भाँति अपने द्वितीय आत्मारूप इस पुत्रको देखिये ।। ६५ ।।

यथा ह्याहवनीयोऽग्निर्गार्हपत्यात् प्रणीयते ।
तथा त्वत्तः प्रसूतोऽयं त्वमेकः सन् द्विधा कृतः ।। ६६ ।।
मृगावकृष्टेन पुरा मृगयां परिधावता ।
अहमासादिता राजन् कुमारी पितुराश्रमे ।। ६७ ।।

'जैसे गार्हपत्य अग्निसे आहवनीय अग्निका प्रणयन (प्राकट्य) होता है, उसी प्रकार यह बालक आपसे उत्पन्न हुआ है, मानो आप एक होकर भी अब दो रूपोंमें प्रकट हो गये हैं। राजन्! आजसे कुछ वर्ष पहले आप शिकार खेलने वनमें गये थे। वहाँ एक हिंसक पशुके पीछे आकृष्ट हो आप दौड़ते हुए मेरे पिताजीके आश्रमपर पहुँच गये, जहाँ मुझ कुमारी कन्याको आपने गान्धर्व विवाहद्वारा पत्नीरूपमें प्राप्त किया ।। ६६-६७ ।।

उर्वशी पूर्वचित्तिश्च सहजन्या च मेनका ।
विश्वाची च घृताची च षडेवाप्सरसां वराः ।। ६८ ।।

'उर्वशी, पूर्वचित्ति, सहजन्या, मेनका, विश्वाची और घृताची—ये छः अप्सराएँ ही अन्य सब अप्सराओंसे श्रेष्ठ हैं ।। ६८ ।।

तासां सा मेनका नाम ब्रह्मयोनिर्वराप्सराः ।
दिवः सम्प्राप्य जगतीं विश्वामित्रादजीजनत् ।। ६९ ।।

'उन सबमें भी मेनका नामवाली अप्सरा श्रेष्ठ है, क्योंकि वह साक्षात् ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुई है। उसीने स्वर्गलोकसे भूतलपर आकर विश्वामित्रजीके सम्पर्कसे मुझे उत्पन्न किया था ।। ६९ ।।

(श्रीमानृषिर्धर्मपरो वैश्वानर इवापरः ।
ब्रह्मयोनिः कुशो नाम विश्वामित्रपितामहः ।।
कुशस्य पुत्रो बलवान् कुशनाभश्च धार्मिकः ।
गाधिस्तस्य सुतो राजन् विश्वामित्रस्तु गाधिजः ।।
एवंविधः पिता राजन् मेनका जननी वरा ।।)

'महाराज! पूर्वकालमें कुश नामसे प्रसिद्ध एक धर्मपरायण तेजस्वी महर्षि हो गये हैं, जो दूसरे अग्निदेवके समान प्रतापी थे। उनकी उत्पत्ति ब्रह्माजीसे हुई थी। वे महर्षि

विश्वामित्रके प्रपितामह थे। कुशके बलवान् पुत्रका नाम कुशनाभ था। वे बड़े धर्मात्मा थे। राजन्! कुशनाभके पुत्र गाधि हुए और गाधिसे विश्वामित्रका जन्म हुआ। ऐसे कुलीन महर्षि मेरे पिता हैं और मेनका मेरी श्रेष्ठ माता है।

सा मां हिमवतः प्रस्थे सुषुवे मेनकाप्सराः ।
अवकीर्य च मां याता परात्मजमिवासती ।। ७० ।।

‘उस मेनका अप्सराने हिमालयके शिखरपर मुझे जन्म दिया; किंतु वह असद् व्यवहार करनेवाली अप्सरा मुझे परायी संतानकी तरह वहीं छोड़कर चली गयी ।। ७० ।।

(पक्षिणः पुण्यवन्तस्ते सहिता धर्मतस्तदा ।
पक्षैस्तैरभिगुप्ता च तस्मादस्मि शकुन्तला ।।
ततोऽहमृषिणा दृष्टा काश्यपेन महात्मना ।
जलार्थमग्निहोत्रस्य गतं दृष्ट्वा तु पक्षिणः ।।
न्यासभूतामिव मुनेः प्रददुर्मां दयावतः ।
स मारणिमिवादाय स्वमाश्रममुपागमत् ।।
सा वै सम्भाविता राजन्ननुक्रोशान्महर्षिणा ।
तेनैव स्वसुतेवाहं राजन् वै परमर्षिणा ।।
विश्वामित्रसुता चाहं वर्धिता मुनिना नृप ।
यौवने वर्तमानां च दृष्टवानसि मां नृप ।।
आश्रमे पर्णशालायां कुमारीं विजने वने ।
धात्रा प्रचोदितां शून्ये पित्रा विरहितां मिथः ।।
वाग्भिस्त्वं सूनृताभिर्मामपत्यार्थमचूचुदः ।
अकार्षीस्त्वाश्रमे वासं धर्मकामार्थनिश्चितम् ।।
गान्धर्वेण विवाहेन विधिना पाणिमग्रहीः ।
साहं कुलं च शीलं च सत्यवादित्वमात्मनः ।।
स्वधर्मं च पुरस्कृत्य त्वामद्य शरणं गता ।
तस्मान्नार्हसि संश्रुत्य तथेति वितथं वचः ।।
स्वधर्मं पृष्ठतः कृत्वा परित्यक्तुमुपस्थिताम् ।
त्वन्नाथां लोकनाथस्त्वं नार्हसि त्वमनागसम् ।।)

‘वे पक्षी भी पुण्यवान् हैं, जिन्होंने एक साथ आकर उस समय धर्मपूर्वक अपने पंखोंसे मेरी रक्षा की। शकुन्तों (पक्षियों)-ने मेरी रक्षा की, इसलिये मेरा नाम शकुन्तला हो गया। तदनन्तर महात्मा कश्यपनन्दन कण्वकी दृष्टि मुझपर पड़ी। वे अग्निहोत्रके लिये जल लानेके हेतु उधर गये हुए थे। उन्हें देखकर पक्षियोंने उन दयालु महर्षिको मुझे धरोहरकी भाँति सौंप दिया। वे मुझे अरणी (शमी)-की भाँति लेकर अपने आश्रमपर आये। राजन्! महर्षिने कृपापूर्वक अपनी पुत्रीके समान मेरा पालन-पोषण किया। नरेश्वर! इस प्रकार मैं

विश्वामित्र मुनिकी पुत्री हूँ और महात्मा कण्वने मुझे पाल-पोसकर बड़ी किया है। आपने युवावस्थामें मुझे देखा था। निर्जन वनमें आश्रमकी पर्णकुटीके भीतर सूने स्थानमें, जबकि मेरे पिता उपस्थित नहीं थे, विधाताकी प्रेरणासे प्रभावित मुझ कुमारी कन्याको आपने अपने मीठे वचनोंद्वारा संतानोत्पादनके निमित्त सहवासके लिये प्रेरित किया। धर्म, अर्थ एवं कामकी ओर दृष्टि रखकर मेरे साथ आश्रममें निवास किया। गान्धर्व विवाहकी विधिसे आपने मेरा पाणिग्रहण किया है। वही मैं आज अपने कुल, शील, सत्यवादिता और धर्मको आगे रखकर आपकी शरणमें आयी हूँ। इसलिये पूर्वकालमें वैसी प्रतिज्ञा करके अब उसे असत्य न कीजिये। आप जगत्के रक्षक हैं, मेरे प्राणनाथ हैं। मैं सर्वथा निरपराध हूँ और स्वयं आपकी सेवामें उपस्थित हूँ, अतः अपने धर्मको पीछे करके मेरा परित्याग न कीजिये।

किं नु कर्माशुभं पूर्वं कृतवत्यन्यजन्मनि ।
यदहं बान्धवैस्त्यक्ता बाल्ये सम्प्रति च त्वया ।। ७१ ।।

'मैंने पूर्व जन्मान्तरोंमें कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिससे बाल्यावस्थामें तो मेरे बान्धवोंने मुझे त्याग दिया और इस समय आप पतिदेवताके द्वारा भी मैं त्याग दी गयी ।। ७१ ।।

कामं त्वया परित्यक्ता गमिष्यामि स्वमाश्रमम् ।
इमं तु बालं संत्यक्तुं नार्हस्यात्मजमात्मनः ।। ७२ ।।

'महाराज! आपके द्वारा स्वेच्छासे त्याग दी जानेपर मैं पुनः अपने आश्रमको लौट जाऊँगी, किंतु अपने इस नन्हे-से पुत्रका त्याग आपको नहीं करना चाहिये' ।। ७२ ।।

दुष्यन्त उवाच

न पुत्रमभिजानामि त्वयि जातं शकुन्तले ।
असत्यवचना नार्यः कस्ते श्रद्धास्यते वचः ।। ७३ ।।
मेनका निरनुक्रोशा बन्धकी जननी तव ।
यया हिमवतः पृष्ठे निर्माल्यमिव चोज्झिता ।। ७४ ।।

दुष्यन्त बोले—शकुन्तले! मैं तुम्हारे गर्भसे उत्पन्न इस पुत्रको नहीं जानता। स्त्रियाँ प्रायः झूठ बोलनेवाली होती हैं। तुम्हारी बातपर कौन श्रद्धा करेगा? तुम्हारी माता वेश्या मेनका बड़ी क्रूरहृदया है, जिसने तुम्हें हिमालयके शिखरपर निर्माल्यकी तरह उतार फेंका है ।। ७३-७४ ।।

स चापि निरनुक्रोशः क्षत्रयोनिः पिता तव ।
विश्वामित्रो ब्राह्मणत्वे लुब्धः कामवशं गतः ।। ७५ ।।

और तुम्हारे क्षत्रियजातीय पिता विश्वामित्र भी, जो ब्राह्मण बननेके लिये लालायित थे और मेनकाको देखते ही कामके अधीन हो गये थे, बड़े निर्दयी जान पड़ते हैं ।। ७५ ।।

मेनकाप्सरसां श्रेष्ठा महर्षीणां पिता च ते ।

तयोरपत्यं कस्मात् त्वं पुंश्चलीव प्रभाषसे ।। ७६ ।।

मेनका अप्सराओंमें श्रेष्ठ बतायी जाती है और तुम्हारे पिता विश्वामित्र भी महर्षियोंमें उत्तम समझे जाते हैं। तुम उन्हीं दोनोंकी संतान होकर व्यभिचारिणी स्त्रीके समान क्यों झूठी बातें बना रही हो ।। ७६ ।।

अश्रद्धेयमिदं वाक्यं कथयन्ती न लज्जसे ।
विशेषतो मत्सकाशे दुष्टतापसि गम्यताम् ।। ७७ ।।

तुम्हारी यह बात श्रद्धा करनेके योग्य नहीं है। इसे कहते समय तुम्हें लज्जा नहीं आती? विशेषतः मेरे समीप ऐसी बातें कहनेमें तुम्हें संकोच होना चाहिये। दुष्ट तपस्विनि! तुम चली जाओ यहाँसे ।। ७७ ।।

क्व महर्षिः स चैवाग्र्यः साप्सराः क्व च मेनका ।
क्व च त्वमेवं कृपणा तापसीवेषधारिणी ।। ७८ ।।

कहाँ वे मुनिशिरोमणि महर्षि विश्वामित्र, कहाँ अप्सराओंमें श्रेष्ठ मेनका और कहाँ तुम-जैसी तापसीका वेष धारण करनेवाली दीन-हीन नारी? ।। ७८ ।।

अतिकायश्च ते पुत्रो बालोऽतिबलवानयम् ।
कथमल्पेन कालेन शालस्तम्भ इवोद्गतः ।। ७९ ।।

तुम्हारे इस पुत्रका शरीर बहुत बड़ा है। बाल्यावस्थामें ही यह अत्यन्त बलवान् जान पड़ता है। इतने थोड़े समयमें यह साखूके खंभे-जैसा लम्बा कैसे हो गया? ।। ७९ ।।

सुनिकृष्टा च ते योनिः पुंश्चलीव प्रभाषसे ।
यदृच्छया कामरागाज्जाता मेनकया ह्यसि ।। ८० ।।

तुम्हारी जाति नीच है। तुम कुलटा-जैसी बातें करती हो। जान पड़ता है, मेनकाने अकस्मात् भोगासक्तिके वशीभूत होकर तुम्हें जन्म दिया है ।। ८० ।।

सर्वमेतत् परोक्षं मे यत् त्वं वदसि तापसि ।
नाहं त्वामभिजानामि यथेष्टं गम्यतां त्वया ।। ८१ ।।

तुम जो कुछ कहती हो, वह सब मेरी आँखोंके सामने नहीं हुआ है। तापसी! मैं तुम्हें नहीं पहचानता। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहीं चली जाओ ।। ८१ ।।

शकुन्तलोवाच

राजन् सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि ।। ८२ ।।

शकुन्तलाने कहा—राजन्! आप दूसरोंके सरसों बराबर दोषोंको तो देखते रहते हैं, किंतु अपने बेलके समान बड़े-बड़े दोषोंको देखकर भी नहीं देखते ।। ८२ ।।

मेनका त्रिदशेष्वेव त्रिदशाश्चानु मेनकाम् ।
ममैवोद्रिच्यते जन्म दुष्यन्त तव जन्मनः ।। ८३ ।।

मेनका देवताओंमें रहती है और देवता मेनकाके पीछे चलते हैं—उसका आदर करते हैं (उसी मेनकासे मेरा जन्म हुआ है); अतः महाराज दुष्यन्त! आपके जन्म और कुलसे मेरा जन्म और कुल बढ़कर है ।। ८३ ।।

क्षितावटसि राजेन्द्र अन्तरिक्षे चराम्यहम् ।
आवयोरन्तरं पश्य मेरुसर्षपयोरिव ।। ८४ ।।

राजेन्द्र! आप केवल पृथ्वीपर घूमते हैं, किंतु मैं आकाशमें भी चल सकती हूँ। तनिक ध्यानसे देखिये, मुझमें और आपमें सुमेरु पर्वत और सरसोंका-सा अन्तर है ।। ८४ ।।

महेन्द्रस्य कुबेरस्य यमस्य वरुणस्य च ।
भवनान्यनुसंयामि प्रभावं पश्य मे नृप ।। ८५ ।।

नरेश्वर! मेरे प्रभावको देख लो। मैं इन्द्र, कुबेर, यम और वरुण—सभीके लोकोंमें निरन्तर आने-जानेकी शक्ति रखती हूँ ।। ८५ ।।

सत्यश्चापि प्रवादोऽयं यं प्रवक्ष्यामि तेऽनघ ।
निदर्शनार्थं न द्वेषाच्छ्रुत्वा तं क्षन्तुमर्हसि ।। ८६ ।।

अनघ! लोकमें एक कहावत प्रसिद्ध है और वह सत्य भी है, जिसे मैं दृष्टान्तके तौरपर आपसे कहूँगी; द्वेषके कारण नहीं। अतः उसे सुनकर क्षमा कीजियेगा ।। ८६ ।।

विरूपो यावदादर्शे नात्मनः पश्यते मुखम् ।
मन्यते तावदात्मानमन्येभ्यो रूपवत्तरम् ।। ८७ ।।

कुरूप मनुष्य जबतक आइनेमें अपना मुँह नहीं देख लेता, तबतक वह अपनेको दूसरोंसे अधिक रूपवान् समझता है ।। ८७ ।।

यदा स्वमुखमादर्शे विकृतं सोऽभिवीक्षते ।
तदान्तरं विजानीते आत्मानं चेतरं जनम् ।। ८८ ।।

किंतु जब कभी आइनेमें वह अपने विकृत मुखका दर्शन कर लेता है, तब अपने और दूसरोंमें क्या अन्तर है, यह उसकी समझमें आ जाता है ।। ८८ ।।

अतीवरूपसम्पन्नो न कंचिदवमन्यते ।
अतीव जल्पन् दुर्वाचो भवतीह विहेठकः ।। ८९ ।।

जो अत्यन्त रूपवान् है, वह किसी दूसरेका अपमान नहीं करता; परंतु जो रूपवान् न होकर भी अपने रूपकी प्रशंसामें अधिक बातें बनाता है, वह मुखसे खोटे वचन कहता और दूसरोंको पीड़ित करता है ।। ८९ ।।

मूर्खो हि जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
अशुभं वाक्यमादत्ते पुरीषमिव सूकरः ।। ९० ।।

मूर्ख मनुष्य परस्पर वार्तालाप करनेवाले दूसरे लोगोंकी भली-बुरी बातें सुनकर उनमेंसे बुरी बातोंको ही ग्रहण करता है; ठीक वैसे ही, जैसे सूअर अन्य वस्तुओंके रहते हुए भी विष्ठाको ही अपना भोजन बनाता है ।। ९० ।।

प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
गुणवद् वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः ।। ९१ ।।

परंतु विद्वान् पुरुष दूसरे वक्ताओंके शुभाशुभ वचनको सुनकर उनमेंसे गुणयुक्त बातोंको ही अपनाता है, ठीक उसी तरह, जैसे हंस पानीको छोड़कर केवल दूध ग्रहण कर लेता है ।। ९१ ।।

अन्यान् परिवदन् साधुर्यथा हि परितप्यते ।
तथा परिवदन्नन्यांस्तुष्टो भवति दुर्जनः ।। ९२ ।।

साधु पुरुष दूसरोंकी निन्दाका अवसर आनेपर जैसे अत्यन्त संतप्त हो उठता है, ठीक उसी प्रकार दुष्ट मनुष्य दूसरोंकी निन्दाका अवसर मिलनेपर बहुत संतुष्ट होता है ।। ९२ ।।

अभिवाद्य यथा वृद्धान् सन्तो गच्छन्ति निर्वृतिम् ।
एवं सज्जनमाक्रुश्य मूर्खो भवति निर्वृतः ।। ९३ ।।
सुखं जीवन्त्यदोषज्ञा मूर्खा दोषानुदर्शिनः ।
यत्र वाच्याः परैः सन्तः परानाहुस्तथाविधान् ।। ९४ ।।

जैसे साधु पुरुष बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम करके बड़े प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मूर्ख मानव साधु पुरुषोंकी निन्दा करके संतोषका अनुभव करते हैं। साधु पुरुष दूसरोंके दोष न देखते हुए सुखसे जीवन बिताते हैं, किंतु मूर्ख मनुष्य सदा दूसरोंके दोष ही देखा करते हैं। जिन दोषोंके कारण दुष्टात्मा मनुष्य साधु पुरुषोंद्वारा निन्दाके योग्य समझे जाते हैं, दुष्टलोग वैसे ही दोषोंका साधु पुरुषोंपर आरोप करके उनकी निन्दा करते हैं ।। ९३-९४ ।।

अतो हास्यतरं लोके किंचिदन्यन्न विद्यते ।
यत्र दुर्जनमित्याह दुर्जनः सज्जनं स्वयम् ।। ९५ ।।

संसारमें इससे बढ़कर हँसीकी दूसरी कोई बात नहीं हो सकती कि जो दुर्जन हैं, वे स्वयं ही सज्जन पुरुषोंको दुर्जन कहते हैं ।। ९५ ।।

सत्यधर्मच्युतात् पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव ।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जनः किं पुनरास्तिकः ।। ९६ ।।

जो सत्यरूपी धर्मसे भ्रष्ट है, वह पुरुष क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान भयंकर है। उससे नास्तिक भी भय खाता है; फिर आस्तिक मनुष्यके लिये तो कहना ही क्या है ।। ९६ ।।

स्वयमुत्पाद्य वै पुत्रं सदृशं यो न मन्यते ।
तस्य देवाः श्रियं घ्नन्ति न च लोकानुपाश्नते ।। ९७ ।।

जो स्वयं ही अपने तुल्य पुत्र उत्पन्न करके उसका सम्मान नहीं करता, उसकी सम्पत्तिको देवता नष्ट कर देते हैं और वह उत्तम लोकोंमें नहीं जाता ।। ९७ ।।

कुलवंशप्रतिष्ठां हि पितरः पुत्रमब्रुवन् ।
उत्तमं सर्वधर्माणां तस्मात् पुत्रं न संत्यजेत् ।। ९८ ।।

पितरोंने पुत्रको कुल और वंशकी प्रतिष्ठा बताया है, अतः पुत्र सब धर्मोंमें उत्तम है। इसलिये पुत्रका त्याग नहीं करना चाहिये ।। ९८ ।।

स्वपत्नीप्रभवान् पञ्च लब्धान् क्रीतान् विवर्धितान् ।
कृतानन्यासु चोत्पन्नान् पुत्रान् वै मनुरब्रवीत् ।। ९९ ।।

अपनी पत्नीसे उत्पन्न एक और अन्य स्त्रियोंसे उत्पन्न लब्ध, क्रीत, पोषित तथा उपनयनादिसे संस्कृत—ये चार मिलाकर कुल पाँच प्रकारके पुत्र मनुजीने बताये हैं ।। ९९ ।।

धर्मकीर्त्यावहा नृणां मनसः प्रीतिवर्धनाः ।
त्रायन्ते नरकाज्जाताः पुत्रा धर्मप्लवाः पितॄन् ।। १०० ।।

ये सभी पुत्र मनुष्योंको धर्म और कीर्तिकी प्राप्ति करानेवाले तथा मनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले होते हैं। पुत्र धर्मरूपी नौकाका आश्रय ले अपने पितरोंका नरकसे उद्धार कर देते हैं ।। १०० ।।

स त्वं नृपतिशार्दूल पुत्रं न त्यक्तुमर्हसि ।
आत्मानं सत्यधर्मौ च पालयन् पृथिवीपते ।
नरेन्द्रसिंह कपटं न वोढुं त्वमिहार्हसि ।। १०१ ।।

अतः नृपश्रेष्ठ! आप अपने पुत्रका परित्याग न करें। पृथ्वीपते! नरेन्द्रप्रवर! आप अपने आत्मा, सत्य और धर्मका पालन करते हुए अपने सिरपर कपटका बोझ न उठावें ।। १०१ ।।

वरं कूपशताद् वापी वरं वापीशतात् क्रतुः ।
वरं क्रतुशतात् पुत्रः सत्यं पुत्रशताद् वरम् ।। १०२ ।।

सौ कुएँ खोदवानेकी अपेक्षा एक बावड़ी बनवाना उत्तम है। सौ बावड़ियोंकी अपेक्षा एक यज्ञ कर लेना उत्तम है। सौ यज्ञ करनेकी अपेक्षा एक पुत्रको जन्म देना उत्तम है और सौ पुत्रोंकी अपेक्षा भी सत्यका पालन श्रेष्ठ है ।। १०२ ।।

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ।। १०३ ।।

एक हजार अश्वमेध यज्ञ एक ओर तथा सत्यभाषणका पुण्य दूसरी ओर यदि तराजूपर रखा जाय, तो हजार अश्वमेध यज्ञोंकी अपेक्षा सत्यका पलड़ा ही भारी होता है ।। १०३ ।।

सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यं च वचनं राजन् समं वा स्यान्न वा समम् ।। १०४ ।।

राजन्! सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन और समस्त तीर्थोंका स्नान भी सत्य वचनकी समानता कर सकेगा या नहीं, इसमें संदेह ही है (क्योंकि सत्य उनसे भी श्रेष्ठ है) ।। १०४ ।।

नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद् विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते ।। १०५ ।।

सत्यके समान कोई धर्म नहीं है। सत्यसे उत्तम कुछ भी नहीं है और झूठसे बढ़कर तीव्रतर पाप इस जगत्‌में दूसरा कोई नहीं है ।। १०५ ।।

राजन् सत्यं परं ब्रह्म सत्यं च समयः परः ।
मा त्याक्षीः समयं राजन् सत्यं संगतमस्तु ते ।। १०६ ।।

राजन्! सत्य परब्रह्म परमात्माका स्वरूप है। सत्य सबसे बड़ा नियम है। अतः महाराज! आप अपनी सत्य प्रतिज्ञाको न छोड़िये। सत्य आपका जीवनसंगी हो ।। १०६ ।।

अनृते चेत् प्रसङ्गस्ते श्रद्दधासि न चेत् स्वयम् ।
आत्मना हन्त गच्छामि त्वादृशे नास्ति संगतम् ।। १०७ ।।

यदि आपकी झूठमें ही आसक्ति है और मेरी बातपर श्रद्धा नहीं करते हैं तो मैं स्वयं ही चली जाती हूँ। आप-जैसेके साथ रहना मुझे उचित नहीं है ।। १०७ ।।

(पुत्रत्वे शङ्कमानस्य बुद्धिर्ज्ञापकदीपना ।
गतिः स्वरः स्मृतिः सत्त्वं शीलविज्ञानविक्रमाः ।।
धृष्णुप्रकृतिभावौ च आवर्ता रोमराजयः ।
समा यस्य यतः स्युस्ते तस्य पुत्रो न संशयः ।।
सादृश्येनोद्धृतं बिम्बं तव देहाद् विशाम्पते ।
तातेति भाषमाणं वै मा स्म राजन् वृथा कृथाः ।।)

यह मेरा पुत्र है या नहीं, ऐसा संदेह होनेपर बुद्धि ही इसका निर्णय करनेवाली अथवा इस रहस्यपर प्रकाश डालनेवाली है। चाल-ढाल, स्वर, स्मरणशक्ति, उत्साह, शील-स्वभाव, विज्ञान, पराक्रम, साहस, प्रकृतिभाव, आवर्त (भँवर) तथा रोमावली—जिसकी ये सब वस्तुएँ जिससे सर्वथा मिलती-जुलती हों, वह उसीका पुत्र है, इसमें संशय नहीं है। राजन्! आपके शरीरसे पूर्ण समानता लेकर यह बिम्बकी भाँति प्रकट हुआ है और आपको 'तात' कहकर पुकार रहा है। आप इसकी आशा न तोड़ें।

त्वामृतेऽपि हि दुष्यन्त शैलराजावतंसकाम् ।
चतुरन्तामिमामुर्वीं पुत्रो मे पालयिष्यति ।। १०८ ।।

महाराज दुष्यन्त! मैं एक बात कहे देती हूँ, आपके सहयोगके बिना भी मेरा यह पुत्र चारों समुद्रोंसे घिरी हुई गिरिराज हिमालयरूपी मुकुटसे सुशोभित समूची पृथ्वीका शासन करेगा ।। १०८ ।।

(शकुन्तले तव सुतश्चक्रवर्ती भविष्यति ।
एवमुक्तो महेन्द्रेण भविष्यति न चान्यथा ।।
साक्षित्वे बहवोऽप्युक्ता देवदूतादयो मताः ।
न ब्रुवन्ति यथा सत्यमुताहोऽप्यनृतं किल ।।
असाक्षिणी मन्दभाग्या गमिष्यामि यथाऽऽगतम् ।)

देवराज इन्द्रका वचन है—‘शकुन्तले! तुम्हारा पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा।’ यह कभी मिथ्या नहीं हो सकता। यद्यपि देवदूत आदि बहुत-से साक्षी बताये गये हैं, तथापि इस समय वे क्या सत्य है और क्या असत्य—इसके विषयमें कुछ नहीं कह रहे हैं। अतः साक्षीके अभावमें यह भाग्यहीन शकुन्तला जैसे आयी है, वैसे ही लौट जायगी।

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा राजानं प्रातिष्ठत शकुन्तला ।
अथान्तरिक्षाद् दुष्यन्तं वागुवाचाशरीरिणी ।। १०९ ।।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मन्त्रिभिश्च वृतं तदा ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा दुष्यन्तसे इतनी बातें कहकर शकुन्तला वहाँसे चलनेको उद्यत हुई। इतनेमें ही ऋत्विज्, पुरोहित, आचार्य और मन्त्रियोंसे घिरे हुए दुष्यन्तको सम्बोधित करते हुए आकाशवाणी हुई ।। १०९½ ।।

भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ।। ११० ।।
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ।
(सर्वेभ्यो ह्यङ्गमङ्गेभ्यः साक्षादुत्पद्यते सुतः ।
आत्मा चैष सुतो नाम तथैव तव पौरव ।।
आहितं ह्यात्मनाऽऽत्मानं परिरक्ष इमं सुतम् ।
अनन्यां स्वां प्रतीक्षस्व मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ।।
स्त्रियः पवित्रमतुलमेतद् दुष्यन्त धर्मतः ।
मासि मासि रजो ह्यासां दुष्कृतान्यपकर्षति ।।)
रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात् ।। १११ ।।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ।
जाया जनयते पुत्रमात्मनोऽङ्गं द्विधा कृतम् ।। ११२ ।।

‘दुष्यन्त! माता तो केवल भाथी (धौंकनी)-के समान है। पुत्र पिताका ही होता है; क्योंकि जो जिसके द्वारा उत्पन्न होता है, वह उसीका स्वरूप है—इस न्यायसे पिता ही पुत्ररूपमें उत्पन्न होता है, अतः दुष्यन्त! तुम पुत्रका पालन करो। शकुन्तलाका अनादर मत करो। पौरव! पुत्र साक्षात् अपना ही शरीर है। वह पिताके सम्पूर्ण अंगोंसे उत्पन्न होता है। वास्तवमें वह पुत्र नामसे प्रसिद्ध अपना आत्मा ही है। ऐसा ही यह तुम्हारा पुत्र भी है। अपने द्वारा ही गर्भमें स्थापित किये हुए आत्मस्वरूप इस पुत्रकी तुम रक्षा करो। शकुन्तला तुम्हारे प्रति अनन्य अनुराग रखनेवाली धर्म-पत्नी है। इसे इसी दृष्टिसे देखो! उसका अनादर मत करो। दुष्यन्त! स्त्रियाँ अनुपम पवित्र वस्तु हैं, यह धर्मतः स्वीकार किया गया है। प्रत्येक मासमें इनके जो रजःस्राव होता है, वह इनके सारे दोषोंको दूर कर देता है। नरदेव! वीर्यका आधान करनेवाला पिता ही पुत्र बनता है और वह यमलोकसे अपने पितृगणका उद्धार

करता है। तुमने ही इस गर्भका आधान किया था। शकुन्तला सत्य कहती है। जाया (पत्नी) दो भागोंमें विभक्त हुए पतिके अपने ही शरीरको पुत्ररूपमें उत्पन्न करती है ।। ११०—११२ ।।

तस्माद् भरस्व दुष्यन्त पुत्रं शाकुन्तलं नृप ।
अभूतिरेषा यत् त्यक्त्वा जीवेज्जीवन्तमात्मजम् ।। ११३ ।।

'इसलिये राजा दुष्यन्त! तुम शकुन्तलासे उत्पन्न हुए अपने पुत्रका पालन-पोषण करो। अपने जीवित पुत्रको त्यागकर जीवन धारण करना बड़े दुर्भाग्यकी बात है ।। ११३ ।।

शाकुन्तलं महात्मानं दौष्यन्तिं भर पौरव ।
भर्तव्योऽयं त्वया यस्मादस्माकं वचनादपि ।। ११४ ।।
तस्माद् भवत्वयं नाम्ना भरतो नाम ते सुतः ।

'पौरव! यह महामना बालक शकुन्तला और दुष्यन्त दोनोंका पुत्र है। हम देवताओंके कहनेसे तुम इसका भरण-पोषण करोगे, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र भरतके नामसे विख्यात होगा' ।। ११४½ ।।

(एवमुक्त्वा ततो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
पतिव्रतेति संहृष्टाः पुष्पवृष्टिं ववर्षिरे ।।)
तच्छ्रुत्वा पौरवो राजा व्याहृतं त्रिदिवौकसाम् ।। ११५ ।।
पुरोहितममात्यांश्च सम्प्रहृष्टोऽब्रवीदिदम् ।
शृण्वन्त्वेतद् भवन्तोऽस्य देवदूतस्य भाषितम् ।। ११६ ।।

(वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्!) ऐसा कहकर देवता तथा तपस्वी ऋषि शकुन्तलाको पतिव्रता बतलाते हुए उसपर फूलोंकी वर्षा करने लगे। पूरुवंशी राजा दुष्यन्त देवताओंकी यह बात सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और पुरोहित तथा मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले—'आपलोग इस देवदूतका कथन भलीभाँति सुन लें ।। ११५-११६ ।।

अहं चाप्येवमेवैनं जानामि स्वयमात्मजम् ।
यद्यहं वचनादस्या गृह्णीयामि ममात्मजम् ।। ११७ ।।
भवेद्धि शङ्क्यो लोकस्य नैव शुद्धो भवेदयम् ।

'मैं भी अपने इस पुत्रको इसी रूपमें जानता हूँ। यदि केवल शकुन्तलाके कहनेसे मैं इसे ग्रहण कर लेता, तो सब लोग इसपर संदेह करते और यह बालक विशुद्ध नहीं माना जाता' ।। ११७½ ।।

वैशम्पायन उवाच

तं विशोध्य तदा राजा देवदूतेन भारत ।
हृष्टः प्रमुदितश्चापि प्रतिजग्राह तं सुतम् ।। ११८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! इस प्रकार देवदूतके वचनसे उस बालककी शुद्धता प्रमाणित करके राजा दुष्यन्तने हर्ष और आनन्दमें मग्न हो उस समय अपने उस पुत्रको ग्रहण किया ।। ११८ ।।

ततस्तस्य तदा राजा पितृकर्माणि सर्वशः ।
कारयामास मुदितः प्रीतिमानात्मजस्य ह ।। ११९ ।।

तदनन्तर महाराज दुष्यन्तने पिताको जो-जो कार्य करने चाहिये, वे सब उपनयन आदि संस्कार बड़े आनन्द और प्रेमके साथ अपने उस पुत्रके लिये (शास्त्र और कुलकी मर्यादाके अनुसार) कराये ।। ११९ ।।

मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय सस्नेहं परिषस्वजे ।
सभाज्यमानो विप्रैश्च स्तूयमानश्च वन्दिभिः ।
स मुदं परमां लेभे पुत्रसंस्पर्शजां नृपः ।। १२० ।।

और उसका मस्तक सूँघकर अत्यन्त स्नेहपूर्वक उसे हृदयसे लगा लिया। उस समय ब्राह्मणोंने उन्हें आशीर्वाद दिया और वन्दीजनोंने उनके गुण गाये। महाराजने पुत्र-स्पर्शजनित परम आनन्दका अनुभव किया ।। १२० ।।

तां चैव भार्यां दुष्यन्तः पूजयामास धर्मतः ।
अब्रवीच्चैव तां राजा सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।। १२१ ।।

दुष्यन्तने अपनी पत्नी शकुन्तलाका भी धर्मपूर्वक आदर-सत्कार किया और उसे समझाते हुए कहा— ।। १२१ ।।

कृतो लोकपरोक्षोऽयं सम्बन्धो वै त्वया सह ।
तस्मादेतन्मया देवि त्वच्छुद्ध्यर्थं विचारितम् ।। १२२ ।।

‘देवि! मैंने तुम्हारे साथ जो विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया था, उसे साधारण जनता नहीं जानती थी। अतः तुम्हारी शुद्धिके लिये ही मैंने यह उपाय सोचा था ।। १२२ ।।

(ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव पृथग्विधाः ।
त्वां देवि पूजयिष्यन्ति निर्विशङ्कं पतिव्रताम् ।।)

‘देवि! तुम निःसंदेह पतिव्रता हो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये सभी पृथक्-पृथक् तुम्हारा पूजन (समादर) करेंगे।

मन्यते चैव लोकस्ते स्त्रीभावान्मयि संगतम् ।
पुत्रश्चायं वृतो राज्ये मया तस्माद् विचारितम् ।। १२३ ।।

‘यदि इस प्रकार तुम्हारी शुद्धि न होती तो लोग यही समझते कि तुमने स्त्री-स्वभावके कारण कामवश मुझसे सम्बन्ध स्थापित कर लिया और मैंने भी कामके अधीन होकर ही तुम्हारे पुत्रको राज्यपर बिठानेकी प्रतिज्ञा कर ली। हम दोनोंके धार्मिक सम्बन्धपर किसीका विश्वास नहीं होता; इसीलिये यह उपाय सोचा गया था ।। १२३ ।।

यच्च कोपितयात्यर्थं त्वयोक्तोऽस्म्यप्रियं प्रिये ।

प्रणयिन्या विशालाक्षि तत् क्षान्तं ते मया शुभे ।। १२४ ।।

'प्रिये! विशाललोचने! तुमने भी कुपित होकर जो मेरे लिये अत्यन्त अप्रिय वचन कहे हैं, वे सब मेरे प्रति तुम्हारा अत्यन्त प्रेम होनेके कारण ही कहे गये हैं। अतः शुभे! मैंने वह सब अपराध क्षमा कर दिया है ।। १२४ ।।

(अनृतं वाप्यनिष्टं वा दुरुक्तं वापि दुष्कृतम् ।
त्वयाप्येवं विशालाक्षि क्षन्तव्यं मम दुर्वचः ।।
क्षान्त्या पतिकृते नार्यः पातिव्रत्यं व्रजन्ति ताः ।)

'विशाल नेत्रोंवाली देवि! इसी प्रकार तुम्हें भी मेरे कहे हुए असत्य, अप्रिय, कटु एवं पापपूर्ण दुर्वचनोंके लिये मुझे क्षमा कर देना चाहिये। पतिके लिये क्षमाभाव धारण करनेसे स्त्रियाँ पातिव्रत्य-धर्मको प्राप्त होती हैं'।

तामेवमुक्त्वा राजर्षिर्दुष्यन्तो महिषीं प्रियाम् ।
वासोभिरन्नपानैश्च पूजयामास भारत ।। १२५ ।।

जनमेजय! अपनी प्यारी रानीसे ऐसी बात कहकर राजर्षि दुष्यन्तने अन्न, पान और वस्त्र आदिके द्वारा उसका आदर-सत्कार किया ।। १२५ ।।

(स मातरमुपस्थाय रथन्तर्यामभाषत ।
मम पुत्रो वने जातस्तव शोकप्रणाशनः ।।
ऋणादद्य विमुक्तोऽहमस्मि पौत्रेण ते शुभे ।
विश्वामित्रसुता चेयं कण्वेन च विवर्धिता ।।
स्नुषा तव महाभागे प्रसीदस्व शकुन्तलाम् ।
पुत्रस्य वचनं श्रुत्वा पौत्रं सा परिषस्वजे ।।
पादयोः पतितां तत्र रथन्तर्या शकुन्तलाम् ।
परिष्वज्य च बाहुभ्यां हर्षादश्रूण्यवर्तयत् ।।
उवाच वचनं सत्यं लक्षयँल्लक्षणानि च ।
तव पुत्रो विशालाक्षि चक्रवर्ती भविष्यति ।।
तव भर्ता विशालाक्षि त्रैलोक्यविजयी भवेत् ।
दिव्यान् भोगाननुप्राप्ता भव त्वं वरवर्णिनि ।।
एवमुक्ता रथन्तर्या परं हर्षमवाप सा ।
शकुन्तलां तदा राजा शास्त्रोक्तेनैव कर्मणा ।।
ततोऽग्रमहिषीं कृत्वा सर्वाभरणभूषिताम् ।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सैनिकानां च भूपतिः ।।)

तदनन्तर वे अपनी माता रथन्तर्याके पास जाकर बोले—'माँ! यह मेरा पुत्र है, जो वनमें उत्पन्न हुआ है। यह तुम्हारे शोकका नाश करनेवाला होगा। शुभे! तुम्हारे इस पौत्रको पाकर आज मैं पितृ-ऋणसे मुक्त हो गया। महाभागे! यह तुम्हारी पुत्र-वधू है। महर्षि

विश्वामित्रने इसे जन्म दिया और महात्मा कण्वने पाला है। तुम शकुन्तलापर कृपादृष्टि रखो।’ पुत्रकी यह बात सुनकर राजमाता रथन्तर्याने पौत्रको हृदयसे लगा लिया और अपने चरणोंमें पड़ी हुई शकुन्तलाको दोनों भुजाओंमें भरकर वे हर्षके आँसू बहाने लगीं। साथ ही पौत्रके शुभ लक्षणोंकी ओर संकेत करती हुई बोलीं—‘विशालाक्षि! तेरा पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा। तेरे पतिको तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त हो। सुन्दरि! तुम्हें सदा दिव्य भोग प्राप्त होते रहें।’ यह कहकर राजमाता रथन्तर्या अत्यन्त हर्षसे विभोर हो उठीं। उस समय राजाने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार समस्त आभूषणोंसे विभूषित शकुन्तलाको पटरानीके पदपर अभिषिक्त करके ब्राह्मणों तथा सैनिकोंको बहुत धन अर्पित किया।

दुष्यन्तस्तु तदा राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा ।
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।। १२६ ।।

तदनन्तर महाराज दुष्यन्तने शकुन्तलाकुमारका नाम भरत रखकर उसे युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया ।। १२६ ।।

(भरते भारमावेश्य कृतकृत्योऽभवन्नृपः ।
ततो वर्षशतं पूर्णं राज्यं कृत्वा नराधिपः ।।
कृत्वा दानानि दुष्यन्तः स्वर्गलोकमुपेयिवान् ।)

फिर भरतको राज्यका भार सौंपकर महाराज दुष्यन्त कृतकृत्य हो गये। वे पूरे सौ वर्षोंतक राज्य भोगकर विविध प्रकारके दान दे अन्तमें स्वर्गलोक सिधारे ।

तस्य तत् प्रथितं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः ।
भास्वरं दिव्यमजितं लोकसंनादनं महत् ।। १२७ ।।

महात्मा राजा भरतका विख्यात चक्र* सब ओर घूमने लगा। वह अत्यन्त प्रकाशमान, दिव्य और अजेय था। वह महान् चक्र अपनी भारी आवाजसे सम्पूर्ण जगत्‌को प्रतिध्वनित करता चलता था ।। १२७ ।।

स विजित्य महीपालांश्चकार वशवर्तिनः ।
चचार च सतां धर्मं प्राप चानुत्तमं यशः ।। १२८ ।।

उन्होंने सब राजाओंको जीतकर अपने अधीन कर लिया तथा सत्पुरुषोंके धर्मका पालन और उत्तम यशका उपार्जन किया ।। १२८ ।।

स राजा चक्रवर्त्यासीत् सार्वभौमः प्रतापवान् ।
ईजे च बहुभिर्यज्ञैर्यथा शक्रो मरुत्पतिः ।। १२९ ।।

महाराज भरत समस्त भूमण्डलमें विख्यात, प्रतापी एवं चक्रवर्ती सम्राट् थे। उन्होंने देवराज इन्द्रकी भाँति बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया ।। १२९ ।।

याजयामास तं कण्वो विधिवद् भूरिदक्षिणम् ।
श्रीमान् गोविततं नाम वाजिमेधमवाप सः ।
यस्मिन् सहस्रं पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ ।। १३० ।।

महर्षि कण्वने आचार्य होकर भरतसे प्रचुर दक्षिणाओंसे युक्त ‘गोवितत’ नामक अश्वमेध यज्ञका विधिपूर्वक अनुष्ठान करवाया। श्रीमान् भरतने उस यज्ञका पूरा फल प्राप्त किया। उसमें महाराज भरतने आचार्य कण्वको एक सहस्र पद्म स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणारूपमें दीं ।। १३० ।।

भरताद् भारती कीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम् ।
अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः ।। १३१ ।।

भरतसे ही इस भूखण्डका नाम भारत (अथवा भूमिका नाम भारती) हुआ। उन्हींसे यह कौरववंश भरतवंशके नामसे प्रसिद्ध हुआ। उनके बाद उस कुलमें पहले तथा आज भी जो राजा हो गये हैं, वे भारत (भरतवंशी) कहे जाते हैं ।। १३१ ।।

भरतस्यान्ववाये हि देवकल्पा महौजसः ।
बभूवुर्ब्रह्मकल्पाश्च बहवो राजसत्तमाः ।। १३२ ।।
येषामपरिमेयानि नामधेयानि सर्वशः ।
तेषां तु ते यथामुख्यं कीर्तयिष्यामि भारत ।
महाभागान् देवकल्पान् सत्यार्जवपरायणान् ।। १३३ ।।

भरतके कुलमें देवताओंके समान महापराक्रमी तथा ब्रह्माजीके समान तेजस्वी बहुत-से राजर्षि हो गये हैं; जिनके सम्पूर्ण नामोंकी गणना असम्भव है। जनमेजय! इनमें जो मुख्य हैं, उन्हींके नामोंका तुमसे वर्णन करूँगा। वे सभी महाभाग नरेश देवताओंके समान तेजस्वी तथा सत्य, सरलता आदि धर्मोंमें तत्पर रहनेवाले थे ।। १३२-१३३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने
चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यानविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८९½ श्लोक मिलाकर कुल २२२½ श्लोक हैं)

---

* चक्रके विशेषणोंसे यहाँ यही अनुमान होता है कि भरतके पास सुदर्शन चक्रके समान ही कोई चक्र था।

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

दक्ष, वैवस्वत मनु तथा उनके पुत्रोंकी उत्पत्ति; पुरूरवा, नहुष और ययातिके चरित्रोंका संक्षेपसे वर्णन

वैशम्पायन उवाच

प्रजापतेस्तु दक्षस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ।
भरतस्य कुरोः पूरोराजमीढस्य चानघ ।। १ ।।
यादवानामिमं वंशं कौरवाणां च सर्वशः ।
तथैव भरतानां च पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ।। २ ।।
धन्यं यशस्यमायुष्यं कीर्तयिष्यामि तेऽनघ ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—निष्पाप जनमेजय! अब मैं दक्ष प्रजापति, वैवस्वत मनु, भरत, कुरु, पूरु, अजमीढ, यादव, कौरव तथा भरतवंशियोंकी कुल-परम्पराका तुमसे वर्णन करूँगा। उनका कुल परम पवित्र, महान् मंगलकारी तथा धन, यश और आयुकी प्राप्ति करानेवाला है ।। १-२½ ।।

तेजोभिरुदिताः सर्वे महर्षिसमतेजसः ।। ३ ।।
दश प्राचेतसः पुत्राः सन्तः पुण्यजनाः स्मृताः ।
मुखजेनाग्निना यैस्ते पूर्वं दग्धा महीरुहाः ।। ४ ।।

प्रचेताके दस पुत्र थे, जो अपने तेजके द्वारा सदा प्रकाशित होते थे। वे सब-के-सब महर्षियोंके समान तेजस्वी, सत्पुरुष और पुण्यकर्मा माने गये हैं। उन्होंने पूर्वकालमें अपने मुखसे प्रकट की हुई अग्निद्वारा उन बड़े-बड़े वृक्षोंको जलाकर भस्म कर दिया था (जो प्राणियोंको पीड़ा दे रहे थे) ।। ३-४ ।।

तेभ्यः प्राचेतसो जज्ञे दक्षो दक्षादिमाः प्रजाः ।
सम्भूताः पुरुषव्याघ्र स हि लोकपितामहः ।। ५ ।।

उक्त दस प्रचेताओंद्वारा (मारिषाके गर्भसे) प्राचेतस दक्षका जन्म हुआ तथा दक्षसे ये समस्त प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं। नरश्रेष्ठ! वे सम्पूर्ण जगत्के पितामह हैं ।। ५ ।।

वीरिण्या सह संगम्य दक्षः प्राचेतसो मुनिः ।
आत्मतुल्यानजनयत् सहस्रं संशितव्रतान् ।। ६ ।।

प्राचेतस मुनि दक्षने वीरिणीसे समागम करके अपने ही समान गुण-शीलवाले एक हजार पुत्र उत्पन्न किये। वे सब-के-सब अत्यन्त कठोर व्रतका पालन करनेवाले थे ।। ६ ।।

सहस्रसंख्यान् सम्भूतान् दक्षपुत्रांश्च नारदः ।
मोक्षमध्यापयामास सांख्यज्ञानमनुत्तमम् ।। ७ ।।

एक सहस्रकी संख्यामें प्रकट हुए उन दक्ष-पुत्रोंको देवर्षि नारदजीने मोक्ष-शास्त्रका अध्ययन कराया। परम उत्तम सांख्य-ज्ञानका उपदेश किया ।। ७ ।।

ततः पञ्चाशतं कन्याः पुत्रिका अभिसंदधे ।
प्रजापतिः प्रजा दक्षः सिसृक्षुर्जनमेजय ।। ८ ।।

जनमेजय! जब वे सभी विरक्त होकर घरसे निकल गये, तब प्रजाकी सृष्टि करनेकी इच्छासे प्रजापति दक्षने पुत्रिकाके द्वारा पुत्र (दौहित्र) होनेपर उस पुत्रिकाको ही पुत्र मानकर पचास कन्याएँ उत्पन्न कीं ।। ८ ।।

ददौ दश स धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।
कालस्य नयने युक्ताः सप्तविंशतिमिन्दवे ।। ९ ।।

उन्होंने दस कन्याएँ धर्मको, तेरह कश्यपको और कालका संचालन करनेमें नियुक्त नक्षत्रस्वरूपा सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमाको ब्याह दीं ।। ९ ।।

त्रयोदशानां पत्नीनां या तु दाक्षायणी वरा ।
मारीचः कश्यपस्त्वस्यामादित्यान् समजीजनत् ।। १० ।।
इन्द्रादीन् वीर्यसम्पन्नान् विवस्वन्तमथापि च ।
विवस्वतः सुतो जज्ञे यमो वैवस्वतः प्रभुः ।। ११ ।।

मरीचिनन्दन कश्यपने अपनी तेरह पत्नियोंमेंसे जो सबसे बड़ी दक्ष-कन्या अदिति थीं, उनके गर्भसे इन्द्र आदि बारह आदित्योंको जन्म दिया, जो बड़े पराक्रमी थे। तदनन्तर उन्होंने अदितिसे ही विवस्वान्‌को उत्पन्न किया। विवस्वान्‌के पुत्र यम हुए, जो वैवस्वत कहलाते हैं। वे समस्त प्राणियोंके नियन्ता हैं ।। १०-११ ।।

मार्तण्डस्य मनुर्धीमानजायत सुतः प्रभुः ।
यमश्चापि सुतो जज्ञे ख्यातस्तस्यानुजः प्रभुः ।। १२ ।।

विवस्वान्‌के ही पुत्र परम बुद्धिमान् मनु हुए, जो बड़े प्रभावशाली हैं। मनुके बाद उनसे यम नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई, जो सर्वत्र विख्यात हैं। यमराज मनुके छोटे भाई तथा प्राणियोंका नियमन करनेमें समर्थ हैं ।। १२ ।।

धर्मात्मा स मनुर्धीमान् यत्र वंशः प्रतिष्ठितः ।
मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत् ।। १३ ।।

बुद्धिमान् मनु बड़े धर्मात्मा थे, जिनपर सूर्यवंशकी प्रतिष्ठा हुई। मानवोंसे सम्बन्ध रखनेवाला यह मनुवंश उन्हींसे विख्यात हुआ ।। १३ ।।

ब्रह्मक्षत्रादयस्तस्मान्मनोर्जातास्तु मानवाः ।
ततोऽभवन्महाराज ब्रह्म क्षत्रेण संगतम् ।। १४ ।।

उन्हीं मनुसे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सब मानव उत्पन्न हुए हैं। महाराज! तभीसे ब्राह्मणकुल क्षत्रियसे सम्बद्ध हुआ ।। १४ ।।

ब्राह्मणा मानवास्तेषां साङ्गं वेदमधारयन् ।

वेनं धृष्णुं नरिष्यन्तं नाभागेक्ष्वाकुमेव च ।। १५ ।।
कारूषमथ शर्यातिं तथा चैवाष्टमीमिलाम् ।
पृषध्रं नवमं प्राहुः क्षत्रधर्मपरायणम् ।। १६ ।।
नाभागारिष्टदशमान् मनोः पुत्रान् प्रचक्षते ।
पञ्चाशत् तु मनोः पुत्रास्तथैवान्येऽभवन् क्षितौ ।। १७ ।।

उनमेंसे ब्राह्मणजातीय मानवोंने छहों अंगोंसहित वेदोंको धारण किया। वेन, धृष्णु, नरिष्यन्त, नाभाग, इक्ष्वाकु, कारूष, शर्याति, आठवीं इला, नवें क्षत्रिय-धर्मपरायण पृषध्र तथा दसवें नाभागारिष्ट—इन दसोंको मनुपुत्र कहा जाता है। मनुके इस पृथ्वीपर पचास पुत्र और हुए ।। १५-१७ ।।

अन्योन्यभेदात् ते सर्वे विनेशुरिति नः श्रुतम् ।
पुरूरवास्ततो विद्वानिलायां समपद्यत ।। १८ ।।

परंतु आपसकी फूटके कारण वे सब-के-सब नष्ट हो गये, ऐसा हमने सुना है। तदनन्तर इलाके गर्भसे विद्वान् पुरूरवाका जन्म हुआ ।। १८ ।।

सा वै तस्याभवन्माता पिता चैवेति नः श्रुतम् ।
त्रयोदश समुद्रस्य द्वीपानश्नन् पुरूरवाः ।। १९ ।।

सुना जाता है, इला पुरूरवाकी माता भी थी और पिता भी*। राजा पुरूरवा समुद्रके तेरह द्वीपोंका शासन और उपभोग करते थे ।। १९ ।।

अमानुषैर्वृतः सत्त्वैर्मानुषः सन् महायशाः ।
विप्रैः स विग्रहं चक्रे वीर्योन्मत्तः पुरूरवाः ।। २० ।।
जहार च स विप्राणां रत्नान्युत्क्रोशतामपि ।

महायशस्वी पुरूरवा मनुष्य होकर भी मानवेतर प्राणियोंसे घिरे रहते थे। वे अपने बल-पराक्रमसे उन्मत्त हो ब्राह्मणोंके साथ विवाद करने लगे। बेचारे ब्राह्मण चीखते-चिल्लाते रहते थे तो भी वे उनका सारा धन-रत्न छीन लेते थे ।। २०½ ।।

सनत्कुमारस्तं राजन् ब्रह्मलोकादुपेत्य ह ।। २१ ।।
अनुदर्शं ततश्चक्रे प्रत्यगृह्णान्न चाप्यसौ ।
ततो महर्षिभिः क्रुद्धैः सद्यः शप्तो व्यनश्यत ।। २२ ।।

जनमेजय! ब्रह्मलोकसे सनत्कुमारजीने आकर उन्हें बहुत समझाया और ब्राह्मणोंपर अत्याचार न करनेका उपदेश दिया, किंतु वे उनकी शिक्षा ग्रहण न कर सके। तब क्रोधमें भरे हुए महर्षियोंने तत्काल उन्हें शाप दे दिया, जिससे वे नष्ट हो गये ।। २१-२२ ।।

लोभान्वितो बलमदान्नष्टसंज्ञो नराधिपः ।
स हि गन्धर्वलोकस्थानुर्वश्या सहितो विराट् ।। २३ ।।
आनिनाय क्रियार्थेऽग्नीन् यथावत् विहितांस्त्रिधा ।

षट् सुता जज्ञिरे चैलादायुर्धीमानमावसुः ।। २४ ।।
दृढायुश्च वनायुश्च शतायुश्चोर्वशीसुताः ।
नहुषं वृद्धशर्माणं रजिं गयमनेनसम् ।। २५ ।।
स्वर्भानवीसुतानेतानायोः पुत्रान् प्रचक्षते ।
आयुषो नहुषः पुत्रो धीमान् सत्यपराक्रमः ।। २६ ।।

राजा पुरूरवा लोभसे अभिभूत थे और बलके घमंडमें आकर अपनी विवेक-शक्ति खो बैठे थे। वे शोभाशाली नरेश ही गन्धर्वलोकमें स्थित और विधिपूर्वक स्थापित त्रिविध अग्नियोंको उर्वशीके साथ इस धरातलपर लाये थे। इलानन्दन पुरूरवाके छः पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—आयु, धीमान्, अमावसु, दृढायु, वनायु और शतायु। ये सभी उर्वशीके पुत्र हैं। उनमेंसे आयुके स्वर्भानुकुमारीके गर्भसे उत्पन्न पाँच पुत्र बताये जाते हैं—नहुष, वृद्धशर्मा, रजि, गय तथा अनेना। आयुर्नन्दन नहुष बड़े बुद्धिमान् और सत्य-पराक्रमी थे ।। २३-२६ ।।

राज्यं शशास सुमहद् धर्मेण पृथिवीपते ।
पितॄन् देवानृषीन् विप्रान् गन्धर्वोरगराक्षसान् ।। २७ ।।
नहुषः पालयामास ब्रह्मक्षत्रमथो विशः ।
स हत्वा दस्युसंघातानृषीन् करमदापयत् ।। २८ ।।

पृथ्वीपते! उन्होंने अपने विशाल राज्यका धर्मपूर्वक शासन किया। पितरों, देवताओं, ऋषियों, ब्राह्मणों, गन्धर्वों, नागों, राक्षसों तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका भी पालन किया। राजा नहुषने झुंड-के-झुंड डाकुओं और लुटेरोंका वध करके ऋषियोंको भी कर देनेके लिये विवश किया ।। २७-२८ ।।

पशुवच्चैव तान् पृष्ठे वाहयामास वीर्यवान् ।
कारयामास चेन्द्रत्वमभिभूय दिवौकसः ।। २९ ।।
तेजसा तपसा चैव विक्रमेणौजसा तथा ।
यतिं ययातिं संयातिमायातिमयतिं ध्रुवम् ।। ३० ।।
नहुषो जनयामास षट् सुतान् प्रियवादिनः ।
यतिस्तु योगमास्थाय ब्रह्मभूतोऽभवन्मुनिः ।। ३१ ।।

अपने इन्द्रत्वकालमें पराक्रमी नहुषने महर्षियोंको पशुकी तरह वाहन बनाकर उनकी पीठपर सवारी की थी। उन्होंने तेज, तप, ओज और पराक्रमद्वारा समस्त देवताओंको तिरस्कृत करके इन्द्रपदका उपभोग किया था। राजा नहुषने छः प्रियवादी पुत्रोंको जन्म दिया, जिनके नाम इस प्रकार हैं—यति, ययाति, संयाति, आयाति, अयति और ध्रुव। इनमें यति योगका आश्रय लेकर ब्रह्मभूत मुनि हो गये थे ।। २९—३१ ।।

ययातिर्नाहुषः सम्राडासीत् सत्यपराक्रमः ।
स पालयामास महीमीजे च बहुभिर्मखैः ।। ३२ ।।

तब नहुषके दूसरे पुत्र सत्यपराक्रमी ययाति सम्राट् हुए। उन्होंने इस पृथ्वीका पालन तथा बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया ।। ३२ ।।

अतिभक्त्या पितॄनर्चन् देवांश्च प्रयतः सदा ।
अन्वगृह्णात् प्रजाः सर्वा ययातिरपराजितः ।। ३३ ।।
तस्य पुत्रा महेष्वासाः सर्वैः समुदिता गुणैः ।
देवयान्यां महाराज शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे ।। ३४ ।।

महाराज ययाति किसीसे परास्त होनेवाले नहीं थे। वे सदा मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर बड़े भक्ति-भावसे देवताओं तथा पितरोंका पूजन करते और समस्त प्रजापर अनुग्रह रखते थे। महाराज जनमेजय! राजा ययातिके देवयानी और शर्मिष्ठाके गर्भसे महान् धनुर्धर पुत्र उत्पन्न हुए। वे सभी समस्त सद्गुणोंके भण्डार थे ।। ३३-३४ ।।

देवयान्यामजायेतां यदुस्तुर्वसुरेव च ।
द्रुह्युश्चानुश्च पूरुश्च शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे ।। ३५ ।।

यदु और तुर्वसु—ये दो देवयानीके पुत्र थे और द्रुह्यु, अनु तथा पूरु—ये तीन शर्मिष्ठाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे ।। ३५ ।।

स शाश्वतीः समा राजन् प्रजा धर्मेण पालयन् ।
जरामार्च्छन्महाघोरां नाहुषो रूपनाशिनीम् ।। ३६ ।।

राजन्! वे सर्वदा धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते थे। एक समय नहुषपुत्र ययातिको अत्यन्त भयानक वृद्धावस्था प्राप्त हुई, जो रूप और सौन्दर्यका नाश करनेवाली है ।। ३६ ।।

जराभिभूतः पुत्रान् स राजा वचनमब्रवीत् ।
यदुं पूरुं तुर्वसुं च द्रुह्युं चानुं च भारत ।। ३७ ।।

जनमेजय! वृद्धावस्थासे आक्रान्त होनेपर राजा ययातिने अपने समस्त पुत्रों यदु, पूरु, तुर्वसु, द्रुह्यु तथा अनुसे कहा— ।। ३७ ।।

यौवनेन चरन् कामान् युवा युवतिभिः सह ।
विहर्तुमहमिच्छामि साह्यं कुरुत पुत्रकाः ।। ३८ ।।

'पुत्रो! मैं युवावस्थासे सम्पन्न हो जवानीके द्वारा कामोपभोग करते हुए युवतियोंके साथ विहार करना चाहता हूँ। तुम मेरी सहायता करो' ।। ३८ ।।

तं पुत्रो देवयानेयः पूर्वजो वाक्यमब्रवीत् ।
किं कार्यं भवतः कार्यमस्माकं यौवनेन ते ।। ३९ ।।

यह सुनकर देवयानीके ज्येष्ठ पुत्र यदुने पूछा—'भगवन्! हमारी जवानी लेकर उसके द्वारा आपको कौन-सा कार्य करना है' ।। ३९ ।।

ययातिरब्रवीत् तं वै जरा मे प्रतिगृह्यताम् ।
यौवनेन त्वदीयेन चरेयं विषयानहम् ।। ४० ।।

तब ययातिने उससे कहा—तुम मेरा बुढ़ापा ले लो और मैं तुम्हारी जवानीसे विषयोपभोग करूँगा ।। ४० ।।

यजतो दीर्घसत्रैर्मे शापाच्चोशनसो मुनेः ।
कामार्थः परिहीणोऽयं तप्येयं तेन पुत्रकाः ।। ४१ ।।

'पुत्रो! अबतक तो मैं दीर्घकालीन यज्ञोंके अनुष्ठानमें लगा रहा और अब मुनिवर शुक्राचार्यके शापसे बुढ़ापेने मुझे धर दबाया है, जिससे मेरा कामरूप पुरुषार्थ छिन गया। इसीसे मैं संतप्त हो रहा हूँ ।। ४१ ।।

मामकेन शरीरेण राज्यमेकः प्रशास्तु वः ।
अहं तन्वाभिनवया युवा काममवाप्नुयाम् ।। ४२ ।।

'तुममेंसे कोई एक व्यक्ति मेरा वृद्ध शरीर लेकर उसके द्वारा राज्यशासन करे। मैं नूतन शरीर पाकर युवावस्थासे सम्पन्न हो विषयोंका उपभोग करूँगा' ।। ४२ ।।

ते न तस्य प्रत्यगृह्णन् यदुप्रभृतयो जराम् ।
तमब्रवीत् ततः पूरुः कनीयान् सत्यविक्रमः ।। ४३ ।।
राजंश्चराभिनवया तन्वा यौवनगोचरः ।
अहं जरां समादाय राज्ये स्थास्यामि तेऽऽज्ञया ।। ४४ ।।

राजाके ऐसा कहनेपर भी वे यदु आदि चार पुत्र उनकी वृद्धावस्था न ले सके। तब सबसे छोटे पुत्र सत्यपराक्रमी पूरुने कहा—'राजन्! आप मेरे नूतन शरीरसे नौजवान होकर विषयोंका उपभोग कीजिये। मैं आपकी आज्ञासे बुढ़ापा लेकर राज्यसिंहासनपर बैठूँगा' ।। ४३-४४ ।।

एवमुक्तः स राजर्षिस्तपोवीर्यसमाश्रयात् ।
संचारयामास जरां तदा पुत्रे महात्मनि ।। ४५ ।।

पुरुके ऐसा कहनेपर राजर्षि ययातिने तप और वीर्यके आश्रयसे अपनी वृद्धावस्थाका अपने महात्मा पुत्र पूरुमें संचार कर दिया ।। ४५ ।।

पौरवेणाथ वयसा राजा यौवनमास्थितः ।
यायातेनापि वयसा राज्यं पूरुरकारयत् ।। ४६ ।।

ययाति स्वयं पूरुकी नयी अवस्था लेकर नौजवान बन गये। इधर पूरु भी राजा ययातिकी अवस्था लेकर उसके द्वारा राज्यका पालन करने लगे ।। ४६ ।।

ततो वर्षसहस्राणि ययातिरपराजितः ।
स्थितः स नृपशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमः ।। ४७ ।।

तदनन्तर किसीसे परास्त न होनेवाले और सिंहके समान पराक्रमी नृपश्रेष्ठ ययाति एक सहस्र वर्षतक युवावस्थामें स्थित रहे ।। ४७ ।।

ययातिरपि पत्नीभ्यां दीर्घकालं विहृत्य च ।
विश्वाच्या सहितो रेमे पुनश्चैत्ररथे वने ।। ४८ ।।

उन्होंने अपनी दोनों पत्नियोंके साथ दीर्घकालतक विहार करके चैत्ररथ वनमें जाकर विश्वाची अप्सराके साथ रमण किया ।। ४८ ।।

नाध्यगच्छत् तदा तृप्तिं कामानां स महायशाः ।
अवेत्य मनसा राजन्निमां गाथां तदा जगौ ।। ४९ ।।

परंतु उस समय भी महायशस्वी ययाति काम-भोगसे तृप्त न हो सके। राजन्! उन्होंने मनसे विचारकर यह निश्चय कर लिया कि विषयोंके भोगनेसे भोगेच्छा कभी शान्त नहीं हो सकती। तब राजाने (संसारके हितके लिये) यह गाथा गायी— ।। ४९ ।।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।। ५० ।।

‘विषय-भोगकी इच्छा विषयोंका उपभोग करनेसे कभी शान्त नहीं हो सकती। घीकी आहुति डालनेसे अधिक प्रज्वलित होनेवाली आगकी भाँति वह और भी बढ़ती ही जाती है’ ।। ५० ।।

पृथिवी रत्नसम्पूर्णा हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ।। ५१ ।।

‘रत्नोंसे भरी हुई सारी पृथ्वी, संसारका सारा सुवर्ण, सारे पशु और सुन्दरी स्त्रियाँ किसी एक पुरुषको मिल जायँ, तो भी वे सब-के-सब उसके लिये पर्याप्त नहीं होंगे। वह और भी पाना चाहेगा। ऐसा समझकर शान्ति धारण करे—भोगेच्छाको दबा दे ।। ५१ ।।

यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु कर्हिचित् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।। ५२ ।।

‘जब मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी किसी भी प्राणीके प्रति बुरा भाव नहीं करता, तब वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है’ ।। ५२ ।।

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।। ५३ ।।

‘जब सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि होनेके कारण यह पुरुष किसीसे नहीं डरता और जब उससे भी दूसरे प्राणी नहीं डरते तथा जब वह न तो किसीकी इच्छा करता है और न किसीसे द्वेष ही रखता है, उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है’ ।। ५३ ।।

इत्यवेक्ष्य महाप्राज्ञः कामानां फल्गुतां नृप ।
समाधाय मनो बुद्ध्या प्रत्यगृह्णाज्जरां सुतात् ।। ५४ ।।

जनमेजय! परम बुद्धिमान् महाराज ययातिने इस प्रकार भोगोंकी निःसारताका विचार करके बुद्धिके द्वारा मनको एकाग्र किया और पुत्रसे अपना बुढ़ापा वापस ले लिया ।।

दत्त्वा च यौवनं राजा पूरुं राज्येऽभिषिच्य च ।
अतृप्त एव कामानां पूरुं पुत्रमुवाच ह ।। ५५ ।।

पूरुको उसकी जवानी लौटाकर राजाने उसे राज्यपर अभिषिक्त कर दिया और भोगोंसे अतृप्त रहकर ही अपने पुत्र पूरुसे कहा— ।। ५५ ।।

त्वया दायादवानस्मि त्वं मे वंशकरः सुतः ।
पौरवो वंश इति ते ख्यातिं लोके गमिष्यति ।। ५६ ।।

'बेटा! तुम्हारे-जैसे पुत्रसे ही मैं पुत्रवान् हूँ। तुम्हीं मेरे वंश-प्रवर्तक पुत्र हो। तुम्हारा वंश इस जगत्‌में पौरव वंशके नामसे विख्यात होगा' ।। ५६ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः स नृपशार्दूल पूरुं राज्येऽभिषिच्य च ।
ततः सुचरितं कृत्वा भृगुतुङ्गे महातपाः ।। ५७ ।।
कालेन महता पश्चात् कालधर्ममुपेयिवान् ।
कारयित्वा त्वनशनं सदारः स्वर्गमाप्तवान् ।। ५८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर पूरुका राज्याभिषेक करनेके पश्चात् राजा ययातिने अपनी पत्नियोंके साथ भृगुतुंग पर्वतपर जाकर सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए वहाँ बड़ी भारी तपस्या की। इस प्रकार दीर्घकाल व्यतीत होनेके बाद स्त्रियोंसहित निराहार व्रत करके उन्होंने स्वर्गलोक प्राप्त किया ।। ५७-५८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७५ ।।

---

[*] वास्तवमें इला माता ही थी। जन्मदाता पिता चन्द्रमाके पुत्र बुध थे, परंतु इला जब पुरुषरूपमें परिणत हुई तो उसका नाम सुद्युम्न हुआ। सुद्युम्नने ही पुरूरवाको राज्य दिया था, इसलिये वे पिता भी कहे जाते हैं।

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

कचका शिष्यभावसे शुक्राचार्य और देवयानीकी सेवामें संलग्न होना और अनेक कष्ट सहनेके पश्चात् मृतसंजीवनी विद्या प्राप्त करना

जनमेजय उवाच

ययातिः पूर्वजोऽस्माकं दशमो यः प्रजापतेः ।
कथं स शुक्रतनयां लेभे परमदुर्लभाम् ।। १ ।।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
आनुपूर्व्या च मे शंस राज्ञो वंशकरान् पृथक् ।। २ ।।

जनमेजयने पूछा—तपोधन! हमारे पूर्वज महाराज ययातिने, जो प्रजापतिसे दसवीं पीढ़ीमें उत्पन्न हुए थे, शुक्राचार्यकी अत्यन्त दुर्लभ पुत्री देवयानीको पत्नीरूपमें कैसे प्राप्त किया? मैं इस वृत्तान्तको विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ। आप मुझसे सभी वंश-प्रवर्तक राजाओंका क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन कीजिये ।। १-२ ।।

वैशम्पायन उवाच

ययातिरासीन्नृपतिर्देवराजसमद्युतिः ।
तं शुक्रवृषपर्वाणौ वव्राते वै यथा पुरा ।। ३ ।।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि पृच्छते जनमेजय ।
देवयान्याश्च संयोगं ययातेर्नाहुषस्य च ।। ४ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! राजा ययाति देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी थे। पूर्वकालमें शुक्राचार्य और वृषपर्वाने ययातिका अपनी-अपनी कन्याके पतिके रूपमें जिस प्रकार वरण किया, वह सब प्रसंग तुम्हारे पूछनेपर मैं तुमसे कहूँगा। साथ ही यह भी बताऊँगा कि नहुषनन्दन ययाति तथा देवयानीका संयोग किस प्रकार हुआ ।। ३-४ ।।

सुराणामसुराणां च समजायत वै मिथः ।
ऐश्वर्यं प्रति संघर्षस्त्रैलोक्ये सचराचरे ।। ५ ।।

एक समय चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीके ऐश्वर्यके लिये देवताओं और असुरोंमें परस्पर बड़ा भारी संघर्ष हुआ ।। ५ ।।

जिगीषया ततो देवा वव्रिरेऽऽङ्गिरसं मुनिम् ।
पौरोहित्येन याज्यार्थे काव्यं तूशनसं परे ।। ६ ।।
ब्राह्मणौ तावुभौ नित्यमन्योन्यस्पर्धिनौ भृशम् ।
तत्र देवा निजघ्नुर्यान् दानवान् युधि संगतान् ।। ७ ।।

तान् पुनर्जीवयामास काव्यो विद्याबलाश्रयात् ।
ततस्ते पुनरुत्थाय योधयांचक्रिरे सुरान् ।। ८ ।।

उसमें विजय पानेकी इच्छासे देवताओंने अंगिरा मुनिके पुत्र बृहस्पतिका पुरोहितके पदपर वरण किया और दैत्योंने शुक्राचार्यको पुरोहित बनाया। वे दोनों ब्राह्मण सदा आपसमें बहुत लाग-डाट रखते थे। देवताओंने उस युद्धमें आये हुए जिन दानवोंको मारा था, उन्हें शुक्राचार्यने अपनी संजीवनी विद्याके बलसे पुनः जीवित कर दिया। अतः वे पुनः उठकर देवताओंसे युद्ध करने लगे ।। ६—८ ।।

असुरास्तु निजघ्नुर्यान् सुरान् समरमूर्धनि ।
न तान् संजीवयामास बृहस्पतिरुदारधीः ।। ९ ।।

परंतु असुरोंने युद्धके मुहानेपर जिन देवताओंको मारा था, उन्हें उदारबुद्धि बृहस्पति जीवित न कर सके ।। ९ ।।

न हि वेद स तां विद्यां यां काव्यो वेत्ति वीर्यवान् ।
संजीविनीं ततो देवा विषादमगमन् परम् ।। १० ।।

क्योंकि शक्तिशाली शुक्राचार्य जिस संजीवनी विद्याको जानते थे, उसका ज्ञान बृहस्पतिको नहीं था। इससे देवताओंको बड़ा विषाद हुआ ।। १० ।।

ते तु देवा भयोद्विग्नाः काव्यादुशनसस्तदा ।
ऊचुः कचमुपागम्य ज्येष्ठं पुत्रं बृहस्पतेः ।। ११ ।।

इससे देवता शुक्राचार्यके भयसे उद्विग्न हो उस समय बृहस्पतिके ज्येष्ठ पुत्र कचके पास जाकर बोले— ।। ११ ।।

भजमानान् भजस्वास्मान् कुरु नः साह्यमुत्तमम् ।
या सा विद्या निवसति ब्राह्मणेऽमिततेजसि ।। १२ ।।
शुक्रे तामाहर क्षिप्रं भागभाङ् नो भविष्यसि ।
वृषपर्वसमीपे हि शक्यो द्रष्टुं त्वया द्विजः ।। १३ ।।

'ब्रह्मन्! हम आपके सेवक हैं। आप हमें अपनाइये और हमारी उत्तम सहायता कीजिये। अमिततेजस्वी ब्राह्मण शुक्राचार्यके पास जो मृतसंजीवनी विद्या है, उसे शीघ्र सीखकर यहाँ ले आइये। इससे आप हम देवताओंके साथ यज्ञमें भाग प्राप्त कर सकेंगे। राजा वृषपर्वाके समीप आपको विप्रवर शुक्राचार्यका दर्शन हो सकता है' ।। १२-१३ ।।

रक्षते दानवांस्तत्र न स रक्षत्यदानवान् ।
तमाराधयितुं शक्तो भवान् पूर्ववयाः कविम् ।। १४ ।।

'वहाँ रहकर वे दानवोंकी रक्षा करते हैं। जो दानव नहीं हैं, उनकी रक्षा नहीं करते। आपकी अभी नयी अवस्था है, अतः आप शुक्राचार्यकी आराधना (करके उन्हें प्रसन्न) करनेमें समर्थ हैं' ।। १४ ।।

देवयानीं च दयितां सुतां तस्य महात्मनः ।

त्वमाराधयितुं शक्तो नान्यः कश्चन विद्यते ।। १५ ।।

‘उन महात्माकी प्यारी पुत्रीका नाम देवयानी है, उसे अपनी सेवाओंद्वारा आप ही प्रसन्न कर सकते हैं। दूसरा कोई इसमें समर्थ नहीं है’ ।। १५ ।।

शीलदाक्षिण्यमाधुर्यैराचारेण दमेन च ।
देवयान्यां हि तुष्टायां विद्यां तां प्राप्स्यसि ध्रुवम् ।। १६ ।।

‘अपने शील-स्वभाव, उदारता, मधुर व्यवहार, सदाचार तथा इन्द्रियसंयमद्वारा देवयानीको संतुष्ट कर लेनेपर आप निश्चय ही उस विद्याको प्राप्त कर लेंगे’ ।। १६ ।।

तथेत्युक्त्वा ततः प्रायाद् बृहस्पतिसुतः कचः ।
तदाभिपूजितो देवैः समीपे वृषपर्वणः ।। १७ ।।

तब ‘बहुत अच्छा’ कहकर बृहस्पतिपुत्र कच देवताओंसे सम्मानित हो वहाँसे वृषपर्वाके समीप गये ।। १७ ।।

स गत्वा त्वरितो राजन् देवैः सम्प्रेषितः कचः ।
असुरेन्द्रपुरे शुक्रं दृष्ट्वा वाक्यमुवाच ह ।। १८ ।।

राजन्! देवताओंके भेजे हुए कच तुरंत दानवराज वृषपर्वाके नगरमें जाकर शुक्राचार्यसे मिले और इस प्रकार बोले— ।। १८ ।।

ऋषेरङ्गिरसः पौत्रं पुत्रं साक्षाद् बृहस्पतेः ।
नाम्ना कचमिति ख्यातं शिष्यं गृह्णातु मां भवान् ।। १९ ।।

‘भगवन्! मैं अंगिरा ऋषिका पौत्र तथा साक्षात् बृहस्पतिका पुत्र हूँ। मेरा नाम कच है। आप मुझे अपने शिष्यके रूपमें ग्रहण करें ।। १९ ।।

ब्रह्मचर्यं चरिष्यामि त्वय्यहं परमं गुरौ ।
अनुमन्यस्व मां ब्रह्मन् सहस्रं परिवत्सरान् ।। २० ।।

‘ब्रह्मन्! आप मेरे गुरु हैं। मैं आपके समीप रहकर एक हजार वर्षोंतक उत्तम ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा। इसके लिये आप मुझे अनुमति दें’ ।। २० ।।

शुक्र उवाच

कच सुस्वागतं तेऽस्तु प्रतिगृह्णामि ते वचः ।
अर्चयिष्येऽहमर्च्यं त्वामर्चितोऽस्तु बृहस्पतिः ।। २१ ।।

शुक्राचार्यने कहा—कच! तुम्हारा भलीभाँति स्वागत है; मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करता हूँ। तुम मेरे लिये आदरके पात्र हो, अतः मैं तुम्हारा सम्मान एवं सत्कार करूँगा। तुम्हारे आदर-सत्कारसे मेरे द्वारा बृहस्पतिका आदर-सत्कार होगा ।। २१ ।।

वैशम्पायन उवाच

कचस्तु तं तथेत्युक्त्वा प्रतिजग्राह तद् व्रतम् ।
आदिष्टं कविपुत्रेण शुक्रेणोशनसा स्वयम् ।। २२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब कचने 'बहुत अच्छा' कहकर महाकान्तिमान् कविपुत्र शुक्राचार्यके आदेशके अनुसार स्वयं ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया ।। २२ ।।

व्रतस्य प्राप्तकालं स यथोक्तं प्रत्यगृह्णत ।
आराधयन्नुपाध्यायं देवयानीं च भारत ।। २३ ।।
नित्यमाराधयिष्यंस्तौ युवा यौवनगोचरे ।
गायन् नृत्यन् वादयंश्च देवयानीमतोषयत् ।। २४ ।।

जनमेजय! नियत समयतकके लिये व्रतकी दीक्षा लेनेवाले कचको शुक्राचार्यने भलीभाँति अपना लिया। कच आचार्य शुक्र तथा उनकी पुत्री देवयानी दोनोंकी नित्य आराधना करने लगे। वे नवयुवक थे और जवानीमें प्रिय लगनेवाले कार्य—गायन और नृत्य करके तथा भाँति-भाँतिके बाजे बजाकर देवयानीको संतुष्ट रखते थे ।। २३-२४ ।।

स शीलयन् देवयानीं कन्यां सम्प्राप्तयौवनाम् ।
पुष्पैः फलैः प्रेषणैश्च तोषयामास भारत ।। २५ ।।

भारत! आचार्यकन्या देवयानी भी युवावस्थामें पदार्पण कर चुकी थी। कच उसके लिये फूल और फल ले आते तथा उसकी आज्ञाके अनुसार कार्य करते थे। इस प्रकार उसकी सेवामें संलग्न रहकर वे सदा उसे प्रसन्न रखते थे ।। २५ ।।

देवयान्यपि तं विप्रं नियमव्रतधारणम् ।
गायन्ती च ललन्ती च रहः पर्यचरत् तथा ।। २६ ।।

देवयानी भी नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले कचके ही समीप रहकर गाती और आमोद-प्रमोद करती हुई एकान्तमें उनकी सेवा करती थी ।। २६ ।।

पञ्चवर्षशतान्येवं कचस्य चरतो व्रतम् ।
तत्रातीयुरथो बुद्ध्वा दानवास्तं ततः कचम् ।। २७ ।।
गा रक्षन्तं वने दृष्ट्वा रहस्येकममर्षिताः ।
जघ्नुर्बृहस्पतेर्द्वेषाद् विद्यारक्षार्थमेव च ।। २८ ।।

इस प्रकार वहाँ रहकर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते हुए कचके पाँच सौ वर्ष व्यतीत हो गये। तब दानवोंको यह बात मालूम हुई। तदनन्तर कचको वनके एकान्त प्रदेशमें अकेले गौएँ चराते देख बृहस्पतिके द्वेषसे और संजीवनी विद्याकी रक्षाके लिये क्रोधमें भरे हुए दानवोंने कचको मार डाला ।। २७-२८ ।।

हत्वा शालावृकेभ्यश्च प्रायच्छँल्लवशः कृतम् ।
ततो गावो निवृत्तास्ता अगोपाः स्वं निवेशनम् ।। २९ ।।

उन्होंने मारनेके बाद उनके शरीरको टुकड़े-टुकड़े कर कुत्तों और सियारोंको बाँट दिया। उस दिन गौएँ बिना रक्षकके ही अपने स्थानपर लौटीं ।। २९ ।।

सा दृष्ट्वा रहिता गाश्च कचेनाभ्यागता वनात् ।
उवाच वचनं काले देवयान्यथ भारत ।। ३० ।।

जनमेजय! जब देवयानीने देखा, गौएँ तो वनसे लौट आयीं पर उनके साथ कच नहीं हैं, तब उसने उस समय अपने पितासे इस प्रकार कहा ।। ३० ।।

देवयान्युवाच

आहुतं चाग्निहोत्रं ते सूर्यश्चास्तं गतः प्रभो ।
अगोपाश्चागता गावः कचस्तात न दृश्यते ।। ३१ ।।

शुक्राचार्य और कच

देवयानी बोली—प्रभो! आपने अग्निहोत्र कर लिया और सूर्यदेव भी अस्ताचलको चले गये। गौएँ भी आज बिना रक्षकके ही लौट आयी हैं। तात! तो भी कच नहीं दिखायी देते हैं ।। ३१ ।।

व्यक्तं हतो मृतो वापि कचस्तात भविष्यति ।
तं विना न च जीवेयमिति सत्यं ब्रवीमि ते ।। ३२ ।।

पिताजी! अवश्य ही कच या तो मारे गये हैं या मर गये हैं। मैं आपसे सच कहती हूँ, उनके बिना जीवित नहीं रह सकूँगी ।। ३२ ।।

शुक्र उवाच

अयमेहीति संशब्द्य मृतं संजीवयाम्यहम् ।
ततः संजीविनीं विद्यां प्रयुज्य कचमाह्वयत् ।। ३३ ।।

शुक्राचार्यने कहा—(बेटी! चिन्ता न करो।) मैं अभी 'आओ' इस प्रकार बुलाकर मरे हुए कचको जीवित किये देता हूँ।

ऐसा कहकर उन्होंने संजीवनी विद्याका प्रयोग किया और कचको पुकारा ।। ३३ ।।

भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि वृकाणां स विनिर्गतः ।
आहूतः प्रादुरभवत् कचो हृष्टोऽथ विद्यया ।। ३४ ।।

फिर तो गुरुके पुकारनेपर कच विद्याके प्रभावसे हृष्ट-पुष्ट हो कुत्तोंके शरीर फाड़-फाड़कर निकल आये और वहाँ प्रकट हो गये ।। ३४ ।।

कस्माच्चिरायितोऽसीति पृष्टस्तामाह भार्गवीम् ।
समिधश्च कुशादीनि काष्ठभारं च भामिनि ।। ३५ ।।
गृहीत्वा श्रमभारार्तो वटवृक्षं समाश्रितः ।
गावश्च सहिताः सर्वा वृक्षच्छायामुपाश्रिताः ।। ३६ ।।

उन्हें देखते ही देवयानीने पूछा—'आज आपने लौटनेमें विलम्ब क्यों किया?' इस प्रकार पूछनेपर कचने शुक्राचार्यकी कन्यासे कहा—'भामिनि! मैं समिधा, कुश आदि और काष्ठका भार लेकर आ रहा था। रास्तेमें थकावट और भारसे पीड़ित हो एक वटवृक्षके नीचे ठहर गया। साथ ही सारी गौएँ भी उसी वृक्षकी छायामें आकर विश्राम करने लगीं ।। ३५-३६ ।।

असुरास्तत्र मां दृष्ट्वा कस्त्वमित्यभ्यचोदयन् ।
बृहस्पतिसुतश्चाहं कच इत्यभिविश्रुतः ।। ३७ ।।

'वहाँ मुझे देखकर असुरोंने पूछा—'तुम कौन हो?' मैंने कहा—मेरा नाम कच है, मैं बृहस्पतिका पुत्र हूँ ।। ३७ ।।

इत्युक्तमात्रे मां हत्वा पेषीकृत्वा तु दानवाः ।
दत्त्वा शालावृकेभ्यस्तु सुखं जग्मुः स्वमालयम् ।। ३८ ।।

'मेरे इतना कहते ही दानवोंने मुझे मार डाला और मेरे शरीरको चूर्ण करके कुत्ते-सियारोंको बाँट दिया। फिर वे सुखपूर्वक अपने घर चले गये ।। ३८ ।।

आहूतो विद्यया भद्रे भार्गवेण महात्मना ।
त्वत्समीपमिहायातः कथंचित् समजीवितः ।। ३९ ।।

'भद्रे! फिर महात्मा भार्गवने जब विद्याका प्रयोग करके मुझे बुलाया है, तब किसी प्रकारसे पूर्ण जीवन लाभ करके यहाँ तुम्हारे पास आ सका हूँ' ।। ३९ ।।

हतोऽहमिति चाचख्यौ पृष्टो ब्राह्मणकन्यया ।
स पुनर्देवयान्योक्तः पुष्पाहारो यदृच्छया ।। ४० ।।

इस प्रकार ब्राह्मणकन्याके पूछनेपर कचने उससे अपने मारे जानेकी बात बतायी। तदनन्तर पुनः देवयानीने एक दिन अकस्मात् कचको फूल लानेके लिये कहा ।। ४० ।।

वनं ययौ कचो विप्रो ददृशुर्दानवाश्च तम् ।
पुनस्तं पेषयित्वा तु समुद्राम्भस्यमिश्रयन् ।। ४१ ।।

विप्रवर कच इसके लिये वनमें गये। वहाँ दानवोंने उन्हें देख लिया और फिर उन्हें पीसकर समुद्रके जलमें घोल दिया ।। ४१ ।।

चिरं गतं पुनः कन्या पित्रे तं संन्यवेदयत् ।
विप्रेण पुनराहूतो विद्यया गुरुदेहजः ।
पुनरावृत्य तद् वृत्तं न्यवेदयत तद् यथा ।। ४२ ।।

जब उसके लौटनेमें विलम्ब हुआ, तब आचार्यकन्याने पितासे पुनः यह बात बतायी। विप्रवर शुक्राचार्यने कचका पुनः संजीवनी विद्याद्वारा आवाहन किया। इससे बृहस्पतिपुत्र कच पुनः वहाँ आ पहुँचे और उनके साथ असुरोंने जो बर्ताव किया था, वह बताया ।। ४२ ।।

ततस्तृतीयं हत्वा तं दग्ध्वा कृत्वा च चूर्णशः ।
प्रायच्छन् ब्राह्मणायैव सुरायामसुरास्तदा ।। ४३ ।।

तत्पश्चात् असुरोंने तीसरी बार कचको मारकर आगमें जलाया और उनकी जली हुई लाशका चूर्ण बनाकर मदिरामें मिला दिया तथा उसे ब्राह्मण शुक्राचार्यको ही पिला दिया ।। ४३ ।।

देवयान्यथ भूयोऽपि पितरं वाक्यमब्रवीत् ।
पुष्पाहारः प्रेषणकृत् कचस्तात न दृश्यते ।। ४४ ।।

अब देवयानी पुनः अपने पितासे यह बात बोली—'पिताजी! कच मेरे कहनेपर प्रत्येक कार्य पूर्ण कर दिया करते हैं। आज मैंने उन्हें फूल लानेके लिये भेजा था, परंतु अभीतक वे दिखायी नहीं दिये ।। ४४ ।।

व्यक्तं हतो मृतो वापि कचस्तात भविष्यति ।
तं विना न च जीवेयं कचं सत्यं ब्रवीमि ते ।। ४५ ।।

'तात! जान पड़ता है वे मार दिये गये या मर गये। मैं आपसे सच कहती हूँ, मैं उनके बिना जीवित नहीं रह सकती हूँ' ।। ४५ ।।

शुक्र उवाच

बृहस्पतेः सुतः पुत्रि कचः प्रेतगतिं गतः ।
विद्यया जीवितोऽप्येवं हन्यते करवाणि किम् ।। ४६ ।।
मैवं शुचो मा रुद देवयानि
न त्वादृशी मर्त्यमनुप्रशोचते ।
यस्यास्तव ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च
सेन्द्रा देवा वसवोऽथाश्विनौ च ।। ४७ ।।
सुरद्विषश्चैव जगच्च सर्व-
मुपस्थाने संनमन्ति प्रभावात् ।
अशक्योऽसौ जीवयितुं द्विजातिः
संजीवितो बध्यते चैव भूयः ।। ४८ ।।

शुक्राचार्यने कहा—बेटी! बृहस्पतिके पुत्र कच मर गये। मैंने विद्यासे उन्हें कई बार जिलाया, तो भी वे इस प्रकार मार दिये जाते हैं, अब मैं क्या करूँ। देवयानी! तुम इस प्रकार शोक न करो, रोओ मत। तुम-जैसी शक्तिशालिनी स्त्री किसी मरनेवालेके लिये शोक नहीं करती। तुम्हें तो वेद, ब्राह्मण, इन्द्रसहित सब देवता, वसुगण, अश्विनीकुमार, दैत्य तथा सम्पूर्ण जगत्‌के प्राणी मेरे प्रभावसे तीनों संध्याओंके समय मस्तक झुकाकर प्रणाम करते हैं। अब उस ब्राह्मणको जिलाना असम्भव है। यदि जीवित हो जाय, तो फिर दैत्योंद्वारा मार डाला जायगा (अतः उसे जिलानेसे कोई लाभ नहीं है) ।। ४६—४८ ।।

देवयान्युवाच

यस्याङ्गिरा वृद्धतमः पितामहो
बृहस्पतिश्चापि पिता तपोनिधिः ।
ऋषेः पुत्रं तमथो वापि पौत्रं
कथं न शोचेयमहं न रुद्याम् ।। ४९ ।।

देवयानी बोली—पिताजी! अत्यन्त वृद्ध महर्षि अंगिरा जिनके पितामह हैं, तपस्याके भण्डार बृहस्पति जिनके पिता हैं, जो ऋषिके पुत्र और ऋषिके ही पौत्र हैं; उन ब्रह्मचारी कचके लिये मैं कैसे शोक न करूँ और कैसे न रोऊँ ।। ४९ ।।

स ब्रह्मचारी च तपोधनश्च
सदोत्थितः कर्मसु चैव दक्षः ।
कचस्य मार्गं प्रतिपत्स्ये न भोक्ष्ये
प्रियो हि मे तात कचोऽभिरूपः ।। ५० ।।

तात! वे ब्रह्मचर्यपालनमें रत थे, तपस्या ही उनका धन था। वे सदा ही सजग रहनेवाले और कार्य करनेमें कुशल थे। इसलिये कच मुझे बहुत प्रिय थे। वे सदा मेरे मनके अनुरूप चलते थे। अब मैं भोजनका त्याग कर दूँगी और कच जिस मार्गपर गये हैं, वहीं मैं भी चली जाऊँगी ।। ५० ।।

वैशम्पायन उवाच

स पीडितो देवयान्या महर्षिः
समाह्वयत् संरम्भाच्चैव काव्यः ।
असंशयं मामसुरा द्विषन्ति
ये मे शिष्यानागतान् सूदयन्ति ।। ५१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवयानीके कहनेसे उसके दुःखसे दुःखी हुए महर्षि शुक्राचार्यने कचको पुकारा और दैत्योंके प्रति कुपित होकर बोले—‘इसमें तनिक भी संशय नहीं है कि असुरलोग मुझसे द्वेष करते हैं। तभी तो यहाँ आये हुए मेरे शिष्योंको ये लोग मार डालते हैं ।। ५१ ।।

अब्राह्मणं कर्तुमिच्छन्ति रौद्रा-
स्ते मां यथा व्यभिचरन्ति नित्यम् ।
अप्यस्य पापस्य भवेदिहान्तः
कं ब्रह्महत्या न दहेदपीन्द्रम् ।। ५२ ।।

‘ये भयंकर स्वभाववाले दैत्य मुझे ब्राह्मणत्वसे गिराना चाहते हैं। इसीलिये प्रतिदिन मेरे विरुद्ध आचरण कर रहे हैं। इस पापका परिणाम यहाँ अवश्य प्रकट होगा। ब्रह्महत्या किसे नहीं जला देगी, चाहे वह इन्द्र ही क्यों न हो? ।। ५२ ।।

गुरोर्हि भीतो विद्यया चोपहूतः
शनैर्वाक्यं जठरे व्याजहार ।

जब गुरुने विद्याका प्रयोग करके बुलाया, तब उनके पेटमें बैठे हुए कच भयभीत हो धीरेसे बोले।

(कच उवाच

प्रसीद भगवन् मह्यं कचोऽहमभिवादये ।
यथा बहुमतः पुत्रस्तथा मन्यतु मां भवान् ।।)

कचने कहा—भगवन्! आप मुझपर प्रसन्न हों, मैं कच हूँ और आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। जैसे पुत्रपर पिताका बहुत प्यार होता है, उसी प्रकार आप मुझे भी अपना स्नेहभाजन समझें।

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीत् केन पथोपनीत-
स्त्वं चोदरे तिष्ठसि ब्रूहि विप्र ।। ५३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—उनकी आवाज सुनकर शुक्राचार्यने पूछा—'विप्र! किस मार्गसे जाकर तुम मेरे उदरमें स्थित हो गये? ठीक-ठीक बताओ' ।। ५३ ।।

कच उवाच

तव प्रसादान्न जहाति मां स्मृतिः
स्मरामि सर्वं यच्च यथा च वृत्तम् ।
न त्वेवं स्यात् तपसः संक्षयो मे
ततः क्लेशं घोरमिमं सहामि ।। ५४ ।।

कचने कहा—गुरुदेव! आपके प्रसादसे मेरी स्मरणशक्तिने साथ नहीं छोड़ा है। जो बात जैसे हुई है, वह सब मुझे याद है। इस प्रकार पेट फाड़कर निकल आनेसे मेरी तपस्याका नाश होगा। वह न हो, इसीलिये मैं यहाँ घोर क्लेश सहन करता हूँ ।। ५४ ।।

असुरैः सुरायां भवतोऽस्मि दत्तो
हत्वा दग्ध्वा चूर्णयित्वा च काव्य ।
ब्राह्मीं मायां चासुरीं विप्र मायां
त्वयि स्थिते कथमेवातिवर्तेत् ।। ५५ ।।

आचार्यपाद! असुरोंने मुझे मारकर मेरे शरीरको जलाया और चूर्ण बना दिया। फिर उसे मदिरामें मिलाकर आपको पिला दिया! विप्रवर! आप ब्राह्मी, आसुरी और दैवी तीनों प्रकारकी मायाओंको जानते हैं। आपके होते हुए कोई इन मायाओंका उल्लंघन कैसे कर सकता है? ।। ५५ ।।

शुक्र उवाच

किं ते प्रियं करवाण्यद्य वत्से
वधेन मे जीवितं स्यात् कचस्य ।
नान्यत्र कुक्षेर्मम भेदनेन
दृश्येत् कचो मद्गतो देवयानि ।। ५६ ।।

शुक्राचार्य बोले—बेटी देवयानी! अब तुम्हारे लिये कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? मेरे वधसे ही कचका जीवित होना सम्भव है। मेरे उदरको विदीर्ण करनेके सिवा और कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे मेरे शरीरमें बैठा हुआ कच बाहर दिखायी दे ।। ५६ ।।

देवयान्युवाच

द्वौ मां शोकावग्निकल्पौ दहेतां
कचस्य नाशस्तव चैवोपघातः ।

कचस्य नाशे मम नास्ति शर्म
तवोपघाते जीवितुं नास्मि शक्ता ।। ५७ ।।

देवयानीने कहा—पिताजी! कचका नाश और आपका वध—ये दोनों ही शोक अग्निके समान मुझे जला देंगे। कचके नष्ट होनेपर मुझे शान्ति नहीं मिलेगी और आपका वध हो जानेपर मैं जीवित नहीं रह सकूँगी ।। ५७ ।।

शुक्र उवाच

संसिद्धरूपोऽसि बृहस्पतेः सुत
यत् त्वां भक्तं भजते देवयानी ।
विद्यामिमां प्राप्नुहि जीविनीं त्वं
न चेदिन्द्रः कचरूपी त्वमद्य ।। ५८ ।।

शुक्राचार्य बोले—बृहस्पतिके पुत्र कच! अब तुम सिद्ध हो गये, क्योंकि तुम देवयानीके भक्त हो और वह तुम्हें चाहती है। यदि कचके रूपमें तुम इन्द्र नहीं हो, तो मुझसे मृतसंजीवनी विद्या ग्रहण करो ।। ५८ ।।

न निवर्तेत् पुनर्जीवन् कश्चिदन्यो ममोदरात् ।
ब्राह्मणं वर्जयित्वैकं तस्माद् विद्यामवाप्नुहि ।। ५९ ।।

केवल एक ब्राह्मणको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो मेरे पेटसे पुनः जीवित निकल सके। इसलिये तुम विद्या ग्रहण करो ।। ५९ ।।

पुत्रो भूत्वा भावय भावितो मा-
मस्मद्देहादुपनिष्क्रम्य तात ।
समीक्षेथा धर्मवतीमवेक्षां
गुरोः सकाशात् प्राप्य विद्यां सविद्यः ।। ६० ।।

तात! मेरे इस शरीरसे जीवित निकलकर मेरे लिये पुत्रके तुल्य हो मुझे पुनः जिला देना। मुझ गुरुसे विद्या प्राप्त करके विद्वान् हो जानेपर भी मेरे प्रति धर्मयुक्त दृष्टिसे ही देखना ।। ६० ।।

वैशम्पायन उवाच

गुरोः सकाशात् समवाप्य विद्यां
भित्त्वा कुक्षिं निर्विचक्राम विप्रः ।
कचोऽभिरूपस्तत्क्षणाद् ब्राह्मणस्य
शुक्लात्यये पौर्णमास्यामिवेन्दुः ।। ६१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गुरुसे संजीवनी विद्या प्राप्त करके सुन्दर रूपवाले विप्रवर कच तत्काल ही महर्षि शुक्राचार्यका पेट फाड़कर ठीक उसी तरह बाहर निकल आये, जैसे दिन बीतनेपर पूर्णिमाकी संध्याको चन्द्रमा प्रकट हो जाते हैं ।। ६१ ।।

दृष्ट्वा च तं पतितं ब्रह्मराशि-
मुत्थापयामास मृतं कचोऽपि ।
विद्यां सिद्धां तामवाप्याभिवाद्य
ततः कचस्तं गुरुमित्युवाच ।। ६२ ।।

मूर्तिमान् वेदराशिके तुल्य शुक्राचार्यको भूमिपर पड़ा देख कचने भी अपने मरे हुए गुरुको विद्याके बलसे जिलाकर उठा दिया और उस सिद्ध विद्याको प्राप्त कर लेनेपर गुरुको प्रणाम करके वे इस प्रकार बोले— ।। ६२ ।।

यः श्रोत्रयोरमृतं संनिषिञ्चेद्
विद्यामविद्यस्य यथा ममायम् ।
तं मन्येऽहं पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ।। ६३ ।।

'मैं विद्यासे शून्य था, उस दशामें मेरे इन पूजनीय आचार्य जैसे मेरे दोनों कानोंमें मृतसंजीवनी विद्यारूप अमृतकी धारा डाली है, इसी प्रकार जो कोई दूसरे ज्ञानी महात्मा मेरे कानोंमें ज्ञानरूप अमृतका अभिषेक करेंगे, उन्हें भी मैं अपना माता-पिता मानूँगा (जैसे गुरुदेव शुक्राचार्यको मानता हूँ)। गुरुदेवके द्वारा किये हुए उपकारको स्मरण रखते हुए शिष्यको उचित है कि वह उनसे कभी द्रोह न करे ।। ६३ ।।

ऋतस्य दातारमनुत्तमस्य
निधिं निधीनामपि लब्धविद्याः ।
ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं
पापाँल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठाः ।। ६४ ।।

'जो लोग सम्पूर्ण वेदके सर्वोत्तम ज्ञानको देने-वाले तथा समस्त विद्याओंके आश्रयभूत पूजनीय गुरुदेवका उनसे विद्या प्राप्त करके भी आदर नहीं करते, वे प्रतिष्ठारहित होकर पापपूर्ण लोकों—नरकोंमें जाते हैं' ।। ६४ ।।

वैशम्पायन उवाच

सुरापानाद् वञ्चनां प्राप्य विद्वान्
संज्ञानाशं चैव महातिघोरम् ।
दृष्ट्वा कचं चापि तथाभिरूपं
पीतं तदा सुरया मोहितेन ।। ६५ ।।
समन्युरुत्थाय महानुभाव-
स्तदोशना विप्रहितं चिकीर्षुः ।
सुरापानं प्रति संजातमन्युः
काव्यः स्वयं वाक्यमिदं जगाद ।। ६६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विद्वान् शुक्राचार्य मदिरापानसे ठगे गये थे और उस अत्यन्त भयानक परिस्थितिको पहुँच गये थे, जिसमें तनिक भी चेत नहीं रह जाता। मदिरासे मोहित होनेके कारण ही वे उस समय अपने मनके अनुकूल चलनेवाले प्रिय शिष्य ब्राह्मणकुमार कचको भी पी गये थे। यह सब देख और सोचकर वे महानुभाव कविपुत्र शुक्र कुपित हो उठे। मदिरापानके प्रति उनके मनमें क्रोध और घृणाका भाव जाग उठा और उन्होंने ब्राह्मणोंका हित करनेकी इच्छासे स्वयं इस प्रकार घोषणा की— ।। ६५-६६ ।।

यो ब्राह्मणोऽद्यप्रभृतीह कश्चि-
न्मोहात् सुरां पास्यति मन्दबुद्धिः ।
अपेतधर्मा ब्रह्महा चैव स स्या-
दस्मिंल्लोके गर्हितः स्यात् परे च ।। ६७ ।।

'आजसे इस जगत्का जो कोई भी मन्दबुद्धि ब्राह्मण अज्ञानसे भी मदिरापान करेगा, वह धर्मसे भ्रष्ट हो ब्रह्महत्याके पापका भागी होगा तथा इस लोक और परलोक दोनोंमें वह निन्दित होगा' ।। ६७ ।।

मया चैतां विप्रधर्मोक्तिसीमां
मर्यादां वै स्थापितां सर्वलोके ।
सन्तो विप्राः शुश्रुवांसो गुरूणां
देवा लोकाश्चोपशृण्वन्तु सर्वे ।। ६८ ।।

'धर्मशास्त्रोंमें ब्राह्मण-धर्मकी जो सीमा निर्धारित की गयी है, उसीमें मेरे द्वारा स्थापित की हुई यह मर्यादा भी रहे और यह सम्पूर्ण लोकमें मान्य हो। साधु पुरुष, ब्राह्मण, गुरुओंके समीप अध्ययन करनेवाले शिष्य, देवता और समस्त जगत्के मनुष्य, मेरी बाँधी हुई इस मर्यादाको अच्छी तरह सुन लें' ।। ६८ ।।

इतीदमुक्त्वा स महानुभाव-
स्तपोनिधीनां निधिरप्रमेयः ।
तान् दानवान् दैवविमूढबुद्धी-
निदं समाहूय वचोऽभ्युवाच ।। ६९ ।।

ऐसा कहकर तपस्याकी निधियोंकी निधि, अप्रमेय शक्तिशाली महानुभाव शुक्राचार्यने दैवने जिनकी बुद्धिको मोहित कर दिया था उन दानवोंको बुलाया और इस प्रकार कहा — ।। ६९ ।।

आचक्षे वो दानवा बालिशाः स्थ
सिद्धः कचो वत्स्यति मत्सकाशे ।
संजीविनीं प्राप्य विद्यां महात्मा
तुल्यप्रभावो ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः ।। ७० ।।
(योऽकार्षीद् दुष्करं कर्म देवानां कारणात् कचः ।

न तत्कीर्तिर्जरां गच्छेद् यज्ञियश्च भविष्यति ।।)

एतावदुक्त्वा वचनं विरराम स भार्गवः ।

दानवा विस्मयाविष्टाः प्रययुः स्वं निवेशनम् ।। ७१ ।।

'जिन महात्मा कचने देवताओंके लिये वह दुष्कर कार्य किया है, उनकी कीर्ति कभी नष्ट नहीं हो सकती और वे यज्ञभागके अधिकारी होंगे।' ऐसा कहकर शुक्राचार्यजी चुप हो गये और दानव आश्चर्यचकित होकर अपने-अपने घर चले गये ।। ७१ ।।

गुरोरुष्य सकाशे तु दशवर्षशतानि सः ।

अनुज्ञातः कचो गन्तुमियेष त्रिदशालयम् ।। ७२ ।।

कचने एक हजार वर्षोंतक गुरुके समीप रहकर अपना व्रत पूरा कर लिया। तब घर जानेकी अनुमति मिल जानेपर कचने देवलोकमें जानेका विचार किया ।। ७२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने षट्सप्ततितमोऽध्यायः ।। ७६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ७४ श्लोक हैं)

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

देवयानीका कचसे पाणिग्रहणके लिये अनुरोध, कचकी अस्वीकृति तथा दोनोंका एक-दूसरेको शाप देना

वैशम्पायन उवाच

समावृतव्रतं तं तु विसृष्टं गुरुणा तदा ।
प्रस्थितं त्रिदशावासं देवयान्यब्रवीदिदम् ।। १ ।।
ऋषेरङ्गिरसः पौत्र वृत्तेनाभिजनेन च ।
भ्राजसे विद्यया चैव तपसा च दमेन च ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जब कचका व्रत समाप्त हो गया और गुरुने उन्हें जानेकी आज्ञा दे दी, तब वे देवलोकको प्रस्थित हुए। उस समय देवयानीने उनसे इस प्रकार कहा—‘महर्षि अंगिराके पौत्र! आप सदाचार, उत्तम कुल, विद्या, तपस्या तथा इन्द्रियसंयम आदिसे बड़ी शोभा पा रहे हैं ।। १-२ ।।

ऋषिर्यथाङ्गिरा मान्यः पितुर्मम महायशाः ।
तथा मान्यश्च पूज्यश्च मम भूयो बृहस्पतिः ।। ३ ।।

‘महायशस्वी महर्षि अंगिरा जिस प्रकार मेरे पिताजीके लिये माननीय हैं, उसी प्रकार आपके पिता बृहस्पतिजी मेरे लिये आदरणीय तथा पूज्य हैं ।। ३ ।।

एवं ज्ञात्वा विजानीहि यद् ब्रवीमि तपोधन ।
व्रतस्थे नियमोपेते यथा वर्ताम्यहं त्वयि ।। ४ ।।

‘तपोधन! ऐसा जानकर मैं जो कहती हूँ उसपर विचार करें। आप जब व्रत और नियमोंके पालनमें लगे थे, उन दिनों मैंने आपके साथ जो बर्ताव किया है, उसे आप भूले नहीं होंगे ।। ४ ।।

स समावृतविद्यो मां भक्तां भजितुमर्हसि ।
गृहाण पाणिं विधिवन्मम मन्त्रपुरस्कृतम् ।। ५ ।।

‘अब आप व्रत समाप्त करके अपनी अभीष्ट विद्या प्राप्त कर चुके हैं। मैं आपसे प्रेम करती हूँ, आप मुझे स्वीकार करें; वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक विधिवत् मेरा पाणिग्रहण कीजिये’ ।। ५ ।।

कच उवाच

पूज्यो मान्यश्च भगवान् यथा तव पिता मम ।
तथा त्वमनवद्याङ्गि पूजनीयतरा मम ।। ६ ।।

कचने कहा—निर्दोष अंगोंवाली देवयानी! जैसे तुम्हारे पिता भगवान् शुक्राचार्य मेरे लिये पूजनीय और माननीय हैं, वैसे ही तुम हो; बल्कि उनसे भी बढ़कर मेरी पूजनीया हो ।। ६ ।।

प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्गवस्य महात्मनः ।
त्वं भद्रे धर्मतः पूज्या गुरुपुत्री सदा मम ।। ७ ।।

भद्रे! महात्मा भार्गवको तुम प्राणोंसे भी अधिक प्यारी हो, गुरुपुत्री होनेके कारण धर्मकी दृष्टिसे सदा मेरी पूजनीया हो ।। ७ ।।

यथा मम गुरुर्नित्यं मान्यः शुक्रः पिता तव ।
देवयानि तथैव त्वं नैवं मां वक्तुमर्हसि ।। ८ ।।

देवयानी! जैसे मेरे गुरुदेव तुम्हारे पिता शुक्राचार्य सदा मेरे माननीय हैं, उसी प्रकार तुम हो; अतः तुम्हें मुझसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ।। ८ ।।

देवयान्युवाच

गुरुपुत्रस्य पुत्रो वै न त्वं पुत्रश्च मे पितुः ।
तस्मात् पूज्यश्च मान्यश्च ममापि त्वं द्विजोत्तम ।। ९ ।।
असुरैर्हन्यमाने च कच त्वयि पुनः पुनः ।
तदा प्रभृति या प्रीतिस्तां त्वमद्य स्मरस्व मे ।। १० ।।

देवयानी बोली—द्विजोत्तम! आप मेरे पिताके गुरुपुत्रके पुत्र हैं, मेरे पिताके नहीं; अतः मेरे लिये भी आप पूजनीय और माननीय हैं। कच! जब असुर आपको बार-बार मार डालते थे, तबसे लेकर आजतक आपके प्रति मेरा जो प्रेम रहा है, उसे आज याद कीजिये ।। ९-१० ।।

सौहार्दे चानुरागे च वेत्थ मे भक्तिमुत्तमाम् ।
न मामर्हसि धर्मज्ञ त्यक्तुं भक्तामनागसम् ।। ११ ।।

सौहार्द और अनुरागके अवसरपर मेरी उत्तम भक्तिका परिचय आपको मिल चुका है। आप धर्मके ज्ञाता हैं। मैं आपके प्रति भक्ति रखनेवाली निरपराध अबला हूँ। आपको मेरा त्याग करना उचित नहीं है ।। ११ ।।

कच उवाच

अनियोज्ये नियोगे मां नियुनङ्क्षि शुभव्रते ।
प्रसीद सुभ्रु त्वं मह्यं गुरोर्गुरुतरा शुभे ।। १२ ।।
यत्रोषितं विशालाक्षि त्वया चन्द्रनिभानने ।
तत्राहमुषितो भद्रे कुक्षौ काव्यस्य भामिनि ।। १३ ।।
भगिनी धर्मतो मे त्वं मैवं वोचः सुमध्यमे ।
सुखमस्म्युषितो भद्रे न मन्युर्विद्यते मम ।। १४ ।।

कचने कहा—उत्तम व्रतका आचरण करनेवाली सुन्दरी! तुम मुझे ऐसे कार्यमें लगा रही हो, जिसमें लगाना कदापि उचित नहीं है। शुभे! तुम मेरे ऊपर प्रसन्न होओ। तुम मेरे लिये गुरुसे भी बढ़कर गुरुतर हो। विशाल नेत्र तथा चन्द्रमाके समान मुखवाली भामिनि! शुक्राचार्यके जिस उदरमें तुम रह चुकी हो, उसीमें मैं भी रहा हूँ। इसलिये भद्रे! धर्मकी दृष्टिसे तुम मेरी बहिन हो। अतः सुमध्यमे! मुझसे ऐसी बात न कहो। कल्याणी! मैं तुम्हारे यहाँ बड़े सुखसे रहा हूँ। तुम्हारे प्रति मेरे मनमें तनिक भी रोष नहीं है ।। १२—१४ ।।

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि शिवमाशंस मे पथि ।
अविरोधेन धर्मस्य स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे ।
अप्रमत्तोत्थिता नित्यमाराधय गुरुं मम ।। १५ ।।

अब मैं जाऊँगा, इसलिये तुमसे पूछता हूँ—तुम्हारी आज्ञा चाहता हूँ, आशीर्वाद दो कि मार्गमें मेरा मंगल हो। धर्मकी अनुकूलता रखते हुए बातचीतके प्रसंगमें कभी मेरा भी स्मरण कर लेना और सदा सावधान एवं सजग रहकर मेरे गुरुदेवकी सेवामें लगी रहना ।। १५ ।।

देवयान्युवाच

यदि मां धर्मकामार्थे प्रत्याख्यास्यसि याचितः ।
ततः कच न ते विद्या सिद्धिमेषा गमिष्यति ।। १६ ।।

देवयानी बोली—कच! मैंने धर्मानुकूल कामके लिये आपसे प्रार्थना की है। यदि आप मुझे ठुकरा देंगे, तो आपकी यह संजीवनी विद्या सिद्ध नहीं हो सकेगी ।। १६ ।।

कच उवाच

गुरुपुत्रीति कृत्वाहं प्रत्याचक्षे न दोषतः ।
गुरुणा चाननुज्ञातः काममेवं शपस्व माम् ।। १७ ।।

कचने कहा—देवयानी! गुरुपुत्री समझकर ही मैंने तुम्हारे अनुरोधको टाल दिया है; तुममें कोई दोष देखकर नहीं। गुरुजीने भी इसके विषयमें मुझे कोई आज्ञा नहीं दी है। तुम्हारी जैसी इच्छा हो, मुझे शाप दे दो ।। १७ ।।

आर्षं धर्मं ब्रुवाणोऽहं देवयानि यथा त्वया ।
शप्तो नार्होऽस्मि शापस्य कामतोऽद्य न धर्मतः ।। १८ ।।
तस्माद् भवत्या यः कामो न तथा स भविष्यति ।
ऋषिपुत्रो न ते कश्चिज्जातु पाणिं ग्रहीष्यति ।। १९ ।।

बहिन! मैं आर्ष धर्मकी बात बता रहा था। इस दशामें तुम्हारे द्वारा शाप पानेके योग्य नहीं था। तुमने मुझे धर्मके अनुसार नहीं, कामके वशीभूत होकर आज शाप दिया है, इसलिये तुम्हारे मनमें जो कामना है, वह पूरी नहीं होगी। कोई भी ऋषिपुत्र (ब्राह्मणकुमार) कभी तुम्हारा पाणिग्रहण नहीं करेगा ।। १८-१९ ।।

फलिष्यति न ते विद्या यत् त्वं मामात्थ तत् तथा ।

अध्यापयिष्यामि तु यं तस्य विद्या फलिष्यति ।। २० ।।

तुमने जो मुझे यह कहा कि तुम्हारी विद्या सफल नहीं होगी, सो ठीक है; किंतु मैं जिसे यह विद्या पढ़ा दूँगा, उसकी विद्या तो सफल होगी ही ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा द्विजश्रेष्ठो देवयानीं कचस्तदा ।
त्रिदशेशालयं शीघ्रं जगाम द्विजसत्तमः ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! द्विजश्रेष्ठ कच देवयानीसे ऐसा कहकर तत्काल बड़ी उतावलीके साथ इन्द्रलोकको चले गये ।। २१ ।।

तमागतमभिप्रेक्ष्य देवा इन्द्रपुरोगमाः ।
बृहस्पतिं सभाज्येदं कचं वचनमब्रुवन् ।। २२ ।।

उन्हें आया देख इन्द्रादि देवता बृहस्पतिजीकी सेवामें उपस्थित हो कचसे यह वचन बोले ।। २२ ।।

देवा ऊचुः

यत् त्वयास्मद्धितं कर्म कृतं वै परमाद्भुतम् ।
न ते यशः प्रणशिता भागभाक् च भविष्यसि ।। २३ ।।

देवता बोले—ब्रह्मन्! तुमने हमारे हितके लिये यह बड़ा अद्भुत कार्य किया है, अतः तुम्हारे यशका कभी लोप नहीं होगा और तुम यज्ञमें भाग पानेके अधिकारी होओगे ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७७ ।।

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

देवयानी और शर्मिष्ठाका कलह, शर्मिष्ठाद्वारा कुएँमें गिरायी गयी देवयानीको ययातिका निकालना और देवयानीका शुक्राचार्यजीके साथ वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

कृतविद्ये कचे प्राप्ते हृष्टरूपा दिवौकसः ।
कचादधीत्य तां विद्यां कृतार्था भरतर्षभ ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कच मृतसंजीवनी विद्या सीखकर आ गये, तब देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे कचसे उस विद्याको पढ़कर कृतार्थ हो गये ।। १ ।।

सर्व एव समागम्य शतक्रतुमथाब्रुवन् ।
कालस्ते विक्रमस्याद्य जहि शत्रून् पुरन्दर ।। २ ।।

फिर सबने मिलकर इन्द्रसे कहा—'पुरन्दर! अब आपके लिये पराक्रम करनेका समय आ गया है, अपने शत्रुओंका संहार कीजिये' ।। २ ।।

एवमुक्तस्तु सहितैस्त्रिदशैर्मघवांस्तदा ।
तथेत्युक्त्वा प्रचक्राम सोऽपश्यत वने स्त्रियः ।। ३ ।।

संगठित होकर आये हुए देवताओंद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर इन्द्र 'बहुत अच्छा' कहकर भूलोकमें आये। वहाँ एक वनमें उन्होंने बहुत-सी स्त्रियोंको देखा ।। ३ ।।

क्रीडन्तीनां तु कन्यानां वने चैत्ररथोपमे ।
वायुभूतः स वस्त्राणि सर्वाण्येव व्यमिश्रयत् ।। ४ ।।

वह वन चैत्ररथ नामक देवोद्यानके समान मनोहर था। उसमें वे कन्याएँ जलक्रीड़ा कर रही थीं। इन्द्रने वायुका रूप धारण करके उनके सारे कपड़े परस्पर मिला दिये ।। ४ ।।

ततो जलात् समुत्तीर्य कन्यास्ताः सहितास्तदा ।
वस्त्राणि जगृहुस्तानि यथासन्नान्यनेकशः ।। ५ ।।
तत्र वासो देवयान्याः शर्मिष्ठा जगृहे तदा ।
व्यतिमिश्रमजानन्ती दुहिता वृषपर्वणः ।। ६ ।।

तब वे सभी कन्याएँ एक साथ जलसे निकलकर अपने-अपने अनेक प्रकारके वस्त्र, जो निकट ही रखे हुए थे; लेने लगीं। उस सम्मिश्रणमें शर्मिष्ठाने देवयानीका वस्त्र ले लिया। शर्मिष्ठा वृषपर्वाकी पुत्री थी; दोनोंके वस्त्र मिल गये हैं, इस बातका उसे पता नहीं था ।। ५-६ ।।

ततस्तयोर्मिथस्तत्र विरोधः समजायत ।

देवयान्याश्च राजेन्द्र शर्मिष्ठायाश्च तत्कृते ।। ७ ।।

राजेन्द्र! उस समय वस्त्रोंकी अदला-बदलीको लेकर देवयानी और शर्मिष्ठा दोनोंमें वहाँ परस्पर बड़ा भारी विरोध खड़ा हो गया ।। ७ ।।

देवयान्युवाच

कस्माद् गृह्णासि मे वस्त्रं शिष्या भूत्वा ममासुरि ।
समुदाचारहीनाया न ते साधु भविष्यति ।। ८ ।।

देवयानी बोली—अरी दानवकी बेटी! मेरी शिष्या होकर तू मेरा वस्त्र कैसे ले रही है? तू सज्जनोंके उत्तम आचारसे शून्य है, अतः तेरा भला न होगा ।। ८ ।।

शर्मिष्ठोवाच

आसीनं च शयानं च पिता ते पितरं मम ।
स्तौति वन्दीव चाभीक्ष्णं नीचेः स्थित्वा विनीतवत् ।। ९ ।।

शर्मिष्ठाने कहा—अरी! मेरे पिता बैठे हों या सो रहे हों, उस समय तेरा पिता विनयशील सेवकके समान नीचे खड़ा होकर बार-बार वन्दीजनोंकी भाँति उनकी स्तुति करता है ।। ९ ।।

याचतस्त्वं हि दुहिता स्तुवतः प्रतिगृह्णतः ।
सुताहं स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ।। १० ।।
आदुन्वस्व विदुन्वस्व द्रुह्य कुप्यस्व याचकि ।
अनायुधा सायुधाया रिक्ता क्षुभ्यसि भिक्षुकि ।
लप्स्यसे प्रतियोद्धारं न हि त्वां गणयाम्यहम् ।। ११ ।।

तू भिखमंगेकी बेटी है, तेरा बाप स्तुति करता और दान लेता है। मैं उनकी बेटी हूँ, जिनकी स्तुति की जाती है, जो दूसरोंको दान देते हैं और स्वयं किसीसे कुछ भी नहीं लेते हैं। अरी भिक्षुकि! तू छाती पीट-पीटकर रो अथवा धूलमें लोट-लोटकर कष्ट भोग। मुझसे द्रोह रख या क्रोध कर (इसकी परवा नहीं है)। भिखमंगिन! तू खाली हाथ है, तेरे पास कोई अस्त्र-शस्त्र भी नहीं है और देख ले, मेरे पास हथियार है। इसलिये तू मेरे ऊपर व्यर्थ ही क्रोध कर रही है। यदि लड़ना ही चाहती है, तो इधरसे भी डटकर सामना करनेवाला मुझ-जैसा योद्धा तुझे मिल जायगा। मैं तुझे कुछ भी नहीं गिनती ।। १०-११ ।।

(प्रतिकूलं वदसि चेदितः प्रभृति याचकि ।
आकृष्य मम दासीभिः प्रस्थाप्यसि बहिर्बहिः ।।)

भिक्षुकी! अबसे यदि मेरे विरुद्ध कोई बात कहेगी, तो अपनी दासियोंसे घसीटवाकर तुझे यहाँसे बाहर निकलवा दूँगी।

वैशम्पायन उवाच

समुच्छ्रयं देवयानीं गतां सक्तां च वाससि ।। १२ ।।

शर्मिष्ठा प्राक्षिपत् कूपे ततः स्वपुरमागमत् ।

हतेयमिति विज्ञाय शर्मिष्ठा पापनिश्चया ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवयानीने सच्ची बातें कहकर अपनी उच्चता और महत्ता सिद्ध कर दी और शर्मिष्ठाके शरीरसे अपने वस्त्रको खींचने लगी। यह देख शर्मिष्ठाने उसे कुएँमें ढकेल दिया और अब यह मर गयी होगी, ऐसा समझकर पापमय विचारवाली शर्मिष्ठा नगरको लौट आयी ।। १२-१३ ।।

अनवेक्ष्य ययौ वेश्म क्रोधवेगपरायणा ।

अथ तं देशमभ्यागाद् ययातिर्नहुषात्मजः ।। १४ ।।

वह क्रोधके आवेशमें थी, अतः देवयानीकी ओर देखे बिना ही घर लौट गयी। तदनन्तर नहुषपुत्र ययाति उस स्थानपर आये ।। १४ ।।

श्रान्तयुग्यः श्रान्तहयो मृगलिप्सुः पिपासितः ।

स नाहुषः प्रेक्षमाण उदपानं गतोदकम् ।। १५ ।।

उनके रथके वाहन तथा अन्य घोड़े भी थक गये थे। वे एक हिंसक पशुको पकड़नेके लिये उसके पीछे-पीछे आये थे और प्याससे कष्ट पा रहे थे। ययाति उस जलशून्य कूपको देखने लगे ।। १५ ।।

ददर्श राजा तां तत्र कन्यामग्निशिखामिव ।

तामपृच्छत् स दृष्ट्वैव कन्याममरवर्णिनीम् ।। १६ ।।

वहाँ उन्हें अग्नि-शिखाके समान तेजस्विनी एक कन्या दिखायी दी, जो देवांगनाके समान सुन्दरी थी। उसपर दृष्टि पड़ते ही राजाने उससे पूछा ।। १६ ।।

सान्त्वयित्वा नृपश्रेष्ठः साम्ना परमवल्गुना ।

का त्वं ताम्रनखी श्यामा सुमृष्टमणिकुण्डला ।। १७ ।।

नृपश्रेष्ठ ययातिने पहले परम मधुर वचनोंद्वारा शान्तभावसे उसे आश्वासन दिया और कहा—'तुम कौन हो? तुम्हारे नख लाल-लाल हैं। तुम षोडशी जान पड़ती हो। तुम्हारे कानोंके मणिमय कुण्डल अत्यन्त सुन्दर और चमकीले हैं ।। १७ ।।

दीर्घं ध्यायसि चात्यर्थं कस्माच्छोचसि चातुरा ।

कथं च पतितास्यस्मिन् कूपे वीरुत्तृणावृते ।। १८ ।।

दुहिता चैव कस्य त्वं वद सत्यं सुमध्यमे ।

'तुम किसी अत्यन्त घोर चिन्तामें पड़ी हो। आतुर होकर शोक क्यों कर रही हो? तृण और लताओंसे ढके हुए इस कुएँमें कैसे गिर पड़ी? तुम किसकी पुत्री हो? सुमध्यमे! ठीक-ठीक बताओ' ।। १८½ ।।

देवयान्युवाच

योऽसौ देवैर्हतान् दैत्यानुत्थापयति विद्यया ।। १९ ।।
तस्य शुक्रस्य कन्याहं स मां नूनं न बुध्यते ।

देवयानी बोली—जो देवताओंद्वारा मारे गये दैत्योंको अपनी विद्याके बलसे जिलाया करते हैं, उन्हीं शुक्राचार्यकी मैं पुत्री हूँ। निश्चय ही उन्हें इस बातका पता नहीं होगा कि मैं इस दुरवस्थामें पड़ी हूँ ।। १९½ ।।

(पृच्छसे मां कस्त्वमसि रूपवीर्यबलान्वितः ।
ब्रूह्यत्रागमनं किं वा श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।।

रूप, वीर्य और बलसे सम्पन्न तुम कौन हो, जो मेरा परिचय पूछते हो। यहाँ तुम्हारे आगमनका क्या कारण है, बताओ। मैं यह सब ठीक-ठीक सुनना चाहती हूँ।

ययातिरुवाच

ययातिर्नाहुषोऽहं तु श्रान्तोऽद्य मृगलिप्सया ।
कूपे तृणावृते भद्रे दृष्टवानस्मि त्वामिह ।।)

ययातिने कहा—भद्रे! मैं राजा नहुषका पुत्र ययाति हूँ। एक हिंसक पशुको मारनेकी इच्छासे इधर आ निकला। थका-माँदा प्यास बुझानेके लिये यहाँ आया और तिनकोंसे ढके हुए इस कूपमें गिरी हुई तुमपर मेरी दृष्टि पड़ गयी।

एष मे दक्षिणो राजन् पाणिस्ताम्रनखाङ्गुलिः ।। २० ।।
समुद्धर गृहीत्वा मां कुलीनस्त्वं हि मे मतः ।
जानामि त्वां हि संशान्तं वीर्यवन्तं यशस्विनम् ।। २१ ।।
तस्मान्मां पतितामस्मात् कूपादुद्धर्तुमर्हसि ।

(देवयानी बोली—) महाराज! लाल नख और अंगुलियोंसे युक्त यह मेरा दाहिना हाथ है। इसे पकड़कर आप इस कुएँसे मेरा उद्धार कीजिये। मैं जानती हूँ, आप उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए नरेश हैं। मुझे यह भी मालूम है कि आप परम शान्त स्वभाववाले, पराक्रमी तथा यशस्वी वीर हैं। इसलिये इस कुएँमें गिरी हुई मुझ अबलाका आप यहाँसे उद्धार कीजिये ।। २०-२१½ ।।

वैशम्पायन उवाच

तामथो ब्राह्मणीं राजा विज्ञाय नहुषात्मजः ।। २२ ।।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणावुज्जहार ततोऽवटात् ।
उद्धृत्य चैनां तरसा तस्मात् कूपान्नराधिपः ।। २३ ।।
(गच्छ भद्रे यथाकामं न भयं विद्यते तव ।
इत्युच्यमाना नृपतिं देवयानी तमुत्तरम् ।।
उवाच मां त्वमादाय गच्छ शीघ्रं प्रियो हि मे ।
गृहीताहं त्वया पाणौ तस्माद् भर्त्ता भविष्यसि ।।

इत्येवमुक्तो नृपतिराह क्षत्रकुलोद्भवः ।
त्वं भद्रे ब्राह्मणी तस्मान्मया नार्हसि सङ्गमम् ।।
सर्वलोकगुरुः काव्यस्त्वं तस्य दुहितासि वै ।
तस्मादपि भयं मेऽद्य तस्मात् कल्याणि नार्हसि ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर नहुषपुत्र राजा ययातिने देवयानीको ब्राह्मणकन्या जानकर उसका दाहिना हाथ अपने हाथमें ले उसे उस कुएँसे बाहर निकाला। वेगपूर्वक कुएँसे बाहर करके राजा ययाति उससे बोले—'भद्रे! अब जहाँ इच्छा हो जाओ। तुम्हें कोई भय नहीं है।' राजा ययातिके ऐसा कहनेपर देवयानीने उन्हें उत्तर देते हुए कहा—'तुम मुझे शीघ्र अपने साथ ले चलो; क्योंकि तुम मेरे प्रियतम हो। तुमने मेरा हाथ पकड़ा है, अतः तुम्हीं मेरे पति होओगे।' देवयानीके ऐसा कहनेपर राजा बोले—'भद्रे! मैं क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ हूँ और तुम ब्राह्मणकन्या हो। अतः मेरे साथ तुम्हारा समागम नहीं होना चाहिये। कल्याणी! भगवान् शुक्राचार्य सम्पूर्ण जगत्के गुरु हैं और तुम उनकी पुत्री हो, अतः मुझे उनसे भी डर लगता है। तुम मुझ-जैसे तुच्छ पुरुषके योग्य कदापि नहीं हो'।

देवयान्युवाच

यदि मद्वचनादद्य मां नेच्छसि नराधिप ।
त्वामेव वरये पित्रा पश्चाज्ज्ञास्यसि गच्छसि ।।)

देवयानी बोली—नरेश्वर! यदि तुम मेरे कहनेसे आज मुझे साथ ले जाना नहीं चाहते, तो मैं पिताजीके द्वारा भी तुम्हारा ही वरण करूँगी। फिर तुम मुझे अपने योग्य मानोगे और साथ ले चलोगे।

आमन्त्रयित्वा सुश्रोणीं ययातिः स्वपुरं ययौ ।
गते तु नाहुषे तस्मिन् देवयान्यप्यनिन्दिता ।। २४ ।।
(क्वचिदार्ता च रुदती वृक्षमाश्रित्य तिष्ठति ।
ततश्चिरायमाणायां दुहितर्याह भार्गवः ।।
धात्रि त्वमानय क्षिप्रं देवयानीं शुचिस्मिताम् ।
इत्युक्तमात्रे सा धात्री त्वरिताऽऽह्वयितुं गता ।।
यत्र यत्र सखीभिः सा गता पदममार्गत ।
सा ददर्श तथा दीनां श्रमार्तां रुदतीं स्थिताम् ।।

(वैशम्पायनजी कहते हैं—) तदनन्तर सुन्दरी देवयानीकी अनुमति लेकर राजा ययाति अपने नगरको चले गये। नहुषनन्दन ययातिके चले जानेपर सती-साध्वी देवयानी आर्त-भावसे रोती हुई कहीं किसी वृक्षका सहारा लेकर खड़ी रही। जब पुत्रीके घर लौटनेमें विलम्ब हुआ, तब शुक्राचार्यने धायसे कहा—'धाय! तू पवित्र हास्यवाली मेरी बेटी देवयानीको शीघ्र यहाँ बुला ला।' उनके इतना कहते ही धाय तुरंत उसे बुलाने चली गयी।

जहाँ-जहाँ देवयानी सखियोंके साथ गयी थी, वहाँ-वहाँ उसका पदचिह्न खोजती हुई धाय गयी और उसने पूर्वोक्त रूपसे श्रमपीड़ित एवं दीन होकर रोती हुई देवयानीको देखा।

धात्र्युवाच

वृत्तं ते किमिदं भद्रे शीघ्रं वद पिताऽऽह्वयत् ।
धात्रीमाह समाहूय शर्मिष्ठावृजिनं कृतम् ।।)
उवाच शोकसंतप्ता घूर्णिकामागतां पुरः ।

तब धायने पूछा—भद्रे! यह तुम्हारा क्या हाल है? शीघ्र बताओ। तुम्हारे पिताजीने तुम्हें बुलाया है। इसपर देवयानीने धायको अपने निकट बुलाकर शर्मिष्ठाद्वारा किये हुए अपराधको बताया। वह शोकसे संतप्त हो अपने सामने आयी हुई धाय घूर्णिकासे बोली।

देवयान्युवाच

त्वरितं घूर्णिके गच्छ शीघ्रमाचक्ष्व मे पितुः ।। २५ ।।
नेदानीं सम्प्रवेक्ष्यामि नगरं वृषपर्वणः ।

देवयानीने कहा—घूर्णिके! तुम वेगपूर्वक जाओ और शीघ्र मेरे पिताजीसे कह दो—'अब मैं वृषपर्वाके नगरमें पैर नहीं रखूँगी' ।। २२-२५१/२ ।।

वैशम्पायन उवाच

सा तत्र त्वरितं गत्वा घूर्णिकासुरमन्दिरम् ।। २६ ।।
दृष्ट्वा काव्यमुवाचेदं सम्भ्रमाविष्टचेतना ।
आचचक्षे महाप्राज्ञं देवयानीं वने हताम् ।। २७ ।।
शर्मिष्ठया महाभाग दुहित्रा वृषपर्वणः ।
श्रुत्वा दुहितरं काव्यस्तत्र शर्मिष्ठया हताम् ।। २८ ।।
त्वरया निर्ययौ दुःखान्मार्गमाणः सुतां वने ।
दृष्ट्वा दुहितरं काव्यो देवयानीं ततो वने ।। २९ ।।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य दुःखितो वाक्यमब्रवीत् ।
आत्मदोषैर्नियच्छन्ति सर्वे दुःखसुखे जनाः ।। ३० ।।
मन्ये दुश्चरितं तेऽस्ति यस्येयं निष्कृतिः कृता ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवयानीकी बात सुनकर घूर्णिका तुरंत असुरराजके महलमें गयी और वहाँ शुक्राचार्यको देखकर सम्भ्रमपूर्ण चित्तसे वह बात बतला दी। महाभाग! उसने महाप्राज्ञ शुक्राचार्यको यह बताया कि 'वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाके द्वारा देवयानी वनमें मृततुल्य कर दी गयी है।' अपनी पुत्रीको शर्मिष्ठा-द्वारा मृततुल्य की गयी सुनकर शुक्राचार्य बड़ी उतावलीके साथ निकले और दुःखी होकर उसे वनमें ढूँढ़ने लगे। तदनन्तर वनमें अपनी बेटी देवयानीको देखकर शुक्राचार्यने दोनों

भुजाओंसे उठाकर उसे हृदयसे लगा लिया और दुःखी होकर कहा—'बेटी! सब लोग अपने ही दोष और गुणोंसे—अशुभ या शुभ कर्मोंसे दुःख एवं सुखमें पड़ते हैं। मालूम होता है, तुमसे कोई बुरा कर्म बन गया था, जिसका बदला तुम्हें इस रूपमें मिला है' ।। २६-३०½ ।।

देवयान्युवाच

निष्कृतिर्मेऽस्तु वा मास्तु शृणुष्वावहितो मम ।। ३१ ।।

देवयानी बोली—पिताजी! मुझे अपने कर्मोंका फल मिले या न मिले, आप मेरी बात ध्यान देकर सुनिये ।। ३१ ।।

शर्मिष्ठया यदुक्तास्मि दुहित्रा वृषपर्वणः ।
सत्यं किलैतत् सा प्राह दैत्यानामसि गायनः ।। ३२ ।।

वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने आज मुझसे जो कुछ कहा है, क्या यह सच है? वह कहती है—'आप भाटोंकी तरह दैत्योंके गुण गाया करते हैं ।। ३२ ।।

एवं हि मे कथयति शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
वचनं तीक्ष्णपरुषं क्रोधरक्तेक्षणा भृशम् ।। ३३ ।।

वृषपर्वाकी लाड़िली शर्मिष्ठा क्रोधसे लाल आँखें करके आज मुझसे इस प्रकार अत्यन्त तीखे और कठोर वचन कह रही थी— ।। ३३ ।।

स्तुवतो दुहिता नित्यं याचतः प्रतिगृह्णतः ।
अहं तु स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ।। ३४ ।।

'देवयानी! तू स्तुति करनेवाले, नित्य भीख माँगनेवाले और दान लेनेवालेकी बेटी है और मैं तो उन महाराजकी पुत्री हूँ, जिनकी तुम्हारे पिता स्तुति करते हैं, जो स्वयं दान देते हैं और लेते एक धेला भी नहीं हैं' ।। ३४ ।।

इदं मामाह शर्मिष्ठा दुहिता वृषपर्वणः ।
क्रोधसंरक्तनयना दर्पपूर्णा पुनः पुनः ।। ३५ ।।

वृषपर्वाकी बेटी शर्मिष्ठाने आज मुझसे ऐसी बात कही है। कहते समय उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। वह भारी घमंडसे भरी हुई थी और उसने एक बार ही नहीं, अपितु बार-बार उपर्युक्त बातें दुहरायी हैं ।। ३५ ।।

यद्यहं स्तुवतस्तात दुहिता प्रतिगृह्णतः ।
प्रसादयिष्ये शर्मिष्ठामित्युक्ता तु सखी मया ।। ३६ ।।

तात! यदि सचमुच मैं स्तुति करनेवाले और दान लेनेवालेकी बेटी हूँ, तो मैं शर्मिष्ठाको अपनी सेवाओंद्वारा प्रसन्न करूँगी। यह बात मैंने अपनी सखीसे कह दी थी ।। ३६ ।।

(उक्ताप्येवं भृशं क्रुद्धा मां गृह्य विजने वने ।
कूपे प्रक्षेपयामास प्रक्षिप्यैव गृहं ययौ ।।)

मेरे ऐसा कहनेपर भी अत्यन्त क्रोधमें भरी हुई शर्मिष्ठाने उस निर्जन वनमें मुझे पकड़कर कुएँमें ढकेल दिया, उसके बाद वह अपने घर चली गयी।

शुक्र उवाच

स्तुवतो दुहिता न त्वं याचतः प्रतिगृह्णतः ।
अस्तोतुः स्तूयमानस्य दुहिता देवयान्यसि ।। ३७ ।।

शुक्राचार्यने कहा—देवयानी! तू स्तुति करनेवाले, भीख माँगनेवाले या दान लेनेवालेकी बेटी नहीं है। तू उस पवित्र ब्राह्मणकी पुत्री है, जो किसीकी स्तुति नहीं करता और जिसकी सब लोग स्तुति करते हैं ।। ३७ ।।

वृषपर्वैव तद् वेद शक्रो राजा च नाहुषः ।
अचिन्त्यं ब्रह्म निर्द्वन्द्वमैश्वरं हि बलं मम ।। ३८ ।।

इस बातको वृषपर्वा, देवराज इन्द्र तथा राजा ययाति जानते हैं। निर्द्वन्द्व अचिन्त्य ब्रह्म ही मेरा ऐश्वर्ययुक्त बल है ।। ३८ ।।

यच्च किंचित् सर्वगतं भूमौ वा यदि वा दिवि ।
तस्याहमीश्वरो नित्यं तुष्टेनोक्तः स्वयम्भुवा ।। ३९ ।।

ब्रह्माजीने संतुष्ट होकर मुझे वरदान दिया है; उसके अनुसार इस भूतलपर, देवलोकमें अथवा सब प्राणियोंमें जो कुछ भी है, उन सबका मैं सदा-सर्वदा स्वामी हूँ ।। ३९ ।।

अहं जलं विमुञ्चामि प्रजानां हितकाम्यया ।
पुष्णाम्योषधयः सर्वा इति सत्यं ब्रवीमि ते ।। ४० ।।

मैं ही प्रजाओंके हितके लिये पानी बरसाता हूँ और मैं ही सम्पूर्ण ओषधियोंका पोषण करता हूँ, यह तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ ।। ४० ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं विषादमापन्नां मन्युना सम्प्रपीडिताम् ।
वचनैर्मधुरैः श्लक्ष्णैः सान्त्वयामास तां पिता ।। ४१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवयानी इस प्रकार विषादमें डूबकर क्रोध और ग्लानिसे अत्यन्त कष्ट पा रही थी, उस समय पिताने सुन्दर मधुर वचनोंद्वारा उसे समझाया ।। ४१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्यानेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३ श्लोक मिलाकर कुल ५४ श्लोक हैं)

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

शुक्राचार्यद्वारा देवयानीको समझाना और देवयानीका असंतोष

शुक्र उवाच

(मम विद्या हि निर्द्वन्द्वा ऐश्वर्यं हि फलं मम ।
दैन्यं शाठ्यं च जैह्म्यं च नास्ति मे यदधर्मतः ।।)
यः परेषां नरो नित्यमतिवादांस्तितिक्षते ।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ।। १ ।।
यः समुत्पतितं क्रोधं निगृह्णाति हयं यथा ।
स यन्तेत्युच्यते सद्भिर्न यो रश्मिषु लम्बते ।। २ ।।

शुक्राचार्यने कहा—बेटी! मेरी विद्या द्वन्द्वरहित है। मेरा ऐश्वर्य ही उसका फल है। मुझमें दीनता, शठता, कुटिलता और अधर्मपूर्ण बर्ताव नहीं है। देवयानी! जो मनुष्य सदा दूसरोंके कठोर वचन (दूसरोंद्वारा की हुई अपनी निन्दा)-को सह लेता है, उसने इस सम्पूर्ण जगत्पर विजय प्राप्त कर ली, ऐसा समझो। जो उभरे हुए क्रोधको घोड़ेके समान वशमें कर लेता है, वही सत्पुरुषोंद्वारा सच्चा सारथि कहा गया है। किंतु जो केवल बागडोर या लगाम पकड़कर लटकता रहता है, वह नहीं ।। १-२ ।।

यः समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन निरस्यति ।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ।। ३ ।।

देवयानी! जो उत्पन्न हुए क्रोधको अक्रोध (क्षमाभाव)-के द्वारा मनसे निकाल देता है, समझ लो, उसने सम्पूर्ण जगत्को जीत लिया ।। ३ ।।

यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयेह निरस्यति ।
यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते ।। ४ ।।

जैसे साँप पुरानी केंचुल छोड़ता है, उसी प्रकार जो मनुष्य उभड़नेवाले क्रोधको यहाँ क्षमाद्वारा त्याग देता है, वही श्रेष्ठ पुरुष कहा गया है ।। ४ ।।

यः संधारयते मन्युं योऽतिवादांस्तितिक्षते ।
यश्च तप्तो न तपति दृढं सोऽर्थस्य भाजनम् ।। ५ ।।

जो क्रोधको रोक लेता है, निन्दा सह लेता है और दूसरेके सतानेपर भी दुःखी नहीं होता, वही सब पुरुषार्थोंका सुदृढ़ पात्र है ।। ५ ।।

यो यजेदपरिश्रान्तो मासि मासि शतं समाः ।
न क्रुद्ध्येयद् यश्च सर्वस्य तयोरक्रोधनोऽधिकः ।। ६ ।।

जो मनुष्य सौ वर्षोंतक प्रत्येक मासमें बिना किसी थकावटके निरन्तर यज्ञ करता रहता है और दूसरा जो किसीपर भी क्रोध नहीं करता, उन दोनोंमें क्रोध न करनेवाला ही श्रेष्ठ है ।। ६ ।।

(क्रुद्धस्य निष्फलान्येव दानयज्ञतपांसि च ।
तस्मादक्रोधने यज्ञस्तपो दानं महाफलम् ।।
न पूतो न तपस्वी च न यज्वा न च कर्मवित् ।
क्रोधस्य यो वशं गच्छेत् तस्य लोकद्वयं न च ।।
पुत्रभृत्यसुहृन्मित्रभार्या धर्मश्च सत्यता ।
तस्यैतान्यपयास्यन्ति क्रोधशीलस्य निश्चितम् ।।)
यत् कुमाराः कुमार्यश्च वैरं कुर्युरचेतसः ।
न तत् प्राज्ञोऽनुकुर्वीत न विदुस्ते बलाबलम् ।। ७ ।।

क्रोधीके यज्ञ, दान और तप—सभी निष्फल होते हैं। अतः जो क्रोध नहीं करता, उसी पुरुषके यज्ञ, तप और दान महान् फल देनेवाले होते हैं। जो क्रोधके वशीभूत हो जाता है, वह कभी पवित्र नहीं होता तथा तपस्या भी नहीं कर सकता। उसके द्वारा यज्ञका अनुष्ठान भी सम्भव नहीं है और वह कर्मके रहस्यको भी नहीं जानता। इतना ही नहीं, उसके लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। जो स्वभावसे ही क्रोधी है, उसके पुत्र, भृत्स, सुहृद्, मित्र, पत्नी, धर्म और सत्य—ये सभी निश्चय ही उसे छोड़कर दूर चले जायँगे। अबोध बालक और बालिकाएँ अज्ञानवश आपसमें जो वैर-विरोध करते हैं, उसका अनुकरण समझदार मनुष्योंको नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे नादान बालक दूसरोंके बलाबलको नहीं जानते ।। ७ ।।

देवयान्युवाच

वेदाहं तात बालापि धर्माणां यदिहान्तरम् ।
अक्रोधे चातिवादे च वेद चापि बलाबलम् ।। ८ ।।

देवयानीने कहा—पिताजी! यद्यपि मैं अभी बालिका हूँ फिर भी धर्म-अधर्मका अन्तर समझती हूँ। क्षमा और निन्दाकी सबलता और निर्बलताका भी मुझे ज्ञान है ।। ८ ।।

शिष्यस्याशिष्यवृत्तेस्तु न क्षन्तव्यं बुभूषता ।
तस्मात् संकीर्णवृत्तेषु वासो मम न रोचते ।। ९ ।।

परंतु जो शिष्य होकर भी शिष्योचित बर्ताव नहीं करता, अपना हित चाहनेवाले गुरुको उसकी धृष्टता क्षमा नहीं करनी चाहिये। इसलिये इन संकीर्ण आचार-विचारवाले दानवोंके बीच निवास करना अब मुझे अच्छा नहीं लगता ।। ९ ।।

पुमांसो ये हि निन्दन्ति वृत्तेनाभिजनेन च ।
न तेषु निवसेत् प्राज्ञः श्रेयोऽर्थी पापबुद्धिषु ।। १० ।।

जो पुरुष दूसरोंके सदाचार और कुलकी निन्दा करते हैं, उन पापपूर्ण विचारवाले मनुष्योंमें कल्याणकी इच्छावाले विद्वान् पुरुषको नहीं रहना चाहिये ।। १० ।।

ये त्वेनमभिजानन्ति वृत्तेनाभिजनेन वा ।
तेषु साधुषु वस्तव्यं स वासः श्रेष्ठ उच्यते ।। ११ ।।

जो लोग आचार, व्यवहार अथवा कुलीनताकी प्रशंसा करते हों, उन साधु पुरुषोंमें ही निवास करना चाहिये और वही निवास श्रेष्ठ कहा जाता है ।। ११ ।।

(सुयन्त्रिता वरा नित्यं विहीनाश्च धनैर्नराः ।
दुर्वृत्ताः पापकर्माणश्चाण्डाला धनिनोऽपि वा ।।
अकारणाद् ये द्विषन्ति परिवादं वदन्ति च ।
न तत्रास्य निवासोऽस्ति पाप्मभिः पापतां व्रजेत् ।।
सुकृते दुष्कृते वापि यत्र सज्जति यो नरः ।
ध्रुवं रतिर्भवेत् तत्र तस्माद् दोषं न रोचयेत् ।।)
वाग् दुरुक्तं महाघोरं दुहितुर्वृषपर्वणः ।
मम मथ्नाति हृदयमग्निकाम इवारणिम् ।। १२ ।।

धनहीन मनुष्य भी यदि सदा अपने मनपर संयम रखें तो वे श्रेष्ठ हैं और धनवान् भी यदि दुराचारी तथा पापकर्मी हों, तो वे चाण्डालके समान हैं। जो अकारण किसीके साथ द्वेष करते हैं और दूसरोंकी निन्दा करते रहते हैं, उनके बीचमें सत्पुरुषका निवास नहीं होना चाहिये; क्योंकि पापियोंके संगसे मनुष्य पापात्मा हो जाता है। मनुष्य पाप अथवा पुण्य जिसमें भी आसक्त होता है, उसीमें उसकी दृढ़ प्रीति हो जाती है, इसलिये पापकर्ममें प्रीति नहीं करनी चाहिये। तात! वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने जो अत्यन्त भयंकर दुर्वचन कहा है, वह मेरे हृदयको मथ रहा है। ठीक उसी तरह, जैसे अग्नि प्रकट करनेकी इच्छावाला पुरुष अरणीकाष्ठका मन्थन करता है ।। १२ ।।

न ह्यतो दुष्करतरं मन्ये लोकेष्वपि त्रिषु ।
(निःसंशयो विशेषेण परुषं मर्मकृन्तनम् ।
सुहृन्मित्रजनास्तेषु सौहृदं न च कुर्वते ।।)
यः सपत्नश्रियं दीप्तां हीनश्रीः पर्युपासते ।
मरणं शोभनं तस्य इति विद्वज्जना विदुः ।। १३ ।।

इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात मैं अपने लिये तीनों लोकोंमें और कुछ नहीं मानती हूँ। इसमें संदेह नहीं कि कटुवचन मर्मस्थलोंको विदीर्ण करनेवाला होता है। कटुवादी मनुष्योंसे उनके सगे-सम्बन्धी और मित्र भी प्रेम नहीं करते हैं। जो श्रीहीन होकर शत्रुओंकी चमकती हुई लक्ष्मीकी उपासना करता है, उस मनुष्यका तो मर जाना ही अच्छा है; ऐसा विद्वान् पुरुष अनुभव करते हैं ।। १३ ।।

(अवमानमवाप्नोति शनैर्नीचेषु सङ्गतः ।

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
शनैर्दुःखं शस्त्रविषाग्निजातं
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ।।
संरोहति शरैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ।।)

नीच पुरुषोंके संगसे मनुष्य धीरे-धीरे अपमानित हो जाता है। मुखसे जो कटुवचनरूपी बाण छूटते हैं, उनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोकमें डूबा रहता है। शस्त्र, विष और अग्निसे प्राप्त होनेवाला दुःख शनैः-शनैः अनुभवमें आता है (परंतु कटुवचन तत्काल ही अत्यन्त कष्ट देने लगता है)। अतः विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह दूसरोंपर वाग्बाण न छोड़े। बाणसे बिंधा हुआ वृक्ष और फरसेसे काटा हुआ जंगल फिर पनप जाता है, परंतु वाणीद्वारा जो भयानक कटु वचन निकलता है, उससे घायल हुए हृदयका घाव फिर नहीं भरता।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने एकोनाशीतितमोऽध्यायः ।। ७९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १० १/२ श्लोक मिलाकर कुल २३ १/२ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

शुक्राचार्यका वृषपर्वाको फटकारना तथा उसे छोड़कर जानेके लिये उद्यत होना और वृषपर्वाके आदेशसे शर्मिष्ठाका देवयानीकी दासी बनकर शुक्राचार्य तथा देवयानीको संतुष्ट करना

वैशम्पायन उवाच

ततः काव्यो भृगुश्रेष्ठः समन्युरुपगम्य ह ।
वृषपर्वाणमासीनमित्युवाचाविचारयन् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवयानीकी बात सुनकर भृगुश्रेष्ठ शुक्राचार्य बड़े क्रोधमें भरकर वृषपर्वाके समीप गये। वह राजसिंहासनपर बैठा हुआ था। शुक्राचार्यजीने बिना कुछ सोचे-विचारे उससे इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ।। १ ।।

नाधर्मश्चरितो राजन् सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्यमानो हि कर्तुर्मूलानि कृन्तति ।। २ ।।

'राजन्! जो अधर्म किया जाता है, उसका फल तुरंत नहीं मिलता। जैसे गायकी सेवा करनेपर धीरे-धीरे कुछ कालके बाद वह ब्याती और दूध देती है अथवा धरतीको जोत-बोकर बीज डालनेसे कुछ कालके बाद पौधा उगता और यथासमय फल देता है, उसी प्रकार किया जानेवाला अधर्म धीरे-धीरे कर्ताकी जड़ काट देता है ।। २ ।।

पुत्रेषु वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति ।
फलत्येव ध्रुवं पापं गुरु भुक्तमिवोदरे ।। ३ ।।

'यदि वह (पापसे उपार्जित द्रव्यका) दुष्परिणाम अपने ऊपर नहीं दिखायी देता तो उस अन्यायोपार्जित द्रव्यका उपभोग करनेके कारण पुत्रों अथवा नाती-पोतोंपर अवश्य प्रकट होता है। जैसे खाया हुआ गरिष्ठ अन्न तुरंत नहीं तो कुछ देर बाद अवश्य ही पेटमें उपद्रव करता है, उसी प्रकार किया हुआ पाप भी निश्चय ही अपना फल देता है' ।। ३ ।।

(अधीयानं हितं राजन् क्षमावन्तं जितेन्द्रियम् ।)
यदघातयिथा विप्रं कचमाङ्गिरसं तदा ।
अपापशीलं धर्मज्ञं शुश्रूषुं मद्गृहे रतम् ।। ४ ।।

'राजन्! अंगिराके पौत्र कच विशुद्ध ब्राह्मण हैं। वे स्वाध्याय-परायण, हितैषी, क्षमावान् और जितेन्द्रिय हैं, स्वभावसे ही निष्पाप और धर्मज्ञ हैं तथा उन दिनों मेरे घरमें रहकर निरन्तर मेरी सेवामें संलग्न थे, परंतु तुमने उनका बार-बार वध करवाया था ।। ४ ।।

वधादनर्हतस्तस्य वधाच्च दुहितुर्मम ।

वृषपर्वन् निबोधेदं त्यक्ष्यामि त्वां सबान्धवम् ।
स्थातुं त्वद्विषये राजन् न शक्ष्यामि त्वया सह ।। ५ ।।

'वृषपर्वन्! ध्यान देकर मेरी यह बात सुन लो, तुम्हारे द्वारा पहले वधके अयोग्य ब्राह्मणका वध किया गया है और अब मेरी पुत्री देवयानीका भी वध करनेके लिये उसे कुएँमें ढकेला गया है। इन दोनों हत्याओंके कारण मैं तुमको और तुम्हारे भाई-बन्धुओंको त्याग दूँगा। राजन्! तुम्हारे राज्यमें और तुम्हारे साथ मैं एक क्षण भी नहीं ठहर सकूँगा ।। ५ ।।

अहो मामभिजानासि दैत्य मिथ्याप्रलापिनम् ।
यथेममात्मनो दोषं न नियच्छस्युपेक्षसे ।। ६ ।।

'दैत्यराज! बड़े आश्चर्यकी बात है कि तुमने मुझे मिथ्यावादी समझ लिया। तभी तो तुम अपने इस दोषको दूर नहीं करते और लापरवाही दिखाते हो' ।। ६ ।।

वृषपर्वोवाच

(यदि ब्रह्मन् घातयामि यदि वाऽऽक्रोशयाम्यहम् ।
शर्मिष्ठया देवयानीं तेन गच्छाम्यसद्गतिम् ।।)

वृषपर्वा बोले—ब्रह्मन्! यदि मैं शर्मिष्ठासे देवयानीको पिटवाता या तिरस्कृत करवाता होऊँ तो इस पापसे मुझे सद्गति न मिले।

नाधर्मं न मृषावादं त्वयि जानामि भार्गव ।
त्वयि धर्मश्च सत्यं च तत् प्रसीदतु नो भवान् ।। ७ ।।
यद्यस्मानपहाय त्वमितो गच्छसि भार्गव ।
समुद्रं सम्प्रवेक्ष्यामो नान्यदस्ति परायणम् ।। ८ ।।

भृगुनन्दन! आपपर अधर्म अथवा मिथ्याभाषणका दोष मैंने कभी लगाया हो, यह मैं नहीं जानता। आपमें तो सदा धर्म और सत्य प्रतिष्ठित हैं। अतः आप हमलोगोंपर कृपा करके प्रसन्न होइये। भार्गव! यदि आप हमें छोड़कर चले जाते हैं तो हम सब लोग समुद्रमें समा जायँगे; हमारे लिये दूसरी कोई गति नहीं है ।। ७-८ ।।

(यद्येव देवान् गच्छेस्त्वं मां च त्यक्त्वा ग्रहाधिप ।
सर्वत्यागं ततः कृत्वा प्रविशामि हुताशनम् ।।)

ग्रहेश्वर! यदि आप मुझे छोड़कर देवताओंके पक्षमें चले जायँगे तो मैं भी सर्वस्व त्याग कर जलती आगमें कूद पड़ूँगा।

शुक्र उवाच

समुद्रं प्रविशध्वं वा दिशो वा द्रवतासुराः ।
दुहितुर्नाप्रियं सोढुं शक्तोऽहं दयिता हि मे ।। ९ ।।

शुक्राचार्यने कहा—असुरो! तुमलोग समुद्रमें घुस जाओ अथवा चारों दिशाओंमें भाग जाओ; मैं अपनी पुत्रीके प्रति किया गया अप्रिय बर्ताव नहीं सह सकता; क्योंकि वह मुझे अत्यन्त प्रिय है ।। ९ ।।

प्रसाद्यतां देवयानी जीवितं यत्र मे स्थितम् ।
योगक्षेमकरस्तेऽहमिन्द्रस्येव बृहस्पतिः ।। १० ।।

तुम देवयानीको प्रसन्न करो, क्योंकि उसीमें मेरे प्राण बसते हैं। उसके प्रसन्न हो जानेपर इन्द्रके पुरोहित बृहस्पतिकी भाँति मैं तुम्हारे योगक्षेमका वहन करता रहूँगा ।। १० ।।

वृषपर्वोवाच

यत् किंचिदसुरेन्द्राणां विद्यते वसु भार्गव ।
भुवि हस्तिगवाश्वं च तस्य त्वं मम चेश्वरः ।। ११ ।।

वृषपर्वा बोले—भृगुनन्दन! असुरेश्वरोंके पास इस भूतलपर जो कुछ भी सम्पत्ति तथा हाथी-घोड़े और गाय आदि पशुधन है, उसके और मेरे भी आप ही स्वामी हैं ।। ११ ।।

शुक्र उवाच

यत् किंचिदस्ति द्रविणं दैत्येन्द्राणां महासुर ।
तस्येश्वरोऽस्मि यद्येषा देवयानी प्रसाद्यताम् ।। १२ ।।

शुक्राचार्यने कहा—महान् असुर! दैत्यराजोंका जो कुछ भी धन-वैभव है, यदि उसका स्वामी मैं ही हूँ तो उसके द्वारा इस देवयानीको प्रसन्न करो ।। १२ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तथेत्याह वृषपर्वा महाकविः ।
देवयान्यन्तिकं गत्वा तमर्थं प्राह भार्गवः ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शुक्राचार्यके ऐसा कहनेपर वृषपर्वाने ‘तथास्तु’ कहकर उनकी आज्ञा मान ली। तदनन्तर दोनों देवयानीके पास गये और महाकवि शुक्राचार्यने वृषपर्वाकी कही हुई सारी बात कह सुनायी ।। १३ ।।

देवयान्युवाच

यदि त्वमीश्वरस्तात राज्ञो वित्तस्य भार्गव ।
नाभिजानामि तत् तेऽहं राजा तु वदतु स्वयम् ।। १४ ।।

तब देवयानीने कहा—तात! यदि आप राजाके धनके स्वामी हैं तो आपके कहनेसे मैं इस बातको नहीं मानूँगी। राजा स्वयं कहें, तो मुझे विश्वास होगा ।। १४ ।।

वृषपर्वोवाच

यं काममभिकामासि देवयानि शुचिस्मिते ।

तत् तेऽहं सम्प्रदास्यामि यदि वापि हि दुर्लभम् ।। १५ ।।

वृषपर्वा बोले—पवित्र मुसकानवाली देवयानी! तुम जिस वस्तुको पाना चाहती हो, वह यदि दुर्लभ हो तो भी तुम्हें अवश्य दूँगा ।। १५ ।।

देवयान्युवाच

दासीं कन्यासहस्रेण शर्मिष्ठामभिकामये ।
अनु मां तत्र गच्छेत् सा यत्र दद्याच्च मे पिता ।। १६ ।।

देवयानीने कहा—मैं चाहती हूँ, शर्मिष्ठा एक हजार कन्याओंके साथ मेरी दासी होकर रहे और पिताजी जहाँ मेरा विवाह करें, वहाँ भी वह मेरे साथ जाय ।। १६ ।।

वृषपर्वोवाच

उत्तिष्ठ त्वं गच्छ धात्रि शर्मिष्ठां शीघ्रमानय ।
यं च कामयते कामं देवयानी करोतु तम् ।। १७ ।।

यह सुनकर वृषपर्वाने धायसे कहा—धात्री! तुम उठो, जाओ और शर्मिष्ठाको शीघ्र बुला लाओ एवं देवयानीकी जो कामना हो, उसे वह पूर्ण करे ।। १७ ।।

(त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।।)

कुलके हितके लिये एक मनुष्यको त्याग दे। गाँवके भलेके लिये एक कुलको छोड़ दे। जनपदके लिये एक गाँवकी उपेक्षा कर दे और आत्मकल्याणके लिये सारी पृथ्वीको त्याग दे।

वैशम्पायन उवाच

ततो धात्री तत्र गत्वा शर्मिष्ठां वाक्यमब्रवीत् ।
उत्तिष्ठ भद्रे शर्मिष्ठे ज्ञातीनां सुखमावह ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब धायने शर्मिष्ठाके पास जाकर कहा—‘भद्रे शर्मिष्ठे! उठो और अपने जाति-भाइयोंको सुख पहुँचाओ ।। १८ ।।

त्यजति ब्राह्मणः शिष्यान् देवयान्या प्रचोदितः ।
सा यं कामयते कामं स कार्योऽद्य त्वयानघे ।। १९ ।।

‘पापरहित राजकुमारी! आज बाबा शुक्राचार्य देवयानीके कहनेसे अपने शिष्यों—यजमानोंको त्याग रहे हैं। अतः देवयानीकी जो कामना हो, वह तुम्हें पूर्ण करनी चाहिये’ ।। १९ ।।

शर्मिष्ठोवाच

यं सा कामयते कामं करवाण्यहमद्य तम् ।
यद्येवमाह्वयेच्छुक्रो देवयानीकृते हि माम् ।

मद्दोषान्मा गमच्छुक्रो देवयानी च मत्कृते ।। २० ।।

शर्मिष्ठा बोली—यदि इस प्रकार देवयानीके लिये ही शुक्राचार्यजी मुझे बुला रहे हैं तो देवयानी जो कुछ चाहती है, वह सब आजसे मैं करूँगी। मेरे अपराधसे शुक्राचार्यजी न जायँ और देवयानी भी मेरे कारण अन्यत्र जानेका विचार न करे ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः कन्यासहस्रेण वृता शिबिकया तदा ।
पितुर्नियोगात् त्वरिता निश्चक्राम पुरोत्तमात् ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पिताकी आज्ञासे राजकुमारी शर्मिष्ठा शिबिकापर आरूढ़ हो तुरंत राजधानीसे बाहर निकली। उस समय वह एक सहस्र कन्याओंसे घिरी हुई थी ।। २१ ।।

शर्मिष्ठोवाच

अहं दासीसहस्रेण दासी ते परिचारिका ।
अनु त्वां तत्र यास्यामि यत्र दास्यति ते पिता ।। २२ ।।

शर्मिष्ठा बोली—देवयानी! मैं एक सहस्र दासियोंके साथ तुम्हारी दासी बनकर सेवा करूँगी और तुम्हारे पिता जहाँ भी तुम्हारा ब्याह करेंगे, वहाँ तुम्हारे साथ चलूँगी ।। २२ ।।

देवयान्युवाच

स्तुवतो दुहिताहं ते याचतः प्रतिगृह्णतः ।
स्तूयमानस्य दुहिता कथं दासी भविष्यसि ।। २३ ।।

देवयानीने कहा—अरी! मैं तो स्तुति करनेवाले और दान लेनेवाले भिक्षुककी पुत्री हूँ और तुम उस बड़े बापकी बेटी हो, जिसकी मेरे पिता स्तुति करते हैं; फिर मेरी दासी बनकर कैसे रहोगी ।। २३ ।।

शर्मिष्ठोवाच

येन केनचिदार्तानां ज्ञातीनां सुखमावहेत् ।
अतस्त्वामनुयास्यामि यत्र दास्यति ते पिता ।। २४ ।।

शर्मिष्ठा बोली—जिस किसी उपायसे भी सम्भव हो, अपने विपद्ग्रस्त जाति-भाइयोंको सुख पहुँचाना चाहिये। अतः तुम्हारे पिता जहाँ तुम्हें देंगे, वहाँ भी मैं तुम्हारे साथ चलूँगी ।। २४ ।।

वैशम्पायन उवाच

प्रतिश्रुते दासभावे दुहित्रा वृषपर्वणः ।
देवयानी नृपश्रेष्ठ पितरं वाक्यमब्रवीत् ।। २५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! जब वृषपर्वाकी पुत्रीने दासी होनेकी प्रतिज्ञा कर ली, तब देवयानीने अपने पितासे कहा ।। २५ ।।

देवयान्युवाच

प्रविशामि पुरं तात तुष्टास्मि द्विजसत्तम ।
अमोघं तव विज्ञानमस्ति विद्याबलं च ते ।। २६ ।।

देवयानी बोली—पिताजी! अब मैं नगरमें प्रवेश करूँगी। द्विजश्रेष्ठ! अब मुझे विश्वास हो गया कि आपका विज्ञान और आपकी विद्याका बल अमोघ है ।। २६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो दुहित्रा स द्विजश्रेष्ठो महायशाः ।
प्रविवेश पुरं हृष्टः पूजितः सर्वदानवैः ।। २७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपनी पुत्री देवयानीके ऐसा कहनेपर महायशस्वी द्विजश्रेष्ठ शुक्राचार्यने समस्त दानवोंसे पूजित एवं प्रसन्न होकर नगरमें प्रवेश किया ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्यानेऽशीतितमोऽध्यायः ।। ८० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८० ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ३२½ श्लोक हैं)

एकाशीतितमोऽध्यायः

सखियोंसहित देवयानी और शर्मिष्ठाका वन-विहार, राजा ययातिका आगमन, देवयानीकी उनके साथ बातचीत तथा विवाह

वैशम्पायन उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य देवयानी नृपोत्तम ।
वनं तदेव निर्याता क्रीडार्थं वरवर्णिनी ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् उत्तम वर्णवाली देवयानी फिर उसी वनमें विहारके लिये गयी ।। १ ।।

तेन दासीसहस्रेण सार्धं शर्मिष्ठया तदा ।
तमेव देशं सम्प्राप्ता यथाकामं चचार सा ।। २ ।।
ताभिः सखीभिः सहिता सर्वाभिर्मुदिता भृशम् ।
क्रीडन्त्योऽभिरताः सर्वाः पिबन्त्यो मधुमाधवीम् ।। ३ ।।
खादन्त्यो विविधान् भक्ष्यान् विदशन्त्यः फलानि च ।
पुनश्च नाहुषो राजा मृगलिप्सुर्यदृच्छया ।। ४ ।।
तमेव देशं सम्प्राप्तो जलार्थी श्रमकर्शितः ।
ददृशे देवयानीं स शर्मिष्ठां ताश्च योषितः ।। ५ ।।

उस समय उसके साथ एक हजार दासियोंसहित शर्मिष्ठा भी सेवामें उपस्थित थी। वनके उसी प्रदेशमें जाकर वह उन समस्त सखियोंके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक इच्छानुसार विचरने लगी। वे सभी किशोरियाँ वहाँ भाँति-भाँतिके खेल खेलती हुई आनन्दमें मग्न हो गयीं। वे कभी वासन्तिक पुष्पोंके मकरन्दका पान करतीं, कभी नाना प्रकारके भोज्य पदार्थोंका स्वाद लेतीं और कभी फल खाती थीं। इसी समय नहुषपुत्र राजा ययाति पुनः शिकार खेलनेके लिये दैवेच्छासे उसी स्थानपर आ गये। वे परिश्रम करनेके कारण अधिक थक गये थे और जल पीना चाहते थे। उन्होंने देवयानी, शर्मिष्ठा तथा अन्य युवतियोंको भी देखा ।। २—५ ।।

पिबन्तीर्ललमानाश्च दिव्याभरणभूषिताः ।
(आसने प्रवरे दिव्ये सर्वाभरणभूषिते ।)
उपविष्टां च ददृशे देवयानीं शुचिस्मिताम् ।। ६ ।।

वे सभी दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो पीनेयोग्य रसका पान और भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ कर रही थीं। राजाने पवित्र मुसकानवाली देवयानीको वहाँ समस्त आभूषणोंसे

विभूषित परम सुन्दर दिव्य आसनपर बैठी हुई देखा ।। ६ ।।

रूपेणाप्रतिमां तासां स्त्रीणां मध्ये वराङ्गनाम् ।
शर्मिष्ठया सेव्यमानां पादसंवाहनादिभिः ।। ७ ।।

उसके रूपकी कहीं तुलना नहीं थी। वह सुन्दरी उन स्त्रियोंके मध्यमें बैठी हुई थी और शर्मिष्ठाद्वारा उसकी चरणसेवा की जा रही थी ।। ७ ।।

ययातिरुवाच

द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां द्वे कन्ये परिवारिते ।
गोत्रे च नामनी चैव द्वयोः पृच्छाम्यहं शुभे ।। ८ ।।

ययातिने पूछा—दो हजार* कुमारी सखियोंसे घिरी हुई कन्याओ! मैं आप दोनोंके गोत्र और नाम पूछ रहा हूँ। शुभे! आप दोनों अपना परिचय दें ।। ८ ।।

देवयान्युवाच

आख्यास्याम्यहमादत्स्व वचनं मे नराधिप ।
शुक्रो नामासुरगुरुः सुतां जानीहि तस्य माम् ।। ९ ।।

देवयानी बोली—महाराज! मैं स्वयं परिचय देती हूँ, आप मेरी बात सुनें। असुरोंके जो सुप्रसिद्ध गुरु शुक्राचार्य हैं, मुझे उन्हींकी पुत्री जानिये ।। ९ ।।

इयं च मे सखी दासी यत्राहं तत्र गामिनी ।
दुहिता दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा वृषपर्वणः ।। १० ।।

यह दानवराज वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा मेरी सखी और दासी है। मैं विवाह होनेपर जहाँ जाऊँगी, वहाँ यह भी जायगी ।। १० ।।

ययातिरुवाच

कथं तु ते सखी दासी कन्येयं वरवर्णिनी ।
असुरेन्द्रसुता सुभ्रूः परं कौतूहलं हि मे ।। ११ ।।

ययाति बोले—सुन्दरी! यह असुरराजकी रूपवती कन्या सुन्दर भौंहोंवाली शर्मिष्ठा आपकी सखी और दासी किस प्रकार हुई? यह बताइये। इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ।। ११ ।।

देवयान्युवाच

सर्व एव नरश्रेष्ठ विधानमनुवर्तते ।
विधानविहितं मत्वा मा विचित्राः कथाः कृथाः ।। १२ ।।

देवयानी बोली—नरश्रेष्ठ! सब लोग दैवके विधानका ही अनुसरण करते हैं। इसे भी भाग्यका विधान मानकर संतोष कीजिये। इस विषयकी विचित्र घटनाओंको न पूछिये ।। १२ ।।

राजवद् रूपवेषौ ते ब्राह्मीं वाचं बिभर्षि च ।
को नाम त्वं कुतश्चासि कस्य पुत्रश्च शंस मे ।। १३ ।।

आपके रूप और वेष राजाके समान हैं और आप ब्राह्मी वाणी (विशुद्ध संस्कृत भाषा) बोल रहे हैं। मुझे बताइये; आपका क्या नाम है, कहाँसे आये हैं और किसके पुत्र हैं? ।। १३ ।।

ययातिरुवाच

ब्रह्मचर्येण वेदो मे कृत्स्नः श्रुतिपथं गतः ।
राजाहं राजपुत्रश्च ययातिरिति विश्रुतः ।। १४ ।।

ययातिने कहा—मैंने ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक सम्पूर्ण वेदका अध्ययन किया है। मैं राजा नहुषका पुत्र हूँ और इस समय स्वयं राजा हूँ। मेरा नाम ययाति है ।। १४ ।।

देवयान्युवाच

केनास्यर्थेन नृपते इमं देशमुपागतः ।
जिघृक्षुर्वारिजं किंचिदथवा मृगलिप्सया ।। १५ ।।

देवयानीने पूछा—महाराज! आप किस कार्यसे वनके इस प्रदेशमें आये हैं? आप जल अथवा कमल लेना चाहते हैं या शिकारकी इच्छासे ही आये हैं? ।। १५ ।।

ययातिरुवाच

मृगलिप्सुरहं भद्रे पानीयार्थमुपागतः ।
बहुधाप्यनुयुक्तोऽस्मि तदनुज्ञातुमर्हसि ।। १६ ।।

ययातिने कहा—भद्रे! मैं एक हिंसक पशुको मारनेके लिये उसका पीछा कर रहा था, इससे बहुत थक गया हूँ और पानी पीनेके लिये यहाँ आया हूँ। अतः अब मुझे आज्ञा दीजिये ।। १६ ।।

देवयान्युवाच

द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां दास्या शर्मिष्ठया सह ।
त्वदधीनास्मि भद्रं ते सखा भर्ता च मे भव ।। १७ ।।

देवयानीने कहा—राजन्! आपका कल्याण हो। मैं दो हजार कन्याओं तथा अपनी सेविका शर्मिष्ठाके साथ आपके अधीन होती हूँ। आप मेरे सखा और पति हो जायँ ।। १७ ।।

ययातिरुवाच

विद्ध्यौशनसि भद्रं ते न त्वामर्होऽस्मि भाविनि ।
अविवाह्या हि राजानो देवयानि पितुस्तव ।। १८ ।।

ययाति बोले—शुक्रनन्दिनी देवयानी! आपका भला हो। भाविनि! मैं आपके योग्य नहीं हूँ। क्षत्रियलोग आपके पितासे कन्यादान लेनेके अधिकारी नहीं हैं ।। १८ ।।

देवयान्युवाच

संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं क्षत्रेण ब्रह्म संहितम् ।
ऋषिश्चाप्यृषिपुत्रश्च नाहुषाङ्ग वहस्व माम् ।। १९ ।।

देवयानीने कहा—नहुषनन्दन! ब्राह्मणसे क्षत्रिय जाति और क्षत्रियसे ब्राह्मण जाति मिली हुई है। आप राजर्षिके पुत्र हैं और स्वयं भी राजर्षि हैं। अतः मुझसे विवाह कीजिये ।। १९ ।।

ययातिरुवाच

एकदेहोद्भवा वर्णाश्चत्वारोऽपि वराङ्गने ।
पृथग्धर्माः पृथक्छौचास्तेषां तु ब्राह्मणो वरः ।। २० ।।

ययाति बोले—वरांगने! एक ही परमेश्वरके शरीरसे चारों वर्णोंकी उत्पत्ति हुई है; परंतु सबके धर्म और शौचाचार अलग-अलग हैं। ब्राह्मण उन सब वर्णोंमें श्रेष्ठ हैं ।। २० ।।

देवयान्युवाच

पाणिधर्मो नाहुषायं न पुम्भिः सेवितः पुरा ।
तं मे त्वमग्रहीरग्रे वृणोमि त्वामहं ततः ।। २१ ।।

देवयानीने कहा—नहुषकुमार! नारीके लिये पाणिग्रहण एक धर्म है। पहले किसी भी पुरुषने मेरा हाथ नहीं पकड़ा था। सबसे पहले आपहीने मेरा हाथ पकड़ा था। इसलिये आपहीका मैं पतिरूपमें वरण करती हूँ ।। २१ ।।

कथं नु मे मनस्विन्याः पाणिमन्यः पुमान् स्पृशेत् ।
गृहीतमृषिपुत्रेण स्वयं वाप्यृषिणा त्वया ।। २२ ।।

मैं मनको वशमें रखनेवाली स्त्री हूँ। आप-जैसे राजर्षिकुमार अथवा राजर्षिद्वारा पकड़े गये मेरे हाथका स्पर्श अब दूसरा पुरुष कैसे कर सकता है ।। २२ ।।

ययातिरुवाच

क्रुद्धादाशीविषात् सर्पाज्ज्वलनात् सर्वतोमुखात् ।
दुराधर्षतरो विप्रो ज्ञेयः पुंसा विजानता ।। २३ ।।

ययाति बोले—देवि! विज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह ब्राह्मणको क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्प तथा सब ओरसे प्रज्वलित अग्निसे भी अधिक दुर्धर्ष एवं भयंकर समझे ।। २३ ।।

देवयान्युवाच

कथमाशीविषात् सर्पाज्ज्वलनात् सर्वतोमुखात् ।

दुराधर्षतरो विप्र इत्यात्थ पुरुषर्षभ ।। २४ ।।

देवयानीने कहा—पुरुषप्रवर! ब्राह्मण विषधर सर्प और सब ओरसे प्रज्वलित होनेवाली अग्निसे भी दुर्धर्ष एवं भयंकर है, यह बात आपने कैसे कही? ।। २४ ।।

ययातिरुवाच

एकमाशीविषो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
हन्ति विप्रः सराष्ट्राणि पुराण्यपि हि कोपितः ।। २५ ।।
दुराधर्षतरो विप्रस्तस्माद् भीरु मतो मम ।
अतोऽदत्तां च पित्रा त्वां भद्रे न विवहाम्यहम् ।। २६ ।।

ययाति बोले—भद्रे! सर्प एकको ही मारता है, शस्त्रसे भी एक ही व्यक्तिका वध होता है; परंतु क्रोधमें भरा हुआ ब्राह्मण समस्त राष्ट्र और नगरका भी नाश कर देता है। भीरु! इसलिये मैं ब्राह्मणको अधिक दुर्धर्ष मानता हूँ। अतः जबतक आपके पिता आपको मेरे हवाले न कर दें, तबतक मैं आपसे विवाह नहीं करूँगा ।। २५-२६ ।।

देवयान्युवाच

दत्तां वहस्व तन्मा त्वं पित्रा राजन् वृतो मया ।
अयाचतो भयं नास्ति दत्तां च प्रतिगृह्णतः ।। २७ ।।
(तिष्ठ राजन् मुहूर्तं तु प्रेषयिष्याम्यहं पितुः ।

देवयानीने कहा—राजन्! मैंने आपका वरण कर लिया है, अब आप मेरे पिताके देनेपर ही मुझसे विवाह करें। आप स्वयं तो उनसे याचना करते नहीं हैं; उनके देनेपर ही मुझे स्वीकार करेंगे। अतः आपको उनके कोपका भय नहीं है। राजन्! दो घड़ी ठहर जाइये। मैं अभी पिताके पास संदेश भेजती हूँ ।। २७ ।।

गच्छ त्वं धात्रिके शीघ्रं ब्रह्मकल्पमिहानय ।।
स्वयंवरे वृतं शीघ्रं निवेदय च नाहुषम् ।।)

धाय! शीघ्र जाओ और मेरे ब्रह्मतुल्य पिताको यहाँ बुला ले आओ। उनसे यह भी कह देना कि देवयानीने स्वयंवरकी विधिसे नहुषनन्दन राजा ययातिका पतिरूपमें वरण किया है।

वैशम्पायन उवाच

त्वरितं देवयान्याथ संदिष्टं पितुरात्मनः ।
सर्वं निवेदयामास धात्री तस्मै यथातथम् ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार देवयानीने तुरंत धायको भेजकर अपने पिताको संदेश दिया। धायने जाकर शुक्राचार्यसे सब बातें ठीक-ठीक बता दीं ।। २८ ।।

श्रुत्वैव च स राजानं दर्शयामास भार्गवः ।

दृष्ट्वैव चागतं शुक्रं ययातिः पृथिवीपतिः ।
ववन्दे ब्राह्मणं काव्यं प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ।। २९ ।।

सब समाचार सुनते ही शुक्राचार्यने वहाँ आकर राजाको दर्शन दिया। विप्रवर शुक्राचार्यको आया देख राजा ययातिने उन्हें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर विनम्रभावसे खड़े हो गये ।। २९ ।।

देवयान्युवाच

राजायं नाहुषस्तात दुर्गमे पाणिमग्रहीत् ।
नमस्ते देहि मामस्मै लोके नान्यं पतिं वृणे ।। ३० ।।

देवयानी बोली—तात! ये नहुषपुत्र राजा ययाति हैं। इन्होंने संकटके समय मेरा हाथ पकड़ा था। आपको नमस्कार है। आप मुझे इन्हींकी सेवामें समर्पित कर दें। मैं इस जगत्में इनके सिवा दूसरे किसी पतिका वरण नहीं करूँगी ।। ३० ।।

शुक्र उवाच

वृतोऽनया पतिर्वीर सुतया त्वं ममेष्टया ।
गृहाणेमां मया दत्तां महिषीं नहुषात्मज ।। ३१ ।।

शुक्राचार्यने कहा—वीर नहुषनन्दन! मेरी इस लाड़ली पुत्रीने तुम्हें पतिरूपमें वरण किया है; अतः मेरी दी हुई इस कन्याको तुम अपनी पटरानीके रूपमें ग्रहण करो ।। ३१ ।।

ययातिरुवाच

अधर्मो न स्पृशेदेष महान् मामिह भार्गव ।
वर्णसंकरजो ब्रह्मन्निति त्वां प्रवृणोम्यहम् ।। ३२ ।।

ययाति बोले—भार्गव ब्रह्मन्! मैं आपसे यह वर माँगता हूँ कि इस विवाहमें यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला वर्णसंकरजनित महान् अधर्म मेरा स्पर्श न करे ।। ३२ ।।

शुक्र उवाच

अधर्मात् त्वां विमुञ्चामि वृणु त्वं वरमीप्सितम् ।
अस्मिन् विवाहे मा म्लासीरहं पापं नुदामि ते ।। ३३ ।।

शुक्राचार्यने कहा—राजन्! मैं तुम्हें अधर्मसे मुक्त करता हूँ; तुम्हारी जो इच्छा हो वर माँग लो। इस विवाहको लेकर तुम्हारे मनमें ग्लानि नहीं होनी चाहिये। मैं तुम्हारे सारे पापको दूर करता हूँ ।। ३३ ।।

वहस्व भार्यां धर्मेण देवयानीं सुमध्यमाम् ।
अनया सह सम्प्रीतिमतुलां समवाप्नुहि ।। ३४ ।।

तुम सुन्दरी देवयानीको धर्मपूर्वक अपनी पत्नी बनाओ और इसके साथ रहकर अतुल सुख एवं प्रसन्नता प्राप्त करो ।। ३४ ।।

इयं चापि कुमारी ते शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
सम्पूज्या सततं राजन् मा चैनां शयने ह्वयेः ।। ३५ ।।

महाराज! वृषपर्वाकी पुत्री यह कुमारी शर्मिष्ठा भी तुम्हें समर्पित है। इसका सदा आदर करना, किंतु इसे अपनी सेजपर कभी न बुलाना ।। ३५ ।।

(रहस्येनां समाहूय न वदेर्न च संस्पृशेः ।
वहस्व भार्यां भद्रं ते यथाकाममवाप्स्यसि ।।)

तुम्हारा कल्याण हो। इस शर्मिष्ठाको एकान्तमें बुलाकर न तो इससे बात करना और न इसके शरीरका स्पर्श ही करना। अब तुम विवाह करके इसे अपनी पत्नी बनाओ। इससे तुम्हें इच्छानुसार फलकी प्राप्ति होगी।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो ययातिस्तु शुक्रं कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
शास्त्रोक्तविधिना राजा विवाहमकरोच्छुभम् ।। ३६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शुक्राचार्यके ऐसा कहनेपर राजा ययातिने उनकी परिक्रमा की और शास्त्रोक्त विधिसे मंगलमय विवाह-कार्य सम्पन्न किया ।। ३६ ।।

लब्ध्वा शुक्रान्महद् वित्तं देवयानीं तदोत्तमाम् ।
द्विसहस्रेण कन्यानां तथा शर्मिष्ठया सह ।। ३७ ।।
सम्पूजितश्च शुक्रेण दैत्यैश्च नृपसत्तमः ।
जगाम स्वपुरं हृष्टोऽनुज्ञातोऽथ महात्मना ।। ३८ ।।

शुक्राचार्यसे देवयानी-जैसी उत्तम कन्या, शर्मिष्ठा और दो हजार अन्य कन्याओं तथा महान् वैभवको पाकर दैत्यों एवं शुक्राचार्यसे पूजित हो, उन महात्माकी आज्ञा ले नृपश्रेष्ठ ययाति बड़े हर्षके साथ अपनी राजधानीको गये ।। ३७-३८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने एकाशीतितमोऽध्यायः ।। ८१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत ययात्युपाख्यानविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ४१ श्लोक हैं)

---

* किन्हीं श्लोकोंमें दो हजार और किन्हींमें एक हजार सखियोंका वर्णन आता है। यथावसर दोनों ठीक हैं।

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

ययातिसे देवयानीको पुत्र-प्राप्ति; ययाति और शर्मिष्ठाका एकान्त मिलन और उनसे एक पुत्रका जन्म

वैशम्पायन उवाच

ययातिः स्वपुरं प्राप्य महेन्द्रपुरसंनिभम् ।
प्रविश्यान्तःपुरं तत्र देवयानीं न्यवेशयत् ।। १ ।।
देवयान्याश्चानुमते सुतां तां वृषपर्वणः ।
अशोकवनिकाभ्याशे गृहं कृत्वा न्यवेशयत् ।। २ ।।
वृतां दासीसहस्रेण शर्मिष्ठां वार्षपर्वणीम् ।
वासोभिरन्नपानैश्च संविभज्य सुसत्कृताम् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ययातिकी राजधानी महेन्द्रपुरी (अमरावती)-के समान थी। उन्होंने वहाँ आकर देवयानीको तो अन्तःपुरमें स्थान दिया और उसीकी अनुमतिसे अशोकवाटिकाके समीप एक महल बनवाकर उसमें वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाको उसकी एक हजार दासियोंके साथ ठहराया और उन सबके लिये अन्न, वस्त्र तथा पेय आदिकी अलग-अलग व्यवस्था करके शर्मिष्ठाका समुचित सत्कार किया ।। १—३ ।।

(अशोकवनिकामध्ये देवयानी समागता ।
शर्मिष्ठया सा क्रीडित्वा रमणीये मनोरमे ।।
तत्रैव तां तु निर्दिश्य राज्ञा सह ययौ गृहम् ।
एवमेव सह प्रीत्या मुमुदे बहुकालतः ।।)

देवयानी ययातिके साथ परम रमणीय एवं मनोरम अशोकवाटिकामें आती और शर्मिष्ठाके साथ वन-विहार करके उसे वहीं छोड़कर स्वयं राजाके साथ महलमें चली जाती थी। इस तरह वह बहुत समयतक प्रसन्नतापूर्वक आनन्द भोगती रही।

देवयान्या तु सहितः स नृपो नहुषात्मजः ।
विजहार बहूनब्दान् देववन्मुदितः सुखी ।। ४ ।।

नहुषकुमार राजा ययातिने देवयानीके साथ बहुत वर्षोंतक देवताओंकी भाँति विहार किया। वे उसके साथ बहुत प्रसन्न और सुखी थे ।। ४ ।।

ऋतुकाले तु सम्प्राप्ते देवयानी वराङ्गना ।
लेभे गर्भं प्रथमतः कुमारं च व्यजायत ।। ५ ।।

ऋतुकाल आनेपर सुन्दरी देवयानीने गर्भ धारण किया और समयानुसार प्रथम पुत्रको जन्म दिया ।। ५ ।।

गते वर्षसहस्रे तु शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
ददर्श यौवनं प्राप्ता ऋतुं सा चान्वचिन्तयत् ।। ६ ।।

इस प्रकार एक हजार वर्ष व्यतीत हो जानेपर युवावस्थाको प्राप्त हुई वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने अपनेको रजस्वलावस्थामें देखा और चिन्तामग्न हो गयी ।। ६ ।।

(शुद्धा स्नाता तु शर्मिष्ठा सर्वालंकारभूषिता ।
अशोकशाखामालम्ब्य सुफुल्लैः स्तबकैर्वृताम् ।।
आदर्शे मुखमुद्वीक्ष्य भर्तृदर्शनलालसा ।
शोकमोहसमाविष्टा वचनं चेदमब्रवीत् ।।
अशोक शोकापनुद शोकोपहतचेतसाम् ।
त्वन्नामानं कुरु क्षिप्रं प्रियसंदर्शनाद्धि माम् ।।
एवमुक्तवती सा तु शर्मिष्ठा पुनरब्रवीत् ।।)

स्नान करके शुद्ध हो समस्त आभूषणोंसे विभूषित हुई शर्मिष्ठा सुन्दर पुष्पोंके गुच्छोंसे भरी अशोक-शाखाका आश्रय लिये खड़ी थी। दर्पणमें अपना मुँह देखकर उसके मनमें पतिके दर्शनकी लालसा जाग उठी और वह शोक एवं मोहसे युक्त हो इस प्रकार बोली—'हे अशोक वृक्ष! जिनका हृदय शोकमें डूबा हुआ है, उन सबके शोकको तुम दूर करनेवाले हो। इस समय मुझे प्रियतमका दर्शन कराकर अपने ही जैसे नामवाली बना दो' ऐसा कहकर शर्मिष्ठा फिर बोली— ।

ऋतुकालश्च सम्प्राप्तो न च मेऽस्ति पतिर्वृतः ।
किं प्राप्तं किं नु कर्तव्यं किं वा कृत्वा कृतं भवेत् ।। ७ ।।

'मुझे ऋतुकाल प्राप्त हो गया; किंतु अभीतक मैंने पतिका वरण नहीं किया है। यह कैसी परिस्थिति आ गयी। अब क्या करना चाहिये अथवा क्या करनेसे सुकृत (पुण्य) होगा ।। ७ ।।

देवयानी प्रजातासौ वृथाहं प्राप्तयौवना ।
यथा तया वृतो भर्ता तथैवाहं वृणोमि तम् ।। ८ ।।

'देवयानी तो पुत्रवती हो गयी; किंतु मुझे जो जवानी मिली है, वह व्यर्थ जा रही है। जिस प्रकार उसने पतिका वरण किया है, उसी तरह मैं भी उन्हीं महाराजका क्यों न पतिके रूपमें वरण कर लूँ ।। ८ ।।

राज्ञा पुत्रफलं देयमिति मे निश्चिता मतिः ।
अपीदानीं स धर्मात्मा इयान्मे दर्शनं रहः ।। ९ ।।

'मेरे याचना करनेपर राजा मुझे पुत्ररूप फल दे सकते हैं, इस बातका मुझे पूरा विश्वास है; परंतु क्या वे धर्मात्मा नरेश इस समय मुझे एकान्तमें दर्शन देंगे?' ।। ९ ।।

अथ निष्क्रम्य राजासौ तस्मिन् काले यदृच्छया ।
अशोकवनिकाभ्याशे शर्मिष्ठां प्रेक्ष्य विष्ठितः ।। १० ।।

शर्मिष्ठा इस प्रकार विचार कर ही रही थी कि राजा ययाति उसी समय दैववश महलसे बाहर निकले और अशोकवाटिकाके निकट शर्मिष्ठाको देखकर ठहर गये ।। १० ।।

तमेकं रहिते दृष्ट्वा शर्मिष्ठा चारुहासिनी ।
प्रत्युद्गम्याञ्जलिं कृत्वा राजानं वाक्यमब्रवीत् ।। ११ ।।

मनोहर हासवाली शर्मिष्ठाने उन्हें एकान्तमें अकेला देख आगे बढ़कर उनकी अगवानी की तथा हाथ जोड़कर राजासे यह बात कही ।। ११ ।।

शर्मिष्ठोवाच

सोमस्येन्द्रस्य विष्णोर्वा यमस्य वरुणस्य च ।
तव वा नाहुष गृहे कः स्त्रियं द्रष्टुमर्हति ।। १२ ।।
रूपाभिजनशीलैर्हि त्वं राजन् वेत्थ मां सदा ।
सा त्वां याचे प्रसाद्याहमृतुं देहि नराधिप ।। १३ ।।

शर्मिष्ठाने कहा—नहुषनन्दन! चन्द्रमा, इन्द्र, विष्णु, यम, वरुण अथवा आपके महलमें कौन किसी स्त्रीकी ओर दृष्टि डाल सकता है? (अतएव यहाँ मैं सर्वथा सुरक्षित हूँ) महाराज! मेरे रूप, कुल और शील कैसे हैं, यह तो आप सदासे ही जानते हैं। मैं आज आपको प्रसन्न करके यह प्रार्थना करती हूँ कि मुझे ऋतुदान दीजिये—मेरे ऋतुकालको सफल बनाइये ।। १२-१३ ।।

ययातिरुवाच

वेद्मि त्वां शीलसम्पन्नां दैत्यकन्यामनिन्दिताम् ।
रूपं च ते न पश्यामि सूच्यग्रमपि निन्दितम् ।। १४ ।।

ययातिने कहा—शर्मिष्ठे! तुम दैत्यराजकी सुशील और निर्दोष कन्या हो। मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ। तुम्हारे शरीर अथवा रूपमें सूईकी नोक बराबर भी ऐसा स्थान नहीं है, जो निन्दाके योग्य हो ।। १४ ।।

अब्रवीदुशना काव्यो देवयानीं यदावहम् ।
नेयमाह्वयितव्या ते शयने वार्षपर्वणी ।। १५ ।।

परंतु क्या करूँ; जब मैंने देवयानीके साथ विवाह किया था, उस समय कविपुत्र शुक्राचार्यने मुझसे स्पष्ट कहा था कि 'वृषपर्वाकी पुत्री इस शर्मिष्ठाको अपनी सेजपर न बुलाना' ।। १५ ।।

शर्मिष्ठोवाच

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति
न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे

पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ।। १६ ।।

शर्मिष्ठाने कहा—राजन्! परिहासयुक्त वचन असत्य हो तो भी वह हानिकारक नहीं होता। अपनी स्त्रियोंके प्रति, विवाहके समय, प्राणसंकटके समय तथा सर्वस्वका अपहरण होते समय यदि कभी विवश होकर असत्य भाषण करना पड़े तो वह दोषकारक नहीं होता। ये पाँच प्रकारके असत्य पापशून्य बताये गये हैं ।। १६ ।।

पृष्टं तु साक्ष्ये प्रवदन्तमन्यथा
वदन्ति मिथ्या पतितं नरेन्द्र ।
एकार्थतायां तु समाहितायां
मिथ्या वदन्तं त्वनृतं हिनस्ति ।। १७ ।।

महाराज! किसी निर्दोष प्राणीका प्राण बचानेके लिये गवाही देते समय किसीके पूछनेपर अन्यथा (असत्य) भाषण करनेवालेको यदि कोई पतित कहता है तो उसका कथन मिथ्या है। परंतु जहाँ अपने और दूसरे दोनोंके ही प्राण बचानेका प्रसंग उपस्थित हो, वहाँ केवल अपने प्राण बचानेके लिये मिथ्या बोलनेवालेका असत्यभाषण उसका नाश कर देता है ।। १७ ।।

ययातिरुवाच

राजा प्रमाणं भूतानां स नश्येत मृषा वदन् ।
अर्थकृच्छ्रमपि प्राप्य न मिथ्या कर्तुमुत्सहे ।। १८ ।।

ययाति बोले—देवि! सब प्राणियोंके लिये राजा ही प्रमाण है। वह यदि झूठ बोलने लगे तो उसका नाश हो जाता है। अतः अर्थ-संकटमें पड़नेपर भी मैं झूठा काम नहीं कर सकता ।। १८ ।।

शर्मिष्ठोवाच

समावेतौ मतौ राजन् पतिः सख्याश्च यः पतिः ।
समं विवाहमित्याहुः सख्या मेऽसि वृतः पतिः ।। १९ ।।

शर्मिष्ठाने कहा—राजन्! अपना पति और सखीका पति दोनों बराबर माने गये हैं। सखीके साथ ही उसकी सेवामें रहनेवाली दूसरी कन्याओंका भी विवाह हो जाता है। मेरी सखीने आपको अपना पति बनाया है, अतः मैंने भी बना लिया ।। १९ ।।

(सह दत्तास्मि काव्येन देवयान्या महर्षिणा ।
पूज्या पोषयितव्येति न मृषा कर्तुमर्हसि ।।
सुवर्णमणिरत्नानि वस्त्राण्याभरणानि च ।
याचितॄणां ददासि त्वं गोभूम्यादीनि यानि च ।।
वाहिकं दानमित्युक्तं न शरीराश्रितं नृप ।
दुष्करं पुत्रदानं च आत्मदानं च दुष्करम् ।।

शरीरदानात् तत् सर्वं दत्तं भवति नाहुष ।
यस्य यस्य यथा कामस्तस्य तस्य ददाम्यहम् ।।
इत्युक्त्वा नगरे राजंस्त्रिकालं घोषितं त्वया ।।
अनृतं तत्तु राजेन्द्र वृथा घोषितमेव च ।
तत् सत्यं कुरु राजेन्द्र यथा वैश्रवणस्तथा ।।)

राजन्! महर्षि शुक्राचार्यने देवयानीके साथ मुझे भी यह कहकर आपको समर्पित किया है कि तुम इसका भी पालन-पोषण और आदर करना। आप उनके वचनको मिथ्या न करें। महाराज! आप प्रतिदिन याचकोंको जो सुवर्ण, मणि, रत्न, वस्त्र, आभूषण, गौ और भूमि आदि दान करते हैं, वह बाह्य दान कहा गया है। वह शरीरके आश्रित नहीं है। पुत्रदान और शरीरदान अत्यन्त कठिन है। नहुषनन्दन! शरीरदानसे उपर्युक्त सब दान सम्पन्न हो जाता है। राजन्! 'जिसकी जैसी इच्छा होगी उस-उस मनुष्यको मैं मुँहमाँगी वस्तु दूँगा' ऐसा कहकर आपने नगरमें जो तीनों समय दानकी घोषणा करायी है, वह मेरी प्रार्थना ठुकरा देनेपर झूठी सिद्ध होगी। वह सारी घोषणा ही व्यर्थ समझी जायगी। राजेन्द्र! आप कुबेरकी भाँति अपनी उस घोषणाको सत्य कीजिये।

ययातिरुवाच

दातव्यं याचमानेभ्य इति मे व्रतमाहितम् ।
त्वं च याचसि मां कामं ब्रूहि किं करवाणि ते ।। २० ।।

ययाति बोले—याचकोंको उनकी अभीष्ट वस्तुएँ दी जायँ, ऐसा मेरा व्रत है। तुम भी मुझसे अपने मनोरथकी याचना करती हो; अतः बताओ मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? ।। २० ।।

शर्मिष्ठोवाच

अधर्मात् पाहि मां राजन् धर्मं च प्रतिपादय ।
त्वत्तोऽपत्यवती लोके चरेयं धर्ममुत्तमम् ।। २१ ।।

शर्मिष्ठाने कहा—राजन्! मुझे अधर्मसे बचाइये और धर्मका पालन कराइये। मैं चाहती हूँ, आपसे संतानवती होकर इस लोकमें उत्तम धर्मका आचरण करूँ ।। २१ ।।

त्रय एवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः ।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद् धनम् ।। २२ ।।

महाराज! तीन व्यक्ति धनके अधिकारी नहीं हैं—पत्नी, दास और पुत्र। ये जो धन प्राप्त करते हैं वह उसीका होता है जिसके अधिकारमें ये हैं। अर्थात् पत्नीके धनपर पतिका, सेवकके धनपर स्वामीका और पुत्रके धनपर पिताका अधिकार होता है ।। २२ ।।

देवयान्या भुजिष्यास्मि वश्या च तव भार्गवी ।
सा चाहं च त्वया राजन् भजनीये भजस्व माम् ।। २३ ।।

मैं देवयानीकी सेविका हूँ और वह आपके अधीन है; अतः राजन्! वह और मैं दोनों ही आपके सेवन करनेयोग्य हैं। अतः मेरा सेवन कीजिये ।। २३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राजा स तथ्यमित्यभिजज्ञिवान् ।
पूजयामास शर्मिष्ठां धर्मं च प्रत्यपादयत् ।। २४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—शर्मिष्ठाके ऐसा कहनेपर राजाने उसकी बातोंको ठीक समझा। उन्होंने शर्मिष्ठाका सत्कार किया और धर्मानुसार उसे अपनी भार्या बनाया ।। २४ ।।

स समागम्य शर्मिष्ठां यथाकाममवाप्य च ।
अन्योन्यं चाभिसम्पूज्य जग्मतुस्तौ यथागतम् ।। २५ ।।

फिर शर्मिष्ठाके साथ समागम किया और इच्छानुसार कामोपभोग करके एक-दूसरेका आदर-सत्कार करनेके पश्चात् दोनों जैसे आये थे वैसे ही अपने-अपने स्थानपर चले गये ।। २५ ।।

तस्मिन् समागमे सुभ्रूः शर्मिष्ठा चारुहासिनी ।
लेभे गर्भं प्रथमतस्तस्मान्नृपतिसत्तमात् ।। २६ ।।

सुन्दर भौंह तथा मनोहर मुसकानवाली शर्मिष्ठाने उस समागममें नृपश्रेष्ठ ययातिसे पहले-पहल गर्भ धारण किया ।। २६ ।।

प्रजज्ञे च ततः काले राजन् राजीवलोचना ।
कुमारं देवगर्भाभं राजीवनिभलोचनम् ।। २७ ।।

जनमेजय! तदनन्तर समय आनेपर कमलके समान नेत्रोंवाली शर्मिष्ठाने देवबालक-जैसे सुन्दर एक कमलनयन कुमारको उत्पन्न किया ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने द्व्यशीतितमोऽध्यायः ।। ८२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ११ श्लोक मिलाकर कुल ३८ श्लोक हैं)

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

देवयानी और शर्मिष्ठाका संवाद, ययातिसे शर्मिष्ठाके पुत्र होनेकी बात जानकर देवयानीका रूठकर पिताके पास जाना, शुक्राचार्यका ययातिको बूढ़े होनेका शाप देना

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा कुमारं जातं तु देवयानी शुचिस्मिता ।
चिन्तयामास दुःखार्ता शर्मिष्ठां प्रति भारत ।। १ ।।
अभिगम्य च शर्मिष्ठां देवयान्यब्रवीदिदम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पवित्र मुसकानवाली देवयानीने जब सुना कि शर्मिष्ठाके पुत्र हुआ है, तब वह दुःखसे पीड़ित हो शर्मिष्ठाके व्यवहारको लेकर बड़ी चिन्ता करने लगी। वह शर्मिष्ठाके पास गयी और इस प्रकार बोली ।। १½ ।।

देवयान्युवाच

किमिदं वृजिनं सुभ्रु कृतं वै कामलुब्धया ।। २ ।।

देवयानीने कहा—सुन्दर भौंहोंवाली शर्मिष्ठे! तुमने कामलोलुप होकर यह कैसा पाप कर डाला? ।। २ ।।

शर्मिष्ठोवाच

ऋषिरभ्यागतः कश्चिद् धर्मात्मा वेदपारगः ।
स मया वरदः कामं याचितो धर्मसंहितम् ।। ३ ।।

शर्मिष्ठा बोली—सखी! कोई धर्मात्मा ऋषि आये थे, जो वेदोंके पारंगत विद्वान् थे। मैंने उन वरदायक ऋषिसे धर्मानुसार कामकी याचना की ।। ३ ।।

नाहमन्यायतः काममाचरामि शुचिस्मिते ।
तस्मादृषेर्ममापत्यमिति सत्यं ब्रवीमि ते ।। ४ ।।

शुचिस्मिते! मैं न्यायविरुद्ध कामका आचरण नहीं करती। उन ऋषिसे ही मुझे संतान पैदा हुई है, यह तुमसे सत्य कहती हूँ ।। ४ ।।

देवयान्युवाच

शोभनं भीरु यद्येवमथ स ज्ञायते द्विजः ।
गोत्रनामाभिजनतो वेत्तुमिच्छामि तं द्विजम् ।। ५ ।।

देवयानीने कहा—भीरु! यदि ऐसी बात है तो बहुत अच्छा हुआ। क्या उन द्विजके गोत्र, नाम और कुलका कुछ परिचय मिला है? मैं उनको जानना चाहती हूँ ।। ५ ।।

शर्मिष्ठोवाच

तपसा तेजसा चैव दीप्यमानं यथा रविम् ।
तं दृष्ट्वा मम सम्प्रष्टुं शक्तिर्नासीच्छुचिस्मिते ।। ६ ।।

शर्मिष्ठा बोली—शुचिस्मिते! वे अपने तप और तेजसे सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे। उन्हें देखकर मुझे कुछ पूछनेका साहस ही नहीं हुआ ।। ६ ।।

देवयान्युवाच

यद्येतदेवं शर्मिष्ठे न मन्युर्विद्यते मम ।
अपत्यं यदि ते लब्धं ज्येष्ठाच्छ्रेष्ठाच्च वै द्विजात् ।। ७ ।।

देवयानीने कहा—शर्मिष्ठे! यदि ऐसी बात है; यदि तुमने ज्येष्ठ और श्रेष्ठ द्विजसे संतान प्राप्त की है तो तुम्हारे ऊपर मेरा क्रोध नहीं रहा ।। ७ ।।

वैशम्पायन उवाच

अन्योन्यमेवमुक्त्वा तु सम्प्रहस्य च ते मिथः ।
जगाम भार्गवी वेश्म तथ्यमित्यवजग्मुषी ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वे दोनों आपसमें इस प्रकार बातें करके हँस पड़ीं। देवयानीको प्रतीत हुआ कि शर्मिष्ठा ठीक कहती है; अतः वह चुपचाप महलमें चली गयी ।। ८ ।।

ययातिर्देवयान्यां तु पुत्रावजनयन्नृपः ।
यदुं च तुर्वसुं चैव शक्रविष्णू इवापरौ ।। ९ ।।

राजा ययातिने देवयानीके गर्भसे दो पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम थे यदु और तुर्वसु। वे दोनों दूसरे इन्द्र और विष्णुकी भाँति प्रतीत होते थे ।। ९ ।।

तस्मादेव तु राजर्षेः शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च त्रीन् कुमारानजीजनत् ।। १० ।।

उन्हीं राजर्षिसे वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने तीन पुत्रोंको जन्म दिया, जिनके नाम थे द्रुह्यु, अनु और पूरु ।। १० ।।

ततः काले तु कस्मिंश्चिद् देवयानी शुचिस्मिता ।
ययातिसहिता राजञ्जगाम रहितं वनम् ।। ११ ।।

राजन्! तदनन्तर किसी समय पवित्र मुसकानवाली देवयानी ययातिके साथ एकान्त वनमें गयी ।। ११ ।।

ददर्श च तदा तत्र कुमारान् देवरूपिणः ।
क्रीडमानान् सुविश्रब्धान् विस्मिता चेदमब्रवीत् ।। १२ ।।

वहाँ उसने देवताओंके समान सुन्दर रूपवाले कुछ बालकोंको निर्भय होकर क्रीड़ा करते देखा। उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो वह इस प्रकार बोली ।। १२ ।।

देवयान्युवाच

कस्यैते दारका राजन् देवपुत्रोपमाः शुभाः ।
वर्चसा रूपतश्चैव सदृशा मे मतास्तव ।। १३ ।।

देवयानीने पूछा—राजन्! ये देवबालकोंके तुल्य शुभ लक्षणसम्पन्न कुमार किसके हैं? तेज और रूपमें तो ये मुझे आपहीके समान जान पड़ते हैं ।। १३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं पृष्ट्वा तु राजानं कुमारान् पर्यपृच्छत ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजासे इस प्रकार पूछकर उसने उन कुमारोंसे प्रश्न किया ।। १३½ ।।

देवयान्युवाच

किं नामधेयं वंशो वः पुत्रकाः कश्च वः पिता ।
प्रब्रूत मे यथातथ्यं श्रोतुमिच्छामि तं ह्यहम् ।। १४ ।।

देवयानीने पूछा—बच्चो! तुम्हारे कुलका क्या नाम है? तुम्हारे पिता कौन हैं? यह मुझे ठीक-ठीक बताओ। मैं तुम्हारे पिताका नाम सुनना चाहती हूँ ।। १४ ।।

(एवमुक्ताः कुमारास्ते देवयान्या सुमध्यमा ।)
तेऽदर्शयन् प्रदेशिन्या तमेव नृपसत्तमम् ।
शर्मिष्ठां मातरं चैव तथाऽऽचख्युश्च दारकाः ।। १५ ।।

सुन्दरी देवयानीके इस प्रकार पूछनेपर उन बालकोंने पिताका परिचय देते हुए तर्जनी अँगुलीसे उन्हीं नृपश्रेष्ठ ययातिको दिखा दिया और शर्मिष्ठाको अपनी माता बताया ।। १५ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा सहितास्ते तु राजानमुपचक्रमुः ।
नाभ्यनन्दत तान् राजा देवयान्यास्तदान्तिके ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर वे सब बालक एक साथ राजाके समीप आ गये; परंतु उस समय देवयानीके निकट राजाने उनका अभिनन्दन नहीं किया—उन्हें गोदमें नहीं उठाया ।। १६ ।।

रुदन्तस्तेऽथ शर्मिष्ठामभ्ययुर्बालकास्ततः ।
श्रुत्वा तु तेषां बालानं सव्रीड इव पार्थिवः ।। १७ ।।

तब वे बालक रोते हुए शर्मिष्ठाके पास चले गये। उनकी बातें सुनकर राजा ययाति लज्जित-से हो गये ।। १७ ।।

दृष्ट्वा तु तेषां बालानां प्रणयं पार्थिवं प्रति ।
बुद्ध्वा च तत्त्वं सा देवी शर्मिष्ठामिदमब्रवीत् ।। १८ ।।

उन बालकोंका राजाके प्रति विशेष प्रेम देखकर देवयानी सारा रहस्य समझ गयी और शर्मिष्ठासे इस प्रकार बोली ।। १८ ।।

देवयान्युवाच

(अभ्यागच्छति मां कश्चिदृषिरित्येवमब्रवीः ।
ययातिमेव नूनं त्वं प्रोत्साहयसि भामिनि ।।
पूर्वमेव मया प्रोक्तं त्वया तु वृजिनं कृतम् ।)
मदधीना सती कस्मादकार्षीर्विप्रियं मम ।
तमेवासुरधर्मं त्वमास्थिता न बिभेषि मे ।। १९ ।।

देवयानी बोली—भामिनि! तुम तो कहती थीं कि मेरे पास कोई ऋषि आया करते हैं। यह बहाना लेकर तुम राजा ययातिको ही अपने पास आनेके लिये प्रोत्साहन देती रहीं। मैंने

पहले ही कह दिया था कि तुमने कोई पाप किया है। शर्मिष्ठे! तुमने मेरे अधीन होकर भी मुझे अप्रिय लगनेवाला बर्ताव क्यों किया? तुम फिर उसी असुर-धर्मपर उतर आयीं। मुझसे डरती भी नहीं हो? ।। १९ ।।

शर्मिष्ठोवाच

यदुक्तमृषिरित्येव तत् सत्यं चारुहासिनि ।
न्यायतो धर्मतश्चैव चरन्ती न बिभेमि ते ।। २० ।।

शर्मिष्ठा बोली—मनोहर मुसकानवाली सखी! मैंने जो ऋषि कहकर अपने स्वामीका परिचय दिया था, सो सत्य ही है। मैं न्याय और धर्मके अनुकूल आचरण करती हूँ, अतः तुमसे नहीं डरती ।। २० ।।

यदा त्वया वृतो भर्ता वृत एव तदा मया ।
सखीभर्ता हि धर्मेण भर्ता भवति शोभने ।। २१ ।।
पूज्यासि मम मान्या च ज्येष्ठा च ब्राह्मणी ह्यसि ।
त्वत्तोऽपि मे पूज्यतमो राजर्षिः किं न वेत्थ तत् ।। २२ ।।
(त्वत्पित्रा गुरुणा मे च सह दत्ते उभे शुभे ।
तव भर्ता च पूज्यश्च पोष्यां पोषयतीह माम् ।।)

जब तुमने पतिका वरण किया था, उसी समय मैंने भी कर लिया। शोभने! जो सखीका स्वामी होता है, वही उसके अधीन रहनेवाली अन्य अविवाहिता सखियोंका भी धर्मतः पति होता है। तुम ज्येष्ठ हो, ब्राह्मणकी पुत्री हो, अतः मेरे लिये माननीय एवं पूजनीय हो; परंतु ये राजर्षि मेरे लिये तुमसे भी अधिक पूजनीय हैं। क्या यह बात तुम नहीं जानतीं? ।। २१-२२ ।।

शुभे! तुम्हारे पिता और मेरे गुरु (शुक्राचार्यजी)-ने हम दोनोंको एक ही साथ महाराजकी सेवामें समर्पित किया है। तुम्हारे पति और पूजनीय महाराज ययाति भी मुझे पालन करनेयोग्य मानकर मेरा पोषण करते हैं।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तस्यास्ततो वाक्यं देवयान्यब्रवीदिदम् ।
राजन् नाद्येह वत्स्यामि विप्रियं मे कृतं त्वया ।। २३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—शर्मिष्ठाका यह वचन सुनकर देवयानीने कहा—‘राजन्! अब मैं यहाँ नहीं रहूँगी। आपने मेरा अत्यन्त अप्रिय किया है’ ।। २३ ।।

सहसोत्पतितां श्यामां दृष्ट्वा तां साश्रुलोचनाम् ।
तूर्णं सकाशं काव्यस्य प्रस्थितां व्यथितस्तदा ।। २४ ।।

ऐसा कहकर तरुणी देवयानी आँखोंमें आँसू भरकर सहसा उठी और तुरंत ही शुक्राचार्यजीके पास जानेके लिये वहाँसे चल दी। यह देख उस समय राजा ययाति व्यथित

हो गये ।। २४ ।।

अनुवव्राज सम्भ्रान्तः पृष्ठतः सान्त्वयन् नृपः ।
न्यवर्तत न चैव स्म क्रोधसंरक्तलोचना ।। २५ ।।

वे व्याकुल हो देवयानीको समझाते हुए उसके पीछे-पीछे गये, किंतु वह नहीं लौटी। उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं ।। २५ ।।

अविब्रुवन्ती किंचित् सा राजानं साश्रुलोचना ।
अचिरादेव सम्प्राप्ता काव्यस्योशनसोऽन्तिकम् ।। २६ ।।

वह राजासे कुछ न बोलकर केवल नेत्रोंसे आँसू बहाये जाती थी। कुछ ही देरमें वह कविपुत्र शुक्राचार्यके पास जा पहुँची ।। २६ ।।

सा तु दृष्ट्वैव पितरमभिवाद्याग्रतः स्थिता ।
अनन्तरं ययातिस्तु पूजयामास भार्गवम् ।। २७ ।।

पिताको देखते ही वह प्रणाम करके उनके सामने खड़ी हो गयी। तदनन्तर राजा ययातिने भी शुक्राचार्यकी वन्दना की ।। २७ ।।

देवयान्युवाच

अधर्मेण जितो धर्मः प्रवृत्तमधरोत्तरम् ।
शर्मिष्ठयातिवृत्तास्मि दुहित्रा वृषपर्वणः ।। २८ ।।

देवयानीने कहा—पिताजी! अधर्मने धर्मको जीत लिया। नीचकी उन्नति हुई और उच्चकी अवनति। वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा मुझे लाँघकर आगे बढ़ गयी ।। २८ ।।

त्रयोऽस्यां जनिताः पुत्रा राज्ञानेन ययातिना ।
दुर्भगाया मम द्वौ तु पुत्रौ तात ब्रवीमि ते ।। २९ ।।

इन महाराज ययातिसे ही उसके तीन पुत्र हुए हैं, किंतु तात! मुझ भाग्यहीनाके दो ही पुत्र हुए हैं। यह मैं आपसे ठीक बता रही हूँ ।। २९ ।।

धर्मज्ञ इति विख्यात एष राजा भृगूद्वह ।
अतिक्रान्तश्च मर्यादां काव्यैतत् कथयामि ते ।। ३० ।।

भृगुश्रेष्ठ! ये महाराज धर्मज्ञके रूपमें प्रसिद्ध हैं; किंतु इन्होंने ही मर्यादाका उल्लंघन किया है। कविनन्दन! यह आपसे यथार्थ कह रही हूँ ।। ३० ।।

शुक्र उवाच

धर्मज्ञः सन् महाराज योऽधर्ममकृथाः प्रियम् ।
तस्माज्जरा त्वामचिराद् धर्षयिष्यति दुर्जया ।। ३१ ।।

शुक्राचार्यने कहा—महाराज! तुमने धर्मज्ञ होकर भी अधर्मको प्रिय मानकर उसका आचरण किया है। इसलिये जिसको जीतना कठिन है, वह वृद्धावस्था तुम्हें शीघ्र ही धर दबायेगी ।। ३१ ।।

ययातिरुवाच

ऋतुं वै याचमानाया भगवन् नान्यचेतसा ।
दुहितुर्दानवेन्द्रस्य धर्म्यमेतत् कृतं मया ।। ३२ ।।
ऋतुं वै याचमानाया न ददाति पुमानृतुम् ।
भ्रूणहेत्युच्यते ब्रह्मन् स इह ब्रह्मवादिभिः ।। ३३ ।।
अभिकामां स्त्रियं यश्च गम्यां रहसि याचितः ।
नोपैति स च धर्मेषु भ्रूणहेत्युच्यते बुधैः ।। ३४ ।।

ययाति बोले—भगवन्! दानवराजकी पुत्री मुझसे ऋतुदान माँग रही थी; अतः मैंने धर्म-सम्मत मानकर यह कार्य किया, किसी दूसरे विचारसे नहीं। ब्रह्मन्! जो पुरुष न्याययुक्त ऋतुकी याचना करनेवाली स्त्रीको ऋतुदान नहीं देता, वह ब्रह्मवादी विद्वानोंद्वारा भ्रूणहत्या करनेवाला कहा जाता है। जो न्यायसम्मत कामनासे युक्त गम्या स्त्रीके द्वारा एकान्तमें प्रार्थना करनेपर उसके साथ समागम नहीं करता, वह धर्म-शास्त्रमें विद्वानोंद्वारा गर्भकी हत्या करनेवाला बताया जाता है ।। ३२—३४ ।।

(यद् यद् याचति मां कश्चित् तत् तद् देयमिति व्रतम् ।
त्वया च सापि दत्ता मे नान्यं नाथमिहेच्छति ।।
मत्वैतन्मे धर्म इति कृतं ब्रह्मन् क्षमस्व माम् ।)

इत्येतानि समीक्ष्याहं कारणानि भृगूद्वह ।
अधर्मभयसंविग्नः शर्मिष्ठामुपजग्मिवान् ।। ३५ ।।

ब्रह्मन्! मेरा यह व्रत है कि मुझसे कोई जो भी वस्तु माँगे, उसे वह अवश्य दे दूँगा। आपके ही द्वारा मुझे सौंपी हुई शर्मिष्ठा इस जगत्में दूसरे किसी पुरुषको अपना पति बनाना नहीं चाहती थी। अतः उसकी इच्छा पूर्ण करना धर्म समझकर मैंने वैसा किया है। आप इसके लिये मुझे क्षमा करें। भृगुश्रेष्ठ! इन्हीं सब कारणोंका विचार करके अधर्मके भयसे उद्विग्न हो मैं शर्मिष्ठाके पास गया था ।। ३५ ।।

शुक्र उवाच

नन्वहं प्रत्यवेक्ष्यस्ते मदधीनोऽसि पार्थिव ।
मिथ्याचारस्य धर्मेषु चौर्यं भवति नाहुष ।। ३६ ।।

शुक्राचार्यने कहा—राजन्! तुम्हें इस विषयमें मेरे आदेशकी भी प्रतीक्षा करनी चाहिये थी; क्योंकि तुम मेरे अधीन हो। नहुषनन्दन! धर्ममें मिथ्या आचरण करनेवाले पुरुषको चोरीका पाप लगता है ।। ३६ ।।

वैशम्पायन उवाच

क्रुद्धेनोशनसा शप्तो ययातिर्नाहुषस्तदा ।
पूर्वं वयः परित्यज्य जरां सद्योऽन्वपद्यत ।। ३७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—क्रोधमें भरे हुए शुक्राचार्यके शाप देनेपर नहुषपुत्र राजा ययाति उसी समय पूर्वावस्था (यौवन)-का परित्याग करके तत्काल बूढ़े हो गये ।। ३७ ।।

ययातिरुवाच

अतृप्तो यौवनस्याहं देवयान्यां भृगूद्वह ।
प्रसादं कुरु मे ब्रह्मञ्जरेयं न विशेच्च माम् ।। ३८ ।।

ययाति बोले—भृगुश्रेष्ठ! मैं देवयानीके साथ युवावस्थामें रहकर तृप्त नहीं हो सका हूँ; अतः ब्रह्मन्! मुझपर ऐसी कृपा कीजिये, जिससे यह बुढ़ापा मेरे शरीरमें प्रवेश न करे ।। ३८ ।।

शुक्र उवाच

नाहं मृषा ब्रवीम्येतज्जरां प्राप्तोऽसि भूमिप ।
जरां त्वेतां त्वमन्यस्मिन् संक्रामय यदीच्छसि ।। ३९ ।।

शुक्राचार्यजीने कहा—भूमिपाल! मैं झूठ नहीं बोलता; बूढ़े तो तुम हो ही गये; किंतु तुम्हें इतनी सुविधा देता हूँ कि यदि चाहो तो किसी दूसरेसे जवानी लेकर इस बुढ़ापाको उसके शरीरमें डाल सकते हो ।। ३९ ।।

ययातिरुवाच

राज्यभाक् स भवेद् ब्रह्मन् पुण्यभाक् कीर्तिभाक् तथा ।
यो मे दद्यात् वयः पुत्रस्तद् भवाननुमन्यताम् ।। ४० ।।

ययाति बोले—ब्रह्मन्! मेरा जो पुत्र अपनी युवावस्था मुझे दे, वही पुण्य और कीर्तिका भागी होनेके साथ ही मेरे राज्यका भी भागी हो। आप इसका अनुमोदन करें ।। ४० ।।

शुक्र उवाच

संक्रामयिष्यसि जरां यथेष्टं नहुषात्मज ।
मामनुध्याय भावेन न च पापमवाप्स्यसि ।। ४१ ।।
वयो दास्यति ते पुत्रो यः स राजा भविष्यति ।
आयुष्मान् कीर्तिमांश्चैव बह्वपत्यस्तथैव च ।। ४२ ।।

शुक्राचार्यने कहा—नहुषनन्दन! तुम भक्तिभावसे मेरा चिन्तन करके अपनी वृद्धावस्थाका इच्छानुसार दूसरेके शरीरमें संचार कर सकोगे। उस दशामें तुम्हें पाप भी नहीं लगेगा। जो पुत्र तुम्हें (प्रसन्नतापूर्वक) अपनी युवावस्था देगा, वही राजा होगा, साथ ही दीर्घायु, यशस्वी तथा अनेक संतानोंसे युक्त होगा ।। ४१-४२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ।। ८३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ १/२ श्लोक मिलाकर कुल ४६ १/२ श्लोक हैं)

चतुरशीतितमोऽध्यायः

ययातिका अपने पुत्र यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनुसे अपनी युवावस्था देकर वृद्धावस्था लेनेके लिये आग्रह और उनके अस्वीकार करनेपर उन्हें शाप देना, फिर अपने पुत्र पूरुको जरावस्था देकर उनकी युवावस्था लेना तथा उन्हें वर प्रदान करना

वैशम्पायन उवाच

जरां प्राप्य ययातिस्तु स्वपुरं प्राप्य चैव हि ।
पुत्रं ज्येष्ठं वरिष्ठं च यदुमित्यब्रवीद् वचः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजा ययाति बुढ़ापा लेकर वहाँसे अपने नगरमें आये और अपने ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र यदुसे इस प्रकार बोले ।। १ ।।

ययातिरुवाच

जरा वली च मां तात पलितानि च पर्यगुः ।
काव्यस्योशनसः शापान्न च तृप्तोऽस्मि यौवने ।। २ ।।

ययातिने कहा—तात! कविपुत्र शुक्राचार्यके शापसे मुझे बुढ़ापेने घेर लिया; मेरे शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं और बाल सफेद हो गये; किंतु मैं अभी जवानीके भोगोंसे तृप्त नहीं हुआ हूँ ।। २ ।।

त्वं यदो प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
यौवनेन त्वदीयेन चरेयं विषयानहम् ।। ३ ।।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनस्ते यौवनं त्वहम् ।
दत्त्वा स्वं प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ।। ४ ।।

यदो! तुम बुढ़ापेके साथ मेरे दोषको ले लो और मैं तुम्हारी जवानीके द्वारा विषयोंका उपभोग करूँ। एक हजार वर्ष पूरे होनेपर मैं पुनः तुम्हारी जवानी देकर बुढ़ापेके साथ अपना दोष वापस ले लूँगा ।। ३-४ ।।

यदुरुवाच

जरायां बहवो दोषाः पानभोजनकारिताः ।
तस्माज्जरां न ते राजन् ग्रहीष्य इति मे मतिः ।। ५ ।।

यदु बोले—राजन्! बुढ़ापेमें खाने-पीनेसे अनेक दोष प्रकट होते हैं; अतः मैं आपकी वृद्धावस्था नहीं लूँगा, यही मेरा निश्चित विचार है ।। ५ ।।

सितश्मश्रुर्निरानन्दो जरया शिथिलीकृतः ।
वलीसंगतगात्रस्तु दुर्दर्शो दुर्बलः कृशः ।। ६ ।।

महाराज! मैं उस बुढ़ापेको लेनेकी इच्छा नहीं करता, जिसके आनेपर दाढ़ी-मूँछके बाल सफेद हो जाते हैं; जीवनका आनन्द चला जाता है। वृद्धावस्था एकदम शिथिल कर देती है। सारे शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं और मनुष्य इतना दुर्बल तथा कृशकाय हो जाता है कि उसकी ओर देखते नहीं बनता ।। ६ ।।

अशक्तः कार्यकरणे परिभूतः स यौवतैः ।
सहोपजीविभिश्चैव तां जरां नाभिकामये ।। ७ ।।

बुढ़ापेमें काम-काज करनेकी शक्ति नहीं रहती, युवतियाँ तथा जीविका पानेवाले सेवक भी तिरस्कार करते हैं; अतः मैं वृद्धावस्था नहीं लेना चाहता ।। ७ ।।

सन्ति ते बहवः पुत्रा मत्तः प्रियतरा नृप ।
जरां ग्रहीतुं धर्मज्ञ तस्मादन्यं वृणीष्व वै ।। ८ ।।

धर्मज्ञ नरेश्वर! आपके बहुत-से पुत्र हैं, जो आपको मुझसे भी अधिक प्रिय हैं; अतः बुढ़ापा लेनेके लिये किसी दूसरे पुत्रको चुन लीजिये ।। ८ ।।

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्मादराज्यभाक् तात प्रजा तव भविष्यति ।। ९ ।।

ययातिने कहा—तात! तुम मेरे हृदयसे उत्पन्न (औरस पुत्र) होकर भी मुझे अपनी युवावस्था नहीं देते; इसलिये तुम्हारी संतान राज्यकी अधिकारिणी नहीं होगी ।। ९ ।।

तुर्वसो प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
यौवनेन चरेयं वै विषयांस्तव पुत्रक ।। १० ।।

(अब उन्होंने तुर्वसुको बुलाकर कहा—) तुर्वसो! बुढ़ापेके साथ मेरा दोष ले लो। बेटा! मैं तुम्हारी जवानीसे विषयोंका उपभोग करूँगा ।। १० ।।

पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चैव प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ।। ११ ।।

एक हजार वर्ष पूर्ण होनेपर मैं तुम्हें जवानी लौटा दूँगा और बुढ़ापेसहित अपने दोषको वापस ले लूँगा ।। ११ ।।

तुर्वसुरुवाच

न कामये जरां तात कामभोगप्रणाशिनीम् ।
बलरूपान्तकरणीं बुद्धिप्राणप्रणाशिनीम् ।। १२ ।।

तुर्वसु बोले—तात! काम-भोगका नाश करनेवाली वृद्धावस्था मुझे नहीं चाहिये। वह बल तथा रूपका अन्त कर देती है और बुद्धि एवं प्राणशक्तिका भी नाश करनेवाली

है ।। १२ ।।

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्मात् प्रजा समुच्छेदं तुर्वसो तव यास्यति ।। १३ ।।

ययातिने कहा—तुर्वसो! तू मेरे हृदयसे उत्पन्न होकर भी मुझे अपनी युवावस्था नहीं देता है, इसलिये तेरी संतति नष्ट हो जायगी ।। १३ ।।

संकीर्णाचारधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च ।
पिशिताशिषु चान्त्येषु मूढ राजा भविष्यसि ।। १४ ।।

मूढ़! जिनके आचार और धर्म वर्णसंकरोंके समान हैं, जो प्रतिलोमसंकर जातियोंमें गिने जाते हैं तथा जो कच्चा मांस खानेवाले एवं चाण्डाल आदिकी श्रेणीमें हैं, ऐसे लोगोंका तू राजा होगा ।। १४ ।।

गुरुदारप्रसक्तेषु तिर्यग्योनिगतेषु च ।
पशुधर्मेषु पापेषु म्लेच्छेषु त्वं भविष्यसि ।। १५ ।।

जो गुरु-पत्नियोंमें आसक्त हैं, जो पशु-पक्षी आदिका-सा आचरण करनेवाले हैं तथा जिनके सारे आचार-विचार भी पशुओंके समान हैं, तू उन पापात्मा म्लेच्छोंका राजा होगा ।। १५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं स तुर्वसुं शप्त्वा ययातिः सुतमात्मनः ।
शर्मिष्ठायाः सुतं द्रुह्युमिदं वचनमब्रवीत् ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा ययातिने इस प्रकार अपने पुत्र तुर्वसुको शाप देकर शर्मिष्ठाके पुत्र द्रुह्युसे यह बात कही ।। १६ ।।

ययातिरुवाच

द्रुह्यो त्वं प्रतिपद्यस्व वर्णरूपविनाशिनीम् ।
जरां वर्षसहस्रं मे यौवनं स्वं ददस्व च ।। १७ ।।

ययातिने कहा—द्रुह्यो! कान्ति तथा रूपका नाश करनेवाली यह वृद्धावस्था तुम ले लो और एक हजार वर्षोंके लिये अपनी जवानी मुझे दे दो ।। १७ ।।

पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चादास्यामि भूयोऽहं पाप्मानं जरया सह ।। १८ ।।

हजार वर्ष पूर्ण हो जानेपर मैं पुनः तुम्हारी जवानी तुम्हें दे दूँगा और बुढ़ापेके साथ अपना दोष फिर ले लूँगा ।। १८ ।।

द्रुह्युरुवाच

न गजं न रथं नाश्वं जीर्णो भुङ्क्ते न च स्त्रियम् ।
वाक्सङ्गश्चास्य भवति तां जरां नाभिकामये ।। १९ ।।

द्रुह्यु बोले—पिताजी! बूढ़ा मनुष्य हाथी, घोड़े और रथपर नहीं चढ़ सकता; स्त्रीका भी उपभोग नहीं कर सकता। उसकी वाणी भी लड़खड़ाने लगती है; अतः मैं वृद्धावस्था नहीं लेना चाहता ।। १९ ।।

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्माद् द्रुह्यो प्रियः कामो न ते सम्पत्स्यते क्वचित् ।। २० ।।

ययाति बोले—द्रुह्यो! तू मेरे हृदयसे उत्पन्न होकर भी अपनी जवानी मुझे नहीं दे रहा है; इसलिये तेरा प्रिय मनोरथ कभी सिद्ध नहीं होगा ।। २० ।।

यत्राश्वरथमुख्यानामश्वानां स्याद् गतं न च ।
हस्तिनां पीठकानां च गर्दभानां तथैव च ।। २१ ।।
बस्तानां च गवां चैव शिबिकायास्तथैव च ।
उडुपप्लवसंतारो यत्र नित्यं भविष्यति ।
अराजा भोजशब्दं त्वं तत्र प्राप्स्यसि सान्वयः ।। २२ ।।

जहाँ घोड़े जुते हुए उत्तम रथों, घोड़ों, हाथियों, पीठकों (पालकियों), गदहों, बकरों, बैलों और शिबिका आदिकी भी गति नहीं है, जहाँ प्रतिदिन नावपर बैठकर ही घूमना फिरना होगा, ऐसे प्रदेशमें तू अपनी संतानोंके साथ चला जायगा और वहाँ तेरे वंशके लोग राजा नहीं, भोज कहलायेंगे ।। २१-२२ ।।

ययातिरुवाच

अनो त्वं प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
एकं वर्षसहस्रं तु चरेयं यौवनेन ते ।। २३ ।।

तदनन्तर ययातिने [अनुसे] कहा—अनो! तुम बुढ़ापेके साथ मेरा दोष ले लो और मैं तुम्हारी जवानीके द्वारा एक हजार वर्षतक सुख भोगूँगा ।। २३ ।।

अनुरुवाच

जीर्णः शिशुवदादत्तेऽकालेऽन्नमशुचिर्यथा ।
न जुहोति च कालेऽग्निं तां जरां नाभिकामये ।। २४ ।।

अनु बोले—पिताजी! बूढ़ा मनुष्य बच्चोंकी तरह असमयमें भोजन करता है, अपवित्र रहता है तथा समयपर अग्निहोत्र नहीं करता, अतः ऐसी वृद्धावस्थाको मैं नहीं लेना चाहता ।। २४ ।।

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
जरादोषस्त्वया प्रोक्तस्तस्मात् त्वं प्रतिपत्स्यसे ।। २५ ।।
प्रजाश्च यौवनप्राप्ता विनशिष्यन्त्यनो तव ।
अग्निप्रस्कन्दनपरस्त्वं चाप्येवं भविष्यसि ।। २६ ।।

ययातिने कहा—अनो! तू मेरे हृदयसे उत्पन्न होकर भी अपनी युवावस्था मुझे नहीं दे रहा है और बुढ़ापेके दोष बतला रहा है, अतः तू वृद्धावस्थाके समस्त दोषोंको प्राप्त करेगा और तेरी संतान जवान होते ही मर जायगी तथा तू भी बूढ़े-जैसा होकर अग्निहोत्रका त्याग कर देगा ।। २५-२६ ।।

ययातिरुवाच

पूरो त्वं मे प्रियः पुत्रस्त्वं वरीयान् भविष्यसि ।
जरा वली च मां तात पलितानि च पर्यगुः ।। २७ ।।

ययातिने [पूरुसे] कहा—पूरो! तुम मेरे प्रिय पुत्र हो। गुणोंमें तुम श्रेष्ठ होओगे। तात! मुझे बुढ़ापेने घेर लिया; सब अंगोंमें झुर्रियाँ पड़ गयीं और सिरके बाल सफेद हो गये। बुढ़ापाके ये सारे चिह्न मुझे एक ही साथ प्राप्त हुए हैं ।। २७ ।।

काव्यस्योशनसः शापान्न च तृप्तोऽस्मि यौवने ।
पूरो त्वं प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
कंचित् कालं चरेयं वै विषयान् वयसा तव ।। २८ ।।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चैव प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ।। २९ ।।

कविपुत्र शुक्राचार्यके शापसे मेरी यह दशा हुई है; किंतु मैं जवानीके भोगोंसे अभी तृप्त नहीं हुआ हूँ। पूरो! तुम बुढ़ापेके साथ मेरे दोषको ले लो और मैं तुम्हारी युवावस्था लेकर उसके द्वारा कुछ कालतक विषयभोग करूँगा। एक हजार वर्ष पूरे होनेपर मैं तुम्हें पुनः तुम्हारी जवानी दे दूँगा और बुढ़ापेके साथ अपना दोष ले लूँगा ।। २८-२९ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच पूरुः पितरमञ्जसा ।
यथाऽऽत्थ मां महाराज तत् करिष्यामि ते वचः ।। ३० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—ययातिके ऐसा कहनेपर पूरुने अपने पितासे विनयपूर्वक कहा—‘महाराज! आप मुझे जैसा आदेश दे रहे हैं, आपके उस वचनका मैं पालन करूँगा ।। ३० ।।

(गुरोर्वै वचनं पुण्यं स्वर्ग्यमायुष्करं नृणाम् ।
गुरुप्रसादात् त्रैलोक्यमन्वशासच्छतक्रतुः ।।
गुरोरनुमतिं प्राप्य सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।)

'गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन मनुष्योंके लिये पुण्य, स्वर्ग तथा आयु प्रदान करनेवाला है। गुरुके ही प्रसादसे इन्द्रने तीनों लोकोंका शासन किया है। गुरुस्वरूप पिताकी अनुमति प्राप्त करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको पा लेता है।

प्रतिपत्स्यामि ते राजन् पाप्मानं जरया सह ।
गृहाण यौवनं मत्तश्चर कामान् यथेप्सितान् ।। ३१ ।।

'राजन्! मैं बुढ़ापेके साथ आपका दोष ग्रहण कर लूँगा। आप मुझसे जवानी ले लें और इच्छानुसार विषयोंका उपभोग करें ।। ३१ ।।

जरयाहं प्रतिच्छन्नो वयोरूपधरस्तव ।
यौवनं भवते दत्त्वा चरिष्यामि यथाऽऽत्थ माम् ।। ३२ ।।

'मैं वृद्धावस्थासे आच्छादित हो आपकी आयु एवं रूप धारण करके रहूँगा और आपको जवानी देकर आप मेरे लिये जो आज्ञा देंगे, उसका पालन करूँगा' ।। ३२ ।।

ययातिरुवाच

पूरो प्रीतोऽस्मि ते वत्स प्रीतश्चेदं ददामि ते ।
सर्वकामसमृद्धा ते प्रजा राज्ये भविष्यति ।। ३३ ।।

ययाति बोले—वत्स! पूरो! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ और प्रसन्न होकर तुम्हें यह वर देता हूँ—'तुम्हारे राज्यमें सारी प्रजा समस्त कामनाओंसे सम्पन्न होगी' ।। ३३ ।।

एवमुक्त्वा ययातिस्तु स्मृत्वा काव्यं महातपाः ।
संक्रामयामास जरां तदा पूरौ महात्मनि ।। ३४ ।।

ऐसा कहकर महातपस्वी ययातिने शुक्राचार्यका स्मरण किया और अपनी वृद्धावस्था महात्मा पूरुको देकर उनकी युवावस्था ले ली ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने चतुरशीतितमोऽध्यायः ।। ८४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३५½ श्लोक हैं)

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

राजा ययातिका विषय-सेवन और वैराग्य तथा पूरुका राज्याभिषेक करके वनमें जाना

वैशम्पायन उवाच

पौरवेणाथ वयसा ययातिर्नहुषात्मजः ।
प्रीतियुक्तो नृपश्रेष्ठश्चचार विषयान् प्रियान् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! नहुषके पुत्र नृपश्रेष्ठ ययातिने पूरुकी युवावस्थासे अत्यन्त प्रसन्न होकर अभीष्ट विषयभोगोंका सेवन आरम्भ किया ।। १ ।।

यथाकामं यथोत्साहं यथाकालं यथासुखम् ।
धर्माविरुद्धं राजेन्द्र यथार्हति स एव हि ।। २ ।।

राजेन्द्र! उनकी जैसी कामना होती, जैसा उत्साह होता और जैसा समय होता, उसके अनुसार वे सुखपूर्वक धर्मानुकूल भोगोंका उपभोग करते थे। वास्तवमें उसके योग्य वे ही थे ।। २ ।।

देवानतर्पयद् यज्ञैः श्राद्धैस्तद्वत् पितॄनपि ।
दीनाननुग्रहैरिष्टैः कामैश्च द्विजसत्तमान् ।। ३ ।।

उन्होंने यज्ञोंद्वारा देवताओंको, श्राद्धोंसे पितरोंको, इच्छाके अनुसार अनुग्रह करके दीन-दुःखियोंको और मुँहमाँगी भोग्य वस्तुएँ देकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त किया ।। ३ ।।

अतिथीनन्नपानैश्च विशश्च परिपालनैः ।
आनृशंस्येन शूद्रांश्च दस्यून् संनिग्रहेण च ।। ४ ।।
धर्मेण च प्रजाः सर्वा यथावदनुरञ्जयन् ।
ययातिः पालयामास साक्षादिन्द्र इवापरः ।। ५ ।।

वे अतिथियोंको अन्न और जल देकर, वैश्योंको उनके धन-वैभवकी रक्षा करके, शूद्रोंको दयाभावसे, लुटेरोंको कैद करके तथा सम्पूर्ण प्रजाको धर्मपूर्वक संरक्षणद्वारा प्रसन्न रखते थे। इस प्रकार साक्षात् दूसरे इन्द्रके समान राजा ययातिने समस्त प्रजाका पालन किया ।। ४-५ ।।

स राजा सिंहविक्रान्तो युवा विषयगोचरः ।
अविरोधेन धर्मस्य चचार सुखमुत्तमम् ।। ६ ।।

वे राजा सिंहके समान पराक्रमी और नवयुवक थे। सम्पूर्ण विषय उनके अधीन थे और वे धर्मका विरोध न करते हुए उत्तम सुखका उपभोग करते थे ।। ६ ।।

स सम्प्राप्य शुभान् कामांस्तृप्तः खिन्नश्च पार्थिवः ।

कालं वर्षसहस्रान्तं सस्मार मनुजाधिपः ।। ७ ।।
परिसंख्याय कालज्ञः कलाः काष्ठाश्च वीर्यवान् ।
यौवनं प्राप्य राजर्षिः सहस्रपरिवत्सरान् ।। ८ ।।
विश्वाच्या सहितो रेमे व्यभ्राजन्नन्दने वने ।
अलकायां स कालं तु मेरुशृङ्गे तथोत्तरे ।। ९ ।।
यदा स पश्यते कालं धर्मात्मा तं महीपतिः ।
पूर्णं मत्वा ततः कालं पूरुं पुत्रमुवाच ह ।। १० ।।

वे नरेश शुभ भोगोंको प्राप्त करके पहले तो तृप्त एवं आनन्दित होते थे; परंतु जब यह बात ध्यानमें आती कि ये हजार वर्ष भी पूरे हो जायँगे, तब उन्हें बड़ा खेद होता था। कालतत्त्वको जाननेवाले पराक्रमी राजा ययाति एक-एक कला और काष्ठाकी गिनती करके एक हजार वर्षके समयकी अवधिका स्मरण रखते थे। राजर्षि ययाति हजार वर्षोंकी जवानी पाकर नन्दनवनमें विश्वाची अप्सराके साथ रमण करते और प्रकाशित होते थे। वे अलकापुरीमें तथा उत्तर दिशावर्ती मेरुशिखरपर भी इच्छानुसार विहार करते थे। धर्मात्मा नरेशने जब देखा कि समय अब पूरा हो गया, तब वे अपने पुत्र पुरुके पास आकर बोले — ।। ७—१० ।।

यथाकामं यथोत्साहं यथाकालमरिंदम ।
सेविता विषयाः पुत्र यौवनेन मया तव ।। ११ ।।

'शत्रुदमन पुत्र! मैंने तुम्हारी जवानीके द्वारा अपनी रुचि, उत्साह और समयके अनुसार विषयोंका सेवन किया है ।। ११ ।।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।। १२ ।।

'परंतु विषयोंकी कामना उन विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती; अपितु घीकी आहुति पड़नेसे अग्निकी भाँति वह अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है ।। १२ ।।

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत् ।। १३ ।।

'इस पृथ्वीपर जितने भी धान, जौ, स्वर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक मनुष्यके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं। अतः तृष्णाका त्याग कर देना चाहिये ।। १३ ।।

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ।। १४ ।।

'खोटी बुद्धिवाले लोगोंके लिये जिसका त्याग करना अत्यन्त कठिन है, जो मनुष्यके बूढ़े होनेपर भी स्वयं बूढ़ी नहीं होती तथा जो एक प्राणान्तक रोग है, उस तृष्णाको त्याग देनेवाले पुरुषको ही सुख मिलता है ।। १४ ।।

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः ।

तथाप्यनुदिनं तृष्णा ममैतेष्वभिजायते ।। १५ ।।

'देखो, विषयभोगमें आसक्तचित्त हुए मेरे एक हजार वर्ष बीत गये, तो भी प्रतिदिन उन विषयोंके लिये ही तृष्णा पैदा होती है ।। १५ ।।

तस्मादेनामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम् ।
निर्द्वन्द्वो निर्ममो भूत्वा चरिष्यामि मृगैः सह ।। १६ ।।

'अतः मैं इस तृष्णाको छोड़कर परब्रह्म परमात्मामें मन लगा द्वन्द्व और ममतासे रहित हो वनमें मृगोंके साथ विचरूँगा ।। १६ ।।

पूरो प्रीतोऽस्मि भद्रं ते गृहाणेदं स्वयौवनम् ।
राज्यं चेदं गृहाण त्वं त्वं हि मे प्रियकृत् सुतः ।। १७ ।।

'पूरो! तुम्हारा भला हो, मैं प्रसन्न हूँ। अपनी यह जवानी ले लो। साथ ही यह राज्य भी अपने अधिकारमें कर लो; क्योंकि तुम मेरा प्रिय करनेवाले पुत्र हो' ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

प्रतिपेदे जरां राजा ययातिर्नाहुषस्तदा ।
यौवनं प्रतिपेदे च पूरुः स्वं पुनरात्मनः ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय नहुषनन्दन राजा ययातिने अपनी वृद्धावस्था वापस ले ली और पूरुने पुनः अपनी युवावस्था प्राप्त कर ली ।। १८ ।।

अभिषेक्तुकामं नृपतिं पूरुं पुत्रं कनीयसम् ।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णा इदं वचनमब्रुवन् ।। १९ ।।

जब ब्राह्मण आदि वर्णोंने देखा कि महाराज ययाति अपने छोटे पुत्र पूरुको राजाके पदपर अभिषिक्त करना चाहते हैं, तब उनके पास आकर इस प्रकार बोले— ।। १९ ।।

कथं शुक्रस्य नप्तारं देवयान्याः सुतं प्रभो ।
ज्येष्ठं यदुमतिक्रम्य राज्यं पूरोः प्रयच्छसि ।। २० ।।

'प्रभो! शुक्राचार्यके नाती और देवयानीके ज्येष्ठ पुत्र यदुके होते हुए उन्हें लाँघकर आप पूरुको राज्य क्यों देते हैं? ।। २० ।।

यदुर्ज्येष्ठस्तव सुतो जातस्तमनु तुर्वसुः ।
शर्मिष्ठायाः सुतो द्रुह्युस्ततोऽनुः पूरुरेव च ।। २१ ।।

'यदु आपके ज्येष्ठ पुत्र हैं। उनके बाद तुर्वसु उत्पन्न हुए हैं। तदनन्तर शर्मिष्ठाके पुत्र क्रमशः द्रुह्यु, अनु और पूरु हैं ।। २१ ।।

कथं ज्येष्ठानतिक्रम्य कनीयान् राज्यमर्हति ।
एतत् सम्बोधयामस्त्वां धर्मं त्वं प्रतिपालय ।। २२ ।।

'ज्येष्ठ पुत्रोंका उल्लंघन करके छोटा पुत्र राज्यका अधिकारी कैसे हो सकता है? हम आपको इस बातका स्मरण दिला रहे हैं। आप धर्मका पालन कीजिये' ।। २२ ।।

ययातिरुवाच

ब्राह्मणप्रमुखा वर्णाः सर्वे शृण्वन्तु मे वचः ।
ज्येष्ठं प्रति यथा राज्यं न देयं मे कथंचन ।। २३ ।।

ययातिने कहा—ब्राह्मण आदि सब वर्णके लोग मेरी बात सुनें, मुझे ज्येष्ठ पुत्रको किसी तरह राज्य नहीं देना है ।। २३ ।।

मम ज्येष्ठेन यदुना नियोगो नानुपालितः ।
प्रतिकूलः पितुर्यश्च न स पुत्रः सतां मतः ।। २४ ।।

मेरे ज्येष्ठ पुत्र यदुने मेरी आज्ञाका पालन नहीं किया है। जो पिताके प्रतिकूल हो, वह सत्पुरुषोंकी दृष्टिमें पुत्र नहीं माना गया है ।। २४ ।।

मातापित्रोर्वचनकृद्धितः पथ्यश्च यः सुतः ।
स पुत्रः पुत्रवद् यश्च वर्तते पितृमातृषु ।। २५ ।।

जो माता और पिताकी आज्ञा मानता है, उनका हित चाहता है, उनके अनुकूल चलता है तथा माता-पिताके प्रति पुत्रोचित बर्ताव करता है, वही वास्तवमें पुत्र है ।। २५ ।।

(पुदिति नरकस्याख्या दुःखं हि नरकं विदुः ।
पुतस्त्राणात् ततः पुत्त्रमिहेच्छन्ति परत्र च ।।
आत्मनः सदृशः पुत्रः पितृदेवर्षिपूजने ।
यो बहूनां गुणकरः स पुत्रो ज्येष्ठ उच्यते ।।
ज्येष्ठांशभाक् स गुणकृदिह लोके परत्र च ।
श्रेयान् पुत्रो गुणोपेतः स पुत्रो नेतरो वृथा ।।
वदन्ति धर्मं धर्मज्ञाः पितॄणां पुत्रकारणात् ।)

'पुत्' यह नरकका नाम है। नरकको दुःखरूप ही मानते हैं पुत् नामक नरकसे त्राण (रक्षा) करनेके कारण ही लोग इहलोक और परलोकमें पुत्रकी इच्छा करते हैं। अपने अनुरूप पुत्र देवताओं, ऋषियों और पितरोंके पूजनका अधिकारी होता है। जो बहुत-से मनुष्योंके लिये गुणकारक (लाभदायक) हो, उसीको ज्येष्ठ पुत्र कहते हैं। वह गुणकारक पुत्र ही इहलोक और परलोकमें ज्येष्ठके अंशका भागी होता है। जो उत्तम गुणोंसे सम्पन्न है, वही पुत्र श्रेष्ठ माना गया है, दूसरा नहीं। गुणहीन पुत्र व्यर्थ कहा गया है। धर्मज्ञ पुरुष पुत्रके ही कारण पितरोंके धर्मका बखान करते हैं।

यदुनाहमवज्ञातस्तथा तुर्वसुनापि च ।
द्रुह्युना चानुना चैव मय्यवज्ञा कृता भृशम् ।। २६ ।।

यदुने मेरी अवहेलना की है; तुर्वसु, द्रुह्यु तथा अनुने भी मेरा बड़ा तिरस्कार किया है ।। २६ ।।

पूरुणा तु कृतं वाक्यं मानितं च विशेषतः ।
कनीयान् मम दायादो धृता येन जरा मम ।। २७ ।।

पूरुने मेरी आज्ञाका पालन किया; मेरी बातको अधिक आदर दिया है, इसीने मेरा बुढ़ापा ले रखा था। अतः मेरा यह छोटा पुत्र ही वास्तवमें मेरे राज्य और धनको पानेका अधिकारी है ।। २७ ।।

मम कामः स च कृतः पूरुणा मित्ररूपिणा ।
शुक्रेण च वरो दत्तः काव्येनोशनसा स्वयम् ।। २८ ।।
पुत्रो यस्त्वानुवर्तेत स राजा पृथिवीपतिः ।
भवतोऽनुनयाम्येवं पूरू राज्येऽभिषिच्यताम् ।। २९ ।।

पूरुने मित्ररूप होकर मेरी कामनाएँ पूर्ण की हैं। स्वयं शुक्राचार्यने मुझे वर दिया है कि 'जो पुत्र तुम्हारा अनुसरण करे, वही राजा एवं समस्त भूमण्डलका पालक हो'। अतः मैं आपलोगोंसे विनयपूर्ण आग्रह करता हूँ कि पूरुको ही राज्यपर अभिषिक्त करें ।। २८-२९ ।।

प्रकृतय ऊचुः

यः पुत्रो गुणसम्पन्नो मातापित्रोर्हितः सदा ।
सर्वमर्हति कल्याणं कनीयानपि सत्तमः ।। ३० ।।

प्रजावर्गके लोग बोले—जो पुत्र गुणवान् और सदा माता-पिताका हितैषी हो, वह छोटा होनेपर भी श्रेष्ठतम है। वही सम्पूर्ण कल्याणका भागी होनेयोग्य है ।। ३० ।।

अर्हः पूरुरिदं राज्यं यः सुतः प्रियकृत् तव ।
वरदानेन शुक्रस्य न शक्यं वक्तुमुत्तरम् ।। ३१ ।।

पूरु आपका प्रिय करनेवाले पुत्र हैं, अतः शुक्राचार्यके वरदानके अनुसार ये ही इस राज्यको पानेके अधिकारी हैं। इस निश्चयके विरुद्ध कुछ भी उत्तर नहीं दिया जा सकता ।। ३१ ।।

वैशम्पायन उवाच

पौरजानपदैस्तुष्टैरित्युक्तो नाहुषस्तदा ।
अभ्यषिञ्चत् ततः पूरुं राज्ये स्वे सुतमात्मनः ।। ३२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—नगर और राज्यके लोगोंने संतुष्ट होकर जब इस प्रकार कहा, तब नहुषनन्दन ययातिने अपने पुत्र पूरुको ही अपने राज्यपर अभिषिक्त किया ।। ३२ ।।

दत्त्वा च पूरवे राज्यं वनवासाय दीक्षितः ।
पुरात् स निर्ययौ राजा ब्राह्मणैस्तापसैः सह ।। ३३ ।।

इस प्रकार पूरुको राज्य दे वनवासकी दीक्षा लेकर राजा ययाति तपस्वी ब्राह्मणोंके साथ नगरसे बाहर निकल गये ।। ३३ ।।

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः स्मृताः ।

द्रुह्योः सुतास्तु वै भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः ।। ३४ ।।

यदुसे यादव क्षत्रिय उत्पन्न हुए, तुर्वसुकी संतान यवन कहलायी, द्रुह्युके पुत्र भोज नामसे प्रसिद्ध हुए और अनुसे म्लेच्छजातियाँ उत्पन्न हुईं ।। ३४ ।।

पूरोस्तु पौरवो वंशो यत्र जातोऽसि पार्थिव ।
इदं वर्षसहस्राणि राज्यं कारयितुं वशी ।। ३५ ।।

राजा जनमेजय! पूरुसे पौरव वंश चला; जिसमें तुम उत्पन्न हुए हो। तुम्हें इन्द्रिय-संयमपूर्वक एक हजार वर्षोंतक यह राज्य करना है ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने पूर्वयायातसमाप्तौ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ।। ८५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानके प्रसंगमें पूर्वयायातसमाप्तिविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ ½ श्लोक मिलाकर कुल ३८ ½ श्लोक हैं)

षडशीतितमोऽध्यायः

वनमें राजा ययातिकी तपस्या और उन्हें स्वर्गलोककी प्राप्ति

वैशम्पायन उवाच

एवं स नाहुषो राजा ययातिः पुत्रमीप्सितम् ।
राज्येऽभिषिच्य मुदितो वानप्रस्थोऽभवन्मुनिः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार नहुषनन्दन राजा ययाति अपने प्रिय पुत्र पूरुका राज्याभिषेक करके प्रसन्नतापूर्वक वानप्रस्थ मुनि हो गये ।। १ ।।

उषित्वा च वने वासं ब्राह्मणैः संशितव्रतः ।
फलमूलाशनो दान्तस्ततः स्वर्गमितो गतः ।। २ ।।

वे वनमें ब्राह्मणोंके साथ रहकर कठोर व्रतका पालन करते हुए फल-मूलका आहार तथा मन और इन्द्रियोंका संयम करते थे, इससे वे स्वर्गलोकमें गये ।। २ ।।

स गतः स्वर्निवासं तं निवसन् मुदितः सुखी ।
कालेन चातिमहता पुनः शक्रेण पातितः ।। ३ ।।
निपतन् प्रच्युतः स्वर्गादप्राप्तो मेदिनीतलम् ।
स्थित आसीदन्तरिक्षे स तदेति श्रुतं मया ।। ४ ।।

स्वर्गलोकमें जाकर वे बड़ी प्रसन्नताके साथ सुखपूर्वक रहने लगे और बहुत कालके बाद इन्द्रद्वारा वे पुनः स्वर्गसे नीचे गिरा दिये गये। स्वर्गसे भ्रष्ट हो पृथ्वीपर गिरते समय वे भूतलतक नहीं पहुँचे, आकाशमें ही स्थिर हो गये, ऐसा मैंने सुना है ।। ३-४ ।।

तत एव पुनश्चापि गतः स्वर्गमिति श्रुतम् ।
राज्ञा वसुमता सार्धमष्टकेन च वीर्यवान् ।। ५ ।।
प्रतर्दनेन शिबिना समेत्य किल संसदि ।

फिर यह भी सुननेमें आया है कि वे पराक्रमी राजा ययाति मुनिसमाजमें राजा वसुमान्, अष्टक, प्रतर्दन और शिबिसे मिलकर पुनः वहींसे साधु पुरुषोंके संगके प्रभावसे स्वर्गलोकमें चले गये ।। ५½ ।।

जनमेजय उवाच

कर्मणा केन स दिवं पुनः प्राप्तो महीपतिः ।। ६ ।।

जनमेजयने पूछा—मुने! किस कर्मसे वे भूपाल पुनः स्वर्गमें पहुँचे थे? ।। ६ ।।

सर्वमेतदशेषेण श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसंनिधौ ।। ७ ।।

विप्रवर! मैं ये सारी बातें पूर्णरूपसे यथावत् सुनना चाहता हूँ। इन ब्रह्मर्षियोंके समीप आप इस प्रसंगका वर्णन करें ।। ७ ।।

देवराजसमो ह्यासीद् ययातिः पृथिवीपतिः ।
वर्धनः कुरुवंशस्य विभावसुसमद्युतिः ।। ८ ।।

कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले, अग्निके समान तेजस्वी राजा ययाति देवराज इन्द्रके समान थे ।। ८ ।।

तस्य विस्तीर्णयशसः सत्यकीर्तेर्महात्मनः ।
चरितं श्रोतुमिच्छामि दिवि चेह च सर्वशः ।। ९ ।।

उनका यश चारों ओर फैला था। मैं उन सत्यकीर्ति महात्मा ययातिका चरित्र, जो इहलोक और स्वर्गलोकमें सर्वत्र प्रसिद्ध है, सुनना चाहता हूँ ।। ९ ।।

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि ययातेरुत्तमां कथाम् ।
दिवि चेह च पुण्यार्थां सर्वपापप्रणाशिनीम् ।। १० ।।

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय! ययातिकी उत्तम कथा इहलोक और स्वर्गलोकमें भी पुण्यदायक है। वह सब पापोंका नाश करनेवाली है, मैं तुमसे उसका वर्णन करता हूँ ।। १० ।।

ययातिर्नाहुषो राजा पूरुं पुत्रं कनीयसम् ।
राज्येऽभिषिच्य मुदितः प्रवव्राज वनं तदा ।। ११ ।।
अन्त्येषु स विनिक्षिप्य पुत्रान् यदुपुरोगमान् ।
फलमूलाशनो राजा वने संन्यवसच्चिरम् ।। १२ ।।

नहुषपुत्र महाराज ययातिने अपने छोटे पुत्र पूरुको राज्यपर अभिषिक्त करके यदु आदि अन्य पुत्रोंको सीमान्त (किनारेके देशों)-में रख दिया। फिर बड़ी प्रसन्नताके साथ वे वनमें गये। वहाँ फल-मूलका आहार करते हुए उन्होंने दीर्घकालतक वनमें निवास किया ।। ११-१२ ।।

शंसितात्मा जितक्रोधस्तर्पयन् पितृदेवताः ।
अग्नींश्च विधिवज्जुह्वन् वानप्रस्थविधानतः ।। १३ ।।

उन्होंने अपने मनको शुद्ध करके क्रोधपर विजय पायी और प्रतिदिन देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करते हुए वानप्रस्थाश्रमकी विधिसे शास्त्रीय विधानके अनुसार अग्निहोत्र प्रारम्भ किया ।। १३ ।।

अतिथीन् पूजयामास वन्येन हविषा विभुः ।
शिलोञ्छवृत्तिमास्थाय शेषान्नकृतभोजनः ।। १४ ।।

वे राजा शिलोञ्छवृत्तिका आश्रय ले यज्ञशेष अन्नका भोजन करते थे। भोजनसे पूर्व वनमें उपलब्ध होनेवाले फल, मूल आदि हविष्यके द्वारा अतिथियोंका आदर-सत्कार करते थे ।। १४ ।।

पूर्णं वर्षसहस्रं च एवंवृत्तिरभून्नृपः ।
अब्भक्षः शरदस्त्रिंशदासीन्नियतवामङ्मनाः ।। १५ ।।

राजाको इसी वृत्तिसे रहते हुए पूरे एक हजार वर्ष बीत गये। उन्होंने मन और वाणीपर संयम करके तीस वर्षोंतक केवल जलका आहार किया ।। १५ ।।

ततश्च वायुभक्षोऽभूत् संवत्सरमतन्द्रितः ।
तथा पञ्चाग्निमध्ये च तपस्तेपे च वत्सरम् ।। १६ ।।

तत्पश्चात् वे आलस्यरहित हो एक वर्षतक केवल वायु पीकर रहे। फिर एक वर्षतक पाँच अग्नियोंके बीचमें बैठकर तपस्या की ।। १६ ।।

एकपादः स्थितश्चासीत् षण्मासाननिलाशनः ।
पुण्यकीर्तिस्ततः स्वर्गे जगामावृत्य रोदसी ।। १७ ।।

इसके बाद छः महीनोंतक हवा पीकर वे एक पैरसे खड़े रहे। तदनन्तर पुण्यकीर्ति महाराज ययाति पृथ्वी और आकाशमें अपना यश फैलाकर स्वर्गलोकमें चले गये ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते षडशीतितमोऽध्यायः ।। ८६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८६ ।।

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

इन्द्रके पूछनेपर ययातिका अपने पुत्र पूरुको दिये हुए उपदेशकी चर्चा करना

वैशम्पायन उवाच

स्वर्गतः स तु राजेन्द्रो निवसन् देववेश्मनि ।
पूजितस्त्रिदशैः साध्यैर्मरुद्भिर्वसुभिस्तथा ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! स्वर्गलोकमें जाकर महाराज ययाति देवभवनमें निवास करने लगे। वहाँ देवताओं, साध्यगणों, मरुद्‌गणों तथा वसुओंने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया ।। १ ।।

देवलोकं ब्रह्मलोकं संचरन् पुण्यकृद् वशी ।
अवसत् पृथिवीपालो दीर्घकालमिति श्रुतिः ।। २ ।।

सुना जाता है कि पुण्यात्मा तथा जितेन्द्रिय राजा ययाति देवलोक और ब्रह्मलोकमें भ्रमण करते हुए वहाँ दीर्घकालतक रहे ।। २ ।।

स कदाचिन्नृपश्रेष्ठो ययातिः शक्रमागमत् ।
कथान्ते तत्र शक्रेण स पृष्टः पृथिवीपतिः ।। ३ ।।

एक दिन नृपश्रेष्ठ ययाति देवराज इन्द्रके पास आये। दोनोंमें वार्तालाप हुआ और अन्तमें इन्द्रने राजा ययातिसे पूछा ।। ३ ।।

शक्र उवाच

यदा स पूरुस्तव रूपेण राजन्
जरां गृहीत्वा प्रचचार भूमौ ।
तदा च राज्यं सम्प्रदायैव तस्मै
त्वया किमुक्तः कथयेह सत्यम् ।। ४ ।।

इन्द्रने पूछा—राजन्! जब पूरु तुमसे वृद्धावस्था लेकर तुम्हारे स्वरूपसे इस पृथ्वीपर विचरण करने लगा, तुम सत्य कहो, उस समय राज्य देकर तुमने उसको क्या आदेश दिया था? ।। ४ ।।

ययातिरुवाच

गङ्गायमुनयोर्मध्ये कृत्स्नोऽयं विषयस्तव ।
मध्ये पृथिव्यास्त्वं राजा भ्रातरोऽन्त्याधिपास्तव ।। ५ ।।

ययातिने कहा—(देवराज! मैंने अपने पुत्र पूरुसे कहा था कि) बेटा! गंगा और यमुनाके बीचका यह सारा प्रदेश तुम्हारे अधिकारमें रहेगा। यह पृथ्वीका मध्य भाग है,

इसके तुम राजा होओगे और तुम्हारे भाई सीमान्त देशोंके अधिपति होंगे ।। ५ ।।

(न च कुर्यान्नरो दैन्यं शाठ्यं क्रोधं तथैव च ।
जैह्म्यं च मत्सरं वैरं सर्वत्रैव न कारयेत् ।।
मातरं पितरं चैव विद्वांसं च तपोधनम् ।
क्षमावन्तं च देवेन्द्र नावमन्येत बुद्धिमान् ।।
शक्तस्तु क्षमते नित्यमशक्तः क्रुध्यते नरः ।
दुर्जनः सुजनं द्वेष्टि दुर्बलो बलवत्तरम् ।।
रूपवन्तमरूपी च धनवन्तं च निर्धनः ।
अकर्मी कर्मिणं द्वेष्टि धार्मिकं च न धार्मिकः ।।
निर्गुणो गुणवन्तं च शक्रैतत् कलिलक्षणम् ।)

देवेन्द्र! (इसके बाद मैंने यह आदेश दिया कि) मनुष्य दीनता, शठता और क्रोध न करे। कुटिलता, मात्सर्य और वैर कहीं न करे। माता-पिता, विद्वान्, तपस्वी तथा क्षमाशील पुरुषका बुद्धिमान् मनुष्य कभी अपमान न करे। शक्तिशाली पुरुष सदा क्षमा करता है। शक्तिहीन मनुष्य सदा क्रोध करता है। दुष्ट मानव साधु पुरुषसे और दुर्बल अधिक बलवान्से द्वेष करता है। कुरूप मनुष्य रूपवान्से, निर्धन धनवान्से, अकर्मण्य कर्मनिष्ठसे और अधार्मिक धर्मात्मासे द्वेष करता है। इसी प्रकार गुणहीन मनुष्य गुणवान्से डाह रखता है। इन्द्र! यह कलिका लक्षण है।

अक्रोधनः क्रोधनेभ्यो विशिष्ट-
स्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः ।
अमानुषेभ्यो मानुषाश्च प्रधाना
विद्वांस्तथैवाविदुषः प्रधानः ।। ६ ।।

क्रोध करनेवालोंसे वह पुरुष श्रेष्ठ है, जो कभी क्रोध नहीं करता। इसी प्रकार असहनशीलसे सहनशील उत्तम है, मनुष्येतर प्राणियोंसे मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मूर्खोंसे विद्वान् उत्तम है ।। ६ ।।

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ।। ७ ।।

यदि कोई किसीकी निन्दा करता या उसे गाली देता हो तो वह भी बदलेमें निन्दा या गाली-गलौज न करे; क्योंकि जो गाली या निन्दा सह लेता है, उस पुरुषका आन्तरिक दुःख ही गाली देनेवाले या अपमान करनेवालेको जला डालता है। साथ ही उसके पुण्यको भी वह ले लेता है ।। ७ ।।

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत

न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम् ।। ८ ।।

क्रोधवश किसीके मर्म-स्थानमें चोट न पहुँचाये (ऐसा बर्ताव न करे, जिससे किसीको मार्मिक पीड़ा हो)। किसीके प्रति कठोर बात भी मुँहसे न निकाले। अनुचित उपायसे शत्रुको भी वशमें न करे। जो जीको जलानेवाली हो, जिससे दूसरेको उद्वेग होता हो, ऐसी बात मुँहसे न बोले; क्योंकि पापीलोग ही ऐसी बातें बोला करते हैं ।। ८ ।।

अरुन्तुदं परुषं तीक्ष्णवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वहन्तम् ।। ९ ।।

जो स्वभावका कठोर हो, दूसरोंके मर्ममें चोट पहुँचाता हो, तीखी बातें बोलता हो और कठोर वचनरूपी काँटोंसे दूसरे मनुष्यको पीड़ा देता हो, उसे अत्यन्त लक्ष्मीहीन (दरिद्र या अभागा) समझे। (उसको देखना भी बुरा है; क्योंकि) वह कड़वी बोलीके रूपमें अपने मुँहमें बँधी हुई एक पिशाचिनीको ढो रहा है ।। ९ ।।

सद्भिः पुरस्तादभिपूजितः स्यात्
सद्भिस्तथा पृष्ठतो रक्षितः स्यात् ।
सदासतामतिवादांस्तितिक्षेत्
सतां वृत्तं चाददीतार्यवृत्तः ।। १० ।।

(अपना बर्ताव और व्यवहार ऐसा रखे, जिससे) साधु पुरुष सामने तो सत्कार करें ही, पीठ-पीछे भी उनके द्वारा अपनी रक्षा हो। दुष्ट लोगोंकी कही हुई अनुचित बातें सदा सह लेनी चाहिये तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके सदाचारका आश्रय लेकर साधु पुरुषोंके व्यवहारको ही अपनाना चाहिये ।। १० ।।

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ।। ११ ।।

दुष्ट मनुष्योंके मुखसे कटु वचनरूपी बाण सदा छूटते रहते हैं, जिनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोक और चिन्तामें डूबा रहता है। वे वाग्बाण दूसरोंके मर्मस्थानोंपर ही चोट करते हैं। अतः विद्वान् पुरुष दूसरेके प्रति ऐसी कठोर वाणीका प्रयोग न करे ।। ११ ।।

न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक् ।। १२ ।।

सभी प्राणियोंके प्रति दया और मैत्रीका बर्ताव, दान और सबके प्रति मधुर वाणीका प्रयोग—तीनों लोकोंमें इनके समान कोई वशीकरण नहीं है ।। १२ ।।

तस्मात् सान्त्वं सदा वाच्यं न वाच्यं परुषं क्वचित् ।

पूज्यान् सम्पूजयेद् दद्यान्न च याचेत् कदाचन ।। १३ ।।

इसलिये कभी कठोर वचन न बोले। सदा सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन ही बोले। पूजनीय पुरुषोंका पूजन (आदर-सत्कार) करे। दूसरोंको दान दे और स्वयं कभी किसीसे कुछ न माँगे ।। १३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते सप्ताशीतितमोऽध्यायः ।। ८७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल १७½ श्लोक हैं)

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

ययातिका स्वर्गसे पतन और अष्टकका उनसे प्रश्न करना

इन्द्र उवाच

सर्वाणि कर्माणि समाप्य राजन्
गृहं परित्यज्य वनं गतोऽसि ।
तत् त्वां पृच्छामि नहुषस्य पुत्र
केनासि तुल्यस्तपसा ययाते ।। १ ।।

इन्द्रने कहा—राजन्! तुम सम्पूर्ण कर्मोंको समाप्त करके घर छोड़कर वनमें चले गये थे। अतः नहुषपुत्र ययाते! मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम तपस्यामें किसके समान हो ।। १ ।।

ययातिरुवाच

नाहं देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु महर्षिषु ।
आत्मनस्तपसा तुल्यं कंचित् पश्यामि वासव ।। २ ।।

ययातिने कहा—इन्द्र! मैं देवताओं, मनुष्यों, गन्धर्वों और महर्षियोंमेंसे किसीको भी तपस्यामें अपनी बराबरी करनेवाला नहीं देखता हूँ ।। २ ।।

इन्द्र उवाच

यदावमंस्थाः सदृशः श्रेयसश्च
अल्पीयसश्चाविदितप्रभावः ।
तस्माल्लोकास्त्वन्तवन्तस्तवेमे
क्षीणे पुण्ये पतितास्यद्य राजन् ।। ३ ।।

इन्द्र बोले—राजन्! तुमने अपने समान, अपनेसे बड़े और छोटे लोगोंका प्रभाव न जानकर सबका तिरस्कार किया है, अतः तुम्हारे इन पुण्यलोकोंमें रहनेकी अवधि समाप्त हो गयी; क्योंकि (दूसरोंकी निन्दा करनेके कारण) तुम्हारा पुण्य क्षीण हो गया, इसलिये अब तुम यहाँसे नीचे गिरोगे ।। ३ ।।

ययातिरुवाच

सुरर्षिगन्धर्वनरावमानात्
क्षयं गता मे यदि शक्र लोकाः ।
इच्छाम्यहं सुरलोकाद् विहीनः
सतां मध्ये पतितुं देवराज ।। ४ ।।

ययातिने कहा—देवराज इन्द्र! देवता, ऋषि, गन्धर्व और मनुष्य आदिका अपमान करनेके कारण यदि मेरे पुण्यलोक क्षीण हो गये हैं तो इन्द्रलोकसे भ्रष्ट होकर मैं साधु पुरुषोंके बीचमें गिरनेकी इच्छा करता हूँ ।। ४ ।।

इन्द्र उवाच

सतां सकाशे पतितासि राजं-
श्च्युतः प्रतिष्ठां यत्र लब्धासि भूयः ।
एतद् विदित्वा च पुनर्ययाते
त्वं मावमंस्थाः सदृशः श्रेयसश्च ।। ५ ।।

इन्द्र बोले—राजा ययाति! तुम यहाँसे च्युत होकर साधु पुरुषोंके समीप गिरोगे और वहाँ अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर लोगे। यह सब जानकर तुम फिर कभी अपने बराबर तथा अपनेसे बड़े लोगोंका अपमान न करना ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रहायामरराजजुष्टान्
पुण्याँल्लोकान् पतमानं ययातिम् ।
सम्प्रेक्ष्य राजर्षिवरोऽष्टकस्त-
मुवाच सद्धर्मविधानगोप्ता ।। ६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर देवराज इन्द्रके सेवन करनेयोग्य पुण्यलोकोंका परित्याग करके राजा ययाति नीचे गिरने लगे। उस समय राजर्षियोंमें श्रेष्ठ अष्टकने उन्हें गिरते देखा। वे उत्तम धर्म-विधिके पालक थे। उन्होंने ययातिसे कहा ।। ६ ।।

ययातिका पतन

अष्टक उवाच

कस्त्वं युवा वासवतुल्यरूपः
स्वतेजसा दीप्यमानो यथाग्निः ।
पतस्युदीर्णाम्बुधरान्धकारात्
खात् खेचराणां प्रवरो यथार्कः ।। ७ ।।

अष्टकने पूछा—इन्द्रके समान सुन्दर रूपवाले तरुण पुरुष तुम कौन हो? तुम अपने तेजसे अग्निकी भाँति देदीप्यमान हो रहे हो। मेघरूपी घने अन्धकारवाले आकाशसे आकाशचारी ग्रहोंमें श्रेष्ठ सूर्यके समान तुम कैसे गिर रहे हो? ।। ७ ।।

दृष्ट्वा च त्वां सूर्यपथात् पतन्तं
वैश्वानरार्कद्युतिमप्रमेयम् ।
किं नु स्विदेतत् पततीति सर्वे
वितर्कयन्तः परिमोहिताः स्मः ।। ८ ।।

तुम्हारा तेज सूर्य और अग्निके सदृश है। तुम अप्रमेय शक्तिशाली जान पड़ते हो। तुम्हें सूर्यके मार्गसे गिरते देख हम सब लोग मोहित होकर इस तर्क-वितर्कमें पड़े हैं कि ‘यह क्या गिर रहा है?’ ।। ८ ।।

दृष्ट्वा च त्वां धिष्ठितं देवमार्गे
शक्रार्कविष्णुप्रतिमप्रभावम् ।
अभ्युद्गतास्त्वां वयमद्य सर्वे
तत्त्वं प्रपाते तव जिज्ञासमानाः ।। ९ ।।

तुम इन्द्र, सूर्य और विष्णुके समान प्रभावशाली हो। तुम्हें आकाशमें स्थित देखकर हम सब लोग अब यह जाननेके लिये तुम्हारे निकट आये हैं कि तुम्हारे पतनका यथार्थ कारण क्या है? ।। ९ ।।

न चापि त्वां धृष्णुमः प्रष्टुमग्रे
न च त्वमस्मान् पृच्छसि ये वयं स्मः ।
तत् त्वां पृच्छामि स्पृहणीयरूप
कस्य त्वं वा किंनिमित्तं त्वमागाः ।। १० ।।

हम पहले तुमसे कुछ पूछनेका साहस नहीं कर सकते और तुम भी हमसे हमारा परिचय नहीं पूछते हो; कि हम कौन हैं? इसलिये मैं ही तुमसे पूछता हूँ। मनोरम रूपवाले महापुरुष! तुम किसके पुत्र हो? और किसलिये यहाँ आये हो? ।। १० ।।

भयं तु ते व्येतु विषादमोहौ
त्यजाशु चैवेन्द्रसमप्रभाव ।
त्वां वर्तमानं हि सतां सकाशे
नालं प्रसोढुं बलहापि शक्रः ।। ११ ।।

इन्द्रके तुल्य शक्तिशाली पुरुष! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये। अब तुम्हें विषाद और मोहको भी तुरंत त्याग देना चाहिये। इस समय तुम संतोंके समीप विद्यमान हो। बल दानवका नाश करनेवाले इन्द्र भी अब तुम्हारा तेज सहन करनेमें असमर्थ हैं ।। ११ ।।

सन्तः प्रतिष्ठा हि सुखच्युतानां
सतां सदैवामरराजकल्प ।
ते संगताः स्थावरजङ्गमेशाः
प्रतिष्ठितस्त्वं सदृशेषु सत्सु ।। १२ ।।

देवेश्वर इन्द्रके समान तेजस्वी महानुभाव! सुखसे वंचित होनेवाले साधु पुरुषोंके लिये सदा संत ही परम आश्रय हैं। वे स्थावर और जंगम सब प्राणियोंपर शासन करनेवाले सत्पुरुष यहाँ एकत्र हुए हैं। तुम अपने समान पुण्यात्मा संतोंके बीचमें स्थित हो ।। १२ ।।

प्रभुरग्निः प्रतपने भूमिरावपने प्रभुः ।
प्रभुः सूर्यः प्रकाशित्वे सतां चाभ्यागतः प्रभुः ।। १३ ।।

जैसे तपनेकी शक्ति अग्निमें है, बोये हुए बीजको धारण करनेकी शक्ति पृथ्वीमें है, प्रकाशित होनेकी शक्ति सूर्यमें है, इसी प्रकार संतोंपर शासन करनेकी शक्ति केवल अतिथिमें है ।। १३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते अष्टाशीतितमोऽध्यायः ।। ८८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८८ ।।

एकोननवतितमोऽध्यायः

ययाति और अष्टकका संवाद

ययातिरुवाच

अहं ययातिर्नहुषस्य पुत्रः
पूरोः पिता सर्वभूतावमानात् ।
प्रभ्रंशितः सुरसिद्धर्षिलोकात्
परिच्युतः प्रपताम्यल्पपुण्यः ।। १ ।।

ययातिने कहा—महात्मन्! मैं नहुषका पुत्र और पूरुका पिता ययाति हूँ। समस्त प्राणियोंका अपमान करनेसे मेरा पुण्य क्षीण हो जानेके कारण मैं देवताओं, सिद्धों तथा महर्षियोंके लोकसे च्युत होकर नीचे गिर रहा हूँ ।। १ ।।

अहं हि पूर्वो वयसा भवद्भ्य-
स्तेनाभिवादं भवतां न प्रयुञ्जे ।
यो विद्यया तपसा जन्मना वा
वृद्धः स पूज्यो भवति द्विजानाम् ।। २ ।।

मैं आपलोगोंसे अवस्थामें बड़ा हूँ, अतः आपलोगोंको प्रणाम नहीं कर रहा हूँ। द्विजातियोंमें जो विद्या, तप और अवस्थामें बड़ा होता है, वह पूजनीय माना जाता है ।। २ ।।

अष्टक उवाच

अवादीस्त्वं वयसा यः प्रवृद्धः
स वै राजन् नाभ्यधिकः कथ्यते च ।
यो विद्यया तपसा सम्प्रवृद्धः
स एव पूज्यो भवति द्विजानाम् ।। ३ ।।

अष्टक बोले—राजन्! आपने कहा है कि जो अवस्थामें बड़ा हो, वही अधिक सम्माननीय कहा जाता है। परंतु द्विजोंमें तो जो विद्या और तपस्यामें बढ़ा-चढ़ा हो, वही पूज्य होता है ।। ३ ।।

ययातिरुवाच

प्रतिकूलं कर्मणां पापमाहु-
स्तद् वर्ततेऽप्रवणे पापलोक्यम् ।
सन्तोऽसतां नानुवर्तन्ति चैतद्
यथा चैषामनुकूलास्तथाऽऽसन् ।। ४ ।।

ययातिने कहा—पापको पुण्यकर्मोंका नाशक बताया जाता है, वह नरककी प्राप्ति करानेवाला है और वह उद्दण्ड पुरुषोंमें ही देखा जाता है। दुराचारी पुरुषोंके दुराचारका श्रेष्ठ पुरुष अनुसरण नहीं करते हैं। पहलेके साधु पुरुष भी उन श्रेष्ठ पुरुषोंके ही अनुकूल आचरण करते थे ।। ४ ।।

अभूद् धनं मे विपुलं गतं तद्
विचेष्टमानो नाधिगन्ता तदस्मि ।
एवं प्रधार्यात्महिते निविष्टो
यो वर्तते स विजानाति धीरः ।। ५ ।।

मेरे पास पुण्यरूपी बहुत धन था; किंतु दूसरोंकी निन्दा करनेके कारण वह सब नष्ट हो गया। अब मैं चेष्टा करके भी उसे नहीं पा सकता। मेरी इस दुरवस्थाको समझ-बूझकर जो आत्मकल्याणमें संलग्न रहता है, वही ज्ञानी और वही धीर है ।। ५ ।।

महाधनो यो यजते सुयज्ञै-
र्यः सर्वविद्यासु विनीतबुद्धिः ।
वेदानधीत्य तपसाऽऽयोज्य देहं
दिवं समायात् पुरुषो वीतमोहः ।। ६ ।।

जो मनुष्य बहुत धनी होकर उत्तम यज्ञोंद्वारा भगवान्‌की आराधना करता है, सम्पूर्ण विद्याओंको पाकर जिसकी बुद्धि विनययुक्त है तथा जो वेदोंको पढ़कर अपने शरीरको तपस्यामें लगा देता है, वह पुरुष मोहरहित होकर स्वर्गमें जाता है ।। ६ ।।

न जातु हृष्येन्महता धनेन
वेदानधीयीतानहंकृतः स्यात् ।
नानाभावा बहवो जीवलोके
दैवाधीना नष्टचेष्टाधिकाराः ।
तत् तत् प्राप्य न विहन्येत धीरो
दिष्टं बलीय इति मत्वाऽऽत्मबुद्ध्या ।। ७ ।।

महान् धन पाकर कभी हर्षसे उल्लसित न हो, वेदोंका अध्ययन करे, किंतु अहंकारी न बने। इस जीव-जगत्‌में भिन्न-भिन्न स्वभाववाले बहुत-से प्राणी हैं, वे सभी प्रारब्धके अधीन हैं, अतः उनके धनादि पदार्थोंके लिये किये हुए उद्योग और अधिकार सभी व्यर्थ हो जाते हैं। इसलिये धीर पुरुषको चाहिये कि वह अपनी बुद्धिसे 'प्रारब्ध ही बलवान् है' यह जानकर दुःख या सुख जो भी मिले, उसमें विकारको प्राप्त न हो ।। ७ ।।

सुखं हि जन्तुर्यदि वापि दुःखं
दैवाधीनं विन्दते नात्मशक्त्या ।
तस्माद् दिष्टं बलवन्मन्यमानो
न संज्वरेन्नापि हृष्येत् कथंचित् ।। ८ ।।

जीव जो सुख अथवा दुःख पाता है, वह प्रारब्धसे ही प्राप्त होता है, अपनी शक्तिसे नहीं। अतः प्रारब्धको ही बलवान् मानकर मनुष्य किसी प्रकार भी हर्ष अथवा शोक न करे ।। ८ ।।

दुःखैर्न तप्येन्न सुखैः प्रहृष्येत्
समेन वर्तेत सदैव धीरः ।
दिष्टं बलीय इति मन्यमानो
न संज्वरेन्नापि हृष्येत् कथंचित् ।। ९ ।।

दुःखोंसे संतप्त न हो और सुखोंसे हर्षित न हो। धीर पुरुष सदा समभावसे ही रहे और भाग्यको ही प्रबल मानकर किसी प्रकार चिन्ता एवं हर्षके वशीभूत न हो ।। ९ ।।

भये न मुह्याम्यष्टकाहं कदाचित्
संतापो मे मानसो नास्ति कश्चित् ।
धाता यथा मां विदधीत लोके
ध्रुवं तथाहं भवितेति मत्वा ।। १० ।।

अष्टक! मैं कभी भयमें पड़कर मोहित नहीं होता, मुझे कोई मानसिक संताप भी नहीं होता; क्योंकि मैं समझता हूँ कि विधाता इस संसारमें मुझे जैसे रखेगा, वैसे ही रहूँगा ।। १० ।।

संस्वेदजा अण्डजाश्चोद्भिदश्च
सरीसृपाः कृमयोऽथाप्सु मत्स्याः ।
तथाश्मानस्तृणकाष्ठं च सर्वे
दिष्टक्षये स्वां प्रकृतिं भजन्ति ।। ११ ।।

स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, सरीसृप, कृमि, जलमें रहनेवाले मत्स्य आदि जीव तथा पर्वत, तृण और काष्ठ—ये सभी प्रारब्ध-भोगका सर्वथा क्षय हो जानेपर अपनी प्रकृतिको प्राप्त हो जाते हैं ।। ११ ।।

अनित्यतां सुखदुःखस्य बुद्ध्वा
कस्मात् संतापमष्टकाहं भजेयम् ।
किं कुर्यां वै किं च कृत्वा न तप्ये
तस्मात् संतापं वर्जयाम्यप्रमत्तः ।। १२ ।।

अष्टक! मैं सुख तथा दुःख दोनोंकी अनित्यताको जानता हूँ, फिर मुझे संताप हो तो कैसे? मैं क्या करूँ और क्या करके संतप्त न होऊँ, इन बातोंकी चिन्ता छोड़ चुका हूँ। अतः सावधान रहकर शोक-संतापको अपनेसे दूर रखता हूँ ।। १२ ।।

(दुःखे न खिद्येन्न सुखेन माद्येत्
समेन वर्तेत स धीरधर्मा ।
दिष्टं बलीयः समवेक्ष्य बुद्ध्या

न सज्जते चात्र भृशं मनुष्यः ।।)

जो दुःखमें खिन्न नहीं होता, सुखसे मतवाला नहीं हो उठता और सबके साथ समान भावसे बर्ताव करता है, वह धीर कहा गया है। विज्ञ मनुष्य बुद्धिसे प्रारब्धको अत्यन्त बलवान् समझकर यहाँ किसी भी विषयमें अधिक आसक्त नहीं होता।

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणं नृपतिं ययाति-
मथाष्टकः पुनरेवान्वपृच्छत् ।
मातामहं सर्वगुणोपपन्नं
तत्र स्थितं स्वर्गलोके यथावत् ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा ययाति समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न थे और नातेमें अष्टकके नाना लगते थे। वे अन्तरिक्षमें वैसे ही ठहरे हुए थे, मानो स्वर्गलोकमें हों। जब उन्होंने उपर्युक्त बातें कहीं, तब अष्टकने उनसे पुनः प्रश्न किया ।। १३ ।।

अष्टक उवाच

ये ये लोकाः पार्थिवेन्द्र प्रधाना-
स्त्वया भुक्ता यं च कालं यथावत् ।
तान् मे राजन् ब्रूहि सर्वान् यथावत्
क्षेत्रज्ञवद् भाषसे त्वं हि धर्मान् ।। १४ ।।

अष्टक बोले—महाराज! आपने जिन-जिन प्रधान लोकोंमें रहकर जितने समयतक वहाँके सुखोंका भलीभाँति उपभोग किया है, उन सबका मुझे यथार्थ परिचय दीजिये। राजन्! आप तो महात्माओंकी भाँति धर्मोंका उपदेश कर रहे हैं ।। १४ ।।

ययातिरुवाच

राजाहमासमिह सार्वभौम-
स्ततो लोकान् महतश्चाजयं वै ।
तत्रावसं वर्षसहस्रमात्रं
ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ।। १५ ।।

ययातिने कहा—अष्टक! मैं पहले समस्त भूमण्डलमें प्रसिद्ध चक्रवर्ती राजा था। तदनन्तर सत्कर्मोंद्वारा बड़े-बड़े लोकोंपर मैंने विजय प्राप्त की और उनमें एक हजार वर्षोंतक निवास किया। इसके बाद उनसे भी उच्चतम लोकमें जा पहुँचा ।। १५ ।।

ततः पुरीं पुरुहूतस्य रम्यां
सहस्रद्वारां शतयोजनायताम् ।
अध्यावसं वर्षसहस्रमात्रं

ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ।। १६ ।।

वहाँ सौ योजन विस्तृत और एक हजार दरवाजोंसे युक्त इन्द्रकी रमणीय पुरी प्राप्त हुई। उसमें मैंने केवल एक हजार वर्षोंतक निवास किया और उसके बाद उससे भी ऊँचे लोकमें गया ।। १६ ।।

ततो दिव्यमजंर प्राप्य लोकं
प्रजापतेर्लोकपतेर्दुरापम् ।
तत्रावसं वर्षसहस्रमात्रं
ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ।। १७ ।।

तदनन्तर लोकपालोंके लिये भी दुर्लभ प्रजापतिके उस दिव्य लोकमें जा पहुँचा, जहाँ जरावस्थाका प्रवेश नहीं है। वहाँ एक हजार वर्षतक रहा, फिर उससे भी उत्तम लोकमें चला गया ।। १७ ।।

स देवदेवस्य निवेशने च
विहृत्य लोकानवसं यथेष्टम् ।
सम्पूज्यमानस्त्रिदशैः समस्तै-
स्तुल्यप्रभावद्युतिरीश्वराणाम् ।। १८ ।।

वह देवाधिदेव ब्रह्माजीका धाम था। वहाँ मैं अपनी इच्छाके अनुसार भिन्न-भिन्न लोकोंमें विहार करता हुआ सम्पूर्ण देवताओंसे सम्मानित होकर रहा। उस समय मेरा प्रभाव और तेज देवेश्वरोंके समान था ।। १८ ।।

तथावसं नन्दने कामरूपी
संवत्सराणामयुतं शतानाम् ।
सहाप्सरोभिर्विहरन् पुण्यगन्धान्
पश्यन् नगान् पुष्पितांश्चारुरूपान् ।। १९ ।।

इसी प्रकार मैं नन्दनवनमें इच्छानुसार रूप धारण करके अप्सराओंके साथ विहार करता हुआ दस लाख वर्षोंतक रहा। वहाँ मुझे पवित्र गन्ध और मनोहर रूपवाले वृक्ष देखनेको मिले, जो फूलोंसे लदे हुए थे ।। १९ ।।

तत्र स्थितं मां देवसुखेषु सक्तं
कालेऽतीते महति ततोऽतिमात्रम् ।
दूतो देवानामब्रवीदुग्ररूपो
ध्वंसेत्युच्चैस्त्रिः प्लुतेन स्वरेण ।। २० ।।

वहाँ रहकर मैं देवलोकके सुखोंमें आसक्त हो गया। तदनन्तर बहुत अधिक समय बीत जानेपर एक भयंकर रूपधारी देवदूत आकर मुझसे ऊँची आवाजमें तीन बार बोला—‘गिर जाओ, गिर जाओ, गिर जाओ’ ।। २० ।।

एतावन्मे विदितं राजसिंह

ततो भ्रष्टोऽहं नन्दनात् क्षीणपुण्यः ।
वाचोऽश्रौषं चान्तरिक्षे सुराणां
सानुक्रोशाः शोचतां मां नरेन्द्र ।। २१ ।।

राजशिरोमणे! मुझे इतना ही ज्ञात हो सका है। तदनन्तर पुण्य क्षीण हो जानेके कारण मैं नन्दनवनसे नीचे गिर पड़ा। नरेन्द्र! उस समय मेरे लिये शोक करनेवाले देवताओंकी अन्तरिक्षमें यह दयाभरी वाणी सुनायी पड़ी— ।। २१ ।।

अहो कष्टं क्षीणपुण्यो ययातिः
पतत्यसौ पुण्यकृत् पुण्यकीर्तिः ।
तानब्रुवं पतमानस्ततोऽहं
सतां मध्ये निपतेयं कथं नु ।। २२ ।।

'अहो! बड़े कष्टकी बात है कि पवित्र कीर्तिवाले ये पुण्यकर्मा महाराज ययाति पुण्य क्षीण होनेके कारण नीचे गिर रहे हैं।' तब नीचे गिरते हुए मैंने उनसे पूछा—'देवताओ! मैं साधु पुरुषोंके बीच गिरूँ, इसका क्या उपाय है!' ।। २२ ।।

तैराख्याता भवतां यज्ञभूमिः
समीक्ष्य चेमां त्वरितमुपागतोऽस्मि ।
हविर्गन्धं देशिकं यज्ञभूमे-
र्धूमापाङ्गं प्रतिगृह्य प्रतीतः ।। २३ ।।

तब देवताओंने मुझे आपकी यज्ञभूमिका परिचय दिया। मैं इसीको देखता हुआ तुरंत यहाँ आ पहुँचा हूँ। यज्ञभूमिका परिचय देनेवाली हविष्यकी सुगन्धका अनुभव तथा धूमप्रान्तका अवलोकन करके मुझे बड़ी प्रसन्नता और सान्त्वना मिली है ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते एकोननवतितमोऽध्यायः ।। ८९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

नवतितमोऽध्यायः

अष्टक और ययातिका संवाद

अष्टक उवाच

यदावसो नन्दने कामरूपी
संवत्सराणामयुतं शतानाम्।
किं कारणं कार्तयुगप्रधान
हित्वा च त्वं वसुधामन्वपद्यः ।। १ ।।

अष्टकने पूछा—सत्ययुगके निष्पाप राजाओंमें प्रधान नरेश! जब आप इच्छानुसार रूप धारण करके दस लाख वर्षोंतक नन्दनवनमें निवास कर चुके हैं, तब क्या कारण है कि आप उसे छोड़कर भूतलपर चले आये? ।। १ ।।

ययातिरुवाच

ज्ञातिः सुहृत् स्वजनो वा यथेह
क्षीणे वित्ते त्यज्यते मानवैर्हि।
तथा तत्र क्षीणपुण्यं मनुष्यं
त्यजन्ति सद्यः सेश्वरा देवसङ्घाः ।। २ ।।

ययाति बोले—जैसे इस लोकमें जाति-भाई, सुहृद् अथवा स्वजन कोई भी क्यों न हो, धन नष्ट हो जानेपर उसे सब मनुष्य त्याग देते हैं; उसी प्रकार परलोकमें जिसका पुण्य समाप्त हो गया है, उस मनुष्यको देवराज इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता तुरंत त्याग देते हैं ।। २ ।।

अष्टक उवाच

तस्मिन् कथं क्षीणपुण्या भवन्ति
सम्मुह्यते मेऽत्र मनोऽतिमात्रम्।
किं वा विशिष्टाः कस्य धामोपयान्ति
तद् वै ब्रूहि क्षेत्रवित् त्वं मतो मे ।। ३ ।।

अष्टकने पूछा—देवलोकमें मनुष्योंके पुण्य कैसे क्षीण होते हैं? इस विषयमें मेरा मन अत्यन्त मोहित हो रहा है। प्रजापतिका वह कौन-सा धाम है, जिसमें विशिष्ट (अपुनरावृत्तिकी योग्यतावाले) पुरुष जाते हैं? यह बताइये; क्योंकि आप मुझे क्षेत्रज्ञ (आत्मज्ञानी) जान पड़ते हैं ।। ३ ।।

ययातिरुवाच

इमं भौमं नरकं ते पतन्ति
लालप्यमाना नरदेव सर्वे ।
ते कङ्कगोमायुबलाशनार्थे*
क्षीणा विवृद्धिं बहुधा व्रजन्ति ।। ४ ।।

ययाति बोले—नरदेव! जो अपने मुखसे अपने पुण्य-कर्मोंका बखान करते हैं, वे सभी इस भौम नरकमें आ गिरते हैं। यहाँ वे गीधों, गीदड़ों और कौओं आदिके खानेयोग्य इस शरीरके लिये बड़ा भारी परिश्रम करके क्षीण होते और पुत्र-पौत्रादिरूपसे बहुधा विस्तारको प्राप्त होते हैं ।। ४ ।।

तस्मादेतद् वर्जनीयं नरेन्द्र
दुष्टं लोके गर्हणीयं च कर्म ।
आख्यातं ते पार्थिव सर्वमेव
भूयश्चेदानीं वद किं ते वदामि ।। ५ ।।

इसलिये नरेन्द्र! इस लोकमें जो दुष्ट और निन्दनीय कर्म हो उसको सर्वथा त्याग देना चाहिये। भूपाल! मैंने तुमसे सब कुछ कह दिया, बोलो, अब और तुम्हें क्या बताऊँ? ।। ५ ।।

अष्टक उवाच

यदा तु तान् वितुदन्ते वयांसि
तथा गृध्राः शितिकण्ठाः पतङ्गाः ।
कथं भवन्ति कथमाभवन्ति
न भौममन्यं नरकं शृणोमि ।। ६ ।।

अष्टकने पूछा—जब मनुष्योंको मृत्युके पश्चात् पक्षी, गीध, नीलकण्ठ और पतंग ये नोच-नोचकर खा लेते हैं, तब वे कैसे और किस रूपमें उत्पन्न होते हैं? मैंने अबतक भौम नामक किसी दूसरे नरकका नाम नहीं सुना था ।। ६ ।।

ययातिरुवाच

ऊर्ध्वं देहात् कर्मणा जृम्भमाणाद्
व्यक्तं पृथिव्यामनुसंचरन्ति ।
इमं भौमं नरकं ते पतन्ति
नावेक्षन्ते वर्षपूगाननेकान् ।। ७ ।।

ययाति बोले—कर्मसे उत्पन्न होने और बढ़नेवाले शरीरको पाकर गर्भसे निकलनेके पश्चात् जीव सबके समक्ष इस पृथ्वीपर (विषयोंमें) विचरते हैं। उनका यह विचरण ही भौम नरक कहा गया है। इसीमें वे पड़ते हैं। इसमें पड़नेपर वे व्यर्थ बीतनेवाले अनेक वर्षसमूहोंकी ओर दृष्टिपात नहीं करते ।। ७ ।।

षष्टिं सहस्राणि पतन्ति व्योम्नि
तथा अशीतिं परिवत्सराणि ।
तान् वै तुदन्ति पततः प्रपातं
भीमा भौमा राक्षसास्तीक्ष्णदंष्ट्राः ।। ८ ।।

कितने ही प्राणी आकाश (स्वर्गादि)-में साठ हजार वर्ष रहते हैं। कुछ अस्सी हजार वर्षोंतक वहाँ निवास करते हैं। इसके बाद वे भूमिपर गिरते हैं। यहाँ उन गिरनेवाले जीवोंको तीखी दाढ़ोंवाले पृथ्वीके भयानक राक्षस (दुष्ट प्राणी) अत्यन्त पीड़ा देते हैं ।। ८ ।।

अष्टक उवाच

यदेनसस्ते पततस्तुदन्ति
भीमा भौमा राक्षसास्तीक्ष्णदंष्ट्राः ।
कथं भवन्ति कथमाभवन्ति
कथंभूता गर्भभूता भवन्ति ।। ९ ।।

अष्टकने पूछा—तीखी दाढ़ोंवाले पृथ्वीके वे भयंकर राक्षस पापवश आकाशसे गिरते हुए जिन जीवोंको सताते हैं, वे गिरकर कैसे जीवित रहते हैं? किस प्रकार इन्द्रिय आदिसे युक्त होते हैं? और कैसे गर्भमें आते हैं? ।। ९ ।।

ययातिरुवाच

अस्रं रेतः पुष्पफलानुपृक्त-
मन्वेति तद् वै पुरुषेण सृष्टम् ।
स वै तस्या रज आपद्यते वै
स गर्भभूतः समुपैति तत्र ।। १० ।।

ययाति बोले—अन्तरिक्षसे गिरा हुआ प्राणी अस्र (जल) होता है। फिर वही क्रमशः नूतन शरीरका बीजभूत वीर्य बन जाता है। वह वीर्य फूल और फलरूपी शेष कर्मोंसे संयुक्त होकर तदनुरूप योनिका अनुसरण करता है। गर्भाधान करनेवाले पुरुषके द्वारा स्त्रीसंसर्ग होनेपर वह वीर्यमें आविष्ट हुआ जीव उस स्त्रीके रजसे मिल जाता है। तदनन्तर वही गर्भरूपमें परिणत हो जाता है ।। १० ।।

वनस्पतीनोषधीश्चाविशन्ति
अपो वायुं पृथिवीं चान्तरिक्षम् ।
चतुष्पदं द्विपदं चापि सर्व-
मेवम्भूता गर्भभूता भवन्ति ।। ११ ।।

जीव जलरूपसे गिरकर वनस्पतियों और ओषधियोंमें प्रवेश करते हैं। जल, वायु, पृथ्वी और अन्तरिक्ष आदिमें प्रवेश करते हुए कर्मानुसार पशु अथवा मनुष्य सब कुछ होते हैं। इस प्रकार भूमिपर आकर फिर पूर्वोक्त क्रमके अनुसार गर्भभावको प्राप्त होते हैं ।। ११ ।।

अष्टक उवाच

अन्यद् वपुर्विदधातीह गर्भ-
मुताहोस्वित् स्वेन कायेन याति ।
आपद्यमानो नरयोनिमेता-
माचक्ष्व मे संशयात् प्रब्रवीमि ।। १२ ।।

अष्टकने पूछा—राजन्! इस मनुष्ययोनिमें आनेवाला जीव अपने इसी शरीरसे गर्भमें आता है या दूसरा शरीर धारण करता है। आप यह रहस्य मुझे बताइये। मैं संशय होनेके कारण पूछता हूँ ।। १२ ।।

शरीरभेदाभिसमुच्छ्रयं च
चक्षुःश्रोत्रे लभते केन संज्ञाम् ।
एतत् तत्त्वं सर्वमाचक्ष्व पृष्टः
क्षेत्रज्ञं त्वां तात मन्याम सर्वे ।। १३ ।।

गर्भमें आनेपर वह भिन्न-भिन्न शरीररूपी आश्रयको, आँख और कान आदि इन्द्रियोंको तथा चेतनाको भी कैसे उपलब्ध करता है? मेरे पूछनेपर ये सब बातें आप बताइये। तात! हम सब लोग आपको क्षेत्रज्ञ (आत्मज्ञानी) मानते हैं ।। १३ ।।

ययातिरुवाच

वायुः समुत्कर्षति गर्भयोनि-
मृतौ रेतः पुष्परसानुपृक्तम् ।
स तत्र तन्मात्रकृताधिकारः
क्रमेण संवर्धयतीह गर्भम् ।। १४ ।।

ययाति बोले—ऋतुकालमें पुष्परससे संयुक्त वीर्यको वायु गर्भाशयमें खींच लाता है। वहाँ गर्भाशयमें सूक्ष्मभूत उसपर अधिकार कर लेते हैं और वह क्रमशः गर्भकी वृद्धि करता रहता है ।। १४ ।।

स जायमानो विगृहीतमात्रः
संज्ञामधिष्ठाय ततो मनुष्यः ।
स श्रोत्राभ्यां वेदयतीह शब्दं
स वै रूपं पश्यति चक्षुषा च ।। १५ ।।

वह गर्भ बढ़कर जब सम्पूर्ण अवयवोंसे सम्पन्न हो जाता है, तब चेतनताका आश्रय ले योनिसे बाहर निकलकर मनुष्य कहलाता है। वह कानोंसे शब्द सुनता है, आँखोंसे रूप देखता है ।। १५ ।।

घ्राणेन गन्धं जिह्वयाथो रसं च
त्वचा स्पर्शं मनसा वेद भावम् ।

इत्यष्टकेहोपहितं हि विद्धि
महात्मनां प्राणभृतां शरीरे ।। १६ ।।

नासिकासे सुगन्ध लेता है। जिह्वासे रसका आस्वादन करता है। त्वचासे स्पर्श और मनसे आन्तरिक भावोंका अनुभव करता है। अष्टक! इस प्रकार महात्मा प्राणधारियोंके शरीरमें जीवकी स्थापना होती है ।। १६ ।।

अष्टक उवाच

यः संस्थितः पुरुषो दह्यते वा
निखन्यते वापि निकृष्यते वा ।
अभावभूतः स विनाशमेत्य
केनात्मना चेतयते परस्तात् ।। १७ ।।

अष्टकने पूछा—जो मनुष्य मर जाता है, वह जलाया जाता है या गाड़ दिया जाता है अथवा जलमें बहा दिया जाता है। इस प्रकार विनाश होकर स्थूल शरीरका अभाव हो जाता है। फिर वह चेतन जीवात्मा किस शरीरके आधारपर रहकर चैतन्ययुक्त व्यवहार करता है? ।। १७ ।।

ययातिरुवाच

हित्वा सोऽसून् सुप्तवन्निष्टनित्वा
पुरोधाय सुकृतं दुष्कृतं वा ।
अन्यां योनिं पवनाग्रानुसारी
हित्वा देहं भजते राजसिंह ।। १८ ।।

ययाति बोले—राजसिंह! जैसे मनुष्य श्वास लेते हुए प्राणयुक्त स्थूल शरीरको छोड़कर स्वप्नमें विचरण करता है, वैसे ही यह चेतन जीवात्मा अस्फुट शब्दोच्चारणके साथ इस मृतक स्थूल शरीरको त्यागकर सूक्ष्म शरीरसे संयुक्त होता है और फिर पुण्य अथवा पापको आगे रखकर वायुके समान वेगसे चलता हुआ अन्य योनिको प्राप्त होता है ।। १८ ।।

पुण्यां योनिं पुण्यकृतो व्रजन्ति
पापां योनिं पापकृतो व्रजन्ति ।
कीटाः पतङ्गाश्च भवन्ति पापा
न मे विवक्षास्ति महानुभाव ।। १९ ।।
चतुष्पदा द्विपदाः षट्पदाश्च
तथाभूता गर्भभूता भवन्ति ।
आख्यातमेतन्निखिलेन सर्वं
भूयस्तु किं पृच्छसि राजसिंह ।। २० ।।

पुण्य करनेवाले मनुष्य पुण्य-योनियोंमें जाते हैं और पाप करनेवाले मनुष्य पाप-योनिमें जाते हैं। इस प्रकार पापी जीव कीट-पतंग आदि होते हैं। महानुभाव! इन सब विषयोंको विस्तारके साथ कहनेकी इच्छा नहीं होती। नृपश्रेष्ठ! इसी प्रकार जीव गर्भमें आकर चार पैर, छः पैर और दो पैरवाले प्राणियोंके रूपमें उत्पन्न होते हैं। यह सब मैंने पूरा-पूरा बता दिया। अब और क्या पूछना चाहते हो? ।। १९-२० ।।

अष्टक उवाच

किंस्वित् कृत्वा लभते तात लोकान्
मर्त्यः श्रेष्ठांस्तपसा विद्यया वा ।
तन्मे पृष्टः शंस सर्वं यथाव-
च्छुभाँल्लोकान् येन गच्छेत् क्रमेण ।। २१ ।।

अष्टकने पूछा—तात! मनुष्य कौन-सा कर्म करके उत्तम लोक प्राप्त करता है? वे लोक तपसे प्राप्त होते हैं या विद्यासे? मैं यही पूछता हूँ। जिस कर्मके द्वारा क्रमशः श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति हो सके, वह सब यथार्थरूपसे बताइये ।। २१ ।।

ययातिरुवाच

तपश्च दानं च शमो दमश्च
ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा ।
स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सन्तो
द्वाराणि सप्तैव महान्ति पुंसाम् ।
नश्यन्ति मानेन तमोऽभिभूताः
पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः ।। २२ ।।

ययाति बोले—राजन्! साधु पुरुष स्वर्गलोकके सात महान् दरवाजे बतलाते हैं, जिनसे प्राणी उसमें प्रवेश करते हैं। उनके नाम ये हैं—तप, दान, शम, दम, लज्जा, सरलता और समस्त प्राणियोंके प्रति दया। वे तप आदि द्वार सदा ही पुरुषके अभिमानरूप तमसे आच्छादित होनेपर नष्ट हो जाते हैं, यह संत पुरुषोंका कथन है ।। २२ ।।

अधीयानः पण्डितं मन्यमानो
यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम् ।
तस्यान्तवन्तश्च भवन्ति लोका
न चास्य तद् ब्रह्म फलं ददाति ।। २३ ।।

जो वेदोंका अध्ययन करके अपनेको सबसे बड़ा पण्डित मानता और अपनी विद्याद्वारा दूसरोंके यशका नाश करता है, उसके पुण्यलोक अन्तवान् (विनाशशील) होते हैं और उसका पढ़ा हुआ वेद भी उसे फल नहीं देता ।। २३ ।।

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि

भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ।। २४ ।।

अग्निहोत्र, मौन, अध्ययन और यज्ञ—ये चार कर्म मनुष्यको भयसे मुक्त करनेवाले हैं; परंतु वे ही ठीकसे न किये जायँ, अभिमानपूर्वक उनका अनुष्ठान किया जाय तो वे उलटे भय प्रदान करते हैं ।। २४ ।।

न मानमान्यो मुदमाददीत
न संतापं प्राप्नुयाच्चावमानात् ।
सन्तः सतः पूजयन्तीह लोके
नासाधवः साधुबुद्धिं लभन्ते ।। २५ ।।

विद्वान् पुरुष सम्मानित होनेपर अधिक आनन्दित न हो और अपमानित होनेपर संतप्त न हो। इस लोकमें संत पुरुष ही सत्पुरुषोंका आदर करते हैं। दुष्ट पुरुषोंको 'यह सत्पुरुष है' ऐसी बुद्धि प्राप्त ही नहीं होती ।। २५ ।।

इति दद्यामिति यज इत्यधीय इति व्रतम् ।
इत्येतानि भयान्याहुस्तानि वर्ज्यानि सर्वशः ।। २६ ।।

मैं यह दे सकता हूँ, इस प्रकार यजन करता हूँ, इस तरह स्वाध्यायमें लगा रहता हूँ और यह मेरा व्रत है; इस प्रकार जो अहंकारपूर्वक वचन हैं, उन्हें भयरूप कहा गया है। ऐसे वचनोंको सर्वथा त्याग देना चाहिये ।। २६ ।।

ये चाश्रयं वेदयन्ते पुराणं
मनीषिणो मानसमार्गरुद्धम् ।
तद्वः श्रेयस्तेन संयोगमेत्य
परां शान्तिं प्राप्नुयुः प्रेत्य चेह ।। २७ ।।

जो सबका आश्रय है, पुराण (कूटस्थ) है तथा जहाँ मनकी गति भी रुक जाती है वह (परब्रह्म परमात्मा) तुम सब लोगोंके लिये कल्याणकारी हो। जो विद्वान् उसे जानते हैं, वे उस परब्रह्म परमात्मासे संयुक्त होकर इहलोक और परलोकमें परम शान्तिको प्राप्त होते हैं ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते नवतितमोऽध्यायः ।। ९० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९० ।।

* ‘बल’ शब्दका अर्थ यहाँ कौआ किया गया है; जो ‘स्थौल्यसामर्थ्यसैन्येषु बलं ना काकसीरिणोः’ अमरकोषके इस वाक्यसे समर्थित होता है।

एकनवतितमोऽध्यायः

ययाति और अष्टकका आश्रमधर्मसम्बन्धी संवाद

अष्टक उवाच

चरन् गृहस्थः कथमेति धर्मान्
कथं भिक्षुः कथमाचार्यकर्मा ।
वानप्रस्थः सत्पथे संनिविष्टो
बहून्यस्मिन् सम्प्रति वेदयन्ति ।। १ ।।

अष्टकने पूछा—महाराज! वेदज्ञ विद्वान् इस धर्मके अन्तर्गत बहुत-से कर्मोंको उत्तम लोकोंकी प्राप्तिका द्वार बताते हैं; अतः मैं पूछता हूँ, आचार्यकी सेवा करनेवाला ब्रह्मचारी, गृहस्थ, सन्मार्गमें स्थित वानप्रस्थ और संन्यासी किस प्रकार धर्माचरण करके उत्तम लोकमें जाता है? ।। १ ।।

ययातिरुवाच

आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः
पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी ।
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः
स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी ।। २ ।।

ययाति बोले—शिष्यको उचित है कि गुरुके बुलानेपर उसके समीप जाकर पढ़े। गुरुकी सेवामें बिना कहे लगा रहे, रातमें गुरुजीके सो जानेके बाद सोये और सबेरे उनसे पहले ही उठ जाय। वह मृदुल (विनम्र), जितेन्द्रिय, धैर्यवान्, सावधान और स्वाध्यायशील हो। इस नियमसे रहनेवाला ब्रह्मचारी सिद्धिको पाता है ।। २ ।।

धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत
दद्यात् सदैवातिथीन् भोजयेच्च ।
अनाददानश्च परैरदत्तं
सैषा गृहस्थोपनिषत् पुराणी ।। ३ ।।

गृहस्थ पुरुष न्यायसे प्राप्त हुए धनको पाकर उससे यज्ञ करे, दान दे और सदा अतिथियोंको भोजन करावे। दूसरोंकी वस्तु उनके दिये बिना ग्रहण नहीं करे। यह गृहस्थ-धर्मका प्राचीन एवं रहस्यमय स्वरूप है ।। ३ ।।

स्ववीर्यजीवी वृजिनान्निवृत्तो
दाता परेभ्यो न परोपतापी ।
तादृङ्मुनिः सिद्धिमुपैति मुख्यां

वसन्नरण्ये नियताहारचेष्टः ।। ४ ।।

वानप्रस्थ मुनि वनमें निवास करे। आहार और विहारको नियमित रखे। अपने ही पराक्रम एवं परिश्रमसे जीवन-निर्वाह करे, पापसे दूर रहे। दूसरोंको दान दे और किसीको कष्ट न पहुँचावे। ऐसा मुनि परम मोक्षको प्राप्त होता है ।। ४ ।।

अशिल्पजीवी गुणवांश्चैव नित्यं
जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रयुक्तः ।
अनोकशायी लघुरल्पप्रचार-
श्चरन् देशानेकचरः स भिक्षुः ।। ५ ।।

संन्यासी शिल्पकलासे जीवन-निर्वाह न करे। शम, दम आदि श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न हो। सदा अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखे। सबसे अलग रहे। गृहस्थके घरमें न सोये। परिग्रहका भार न लेकर अपनेको हलका रखे। थोड़ा थोड़ा चले। अकेला ही अनेक स्थानोंमें भ्रमण करता रहे। ऐसा संन्यासी ही वास्तवमें भिक्षु कहलानेयोग्य है ।। ५ ।।

रात्र्या यया वाभिजिताश्च लोका
भवन्ति कामाभिजिताः सुखाश्च ।
तामेव रात्रिं प्रयतेत विद्वा-
नरण्यसंस्थो भवितुं यतात्मा ।। ६ ।।

जिस समय रूप, रस आदि विषय तुच्छ प्रतीत होने लगें, इच्छानुसार जीत लिये जायँ तथा उनके परित्यागमें ही सुख जान पड़े, उसी समय विद्वान् पुरुष मनको वशमें करके समस्त संग्रहोंका त्याग कर वनवासी होनेका प्रयत्न करे ।। ६ ।।

दशैव पूर्वान् दश चापरांश्च
ज्ञातीनथात्मानमथैकविंशम् ।
अरण्यवासी सुकृते दधाति
विमुच्यारण्ये स्वशरीरधातून् ।। ७ ।।

जो वनवासी मुनि वनमें ही अपने पंचभूतात्मक शरीरका परित्याग करता है, वह दस पीढ़ी पूर्वके और दस पीढ़ी बादके जाति-भाइयोंको तथा इक्कीसवें अपनेको भी पुण्यलोकोंमें पहुँचा देता है ।। ७ ।।

अष्टक उवाच

कतिस्विदेव मुनयः कति मौनानि चाप्युत ।
भवन्तीति तदाचक्ष्व श्रोतुमिच्छामहे वयम् ।। ८ ।।

अष्टकने पूछा—राजन्! मुनि कितने हैं? और मौन कितने प्रकारके हैं? यह बताइये, हम इसे सुनना चाहते हैं ।। ८ ।।

ययातिरुवाच

अरण्ये वसतो यस्य ग्रामो भवति पृष्ठतः ।
ग्रामे वा वसतोऽरण्यं स मुनिः स्याज्जनाधिप ।। ९ ।।

ययातिने कहा—जनेश्वर! अरण्यमें निवास करते समय जिसके लिये ग्राम पीछे होता है और ग्राममें वास करते समय जिसके लिये अरण्य पीछे होता है, वह मुनि कहलाता है ।। ९ ।।

अष्टक उवाच

कथंस्विद् वसतोऽरण्ये ग्रामो भवति पृष्ठतः ।
ग्रामे वा वसतोऽरण्यं कथं भवति पृष्ठतः ।। १० ।।

अष्टकने पूछा—अरण्यमें निवास करनेवालेके लिये ग्राम और ग्राममें निवास करनेवालेके लिये अरण्य पीछे कैसे है? ।। १० ।।

ययातिरुवाच

न ग्राम्यमुपयुञ्जीत य आरण्यो मुनिर्भवेत् ।
तथास्य वसतोऽरण्ये ग्रामो भवति पृष्ठतः ।। ११ ।।

ययातिने कहा—जो मुनि वनमें निवास करता है और गाँवोंमें प्राप्त होनेवाली वस्तुओंका उपयोग नहीं करता, इस प्रकार वनमें निवास करनेवाले उस (वानप्रस्थ) मुनिके लिये गाँव पीछे समझा जाता है ।। ११ ।।

अनग्निरनिकेतश्चाप्यगोत्रचरणो मुनिः ।
कौपीनाच्छादनं यावत् तावदिच्छेच्च चीवरम् ।। १२ ।।
यावत् प्राणाभिसंधानं तावदिच्छेच्च भोजनम् ।
तथास्य वसतो ग्रामेऽरण्यं भवति पृष्ठतः ।। १३ ।।

जो अग्नि और गृहको त्याग चुका है, जिसका गोत्र और चरण (वेदकी शाखा एवं जाति)-से भी सम्बन्ध नहीं रह गया है, जो मौन रहता है और उतने ही वस्त्रकी इच्छा रखता है जितनेसे लंगोटी और ओढ़नेका काम चल जाय; इसी प्रकार जितनेसे प्राणोंकी रक्षा हो सके उतना ही भोजन चाहता है; इस नियमसे गाँवमें निवास करनेवाले उस (संन्यासी) मुनिके लिये अरण्य पीछे समझा जाता है ।। १२-१३ ।।

यस्तु कामान् परित्यज्य त्यक्तकर्मा जितेन्द्रियः ।
आतिष्ठेच्च मुनिर्मौनं स लोके सिद्धिमाप्नुयात् ।। १४ ।।

जो मुनि सम्पूर्ण कामनाओंको छोड़कर कर्मोंको त्याग चुका है और इन्द्रिय-संयमपूर्वक सदा मौनमें स्थित है, ऐसा संन्यासी लोकमें परम सिद्धिको प्राप्त होता है ।। १४ ।।

धौतदन्तं कृत्तनखं सदा स्नातमलंकृतम् ।
असितं सितकर्माणं कस्तमर्हति नार्चितुम् ।। १५ ।।

जिसके दाँत शुद्ध और साफ हैं, जिसके नख (और केश) कटे हुए हैं, जो सदा स्नान करता है तथा यम-नियमादिसे अलंकृत (है, उन्हें धारण किये हुए) है, शीतोष्णको सहनेसे जिसका शरीर श्याम पड़ गया है, जिसके आचरण उत्तम हैं—ऐसा संन्यासी किसके लिये पूजनीय नहीं है? ।। १५ ।।

तपसा कर्शितः क्षामः क्षीणमांसास्थिशोणितः ।
स च लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ।। १६ ।।

तपस्यासे मांस, हड्डी तथा रक्तके क्षीण हो जानेपर जिसका शरीर कृश और दुर्बल हो गया है, वह (वानप्रस्थ) मुनि इस लोकको जीतकर परलोकपर भी विजय पाता है ।। १६ ।।

यदा भवति निर्द्वन्द्वो मुनिर्मौनं समास्थितः ।
अथ लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ।। १७ ।।

जब (वानप्रस्थ) मुनि सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित एवं भलीभाँति मौनावलम्बी हो जाता है, तब वह इस लोकको जीतकर परलोकपर भी विजय पाता है ।। १७ ।।

आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
अथास्य लोकः सर्वोऽयं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। १८ ।।

जब संन्यासी मुनि गाय-बैलोंकी तरह मुखसे ही आहार ग्रहण करता है, हाथ आदिका भी सहारा नहीं लेता, तब उसके द्वारा ये सब लोक जीत लिये गये समझे जाते हैं और वह मोक्षकी प्राप्तिके लिये समर्थ समझा जाता है ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते एकनवतितमोऽध्यायः ।। ९१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९१ ।।

द्विनवतितमोऽध्यायः

अष्टक-ययाति-संवाद और ययातिद्वारा दूसरोंके दिये हुए पुण्यदानको अस्वीकार करना

अष्टक उवाच

कतरस्त्वनयोः पूर्वं देवानामेति सात्मताम् ।
उभयोर्धावतो राजन् सूर्याचन्द्रमसोरिव ।। १ ।।

अष्टकने पूछा—राजन्! सूर्य और चन्द्रमाकी तरह अपने-अपने लक्ष्यकी ओर दौड़ते हुए वानप्रस्थ और संन्यासी इन दोनोंमेंसे पहले कौन-सा देवताओंके आत्मभाव (ब्रह्म)-को प्राप्त होता है? ।। १ ।।

ययातिरुवाच

अनिकेतो गृहस्थेषु कामवृत्तेषु संयतः ।
ग्राम एव वसन् भिक्षुस्तयोः पूर्वतरं गतः ।। २ ।।

ययाति बोले—कामवृत्तिवाले गृहस्थोंके बीच ग्राममें ही वास करते हुए भी जो जितेन्द्रिय और गृहरहित संन्यासी है, वही उन दोनों प्रकारके मुनियोंमें पहले ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ।। २ ।।

अवाप्य दीर्घमायुस्तु यः प्राप्तो विकृतिं चरेत् ।
तप्यते यदि तत् कृत्वा चरेत् सोऽन्यत् तपस्ततः ।। ३ ।।

जो वानप्रस्थ बड़ी आयु पाकर भी विषयोंके प्राप्त होनेपर उनसे विकृत हो उन्हींमें विचरने लगता है, उसे यदि विषयोपभोगके अनन्तर पश्चात्ताप होता है तो उसे मोक्षके लिये पुनः तपका अनुष्ठान करना चाहिये ।। ३ ।।

पापानां कर्मणां नित्यं बिभियाद् यस्तु मानवः ।
सुखमप्याचरन् नित्यं सोऽत्यन्तं सुखमेधते ।। ४ ।।

किंतु जो वानप्रस्थ मनुष्य पापकर्मोंसे नित्य भय करता है और सदा अपने धर्मका आचरण करता है, वह अत्यन्त सुखरूप मोक्षको अनायास ही प्राप्त कर लेता है ।। ४ ।।

तद् वै नृशंसं तदसत्यमाहु-
र्यः सेवतेऽधर्ममनर्थबुद्धिः ।
अर्थोऽप्यनीशस्य तथैव राजं-
स्तदार्जवं स समाधिस्तदार्यम् ।। ५ ।।

राजन्! जो पापबुद्धिवाला मनुष्य अधर्मका आचरण करता है, उसका वह आचरण नृशंस (पापमय) और असत्य कहा गया है एवं उस अजितेन्द्रियका धन भी वैसा ही पापमय

और असत्य है। परंतु वानप्रस्थ मुनिका जो धर्मपालन है, वही सरलता है, वही समाधि है और वही श्रेष्ठ आचरण है ।। ५ ।।

अष्टक उवाच

केनासि हूतः प्रहितोऽसि राजन्
युवा स्रग्वी दर्शनीयः सुवर्चाः ।
कुत आयातः कतरस्यां दिशि त्व-
मुताहोस्वित् पार्थिवं स्थानमस्ति ।। ६ ।।

अष्टकने पूछा—राजन्! आपको यहाँ किसने बुलाया? किसने भेजा है? आप अवस्थामें तरुण, फूलोंकी मालासे सुशोभित, दर्शनीय तथा उत्तम तेजसे उद्भासित जान पड़ते हैं। आप कहाँसे आये हैं? किस दिशामें भेजे गये हैं? अथवा क्या आपके लिये इस पृथ्वीपर कोई उत्तम स्थान है? ।। ६ ।।

ययातिरुवाच

इमं भौमं नरकं क्षीणपुण्यः
प्रवेष्टुमुर्वीं गगनाद् विप्रहीणः ।
उक्त्वाहं वः प्रपतिष्याम्यनन्तरं
त्वरन्ति मां लोकपा ब्रह्मणो ये ।। ७ ।।

ययातिने कहा—मैं अपने पुण्यका क्षय होनेसे भौम नरकमें प्रवेश करनेके लिये आकाशसे गिर रहा हूँ। ब्रह्माजीके जो लोकपाल हैं, वे मुझे गिरनेके लिये जल्दी मचा रहे हैं; अतः आपलोगोंसे पूछकर विदा लेकर इस पृथ्वीपर गिरूँगा ।। ७ ।।

सतां सकाशे तु वृतः प्रपात-
स्ते संगता गुणवन्तस्तु सर्वे ।
शक्राच्च लब्धो हि वरो मयैष
पतिष्यता भूमितलं नरेन्द्र ।। ८ ।।

नरेन्द्र! मैं जब इस पृथ्वीतलपर गिरनेवाला था, उस समय मैंने इन्द्रसे यह वर माँगा था कि मैं साधु पुरुषोंके समीप गिरूँ। वह वर मुझे मिला, जिसके कारण आप सब सद्‌गुणी संतोंका संग प्राप्त हुआ ।। ८ ।।

अष्टक उवाच

पृच्छामि त्वां मा प्रपत प्रपातं
यदि लोकाः पार्थिव सन्ति मेऽत्र ।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि स्थिताः
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ।। ९ ।।

अष्टक बोले—महाराज! मेरा विश्वास है कि आप पारलौकिक धर्मके ज्ञाता हैं। मैं आपसे एक बात पूछता हूँ—क्या अन्तरिक्ष या स्वर्गलोकमें मुझे प्राप्त होनेवाले पुण्यलोक भी हैं? यदि हों तो (उनके प्रभावसे) आप नीचे न गिरें, आपका पतन न हो ।। ९ ।।

ययातिरुवाच

यावत् पृथिव्यां विहितं गवाश्वं
सहारण्यैः पशुभिः पार्वतैश्च ।
तावल्लोका दिवि ते संस्थिता वै
तथा विजानीहि नरेन्द्रसिंह ।। १० ।।

ययातिने कहा—नरेन्द्रसिंह! इस पृथ्वीपर जंगली और पर्वतीय पशुओंके साथ जितने गाय, घोड़े आदि पशु रहते हैं, स्वर्गमें तुम्हारे लिये उतने ही लोक विद्यमान हैं। तुम इसे निश्चय जानो ।। १० ।।

अष्टक उवाच

तांस्ते ददामि मा प्रपत प्रपातं
ये मे लोका दिवि राजेन्द्र सन्ति ।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिता-
स्तानाक्रम क्षिप्रमपेतमोहः ।। ११ ।।

अष्टक बोले—राजेन्द्र! स्वर्गमें मेरे लिये जो लोक विद्यमान हैं, वे सब आपको देता हूँ; परंतु आपका पतन न हो। अन्तरिक्ष या द्युलोकमें मेरे लिये जो स्थान हैं, उनमें आप शीघ्र ही मोहरहित होकर चले जायँ ।। ११ ।।

ययातिरुवाच

नास्मद्विधो ब्राह्मणो ब्रह्मविच्च
प्रतिग्रहे वर्तते राजमुख्य ।
यथा प्रदेयं सततं द्विजेभ्य-
स्तथाददं पूर्वमहं नरेन्द्र ।। १२ ।।

ययातिने कहा—नृपश्रेष्ठ! ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ही प्रतिग्रह लेता है। मेरे-जैसा क्षत्रिय कदापि नहीं। नरेन्द्र! जैसे दान करना चाहिये, उस विधिसे पहले मैंने भी सदा उत्तम ब्राह्मणोंको बहुत दान दिये हैं ।। १२ ।।

नाब्राह्मणः कृपणो जातु जीवेद्
याच्ञापि स्याद् ब्राह्मणी वीरपत्नी ।
सोऽहं नैवाकृतपूर्वं चरेयं
विधित्समानः किमु तत्र साधु ।। १३ ।।

जो ब्राह्मण नहीं है, उसे दीन याचक बनकर कभी जीवन नहीं बिताना चाहिये। याचना तो विद्यासे दिग्विजय करनेवाले विद्वान् ब्राह्मणकी पत्नी है अर्थात् ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणको ही याचना करनेका अधिकार है। मुझे उत्तम सत्कर्म करनेकी इच्छा है; अतः ऐसा कोई कार्य कैसे कर सकता हूँ, जो पहले कभी नहीं किया हो ।। १३ ।।

प्रतर्दन उवाच

पृच्छामि त्वां स्पृहणीयरूप
प्रतर्दनोऽहं यदि मे सन्ति लोकाः ।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ।। १४ ।।

प्रतर्दन बोले—वांछनीय रूपवाले श्रेष्ठ पुरुष! मैं प्रतर्दन हूँ और आपसे पूछता हूँ, यदि अन्तरिक्ष अथवा स्वर्गमें मेरे भी लोक हों तो बताइये। मैं आपको पारलौकिक धर्मका ज्ञाता मानता हूँ ।। १४ ।।

ययातिरुवाच

सन्ति लोका बहवस्ते नरेन्द्र
अप्येकैकः सप्तसप्ताप्यहानि ।
मधुच्युतो घृतपृक्ता विशोका-
स्ते नान्तवन्तः प्रतिपालयन्ति ।। १५ ।।

ययातिने कहा—नरेन्द्र! आपके तो बहुत लोक हैं, यदि एक-एक लोकमें सात-सात दिन रहा जाय तो भी उनका अन्त नहीं है। वे सब-के-सब अमृतके झरने बहाते हैं एवं घृत (तेज)-से युक्त हैं। उनमें शोकका सर्वथा अभाव है। वे सभी लोक आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।। १५ ।।

प्रतर्दन उवाच

तांस्ते ददानि मा प्रपत प्रपातं
ये मे लोकास्तव ते वै भवन्तु ।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिता-
स्तानाक्रम क्षिप्रमपेतमोहः ।। १६ ।।

प्रतर्दन बोले—महाराज! वे सभी लोक मैं आपको देता हूँ, आप नीचे न गिरें। जो मेरे लोक हैं वे सब आपके हो जायँ। वे अन्तरिक्षमें हों या स्वर्गमें, आप शीघ्र मोहरहित होकर उनमें चले जाइये ।। १६ ।।

ययातिरुवाच

न तुल्यतेजाः सुकृतं कामयेत

योगक्षेमं पार्थिव पार्थिवः सन् ।
दैवादेशादापदं प्राप्य विद्वां-
श्चरेन्नृशंसं न हि जातु राजा ।। १७ ।।

ययातिने कहा—राजन्! कोई भी राजा समान तेजस्वी होकर दूसरेसे पुण्य तथा योग-क्षेमकी इच्छा न करे। विद्वान् राजा दैववश भारी आपत्तिमें पड़ जानेपर भी कोई पापमय कार्य न करे ।। १७ ।।

धर्म्यं मार्गं यतमानो यशस्यं
कुर्यान्नृपो धर्ममवेक्षमाणः ।
न मद्विधो धर्मबुद्धिः प्रजानन्
कुर्यादेवं कृपणं मां यथाऽऽत्थ ।। १८ ।।

धर्मपर दृष्टि रखनेवाले राजाको उचित है कि वह प्रयत्नपूर्वक धर्म और यशके मार्गपर ही चले। जिसकी बुद्धि धर्ममें लगी हो उस मेरे-जैसे मनुष्यको जान-बूझकर ऐसा दीनतापूर्ण कार्य नहीं करना चाहिये, जिसके लिये आप मुझसे कह रहे हैं ।। १८ ।।

कुर्यादपूर्वं न कृतं यदन्यै-
र्विधित्समानः किमु तत्र साधु ।
(धर्माधर्मौ सुविनिश्चित्य सम्यक्
कार्याकार्येष्वप्रमत्तश्चरेद् यः ।
स वै धीमान् सत्यसन्धः कृतात्मा
राजा भवेल्लोकपालो महिम्ना ।।
यदा भवेत् संशयो धर्मकार्ये
कामार्थे वा यत्र विन्दन्ति सम्यक् ।
कार्यं तत्र प्रथमं धर्मकार्यं
न तौ कुर्यादर्थकामौ स धर्मः ।।)
ब्रुवाणमेनं नृपतिं ययातिं
नृपोत्तमो वसुमानब्रवीत् तम् ।। १९ ।।

जो शुभ कर्म करनेकी इच्छा रखता है, वह ऐसा काम नहीं कर सकता, जिसे अन्य राजाओंने नहीं किया हो। जो धर्म और अधर्मका भलीभाँति निश्चय करके कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें सावधान होकर विचरता है, वही राजा बुद्धिमान्, सत्यप्रतिज्ञ और मनस्वी है। वह अपनी महिमासे लोकपाल होता है। जब धर्मकार्यमें संशय हो अथवा जहाँ न्यायतः काम और अर्थ दोनों आकर प्राप्त हों, वहाँ पहले धर्मकार्यका ही सम्पादन करना चाहिये, अर्थ और कामका नहीं। यही धर्म है। इस प्रकारकी बातें कहनेवाले राजा ययातिसे नृपश्रेष्ठ वसुमान् बोले ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते द्विनवतितमोऽध्यायः ।। ९२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २१ श्लोक हैं)

त्रिनवतितमोऽध्यायः

राजा ययातिका वसुमान् और शिबिके प्रतिग्रहको अस्वीकार करना तथा अष्टक आदि चारों राजाओंके साथ स्वर्गमें जाना

वसुमानुवाच

पृच्छामि त्वां वसुमानौषदश्वि-
र्यद्यस्ति लोको दिवि मे नरेन्द्र ।
यद्यन्तरिक्षे प्रथितो महात्मन्
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ।। १ ।।

वसुमान्‌ने कहा—नरेन्द! मैं उषदश्वका पुत्र वसुमान् हूँ और आपसे पूछ रहा हूँ। यदि स्वर्ग या अन्तरिक्षमें मेरे लिये भी कोई विख्यात लोक हों तो बताइये। महात्मन्! मैं आपको पारलौकिक धर्मका ज्ञाता मानता हूँ ।। १ ।।

ययातिरुवाच

यदन्तरिक्षं पृथिवी दिशश्च
यत्तेजसा तपते भानुमांश्च ।
लोकास्तावन्तो दिवि संस्थिता वै
ते नान्तवन्तः प्रतिपालयन्ति ।। २ ।।

ययातिने कहा—राजन्! पृथ्वी, आकाश और दिशाओंके जितने प्रदेशको सूर्यदेव अपनी किरणोंसे तपाते और प्रकाशित करते हैं; उतने लोक तुम्हारे लिये स्वर्गमें स्थित हैं। वे अन्तवान् न होकर चिरस्थायी हैं और आपकी प्रतीक्षा करते हैं ।। २ ।।

वसुमानुवाच

तांस्ते ददानि मा प्रपत प्रपातं
ये मे लोकास्तव ते वै भवन्तु ।
क्रीणीष्वैतांस्तृणकेनापि राजन्
प्रतिग्रहस्ते यदि धीमन् प्रदुष्टः ।। ३ ।।

वसुमान् बोले—राजन्! वे सभी लोक मैं आपके लिये देता हूँ, आप नीचे न गिरें। मेरे लिये जितने पुण्यलोक हैं, वे सब आपके हो जायँ। धीमन्! यदि आपको प्रतिग्रह लेनेमें दोष दिखायी देता हो तो एक मुट्ठी तिनका मुझे मूल्यके रूपमें देकर मेरे इन सभी लोकोंको खरीद लें ।। ३ ।।

ययातिरुवाच

न मिथ्याहं विक्रयं वै स्मरामि
वृथा गृहीतं शिशुकाच्छङ्कमानः ।
कुर्यां न चैवाकृतपूर्वमन्यै-
र्विधित्समानः किमु तत्र साधु ।। ४ ।।

ययातिने कहा—मैंने इस प्रकार कभी झूठ-मूठकी खरीद-बिक्री की हो अथवा छलपूर्वक व्यर्थ कोई वस्तु ली हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है। मैं कालचक्रसे शंकित रहता हूँ। जिसे पूर्ववर्ती अन्य महापुरुषोंने नहीं किया वह कार्य मैं भी नहीं कर सकता हूँ; क्योंकि मैं सत्कर्म करना चाहता हूँ ।। ४ ।।

वसुमानुवाच

तांस्त्वं लोकान् प्रतिपद्यस्व राजन्
मया दत्तान् यदि नेष्टः क्रयस्ते ।
अहं न तान् वै प्रतिगन्ता नरेन्द्र
सर्वे लोकास्तव ते वै भवन्तु ।। ५ ।।

वसुमान् बोले—राजन्! यदि आप खरीदना नहीं चाहते तो मेरे द्वारा स्वतः अर्पण किये हुए पुण्यलोकोंको ग्रहण कीजिये। नरेन्द्र! निश्चय जानिये, मैं उन लोकोंमें नहीं जाऊँगा। वे सब आपके ही अधिकारमें रहें ।। ५ ।।

शिबिरुवाच

पृच्छामि त्वां शिबिरौशीनरोऽहं
ममापि लोका यदि सन्तीह तात ।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ।। ६ ।।

शिबिने कहा—तात! मैं उशीनरका पुत्र शिबि आपसे पूछता हूँ। यदि अन्तरिक्ष या स्वर्गमें मेरे भी पुण्यलोक हों, तो बताइये; क्योंकि मैं आपको उक्त धर्मका ज्ञाता मानता हूँ ।। ६ ।।

ययातिरुवाच

यत् त्वं वाचा हृदयेनापि साधून्
परीप्समानान् नावमंस्था नरेन्द्र ।
तेनानन्ता दिवि लोकाः श्रितास्ते
विद्युद्रूपाः स्वनवन्तो महान्तः ।। ७ ।।

ययाति बोले—नरेन्द्र! जो-जो साधु पुरुष तुमसे कुछ माँगनेके लिये आये, उनका तुमने वाणीसे कौन कहे, मनसे भी अपमान नहीं किया। इस कारण स्वर्गमें तुम्हारे लिये अनन्त लोक विद्यमान हैं, जो विद्युत्‌के समान तेजोमय, भाँति-भाँतिके सुमधुर शब्दोंसे युक्त तथा महान् हैं ।। ७ ।।

शिबिरुवाच

तांस्त्वं लोकान् प्रतिपद्यस्व राजन्
मया दत्तान् यदि नेष्टः क्रयस्ते ।
न चाहं तान् प्रतिपत्स्ये ह दत्त्वा
यत्र गत्वा नानुशोचन्ति धीराः ।। ८ ।।

शिबिने कहा—महाराज! यदि आप खरीदना नहीं चाहते तो मेरे द्वारा स्वयं अर्पण किये हुए पुण्यलोकोंको ग्रहण कीजिये। उन सबको देकर निश्चय ही मैं उन लोकोंमें नहीं जाऊँगा। वे लोक ऐसे हैं, जहाँ जाकर धीर पुरुष कभी शोक नहीं करते ।। ८ ।।

ययातिरुवाच

यथा त्वमिन्द्रप्रतिमप्रभाव-
स्ते चाप्यनन्ता नरदेव लोकाः ।
तथाद्य लोके न रमेऽन्यदत्ते
तस्माच्छिबे नाभिनन्दामि देयम् ।। ९ ।।

ययाति बोले—नरदेव शिबि! जिस प्रकार तुम इन्द्रके समान प्रभावशाली हो, उसी प्रकार तुम्हारे वे लोक भी अनन्त हैं; तथापि दूसरेके दिये हुए लोकमें मैं विहार नहीं कर सकता, इसीलिये तुम्हारे दिये हुएका अभिनन्दन नहीं करता ।। ९ ।।

अष्टक उवाच

न चेदेकैकशो राजँल्लोकान् नः प्रतिनन्दसि ।
सर्वे प्रदाय भवते गन्तारो नरकं वयम् ।। १० ।।

अष्टकने कहा—राजन्! यदि आप हममेंसे एक-एकके दिये हुए लोकोंको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण नहीं करते तो हम सब लोग अपने पुण्यलोक आपकी सेवामें अर्पित करके नरक (भूलोक)-में जानेको तैयार हैं ।। १० ।।

ययातिरुवाच

यदर्होऽहं तद् यतध्वं सन्तः सत्याभिनन्दिनः ।
अहं तन्नाभिजानामि यत् कृतं न मया पुरा ।। ११ ।।

ययाति बोले—मैं जिसके योग्य हूँ, उसीके लिये यत्न करो; क्योंकि साधु पुरुष सत्यका ही अभिनन्दन करते हैं। मैंने पूर्वकालमें जो कर्म नहीं किया, उसे अब भी

करनेयोग्य नहीं समझता ।। ११ ।।

अष्टक उवाच

कस्यैते प्रतिदृश्यन्ते रथाः पञ्च हिरण्मयाः ।
यानारुह्य नरो लोकानभिवाञ्छति शाश्वतान् ।। १२ ।।

अष्टकने कहा—आकाशमें ये किसके पाँच सुवर्णमय रथ दिखायी देते हैं, जिनपर आरूढ़ होकर मनुष्य सनातन लोकोंमें जानेकी इच्छा करता है ।। १२ ।।

ययातिरुवाच

युष्मानेते वहिष्यन्ति रथाः पञ्च हिरण्मयाः ।
उच्चैः सन्तः प्रकाशन्ते ज्वलन्तोऽग्निशिखा इव ।। १३ ।।

ययाति बोले—ऊपर आकाशमें स्थित प्रज्वलित अग्निकी लपटोंके समान जो पाँच सुवर्णमय रथ प्रकाशित हो रहे हैं, ये आपलोगोंको ही स्वर्गमें ले जायँगे ।। १३ ।।

(वैशम्पायन उवाच)

(एतस्मिन्नन्तरे चैव माधवी तु तपोधना ।
मृगचर्मपरीताङ्गी परिणामे मृगव्रतम् ।।
मृगैः सह चरन्ती सा मृगाहारविचेष्टिता ।
यज्ञवाटं मृगगणैः प्रविश्य भृशविस्मिता ।।
आघ्रायन्ती धूमगन्धं मृगैरेव चचार सा ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसी समय तपस्विनी माधवी उधर आ निकली। उसने मृगचर्मसे अपने सब अंगोंको ढक रखा था। वृद्धावस्था प्राप्त होनेपर वह मृगोंके साथ विचरती हुई मृगव्रतका पालन कर रही थी। उसकी भोजन-सामग्री और चेष्टा मृगोंके ही तुल्य थी। वह मृगोंके झुंडके साथ यज्ञमण्डपमें प्रवेश करके अत्यन्त विस्मित हुई और यज्ञीय धूमकी सुगन्ध लेती हुई मृगोंके साथ वहाँ विचरने लगी।

यज्ञवाटमटन्ती सा पुत्रांस्तानपराजितान् ।।
पश्यन्ती यज्ञमाहात्म्यं मुदं लेभे च माधवी ।

यज्ञशालामें घूम-घूमकर अपने अपराजित पुत्रोंको देखती और यज्ञकी महिमाका अनुभव करती हुई माधवी बहुत प्रसन्न हुई।

असंस्पृशन्तं वसुधां ययातिं नाहुषं तदा ।।
दिविष्ठं प्राप्तमाज्ञाय ववन्दे पितरं तदा ।
ततो वसुमनाः* पृच्छन् मातरं वै तपस्विनीम् ।।

उसने देखा, स्वर्गवासी नहुषनन्दन महाराज ययाति आये हैं, परंतु पृथ्वीका स्पर्श नहीं कर रहे हैं (आकाशमें ही स्थित हैं)। अपने पिताको पहचानकर माधवीने उन्हें प्रणाम किया।

तब वसुमनाने अपनी तपस्विनी मातासे प्रश्न करते हुए कहा।

वसुमना उवाच

भवत्या यत् कृतमिदं वन्दनं वरवर्णिनि ।
कोऽयं देवोऽथवा राजा यदि जानासि मे वद ।।

वसुमना बोले—माँ! तुम श्रेष्ठ वर्णकी देवी हो। तुमने इन महापुरुषको प्रणाम किया है। ये कौन हैं? कोई देवता हैं या राजा? यदि जानती हो तो मुझे बताओ।

माधव्युवाच

शृणुध्वं सहिताः पुत्रा नाहुषोऽयं पिता मम ।
ययातिर्मम पुत्राणां मातामह इति श्रुतः ।।
पूरुं मे भ्रातरं राज्ये समावेश्य दिवं गतः ।
केन वा कारणेनैव इह प्राप्तो महायशाः ।।

माधवीने कहा—पुत्रो! तुम सब लोग एक साथ सुन लो—'ये मेरे पिता नहुषनन्दन महाराज ययाति हैं। मेरे पुत्रोंके सुविख्यात मातामह (नाना) ये ही हैं। इन्होंने मेरे भाई पूरुको राज्यपर अभिषिक्त करके स्वर्गलोककी यात्रा की थी; परंतु न जाने किस कारणसे ये महायशस्वी महाराज पुनः यहाँ आये हैं'।

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा स्थानभ्रष्टेति चाब्रवीत् ।
सा पुत्रस्य वचः श्रुत्वा सम्भ्रमाविष्टचेतना ।।
माधवी पितरं प्राह दौहित्रपरिवारितम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! माताकी यह बात सुनकर वसुमनाने कहा—माँ! ये अपने स्थानसे भ्रष्ट हो गये हैं। पुत्रका यह वचन सुनकर माधवी भ्रान्तचित्त हो उठी और दौहित्रोंसे घिरे हुए अपने पितासे इस प्रकार बोली।

माधव्युवाच

तपसा निर्जिताँल्लोकान् प्रतिगृह्णीष्व मामकान् ।
पुत्राणामिव पौत्राणां धर्मादधिगतं धनम् ।।
स्वार्थमेव वदन्तीह ऋषयो वेदपारगाः ।
तस्माद् दानेन तपसा अस्माकं दिवमाव्रज ।।

माधवीने कहा—पिताजी! मैंने तपस्याद्वारा जिन लोकोंपर अधिकार प्राप्त किया है, उन्हें आप ग्रहण करें। पुत्रों और पौत्रोंकी भाँति पुत्री और दौहित्रोंका धर्माचरणसे प्राप्त किया हुआ धन भी अपने ही लिये है, यह वेदवेत्ता ऋषि कहते हैं; अतः आप हमलोगोंके दान एवं तपस्याजनित पुण्यसे स्वर्गलोकमें जाइये।

ययातिरुवाच

यदि धर्मफलं ह्येतच्छोभनं भविता तथा ।
दुहित्रा चैव दौहित्रैस्तारितोऽहं महात्मभिः ।।

ययाति बोले—यदि यह धर्मजनित फल है, तब तो इसका शुभ परिणाम अवश्यम्भावी है। आज मुझे मेरी पुत्री तथा महात्मा दौहित्रोंने तारा है।

तस्मात् पवित्रं दौहित्रमद्यप्रभृति पैतृके ।
भविष्यति न संदेहः पितॄणां प्रीतिवर्धनम् ।।

इसलिये आजसे पितृ-कर्म (श्राद्ध)-में दौहित्र परम पवित्र समझा जायगा। इसमें संशय नहीं कि वह पितरोंका हर्ष बढ़ानेवाला होगा।

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ।।
भोक्तारः परिवेष्टारः श्रावितारः पवित्रकाः ।

श्राद्धमें तीन वस्तुएँ पवित्र मानी जायँगी—दौहित्र, कुतप और तिल। साथ ही इसमें तीन गुण भी प्रशंसित होंगे—पवित्रता, अक्रोध और अत्वरा (उतावलेपनका अभाव)। तथा श्राद्धमें भोजन करनेवाले, परोसनेवाले और (वैदिक या पौराणिक मन्त्रोंका पाठ) सुनानेवाले—ये तीन प्रकारके मनुष्य भी पवित्र माने जायँगे।

दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभवति भास्करे ।
स कालः कुतपो नाम पितॄणां दत्तमक्षयम् ।।

दिनके आठवें भागमें जब सूर्यका ताप घटने लगता है, उस समयका नाम कुतप है। उसमें पितरोंके लिये दिया हुआ दान अक्षय होता है।

तिलाः पिशाचाद् रक्षन्ति दर्भा रक्षन्ति राक्षसात् ।
रक्षन्ति श्रोत्रियाः पङ्क्तिं यतिभिर्भुक्तमक्षयम् ।।

तिल पिशाचोंसे श्राद्धकी रक्षा करते हैं, कुश राक्षसोंसे बचाते हैं, श्रोत्रिय ब्राह्मण पंक्तिकी रक्षा करते हैं और यदि यतिगण श्राद्धमें भोजन कर लें तो वह अक्षय हो जाता है।

लब्ध्वा पात्रं तु विद्वांसं श्रोत्रियं सुव्रतं शुचिम् ।
स कालः कालतो दत्तं नान्यथा काल इष्यते ।।

उत्तम व्रतका आचरण करनेवाला पवित्र श्रोत्रिय ब्राह्मण श्राद्धका उत्तम पात्र है। वह जब प्राप्त हो जाय, वही श्राद्धका उत्तम काल समझना चाहिये। उसको दिया हुआ दान उत्तम कालका दान है। इसके सिवा और कोई उपयुक्त काल नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययातिस्तु पुनः प्रोवाच बुद्धिमान् ।
सर्वे ह्यवभृथस्नातास्त्वरध्वं कार्यगौरवात् ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! बुद्धिमान् ययाति उपर्युक्त बात कहकर पुनः अपने दौहित्रोंसे बोले—'तुम सब लोग अवभृथस्नान कर चुके हो। अब महत्त्वपूर्ण कार्यकी सिद्धिके लिये शीघ्र तैयार हो जाओ'।

अष्टक उवाच

आतिष्ठस्व रथान् राजन् विक्रमस्व विहायसम् ।
वयमप्यनुयास्यामो यदा कालो भविष्यति ।। १४ ।।

अष्टक बोले—राजन्! आप इन रथोंमें बैठिये और आकाशमें ऊपरकी ओर बढ़िये। जब समय होगा, तब हम भी आपका अनुसरण करेंगे ।। १४ ।।

ययातिरुवाच

सर्वैरिदानीं गन्तव्यं सह स्वर्गजितो वयम् ।
एष नो विरजाः पन्था दृश्यते देवसद्मनः ।। १५ ।।

ययाति बोले—हम सब लोगोंने साथ-साथ स्वर्गपर विजय पायी है, इसलिये इस समय सबको वहाँ चलना चाहिये। देवलोकका यह रजोहीन सात्त्विक मार्ग हमें स्पष्ट दिखायी दे रहा है ।। १५ ।।

वैशम्पायन उवाच

तेऽधिरुह्य रथान् सर्वे प्रयाता नृपसत्तमाः ।
आक्रमन्तो दिवं भाभिर्धर्मेणावृत्य रोदसी ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वे सभी नृपश्रेष्ठ उन दिव्य रथोंपर आरूढ़ हो धर्मके बलसे स्वर्गमें पहुँचनेके लिये चल दिये। उस समय पृथ्वी और आकाशमें उनकी प्रभा व्याप्त हो रही थी ।। १६ ।।

(अष्टकश्च शिबिश्चैव काशिराजः प्रतर्दनः ।
ऐक्ष्वाकवो वसुमनाश्चत्वारो भूमिपाश्च ह ।।
सर्वे ह्यवभृथस्नाताः स्वर्गताः साधवः सह ।)

अष्टक, शिबि, काशिराज प्रतर्दन तथा इक्ष्वाकुवंशी वसुमना—ये चारों साधु नरेश यज्ञान्त-स्नान करके एक साथ स्वर्गमें गये।

अष्टक उवाच

अहं मन्ये पूर्वमेकोऽस्मि गन्ता
सखा चेन्द्रः सर्वथा मे महात्मा ।
कस्मादेवं शिबिरौशीनरोऽय-
मेकोऽत्यगात् सर्ववेगेन वाहान् ।। १७ ।।

अष्टक बोले—राजन्! महात्मा इन्द्र मेरे बड़े मित्र हैं, अतः मैं तो समझता था कि अकेला मैं ही सबसे पहले उनके पास पहुँचूँगा। परंतु ये उशीनरपुत्र शिबि अकेले सम्पूर्ण वेगसे हम सबके वाहनोंको लाँघकर आगे बढ़ गये हैं, ऐसा कैसे हुआ? ।। १७ ।।

ययातिरुवाच

अददद् देवयानाय यावद् वित्तमविन्दत ।
उशीनरस्य पुत्रोऽयं तस्माच्छ्रेष्ठो हि वः शिबिः ।। १८ ।।

ययातिने कहा—राजन्! उशीनरके पुत्र शिबिने ब्रह्मलोकके मार्गकी प्राप्तिके लिये अपना सर्वस्व दान कर दिया था, इसीलिये ये तुम सब लोगोंमें श्रेष्ठ हैं ।। १८ ।।

दानं तपः सत्यमथापि धर्मो
ह्रीः श्रीः क्षमा सौम्यमथो विधित्सा ।
राजन्नेतान्यप्रमेयाणि राज्ञः
शिबेः स्थितान्यप्रतिमस्य बुद्ध्या ।। १९ ।।

नरेश्वर! दान, तपस्या, सत्य, धर्म, ह्री, श्री, क्षमा, सौम्यभाव और व्रत-पालनकी अभिलाषा—राजा शिबिमें ये सभी गुण अनुपम हैं तथा बुद्धिमें भी उनकी समता करनेवाला कोई नहीं है ।। १९ ।।

एवंवृत्तो ह्रीनिषेवश्च यस्मात्
तस्माच्छिबिरत्यगाद् वै रथेन ।

राजा शिबि ऐसे सदाचारसम्पन्न और लज्जाशील हैं! (इनमें अभिमानकी मात्रा छू भी नहीं गयी है।) इसीलिये शिबि हम सबसे आगे बढ़ गये हैं।

वैशम्पायन उवाच

अथाष्टकः पुनरेवान्वपृच्छ-
न्मातामहं कौतुकेनेन्द्रकल्पम् ।। २० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अष्टकने कौतूहलवश इन्द्रके तुल्य अपने नाना राजा ययातिसे पुनः प्रश्न किया ।। २० ।।

पृच्छामि त्वां नृपते ब्रूहि सत्यं
कुतश्च कश्चासि सुतश्च कस्य ।
कृतं त्वया यद्धि न तस्य कर्ता
लोके त्वदन्यः क्षत्रियो ब्राह्मणो वा ।। २१ ।।

महाराज! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ। आप उसे सच-सच बताइये। आप कहाँसे आये हैं, कौन हैं और किसके पुत्र हैं? आपने जो कुछ किया है, उसे करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण इस संसारमें नहीं है ।। २१ ।।

ययातिरुवाच

ययातिरस्मि नहुषस्य पुत्रः
पूरोः पिता सार्वभौमस्त्विहासम् ।
गुह्यं चार्थं मामकेभ्यो ब्रवीमि
मातामहोऽहं भवतां प्रकाशम् ।। २२ ।।

ययातिने कहा—मैं नहुषका पुत्र और पूरुका पिता राजा ययाति हूँ। इस लोकमें मैं चक्रवर्ती नरेश था। आप सब लोग मेरे अपने हैं; अतः आपसे गुप्त बात भी खोलकर बतलाये देता हूँ। मैं आपलोगोंका नाना हूँ। (यद्यपि पहले भी यह बात बता चुका हूँ, तथापि पुनः स्पष्ट कर देता हूँ) ।। २२ ।।

सर्वामिमां पृथिवीं निर्जिगाय
प्रादामहं छादनं ब्राह्मणेभ्यः ।
मेध्यानश्वानेकशतान् सुरूपां-
स्तदा देवाः पुण्यभाजो भवन्ति ।। २३ ।।

मैंने इस सारी पृथ्वीको जीत लिया था। मैं ब्राह्मणोंको अन्न-वस्त्र दिया करता था। मनुष्य जब एक सौ सुन्दर पवित्र अश्वोंका दान करते हैं, तब वे पुण्यात्मा देवता होते हैं ।। २३ ।।

अदामहं पृथिवीं ब्राह्मणेभ्यः
पूर्णामिमामखिलां वाहनेन ।
गोभिः सुवर्णेन धनैश्च मुख्यै-
स्तदाददं गाः शतमर्बुदानि ।। २४ ।।

मैंने तो सवारी, गौ, सुवर्ण तथा उत्तम धनसे परिपूर्ण यह सारी पृथ्वी ब्राह्मणोंको दान कर दी थी एवं सौ अर्बुद (दस अरब) गौओंका दान भी किया था ।। २४ ।।

सत्येन वै द्यौश्च वसुन्धरा च
तथैवाग्निर्ज्वलते मानुषेषु ।
न मे वृथा व्याहृतमेव वाक्यं
सत्यं हि सन्तः प्रतिपूजयन्ति ।। २५ ।।

सत्यसे ही पृथ्वी और आकाश टिके हुए हैं। इसी प्रकार सत्यसे ही मनुष्य-लोकमें अग्नि प्रज्वलित होती है। मैंने कभी व्यर्थ बात मुँहसे नहीं निकाली है; क्योंकि साधु पुरुष सदा सत्यका ही आदर करते हैं ।। २५ ।।

यदष्टक प्रब्रवीमीह सत्यं
प्रतर्दनं चौषदशिंव तथैव ।
सर्वे च लोका मुनयश्च देवाः
सत्येन पूज्या इति मे मनोगतम् ।। २६ ।।

अष्टक! मैं तुमसे, प्रतर्दनसे और उषदश्वके पुत्र वसुमान्‌से भी यहाँ जो कुछ कहता हूँ; वह सब सत्य ही है। मेरे मनका यह विश्वास है कि समस्त लोक, मुनि और देवता सत्यसे ही पूजनीय होते हैं ।। २६ ।।

यो नः स्वर्गजितः सर्वान् यथा वृत्तं निवेदयेत् ।
अनसूयुर्द्विजाग्र्येभ्यः स लभेन्नः सलोकताम् ।। २७ ।।

जो मनुष्य हृदयमें ईर्ष्या न रखकर स्वर्गपर अधिकार करनेवाले हम सब लोगोंके इस वृत्तान्तको यथार्थरूपसे श्रेष्ठ द्विजोंके सामने सुनायेगा, वह हमारे ही समान पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेगा ।। २७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं राजा स महात्मा ह्यतीव
स्वैर्दौहित्रैस्तारितोऽमित्रसाहः ।
त्यक्त्वा महीं परमोदारकर्मा
स्वर्गं गतः कर्मभिर्व्याप्य पृथ्वीम् ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा ययाति बड़े महात्मा थे। शत्रुओंके लिये अजेय और उनके कर्म अत्यन्त उदार थे। उनके दौहित्रोंने उनका उद्धार किया और वे अपने सत्कर्मोंद्वारा सम्पूर्ण भूमण्डलको व्याप्त करके पृथ्वी छड़कर स्वर्गलोकमें चले गये ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायातसमाप्तौ त्रिनवतितमोऽध्यायः ।। ९३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातसमाप्तिविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २० १/२ श्लोक मिलाकर कुल ४८ १/२ श्लोक हैं)

---

* ये वसुमान् नामसे भी प्रसिद्ध थे।

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

पूरुवंशका वर्णन

जनमेजय उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पूरोर्वंशकरान् नृपान् ।
यद्वीर्यान् यादृशांश्चापि यावतो यत्पराक्रमान् ।। १ ।।

जनमेजय बोले—भगवन! अब मैं पूरुके वंशका विस्तार करनेवाले राजाओंका परिचय सुनना चाहता हूँ। उनका बल और पराक्रम कैसा था? वे कैसे और कितने थे? ।। १ ।।

न ह्यस्मिन् शीलहीनो वा निर्वीर्यो वा नराधिपः ।
प्रजाविरहितो वापि भूतपूर्वः कथंचन ।। २ ।।

मेरा विश्वास है कि इस वंशमें पहले कभी किसी प्रकार भी कोई ऐसा राजा नहीं हुआ है, जो शीलरहित, बल-पराक्रमसे शून्य अथवा संतानहीन रहा हो ।। २ ।।

तेषां प्रथितवृत्तानां राज्ञां विज्ञानशालिनाम् ।
चरितं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण तपोधन ।। ३ ।।

तपोधन! जो अपने सदाचारके लिये प्रसिद्ध और विवेकसम्पन्न थे, उन सभी पूरुवंशी राजाओंके चरित्रको मुझे विस्तारपूर्वक सुननेकी इच्छा है ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
पूरोर्वंशधरान् वीराञ्छक्रप्रतिमतेजसः ।
भूरिद्रविणविक्रान्तान् सर्वलक्षणपूजितान् ।। ४ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, वह सब मैं तुम्हें बताऊँगा। पूरुके वंशमें उत्पन्न हुए वीर नरेश इन्द्रके समान तेजस्वी, अत्यन्त धनवान्, परम पराक्रमी तथा समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्मानित थे (उन सबका परिचय देता हूँ) ।। ४ ।।

प्रवीरेश्वररौद्राश्वास्त्रयः पुत्रा महारथाः ।
पूरोः पौष्ट्यामजायन्त प्रवीरो वंशकृत् ततः ।। ५ ।।

पूरुके पौष्टी नामक पत्नीके गर्भसे प्रवीर, ईश्वर तथा रौद्राश्व नामक तीन महारथी पुत्र हुए। इनमेंसे प्रवीर अपनी वंश-परम्पराको आगे बढ़ानेवाले हुए ।। ५ ।।

मनस्युरभवत् तस्माच्छूरसेनीसुतः प्रभुः ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता राजीवलोचनः ।। ६ ।।

प्रवीरके पुत्रका नाम मनस्यु था, जो शूरसेनीके पुत्र और शक्तिशाली थे। कमलके समान नेत्रवाले मनस्युने चारों समुद्रोंसे घिरी हुई समस्त पृथ्वीका पालन किया ।। ६ ।।

शक्तः संहननो वाग्मी सौवीरीतनयास्त्रयः ।
मनस्योरभवन् पुत्राः शूराः सर्वे महारथाः ।। ७ ।।

मनस्युके सौवीरीके गर्भसे तीन पुत्र हुए—शक्त, संहनन और वाग्मी। वे सभी शूरवीर और महारथी थे ।। ७ ।।

अन्वग्भानुप्रभृतयो मिश्रकेश्यां मनस्विनः ।
रौद्राश्वस्य महेष्वासा दशाप्सरसि सूनवः ।। ८ ।।
यज्वानो जज्ञिरे शूराः प्रजावन्तो बहुश्रुताः ।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ।। ९ ।।

पूरुके तीसरे पुत्र मनस्वी रौद्राश्वके मिश्रकेशी अप्सराके गर्भसे अन्वग्भानु आदि दस महाधनुर्धर पुत्र हुए, जो सभी यज्ञकर्ता, शूरवीर, संतानवान्, अनेक शास्त्रोंके विद्वान, सम्पूर्ण अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा धर्मपरायण थे ।। ८-९ ।।

ऋचेयुरथ कक्षेयुः कृकणेयुश्च वीर्यवान् ।
स्थण्डिलेयुर्वनेयुश्च जलेयुश्च महायशाः ।। १० ।।
तेजेयुर्बलवान् धीमान् सत्येयुश्चेन्द्रविक्रमः ।
धर्मेयुः संनतेयुश्च दशमो देवविक्रमः ।। ११ ।।

(उन सबके नाम इस प्रकार हैं—) ऋचेयु*, कक्षेयु, पराक्रमी कृकणेयु, स्थण्डिलेयु, वनेयु, महायशस्वी जलेयु, बलवान् और बुद्धिमान् तेजेयु, इन्द्रके समान पराक्रमी सत्येयु, धर्मेयु तथा दसवें देवतुल्य पराक्रमी संनतेयु ।। १०-११ ।।

अनाधृष्टिरभूत् तेषां विद्वान् भुवि तथैकराट् ।
ऋचेयुरथ विक्रान्तो देवानामिव वासवः ।। १२ ।।

ऋचेयु जिनका एक नाम अनाधृष्टि भी है, अपने सब भाइयोंमें वैसे ही विद्वान् और पराक्रमी हुए, जैसे देवताओंमें इन्द्र। वे भूमण्डलके चक्रवर्ती राजा थे ।। १२ ।।

अनाधृष्टिसुतस्त्वासीद् राजसूयाश्वमेधकृत् ।
मतिनार इति ख्यातो राजा परमधार्मिकः ।। १३ ।।

अनाधृष्टिके पुत्रका नाम मतिनार था। राजा मतिनार राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ करनेवाले एवं परम धर्मात्मा थे ।। १३ ।।

मतिनारसुता राजंश्चत्वारोऽमितविक्रमाः ।
तंसुर्महानतिरथो द्रुह्युश्चाप्रतिमद्युतिः ।। १४ ।।

राजन्! मतिनारके चार पुत्र हुए, जो अत्यन्त पराक्रमी थे। उनके नाम ये हैं—तंसु, महान्, अतिरथ और अनुपम तेजस्वी द्रुह्यु ।। १४ ।।

तेषां तंसुर्महावीर्यः पौरवं वंशमुद्वहन् ।

आजहार यशो दीप्तं जिगाय च वसुन्धराम् ।। १५ ।।

इनमें महापराक्रमी तंसुने पौरव वंशका भार वहन करते हुए उज्ज्वल यशका उपार्जन किया और सारी पृथ्वीको जीत लिया ।। १५ ।।

ईलिनं तु सुतं तंसुर्जनयामास वीर्यवान् ।
सोऽपि कृत्स्नामिमां भूमिं विजिग्ये जयतां वरः ।। १६ ।।

पराक्रमी तंसुने ईलिन नामक पुत्र उत्पन्न किया, जो विजयी पुरुषोंमें श्रेष्ठ था। उसने भी सारी पृथ्वी जीत ली थी ।। १६ ।।

रथन्तर्यां सुतान् पञ्च पञ्चभूतोपमांस्ततः ।
ईलिनो जनयामास दुष्यन्तप्रभृतीन् नृपान् ।। १७ ।।

ईलिनने रथन्तरी नामवाली अपनी पत्नीके गर्भसे पंच महाभूतोंके समान दुष्यन्त आदि पाँच राजपुत्रोंको पुत्ररूपमें उत्पन्न किया ।। १७ ।।

दुष्यन्तं शूरभीमौ च प्रवसुं वसुमेव च ।
तेषां श्रेष्ठोऽभवद् राजा दुष्यन्तो जनमेजय ।। १८ ।।

(उनके नाम ये हैं—) दुष्यन्त, शूर, भीम, प्रवसु तथा वसु। जनमेजय! इनमें सबसे बड़े होनेके कारण दुष्यन्त राजा हुए ।। १८ ।।

दुष्यन्ताद् भरतो जज्ञे विद्वाञ्छाकुन्तलो नृपः ।
तस्माद् भरतवंशस्य विप्रतस्थे महद् यशः ।। १९ ।।

दुष्यन्तसे विद्वान् राजा भरतका जन्म हुआ, जो शकुन्तलाके पुत्र थे। उन्हींसे भरतवंशका महान् यश फैला ।। १९ ।।

भरतस्तिसृषु स्त्रीषु नव पुत्रानजीजनत् ।
नाभ्यनन्दत तान् राजा नानुरूपा ममेत्युत ।। २० ।।

भरतने अपनी तीन रानियोंसे नौ पुत्र उत्पन्न किये। किंतु ‘ये मेरे अनुरूप नहीं हैं’ ऐसा कहकर राजाने उन शिशुओंका अभिनन्दन नहीं किया ।। २० ।।

ततस्तान् मातरः क्रुद्धाः पुत्रान् निन्युर्यमक्षयम् ।
ततस्तस्य नरेन्द्रस्य वितथं पुत्रजन्म तत् ।। २१ ।।

तब उन शिशुओंकी माताओंने कुपित होकर उनको मार डाला। इससे महाराज भरतका वह पुत्रोत्पादन व्यर्थ हो गया ।। २१ ।।

ततो महद्भिः क्रतुभिरीजानो भरतस्तदा ।
लेभे पुत्रं भरद्वाजाद् भुमन्युं नाम भारत ।। २२ ।।

भारत! तब महाराज भरतने बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया और महर्षि भरद्वाजकी कृपासे एक पुत्र प्राप्त किया, जिसका नाम भुमन्यु था ।। २२ ।।

ततः पुत्रिणमात्मानं ज्ञात्वा पौरवनन्दनः ।
भुमन्युं भरतश्रेष्ठ यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।। २३ ।।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर पौरवकुलका आनन्द बढ़ानेवाले भरतने अपनेको पुत्रवान् समझकर भुमन्युको युवराजके पदपर अभिषिक्त किया ।। २३ ।।

ततो दिविरथो नाम भुमन्योरभवत् सुतः ।
सुहोत्रश्च सुहोता च सुहविः सुयजुस्तथा ।। २४ ।।
पुष्करिण्यामृचीकश्च भुमन्योरभवन् सुताः ।
तेषां ज्येष्ठः सुहोत्रस्तु राज्यमाप महीक्षिताम् ।। २५ ।।

भुमन्युके दिविरथ नामक पुत्र हुआ। उसके सिवा सुहोत्र, सुहोता, सुहवि, सुयजु तथा ऋचीक भी भुमन्युके ही पुत्र थे। ये सब पुष्करिणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इन सब क्षत्रियोंमें सुहोत्र ही ज्येष्ठ थे। अतः उन्हींको राज्य मिला ।। २४-२५ ।।

राजसूयाश्वमेधाद्यैः सोऽयजद् बहुभिः सवैः ।
सुहोत्रः पृथिवीं कृत्स्नां बुभुजे सागराम्बराम् ।। २६ ।।
पूर्णां हस्तिगजाश्वैश्च बहुरत्नसमाकुलाम् ।
ममज्जेव मही तस्य भूरिभारावपीडिता ।। २७ ।।
हस्त्यश्वरथसम्पूर्णा मनुष्यकलिला भृशम् ।
सुहोत्रे राजनि तदा धर्मतः शासति प्रजाः ।। २८ ।।

राजा सुहोत्रने राजसूय तथा अश्वमेध आदि अनेक यज्ञोंद्वारा यजन किया और समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वीका, जो हाथी-घोड़ोंसे परिपूर्ण तथा अनेक प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न थी, उपभोग किया। जब राजा सुहोत्र धर्मपूर्वक प्रजाका शासन कर रहे थे, उस समय सारी पृथ्वी हाथी, घोड़ों, रथ और मनुष्योंसे खचाखच भरी थी। उन पशु आदिके भारी भारसे पीड़ित होकर राजा सुहोत्रके शासनकालकी पृथ्वी मानो नीचे धँसी जाती थी ।। २६—२८ ।।

चैत्ययूपाङ्किता चासीद् भूमिः शतसहस्रशः ।
प्रवृद्धजनसस्या च सर्वदैव व्यरोचत ।। २९ ।।

उनके राज्यकी भूमि लाखों चैत्यों (देव-मन्दिरों) और यज्ञयूपोंसे चिह्नित दिखायी देती थी। सब लोग हृष्ट-पुष्ट होते थे। खेतीकी उपज अधिक हुआ करती थी। इस प्रकार उस राज्यकी पृथ्वी सदा ही अपने वैभवसे सुशोभित होती थी ।। २९ ।।

ऐक्ष्वाकी जनयामास सुहोत्रात् पृथिवीपतेः ।
अजमीढं सुमीढं च पुरुमीढं च भारत ।। ३० ।।

भारत! राजा सुहोत्रसे ऐक्ष्वाकीने अजमीढ, सुमीढ तथा पुरुमीढ नामक तीन पुत्रोंको जन्म दिया ।। ३० ।।

अजमीढो वरस्तेषां तस्मिन् वंशः प्रतिष्ठितः ।
षट् पुत्रान् सोऽप्यजनयत् तिसृषु स्त्रीषु भारत ।। ३१ ।।

उनमें अजमीढ ज्येष्ठ थे। उन्हींपर वंशकी मर्यादा टिकी हुई थी। जनमेजय! उन्होंने भी तीन स्त्रियोंके गर्भसे छः पुत्रोंको उत्पन्न किया ।। ३१ ।।

ऋक्षं धूमिन्यथो नीली दुष्यन्तपरमेष्ठिनौ ।
केशिन्यजनयज्जह्नुं सुतौ व्रजनरूपिणौ ।। ३२ ।।

उनकी धूमिनी नामवाली स्त्रीने ऋक्षको, नीलीने दुष्यन्त और परमेष्ठीको तथा केशिनीने जह्नु, व्रजन तथा रूपिण इन तीन पुत्रोंको जन्म दिया ।। ३२ ।।

तथेमे सर्वपञ्चाला दुष्यन्तपरमेष्ठिनोः ।
अन्वयाः कुशिका राजन् जह्नोरमिततेजसः ।। ३३ ।।

इनमें दुष्यन्त और परमेष्ठीके सभी पुत्र पांचाल कहलाये। राजन्! अमिततेजस्वी जह्नुके वंशज कुशिक नामसे प्रसिद्ध हुए ।। ३३ ।।

व्रजनरूपिणयोर्ज्येष्ठमृक्षमाहुर्जनाधिपम् ।
ऋक्षात् संवरणो जज्ञे राजन् वंशकरः सुतः ।। ३४ ।।

व्रजन तथा रूपिणके ज्येष्ठ भाई ऋक्षको राजा कहा गया है। ऋक्षसे संवरणका जन्म हुआ। राजन्! वे वंशकी वृद्धि करनेवाले पुत्र थे ।। ३४ ।।

आर्क्षे संवरणे राजन् प्रशासति वसुंधराम् ।
संक्षयः सुमहानासीत् प्रजानामिति नः श्रुतम् ।। ३५ ।।

जनमेजय! ऋक्षपुत्र संवरण जब इस पृथ्वीका शासन कर रहे थे, उस समय प्रजाका बहुत बड़ा संहार हुआ था, ऐसा हमने सुना है ।। ३५ ।।

व्यशीर्यत ततो राष्ट्रं क्षयैर्नानाविधैस्तदा ।
क्षुन्मृत्युभ्यामनावृष्ट्या व्याधिभिश्च समाहतम् ।। ३६ ।।

इस तरह नाना प्रकारसे क्षय होनेके कारण वह सारा राज्य नष्ट-सा हो गया। सबको भूख, मृत्यु, अनावृष्टि और व्याधि आदिके कष्ट सताने लगे ।। ३६ ।।

अभ्यघ्नन् भारतांश्चैव सपत्नानां बलानि च ।
चालयन् वसुधां चेमां बलेन चतुरङ्गिणा ।। ३७ ।।
अभ्ययात् तं च पाञ्चाल्यो विजित्य तरसा महीम् ।
अक्षौहिणीभिर्दशभिः स एनं समरेऽजयत् ।। ३८ ।।

शत्रुओंकी सेनाएँ भरतवंशी योद्धाओंका नाश करने लगीं। पांचालनरेशने इस पृथ्वीको कम्पित करते हुए चतुरंगिणी सेनाके साथ संवरणपर आक्रमण किया और उनकी सारी भूमि वेगपूर्वक जीतकर दस अक्षौहिणी सेनाओंद्वारा संवरणको भी युद्धमें परास्त कर दिया ।। ३७-३८ ।।

ततः सदारः सामात्यः सपुत्रः ससुहृज्जनः ।
राजा संवरणस्तस्मात् पलायत महाभयात् ।। ३९ ।।

तदनन्तर स्त्री, पुत्र, सुहृद् और मन्त्रियोंके साथ राजा संवरण महान् भयके कारण वहाँसे भाग चले ।। ३९ ।।

सिन्धोर्नदस्य महतो निकुञ्जे न्यवसत् तदा ।
नदीविषयपर्यन्ते पर्वतस्य समीपतः ।। ४० ।।

उस समय उन्होंने सिंधु नामक महानदके तटवर्ती निकुंजमें, जो एक पर्वतके समीपसे लेकर नदीके तटतक फैला हुआ था, निवास किया ।। ४० ।।

तत्रावसन् बहून् कालान् भारता दुर्गमाश्रिताः ।
तेषां निवसतां तत्र सहस्रं परिवत्सरान् ।। ४१ ।।

वहाँ उस दुर्गका आश्रय लेकर भरतवंशी क्षत्रिय बहुत वर्षोंतक टिके रहे। उन सबको वहाँ रहते हुए एक हजार वर्ष बीत गये ।। ४१ ।।

अथाभ्यगच्छद् भरतान् वसिष्ठो भगवानृषिः ।
तमागतं प्रयत्नेन प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ।। ४२ ।।
अर्घ्यमभ्याहरंस्तस्मै ते सर्वे भारतास्तदा ।
निवेद्य सर्वमृषये सत्कारेण सुवर्चसे ।। ४३ ।।
तमासने चोपविष्टं राजा वव्रे स्वयं तदा ।
पुरोहितो भवान् नोऽस्तु राज्याय प्रयतेमहि ।। ४४ ।।

इसी समय उनके पास भगवान् महर्षि वसिष्ठ आये। उन्हें आया देख भरतवंशियोंने प्रयत्नपूर्वक उनकी अगवानी की और प्रणाम करके सबने उनके लिये अर्घ्य अर्पण किया। फिर उन तेजस्वी महर्षिको सत्कारपूर्वक अपना सर्वस्व समर्पण करके उत्तम आसनपर बिठाकर राजाने स्वयं उनका वरण करते हुए कहा—‘भगवन्! हम पुनः राज्यके लिये प्रयत्न कर रहे हैं। आप हमारे पुरोहित हो जाइये’ ।। ४२—४४ ।।

ओमित्येवं वसिष्ठोऽपि भारतान् प्रत्यपद्यत ।
अथाभ्यषिञ्चत् साम्राज्ये सर्वक्षत्रस्य पौरवम् ।। ४५ ।।
विषाणभूतं सर्वस्यां पृथिव्यामिति नः श्रुतम् ।
भरताध्युषितं पूर्वं सोऽध्यतिष्ठत् पुरोत्तमम् ।। ४६ ।।

तब ‘बहुत अच्छा’ कहकर वसिष्ठजीने भी भरतवंशियोंको अपनाया और समस्त भूमण्डलमें उत्कृष्ट पूरुवंशी संवरणको समस्त क्षत्रियोंके सम्राट्-पदपर अभिषिक्त कर दिया, ऐसा हमारे सुननेमें आया है। तत्पश्चात् महाराज संवरण, जहाँ प्राचीन भरतवंशी राजा रहते थे, उस श्रेष्ठ नगरमें निवास करने लगे ।। ४५-४६ ।।

पुनर्बलिभृतश्चैव चक्रे सर्वमहीक्षितः ।
ततः स पृथिवीं प्राप्य पुनरीजे महाबलः ।। ४७ ।।
आजमीढो महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
ततः संवरणात् सौरी तपती सुषुवे कुरुम् ।। ४८ ।।

फिर उन्होंने सब राजाओंको जीतकर उन्हें करद बना लिया। तदनन्तर वे महाबली नरेश अजमीढवंशी संवरण पुनः पृथ्वीका राज्य पाकर बहुत दक्षिणावाले बहुसंख्यक महायज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करने लगे। कुछ कालके पश्चात् सूर्यकन्या तपतीने संवरणके वीर्यसे कुरु नामक पुत्रको जन्म दिया ।। ४७-४८ ।।

राजत्वे तं प्रजाः सर्वा धर्मज्ञ इति वव्रिरे ।
तस्य नाम्नाभिविख्यातं पृथिव्यां कुरुजाङ्गलम् ।। ४९ ।।

कुरुको धर्मज्ञ मानकर सम्पूर्ण प्रजावर्गके लोगोंने स्वयं उनका राजाके पदपर वरण किया। उन्हींके नामसे पृथ्वीपर कुरुजांगलदेश प्रसिद्ध हुआ ।। ४९ ।।

कुरुक्षेत्रं स तपसा पुण्यं चक्रे महातपाः ।
अश्ववन्तमभिष्यन्तं तथा चैत्ररथं मुनिम् ।। ५० ।।
जनमेजयं च विख्यातं पुत्रांश्चास्यानुशुश्रुम ।
पञ्चैतान् वाहिनी पुत्रान् व्यजायत मनस्विनी ।। ५१ ।।

उन महातपस्वी कुरुने अपनी तपस्याके बलसे कुरुक्षेत्रको पवित्र बना दिया। उनके पाँच पुत्र सुने गये हैं—अश्ववान्, अभिष्यन्त, चैत्ररथ, मुनि तथा सुप्रसिद्ध जनमेजय। इन पाँचों पुत्रोंको उनकी मनस्विनी पत्नी वाहिनीने जन्म दिया था ।। ५०-५१ ।।

अविक्षितः परिक्षित् तु शबलाश्वस्तु वीर्यवान् ।
आदिराजो विराजश्च शाल्मलिश्च महाबलः ।। ५२ ।।
उच्चैःश्रवा भङ्गकारो जितारिश्चाष्टमः स्मृतः ।
एतेषामन्ववाये तु ख्यातास्ते कर्मजैर्गुणैः ।
जनमेजयादयः सप्त तथैवान्ये महारथाः ।। ५३ ।।

अश्ववान्‌का दूसरा नाम अविक्षित् था। उसके आठ पुत्र हुए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—परिक्षित्, पराक्रमी शबलाश्व, आदिराज, विराज, महाबली शाल्मलि, उच्चैःश्रवा, भंगकार तथा आठवाँ जितारि। इनके वंशमें जनमेजय आदि अन्य सात महारथी भी हुए, जो अपने कर्मजनित गुणोंसे प्रसिद्ध हैं ।। ५२-५३ ।।

परिक्षितोऽभवन् पुत्राः सर्वे धर्मार्थकोविदाः ।
कक्षसेनोग्रसेनौ तु चित्रसेनश्च वीर्यवान् ।। ५४ ।।
इन्द्रसेनः सुषेणश्च भीमसेनश्च नामतः ।
जनमेजयस्य तनया भुवि ख्याता महाबलाः ।। ५५ ।।
धृतराष्ट्रः प्रथमजः पाण्डुर्बाह्लीक एव च ।
निषधश्च महातेजास्तथा जाम्बूनदो बली ।। ५६ ।।
कुण्डोदरः पदातिश्च वसातिश्चाष्टमः स्मृतः ।
सर्वे धर्मार्थकुशलाः सर्वभूतहिते रताः ।। ५७ ।।

परिक्षित्‌के सभी पुत्र धर्म और अर्थके ज्ञाता थे; जिनके नाम इस प्रकार हैं—कक्षसेन, उग्रसेन, पराक्रमी, चित्रसेन, इन्द्रसेन, सुषेण और भीमसेन। जनमेजयके महाबली पुत्र भूमण्डलमें विख्यात थे। उनमें प्रथम पुत्रका नाम धृतराष्ट्र था। उनसे छोटे क्रमशः पाण्डु, बाह्लीक, महातेजस्वी निषध, बलवान् जाम्बूनद, कुण्डोदर, पदाति तथा वसाति थे। इनमें वसाति आठवाँ था। ये सभी धर्म और अर्थमें कुशल तथा समस्त प्राणियोंके हितमें संलग्न रहनेवाले थे ।। ५४—५७ ।।

धृतराष्ट्रोऽथ राजाऽऽसीत् तस्य पुत्रोऽथ कुण्डिकः ।
हस्ती वितर्कः क्राथश्च कुण्डिनश्चापि पञ्चमः ।। ५८ ।।
हविःश्रवास्तथेन्द्राभो भुमन्युश्चापराजितः ।
धृतराष्ट्रसुतानां तु त्रीनेतान् प्रथितान् भुवि ।। ५९ ।।
प्रतीपं धर्मनेत्रं च सुनेत्रं चापि भारत ।
प्रतीपः प्रथितस्तेषां बभूवाप्रतिमो भुवि ।। ६० ।।

इनमें धृतराष्ट्र राजा हुए। उनके पुत्र कुण्डिक, हस्ती, वितर्क, क्राथ, कुण्डिन, हविःश्रवा, इन्द्राभ, भुमन्यु और अपराजित थे। भारत! इनके सिवा प्रतीप, धर्मनेत्र और सुनेत्र—ये तीन पुत्र और थे। धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें ये ही तीन इस भूतलपर अधिक विख्यात थे। इनमें भी प्रतीपकी प्रसिद्धि अधिक थी। भूमण्डलमें उनकी समानता करनेवाला कोई नहीं था ।। ५८—६० ।।

प्रतीपस्य त्रयः पुत्रा जज्ञिरे भरतर्षभ ।
देवापिः शान्तनुश्चैव बाह्लीकश्च महारथः ।। ६१ ।।
देवापिश्च प्रवव्राज तेषां धर्महितेप्सया ।
शान्तनुश्च महीं लेभे बाह्लीकश्च महारथः ।। ६२ ।।

भरतश्रेष्ठ! प्रतीपके तीन पुत्र हुए—देवापि, शान्तनु और महारथी बाह्लीक। इनमेंसे देवापि धर्माचरणद्वारा कल्याण-प्राप्तिकी इच्छासे वनको चले गये, इसलिये शान्तनु एवं महारथी बाह्लीकने इस पृथ्वीका राज्य प्राप्त किया ।। ६१-६२ ।।

भरतस्यान्वये जाताः सत्त्ववन्तो नराधिपाः ।
देवर्षिकल्पा नृपते बहवो राजसत्तमाः ।। ६३ ।।

राजन्! भरतके वंशमें सभी नरेश धैर्यवान् एवं शक्तिशाली थे। उस वंशमें बहुत-से श्रेष्ठ नृपतिगण देवर्षियोंके समान थे ।। ६३ ।।

एवंविधाश्चाप्यपरे देवकल्पा महारथाः ।
जाता मनोरन्ववाये ऐलवंशविवर्धनाः ।। ६४ ।।

ऐसे ही और भी कितने ही देवतुल्य महारथी मनुवंशमें उत्पन्न हुए थे, जो महाराज पुरूरवाके वंशकी वृद्धि करनेवाले थे ।। ६४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पूरुवंशानुकीर्तने चतुर्नवतितमोऽध्यायः ।। ९४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पूरुवंशवर्णनविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९४ ।।

---

* ऋचेयु, अन्वग्भानु और अनाधृष्टि एक ही व्यक्तिके नाम हैं।

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

दक्ष प्रजापतिसे लेकर पूरुवंश, भरतवंश एवं पाण्डुवंशकी परम्पराका वर्णन

जनमेजय उवाच

श्रुतस्त्वत्तो मया ब्रह्मन् पूर्वेषां सम्भवो महान् ।
उदाराश्चापि वंशेऽस्मिन् राजानो मे परिश्रुताः ।। १ ।।

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! मैंने आपके मुखसे पूर्ववर्ती राजाओंकी उत्पत्तिका महान् वृत्तान्त सुना। इस पूरुवंशमें उत्पन्न हुए उदार राजाओंके नाम भी मैंने भलीभाँति सुन लिये ।। १ ।।

किंतु लघ्वर्थसंयुक्तं प्रियाख्यानं न मामति ।
प्रीणात्यतो भवान् भूयो विस्तरेण ब्रवीतु मे ।। २ ।।
एतामेव कथां दिव्यामाप्रजापतितो मनोः ।
तेषामाजननं पुण्यं कस्य न प्रीतिमावहेत् ।। ३ ।।

परंतु संक्षेपसे कहा हुआ यह प्रिय आख्यान सुनकर मुझे पूर्णतः तृप्ति नहीं हो रही है। अतः आप पुनः विस्तारपूर्वक मुझसे इसी दिव्य कथाका वर्णन कीजिये। दक्ष प्रजापति और मनुसे लेकर उन सब राजाओंका पवित्र जन्म-प्रसंग किसको प्रसन्न नहीं करेगा? ।। २-३ ।।

सद्धर्मगुणमाहात्म्यैरभिवर्धितमुत्तमम् ।
विष्टभ्य लोकांस्त्रीनेषां यशः स्फीतमवस्थितम् ।। ४ ।।

उत्तम धर्म और गुणोंके माहात्म्यसे अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हुआ इन राजाओंका श्रेष्ठ और उज्ज्वल यश तीनों लोकोंमें व्याप्त हो रहा है ।। ४ ।।

गुणप्रभाववीर्यौजःसत्त्वोत्साहवतामहम् ।
न तृप्यामि कथां शृण्वन्नमृतास्वादसम्मिताम् ।। ५ ।।

ये सभी नरेश उत्तम गुण, प्रभाव, बल-पराक्रम, ओज, सत्त्व (धैर्य) और उत्साहसे सम्पन्न थे। इनकी कथा अमृतके समान मधुर है, उसे सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् पुरा सम्यङ्मया द्वैपायनाच्छ्रुतम् ।
प्रोच्यमानमिदं कृत्स्नं स्ववंशजननं शुभम् ।। ६ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पूर्वकालमें मैंने महर्षि कृष्णद्वैपायनके मुखसे जिसका भलीभाँति श्रवण किया था, वह सम्पूर्ण प्रसंग तुम्हें सुनाता हूँ। अपने वंशकी

उत्पत्तिका वह शुभ वृत्तान्त सुनो ।। ६ ।।

दक्षाददितिरदितेर्विवस्वान् विवस्वतो मनुर्मनो-रिला इलायाः पुरूरवाः पुरूरवस आयुरायुषो नहुषो नहुषाद् ययातिः; ययातेर्द्वे भार्ये बभूवतुः ।। ७ ।।

उशनसो दुहिता देवयानी; वृषपर्वणश्च दुहिता शर्मिष्ठा नाम ।। ८ ।।

दक्षसे अदिति, अदितिसे विवस्वान् (सूर्य), विवस्वान्से मनु, मनुसे इला, इलासे पुरूरवा, पुरूरवासे आयु, आयुसे नहुष और नहुषसे ययातिका जन्म हुआ। ययातिकी दो पत्नियाँ थीं पहली शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानी तथा दूसरी वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा ।। ८ ।।

अत्रानुवंशश्लोको भवति—

यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत ।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।। ९ ।।

यहाँ उनके वंशका परिचय देनेवाला यह श्लोक कहा जाता है—

देवयानीने यदु और तुर्वसु नामवाले दो पुत्रोंको जन्म दिया और वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने द्रुह्यु, अनु तथा पूरु—ये तीन पुत्र उत्पन्न किये ।। ९ ।।

तत्र यदोर्यादवाः; पूरोः पौरवाः ।। १० ।।

इनमें यदुसे यादव और पूरुसे पौरव हुए ।। १० ।।

पूरोस्तु भार्या कौसल्या नाम । तस्यामस्य जज्ञे जनमेजयो नाम; यस्त्रीनश्वमेधानाजहार, विश्वजिता चेष्ट्वा वनं विवेश ।। ११ ।।

पूरुकी पत्नीका नाम कौसल्या था (उसीको पौष्टी भी कहते हैं)। उसके गर्भसे पूरुके जनमेजय नामक पुत्र हुआ (इसीका दूसरा नाम प्रवीर है); जिसने तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया था और विश्वजित् यज्ञ करके वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया था ।। ११ ।।

जनमेजयः खल्वनन्तां नामोपयेमे माधवीम् । तस्यामस्य जज्ञे प्राचिन्वान्; यः प्राचीं दिशं जिगाय यावत् सूर्योदयात्, ततस्तस्य प्राचिन्वत्त्वम् ।। १२ ।।

जनमेजयने मधुवंशकी कन्या अनन्ताके साथ विवाह किया था। उसके गर्भसे उनके प्राचिन्वान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने उदयाचलसे लेकर सारी प्राची दिशाको एक ही दिनमें जीत लिया था; इसीलिये उसका नाम प्राचिन्वान् हुआ ।। १२ ।।

प्राचिन्वान् खल्वश्मकीमुपयेमे यादवीम् । तस्यामस्य जज्ञे संयातिः ।। १३ ।।

प्राचिन्वान्ने यदुकुलकी कन्या अश्मकीको अपनी पत्नी बनाया। उसके गर्भसे उन्हें संयाति नामक पुत्र प्राप्त हुआ ।। १३ ।।

संयातिः खलु दृषद्वतो दुहितरं वराङ्गीं नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे अहंयातिः ।। १४ ।।

संयातिने दृषद्वान्की पुत्री वरांगीसे विवाह किया। उसके गर्भसे उन्हें अहंयाति नामक पुत्र हुआ ।। १४ ।।

अहंयातिः खलु कृतवीर्यदुहितरमुपयेमे भानुमतीं नाम । तस्यामस्य जज्ञे सार्वभौमः ।। १५ ।।

अहंयातिने कृतवीर्यकुमारी भानुमतीको अपनी पत्नी बनाया। उसके गर्भसे अहंयातिके सार्वभौम नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ।। १५ ।।

सार्वभौमः खलु जित्वा जहार कैकेयीं सुनन्दां नाम । तामुपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे जयत्सेनो नाम ।। १६ ।।

सार्वभौमने युद्धमें जीतकर केकयकुमारी सुनन्दाका अपहरण किया और उसीको अपनी पत्नी बनाया। उससे उनको जयत्सेन नामक पुत्र प्राप्त हुआ ।। १६ ।।

जयत्सेनो खलु वैदर्भीमुपयेमे सुश्रवां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अवाचीनः ।। १७ ।।

जयत्सेनने विदर्भराजकुमारी सुश्रवासे विवाह किया। उसके गर्भसे उनके अवाचीन नामक पुत्र हुआ ।। १७ ।।

अवाचीनोऽपि वैदर्भीमपरामेवोपयेमे मर्यादां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अरिहः ।। १८ ।।

अवाचीनने भी विदर्भराजकुमारी मर्यादाके साथ विवाह किया, जो आगे बतायी जानेवाली देवातिथिकी पत्नीसे भिन्न थी। उसके गर्भसे उन्हें 'अरिह' नामक पुत्र हुआ ।। १८ ।।

अरिहः खल्वाङ्गीमुपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे महाभौमः ।। १९ ।।

अरिहने अंगदेशकी राजकुमारीसे विवाह किया और उसके गर्भसे उन्हें महाभौम नामक पुत्र प्राप्त हुआ ।। १९ ।।

महाभौमः खलु प्रासेनजितीमुपयेमे सुयज्ञा नाम । तस्यामस्य जज्ञे अयुतनायी; यः पुरुषमेधानामयुतमानयत्, तेनास्यायुतनायित्वम् ।। २० ।।

महाभौमने प्रसेनजित्‌की पुत्री सुयज्ञासे विवाह किया। उसके गर्भसे उन्हें अयुतनायी नामक पुत्र प्राप्त हुआ; जिसने दस हजार पुरुषमेध 'यज्ञ' किये। अयुत यज्ञोंका आनयन (अनुष्ठान) करनेके कारण ही उनका नाम अयुतनायी हुआ ।। २० ।।

अयुतनायी खलु पृथुश्रवसो दुहितरमुपयेमे कामां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अक्रोधनः ।। २१ ।।

अयुतनायीने पृथुश्रवाकी पुत्री कामासे विवाह किया, जिसके गर्भसे अक्रोधनका जन्म हुआ ।। २१ ।।

स खलु कालिङ्गीं करम्भां नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे देवातिथिः ।। २२ ।।

अक्रोधनने कलिंगदेशकी राजकुमारी करम्भासे विवाह किया। जिसके गर्भसे उनके देवातिथि नामक पुत्रका जन्म हुआ ।। २२ ।।

देवातिथिः खलु वैदेहीमुपयेमे मर्यादां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अरिहो नाम ।। २३ ।।

देवातिथिने विदेहराजकुमारी मर्यादासे विवाह किया, जिसके गर्भसे अरिह नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ।। २३ ।।

अरिहः खल्वाङ्गेयीमुपयेमे सुदेवां नाम । तस्यां पुत्रमजीजनदृक्षम् ।। २४ ।।

अरिहने अंगराजकुमारी सुदेवाके साथ विवाह किया और उसके गर्भसे ऋक्ष नामक पुत्रको जन्म दिया ।। २४ ।।

ऋक्षः खलु तक्षकदुहितरमुपयेमे ज्वालां नाम । तस्यां पुत्रं मतिनारं नामोत्पादयामास ।। २५ ।।

ऋक्षने तक्षककी पुत्री ज्वालाके साथ विवाह किया और उसके गर्भसे मतिनार नामक पुत्रको उत्पन्न किया ।। २५ ।।

मतिनारः खलु सरस्वत्यां गुणसमन्वितं द्वादशवार्षिकं सत्रमाहरत् । समाप्ते च सत्रे सरस्वत्य-भिगम्य तं भर्तारं वरयामास । तस्यां पुत्रमजीजनत् तंसुं नाम ।। २६ ।।

मतिनारने सरस्वतीके तटपर उत्तम गुणोंसे युक्त द्वादशवार्षिक यज्ञका अनुष्ठान किया। उसके समाप्त होनेपर सरस्वतीने उनके पास आकर उन्हें पतिरूपमें वरण किया। मतिनारने उसके गर्भसे तंसु नामक पुत्र उत्पन्न किया ।। २६ ।।

अत्रानुवंशश्लोको भवति—

तंसुं सरस्वती पुत्रं मतिनारादजीजनत् ।
ईलिनं जनयामास कालिंग्यां तंसुरात्मजम् ।। २७ ।।

यहाँ वंशपरम्पराका सूचक श्लोक इस प्रकार है—

सरस्वतीने मतिनारसे तंसु नामक पुत्र उत्पन्न किया और तंसुने कलिंगराजकुमारीके गर्भसे ईलिन नामक पुत्रको जन्म दिया ।। २७ ।।

ईलिनस्तु रथन्तर्यां दुष्यन्ताद्यान् पञ्च पुत्रानजीजनत् ।। २८ ।।

ईलिनने रथन्तरीके गर्भसे दुष्यन्त आदि पाँच पुत्र उत्पन्न किये ।। २८ ।।

दुष्यन्तः खलु विश्वामित्रदुहितरं शकुन्तलां नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे भरतः ।। २९ ।।

दुष्यन्तने विश्वामित्रकी पुत्री शकुन्तलाके साथ विवाह किया; जिसके गर्भसे उनके पुत्र भरतका जन्म हुआ ।। २९ ।।

अत्रानुवंशश्लोकौ भवतः—

भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ।
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ।। ३० ।।

यहाँ वंशपरम्पराके सूचक दो श्लोक हैं—

‘माता तो भाथी (धौंकनी)-के समान है। वास्तवमें पुत्र पिताका ही होता है; जिससे उसका जन्म होता है, वही उस बालकके रूपमें प्रकट होता है। दुष्यन्त! तुम अपने पुत्रका भरण-पोषण करो; शकुन्तलाका अपमान न करो ।। ३० ।।

रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात् ।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ।। ३१ ।।

'गर्भाधान करनेवाला पिता ही पुत्ररूपमें उत्पन्न होता है। नरदेव! पुत्र यमलोकसे पिताका उद्धार कर देता है। तुम्हीं इस गर्भके आधान करनेवाले हो। शकुन्तलाका कथन सत्य है' ।। ३१ ।।

ततोऽस्य भरतत्वम् । भरतः खलु काशेयीमुपयेमे सार्वसेनीं सुनन्दां नाम । तस्यामस्य जज्ञे भुमन्युः ।। ३२ ।।

आकाशवाणीने भरण-पोषणके लिये कहा था, इसलिये उस बालकका नाम भरत हुआ। भरतने राजा सर्वसेनकी पुत्री सुनन्दासे विवाह किया। वह काशीकी राजकुमारी थी। उसके गर्भसे भरतके भुमन्यु नामक पुत्र हुआ ।। ३२ ।।

भुमन्युः खलु दाशार्हीमुपयेमे विजयां नाम । तस्यामस्य जज्ञे सुहोत्रः ।। ३३ ।।

भुमन्युने दशार्हकन्या विजयासे विवाह किया; जिसके गर्भसे सुहोत्रका जन्म हुआ ।। ३३ ।।

सुहोत्रः खल्विक्ष्वाकुकन्यामुपयेमे सुवर्णां नाम । तस्यामस्य जज्ञे हस्ती; य इदं हास्तिनपुरं स्थापयामास । एतदस्य हास्तिनपुरत्वम् ।। ३४ ।।

सुहोत्रने इक्ष्वाकुकुलकी कन्या सुवर्णासे विवाह किया। उसके गर्भसे उन्हें हस्ती नामक पुत्र हुआ; जिसने यह हस्तिनापुर नामक नगर बसाया था। हस्तीके बसानेसे ही यह नगर 'हास्तिनपुर' कहलाया ।। ३४ ।।

हस्ती खलु त्रैगर्तीमुपयेमे यशोधरां नाम । तस्यामस्य जज्ञे विकुण्ठनो नाम ।। ३५ ।।

हस्तीने त्रिगर्तराजकी पुत्री यशोधराके साथ विवाह किया और उसके गर्भसे विकुण्ठन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ।। ३५ ।।

विकुण्ठनः खलु दाशार्हीमुपयेमे सुदेवां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अजमीढो नाम ।। ३६ ।।

विकुण्ठनने दशार्हकुलकी कन्या सुदेवासे विवाह किया और उसके गर्भसे उन्हें अजमीढ नामक पुत्र प्राप्त हुआ ।। ३६ ।।

अजमीढस्य चतुर्विंशं पुत्रशतं बभूव कैकेय्यां गान्धार्यां विशालायामृक्षायां चेति । पृथक् पृथक् वंशधरा नृपतयः । तत्र वंशकरः संवरणः ।। ३७ ।।

अजमीढके कैकेयी, गान्धारी, विशाला तथा ऋक्षासे एक सौ चौबीस पुत्र हुए। वे सब पृथक्-पृथक् वंशप्रवर्तक राजा हुए। इनमें राजा संवरण कुरुवंशके प्रवर्तक हुए ।। ३७ ।।

संवरणः खलु वैवस्वतीं तपतीं नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे कुरुः ।। ३८ ।।

संवरणने सूर्यकन्या तपतीसे विवाह किया; जिसके गर्भसे कुरुका जन्म हुआ ।। ३८ ।।

कुरुः खलु दाशार्हीमुपयेमे शुभाङ्गीं नाम । तस्यामस्य जज्ञे विदूरः ।। ३९ ।।

कुरुने दशार्हकुलकी कन्या शुभांगीसे विवाह किया। उसके गर्भसे विदूर नामक पुत्र हुआ ।। ३९ ।।

विदूरस्तु माधवीमुपयेमे सम्प्रियां नाम । तस्या-मस्य जज्ञे अनश्वा नाम ।। ४० ।।

विदूरने मधुवंशकी कन्या सम्प्रियासे विवाह किया; जिसके गर्भसे अनश्वा नामक पुत्र प्राप्त हुआ ।। ४० ।।

अनश्वा खलु मागधीमुपयेमे अमृतां नाम । तस्यामस्य जज्ञे परिक्षित् ।। ४१ ।।

अनश्वाने मगधराजकुमारी अमृताको अपनी पत्नी बनाया। उसके गर्भसे परिक्षित् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ।। ४१ ।।

परिक्षित् खलु बाहुदामुपयेमे सुयशां नाम । तस्यामस्य जज्ञे भीमसेनः ।। ४२ ।।

परिक्षित्ने बाहुदराजकी पुत्री सुयशाके साथ विवाह किया; जिसके गर्भसे भीमसेन नामक पुत्र हुआ ।। ४२ ।।

भीमसेनः खलु कैकेयीमुपयेमे कुमारीं नाम । तस्यामस्य जज्ञे प्रतिश्रवा नाम ।। ४३ ।।

भीमसेनने केकयदेशकी राजकुमारी कुमारीको अपनी पत्नी बनाया; जिसके गर्भसे प्रतिश्रवाका जन्म हुआ ।। ४३ ।।

प्रतिश्रवसः प्रतीपः खलु । शैब्यामुपयेमे सुनन्दां नाम । तस्यां पुत्रानुत्पादयामास देवापिं शान्तनुं बाह्लीकं चेति ।। ४४ ।।

प्रतिश्रवासे प्रतीप उत्पन्न हुआ। उसने शिबि-देशकी राजकन्या सुनन्दासे विवाह किया और उसके गर्भसे देवापि, शान्तनु तथा बाह्लीक—इन तीन पुत्रोंको जन्म दिया ।। ४४ ।।

देवापिः खलु बाल एवारण्यं विवेश । शान्तनुस्तु महीपालो बभूव ।। ४५ ।।

देवापि बाल्यावस्थामें ही वनको चले गये, अतः शान्तनु राजा हुए ।। ४५ ।।

अत्रानुवंशश्लोको भवति—

यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं स सुखमश्नुते । पुनर्युवा च भवति तस्मात् तं शान्तनुं विदुः ।। इति तदस्य शान्तनुत्वम् ।। ४६ ।।

शान्तनुके विषयमें यह अनुवंशश्लोक उपलब्ध होता है—

वे जिस-जिस बूढ़ेको अपने दोनों हाथोंसे छू देते थे, वह बड़े सुख और शान्तिका अनुभव करता था तथा पुनः नौजवान हो जाता था। इसीलिये लोग उन्हें शान्तनुके रूपमें जानने लगे। यही उनके शान्तनु नाम पड़नेका कारण हुआ ।। ४६ ।।

शान्तनुः खलु गङ्गां भागीरथीमुपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे देवव्रतो नामः यमाहुर्भीष्ममिति ।। ४७ ।।

शान्तनुने भागीरथी गंगाको अपनी पत्नी बनाया; जिसके गर्भसे उन्हें देवव्रत नामक पुत्र प्राप्त हुआ, जिसे लोग ‘भीष्म’ कहते हैं ।। ४७ ।।

भीष्मः खलु पितुः प्रियचिकीर्षया सत्यवतीं मातरमुदवाहयत्; यामाहुर्गन्धकालीति ।। ४८ ।।

भीष्मने अपने पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे उनके साथ माता सत्यवतीका विवाह कराया; जिसे गन्धकाली भी कहते हैं ।। ४८ ।।

तस्यां पूर्वं कानीनो गर्भः पराशराद् द्वैपायनोऽभवत् । तस्यामेव शान्तनोरन्यौ द्वौ पुत्रौ बभूवतुः ।। ४९ ।।

सत्यवतीके गर्भसे पहले कन्यावस्थामें महर्षि पराशरसे द्वैपायन व्यास उत्पन्न हुए थे। फिर उसी सत्यवतीके राजा शान्तनुद्वारा दो पुत्र और हुए ।। ४९ ।।

विचित्रवीर्यश्चित्राङ्गदश्च । तयोरप्राप्तयौवन एव चित्राङ्गदो गन्धर्वेण हतः; विचित्रवीर्यस्तु राजाऽऽसीत् ।। ५० ।।

जिनका नाम था, विचित्रवीर्य और चित्रांगद। उनमेंसे चित्रांगद युवावस्थामें पदार्पण करनेसे पहले ही एक गन्धर्वके द्वारा मारे गये; परंतु विचित्रवीर्य राजा हुए ।। ५० ।।

विचित्रवीर्यः खलु कौसल्यात्मजे अम्बिकाम्बालिके काशिराजदुहितरावुपयेमे ।। ५१ ।।

विचित्रवीर्यने अम्बिका और अम्बालिकासे विवाह किया। वे दोनों काशिराजकी पुत्रियाँ थीं और उनकी माताका नाम कौसल्या था ।। ५१ ।।

विचित्रवीर्यस्त्वनपत्य एव विदेहत्वं प्राप्तः । ततः सत्यवत्यचिन्तयन्मा दौष्यन्तो वंश उच्छेदं व्रजेदिति ।। ५२ ।।

विचित्रवीर्यके अभी कोई संतान नहीं हुई थी, तभी उनका देहावसान हो गया। तब सत्यवतीको यह चिन्ता हुई कि 'राजा दुष्यन्तका यह वंश नष्ट न हो जाय' ।। ५२ ।।

सा द्वैपायनमृषिं मनसा चिन्तयामास । स तस्याः पुरतः स्थितः, किं करवाणीति ।। ५३ ।।

उसने मन-ही-मन द्वैपायन महर्षि व्यासका चिन्तन किया। फिर तो व्यासजी उसके आगे प्रकट हो गये और बोले—'क्या आज्ञा है?' ।। ५३ ।।

सा तमुवाच—भ्राता तवानपत्य एव स्वर्यातो विचित्रवीर्यः । साध्वपत्यं तस्योत्पादयेति ।। ५४ ।।

सत्यवतीने उनसे कहा—'बेटा! तुम्हारे भाई विचित्रवीर्य संतानहीन अवस्थामें ही स्वर्गवासी हो गये। अतः उनके वंशकी रक्षाके लिये उत्तम संतान उत्पन्न करो' ।। ५४ ।।

स तथेत्युक्त्वा त्रीन् पुत्रानुत्पादयामास; धृतराष्ट्रं पाण्डुं विदुरं चेति ।। ५५ ।।

उन्होंने 'तथास्तु' कहकर धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर—इन तीन पुत्रोंको उत्पन्न किया ।। ५५ ।।

तत्र धृतराष्ट्रस्य राज्ञः पुत्रशतं बभूव गान्धार्यां वरदानाद् द्वैपायनस्य ।। ५६ ।।

उनमेंसे राजा धृतराष्ट्रके गान्धारीके गर्भसे व्यासजीके दिये हुए वरदानके प्रभावसे सौ पुत्र हुए ।। ५६ ।।

तेषां धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां चत्वारः प्रधाना बभूवुः; दुर्योधनो दुःशासनो विकर्णश्चित्रसेनश्चेति ।। ५७ ।।

धृतराष्ट्रके उन सौ पुत्रोंमें चार प्रधान थे—दुर्योधन, दुःशासन, विकर्ण और चित्रसेन ।। ५७ ।।

पाण्डोस्तु द्वे भार्ये बभूवतुः कुन्ती पृथा नाम माद्री च इत्युभे स्त्रीरत्ने ।। ५८ ।।

पाण्डुकी दो पत्नियाँ थीं; कुन्तिभोजकी कन्या पृथा और माद्री। ये दोनों ही स्त्रियोंमें रत्नस्वरूपा थीं ।। ५८ ।।

अथ पाण्डुर्मृगयां चरन् मैथुनगतमृषिमपश्यन्मृग्यां वर्तमानम् । तथैवाद्भुतमनासादितकामरसमतृप्तं च बाणेनाजघान ।। ५९ ।।

एक दिन राजा पाण्डुने शिकार खेलते समय एक मृगरूपधारी ऋषिको मृगीरूपधारिणी अपनी पत्नीके साथ मैथुन करते देखा। वह अद्भुत मृग अभी काम-रसका आस्वादन नहीं कर सका था। उसे अतृप्त अवस्थामें ही राजाने बाणसे मार दिया ।। ५९ ।।

स बाणविद्ध उवाच पाण्डुम्—चरता धर्ममिमं येन त्वयाभिज्ञेन कामरसस्याहमनवाप्तकामरसो निहतस्तस्मात् त्वमप्येतामवस्थामासाद्यानवाप्तकामरसः पञ्चत्वमाप्स्यसि क्षिप्रमेवेति । स विवर्णरूपस्तथा पाण्डुः शापं परिहरमाणो नोपासर्पत भार्ये । वाक्यं चोवाच — ।। ६० ।।

बाणसे घायल होकर उस मुनिने पाण्डुसे कहा—‘राजन्! तुम भी इस मैथुन धर्मका आचरण करनेवाले तथा काम-रसके ज्ञाता हो, तो भी तुमने मुझे उस दशामें मारा है, जब कि मैं काम-रससे तृप्त नहीं हुआ था। इस कारण इसी अवस्थामें पहुँचकर काम-रसका आस्वादन करनेसे पहले ही शीघ्र मृत्युको प्राप्त हो जाओगे।’ यह सुनकर राजा पाण्डु उदास हो गये और शापका परिहार करते हुए पत्नियोंके सहवाससे दूर रहने लगे। उन्होंने कहा— ।। ६० ।।

स्वचापल्यादिदं प्राप्तवानहं शृणोमि च नानपत्यस्य लोकाः सन्तीति । सा त्वं मदर्थे पुत्रानुत्पादयेति कुन्तीमुवाच । सा तथोक्ता पुत्रानुत्पादयामास । धर्माद् युधिष्ठिरं मारुताद् भीमसेनं शक्रादर्जुनमिति ।। ६१ ।।

‘देवियो! अपनी चपलताके कारण मुझे यह शाप मिला है। सुनता हूँ, संतानहीनको पुण्यलोक नहीं प्राप्त होते हैं। अतः तुम मेरे लिये पुत्र उत्पन्न करो।’ यह बात उन्होंने कुन्तीसे कही। उनके ऐसा कहनेपर कुन्तीने तीन पुत्र उत्पन्न किये—धर्मराजसे युधिष्ठिरको, वायुदेवसे भीमसेनको और इन्द्रसे अर्जुनको जन्म दिया ।। ६१ ।।

तां संहृष्टः पाण्डुरुवाच—

इयं ते सपत्न्यनपत्या; साध्वस्या अपत्यमुत्पाद्यतामिति । एवमस्त्विति कुन्ती तां विद्यां माद्रयाः प्रायच्छत् ।। ६२ ।।

इससे पाण्डुको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने कुन्तीसे कहा—'यह तुम्हारी सौत माद्री तो संतानहीन ही रह गयी, इसके गर्भसे भी सुन्दर संतान उत्पन्न होनेकी व्यवस्था करो।' 'ऐसा ही हो' कहकर कुन्तीने अपनी वह विद्या (जिससे देवता आकृष्ट होकर चले आते थे) माद्रीको भी दे दी ।। ६२ ।।

माद्रयामश्विभ्यां नकुलसहदेवावुत्पादितौ ।। ६३ ।।

माद्रीके गर्भसे अश्विनीकुमारोंने नकुल और सहदेवको उत्पन्न किया ।। ६३ ।।

माद्रीं खल्वलंकृतां दृष्ट्वा पाण्डुर्भावं चक्रे च तां स्पृष्ट्वैव विदेहत्वं प्राप्तः ।। ६४ ।।

तत्रैनं चिताग्निस्थं माद्री समन्वारुरोह उवाच कुन्तीम्; यमयोरप्रमत्तया त्वया भवितव्यमिति ।। ६५ ।।

एक दिन माद्रीको शृंगार किये देख पाण्डु उसके प्रति आसक्त हो गये और उसका स्पर्श होते ही उनका शरीर छूट गया। तदनन्तर वहाँ चिताकी आगमें स्थित पतिके शवके साथ माद्री चितापर आरूढ़ हो गयी और कुन्तीसे बोली—'बहिन! मेरे जुड़वें बच्चोंके भी लालन-पालनमें तुम सदा सावधान रहना' ।। ६४-६५ ।।

ततस्ते पाण्डवाः कुन्त्या सहिता हास्तिनपुर-मानीय तापसैर्भीष्मस्य च विदुरस्य च निवेदिताः । सर्ववर्णानां च निवेद्यान्तर्हितास्तापसा बभूवुः प्रेक्ष्य-माणानां तेषाम् ।। ६६ ।।

इसके बाद तपस्वी मुनियोंने कुन्तीसहित पाण्डवोंको वनसे हस्तिनापुरमें लाकर भीष्म तथा विदुरजीको सौंप दिया। साथ ही समस्त प्रजावर्गके लोगोंको भी सारे समाचार बताकर वे तपस्वी उन सबके देखते-देखते वहाँसे अन्तर्धान हो गये ।। ६६ ।।

तच्च वाक्यमुपश्रुत्य भगवतामन्तरिक्षात् पुष्पवृष्टिः पपात; देवदुन्दुभयश्च प्रणेदुः ।। ६७ ।।

उन ऐश्वर्यशाली मुनियोंकी बात सुनकर आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी और देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं ।। ६७ ।।

प्रतिगृहीताश्च पाण्डवाः पितुर्निधनमावेदयन् तस्यौर्ध्वदेहिकं न्यायतश्च कृतवन्तः । तांस्तत्र निवसतः पाण्डवान् बाल्यात् प्रभृति दुर्योधनो नामर्षयत् ।। ६८ ।।

भीष्म और धृतराष्ट्रके द्वारा अपना लिये जानेपर पाण्डवोंने उनसे अपने पिताकी मृत्युका समाचार बताया, तत्पश्चात् पिताकी और्ध्वदैहिक क्रियाको विधिपूर्वक सम्पन्न करके पाण्डव वहीं रहने लगे। दुर्योधनको बाल्यावस्थासे ही पाण्डवोंका साथ रहना सहन नहीं हुआ ।। ६८ ।।

पापाचारो राक्षसीं बुद्धिमाश्रितोऽनेकैरुपायैरुद्धर्तुं च व्यवसितः; भावित्वाच्चार्थस्य न शकितास्ते समुद्धर्तुम् ।। ६९ ।।

पापाचारी दुर्योधन राक्षसी बुद्धिका आश्रय ले अनेक उपायोंसे पाण्डवोंकी जड़ उखाड़नेका प्रयत्न करता रहता था। परंतु जो होनेवाली बात है, वह होकर ही रहती है; इसलिये दुर्योधन आदि पाण्डवोंको नष्ट करनेमें सफल न हो सके ।। ६९ ।।

ततश्च धृतराष्ट्रेण व्याजेन वारणावतमनुप्रेषिता गमनमरोचयन् ।। ७० ।।

इसके बाद धृतराष्ट्रने किसी बहानेसे पाण्डवोंको जब वारणावत नगरमें जानेके लिये प्रेरित किया, तब उन्होंने वहाँसे जाना स्वीकार कर लिया ।। ७० ।।

तत्रापि जतुगृहे दग्धुं समारब्धा न शकिता विदुरमन्त्रितेनेति ।। ७१ ।।

वहाँ भी उन्हें लाक्षागृहमें जला डालनेका प्रयत्न किया गया; किंतु पाण्डवोंके विदुरजीकी सलाहके अनुसार काम करनेके कारण विरोधीलोग उनको दग्ध करनेमें समर्थ न हो सके ।। ७१ ।।

तस्माच्च हिडिम्बमन्तरा हत्वा एकचक्रां गताः ।। ७२ ।।

पाण्डव वारणावतसे अपनेको छिपाते हुए चल पड़े और मार्गमें हिडिम्ब राक्षसका वध करके वे एकचक्रा नगरीमें जा पहुँचे ।। ७२ ।।

तस्यामप्येकचक्रायां बकं नाम राक्षसं हत्वा पाञ्चालनगरमधिगताः ।। ७३ ।।

एकचक्रामें भी बक नामवाले राक्षसका संहार करके वे पांचाल नगरमें चले गये ।। ७३ ।।

तत्र द्रौपदीं भार्यामविन्दन्, स्वविषयं चाभिजग्मुः ।। ७४ ।।

वहाँ पाण्डवोंने द्रौपदीको पत्नीरूपमें प्राप्त किया और फिर अपनी राजधानी हस्तिनापुरमें लौट आये ।। ७४ ।।

कुशलिनः पुत्रांश्चोत्पादयामासुः । प्रतिविन्ध्यं युधिष्ठिरः, सुतसोमं वृकोदरः, श्रुतकीर्तिमर्जुनः, शतानीकं नकुलः, श्रुतकर्माणं सहदेव इति ।। ७५ ।।

वहाँ कुशलपूर्वक रहते हुए उन्होंने द्रौपदीसे पाँच पुत्र उत्पन्न किये। युधिष्ठिरने प्रतिविन्ध्यको, भीमसेनने सुतसोमको, अर्जुनने श्रुतकीर्तिको, नकुलने शतानीकको और सहदेवने श्रुतकर्माको जन्म दिया ।। ७५ ।।

युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्य शैब्यस्य देविकां नाम कन्यां स्वयंवरे लेभे । तस्यां पुत्रं जनयामास यौधेयं नाम ।। ७६ ।।

भीमसेनोऽपि काश्यां बलन्धरां नामोपयेमे वीर्य-शुल्काम् । तस्यां पुत्रं सर्वगं नामोत्पादयामास ।। ७७ ।।

युधिष्ठिरने शिबिदेशके राजा गोवासनकी पुत्री देविकाको स्वयंवरमें प्राप्त किया और उसके गर्भसे एक पुत्रको जन्म दिया; जिसका नाम यौधेय था। भीमसेनने भी काशिराजकी कन्या बलन्धराके साथ विवाह किया; उसे प्राप्त करनेके लिये बल एवं पराक्रमका शुल्क

रखा गया था अर्थात् यह शर्त थी कि जो अधिक बलवान् हो, वही उसके साथ विवाह कर सकता है। भीमसेनने उसके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम सर्वग था ।। ७६-७७ ।।

अर्जुनः खलु द्वारवतीं गत्वा भगिनीं वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीं भार्यामुदावहत् । स्वविषयं चाभ्याजगाम कुशली । तस्यां पुत्रमभिमन्युमतीव गुणसम्पन्नं दयितं वासुदेवस्याजनयत् ।। ७८ ।।

अर्जुनने द्वारकामें जाकर मंगलमय वचन बोलनेवाली वासुदेवकी बहिन सुभद्राको पत्नीरूपमें प्राप्त किया और उसे लेकर कुशलपूर्वक अपनी राजधानीमें चले आये वहाँ उसके गर्भसे अत्यन्त गुणसम्पन्न अभिमन्यु नामक पुत्रको उत्पन्न किया; जो वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको बहुत प्रिय था ।। ७८ ।।

नकुलस्तु चैद्यां करेणुमतीं नाम भार्यामुदावहत् । तस्यां पुत्रं निरमित्रं नामाजनयत् ।। ७९ ।।

नकुलने चेदिनरेशकी पुत्री करेणुमतीको पत्नीरूपमें प्राप्त किया और उसके गर्भसे निरमित्र नामक पुत्रको जन्म दिया ।। ७९ ।।

सहदेवोऽपि माद्रीमेव स्वयंवरे विजयां नामोपयेमे मद्रराजस्य द्युतिमतो दुहितरम् । तस्यां पुत्रमजनयत् सुहोत्रं नाम ।। ८० ।।

सहदेवने भी मद्रदेशकी राजकुमारी विजयाको स्वयंवरमें प्राप्त किया। वह मद्रराज द्युतिमान्‌की पुत्री थी। उसके गर्भसे उन्होंने सुहोत्र नामक पुत्रको जन्म दिया ।। ८० ।।

भीमसेनस्तु पूर्वमेव हिडिम्बायां राक्षसं घटोत्कचं पुत्रमुत्पादयामास ।। ८१ ।।

भीमसेनने पहले ही हिडिम्बाके गर्भसे घटोत्कच नामक राक्षसजातीय पुत्रको उत्पन्न किया ।। ८१ ।।

इत्येत एकादश पाण्डवानां पुत्राः । तेषां वंशकरोऽभिमन्युः ।। ८२ ।।

इस प्रकार ये पाण्डवोंके ग्यारह पुत्र हुए। इनमेंसे अभिमन्युका ही वंश चला ।। ८२ ।।

स विराटस्य दुहितरमुपयेमे उत्तरां नाम । तस्यामस्य परासुर्गर्भोऽभवत् । तमुत्सङ्गेन प्रतिजग्राह पृथा नियोगात् पुरुषोत्तमस्य वासुदेवस्य, षाण्मासिकं गर्भमहमेनं जीवयिष्यामीति ।। ८३ ।।

अभिमन्युने विराटकी पुत्री उत्तराके साथ विवाह किया था। उसके गर्भसे अभिमन्युके एक पुत्र हुआ; जो मरा हुआ था। पुरुषोतम भगवान् श्रीकृष्णके आदेशसे कुन्तीने उसे अपनी गोदमें ले लिया। उन्होंने यह आश्वासन दिया कि छः महीनेके इस मरे हुए बालकको मैं जीवित कर दूँगा ।। ८३ ।।

स भगवता वासुदेवेनासंजातबलवीर्य-पराक्रमोऽकालजातोऽस्त्राग्निना दग्धस्तेजसा स्वेन संजीवितः । जीवयित्वा चैनमुवाच—परिक्षीणे कुले जातो भवत्वयं परिक्षिन्नामेति ।। ८४ ।।

परिक्षित् खलु माद्रवतीं नामोपयेमे त्वन्मातरम् । तस्यां भवान् जनमेजयः ।। ८५ ।।

अश्वत्थामाके अस्त्रकी अग्निसे झुलसकर वह असमयमें (समयसे पहले) ही पैदा हो गया था। उसमें बल, वीर्य और पराक्रम नहीं था। परंतु भगवान् श्रीकृष्णने उसे अपने तेजसे जीवित कर दिया। इसको जीवित करके वे इस प्रकार बोले—'इस कुलके परिक्षीण (नष्ट) होनेपर इसका जन्म हुआ है; अतः यह बालक परिक्षित् नामसे विख्यात हो'। परिक्षित्ने तुम्हारी माता माद्रवतीके साथ विवाह किया, जिसके गर्भसे तुम जनमेजय नामक पुत्र उत्पन्न हुए ।। ८४-८५ ।।

भवतो वपुष्टमायां द्वौ पुत्रौ जज्ञाते; शतानीकः शङ्कुकर्णश्च । शतानीकस्य वैदेह्यां पुत्र उत्पन्नोऽश्व-मेधदत्त इति ।। ८६ ।।

तुम्हारी पत्नी वपुष्टमाके गर्भसे दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं—शतानीक और शंकुकर्ण। शतानीककी पत्नी विदेहराजकुमारीके गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्रका नाम है अश्वमेधदत्त ।। ८६ ।।

एष पूरोर्वंशः पाण्डवानां च कीर्तितः; धन्यः पुण्यः परमपवित्रः सततं श्रोतव्यो ब्राह्मणैर्नियम-वद्भिरनन्तरं क्षत्रियैः स्वधर्मनिरतैः प्रजापालन-तत्परैर्वैश्यैरपि च श्रोतव्योऽधिगम्यश्च तथा शूद्रैरपि त्रिवर्णशुश्रूषुभिः श्रद्दधानैरिति ।। ८७ ।।

यह पूरु तथा पाण्डवोंके वंशका वर्णन किया गया; जो धन और पुण्यकी प्राप्ति करानेवाला एवं परम पवित्र है, नियमपरायण ब्राह्मणों, अपने धर्ममें स्थित प्रजापालक क्षत्रियों, वैश्यों तथा तीनों वर्णोंकी सेवा करनेवाले श्रद्धालु शूद्रोंको भी सदा इसका श्रवण एवं स्वाध्याय करना चाहिये ।। ८७ ।।

इतिहासमिमं पुण्यमशेषतः श्रावयिष्यन्ति ये नराः श्रोष्यन्ति वा नियतात्मानो विमत्सरा मैत्रा वेद-परास्तेऽपि स्वर्गजितः पुण्यलोका भवन्ति सततं देवब्राह्मणमनुष्याणां मान्याः सम्पूज्याश्च ।। ८८ ।।

जो पुण्यात्मा मनुष्य मनको वशमें करके ईर्ष्या छोड़कर सबके प्रति मैत्रीभावको रखते हुए वेदपरायण हो इस सम्पूर्ण पुण्यमय इतिहासको सुनावेंगे अथवा सुनेंगे वे स्वर्गलोकके अधिकारी होंगे और देवता, ब्राह्मण तथा मनुष्योंके लिये सदैव आदरणीय तथा पूजनीय होंगे ।। ८८ ।।

परं हीदं भारतं भगवता व्यासेन प्रोक्तं पावनं ये ब्राह्मणादयो वर्णाः श्रद्दधाना अमत्सरा मैत्रा वेदसम्पन्नाः श्रोष्यन्ति, तेऽपि स्वर्गजितः सुकृतिनोऽशोच्याः कृताकृते भवन्ति ।। ८९ ।।

जो ब्राह्मण आदि वर्णोंके लोग मात्सर्यरहित, मैत्रीभावसे संयुक्त और वेदाध्ययनसे सम्पन्न हो श्रद्धापूर्वक भगवान् व्यासके द्वारा कहे हुए इस परम पावन महाभारत ग्रन्थको

सुनेंगे, वे भी स्वर्गके अधिकारी और पुण्यात्मा होंगे तथा उनके लिये इस बातका शोक नहीं रह जायगा कि उन्होंने अमुक कर्म क्यों किया और अमुक कर्म क्यों नहीं किया ।। ८९ ।।

भवति चात्र श्लोकः—

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं नियतात्मभिः ।। ९० ।।

इस विषयमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—

‘यह महाभारत वेदोंके समान पवित्र, उत्तम तथा धन, यश और आयुकी प्राप्ति करानेवाला है। मनको वशमें रखनेवाले साधु पुरुषोंको सदैव इसका श्रवण करना चाहिये’ ।। ९० ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पूरुवंशानुकीर्तने पञ्चनवतितमोऽध्यायः ।। ९५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पूरुवंशानुवर्णनविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९५ ।।

षण्णवतितमोऽध्यायः

महाभिषको ब्रह्माजीका शाप तथा शापग्रस्त वसुओंके साथ गंगाकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो राजाऽऽसीत् पृथिवीपतिः ।
महाभिष इति ख्यातः सत्यवाक् सत्यविक्रमः ।। १ ।।
सोऽश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
तोषयामास देवेशं स्वर्गं लेभे ततः प्रभुः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इश्वाकु-वंशमें उत्पन्न महाभिष नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जो सत्यवादी होनेके साथ ही सत्यपराक्रमी भी थे। उन्होंने एक हजार अश्वमेध और एक सौ राजसूय यज्ञोंद्वारा देवेश्वर इन्द्रको संतुष्ट किया और उन यज्ञोंके पुण्यसे उन शक्तिशाली नरेशने स्वर्गलोग प्राप्त कर लिया ।। १-२ ।।

ततः कदाचिद् ब्रह्माणमुपासांचक्रिरे सुराः ।
तत्र राजर्षयो ह्यासन् स च राजा महाभिषः ।। ३ ।।

तदनन्तर एक समय सब देवता ब्रह्माजीकी सेवामें उनके समीप बैठे हुए थे। वहाँ बहुत-से राजर्षि तथा पूर्वोक्त राजा महाभिष भी उपस्थित थे ।। ३ ।।

अथ गङ्गा सरिच्छ्रेष्ठा समुपायात् पितामहम् ।
तस्या वासः समुद्धूतं मारुतेन शशिप्रभम् ।। ४ ।।

इसी समय सरिताओंमें श्रेष्ठ गंगा ब्रह्माजीके समीप आयी। उस समय वायुके झोंकेसे उसके शरीरका चाँदनीके समान उज्ज्वल वस्त्र सहसा ऊपरकी ओर उठ गया ।। ४ ।।

ततोऽभवन् सुरगणाः सहसावाङ्मुखास्तदा ।
महाभिषस्तु राजर्षिरशङ्को दृष्टवान् नदीम् ।। ५ ।।

यह देख सब देवताओंने तुरंत अपना मुँह नीचेकी ओर कर लिया; किंतु राजर्षि महाभिष निःशंक होकर देवनदीकी ओर देखते ही रह गये ।। ५ ।।

सोऽपध्यातो भगवता ब्रह्मणा तु महाभिषः ।
उक्तश्च जातो मर्त्येषु पुनर्लोकानवाप्स्यसि ।। ६ ।।
ययाऽऽहृतमनाश्चासि गङ्गया त्वं हि दुर्मते ।
सा ते वै मानुषे लोके विप्रियाण्याचरिष्यति ।। ७ ।।

तब भगवान् ब्रह्माने महाभिषको शाप देते हुए कहा—‘दुर्मते! तुम मनुष्योंमें जन्म लेकर फिर पुण्यलोकोंमें आओगे। जिस गंगाने तुम्हारे चित्तको चुरा लिया है, वही

मनुष्यलोकमें तुम्हारे प्रतिकूल आचरण करेगी ।। ६-७ ।।

यदा ते भविता मन्युस्तदा शापाद् विमोक्ष्यसे ।

'जब तुम्हें गंगापर क्रोध आ जायगा, तब तुम भी शापसे छूट जाओगे।'

वैशम्पायन उवाच

स चिन्तयित्वा नृपतिर्नृपानन्यांस्तपोधनान् ।। ८ ।।
प्रतीपं रोचयामास पितरं भूरितेजसम् ।
महाभिषं तु तं दृष्ट्वा नदी धैर्याच्च्युतं नृपम् ।। ९ ।।
तमेव मनसा ध्यायन्त्युपावर्तत् सरिद्वरा ।
सा तु विध्वस्तवपुषः कश्मलाभिहतान् नृप ।। १० ।।
ददर्श पथि गच्छन्ती वसून् देवान् दिवौकसः ।
तथारूपांश्च तान् दृष्ट्वा पप्रच्छ सरितां वरा ।। ११ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब राजा महाभिषने अन्य बहुत-से तपस्वी राजाओंका चिन्तन करके महातेजस्वी राजा प्रतीपको ही अपना पिता बनानेके योग्य चुना—उन्हींको पसंद किया। महानदी गंगा राजा महाभिषको धैर्य खोते देख मन-ही-मन उन्हींका चिन्तन करती हुई लौटी। मार्गसे जाती हुई गंगाने वसुदेवताओंको देखा। उनका शरीर स्वर्गसे नीचे गिर रहा था। वे मोहाच्छन्न एवं मलिन दिखायी दे रहे थे। उन्हें इस रूपमें देखकर नदियोंमें श्रेष्ठ गंगाने पूछा— ।। ८—११ ।।

किमिदं नष्टरूपाः स्थ कच्चित् क्षेमं दिवौकसाम् ।
तामूचुर्वसवो देवाः शप्ताः स्मो वै महानदि ।। १२ ।।
अल्पेऽपराधे संरम्भाद् वसिष्ठेन महात्मना ।
विमूढा हि वयं सर्वे प्रच्छन्नमृषिसत्तमम् ।। १३ ।।
संध्यां वसिष्ठमासीनं तमत्यभिसृताः पुरा ।
तेन कोपाद् वयं शप्ता योनौ सम्भवतेति ह ।। १४ ।।

तुमलोगोंका दिव्य रूप नष्ट कैसे हो गया? देवता सकुशल तो हैं न? तब वसुदेवताओंने गंगासे कहा—'महानदी! महात्मा वसिष्ठने थोड़े-से अपराधपर क्रोधमें आकर हमें शाप दे दिया है। पहलेकी बात है एक दिन जब वसिष्ठजी पेड़ोंकी आड़में संध्योपासना कर रहे थे, हम सब मोहवश उनका उल्लंघन करके चले गये (और उनकी धेनुका अपहरण कर लिया)। इससे कुपित होकर उन्होंने हमें शाप दिया कि 'तुमलोग मनुष्ययोनिमें जन्म लो' ।। १२—१४ ।।

न निवर्तयितुं शक्यं यदुक्तं ब्रह्मवादिना ।
त्वमस्मान् मानुषी भूत्वा सृज पुत्रान्-वसून् भुवि ।। १५ ।।

‘उन ब्रह्मवादी महर्षिने जो बात कह दी है, वह टाली नहीं जा सकती; अतः हमारी प्रार्थना है कि तुम पृथ्वीपर मानवपत्नी होकर हम वसुओंको अपने पुत्ररूपसे उत्पन्न करो ।। १५ ।।

न मानुषीणां जठरं प्रविशेम वयं शुभे ।
इत्युक्ता तैश्च वसुभिस्तथेत्युक्त्वाब्रवीदिदम् ।। १६ ।।

‘शुभे! हमें मानुषी स्त्रियोंके उदरमें प्रवेश न करना पड़े, इसीलिये हमने यह अनुरोध किया है।’ वसुओंके ऐसा कहनेपर गंगाजी ‘तथास्तु’ कहकर यों बोलीं ।। १६ ।।

गङ्गोवाच

मर्त्येषु पुरुषश्रेष्ठः को वः कर्ता भविष्यति ।

गंगाजीने कहा—वसुओ! मर्त्यलोकमें ऐसे श्रेष्ठ पुरुष कौन हैं; जो तुमलोगोंके पिता होंगे।

वसव ऊचुः

प्रतीपस्य सुतो राजा शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
भविता मानुषे लोके स नः कर्ता भविष्यति ।। १७ ।।

वसुगण बोले—प्रतीपके पुत्र राजा शान्तनु लोकविख्यात साधु पुरुष होंगे। मनुष्यलोकमें वे ही मारे जनक होंगे ।। १७ ।।

गङ्गोवाच

ममाप्येवं मतं देवा यथा मां वदतानघाः ।
प्रियं तस्य करिष्यामि युष्माकं चैतदीप्सितम् ।। १८ ।।

गंगाजीने कहा—निष्पाप देवताओ! तुमलोग जैसा कहते हो, वैसा ही मेरा भी विचार है। मैं राजा शान्तनुका प्रिय करूँगी और तुम्हारे इस अभीष्ट कार्यको भी सिद्ध करूँगी ।। १८ ।।

वसव ऊचुः

जातान् कुमारान् स्वानप्सु प्रक्षेप्तुं वै त्वमर्हसि ।
यथा न चिरकालं नो निष्कृतिः स्यात् त्रिलोकगे ।। १९ ।।

वसुगण बोले—तीनों लोकोंमें प्रवाहित होनेवाली गंगे! हमलोग जब तुम्हारे गर्भसे जन्म लें, तब तुम पैदा होते ही हमें अपने जलमें फेंक देना; जिससे शीघ्र ही हमारा मर्त्यलोकसे छुटकारा हो जाय ।। १९ ।।

गङ्गोवाच

एवमेतत् करिष्यामि पुत्रस्तस्य विधीयताम् ।

नास्य मोघः संगमः स्यात् पुत्रहेतोर्मया सह ।। २० ।।

गंगाजीने कहा—ठीक है, मैं ऐसा ही करूँगी; परंतु उस राजाका मेरे साथ पुत्रके लिये किया हुआ सम्बन्ध व्यर्थ न हो जाय, इसलिये उनके लिये एक पुत्रकी भी व्यवस्था होनी चाहिये ।। २० ।।

वसव ऊचुः

तुरीयार्धं प्रदास्यामो वीर्यस्यैकैकशो वयम् ।
तेन वीर्येण पुत्रस्ते भविता तस्य चेप्सितः ।। २१ ।।

वसुगण बोले—हम सब लोग अपने तेजका एक-एक अष्टमांश देंगे। उस तेजसे जो तुम्हारा एक पुत्र होगा, वह उस राजाकी इच्छाके अनुरूप होगा ।। २१ ।।

न सम्पत्स्यति मर्त्येषु पुनस्तस्य तु संततिः ।
तस्मादपुत्रः पुत्रस्ते भविष्यति स वीर्यवान् ।। २२ ।।

किंतु मर्त्यलोकमें उसकी कोई संतान न होगी। अतः तुम्हारा वह पुत्र संतानहीन होनेके साथ ही अत्यन्त पराक्रमी होगा ।। २२ ।।

एवं ते समयं कृत्वा गङ्गया वसवः सह ।
जग्मुः संहृष्टमनसो यथासंकल्पमञ्जसा ।। २३ ।।

इस प्रकार गंगाजीके साथ शर्त करके वसुगण प्रसन्नतापूर्वक अपनी इच्छाके अनुसार चले गये ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि महाभिषोपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः ।। ९६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें महाभिषोपाख्यानविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९६ ।।

सप्तनवतितमोऽध्यायः

राजा प्रतीपका गंगाको पुत्रवधूके रूपमें स्वीकार करना और शान्तनुका जन्म, राज्याभिषेक तथा गंगासे मिलना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रतीपो राजाऽऽसीत् सर्वभूतहितः सदा ।
निषसाद समा बह्वीर्गङ्गाद्वारगतो जपन् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर इस पृथ्वीपर राजा प्रतीप राज्य करने लगे। वे सदा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें संलग्न रहते थे। एक समय महाराज प्रतीप गंगाद्वार (हरिद्वार)-में गये और बहुत वर्षोंतक जप करते हुए एक आसनपर बैठे रहे ।। १ ।।

तस्य रूपगुणोपेता गङ्गा स्त्रीरूपधारिणी ।
उत्तीर्य सलिलात् तस्माल्लोभनीयतमाकृतिः ।। २ ।।
अधीयानस्य राजर्षेर्दिव्यरूपा मनस्विनी ।
दक्षिणं शालसंकाशमूरुं भेजे शुभानना ।। ३ ।।

उस समय मनस्विनी गंगा सुन्दर रूप और उत्तम गुणोंसे युक्त युवती स्त्रीका रूप धारण करके जलसे निकलीं और स्वाध्यायमें लगे हुए राजर्षि प्रतीपके शाल-जैसे विशाल दाहिने ऊरु (जाँघ)-पर जा बैठीं। उस समय उनकी आकृति बड़ी लुभावनी थी; रूप देवांगनाओंके समान था और मुख अत्यन्त मनोहर था ।। २-३ ।।

प्रतीपस्तु महीपालस्तामुवाच यशस्विनीम् ।
करोमि किं ते कल्याणि प्रियं यत् तेऽभिकाङ्क्षितम् ।। ४ ।।

अपनी जाँघपर बैठी हुई उस यशस्विनी नारीसे राजा प्रतीपने पूछा—‘कल्याणि! मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? तुम्हारी क्या इच्छा है?’ ।। ४ ।।

स्त्र्युवाच

त्वामहं कामये राजन् भजमानां भजस्व माम् ।
त्यागः कामवतीनां हि स्त्रीणां सद्भिर्विगर्हितः ।। ५ ।।

स्त्री बोली—राजन्! मैं आपको ही चाहती हूँ। आपके प्रति मेरा अनुराग है, अतः आप मुझे स्वीकार करें; क्योंकि कामके अधीन होकर अपने पास आयी हुई स्त्रियोंका परित्याग साधु पुरुषोंने निन्दित माना है ।। ५ ।।

प्रतीप उवाच

नाहं परस्त्रियं कामाद् गच्छेयं वरवर्णिनि ।
न चासवर्णां कल्याणि धर्म्यमेतद्धि मे व्रतम् ।। ६ ।।

प्रतीपने कहा—सुन्दरी! मैं कामवश परायी स्त्रीके साथ समागम नहीं कर सकता। जो अपने वर्णकी न हो, उससे भी मैं सम्बन्ध नहीं रख सकता। कल्याणि! यह मेरा धर्मानुकूल व्रत है ।। ६ ।।

स्त्र्युवाच

नाश्रेयस्यस्मि नागम्या न वक्तव्या च कर्हिचित् ।
भजन्तीं भज मां राजन् दिव्यां कन्यां वरस्त्रियम् ।। ७ ।।

स्त्री बोली—राजन्! मैं अशुभ या अमंगल करनेवाली नहीं हूँ, समागमके अयोग्य भी नहीं हूँ और ऐसी भी नहीं हूँ कि कभी कोई मुझपर कलंक लगावे। मैं आपके प्रति अनुरक्त होकर आयी हुई दिव्य कन्या एवं सुन्दरी स्त्री हूँ। अतः आप मुझे स्वीकार करें ।। ७ ।।

प्रतीप उवाच

त्वया निवृत्तमेतत् तु यन्मां चोदयसि प्रियम् ।
अन्यथा प्रतिपन्नं मां नाशयेद् धर्मविप्लवः ।। ८ ।।

प्रतीपने कहा—सुन्दरी! तुम जिस प्रिय मनोरथकी पूर्तिके लिये मुझे प्रेरित कर रही हो, उसका निराकरण भी तुम्हारे द्वारा ही हो गया। यदि मैं धर्मके विपरीत तुम्हारा यह प्रस्ताव स्वीकार कर लूँ तो धर्मका यह विनाश मेरा भी नाश कर डालेगा ।। ८ ।।

प्राप्य दक्षिणमूरुं मे त्वमाश्लिष्टा वराङ्गने ।
अपत्यानां स्नुषाणां च भीरु विद्ध्येतदासनम् ।। ९ ।।

वरांगने! तुम मेरी दाहिनी जाँघपर आकर बैठी हो। भीरु! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि यह पुत्र, पुत्री तथा पुत्रवधूका आसन है ।। ९ ।।

सव्योरुः कामिनीभोग्यस्त्वया स च विवर्जितः ।
तस्मादहं नाचरिष्ये त्वयि कामं वराङ्गने ।। १० ।।

पुरुषकी बायीं जाँघ ही कामिनीके उपभोगके योग्य है; किंतु तुमने उसका त्याग कर दिया है। अतः वरांगने! मैं तुम्हारे प्रति कामयुक्त आचरण नहीं करूँगा ।। १० ।।

स्नुषा मे भव सुश्रोणि पुत्रार्थं त्वां वृणोम्यहम् ।
स्नुषापक्षं हि वामोरु त्वमागम्य समाश्रिता ।। ११ ।।

सुश्रोणि! तुम मेरी पुत्रवधू हो जाओ। मैं अपने पुत्रके लिये तुम्हारा वरण करता हूँ; क्योंकि वामोरु! तुमने यहाँ आकर मेरी उसी जाँघका आश्रय लिया है, जो पुत्रवधूके पक्षकी है ।। ११ ।।

स्त्र्युवाच

एवमप्यस्तु धर्मज्ञ संयुज्येयं सुतेन ते ।
त्वद्भक्त्या तु भजिष्यामि प्रख्यातं भारतं कुलम् ।। १२ ।।

स्त्री बोली—धर्मज्ञ नरेश! आप जैसा कहते हैं, वैसा भी हो सकता है। मैं आपके पुत्रके साथ संयुक्त होऊँगी। आपके प्रति जो मेरी भक्ति है, उसके कारण मैं विख्यात भरतवंशका सेवन करूँगी ।। १२ ।।

पृथिव्यां पार्थिवा ये च तेषां यूयं परायणम् ।
गुणा न हि मया शक्या वक्तुं वर्षशतैरपि ।। १३ ।।

पृथ्वीपर जितने राजा हैं, उन सबके आपलोग उत्तम आश्रय हैं। सौ वर्षोंमें भी आपलोगोंके गुणोंका वर्णन मैं नहीं कर सकती ।। १३ ।।

कुलस्य ये वः प्रथितास्तत्साधुत्वमथोत्तमम् ।
समयेनेह धर्मज्ञ आचरेयं च यद् विभो ।। १४ ।।
तत् सर्वमेव पुत्रस्ते न मीमांसेत कर्हिचित् ।
एवं वसन्ती पुत्रे ते वर्धयिष्याम्यहं रतिम् ।। १५ ।।
पुत्रैः पुण्यैः प्रियैश्चैव स्वर्गं प्राप्स्यति ते सुतः ।

आपके कुलमें जो विख्यात राजा हो गये हैं, उनकी साधुता सर्वोपरि है। धर्मज्ञ! मैं एक शर्तके साथ आपके पुत्रसे विवाह करूँगी। प्रभो! मैं जो कुछ भी आचरण करूँ, वह सब आपके पुत्रको स्वीकार होना चाहिये। वे उसके विषयमें कभी कुछ विचार न करें। इस शर्तपर रहती हुई मैं आपके पुत्रके प्रति अपना प्रेम बढ़ाऊँगी। मुझसे जो पुण्यात्मा एवं प्रिय पुत्र उत्पन्न होंगे, उनके द्वारा आपके पुत्रको स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी ।। १४-१५½ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्ता तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा प्रतीपने 'तथास्तु' कहकर उसकी शर्त स्वीकार कर ली। तत्पश्चात् वह वहीं अन्तर्धान हो गयी ।। १६ ।।

पुत्रजन्म प्रतीक्षन् वै स राजा तदधारयत् ।
एतस्मिन्नेव काले तु प्रतीपः क्षत्रियर्षभः ।। १७ ।।
तपस्तेपे सुतस्यार्थे सभार्यः कुरुनन्दन ।

इसके बाद पुत्रके जन्मकी प्रतीक्षा करते हुए राजा प्रतीपने उसकी बात याद रखी। कुरुनन्दन! इन्हीं दिनों क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ प्रतीप अपनी पत्नीको साथ लेकर पुत्रके लिये तपस्या करने लगे ।। १७½ ।।

(प्रतीपस्य तु भार्यायां गर्भः श्रीमानवर्धत ।
श्रिया परमया युक्तः शरच्छुक्ले यथा शशी ।।
ततस्तु दशमे मासि प्राजायत रविप्रभम् ।
कुमारं देवगर्भाभं प्रतीपमहिषी तदा ।।)
तयोः समभवत् पुत्रो वृद्धयोः स महाभिषः ।। १८ ।।

प्रतीपकी पत्नीकी कुक्षिमें एक तेजस्वी गर्भका आविर्भाव हुआ, जो शरद्-ऋतुके शुक्ल पक्षमें परम कान्तिमान् चन्द्रमाकी भाँति प्रतिदिन बढ़ने लगा। तदनन्तर दसवाँ मास प्राप्त होनेपर प्रतीपकी महारानीने एक देवोपम पुत्रको जन्म दिया, जो सूर्यके समान प्रकाशमान था। उन बूढ़े राजदम्पतिके यहाँ पूर्वोक्त राजा महाभिष ही पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए ।। १८ ।।

शान्तस्य जज्ञे संतानस्तस्मादासीत् स शान्तनुः ।

शान्त पिताकी संतान होनेसे वे शान्तनु कहलाये।

(तस्य जातस्य कृत्यानि प्रतीपोऽकारयत् प्रभुः ।

जातकर्मादि विप्रेण वेदोक्तैः कर्मभिस्तदा ।।

शक्तिशाली राजा प्रतीपने उस बालकके आवश्यक कृत्य (संस्कार) करवाये। ब्राह्मण पुरोहितने वेदोक्त क्रियाओंद्वारा उसके जात-कर्म आदि सम्पन्न किये।

नामकर्म च विप्रास्तु चक्रुः परमसत्कृतम् ।

शान्तनोरवनीपाल वेदोक्तैः कर्मभिस्तदा ।।

जनमेजय! तदनन्तर बहुत-से ब्राह्मणोंने मिलकर वेदोक्त विधियोंके अनुसार शान्तनुका नामकरण-संस्कार भी किया।

ततः संवर्धितो राजा शान्तनुर्लोकपालकः ।

स तु लेभे परां निष्ठां प्राप्य धर्मविदां वरः ।।

धनुर्वेदे च वेदे च गतिं स परमां गतः ।

यौवनं चापि सम्प्राप्तः कुमारो वदतां वरः ।।)

तत्पश्चात् बड़े होनेपर राजकुमार शान्तनु लोकरक्षाका कार्य करने लगे। वे धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने धनुर्वेदमें उत्तम योग्यता प्राप्त करके वेदाध्ययनमें भी ऊँची स्थिति प्राप्त की। वक्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ वे राजकुमार धीरे-धीरे युवावस्थामें पहुँच गये।

संस्मरंश्चाक्षयाँल्लोकान् विजातान् स्वेन कर्मणा ।। १९ ।।

पुण्यकर्मकृदेवासीच्छान्तनुः कुरुसत्तमः ।

प्रतीपः शान्तनुं पुत्रं यौवनस्थं ततोऽन्वशात् ।। २० ।।

अपने सत्कर्मोंद्वारा उपार्जित अक्षय पुण्यलोकोंका स्मरण करके कुरुश्रेष्ठ शान्तनु सदा पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानमें ही लगे रहते थे। युवावस्थामें पहुँचे हुए राजकुमार शान्तनुको राजा प्रतीपने आदेश दिया— ।। १९-२० ।।

पुरा स्त्री मां समभ्यागाच्छान्तनो भूतये तव ।

त्वामाव्रजेद् यदि रहः सा पुत्र वरवर्णिनी ।। २१ ।।

कामयानाभिरूपाढ्या दिव्या स्त्री पुत्रकाम्यया ।

सा त्वया नानुयोक्तव्या कासि कस्यासि चाङ्गने ।। २२ ।।

‘शान्तनो! पूर्वकालमें मेरे समीप एक दिव्य नारी आयी थी। उसका आगमन तुम्हारे कल्याणके लिये ही हुआ था। बेटा! यदि वह सुन्दरी कभी एकान्तमें तुम्हारे पास आवे, तुम्हारे प्रति कामभावसे युक्त हो और तुमसे पुत्र पानेकी इच्छा रखती हो, तो तुम उत्तम रूपसे सुशोभित उस दिव्य नारीसे ‘अंगने! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? इत्यादि प्रश्न न करना ।। २१-२२ ।।

यच्च कुर्यान्न तत् कर्म सा प्रष्टव्या त्वयानघ ।
मन्नियोगाद् भजन्तीं तां भजेथा इत्युवाच तम् ।। २३ ।।

‘अनघ! वह जो कार्य करे, उसके विषयमें भी तुम्हें कुछ पूछताछ नहीं करनी चाहिये। यदि वह तुम्हें चाहे, तो मेरी आज्ञासे उसे अपनी पत्नी बना लेना।’ ये बातें राजा प्रतीपने अपने पुत्रसे कहीं ।। २३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं संदिश्य तनयं प्रतीपः शान्तनुं तदा ।
स्वे च राज्येऽभिषिच्यैनं वनं राजा विवेश ह ।। २४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—अपने पुत्र शान्तनुको ऐसा आदेश देकर राजा प्रतीपने उसी समय उन्हें अपने राज्यपर अभिषिक्त कर दिया और स्वयं वनमें प्रवेश किया ।। २४ ।।

स राजा शान्तनुर्धीमान् देवराजसमद्युतिः ।
बभूव मृगयाशीलः शान्तनुर्वनगोचरः ।। २५ ।।

बुद्धिमान् राजा शान्तनु देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी थे। वे हिंसक पशुओंको मारनेके उद्देश्यसे वनमें घूमते रहते थे ।। २५ ।।

स मृगान् महिषांश्चैव विनिघ्नन् राजसत्तमः ।
गङ्गामनुचचारैकः सिद्धचारणसेविताम् ।। २६ ।।

राजाओंमें श्रेष्ठ शान्तनु हिंसक पशुओं और जंगली भैंसोंको मारते हुए सिद्ध एवं चारणोंसे सेवित गंगाजीके तटपर अकेले ही विचरण करते थे ।। २६ ।।

स कदाचिन्महाराज ददर्श परमां स्त्रियम् ।
जाज्वल्यमानां वपुषा साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ।। २७ ।।

महाराज जनमेजय! एक दिन उन्होंने एक परम सुन्दरी नारी देखी, जो अपने तेजस्वी शरीरसे ऐसी प्रकाशित हो रही थी, मानो साक्षात् लक्ष्मी ही दूसरा शरीर धारण करके आ गयी हो ।। २७ ।।

सर्वानवद्यां सुदतीं दिव्याभरणभूषिताम् ।
सूक्ष्माम्बरधरामेकां पद्मोदरसमप्रभाम् ।। २८ ।।

उसके सारे अंग परम सुन्दर और निर्दोष थे। दाँत तो और भी सुन्दर थे। वह दिव्य आभूषणोंसे विभूषित थी। उसके शरीरपर महीन साड़ी शोभा पा रही थी और कमलके

भीतरी भागके समान उसकी कान्ति थी, वह अकेली थी ।। २८ ।।

तां दृष्ट्वा हृष्टरोमाभूद् विस्मितो रूपसम्पदा ।
पिबन्निव च नेत्राभ्यां नातृप्यत नराधिपः ।। २९ ।।

उसे देखते ही राजा शान्तनुके शरीरमें रोमांच हो आया, वे उसकी रूप-सम्पत्तिसे आश्चर्यचकित हो उठे और दोनों नेत्रोंद्वारा उसकी सौन्दर्य-सुधाका पान करते हुए-से तृप्त नहीं होते थे ।। २९ ।।

सा च दृष्ट्वैव राजानं विचरन्तं महाद्युतिम् ।
स्नेहादागतसौहार्दा नातृप्यत विलासिनी ।। ३० ।।

वह भी वहाँ विचरते हुए महातेजस्वी राजा शान्तनुको देखते ही मुग्ध हो गयी। स्नेहवश उसके हृदयमें सौहार्दका उदय हो आया। वह विलासिनी राजाको देखते-देखते तृप्त नहीं होती थी ।। ३० ।।

तामुवाच ततो राजा सान्त्वयञ्शलक्ष्णया गिरा ।
देवी वा दानवी वा त्वं गन्धर्वी चाथ वाप्सराः ।। ३१ ।।
यक्षी वा पन्नगी वापि मानुषी वा सुमध्यमे ।
याचे त्वां सुरगर्भाभे भार्या मे भव शोभने ।। ३२ ।।

तब राजा शान्तनु उसे सान्त्वना देते हुए मधुर वाणीमें बोले—‘सुमध्यमे! तुम देवी, दानवी, गन्धर्वी, अप्सरा, यक्षी, नागकन्या अथवा मानवी, कुछ भी क्यों न होओ; देवकन्याके समान सुशोभित होनेवाली सुन्दरी! मैं तुमसे याचना करता हूँ कि मेरी पत्नी हो जाओ’ ।। ३१-३२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शान्तनूपाख्याने सप्तनवतितमोऽध्यायः ।। ९७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शान्तनूपाख्यानविषयक सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल ३८ श्लोक हैं)

अष्टनवतितमोऽध्यायः

शान्तनु और गंगाका कुछ शर्तोंके साथ सम्बन्ध, वसुओंका जन्म और शापसे उद्धार तथा भीष्मकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञः सस्मितं मृदु वल्गु च ।
(यशस्विनी च साऽऽगच्छच्छान्तनोर्भूतये तदा ।
सा च दृष्ट्वा नृपश्रेष्ठं चरन्तं तीरमाश्रितम् ।।)
वसूनां समयं स्मृत्वाथाभ्यगच्छदनिन्दिता ।। १ ।।
(प्रजार्थिनी राजपुत्रं शान्तनुं पृथिवीपतिम् ।
प्रतीपवचनं चापि संस्मृत्यैव स्वयं नृप ।।
कालोऽयमिति मत्वा सा वसूनां शापचोदिता ।)
उवाच चैव राज्ञः सा ह्लादयन्ती मनो गिरा ।
भविष्यामि महीपाल महिषी ते वशानुगा ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा शान्तनुका मधुर मुसकानयुक्त मनोहर वचन सुनकर यशस्विनी गंगा उनकी ऐश्वर्य-वृद्धिके लिये उनके पास आयीं। तटपर विचरते हुए उन नृपश्रेष्ठको देखकर सती साध्वी गंगाको वसुओंको दिये हुए वचनका स्मरण हो आया। साथ ही राजा प्रतीपकी बात भी याद आ गयी। तब यही उपयुक्त समय है, ऐसा मानकर वसुओंको मिले हुए शापसे प्रेरित हो वे स्वयं संतानोत्पादनकी इच्छासे पृथ्वीपति महाराज शान्तनुके समीप चली आयीं और अपनी मधुर वाणीसे महाराजके मनको आनन्द प्रदान करती हुई बोलीं—'भूपाल! मैं आपकी महारानी बनूँगी एवं आपके अधीन रहूँगी ।। १-२ ।।

यत् तु कुर्यामहं राजञ्छुभं वा यदि वाशुभम् ।
न तद् वारयितव्यास्मि न वक्तव्या तथाप्रियम् ।। ३ ।।

'(परंतु एक शर्त है—) राजन्! मैं भला या बुरा जो कुछ भी करूँ, उसके लिये आपको मुझे नहीं रोकना चाहिये और मुझसे कभी अप्रिय वचन भी नहीं कहना चाहिये ।। ३ ।।

एवं हि वर्तमानेऽहं त्वयि वत्स्यामि पार्थिव ।
वारिता विप्रियं चोक्ता त्यजेयं त्वामसंशयम् ।। ४ ।।

'पृथ्वीपते! ऐसा बर्ताव करनेपर ही मैं आपके समीप रहूँगी। यदि आपने कभी मुझे किसी कार्यसे रोका या अप्रिय वचन कहा तो मैं निश्चय ही आपका साथ छोड़ दूँगी' ।। ४ ।।

तथेति सा यदा तूक्ता तदा भरतसत्तम ।

प्रहर्षमतुलं लेभे प्राप्य तं पार्थिवोत्तमम् ।। ५ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समय बहुत अच्छा कहकर राजाने जब उसकी शर्त मान ली, तब उन नृपश्रेष्ठको पतिरूपमें प्राप्त करके उस देवीको अनुपम आनन्द मिला ।। ५ ।।

(रथमारोप्य तां देवीं जगाम स तया सह ।
सा च शान्तनुमभ्यागात् साक्षाल्लक्ष्मीरिवापरा ।।)

तब राजा शान्तनु देवी गंगाको रथपर बिठाकर उनके साथ अपनी राजधानीको चले गये। साक्षात् दूसरी लक्ष्मीके समान सुशोभित होनेवाली गंगादेवी शान्तनुके साथ गयीं।

आसाद्य शान्तनुस्तां च बुभुजे कामतो वशी ।
न प्रष्टव्येति मन्वानो न स तां किंचिदूचिवान् ।। ६ ।।

इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले राजा शान्तनु उस देवीको पाकर उसका इच्छानुसार उपभोग करने लगे। पिताका यह आदेश था कि उससे कुछ पूछना मत; अतः उनकी आज्ञा मानकर राजाने उससे कोई बात नहीं पूछी ।। ६ ।।

स तस्याः शीलवृत्तेन रूपौदार्यगुणेन च ।
उपचारेण च रहस्तुतोष जगतीपतिः ।। ७ ।।

उसके उत्तम शील-स्वभाव, सदाचार, रूप, उदारता, सद्‌गुण तथा एकान्त सेवासे महाराज शान्तनु बहुत संतुष्ट रहते थे ।। ७ ।।

दिव्यरूपा हि सा देवी गङ्गा त्रिपथगामिनी ।
मानुषं विग्रहं कृत्वा श्रीमन्तं वरवर्णिनी ।। ८ ।।
भाग्योपनतकामस्य भार्या चोपनताभवत् ।
शान्तनोर्नृपसिंहस्य देवराजसमद्युतेः ।। ९ ।।

त्रिपथगामिनी दिव्यरूपिणी देवी गंगा ही अत्यन्त सुन्दर मनुष्य-देह धारण करके देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी नृपशिरोमणि महाराज शान्तनुको, जिन्हें भाग्यसे इच्छानुसार सुख अपने-आप मिल रहा था, सुन्दरी पत्नीके रूपमें प्राप्त हुई थीं ।। ८-९ ।।

सम्भोगस्नेहचातुर्यैर्हावभावसमन्वितैः ।
राजानं रमयामास यथा रेमे तथैव सः ।। १० ।।

गंगादेवी हाव-भावसे युक्त सम्भोग-चातुरी और प्रणय-चातुरीसे राजाको जैसे-जैसे रमातीं, उसी-उसी प्रकार वे उनके साथ रमण करते थे ।। १० ।।

स राजा रतिसक्तत्वादुत्तमस्त्रीगुणैर्हृतः ।
संवत्सरानृतून् मासान् बुबुधे न बहून् गतान् ।। ११ ।।

उस दिव्य नारीके उत्तम गुणोंने उनके चित्तको चुरा लिया था; अतः वे राजा उसके साथ रति-भोगमें आसक्त हो गये। कितने ही वर्ष, ऋतु और मास व्यतीत हो गये, किंतु उसमें आसक्त होनेके कारण राजाको कुछ पता न चला ।। ११ ।।

रममाणस्तया सार्धं यथाकामं नरेश्वरः ।

अष्टावजनयत् पुत्रांस्तस्याममरसंनिभान् ।। १२ ।।

उसके साथ इच्छानुसार रमण करते हुए महाराज शान्तनुने उसके गर्भसे देवताओंके समान तेजस्वी आठ पुत्र उत्पन्न किये ।। १२ ।।

जातं जातं च सा पुत्रं क्षिपत्यम्भसि भारत ।
प्रीणाम्यहं त्वामित्युक्त्वा गङ्गा स्रोतस्यमज्जयत् ।। १३ ।।

भारत! जो-जो पुत्र उत्पन्न होता, उसे वह गंगाजीके जलमें फेंक देती और कहती—'(वत्स! इस प्रकार शापसे मुक्त करके) मैं तुम्हें प्रसन्न कर रही हूँ।' ऐसा कहकर गंगा प्रत्येक बालकको धारामें डुबो देती थी ।। १३ ।।

तस्य तन्न प्रियं राज्ञः शान्तनोरभवत् तदा ।
न च तां किंचनोवाच त्यागाद् भीतो महीपतिः ।। १४ ।।

पत्नीका यह व्यवहार राजा शान्तनुको अच्छा नहीं लगता था, तो भी वे उस समय उससे कुछ नहीं कहते थे। राजाको यह डर बना हुआ था कि कहीं यह मुझे छोड़कर चली न जाय ।। १४ ।।

अथैनामष्टमे पुत्रे जाते प्रहसतीमिव ।
उवाच राजा दुःखार्तः परीप्सन् पुत्रमात्मनः ।। १५ ।।

तदनन्तर जब आठवाँ पुत्र उत्पन्न हुआ, तब हँसती हुई-सी अपनी स्त्रीसे राजाने अपने पुत्रका प्राण बचानेकी इच्छासे दुःखातुर होकर कहा— ।। १५ ।।

मा वधीः कस्य कासीति किं हिनत्सि सुतानिति ।
पुत्रघ्नि सुमहत् पापं सम्प्राप्तं ते सुगर्हितम् ।। १६ ।।

'अरी! इस बालकका वध न कर, तू किसकी कन्या है? कौन है? क्यों अपने ही बेटोंको मारे डालती है। पुत्रघातिनि! तुझे पुत्रहत्याका यह अत्यन्त निन्दित और भारी पाप लगा है' ।। १६ ।।

स्त्र्युवाच

पुत्रकाम न ते हन्मि पुत्रं पुत्रवतां वर ।
जीर्णस्तु मम वासोऽयं यथा स समयः कृतः ।। १७ ।।

स्त्री बोली—पुत्रकी इच्छा रखनेवाले नरेश! तुम पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ हो। मैं तुम्हारे इस पुत्रको नहीं मारूँगी; परंतु यहाँ मेरे रहनेका समय अब समाप्त हो गया; जैसी कि पहले ही शर्त हो चुकी है ।। १७ ।।

अहं गङ्गा जह्नुसुता महर्षिगणसेविता ।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमुषिताहं त्वया सह ।। १८ ।।

मैं जह्नुकी पुत्री और महर्षियोंद्वारा सेवित गंगा हूँ। देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये तुम्हारे साथ रह रही थी ।। १८ ।।

इमेऽष्टौ वसवो देवा महाभागा महौजसः ।
वसिष्ठशापदोषेण मानुषत्वमुपागताः ।। १९ ।।

ये तुम्हारे आठ पुत्र महातेजस्वी महाभाग वसु देवता हैं। वसिष्ठजीके शाप-दोषसे ये मनुष्य-योनिमें आये थे ।। १९ ।।

तेषां जनयिता नान्यस्त्वदृते भुवि विद्यते ।
मद्विधा मानुषी धात्री लोके नास्तीह काचन ।। २० ।।

तुम्हारे सिवा दूसरा कोई राजा इस पृथ्वीपर ऐसा नहीं था, जो उन वसुओंका जनक हो सके। इसी प्रकार इस जगत्‌में मेरी-जैसी दूसरी कोई मानवी नहीं है, जो उन्हें गर्भमें धारण कर सके ।। २० ।।

तस्मात् तज्जननीहेतोर्मानुषत्वमुपागता ।
जनयित्वा वसूनष्टौ जिता लोकास्त्वयाक्षयाः ।। २१ ।।

अतः इन वसुओंकी जननी होनेके लिये मैं मानवशरीर धारण करके आयी थी। राजन्! तुमने आठ वसुओंको जन्म देकर अक्षय लोक जीत लिये हैं ।। २१ ।।

देवानां समयस्त्वेष वसूनां संश्रुतो मया ।
जातं जातं मोक्षयिष्ये जन्मतो मानुषादिति ।। २२ ।।

वसु देवताओंकी यह शर्त थी और मैंने उसे पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी कि जो-जो वसु जन्म लेगा, उसे मैं जन्मते ही मनुष्य-योनिसे छुटकारा दिला दूँगी ।। २२ ।।

तत् ते शापाद् विनिर्मुक्ता आपवस्य महात्मनः ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि पुत्रं पाहि महाव्रतम् ।। २३ ।।

इसलिये अब वे वसु महात्मा आपव (वसिष्ठ)-के शापसे मुक्त हो चुके हैं। तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं जाऊँगी। तुम इस महान् व्रतधारी पुत्रका पालन करो ।। २३ ।।

(अयं तव सुतस्तेषां वीर्येण कुलनन्दनः ।
सम्भूतोऽति जनानन्यान् भविष्यति न संशयः ।।)

यह तुम्हारा पुत्र सब वसुओंके पराक्रमसे सम्पन्न होकर अपने कुलका आनन्द बढ़ानेके लिये प्रकट हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि यह बालक बल और पराक्रममें दूसरे सब लोगोंसे बढ़कर होगा।

एष पर्यायवासो मे वसूनां संनिधौ कृतः ।
मत्प्रसूतिं विजानीहि गङ्गादत्तमिमं सुतम् ।। २४ ।।

यह बालक वसुओंमेंसे प्रत्येकके एक-एक अंशका आश्रय है—सम्पूर्ण वसुओंके अंशसे इसकी उत्पत्ति हुई है। मैंने तुम्हारे लिये वसुओंके समीप प्रार्थना की थी कि ‘राजाका एक पुत्र जीवित रहे’। इसे मेरा बालक समझना और इसका नाम ‘गंगादत्त’ रखना ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीष्मोत्पत्तावष्टनवतितमोऽध्यायः ।। ९८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीष्मोत्पत्तिविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल २८½ श्लोक हैं)

नवनवतितमोऽध्यायः

महर्षि वसिष्ठद्वारा वसुओंको शाप प्राप्त होनेकी कथा

शान्तनुरुवाच

आपवो नाम को न्वेष वसूनां किं च दुष्कृतम् ।
यस्याभिशापात् ते सर्वे मानुषीं योनिमागताः ।। १ ।।

शान्तनुने पूछा—देवि! ये आपव नामके महात्मा कौन हैं? और वसुओंका क्या अपराध था, जिससे आपवके शापसे उन सबको मनुष्य-योनिमें आना पड़ा ।। १ ।।

अनेन च कुमारेण त्वया दत्तेन किं कृतम् ।
यस्य चैव कृतेनायं मानुषेषु निवत्स्यति ।। २ ।।

और तुम्हारे दिये हुए इस पुत्रने कौन-सा कर्म किया है, जिसके कारण यह मनुष्यलोकमें निवास करेगा ।। २ ।।

ईशा वै सर्वलोकस्य वसवस्ते च वै कथम् ।
मानुषेषूदपद्यन्त तन्ममाचक्ष्व जाह्नवि ।। ३ ।।

जाह्नवि! वसु तो समस्त लोकोंके अधीश्वर हैं, वे कैसे मनुष्यलोकमें उत्पन्न हुए? यह सब बात मुझे बताओ ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता तदा गङ्गा राजानमिदमब्रवीत् ।
भर्तारं जाह्नवी देवी शान्तनुं पुरुषर्षभ ।। ४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय! अपने पति राजा शान्तनुके इस प्रकार पूछनेपर जह्नुपुत्री गंगादेवीने उनसे इस प्रकार कहा ।। ४ ।।

गङ्गोवाच

यं लेभे वरुणः पुत्रं पुरा भरतसत्तम ।
वसिष्ठनामा स मुनिः ख्यात आपव इत्युत ।। ५ ।।

गंगा बोलीं—भरतश्रेष्ठ! पूर्वकालमें वरुणने जिन्हें पुत्ररूपमें प्राप्त किया था, वे वसिष्ठ नामक मुनि ही ‘आपव’ नामसे विख्यात हैं ।। ५ ।।

तस्याश्रमपदं पुण्यं मृगपक्षिसमन्वितम् ।
मेरोः पार्श्वे नगेन्द्रस्य सर्वर्तुकुसुमावृतम् ।। ६ ।।

गिरिराज मेरुके पार्श्वभागमें उनका पवित्र आश्रम है; जो मृग और पक्षियोंसे भरा रहता है। सभी ऋतुओंमें विकसित होनेवाले फूल उस आश्रमकी शोभा बढ़ाते हैं ।। ६ ।।

स वारुणिस्तपस्तेपे तस्मिन् भरतसत्तम ।

वने पुण्यकृतां श्रेष्ठः स्वादुमूलफलोदके ।। ७ ।।

भरतवंशशिरोमणे! उस वनमें स्वादिष्ट फल, मूल और जलकी सुविधा थी, पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ वरुणनन्दन महर्षि वसिष्ठ उसीमें तपस्या करते थे ।। ७ ।।

दक्षस्य दुहिता या तु सुरभीत्यभिशब्दिता ।
गां प्रजाता तु सा देवी कश्यपाद् भरतर्षभ ।। ८ ।।

महाराज! दक्ष प्रजापतिकी पुत्रीने, जो देवी सुरभि नामसे विख्यात है, कश्यपजीके सहवाससे एक गौको जन्म दिया ।। ८ ।।

अनुग्रहार्थं जगतः सर्वकामदुहां वरा ।
तां लेभे गां तु धर्मात्मा होमधेनुं स वारुणिः ।। ९ ।।

वह गौ सम्पूर्ण जगत्पर अनुग्रह करनेके लिये प्रकट हुई थी तथा समस्त कामनाओंको देनेवालोंमें श्रेष्ठ थी। वरुणपुत्र धर्मात्मा वसिष्ठने उस गौको अपनी होमधेनुके रूपमें प्राप्त किया ।। ९ ।।

सा तस्मिंस्तापसारण्ये वसन्ती मुनिसेविते ।
चचार पुण्ये रम्ये च गौरपेतभया तदा ।। १० ।।

वह गौ मुनियोंद्वारा सेवित उस पवित्र एवं रमणीय तापसवनमें रहती हुई सब ओर निर्भय होकर चरती थी ।। १० ।।

अथ तद् वनमाजग्मुः कदाचिद् भरतर्षभ ।
पृथ्वाद्या वसवः सर्वे देवा देवर्षिसेवितम् ।। ११ ।।

भरतश्रेष्ठ! एक दिन उस देवर्षिसेवित वनमें पृथु आदि वसु तथा सम्पूर्ण देवता पधारे ।। ११ ।।

ते सदारा वनं तच्च व्यचरन्त समन्ततः ।
रेमिरे रमणीयेषु पर्वतेषु वनेषु च ।। १२ ।।

वे अपनी स्त्रियोंके साथ उस वनमें चारों ओर विचरने तथा रमणीय पर्वतों और वनोंमें रमण करने लगे ।। १२ ।।

तत्रैकस्याथ भार्या तु वसोर्वासवविक्रम ।
संचरन्ती वने तस्मिन् गां ददर्श सुमध्यमा ।। १३ ।।

इन्द्रके समान पराक्रमी महीपाल! उन वसुओंमेंसे एककी सुन्दरी पत्नीने उस वनमें घूमते समय उस गौको देखा ।। १३ ।।

नन्दिनीं नाम राजेन्द्र सर्वकामधुगुत्तमाम् ।
सा विस्मयसमाविष्टा शीलद्रविणसम्पदा ।। १४ ।।

राजेन्द्र! सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवालोंमें उत्तम नन्दिनी नामवाली उस गायको देखकर उसकी शीलसम्पत्तिसे वह वसुपत्नी आश्चर्यचकित हो उठी ।। १४ ।।

द्यवे वै दर्शयामास तां गां गोवृषभेक्षण ।

आपीनां च सुदोग्ध्रीं च सुवालधिखुरां शुभाम् ।। १५ ।।
उपपन्नां गुणैः सर्वैः शीलेनानुत्तमेन च ।
एवंगुणसमायुक्तां वसवे वसुनन्दिनी ।। १६ ।।
दर्शयामास राजेन्द्र पुरा पौरवनन्दन ।
द्यौस्तदा तां तु दृष्ट्वैव गां गजेन्द्रेन्द्रविक्रम ।। १७ ।।
उवाच राजंस्तां देवीं तस्या रूपगुणान् वदन् ।
एषा गौरुत्तमा देवी वारुणेरसितेक्षणा ।। १८ ।।
ऋषेस्तस्य वरारोहे यस्येदं वनमुत्तमम् ।
अस्याः क्षीरं पिबेन्मर्त्यः स्वादु यो वै सुमध्यमे ।। १९ ।।
दशवर्षसहस्राणि स जीवेत् स्थिरयौवनः ।
एतच्छ्रुत्वा तु सा देवी नृपोत्तम सुमध्यमा ।। २० ।।
तमुवाचानवद्याङ्गी भर्तारं दीप्ततेजसम् ।
अस्ति मे मानुषे लोके नरदेवात्मजा सखी ।। २१ ।।

वृषभके समान विशाल नेत्रोंवाले महाराज! उस देवीने द्यो नामक वसुको वह शुभ गाय दिखायी, जो भलीभाँति हृष्ट-पुष्ट थी। दूधसे भरे हुए उसके थन बड़े सुन्दर थे, पूँछ और खुर भी बहुत अच्छे थे। वह सुन्दर गाय सभी सद्‌गुणोंसे सम्पन्न और सर्वोत्तम शील-स्वभावसे युक्त थी। पूरुवंशका आनन्द बढ़ानेवाली सम्राट्! इस प्रकार पूर्वकालमें वसुका आनन्द बढ़ानेवाली देवीने अपने पति वसुको ऐसे सद्‌गुणोंवाली गौका दर्शन कराया। गजराजके समान पराक्रमी महाराज! द्योने उस गायको देखते ही उसके रूप और गुणोंका वर्णन करते हुए अपनी पत्नीसे कहा—‘यह कजरारे नेत्रोंवाली उत्तम गौ दिव्य है। वरारोहे! यह उन वरुणनन्दन महर्षि वसिष्ठकी गाय है, जिनका यह उत्तम तपोवन है। सुमध्यमे! जो मनुष्य इसका स्वादिष्ट दूध पी लेगा, वह दस हजार वर्षोंतक जीवित रहेगा और उतने समयतक उसकी युवावस्था स्थिर रहेगी।’ नृपश्रेष्ठ! सुन्दर कटि-प्रदेश और निर्दोष अंगोंवाली वह देवी यह बात सुनकर अपने तेजस्वी पतिसे बोली—‘प्राणनाथ! मनुष्यलोकमें एक राजकुमारी मेरी सखी है’ ।। १५—२१ ।।

नाम्ना जितवती नाम रूपयौवनशालिनी ।
उशीनरस्य राजर्षेः सत्यसंधस्य धीमतः ।। २२ ।।
दुहिता प्रथिता लोके मानुषे रूपसम्पदा ।
तस्या हेतोर्महाभाग सवत्सां गां ममेप्सिताम् ।। २३ ।।

‘उसका नाम है जितवती। वह सुन्दर रूप और युवावस्थासे सुशोभित है। सत्यप्रतिज्ञ बुद्धिमान् राजर्षि उशीनरकी पुत्री है। रूपसम्पत्तिकी दृष्टिसे मनुष्यलोकमें उसकी बड़ी ख्याति है। महाभाग! उसीके लिये बछड़ेसहित यह गाय लेनेकी मेरी बड़ी इच्छा है ।। २२-२३ ।।

आनयस्वामरश्रेष्ठ त्वरितं पुण्यवर्धन ।
यावदस्याः पयः पीत्वा सा सखी मम मानद ।। २४ ।।
मानुषेषु भवत्वेका जरारोगविवर्जिता ।
एतन्मम महाभाग कर्तुमर्हस्यनिन्दित ।। २५ ।।

'सुरश्रेष्ठ! आप पुण्यकी वृद्धि करनेवाले हैं। इस गायको शीघ्र ले आइये। मानद! जिससे इसका दूध पीकर मेरी वह सखी मनुष्यलोकमें अकेली ही जरावस्था एवं रोग-व्याधिसे बची रहे। महाभाग! आप निन्दारहित हैं; मेरे इस मनोरथको पूर्ण कीजिये ।। २४-२५ ।।

प्रियं प्रियतरं ह्यस्मान्नास्ति मेऽन्यत् कथंचन ।
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्या देव्याः प्रियचिकीर्षया ।। २६ ।।
पृथ्वाद्यैर्भ्रातृभिः सार्धं द्यौस्तदा तां जहार गाम् ।
तया कमलपत्राक्ष्या नियुक्तो द्यौस्तदा नृप ।। २७ ।।
ऋषेस्तस्य तपस्तीव्रं न शशाक निरीक्षितुम् ।
हृता गौः सा सदा तेन प्रपातस्तु न तर्कितः ।। २८ ।।

'मेरे लिये किसी तरह भी इससे बढ़कर प्रिय अथवा प्रियतर वस्तु दूसरी नहीं है।'

उस देवीका यह वचन सुनकर उसका प्रिय करनेकी इच्छासे द्यो नामक वसुने पृथु आदि अपने भाइयोंकी सहायतासे उस गौका अपहरण कर लिया। राजन्! कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली पत्नीसे प्रेरित होकर द्योने गौका अपहरण तो कर लिया; परंतु उस समय उन महर्षि वसिष्ठकी तीव्र तपस्याके प्रभावकी ओर वे दृष्टिपात नहीं कर सके और न यही सोच सके कि ऋषिके कोपसे मेरा स्वर्गसे पतन हो जायगा ।। २६—२८ ।।

अथाश्रमपदं प्राप्तः फलान्यादाय वारुणिः ।
न चापश्यत् स गां तत्र सवत्सां काननोत्तमे ।। २९ ।।

कुछ समयके बाद वरुणनन्दन वसिष्ठजी फल-मूल लेकर आश्रमपर आये; परंतु उस सुन्दर काननमें उन्हें बछड़ेसहित अपनी गाय नहीं दिखायी दी ।। २९ ।।

ततः स मृगयामास वने तस्मिंस्तपोधनः ।
नाध्यगच्छच्च मृगयंस्तां गां मुनिरुदारधीः ।। ३० ।।

तब तपोधन वसिष्ठजी उस वनमें गायकी खोज करने लगे; परंतु खोजनेपर भी वे उदारबुद्धि महर्षि उस गायको न पा सके ।। ३० ।।

ज्ञात्वा तथापनीतां तां वसुभिर्दिव्यदर्शनः ।
ययौ क्रोधवशं सद्यः शशाप च वसूंस्तदा ।। ३१ ।।

तब उन्होंने दिव्य दृष्टिसे देखा और यह जान गये कि वसुओंने उसका अपहरण किया है। फिर तो वे क्रोधके वशीभूत हो गये और तत्काल वसुओंको शाप दे दिया— ।। ३१ ।।

यस्मान्मे वसवो जह्रुर्गां वै दोग्ध्रीं सुवालधिम् ।

तस्मात् सर्वे जनिष्यन्ति मानुषेषु न संशयः ।। ३२ ।।

'वसुओंने सुन्दर पूँछवाली मेरी कामधेनु गायका अपहरण किया है, इसलिये वे सब-के-सब मनुष्य-योनिमें जन्म लेंगे, इसमें संशय नहीं है' ।। ३२ ।।

एवं शशाप भगवान् वसूंस्तान् भरतर्षभ ।
वशं क्रोधस्य सम्प्राप्त आपवो मुनिसत्तमः ।। ३३ ।।

भरतर्षभ! इस प्रकार मुनिवर भगवान् वसिष्ठने क्रोधके आवेशमें आकर उन वसुओंको शाप दिया ।। ३३ ।।

शप्त्वा च तान् महाभागस्तपस्येव मनो दधे ।
एवं स शप्तवान् राजन् वसूनष्टौ तपोधनः ।। ३४ ।।
महाप्रभावो ब्रह्मर्षिर्देवान् क्रोधसमन्वितः ।
अथाश्रमपदं प्राप्तास्ते वै भूयो महात्मनः ।। ३५ ।।
शप्ताः स्म इति जानन्त ऋषिं तमुपचक्रमुः ।
प्रसादयन्तस्तमृषिं वसवः पार्थिवर्षभ ।। ३६ ।।
लेभिरे न च तस्मात् ते प्रसादमृषिसत्तमात् ।
आपवात् पुरुषव्याघ्र सर्वधर्मविशारदात् ।। ३७ ।।

उन्हें शाप देकर उन महाभाग महर्षिने फिर तपस्यामें ही मन लगाया। राजन्! तपस्याके धनी ब्रह्मर्षि वसिष्ठका प्रभाव बहुत बड़ा है। इसीलिये उन्होंने क्रोधमें भरकर देवता होनेपर भी उन आठों वसुओंको शाप दे दिया। तदनन्तर हमें शाप मिला है, यह जानकर वे वसु पुनः महामना वसिष्ठके आश्रमपर आये और उन महर्षिको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगे। नृपश्रेष्ठ! महर्षि आपव समस्त धर्मोंके ज्ञानमें निपुण थे। महाराज! उनको प्रसन्न करनेकी पूरी चेष्टा करने-पर भी वे वसु उन मुनिश्रेष्ठसे उनका कृपाप्रसाद न पा सके ।। ३४—३७ ।।

उवाच च स धर्मात्मा शप्ता यूयं धरादयः ।
अनुसंवत्सरात् सर्वे शापमोक्षमवाप्स्यथ ।। ३८ ।।

उस समय धर्मात्मा वसिष्ठने उनसे कहा—'मैंने धर आदि तुम सभी वसुओंको शाप दे दिया है; परंतु तुमलोग तो प्रति वर्ष एक-एक करके सब-के-सब शापसे मुक्त हो जाओगे ।। ३८ ।।

अयं तु यत्कृते यूयं मया शप्ताः स वत्स्यति ।
द्यौस्तदा मानुषे लोके दीर्घकालं स्वकर्मणा ।। ३९ ।।

'किंतु यह द्यो, जिसके कारण तुम सबको शाप मिला है, मनुष्यलोकमें अपने कर्मानुसार दीर्घकालतक निवास करेगा ।। ३९ ।।

नानृतं तच्चिकीर्षामि क्रुद्धो युष्मान् यदब्रुवम् ।
न प्रजास्यति चाप्येष मानुषेषु महामनाः ।। ४० ।।

'मैंने क्रोधमें आकर तुमलोगोंसे जो कुछ कहा है, उसे असत्य करना नहीं चाहता। ये महामना द्यो मनुष्यलोकमें संतानकी उत्पत्ति नहीं करेंगे ।। ४० ।।

भविष्यति च धर्मात्मा सर्वशास्त्रविशारदः ।
पितुः प्रियहिते युक्तः स्त्रीभोगान् वर्जयिष्यति ।। ४१ ।।

'और धर्मात्मा तथा सब शास्त्रोंमें निपुण विद्वान् होंगे; पिताके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहकर स्त्री-सम्बन्धी भोगोंका परित्याग कर देंगे' ।। ४१ ।।

एवमुक्त्वा वसून् सर्वान् स जगाम महानृषिः ।
ततो मामुपजग्मुस्ते समेता वसवस्तदा ।। ४२ ।।

उन सब वसुओंसे ऐसी बात कहकर वे महर्षि वहाँसे चल दिये। तब वे सब वसु एकत्र होकर मेरे पास आये ।। ४२ ।।

अयाचन्त च मां राजन् वरं तच्च मया कृतम् ।
जाताञ्जातान् प्रक्षिपास्मान् स्वयं गङ्गे त्वमम्भसि ।। ४३ ।।

राजन्! उस समय उन्होंने मुझसे याचना की और मैंने उसे पूर्ण किया। उनकी याचना इस प्रकार थी—'गंगे! हम ज्यों-ज्यों जन्म लें, तुम स्वयं हमें अपने जलमें डाल देना' ।। ४३ ।।

एवं तेषामहं सम्यक् शप्तानां राजसत्तम ।
मोक्षार्थं मानुषाल्लोकाद् यथावत् कृतवत्यहम् ।। ४४ ।।

राजशिरोमणे! इस प्रकार उन शापग्रस्त वसुओंको इस मनुष्यलोकसे मुक्त करनेके लिये मैंने यथावत् प्रयत्न किया है ।। ४४ ।।

अयं शापादृषेस्तस्य एक एव नृपोत्तम ।
द्यौ राजन् मानुषे लोके चिरं वत्स्यति भारत ।। ४५ ।।

भारत! नृपश्रेष्ठ! यह एकमात्र द्यो ही महर्षिके शापसे दीर्घकालतक मनुष्यलोकमें निवास करेगा ।। ४५ ।।

(अयं देवव्रतश्चैव गङ्गादत्तश्च मे सुतः ।
द्विनामा शान्तनोः पुत्रः शान्तनोरधिको गुणैः ।।
अयं कुमारः पुत्रस्ते विवृद्धः पुनरेष्यति ।
अहं च ते भविष्यामि आह्वानोपगता नृप ।।)

राजन्! मेरा यह पुत्र देवव्रत और गंगादत्त—दो नामोंसे विख्यात होगा। आपका बालक गुणोंमें आपसे भी बढ़कर होगा। (अच्छा, अब जाती हूँ) आपका यह पुत्र अभी शिशु-अवस्थामें है। बड़ा होनेपर फिर आपके पास आ जायगा और आप जब मुझे बुलायेंगे तभी मैं आपके सामने उपस्थित हो जाऊँगी।

वैशम्पायन उवाच

एतदाख्याय सा देवी तत्रैवान्तरधीयत ।
आदाय च कुमारं तं जगामाथ यथेप्सितम् ।। ४६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ये सब बातें बताकर गंगादेवी उस नवजात शिशुको साथ ले वहीं अन्तर्धान हो गयीं और अपने अभीष्ट स्थानको चली गयीं ।। ४६ ।।

स तु देवव्रतो नाम गाङ्गेय इति चाभवत् ।
द्युनामा शान्तनोः पुत्रः शान्तनोरधिको गुणैः ।। ४७ ।।

उस बालकका नाम हुआ देवव्रत। कुछ लोग गांगेय भी कहते थे। द्यु* नामवाले वसु शान्तनुके पुत्र होकर गुणोंमें उनसे भी बढ़ गये ।। ४७ ।।

शान्तनुश्चापि शोकार्तो जगाम स्वपुरं ततः ।
तस्याहं कीर्तयिष्यामि शान्तनोरधिकान् गुणान् ।। ४८ ।।

इधर शान्तनु शोकसे आतुर हो पुनः अपने नगरको लौट गये। शान्तनुके उत्तम गुणोंका मैं आगे चलकर वर्णन करूँगा ।। ४८ ।।

महाभाग्यं च नृपतेर्भारतस्य महात्मनः ।
यस्येतिहासो द्युतिमान् महाभारतमुच्यते ।। ४९ ।।

उन भरतवंशी महात्मा नरेशके महान् सौभाग्यका भी मैं वर्णन करूँगा, जिनका उज्ज्वल इतिहास 'महाभारत' नामसे विख्यात है ।। ४९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि आपवोपाख्याने नवनवतितमोऽध्यायः ।। ९९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें आपवोपाख्यानविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५१ श्लोक हैं)

---

* 'द्यु' का ही नाम 'द्यो' है, जैसा कि पहले कई बार आ चुका है।

शततमोऽध्यायः

शान्तनुके रूप, गुण और सदाचारकी प्रशंसा, गंगाजीके द्वारा सुशिक्षित पुत्रकी प्राप्ति तथा देवव्रतकी भीष्म-प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

स राजा शान्तनुर्धीमान् देवराजर्षिसत्कृतः ।
धर्मात्मा सर्वलोकेषु सत्यवागिति विश्रुतः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा शान्तनु बड़े बुद्धिमान् थे; देवता तथा राजर्षि भी उनका सत्कार करते थे। वे धर्मात्मा नरेश सम्पूर्ण जगत्में सत्यवादीके रूपमें विख्यात थे ।। १ ।।

दमो दानं क्षमा बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम् ।
नित्यान्यासन् महासत्त्वे शान्तनौ पुरुषर्षभे ।। २ ।।

उन महाबली नरश्रेष्ठ शान्तनुमें इन्द्रियसंयम, दान, क्षमा, बुद्धि, लज्जा, धैर्य तथा उत्तम तेज आदि सद्‌गुण सदा विद्यमान थे ।। २ ।।

एवं स गुणसम्पन्नो धर्मार्थकुशलो नृपः ।
आसीद् भरतवंशस्य गोप्ता सर्वजनस्य च ।। ३ ।।

इस प्रकार उत्तम गुणोंसे सम्पन्न एवं धर्म और अर्थके साधनमें कुशल राजा शान्तनु भरतवंशका पालन तथा सम्पूर्ण प्रजाकी रक्षा करते थे ।। ३ ।।

कम्बुग्रीवः पृथुव्यंसो मत्तवारणविक्रमः ।
अन्वितः परिपूर्णार्थैः सर्वैर्नृपतिलक्षणैः ।। ४ ।।

उनकी ग्रीवा शंखके समान शोभा पाती थी। कंधे विशाल थे। वे मतवाले हाथीके समान पराक्रमी थे। उनमें सभी राजोचित शुभ लक्षण पूर्ण सार्थक होकर निवास करते थे ।। ४ ।।

तस्य कीर्तिमतो वृत्तमवेक्ष्म सततं नराः ।
धर्म एव परः कामादर्थाच्चेति व्यवस्थिताः ।। ५ ।।

उन यशस्वी महाराजके धर्मपूर्ण सदाचारको देखकर सब मनुष्य सदा इसी निश्चयपर पहुँचे थे कि काम और अर्थसे धर्म ही श्रेष्ठ है ।। ५ ।।

एतान्यासन् महासत्त्वे शान्तनौ पुरुषर्षभे ।
न चास्य सदृशः कश्चिद् धर्मतः पार्थिवोऽभवत् ।। ६ ।।

महान् शक्तिशाली पुरुषश्रेष्ठ शान्तनुमें ये सभी सद्‌गुण विद्यमान थे। उनके समान धर्मपूर्वक शासन करनेवाला दूसरा कोई राजा नहीं था ।। ६ ।।

वर्तमानं हि धर्मेषु सर्वधर्मभृतां वरम् ।

तं महीपा महीपालं राजराज्येऽभ्यषेचयन् ।। ७ ।।

वे धर्ममें सदा स्थिर रहनेवाले और सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे; अतः समस्त राजाओंने मिलकर राजा शान्तनुको राजराजेश्वर (सम्राट्)-के पदपर अभिषिक्त कर दिया ।। ७ ।।

वीतशोकभयाबाधाः सुखस्वप्नविबोधनाः ।
पतिं भारत गोप्तारं समपद्यन्त भूमिपाः ।। ८ ।।

जनमेजय! जब सब राजाओंने शान्तनुको अपना स्वामी तथा रक्षक बना लिया, तब किसीको शोक, भय और मानसिक संताप नहीं रहा। सब लोग सुखसे सोने और जागने लगे ।। ८ ।।

तेन कीर्तिमता शिष्टाः शक्रप्रतिमतेजसा ।
यज्ञदानक्रियाशीलाः समपद्यन्त भूमिपाः ।। ९ ।।

इन्द्रके समान तेजस्वी और कीर्तिशाली शान्तनुके शासनमें रहकर अन्य राजालोग भी दान और यज्ञ कर्मोंमें स्वभावतः प्रवृत्त होने लगे ।। ९ ।।

शान्तनुप्रमुखैर्गुप्ते लोके नृपतिभिस्तदा ।
नियमात् सर्ववर्णानां धर्मोत्तरमवर्तत ।। १० ।।

उस समय शान्तनुप्रधान राजाओंद्वारा सुरक्षित जगत्‌में सभी वर्णोंके लोग नियमपूर्वक प्रत्येक बर्तावमें धर्मको ही प्रधानता देने लगे ।। १० ।।

ब्रह्म पर्यचरत् क्षत्रं विशः क्षत्रमनुव्रताः ।
ब्रह्मक्षत्रानुरक्ताश्च शूद्राः पर्यचरन् विशः ।। ११ ।।

क्षत्रियलोग ब्राह्मणोंकी सेवा करते, वैश्य ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें अनुरक्त रहते तथा शूद्र ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें अनुराग रखते हुए वैश्योंकी सेवामें तत्पर रहते थे ।। ११ ।।

स हास्तिनपुरे रम्ये कुरूणां पुटभेदने ।
वसन् सागरपर्यन्तामन्वशासद् वसुन्धराम् ।। १२ ।।

महाराज शान्तनु कुरुवंशकी रमणीय राजधानी हस्तिनापुरमें निवास करते हुए समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका शासन और पालन करते थे ।। १२ ।।

स देवराजसदृशो धर्मज्ञः सत्यवागृजुः ।
दानधर्मतपोयोगाच्छ्रिया परमया युतः ।। १३ ।।

वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी, धर्मज्ञ, सत्यवादी तथा सरल थे। दान, धर्म और तपस्या तीनोंके योगसे उनमें दिव्य कान्तिकी वृद्धि हो रही थी ।। १३ ।।

अरागद्वेषसंयुक्तः सोमवत् प्रियदर्शनः ।
तेजसा सूर्यकल्पोऽभूद् वायुवेगसमो जवे ।
अन्तकप्रतिमः कोपे क्षमया पृथिवीसमः ।। १४ ।।

उनमें न राग था न द्वेष। चन्द्रमाकी भाँति उनका दर्शन सबको प्यारा लगता था। वे तेजमें सूर्य और वेगमें वायुके समान जान पड़ते थे; क्रोधमें यमराज और क्षमामें पृथ्वीकी समानता करते थे ।। १४ ।।

वधः पशुवराहाणां तथैव मृगपक्षिणाम् ।
शान्तनौ पृथिवीपाले नावर्तत तथा नृप ।। १५ ।।

जनमेजय! महाराज शान्तनुके इस पृथ्वीका पालन करते समय पशुओं, वराहों, मृगों तथा पक्षियोंका वध नहीं होता था ।। १५ ।।

ब्रह्मधर्मोत्तरे राज्ये शान्तनुर्विनयात्मवान् ।
समं शशास भूतानि कामरागविवर्जितः ।। १६ ।।

उनके राज्यमें ब्रह्म और धर्मकी प्रधानता थी। महाराज शान्तनु बड़े विनयशील तथा काम-राग आदि दोषोंसे दूर रहनेवाले थे। वे सब प्राणियोंका समानभावसे शासन करते थे ।। १६ ।।

देवर्षिपितृयज्ञार्थमारभ्यन्त तदा क्रियाः ।
न चाधर्मेण केषांचित् प्राणिनामभवद् वधः ।। १७ ।।

उन दिनों देवयज्ञ, ऋषियज्ञ तथा पितृयज्ञके लिये कर्मोंका आरम्भ होता था। अधर्मका भय होनेके कारण किसी भी प्राणीका वध नहीं किया जाता था ।। १७ ।।

असुखानामनाथानां तिर्यग्योनिषु वर्तताम् ।
स एव राजा सर्वेषां भूतानामभवत् पिता ।। १८ ।।

दुःखी, अनाथ एवं पशु-पक्षीकी योनिमें पड़े हुए जीव—इन सब प्राणियोंका वे राजा शान्तनु ही पिताके समान पालन करते थे ।। १८ ।।

तस्मिन् कुरुपतिश्रेष्ठे राजराजेश्वरे सति ।
श्रिता वागभवत् सत्यं दानधर्माश्रितं मनः ।। १९ ।।

कुरुवंशी नरेशोंमें श्रेष्ठ राजराजेश्वर शान्तनुके शासन-कालमें सबकी वाणी सत्यके आश्रित थी—सभी सत्य बोलते थे और सबका मन दान एवं धर्ममें लगता था ।। १९ ।।

स समाः षोडशाष्टौ च चतस्रोऽष्टौ तथापराः ।
रतिमप्राप्नुवन् स्त्रीषु बभूव वनगोचरः ।। २० ।।

राजा शान्तनु सोलह, आठ, चार और आठ कुल छत्तीस वर्षोंतक स्त्रीविषयक अनुरागका अनुभव न करते हुए वनमें रहे ।। २० ।।

तथारूपस्तथाचारस्तथावृत्तस्तथाश्रुतः ।
गाङ्गेयस्तस्य पुत्रोऽभून्नाम्ना देवव्रतो वसुः ।। २१ ।।

वसुके अवतारभूत गांगेय उनके पुत्र हुए, जिनका नाम देवव्रत था। वे पिताके समान ही रूप, आचार, व्यवहार तथा विद्यासे सम्पन्न थे ।। २१ ।।

सर्वास्त्रेषु स निष्णातः पार्थिवेष्वितरेषु च ।

महाबलो महासत्त्वो महावीर्यो महारथः ।। २२ ।।

लौकिक और अलौकिक सब प्रकारके अस्त्रशस्त्रोंकी कलामें वे पारंगत थे। उनके बल, सत्त्व (धैर्य) तथा वीर्य (पराक्रम) महान् थे। वे महारथी वीर थे ।। २२ ।।

स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा गङ्गामनुसरन् नदीम् ।
भागीरथीमल्पजलां शान्तनुर्दृष्टवान् नृपः ।। २३ ।।

एक समय किसी हिंसक पशुको बाणोंसे बींधकर राजा शान्तनु उसका पीछा करते हुए भागीरथी गंगाके तटपर आये। उन्होंने देखा कि गंगाजीमें बहुत थोड़ा जल रह गया है ।। २३ ।।

तां दृष्ट्वा चिन्तयामास शान्तनुः पुरुषर्षभः ।
स्यन्दते किं त्वियं नाद्य सरिच्छ्रेष्ठा यथा पुरा ।। २४ ।।

उसे देखकर पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज शान्तनु इस चिन्तामें पड़ गये कि यह सरिताओंमें श्रेष्ठ देवनदी आज पहलेकी तरह क्यों नहीं बह रही है ।। २४ ।।

ततो निमित्तमन्विच्छन् ददर्श स महामनाः ।
कुमारं रूपसम्पन्नं बृहन्तं चारुदर्शनम् ।। २५ ।।
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणं यथा देवं पुरन्दरम् ।
कृत्स्नां गङ्गां समावृत्य शरैस्तीक्ष्णैरवस्थितम् ।। २६ ।।

तदनन्तर उन महामना नरेशने इसके कारणका पता लगाते हुए जब आगे बढ़कर देखा, तब मालूम हुआ कि एक परम सुन्दर मनोहर रूपसे सम्पन्न विशालकाय कुमार देवराज इन्द्रके समान दिव्यास्त्रका अभ्यास कर रहा है और अपने तीखे बाणोंसे समूची गंगाकी धाराको रोककर खड़ा है ।। २५-२६ ।।

तां शरैराचितां दृष्ट्वा नदीं गङ्गां तदन्तिके ।
अभवद् विस्मितो राजा दृष्ट्वा कर्मातिमानुषम् ।। २७ ।।

राजाने उसके निकटकी गंगा नदीको उसके बाणोंसे व्याप्त देखा। उस बालकका यह अलौकिक कर्म देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ ।। २७ ।।

जातमात्रं पुरा दृष्ट्वा तं पुत्रं शान्तनुस्तदा ।
नोपलेभे स्मृतिं धीमानभिज्ञातुं तमात्मजम् ।। २८ ।।

शान्तनुने अपने पुत्रको पहले पैदा होनेके समय ही देखा था; अतः उन बुद्धिमान् नरेशको उस समय उसकी याद नहीं आयी; इसीलिये वे अपने ही पुत्रको पहचान न सके ।। २८ ।।

स तु तं पितरं दृष्ट्वा मोहयामास मायया ।
सम्मोह्य तु ततः क्षिप्रं तत्रैवान्तरधीयत ।। २९ ।।

बालकने अपने पिताको देखकर उन्हें मायासे मोहित कर दिया और मोहित कर दिया और मोहित करके शीघ्र वहीं अन्तर्धान हो गया ।। २९ ।।

तदद्भुतं ततो दृष्ट्वा तत्र राजा स शान्तनुः ।
शङ्कमानः सुतं गङ्गामब्रवीद् दर्शयेति ह ।। ३० ।।

यह अद्‌भुत बात देखकर राजा शान्तनुको कुछ संदेह हुआ और उन्होंने गंगासे अपने पुत्रको दिखानेको कहा ।। ३० ।।

दर्शयामास तं गङ्गा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ तं कुमारमलंकृतम् ।। ३१ ।।

तब गंगाजी परम सुन्दर रूप धारण करके अपने पुत्रका दाहिना हाथ पकड़े सामने आयीं और दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कुमार देवव्रतको दिखाया ।। ३१ ।।

अलंकृतामाभरणैर्विरजोऽम्बरसंवृताम् ।
दृष्टपूर्वामपि स तां नाभ्यजानात् स शान्तनुः ।। ३२ ।।

गंगा दिव्य आभूषणोंसे अलंकृत हो स्वच्छ सुन्दर साड़ी पहने हुई थीं। इससे उनका अनुपम सौन्दर्य इतना बढ़ गया था कि पहलेकी देखी होनेपर भी राजा शान्तनु उन्हें पहचान न सके ।। ३२ ।।

गङ्गोवाच

यं पुत्रमष्टमं राजंस्त्वं पुरा मय्यविन्दथाः ।
स चायं पुरुषव्याघ्र सर्वास्त्रविदनुत्तमः ।। ३३ ।।

गंगाजीने कहा—महाराज! पूर्वकालमें आपने अपने जिस आठवें पुत्रको मेरे गर्भसे प्राप्त किया था, यह वही है। पुरुषसिंह! यह सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओंमें अत्यन्त उत्तम है ।। ३३ ।।

गृहाणेमं महाराज मया संवर्धितं सुतम् ।
आदाय पुरुषव्याघ्र नयस्वैनं गृहं विभो ।। ३४ ।।

राजन! मैंने इसे पाल-पोसकर बड़ा कर दिया है। अब आप अपने इस पुत्रको ग्रहण कीजिये। नरश्रेष्ठ! स्वामिन्! इसे घर ले जाइये ।। ३४ ।।

वेदानधिजगे साङ्गान् वसिष्ठादेष वीर्यवान् ।
कृतास्त्रः परमेष्वासो देवराजसमो युधि ।। ३५ ।।

आपका यह बलवान् पुत्र महर्षि वसिष्ठसे छहों अंगोंसहित समस्त वेदोंका अध्ययन कर चुका है। यह अस्त्र-विद्याका भी पण्डित है, महान् धनुर्धर है और युद्धमें देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी है ।। ३५ ।।

सुराणां सम्मतो नित्यमसुराणां च भारत ।
उशना वेद यच्छास्त्रमयं तद् वेद सर्वशः ।। ३६ ।।

भारत! देवता और असुर भी इसका सदा सम्मान करते हैं। शुक्राचार्य जिस (नीति) शास्त्रको जानते हैं, उसका यह भी पूर्णरूपसे जानकार है ।। ३६ ।।

तथैवाङ्गिरसः पुत्रः सुरासुरनमस्कृतः ।
यद् वेद शास्त्रं तच्चापि कृत्स्नमस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।। ३७ ।।
तव पुत्रे महाबाहौ साङ्गोपाङ्गं महात्मनि ।

ऋषिः परैरनाधृष्यो जामदग्न्यः प्रतापवान् ।। ३८ ।।
यदस्त्रं वेद रामश्च तदेतस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।
महेष्वासमिमं राजन् राजधर्मार्थकोविदम् ।। ३९ ।।
मया दत्तं निजं पुत्रं वीरं वीर गृहं नय ।

इसी प्रकार अंगिराके पुत्र देव-दानव-वन्दित बृहस्पति जिस शास्त्रको जानते हैं, वह भी आपके इस महाबाहु महात्मा पुत्रमें अंग और उपांगोंसहित पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित है। जो दूसरोंसे परास्त नहीं होते, वे प्रतापी महर्षि जमदग्निनन्दन परशुराम जिस अस्त्र-विद्याको जानते हैं, वह भी मेरे इस पुत्रमें प्रतिष्ठित है। वीरवर महाराज! यह कुमार राजधर्म तथा अर्थशास्त्रका महान् पण्डित है। मेरे दिये हुए इस महाधनुर्धर वीर पुत्रको आप घर ले जाइये ।। ३७—३९½ ।।

वैशम्पायन उवाच

(इत्युक्त्वा सा महाभागा तत्रैवान्तरधीयत ।)
तयैवं समनुज्ञातः पुत्रमादाय शान्तनुः ।। ४० ।।
भ्राजमानं यथादित्यमाययौ स्वपुरं प्रति ।
पौरवस्तु पुरीं गत्वा पुरन्दरपुरोपमाम् ।। ४१ ।।
सर्वकामसमृद्धार्थं मेने सोऽऽत्मानमात्मना ।
पौरवेषु ततः पुत्रं राज्यार्थमभयप्रदम् ।। ४२ ।।
गुणवन्तं महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।
पौरवाञ्छान्तनोः पुत्रः पितरं च महायशाः ।। ४३ ।।
राष्ट्रं च रञ्जयामास वृत्तेन भरतर्षभ ।
स तथा सह पुत्रेण रममाणो महीपतिः ।। ४४ ।।
वर्तयामास वर्षाणि चत्वार्यमितविक्रमः ।
स कदाचिद् वनं यातो यमुनामभितो नदीम् ।। ४५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर महाभागा गंगादेवी वहीं अन्तर्धान हो गयीं। गंगाजीके इस प्रकार आज्ञा देनेपर महाराज शान्तनु सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले अपने पुत्रको लेकर राजधानीमें आये। उनका हस्तिनापुर इन्द्रनगरी अमरावतीके समान सुन्दर था। पूरुवंशी राजा शान्तनु पुत्रसहित उसमें जाकर अपने-आपको सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न एवं सफलमनोरथ मानने लगे। तदनन्तर उन्होंने सबको अभय देनेवाले महात्मा एवं गुणवान् पुत्रको राजकाजमें सहयोग करनेके लिये समस्त पौरवोंके बीचमें युवराज-पदपर अभिषिक्त कर दिया। जनमेजय! शान्तनुके उस महायशस्वी पुत्रने अपने आचार-व्यवहारसे पिताको, पौरवसमाजको तथा समूचे राष्ट्रको प्रसन्न कर लिया। अमितपराक्रमी राजा शान्तनुने वैसे

गुणवान् पुत्रके साथ आनन्दपूर्वक रहते हुए चार वर्ष व्यतीत किये। एक दिन वे यमुना नदीके निकटवर्ती वनमें गये ।। ४०—४५ ।।

महीपतिरनिर्देश्यमाजिघ्रद् गन्धमुत्तमम् ।
तस्य प्रभवमन्विच्छन् विचचार समन्ततः ।। ४६ ।।

वहाँ राजाको अवर्णनीय एवं परम उत्तम सुगन्धका अनुभव हुआ। वे उसके उद्‌गमस्थानका पता लगाते हुए सब ओर विचरने लगे ।। ४६ ।।

स ददर्श तदा कन्यां दाशानां देवरूपिणीम् ।
तामपृच्छत् स दृष्ट्वैव कन्यामसितलोचनाम् ।। ४७ ।।

घूमते-घूमते उन्होंने मल्लाहोंकी एक कन्या देखी, जो देवांगनाओंके समान रूपवती थी। श्याम नेत्रोंवाली उस कन्याको देखते ही राजाने पूछा— ।। ४७ ।।

कस्य त्वमसि का चासि किं च भीरु चिकीर्षसि ।
साब्रवीद् दाशकन्यास्मि धर्मार्थं वाहये तरिम् ।। ४८ ।।
पितुर्नियोगाद् भद्रं ते दाशराज्ञो महात्मनः ।
रूपमाधुर्यगन्धैस्तां संयुक्तां देवरूपिणीम् ।। ४९ ।।
समीक्ष्य राजा दाशेयीं कामयामास शान्तनुः ।
स गत्वा पितरं तस्या वरयामास तां तदा ।। ५० ।।

'भीरु! तू कौन है, किसकी पुत्री है और क्या करना चाहती है?' वह बोली—'राजन्! आपका कल्याण हो। मैं निषादकन्या हूँ और अपने पिता महामना निषादराजकी आज्ञासे धर्मार्थ नाव चलाती हूँ।' राजा शान्तनुने रूप, माधुर्य तथा सुगन्धसे युक्त देवांगनाके तुल्य उस निषादकन्याको देखकर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा की। तदनन्तर उसके पिताके समीप जाकर उन्होंने उसका वरण किया ।। ४८—५० ।।

पर्यपृच्छत् ततस्तस्याः पितरं सोऽऽत्मकारणात् ।
स च तं प्रत्युवाचेदं दाशराजो महीपतिम् ।। ५१ ।।

उन्होंने उसके पितासे पूछा—'मैं अपने लिये तुम्हारी कन्या चाहता हूँ।' यह सुनकर निषादराजने राजा शान्तनुको यह उत्तर दिया— ।। ५१ ।।

जातमात्रैव मे देया वराय वरवर्णिनी ।
हृदि कामस्तु मे कश्चित् तं निबोध जनेश्वर ।। ५२ ।।

'जनेश्वर! जबसे इस सुन्दरी कन्याका जन्म हुआ है, तभीसे मेरे मनमें यह चिन्ता है कि इसका किसी श्रेष्ठ वरके साथ विवाह करना चाहिये; किंतु मेरे हृदयमें एक अभिलाषा है, उसे सुन लीजिये ।। ५२ ।।

यदीमां धर्मपत्नीं त्वं मत्तः प्रार्थयसेऽनघ ।
सत्यवागसि सत्येन समयं कुरु मे ततः ।। ५३ ।।

'पापरहित नरेश! यदि इस कन्याको अपनी धर्मपत्नी बनानेके लिये आप मुझसे माँग रहे हैं, तो सत्यको सामने रखकर मेरी इच्छा पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कीजिये; क्योंकि आप सत्यवादी हैं ।। ५३ ।।

समयेन प्रदद्यां ते कन्यामहमिमां नृप ।
न हि मे त्वत्समः कश्चिद् वरो जातु भविष्यति ।। ५४ ।।

'राजन्! मैं इस कन्याको एक शर्तके साथ आपकी सेवामें दूँगा। मुझे आपके समान दूसरा कोई श्रेष्ठ वर कभी नहीं मिलेगा' ।। ५४ ।।

शान्तनुरुवाच

श्रुत्वा तव वरं दाश व्यवस्येयमहं तव ।
दातव्यं चेत् प्रदास्यामि न त्वदेयं कथंचन ।। ५५ ।।

शान्तनुने कहा—निषाद! पहले तुम्हारे अभीष्ट वरको सुन लेनेपर मैं उसके विषयमें कुछ निश्चय कर सकता हूँ। यदि देनेयोग्य होगा, तो दूँगा और देनेयोग्य नहीं होगा, तो कदापि नहीं दे सकता ।। ५५ ।।

दाश उवाच

अस्यां जायेत यः पुत्रः स राजा पृथिवीपते ।

त्वदूर्ध्वमभिषेक्तव्यो नान्यः कश्चन पार्थिव ।। ५६ ।।

निषाद बोला—पृथ्वीपते! इसके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न हो, आपके बाद उसीका राजाके पदपर अभिषेक किया जाय, अन्य किसी राजकुमारका नहीं ।। ५६ ।।

वैशम्पायन उवाच

नाकामयत तं दातुं वरं दाशाय शान्तनुः ।
शरीरजेन तीव्रेण दह्यमानोऽपि भारत ।। ५७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा शान्तनु प्रचण्ड कामाग्निसे जल रहे थे, तो भी उनके मनमें निषादको वह वर देनेकी इच्छा नहीं हुई ।। ५७ ।।

स चिन्तयन्नेव तदा दाशकन्यां महीपतिः ।
प्रत्ययाद्धास्तिनपुरं कामोपहतचेतनः ।। ५८ ।।

कामकी वेदनासे उनका चित्त चंचल था। वे उस निषादकन्याका ही चिन्तन करते हुए उस समय हस्तिनापुरको लौट गये ।। ५८ ।।

ततः कदाचिच्छोचन्तं शान्तनुं ध्यानमास्थितम् ।
पुत्रो देवव्रतोऽभ्येत्य पितरं वाक्यमब्रवीत् ।। ५९ ।।

तदनन्तर एक दिन राजा शान्तनु ध्यानस्थ होकर कुछ सोच रहे थे—चिन्तामें पड़े थे। इसी समय उनके पुत्र देवव्रत अपने पिताके पास आये और इस प्रकार बोले— ।। ५९ ।।

सर्वतो भवतः क्षेमं विधेयाः सर्वपार्थिवाः ।
तत् किमर्थमिहाभीक्ष्णं परिशोचसि दुःखितः ।। ६० ।।

'पिताजी! आपका तो सब ओरसे कुशल-मंगल है, भू-मण्डलके सभी नरेश आपकी आज्ञाके अधीन हैं; फिर किसलिये आप निरन्तर दुःखी होकर शोक और चिन्तामें डूबे रहते हैं ।। ६० ।।

ध्यायन्निव च मां राजन्नाभिभाषसि किंचन ।
न चाश्वेन विनिर्यासि विवर्णो हरिणः कृशः ।। ६१ ।।

'राजन्! आप इस तरह मौन बैठे रहते हैं, मानो किसीका ध्यान कर रहे हों; मुझसे कोई बातचीततक नहीं करते। घोड़ेपर सवार हो कहीं बाहर भी नहीं निकलते। आपकी कान्ति मलिन होती जा रही है। आप पीले और दुबले हो गये हैं ।। ६१ ।।

व्याधिमिच्छामि ते ज्ञातुं प्रतिकुर्यां हि तत्र वै ।
एवमुक्तः स पुत्रेण शान्तनुः प्रत्यभाषत ।। ६२ ।।

'आपको कौन-सा रोग लग गया है, यह मैं जानना चाहता हूँ, जिससे मैं उसका प्रतीकार कर सकूँ।' पुत्रके ऐसा कहनेपर शान्तनुने उत्तर दिया— ।। ६२ ।।

असंशयं ध्यानपरो यथा वत्स तथा शृणु ।
अपत्यं नस्त्वमेवैकः कुले महति भारत ।। ६३ ।।

‘बेटा! इसमें संदेह नहीं कि मैं चिन्तामें डूबा रहता हूँ। वह चिन्ता कैसी है, सो बताता हूँ, सुनो। भारत! तुम इस विशाल वंशमें मेरे एक ही पुत्र हो ।। ६३ ।।

शस्त्रनित्यश्च सततं पौरुषे पर्यवस्थितः ।
अनित्यतां च लोकानामनुशोचामि पुत्रक ।। ६४ ।।

‘तुम भी सदा अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यासमें लगे रहते हो और पुरुषार्थके लिये सदैव उद्यत रहते हो। बेटा! मैं इस जगत्‌की अनित्यताको लेकर निरन्तर शोकग्रस्त एवं चिन्तित रहता हूँ ।। ६४ ।।

कथंचित् तव गाङ्गेय विपत्तौ नास्ति नः कुलम् ।
असंशयं त्वमेवैकः शतादपि वरः सुतः ।। ६५ ।।

‘गंगानन्दन! यदि किसी प्रकार तुमपर कोई विपत्ति आयी, तो उसी दिन हमारा यह वंश समाप्त हो जायगा। इसमें संदेह नहीं कि तुम अकेले ही मेरे लिये सौ पुत्रोंसे भी बढ़कर हो ।। ६५ ।।

न चाप्यहं वृथा भूयो दारान् कर्तुमिहोत्सहे ।
संतानस्याविनाशाय कामये भद्रमस्तु ते ।। ६६ ।।

‘मैं पुनः व्यर्थ विवाह नहीं करना चाहता; किंतु हमारी वंशपरम्पराका लोप न हो, इसीके लिये मुझे पुनः पत्नीकी कामना हुई है। तुम्हारा कल्याण हो ।। ६६ ।।

अनपत्यतैकपुत्रत्वमित्याहुर्धर्मवादिनः ।
(चक्षुरेकं च पुत्रश्च अस्ति नास्ति च भारत ।
चक्षुर्नाशे तनोर्नाशः पुत्रनाशे कुलक्षयः ।।)
अग्निहोत्रं त्रयीविद्यासंतानमपि चाक्षयम् ।। ६७ ।।
सर्वाण्येतान्यपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।

‘धर्मवादी विद्वान् कहते हैं कि एक पुत्रका होना संतानहीनताके ही तुल्य है। भारत! एक आँख अथवा एक पुत्र यदि है, तो वह भी नहींके बराबर है। नेत्रका नाश होनेपर मानो शरीरका ही नाश हो जाता है, इसी प्रकार पुत्रके नष्ट होनेपर कुलपरम्परा ही नष्ट हो जाती है। अग्निहोत्र, तीनों वेद तथा शिष्य-प्रशिष्यके क्रमसे चलनेवाले विद्याजनित वंशकी अक्षय परम्परा—ये सब मिलकर भी जन्मसे होनेवाली संतानकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं है ।। ६७½ ।।

एवमेतन्मनुष्येषु तच्च सर्वप्रजास्विति ।। ६८ ।।

‘इस प्रकार संतानका महत्त्व जैसा मनुष्योंमें मान्य है, उसी प्रकार अन्य सब प्राणियोंमें भी है ।। ६८ ।।

यदपत्यं महाप्राज्ञ तत्र मे नास्ति संशयः ।
एषा त्रयीपुराणानां देवतानां च शाश्वती ।। ६९ ।।
(अपत्यं कर्म विद्या च त्रीणि ज्योतींषि भारत ।

यदिदं कारणं तात सर्वमाख्यातमञ्जसा ।।)

‘भारत! महाप्राज्ञ! इस बातमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि संतान, कर्म और विद्या—ये तीन ज्योतियाँ हैं; इनमें भी जो संतान है, उसका महत्त्व सबसे अधिक है। यही वेदत्रयी पुराण तथा देवताओंका भी सनातन मत है। तात! मेरी चिन्ताका जो कारण है, वह सब तुम्हें स्पष्ट बता दिया ।। ६९ ।।

त्वं च शूरः सदामर्षी शस्त्रनित्यश्च भारत ।
नान्यत्र युद्धात् तस्मात् ते निधनं विद्यते क्वचित् ।। ७० ।।

‘भारत! तुम शूरवीर हो। तुम कभी किसीकी बात सहन नहीं कर सकते और सदा अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यासमें ही लगे रहते हो; अतः युद्धके सिवा और किसी कारणसे कभी तुम्हारी मृत्यु होनेकी सम्भावना नहीं है ।। ७० ।।

सोऽस्मि संशयमापन्नस्त्वयि शान्ते कथं भवेत् ।
इति ते कारणं तात दुःखस्योक्तमशेषतः ।। ७१ ।।

‘इसीलिये मैं इस संदेहमें पड़ा हूँ कि तुम्हारे शान्त हो जानेपर इस वंशपरम्पराका निर्वाह कैसे होगा? तात! यही मेरे दुःखका कारण है; वह सब-का-सब तुम्हें बता दिया’ ।। ७१ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्कारणं राज्ञो ज्ञात्वा सर्वमशेषतः ।
देवव्रतो महाबुद्धिः प्रज्ञया चान्वचिन्तयत् ।। ७२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजाके दुःखका वह सारा कारण जानकर परम बुद्धिमान् देवव्रतने अपनी बुद्धिसे भी उसपर विचार किया ।। ७२ ।।

अभ्यगच्छत् तदैवाशु वृद्धामात्यं पितुर्हितम् ।
तमपृच्छत् तदाभ्येत्य पितुस्तच्छोककारणम् ।। ७३ ।।

तदनन्तर वे उसी समय तुरंत अपने पिताके हितैषी बूढ़े मन्त्रीके पास गये और पिताके शोकका वास्तविक कारण क्या है, इसके विषयमें उनसे पूछताछ की ।। ७३ ।।

तस्मै स कुरुमुख्याय यथावत् परिपृच्छते ।
वरं शशंस कन्यां तामुद्दिश्य भरतर्षभ ।। ७४ ।।

भरतश्रेष्ठ! कुरुवंशके श्रेष्ठ पुरुष देवव्रतके भलीभाँति पूछनेपर वृद्ध मन्त्रीने बताया कि महाराज एक कन्यासे विवाह करना चाहते हैं ।। ७४ ।।

(सूतं भूयोऽपि संतप्त आह्वयामास वै पितुः ।।
सूतस्तु कुरुमुख्यस्य उपयातस्तदाज्ञया ।
तमुवाच महाप्राज्ञो भीष्मो वै सारथिं पितुः ।।

उसके बाद भी दुःखसे दुःखी देवव्रतने पिताके सारथिको बुलाया। राजकुमारकी आज्ञा पाकर कुरुराज शान्तनुका सारथि उनके पास आया। तब महाप्राज्ञ भीष्मने पिताके सारथिसे पूछा।

भीष्म उवाच

त्वं सारथे पितुर्मह्यं सखासि रथयुग् यतः ।
अपि जानासि यदि वै कस्यां भावो नृपस्य तु ।।
यथा वक्ष्यसि मे पृष्टः करिष्ये न तदन्यथा ।

भीष्म बोले—सारथे! तुम मेरे पिताके सखा हो, क्योंकि उनका रथ जोतनेवाले हो। क्या तुम जानते हो कि महाराजका अनुराग किस स्त्रीमें है? मेरे पूछनेपर तुम जैसा कहोगे, वैसा ही करूँगा, उसके विपरीत नहीं करूँगा।

सूत उवाच

दाशकन्या नरश्रेष्ठ तत्र भावः पितुर्गतः ।
वृतः स नरदेवेन तदा वचनमब्रवीत् ।।
योऽस्यां पुमान् भवेद् गर्भः स राजा त्वदनन्तरम् ।
नाकामयत तं दातुं पिता तव वरं तदा ।।
स चापि निश्चयस्तस्य न च दद्यामतोऽन्यथा ।
एवं ते कथितं वीर कुरुष्व यदनन्तरम् ।।)

सूत बोला—नरश्रेष्ठ! एक धीवरकी कन्या है, उसीके प्रति आपके पिताका अनुराग हो गया है। महाराजने धीवरसे उस कन्याको माँगा भी था, परंतु उस समय उसने यह शर्त रखी कि 'इसके गर्भसे जो पुत्र हो, वही आपके बाद राजा होना चाहिये।' आपके पिताजीके मनमें धीवरको ऐसा वर देनेकी इच्छा नहीं हुई। इधर उसका भी पक्का निश्चय है कि यह शर्त स्वीकार किये बिना मैं अपनी कन्या नहीं दूँगा। वीर! यही वृत्तान्त है, जो मैंने आपसे निवेदन कर दिया। इसके बाद आप जैसा उचित समझें, वैसा करें।

ततो देवव्रतो वृद्धैः क्षत्रियैः सहितस्तदा ।
अभिगम्य दाशराजं कन्यां वव्रे पितुः स्वयम् ।। ७५ ।।

यह सुनकर कुमार देवव्रतने उस समय बूढ़े क्षत्रियोंके साथ निषादराजके पास जाकर स्वयं अपने पिताके लिये उसकी कन्या माँगी ।। ७५ ।।

तं दाशः प्रतिजग्राह विधिवत् प्रतिपूज्य च ।
अब्रवीच्चैनमासीनं राजसंसदि भारत ।। ७६ ।।

भारत! उस समय निषादने उनका बड़ा सत्कार किया और विधिपूर्वक पूजा करके आसनपर बैठनेके पश्चात् साथ आये हुए क्षत्रियोंकी मण्डलीमें दाशराजने उनसे कहा ।। ७६ ।।

दाश उवाच

(राज्यशुल्का प्रदातव्या कन्येयं याचतां वर ।

अपत्यं यद् भवेत् तस्याः स राजास्तु पितुः परम् ।।)

दाशराज बोला—याचकोंमें श्रेष्ठ राजकुमार! इस कन्याको देनेमें मैंने राज्यको ही शुल्क रखा है। इसके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न हो, वही पिताके बाद राजा हो।

त्वमेव नाथः पर्याप्तः शान्तनोर्भरतर्षभ ।

पुत्रः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः किं तु वक्ष्यामि ते वचः ।। ७७ ।।

भरतर्षभ! राजा शान्तनुके पुत्र अकेले आप ही सबकी रक्षाके लिये पर्याप्त हैं। शस्त्रधारियोंमें आप सबसे श्रेष्ठ समझे जाते हैं; परंतु तो भी मैं अपनी बात आपके सामने रखूँगा ।। ७७ ।।

को हि सम्बन्धकं श्लाघ्यमीप्सितं यौनमीदृशम् ।

अतिक्रामन्न तप्येत साक्षादपि शतक्रतुः ।। ७८ ।।

ऐसे मनोऽनुकूल और स्पृहणीय उत्तम विवाह-सम्बन्धको ठुकराकर कौन ऐसा मनुष्य होगा जिसके मनमें संताप न हो? भले ही वह साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो ।। ७८ ।।

अपत्यं चैतदार्यस्य यो युष्माकं समो गुणैः ।

यस्य शुक्रात् सत्यवती सम्भूता वरवर्णिनी ।। ७९ ।।

यह कन्या एक आर्य पुरुषकी संतान है, जो गुणोंमें आपलोगोंके ही समान हैं और जिनके वीर्यसे इस सुन्दरी सत्यवतीका जन्म हुआ है ।। ७९ ।।

तेन मे बहुशस्तात पिता ते परिकीर्तितः ।

अर्हः सत्यवतीं बोढुं धर्मज्ञः स नराधिपः ।। ८० ।।

तात! उन्होंने अनेक बार मुझसे आपके पिताके विषयमें चर्चा की थी। वे कहते थे, सत्यवतीको ब्याहनेयोग्य तो केवल धर्मज्ञ राजा शान्तनु ही हैं ।। ८० ।।

अर्थितश्चापि राजर्षिः प्रत्याख्यातः पुरा मया ।

स चाप्यासीत् सत्यवत्या भृशमर्थी महायशाः ।। ८१ ।।

कन्यापितृत्वात् किंचित् तु वक्ष्यामि त्वां नराधिप ।

बलवत्सपत्नतामत्र दोषं पश्यामि केवलम् ।। ८२ ।।

महान् कीर्तिवाले राजर्षि शान्तनु सत्यवतीको पहले भी बहुत आग्रहपूर्वक माँग चुके हैं; किंतु उनके माँगनेपर भी मैंने उनकी बात अस्वीकार कर दी थी। युवराज! मैं कन्याका पिता होनेके कारण कुछ आपसे भी कहूँगा ही। आपके यहाँ जो सम्बन्ध हो रहा है, उसमें मुझे केवल एक दोष दिखायी देता है, बलवान्‌के साथ शत्रुता ।। ८१-८२ ।।

यस्य हि त्वं सपत्नः स्या गन्धर्वस्यासुरस्य वा ।

न स जातु चिरं जीवेत् त्वयि क्रुद्धे परंतप ।। ८३ ।।

परंतप! आप जिसके शत्रु होंगे, वह गन्धर्व हो या असुर, आपके कुपित होनेपर कभी चिरजीवी नहीं हो सकता ।। ८३ ।।

एतावानत्र दोषो हि नान्यः कश्चन् पार्थिव ।
एतज्जानीहि भद्रं ते दानादाने परंतप ।। ८४ ।।

पृथ्वीनाथ! बस, इस विवाहमें इतना ही दोष है, दूसरा कोई नहीं। परंतप! आपका कल्याण हो, कन्याको देने या न देनेमें केवल यही दोष विचारणीय है; इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें ।। ८४ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयस्तद्युक्तं प्रत्यभाषत ।
शृण्वतां भूमिपालानां पितुरर्थाय भारत ।। ८५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! निषादके ऐसा कहनेपर गंगानन्दन देवव्रतने पिताके मनोरथको पूर्ण करनेके लिये सब राजाओंके सुनते-सुनते यह उचित उत्तर दिया — ।। ८५ ।।

इदं मे व्रतमादत्स्व सत्यं सत्यवतां वर ।
नैव जातो न वाजात ईदृशं वक्तुमुत्सहेत् ।। ८६ ।।

‘सत्यवानोंमें श्रेष्ठ निषादराज! मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा सुनो और ग्रहण करो। ऐसी बात कह सकनेवाला कोई मनुष्य न अबतक पैदा हुआ है और न आगे पैदा होगा ।। ८६ ।।

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वमनुभाषसे ।
योऽस्यां जनिष्यते पुत्रः स नो राजा भविष्यति ।। ८७ ।।

‘लो, तुम जो कुछ चाहते या कहते हो, वैसा ही करूँगा। इस सत्यवतीके गर्भसे जो पुत्र पैदा होगा, वही हमारा राजा बनेगा’ ।। ८७ ।।

इत्युक्तः पुनरेवाथ तं दाशः प्रत्यभाषत ।
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म राज्यार्थे भरतर्षभ ।। ८८ ।।

भरतवंशावतंस जनमेजय! देवव्रतके ऐसा कहनेपर निषाद उनसे फिर बोला। वह राज्यके लिये उनसे कोई दुष्कर प्रतिज्ञा कराना चाहता था ।। ८८ ।।

त्वमेव नाथः सम्प्राप्तः शान्तनोरमितद्युते ।
कन्यायाश्चैव धर्मात्मन् प्रभुर्दानाय चेश्वरः ।। ८९ ।।

उसने कहा—'अमित तेजस्वी युवराज! आप ही महाराज शान्तनुकी ओरसे मालिक बनकर यहाँ आये हैं। धर्मात्मन्! इस कन्यापर भी आपका पूरा अधिकार है। आप जिसे चाहें, इसे दे सकते हैं। आप सब कुछ करनेमें समर्थ हैं ।। ८९ ।।

इदं तु वचनं सौम्य कार्यं चैव निबोध मे ।
कौमारिकाणां शीलेन वक्ष्याम्यहमरिन्दम ।। ९० ।।

'परंतु सौम्य! इस विषयमें मुझे आपसे कुछ और कहना है और वह आवश्यक कार्य है; अतः आप मेरे इस कथनको सुनिये। शत्रुदमन! कन्याओंके प्रति स्नेह रखनेवाले सगे-सम्बन्धियोंका जैसा स्वभाव होता है, उसीसे प्रेरित होकर मैं आपसे कुछ निवेदन करूँगा ।। ९० ।।

यत् त्वया सत्यवत्यर्थे सत्यधर्मपरायण ।
राजमध्ये प्रतिज्ञातमनुरूपं तवैव तत् ।। ९१ ।।

'सत्यधर्मपरायण राजकुमार! आपने सत्यवतीके हितके लिये इन राजाओंके बीचमें जो प्रतिज्ञा की है, वह आपके ही योग्य है ।। ९१ ।।

नान्यथा तन्महाबाहो संशयोऽत्र न कश्चन ।
तवापत्यं भवेद् यत् तु तत्र नः संशयो महान् ।। ९२ ।।

'महाबाहो! वह टल नहीं सकती; उसके विषयमें मुझे कोई संदेह नहीं है, परंतु आपका जो पुत्र होगा, वह शायद इस प्रतिज्ञापर दृढ़ न रहे, यही हमारे मनमें बड़ा भारी संशय है' ।। ९२ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्यैतन्मतमाज्ञाय सत्यधर्मपरायणः ।
प्रत्यजानात् तदा राजन् पितुः प्रियचिकीर्षया ।। ९३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! निषादराजके इस अभिप्रायको समझकर सत्यधर्ममें तत्पर रहनेवाले कुमार देवव्रतने उस समय पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे यह कठोर प्रतिज्ञा की ।। ९३ ।।

गाङ्गेय उवाच

दाशराज निबोधेदं वचनं मे नरोत्तम ।
(ऋषयो वाथवा देवा भूतान्यन्तर्हितानि च ।
यानि यानीह शृण्वन्तु नास्ति वक्ता हि मत्समः ।।
इदं वचनमादत्स्व सत्येन मम जल्पतः ।)
शृण्वतां भूमिपालानां यद् ब्रवीमि पितुः कृते ।। ९४ ।।

भीष्मने कहा—नरश्रेष्ठ निषादराज! मेरी यह बात सुनो। जो-जो ऋषि, देवता एवं अन्तरिक्षके प्राणी यहाँ हों, वे सब भी सुनें। मेरे समान वचन देनेवाला दूसरा नहीं है। निषाद! मैं सत्य कहता हूँ, पिताके हितके लिये सब भूमिपालोंके सुनते हुए मैं जो कुछ कहता हूँ, मेरी इस बातको समझो ।। ९४ ।।

राज्यं तावत् पूर्वमेव मया त्यक्तं नराधिपाः ।
अपत्यहेतोरपि च करिष्येऽद्य विनिश्चयम् ।। ९५ ।।

राजाओ! राज्य तो मैंने पहले ही छोड़ दिया है; अब संतानके लिये भी अटल निश्चय कर रहा हूँ ।। ९५ ।।

अद्यप्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति ।
अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि ।। ९६ ।।

निषादराज! आजसे मेरा आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत चलता रहेगा। मेरे पुत्र न होनेपर भी स्वर्गमें मुझे अक्षय लोक प्राप्त होंगे ।। ९६ ।।

(न हि जन्मप्रभृत्युक्तं मम किंचिदिहानृतम् ।

यावत् प्राणा ध्रियन्ते वै मम देहं समाश्रिताः ।।
तावन्न जनयिष्यामि पित्रे कन्यां प्रयच्छ मे ।
परित्यजाम्बहं राज्यं मैथुनं चापि सर्वशः ।।
ऊर्ध्वरेता भविष्यामि दाश सत्यं ब्रवीमि ते ।)

मैंने जन्मसे लेकर अबतक कोई झूठ बात नहीं कही है। जबतक मेरे शरीरमें प्राण रहेंगे, तबतक मैं संतान नहीं उत्पन्न करूँगा। तुम पिताजीके लिये अपनी कन्या दे दो। दाश! मैं राज्य तथा मैथुनका सर्वथा परित्याग करूँगा और ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) होकर रहूँगा—यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
ददानीत्येव तं दाशो धर्मात्मा प्रत्यभाषत ।। ९७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—देवव्रतका यह वचन सुनकर धर्मात्मा निषादराजके रोंगटे खड़े हो गये। उसने तुरंत उत्तर दिया—'मैं यह कन्या आपके पिताके लिये अवश्य देता हूँ' ।। ९७ ।।

ततोऽन्तरिक्षेऽप्सरसो देवाः सर्षिगणास्तदा ।
अभ्यवर्षन्त कुसुमैर्भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ।। ९८ ।।

उस समय अन्तरिक्षमें अप्सरा, देवता तथा ऋषिगण फूलोंकी वर्षा करने लगे और बोल उठे—'ये भयंकर प्रतिज्ञा करनेवाले राजकुमार भीष्म हैं (अर्थात् भीष्मके नामसे इनकी ख्याति होगी)' ।। ९८ ।।

ततः स पितुरर्थाय तामुवाच यशस्विनीम् ।
अधिरोह रथं मातर्गच्छावः स्वगृहानिति ।। ९९ ।।

तत्पश्चात् भीष्म पिताके मनोरथकी सिद्धिके लिये उस यशस्विनी निषादकन्यासे बोले—'माताजी! इस रथपर बैठिये। अब हमलोग अपने घर चलें' ।। ९९ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु भीष्मस्तां रथमारोप्य भाविनीम् ।
आगम्य हास्तिनपुरं शान्तनोः संन्यवेदयत् ।। १०० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर भीष्मने उस भामिनीको रथपर बैठा लिया और हस्तिनापुर आकर उसे महाराज शान्तनुको सौंप दिया ।। १०० ।।

तस्य तद् दुष्करं कर्म प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
समेताश्च पृथक् चैव भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ।। १०१ ।।

उनके इस दुष्कर कर्मकी सब राजालोग एकत्र होकर और अलग-अलग भी प्रशंसा करने लगे। सबने एक स्वरसे कहा, 'यह राजकुमार वास्तवमें भीष्म है' ।। १०१ ।।

नच्छ्रुत्वा दुष्करं कर्म कृतं भीष्मेण शान्तनुः ।
स्वच्छन्दमरणं तुष्टो ददौ तस्मै महात्मने ।। १०२ ।।

भीष्मके द्वारा किये हुए उस दुष्कर कर्मकी बात सुनकर राजा शान्तनु बहुत संतुष्ट हुए और उन्होंने उन महात्मा भीष्मको स्वच्छन्द मृत्युका वरदान दिया ।। १०२ ।।

देवव्रत (भीष्म)-की भीषण प्रतिज्ञा

न ते मृत्युः प्रभविता यावज्जीवितुमिच्छसि ।
त्वत्तो ह्यनुज्ञां सम्प्राप्य मृत्युः प्रभवितानघ ।। १०३ ।।

वे बोले—‘मेरे निष्पाप पुत्र! तुम जबतक यहाँ जीवित रहना चाहोगे, तबतक मृत्यु तुम्हारे ऊपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकती। तुमसे आज्ञा लेकर ही मृत्यु तुमपर अपना प्रभाव प्रकट कर सकती है’ ।। १०३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि सत्यवतीलाभोपाख्याने शततमोऽध्यायः ।। १०० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें सत्यवतीलाभोपाख्यानविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०० ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३ $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ११६ $\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

एकाधिकशततमोऽध्यायः

सत्यवतीके गर्भसे चित्रांगद और विचित्रवीर्यकी उत्पत्ति, शान्तनु और चित्रांगदका निधन तथा विचित्रवीर्यका राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच

(चेदिराजसुतां ज्ञात्वा दाशराजेन वर्धिताम् ।
विवाहं कारयामास शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।।)
ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा शान्तनुर्नृपः ।
तां कन्यां रूपसम्पन्नां स्वगृहे संन्यवेशयत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—सत्यवती चेदिराज वसुकी पुत्री है और निषादराजने इसका पालन-पोषण किया है—यह जानकर राजा शान्तनुने उसके साथ शास्त्रीय विधिसे विवाह किया। तदनन्तर विवाह सम्पन्न हो जानेपर राजा शान्तनुने उस रूपवती कन्याको अपने महलमें रखा ।। १ ।।

ततः शान्तनवो धीमान् सत्यवत्यामजायत ।
वीरश्चित्राङ्गदो नाम वीर्यवान् पुरुषेश्वरः ।। २ ।।

कुछ कालके पश्चात् सत्यवतीके गर्भसे शान्तनुका बुद्धिमान् पुत्र वीर चित्रांगद उत्पन्न हुआ, जो बड़ा ही पराक्रमी तथा समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ था ।। २ ।।

अथापरं महेष्वासं सत्यवत्यां सुतं प्रभुः ।
विचित्रवीर्यं राजानं जनयामास वीर्यवान् ।। ३ ।।

इसके बाद महापराक्रमी और शक्तिशाली राजा शान्तनुने दूसरे पुत्र महान् धनुर्धर राजा विचित्रवीर्यको जन्म दिया ।। ३ ।।

अप्राप्तवति तस्मिंस्तु यौवनं पुरुषर्षभे ।
स राजा शान्तनुर्धीमान् कालधर्ममुपेयिवान् ।। ४ ।।

नरश्रेष्ठ विचित्रवीर्य अभी यौवनको प्राप्त भी नहीं हुए थे कि बुद्धिमान् महाराज शान्तनुकी मृत्यु हो गयी ।। ४ ।।

स्वर्गते शान्तनौ भीष्मश्चित्राङ्गदमरिंदमम् ।
स्थापयामास वै राज्ये सत्यवत्या मते स्थितः ।। ५ ।।

शान्तनुके स्वर्गवासी हो जानेपर भीष्मने सत्यवतीकी सम्मतिसे शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर चित्रांगदको राज्यपर बिठाया ।। ५ ।।

स तु चित्राङ्गदः शौर्यात् सर्वांश्चिक्षेप पार्थिवान् ।

मनुष्यं न हि मेने स कञ्चित् सदृशमात्मनः ।। ६ ।।

चित्रांगद अपने शौर्यके घमंडमें आकर सब राजाओंका तिरस्कार करने लगे। वे किसी भी मनुष्यको अपने समान नहीं मानते थे ।। ६ ।।

तं क्षिपन्तं सुरांश्चैव मनुष्यानसुरांस्तथा ।
गन्धर्वराजो बलवांस्तुल्यनामाभ्ययात् तदा ।। ७ ।।

मनुष्योंपर ही नहीं, वे देवताओं तथा असुरोंपर भी आक्षेप करते थे। तब एक दिन उन्हींके समान नामवाला महाबली गन्धर्वराज चित्रांगद उनके पास आया ।। ७ ।।

(गन्धर्व उवाच

त्वं वै सदृशनामासि युद्धं देहि नृपात्मज ।
नाम चान्यत् प्रगृणीष्व यदि युद्धं न दास्यसि ।।
त्वयाहं युद्धमिच्छामि त्वत्सकाशात् तु नामतः ।
आगतोऽस्मि वृथाभाष्यो न गच्छेन्नामतो यथा ।।)

गन्धर्वने कहा—राजकुमार! तुम मेरे सदृश नाम धारण करते हो, अतः मुझे युद्धका अवसर दो और यदि यह न कर सको तो अपना दूसरा नाम रख लो। मैं तुमसे युद्ध करना चाहता हूँ। नामकी एकताके कारण ही मैं तुम्हारे निकट आया हूँ। मेरे नामद्वारा व्यर्थ पुकारा जानेवाला मनुष्य मेरे सामनेसे सकुशल नहीं जा सकता।

तेनास्य सुमहद् युद्धं कुरुक्षेत्रे बभूव ह ।
तयोर्बलवतोस्तत्र गन्धर्वकुरुमुख्ययोः ।
नद्यास्तीरे सरस्वत्याः समास्तिस्रोऽभवद् रणः ।। ८ ।।
तस्मिन् विमर्दे तुमुले शस्त्रवर्षसमाकुले ।
मायाधिकोऽवधीद् वीरं गन्धर्वः कुरुसत्तमम् ।। ९ ।।

तदनन्तर उसके साथ कुरुक्षेत्रमें राजा चित्रांगदका बड़ा भारी युद्ध हुआ। गन्धर्वराज और कुरुराज दोनों ही बड़े बलवान् थे। उनमें सरस्वती नदीके तटपर तीन वर्षोंतक युद्ध होता रहा। अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षासे व्याप्त उस घमासान युद्धमें मायामें बढ़े-चढ़े हुए गन्धर्वने कुरुश्रेष्ठ वीर चित्रांगदका वध कर डाला ।। ८-९ ।।

स हत्वा तु नरश्रेष्ठं चित्राङ्गदमरिंदमम् ।
अन्ताय कृत्वा गन्धर्वो दिवमाचक्रमे ततः ।। १० ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरश्रेष्ठ चित्रांगदको मारकर युद्ध समाप्त करके वह गन्धर्व स्वर्गलोकमें चला गया ।। १० ।।

तस्मिन् पुरुषशार्दूले निहते भूरितेजसि ।
भीष्मः शान्तनवो राजा प्रेतकार्याण्यकारयत् ।। ११ ।।

उन महान् तेजस्वी पुरुषसिंह चित्रांगदके मारे जानेपर शान्तनुनन्दन भीष्मने उनके प्रेतकर्म करवाये ।। ११ ।।

विचित्रवीर्यं च तदा बालमप्राप्तयौवनम् ।
कुरुराज्ये महाबाहुरभ्यषिञ्चदनन्तरम् ।। १२ ।।

विचित्रवीर्य अभी बालक थे, युवावस्थामें नहीं पहुँचे थे तो भी महाबाहु भीष्मने उन्हें कुरुदेशके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ।। १२ ।।

विचित्रवीर्यः स तदा भीष्मस्य वचने स्थितः ।
अन्वशासन्महाराज पितृपैतामहं पदम् ।। १३ ।।

महाराज जनमेजय! तब विचित्रवीर्य भीष्मजीकी आज्ञाके अधीन रहकर अपने बाप-दादोंके राज्यका शासन करने लगे ।। १३ ।।

स धर्मशास्त्रकुशलं भीष्मं शान्तनवं नृपः ।
पूजयामास धर्मेण स चैनं प्रत्यपालयत् ।। १४ ।।

शान्तनुनन्दन भीष्म धर्म एवं राजनीति आदि शास्त्रोंमें कुशल थे; अतः राजा विचित्रवीर्य धर्मपूर्वक उनका सम्मान करते थे और भीष्मजी भी इन अल्पवयस्क नरेशकी सब प्रकारसे रक्षा करते थे ।। १४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि चित्राङ्गदोपाख्याने एकाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें चित्रांगदोपाख्यानविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल १७ श्लोक हैं)

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा स्वयंवरसे काशिराजकी कन्याओंका हरण, युद्धमें सब राजाओं तथा शाल्वकी पराजय, अम्बिका और अम्बालिकाके साथ विचित्रवीर्यका विवाह तथा निधन

वैशम्पायन उवाच

हते चित्राङ्गदे भीष्मो बाले भ्रातरि कौरव ।
पालयामास तद् राज्यं सत्यवत्या मते स्थितः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! चित्रांगदके मारे जानेपर दूसरे भाई विचित्रवीर्य अभी बहुत छोटे थे, अतः सत्यवतीकी रायसे भीष्मजीने ही उस राज्यका पालन किया ।। १ ।।

सम्प्राप्तयौवनं दृष्ट्वा भ्रातरं धीमतां वरः ।
भीष्मो विचित्रवीर्यस्य विवाहायाकरोन्मतिम् ।। २ ।।

जब विचित्रवीर्य धीरे-धीरे युवावस्थामें पहुँचे, तब बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भीष्मजीने उनकी वह अवस्था देख विचित्रवीर्यके विवाहका विचार किया ।। २ ।।

अथ काशिपतेर्भीष्मः कन्यास्तिस्रोऽप्सरोपमाः ।
शुश्राव सहिता राजन् वृण्वाना वै स्वयंवरम् ।। ३ ।।

राजन्! उन दिनों काशिराजकी तीन कन्याएँ थीं, जो अप्सराओंके समान सुन्दर थीं। भीष्मजीने सुना, वे तीनों कन्याएँ साथ ही स्वयंवर-सभामें पतिका वरण करनेवाली हैं ।। ३ ।।

ततः स रथिनां श्रेष्ठो रथेनैकेन शत्रुजित् ।
जगामानुमते मातुः पुरीं वाराणसीं प्रभुः ।। ४ ।।

तब माता सत्यवतीकी आज्ञा ले रथियोंमें श्रेष्ठ शत्रुविजयी भीष्म एकमात्र रथके साथ वाराणसीपुरीको गये ।। ४ ।।

तत्र राज्ञः समुदितान् सर्वतः समुपागतान् ।
ददर्श कन्यास्ताश्चैव भीष्मः शान्तनुनन्दनः ।। ५ ।।

वहाँ शान्तनुनन्दन भीष्मने देखा, सब ओरसे आये हुए राजाओंका समुदाय स्वयंवर-सभामें जुटा हुआ है और वे कन्याएँ भी स्वयंवरमें उपस्थित हैं ।। ५ ।।

कीर्त्यमानेषु राज्ञां तु तदा नामसु सर्वशः ।
एकाकिनं तदा भीष्मं वृद्धं शान्तनुनन्दनम् ।। ६ ।।
सोद्वेगा इव तं दृष्ट्वा कन्याः परमशोभनाः ।

अपाक्रामन्त ताः सर्वा वृद्ध इत्येव चिन्तया ।। ७ ।।

उस समय सब ओर राजाओंके नाम ले-लेकर उन सबका परिचय दिया जा रहा था। इतनेमें ही शान्तनुनन्दन भीष्म, जो अब वृद्ध हो चले थे, वहाँ अकेले ही आ पहुँचे। उन्हें देखकर वे सब परम सुन्दरी कन्याएँ उद्विग्न-सी होकर, ये बूढ़े हैं, ऐसा सोचती हुई वहाँसे दूर भाग गयीं ।। ६-७ ।।

वृद्धः परमधर्मात्मा वलीपलितधारणः ।
किं कारणमिहायातो निर्लज्जो भरतर्षभः ।। ८ ।।
मिथ्याप्रतिज्ञो लोकेषु किं वदिष्यति भारत ।
ब्रह्मचारीति भीष्मो हि वृथैव प्रथितो भुवि ।। ९ ।।
इत्येवं प्रब्रुवन्तस्ते हसन्ति स्म नृपाधमाः ।

वहाँ जो नीच स्वभावके नरेश एकत्र थे, वे आपसमें ये बातें कहते हुए उनकी हँसी उड़ाने लगे—'भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ भीष्म तो बड़े धर्मात्मा सुने जाते थे। ये बूढ़े हो गये हैं, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, सिरके बाल सफेद हो चुके हैं; फिर क्या कारण है कि यहाँ आये हैं? ये तो बड़े निर्लज्ज जान पड़ते हैं। अपनी प्रतिज्ञा झूठी करके ये लोगोंमें क्या कहेंगे—कैसे मुँह दिखायेंगे? भूमण्डलमें व्यर्थ ही यह बात फैल गयी है कि भीष्मजी ब्रह्मचारी हैं' ।। ८-९½ ।।

वैशम्पायन उवाच

क्षत्रियाणां वचः श्रुत्वा भीष्मश्चुक्रोध भारत ।। १० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! क्षत्रियोंकी ये बातें सुनकर भीष्म अत्यन्त कुपित हो उठे ।। १० ।।

भीष्मस्तदा स्वयं कन्या वरयामास ताः प्रभुः ।
उवाच च महीपालान् राजञ्जलदनिःस्वनः ।। ११ ।।
रथमारोप्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः ।
आहूय दानं कन्यानां गुणवद्भ्यः स्मृतं बुधः ।। १२ ।।
अलंकृत्य यथाशक्ति प्रदाय च धनान्यपि ।
प्रयच्छन्त्यपरे कन्या मिथुनेन गवामपि ।। १३ ।।

राजन्! वे शक्तिशाली तो थे ही, उन्होंने उस समय स्वयं ही समस्त कन्याओंका वरण किया। इतना ही नहीं, प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ वीरवर भीष्मने उन कन्याओंको उठाकर रथपर चढ़ा लिया और समस्त राजाओंको ललकारते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा—'विद्वानोंने कन्याको यथाशक्ति वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके गुणवान् वरको बुलाकर उसे कुछ धन देनेके साथ ही कन्यादान करना उत्तम (ब्राह्म विवाह) बताया है। कुछ लोग एक जोड़ा गाय और बैल लेकर कन्यादान करते हैं (यह आर्ष विवाह है) ।। ११—१३ ।।

वित्तेन कथितेनान्ये बलेनान्येऽनुमान्य च ।
प्रमत्तामुपयन्त्यन्ये स्वयमन्ये च विन्दते ।। १४ ।।

'कितने ही मनुष्य नियत धन लेकर कन्यादान करते हैं (यह आसुर विवाह है)। कुछ लोग बलसे कन्याका हरण करते हैं (यह राक्षस विवाह है)। दूसरे लोग वर और कन्याकी परस्पर अनुमति होनेपर विवाह करते हैं (यह गान्धर्व विवाह है)। कुछ लोग अचेत अवस्थामें पड़ी हुई कन्याको उठा ले जाते हैं (यह पैशाच विवाह है)। कुछ लोग वर और कन्याको एकत्र करके स्वयं ही उनसे प्रतिज्ञा कराते हैं कि हम दोनों गार्हस्थ्य धर्मका पालन करेंगे; फिर कन्यापिता दोनोंकी पूजा करके अलंकारयुक्त कन्याका वरके लिये दान करता है; इस प्रकार विवाहित होनेवाले (प्राजापत्य विवाहकी रीतिसे) पत्नीकी उपलब्धि करते हैं ।। १४ ।।

आर्षं विधिं पुरस्कृत्य दारान् विन्दन्ति चापरे ।
अष्टमं तमथो वित्त विवाहं कविभिर्वृतम् ।। १५ ।।

'कुछ लोग आर्ष विधि (यज्ञ) करके ऋत्विजको कन्या देते हैं। इस प्रकार विवाहित होनेवाले (दैव विवाहकी रीतिसे) पत्नी प्राप्त करते हैं। इस तरह विद्वानोंने यह विवाहका आठवाँ प्रकार माना है। इन सबको तुमलोग समझो ।। १५ ।।

स्वयंवरं तु राजन्याः प्रशंसन्त्युपयान्ति च ।
प्रमथ्य तु हृतामाहुर्ज्यायसीं धर्मवादिनः ।। १६ ।।

'क्षत्रिय स्वयंवरकी प्रशंसा करते और उसमें जाते हैं; परंतु उसमें भी समस्त राजाओंको परास्त करके जिस कन्याका अपहरण किया जाता है, धर्मवादी विद्वान् क्षत्रियके लिये उसे सबसे श्रेष्ठ मानते हैं ।। १६ ।।

ता इमाः पृथिवीपाला जिहीर्षामि बलादितः ।
ते यतध्वं परं शक्त्या विजयायेतराय वा ।। १७ ।।

'अतः भूमिपालो! मैं इन कन्याओंको यहाँसे बलपूर्वक हर ले जाना चाहता हूँ। तुमलोग अपनी सारी शक्ति लगाकर विजय अथवा पराजयके लिये मुझे रोकनेका प्रयत्न करो ।। १७ ।।

स्थितोऽहं पृथिवीपाला युद्धाय कृतनिश्चयः ।
एवमुक्त्वा महीपालान् काशिराजं च वीर्यवान् ।। १८ ।।
सर्वाः कन्याः स कौरव्यो रथमारोप्य च स्वकम् ।
आमन्त्र्य च स तान् प्रायाच्छीघ्रं कन्याः प्रगृह्य ताः ।। १९ ।।

'राजाओ! मैं युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके यहाँ डटा हुआ हूँ।' परम पराक्रमी कुरुकुलश्रेष्ठ भीष्मजी उन महीपालों तथा काशिराजसे उपर्युक्त बातें कहकर उन समस्त कन्याओंको, जिन्हें वे उठाकर अपने रथपर बिठा चुके थे, साथ लेकर सबको ललकारते हुए वहाँसे शीघ्रतापूर्वक चल दिये ।। १८-१९ ।।

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे समुत्पेतुरमर्षिताः ।
संस्पृशन्तः स्वकान् बाहून् दशन्तो दशनच्छदान् ।। २० ।।

फिर तो समस्त राजा इस अपमानको न सह सके; वे अपनी भुजाओंका स्पर्श करते (ताल ठोकते) और दाँतोंसे ओठ चबाते हुए अपनी जगहसे उछल पड़े ।। २० ।।

तेषामाभरणान्याशु त्वरितानां विमुञ्चताम् ।
आमुञ्चतां च वर्माणि सम्भ्रमः सुमहानभूत् ।। २१ ।।

सब लोग जल्दी-जल्दी अपने आभूषण उतारकर कवच पहनने लगे। उस समय बड़ा भारी कोलाहल मच गया ।। २१ ।।

ताराणामिव सम्पातो बभूव जनमेजय ।
भूषणानां च सर्वेषां कवचानां च सर्वशः ।। २२ ।।
सवर्मभिर्भूणैश्च प्रकीर्यद्भिरितस्ततः ।
सक्रोधामर्षजिह्मभ्रूकषायीकृतलोचनाः ।। २३ ।।
सूतोपक्लृप्तान् रुचिरान् सदश्वैरुपकल्पितान् ।
रथानास्थाय ते वीराः सर्वप्रहरणान्विताः ।। २४ ।।
प्रयान्तमथ कौरव्यमनुसस्रुरुदायुधाः ।
ततः समभवद् युद्धं तेषां तस्य च भारत ।

एकस्य च बहूनां च तुमुलं लोमहर्षणम् ।। २५ ।।

जनमेजय! जल्दबाजीके कारण उन सबके आभूषण और कवच इधर-उधर गिर पड़ते थे। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशमण्डलसे तारे टूट-टूटकर गिर रहे हों। कितने ही योद्धाओंके कवच और गहने इधर-उधर बिखर गये। क्रोध और अमर्षके कारण उनकी भौंहें टेढ़ी और आँखें लाल हो गयी थीं। सारथियोंने सुन्दर रथ सजाकर उनमें सुन्दर अश्व जोत दिये थे। उन रथोंपर बैठकर सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो हथियार उठाये हुए उन वीरोंने जाते हुए कुरुनन्दन भीष्मजीका पीछा किया। जनमेजय! तदनन्तर उन राजाओं और भीष्मजीका घोर संग्राम हुआ। भीष्मजी अकेले थे और राजालोग बहुत। उनमें रोंगटे खड़े कर देनेवाला भयंकर संग्राम छिड़ गया ।। २२—२५ ।।

ते त्विषून् साहस्रांस्तस्मिन् युगपदाक्षिपन् ।
अप्राप्तांश्चैव तानाशु भीष्मः सर्वांस्तथान्तरा ।। २६ ।।
अच्छिनच्छरवर्षेण महता लोमवाहिना ।
ततस्ते पार्थिवाः सर्वे सर्वतः परिवार्य तम् ।। २७ ।।
ववृषुः शरवर्षेण वर्षेणेवाद्रिमम्बुदाः ।
स तं बाणमयं वर्षं शरैरावार्य सर्वतः ।। २८ ।।
ततः सर्वान् महीपालान् पर्यविध्यात् त्रिभिस्त्रिभिः ।
एकैकस्तु ततो भीष्मं राजन् विव्याध पञ्चभिः ।। २९ ।।

राजन्! उन नरेशोंने भीष्मजीपर एक ही साथ दस हजार बाण चलाये; परंतु भीष्मजीने उन सबको अपने ऊपर आनेसे पहले बीचमें ही विशाल पंखयुक्त बाणोंकी बौछार करके शीघ्रतापूर्वक काट गिराया। तब वे सब राजा उन्हें चारों ओरसे घेरकर उनके ऊपर उसी प्रकार बाणोंकी झड़ी लगाने लगे, जैसे बादल पर्वतपर पानीकी धारा बरसाते हैं। भीष्मजीने सब ओरसे उस बाण-वर्षाको रोककर उन सभी राजाओंको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया। तब उनमेंसे प्रत्येकने भीष्मजीको पाँच-पाँच बाण मारे ।। २६—२९ ।।

स च तान् प्रतिविव्याध द्वाभ्यां द्वाभ्यां पराक्रमन् ।
तद् युद्धमासीत् तुमुलं घोरं देवासुरोपमम् ।। ३० ।।
पश्यतां लोकवीराणां शरशक्तिसमाकुलम् ।
स धनूंषि ध्वजाग्राणि वर्माणि च शिरांसि च ।। ३१ ।।
चिच्छेद समरे भीष्मः शतशोऽथ सहस्रशः ।
तस्याति पुरुषानन्याँल्लाघवं रथचारिणः ।। ३२ ।।
रक्षणं चात्मनः संख्ये शत्रवोऽप्यभ्यपूजयन् ।
तान् विनिर्जित्य तु रणे सर्वशस्त्रभृतां वरः ।। ३३ ।।
कन्याभिः सहितः प्रायाद् भारतो भारतान् प्रति ।
ततस्तं पृष्ठतो राजञ्छाल्वराजो महारथः ।। ३४ ।।

अभ्यगच्छदमेयात्मा भीष्मं शान्तनवं रणे ।
वारणं जघने भिन्दन् दन्ताभ्यामपरो यथा ।। ३५ ।।
वासितामनुसम्प्राप्तो यूथपो बलिनां वरः ।
स्त्रीकामस्तिष्ठ तिष्ठेति भीष्ममाह स पार्थिवः ।। ३६ ।।
शाल्वराजो महाबाहुरमर्षेण प्रचोदितः ।
ततः सः पुरुषव्याघ्रो भीष्मः परबलार्दनः ।। ३७ ।।
तद्वाक्याकुलितः क्रोधाद् विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ।
विततेषुधनुष्पाणिर्विकुञ्चितललाटभृत् ।। ३८ ।।

फिर भीष्मजीने भी अपना पराक्रम प्रकट करते हुए प्रत्येक योद्धाको दो-दो बाणोंसे बींध डाला। बाणों और शक्तियोंसे व्याप्त उनका वह तुमुल युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर जान पड़ता था। उस समरांगणमें भीष्मने लोकविख्यात वीरोंके देखते-देखते उनके धनुष, ध्वजाके अग्रभाग, कवच और मस्तक सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें काट गिराये। युद्धमें रथसे विचरनेवाले भीष्मजीकी दूसरे वीरोंसे बढ़कर हाथकी फुर्ती और आत्मरक्षा आदिकी शत्रुओंने भी सराहना की। सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भरतकुलभूषण भीष्मजीने उन सब योद्धाओंको जीतकर कन्याओंको साथ ले भरतवंशियोंकी राजधानी हस्तिनापुरको प्रस्थान किया। राजन्! तब महारथी शाल्वराजने पीछेसे आकर युद्धके लिये शान्तनुनन्दन भीष्मपर आक्रमण किया। शाल्वके शारीरिक बलकी कोई सीमा नहीं थी। जैसे हथिनीके पीछे लगे हुए एक गजराजके पृष्ठभागमें उसीका पीछा करनेवाला दूसरा यूथपति दाँतोंसे प्रहार करके उसे विदीर्ण करना चाहता है, उसी प्रकार बलवानोंमें श्रेष्ठ महाबाहु शाल्वराज स्त्रीको पानेकी इच्छासे ईर्ष्या और क्रोधके वशीभूत हो भीष्मका पीछा करते हुए उनसे बोला—‘अरे ओ! खड़ा रह, खड़ा रह।’ तब शत्रुसेनाका संहार करनेवाले पुरुषसिंह भीष्म उसके वचनोंको सुनकर क्रोधसे व्याकुल हो धूमरहित अग्निके समान जलने लगे और हाथमें धनुष-बाण लेकर खड़े हो गये। उनके ललाटमें सिकुड़न आ गयी ।। ३०—३८ ।।

क्षत्रधर्मं समास्थाय व्यपेतभयसम्भ्रमः ।
निवर्तयामास रथं शाल्वं प्रति महारथः ।। ३९ ।।

महारथी भीष्मने क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले भय और घबराहट छोड़कर शाल्वकी ओर अपना रथ लौटाया ।। ३९ ।।

निवर्तमानं तं दृष्ट्वा राजानः सर्व एव ते ।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त भीष्मशाल्वसमागमे ।। ४० ।।

उन्हें लौटते देख सब राजा भीष्म और शाल्वके युद्धमें कुछ भाग न लेकर केवल दर्शक बन गये ।। ४० ।।

तौ वृषाविव नर्दन्तौ बलिनौ वासितान्तरे ।
अन्योन्यमभ्यवर्तेतां बलविक्रमशालिनौ ।। ४१ ।।

ये दोनों बलवान् वीर मैथुनकी इच्छावाली गौके लिये आपसमें लड़नेवाले दो साँड़ोंकी तरह हुंकार करते हुए एक-दूसरेसे भिड़ गये। दोनों ही बल और पराक्रमसे सुशोभित थे ।। ४१ ।।

ततो भीष्मं शान्तनवं शरैः शतसहस्रशः ।
शाल्वराजो नरश्रेष्ठः समवाकिरदाशुगैः ।। ४२ ।।

तदनन्तर मनुष्योंमें श्रेष्ठ राजा शाल्व शान्तनुनन्दन भीष्मपर सैकड़ों और हजारों शीघ्रगामी बाणोंकी बौछार करने लगा ।। ४२ ।।

पूर्वमभ्यर्दितं दृष्ट्वा भीष्मं शाल्वेन ते नृपाः ।
विस्मिताः समपद्यन्त साधु साध्विति चाब्रुवन् ।। ४३ ।।

शाल्वने पहले ही भीष्मको पीड़ित कर दिया। यह देखकर सभी राजा आश्चर्यचकित हो गये और ‘वाह-वाह’ करने लगे ।। ४३ ।।

लाघवं तस्य ते दृष्ट्वा समरे सर्वपार्थिवाः ।
अपूजयन्त संहृष्टा वाग्भिः शाल्वं नराधिपम् ।। ४४ ।।

युद्धमें उसकी फुर्ती देख सब राजा बड़े प्रसन्न हुए और अपनी वाणीद्वारा शाल्वनरेशकी प्रशंसा करने लगे ।। ४४ ।।

क्षत्रियाणां ततो वाचः श्रुत्वा परपुरंजयः ।
क्रुद्धः शान्तनवो भीष्मस्तिष्ठ तिष्ठेत्यभाषत ।। ४५ ।।

शत्रुओंकी राजधानीको जीतनेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने क्षत्रियोंकी वे बातें सुनकर कुपित हो शाल्वसे कहा—‘खड़ा रह, खड़ा रह’ ।। ४५ ।।

सारथिं चाब्रवीत् क्रुद्धो याहि यत्रैष पार्थिवः ।
यावदेनं निहन्म्यद्य भुजङ्गमिव पक्षिराट् ।। ४६ ।।

फिर सारथिसे कहा—‘जहाँ यह राजा शाल्व है, उधर ही रथ ले चलो। जैसे पक्षिराज गरुड सर्पको दबोच लेते हैं, उसी प्रकार मैं इसे अभी मार डालता हूँ’ ।। ४६ ।।

ततोऽस्त्रं वारुणं सम्यग् योजयामास कौरवः ।
तेनाश्वांश्चतुरोऽमृद्नाच्छाल्वराजस्य भूपते ।। ४७ ।।

जनमेजय! तदनन्तर कुरुनन्दन भीष्मने धनुषपर उचित रीतिसे वारुणास्त्रका संधान किया और उसके द्वारा शाल्वराजके चारों घोड़ोंको रौंद डाला ।। ४७ ।।

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य शाल्वराजस्य कौरवः ।
भीष्मो नृपतिशार्दूल न्यवधीत् तस्य सारथिम् ।। ४८ ।।

नृपश्रेष्ठ! फिर अपने अस्त्रोंसे राजा शाल्वके अस्त्रोंका निवारण करके कुरुवंशी भीष्मने उसके सारथिको भी मार डाला ।। ४८ ।।

अस्त्रेण चास्याथैन्द्रेण न्यवधीत् तुरगोत्तमान् ।
कन्याहेतोर्नरश्रेष्ठ भीष्मः शान्तनवस्तदा ।। ४९ ।।

जित्वा विसर्जयामास जीवन्तं नृपसत्तमम् ।
ततः शाल्वः स्वनगरं प्रययौ भरतर्षभ ।। ५० ।।
स्वराज्यमन्वशाच्चैव धर्मेण नृपतिस्तदा ।
राजानो ये च तत्रासन् स्वयंवरदिदृक्षवः ।। ५१ ।।
स्वान्येव तेऽपि राष्ट्राणि जग्मुः परपुरंजयाः ।
एवं विजित्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः ।। ५२ ।।
प्रययौ हास्तिनपुरं यत्र राजा स कौरवः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा प्रशास्ति वसुधामिमाम् ।। ५३ ।।

तत्पश्चात् ऐन्द्रास्त्रद्वारा उसके उत्तम अश्वोंको यमलोक पहुँचा दिया। नरश्रेष्ठ! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मने कन्याओंके लिये युद्ध करके शाल्वको जीत लिया और नृपश्रेष्ठ शाल्वका भी केवल प्राणमात्र छोड़ दिया। जनमेजय! उस समय शाल्व अपनी राजधानीको लौट गया और धर्मपूर्वक राज्यका पालन करने लगा। इसी प्रकार शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले जो-जो राजा वहाँ स्वयंवर देखनेकी इच्छासे आये थे, वे भी अपने-अपने देशको चले गये। प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म उन कन्याओंको जीतकर हस्तिनापुरको चल दिये; जहाँ रहकर धर्मात्मा कुरुवंशी राजा विचित्रवीर्य इस पृथ्वीका शासन करते थे ।। ४९—५३ ।।

यथा पितास्य कौरव्यः शान्तनुर्नृपसत्तमः ।
सोऽचिरेणैव कालेन अत्यक्रामन्नराधिप ।। ५४ ।।
वनानि सरितश्चैव शैलांश्च विविधान् द्रुमान् ।
अक्षतः क्षपयित्वारीन् संख्येऽसंख्येयविक्रमः ।। ५५ ।।

उनके पिता कुरुश्रेष्ठ नृपशिरोमणि शान्तनु जिस प्रकार राज्य करते थे, वैसा ही वे भी करते थे। जनमेजय! भीष्मजी थोड़े ही समयमें वन, नदी, पर्वतोंको लाँघते और नाना प्रकारके वृक्षोंको लाँघते और पीछे छोड़ते हुए आगे बढ़ गये। युद्धमें उनका पराक्रम अवर्णनीय था। उन्होंने स्वयं अक्षत रहकर शत्रुओंको ही क्षति पहुँचायी थी ।। ५४-५५ ।।

आनयामास काश्यस्य सुताः सागरगासुतः ।
स्नुषा इव स धर्मात्मा भगिनीरिव चानुजाः ।। ५६ ।।
यथा दुहितरश्चैव परिगृह्य ययौ कुरून् ।
आनिन्ये स महाबाहुर्भ्रातुः प्रियचिकीर्षया ।। ५७ ।।

धर्मात्मा गंगानन्दन भीष्म काशिराजकी कन्याओंको पुत्रवधू, छोटी बहिन एवं पुत्रीकी भाँति साथ रखकर कुरुदेशमें ले आये। वे महाबाहु अपने भाई विचित्रवीर्यका प्रिय करनेकी इच्छासे उन सबको लाये थे ।। ५६-५७ ।।

ताः सर्वगुणसम्पन्ना भ्राता भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय प्रददौ विक्रमाहृताः ।। ५८ ।।

भाई भीष्मने अपने पराक्रमद्वारा हरकर लायी हुई उन सर्वसद्‌गुणसम्पन्न कन्याओंको अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यके हाथमें दे दिया ।। ५८ ।।

एवं धर्मेण धर्मज्ञः कृत्वा कर्मातिमानुषम् ।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य विवाहायोपचक्रमे ।। ५९ ।।
सत्यवत्या सह मिथः कृत्वा निश्चयमात्मवान् ।
विवाहं कारयिष्यन्तं भीष्मं काशिपतेः सुता ।
ज्येष्ठा तासामिदं वाक्यमब्रवीद्धसती तदा ।। ६० ।।

धर्मज्ञ एवं जितात्मा भीष्मजी इस प्रकार धर्मपूर्वक अलौकिक पराक्रम करके माता सत्यवतीसे सलाह ले एक निश्चयपर पहुँचकर भाई विचित्रवीर्यके विवाहकी तैयारी करने लगे। काशिराजकी उन कन्याओंमें जो सबसे बड़ी थी, वह बड़ी सती-साध्वी थी। उसने जब सुना कि भीष्मजी मेरा विवाह अपने छोटे भाईके साथ करेंगे, तब वह उनसे हँसती हुई इस प्रकार बोली— ।। ५९-६० ।।

मया सौभपतिः पूर्वं मनसा हि वृतः पतिः ।
तेन चास्मि वृता पूर्वमेष कामश्च मे पितुः ।। ६१ ।।

‘धर्मात्मन्! मैंने पहलेसे ही मन-ही-मन सौभ नामक विमानके अधिपति राजा शाल्वको पतिरूपमें वरण कर लिया था। उन्होंने भी पूर्वकालमें मेरा वरण किया था। मेरे पिताजीकी भी यही इच्छा थी कि मेरा विवाह शाल्वके साथ हो ।। ६१ ।।

मया वरयितव्योऽभूच्छाल्वस्तस्मिन् स्वयंवरे ।
एतद् विज्ञाय धर्मज्ञ धर्मतत्त्वं समाचर ।। ६२ ।।

‘उस स्वयंवरमें मुझे राजा शाल्वका ही वरण करना था। धर्मज्ञ! इन सब बातोंको सोच-समझकर जो धर्मका सार प्रतीत हो, वही कार्य कीजिये’ ।। ६२ ।।

एवमुक्तस्तया भीष्मः कन्यया विप्रसंसदि ।
चिन्तामभ्यगमद् वीरो युक्तां तस्यैव कर्मणः ।। ६३ ।।

जब उस कन्याने ब्राह्मणमण्डलीके बीच वीरवर भीष्मजीसे इस प्रकार कहा, तब वे उस वैवाहिक कर्मके विषयमें युक्तियुक्त विचार करने लगे ।। ६३ ।।

विनिश्चित्य स धर्मज्ञो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
अनुजने तदा ज्येष्ठामम्बां काशिपतेः सुताम् ।। ६४ ।।

वे स्वयं भी धर्मके ज्ञाता थे, फिर भी वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ भलीभाँति विचार करके उन्होंने काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बाको उस समय शाल्वके यहाँ जानेकी अनुमति दे दी ।। ६४ ।।

अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद् भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा ।। ६५ ।।

शेष दो कन्याओंका नाम अम्बिका और अम्बालिका था। उन्हें भीष्मजीने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार छोटे भाई विचित्रवीर्यको पत्नीरूपमें प्रदान किया ।। ६५ ।।

तयोः पाणी गृहीत्वा तु रूपयौवनदर्पितः ।

विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कामात्मा समपद्यत ।। ६६ ।।

उन दोनोंका पाणिग्रहण करके रूप और यौवनके अभिमानसे भरे हुए धर्मात्मा विचित्रवीर्य कामात्मा बन गये ।। ६६ ।।

ते चापि बृहती श्यामे नीलकुञ्चितमूर्धजे ।

रक्ततुङ्गनखोपेते पीनश्रोणिपयोधरे ।। ६७ ।।

उनकी वे दोनों पत्नियाँ सयानी थीं। उनकी अवस्था सोलह वर्षकी हो चुकी थी। उनके केश नीले और घुँघराले थे; हाथ-पैरोंके नख लाल और ऊँचे थे; नितम्ब और उरोज स्थूल और उभरे हुए थे ।। ६७ ।।

आत्मनः प्रतिरूपोऽसौ लब्धः पतिरिति स्थिते ।

विचित्रवीर्यं कल्याण्यौ पूजयामासतुः शुभे ।। ६८ ।।

वे यह जानकर संतुष्ट थीं कि हम दोनोंको अपने अनुरूप पति मिले हैं; अतः वे दोनों कल्याणमयी देवियाँ विचित्रवीर्यकी बड़ी सेवा-पूजा करने लगीं ।। ६८ ।।

स चाश्विरूपसदृशो देवतुल्यपराक्रमः ।

सर्वासामेव नारीणां चित्तप्रमथनो रहः ।। ६९ ।।

विचित्रवीर्यका रूप अश्विनीकुमारोंके समान था। वे देवताओंके समान पराक्रमी थे। एकान्तमें वे सभी नारियोंके मनको मोह लेनेकी शक्ति रखते थे ।। ६९ ।।

ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः ।

विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत ।। ७० ।।

राजा विचित्रवीर्यने उन दोनों पत्नियोंके साथ सात वर्षोंतक निरन्तर विहार किया; अतः उस असंयमके परिणामस्वरूप वे युवावस्थामें ही राजयक्ष्माके शिकार हो गये ।। ७० ।।

सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः ।

जगामास्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम् ।। ७१ ।।

उनके हितैषी सगे-सम्बन्धियोंने नामी और विश्वसनीय चिकित्सकोंके साथ उनके रोग-निवारणकी पूरी चेष्टा की, तो भी जैसे सूर्य अस्ताचलको चले जाते हैं, उसी प्रकार वे कौरवनरेश यमलोकको चले गये ।। ७१ ।।

धर्मात्मा स तु गाङ्गेयश्चिन्ताशोकपरायणः ।

प्रेतकार्याणि सर्वाणि तस्य सम्यगकारयत् ।। ७२ ।।

राज्ञो विचित्रवीर्यस्य सत्यवत्या मते स्थितः ।

ऋत्विग्भिः सहितो भीष्मः सर्वैश्च कुरुपुङ्गवैः ।। ७३ ।।

धर्मात्मा गंगानन्दन भीष्मजी भाईकी मृत्युसे चिन्ता और शोकमें डूब गये। फिर माता सत्यवतीकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले उन भीष्मजीने ऋत्विजों तथा कुरुकुलके समस्त श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ राजा विचित्रवीर्यके सभी प्रेतकार्य अच्छी तरह कराये ।। ७२-७३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि विचित्रवीर्योपरमे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १०२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें विचित्रवीर्यका निधनविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०२ ।।

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्यवतीका भीष्मसे राज्यग्रहण और संतानोत्पादनके लिये आग्रह तथा भीष्मके द्वारा अपनी प्रतिज्ञा बतलाते हुए उसकी अस्वीकृति

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती दीना कृपणा पुत्रगृद्धिनी ।
पुत्रस्य कृत्वा कार्याणि स्नुषाभ्यां सह भारत ।। १ ।।
समाश्वास्य स्नुषे ते च भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
धर्मं च पितृवंशं च मातृवंशं च भाविनी ।
प्रसमीक्ष्य महाभागा गाङ्गेयं वाक्यमब्रवीत् ।। २ ।।
शान्तनोर्धर्मनित्यस्य कौरव्यस्य यशस्विनः ।
त्वयि पिण्डश्च कीर्तिश्च संतानं च प्रतिष्ठितम् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली सत्यवती अपने पुत्रके वियोगसे अत्यन्त दीन और कृपण हो गयी। उसने पुत्रवधुओंके साथ पुत्रके प्रेतकार्य करके अपनी दोनों बहुओं तथा शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मजीको धीरज बँधाया। फिर उस महाभागा मंगलमयी देवीने धर्म, पितृकुल तथा मातृकुलकी ओर देखकर गंगानन्दन भीष्मसे कहा—'बेटा! सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले परम यशस्वी कुरुनन्दन महाराज शान्तनुके पिण्ड, कीर्ति और वंश ये सब अब तुम्हींपर अवलम्बित हैं ।। १—३ ।।

यथा कर्म शुभं कृत्वा स्वर्गोपगमनं ध्रुवम् ।
यथा चायुर्ध्रुवं सत्ये त्वयि धर्मस्तथा ध्रुवः ।। ४ ।।

'जैसे शुभ कर्म करके स्वर्गलोकमें जाना निश्चित है, जैसे सत्य बोलनेसे आयुका बढ़ना अवश्यम्भावी है, वैसे ही तुममें धर्मका होना भी निश्चित है ।। ४ ।।

वेत्थ धर्मांश्च धर्मज्ञ समासेनेतरेण च ।
विविधास्त्वं श्रुतीर्वेत्थ वेदाङ्गानि च सर्वशः ।। ५ ।।

'धर्मज्ञ! तुम सब धर्मोंको संक्षेप और विस्तारसे जानते हो। नाना प्रकारकी श्रुतियों और समस्त वेदांगोंका भी तुम्हें पूर्ण ज्ञान है ।। ५ ।।

व्यवस्थानं च ते धर्मे कुलाचारं च लक्षये ।
प्रतिपत्तिं च कृच्छ्रेषु शुक्राङ्गिरसयोरिव ।। ६ ।।

'मैं तुम्हारी धर्मनिष्ठा और कुलोचित सदाचारको भी देखती हूँ। संकटके समय शुक्राचार्य और बृहस्पतिकी भाँति तुम्हारी बुद्धि उपयुक्त कर्तव्यका निर्णय करनेमें समर्थ

है ।। ६ ।।

तस्मात् सुभृशमाश्वस्य त्वयि धर्मभृतां वर ।
कार्ये त्वां विनियोक्ष्यामि तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि ।। ७ ।।

‘अतः धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्म! तुमपर अत्यन्त विश्वास रखकर ही मैं तुम्हें एक आवश्यक कार्यमें लगाना चाहती हूँ। तुम पहले उसे सुन लो; फिर उसका पालन करनेकी चेष्टा करो ।। ७ ।।

मम पुत्रस्तव भ्राता वीर्यवान् सुप्रियश्च ते ।
बाल एव गतः स्वर्गमपुत्रः पुरुषर्षभ ।। ८ ।।
इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते काशिराजसुते शुभे ।
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च भारत ।। ९ ।।
तयोरुत्पादयापत्यं संतानाय कुलस्य नः ।
मन्नियोगान्महाबाहो धर्मं कर्तुमिहार्हसि ।। १० ।।

‘मेरा पुत्र और तुम्हारा भाई विचित्रवीर्य जो पराक्रमी होनेके साथ ही तुम्हें अत्यन्त प्रिय था, छोटी अवस्थामें ही स्वर्गवासी हो गया। नरश्रेष्ठ! उसके कोई पुत्र नहीं हुआ था। तुम्हारे भाईकी ये दोनों सुन्दरी रानियाँ, जो काशिराजकी कन्याएँ हैं, मनोहर रूप और युवावस्थासे सम्पन्न हैं। इनके हृदयमें पुत्र पानेकी अभिलाषा है। भारत! तुम हमारे कुलकी संतानपरम्पराको सुरक्षित रखनेके लिये स्वयं ही इन दोनोंके गर्भसे पुत्र उत्पन्न करो। महाबाहो! मेरी आज्ञासे यह धर्मकार्य तुम अवश्य करो ।। ८—१० ।।

राज्ये चैवाभिषिच्यस्व भारताननुशाधि च ।
दारांश्च कुरु धर्मेण मा निमज्जीः पितामहान् ।। ११ ।।

‘राज्यपर अपना अभिषेक करो और भारतीय प्रजाका पालन करते रहो। धर्मके अनुसार विवाह कर लो; पितरोंको नरकमें न गिरने दो’ ।। ११ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथोच्यमानो मात्रा स सुहृद्भिश्च परंतपः ।
इत्युवाचाथ धर्मात्मा धर्म्यमेवोत्तरं वचः ।। १२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! माता और सुहृदोंके ऐसा कहनेपर शत्रुदमन धर्मात्मा भीष्मने यह धर्मानुकूल उत्तर दिया— ।। १२ ।।

असंशयं परो धर्मस्त्वया मातरुदाहृतः ।
राज्यार्थे नाभिषिञ्चेयं नोपेयां जातु मैथुनम् ।
त्वमपत्यं प्रति च मे प्रतिज्ञां वेत्थ वै पराम् ।। १३ ।।
जानासि च यथावृत्तं शुल्कहेतोस्त्वदन्तरे ।
स सत्यवति सत्यं ते प्रतिजानाम्यहं पुनः ।। १४ ।।

'माता! तुमने जो कुछ कहा है, वह धर्मयुक्त है, इसमें संशय नहीं; परंतु मैं राज्यके लोभसे न तो अपना अभिषेक कराऊँगा और न स्त्रीसहवास ही करूँगा। संतानोत्पादन और राज्य ग्रहण न करनेके विषयमें जो मेरी कठोर प्रतिज्ञा है, उसे तो तुम जानती ही हो। सत्यवती! तुम्हारे लिये शुल्क देनेके हेतु जो-जो बातें हुई थीं, वे सब तुम्हें ज्ञात हैं। उन प्रतिज्ञाओंको पुनः सच्ची करनेके लिये मैं अपना दृढ़ निश्चय बताता हूँ ।। १३-१४ ।।

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः ।
यद् वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन ।। १५ ।।

'मैं तीनों लोकोंका राज्य, देवताओंका साम्राज्य अथवा इन दोनोंसे भी अधिक महत्त्वकी वस्तुको भी एकदम त्याग सकता हूँ, परंतु सत्यको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता ।। १५ ।।

त्यजेच्च पृथ्वी गन्धमापश्च रसमात्मनः ।
ज्योतिस्तथा त्यजेद् रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत् ।। १६ ।।

'पृथ्वी अपनी गंध छोड़ दे, जल अपने रसका परित्याग कर दे, तेज रूपका और वायु स्पर्श नामक स्वाभाविक गुणका त्याग कर दे ।। १६ ।।

प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मताम् ।
त्यजेच्छब्दं तथाऽऽकाशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ।। १७ ।।

'सूर्य प्रभा और अग्नि अपनी उष्णताको छोड़ दे, आकाश शब्दका और चन्द्रमा अपनी शीतलताका परित्याग कर दे ।। १७ ।।

विक्रमं वृत्रहा जह्याद् धर्मं जह्याच्च धर्मराट् ।
न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन ।। १८ ।।

'इन्द्र पराक्रमको छोड़ दें और धर्मराज धर्मकी उपेक्षा कर दें; परंतु मैं किसी प्रकार सत्यको छोड़नेका विचार भी नहीं कर सकता ।। १८ ।।

(तन्न जात्वन्यथा कुर्यां लोकानामपि संक्षये ।
अमरत्वस्य वा हेतोस्त्रैलोक्यसदनस्य वा ।।
एवमुक्ता तु पुत्रेण भूरिद्रविणतेजसा ।)
माता सत्यवती भीष्ममुवाच तदनन्तरम् ।। १९ ।।
जानामि ते स्थितिं सत्ये परां सत्यपराक्रम ।
इच्छन् सृजेथास्त्रीँल्लोकानन्यांस्त्वं स्वेन तेजसा ।। २० ।।
जानामि चैवं सत्यं तन्मदर्थे यच्च भाषितम् ।
आपद्धर्मं त्वमावेक्ष्य वह पैतामहीं धुरम् ।। २१ ।।

'सारे संसारका नाश हो जाय, मुझे अमरत्व मिलता हो या त्रिलोकीका राज्य प्राप्त हो, तो भी मैं अपने किये हुए प्रणको नहीं तोड़ सकता।' महान् तेजोरूप धनसे सम्पन्न अपने पुत्र भीष्मके ऐसा कहनेपर माता सत्यवती इस प्रकार बोली—'बेटा! तुम सत्यपराक्रमी हो।

मैं जानती हूँ, सत्यमें तुम्हारी दृढ़ निष्ठा है। तुम चाहो तो अपने ही तेजसे नयी त्रिलोकीकी रचना कर सकते हो। मैं उस सत्यको भी नहीं भूल सकी हूँ, जिसकी तुमने मेरे लिये घोषणा की थी। फिर भी मेरा आग्रह है कि तुम आपद्धर्मका विचार करके बाप-दादोंके दिये हुए इस राज्यभारको वहन करो ।। १९—२१ ।।

यथा ते कुलतन्तुश्च धर्मश्च न पराभवेत् ।
सुहृदश्च प्रहृष्येरंस्तथा कुरु परंतप ।। २२ ।।

'परंतप! जिस उपायसे तुम्हारे वंशकी परम्परा नष्ट न हो, धर्मकी भी अवहेलना न होने पावे और प्रेमी सुहृद् भी संतुष्ट हो जायँ, वही करो' ।। २२ ।।

लालप्यमानां तामेवं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
धर्मादपेतं ब्रुवतीं भीष्मो भूयोऽब्रवीदिदम् ।। २३ ।।

पुत्रकी कामनासे दीन वचन बोलनेवाली और मुखसे धर्मरहित बात कहनेवाली सत्यवतीसे भीष्मने फिर यह बात कही— ।। २३ ।।

राज्ञि धर्मानवेक्षस्व मा नः सर्वान् व्यनीनशः ।
सत्याच्च्युतिः क्षत्रियस्य न धर्मेषु प्रशस्यते ।। २४ ।।

'राजमाता! धर्मकी ओर दृष्टि डालो, हम सबका नाश न करो। क्षत्रियका सत्यसे विचलित होना किसी भी धर्ममें अच्छा नहीं माना गया है ।। २४ ।।

शान्तनोरपि संतानं यथा स्यादक्षयं भुवि ।
तत् ते धर्मं प्रवक्ष्यामि क्षात्रं राज्ञि सनातनम् ।। २५ ।।

'राजमाता! महाराज शान्तनुकी संतानपरम्परा भी जिस उपायसे इस भूतलपर अक्षय बनी रहे, वह धर्मयुक्त उपाय मैं तुम्हें बतलाऊँगा। वह सनातन क्षत्रियधर्म है ।। २५ ।।

श्रुत्वा तं प्रतिपद्यस्व प्राज्ञैः सह पुरोहितैः ।
आपद्धर्मार्थकुशलैर्लोकतन्त्रमवेक्ष्य च ।। २६ ।।

उसे आपद्धर्मके निर्णयमें कुशल विद्वान् पुरोहितोंसे सुनकर और लोकतन्त्रकी ओर भी देखकर निश्चय करो ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीष्मसत्यवतीसंवादे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १०३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीष्म-सत्यवती-संवादविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०३ ।।

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मकी सम्मतिसे सत्यवतीद्वारा व्यासका आवाहन और व्यासजीका माताकी आज्ञासे कुरुवंश-की वृद्धिके लिये विचित्रवीर्यकी पत्नियोंके गर्भसे संतानोत्पादन करनेकी स्वीकृति देना

भीष्म उवाच

पुनर्भरतवंशस्य हेतुं संतानवृद्धये ।
वक्ष्यामि नियतं मातस्तन्मे निगदतः शृणु ।। १ ।।
ब्राह्मणो गुणवान् कश्चिद् धनेनोपनिमन्त्र्यताम् ।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु यः समुत्पादयेत् प्रजाः ।। २ ।।

भीष्मजी कहते हैं—मातः! भरतवंशकी संतानपरम्पराको बढ़ाने और सुरक्षित रखनेके लिये जो नियत उपाय है, उसे मैं बता रहा हूँ; सुनो। किसी गुणवान्* ब्राह्मणको धन देकर बुलाओ, जो विचित्रवीर्यकी स्त्रियोंके गर्भसे संतान उत्पन्न कर सके ।। १-२ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती भीष्मं वाचा संसज्जमानया ।
विहसन्तीव सव्रीडमिदं वचनमब्रवीत् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब सत्यवती कुछ हँसती और साथ ही लजाती हुई भीष्मजीसे इस प्रकार बोली। बोलते समय उसकी वाणी संकोचसे कुछ अस्पष्ट-सी हो जाती थी ।। ३ ।।

सत्यमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
विश्वासात् ते प्रवक्ष्यामि संतानाय कुलस्य नः ।। ४ ।।

उसने कहा—‘महाबाहु भीष्म! तुम जैसा कहते हो वही ठीक है। तुमपर विश्वास होनेसे अपने कुलकी संततिकी रक्षाके लिये तुम्हें मैं एक बात बतलाती हूँ ।। ४ ।।

न ते शक्यमनाख्यातुमापद्धर्मं तथाविधम् ।
त्वमेव नः कुले धर्मस्त्वं सत्यं त्वं परा गतिः ।। ५ ।।

‘ऐसे आपद्धर्मको देखकर वह बात तुम्हें बताये बिना मैं नहीं रह सकती। तुम्हीं हमारे कुलमें मूर्तिमान् धर्म हो, तुम्हीं सत्य हो और तुम्हीं परम गति

हो ।। ५ ।।

तस्मान्निशम्य सत्यं मे कुरुष्व यदनन्तरम् ।
(यस्तु राजा वसुर्नाम श्रुतस्ते भरतर्षभ ।
तस्य शुक्रादहं मत्स्याद् धृता कुक्षौ पुरा किल ।।
मातरं मे जलाद्धृत्वा दाशः परमधर्मवित् ।
मां तु स्वगृहमानीय दुहितृत्वे ह्यकल्पयत् ।।)
धर्मयुक्तस्य धर्मार्थं पितुरासीत् तरी मम ।। ६ ।।

'अतः मेरी सच्ची बात सुनकर उसके बाद जो कर्तव्य हो, उसे करो।

'भरतश्रेष्ठ! तुमने महाराज वसुका नाम सुना होगा। पूर्वकालमें मैं उन्हींके वीर्यसे उत्पन्न हुई थी। मुझे एक मछलीने अपने पेटमें धारण किया था। एक परम धर्मज्ञ मल्लाहने जलमेंसे मेरी माताको पकड़ा, उसके पेटसे मुझे निकाला और अपने घर लाकर अपनी पुत्री बनाकर रखा। मेरे उन धर्मपरायण पिताके पास एक नौका थी, जो (धनके लिये नहीं) धर्मार्थ चलायी जाती थी ।। ६ ।।

सा कदाचिदहं तत्र गता प्रथमयौवनम् ।
अथ धर्मविदां श्रेष्ठः परमर्षिः पराशरः ।। ७ ।।
आजगाम तरीं धीमांस्तरिष्यन् यमुनां नदीम् ।
स तार्यमाणो यमुनां मामुपेत्याब्रवीत् तदा ।। ८ ।।
सान्त्वपूर्वं मुनिश्रेष्ठः कामार्तो मधुरं वचः ।
उक्तं जन्म कुलं मह्यमस्मि दाशसुतेत्यहम् ।। ९ ।।

'एक दिन मैं उसी नावपर गयी हुई थी। उन दिनों मेरे यौवनका प्रारम्भ था। उसी समय धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् महर्षि पराशर यमुना नदी पार करनेके लिये मेरी नावपर आये। मैं उन्हें पार ले जा रही थी, तबतक वे मुनिश्रेष्ठ काम-पीड़ित हो मेरे पास आ मुझे समझाते हुए मधुर वाणीमें बोले और उन्होंने मुझसे अपने जन्म और कुलका परिचय दिया। इसपर मैंने कहा—'भगवन्! मैं तो निषादकी पुत्री हूँ' ।। ७—९ ।।

तमहं शापभीता च पितुर्भीता च भारत ।
वरैरसुलभैरुक्ता न प्रत्याख्यातुमुत्सहे ।। १० ।।

'भारत! एक ओर मैं पिताजीसे डरती थी और दूसरी ओर मुझे मुनिके शापका भी डर था। उस समय महर्षिने मुझे दुर्लभ वर देकर उत्साहित किया, जिससे मैं उनके अनुरोधको टाल न सकी ।। १० ।।

अभिभूय स मां बालां तेजसा वशमानयत् ।
तमसा लोकमावृत्य नौगतामेव भारत ।। ११ ।।
मत्स्यगन्धो महानासीत् पुरा मम जुगुप्सितः ।

तमपास्य शुभं गन्धमिमं प्रादात् स मे मुनिः ।। १२ ।।

'यद्यपि मैं चाहती नहीं थी, तो भी उन्होंने मुझ अबलाको अपने तेजसे तिरस्कृत करके नौकापर ही मुझे अपने वशमें कर लिया। उस समय उन्होंने कुहरा उत्पन्न करके सम्पूर्ण लोकको अन्धकारसे आवृत कर दिया था। भारत! पहले मेरे शरीरसे अत्यन्त घृणित मछलीकी-सी बड़ी तीव्र दुर्गन्ध आती थी। उसको मिटाकर मुनिने मुझे यह उत्तम गन्ध प्रदान की थी ।। ११-१२ ।।

ततो मामाह स मुनिर्गर्भमुत्सृज्य मामकम् ।
द्वीपेऽस्या एव सरितः कन्यैव त्वं भविष्यसि ।। १३ ।।

'तदनन्तर मुनिने मुझसे कहा—'तुम इस यमुनाके ही द्वीपमें मेरे द्वारा स्थापित इस गर्भको त्यागकर फिर कन्या ही हो जाओगी' ।। १३ ।।

पाराशर्यो महायोगी स बभूव महानृषिः ।
कन्यापुत्रो मम पुरा द्वैपायन इति श्रुतः ।। १४ ।।

'उस गर्भसे पराशरजीके पुत्र महान् योगी महर्षि व्यास प्रकट हुए। वे ही द्वैपायन नामसे विख्यात हैं। वे मेरे कन्यावस्थाके पुत्र हैं ।। १४ ।।

यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः ।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात् कृष्णत्वमेव च ।। १५ ।।

'वे भगवान् द्वैपायन मुनि अपने तपोबलसे चारों वेदोंका पृथक्-पृथक् विस्तार करके लोकमें 'व्यास' पदवीको प्राप्त हुए हैं। शरीरका रंग साँवला होनेसे उन्हें लोग 'कृष्ण' भी कहते हैं ।। १५ ।।

सत्यवादी शमपरस्तपस्वी दग्धकिल्बिषः ।
समुत्पन्नः स तु महान् सह पित्रा ततो गतः ।। १६ ।।

'वे सत्यवादी, शान्त, तपस्वी और पापशून्य हैं। वे उत्पन्न होते ही बड़े होकर उस द्वीपसे अपने पिताके साथ चले गये थे ।। १६ ।।

स नियुक्तो मया व्यक्तं त्वया चाप्रतिमद्युतिः ।
भ्रातुः क्षेत्रेषु कल्याणमपत्यं जनयिष्यति ।। १७ ।।

'मेरे और तुम्हारे आग्रह करनेपर वे अनुपम तेजस्वी व्यास अवश्य ही अपने भाईके क्षेत्रमें कल्याणकारी संतान उत्पन्न करेंगे ।। १७ ।।

स हि मामुक्तवांस्तत्र स्मरेः कृच्छ्रेषु मामिति ।
तं स्मरिष्ये महाबाहो यदि भीष्म त्वमिच्छसि ।। १८ ।।

'उन्होंने जाते समय मुझसे कहा था कि संकटके समय मुझे याद करना। महाबाहु भीष्म! यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो मैं उन्हींका स्मरण करूँ ।। १८ ।।

तव ह्यनुमते भीष्म नियतं स महातपाः ।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु पुत्रानुत्पादयिष्यति ।। १९ ।।

‘भीष्म! तुम्हारी अनुमति मिल जाय, तो महा-तपस्वी व्यास निश्चय ही विचित्रवीर्यकी स्त्रियोंसे पुत्रोंको उत्पन्न करेंगे’ ।। १९ ।।

वैशम्पायन उवाच

महर्षेः कीर्तने तस्य भीष्मः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
धर्ममर्थं च कामं च त्रीनेतान् योऽनुपश्यति ।। २० ।।
अर्थमर्थानुबन्धं च धर्मं धर्मानुबन्धनम् ।
कामं कामानुबन्धं च विपरीतान् पृथक् पृथक् ।। २१ ।।
यो विचिन्त्य धिया धीरो व्यवस्यति स बुद्धिमान् ।
तदिदं धर्मयुक्तं च हितं चैव कुलस्य नः ।। २२ ।।
उक्तं भवत्या यच्छ्रेयस्तन्मह्यं रोचते भृशम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महर्षि व्यासका नाम लेते ही भीष्मजी हाथ जोड़कर बोले—‘माताजी! जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंका बारंबार विचार करता है तथा यह भी जानता है कि किस प्रकार अर्थसे अर्थ, धर्मसे धर्म और कामसे कामरूप फलकी प्राप्ति होती है और वह परिणाममें कैसे सुखद होता है तथा किस प्रकार अर्थादिके सेवनसे विपरीत फल (अर्थनाश आदि) प्रकट होते हैं, इन बातोंपर पृथक्-पृथक् भलीभाँति विचार करके जो धीर पुरुष अपनी बुद्धिके द्वारा कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करता है, वही बुद्धिमान् है। तुमने जो बात कही है, वह धर्मयुक्त तो है ही, हमारे कुलके लिये भी हितकर और कल्याणकारी है; इसलिये मुझे बहुत अच्छी लगी है’ ।। २०—२२½ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तस्मिन् प्रतिज्ञाते भीष्मेण कुरुनन्दन ।। २३ ।।
कृष्णद्वैपायनं काली चिन्तयामास वै मुनिम् ।
स वेदान् विब्रुवन् धीमान् मातुर्विज्ञाय चिन्तितम् ।। २४ ।।
प्रादुर्बभूवाविदितः क्षणेन कुरुनन्दन ।
तस्मै पूजां ततः कृत्वा सुताय विधिपूर्वकम् ।। २५ ।।
परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रस्रवैरभ्यषिञ्चत ।
मुमोच बाष्पं दाशेयी पुत्रं दृष्ट्वा चिरस्य तु ।। २६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन! उस समय भीष्मजीके इस प्रकार अपनी सम्मति देनेपर काली (सत्यवती)-ने मुनिवर कृष्णद्वैपायनका चिन्तन किया। जनमेजय! माताने मेरा स्मरण किया है, यह जानकर परम बुद्धिमान् व्यासजी वेदमन्त्रोंका पाठ करते हुए क्षणभरमें वहाँ प्रकट हो गये। वे कब किधरसे आ गये, इसका पता किसीको न चला। सत्यवतीने अपने पुत्रका

भलीभाँति सत्कार किया और दोनों भुजाओंसे उनका आलिंगन करके अपने स्तनोंके झरते हुए दूधसे उनका अभिषेक किया। अपने पुत्रको दीर्घकालके बाद देखकर सत्यवतीकी आँखोंसे स्नेह और आनन्दके आँसू बहने लगे ।। २३—२६ ।।

तामद्भिः परिषिच्यार्तां महर्षिरभिवाद्य च ।
मातरं पूर्वजः पुत्रो व्यासो वचनमब्रवीत् ।। २७ ।।

तदनन्तर सत्यवतीके प्रथम पुत्र महर्षि व्यासने अपने कमण्डलुके पवित्र जलसे दुःखिनी माताका अभिषेक किया और उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार कहा— ।। २७ ।।

भवत्या यदभिप्रेतं तदहं कर्तुमागतः ।
शाधि मां धर्मतत्त्वज्ञे करवाणि प्रियं तव ।। २८ ।।

'धर्मके तत्त्वको जाननेवाली माताजी! आपकी जो हार्दिक इच्छा हो, उसके अनुसार कार्य करनेके लिये मैं यहाँ आया हूँ। आज्ञा दीजिये, मैं आपकी कौन-सी प्रिय सेवा करूँ' ।। २८ ।।

तस्मै पूजां ततोऽकार्षीत् पुरोधाः परमर्षये ।
स च तां प्रतिजग्राह विधिवन्मन्त्रपूर्वकम् ।। २९ ।।

तत्पश्चात् पुरोहितने महर्षिका विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारणके साथ पूजन किया और महर्षिने उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया ।। २९ ।।

पूजितो मन्त्रपूर्वं तु विधिवत् प्रीतिमाप सः ।
तमासनगतं माता पृष्ट्वा कुशलमव्ययम् ।। ३० ।।
सत्यवत्यथ वीक्ष्यैनमुवाचेदमनन्तरम् ।

विधि और मन्त्रोच्चारणपूर्वक की हुई उस पूजासे व्यासजी बहुत प्रसन्न हुए। जब वे आसनपर बैठ गये, तब माता सत्यवतीने उनका कुशल-क्षेम पूछा और उनकी ओर देखकर इस प्रकार कहा— ।। ३०½ ।।

मातापित्रोः प्रजायन्ते पुत्राः साधारणाः कवे ।। ३१ ।।
तेषां पिता यथा स्वामी तथा माता न संशयः ।
विधानविहितः सत्यं यथा मे प्रथमः सुतः ।। ३२ ।।
विचित्रवीर्यो ब्रह्मर्षे तथा मेऽवरजः सुतः ।
यथैव पितृतो भीष्मस्तथा त्वमपि मातृतः ।। ३३ ।।
भ्राता विचित्रवीर्यस्य यथा वा पुत्र मन्यसे ।
अयं शान्तनवः सत्यं पालयन् सत्यविक्रमः ।। ३४ ।।

'विद्वन्! माता और पिता दोनोंसे पुत्रोंका जन्म होता है, अतः उनपर दोनोंका समान अधिकार है। जैसे पिता पुत्रोंका स्वामी है, उसी प्रकार माता भी

है। इसमें संदेह नहीं है। ब्रह्मर्षे! विधाताके विधान या मेरे पूर्वजन्मोंके पुण्यसे जिस प्रकार तुम मेरे प्रथम पुत्र हो, उसी प्रकार विचित्रवीर्य मेरा सबसे छोटा पुत्र था। जैसे एक पिताके नाते भीष्म उसके भाई हैं, उसी प्रकार एक माताके नाते तुम भी विचित्रवीर्यके भाई ही हो। बेटा! मेरी तो ऐसी ही मान्यता है; फिर तुम जैसा समझो। ये सत्यपराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्म सत्यका पालन कर रहे हैं ।। ३१—३४ ।।

बुद्धिं न कुरुतेऽपत्ये तथा राज्यानुशासने ।
स त्वं व्यपेक्षया भ्रातुः संतानाय कुलस्य च ।। ३५ ।।
भीष्मस्य चास्य वचनान्नियोगाच्च ममानघ ।
अनुक्रोशाच्च भूतानां सर्वेषां रक्षणाय च ।। ३६ ।।
आनृशंस्याच्च यद् ब्रूयां तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि ।
यवीयसस्तव भ्रातुर्भार्ये सुरसुतोपमे ।। ३७ ।।
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च धर्मतः ।
तयोरुत्पादयापत्यं समर्थो ह्यसि पुत्रक ।। ३८ ।।
अनुरूपं कुलस्यास्य संतत्याः प्रसवस्य च ।

'अनघ! संतानोत्पादन तथा राज्य-शासन करनेका इनका विचार नहीं है; अतः तुम अपने भाईके पारलौकिक हितका विचार करके तथा कुलकी संतानपरम्पराकी रक्षाके लिये भीष्मके अनुरोध और मेरी आज्ञासे सब प्राणियोंपर दया करके उनकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे और अपने अन्तःकरणकी कोमल वृत्तिको देखते हुए मैं जो कुछ कहूँ, उसे सुनकर उसका पालन करो। तुम्हारे छोटे भाईकी पत्नियाँ देवकन्याओंके समान सुन्दर रूप तथा युवावस्थासे सम्पन्न हैं। उनके मनमें धर्मतः पुत्र पानेकी कामना है। पुत्र! तुम इसके लिये समर्थ हो, अतः उन दोनोंके गर्भसे ऐसी संतानोंको जन्म दो, जो इस कुलपरम्पराकी रक्षा तथा वृद्धिके लिये सर्वथा सुयोग्य हों' ।। ३५—३८½ ।।

व्यास उवाच

वेत्थ धर्मं सत्यवति परं चापरमेव च ।। ३९ ।।
तथा तव महाप्राज्ञे धर्मे प्रणिहिता मतिः ।
तस्मादहं त्वन्नियोगाद् धर्ममुद्दिश्य कारणम् ।। ४० ।।
ईप्सितं ते करिष्यामि दृष्टं ह्येतत् सनातनम् ।
भ्रातुः पुत्रान् प्रदास्यामि मित्रावरुणयोः समान् ।। ४१ ।।

व्यासजीने कहा—माता सत्यवती! आप पर और अपर दोनों प्रकारके धर्मोंको जानती हैं। महाप्राज्ञे! आपकी बुद्धि सदा धर्ममें लगी रहती है। अतः मैं

आपकी आज्ञासे धर्मको ही दृष्टिमें रखकर (कामके वश न होकर ही) आपकी इच्छाके अनुरूप कार्य करूँगा। यह सनातन मार्ग शास्त्रोंमें देखा गया है। मैं अपने भाईके लिये मित्र और वरुणके समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करूँगा ।। ३९—४१ ।।

व्रतं चरेतां ते देव्यौ निर्दिष्टमिह यन्मया ।
संवत्सरं यथान्यायं ततः शुद्धे भविष्यतः ।। ४२ ।।
न हि माममव्रतोपेता उपेयात् काचिदङ्गना ।

विचित्रवीर्यकी स्त्रियोंको मेरे बताये अनुसार एक वर्षतक विधिपूर्वक व्रत (जितेन्द्रिय होकर केवल संतानार्थ साधन) करना होगा, तभी वे शुद्ध होंगी। जिसने व्रतका पालन नहीं किया है, ऐसी कोई भी स्त्री मेरे समीप नहीं आ सकती ।। ४२½ ।।

सत्यवत्युवाच

सद्यो यथा प्रपद्येते देव्यौ गर्भं तथा कुरु ।। ४३ ।।

सत्यवतीने कहा—बेटा! ये दोनों रानियाँ जिस प्रकार शीघ्र गर्भ धारण करें, वह उपाय करो ।। ४३ ।।

अराजकेषु राष्ट्रेषु प्रजानाथा विनश्यति ।
नश्यन्ति च क्रियाः सर्वा नास्ति वृष्टिर्न देवता ।। ४४ ।।

राज्यमें इस समय कोई राजा नहीं है। बिना राजाके राज्यकी प्रजा अनाथ होकर नष्ट हो जाती है। यज्ञ-दान आदि क्रियाएँ भी लुप्त हो जाती हैं। उस राज्यमें न वर्षा होती है, न देवता वास करते हैं ।। ४४ ।।

कथं चाराजंक राष्ट्रं शक्यं धारयितुं प्रभो ।
तस्माद् गर्भं समाधत्स्व भीष्मः संवर्धयिष्यति ।। ४५ ।।

प्रभो! तुम्हीं सोचो, बिना राजाका राज्य कैसे सुरक्षित और अनुशासित रह सकता है। इसलिये शीघ्र गर्भाधान करो। भीष्म बालकको पाल-पोसकर बड़ा कर लेंगे ।। ४५ ।।

व्यास उवाच

यदि पुत्रः प्रदातव्यो मया भ्रातुरकालिकः ।
विरूपतां मे सहतां तयोरेतत् परं व्रतम् ।। ४६ ।।

व्यासजी बोले—माँ! यदि मुझे समयका नियम न रखकर शीघ्र ही अपने भाईके लिये पुत्र प्रदान करना है, तो उन देवियोंके लिये यह उत्तम व्रत आवश्यक है कि वे मेरे असुन्दर रूपको देखकर शान्त रहें, डरे नहीं ।। ४६ ।।

यदि मे सहते गन्धं रूपं वेषं तथा वपुः ।

अद्यैव गर्भं कौसल्या विशिष्टं प्रतिपद्यताम् ।। ४७ ।।

यदि कौसल्या (अम्बिका) मेरे गन्ध, रूप, वेष और शरीरको सहन कर ले तो वह आज ही एक उत्तम बालकको अपने गर्भमें पा सकती है ।। ४७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महातेजा व्यासः सत्यवतीं तदा ।
शयने सा च कौसल्या शुचिवस्त्रा ह्यलंकृता ।। ४८ ।।
समागमनमाकाङ्क्षेदिति सोऽन्तर्हितो मुनिः ।
ततोऽभिगम्य सा देवी स्नुषां रहसि संगताम् ।। ४९ ।।
धर्म्यमर्थसमायुक्तमुवाच वचनं हितम् ।
कौसल्ये धर्मतन्त्रं त्वां यद् ब्रवीमि निबोध तत् ।। ५० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहनेके बाद महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ व्यासजी सत्यवतीसे फिर 'अच्छा तो कौसल्या (ऋतु-स्नानके पश्चात्) शुद्ध वस्त्र और शृंगार धारण करके शय्यापर मिलनकी प्रतीक्षा करे' यों कहकर अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर देवी सत्यवतीने एकान्तमें आयी हुई अपनी पुत्रवधू अम्बिकाके पास जाकर उससे (आपद्) धर्म और अर्थसे युक्त हितकारक वचन कहा—'कौसल्ये! मैं तुमसे जो धर्मसंगत बात कह रही हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो ।। ४८—५० ।।

भरतानां समुच्छेदो व्यक्तं मद्भाग्यसंक्षयात् ।
व्यथितां मां च सम्प्रेक्ष्य पितृवंशं च पीडितम् ।। ५१ ।।
भीष्मो बुद्धिमदान्मह्यं कुलस्यास्य विवृद्धये ।
सा च बुद्धिस्त्वय्यधीना पुत्रि प्रापय मां तथा ।। ५२ ।।

'मेरे भाग्यका नाश हो जानेसे अब भरतवंशका उच्छेद हो चला है, यह स्पष्ट दिखायी दे रहा है। इसके कारण मुझे व्यथित और पितृकुलको पीड़ित देख भीष्मने इस कुलकी वृद्धिके लिये मुझे एक सम्मति दी है। बेटी! उस सम्मतिकी सार्थकता तुम्हारे अधीन है। तुम भीष्मके बताये अनुसार मुझे उस अवस्थामें पहुँचाओ, जिससे मैं अपने अभीष्टकी सिद्धि देख सकूँ ।। ५१-५२ ।।

नष्टं च भारतं वंशं पुनरेव समुद्धर ।
पुत्रं जनय सुश्रोणि देवराजसमप्रभम् ।। ५३ ।।
स हि राज्यधुरं गुर्वीमुद्वक्ष्यति कुलस्य नः ।

'सुश्रोणि! इस नष्ट होते हुए भरतवंशका पुनः उद्धार करो। तुम देवराज इन्द्रके समान एक तेजस्वी पुत्रको जन्म दो। वही हमारे कुलके इस महान् राज्यभारको वहन करेगा' ।। ५३ १/२ ।।

सा धर्मतोऽनुनीयैनां कथंचिद् धर्मचारिणीम् ।
भोजयामास विप्रांश्च देवर्षीनतिथींस्तथा ।। ५४ ।।

कौसल्या धर्मका आचरण करनेवाली थी। सत्यवतीने धर्मको सामने रखकर ही उसे किसी प्रकार समझा-बुझाकर (बड़ी कठिनतासे) इस कार्यके लिये तैयार किया। उसके बाद ब्राह्मणों, देवर्षियों तथा अतिथियोंको भोजन कराया ।। ५४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि सत्यवत्युपदेशे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ।। १०४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें सत्यवती-उपदेशविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५६ श्लोक हैं)

---

* यहाँ गुणवान्‌का अर्थ है—नियोगकी विधिको जाननेवाला संयमी पुरुष। मनु महाराजने स्त्रियोंके आपद्धर्मके प्रसंगमें लिखा है—

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि । एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ।।

(मनुस्मृति ९।६१)

विधवा स्त्रीके साथ सहवासके लिये (पतिपक्षके गुरुजनोंद्वारा) नियुक्त पुरुष अपने सारे शरीरपर घी चुपड़कर (सौन्दर्य बिगाड़कर), वाणीको संयममें रखकर (चुपचाप रहकर) रात्रिमें सहवास करे। इस प्रकार वह एक ही पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा कभी न करे।

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि । गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ।।

(मनुस्मृति ९।६३)

विधवामें नियोगके लिये विधिके अनुसार (अर्थात् कामवश न होकर कर्तव्य बुद्धिसे) चित्तको संयमित और इन्द्रियोंको अनासक्त रखते हुए नियोगका प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर दोनों परस्पर पिता और पुत्रवधूके समान बर्ताव करें (अर्थात् स्त्री उसको पिताके समान समझकर बरते और पुरुष उसे पुत्रवधूके समान मानकर बर्ताव करे)।

कलियुगमें मनुष्योंके असंयमी और कामी होनेके कारण नियोग वर्जित है।

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा विचित्रवीर्यके क्षेत्रसे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती काले वधूं स्नातामृतौ तदा ।
संवेशयन्ती शयने शनैर्वचनमब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सत्यवती ठीक समयपर अपनी ऋतुस्नाता पुत्रवधूको शय्यापर बैठाती हुई धीरेसे बोली— ।। १ ।।

कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति ।
अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे ह्यागमिष्यति ।। २ ।।

'कौसल्ये! तुम्हारे एक देवर हैं, वे ही आज तुम्हारे पास गर्भाधानके लिये आयेंगे। तुम सावधान होकर उनकी प्रतीक्षा करो। वे ठीक आधी रातके समय यहाँ पधारेंगे' ।। २ ।।

श्वश्र्वास्तद् वचनं श्रुत्वा शयाना शयने शुभे ।
साचिन्तयत् तदा भीष्ममन्यांश्च कुरुपुङ्गवान् ।। ३ ।।

सासकी यह बात सुनकर कौसल्या पवित्र शय्यापर शयन करके उस समय मन-ही-मन भीष्म तथा अन्य श्रेष्ठ कुरुवंशियोंका चिन्तन करने लगी ।। ३ ।।

ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः ।
दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह ।। ४ ।।

उस समय नियोगविधिके अनुसार सत्यवादी महर्षि व्यासने अम्बिकाके महलमें (शरीरपर घी चुपड़े हुए, संयतचित्त, कुत्सित रूपमें) प्रवेश किया। उस समय बहुत-से दीपक वहाँ प्रकाशित हो रहे थे ।। ४ ।।

तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने ।
बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत् ।। ५ ।।

व्यासजीके शरीरका रंग काला था, उनकी जटाएँ पिंगलवर्णकी और आँखें चमक रही थीं तथा दाढ़ी-मूँछ भूरे रंगकी दिखायी देती थी। उन्हें देखकर देवी कौसल्याने (भयके मारे) अपने दोनों नेत्र बंद कर लिये ।। ५ ।।

सम्बभूव तया सार्धं मातुः प्रियचिकीर्षया ।
भयात् काशिसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ।। ६ ।।

माताका प्रिय करनेकी इच्छासे व्यासजीने उसके साथ समागम किया; परंतु काशिराजकी कन्या भयके मारे उनकी ओर अच्छी तरह देख न सकी ।। ६ ।।

ततो निष्क्रान्तमागम्य माता पुत्रमुवाच ह ।
अप्यस्या गुणवान् पुत्र राजपुत्रो भविष्यति ।। ७ ।।

जब व्यासजी उसके महलसे बाहर निकले, तब माता सत्यवतीने आकर उनसे पूछा—'बेटा! क्या अम्बिकाके गर्भसे कोई गुणवान् राजकुमार उत्पन्न होगा?' ।। ७ ।।

निशम्य तद् वचो मातुर्व्यासः सत्यवतीसुतः ।
नागायुतसमप्राणो विद्वान् राजर्षिसत्तमः ।। ८ ।।
महाभागो महावीर्यो महाबुद्धिर्भविष्यति ।
तस्य चापि शतं पुत्रा भविष्यन्ति महात्मनः ।। ९ ।।

माताका यह वचन सुनकर सत्यवतीनन्दन व्यासजी बोले—'माँ! वह दस हजार हाथियोंके समान बलवान्, विद्वान्, राजर्षियोंमें श्रेष्ठ, परम सौभाग्यशाली, महापराक्रमी तथा अत्यन्त बुद्धिमान् होगा। उस महामनाके भी सौ पुत्र होंगे ।। ८-९ ।।

किं तु मातुः स वैगुण्यादन्ध एव भविष्यति ।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा माता पुत्रमथाब्रवीत् ।। १० ।।
नान्धः कुरूणां नृपतिरनुरूपस्तपोधन ।
ज्ञातिवंशस्य गोप्तारं पितॄणां वंशवर्धनम् ।। ११ ।।
द्वितीयं कुरुवंशस्य राजानं दातुमर्हसि ।

'किंतु माताके दोषसे वह बालक अन्धा ही होगा।' व्यासजीकी यह बात सुनकर माताने कहा—'तपोधन! कुरुवंशका राजा अन्धा हो यह उचित नहीं है। अतः कुरुवंशके लिये दूसरा राजा दो, जो जातिभाइयों तथा समस्त कुलका संरक्षक और पिताका वंश बढ़ानेवाला हो' ।। १०-११ १/२ ।।

स तथेति प्रतिज्ञाय निश्चक्राम महायशाः ।। १२ ।।

महायशस्वी व्यासजी 'तथास्तु' कहकर वहाँसे निकल गये ।। १२ ।।

सापि कालेन कौसल्या सुषुवेऽन्धं तमात्मजम् ।
पुनरेव तु सा देवी परिभाष्य स्नुषां ततः ।। १३ ।।
ऋषिमावाहयत् सत्या यथा पूर्वमरिंदम ।
ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत ।। १४ ।।
अम्बालिकामथाभ्यागादृषिं दृष्ट्वा च सापि तम् ।
विवर्णा पाण्डुसंकाशा समपद्यत भारत ।। १५ ।।

प्रसवका समय आनेपर कौसल्याने उसी अन्धे पुत्रको जन्म दिया। जनमेजय! तत्पश्चात् देवी सत्यवतीने अपनी दूसरी पुत्रवधूको समझा-बुझाकर गर्भाधानके लिये तैयार किया और इसके लिये पूर्ववत् महर्षि व्यासका आवाहन किया। फिर महर्षिने उसी (नियोगकी संयमपूर्ण) विधिसे देवी अम्बालिकाके साथ समागम किया। भारत! महर्षि व्यासको देखकर वह भी कान्तिहीन तथा पाण्डुवर्णकी-सी हो गयी ।। १३—१५ ।।

तां भीतां पाण्डुसंकाशां विषण्णां प्रेक्ष्य भारत ।
व्यासः सत्यवतीपुत्र इदं वचनमब्रवीत् ।। १६ ।।

जनमेजय! उसे भयभीत, विषादग्रस्त तथा पाण्डु-वर्णकी-सी देख सत्यवतीनन्दन व्यासने यों कहा— ।। १६ ।।

यस्मात् पाण्डुत्वमापन्ना विरूपं प्रेक्ष्य मामिह ।
तस्मादेष सुतस्ते वै पाण्डुरेव भविष्यति ।। १७ ।।

'अम्बालिके! तुम मुझे विरूप देखकर पाण्डुवर्णकीसी हो गयी थीं, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र पाण्डु रंगका ही होगा ।। १७ ।।

नाम चास्यैतदेवेह भविष्यति शुभानने ।
इत्युक्त्वा स निरक्रामद् भगवानृषिसत्तमः ।। १८ ।।

'शुभानने! इस बालकका नाम भी संसारमें 'पाण्डु' ही होगा।' ऐसा कहकर मुनिश्रेष्ठ भगवान् व्यास वहाँसे निकल गये ।। १८ ।।

ततो निष्क्रान्तमालोक्य सत्या पुत्रमथाब्रवीत् ।
शशंस स पुनर्मात्रे तस्य बालस्य पाण्डुताम् ।। १९ ।।

उस महलसे निकलनेपर सत्यवतीने अपने पुत्रसे उसके विषयमें पूछा। तब व्यासजीने मातासे भी उस बालकके पाण्डुवर्ण होनेकी बात बता दी ।। १९ ।।

तं माता पुनरेवान्यमेकं पुत्रमयाचत ।
तथेति च महर्षिस्तां मातरं प्रत्यभाषत ।। २० ।।

उसके बाद सत्यवतीने पुनः एक दूसरे पुत्रके लिये उनसे याचना की। महर्षिने 'बहुत अच्छा' कहकर माताकी आज्ञा स्वीकार कर ली ।। २० ।।

ततः कुमारं सा देवी प्राप्तकालमजीजनत् ।
पाण्डुं लक्षणसम्पन्नं दीप्यमानमिव श्रिया ।। २१ ।।

तदनन्तर देवी अम्बालिकाने समय आनेपर एक पाण्डुवर्णके पुत्रको जन्म दिया। वह अपनी दिव्य कान्तिसे उद्भासित हो रहा था ।। २१ ।।

यस्य पुत्रा महेष्वासा जज्ञिरे पञ्च पाण्डवाः ।
ऋतुकाले ततो ज्येष्ठां वधूं तस्मै न्ययोजयत् ।। २२ ।।

यह वही बालक था, जिसके पुत्र महाधनुर्धारी पाँच पाण्डव हुए। इसके बाद ऋतुकाल आनेपर सत्यवतीने अपनी बड़ी बहू अम्बिकाको पुनः व्यासजीसे मिलनेके लिये नियुक्त किया ।। २२ ।।

सा तु रूपं च गन्धं च महर्षेः प्रविचिन्त्य तम् ।
नाकरोद् वचनं देव्या भयात् सुरसुतोपमा ।। २३ ।।

परंतु देवकन्याके समान सुन्दरी अम्बिकाने महर्षिके उस कुत्सित रूप और गन्धका चिन्तन करके भयके मारे देवी सत्यवतीकी आज्ञा नहीं मानी ।। २३ ।।

ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम् ।

प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता ।। २४ ।।

काशिराजकी पुत्री अम्बिकाने अप्सराके समान सुन्दरी अपनी एक दासीको अपने ही आभूषणोंसे विभूषित करके काले-कलूटे महर्षि व्यासके पास भेज दिया ।। २४ ।।

सा तमृषिमनुप्राप्तं प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ।

संविवेशाभ्यनुज्ञाता सत्कृत्योपचचार ह ।। २५ ।।

महर्षिके आनेपर उस दासीने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया और उन्हें प्रणाम करके उनकी आज्ञा मिलनेपर वह शय्यापर बैठी और सत्कारपूर्वक उनकी सेवा-पूजा करने लगी ।। २५ ।।

कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगादृषिः ।

तया सहोषितो राजन् महर्षिः संशितव्रतः ।। २६ ।।

उत्तिष्ठन्नब्रवीदेनामभुजिष्या भविष्यसि ।

अयं च ते शुभे गर्भः श्रेयानुदरमागतः ।

धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतां वरः ।। २७ ।।

एकान्तमें मिलकर उसपर महर्षि व्यास बहुत संतुष्ट हुए। राजन्! कठोर व्रतका पालन करनेवाले महर्षि जब उसके साथ शयन करके उठे, तब इस प्रकार बोले—‘शुभे! अब तू दासी नहीं रहेगी। तेरे उदरमें एक अत्यन्त श्रेष्ठ बालक आया है। वह लोकमें धर्मात्मा तथा समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ होगा’ ।। २६-२७ ।।

स जज्ञे विदुरो नाम कृष्णद्वैपायनात्मजः ।
धृतराष्ट्रस्य वै भ्राता पाण्डोश्चैव महात्मनः ।। २८ ।।

वही बालक विदुर हुआ, जो श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासका पुत्र था। एक पिताका होनेके कारण वह राजा धृतराष्ट्र और महात्मा पाण्डुका भाई था ।। २८ ।।

धर्मो विदुररूपेण शापात् तस्य महात्मनः ।
माण्डव्यस्यार्थतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः ।। २९ ।।

महात्मा माण्डव्यके शापसे साक्षात् धर्मराज ही विदुररूपमें उत्पन्न हुए थे। वे अर्थतत्त्वके ज्ञाता और काम-क्रोधसे रहित थे ।। २९ ।।

कृष्णद्वैपायनोऽप्येतत् सत्यवत्यै न्यवेदयत् ।
प्रलम्भमात्मनश्चैव शूद्रायाः पुत्रजन्म च ।। ३० ।।

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने सत्यवतीको भी सब बातें बता दीं। उन्होंने यह रहस्य प्रकट कर दिया कि अम्बिकाने अपनी दासीको भेजकर मेरे साथ छल किया है, अतः शूद्रा दासीके गर्भसे ही पुत्र उत्पन्न होगा ।। ३० ।।

स धर्मस्यानृणो भूत्वा पुनर्मात्रा समेत्य च ।
तस्यै गर्भं समावेद्य तत्रैवान्तरधीयत ।। ३१ ।।

इस तरह व्यासजी (मातृ-आज्ञापालनरूप) धर्मसे उऋण होकर फिर अपनी माता सत्यवतीसे मिले और उन्हें गर्भका समाचार बताकर वहीं अन्तर्धान हो गये ।। ३१ ।।

एते विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रे द्वैपायनादपि ।
जज्ञिरे देवगर्भाभाः कुरुवंशविवर्धनाः ।। ३२ ।।

विचित्रवीर्यके क्षेत्रमें व्यासजीसे ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो देवकुमारोंके समान तेजस्वी और कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले थे ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि विचित्रवीर्यसुतोत्पत्तौ पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें विचित्रवीर्यके पुत्रोंकी उत्पत्तिविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०५ ।।

षडधिकशततमोऽध्यायः

महर्षि माण्डव्यका शूलीपर चढ़ाया जाना

जनमेजय उवाच

किं कृतं कर्म धर्मेण येन शापमुपेयिवान् ।
कस्य शापाच्च ब्रह्मर्षेः शूद्रयोनावजायत ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! धर्मराजने ऐसा कौन-सा कर्म किया था, जिससे उन्हें शाप प्राप्त हुआ? किस ब्रह्मर्षिके शापसे वे शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुए ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

बभूव ब्राह्मणः कश्चिन्माण्डव्य इति विश्रुतः ।
धृतिमान् सर्वधर्मज्ञः सत्ये तपसि च स्थितः ।। २ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पूर्वकालमें माण्डव्य नामसे विख्यात एक ब्राह्मण थे, जो धैर्यवान्, सब धर्मोंके ज्ञाता, सत्यनिष्ठ एवं तपस्वी थे ।। २ ।।

स आश्रमपदद्वारि वृक्षमूले महातपाः ।
ऊर्ध्वबाहुर्महायोगी तस्थौ मौनव्रतान्वितः ।। ३ ।।

वे अपने आश्रमके द्वारपर एक वृक्षके नीचे दोनों बाँहें ऊपरको उठाये हुए मौनव्रत धारण करके खड़े रहकर बड़ी भारी तपस्या करते थे। माण्डव्यजी बहुत बड़े योगी थे ।। ३ ।।

तस्य कालेन महता तस्मिंस्तपसि वर्ततः ।
तमाश्रममनुप्राप्ता दस्यवो लोप्त्रहारिणः ।। ४ ।।

उस कठोर तपस्यामें लगे हुए महर्षिके बहुत दिन व्यतीत हो गये। एक दिन उनके आश्रमपर चोरीका माल लिये हुए बहुत-से लुटेरे आये ।। ४ ।।

अनुसार्यमाणा बहुभी रक्षिभिर्भरतर्षभ ।
ते तस्यावसथे लोप्त्रं दस्यवः कुरुसत्तम ।। ५ ।।
निधाय च भयाल्लीनास्तत्रैवानागते बले ।
तेषु लीनेष्वथो शीघ्रं ततस्तद् रक्षिणां बलम् ।। ६ ।।
आजगाम ततोऽपश्यंस्तमृषिं तस्करानुगाः ।
तमपृच्छंस्ततो राजंस्तथावृत्तं तपोधनम् ।। ७ ।।
कतमेन पथा याता दस्यवो द्विजसत्तम ।
तेन गच्छामहे ब्रह्मन् यथा शीघ्रतरं वयम् ।। ८ ।।

जनमेजय! उन चोरोंका बहुत-से सैनिक पीछा कर रहे थे। कुरुश्रेष्ठ! वे दस्यु वह चोरीका माल महर्षिके आश्रममें रखकर भयके मारे प्रजा-रक्षक सेनाके आनेके पहले वहीं कहीं छिप गये। उनके छिप जानेपर रक्षकोंकी सेना शीघ्रतापूर्वक वहाँ आ पहुँची। राजन्! चोरोंका पीछा करनेवाले लोगोंने इस प्रकार तपस्यामें लगे हुए उन महर्षिको जब वहाँ देखा, तो पूछा कि 'द्विजश्रेष्ठ! बताइये, चोर किस रास्तेसे भगे हैं? जिससे वही मार्ग पकड़कर हम तीव्र गतिसे उनका पीछा करें' ।। ५—८ ।।

तथा तु रक्षिणां तेषां ब्रुवतां स तपोधनः ।
न किंचिद् वचनं राजन्नब्रवीत् साध्वसाधु वा ।। ९ ।।

राजन्! उन रक्षकोंके इस प्रकार पूछनेपर तपस्याके धनी उन महर्षिने भला-बुरा कुछ भी नहीं कहा ।। ९ ।।

ततस्ते राजपुरुषा विचिन्वानास्तमाश्रमम् ।
ददृशुस्तत्र लीनांस्तांश्चौरांस्तद् द्रव्यमेव च ।। १० ।।

तब उन राजपुरुषोंने उस आश्रममें ही चोरोंको खोजना आरम्भ किया और वहीं छिपे हुए चोरों तथा चोरीके मालको भी देख लिया ।। १० ।।

ततः शङ्का समभवद् रक्षिणां तं मुनिं प्रति ।
संयम्यैनं ततो राज्ञे दस्यूंश्चैव न्यवेदयन् ।। ११ ।।

फिर तो रक्षकोंको मुनिके प्रति मनमें संदेह उत्पन्न हो गया और वे उन्हें बाँधकर राजाके पास ले गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने राजासे सब बातें बतायीं और उन चोरोंको भी राजाके हवाले कर दिया ।। ११ ।।

तं राजा सह तैश्चौरैरन्वशाद् वध्यतामिति ।
स रक्षिभिस्तैरज्ञातः शूले प्रोतो महातपाः ।। १२ ।।

राजाने उन चोरोंके साथ महर्षिको भी प्राणदण्डकी आज्ञा दे दी। रक्षकोंने उन महातपस्वी मुनिको नहीं पहचाना और उन्हें शूलीपर चढ़ा दिया ।। १२ ।।

ततस्ते शूलमारोप्य तं मुनिं रक्षिणस्तदा ।
प्रतिजग्मुर्महीपालं धनान्यादाय तान्यथ ।। १३ ।।

इस प्रकार वे रक्षक माण्डव्य मुनिको शूलीपर चढ़ाकर वह सारा धन साथ ले राजाके पास लौट गये ।। १३ ।।

शूलस्थः स तु धर्मात्मा कालेन महता ततः ।
निराहारोऽपि विप्रर्षिर्मरणं नाभ्यपद्यत ।। १४ ।।

धर्मात्मा ब्रह्मर्षि माण्डव्य दीर्घकालतक उस शूलके अग्रभागपर बैठे रहे। वहाँ भोजन न मिलनेपर भी उनकी मृत्यु नहीं हुई ।। १४ ।।

धारयामास च प्राणानृषींश्च समुपानयत् ।
शूलाग्रे तप्यमानेन तपस्तेन महात्मना ।। १५ ।।

संतापं परमं जग्मुर्मुनयस्तपसान्विताः ।
ते रात्रौ शकुना भूत्वा संनिपत्य तु भारत ।
दर्शयन्तो यथाशक्ति तमपृच्छन् द्विजोत्तमम् ।। १६ ।।

वे प्राण धारण किये रहे और स्मरणमात्र करके ऋषियोंको अपने पास बुलाने लगे। शूलीकी नोकपर तपस्या करनेवाले उन महात्मासे प्रभावित होकर सभी तपस्वी मुनियोंको बड़ा संताप हुआ। वे रातमें पक्षियोंका रूप धारण करके वहाँ उड़ते हुए आये और अपनी शक्तिके अनुसार स्वरूपको प्रकाशित करते हुए उन विप्रवर माण्डव्य मुनिसे पूछने लगे — ।। १५-१६ ।।

श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन् किं पापं कृतवानसि ।
येनेह समनुप्राप्तं शूले दुःखभयं महत् ।। १७ ।।

‘ब्रह्मन्! हम सुनना चाहते हैं कि आपने कौन-सा पाप किया है, जिससे यहाँ शूलपर बैठनेका यह महान् कष्ट आपको प्राप्त हुआ है?’ ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अणीमाण्डव्योपाख्याने षडधिकशततमोऽध्यायः ।। १०६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अणीमाण्डव्योपाख्यानविषयक एक सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ।। १०६ ।।

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

माण्डव्यका धर्मराजको शाप देना

वैशम्पायन उवाच

ततः स मुनिशार्दूलस्तानुवाच तपोधनान् ।
दोषतः कं गमिष्यामि न हि मेऽन्योऽपराध्यति ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तब उन मुनिश्रेष्ठने उन तपस्वी मुनियोंसे कहा—'मैं किसपर दोष लगाऊँ; दूसरे किसीने मेरा अपराध नहीं किया है' ।। १ ।।

तं दृष्ट्वा रक्षिणस्तत्र तथा बहुतिथेऽहनि ।
न्यवेदयंस्तथा राज्ञे यथावृत्तं नराधिप ।। २ ।।

महाराज! रक्षकोंने बहुत दिनोंतक उन्हें शूलपर बैठे देख राजाके पास जा वह सब समाचार ज्यों-का-त्यों निवेदन किया ।। २ ।।

श्रुत्वा च वचनं तेषां निश्चित्य सह मन्त्रिभिः ।
प्रसादयामास तथा शूलस्थमृषिसत्तमम् ।। ३ ।।

उनकी बात सुनकर मन्त्रियोंके साथ परामर्श करके राजाने शूलीपर बैठे हुए उन मुनिश्रेष्ठको प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया ।। ३ ।।

धर्मराज और अणीमाण्डव्य

अणीमाण्डव्य ऋषि शूलीपर

राजोवाच

यन्मयापकृतं मोहादज्ञानादृषिसत्तम ।
प्रसादये त्वां तत्राहं न मे त्वं क्रोद्धुमर्हसि ।। ४ ।।

राजाने कहा—मुनिवर! मैंने मोह अथवा अज्ञानवश जो अपराध किया है, उसके लिये आप मुझपर क्रोध न करें। मैं आपसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ ।। ४ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा प्रसादमकरोन्मुनिः ।
कृतप्रसादं राजा तं ततः समवतारयत् ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजाके यों कहनेपर मुनि उनपर प्रसन्न हो गये। राजाने उन्हें प्रसन्न जानकर शूलीसे उतार दिया ।। ५ ।।

अवतार्य च शूलाग्रात् तच्छूलं निश्चकर्ष ह ।
अशक्नुवंश्च निष्क्रष्टुं शूलं मूले स चिच्छिदे ।। ६ ।।

नीचे उतारकर उन्होंने शूलके अग्रभागके सहारे उनके शरीरके भीतरसे शूलको निकालनेके लिये खींचा। खींचकर निकालनेमें असफल होनेपर उन्होंने उस शूलको मूलभागमें काट दिया ।। ६ ।।

स तथान्तर्गतेनैव शूलेन व्यचरन्मुनिः ।
तेनातितपसा लोकान् विजिग्ये दुर्लभान् परैः ।। ७ ।।

तबसे वे मुनि शूलाग्रभागको अपने शरीरके भीतर लिये हुए ही विचरने लगे। उस अत्यन्त घोर तपस्याके द्वारा महर्षिने ऐसे पुण्यलोकोंपर विजय पायी, जो दूसरोंके लिये दुर्लभ हैं ।। ७ ।।

अणीमाण्डव्य इति च ततो लोकेषु गीयते ।
स गत्वा सदनं विप्रो धर्मस्य परमात्मवित् ।। ८ ।।
आसनस्थं ततो धर्मं दृष्ट्वोपालभत प्रभुः ।
किं नु तद् दुष्कृतं कर्म मया कृतमजानता ।। ९ ।।
यस्येयं फलनिर्वृत्तिरीदृश्यासादिता मया ।
शीघ्रमाचक्ष्व मे तत्त्वं पश्य मे तपसो बलम् ।। १० ।।

अणी कहते हैं शूलके अग्रभागको, उससे युक्त होनेके कारण वे मुनि तभीसे सभी लोकोंमें 'अणी-माण्डव्य' कहलाने लगे। एक समय परमात्मतत्त्वके ज्ञाता विप्रवर माण्डव्यने धर्मराजके भवनमें जाकर उन्हें दिव्य आसनपर बैठे देखा। उस समय उन शक्तिशाली महर्षिने उन्हें उलाहना देते हुए पूछा—'मैंने अनजानमें कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिसके फलका भोग मुझे इस रूपमें प्राप्त हुआ? मुझे शीघ्र इसका रहस्य बताओ। फिर मेरी तपस्याका बल देखो' ।। ८—१० ।।

धर्म उवाच

पतङ्गिकानां पुच्छेषु त्वयेषीका प्रवेशिता ।
कर्मणस्तस्य ते प्राप्तं फलमेतत् तपोधन ।। ११ ।।

धर्मराज बोले—तपोधन! तुमने फतिंगोंके पुच्छ-भागमें सींक घुसेड़ दी थी। उसी कर्मका यह फल तुम्हें प्राप्त हुआ है ।। ११ ।।

स्वल्पमेव यथा दत्तं दानं बहुगुणं भवेत् ।
अधर्म एवं विप्रर्षे बहुदुःखफलप्रदः ।। १२ ।।

विप्रर्षे! जैसे थोड़ा-सा भी किया हुआ दान कई गुना फल देनेवाला होता है, वैसे ही अधर्म भी बहुत दुःखरूपी फल देनेवाला होता है ।। १२ ।।

अणीमाण्डव्य उवाच

कस्मिन् काले मया तत् तु कृतं ब्रूहि यथातथम् ।
तेनोक्तो धर्मराजेन बालभावे त्वया कृतम् ।। १३ ।।

अणीमाण्डव्यने पूछा—अच्छा, तो ठीक-ठीक बताओ, मैंने किस समय—किस आयुमें वह पाप किया था?

धर्मराजने उत्तर दिया—‘बाल्यावस्थामें तुम्हारे द्वारा यह पाप हुआ था’ ।। १३ ।।

अणीमाण्डव्य उवाच

बालो हि द्वादशाद् वर्षाज्जन्मतो यत् करिष्यति ।
न भविष्यत्यधर्मोऽत्र न प्रज्ञास्यन्ति वै दिशः ।। १४ ।।

अणीमाण्डव्यने कहा—धर्मशास्त्रके अनुसार जन्मसे लेकर बारह वर्षकी आयुतक बालक जो कुछ भी करेगा, उसमें अधर्म नहीं होगा; क्योंकि उस समयतक बालकको धर्मशास्त्रके आदेशका ज्ञान नहीं हो सकेगा ।।

अल्पेऽपराधेऽपि महान् मम दण्डस्त्वया कृतः ।
गरीयान् ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधादपि ।। १५ ।।

धर्मराज! तुमने थोड़े-से अपराधके लिये मुझे बहुत बड़ा दण्ड दिया है। ब्राह्मणका वध सम्पूर्ण प्राणियोंके वधसे भी अधिक भयंकर है ।। १५ ।।

शूद्रयोनावतो धर्म मानुषः सम्भविष्यसि ।
मर्यादां स्थापयाम्यद्य लोके धर्मफलोदयाम् ।। १६ ।।

अतः धर्म! तुम मनुष्य होकर शूद्रयोनिमें जन्म लोगे। आजसे संसारमें मैं धर्मके फलको प्रकट करनेवाली मर्यादा स्थापित करता हूँ ।। १६ ।।

आ चतुर्दशकाद् वर्षान्न भविष्यति पातकम् ।
परतः कुर्वतामेवं दोष एव भविष्यति ।। १७ ।।

चौदह वर्षकी उम्रतक किसीको पाप नहीं लगेगा। उससे अधिककी आयुमें पाप करनेवालोंको ही दोष लगेगा ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतेन त्वपराधेन शापात् तस्य महात्मनः ।
धर्मो विदुररूपेण शूद्रयोनावजायत ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसी अपराधके कारण महात्मा माण्डव्यके शापसे साक्षात् धर्म ही विदुररूपसे शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुए ।। १८ ।।

धर्मे चार्थे च कुशलो लोभक्रोधविवर्जितः ।
दीर्घदर्शी शमपरः कुरूणां च हिते रतः ।। १९ ।।

वे धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्रके पण्डित, लोभ और क्रोधसे रहित, दीर्घदर्शी, शान्तिपरायण तथा कौरवोंके हितमें तत्पर रहनेवाले थे ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अणीमाण्डव्योपाख्याने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ।। १०७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अणीमाण्डव्योपाख्यानविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०७ ।।

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र आदिके जन्म तथा भीष्मजीके धर्मपूर्ण शासनसे कुरुदेशकी सर्वांगीण उन्नतिका दिग्दर्शन

वैशम्पायन उवाच

(धृतराष्ट्रे च पाण्डौ च विदुरे च महात्मनि ।)
तेषु त्रिषु कुमारेषु जातेषु कुरुजाङ्गलम् ।
कुरवोऽथ कुरुक्षेत्रं त्रयमेतदवर्धत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धृतराष्ट्र, पाण्डु और महात्मा विदुर—इन तीनों कुमारोंके जन्मसे कुरुवंश, कुरुजांगल देश और कुरुक्षेत्र—इन तीनोंकी बड़ी उन्नति हुई ।। १ ।।

ऊर्ध्वसस्याभवद् भूमिः सस्यानि रसवन्ति च ।
यथर्तुवर्षी पर्जन्यो बहुपुष्पफला द्रुमाः ।। २ ।।

पृथ्वीपर खेतीकी उपज बहुत बढ़ गयी, सभी अन्न सरस होने लगे, बादल ठीक समयपर वर्षा करते थे, वृक्षोंमें बहुत-से फल और फूल लगने लगे ।। २ ।।

वाहनानि प्रहृष्टानि मुदिता मृगपक्षिणः ।
गन्धवन्ति च माल्यानि रसवन्ति फलानि च ।। ३ ।।

घोड़े-हाथी आदि वाहन हृष्ट-पुष्ट रहते थे, मृग और पक्षी बड़े आनन्दसे दिन बिताते थे, फूलों और मालाओंमें अनुपम सुगन्ध होती थी और फलोंमें अनोखा रस होता था ।। ३ ।।

वणिग्भिश्चान्वकीर्यन्त नगराण्यथ शिल्पिभिः ।
शूराश्च कृतविद्याश्च सन्तश्च सुखिनोऽभवन् ।। ४ ।।

सभी नगर व्यापार-कुशल वैश्यों तथा शिल्पकलामें निपुण कारीगरोंसे भरे रहते थे। शूर-वीर, विद्वान् और संत सुखी हो गये ।। ४ ।।

नाभवन् दस्यवः केचिन्नाधर्मरुचयो जनाः ।
प्रदेशेष्वपि राष्ट्राणां कृतं युगमवर्तत ।। ५ ।।

कोई भी मनुष्य डाकू नहीं था। पापमें रुचि रखनेवाले लोगोंका सर्वथा अभाव था। राष्ट्रके विभिन्न प्रान्तोंमें सत्ययुग छा रहा था ।। ५ ।।

धर्मक्रिया यज्ञशीलाः सत्यव्रतपरायणाः ।
अन्योन्यप्रीतिसंयुक्ता व्यवर्धन्त प्रजास्तदा ।। ६ ।।

उस समयकी प्रजा सत्य-व्रतके पालनमें तत्पर हो स्वभावतः यज्ञ-कर्ममें लगी रहती और धर्मानुकूल कर्मोंमें संलग्न रहकर एक-दूसरेको प्रसन्न रखती हुई सदा उन्नतिके पथपर

बढ़ती जाती थी ।। ६ ।।

मानक्रोधविहीनाश्च नरा लोभविवर्जिताः ।
अन्योन्यमभ्यनन्दन्त धर्मोत्तरमवर्तत ।। ७ ।।

सब लोग अभिमान और क्रोधसे रहित तथा लोभसे दूर रहनेवाले थे; सभी एक-दूसरेको प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे। लोगोंके आचार-व्यवहारमें धर्मकी ही प्रधानता थी ।। ७ ।।

तन्महोदधिवत् पूर्णं नगरं वै व्यरोचत ।
द्वारतोरणनिर्यूहैर्युक्तमभ्रचयोपमैः ।। ८ ।।

समुद्रकी भाँति सब प्रकारसे भरा-पूरा कौरवनगर मेघसमूहोंके समान बड़े-बड़े दरवाजों, फाटकों और गोपुरोंसे सुशोभित था ।। ८ ।।

प्रासादशतसम्बाधं महेन्द्रपुरसंनिभम् ।
नदीषु वनखण्डेषु वापीपल्वलसानुषु ।
काननेषु च रम्येषु विजह्रुर्मुदिता जनाः ।। ९ ।।

सैकड़ों महलोंसे संयुक्त वह पुरी देवराज इन्द्रकी अमरावतीके समान शोभा पाती थी। वहाँके लोग नदियों, वनखण्डों, बावलियों, छोटे-छोटे जलाशयों, पर्वतशिखरों तथा रमणीय काननोंमें प्रसन्नतापूर्वक विहार करते थे ।। ९ ।।

उत्तरैः कुरुभिः सार्धं दक्षिणाः कुरवस्तथा ।
विस्पर्धमाना व्यचरंस्तथा देवर्षिचारणैः ।। १० ।।

उस समय दक्षिणकुरु देशके निवासी उत्तरकुरुमें रहनेवाले लोगों, देवताओं, ऋषियों तथा चारणोंके साथ होड़-सी लगाते हुए स्वच्छन्द विचरण करते थे ।। १० ।।

नाभवत् कृपणः कश्चिन्नाभवन् विधवाः स्त्रियः ।
तस्मिञ्जनपदे रम्ये कुरुभिर्बहुलीकृते ।। ११ ।।

कौरवोंद्वारा बढ़ाये हुए उस रमणीय जनपदमें न तो कोई कंजूस था और न विधवा स्त्रियाँ देखी जाती थीं ।। ११ ।।

कूपारामसभावाप्यो ब्राह्मणावसथास्तथा ।
बभूवुः सर्वर्द्धियुतास्तस्मिन् राष्ट्रे सदोत्सवाः ।। १२ ।।

उस राष्ट्रके कुओं, बगीचों, सभाभवनों, बावलियों तथा ब्राह्मणोंके घरोंमें सब प्रकारकी समृद्धियाँ भरी रहती थीं और वहाँ नित्य-नूतन उत्सव हुआ करते थे ।। १२ ।।

भीष्मेण धर्मतो राजन् सर्वतः परिरक्षिते ।
बभूव रमणीयश्च चैत्ययूपशताङ्कितः ।। १३ ।।

जनमेजय! भीष्मजीके द्वारा सब ओरसे धर्मपूर्वक सुरक्षित भूमण्डलमें वह कुरुदेश सैकड़ों देवस्थानों और यज्ञस्तम्भोंसे चिह्नित होनेके कारण बड़ी शोभा पाता था ।। १३ ।।

स देशः परराष्ट्राणि विमृज्याभिप्रवर्धितः ।

भीष्मेण विहितं राष्ट्रे धर्मचक्रमवर्तत ।। १४ ।।

वह देश दूसरे राष्ट्रोंका भी शोधन करके निरन्तर उन्नतिके पथपर अग्रसर हो रहा था। राष्ट्रमें सब ओर भीष्मजीके द्वारा चलाया हुआ धर्मका शासन चल रहा था ।। १४ ।।

क्रियमाणेषु कृत्येषु कुमाराणां महात्मनाम् ।
पौरजानपदाः सर्वे बभूवुः सततोत्सवाः ।। १५ ।।

उन महात्मा कुमारोंके यज्ञोपवीतादि संस्कार किये जानेके समय नगर और देशके सभी लोग निरन्तर उत्सव मनाते थे ।। १५ ।।

गृहेषु कुरुमुख्यानां पौराणां च नराधिप ।
दीयतां भुज्यतां चेति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ।। १६ ।।

जनमेजय! कुरुकुलके प्रधान-प्रधान पुरुषों तथा अन्य नगरनिवासियोंके घरोंमें सदा सब ओर यही बात सुनायी देती थी कि 'दान दो और अतिथियोंको भोजन कराओ' ।। १६ ।।

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च विदुरश्च महामतिः ।
जन्मप्रभृति भीष्मेण पुत्रवत् परिपालिताः ।। १७ ।।

धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा परम बुद्धिमान् विदुर—इन तीनों भाइयोंका भीष्मजीने जन्मसे ही पुत्रकी भाँति पालन किया ।। १७ ।।

संस्कारैः संस्कृतास्ते तु व्रताध्ययनसंयुताः ।
श्रमव्यायामकुशलाः समपद्यन्त यौवनम् ।। १८ ।।

उन्होंने ही उनके सब संस्कार कराये। फिर वे ब्रह्मचर्यव्रतके पालन और वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर हो गये। परिश्रम और व्यायाममें भी उन्होंने बड़ी कुशलता प्राप्त की। फिर धीरे-धीरे वे युवावस्थाको प्राप्त हुए ।। १८ ।।

धनुर्वेदेऽश्वपृष्ठे च गदायुद्धेऽसिचर्मणि ।
तथैव गजशिक्षायां नीतिशास्त्रेषु पारगाः ।। १९ ।।

धनुर्वेद, घोड़ेकी सवारी, गदायुद्ध, ढाल-तलवारके प्रयोग, गजशिक्षा तथा नीतिशास्त्रमें वे तीनों भाई पारंगत हो गये ।। १९ ।।

इतिहासपुराणेषु नानाशिक्षासु बोधिताः ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञाः सर्वत्र कृतनिश्चयाः ।। २० ।।

उन्हें इतिहास, पुराण तथा नाना प्रकारके शिष्टाचारोंका भी ज्ञान कराया गया। वे वेद-वेदांगोंके तत्त्वज्ञ तथा सर्वत्र एक निश्चित सिद्धान्तके माननेवाले थे ।। २० ।।

पाण्डुर्धनुषि विक्रान्तो नरेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।
अन्येभ्यो बलवानासीद् धृतराष्ट्रो महीपतिः ।। २१ ।।

पाण्डु धनुर्विद्यामें उस समयके मनुष्योंमें सबसे बढ़-चढ़कर पराक्रमी थे। इसी प्रकार राजा धृतराष्ट्र दूसरे लोगोंकी अपेक्षा शारीरिक बलमें बहुत बढ़कर थे ।। २१ ।।

त्रिषु लोकेषु न त्वासीत् कश्चिद् विदुरसम्मितः ।
धर्मनित्यस्तथा राजन् धर्मे च परमं गतः ।। २२ ।।

राजन्! तीनों लोकोंमें विदुरजीके समान दूसरा कोई भी मनुष्य धर्मपरायण तथा धर्ममें ऊँची अवस्थाको प्राप्त (आत्मद्रष्टा)* नहीं था ।। २२ ।।

प्रणष्टं शन्तनोर्वंशं समीक्ष्य पुनरुद्धृतम् ।
ततो निर्वचनं लोके सर्वराष्ट्रेष्ववर्तत ।। २३ ।।

नष्ट हुए शान्तनुके वंशका पुनः उद्धार हुआ देखकर समस्त राष्ट्रके लोग परस्पर कहने लगे— ।। २३ ।।

वीरसूनां काशिसुते देशानां कुरुजाङ्गलम् ।
सर्वधर्मविदां भीष्मः पुराणां गजसाह्वयम् ।। २४ ।।
धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वाद् राज्यं न प्रत्यपद्यत ।
पारसवत्वाद् विदुरो राजा पाण्डुर्बभूव ह ।। २५ ।।

'वीर पुत्रोंको जन्म देनेवाली स्त्रियोंमें काशिराजकी दोनों पुत्रियाँ सबसे श्रेष्ठ हैं, देशोंमें कुरुजांगल देश सबसे उत्तम है, सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें भीष्मजीका स्थान सबसे ऊँचा है तथा नगरोंमें हस्तिनापुर सर्वोत्तम है।' धृतराष्ट्र अंधे होनेके कारण और विदुरजी पारशव (शूद्राके गर्भसे ब्राह्मणद्वारा उत्पन्न) होनेसे राज्य न पा सके; अतः सबसे छोटे पाण्डु ही राजा हुए ।। २४-२५ ।।

कदाचिदथ गाङ्गेयः सर्वनीतिमतां वरः ।
विदुरं धर्मतत्त्वज्ञं वाक्यमाह यथोचितम् ।। २६ ।।

एक समयकी बात है, सम्पूर्ण नीतिज्ञ पुरुषोंमें श्रेष्ठ गंगानन्दन भीष्मजी धर्मके तत्त्वको जाननेवाले विदुरजीसे इस प्रकार न्यायोचित वचन बोले ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि
पाण्डुराज्याभिषेकेऽष्टाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुराज्याभिषेकविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं)

---

* 'अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्' याज्ञवल्क्यस्मृतिके इस कथनके अनुसार आत्मदर्शन ही सबसे उत्कृष्ट धर्म है।

नवाधिकशततमोऽध्यायः

राजा धृतराष्ट्रका विवाह

भीष्म उवाच

गुणैः समुदितं सम्यगिदं नः प्रथितं कुलम् ।
अत्यन्यान् पृथिवीपालान् पृथिव्यामधिराज्यभाक् ।। १ ।।

भीष्मजीने कहा—बेटा विदुर! हमारा यह कुल अनेक सद्‌गुणोंसे सम्पन्न होकर इस जगत्‌में विख्यात हो रहा है। यह अन्य भूपालोंको जीतकर इस भूमण्डलके साम्राज्यका अधिकारी हुआ है ।। १ ।।

रक्षितं राजभिः पूर्वं धर्मविद्भिर्महात्मभिः ।
नोत्सादमगमच्चेदं कदाचिदिह नः कुलम् ।। २ ।।

पहलेके धर्मज्ञ एवं महात्मा राजाओंने इसकी रक्षा की थी; अतः हमारा यह कुल इस भूतलपर कभी उच्छिन्न नहीं हुआ ।। २ ।।

मया च सत्यवत्या च कृष्णेन च महात्मना ।
समवस्थापितं भूयो युष्मासु कुलतन्तुषु ।। ३ ।।

(बीचमें संकटकाल उपस्थित हुआ था किंतु) मैंने, माता सत्यवतीने तथा महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने मिलकर पुनः इस कुलको स्थापित किया है। तुम तीनों भाई इस कुलके तंतु हो और तुम्हींपर अब इसकी प्रतिष्ठा है ।। ३ ।।

तच्चैतद् वर्धते भूयः कुलं सागरवद् यथा ।
तथा मया विधातव्यं त्वया चैव न संशयः ।। ४ ।।

वत्स! यह हमारा वही कुल आगे भी जिस प्रकार समुद्रकी भाँति बढ़ता रहे, निःसंदेह वही उपाय मुझे और तुम्हें भी करना चाहिये ।। ४ ।।

श्रूयते यादवी कन्या स्वनुरूपा कुलस्य नः ।
सुबलस्यात्मजा चैव तथा मद्रेश्वरस्य च ।। ५ ।।

सुना जाता है, यदुवंशी शूरसेनकी कन्या पृथा (जो अब राजा कुन्तिभोजकी गोद ली हुई पुत्री है) भलीभाँति हमारे कुलके अनुरूप है। इसी प्रकार गान्धारराज सुबल और मद्रनरेशके यहाँ भी एक-एक कन्या सुनी जाती है ।। ५ ।।

कुलीना रूपवत्यश्च ताः कन्याः पुत्र सर्वशः ।
उचिताश्चैव सम्बन्धे तेऽस्माकं क्षत्रियर्षभाः ।। ६ ।।

बेटा! वे सब कन्याएँ बड़ी सुन्दरी तथा उत्तम कुलमें उत्पन्न हैं। वे श्रेष्ठ क्षत्रियगण हमारे साथ विवाह-सम्बन्धकरनेके सर्वथा योग्य हैं ।। ६ ।।

मन्ये वरयितव्यास्ता इत्यहं धीमतां वर ।

संतानार्थं कुलस्यास्य यद् वा विदुर मन्यसे ।। ७ ।।

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विदुर! मेरी राय है कि इस कुलकी संतानपरम्पराको बढ़ानेके लिये उक्त कन्याओंका वरण करना चाहिये अथवा जैसी तुम्हारी सम्मति हो, वैसा किया जाय ।। ७ ।।

विदुर उवाच

भवान् पिता भवान् माता भवान् नः परमो गुरुः ।
तस्मात् स्वयं कुलस्यास्य विचार्य कुरु यद्धितम् ।। ८ ।।

विदुर बोले—प्रभो! आप हमारे पिता हैं, आप ही माता हैं और आप ही परम गुरु हैं; अतः स्वयं विचार करके जिस बातमें इस कुलका हित हो, वह कीजिये ।। ८ ।।

वैशम्पायन उवाच

अथ शुश्राव विप्रेभ्यो गान्धारीं सुबलात्मजाम् ।
आराध्य वरदं देवं भगनेत्रहरं हरम् ।। ९ ।।
गान्धारी किल पुत्राणां शतं लेभे वरं शुभा ।
इति शुश्राव तत्त्वेन भीष्मः कुरुपितामहः ।। १० ।।
ततो गान्धारराजस्य प्रेषयामास भारत ।
अचक्षुरिति तत्रासीत् सुबलस्य विचारणा ।। ११ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसके बाद भीष्मजीने ब्राह्मणोंसे गान्धारराज सुबलकी पुत्री शुभलक्षणा गान्धारीके विषयमें सुना कि वह भगदेवताके नेत्रोंका नाश करनेवाले वरदायक भगवान् शंकरकी आराधना करके अपने लिये सौ पुत्र होनेका वरदान प्राप्त कर चुकी है। भारत! जब इस बातका ठीक-ठीक पता लग गया, तब कुरुपितामह भीष्मने गान्धारराजके पास अपना दूत भेजा। धृतराष्ट्र अंधे हैं, इस बातको लेकर सुबलके मनमें बड़ा विचार हुआ ।। ९—११ ।।

कुलं ख्यातिं च वृत्तं च बुद्ध्या तु प्रसमीक्ष्य सः ।
ददौ तां धृतराष्ट्राय गान्धारीं धर्मचारिणीम् ।। १२ ।।

परंतु उनके कुल, प्रसिद्धि और आचार आदिके विषयमें बुद्धिपूर्वक विचार करके उसने धर्मपरायणा गान्धारीका धृतराष्ट्रके लिये वाग्दान कर दिया ।। १२ ।।

गान्धारी त्वथ शुश्राव धृतराष्ट्रमचक्षुषम् ।
आत्मानं दित्सितं चास्मै पित्रा मात्रा च भारत ।। १३ ।।
ततः सा पट्टमादाय कृत्वा बहुगुणं तदा ।
बबन्ध नेत्रे स्वे राजन् पतिव्रतपरायणा ।। १४ ।।
नाभ्यसूयां पतिमहमित्येवं कृतनिश्चया ।
ततो गान्धारराजस्य पुत्रः शकुनिरभ्ययात् ।। १५ ।।

स्वसारं वयसा लक्ष्म्या युक्तामादाय कौरवान् ।
तां तदा धृतराष्ट्राय ददौ परमसत्कृताम् ।
भीष्मस्यानुमते चैव विवाहं समकारयत् ।। १६ ।।

जनमेजय! गान्धारीने जब सुना कि धृतराष्ट्र अंधे हैं और पिता-माता मेरा विवाह उन्हींके साथ करना चाहते हैं, तब उन्होंने रेशमी वस्त्र लेकर उसके कई तह करके उसीसे अपनी आँखें बाँध लीं। राजन्! गान्धारी बड़ी पतिव्रता थीं। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि मैं (सदा पतिके अनुकूल रहूँगी,) उनके दोष नहीं देखूँगी। तदनन्तर एक दिन गान्धारराजकुमार शकुनि युवावस्था तथा लक्ष्मीके समान मनोहर शोभासे युक्त अपनी बहिन गान्धारीको साथ लेकर कौरवोंके यहाँ गये और उन्होंने बड़े आदर-सत्कारके साथ धृतराष्ट्रको अपनी बहिन सौंप दी। शकुनिने भीष्मजीकी सम्मतिके अनुसार विवाह-कार्य सम्पन्न किया ।। १३—१६ ।।

दत्त्वा स भगिनीं वीरो यथार्हं च परिच्छदम् ।
पुनरायात् स्वनगरं भीष्मेण प्रतिपूजितः ।। १७ ।।

वीरवर शकुनिने अपनी बहिनका विवाह करके यथायोग्य दहेज दिया। बदलेमें भीष्मजीने भी उनका बड़ा सम्मान किया। तत्पश्चात् वे अपनी राजधानीको लौट आये ।। १७ ।।

गान्धार्यपि वरारोहा शीलाचारविचेष्टितैः ।
तुष्टिं कुरूणां सर्वेषां जनयामास भारत ।। १८ ।।

भारत! सुन्दर शरीरवाली गान्धारीने अपने उत्तम स्वभाव, सदाचार तथा सद्व्यवहारोंसे समस्त कौरवोंको प्रसन्न कर लिया ।। १८ ।।

वृत्तेनाराध्य तान् सर्वान् गुरून् पतिपरायणा ।
वाचापि पुरुषानन्यान् सुव्रता नान्यकीर्तयत् ।। १९ ।।

इस प्रकार सुन्दर बर्तावसे समस्त गुरुजनोंकी प्रसन्नता प्राप्त करके उत्तम व्रतका पालन करनेवाली पतिपरायणा गान्धारीने कभी दूसरे पुरुषोंका नामतक नहीं लिया ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि धृतराष्ट्रविवाहे नवाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें धृतराष्ट्रविवाहविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०९ ।।

दशाधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीको दुर्वासासे मन्त्रकी प्राप्ति, सूर्यदेवका आवाहन तथा उनके संयोगसे कर्णका जन्म एवं कर्णके द्वारा इन्द्रको कवच और कुण्डलोंका दान

वैशम्पायन उवाच

शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताभवत् ।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यदुवंशियोंमें श्रेष्ठ शूरसेन हो गये हैं, जो वसुदेवजीके पिता थे। उन्हें एक कन्या हुई, जिसका नाम पृथा रखा गया। इस भूमण्डलमें उसके रूपकी तुलनामें दूसरी कोई स्त्री नहीं थी ।। १ ।।

पितृष्वस्रीयाय स तामनपत्याय भारत ।
अग्रयमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यं स सत्यवाक् ।। २ ।।

भारत! सत्यवादी शूरसेनने अपने फुफेरे भाई संतानहीन कुन्तिभोजसे पहले ही यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि मैं तुम्हें अपनी पहली संतान भेंट कर दूँगा ।। २ ।।

अग्रजामथ तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकाङ्क्षिणे ।
प्रददौ कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ।। ३ ।।

उन्हें पहले कन्या ही उत्पन्न हुई। अतः कृपाकांक्षी महात्मा सखा राजा कुन्तिभोजको उनके मित्र शूरसेनने वह कन्या दे दी ।। ३ ।।

सा नियुक्ता पितुर्गेहे देवताऽतिथिपूजने ।
उग्रं पर्यचरत् तत्र ब्राह्मणं संशितव्रतम् ।। ४ ।।
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः ।
तमुग्रं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयत् ।। ५ ।।

पिता कुन्तिभोजके घरपर पृथाको देवताओंके पूजन और अतिथियोंके सत्कारका कार्य सौंपा गया था। एक समय वहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले तथा धर्मके विषयमें अपने निश्चयको सदा गुप्त रखनेवाले एक ब्राह्मण महर्षि आये, जिन्हें लोग दुर्वासाके नामसे जानते हैं। पृथा उनकी सेवा करने लगी। वे बड़े उग्र स्वभावके थे। उनका हृदय बड़ा कठोर था; फिर भी राजकुमारी पृथाने सब प्रकारके यत्नोंसे उन्हें पूर्ण संतुष्ट कर लिया ।। ४-५ ।।

तस्यै स प्रददौ मन्त्रमापद्धर्मान्ववेक्षया ।
अभिचाराभिसंयुक्तमब्रवीच्चैव तां मुनिः ।। ६ ।।

दुर्वासाजीने पृथापर आनेवाले भावी संकटका विचार करके उनके धर्मकी रक्षाके लिये उसे एक वशीकरणमन्त्र दिया और उसके प्रयोगकी विधि भी बता दी। तत्पश्चात् वे मुनि उससे बोले— ।। ६ ।।

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
तस्य तस्य प्रसादेन पुत्रस्तव भविष्यति ।। ७ ।।

'शुभे! तुम इस मन्त्रद्वारा जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी, उसी-उसीके अनुग्रहसे तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा' ।। ७ ।।

तथोक्ता सा तु विप्रेण कुन्ती कौतूहलान्विता ।
कन्या सती देवमर्कमाजुहाव यशस्विनी ।। ८ ।।

ब्रह्मर्षि दुर्वासाके यों कहनेपर कुन्तीके मनमें बड़ा कौतूहल हुआ। वह यशस्विनी राजकन्या यद्यपि अभी कुमारी थी, तो भी उसने मन्त्रकी परीक्षाके लिये सूर्यदेवका आवाहन किया ।। ८ ।।

सा ददर्श तमायान्तं भास्करं लोकभावनम् ।
विस्मिता चानवद्याङ्गी दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ।। ९ ।।

आवाहन करते ही उसने देखा, सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और पालन करनेवाले भगवान् भास्कर आ रहे हैं। यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर निर्दोष अंगोंवाली कुन्ती चकित हो उठी ।। ९ ।।

तां समासाद्य देवस्तु विवस्वानिदमब्रवीत् ।
अयमस्म्यसितापाङ्गि ब्रूहि किं करवाणि ते ।। १० ।।

इधर भगवान् सूर्य उसके पास आकर इस प्रकार बोले—'श्याम नेत्रोंवाली कुन्ती! यह मैं आ गया। बोलो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? ।। १० ।।

(आहूतोपस्थितं भद्रे ऋषिमन्त्रेण चोदितम् ।
विद्धि मां पुत्रलाभाय देवमर्कं शुचिस्मिते ।।)

'भद्रे! मैं दुर्वासा ऋषिके दिये हुए मन्त्रसे प्रेरित हो तुम्हारे बुलाते ही तुम्हें पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये उपस्थित हुआ हूँ। पवित्र मुसकानवाली कुन्ती! तुम मुझे सूर्यदेव समझो।'

कुन्त्युवाच

कश्चिन्मे ब्राह्मणः प्रादाद् वरं विद्यां च शत्रुहन् ।
तद्विजिज्ञासयाऽऽह्वानं कृतवत्यस्मि ते विभो ।। ११ ।।

कुन्तीने कहा—शत्रुओंका नाश करनेवाले प्रभो! एक ब्राह्मणने मुझे वरदानके रूपमें देवताओंके आवाहनका मन्त्र प्रदान किया है। उसीकी परीक्षाके लिये मैंने आपका आवाहन किया था ।। ११ ।।

एतस्मिन्नपराधे त्वां शिरसाहं प्रसादये ।

योषितो हि सदा रक्ष्याः स्वापराद्धापि नित्यशः ।। १२ ।।

यद्यपि मुझसे यह अपराध हुआ है, तो भी इसके लिये आपके चरणोंमें मस्तक रखकर मैं यह प्रार्थना करती हूँ कि आप क्षमापूर्वक प्रसन्न हो जाइये। स्त्रियोंसे अपना अपराध हो जाय, तो भी श्रेष्ठ पुरुषोंको सदा उनकी रक्षा ही करनी चाहिये ।। १२ ।।

सूर्य उवाच

वेदाहं सर्वमेवैतद् यद् दुर्वासा वरं ददौ ।

संत्यज्य भयमेवेह क्रियतां संगमो मम ।। १३ ।।

सूर्यदेव बोले—शुभे! मैं यह सब जानता हूँ कि दुर्वासाने तुम्हें वर दिया है। तुम भय छोड़कर यहाँ मेरे साथ समागम करो ।। १३ ।।

अमोघं दर्शनं मह्यमाहूतश्चास्मि ते शुभे ।

वृथाह्वानेऽपि ते भीरु दोषः स्यान्नात्र संशयः ।। १४ ।।

शुभे! मेरा दर्शन अमोघ है और तुमने मेरा आवाहन किया है। भीरु! यदि यह आवाहन व्यर्थ हुआ, तो भी निःसंदेह तुम्हें बड़ा दोष लगेगा ।। १४ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता बहुविधं सान्त्वपूर्वं विवस्वता ।

सा तु नैच्छद् वरारोहा कन्याहमिति भारत ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! भगवान् सूर्यने कुन्तीको समझाते हुए इस तरहकी बहुत-सी बातें कहीं; किंतु मैं अभी कुमारी कन्या हूँ, यह सोचकर सुन्दरी कुन्तीने उनसे समागमकी इच्छा नहीं की ।। १५ ।।

बन्धुपक्षभयाद् भीता लज्जया च यशस्विनी ।

तामर्कः पुनरेवेदमब्रवीद् भरतर्षभ ।। १६ ।।

यशस्विनी कुन्ती भाई-बन्धुओंमें बदनामी फैलनेके डरसे भी डरी हुई थी और नारीसुलभ लज्जासे भी वह विवश थी। भरतश्रेष्ठ! उस समय सूर्यदेवने पुनः उससे कहा — ।। १६ ।।

(पुत्रस्ते निर्मितः सुभ्रु शृणु यादृक्छुभानने ।।

आदित्ये कुण्डले बिभ्रत् कवचं चैव मामकम् ।

शस्त्रास्त्राणामभेद्यं च भविष्यति शुचिस्मिते ।।

न न किंचन देयं तु ब्राह्मणेभ्यो भविष्यति ।

चोद्यमानो मया चापि नाक्षमं चिन्तयिष्यति ।

दास्यत्येव हि विप्रेभ्यो मानी चैव भविष्यति ।।)

‘सुन्दर मुख एवं सुन्दर भौंहोंवाली राजकुमारी! तुम्हारे लिये जैसे पुत्रका निर्माण होगा, वह सुनो—शुचिस्मिते! वह माता अदितिके दिये हुए दिव्य कुण्डलों और मेरे कवचको

धारण किये हुए उत्पन्न होगा। उसका वह कवच किन्हीं अस्त्र-शस्त्रोंसे टूट न सकेगा। उसके पास कोई भी वस्तु ब्राह्मणोंके लिये अदेय न होगी। मेरे कहनेपर भी वह कभी अयोग्य कार्य या विचारको अपने मनमें स्थान न देगा। ब्राह्मणोंके याचना करनेपर वह उन्हें सब प्रकारकी वस्तुएँ देगा ही। साथ ही वह बड़ा स्वाभिमानी होगा।

मत्प्रसादान्न ते राज्ञि भविता दोष इत्युत ।
एवमुक्त्वा स भगवान् कुन्तिराजसुतां तदा ।। १७ ।।
प्रकाशकर्ता तपनः सम्बभूव तया सह ।
तत्र वीरः समभवत् सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
आमुक्तकवचः श्रीमान् देवगर्भः श्रियान्वितः ।। १८ ।।

'रानी! मेरी कृपासे तुम्हें दोष भी नहीं लगेगा।' कुन्तिराजकुमारी कुन्तीसे यों कहकर प्रकाश और गरमी उत्पन्न करनेवाले भगवान् सूर्यने उसके साथ समागम किया। इससे उसी समय एक वीर पुत्र उत्पन्न हुआ, जो सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था। उसने जन्मसे ही कवच पहन रखा था और वह देवकुमारके समान तेजस्वी तथा शोभासम्पन्न था ।। १७-१८ ।।

सहजं कवचं बिभ्रत् कुण्डलो द्योतिताननः ।
अजायत सुतः कर्णः सर्वलोकेषु विश्रुतः ।। १९ ।।

जन्मके साथ ही कवच धारण किये उस बालकका मुख जन्मजात कुण्डलोंसे प्रकाशित हो रहा था। इस प्रकार कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो सब लोकोंमें विख्यात है ।। १९ ।।

प्रादाच्च तस्यै कन्यात्वं पुनः स परमद्युतिः ।
दत्त्वा च तपतां श्रेष्ठो दिवमाचक्रमे ततः ।। २० ।।

उत्तम प्रकाशवाले भगवान् सूर्यने कुलीको पुनः कन्यात्व प्रदान किया। तत्पश्चात् तपनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् सूर्य देवलोकमें चले गये ।। २० ।।

दृष्ट्वा कुमारं जातं सा वार्ष्णेयी दीनमानसा ।
एकाग्रं चिन्तयामास किं कृत्वा सुकृतं भवेत् ।। २१ ।।

उस नवजात कुमारको देखकर वृष्णिवंशकी कन्या कुलीके हृदयमें बड़ा दुःख हुआ। उसने एकाग्रचितसे विचार किया कि अब क्या करनेसे अच्छा परिणाम निकलेगा ।। २१ ।।

गूहमानापचारं सा बन्धुपक्षभयात् तदा ।
उत्ससर्ज कुमारं तं जले कुन्ती महाबलम् ।। २२ ।।

उस समय कुटुम्बीजनोंके भयसे अपने उस अनुचित कृत्यको छिपाती हुई कुन्तीने महाबली कुमार कर्णको जलमें छोड़ दिया ।। २२ ।।

तमुत्सृष्टं जले गर्भं राधाभर्ता महायशाः ।
पुत्रत्वे कल्पयामास सभार्यः सूतनन्दनः ।। २३ ।।

जलमें छोड़े हुए उस नवजात शिशुको महायशस्वी सूतपुत्र अधिरथने, जिसकी पत्नीका नाम राधा था, ले लिया। उसने और उसकी पत्नीने उस बालकको अपना पुत्र बना लिया ।। २३ ।।

नामधेयं च चक्राते तस्य बालस्य तायुभौ ।
वसुना सह जातोऽयं वसुषेणो भवत्विति ।। २४ ।।

उन दम्पतिने उस बालकका नामकरण इस प्रकार किया; यह वसु (कवच-कुण्डलादि धन)-के साथ उत्पन्न हुआ है, इसलिये वसुषेण नामसे प्रसिद्ध हो ।। २४ ।।

स वर्धमानो बलवान् सर्वास्त्रेपूद्यतोऽभवत् ।
आ पृष्ठतापादादित्यमुपातिष्ठत वीर्यवान् ।। २५ ।।

वह बलवान् बालक बड़े होनेके साथ ही सब प्रकारकी अस्त्रविद्यामें निपुण हुआ। पराक्रमी कर्ण प्रातःकालसे लेकर जबतक सूर्य पृष्ठभागकी ओर न चले जाते, सूर्योपस्थान करता रहता था ।। २५ ।।

तस्मिन् काले तु जपतस्तस्य वीरस्य धीमतः ।
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीत् किंचिद् वसु महीतले ।। २६ ।।

उस समय मन्त्र-जपमें लगे हुए बुद्धिमान-वीर कर्णके लिये इस पृथ्वीपर कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जिसे वह ब्राह्मणोंके माँगनेपर न दे सके ।। २६ ।।

(ततः काले तु कस्मिंश्चित् स्वप्नान्ते कर्णमब्रवीत् ।
आदित्यो ब्राह्मणो भूत्वा शृणु वीर वचो मम ।।
प्रभातायां रजन्यां त्वामागमिष्यति वासवः ।
न तस्य भिक्षा दातव्या विप्ररूपी भविष्यति ।।
निश्चयोऽस्यापहर्तुं ते कवचं कुण्डले तथा ।
अतस्त्वां बोधयाम्येष स्मर्तासि वचनं मम ।।

किसी समयकी बात है, सूर्यदेवने ब्राह्मणका रूप धारण करके कर्णको स्वप्नमें दर्शन दिया और इस प्रकार कहा—'वीर! मेरी बात सुनो—आजकी रात बीत जानेपर सबेरा होते ही इन्द्र तुम्हारे पास आयेंगे। उस समय वे ब्राह्मण-वेषमें होंगे। यहाँ आकर इन्द्र यदि तुमसे भिक्षा माँगें तो उन्हें देना मत। उन्होंने तुम्हारे कवच और कुण्डलोंका अपहरण करनेका निश्चय किया है। अतः मैं तुम्हें सचेत किये देता हूँ। तुम मेरी बात याद रखना।'

कर्ण उवाच

शक्रो मां विप्ररूपेण यदि वै याचते द्विज ।
कथं चास्मै न दास्यामि यथा चास्म्यवबोधितः ।।
विप्राः पूज्यास्तु देवानां सततं प्रियमिच्छताम् ।
तं देवदेवं जानन् वै न शक्नोम्यवमन्त्रणे ।।

कर्णने कहा—ब्रह्मन्! इन्द्र यदि ब्राह्मणका रूप धारण करके सचमुच मुझसे याचना करेंगे, तो मैं आपकी चेतावनीके अनुसार कैसे उन्हें वह वस्तु नहीं दूँगा। ब्राह्मण तो सदा अपना प्रिय चाहनेवाले देवताओंके लिये भी पूजनीय हैं। देवाधिदेव इन्द्र ही ब्राह्मणरूपमें आये हैं, यह जान लेनेपर भी मैं उनकी अवहेलना नहीं कर सकूँगा।

सूर्य उवाच

यद्येवं शृणु मे वीर वरं ते सोऽपि दास्यति।
शक्तिं त्वमपि याचेथाः सर्वशस्त्रविबाधिनीम्॥

सूर्य बोले—वीर! यदि ऐसी बात है तो सुनो, बदलेमें इन्द्र भी तुम्हें वर देंगे। उस समय तुम उनसे सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका निराकरण करनेवाली बरछी माँग लेना।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा द्विजः स्वप्ने तत्रैवान्तरधीयत।
कर्णः प्रबुद्धस्तं स्वप्नं चिन्तयानोऽभवत् तदा॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—स्वप्नमें यों कहकर ब्राह्मण-वेषधारी सूर्य वहीं अन्तर्धान हो गये। तब कर्ण जाग गया और स्वप्नकी बातोंका चिन्तन करने लगा।

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षार्थी समुपागमत्।
कुण्डले प्रार्थयामास कवचं च महाद्युतिः॥ २७॥

तत्पश्चात् एक दिन महातेजस्वी देवराज इन्द्र ब्राह्मण बनकर भिक्षाके लिये कर्णके पास आये और उससे उन्होंने कवच और कुण्डलोंको माँगा॥ २७॥

स्वशरीरात् समुत्कृत्य कवचं स्वं निसर्गजम्।
कर्णस्तु कुण्डले छित्त्वा प्रायच्छत् कृताञ्जलिः॥ २८॥

तब कर्णने हाथ जोड़कर देवराज इन्द्रको अपने शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए कवचको शरीरसे उधेड़कर एवं दोनों कुण्डलोंको भी काटकर दे दिया॥ २८॥

प्रतिग्रह तु देवेशस्तुष्टस्तेनास्य कर्मणा।
(अहो साहसमित्येवं मनसा वासवो हसन्।
देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्॥
न तं पश्यामि को ह्येतत् कर्म कर्ता भविष्यति।
प्रीतोऽस्मि कर्मणा तेन वरं वृणु यमिच्छसि॥

कवच और कुण्डलोंको लेकर उसके इस कर्मसे संतुष्ट हो इन्द्रने मन-ही-मन हँसते हुए कहा—'अहो! यह तो बड़े साहसका काम है। देवता, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षस—इनमेंसे किसीको भी मैं ऐसा साहसी नहीं देखता। भला, कौन ऐसा कार्य कर सकता है।' यों कहकर वे स्पष्ट वाणीमें बोले—'वीर! मैं तुम्हारे इस कर्मसे प्रसन्न हूँ, इसलिये तुम जो चाहो, वही वर मुझसे माँग लो।'

कर्ण उवाच

इच्छामि भगवद्दत्तां शक्तिं शत्रुनिबर्हणीम् ।)

कर्णने कहा—भगवन्! मैं आपकी दी हुई वह अमोघ बरछी चाहता हूँ, जो शत्रुओंका संहार करनेवाली है।

वैशम्पायन उवाच

ददौ शक्तिं सुरपतिर्वाक्यं चेदमुवाच ह ।। २९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब देवराज इन्द्रने बदलेमें उसे अपनी ओरसे एक बरछी प्रदान की और कहा— ।। २९ ।।

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
यमेकं जेतुमिच्छेथाः सोऽनया न भविष्यति ।। ३० ।।

'वीरवर! तुम देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग तथा राक्षसोंमेंसे जिस एकको जीतना चाहोगे, वही इस शक्तिके प्रहारसे नष्ट हो जायगा' ।। ३० ।।

प्राङ् नाम तस्य कथितं वसुषेण इति क्षितौ ।
कर्णो वैकर्तनश्चैव कर्मणा तेन सोऽभवत् ।। ३१ ।।

पहले इस पृथ्वीपर उसका नाम वसुषेण कहा जाता था। तत्पश्चात् अपने शरीरसे कवचको कतर डालनेके कारण वह कर्ण और वैकर्तन नामसे भी प्रसिद्ध हुआ ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कर्णसम्भवे दशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कर्णकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११० ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३½ श्लोक मिलाकर कुल ४४½ श्लोक हैं)

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीद्वारा स्वयंवरमें पाण्डुका वरण और उनके साथ विवाह

वैशम्पायन उवाच

सत्त्वरूपगुणोपेता धर्मारामा महाव्रता ।
दुहिता कुन्तिभोजस्य पृथा पृथुललोचना ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा कुन्तिभोजकी पुत्री विशाल नेत्रोंवाली पृथा धर्म, सुन्दर रूप तथा उत्तम गुणोंसे सम्पन्न थी। वह एकमात्र धर्ममें ही रत रहनेवाली और महान् व्रतोंका पालन करनेवाली थी ।। १ ।।

तां तु तेजस्विनीं कन्यां रूपयौवनशालिनीम् ।
व्यवृण्वन् पार्थिवाः केचिदतीव स्त्रीगुणैर्युताम् ।। २ ।।

स्त्रीजनोचित सर्वोत्तम गुण अधिक मात्रामें प्रकट होकर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। मनोहर रूप तथा युवावस्थासे सुशोभित उस तेजस्विनी राजकन्याके लिये कई राजाओंने महाराज कुन्तिभोजसे याचना की ।। २ ।।

ततः सा कुन्तिभोजेन राज्ञाऽऽहूय नराधिपान् ।
पित्रा स्वयंवरे दत्ता दुहिता राजसत्तम ।। ३ ।।

राजेन्द्र! तब कन्याके पिता राजा कुन्तिभोजने उन सब राजाओंको बुलाकर अपनी पुत्री पृथाको स्वयंवरमें उपस्थित किया ।। ३ ।।

ततः सा रङ्गमध्यस्थं तेषां राज्ञां मनस्विनी ।
ददर्श राजशार्दूलं पाण्डुं भरतसत्तमम् ।। ४ ।।

मनस्विनी कुन्तीने सब राजाओंके बीच रंगमंचपर बैठे हुए भरतवंशशिरोमणि नृपश्रेष्ठ पाण्डुको देखा ।। ४ ।।

सिंहदर्पं महोरस्कं वृषभाक्षं महाबलम् ।
आदित्यमिव सर्वेषां राज्ञां प्रच्छाद्य वै प्रभाः ।। ५ ।।

उनमें सिंहके समान अभिमान जाग रहा था। उनकी छाती बहुत चौड़ी थी। उनके नेत्र बैलकी आँखोंके समान बड़े-बड़े थे। उनका बल महान् था। वे सब राजाओंकी प्रभाको अपने तेजसे आच्छादित करके भगवान् सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे ।। ५ ।।

तिष्ठन्तं राजसमितौ पुरन्दरमिवापरम् ।
तं दृष्टवा सानवद्याङ्गी कुन्तिभोजसुता शुभा ।। ६ ।।
पाण्डुं नरवरं रङ्गे हृदयेनाकुलाभवत् ।

ततः कामपरीताङ्गी सकृत् प्रचलमानसा ।। ७ ।।

उस राजसमाजमें वे द्वितीय इन्द्रके समान विराजमान थे। निर्दोष अंगोंवाली कुन्तिभोजकुमारी शुभलक्षणा कुन्ती स्वयंवरकी रंगभूमिमें नरश्रेष्ठ पाण्डुको देखकर मन-ही-मन उन्हें पानेके लिये व्याकुल हो उठी। उसके सब अंग कामसे व्याप्त हो गये और चित्त एकबारगी चंचल हो उठा ।। ६-७ ।।

व्रीडमाना स्रजं कुन्ती राज्ञः स्कन्धे समासजत् ।
तं निशम्य वृतं पाण्डुं कुन्त्या सर्वे नराधिपाः ।। ८ ।।
यथागतं समाजग्मुर्गजैरश्वै रथैस्तथा ।
ततस्तस्याः पिता राजन् विवाहमकरोत् प्रभुः ।। ९ ।।

कुन्तीने लजाते-लजाते राजा पाण्डुके गलेमें जयमाला डाल दी। सब राजाओंने जब सुना कि कुन्तीने महाराज पाण्डुका वरण कर लिया, तब वे हाथी, घोड़े एवं रथों आदि वाहनोंद्वारा जैसे आये थे, वैसे ही अपने अपने स्थानको लौट गये। राजन्! तब उसके पिताने (पाण्डुके साथ शास्त्रविधिके अनुसार) कुन्तीका विवाह कर दिया ।। ८-९ ।।

स तया कुन्तिभोजस्य दुहित्रा कुरुनन्दनः ।
युयुजेऽमितसौभाग्यः पौलोम्या मघवानिव ।। १० ।।

अनन्त सौभाग्यशाली कुरुनन्दन पाए कुन्तिभोज-कुमारी कुन्तीसे संयुक्त हो शचीके साथ इन्द्रकी भाँति सुशोभित हुए ।। १० ।।

कुन्त्याः पाण्डोश्च राजेन्द्र कुन्तिभोजो महीपतिः ।
कृत्वोद्वाहं तदा तं तु नानावसुभिरर्चितम् ।
स्वपुरं प्रेषयामास स राजा कुरुसत्तम ।। ११ ।।
ततो बलेन महता नानाध्वजपताकिना ।
स्तूयमानः स चाशीर्भिर्ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।। १२ ।।
सम्प्राप्य नगर राजा पाण्डुः कौरवनन्दनः ।
न्यवेशयत तां भार्यां कुन्तीं स्वभवने प्रभुः ।। १३ ।।

राजेन्द्र! महाराज कुन्तिभोजने कुन्ती और पाण्डुका विवाहसंस्कार सम्पन्न करके उस समय उन्हें नाना प्रकारके धन और रत्नोंद्वारा सम्मानित किया। तत्पश्चात् पाण्डुको उनकी राजधानीमें भेज दिया। कुरुश्रेष्ठ जनमेजय! तब कौरवनन्दन राजा पाण्डु नाना प्रकारकी ध्वजापताकाओंसे सुशोभित विशाल सेनाके साथ चले। उस समय बहुत-से ब्राह्मण एवं महर्षि आशीर्वाद देते हुए उनकी स्तुति करवाते थे। हस्तिनापुरमें आकर उन शक्तिशाली नरेशने अपनी प्यारी पत्नी कुन्तीको राजमहलमें पहुँचा दिया ।। ११-१३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कुन्तीविवाहे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ।। १११ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कुन्तीविवाहविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १११ ।।

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

माद्रीके साथ पाण्डुका विवाह तथा राजा पाण्डुकी दिग्विजय

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो राज्ञः पाण्डोर्यशस्विनः ।
विवाहस्यापरस्यार्थे चकार मतिमान् मतिम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर शान्तनुनन्दन परम बुद्धिमान् भीष्मजीने यशस्वी राजा पाण्डुके द्वितीय विवाहके लिये विचार किया ।। १ ।।

सोऽमात्यैः स्थविरैः सार्धं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
बलेन चतुरङ्गेण ययौ मद्रपतेः पुरम ।। २ ।।

वे बूढ़े मन्त्रियों, ब्राह्मणों, महर्षियों तथा चतुरंगिणी सेनाके साथ मद्रराजकी राजधानीमें गये ।। २ ।।

तमागतमभिश्रुत्य भीष्मं बाह्लीकपुङ्गवः ।
प्रत्युद्‌गम्यार्चयित्वा च पुरं प्रावेशयन्नृपः ।। ३ ।।

बाह्लीकशिरोमणि राजा शल्य भीष्मजीका आगमन सुनकर उनकी अगवानीके लिये नगरसे बाहर आये और यथोचित स्वागत-सत्कार करके उन्हें राजधानीके भीतर ले गये ।। ३ ।।

दत्त्वा तस्यासनं शुभ्रं पाद्यमर्घ्यं तथैव च ।
मधुपर्कं च महेशः पप्रच्छागमनेऽर्थिताम् ।। ४ ।।

वहाँ उनके लिये सुन्दर आसन, पाद्य, अर्घ्य तथा मधुपर्क अर्पण करके मद्रराजने भीष्मजीसे उनके आगमनका प्रयोजन पूछा ।। ४ ।।

तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं कुरूद्वहः ।
आगतं मां विजानीहि कन्यार्थिनमरिन्दम ।। ५ ।।

तब कुरुकुलका भार वहन करनेवाले भीष्मजीने मद्रराजसे इस प्रकार कहा—‘शत्रुदमन! तुम मुझे कन्याके लिये आया हुआ समझो ।। ५ ।।

श्रूयते भवतः साध्वी स्वसा माद्री यशस्विनी ।
तामहं वरयिष्यामि पाण्डोरर्थे यशस्विनीम् ।। ६ ।।

‘सुना है, तुम्हारी एक यशस्विनी बहिन है, जो बड़े साधु स्वभावकी है; उसका नाम माद्री है। मैं उस यशस्विनी माद्रीका अपने पाण्डुके लिये वरण करता हूँ ।। ६ ।।

युक्तरूपो हि सम्बन्धे त्वं नो राजन् वयं तव ।

एतत् संचिन्त्य मद्रेश गृहाणास्मान् यथाविधि ।। ७ ।।

'राजन्! तुम हमारे यहाँ सम्बन्ध करनेके सर्वथा योग्य हो और हम भी तुम्हारे योग्य हैं। मद्रेश्वर! यों विचारकर तुम हमें विधिपूर्वक अपनाओ' ।। ७ ।।

तमेवंवादिनं भीष्मं प्रत्यभाषत मद्रपः ।
न हि मेऽन्यो वरस्त्वत्तः श्रेयानिति मतिर्मम ।। ८ ।।

भीष्मजीके यों कहनेपर मद्रराजने उत्तर दिया—'मेरा विश्वास है कि आपलोगोंसे श्रेष्ठ वर मुझे ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलेगा' ।। ८ ।।

पूर्वैः प्रवर्तितं किंचित् कुलेऽस्मिन् नृपसत्तमैः ।
साधु वा यदि वासाधु तन्नातिक्रान्तुमुत्सहे ।। ९ ।।

'परंतु इस कुलमें पहलेके श्रेष्ठ राजाओंने कुछ शुल्क लेनेका नियम चला दिया है। वह अच्छा हो या बुरा, मैं उसका उल्लंघन नहीं कर सकता ।। ९ ।।

व्यक्तं तद् भवतश्चापि विदितं नात्र संशयः ।
न च युक्तं तथा वक्तुं भवान् देहीति सत्तम ।। १० ।।

'यह बात सबपर प्रकट है, निःसंदेह आप भी इसे जानते होंगे। साधुशिरोमणे! इस दशामें आपके लिये यह कहना उचित नहीं है कि मुझे कन्या दे दो' ।। १० ।।

कुलधर्मः स नो वीर प्रमाणं परमं च तत् ।
तेन त्वां न ब्रवीम्येतदसंदिग्धं वचोऽरिहन् ।। ११ ।।

'वीर! वह हमारा कुलधर्म है और हमारे लिये वही परम प्रमाण है। शत्रुदमन! इसीलिये मैं आपसे निश्चितरूपसे यह नहीं कह पाता कि कन्या दे दूँगा' ।। ११ ।।

तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं जनाधिपः ।
धर्म एष परो राजन् स्वयमुक्तः स्वयम्भुवा ।। १२ ।।

यह सुनकर जनेश्वर भीष्मजीने मद्रराजको इस प्रकार उत्तर दिया—'राजन्! यह उत्तम धर्म है। स्वयं स्वयम्भू ब्रह्माजीने इसे धर्म कहा है' ।। १२ ।।

नात्र कश्चन दोषोऽस्ति पूर्वैर्विधिरयं कृतः ।
विदितेय च ते शल्य मर्यादा साधुसम्मता ।। १३ ।।

'यदि तुम्हारे पूर्वजोंने इस विधिको स्वीकार कर लिया है तो इसमें कोई दोष नहीं है। शल्य! साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित तुम्हारी यह कुलमर्यादा हम सबको विदित है' ।। १३ ।।

इत्युक्त्वा स महातेजाः शातकुम्भं कृताकृतम् ।
रत्नानि च विचित्राणि शल्यायादात् सहस्रशः ।। १४ ।।
गजानश्वान् रथांश्चैव वासांस्याभरणानि च ।
मणिमुक्ताप्रवालं च गाङ्गेयो व्यसृजच्छूभम् ।। १५ ।।

यह कहकर महातेजस्वी भीष्मजीने राजा शल्यको सोना और उसके बने हुए आभूषण तथा सहस्रों विचित्र प्रकारके रत्न भेंट किये। बहुत-से हाथी, घोड़े, रथ, वस्त्र, अलंकार तथा

मणि-मोती और मूँगे भी दिये ।। १४-१५ ।।

तत् प्रगृह्य धनं सर्वं शल्यः सम्प्रीतमानसः ।
ददौ तां समलंकृत्य स्वसारं कौरवर्षभे ।। १६ ।।

वह सारा धन लेकर शल्यका चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने अपनी बहिनको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके राजा पाण्डुके लिये कुरुश्रेष्ठ भीष्मजीको सौंप दिया ।। १६ ।।

स तां माद्रीमुपादाय भीष्मः सागरगासुतः ।
आजगाम पुरीं धीमान् प्रविष्टो गजसाह्वयम् ।। १७ ।।

परम बुद्धिमान् गंगानन्दन भीष्म माद्रीको लेकर हस्तिनापुरमें आये ।। १७ ।।

तत इष्टेऽहनि प्राप्ते मुहूर्ते साधुसम्मते ।
जग्राह विधिवत् पाणिं माद्रयाः पाण्डुर्नराधिपः ।। १८ ।।

तदनन्तर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके द्वारा अनुमोदित शुभ दिन और सुन्दर मुहूर्त आनेपर राजा पाण्डुने माद्रीका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया ।। १८ ।।

ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा कुरुनन्दनः ।
स्थापयामास तां भार्यां शुभे वेश्मनि भाविनीम् ।। १९ ।।

इस प्रकार विवाह-कार्य सम्पन्न हो जानेपर कुरुनन्दन राजा पाण्डुने अपनी कल्याणमयी भार्याको सुन्दर महलमें ठहराया ।। १९ ।।

स ताभ्यां व्यचरत् सार्धं भार्याभ्यां राजसत्तमः ।
कुन्त्या माद्रया च राजेन्द्रो यथाकामं यथासुखम् ।। २० ।।

राजाओंमें श्रेष्ठ महाराज पाण्डु अपनी दोनों पत्नियों कुन्ती और माद्रीके साथ आनन्दपूर्वक यथेष्ट विहार करने लगे ।। २० ।।

ततः स कौरवो राजा विहृत्य त्रिदशा निशाः ।
जिगीषया महीं पाण्डुर्निरक्रामत् पुरात् प्रभो ।। २१ ।।

जनमेजय! कुरुवंशी राजा पाण्डु तीस रात्रियोंतक विहार करके समूची पृथ्वीपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा लेकर राजधानीसे बाहर निकले ।। २१ ।।

स भीष्मप्रमुखान् वृद्धानभिवाद्य प्रणम्य च ।
धृतराष्ट्रं च कौरव्यं तथान्यान् कुरुसत्तमान् ।
आमन्त्र्य प्रययौ राजा तैश्चैवाप्यनुमोदितः ।। २२ ।।
मङ्गलाचारयुक्ताभिराशीर्भिरभिनन्दितः ।
गजवाजिरथौघेन बलेन महतागमत् ।। २३ ।।

उन्होंने भीष्म आदि बड़े-बूढ़ोंके चरणोंमें मस्तक झुकाया। कुशनन्दन धृतराष्ट्र तथा अन्य श्रेष्ठ कुशवंशियोंको प्रणाम करके उन सबकी आज्ञा ली और उनका अनुमोदन

मिलनेपर मंगलाचारयुत्ह आशीर्वादोंसे अभिनन्दित हो हाथी, घोड़ों तथा रथसमुदायसे युक्त विशाल सेनाके साथ प्रस्थान किया ।। २२-२३ ।।

स राजा देवगर्भाभो विजिगीषुर्वसुंधराम् ।
हृष्टपुष्टबलैः प्रायात् पाण्डुः शत्रूननेकशः ।। २४ ।।

राजा पाण्डु देवकुमारके समान तेजस्वी थे। उन्होंने इस पृथ्वीपर विजय पानेकी इच्छासे हृष्ट-पुष्ट सैनिकोंके साथ अनेक शत्रुओंपर धावा किया ।। २४ ।।

पूर्वमागस्कृतो गत्वा दशार्णाः समरे जिताः ।
पाण्डुना नरसिंहेन कौरवाणां यशोभृता ।। २५ ।।

कौरवकुलके सुयशको बढ़ानेवाले, मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी राजा पाण्डुने सबसे पहले पूर्वके अपराधी दशार्णोंपर* धावा करके उन्हें युद्धमें परास्त किया ।। २५ ।।

ततः सेनामुपादाय पाण्डुर्नानाविधध्वजाम् ।
प्रभूतहस्त्यश्वयुतां पदातिरथसंकुलाम् ।। २६ ।।
आगस्कारी महीपानां बहूनां बलदर्पितः ।
गोप्ता मगधराष्ट्रस्य दीर्घो राजगृहे हतः ।। २७ ।।

तत्पश्चात् वे नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे युक्त और बहुसंख्यक हाथी, घोड़े, रथ एवं पैदलोंसे भरी हुई भारी सेना लेकर मगधदेशमें गये। वहाँ राजगृहमें अनेक राजाओंका अपराधी बलाभिमानी मगधराज दीर्घ उनके हाथसे मारा गया ।। २६-२७ ।।

ततः कोशं समादाय वाहनानि च भूरिशः ।
पाण्डुना मिथिलां गत्वा विदेहाः समरे जिताः ।। २८ ।।

उसके बाद भारी खजाना और वाहन आदि लेकर पाण्डुने मिथिलापर चढ़ाई की और विदेहवंशी क्षत्रियोंको युद्धमें परास्त किया ।। २८ ।।

तथा काशिषु सुह्मेषु पुण्ड्रेषु च नरर्षभ ।
स्वबाहुबलवीर्येण कुरूणामकरोद् यशः ।। २९ ।।

नरश्रेष्ठ जनमेजय! इस प्रकार वे पाण्डु काशी, सह्म तथा पुण्ड्र देशोंपर विजय पाते हुए अपने बाहुबल और पराक्रमसे कुरुकुलके यशका विस्तार करने लगे ।। २९ ।।

तं शरौघमहाज्वालं शस्त्रार्चिषमरिन्दमम् ।
पाण्डुपावकमासाद्य व्यदह्यन्त नराधिपाः ।। ३० ।।

उस समय शत्रुदमन राजा पाण्डु प्रज्वलित अग्निके समान सुशोभित थे। बाणोंका समुदाय उनकी बढ़ती हुई ज्वालाके समान जान पड़ता था। खड्ग आदि शस्त्र लपटोंके समान प्रतीत होते थे। उनके पास आकर बहुतसे राजा भस्म हो गये ।। ३० ।।

ते ससेनाः ससेनेन विध्वंसितबला तपाः ।
पाण्डुना वशगाः कृत्वा कुरुकर्मसु योजिताः ।। ३१ ।।

सेनासहित राजा पाण्डुने सामने आये हुए सैन्यसहित नरपतियोंकी सारी सेनाएँ नष्ट कर दीं और उन्हें अपने अधीन करके कौरवोंके आज्ञापालनमें नियुक्त कर दिया ।। ३१ ।।

तेन ते निर्जिताः सर्वे पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः ।
तमेकं मेनिरे शूरं देवेष्विव पुरंदरम् ।। ३२ ।।

पाण्डुके द्वारा परास्त हुए समस्त भूपालगण देवताओंमें इन्द्रकी भाँति इस पृथ्वीपर सब मनुष्योंमें एकमात्र उन्हींको शूरवीर मानने लगे ।। ३२ ।।

तं कृताञ्जलयः सर्वे प्रणता वसुधाधिपाः ।
उपाजग्मुर्धनं गृह्य रत्नानि विविधानि च ।। ३३ ।।

भूतलके समस्त राजाओंने उनके सामने हाथ जोड़कर मस्तक टेक दिये और नाना प्रकारके रत्न एवं धन लेकर उनके पास आये ।। ३३ ।।

मणिमुक्ताप्रवालं च सुवर्णं रजतं बहु ।
गोरत्नान्यश्वरत्नानि रथरत्नानि कुञ्जरान् ।। ३४ ।।
खरोष्ट्रमहिषीश्चैव यच्च किंचिदजाविकम् ।
कम्बलाजिनरत्नानि राङ्कवास्तरणानि च ।
तत् सर्वं प्रतिजग्राह राजा नागपुराधिपः ।। ३५ ।।

राजाओंके दिये हुए ढेर-के-ढेर मणि, मोती, मूँगे, सुवर्ण, चाँदी, गोरत्न, अश्वरत्न, रथरत्न, हाथी, गदहे, ऊँट, भैंसें, बकरे, भेंड़ें, कम्बल, मृगचर्म, रत्न, रंकु मृगके चर्मसे बने हुए बिछौने आदि जो कुछ भी सामान प्राप्त हुए, उन सबको हस्तिनापुराधीश राजा पाण्डुने ग्रहण कर लिया ।। ३४-३५ ।।

तदादाय ययौ पाण्डुः पुनर्मुदितवाहनः ।
हर्षयिष्यन् स्वराष्ट्राणि पुरं च गजसाह्वयम् ।। ३६ ।।

वह सब लेकर महाराज पाण्डु अपने राष्ट्रके लोगोंका हर्ष बढ़ाते हुए पुनः हस्तिनापुर चले आये। उस समय उनकी सवारीके अश्व आदि भी बहुत प्रसन्न थे ।। ३६ ।।

शन्तनो राजसिंहस्य भरतस्य च धीमतः ।
प्रणष्टः कीर्तिजः शब्दः पाण्डुना पुनराहृतः ।। ३७ ।।

राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी शन्तनु तथा परम बुद्धिमान् भरतकी कीर्ति-कथा जो नष्ट-सी हो गयी थी, उसे महाराज पाण्डुने पुनरुज्जीवित कर दिया ।। ३७ ।।

ये पुरा कुरुराष्ट्राणि जह्रुः कुरुधनानि च ।
ते नागपुरसिंहेन पाण्डुना करदीकृताः ।। ३८ ।।

जिन राजाओंने पहले कुरुदेशके धन तथा कुरुराष्ट्रका अपहरण किया था, उनको हस्तिनापुरके सिंह पाण्डुने करद बना दिया ।। ३८ ।।

इत्यभाषन्त राजानो राजामात्याश्च संगताः ।
प्रतीतमनसो हृष्टाः पौरजानपदैः सह ।। ३९ ।।

बहुत-से राजा तथा राजमन्त्री एकत्र होकर इस तरहकी बातें कर रहे थे। उनके साथ नगर और जनपदके लोग भी इस चर्चामें सम्मिलित थे। उन सबके हृदयमें पाण्डुके प्रति विश्वास तथा हर्षोल्लास छा रहा था ।। ३९ ।।

प्रत्युद्ययुश्च तं प्राप्तं सर्वे भीष्मपुरोगमाः ।
ते नदूरमिवाध्वानं गत्वा नागपुरालयात् ।। ४० ।।
आवृतं ददृशुर्हृष्टा लोकं बहुविधैर्धनैः ।
नानायानसमानीतै रत्नैरुच्चावचैस्तदा ।। ४१ ।।
हस्त्यश्वरथरत्नैश्च गोभिरुष्ट्रैस्तथाविभिः ।
नान्तं ददृशुरासाद्य भीष्मेण सह कौरवाः ।। ४२ ।।

राजा पाण्डु जब नगरके निकट आये, तब भीष्म आदि सब कौरव उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़ आये। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक देखा, राजा पाण्डु और उनका दल बड़े उत्साहके साथ आ रहे हैं। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो वे लोग हस्तिनापुरसे थोड़ी ही दूरतक जाकर वहाँसे लौट रहे हों। उनके साथ भाँति-भाँतिके धन एवं नाना प्रकारके वाहनोंपर लादकर लाये हुए छोटे-बड़े रत्न, श्रेष्ठ हाथी, घोड़े, रथ, गौएँ, ऊँट तथा भेंड़ आदि भी थे। भीष्मके साथ कौरवोंने वहाँ जाकर देखा, तो उस धन-वैभवका कहीं अन्त नहीं दिखायी दिया ।। ४०—४२ ।।

सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कौसल्यानन्दवर्धनः ।
यथार्हं मानयामास पौरजानपदानपि ।। ४३ ।।

कौसल्याका* आनन्द बढ़ानेवाले पाण्डुने निकट आकर पितृव्य भीष्मके चरणोंमें प्रणाम किया और नगर तथा जनपदके लोगोंका भी यथायोग्य सम्मान किया ।। ४३ ।।

प्रमृद्य परराष्ट्राणि कृतार्थं पुनरागतम् ।
पुत्रमाश्लिष्य भीष्मस्तु हर्षादश्रूण्यवर्तयत् ।। ४४ ।।

शत्रुओंके राज्योंको धूलमें मिलाकर कृतकृत्य होकर लौटे हुए अपने पुत्र पाण्डुका आलिंगन करके भीष्मजी हर्षके आँसू बहाने लगे ।। ४४ ।।

स तूर्यशतशङ्खानां भेरीणां च महास्वनैः ।
हर्षयन् सर्वशः पौरान् विवेश गजसाह्वयम् ।। ४५ ।।

सैकड़ों शंख, तुरही एवं नगारोंकी तुमुल ध्वनिसे समस्त पुरवासियोंको आनन्दित करते हुए पाण्डुने हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ।। ४५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुदिग्विजये द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुदिग्विजयविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११२ ।।

---

* किन्ध्यपर्वतके पूर्व-दक्षिणकी ओर स्थित उस प्रदेशका प्राचीन नाम दशार्ण है, जिससे होकर धसान नदी बहती है। विदिशा (आधुनिक भिलसा) इसी प्रदेशकी राजधानी थी।

* काशिराज कोसलकी कन्या होनेसे अम्बिका और अम्बालिका दोनों ही कौसल्या कहलाती थीं।

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा पाण्डुका पत्नियोंसहित वनमें निवास तथा विदुरका विवाह

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातः स्वबाहुविजितं धनम् ।
भीष्माय सत्यवत्यै च मात्रे चोपजहार सः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बड़े भाई धृतराष्ट्रकी आज्ञा लेकर राजा पाण्डुने अपने बाहुबलसे जीते हुए धनको भीष्म, सत्यवती तथा माता अम्बिका और अम्बालिकाको भेंट किया ।। १ ।।

विदुराय च वै पाण्डुः प्रेषयामास तद् धनम् ।
सुहृदश्चापि धर्मात्मा धनेन समतर्पयत् ।। २ ।।

उन्होंने विदुरजीके लिये भी वह धन भेजा। धर्मात्मा पाण्डुने अन्य सुहृदोंको भी उस धनसे तृप्त किया ।। २ ।।

ततः सत्यवती भीष्मं कौसल्यां च यशस्विनीम् ।
शुभैः पाण्डुजितैरर्थैस्तोषयामास भारत ।। ३ ।।
ननन्द माता कौसल्या तमप्रतिमतेजसम् ।
जयन्तमिव पौलोमी परिष्वज्य नरर्षभम् ।। ४ ।।

भारत! तत्पश्चात् सत्यवतीने पाण्डुद्वारा जीतकर लाये हुए शुभ धनके द्वारा भीष्म और यशस्विनी कौसल्याको भी संतुष्ट किया। माता कौसल्याने अनुपम तेजस्वी नरश्रेष्ठ पाण्डुकी उसी प्रकार हृदयसे लगाकर उनका अभिनन्दन किया, जैसे शची अपने पुत्र जयन्तका अभिनन्दन करती हैं ।। ३-४ ।।

तस्य वीरस्य विक्रान्तैः सहस्रशतदक्षिणैः ।
अश्वमेधशतैरीजे धृतराष्ट्रो महामखैः ।। ५ ।।

वीरवर पाण्डुके पराक्रमसे धृतराष्ट्रने बड़े-बड़े सौ अश्वमेध यज्ञ किये तथा प्रत्येक यज्ञमें एक-एक लाख स्वर्णमुद्राओंकी दक्षिणा दी ।। ५ ।।

सम्प्रयुक्तस्तु कुन्त्या च माद्र्या च भरतर्षभ ।
जिततन्द्रीस्तदा पाण्डुर्बभूव वनगोचरः ।। ६ ।।
हित्वा प्रासादनिलयं शुभानि शयनानि च ।
अरण्यनित्यः सततं बभूव मृगयापरः ।। ७ ।।

भरतश्रेष्ठ! राजा पाण्डुने आलस्यको जीत लिया था। वे कुन्ती और माद्रीकी प्रेरणासे राजमहलोंका निवास और सुन्दर शय्याएँ छोड़कर वनमें रहने लगे। पाण्डु सदा वनमें रहकर शिकार खेला करते थे ।। ६-७ ।।

स चरन् दक्षिणं पार्श्वं रम्यं हिमवतो गिरेः ।
उवास गिरिपृष्ठेषु महाशालवनेषु च ।। ८ ।।

वे हिमालयके दक्षिण भागकी रमणीय भूमिमें विचरते हुए पर्वतके शिखरोंपर तथा ऊँचे शालवृक्षोंसे सुशोभित वनोंमें निवास करते थे ।। ८ ।।

रराज कुन्त्या माद्र्या च पाण्डुः सह वने चरन् ।
करेण्वोरिव मध्यस्थः श्रीमान् पौरंदरो गजः ।। ९ ।।

कुन्ती और माद्रीके साथ वनमें विचरते हुए महाराज पाण्डु दो हथिनियोंके बीचमें स्थित ऐरावत हाथीकी भाँति शोभा पाते थे ।। ९ ।।

भारतं सह भार्याभ्यां खड्गबाणधनुर्धरम् ।
विचित्रकवचं वीरं परमास्त्रविदं नृपम् ।
देवोऽयमित्यमन्यन्त चरन्तं वनवासिनः ।। १० ।।

तलवार, बाण, धनुष और विचित्र कवच धारण करके अपनी दोनों पत्नियोंके साथ भ्रमण करनेवाले महान् अस्त्रवेत्ता भरतवंशी राजा पाण्डुको देखकर वनवासी मनुष्य यह समझते थे कि ये कोई देवता हैं ।। १० ।।

तस्य कामांश्च भोगांश्च नरा नित्यमतन्द्रिताः ।
उपाजह्रुर्वनान्तेषु धृतराष्ट्रेण चोदिताः ।। ११ ।।

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे प्रेरित हो बहुत-से मनुष्य आलस्य छोड़कर वनमें महाराज पाण्डुके लिये इच्छानुसार भोगसामग्री पहुँचाया करते थे ।। ११ ।।

अथ पारशवीं कन्यां देवकस्य महीपतेः ।
रूपयौवनसम्पन्नां स शुश्रावापगासुतः ।। १२ ।।

एक समय गंगानन्दन भीष्मजीने सुना कि राजा देवकके यहाँ एक कन्या है, जो शूद्रजातीय स्त्रीके गर्भसे ब्राह्मणद्वारा उत्पन्न की गयी है। वह सुन्दर रूप और युवावस्थासे सम्पन्न है ।। १२ ।।

ततस्तु वरयित्वा तामानीय भरतर्षभः ।
विवाहं कारयामास विदुरस्य महामतेः ।। १३ ।।

तब इन भरतश्रेष्ठने उसका वरण किया और उसे अपने यहाँ ले आकर उसके साथ परम बुद्धिमान् विदुरजीका विवाह कर दिया ।। १३ ।।

तस्यां चोत्पादयामास विदुरः कुरुनन्दनः ।
पुत्रान् विनयसम्पन्नानात्मनः सदृशान् गुणैः ।। १४ ।।

कुरुनन्दन विदुरने उसके गर्भसे अपने ही समान गुणवान् और विनयशील अनेक पुत्र उत्पन्न किये ।। १४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि विदुरपरिणये त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें विदुरविवाहविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११३ ।।

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके गान्धारीसे एक सौ पुत्र तथा एक कन्याकी तथा सेवा करनेवाली वैश्यजातीय युवतीसे युयुत्सु नामक एक पुत्रकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

ततः पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां जनमेजय ।
धृतराष्ट्रस्य वैश्यायामेकश्चापि शतात् परः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर धृतराष्ट्रके उनकी पत्नी गान्धारीके गर्भसे एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए। धृतराष्ट्रकी एक दूसरी पत्नी वैश्यजातिकी कन्या थी। उससे भी एक पुत्रका जन्म हुआ। यह पूर्वोक्त सौ पुत्रोंसे भिन्न था ।। १ ।।

पाण्डोः कुन्त्यां च माद्र्यां च पुत्राः पञ्च महारथाः ।
देवेभ्यः समपद्यन्त संतानाय कुलस्य वै ।। २ ।।

पाण्डुके कुन्ती और माद्रीके गर्भसे पाँच महारथी पुत्र उत्पन्न हुए। वे सब कुरुकुलकी संतानपरम्पराकी रक्षाके लिये देवताओंके अंशसे प्रकट हुए थे ।। २ ।।

जनमेजय उवाच

कथं पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां द्विजसत्तम ।
कियता चैव कालेन तेषामायुश्च किं परम् ।। ३ ।।

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! गान्धारीसे सौ पुत्र किस प्रकार और कितने समयमें उत्पन्न हुए? और उन सबकी पूरी आयु कितनी थी? ।। ३ ।।

कथं चैकः स वैश्यायां धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ।
कथं च सदृशीं भार्यां गान्धारीं धर्मचारिणीम् ।। ४ ।।
आनुकूल्ये वर्तमानां धृतराष्ट्रोऽभ्यवर्तत ।
कथं च शप्तस्य सतः पाण्डोस्तेन महात्मना ।। ५ ।।
समुत्पन्ना दैवतेभ्यः पुत्राः पञ्च महारथाः ।
एतद् विद्वन् यथान्यायं विस्तरेण तपोधन ।। ६ ।।
कथयस्व न मे तृप्तिः कथ्यमानेषु बन्धुषु ।

वैश्यजातीय स्त्रीके गर्भसे धृतराष्ट्रका वह एक पुत्र किस प्रकार उत्पन्न हुआ? राजा धृतराष्ट्र सदा अपने अनुकूल चलनेवाली योग्य पत्नी धर्मपरायणा गान्धारीके साथ कैसा बर्ताव करते थे? महात्मा मुनि-द्वारा शापको प्राप्त हुए राजा पाण्डुके वे पाँचों महारथी पुत्र देवताओंके अंशसे कैसे उत्पन्न हुए? विद्वान् तपोधन! ये सब बातें यथोचित रूपसे विस्तारपूर्वक कहिये। अपने बन्धुजनोंकी यह चर्चा सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती ।। ४-६१/२ ।।

वैशम्पायन उवाच

क्षुच्छ्रमाभिपरिग्लानं द्वैपायनमुपस्थितम् ।। ७ ।।
तोषयामास गान्धारी व्यासस्तस्यै वरं ददौ ।
सा वव्रे सदृशं भर्तुः पुत्राणां शतमात्मनः ।। ८ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! एक समयकी बात है, महर्षि व्यास भूख और परिश्रमसे खिन्न होकर धृतराष्ट्रके यहाँ आये। उस समय गान्धारीने भोजन और विश्रामकी व्यवस्थाद्वारा उन्हें संतुष्ट किया। तब व्यासजीने गान्धारीको वर देनेकी इच्छा प्रकट की। गान्धारीने अपने पतिके समान ही सौ पुत्र माँगे ।। ७-८ ।।

ततः कालेन सा गर्भं धृतराष्ट्रादथाग्रहीत् ।

संवत्सरद्वयं तं तु गान्धारी गर्भमाहितम् ।। ९ ।।
अप्रजा धारयामास ततस्तां दुःखमाविशत् ।
श्रुत्वा कुन्तीसुतं जातं बालार्कसमतेजसम् ।। १० ।।

तदनन्तर समयानुसार गान्धारीने धृतराष्ट्रसे गर्भ धारण किया। दो वर्ष व्यतीत हो गये, तबतक गान्धारी उस गर्भको धारण किये रही। फिर भी प्रसव नहीं हुआ। इसी बीचमें गान्धारीने जब यह सुना कि कुन्तीके गर्भसे प्रातःकालीन सूर्यके समान तेजस्वी पुत्रका जन्म हुआ है, तब उसे बड़ा दुःख हुआ ।। ९-१० ।।

उदरस्यात्मनः स्थैर्यमुपलभ्यान्वचिन्तयत् ।
अज्ञातं धृतराष्ट्रस्य यत्नेन महता ततः ।। ११ ।।
सोदरं घातयामास गान्धारी दुःखमूर्च्छिता ।
ततो जज्ञे मांसपेशी लोहाष्ठीलेव संहता ।। १२ ।।

उसे अपने उदरकी स्थिरतापर बड़ी चिन्ता हुई। गान्धारी दुःखसे मूर्च्छित हो रही थी। उसने धृतराष्ट्रकी अनजानमें ही महान् प्रयत्न करके अपने उदरपर आघात किया। तब उसके गर्भसे एक मांसका पिण्ड प्रकट हुआ, जो लोहेके पिण्डके समान कड़ा था ।। ११-१२ ।।

द्विवर्षसम्भृता कुक्षौ तामुत्स्रष्टुं प्रचक्रमे ।
अथ द्वैपायनो ज्ञात्वा त्वरितः समुपागमत् ।। १३ ।।

उसने दो वर्षोंतक उसे पेटमें धारण किया था, तो भी उसने उसे इतना कड़ा देखकर फेंक देनेका विचार किया। इधर यह बात महर्षि व्यासको मालूम हुई। तब वे बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आये ।। १३ ।।

तां स मांसमयीं पेशीं ददर्श जपतां वरः ।
ततोऽब्रवीत् सौबलेयीं किमिदं ते चिकीर्षितम् ।। १४ ।।

जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ व्यासजीने उस मांसपिण्डको देखा और गान्धारीसे पूछा—‘तुम इसका क्या करना चाहती थीं?’ ।। १४ ।।

सा चात्मनो मतं सत्यं शशंस परमर्षये ।

और उसने महर्षिको अपने मनकी बात सच-सच बता दी।

गान्धार्युवाच

ज्येष्ठं कुन्तीसुतं जातं श्रुत्वा रविसमप्रभम् ।। १५ ।।
दुःखेन परमेणेदमुदरं घातितं मया ।
शतं च किल पुत्राणां वितीर्णं मे त्वया पुरा ।। १६ ।।
इयं च मे मांसपेशी जाता पुत्रशताय वै ।

गान्धारीने कहा—मुने! मैंने सुना है, कुन्तीके एक ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न हुआ है, जो सूर्यके समान तेजस्वी है। यह समाचार सुनकर अत्यन्त दुःखके कारण मैंने अपने उदरपर आघात करके गर्भ गिराया है। आपने पहले मुझे ही सौ पुत्र होनेका वरदान दिया था; परंतु आज इतने दिनों बाद मेरे गर्भसे सौ पुत्रोंकी जगह यह मांसपिण्ड पैदा हुआ है ।। १५-१६½ ।।

व्यास उवाच

एवमेतत् सौबलेयि नैतज्जात्वन्यथा भवेत् ।। १७ ।।

व्यासजीने कहा—सुबलकुमारी! यह सब मेरे वरदानके अनुसार ही हो रहा है; वह कभी अन्यथा नहीं हो सकता ।। १७ ।।

वितथं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।

घृतपूर्णं कुण्डशतं क्षिप्रमेव विधीयताम् ।। १८ ।।

मैंने कभी हास-परिहासके समय भी झूठी बात मुँहसे नहीं निकाली है। फिर वरदान आदि अन्य अवसरोंपर कही हुई मेरी बात झूठी कैसे हो सकती है। तुम शीघ्र ही सौ मटके (कुण्ड) तैयार कराओ और उन्हें घीसे भरवा दो ।। १८ ।।

सुगुप्तेषु च देशेषु रक्षा चैव विधीयताम् ।

शीताभिरद्भिरष्ठीलामिमां च परिषेचय ।। १९ ।।

फिर अत्यन्त गुप्त स्थानोंमें रखकर उनकी रक्षा की भी पूरी व्यवस्था करो। इस मांसपिण्डको ठंडे जलसे सींचो ।। १९ ।।

वैशम्पायन उवाच

सा सिच्यमाना त्वष्ठीला बभूव शतधा तदा ।

अङ्गुष्ठपर्वमात्राणां गर्भाणां पृथगेव तु ।। २० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय सींचे जानेपर उस मांसपिण्डके सौ टुकड़े हो गये। वे अलग-अलग अँगूठेके पोरुवे बराबर सौ गर्भोंके रूपमें परिणत हो गये ।। २० ।।

एकाधिकशतं पूर्णं यथायोगं विशाम्पते ।

मांसपेश्यास्तदा राजन् क्रमशः कालपर्ययात् ।। २१ ।।

राजन्! कालके परिवर्तनसे क्रमशः उस मांसपिण्डके यथायोग्य पूरे एक सौ एक भाग हुए ।। २१ ।।

ततस्तांस्तेषु कुण्डेषु गर्भानवदधे तदा ।

स्वनुगुप्तेषु देशेषु रक्षां वै व्यदधात् ततः ।। २२ ।।

तत्पश्चात् गान्धारीने उन सभी गर्भोंको उन पूर्वोक्त कुण्डोंमें रखा। वे सभी कुण्ड अत्यन्त गुप्त स्थानोंमें रखे हुए थे। उनकी रक्षाकी ठीक-ठीक व्यवस्था कर दी गयी ।। २२ ।।

शशंस चैव भगवान् कालेनैतावता पुनः ।
उद्घाटनीयान्येतानि कुण्डानीति च सौबलीम् ।। २३ ।।

तब भगवान् व्यासने गान्धारीसे कहा—'इतने ही दिन अर्थात् पूरे दो वर्षोंतक प्रतीक्षा करनेके बाद इन कुण्डोंका ढक्कन खोल देना चाहिये' ।। २३ ।।

इत्युक्त्वा भगवान् व्यासस्तथा प्रतिनिधाय च ।
जगाम तपसे धीमान् हिमवन्तं शिलोच्चयम् ।। २४ ।।

यों कहकर और पूर्वोक्त प्रकारसे रक्षाकी व्यवस्था कराकर परम बुद्धिमान् भगवान् व्यास हिमालय पर्वतपर तपस्याके लिये चले गये ।। २४ ।।

जज्ञे क्रमेण चैतेन तेषां दुर्योधनो नृपः ।
जन्मतस्तु प्रमाणेन ज्येष्ठो राजा युधिष्ठिरः ।। २५ ।।

तदनन्तर दो वर्ष बीतनेपर जिस क्रमसे वे गर्भ उन कुण्डोंमें स्थापित किये गये थे, उसी क्रमसे उनमें सबसे पहले राजा दुर्योधन उत्पन्न हुआ। जन्मकालके प्रमाणसे राजा युधिष्ठिर उससे भी ज्येष्ठ थे ।। २५ ।।

तदाख्यातं तु भीष्माय विदुराय च धीमते ।
यस्मिन्नहनि दुर्धर्षो जज्ञे दुर्योधनस्तदा ।। २६ ।।
तस्मिन्नेव महाबाहुर्जज्ञे भीमोऽपि वीर्यवान् ।
स जातमात्र एवाथ धृतराष्ट्रसुतो नृप ।। २७ ।।
रासभारावसदृशं रुराव च ननाद च ।
तं खराः प्रत्यभाषन्त गृध्रगोमायुवायसाः ।। २८ ।।

दुर्योधनके जन्मका समाचार परम बुद्धिमान् भीष्म तथा विदुरजीको बताया गया। जिस दिन दुर्धर्ष वीर दुर्योधनका जन्म हुआ, उसी दिन परम पराक्रमी महाबाहु भीमसेन भी उत्पन्न हुए। राजन्! धृतराष्ट्रका वह पुत्र जन्म लेते ही गदहेके रेंकनेकी-सी आवाजमें रोने-चिल्लाने लगा। उसकी आवाज सुनकर बदलेमें दूसरे गदहे भी रेंकने लगे। गीध, गीदड़ और कौए भी कोलाहल करने लगे ।। २६—२८ ।।

वाताश्च प्रववुश्चापि दिग्दाहश्चाभवत् तदा ।
ततस्तु भीतवद् राजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ।। २९ ।।
समानीय बहून् विप्रान् भीष्मं विदुरमेव च ।
अन्यांश्च सुहृदो राजन् कुरून् सर्वांस्तथैव च ।। ३० ।।

बड़े जोरकी आँधी चलने लगी। सम्पूर्ण दिशाओंमें दाह-सा होने लगा। राजन्! तब राजा धृतराष्ट्र भयभीत-से हो उठे और बहुत-से ब्राह्मणोंको, भीष्मजी और विदुरजीको, दूसरे-दूसरे सुहृदों तथा समस्त कुरुवंशियोंको अपने समीप बुलवाकर उनसे इस प्रकार बोले — ।। २९-३० ।।

युधिष्ठिरो राजपुत्रो ज्येष्ठो नः कुलवर्धनः ।

प्राप्तः स्वगुणतो राज्यं न तस्मिन् वाच्यमस्ति नः ।। ३१ ।।

'आदरणीय गुरुजनो! हमारे कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले राजकुमार युधिष्ठिर सबसे ज्येष्ठ हैं। वे अपने गुणोंसे राज्यको पानेके अधिकारी हो चुके हैं। उनके विषयमें हमें कुछ नहीं कहना है ।। ३१ ।।

अयं त्वनन्तरस्तस्मादपि राजा भविष्यति ।
एतद् विब्रूत मे तथ्यं यदत्र भविता ध्रुवम् ।। ३२ ।।

'किंतु उनके बाद मेरा यह पुत्र ही ज्येष्ठ है। क्या यह भी राजा बन सकेगा? इस बातपर विचार करके आपलोग ठीक-ठीक बतायें। जो बात अवश्य होनेवाली है, उसे स्पष्ट कहें' ।। ३२ ।।

वाक्यस्यैतस्य निधने दिक्षु सर्वासु भारत ।
क्रव्यादाः प्राणदन् घोराः शिवाश्चाशिवशंसिनः ।। ३३ ।।

जनमेजय! धृतराष्ट्रकी यह बात समाप्त होते ही चारों दिशाओंमें भयंकर मांसाहारी जीव गर्जना करने लगे। गीदड़ अमंगलसूचक बोली बोलने लगे ।। ३३ ।।

लक्षयित्वा निमित्तानि तानि घोराणि सर्वशः ।
तेऽब्रुवन् ब्राह्मणा राजन् विदुरश्च महामतिः ।। ३४ ।।
यथेमानि निमित्तानि घोराणि मनुजाधिप ।
उत्थितानि सुते जाते ज्येष्ठे ते पुरुषर्षभ ।। ३५ ।।
व्यक्तं कुलान्तकरणो भवितैष सुतस्तव ।
तस्य शान्तिः परित्यागे गुप्तावपनयो महान् ।। ३६ ।।

राजन्! सब ओर होनेवाले उन भयानक अप-शकुनोंको लक्ष्य करके ब्राह्मणलोग तथा परम बुद्धिमान् विदुरजी इस प्रकार बोले—'नरश्रेष्ठ नरेश्वर! आपके ज्येष्ठ पुत्रके जन्म लेनेपर जिस प्रकार ये भयंकर अपशकुन प्रकट हो रहे हैं, उनसे स्पष्ट जान पड़ता है कि आपका यह पुत्र समूचे कुलका संहार करनेवाला होगा। यदि इसका त्याग कर दिया जाय तो सब विघ्नोंकी शान्ति हो जायगी और यदि इसकी रक्षा की गयी तो आगे चलकर बड़ा भारी उपद्रव खड़ा होगा ।। ३४—३६ ।।

शतमेकोनमप्यस्तु पुत्राणां ते महीपते ।
त्यजैनमेकं शान्तिं चेत् कुलस्येच्छसि भारत ।। ३७ ।।

'महीपते! आपके निन्यानबे पुत्र ही रहें; भारत! यदि आप अपने कुलकी शान्ति चाहते हैं तो इस एक पुत्रको त्याग दें ।। ३७ ।।

एकेन कुरु वै क्षेमं कुलस्य जगतस्तथा ।
त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।। ३८ ।।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।
स तथा विदुरेणोक्तस्तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ।। ३९ ।।

न चकार तथा राजा पुत्रस्नेहसमन्वितः ।
ततः पुत्रशतं पूर्णं धृतराष्ट्रस्य पार्थिव ।। ४० ।।

'केवल एक पुत्रके त्यागद्वारा इस सम्पूर्ण कुलका तथा समस्त जगत्‌का कल्याण कीजिये। नीति कहती है कि समूचे कुलके हितके लिये एक व्यक्तिको त्याग दे, गाँवके हितके लिये एक कुलको छोड़ दे, देशके हितके लिये एक गाँवका परित्याग कर दे और आत्माके कल्याणके लिये सारे भूमण्डलको त्याग दे।' विदुर तथा उन सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके यों कहनेपर भी पुत्रस्नेहके बन्धनमें बँधे हुए राजा धृतराष्ट्रने वैसा नहीं किया। जनमेजय! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रके पूरे सौ पुत्र हुए ।। ३८—४० ।।

मासमात्रेण संजज्ञे कन्या चैका शताधिका ।
गान्धार्यां क्लिश्यमानायामुदरेण विवर्धता ।। ४१ ।।
धृतराष्ट्रं महाराजं वैश्या पर्यचरत् किल ।
तस्मिन् संवत्सरे राजन् धृतराष्ट्रान्महायशाः ।। ४२ ।।
जज्ञे धीमांस्ततस्तस्यां युयुत्सुः करणो नृप ।
एवं पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।। ४३ ।।
महारथानां वीराणां कन्या चैका शताधिका ।
युयुत्सुश्च महातेजा वैश्यापुत्रः प्रतापवान् ।। ४४ ।।

तदनन्तर एक ही मासमें गान्धारीसे एक कन्या उत्पन्न हुई, जो सौ पुत्रोंके अतिरिक्त थी। जिन दिनों गर्भ धारण करनेके कारण गान्धारीका पेट बढ़ गया था और वह क्लेशमें पड़ी रहती थी, उन दिनों महाराज धृतराष्ट्रकी सेवामें एक वैश्यजातीय स्त्री रहती थी। राजन्! उस वर्ष धृतराष्ट्रके अंशसे उस वैश्यजातीय भार्याके द्वारा महायशस्वी बुद्धिमान् युयुत्सुका जन्म हुआ। जनमेजय! युयुत्सु करण कहे जाते थे। इस प्रकार बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके एक सौ वीर महारथी पुत्र हुए। तत्पश्चात् एक कन्या हुई, जो सौ पुत्रोंके अतिरिक्त थी। इन सबके सिवा महातेजस्वी परम प्रतापी वैश्यापुत्र युयुत्सु भी थे ।। ४१—४४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि गान्धारीपुत्रोत्पत्तौ चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें गान्धारीपुत्रोत्पत्तिविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११४ ।।

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

दुःशलाके जन्मकी कथा

जनमेजय उवाच

धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामादितः कथितं त्वया ।
ऋषेः प्रसादात् तु शतं न च कन्या प्रकीर्तिता ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! महर्षि व्यासके प्रसादसे धृतराष्ट्रके सौ पुत्र हुए, यह बात आपने मुझे पहले ही बता दी थी। परंतु उस समय यह नहीं कहा था कि उन्हें एक कन्या भी हुई ।। १ ।।

वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च कन्या चैका शताधिका ।
गान्धारराजदुहिता शतपुत्रेति चानघ ।। २ ।।
उक्ता महर्षिणा तेन व्यासेनामिततेजसा ।
कथं त्विदानीं भगवन् कन्यां त्वं तु ब्रवीषि मे ।। ३ ।।

अनघ! इस समय आपने वैश्यापुत्र युयुत्सु तथा सौ पुत्रोंके अतिरिक्त एक कन्याकी भी चर्चा की है। अमिततेजस्वी महर्षि व्यासने गान्धारराजकुमारीको सौ पुत्र होनेका ही वरदान दिया था। भगवन्! फिर आप मुझसे यह कैसे कहते हैं कि एक कन्या भी हुई ।। २-३ ।।

यदि भागशतं पेशी कृता तेन महर्षिणा ।
न प्रजास्यति चेद् भूयः सौबलेयी कथंचन ।। ४ ।।
कथं तु सम्भवस्तस्या दुःशलाया वदस्व मे ।
यथावदिह विप्रर्षे परं मेऽत्र कुतूहलम् ।। ५ ।।

यदि महर्षिने उक्त मांसपिण्डके सौ भाग किये और यदि सुबलपुत्री गान्धारीने किसी प्रकार फिर गर्भ धारण या प्रसव नहीं किया, तो उस दुःशला नामवाली कन्याका जन्म किस प्रकार हुआ? ब्रह्मर्षे! यह सब यथार्थरूपसे मुझे बताइये। मुझे इस विषयमें कौतूहल हो रहा है ।। ४-५ ।।

वैशम्पायन उवाच

साध्वयं प्रश्न उद्दिष्टः पाण्डवेय ब्रवीमि ते ।
तां मांसपेशीं भगवान् स्वयमेव महातपाः ।। ६ ।।
शीताभिरद्भिरासिच्य भागं भागमकल्पयत् ।
यो यथा कल्पितो भागस्तं तं धात्र्या तथा नृप ।। ७ ।।
घृतपूर्णेषु कुण्डेषु एकैकं प्राक्षिपत् तदा ।
एतस्मिन्नन्तरे साध्वी गान्धारी सुदृढव्रता ।। ८ ।।

दुहितुः स्नेहसंयोगमनुध्याय वराङ्गना ।
मनसाचिन्तयद् देवी एतत् पुत्रशतं मम ।। ९ ।।
भविष्यति न संदेहो न ब्रवीत्यन्यथा मुनिः ।
ममेयं परमा तुष्टिर्दुहिता मे भवेद् यदि ।। १० ।।

वैशम्पायनजीने कहा—पाण्डवनन्दन! तुमने यह बहुत अच्छा प्रश्न पूछा है। मैं तुम्हें इसका उत्तर देता हूँ। महातपस्वी भगवान् व्यासने स्वयं ही उस मांसपिण्डको शीतल जलसे सींचकर उसके सौ भाग किये। राजन्! उस समय जो भाग जैसा बना, उसे धायद्वारा वे एक-एक करके घीसे भरे हुए कुण्डोंमें डलवाते गये। इसी बीचमें पूर्ण दृढ़तासे सतीव्रतका पालन करनेवाली साध्वी एवं सुन्दरी गान्धारी कन्याके स्नेह-सम्बन्धका विचार करके मन-ही-मन सोचने लगी—इसमें संदेह नहीं कि इस मांसपिण्डसे मेरे सौ पुत्र उत्पन्न होंगे; क्योंकि व्यासमुनि कभी झूठ नहीं बोलते; परंतु मुझे अधिक संतोष तो तब होता, यदि एक पुत्री भी हो जाती ।। ६—१० ।।

एका शताधिका बाला भविष्यति कनीयसी ।
ततो दौहित्रजाल्लोकादबाह्योऽसौ पतिर्मम ।। ११ ।।

यदि सौ पुत्रोंके अतिरिक्त एक छोटी कन्या हो जायगी तो मेरे ये पति दौहित्रके पुण्यसे प्राप्त होनेवाले उत्तम लोकोंसे भी वंचित नहीं रहेंगे ।। ११ ।।

अधिका किल नारीणां प्रीतिर्जामातृजा भवेत् ।
यदि नाम ममापि स्याद् दुहितैका शताधिका ।। १२ ।।
कृतकृत्या भवेयं वै पुत्रदौहित्रसंवृता ।
यदि सत्यं तपस्तप्तं दत्तं वाप्यथवा हुतम् ।। १३ ।।
गुरवस्तोषिता वापि तथास्तु दुहिता मम ।
एतस्मिन्नेव काले तु कृष्णद्वैपायनः स्वयम् ।। १४ ।।
व्यभजत् स तदा पेशीं भगवानृषिसत्तमः ।
गणयित्वा शतं पूर्णमंशानामाह सौबलीम् ।। १५ ।।

कहते हैं, स्त्रियोंका दामादमें पुत्रसे भी अधिक स्नेह होता है। यदि मुझे भी सौ पुत्रोंके अतिरिक्त एक पुत्री प्राप्त हो जाय तो मैं पुत्र और दौहित्र दोनोंसे घिरी रहकर कृतकृत्य हो जाऊँ। यदि मैंने सचमुच तप, दान अथवा होम किया हो तथा गुरुजनोंको सेवाद्वारा प्रसन्न कर लिया हो, तो मुझे पुत्री अवश्य प्राप्त हो। इसी बीचमें मुनिश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासने स्वयं ही उस मांसपिण्डके विभाग कर दिये और पूरे सौ अंशोंकी गणना करके गान्धारीसे कहा ।। १२—१५ ।।

व्यास उवाच

पूर्णं पुत्रशतं त्वेतन्न मिथ्या वागुदाहृता ।

दौहित्रयोगाय भाग एकः शिष्टः शतात् परः ।
एषा ते सुभगा कन्या भविष्यति यथेप्सिता ।। १६ ।।

व्यासजी बोले—गान्धारी! मैंने झूठी बात नहीं कही थी; ये पूरे सौ पुत्र हैं। सौके अतिरिक्त एक भाग और बचा है, जिससे दौहित्रका योग होगा। इस अंशसे तुम्हें अपने मनके अनुरूप एक सौभाग्यशालिनी कन्या प्राप्त होगी ।। १६ ।।

ततोऽन्यं घृतकुम्भं च समानाय्य महातपाः ।
तं चापि प्राक्षिपत् तत्र कन्याभागं तपोधनः ।। १७ ।।
एतत् ते कथितं राजन् दुःशलाजन्म भारत ।
ब्रूहि राजेन्द्र किं भूयो वर्तयिष्यामि तेऽनघ ।। १८ ।।

यों कहकर महातपस्वी व्यासजीने घीसे भरा हुआ एक और घड़ा मँगाया और उन तपोधन मुनिने उस कन्याभागको उसीमें डाल दिया। भरतवंशी नरेश! इस प्रकार मैंने तुम्हें दुःशलाके जन्मका प्रसंग सुना दिया। अनघ! बोलो, अब पुनः और क्या कहूँ ।। १७-१८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि दुःशलोत्पत्तौ पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें दुःशलाकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११५ ।।

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंकी नामावली

जनमेजय उवाच

ज्येष्ठानुज्येष्ठतां तेषां नामानि च पृथक् पृथक् ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्यात् प्रकीर्तय ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें सबसे ज्येष्ठ कौन था? फिर उससे छोटा और उससे भी छोटा कौन था? उन सबके अलग-अलग नाम क्या थे? इन सब बातोंका क्रमशः वर्णन कीजिये ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन् दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव जलसंधः समः सहः ।। २ ।।
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ।
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ।। ३ ।।
विविंशतिर्विकर्णश्च शलः सत्त्वः सुलोचनः ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुचित्रशरासनः ।। ४ ।।
दुर्मदो दुर्विगाहश्च विवित्सुर्विकटाननः ।
ऊर्णनाभः सुनाभश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ।। ५ ।।
चित्रबाणश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विरोचनः ।
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्राङ्गश्चित्रकुण्डलः ।।
भीमवेगो भीमबलो बलाकी बलवर्धनः ।
उग्रायुधः सुषेणश्च कुण्डोदरमहोदरौ ।। ७ ।।
चित्रायुधो निषङ्गी च पाशी वृन्दारकस्तथा ।
दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ।।
दृढसन्धो जरासन्धः सत्यसन्धः सदःसुवाक् ।
उग्रश्रवा उग्रसेनः सेनानीर्दुष्पराजयः ।।
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षो दुराधरः ।
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ।। १० ।।
आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तोऽग्रयाय्यपि ।
कवची क्रथनः दण्डी दण्डधारो धनुर्ग्रहः ।। ११ ।।
उग्रभीमरथौ वीरौ वीरबाहुरलोलुपः ।

अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथाश्रयः ।। १२ ।।
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी चित्रकुण्डलः ।
प्रमथश्च प्रमाथी च दीर्घरोमश्च वीर्यवान् ।। १३ ।।
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकध्वजः ।
कुण्डाशी विरजाश्चैव दुःशला च शताधिका ।। १४ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—(जनमेजय! धृतराष्ट्रके पुत्रोंके नाम क्रमशः ये हैं—) १. दुर्योधन, २. युयुत्सु, ३. दुश्शासन, ४. दुस्सह, ५. दुश्शल, ६. जलसंध, ७. सम, ८. सह, ९. विन्द, १०. अनुविन्द, ११. दुर्धर्ष, १२. सुबाहु, १३. दुष्प्रधर्षण, १४. दुर्मर्षण, १५. दुर्मुख, १६. दुष्कर्ण, १७. कर्ण, १८. विविंशति, १९. विकर्ण, २०. शल, २१. सत्त्व, २२. सुलोचन, २३. चित्र, २४. उपचित्र, २५. चित्राक्ष, २६. चारुचित्रशरासन (चित्र-चाप), २७. दुर्मद, २८. दुर्विगाह, २९. विवित्सु, ३०. विकटानन (विकट), ३१. ऊर्णनाभ, ३२. सुनाभ (पद्मनाभ), ३३. नन्द, ३४. उपनन्द, ३५. चित्रबाण (चित्रबाहु), ३६. चित्रवर्मा, ३७. सुवर्मा, ३८. दुर्विरोचन, ३९. अयोबाहु, ४०. महाबाहु चित्रांग (चित्रांगद), ४१. चित्रकुण्डल (सुकुण्डल), ४२. भीमवेग, ४३. भीमबल, ४४. बलाकी, ४५. बलवर्धन (विक्रम), ४६. उग्रायुध, ४७. सुषेण, ४८. कुण्डोदर, ४९. महोदर, ५०. चित्रायुध (दृढ़ायुध), ५१. निषंगी, ५२. पाशी, ५३. वृन्दारक, ५४. दृढ़वर्मा, ५५. दृढ़क्षत्र, ५६. सोमकीर्ति, ५७. अनूदर, ५८. दृढ़सन्ध, ५९. जरासन्ध, ६०. सत्यसन्ध, ६१. सदःसुवाक् (सहस्रवाक्), ६२. उग्रश्रवा, ६३. उग्रसेन, ६४. सेनानी (सेनापति), ६५. दुष्पराजय, ६६. अपराजित, ६७. पण्डितक, ६८. विशालाक्ष, ६९. दुराधर (दुराधन), ७०. दृढ़हस्त, ७१. सुहस्त, ७२. वातवेग, ७३. सुवर्चा, ७४. आदित्यकेतु, ७५. बह्वाशी, ७६. नागदत्त, ७७. अग्रयायी (अनुयायी), ७८. कवची, ७९. क्रथन, ८०. दण्डी, ८१. दण्डधार, ८२. धनुर्ग्रह, ८३. उग्र, ८४. भीमरथ, ८५. वीरबाहु, ८६. अलोलुप, ८७. अभय, ८८. रौद्रकर्मा, ८९. दृढ़रथाश्रय (दृढ़रथ), ९०. अनाधृष्य, ९१. कुण्डभेदी, ९२. विरावी, ९३. विचित्र कुण्डलोंसे सुशोभित प्रमथ, ९४. प्रमाथी, ९५. वीर्यवान् दीर्घरोमा (दीर्घलोचन), ९६. दीर्घबाहु, ९७. महाबाहु व्यूढोरु, ९८. कनकध्वज (कनकांगद), ९९. कुण्डाशी (कुण्डज) तथा १००. विरजा—धृतराष्ट्रके ये सौ पुत्र थे। इनके सिवा दुःशला नामक एक कन्या थी, जो सौसे अधिक थी* ।। २—१४ ।।

इति पुत्रशतं राजन् कन्या चैव शताधिका ।
नामधेयानुपूर्व्येण विद्धि जन्मक्रमं नृप ।। १५ ।।

राजन्! इस प्रकार धृतराष्ट्रके सौ पुत्र और उन सौके अतिरिक्त एक कन्या बतायी गयी। राजन्! जिस क्रमसे इनके नाम लिये गये हैं, उसी क्रमसे इनका जन्म हुआ समझो ।। १५ ।।

सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ।
सर्वे वेदविदश्चैव सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः ।। १६ ।।

ये सभी अतिरथी शूरवीर थे। सबने युद्धविद्यामें निपुणता प्राप्त कर ली थी। सब-के-सब वेदोंके विद्वान् तथा सम्पूर्ण अस्त्रविद्याके मर्मज्ञ थे ।। १६ ।।

सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते ।
धृतराष्ट्रेण समये परीक्ष्य विधिवन्नृप ।। १७ ।।
दुःशलां चापि समये धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
जयद्रथाय प्रददौ विधिना भरतर्षभ ।। १८ ।।

जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रने समयपर भलीभाँति जाँच-पड़ताल करके अपने सभी पुत्रोंका उनके योग्य स्त्रियोंके साथ विवाह कर दिया। भरतश्रेष्ठ! महाराज धृतराष्ट्रने विवाहके योग्य समय आनेपर अपनी पुत्री दुःशलाका राजा जयद्रथके साथ विधिपूर्वक विवाह किया ।। १७-१८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि धृतराष्ट्रपुत्रनामकथने षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें धृतराष्ट्रपुत्रनामवर्णनविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११६ ।।

---

* आदिपर्वके सरसठवें अध्यायमें भी धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंके नाम आये हैं। वहाँ जो नाम दिये गये हैं, उनमेंसे अधिकांश नाम इस अध्यायमें भी ज्यों-के-त्यों हैं। कुछ नामोंमें साधारण अन्तर है, जिन्हें यहाँ कोष्ठकमें दे दिया गया है। इस प्रकार यहाँ और वहाँके नामोंकी एकता की गयी है। थोड़े-से नाम ऐसे भी हैं, जिनका मेल नहीं मिलता। नामोंके क्रममें भी दोनों स्थलोंमें अन्तर है। सम्भव है, उनके दो-दो नाम रहे हों और दोनों स्थलोंमें भिन्न-भिन्न नामोंका उल्लेख हो।

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा पाण्डुके द्वारा मृगरूपधारी मुनिका वध तथा उनसे शापकी प्राप्ति

जनमेजय उवाच

कथितो धार्तराष्ट्राणामार्षः सम्भव उत्तमः ।
अमनुष्यो मनुष्याणां भवता ब्रह्मवादिना ।। १ ।।

जनमेजयने कहा—भगवन्! आपने धृतराष्ट्रके पुत्रोंके जन्मका उत्तम प्रसंग सुनाया है, जो महर्षि व्यासकी कृपासे सम्भव हुआ था। आप ब्रह्मवादी हैं। आपने यद्यपि यह मनुष्योंके जन्मका वृतान्त बताया है, तथापि यह दूसरे मनुष्योंमें कभी नहीं देखा गया ।। १ ।।

नामधेयानि चाप्येषां कथ्यमानानि भागशः ।
त्वत्तः श्रुतानि मे ब्रह्मन् पाण्डवानां च कीर्तय ।। २ ।।

ब्रह्मन्! इन धृतराष्ट्रपुत्रोंके पृथक्-पृथक् नाम भी जो आपने कहे हैं, वे मैंने अच्छी तरह सुन लिये। अब पाण्डवोंके जन्मका वर्णन कीजिये ।। २ ।।

ते हि सर्वे महात्मानो देवराजपराक्रमाः ।
त्वयैवांशावतरणे देवभागाः प्रकीर्तिताः ।। ३ ।।

वे सब महात्मा पाण्डव देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी थे। आपने ही अंशावतरणके प्रसंगमें उन्हें देवताओंका अंश बताया था ।। ३ ।।

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुमतिमानुषकर्मणाम् ।
तेषामाजननं सर्वं वैशम्पायन कीर्तय ।। ४ ।।

वैशम्पायनजी! वे ऐसे पराक्रम कर दिखाते थे, जो मनुष्योंकी शक्तिके परे हैं; अतः मैं उनके जन्म-सम्बन्धी वृत्तान्तको सम्पूर्णतासे सुनना चाहता हूँ; कृपा करके कहिये ।। ४ ।।

वैशम्पायन उवाच

राजा पाण्डुर्महारण्ये मृगव्यालनिषेविते ।
चरन् मैथुनधर्मस्थं ददर्श मृगयूथपम् ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय! एक समय राजा पाण्डु मृगों और सर्पोंसे सेवित विशाल वनमें विचर रहे थे। उन्होंने मृगोंके एक यूथपतिको देखा, जो मृगीके साथ मैथुन कर रहा था ।। ५ ।।

ततस्तां च मृगीं तं च रुक्मपुङ्खैः सुपत्रिभिः ।
निर्बिभेद शरैस्तीक्ष्णैः पाण्डुः पञ्चभिराशुगैः ।। ६ ।।

उसे देखते ही राजा पाण्डुने पाँच सुन्दर एवं सुनहरे पंखोंसे युक्त तीखे तथा शीघ्रगामी बाणोंद्वारा, उस मृगी और मृगको भी बींध डाला ।। ६ ।।

स च राजन् महातेजा ऋषिपुत्रस्तपोधनः ।
भार्यया सह तेजस्वी मृगरूपेण संगतः ।। ७ ।।

राजन्! उस मृगके रूपमें एक महातेजस्वी तपोधन ऋषिपुत्र थे, जो अपनी मृगीरूपधारिणी पत्नीके साथ तेजस्वी मृग बनकर समागम कर रहे थे ।। ७ ।।

संसक्तश्च तया मृग्या मानुषीमीरयन् गिरम् ।
क्षणेन पतितो भूमौ विललापाकुलेन्द्रियः ।। ८ ।।

वे उस मृगीसे सटे हुए ही मनुष्योंकी-सी बोली बोलते हुए क्षणभरमें पृथ्वीपर गिर पड़े। उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं और वे विलाप करने लगे ।। ८ ।।

मृग उवाच

काममन्युपरीता हि बुद्ध्या विरहिता अपि ।
वर्जयन्ति नृशंसानि पापेष्वपि रता नराः ।। ९ ।।
न विधिं ग्रसते प्रज्ञा प्रज्ञां तु ग्रसते विधिः ।
विधिपर्यागतानर्थान् प्राज्ञो न प्रतिपद्यते ।। १० ।।

मृगने कहा—राजन्! जो मनुष्य काम और क्रोधसे घिरे हुए, बुद्धिशून्य तथा पापोंमें संलग्न रहनेवाले हैं, वे भी ऐसे क्रूरतापूर्ण कर्मको त्याग देते हैं। बुद्धि प्रारब्धको नहीं ग्रसती (नहीं लाँघ सकती) प्रारब्ध ही बुद्धिको अपना ग्रास बना लेता है (भ्रष्ट कर देता है)। प्रारब्धसे प्राप्त होनेवाले पदार्थोंको बुद्धिमान् पुरुष भी नहीं जान पाता ।। ९-१० ।।

शश्वद्धर्मात्मनां मुख्ये कुले जातस्य भारत ।
कामलोभाभिभूतस्य कथं ते चलिता मतिः ।। ११ ।।

भारत! सदा धर्ममें मन लगानेवाले क्षत्रियोंके प्रधान कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, तो भी काम और लोभके वशीभूत होकर तुम्हारी बुद्धि धर्मसे कैसे विचलित हुई? ।। ११ ।।

पाण्डुरुवाच

शत्रूणां या वधे वृत्तिः सा मृगाणां वधे स्मृता ।
राज्ञां मृग न मां मोहात् त्वं गर्हयितुमर्हसि ।। १२ ।।

पाण्डु बोले—शत्रुओंके वधमें राजाओंकी जैसी वृत्ति बतायी गयी है, वैसी ही मृगोंके वधमें भी मानी गयी है; अतः मृग! तुम्हें मोहवश मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिये ।। १२ ।।

अच्छद्मना मायया च मृगाणां वध इष्यते ।
स एव धर्मो राज्ञां तु तद्धि त्वं किं नु गर्हसे ।। १३ ।।

प्रकट या अप्रकट रूपसे मृगोंका वध हमारे लिये अभीष्ट है। वह राजाओंके लिये धर्म है, फिर तुम उसकी निन्दा कैसे करते हो? ।। १३ ।।

अगस्त्यः सत्रमासीनश्चकार मृगयामृषिः ।
आरण्यान् सर्वदेवेभ्यो मृगान् प्रेषन् महावने ।। १४ ।।
प्रमाणदृष्टधर्मेण कथमस्मान् विगर्हसे ।
अगस्त्यस्याभिचारेण युष्माकं विहितो वधः ।। १५ ।।

महर्षि अगस्त्य एक सत्रमें दीक्षित थे, तब उन्होंने भी मृगया की थी। सभी देवताओंके हितके लिये उन्होंने सत्रमें विघ्न करनेवाले पशुओंको महान् वनमें खदेड़ दिया था। अगस्त्य ऋषिके उक्त हिंसाकर्मके अनुसार (मुझ क्षत्रियके लिये तो) तुम्हारा वध करना ही उचित है। मैं प्रमाणसिद्ध धर्मके अनुकूल बर्ताव करता हूँ, तो भी तुम क्यों मेरी निन्दा करते हो? ।। १४-१५ ।।

मृग उवाच

न रिपून् वै समुद्दिश्य विमुञ्चन्ति नराः शरान् ।
रन्ध्र एषां विशेषेण वधः काले प्रशस्यते ।। १६ ।।

मृगने कहा—मनुष्य अपने शत्रुओंपर भी, विशेषतः जब वे संकटकालमें हों, बाण नहीं छोड़ते। उपयुक्त अवसर (संग्राम आदि)-में ही शत्रुओंके वधकी प्रशंसा की जाती है ।। १६ ।।

पाण्डुरुवाच

प्रमत्तमप्रमत्तं वा विवृत्तं घ्नन्ति चौजसा ।
उपायैर्विविधैस्तीक्ष्णैः कस्मान्मृग विगर्हसे ।। १७ ।।

पाण्डु बोले—मृग! राजालोग नाना प्रकारके तीक्ष्ण उपायोंद्वारा बलपूर्वक खुले-आम मृगका वध करते हैं; चाहे वह सावधान हो या असावधान। फिर तुम मेरी निन्दा क्यों करते हो? ।। १७ ।।

मृग उवाच

नाहं घ्नन्तं मृगान् राजन् विगर्हे चात्मकारणात् ।
मैथुनं तु प्रतीक्ष्यं मे त्वयेहाद्यानृशंस्यतः ।। १८ ।।

मृगने कहा—राजन्! मैं अपने मारे जानेके कारण इस बातके लिये तुम्हारी निन्दा नहीं करता कि तुम मृगोंको मारते हो। मुझे तो इतना ही कहना है कि तुम्हें दयाभावका आश्रय लेकर मेरे मैथुनकर्मसे निवृत्त होनेतक प्रतीक्षा करनी चाहिये थी ।। १८ ।।

सर्वभूतहिते काले सर्वभूतेप्सिते तथा ।
को हि विद्वान् मृगं हन्याच्चरन्तं मैथुनं वने ।। १९ ।।

जो सम्पूर्ण भूतोंके लिये हितकर और अभीष्ट है, उस समयमें वनके भीतर मैथुन करनेवाले किसी मृगको कौन विवेकशील पुरुष मार सकता है? ।। १९ ।।

अस्यां मृग्यां च राजेन्द्र हर्षान्मैथुनमाचरम् ।
पुरुषार्थफलं कर्तुं तत् त्वया विफलीकृतम् ।। २० ।।

राजेन्द्र! मैं बड़े हर्ष और उल्लासके साथ अपने कामरूपी पुरुषार्थको सफल करनेके लिये इस मृगीके साथ मैथुन कर रहा था; किंतु तुमने उसे निष्फल कर दिया ।। २० ।।

पौरवाणां महाराज तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
वंशे जातस्य कौरव्य नानुरूपमिदं तव ।। २१ ।।

महाराज! क्लेशरहित कर्म करनेवाले कुरुवंशियोंके कुलमें जन्म लेकर तुमने जो यह कार्य किया है, यह तुम्हारे अनुरूप नहीं है ।। २१ ।।

नृशंसं कर्म सुमहत् सर्वलोकविगर्हितम् ।
अस्वर्ग्यमयशस्यं चाप्यधर्मिष्ठं च भारत ।। २२ ।।

भारत! अत्यन्त कठोरतापूर्ण कर्म सम्पूर्ण लोकोंमें निन्दित है। वह स्वर्ग और यशको हानि पहुँचानेवाला है। इसके सिवा वह महान् पापकृत्य है ।। २२ ।।

स्त्रीभोगानां विशेषज्ञः शास्त्रधर्मार्थतत्त्ववित् ।
नार्हस्त्वं सुरसंकाश कर्तुमस्वर्ग्यमीदृशम् ।। २३ ।।

देवतुल्य महाराज! तुम स्त्री-भोगोंके विशेषज्ञ तथा शास्त्रीय धर्म एवं अर्थके तत्त्वको जाननेवाले हो। तुम्हें ऐसा नरकप्रद पापकार्य नहीं करना चाहिये था ।। २३ ।।

त्वया नृशंसकर्तारः पापाचाराश्च मानवाः ।
निग्राह्याः पार्थिवश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिवर्जिताः ।। २४ ।।

नृपशिरोमणे! तुम्हारा कर्तव्य तो यह है कि धर्म, अर्थ और कामसे हीन जो पापाचारी मनुष्य कठोरतापूर्ण कर्म करनेवाले हों, उन्हें दण्ड दो ।। २४ ।।

किं कृतं ते नरश्रेष्ठ मामिहानागसं घ्नता ।
मुनिं मूलफलाहारं मृगवेषधरं नृप ।। २५ ।।
वसमानमरण्येषु नित्यं शमपरायणम् ।
त्वयाहं हिंसितो यस्मात् तस्मात् त्वामप्यहं शपे ।। २६ ।।

नरश्रेष्ठ! मैं तो फल-मूलका आहार करनेवाला एक मुनि हूँ और मृगका रूप धारण करके शम-दमके पालनमें तत्पर हो सदा जंगलोंमें ही निवास करता हूँ। मुझ निरपराधको मारकर यहाँ तुमने क्या लाभ उठाया? तुमने मेरी हत्या की है, इसलिये बदलेमें मैं भी तुम्हें शाप देता हूँ ।। २५-२६ ।।

द्वयोर्नृशंसकर्तारमवशं काममोहितम् ।
जीवितान्तकरो भाव एवमेवागमिष्यति ।। २७ ।।

तुमने मैथुन-धर्ममें आसक्त दो स्त्री-पुरुषोंका निष्ठुरता-पूर्वक वध किया है। तुम अजितेन्द्रिय एवं कामसे मोहित हो; अतः इसी प्रकार मैथुनमें आसक्त होनेपर जीवनका अन्त करनेवाली मृत्यु निश्चय ही तुमपर आक्रमण करेगी ।। २७ ।।

अहं हि किंदमो नाम तपसा भावितो मुनिः ।
व्यपत्रपन्मनुष्याणां मृग्यां मैथुनमाचरम् ।। २८ ।।
मृगो भूत्वा मृगैः सार्धं चरामि गहने वने ।
न तु ते ब्रह्महत्येयं भविष्यत्यविजानतः ।। २९ ।।

मेरा नाम किंदम है। मैं तपस्यामें संलग्न रहनेवाला मुनि हूँ, अतः मनुष्योंमें—मानव-शरीरसे यह काम करनेमें मुझे लज्जाका अनुभव हो रहा था। इसीलिये मृग बनकर अपनी मृगीके साथ मैथुन कर रहा था। मैं प्रायः इसी रूपमें मृगोंके साथ घने वनमें विचरता रहता हूँ। तुम्हें मुझे मारनेसे ब्रह्महत्या तो नहीं लगेगी; क्योंकि तुम यह बात नहीं जानते थे (कि यह मुनि है) ।। २८-२९ ।।

मृगरूपधरं हत्वा मामेवं काममोहितम् ।
अस्य तु त्वं फलं मूढ प्राप्स्यसीदृशमेव हि ।। ३० ।।

परंतु जब मैं मृगरूप धारण करके कामसे मोहित था, उस अवस्थामें तुमने अत्यन्त क्रूरताके साथ मुझे मारा है; अतः मूढ़! तुम्हें अपने इस कर्मका ऐसा ही फल अवश्य मिलेगा ।। ३० ।।

प्रियया सह संवासं प्राप्य कामविमोहितः ।
त्वमप्यस्यामवस्थायां प्रेतलोकं गमिष्यसि ।। ३१ ।।

तुम भी जब कामसे सर्वथा मोहित होकर अपनी प्यारी पत्नीके साथ समागम करने लगोगे, तब इस—मेरी अवस्थामें ही यमलोक सिधारोगे ।। ३१ ।।

अन्तकाले हि संवासं यया गन्तासि कान्तया ।
प्रेतराजपुरं प्राप्तं सर्वभूतदुरत्ययम् ।
भक्त्या मतिमतां श्रेष्ठ सैव त्वानुगमिष्यति ।। ३२ ।।

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महाराज! अन्तकाल आनेपर तुम जिस प्यारी पत्नीके साथ समागम करोगे, वही समस्त प्राणियोंके लिये दुर्गम यमलोकमें जानेपर भक्तिभावसे तुम्हारा अनुसरण करेगी ।। ३२ ।।

वर्तमानः सुखे दुःखं यथाहं प्रापितस्त्वया ।
तथा त्वां च सुखं प्राप्तं दुःखमभ्यागमिष्यति ।। ३३ ।।

मैं सुखमें मग्न था, तथापि तुमने जिस प्रकार मुझे दुःखमें डाल दिया, उसी प्रकार तुम भी जब प्रेयसी पत्नीके संयोग-सुखका अनुभव करोगे, उसी समय तुम्हारे ऊपर दुःख टूट पड़ेगा ।। ३३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो जीवितात् स व्यमुच्यत ।
मृगः पाण्डुश्च दुःखार्तः क्षणेन समपद्यत ।। ३४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—यों कहकर वे मृगरूप-धारी मुनि अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो गये और उनका देहान्त हो गया तथा राजा पाण्डु भी क्षणभरमें दुःखसे आतुर हो उठे ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुमृगशापे सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुको मृगका शाप नामक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११७ ।।

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डुका अनुताप, संन्यास लेनेका निश्चय तथा पत्नियोंके अनुरोधसे वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

तं व्यतीतमतिक्रम्य राजा स्वमिव बान्धवम् ।
सभार्यः शोकदुःखार्तः पर्यदेवयदातुरः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन मृगरूपधारी मुनिको मरा हुआ छोड़कर राजा पाण्डु जब आगे बढ़े, तब पत्नीसहित शोक और दुःखसे आतुर हो अपने सगे भाई-बन्धुकी भाँति उनके लिये विलाप करने लगे तथा अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे ।। १ ।।

पाण्डुरुवाच

सतामपि कुले जाताः कर्मणा बत दुर्गतिम् ।
प्राप्नुवन्त्यकृतात्मानः कामजालविमोहिताः ।। २ ।।

पाण्डु बोले—खेदकी बात है कि श्रेष्ठ पुरुषोंके उत्तम कुलमें उत्पन्न मनुष्य भी अपने अन्तःकरणपर वश न होनेके कारण कामके फंदेमें फँसकर विवेक खो बैठते हैं और अनुचित कर्म करके उसके द्वारा भारी दुर्गतिमें पड़ जाते हैं ।। २ ।।

शश्वद्धर्मात्मना जातो बाल एव पिता मम ।
जीवितान्तमनुप्राप्तः कामात्मैवेति नः श्रुतम् ।। ३ ।।

हमने सुना है, सदा धर्ममें मन लगाये रहनेवाले महाराज शन्तनुसे जिनका जन्म हुआ था, वे मेरे पिता विचित्रवीर्य भी कामभोगमें आसक्तचित्त होनेके कारण ही छोटी अवस्थामें ही मृत्युको प्राप्त हुए थे ।। ३ ।।

तस्य कामात्मनः क्षेत्रे राज्ञः संयतवागृषिः ।
कृष्णद्वैपायनः साक्षाद् भगवान् मामजीजनत् ।। ४ ।।

उन्हीं कामासक्त नरेशकी पत्नीसे वाणीपर संयम रखनेवाले ऋषिप्रवर साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनने मुझे उत्पन्न किया ।। ४ ।।

तस्याद्य व्यसने बुद्धिः संजातेयं ममाधमा ।
त्यक्तस्य देवैरनयान्मृगयां परिधावतः ।। ५ ।।

मैं शिकारके पीछे दौड़ता रहता हूँ; मेरी इसी अनीतिके कारण जान पड़ता है देवताओंने मुझे त्याग दिया है। इसीलिये तो ऐसे विशुद्ध वंशमें उत्पन्न होनेपर भी आज व्यसनमें फँसकर मेरी यह बुद्धि इतनी नीच हो गयी ।। ५ ।।

मोक्षमेव व्यवस्यामि बन्धो हि व्यसनं महत् ।
सुवृत्तिमनुवर्तिष्ये तामहं पितुरव्ययाम् ।। ६ ।।

अतः अब मैं इस निश्चयपर पहुँच रहा हूँ कि मोक्षके मार्गपर चलनेसे ही अपना कल्याण है। स्त्री-पुत्र आदिका बन्धन ही सबसे महान् दुःख है। आजसे मैं अपने पिता वेदव्यासजीकी उस उत्तम वृत्तिका आश्रय लूँगा, जिससे पुण्यका कभी नाश नहीं होता ।। ६ ।।

अतीव तपसाऽऽत्मानं योजयिष्याम्यसंशयम् ।
तस्मादेकोऽहमेकाकी एकैकस्मिन् वनस्पतौ ।। ७ ।।
चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डश्चरिष्याम्याश्रमानिमान् ।
पांसुना समवच्छन्नः शून्यागारकृतालयः ।। ८ ।।

मैं अपने शरीर और मनको निःसंदेह अत्यन्त कठोर तपस्यामें लगाऊँगा। इसलिये अब अकेला (स्त्रीरहित) और एकाकी (सेवक आदिसे भी अलग) रहकर एक-एक वृक्षके नीचे फलकी भिक्षा माँगूँगा। सिर मुँड़ाकर मौनी संन्यासी हो इन वानप्रस्थियोंके आश्रमोंमें विचरूँगा। उस समय मेरा शरीर धूलसे भरा होगा और निर्जन एकान्त स्थानमें मेरा निवास होगा ।। ७-८ ।।

वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ।
न शोचन् न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।। ९ ।।

अथवा वृक्षोंका तल ही मेरा निवासगृह होगा। मैं प्रिय एवं अप्रिय सब प्रकारकी वस्तुओंको त्याग दूँगा। न मुझे किसीके वियोगका शोक होगा और न किसीकी प्राप्ति या संयोगसे हर्ष ही होगा। निन्दा और स्तुति दोनों मेरे लिये समान होंगी ।। ९ ।।

निराशीर्निर्नमस्कारो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
न चाप्यवहसन् कच्चिन्न कुर्वन् भ्रुकुटीं क्वचित् ।। १० ।।

न मुझे आशीर्वादकी इच्छा होगी न नमस्कारकी। मैं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित और संग्रह-परिग्रहसे दूर रहूँगा। न तो किसीकी हँसी उड़ाऊँगा और न क्रोधसे किसीपर भौंहें टेढ़ी करूँगा ।। १० ।।

प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वभूतहिते रतः ।
जङ्गमाजङ्गमं सर्वमविहिंसंश्चतुर्विधम् ।। ११ ।।

मेरे मुखपर प्रसन्नता छायी रहेगी तथा सदा सब भूतोंके हितसाधनमें संलग्न रहूँगा। (स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज, जरायुज—) चार प्रकारके जो चराचर प्राणी हैं, उनमेंसे किसीकी भी मैं हिंसा नहीं करूँगा ।। ११ ।।

स्वासु प्रजास्विव सदा समः प्राणभृतां प्रति ।
एककालं चरन् भैक्ष्यं कुलानि दश पञ्च वा ।। १२ ।।

जैसे पिता अपनी अनेक संतानोंमें सर्वदा समभाव रखता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंके प्रति मेरा सदा समानभाव होगा। (पहले कहे अनुसार) मैं केवल एक समय वृक्षोंसे भिक्षा माँगूँगा अथवा यह सम्भव न हुआ तो दस-पाँच घरोंमें घूमकर (थोड़ी-थोड़ी) भिक्षा ले लूँगा ।। १२ ।।

असम्भवे वा भैक्ष्यस्य चरन्ननशनान्यपि ।
अल्पमल्पं च भुञ्जानः पूर्वालाभे न जातुचित् ।। १३ ।।
अन्यान्यपि चरँल्लोभादलाभे सप्त पूरयन् ।
अलाभे यदि वा लाभे समदर्शी महातपाः ।। १४ ।।

अथवा यदि भिक्षा मिलनी असम्भव हो जाय, तो कई दिनतक उपवास ही करता चलूँगा। (भिक्षा मिल जानेपर भी) भोजन थोड़ा-थोड़ा ही करूँगा। ऊपर बताये हुए एक प्रकारसे भिक्षा न मिलनेपर ही दूसरे प्रकारका आश्रय लूँगा। ऐसा तो कभी न होगा कि लोभवश दूसरे-दूसरे बहुत-से घरोंमें जाकर भिक्षा लूँ। यदि कहीं कुछ न मिला तो भिक्षाकी पूर्तिके लिये सात घरोंपर फेरी लगा लूँगा। यदि मिला तो और न मिला तो, दोनों ही दशाओंमें समान दृष्टि रखते हुए भारी तपस्यामें लगा रहूँगा ।। १३-१४ ।।

वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः ।
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः ।। १५ ।।
न जिजीविषुवत् किंचिन्न मुमूर्षुवदाचरन् ।
जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन् न च द्विषन् ।। १६ ।।

एक आदमी बसूलेसे मेरी एक बाँह काटता हो और दूसरा मेरी दूसरी बाँहपर चन्दन छिड़कता हो तो उन दोनोंमेंसे एकके अकल्याणका और दूसरेके कल्याणका चिन्तन नहीं करूँगा। जीने अथवा मरनेकी इच्छावाले मनुष्य जैसी चेष्टाएँ करते हैं, वैसी कोई चेष्टा मैं नहीं करूँगा। न जीवनका अभिनन्दन करूँगा, न मृत्युसे द्वेष ।। १५-१६ ।।

याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः ।
ताः सर्वाः समतिक्रम्य निमेषादिव्यवस्थिताः ।। १७ ।।
तासु चाप्यनवस्थासु त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियः ।
सम्परित्यक्तधर्मार्थः सुनिर्णिक्तात्मकल्मषः ।। १८ ।।

जीवित पुरुषोंद्वारा अपने अभ्युदयके लिये जो-जो कर्म किये जा सकते हैं, उन समस्त सकाम कर्मोंको मैं त्याग दूँगा; क्योंकि वे सब कालसे सीमित हैं। अनित्य फल देनेवाली क्रियाओंके लिये जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंद्वारा चेष्टा की जाती है, उस चेष्टाको भी मैं सर्वथा त्याग दूँगा; धर्मके फलको भी छोड़ दूँगा। अपने अन्तःकरणके मलको सर्वथा धोकर शुद्ध हो जाऊँगा ।। १७-१८ ।।

निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः ।
न वशे कस्यचित् तिष्ठन् सधर्मा मातरिश्वनः ।। १९ ।।

मैं सब पापोंसे सर्वथा मुक्त हो अविद्याजनित समस्त बन्धनोंको लाँघ जाऊँगा। किसीके वशमें न रहकर वायुके समान सर्वत्र विचरूँगा ।। १९ ।।

एतया सततं धृत्या चरन्नेवंप्रकारया ।
देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः ।। २० ।।

सदा इस प्रकारकी धृति (धारणा)-द्वारा उक्त रूपसे व्यवहार करता हुआ भयरहित मोक्षमार्गमें स्थित होकर इस देहका विसर्जन करूँगा ।। २० ।।

नाहं सुकृपणे मार्गं स्ववीर्यक्षयशोचिते ।
स्वधर्मात् सततापेते चरेयं वीर्यवर्जितः ।। २१ ।।

मैं संतानोत्पादनकी शक्तिसे रहित हो गया हूँ। मेरा गृहस्थाश्रम संतानोत्पादन आदि धर्मसे सर्वथा शून्य है और मेरे लिये अपने वीर्यक्षयके कारण सर्वथा शोचनीय हो रहा है; अतः इस अत्यन्त दीनतापूर्ण मार्गपर अब मैं नहीं चल सकता ।। २१ ।।

सत्कृतोऽसत्कृतो वापि योऽन्यं कृपणचक्षुषा ।
उपैति वृत्तिं कामात्मा स शुनां वर्तते पथि ।। २२ ।।

जो सत्कार या तिरस्कार पाकर दीनतापूर्ण दृष्टिसे देखता हुआ किसी दूसरे पुरुषके पास जीविकाकी आशासे जाता है, वह कामात्मा मनुष्य तो कुत्तोंके मार्गपर चलता है ।। २२ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो निःश्वासपरमो नृपः ।
अवेक्षमाणः कुन्तीं च माद्रीं च समभाषत ।। २३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यों कहकर राजा पाण्डु अत्यन्त दुःखसे आतुर हो लंबी साँस खींचते और कुन्ती-माद्रीकी ओर देखते हुए उन दोनोंसे इस प्रकार बोले — ।। २३ ।।

कौसल्या विदुरः क्षत्ता राजा च सह बन्धुभिः ।
आर्या सत्यवती भीष्मस्ते च राजपुरोहिताः ।। २४ ।।
ब्राह्मणाश्च महात्मानः सोमपाः संशितव्रताः ।
पौरवृद्धाश्च ये तत्र निवसन्त्यस्मदाश्रयाः ।
प्रसाद्य सर्वे वक्तव्याः पाण्डुः प्रव्रजितो वनम् ।। २५ ।।

‘(देवियो! तुम दोनों हस्तिनापुरको लौट जाओ और) माता अम्बिका, अम्बालिका, भाई विदुर, संजय, बन्धुओंसहित राजा धृतराष्ट्र, दादी सत्यवती, चाचा भीष्मजी, राजपुरोहितगण, कठोरव्रतका पालन तथा सोमपान करनेवाले महात्मा ब्राह्मण तथा वृद्ध पुरवासीजन आदि जो लोग वहाँ हमलोगोंके आश्रित होकर निवास करते हैं, उन सबको प्रसन्न करके कहना, ‘राजा पाण्डु संन्यासी होकर वनमें चले गये’ ।। २४-२५ ।।

निशम्य वचनं भर्तुर्वनवासे धृतात्मनः ।
तत्समं वचनं कुन्ती माद्री च समभाषताम् ।। २६ ।।

वनवासके लिये दृढ़ निश्चय करनेवाले पतिदेवका यह वचन सुनकर कुन्ती और माद्रीने उनके योग्य बात कही— ।। २६ ।।

अन्येऽपि ह्याश्रमाः सन्ति ये शक्या भरतर्षभ ।
आवाभ्यां धर्मपत्नीभ्यां सह तप्तुं तपो महत् ।। २७ ।।

'भरतश्रेष्ठ! संन्यासके सिवा और भी तो आश्रम हैं, जिनमें आप हम धर्मपत्नियोंके साथ रहकर भारी तपस्या कर सकते हैं ।। २७ ।।

शरीरस्यापि मोक्षाय स्वर्ग्यं प्राप्य महाफलम् ।
त्वमेव भविता भर्ता स्वर्गस्यापि न संशयः ।। २८ ।।

'आपकी वह तपस्या स्वर्गदायक महान् फलकी प्राप्ति कराकर इस शरीरसे भी मुक्ति दिलानेमें समर्थ हो सकती है। इसमें संदेह नहीं कि उस तपके प्रभावसे आप ही स्वर्गलोकके स्वामी इन्द्र भी हो सकते हैं ।। २८ ।।

प्रणिधायेन्द्रियग्रामं भर्तृलोकपरायणे ।
त्यक्तकामसुखे ह्यावां तप्स्यावो विपुलं तपः ।। २९ ।।

‘हम दोनों कामसुखका परित्याग करके पतिलोककी प्राप्तिका ही परम लक्ष्य लेकर अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको संयममें रखती हुई भारी तपस्या करेंगी ।। २९ ।।

यदि चावां महाप्राज्ञ त्यक्ष्यसि त्वं विशाम्पते ।
अद्यैवावां प्रहास्यावो जीवितं नात्र संशयः ।। ३० ।।

‘महाप्राज्ञ नरेश्वर! यदि आप हम दोनोंको त्याग देंगे तो आज ही हम अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगी, इसमें संशय नहीं है’ ।। ३० ।।

पाण्डुरुवाच

यदि व्यवसितं ह्येतद् युवयोर्धर्मसंहितम् ।
स्ववृत्तिमनुवर्तिष्ये तामहं पितुरव्ययाम् ।। ३१ ।।

पाण्डुने कहा—देवियो! यदि तुम दोनोंका यही धर्मयुक्त निश्चय है तो (ठीक है, मैं संन्यास न लेकर वानप्रस्थाश्रममें ही रहूँगा तथा) आजसे अपने पिता वेदव्यासजीकी अक्षय फलवाली जीवनचर्याका अनुसरण करूँगा ।। ३१ ।।

त्यक्त्वा ग्राम्यसुखाहारं तप्यमानो महत् तपः ।
वल्कली फलमूलाशी चरिष्यामि महावने ।। ३२ ।।

भोगियोंके सुख और आहारका परित्याग करके भारी तपस्यामें लग जाऊँगा। वल्कल पहनकर फल-मूलका भोजन करते हुए महान् वनमें विचरूँगा ।। ३२ ।।

अग्नौ जुह्वन्नुभौ कालावुभौ कालावुपस्पृशन् ।
कृशः परिमिताहारश्चीरचर्मजटाधरः ।। ३३ ।।

दोनों समय स्नान-संध्या और अग्निहोत्र करूँगा। चिथड़े, मृगचर्म और जटा धारण करूँगा। बहुत थोड़ा आहार ग्रहण करके शरीरसे दुर्बल हो जाऊँगा ।। ३३ ।।

शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासानवेक्षकः ।
तपसा दुश्चरेणेदं शरीरमुपशोषयन् ।। ३४ ।।
एकान्तशीली विमृशन् पक्वापक्वेन वर्तयन् ।
पितॄन् देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन् ।। ३५ ।।

सर्दी, गरमी और आँधीका वेग सहूँगा। भूख-प्यासकी परवा नहीं करूँगा तथा दुष्कर तपस्या करके इस शरीरको सुखा डालूँगा। एकान्तमें रहकर आत्म-चिन्तन करूँगा। कच्चे (कन्द-मूल आदि) और पके (फल आदि)-से जीवन-निर्वाह करूँगा। देवताओं और पितरोंको जंगली फल-मूल, जल तथा मन्त्रपाठ-द्वारा तृप्त करूँगा ।। ३४-३५ ।।

शतशृंग पर्वतपर पाण्डुका तप

वानप्रस्थजनस्यापि दर्शनं कुलवासिनाम् ।
नाप्रियाण्याचरिष्यामि किं पुनर्ग्रामवासिनाम् ।। ३६ ।।

मैं वानप्रस्थ आश्रममें रहनेवालोंका तथा कुटुम्बी-जनोंका भी दर्शन और अप्रिय नहीं करूँगा; फिर ग्रामवासियोंकी तो बात ही क्या है? ।। ३६ ।।

एवमारण्यशास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम् ।
काङ्क्षमाणोऽहमास्थास्ये देहस्यास्या समापनात् ।। ३७ ।।

इस प्रकार मैं वानप्रस्थ-आश्रमसम्बन्धी शास्त्रोंकी कठोर-से-कठोर विधियोंके पालनकी आकांक्षा करता हुआ तबतक वानप्रस्थ-आश्रममें स्थित रहूँगा जबतक कि शरीरका अन्त न हो जाय ।। ३७ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा भार्ये ते राजा कौरवनन्दनः ।
ततश्चूडामणिं निष्कमङ्गदे कुण्डलानि च ।। ३८ ।।
वासांसि च महार्हाणि स्त्रीणामाभरणानि च ।
प्रदाय सर्वं विप्रेभ्यः पाण्डुः पुनरभाषत ।। ३९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले राजा पाण्डुने अपनी दोनों पत्नियोंसे यों कहकर अपने सिरपेंच, निष्क (वक्षःस्थलके आभूषण), बाजूबंद, कुण्डल और बहुमूल्य वस्त्र तथा माद्री और कुन्तीके भी शरीरके गहने उतारकर सब ब्राह्मणोंको दे दिये। फिर सेवकोंसे इस प्रकार कहा— ।। ३८-३९ ।।

गत्वा नागपुरं वाच्यं पाण्डुः प्रव्रजितो वनम् ।
अर्थं कामं सुखं चैव रतिं च परमात्मिकाम् ।। ४० ।।
प्रतस्थे सर्वमुत्सृज्य सभार्यः कुरुनन्दनः ।

'तुमलोग हस्तिनापुरमें जाकर कह देना कि कुरुनन्दन राजा पाण्डु अर्थ, काम, विषयसुख और स्त्रीविषयक रति आदि सब कुछ छोड़कर अपनी पत्नियोंके साथ वानप्रस्थ हो गये हैं' ।। ४० १/२ ।।

ततस्तस्यानुयातारस्ते चैव परिचारकाः ।। ४१ ।।
श्रुत्वा भरतसिंहस्य विविधाः करुणा गिरः ।
भीममार्तस्वरं कृत्वा हाहेति परिचुक्रुशुः ।। ४२ ।।

भरतसिंह पाण्डुकी यह करुणायुक्त चित्र-विचित्र वाणी सुनकर उनके अनुचर और सेवक सभी हाय-हाय करके भयंकर आर्तनाद करने लगे ।। ४१-४२ ।।

उष्णमश्रु विमुञ्चन्तस्तं विहाय महीपतिम् ।
ययुर्नागपुरं तूर्णं सर्वमादाय तद् धनम् ।। ४३ ।।

उस समय नेत्रोंसे गरम-गरम आँसुओंकी धारा बहाते हुए वे सेवक राजा पाण्डुको छोड़कर और बचा हुआ सारा धन लेकर तुरंत हस्तिनापुरको चले गये ।। ४३ ।।

ते गत्वा नगरं राज्ञो यथावृत्तं महात्मनः ।
कथयाञ्चक्रिरे राज्ञस्तद् धनं विविधं ददुः ।। ४४ ।।

उन्होंने हस्तिनापुरमें जाकर महात्मा राजा पाण्डुका सारा समाचार राजा धृतराष्ट्रसे ज्यों-का-त्यों कह सुनाया और वह नाना प्रकारका धन धृतराष्ट्रको ही सौंप दिया ।। ४४ ।।

श्रुत्वा तेभ्यस्ततः सर्वं यथावृत्तं महावने ।
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठः पाण्डुमेवान्वशोचत ।। ४५ ।।

फिर उन सेवकोंसे उस महान् वनमें पाण्डुके साथ घटित हुई सारी घटनाओंको यथावत् सुनकर नरश्रेष्ठ धृतराष्ट्र सदा पाण्डुकी ही चिन्तामें दुःखी रहने लगे ।। ४५ ।।

न शय्यासनभोगेषु रतिं विन्दति कर्हिचित् ।
भ्रातृशोकसमाविष्टस्तमेवार्थं विचिन्तयन् ।। ४६ ।।

शय्या, आसन और नाना प्रकारके भोगोंमें कभी उनकी रुचि नहीं होती थी। वे भाईके शोकमें मग्न हो सदा उन्हींकी बात सोचते रहते थे ।। ४६ ।।

राजपुत्रस्तु कौरव्य पाण्डुर्मूलफलाशनः ।
जगाम सह पत्नीभ्यां ततो नागशतं गिरिम् ।। ४७ ।।

जनमेजय! राजकुमार पाण्डु फल-मूलका आहार करते हुए अपनी दोनों पत्नियोंके साथ वहाँसे नागशत नामक पर्वतपर चले गये ।। ४७ ।।

स चैत्ररथमासाद्य कालकूटमतीत्य च ।
हिमवन्तमतिक्रम्य प्रययौ गन्धमादनम् ।। ४८ ।।

तत्पश्चात् चैत्ररथ नामक वनमें जाकर कालकूट और हिमालय पर्वतको लाँघते हुए वे गन्धमादनपर चले गये ।। ४८ ।।

रक्ष्यमाणो महाभूतैः सिद्धैश्च परमर्षिभिः ।
उवास स महाराज समेषु विषमेषु च ।। ४९ ।।
इन्द्रद्युम्नसरः प्राप्य हंसकूटमतीत्य च ।
शतशृङ्गे महाराज तापसः समतप्यत ।। ५० ।।

महाराज! उस समय महाभूत, सिद्ध और महर्षिगण उनकी रक्षा करते थे। वे ऊँची-नीची जमीनपर सो लेते थे। इन्द्रद्युम्न सरोवरपर पहुँचकर तथा उसके बाद हंसकूटको लाँघते हुए वे शतशृंग पर्वतपर जा पहुँचे। जनमेजय! वहाँ वे तपस्वी-जीवन बिताते हुए भारी तपस्यामें संलग्न हो गये ।। ४९-५० ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि
पाण्डुचरितेऽष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुचरितविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११८ ।।

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डुका कुन्तीको पुत्र-प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

तत्रापि तपसि श्रेष्ठे वर्तमानः स वीर्यवान् ।
सिद्धचारणसङ्घानां बभूव प्रियदर्शनः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वहाँ भी श्रेष्ठ तपस्यामें लगे हुए पराक्रमी राजा पाण्डु सिद्ध और चारणोंके समुदायको अत्यन्त प्रिय लगने लगे—इन्हें देखते ही वे प्रसन्न हो जाते थे ।। १ ।।

शुश्रूषुरनहंवादी संयतात्मा जितेन्द्रियः ।
स्वर्गं गन्तुं पराक्रान्तः स्वेन वीर्येण भारत ।। २ ।।

भारत! वे ऋषि-मुनियोंकी सेवा करते, अहंकारसे दूर रहते और मनको वशमें रखते थे। उन्होंने सम्पूर्ण इन्द्रियोंको जीत लिया था। वे अपनी ही शक्तिसे स्वर्गलोकमें जानेके लिये सदा सचेष्ट रहने लगे ।। २ ।।

केषांचिदभवद् भ्राता केषांचिदभवत् सखा ।
ऋषयस्त्वपरे चैनं पुत्रवत् पर्यपालयन् ।। ३ ।।

कितने ही ऋषियोंका उनपर भाईके समान प्रेम था। कितनोंके वे मित्र हो गये थे और दूसरे बहुत-से महर्षि उन्हें अपने पुत्रके समान मानकर सदा उनकी रक्षा करते थे ।। ३ ।।

स तु कालेन महता प्राप्य निष्कल्मषं तपः ।
ब्रह्मर्षिसदृशः पाण्डुर्बभूव भरतर्षभ ।। ४ ।।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! राजा पाण्डु दीर्घकालतक पापरहित तपस्याका अनुष्ठान करके ब्रह्मर्षियोंके समान प्रभावशाली हो गये थे ।। ४ ।।

अमावास्यां तु सहिता ऋषयः संशितव्रताः ।
ब्रह्माणं द्रष्टुकामास्ते सम्प्रतस्थुर्महर्षयः ।। ५ ।।

एक दिन अमावास्या तिथिको कठोर व्रतका पालन करनेवाले बहुत-से ऋषि-महर्षि एकत्र हो ब्रह्माजीके दर्शनकी इच्छासे ब्रह्मलोकके लिये प्रस्थित हुए ।। ५ ।।

सम्प्रयातानृषीन् दृष्ट्वा पाण्डुर्वचनमब्रवीत् ।
भवन्तः क्व गमिष्यन्ति ब्रूत मे वदतां वराः ।। ६ ।।

ऋषियोंको प्रस्थान करते देख पाण्डुने उनसे पूछा—‘वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनीश्वरो! आपलोग कहाँ जायँगे? यह मुझे बताइये’ ।। ६ ।।

ऋषय ऊचुः

समवायो महानद्य ब्रह्मलोके महात्मनाम् ।
देवानां च ऋषीणां च पितॄणां च महात्मनाम् ।
वयं तत्र गमिष्यामो द्रष्टुकामाः स्वयम्भुवम् ।। ७ ।।

ऋषि बोले—राजन्! आज ब्रह्मलोकमें महात्मा देवताओं, ऋषि-मुनियों तथा महामना पितरोंका बहुत बड़ा समूह एकत्र होनेवाला है। अतः हम वहीं स्वयम्भू ब्रह्माजीका दर्शन करनेके लिये जायँगे ।। ७ ।।

वैशम्पायन उवाच

पाण्डुरुत्थाय सहसा गन्तुकामो महर्षिभिः ।
स्वर्गपारं तितीर्षुः स शतशृङ्गादुदङ्मुखः ।। ८ ।।
प्रतस्थे सह पत्नीभ्यामब्रुवंस्तं च तापसाः ।
उपर्युपरि गच्छन्तः शैलराजमुदङ्मुखाः ।। ९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर महाराज पाण्डु भी महर्षियोंके साथ जानेके लिये सहसा उठ खड़े हुए। उनके मनमें स्वर्गके पार जानेकी इच्छा जाग उठी और वे उत्तरकी ओर मुँह करके अपनी दोनों पत्नियोंके साथ शतशृंग पर्वतसे चल दिये। यह देख गिरिराज हिमालयके ऊपर-ऊपर उत्तराभिमुख यात्रा करनेवाले तपस्वी मुनियोंने कहा— ।। ८-९ ।।

दृष्टवन्तो गिरौ रम्ये दुर्गान् देशान् बहून् वयम् ।
विमानशतसम्बाधां गीतस्वरनिनादिताम् ।। १० ।।
आक्रीडभूमिं देवानां गन्धर्वाप्सरसां तथा ।
उद्यानानि कुबेरस्य समानि विषमाणि च ।। ११ ।।

‘भरतश्रेष्ठ! इस रमणीय पर्वतपर हमने बहुत-से ऐसे प्रदेश देखे हैं, जहाँ जाना बहुत कठिन है। वहाँ देवताओं, गन्धर्वों तथा अप्सराओंकी क्रीड़ाभूमि है, जहाँ सैकड़ों विमान खचाखच भरे रहते हैं और मधुर गीतोंके स्वर गूँजते रहते हैं। इसी पर्वतपर कुबेरके अनेक उद्यान हैं, जहाँकी भूमि कहीं समतल है और कहीं नीची-ऊँची ।। १०-११ ।।

महानदीनितम्बांश्च गहनान् गिरिगह्वरान् ।
सन्ति नित्यहिमा देशा निर्वृक्षमृगपक्षिणः ।। १२ ।।

‘इस मार्गमें हमने कई बड़ी-बड़ी नदियोंके दुर्गम तट और कितनी ही पर्वतीय घाटियाँ देखी हैं। यहाँ बहुत-से ऐसे स्थल हैं, जहाँ सदा बर्फ जमी रहती है तथा जहाँ वृक्ष, पशु और पक्षियोंका नाम भी नहीं है ।। १२ ।।

सन्ति क्वचिन्महादर्यो दुर्गाः काश्चिद् दुरासदाः ।
नातिक्रामेत पक्षी यान् कुत एवेतरे मृगाः ।। १३ ।।

'कहीं-कहीं बहुत बड़ी गुफाएँ हैं, जिनमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है। कइयोंके तो निकट भी पहुँचना कठिन है। ऐसे स्थलोंको पक्षी भी नहीं पार कर सकता, फिर मृग आदि अन्य जीवोंकी तो बात ही क्या है? ।। १३ ।।

वायुरेको हि यात्यत्र सिद्धाश्च परमर्षयः ।
गच्छन्त्यौ शैलराजेऽस्मिन् राजपुत्र्यौ कथं त्विमे ।। १४ ।।
न सीदेतामदुःखार्हे मा गमो भरतर्षभ ।

'इस मार्गपर केवल वायु चल सकती है तथा सिद्ध महर्षि भी जा सकते हैं। इस पर्वतराजपर चलती हुई ये दोनों राजकुमारियाँ कैसे कष्ट न पायेंगी? भरतवंशशिरोमणे! ये दोनों रानियाँ दुःख सहन करनेके योग्य नहीं हैं; अतः आप न चलिये' ।। १४½ ।।

पाण्डुरुवाच

अप्रजस्य महाभागा न द्वारं परिचक्षते ।। १५ ।।
स्वर्गे तेनाभितप्तोऽहमप्रजस्तु ब्रवीमि वः ।
पित्र्यादृणादनिर्मुक्तस्तेन तप्ये तपोधनाः ।। १६ ।।

पाण्डुने कहा—महाभाग महर्षिगण! संतानहीनके लिये स्वर्गका दरवाजा बंद रहता है, ऐसा लोग कहते हैं। मैं भी संतानहीन हूँ, इसलिये दुःखसे संतप्त होकर आपलोगोंसे कुछ निवेदन करता हूँ। तपोधनो! मैं पितरोंके ऋणसे अबतक छूट नहीं सका हूँ, इसलिये चिन्तासे संतप्त हो रहा हूँ ।। १५-१६ ।।

देहनाशे ध्रुवो नाशः पितॄणामेष निश्चयः ।
ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि ।। १७ ।।

निःसंतान-अवस्थामें मेरे इस शरीरका नाश होने-पर मेरे पितरोंका पतन अवश्य हो जायगा। मनुष्य इस पृथ्वीपर चार प्रकारके ऋणोंसे युक्त होकर जन्म लेते हैं ।। १७ ।।

पितृदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मतः ।
एतानि तु यथाकालं यो न बुध्यति मानवः ।। १८ ।।
न तस्य लोकाः सन्तीति धर्मविद्भिः प्रतिष्ठितम् ।
यज्ञैस्तु देवान् प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन् ।। १९ ।।

(उन ऋणोंके नाम ये हैं—) पितृ-ऋण, देव-ऋण, ऋषि-ऋण और मनुष्य-ऋण। उन सबका ऋण धर्मतः हमें चुकाना चाहिये। जो मनुष्य यथासमय इन ऋणोंका ध्यान नहीं रखता, उसके लिये पुण्यलोक सुलभ नहीं होते। यह मर्यादा धर्मज्ञ पुरुषोंने स्थापित की है। यज्ञोंद्वारा मनुष्य देवताओंको तृप्त करता है, स्वाध्याय और तपस्याद्वारा मुनियोंको संतोष दिलाता है ।। १८-१९ ।।

पुत्रैः श्राद्धैः पितॄंश्चापि आनृशंस्येन मानवान् ।
ऋषिदेवमनुष्याणां परिमुक्तोऽस्मि धर्मतः ।। २० ।।

त्रयाणामितरेषां तु नाश आत्मनि नश्यति ।

पित्र्यादृणादनिर्मुक्त इदानीमस्मि तापसाः ।। २१ ।।

पुत्रोत्पादन और श्राद्धकर्मोंद्वारा पितरोंको तथा दयापूर्ण बर्तावद्वारा वह मनुष्योंको संतुष्ट करता है। मैं धर्मकी दृष्टिसे ऋषि, देव तथा मनुष्य—इन तीनों ऋणोंसे मुक्त हो चुका हूँ। अन्य अर्थात् पितरोंके ऋणका नाश तो इस शरीरके नाश होनेपर भी शायद ही हो सके। तपस्वी मुनियो! मैं अबतक पितृ-ऋणसे मुक्त न हो सका ।। २०-२१ ।।

इह तस्मात् प्रजाहेतोः प्रजायन्ते नरोत्तमाः ।

यथैवाहं पितुः क्षेत्रे जातस्तेन महर्षिणा ।। २२ ।।

तथैवास्मिन् मम क्षेत्रे कथं वै सम्भवेत् प्रजा ।

इस लोकमें श्रेष्ठ पुरुष पितृ-ऋणसे मुक्त होनेके लिये संतानोत्पत्तिका प्रयत्न करते और स्वयं ही पुत्ररूपमें जन्म लेते हैं। जैसे मैं अपने पिताके क्षेत्रमें महर्षि व्यासद्वारा उत्पन्न हुआ हूँ, उसी प्रकार मेरे इस क्षेत्रमें भी कैसे संतानकी उत्पत्ति हो सकती है? ।। २२½ ।।

ऋषय ऊचुः

अस्ति वै तव धर्मात्मन् विद्मो देवोपमं शुभम् ।। २३ ।।

अपत्यमनघं राजन् वयं दिव्येन चक्षुषा ।

दैवोद्दिष्टं नरव्याघ्र कर्मणेहोपपादय ।। २४ ।।

ऋषि बोले—धर्मात्मा नरेश! तुम्हें पापरहित देवोपम शुभ संतान होनेका योग है, यह हम दिव्यदृष्टिसे जानते हैं। नरव्याघ्र! भाग्यने जिसे दे रखा है, उस फलको प्रयत्नद्वारा प्राप्त कीजिये ।। २३-२४ ।।

अक्लिष्टं फलमव्यग्रो विन्दते बुद्धिमान् नरः ।

तस्मिन् दृष्टे फले राजन् प्रयत्नं कर्तुमर्हसि ।। २५ ।।

अपत्यं गुणसम्पन्नं लब्धा प्रीतिकरं ह्यसि ।

बुद्धिमान् मनुष्य व्यग्रता छड़कर बिना क्लेशके ही अभीष्ट फलको प्राप्त कर लेता है। राजन्! आपको उस दृष्ट फलके लिये प्रयत्न करना चाहिये। आप निश्चय ही गुणवान् और हर्षोत्पादक संतान प्राप्त करेंगे ।। २५½ ।।

वैशम्पायन उवाच

नच्छ्रुत्वा तापसवचः पाण्डुश्चिन्तापरोऽभवत् ।। २६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तपस्वी मुनियोंका यह वचन सुनकर राजा पाण्डु बड़े सोच-विचारमें पड़ गये ।। २६ ।।

आत्मनो मृगशापेन जानन्नुपहतां क्रियाम् ।

सोऽब्रवीद् विजने कुन्तीं धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ।

अपत्योत्पादने यत्नमापदि त्वं समर्थय ।। २७ ।।

वे जानते थे कि मृगरूपधारी मुनिके शापसे मेरा संतानोत्पादन-विषयक पुरुषार्थ नष्ट हो चुका है। एक दिन वे अपनी यशस्विनी धर्मपत्नी कुन्तीसे एकान्तमें इस प्रकार बोले—'देवि! यह हमारे लिये आपत्तिकाल है, इस समय संतानोत्पादनके लिये जो आवश्यक प्रयत्न हो, उसका तुम समर्थन करो ।। २७ ।।

अपत्यं नाम लोकेषु प्रतिष्ठा धर्मसंहिता ।
इति कुन्ति विदुर्धीराः शाश्वतं धर्मवादिनः ।। २८ ।।
इष्टं दत्तं तपस्तप्तं नियमश्च स्वनुष्ठितः ।
सर्वमेवानपत्यस्य न पावनमिहोच्यते ।। २९ ।।

'सम्पूर्ण लोकोंमें संतान ही धर्ममयी प्रतिष्ठा है—कुन्ती! सदा धर्मका प्रतिपादन करनेवाले धीर पुरुष ऐसा ही मानते हैं। संतानहीन मनुष्य इस लोकमें यज्ञ, दान, तप और नियमोंका भलीभाँति अनुष्ठान कर ले, तो भी उसके किये हुए सब कर्म पवित्र नहीं कहे जाते ।। २८-२९ ।।

सोऽहमेवं विदित्वैतत् प्रपश्यामि शुचिस्मिते ।
अनपत्यः शुभाँल्लोकान् न प्राप्स्यामीति चिन्तयन् ।। ३० ।।

'पवित्र मुसकानवाली कुन्तिभोजकुमारी! इस प्रकार सोच-समझकर मैं तो यही देख रहा हूँ कि संतानहीन होनेके कारण मुझे शुभ लोकोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मैं निरन्तर इसी चिन्तामें डूबा रहता हूँ ।। ३० ।।

मृगाभिशापान्नष्टं मे जननं ह्यकृतात्मनः ।
नृशंसकारिणो भीरु यथैवोपहतं पुरा ।। ३१ ।।

'मेरा मन अपने वशमें नहीं, मैं क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाला हूँ। भीरु! इसीलिये मृगके शापसे मेरी संतानोत्पादन-शक्ति उसी प्रकार नष्ट हो गयी है, जिस प्रकार मैंने उस मृगका वध करके उसके मैथुनमें बाधा डाली थी ।। ३१ ।।

इमे वै बन्धुदायादाः षट् पुत्रा धर्मदर्शने ।
षडेवाबन्धुदायादाः पुत्रास्ताञ्छृणु मे पृथे ।। ३२ ।।

'पृथे! धर्मशास्त्रमें ये आगे बताये जानेवाले छः पुत्र 'बन्धुदायाद' कहे गये हैं, जो कुटुम्बी होनेसे सम्पत्तिके उत्तराधिकारी होते हैं और छः प्रकारके पुत्र 'अबन्धुदायाद' हैं, जो कुटुम्बी न होनेपर भी उत्तराधिकारी बताये गये हैं[१]। इन सबका वर्णन मुझसे सुनो ।। ३२ ।।

स्वयंजातः प्रणीतश्च तत्समः पुत्रिकासुतः ।
पौनर्भवश्च कानीनः भगिन्यां यश्च जायते ।। ३३ ।।

'पहला पुत्र वह है, जो विवाहिता पत्नीसे अपने द्वारा उत्पन्न किया गया हो; उसे 'स्वयंजात' कहते हैं। दूसरा प्रणीत कहलाता है, जो अपनी ही पत्नीके गर्भसे किसी उत्तम पुरुषके अनुग्रहसे उत्पन्न होता है। तीसरा जो अपनी पुत्रीका पुत्र हो, वह भी उसके ही

समान माना गया है। चौथे प्रकारके पुत्रकी पौनर्भव[२] संज्ञा है, जो दूसरी बार ब्याही हुई स्त्रीसे उत्पन्न हुआ हो। पाँचवें प्रकारके पुत्रकी कानीन संज्ञा है (विवाहसे पहले ही जिस कन्याको इस शर्तके साथ दिया जाता है कि इसके गर्भसे उत्पन्न होनेवाला पुत्र मेरा पुत्र समझा जायगा उस कन्याके पुत्रको 'कानीन' कहते हैं)[३]। जो बहनका पुत्र (भानजा) है, वह छठा कहा गया है ।। ३३ ।।

दत्तः क्रीतः कृत्रिमश्च उपगच्छेत् स्वयं च यः ।
सहोढो ज्ञातिरेताश्च हीनयोनिधृतश्च यः ।। ३४ ।।

'अब छः प्रकारके अबन्धुदायाद पुत्र कहे जाते हैं—दत्त (जिसे माता-पिताने स्वयं समर्पित कर दिया हो), क्रीत (जिसे धन आदि देकर खरीद लिया गया हो), कृत्रिम—जो स्वयं मैं आपका पुत्र हूँ, यों कहकर समीप आया हो, सहोढ (जो कन्यावस्थामें ही गर्भवती होकर ब्याही गयी हो, उसके गर्भसे उत्पन्न पुत्र सहोढ कहलाता है), ज्ञातिरेता (अपने कुलका पुत्र) तथा अपनेसे हीन जातिकी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुआ पुत्र। ये सभी अबन्धुदायाद हैं ।। ३४ ।।

पूर्वपूर्वतमाभावं मत्वा लिप्सेत वै सुतम् ।
उत्तमादवराः पुंसः काङ्‌क्षन्ते पुत्रमापदि ।। ३५ ।।

'इनमेंसे पूर्व-पूर्वके अभावमें ही दूसरे-दूसरे पुत्रकी अभिलाषा करे। आपत्तिकालमें नीची जातिके पुरुष श्रेष्ठ पुरुषसे भी पुत्रोत्पत्तिकी इच्छा कर सकते हैं ।। ३५ ।।

अपत्यं धर्मफलदं श्रेष्ठं विन्दन्ति मानवाः ।
आत्मशुक्रादपि पृथे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।। ३६ ।।

'पृथे! अपने वीर्यके बिना भी मनुष्य किसी श्रेष्ठ पुरुषके सम्बन्धसे श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त कर लेते हैं और वह धर्मका फल देनेवाला होता है, यह बात स्वायम्भुव मनुने कही है ।। ३६ ।।

तस्मात् प्रहेष्याम्यद्य त्वां हीनः प्रजननात् स्वयम् ।
सदृशाच्छ्रेयसो वा त्वं विद्ध्यपत्यं यशस्विनि ।। ३७ ।।

'अतः यशस्विनी कुन्ती! मैं स्वयं संतानोत्पादनकी शक्तिसे रहित होनेके कारण तुम्हें आज दूसरेके पास भेजूँगा। तुम मेरे सदृश अथवा मेरी अपेक्षा भी श्रेष्ठ पुरुषसे संतान प्राप्त करो' ।। ३७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुपृथासंवादे ऊनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। ११९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डु-पृथा-संवादविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११९ ।।

१. बन्धु शब्दका अर्थ संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभमें आत्मबन्धु, पितृबन्धु, मातृबन्धु माना गया है, इसलिये बन्धुका अर्थ कुटुम्बी किया है। दायादका अर्थ उसी कोषमें 'उत्तराधिकारी' है। इसीलिये बन्धुदायादका अर्थ 'कुटुम्बी' होनेसे 'उत्तराधिकारी' किया है। इसके विपरीत, अबन्धुदायादका अर्थ अबन्धु यानी कुटुम्बी न होनेपर उत्तराधिकारी किया है।

२. 'पौनर्भव'का अर्थ पद्मचन्द्रकोषके अनुसार दूसरी बार ब्याही हुई स्त्रीसे उत्पन्न पुत्र लिया गया है।

३. कानीन—यह अर्थ नीलकण्ठजीने अपनी टीकामें किया है।

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका पाण्डुको व्युषिताश्वके मृत शरीरसे उसकी पतिव्रता पत्नी भद्राके द्वारा पुत्र-प्राप्तिका कथन

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता महाराज कुन्ती पाण्डुमभाषत ।
कुरूणामृषभं वीरं तदा भूमिपतिं पतिम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! इस प्रकार कहे जानेपर कुन्ती अपने पति कुरुश्रेष्ठ वीरवर राजा पाण्डुसे इस प्रकार बोली— ।। १ ।।

न मामर्हसि धर्मज्ञ वक्तुमेवं कथंचन ।
धर्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचने ।। २ ।।

'धर्मज्ञ! आप मुझसे किसी तरह ऐसी बात न कहें; मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ और कमलके समान विशाल नेत्रोंवाले आपमें ही अनुराग रखती हूँ ।। २ ।।

त्वमेव तु महाबाहो मय्यपत्यानि भारत ।
वीर वीर्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि ।। ३ ।।

'महाबाहु वीर भारत! आप ही मेरे गर्भसे धर्मपूर्वक अनेक पराक्रमी पुत्र उत्पन्न करेंगे ।। ३ ।।

स्वर्गं मनुजशार्दूल गच्छेयं सहिता त्वया ।
अपत्याय च मां गच्छ त्वमेव कुरुनन्दन ।। ४ ।।

'नरश्रेष्ठ! मैं आपके साथ ही स्वर्गलोकमें चलूँगी। कुरुनन्दन! पुत्रकी उत्पत्तिके लिये आप ही मेरे साथ समागम कीजिये ।। ४ ।।

न ह्यहं मनसाप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम् ।
त्वत्तः प्रतिविशिष्टश्च कोऽन्योऽस्ति भुवि मानवः ।। ५ ।।

'मैं आपके सिवा किसी दूसरे पुरुषसे समागम करनेकी बात मनमें भी नहीं ला सकती। फिर इस पृथ्वीपर आपसे श्रेष्ठ दूसरा मनुष्य है भी कौन ।। ५ ।।

इमां च तावद् धर्मात्मन् पौराणीं शृणु मे कथाम् ।
परिश्रुतां विशालाक्ष कीर्तयिष्यामि यामहम् ।। ६ ।।

'धर्मात्मन्! पहले आप मेरे मुँहसे यह पौराणिक कथा सुन लीजिये। विशालाक्ष! यह जो कथा मैं कहने जा रही हूँ, सर्वत्र विख्यात है ।। ६ ।।

व्युषिताश्व इति ख्यातो बभूव किल पार्थिवः ।
पुरा परमधर्मिष्ठः पूरोर्वंशविवर्धनः ।। ७ ।।

‘कहते हैं, पूर्वकालमें एक परम धर्मात्मा राजा हो गये हैं। उनका नाम था व्युषिताश्व। वे पूरुवंशकी वृद्धि करनेवाले थे ।। ७ ।।

तस्मिंश्च यजमाने वै धर्मात्मनि महाभुजे ।
उपागमंस्ततो देवाः सेन्द्रा देवर्षिभिः सह ।। ८ ।।

‘एक समय वे महाबाहु धर्मात्मा नरेश जब यज्ञ करने लगे, उस समय इन्द्र आदि देवता देवर्षियोंके साथ उस यज्ञमें पधारे थे ।। ८ ।।

अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।
व्युषिताश्वस्य राजर्षेस्ततो यज्ञे महात्मनः ।। ९ ।।
देवा ब्रह्मर्षयश्चैव चक्रुः कर्म स्वयं तदा ।
व्युषिताश्वस्ततो राजन्नति मर्त्यान् व्यरोचत ।। १० ।।

‘उसमें देवराज इन्द्र सोमपान करके उन्मत्त हो उठे थे तथा ब्राह्मणलोग पर्याप्त दक्षिणा पाकर हर्षसे फूल उठे थे। महामना राजर्षि व्युषिताश्वके यज्ञमें उस समय देवता और ब्रह्मर्षि स्वयं सब कार्य कर रहे थे। राजन्! इससे व्युषिताश्व सब मनुष्योंसे ऊँची स्थितिमें पहुँचकर बड़ी शोभा पा रहे थे ।। ९-१० ।।

सर्वभूतान् प्रति यथा तपनः शिशिरात्यये ।
स विजित्य गृहीत्वा च नृपतीन् राजसत्तमः ।। ११ ।।
प्राच्यानुदीच्यान् पाश्चात्त्यान् दाक्षिणात्यानकालयत् ।
अश्वमेधे महायज्ञे व्युषिताश्वः प्रतापवान् ।। १२ ।।

‘राजा व्युषिताश्व समस्त भूतोंके प्रीतिपात्र थे। राजाओंमें श्रेष्ठ प्रतापी व्युषिताश्वने अश्वमेध नामक महान् यज्ञमें पूर्व, उत्तर, पश्चिम और दक्षिण—चारों दिशाओंके राजाओंको जीतकर अपने वशमें कर लिया—ठीक जिस प्रकार शिशिरकालके अन्तमें भगवान् सूर्य-देव सभी प्राणियोंपर विजय कर लेते हैं—सबको तपाने लगते हैं ।। ११-१२ ।।

बभूव स हि राजेन्द्रो दशनागबलान्वितः ।
अप्यत्र गाथां गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ।। १३ ।।
व्युषिताश्वे यशोवृद्धे मनुष्येन्द्रे कुरूत्तम ।
व्युषिताश्वः समुद्रान्तां विजित्येमां वसुंधराम् ।। १४ ।।
अपालयत् सर्ववर्णान् पिता पुत्रानिवौरसान् ।
यजमानो महायज्ञैर्ब्राह्मणेभ्यो धनं ददौ ।। १५ ।।

‘उन महाराजमें दस हाथियोंका बल था। कुरुश्रेष्ठ! पुराणवेत्ता विद्वान् यशमें बढ़े-चढ़े हुए नरेन्द्र व्युषिताश्वके विषयमें यह यशोगाथा गाते हैं—‘राजा व्युषिताश्व समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीको जीतकर जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंका पालन करता है, उसी प्रकार सभी वर्णके लोगोंका पालन करते थे। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करके ब्राह्मणोंको बहुत धन दिया ।। १३—१५ ।।

अनन्तरत्नान्यादाय स जहार महाक्रतून् ।
सुषाव च बहून् सोमान् सोमसंस्थास्ततान च ।। १६ ।।

'अनन्त रत्नोंकी भेंट लेकर उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किये। अनेक सोमयागोंका आयोजन करके उनमें बहुत-सा सोमरस संग्रह करके अग्निष्टोम-अत्यग्निष्टोम आदि सात प्रकारकी सोमयाग-संस्थाओंका भी अनुष्ठान किया ।। १६ ।।

आसीत् काक्षीवती चास्य भार्या परमसम्मता ।
भद्रा नाम मनुष्येन्द्र रूपेणासदृशी भुवि ।। १७ ।।

'नरेन्द्र! राजा कक्षीवान्की पुत्री भद्रा उनकी अत्यन्त प्यारी पत्नी थी। उन दिनों इस पृथ्वीपर उसके रूपकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री न थी ।। १७ ।।

कामयामासतुस्तौ च परस्परमिति श्रुतम् ।
स तस्यां कामसम्पन्नो यक्ष्मणा समपद्यत ।। १८ ।।

'मैंने सुना है, वे दोनों पति-पत्नी एक-दूसरेको बहुत चाहते थे। पत्नीके प्रति अत्यन्त कामासक्त होनेके कारण राजा व्युषिताश्व राजयक्ष्माके शिकार हो गये ।। १८ ।।

तेनाचिरेण कालेन जगामास्तमिवांशुमान् ।
तस्मिन् प्रेते मनुष्येन्द्रे भार्यास्य भृशदुःखिता ।। १९ ।।

'इस कारण वे थोड़े ही समयमें सूर्यकी भाँति अस्त हो गये। उन महाराजके परलोकवासी हो जानेपर उनकी पत्नीको बड़ा दुःख हुआ ।। १९ ।।

अपुत्रा पुरुषव्याघ्र विललापेति नः श्रुतम् ।
भद्रा परमदुःखार्ता तन्निबोध जनाधिप ।। २० ।।

'नरव्याघ्र जनेश्वर! हमने सुना है कि भद्राके तबतक कोई पुत्र नहीं हुआ था। इस कारण वह अत्यन्त दुःखसे आतुर होकर विलाप करने लगी; वह विलाप सुनिये' ।। २० ।।

भद्रोवाच

नारी परमधर्मज्ञ सर्वा भर्तृविनाकृता ।
पतिं विना जीवति या न सा जीवति दुःखिता ।। २१ ।।

भद्रा बोली—परमधर्मज्ञ महाराज! जो कोई भी विधवा स्त्री पतिके बिना जीवन धारण करती है, वह निरन्तर दुःखमें डूबी रहनेके कारण वास्तवमें जीती नहीं, अपितु मृततुल्या है ।। २१ ।।

पतिं विना मृतं श्रेयो नार्याः क्षत्रियपुङ्गव ।
त्वद्गतिं गन्तुमिच्छामि प्रसीदस्व नयस्व माम् ।। २२ ।।
त्वया हीना क्षणमपि नाहं जीवितुमुत्सहे ।
प्रसादं कुरु मे राजन्नितस्तूर्णं नयस्व माम् ।। २३ ।।

क्षत्रियशिरोमणे! पतिके न रहनेपर नारीकी मृत्यु हो जाय, इसीमें उसका कल्याण है। अतः मैं भी आपके ही मार्गपर चलना चाहती हूँ, प्रसन्न होइये और मुझे अपने साथ ले चलिये। आपके बिना एक क्षण भी जीवित रहनेका मुझमें उत्साह नहीं है। राजन्! कृपा कीजिये और यहाँसे शीघ्र मुझे ले चलिये ।। २२-२३ ।।

पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि समेषु विषमेषु च ।
त्वामहं नरशार्दूल गच्छन्तमनिवर्तितुम् ।। २४ ।।

नरश्रेष्ठ! आप जहाँ कभी न लौटनेके लिये गये हैं, वहाँका मार्ग समतल हो या विषम, मैं आपके पीछे-पीछे अवश्य चली चलूँगी ।। २४ ।।

छायेवानुगता राजन् सततं वशवर्तिनी ।
भविष्यामि नरव्याघ्र नित्यं प्रियहिते रता ।। २५ ।।

राजन्! मैं छायाकी भाँति आपके पीछे लगी रहूँगी एवं सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहूँगी। नरव्याघ्र! मैं सदा आपके प्रिय और हितमें लगी रहूँगी ।। २५ ।।

अद्यप्रभृति मां राजन् कष्टा हृदयशोषणाः ।
आधयोऽभिभविष्यन्ति त्वामृते पुष्करेक्षण ।। २६ ।।

कमलके समान नेत्रोंवाले महाराज! आपके बिना आजसे हृदयको सुखा देनेवाले कष्ट और मानसिक चिन्ताएँ मुझे सताती रहेंगी ।। २६ ।।

अभाग्यया मया नूनं वियुक्ताः सहचारिणः ।
तेन मे विप्रयोगोऽयमुपपन्नस्त्वया सह ।। २७ ।।

मुझ अभागिनीने निश्चय ही कितने ही जीवनसंगियों (स्त्री-पुरुषों)-में विछोह कराया होगा। इसीलिये आज आपके साथ मेरा वियोग घटित हुआ है ।। २७ ।।

विप्रयुक्ता तु या पत्या मुहूर्तमपि जीवति ।
दुःखं जीवति सा पापा नरकस्थेव पार्थिव ।। २८ ।।

महाराज! जो स्त्री पतिसे बिछुड़ जानेपर दो घड़ी भी जीवन धारण करती है, वह पापिनी नरकमें पड़ी हुई-सी दुःखमय जीवन बिताती है ।। २८ ।।

संयुक्ता विप्रयुक्ताश्च पूर्वदेहे कृता मया ।
तदिदं कर्मभिः पापैः पूर्वदेहेषु संचितम् ।। २९ ।।
दुःखं मामनुसम्प्राप्तं राजंस्त्वद्विप्रयोगजम् ।
अद्यप्रभृत्यहं राजन् कुशसंस्तरशायिनी ।
भविष्याम्यसुखाविष्टा त्वद्दर्शनपरायणा ।। ३० ।।

राजन्! पूर्वजन्मके शरीरमें स्थित रहकर मैंने एक साथ रहनेवाले कुछ स्त्री-पुरुषोंमें अवश्य वियोग कराया है। उन्हीं पापकर्मोंद्वारा मेरे पूर्वशरीरोंमें जो बीजरूपसे संचित हो रहा था, वही यह आपके वियोगका दुःख आज मुझे प्राप्त हुआ है। महाराज! मैं दुःखमें डूबी हुई हूँ, अतः आजसे आपके दर्शनकी इच्छा रखकर मैं कुशके बिछौनेपर सोऊँगी ।। २९-३० ।।

दर्शयस्व नरव्याघ्र शाधि मामसुखान्विताम् ।
कृपणां चाथ करुणं विलपन्तीं नरेश्वर ।। ३१ ।।

नरश्रेष्ठ नरेश्वर! करुण विलाप करती हुई मुझ दीन-दुःखिया अबलाको आज अपना दर्शन और कर्तव्यका आदेश दीजिये ।। ३१ ।।

कुन्त्युवाच

एवं बहुविधं तस्यां विलपन्त्यां पुनः पुनः ।
तं शवं सम्परिष्वज्य वाक् किलान्तर्हिताब्रवीत् ।। ३२ ।।

कुन्तीने कहा—महाराज! इस प्रकार जब राजाके शवका आलिंगन करके वह बार-बार अनेक प्रकारसे विलाप करने लगी, तब आकाशवाणी बोली— ।। ३२ ।।

उत्तिष्ठ भद्रे गच्छ त्वं ददानीह वरं तव ।
जनयिष्याम्यपत्यानि त्वय्यहं चारुहासिनि ।। ३३ ।।

'भद्रे! उठो और जाओ, इस समय मैं तुम्हें वर देता हूँ। चारुहासिनि! मैं तुम्हारे गर्भसे कई पुत्रोंको जन्म दूँगा ।। ३३ ।।

आत्मकीये वरारोहे शयनीये चतुर्दशीम् ।
अष्टमीं वा ऋतुस्नाता संविशेथा मया सह ।। ३४ ।।

'वरारोहे! तुम ऋतुस्नाता होनेपर चतुर्दशी या अष्टमीकी रातमें अपनी शय्यापर मेरे इस शवके साथ सो जाना' ।। ३४ ।।

एवमुक्ता तु सा देवी तथा चक्रे पतिव्रता ।
यथोक्तमेव तद्वाक्यं भद्रा पुत्रार्थिनी तदा ।। ३५ ।।

आकाशवाणीके यों कहनेपर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली पतिव्रता भद्रादेवीने पतिकी पूर्वोक्त आज्ञाका अक्षरशः पालन किया ।। ३५ ।।

सा तेन सुषुवे देवी शवेन भरतर्षभ ।
त्रीन् शाल्वांश्चतुरो मद्रान् सुतान् भरतसत्तम ।। ३६ ।।

भरतश्रेष्ठ! रानी भद्राने उस शवके द्वारा सात पुत्र उत्पन्न किये, जिनमें तीन शाल्वदेशके और चार मद्रदेशके शासक हुए ।। ३६ ।।

तथा त्वमपि मय्येवं मनसा भरतर्षभ ।
शक्तो जनयितुं पुत्रांस्तपोयोगबलान्वितः ।। ३७ ।।

भरतवंशशिरोमणे! इसी प्रकार आप भी मेरे गर्भसे मानसिक संकल्पद्वारा अनेक पुत्र उत्पन्न कर सकते हैं; क्योंकि आप तपस्या और योगबलसे सम्पन्न हैं ।। ३७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि व्युषिताश्वोपाख्याने
विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें व्युषिताश्वोपाख्यानविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२० ।।

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डुका कुन्तीको समझाना और कुन्तीका पतिकी आज्ञासे पुत्रोत्पत्तिके लिये धर्मदेवताका आवाहन करनेके लिये उद्यत होना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तया राजा तां देवीं पुनरब्रवीत् ।
धर्मविद् धर्मसंयुक्तमिदं वचनमुत्तमम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीके यों कहनेपर धर्मज्ञ राजा पाण्डुने देवी कुन्तीसे पुनः यह धर्मयुक्त बात कही ।। १ ।।

पाण्डुरुवाच

एवमेतत् पुरा कुन्ति व्युषिताश्वश्चकार ह ।
यथा त्वयोक्तं कल्याणि स ह्यासीदमरोपमः ।। २ ।।

पाण्डु बोले—कुन्ती! तुम्हारा कहना ठीक है। पूर्वकालमें राजा व्युषिताश्वने जैसा तुमने कहा है, वैसा ही किया था। कल्याणी! वे देवताओंके समान तेजस्वी थे ।। २ ।।

अथ त्विदं प्रवक्ष्यामि धर्मतत्त्वं निबोध मे ।
पुराणमृषिभिर्दृष्टं धर्मविद्भिर्महात्मभिः ।। ३ ।।

अब मैं तुम्हें यह धर्मका तत्त्व बतलाता हूँ, सुनो। यह पुरातन धर्मतत्त्व धर्मज्ञ महात्मा ऋषियोंने प्रत्यक्ष किया है ।। ३ ।।

धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणं परिचक्षते ।
भर्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्यं वाधर्म्यमेव वा ।। ४ ।।
यद् ब्रूयात् तत् तथा कार्यमिति वेदविदो विदुः ।
विशेषतः पुत्रगृध्यी हीनः प्रजननात् स्वयम् ।। ५ ।।
यथाहमनवद्याङ्गि पुत्रदर्शनलालसः ।
तथा रक्ताङ्गुलितलः पद्मपत्रनिभः शुभे ।। ६ ।।
प्रसादार्थं मया तेऽयं शिरस्यभ्युद्यतोऽञ्जलिः ।
मन्नियोगात् सुकेशान्ते द्विजातेस्तपसाधिकात् ।। ७ ।।
पुत्रान् गुणसमायुक्तानुत्पादयितुमर्हसि ।
त्वत्कृतेऽहं पृथुश्रोणि गच्छेयं पुत्रिणां गतिम् ।। ८ ।।

साधु पुरुष इसीको प्राचीन धर्म कहते हैं। राजकन्ये! पति अपनी पत्नीसे जो बात कहे, वह धर्मके अनुकूल हो या प्रतिकूल, उसे अवश्य पूर्ण करना चाहिये—ऐसा वेदज्ञ पुरुषोंका

कथन है। विशेषतः ऐसा पति, जो पुत्रकी अभिलाषा रखता हो और स्वयं संतानोत्पादनकी शक्तिसे रहित हो, जो बात कहे, वह अवश्य माननी चाहिये। निर्दोष अंगोंवाली शुभलक्षणे! मैं चूँकि पुत्रका मुँह देखनेके लिये लालायित हूँ, अतएव तुम्हारी प्रसन्नताके लिये मस्तकके समीप यह अंजलि धारण करता हूँ, जो लाल-लाल अंगुलियोंसे युक्त तथा कमलदलके समान सुशोभित है। सुन्दर केशोंवाली प्रिये! तुम मेरे आदेशसे तपस्यामें बढ़े-चढ़े हुए किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणके साथ समागम करके गुणवान् पुत्र उत्पन्न करो। सुश्रोणि! तुम्हारे प्रयत्नसे मैं पुत्रवानोंकी गति प्राप्त करूँ, ऐसी मेरी अभिलाषा है ।। ४—८ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता ततः कुन्ती पाण्डुं परपुरंजयम् ।
प्रत्युवाच वरारोहा भर्तुः प्रियहिते रता ।। ९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार कही जानेपर पतिके प्रिय और हितमें लगी रहनेवाली सुन्दरांगी कुन्ती शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महाराज पाण्डुसे इस प्रकार बोली— ।। ९ ।।

(अधर्मः सुमहानेष स्त्रीणां भरतसत्तम ।
यत् प्रसादयते भर्ता प्रसाद्यः क्षत्रियर्षभ ।।
भृणु चेदं महाबाहो मम प्रीतिकरं वचः ।।)

'भरतश्रेष्ठ! क्षत्रियशिरोमणे! स्त्रियोंके लिये यह बड़े अधर्मकी बात है कि पति ही उनसे प्रसन्न होनेके लिये बार-बार अनुरोध करे; क्योंकि नारीका ही यह कर्तव्य है कि वह पतिको प्रसन्न रखे। महाबाहो! आप मेरी यह बात सुनिये। इससे आपको बड़ी प्रसन्नता होगी।

पितृवेश्मन्यहं बाला नियुक्तातिथिपूजने ।
उग्रं पर्यचरं तत्र ब्राह्मणं संशितव्रतम् ।। १० ।।
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः ।
तमहं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयम् ।। ११ ।।

'बाल्यावस्थामें जब मैं पिताके घर थी, मुझे अतिथियोंके सत्कारका काम सौंपा गया था। वहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले एक उग्रस्वभावके ब्राह्मणकी, जिनका धर्मके विषयमें निश्चय दूसरोंको अज्ञात है तथा जिन्हें लोग दुर्वासा कहते हैं, मैंने बड़ी सेवा-शुश्रूषा की। अपने मनको संयममें रखनेवाले उन महात्माको मैंने सब प्रकारके यत्नोंद्वारा संतुष्ट किया ।। १०-११ ।।

स मेऽभिचारसंयुक्तमाचष्ट भगवान् वरम् ।
मन्त्रं त्विमं च मे प्रादादब्रवीच्चैव मामिदम् ।। १२ ।।

'तब भगवान् दुर्वासाने वरदानके रूपमें मुझे प्रयोगविधिसहित एक मन्त्रका उपदेश दिया और मुझसे इस प्रकार कहा— ।। १२ ।।

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
अकामो वा सकामो वा वशं ते समुपैष्यति ।। १३ ।।

'तुम इस मन्त्रसे जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी, वह निष्काम हो या सकाम, निश्चय ही तुम्हारे अधीन हो जायगा ।। १३ ।।

तस्य तस्य प्रसादात् ते राज्ञि पुत्रो भविष्यति ।
इत्युक्ताहं तदानेन पितृवेश्मनि भारत ।। १४ ।।

'राजकुमारी! उस देवताके प्रसादसे तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा।' भारत! इस प्रकार मेरे पिताके घरमें उस ब्राह्मणने उस समय मुझसे यह बात कही थी ।। १४ ।।

ब्राह्मणस्य वचस्तथ्यं तस्य कालोऽयमागतः ।
अनुज्ञाता त्वया देवमाह्वयेयमहं नृप ।
तेन मन्त्रेण राजर्षे यथास्यान्नौ प्रजा हिता ।। १५ ।।

‘उस ब्राह्मणकी बात सत्य ही होगी। उसके उपयोगका यह अवसर आ गया है। महाराज! आपकी आज्ञा होनेपर मैं उस मन्त्रद्वारा किसी देवताका आवाहन कर सकती हूँ। जिससे राजर्षे! हम दोनोंके लिये हितकर संतान प्राप्त हो ।। १५ ।।

(यां मे विद्यां महाराज अददात् स महायशाः ।
तयाहूतः सुरः पुत्रं प्रदास्यति सुरोपमम् ।
अनपत्यकृतं यस्ते शोकं हि व्यपनेष्यति ।।
अपत्यकाम एवं स्यान्ममापत्यं भवेदिति ।)

‘महाराज! उन महायशस्वी महर्षिने जो विद्या मुझे दी थी, उसके द्वारा आवाहन करनेपर कोई भी देवता आकर देवोपम पुत्र प्रदान करेगा, जो आपके संतानहीनताजनित शोकको दूर कर देगा; इस प्रकार मुझे संतान प्राप्त होगी और आपकी पुत्रकामना सफल हो जायगी।

आवाहयामि कं देवं ब्रूहि सत्यवतां वर ।
त्वत्तोऽनुज्ञाप्रतीक्षां मां विद्ध्यस्मिन् कर्मणि स्थिताम् ।। १६ ।।

‘सत्यवानोंमें श्रेष्ठ नरेश! बताइये, मैं किस देवताका आवाहन करूँ। आप समझ लें, मैं (आपके संतोषार्थ) इस कार्यके लिये तैयार हूँ। केवल आपसे आज्ञा मिलनेकी प्रतीक्षामें हूँ’ ।। १६ ।।

पाण्डुरुवाच

(धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि त्वं नो धात्री कुलस्य हि ।
नमो महर्षये तस्मै येन दत्तो वरस्तव ।।
न चाधर्मेण धर्मज्ञे शक्याः पालयितुं प्रजाः ।।)
अद्यैव त्वं वरारोहे प्रयतस्व यथाविधि ।
धर्ममावाहय शुभे स हि लोकेषु पुण्यभाक् ।। १७ ।।

पाण्डु बोले—प्रिये! मैं धन्य हूँ, तुमने मुझपर महान् अनुग्रह किया। तुम्हीं मेरे कुलको धारण करनेवाली हो। उन महर्षिको नमस्कार है, जिन्होंने तुम्हें वैसा वर दिया। धर्मज्ञे! अधर्मसे प्रजाका पालन नहीं हो सकता। इसलिये वरारोहे! तुम आज ही विधिपूर्वक इसके लिये प्रयत्न करो। शुभे! सबसे पहले धर्मका आवाहन करो, क्योंकि वे ही सम्पूर्ण लोकोंमें धर्मात्मा हैं ।। १७ ।।

अधर्मेण न नो धर्मः संयुज्यति कथंचन ।
लोकश्चायं वरारोहे धर्मोऽयमिति मन्यते ।। १८ ।।
धार्मिकश्च कुरूणां स भविष्यति न संशयः ।
धर्मेण चापि दत्तस्य नाधर्मे रंस्यते मनः ।। १९ ।।
तस्माद् धर्मं पुरस्कृत्य नियता त्वं शुचिस्मिते ।

उपचाराभिचाराभ्यां धर्ममावाहयस्व वै ।। २० ।।

(इस प्रकार करनेपर) हमारा धर्म कभी किसी तरह अधर्मसे संयुक्त नहीं हो सकता। वरारोहे! लोक भी उनको साक्षात् धर्मका स्वरूप मानता है। धर्मसे उत्पन्न होनेवाला पुत्र कुरुवंशियोंमें सबसे अधिक धर्मात्मा होगा—इसमें संशय नहीं है। धर्मके द्वारा दिया हुआ जो पुत्र होगा, उसका मन अधर्ममें नहीं लगेगा। अतः शुचिस्मिते! तुम मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर धर्मको भी सामने रखते हुए उपचार (पूजा) और अभिचार (प्रयोगविधि)-के द्वारा धर्मदेवताका आवाहन करो ।। १८—२० ।।

वैशम्पायन उवाच

सा तथोक्ता तथेत्युक्त्वा तेन भर्त्रा वराङ्गना ।
अभिवाद्याभ्यनुज्ञाता प्रदक्षिणमवर्तत ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अपने पति पाण्डुके यों कहनेपर नारियोंमें श्रेष्ठ कुन्तीने ‘तथास्तु’ कहकर उन्हें प्रणाम किया और आज्ञा लेकर उनकी परिक्रमा की ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कुन्तीपुत्रोत्पत्त्यनुज्ञाने एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कुन्तीको पुत्रोत्पत्तिके लिये आदेशविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२१ ।।

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

संवत्सरधृते गर्भे गान्धार्या जनमेजय ।
आह्वयामास वै कुन्ती गर्भार्थे धर्ममच्युतम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब गान्धारीको गर्भ धारण किये एक वर्ष बीत गया, उस समय कुन्तीने गर्भ धारण करनेके लिये अच्युतस्वरूप भगवान् धर्मका आवाहन किया ।। १ ।।

सा बलिं त्वरिता देवी धर्मायोपजहार ह ।
जजाप विधिवज्जप्यं दत्तं दुर्वाससा पुरा ।। २ ।।

देवी कुन्तीने बड़ी उतावलीके साथ धर्मदेवताके लिये पूजाके उपहार अर्पित किये। तत्पश्चात् पूर्वकालमें महर्षि दुर्वासाने जो मन्त्र दिया था, उसका विधिपूर्वक जप किया ।। २ ।।

आजगाम ततो देवो धर्मो मन्त्रबलात् ततः ।
विमाने सूर्यसंकाशे कुन्ती यत्र जपस्थिता ।। ३ ।।

तब मन्त्रबलसे आकृष्ट हो भगवान् धर्म सूर्यके समान तेजस्वी विमानपर बैठकर उस स्थानपर आये, जहाँ कुन्तीदेवी जपमें लगी हुई थीं ।। ३ ।।

विहस्य तां ततो ब्रूयाः कुन्ति किं ते ददाम्यहम् ।
सा तं विहस्यमानापि पुत्रं देह्यब्रवीदिदम् ।। ४ ।।

तब धर्मने हँसकर कहा—'कुन्ती! बोलो, तुम्हें क्या दूँ?' धर्मके द्वारा हास्यपूर्वक इस प्रकार पूछनेपर कुन्ती बोली—'मुझे पुत्र दीजिये' ।। ४ ।।

संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण ह ।
लेभे पुत्रं वरारोहा सर्वप्राणभृतां हितम् ।। ५ ।।

तदनन्तर योगमूर्ति धारण किये हुए धर्मके साथ समागम करके सुन्दरांगी कुन्तीने एक ऐसा पुत्र प्राप्त किया, जो समस्त प्राणियोंका हित करनेवाला था ।। ५ ।।

ऐन्द्रे चन्द्रसमायुक्ते मुहूर्तेऽभिजितेऽष्टमे ।
दिवामध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेऽतिपूजिते ।। ६ ।।
समृद्धयशसं कुन्ती सुषाव प्रवरं सुतम् ।
जातमात्रे सुते तस्मिन् वागुवाचाशरीरिणी ।। ७ ।।

तदनन्तर जब चन्द्रमा ज्येष्ठा नक्षत्रपर थे, सूर्य तुला राशिपर विराजमान थे, शुक्ल पक्षकी 'पूर्णा' नामवाली पञ्चमी तिथि थी और अत्यन्त श्रेष्ठ अभिजित् नामक आठवाँ

मुहूर्त विद्यमान था; उस समय कुन्तीदेवीने एक उत्तम पुत्रको जन्म दिया, जो महान् यशस्वी था। उस पुत्रके जन्म लेते ही आकाशवाणी हुई— ।। ६-७ ।।

एष धर्मभृतां श्रेष्ठो भविष्यति नरोत्तमः ।
विक्रान्तः सत्यवाक् त्वेव राजा पृथ्व्यां भविष्यति ।। ८ ।।
युधिष्ठिर इति ख्यातः पाण्डोः प्रथमजः सुतः ।
भविता प्रथितो राजा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।। ९ ।।
यशसा तेजसा चैव वृत्तेन च समन्वितः ।

'यह श्रेष्ठ पुरुष धर्मात्माओंमें अग्रगण्य होगा और इस पृथ्वीपर पराक्रमी एवं सत्यवादी राजा होगा। पाण्डुका यह प्रथम पुत्र 'युधिष्ठिर' नामसे विख्यात हो तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि एवं ख्याति प्राप्त करेगा; यह यशस्वी, तेजस्वी तथा सदाचारी होगा' ।। ८-९½ ।।

धार्मिकं तं सुतं लब्ध्वा पाण्डुस्तां पुनरब्रवीत् ।। १० ।।

उस धर्मात्मा पुत्रको पाकर राजा पाण्डुने पुनः (आग्रहपूर्वक) कुन्तीसे कहा — ।। १० ।।

प्राहुः क्षत्रं बलज्येष्ठं बलज्येष्ठं सुतं वृणु ।
(अश्वमेधः क्रतुश्रेष्ठो ज्योतिश्श्रेष्ठो दिवाकरः ।
ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो बलश्रेष्ठस्तु मारुतः ।।
मारुतं मरुतां श्रेष्ठं सर्वप्राणिभिरीडितम् ।
आवाहय त्वं नियमात् पुत्रार्थं वरवर्णिनि ।।
स नो यं दास्यति सुतं स प्राणबलवान् नृषु ।)
ततस्तथोक्ता भर्त्रा तु वायुमेवाजुहाव सा ।। ११ ।।

'प्रिये! क्षत्रियको बलसे ही बड़ा कहा गया है। अतः एक ऐसे पुत्रका वरण करो, जो बलमें सबसे श्रेष्ठ हो। जैसे अश्वमेध सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है, सूर्यदेव सम्पूर्ण प्रकाश करनेवालोंमें प्रधान हैं और ब्राह्मण मनुष्योंमें श्रेष्ठ है, उसी प्रकार वायुदेव बलमें सबसे बढ़-चढ़कर हैं। अतः सुन्दरी! अबकी बार तुम पुत्र-प्राप्तिके उद्देश्यसे समस्त प्राणियोंद्वारा प्रशंसित देवश्रेष्ठ वायुका विधिपूर्वक आवाहन करो। वे हमलोगोंके लिये जो पुत्र देंगे, वह मनुष्योंमें सबसे अधिक प्राणशक्तिसे सम्पन्न और बलवान् होगा।'

स्वामीके इस प्रकार कहनेपर कुन्तीने तब वायुदेवका ही आवाहन किया ।। ११ ।।

ततस्तामागतो वायुर्मृगारूढो महाबलः ।
किं ते कुन्ति ददाम्यद्य ब्रूहि यत् ते हृदि स्थितम् ।। १२ ।।

तब महाबली वायु मृगपर आरूढ़ हो कुन्तीके पास आये और यों बोले—'कुन्ती! तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हो, वह कहो। मैं तुम्हें क्या दूँ?' ।। १२ ।।

सा सलज्जा विहस्याह पुत्रं देहि सुरोत्तम ।
बलवन्तं महाकायं सर्वदर्पप्रभञ्जनम् ।। १३ ।।

कुन्तीने लज्जित होकर मुसकराते हुए कहा—'सुरश्रेष्ठ! मुझे एक ऐसा पुत्र दीजिये, जो महाबली और विशालकाय होनेके साथ ही सबके घमंडको चूर करनेवाला हो' ।। १३ ।।

तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।
तमप्यतिबलं जातं वागुवाचाशरीरिणी ।। १४ ।।
सर्वेषां बलिनां श्रेष्ठो जातोऽयमिति भारत ।
इदमत्यद्भुतं चासीज्जातमात्रे वृकोदरे ।। १५ ।।
यदङ्कात् पतितो मातुः शिलां गात्रैर्व्यचूर्णयत् ।
(कुन्ती तु सह पुत्रेण यात्वा सुरुचिरं सरः ।
स्नात्वा तु सुतमादाय दशमेऽहनि यादवी ।।
दैवतान्यर्चयिष्यन्ती निर्जगामाश्रमात् पृथा ।
शैलाभ्याशेन गच्छन्त्यास्तदा भरतसत्तम ।।
निश्चक्राम महान् व्याघ्रो जिघांसन् गिरिगह्वरात् ।।
तमापतन्तं शार्दूलं विकृष्याथ कुरूत्तमः ।
निर्बिभेद शरैः पाण्डुस्त्रिभिस्त्रिदशविक्रमः ।।
नादेन महता तां तु पूरयन्तं गिरेर्गुहाम् ।)
कुन्ती व्याघ्रभयोद्विग्ना सहसोत्पतिता किल ।। १६ ।।

वायुदेवसे भयंकर पराक्रमी महाबाहु भीमका जन्म हुआ। जनमेजय! उस महाबली पुत्रको लक्ष्य करके आकाशवाणीने कहा—'यह कुमार समस्त बलवानोंमें श्रेष्ठ है।' भीमसेनके जन्म लेते ही एक अद्भुत घटना यह हुई कि अपनी माताकी गोदसे गिरनेपर उन्होंने अपने अंगोंसे एक पर्वतकी चट्टानको चूर-चूर कर दिया। बात यह थी कि यदुकुलनन्दिनी कुन्ती प्रसवके दसवें दिन पुत्रको गोदमें लिये उसके साथ एक सुन्दर सरोवरके निकट गयी और स्नान करके लौटकर देवताओंकी पूजा करनेके लिये कुटियासे बाहर निकली। भरतनन्दन! वह पर्वतके समीप होकर जा रही थी कि इतनेमें ही उसको मार डालनेकी इच्छासे एक बहुत बड़ा व्याघ्र उस पर्वतकी कन्दरासे बाहर निकल आया। देवताओंके समान पराक्रमी कुरुश्रेष्ठ पाण्डुने उस व्याघ्रको दौड़कर आते देख धनुष खींच लिया और तीन बाणोंसे मारकर उसे विदीर्ण कर दिया। उस समय वह अपनी विकट गर्जनासे पर्वतकी सारी गुफाको प्रतिध्वनित कर रहा था। कुन्ती बाघके भयसे सहसा उछल पड़ी ।। १४—१६ ।।

नान्वबुध्यत संसुप्तमुत्सङ्गे स्वे वृकोदरम् ।
ततः स वज्रसंघातः कुमारो न्यपतद् गिरौ ।। १७ ।।

उस समय उसे इस बातका ध्यान नहीं रहा कि मेरी गोदमें भीमसेन सोया हुआ है। उतावलीमें वह वज्रके समान शरीरवाला कुमार पर्वतके शिखरपर गिर पड़ा ।। १७ ।।

पतता तेन शतधा शिला गात्रैर्विचूर्णिता ।
तां शिलां चूर्णितां दृष्ट्वा पाण्डुर्विस्मयमागतः ।। १८ ।।

गिरते समय उसने अपने अंगोंसे उस पर्वतकी शिलाको चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। पत्थरकी चट्टानको चूर-चूर हुआ देख महाराज पाण्डु बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ।। १८ ।।

(मघे चन्द्रमसा युक्ते सिंहे चाभ्युदिते गुरौ ।
दिवामध्यगते सूर्ये तिथौ पुण्ये त्रयोदशे ।।
मैत्रे मुहूर्ते सा कुन्ती सुषुवे भीममच्युतम् ।।)
यस्मिन्नहनि भीमस्तु जज्ञे भरतसत्तम ।
दुर्योधनोऽपि तत्रैव प्रजज्ञे वसुधाधिप ।। १९ ।।

जब चन्द्रमा मघा नक्षत्रपर विराजमान थे, बृहस्पति सिंह लग्नमें सुशोभित थे, सूर्यदेव दोपहरके समय आकाशके मध्यभागमें तप रहे थे, उस समय पुण्यमयी त्रयोदशी तिथिको मैत्र मुहूर्तमें कुन्तीदेवीने अविचल शक्तिवाले भीमसेनको जन्म दिया था। भरतश्रेष्ठ भूपाल! जिस दिन भीमसेनका जन्म हुआ था, उसी दिन हस्तिनापुरमें दुर्योधनकी भी उत्पत्ति हुई ।। १९ ।।

जाते वृकोदरे पाण्डुरिदं भूयोऽन्वचिन्तयत् ।
कथं नु मे वरः पुत्रो लोकश्रेष्ठो भवेदिति ।। २० ।।

भीमसेनके जन्म लेनेपर पाण्डुने फिर इस प्रकार विचार किया कि मैं कौन-सा उपाय करूँ, जिससे मुझे सब लोगोंसे श्रेष्ठ उत्तम पुत्र प्राप्त हो ।। २० ।।

दैवे पुरुषकारे च लोकोऽयं सम्प्रतिष्ठितः ।
तत्र दैवं तु विधिना कालयुक्तेन लभ्यते ।। २१ ।।

यह संसार दैव तथा पुरुषार्थपर अवलम्बित है। इनमें दैव तभी सुलभ (सफल) होता है, जब समयपर उद्योग किया जाय ।। २१ ।।

इन्द्रो हि राजा देवानां प्रधान इति नः श्रुतम् ।
अप्रमेयबलोत्साहो वीर्यवानमितद्युतिः ।। २२ ।।
तं तोषयित्वा तपसा पुत्रं लप्स्ये महाबलम् ।
यं दास्यति स मे पुत्रं स वरीयान् भविष्यति ।। २३ ।।
अमानुषान् मानुषांश्च संग्रामे स हनिष्यति ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात् तप्स्ये महत् तपः ।। २४ ।।

मैंने सुना है कि देवराज इन्द्र ही सब देवताओंमें प्रधान हैं, उनमें अथाह बल और उत्साह है। वे बड़े पराक्रमी एवं अपार तेजस्वी हैं। मैं तपस्याद्वारा उन्हींको संतुष्ट करके महाबली पुत्र प्राप्त करूँगा। वे मुझे जो पुत्र देंगे, वह निश्चय ही सबसे श्रेष्ठ होगा तथा संग्राममें अपना सामना करनेवाले मनुष्यों तथा मनुष्येतर प्राणियों (दैत्य-दानव आदि)-को

भी मारनेमें समर्थ होगा। अतः मैं मन, वाणी और क्रियाद्वारा बड़ी भारी तपस्या करूँगा ।। २२—२४ ।।

बालक भीमके शरीरकी चोटसे चट्टान टूट गयी

ततः पाण्डुर्महाराजो मन्त्रयित्वा महर्षिभिः ।
दिदेश कुन्त्याः कौरव्यो व्रतं सांवत्सरं शुभम् ।। २५ ।।

ऐसा निश्चय करके कुरुनन्दन महाराज पाण्डुने महर्षियोंसे सलाह लेकर कुन्तीको शुभदायक सांवत्सर व्रतका उपदेश दिया ।। २५ ।।

आत्मना च महाबाहुरेकपादस्थितोऽभवत् ।
उग्रं स तप आस्थाय परमेण समाधिना ।। २६ ।।
आरिराधयिषुर्देवं त्रिदशानां तमीश्वरम् ।
सूर्येण सह धर्मात्मा पर्यतप्यत भारत ।। २७ ।।
तं तु कालेन महता वासवः प्रत्यपद्यत ।

और भारत! वे महाबाहु धर्मात्मा पाण्डु स्वयं देवताओंके ईश्वर इन्द्रदेवकी आराधना करनेके लिये चित्तवृत्तियोंको अत्यन्त एकाग्र करके एक पैरसे खड़े हो सूर्यके साथ-साथ उग्र तप करने लगे अर्थात् सूर्योदय होनेके समय एक पैरसे खड़े होते और सूर्यास्ततक उसी रूपमें खड़े रहते।

इस तरह दीर्घकाल व्यतीत हो जानेपर इन्द्रदेव उनपर प्रसन्न हो उनके समीप आये और इस प्रकार बोले— ।। २६-२७½ ।।

शक्र उवाच

पुत्रं तव प्रदास्यामि त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।। २८ ।।

इन्द्रने कहा—राजन्! मैं तुम्हें ऐसा पुत्र दूँगा, जो तीनों लोकोंमें विख्यात होगा ।। २८ ।।

ब्राह्मणानां गवां चैव सुहृदां चार्थसाधकम् ।
दुर्हृदां शोकजननं सर्वबान्धवनन्दनम् ।। २९ ।।
सुतं तेऽग्रयं प्रदास्यामि सर्वामित्रविनाशनम् ।

वह ब्राह्मणों, गौओं तथा सुहृदोंके अभीष्ट मनोरथकी पूर्ति करनेवाला, शत्रुओंको शोक देनेवाला और समस्त बन्धु-बान्धवोंको आनन्दित करनेवाला होगा, मैं तुम्हें सम्पूर्ण शत्रुओंका विनाश करनेवाला सर्वश्रेष्ठ पुत्र प्रदान करूँगा ।। २९½ ।।

इत्युक्तः कौरवो राजा वासवेन महात्मना ।। ३० ।।
उवाच कुन्तीं धर्मात्मा देवराजवचः स्मरन् ।
उदर्कस्तव कल्याणि तुष्टो देवगणेश्वरः ।। ३१ ।।
दातुमिच्छति ते पुत्रं यथा संकल्पितं त्वया ।
अतिमानुषकर्माणं यशस्विनमरिंदमम् ।। ३२ ।।
नीतिमन्तं महात्मानमादित्यसमतेजसम् ।
दुराधर्षं क्रियावन्तमतीवाद्भुतदर्शनम् ।। ३३ ।।

महात्मा इन्द्रके यों कहनेपर धर्मात्मा कुरुनन्दन महाराज पाण्डु बड़े प्रसन्न हुए और देवराजके वचनोंका स्मरण करते हुए कुन्तीदेवीसे बोले—‘कल्याणि! तुम्हारे व्रतका भावी परिणाम मंगलमय है। देवताओंके स्वामी इन्द्र हमलोगोंपर संतुष्ट हैं और तुम्हें तुम्हारे संकल्पके अनुसार श्रेष्ठ पुत्र देना चाहते हैं। वह अलौकिक कर्म करनेवाला, यशस्वी, शत्रुदमन, नीतिज्ञ, महामना, सूर्यके समान तेजस्वी, दुर्धर्ष, कर्मठ तथा देखनेमें अत्यन्त अद्भुत होगा ।। ३०—३३ ।।

पुत्रं जनय सुश्रोणि धाम क्षत्रियतेजसाम् ।
लब्धः प्रसादो देवेन्द्रात् तमाह्वय शुचिस्मिते ।। ३४ ।।

‘सुश्रोणि! अब ऐसे पुत्रको जन्म दो, जो क्षत्रियोचित तेजका भंडार हो। पवित्र मुसकानवाली कुन्ती! मैंने देवेन्द्रकी कृपा प्राप्त कर ली है। अब तुम उन्हींका आवाहन करो’ ।। ३४ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता ततः शक्रमाजुहाव यशस्विनी ।
अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम् ।। ३५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज पाण्डुके यों कहने-पर यशस्विनी कुन्तीने इन्द्रका आवाहन किया। तदनन्तर देवराज इन्द्र आये और उन्होंने अर्जुनको जन्म दिया ।। ३५ ।।

(उत्तराभ्यां तु पूर्वाभ्यां फल्गुनीभ्यां ततो दिवा।
जातस्तु फाल्गुने मासि तेनासौ फाल्गुनः स्मृतः ।।)

वह फाल्गुन मासमें दिनके समय पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रोंके संधिकालमें उत्पन्न हुआ। फाल्गुनमास और फाल्गुनी नक्षत्रमें जन्म लेनेके कारण उस बालकका नाम 'फाल्गुन' हुआ।

जातमात्रे कुमारे तु वागुवाचाशरीरिणी।
महागम्भीरनिर्घोषा नभो नादयती तदा ।। ३६ ।।
शृण्वतां सर्वभूतानां तेषां चाश्रमवासिनाम्।
कुन्तीमाभाष्य विस्पष्टमुवाचेदं शुचिस्मिताम् ।। ३७ ।।

कुमार अर्जुनके जन्म लेते ही अत्यन्त गम्भीर नादसे समूचे आकाशको गुँजाती हुई आकाशवाणीने पवित्र मुसकानवाली कुन्तीदेवीको सम्बोधित करके समस्त प्राणियों और आश्रमवासियोंके सुनते हुए अत्यन्त स्पष्ट भाषामें इस प्रकार कहा— ।। ३६-३७ ।।

कार्तवीर्यसमः कुन्ति शिवतुल्यपराक्रमः।
एष शक्र इवाजय्यो यशस्ते प्रथयिष्यति ।। ३८ ।।
अदित्या विष्णुना प्रीतिर्यथाभूदभिवर्धिता।
तथा विष्णुसमः प्रीतिं वर्धयिष्यति तेऽर्जुनः ।। ३९ ।।

'कुन्तिभोजकुमारी! यह बालक कार्तवीर्य अर्जुनके समान तेजस्वी, भगवान् शिवके समान पराक्रमी और देवराज इन्द्रके समान अजेय होकर तुम्हारे यशका विस्तार करेगा। जैसे भगवान् विष्णुने वामनरूपमें प्रकट होकर देवमाता अदितिके हर्षको बढ़ाया था, उसी प्रकार यह विष्णुतुल्य अर्जुन तुम्हारी प्रसन्नताको बढ़ायेगा ।। ३८-३९ ।।

एष मद्रान् वशे कृत्वा कुरूंश्च सह सोमकैः।
चेदिकाशिकरूषांश्च कुरुलक्ष्मीं वहिष्यति ।। ४० ।।

'तुम्हारा यह वीर पुत्र मद्र, कुरु, सोमक, चेदि, काशि तथा करूष नामक देशोंको वशमें करके कुरुवंशकी लक्ष्मीका पालन करेगा ।। ४० ।।

(गत्वोत्तरदिशं वीरो विजित्य युधि पार्थिवान्।
धनरत्नौघममितमानयिष्यति पाण्डवः ।।)
एतस्य भुजवीर्येण खाण्डवे हव्यवाहनः।
मेदसा सर्वभूतानां तृप्तिं यास्यति वै पराम् ।। ४१ ।।

'वीर अर्जुन उत्तर दिशामें जाकर वहाँके राजाओंको युद्धमें जीतकर असंख्य धन-रत्नोंकी राशि ले आयेगा। इसके बाहुबलसे खाण्डववनमें अग्निदेव समस्त प्राणियोंके मेदका आस्वादन करके पूर्ण तृप्ति लाभ करेंगे ।। ४१ ।।

ग्रामणीश्च महीपालानेष जित्वा महाबलः।
भ्रातृभिः सहितो वीरस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति ।। ४२ ।।

‘यह महाबली श्रेष्ठ वीर बालक समस्त क्षत्रियसमूहका नायक होगा और युद्धमें भूमिपालोंको जीतकर भाइयोंके साथ तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा ।। ४२ ।।

जामदग्न्यसमः कुन्ति विष्णुतुल्यपराक्रमः ।
एष वीर्यवतां श्रेष्ठो भविष्यति महायशाः ।। ४३ ।।

‘कुन्ती! यह परशुरामके समान वीर योद्धा, भगवान् विष्णुके समान पराक्रमी, बलवानोंमें श्रेष्ठ और महान् यशस्वी होगा ।। ४३ ।।

एष युद्धे महादेवं तोषयिष्यति शंकरम् ।
अस्त्रं पाशुपतं नाम तस्मात् तुष्टादवाप्स्यति ।। ४४ ।।
निवातकवचा नाम दैत्या विबुधविद्विषः ।
शक्राज्ञया महाबाहुस्तान् वधिष्यति ते सुतः ।। ४५ ।।

‘यह युद्धमें देवाधिदेव भगवान् शंकरको संतुष्ट करेगा और संतुष्ट हुए उन महेश्वरसे पाशुपत नामक अस्त्र प्राप्त करेगा। निवातकवच नामक दैत्य देवताओंसे सदा द्वेष रखते हैं। तुम्हारा यह महाबाहु पुत्र इन्द्रकी आज्ञासे उन सब दैत्योंका संहार कर डालेगा ।। ४४-४५ ।।

तथा दिव्यानि चास्त्राणि निखिलेनाहरिष्यति ।
विप्रणष्टां श्रियं चायमाहर्ता पुरुषर्षभः ।। ४६ ।।

‘तथा पुरुषोंमें श्रेष्ठ यह अर्जुन सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंका पूर्ण रूपसे ज्ञान प्राप्त करेगा और अपनी खोयी हुई सम्पत्तिको पुनः वापस ले आयेगा’ ।। ४६ ।।

एतामत्यद्भुतां वाचं कुन्ती शुश्राव सूतके ।
वाचमुच्चारितामुच्चैस्तां निशम्य तपस्विनाम् ।। ४७ ।।
बभूव परमो हर्षः शतशृङ्गनिवासिनाम् ।
तथा देवनिकायानां सेन्द्राणां च दिवौकसाम् ।। ४८ ।।

कुन्तीने सौरीमेंसे ही यह अत्यन्त अद्भुत बात सुनी। उच्चस्वरमें उच्चारित वह आकाशवाणी सुनकर शतशृंगनिवासी तपस्वी मुनियों तथा विमानोंपर स्थित इन्द्र आदि देवसमूहोंको बड़ा हर्ष हुआ ।। ४७-४८ ।।

आकाशे दुन्दुभीनां च बभूव तुमुलः स्वनः ।
उदतिष्ठन्महाघोषः पुष्पवृष्टिभिरावृतः ।। ४९ ।।

तदनन्तर आकाशमें फूलोंकी वर्षाके साथ देव-दुन्दुभियोंका तुमुल नाद बड़े जोरसे गूँज उठा ।। ४९ ।।

समवेत्य च देवानां गणाः पार्थमपूजयन् ।
काद्रवेया वैनतेया गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
प्रजानां पतयः सर्वे सप्त चैव महर्षयः ।। ५० ।।
भरद्वाजः कश्यपो गौतमश्च
विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठः ।

यश्चोदितो भास्करेऽभूत् प्रणष्टे
सोऽप्यत्रात्रिर्भगवानाजगाम ।। ५१ ।।

फिर झुंड-के-झुंड देवता वहाँ एकत्र होकर अर्जुनकी प्रशंसा करने लगे। कद्रूके पुत्र (नाग), विनताके पुत्र (गरुड पक्षी), गन्धर्व, अप्सराएँ, प्रजापति, सप्तर्षिगण—भरद्वाज, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ तथा जो नक्षत्रके रूपमें सूर्यास्त होनेके पश्चात् उदित होते हैं, वे भगवान् अत्रि भी वहाँ आये ।। ५०-५१ ।।

मरीचिरङ्गिराश्चैव पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
दक्षः प्रजापतिश्चैव गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।। ५२ ।।

मरीचि और अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु एवं प्रजापति दक्ष, गन्धर्व तथा अप्सराएँ भी आयीं ।। ५२ ।।

दिव्यमाल्याम्बरधराः सर्वालंकारभूषिताः ।
उपगायन्ति बीभत्सुं नृत्यन्तेऽप्सरसां गणाः ।। ५३ ।।

उन सबने दिव्य हार और दिव्य वस्त्र धारण कर रखे थे। वे सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित थे। अप्सराओंका पूरा दल वहाँ जुट गया था। वे सभी अर्जुनके गुण गाने और नृत्य करने लगीं ।। ५३ ।।

तथा महर्षयश्चापि जेपुस्तत्र समन्ततः ।
गन्धर्वैः सहितः श्रीमान् प्रागायत च तुम्बुरुः ।। ५४ ।।

महर्षि भी वहाँ सब ओर खड़े होकर मांगलिक मन्त्रोंका जप करने लगे। गन्धर्वोंके साथ श्रीमान् तुम्बुरुने मधुर स्वरसे गीत गाना प्रारम्भ किया ।। ५४ ।।

भीमसेनोग्रसेनौ च ऊर्णायुरनघस्तथा ।
गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चास्तथाष्टमः ।। ५५ ।।
युगपस्तृणपः कार्ष्णिर्नन्दिश्चित्ररथस्तथा ।
त्रयोदशः शालिशिराः पर्जन्यश्च चतुर्दशः ।। ५६ ।।
कलिः पञ्चदशश्चैव नारदश्चात्र षोडशः ।
ऋत्वा बृहत्त्वा बृहकः करालश्च महामनाः ।। ५७ ।।
ब्रह्मचारी बहुगुणः सुवर्णश्चेति विश्रुतः ।
विश्वावसुर्भुमन्युश्च सुचन्द्रश्च शरुस्तथा ।। ५८ ।।
गीतमाधुर्यसम्पन्नौ विख्यातौ च हहाहुहू ।
इत्येते देवगन्धर्वा जग्मुस्तत्र नराधिप ।। ५९ ।।

भीमसेन तथा उग्रसेन, ऊर्णायु और अनघ, गोपति एवं धृतराष्ट्र, सूर्यवर्चा तथा आठवें युगप, तृणप, कार्ष्णि, नन्दि एवं चित्ररथ, तेरहवें शालिशिरा और चौदहवें पर्जन्य, पंद्रहवें कलि और सोलहवें नारद, ऋत्वा और बृहत्त्वा, बृहक एवं महामना कराल, ब्रह्मचारी तथा

विख्यात गुणवान् सुवर्ण, विश्वावसु एवं भुमन्यु, सुचन्द्र और शरु तथा गीतमाधुर्यसे सम्पन्न सुविख्यात हाहा और हूहू—राजन्! ये सब देवगन्धर्व वहाँ पधारे थे ।। ५५—५९ ।।

तथैवाप्सरसो हृष्टाः सर्वालंकारभूषिताः ।
ननृतुर्वै महाभागा जगुश्चायतलोचनाः ।। ६० ।।

इसी प्रकार समस्त आभूषणोंसे विभूषित बड़े-बड़े नेत्रोंवाली परम सौभाग्यशालिनी अप्सराएँ भी हर्षोल्लासमें भरकर वहाँ नृत्य करने लगीं ।। ६० ।।

अनूचानानवद्या च गुणमुख्या गुणावरा ।
अद्रिका च तथा सोमा मिश्रकेशी त्वलम्बुषा ।। ६१ ।।
मरीचिः शुचिका चैव विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा ।
अम्बिका लक्षणा क्षेमा देवी रम्भा मनोरमा ।। ६२ ।।
असिता च सुबाहुश्च सुप्रिया च वपुस्तथा ।
पुण्डरीका सुगन्धा च सुरसा च प्रमाथिनी ।। ६३ ।।
काम्या शारद्वती चैव ननृतुस्तत्र सङ्घशः ।
मेनका सहजन्या च कर्णिका पुञ्जिकस्थला ।। ६४ ।।
ऋतुस्थला घृताची च विश्वाची पूर्वचित्त्यपि ।
उम्लोचेति च विख्याता प्रम्लोचेति च ता दश ।। ६५ ।।

उनके नाम इस प्रकार हैं—अनूचाना और अनवद्या, गुणमुख्या एवं गुणावरा, अद्रिका तथा सोमा, मिश्रकेशी और अलम्बुषा, मरीचि और शुचिका, विद्युत्पर्णा, तिलोत्तमा, अम्बिका, लक्षणा, क्षेमा, देवी, रम्भा, मनोरमा, असिता और सुबाहु, सुप्रिया एवं वपु, पुण्डरीका एवं सुगन्धा, सुरसा और प्रमाथिनी, काम्या तथा शारद्वती आदि। ये झुंड-की-झुंड अप्सराएँ नाचने लगीं। इनमें मेनका, सहजन्या, कर्णिका और पुंजिकस्थला, ऋतुस्थला एवं घृताची, विश्वाची और पूर्वचित्ति, उम्लोचा और प्रम्लोचा—ये दस विख्यात हैं ।। ६१—६५ ।।

उर्वश्येकादशी तासां जगुश्चायतलोचनाः ।
धातार्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशो भगस्तथा ।। ६६ ।।
इन्द्रो विवस्वान् पूषा च त्वष्टा च सविता तथा ।
पर्जन्यश्चैव विष्णुश्च आदित्या द्वादश स्मृताः ।
महिमानं पाण्डवस्य वर्धयन्तोऽम्बरे स्थिताः ।। ६७ ।।

इन्हीं प्रधान अप्सराओंकी श्रेणीमें ग्यारहवीं उर्वशी है। ये सभी विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरियाँ वहाँ गीत गाने लगीं। धाता और अर्यमा, मित्र और वरुण, अंश एवं भग, इन्द्र, विवस्वान् और पूषा, त्वष्टा एवं सविता, पर्जन्य तथा विष्णु—ये बारह आदित्य* माने गये हैं। ये सभी पाण्डुनन्दन अर्जुनका महत्त्व बढ़ाते हुए आकाशमें खड़े थे ।। ६६-६७ ।।

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।

अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतप ।। ६८ ।।
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च विशाम्पते ।
स्थाणुर्भगश्च भगवान् रुद्रास्तत्रावतस्थिरे ।। ६९ ।।

शत्रुदमन महाराज! मृगव्याध और सर्प, महा-यशस्वी निर्ऋति एवं अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य और पिनाकी, दहन तथा ईश्वर, कपाली एवं स्थाणु तथा भगवान् भग—ये ग्यारह रुद्र भी वहाँ आकाशमें आकर खड़े थे ।। ६८-६९ ।।

अश्विनौ वसवश्चाष्टौ मरुतश्च महाबलाः ।
विश्वेदेवास्तथा साध्यास्तत्रासन् परितः स्थिताः ।। ७० ।।

दोनों अश्विनीकुमार तथा आठों वसु, महाबली मरुद्गण एवं विश्वेदेवगण तथा साध्यगण वहाँ सब ओर विद्यमान थे ।। ७० ।।

कर्कोटकोऽथ सर्पश्च वासुकिश्च भुजङ्गमः ।
कश्यपश्चाथ कुण्डश्च तक्षकश्च महोरगः ।। ७१ ।।
आययुस्तपसा युक्ता महाक्रोधा महाबलाः ।
एते चान्ये च बहवस्तत्र नागा व्यवस्थिताः ।। ७२ ।।

कर्कोटक सर्प तथा वासुकि नाग, कश्यप और कुण्ड, महानाग और तक्षक—ये तथा और भी बहुत-से महाबली, महाक्रोधी और तपस्वी नाग वहाँ आकर खड़े थे ।। ७१-७२ ।।

तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च गरुडश्चासितध्वजः ।
अरुणश्चारुणिश्चैव वैनतेया व्यवस्थिताः ।। ७३ ।।

तार्क्ष्य और अरिष्टनेमि, गरुड एवं असितध्वज, अरुण तथा आरुणि—विनताके ये पुत्र भी उस उत्सवमें उपस्थित थे ।। ७३ ।।

तांश्च देवगणान् सर्वांस्तपःसिद्धा महर्षयः ।
विमानगिर्यग्रगतान् ददृशुर्नेतरे जनाः ।। ७४ ।।

वे सब देवगण विमान और पर्वतके शिखरपर खड़े थे। उन्हें तपःसिद्ध महर्षि ही देख पाते थे, दूसरे लोग नहीं ।। ७४ ।।

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता मुनिसत्तमाः ।
अधिकां स्म ततो वृत्तिमवर्तन् पाण्डवान् प्रति ।। ७५ ।।

वह महान् आश्चर्य देखकर वे श्रेष्ठ मुनिगण बड़े विस्मयमें पड़े। तबसे पाण्डवोंके प्रति उनमें अधिक प्रेम और आदरका भाव पैदा हो गया ।। ७५ ।।

पाण्डुस्तु पुनरेवैनां पुत्रलोभान्महायशाः ।
वक्तुमैच्छद् धर्मपत्नीं कुन्ती त्वेनमथाब्रवीत् ।। ७६ ।।

तदनन्तर महायशस्वी राजा पाण्डु पुत्र-लोभसे आकृष्ट हो अपनी धर्मपत्नी कुन्तीसे फिर कुछ कहना चाहते थे, किंतु कुन्ती उन्हें रोकती हुई बोली— ।। ७६ ।।

नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत ।

अतः परं स्वैरिणी स्याद् बन्धकी पञ्चमे भवेत् ।। ७७ ।।

'आर्यपुत्र! आपत्तिकालमें भी तीनसे अधिक चौथी संतान उत्पन्न करनेकी आज्ञा शास्त्रोंने नहीं दी है। इस विधिके द्वारा तीनसे अधिक चौथी संतान चाहनेवाली स्त्री स्वैरिणी होती है और पाँचवें पुत्रके उत्पन्न होनेपर तो वह कुलटा समझी जाती है ।। ७७ ।।

स त्वं विद्वन् धर्ममिममधिगम्य कथं नु माम् ।

अपत्यार्थं समुत्क्रम्य प्रमादादिव भाषसे ।। ७८ ।।

'विद्वन्! आप धर्मको जानते हुए भी प्रमादसे कहनेवालेके समान धर्मका लोप करके अब फिर मुझे संतानोत्पत्तिके लिये क्यों प्रेरित कर रहे हैं' ।। ७८ ।।

(पाण्डुरुवाच

एवमेतद् धर्मशास्त्रं यथा वदसि तत् तथा ।)

पाण्डुने कहा—प्रिये! वास्तवमें धर्मशास्त्रका ऐसा ही मत है। तुम जो कुछ कहती हो, वह ठीक है।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डवोत्पत्तौ द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डवोंकी उत्पत्तिविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक मिलाकर कुल ८८½ श्लोक हैं)

---

[*] यहाँ आदित्योंके तेरह नाम हैं। जान पड़ता है, बारह महीनोंके बारह आदित्य और अधिमास या मलमासके प्रकाशक तेरहवें विष्णु हैं। इसीलिये उसे पुरुषोत्तममास कहते हैं। अधिमासकी पृथक् गणना न होनेसे बारह मासोंके प्रकाशक आदित्य बारह ही कहे गये हैं।

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

नकुल और सहदेवकी उत्पत्ति तथा पाण्डु-पुत्रोंके नामकरण-संस्कार

वैशम्पायन उवाच

कुन्तीपुत्रेषु जातेषु धृतराष्ट्रात्मजेषु च ।
मद्रराजसुता पाण्डुं रहो वचनमब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कुन्तीके तीन पुत्र उत्पन्न हो गये और धृतराष्ट्रके भी सौ पुत्र हो गये, तब माद्रीने पाण्डुसे एकान्तमें कहा— ।। १ ।।

न मेऽस्ति त्वयि संतापो विगुणेऽपि परंतप ।
नावरत्वे वरार्हायाः स्थित्वा चानघ नित्यदा ।। २ ।।
गान्धार्याश्चैव नृपते जातं पुत्रशतं तथा ।
श्रुत्वा न मे तथा दुःखमभवत् कुरुनन्दन ।। ३ ।।

‘शत्रुओंको संताप देनेवाले निष्पाप कुरुनन्दन! आप संतान उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित हो गये, आपकी इस न्यूनता या दुर्बलताको लेकर मेरे मनमें कोई संताप नहीं है। यद्यपि मैं सदा कुन्तीदेवीकी अपेक्षा श्रेष्ठ होनेके कारण पटरानीके पदपर बैठनेकी अधिकारिणी थी, तो भी जो सदा मुझे छोटी बनकर रहना पड़ता है, इसके लिये भी मुझे कोई दुःख नहीं है। राजन्! गान्धारी तथा राजा धृतराष्ट्रके जो सौ पुत्र हुए हैं, वह समाचार सुनकर भी मुझे वैसा दुःख नहीं हुआ था ।। २-३ ।।

इदं तु मे महद् दुःखं तुल्यतायामपुत्रता ।
दिष्ट्या त्विदानीं भर्तुर्मे कुन्त्यामप्यस्ति संततिः ।। ४ ।।

‘परंतु इस बातका मेरे मनमें बहुत दुःख है कि मैं और कुन्तीदेवी दोनों समानरूपसे आपकी पत्नियाँ हैं, तो भी उन्हें तो पुत्र हुआ और मैं संतानहीन ही रह गयी। यह सौभाग्यकी बात है कि इस समय मेरे प्राणनाथको कुन्तीके गर्भसे पुत्रकी प्राप्ति हो गयी है ।। ४ ।।

यदि त्वपत्यसंतानं कुन्तिराजसुता मयि ।
कुर्यादनुग्रहो मे स्यात् तव चापि हितं भवेत् ।। ५ ।।

‘यदि कुन्तिराजकुमारी मेरे गर्भसे भी कोई संतान उत्पन्न करा सकें, तो यह उनका मेरे ऊपर महान् अनुग्रह होगा और इससे आपका भी हित हो सकता है ।। ५ ।।

संरम्भो हि सपत्नीत्वाद् वक्तुं कुन्तिसुतां प्रति ।
यदि तु त्वं प्रसन्नो मे स्वयमेनां प्रचोदय ।। ६ ।।

'सौत होनेके कारण मेरे मनमें एक अभिमान है, जो कुन्तीदेवीसे कुछ निवेदन करनेमें बाधक हो रहा है; अतः यदि आप मुझपर प्रसन्न हों तो आप स्वयं ही मेरे लिये कुन्तीदेवीको प्रेरित कीजिये' ।। ६ ।।

पाण्डुरुवाच

ममाप्येष सदा माद्रि हृद्यर्थः परिवर्तते ।
न तु त्वां प्रसहे वक्तुमिष्टानिष्टविवक्षया ।। ७ ।।

पाण्डु बोले—माद्री! यह बात मेरे मनमें भी निरन्तर घूमती रहती है, किंतु इस विषयमें तुमसे कुछ कहनेका साहस नहीं होता था; क्योंकि पता नहीं, तुम यह प्रस्ताव सुनकर प्रसन्न होओगी या बुरा मान जाओगी। यह संदेह बराबर बना रहता था ।। ७ ।।

तव त्विदं मतं मत्वा प्रयतिष्याम्यतः परम् ।
मन्ये ध्रुवं मयोक्ता सा वचनं प्रतिपत्स्यते ।। ८ ।।

परंतु आज इस विषयमें तुम्हारी सम्मति जानकर अब मैं इसके लिये प्रयत्न करूँगा। मुझे विश्वास है, मेरे कहनेपर कुन्तीदेवी निश्चय ही मेरी बात मान लेंगी ।। ८ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्तीं पुनः पाण्डुर्विविक्त इदमब्रवीत् ।
कुलस्य मम संतानं लोकस्य च कुरु प्रियम् ।। ९ ।।
मम चापिण्डनाशाय पूर्वेषामपि चात्मनः ।
मत्प्रियार्थं च कल्याणि कुरु कल्याणमुत्तमम् ।। १० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब राजा पाण्डुने एकान्तमें कुन्तीसे यह बात कही—'कल्याणि! मेरी कुलपरम्पराका विच्छेद न हो और सम्पूर्ण जगत्‌का प्रिय हो, ऐसा कार्य करो। मेरे तथा अपने पूर्वजोंके लिये पिण्डका अभाव न हो और मेरा भी प्रिय हो, इसके लिये तुम परम उत्तम कल्याणमय कार्य करो ।। ९-१० ।।

यशसोऽर्थाय चैव त्वं कुरु कर्म सुदुष्करम् ।
प्राप्याधिपत्यमिन्द्रेण यज्ञैरिष्टं यशोऽर्थिना ।। ११ ।।

'अपने यशका विस्तार करनेके लिये तुम अत्यन्त दुष्कर कर्म करो, जैसे इन्द्रने स्वर्गका साम्राज्य प्राप्त कर लेनेके बाद भी केवल यशकी कामनासे अनेकानेक यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ।। ११ ।।

तथा मन्त्रविदो विप्रास्तपस्तप्त्वा सुदुष्करम् ।
गुरूनभ्युपगच्छन्ति यशसोऽर्थाय भाविनि ।। १२ ।।

'भामिनि! मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण अत्यन्त कठोर तपस्या करके भी यशके लिये गुरुजनोंकी शरण ग्रहण करते हैं ।। १२ ।।

तथा राजर्षयः सर्वे ब्राह्मणाश्च तपोधनाः ।

चक्रुरुच्चावचं कर्म यशसोऽर्थाय दुष्करम् ।। १३ ।।

'सम्पूर्ण राजर्षियों तथा तपस्वी ब्राह्मणोंने भी यशके लिये छोटे-बड़े कठिन कर्म किये हैं ।। १३ ।।

सा त्वं माद्रीं प्लवेनैव तारयैनामनिन्दिते ।
अपत्यसंविभागेन परां कीर्तिमवाप्नुहि ।। १४ ।।

'अनिन्दिते! इसी प्रकार तुम भी इस माद्रीको नौकापर बिठाकर पार लगा दो; इसे भी संतति देकर उत्तम यश प्राप्त करो' ।। १४ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वाब्रवीन्माद्रीं सकृच्चिन्तय दैवतम् ।
तस्मात् ते भवितापत्यमनुरूपमसंशयम् ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महाराज पाण्डुके यों कहनेपर कुन्तीने माद्रीसे कहा—'तुम एक बार किसी देवताका चिन्तन करो, उससे तुम्हें योग्य संतानकी प्राप्ति होगी, इसमें संशय नहीं है' ।। १५ ।।

ततो माद्री विचार्यैवं जगाम मनसाश्विनौ ।
तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ ।। १६ ।।

तब माद्रीने मन-ही-मन कुछ विचार करके दोनों अश्विनीकुमारोंका स्मरण किया। तब उन दोनोंने आकर माद्रीके गर्भसे दो जुड़वें पुत्र उत्पन्न किये ।। १६ ।।

नकुलं सहदेवं च रूपेणाप्रतिमौ भुवि ।
तथैव तावपि यमौ वागुवाचाशरीरिणी ।। १७ ।।

उनमेंसे एकका नाम नकुल था और दूसरेका सहदेव। पृथ्वीपर सुन्दर रूपमें उन दोनोंकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं था। पहलेकी तरह उन दोनों यमल संतानोंके विषयमें भी आकाशवाणीने कहा— ।। १७ ।।

सत्त्वरूपगुणोपेतौ भवतोऽत्यश्विनाविति ।
भासतस्तेजसात्यर्थं रूपद्रविणसम्पदा ।। १८ ।।

'ये दोनों बालक अश्विनीकुमारोंसे भी बढ़कर बुद्धि, रूप और गुणोंसे सम्पन्न होंगे। अपने तेज तथा बढ़ी-चढ़ी रूप-सम्पत्तिके द्वारा ये दोनों सदा प्रकाशित रहेंगे' ।। १८ ।।

नामानि चक्रिरे तेषां शतशृङ्गनिवासिनः ।
भक्त्या च कर्मणा चैव तथाशीर्भिर्विशाम्पते ।। १९ ।।

तदनन्तर शतशृंगनिवासी ऋषियोंने उन सबके नामकरण-संस्कार किये। उन्हें आशीर्वाद देते हुए उनकी भक्ति और कर्मके अनुसार उनके नाम रखे ।। १९ ।।

ज्येष्ठं युधिष्ठिरेत्येवं भीमसेनेति मध्यमम् ।
अर्जुनेति तृतीयं च कुन्तीपुत्रानकल्पयन् ।। २० ।।

कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्रका नाम युधिष्ठिर, मझलेका नाम भीमसेन और तीसरेका नाम अर्जुन रखा गया ।। २० ।।

पूर्वजं नकुलेत्येवं सहदेवेति चापरम् ।
माद्रीपुत्रावकथयंस्ते विप्राः प्रीतमानसाः ।। २१ ।।

उन प्रसन्नचित्त ब्राह्मणोंने माद्रीपुत्रोंमेंसे जो पहले उत्पन्न हुआ, उसका नाम नकुल और दूसरेका सहदेव निश्चित किया ।। २१ ।।

अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमाः ।
पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्च संवत्सरा इव ।। २२ ।।

वे कुरुश्रेष्ठ पाण्डवगण प्रतिवर्ष एक-एक करके उत्पन्न हुए थे, तो भी देवस्वरूप होनेके कारण पाँच संवत्सरोंकी भाँति एक-से सुशोभित हो रहे थे ।। २२ ।।

महासत्त्वा महावीर्या महाबलपराक्रमाः ।
पाण्डुर्दृष्ट्वा सुतांस्तांस्तु देवरूपान् महौजसः ।। २३ ।।
मुदं परमिकां लेभे ननन्द च नराधिपः ।
ऋषीणामपि सर्वेषां शतशृङ्गनिवासिनाम् ।। २४ ।।
प्रिया बभूवुस्तासां च तथैव मुनियोषिताम् ।
कुन्तीमथ पुनः पाण्डुर्माद्र्यर्थे समचोदयत् ।। २५ ।।

वे सभी महान् धैर्यशाली, अधिक वीर्यवान्, महाबली और पराक्रमी थे। उन देवस्वरूप महान् तेजस्वी पुत्रोंको देखकर महाराज पाण्डुको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे आनन्दमें मग्न हो गये। वे सभी बालक शतशृंगनिवासी समस्त मुनियों और मुनिपत्नियोंके प्रिय थे। तदनन्तर पाण्डुने माद्रीसे संतानकी उत्पत्ति करानेके लिये कुन्तीको पुनः प्रेरित किया ।। २३—२५ ।।

तमुवाच पृथा राजन् रहस्युक्ता तदा सती ।
उक्ता सकृद् द्वन्द्वमेषा लेभे तेनास्मि वञ्चिता ।। २६ ।।

राजन्! जब एकान्तमें पाण्डुने कुन्तीसे वह बात कही, तब सती कुन्ती पाण्डुसे इस प्रकार बोली—‘महाराज! मैंने इसे एक पुत्रके लिये नियुक्त किया था, किंतु इसने दो पा लिये। इससे मैं ठगी गयी ।। २६ ।।

बिभेम्यस्याः परिभवात् कुस्त्रीणां गतिरीदृशी ।
नाज्ञासिषमहं मूढा द्वन्द्वाह्वाने फलद्वयम् ।। २७ ।।
तस्मान्नाहं नियोक्तव्या त्वयैषोऽस्तु वरो मम ।
एवं पाण्डोः सुताः पञ्च देवदत्ता महाबलाः ।। २८ ।।
सम्भूताः कीर्तिमन्तश्च कुरुवंशविवर्धनाः ।
शुभलक्षणसम्पन्नाः सोमवत् प्रियदर्शनाः ।। २९ ।।

‘अब तो मैं इसके द्वारा मेरा तिरस्कार न हो जाय, इस बातके लिये डरती हूँ। खोटी स्त्रियोंकी ऐसी ही गति होती है। मैं ऐसी मूर्खा हूँ कि मेरी समझमें यह बात नहीं आयी कि

दो देवताओंके आवाहनसे दो पुत्ररूप फलकी प्राप्ति होती है। अतः राजन्! अब मुझे इसके लिये आप इस कार्यमें नियुक्त न कीजिये। मैं आपसे यही वर माँगती हूँ।' इस प्रकार पाण्डुके देवताओंके दिये हुए पाँच महाबली पुत्र उत्पन्न हुए, जो यशस्वी होनेके साथ ही कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले और उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न थे। चन्द्रमाकी भाँति उनका दर्शन सबको प्रिय लगता था ।। २७—२९ ।।

सिंहदर्पा महेष्वासाः सिंहविक्रान्तगामिनः ।
सिंहग्रीवा मनुष्येन्द्रा ववृधुर्देवविक्रमाः ।। ३० ।।
विवर्धमानास्ते तत्र पुण्ये हैमवते गिरौ ।
विस्मयं जनयामासुर्महर्षीणां समेयुषाम् ।। ३१ ।।

उनका अभिमान सिंहके समान था, वे बड़े-बड़े धनुष धारण करते थे। उनकी चाल-ढाल भी सिंहके ही समान थी। देवताओंके समान पराक्रमी तथा सिंहकी-सी गर्दनवाले वे नरश्रेष्ठ बढ़ने लगे। उस पुण्यमय हिमालयके शिखरपर पलते और पुष्ट होते हुए वे पाण्डुपुत्र वहाँ एकत्र होनेवाले महर्षियोंको आश्चर्यचकित कर देते थे ।। ३०-३१ ।।

(जातमात्रानुपादाय शतशृङ्गनिवासिनः ।
पाण्डोः पुत्रानमन्यन्त तापसाः स्वानिवात्मजान् ।।
ततस्तु वृष्णयः सर्वे वसुदेवपुरोगमाः ।
पाण्डुः शापभयाद् भीतः शतशृङ्गमुपेयिवान् ।
तत्रैव मुनिभिः सार्धं तापसोऽभूत् तपश्चरन् ।।
शाकमूलफलाहारस्तपस्वी नियतेन्द्रियः ।
ध्यानयोगपरो राजा बभूवेति च वादकाः ।।
प्रब्रुवन्ति स्म बहवस्तच्छ्रुत्वा शोककर्शिताः ।
पाण्डोः प्रीतिसमायुक्ताः कदा श्रोष्याम सत्कथाः ।।
इत्येवं कथयन्तस्ते वृष्णयः सह बान्धवैः ।
पाण्डोः पुत्रागमं श्रुत्वा सर्वे हर्षसमन्विताः ।।
सभाजयन्तस्तेऽन्योन्यं वसुदेवं वचोऽब्रुवन् ।

शतशृंगनिवासी तपस्वी मुनि पाण्डुके पुत्रोंको जन्मकालसे ही संरक्षणमें लेकर अपने औरस पुत्रोंकी भाँति उनका लाड़-प्यार करते थे। उधर द्वारकामें वसुदेव आदि सब वृष्णिवंशी राजा पाण्डुके विषयमें इस प्रकार विचार कर रहे थे—'अहो! राजा पाण्डु किंदम मुनिके शापसे भयभीत हो शतशृंग पर्वतपर चले गये हैं और वहीं ऋषि-मुनियोंके साथ तपस्यामें तत्पर हो पूरे तपस्वी बन गये हैं। वे शाक, मूल और फल भोजन करते हैं, तपमें लगे रहते हैं, इन्द्रियोंको काबूमें रखते हैं और सदा ध्यानयोगका ही साधन करते हैं। ये बातें बहुत-से संदेशवाहक मनुष्य बता रहे थे।' यह समाचार सुनकर प्रायः सभी यदुवंशी उनके प्रेमी होनेके नाते शोकमग्न रहते थे। वे सोचते थे—'कब हमें महाराज पाण्डुका शुभ संवाद

सुननेको मिलेगा।' एक दिन अपने भाई-बन्धुओंके साथ बैठकर सब वृष्णिवंशी जब इस प्रकार पाण्डुके विषयमें कुछ बातें कर रहे थे, उसी समय उन्होंने पाण्डुके पुत्र होनेका समाचार सुना। सुनते ही सब-के-सब हर्षविभोर हो उठे और परस्पर सद्भाव प्रकट करते हुए वसुदेवजीसे इस प्रकार बोले—

वृष्णय ऊचुः

न भवेरन् क्रियाहीनाः पाण्डोः पुत्रा महायशः ।
पाण्डोः प्रियहितान्वेषी प्रेषय त्वं पुरोहितम् ।।

वृष्णियोंने कहा—महायशस्वी वसुदेवजी! हम चाहते हैं कि राजा पाण्डुके पुत्र संस्कारहीन न हों; अतः आप पाण्डुके प्रिय और हितकी इच्छा रखकर उनके पास किसी पुरोहितको भेजिये।

वैशम्पायन उवाच

वसुदेवस्तथेत्युक्त्वा विससर्ज पुरोहितम् ।
युक्तानि च कुमाराणां पारिबर्हाण्यनेकशः ।।
कुन्तीं माद्रीं च संदिश्य दासीदासपरिच्छदम् ।
गाश्च रौप्यं हिरण्यं च प्रेषयामास भारत ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब 'बहुत अच्छा' कहकर वसुदेवजीने पुरोहितको भेजा; साथ ही उन कुमारोंके लिये उपयोगी अनेक प्रकारकी वस्त्राभूषण-सामग्री भी भेजी। कुन्ती और माद्रीके लिये भी दासी, दास, वस्त्राभूषण आदि आवश्यक सामान, गौएँ, चाँदी और सुवर्ण भिजवाये।

तानि सर्वाणि संगृह्य प्रययौ स पुरोहितः ।
तमागतं द्विजश्रेष्ठं काश्यपं वै पुरोहितम् ।।
पूजयामास विधिवत् पाण्डुः परपुरञ्जयः ।
पृथा माद्री च संहृष्टे वसुदेवं प्रशंसताम् ।।

उन सब सामग्रियोंको एकत्र करके अपने साथ ले पुरोहितने वनको प्रस्थान किया। शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले राजा पाण्डुने पुरोहित द्विजश्रेष्ठ काश्यपके आनेपर उनका विधिपूर्वक पूजन किया। कुन्ती और माद्रीने प्रसन्न होकर वसुदेवजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

ततः पाण्डुः क्रियाः सर्वाः पाण्डवानामकारयत् ।
गर्भाधानादिकृत्यानि चौलोपनयनानि च ।।
काश्यपः कृतवान् सर्वमुपाकर्म च भारत ।
चौलोपनयनादूर्ध्वमृषभाक्षा यशस्विनः ।।
वैदिकाध्ययने सर्वे समपद्यन्त पारगाः ।

तब पाण्डुने अपने पुत्रोंके गर्भाधानसे लेकर चूडाकरण और उपनयनतक सभी संस्कार-कर्म करवाये। भारत! पुरोहित काश्यपने उनके सब संस्कार सम्पन्न किये। बैलोंके समान बड़े-बड़े नेत्रोंवाले वे यशस्वी पाण्डव चूडाकरण और उपनयनके पश्चात् उपाकर्म करके वेदाध्ययनमें लगे और उसमें पारंगत हो गये।

शर्यातेः पृषतः पुत्रः शुको नाम परंतपः ।।
येन सागरपर्यन्ता धनुषा निर्जिता मही ।
अश्वमेधशतैरिष्ट्वा स महात्मा महामखैः ।।
आराध्य देवताः सर्वाः पितॄनपि महामतिः ।
शतशृङ्गे तपस्तेपे शाकमूलफलाशनः ।।
तेनोपकरणश्रेष्ठैः शिक्षया चोपबृंहिताः ।
तत्प्रसादाद् धनुर्वेदे समपद्यन्त पारगाः ।।

भारत! शर्यातिवंशजके एक पुत्र पृषत् थे, जिनका नाम था शुक। वे अपने पराक्रमसे शत्रुओंको संतप्त करनेवाले थे। उन शुकने किसी समय अपने धनुषके बलसे जीतकर समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीपर अधिकार कर लिया था। अश्वमेध-जैसे सौ बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान एवं सम्पूर्ण देवताओं तथा पितरोंकी आराधना करके परम बुद्धिमान् महात्मा राजा शुक शतशृंग पर्वतपर आकर शाक और फल-मूलका आहार करते हुए तपस्या करने लगे। उन्हीं तपस्वी नरेशने श्रेष्ठ उपकरणों और शिक्षाके द्वारा पाण्डवोंकी योग्यता बढ़ायी। राजर्षि शुकके कृपा-प्रसादसे सभी पाण्डव धनुर्वेदमें पारंगत हो गये।

गदायां पारगो भीमस्तोमरेषु युधिष्ठिरः ।
असिचर्मणि निष्णातौ यमौ सत्त्ववतां वरौ ।।
धनुर्वेदे गतः पारं सव्यसाची परंतपः ।
शुकेन समनुज्ञातो मत्समोऽयमिति प्रभो ।
अनुज्ञाय ततो राजा शक्तिं खड्गं तथा शरान् ।।
धनुश्च ददतां श्रेष्ठस्तालमात्रं महाप्रभम् ।
विपाठक्षुरनाराचान् गृध्रपत्रानलंकृतान् ।।
ददौ पार्थाय संहृष्टो महोरगसमप्रभान् ।
अवाप्य सर्वशस्त्राणि मुदितो वासवात्मजः ।।
मेने सर्वान् महीपालान् अपर्याप्तान् स्वतेजसः ।

भीमसेन गदा-संचालनमें पारंगत हुए और युधिष्ठिर तोमर फेंकनेमें। धैर्यवान् और शक्तिशाली पुरुषोंमें श्रेष्ठ दोनों माद्रीपुत्र ढाल-तलवार चलानेकी कलामें निपुण हुए। परंतप सव्यसाची अर्जुन धनुर्वेदके पारगामी विद्वान् हुए। राजन्! जब दाताओंमें श्रेष्ठ शुकने जान लिया कि अर्जुन मेरे समान धनुर्वेदके ज्ञाता हो गये, तब उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर शक्ति, खड्ग, बाण, ताड़के समान विशाल अत्यन्त चमकीला धनुष तथा विपाठ, क्षुर एवं नाराच

अर्जुनको दिये। विपाठ आदि सभी प्रकारके बाण गीधकी पाँखोंसे युक्त तथा अलंकृत थे। वे देखनेमें बड़े-बड़े सर्पोंके समान जान पड़ते थे। इन सब अस्त्र-शस्त्रोंको पाकर इन्द्रपुत्र अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे यह अनुभव करने लगे कि भूमण्डलके कोई भी नरेश तेजमें मेरी समानता नहीं कर सकते।

(एकवर्षान्तरास्त्वेवं परस्परमरिंदमाः ।
अन्ववर्धन्त पार्थाश्च माद्रीपुत्रौ तथैव च ।।)

शत्रुदमन पाण्डवोंकी आयुमें परस्पर एक-एक वर्षका अन्तर था। कुन्ती और माद्री दोनों देवियोंके पुत्र दिन-दिन बढ़ने लगे।

ते च पञ्च शतं चैव कुरुवंशविवर्धनाः ।
सर्वे ववृधुरल्पेन कालेनाप्स्विव नीरजाः ।। ३२ ।।

फिर तो जैसे जलमें कमल बढ़ता है, उसी प्रकार कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले जो एक सौ पाँच बालक हुए थे, वे सब थोड़े ही समयमें बढ़कर सयाने हो गये ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डवोत्पत्तौ त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डवोंकी उत्पत्तिविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २३ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा पाण्डुकी मृत्यु और माद्रीका उनके साथ चितारोहण

वैशम्पायन उवाच

दर्शनीयांस्ततः पुत्रान् पाण्डुः पञ्च महावने ।
तान् पश्यन् पर्वते रम्ये स्वबाहुबलमाश्रितः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस महान् वनमें रमणीय पर्वत-शिखरपर महाराज पाण्डु उन पाँचों दर्शनीय पुत्रोंको देखते हुए अपने बाहुबलके सहारे प्रसन्नतापूर्वक निवास करने लगे ।। १ ।।

(पूर्णे चतुर्दशे वर्षे फाल्गुनस्य च धीमतः ।
तदा उत्तरफल्गुन्यां प्रवृत्ते स्वस्तिवाचने ।।
रक्षणे विस्मृता कुन्ती व्यग्रा ब्राह्मणभोजने ।
पुरोहितेन सहिता ब्राह्मणान् पर्यवेषयत् ।।
तस्मिन् काले समाहूय माद्रीं मदनमोहितः ।)
सुपुष्पितवने काले कदाचिन्मधुमाधवे ।
भूतसम्मोहने राजा सभार्यो व्यचरद् वनम् ।। २ ।।

एक दिनकी बात है, बुद्धिमान् अर्जुनका चौदहवाँ वर्ष पूरा हुआ था। उनकी जन्म-तिथिको उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें ब्राह्मणलोगोंने स्वस्तिवाचन प्रारम्भ किया। उस समय कुन्तीदेवीको महाराज पाण्डुकी देखभालका ध्यान न रहा। वे ब्राह्मणोंको भोजन करानेमें लग गयीं। पुरोहितके साथ स्वयं ही उनको रसोई परोसने लगीं। इसी समय काममोहित पाण्डु माद्रीको बुलाकर अपने साथ ले गये। उस समय चैत्र और वैशाखके महीनोंकी संधिका समय था, समूचा वन भाँति-भाँतिके सुन्दर पुष्पोंसे अलंकृत हो अपनी अनुपम शोभासे समस्त प्राणियोंको मोहित कर रहा था, राजा पाण्डु अपनी छोटी रानीके साथ वनमें विचरने लगे ।। २ ।।

पलाशैस्तिलकैश्चूतैश्चम्पकैः पारिभद्रकैः ।
अन्यैश्च बहुभिर्वृक्षैः फलपुष्पसमृद्धिभिः ।। ३ ।।
जलस्थानैश्च विविधैः पद्मिनीभिश्च शोभितम् ।
पाण्डोर्वनं तत् सम्प्रेक्ष्य प्रजज्ञे हृदि मन्मथः ।। ४ ।।

पलाश, तिलक, आम, चम्पा, पारिभद्रक तथा और भी बहुत-से वृक्ष फल-फूलोंकी समृद्धिसे भरे हुए थे, जो उस वनकी शोभा बढ़ा रहे थे। नाना प्रकारके जलाशयों तथा कमलोंसे सुशोभित उस वनकी मनोहर छटा देखकर राजा पाण्डुके मनमें कामका संचार हो गया ।। ३-४ ।।

प्रहृष्टमनसं तत्र विचरन्तं यथामरम् ।
तं माद्र्यनुजगामैका वसनं बिभ्रती शुभम् ।। ५ ।।

वे मनमें हर्षोल्लास भरकर देवताकी भाँति वहाँ विचर रहे थे। उस समय माद्री सुन्दर वस्त्र पहने अकेली उनके पीछे-पीछे जा रही थी ।। ५ ।।

समीक्षमाणः स तु तां वयःस्थां तनुवाससम् ।
तस्य कामः प्रववृधे गहनेऽग्निरिवोद्‌गतः ।। ६ ।।

वह युवावस्थासे युक्त थी और उसके शरीरपर झीनी-झीनी साड़ी सुशोभित थी। उसकी ओर देखते ही पाण्डुके मनमें कामनाकी आग जल उठी, मानो घने वनमें दावाग्नि प्रज्वलित हो उठी हो ।। ६ ।।

रहस्येकां तु तां दृष्ट्वा राजा राजीवलोचनाम् ।
न शशाक नियन्तुं तं कामं कामवशीकृतः ।। ७ ।।

एकान्त प्रदेशमें कमलनयनी माद्रीको अकेली देखकर राजा कामका वेग रोक न सके, वे पूर्णतः कामदेवके अधीन हो गये थे ।। ७ ।।

तत एनां बलाद् राजा निजग्राह रहो गताम् ।
वार्यमाणस्तया देव्या विस्फुरन्त्या यथाबलम् ।। ८ ।।

अतः एकान्तमें मिली हुई माद्रीको महाराज पाण्डुने बलपूर्वक पकड़ लिया। देवी माद्री राजाकी पकड़से छूटनेके लिये यथाशक्ति चेष्टा करती हुई उन्हें बार-बार रोक रही थी ।। ८ ।।

स तु कामपरीतात्मा तं शापं नान्वबुध्यत ।
माद्रीं मैथुनधर्मेण सोऽन्वगच्छद् बलादिव ।। ९ ।।
जीवितान्ताय कौरव्य मन्मथस्य वशं गतः ।
शापजं भयमुत्सृज्य विधिना सम्प्रचोदितः ।। १० ।।

परंतु उनके मनपर तो कामका वेग सवार था; अतः उन्होंने मृगरूपधारी मुनिसे प्राप्त हुए शापका विचार नहीं किया। कुरुनन्दन जनमेजय! वे कामके वशमें हो गये थे, इसलिये प्रारब्धसे प्रेरित हो शापके भयकी अवहेलना करके स्वयं ही अपने जीवनका अन्त करनेके लिये बलपूर्वक मैथुन करनेकी इच्छा रखकर माद्रीसे लिपट गये ।। ९-१० ।।

तस्य कामात्मनो बुद्धिः साक्षात् कालेन मोहिता ।
सम्प्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रणष्टा सह चेतसा ।। ११ ।।

साक्षात् कालने कामात्मा पाण्डुकी बुद्धि मोह ली थी। उनकी बुद्धि सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मथकर विचार-शक्तिके साथ-साथ स्वयं भी नष्ट हो गयी थी ।। ११ ।।

स तया सह संगम्य भार्यया कुरुनन्दनः ।
पाण्डुः परमधर्मात्मा युयुजे कालधर्मणा ।। १२ ।।

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले परम धर्मात्मा महाराज पाण्डु इस प्रकार अपनी धर्मपत्नी माद्रीसे समागम करके कालके गालमें पड़ गये ।। १२ ।।

ततो माद्री समालिङ्गय राजानं गतचेतसम् ।
मुमोच दुःखजं शब्दं पुनः पुनरतीव हि ।। १३ ।।

तब माद्री राजाके शवसे लिपटकर बार-बार अत्यन्त दुःखभरी वाणीमें विलाप करने लगी ।। १३ ।।

सह पुत्रैस्ततः कुन्ती माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
आजग्मुः सहितास्तत्र यत्र राजा तथागतः ।। १४ ।।

इतनेमें ही पुत्रोंसहित कुन्ती और दोनों पाण्डुनन्दन माद्रीकुमार एक साथ उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ राजा पाण्डु मृतकावस्थामें पड़े थे ।। १४ ।।

ततो माद्र्यब्रवीद् राजन्नार्ता कुन्तीमिदं वचः ।
एकैव त्वमिहागच्छ तिष्ठन्त्वत्रैव दारकाः ।। १५ ।।

जनमेजय! यह देख शोकातुर माद्रीने कुन्तीसे कहा—‘बहिन! आप अकेली ही यहाँ आयें। बच्चोंको वहीं रहने दें’ ।। १५ ।।

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्यास्तत्रैवाधाय दारकान् ।
हताहमिति विक्रुश्य सहसैवाजगाम सा ।। १६ ।।

माद्रीका यह वचन सुनकर कुन्तीने सब बालकोंको वहीं रोक दिया और ‘हाय! मैं मारी गयी’ इस प्रकार आर्तनाद करती हुई सहसा माद्रीके पास आ पहुँची ।। १६ ।।

दृष्ट्वा पाण्डुं च माद्रीं च शयानौ धरणीतले ।
कुन्ती शोकपरीताङ्गी विललाप सुदुःखिता ।। १७ ।।

आकर उसने देखा, पाण्डु और माद्री धरतीपर पड़े हुए हैं। यह देख कुन्तीके सम्पूर्ण शरीरमें शोकाग्नि व्याप्त हो गयी और वह अत्यन्त दुःखी होकर विलाप करने लगी— ।। १७ ।।

रक्ष्यमाणो मया नित्यं वीरः सततमात्मवान् ।
कथं त्वामत्यतिक्रान्तः शापं जानन् वनौकसः ।। १८ ।।

‘माद्री! मैं सदा वीर एवं जितेन्द्रिय महाराजकी रक्षा करती आ रही थी। उन्होंने मृगके शापकी बात जानते हुए भी तुम्हारे साथ बलपूर्वक समागम कैसे किया? ।। १८ ।।

ननु नाम त्वया माद्रि रक्षितव्यो नराधिपः ।
सा कथं लोभितवती विजने त्वं नराधिपम् ।। १९ ।।

‘माद्री! तुम्हें तो महाराजकी रक्षा करनी चाहिये थी। तुमने एकान्तमें उन्हें लुभाया क्यों? ।। १९ ।।

कथं दीनस्य सततं त्वामासाद्य रहोगताम् ।
तं विचिन्तयतः शापं प्रहर्षः समजायत ।। २० ।।

'वे तो उस शापका चिन्तन करते हुए सदा दीन और उदास बने रहते थे, फिर तुझको एकान्तमें पाकर उनके मनमें कामजनित हर्ष कैसे उत्पन्न हुआ? ।। २० ।।

धन्या त्वमसि बाह्लीकि मत्तो भाग्यतरा तथा ।
दृष्टवत्यसि यद् वक्त्रं प्रहृष्टस्य महीपतेः ।। २१ ।।

'बाह्लीकराजकुमारी! तुम धन्य हो, मुझसे बड़भागिनी हो; क्योंकि तुमने हर्षोल्लाससे भरे हुए महाराजके मुखचन्द्रका दर्शन किया है' ।। २१ ।।

माद्र्युवाच

विलपन्त्या मया देवि वार्यमाणेन चासकृत् ।
आत्मा न वारितोऽनेन सत्यं दिष्टं चिकीर्षुणा ।। २२ ।।

माद्री बोली—महारानी! मैंने रोते-बिलखते बार-बार महाराजको रोकनेकी चेष्टा की; परंतु वे तो उस शापजनित दुर्भाग्यको मोहके कारण मानो सत्य करना चाहते थे, इसलिये अपने-आपको रोक न सके ।। २२ ।।

वैशम्पायन उवाच

(तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कुन्ती शोकाग्नितापिता ।
पपात सहसा भूमौ छिन्नमूल इव द्रुमः ।।
निश्चेष्टा पतिता भूमौ मोहान्नैव चचाल सा ।।
कुन्तीमुत्थाप्य माद्री च मोहेनाविष्टचेतनाम् ।
एह्येहीति तां कुन्तीं दर्शयामास कौरवम् ।।
पादयोः पतिता कुन्ती पुनरुत्थाय भूमिपम् ।
सस्मितेन तु वक्त्रेण गदन्तमिव भारत ।
परिरभ्य तदा मोहाद् विललापाकुलेन्द्रिया ।।
माद्री चापि समालिङ्ग्य राजानं विललाप सा ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! माद्रीका यह वचन सुनकर कुन्ती शोकाग्निसे संतप्त हो जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी और गिरते ही मूर्च्छा आ जानेके कारण निश्चेष्ट पड़ी रही, हिल-डुल भी न सकी। वह मूर्च्छावश अचेत हो गयी थी। माद्रीने उसे उठाया और कहा—'बहिन! आइये, आइये!' यों कहकर उसने कुन्तीको कुरुराज पाण्डुका दर्शन कराया। कुन्ती उठकर पुनः महाराज पाण्डुके चरणोंमें गिर पड़ी। महाराजके मुखपर मुसकराहट थी और ऐसा जान पड़ता था मानो वे अभी-अभी कोई बात कहने जा रहे हैं। उस समय मोहवश उन्हें हृदयसे लगाकर कुन्ती विलाप करने लगी। उसकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयी थीं। इसी प्रकार माद्री भी राजाका आलिंगन करके करुण विलाप करने लगी।

तं तथाधिगतं पाण्डुमृषयः सह चारणैः ।

अभ्येत्य सहिताः सर्वे शोकादश्रूण्यवर्तयन् ।।
अस्तं गतमिवादित्यं सुशुष्कमिव सागरम् ।
दृष्ट्वा पाण्डुं नरव्याघ्रं शोचन्ति स्म महर्षयः ।।
समानशोका ऋषयः पाण्डवाश्च बभूविरे ।
ते समाश्वासिते विप्रैः विलेपतुरनिन्दिते ।।

इस प्रकार मृत्यु-शय्यापर पड़े हुए पाण्डुके पास चारणोंसहित सभी ऋषि-मुनि जुट आये और शोकवश आँसू बहाने लगे। अस्ताचलको पहुँचे हुए सूर्य तथा एकदम सूखे हुए समुद्रकी भाँति नरश्रेष्ठ पाण्डुको देखकर सभी महर्षि शोकमग्न हो गये। उस समय ऋषियोंको तथा पाण्डुपुत्रोंको समानरूपसे शोकका अनुभव हो रहा था। ब्राह्मणोंने पाण्डुकी दोनों सती-साध्वी रानियोंको समझा-बुझाकर बहुत आश्वासन दिया, तो भी उनका विलाप बंद नहीं हुआ।

कुन्त्युवाच

हा राजन् कस्य नौ हित्वा गच्छसि त्रिदशालयम् ।।
हा राजन् मम मन्दायाः कथं माद्रीं समेत्य वै ।
निधनं प्राप्तवान् राजन् मद्भाग्यपरिसंक्षयात् ।।
युधिष्ठिरं भीमसेनमर्जुनं च यमावुभौ ।
कस्य हित्वा प्रियान् पुत्रान् प्रयातोऽसि विशाम्पते ।।
नूनं त्वां त्रिदशा देवाः प्रतिनन्दन्ति भारत ।
यथा हि तप उग्रं ते चरितं विप्रसंसदि ।।
आवाभ्यां सहितो राजन् गमिष्यसि दिवं शुभम् ।
आजमीढाजमीढानां कर्मणा चरितां गतिम् ।।

कुन्ती बोली—हा! महाराज! आप हम दोनोंको किसे सौंपकर स्वर्गलोकमें जा रहे हैं। हाय! मैं कितनी भाग्यहीना हूँ। मेरे राजा! आप किसलिये अकेली माद्रीसे मिलकर सहसा कालके गालमें चले गये। मेरा भाग्य नष्ट हो जानेके कारण ही आज यह दिन देखना पड़ा है। प्रजानाथ! युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेव—इन प्यारे पुत्रोंको किसके जिम्मे छोड़कर आप चले गये? भारत! निश्चय ही देवता आपका अभिनन्दन करते होंगे; क्योंकि आपने ब्राह्मणोंकी मण्डलीमें रहकर कठोर तपस्या की है। अजमीढकुलनन्दन! आपके पूर्वजोंने पुण्य-कर्मोंद्वारा जिस गतिको प्राप्त किया है, उसी शुभ स्वर्गीय गतिको आप हम दोनों पत्नियोंके साथ प्राप्त करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

(विलपित्वा भृशं त्वेवं निःसंज्ञे पतिते भुवि ।
युधिष्ठिरमुखाः सर्वे पाण्डवा वेदपारगाः ।

तेऽप्यागत्य पितुर्मूले निःसंज्ञाः पतिता भुवि ।।
पाण्डोः पादौ परिष्वज्य विलपन्ति स्म पाण्डवाः ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार अत्यन्त विलाप करके कुन्ती और माद्री दोनों अचेत हो पृथ्वीपर गिर पड़ीं। युधिष्ठिर आदि सभी पाण्डव वेदविद्यामें पारंगत हो चुके थे, वे भी पिताके समीप आकर संज्ञाशून्य हो पृथ्वीपर गिर पड़े। सभी पाण्डव पाण्डुके चरणोंको हृदयसे लगाकर विलाप करने लगे।

कुन्त्युवाच

अहं ज्येष्ठा धर्मपत्नी ज्येष्ठं धर्मफलं मम ।
अवश्यम्भाविनो भावान्मा मां माद्रि निवर्तय ।। २३ ।।
अन्विष्यामीह भर्तारमहं प्रेतवशं गतम् ।
उत्तिष्ठ त्वं विसृज्यैनमिमान् पालय दारकान् ।। २४ ।।
अवाप्य पुत्राँल्लब्धात्मा वीरपत्नीत्वमर्थये ।

कुन्तीने कहा—माद्री! मैं इनकी ज्येष्ठ धर्मपत्नी हूँ, अतः धर्मके ज्येष्ठ फलपर भी मेरा ही अधिकार है। जो अवश्यम्भावी बात है, उससे मुझे मत रोको। मैं मृत्युके वशमें पड़े हुए अपने स्वामीका अनुगमन करूँगी। अब तुम इन्हें छोड़कर उठो और इन बच्चोंका पालन करो। पुत्रोंको पाकर मेरा लौकिक मनोरथ पूर्ण हो चुका है; अब मैं पतिके साथ दग्ध होकर वीरपत्नीका पद पाना चाहती हूँ ।। २३-२४ ।।

माद्र्युवाच

अहमेवानुयास्यामि भर्तारमपलायिनम् ।
न हि तृप्तास्मि कामानां ज्येष्ठा मामनुमन्यताम् ।। २५ ।।

माद्री बोली—रणभूमिसे कभी पीठ न दिखानेवाले अपने पतिदेवके साथ मैं ही जाऊँगी; क्योंकि उनके साथ होनेवाले कामभोगसे मैं तृप्त नहीं हो सकी हूँ। आप बड़ी बहिन हैं, इसलिये मुझे आपको आज्ञा प्रदान करनी चाहिये ।। २५ ।।

मां चाभिगम्य क्षीणोऽयं कामाद् भरतसत्तमः ।
तमुच्छिन्द्यामस्य कामं कथं नु यमसादने ।। २६ ।।

ये भरतश्रेष्ठ मेरे प्रति आसक्त हो मुझसे समागम करके मृत्युको प्राप्त हुए हैं; अतः मुझे किसी प्रकार परलोकमें पहुँचकर उनकी उस कामवासनाकी निवृत्ति करनी चाहिये ।। २६ ।।

न चाप्यहं वर्तयन्ती निर्विशेषं सुतेषु ते ।
वृत्तिमार्ये चरिष्यामि स्पृशेदेनस्तथा च माम् ।। २७ ।।

आर्ये! मैं आपके पुत्रोंके साथ अपने सगे पुत्रोंकी भाँति बर्ताव नहीं कर सकूँगी। उस दशामें मुझे पाप लगेगा ।। २७ ।।

तस्मान्मे सुतयोः कुन्ति वर्तितव्यं स्वपुत्रवत् ।
मां च कामयमानोऽयं राजा प्रेतवशं गतः ।। २८ ।।

अतः आप ही जीवित रहकर मेरे पुत्रोंका भी अपने पुत्रोंके समान ही पालन कीजियेगा। इसके सिवा ये महाराज मेरी ही कामना रखकर मृत्युके अधीन हुए हैं ।। २८ ।।

वैशम्पायन उवाच

(ऋषयस्तान् समाश्वास्य पाण्डवान् सत्यविक्रमान् ।
ऊचुः कुन्तीं च माद्रीं च समाश्वास्य तपस्विनः ।।
सुभगे बालपुत्रे तु न मर्तव्यं कथंचन ।
पाण्डवांश्चापि नेष्यामः कुरुराष्ट्रं परंतपान् ।।
अधर्मेष्वर्थजातेषु धृतराष्ट्रश्च लोभवान् ।
स कदाचिन्न वर्तेत पाण्डवेषु यथाविधि ।।
कुन्त्याश्च वृष्णयो नाथाः कुन्तिभोजस्तथैव च ।
माद्र्याश्च बलिनां श्रेष्ठः शल्यो भ्राता महारथः ।।
भर्त्रा तु मरणं सार्धं फलवन्नात्र संशयः ।
युवाभ्यां दुष्करं चैतद् वदन्ति द्विजपुङ्गवाः ।।
मृते भर्तरि या साध्वी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
यमैश्च नियमैः श्रान्ता मनोवाक्कायजैः शुभैः ।।
व्रतोपवासनियमैः कृच्छ्रैश्चान्द्रायणादिभिः ।
भूशय्यां क्षारलवणवर्जनं चैकभोजनम् ।।
येन केनापि विधिना देहशोषणतत्परा ।
देहपोषणसंयुक्ता विषयैर्हृतचेतना ।।
देहव्ययेन नरकं महदाप्नोत्यसंशयः ।
तस्मात्संशोषयेद् देहं विषया नाशमाप्नुयुः ।।
भर्तारं चिन्तयन्ती सा भर्तारं निस्तरेच्छुभा ।
तारितश्चापि भर्ता स्यादात्मा पुत्रस्तथैव च ।।
तस्माज्जीवितमेवैतद् युवयोर्विद्म शोभनम् ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर तपस्वी ऋषियोंने सत्यपराक्रमी पाण्डवोंको धीरज बँधाकर कुन्ती और माद्रीको भी आश्वासन देते हुए कहा—‘सुभगे! तुम दोनोंके पुत्र अभी बालक हैं, अतः तुम्हें किसी प्रकार देह-त्याग नहीं करना चाहिये। हमलोग शत्रुदमन पाण्डवोंको कौरव राष्ट्रकी राजधानीमें पहुँचा देंगे। राजा धृतराष्ट्र अधर्ममय धनके लिये लोभ रखता है, अतः वह कभी पाण्डवोंके साथ यथायोग्य बर्ताव नहीं कर सकता। कुन्तीके रक्षक एवं सहायक वृष्णिवंशी और राजा कुन्तिभोज हैं तथा माद्रीके बलवानोंमें श्रेष्ठ

महारथी शल्य उसके भाई हैं। इसमें संदेह नहीं कि पतिके साथ मृत्यु स्वीकार करना पत्नीके लिये महान् फलदायक होता है; तथापि तुम दोनोंके लिये यह कार्य अत्यन्त कठोर है, यह बात सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण कहते हैं। जो स्त्री साध्वी होती है, वह अपने पतिकी मृत्यु हो जानेके बाद ब्रह्मचर्यके पालनमें अविचलभावसे लगी रहती है, यम और नियमोंके पालनका क्लेश सहन करती है और मन, वाणी एवं शरीरद्वारा किये जानेवाले शुभ कर्मों तथा कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत, उपवास और नियमोंका अनुष्ठान करती है। वह क्षार (पापड़ आदि) और लवणका त्याग करके एक बार ही भोजन करती और भूमिपर शयन करती है। वह जिस किसी प्रकारसे अपने शरीरको सुखानेके प्रयत्नमें लगी रहती है। किंतु विषयोंके द्वारा नष्ट हुई बुद्धिवाली जो नारी देहको पुष्ट करनेमें ही लगी रहती है, वह तो इस (दुर्लभ मनुष्य-) शरीरको व्यर्थ ही नष्ट करके निःसंदेह महान् नरकको प्राप्त होती है। अतः साध्वी स्त्रीको उचित है कि वह अपने शरीरको सुखाये, जिससे सम्पूर्ण विषय-कामनाएँ नष्ट हो जायँ। इस प्रकार उपर्युक्त धर्मका पालन करनेवाली जो शुभलक्षणा नारी अपने पतिदेवका चिन्तन करती रहती है, वह अपने पतिका भी उद्धार कर देती है। इस तरह वह स्वयं अपनेको, अपने पतिको एवं पुत्रको भी संसारसे तार देती है। अतः हमलोग तो यही अच्छा मानते हैं कि तुम दोनों जीवन धारण करो'।

कुन्त्युवाच

यथा पाण्डोश्च निर्देशस्तथा विप्रगणस्य च ।
आज्ञा शिरसि निक्षिप्ता करिष्यामि च तत् तथा ।।
यथाऽऽहुर्भगवन्तो हि तन्मन्ये शोभनं परम् ।
भर्तुश्च मम पुत्राणां मम चैव न संशयः ।।

कुन्ती बोली—महात्माओ! हमारे लिये महाराज पाण्डुकी आज्ञा जैसे शिरोधार्य है, उसी प्रकार आप सब ब्राह्मणोंकी भी है। आपका आदेश मैं सिर-माथे रखती हूँ। आप जैसा कहेंगे, वैसा ही करूँगी। पूज्यपाद विप्रगण जैसा कहते हैं, उसीको मैं अपने पति, पुत्रों तथा अपने-आपके लिये भी परम कल्याणकारी समझती हूँ—इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

माद्र्युवाच

कुन्ती समर्था पुत्राणां योगक्षेमस्य धारणे ।
अस्या हि न समा बुद्ध्या यद्यपि स्यादरुन्धती ।।
कुन्त्याश्च वृष्णयो नाथाः कुन्तिभोजस्तथैव च ।
नाहं त्वमिव पुत्राणां समर्था धारणे तथा ।।
साहं भर्तारमन्वेष्ये अतृप्ता नन्वहं तथा ।
भर्तृलोकस्य तु ज्येष्ठा देवी मामनुमन्यताम् ।।
धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य सत्यधर्मस्य धीमतः ।

पादौ परिचरिष्यामि तदार्ये ह्यनुमन्यताम् ।।

माद्रीने कहा—कुन्तीदेवी सभी पुत्रोंके योग-क्षेमके निर्वाहमें—पालन-पोषणमें समर्थ हैं। कोई भी स्त्री, चाहे वह अरुन्धती ही क्यों न हो, बुद्धिमें इनकी समानता नहीं कर सकती। वृष्णिवंशके लोग तथा महाराज कुन्तिभोज भी कुन्तीके रक्षक एवं सहायक हैं। बहिन! पुत्रोंके पालन-पोषणकी शक्ति जैसी आपमें है, वैसी मुझमें नहीं है। अतः मैं पतिका ही अनुगमन करना चाहती हूँ। पतिके संयोग-सुखसे मेरी तृप्ति भी नहीं हुई है। अतः आप बड़ी महारानीसे मेरी प्रार्थना है कि मुझे पतिलोकमें जानेकी आज्ञा दें। मैं वहीं धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और बुद्धिमान् पतिके चरणोंकी सेवा करूँगी। आर्ये! आप मेरी इस इच्छाका अनुमोदन करें।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाराज मद्रराजसुता शुभा ।
ददौ कुन्त्यै यमौ माद्री शिरसाभिप्रणम्य च ।।
अभिवाद्य ऋषीन् सर्वान् परिष्वज्य च पाण्डवान् ।
मूर्ध्न्युपाघ्राय बहुशः पार्थानात्मसुतौ तथा ।।
हस्ते युधिष्ठिरं गृह्य माद्री वाक्यमभाषत ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! यों कहकर मद्रदेशकी राजकुमारी सती-साध्वी माद्रीने कुन्तीको प्रणाम करके अपने दोनों जुड़वें पुत्र उन्हींको सौंप दिये। तत्पश्चात् उसने महर्षियोंको मस्तक नवाकर पाण्डवोंको हृदयसे लगा लिया और बारंबार कुन्तीके तथा अपने पुत्रोंके मस्तक सूँघकर युधिष्ठिरका हाथ पकड़कर कहा।

माद्र्युवाच

कुन्ती माता अहं धात्री युष्माकं तु पिता मृतः ।
युधिष्ठिरः पिता ज्येष्ठश्चतुर्णां धर्मतः सदा ।।
वृद्धानुशासने सक्ताः सत्यधर्मपरायणाः ।
तादृशा न विनश्यन्ति नैव यान्ति पराभवम् ।।
तस्मात् सर्वे कुरुध्वं वै गुरुवृत्तिमतन्द्रिताः ।।

माद्री बोली—बच्चो! कुन्तीदेवी ही तुम सबोंकी असली माता हैं, मैं तो केवल दूध पिलानेवाली धाय थी। तुम्हारे पिता तो मर गये। अब बड़े भैया युधिष्ठिर ही धर्मतः तुम चारों भाइयोंके पिता हैं। तुम सब बड़े-बूढ़ों—गुरुजनोंकी सेवामें संलग्न रहना और सत्य एवं धर्मके पालनसे कभी मुँह न मोड़ना। ऐसा करनेवाले लोग कभी नष्ट नहीं होते और न कभी उनकी पराजय ही होती है। अतः तुम सब भाई आलस्य छोड़कर गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर रहना।

वैशम्पायन उवाच

ऋषीणां च पृथायाश्च नमस्कृत्य पुनः पुनः ।
आयासकृपणा माद्री प्रत्युवाच पृथां तथा ।।
धन्या त्वमसि वार्ष्णेयि नास्ति स्त्री सदृशी त्वया ।
वीर्यं तेजश्च योगं च माहात्म्यं च यशस्विनाम् ।।
कुन्ति द्रक्ष्यसि पुत्राणां पञ्चानाममितौजसाम् ।
ऋषीणां संनिधावेषां मया वागभ्युदीरिता ।।
स्वर्गं दिदृक्षमाणाया ममैषा न वृथा भवेत् ।
आर्या चाप्यभिवाद्या च मम पूज्या च सर्वतः ।।
ज्येष्ठा वरिष्ठा त्वं देवि भूषिता स्वगुणैः शुभैः ।
अभ्यनुज्ञातुमिच्छामि त्वया यादवनन्दिनि ।।
धर्मं स्वर्गं च कीर्तिं च त्वत्कृतेऽहमवाप्नुयाम् ।
यथा तथा विधत्स्वेह मा च कार्षीर्विचारणाम् ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! तत्पश्चात् माद्रीने ऋषियों तथा कुन्तीको बारंबार नमस्कार करके, क्लेशसे क्लान्त होकर कुन्तीदेवीसे दीनतापूर्वक कहा—'वृष्णिकुलनन्दिनि! आप धन्य हैं। आपकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं है; क्योंकि आपको इन अमिततेजस्वी तथा यशस्वी पाँचों पुत्रोंके बल, पराक्रम, तेज, योगबल तथा माहात्म्य देखनेका सौभाग्य प्राप्त होगा। मैंने स्वर्गलोकमें जानेकी इच्छा रखकर इन महर्षियोंके समीप जो यह बात कही है, वह कदापि मिथ्या न हो। देवि! आप मेरी गुरु, वन्दनीया तथा पूजनीया हैं; अवस्थामें बड़ी तथा गुणोंमें भी श्रेष्ठ हैं। समस्त नैसर्गिक सद्‌गुण आपकी शोभा बढ़ाते हैं। यादवनन्दिनि! अब मैं आपकी आज्ञा चाहती हूँ। आपके प्रयत्नद्वारा जैसे भी मुझे धर्म, स्वर्ग तथा कीर्तिकी प्राप्ति हो, वैसा सहयोग आप इस अवसरपर करें। मनमें किसी दूसरे विचारको स्थान न दें'।

बाष्पसंदिग्धया वाचा कुन्त्युवाच यशस्विनी ।।
अनुज्ञातासि कल्याणि त्रिदिवे संगमोऽस्तु ते ।
भर्त्रा सह विशालाक्षि क्षिप्रमद्यैव भामिनि ।।
संगता स्वर्गलोके त्वं रमेथाः शाश्वतीः समाः ।।)
राज्ञः शरीरेण सह ममापीदं कलेवरम् ।
दग्धव्यं सुप्रतिच्छन्नमेतदार्ये प्रियं कुरु ।। २९ ।।

तब यशस्विनी कुन्तीने बाष्पगद्‌गद वाणीमें कहा—'कल्याणि! मैंने तुम्हें आज्ञा दे दी। विशाललोचने! तुम्हें आज ही स्वर्गलोकमें पतिका समागम प्राप्त हो। भामिनि! तुम स्वर्गमें पतिसे मिलकर अनन्त वर्षोंतक प्रसन्न रहो।'

माद्री बोली—'मेरे इस शरीरको महाराजके शरीरके साथ ही अच्छी प्रकार ढँककर दग्ध कर देना चाहिये। बड़ी बहिन! आप मेरा यह प्रिय कार्य कर दें ।। २९ ।।

दारकेष्वप्रमत्ता च भवेथाश्च हिता मम ।
अतोऽन्यन्न प्रपश्यामि संदेष्टव्यं हि किंचन ।। ३० ।।

'मेरे पुत्रोंका हित चाहती हुई सावधान रहकर उनका पालन-पोषण करें। इसके सिवा दूसरी कोई बात मुझे आपसे कहनेयोग्य नहीं जान पड़ती' ।। ३० ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं चिताग्निस्थं धर्मपत्नी नरर्षभम् ।
मद्रराजसुता तूर्णमन्वारोहद् यशस्विनी ।। ३१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीसे यह कहकर पाण्डुकी यशस्विनी धर्मपत्नी माद्री चिताकी आगपर रखे हुए नरश्रेष्ठ पाण्डुके शवके साथ स्वयं भी चितापर जा बैठी ।। ३१ ।।

(ततः पुरोहितः स्नात्वा प्रेतकर्मणि पारगः ।
हिरण्यशकलान्याज्यं तिलान् दधि च तण्डुलान् ।।
उदकुम्भं सपरशुं समानीय तपस्विभिः ।
अश्वमेधाग्निमाहृत्य यथान्यायं समन्ततः ।।
काश्यपः कारयामास पाण्डोः प्रेतस्य तां क्रियाम् ।।

तदनन्तर प्रेतकर्मके पारंगत विद्वान् पुरोहित काश्यपने स्नान करके सुवर्णखण्ड, घृत, तिल, दही, चावल, जलसे भरा घड़ा और फरसा आदि वस्तुओंको एकत्र करके तपस्वी मुनियोंद्वारा अश्वमेधकी अग्नि मँगवायी और उसे चारों ओरसे चितासे छुलाकर यथायोग्य शास्त्रीय विधिसे पाण्डुका दाह-संस्कार करवाया।

अहताम्बरसंवीतो भ्रातृभिः सहितोऽनघः ।
उदकं कृतवांस्तत्र पुरोहितमते स्थितः ।।
अर्हतस्तस्य कृत्यानि शतशृङ्गनिवासिनः ।
तापसा विधिवच्चक्रुश्चारणा ऋषिभिः सह ।।)

भाइयोंसहित निष्पाप युधिष्ठिरने नूतन वस्त्र धारण करके पुरोहितकी आज्ञाके अनुसार जलांजलि देनेका कार्य पूरा किया। शतशृंगनिवासी तपस्वी मुनियों और चारणोंने आदरणीय राजा पाण्डुके परलोक-सम्बन्धी सब कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न किये।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डूपरमे
चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुके परलोकगमनविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५० १/२ श्लोक मिलाकर कुल ८१ १/२ श्लोक हैं)

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

ऋषियोंका कुन्ती और पाण्डवोंको लेकर हस्तिनापुर जाना और उन्हें भीष्म आदिके हाथों सौंपना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डोरुपरमं दृष्ट्वा देवकल्पा महर्षयः ।
ततो मन्त्रविदः सर्वे मन्त्रयांचक्रिरे मिथः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा पाण्डुकी मृत्यु हुई देख वहाँ रहनेवाले, देवताओंके समान तेजस्वी सम्पूर्ण मन्त्रज्ञ महर्षियोंने आपसमें सलाह की ।। १ ।।

तापसा ऊचुः

हित्वा राज्यं च राष्ट्रं च स महात्मा महायशाः ।
अस्मिन् स्थाने तपस्तप्त्वा तापसाञ्शरणं गतः ।। २ ।।

तपस्वी बोले—महान् यशस्वी महात्मा राजा पाण्डु अपना राज्य तथा राष्ट्र छोड़कर इस स्थानपर तपस्या करते हुए तपस्वी मुनियोंकी शरणमें रहते थे ।। २ ।।

स जातमात्रान् पुत्रांश्च दारांश्च भवतामिह ।
प्रादायोपनिधिं राजा पाण्डुः स्वर्गमितो गतः ।। ३ ।।

वे राजा पाण्डु अपनी पत्नी और नवजात पुत्रोंको आपलोगोंके पास धरोहर रखकर यहाँसे स्वर्गलोक चले गये ।। ३ ।।

तस्येमानात्मजान् देहं भार्यां च सुमहात्मनः ।
स्वराष्ट्रं गृह्य गच्छामो धर्म एष हि नः स्मृतः ।। ४ ।।

उनके इन पुत्रोंको, पाण्डु और माद्रीके शरीरोंकी अस्थियोंको तथा उन महात्मा नरेशकी महारानी कुन्तीको लेकर हमलोग उनकी राजधानीमें चलें। इस समय हमारे लिये यही धर्म प्रतीत होता है ।। ४ ।।

वैशम्पायन उवाच

ते परस्परमामन्त्र्य देवकल्पा महर्षयः ।
पाण्डोः पुत्रान् पुरस्कृत्य नगरं नागसाह्वयम् ।। ५ ।।
उदारमनसः सिद्धा गमने चक्रिरे मनः ।
भीष्माय पाण्डवान् दातुं धृतराष्ट्राय चैव हि ।। ६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार परस्पर सलाह करके उन देवतुल्य उदारचेता सिद्ध महर्षियोंने पाण्डवोंको भीष्म एवं धृतराष्ट्रके हाथों सौंप देनेके लिये पाण्डुपुत्रोंको आगे करके हस्तिनापुर नगरमें जानेका विचार किया ।। ५-६ ।।

तस्मिन्नेव क्षणे सर्वे तानादाय प्रतस्थिरे ।
पाण्डोर्दारांश्च पुत्रांश्च शरीरे ते च तापसाः ।। ७ ।।

उन सब तपस्वी मुनियोंने पाण्डुपत्नी कुन्ती, पाँचों पाण्डवों तथा पाण्डु और माद्रीके शरीरकी अस्थियोंको साथ लेकर उसी क्षण वहाँसे प्रस्थान कर दिया ।। ७ ।।

सुखिनी सा पुरा भूत्वा सततं पुत्रवत्सला ।
प्रपन्ना दीर्घमध्वानं संक्षिप्तं तदमन्यत ।। ८ ।।

पुत्रोंपर सदा स्नेह रखनेवाली कुन्ती पहले बहुत सुख भोग चुकी थी, परंतु अब विपत्तिमें पड़कर बहुत लंबे मार्गपर चल पड़ी; तो भी उसने स्वदेश जानेकी उत्कण्ठा अथवा महर्षियोंके योगजनित प्रभावसे उस मार्गको अल्प ही माना ।। ८ ।।

सा त्वदीर्घेण कालेन सम्प्राप्ता कुरुजाङ्गलम् ।
वर्धमानपुरद्वारमाससाद यशस्विनी ।। ९ ।।

यशस्विनी कुन्ती थोड़े ही समयमें कुरुजांगल देशमें जा पहुँची और नगरके वर्धमान नामक द्वारपर गयी ।। ९ ।।

द्वारिणं तापसा ऊचू राजानं च प्रकाशय ।
ते तु गत्वा क्षणेनैव सभायां विनिवेदिताः ।। १० ।।

तब तपस्वी मुनियोंने द्वारपालसे कहा—‘राजाको हमारे आनेकी सूचना दो!’ द्वारपालने सभामें जाकर क्षणभरमें समाचार दे दिया ।। १० ।।

तं चारणसहस्राणां मुनीनामागमं तदा ।
श्रुत्वा नागपुरे नृणां विस्मयः समपद्यत ।। ११ ।।

सहस्रों चारणोंसहित मुनियोंका हस्तिनापुरमें आगमन सुनकर उस समय वहाँके लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ।। ११ ।।

मुहूर्तोदित आदित्ये सर्वे बालपुरस्कृताः ।
सदारास्तापसान् द्रष्टुं निर्ययुः पुरवासिनः ।। १२ ।।

दो घड़ी दिन चढ़ते-चढ़ते समस्त पुरवासी स्त्रियों और बालकोंको साथ लिये तपस्वी मुनियोंका दर्शन करनेके लिये नगरसे बाहर निकल आये ।। १२ ।।

स्त्रीसङ्घाः क्षत्रसङ्घाश्च यानसङ्घसमास्थिताः ।
ब्राह्मणैः सह निर्जग्मुर्ब्राह्मणानां च योषितः ।। १३ ।।

झुंड-की-झुंड स्त्रियाँ और क्षत्रियोंके समुदाय अनेक सवारियोंपर बैठकर बाहर निकले। ब्राह्मणोंके साथ उनकी स्त्रियाँ भी नगरसे बाहर निकलीं ।। १३ ।।

तथा विट्शूद्रसङ्घानां महान् व्यतिकरोऽभवत् ।
न कश्चिदकरोदीर्ष्यामभवन् धर्मबुद्धयः ।। १४ ।।

शूद्रों और वैश्योंके समुदायका बहुत बड़ा मेला जुट गया। किसीके मनमें ईर्ष्याका भाव नहीं था। सबकी बुद्धि धर्ममें लगी हुई थी ।। १४ ।।

तथा भीष्मः शान्तनवः सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः ।
प्रज्ञाचक्षुश्च राजर्षिः क्षत्ता च विदुरः स्वयम् ।। १५ ।।

इसी प्रकार शन्तनुनन्दन भीष्म, सोमदत्त, बाह्लीक, प्रज्ञाचक्षु राजर्षि धृतराष्ट्र, संजय तथा स्वयं विदुरजी भी वहाँ आ गये ।। १५ ।।

सा च सत्यवती देवी कौसल्या च यशस्विनी ।
राजदारैः परिवृता गान्धारी चापि निर्ययौ ।। १६ ।।

देवी सत्यवती, काशिराजकुमारी यशस्विनी कौसल्या तथा राजघरानेकी स्त्रियोंसे घिरी हुई गान्धारी भी अन्तःपुरसे निकलकर वहाँ आयीं ।। १६ ।।

धृतराष्ट्रस्य दायादा दुर्योधनपुरोगमाः ।
भूषिता भूषणैश्चित्रैः शतसंख्या विनिर्ययुः ।। १७ ।।

धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सौ पुत्र विचित्र आभूषणोंसे विभूषित हो नगरसे बाहर निकले ।। १७ ।।

तान् महर्षिगणान् दृष्ट्वा शिरोभिरभिवाद्य च ।
उपोपविविशुः सर्वे कौरव्याः सपुरोहिताः ।। १८ ।।

उन महर्षियोंका दर्शन करके सबने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। फिर सभी कौरव पुरोहितके साथ उनके समीप बैठ गये ।। १८ ।।

तथैव शिरसा भूमावभिवाद्य प्रणम्य च ।
उपोपविविशुः सर्वे पौरा जानपदा अपि ।। १९ ।।

इसी प्रकार नगर तथा जनपदके सब लोग भी धरतीपर माथा टेककर सबको अभिवादन और प्रणाम करके आसपास बैठ गये ।। १९ ।।

तमकूजमभिज्ञाय जनौघं सर्वशस्तदा ।
पूजयित्वा यथान्यायं पाद्येनार्घ्येण च प्रभो ।। २० ।।
भीष्मो राज्यं च राष्ट्रं च महर्षिभ्यो न्यवेदयत् ।
तेषामथो वृद्धतमः प्रत्युत्थाय जटाजिनी ।
ऋषीणां मतमाज्ञाय महर्षिरिदमब्रवीत् ।। २१ ।।

राजन्! उस समय वहाँ आये हुए समस्त जनसमुदायको चुपचाप बैठे देख भीष्मजीने पाद्य-अर्घ्य आदिके द्वारा सब महर्षियोंकी यथोचित पूजा करके उन्हें अपने राज्य तथा राष्ट्रका कुशल-समाचार निवेदन किया। तब उन महर्षियोंमें जो सबसे अधिक वृद्ध थे, वे जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले मुनि अन्य सब ऋषियोंकी अनुमति लेकर इस प्रकार बोले— ।। २०-२१ ।।

यः स कौरव्य दायादः पाण्डुर्नाम नराधिपः ।
कामभोगान् परित्यज्य शतशृङ्गमितो गतः ।। २२ ।।
(स यथोक्तं तपस्तेपे तत्र मूलफलाशनः ।।

पत्नीभ्यां सह धर्मात्मा कंचित् कालमतन्द्रितः ।
तेन वृत्तसमाचारैस्तपसा च तपस्विनः ।
तोषितास्तापसास्तत्र शतशृङ्गनिवासिनः ।।)
ब्रह्मचर्यव्रतस्थस्य तस्य दिव्येन हेतुना ।
साक्षाद् धर्मादयं पुत्रस्तत्र जातो युधिष्ठिरः ।। २३ ।।

'कुरुनन्दन भीष्मजी! वे जो आपके पुत्र महाराज पाण्डु विषयभोगोंका परित्याग करके यहाँसे शतशृंग पर्वतपर चले गये थे, उन धर्मात्माने वहाँ फल-मूल खाकर रहते हुए सावधान रहकर अपनी दोनों पत्नियोंके साथ कुछ कालतक शास्त्रोक्त विधिसे भारी तपस्या की। उन्होंने अपने उत्तम आचार-व्यवहार और तपस्यासे शतशृंगनिवासी तपस्वी मुनियोंको संतुष्ट कर लिया था। वहाँ नित्य ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए महाराज पाण्डुको किसी दिव्य हेतुसे साक्षात् धर्मराजद्वारा यह पुत्र प्राप्त हुआ है, जिसका नाम युधिष्ठिर है ।। २२-२३ ।।

तथैनं बलिनां श्रेष्ठं तस्य राज्ञो महात्मनः ।
मातरिश्वा ददौ पुत्रं भीमं नाम महाबलम् ।। २४ ।।

'उसी प्रकार उन महात्मा राजाको साक्षात् वायु देवताने यह महाबली भीम नामक पुत्र प्रदान किया है, जो समस्त बलवानोंमें श्रेष्ठ है ।। २४ ।।

पुरुहूतादयं जज्ञे कुन्त्यामेव धनंजयः ।
यस्य कीर्तिर्महेष्वासान् सर्वानभिभविष्यति ।। २५ ।।

'यह तीसरा पुत्र धनंजय है, जो इन्द्रके अंशसे कुन्तीके ही गर्भसे उत्पन्न हुआ है। इसकी कीर्ति समस्त बड़े-बड़े धनुर्धरोंको तिरस्कृत कर देगी ।। २५ ।।

यौ तु माद्री महेष्वासावसूत पुरुषोत्तमौ ।
अश्विभ्यां पुरुषव्याघ्राविमौ तावपि पश्यत ।। २६ ।।

'माद्रीदेवीने अश्विनीकुमारोंसे जिन दो पुरुषरत्नोंको उत्पन्न किया है, वे ये ही दोनों महाधनुर्धर नरश्रेष्ठ हैं। इन्हें भी आपलोग देखें ।। २६ ।।

(नकुलः सहदेवश्च तावप्यमिततेजसौ ।
पाण्डवौ नरशार्दूलाविमावप्यपराजितौ ।।)
चरता धर्मनित्येन वनवासं यशस्विना ।
नष्टः पैतामहो वंशः पाण्डुना पुनरुद्धृतः ।। २७ ।।

'इनके नाम हैं नकुल और सहदेव। ये दोनों भी अनन्त तेजसे सम्पन्न हैं। ये नरश्रेष्ठ पाण्डुकुमार भी किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हैं। नित्य धर्ममें तत्पर रहनेवाले यशस्वी राजा पाण्डुने वनमें निवास करते हुए अपने पितामहके उच्छिन्न वंशका पुनः उद्धार किया है ।। २७ ।।

पुत्राणां जन्मवृद्धिं च वैदिकाध्ययनानि च ।

पश्यन्तः सततं पाण्डोः परां प्रीतिमवाप्स्यथ ।। २८ ।।

‘पाण्डुपुत्रोंके जन्म, उनकी वृद्धि तथा वेदाध्ययन आदि देखकर आपलोग सदा अत्यन्त प्रसन्न होंगे ।। २८ ।।

वर्तमानः सतां वृत्ते पुत्रलाभमवाप्य च ।
पितृलोकं गतः पाण्डुरितः सप्तदशेऽहनि ।। २९ ।।

‘साधु पुरुषोंके आचार-व्यवहारका पालन करते हुए राजा पाण्डु उत्तम पुत्रोंकी उपलब्धि करके आजसे सत्रह दिन पहले पितृलोकवासी हो गये ।। २९ ।।

तं चितागतमाज्ञाय वैश्वानरमुखे हुतम् ।
प्रविष्टा पावकं माद्री हित्वा जीवितमात्मनः ।। ३० ।।

‘जब वे चितापर सुलाये गये और उन्हें अग्निके मुखमें होम दिया गया, उस समय देवी माद्री अपने जीवनका मोह छोड़कर उसी अग्निमें प्रविष्ट हो गयी ।। ३० ।।

सा गता सह तेनैव पतिलोकमनुव्रता ।
तस्यास्तस्य च यत् कार्यं क्रियतां तदनन्तरम् ।। ३१ ।।

‘वह पतिव्रता देवी महाराज पाण्डुके साथ ही पतिलोकको चली गयी। अब आपलोग माद्री और पाण्डुके लिये जो कार्य आवश्यक समझें, वह करें ।। ३१ ।।

(पृथां च शरणं प्राप्तां पाण्डवांश्च यशस्विनः ।
यथावदनुगृह्णन्तु धर्मो ह्येष सनातनः ।।)
इमे तयोः शरीरे द्वे पुत्राश्चेमे तयोर्वराः ।
क्रियाभिरनुगृह्यन्तां सह मात्रा परंतपाः ।। ३२ ।।

‘शरणमें आयी हुई कुन्ती तथा यशस्वी पाण्डवोंको आपलोग यथोचित रूपसे अपनाकर अनुगृहीत करें; क्योंकि यही सनातन धर्म है। ये पाण्डु और माद्री दोनोंके शरीरोंकी अस्थियाँ हैं और ये ही उनके श्रेष्ठ पुत्र हैं, जो शत्रुओंको संतप्त करनेकी शक्ति रखते हैं। आप माद्री और पाण्डुकी श्राद्ध-क्रिया करनेके साथ ही मातासहित इन पुत्रोंको भी अनुगृहीत करें ।। ३२ ।।

प्रेतकार्ये निवृत्ते तु पितृमेधं महायशाः ।
लभतां सर्वधर्मज्ञः पाण्डुः कुरुकुलोद्वहः ।। ३३ ।।

‘सपिण्डीकरणपर्यन्त प्रेतकार्य निवृत्त हो जानेपर कुरुवंशके श्रेष्ठ पुरुष महायशस्वी एवं सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता पाण्डुको पितृमेध (यज्ञ)-का भी लाभ मिलना चाहिये’ ।। ३३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा कुरून् सर्वान् कुरूणामेव पश्यताम् ।
क्षणेनान्तर्हिताः सर्वे तापसा गुह्यकैः सह ।। ३४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! समस्त कौरवोंसे ऐसी बात कहकर उनके देखते-देखते वे सभी तपस्वी मुनि गुह्यकोंके साथ क्षणभरमें वहाँसे अन्तर्धान हो गये ।। ३४ ।।

गन्धर्वनगराकारं तथैवान्तर्हितं पुनः ।
ऋषिसिद्धगणं दृष्ट्वा विस्मयं ते परं ययुः ।। ३५ ।।
(कौरवाः सहसोत्पत्य साधु साध्विति विस्मिताः ।।)

गन्धर्वनगरके समान उन महर्षियों और सिद्धोंके समुदायको इस प्रकार अन्तर्धान होते देख वे सभी कौरव सहसा उछलकर 'साधु-साधु' ऐसा कहते हुए बड़े विस्मित हुए ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ऋषिसंवादे पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ऋषिसंवादविषयक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डु और माद्रीकी अस्थियोंका दाह-संस्कार तथा भाई-बन्धुओंद्वारा उनके लिये जलांजलिदान

धृतराष्ट्र उवाच

पाण्डोर्विदुर सर्वाणि प्रेतकार्याणि कारय ।
राजवद् राजसिंहस्य माद्र्याश्चैव विशेषतः ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! राजाओंमें श्रेष्ठ पाण्डुके तथा विशेषतः माद्रीके भी समस्त प्रेतकार्य राजोचित ढंगसे कराओ ।। १ ।।

पशून् वासांसि रत्नानि धनानि विविधानि च ।
पाण्डोः प्रयच्छ माद्र्याश्च येभ्यो यावच्च वाञ्छितम् ।। २ ।।
यथा च कुन्ती सत्कारं कुर्यान्माद्र्यास्तथा कुरु ।
यथा न वायुर्नादित्यः पश्येतां तां सुसंवृताम् ।। ३ ।।

पाण्डु और माद्रीके लिये नाना प्रकारके पशु, वस्त्र, रत्न और धन दान करो। इस अवसरपर जिनको जितना चाहिये, उतना धन दो। कुन्तीदेवी माद्रीका जिस प्रकार सत्कार करना चाहें, वैसी व्यवस्था करो। माद्रीकी अस्थियोंको वस्त्रोंसे अच्छी प्रकार ढँक दो, जिससे उसे वायु तथा सूर्य भी न देख सकें ।। २-३ ।।

न शोच्यः पाण्डुरनघः प्रशस्यः स नराधिपः ।
यस्य पञ्च सुता वीरा जाताः सुरसुतोपमाः ।। ४ ।।

निष्पाप राजा पाण्डु शोचनीय नहीं, प्रशंसनीय हैं, जिन्हें देवकुमारोंके समान पाँच वीर पुत्र प्राप्त हुए हैं ।। ४ ।।

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्तं तथेत्युक्त्वा भीष्मेण सह भारत ।
पाण्डुं संस्कारयामास देशे परमपूजिते ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! विदुरने धृतराष्ट्रसे ‘तथास्तु’ कहकर भीष्मजीके साथ परम पवित्र स्थानमें पाण्डुका अन्तिम-संस्कार कराया ।। ५ ।।

ततस्तु नगरात् तूर्णमाज्यगन्धपुरस्कृताः ।
निर्हृताः पावका दीप्ताः पाण्डो राजन् पुरोहितैः ।। ६ ।।

राजन्! तदनन्तर शीघ्र ही पाण्डुका दाह-संस्कार करनेके लिये पुरोहितगण घृत और सुगन्ध आदिके साथ प्रज्वलित अग्नि लिये नगरसे बाहर निकले ।। ६ ।।

अथैनामार्तवैः पुष्पैर्गन्धैश्च विविधैर्वरैः ।

शिबिकां तामलंकृत्य वाससाऽऽच्छाद्य सर्वशः ।। ७ ।।

इसके बाद वसन्त-ऋतुमें सुलभ नाना प्रकारके सुन्दर पुष्पों तथा श्रेष्ठ ग्रन्धोंसे एक शिबिका (वैकुण्ठी)-को सजाकर उसे सब ओरसे वस्त्रद्वारा ढँक दिया गया ।। ७ ।।

तां तथा शोभितां माल्यैर्वासोभिश्च महाधनैः ।
अमात्या ज्ञातयश्चैनं सुहृदश्चोपतस्थिरे ।। ८ ।।

इस प्रकार बहुमूल्य वस्त्रों और पुष्पमालाओंसे सुशोभित उस शिबिकाके समीप मन्त्री, भाई-बन्धु और सुहृद्-सम्बन्धी—सब लोग उपस्थित हुए ।। ८ ।।

नृसिंहं नरयुक्तेन परमालंकृतेन तम् ।
अवहन् यानमुख्येन सह माद्र्या सुसंयतम् ।। ९ ।।

उसमें माद्रीके साथ पाण्डुकी अस्थियाँ भली-भाँति बाँधकर रखी गयी थीं। मनुष्योंद्वारा ढोई जानेवाली और अच्छी तरह सजायी हुई उस शिबिकाके द्वारा वे सभी बन्धु-बान्धव माद्रीसहित नरश्रेष्ठ पाण्डुकी अस्थियोंको ढोने लगे ।। ९ ।।

पाण्डुरेणातपत्रेण चामरव्यजनेन च ।
सर्ववादित्रनादैश्च समलंचक्रिरे ततः ।। १० ।।

शिबिकाके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ था। चँवर डुलाये जा रहे थे। सब प्रकारके बाजों-गाजोंसे उसकी शोभा और भी बढ़ गयी थी ।। १० ।।

रत्नानि चाप्युपादाय बहूनि शतशो नराः ।
प्रददुः काङ्‌क्षमाणेभ्यः पाण्डोस्तस्यौर्ध्वदेहिके ।। ११ ।।

सैकड़ों मनुष्योंने उन महाराज पाण्डुके दाह-संस्कारके दिन बहुत-से रत्न लेकर याचकोंको दिये ।। ११ ।।

अथच्छत्राणि शुभ्राणि चामराणि बृहन्ति च ।
आजह्रुः कौरवस्यार्थे वासांसि रुचिराणि च ।। १२ ।।

इसके बाद कुरुराज पाण्डुके लिये अनेक श्वेत छत्र, बहुतेरे बड़े-बड़े चँवर तथा कितने ही सुन्दर-सुन्दर वस्त्र लोग वहाँ ले आये ।। १२ ।।

याजकैः शुक्लवासोभिर्हूयमाना हुताशनाः ।
अगच्छन्नग्रतस्तस्य दीप्यमानाः स्वलंकृताः ।। १३ ।।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव सहस्रशः ।
रुदन्तः शोकसंतप्ता अनुजग्मुर्नराधिपम् ।। १४ ।।

पुरोहितलोग सफेद वस्त्र धारण करके अग्निहोत्रकी अग्निमें आहुति डालते जाते थे। वे अग्नियाँ माला आदिसे अलंकृत एवं प्रज्वलित हो पाण्डुकी पालकीके आगे-आगे चल रही थीं। सहस्रों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शोकसे संतप्त हो रोते हुए महाराज पाण्डुकी शिबिकाके पीछे जा रहे थे ।। १३-१४ ।।

अयमस्मानपाहाय दुःखे चाधाय शाश्वते ।

कृत्वा चास्माननाथांश्च क्व यास्यति नराधिपः ।। १५ ।।

वे कहते जाते थे—'हाय! ये महाराज हमलोगोंको छोड़कर, हमें सदाके लिये भारी दुःखमें डालकर और हम सबको अनाथ करके कहाँ जा रहे हैं' ।। १५ ।।

क्रोशन्तः पाण्डवाः सर्वे भीष्मो विदुर एव च ।
रमणीये वनोद्देशे गङ्गातीरे समे शुभे ।। १६ ।।
न्यासयामासुरथ तां शिबिकां सत्यवादिनः ।
सभार्यस्य नृसिंहस्य पाण्डोरक्लिष्टकर्मणः ।। १७ ।।

समस्त पाण्डव, भीष्म तथा विदुरजी क्रन्दन करते हुए जा रहे थे। वनके रमणीय प्रदेशमें गंगाजीके शुभ एवं समतल तटपर उन लोगोंने, अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले सत्यवादी नरश्रेष्ठ पाण्डु और उनकी पत्नी माद्रीकी उस शिबिकाको रखा ।। १६-१७ ।।

ततस्तस्य शरीरं तु सर्वगन्धाधिवासितम् ।
शुचिकालीयकादिग्धं दिव्यचन्दनरूषितम् ।। १८ ।।
पर्यषिञ्चञ्जलेनाशु शातकुम्भमयैर्घटैः ।
चन्दनेन च शुक्लेन सर्वतः समलेपयन् ।। १९ ।।
कालागुरुविमिश्रेण तथा तुङ्गरसेन च ।
अथैनं देशजैः शुक्लैर्वासोभिः समयोजयन् ।। २० ।।

तदनन्तर राजा पाण्डुकी अस्थियोंको सब प्रकारकी सुगन्धोंसे सुवासित करके उनपर पवित्र काले अगरका लेप किया गया। फिर उन्हें दिव्य चन्दनसे चर्चित करके सोनेके कलशोंद्वारा लाये हुए गंगाजलसे भाई-बन्धुओंने उसका अभिषेक किया। तत्पश्चात् उनपर सब ओरसे काले अगरसे मिश्रित तुंगरस नामक ग्रन्ध-द्रव्यका एवं श्वेत चन्दनका लेप किया गया। इसके बाद उन्हें सफेद स्वदेशी वस्त्रोंसे ढक दिया गया ।। १८—२० ।।

संछन्नः स तु वासोभिर्जीवन्निव नराधिपः ।
शुशुभे स नरव्याघ्रो महार्हशयनोचितः ।। २१ ।।

इस प्रकार बहुमूल्य शय्यापर शयन करनेयोग्य नरश्रेष्ठ राजा पाण्डुकी अस्थियाँ वस्त्रोंसे आच्छादित हो जीवित मनुष्यकी भाँति शोभा पाने लगीं ।। २१ ।।

(हयमेधाग्निना सर्वे याजकाः सपुरोहिताः ।
वेदोक्तेन विधानेन क्रियाश्चक्रुः समन्त्रकम् ।।)
याजकैरभ्यनुज्ञाते प्रेतकर्मण्यनुष्ठिते ।
घृतावसिक्तं राजानं सह माद्र्या स्वलंकृतम् ।। २२ ।।

समस्त याजकों और पुरोहितोंने अश्वमेधकी अग्निसे वेदोक्त विधिके अनुसार मन्त्रोच्चारणपूर्वक सारी क्रियाएँ सम्पन्न कीं। याजकोंकी आज्ञा लेकर प्रेतकर्म आरम्भ करते समय माद्रीसहित अलंकारयुक्त राजाका घृतसे अभिषेक किया गया ।। २२ ।।

तुङ्गपद्मकमिश्रेण चन्दनेन सुगन्धिना ।
अन्यैश्च विविधैर्गन्धैर्विधिना समदाहयन् ।। २३ ।।

फिर तुंग और पद्मकमिश्रित सुगन्धित चन्दन तथा अन्य विविध प्रकारके गन्ध-द्रव्योंसे भाई-बन्धुओंने युधिष्ठिरद्वारा विधिपूर्वक उन दोनोंका दाह-संस्कार कराया ।। २३ ।।

ततस्तयोः शरीरे द्वे दृष्ट्वा मोहवशं गता ।
हा हा पुत्रेति कौसल्या पपात सहसा भुवि ।। २४ ।।

उस समय उन दोनोंकी अस्थियोंको देखकर माता कौसल्या (अम्बालिका) ‘हा पुत्र! हा पुत्र!’ कहती हुई सहसा मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़ी ।। २४ ।।

तां प्रेक्ष्य पतितामार्तां पौरजानपदो जनः ।
रुरोद दुःखसंतप्तो राजभक्त्या कृपान्वितः ।। २५ ।।

उसे इस प्रकार शोकातुर हो भूमिपर पड़ी देख नगर और जनपदके लोग राजभक्ति तथा दयासे द्रवित एवं दुःखसे संतप्त हो फूट-फूटकर रोने लगे ।। २५ ।।

कुन्त्याश्चैवार्तनादेन सर्वाणि च विचुक्रुशुः ।
मानुषैः सह भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ।। २६ ।।

कुन्तीके आर्तनादसे मनुष्योंसहित समस्त पशु और पक्षी आदि प्राणी भी करुणक्रन्दन करने लगे ।। २६ ।।

तथा भीष्मः शान्तनवो विदुरश्च महामतिः ।
सर्वशः कौरवाश्चैव प्राणदन् भृशदुःखिताः ।। २७ ।।

शन्तनुनन्दन भीष्म, परम बुद्धिमान् विदुर तथा सम्पूर्ण कौरव भी अत्यन्त दुःखमें निमग्न हो रोने लगे ।। २७ ।।

ततो भीष्मोऽथ विदुरो राजा च सह पाण्डवैः ।
उदकं चक्रिरे तस्य सर्वाश्च कुरुयोषितः ।। २८ ।।

तदनन्तर भीष्म, विदुर, राजा धृतराष्ट्र तथा पाण्डवोंके सहित कुरुकुलकी सभी स्त्रियोंने राजा पाण्डुके लिये जलांजलि दी ।। २८ ।।

चुक्रुशुः पाण्डवाः सर्वे भीष्मः शान्तनवस्तथा ।
विदुरो ज्ञातयश्चैव चक्रुश्चाप्युदकक्रियाः ।। २९ ।।

उस समय सभी पाण्डव पिताके लिये रो रहे थे। शन्तनुनन्दन भीष्म, विदुर तथा अन्य भाई-बन्धुओंकी भी यही दशा थी। सबने जलांजलि देनेकी क्रिया पूरी की ।। २९ ।।

कृतोदकांस्तानादाय पाण्डवाञ्छोककर्शितान् ।
सर्वाः प्रकृतयो राजन् शोचमाना न्यवारयन् ।। ३० ।।

जलांजलिदान करके शोकसे दुर्बल हुए पाण्डवोंको साथ ले मन्त्री आदि सब लोग स्वयं भी दुःखी हो उन सबको समझा-बुझाकर शोक करनेसे रोकने लगे ।। ३० ।।

यथैव पाण्डवा भूमौ सुषुपुः सह बान्धवैः ।

तथैव नागरा राजन् शिश्यिरे ब्राह्मणादयः ।। ३१ ।।
तद्गतानन्दमस्वस्थमाकुमारमहृष्टवत् ।
बभूव पाण्डवैः सार्धं नगरं द्वादश क्षपाः ।। ३२ ।।

राजन्! बारह रात्रियोंतक जिस प्रकार बन्धु-बान्धवों-सहित पाण्डव भूमिपर सोये, उसी प्रकार ब्राह्मण आदि नागरिक भी धरतीपर ही सोते रहे। उतने दिनोंतक हस्तिनापुर नगर पाण्डवोंके साथ आनन्द और हर्षोल्लाससे शून्य रहा। बूढ़ोंसे लेकर बच्चेतक सभी वहाँ दुःखमें डूबे रहे। सारा नगर ही अस्वस्थचित्त हो गया था ।। ३१-३२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुदाहे
षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुके दाहसंस्कारसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३३ श्लोक हैं)

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवों तथा धृतराष्ट्रपुत्रोंकी बालक्रीड़ा, दुर्योधनका भीमसेनको विष खिलाना तथा गंगामें ढकेलना और भीमका नागलोकमें पहुँचकर आठ कुण्डोंके दिव्य रसका पान करना

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्ती च राजा च भीष्मश्च सह बन्धुभिः ।
ददुः श्राद्धं तदा पाण्डोः स्वधामृतमयं तदा ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर कुन्ती, राजा धृतराष्ट्र तथा बन्धुओंसहित भीष्मजीने पाण्डुके लिये उस समय अमृतस्वरूप स्वधामय श्राद्धदान किया ।। १ ।।

कुरूंश्च विप्रमुख्यांश्च भोजयित्वा सहस्रशः ।
रत्नौघान् विप्रमुख्येभ्यो दत्त्वा ग्रामवरांस्तथा ।। २ ।।

उन्होंने समस्त कौरवों तथा सहस्रों मुख्य-मुख्य ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उन्हें रत्नोंके ढेर तथा उत्तम-उत्तम गाँव दिये ।। २ ।।

कृतशौचांस्ततस्तांस्तु पाण्डवान् भरतर्षभान् ।
आदाय विविशुः सर्वे पुरं वारणसाह्वयम् ।। ३ ।।

मरणाशौचसे निवृत्त होकर भरतवंशशिरोमणि पाण्डवोंने जब शुद्धिका स्नान कर लिया, तब उन्हें साथ लेकर सबने हस्तिनापुर नगरमें प्रवेश किया ।। ३ ।।

सततं स्मानुशोचन्तस्तमेव भरतर्षभम् ।
पौरजानपदाः सर्वे मृतं स्वमिव बान्धवम् ।। ४ ।।

नगर और जनपदके सभी लोग मानो कोई अपना ही भाई-बन्धु मर गया हो, इस प्रकार उन भरतकुलतिलक पाण्डुके लिये निरन्तर शोकमग्न हो गये ।। ४ ।।

श्राद्धावसाने तु तदा दृष्ट्वा तं दुःखितं जनम् ।
सम्मूढां दुःखशोकार्तां व्यासो मातरमब्रवीत् ।। ५ ।।

श्राद्धकी समाप्तिपर सब लोगोंको दुःखी देखकर व्यासजीने दुःख-शोकसे आतुर एवं मोहमें पड़ी हुई माता सत्यवतीसे कहा— ।। ५ ।।

अतिक्रान्तसुखाः कालाः पर्युपस्थितदारुणाः ।
श्वः श्वः पापिष्ठदिवसाः पृथिवी गतयौवना ।। ६ ।।

'माँ! अब सुखके दिन बीत गये। बड़ा भयंकर समय उपस्थित होनेवाला है। उत्तरोत्तर बुरे दिन आ रहे हैं। पृथ्वीकी जवानी चली गयी ।। ६ ।।

बहुमायासमाकीर्णो नानादोषसमाकुलः ।
लुप्तधर्मक्रियाचारो घोरः कालो भविष्यति ।। ७ ।।

'अब ऐसा भयंकर समय आयेगा, जिसमें सब ओर छल-कपट और मायाका बोलबाला होगा। संसारमें अनेक प्रकारके दोष प्रकट होंगे और धर्म-कर्म तथा सदाचारका लोप हो जायगा' ।। ७ ।।

कुरूणामनयाच्चापि पृथिवी न भविष्यति ।
गच्छ त्वं योगमास्थाय युक्ता वस तपोवने ।। ८ ।।

'दुर्योधन आदि कौरवोंके अन्यायसे सारी पृथ्वी वीरोंसे शून्य हो जायगी; अतः तुम योगका आश्रय लेकर यहाँसे चली जाओ और योगपरायण हो तपोवनमें निवास करो ।। ८ ।।

मा द्राक्षीस्त्वं कुलस्यास्य घोरं संक्षयमात्मनः ।
तथेति समनुज्ञाय सा प्रविश्याब्रवीत् स्नुषाम् ।। ९ ।।

'तुम अपनी आँखोंसे इस कुलका भयंकर संहार न देखो।' तब व्यासजीसे 'तथास्तु' कहकर सत्यवती अंदर गयी और अपनी पुत्रवधूसे बोली— ।। ९ ।।

अम्बिके तव पौत्रस्य दुर्नयात् किल भारताः ।
सानुबन्धा विनङ्क्ष्यन्ति पौराश्चैवेति नः श्रुतम् ।। १० ।।

'अम्बिके! तुम्हारे पौत्रके अन्यायसे भरतवंशी वीर तथा इस नगरके लोग सगे-सम्बन्धियोंसहित नष्ट हो जायँगे—ऐसी बात मैंने सुनी है ।। १० ।।

तत् कौसल्यामिमामार्तां पुत्रशोकाभिपीडिताम् ।
वनमादाय भद्रं ते गच्छामि यदि मन्यसे ।। ११ ।।

'अतः तुम्हारी राय हो, तो पुत्रशोकसे पीड़ित इस दुःखिनी अम्बालिकाको साथ ले मैं वनमें चली जाऊँ। तुम्हारा कल्याण हो' ।। ११ ।।

तथेत्युक्ता त्वम्बिकया भीष्ममामन्त्र्य सुव्रता ।
वनं ययौ सत्यवती स्नुषाभ्यां सह भारत ।। १२ ।।

अम्बिका भी 'तथास्तु' कहकर साथ जानेको तैयार हो गयी। जनमेजय! फिर उत्तम व्रतका पालन करनेवाली सत्यवती भीष्मजीसे पूछकर अपनी दोनों पतोहुओंको साथ ले वनको चली गयी ।। १२ ।।

ताः सुघोरं तपस्तप्त्वा देव्यो भरतसत्तम ।
देहं त्यक्त्वा महाराज गतिमिष्टां ययुस्तदा ।। १३ ।।

भरतवंशशिरोमणि महाराज जनमेजय! तब वे देवियाँ वनमें अत्यन्त घोर तपस्या करके शरीर त्यागकर अभीष्ट गतिको प्राप्त हो गयीं ।। १३ ।।

वैशम्पायन उवाच

अथाप्तवन्तो वेदोक्तान् संस्कारान् पाण्डवास्तदा ।
संव्यवर्धन्त भोगांस्ते भुञ्जानाः पितृवेश्मनि ।। १४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उस समय पाण्डवोंके वेदोक्त (समावर्तन आदि) संस्कार हुए। वे पिताके घरमें नाना प्रकारके भोग भोगते हुए पलने और पुष्ट होने लगे ।। १४ ।।

धार्तराष्ट्रैश्च सहिताः क्रीडन्तो मुदिताः सुखम् ।
बालक्रीडासु सर्वासु विशिष्टास्तेजसाभवन् ।। १५ ।।

धृतराष्ट्रके पुत्रोंके साथ सुखपूर्वक खेलते हुए वे सदा प्रसन्न रहते थे। सब प्रकारकी बालक्रीड़ाओंमें अपने तेजसे वे बढ़-चढ़कर सिद्ध होते थे ।। १५ ।।

जवे लक्ष्याभिहरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे ।
धार्तराष्ट्रान् भीमसेनः सर्वान् स परिमर्दति ।। १६ ।।

दौड़नेमें, दूर रखी हुई किसी प्रत्यक्ष वस्तुको सबसे पहले पहुँचकर उठा लेनेमें, खान-पानमें तथा धूल उछालनेके खेलमें भीमसेन धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंका मानमर्दन कर डालते थे ।। १६ ।।

हर्षात् प्रक्रीडमानांस्तान् गृह्य राजन् निलीयते ।
शिरःसु विनिगृह्यैतान् योधयामास पाण्डवैः ।। १७ ।।
शतमेकोत्तरं तेषां कुमाराणां महौजसाम् ।
एक एव निगृह्णाति नातिकृच्छ्राद् वृकोदरः ।। १८ ।।
कचेषु च निगृह्यैनान् विनिहत्य बलाद् बली ।
चकर्ष क्रोशतो भूमौ घृष्टजानुशिरोंऽसकान् ।। १९ ।।

राजन्! हर्षसे खेल-कूदमें लगे हुए उन कौरवोंको पकड़कर भीमसेन कहीं छिप जाते थे। कभी उनके सिर पकड़कर पाण्डवोंसे लड़ा देते थे। धृतराष्ट्रके एक सौ एक कुमार बड़े बलवान् थे; किंतु भीमसेन बिना अधिक कष्ट उठाये अकेले ही उन सबको अपने वशमें कर लेते थे। बलवान् भीम उनके बाल पकड़कर बलपूर्वक उन्हें एक-दूसरेसे टकरा देते और उनके चीखने-चिल्लानेपर भी उन्हें धरतीपर घसीटते रहते थे। उस समय उनके घुटने, मस्तक और कंधे छिल जाया करते थे ।। १७—१९ ।।

दश बालाञ्जले क्रीडन् भुजाभ्यां परिगृह्य सः ।
आस्ते स्म सलिले मग्नो मृतकल्पान् विमुञ्चति ।। २० ।।

वे जलमें क्रीड़ा करते समय अपनी दोनों भुजाओंसे धृतराष्ट्रके दस बालकोंको पकड़ लेते और देरतक पानीमें गोते लगाते रहते थे। जब वे अधमरे-से हो जाते, तब उन्हें छोड़ते थे ।। २० ।।

फलानि वृक्षमारुह्य विचिन्वन्ति च ते तदा ।
तदा पादप्रहारेण भीमः कम्पयते द्रुमान् ।। २१ ।।

जब कौरव वृक्षपर चढ़कर फल तोड़ने लगते, तब भीमसेन पैरसे ठोकर मारकर उन पेड़ोंको हिला देते थे ।। २१ ।।

प्रहारवेगाभिहता द्रुमा व्याघूर्णितास्ततः ।

सफलाः प्रपतन्ति स्म द्रुतं त्रस्ताः कुमारकाः ।। २२ ।।

उनके वेगपूर्वक प्रहारसे आहत हो वे वृक्ष हिलने लगते और उनपर चढ़े हुए धृतराष्ट्रकुमार भयभीत हो फलोंसहित नीचे गिर पड़ते थे ।। २२ ।।

न ते नियुद्धे न जवे न योग्यासु कदाचन ।

कुमारा उत्तरं चक्रुः स्पर्धमाना वृकोदरम् ।। २३ ।।

कुश्तीमें, दौड़ लगानेमें तथा शिक्षाके अभ्यासमें धृतराष्ट्रकुमार सदा लाग-डाँट रखते हुए भी कभी भीमसेनकी बराबरी नहीं कर पाते थे ।। २३ ।।

एवं स धार्तराष्ट्रांश्च स्पर्धमानो वृकोदरः ।

अप्रियेऽतिष्ठदत्यन्तं बाल्यान्न द्रोहचेतसा ।। २४ ।।

इसी प्रकार भीमसेन भी धृतराष्ट्रपुत्रोंसे स्पर्धा रखते हुए उनके अत्यन्त अप्रिय कार्योंमें ही लगे रहते थे। परंतु उनके मनमें कौरवोंके प्रति द्वेष नहीं था, वे बाल-स्वभावके कारण ही वैसा करते थे ।। २४ ।।

ततो बलमतिख्यातं धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।

भीमसेनस्य तज्ज्ञात्वा दुष्टभावमदर्शयत् ।। २५ ।।

तब धृतराष्ट्रका प्रतापी पुत्र दुर्योधन यह जानकर कि भीमसेनमें अत्यन्त विख्यात बल है, उनके प्रति दुष्टभाव प्रदर्शित करने लगा ।। २५ ।।

तस्य धर्मादपेतस्य पापानि परिपश्यतः ।

मोहादैश्वर्यलोभाच्च पापा मतिरजायत ।। २६ ।।

वह सदा धर्मसे दूर रहता और पापकर्मोंपर ही दृष्टि रखता था। मोह और ऐश्वर्यके लोभसे उसके मनमें पापपूर्ण विचार भर गये थे ।। २६ ।।

अयं बलवतां श्रेष्ठः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।

मध्यमः पाण्डुपुत्राणां निकृत्या संनिगृह्यताम् ।। २७ ।।

वह अपने भाइयोंके साथ विचार करने लगा कि 'यह मध्यम पाण्डुपुत्र कुन्तीनन्दन भीम बलवानोंमें सबसे बढ़कर है। इसे धोखा देकर कैद कर लेना चाहिये ।। २७ ।।

प्राणवान् विक्रमी चैव शौर्येण महतान्वितः ।

स्पर्धते चापि सहितानस्मानेको वृकोदरः ।। २८ ।।

'यह बलवान् और पराक्रमी तो है ही, महान् शौर्यसे भी सम्पन्न है। भीमसेन अकेला ही हम सब लोगोंसे होड़ बद लेता है ।। २८ ।।

तं तु सुप्तं पुरोद्याने गङ्गायां प्रक्षिपामहे ।

अथ तस्मादवरजं श्रेष्ठं चैव युधिष्ठिरम् ।। २९ ।।

प्रसह्य बन्धने बद्ध्वा प्रशासिष्ये वसुंधराम् ।
एवं स निश्चयं पापः कृत्वा दुर्योधनस्तदा ।
नित्यमेवान्तरप्रेक्षी भीमस्यासीन्महात्मनः ।। ३० ।।

'इसलिये नगरोद्यानमें जब वह सो जाय, तब उसे उठाकर हमलोग गंगाजीमें फेंक दें। इसके बाद उसके छोटे भाई अर्जुन और बड़े भाई युधिष्ठिरको बलपूर्वक कैदमें डालकर मैं अकेला ही सारी पृथ्वीका शासन करूँगा।'

ऐसा निश्चय करके पापी दुर्योधन महात्मा भीमसेनका अनिष्ट करनेके लिये सदा मौका ढूँढ़ता रहता था ।। २९-३० ।।

ततो जलविहारार्थं कारयामास भारत ।
चैलकम्बलवेश्मानि विचित्राणि महान्ति च ।। ३१ ।।

जनमेजय! तदनन्तर दुर्योधनने गंगातटपर जल-विहारके लिये ऊनी और सूती कपड़ोंके विचित्र एवं विशाल गृह तैयार कराये ।। ३१ ।।

सर्वकामैः सुपूर्णानि पताकोच्छ्रायवन्ति च ।
तत्र संजनयामास नानागाराण्यनेकशः ।। ३२ ।।

वे गृह सब प्रकारकी अभीष्ट सामग्रियोंसे भरे-पूरे थे। उनके ऊपर ऊँची-ऊँची पताकाएँ फहरा रही थीं। उनमें उसने अलग-अलग अनेक प्रकारके बहुत-से कमरे बनवाये थे ।। ३२ ।।

उदकक्रीडनं नाम कारयामास भारत ।
प्रमाणकोट्यां तं देशं स्थलं किंचिदुपेत्य ह ।। ३३ ।।

भारत! गंगातटवर्ती प्रमाणकोटि तीर्थमें किसी स्थानपर जाकर दुर्योधनने यह सारा आयोजन करवाया था। उसने उस स्थानका नाम रखा था उदकक्रीडन ।। ३३ ।।

भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च चोष्यं लेह्यमथापि च ।
उपपादितं नरैस्तत्र कुशलैः सूदकर्मणि ।। ३४ ।।

वहाँ रसोईके काममें कुशल कितने ही मनुष्योंने जुटकर खाने-पीनेके बहुत-से भक्ष्य[१], भोज्य[२], पेय[३], चोष्य[४] और लेह्य[५] पदार्थ तैयार किये ।। ३४ ।।

न्यवेदयंस्तत् पुरुषा धार्तराष्ट्राय वै तदा ।
ततो दुर्योधनस्तत्र पाण्डवानाह दुर्मतिः ।। ३५ ।।

तदनन्तर राजपुरुषोंने दुर्योधनको सूचना दी कि 'सब तैयारी पूरी हो गयी है।' तब खोटी बुद्धिवाले दुर्योधनने पाण्डवोंसे कहा— ।। ३५ ।।

गङ्गां चैवानुयास्याम उद्यानवनशोभिताम् ।
सहिता भ्रातरः सर्वे जलक्रीडामवाप्नुमः ।। ३६ ।।

'आज हमलोग भाँति-भाँतिके उद्यान और वनोंसे सुशोभित गंगाजीके तटपर चलें। वहाँ हम सब भाई एक साथ जलविहार करेंगे' ।। ३६ ।।

एवमस्त्विति तं चापि प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
ते रथैर्नगराकारैर्देशजैश्च गजोत्तमैः ।। ३७ ।।
निर्ययुर्नगराच्छूराः कौरवाः पाण्डवैः सह ।
उद्यानवनमासाद्य विसृज्य च महाजनम् ।। ३८ ।।
विशन्ति स्म तदा वीराः सिंहा इव गिरेर्गुहाम् ।
उद्यानमभिपश्यन्तो भ्रातरः सर्व एव ते ।। ३९ ।।

यह सुनकर युधिष्ठिरने 'एवमस्तु' कहकर दुर्योधनकी बात मान ली। फिर वे सभी शूरवीर कौरव पाण्डवोंके साथ नगराकार रथों तथा स्वदेशमें उत्पन्न श्रेष्ठ हाथियोंपर सवार हो नगरसे निकले और उद्यान-वनके समीप पहुँचकर साथ आये हुए प्रजावर्गके बड़े-बड़े लोगोंको विदा करके जैसे सिंह पर्वतकी गुफामें प्रवेश करे, उसी प्रकार वे सब वीर भ्राता उद्यानकी शोभा देखते हुए उसमें प्रविष्ट हुए ।। ३७—३९ ।।

उपस्थानगृहैः शुभ्रैर्वलभीभिश्च शोभितम् ।
गवाक्षकैस्तथा जालैर्यन्त्रैः सांचारिकैरपि ।। ४० ।।
सम्मार्जितं सौधकारैश्चित्रकारैश्च चित्रितम् ।
दीर्घिकाभिश्च पूर्णाभिस्तथा पद्माकरैरपि ।। ४१ ।।
जलं तच्छुशुभे छन्नं फुल्लैर्जलरुहैस्तथा ।
उपच्छन्ना वसुमती तथा पुष्पैर्यथर्तुकैः ।। ४२ ।।

वह उद्यान राजाओंकी गोष्ठी और बैठकके स्थानोंसे, श्वेत वर्णके छज्जोंसे, जालियों और झरोखोंसे तथा इधर-उधर ले जानेयोग्य जलवर्षक यन्त्रोंसे सुशोभित हो रहा था। महल बनानेवाले शिल्पियोंने उस उद्यान एवं क्रीड़ाभवनको झाड़-पोंछकर साफ कर दिया था। चित्रकारोंने वहाँ चित्रकारी की थी। जलसे भरी बावलियों तथा तालाबोंद्वारा उसकी बड़ी शोभा हो रही थी। खिले हुए कमलोंसे आच्छादित वहाँका जल बड़ा सुन्दर प्रतीत होता था। ऋतुके अनुकूल खिलकर झड़े हुए फूलोंसे वहाँकी सारी पृथ्वी ढँक गयी थी ।। ४०—४२ ।।

तत्रोपविष्टास्ते सर्वे पाण्डवाः कौरवाश्च ह ।
उपपन्नान् बहून् कामांस्ते भुञ्जन्ति ततस्ततः ।। ४३ ।।

वहाँ पहुँचकर समस्त कौरव और पाण्डव यथायोग्य स्थानोंपर बैठ गये और स्वतः प्राप्त हुए नाना प्रकारके भोगोंका उपभोग करने लगे ।। ४३ ।।

अथोद्यानवरे तस्मिंस्तथा क्रीडागताश्च ते ।
परस्परस्य वक्त्रेभ्यो ददुर्भक्ष्यांस्ततस्ततः ।। ४४ ।।
ततो दुर्योधनः पापस्तद्भक्ष्ये कालकूटकम् ।
विषं प्रक्षेपयामास भीमसेनजिघांसया ।। ४५ ।।

तदनन्तर उस सुन्दर उद्यानमें क्रीड़ाके लिये आये हुए कौरव और पाण्डव एक-दूसरेके मुँहमें खानेकी वस्तुएँ डालने लगे। उस समय पापी दुर्योधनने भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे उनके भोजनमें कालकूट नामक विष डलवा दिया ।। ४४-४५ ।।

स्वयमुत्थाय चैवाथ हृदयेन क्षुरोपमः ।
स वाचामृतकल्पश्च भ्रातृवच्च सुहृद् यथा ।। ४६ ।।
स्वयं प्रक्षिपते भक्ष्यं बहु भीमस्य पापकृत् ।
प्रतीच्छितं स्म भीमेन तं वै दोषमजानता ।। ४७ ।।
ततो दुर्योधनस्तत्र हृदयेन हसन्निव ।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यते पुरुषाधमः ।। ४८ ।।

उस पापात्माका हृदय छूरेके समान तीखा था; परंतु बातें वह ऐसी करता था, मानो उनसे अमृत झर रहा हो। वह सगे भाई और हितैषी सुहृद्‌की भाँति स्वयं भीमसेनके लिये भाँति-भाँतिके भक्ष्य पदार्थ परोसने लगा। भीमसेन भोजनके दोषसे अपरिचित थे; अतः दुर्योधनने जितना परोसा, वह सब-का-सब खा गये। यह देख नीच दुर्योधन मन-ही-मन हँसता हुआ-सा अपने-आपको कृतार्थ मानने लगा ।। ४६—४८ ।।

ततस्ते सहिताः सर्वे जलक्रीडामकुर्वत ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च तदा मुदितमानसाः ।। ४९ ।।

तब भोजनके पश्चात् पाण्डव तथा धृतराष्ट्रके पुत्र सभी प्रसन्नचित्त हो एक साथ जलक्रीड़ा करने लगे ।। ४९ ।।

क्रीडावसाने ते सर्वे शुचिवस्त्राः स्वलंकृताः ।
दिवसान्ते परिश्रान्ता विहृत्य च कुरूद्वहाः ।। ५० ।।
विहारावसथेष्वेव वीरा वासमरोचयन् ।
खिन्नस्तु बलवान् भीमो व्यायम्याभ्यधिकं तदा ।। ५१ ।।

जलक्रीड़ा समाप्त होनेपर दिनके अन्तमें विहारसे थके हुए वे समस्त कुरुश्रेष्ठ वीर शुद्ध वस्त्र धारणकर सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित हो उन क्रीड़ाभवनोंमें ही रात बितानेका विचार करने लगे। बलवान् भीमसेन उस समय अधिक परिश्रम करनेके कारण बहुत थक गये थे ।। ५०-५१ ।।

वाहयित्वा कुमारांस्ताञ्जलक्रीडागतांस्तदा ।
प्रमाणकोट्यां वासार्थी सुष्वापावाप्य तत् स्थलम् ।। ५२ ।।

वे जलक्रीड़ाके लिये आये हुए उन कुमारोंको साथ लेकर विश्राम करनेकी इच्छासे प्रमाणकोटिके उस गृहमें आये और वहीं एक स्थानमें सो गये ।। ५२ ।।

शीतं वातं समासाद्य श्रान्तो मदविमोहितः ।
विषेण च परीताङ्गो निश्चेष्टः पाण्डुनन्दनः ।। ५३ ।।

पाण्डुनन्दन भीम थके तो थे ही, विषके मदसे भी अचेत हो रहे थे। उनके अंग-अंगमें विषका प्रभाव फैल गया था। अतः वहाँ ठंडी हवा पाकर ऐसे सोये कि जडके समान निश्चेष्ट

प्रतीत होने लगे ।। ५३ ।।

ततो बद्ध्वा लतापाशैर्भीमं दुर्योधनः स्वयम् ।
मृतकल्पं तदा वीरं स्थलाज्जलमपातयत् ।। ५४ ।।

तब दुर्योधनने स्वयं लताओंके पाशमें वीरवर भीमको कसकर बाँधा। वे मुर्देके समान हो रहे थे। फिर उसने गंगाजीके ऊँचे तटसे उन्हें जलमें ढकेल दिया ।। ५४ ।।

स निःसङ्गो जलस्यान्तमथ वै पाण्डवोऽविशत् ।
आक्रामन्नागभवने तदा नागकुमारकान् ।। ५५ ।।
ततः समेत्य बहुभिस्तदा नागैर्महाविषैः ।
अदश्यत भृशं भीमो महादंष्ट्रैर्विषोल्बणैः ।। ५६ ।।

भीमसेन बेहोशीकी ही दशामें जलके भीतर डूबकर नागलोकमें जा पहुँचे। उस समय कितने ही नागकुमार उनके शरीरसे दब गये। तब बहुत-से महाविषधर नागोंने मिलकर अपनी भयंकर विषवाली बड़ी-बड़ी दाढ़ोंसे भीमसेनको खूब डँसा ।। ५५-५६ ।।

ततोऽस्य दश्यमानस्य तद् विषं कालकूटकम् ।
हतं सर्पविषेणैव स्थावरं जङ्गमेन तु ।। ५७ ।।

उनके द्वारा डँसे जानेसे कालकूट विषका प्रभाव नष्ट हो गया। सर्पोंके जंगम विषने खाये हुए स्थावर विषको हर लिया ।। ५७ ।।

दंष्ट्राश्च दंष्ट्रिणां तेषां मर्मस्वपि निपातिताः ।
त्वचं नैवास्य बिभिदुः सारत्वात् पृथुवक्षसः ।। ५८ ।।

चौड़ी छातीवाले भीमसेनकी त्वचा लोहेके समान कठोर थी; अतः यद्यपि उनके मर्मस्थानोंमें सर्पोंने दाँत गड़ाये थे, तो भी वे उनकी त्वचाको भेद न सके ।। ५८ ।।

ततः प्रबुद्धः कौन्तेयः सर्वं संछिद्य बन्धनम् ।
पोथयामास तान् सर्वान् केचिद् भीताः प्रदुद्रुवुः ।। ५९ ।।

तत्पश्चात् कुन्तीनन्दन भीम जाग उठे। उन्होंने अपने सारे बन्धनोंको तोड़कर उन सभी सर्पोंको पकड़-पकड़कर धरतीपर दे मारा। कितने ही सर्प भयके मारे भाग खड़े हुए ।। ५९ ।।

हतावशेषा भीमेन सर्वे वासुकिमभ्ययुः ।
ऊचुश्च सर्पराजानं वासुकिं वासवोपमम् ।। ६० ।।

भीमके हाथों मरनेसे बचे हुए सभी सर्प इन्द्रके समान तेजस्वी नागराज वासुकिके समीप गये और इस प्रकार बोले— ।। ६० ।।

अयं नरो वै नागेन्द्र ह्यप्सु बद्ध्वा प्रवेशितः ।
यथा च नो मतिर्वीर विषपीतो भविष्यति ।। ६१ ।।

‘नागेन्द्र! एक मनुष्य है, जिसे बाँधकर जलमें डाल दिया गया है। वीरवर! जैसा कि हमारा विश्वास है, उसने विष पी लिया होगा ।। ६१ ।।

निश्चेष्टोऽस्माननुप्राप्तः स च दष्टोऽन्वबुध्यत ।
ससंज्ञश्चापि संवृत्तश्छित्त्वा बन्धनमाशु नः ।। ६२ ।।
पोथयन्तं महाबाहुं त्वं वै तं ज्ञातुमर्हसि ।

'वह हमलोगोंके पास बेहोशीकी हालतमें आया था, किंतु हमारे डँसनेपर जाग उठा और होशमें आ गया। होशमें आनेपर तो वह महाबाहु अपने सारे बन्धनोंको शीघ्र तोड़कर हमें पछाड़ने लगा है। आप चलकर उसे पहचानें' ।। ६२½ ।।

ततो वासुकिरभ्येत्य नागैरनुगतस्तदा ।। ६३ ।।
पश्यति स्म महाबाहुं भीमं भीमपराक्रमम् ।
आर्यकेण च दृष्टः स पृथाया आर्यकेण च ।। ६४ ।।
तदा दौहित्रदौहित्रः परिष्वक्तः सुपीडितम् ।
सुप्रीतश्चाभवत् तस्य वासुकिः स महायशाः ।। ६५ ।।
अब्रवीत् तं च नागेन्द्रः किमस्य क्रियतां प्रियम् ।
धनौघो रत्ननिचयो वसु चास्य प्रदीयताम् ।। ६६ ।।

तब वासुकिने उन नागोंके साथ आकर भयंकर पराक्रमी महाबाहु भीमसेनको देखा। उसी समय नागराज आर्यकने भी उन्हें देखा, जो पृथाके पिता शूरसेनके नाना थे। उन्होंने अपने दौहित्रके दौहित्रको कसकर छातीसे लगा लिया। महायशस्वी नागराज वासुकि भी भीमसेनपर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'इनका कौन-सा प्रिय कार्य किया जाय? इन्हें धन, सोना और रत्नोंकी राशि भेंट की जाय' ।। ६३—६६ ।।

एवमुक्तस्तदा नागो वासुकिं प्रत्यभाषत ।
यदि नागेन्द्र तुष्टोऽसि किमस्य धनसंचयैः ।। ६७ ।।

उनके यों कहनेपर आर्यक नागने वासुकिसे कहा—'नागराज! यदि आप प्रसन्न हैं तो यह धनराशि लेकर क्या करेगा' ।। ६७ ।।

रसं पिबेत् कुमारोऽयं त्वयि प्रीते महाबलः ।
बलं नागसहस्रस्य यस्मिन् कुण्डे प्रतिष्ठितम् ।। ६८ ।।

'आपके संतुष्ट होनेपर तो इस महाबली राजकुमारको आपकी आज्ञासे उस कुण्डका रस पीना चाहिये, जिससे एक हजार हाथियोंका बल प्राप्त होता है ।। ६८ ।।

यावत् पिबति बालोऽयं तावदस्मै प्रदीयताम् ।
एवमस्त्विति तं नागं वासुकिः प्रत्यभाषत ।। ६९ ।।

'यह बालक जितना रस पी सके, उतना इसे दिया जाय।' यह सुनकर वासुकिने आर्यक नागसे कहा 'ऐसा ही हो' ।। ६९ ।।

ततो भीमस्तदा नागैः कृतस्वस्त्ययनः शुचिः ।
प्राङ्मुखश्चोपविष्टश्च रसं पिबति पाण्डवः ।। ७० ।।

तब नागोंने भीमसेनके लिये स्वस्तिवाचन किया। फिर वे पाण्डुकुमार पवित्र हो पूर्वाभिमुख बैठकर कुण्डका रस पीने लगे ।। ७० ।।

एकोच्छ्वासात् ततः कुण्डं पिबति स्म महाबलः ।
एवमष्टौ स कुण्डानि ह्यपिबत् पाण्डुनन्दनः ।। ७१ ।।

वे एक ही साँसमें एक कुण्डका रस पी जाते थे। इस प्रकार उन महाबली पाण्डुनन्दनने आठ कुण्डोंका रस पी लिया ।। ७१ ।।

ततस्तु शयने दिव्ये नागदत्ते महाभुजः ।
अशेत भीमसेनस्तु यथासुखमरिंदमः ।। ७२ ।।

इसके बाद शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबाहु भीमसेन नागोंकी दी हुई दिव्य शय्यापर सुखपूर्वक सो गये ।। ७२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीमसेनरसपाने सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीमसेनके रसपानसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२७ ।।

---

१. दाँतोंसे काट-काटकर खाये जानेवाले मालपूए आदिको भक्ष्य कहते हैं। २. दाँतका सहारा न लेकर केवल जिह्वाके व्यापारसे जिसे भोजन किया जाता है, जैसे हलुआ, खीर आदि। ३. पीनेयोग्य दुग्ध आदि। ४. चूसनेयोग्य वस्तु जिसका रसमात्र ग्रहण किया जाय और बाकी चीजको त्याग दिया जाय, वह चोष्य है, जैसे ईख-आम आदि। ५. लेह्य—चाटनेयोग्य चटनी आदि।

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनके न आनेसे कुन्ती आदिकी चिन्ता, नागलोकसे भीमसेनका आगमन तथा उनके प्रति दुर्योधनकी कुचेष्टा

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते कौरवाः सर्वे विना भीमं च पाण्डवाः ।
वृत्तक्रीडाविहारास्तु प्रतस्थुर्गजसाह्वयम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर समस्त कौरव और पाण्डव क्रीड़ा और विहार समाप्त करके भीमसेनके बिना ही हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थित हुए ।। १ ।।

रथैर्गजैस्तथा चाश्वैर्यानैश्चान्यैरनेकशः ।
ब्रुवन्तो भीमसेनस्तु यातो ह्यग्रत एव नः ।। २ ।।
ततो दुर्योधनः पापस्तत्रापश्यन् वृकोदरम् ।
भ्रातृभिः सहितो हृष्टो नगरं प्रविवेश ह ।। ३ ।।

रथ, हाथी, घोड़े तथा अन्य अनेक प्रकारकी सवारियोंद्वारा वहाँसे चलकर वे आपसमें यह कह रहे थे कि भीमसेन तो हमलोगोंसे आगे ही चले गये हैं। पापी दुर्योधनने भीमसेनको वहाँ न देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो भाइयोंके साथ नगरमें प्रवेश किया ।। २-३ ।।

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा ह्यविदन् पापमात्मनि ।
स्वेनानुमानेन परं साधुं समनुपश्यति ।। ४ ।।

राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा थे, उनके पवित्र हृदयमें दुर्योधनके पापपूर्ण विचारका भानतक न हुआ। वे अपने ही अनुमानसे दूसरेको भी साधु ही देखते और समझते थे ।। ४ ।।

सोऽभ्युपेत्य तदा पार्थो मातरं भ्रातृवत्सलः ।
अभिवाद्याब्रवीत् कुन्तीमम्ब भीम इहागतः ।। ५ ।।

भाईपर स्नेह रखनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर उस समय माताके पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके बोले—‘माँ! भीमसेन यहाँ आया है क्या?’ ।। ५ ।।

क्व गतो भविता मातर्नेह पश्यामि तं शुभे ।
उद्यानानि वनं चैव विचितानि समन्ततः ।। ६ ।।
तदर्थं न च तं वीरं दृष्टवन्तो वृकोदरम् ।
मन्यमानास्ततः सर्वे यातो नः पूर्वमेव सः ।। ७ ।।

‘मातः! वह कहाँ गया होगा? शुभे! यहाँ भी तो मैं उसे नहीं देख रहा हूँ। वहाँ हमलोगोंने भीमसेनके लिये उद्यान और वनका कोना-कोना खोज डाला। फिर भी जब

वीरवर भीमको हम देख न सके, तब सबने यही समझ लिया कि वह हमलोगोंसे पहले ही चला गया होगा ।। ६-७ ।।

आगताः स्म महाभागे व्याकुलेनान्तरात्मना ।
इहागम्य क्व नु गतस्त्वया वा प्रेषितः क्व नु ।। ८ ।।

'महाभागे! हम उसके लिये अत्यन्त व्याकुल हृदयसे यहाँ आये हैं। यहाँ आकर वह कहीं चला गया? अथवा तुमने उसे कहीं भेजा है?' ।। ८ ।।

कथयस्व महाबाहुं भीमसेनं यशस्विनि ।
न हि मे शुध्यते भावस्तं वीरं प्रति शोभने ।। ९ ।।

'यशस्विनि! महाबाहु भीमसेनका पता बताओ। शोभने! वीर भीमसेनके विषयमें मेरा हृदय शंकित हो गया है ।। ९ ।।

यतः प्रसुप्तं मन्येऽहं भीमं नेति हतस्तु सः ।
इत्युक्ता च ततः कुन्ती धर्मराजेन धीमता ।। १० ।।
हा हेति कृत्वा सम्भ्रान्ता प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ।
न पुत्र भीमं पश्यामि न मामभ्येत्यसाविति ।। ११ ।।

'जहाँ मैं भीमसेनको सोया हुआ समझता था, वहीं किसीने उसे मार तो नहीं डाला?'

बुद्धिमान् धर्मराजके इस प्रकार पूछनेपर कुन्ती 'हाय-हाय' करके घबरा उठी और युधिष्ठिरसे बोली—'बेटा! मैंने भीमको नहीं देखा है। वह मेरे पास आया ही नहीं ।। १०-११ ।।

शीघ्रमन्वेषणे यत्नं कुरु तस्यानुजैः सह ।
इत्युक्त्वा तनयं ज्येष्ठं हृदयेन विदूयता ।। १२ ।।
क्षत्तारमानाय्य तदा कुन्ती वचनमब्रवीत् ।
क्य गतो भगवन् क्षत्तर्भीमसेनो न दृश्यते ।। १३ ।।

'तुम अपने छोटे भाइयोंके साथ शीघ्र उसे ढूँढ़नेका प्रयत्न करो।' कुन्तीका हृदय पुत्रकी चिन्तासे व्यथित हो रहा था, उसने ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरसे उपर्युक्त बात कहकर विदुरजीको बुलवाया और इस प्रकार कहा—'भगवन्! भीमसेन नहीं दिखायी देता, वह कहाँ चला गया? ।। १२-१३ ।।

उद्यानान्निर्गताः सर्वे भ्रातरो भ्रातृभिः सह ।
तत्रैकस्तु महाबाहुर्भीमो नाभ्येति मामिह ।। १४ ।।

'उद्यानसे सब लोग अपने भाइयोंके साथ चलकर यहाँ आ गये, किंतु अकेला महाबाहु भीम अबतक मेरे पास लौटकर नहीं आया! ।। १४ ।।

न च प्रीणयते चक्षुः सदा दुर्योधनस्य सः ।
क्रूरोऽसौ दुर्मतिः क्षुद्रो राज्यलुब्धोऽनपत्रपः ।। १५ ।।

'वह सदा दुर्योधनकी आँखोंमें खटकता रहता है। दुर्योधन क्रूर, दुर्बुद्धि, क्षुद्र, राज्यका लोभी तथा निर्लज्ज है ।। १५ ।।

निहन्यादपि तं वीरं जातमन्युः सुयोधनः ।
तेन मे व्याकुलं चित्तं हृदयं दह्यतीव च ।। १६ ।।

'अतः सम्भव है, वह क्रोधमें वीर भीमसेनको धोखा देकर मार भी डाले। इसी चिन्तासे मेरा चित्त व्याकुल हो उठा है, हृदय दग्ध-सा हो रहा है' ।। १६ ।।

विदुर उवाच

मैवं वदस्व कल्याणि शेषसंरक्षणं कुरु ।
प्रत्यादिष्टो हि दुष्टात्मा शेषेऽपि प्रहरेत् तव ।। १७ ।।

विदुरजीने कहा—कल्याणी! ऐसी बात मुँहसे न निकालो, शेष पुत्रोंकी रक्षा करो। यदि दुर्योधनको उलाहना देकर इस विषयमें पूछ-ताछ की जायगी तो वह दुष्टात्मा तुम्हारे शेष पुत्रोंपर भी प्रहार कर सकता है ।। १७ ।।

दीर्घायुषस्तव सुता यथोवाच महामुनिः ।
आगमिष्यति ते पुत्रः प्रीतिं चोत्पादयिष्यति ।। १८ ।।

महामुनि व्यासने पहले जैसा कहा है, उसके अनुसार तुम्हारे ये सभी पुत्र दीर्घजीवी हैं, अतः तुम्हारा पुत्र भीमसेन कहीं भी क्यों न गया हो, अवश्य लौटेगा और तुम्हें आनन्द प्रदान करेगा ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ विद्वान् विदुरः स्वं निवेशनम् ।
कुन्ती चिन्तापरा भूत्वा सहासीना सुतैर्गृहे ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विद्वान् विदुर यों कहकर अपने घरमें चले गये। इधर कुन्ती चिन्तामग्न होकर अपने चारों पुत्रोंके साथ चुपचाप घरमें बैठ रही ।। १९ ।।

ततोऽष्टमे तु दिवसे प्रत्यबुध्यत पाण्डवः ।
तस्मिंस्तदा रसे जीर्णे सोऽप्रमेयबलो बली ।। २० ।।

उधर, नागलोकमें सोये हुए बलवान् भीमसेन आठवें दिन, जब वह रस पच गया, जगे। उस समय उनके बलकी कोई सीमा नहीं रही ।। २० ।।

तं दृष्ट्वा प्रतिबुध्यन्तं पाण्डवं ते भुजङ्गमाः ।
सान्त्वयामासुरव्यग्रा वचनं चेदमब्रुवन् ।। २१ ।।

पाण्डुनन्दन भीमको जगा हुआ देख सब नागोंने शान्त-चित्तसे उन्हें आश्वासन दिया और यह बात कही— ।। २१ ।।

यत् ते पीतो महाबाहो रसोऽयं वीर्यसम्भृतः ।
तस्मान्नागायुतबलो रणेऽधृष्यो भविष्यसि ।। २२ ।।

'महाबाहो! तुमने जो यह शक्तिपूर्ण रस पीया है, इसके कारण तुम्हारा बल दस हजार हाथियोंके समान होगा और तुम युद्धमें अजेय हो जाओगे ।। २२ ।।

गच्छाद्य त्वं च स्वगृहं स्नातो दिव्यैरिमैर्जलैः ।
भ्रातरस्तेऽनुतप्यन्ति त्वां विना कुरुपुङ्गव ।। २३ ।।

'आज तुम इस दिव्य जलसे स्नान करो और अपने घर लौट जाओ। कुरुश्रेष्ठ! तुम्हारे बिना तुम्हारे सब भाई निरन्तर दुःख और चिन्तामें डूबे रहते हैं' ।। २३ ।।

ततः स्नातो महाबाहुः शुचिः शुक्लाम्बरस्रजः ।
ततो नागस्य भवने कृतकौतुकमङ्गलः ।। २४ ।।
ओषधीभिर्विषघ्नीभिः सुरभीभिर्विशेषतः ।
भुक्तवान् परमान्नं च नागैर्दत्तं महाबलः ।। २५ ।।

तब महाबाहु भीमसेन स्नान करके शुद्ध हो गये। उन्होंने श्वेत वस्त्र और श्वेत पुष्पोंकी माला धारण की। तत्पश्चात् नागराजके भवनमें उनके लिये कौतुक एवं मंगलाचार सम्पन्न किये गये। फिर उन महाबली भीमने विष-नाशक सुगन्धित ओषधियोंके साथ नागोंकी दी हुई खीर खायी ।। २४-२५ ।।

पूजितो भुजगैर्वीर आशीर्भिश्चाभिनन्दितः ।
दिव्याभरणसंछन्नो नागानामन्त्र्य पाण्डवः ।। २६ ।।
उदतिष्ठत् प्रहृष्टात्मा नागलोकादरिंदमः ।
उत्क्षिप्तः स तु नागेन जलाज्जलरुहेक्षणः ।। २७ ।।
तस्मिन्नेव वनोद्देशे स्थापितः कुरुनन्दनः ।
ते चान्तर्दधिरे नागाः पाण्डवस्यैव पश्यतः ।। २८ ।।

इसके बाद नागोंने वीर भीमसेनका आदर-सत्कार करके उन्हें शुभाशीर्वादोंसे प्रसन्न किया। दिव्य आभूषणोंसे विभूषित शत्रुदमन भीमसेन नागोंकी आज्ञा ले प्रसन्नचित्त हो नागलोकसे जानेको उद्यत हुए। तब किसी नागने कमलनयन कुरुनन्दन भीमको जलसे ऊपर उठाकर उसी वनमें (गंगातटवर्ती प्रमाणकोटिमें) रख दिया। फिर वे नाग पाण्डुपुत्र भीमके देखते-देखते अन्तर्धान हो गये ।। २६—२८ ।।

तत उत्थाय कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः ।
आजगाम महाबाहुर्मातुरन्तिकमञ्जसा ।। २९ ।।

तब महाबली कुन्तीकुमार महाबाहु भीमसेन वहाँसे उठकर शीघ्र ही अपनी माताके समीप आ गये ।। २९ ।।

ततोऽभिवाद्य जननीं ज्येष्ठं भ्रातरमेव च ।
कनीयसः समाघ्राय शिरःस्वरिविमर्दनः ।। ३० ।।

तदनन्तर शत्रुमर्दन भीमने माता और बड़े भाईको प्रणाम करके स्नेहपूर्वक छोटे भाइयोंका सिर सूँघा ।। ३० ।।

तैश्चापि सम्परिष्वक्तः सह मात्रा नरर्षभैः ।
अन्योन्यगतसौहार्दाद् दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रुवन् ।। ३१ ।।

माता तथा उन नरश्रेष्ठ भाइयोंने भी उन्हें हृदयसे लगाया और एक-दूसरेके प्रति स्नेहाधिक्यके कारण सबने भीमके आगमनसे अपने सौभाग्यकी सराहना की—'अहोभाग्य! अहोभाग्य!' कहा ।। ३१ ।।

ततस्तत् सर्वमाचष्ट दुर्योधनविचेष्टितम् ।
भ्रातॄणां भीमसेनश्च महाबलपराक्रमः ।। ३२ ।।

तदनन्तर महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न भीमसेनने दुर्योधनकी वे सारी कुचेष्टाएँ अपने भाइयोंको बतायीं ।। ३२ ।।

नागलोके च यद् वृत्तं गुणदोषमशेषतः ।
तच्च सर्वमशेषेण कथयामास पाण्डवः ।। ३३ ।।

और नागलोकमें जो गुण-दोषपूर्ण घटनाएँ घटी थीं, उन सबको भी पाण्डुनन्दन भीमने पूर्णरूपसे कह सुनाया ।। ३३ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा भीममाह वचोऽर्थवत् ।
तूष्णीं भव न ते जल्प्यमिदं कार्यं कथंचन ।। ३४ ।।

तब राजा युधिष्ठिरने भीमसेनसे मतलबकी बात कही—'भैया भीम! तुम सर्वथा चुप हो जाओ। तुम्हारे साथ जो बर्ताव किया गया है, वह कहीं किसी प्रकार भी न कहना' ।। ३४ ।।

एवमुक्त्वा महाबाहुर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरप्रमत्तोऽभवत् तदा ।। ३५ ।।

यों कहकर महाबाहु धर्मराज युधिष्ठिर अपने सब भाइयोंके साथ उस समयसे खूब सावधान रहने लगे ।। ३५ ।।

सारथिं चास्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान् ।
धर्मात्मा विदुरस्तेषां पार्थानां प्रददौ मतिम् ।। ३६ ।।

दुर्योधनने भीमसेनके प्रिय सारथिको हाथसे गला घोंटकर मार डाला। उस समय भी धर्मात्मा विदुरने उन कुन्तीपुत्रोंको यही सलाह दी कि वे चुपचाप सब कुछ सहन कर लें ।। ३६ ।।

भोजने भीमसेनस्य पुनः प्राक्षेपयद् विषम् ।
कालकूटं नवं तीक्ष्णं सम्भृतं लोमहर्षणम् ।। ३७ ।।

धृतराष्ट्रकुमारने भीमसेनके भोजनमें पुनः नया, तीखा और सत्त्वके रूपमें परिणत रोंगटे खड़े कर देनेवाला कालकूट नामक विष डलवा दिया ।। ३७ ।।

वैश्यापुत्रस्तदाचष्ट पार्थानां हितकाम्यया ।
तच्चापि भुक्त्वाजरयदविकारं वृकोदरः ।। ३८ ।।

वैश्यापुत्र युयुत्सुने कुन्तीपुत्रोंके हितकी कामनासे यह बात उन्हें बता दी। परंतु भीमने उस विषको भी खाकर बिना किसी विकारके पचा लिया ।। ३८ ।।

विकारं न ह्यजनयत् सुतीक्ष्णमपि तद् विषम् ।
भीमसंहनने भीमे अजीर्यत वृकोदरे ।। ३९ ।।

यद्यपि वह विष बड़ा तेज था, तो भी उनके लिये कोई बिगाड़ न कर सका। भयंकर शरीरवाले भीमसेनके उदरमें वृक नामकी अग्नि थी; अतः वहाँ जाकर वह विष पच गया ।। ३९ ।।

एवं दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
अनेकैरभ्युपायैस्ताञ्जिघांसन्ति स्म पाण्डवान् ।। ४० ।।

इस प्रकार दुर्योधन, कर्ण तथा सुबलपुत्र शकुनि अनेक उपायोंद्वारा पाण्डवोंको मार डालना चाहते थे ।। ४० ।।

पाण्डवाश्चापि तत् सर्वं प्रत्यजानन्नमर्षिताः ।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः ।। ४१ ।।

पाण्डव भी यह सब जान लेते और क्रोधमें भर जाते थे, तो भी विदुरकी रायके अनुसार चलनेके कारण अपने अमर्षको प्रकट नहीं करते थे ।। ४१ ।।

कुमारान् क्रीडमानांस्तान् दृष्ट्वा राजातिदुर्मदान् ।
गुरुं शिक्षार्थमन्विष्य गौतमं तान् न्यवेदयत् ।। ४२ ।।
शरस्तम्बे समुद्भूतं वेदशास्त्रार्थपारगम् ।
अधिजग्मुश्च कुरवो धनुर्वेदं कृपात् तु ते ।। ४३ ।।

राजा धृतराष्ट्रने उन कुमारोंको खेल-कूदमें लगे रहनेसे अत्यन्त उद्दण्ड होते देख उन्हें शिक्षा देनेके लिये गौतम-गोत्रीय कृपाचार्यकी खोज करायी, जो सरकंडेके समूहसे उत्पन्न हुए और विविध शास्त्रोंके पारंगत विद्वान् थे। उन्हींको गुरु बनाकर कुरुकुलके उन सभी कुमारोंको उन्हें सौंप दिया गया; फिर वे कुरुवंशी बालक कृपाचार्यसे धनुर्वेदका अध्ययन करने लगे ।। ४२-४३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीमप्रत्यागमने अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीमसेनके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२८ ।।

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कृपाचार्य, द्रोण और अश्वत्थामाकी उत्पत्ति तथा द्रोणको परशुरामजीसे अस्त्र-शस्त्रकी प्राप्तिकी कथा

जनमेजय उवाच

कृपस्यापि मम ब्रह्मन् सम्भवं वक्तुमर्हसि ।
शरस्तम्बात् कथं जज्ञे कथं वास्त्राण्यवाप्तवान् ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! कृपाचार्यका जन्म किस प्रकार हुआ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें। वे सरकंडेके समूहसे किस तरह उत्पन्न हुए एवं उन्होंने किस प्रकार अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

महर्षेर्गौतमस्यासीच्छरद्वान् नाम गौतमः ।
पुत्रः किल महाराज जातः सह शरैर्विभो ।। २ ।।
न तस्य वेदाध्ययने तथा बुद्धिरजायत ।
यथास्य बुद्धिरभवद् धनुर्वेदे परंतप ।। ३ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज! महर्षि गौतमके शरद्वान् गौतम* नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र थे। प्रभो! कहते हैं, वे सरकंडोंके साथ उत्पन्न हुए थे। परंतप! उनकी बुद्धि धनुर्वेदमें जितनी लगती थी, उतनी वेदोंके अध्ययनमें नहीं ।। २-३ ।।

अधिजग्मुर्यथा वेदांस्तपसा ब्रह्मचारिणः ।
तथा स तपसोपेतः सर्वाण्यस्त्राण्यवाप ह ।। ४ ।।

जैसे अन्य ब्रह्मचारी तपस्यापूर्वक वेदोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने तपस्यायुक्त होकर सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये ।। ४ ।।

धनुर्वेदपरत्वाच्च तपसा विपुलेन च ।
भृशं संतापयामास देवराजं स गौतमः ।। ५ ।।

वे धनुर्वेदमें पारंगत तो थे ही, उनकी तपस्या भी बड़ी भारी थी; इससे गौतमने देवराज इन्द्रको अत्यन्त चिन्तामें डाल दिया था ।। ५ ।।

ततो जानपदीं नाम देवकन्यां सुरेश्वरः ।
प्राहिणोत् तपसो विघ्नं कुरु तस्येति कौरव ।। ६ ।।

कौरव! तब देवराजने जानपदी नामकी एक देवकन्याको उनके पास भेजा और यह आदेश दिया कि ‘तुम शरद्वान्‌की तपस्यामें विघ्न डालो’ ।। ६ ।।

सा हि गत्वाऽऽश्रमं तस्य रमणीयं शरद्वतः ।
धनुर्बाणधरं बाला लोभयामास गौतमम् ।। ७ ।।

वह जानपदी शरद्वान्‌के रमणीय आश्रमपर जाकर धनुष-बाण धारण करनेवाले गौतमको लुभाने लगी ।। ७ ।।

तामेकवसनां दृष्ट्वा गौतमोऽप्सरसं वने ।
लोकेऽप्रतिमसंस्थानां प्रोत्फुल्लनयनोऽभवत् ।। ८ ।।

गौतमने एक वस्त्र धारण करनेवाली उस अप्सराको वनमें देखा। संसारमें उसके सुन्दर शरीरकी कहीं तुलना नहीं थी। उसे देखकर शरद्वान्‌के नेत्र प्रसन्नतासे खिल उठे ।। ८ ।।

धनुश्च हि शरास्तस्य कराभ्यामपतन् भुवि ।
वेपथुश्चापि तां दृष्ट्वा शरीरे समजायत ।। ९ ।।

उनके हाथोंसे धनुष और बाण छूटकर पृथ्वीपर गिर पड़े तथा उसकी ओर देखनेसे उनके शरीरमें कम्प हो आया ।। ९ ।।

स तु ज्ञानगरीयस्त्वात् तपसश्च समर्थनात् ।
अवतस्थे महाप्राज्ञो धैर्येण परमेण ह ।। १० ।।

शरद्वान् ज्ञानमें बहुत बढ़े-चढ़े थे और उनमें तपस्याकी भी प्रबल शक्ति थी। अतः वे महाप्राज्ञ मुनि अत्यन्त धीरतापूर्वक अपनी मर्यादामें स्थित रहे ।। १० ।।

यस्तस्य सहसा राजन् विकारः समदृश्यत ।
तेन सुस्राव रेतोऽस्य स च तन्नान्वबुध्यत ।। ११ ।।

राजन्! किंतु उनके मनमें सहसा जो विकार देखा गया, इससे उनका वीर्य स्खलित हो गया; परंतु इस बातका उन्हें भान नहीं हुआ ।। ११ ।।

धनुश्च सशरं त्यक्त्वा तथा कृष्णाजिनानि च ।
स विहायाश्रमं तं च तां चैवाप्सरसं मुनिः ।। १२ ।।
जगाम रेतस्तत् तस्य शरस्तम्बे पपात च ।
शरस्तम्बे च पतितं द्विधा तदभवन्नृप ।। १३ ।।

वे मुनि बाणसहित धनुष, काला मृगचर्म, वह आश्रम और वह अप्सरा—सबको वहीं छोड़कर वहाँसे चल दिये। उनका वह वीर्य सरकंडेके समुदाय-पर गिर पड़ा। राजन्! वहाँ गिरनेपर उनका वीर्य दो भागोंमें बँट गया ।। १२-१३ ।।

तस्याथ मिथुनं जज्ञे गौतमस्य शरद्वतः ।
मृगयां चरतो राज्ञः शन्तनोस्तु यदृच्छया ।। १४ ।।
कश्चित् सेनाचरोऽरण्ये मिथुनं तदपश्यत ।
धनुश्च सशरं दृष्ट्वा तथा कृष्णाजिनानि च ।। १५ ।।
ज्ञात्वा द्विजस्य चापत्ये धनुर्वेदान्तगस्य ह ।
स राज्ञे दर्शयामास मिथुनं सशरं धनुः ।। १६ ।।

स तदादाय मिथुनं राजा च कृपयान्वितः ।
आजगाम गृहानेव मम पुत्राविति ब्रुवन् ।। १७ ।।

तदनन्तर गौतमनन्दन शरद्वान्‌के उसी वीर्यसे एक पुत्र और एक कन्याकी उत्पत्ति हुई। उस दिन दैवेच्छासे राजा शन्तनु वनमें शिकार खेलने आये थे। उनके किसी सैनिकने वनमें उन युगल संतानोंको देखा। वहाँ बाणसहित धनुष और काला मृगचर्म देखकर उसने यह जान लिया कि ‘ये दोनों किसी धनुर्वेदके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणकी संतानें हैं’ ऐसा निश्चय होनेपर उसने राजाको वे दोनों बालक और बाणसहित धनुष दिखाया। राजा उन्हें देखते ही कृपाके वशीभूत हो गये और उन दोनोंको साथ ले अपने घर आ गये। वे किसीके पूछनेपर यही परिचय देते थे कि ‘ये दोनों मेरी ही संतानें हैं’ ।। १४—१७ ।।

ततः संवर्धयामास संस्कारैश्चाप्ययोजयत् ।
प्रातीपेयो नरश्रेष्ठो मिथुनं गौतमस्य तत् ।। १८ ।।

तदनन्तर नरश्रेष्ठ प्रतीपनन्दन शन्तनुने शरद्वान्‌के उन दोनों बालकोंका पालन-पोषण किया और यथासमय उन्हें सब संस्कारोंसे सम्पन्न किया ।। १८ ।।

गौतमोऽपि ततोऽभ्येत्य धनुर्वेदपरोऽभवत् ।
कृपया यन्मया बालाविमौ संवर्धिताविति ।। १९ ।।
तस्मात् तयोर्नाम चक्रे तदेव स महीपतिः ।
गोपितौ गौतमस्तत्र तपसा समविन्दत ।। २० ।।

गौतम (शरद्वान्) भी उस आश्रमसे अन्यत्र जाकर धनुर्वेदके अभ्यासमें तत्पर रहने लगे। राजा शन्तनुने यह सोचकर कि मैंने इन बालकोंको कृपापूर्वक पाला-पोसा है, उन दोनोंके वे ही नाम रख दिये—कृप और कृपी। राजाके द्वारा पालित हुई अपनी दोनों संतानोंका हाल गौतमने तपोबलसे जान लिया ।। १९-२० ।।

आगत्य तस्मै गोत्रादि सर्वमाख्यातवांस्तदा ।
चतुर्विधं धनुर्वेदं शास्त्राणि विविधानि च ।। २१ ।।
निखिलेनास्य तत् सर्वं गुह्यमाख्यातवांस्तदा ।
सोऽचिरेणैव कालेन परमाचार्यतां गतः ।। २२ ।।

और वहाँ गुप्तरूपसे आकर अपने पुत्रको गोत्र आदि सब बातोंका पूरा परिचय दे दिया। चार प्रकारके* धनुर्वेद, नाना प्रकारके शास्त्र तथा उन सबके गूढ़ रहस्यका भी पूर्णरूपसे उसको उपदेश दिया। इससे कृप थोड़े ही समयमें धनुर्वेदके उत्कृष्ट आचार्य हो गये ।। २१-२२ ।।

ततोऽधिजग्मुः सर्वे ते धनुर्वेदं महारथाः ।
धृतराष्ट्रात्मजाश्चैव पाण्डवाः सह यादवैः ।। २३ ।।

धृतराष्ट्रके महारथी पुत्र, पाण्डव तथा यादव—सबने उन्हीं कृपाचार्यसे धनुर्वेदका अध्ययन किया ।। २३ ।।

वृष्णयश्च नृपाश्चान्ये नानादेशसमागताः ।

वृष्णिवंशी तथा भिन्न-भिन्न देशोंसे आये हुए अन्य नरेश भी उनसे धनुर्वेदकी शिक्षा लेते थे ।। २३½ ।।

वैशम्पायन उवाच

विशेषार्थी ततो भीष्मः पौत्राणां विनयेप्सया ।। २४ ।।
इष्वस्त्रज्ञान् पर्यपृच्छदाचार्यान् वीर्यसम्मतान् ।
नाल्पधीर्ना महाभागस्तथा नानास्त्रकोविदः ।। २५ ।।
नादेवसत्त्वो विनयेत् कुरूनस्त्रे महाबलान् ।
इति संचिन्त्य गाङ्गेयस्तदा भरतसत्तमः ।। २६ ।।
द्रोणाय वेदविदुषे भारद्वाजाय धीमते ।
पाण्डवान् कौरवांश्चैव ददौ शिष्यान् नरर्षभ ।। २७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कृपाचार्यके द्वारा पूर्णतः शिक्षा मिल जानेपर पितामह भीष्मने अपने पौत्रोंमें विशिष्ट योग्यता लानेके लिये उन्हें और अधिक शिक्षा देनेकी इच्छासे ऐसे आचार्योंकी खोज प्रारम्भ की, जो बाण-संचालनकी कलामें निपुण और अपने पराक्रमके लिये सम्मानित हों। उन्होंने सोचा—'जिसकी बुद्धि थोड़ी है, जो महान् भाग्यशाली नहीं है, जिसने नाना प्रकारकी अस्त्र-विद्यामें निपुणता नहीं प्राप्त की है तथा जो देवताओंके समान शक्तिशाली नहीं है, वह इन महाबली कौरवोंको अस्त्र-विद्याकी शिक्षा नहीं दे सकता।' नरश्रेष्ठ! यों विचारकर भरतश्रेष्ठ गंगानन्दन भीष्मने भरद्वाजवंशी, वेदवेत्ता तथा बुद्धिमान् द्रोणको आचार्यके पदपर प्रतिष्ठित करके उनको शिष्यरूपमें पाण्डवों तथा कौरवोंको समर्पित कर दिया ।। २४—२७ ।।

शास्त्रतः पूजितश्चैव सम्यक् तेन महात्मना ।
स भीष्मेण महाभागस्तुष्टोऽस्त्रविदुषां वरः ।। २८ ।।

अस्त्र-विद्याके विद्वानोंमें श्रेष्ठ महाभाग द्रोण महात्मा भीष्मके द्वारा शास्त्रविधिसे भलीभाँति पूजित होनेपर बहुत संतुष्ट हुए ।। २८ ।।

प्रतिजग्राह तान् सर्वान् शिष्यत्वेन महायशाः ।
शिक्षयामास च द्रोणो धनुर्वेदमशेषतः ।। २९ ।।

फिर उन महायशस्वी आचार्य द्रोणने उन सबको शिष्यरूपमें स्वीकार किया और सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा दी ।। २९ ।।

तेऽचिरेणैव कालेन सर्वशस्त्रविशारदाः ।
बभूवुः कौरवा राजन् पाण्डवाश्चामितौजसः ।। ३० ।।

राजन्! अमिततेजस्वी पाण्डव तथा कौरव—सभी थोड़े ही समयमें सम्पूर्ण शस्त्र-विद्यामें परम प्रवीण हो गये ।। ३० ।।

जनमेजय उवाच

कथं समभवद् द्रोणः कथं चास्त्राण्यवाप्तवान् ।
कथं चागात् कुरून् ब्रह्मन् कस्य पुत्रः स वीर्यवान् ।। ३१ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! द्रोणाचार्यकी उत्पत्ति कैसे हुई? उन्होंने किस प्रकार अस्त्र-विद्या प्राप्त की? वे कुरुदेशमें कैसे आये? तथा वे महापराक्रमी द्रोण किसके पुत्र थे? ।। ३१ ।।

कथं चास्य सुतो जातः सोऽश्वत्थामास्त्रवित्तमः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण प्रकीर्तय ।। ३२ ।।

साथ ही अस्त्र-शस्त्रके विद्वानोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा, जो द्रोणका पुत्र था, कैसे उत्पन्न हुआ? यह सब मैं सुनना चाहता हूँ। आप विस्तारपूर्वक कहिये ।। ३२ ।।

वैशम्पायन उवाच

गङ्गाद्वारं प्रति महान् बभूव भगवानृषिः ।
भरद्वाज इति ख्यातः सततं संशितव्रतः ।। ३३ ।।
सोऽभिषेक्तुं ततो गङ्गां पूर्वमेवागमन्नदीम् ।
महर्षिभिर्भरद्वाजो हविर्धाने चरन् पुरा ।। ३४ ।।
ददर्शाप्सरसं साक्षाद् घृताचीमाप्लुतामृषिः ।
रूपयौवनसम्पन्नां मददृप्तां मदालसाम् ।। ३५ ।।
तस्याः पुनर्नदीतीरे वसनं पर्यवर्तत ।
व्यपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे ततः ।। ३६ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! गंगाद्वारमें भगवान् भरद्वाज नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि रहते थे। वे सदा अत्यन्त कठोर व्रतोंका पालन करते थे। एक दिन उन्हें एक विशेष प्रकारके यज्ञका अनुष्ठान करना था। इसलिये वे भरद्वाज मुनि महर्षियोंको साथ लेकर गंगाजीमें स्नान करनेके लिये गये। वहाँ पहुँचकर महर्षिने प्रत्यक्ष देखा, घृताची अप्सरा पहलेसे ही स्नान करके नदीके तटपर खड़ी हो वस्त्र बदल रही है। वह रूप और यौवनसे सम्पन्न थी। जवानीके नशेमें मदसे उन्मत्त हुई जान पड़ती थी। उसका वस्त्र खिसक गया और उसे उस अवस्थामें देखकर ऋषिके मनमें कामवासना जाग उठी ।। ३३—३६ ।।

तत्र संसक्तमनसो भरद्वाजस्य धीमतः ।
ततोऽस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे ।। ३७ ।।

परम बुद्धिमान् भरद्वाजजीका मन उस अप्सरामें आसक्त हुआ; इससे उनका वीर्य स्खलित हो गया। ऋषिने उस वीर्यको द्रोण (यज्ञकलश)-में रख दिया ।। ३७ ।।

ततः समभवद् द्रोणः कलशे तस्य धीमतः ।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।। ३८ ।।

तब उन बुद्धिमान् महर्षिको उस कलशसे जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वह द्रोणसे जन्म लेनेके कारण द्रोण नामसे ही विख्यात हुआ। उसने सम्पूर्ण वेदों और वेदांगोंका अध्ययन किया ।। ३८ ।।

अग्निवेशं महाभागं भरद्वाजः प्रतापवान् ।
प्रत्यपादयदाग्नेयमस्त्रमस्त्रविदां वरः ।। ३९ ।।

प्रतापी महर्षि भरद्वाज अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने महाभाग अग्निवेशको आग्नेय अस्त्रकी शिक्षा दी थी ।। ३९ ।।

अग्नेस्तु जातः स मुनिस्ततो भरतसत्तम ।
भारद्वाजं तदाग्नेयं महास्त्रं प्रत्यपादयत् ।। ४० ।।

जनमेजय! अग्निवेश मुनि साक्षात् अग्निके पुत्र थे। उन्होंने अपने गुरुपुत्र भरद्वाजनन्दन द्रोणको उस आग्नेय नामक महान् अस्त्रकी शिक्षा दी ।। ४० ।।

भरद्वाजसखा चासीत् पृषतो नाम पार्थिवः ।
तस्यापि द्रुपदो नाम तदा समभवत् सुतः ।। ४१ ।।

उन दिनों पृषत नामसे प्रसिद्ध एक भूपाल महर्षि भरद्वाजके मित्र थे। उन्हें भी उसी समय एक पुत्र हुआ, जिसका नाम द्रुपद था ।। ४१ ।।

स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्थिवः ।
चिक्रीडाध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः ।। ४२ ।।

वह राजकुमार क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ था। वह प्रतिदिन भरद्वाज मुनिके आश्रममें जाकर द्रोणके साथ खेलता और अध्ययन करता था ।। ४२ ।।

ततो व्यतीते पृषते स राजा द्रुपदोऽभवत् ।
पञ्चालेषु महाबाहुरुत्तरेषु नरेश्वर ।। ४३ ।।

नरेश्वर जनमेजय! पृषतकी मृत्यु हो जानेपर महाबाहु द्रुपद उत्तर-पंचाल देशके राजा हुए ।। ४३ ।।

भरद्वाजोऽपि भगवानारुरोह दिवं तदा ।
तत्रैव च वसन् द्रोणस्तपस्तेपे महातपाः ।। ४४ ।।

कुछ दिनों बाद भगवान् भरद्वाज भी स्वर्गवासी हो गये और महातपस्वी द्रोण उसी आश्रममें रहकर तपस्या करने लगे ।। ४४ ।।

वेदवेदाङ्गविद्वान् स तपसा दग्धकिल्बिषः ।
ततः पितृनियुक्तात्मा पुत्रलोभान्महायशाः ।। ४५ ।।
शारद्वतीं ततो भार्यां कृपीं द्रोणोऽन्वविन्दत ।
अग्निहोत्रे च धर्मे च दमे च सततं रताम् ।। ४६ ।।

वे वेदों और वेदांगोंके विद्वान् तो थे ही, तपस्याद्वारा अपनी सम्पूर्ण पापराशिको दग्ध कर चुके थे। उनका महान् यश सब ओर फैल चुका था। एक समय पितरोंने उनके मनमें

पुत्र उत्पन्न करनेकी प्रेरणा दी; अतः द्रोणाचार्यने पुत्रके लोभसे शरद्वान्‌की पुत्री कृपीको धर्मपत्नीके रूपमें ग्रहण किया। कृपी सदा अग्निहोत्र, धर्मानुष्ठान तथा इन्द्रियसंयममें उनका साथ देती थी ।। ४५-४६ ।।

अलभद् गौतमी पुत्रमश्वत्थामानमेव च ।
स जातमात्रो व्यनदद् यथैवोच्चैःश्रवा हयः ।। ४७ ।।

गौतमी कृपीने द्रोणसे अश्वत्थामा नामक पुत्र प्राप्त किया। उस बालकने जन्म लेते ही उच्चैःश्रवा घोड़ेके समान शब्द किया ।। ४७ ।।

तच्छ्रुत्वान्तर्हितं भूतमन्तरिक्षस्थमब्रवीत् ।
अश्वस्येवास्य यत् स्थाम नदतः प्रदिशो गतम् ।। ४८ ।।
अश्वत्थामैव बालोऽयं तस्मान्नाम्ना भविष्यति ।
सुतेन तेन सुप्रीतो भारद्वाजस्ततोऽभवत् ।। ४९ ।।

उसे सुनकर अन्तरिक्षमें स्थित किसी अदृश्य चेतनने कहा—‘इस बालकके चिल्लाते समय अश्वके समान शब्द सम्पूर्ण दिशाओंमें गूँज उठा है; अतः यह अश्वत्थामा नामसे ही प्रसिद्ध होगा।’ उस पुत्रसे भरद्वाजनन्दन द्रोणको बड़ी प्रसन्नता हुई ।। ४८-४९ ।।

तत्रैव च वसन् धीमान् धनुर्वेदपरोऽभवत् ।
स शुश्राव महात्मानं जामदग्न्यं परंतपम् ।। ५० ।।
सर्वज्ञानविदं विप्रं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
ब्राह्मणेभ्यस्तदा राजन् दित्सन्तं वसु सर्वशः ।। ५१ ।।

बुद्धिमान् द्रोण उसी आश्रममें रहकर धनुर्वेदका अभ्यास करने लगे। राजन्! किसी समय उन्होंने सुना कि ‘महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामजी इस समय सर्वज्ञ एवं सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले वे विप्रवर ब्राह्मणोंको अपना सर्वस्व दान करना चाहते हैं ।। ५०-५१ ।।

स रामस्य धनुर्वेदं दिव्यान्यस्त्राणि चैव ह ।
श्रुत्वा तेषु मनश्चक्रे नीतिशास्त्रे तथैव च ।। ५२ ।।

द्रोणने यह सुनकर कि परशुरामजीके पास सम्पूर्ण धनुर्वेद तथा दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है, उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छा की। इसी प्रकार उन्होंने उनसे नीति-शास्त्रकी शिक्षा लेनेका भी विचार किया ।। ५२ ।।

ततः स व्रतिभिः शिष्यैस्तपोयुक्तैर्महातपाः ।
वृतः प्रायान्महाबाहुर्महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ।। ५३ ।।

फिर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले तपस्वी शिष्योंसे घिरे हुए महातपस्वी महाबाहु द्रोण परम उत्तम महेन्द्र पर्वतपर गये ।। ५३ ।।

ततो महेन्द्रमासाद्य भारद्वाजो महातपाः ।
क्षान्तं दान्तममित्रघ्नमपश्यद् भृगुनन्दनम् ।। ५४ ।।

महेन्द्र पर्वतपर पहुँचकर महान् तपस्वी द्रोणने क्षमा एवं शम-दम आदि गुणोंसे युक्त शत्रुनाशक भृगुनन्दन परशुरामजीका दर्शन किया ।। ५४ ।।

ततो द्रोणो वृतः शिष्यैरुपगम्य भृगूद्वहम् ।
आचख्यावात्मनो नाम जन्म चाङ्गिरसः कुले ।। ५५ ।।

तत्पश्चात् शिष्योंसहित द्रोणने भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीके समीप जाकर अपना नाम बताया और यह भी कहा कि 'मेरा जन्म आंगिरस कुलमें हुआ है' ।। ५५ ।।

निवेद्य शिरसा भूमौ पादौ चैवाभ्यवादयत् ।
ततस्तं सर्वमुत्सृज्य वनं जिगमिषुं तदा ।। ५६ ।।
जामदग्न्यं महात्मानं भारद्वाजोऽब्रवीदिदम् ।
भरद्वाजात् समुत्पन्नं तथा त्वं मामयोनिजम् ।। ५७ ।।
आगतं वित्तकामं मां विद्धि द्रोणं द्विजर्षभ ।

इस प्रकार नाम और गोत्र बताकर उन्होंने पृथ्वीपर मस्तक टेक दिया और परशुरामजीके चरणोंमें प्रणाम किया। तदनन्तर सर्वस्व त्यागकर वनमें जानेकी इच्छा रखनेवाले महात्मा जमदग्निकुमारसे द्रोणने इस प्रकार कहा—'द्विजश्रेष्ठ! मैं महर्षि भरद्वाजसे उत्पन्न उनका अयोनिज पुत्र हूँ। आपको यह ज्ञात हो कि मैं धनकी इच्छासे आया हूँ। मेरा नाम द्रोण है' ।। ५६-५७½ ।।

तमब्रवीन्महात्मा स सर्वक्षत्रियमर्दनः ।। ५८ ।।

यह सुनकर समस्त क्षत्रियोंका संहार करनेवाले महात्मा परशुराम उनसे यों बोले— ।। ५८ ।।

स्वागतं ते द्विजश्रेष्ठ यदिच्छसि वदस्व मे ।
एवमुक्तस्तु रामेण भारद्वाजोऽब्रवीद् वचः ।। ५९ ।।
रामं प्रहरतां श्रेष्ठं दित्सन्तं विविधं वसु ।
अहं धनमनन्तं हि प्रार्थये विपुलव्रत ।। ६० ।।

'द्विजश्रेष्ठ! तुम्हारा स्वागत है। तुम जो कुछ भी चाहते हो, मुझसे कहो।' उनके इस प्रकार पूछनेपर भरद्वाजकुमार द्रोणने नाना प्रकारके धन-रत्नोंका दान करनेकी इच्छावाले, योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामसे कहा—'महान् व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! मैं आपसे ऐसे धनकी याचना करता हूँ, जिसका कभी अन्त न हो' ।। ५९-६० ।।

राम उवाच

हिरण्यं मम यच्चान्यद् वसु किंचिदिह स्थितम् ।
ब्राह्मणेभ्यो मया दत्तं सर्वमेतत् तपोधन ।। ६१ ।।
तथैवेयं धरा देवी सागरान्ता सपत्तना ।
कश्यपाय मया दत्ता कृत्स्ना नगरमालिनी ।। ६२ ।।

परशुरामजी बोले—तपोधन! मेरे पास यहाँ जो कुछ सुवर्ण तथा अन्य प्रकारका धन था, वह सब मैंने ब्राह्मणोंको दे दिया। इसी प्रकार ग्राम और नगरोंकी पंक्तियोंसे सुशोभित होनेवाली समुद्रपर्यन्त यह सारी पृथ्वी महर्षि कश्यपको दे दी है ।। ६१-६२ ।।

शरीरमात्रमेवाद्य ममेदमवशेषितम् ।
अस्त्राणि च महार्हाणि शस्त्राणि विविधानि च ।। ६३ ।।

अब मेरा यह शरीरमात्र बचा है। साथ ही नाना प्रकारके बहुमूल्य अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान अवशिष्ट है ।। ६३ ।।

अस्त्राणि वा शरीरं वा वरयैतन्मयोद्यतम् ।
वृणीष्व किं प्रयच्छामि तुभ्यं द्रोण वदाशु तत् ।। ६४ ।।

अतः तुम अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान अथवा यह शरीर माँग लो। इसे देनेके लिये मैं सदा प्रस्तुत हूँ। द्रोण! बोलो, मैं तुम्हें क्या दूँ? शीघ्र उसे कहो ।। ६४ ।।

द्रोण उवाच

अस्त्राणि मे समग्राणि ससंहाराणि भार्गव ।
सप्रयोगरहस्यानि दातुमर्हस्यशेषतः ।। ६५ ।।

द्रोणने कहा—भृगुनन्दन! आप मुझे प्रयोग, रहस्य तथा संहारविधिसहित सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान प्रदान करें ।। ६५ ।।

तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रादादस्त्राणि भार्गवः ।
सरहस्यव्रतं चैव धनुर्वेदमशेषतः ।। ६६ ।।

तब 'तथास्तु' कहकर भृगुवंशी परशुरामजीने द्रोणको सम्पूर्ण अस्त्र प्रदान किये तथा रहस्य और व्रतसहित सम्पूर्ण धनुर्वेदका भी उपदेश किया ।। ६६ ।।

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं कृतास्त्रो द्विजसत्तमः ।
प्रियं सखायं सुप्रीतो जगाम द्रुपदं प्रति ।। ६७ ।।

वह सब ग्रहण करके द्विजश्रेष्ठ द्रोण अस्त्र-विद्याके पूरे पण्डित हो गये और अत्यन्त प्रसन्न हो अपने प्रिय सखा द्रुपदके पास गये ।। ६७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रोणस्य भार्गवादस्त्रप्राप्तौ ऊनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १२९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें द्रोणको परशुरामजीसे अस्त्र-विद्याकी प्राप्तिविषयक एक सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२९ ।।

---

* गौतमगोत्रीय होनेके कारण शरद्वान्‌को भी गौतम कहा जाता था।

* धनुर्वेदके चार भेद इस प्रकार हैं—मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त तथा मन्त्रमुक्त। छोड़े जानेवाले बाण आदिको ‘मुक्त’ कहते हैं। जिन्हें हाथमें लेकर प्रहार किया जाय, उन खड्ग आदिको ‘अमुक्त’ कहते हैं। जिस अस्त्रको चलाने और समेटनेकी कला मालूम हो, वह अस्त्र ‘मुक्तामुक्त’ कहलाता है। जिसे मन्त्र पढ़कर चला तो दिया जाय किंतु उसके उपसंहारकी विधि मालूम न हो, वह अस्त्र ‘मन्त्रमुक्त’ कहा गया है, शस्त्र, अस्त्र, प्रत्यस्त्र और परमास्त्र—ये भी धनुर्वेदके चार भेद हैं। इसी प्रकार आदान, संधान, विमोक्ष और संहार—इन चार क्रियाओंके भेदसे भी धनुर्वेदके चार भेद होते हैं।

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणका द्रुपदसे तिरस्कृत हो हस्तिनापुरमें आना, राजकुमारोंसे उनकी भेंट, उनकी बीटा* और अँगूठीको कुएँमेंसे निकालना एवं भीष्मका उन्हें अपने यहाँ सम्मानपूर्वक रखना

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान् ।
अब्रवीत् पार्थिवं राजन् सखायं विद्धि मामिह ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! प्रतापी द्रोण राजा द्रुपदके यहाँ जाकर उनसे इस प्रकार बोले—'राजन्! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि मैं तुम्हारा मित्र द्रोण यहाँ तुमसे मिलनेके लिये आया हूँ' ।। १ ।।

इत्येवमुक्तः सख्या स प्रीतिपूर्वं जनेश्वरः ।
भारद्वाजेन पाञ्चालो नामृष्यत वचोऽस्य तत् ।। २ ।।

मित्र द्रोणके द्वारा इस प्रकार प्रेमपूर्वक कहे जानेपर पंचालदेशके नरेश द्रुपद उनकी इस बातको सह न सके ।। २ ।।

सक्रोधामर्षजिह्मभ्रूः कषायीकृतलोचनः ।
ऐश्वर्यमदसम्पन्नो द्रोणं राजाब्रवीदिदम् ।। ३ ।।

क्रोध और अमर्षसे उनकी भौंहें टेढ़ी हो गयीं, आँखोंमें लाली छा गयी; धन और ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त होकर वे राजा द्रोणसे यों बोले ।। ३ ।।

द्रुपद उवाच

अकृतेयं तव प्रज्ञा ब्रह्मन् नातिसमञ्जसा ।
यन्मां ब्रवीषि प्रसभं सखा तेऽहमिति द्विज ।। ४ ।।

द्रुपदने कहा—ब्रह्मन्! तुम्हारी बुद्धि सर्वथा संस्कारशून्य—अपरिपक्व है। तुम्हारी यह बुद्धि यथार्थ नहीं है। तभी तो तुम धृष्टतापूर्वक मुझसे कह रहे हो कि 'राजन्! मैं तुम्हारा सखा हूँ' ।। ४ ।।

न हि राज्ञामुदीर्णानामेवम्भूतैर्नरैः क्वचित् ।
सख्यं भवति मन्दात्मन् श्रिया हीनैर्धनच्युतैः ।। ५ ।।

ओ मूढ़! बड़े-बड़े राजाओंकी तुम्हारे-जैसे श्रीहीन और निर्धन मनुष्योंके साथ कभी मित्रता नहीं होती ।। ५ ।।

सौहृदान्यपि जीर्यन्ते कालेन परिजीर्यतः ।
सौहृदं मे त्वया ह्यासीत् पूर्वं सामर्थ्यबन्धनम् ।। ६ ।।

समयके अनुसार मनुष्य ज्यों-ज्यों बूढ़ा होता है, त्यों-ही-त्यों उसकी मैत्री भी क्षीण होती चली जाती है। पहले तुम्हारे साथ जो मेरी मित्रता थी, वह सामर्थ्यको लेकर थी—उस समय मैं और तुम दोनों समान शक्तिशाली थे ।। ६ ।।

न सख्यमजरं लोके हृदि तिष्ठति कस्यचित् ।
कालो ह्येनं विहरति क्रोधो वैनं हरत्युत ।। ७ ।।

लोकमें किसी भी मनुष्यके हृदयमें मैत्री अमिट होकर नहीं रहती। समय एक मित्रको दूसरेसे विलग कर देता है अथवा क्रोध मनुष्यको मित्रतासे हटा देता है ।। ७ ।।

मैवं जीर्णमुपास्स्व त्वं सख्यं भवत्वपाकृधि ।
आसीत् सख्यं द्विजश्रेष्ठ त्वया मेऽर्थनिबन्धनम् ।। ८ ।।

इस प्रकार क्षीण होनेवाली मैत्रीका भरोसा न करो। हम दोनों एक-दूसरेके मित्र थे—इस भावको हृदयसे निकाल दो। द्विजश्रेष्ठ! तुम्हारे साथ पहले जो मेरी मित्रता थी, वह साथ-साथ खेलने और अध्ययन करने आदि स्वार्थको लेकर हुई थी ।। ८ ।।

न दरिद्रो वसुमतो नाविद्वान् विदुषः सखा ।
न शूरस्य सखा क्लीबः सखिपूर्वं किमिष्यते ।। ९ ।।

सच्ची बात यह है कि दरिद्र मनुष्य धनवान्का, मूर्ख विद्वान्का और कायर शूरवीरका सखा नहीं हो सकता; अतः पहलेकी मित्रताका क्या भरोसा करते हो ।। ९ ।।

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम् ।
तयोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्टविपुष्टयोः ।। १० ।।

जिनका धन समान है, जिनकी विद्या एक-सी है, उन्हींमें विवाह और मैत्रीका सम्बन्ध हो सकता है। हृष्ट-पुष्ट और दुर्बलमें (धनवान् और निर्धनमें) कभी मित्रता नहीं हो सकती ।। १० ।।

नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ।। ११ ।।

जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रिय (वेदवेत्ता)-का मित्र नहीं हो सकता। जो रथी नहीं है, वह रथीका सखा नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो राजा नहीं है, वह किसी राजाका मित्र कदापि नहीं हो सकता। फिर तुम पुरानी मित्रताका क्यों स्मरण करते हो? ।। ११ ।।

वैशम्पायन उवाच

द्रुपदेनैवमुक्तस्तु भारद्वाजः प्रतापवान् ।
मुहूर्तं चिन्तयित्वा तु मन्युनाभिपरिप्लुतः ।। १२ ।।
स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चालं प्रति बुद्धिमान् ।

जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम् ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा द्रुपदके यों कहनेपर प्रतापी द्रोण क्रोधसे जल उठे और दो घड़ीतक गहरी चिन्तामें डूबे रहे। वे बुद्धिमान् तो थे ही, पांचालनरेशसे बदला लेनेके विषयमें मन-ही-मन कुछ निश्चय करके कौरवोंकी राजधानी हस्तिनापुर नगरमें चले गये ।। १२-१३ ।।

स नागपुरमागम्य गौतमस्य निवेशने ।
भारद्वाजोऽवसत् तत्र प्रच्छन्नं द्विजसत्तमः ।। १४ ।।

हस्तिनापुरमें पहुँचकर द्विजश्रेष्ठ द्रोण गौतमगोत्रीय कृपाचार्यके घरमें गुप्तरूपसे निवास करने लगे ।। १४ ।।

ततोऽस्य तनुजः पार्थान् कृपस्यानन्तरं प्रभुः ।
अस्त्राणि शिक्षयामास नाबुध्यन्त च तं जनाः ।। १५ ।।

वहाँ उनके पुत्र शक्तिशाली अश्वत्थामा कृपाचार्यके बाद पाण्डवोंको स्वयं ही अस्त्रविद्याकी शिक्षा देने लगे; किंतु लोग उन्हें पहचान न सके ।। १५ ।।

एवं स तत्र गूढात्मा कंचित् कालमुवास ह ।
कुमारास्त्वथ निष्क्रम्य समेता गजसाह्वयात् ।। १६ ।।
क्रीडन्तो वीटया तत्र वीराः पर्यचरन् मुदा ।
पपात कूपे सा वीटा तेषां वै क्रीडतां तदा ।। १७ ।।

इस प्रकार द्रोणने वहाँ अपने आपको छिपाये रखकर कुछ कालतक निवास किया। तदनन्तर एक दिन कौरव-पाण्डव सभी वीर कुमार हस्तिनापुरसे बाहर निकलकर बड़ी प्रसन्नताके साथ मिलकर वहाँ गुल्ली-डंडा खेलने लगे। उस समय खेलमें लगे हुए उन कुमारोंकी वह बीटा कुएँमें गिर पड़ी ।। १६-१७ ।।

ततस्ते यत्नमातिष्ठन् वीटामुद्धर्तुमादृताः ।
न च ते प्रत्यपद्यन्त कर्म वीटोपलब्धये ।। १८ ।।

तब वे उस बीटाको निकालनेके लिये बड़ी तत्परताके साथ प्रयत्नमें लग गये; परंतु उसे प्राप्त करनेका कोई भी उपाय उनके ध्यानमें नहीं आया ।। १८ ।।

ततोऽन्योन्यमवैक्षन्त व्रीडयावनताननाः ।
तस्या योगमविन्दन्तो भृशं चोत्कण्ठिताभवन् ।। १९ ।।

इस कारण लज्जासे नतमस्तक होकर वे एक-दूसरेकी ओर देखने लगे। गुल्ली निकालनेका कोई उपाय न मिलनेके कारण वे अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये ।। १९ ।।

तेऽपश्यन् ब्राह्मणं श्याममापन्नं पलितं कृशम् ।
कृत्यवन्तमदूरस्थमग्निहोत्रपुरस्कृतम् ।। २० ।।

इसी समय उन्होंने एक श्याम वर्णके ब्राह्मणको थोड़ी ही दूरपर बैठे देखा, जो अग्निहोत्र करके किसी प्रयोजनसे वहाँ रुके हुए थे। वे आपत्तिग्रस्त जान पड़ते थे। उनके

सिरके बाल सफेद हो गये थे और शरीर अत्यन्त दुर्बल था ।। २० ।।

ते तं दृष्ट्वा महात्मानमुपगम्य कुमारकाः ।
भग्नोत्साहक्रियात्मानो ब्राह्मणं पर्यवारयन् ।। २१ ।।

उन महात्मा ब्राह्मणको देखकर वे सभी कुमार उनके पास गये और उन्हें घेरकर खड़े हो गये। उनका उत्साह भंग हो गया था। कोई काम करनेकी इच्छा नहीं होती थी। मनमें भारी निराशा भर गयी थी ।। २१ ।।

अथ द्रोणः कुमारांस्तान् दृष्ट्वा कृत्यवतस्तदा ।
प्रहस्य मन्दं पैशल्यादभ्यभाषत वीर्यवान् ।। २२ ।।

तदनन्तर पराक्रमी द्रोण यह देखकर कि इन कुमारोंका अभीष्ट कार्य पूर्ण नहीं हुआ है—ये उसी प्रयोजनसे मेरे पास आये हैं, उस समय मन्द मुसकराहटके साथ बड़े कौशलसे बोले— ।। २२ ।।

अहो वो धिग् बलं क्षात्रं धिगेतां वः कृतास्त्राताम् ।
भरतस्यान्वये जाता ये वीटां नाधिगच्छत ।। २३ ।।

'अहो! तुमलोगोंके क्षत्रियबलको धिक्कार है और तुमलोगोंकी इस अस्त्र-विद्या-विषयक निपुणताको भी धिक्कार है; क्योंकि तुमलोग भरतवंशमें जन्म लेकर भी कुएँमें गिरी हुई गुल्लीको नहीं निकाल पाते ।। २३ ।।

वीटां च मुद्रिकां चैव ह्यहमेतदपि द्वयम् ।
उद्धरेयमिषीकाभिर्भोजनं मे प्रदीयताम् ।। २४ ।।

'देखो, मैं तुम्हारी गुल्ली और अपनी इस अँगूठी दोनोंको सींकोंसे निकाल सकता हूँ। तुमलोग मेरी जीविकाकी व्यवस्था करो' ।। २४ ।।

एवमुक्त्वा कुमारांस्तान् द्रोणः स्वाङ्गुलिवेष्टनम् ।
कूपे निरुदके तस्मिन्नपातयदरिंदमः ।। २५ ।।

उन कुमारोंसे यों कहकर शत्रुओंका दमन करनेवाले द्रोणने उस निर्जल कुएँमें अपनी अँगूठी डाल दी ।। २५ ।।

ततोऽब्रवीत् तदा द्रोणं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

उस समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने द्रोणसे कहा ।। २५½ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कृपस्यानुमते ब्रह्मन् भिक्षामाप्नुहि शाश्वतीम् ।। २६ ।।
एवमुक्तः प्रत्युवाच प्रहस्य भरतानिदम् ।

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन्! आप कृपाचार्यकी अनुमति ले सदा यहीं रहकर भिक्षा प्राप्त करें।

उनके यों कहनेपर द्रोणने हँसकर उन भरतवंशी राजकुमारोंसे कहा ।। २६½ ।।

द्रोण उवाच

एषा मुष्टिरिषीकाणां मयास्त्रेणाभिमन्त्रिता ।। २७ ।।

द्रोण बोले—ये मुट्ठीभर सींकें हैं, जिन्हें मैंने अस्त्र-मन्त्रके द्वारा अभिमन्त्रित किया है ।। २७ ।।

अस्या वीर्यं निरीक्षध्वं यदन्यस्य न विद्यते ।
भेत्स्यामीषीकया वीटां तामिषीकां तथान्यया ।। २८ ।।

तुमलोग इसका बल देखो, जो दूसरेमें नहीं है। मैं पहले एक सींकसे उस गुल्लीको बींध दूँगा; फिर दूसरी सींकसे उस पहली सींकको बींधूँगा ।। २८ ।।

तामन्यया समायोगे वीटाया ग्रहणं मम ।

इसी प्रकार दूसरीको तीसरीसे बींधते हुए अनेक सींकोंका संयोग होनेपर मुझे गुल्ली मिल जायगी ।। २८½ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो यथोक्तं द्रोणेन तत् सर्वं कृतमञ्जसा ।। २९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर द्रोणने जैसा कहा था, वह सब कुछ अनायास ही कर दिखाया ।। २९ ।।

तदवेक्ष्य कुमारास्ते विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।
आश्चर्यमिदमत्यन्तमिति मत्वा वचोऽब्रुवन् ।। ३० ।।

यह अद्भुत कार्य देखकर उन कुमारोंके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। इसे अत्यन्त आश्चर्य मानकर वे इस प्रकार बोले ।। ३० ।।

कुमारा ऊचुः

मुद्रिकामपि विप्रर्षे शीघ्रमेतां समुद्धर ।

कुमारोंने कहा—ब्रह्मर्षे! अब आप शीघ्र ही इस अँगूठीको भी निकाल दीजिये ।। ३०½ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः शरं समादाय धनुर्द्रोणो महायशाः ।। ३१ ।।
शरेण विद्ध्वा मुद्रां तामूर्ध्वमावाहयत् प्रभुः ।
सशरं समुपादाय कूपादङ्गुलिवेष्टनम् ।। ३२ ।।
ददौ ततः कुमाराणां विस्मितानामविस्मितः ।
मुद्रिकामुद्धृतां दृष्ट्वा तमाहुस्ते कुमारकाः ।। ३३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब महायशस्वी द्रोणने धनुष-बाण लेकर बाणसे उस अँगूठीको बींध दिया और उसे ऊपर निकाल लिया। शक्तिशाली द्रोणने इस प्रकार कुएँसे

बाणसहित अँगूठी निकालकर उन आश्चर्यचकित कुमारोंके हाथमें दे दी; किंतु वे स्वयं तनिक भी विस्मित नहीं हुए। उस अँगूठीको कुएँसे निकाली हुई देखकर उन कुमारोंने द्रोणसे कहा ।। ३१—३३ ।।

कुमारा ऊचुः

अभिवादयामहे ब्रह्मन् नैतदन्येषु विद्यते ।
कोऽसि कस्यासि जानीमो वयं किं करवामहे ।। ३४ ।।

कुमार बोले—ब्रह्मन्! हम आपको प्रणाम करते हैं। यह अद्भुत अस्त्र-कौशल दूसरे किसीमें नहीं है। आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं—यह हम जानना चाहते हैं। बताइये, हमलोग आपकी क्या सेवा करें? ।। ३४ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो द्रोणः प्रत्युवाच कुमारकान् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुमारोंके इस प्रकार पूछनेपर द्रोणने उनसे कहा ।। ३४½ ।।

द्रोण उवाच

आचक्षध्वं च भीष्माय रूपेण च गुणैश्च माम् ।। ३५ ।।
स एव सुमहातेजाः साम्प्रतं प्रतिपत्स्यते ।

द्रोण बोले—तुम सब लोग भीष्मजीके पास जाकर मेरे रूप और गुणोंका परिचय दो। वे महातेजस्वी भीष्मजी ही मुझे इस समय पहचान सकते हैं ।। ३५½ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्त्वा च गत्वा च भीष्ममूचुः कुमारकाः ।। ३६ ।।
ब्राह्मणस्य वचस्तथ्यं तच्च कर्म तथाविधम् ।
भीष्मः श्रुत्वा कुमाराणां द्रोणं तं प्रत्यजानत ।। ३७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—'बहुत अच्छा' कहकर वे कुमार भीष्मजीके पास गये और ब्राह्मणकी सच्ची बातों तथा उनके उस अद्भुत पराक्रमको भी उन्होंने भीष्मजीसे कह सुनाया। कुमारोंकी बातें सुनकर भीष्मजी समझ गये कि वे आचार्य द्रोण हैं ।। ३६-३७ ।।

युक्तरूपः स हि गुरुरित्येवमनुचिन्त्य च ।
अथैनमानीय तदा स्वयमेव सुसत्कृतम् ।। ३८ ।।
परिपप्रच्छ निपुणं भीष्मः शस्त्रभृतां वरः ।
हेतुमागमने तच्च द्रोणः सर्वं न्यवेदयत् ।। ३९ ।।

फिर यह सोचकर कि द्रोणाचार्य ही इन कुमारोंके उपयुक्त गुरु हो सकते हैं, भीष्मजी स्वयं ही आकर उन्हें सत्कारपूर्वक घर ले गये। वहाँ शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने बड़ी

बुद्धिमत्ताके साथ द्रोणाचार्यसे उनके आगमनका कारण पूछा और द्रोणने वह सब कारण इस प्रकार निवेदन किया ।। ३८-३९ ।।

द्रोण उवाच

महर्षेरग्निवेशस्य सकाशमहमच्युत ।
अस्त्रार्थमगमं पूर्वं धनुर्वेदजिघृक्षया ।। ४० ।।

द्रोणाचार्यने कहा—अपनी प्रतिज्ञासे कभी च्युत न होनेवाले भीष्मजी! पहलेकी बात है, मैं अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा तथा धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये महर्षि अग्निवेशके समीप गया था ।। ४० ।।

ब्रह्मचारी विनीतात्मा जटिलो बहुलाः समाः ।
अवसं सुचिरं तत्र गुरुशुश्रूषणे रतः ।। ४१ ।।

वहाँ मैं विनीत हृदयसे ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए सिरपर जटा धारण किये बहुत वर्षोंतक रहा। गुरुकी सेवामें निरन्तर संलग्न रहकर मैंने दीर्घकालतक उनके आश्रममें निवास किया ।। ४१ ।।

पाञ्चालो राजपुत्रश्च यज्ञसेनो महाबलः ।
इष्वस्त्रहेतोर्न्यवसत् तस्मिन्नेव गुरौ प्रभुः ।। ४२ ।।

उन दिनों पंचालराजकुमार महाबली यज्ञसेन द्रुपद भी, जो बड़े शक्तिशाली थे, धनुर्वेदकी शिक्षा पानेके लिये उन्हीं गुरुदेव अग्निवेशके समीप रहते थे ।। ४२ ।।

स मे तत्र सखा चासीदुपकारी प्रियश्च मे ।
तेनाहं सह संगम्य वर्तयन् सुचिरं प्रभो ।। ४३ ।।

वे उस गुरुकुलमें मेरे बड़े ही उपकारी और प्रिय मित्र थे। प्रभो! उनके साथ मिल-जुलकर मैं बहुत दिनोंतक आश्रममें रहा ।। ४३ ।।

बाल्यात् प्रभृति कौरव्य सहाध्ययनमेव च ।
स मे सखा सदा तत्र प्रियवादी प्रियंकरः ।। ४४ ।।

बचपनसे ही हम दोनोंका अध्ययन साथ-साथ चलता था। द्रुपद वहाँ मेरे घनिष्ठ मित्र थे। वे सदा मुझसे प्रिय वचन बोलते और मेरा प्रिय कार्य करते थे ।। ४४ ।।

अब्रवीदिति मां भीष्म वचनं प्रीतिवर्धनम् ।
अहं प्रियतमः पुत्रः पितुर्द्रोण महात्मनः ।। ४५ ।।

भीष्मजी! वे एक दिन मुझसे मेरी प्रसन्नताको बढ़ानेवाली यह बात बोले—‘द्रोण! मैं अपने महात्मा पिताका अत्यन्त प्रिय पुत्र हूँ ।। ४५ ।।

अभिषेक्ष्यति मां राज्ये स पाञ्चालो यदा तदा ।
त्वद्भोग्यं भविता तात सखे सत्येन ते शपे ।। ४६ ।।
मम भोगाश्च वित्तं च त्वदधीनं सुखानि च ।

एवमुक्त्वाथ वव्राज कृतास्त्रः पूजितो मया ।। ४७ ।।

'तात! जब पांचालनरेश मुझे राज्यपर अभिषिक्त करेंगे, उस समय मेरा राज्य तुम्हारे उपभोगमें आयेगा। सखे! मैं सत्यकी सौगंध खाकर कहता हूँ—मेरे भोग, वैभव और सुख सब तुम्हारे अधीन होंगे।' यों कहकर वे अस्त्रविद्यामें निपुण हो मुझसे सम्मानित होकर अपने देशको लौट गये ।। ४६-४७ ।।

तच्च वाक्यमहं नित्यं मनसा धारयंस्तदा ।
सोऽहं पितृनियोगेन पुत्रलोभाद् यशस्विनीम् ।। ४८ ।।
नातिकेशीं महाप्रज्ञामुपयेमे महाव्रताम् ।
अग्निहोत्रे च सत्रे च दमे च सततं रताम् ।। ४९ ।।

उनकी उस समय कही हुई इस बातको मैं अपने मनमें सदा याद रखता था। कुछ दिनोंके बाद पितरोंकी प्रेरणासे मैंने पुत्र-प्राप्तिके लोभसे परम बुद्धिमती, महान् व्रतका पालन करनेवाली, अग्निहोत्र, सत्र तथा शम-दमके पालनमें मेरे साथ सदा संलग्न रहनेवाली शरद्वान्‌की पुत्री यशस्विनी कृपीसे, जिसके केश बहुत बड़े नहीं थे, विवाह किया ।। ४८-४९ ।।

अलभद् गौतमी पुत्रमश्वत्थामानमौरसम् ।
भीमविक्रमकर्माणमादित्यसमतेजसम् ।। ५० ।।

उस गौतमी कृपीने मुझसे मेरे औरस पुत्र अश्वत्थामाको प्राप्त किया, जो सूर्यके समान तेजस्वी तथा भयंकर पराक्रम एवं पुरुषार्थ करनेवाला है ।। ५० ।।

पुत्रेण तेन प्रीतोऽहं भरद्वाजो मया यथा ।
गोक्षीरं पिबतो दृष्ट्वा धनिनस्तत्र पुत्रकान् ।
अश्वत्थामारुदद् बालस्तन्मे संदेहयद् दिशः ।। ५१ ।।

उस पुत्रसे मुझे उतनी ही प्रसन्नता हुई, जितनी मुझसे मेरे पिता भरद्वाजको हुई थी। एक दिनकी बात है, गोधनके धनी ऋषिकुमार गायका दूध पी रहे थे। उन्हें देखकर मेरा छोटा बच्चा अश्वत्थामा भी बाल-स्वभावके कारण दूध पीनेके लिये मचल उठा और रोने लगा। इससे मेरी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया—मुझे दिशाओंके पहचाननेमें भी संशय होने लगा ।। ५१ ।।

न स्नातकोऽवसीदेत वर्तमानः स्वकर्मसु ।
इति संचिन्त्य मनसा तं देशं बहुशो भ्रमन् ।। ५२ ।।
विशुद्धमिच्छन् गाङ्गेय धर्मोपेतं प्रतिग्रहम् ।
अन्तादन्तं परिक्रम्य नाध्यगच्छं पयस्विनीम् ।। ५३ ।।

मैंने मन-ही-मन सोचा, यदि मैं किसी कम गायवाले ब्राह्मणसे गाय माँगता हूँ तो कहीं ऐसा न हो कि वह अपने अग्निहोत्र आदि कर्मोंमें लगा हुआ स्नातक गोदुग्धके बिना कष्टमें पड़ जाय; अतः जिसके पास बहुत-सी गौएँ हों, उसीसे धर्मानुकूल विशुद्ध दान लेनेकी

इच्छा रखकर मैंने उस देशमें कई बार भ्रमण किया। गंगानन्दन! एक देशसे दूसरे देशमें घूमनेपर भी मुझे दूध देनेवाली कोई गाय न मिल सकी ।। ५२-५३ ।।

अथ पिष्टोदकेनैनं लोभयन्ति कुमारकाः ।
पीत्वा पिष्टरसं बालः क्षीरं पीतं मयापि च ।। ५४ ।।
ननर्तोत्थाय कौरव्य हृष्टो बाल्याद् विमोहितः ।
तं दृष्ट्वा नृत्यमानं तु बालैः परिवृतं सुतम् ।। ५५ ।।
हास्यतामुपसम्प्राप्तं कश्मलं तत्र मेऽभवत् ।
द्रोणं धिगस्त्वधनिनं यो धनं नाधिगच्छति ।। ५६ ।।

मैं लौटकर आया तो देखता हूँ कि छोटे-छोटे बालक आटेके पानीसे अश्वत्थामाको ललचा रहे हैं और वह अज्ञानमोहित बालक उस आटेके जलको ही पीकर मारे हर्षके फूला नहीं समाता तथा यह कहता हुआ उठकर नाच रहा है कि 'मैंने दूध पी लिया'। कुरुनन्दन! बालकोंसे घिरे हुए अपने पुत्रको इस प्रकार नाचते और उसकी हँसी उड़ायी जाती देख मेरे मनमें बड़ा क्षोभ हुआ। उस समय कुछ लोग इस प्रकार कह रहे थे, 'इस धनहीन द्रोणको धिक्कार है, जो धनका उपार्जन नहीं करता ।। ५४—५६ ।।

पिष्टोदकं सुतो यस्य पीत्वा क्षीरस्य तृष्णया ।
नृत्यति स्म मुदाविष्टः क्षीरं पीतं मयाप्युत ।। ५७ ।।
इति सम्भाषतां वाचं श्रुत्वा मे बुद्धिरच्यवत् ।
आत्मानं चात्मना गर्हन् मनसेदं व्यचिन्तयम् ।। ५८ ।।
अपि चाहं पुरा विप्रैर्वर्जितो गर्हितो वसे ।
परोपसेवां पापिष्ठां न च कुर्यां धनेप्सया ।। ५९ ।।

'जिसका बेटा दूधकी लालसासे आटा मिला हुआ जल पीकर आनन्दमग्न हो यह कहता हुआ नाच रहा है कि 'मैंने भी दूध पी लिया।' इस प्रकारकी बातें करनेवाले लोगोंकी आवाज मेरे कानोंमें पड़ी तो मेरी बुद्धि स्थिर न रह सकी। मैं स्वयं ही अपने-आपकी निन्दा करता हुआ मन-ही-मन इस प्रकार सोचने लगा—'मुझे दरिद्र जानकर पहलेसे ही ब्राह्मणोंने मेरा साथ छोड़ दिया। मैं धनाभावके कारण निन्दित होकर उपवास भले ही कर लूँगा, परंतु धनके लोभसे दूसरोंकी सेवा, जो अत्यन्त पापपूर्ण कर्म है, कदापि नहीं कर सकता' ।। ५७—५९ ।।

इति मत्वा प्रियं पुत्रं भीष्मादाय ततो ह्यहम् ।
पूर्वस्नेहानुरागित्वात् सदारः सौमकिं गतः ।। ६० ।।

भीष्मजी! ऐसा निश्चय करके मैं अपने प्रिय पुत्र और पत्नीको साथ लेकर पहलेके स्नेह और अनुरागके कारण राजा द्रुपदके यहाँ गया ।। ६० ।।

अभिषिक्तं तु श्रुत्वैव कृतार्थोऽस्मीति चिन्तयन् ।
प्रियं सखायं सुप्रीतो राज्यस्थं समुपागमम् ।। ६१ ।।

मैंने सुन रखा था कि द्रुपदका राज्याभिषेक हो चुका है, अतः मैं मन-ही-मन अपनेको कृतार्थ मानने लगा और बड़ी प्रसन्नताके साथ राज्यसिंहासनपर बैठे हुए अपने प्रिय सखाके समीप गया ।। ६१ ।।

संस्मरन् संगमं चैव वचनं चैव तस्य तत् ।
ततो द्रुपदमागम्य सखिपूर्वमहं प्रभो ।। ६२ ।।
अब्रुवं पुरुषव्याघ्र सखायं विद्धि मामिति ।
उपस्थितस्तु द्रुपदं सखिवच्चास्मि संगतः ।। ६३ ।।

उस समय मुझे द्रुपदकी मैत्री और उनकी कही हुई पूर्वोक्त बातोंका बारंबार स्मरण हो आता था। तदनन्तर अपने पहलेके सखा द्रुपदके पास पहुँचकर मैंने कहा—'नरश्रेष्ठ! मुझ अपने मित्रको पहचानो तो सही।' प्रभो! मैं द्रुपदके पास पहुँचनेपर उनसे मित्रकी ही भाँति मिला ।। ६२-६३ ।।

स मां निराकारमिव प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
अकृतेयं तव प्रज्ञा ब्रह्मन् नातिसमञ्जसा ।। ६४ ।।

परंतु द्रुपदने मुझे नीच मनुष्यके समान समझकर उपहास करते हुए इस प्रकार कहा—'ब्राह्मण! तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त असंगत एवं अशुद्ध है ।। ६४ ।।

यदात्थ मां त्वं प्रसभं सखा तेऽहमिति द्विज ।
संगतानीह जीर्यन्ति कालेन परिजीर्यतः ।। ६५ ।।

'तभी तो तुम मुझसे यह कहनेकी धृष्टता कर रहे हो कि 'राजन्! मैं तुम्हारा सखा हूँ!' समयके अनुसार मनुष्य ज्यों-ज्यों बूढ़ा होता है, त्यों-त्यों उसकी मैत्री भी क्षीण होती चली जाती है ।। ६५ ।।

सौहृदं मे त्वया ह्यासीत् पूर्वं सामर्थ्यबन्धनम् ।
नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ।। ६६ ।।

'पहले तुम्हारे साथ मेरी जो मित्रता थी, वह सामर्थ्यको लेकर थी—उस समय हम दोनोंकी शक्ति समान थी (किंतु अब वैसी बात नहीं है)। जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रिय (वेदवेत्ता)-का, जो रथी नहीं है, वह रथीका सखा नहीं हो सकता ।। ६६ ।।

साम्याद्धि सख्यं भवति वैषम्यान्नोपपद्यते ।
न सख्यमजरं लोके विद्यते जातु कस्यचित् ।। ६७ ।।

'सब बातोंमें समानता होनेसे ही मित्रता होती है। विषमता होनेपर मैत्रीका होना असम्भव है। फिर लोकमें कभी किसीकी मैत्री अजर-अमर नहीं होती ।। ६७ ।।

कालो वैनं विहरति क्रोधो वैनं हरत्युत ।
मैवं जीर्णमुपास्स्व त्वं सत्यं भवत्वपाकृधि ।। ६८ ।।

'समय एक मित्रको दूसरेसे विलग कर देता है अथवा क्रोध मनुष्यको मित्रतासे हटा देता है। इस प्रकार क्षीण होनेवाली मैत्रीकी उपासना (भरोसा) न करो। हम दोनों एक-

दूसरेके मित्र थे, इस भावको हृदयसे निकाल दो' ।। ६८ ।।

आसीत् सख्यं द्विजश्रेष्ठ त्वया मेऽर्थनिबन्धनम् ।
न ह्यनाढ्यः सखाढ्यस्य नाविद्वान् विदुषः सखा ।। ६९ ।।
न शूरस्य सखा क्लीबः सखिपूर्वं किमिष्यते ।
न हि राज्ञामुदीर्णानामेवम्भूतैर्नरैः क्वचित् ।। ७० ।।
सख्यं भवति मन्दात्मन् श्रियाहीनैर्धनच्युतैः ।
नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ।। ७१ ।।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ।
अहं त्वया न जानामि राज्यार्थे संविदं कृताम् ।। ७२ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! तुम्हारे साथ पहले जो मेरी मित्रता थी, वह (साथ-साथ खेलने और अध्ययन करने आदि) स्वार्थको लेकर हुई थी। सच्ची बात यह है कि दरिद्र मनुष्य धनवान्‌का, मूर्ख विद्वान्‌का और कायर शूरवीरका सखा नहीं हो सकता; अतः पहलेकी मित्रताका क्या भरोसा करते हो? मन्दमते! बड़े-बड़े राजाओंकी तुम्हारे-जैसे श्रीहीन और निर्धन मनुष्योंके साथ कभी मित्रता हो सकती है? जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रियका; जो रथी नहीं है, वह रथीका तथा जो राजा नहीं है, वह राजाका मित्र नहीं हो सकता। फिर तुम मुझे जीर्ण-शीर्ण मित्रताका स्मरण क्यों दिलाते हो? मैंने अपने राज्यके लिये तुमसे कोई प्रतिज्ञा की थी, इसका मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है ।। ६९—७२ ।।

एकरात्रं तु ते ब्रह्मन् कामं दास्यामि भोजनम् ।
एवमुक्तस्त्वहं तेन सदारः प्रस्थितस्तदा ।। ७३ ।।

'ब्रह्मन्! तुम्हारी इच्छा हो तो मैं तुम्हें एक रातके लिये अच्छी तरह भोजन दे सकता हूँ।' राजा द्रुपदके यों कहनेपर मैं पत्नी और पुत्रके साथ वहाँसे चल दिया ।। ७३ ।।

तां प्रतिज्ञां प्रतिज्ञाय यां कर्तास्म्यचिरादिव ।
द्रुपदेनैवमुक्तोऽहं मन्युनाभिपरिप्लुतः ।। ७४ ।।

चलते समय मैंने एक प्रतिज्ञा की थी, जिसे शीघ्र पूर्ण करूँगा। द्रुपदके द्वारा जो इस प्रकार तिरस्कारपूर्ण वचन मेरे प्रति कहा गया है, उसके कारण मैं क्षोभसे अत्यन्त व्याकुल हो रहा हूँ ।। ७४ ।।

अभ्यागच्छं कुरून् भीष्म शिष्यैरर्थी गुणान्वितैः ।
ततोऽहं भवतः कामं संवर्धयितुमागतः ।। ७५ ।।
इदं नागपुरं रम्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ।

भीष्मजी! मैं गुणवान् शिष्योंके द्वारा अपने अभीष्टकी सिद्धि चाहता हुआ आपके मनोरथको पूर्ण करनेके लिये पंचालदेशसे कुरुराज्यके भीतर इस रमणीय हस्तिनापुर नगरमें आया हूँ। बताइये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? ।। ७५½ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तदा भीष्मो भारद्वाजमभाषत ।। ७६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रोणाचार्यके यों कहनेपर भीष्मने उनसे कहा ।। ७६ ।।

भीष्म उवाच

अपज्यं क्रियतां चापं साध्वस्त्रं प्रतिपादय ।
भुङ्क्ष्व भोगान् भृशं प्रीतः पूज्यमानः कुरुक्षये ।। ७७ ।।

भीष्मजी बोले—विप्रवर! अब आप अपने धनुषकी डोरी उतार दीजिये और यहाँ रहकर राजकुमारोंको धनुर्वेद एवं अस्त्र-शस्त्रोंकी अच्छी शिक्षा दीजिये। कौरवोंके घरमें सदा सम्मानित रहकर अत्यन्त प्रसन्नताके साथ मनोवांछित भोगोंका उपभोग कीजिये ।। ७७ ।।

कुरूणामस्ति यद् वित्तं राज्यं चेदं सराष्ट्रकम् ।
त्वमेव परमो राजा सर्वे च कुरवस्तव ।। ७८ ।।

कौरवोंके पास जो धन, राज्य-वैभव तथा राष्ट्र है, उसके आप ही सबसे बड़े राजा हैं। समस्त कौरव आपके अधीन हैं ।। ७८ ।।

यच्च ते प्रार्थितं ब्रह्मन् कृतं तदिति चिन्त्यताम् ।
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि विप्रर्षे महान् मेऽनुग्रहः कृतः ।। ७९ ।।

ब्रह्मन्! आपने जो माँग की है, उसे पूर्ण हुई समझिये। ब्रह्मर्षे! आप आये, यह हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है। आपने यहाँ पधारकर मुझपर महान् अनुग्रह किया है ।। ७९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीष्मद्रोणसमागमे त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीष्म-द्रोण-समागमविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३० ।।

---

* जौके आकारकी बनी हुई काठकी मोटी गुल्लीको ‘बीटा’ कहते हैं।

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यद्वारा राजकुमारोंकी शिक्षा, एकलव्यकी गुरुभक्ति तथा आचार्यद्वारा शिष्योंकी परीक्षा

वैशम्पायन उवाच

ततः सम्पूजितो द्रोणो भीष्मेण द्विपदां वरः ।
विशश्राम महातेजाः पूजितः कुरुवेश्मनि ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर मनुष्योंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी द्रोणाचार्यने भीष्मजीके द्वारा पूजित हो कौरवोंके घरमें विश्राम किया। वहाँ उनका बड़ा सम्मान किया गया ।। १ ।।

विश्रान्तेऽथ गुरौ तस्मिन् पौत्रानादाय कौरवान् ।
शिष्यत्वेन ददौ भीष्मो वसूनि विविधानि च ।। २ ।।
गृहं च सुपरिच्छन्नं धनधान्यसमाकुलम् ।
भारद्वाजाय सुप्रीतः प्रत्यपादयत प्रभुः ।। ३ ।।

गुरु द्रोणाचार्य जब विश्राम कर चुके, तब सामर्थ्यशाली भीष्मजीने अपने कुरुवंशी पौत्रोंको लेकर उन्हें शिष्यरूपमें समर्पित किया। साथ ही अत्यन्त प्रसन्न होकर भरद्वाजनन्दन द्रोणको नाना प्रकारके धन-रत्न और सुन्दर सामग्रियोंसे सुसज्जित तथा धन- धान्यसे सम्पन्न भवन प्रदान किया ।। २-३ ।।

स ताञ्शिष्यान् महेष्वासः प्रतिजग्राह कौरवान् ।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च द्रोणो मुदितमानसः ।। ४ ।।

महाधनुर्धर आचार्य द्रोणने प्रसन्नचित्त होकर उन धृतराष्ट्र-पुत्रों तथा पाण्डवोंको शिष्यरूपमें ग्रहण किया ।। ४ ।।

प्रतिगृह्य च तान् सर्वान् द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
रहस्येकः प्रतीतात्मा कृतोपसदनांस्तथा ।। ५ ।।

उन सबको ग्रहण कर लेनेपर एक दिन एकान्तमें जब द्रोणाचार्य पूर्ण विश्वासयुक्त मनसे अकेले बैठे थे, तब उन्होंने अपने पास बैठे हुए सब शिष्योंसे यह बात कही ।। ५ ।।

द्रोण उवाच

कार्यं मे काङ्क्षितं किंचिद्धृदि सम्परिवर्तते ।
कृतास्त्रैस्तत् प्रदेयं मे तदेतद् वदतानघाः ।। ६ ।।

द्रोण बोले—निष्पाप राजकुमारो! मेरे मनमें एक कार्य करनेकी इच्छा है। अस्त्रशिक्षा प्राप्त कर लेनेके पश्चात् तुमलोगोंको मेरी वह इच्छा पूर्ण करनी होगी। इस विषयमें तुम्हारे

क्या विचार हैं, बतलाओ ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा कौरवेयास्ते तूष्णीमासन् विशाम्पते ।
अर्जुनस्तु ततः सर्वं प्रतिजज्ञे परंतप ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा जनमेजय! आचार्यकी वह बात सुनकर सब कौरव चुप रह गये; परंतु अर्जुनने वह सब कार्य पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली ।। ७ ।।

ततोऽर्जुनं तदा मूर्ध्नि समाघ्राय पुनः पुनः ।
प्रीतिपूर्वं परिष्वज्य प्ररुरोद मुदा तदा ।। ८ ।।

तब आचार्यने बारंबार अर्जुनका मस्तक सूँघा और उन्हें प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाकर वे हर्षके आवेशमें रो पड़े ।। ८ ।।

ततो द्रोणः पाण्डुपुत्रानस्त्राणि विविधानि च ।
ग्राहयामास दिव्यानि मानुषाणि च वीर्यवान् ।। ९ ।।

तब पराक्रमी द्रोणाचार्य पाण्डवों (तथा अन्य शिष्यों)-को नाना प्रकारके दिव्य एवं मानव अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा देने लगे ।। ९ ।।

राजपुत्रास्तथा चान्ये समेत्य भरतर्षभ ।
अभिजग्मुस्ततो द्रोणमस्त्रार्थे द्विजसत्तमम् ।। १० ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समय दूसरे-दूसरे राजकुमार भी अस्त्रविद्याकी शिक्षा लेनेके लिये द्विजश्रेष्ठ द्रोणके पास आने लगे ।। १० ।।

वृष्णयश्चान्धकाश्चैव नानादेश्याश्च पार्थिवाः ।
सूतपुत्रश्च राधेयो गुरुं द्रोणमियात् तदा ।। ११ ।।

वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी क्षत्रिय, नाना देशोंके राजकुमार तथा राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण—ये सभी आचार्य द्रोणके पास (अस्त्र-शिक्षा लेनेके लिये) आये ।। ११ ।।

स्पर्धमानस्तु पार्थेन सूतपुत्रोऽत्यमर्षणः ।
दुर्योधनं समाश्रित्य सोऽवमन्यत पाण्डवान् ।। १२ ।।

सूतपुत्र कर्ण सदा अर्जुनसे लाग-डाँट रखता और अत्यन्त अमर्षमें भरकर दुर्योधनका सहारा ले पाण्डवोंका अपमान किया करता था ।। १२ ।।

अभ्ययात् स ततो द्रोणं धनुर्वेदचिकीर्षया ।
शिक्षाभुजबलोद्योगैस्तेषु सर्वेषु पाण्डवः ।
अस्त्रविद्यानुरागाच्च विशिष्टोऽभवदर्जुनः ।। १३ ।।
तुल्येष्वस्त्रप्रयोगेषु लाघवे सौष्ठवेषु च ।
सर्वेषामेव शिष्याणां बभूवाभ्यधिकोऽर्जुनः ।। १४ ।।

पाण्डुनन्दन अर्जुन (सदा अभ्यासमें लगे रहनेसे) धनुर्वेदकी जिज्ञासा, शिक्षा, बाहुबल और उद्योगकी दृष्टिसे उन सभी शिष्योंमें श्रेष्ठ एवं आचार्य द्रोणकी समानता करनेयोग्य हो गये। उनका अस्त्र-विद्यामें बड़ा अनुराग था, इसलिये वे तुल्य अस्त्रोंके प्रयोग, फुर्ती और सफाईमें भी सबसे बढ़-चढ़कर निकले ।। १३-१४ ।।

ऐन्द्रिमप्रतिमं द्रोण उपदेशेष्वमन्यत ।
एवं सर्वकुमाराणामिष्वस्त्रं प्रत्यपादयत् ।। १५ ।।

आचार्य द्रोण उपदेश ग्रहण करनेमें अर्जुनको अनुपम प्रतिभाशाली मानते थे। इस प्रकार आचार्य सब कुमारोंको अस्त्र-विद्याकी शिक्षा देते रहे ।। १५ ।।

कमण्डलुं च सर्वेषां प्रायच्छच्चिरकारणात् ।
पुत्राय च ददौ कुम्भमविलम्बनकारणात् ।। १६ ।।
यावत् ते नोपगच्छन्ति तावदस्मै परां क्रियाम् ।
द्रोण आचष्ट पुत्राय तत् कर्म जिष्णुरौहत ।। १७ ।।

वे अन्य सब शिष्योंको तो पानी लानेके लिये कमण्डलु देते, जिससे उन्हें लौटनेमें कुछ विलम्ब हो जाय; परंतु अपने पुत्र अश्वत्थामाको बड़े मुँहका घड़ा देते, जिससे उसके लौटनेमें विलम्ब न हो (अतः अश्वत्थामा सबसे पहले पानी भरकर उनके पास लौट आता था)। जबतक दूसरे शिष्य लौट नहीं आते, तबतक वे अपने पुत्र अश्वत्थामाको अस्त्र-संचालनकी कोई उत्तम विधि बतलाते थे। अर्जुनने उनके इस कार्यको जान लिया ।। १६-१७ ।।

ततः स वारुणास्त्रेण पूरयित्वा कमण्डलुम् ।
सममाचार्यपुत्रेण गुरुमभ्येति फाल्गुनः ।। १८ ।।
आचार्यपुत्रात् तस्मात् तु विशेषोपचयेऽपृथक् ।
न व्यहीयत मेधावी पार्थोऽप्यस्त्रविदां वरः ।। १९ ।।
अर्जुनः परमं यत्नमातिष्ठद् गुरुपूजने ।
अस्त्रे च परमं योगं प्रियो द्रोणस्य चाभवत् ।। २० ।।

अतः वे वारुणास्त्रसे तुरंत ही अपना कमण्डलु भरकर आचार्यपुत्रके साथ ही गुरुके समीप आ जाते थे, इसलिये आचार्यपुत्रसे किसी भी गुणकी वृद्धिमें वे अलग या पीछे न रहे। यही कारण था कि मेधावी अर्जुन अश्वत्थामासे किसी बातमें कम न रहे। वे अस्त्रवेत्ताओंमें सबसे श्रेष्ठ थे। अर्जुन अपने गुरुदेवकी सेवा-पूजाके लिये भी उत्तम यत्न करते थे। अस्त्रोंके अभ्यासमें भी उनकी अच्छी लगन थी। इसीलिये वे द्रोणाचार्यके बड़े प्रिय हो गये ।। १८—२० ।।

तं दृष्ट्वा नित्यमुद्युक्तमिष्वस्त्रं प्रति फाल्गुनम् ।
आहूय वचनं द्रोणो रहः सूदमभाषत ।। २१ ।।
अन्धकारेऽर्जुनायान्नं न देयं ते कदाचन ।

न चाख्येयमिदं चापि मद्वाक्यं विजये त्वया ।। २२ ।।

अर्जुनको धनुष-बाणके अभ्यासमें निरन्तर लगा हुआ देख द्रोणाचार्यने रसोइयेको एकान्तमें बुलाकर कहा—'तुम अर्जुनको कभी अँधेरेमें भोजन न परोसना और मेरी यह बात भी अर्जुनसे कभी न कहना' ।। २१-२२ ।।

ततः कदाचिद् भुञ्जाने प्रववौ वायुरर्जुने ।
तेन तत्र प्रदीपः स दीप्यमानो विलोपितः ।। २३ ।।

तदनन्तर एक दिन जब अर्जुन भोजन कर रहे थे, बड़े जोरसे हवा चलने लगी; उससे वहाँका जलता हुआ दीपक बुझ गया ।। २३ ।।

भुङ्क्त एव तु कौन्तेयो नास्यादन्यत्र वर्तते ।
हस्तस्तेजस्विनस्तस्य अनुग्रहणकारणात् ।। २४ ।।

उस समय भी कुन्तीनन्दन अर्जुन भोजन करते ही रहे। उन तेजस्वी अर्जुनका हाथ अभ्यासवश अँधेरेमें भी मुखसे अन्यत्र नहीं जाता था ।। २४ ।।

तदभ्यासकृतं मत्वा रात्रावपि स पाण्डवः ।
योग्यां चक्रे महाबाहुर्धनुषा पाण्डुनन्दनः ।। २५ ।।

उसे अभ्यासका ही चमत्कार मानकर महाबाहु पाण्डुनन्दन अर्जुन रातमें भी धनुर्विद्याका अभ्यास करने लगे ।। २५ ।।

तस्य ज्यातलनिर्घोषं द्रोणः शुश्राव भारत ।
उपेत्य चैनमुत्थाय परिष्वज्येदमब्रवीत् ।। २६ ।।

भारत! उनके धनुषकी प्रत्यंचाका टंकार द्रोणने सोते समय सुना। तब वे उठकर उनके पास गये और उन्हें हृदयसे लगाकर बोले ।। २६ ।।

द्रोण उवाच

प्रयतिष्ये तथा कर्तुं यथा नान्यो धनुर्धरः ।
त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। २७ ।।

द्रोणने कहा—अर्जुन! मैं ऐसा करनेका प्रयत्न करूँगा, जिससे इस संसारमें दूसरा कोई धनुर्धर तुम्हारे समान न हो। मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ ।। २७ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणोऽर्जुनं भूयो हयेषु च गजेषु च ।
रथेषु भूमावपि च रणशिक्षामशिक्षयत् ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर द्रोणाचार्य अर्जुनको पुनः घोड़ों, हाथियों, रथों तथा भूमिपर रहकर युद्ध करनेकी शिक्षा देने लगे ।। २८ ।।

गदायुद्धेऽसिचर्यायां तोमरप्रासशक्तिषु ।
द्रोणः संकीर्णयुद्धे च शिक्षयामास कौरवान् ।। २९ ।।

उन्होंने कौरवोंको गदायुद्ध, खड्ग चलाने तथा तोमर, प्रास और शक्तियोंके प्रयोगकी कला एवं एक ही साथ अनेक शस्त्रोंके प्रयोग अथवा अकेले ही अनेक शत्रुओंसे युद्ध करनेकी शिक्षा दी ।। २९ ।।

तस्य तत् कौशलं श्रुत्वा धनुर्वेदजिघृक्षवः ।
राजानो राजपुत्राश्च समाजग्मुः सहस्रशः ।। ३० ।।

द्रोणाचार्यका वह अस्त्रकौशल सुनकर सहस्रों राजा और राजकुमार धनुर्वेदकी शिक्षा लेनेके लिये वहाँ एकत्रित हो गये ।। ३० ।।

ततो निषादराजस्य हिरण्यधनुषः सुतः ।
एकलव्यो महाराज द्रोणमभ्याजगाम ह ।। ३१ ।।

महाराज! तदनन्तर निषादराज हिरण्यधनुका पुत्र एकलव्य द्रोणके पास आया ।। ३१ ।।

न स तं प्रतिजग्राह नैषादिरिति चिन्तयन् ।
शिष्यं धनुषि धर्मज्ञस्तेषामेवान्ववेक्षया ।। ३२ ।।

परंतु उसे निषादपुत्र समझकर धर्मज्ञ आचार्यने धनुर्विद्याविषयक शिष्य नहीं बनाया। कौरवोंकी ओर दृष्टि रखकर ही उन्होंने ऐसा किया ।। ३२ ।।

स तु द्रोणस्य शिरसा पादौ गृह्य परंतपः ।
अरण्यमनुसम्प्राप्य कृत्वा द्रोणं महीमयम् ।। ३३ ।।
तस्मिन्नाचार्यवृत्तिं च परमामास्थितस्तदा ।
इष्वस्त्रे योगमातस्थे परं नियममास्थितः ।। ३४ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले एकलव्यने द्रोणाचार्यके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और वनमें लौटकर उनकी मिट्टीकी मूर्ति बनायी तथा उसीमें आचार्यकी परमोच्च भावना रखकर उसने धनुर्विद्याका अभ्यास प्रारम्भ किया। वह बड़े नियमके साथ रहता था ।। ३३-३४ ।।

परया श्रद्धयोपेतो योगेन परमेण च ।
विमोक्षादानसंधाने लघुत्वं परमाप सः ।। ३५ ।।

आचार्यमें उत्तम श्रद्धा रखकर उत्तम और भारी अभ्यासके बलसे उसने बाणोंके छोड़ने, लौटाने और संधान करनेमें बड़ी अच्छी फुर्ती प्राप्त कर ली ।। ३५ ।।

अथ द्रोणाभ्यनुज्ञाताः कदाचित् कुरुपाण्डवाः ।
रथैर्विनिर्ययुः सर्वे मृगयामरिमर्दन ।। ३६ ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले जनमेजय! तदनन्तर एक दिन समस्त कौरव और पाण्डव आचार्य द्रोणकी अनुमतिसे रथोंपर बैठकर (हिंसक पशुओंका) शिकार खेलनेके लिये निकले ।। ३६ ।।

तत्रोपकरणं गृह्य नरः कश्चिद् यदृच्छया ।

राजन्ननुजगामैकः श्वानमादाय पाण्डवान् ।। ३७ ।।

इस कार्यके लिये आवश्यक सामग्री लेकर कोई मनुष्य स्वेच्छानुसार अकेला ही उन पाण्डवोंके पीछे-पीछे चला। उसने साथमें एक कुत्ता भी ले रखा था ।। ३७ ।।

तेषां विचरतां तत्र तत्तत्कर्मचिकीर्षया ।
श्वा चरन् स वने मूढो नैषादिं प्रति जग्मिवान् ।। ३८ ।।

वे सब अपना-अपना काम पूरा करनेकी इच्छासे वनमें इधर-उधर विचर रहे थे। उनका वह मूढ़ कुत्ता वनमें घूमता-घामता निषादपुत्र एकलव्यके पास जा पहुँचा ।। ३८ ।।

स कृष्णं मलदिग्धाङ्गं कृष्णाजिनजटाधरम् ।
नैषादिं श्वा समालक्ष्य भषंस्तस्थौ तदन्तिके ।। ३९ ।।

एकलव्यके शरीरका रंग काला था। उसके अंगोंमें मैल जम गया था और उसने काला मृगचर्म एवं जटा धारण कर रखी थी। निषादपुत्रको इस रूपमें देखकर वह कुत्ता भौं-भौं करके भूँकता हुआ उसके पास खड़ा हो गया ।। ३९ ।।

तदा तस्याथ भषतः शुनः सप्त शरान् मुखे ।
लाघवं दर्शयन्नस्त्रे मुमोच युगपद् यथा ।। ४० ।।

यह देख भीलने अपने अस्त्रलाघवका परिचय देते हुए उस भूँकनेवाले कुत्तेके मुखमें मानो एक ही साथ सात बाण मारे ।। ४० ।।

स तु श्वा शरपूर्णास्यः पाण्डवानाजगाम ह ।
तं दृष्ट्वा पाण्डवा वीराः परं विस्मयमागताः ।। ४१ ।।

उसका मुँह बाणोंसे भर गया और वह उसी अवस्थामें पाण्डवोंके पास आया। उसे देखकर पाण्डव वीर बड़े विस्मयमें पड़े ।। ४१ ।।

लाघवं शब्दवेधित्वं दृष्ट्वा तत् परमं तदा ।
प्रेक्ष्य तं व्रीडिताश्चासन् प्रशशंसुश्च सर्वशः ।। ४२ ।।

वह हाथकी फुर्ती और शब्दके अनुसार लक्ष्य बेधनेकी उत्तम शक्ति देखकर उस समय सब राजकुमार उस कुत्तेकी ओर दृष्टि डालकर लज्जित हो गये और सब प्रकारसे बाण मारनेवालेकी प्रशंसा करने लगे ।। ४२ ।।

तं ततोऽन्वेषमाणास्ते वने वननिवासिनम् ।
ददृशुः पाण्डवा राजन्नस्यन्तमनिशं शरान् ।। ४३ ।।

राजन्! तत्पश्चात् पाण्डवोंने उस वनवासी वीरकी वनमें खोज करते हुए उसे निरन्तर बाण चलाते हुए देखा ।। ४३ ।।

न चैनमभ्यजानंस्ते तदा विकृतदर्शनम् ।
अथैनं परिपप्रच्छुः को भवान् कस्य वेत्युत ।। ४४ ।।

उस समय उसका रूप बदल गया था। पाण्डव उसे पहचान न सके; अतः पूछने लगे—‘तुम कौन हो, किसके पुत्र हो?’ ।। ४४ ।।

एकलव्य उवाच

निषादाधिपतेर्वीरा हिरण्यधनुषः सुतम् ।

द्रोणशिष्यं च मां वित्त धनुर्वेदकृतश्रमम् ।। ४५ ।।

एकलव्यने कहा—वीरो! आपलोग मुझे निषादराज हिरण्यधनुका पुत्र तथा द्रोणाचार्यका शिष्य जानें। मैंने धनुर्वेदमें विशेष परिश्रम किया है ।। ४५ ।।

वैशम्पायन उवाच

ते तमाज्ञाय तत्त्वेन पुनरागम्य पाण्डवाः ।
यथावृत्तं वने सर्वं द्रोणायाचख्युरद्भुतम् ।। ४६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! वे पाण्डवलोग उस निषादका यथार्थ परिचय पाकर लौट आये और वनमें जो अद्भुत घटना घटी थी, वह सब उन्होंने द्रोणाचार्यसे कह सुनायी ।। ४६ ।।

कौन्तेयस्त्वर्जुनो राजन्नेकलव्यमनुस्मरन् ।
रहो द्रोणं समासाद्य प्रणयादिदमब्रवीत् ।। ४७ ।।

जनमेजय! कुन्तीनन्दन अर्जुन बार-बार एकलव्यका स्मरण करते हुए एकान्तमें द्रोणसे मिलकर प्रेमपूर्वक यों बोले ।। ४७ ।।

अर्जुन उवाच

तदाहं परिरभ्यैकः प्रीतिपूर्वमिदं वचः ।
भवतोक्तो न मे शिष्यस्त्वद्विशिष्टो भविष्यति ।। ४८ ।।

अर्जुनने कहा—आचार्य! उस दिन तो आपने मुझ अकेलेको हृदयसे लगाकर बड़ी प्रसन्नताके साथ यह बात कही थी कि मेरा कोई भी शिष्य तुमसे बढ़कर नहीं होगा ।। ४८ ।।

अथ कस्मान्मद्विशिष्टो लोकादपि च वीर्यवान् ।
अन्योऽस्ति भवतः शिष्यो निषादाधिपतेः सुतः ।। ४९ ।।

फिर आपका यह अन्य शिष्य निषादराजका पुत्र अस्त्र-विद्यामें मुझसे बढ़कर कुशल और सम्पूर्ण लोकसे भी अधिक पराक्रमी कैसे हुआ? ।। ४९ ।।

वैशम्पायन उवाच

मुहूर्तमिव तं द्रोणश्चिन्तयित्वा विनिश्चयम् ।
सव्यसाचिनमादाय नैषादिं प्रति जग्मिवान् ।। ५० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! आचार्य द्रोण उस निषादपुत्रके विषयमें दो घड़ीतक मानो कुछ सोचते-विचारते रहे; फिर कुछ निश्चय करके वे सव्यसाची अर्जुनको साथ ले उसके पास गये ।। ५० ।।

ददर्श मलदिग्धाङ्गं जटिलं चीरवाससम् ।
एकलव्यं धनुष्पाणिमस्यन्तमनिशं शरान् ।। ५१ ।।

वहाँ पहुँचकर उन्होंने एकलव्यको देखा, जो हाथमें धनुष ले निरन्तर बाणोंकी वर्षा कर रहा था। उसके शरीरपर मैल जम गया था। उसने सिरपर जटा धारण कर रखी थी और वस्त्रके स्थानपर चिथड़े लपेट रखे थे ।। ५१ ।।

एकलव्यस्तु तं दृष्ट्वा द्रोणमायान्तमन्तिकात् ।
अभिगम्योपसंगृह्य जगाम शिरसा महीम् ।। ५२ ।।

इधर एकलव्यने आचार्य द्रोणको समीप आते देख आगे बढ़कर उनकी अगवानी की और उनके दोनों चरण पकड़कर पृथ्वीपर माथा टेक दिया ।। ५२ ।।

पूजयित्वा ततो द्रोणं विधिवत् स निषादजः ।
निवेद्य शिष्यमात्मानं तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ।। ५३ ।।

फिर उस निषादकुमारने अपनेको शिष्यरूपसे उनके चरणोंमें समर्पित करके गुरु द्रोणकी विधिपूर्वक पूजा की और हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ा हो गया ।। ५३ ।।

ततो द्रोणोऽब्रवीद् राजन्नेकलव्यमिदं वचः ।
यदि शिष्योऽसि मे वीर वेतनं दीयतां मम ।। ५४ ।।
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा प्रीयमाणोऽब्रवीदिदम् ।

राजन्! तब द्रोणाचार्यने एकलव्यसे यह बात कही—'वीर! यदि तुम मेरे शिष्य हो तो मुझे गुरुदक्षिणा दो'।

यह सुनकर एकलव्य बहुत प्रसन्न हुआ और इस प्रकार बोला ।। ५४½ ।।

एकलव्य उवाच

किं प्रयच्छामि भगवन्नाज्ञापयतु मां गुरुः ।। ५५ ।।
न हि किंचिददेयं मे गुरवे ब्रह्मवित्तम ।

एकलव्यने कहा—भगवन्! मैं आपको क्या दूँ? स्वयं गुरुदेव ही मुझे इसके लिये आज्ञा दें। ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ आचार्य! मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो गुरुके लिये अदेय हो ।। ५५½ ।।

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीत् त्वयाङ्गुष्ठो दक्षिणो दीयतामिति ।। ५६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब द्रोणाचार्यने उससे कहा—'तुम मुझे दाहिने हाथका अँगूठा दे दो' ।। ५६ ।।

एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारुणम् ।
प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन् सत्ये च नियतः सदा ।। ५७ ।।
तथैव हृष्टवदनस्तथैवादीनमानसः ।
छित्त्वाविचार्य तं प्रादाद् द्रोणायाङ्गुष्ठमात्मनः ।। ५८ ।।

द्रोणाचार्यका यह दारुण वचन सुनकर सदा सत्यपर अटल रहनेवाले एकलव्यने अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हुए पहलेकी ही भाँति प्रसन्नमुख और उदारचित्त रहकर बिना कुछ सोच-विचार किये अपना दाहिना अँगूठा काटकर द्रोणाचार्यको दे दिया ।। ५७-५८ ।।

(स सत्यसंधं नैषादिं दृष्ट्वा प्रीतोऽब्रवीदिदम् ।
एवं कर्तव्यमिति वा एकलव्यमभाषत ।।)
ततः शरं तु नैषादिरङ्गुलीभिर्व्यकर्षत ।
न तथा च स शीघ्रोऽभूद् यथा पूर्वं नराधिप ।। ५९ ।।

द्रोणाचार्य निषादनन्दन एकलव्यको सत्यप्रतिज्ञ देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने संकेतसे उसे यह बता दिया कि तर्जनी और मध्यमाके संयोगसे बाण पकड़कर किस प्रकार धनुषकी डोरी खींचनी चाहिये। तबसे वह निषादकुमार अपनी अँगुलियोंद्वारा ही बाणोंका संधान करने लगा। राजन्! उस अवस्थामें वह उतनी शीघ्रतासे बाण नहीं चला पाता था, जैसे पहले चलाया करता था ।। ५९ ।।

ततोऽर्जुनः प्रीतमना बभूव विगतज्वरः ।
द्रोणश्च सत्यवागासीन्नान्योऽभिभवितार्जुनम् ।। ६० ।।

इस घटनासे अर्जुनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उनकी भारी चिन्ता दूर हो गयी। द्रोणाचार्यका भी वह कथन सत्य हो गया कि अर्जुनको दूसरा कोई पराजित नहीं कर सकता ।। ६० ।।

द्रोणस्य तु तदा शिष्यौ गदायोग्यौ बभूवतुः ।
दुर्योधनश्च भीमश्च सदा संरब्धमानसौ ।। ६१ ।।

उस समय द्रोणके दो शिष्य गदायुद्धमें सुयोग्य निकले—दुर्योधन और भीमसेन। ये दोनों सदा एक-दूसरेके प्रति मनमें क्रोध (स्पर्द्धा)-से भरे रहते थे ।। ६१ ।।

अश्वत्थामा रहस्येषु सर्वेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।
तथाति पुरुषानन्यान् त्सारुकौ यमजावुभौ ।। ६२ ।।

अश्वत्थामा धनुर्वेदके रहस्योंकी जानकारीमें सबसे बढ़-चढ़कर हुआ। नकुल और सहदेव दोनों भाई तलवारकी मूठ पकड़कर युद्ध करनेमें अत्यन्त कुशल हुए। वे इस कलामें अन्य सब पुरुषोंसे बढ़-चढ़कर थे ।। ६२ ।।

युधिष्ठिरो रथश्रेष्ठः सर्वत्र तु धनंजयः ।
प्रथितः सागरान्तायां रथयूथपयूथपः ।। ६३ ।।

युधिष्ठिर रथपर बैठकर युद्ध करनेमें श्रेष्ठ थे। परंतु अर्जुन सब प्रकारकी युद्ध-कलाओंमें सबसे बढ़कर थे। वे समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीमें रथयूथपतियोंके भी यूथपतिके रूपमें प्रसिद्ध थे ।। ६३ ।।

बुद्धियोगबलोत्साहैः सर्वास्त्रेषु च निष्ठितः ।
अस्त्रे गुर्वनुरागे च विशिष्टोऽभवदर्जुनः ।। ६४ ।।

बुद्धि, मनकी एकाग्रता, बल और उत्साहके कारण वे सम्पूर्ण अस्त्र-विद्याओंमें प्रवीण हुए। अस्त्रोंके अभ्यास तथा गुरुके प्रति अनुरागमें भी अर्जुनका स्थान सबसे ऊँचा था ।। ६४ ।।

तुल्येष्वस्त्रोपदेशेषु सौष्ठवेन च वीर्यवान् ।
एकः सर्वकुमाराणां बभूवातिरथोऽर्जुनः ।। ६५ ।।

यद्यपि सबको समानरूपसे अस्त्र-विद्याका उपदेश प्राप्त होता था तो भी पराक्रमी अर्जुन अपनी विशिष्ट प्रतिभाके कारण अकेले ही समस्त कुमारोंमें अतिरथी हुए ।। ६५ ।।

प्राणाधिकं भीमसेनं कृतविद्यं धनंजयम् ।
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानो नामृष्यन्त परस्परम् ।। ६६ ।।

धृतराष्ट्रके पुत्र बड़े दुरात्मा थे। वे भीमसेनको बलमें अधिक और अर्जुनको अस्त्रविद्यामें प्रवीण देखकर परस्पर सहन नहीं कर पाते थे ।। ६६ ।।

तांस्तु सर्वान् समानीय सर्वविद्यास्त्रशिक्षितान् ।
द्रोणः प्रहरणज्ञाने जिज्ञासुः पुरुषर्षभः ।। ६७ ।।

जब सम्पूर्ण धनुर्विद्या तथा अस्त्र-संचालनकी कलामें वे सभी कुमार सुशिक्षित हो गये, तब नरश्रेष्ठ द्रोणने उन सबको एकत्र करके उनके अस्त्रज्ञानकी परीक्षा लेनेका विचार किया ।। ६७ ।।

कृत्रिमं भासमारोप्य वृक्षाग्रे शिल्पिभिः कृतम् ।
अविज्ञातं कुमाराणां लक्ष्यभूतमुपादिशत् ।। ६८ ।।

उन्होंने कारीगरोंसे एक नकली गीध बनवाकर वृक्षके अग्रभागपर रखवा दिया। राजकुमारोंको इसका पता नहीं था। आचार्यने उसी गीधको बींधनेयोग्य लक्ष्य बताया ।। ६८ ।।

द्रोण उवाच

शीघ्रं भवन्तः सर्वेऽपि धनूंष्यादाय सर्वशः ।
भासमेतं समुद्दिश्य तिष्ठध्वं संधितेषवः ।। ६९ ।।

द्रोण बोले—तुम सब लोग इस गीधको बींधनेके लिये शीघ्र ही धनुष लेकर उसपर बाण चढ़ाकर खड़े हो जाओ ।। ६९ ।।

मद्वाक्यसमकालं तु शिरोऽस्य विनिपात्यताम् ।
एकैकशो नियोक्ष्यामि तथा कुरुत पुत्रकाः ।। ७० ।।

फिर मेरी आज्ञा मिलनेके साथ ही इसका सिर काट गिराओ। पुत्रो! मैं एक-एकको बारी-बारीसे इस कार्यमें नियुक्त करूँगा; तुमलोग मेरे बताये अनुसार कार्य करो ।। ७० ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरं पूर्वमुवाचाङ्गिरसां वरः ।
संधत्स्व बाणं दुर्धर्ष मद्वाक्यान्ते विमुञ्च तम् ।। ७१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अंगिरागोत्रवाले ब्राह्मणोंमें सर्वश्रेष्ठ आचार्य द्रोणने सबसे पहले युधिष्ठिरसे कहा—'दुर्धर्ष वीर! तुम धनुषपर बाण चढ़ाओ और मेरी आज्ञा मिलते ही उसे छोड़ दो' ।। ७१ ।।

ततो युधिष्ठिरः पूर्वं धनुर्गृह्य परंतपः ।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः ।। ७२ ।।

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले युधिष्ठिर गुरुकी आज्ञासे प्रेरित हो सबसे पहले धनुष लेकर गीधको बींधनेके लिये लक्ष्य बनाकर खड़े हो गये ।। ७२ ।।

ततो विततधन्वानं द्रोणस्तं कुरुनन्दनम् ।
स मुहूर्तादुवाचेदं वचनं भरतर्षभ ।। ७३ ।।

भरतश्रेष्ठ! तब धनुष तानकर खड़े हुए कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे दो घड़ी बाद आचार्य द्रोणने इस प्रकार कहा— ।। ७३ ।।

पश्यैनं तं द्रुमाग्रस्थं भासं नरवरात्मज ।

पश्यामीत्येवमाचार्यं प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।। ७४ ।।

‘राजकुमार! वृक्षकी शिखापर बैठे हुए इस गीधको देखो।’ तब युधिष्ठिरने आचार्यको उत्तर दिया—‘भगवन्! मैं देख रहा हूँ’ ।। ७४ ।।

स मुहूर्तादिव पुनर्द्रोणस्तं प्रत्यभाषत ।

मानो दो घड़ी और बिताकर द्रोणाचार्य फिर उनसे बोले ।। ७४½ ।।

द्रोण उवाच

अथ वृक्षमिमं मां वा भ्रातॄन् वापि प्रपश्यसि ।। ७५ ।।

द्रोणने कहा—क्या तुम इस वृक्षको, मुझको अथवा अपने भाइयोंको भी देखते हो? ।। ७५ ।।

तमुवाच स कौन्तेयः पश्याम्येनं वनस्पतिम् ।
भवन्तं च तथा भ्रातॄन् भासं चेति पुनः पुनः ।। ७६ ।।

यह सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर उनसे इस प्रकार बोले—‘हाँ, मैं इस वृक्षको, आपको, अपने भाइयोंको तथा गीधको भी बारंबार देख रहा हूँ’ ।। ७६ ।।

तमुवाचापसर्पेति द्रोणोऽप्रीतमना इव ।
नैतच्छक्यं त्वया वेद्धुं लक्ष्यमित्येव कुत्सयन् ।। ७७ ।।

उनका उत्तर सुनकर द्रोणाचार्य मन-ही-मन अप्रसन्न-से हो गये और उन्हें झिड़कते हुए बोले, ‘हट जाओ यहाँसे, तुम इस लक्ष्यको नहीं बींध सकते’ ।। ७७ ।।

ततो दुर्योधनादींस्तान् धार्तराष्ट्रान् महायशाः ।
तेनैव क्रमयोगेन जिज्ञासुः पर्यपृच्छत ।। ७८ ।।

तदनन्तर महायशस्वी आचार्यने उसी क्रमसे दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रपुत्रोंको भी उनकी परीक्षा लेनेके लिये बुलाया और उन सबसे उपर्युक्त बातें पूछीं ।। ७८ ।।

अन्यांश्च शिष्यान् भीमादीन् राज्ञश्चैवान्यदेशजान् ।
तथा च सर्वे तत् सर्वं पश्याम इति कुत्सिताः ।। ७९ ।।

उन्होंने भीम आदि अन्य शिष्यों तथा दूसरे देशके राजाओंसे भी, जो वहाँ शिक्षा पा रहे थे, वैसा ही प्रश्न किया। प्रश्नके उत्तरमें सभीने (युधिष्ठिरकी भाँति ही) कहा—‘हम सब कुछ देख रहे हैं।’ यह सुनकर आचार्यने उन सबको झिड़ककर हटा दिया ।। ७९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि
द्रोणशिष्यपरीक्षायामेकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें आचार्य द्रोणके द्वारा शिष्योंकी परीक्षासे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ८० श्लोक हैं।)

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा लक्ष्यवेध, द्रोणका ग्राहसे छुटकारा और अर्जुनको ब्रह्मशिर नामक अस्त्रकी प्राप्ति

वैशम्पायन उवाच

ततो धनंजयं द्रोणः स्मयमानोऽभ्यभाषत ।
त्वयेदानीं प्रहर्तव्यमेतल्लक्ष्यं विलोक्यताम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर द्रोणाचार्यने अर्जुनसे मुसकराते हुए कहा—'अब तुम्हें इस लक्ष्यका वेध करना है। इसे अच्छी तरह देख लो' ।। १ ।।

मद्वाक्यसमकालं ते मोक्तव्योऽत्र भवेच्छरः ।
वितत्य कार्मुकं पुत्र तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम् ।। २ ।।

'मेरी आज्ञा मिलनेके साथ ही तुम्हें इसपर बाण छोड़ना होगा। बेटा! धनुष तानकर खड़े हो जाओ और दो घड़ी मेरे आदेशकी प्रतीक्षा करो' ।। २ ।।

एवमुक्तः सव्यसाची मण्डलीकृतकार्मुकः ।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः ।। ३ ।।

उनके ऐसा कहनेपर अर्जुनने धनुषको इस प्रकार खींचा कि वह मण्डलाकार (गोल) प्रतीत होने लगा। फिर वे गुरुकी आज्ञासे प्रेरित हो गीधकी ओर लक्ष्य करके खड़े हो गये ।। ३ ।।

मुहूर्तादिव तं द्रोणस्तथैव समभाषत ।
पश्यस्येनं स्थितं भासं द्रुमं मामपि चार्जुन ।। ४ ।।

मानो दो घड़ी बाद द्रोणाचार्यने उनसे भी उसी प्रकार प्रश्न किया—'अर्जुन! क्या तुम उस वृक्षपर बैठे हुए गीधको, वृक्षको और मुझे भी देखते हो?' ।। ४ ।।

पश्याम्येकं भासमिति द्रोणं पार्थोऽभ्यभाषत ।
न तु वृक्षं भवन्तं वा पश्यामीति च भारत ।। ५ ।।

जनमेजय! यह प्रश्न सुनकर अर्जुनने द्रोणाचार्यसे कहा—'मैं केवल गीधको देखता हूँ। वृक्षको अथवा आपको नहीं देखता' ।। ५ ।।

ततः प्रीतमना द्रोणो मुहूर्तादिव तं पुनः ।
प्रत्यभाषत दुर्धर्षः पाण्डवानां महारथम् ।। ६ ।।

इस उत्तरसे द्रोणका मन प्रसन्न हो गया। मानो दो घड़ी बाद दुर्धर्ष द्रोणाचार्यने पाण्डव-महारथी अर्जुनसे फिर पूछा— ।। ६ ।।

भासं पश्यसि यद्येनं तथा ब्रूहि पुनर्वचः ।
शिरः पश्यामि भासस्य न गात्रमिति सोऽब्रवीत् ।। ७ ।।

'वत्स! यदि तुम इस गीधको देखते हो तो फिर बताओ, उसके अंग कैसे हैं?' अर्जुन बोले—'मैं गीधका मस्तकभर देख रहा हूँ, उसके सम्पूर्ण शरीरको नहीं' ।। ७ ।।

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु द्रोणो हृष्टतनूरुहः ।
मुञ्चस्वेत्यब्रवीत् पार्थं स मुमोचाविचारयन् ।। ८ ।।

अर्जुनके यों कहनेपर द्रोणाचार्यके शरीरमें (हर्षातिरेकसे) रोमांच हो आया और वे अर्जुनसे बोले, 'चलाओ बाण'! अर्जुनने बिना सोचे-विचारे बाण छोड़ दिया ।। ८ ।।

ततस्तस्य नगस्थस्य क्षुरेण निशितेन च ।
शिर उत्कृत्य तरसा पातयामास पाण्डवः ।। ९ ।।

फिर तो पाण्डुनन्दन अर्जुनने अपने चलाये हुए तीखे क्षुर नामक बाणसे वृक्षपर बैठे हुए उस गीधका मस्तक वेगपूर्वक काट गिराया ।। ९ ।।

तस्मिन् कर्मणि संसिद्धे पर्यष्वजत पाण्डवम् ।
मेने च द्रुपदं संख्ये सानुबन्धं पराजितम् ।। १० ।।

इस कार्यमें सफलता प्राप्त होनेपर आचार्यने अर्जुनको हृदयसे लगा लिया और उन्हें यह विश्वास हो गया कि राजा द्रुपद युद्धमें अर्जुनद्वारा अपने भाई-बन्धुओंसहित अवश्य पराजित हो जायँगे ।। १० ।।

कस्यचित् त्वथ कालस्य सशिष्योऽङ्गिरसां वरः ।
जगाम गङ्गामभितो मज्जितुं भरतर्षभ ।। ११ ।।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर किसी समय आंगिरसवंशियोंमें उत्तम आचार्य द्रोण अपने शिष्योंके साथ गंगाजीमें स्नान करनेके लिये गये ।। ११ ।।

अवगाढमथो द्रोणं सलिले सलिलेचरः ।
ग्राहो जग्राह बलवाञ्जङ्घान्ते कालचोदितः ।। १२ ।।

वहाँ जलमें गोता लगाते समय कालसे प्रेरित हो एक बलवान् जलजन्तु ग्राहने द्रोणाचार्यकी पिंडली पकड़ ली ।। १२ ।।

स समर्थोऽपि मोक्षाय शिष्यान् सर्वानचोदयत् ।
ग्राहं हत्वा मोक्षयध्वं मामिति त्वरयन्निव ।। १३ ।।

वे अपनेको छुड़ानेमें समर्थ होते हुए भी मानो हड़बड़ाये हुए अपने सभी शिष्योंसे बोले—'इस ग्राहको मारकर मुझे बचाओ' ।। १३ ।।

तद्वाक्यसमकालं तु बीभत्सुर्निशितैः शरैः ।
अवार्यैः पञ्चभिर्ग्राहं मग्नमम्भस्यताडयत् ।। १४ ।।

उनके इस आदेशके साथ ही बीभत्सु (अर्जुन)-ने पाँच अमोघ एवं तीखे बाणोंद्वारा पानीमें डूबे हुए उस ग्राहपर प्रहार किया ।। १४ ।।

इतरे त्वथ सम्मूढास्तत्र तत्र प्रपेदिरे ।
तं तु दृष्ट्वा क्रियोपेतं द्रोणोऽमन्यत पाण्डवम् ।। १५ ।।
विशिष्टं सर्वशिष्येभ्यः प्रीतिमांश्चाभवत् तदा ।
स पार्थबाणैर्बहुधा खण्डशः परिकल्पितः ।। १६ ।।

ग्राहः पञ्चत्वमापेदे जङ्घां त्यक्त्वा महात्मनः ।
अथाब्रवीन्महात्मानं भारद्वाजो महारथम् ।। १७ ।।

परंतु दूसरे राजकुमार हक्के-बक्के-से होकर अपने-अपने स्थानपर ही खड़े रह गये। अर्जुनको तत्काल कार्यमें तत्पर देख द्रोणाचार्यने उन्हें अपने सब शिष्योंसे बढ़कर माना और उस समय वे उनपर बहुत प्रसन्न हुए। अर्जुनके बाणोंसे ग्राहके टुकड़े-टुकड़े हो गये और वह महात्मा द्रोणकी पिंडली छोड़कर मर गया। तब द्रोणाचार्यने महारथी महात्मा अर्जुनसे कहा— ।। १५—१७ ।।

गृहाणेदं महाबाहो विशिष्टमतिदुर्धरम् ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम सप्रयोगनिवर्तनम् ।। १८ ।।

'महाबाहो! यह ब्रह्मशिर नामक अस्त्र मैं तुम्हें प्रयोग और उपसंहारके साथ बता रहा हूँ। यह सब अस्त्रोंसे बढ़कर है तथा इसे धारण करना भी अत्यन्त कठिन है। तुम इसे ग्रहण करो' ।। १८ ।।

न च ते मानुषेष्वेतत् प्रयोक्तव्यं कथंचन ।
जगद् विनिर्दहेदेतदल्पतेजसि पातितम् ।। १९ ।।

'मनुष्योंपर तुम्हें इस अस्त्रका प्रयोग किसी भी दशामें नहीं करना चाहिये। यदि किसी अल्प तेजवाले पुरुषपर इसे चलाया गया तो यह उसके साथ ही समस्त संसारको भस्म कर सकता है ।। १९ ।।

असामान्यमिदं तात लोकेष्वस्त्रं निगद्यते ।
तद् धारयेथाः प्रयतः शृणु चेदं वचो मम ।। २० ।।

'तात! यह अस्त्र तीनों लोकोंमें असाधारण बताया गया है। तुम मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर इस अस्त्रको धारण करो और मेरी यह बात सुनो ।। २० ।।

बाधेतामानुषः शत्रुर्यदि त्वां वीर कश्चन ।
तद्वधाय प्रयुञ्जीथास्तदस्त्रमिदमाहवे ।। २१ ।।

'वीर! यदि कोई अमानव शत्रु तुम्हें युद्धमें पीड़ा देने लगे तो तुम उसका वध करनेके लिये इस अस्त्रका प्रयोग कर सकते हो' ।। २१ ।।

तथेति सम्प्रतिश्रुत्य बीभत्सुः स कृताञ्जलिः ।
जग्राह परमास्त्रं तदाह चैनं पुनर्गुरुः ।
भविता त्वत्समो नान्यः पुमाँल्लोके धनुर्धरः ।। २२ ।।

तब अर्जुनने 'तथास्तु' कहकर वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की और हाथ जोड़कर उस उत्तम अस्त्रको ग्रहण किया। उस समय गुरु द्रोणने अर्जुनसे पुनः यह बात कही—'संसारमें दूसरा कोई पुरुष तुम्हारे समान धनुर्धर न होगा' ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रोणग्राहमोक्षणे द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें द्रोणाचार्यका ग्राहसे छुटकारा नामक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३२ ।।

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

राजकुमारोंका रंगभूमिमें अस्त्र-कौशल दिखाना

वैशम्पायन उवाच

कृतास्त्रान् धार्तराष्ट्रांश्च पाण्डुपुत्रांश्च भारत ।
दृष्ट्वा द्रोणोऽब्रवीद् राजन् धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।। १ ।।
कृपस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ।
गाङ्गेयस्य च सांनिध्ये व्यासस्य विदुरस्य च ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! जब द्रोणने देखा कि धृतराष्ट्रके पुत्र तथा पाण्डव अस्त्र-विद्याकी शिक्षा समाप्त कर चुके, तब उन्होंने कृपाचार्य, सोमदत्त, बुद्धिमान् बाह्लीक, गंगानन्दन भीष्म, महर्षि व्यास तथा विदुरजीके निकट राजा धृतराष्ट्रसे कहा— ।। १-२ ।।

राजन् सम्प्राप्तविद्यास्ते कुमाराः कुरुसत्तम ।
ते दर्शयेयुः स्वां शिक्षां राजन्ननुमते तव ।। ३ ।।
ततोऽब्रवीन्महाराजः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।

'राजन्! आपके कुमार अस्त्र-विद्याकी शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं। कुरुश्रेष्ठ! यदि आपकी अनुमति हो तो वे अपनी सीखी हुई अस्त्र-संचालनकी कलाका प्रदर्शन करें'।

यह सुनकर महाराज धृतराष्ट्र अत्यन्त प्रसन्नचित्तसे बोले ।। ३½ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

भारद्वाज महत् कर्म कृतं ते द्विजसत्तम ।। ४ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—द्विजश्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन! आपने (राजकुमारोंको अस्त्रकी शिक्षा देकर) बहुत बड़ा कार्य किया है ।। ४ ।।

यदानुमन्यसे कालं यस्मिन् देशे यथा यथा ।
तथा तथा विधानाय स्वयमाज्ञापयस्व माम् ।। ५ ।।

आप कुमारोंकी अस्त्र-शिक्षाके प्रदर्शनके लिये जब जो समय ठीक समझें, जिस स्थानपर जिस-जिस प्रकारका प्रबन्ध आवश्यक मानें, उस-उस तरहकी तैयारी करनेके लिये स्वयं ही मुझे आज्ञा दें ।। ५ ।।

स्पृहयाम्यद्य निर्वेदात् पुरुषाणां सचक्षुषाम् ।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तान् ये मे द्रक्ष्यन्ति पुत्रकान् ।। ६ ।।

आज मैं नेत्रहीन होनेके कारण दुःखी होकर, जिनके पास आँखें हैं, उन मनुष्योंके सुख और सौभाग्यको पानेके लिये तरस रहा हूँ; क्योंकि वे अस्त्र-कौशलका प्रदर्शन करनेके लिये भाँति-भाँतिके पराक्रम करनेवाले मेरे पुत्रोंको देखेंगे ।। ६ ।।

क्षत्तर्यद् गुरुराचार्यो ब्रवीति कुरु तत् तथा ।
न हीदृशं प्रियं मन्ये भविता धर्मवत्सल ।। ७ ।।

(आचार्यसे इतना कहकर राजा धृतराष्ट्र विदुरसे बोले—) 'धर्मवत्सल! विदुर! गुरु द्रोणाचार्य जो काम जैसे कहते हैं, उसी प्रकार उसे करो। मेरी रायमें इसके समान प्रिय कार्य दूसरा नहीं होगा' ।। ७ ।।

ततो राजानमामन्त्र्य निर्गतो विदुरो बहिः ।
भारद्वाजो महाप्राज्ञो मापयामास मेदिनीम् ।। ८ ।।

तदनन्तर राजाकी आज्ञा लेकर विदुरजी (आचार्य द्रोणके साथ) बाहर निकले। महाबुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोणने रंगमण्डपके लिये एक भूमि पसंद की और उसका माप करवाया ।। ८ ।।

समामवृक्षां निर्गुल्मामुदक्प्रस्रवणान्विताम् ।
तस्यां भूमौ बलिं चक्रे तिथौ नक्षत्रपूजिते ।। ९ ।।
अवघुष्टे समाजे च तदर्थं वदतां वरः ।
रङ्गभूमौ सुविपुलं शास्त्रदृष्टं यथाविधि ।। १० ।।
प्रेक्षागारं सुविहितं चक्रुस्ते तस्य शिल्पिनः ।
राज्ञः सर्वायुधोपेतं स्त्रीणां चैव नरर्षभ ।। ११ ।।
मञ्चांश्च कारयामासुस्तत्र जानपदा जनाः ।
विपुलानुच्छ्रयोपेतान् शिबिकाश्च महाधनाः ।। १२ ।।

वह भूमि समतल थी। उसमें वृक्ष या झाड़-झंखाड़ नहीं थे। वह उत्तरदिशाकी ओर नीची थी। वक्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोणने वास्तुपूजन देखनेके लिये डिण्डिम-घोष कराके वीरसमुदायको आमन्त्रित किया और उत्तम नक्षत्रसे युक्त तिथिमें उस भूमिपर वास्तुपूजन किया। तत्पश्चात् उनके शिल्पियोंने उस रंगभूमिमें वास्तु-शास्त्रके अनुसार विधिपूर्वक एक अति विशाल प्रेक्षागृहकी* नींव डाली तथा राजा और राजघरानेकी स्त्रियोंके बैठनेके लिये वहाँ सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न बहुत सुन्दर भवन बनाया। जनपदके लोगोंने अपने बैठनेके लिये वहाँ ऊँचे और विशाल मंच बनवाये तथा (स्त्रियोंको लानेके लिये) बहुमूल्य शिबिकाएँ तैयार करायीं ।। ९—१२ ।।

तस्मिंस्ततोऽहनि प्राप्ते राजा ससचिवस्तदा ।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा कृपं चाचार्यसत्तमम् ।। १३ ।।
(बाह्लीकं सोमदत्तं च भूरिश्रवसमेव च ।
कुरूनन्यांश्च सचिवानादाय नगराद् बहिः ।।)
मुक्ताजालपरिक्षिप्तं वैदूर्यमणिशोभितम् ।
शातकुम्भमयं दिव्यं प्रेक्षागारमुपागमत् ।। १४ ।।

तत्पश्चात् जब निश्चित दिन आया, तब मन्त्रियोंसहित राजा धृतराष्ट्र भीष्मजी तथा आचार्यप्रवर कृपको आगे करके बाह्लीक, सोमदत्त, भूरिश्रवा तथा अन्यान्य कौरवों और मन्त्रियोंको साथ ले नगरसे बाहर उस दिव्य प्रेक्षागृहमें आये। उसमें मोतियोंकी झालरें लगी थीं, वैदूर्यमणियोंसे उस भवनको सजाया गया था तथा उसकी दीवारोंमें स्वर्णखण्ड मढ़े गये थे ।। १३-१४ ।।

गान्धारी च महाभागा कुन्ती च जयतां वर ।
स्त्रियश्च राज्ञः सर्वास्ताः सप्रेष्याः सपरिच्छदाः ।। १५ ।।
हर्षादारुरुहुर्मञ्चान् मेरुं देवस्त्रियो यथा ।
ब्राह्मणक्षत्रियाद्यं च चातुर्वर्ण्यं पुराद् द्रुतम् ।। १६ ।।
दर्शनेप्सु समभ्यागात् कुमाराणां कृतास्त्रताम् ।
क्षणेनैकस्थतां तत्र दर्शनेप्सु जगाम ह ।। १७ ।।

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ जनमेजय! परम सौभाग्यशालिनी गान्धारी, कुन्ती तथा राजभवनकी सभी स्त्रियाँ वस्त्राभूषणोंसे सज-धजकर दास-दासियों और आवश्यक सामग्रियोंके साथ उस भवनमें आयीं तथा जैसे देवांगनाएँ मेरुपर्वतपर चढ़ती हैं, उसी प्रकार वे हर्षपूर्वक मंचोंपर चढ़ गयीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णोंके लोग कुमारोंका अस्त्र-कौशल देखनेकी इच्छासे तुरंत नगरसे निकलकर आ गये। क्षणभरमें वहाँ विशाल जनसमुदाय एकत्र हो गया ।। १५—१७ ।।

प्रवादितैश्च वादित्रैर्जनकौतूहलेन च ।
महार्णव इव क्षुब्धः समाजः सोऽभवत् तदा ।। १८ ।।

अनेक प्रकारके बाजोंके बजनेसे तथा मनुष्योंके बढ़ते हुए कौतूहलसे वह जनसमूह उस समय क्षुब्ध महासागरके समान जान पड़ता था ।। १८ ।।

ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान् ।
शुक्लकेशः सितश्मश्रुः शुक्लमाल्यानुलेपनः ।। १९ ।।
रंगमध्यं तदाऽऽचार्यः सपुत्रः प्रविवेश ह ।
नभो जलधरैर्हीनं साङ्गारक इवांशुमान् ।। २० ।।

तदनन्तर श्वेत वस्त्र और श्वेत यज्ञोपवीत धारण किये आचार्य द्रोणने अपने पुत्र अश्वत्थामाके साथ रंगभूमिमें प्रवेश किया; मानो मेघरहित आकाशमें चन्द्रमाने मंगलके साथ पदार्पण किया हो। आचार्यके सिर और दाढ़ी-मूँछके बाल सफेद हो गये थे। वे श्वेत पुष्पोंकी माला और श्वेत चन्दनसे सुशोभित हो रहे थे ।। १९-२० ।।

स यथासमयं चक्रे बलिं बलवतां वरः ।
ब्राह्मणांस्तु सुमन्त्रज्ञान् कारयामास मङ्गलम् ।। २१ ।।

बलवानोंमें श्रेष्ठ द्रोणने यथासमय देवपूजा की और श्रेष्ठ मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंसे मंगलपाठ करवाया ।। २१ ।।

(सुवर्णमणिरत्नानि वस्त्राणि विविधानि च ।
प्रददौ दक्षिणां राजा द्रोणस्य च कृपस्य च ।।)
सुखपुण्याहघोषस्य पुण्यस्य समनन्तरम् ।
विविशुर्विविधं गृह्य शस्त्रोपकरणं नराः ।। २२ ।।

उस समय राजा धृतराष्ट्रने सुवर्ण, मणि, रत्न तथा नाना प्रकारके वस्त्र आचार्य द्रोण और कृपको दक्षिणारूपमें दिये। फिर सुखमय पुण्याहवाचन तथा दान-होम आदि पुण्यकर्मोंके अनन्तर नाना प्रकारकी शस्त्र-सामग्री लेकर बहुत-से मनुष्योंने उस रंगमण्डपमें प्रवेश किया ।। २२ ।।

ततो बद्धाङ्गुलित्राणा बद्धकक्षा महारथाः ।
बद्धतूणाः सधनुषो विविशुर्भरतर्षभाः ।। २३ ।।

उसके बाद भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ वे वीर राजकुमार बड़े-बड़े रथोंके साथ दस्ताने पहने, कमर कसे, पीठपर तूणीर बाँधे और धनुष लिये हुए उस रंगमण्डपके भीतर आये ।। २३ ।।

अनुज्येष्ठं तु ते तत्र युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
(रणमध्ये स्थितं द्रोणमभिवाद्य नरर्षभाः ।
पूजां चक्रुर्यथान्यायं द्रोणस्य च कृपस्य च ।।

नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदि उन राजकुमारोंने जेठे-छोटेके क्रमसे स्थित हो उस रंगभूमिके मध्यभागमें बैठे हुए आचार्य द्रोणको प्रणाम करके द्रोण और कृप दोनों आचार्योंकी यथोचित पूजा की।

आशीर्भिश्च प्रयुक्ताभिः सर्वे संहृष्टमानसाः ।
अभिवाद्य पुनः शस्त्रान् बलिपुष्पैः समन्वितान् ।।
रक्तचन्दनसम्मिश्रैः स्वयमार्चन्त कौरवाः ।
रक्तचन्दनदिग्धाश्च रक्तमाल्यानुधारिणः ।।
सर्वे रक्तपताकाश्च सर्वे रक्तान्तलोचनाः ।
द्रोणेन समनुज्ञाता गृह्य शस्त्रं परंतपाः ।।
धनूंषि पूर्वं संगृह्य तप्तकाञ्चनभूषिताः ।
सज्यानि विविधाकारैः शरैः संधाय कौरवाः ।।
ज्याघोषं तलघोषं च कृत्वा भूतान्यपूजयन् ।)
चक्रुरस्त्रं महावीर्याः कुमाराः परमाद्भुतम् ।। २४ ।।

फिर उनसे आशीर्वाद पाकर उन सबका मन प्रसन्न हो गया। तत्पश्चात् पूजाके पुष्पोंसे आच्छादित अस्त्र-शस्त्रोंको प्रणाम करके कौरवोंने रक्त चन्दन और फूलोंद्वारा पुनः स्वयं उनका पूजन किया। वे सब-के-सब लाल चन्दनसे चर्चित तथा लाल रंगकी मालाओंसे विभूषित थे। सबके रथोंपर लाल रंगकी पताकाएँ थीं। सभीके नेत्रोंके कोने लाल रंगके थे। तदनन्तर तपाये हुए सुवर्णके आभूषणोंसे विभूषित एवं शत्रुओंको संताप देनेवाले कौरव

राजकुमारोंने आचार्य द्रोणकी आज्ञा पाकर पहले अपने अस्त्र एवं धनुष लेकर डोरी चढ़ायी और उसपर भाँति-भाँतिकी आकृतिके बाणोंका संधान करके प्रत्यंचाका टंकार करते और ताल ठोंकते हुए समस्त प्राणियोंका आदर किया। तत्पश्चात् वे महापराक्रमी राजकुमार वहाँ परम अद्भुत अस्त्र-कौशल प्रकट करने लगे ।। २४ ।।

केचिच्छराक्षेपभयाच्छिरांस्यवननामिरे ।
मनुजा धृष्टमपरे वीक्षाञ्चक्रुः सुविस्मिताः ।। २५ ।।

कितने ही मनुष्य बाण लग जानेके डरसे अपना मस्तक झुका देते थे। दूसरे लोग अत्यन्त विस्मित होकर बिना किसी भयके सब कुछ देखते थे ।। २५ ।।

ते स्म लक्ष्याणि बिभिदुर्बाणैर्नामाङ्कशोभितैः ।
विविधैर्लाघवोत्सृष्टैरुह्यन्तो वाजिभिर्द्रुतम् ।। २६ ।।

वे राजकुमार घोड़ोंपर सवार हो अपने नामके अक्षरोंसे सुशोभित और बड़ी फुर्तीके साथ छोड़े हुए नाना प्रकारके बाणोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक लक्ष्यवेध करने लगे ।। २६ ।।

तत् कुमारबलं तत्र गृहीतशरकार्मुकम् ।
गन्धर्वनगराकारं प्रेक्ष्य ते विस्मिताभवन् ।। २७ ।।

धनुष-बाण लिये हुए राजकुमारोंके उस समुदायको गन्धर्वनगरके समान अद्भुत देख वहाँ समस्त दर्शक आश्चर्यचकित हो गये ।। २७ ।।

सहसा चुक्रुशुश्चान्ये नराः शतसहस्रशः ।
विस्मयोत्फुल्लनयनाः साधु साध्विति भारत ।। २८ ।।

जनमेजय! सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें एक-एक जगह बैठे हुए लोग आश्चर्यचकित नेत्रोंसे देखते हुए सहसा ‘साधु-साधु (वाह-वाह)’ कहकर कोलाहल मचा देते थे ।। २८ ।।

कृत्वा धनुषि ते मार्गान् रथचर्यासु चासकृत् ।
गजपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च नियुद्धे च महाबलः ।। २९ ।।

उन महाबली राजकुमारोंने पहले धनुष-बाणके पैंतरे दिखाये। तदनन्तर रथ-संचालनके विविध मार्गों (शीघ्र ले जाना, लौटा लाना, दायें, बायें और मण्डलाकार चलाना आदि)-का अवलोकन कराया। फिर कुश्ती लड़ने तथा हाथी और घोड़ेकी पीठपर बैठकर युद्ध करनेकी चातुरीका परिचय दिया ।। २९ ।।

गृहीतखड्गचर्माणस्ततो भूयः प्रहारिणः ।
त्सरुमार्गान् यथोद्दिष्टांश्चेरुः सर्वासु भूमिषु ।। ३० ।।

इसके बाद वे ढाल और तलवार लेकर एक-दूसरेपर प्रहार करते हुए खड्ग चलानेके शास्त्रोक्त मार्ग (ऊपर-नीचे और अगल-बगलमें घुमानेकी कला)-का प्रदर्शन करने लगे। उन्होंने रथ, हाथी, घोड़े और भूमि—इन सभी भूमियोंपर यह युद्ध-कौशल दिखाया ।। ३० ।।

लाघवं सौष्ठवं शोभां स्थिरत्वं दृढमुष्टिताम् ।
ददृशुस्तत्र सर्वेषां प्रयोगं खड्गचर्मणोः ।। ३१ ।।

दर्शकोंने उन सबके ढाल-तलवारके प्रयोगोंको देखा। उस कलामें उनकी फुर्ती, चतुरता, शोभा, स्थिरता और मुट्ठीकी दृढ़ताका अवलोकन किया ।। ३१ ।।

अथ तौ नित्यसंहृष्टौ सुयोधनवृकोदरौ ।
अवतीर्णौ गदाहस्तावेकशृङ्गाविवाचलौ ।। ३२ ।।

तदनन्तर सदा एक-दूसरेको जीतनेका उत्साह रखनेवाले दुर्योधन और भीमसेन हाथमें गदा लिये रंगभूमिमें उतरे। उस समय वे एक-एक शिखरवाले दो पर्वतोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ।। ३२ ।।

बद्धकक्षौ महाबाहू पौरुषे पर्यवस्थितौ ।
बृंहन्तौ वासिताहेतोः समदाविव कुञ्जरौ ।। ३३ ।।

वे दोनों महाबाहु कमर कसकर पुरुषार्थ दिखानेके लिये आमने-सामने डटकर खड़े थे और गर्जना कर रहे थे, मानो दो मतवाले गजराज किसी हथिनीके लिये एक-दूसरेसे भिड़ना चाहते और चिग्घाड़ते हों ।। ३३ ।।

तौ प्रदक्षिणसव्यानि मण्डलानि महाबलौ ।
चेरतुर्मण्डलगतौ समदाविव कुञ्जरौ ।। ३४ ।।

वे दोनों महाबली योद्धा अपनी-अपनी गदाको दायें-बायें मण्डलाकार घुमाते हुए दो मदोन्मत्त हाथियोंकी भाँति मण्डलके भीतर विचरने लगे ।। ३४ ।।

विदुरो धृतराष्ट्राय गान्धार्याः पाण्डवारणिः ।
न्यवेदयेतां तत् सर्वं कुमाराणां विचेष्टितम् ।। ३५ ।।

विदुर धृतराष्ट्रको और पाण्डव जननी कुन्ती गान्धारीको उन राजकुमारोंकी सारी चेष्टाएँ बताती जाती थीं ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वण्यस्त्रदर्शने त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अस्त्र-कौशलदर्शनविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ४२½ श्लोक हैं)

---

* जो उत्सव या नाटक आदिको सुविधापूर्वक देखनेके उद्देश्यसे बनाया गया हो, उसे प्रेक्षागृह या प्रेक्षाभवन कहते हैं।

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन, दुर्योधन तथा अर्जुनके द्वारा अस्त्र-कौशलका प्रदर्शन

वैशम्पायन उवाच

कुरुराजे हि रङ्गस्थे भीमे च बलिनां वरे ।
पक्षपातकृतस्नेहः स द्विधेवाभवज्जनः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कुरुराज दुर्योधन और बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन रंगभूमिमें उतरकर गदायुद्ध कर रहे थे, उस समय दर्शक जनता उनके प्रति पक्षपातपूर्ण स्नेह करनेके कारण मानो दो दलोंमें बँट गयी ।। १ ।।

ही वीर कुरुराजेति ही भीम इति जल्पताम् ।
पुरुषाणां सुविपुलाः प्रणादाः सहसोत्थिताः ।। २ ।।

कुछ कहते, 'अहो! वीर कुरुराज कैसा अद्भुत पराक्रम दिखा रहे हैं।' दूसरे बोल उठते, 'वाह! भीमसेन तो गजबका हाथ मारते हैं।' इस तरहकी बातें करनेवाले लोगोंकी भारी आवाजें वहाँ सहसा सब ओर गूँजने लगीं ।। २ ।।

ततः क्षुब्धार्णवनिभं रंगमालोक्य बुद्धिमान् ।
भारद्वाजः प्रियं पुत्रमश्वत्थामानमब्रवीत् ।। ३ ।।

फिर तो सारी रंगभूमिमें क्षुब्ध महासागरके समान हलचल मच गयी। यह देख बुद्धिमान् द्रोणाचार्यने अपने प्रिय पुत्र अश्वत्थामासे कहा ।। ३ ।।

द्रोण उवाच

वारयैतौ महावीर्यौ कृतयोग्यावुभावपि ।
मा भूद् रङ्गप्रकोपोऽयं भीमदुर्योधनोद्भवः ।। ४ ।।

द्रोण बोले—वत्स! ये दोनों महापराक्रमी वीर अस्त्र-विद्यामें अत्यन्त अभ्यस्त हैं। तुम इन दोनोंको युद्धसे रोको, जिससे भीमसेन और दुर्योधनको लेकर रंगभूमिमें सब ओर क्रोध न फैल जाय ।। ४ ।।

वैशम्पायन उवाच

(तत उत्थाय वेगेन अश्वत्थामा न्यवारयत् ।
गुरोराज्ञा भीम इति गान्धारे गुरुशासनम् ।
अलं योग्यकृतं वेगमलं साहसमित्युत ।।)
ततस्तावुद्यतगदौ गुरुपुत्रेण वारितौ ।
युगान्तानिलसंक्षुब्धौ महावेलाविवार्णवौ ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अश्वत्थामाने बड़े वेगसे उठकर भीमसेन और दुर्योधनको रोकते हुए कहा—'भीम! तुम्हारे गुरुकी आज्ञा है, गान्धारीनन्दन! आचार्यका आदेश है, तुम दोनोंका युद्ध बंद होना चाहिये। तुम दोनों ही योग्य हो, तुम्हारा एक-दूसरेके प्रति वेगपूर्वक आक्रमण अवांछनीय है। तुम दोनोंका यह दुःसाहस अनुचित है। अतः इसे बंद करो।' इस प्रकार कहकर प्रलयकालीन वायुसे विक्षुब्ध उत्ताल तरंगोंवाले दो समुद्रोंकी भाँति गदा उठाये हुए दुर्योधन और भीमसेनको गुरुपुत्र अश्वत्थामाने युद्धसे रोक दिया ।। ५ ।।

ततो रङ्गाङ्गणगतो द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
निवार्य वादित्रगणं महामेघनिभस्वनम् ।। ६ ।।

तत्पश्चात् द्रोणाचार्यने महान् मेघोंके समान कोलाहल करनेवाले बाजोंको बंद कराकर रंगभूमिमें उपस्थित हो यह बात कही— ।। ६ ।।

यो मे पुत्रात् प्रियतरः सर्वशस्त्रविशारदः ।
ऐन्द्रिरिन्द्रानुजसमः स पार्थो दृश्यतामिति ।। ७ ।।

'दर्शकगण! जो मुझे पुत्रसे भी अधिक प्रिय है, जिसने सम्पूर्ण शस्त्रोंमें निपुणता प्राप्त की है तथा जो भगवान् नारायणके समान पराक्रमी है, उस इन्द्रकुमार कुन्तीपुत्र अर्जुनका कौशल आपलोग देखें' ।। ७ ।।

आचार्यवचनेनाथ कृतस्वस्त्ययनो युवा ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणः पूर्णतूणः सकार्मुकः ।। ८ ।।
काञ्चनं कवचं बिभ्रत् प्रत्यदृश्यत फाल्गुनः ।
सार्कः सेन्द्रायुधतडित् ससंध्य इव तोयदः ।। ९ ।।

तदनन्तर आचार्यके कहनेसे स्वस्तिवाचन कराकर तरुण वीर अर्जुन गोहके चमड़ेके बने हुए हाथके दस्ताने पहने, बाणोंसे भरा तरकस लिये धनुषसहित रंगभूमिमें दिखायी दिये। वे श्याम शरीरपर सोनेका कवच धारण किये ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो सूर्य, इन्द्रधनुष, विद्युत् और संध्याकालसे युक्त मेघ शोभा पाता हो ।। ८-९ ।।

ततः सर्वस्य रङ्गस्य समुत्पिञ्जलकोऽभवत् ।
प्रावाद्यन्त च वाद्यानि सशङ्खानि समन्ततः ।। १० ।।

फिर तो समूचे रंगमण्डपमें हर्षोल्लास छा गया। सब ओर भाँति-भाँतिके बाजे और शंख बजने लगे ।। १० ।।

एष कुन्तीसुतः श्रीमानेष मध्यमपाण्डवः ।
एष पुत्रो महेन्द्रस्य कुरूणामेष रक्षिता ।। ११ ।।
एषोऽस्त्रविदुषां श्रेष्ठ एष धर्मभृतां वरः ।
एष शीलवतां चापि शीलज्ञाननिधिः परः ।। १२ ।।
इत्येवं तुमुला वाचः शृण्वत्याः प्रेक्षकेरिताः ।

कुन्त्याः प्रस्रवसंयुक्तैरस्रैः क्लिन्नमुरोऽभवत् ।। १३ ।।

'ये कुन्तीके तेजस्वी पुत्र हैं। ये ही पाण्डुके मझले बेटे हैं। ये देवराज इन्द्रकी संतान हैं। ये ही कुरुवंशके रक्षक हैं। अस्त्र-विद्याके विद्वानोंमें ये सबसे उत्तम हैं। ये धर्मात्माओं और शीलवानोंमें श्रेष्ठ हैं। शील और ज्ञानकी तो ये सर्वोत्तम निधि हैं।' उस समय दर्शकोंके मुखसे तुमुल ध्वनिके साथ निकली हुई ये बातें सुनकर कुन्तीके स्तनोंसे दूध और नेत्रोंसे स्नेहके आँसू बहने लगे। उन दुग्धमिश्रित आँसुओंसे कुन्तीदेवीका वक्षःस्थल भीग गया ।। ११—१३ ।।

तेन शब्देन महता पूर्णश्रुतिरथाब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठो विदुरं हृष्टमानसः ।। १४ ।।

वह महान् कोलाहल धृतराष्ट्रके कानोंमें भी गूँज उठा। तब नरश्रेष्ठ धृतराष्ट्र प्रसन्नचित्त होकर विदुरसे पूछने लगे— ।। १४ ।।

क्षत्तः क्षुब्धार्णवनिभः किमेष सुमहास्वनः ।
सहसैवोत्थितो रङ्गे भिन्दन्निव नभस्तलम् ।। १५ ।।

'विदुर! विक्षुब्ध महासागरके समान यह कैसा महान् कोलाहल हो रहा है? यह शब्द मानो आकाशको विदीर्ण करता हुआ रंगभूमिमें सहसा व्यक्त हो उठा है' ।। १५ ।।

विदुर उवाच

एष पार्थो महाराज फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः ।
अवतीर्णः सकवचस्तत्रैष सुमहास्वनः ।। १६ ।।

विदुरने कहा—महाराज! ये पाण्डुनन्दन अर्जुन कवच बाँधकर रंगभूमिमें उतरे हैं। इसी कारण यह भारी आवाज हो रही है ।। १६ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि रक्षितोऽस्मि महामते ।
पृथारणिसमुद्भूतैस्त्रिभिः पाण्डववह्निभिः ।। १७ ।।

धृतराष्ट्र बोले—महामते! कुन्तीरूपी अरणिसे प्रकट हुए इन तीनों पाण्डवरूपी अग्नियोंसे मैं धन्य हो गया। इन तीनोंके द्वारा मैं सर्वथा अनुगृहीत और सुरक्षित हूँ ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् प्रमुदिते रङ्गे कथंचित् प्रत्युपस्थिते ।
दर्शयामास बीभत्सुराचार्यायास्त्रलाघवम् ।। १८ ।।
आग्नेयेनासृजद् वह्निं वारुणेनासृजत् पयः ।
वायव्येनासृजद् वायुं पार्जन्येनासृजद् घनान् ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार आनन्दातिरेकसे मुखरित हुआ वह रंगमण्डप जब किसी तरह कुछ शान्त हुआ, तब अर्जुनने आचार्यको अपनी अस्त्र-संचालनकी फुर्ती दिखानी आरम्भ की। उन्होंने पहले आग्नेयास्त्रसे आग पैदा की, फिर वारुणास्त्रसे जल उत्पन्न करके उसे बुझा दिया। वायव्यास्त्रसे आँधी चला दी और पर्जन्यास्त्रसे बादल पैदा कर दिये ।। १८-१९ ।।

भौमेन प्राविशद् भूमिं पार्वतेनासृजद् गिरीन् ।
अन्तर्धानेन चास्त्रेण पुनरन्तर्हितोऽभवत् ।। २० ।।

उन्होंने भौमास्त्रसे पृथ्वी और पार्वतास्त्रसे पर्वतोंको उत्पन्न कर दिया; फिर अन्तर्धानास्त्रके द्वारा वे स्वयं अदृश्य हो गये ।। २० ।।

क्षणात् प्रांशुः क्षणाद् ह्रस्वः क्षणाच्च रथधूर्गतः ।
क्षणेन रथमध्यस्थः क्षणेनावतरन्महीम् ।। २१ ।।

वे क्षणभरमें बहुत लंबे हो जाते और क्षणभरमें ही बहुत छोटे बन जाते थे। एक क्षणमें रथके धुरेपर खड़े होते तो दूसरे क्षण रथके बीचमें दिखायी देते थे। फिर पलक मारते-मारते पृथ्वीपर उतरकर अस्त्र-कौशल दिखाने लगते थे ।। २१ ।।

सुकुमारं च सूक्ष्मं च गुरुं चापि गुरुप्रियः ।
सौष्ठवेनाभिसंक्षिप्तः सोऽविध्यद् विविधैः शरैः ।। २२ ।।

अपने गुरुके प्रिय शिष्य अर्जुनने बड़ी फुर्ती और खूबसूरतीके साथ सुकुमार, सूक्ष्म और भारी निशानेको भी बिना हिलाये-डुलाये नाना प्रकारके बाणोंद्वारा बींध दिया ।। २२ ।।

भ्रमतश्च वराहस्य लोहस्य प्रमुखे समम् ।
पञ्च बाणानसंयुक्तान् सम्मुमोचैकबाणवत् ।। २३ ।।

रंगभूमिमें लोहेका बना हुआ सूअर इस प्रकार रखा गया था कि वह सब ओर चक्कर लगा रहा था। उस घूमते हुए सूअरके मुखमें अर्जुनने एक ही साथ एक बाणकी भाँति पाँच बाण मारे। वे पाँचों बाण एक-दूसरेसे सटे हुए नहीं थे ।। २३ ।।

गव्ये विषाणकोषे च चले रज्ज्ववलम्बिनि ।
निचखान महावीर्यः सायकानेकविंशतिम् ।। २४ ।।

एक जगह गायका सींग एक रस्सीमें लटकाया गया था, जो हिल रहा था। महापराक्रमी अर्जुनने उस सींगके छेदमें लगातार इक्कीस बाण गड़ा दिये ।। २४ ।।

इत्येवमादि सुमहत् खड्गे धनुषि चानघ ।
गदायां शस्त्रकुशलो मण्डलानि ह्यदर्शयत् ।। २५ ।।

निष्पाप जनमेजय! इस प्रकार उन्होंने बड़ा भारी अस्त्र-कौशल दिखाया। खड्ग, धनुष और गदा आदिके भी शस्त्र-कुशल अर्जुनने अनेक पैंतरे और हाथ दिखलाये ।। २५ ।।

ततः समाप्तभूयिष्ठे तस्मिन् कर्मणि भारत ।

मन्दीभूते समाजे च वादित्रस्य च निःस्वने ।। २६ ।।
द्वारदेशात् समुद्भूतो माहात्म्यबलसूचकः ।
वज्रनिष्पेषसदृशः शुश्रुवे भुजनिःस्वनः ।। २७ ।।

भारत! इस प्रकार अस्त्र-कौशल दिखानेका अधिकांश कार्य जब समाप्त हो चला, मनुष्योंका कोलाहल और बाजे-गाजेका शब्द जब शान्त होने लगा, उसी समय दरवाजेकी ओरसे किसीका अपनी भुजाओंपर ताल ठोंकनेका भारी शब्द सुनायी पड़ा; मानो वज्र आपसमें टकरा रहे हों। वह शब्द किसी वीरके माहात्म्य तथा बलका सूचक था ।। २६-२७ ।।

दीर्यन्ते किं नु गिरयः किंस्विद् भूमिर्विदीर्यते ।
किंस्विदापूर्यते व्योम जलधाराघनैर्घनैः ।। २८ ।।

उसे सुनकर लोग कहने लगे, 'कहीं पहाड़ तो नहीं फट गये! पृथ्वी तो नहीं विदीर्ण हो गयी! अथवा जलकी धारासे परिपूर्ण घनीभूत बादलोंकी गम्भीर गर्जनासे आकाशमण्डल तो नहीं गूँज रहा है?' ।। २८ ।।

रङ्गस्यैवं मतिरभूत् क्षणेन वसुधाधिप ।
द्वारं चाभिमुखाः सर्वे बभूवुः प्रेक्षकास्तदा ।। २९ ।।

राजन्! उस रंगमण्डपमें बैठे हुए लोगोंके मनमें क्षणभरमें उपर्युक्त विचार आने लगे। उस समय सभी दर्शक दरवाजेकी ओर मुँह घुमाकर देखने लगे ।। २९ ।।

पञ्चभिर्भ्रातृभिः पार्थैर्द्रोणः परिवृतो बभौ ।
पञ्चतारेण संयुक्तः सावित्रेणेव चन्द्रमाः ।। ३० ।।

इधर कुन्तीकुमार पाँचों भाइयोंसे घिरे हुए आचार्य द्रोण पाँच तारोंवाले हस्त नक्षत्रसे संयुक्त चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहे थे ।। ३० ।।

अश्वत्थाम्ना च सहितं भ्रातॄणां शतमूर्जितम् ।
दुर्योधनममित्रघ्नमुत्थितं पर्यवारयत् ।। ३१ ।।
स तैस्तदा भ्रातृभिरुद्यतायुधै-
र्गदाग्रपाणिः समवस्थितैर्वृतः ।
बभौ यथा दानवसंक्षये पुरा
पुरन्दरो देवगणैः समावृतः ।। ३२ ।।

शत्रुहन्ता बलवान् दुर्योधन भी उठकर खड़ा हो गया। अश्वत्थामासहित उसके सौ भाइयोंने आकर उसे चारों ओरसे घेर लिया। हाथोंमें आयुध उठाये खड़े हुए अपने भाइयोंसे घिरा हुआ गदाधारी दुर्योधन पूर्वकालमें दानवसंहारके समय देवताओंसे घिरे देवराज इन्द्रके समान शोभा पाने लगा ।। ३१-३२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अस्त्रदर्शने चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अस्त्रदर्शनविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३३½ श्लोक हैं)

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णका रंगभूमिमें प्रवेश तथा राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच

दत्तेऽवकाशे पुरुषैर्विस्मयोत्फुल्ललोचनैः ।
विवेश रङ्गं विस्तीर्णं कर्णः परपुरंजयः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! आश्चर्यसे आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए द्वारपालोंने जब भीतर जानेका मार्ग दे दिया, तब शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले कर्णने उस विशाल रंगमण्डपमें प्रवेश किया ।। १ ।।

सहजं कवचं बिभ्रत् कुण्डलोद्योतिताननः ।
सधनुर्बद्धनिस्त्रिंशः पादचारीव पर्वतः ।। २ ।।

उसने शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए दिव्य कवचको धारण कर रखा था। दोनों कानोंके कुण्डल उसके मुखको उद्भासित कर रहे थे। हाथमें धनुष लिये और कमरमें तलवार बाँधे वह वीर पैरोंसे चलनेवाले पर्वतकी भाँति सुशोभित हो रहा था ।। २ ।।

कन्यागर्भः पृथुयशाः पृथायाः पृथुलोचनः ।
तीक्ष्णांशोर्भास्करस्यांशः कर्णोऽरिगणसूदनः ।। ३ ।।

कुन्तीने कन्यावस्थामें ही उसे अपने गर्भमें धारण किया था। उसका यश सर्वत्र फैला हुआ था। उसके दोनों नेत्र बड़े-बड़े थे। शत्रुसमुदायका संहार करनेवाला कर्ण प्रचण्ड किरणोंवाले भगवान् भास्करका अंश था ।। ३ ।।

सिंहर्षभगजेन्द्राणां बलवीर्यपराक्रमः ।
दीप्तिकान्तिद्युतिगुणैः सूर्येन्दुज्वलनोपमः ।। ४ ।।

उसमें सिंहके समान बल, साँड़के समान वीर्य तथा गजराजके समान पराक्रम था, वह दीप्तिसे सूर्य, कान्तिसे चन्द्रमा तथा तेजरूपी गुणसे अग्निके समान जान पड़ता था ।। ४ ।।

प्रांशुः कनकतालाभः सिंहसंहननो युवा ।
असंख्येयगुणः श्रीमान् भास्करस्यात्मसम्भवः ।। ५ ।।

उसका शरीर बहुत ऊँचा था, अतः वह सुवर्णमय ताड़के वृक्ष-सा प्रतीत होता था। उसके अंगोंकी गठन सिंह-जैसी जान पड़ती थी। उसमें असंख्य गुण थे। उसकी तरुण अवस्था थी। वह साक्षात् भगवान् सूर्यसे उत्पन्न हुआ था, अतः (उन्हींके समान) दिव्य शोभासे सम्पन्न था ।। ५ ।।

स निरीक्ष्य महाबाहुः सर्वतो रङ्गमण्डलम् ।
प्रणामं द्रोणकृपयोर्नात्यादृतमिवाकरोत् ।। ६ ।।

उस समय महाबाहु कर्णने रंगमण्डपमें सब ओर दृष्टि डालकर द्रोणाचार्य और कृपाचार्यको इस प्रकार प्रणाम किया, मानो उनके प्रति उसके मनमें अधिक आदरका भाव न हो ।। ६ ।।

स समाजजनः सर्वो निश्चलः स्थिरलोचनः ।
कोऽयमित्यागतक्षोभः कौतूहलपरोऽभवत् ।। ७ ।।

रंगभूमिमें जितने लोग थे, वे सब निश्चल होकर एकटक दृष्टिसे देखने लगे। यह कौन है, यह जाननेके लिये उनका चित्त चंचल हो उठा। वे सब-के-सब उत्कण्ठित हो गये ।। ७ ।।

सोऽब्रवीन्मेघगम्भीरस्वरेण वदतां वरः ।
भ्राता भ्रातरमज्ञातं सावित्रः पाकशासनिम् ।। ८ ।।

इतनेमें ही वक्ताओंमें श्रेष्ठ सूर्यपुत्र कर्ण, जो पाण्डवोंका भाई लगता था, अपने अज्ञात भ्राता इन्द्रकुमार अर्जुनसे मेघके समान गम्भीर वाणीमें बोला— ।। ८ ।।

पार्थ यत् ते कृतं कर्म विशेषवदहं ततः ।
करिष्ये पश्यतां नृणां माऽऽत्मना विस्मयं गमः ।। ९ ।।

‘कुन्तीनन्दन! तुमने इन दर्शकोंके समक्ष जो कार्य किया है, मैं उससे भी अधिक अद्भुत कर्म कर दिखाऊँगा। अतः तुम अपने पराक्रमपर गर्व न करो’ ।। ९ ।।

असमाप्ते ततस्तस्य वचने वदतां वर ।
यन्त्रोत्क्षिप्त इवोत्तस्थौ क्षिप्रं वै सर्वतो जनः ।। १० ।।

वक्ताओंमें श्रेष्ठ जनमेजय! कर्णकी बात अभी पूरी ही न हो पायी थी कि सब ओरके मनुष्य तुरंत उठकर खड़े हो गये, मानो उन्हें किसी यन्त्रसे एक साथ उठा दिया गया हो ।। १० ।।

प्रीतिश्च मनुजव्याघ्र दुर्योधनमुपाविशत् ।
ह्रीश्च क्रोधश्च बीभत्सुं क्षणेनान्वाविवेश ह ।। ११ ।।

नरश्रेष्ठ! उस समय दुर्योधनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई और अर्जुनके चित्तमें क्षणभरमें लज्जा और क्रोधका संचार हो आया ।। ११ ।।

ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः कर्णः प्रियरणः सदा ।
यत् कृतं तत्र पार्थेन तच्चकार महाबलः ।। १२ ।।

तब सदा युद्धसे ही प्रेम करनेवाले महाबली कर्णने द्रोणाचार्यकी आज्ञा लेकर, अर्जुनने वहाँ जो-जो अस्त्र-कौशल प्रकट किया था, वह सब कर दिखाया ।। १२ ।।

अथ दुर्योधनस्तत्र भ्रातृभिः सह भारत ।
कर्णं परिष्वज्य मुदा ततो वचनमब्रवीत् ।। १३ ।।

भारत! तदनन्तर भाइयोंसहित दुर्योधनने वहाँ बड़ी प्रसन्नताके साथ कर्णको हृदयसे लगाकर कहा ।। १३ ।।

दुर्योधन उवाच

स्वागतं ते महाबाहो दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मानद ।
अहं च कुरुराज्यं च यथेष्टमुपभुज्यताम् ।। १४ ।।

दुर्योधन बोला—महाबाहो! तुम्हारा स्वागत है। मानद! तुम यहाँ पधारे, यह हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है। मैं तथा कौरवोंका यह राज्य सब तुम्हारे हैं। तुम इनका यथेष्ट उपभोग करो ।। १४ ।।

कर्ण उवाच

कृतं सर्वमहं मन्ये सखित्वं च त्वया वृणे ।
द्वन्द्वयुद्धं च पार्थेन कर्तुमिच्छाम्यहं प्रभो ।। १५ ।।

कर्णने कहा—प्रभो! आपने जो कुछ कहा है, वह सब पूरा कर दिया, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं आपके साथ मित्रता चाहता हूँ और अर्जुनके साथ मेरी द्वन्द्व-युद्ध करनेकी इच्छा है ।। १५ ।।

दुर्योधन उवाच

भुङ्क्ष्व भोगान् मया सार्धं बन्धूनां पियकृद् भव ।
दुर्हृदां कुरु सर्वेषां मूर्ध्नि पादमरिंदम ।। १६ ।।

दुर्योधन बोला—शत्रुदमन! तुम मेरे साथ उत्तम भोग भोगो। अपने भाई-बन्धुओंका प्रिय करो और समस्त शत्रुओंके मस्तकपर पैर रखो ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः क्षिप्तमिवात्मानं मत्वा पार्थोऽभ्यभाषत ।
कर्णं भ्रातृसमूहस्य मध्येऽचलमिव स्थितम् ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय अर्जुनने अपने-आपको कर्णद्वारा तिरस्कृत-सा मानकर दुर्योधन आदि सौ भाइयोंके बीचमें अविचल-से खड़े हुए कर्णको सम्बोधित करके कहा ।। १७ ।।

अर्जुन उवाच

अनाहूतोपसृष्टानामनाहूतोपजल्पिनाम् ।
ये लोकास्तान् हतः कर्ण मया त्वं प्रतिपत्स्यसे ।। १८ ।।

अर्जुन बोले—कर्ण! बिना बुलाये आनेवालों और बिना बुलाये बोलनेवालोंको जो (निन्दनीय) लोक प्राप्त होते हैं, मेरे द्वारा मारे जानेपर तुम उन्हीं लोकोंमें जाओगे ।। १८ ।।

कर्ण उवाच

रङ्गोऽयं सर्वसामान्यः किमत्र तव फाल्गुन ।
वीर्यश्रेष्ठाश्च राजानो बलं धर्मोऽनुवर्तते ।। १९ ।।

कर्णने कहा—अर्जुन! यह रंगमण्डप तो सबके लिये साधारण है, इसमें तुम्हारा क्या लगा है? जो बल और पराक्रममें श्रेष्ठ होते हैं, वे ही राजा कहलानेयोग्य हैं। धर्म भी बलका ही अनुसरण करता है ।। १९ ।।

किं क्षेपैर्दुर्बलायासैः शरैः कथय भारत ।
गुरोः समक्षं यावत् ते हराम्यद्य शिरः शरैः ।। २० ।।

भारत! आक्षेप करना तो दुर्बलोंका प्रयास है। इससे क्या लाभ है? साहस हो तो बाणोंसे बातचीत करो। मैं आज तुम्हारे गुरुके सामने ही बाणोंद्वारा तुम्हारा सिर धड़से अलग किये देता हूँ ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः पार्थः परपुरंजयः ।
भ्रातृभिस्त्वरयाऽऽश्लिष्टो रणायोपजगाम तम् ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर शत्रुओंके नगरको जीतनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोणकी आज्ञा ले तुरंत अपने भाइयोंसे गले मिलकर युद्धके लिये कर्णकी ओर बढ़े ।। २१ ।।

ततो दुर्योधनेनापि सभ्रात्रा समरोद्यतः ।
परिष्वक्तः स्थितः कर्णः प्रगृह्य सशरं धनुः ।। २२ ।।

तब भाइयोंसहित दुर्योधनने भी धनुष-बाण ले युद्धके लिये तैयार खड़े हुए कर्णका आलिंगन किया ।। २२ ।।

ततः सविद्युत्स्यनितैः सेन्द्रायुधपुरोगमैः ।
आवृतं गगनं मेघैर्बलाकापङ्क्तिहासिभिः ।। २३ ।।

उस समय बकपंक्तियोंके व्याजसे हास्यकी छटा बिखेरनेवाले बादलोंने बिजलीकी चमक, गड़गड़ाहट और इन्द्रधनुषके साथ समूचे आकाशको ढक लिया ।। २३ ।।

ततः स्नेहाद्धरिहयं दृष्ट्वा रङ्गावलोकिनम् ।
भास्करोऽप्यनयन्नाशं समीपोपगतान् घनान् ।। २४ ।।

तत्पश्चात् अर्जुनके प्रति स्नेह होनेके कारण इन्द्रको रंगभूमिका अवलोकन करते देख भगवान् सूर्यने भी अपने समीपके बादलोंको छिन्न-भिन्न कर दिया ।। २४ ।।

मेघच्छायोपगूढस्तु ततोऽदृश्यत फाल्गुनः ।
सूर्यातपपरिक्षिप्तः कर्णोऽपि समदृश्यत ।। २५ ।।

तब अर्जुन मेघकी छायामें छिपे हुए दिखायी देने लगे और कर्ण भी सूर्यकी प्रभासे प्रकाशित दीखने लगा ।। २५ ।।

धार्तराष्ट्रा यतः कर्णस्तस्मिन् देशो व्यवस्थिताः ।
भारद्वाजः कृपो भीष्मो यतः पार्थस्ततोऽभवन् ।। २६ ।।

धृतराष्ट्रके पुत्र जिस ओर कर्ण था, उसी ओर खड़े हुए तथा द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और भीष्म जिधर अर्जुन थे, उस ओर खड़े थे ।। २६ ।।

द्विधा रंगः समभवत् स्त्रीणां द्वैधमजायत ।
कुन्तिभोजसुता मोहं विज्ञातार्था जगाम ह ।। २७ ।।

रंगभूमिके पुरुषों और स्त्रियोंमें भी कर्ण और अर्जुनको लेकर दो दल हो गये। कुन्तिभोजकुमारी कुन्तीदेवी वास्तविक रहस्यको जानती थीं (कि ये दोनों मेरे ही पुत्र हैं), अतः चिन्ताके कारण उन्हें मूर्च्छा आ गयी ।। २७ ।।

तां तथा मोहमापन्नां विदुरः सर्वधर्मवित् ।
कुन्तीमाश्वासयामास प्रेष्याभिश्चन्दनोदकैः ।। २८ ।।

उन्हें इस प्रकार मूर्च्छामें पड़ी हुई देख सब धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने दासियोंद्वारा चन्दनमिश्रित जल छिड़कवाकर होशमें लानेकी चेष्टा की ।। २८ ।।

ततः प्रत्यागतप्राणा तावुभौ परिदंशितौ ।
पुत्रौ दृष्ट्वा सुसम्भ्रान्ता नान्वपद्यत किंचन ।। २९ ।।

इससे कुन्तीको होश तो आ गया; किंतु अपने दोनों पुत्रोंको युद्धके लिये कवच धारण किये देख वे बहुत घबरा गयीं। उन्हें रोकनेका कोई उपाय उनके ध्यानमें नहीं आया ।। २९ ।।

तावुद्यतमहाचापौ कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् ।
द्वन्द्वयुद्धसमाचारे कुशलः सर्वधर्मवित् ।। ३० ।।

उन दोनोंको विशाल धनुष उठाये देख द्वन्द्व-युद्धकी नीति-रीतिमें कुशल और समस्त धर्मोंके ज्ञाता शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने इस प्रकार कहा— ।। ३० ।।

अयं पृथायास्तनयः कनीयान् पाण्डुनन्दनः ।
कौरवो भवता सार्धं द्वन्द्वयुद्धं करिष्यति ।। ३१ ।।
त्वमप्येवं महाबाहो मातरं पितरं कुलम् ।
कथयस्व नरेन्द्राणां येषां त्वं कुलभूषणम् ।। ३२ ।।

‘कर्ण! ये कुन्तीदेवीके सबसे छोटे पुत्र पाण्डु-नन्दन अर्जुन कुरुवंशके रत्न हैं, जो तुम्हारे साथ इन्द्र-युद्ध करेंगे। महाबाहो! इसी प्रकार तुम भी अपने माता-पिता तथा कुलका परिचय दो और उन नरेशके नाम बताओ, जिनका वंश तुमसे विभूषित हुआ है ।। ३१-३२ ।।

ततो विदित्वा पार्थस्त्वां प्रतियोत्स्यति वा न वा ।
वृथाकुलसमाचारैर्न युध्यन्ते नृपात्मजाः ।। ३३ ।।

‘इसे जान लेनेके बाद यह निश्चय होगा कि अर्जुन तुम्हारे साथ युद्ध करेंगे या नहीं; क्योंकि राजकुमार नीच कुल और हीन आचार-विचारवाले लोगोंके साथ युद्ध नहीं करते’ ।। ३३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्य कर्णस्य व्रीडावनतमाननम् ।
बभौ वर्षाम्बुविक्लिन्नं पद्ममागलितं यथा ।। ३४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कृपाचार्यके यों कहनेपर कर्णका मुख लज्जासे नीचेको झुक गया। जैसे वर्षाके पानीसे भींगकर कमल मुरझा जाता है, उसी प्रकार कर्णका मुँह म्लान हो गया ।। ३४ ।।

दुर्योधन उवाच

आचार्य त्रिविधा योनी राज्ञां शास्त्रविनिश्चये ।
सत्कुलीनश्च शूरश्च यश्च सेनां प्रकर्षति ।। ३५ ।।

तब दुर्योधनने कहा—आचार्य! शास्त्रीय सिद्धान्तके अनुसार राजाओंकी तीन योनियाँ हैं—उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुष, शूरवीर तथा सेनापति (अतः शूरवीर होनेके कारण कर्ण भी राजा ही हैं) ।। ३५ ।।

यद्ययं फाल्गुनो युद्धे नाराज्ञा योद्धुमिच्छति ।
तस्मादेषोऽङ्गविषये मया राज्येऽभिषिच्यते ।। ३६ ।।

यदि ये अर्जुन राजासे भिन्न पुरुषके साथ रणभूमिमें लड़ना नहीं चाहते तो मैं कर्णको इसी समय अंगदेशके राज्यपर अभिषिक्त करता हूँ ।। ३६ ।।

वैशम्पायन उवाच

(ततो राजानमामन्त्र्य गाङ्गेयं च पितामहम् ।
अभिषेकस्य सम्भारान् समानीय द्विजातिभिः ।।)
ततस्तस्मिन् क्षणे कर्णः सलाजकुसुमैर्घटैः ।
काञ्चनैः काञ्चने पीठे मन्त्रविद्भिर्महारथः ।। ३७ ।।
अभिषिक्तोऽङ्गराज्ये स श्रिया युक्तो महाबलः ।
(समौलिहारकेयूरैः सहस्ताभरणाङ्गदैः ।
राजलिङ्गैस्तथान्यैश्च भूषितो भूषणैः शुभैः ।।)
सच्छत्रवालव्यजनो जयशब्दोत्तरेण च ।। ३८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर दुर्योधनने राजा धृतराष्ट्र और गंगानन्दन भीष्मकी आज्ञा ले ब्राह्मणोंद्वारा अभिषेकका सामान मँगवाया। फिर उसी समय महाबली एवं महारथी कर्णको सोनेके सिंहासनपर बिठाकर मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंने लावा और फूलोंसे युक्त सुवर्णमय कलशोंके जलसे अंगदेशके राज्यपर अभिषिक्त किया। तब मुकुट, हार, केयूर, कंगन, अंगद, राजोचित चिह्न तथा अन्य शुभ आभूषणोंसे विभूषित हो वह छत्र, चँवर तथा जय-जयकारके साथ राज्यश्रीसे सुशोभित होने लगा ।। ३७-३८ ।।

(सभाज्यमानो विप्रैश्च प्रदत्त्वा ह्यमितं वसु ।)
उवाच कौरवं राजन् वचनं स वृषस्तदा ।
अस्य राज्यप्रदानस्य सदृशं किं ददानि ते ।। ३९ ।।
प्रब्रूहि राजशार्दूल कर्ता ह्यस्मि तथा नृप ।
अत्यन्तं सख्यमिच्छामीत्याह तं स सुयोधनः ।। ४० ।।

फिर ब्राह्मणोंसे समादृत हो राजा कर्णने उन्हें असीम धन प्रदान किया। राजन्! उस समय उसने कुरुश्रेष्ठ दुर्योधनसे कहा—'नृपतिशिरोमणे! आपने मुझे जो यह राज्य प्रदान किया है, इसके अनुरूप मैं आपको क्या भेंट दूँ? बताइये, आप जैसा कहेंगे वैसा ही करूँगा।' यह सुनकर दुर्योधनने कहा—'अंगराज! मैं तुम्हारे साथ ऐसी मित्रता चाहता हूँ, जिसका कभी अन्त न हो' ।। ३९-४० ।।

एवमुक्तस्ततः कर्णस्तथेति प्रत्युवाच तम् ।
हर्षाच्चोभौ समाश्लिष्य परां मुदमवापतुः ।। ४१ ।।

उसके यों कहनेपर कर्णने 'तथास्तु' कहकर उसके साथ मैत्री कर ली। फिर वे दोनों बड़े हर्षसे एक-दूसरेको हृदयसे लगाकर आनन्दमग्न हो गये ।। ४१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कर्णाभिषेके
पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कर्णके राज्याभिषेकसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ४३ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं)

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा कर्णका तिरस्कार और दुर्योधनद्वारा उसका सम्मान

वैशम्पायन उवाच

ततः स्रस्तोत्तरपटः सप्रस्वेदः सवेपथुः ।
विवेशाधिरथो रङ्गं यष्टिप्राणो ह्वयन्निव ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर लाठी ही जिसका सहारा था, वह अधिरथ कर्णको पुकारता हुआ-सा काँपता-काँपता रंगभूमिमें आया। उसकी चादर खिसककर गिर पड़ी थी और वह पसीनेसे लथपथ हो रहा था ।। १ ।।

तमालोक्य धनुस्त्यक्त्वा पितृगौरवयन्त्रितः ।
कर्णोऽभिषेकार्द्रशिराः शिरसा समवन्दत ।। २ ।।

पिताके गौरवसे बँधा हुआ कर्ण अधिरथको देखते ही धनुष त्यागकर सिंहासनसे नीचे उतर आया। उसका मस्तक अभिषेकके जलसे भीगा हुआ था। उसी दशामें उसने अधिरथके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया ।। २ ।।

ततः पादाववच्छाद्य पटान्तेन ससम्भ्रमः ।
पुत्रेति परिपूर्णार्थमब्रवीद् रथसारथिः ।। ३ ।।

अधिरथने अपने दोनों पैरोंको कपड़ेके छोरसे छिपा लिया और 'बेटा! बेटा!' पुकारते हुए अपनेको कृतार्थ समझा ।। ३ ।।

परिष्वज्य च तस्याथ मूर्धानं स्नेहविक्लवः ।
अंगराज्याभिषेकार्द्रमश्रुभिः सिषिचे पुनः ।। ४ ।।

उसने स्नेहसे विह्वल होकर कर्णको हृदयसे लगा लिया और अंगदेशके राज्यपर अभिषेक होनेसे भीगे हुए उसके मस्तकको आँसुओंसे पुनः अभिषिक्त कर दिया ।। ४ ।।

तं दृष्ट्वा सूतपुत्रोऽयमिति संचिन्त्य पाण्डवः ।
भीमसेनस्तदा वाक्यमब्रवीत् प्रहसन्निव ।। ५ ।।

अधिरथको देखकर पाण्डुकुमार भीमसेन यह समझ गये कि कर्ण सूतपुत्र है; फिर तो वे हँसते हुए-से बोले— ।। ५ ।।

न त्वमर्हसि पार्थेन सूतपुत्र रणे वधम् ।
कुलस्य सदृशस्तूर्णं प्रतोदो गृह्यतां त्वया ।। ६ ।।

'अरे ओ सूतपुत्र! तू तो अर्जुनके हाथसे मरने-योग्य भी नहीं है। तुझे तो शीघ्र ही चाबुक हाथमें लेना चाहिये; क्योंकि यही तेरे कुलके अनुरूप है ।। ६ ।।

अङ्गराज्यं च नार्हस्त्वमुपभोक्तुं नराधम ।
श्वा हुताशसमीपस्थं पुरोडाशमिवाध्वरे ।। ७ ।।

'नराधम! जैसे यज्ञमें अग्निके समीप रखे हुए पुरोडाशको कुत्ता नहीं पा सकता, उसी प्रकार तू भी अंगदेशका राज्य भोगनेयोग्य नहीं है' ।। ७ ।।

एवमुक्तस्ततः कर्णः किंचित्प्रस्फुरिताधरः ।
गगनस्थं विनिःश्वस्य दिवाकरमुदैक्षत ।। ८ ।।

भीमसेनके यों कहनेपर क्रोधके मारे कर्णका होठ कुछ काँपने लगा और उसने लंबी साँस लेकर आकाशमण्डलमें स्थित भगवान् सूर्यकी ओर देखा ।। ८ ।।

ततो दुर्योधनः कोपादुत्पपात महाबलः ।
भ्रातृपद्मवनात् तस्मान्मदोत्कट इव द्विपः ।। ९ ।।

इसी समय महाबली दुर्योधन कुपित हो मदोन्मत्त गजराजकी भाँति भ्रातृसमूहरूपी कमलवनसे उछलकर बाहर निकल आया ।। ९ ।।

सोऽब्रवीद् भीमकर्माणं भीमसेनमवस्थितम् ।
वृकोदर न युक्तं ते वचनं वक्तुमीदृशम् ।। १० ।।

उसने वहाँ खड़े हुए भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनसे कहा—'वृकोदर! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये' ।। १० ।।

क्षत्रियाणां बलं ज्येष्ठं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना ।
शूराणां च नदीनां च दुर्विदाः प्रभवाः किल ।। ११ ।।

'क्षत्रियोंमें बलकी ही प्रधानता है। बलवान् होनेपर क्षत्रबन्धु (हीन क्षत्रिय)-से भी युद्ध करना चाहिये (अथवा मुझ क्षत्रियका मित्र होनेके कारण कर्णके साथ तुम्हें युद्ध करना चाहिये)। शूरवीरों और नदियोंकी उत्पत्तिके वास्तविक कारणको जान लेना बहुत कठिन है ।। ११ ।।

सलिलादुत्थितो वह्निर्येन व्याप्तं चराचरम् ।
दधीचस्यास्थितो वज्रं कृतं दानवसूदनम् ।। १२ ।।

'जिसने सम्पूर्ण चराचर जगत्को व्याप्त कर रखा है, वह तेजस्वी अग्नि जलसे प्रकट हुआ है। दानवोंका संहार करनेवाला वज्र महर्षि दधीचिकी हड्डियोंसे निर्मित हुआ है ।। १२ ।।

आग्नेयः कृत्तिकापुत्रो रौद्रो गाङ्गेय इत्यपि ।
श्रूयते भगवान् देवः सर्वगुह्यमयो गुहः ।। १३ ।।

'सुना जाता है, सर्वगुह्यस्वरूप भगवान् स्कन्ददेव अग्नि, कृत्तिका, रुद्र तथा गंगा—इन सबके पुत्र हैं ।। १३ ।।

क्षत्रियेभ्यश्च ये जाता ब्राह्मणास्ते च ते श्रुताः ।
विश्वामित्रप्रभृतयः प्राप्ता ब्रह्मत्वमव्ययम् ।। १४ ।।

‘कितने ही ब्राह्मण क्षत्रियोंसे उत्पन्न हुए हैं, उनका नाम तुमने भी सुना ही होगा तथा विश्वामित्र आदि क्षत्रिय भी अक्षय ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो चुके हैं ।। १४ ।।

आचार्यः कलशाज्जातो द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ।
गौतमस्यान्ववाये च शरस्तम्बाच्च गौतमः ।। १५ ।।

‘समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हमारे आचार्य द्रोणका जन्म कलशसे हुआ है। महर्षि गौतमके कुलमें कृपाचार्यकी उत्पत्ति भी सरकंडोंके समूहसे हुई है ।। १५ ।।

भवतां च यथा जन्म तदप्यागमितं मया ।
सकुण्डलं सकवचं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
कथमादित्यसदृशं मृगी व्याघ्रं जनिष्यति ।। १६ ।।

‘तुम सब भाइयोंका जन्म जिस प्रकार हुआ है, वह भी मुझे अच्छी तरह मालूम है। समस्त शुभ लक्षणोंसे सुशोभित तथा कुण्डल और कवचके साथ उत्पन्न हुआ सूर्यके समान तेजस्वी कर्ण किसी सूत जातिकी स्त्रीका पुत्र कैसे हो सकता है। क्या कोई हरिणी अपने पेटसे बाघ पैदा कर सकती है? ।। १६ ।।

(कथमादित्यसंकाशं सूतोऽमुं जनयिष्यति ।
एवं क्षत्रगुणैर्युक्तं शूरं समितिशोभनम् ।।)
पृथिवीराज्यमर्होऽयं नाङ्गराज्यं नरेश्वरः ।
अनेन बाहुवीर्येण मया चाज्ञानुवर्तिना ।। १७ ।।

‘इस सूर्य-सदृश तेजस्वी वीरको, जो इस प्रकार क्षत्रियोचित गुणोंसे सम्पन्न तथा समरांगणको सुशोभित करनेवाला है, कोई सूत जातिका मनुष्य कैसे उत्पन्न कर सकता है? राजा कर्ण अपने इस बाहुबलसे तथा मुझ-जैसे आज्ञापालक मित्रकी सहायतासे अंग-देशका ही नहीं, समूची पृथ्वीका राज्य पानेका अधिकारी है ।। १७ ।।

यस्य वा मनुजस्येदं न क्षान्तं मद्विचेष्टितम् ।
रथमारुह्य पद्भ्यां स विनामयतु कार्मुकम् ।। १८ ।।

‘जिस मनुष्यसे मेरा यह बर्ताव नहीं सहा जाता हो, वह रथपर चढ़कर पैरोंसे अपने धनुषको नवावे—हमारे साथ युद्धके लिये तैयार हो जाय’ ।। १८ ।।

ततः सर्वस्य रङ्गस्य हाहाकारो महानभूत् ।
साधुवादानुसम्बद्धः सूर्यश्चास्तमुपागमत् ।। १९ ।।

यह सुनकर समूचे रंगमण्डपमें दुर्योधनको मिलने-वाले साधुवादके साथ ही (युद्धकी सम्भावनासे) महान् हाहाकार मच गया। इतनेमें ही सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये ।। १९ ।।

ततो दुर्योधनः कर्णमालम्ब्याग्रकरे नृपः ।
दीपिकाग्निकृतालोकस्तस्माद् रङ्गाद् विनिर्ययौ ।। २० ।।

तब दुर्योधन कर्णके हाथकी अगुँलियाँ पकड़कर मशालकी रोशनी करा उस रंगभूमिसे बाहर निकल गया ।। २० ।।

पाण्डवाश्च सहद्रोणाः सकृपाश्च विशाम्पते ।
भीष्मेण सहिताः सर्वे ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ।। २१ ।।

राजन्! समस्त पाण्डव भी द्रोण, कृपाचार्य और भीष्मजीके साथ अपने-अपने निवासस्थानको चल दिये ।। २१ ।।

अर्जुनेति जनः कश्चित् कश्चित् कर्णेति भारत ।
कश्चिद् दुर्योधनेत्येवं ब्रुवन्तः प्रस्थितास्तदा ।। २२ ।।

भारत! उस समय दर्शकोंमेंसे कोई अर्जुनकी, कोई कर्णकी और कोई दुर्योधनकी प्रशंसा करते हुए चले गये ।। २२ ।।

कुन्त्याश्च प्रत्यभिज्ञाय दिव्यलक्षणसूचितम् ।
पुत्रमङ्गेश्वरं स्नेहाच्छन्ना प्रीतिरजायत ।। २३ ।।

दिव्य लक्षणोंसे लक्षित अपने पुत्र अंगराज कर्णको पहचानकर कुन्तीके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई; किंतु वह दूसरोंपर प्रकट न हुई ।। २३ ।।

दुर्योधनस्यापि तदा कर्णमासाद्य पार्थिव ।
भयमर्जुनसंजातं क्षिप्रमन्तरधीयत ।। २४ ।।

जनमेजय! उस समय कर्णको मित्रके रूपमें पाकर दुर्योधनका भी अर्जुनसे होनेवाला भय शीघ्र दूर हो गया ।। २४ ।।

स चापि वीरः कृतशस्त्रनिश्रमः
परेण साम्नाभ्यवदत् सुयोधनम् ।
युधिष्ठिरस्याप्यभवत् तदा मति-
र्न कर्णतुल्योऽस्ति धनुर्धरः क्षितौ ।। २५ ।।

वीरवर कर्णने शस्त्रोंके अभ्यासमें बड़ा परिश्रम किया था, वह भी दुर्योधनके साथ परम स्नेह और सान्त्वनापूर्ण बातें करने लगा। उस समय युधिष्ठिरको भी यह विश्वास हो गया कि इस पृथ्वीपर कर्णके समान धनुर्धर कोई नहीं है ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अस्त्रदर्शने षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अस्त्र-कौशलदर्शनविषयक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणका शिष्योंद्वारा द्रुपदपर आक्रमण करवाना, अर्जुनका द्रुपदको बंदी बनाकर लाना और द्रोणद्वारा द्रुपदको आधा राज्य देकर मुक्त कर देना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च कृतास्त्रान् प्रसमीक्ष्य सः ।
गुर्वर्थं दक्षिणाकाले प्राप्तेऽमन्यत वै गुरुः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पाण्डवों तथा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको अस्त्र-विद्यामें निपुण देख द्रोणाचार्यने गुरु-दक्षिणा लेनेका समय आया जान मन-ही-मन कुछ निश्चय किया ।। १ ।।

ततः शिष्यात् समानीय आचार्योऽर्थमचोदयत् ।
द्रोणः सर्वानशेषेण दक्षिणार्थं महीपते ।। २ ।।

जनमेजय! तदनन्तर आचार्यने अपने शिष्योंको बुलाकर उन सबसे गुरुदक्षिणाके लिये इस प्रकार कहा— ।। २ ।।

पञ्चालराजं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि ।
पर्यानयत भद्रं वः सा स्यात् परमदक्षिणा ।। ३ ।।

'शिष्यो! पंचालराज द्रुपदको युद्धमें कैद करके मेरे पास ले आओ। तुम्हारा कल्याण हो। यही मेरे लिये सर्वोत्तम गुरुदक्षिणा होगी' ।। ३ ।।

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे रथैस्तूर्णं प्रहारिणः ।
आचार्यधनदानार्थं द्रोणेन सहिता ययुः ।। ४ ।।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर शीघ्रतापूर्वक प्रहार करनेवाले वे सब राजकुमार (युद्धके लिये उद्यत हो) रथोंमें बैठकर गुरुदक्षिणा चुकानेके लिये आचार्य द्रोणके साथ ही वहाँसे प्रस्थित हुए ।। ४ ।।

ततोऽभिजग्मुः पञ्चालान् निघ्नन्तस्ते नरर्षभाः ।
ममृदुस्तस्य नगरं द्रुपदस्य महौजसः ।। ५ ।।
दुर्योधनश्च कर्णश्च युयुत्सुश्च महाबलः ।
दुःशासनो विकर्णश्च जलसंधः सुलोचनः ।। ६ ।।
एते चान्ये च बहवः कुमारा बहुविक्रमाः ।
अहं पूर्वमहं पूर्वमित्येवं क्षत्रियर्षभाः ।। ७ ।।

तदनन्तर दुर्योधन, कर्ण, महाबली युयुत्सु, दुःशासन, विकर्ण, जलसंध तथा सुलोचन—ये और दूसरे भी बहुत-से महापराक्रमी नरश्रेष्ठ क्षत्रियशिरोमणि राजकुमार 'पहले मैं युद्ध करूँगा, पहले मैं युद्ध करूँगा' इस प्रकार कहते हुए पंचालदेशमें जा पहुँचे और वहाँके निवासियोंको मारते-पीटते हुए महाबली राजा द्रुपदकी राजधानीको भी रौंदने लगे ।। ५—७ ।।

ततो वररथारूढाः कुमाराः सादिभिः सह ।
प्रविश्य नगरं सर्वे राजमार्गमुपाययुः ।। ८ ।।

उत्तम रथोंपर बैठे हुए वे सभी राजकुमार घुड़सवारोंके साथ नगरमें घुसकर वहाँके राजपथपर चलने लगे ।। ८ ।।

तस्मिन् काले तु पाञ्चालः श्रुत्वा दृष्ट्वा महद् बलम् ।
भ्रातृभिः सहितो राजंस्त्वरया निर्ययौ गृहात् ।। ९ ।।

जनमेजय! उस समय पंचालराज द्रुपद कौरवोंका आक्रमण सुनकर और उनकी विशाल सेनाको अपनी आँखों देखकर बड़ी उतावलीके साथ भाइयोंसहित राजभवनसे बाहर निकले ।। ९ ।।

ततस्तु कृतसंनाहा यज्ञसेनसहोदराः ।
शरवर्षाणि मुञ्चन्तः प्रणेदुः सर्व एव ते ।। १० ।।

महाराज यज्ञसेन (द्रुपद) और उनके सब भाइयोंने कवच धारण किये। फिर वे सभी लोग बाणोंकी बौछार करते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ।। १० ।।

ततो रथेन शुभ्रेण समासाद्य तु कौरवान् ।
यज्ञसेनः शरान् घोरान् ववर्ष युधि दुर्जयः ।। ११ ।।

राजा द्रुपदको युद्धमें जीतना बहुत कठिन था। वे चमकीले रथपर सवार हो कौरवोंके सामने जा पहुँचे और भयानक बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। ११ ।।

वैशम्पायन उवाच

पूर्वमेव तु सम्मन्त्र्य पार्थो द्रोणमथाब्रवीत् ।
दर्पोद्रेकात् कुमाराणामाचार्यं द्विजसत्तमम् ।। १२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कौरवों तथा अन्य राजकुमारोंको अपने बल और पराक्रमका बड़ा घमंड था; इसलिये अर्जुनने पहले ही अच्छी तरह सलाह करके विप्रवर द्रोणाचार्यसे कहा— ।। १२ ।।

एषां पराक्रमस्यान्ते वयं कुर्याम साहसम् ।
एतैरशक्यः पाञ्चालो ग्रहीतुं रणमूर्धनि ।। १३ ।।

'गुरुदेव! इनके पराक्रम दिखानेके पश्चात् हमलोग युद्ध करेंगे। हमारा विश्वास है, ये लोग युद्धमें पंचालराजको बंदी नहीं बना सकते' ।। १३ ।।

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयो भ्रातृभिः सहितोऽनघः ।
अर्धक्रोशे तु नगरादतिष्ठद् बहिरेव सः ।। १४ ।।

यों कहकर पापरहित कुन्तीनन्दन अर्जुन अपने भाइयोंके साथ नगरसे बाहर ही आधे कोसकी दूरीपर ठहर गये थे ।। १४ ।।

द्रुपदः कौरवान् दृष्ट्वा प्राधावत समन्ततः ।
शरजालेन महता मोहयन् कौरवीं चमूम् ।। १५ ।।
तमुद्यतं रथेनैकमाशुकारिणमाहवे ।
अनेकमिव संत्रासान्मेनिरे तत्र कौरवाः ।। १६ ।।

राजा द्रुपदने कौरवोंको देखकर उनपर सब ओरसे धावा बोल दिया और बाणोंका बड़ा भारी जाल-सा बिछाकर कौरव-सेनाको मूर्च्छित कर दिया। युद्धमें फुर्ती दिखानेवाले राजा द्रुपद रथपर बैठकर यद्यपि अकेले ही बाण-वर्षा कर रहे थे, तो भी अत्यन्त भयके कारण कौरव उन्हें अनेक-सा मानने लगे ।। १५-१६ ।।

द्रुपदस्य शरा घोरा विचेरुः सर्वतो दिशम् ।
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च मृदङ्गाश्च सहस्रशः ।। १७ ।।
प्रावाद्यन्त महाराज पाञ्चालानां निवेशने ।
सिंहनादश्च संजज्ञे पाञ्चालानां महात्मनाम् ।। १८ ।।
धनुर्ज्यातलशब्दश्च संस्पृश्य गगनं महान् ।

द्रुपदके भयंकर बाण सब दिशाओंमें विचरने लगे। महाराज! उनकी विजय होती देख पांचालोंके घरोंमें शंख, भेरी और मृदंग आदि सहस्रों बाजे एक साथ बज उठे। महान् आत्मबलसे सम्पन्न पांचाल-सैनिकोंका सिंहनाद बड़े जोरोंसे होने लगा। साथ ही उनके धनुषोंकी प्रत्यंचाओंका महान् टंकार आकाशमें फैलकर गूँजने लगा ।। १७-१८½ ।।

दुर्योधनो विकर्णश्च सुबाहुर्दीर्घलोचनः ।। १९ ।।
दुःशासनश्च संक्रुद्धः शरवर्षैरवाकिरन् ।
सोऽतिविद्धो महेष्वासः पार्षतो युधि दुर्जयः ।। २० ।।
व्यधमत् तान्यनीकानि तत्क्षणादेव भारत ।
दुर्योधनं विकर्णं च कर्णं चापि महाबलम् ।। २१ ।।
नानानृपसुतान् वीरान् सैन्यानि विविधानि च ।
अलातचक्रवत् सर्वं चरन् बाणैरतर्पयत् ।। २२ ।।

उस समय दुर्योधन, विकर्ण, सुबाहु, दीर्घलोचन और दुःशासन बड़े क्रोधमें भरकर बाणोंकी वर्षा करने लगे। भारत! युद्धमें परास्त न होनेवाले महान् धनुर्धर द्रुपदने अत्यन्त घायल होकर तत्काल ही उन सबकी सेनाओंको अत्यन्त पीड़ित कर दिया। वे अलातचक्रकी भाँति सब ओर घूमकर दुर्योधन, विकर्ण, महाबली कर्ण, अनेक वीर राजकुमार तथा उनकी विविध सेनाओंको बाणोंसे तृप्त करने लगे ।। १९—२२ ।।

(दुःशासनं च दशभिर्विकर्णं विंशकैः शरैः ।
शकुनिं विंशकैस्तीक्ष्णैर्दशभिर्मर्मभेदिभिः ।।
कर्णदुर्योधनौ चोभौ शरैः सर्वाङ्गसंधिषु ।
अष्टाविंशतिभिः सर्वैः पृथक् पृथगरिन्दमः ।।
सुबाहुं पञ्चभिर्विद्ध्वा तथान्यान् विविधैः शरैः ।
विव्याध सहसा भूयो ननाद बलवत्तरम् ।।
विनद्य कोपात् पाञ्चालः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
धनूंषि रथयन्त्रं च हयांश्चित्रध्वजानपि ।
चकर्त सर्वपाञ्चालाः प्रणेदुः सिंहसङ्घवत् ।।)
ततस्तु नागराः सर्वे मुसलैर्यष्टिभिस्तदा ।
अभ्यवर्षन्त कौरव्यान् वर्षमाणा घना इव ।। २३ ।।

उन्होंने दुःशासनको दस, विकर्णको बीस तथा शकुनिको अत्यन्त तीखे तीस मर्मभेदी बाण मारकर घायल कर दिया। तत्पश्चात् शत्रुदमन द्रुपदने कर्ण और दुर्योधनके सम्पूर्ण अंगोंकी संधियोंमें पृथक्-पृथक् अट्ठाईस बाण मारे। सुबाहुको पाँच बाणोंसे घायल करके अन्य योद्धाओंको भी अनेक प्रकारके सायकोंद्वारा सहसा बींध डाला और तब बड़े जोरसे सिंहनाद किया। इस प्रकार क्रोधपूर्वक गर्जना करके सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पंचालराज द्रुपदने शत्रुओंके धनुष, रथ, घोड़े तथा रंग-बिरंगी ध्वजाओंको भी काट दिया। तत्पश्चात् सारे पांचाल सैनिक सिंह-समूहके समान गर्जना करने लगे। फिर तो उस नगरके सभी निवासी कौरवोंपर टूट पड़े और बरसनेवाले बादलोंकी भाँति उनपर मूसल एवं डंडोंकी वर्षा करने लगे ।। २३ ।।

सबालवृद्धास्ते पौराः कौरवानभ्यायुस्तदा ।
श्रुत्वा सुतुमुलं युद्धं कौरवानेव भारत ।। २४ ।।
द्रवन्ति स्म नदन्ति स्म क्रोशन्तः पाण्डवान् प्रति ।
(पाञ्चालशरभिन्नाङ्गो भयमासाद्य वै वृषः ।
कर्णो रथादवप्लुत्य पलायनपरोऽभवत् ।।)
पाण्डवास्तु स्वनं श्रुत्वा आर्तानां लोमहर्षणम् ।। २५ ।।
अभिवाद्य ततो द्रोणं रथानारुरुहुस्तदा ।
युधिष्ठिरं निवार्याशु मा युध्यस्वेति पाण्डवम् ।। २६ ।।

उस समय बालकसे लेकर बूढ़ेतक सभी पुरवासी कौरवोंका सामना कर रहे थे। जनमेजय! गुप्तचरोंके मुखसे यह समाचार सुनकर कि वहाँ तुमुल युद्ध हो रहा है, कौरव वहाँ नहींके बराबर हो गये हैं, पंचालराज द्रुपदके बाणोंसे कर्णके सम्पूर्ण अंग क्षत-विक्षत हो गये, वह भयभीत हो रथसे कूदकर भाग चला है तथा कौरव-सैनिक चीखते-चिल्लाते और कराहते हुए हम पाण्डवोंकी ओर भागते आ रहे हैं; पाण्डवलोग पीड़ित सैनिकोंका

रोमांचकारी आर्तनाद कानमें पड़ते ही आचार्य द्रोणको प्रणाम करके रथोंपर जा बैठे और शीघ्र वहाँसे चल दिये। अर्जुनने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको यह कहकर रोक दिया कि 'आप युद्ध न कीजिये' ।। २४—२६ ।।

माद्रेयौ चक्ररक्षौ तु फाल्गुनश्च तदाकरोत् ।
सेनाग्रगो भीमसेनः सदाभूद् गदया सह ।। २७ ।।

उस समय अर्जुनने माद्रीकुमार नकुल और सहदेवको अपने रथके पहियोंका रक्षक बनाया, भीमसेन सदा गदा हाथमें लेकर सेनाके आगे-आगे चलते थे ।। २७ ।।

तदा शत्रुस्वनं श्रुत्वा भ्रातृभिः सहितोऽनघः ।
अयाज्जवेन कौन्तेयो रथेनानादयन् दिशः ।। २८ ।।

तब शत्रुओंका सिंहनाद सुनकर भाइयोंसहित निष्पाप अर्जुन रथकी घरघराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए बड़े वेगसे आगे बढ़े ।। २८ ।।

पाञ्चालानां ततः सेनामुद्धूतार्णवनिःस्वनाम् ।
भीमसेनो महाबाहुर्दण्डपाणिरिवान्तकः ।। २९ ।।
प्रविवेश महासेनां मकरः सागरं यथा ।
स्वयमभ्यद्रवद् भीमो नागानीकं गदाधरः ।। ३० ।।

पांचालोंकी सेना उत्ताल तरंगोंवाले विक्षुब्ध महासागरकी भाँति गर्जना कर रही थी। महाबाहु भीमसेन दण्डपाणि यमराजकी भाँति उस विशाल सेनामें घुस गये, ठीक उसी तरह जैसे समुद्रमें मगर प्रवेश करता है। गदाधारी भीम स्वयं हाथियोंकी सेनापर टूट पड़े ।। २९-३० ।।

स युद्धकुशलः पार्थो बाहुवीर्येण चातुलः ।
अहनत् कुञ्जरानीकं गदया कालरूपधृत् ।। ३१ ।।

कुन्तीकुमार भीम युद्धमें कुशल तो थे ही, बाहुबलमें भी उनकी समानता करनेवाला कोई नहीं था। उन्होंने कालरूप धारणकर गदाकी मारसे उस गजसेनाका संहार आरम्भ किया ।। ३१ ।।

ते गजा गिरिसंकाशाः क्षरन्तो रुधिरं बहु ।
भीमसेनस्य गदया भिन्नमस्तकपिण्डकाः ।। ३२ ।।
पतन्ति द्विरदा भूमौ वज्रघातादिवाचलाः ।
गजानश्वान् रथांश्चैव पातयामास पाण्डवः ।। ३३ ।।
पदातींश्च रथांश्चैव न्यवधीदर्जुनाग्रजः ।
गोपाल इव दण्डेन यथा पशुगणान् वने ।। ३४ ।।
चालयन् रथनागांश्च संचचाल वृकोदरः ।

भीमसेनकी गदासे मस्तक फट जानेके कारण वे पर्वतोंके समान विशालकाय गजराज लोहूके झरने बहाते हुए वज्रके आघातसे (पंख कटे हुए) पहाड़ोंकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ते थे। अर्जुनके बड़े भाई पाण्डुनन्दन भीमने हाथियों, घोड़ों एवं रथोंको धराशायी कर दिया। पैदलों तथा रथियोंका संहार कर डाला। जैसे ग्वाला वनमें डंडेसे पशुओंको हाँकता है, उसी प्रकार भीमसेन रथियों और हाथियोंको खदेड़ते हुए उनका पीछा करने लगे ।। ३२—३४½ ।।

वैशम्पायन उवाच

भारद्वाजप्रियं कर्तुमुद्यतः फाल्गुनस्तदा ।। ३५ ।।
पार्षतं शरजालेन क्षिपन्नागात् स पाण्डवः ।
हयौघांश्च रथौघांश्च गजौघांश्च समन्ततः ।। ३६ ।।
पातयन् समरे राजन् युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उस समय द्रोणाचार्यका प्रिय करनेके लिये उद्यत हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन द्रुपदपर बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए उनपर चढ़ आये। वे रणभूमिमें घोड़ों, रथों और हाथियोंके झुंडोंका सब ओरसे संहार करते हुए प्रलयकालीन अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ।। ३५-३६½ ।।

ततस्ते हन्यमाना वै पाञ्चालाः सृञ्जयास्तथा ।। ३७ ।।
शरैर्नानाविधैस्तूर्णं पार्थं संछाद्य सर्वशः ।
सिंहनादं मुखैः कृत्वा समयुध्यन्त पाण्डवम् ।। ३८ ।।

उनके बाणोंसे घायल हुए पांचाल और सृंजय वीरोंने तुरंत ही नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करके अर्जुनको सब ओरसे ढक दिया और मुखसे सिंहनाद करते हुए उनसे लोहा लेना आरम्भ किया ।। ३७-३८ ।।

तद् युद्धमभवद् घोरं सुमहाद्भुतदर्शनम् ।
सिंहनादस्वनं श्रुत्वा नामृष्यत् पाकशासनिः ।। ३९ ।।

वह युद्ध अत्यन्त भयानक और देखनेमें बड़ा ही अद्भुत था। शत्रुओंका सिंहनाद सुनकर इन्द्रकुमार अर्जुन उसे सहन न कर सके ।। ३९ ।।

ततः किरीटी सहसा पाञ्चालान् समरेऽद्रवत् ।
छादयन्निषुजालेन महता मोहयन्निव ।। ४० ।।

उस युद्धमें किरीटधारी पार्थने बाणोंका बड़ा भारी जाल-सा बिछाकर पांचालोंको आच्छादित और मोहित-सा करते हुए उनपर सहसा आक्रमण किया ।। ४० ।।

शीघ्रमभ्यस्यतो बाणान् संदधानस्य चानिशम् ।
नान्तरं ददृशे किंचित् कौन्तेयस्य यशस्विनः ।। ४१ ।।

यशस्वी अर्जुन बड़ी फुर्तीसे बाण छोड़ते और निरन्तर नये-नये बाणोंका संधान करते थे। उनके धनुषपर बाण रखने और छोड़नेमें थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं दिखायी पड़ता था ।। ४१ ।।

(न दिशो नान्तरिक्षं च तदा नैव च मेदिनी ।
अदृश्यत महाराज तत्र किंचन संयुगे ।।
बाणान्धकारे बलिना कृते गाण्डीवधन्वना ।)

महाराज! उस युद्धमें न तो दिशाओंका पता चलता था न आकाशका और न पृथ्वी अथवा और कुछ भी ही दिखायी देता था। बलवान् वीर गाण्डीवधारी अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा घोर अन्धकार फैला दिया था।

सिंहनादश्च संजज्ञे साधुशब्देन मिश्रितः ।
ततः पञ्चालराजस्तु तथा सत्यजिता सह ।। ४२ ।।
त्वरमाणोऽभिदुद्राव महेन्द्रं शम्बरो यथा ।
महता शरवर्षेण पार्थः पाञ्चालमावृणोत् ।। ४३ ।।

उस समय पाण्डव-दलमें साधुवादके साथ-साथ सिंहनाद हो रहा था। उधर पंचालराज द्रुपदने अपने भाई सत्यजित्को साथ लेकर तीव्र गतिसे अर्जुनपर धावा किया, ठीक उसी तरह जैसे शम्बरासुरने देवराज इन्द्रपर आक्रमण किया था। परंतु कुन्तीनन्दन अर्जुनने बाणोंकी भारी बौछार करके पंचालनरेशको ढक दिया ।। ४२-४३ ।।

ततो हलहलाशब्द आसीत् पाञ्चालके बले ।
जिघृक्षति महासिंहो गजानामिव यूथपम् ।। ४४ ।।

और जैसे महासिंह हाथियोंके यूथपतिको पकड़नेकी चेष्टा करता है, उसी प्रकार अर्जुन द्रुपदको पकड़ना ही चाहते थे कि पांचालोंकी सेनामें हाहाकार मच गया ।। ४४ ।।

दृष्ट्वा पार्थं तदाऽऽयान्तं सत्यजित् सत्यविक्रमः ।
पाञ्चालं वै परिप्रेप्सुर्धनंजयमुपाद्रवत् ।। ४५ ।।
ततस्त्वर्जुनपाञ्चालौ युद्धाय समुपागतौ ।
व्यक्षोभयेतां तौ सैन्यमिन्द्रवैरोचनाविव ।। ४६ ।।

सत्यपराक्रमी सत्यजित्ने देखा कि कुन्तीपुत्र धनंजय पंचालनरेशको पकड़नेके लिये निकट बढ़े आ रहे हैं, तो वे उनकी रक्षाके लिये अर्जुनपर चढ़ आये; फिर तो इन्द्र और बलिकी भाँति अर्जुन और पांचाल सत्यजित्ने युद्धके लिये आमने-सामने आकर सारी सेनाओंको क्षोभमें डाल दिया ।। ४५-४६ ।।

ततः सत्यजितं पार्थो दशभिर्मर्मभेदिभिः ।
विव्याध बलवद् गाढं तदद्भुतमिवाभवत् ।। ४७ ।।

तब अर्जुनने दस मर्मभेदी बाणोंद्वारा सत्यजित्पर बलपूर्वक गहरा आघात करके उन्हें घायल कर दिया। यह अद्भुत-सी बात हुई ।। ४७ ।।

ततः शरशतैः पार्थं पाञ्चालः शीघ्रमार्दयत् ।
पार्थस्तु शरवर्षेण छाद्यमानो महारथः ।। ४८ ।।
वेगं चक्रे महावेगो धनुर्ज्यामवमृज्य च ।
ततः सत्यजितश्चापं छित्त्वा राजानमभ्ययात् ।। ४९ ।।

फिर पांचाल वीर सत्यजित्ने भी शीघ्र ही सौ बाण मारकर अर्जुनको पीड़ित कर दिया। उनके बाणोंकी वर्षासे आच्छादित होकर महान् वेगशाली महारथी अर्जुनने धनुषकी प्रत्यंचाको झाड़-पोंछकर बड़े वेगसे बाण छोड़ना आरम्भ किया और सत्यजित्के धनुषको काटकर वे राजा द्रुपदपर चढ़ आये ।। ४८-४९ ।।

अथान्यद् धनुरादाय सत्यजिद् वेगवत्तरम् ।
साश्वं ससूतं सरथं पार्थं विव्याध सत्वरः ।। ५० ।।

तब सत्यजित्ने दूसरा अत्यन्त वेगशाली धनुष लेकर तुरंत ही घोड़े, सारथि एवं रथसहित अर्जुनको बींध डाला ।। ५० ।।

स तं न ममृषे पार्थः पाञ्चालेनार्दितो युधि ।
ततस्तस्य विनाशार्थं सत्वरं व्यसृजच्छरान् ।। ५१ ।।

युद्धमें पांचाल वीर सत्यजित्से पीड़ित हो अर्जुन उनके पराक्रमको न सह सके और उनके विनाशके लिये उन्होंने शीघ्र ही बाणोंकी झड़ी लगा दी ।। ५१ ।।

हयान् ध्वजं धनुर्मुष्टिमुभौ तौ पार्ष्णिसारथी ।
स तथा भिद्यमानेषु कार्मुकेषु पुनः पुनः ।। ५२ ।।
हयेषु विनियुक्तेषु विमुखोऽभवदाहवे ।
स सत्यजितमालोक्य तथा विमुखमाहवे ।। ५३ ।।
वेगेन महता राजन्नभ्यवर्षत पाण्डवम् ।
तदा चक्रे महद् युद्धमर्जुनो जयतां वरः ।। ५४ ।।

सत्यजित्के घोड़े, ध्वजा, धनुष, मुट्ठी तथा पार्श्वरक्षक एवं सारथि दोनोंको अर्जुनने क्षत-विक्षत कर दिया। इस प्रकार बार-बार धनुषके छिन्न-भिन्न होने और घोड़ोंके मारे जानेपर सत्यजित् समर-भूमिसे भाग गये। राजन्! उन्हें इस तरह युद्धसे विमुख हुआ देख पंचालनरेश द्रुपदने पाण्डुनन्दन अर्जुनपर बड़े वेगसे बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की। तब विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने उनसे बड़ा भारी युद्ध प्रारम्भ किया ।। ५२—५४ ।।

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा ध्वजं चोर्व्यामपातयत् ।
पञ्चभिस्तस्य विव्याध हयान् सूतं च सायकैः ।। ५५ ।।

उन्होंने पंचालराजका धनुष काटकर उनकी ध्वजाको भी धरतीपर काट गिराया। फिर पाँच बाणोंसे उनके घोड़ों और सारथिको घायल कर दिया ।। ५५ ।।

तत उत्सृज्य तच्चापमाददानं शरावरम् ।
खड्गमुद्धृत्य कौन्तेयः सिंहनादमथाकरोत् ।। ५६ ।।

तत्पश्चात् उस कटे हुए धनुषको त्यागकर जब वे दूसरा धनुष और तूणीर लेने लगे, उस समय अर्जुनने म्यानसे तलवार निकालकर सिंहके समान गर्जना की ।। ५६ ।।

पाञ्चालस्य रथस्येषामाप्लुत्य सहसापतत् ।
पाञ्चालरथमास्थाय अवित्रस्तो धनंजयः ।। ५७ ।।
विक्षोभ्याम्भोनिधिं पार्थस्तं नागमिव सोऽग्रहीत् ।
ततस्तु सर्वपाञ्चाला विद्रवन्ति दिशो दश ।। ५८ ।।

और सहसा पंचालनरेशके रथके डंडेपर कूद पड़े। इस प्रकार द्रुपदके रथपर चढ़कर निर्भीक अर्जुनने जैसे गरुड़ समुद्रको क्षुब्ध करके सर्पको पकड़ लेता है, उसी प्रकार उन्हें अपने काबूमें कर लिया। तब समस्त पांचाल सैनिक (भयभीत हो) दसों दिशाओंमें भागने लगे ।। ५७-५८ ।।

दर्शयन् सर्वसैन्यानां स बाह्वोर्बलमात्मनः ।
सिंहनादस्वनं कृत्वा निर्जगाम धनंजयः ।। ५९ ।।

समस्त सैनिकोंको अपना बाहुबल दिखाते हुए अर्जुन सिंहनाद करके वहाँसे लौटे ।। ५९ ।।

आयान्तमर्जुनं दृष्ट्वा कुमाराः सहितास्तदा ।
ममृदुस्तस्य नगरं द्रुपदस्य महात्मनः ।। ६० ।।

अर्जुनको आते देख सब राजकुमार एकत्र हो महात्मा द्रुपदके नगरका विध्वंस करने लगे ।। ६० ।।

अर्जुन उवाच

सम्बन्धी कुरुवीराणां द्रुपदो राजसत्तमः ।
मा वधीस्तद्बलं भीम गुरुदानं प्रदीयताम् ।। ६१ ।।

तब अर्जुनने कहा—भैया भीमसेन! राजाओंमें श्रेष्ठ द्रुपद कौरववीरोंके सम्बन्धी हैं, अतः इनकी सेनाका संहार न करो; केवल गुरुदक्षिणाके रूपमें द्रोणके प्रति महाराज द्रुपदको ही दे दो ।। ६१ ।।

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्तदा राजन्नर्जुनेन निवारितः ।
अतृप्तो युद्धधर्मेषु न्यवर्तत महाबलः ।। ६२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय अर्जुनके मना करनेपर महाबली भीमसेन युद्धधर्मसे तृप्त न होनेपर भी उससे निवृत्त हो गये ।। ६२ ।।

ते यज्ञसेनं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि ।
उपाजह्रुः सहामात्यं द्रोणाय भरतर्षभ ।। ६३ ।।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! उन पाण्डवने यज्ञसेन द्रुपदको मन्त्रियोंसहित संग्रामभूमिमें बंदी बनाकर द्रोणाचार्यको उपहारके रूपमें दे दिया ।। ६३ ।।

भग्नदर्पं हृतधनं तं तथा वशमागतम् ।
स वैरं मनसा ध्यात्वा द्रोणो द्रुपदमब्रवीत् ।। ६४ ।।

उनका अभिमान चूर्ण हो गया था, धन छीन लिया गया था और वे पूर्णरूपसे वशमें आ चुके थे; उस समय द्रोणाचार्यने मन-ही-मन पिछले वैरका स्मरण करके राजा द्रुपदसे कहा — ।। ६४ ।।

विमृद्य तरसा राष्ट्रं पुरं ते मृदितं मया ।
प्राप्य जीवं रिपुवशं सखिपूर्वं किमिष्यते ।। ६५ ।।

‘राजन्! मैंने बलपूर्वक तुम्हारे राष्ट्रको रौंद डाला। तुम्हारी राजधानी मिट्टीमें मिला दी। अब तुम शत्रुके वशमें पड़े हुए जीवनको लेकर यहाँ आये हो। बोलो, अब पुरानी मित्रता चाहते हो क्या?’ ।। ६५ ।।

एवमुक्त्वा प्रहस्यैनं किंचित् स पुनरब्रवीत् ।
मा भैः प्राणभयाद् वीर क्षमिणो ब्राह्मणा वयम् ।। ६६ ।।

यों कहकर द्रोणाचार्य कुछ हँसे। उसके बाद फिर उनसे इस प्रकार बोले—‘वीर! प्राणोंपर संकट आया जानकर भयभीत न होओ। हम क्षमाशील ब्राह्मण हैं ।। ६६ ।।

आश्रमे क्रीडितं यत् तु त्वया बाल्ये मया सह ।
तेन संवर्द्धितः स्नेहः प्रीतिश्च क्षत्रियर्षभ ।। ६७ ।।

‘क्षत्रियशिरोमणे! तुम बचपनमें मेरे साथ आश्रममें जो खेले-कूदे हो, उससे तुम्हारे ऊपर मेरा स्नेह एवं प्रेम बहुत बढ़ गया है ।। ६७ ।।

प्रार्थयेयं त्वया सख्यं पुनरेव जनाधिप ।
वरं ददामि ते राजन् राज्यस्यार्धमवाप्नुहि ।। ६८ ।।

‘नरेश्वर! मैं पुनः तुमसे मैत्रीके लिये प्रार्थना करता हूँ। राजन्! मैं तुम्हें वर देता हूँ, तुम इस राज्यका आधा भाग मुझसे ले लो ।। ६८ ।।

अराजा किल नो राज्ञः सखा भवितुमर्हसि ।
अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन मया तव ।। ६९ ।।

‘यज्ञसेन! तुमने कहा था—जो राजा नहीं है, वह राजाका मित्र नहीं हो सकता; इसीलिये मैंने तुम्हारा राज्य लेनेका प्रयत्न किया है ।। ६९ ।।

राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याहमुत्तरे ।
सखायं मां विजानीहि पाञ्चाल यदि मन्यसे ।। ७० ।।

‘गंगाके दक्षिण प्रदेशके तुम राजा हो और उत्तरके भूभागका राजा मैं हूँ। पांचाल! अब यदि उचित समझो तो मुझे अपना मित्र मानो’ ।। ७० ।।

द्रुपद उवाच

अनाश्चर्यमिदं ब्रह्मन् विक्रान्तेषु महात्मसु ।
प्रीये त्वयाहं त्वत्तश्च प्रीतिमिच्छामि शाश्वतीम् ।। ७१ ।।

द्रुपदने कहा—ब्रह्मन्! आप-जैसे पराक्रमी महात्माओंमें ऐसी उदारताका होना आश्चर्यकी बात नहीं है। मैं आपसे बहुत प्रसन्न हूँ और आपके साथ सदा बनी रहनेवाली मैत्री एवं प्रेम चाहता हूँ ।। ७१ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स तं द्रोणो मोक्षयामास भारत ।
सत्कृत्य चैनं प्रीतात्मा राज्यार्धं प्रत्यपादयत् ।। ७२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! द्रुपदके यों कहनेपर द्रोणाचार्यने उन्हें छोड़ दिया और प्रसन्नचित्त हो उनका आदर-सत्कार करके उन्हें आधा राज्य दे दिया ।। ७२ ।।

माकन्दीमथ गङ्गायास्तीरे जनपदायुताम् ।
सोऽध्यावसद् दीनमनाः काम्पिल्यं च पुरोत्तमम् ।। ७३ ।।
दक्षिणांश्चापि पञ्चालान् यावच्चर्मण्वती नदी ।
द्रोणेन चैवं द्रुपदः परिभूयाथ पालितः ।। ७४ ।।

तदनन्तर राजा द्रुपद दीनतापूर्ण हृदयसे गंगा-तटवर्ती अनेक जनपदोंसे युक्त माकन्दीपुरीमें तथा नगरोंमें श्रेष्ठ काम्पिल्य नगरमें निवास एवं चर्मण्वती नदीके दक्षिणतटवर्ती पंचालदेशका शासन करने लगे। इस प्रकार द्रोणाचार्यने द्रुपदको परास्त करके पुनः उनकी रक्षा की ।। ७३-७४ ।।

क्षात्रेण च बलेनास्य नापश्यत् स पराजयम् ।
हीनं विदित्वा चात्मानं ब्राह्मेण स बलेन तु ।। ७५ ।।
पुत्रजन्म परीप्सन् वै पृथिवीमन्वसंचरत् ।
अहिच्छत्रं च विषयं द्रोणः समभिपद्यत ।। ७६ ।।

द्रुपदको अपने क्षात्रबलके द्वारा द्रोणाचार्यकी पराजय होती नहीं दिखायी दी। वे अपनेको ब्राह्मण-बलसे हीन जानकर (द्रोणाचार्यको पराजित करनेके लिये) शक्तिशाली पुत्र प्राप्त करनेकी इच्छासे पृथ्वीपर विचरने लगे। इधर द्रोणाचार्यने (उत्तर-पांचालवर्ती) अहिच्छत्र नामक राज्यको अपने अधिकारमें कर लिया ।। ७५-७६ ।।

एवं राजन्नहिच्छत्रा पुरी जनपदायुता ।
युधि निर्जित्य पार्थेन द्रोणाय प्रतिपादिता ।। ७७ ।।

राजन्! इस प्रकार अनेक जनपदोंसे सम्पन्न अहिच्छत्रा नामवाली नगरीको युद्धमें जीतकर अर्जुनने द्रोणाचार्यको गुरु-दक्षिणामें दे दिया ।। ७७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रुपदशासने
सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें द्रुपदपर द्रोणके शासनका वर्णन करनेवाला एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ८४½ श्लोक हैं)

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका युवराजपदपर अभिषेक, पाण्डवोंके शौर्य, कीर्ति और बलके विस्तारसे धृतराष्ट्रको चिन्ता

वैशम्पायन उवाच

ततः संवत्सरस्यान्ते यौवराज्याय पार्थिव ।
स्थापितो धृतराष्ट्रेण पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।। १ ।।
धृतिस्थैर्यसहिष्णुत्वादानृशंस्यात् तथार्जवात् ।
भृत्यानामनुकम्पार्थं तथैव स्थिरसौहृदात् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर एक वर्ष बीतनेपर धृतराष्ट्रने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको धृति, स्थिरता, सहिष्णुता, दयालुता, सरलता तथा अविचल सौहार्द आदि सद्गुणोंके कारण पालन करनेयोग्य प्रजापर अनुग्रह करनेके लिये युवराजपदपर अभिषिक्त कर दिया ।। १-२ ।।

ततोऽदीर्घेण कालेन कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पितुरन्तर्दधे कीर्तिं शीलवृत्तसमाधिभिः ।। ३ ।।

इसके बाद थोड़े ही दिनोंमें कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने अपने शील (उत्तम स्वभाव), वृत्त (सदाचार एवं सद्व्यवहार) तथा समाधि (मनोयोगपूर्वक प्रजापालनकी प्रवृत्ति)-के द्वारा अपने पिता महाराज पाण्डुकी कीर्तिको भी ढक दिया ।। ३ ।।

असियुद्धे गदायुद्धे रथयुद्धे च पाण्डवः ।
संकर्षणादशिक्षद् वै शश्वच्छिक्षां वृकोदरः ।। ४ ।।

पाण्डुनन्दन भीमसेन बलरामजीसे नित्यप्रति खड्गयुद्ध, गदायुद्ध तथा रथयुद्धकी शिक्षा लेने लगे ।। ४ ।।

समाप्तशिक्षो भीमस्तु द्युमत्सेनसमो बले ।
पराक्रमेण सम्पन्नो भ्रातॄणामचरद् वशे ।। ५ ।।

शिक्षा समाप्त होनेपर भीमसेन बलमें राजा द्युमत्सेनके समान हो गये और पराक्रमसे सम्पन्न हो अपने भाइयोंके अनुकूल रहने लगे ।। ५ ।।

प्रगाढदृढमुष्टित्वे लाघवे वेधने तथा ।
क्षुरनाराचभल्लानां विपाठानां च तत्त्ववित् ।। ६ ।।
ऋजुवक्रविशालानां प्रयोक्ता फाल्गुनोऽभवत् ।
लाघवे सौष्ठवे चैव नान्यः कश्चन विद्यते ।। ७ ।।
बीभत्सुसदृशो लोके इति द्रोणो व्यवस्थितः ।

ततोऽब्रवीद् गुडाकेशं द्रोणः कौरवसंसदि ।। ८ ।।

अर्जुन अत्यन्त दृढ़तापूर्वक मुट्ठीसे धनुषको पकड़नेमें, हाथोंकी फुर्तीमें और लक्ष्यको बींधनेमें बड़े चतुर निकले। वे क्षुर[१], नाराच[२], भल्ल[३] और विपाठ[४] नामक ऋजु, वक्र और विशाल[५] अस्त्रोंके संचालनका गूढ़ तत्त्व अच्छी तरह जानते और उनका सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकते थे। इसलिये द्रोणाचार्यको यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि फुर्ती और सफाईमें अर्जुनके समान दूसरा कोई योद्धा इस जगत्में नहीं है। एक दिन द्रोणने कौरवोंकी भरी सभामें निद्राको जीतनेवाले अर्जुनसे कहा— ।। ६—८ ।।

अगस्त्यस्य धनुर्वेदे शिष्यो मम गुरुः पुरा ।
अग्निवेश इति ख्यातस्तस्य शिष्योऽस्मि भारत ।। ९ ।।
तीर्थात् तीर्थं गमयितुमहमेतत् समुद्यतः ।
तपसा यन्मया प्राप्तममोघमशनिप्रभम् ।। १० ।।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम यद् दहेत् पृथिवीमपि ।
ददता गुरुणा चोक्तं न मनुष्येष्विदं त्वया ।। ११ ।।
भारद्वाज विमोक्तव्यमल्पवीर्येष्वपि प्रभो ।
त्वया प्राप्तमिदं वीर दिव्यं नान्योऽर्हति त्विदम् ।। १२ ।।
समयस्तु त्वया रक्ष्यो मुनिसृष्टो विशाम्पते ।
आचार्यदक्षिणां देहि ज्ञातिग्रामस्य पश्यतः ।। १३ ।।

'भारत! मेरे गुरु अग्निवेश नामसे विख्यात हैं। उन्होंने पूर्वकालमें महर्षि अगस्त्यसे धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की थी। मैं उन्हीं महात्मा अग्निवेशका शिष्य हूँ। एक पात्र (गुरु)-से दूसरे (सुयोग्य शिष्य)-को इसकी प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे सर्वथा उद्यत होकर मैंने तुम्हें यह ब्रह्मशिर नामक अस्त्र प्रदान किया, जो मुझे बड़ी तपस्यासे मिला था। वह अमोघ अस्त्र वज्रके समान प्रकाशमान है। उसमें समूची पृथ्वीको भी भस्म कर डालनेकी शक्ति है। मुझे वह अस्त्र देते समय गुरु अग्निवेशजीने कहा था, 'शक्तिशाली भारद्वाज! तुम यह अस्त्र मनुष्योंपर न चलाना। मनुष्येतर प्राणियोंमें भी जो अल्पवीर्य हों, उनपर भी इस अस्त्रको न छोड़ना।' वीर अर्जुन! इस दिव्य अस्त्रको तुमने मुझसे पा लिया है। दूसरा कोई इसे नहीं प्राप्त कर सकता। राजकुमार! इस अस्त्रके सम्बन्धमें मुनिके बताये हुए इस नियमका तुम्हें भी पालन करना चाहिये। अब तुम अपने भाई-बन्धुओंके सामने ही मुझे एक गुरु-दक्षिणा दो' ।। ९—१३ ।।

ददानीति प्रतिज्ञाते फाल्गुनेनाब्रवीद् गुरुः ।
युद्धेऽहं प्रतियोद्धव्यो युध्यमानस्त्वयानघ ।। १४ ।।

तब अर्जुनने प्रतिज्ञा की—'अवश्य दूँगा।' उनके यों कहनेपर गुरु द्रोण बोले—'निष्पाप अर्जुन! यदि युद्धभूमिमें मैं भी तुम्हारे विरुद्ध लड़नेको आऊँ तो तुम (अवश्य) मेरा सामना

करना' ।। १४ ।।

तथेति च प्रतिज्ञाय द्रोणाय कुरुपुङ्गवः ।
उपसंगृह्य चरणौ स प्रायादुत्तरां दिशम् ।। १५ ।।

यह सुनकर कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने 'बहुत अच्छा' कहते हुए उनकी इस आज्ञाका पालन करनेकी प्रतिज्ञा की और गुरुके दोनों चरण पकड़कर उन्होंने सर्वोत्तम उपदेश प्राप्त कर लिया ।। १५ ।।

स्वभावादगमच्छब्दो महीं सागरमेखलाम् ।
अर्जुनस्य समो लोके नास्ति कश्चिद् धनुर्धरः ।। १६ ।।

इस प्रकार समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर सब ओर अपने-आप ही यह बात फैल गयी कि संसारमें अर्जुनके समान दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है ।। १६ ।।

गदायुद्धेऽसियुद्धे च रथयुद्धे च पाण्डवः ।
पारगश्च धनुर्युद्धे बभूवाथ धनंजयः ।। १७ ।।

पाण्डुनन्दन धनंजय गदा, खड्ग, रथ तथा धनुषद्वारा युद्ध करनेकी कलामें पारंगत हुए ।। १७ ।।

नीतिमान् सकलां नीतिं विबुधाधिपतेस्तदा ।
अवाप्य सहदेवोऽपि भ्रातृणां ववृते वशे ।। १८ ।।
द्रोणेनैव विनीतश्च भ्रातृणां नकुलः प्रियः ।
चित्रयोधी समाख्यातो बभूवातिरथोदितः ।। १९ ।।

सहदेव भी उस समय द्रोणके रूपमें अवतीर्ण देवताओंके आचार्य बृहस्पतिसे सम्पूर्ण नीतिशास्त्रकी शिक्षा पाकर नीतिमान् हो अपने भाइयोंके अधीन (अनुकूल) होकर रहते थे। नकुलने भी द्रोणाचार्यसे ही अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा पायी थी। वे अपने भाइयोंको बहुत ही प्रिय थे और विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेमें उनकी बड़ी ख्याति थी। वे अतिरथी वीर कहे जाते थे ।। १८-१९ ।।

त्रिवर्षकृतयज्ञस्तु गन्धर्वाणामुपप्लवे ।
अर्जुनप्रमुखैः पार्थैः सौवीरः समरे हतः ।। २० ।।
न शशाक वशे कर्तुं यं पाण्डुरपि वीर्यवान् ।
सोऽर्जुनेन वशं नीतो राजाऽऽसीद् यवनाधिपः ।। २१ ।।

सौवीर देशका राजा, जो गन्धर्वोंके उपद्रव करनेपर भी लगातार तीन वर्षोंतक बिना किसी विघ्न-बाधाके यज्ञोंका अनुष्ठान करता रहा, युद्धमें अर्जुन आदि पाण्डवोंके हाथों मारा गया। पराक्रमी राजा पाण्डु भी जिसे वशमें न ला सके थे, उस यवनदेश (यूनान)-के राजाको भी जीतकर अर्जुनने अपने अधीन कर लिया ।। २०-२१ ।।

अतीव बलसम्पन्नः सदा मानी कुरून् प्रति ।
विपुलो नाम सौवीरः शस्तः पार्थेन धीमता ।। २२ ।।

दत्तामित्र इति ख्यातं संग्रामे कृतनिश्चयम् ।
सुमित्रं नाम सौवीरमर्जुनोऽदमयच्छरैः ।। २३ ।।

जो अत्यन्त बली तथा कौरवोंके प्रति सदा अभिमान एवं उद्दण्डतापूर्ण बर्ताव करनेवाला था, वह सौवीरनरेश विपुल भी बुद्धिमान् अर्जुनके हाथसे संग्रामभूमिमें मारा गया। जो सदा युद्धके लिये दृढ़ संकल्प किये रहता था, जिसे लोग दत्तामित्रके नामसे जानते थे, उस सौवीरनिवासी सुमित्रका भी अर्जुनने अपने बाणोंसे दमन कर दिया ।। २२-२३ ।।

भीमसेनसहायश्च रथानामयुतं च सः ।
अर्जुनः समरे प्राच्यान् सर्वानेकरथोऽजयत् ।। २४ ।।

इसके सिवा अर्जुनने केवल भीमसेनकी सहायतासे एकमात्र रथपर आरूढ़ हो युद्धमें पूर्व दिशाके सम्पूर्ण योद्धाओं तथा दस हजार रथियोंको जीत लिया ।। २४ ।।

तथैवैकरथो गत्वा दक्षिणामजयद् दिशम् ।
धनौघं प्रापयामास कुरुराष्ट्रं धनंजयः ।। २५ ।।

इसी प्रकार एकमात्र रथसे यात्रा करके धनंजयने दक्षिण दिशापर भी विजय पायी और अपने 'धनंजय' नामको सार्थक करते हुए कुरुदेशकी राजधनीमें धनकी राशि पहुँचायी ।। २५ ।।

एवं सर्वे महात्मानः पाण्डवा मनुजोत्तमाः ।
परराष्ट्राणि निर्जित्य स्वराष्ट्रं ववृधुः पुरा ।। २६ ।।

जनमेजय! इस तरह नरश्रेष्ठ महामना पाण्डवोंने प्राचीन कालमें दूसरे राष्ट्रोंको जीतकर अपने राष्ट्रकी अभिवृद्धि की ।। २६ ।।

ततो बलमतिख्यातं विज्ञाय दृढधन्विनाम् ।
दूषितः सहसा भावो धृतराष्ट्रस्य पाण्डुषु ।
स चिन्तापरमो राजा न निद्रामलभन्निशि ।। २७ ।।

तब दृढ़तापूर्वक धनुष धारण करनेवाले पाण्डवोंके अत्यन्त विख्यात बल-पराक्रमकी बात जानकर उनके प्रति राजा धृतराष्ट्रका भाव सहसा दूषित हो गया। अत्यन्त चिन्तामें निमग्न हो जानेके कारण उन्हें रातमें नींद नहीं आती थी ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि
धृतराष्ट्रचिन्तायामष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें धृतराष्ट्रकी चिन्ताविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३८ ।।

१. क्षुर उस बाणको कहते हैं, जिसके बगलमें तेज धार होती है, जैसे नाईका छूरा।
२. नाराच सीधे बाणको कहते हैं, जिसका अग्रभाग तीखा होता है।
३. भल्ल उस बाणको कहते हैं, जिसकी नोकका पिछला भाग चौड़ा और नोकदार होता है।
४. विपाठ नामक बाणकी आकृति खनतीकी भाँति होती है। यह दूसरे बाणोंसे बड़ा होता है।
५. उपर्युक्त बाणोंमें क्षुर और नाराच सीधा है, भल्ल टेढ़ा है और विपाठ विशाल है।

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कणिकका धृतराष्ट्रको कूटनीतिका उपदेश

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा पाण्डुसुतान् वीरान् बलोद्रिक्तान् महौजसः ।
धृतराष्ट्रो महीपालश्चिन्तामगमदातुरः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डुके वीर पुत्रोंको महान् तेजस्वी और बलमें बढ़े-चढ़े सुनकर महाराज धृतराष्ट्र व्याकुल हो बड़ी चिन्तामें पड़ गये ।। १ ।।

तत आहूय मन्त्रज्ञं राजशास्त्रार्थवित्तमम् ।
कणिकं मन्त्रिणां श्रेष्ठं धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् वचः ।। २ ।।

तब उन्होंने राजनीति और अर्थ-शास्त्रके पण्डित तथा उत्तम मन्त्रके ज्ञाता मन्त्रिप्रवर कणिकको बुलाकर इस प्रकार कहा ।। २ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

उत्सिक्ताः पाण्डवा नित्यं तेभ्योऽसूये द्विजोत्तम ।
तत्र मे निश्चिततमं संधिविग्रहकारणम् ।
कणिक त्वं ममाचक्ष्व करिष्ये वचनं तव ।। ३ ।।

धृतराष्ट्र बोले—द्विजश्रेष्ठ! पाण्डवोंकी दिनोंदिन उन्नति और सर्वत्र ख्याति हो रही है। इस कारण मैं उनसे डाह रखने लगा हूँ। कणिक! तुम भलीभाँति निश्चय करके बतलाओ, मुझे उनके साथ संधि करनी चाहिये या विग्रह? मैं तुम्हारी बात मानूँगा ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

स प्रसन्नमनास्तेन परिपृष्टो द्विजोत्तमः ।
उवाच वचनं तीक्ष्णं राजशास्त्रार्थदर्शनम् ।। ४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार पूछनेपर विप्रवर कणिक मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए तथा राजनीतिके सिद्धान्तका परिचय देनेवाली तीखी बात कहने लगे— ।। ४ ।।

शृणु राजन्निदं तत्र प्रोच्यमानं मयानघ ।
न मेऽभ्यसूया कर्तव्या श्रुत्वैतत् कुरुसत्तम ।। ५ ।।

‘निष्पाप नरेश! इस विषयमें मेरी कही हुई ये बातें सुनिये। कुरुवंशशिरोमणे! इसे सुनकर आप मेरे प्रति दोष-दृष्टि न कीजियेगा ।। ५ ।।

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी स्यात् परेषां विवरानुगः ।। ६ ।।

'राजाको सर्वदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहना चाहिये और सदा ही पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिये। राजा अपना छिद्र—अपनी दुर्बलता प्रकट न होने दे; परंतु दूसरोंके छिद्र या दुर्बलतापर सदा ही दृष्टि रखे और यदि शत्रुओंकी निर्बलताका पता चल जाय तो उनपर आक्रमण कर दे ।। ६ ।।

नित्यमुद्यतदण्डाद्धि भृशमुद्विजते जनः ।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि दण्डेनैव विधारयेत् ।। ७ ।।

'जो सदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहता है, उससे प्रजाजन बहुत डरते हैं; इसलिये सब कार्य दण्डके द्वारा ही सिद्ध करे ।। ७ ।।

नास्यच्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेण परमन्वियात् ।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ।। ८ ।।
नासम्यक्कृतकारी स्यादुपक्रम्य कदाचन ।
कण्टको ह्यपि दुश्छिन्न आस्रावं जनयेच्चिरम् ।। ९ ।।

'राजाको इतनी सावधानी रखनी चाहिये, जिससे शत्रु उसकी कमजोरी न देख सके और यदि शत्रुकी कमजोरी प्रकट हो जाय तो उसपर अवश्य चढ़ाई करे। जैसे कछुआ अपने अंगोंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा अपने सब अंगों (राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल और सुहृद्)-की रक्षा करे और अपनी कमजोरीको छिपाये रखे। यदि कोई कार्य शुरू कर दे तो उसे पूरा किये बिना कभी न छोड़े; क्योंकि शरीरमें गड़ा हुआ काँटा यदि आधा टूटकर भीतर रह जाय तो वह बहुत दिनोंतक मवाद देता रहता है ।। ८-९ ।।

वधमेव प्रशंसन्ति शत्रूणामपकारिणाम् ।
सुविदीर्णं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।। १० ।।
आपद्यापदि काले च कुर्वीत न विचारयेत् ।
नावज्ञेयो रिपुस्तात दुर्बलोऽपि कथंचन ।। ११ ।।

'अपना अनिष्ट करनेवाले शत्रुओंका वध कर दिया जाय, इसीकी नीतिज्ञ पुरुष प्रशंसा करते हैं। अत्यन्त पराक्रमी शत्रुको भी आपत्तिमें पड़ा देख उसे सुगमतापूर्वक नष्ट कर दे। इसी प्रकार जो अच्छी तरह युद्ध करनेवाला शत्रु है, उसे भी आपत्तिकालमें ही अनायास ही मार भगाये। आपत्तिके समय शत्रुका संहार अवश्य ही करे। उस समय उसके सम्बन्ध या सौहार्द आदिका विचार कदापि न करे। तात! शत्रु दुर्बल हो, तो भी किसी प्रकार उसकी उपेक्षा न करे ।। १०-११ ।।

अल्पोऽप्यग्निर्वनं कृत्स्नं दहत्याश्रयसंश्रयात् ।
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि चाश्रयेत् ।। १२ ।।

'क्योंकि जैसे थोड़ी-सी भी आग ईंधनका सहारा मिल जानेपर समूचे वनको जला देती है, उसी प्रकार छोटा शत्रु भी दुर्ग आदि प्रबल आश्रयका सहारा लेकर विनाशकारी बन जाता है। अंधा बननेका अवसर आनेपर अंधा बन जाय—अर्थात् अपनी असमर्थताके

समय शत्रुके दोषोंको न देखे। उस समय सब ओरसे धिक्कार और निन्दा मिलनेपर भी उसे अनसुनी कर दे अर्थात् उसकी ओरसे कान बंद करके बहरा बन जाय ।। १२ ।।

कुर्यात् तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम् ।
सान्त्वादिभिरुपायैस्तु हन्याच्छत्रुं वशे स्थितम् ।। १३ ।।

'ऐसे समयमें अपने धनुषको तिनकेके समान बना दे अर्थात् शत्रुकी दृष्टिमें सर्वथा दीन-हीन एवं असमर्थ बन जाय; परंतु व्याधकी भाँति सोये—अर्थात् जैसे व्याध झूठे ही नींदका बहाना करके सो जाता है और जब मृग विश्वस्त होकर आसपास चरने लगते हैं, तब उठकर उन्हें बाणोंसे घायल कर देता है, उसी प्रकार शत्रुको मारनेका अवसर देखते हुए ही अपने स्वरूप और मनोभावको छिपाकर असमर्थ पुरुषोंका-सा व्यवहार करे। इस प्रकार कपटपूर्ण बर्तावसे वशमें आये हुए शत्रुको साम आदि उपायोंसे विश्वास उत्पन्न करके मार डाले' ।। १३ ।।

दया न तस्मिन् कर्तव्या शरणागत इत्युत ।
निरुद्विग्नो हि भवति नहताज्जायते भयम् ।। १४ ।।

'यह मेरी शरणमें आया है, यह सोचकर उसके प्रति दया नहीं दिखानी चाहिये। शत्रुको मार देनेसे ही राजा निर्भय हो सकता है। यदि शत्रु मारा नहीं गया तो उससे सदा ही भय बना रहता है ।। १४ ।।

हन्यादमित्रं दानेन तथा पूर्वापकारिणम् ।
हन्यात् त्रीन् पञ्च सप्तेति परपक्षस्य सर्वशः ।। १५ ।।

'जो सहज शत्रु है, उसे मुँहमाँगी वस्तु देकर—दानके द्वारा विश्वास उत्पन्न करके मार डाले। इसी प्रकार जो पहलेका अपकारी शत्रु हो और पीछे सेवक बन गया हो, उसे भी जीवित न छोड़े। शत्रुपक्षके त्रिवर्ग[१], पंचवर्ग[२] और सप्तवर्गका[३] सर्वथा नाश कर डाले ।। १५ ।।

मूलमेवादितश्छिन्द्यात् परपक्षस्य नित्यशः ।
ततः सहायांस्तत्पक्षान् सर्वांश्च तदनन्तरम् ।। १६ ।।

'पहले तो सदा शत्रुपक्षके मूलका ही उच्छेद कर डाले। तत्पश्चात् उसके सहायकों और शत्रुपक्षसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी लोगोंका संहार कर दे ।। १६ ।।

छिन्नमूले ह्यधिष्ठाने सर्वे तज्जीविनो हताः ।
कथं नु शाखास्तिष्ठेरंश्छिन्नमूले वनस्पतौ ।। १७ ।।

'यदि मूल आधार नष्ट हो जाय तो उसके आश्रयसे जीवन धारण करनेवाले सभी शत्रु स्वतः नष्ट हो जाते हैं। यदि वृक्षकी जड़ काट दी जाय तो उसकी शाखाएँ कैसे रह सकती हैं? ।। १७ ।।

एकाग्रः स्यादविवृतो नित्यं विवरदर्शकः ।
राजन् नित्यं सपत्नेषु नित्योद्विग्नः समाचरेत् ।। १८ ।।

'राजा सदा शत्रुकी गतिविधिको जाननेके लिये एकाग्र रहे। अपने राज्यके सभी अंगोंको गुप्त रखे। राजन्! सदा अपने शत्रुओंकी कमजोरीपर दृष्टि रखे और उनसे सदा सतर्क (सावधान) रहे ।। १८ ।।

अग्न्याधानेन यज्ञेन काषायेण जटाजिनैः ।
लोकान् विश्वासयित्वैव ततो लुम्पेद् यथा वृकः ।। १९ ।।

'अग्निहोत्र और यज्ञ करके, गेरुए वस्त्र, जटा और मृगचर्म धारण करके पहले लोगोंमें विश्वास उत्पन्न करे; फिर अवसर देखकर भेड़ियेकी भाँति शत्रुओंपर टूट पड़े और उन्हें नष्ट कर दे ।। १९ ।।

अङ्कुशं शौचमित्याहुरर्थानामुपधारणे ।
आनाम्य फलितां शाखां पक्वं पक्वं प्रशातयेत् ।। २० ।।

'कार्यसिद्धिके लिये शौच-सदाचार आदिका पालन एक प्रकारका अंकुश (लोगोंको आकृष्ट करनेका साधन) बताया गया है। फलोंसे लदी हुई वृक्षकी शाखाको अपनी ओर कुछ झुकाकर ही मनुष्य उसके पके-पके फलको तोड़े ।। २० ।।

फलार्थोऽयं समारम्भो लोके पुंसां विपश्चिताम् ।
वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत् कालस्य पर्ययः ।। २१ ।।

'लोकमें विद्वान् पुरुषोंका यह सारा आयोजन ही अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिये होता है। जबतक समय बदलकर अपने अनुकूल न हो जाय, तबतक शत्रुको कंधेपर बिठाकर ढोना पड़े, तो ढोये भी ।। २१ ।।

ततः प्रत्यागते काले भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि ।
अमित्रो न विमोक्तव्यः कृपणं बह्वपि ब्रुवन् ।। २२ ।।
कृपा न तस्मिन् कर्तव्या हन्यादेवापकारिणम् ।
हन्यादमित्रं सान्त्वेन तथा दानेन वा पुनः ।। २३ ।।
तथैव भेददण्डाभ्यां सर्वोपायैः प्रशातयेत् ।

'परंतु जब अपने अनुकूल समय आ जाय, तब उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे, जैसे घड़ेको पत्थरपर पटककर फोड़ डालते हैं। शत्रु बहुत दीनतापूर्ण वचन बोले, तो भी उसे जीवित नहीं छोड़ना चाहिये। उसपर दया नहीं करनी चाहिये। अपकारी शत्रुको मार ही डालना चाहिये। साम अथवा दान तथा भेद एवं दण्ड सभी उपायोंद्वारा शत्रुको मार डाले—उसे मिटा दे' ।। २२-२३½ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

कथं सान्त्वेन दानेन भेदैर्दण्डेन वा पुनः ।। २४ ।।
अमित्रः शक्यते हन्तुं तन्मे ब्रूहि यथातथम् ।

धृतराष्ट्रने पूछा—कणिक! साम, दान, भेद अथवा दण्डके द्वारा शत्रुका नाश कैसे किया जा सकता है, यह मुझे यथार्थरूपसे बताइये ।। २४½ ।।

कणिक उवाच

शृणु राजन् यथावृत्तं वने निवसतः पुरा ।। २५ ।।
जम्बुकस्य महाराज नीतिशास्त्रार्थदर्शिनः ।

कणिकने कहा—महाराज! इस विषयमें नीतिशास्त्रके तत्त्वको जाननेवाले एक वनवासी गीदड़का प्राचीन वृत्तान्त सुनाता हूँ, सुनिये ।। २५½ ।।

अथ कश्चित् कृतप्रज्ञः शृगालः स्वार्थपण्डितः ।। २६ ।।
सखिभिर्न्यवसत् सार्धं व्याघ्राखुवृकबभ्रुभिः ।
तेऽपश्यन् विपिने तस्मिन् बलिनं मृगयूथपम् ।। २७ ।।
अशक्ता ग्रहणे तस्य ततो मन्त्रममन्त्रयन् ।

एक वनमें कोई बड़ा बुद्धिमान् और स्वार्थ साधनेमें कुशल गीदड़ अपने चार मित्रों—बाघ, चूहा, भेड़िया और नेवलेके साथ निवास करता था। एक दिन उन सबने हरिणोंके एक सरदारको देखा, जो बड़ा बलवान् था। वे सब उसे पकड़नेमें सफल न हो सके, अतः सबने मिलकर यह सलाह की ।। २६-२७½ ।।

जम्बुक उवाच

असकृद् यतितो ह्येष हन्तुं व्याघ्र वने त्वया ।। २८ ।।
युवा वै जवसम्पन्नो बुद्धिशाली न शक्यते ।
मूषिकोऽस्य शयानस्य चरणौ भक्षयत्वयम् ।। २९ ।।
यथैनं भक्षितैः पादैर्व्याघ्रो गृह्णातु वै ततः ।
ततो वै भक्षयिष्यामः सर्वे मुदितमानसाः ।। ३० ।।

गीदड़ने कहा—भाई बाघ! तुमने वनमें इस हरिणको मारनेके लिये कई बार यत्न किया, परंतु यह बड़े वेगसे दौड़नेवाला, जवान और बुद्धिमान् है, इसलिये पकड़में नहीं आता। मेरी राय है कि जब यह हरिण सो रहा हो, उस समय यह चूहा इसके दोनों पैरोंको काट खाये। (फिर कटे हुए पैरोंसे यह उतना तेज नहीं दौड़ सकता।) उस अवस्थामें बाघ उसे पकड़ ले; फिर तो हम सब लोग प्रसन्नचित्त होकर उसे खायँगे ।। २८—३० ।।

जम्बुकस्य तु तद् वाक्यं तथा चक्रुः समाहिताः ।
मूषिकाभक्षितैः पादैर्मृगं व्याघ्रोऽवधीत् तदा ।। ३१ ।।

गीदड़की वह बात सुनकर सबने सावधान होकर वैसा ही किया। चूहेके द्वारा काटे हुए पैरोंसे लड़खड़ाते हुए मृगको बाघने तत्काल ही मार डाला ।। ३१ ।।

दृष्ट्वैवाचेष्टमानं तु भूमौ मृगकलेवरम् ।
स्नात्वाऽऽगच्छत भद्रं वो रक्षामीत्याह जम्बुकः ।। ३२ ।।

पृथ्वीपर हरिणके शरीरको निश्चेष्ट पड़ा देख गीदड़ने कहा—‘आपलोगोंका भला हो। स्नान करके आइये। तबतक मैं इसकी रखवाली करता हूँ’ ।। ३२ ।।

शृगालवचनात् तेऽपि गताः सर्वे नदीं ततः ।
स चिन्तापरमो भूत्वा तस्थौ तत्रैव जम्बुकः ।। ३३ ।।

गीदड़के कहनेसे वे (बाघ आदि) सब साथी नदीमें (नहानेके लिये) चले गये। इधर वह गीदड़ किसी चिन्तामें निमग्न होकर वहीं खड़ा रहा ।। ३३ ।।

अथाजगाम पूर्वं तु स्नात्वा व्याघ्रो महाबलः ।
ददर्श जम्बुकं चैव चिन्ताकुलितमानसम् ।। ३४ ।।

इतनेमें ही महाबली बाघ स्नान करके सबसे पहले वहाँ लौट आया। आनेपर उसने देखा, गीदड़का चित्त चिन्तासे व्याकुल हो रहा है ।। ३४ ।।

व्याघ्र उवाच

किं शोचसि महाप्राज्ञ त्वं नो बुद्धिमतां वरः ।
अशित्वा पिशितान्यद्य विहरिष्यामहे वयम् ।। ३५ ।।

तब बाघने पूछा—महामते! क्यों सोचमें पड़े हो? हमलोगोंमें तुम्हीं सबसे बड़े बुद्धिमान् हो। आज इस हरिणका मांस खाकर हमलोग मौजसे घूमें-फिरेंगे ।। ३५ ।।

जम्बुक उवाच

शृणु मे त्वं महाबाहो यद् वाक्यं मूषिकोऽब्रवीत् ।
धिग् बलं मृगराजस्य मयाद्यायं मृगो हतः ।। ३६ ।।

गीदड़ बोला—महाबाहो! चूहेने (तुम्हारे विषयमें) जो बात कही है, उसे तुम मुझसे सुनो। वह कहता था, 'मृगोंके राजा बाघके बलको धिक्कार है! आज इस मृगको तो मैंने मारा है ।। ३६ ।।

मद्बाहुबलमाश्रित्य तृप्तिमद्य गमिष्यति ।
गर्जमानस्य तस्यैवमतो भक्ष्यं न रोचये ।। ३७ ।।

'मेरे बाहुबलका आश्रय लेकर आज वह अपनी भूख बुझायेगा।' उसने इस प्रकार गरज-गरजकर (घमंडभरी) बातें कहीं हैं, अतः उसकी सहायतासे प्राप्त हुए इस भोजनको ग्रहण करना मुझे अच्छा नहीं लगता ।। ३७ ।।

व्याघ्र उवाच

ब्रवीति यदि स ह्येवं काले ह्यस्मिन् प्रबोधितः ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य हनिष्येऽहं वनेचरान् ।। ३८ ।।
खादिष्ये तत्र मांसानि इत्युक्त्वा प्रस्थितो वनम् ।
एतस्मिन्नेव काले तु मूषिकोऽप्याजगाम ह ।। ३९ ।।
तमागतमभिप्रेत्य शृगालोऽप्यब्रवीद् वचः ।

बाघने कहा—यदि वह ऐसी बात कहता है, तब तो उसने इस समय मेरी आँखें खोल दीं—मुझे सचेत कर दिया। आजसे मैं अपने ही बाहुबलके भरोसे वन-जन्तुओंका वध किया करूँगा और उन्हींका मांस खाऊँगा।

यों कहकर बाघ वनमें चला गया। इसी समय चूहा भी (नहा-धोकर) वहाँ आ पहुँचा। उसे आया देख गीदड़ने कहा ।। ३८-३९$\frac{1}{2}$ ।।

जम्बुक उवाच

शृणु मूषिक भद्रं ते नकुलो यदिहाब्रवीत् ।। ४० ।।

गीदड़ बोला—चूहा भाई! तुम्हारा भला हो। नेवलेने यहाँ जो बात कही है, उसे सुन लो ।। ४० ।।

मृगमांसं न खादेयं गरमेतन्न रोचते ।
मूषिकं भक्षयिष्यामि तद् भवाननुमन्यताम् ।। ४१ ।।

वह कह रहा था कि 'बाघके काटनेसे इस हरिणका मांस जहरीला हो गया है, मैं तो इसे खाऊँगा नहीं; क्योंकि यह मुझे पसंद नहीं है। यदि तुम्हारी अनुमति हो तो मैं चूहेको ही खा लूँ' ।। ४१ ।।

तच्छ्रुत्वा मूषिको वाक्यं संत्रस्तः प्रगतो बिलम् ।

ततः स्नात्वा स वै तत्र आजगाम वृको नृप ।। ४२ ।।

यह बात सुनकर चूहा अत्यन्त भयभीत होकर बिलमें घुस गया। राजन्! तत्पश्चात् भेड़िया भी स्नान करके वहाँ आ पहुँचा ।। ४२ ।।

तमागतमिदं वाक्यमब्रवीज्जम्बुकस्तदा ।
मृगराजो हि संक्रुद्धो न ते साधु भविष्यति ।। ४३ ।।
सकलत्रस्त्विहायाति कुरुष्व यदनन्तरम् ।
एवं संचोदितस्तेन जम्बुकेन तदा वृकः ।। ४४ ।।
ततोऽवलुम्पनं कृत्वा प्रयातः पिशिताशनः ।
एतस्मिन्नेव काले तु नकुलोऽप्याजगाम ह ।। ४५ ।।

उसके आनेपर गीदड़ने इस प्रकार कहा—'भेड़िया भाई! आज बाघ तुमपर बहुत नाराज हो गया है, अतः तुम्हारी खैर नहीं; वह अभी बाघिनको साथ लेकर यहाँ आ रहा है। इसलिये अब तुम्हें जो उचित जान पड़े, वह करो।' गीदड़के इस प्रकार कहनेपर कच्चा मांस खानेवाला वह भेड़िया दुम दबाकर भाग गया। इतनेमें ही नेवला भी आ पहुँचा ।। ४३—४५ ।।

तमुवाच महाराज नकुलं जम्बुको वने ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य निर्जितास्तेऽन्यतो गताः ।। ४६ ।।
मम दत्त्वा नियुद्धं त्वं भुङ्क्ष्व मांसं यथेप्सितम् ।

महाराज! उस नेवलेसे गीदड़ने वनमें इस प्रकार कहा—'ओ नेवले! मैंने अपने बाहुबलका आश्रय ले उन सबको परास्त कर दिया है। वे हार मानकर अन्यत्र चले गये। यदि तुझमें हिम्मत हो तो पहले मुझसे लड़ ले; फिर इच्छानुसार मांस खाना' ।। ४६½ ।।

नकुल उवाच

मृगराजो वृकश्चैव बुद्धिमानपि मूषिकः ।। ४७ ।।
निर्जिता यत् त्वया वीरास्तस्माद् वीरतरो भवान् ।
न त्वयाप्युत्सहे योद्धुमित्युक्त्वा सोऽप्युपागमत् ।। ४८ ।।

नेवलेने कहा—जब बाघ, भेड़िया और बुद्धिमान् चूहा—ये सभी वीर तुमसे परास्त हो गये, तब तो तुम वीरशिरोमणि हो। मैं भी तुम्हारे साथ युद्ध नहीं कर सकता। यों कहकर नेवला भी चला गया ।। ४७-४८ ।।

कणिक उवाच

एवं तेषु प्रयातेषु जम्बुको हृष्टमानसः ।
खादति स्म तदा मांसमेकः सन् मन्त्रनिश्चयात् ।। ४९ ।।

कणिक कहते हैं—इस प्रकार उन सबके चले जानेपर अपनी युक्तिमें सफल हो जानेके कारण गीदड़का हृदय हर्षसे खिल उठा। तब उसने अकेले ही वह मांस

खाया ।। ४९ ।।

एवं समाचरन्नित्यं सुखमेधेत भूपतिः ।
भयेन भेदयेद् भीरुं शूरमञ्जलिकर्मणा ।। ५० ।।

राजन्! ऐसा ही आचरण करनेवाला राजा सदा सुखसे रहता और उन्नतिको प्राप्त होता है। डरपोकको भय दिखाकर फोड़ ले तथा जो अपनेसे शूरवीर हो, उसे हाथ जोड़कर वशमें करे ।। ५० ।।

लुब्धमर्थप्रदानेन समं न्यूनं तथौजसा ।
एवं ते कथितं राजञ्शृणु चाप्यपरं तथा ।। ५१ ।।

लोभीको धन देकर तथा बराबर और कमजोरको पराक्रमसे वशमें करे। राजन्! इस प्रकार आपसे नीतियुक्त बर्तावका वर्णन किया गया। अब दूसरी बातें सुनिये ।। ५१ ।।

पुत्रः सखा वा भ्राता वा पिता वा यदि वा गुरुः ।
रिपुस्थानेषु वर्तन्तो हन्तव्या भूतिमिच्छता ।। ५२ ।।

पुत्र, मित्र, भाई, पिता अथवा गुरु—कोई भी क्यों न हो, जो शत्रुके स्थानपर आ जायँ—शत्रुवत् बर्ताव करने लगें, तो उन्हें वैभव चाहनेवाला राजा अवश्य मार डाले ।। ५२ ।।

शपथेनाप्यरिं हन्यादर्थदानेन वा पुनः ।
विषेण मायया वापि नोपेक्षेत कथंचन ।
उभौ चेत् संशयोपेतौ श्रद्धावांस्तत्र वर्द्धते ।। ५३ ।।

सौगंध खाकर, धन अथवा जहर देकर या धोखेसे भी शत्रुको मार डाले। किसी तरह भी उसकी उपेक्षा न करे। यदि दोनों राजा समानरूपसे विजयके लिये यत्नशील हों और उनकी जीत संदेहास्पद जान पड़ती हो तो उनमें भी जो मेरे इस नीतिपूर्ण कथनपर श्रद्धा-विश्वास रखता है, वही उन्नतिको प्राप्त होता है ।। ५३ ।।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम् ।। ५४ ।।

यदि गुरु भी घमंडमें भरकर कर्तव्य और अकर्तव्यको न जानता हो तथा बुरे मार्गपर चलता हो तो उसे भी दण्ड देना उचित माना जाता है ।। ५४ ।।

क्रुद्धोऽप्यक्रुद्धरूपः स्यात् स्मितपूर्वाभिभाषिता ।
न चाप्यन्यमपध्वंसेत् कदाचित् कोपसंयुतः ।। ५५ ।।
प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहरन्नपि भारत ।
प्रहृत्य च कृपायीत शोचेत च रुदेत च ।। ५६ ।।

मनमें क्रोध भरा हो, तो भी ऊपरसे क्रोधशून्य बना रहे और मुसकराकर बातचीत करे। कभी क्रोधमें आकर किसी दूसरेका तिरस्कार न करे। भारत! शत्रुपर प्रहार करनेसे पहले और प्रहार करते समय भी उससे मीठे वचन ही बोले। शत्रुको मारकर भी उसके प्रति दया दिखाये, उसके लिये शोक करे तथा रोये और आँसू बहाये ।। ५५-५६ ।।

आश्वासयेच्चापि परं सान्त्वधर्मार्थवृत्तिभिः ।
अथास्य प्रहरेत् काले यदा विचलिते पथि ।। ५७ ।।

शत्रुको समझा-बुझाकर, धर्म बताकर, धन देकर और सद्व्यवहार करके आश्वासन दे—अपने प्रति उसके मनमें विश्वास उत्पन्न करे; फिर समय आनेपर ज्यों ही वह मार्गसे विचलित हो, त्यों ही उसपर प्रहार करे ।। ५७ ।।

अपि घोरापराधस्य धर्ममाश्रित्य तिष्ठतः ।
स हि प्रच्छाद्यते दोषः शैलो मेघैरिवासितैः ।। ५८ ।।

धर्मके आचरणका ढोंग करनेसे घोर अपराध करनेवालेका दोष भी उसी प्रकार ढक जाता है, जैसे पर्वत काले मेघोंकी घटासे ढक जाता है ।। ५८ ।।

यः स्यादनुप्राप्तवधस्तस्यागारं प्रदीपयेत् ।
अधनान् नास्तिकांश्चौरान् विषये स्वे न वासयेत् ।। ५९ ।।

जिसे शीघ्र ही मार डालनेकी इच्छा हो, उसके घरमें आग लगा दे। धनहीनों, नास्तिकों और चोरोंको अपने राज्यमें न रहने दे ।। ५९ ।।

प्रत्युत्थानासनाद्येन सम्प्रदानेन केनचित् ।
प्रतिविश्रब्धघाती स्यात् तीक्ष्णदंष्ट्रो निमग्नकः ।। ६० ।।

(शत्रुके) आनेपर उठकर अगवानी करे, आसन और भोजन दे और कोई प्रिय वस्तु भेंट करे। ऐसे बर्तावोंसे अपने प्रति जिसका पूर्ण विश्वास हो गया हो, उसे भी (अपने लाभके लिये) मारनेमें संकोच न करे। सर्पकी भाँति तीखे दाँतोंसे काटे, जिससे शत्रु फिर उठकर बैठ न सके ।। ६० ।।

अशङ्कितेभ्यः शङ्केत शङ्कितेभ्यश्च सर्वशः ।
अशङ्क्याद् भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति ।। ६१ ।।

जिनसे भय प्राप्त होनेका संदेह न हो, उनसे भी सशंक (चौकन्ना) ही रहे और जिनसे भयकी आशंका हो, उनकी ओरसे तो सब प्रकारसे सावधान रहे ही। जिनसे भयकी शंका नहीं है, ऐसे लोगोंसे यदि भय उत्पन्न होता है तो वह मूलोच्छेद कर डालता है ।। ६१ ।।

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ।। ६२ ।।

जो विश्वासपात्र नहीं है, उसपर कभी विश्वास न करे; परंतु जो विश्वासपात्र है, उसपर भी अति विश्वास न करे; क्योंकि अति विश्वाससे उत्पन्न होनेवाला भय राजाकी जड़मूलका भी नाश कर डालता है ।। ६२ ।।

चारः सुविहितः कार्य आत्मनश्च परस्य वा ।
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रेषु योजयेत् ।। ६३ ।।

भलीभाँति जाँच-परखकर अपने तथा शत्रुके राज्यमें गुप्तचर रखे। शत्रुके राज्यमें ऐसे गुप्तचरोंको नियुक्त करे, जो पाखण्ड-वेशधारी अथवा तपस्वी आदि हों ।। ६३ ।।

उद्यानेषु विहारेषु देवतायतनेषु च ।
पानागारेषु रथ्यासु सर्वतीर्थेषु चाप्यथ ।। ६४ ।।
चत्वरेषु च कूपेषु पर्वतेषु वनेषु च ।
समवायेषु सर्वेषु सरित्सु च विचारयेत् ।। ६५ ।।

उद्यान, घूमने-फिरनेके स्थान, देवालय, मद्यपानके अड्डे, गली या सड़क, सम्पूर्ण तीर्थस्थान, चौराहे, कुएँ, पर्वत, वन, नदी तथा जहाँ मनुष्योंकी भीड़ इकट्ठी होती हो, उन सभी स्थानोंमें अपने गुप्तचरोंको घुमाता रहे ।। ६४-६५ ।।

वाचा भृशं विनीतः स्याद् हृदयेन तथा क्षुरः ।
स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात् सृष्टो रौद्राय कर्मणे ।। ६६ ।।

राजा बातचीतमें अत्यन्त विनयशील हो, परंतु हृदय छूरेके समान तीखा बनाये रखे। अत्यन्त भयानक कर्म करनेके लिये उद्यत हो तो भी मुसकराकर ही वार्तालाप करे ।। ६६ ।।

अञ्जलिः शपथः सान्त्वं शिरसा पादवन्दनम् ।
आशाकरणमित्येवं कर्तव्यं भूतिमिच्छता ।। ६७ ।।

अवसर देखकर हाथ जोड़ना, शपथ खाना, आश्वासन देना, पैरोंपर मस्तक रखकर प्रणाम करना और आशा बँधाना—ये सब ऐश्वर्य-प्राप्तिकी इच्छावाले राजाके कर्तव्य हैं ।। ६७ ।।

सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरारुहः ।
आमः स्यात् पक्वसंकाशो न च जीर्येत कर्हिचित् ।। ६८ ।।

नीतिज्ञ राजा ऐसे वृक्षके समान रहे, जिसमें फूल तो खूब लगे हों परंतु फल न हों (वह बातोंसे लोगोंको फलकी आशा दिलाये, उसकी पूर्ति न करे)। फल लगनेपर भी उसपर चढ़ना अत्यन्त कठिन हो (लोगोंकी स्वार्थसिद्धिमें वह विघ्न डाले या विलम्ब करे)। वह रहे तो कच्चा, पर दीखे पकेके समान (अर्थात् स्वार्थ-साधकोंकी दुराशाको पूर्ण न होने दे)। कभी स्वयं जीर्ण न हो (तात्पर्य यह कि अपना धन खर्च करके शत्रुओंका पोषण करते हुए अपने-आपको निर्धन न बना दे) ।। ६८ ।।

त्रिवर्गे त्रिविधा पीडा ह्यनुबन्धस्तथैव च ।
अनुबन्धाः शुभा ज्ञेयाः पीडास्तु परिवर्जयेत् ।। ६९ ।।

धर्म, अर्थ और काम—इन त्रिविध पुरुषार्थोंके सेवनमें तीन प्रकारकी बाधा—अड़चन उपस्थित होती है*। उसी प्रकार उनके तीन ही प्रकारके फल होते हैं। (धर्मका फल है अर्थ एवं काम अर्थात् भोगकी प्राप्ति, अर्थका फल है धर्मका सेवन एवं भोगकी प्राप्ति और काम अर्थात् भोगका फल है—इन्द्रियतृप्ति।) इन (तीनों प्रकारके) फलोंको शुभ (वरणीय) जानना चाहिये; परंतु (उक्त तीनों प्रकारकी) बाधाओंसे यत्नपूर्वक बचना चाहिये। (त्रिविध

पुरुषार्थोंका सेवन इस प्रकार करना चाहिये कि तीनों एक-दूसरेके बाधक न हों अर्थात् जीवनमें तीनोंका सामंजस्य ही सुखदायक है।) ।। ६९ ।।

धर्मं विचरतः पीडा सापि द्वाभ्यां नियच्छति ।
अर्थं चाप्यर्थलुब्धस्य कामं चातिप्रवर्तिनः ।। ७० ।।

धर्मका अनुष्ठान करनेवाले धर्मात्मा पुरुषके धर्ममें काम और अर्थ—इन दोनोंके द्वारा प्राप्त होनेवाली पीड़ा बाधा पहुँचाती है। इसी प्रकार अर्थलोभीके अर्थमें और अत्यन्त भोगासक्तके काममें भी शेष दो वर्गोंद्वारा प्राप्त होनेवाली पीड़ा बाधा उपस्थित करती है ।। ७० ।।

अगर्वितात्मा युक्तश्च सान्त्वयुक्तोऽनसूयिता ।
अवेक्षितार्थः शुद्धात्मा मन्त्रयीत द्विजैः सह ।। ७१ ।।

राजा अपने हृदयसे अहंकारको निकाल दे। चित्तको एकाग्र रखे। सबसे मधुर बोले। दूसरोंके दोष प्रकाशित न करे। सब विषयोंपर दृष्टि रखे और शुद्धचित्त हो द्विजोंके साथ बैठकर मन्त्रणा करे ।। ७१ ।।

कर्मणा येन केनैव मृदुना दारुणेन च ।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ।। ७२ ।।

राजा यदि संकटमें हो तो कोमल या भयंकर—जिस किसी भी कर्मके द्वारा उस दुरवस्थासे अपना उद्धार करे; फिर समर्थ होनेपर धर्मका आचरण करे ।। ७२ ।।

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ।। ७३ ।।

कष्ट सहे बिना मनुष्य कल्याणका दर्शन नहीं करता। प्राण-संकटमें पड़कर यदि वह पुनः जीवित रह जाता है तो अपना भला देखता है ।। ७३ ।।

यस्य बुद्धिः परिभवेत् तमतीतेन सान्त्वयेत् ।
अनागतेन दुर्बुद्धिं प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम् ।। ७४ ।।

जिसकी बुद्धि संकटमें पड़कर शोकाभिभूत हो जाय, उसे भूतकालकी बातें (राजा नल तथा श्रीरामचन्द्रजी आदिके जीवनका वृत्तान्त) सुनाकर सान्त्वना दे। जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं है, उसे भविष्यमें लाभकी आशा दिलाकर तथा विद्वान् पुरुषको तत्काल ही धन आदि देकर शान्त करे ।। ७४ ।।

योऽरिणा सह संधाय शयीत कृतकृत्यवत् ।
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ।। ७५ ।।

जैसे वृक्षके ऊपरकी शाखापर सोया हुआ पुरुष जब गिरता है, तब होशमें आता है उसी प्रकार जो अपने शत्रुके साथ संधि करके कृतकृत्यकी भाँति सोता (निश्चिन्त हो जाता) है, वह शत्रुसे धोखा खानेपर सचेत होता है ।। ७५ ।।

मन्त्रसंवरणे यत्नः सदा कार्योऽनसूयता ।

आकारमभिरक्षेत चारेणाप्यनुपालितः ।। ७६ ।।

राजाको चाहिये कि वह दूसरोंके दोष प्रकाशित न करके अपनी गुप्त मन्त्रणाको सदा छिपाये रखनेकी चेष्टा करे। दूसरोंके गुप्तचरोंसे तो अपने आकारतकको (क्रोध और हर्ष आदिको सूचित करनेवाली चेष्टातकको) गुप्त रखे; परंतु अपने गुप्तचरसे भी सदा अपनी गुप्त मन्त्रणाकी रक्षा करे ।। ७६ ।।

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ।। ७७ ।।

राजा मछलीमारोंकी भाँति दूसरोंके मर्म विदीर्ण किये बिना, अत्यन्त क्रूर कर्म किये बिना तथा बहुतोंके प्राण लिये बिना बड़ी भारी सम्पत्ति नहीं पाता ।। ७७ ।।

कर्शितं व्याधितं क्लिन्नमपानीयमघासकम् ।
परिविश्वस्तमन्दं च प्रहर्तव्यमरेर्बलम् ।। ७८ ।।

जब शत्रुकी सेना दुर्बल, रोगग्रस्त, जल या कीचड़में फँसी, भूख-प्याससे पीड़ित और सब ओरसे विश्वस्त होकर निश्चेष्ट पड़ी हो, उस समय उसपर प्रहार करना चाहिये ।। ७८ ।।

नार्थिकोऽर्थिनमभ्येति कृतार्थे नास्ति संगतम् ।
तस्मात् सर्वाणि साध्यानि सावशेषाणि कारयेत् ।। ७९ ।।

धनवान् मनुष्य किसी धनीके पास नहीं जाता। जिसके सब काम पूरे हो चुके हैं, वह किसीके साथ मैत्री निभानेकी चेष्टा नहीं करता; अतः अपनेद्वारा सिद्ध होनेवाले दूसरोंके कार्य ही अधूरे रख दे (जिससे अपने कार्यके लिये उनका आना-जाना बना रहे) ।। ७९ ।।

संग्रहे विग्रहे चैव यत्नः कार्योऽनसूयता ।
उत्साहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता ।। ८० ।।

ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले राजाको दूसरोंके दोष न बताकर सदा आवश्यक सामग्रीके संग्रह और शत्रुओंके साथ विग्रह (युद्ध) करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये; साथ ही यत्नपूर्वक अपने उत्साहको बनाये रखना चाहिये ।। ८० ।।

नास्य कृत्यानि बुध्येरन् मित्राणि रिपवस्तथा ।
आरब्धान्येव पश्येरन् सुपर्यवसितान्यपि ।। ८१ ।।

मित्र और शत्रु—किसीको भी यह पता न चले कि राजा कब क्या करना चाहता है। कार्यके आरम्भ अथवा समाप्त हो जानेपर ही (सब) लोग उसे देखें ।। ८१ ।।

भीतवत् संविधातव्यं यावद् भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ।। ८२ ।।

जबतक अपने ऊपर भय आया न हो, तबतक डरे हुएकी भाँति उसको टालनेका प्रयत्न करना चाहिये; परंतु जब भयको सामने आया देखे, तब निडर होकर शत्रुपर प्रहार करना चाहिये ।। ८२ ।।

दण्डेनोपनतं शत्रुमनुगृह्णाति यो नरः ।

स मृत्युमुपगृह्णीयाद् गर्भमश्वतरी यथा ।। ८३ ।।

जो मनुष्य दण्डके द्वारा वशमें किये हुए शत्रुपर दया करता है, वह मौतको ही अपनाता है—ठीक उसी तरह जैसे खच्चरी गर्भके रूपमें अपनी मृत्युको ही उदरमें धारण करती है ।। ८३ ।।

अनागतं हि बुध्येत यच्च कार्यं पुरः स्थितम् ।
न तु बुद्धिक्षयात् किंचिदतिक्रामेत् प्रयोजनम् ।। ८४ ।।

जो कार्य भविष्यमें करना हो, उसपर बुद्धिसे विचार करे और विचारनेके पश्चात् तदनुकूल व्यवस्था करे। इसी प्रकार जो कार्य सामने उपस्थित हो, उसे भी बुद्धिसे विचारकर ही करे। बुद्धिसे निश्चय किये बिना किसी भी कार्य या उद्देश्यका परित्याग न करे ।। ८४ ।।

उत्साहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता ।
विभज्य देशकालौ च दैवं धर्मादयस्त्रयः ।
नैःश्रेयसौ तु तौ ज्ञेयौ देशकालाविति स्थितिः ।। ८५ ।।

ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले राजाको देश और कालका विभाग करके ही यत्नपूर्वक उत्साह एवं उद्यम करना चाहिये। इसी प्रकार देश-कालके विभाग-पूर्वक ही प्रारब्धकर्म तथा धर्म, अर्थ और कामका सेवन करना चाहिये। देश और कालको ही मंगलके प्रधान हेतु समझना चाहिये। यही नीतिशास्त्रका सिद्धान्त है ।। ८५ ।।

तालवत् कुरुते मूलं बालः शत्रुरुपेक्षितः ।
गहनेऽग्निरिवोत्सृष्टः क्षिप्रं संजायते महान् ।। ८६ ।।

छोटे शत्रुकी भी उपेक्षा कर दी जाय, तो वह ताड़के वृक्षकी भाँति जड़ जमा लेता है और घने वनमें छोड़ी हुई आगकी भाँति शीघ्र ही महान् विनाशकारी बन जाता है ।। ८६ ।।

अग्निं स्तोकमिवात्मानं संधुक्षयति यो नरः ।
स वर्धमानो ग्रसते महान्तमपि संचयम् ।। ८७ ।।

जो मनुष्य थोड़ी-सी अग्निकी भाँति अपने-आपको (सहायक सामग्रियोंद्वारा धीरे-धीरे) प्रज्वलित या समृद्ध करता रहता है, वह एक दिन बहुत बड़ा होकर शत्रुरूपी ईंधनकी बहुत बड़ी राशिको भी अपना ग्रास बना लेता है ।। ८७ ।।

आशां कालवतीं कुर्यात् कालं विघ्नेन योजयेत् ।
विघ्नं निमित्ततो ब्रूयान्निमित्तं वापि हेतुतः ।। ८८ ।।

यदि किसीको किसी बातकी आशा दे तो उसे शीघ्र पूरी न करके दीर्घकालतक लटकाये रखे। जब उसे पूर्ण करनेका समय आये, तब उसमें कोई विघ्न डाल दे और इस प्रकार समयकी अवधिको बढ़ा दे। उस विघ्नके पड़नेमें कोई उपयुक्त कारण बता दे और उस कारणको भी युक्तियोंसे सिद्ध कर दे ।। ८८ ।।

क्षुरो भूत्वा हरेत् प्राणान् निशितः कालसाधनः ।

प्रतिच्छन्नो लोमहारी द्विषतां परिकर्तनः ।। ८९ ।।

लोहेका बना हुआ छूरा शानपर चढ़ाकर तेज किया जाता है और चमड़ेके सम्पुटमें छिपाकर रखा जाता है तो वह समय आनेपर (सिर आदि अंगोंके समस्त) बालोंको काट देता है। उसी प्रकार राजा अनुकूल अवसरकी अपेक्षा रखकर अपने मनोभावको छिपाये हुए अनुकूल साधनोंका संग्रह करता रहे और छूरेकी तरह तीक्ष्ण या निर्दय होकर शत्रुओंके प्राण ले ले—उनका मूलोच्छेद कर डाले ।। ८९ ।।

पाण्डवेषु यथान्यायमन्येषु च कुरूद्वह ।
वर्तमानो न मज्जेस्त्वं तथा कृत्यं समाचर ।। ९० ।।
सर्वकल्याणसम्पन्नो विशिष्ट इति निश्चयः ।
तस्मात् त्वं पाण्डुपुत्रेभ्यो रक्षात्मानं नराधिप ।। ९१ ।।

कुरुश्रेष्ठ! आप भी इसी नीतिका अनुसरण करके पाण्डवों तथा दूसरे लोगोंके साथ यथोचित बर्ताव करते रहें। परंतु ऐसा कार्य करें, जिससे स्वयं संकटके समुद्रमें डूब न जायँ। आप समस्त कल्याणकारी साधनोंसे सम्पन्न और सबसे श्रेष्ठ हैं, यही सबका निश्चय है; अतः नरेश्वर! आप पाण्डुके पुत्रोंसे अपनी रक्षा कीजिये ।। ९०-९१ ।।

भ्रातृव्या बलिनो यस्मात् पाण्डुपुत्रा नराधिप ।
पश्चात्तापो यथा न स्यात् तथा नीतिर्विधीयताम् ।। ९२ ।।

राजन्! आपके भतीजे पाण्डव बहुत बलवान् हैं; अतः ऐसी नीति काममें लाइये, जिससे आगे चलकर आपको पछताना न पड़े ।। ९२ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सम्प्रतस्थे कणिकः स्वगृहं ततः ।
धृतराष्ट्रोऽपि कौरव्यः शोकार्तः समपद्यत ।। ९३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यों कहकर कणिक अपने घरको चले गये। इधर कुरुवंशी धृतराष्ट्र शोकसे व्याकुल हो गये ।। ९३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कणिकवाक्ये एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कणिकवाक्यविषयक एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३९ ।।

---

१. तीन प्रकारकी शक्तियाँ ही यहाँ त्रिवर्ग कही गयी हैं। उनके नाम ये हैं—प्रभुशक्ति (ऐश्वर्यशक्ति), उत्साहशक्ति और मन्त्रशक्ति। दुर्ग आदिपर आक्रमण करके शत्रुकी ऐश्वर्यशक्तिका नाश करे। विश्वसनीय व्यक्तियोंद्वारा अपने उत्कर्षका वर्णन कराकर शत्रुको तेजोहीन बनाना, उसके उत्साह एवं साहसको घटा देना ही उत्साहशक्तिका नाश करना है। गुप्तचरोंद्वारा उनकी गुप्त मन्त्रणाको प्रकट कर देना ही मन्त्रशक्तिका नाश करना है।

२. अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और सेना—ये पाँच प्रकृतियाँ ही पंचवर्ग हैं।

३. साम, दान, भेद, दण्ड, उद्‌बन्धन, विषप्रयोग और आग लगाना—शत्रुको वशमें करने या दबानेके ये सात साधन ही सप्तवर्ग हैं।

* इन बाधाओंको श्लोक ७० में स्पष्ट किया गया है।

(जतुगृहपर्व)

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके प्रति पुरवासियोंका अनुराग देखकर दुर्योधनकी चिन्ता

वैशम्पायन उवाच

ततः सुबलपुत्रस्तु राजा दुर्योधनश्च ह ।
दुःशासनश्च कर्णश्च दुष्टं मन्त्रममन्त्रयन् ।। १ ।।
ते कौरव्यमनुज्ञाप्य धृतराष्ट्रं नराधिपम् ।
दहने तु सपुत्रायाः कुन्त्या बुद्धिमकारयन् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सुबलपुत्र शकुनि, राजा दुर्योधन, दुःशासन और कर्णने (आपसमें) एक दुष्टतापूर्ण गुप्त सलाह की। उन्होंने कुरुनन्दन महाराज धृतराष्ट्रसे आज्ञा लेकर पुत्रोंसहित कुन्तीको आगमें जला डालनेका विचार किया ।। १-२ ।।

तेषामिङ्गितभावज्ञो विदुरस्तत्त्वदर्शिवान् ।
आकारेण च तं मन्त्रं बुबुधे दुष्टचेतसाम् ।। ३ ।।

तत्वज्ञानी विदुर उनकी चेष्टाओंसे उनके मनका भाव समझ गये और उनकी आकृतिसे ही उन दुष्टोंकी गुप्त मन्त्रणाका भी उन्होंने पता लगा लिया ।। ३ ।।

ततो विदितवेद्यात्मा पाण्डवानां हिते रतः ।
पलायने मतिं चक्रे कुन्त्याः पुत्रैः सहानघः ।। ४ ।।

विदुरजीने मन-ही-मन जाननेयोग्य सभी बातें जान लीं। वे सदा पाण्डवोंके हितमें संलग्न रहते थे, अतः निष्पाप विदुरने यही निश्चय किया कि कुन्ती अपने पुत्रोंके साथ यहाँसे भाग जाय ।। ४ ।।

ततो वातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम् ।
ऊर्मिक्षमां दृढां कृत्वा कुन्तीमिदमुवाच ह ।। ५ ।।

उन्होंने एक सुदृढ़ नाव बनवायी, जिसे चलानेके लिये उसमें यन्त्र* लगाया गया था। वह वायुके वेग और लहरोंके थपेड़ोंका सामना करनेमें समर्थ थी। उसमें झंडियाँ और पताकाएँ फहरा रही थीं। उस नावको तैयार कराके विदुरजीने कुन्तीसे कहा— ।। ५ ।।

एष जातः कुलस्यास्य कीर्तिवंशप्रणाशनः ।
धृतराष्ट्रः परीतात्मा धर्मं त्यजति शाश्वतम् ।। ६ ।।
इयं वारिपथे युक्ता तरङ्गपवनक्षमा ।
नौर्यया मृत्युपाशात् त्वं सपुत्रा मोक्ष्यसे शुभे ।। ७ ।।

'देवि! राजा धृतराष्ट्र इस कुरुकुलकी कीर्ति एवं वंशपरम्पराका नाश करनेवाले पैदा हुए हैं। इनका चित्त पुत्रोंके प्रति ममतासे व्याप्त हुआ है, इसलिये ये सनातन धर्मका त्याग कर रहे हैं। शुभे! जलके मार्गमें यह नाव तैयार है, जो हवा और लहरोंके वेगको भलीभाँति सह सकती है। इसीके द्वारा (कहीं अन्यत्र जाकर) तुम पुत्रोंसहित मौतकी फाँसीसे छूट सकोगी' ।। ६-७ ।।

तच्छ्रुत्वा व्यथिता कुन्ती पुत्रैः सह यशस्विनी ।
नावमारुह्य गङ्गायां प्रययौ भरतर्षभ ।। ८ ।।

भरतश्रेष्ठ! यह बात सुनकर यशस्विनी कुन्तीको बड़ी व्यथा हुई। वे पुत्रोंसहित (वारणावतके लाक्षागृहसे बचकर) नावपर जा चढ़ीं और गंगाजीकी धारापर यात्रा करने लगीं ।। ८ ।।

ततो विदुरवाक्येन नावं विक्षिप्य पाण्डवाः ।
धनं चादाय तैर्दत्तमरिष्टं प्राविशन् वनम् ।। ९ ।।

तदनन्तर विदुरजीके कहनेसे पाण्डवोंने नावको वहीं डुबा दिया और उन कौरवोंके दिये हुए धनको लेकर विघ्न-बाधाओंसे रहित वनमें प्रवेश किया ।। ९ ।।

निषादी पञ्चपुत्रा तु जातुषे तत्र वेश्मनि ।
कारणाभ्यागता दग्धा सह पुत्रैरनागसा ।। १० ।।

वारणावतके उस लाक्षागृहमें निषाद जातिकी एक स्त्री किसी कारणवश अपने पाँच पुत्रोंके साथ आकर ठहर गयी थी। वह बेचारी निरपराध होनेपर भी उसमें पुत्रोंसहित जलकर भस्म हो गयी ।। १० ।।

स च म्लेच्छाधमः पापो दग्धस्तत्र पुरोचनः ।
वञ्चिताश्च दुरात्मानो धार्तराष्ट्राः सहानुगाः ।। ११ ।।

म्लेच्छोंमें (भी) नीच पापी पुरोचन भी उसी घरमें जल मरा और धृतराष्ट्रके दुरात्मा पुत्र अपने सेवकोंसहित धोखा खा गये ।। ११ ।।

अविज्ञाता महात्मानो जनानामक्षतास्तथा ।
जनन्या सह कौन्तेया मुक्ता विदुरमन्त्रिताः ।। १२ ।।

विदुरकी सलाहके अनुसार काम करनेवाले महात्मा कुन्तीपुत्र अपनी माताके साथ मृत्युसे बच गये। उन्हें किसी प्रकारकी क्षति नहीं पहुँची। साधारण लोगोंको उनके जीवित रहनेकी बात ज्ञात न हो सकी ।। १२ ।।

ततस्तस्मिन् पुरे लोका नगरे वारणावते ।

दृष्ट्वा जतुगृहं दग्धमन्वशोचन्त दुःखिताः ।। १३ ।।

तदनन्तर वारणावत नगरमें वहाँके लोगोंने लाक्षागृहको दग्ध हुआ देख (अत्यन्त) दुःखी हो पाण्डवोंके लिये (बड़ा) शोक किया ।। १३ ।।

राज्ञे च प्रेषयामासुर्यथावृत्तं निवेदितुम् ।
संवृत्तस्ते महान् कामः पाण्डवान् दग्धवानसि ।। १४ ।।
सकामो भव कौरव्य भुङ्क्ष्व राज्यं सपुत्रकः ।
तच्छ्रुत्वा धृतराष्ट्रस्तु सह पुत्रेण शोचयन् ।। १५ ।।

तथा राजा धृतराष्ट्रके पास यथावत् समाचार कहनेके लिये किसीको भेजकर कहलाया—'कुरुनन्दन! तुम्हारा महान् मनोरथ पूरा हो गया। पाण्डवोंको तुमने जला दिया। अब तुम कृतार्थ हो जाओ और पुत्रोंके साथ राज्य भोगो।' यह सुनकर पुत्रसहित धृतराष्ट्र शोकमग्न हो गये ।। १४-१५ ।।

प्रेतकार्याणि च तथा चकार सह बान्धवैः ।
पाण्डवानां तथा क्षत्ता भीष्मश्च कुरुसत्तमः ।। १६ ।।

उन्होंने, विदुरजीने तथा कुरुकुलशिरोमणि भीष्मजीने भी भाई-बन्धुओंके साथ (पुत्तल-विधिसे) पाण्डवोंके प्रेतकार्य (दाह और श्राद्ध आदि) सम्पन्न किये ।। १६ ।।

जनमेजय उवाच

पुनर्विस्तरशः श्रोतुमिच्छामि द्विजसत्तम ।
दाहं जतुगृहस्यैव पाण्डवानां च मोक्षणम् ।। १७ ।।

जनमेजय बोले—विप्रवर! मैं लाक्षागृहके जलने और पाण्डवोंके उससे बच जानेका वृत्तान्त पुनः विस्तारसे सुनना चाहता हूँ ।। १७ ।।

सुनृशंसमिदं कर्म तेषां क्रूरोपसंहितम् ।
कीर्तयस्व यथावृत्तं परं कौतूहलं मम ।। १८ ।।

क्रूर कणिकके उपदेशसे किया हुआ कौरवोंका यह कर्म अत्यन्त निर्दयतापूर्ण था। आप उसका ठीक-ठीक वर्णन कीजिये। मुझे यह सब सुननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

शृणु विस्तरशो राजन् वदतो मे परंतप ।
दाहं जतुगृहस्यैतत् पाण्डवानां च मोक्षणम् ।। १९ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! मैं लाक्षागृहके जलने और पाण्डवोंके उससे बच जानेका वृत्तान्त विस्तारपूर्वक कहता हूँ, सुनो ।। १९ ।।

प्राणाधिकं भीमसेनं कृतविद्यं धनंजयम् ।
दुर्योधनो लक्षयित्वा पर्यतप्यत दुर्मनाः ।। २० ।।

भीमसेनको सबसे अधिक बलवान् और अर्जुनको अस्त्र-विद्यामें सबसे श्रेष्ठ देखकर दुर्योधन सदा संतप्त होता रहता था। उसके मनमें बड़ा दुःख था ।। २० ।।

ततो वैकर्तनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
अनेकैरभ्युपायैस्ते जिघांसन्ति स्म पाण्डवान् ।। २१ ।।

तब सूर्यपुत्र कर्ण और सुबलकुमार शकुनि आदि अनेक उपायोंसे पाण्डवोंको मार डालनेकी इच्छा करने लगे ।। २१ ।।

पाण्डवा अपि तत् सर्वं प्रतिचक्रुर्यथागतम् ।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः ।। २२ ।।

पाण्डवोंने भी जब जैसा संकट आया, सबका निवारण किया और विदुरकी सलाह मानकर वे कौरवोंके षड्यन्त्रका कभी भंडाफोड़ नहीं करते थे ।। २२ ।।

गुणैः समुदितान् दृष्ट्वा पौराः पाण्डुसुतांस्तदा ।
कथयांचक्रिरे तेषां गुणान् संसत्सु भारत ।। २३ ।।

भारत! उन दिनों पाण्डवोंको सर्वगुणसम्पन्न देख नगरके निवासी भरी सभाओंमें उनके सद्‌गुणोंकी प्रशंसा करते थे ।। २३ ।।

राज्यप्राप्तिं च सम्प्राप्तं ज्येष्ठं पाण्डुसुतं तदा ।
कथयन्ति स्म सम्भूय चत्वरेषु सभासु च ।। २४ ।।

वे जहाँ कहीं चौराहोंपर और सभाओंमें इकट्ठे होते वहीं पाण्डुके ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरको राज्यप्राप्तिके योग्य बताते थे ।। २४ ।।

प्रज्ञाचक्षुरचक्षुष्ट्वाद् धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
राज्यं न प्राप्तवान् पूर्वं स कथं नृपतिर्भवेत् ।। २५ ।।

वे कहते, ‘प्रज्ञाचक्षु महाराज धृतराष्ट्र नेत्रहीन होनेके कारण जब पहले ही राज्य न पा सके, तब (अब) वे कैसे राजा हो सकते हैं ।। २५ ।।

तथा शांतनवो भीष्मः सत्यसंधो महाव्रतः ।
प्रत्याख्याय पुरा राज्यं न स जातु ग्रहीष्यति ।। २६ ।।

‘महान् व्रतका पालन करनेवाले शंतनुनन्दन भीष्म तो सत्यप्रतिज्ञ हैं। वे पहले ही राज्य ठुकरा चुके हैं, अतः अब उसे कदापि ग्रहण न करेंगे ।। २६ ।।

ते वयं पाण्डवज्येष्ठं तरुणं वृद्धशीलिनम् ।
अभिषिञ्चाम साध्वद्य सत्यकारुण्यवेदिनम् ।। २७ ।।

‘पाण्डवोंके बड़े भाई युधिष्ठिर यद्यपि अभी तरुण हैं, तो भी उनका शील-स्वभाव वृद्धोंके समान है। वे सत्यवादी, दयालु और वेदवेत्ता हैं; अतः अब हमलोग उन्हींका विधिपूर्वक राज्याभिषेक करें ।। २७ ।।

स हि भीष्मं शांतनवं धृतराष्ट्रं च धर्मवित् ।
सपुत्रं विविधैर्भोगैर्योजयिष्यति पूजयन् ।। २८ ।।

'महाराज युधिष्ठिर बड़े धर्मज्ञ हैं। वे शंतनुनन्दन भीष्म तथा पुत्रोंसहित धृतराष्ट्रका आदर करते हुए उन्हें नाना प्रकारके भोगोंसे सम्पन्न रखेंगे' ।। २८ ।।

तेषां दुर्योधनः श्रुत्वा तानि वाक्यानि जल्पताम् ।
युधिष्ठिरानुरक्तानां पर्यतप्यत दुर्मतिः ।। २९ ।।

युधिष्ठिरमें अनुरक्त हो उपर्युक्त उद्गार प्रकट करनेवाले लोगोंकी बातें सुनकर खोटी बुद्धिवाला दुर्योधन भीतर-ही-भीतर जलने लगा ।। २९ ।।

स तप्यमानो दुष्टात्मा तेषां वाचो न चक्षमे ।
ईर्ष्यया चापि संतप्तो धृतराष्ट्रमुपागमत् ।। ३० ।।

इस प्रकार संतप्त हुआ वह दुष्टात्मा लोगोंकी बातोंको सहन न कर सका। वह ईर्ष्याकी आगसे जलता हुआ धृतराष्ट्रके पास आया ।। ३० ।।

ततो विरहितं दृष्ट्वा पितरं प्रतिपूज्य सः ।
पौरानुरागसंतप्तः पश्चादिदमभाषत ।। ३१ ।।

वहाँ अपने पिताको अकेला पाकर पुरवासियोंके युधिष्ठिरविषयक अनुरागसे दुःखी हुए दुर्योधनने पहले पिताके प्रति आदर प्रदर्शित किया। तत्पश्चात् इस प्रकार कहा ।। ३१ ।।

दुर्योधन उवाच

श्रुता मे जल्पतां तात पौराणामशिवा गिरः ।
त्वामनादृत्य भीष्मं च पतिमिच्छन्ति पाण्डवम् ।। ३२ ।।

दुर्योधन बोला—'पिताजी! मैंने परस्पर वार्तालाप करते हुए पुरवासियोंके मुखसे (बड़ी) अशुभ बातें सुनी हैं। वे आपका और भीष्मजीका अनादर करके पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको राजा बनाना चाहते हैं ।। ३२ ।।

मतमेतच्च भीष्मस्य न स राज्यं बुभुक्षति ।
अस्माकं तु परां पीडां चिकीर्षन्ति पुरे जनाः ।। ३३ ।।

भीष्मजी तो इस बातको मान लेंगे; क्योंकि वे स्वयं राज्य भोगना नहीं चाहते। परंतु नगरके लोग हमारे लिये बहुत बड़े कष्टका आयोजन करना चाहते हैं ।। ३३ ।।

पितृतः प्राप्तवान् राज्यं पाण्डुरात्मगुणैः पुरा ।
त्वमन्धगुणसंयोगात् प्राप्तं राज्यं न लब्धवान् ।। ३४ ।।

पाण्डुने अपने सद्‌गुणोंके कारण पितासे राज्य प्राप्त कर लिया और आप अंधे होनेके कारण अधिकारप्राप्त राज्यको भी नहीं पा सके ।। ३४ ।।

स एष पाण्डोर्दायाद्यं यदि प्राप्नोति पाण्डवः ।
तस्य पुत्रो ध्रुवं प्राप्तस्तस्य तस्यापि चापरः ।। ३५ ।।

यदि ये पाण्डुकुमार युधिष्ठिर पाण्डुके राज्यको, जिसका उत्तराधिकारी पुत्र ही होता है, प्राप्त कर लेते हैं तो निश्चय ही उनके बाद उनका पुत्र ही इस राज्यका अधिकारी होगा और

उसके बाद पुनः उसीकी पुत्रपरम्परामें दूसरे-दूसरे लोग इसके अधिकारी होते जायँगे ।। ३५ ।।

ते वयं राजवंशेन हीनाः सह सुतैरपि ।
अवज्ञाता भविष्यामो लोकस्य जगतीपते ।। ३६ ।।

महाराज! ऐसी दशामें हमलोग अपने पुत्रोंसहित राजपरम्परासे वंचित होनेके कारण सब लोगोंकी अव-हेलनाके पात्र बन जायँगे ।। ३६ ।।

सततं निरयं प्राप्ताः परपिण्डोपजीविनः ।
न भवेम यथा राजंस्तथा नीतिर्विधीयताम् ।। ३७ ।।

राजन्! आप कोई ऐसी नीति काममें लाइये, जिससे हमें दूसरोंके दिये हुए अन्नसे गुजारा करके सदा नरकतुल्य कष्ट न भोगना पड़े ।। ३७ ।।

यदि त्वं हि पुरा राजन्निदं राज्यमवाप्तवान् ।
ध्रुवं प्राप्स्याम च वयं राज्यमप्यवशे जने ।। ३८ ।।

राजन्! यदि पहले ही आपने यह राज्य पा लिया होता तो आज हम अवश्य ही इसे प्राप्त कर लेते; फिर तो लोगोंका कोई वश नहीं चलता ।। ३८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि दुर्योधनेर्ष्यायां चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें दुर्योधनकी ईर्ष्याविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४० ।।

---

* इससे महाभारतकालमें यन्त्रयुक्त नौकाओं (जहाजों)-का निर्माण सूचित होता है।

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रसे पाण्डवोंको वारणावत भेज देनेका प्रस्ताव

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा तु पुत्रस्य प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
कणिकस्य च वाक्यानि तानि श्रुत्वा स सर्वशः ।। १ ।।
धृतराष्ट्रो द्विधाचित्तः शोकार्तः समपद्यत ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिः सौबलस्तथा ।। २ ।।
दुःशासनचतुर्थास्ते मन्त्रयामासुरेकतः ।
ततो दुर्योधनो राजा धृतराष्ट्रमभाषत ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अपने पुत्रकी यह बात सुनकर तथा कणिकके उन वचानोंका स्मरण करके प्रज्ञाचक्षु महाराज धृतराष्ट्रका चित्त सब प्रकारसे दुविधामें पड़ गया। वे शोकसे आतुर हो गये। दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा चौथे दुःशासन इन सबने एक जगह बैठकर सलाह की; फिर राजा दुर्योधनने धृतराष्ट्रसे कहा— ।। १—३ ।।

पाण्डवेभ्यो भयं न स्यात् तान् विवासयतां भवान् ।
निपुणेनाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ।। ४ ।।

'पिताजी! हमें पाण्डवोंसे भय न हो, इसलिये आप किसी उत्तम उपायसे उन्हें यहाँसे हटाकर वारणावत नगरमें भेज दीजिये' ।। ४ ।।

धृतराष्ट्रस्तु पुत्रेण श्रुत्वा वचनमीरितम् ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य दुर्योधनमथाब्रवीत् ।। ५ ।।

अपने पुत्रकी कही हुई यह बात सुनकर धृतराष्ट्र दो घड़ीतक भारी चिन्तामें पड़े रहे; फिर दुर्योधनसे बोले ।। ५ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मनित्यः सदा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः ।
सर्वेषु ज्ञातिषु तथा मयि त्वासीद् विशेषतः ।। ६ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा! पाण्डु अपने जीवनभर धर्मको ही नित्य मानकर सम्पूर्ण ज्ञातिजनोंके साथ धर्मानुकूल व्यवहार ही करते थे; मेरे प्रति तो विशेषरूपसे ।। ६ ।।

नासौ किंचिद् विजानाति भोजनादि चिकीर्षितम् ।
निवेदयति नित्यं हि मम राज्यं धृतव्रतः ।। ७ ।।

वे इतने भोले-भाले थे कि अपने स्नान-भोजन आदि अभीष्ट कर्तव्योंके सम्बन्धमें भी कुछ नहीं जानते थे। वे उत्तम व्रतका पालन करते हुए प्रतिदिन मुझसे यही कहते थे कि 'यह राज्य तो आपका ही है' ।। ७ ।।

तस्य पुत्रो यथा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः ।
गुणवाँल्लोकविख्यातः पौरवाणां सुसम्मतः ।। ८ ।।

उनके पुत्र युधिष्ठिर भी वैसे ही धर्मपरायण हैं, जैसे स्वयं पाण्डु थे। वे उत्तम गुणोंसे सम्पन्न, सम्पूर्ण जगत्‌में विख्यात तथा पूरुवंशियोंके अत्यन्त प्रिय हैं ।। ८ ।।

स कथं शक्यतेऽस्माभिरपाकर्तुं बलादितः ।
पितृपैतामहाद् राज्यात् ससहायो विशेषतः ।। ९ ।।

फिर उन्हें उनके बाप-दादोंके राज्यसे बलपूर्वक कैसे हटाया जा सकता है? विशेषतः ऐसे समयमें, जब कि उनके सहायक अधिक हैं ।। ९ ।।

भृता हि पाण्डुनामात्या बलं च सततं भृतम् ।
भृताः पुत्राश्च पौत्राश्च तेषामपि विशेषतः ।। १० ।।

पाण्डुने सभी मन्त्रियों तथा सैनिकोंका सदा पालन-पोषण किया था। उनका ही नहीं, उनके पुत्र-पौत्रोंके भी भरण-पोषणका विशेष ध्यान रखा था ।। १० ।।

ते पुरा सत्कृतास्तात पाण्डुना नागरा जनाः ।
कथं युधिष्ठिरस्यार्थे न नो हन्युः सबान्धवान् ।। ११ ।।

तात! पाण्डुने पहले नागरिकोंके साथ बड़ा ही सद्भावपूर्ण व्यवहार किया है। अब वे विद्रोही होकर युधिष्ठिरके हितके लिये भाई-बन्धुओंके साथ हम सब लोगोंकी हत्या क्यों न कर डालेंगे? ।। ११ ।।

दुर्योधन उवाच

एवमेतन्मया तात भावितं दोषमात्मनि ।
दृष्ट्वा प्रकृतयः सर्वा अर्थमानेन पूजिताः ।। १२ ।।

दुर्योधन बोला—पिताजी! मैंने भी अपने हृदयमें इस दोष (प्रजाके विरोधी होने)-की सम्भावना की थी और इसीपर दृष्टि रखकर पहले ही अर्थ और सम्मानके द्वारा समस्त प्रजाका आदर-सत्कार किया है ।। १२ ।।

ध्रुवमस्मत्सहायास्ते भविष्यन्ति प्रधानतः ।
अर्थवर्गः सहामात्यो मत्संस्थोऽद्य महीपते ।। १३ ।।

अब निश्चय ही वे लोग मुख्यतासे हमारे सहायक होंगे। राजन्! इस समय खजाना और मन्त्रिमण्डल हमारे ही अधीन हैं ।। १३ ।।

स भवान् पाण्डवानाशु विवासयितुमर्हति ।
मृदुनैवाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ।। १४ ।।

अतः आप किसी मृदुल उपायसे ही जितना शीघ्र सम्भाव हो, पाण्डवोंको वारणावत नगरमें भेज दें ।। १४ ।।

यदा प्रतिष्ठितं राज्यं मयि राजन् भविष्यति ।

तदा कुन्ती सहापत्या पुनरेष्यति भारत ।। १५ ।।

भरतवंशके महाराज! जब यह राज्य पूरी तरहसे मेरे अधिकारमें आ जायगा, उस समय कुन्तीदेवी अपने पुत्रोंके साथ पुनः यहाँ आकर रह सकती हैं ।। १५ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन ममाप्येतद् हृदि सम्परिवर्तते ।

अभिप्रायस्य पापत्वान्नैवं तु विवृणोम्यहम् ।। १६ ।।

धृतराष्ट्र बोले—दुर्योधन! मेरे हृदयमें भी यही बात घूम रही है; किंतु हमलोगोंका यह अभिप्राय पापपूर्ण है, इसलिये मैं इसे खोलकर कह नहीं पाता ।। १६ ।।

न च भीष्मो न च द्रोणो न च क्षत्ता न गौतमः ।

विवास्यमानान् कौन्तेयाननुमंस्यन्ति कर्हिचित् ।। १७ ।।

मुझे यह भी विश्वास है कि भीष्म, द्रोण, विदुर और कृपाचार्य—इनमेंसे कोई भी कुन्तीपुत्रोंको यहाँसे अन्यत्र भेजे जानेकी कदापि अनुमति नहीं देंगे ।। १७ ।।

समा हि कौरवेयाणां वयं ते चैव पुत्रक ।

नैते विषममिच्छेयुर्धर्मयुक्ता मनस्विनः ।। १८ ।।

बेटा! इन सभी कुरुवंशियोंके लिये हमलोग और पाण्डव समान हैं। ये धर्मपरायण मनस्वी महापुरुष उनके प्रति विषम व्यवहार करना नहीं चाहेंगे ।। १८ ।।

ते वयं कौरवेयाणामेतेषां च महात्मनाम् ।

कथं न वध्यतां तात गच्छाम जगतस्तथा ।। १९ ।।

दुर्योधन! यदि हम पाण्डवोंके साथ विषम व्यवहार करेंगे तो सम्पूर्ण कुरुवंशी और ये (भीष्म, द्रोण आदि) महात्मा एवं सम्पूर्ण जगत्‌के लोग हमें वध करनेयोग्य क्यों न समझेंगे ।। १९ ।।

दुर्योधन उवाच

मध्यस्थः सततं भीष्मो द्रोणपुत्रो मयि स्थितः ।

यतः पुत्रस्ततो द्रोणो भविता नात्र संशयः ।। २० ।।

दुर्योधन बोला—पिताजी! भीष्म तो सदा ही मध्यस्थ हैं, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा मेरे पक्षमें हैं, द्रोणाचार्य भी उधर ही रहेंगे, जिधर उनका पुत्र होगा—इसमें तनिक भी संशय नहीं है ।। २० ।।

कृपः शारद्वतश्चैव यत एतौ ततो भवेत् ।

द्रोणं च भागिनेयं च न स त्यक्ष्यति कर्हिचित् ।। २१ ।।

जिस पक्षमें ये दोनों होंगे, उसी ओर शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य भी रहेंगे। वे अपने बहनोई द्रोण और भानजे अश्वत्थामाको कभी छोड़ न सकेंगे ।। २१ ।।

क्षत्तार्थबद्धस्त्वस्माकं प्रच्छन्नं संयतः परैः ।
न चैकः स समर्थोऽस्मान् पाण्डवार्थेऽधिबाधितुम् ।। २२ ।।

विदुर भी हमारे आर्थिक बन्धनमें हैं, यद्यपि वे छिपे-छिपे हमारे शत्रुओंके स्नेहपाशमें बँधे हैं। परंतु वे अकेले पाण्डवोंके हितके लिये हमें बाधा पहुँचानेमें समर्थ न हो सकेंगे ।। २२ ।।

स विस्रब्धः पाण्डुपुत्रान् सह मात्रा प्रवासय ।
वारणावतमद्यैव यथा यान्ति तथा कुरु ।। २३ ।।

इसलिये आप पूर्ण निश्चिन्त होकर पाण्डवोंको उनकी माताके साथ वारणावत भेज दीजिये और ऐसी व्यवस्था कीजिये, जिससे वे आज ही चले जायँ ।। २३ ।।

विनिद्रकरणं घोरं हृदि शल्यमिवार्पितम् ।
शोकपावकमुद्भूतं कर्मणैतेन नाशय ।। २४ ।।

मेरे हृदयमें भयंकर काँटा-सा चुभ रहा है, जो मुझे नींद नहीं लेने देता। शोककी आग प्रज्वलित हो उठी है, आप (मेरे द्वारा प्रस्तावित) इस कार्यको पूरा करके मेरे हृदयकी शोकाग्निको बुझा दीजिये ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि दुर्योधनपरामर्शे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें दुर्योधनपरामर्शविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४१ ।।

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके आदेशसे पाण्डवोंकी वारणावत-यात्रा

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा सर्वाः प्रकृतयः शनैः ।
अर्थमानप्रदानाभ्यां संजहार सहानुजः ।। १ ।।
धृतराष्ट्रप्रयुक्तास्ते केचित् कुशलमन्त्रिणः ।
कथयांचक्रिरे रम्यं नगरं वारणावतम् ।। २ ।।
अयं समाजः सुमहान् रमणीयतमो भुवि ।
उपस्थितः पशुपतेर्नगरे वारणावते ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा दुर्योधन और उसके छोटे भाइयोंने धन देकर तथा आदर-सत्कार करके सम्पूर्ण अमात्य आदि प्रकृतियोंको धीरे-धीरे अपने वशमें कर लिया। कुछ चतुर मन्त्री धृतराष्ट्रकी आज्ञासे (चारों ओर) इस बातकी चर्चा करने लगे कि 'वारणावत नगर बहुत सुन्दर है। उस नगरमें इस समय भगवान् शिवकी पूजाके लिये जो बहुत बड़ा मेला लग रहा है, वह तो इस पृथ्वीपर सबसे अधिक मनोहर है' ।। १—३ ।।

सर्वरत्नसमाकीर्णे पुंसां देशे मनोरमे ।
इत्येवं धृतराष्ट्रस्य वचनाच्चक्रिरे कथाः ।। ४ ।।

'वह पवित्र नगर समस्त रत्नोंसे भरा-पूरा तथा मनुष्योंके मनको मोह लेनेवाला स्थान है।' धृतराष्ट्रके कहनेसे वह इस प्रकारकी बातें करने लगे ।। ४ ।।

कथ्यमाने तथा रम्ये नगरे वारणावते ।
गमने पाण्डुपुत्राणां जज्ञे तत्र मतिर्नृप ।। ५ ।।

राजन्! वारणावत नगरकी रमणीयताका जब इस प्रकार (यत्र-तत्र) वर्णन होने लगा, तब पाण्डवोंके मनमें वहाँ जानेका विचार उत्पन्न हुआ ।। ५ ।।

यदा त्वमन्यत नृपो जातकौतूहला इति ।
उवाचैतानेत्य तदा पाण्डवानम्बिकासुतः ।। ६ ।।

जब अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रको यह विश्वास हो गया कि पाण्डव वहाँ जानेके लिये उत्सुक हैं, तब वे उनके पास जाकर इस प्रकार बोले— ।। ६ ।।

(अधीतानि च शास्त्राणि युष्माभिरिह कृत्स्नशः ।
अस्त्राणि च तथा द्रोणाद् गौतमाच्च विशेषतः ।।
इदमेवंगते ताताश्चिन्तयामि समन्ततः ।
रक्षणे व्यवहारे च राज्यस्य सततं हिते ।।)

ममैते पुरुषा नित्यं कथयन्ति पुनः पुनः ।
रमणीयतमं लोके नगरं वारणावतम् ।। ७ ।।

'बेटो! तुमलोगोंने सम्पूर्ण शास्त्र पढ़ लिये। आचार्य द्रोण और कृपसे अस्त्र-शस्त्रोंकी भी विशेष-रूपसे शिक्षा प्राप्त कर ली। प्रिय पाण्डवो! ऐसी दशामें मैं एक बात सोच रहा हूँ। सब ओरसे राज्यकी रक्षा, राजकीय व्यवहारोंकी रक्षा तथा राज्यके निरन्तर हित-साधनमें लगे रहनेवाले मेरे ये मन्त्रीलोग प्रतिदिन बारंबार कहते हैं कि वारणावत नगर संसारमें सबसे अधिक सुन्दर है ।। ७ ।।

ते ताता यदि मन्यध्वमुत्सवं वारणावते ।
सगणाः सान्वयाश्चैव विहरध्वं यथामराः ।। ८ ।।

'पुत्रो! यदि तुमलोग वारणावत नगरमें उत्सव देखने जाना चाहो तो अपने कुटुम्बियों और सेवकवर्गके साथ वहाँ जाकर देवताओंकी भाँति विहार करो ।। ८ ।।

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि गायकेभ्यश्च सर्वशः ।
प्रयच्छध्वं यथाकामं देवा इव सुवर्चसः ।। ९ ।।
कंचित् कालं विहृत्यैवमनुभूय परां मुदम् ।
इदं वै हास्तिनपुरं सुखिनः पुनरेष्यथ ।। १० ।।

'ब्राह्मणों और गायकोंको विशेषरूपसे रत्न एवं धन दो तथा अत्यन्त तेजस्वी देवताओंके समान कुछ कालतक वहाँ इच्छानुसार विहार करते हुए परम सुख प्राप्त करो। तत्पश्चात् पुनः सुखपूर्वक इस हस्तिनापुर नगरमें ही चले आना' ।। ९-१० ।।

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्य तं काममनुबुध्य युधिष्ठिरः ।
आत्मनश्चासहायत्वं तथेति प्रत्युवाच तम् ।। ११ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिर धृतराष्ट्रकी उस इच्छाका रहस्य समझ गये, परंतु अपनेको असहाय जानकर उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी बात मान ली ।। ११ ।।

ततो भीष्मं शांतनवं विदुरं च महामतिम् ।
द्रोणं च बाह्लिकं चैव सोमदत्तं च कौरवम् ।। १२ ।।
कृपमाचार्यपुत्रं च भूरिश्रवसमेव च ।
मान्यानन्यानमात्यांश्च ब्राह्मणांश्च तपोधनान् ।। १३ ।।
पुरोहितांश्च पौरांश्च गान्धारीं च यशस्विनीम् ।
युधिष्ठिरः शनैर्दीन उवाचेदं वचस्तदा ।। १४ ।।

तदनन्तर युधिष्ठिरने शंतनुनन्दन भीष्म, परम बुद्धिमान् विदुर, द्रोण, बाह्लिक, कुरुवंशी सोमदत्त, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, अन्यान्य माननीय मन्त्रियों, तपस्वी ब्राह्मणों,

पुरोहितों, पुरवासियों तथा यशस्विनी गान्धारीदेवीसे मिलकर धीरे-धीरे दीनभावसे इस प्रकार कहा— ।। १२—१४ ।।

रमणीये जनाकीर्णे नगरे वारणावते ।
सगणास्तत्र यास्यामो धृतराष्ट्रस्य शासनात् ।। १५ ।।

'हम महाराज धृतराष्ट्रकी आज्ञासे रमणीय वारणावत नगरमें, जहाँ बड़ा भारी मेला लग रहा है, परिवारसहित जानेवाले हैं ।। १५ ।।

प्रसन्नमनसः सर्वे पुण्या वाचो विमुञ्चत ।
आशीर्भिर्बृंहितानस्मान् न पापं प्रसहिष्यते ।। १६ ।।

'आप सब लोग प्रसन्नचित्त होकर हमें अपने पुण्यमय आशीर्वाद दीजिये। आपके आशीर्वादसे हमारी वृद्धि होगी और पापका हमपर वश नहीं चल सकेगा' ।। १६ ।।

एवमुक्तास्तु ते सर्वे पाण्डुपुत्रेण कौरवाः ।
प्रसन्नवदना भूत्वा तेऽन्ववर्तन्त पाण्डवान् ।। १७ ।।
स्वस्त्यस्तु वः पथि सदा भूतेभ्यश्चैव सर्वशः ।
मा च वोऽस्त्वशुभं किंचित् सर्वशः पाण्डुनन्दनाः ।। १८ ।।

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके इस प्रकार कहनेपर वे समस्त कुरुवंशी प्रसन्नवदन होकर पाण्डवोंके अनुकूल हो कहने लगे—'पाण्डुकुमारो! मार्गमें सर्वदा सब प्राणियोंसे तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हें कहींसे किसी प्रकारका अशुभ न प्राप्त हो' ।। १७-१८ ।।

ततः कृतस्वस्त्ययना राज्यलम्भाय पार्थिवाः ।
कृत्वा सर्वाणि कार्याणि प्रययुर्वारणावतम् ।। १९ ।।

तब राज्य-लाभके लिये स्वस्तिवाचन करा समस्त आवश्यक कार्य पूर्ण करके राजकुमार पाण्डव वारणावत नगरको गये ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि वारणावतयात्रायां द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें वारणावतयात्राविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २१ श्लोक हैं)

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके आदेशसे पुरोचनका वारणावत नगरमें लाक्षागृह बनाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तेषु राज्ञा तु पाण्डुपुत्रेषु भारत ।
दुर्योधनः परं हर्षमगच्छत् स दुरात्मवान् ।। १ ।।
स पुरोचनमेकान्तमानीय भरतर्षभ ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ सचिवं वाक्यमब्रवीत् ।। २ ।।
ममेयं वसुसम्पूर्णा पुरोचन वसुंधरा ।
यथेयं मम तद्वत् ते स तां रक्षितुमर्हसि ।। ३ ।।
न हि मे कश्चिदन्योऽस्ति विश्वासिकतरस्त्वया ।
सहायो येन संधाय मन्त्रयेयं यथा त्वया ।। ४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब राजा धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको इस प्रकार वारणावत जानेकी आज्ञा दे दी, तब दुरात्मा दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई। भरतश्रेष्ठ! उसने अपने मन्त्री पुरोचनको एकान्तमें बुलाया और उसका दाहिना हाथ पकड़कर कहा, ‘पुरोचन! यह धन-धान्यसे सम्पन्न पृथ्वी जैसे मेरी है, वैसे ही तुम्हारी भी है; अतः तुम्हें इसकी रक्षा करनी चाहिये। मेरा तुमसे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा विश्वासपात्र सहायक नहीं है, जिससे मिलकर इतनी गुप्त सलाह कर सकूँ, जैसे तुम्हारे साथ करता हूँ ।। १—४ ।।

संरक्ष तात मन्त्रं च सपत्नांश्च ममोद्धर ।
निपुणेनाभ्युपायेन यद् ब्रवीमि तथा कुरु ।। ५ ।।

‘तात! तुम मेरी इस गुप्त मन्त्रणाकी रक्षा करो—इसे दूसरोंपर प्रकट न होने दो और अच्छे उपायद्वारा मेरे शत्रुओंको उखाड़ फेंको। मैं तुमसे जो कहता हूँ, वही करो ।। ५ ।।

पाण्डवा धृतराष्ट्रेण प्रेषिता वारणावतम् ।
उत्सवे विहरिष्यन्ति धृतराष्ट्रस्य शासनात् ।। ६ ।।

'पिताजीने पाण्डवोंको वारणावत जानेकी आज्ञा दी है। वे उनके आदेशसे (कुछ दिनोंतक) वहाँ रहकर उत्सवमें भाग लेंगे—मेलेमें घूमे-फिरेंगे ।। ६ ।।

स त्वं रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना ।
वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु ।। ७ ।।

'अतः तुम खच्चर जुते हुए शीघ्रगामी रथपर बैठकर आज ही वहाँ पहुँच जाओ, ऐसी चेष्टा करो ।। ७ ।।

तत्र गत्वा चतुःशालं गृहं परमसंवृतम् ।
नगरोपान्तमाश्रित्य कारयेथा महाधनम् ।। ८ ।।

'वहाँ जाकर नगरके निकट ही एक ऐसा भवन तैयार कराओ जिसमें चारों ओर कमरे हों तथा जो सब ओरसे सुरक्षित हो। वह भवन बहुत धन खर्च करके सुन्दर-से-सुन्दर बनवाना चाहिये ।। ८ ।।

शणसर्जरसादीनि यानि द्रव्याणि कानिचित् ।
आग्नेयान्युत सन्तीह तानि तत्र प्रदापय ।। ९ ।।

‘सन तथा राल आदि, जो कोई भी आग भड़कानेवाले द्रव्य संसारमें हैं, उन सबको उस मकानकी दीवारोंमें लगवाना ।। ९ ।।

सर्पिस्तैलवसाभिश्च लाक्षया चाप्यनल्पया ।
मृत्तिकां मिश्रयित्वा त्वं लेपं कुड्येषु दापय ।। १० ।।

‘घी, तेल, चर्बी तथा बहुत-सी लाह मिट्टीमें मिलवाकर उसीसे दीवारोंको लिपवाना ।। १० ।।

शणं तैलं घृतं चैव जतु दारूणि चैव हि ।
तस्मिन् वेश्मनि सर्वाणि निक्षिपेथाः समन्ततः ।। ११ ।।
यथा च तन्न पश्येरन् परीक्षन्तोऽपि पाण्डवाः ।
आग्नेयमिति तत् कार्यमपि चान्येऽपि मानवाः ।। १२ ।।
वेश्मन्येवं कृते तत्र गत्वा तान् परमार्चितान् ।
वासयेथाः पाण्डवेयान् कुन्तीं च ससुहृज्जनाम् ।। १३ ।।

‘उस घरके चारों ओर सन, तेल, घी, लाह और लकड़ी आदि सब वस्तुएँ संग्रह करके रखना। अच्छी तरह देखभाल करनेपर भी पाण्डवों तथा दूसरे लोगोंको भी इस बातकी शंका न हो कि यह घर आग भड़कानेवाले पदार्थोंसे बना है, इस तरह पूरी सावधानीके साथ उस राजभवनका निर्माण कराना चाहिये। इस प्रकार महल बन जानेपर जब पाण्डव वहाँ जायँ, तब उन्हें तथा सुहृदोंसहित कुन्तीदेवीको भी बड़े आदर-सत्कारके साथ उसीमें रखना ।। ११—१३ ।।

आसनानि च दिव्यानि यानानि शयनानि च ।
विधातव्यानि पाण्डूनां यथा तुष्येत वै पिता ।। १४ ।।
यथा च तन्न जानन्ति नगरे वारणावते ।
तथा सर्वं विधातव्यं यावत् कालस्य पर्ययः ।। १५ ।।

‘वहाँ पाण्डवोंके लिये दिव्य आसन, सवारी और शय्या आदिकी ऐसी (सुन्दर) व्यवस्था कर देना, जिसे सुनकर मेरे पिताजी संतुष्ट हों। जबतक समय बदलनेके साथ ही अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धि न हो जाय, तबतक सब काम इस तरह करना चाहिये कि वारणावत नगरके लोगोंको इसके विषयमें कुछ भी ज्ञात न हो सके ।। १४-१५ ।।

ज्ञात्वा च तान् सुविश्वस्ताञ्शयानानकुतोभयान् ।
अग्निस्त्वया ततो देयो द्वारतस्तस्य वेश्मनः ।। १६ ।।

‘जब तुम्हें यह भलीभाँति ज्ञात हो जाय कि पाण्डवलोग यहाँ विश्वस्त होकर रहने लगे हैं, इनके मनमें कहींसे कोई खटका नहीं रह गया है, तब उनके सो जानेपर घरके दरवाजेकी ओरसे आग लगा देना ।। १६ ।।

दह्यमाने स्वके गेहे दग्धा इति ततो जनाः ।
न गर्हयेयुरस्मान् वै पाण्डवार्थाय कर्हिचित् ।। १७ ।।

‘उस समय लोग यही समझेंगे कि अपने ही घरमें आग लगी थी, उसीमें पाण्डव जल गये। अतः वे पाण्डवोंकी मृत्युके लिये कभी हमारी निन्दा नहीं करेंगे’ ।। १७ ।।

स तथेति प्रतिज्ञाय कौरवाय पुरोचनः ।
प्रायाद् रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना ।। १८ ।।

पुरोचनने दुर्योधनके सामने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की एवं खच्चर जुते हुए शीघ्रगामी रथपर आरूढ़ हो वहाँसे वारणावत नगरके लिये प्रस्थान किया ।। १८ ।।

स गत्वा त्वरितं राजन् दुर्योधनमते स्थितः ।
यथोक्तं राजपुत्रेण सर्वं चक्रे पुरोचनः ।। १९ ।।

राजन्! पुरोचन दुर्योधनकी रायके अनुसार चलता था। वारणावतमें शीघ्र ही पहुँचकर उसने राजकुमार दुर्योधनके कथनानुसार सब काम पूरा कर लिया ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि पुरोचनोपदेशे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें पुरोचनके प्रति दुर्योधनकृत उपदेशविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४३ ।।

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी वारणावत-यात्रा तथा उनको विदुरका गुप्त-उपदेश

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवास्तु रथान् युक्तान् सदश्वैरनिलोपमैः ।
आरोहमाणा भीष्मस्य पादौ जगृहुरार्तवत् ।। १ ।।
राज्ञश्च धृतराष्ट्रस्य द्रोणस्य च महात्मनः ।
अन्येषां चैव वृद्धानां कृपस्य विदुरस्य च ।। २ ।।
एवं सर्वान् कुरून् वृद्धानभिवाद्य यतव्रताः ।
समालिङ्ग्य समानान् वै बालैश्चाप्यभिवादिताः ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वायुके समान वेगशाली उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए रथोंपर चढ़नेके लिये उद्यत हो उत्तम व्रतको धारण करनेवाले पाण्डवोंने अत्यन्त दुःखी-से होकर पितामह भीष्मके दोनों चरणोंका स्पर्श किया। तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्र, महात्मा द्रोण, कृपाचार्य, विदुर तथा दूसरे बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम किया। इस प्रकार क्रमशः सभी वृद्ध कौरवोंको प्रणाम करके समान अवस्थावाले लोगोंको हृदयसे लगाया। फिर बालकोंने आकर पाण्डवोंको प्रणाम किया ।। १—३ ।।

सर्वा मातृस्तथाऽऽपृच्छ्य कृत्वा चैव प्रदक्षिणम् ।
सर्वाः प्रकृतयश्चैव प्रययुर्वारणावतम् ।। ४ ।।

इसके बाद सब माताओंसे आज्ञा ले उनकी परिक्रमा करके तथा समस्त प्रजाओंसे भी विदा लेकर वे वारणावत नगरकी ओर प्रस्थित हुए ।। ४ ।।

विदुरश्च महाप्राज्ञस्तथान्ये कुरुपुङ्गवाः ।
पौराश्च पुरुषव्याघ्रानन्वीयुः शोककर्शिताः ।। ५ ।।
तत्र केचिद् ब्रुवन्ति स्म ब्राह्मणा निर्भयास्तदा ।
दीनान् दृष्ट्वा पाण्डुसुतानतीव भृशदुःखिताः ।। ६ ।।

उस समय महाज्ञानी विदुर तथा कुरुकुलके अन्य श्रेष्ठ पुरुष एवं पुरवासी मनुष्य शोकसे कातर हो नरश्रेष्ठ पाण्डवोंके पीछे-पीछे चलने लगे। तब कुछ निर्भय ब्राह्मण पाण्डवोंको अत्यन्त दीन-दशामें देखकर बहुत दुःखी हो इस प्रकार कहने लगे— ।। ५-६ ।।

विषमं पश्यते राजा सर्वथा स सुमन्दधीः ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रस्तु न च धर्मं प्रपश्यति ।। ७ ।।

‘अत्यन्त मन्दबुद्धि कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र पाण्डवोंको सर्वथा विषम दृष्टिसे देखते हैं। धर्मकी ओर उनकी दृष्टि नहीं है ।। ७ ।।

न हि पापमपापात्मा रोचयिष्यति पाण्डवः ।
भीमो वा बलिनां श्रेष्ठः कौन्तेयो वा धनंजयः ।। ८ ।।

‘निष्पाप अन्तःकरणवाले पाण्डुकुमार युधिष्ठिर, बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन अथवा कुन्तीनन्दन अर्जुन कभी पापसे प्रीति नहीं करेंगे ।। ८ ।।

कुत एव महात्मानौ माद्रीपुत्रौ करिष्यतः ।
तान् राज्यं पितृतः प्राप्तान् धृतराष्ट्रो न मृष्यते ।। ९ ।।

‘फिर महात्मा दोनों माद्रीकुमार कैसे पाप कर सकेंगे। पाण्डवोंको अपने पितासे जो राज्य प्राप्त हुआ था, धृतराष्ट्र उसे सहन नहीं कर रहे हैं ।। ९ ।।

अधर्म्यमिदमत्यन्तं कथं भीष्मोऽनुमन्यते ।
विवास्यमानानस्थाने नगरे योऽभिमन्यते ।। १० ।।

‘इस अत्यन्त अधर्मयुक्त कार्यके लिये भीष्मजी कैसे अनुमति दे रहे हैं? पाण्डवोंको अनुचितरूपसे यहाँसे निकालकर जो रहनेयोग्य स्थान नहीं, उस वारणावत नगरमें भेजा जा रहा है! फिर भी भीष्मजी चुपचाप क्यों इसे मान लेते हैं? ।। १० ।।

पितेव हि नृपोऽस्माकमभूच्छांतनवः पुरा ।
विचित्रवीर्यो राजर्षिः पाण्डुश्च कुरुनन्दनः ।। ११ ।।

‘पहले शंतनुकुमार राजर्षि विचित्रवीर्य तथा कुरुकुलको आनन्द देनेवाले महाराज पाण्डु हमारे राजा थे। केवल राजा ही नहीं, वे पिताके समान हमारा पालन-पोषण करते थे ।। ११ ।।

स तस्मिन् पुरुषव्याघ्रे देवभावं गते सति ।
राजपुत्रानिमान् बालान् धृतराष्ट्रो न मृष्यते ।। १२ ।।

‘नरश्रेष्ठ पाण्डु जब देवभाव (स्वर्ग)-को प्राप्त हो गये हैं, तब उनके इन छोटे-छोटे राजकुमारोंका भार धृतराष्ट्र नहीं सहन कर पा रहे हैं ।। १२ ।।

वयमेतदनिच्छन्तः सर्व एव पुरोत्तमात् ।
गृहान् विहाय गच्छामो यत्र गन्ता युधिष्ठिरः ।। १३ ।।

‘हमलोग यह नहीं चाहते, इसलिये हम सब घर-द्वार छोड़कर इस उत्तम नगरीसे वहीं चलेंगे, जहाँ युधिष्ठिर जा रहे हैं’ ।। १३ ।।

तांस्तथावादिनः पौरान् दुःखितान् दुःखकर्शितः ।
उवाच मनसा ध्यात्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। १४ ।।

शोकसे दुर्बल धर्मराज युधिष्ठिर अपने लिये दुःखी उन पुरवासियोंको ऐसी बातें करते देख मन-ही-मन कुछ सोचकर उनसे बोले— ।। १४ ।।

पिता मान्यो गुरुः श्रेष्ठो यदाह पृथिवीपतिः ।

अशङ्कमानैस्तत् कार्यमस्माभिरिति नो व्रतम् ।। १५ ।।

'बन्धुओ! राजा धृतराष्ट्र मेरे माननीय पिता, गुरु एवं श्रेष्ठ पुरुष हैं। वे जो आज्ञा दें, उसका हमें निःशंक होकर पालन करना चाहिये; यही हमारा व्रत है ।। १५ ।।

भवन्तः सुहृदोऽस्माकमस्मान् कृत्या प्रदक्षिणम् ।
प्रतिनन्द्य तथाशीर्भिर्निवर्तध्वं यथा गृहम् ।। १६ ।।
यदा तु कार्यमस्माकं भवद्भिरुपपत्स्यते ।
तदा करिष्यथास्माकं प्रियाणि च हितानि च ।। १७ ।।

'आपलोग हमारे हितचिन्तक हैं, अतः हमें अपने आशीर्वादसे संतुष्ट करें और हमें दाहिने करते हुए जैसे आये थे, वैसे ही अपने घरको लौट जायँ। जब आपलोगोंके द्वारा हमारा कोई कार्य सिद्ध होनेवाला होगा, उस समय आप हमारे प्रिय और हितकारी कार्य कीजियेगा' ।।

एवमुक्तास्तदा पौराः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
आशीर्भिश्चाभिनन्द्यैताञ्जग्मुर्नगरमेव हि ।। १८ ।।

उनके यों कहनेपर पुरवासी उन्हें आशीर्वादसे प्रसन्न करते हुए दाहिने करके नगरको ही लौट गये ।। १८ ।।

पौरेषु विनिवृत्तेषु विदुरः सत्यधर्मवित् ।
बोधयन् पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ।। १९ ।।

पुरवासियोंके लौट जानेपर सत्यधर्मके ज्ञाता विदुरजी पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरको दुर्योधनके कपटका बोध कराते हुए इस प्रकार बोले ।। १९ ।।

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः ।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत् ।। २० ।।

विदुरजी बुद्धिमान् तथा मूढ़ म्लेच्छोंकी निरर्थक-सी प्रतीत होनेवाली भाषाके भी ज्ञाता थे। इसी प्रकार युधिष्ठिर भी उस म्लेच्छभाषाको समझ लेनेवाले तथा बुद्धिमान् थे। अतः उन्होंने युधिष्ठिरसे ऐसी कहनेयोग्य बात कही, जो म्लेच्छभाषाके जानकार एवं बुद्धिमान् पुरुषको उस भाषामें कहे हुए रहस्यका ज्ञान करा देनेवाली थी, किंतु जो उस भाषाके अनभिज्ञ पुरुषको वास्तविक अर्थका बोध नहीं कराती थी ।। २० ।।

यो जानाति परप्रज्ञां नीतिशास्त्रानुसारिणीम् ।
विज्ञायेह तथा कुर्यादापदं निस्तरेद् यथा ।। २१ ।।

'जो शत्रुकी नीति-शास्त्रका अनुसरण करनेवाली बुद्धिको समझ लेता है, वह उसे समझ लेनेपर कोई ऐसा उपाय करे, जिससे वह यहाँ शत्रुजनित संकटसे बच सके ।।

अलोहं निशितं शस्त्रं शरीरपरिकर्तनम् ।
यो वेत्ति न तु तं घ्नन्ति प्रतिघातविदं द्विषः ।। २२ ।।

'एक ऐसा तीखा शस्त्र है, जो लोहेका बना तो नहीं है, परंतु शरीरको नष्ट कर देता है। जो उसे जानता है, ऐसे उस शस्त्रके आघातसे बचनेका उपाय जाननेवाले पुरुषको शत्रु नहीं मार सकते[१] ।। २२ ।।

कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः ।
न दहेदिति चात्मानं यो रक्षति स जीवति ।। २३ ।।

'घास-फूस तथा सूखे वृक्षोंवाले जंगलको जलाने और सर्दीको नष्ट कर देनेवाली आग विशाल वनमें फैल जानेपर भी बिलमें रहनेवाले चूहे आदि जन्तुओंको नहीं जला सकती—यों समझकर जो अपनी रक्षाका उपाय करता है, वही जीवित रहता है[२] ।। २३ ।।

नाचक्षुर्वेत्ति पन्थानं नाचक्षुर्विन्दते दिशः ।
नाधृतिर्बुद्धिमाप्नोति बुध्यस्वैवं प्रबोधितः ।। २४ ।।

'जिसके आँखें नहीं हैं, वह मार्ग नहीं जान पाता; अंधेको दिशाओंका ज्ञान नहीं होता और जो धैर्य खो देता है, उसे सद्‌बुद्धि नहीं प्राप्त होती। इस प्रकार मेरे समझानेपर तुम मेरी बातको भलीभाँति समझ लो[३] ।। २४ ।।

अनाप्तैर्दत्तमादत्ते नरः शस्त्रमलोहजम् ।
श्वाविच्छरणमासाद्य प्रमुच्येत हुताशनात् ।। २५ ।।

'शत्रुओंके दिये हुए बिना लोहेके बने शस्त्रको जो मनुष्य ग्रहण कर लेता है, वह साहीके बिलमें घुसकर आगसे बच जाता है[४] ।। २५ ।।

चरन् मार्गान् विजानाति नक्षत्रैर्विन्दते दिशः ।
आत्मना चात्मनः पञ्च पीडयन् नानुपीड्यते ।। २६ ।।

'मनुष्य घूम-फिरकर रास्तेका पता लगा लेता है, नक्षत्रोंसे दिशाओंको समझ लेता है तथा जो अपनी पाँचों इन्द्रियोंका स्वयं ही दमन करता है, वह शत्रुओंसे पीड़ित नहीं होता'[५] ।। २६ ।।

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
विदुरं विदुषां श्रेष्ठं ज्ञातमित्येव पाण्डवः ।। २७ ।।

इस प्रकार कहे जानेपर पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरने विद्वानोंमें श्रेष्ठ विदुरजीसे कहा—'मैंने आपकी बात अच्छी तरह समझ ली' ।। २७ ।।

अनुशिक्ष्यानुगम्यैतान् कृत्वा चैव प्रदक्षिणम् ।
पाण्डवानभ्यनुज्ञाय विदुरः प्रययौ गृहान् ।। २८ ।।

इस तरह पाण्डवोंको बारंबार कर्तव्यकी शिक्षा देते हुए कुछ दूरतक उनके पीछे-पीछे जाकर विदुरजी उनको जानेकी आज्ञा दे उन्हें अपने दाहिने करके पुनः अपने घरको लौट गये ।। २८ ।।

निवृत्ते विदुरे चापि भीष्मे पौरजने तथा ।

अजातशत्रुमासाद्य कुन्ती वचनमब्रवीत् ।। २९ ।।

विदुर, भीष्मजी तथा नगरनिवासियोंके लौट जानेपर कुन्ती अजातशत्रु युधिष्ठिरके पास जाकर बोली— ।। २९ ।।

क्षत्ता यदब्रवीद् वाक्यं जनमध्येऽब्रुवन्निव ।
त्वया च स तथेत्युक्तो जानीमो न च तद् वयम् ।। ३० ।।

'बेटा! विदुरजीने सब लोगोंके बीचमें जो अस्पष्ट-सी बात कही थी, उसे सुनकर तुमने 'बहुत अच्छा' कहकर स्वीकार किया था; परंतु हमलोग वह बात अबतक नहीं समझ पा रहे हैं ।। ३० ।।

यदीदं शक्यमस्माभिर्ज्ञातुं न च सदोषवत् ।
श्रोतुमिच्छामि तत् सर्वं संवादं तव तस्य च ।। ३१ ।।

'यदि उसे हम भी समझ सकें और हमारे जाननेसे कोई दोष न आता हो तो तुम्हारी और उनकी सारी बातचीतका रहस्य मैं सुनना चाहती हूँ' ।। ३१ ।।

युधिष्ठिर उवाच

गृहादग्निश्च बोद्धव्य इति मां विदुरोऽब्रवीत् ।
पन्थाश्च वो नाविदितः कश्चित् स्यादिति धर्मधीः ।। ३२ ।।

युधिष्ठिरने कहा—माँ! जिनकी बुद्धि सदा धर्ममें ही लगी रहती है, उन विदुरजीने (सांकेतिक भाषामें) मुझसे कहा था, 'तुम जिस घरमें ठहरोगे, वहाँसे आगका भय है, यह बात अच्छी तरह जान लेनी चाहिये। साथ ही वहाँका कोई भी मार्ग ऐसा न हो, जो तुमसे अपरिचित रहे ।। ३२ ।।

जितेन्द्रियश्च वसुधां प्राप्स्यतीति च मेऽब्रवीत् ।
विज्ञातमिति तत् सर्वं प्रत्युक्तो विदुरो मया ।। ३३ ।।

'यदि तुम अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखोगे तो सारी पृथ्वीका राज्य प्राप्त कर लोगे, यह बात भी उन्होंने मुझसे बतायी थी और इन्हीं बातोंके लिये मैंने विदुरजीको उत्तर दिया था कि 'मैं सब समझ गया' ।। ३३ ।।

वैशम्पायन उवाच

अष्टमेऽहनि रोहिण्यां प्रयाताः फाल्गुनस्य ते ।
वारणावतमासाद्य ददृशुर्नागरं जनम् ।। ३४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंने फाल्गुन शुक्ला अष्टमीके दिन रोहिणी नक्षत्रमें यात्रा की थी। वे यथासमय वारणावत पहुँचकर वहाँके नागरिकोंसे मिले ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि वारणावतगमने चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें पाण्डवोंकी वारणावतयात्राविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४४ ।।

---

१. यहाँ संकेतसे यह बात बतायी गयी है कि शत्रुओंने तुम्हारे लिये एक ऐसा भवन तैयार करवाया है, जो आगको भड़कानेवाले पदार्थोंसे बना है। शस्त्रका शुद्धरूप सस्त्र है, जिसका अर्थ घर होता है।

२. तात्पर्य यह है, वहाँ जो तुम्हारा पार्श्ववर्ती होगा, वह पुरोचन ही तुम्हें आगमें जलाकर नष्ट करना चाहता है। तुम उस आगसे बचनेके लिये एक सुरंग तैयार करा लेना। कक्षघ्नका शुद्ध रूप कुक्षिघ्न है, जिसका अर्थ है कुक्षिचर या पार्श्ववर्ती।

३. अर्थात् दिशा आदिका ठीक ज्ञान पहलेसे ही कर लेना, जिससे रातमें भटकना न पड़े।

४. तात्पर्य यह कि उस सुरंगसे यदि तुम बाहर निकल जाओगे तो लाक्षागृहमें लगी हुई आगसे बच सकोगे।

५. अर्थात् यदि तुम पाँचों भाई एकमत रहोगे तो शत्रु तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा।

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

वारणावतमें पाण्डवोंका स्वागत, पुरोचनका सत्कारपूर्वक उन्हें ठहराना, लाक्षागृहमें निवासकी व्यवस्था और युधिष्ठिर एवं भीमसेनकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ततः सर्वाः प्रकृतयो नगराद् वारणावतात् ।
सर्वमङ्गलसंयुक्ता यथाशास्त्रमतन्द्रिताः ।। १ ।।
श्रुत्वाऽऽगतान् पाण्डुपुत्रान् नानायानैः सहस्रशः ।
अभिजग्मुर्नरश्रेष्ठान् क्षुत्वैव परया मुदा ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! नरश्रेष्ठ पाण्डवोंके शुभागमनका समाचार सुनकर वारणावत नगरसे वहाँके समस्त प्रजाजन अत्यन्त प्रसन्न हो आलस्य छोड़कर शास्त्रविधिके अनुसार सब तरहकी मांगलिक वस्तुओंकी भेंट लेकर हजारोंकी संख्यामें नाना प्रकारकी सवारियोंके द्वारा उनकी अगवानीके लिये आये ।। १-२ ।।

ते समासाद्य कौन्तेयान् वारणावतका जनाः ।
कृत्वा जयाशिषः सर्वे परिवार्यावतस्थिरे ।। ३ ।।

कुन्तीकुमारोंके निकट पहुँचकर वारणावतके सब लोग उनकी जय-जयकार करते और आशीर्वाद देते हुए उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ।। ३ ।।

तैर्वृतः पुरुषव्याघ्रो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
विबभौ देवसंकाशो वज्रपाणिरिवामरैः ।। ४ ।।

उनसे घिरे हुए पुरुषसिंह धर्मराज युधिष्ठिर, जो देवताओंके समान तेजस्वी थे, इस प्रकार शोभा पा रहे थे मानो देवमण्डलीके बीच साक्षात् वज्रपाणि इन्द्र हों ।। ४ ।।

सत्कृताश्चैव पौरैस्ते पौरान् सत्कृत्य चानघ ।
अलंकृतं जनाकीर्णं विविशुर्वारणावतम् ।। ५ ।।

निष्पाप जनमेजय! पुरवासियोंने पाण्डवोंका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। फिर पाण्डवोंने भी नागरिकोंको आदरपूर्वक अपनाकर जनसमुदायसे भरे हुए सजे-सजाये वारणावत नगरमें प्रवेश किया ।। ५ ।।

ते प्रविश्य पुरीं वीरास्तूर्णं जग्मुरथो गृहान् ।
ब्राह्मणानां महीपाल रतानां स्वेषु कर्मसु ।। ६ ।।

राजन्! नगरमें प्रवेश करके वीर पाण्डव सबसे पहले शीघ्रतापूर्वक स्वधर्मपरायण ब्राह्मणोंके घरोंमें गये ।। ६ ।।

नगराधिकृतानां च गृहाणि रथिनां तदा ।
उपतस्थुर्नरश्रेष्ठा वैश्यशूद्रगृहाण्यपि ।। ७ ।।

तत्पश्चात् वे नरश्रेष्ठ कुन्तीकुमार नगरके अधिकारी क्षत्रियोंके यहाँ गये। इसी प्रकार वे क्रमशः वैश्यों और शूद्रोंके घरोंपर भी उपस्थित हुए ।। ७ ।।

अर्चिताश्च नरैः पौरैः पाण्डवा भरतर्षभ ।
जग्मुरावसथं पश्चात् पुरोचनपुरस्सराः ।। ८ ।।

भरतश्रेष्ठ! नगरनिवासी मनुष्योंद्वारा पूजित एवं सम्मानित हो पाण्डवलोग पुरोचनको आगे करके डेरेपर गये ।। ८ ।।

तेभ्यो भक्ष्याणि पानानि शयनानि शुभानि च ।
आसनानि च मुख्यानि प्रददौ स पुरोचनः ।। ९ ।।

वहाँ पुरोचनने उनके लिये खाने-पीनेकी उत्तम वस्तुएँ, सुन्दर शय्याएँ और श्रेष्ठ आसन प्रस्तुत किये ।। ९ ।।

तत्र ते सत्कृतास्तेन सुमहार्हपरिच्छदाः ।
उपास्यमानाः पुरुषैरूषुः पुरनिवासिभिः ।। १० ।।

उस भवनमें पुरोचनद्वारा उनका बड़ा सत्कार हुआ। वे अत्यन्त बहुमूल्य सामग्रियोंका उपयोग करते थे और बहुत-से नगरनिवासी श्रेष्ठ पुरुष उनकी सेवामें उपस्थित रहते थे। इस

प्रकार वे (बड़े आनन्दसे) वहाँ रहने लगे ।। १० ।।

दशरात्रोषितानां तु तत्र तेषां पुरोचनः ।
निवेदयामास गृहं शिवाख्यमशिवं तदा ।। ११ ।।

दस दिनोंतक वहाँ रह लेनेके पश्चात् पुरोचनने पाण्डवोंसे उस नूतन गृहके सम्बन्धमें चर्चा की, जो कहनेको तो 'शिवभवन' था, परंतु वास्तवमें अशिव (अमंगलकारी) था ।। ११ ।।

तत्र ते पुरुषव्याघ्रा विविशुः सपरिच्छदाः ।
पुरोचनस्य वचनात् कैलासमिव गुह्यकाः ।। १२ ।।

पुरोचनके कहनेसे वे पुरुषसिंह पाण्डव अपनी सब सामग्रियों और सेवकोंके साथ उस नये भवनमें गये; मानो गुह्यकगण कैलास पर्वतपर जा रहे हों ।। १२ ।।

तच्चागारमभिप्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतां वरः ।
उवाचाग्नेयमित्येवं भीमसेनं युधिष्ठिरः ।। १३ ।।

उस घरको अच्छी तरह देखकर समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने भीमसेनसे कहा —'भाई! यह भवन तो आग भड़कानेवाली वस्तुओंसे बना जान पड़ता है ।। १३ ।।

जिघ्राणोऽस्य वसागन्धं सर्पिर्जतुविमिश्रितम् ।
कृतं हि व्यक्तमाग्नेयमिदं वेश्म परंतप ।। १४ ।।

'शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमसेन! मुझे इस घरकी दीवारोंसे घी और लाह मिली हुई चर्बीकी गन्ध आ रही है। अतः स्पष्ट जान पड़ता है कि इस घरका निर्माण अग्निदीपक पदार्थोंसे ही हुआ है ।। १४ ।।

शणसर्जरसंव्यक्तमानीय गृहकर्मणि ।
मुञ्जबल्वजवंशादि द्रव्यं सर्वं घृतोक्षितम् ।। १५ ।।
शिल्पिभिः सुकृतं ह्याप्तैर्विनीतैर्वेश्मकर्मणि ।
विश्वस्तं मामयं पापो दग्धुकामः पुरोचनः ।। १६ ।।
तथा हि वर्तते मन्दः सुयोधनवशे स्थितः ।
इमां तु तां महाबुद्धिर्विदुरो दृष्टवांस्तथा ।। १७ ।।
आपदं तेन मां पार्थ स सम्बोधितवान् पुरा ।
ते वयं बोधितास्तेन नित्यमस्मद्धितैषिणा ।। १८ ।।
पित्रा कनीयसा स्नेहाद् बुद्धिमन्तोऽशिवं गृहम् ।
अनार्यैः सुकृतं गूढैर्दुर्योधनवशानुगैः ।। १९ ।।

'गृहनिर्माणके कर्ममें सुशिक्षित एवं विश्वसनीय कारीगरोंने अवश्य ही घर बनाते समय सन, राल, मूँज, बल्वज (मोटे तिनकोंवाली घास) और बाँस आदि सब द्रव्योंको घीसे सींचकर बड़ी खूबीके साथ इन सबके द्वारा इस सुन्दर भवनकी रचना की है। यह मन्दबुद्धि पापी पुरोचन दुर्योधनकी आज्ञाके अधीन हो सदा इस घातमें लगा रहता है कि जब हमलोग

विश्वस्त होकर सोये हों, तब वह आग लगाकर (घरके साथ ही) हमें जला दे। यही उसकी इच्छा है। भीमसेन! परम बुद्धिमान् विदुरजीने हमारे ऊपर आनेवाली इस विपत्तिको यथार्थरूपमें समझ लिया था; इसीलिये उन्होंने पहले ही मुझे सचेत कर दिया। विदुरजी हमारे छोटे पिता और सदा हमलोगोंका हित चाहनेवाले हैं। अतः उन्होंने स्नेहवश हम बुद्धिमानोंको इस अशिव (अमंगलकारी) गृहके सम्बन्धमें, जिसे दुर्योधनके वशवर्ती दुष्ट कारीगरोंने छिपकर कौशलसे बनाया है, पहले ही सब कुछ समझा दिया' ।। १५—१९ ।।

भीमसेन उवाच

यदीदं गृहमाग्नेयं विहितं मन्यते भवान् ।
तथैव साधु गच्छामो यत्र पूर्वोषिता वयम् ।। २० ।।

भीमसेन बोले—भैया! यदि आप यह मानते हों कि इस घरका निर्माण अग्निको उद्दीप्त करनेवाली वस्तुओंसे हुआ है तो हमलोग जहाँ पहले रहते थे, कुशलपूर्वक पुनः उसी घरमें क्यों न लौट चलें? ।। २० ।।

युधिष्ठिर उवाच

इह यत्तैर्निराकारैर्वस्तव्यमिति रोचये ।
अप्रमत्तैर्विचिन्वद्भिर्गतिमिष्टां ध्रुवामितः ।। २१ ।।

युधिष्ठिर बोले—भाई! हमलोगोंको यहाँ अपनी बाह्य चेष्टाओंसे मनकी बात प्रकट न करते हुए और यहाँसे भाग छूटनेके लिये मनोऽनुकूल निश्चित मार्गका पता लगाते हुए पूरी सावधानीके साथ यहीं रहना चाहिये। मुझे ऐसा करना ही अच्छा लगता है ।। २१ ।।

यदि विन्देत चाकारमस्माकं स पुरोचनः ।
क्षिप्रकारी ततो भूत्वा प्रदह्यादपि हेतुतः ।। २२ ।।

यदि पुरोचन हमारी किसी भी चेष्टासे हमारे भीतरी मनोभावको ताड़ लेगा तो वह शीघ्रतापूर्वक अपना काम बनानेके लिये उद्यत हो हमें किसी-न-किसी हेतुसे जला भी सकता है ।। २२ ।।

नायं बिभेत्युपक्रोशादधर्माद् वा पुरोचनः ।
तथा हि वर्तते मन्दः सुयोधनवशे स्थितः ।। २३ ।।

यह मूढ़ पुरोचन निन्दा अथवा अधर्मसे नहीं डरता एवं दुर्योधनके वशमें होकर उसकी आज्ञाके अनुसार आचरण करता है ।। २३ ।।

अपि चेह प्रदग्धेषु भीष्मोऽस्मासु पितामहः ।
कोपं कुर्यात् किमर्थं वा कौरवान् कोपयीत सः ।। २४ ।।

यदि यहाँ हमारे जल जानेपर पितामह भीष्म कौरवोंपर क्रोध भी करें तो वह अनावश्यक है; क्योंकि फिर किस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये वे कौरवोंको कुपित करेंगे ।। २४ ।।

अथवापीह दग्धेषु भीष्मोऽस्माकं पितामहः ।
धर्म इत्येव कुप्येरन् ये चान्ये कुरुपुङ्गवाः ।। २५ ।।

अथवा सम्भव है कि यहाँ हमलोगोंके जल जानेपर हमारे पितामह भीष्म तथा कुरुकुलके दूसरे श्रेष्ठ पुरुष धर्म समझकर ही उन आततायियोंपर क्रोध करें (परंतु वह क्रोध हमारे किस कामका होगा?) ।। २५ ।।

वयं तु यदि दाहस्य बिभ्यतः प्रद्रवेमहि ।
स्पशैर्निर्घातयेत् सर्वान् राज्यलुब्धः सुयोधनः ।। २६ ।।

यदि हम जलनेके भयसे डरकर भाग चलें तो भी राज्यलोभी दुर्योधन हम सबको अपने गुप्तचरोंद्वारा मरवा सकता है ।। २६ ।।

अपदस्थान् पदे तिष्ठन्नपक्षान् पक्षसंस्थितः ।
हीनकोशान् महाकोशः प्रयोगैर्घातयेद् ध्रुवम् ।। २७ ।।

इस समय वह अधिकारपूर्ण पदपर प्रतिष्ठित है और हम उससे वंचित हैं। वह सहायकोंके साथ है और हम असहाय हैं। उसके पास बहुत बड़ा खजाना है और हमारे पास उसका सर्वथा अभाव है। अतः निश्चय ही वह अनेक प्रकारके उपायोंद्वारा हमारी हत्या कर सकता है ।। २७ ।।

तदस्माभिरिमं पापं तं च पापं सुयोधनम् ।
वञ्चयद्भिर्निवस्तव्यं छन्नावासं क्वचित् क्वचित् ।। २८ ।।

इसलिये इस पापात्मा पुरोचन तथा पापी दुर्योधनको भी धोखेमें रखते हुए हमें यहीं कहीं किसी गुप्त स्थानमें निवास करना चाहिये ।। २८ ।।

ते वयं मृगयाशीलाश्चराम वसुधामिमाम् ।
तथा नो विदिता मार्गा भविष्यन्ति पलायताम् ।। २९ ।।

हम सब मृगयामें रत रहकर यहाँकी भूमिपर सब ओर विचरें, इससे भाग निकलनेके लिये हमें बहुत-से मार्ग ज्ञात हो जायँगे ।। २९ ।।

भौमं च बिलमद्यैव करवाम सुसंवृतम् ।
गूढश्वासान्न नस्तत्र हुताशः सम्प्रधक्ष्यति ।। ३० ।।

इसके सिवा आजसे ही हम जमीनमें एक सुरंग तैयार करें, जो ऊपरसे अच्छी तरह ढकी हो। वहाँ हमारी साँसतक छिपी रहेगी (फिर हमारे कार्योंकी तो बात ही क्या है)। उस सुरंगमें घुस जानेपर आग हमें नहीं जला सकेगी ।। ३० ।।

वसतोऽत्र यथा चास्मान्न बुध्येत पुरोचनः ।
पौरो वापि जनः कश्चित् तथा कार्यमतन्द्रितैः ।। ३१ ।।

हमें आलस्य छोड़कर इस प्रकार कार्य करना चाहिये, जिससे यहाँ रहते हुए भी हमारे सम्बन्धमें पुरोचनको कुछ भी ज्ञात न हो सके और किसी पुरवासीको भी हमारी कानोंकान खबर न हो ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि भीमसेनयुधिष्ठिरसंवादे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें भीमसेन-युधिष्ठिर-संवादविषयक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४५ ।।

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुरके भेजे हुए खनकद्वारा लाक्षागृहमें सुरंगका निर्माण

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य सुहृत् कश्चित् खनकः कुशलो नरः ।
विविक्ते पाण्डवान् राजन्निदं वचनमब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक सुरंग खोदनेवाला मनुष्य विदुरजीका हितैषी एवं विश्वास-पात्र था। वह अपने काममें बड़ा चतुर था। एक दिन वह एकान्तमें पाण्डवोंसे मिला और इस प्रकार कहने लगा— ।। १ ।।

प्रहितो विदुरेणास्मि खनकः कुशलो ह्यहम् ।
पाण्डवानां प्रियं कार्यमिति किं करवाणि वः ।। २ ।।
प्रच्छन्नं विदुरेणोक्तः श्रेयस्त्वमिति पाण्डवान् ।
प्रतिपादय विश्वासादिति किं करवाणि वः ।। ३ ।।

'मुझे विदुरजीने भेजा है। मैं सुरंग खोदनेके काममें बड़ा निपुण हूँ। मुझे आप पाण्डवोंका प्रिय कार्य करना है, अतः आपलोग बतायें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? विदुरने गुप्तरूपसे मुझसे यह कहा है कि तुम वारणावतमें जाकर विश्वासपूर्वक पाण्डवोंका हित सम्पादन करो। अतः आप आज्ञा कीजिये कि मैं क्या करूँ? ।। २-३ ।।

कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां रात्रावस्यां पुरोचनः ।
भवनस्य तव द्वारि प्रदास्यति हुताशनम् ।। ४ ।।

'इसी कृष्णपक्षकी चतुर्दशीकी रातको पुरोचन आपके घरके दरवाजेपर आग लगा देगा ।। ४ ।।

मात्रा सह प्रदग्धव्याः पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।
इति व्यवसितं तस्य धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।। ५ ।।

'दुर्बुद्धि दुर्योधनकी यह चेष्टा है कि नरश्रेष्ठ पाण्डव अपनी माताके साथ जला दिये जायँ ।। ५ ।।

किंचिच्च विदुरेणोक्तो म्लेच्छवाचासि पाण्डव ।
त्वया च तत् तथेत्युक्तमेतद् विश्वासकारणम् ।। ६ ।।

'पाण्डुनन्दन! विदुरजीने म्लेच्छभाषामें आपको कुछ संकेत किया था और आपने 'तथास्तु' कहकर उसे स्वीकार किया था। यह बात मैं विश्वास दिलानेके लिये कहता हूँ' ।। ६ ।।

उवाच तं सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अभिजानामि सौम्य त्वां सुहृदं विदुरस्य वै ।। ७ ।।
शुचिमाप्तं प्रियं चैव सदा च दृढभक्तिकम् ।

न विद्यते कवेः किंचिदविज्ञातं प्रयोजनम् ।। ८ ।।

तब सत्यवादी कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने उससे कहा—'सौम्य! मैं तुम्हें पहचानता हूँ। तुम विदुरजीके हितैषी, ईमानदार, विश्वसनीय, प्रिय तथा उनके प्रति सदा अविचल भक्ति रखनेवाले हो। हमारा कोई भी ऐसा प्रयोजन नहीं है, जो परम ज्ञानी विदुरजीको ज्ञात न हो ।। ७-८ ।।

यथा तस्य तथा नस्त्वं निर्विशेषा वयं त्वयि ।

भवतश्च यथा तस्य पालयास्मान् यथा कविः ।। ९ ।।

'तुम विदुरजीके लिये जैसे आदरणीय और विश्वसनीय हो, वैसे ही हमारे लिये भी हो। तुमसे हमारा कोई अन्तर नहीं है। हमलोग जिस प्रकार विदुरजीके पालनीय हैं, वैसे ही तुम्हारे भी हैं। जैसे वे हमारी रक्षा करते हैं, वैसे ही तुम भी करो ।। ९ ।।

इदं शरणमाग्नेयं मदर्थमिति मे मतिः ।

पुरोचनेन विहितं धार्तराष्ट्रस्य शासनात् ।। १० ।।

'यह घर आग भड़कानेवाले पदार्थोंसे बना है। हमारा विश्वास है कि दुर्योधनके आदेशसे पुरोचनने हमारे लिये ही इसे बनवाया है ।। १० ।।

स पापः कोषवांश्चैव ससहायश्च दुर्मतिः ।

अस्मानपि च पापात्मा नित्यकालं प्रबाधते ।। ११ ।।

'पापी दुर्योधनके पास खजाना है और उसके बहुत-से सहायक भी हैं; इसीलिये वह दुर्बुद्धि पापात्मा सदा हमें सताया करता है ।। ११ ।।

स भवान् मोक्षयत्वस्मान् यत्नेनास्माद् हुताशनात् ।

अस्मास्विह हि दग्धेषु सकामः स्यात् सुयोधनः ।। १२ ।।

'तुम यत्न करके हमलोगोंको इस आगसे बचा लो; अन्यथा हमलोगोंके यहाँ दग्ध हो जानेपर दुर्योधनका मनोरथ सफल हो जायगा ।। १२ ।।

समृद्धमायुधागारमिदं तस्य दुरात्मनः ।

वप्रान्तं निष्प्रतीकारमाश्रित्येदं कृतं महत् ।। १३ ।।

इदं तदशुभं नूनं तस्य कर्म चिकीर्षितम् ।

प्रागेव विदुरो वेद तेनास्मानन्वबोधयत् ।। १४ ।।

'यह उस दुरात्माका अस्त्र-शस्त्रोंसे भरा हुआ आयुधागार है। इसीके सहारे इस महान् गृहका निर्माण किया गया है। इसमें चहारदीवारीके निकटतक कहीं कोई बाहर निकलनेका मार्ग नहीं है। अवश्य ही दुर्योधनका यह अशुभ कर्म, जिसे वह पूर्ण करना चाहता है, पहले ही विदुरजीको मालूम हो गया था। इसीलिये उन्होंने हमें इसकी जानकारी करा दी ।। १३-१४ ।।

सेयमापदनुप्राप्ता क्षत्ता यां दृष्टवान् पुरा ।

पुरोचनस्याविदितानस्मांस्त्वं प्रतिमोचय ।। १५ ।।

‘विदुरजीकी दृष्टिमें जो बहुत पहले आ चुकी थी, वही यह विपत्ति आज हमलोगोंपर आयी-की-आयी है। तुम हमें इस संकटसे इस तरह मुक्त करो, जिससे पुरोचनको हमारे विषयमें कुछ भी पता न चले’ ।। १५ ।।

स तथेति प्रतिश्रुत्य खनको यत्नमास्थितः ।
परिखामुत्किरन्नाम चकार च महाबिलम् ।। १६ ।।

तब उस सुरंग खोदनेवालेने ‘बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा’, यह प्रतिज्ञा की और कार्यसिद्धिके प्रयत्नमें लग गया। खाईकी सफाई करनेके व्याजसे उसने एक बहुत बड़ी सुरंग तैयार कर दी ।। १६ ।।

चक्रे च वेश्मनस्तस्य मध्येनातिमहद् बिलम् ।
कपाटयुक्तमज्ञातं समं भूम्याश्च भारत ।। १७ ।।

भारत! उसने उस भवनके ठीक बीचसे वह महान् सुरंग निकाली। उसके मुहानेपर किवाड़ लगे थे। वह भूमिके समान सतहमें ही बनी थी; अतः किसीको ज्ञात नहीं हो पाती थी ।। १७ ।।

पुरोचनभयादेव व्यदधात् संवृतं मुखम् ।
स तस्य तु गृहद्वारि वसत्यशुभधीः सदा ।
तत्र ते सायुधाः सर्वे वसन्ति स्म क्षपां नृप ।। १८ ।।
दिवा चरन्ति मृगयां पाण्डवेया वनाद् वनम् ।
विश्वस्तवदविश्वस्ता वञ्चयन्तः पुरोचनम् ।
अतुष्टा तुष्टवद् राजन्नूषुः परमविस्मिताः ।। १९ ।।

पुरोचनके भयसे उस सुरंग खोदनेवालेने उसके मुखको बंद कर दिया था। दुष्टबुद्धि पुरोचन सर्वदा मकानके द्वारपर ही निवास करता था और पाण्डवगण भी रात्रिके समय शस्त्र सँभाले सावधानीके साथ उस द्वारपर ही रहा करते थे। (इसलिये पुरोचनको आग लगानेका अवसर नहीं मिलता था।) वे दिनमें हिंस्र पशुओंके मारनेके बहाने एक वनसे दूसरे वनमें विचरते रहते थे। पाण्डव भीतरसे तो विश्वास न करनेके कारण सदा चौकन्ने रहते थे, परंतु ऊपरसे पुरोचनको ठगनेके लिये विश्वस्तकी भाँति व्यवहार करते थे। राजन्! वे संतुष्ट न होते हुए भी संतुष्टकी भाँति निवास करते और अत्यन्त विस्मययुक्त रहते थे ।। १८-१९ ।।

न चैनानन्वबुध्यन्त नरा नगरवासिनः ।
अन्यत्र विदुरामात्यात् तस्मात् खनकसत्तमात् ।। २० ।।

विदुरके मन्त्री और खोदाईके काममें श्रेष्ठ उस खनकको छोड़कर नगरके निवासी भी पाण्डवोंके विषयमें कुछ नहीं जान पाते थे ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि जतुगृहवासे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें जतुगृहवासविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४६ ।।

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

लाक्षागृहका दाह और पाण्डवोंका सुरंगके रास्ते निकल जाना

वैशम्पायन उवाच

तांस्तु दृष्ट्वा सुमनसः परिसंवत्सरोषितान् ।
विश्वस्तानिव संलक्ष्य हर्षं चक्रे पुरोचनः ।। १ ।।
पुरोचने तथा हृष्टे कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ यमौ प्रोवाच धर्मवित् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंको एक वर्षसे वहाँ प्रसन्नचित्त हो विश्वस्तकी तरह रहते हुए देख पुरोचनको बड़ा हर्ष हुआ। उसके इस प्रकार प्रसन्न होनेपर धर्मके ज्ञाता कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवसे इस प्रकार कहा— ।। १-२ ।।

अस्मानयं सुविश्वस्तान् वेत्ति पापः पुरोचनः ।
वञ्चितोऽयं नृशंसात्मा कालं मन्ये पलायने ।। ३ ।।

'पापी पुरोचन हमलोगोंको पूर्ण विश्वस्त समझ रहा है। इस क्रूरको अबतक हमलोगोंने धोखा दिया है। अब मेरी रायमें हमारे भाग निकलनेका यह उपयुक्त अवसर आ गया है ।। ३ ।।

आयुधागारमादीप्य दग्ध्वा चैव पुरोचनम् ।
षट् प्राणिनो निधायेह द्रवामोऽनभिलक्षिताः ।। ४ ।।

'इस आयुधागारमें आग लगाकर पुरोचनको जला करके इसके भीतर छः प्राणियोंको रखकर हम इस तरह भाग निकलें कि कोई हमें देख न सके' ।। ४ ।।

अथ दानापदेशेन कुन्ती ब्राह्मणभोजनम् ।
चक्रे निशि महाराज आजग्मुस्तत्र योषितः ।। ५ ।।
ता विहृत्य यथाकामं भुक्त्वा पीत्वा च भारत ।
जग्मुर्निशि गृहानेव समनुज्ञाप्य माधवीम् ।। ६ ।।

महाराज! तदनन्तर एक दिन रात्रिके समय कुन्तीने दान देनेके निमित्त ब्राह्मण-भोजन कराया। उसमें बहुत-सी स्त्रियाँ भी आयी थीं। भारत! वे सब स्त्रियाँ इच्छानुसार घूम-फिरकर खा-पी लेनेके बाद कुन्तीदेवीसे आज्ञा ले रातमें फिर अपने-अपने घरोंको ही लौट गयीं ।। ५-६ ।।

निषादी पञ्चपुत्रा तु तस्मिन् भोज्ये यदृच्छया ।

अन्नार्थिनी समभ्यागात् सपुत्रा कालचोदिता ।। ७ ।।
सा पीत्वा मदिरां मत्ता सपुत्रा मदविह्वला ।
सह सर्वैः सुतै राजंस्तस्मिन्नेव निवेशने ।। ८ ।।
सुष्वाप विगतज्ञाना मृतकल्पा नराधिप ।
अथ प्रवाते तुमुले निशि सुप्ते जने तदा ।। ९ ।।
तदुपादीपयद् भीमः शेते यत्र पुरोचनः ।
ततो जतुगृहद्वारं दीपयामास पाण्डवः ।। १० ।।

परंतु दैवेच्छासे उस भोजके समय एक भीलनी अपने पाँच बेटोंके साथ वहाँ भोजनकी इच्छासे आयी, मानो कालने ही उसे प्रेरित करके वहाँ भेजा था। वह भीलनी मदिरा पीकर मतवाली हो चुकी थी। उसके पुत्र भी शराब पीकर मस्त थे। राजन्! शराबके नशेमें बेहोश होनेके कारण अपने सब पुत्रोंके साथ वह उसी घरमें सो गयी। उस समय वह अपनी सुध-बुध खोकर मृतक-सी हो रही थी। रातमें जब सब लोग सो गये, उस समय सहसा बड़े जोरकी आँधी चली। तब भीमसेनने उस जगह आग लगा दी, जहाँ पुरोचन सो रहा था। फिर उन्होंने लाक्षागृहके प्रमुख द्वारपर आग लगायी ।। ७—१० ।।

समन्ततो ददौ पश्चादग्निं तत्र निवेशने ।
ज्ञात्वा तु तद् गृहं सर्वमादीप्तं पाण्डुनन्दनाः ।। ११ ।।
सुरङ्गां विविशुस्तूर्णं मात्रा सार्धमरिंदमाः ।
ततः प्रतापः सुमहाञ्छब्दश्चैव विभावसोः ।। १२ ।।
प्रादुरासीत् तदा तेन बुबुधे स जनव्रजः ।
तदवेक्ष्य गृहं दीप्तमाहुः पौराः कृशाननाः ।। १३ ।।

इसके पश्चात् उन्होंने उस घरके चारों ओर आग लगा दी। जब वह सारा घर अग्निकी लपेटमें आ गया, तब यह जानकर शत्रुओंका दमन करनेवाले पाण्डव अपनी माताके साथ सुरंगमें घुस गये; फिर तो वहाँ अग्निकी भयंकर लपटें उठने लगीं, भीषण ताप फैल गया। घरको जलानेवाली उस आगका महान् चट-चट शब्द सुनायी देने लगा। इससे उस नगरका जनसमूह जाग उठा। उस घरको जलता देख पुरवासियोंके मुखपर दीनता छा गयी। वे व्याकुल होकर कहने लगे ।। ११—१३ ।।

पौरा ऊचुः

दुर्योधनप्रयुक्तेन पापेनाकृतबुद्धिना ।
गृहमात्मविनाशाय कारितं दाहितं च तत् ।। १४ ।।
अहो धिग् धृतराष्ट्रस्य बुद्धिर्नातिसमञ्जसा ।
यः शुचीन् पाण्डुदायादान् दाहयामास शत्रुवत् ।। १५ ।।

पुरवासी बोले—अहो! पुरोचनका अन्तःकरण अपने वशमें नहीं था। उस पापीने दुर्योधनकी आज्ञासे अपने ही विनाशके लिये इस घरको बनवाया और जला भी दिया! अहो! धिक्कार है, धृतराष्ट्रकी बुद्धि बहुत बिगड़ गयी है, जिसने शुद्ध हृदयवाले पाण्डुपुत्रोंको शत्रुकी भाँति आगमें जला दिया ।। १४-१५ ।।

दिष्ट्या त्विदानीं पापात्मा दग्धोऽयमतिदुर्मतिः ।
अनागसः सुविश्वस्तान् यो ददाह नरोत्तमान् ।। १६ ।।

सौभाग्यकी बात है कि यह अत्यन्त खोटी बुद्धिवाला पापात्मा पुरोचन भी इस समय दग्ध हो गया है, जिसने बिना किसी अपराधके अपने ऊपर पूर्ण विश्वास करनेवाले नरश्रेष्ठ पाण्डवोंको जला दिया है ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं ते विलपन्ति स्म वारणावतका जनाः ।
परिवार्य गृहं तच्च तस्थू रात्रौ समन्ततः ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार वारणावतके लोग विलाप करने लगे। वे रातभर उस घरको चारों ओरसे घेरकर खड़े रहे ।। १७ ।।

पाण्डवाश्चापि ते सर्वे सह मात्रा सुदुःखिताः ।
बिलेन तेन निर्गत्य जग्मुर्द्रुतमलक्षिताः ।। १८ ।।

उधर समस्त पाण्डव भी अत्यन्त दुःखी हो अपनी माताके साथ सुरंगके मार्गसे निकलकर तुरंत ही दूर चले गये। उन्हें कोई भी देख न सका ।। १८ ।।

तेन निद्रोपरोधेन साध्वसेन च पाण्डवाः ।
न शेकुः सहसा गन्तुं सह मात्रा परंतपाः ।। १९ ।।

नींद न ले सकनेके कारण आलस्य और भयसे युक्त परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ जल्दी-जल्दी चल नहीं पाते थे ।। १९ ।।

भीमसेनस्तु राजेन्द्र भीमवेगपराक्रमः ।
जगाम भ्रातॄनादाय सर्वान् मातरमेव च ।। २० ।।
स्कन्धमारोप्य जननीं यमावङ्केन वीर्यवान् ।
पार्थौ गृहीत्वा पाणिभ्यां भ्रातरौ सुमहाबलः ।। २१ ।।

राजेन्द्र! भयंकर वेग और पराक्रमवाले भीमसेन अपने सब भाइयों तथा माताको भी साथ लिये चल रहे थे। वे महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे। उन्होंने माताको तो कंधेपर चढ़ा लिया और नकुल-सहदेवको गोदमें उठा लिया तथा शेष दोनों भाइयोंको दोनों हाथोंसे पकड़कर उन्हें सहारा देते हुए चलने लगे ।। २०-२१ ।।

उरसा पादपान् भञ्जन् महीं पद्भ्यां विदारयन् ।
स जगामाशु तेजस्वी वातरंहा वृकोदरः ।। २२ ।।

तेजस्वी भीम वायुके समान वेगशाली थे। वे अपनी छातीके धक्केसे वृक्षोंको तोड़ते और पैरोंकी ठोकरसे पृथ्वीको विदीर्ण करते हुए तीव्र गतिसे आगे बढ़े जा रहे थे ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि जतुगृहदाहे सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें जतुगृहदाहविषयक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४७ ।।

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुरजीके भेजे हुए नाविकका पाण्डवोंको गंगाजीके पार उतारना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु यथासम्प्रत्ययं कविः ।
विदुरः प्रेषयामास तद् वनं पुरुषं शुचिम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी समय परम ज्ञानी विदुरजीने अपने विश्वासके अनुसार एक शुद्ध विचारवाले पुरुषको उस वनमें भेजा ।। १ ।।

सुरंगद्वारा मातासहित पाण्डवोंका लाक्षागृहसे निकलना

भीम अपने चारों भाइयोंको तथा माताको उठाकर ले चले

स गत्वा तु यथोद्देशं पाण्डवान् ददृशे वने ।
जनन्या सह कौरव्य मापयानान् नदीजलम् ।। २ ।।

कुरुनन्दन! उसने विदुरजीके बताये अनुसार ठीक स्थानपर पहुँचकर वनमें मातासहित पाण्डवोंको देखा, जो नदीमें कितना जल है, इसका अनुमान लगा रहे थे ।। २ ।।

विदितं तन्महाबुद्धेर्विदुरस्य महात्मनः ।
ततस्तस्यापि चारेण चेष्टितं पापचेतसः ।। ३ ।।
ततः प्रवासितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा ।
पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम् ।। ४ ।।
सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम् ।
शिवे भागीरथीतीरे नरैर्विस्रम्भिभिः कृताम् ।। ५ ।।

परम बुद्धिमान् महात्मा विदुरको गुप्तचरद्वारा उस पापासक्त पुरोचनकी चेष्टाओंका भी पता चल गया था। इसीलिये उन्होंने उस समय उस बुद्धिमान् मनुष्यको वहाँ भेजा था। उसने मन और वायुके समान वेगसे चलनेवाली एक नाव पाण्डवोंको दिखायी, जो सब प्रकारसे हवाका वेग सहनेमें समर्थ और ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित थी। उस नौकाको चलानेके लिये यन्त्र लगाया गया था। वह नाव गंगाजीके पावन तटपर विद्यमान थी और उसे विश्वासी मनुष्योंने बनाकर तैयार किया था ।। ३—५ ।।

ततः पुनरथोवाच ज्ञापकं पूर्वचोदितम् ।
युधिष्ठिर निबोधेदं संज्ञार्थं वचनं कवेः ।। ६ ।।

तदनन्तर उस मनुष्यने कहा—'युधिष्ठिरजी! ज्ञानी विदुरजीके द्वारा पहले कही हुई यह बात, जो मेरी विश्वसनीयताको सूचित करनेवाली है, पुनः सुनिये। मैं आपको संकेतके तौरपर स्मरण दिलानेके लिये इसे कहता हूँ ।। ६ ।।

कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः ।
न हन्तीत्येवमात्मानं यो रक्षति स जीवति ।। ७ ।।

'(तुमसे विदुरजीने कहा था—) 'घास-फूस तथा सूखे वृक्षोंके जंगलको जलानेवाली और सर्दीको नष्ट कर देनेवाली आग विशाल वनमें फैल जानेपर भी बिलमें रहनेवाले चूहे आदि जन्तुओंको नहीं जला सकती। यों समझकर जो अपनी रक्षाका उपाय करता है, वही जीवित रहता है' ।। ७ ।।

तेन मां प्रेषितं विद्धि विश्वस्तं संज्ञयानया ।
भूयश्चैवाह मां क्षत्ता विदुरः सर्वतोऽर्थवित् ।। ८ ।।
कर्णं दुर्योधनं चैव भ्रातृभिः सहितं रणे ।
शकुनिं चैव कौन्तेय विजेतासि न संशयः ।। ९ ।।

'इस संकेतसे आप यह जान लें कि 'मैं विश्वास-पात्र हूँ और विदुरजीने ही मुझे भेजा है।' इसके सिवा, सर्वतोभावेन अर्थसिद्धिका ज्ञान रखनेवाले विदुरजीने पुनः मुझसे आपके

लिये यह संदेश दिया कि 'कुन्ती-नन्दन! तुम युद्धमें भाइयोंसहित दुर्योधन, कर्ण और शकुनिको अवश्य परास्त करोगे, इसमें संशय नहीं है ।। ८-९ ।।

इयं वारिपथे युक्ता नौरप्सु सुखगामिनी ।
मोचयिष्यति वः सर्वानस्माद् देशान्न संशयः ।। १० ।।

'यह नौका जलमार्गके लिये उपयुक्त है। जलमें यह बड़ी सुगमतासे चलनेवाली है। यह नाव तुम सब लोगोंको इस देशसे दूर छोड़ देगी, इसमें संदेह नहीं है' ।। १० ।।

अथ तान् व्यथितान् दृष्ट्वा सह मात्रा नरोत्तमान् ।
नावमारोप्य गङ्गायां प्रस्थितानब्रवीत् पुनः ।। ११ ।।

इसके बाद मातासहित नरश्रेष्ठ पाण्डवोंको अत्यन्त दुःखी देख नाविकने उन सबको नावपर चढ़ाया और जब वे गंगाके मार्गसे प्रस्थान करने लगे, तब फिर इस प्रकार कहा — ।। ११ ।।

विदुरो मूर्ध्न्युपाघ्राय परिष्वज्य वचो मुहुः ।
अरिष्टं गच्छताव्यग्राः पन्थानमिति चाब्रवीत् ।। १२ ।।

'विदुरजीने आप सभी पाण्डुपुत्रोंको भावनाद्वारा हृदयसे लगाकर और मस्तक सूँघकर यह आशीर्वाद फिर कहलाया है कि 'तुम शान्तचित्त हो कुशलपूर्वक मार्गपर बढ़ते जाओ' ।। १२ ।।

इत्युक्त्वा स तु तान् वीरान् पुमान् विदुरचोदितः ।
तारयामास राजेन्द्र गङ्गां नावा नरर्षभान् ।। १३ ।।

राजेन्द्र! विदुरजीके भेजनेसे आये हुए उस नाविकने उन शूरवीर नरश्रेष्ठ पाण्डवोंसे ऐसी बात कहकर उसी नावसे उन्हें गंगाजीके पार उतार दिया ।। १३ ।।

तारयित्वा ततो गङ्गां पारं प्राप्तांश्च सर्वशः ।
जयाशिषः प्रयुज्याथ यथागतमगाद्धि सः ।। १४ ।।

पार उतारनेके पश्चात् जब वे गंगाजीके दूसरे तटपर जा पहुँचे, तब उन सबके लिये 'जय हो, जय हो' यह आशीर्वाद सुनाकर वह नाविक जैसे आया था, उसी प्रकार लौट गया ।। १४ ।।

पाण्डवाश्च महात्मानः प्रतिसंदिश्य वै कवेः ।
गङ्गामुत्तीर्य वेगेन जग्मुर्गूढमलक्षिताः ।। १५ ।।

महात्मा पाण्डव भी विद्वान् विदुरजीको उनके संदेशका उत्तर देकर गंगापार हो अपनेको छिपाते हुए वेगपूर्वक वहाँसे चल दिये। कोई भी उन्हें देख या पहचान न सका ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि गङ्गोत्तरणे अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें पाण्डवोंके गंगापार होनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४८ ।।

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र आदिके द्वारा पाण्डवोंके लिये शोकप्रकाश एवं जलांजलिदान तथा पाण्डवोंका वनमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

अथ रात्र्यां व्यतीतायामशेषो नागरो जनः ।
तत्राजगाम त्वरितो दिदृक्षुः पाण्डुनन्दनान् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उधर रात व्यतीत होनेपर वारणावत नगरके सारे नागरिक बड़ी उतावलीके साथ पाण्डुकुमारोंकी दशा देखनेके लिये उस लाक्षागृहके समीप आये ।। १ ।।

निर्वापयन्तो ज्वलनं ते जना ददृशुस्ततः ।
जातुषं तद् गृहं दग्धममात्यं च पुरोचनम् ।। २ ।।

आते ही वे (सब) लोग आग बुझानेमें लग गये। उस समय उन्होंने देखा कि सारा घर लाखका बना था, जो जलकर खाक हो गया। उसीमें मन्त्री पुरोचन भी जल गया था ।। २ ।।

नूनं दुर्योधनेनेदं विहितं पापकर्मणा ।
पाण्डवानां विनाशायेत्येवं ते चुक्रुशुर्जनाः ।। ३ ।।

(यह देख) वे (सभी) नागरिक चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे कि 'अवश्य ही पापाचारी दुर्योधनने पाण्डवोंका विनाश करनेके लिये इस भवनका निर्माण करवाया था ।। ३ ।।

विदिते धृतराष्ट्रस्य धार्तराष्ट्रो न संशयः ।
दग्धवान् पाण्डुदायादान् न ह्येनं प्रतिषिद्धवान् ।। ४ ।।

'इसमें संदेह नहीं कि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने धृतराष्ट्रकी जानकारीमें पाण्डुपुत्रोंको जलाया है और धृतराष्ट्रने इसे मना नहीं किया ।। ४ ।।

नूनं शांतनवोऽपीह न धर्ममनुवर्तते ।
द्रोणश्च विदुरश्चैव कृपश्चान्ये च कौरवाः ।। ५ ।।

'निश्चय ही इस विषयमें शंतनुनन्दन भीष्मजी भी धर्मका अनुसरण नहीं कर रहे हैं। द्रोण, विदुर, कृपाचार्य तथा अन्य कौरवोंकी भी यही दशा है ।। ५ ।।

ते वयं धृतराष्ट्रस्य प्रेषयामो दुरात्मनः ।
संवृत्तस्ते परः कामः पाण्डवान् दग्धवानसि ।। ६ ।।

'अब हमलोग दुरात्मा धृतराष्ट्रके पास यह संदेश भेज दें कि तुम्हारी सबसे बड़ी कामना पूरी हो गयी। तुम पाण्डवोंको जलानेमें सफल हो गये' ।। ६ ।।

ततो व्यपोहमानास्ते पाण्डवार्थे हुताशनम् ।
निषादीं ददृशुर्दग्धां पञ्चपुत्रामनागसम् ।। ७ ।।

तदनन्तर उन्होंने पाण्डवोंको ढूँढ़नेके लिये जब आगको इधर-उधर हटाया, तब पाँच पुत्रोंके साथ निरपराध भीलनीकी जली लाश देखी ।। ७ ।।

खनकेन तु तेनैव वेश्म शोधयता बिलम् ।
पांसुभिः पिहितं तच्च पुरुषैस्तैर्न लक्षितम् ।। ८ ।।

उसी सुरंग खोदनेवाले पुरुषने घरको साफ करते समय सुरंगके छेदको धूलसे ढक दिया था। इससे दूसरे लोगोंकी दृष्टि उसपर नहीं पड़ी ।। ८ ।।

ततस्ते ज्ञापयामासुर्धृतराष्ट्रस्य नागराः ।
पाण्डवानग्निना दग्धानमात्यं च पुरोचनम् ।। ९ ।।

तदनन्तर वारणावतके नागरिकोंने धृतराष्ट्रको यह सूचित कर दिया कि पाण्डव तथा मन्त्री पुरोचन आगमें जल गये ।। ९ ।।

श्रुत्वा तु धृतराष्ट्रस्तद् राजा सुमहदप्रियम् ।
विनाशं पाण्डुपुत्राणां विललाप सुदुःखितः ।। १० ।।

महाराज धृतराष्ट्र पाण्डुपुत्रोंके विनाशका यह अत्यन्त अप्रिय समाचार सुनकर बहुत दुःखी हो विलाप करने लगे— ।। १० ।।

अद्य पाण्डुर्मृतो राजा मम भ्राता महायशाः ।
तेषु वीरेषु दग्धेषु मात्रा सह विशेषतः ।। ११ ।।

‘अहो! मातासहित इन शूरवीर पाण्डवोंके दग्ध हो जानेपर विशेषरूपसे ऐसा लगता है, मानो मेरे भाई महायशस्वी राजा पाण्डुकी मृत्यु आज हुई है ।। ११ ।।

गच्छन्तु पुरुषाः शीघ्रं नगरं वारणावतम् ।
सत्कारयन्तु तान् वीरान् कुन्तिराजसुतां च ताम् ।। १२ ।।

‘मेरे कुछ लोग शीघ्र ही वारणावत नगरमें जायँ और कुन्तिभोजकुमारी कुन्ती तथा वीरवर पाण्डवोंका आदरपूर्वक दाहसंस्कार करायें ।। १२ ।।

कारयन्तु च कुल्यानि शुभानि च बृहन्ति च ।
ये च तत्र मृतास्तेषां सुहृदो यान्तु तानपि ।। १३ ।।

‘उन सबके कुलोचित शुभ और महान् संस्कारकी व्यवस्था करें तथा जो-जो उस घरमें जलकर मरे हैं, उनके सुहृद् एवं सगे-सम्बन्धी भी उन मृतकोंका दाह-संस्कार करनेके लिये वहाँ जायँ ।। १३ ।।

एवं गते मया शक्यं यद् यत् कारयितुं हितम् ।
पाण्डवानां च कुन्त्याश्च तत् सर्वं क्रियतां धनैः ।। १४ ।।
एवमुक्त्वा ततश्चक्रे ज्ञातिभिः परिवारितः ।
उदकं पाण्डुपुत्राणां धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।। १५ ।।

‘इस दशामें मुझे पाण्डवों तथा कुन्तीका हित करनेके लिये जो-जो कार्य करना चाहिये या जो-जो कार्य मुझसे हो सकता है, वह सब धन खर्च करके सम्पन्न किया जाय।’ यों कहकर अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने जातिभाइयोंसे घिरे रहकर पाण्डवोंके लिये जलांजलि देनेका कार्य किया ।। १४-१५ ।।

(समेतास्तु ततः सर्वे भीष्मेण सह कौरवाः ।
धृतराष्ट्रः सपुत्रश्च गङ्गामभिमुखा ययुः ।।
एकवस्त्रा निरानन्दा निराभरणवेष्टनाः ।
उदकं कर्तुकामा वै पाण्डवानां महात्मनाम् ।।)

उस समय भीष्म, सब कौरव तथा पुत्रोंसहित धृतराष्ट्र एकत्र हो महात्मा पाण्डवोंको जलांजलि देनेकी इच्छासे गंगाजीके निकट गये। उन सबके शरीरपर एक-एक ही वस्त्र था। वे सभी आभूषण और पगड़ी आदि उतारकर आनन्दशून्य हो रहे थे।

रुरुदुः सहिताः सर्वे भृशं शोकपरायणाः ।
हा युधिष्ठिर कौरव्य हा भीम इति चापरे ।। १६ ।।

उस समय सब लोग अत्यन्त शोकमग्न हो एक साथ रोने और विलाप करने लगे। कोई कहता—‘हा कुरुवंश-विभूषण युधिष्ठिर!’ दूसरे कहते—‘हा भीमसेन!’ ।। १६ ।।

हा फाल्गुनेति चाप्यन्ये हा यमाविति चापरे ।
कुन्तीमार्ताश्च शोचन्त उदकं चक्रिरे जनाः ।। १७ ।।

अन्य कोई बोलते—‘हा अर्जुन!’ और इसी प्रकार दूसरे लोग ‘हा नकुल-सहदेव!’ कहकर पुकार उठते थे। सब लोगोंने कुन्तीदेवीके लिये शोकार्त होकर जलांजलि दी ।। १७ ।।

अन्ये पौरजनाश्चैवमन्वशोचन्त पाण्डवान् ।
विदुरस्त्वल्पशश्चक्रे शोकं वेद परं हि सः ।। १८ ।।

इसी प्रकार दूसरे-दूसरे पुरवासीजन भी पाण्डवोंके लिये बहुत शोक करने लगे। विदुरजीने बहुत थोड़ा शोक मनाया; क्योंकि वे वास्तविक वृत्तान्तसे परिचित थे ।। १८ ।।

(ततः प्रव्यथितो भीष्मः पाण्डुराजसुतान् मृतान् ।
सह मात्रेति तच्छ्रुत्वा विललाप रुरोद च ।।

भीष्म उवाच

न हि तौ नोत्सहेयातां भीमसेनधनंजयौ ।
तरसा वेगितात्मानौ निर्भेत्तुमपि मन्दिरम् ।
परासुत्वं न पश्यामि पृथायाः सह पाण्डवैः ।।
सर्वथा विकृतं नीतं यदि ते निधनं गताः ।
धर्मराजः स निर्दिष्टो ननु विप्रैर्युधिष्ठिरः ।।

सत्यव्रतो धर्मदत्तः सत्यवाक्छुभलक्षणः ।
कथं कालवशं प्राप्तः पाण्डवेयो युधिष्ठिरः ।।
आत्मानमुपमां कृत्वा परेषां वर्तते तु यः ।
सह मात्रा तु कौरव्यः कथं कालवशं गतः ।।
यौवराज्येऽभिषिक्तेन पितुर्येनाहृतं यशः ।
आत्मनश्च पितुश्चैव सत्यधर्मस्य वृत्तिभिः ।।
कालेन स हि सम्भग्नो धिक् कृतान्तमनर्थकम् ।।
यच्च सा वनवासेन क्लेशिता दुःखभागिनी ।
पुत्रगृध्नुतया कुन्ती न भर्तारं मृता त्वनु ।।
अल्पकालं कुले जाता भर्तुः प्रीतिमवाप या ।
दग्धाद्य सह पुत्रैः सा असम्पूर्णमनोरथा ।।
पीनस्कन्धश्चारुबाहुर्मेरुकूटसमो युवा ।
मृतो भीम इति श्रुत्वा मनो न श्रद्दधाति मे ।।
अनिन्द्यानि च यो गच्छन् क्षिप्रहस्तो दृढायुधः ।
प्रपत्तिमाँल्लब्धलक्ष्यो रथयानविशारदः ।।
दूरपाती त्वसम्भ्रान्तो महावीर्यो महास्त्रवित् ।
अदीनात्मा नरव्याघ्रः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ।।
येन प्राच्याः ससौवीरा दाक्षिणात्याश्च निर्जिताः ।
ख्यापितं येन शूरेण त्रिषु लोकेषु पौरुषम् ।।
यस्मिञ्जाते विशोकाभूत् कुन्ती पाण्डुश्च वीर्यवान् ।
पुरन्दरसमो जिष्णुः कथं कालवशं गतः ।।
कथं तावृषभस्कन्धौ सिंहविक्रान्तगामिनौ ।
मर्त्यधर्ममनुप्राप्तौ यमावरिनिबर्हणौ ।।

तदनन्तर भीष्मजी यह सुनकर कि राजा पाण्डुके पुत्र अपनी माताके साथ जल मरे हैं, अत्यन्त व्यथित हो उठे और रोने एवं विलाप करने लगे।

भीष्मजी बोले—वे दोनों भाई भीमसेन और अर्जुन उत्साह-शून्य हो गये हों, ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। यदि वे वेगसे अपने शरीरका धक्का देते तो सुदृढ़ मकानको भी तोड़-फोड़ सकते थे। अतः पाण्डवोंके साथ कुन्तीकी मृत्यु हो गयी है, ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता। यदि सचमुच उन सबकी मृत्यु हो चुकी है, तब तो यह सभी प्रकारसे बहुत बुरी बात हुई है। ब्राह्मणोंने तो धर्मराज युधिष्ठिरके विषयमें यह कहा था कि ये धर्मके दिये हुए राजकुमार सत्यव्रती, सत्यवादी एवं शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न होंगे। ऐसे वे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर कालके अधीन कैसे हो गये? जो अपने-आपको आदर्श बनाकर तदनुरूप दूसरोंके साथ बर्ताव करते थे वे ही कुरुकुलशिरोमणि युधिष्ठिर अपनी माताके साथ कालके अधीन कैसे

हो गये? जिन्होंने युवराजपदपर अभिषिक्त होते ही पिताके समान ही अपने सत्य एवं धर्मपूर्ण बर्तावके द्वारा अपना ही नहीं, राजा पाण्डुके भी यशका विस्तार किया था, वे युधिष्ठिर भी कालके अधीन हो गये। ऐसे निकम्मे कालको धिक्कार है। उत्तम कुलमें उत्पन्न कुन्ती, जो पुत्रोंकी अभिलाषा रखनेके कारण ही वनवासका कष्ट भोगती और दुःखपर दुःख उठाती रही तथा पतिके मरनेपर भी उनका अनुगमन न कर सकी, जिसे बहुत थोड़े समयतक ही पतिका प्रेम प्राप्त हुआ था, वही कुन्तिभोजकुमारी अभी अपने मनोरथ पूरे भी न कर पायी थी कि पुत्रोंके साथ दग्ध हो गयी! जिनके भरे हुए कंधे और मनोहर भुजाएँ थीं, जो मेरु-शिखरके समान सुन्दर एवं तरुण थे, वे भीमसेन मर गये, यह सुनकर भी मनको विश्वास नहीं होता। जो सदा उत्तम मार्गोंपर चलते थे, जिनके हाथोंमें बड़ी फुर्ती थी, जिनके आयुध अत्यन्त दृढ़ थे, जो गुरुजनोंके आश्रित रहते थे, जिनका निशाना कभी चूकता नहीं था, जो रथ हाँकनेमें कुशल, दूरतकका लक्ष्य बेधनेवाले, कभी व्याकुल न होनेवाले, महापराक्रमी और महान् अस्त्रोंके ज्ञाता थे, जिनके हृदयमें कभी दीनता नहीं आती थी, जो मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी तथा सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ थे, जिन्होंने प्राच्य, सौवीर और दाक्षिणात्य नरेशोंको परास्त किया था, जिस शूरवीरने तीनों लोकोंमें अपने पुरुषार्थको प्रसिद्ध किया था और जिनके जन्म लेनेपर कुन्ती और महापराक्रमी पाण्डु भी शोकरहित हो गये थे, वे इन्द्रके समान विजयी वीर अर्जुन भी कालके अधीन कैसे हो गये? जो बैलके-से हृष्ट-पुष्ट कंधोंसे सुशोभित थे तथा सिंहकी-सी मस्तानी चालसे चलते थे, वे शत्रुओंका संहार करनेवाले नकुल-सहदेव सहसा मृत्युको कैसे प्राप्त हो गये?

वैशम्पायन उवाच

तस्य विक्रन्दितं श्रुत्वा उदकं च प्रसिञ्चतः ।
देशकालं समाज्ञाय विदुरः प्रत्यभाषत ।।
मा शोचीस्त्वं नरव्याघ्र जहि शोकं महाव्रत ।
न तेषां विद्यते पापं प्राप्तकालं कृतं मया ।
एतच्च तेभ्य उदकं विप्रसिञ्च न भारत ।।
सोऽब्रवीत् किंचिदुत्सार्य कौरवाणामशृण्वताम् ।
क्षत्तारमुपसंगृह्य बाष्पोत्पीडकलस्वरः ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जलांजलि-दान देते समय भीष्मजीका यह विलाप सुनकर विदुरजीने देश और कालका भलीभाँति विचार करके कहा—‘नरश्रेष्ठ! आप दुःखी न हों। महाव्रती वीर! आप शोक त्याग दें, पाण्डवोंकी मृत्यु नहीं हुई है। मैंने उस अवसरपर जो उचित था, वह कार्य कर दिया है। भारत! आप उन पाण्डवोंके लिये जलांजलि न दें।’ तब भीष्मजी विदुरका हाथ पकड़कर उन्हें कुछ दूर हटा ले गये, जहाँसे कौरवलोग उनकी बात न सुन सकें। फिर वे आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीमें बोले।

भीष्म उवाच

कथं ते तात जीवन्ति पाण्डोः पुत्रा महारथाः ।
कथमस्मत्कृते पक्षः पाण्डोर्न हि निपातितः ।।
कथं मत्प्रमुखाः सर्वे प्रमुक्ता महतो भयात् ।
जननी गरुडेनेव कुमारास्ते समुद्धृताः ।।

भीष्मजीने कहा—तात! पाण्डुके वे महारथी पुत्र कैसे जीवित बच गये? पाण्डुका पक्ष किस तरह हमारे लिये नष्ट होनेसे बच गया? जैसे गरुड़ने अपनी माताकी रक्षा की थी, उसी प्रकार तुमने किस तरह पाण्डुकुमारोंको बचाकर हम सब लोगोंकी महान् भयसे रक्षा की है?

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौरव्य कौरवाणामशृण्वताम् ।
आचचक्षे स धर्मात्मा भीष्मायाद्भुतकर्मणे ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार पूछे जानेपर धर्मात्मा विदुरने कौरवोंके न सुनते हुए अद्भुत कर्म करनेवाले भीष्मजीसे इस प्रकार कहा—

विदुर उवाच

धृतराष्ट्रस्य शकुने राज्ञो दुर्योधनस्य च ।
विनाशे पाण्डुपुत्राणां कृतो मतिविनिश्चयः ।।
ततो जतुगृहं गत्वा दहनेऽस्मिन् नियोजिते ।
पृथायाश्च सपुत्राया धार्तराष्ट्रस्य शासनात् ।।
ततः खनकमाहूय सुरङ्गां वै बिले तदा ।
सगुहां कारयित्वा ते कुन्त्या पाण्डुसुतास्तदा ।।
निष्क्रामिता मया पूर्वं मा स्म शोके मनः कृथाः ।
निर्गताः पाण्डवा राजन् मात्रा सह परंतपाः ।।
अग्निदाहान्महाघोरान्मया तस्मादुपायतः ।
मा स्म शोकमिमं कार्षीर्जीवन्त्येव च पाण्डवाः ।।
प्रच्छन्ना विचरिष्यन्ति यावत् कालस्य पर्ययः ।।
तस्मिन् युधिष्ठिरं काले दक्ष्यन्ति भुवि भूमिपाः ।)

विदुर बोले—धृतराष्ट्र, शकुनि तथा राजा दुर्योधनका यह पक्का विचार हो गया था कि पाण्डवोंको नष्ट कर दिया जाय। तदनन्तर लाक्षागृहमें जानेपर जब दुर्योधनकी आज्ञासे पुत्रोंसहित कुन्तीको जला देनेकी योजना बन गयी, तब मैंने एक भूमि खोदनेवालेको बुलाकर भूगर्भमें गुफासहित सुरंग खुदवायी और कुन्तीसहित पाण्डवोंको घरमें आग लगनेसे पहले ही निकाल लिया, अतः आप अपने मनमें शोकको स्थान न दीजिये। राजन्!

शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डव अपनी माताके साथ उस महाभयंकर अग्निदाहसे दूर निकल गये हैं। मेरे पूर्वोक्त उपायसे ही यह कार्य सम्भव हो सका है। पाण्डव निश्चय ही जीवित हैं, अतः आप उनके लिये शोक न कीजिये। जबतक यह समय बदलकर अनुकूल नहीं हो जाता, तबतक वे पाण्डव छिपे रहकर इस भूतलपर विचरेंगे। अनुकूल समय आनेपर सब राजा इस पृथ्वीपर युधिष्ठिरको देखेंगे।

पाण्डवाश्चापि निर्गत्य नगराद् वारणावतात् ।
नदीं गङ्गामनुप्राप्ता मातृषष्ठा महाबलाः ।। १९ ।।

(इधर) महाबली पाण्डव भी वारणावत नगरसे निकलकर माताके साथ गंगा नदीके तटपर पहुँचे ।। १९ ।।

दाशानां भुजवेगेन नद्याः स्रोतोजवेन च ।
वायुना चानुकूलेन तूर्णं पारमवाप्नुवन् ।। २० ।।

वे नाविकोंकी भुजाओं तथा नदीके प्रवाहके वेगसे अनुकूल वायुकी सहायता पाकर जल्दी ही पार उतर गये ।। २० ।।

ततो नावं परित्यज्य प्रययुर्दक्षिणां दिशम् ।
विज्ञाय निशि पन्थानं नक्षत्रगणसूचितम् ।। २१ ।।

तदनन्तर नाव छोड़ रातमें नक्षत्रोंद्वारा सूचित मार्गको पहचानकर वे दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ।। २१ ।।

यतमाना वनं राजन् गहनं प्रतिपेदिरे ।
ततः श्रान्ताः पिपासार्ता निद्रान्धाः पाण्डुनन्दनाः ।। २२ ।।
पुनरूचुर्महावीर्यं भीमसेनमिदं वचः ।
इतः कष्टतरं किं नु यद् वयं गहने वने ।
दिशश्च न विजानीमो गन्तुं चैव न शक्नुमः ।। २३ ।।

राजन्! इस प्रकार आगे बढ़नेकी चेष्टा करते हुए वे सब-के-सब एक घने जंगलमें जा पहुँचे। उस समय पाण्डवलोग थके-माँदे, प्याससे पीड़ित और (अधिक जगनेसे) नींदमें अंधे-से हो रहे थे। वे महापराक्रमी भीमसेनसे पुनः इस प्रकार बोले—‘भारत! इससे बढ़कर महान् कष्ट क्या होगा कि हमलोग इस घने जंगलमें फँसकर दिशाओंको भी नहीं जान पाते तथा चलने-फिरनेमें भी असमर्थ हो रहे हैं ।। २२-२३ ।।

तं च पापं न जानीमो यदि दग्धः पुरोचनः ।
कथं तु विप्रमुच्येम भयादस्मादलक्षिताः ।। २४ ।।

‘हमें यह भी पता नहीं है कि पापी पुरोचन जल गया या नहीं। हम दूसरोंसे छिपे रहकर किस प्रकार इस महान् कष्टसे छुटकारा पा सकेंगे?’ ।। २४ ।।

पुनरस्मानुपादाय तथैव व्रज भारत ।
त्वं हि नो बलवानेको यथा सततगस्तथा ।। २५ ।।

‘भैया! तुम पुनः पूर्ववत् हम सबको लेकर चलो। हमलोगोंमें एक तुम्हीं अधिक बलवान् और उसी प्रकार निरन्तर चलने-फिरनेमें भी समर्थ हो’ ।। २५ ।।

इत्युक्तो धर्मराजेन भीमसेनो महाबलः ।
आदाय कुन्तीं भ्रातॄंश्च जगामाशु महाबलः ।। २६ ।।

धर्मराजके यों कहनेपर महाबली भीमसेन माता कुन्ती तथा भाइयोंको अपने ऊपर चढ़ाकर बड़ी शीघ्रताके साथ चलने लगे ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि पाण्डववनप्रवेशे एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें पाण्डवोंका वनमें प्रवेशविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २९ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं)

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

माता कुन्तीके लिये भीमसेनका जल ले आना, माता और भाइयोंको भूमिपर सोये देखकर भीमका विषाद एवं दुर्योधनके प्रति क्रोध

वैशम्पायन उवाच

तेन विक्रममाणेन ऊरुवेगसमीरितम् ।
वनं सवृक्षविटपं व्याघूर्णितमिवाभवत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमसेनके चलते समय उनके महान् वेगसे आन्दोलित हो वृक्ष और शाखाओंसहित वह सम्पूर्ण वन घूमता-सा प्रतीत होने लगा ।। १ ।।

जङ्घावातो ववौ चास्य शुचिशुक्रागमे यथा ।
आवर्जितलतावृक्षं मार्गं चक्रे महाबलः ।। २ ।।

जैसे ज्येष्ठ और आषाढ़ मासके संधिकालमें जोर-जोरसे हवा चलने लगती है, उसी प्रकार उनकी पिंडलियोंके वेगपूर्वक संचालनसे आँधी-सी उठ रही थी। महाबली भीम जिस मार्गसे चलते, वहाँकी लताओं और वृक्षोंको पैरोंसे रौंदकर जमीनके बराबर कर देते थे ।। २ ।।

स मृद्नन् पुष्पितांश्चैव फलितांश्च वनस्पतीन् ।
अवरुज्य ययौ गुल्मान् पथस्तस्य समीपजान् ।। ३ ।।

उनके मार्गके निकट जो फल और फूलोंसे लदे हुए वनस्पति एवं गुल्म आदि होते, उन्हें तोड़कर वे पैरोंसे रौंदते जाते थे ।। ३ ।।

स रोषित इव क्रुद्धो वने भञ्जन् महाद्रुमान् ।
त्रिप्रस्रुतमदः शुष्मी षष्टिवर्षी मतङ्गराट् ।। ४ ।।

जैसे तीन अंगोंसे मद बहानेवाला साठ वर्षका तेजस्वी गजराज (किसी कारणसे) कुपित हो वनके बड़े-बड़े वृक्षोंको तोड़ने लगता है, उसी प्रकार महातेजस्वी भीमसेन उस वनके विशाल वृक्षोंको धराशायी करते हुए आगे बढ़ रहे थे ।। ४ ।।

गच्छतस्तस्य वेगेन तार्क्ष्यमारुतरंहसः ।
भीमस्य पाण्डुपुत्राणां मूर्च्छेव समजायत ।। ५ ।।

गरुड़ और वायुके समान तीव्र गतिवाले भीमसेनके चलते समय उनके (महान्) वेगसे अन्य पाण्डुपुत्रोंको मूर्च्छा-सी आ जाती थी ।। ५ ।।

असकृच्चापि संतीर्य दूरपारं भुजप्लवैः ।
पथि प्रच्छन्नमासेदुर्धार्तराष्ट्रभयात् तदा ।। ६ ।।

मार्गमें आये हुए जल-प्रवाहको, जिसका पाट दूरतक फैला होता था, दोनों भुजाओंके बेड़ेद्वारा ही बारंबार पार करके वे सब पाण्डव दुर्योधनके भयसे किसी गुप्त स्थानमें जाकर रहते थे ।। ६ ।।

कृच्छ्रेण मातरं चैव सुकुमारीं यशस्विनीम् ।
अवहत् स तु पृष्ठेन रोधस्तु विषमेषु च ।। ७ ।।

भीमसेन अपनी सुकुमारी एवं यशस्विनी माता कुन्तीको पीठपर बिठाकर नदीके ऊँचे-नीचे कगारोंपर बड़ी कठिनाईसे ले जाते थे ।। ७ ।।

अगमच्च वनोद्देशमल्पमूलफलोदकम् ।
क्रूरपक्षिमृगं घोरं सायाह्ने भरतर्षभ ।। ८ ।।

भरतश्रेष्ठ! वे संध्या होते-होते वनके ऐसे भयंकर प्रदेशमें जा पहुँचे, जहाँ फल-मूल और जलकी बहुत कमी थी। वहाँ क्रूर स्वभाववाले पक्षी और हिंसक पशु रहते थे ।। ८ ।।

घोरा समभवत् संध्या दारुणा मृगपक्षिणः ।
अप्रकाशा दिशः सर्वा वातैरासन्ननार्तवैः ।। ९ ।।

वह संध्या बड़ी भयानक प्रतीत होती थी। क्रूर स्वभाववाले पशु और पक्षी वहाँ वास करते थे। बिना ऋतुकी प्रचण्ड हवाओंके चलनेसे सम्पूर्ण दिशाएँ (धूलसे आच्छादित हो) अन्धकारपूर्ण हो रही थीं ।। ९ ।।

शीर्णपर्णफलै राजन् बहुगुल्मक्षुपैर्द्रुमैः ।
भग्नावभग्नभूयिष्ठैर्नानाद्रुमसमाकुलैः ।। १० ।।

राजन्! (हवाके झोंकोंसे) वनके बहुसंख्यक छोटे-बड़े वृक्ष और गुल्म-लता आदि झुक-झुककर टूट गये थे। उनके पत्ते और फल इधर-उधर बिखर गये थे और उनपर पक्षी शब्द कर रहे थे। इन सबके कारण सम्पूर्ण दिशाओंमें अँधेरा छा रहा था ।। १० ।।

ते श्रमेण च कौरव्यास्तृष्णया च प्रपीडिताः ।
नाशक्नुवंस्तदा गन्तुं निद्रया च प्रवृद्धया ।। ११ ।।

वे कुरुकुलरत्न पाण्डव उस समय अधिक परिश्रम और प्यासके कारण बहुत कष्ट पा रहे थे। थकावटसे उनकी नींद भी बहुत बढ़ गयी थी, जिससे पीड़ित होकर वे आगे जानेमें असमर्थ हो गये ।। ११ ।।

न्यविशन्त हि ते सर्वे निरास्वादे महावने ।
ततस्तृषापरिक्लान्ता कुन्ती पुत्रानथाब्रवीत् ।। १२ ।।

तब उन सबने उस नीरस विशाल जंगलमें डेरा डाल दिया। तत्पश्चात् प्याससे पीड़ित कुन्तीदेवी अपने पुत्रोंसे बोली— ।। १२ ।।

माता सती पाण्डवानां पञ्चानां मध्यतः स्थिता ।
तृष्णया हि परीतास्मि पुत्रान् भृशमथाब्रवीत् ।। १३ ।।

'मैं पाँच पाण्डुपुत्रोंकी माता हूँ और उन्हींके बीचमें स्थित हूँ, तो भी प्याससे व्याकुल हूँ' इस प्रकार कुन्तीदेवीने अपने बेटोंके समक्ष यह बात बार-बार दुहरायी ।। १३ ।।

तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्य मातृस्नेहात् प्रजल्पितम् ।
कारुण्येन मनस्तप्तं गमनायोपचक्रमे ।। १४ ।।

माताका वात्सल्यसे कहा हुआ वह वचन सुनकर भीमसेनका हृदय करुणासे भर आया। वे मन-ही-मन संतप्त हो उठे और स्वयं ही (पानी लानेके लिये) जानेकी तैयारी करने लगे ।। १४ ।।

ततो भीमो वनं घोरं प्रविश्य विजनं महत् ।
न्यग्रोधं विपुलच्छायं रमणीयं ददर्श ह ।। १५ ।।

उस समय भीमने उस विशाल, निर्जन एवं भयंकर वनमें प्रवेश करके एक बहुत सुन्दर और विस्तृत छायावाला बरगदका पेड़ देखा ।। १५ ।।

तत्र निक्षिप्य तान् सर्वानुवाच भरतर्षभः ।
पानीयं मृगयामीह विश्रमध्वमिति प्रभो ।। १६ ।।

राजन्! भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने उन सबको वहीं बिठाकर कहा—'आपलोग यहाँ विश्राम करें, तबतक मैं पानीका पता लगाता हूँ' ।। १६ ।।

एते रुवन्ति मधुरं सारसा जलचारिणः ।
ध्रुवमत्र जलस्थानं महच्चेति मतिर्मम ।। १७ ।।

'ये जलचर सारस पक्षी बड़ी मीठी बोली बोल रहे हैं; (अतः) यहाँ (पासमें) अवश्य कोई महान् जलाशय होगा—ऐसा मेरा विश्वास है' ।। १७ ।।

अनुज्ञातः स गच्छेति भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत ।
जगाम तत्र यत्र स्म सारसा जलचारिणः ।। १८ ।।

भारत! तब बड़े भाई युधिष्ठिरने 'जाओ!' कहकर उन्हें अनुमति दे दी। आज्ञा पाकर भीमसेन वहीं गये, जहाँ ये जलचर सारस पक्षी कलरव कर रहे थे ।। १८ ।।

स तत्र पीत्वा पानीयं स्नात्वा च भरतर्षभ ।
तेषामर्थे च जग्राह भ्रातॄणां भ्रातृवत्सलः ।
उत्तरीयेण पानीयमानयामास भारत ।। १९ ।।

भरतश्रेष्ठ! वहाँ पानी पीकर स्नान कर लेनेके पश्चात् भाइयोंपर स्नेह रखनेवाले भीम उनके लिये भी चादरमें पानी ले आये ।। १९ ।।

गव्यूतिमात्रादागत्य त्वरितो मातरं प्रति ।
शोकदुःखपरीतात्मा निःशश्वासोरगो यथा ।। २० ।।

दो कोस दूरसे जल्दी-जल्दी चलकर भीमसेन अपनी माताके पास आये। उनका मन शोक और दुःखसे व्याप्त था और वे सर्पकी भाँति लंबी सांस खींच रहे थे ।। २० ।।

स सुप्तां मातरं दृष्ट्वा भ्रातॄंश्च वसुधातले ।

भृशं शोकपरीतात्मा विललाप वृकोदरः ।। २१ ।।

माता और भाइयोंको धरतीपर सोया देख भीमसेन मन-ही-मन अत्यन्त शोकसे संतप्त हो गये और इस प्रकार विलाप करने लगे— ।। २१ ।।

अतः कष्टतरं किं नु द्रष्टव्यं हि भविष्यति ।
यत् पश्यामि महीसुप्तान् भ्रातॄनद्य सुमन्दभाक् ।। २२ ।।

'हाय! मैं कितना भाग्यहीन हूँ कि आज अपने भाइयोंको पृथ्वीपर सोया देख रहा हूँ। इससे महान् कष्टकी बात देखनेमें क्या आयेगी ।। २२ ।।

शयनेषु परार्घ्येषु ये पुरा वारणावते ।
नाधिजग्मुस्तदा निद्रां तेऽद्य सुप्ता महीतले ।। २३ ।।

'आजसे पहले जब हमलोग वारणावत नगरमें थे, उस समय जिन्हें बहुमूल्य शय्याओंपर भी नींद नहीं आती थी, वे ही आज धरतीपर सो रहे हैं! ।। २३ ।।

स्वसारं वसुदेवस्य शत्रुसङ्घावमर्दिनः ।
कुन्तिराजसुतां कुन्तीं सर्वलक्षणपूजिताम् ।। २४ ।।
स्नुषां विचित्रवीर्यस्य भार्यां पाण्डोर्महात्मनः ।
तथैव चास्मज्जननीं पुण्डरीकोदरप्रभाम् ।। २५ ।।
सुकुमारतरामेनां महार्हशयनोचिताम् ।
शयानां पश्यताद्येह पृथिव्यामतथोचिताम् ।। २६ ।।

'जो शत्रुसमूहका संहार करनेवाले वसुदेवजीकी बहिन तथा महाराज कुन्तिभोजकी कन्या हैं, समस्त शुभ लक्षणोंके कारण जिनका सदा समादर होता आया है, जो राजा विचित्रवीर्यकी पुत्रवधू तथा महात्मा पाण्डुकी धर्मपत्नी हैं, जिन्होंने हम-जैसे पुत्रोंको जन्म दिया है, जिनकी अंगकान्ति कमलके भीतरी भागके समान है, जो अत्यन्त सुकुमार और बहुमूल्य शय्यापर शयन करनेके योग्य हैं, देखो, आज वे ही कुन्तीदेवी यहाँ भूमिपर सोयी हैं! ये कदापि इस तरह शयन करनेके योग्य नहीं हैं ।। २४—२६ ।।

धर्मादिन्द्राच्च वाताच्च सुषुवे या सुतानिमान् ।
सेयं भूमौ परिश्रान्ता शेते प्रासादशायिनी ।। २७ ।।

'जिन्होंने धर्म, इन्द्र और वायुके द्वारा हम-जैसे पुत्रोंको उत्पन्न किया है, वे राजमहलमें सोनेवाली महारानी कुन्ती आज परिश्रमसे थककर यहाँ पृथ्वीपर पड़ी हैं ।। २७ ।।

किं नु दुःखतरं शक्यं मया द्रष्टुमतः परम् ।
योऽहमद्य नरव्याघ्रान् सुप्तान् पश्यामि भूतले ।। २८ ।।

'इससे बढ़कर दुःख मैं और क्या देख सकता हूँ जबकि अपने नरश्रेष्ठ भाइयोंको आज मुझे धरतीपर सोते देखना पड़ रहा है ।। २८ ।।

त्रिषु लोकेषु यो राज्यं धर्मनित्योऽर्हते नृपः ।
सोऽयं भूमौ परिश्रान्तः शेते प्राकृतवत् कथम् ।। २९ ।।

'जो नित्य धर्मपरायण नरेश तीनों लोकोंका राज्य पानेके अधिकारी हैं, वे ही आज साधारण मनुष्योंकी भाँति थके-माँदे पृथ्वीपर कैसे पड़े हैं ।। २९ ।।

अयं नीलाम्बुदश्यामो नरेष्वप्रतिमोऽर्जुनः ।
शेते प्राकृतवद् भूमौ ततो दुःखतरं नु किम् ।। ३० ।।

'मनुष्योंमें जिनकी कहीं समता नहीं है, वे नील मेघके समान श्याम कान्तिवाले अर्जुन आज प्राकृत जनोंकी भाँति पृथ्वीपर सो रहे हैं; इससे महान् दुःख और क्या हो सकता है ।। ३० ।।

अश्विनाविव देवानां याविमौ रूपसम्पदा ।
तौ प्राकृतवदद्येमौ प्रसुप्तौ धरणीतले ।। ३१ ।।

'जो अपनी रूप-सम्पत्तिसे देवताओंमें अश्विनीकुमारोंके समान जान पड़ते हैं, वे ही ये दोनों नकुल-सहदेव आज यहाँ साधारण मनुष्योंके समान जमीनपर सोये पड़े हैं ।। ३१ ।।

ज्ञातयो यस्य नैव स्युर्विषमाः कुलपांसनाः ।
स जीवेत सुखं लोके ग्रामद्रुम इवैकजः ।। ३२ ।।

'जिसके कुटुम्बी पक्षपातयुक्त और कुलको कलंक लगानेवाले नहीं होते, वह पुरुष गाँवके अकेले वृक्षकी भाँति संसारमें सुखपूर्वक जीवन धारण करता है ।। ३२ ।।

एको वृक्षो हि यो ग्रामे भवेत् पर्णफलान्वितः ।
चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरर्चनीयः सुपूजितः ।। ३३ ।।

'गाँवमें यदि एक ही वृक्ष पत्र और फल-फूलोंसे सम्पन्न हो तो वह दूसरे सजातीय वृक्षोंसे रहित होनेपर भी चैत्य (देववृक्ष) माना जाता है तथा उसे पूज्य मानकर उसकी खूब पूजा की जाती है ।। ३३ ।।

येषां च बहवः शूरा ज्ञातयो धर्ममाश्रिताः ।
ते जीवन्ति सुखं लोके भवन्ति च निरामयाः ।। ३४ ।।

'जिनके बहुत-से शूरवीर भाई-बन्धु धर्म-परायण होते हैं, वे भी संसारमें नीरोग रहते और सुखसे जीते हैं ।। ३४ ।।

बलवन्तः समृद्धार्था मित्रबान्धवनन्दनाः ।
जीवन्त्यन्योन्यमाश्रित्य द्रुमाः काननजा इव ।। ३५ ।।

'जो बलवान्, धनसम्पन्न तथा मित्रों और भाई-बन्धुओंको आनन्दित करनेवाले हैं, वे जंगलके वृक्षोंकी भाँति एक-दूसरेके सहारे जीवन धारण करते हैं ।। ३५ ।।

वयं तु धृतराष्ट्रेण सपुत्रेण दुरात्मना ।
विवासिता न दग्धाश्च कथंचिद् दैवसंश्रयात् ।। ३६ ।।

'दुरात्मा धृतराष्ट्र और उसके पुत्रोंने तो हमें घरसे निकाल दिया और जलानेकी भी चेष्टा की, परंतु किसी तरह भाग्यके भरोसे हम बच गये हैं ।। ३६ ।।

तस्मान्मुक्ता वयं दाहादिमं वृक्षमुपाश्रिताः ।

कां दिशं प्रतिपत्स्यमः प्राप्ताः क्लेशमनुत्तमम् ।। ३७ ।।

'आज उस अग्निदाहसे मुक्त हो हम इस वृक्षके नीचे आश्रय ले रहे हैं। हमें किस दिशामें जाना है, इसका भी पता नहीं है। हम भारी-से-भारी कष्ट उठा रहे हैं ।। ३७ ।।

सकामो भव दुर्बुद्धे धार्तराष्ट्राल्पदर्शन ।
नूनं देवाः प्रसन्नास्ते नानुज्ञां मे युधिष्ठिरः ।। ३८ ।।
प्रयच्छति वधे तुभ्यं तेन जीवसि दुर्मते ।
नन्वद्य त्वां सहामात्यं सकर्णानुजसौबलम् ।। ३९ ।।
गत्वा क्रोधसमाविष्टः प्रेषयिष्ये यमक्षयम् ।
किं नु शक्यं मया कर्तुं यत् ते न क्रुध्यते नृपः ।। ४० ।।
धर्मात्मा पाण्डवश्रेष्ठः पापाचार युधिष्ठिरः ।
एवमुक्त्वा महाबाहुः क्रोधसंदीप्तमानसः ।। ४१ ।।
करं करेण निष्पिष्य निःश्वसन् दीनमानसः ।
पुनर्दीनमना भूत्वा शान्तार्चिरिव पावकः ।। ४२ ।।
भ्रातॄन् महीतले सुप्तानवैक्षत वृकोदरः ।
विश्वस्तानिव संविष्टान् पृथग्जनसमानिव ।। ४३ ।।

'ओ दुर्बुद्धि अल्पदर्शी धृतराष्ट्रकुमार दुर्योधन! आज तेरी कामना पूरी हुई। निश्चय ही देवता तुझपर प्रसन्न हैं। तभी तो राजा युधिष्ठिर मुझे तेरा वध करनेकी आज्ञा नहीं दे रहे हैं। दुर्मते! यही कारण है कि तू अबतक जी रहा है। रे पापाचारी! मैं आज ही जाकर कुपित हो मन्त्रियों, कर्ण, छोटे भाई और शकुनिसहित तुझे यमलोक भेज सकता हूँ। किंतु क्या करूँ, पाण्डवश्रेष्ठ धर्मात्मा युधिष्ठिर तुझपर कोप नहीं कर रहे हैं'।

यों कहकर महाबाहु भीम मन-ही-मन क्रोधसे जलते और हाथ-से-हाथ मलते हुए दीनभावसे लंबी साँसें खींचने लगे। बुझी हुई लपटोंवाली अग्निकी भाँति दीनहृदय होकर वे पुनः धरतीपर सोये हुए भाइयोंकी ओर देखने लगे। उनके वे सभी भाई साधारण लोगोंकी भाँति भूमिधर ही निश्चिन्ततापूर्वक सो रहे थे ।। ३८—४३ ।।

नातिदूरेण नगरं वनादस्माद्धि लक्षये ।
जागर्तव्ये स्वपन्तीमे हन्त जागर्म्यहं स्वयम् ।। ४४ ।।
पास्यन्तीमे जलं पश्चात् प्रतिबुद्धा जितक्लमाः ।
इति भीमो व्यवस्यैव जजागार स्वयं तदा ।। ४५ ।।

उस समय भीम इस प्रकार विचार करने लगे—'अहो! इस वनसे थोड़ी ही दूरीपर कोई नगर दिखायी देता है। जबकि जागना चाहिये, ऐसे समय भी ये मेरे भाई सो रहे हैं। अच्छा, मैं स्वयं ही जागरण करूँ। थकावट दूर होनेपर जब ये नींदसे उठेंगे, तभी पानी पियेंगे।' ऐसा निश्चय करके भीमसेन स्वयं उस समय जागरण करने लगे ।। ४४-४५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि भीमजलाहरणे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें भीमसेनके जल ले आनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५० ।।

(हिडिम्बवधपर्व)

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हिडिम्बके भेजनेसे हिडिम्बा राक्षसीका पाण्डवोंके पास आना और भीमसेनसे उसका वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

तत्र तेषु शयानेषु हिडिम्बो नाम राक्षसः ।
अविदूरे वनात् तस्माच्छालवृक्षं समाश्रितः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जहाँ पाण्डव कुन्तीसहित सो रहे थे, उस वनसे थोड़ी दूरपर एक शालवृक्षका आश्रय ले हिडिम्ब नामक राक्षस रहता था ।। १ ।।

क्रूरो मानुषमांसादो महावीर्यपराक्रमः ।
प्रावृड्जलधरश्यामः पिङ्गाक्षो दारुणाकृतिः ।। २ ।।

वह बड़ा क्रूर और मनुष्यमांस खानेवाला था। उसका बल और पराक्रम महान् था। वह वर्षाकालके मेघकी भाँति काला था। उसकी आँखें भूरे रंगकी थीं और आकृतिसे क्रूरता टपक रही थी ।। २ ।।

दंष्ट्राकरालवदनः पिशितेप्सुः क्षुधार्दितः ।
लम्बस्फिग्लम्बजठरो रक्तश्मश्रुशिरोरुहः ।। ३ ।।

उसका मुख बड़ी-बड़ी दाढ़ोंके कारण विकराल दिखायी देता था। वह भूखसे पीड़ित था और मांस मिलनेकी आशामें बैठा था। उसके नितम्ब और पेट लम्बे थे। दाढ़ी, मूँछ और सिरके बाल लाल रंगके थे ।। ३ ।।

महावृक्षगलस्कन्धः शङ्कुकर्णो बिभीषणः ।
यदृच्छया तानपश्यत् पाण्डुपुत्रान् महारथान् ।। ४ ।।

उसका गला और कंधे महान् वृक्षके समान जान पड़ते थे। दोनों कान भालेके समान लम्बे और नुकीले थे। वह देखनेमें बड़ा भयानक था। दैवेच्छासे उसकी दृष्टि उन महारथी पाण्डवोंपर पड़ी ।। ४ ।।

विरूपरूपः पिङ्गाक्षः करालो घोरदर्शनः ।
पिशितेप्सुः क्षुधार्तश्च तानपश्यद् यदृच्छया ।। ५ ।।

बेडौल रूप तथा भूरी आँखोंवाला वह विकराल राक्षस देखनेमें बड़ा डरावना था। भूखसे व्याकुल होकर वह कच्चा मांस खाना चाहता था। उसने अकस्मात् पाण्डवोंको देख

लिया ।। ५ ।।

ऊर्ध्वाङ्गुलिः स कण्डूयन् धुन्वन् रूक्षान् शिरोरुहान् ।
जृम्भमाणो महावक्त्रः पुनः पुनरवेक्ष्य च ।। ६ ।।

तब अंगुलियोंको ऊपर उठाकर सिरके रूखे बालोंको खुजलाता और फटकारता हुआ वह विशाल मुखवाला राक्षस पाण्डवोंकी ओर बार-बार देखकर जँभाई लेने लगा ।। ६ ।।

हृष्टो मानुषमांसस्य महाकायो महाबलः ।
आघ्राय मानुषं गन्धं भगिनीमिदमब्रवीत् ।। ७ ।।

मनुष्यका मांस मिलनेकी सम्भावनासे उसे बड़ा हर्ष हुआ। उस महाबली विशालकाय राक्षसने मनुष्यकी गन्ध पाकर अपनी बहिनसे इस प्रकार कहा— ।। ७ ।।

उपपन्नश्चिरस्याद्य भक्षोऽयं मम सुप्रियः ।
स्नेहस्रवान् प्रस्रवति जिह्वा पर्येति मे सुखम् ।। ८ ।।

'आज बहुत दिनोंके बाद ऐसा भोजन मिला है, जो मुझे बहुत प्रिय है। इस समय मेरी जीभ लार टपका रही है और बड़े सुखसे लप-लप कर रही है ।। ८ ।।

अष्टौ दंष्ट्राः सुतीक्ष्णाग्राश्चिरस्यापातदुस्सहाः ।
देहेषु मज्जयिष्यामि स्निग्धेषु पिशितेषु च ।। ९ ।।

‘आज मैं अपनी आठों दाढ़ोंको, जिनके अग्रभाग बड़े तीखे हैं और जिनकी चोट प्रारम्भसे ही अत्यन्त दुःसह होती है, दीर्घकालके पश्चात् मनुष्योंके शरीरों और चिकने मांसमें डुबाऊँगा ।। ९ ।।

आक्रम्य मानुषं कण्ठमाच्छिद्य धमनीमपि ।
उष्णं नवं प्रपास्यामि फेनिलं रुधिरं बहु ।। १० ।।

‘मैं मनुष्यकी गर्दनपर चढ़कर उसकी नाड़ियोंको काट दूँगा और उसका गरम-गरम, फेनयुक्त तथा ताजा खून खूब छककर पीऊँगा ।। १० ।।

गच्छ जानीहि के त्वेते शेरते वनमाश्रिताः ।
मानुषो बलवान् गन्धो घ्राणं तर्पयतीव मे ।। ११ ।।

‘बहिन! जाओ, पता तो लगाओ, ये कौन इस वनमें आकर सो रहे हैं? मनुष्यकी तीव्र गन्ध आज मेरी नासिकाको मानो तृप्त किये देती है ।। ११ ।।

हत्वैतान् मानुषान् सर्वानानयस्व ममान्तिकम् ।
अस्मद्विषयसुप्तेभ्यो नैतेभ्यो भयमस्ति ते ।। १२ ।।

‘तुम इन सब मनुष्योंको मारकर मेरे पास ले आओ। ये हमारी हदमें सो रहे हैं, (इसलिये) इनसे तुम्हें तनिक भी खटका नहीं है ।। १२ ।।

एषामुत्कृत्य मांसानि मानुषाणां यथेष्टतः ।
भक्षयिष्याव सहितौ कुरु तूर्णं वचो मम ।। १३ ।।

‘फिर हम दोनों एक साथ बैठकर इन मनुष्योंके मांस नोच-नोचकर जी-भर खायेंगे। तुम मेरी इस आज्ञाका तुरंत पालन करो ।। १३ ।।

भक्षयित्वा च मांसानि मानुषाणां प्रकामतः ।
नृत्याव सहितावावां दत्ततालावनेकशः ।। १४ ।।

‘इच्छानुसार मनुष्यमांस खाकर हम दोनों ताल देते हुए साथ-साथ अनेक प्रकारके नृत्य करें’ ।। १४ ।।

एवमुक्ता हिडिम्बा तु हिडिम्बेन तदा वने ।
भ्रातुर्वचनमाज्ञाय त्वरमाणेव राक्षसी ।। १५ ।।
जगाम तत्र यत्र स्म पाण्डवा भरतर्षभ ।
ददर्श तत्र सा गत्वा पाण्डवान् पृथया सह ।
शयानान् भीमसेनं च जाग्रतं त्वपराजितम् ।। १६ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समय वनमें हिडिम्बके यों कहनेपर हिडिम्बा अपने भाईकी बात मानकर मानो बड़ी उतावलीके साथ उस स्थानपर गयी, जहाँ पाण्डव थे। वहाँ जाकर उसने कुन्तीके साथ पाण्डवोंको सोते और किसीसे परास्त न होनेवाले भीमसेनको जागते देखा ।। १५-१६ ।।

दृष्ट्वैव भीमसेनं सा शालपोतमिवोद्गतम् ।

राक्षसी कामयामास रूपेणाप्रतिमं भुवि ।। १७ ।।

धरतीपर उगे हुए साखूके पौधेकी भाँति मनोहर भीमसेनको देखते ही वह राक्षसी (मुग्ध हो) उन्हें चाहने लगी। इस पृथ्वीपर वे अनुपम रूपवान् थे ।। १७ ।।

अयं श्यामो महाबाहुः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।
कम्बुग्रीवः पुष्कराक्षो भर्ता युक्तो भवेन्मम ।। १८ ।।

(उसने मन-ही-मन सोचा—) 'इन श्यामसुन्दर तरुण वीरकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं, कंधे सिंहके-से हैं, ये महान् तेजस्वी हैं, इनकी ग्रीवा शंखके समान सुन्दर और नेत्र कमलदलके सदृश विशाल हैं। ये मेरे लिये उपयुक्त पति हो सकते हैं ।। १८ ।।

नाहं भ्रातृवचो जातु कुर्यां क्रूरोपसंहितम् ।
पतिस्नेहोऽतिबलवान् न तथा भ्रातृसौहृदम् ।। १९ ।।
मुहूर्तमेव तृप्तिश्च भवेद् भ्रातुर्ममैव च ।
हतैरेतैरहत्वा तु मोदिष्ये शाश्वतीः समाः ।। २० ।।

'मेरे भाईकी बात क्रूरतासे भरी है, अतः मैं कदापि उसका पालन नहीं करूँगी। (नारीके हृदयमें) पतिप्रेम ही अत्यन्त प्रबल होता है। भाईका सौहार्द उसके समान नहीं होता। इन सबको मार देनेपर इनके मांससे मुझे और मेरे भाईको केवल दो घड़ीके लिये तृप्ति मिल सकती है और यदि न मारूँ तो बहुत वर्षोंतक इनके साथ आनन्द भोगूँगी' ।। १९-२० ।।

सा कामरूपिणी रूपं कृत्वा मानुषमुत्तमम् ।
उपतस्थे महाबाहुं भीमसेनं शनैः शनैः ।। २१ ।।
लज्जमानेव ललना दिव्याभरणभूषिता ।
स्मितपूर्वमिदं वाक्यं भीमसेनमथाब्रवीत् ।। २२ ।।
कुतस्त्वमसि सम्प्राप्तः कश्चासि पुरुषर्षभ ।
क इमे शेरते चेह पुरुषा देवरूपिणः ।। २३ ।।

हिडिम्बा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली थी। वह मानवजातिकी स्त्रीके समान सुन्दर रूप बनाकर लजीली ललनाकी भाँति धीरे-धीरे महाबाहु भीमसेनके पास गयी। दिव्य आभूषण उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। तब उसने मुसकराकर भीमसेनसे इस प्रकार पूछा —'पुरुषरत्न! आप कौन हैं और कहाँसे आये हैं? ये देवताओंके समान सुन्दर रूपवाले पुरुष कौन हैं, जो यहाँ सो रहे हैं? ।। २१—२३ ।।

केयं वै बृहती श्यामा सुकुमारी तवानघ ।
शेते वनमिदं प्राप्य विश्वस्ता स्वगृहे यथा ।। २४ ।।

'और अनघ! ये सबसे बड़ी उम्रवाली श्यामा[१] सुकुमारी देवी आपकी कौन लगती हैं, जो इस वनमें आकर भी ऐसी निःशंक होकर सो रही हैं, मानो अपने घरमें ही हों ।। २४ ।।

नेदं जानाति गहनं वनं राक्षससेवितम् ।

वसति ह्यत्र पापात्मा हिडिम्बो नाम राक्षसः ।। २५ ।।

'इन्हें यह पता नहीं है कि यह गहन वन राक्षसोंका निवासस्थान है। यहाँ हिडिम्ब नामक पापात्मा राक्षस रहता है ।। २५ ।।

तेनाहं प्रेषिता भ्रात्रा दुष्टभावेन रक्षसा ।
बिभक्षयिषता मांसं युष्माकममरोपम ।। २६ ।।

'वह मेरा भाई है। उस राक्षसने दुष्टभावसे मुझे यहाँ भेजा है। देवोपम वीर! वह आपलोगोंका मांस खाना चाहता है ।। २६ ।।

साहं त्वामभिसम्प्रेक्ष्य देवगर्भसमप्रभम् ।
नान्यं भर्तारमिच्छामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। २७ ।।

'आपका तेज देवकुमारोंका-सा है, मैं आपको देखकर अब दूसरेको अपना पति बनाना नहीं चाहती। मैं यह सच्ची बात आपसे कह रही हूँ ।। २७ ।।

एतद् विज्ञाय धर्मज्ञ युक्तं मयि समाचर ।
कामोपहतचित्ताङ्गीं भजमानां भजस्व माम् ।। २८ ।।

'धर्मज्ञ! इस बातको समझकर आप मेरे प्रति उचित बर्ताव कीजिये। मेरे तन-मनको कामदेवने मथ डाला है। मैं आपकी सेविका हूँ, आप मुझे स्वीकार कीजिये ।। २८ ।।

त्रास्यामि त्वां महाबाहो राक्षसात् पुरुषादकात् ।
वत्स्यावो गिरिदुर्गेषु भर्ता भव ममानघ ।। २९ ।।

'महाबाहो! मैं इस नरभक्षी राक्षससे आपकी रक्षा करूँगी। हम दोनों पर्वतोंकी दुर्गम कन्दराओंमें निवास करेंगे। अनघ! आप मेरे पति हो जाइये ।। २९ ।।

(इच्छामि वीर भद्रं ते मा मा प्राणा विहासिषुः ।
त्वया ह्यहं परित्यक्ता न जीवेयमरिंदम ।।)
अन्तरिक्षचरी ह्यस्मि कामतो विचरामि च ।
अतुलामाप्नुहि प्रीतिं तत्र तत्र मया सह ।। ३० ।।

'वीर! आपका भला चाहती हूँ। कहीं ऐसा न हो कि आपके ठुकरानेसे मेरे प्राण ही मुझे छोड़कर चले जायँ। शत्रुदमन! यदि आपने मुझे त्याग दिया तो मैं कदापि जीवित नहीं रह सकती। मैं आकाशमें विचरनेवाली हूँ। जहाँ इच्छा हो, वहीं विचरण कर सकती हूँ। आप मेरे साथ भिन्न-भिन्न लोकों और प्रदेशोंमें विहार करके अनुपम प्रसन्नता प्राप्त कीजिये' ।। ३० ।।

भीमसेन उवाच

(एष ज्येष्ठो मम भ्राता मान्यः परमको गुरुः ।
अनिविष्टश्च तन्माहं परिविद्यां कथंचन ।।)
मातरं भ्रातरं ज्येष्ठं सुखसुप्तान् कथं त्विमान् ।

परित्यजेत को न्वद्य प्रभवन्निह राक्षसि ।। ३१ ।।

भीमसेन बोले—राक्षसी! ये मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं, जो मेरे लिये परम सम्माननीय गुरु हैं; इन्होंने अभीतक विवाह नहीं किया है, ऐसी दशामें मैं तुझसे विवाह करके किसी प्रकार कविता[२] नहीं बनना चाहता। कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो इस जगत्‌में सामर्थ्यशाली होते हुए भी, सुखपूर्वक सोये हुए इन बन्धुओंको, माताको तथा बड़े भ्राताको भी किसी प्रकार अरक्षित छोड़कर जा सके? ।। ३१ ।।

को हि सुप्तानिमान् भ्रातॄन् दत्त्वा राक्षसभोजनम् ।
मातरं च नरो गच्छेत् कामार्त इव मद्विधः ।। ३२ ।।

मुझ-जैसा कौन पुरुष कामपीड़ितकी भाँति इन सोये हुए भाइयों और माताको राक्षसका भोजन बनाकर (अन्यत्र) जा सकता है? ।। ३२ ।।

राक्षस्युवाच

यत् ते प्रियं तत् करिष्ये सर्वानेतान् प्रबोधय ।
मोक्षयिष्याम्यहं कामं राक्षसात् पुरुषादकात् ।। ३३ ।।

राक्षसीने कहा—आपको जो प्रिय लगे, मैं वही करूँगी। आप इन सब लोगोंको जगा दीजिये। मैं इच्छानुसार उस मनुष्यभक्षी राक्षससे इन सबको छुड़ा लूँगी ।। ३३ ।।

भीमसेन उवाच

सुखसुप्तान् वने भ्रातॄन् मातरं चैव राक्षसि ।
न भयाद् बोधयिष्यामि भ्रातुस्तव दुरात्मनः ।। ३४ ।।

भीमसेनने कहा—राक्षसी! मेरे भाई और माता इस वनमें सुखपूर्वक सो रहे हैं, तुम्हारे दुरात्मा भाईके भयसे मैं इन्हें जगाऊँगा नहीं ।। ३४ ।।

न हि मे राक्षसा भीरु सोढुं शक्ताः पराक्रमम् ।
न मनुष्या न गन्धर्वा न यक्षाश्चारुलोचने ।। ३५ ।।

भीरु! सुलोचने! मेरे पराक्रमको राक्षस, मनुष्य, गन्धर्व तथा यक्ष भी नहीं सह सकते हैं ।। ३५ ।।

गच्छ वा तिष्ठ वा भद्रे यद् वापीच्छसि तत् कुरु ।
तं वा प्रेषय तन्वङ्गि भ्रातरं पुरुषादकम् ।। ३६ ।।

अतः भद्रे! तुम जाओ या रहो; अथवा तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वही करो। तन्वंगि! अथवा यदि तुम चाहो तो अपने नरमांसभक्षी भाईको ही भेज दो ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि भीमहिडिम्बासंवादे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें भीम-हिडिम्बा-संवादविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ३८ श्लोक हैं)

---

१. तपाये हुए सोनेके समान वर्णवाली स्त्रीको 'श्यामा' कहा जाता है, जैसा कि इस वचनसे सिद्ध है—'तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते ।'

२. जो निर्दोष बड़े भाईके अविवाहित रहते हुए ही अपना विवाह कर लेता है, वह 'परिवेत्ता' कहलाता है। शास्त्रोंमें वह निन्दनीय माना गया है।

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हिडिम्बका आना, हिडिम्बाका उससे भयभीत होना और भीम तथा हिडिम्बासुरका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

तां विदित्वा चिरगतां हिडिम्बो राक्षसेश्वरः ।
अवतीर्य द्रुमात् तस्मादाजगामाशु पाण्डवान् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब यह सोचकर कि मेरी बहिनको गये बहुत देर हो गयी, राक्षसराज हिडिम्ब उस वृक्षसे उतरा और शीघ्र ही पाण्डवोंके पास आ गया ।। १ ।।

लोहिताक्षो महाबाहुरूर्ध्वकेशो महाननः ।
मेघसंघातवर्ष्मा च तीक्ष्णदंष्ट्रो भयानकः ।। २ ।।

उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं, भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं, केश ऊपरको उठे हुए थे और विशाल मुख था। उसके शरीरका रंग ऐसा काला था, मानो मेघोंकी काली घटा छा रही हो। तीखे दाढ़ोंवाला वह राक्षस बड़ा भयंकर जान पड़ता था ।। २ ।।

तमापतन्तं दृष्ट्वैव तथा विकृतदर्शनम् ।
हिडिम्बोवाच वित्रस्ता भीमसेनमिदं वचः ।। ३ ।।

देखनेमें विकराल उस राक्षस हिडिम्बको आते देखकर ही हिडिम्बा भयसे थर्रा उठी और भीमसेनसे इस प्रकार बोली— ।। ३ ।।

आपतत्येष दुष्टात्मा संक्रुद्धः पुरुषादकः ।
साहं त्वां भ्रातृभिः सार्धं यद् ब्रवीमि तथा कुरु ।। ४ ।।

‘(देखिये,) यह दुष्टात्मा नरभक्षी राक्षस क्रोधमें भरा हुआ इधर ही आ रहा है, अतः मैं भाइयोंसहित आपसे जो कहती हूँ, वैसा कीजिये ।। ४ ।।

अहं कामगमा वीर रक्षोबलसमन्विता ।
आरुहेमां मम श्रोणिं नेष्यामि त्वां विहायसा ।। ५ ।।

‘वीर! मैं इच्छानुसार चल सकती हूँ, मुझमें राक्षसोंका सम्पूर्ण बल है। आप मेरे इस कटिप्रदेश या पीठपर बैठ जाइये। मैं आपको आकाशमार्गसे ले चलूँगी ।। ५ ।।

प्रबोधयैतान् संसुप्तान् मातरं च परंतप ।
सर्वानेव गमिष्यामि गृहीत्वा वो विहायसा ।। ६ ।।

‘परंतप! आप इन सोये हुए भाइयों और माताजीको भी जगा दीजिये। मैं आप सब लोगोंको लेकर आकाशमार्गसे उड़ चलूँगी’ ।। ६ ।।

भीम उवाच

मा भैस्त्वं पृथुसुश्रोणि नैष कश्चिन्मयि स्थिते ।
अहमेनं हनिष्यामि प्रेक्षन्त्यास्ते सुमध्यमे ।। ७ ।।

भीमसेन बोले—सुन्दरी! तुम डरो मत, मेरे सामने यह राक्षस कुछ भी नहीं है। सुमध्यमे! मैं तुम्हारे देखते-देखते इसे मार डालूँगा ।। ७ ।।

नायं प्रतिबलो भीरु राक्षसापसदो मम ।
सोढुं युधि परिस्पन्दमथवा सर्वराक्षसाः ।। ८ ।।

भीरु! यह नीच राक्षस युद्धमें मेरे आक्रमणका वेग सह सके, ऐसा बलवान् नहीं है। ये अथवा सम्पूर्ण राक्षस भी मेरा सामना नहीं कर सकते ।। ८ ।।

पश्य बाहू सुवृत्तौ मे हस्तिहस्तनिभाविमौ ।
ऊरू परिघसंकाशौ संहतं चाप्युरो महत् ।। ९ ।।

हाथीकी सूँड़-जैसी मोटी और सुन्दर गोलाकार मेरी इन दोनों भुजाओंकी ओर देखो। मेरी ये जाँघें परिघके समान हैं और मेरा विशाल वक्षःस्थल भी सुदृढ़ एवं सुगठित है ।। ९ ।।

विक्रमं मे यथेन्द्रस्य साद्य द्रक्ष्यसि शोभने ।
मावमंस्थाः पृथुश्रोणि मत्वा मामिह मानुषम् ।। १० ।।

शोभने! मेरा पराक्रम (भी) इन्द्रके समान है, जिसे तुम अभी देखोगी। विशाल नितम्बोंवाली राक्षसी! तुम मुझे मनुष्य समझकर यहाँ मेरा तिरस्कार न करो ।। १० ।।

हिडिम्बोवाच

नावमन्ये नरव्याघ्र त्वामहं देवरूपिणम् ।
दृष्टप्रभावस्तु मया मानुषेष्वेव राक्षसः ।। ११ ।।

हिडिम्बाने कहा—नरश्रेष्ठ! आपका स्वरूप तो देवताओंके समान है ही। मैं आपका तिरस्कार नहीं करती। मैं तो इसलिये कहती थी कि मनुष्योंपर ही इस राक्षसका प्रभाव मैं (कई बार) देख चुकी हूँ ।। ११ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथा संजल्पतस्तस्य भीमसेनस्य भारत ।
वाचः शुश्राव ताः क्रुद्धो राक्षसः पुरुषादकः ।। १२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस नरभक्षी राक्षस हिडिम्बने क्रोधमें भरकर भीमसेनकी कही हुई उपर्युक्त बातें सुनीं ।। १२ ।।

अवेक्षमाणस्तस्याश्च हिडिम्बो मानुषं वपुः ।
स्रग्दामपूरितशिखं समग्रेन्दुनिभाननम् ।। १३ ।।
सुभ्रूनासाक्षिकेशान्तं सुकुमारनखत्वचम् ।
सर्वाभरणसंयुक्तं सुसूक्ष्माम्बरवाससम् ।। १४ ।।

(तत्पश्चात्) उसने अपनी बहिनके मनुष्योचित रूपकी ओर दृष्टिपात किया। उसने अपनी चोटीमें फूलोंके गजरे लगा रखे थे। उसका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर जान पड़ता था। उसकी भौंहें, नासिका, नेत्र और केशान्तभाग—सभी सुन्दर थे। नख और त्वचा बहुत ही सुकुमार थी। उसने अपने अंगोंको समस्त आभूषणोंसे विभूषित कर रखा था तथा शरीरपर अत्यन्त सुन्दर महीन साड़ी शोभा पा रही थी ।। १३-१४ ।।

तां तथा मानुषं रूपं बिभ्रतीं सुमनोहरम् ।
पुंस्कामां शङ्कमानश्च चुक्रोध पुरुषादकः ।। १५ ।।

उसे इस प्रकार सुन्दर एवं मनोहर मानव-रूप धारण किये देख राक्षसके मनमें यह संदेह हुआ कि हो-न-हो यह पतिरूपमें किसी पुरुषका वरण करना चाहती है। यह विचार मनमें आते ही वह कुपित हो उठा ।। १५ ।।

संक्रुद्धो राक्षसस्तस्या भगिन्याः कुरुसत्तम ।
उत्फाल्य विपुले नेत्रे ततस्तामिदमब्रवीत् ।। १६ ।।

कुरुश्रेष्ठ! अपनी बहिनपर उस राक्षसका क्रोध बहुत बढ़ गया था। फिर तो उसने बड़ी-बड़ी आँखें फाड़-फाड़कर उसकी ओर देखते हुए कहा— ।। १६ ।।

को हि मे भोक्तुकामस्य विघ्नं चरति दुर्मतिः ।
न बिभेषि हिडिम्बे किं मत्कोपाद् विप्रमोहिता ।। १७ ।।

'हिडिम्बे! मैं (भूखा हूँ और) भोजन चाहता हूँ। कौन दुर्बुद्धि मानव मेरे इस अभीष्टकी सिद्धिमें विघ्न डाल रहा है। तू अत्यन्त मोहके वशीभूत होकर क्या मेरे क्रोधसे नहीं डरती है? ।। १७ ।।

धिक् त्वामसति पुंस्कामे मम विप्रियकारिणि ।
पूर्वेषां राक्षसेन्द्राणां सर्वेषामयशस्करि ।। १८ ।।

'मनुष्यको पति बनानेकी इच्छा रखकर मेरा अप्रिय करनेवाली दुराचारिणी! तुझे धिक्कार है। तू पूर्ववर्ती सम्पूर्ण राक्षसराजोंके कुलमें कलंक लगानेवाली है ।। १८ ।।

यानिमानाश्रिताकार्षीर्विप्रियं सुमहन्मम ।
एष तानद्य वै सर्वान् हनिष्यामि त्वया सह ।। १९ ।।

'जिन लोगोंका आश्रय लेकर तूने मेरा महान् अप्रिय कार्य किया है, यह देख, मैं उन सबको आज तेरे साथ ही मार डालता हूँ' ।। १९ ।।

एवमुक्त्वा हिडिम्बां स हिडिम्बो लोहितेक्षणः ।
वधायाभिपपातैनान् दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ।। २० ।।

हिडिम्बासे यों कहकर लाल-लाल आँखें किये हिडिम्ब दाँतों-से-दाँत पीसता हुआ हिडिम्बा और पाण्डवोंका वध करनेकी इच्छासे उनकी ओर झपटा ।। २० ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य भीमः प्रहरतां वरः ।
भर्त्सयामास तेजस्वी तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।। २१ ।।

योद्धाओंमें श्रेष्ठ तेजस्वी भीम उसे इस प्रकार हिडिम्बापर टूटते देख उसकी भर्त्सना करते हुए बोले—'अरे खड़ा रह, खड़ा रह' ।। २१ ।।

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं प्रहसन्निव ।
भगिनीं प्रति संक्रुद्धमिदं वचनमब्रवीत् ।। २२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपनी बहिनपर अत्यन्त क्रुद्ध हुए उस राक्षसकी ओर देखकर भीमसेन हँसते हुए-से इस प्रकार बोले— ।। २२ ।।

किं ते हिडिम्ब एतैर्वा सुखसुप्तैः प्रबोधितैः ।
मामासादय दुर्बुद्धे तरसा त्वं नराशन ।। २३ ।।

'हिडिम्ब! सुखपूर्वक सोये हुए मेरे इन भाइयोंको जगानेसे तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। खोटी बुद्धिवाले नरभक्षी राक्षस! तू पूरे वेगसे आकर मुझसे भिड़ ।। २३ ।।

मय्येव प्रहरेहि त्वं न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
विशेषतोऽनपकृते परेणापकृते सति ।। २४ ।।

'आ, मुझपर ही प्रहार कर। हिडिम्बा स्त्री है, इसे मारना उचित नहीं है—विशेषतः इस दशामें, जबकि इसने कोई अपराध नहीं किया है। तेरा अपराध तो दूसरेके द्वारा हुआ है ।। २४ ।।

न हीयं स्ववशा बाला कामयत्यद्य मामिह ।
चोदितैषा ह्यनङ्गेन शरीरान्तरचारिणा ।। २५ ।।

'यह भोली-भाली स्त्री अपने वशमें नहीं है। शरीरके भीतर विचरनेवाले कामदेवसे प्रेरित होकर आज यह मुझे अपना पति बनाना चाहती है ।। २५ ।।

भगिनी तव दुर्वृत्त रक्षसां वै यशोहर ।
त्वन्नियोगेन चैवेयं रूपं मम समीक्ष्य च ।। २६ ।।
कामयत्यद्य मां भीरुस्तव नैषापराध्यति ।
अनङ्गेन कृते दोषे नेमां गर्हितुमर्हसि ।। २७ ।।

'राक्षसोंकी कीर्तिको नष्ट करनेवाले दुराचारी हिडिम्ब! तेरी यह बहिन तेरी आज्ञासे ही यहाँ आयी है; परंतु मेरा रूप देखकर यह बेचारी अब मुझे चाहने लगी है, अतः तेरा कोई अपराध नहीं कर रही है। कामदेवके द्वारा किये हुए अपराधके कारण तुझे इसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये ।। २६-२७ ।।

मयि तिष्ठति दुष्टात्मन् न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
संगच्छस्व मया सार्धमेकेनैको नराशन ।। २८ ।।

'दुष्टात्मन्! तू मेरे रहते इस स्त्रीको नहीं मार सकता। नरभक्षी राक्षस! तू मुझ अकेलेके साथ अकेला ही भिड़ जा ।। २८ ।।

अहमेको नयिष्यामि त्वामद्य यमसादनम् ।
अद्य मद्बलनिष्पिष्टं शिरो राक्षस दीर्यताम् ।
कुञ्जरस्येव पादेन विनिष्पिष्टं बलीयसः ।। २९ ।।

'आज मैं अकेला ही तुझे यमलोक भेज दूँगा। निशाचर! जैसे अत्यन्त बलवान् हाथीके पैरसे दबकर किसीका भी मस्तक पिस जाता है, उसी प्रकार मेरे बलपूर्वक आघातसे कुचला जाकर तेरा सिर फट जायगा ।। २९ ।।

अद्य गात्राणि ते कङ्काः श्येना गोमायवस्तथा ।
कर्षन्तु भुवि संहृष्टा निहतस्य मया मृधे ।। ३० ।।

'आज मेरे द्वारा युद्धमें तेरा वध हो जानेपर हर्षमें भरे हुए गीध, बाज और गीदड़ धरतीपर पड़े हुए तेरे अंगोंको इधर-उधर घसीटेंगे ।। ३० ।।

क्षणेनाद्य करिष्येऽहमिदं वनमराक्षसम् ।
पुरा यद् दूषितं नित्यं त्वया भक्षयता नरान् ।। ३१ ।।

'आजसे पहले सदा मनुष्योंको खा-खाकर तूने जिसे अपवित्र कर दिया है, उसी वनको आज मैं क्षणभरमें राक्षसोंसे सूना कर दूँगा ।। ३१ ।।

अद्य त्वां भगिनी रक्षः कृष्यमाणं मयासकृत् ।
द्रक्ष्यत्यद्रिप्रतीकाशं सिंहेनेव महाद्विपम् ।। ३२ ।।

'राक्षस! जैसे सिंह पर्वताकार महान् गजराजको घसीट ले जाता है, उसी प्रकार आज मेरे द्वारा बार-बार घसीटे जानेवाले तुझको तेरी बहिन अपनी आँखों देखेगी ।। ३२ ।।

निराबाधास्त्वयि हते मया राक्षसपांसन ।
वनमेतच्चरिष्यन्ति पुरुषा वनचारिणः ।। ३३ ।।

'राक्षसकुलांगार! मेरे द्वारा तेरे मारे जानेपर वनवासी मनुष्य बिना किसी विघ्न-बाधाके इस वनमें विचरण करेंगे' ।। ३३ ।।

हिडिम्ब उवाच

गर्जितेन वृथा किं ते कत्थितेन च मानुष ।
कृत्वैतत् कर्मणा सर्वं कत्थेथा मा चिरं कृथाः ।। ३४ ।।

हिडिम्ब बोला—अरे ओ मनुष्य! व्यर्थ गर्जने तथा बढ़-बढ़कर बातें बनानेसे क्या लाभ? यह सब कुछ पहले करके दिखा, फिर डींग हाँकना; अब देर न कर ।। ३४ ।।

बलिनं मन्यसे यच्चाप्यात्मानं सपराक्रमम् ।
ज्ञास्यस्यद्य समागम्य मयाऽऽत्मानं बलाधिकम् ।। ३५ ।।
न तावदेतान् हिंसिष्ये स्वपन्त्वेते यथासुखम् ।
एष त्वामेव दुर्बुद्धे निहन्म्यद्याप्रियंवदम् ।। ३६ ।।
पीत्वा तवासृग् गात्रेभ्यस्ततः पश्चादिमानपि ।

हनिष्यामि ततः पश्चादिमां विप्रियकारिणीम् ।। ३७ ।।

तू अपने-आपको जो बड़ा बलवान् और पराक्रमी समझ रहा है, उसकी सच्चाईका पता तो तब लगेगा, जब आज मेरे साथ भिड़ेगा। तभी तू जान सकेगा कि मुझसे तुझमें कितना अधिक बल है। दुर्बुद्धे! मैं पहले इन सबकी हिंसा नहीं करूँगा। ये थोड़ी देरतक सुखपूर्वक सो लें। तू मुझे बड़ी कड़वी बातें सुना रहा है, अतः सबसे पहले तुझे ही अभी मारे देता हूँ। पहले तेरे अंगोंका ताजा खून पीकर उसके बाद तेरे इन भाइयोंका भी वध करूँगा। तदनन्तर अपना अप्रिय करनेवाली इस हिडिम्बाको भी मार डालूँगा ।। ३५—३७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो बाहुं प्रगृह्य पुरुषादकः ।
अभ्यद्रवत संक्रुद्धो भीमसेनमरिंदमम् ।। ३८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यों कहकर क्रोधमें भरा हुआ वह नरभक्षी राक्षस अपनी एक बाँह ऊपर उठाये शत्रुदमन भीमसेनपर टूट पड़ा ।। ३८ ।।

तस्याभिद्रवतस्तूर्णं भीमो भीमपराक्रमः ।
वेगेन प्रहितं बाहुं निजग्राह हसन्निव ।। ३९ ।।

झपटते ही बड़े वेगसे उसने भीमसेनपर हाथ चलाया। तब तो भयंकर पराक्रमी भीमसेनने तुरंत ही उसके हाथको हँसते हुए-से पकड़ लिया ।। ३९ ।।

निगृह्य तं बलाद् भीमो विस्फुरन्तं चकर्ष ह ।
तस्माद् देशाद् धनूंष्यष्टौ सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ।। ४० ।।

वह राक्षस उनके हाथसे छूटनेके लिये छटपटाने और उछल-कूद मचाने लगा; परंतु भीमसेन उसे पकड़े हुए ही बलपूर्वक उस स्थानसे आठ धनुष (बत्तीस हाथ) दूर घसीट ले गये—उसी प्रकार जैसे सिंह किसी छोटे मृगको घसीटकर ले जाय ।। ४० ।।

ततः स राक्षसः क्रुद्धः पाण्डवेन बलार्दितः ।
भीमसेनं समालिङ्ग्य व्यनदद् भैरवं रवम् ।। ४१ ।।

पाण्डुनन्दन भीमके द्वारा बलपूर्वक पीड़ित होनेपर वह राक्षस क्रोधमें भर गया और भीमसेनको भुजाओंसे कसकर भयंकर गर्जना करने लगा ।। ४१ ।।

पुनर्भीमो बलादेनं विचकर्ष महाबलः ।
मा शब्दः सुखसुप्तानां भ्रातॄणां मे भवेदिति ।। ४२ ।।

तब महाबली भीमसेन यह सोचकर पुनः उसे बलपूर्वक कुछ दूर खींच ले गये कि सुखपूर्वक सोये हुए भाइयोंके कानोंमें शब्द न पहुँचे ।। ४२ ।।

अन्योन्यं तौ समासाद्य विचकर्षतुरोजसा ।
हिडिम्बो भीमसेनश्च विक्रमं चक्रनुः परम् ।। ४३ ।।

फिर तो दोनों एक-दूसरेसे गुथ गये और बलपूर्वक अपनी-अपनी ओर खींचने लगे। हिडिम्ब और भीमसेन दोनोंने बड़ा भारी पराक्रम प्रकट किया ।। ४३ ।।

बभञ्जतुस्तदा वृक्षाँल्लताश्चाकर्षतुस्तदा ।
मत्ताविव च संरब्धौ वारणौ षष्टिहायनौ ।। ४४ ।।

जैसे साठ वर्षकी अवस्थावाले दो मतवाले गजराज कुपित हो परस्पर युद्ध करते हों, उसी प्रकार वे दोनों एक-दूसरेसे भिड़कर वृक्षोंको तोड़ने और लताओंको खींच-खींचकर उजाड़ने लगे ।। ४४ ।।

(पादपानुद्वहन्तौ ताबुरुवेगेन वेगितौ ।
स्फोटयन्तौ लताजालान्यूरुभ्यां प्राप्य सर्वतः ।।
वित्रासयन्तौ शब्देन सर्वतो मृगपक्षिणः ।
बलेन बलिनौ मत्तावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ ।।
भीमराक्षसयोर्युद्धं तदावर्तत दारुणम् ।।
ऊरुबाहुपरिक्लेशात् कर्षन्तावितरेतरम् ।
ततः शब्देन महता गर्जन्तौ तौ परस्परम् ।।
पाषाणसंघट्टनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ।
अन्योन्यं तौ समालिङ्ग्य विकर्षन्तौ परस्परम् ।।)

वे दोनों वृक्ष उठाये बड़े वेगसे एक-दूसरेकी ओर दौड़ते थे, अपनी जाँघोंकी टक्करसे चारों ओरकी लताओंको छिन्न-भिन्न किये देते थे तथा गर्जन-तर्जनके द्वारा सब ओर पशु-पक्षियोंको आतंकित कर देते थे। बलसे उन्मत्त हुए वे दोनों महाबली योद्धा एक-दूसरेको मार डालना चाहते थे। उस समय भीमसेन और हिडिम्बासुरमें बड़ा भयंकर युद्ध चल रहा था। वे दोनों एक-दूसरेकी भुजाओंको मरोड़ते और जाँघोंको घुटनोंसे दबाते हुए दोनों एक-दूसरेको अपनी ओर खींचते थे। तदनन्तर वे बड़े जोरसे गर्जते हुए परस्पर इस प्रकार प्रहार करने लगे, मानो दो चट्टानें आपसमें टकरा रही हों। तत्पश्चात् वे एक-दूसरेसे गुथ गये और दोनों दोनोंको भुजाओंमें कसकर इधर-उधर खींच ले जानेकी चेष्टा करने लगे।

तयोः शब्देन महता विबुद्धास्ते नरर्षभाः ।
सह मात्रा च ददृशुर्हिडिम्बामग्रतः स्थिताम् ।। ४५ ।।

उन दोनोंकी भारी गर्जनासे वे नरश्रेष्ठ पाण्डव मातासहित जाग उठे और उन्होंने अपने सामने खड़ी हुई हिडिम्बाको देखा ।। ४५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि हिडिम्बयुद्धे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें हिडिम्ब-युद्धविषयक एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हिडिम्बाका कुन्ती आदिसे अपना मनोभाव प्रकट करना तथा भीमसेनके द्वारा हिडिम्बासुरका वध

वैशम्पायन उवाच

प्रबुद्धास्ते हिडिम्बाया रूपं दृष्ट्वातिमानुषम् ।
विस्मिताः पुरुषव्याघ्रा बभूवुः पृथया सह ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जागनेपर हिडिम्बाका अलौकिक रूप देख वे पुरुषसिंह पाण्डव माता कुन्तीके साथ बड़े विस्मयमें पड़े ।। १ ।।

ततः कुन्ती समीक्ष्यैनां विस्मिता रूपसम्पदा ।
उवाच मधुरं वाक्यं सान्त्वपूर्वमिदं शनैः ।। २ ।।
कस्य त्वं सुरगर्भाभे का वासि वरवर्णिनी ।
केन कार्येण सम्प्राप्ता कुतश्चागमनं तव ।। ३ ।।

तदनन्तर कुन्तीने उसकी रूप-सम्पत्तिसे चकित हो उसकी ओर देखकर उसे सान्त्वना देते हुए मधुर वाणीमें इस प्रकार धीरे-धीरे पूछा—‘देवकन्याओंकी-सी कान्तिवाली सुन्दरी! तुम कौन हो और किसकी कन्या हो? तुम किस कामसे यहाँ आयी हो और कहाँसे तुम्हारा शुभागमन हुआ है? ।। २-३ ।।

यदि वास्य वनस्य त्वं देवता यदि वाप्सराः ।
आचक्ष्व मम तत् सर्वं किमर्थं चेह तिष्ठसि ।। ४ ।।

‘यदि तुम इस वनकी देवी अथवा अप्सरा हो तो वह सब मुझे ठीक-ठीक बता दो; साथ ही यह भी कहो कि किस कामके लिये यहाँ खड़ी हो?’ ।। ४ ।।

हिडिम्बोवाच

यदेतत् पश्यसि वनं नीलमेघनिभं महत् ।

निवासो राक्षसस्यैष हिडिम्बस्य ममैव च ।। ५ ।।

हिडिम्बा बोली—देवि! यह जो नील मेघके समान विशाल वन आप देख रही हैं, यह राक्षस हिडिम्बका और मेरा निवासस्थान है ।। ५ ।।

तस्य मां राक्षसेन्द्रस्य भगिनीं विद्धि भाविनि ।

भ्रात्रा सम्प्रेषितामार्ये त्वां सपुत्रां जिघांसता ।। ६ ।।

महाभागे! आप मुझे उस राक्षसराज हिडिम्बकी बहिन समझें। आर्ये! मेरे भाईने मुझे आपकी और आपके पुत्रोंकी हत्या करनेकी इच्छासे भेजा था ।। ६ ।।

क्रूरबुद्धेरहं तस्य वचनादागता त्विह ।

अद्राक्षं नवहेमाभं तव पुत्रं महाबलम् ।। ७ ।।

उसकी बुद्धि बड़ी क्रूरतापूर्ण है। उसके कहनेसे मैं यहाँ आयी और नूतन सुवर्णकी-सी आभावाले आपके महाबली पुत्रपर मेरी दृष्टि पड़ी ।। ७ ।।

ततोऽहं सर्वभूतानां भावे विचरता शुभे ।

चोदिता तव पुत्रस्य मन्मथेन वशानुगा ।। ८ ।।

शुभे! उन्हें देखते ही समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विचरनेवाले कामदेवसे प्रेरित होकर मैं आपके पुत्रकी वशवर्तिनी हो गयी ।। ८ ।।

ततो वृतो मया भर्ता तव पुत्रो महाबलः ।
अपनेतुं च यतितो न चैव शकितो मया ।। ९ ।।

तदनन्तर मैंने आपके महाबली पुत्रको पतिरूपमें वरण कर लिया और इस बातके लिये प्रयत्न किया कि उन्हें (तथा आप सब लोगोंको) लेकर यहाँसे अन्यत्र भाग चलूँ, परंतु आपके पुत्रकी स्वीकृति न मिलनेसे मैं इस कार्यमें सफल न हो सकी ।। ९ ।।

चिरायमाणां मां ज्ञात्वा ततः स पुरुषादकः ।
स्वयमेवागतो हन्तुमिमान् सर्वांस्तवात्मजान् ।। १० ।।

मेरे लौटनेमें देर होती जान वह मनुष्यभक्षी राक्षस स्वयं ही आपके इन सब पुत्रोंको मार डालनेके लिये आया ।। १० ।।

स तेन मम कान्तेन तव पुत्रेण धीमता ।
बलादितो विनिष्पिष्य व्यपनीतो महात्मना ।। ११ ।।

परंतु मेरे प्राणवल्लभ तथा आपके बुद्धिमान् पुत्र महात्मा भीम उसे बलपूर्वक यहाँसे रगड़ते हुए दूर हटा ले गये हैं ।। ११ ।।

विकर्षन्तौ महावेगौ गर्जमानौ परस्परम् ।
पश्यैवं युधि विक्रान्तावेतौ च नरराक्षसौ ।। १२ ।।

देखिये, युद्धमें पराक्रम दिखानेवाले वे दोनों मनुष्य और राक्षस जोर-जोरसे गर्ज रहे हैं और बड़े वेगसे गुत्थम-गुत्थ होकर एक-दूसरेको अपनी ओर खींच रहे हैं ।। १२ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्याः श्रुत्वैव वचनमुत्पपात युधिष्ठिरः ।
अर्जुनो नकुलश्चैव सहदेवश्च वीर्यवान् ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हिडिम्बाकी यह बात सुनते ही युधिष्ठिर उछलकर खड़े हो गये। अर्जुन, नकुल और पराक्रमी सहदेवने भी ऐसा ही किया ।। १३ ।।

तौ ते ददृशुरासक्तौ विकर्षन्तौ परस्परम् ।
काङ्क्षमाणौ जयं चैव सिंहाविव बलोत्कटौ ।। १४ ।।

तदनन्तर उन्होंने देखा कि वे दोनों प्रचण्ड बलशाली सिंहोंकी भाँति आपसमें गुथ गये हैं और अपनी-अपनी विजय चाहते हुए एक-दूसरेको घसीट रहे हैं ।। १४ ।।

अथान्योन्यं समाश्लिष्य विकर्षन्तौ पुनः पुनः ।
दावाग्निधूमसदृशं चक्रतुः पार्थिवं रजः ।। १५ ।।

एक-दूसरेको भुजाओंमें भरकर बार-बार खींचते हुए उन दोनों योद्धाओंने धरतीकी धूलको दावानलके धूएँके समान बना दिया ।। १५ ।।

वसुधारेणुसंवीतौ वसुधाधरसंनिभौ ।
बभ्राजतुर्यथा शैलौ नीहारेणाभिसंवृतौ ।। १६ ।।

दोनोंका शरीर पृथ्वीकी धूलमें सना हुआ था। दोनों ही पर्वतोंके समान विशालकाय थे। उस समय वे दोनों कुहरेसे ढँके हुए दो पहाड़ोंके समान सुशोभित हो रहे थे ।। १६ ।।

राक्षसेन तदा भीमं क्लिश्यमानं निरीक्ष्य च ।
उवाचेदं वचः पार्थः प्रहसञ्छनकैरिव ।। १७ ।।

भीमसेनको राक्षसद्वारा पीड़ित देख अर्जुन धीरे-धीरे हँसते हुए-से बोले— ।। १७ ।।

भीम मा भैर्महाबाहो न त्वां बुध्यामहे वयम् ।
समेतं भीमरूपेण रक्षसा श्रमकर्शितम् ।। १८ ।।

‘महाबाहु भैया भीमसेन! डरना मत; अबतक हमलोग नहीं जानते थे कि तुम भयंकर राक्षससे भिड़कर अत्यन्त परिश्रमके कारण कष्ट पा रहे हो ।। १८ ।।

साहाय्येऽस्मि स्थितः पार्थ पातयिष्यामि राक्षसम् ।
नकुलः सहदेवश्च मातरं गोपयिष्यतः ।। १९ ।।

‘कुन्तीनन्दन! अब मैं तुम्हारी सहायताके लिये उपस्थित हूँ। इस राक्षसको अवश्य मार गिराऊँगा। नकुल और सहदेव माताजीकी रक्षा करेंगे’ ।। १९ ।।

भीम उवाच

उदासीनो निरीक्षस्व न कार्यः सम्भ्रमस्त्वया ।
न जात्वयं पुनर्जीवेन्मद्बाह्वन्तरमागतः ।। २० ।।

भीमसेनने कहा—अर्जुन! तटस्थ होकर चुपचाप देखते रहो। तुम्हें घबरानेकी आवश्यकता नहीं। मेरी दोनों भुजाओंके बीचमें आकर अब यह राक्षस कदापि जीवित नहीं रह सकता ।। २० ।।

अर्जुन उवाच

किमनेन चिरं भीम जीवता पापरक्षसा ।
गन्तव्ये न चिरं स्थातुमिह शक्यमरिंदम ।। २१ ।।

अर्जुनने कहा—शत्रुओंका दमन करनेवाले भीम! इस पापी राक्षसको देरतक जीवित रखनेसे क्या लाभ? हमलोगोंको आगे चलना है, अतः यहाँ अधिक समयतक ठहरना सम्भव नहीं है ।। २१ ।।

पुरा संरज्यते प्राची पुरा संध्या प्रवर्तते ।
रौद्रे मुहूर्ते रक्षांसि प्रबलानि भवन्त्युत ।। २२ ।।

उधर सामने पूर्वदिशामें अरुणोदयकी लालिमा फैल रही है। प्रातःसंध्याका समय होनेवाला है। इस रौद्र मुहूर्तमें राक्षस प्रबल हो जाते हैं ।। २२ ।।

त्वरस्व भीम मा क्रीड जहि रक्षो बिभीषणम् ।

पुरा विकुरुते मायां भुजयोः सारमर्पय ।। २३ ।।

अतः भीमसेन! जल्दी करो। इसके साथ खिलवाड़ न करो। इस भयानक राक्षसको मार डालो। यह अपनी माया फैलाये, इसके पहले ही इसपर अपनी भुजाओंकी शक्तिका प्रयोग करो ।। २३ ।।

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु भीमो रोषाज्ज्वलन्निव ।

बलमाहारयामास यद् वायोर्जगतः क्षये ।। २४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुनके यों कहनेपर भीम रोषसे जल उठे और प्रलयकालमें वायुका जो बल प्रकट होता है, उसे उन्होंने अपने भीतर धारण कर लिया ।। २४ ।।

ततस्तस्याम्बुदाभस्य भीमो रोषात् तु रक्षसः ।

उत्क्षिप्याभ्रामयद् देहं तूर्णं शतगुणं तदा ।। २५ ।।

हिडिम्ब-वध

भीमसेन और घटोत्कच

तत्पश्चात् काले मेघके समान उस राक्षसके शरीरको भीमने क्रोधपूर्वक तुरंत ऊपर उठा लिया और उसे सौ बार घुमाया ।। २५ ।।

भीम उवाच

वृथामांसैर्वृथापुष्टो वृथावृद्धो वृथामतिः ।
वृथामरणमर्हस्त्वं वृथाद्य न भविष्यसि ।। २६ ।।

इसके बाद भीम उस राक्षससे बोले—अरे निशाचर! तू व्यर्थ मांससे व्यर्थ ही पुष्ट होकर व्यर्थ ही बड़ा हुआ है। तेरी बुद्धि भी व्यर्थ है। इसीसे तू व्यर्थ मृत्युके योग्य है। इसलिये आज तू व्यर्थ ही अपनी इहलीला समाप्त करेगा (बाहुयुद्धमें मृत्यु होनेके कारण तू स्वर्ग और कीर्तिसे वंचित हो जायगा) ।। २६ ।।

क्षेममद्य करिष्यामि यथा वनमकण्टकम् ।
न पुनर्मानुषान् हत्वा भक्षयिष्यसि राक्षस ।। २७ ।।

राक्षस! आज तुझे मारकर मैं इस वनको निष्कण्टक एवं मंगलमय बना दूँगा, जिससे फिर तू मनुष्योंको मारकर नहीं खा सकेगा ।। २७ ।।

अर्जुन उवाच

यदि वा मन्यसे भारं त्वमिमं राक्षसं युधि ।
करोमि तव साहाय्यं शीघ्रमेष निपात्यताम् ।। २८ ।।

अर्जुन बोले—भैया! यदि तुम युद्धमें इस राक्षसको अपने लिये भार समझ रहे हो तो मैं तुम्हारी सहायता करता हूँ। तुम इसे शीघ्र मार गिराओ ।। २८ ।।

अथवाप्यहमेवैनं हनिष्यामि वृकोदर ।
कृतकर्मा परिश्रान्तः साधु तावदुपारम ।। २९ ।।

वृकोदर! अथवा मैं ही इसे मार डालूँगा। तुम अधिक युद्ध करके थक गये हो। अतः कुछ देर अच्छी तरह विश्राम कर लो ।। २९ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
निष्पिष्यैनं बलाद् भूमौ पशुमारममारयत् ।। ३० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनकी यह बात सुनकर भीमसेन अत्यन्त क्रोधमें भर गये। उन्होंने बलपूर्वक राक्षसको पृथ्वीपर दे मारा और उसे रगड़ते हुए पशुकी तरह मारना आरम्भ किया ।। ३० ।।

स मार्यमाणो भीमेन ननाद विपुलं स्वनम् ।
पूरयंस्तद् वनं सर्वं जलार्द्र इव दुन्दुभिः ।। ३१ ।।

इस प्रकार भीमसेनकी मार पड़नेपर वह राक्षस जलसे भीगे हुए नगारेकी-सी ध्वनिसे सम्पूर्ण वनको गुँजाता हुआ जोर-जोरसे चीखने लगा ।। ३१ ।।

बाहुभ्यां योक्त्रयित्वा तं बलवान् पाण्डुनन्दनः ।
मध्ये भङ्क्त्वा महाबाहुर्हर्षयामास पाण्डवान् ।। ३२ ।।

तब महाबाहु बलवान् पाण्डुनन्दन भीमसेनने उसे दोनों भुजाओंसे बाँधकर उलटा मोड़ दिया और उसकी कमर तोड़कर पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाया ।। ३२ ।।

हिडिम्बं निहतं दृष्ट्वा संहृष्टास्ते तरस्विनः ।
अपूजयन् नरव्याघ्रं भीमसेनमरिंदमम् ।। ३३ ।।

हिडिम्बको मारा गया देख वे महान् वेगशाली पाण्डव अत्यन्त हर्षसे उल्लसित हो उठे और उन्होंने शत्रुओंका दमन करनेवाले नरश्रेष्ठ भीमसेनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ।। ३३ ।।

अभिपूज्य महात्मानं भीमं भीमपराक्रमम् ।
पुनरेवार्जुनो वाक्यमुवाचेदं वृकोदरम् ।। ३४ ।।

इस प्रकार भयंकर पराक्रमी महात्मा भीमकी प्रशंसा करके अर्जुनने पुनः उनसे यह बात कही— ।। ३४ ।।

न दूरं नगरं मन्ये वनादस्मादहं विभो ।
शीघ्रं गच्छाम भद्रं ते न नो विद्यात् सुयोधनः ।। ३५ ।।

‘प्रभो! मैं समझता हूँ, इस वनसे नगर अब दूर नहीं है। तुम्हारा कल्याण हो। अब हमलोग शीघ्र चलें, जिससे दुर्योधनको हमारा पता न लग सके’ ।। ३५ ।।

ततः सर्वे तथेत्युक्त्वा सह मात्रा महारथाः ।
प्रययुः पुरुषव्याघ्रा हिडिम्बा चैव राक्षसी ।। ३६ ।।

तब सभी पुरुषसिंह महारथी पाण्डव ‘(ठीक है,) ऐसा ही करें’ यों कहकर माताके साथ वहाँसे चल दिये। हिडिम्बा राक्षसी भी उनके साथ हो ली ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि हिडिम्बवधे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें हिडिम्बासुरके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५३ ।।

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनको हिडिम्बाके वधसे रोकना, हिडिम्बाकी भीमसेनके लिये प्रार्थना, भीमसेन और हिडिम्बाका मिलन तथा घटोत्कचकी उत्पत्ति

(वैशम्पायन उवाच

सा तानेवापतत् तूर्णं भगिनी तस्य रक्षसः ।
अब्रुवाणा हिडिम्बा तु राक्षसी पाण्डवान् प्रति ।।
अभिवाद्य ततः कुन्तीं धर्मराजं च पाण्डवम् ।
अभिपूज्य च तान् सर्वान् भीमसेनमभाषत ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हिडिम्बा-सुरकी बहिन राक्षसी हिडिम्बा बिना कुछ कहे-सुने तुरंत पाण्डवोंके ही पास आयी और फिर माता कुन्ती तथा पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरको प्रणाम करके उन सबके प्रति समादरका भाव प्रकट करती हुई भीमसेनसे बोली।

हिडिम्बोवाच

अहं ते दर्शनादेव मन्मथस्य वशं गता ।
क्रूरं भ्रातृवचो हित्वा सा त्वामेवानुरुन्धती ।।
राक्षसे रौद्रसंकाशे तवापश्यं विचेष्टितम् ।
अहं शुश्रूषुरिच्छेयं तव गात्रं निषेवितुम् ।।)

हिडिम्बाने कहा—(आर्यपुत्र!) आपके दर्शनमात्रसे मैं कामदेवके अधीन हो गयी और अपने भाईके क्रूरतापूर्ण वचनोंकी अवहेलना करके आपका ही अनुसरण करने लगी। उस भयंकर आकृतिवाले राक्षसपर आपने जो पराक्रम प्रकट किया है, उसे मैंने अपनी आँखों देखा है; अतः मैं सेविका आपके शरीरकी सेवा करना चाहती हूँ।

भीमसेन उवाच

स्मरन्ति वैरं रक्षांसि मायामाश्रित्य मोहिनीम् ।
हिडिम्बे व्रज पन्थानं त्वमिमं भ्रातृसेवितम् ।। १ ।।

भीमसेन बोले—हिडिम्बे! राक्षस मोहिनी मायाका आश्रय लेकर बहुत दिनोंतक वैरका स्मरण रखते हैं, अतः तू भी अपने भाईके ही मार्गपर चली जा ।। १ ।।

युधिष्ठिर उवाच

क्रुद्धोऽपि पुरुषव्याघ्र भीम मा स्म स्त्रियं वधीः ।

शरीरगुप्त्यभ्यधिकं धर्मं गोपाय पाण्डव ।। २ ।।

यह सुनकर युधिष्ठिरने कहा—पुरुषसिंह भीम! यद्यपि तुम क्रोधसे भरे हुए हो, तो भी स्त्रीका वध न करो। पाण्डुनन्दन! शरीरकी रक्षाकी अपेक्षा भी अधिक तत्परतासे धर्मकी रक्षा करो ।। २ ।।

वधाभिप्रायमायान्तमवधीस्त्वं महाबलम् ।
रक्षसस्तस्य भगिनी किं नः क्रुद्धा करिष्यति ।। ३ ।।

महाबली हिडिम्ब हमलोगोंको मारनेके अभिप्रायसे आ रहा था। अतः तुमने जो उसका वध किया, वह उचित ही है। उस राक्षसकी बहिन हिडिम्बा यदि क्रोध भी करे तो हमारा क्या कर लेगी? ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

हिडिम्बा तु ततः कुन्तीमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
युधिष्ठिरं तु कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ।। ४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर हिडिम्बाने हाथ जोड़कर कुन्तीदेवी तथा उनके पुत्र युधिष्ठिरको प्रणाम करके इस प्रकार कहा— ।। ४ ।।

आर्ये जानासि यद् दुःखमिह स्त्रीणामनङ्गजम् ।
तदिदं मामनुप्राप्तं भीमसेनकृतं शुभे ।। ५ ।।

‘आर्ये! स्त्रियोंको इस जगत्‌में जो कामजनित पीड़ा होती है, उसे आप जानती ही हैं। शुभे! आपके पुत्र भीमसेनकी ओरसे मुझे वही कामदेवजनित कष्ट प्राप्त हुआ है ।। ५ ।।

सोढं तत् परमं दुःखं मया कालप्रतीक्षया ।
सोऽयमभ्यागतः कालो भविता मे सुखोदयः ।। ६ ।।

‘मैंने समयकी प्रतीक्षामें उस महान् दुःखको सहन किया है। अब वह समय आ गया है। आशा है, मुझे अभीष्ट सुखकी प्राप्ति होगी ।। ६ ।।

मया ह्युत्सृज्य सुहृदः स्वधर्मं स्वजनं तथा ।
वृतोऽयं पुरुषव्याघ्रस्तव पुत्रः पतिः शुभे ।। ७ ।।

‘शुभे! मैंने अपने हितैषी सुहृदों, स्वजनों तथा स्वधर्मका परित्याग करके आपके पुत्र पुरुषसिंह भीमसेनको अपना पति चुना है ।। ७ ।।

वीरेणाहं तथानेन त्वया चापि यशस्विनि ।
प्रत्याख्याता न जीवामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। ८ ।।

‘यशस्विनि! यदि ये वीरवर भीमसेन या आप मेरी इस प्रार्थनाको ठुकरा देंगी तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगी। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ ।। ८ ।।

तदर्हसि कृपां कर्तुं मयि त्वं वरवर्णिनि ।
मत्वा मूढेति तन्मा त्वं भक्ता वानुगतेति वा ।। ९ ।।

‘अतः वरवर्णिनि! आपको मुझे एक मूढ़ स्वभावकी स्त्री मानकर या अपनी भक्ता जानकर अथवा अनुचरी (सेविका) समझकर मुझपर कृपा करनी चाहिये ।। ९ ।।

भर्त्रानेन महाभागे संयोजय सुतेन ह ।
तमुपादाय गच्छेयं यथेष्टं देवरूपिणम् ।
पुनश्चैवानयिष्यामि विस्रम्भं कुरु मे शुभे ।। १० ।।

‘महाभागे! मुझे अपने इस पुत्रसे, जो मेरे मनोनीत पति हैं, मिलनेका अवसर दीजिये। मैं इन देवस्वरूप स्वामीको लेकर अपने अभीष्ट स्थानपर जाऊँगी और पुनः निश्चित समयपर इन्हें आपके समीप ले आऊँगी। शुभे! आप मेरा विश्वास कीजिये ।। १० ।।

अहं हि मनसा ध्याता सर्वान् नेष्यामि वः सदा ।
(न यातुधान्यहं त्वार्ये न चास्मि रजनीचरी ।
कन्या रक्षस्सु साध्व्यस्मि राज्ञि सालकटङ्कटी ।।
पुत्रेण तव संयुक्ता युवतिर्देववर्णिनी ।
सर्वान् वोऽहमुपस्थास्ये पुरस्कृत्य वृकोदरम् ।।
अप्रमत्ता प्रमत्तेषु शुश्रूषुरसकृत् त्वहम् ।)
वृजिनात् तारयिष्यामि दुर्गेषु विषमेषु च ।। ११ ।।
पृष्ठेन वो वहिष्यामि शीघ्रं गतिमभीप्सतः ।
यूयं प्रसादं कुरुत भीमसेनो भजेत माम् ।। १२ ।।

‘आप अपने मनसे जब-जब मेरा स्मरण करेंगे, तब-तब सदा ही (सेवामें उपस्थित हो) मैं आपलोगोंको अभीष्ट स्थानोंमें पहुँचा दिया करूँगी। आर्ये! मैं न तो यातुधानी हूँ और न निशाचरी ही हूँ। महारानी! मैं राक्षस जातिकी सुशीला कन्या हूँ और मेरा नाम सालकटंकटी है। मैं देवोपम कान्तिसे युक्त और युवावस्थासे सम्पन्न हूँ। मेरे हृदयका संयोग आपके पुत्र भीमसेनके साथ हुआ है। मैं वृकोदरको सामने रखकर आप सब लोगोंकी सेवामें उपस्थित रहूँगी। आपलोग असावधान हों, तो भी मैं पूरी सावधानी रखकर निरन्तर आपकी सेवामें संलग्न रहूँगी। आपको संकटोंसे बचाऊँगी। दुर्गम एवं विषम स्थानोंमें यदि आप शीघ्रतापूर्वक अभीष्ट लक्ष्यतक जाना चाहते हों तो मैं आप सब लोगोंको अपनी पीठपर बिठाकर वहाँ पहुँचाऊँगी। आपलोग मुझपर कृपा करें, जिससे भीमसेन मुझे स्वीकार कर लें ।। ११-१२ ।।

आपदस्तरणे प्राणान् धारयेद् येन तेन वा ।
सर्वमावृत्य कर्तव्यं तं धर्ममनुवर्तता ।। १३ ।।

‘जिस उपायसे भी आपत्तिसे छुटकारा मिले और प्राणोंकी रक्षा हो सके, धर्मका अनुसरण करनेवाले पुरुषको वह सब स्वीकार करके उस उपायको काममें लाना चाहिये ।। १३ ।।

आपत्सु यो धारयति धर्मं धर्मविदुत्तमः ।

व्यसनं ह्येव धर्मस्य धर्मिणामापदुच्यते ।। १४ ।।

'जो आपत्तिकालमें धर्मको धारण करता है, वही धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ है। धर्मपालनमें संकट उपस्थित होना ही धर्मात्मा पुरुषोंके लिये आपत्ति कही जाती है ।। १४ ।।

पुण्यं प्राणान् धारयति पुण्यं प्राणदमुच्यते ।
येन येनाचरेद् धर्मं तस्मिन् गर्हा न विद्यते ।। १५ ।।

'पुण्य ही प्राणोंको धारण करता है, इसलिये पुण्य प्राणदाता कहलाता है; अतः जिस-जिस उपायसे धर्मका आचरण हो सके, उसके करनेमें कोई निन्दाकी बात नहीं है ।। १५ ।।

(महतोऽत्र स्त्रियं कामाद् बाधितां त्राहि मामपि ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।।
तं तु धर्ममिति प्राहुर्मुनयो धर्मवत्सलाः ।
दिव्यज्ञानेन पश्यामि अतीतानागतानहम् ।।
तस्माद् वक्ष्यामि वः श्रेय आसन्नं सर उत्तमम् ।
अद्यासाद्य सरः स्नात्वा विश्रम्य च वनस्पतौ ।।
व्यासं कमलपत्राक्षं दृष्ट्वा शोकं विहास्यथ ।।
धार्तराष्ट्राद् विवासश्च दहनं वारणावते ।
त्राणं च विदुरात् तुभ्यं विदितं ज्ञानचक्षुषा ।।
आवासे शालिहोत्रस्य स च वासं विधास्यति ।
वर्षवातातपसहः अयं पुण्यो वनस्पतिः ।।
पीतमात्रे तु पानीये क्षुत्पिपासे विनश्यतः ।
तपसा शालिहोत्रेण सरो वृक्षश्च निर्मितः ।।
कादम्बाः सारसा हंसाः कुरर्यः कुररैः सह ।
रुवन्ति मधुरं गीतं गान्धर्वस्वनमिश्रितम् ।।

'मैं महती कामवेदनासे पीड़ित एक नारी हूँ, अतः आप मेरी भी रक्षा कीजिये। साधु पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धिके सभी पुरुषार्थोंके लिये शरणागतोंपर दया करते हैं। धर्मानुरागी महर्षि दयाको ही श्रेष्ठ धर्म मानते हैं। मैं दिव्य ज्ञानसे भूत और भविष्यकी घटनाओंको देखती हूँ। अतः आपलोगोंके कल्याणकी बात बता रही हूँ। यहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक उत्तम सरोवर है। आपलोग आज वहाँ जाकर उस सरोवरमें स्नान करके वृक्षके नीचे विश्राम करें। कुछ दिन बाद कमलनयन व्यासजीका दर्शन पाकर आपलोग शोकमुक्त हो जायँगे। दुर्योधनके द्वारा आपलोगोंका हस्तिनापुरसे निकाला जाना, वारणावत नगरमें जलाया जाना और विदुरजीके प्रयत्नसे आप सब लोगोंकी रक्षा होनी आदि बातें उन्हें ज्ञानदृष्टिसे ज्ञात हो गयी हैं। वे महात्मा व्यास शालिहोत्र मुनिके आश्रममें निवास करेंगे। उनके आश्रमका वह पवित्र वृक्ष सर्दी, गर्मी और वर्षाको अच्छी तरह सहनेवाला है। वहाँ केवल जल पी लेनेसे भूख-प्यास दूर हो जाती है। शालिहोत्र मुनिने

अपनी तपस्याद्वारा पूर्वोक्त सरोवर और वृक्षका निर्माण किया है। वहाँ कादम्ब, सारस, हंस, कुररी और कुरर आदि पक्षी संगीतकी ध्वनिसे मिश्रित मधुर गीत गाते रहते हैं’।

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कुन्ती वचनमब्रवीत् ।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं सर्वशास्त्रविशारदम् ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हिडिम्बाका यह वचन सुनकर कुन्तीदेवीने सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारंगत परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा।

कुन्त्युवाच

त्वं हि धर्मभृतां श्रेष्ठ मयोक्तं शृणु भारत ।
राक्षस्येषा हि वाक्येन धर्मं वदति साधु वै ।।
भावेन दुष्टा भीमं सा किं करिष्यति राक्षसी ।
भजतां पाण्डवं वीरमपत्यार्थं यदीच्छसि ।।)

कुन्ती बोली—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भारत! मैं जो कहती हूँ, उसे तुम सुनो; यह राक्षसी अपनी वाणीद्वारा तो उत्तम धर्मका ही प्रतिपादन करती है। यदि इसकी हार्दिक भावना भीमसेनके प्रति दूषित हो, तो भी यह उनका क्या बिगाड़ लेगी? अतः यदि तुम्हारी सम्मति हो तो यह संतानके लिये कुछ कालतक मेरे वीर पुत्र पाण्डुनन्दन भीमसेनकी सेवामें रहे।

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं हिडिम्बे नात्र संशयः ।
स्थातव्यं तु त्वया सत्ये यथा ब्रूयां सुमध्यमे ।। १६ ।।

युधिष्ठिर बोले—हिडिम्बे! तुम जैसा कह रही हो, वह सब ठीक है; इसमें संशय नहीं है। परंतु सुमध्यमे! मैं जैसे कहूँ, उसी प्रकार तुम्हें सत्यपर स्थिर रहना चाहिये ।। १६ ।।

स्नातं कृताह्निकं भद्रे कृतकौतुकमङ्गलम् ।
भीमसेनं भजेथास्त्वं प्रागस्तगमनाद् रवेः ।। १७ ।।

भद्रे! जब भीमसेन स्नान, नित्यकर्म तथा मांगलिक वेशभूषा आदि धारण कर लें, तब तुम प्रतिदिन उनके साथ रहकर सूर्यास्त होनेसे पहलेतक ही उनकी सेवा कर सकती हो ।। १७ ।।

अहस्सु विहरानेन यथाकामं मनोजवा ।
अयं त्वानयितव्यस्ते भीमसेनः सदा निशि ।। १८ ।।

तुम मनके समान वेगसे चलने-फिरनेवाली हो, अतः दिनभर तो तुम इनके साथ अपनी इच्छाके अनुसार विहार करो, परंतु रातको सदा ही तुम्हें भीमसेनको (हमारे पास) पहुँचा देना होगा ।। १८ ।।

(प्राक् संध्यातो विमोक्तव्यो रक्षितव्यश्च नित्यशः ।
एवं रमस्व भीमेन यावद् गर्भस्य वेदनम् ।।
एष ते समयो भद्रे शुश्रूष्यश्चाप्रमत्तया ।
नित्यानुकूलया भूत्वा कर्तव्यं शोभनं त्वया ।।

संध्याकाल आनेसे पहले ही इन्हें छोड़ देना होगा और नित्य-निरन्तर इनकी रक्षा करनी होगी। इस शर्तपर तुम भीमसेनके साथ सुखपूर्वक तबतक रहो, जबतक कि तुम्हें यह पता न चल जाय कि तुम्हारे गर्भमें बालक आ गया है। भद्रे! यही तुम्हारे लिये पालन करनेयोग्य नियम है। तुम्हें सावधान होकर भीमसेनकी सेवा करनी चाहिये और नित्य उनके अनुकूल होकर सदा उनकी भलाईमें संलग्न रहना चाहिये।

युधिष्ठिरेणैवमुक्ता कुन्त्या चाङ्केऽधिरोपिता ।
भीमार्जुनान्तरगता यमाभ्यां च पुरस्कृता ।।
तिर्यग् युधिष्ठिरे याति हिडिम्बा भीमगामिनी ।
शालिहोत्रसरो रम्यमासेदुस्ते जलार्थिनः ।।
तत् तथेति प्रतिज्ञाय हिडिम्बा राक्षसी तदा ।
वनस्पतितलं गत्वा परिमृज्य गृहं यथा ।।
पाण्डवानां च वासं सा कृत्वा पर्णमयं तथा ।

आत्मनश्च तथा कुन्त्या एकोद्देशे चकार सा ।।
पाण्डवास्तु ततः स्नात्वा शुद्धाः संध्यामुपास्य च ।
तृषिताः क्षुत्पिपासार्ता जलमात्रेण वर्तयन् ।।
शालिहोत्रस्ततो ज्ञात्वा क्षुधार्तान् पाण्डवांस्तदा ।
मनसा चिन्तयामास पानीयं भोजनं महत् ।
ततस्ते पाण्डवाः सर्वे विश्रान्ताः पृथया सह ।।
यथा जतुगृहे वृत्तं राक्षसेन कृतं च यत् ।
कृत्वा कथा बहुविधाः कथान्ते पाण्डुनन्दनम् ।।
कुन्तिराजसुता वाक्यं भीमसेनमथाब्रवीत् ।।

युधिष्ठिरके यों कहनेपर कुन्तीने हिडिम्बाको अपने हृदयसे लगा लिया। तदनन्तर वह युधिष्ठिरसे कुछ दूरीपर रहकर भीमके साथ चल पड़ी। वह चलते समय भीम और अर्जुनके बीचमें रहती थी। नकुल और सहदेव सदा उसे आगे करके चलते थे। (इस प्रकार) वे (सब) लोग जल पीनेकी इच्छासे शालिहोत्र मुनिके रमणीय सरोवरके तटपर जा पहुँचे। वहाँ कुन्ती तथा युधिष्ठिरने पहले जो शर्त रखी थी, उसे स्वीकार करके हिडिम्बा राक्षसीने वैसा ही कार्य करनेकी प्रतिज्ञा की। तत्पश्चात् उसने वृक्षके नीचे जाकर घरकी तरह झाड़ू लगायी और पाण्डवोंके लिये निवास-स्थानका निर्माण किया। उन सबके लिये पर्णशाला तैयार करनेके बाद उसने अपने और कुन्तीके लिये एक दूसरी जगह कुटी बनायी। तदनन्तर पाण्डवोंने स्नान करके शुद्ध हो संध्योपासना किया और भूख-प्याससे पीड़ित होनेपर भी केवल जलका आहार किया। उस समय शालिहोत्र मुनिने उन्हें भूखसे व्याकुल जान मन-ही-मन उनके लिये प्रचुर अन्न-पानकी सामग्रीका चिन्तन किया (और उससे पाण्डवोंको भोजन कराया)। तदनन्तर कुन्तीदेवीसहित सब पाण्डव विश्राम करने लगे। विश्रामके समय उनमें नाना प्रकारकी बातें होने लगीं—किस प्रकार लाक्षागृहमें उन्हें जलानेका प्रयत्न किया गया तथा फिर राक्षस हिडिम्बने उन लोगोंपर किस प्रकार आक्रमण किया इत्यादि प्रसंग उनकी चर्चाके विषय थे। बातचीत समाप्त होनेपर कुन्तिराजकुमारी कुन्तीने पाण्डुनन्दन भीमसेनसे इस प्रकार कहा।

कुन्त्युवाच

यथा पाण्डुस्तथा मान्यस्तव ज्येष्ठो युधिष्ठिरः ।
अहं धर्मविधानेन मान्या गुरुतरा तव ।।
तस्मात् पाण्डुहितार्थं मे युवराज हितं कुरु ।
निकृता धार्तराष्ट्रेण पापेनाकृतबुद्धिना ।
दुष्कृतस्य प्रतीकारं न पश्यामि वृकोदर ।।
तस्मात् कतिपयाहेन योगक्षेमं भविष्यति ।।

क्षेमं दुर्गमिमं वासं वसिष्यामो यथासुखम् ।
इदमद्य महद् दुःखं धर्मकृच्छ्रं वृकोदर ।।
दृष्ट्वैव त्वां महाप्राज्ञ अनङ्गाभिप्रचोदिता ।
युधिष्ठिरं च मां चैव वरयामास धर्मतः ।।
धर्मार्थं देहि पुत्रं त्वं स नः श्रेयः करिष्यति ।
प्रतिवाक्यं तु नेच्छामि ह्यावाभ्यां वचनं कुरु ।।)

कुन्ती बोली—युवराज! तुम्हारे लिये जैसे महाराज पाण्डु माननीय थे, वैसे ही बड़े भाई युधिष्ठिर भी हैं। धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे मैं उनकी अपेक्षा भी अधिक गौरवकी पात्र तथा सम्माननीय हूँ। अतः तुम महाराज पाण्डुके हितके लिये मेरी एक हितकर आज्ञाका पालन करो। वृकोदर! अपवित्र बुद्धिवाले पापात्मा दुर्योधनने हमारे साथ जो दुष्टता की है, उसके प्रतिशोधका उपाय मुझे कोई नहीं दिखायी देता। अतः कुछ दिनोंके बाद भले ही हमारा योगक्षेम सिद्ध हो। यह निवासस्थान अत्यन्त दुर्गम होनेके कारण हमारे लिये कल्याणकारी सिद्ध होगा। हम यहाँ सुखपूर्वक रहेंगे। महाप्राज्ञ भीमसेन! आज यह हमारे सामने अत्यन्त दुःखद धर्मसंकट उपस्थित हुआ है कि हिडिम्बा तुम्हें देखते ही कामसे प्रेरित हो मेरे और युधिष्ठिरके पास आकर धर्मतः तुम्हें पतिके रूपमें वरण कर चुकी है। मेरी आज्ञा है कि तुम उसे धर्मके लिये एक पुत्र प्रदान करो। वह हमारे लिये कल्याणकारी होगा। मैं इस विषयमें तुम्हारा कोई प्रतिवाद नहीं सुनना चाहती। तुम हम दोनोंके सामने प्रतिज्ञा करो।

वैशम्पायन उवाच

तथेति तत् प्रतिज्ञाय भीमसेनोऽब्रवीदिदम् ।
शृणु राक्षसि सत्येन समयं ते वदाम्यहम् ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ‘बहुत अच्छा’ कहकर भीमसेनने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की (और हिडिम्बाके साथ गान्धर्व-विवाह कर लिया)। तत्पश्चात् भीमसेन हिडिम्बासे इस प्रकार बोले—‘राक्षसी! सुनो, मैं सत्यकी शपथ खाकर तुम्हारे सामने एक शर्त रखता हूँ ।। १९ ।।

यावत् कालेन भवति पुत्रस्योत्पादनं शुभे ।
तावत् कालं गमिष्यामि त्वया सह सुमध्यमे ।। २० ।।

‘शुभे! सुमध्यमे! जबतक तुम्हें पुत्रकी उत्पत्ति न हो जाय तभीतक मैं तुम्हारे साथ विहारके लिये चलूँगा’ ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

तथेति तत् प्रतिज्ञाय हिडिम्बा राक्षसी तदा ।
भीमसेनमुपादाय सोर्ध्वमाचक्रमे ततः ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब 'ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा करके हिडिम्बा राक्षसी भीमसेनको साथ ले वहाँसे ऊपर आकाशमें उड़ गयी ।। २१ ।।

शैलशृङ्गेषु रम्येषु देवतायतनेषु च ।
मृगपक्षिविघुष्टेषु रमणीयेषु सर्वदा ।। २२ ।।
कृत्वा च परमं रूपं सर्वाभरणभूषिता ।
संजल्पन्ती सुमधुरं रमयामास पाण्डवम् ।। २३ ।।
तथैव वनदुर्गेषु पुष्पितद्रुमवल्लिषु ।
सरस्सु रमणीयेषु पद्मोत्पलयुतेषु च ।। २४ ।।
नदीद्वीपप्रदेशेषु वैदूर्यसिकतासु च ।
सुतीर्थवनतोयासु तथा गिरिनदीषु च ।। २५ ।।
काननेषु विचित्रेषु पुष्पितद्रुमवल्लिषु ।
हिमवद्गिरिकुञ्जेषु गुहासु विविधासु च ।। २६ ।।
प्रफुल्लशतपत्रेषु सरस्स्वमलवारिषु ।
सागरस्य प्रदेशेषु मणिहेमचितेषु च ।। २७ ।।
पल्वलेषु च रम्येषु महाशालवनेषु च ।
देवारण्येषु पुण्येषु तथा पर्वतसानुषु ।। २८ ।।
गुह्यकानां निवासेषु तापसायतनेषु च ।
सर्वर्तुफलरम्येषु मानसेषु सरस्सु च ।। २९ ।।
बिभ्रती परमं रूपं रमयामास पाण्डवम् ।
रमयन्ती तथा भीमं तत्र तत्र मनोजवा ।। ३० ।।

उसने रमणीय पर्वतशिखरोंपर, देवताओंके निवास-स्थानोंमें तथा जहाँ बहुत-से पशु-पक्षी मधुर शब्द करते रहते हैं, ऐसे सुरम्य प्रदेशोंमें सदा परम सुन्दर रूप धारण करके, सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो मीठी-मीठी बातें करके पाण्डुनन्दन भीमसेनको सुख पहुँचाया। इसी प्रकार पुष्पित वृक्षों और लताओंसे सुशोभित दुर्गम वनोंमें, कमल और उत्पल आदिसे अलंकृत रमणीय सरोवरोंमें, नदियोंके द्वीपोंमें तथा जहाँकी वालुका वैदूर्य-मणिके समान है, जिनके घाट, तटवर्ती वन तथा जल सभी सुन्दर एवं पवित्र हैं, उन पर्वतीय नदियोंमें, विकसित वृक्षों और लता-वल्लरियोंसे विभूषित विचित्र काननोंमें, हिमवान् पर्वतके कुंजों और भाँति-भाँतिकी गुफाओंमें, खिले हुए कमलसमूहसे युक्त निर्मल जलवाले सरोवरोंमें, मणियों और सुवर्णसे सम्पन्न समुद्र-तटवर्ती प्रदेशोंमें, छोटे-छोटे सुन्दर तालाबोंमें, बड़े-बड़े शाल-वृक्षोंके जंगलोंमें, पवित्र देववनोंमें, पर्वतीय शिखरोंपर, गुह्यकोंके निवासस्थानोंमें, सभी ऋतुओंके फलोंसे सम्पन्न तपस्वी मुनियोंके सुरम्य आश्रमोंमें तथा मानसरोवर एवं अन्य जलाशयोंमें घूम-फिरकर हिडिम्बाने परम सुन्दर रूप धारण करके

पाण्डुनन्दन भीमसेनके साथ रमण किया। वह मनके समान वेगसे चलनेवाली थी, अतः उन-उन स्थानोंमें भीमसेनको आनन्द प्रदान करती हुई विचरती रहती थी ।। २२-३० ।।

प्रजज्ञे राक्षसी पुत्रं भीमसेनान्महाबलम् ।
विरूपाक्षं महावक्त्रं शङ्कुकर्णं बिभीषणम् ।। ३१ ।।

कुछ कालके पश्चात् उस राक्षसीने भीमसेनसे एक महान् बलवान् पुत्र उत्पन्न किया, जिसकी आँखें विकराल, मुख विशाल और कान शंकुके समान थे। वह देखनेमें बड़ा भयंकर जान पड़ता था ।। ३१ ।।

भीमनादं सुताम्रोष्ठं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाबलम् ।
महेष्वासं महावीर्यं महासत्त्वं महाभुजम् ।। ३२ ।।
महाजवं महाकायं महामायमरिंदमम् ।
दीर्घघोणं महोरस्कं विकटोद्बद्धपिण्डिकम् ।। ३३ ।।

उसकी आवाज बड़ी भयानक थी। सुन्दर लाल-लाल ओठ, तीखी दाढ़ें, महान् बल, बहुत बड़ा धनुष, महान् पराक्रम, अत्यन्त धैर्य और साहस, बड़ी-बड़ी भुजाएँ, महान् वेग और विशाल शरीर—ये उसकी विशेषताएँ थीं। वह महामायावी राक्षस अपने शत्रुओंका दमन करनेवाला था। उसकी नाक बहुत बड़ी, छाती चौड़ी तथा पैरोंकी दोनों पिंडलियाँ टेढ़ी और ऊँची थीं ।। ३२-३३ ।।

अमानुषं मानुषजं भीमवेगं महाबलम् ।
यः पिशाचानतीत्यान्यान् बभूवातीव राक्षसान् ।। ३४ ।।

यद्यपि उसका जन्म मनुष्यसे हुआ था तथापि उसकी आकृति और शक्ति अमानुषिक थी। उसका वेग भयंकर और बल महान् था। वह दूसरे पिशाचों तथा राक्षसोंसे बहुत अधिक शक्तिशाली था ।। ३४ ।।

बालोऽपि यौवनं प्राप्तो मानुषेषु विशाम्पते ।
सर्वास्त्रेषु परं वीरः प्रकर्षमगमद् बली ।। ३५ ।।

राजन्! अवस्थामें बालक होनेपर भी वह मनुष्योंमें युवक-सा प्रतीत होता था। उस बलवान् वीरने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंमें बड़ी निपुणता प्राप्त की थी ।। ३५ ।।

सद्यो हि गर्भान् राक्षस्यो लभन्ते प्रसवन्ति च ।
कामरूपधराश्चैव भवन्ति बहुरूपिकाः ।। ३६ ।।

राक्षसियाँ जब गर्भ धारण करती हैं, तब तत्काल ही उसको जन्म दे देती हैं। वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली और नाना प्रकारके रूप बदलनेवाली होती हैं ।। ३६ ।।

प्रणम्य विकचः पादावगृह्णात् स पितुस्तदा ।
मातुश्च परमेष्वासस्तौ च नामास्य चक्रतुः ।। ३७ ।।

उस महान् धनुर्धर बालकने पैदा होते ही पिता और माताके चरणोंमें प्रणाम किया। उसके सिरमें बाल नहीं उगे थे। उस समय पिता और माताने उसका इस प्रकार नामकरण

किया ।। ३७ ।।

घटो हास्योत्कच इति माता तं प्रत्यभाषत ।
अब्रवीत् तेन नामास्य घटोत्कच इति स्म ह ।। ३८ ।।

बालककी माताने भीमसेनसे कहा—'इसका घट (सिर) उत्कच* अर्थात् केशरहित है।' उसके इस कथनसे ही उसका नाम घटोत्कच हो गया ।। ३८ ।।

अनुरक्तश्च तानासीत् पाण्डवान् स घटोत्कचः ।
तेषां च दयितो नित्यमात्मनित्यो बभूव ह ।। ३९ ।।

घटोत्कचका पाण्डवोंके प्रति बड़ा अनुराग था और पाण्डवोंको भी वह बहुत प्रिय था। वह सदा उनकी आज्ञाके अधीन रहता था ।। ३९ ।।

संवाससमयो जीर्ण इत्याभाष्य ततस्तु तान् ।
हिडिम्बा समयं कृत्वा स्वां गतिं प्रत्यपद्यत ।। ४० ।।

तदनन्तर हिडिम्बा पाण्डवोंसे यह कहकर कि भीमसेनके साथ रहनेका मेरा समय समाप्त हो गया, आवश्यकताके समय पुनः मिलनेकी प्रतिज्ञा करके अपने अभीष्ट स्थानको चली गयी ।। ४० ।।

घटोत्कचो महाकायः पाण्डवान् पृथया सह ।
अभिवाद्य यथान्यायमब्रवीच्च प्रभाष्य तान् ।। ४१ ।।
किं करोम्यहमार्याणां निःशङ्कं वदतानघाः ।
तं ब्रुवन्तं भैमसेनिं कुन्ती वचनमब्रवीत् ।। ४२ ।।

तत्पश्चात् विशालकाय घटोत्कचने कुन्तीसहित पाण्डवोंको यथायोग्य प्रणाम करके उन्हें सम्बोधित करके कहा—'निष्पाप गुरुजन! आप निःशंक होकर बतायें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' इस प्रकार पूछनेवाले भीमसेनकुमारसे कुन्तीने कहा— ।। ४१-४२ ।।

त्वं कुरूणां कुले जातः साक्षाद् भीमसमो ह्यसि ।
ज्येष्ठः पुत्रोऽसि पञ्चानां साहाय्यं कुरु पुत्रक ।। ४३ ।।

'बेटा! तुम्हारा जन्म कुरुकुलमें हुआ है। तुम मेरे लिये साक्षात् भीमसेनके समान हो। पाँचों पाण्डवोंके ज्येष्ठ पुत्र हो, अतः हमारी सहायता करो' ।। ४३ ।।

वैशम्पायन उवाच

पृथयाप्येवमुक्तस्तु प्रणम्यैव वचोऽब्रवीत् ।
यथा हि रावणो लोके इन्द्रजिच्च महाबलः ।
वर्ष्मवीर्यसमो लोके विशिष्टश्चाभवं नृषु ।। ४४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीके यों कहनेपर घटोत्कचने प्रणाम करके ही उनसे कहा—'दादीजी! लोकमें जैसे रावण और मेघनाद बहुत बड़े बलवान् थे, उसी

प्रकार इस मानव-जगत्‌में मैं भी उन्हींके समान विशालकाय और महापराक्रमी हूँ; बल्कि उनसे भी बढ़कर हूँ ।। ४४ ।।

कृत्यकाल उपस्थास्ये पितॄनिति घटोत्कचः ।
आमन्त्र्य रक्षसां श्रेष्ठः प्रतस्थे चोत्तरां दिशम् ।। ४५ ।।

‘जब मेरी आवश्यकता होगी, उस समय मैं स्वयं अपने पितृवर्गकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगा।’ यों कहकर राक्षसश्रेष्ठ घटोत्कच पाण्डवोंसे आज्ञा लेकर उत्तर दिशाकी ओर चला गया ।। ४५ ।।

पाण्डवोंकी व्यासजीसे भेंट

धृष्टद्युम्नकी घोषणा

स हि सृष्टो मघवता शक्तिहेतोर्महात्मना ।
कर्णस्याप्रतिवीर्यस्य प्रतियोद्धा महारथः ।। ४६ ।।

महामना इन्द्रने अनुपम पराक्रमी कर्णकी शक्तिका आघात सहन करनेके लिये घटोत्कचकी सृष्टि की थी। वह कर्णके सम्मुख युद्ध करनेमें समर्थ महारथी वीर था ।। ४६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि घटोत्कचोत्पत्तौ चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें घटोत्कचकी उत्पत्तिविषयक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३३ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं)

---

* कोई-कोई उत्कचका अर्थ ‘ऊपर उठे हुए बालोंवाला’ भी करते हैं।

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंको व्यासजीका दर्शन और उनका एकचक्रा नगरीमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

ते वनेन वनं गत्वा घ्नन्तो मृगगणान् बहून् ।
अपक्रम्य ययू राजंस्त्वरमाणा महारथाः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! वे महारथी पाण्डव उस स्थानसे हटकर एक वनसे दूसरे वनमें जाकर बहुत-से हिंसक पशुओंको मारते हुए बड़ी उतावलीके साथ आगे बढ़े ।। १ ।।

मत्स्यांस्त्रिगर्तान् पञ्चालान् कीचकानन्तरेण च ।
रमणीयान् वनोद्देशान् प्रेक्षमाणाः सरांसि च ।। २ ।।

मत्स्य, त्रिगर्त, पंचाल तथा कीचक—इन जनपदोंके भीतर होकर रमणीय वनस्थलियों और सरोवरोंको देखते हुए वे लोग यात्रा करने लगे ।। २ ।।

जटाः कृत्वाऽऽत्मनः सर्वे वल्कलाजिनवाससः ।
सह कुन्त्या महात्मानो बिभ्रतस्तापसं वपुः ।। ३ ।।
क्वचिद् वहन्तो जननीं त्वरमाणा महारथाः ।
क्वचिच्छन्देन गच्छन्तस्ते जग्मुः प्रसभं पुनः ।। ४ ।।

उन सबने अपने सिरपर जटाएँ रख ली थीं। वल्कल और मृगचर्मसे अपने शरीरको ढँक लिया था और तपस्वीका-सा वेष धारण कर रखा था। इस प्रकार वे महारथी महात्मा पाण्डव माता कुन्तीदेवीके साथ कहीं तो उन्हें पीठपर ढोते हुए तीव्र गतिसे चलते थे, कहीं इच्छानुसार धीरे-धीरे पाँव बढ़ाते थे और कहीं पुनः अपनी चाल तेज कर देते थे ।। ३-४ ।।

ब्राह्मं वेदमधीयाना वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
नीतिशास्त्रं च सर्वज्ञा ददृशुस्ते पितामहम् ।। ५ ।।

पाण्डवलोग सब शास्त्रोंके ज्ञाता थे और प्रतिदिन उपनिषद्, वेद-वेदांग तथा नीतिशास्त्रका स्वाध्याय किया करते थे। एक दिन जब वे स्वाध्यायमें लगे थे, पितामह व्यासजीका दर्शन हुआ ।। ५ ।।

तेऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं तदा ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे सह मात्रा परंतपाः ।। ६ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डवोंने उस समय महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायनको प्रणाम किया और अपनी माताके साथ वे सब लोग उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये ।। ६ ।।

व्यास उवाच

मयेदं व्यसनं पूर्वं विदितं भरतर्षभाः ।
यथा तु तैरधर्मेण धार्तराष्ट्रैर्विवासिताः ।। ७ ।।
तद् विदित्वास्मि सम्प्राप्तश्चिकीर्षुः परमं हितम् ।
न विषादोऽत्र कर्तव्यः सर्वमेतत् सुखाय वः ।। ८ ।।

तब व्यासजीने कहा—भरतश्रेष्ठ पाण्डुकुमारो! मैंने पहले ही तुमलोगोंपर आये हुए इस संकटको जान लिया था। धृतराष्ट्रके पुत्रोंने तुम्हें जिस प्रकार अधर्मपूर्वक राज्यसे बहिष्कृत किया है, वह सब जानकर तुम्हारा परम हित करनेके लिये मैं यहाँ आया हूँ। इसके लिये तुम्हें विषाद नहीं करना चाहिये; यह सब तुम्हारे भावी सुखके लिये हो रहा है ।। ७-८ ।।

समास्ते चैव मे सर्वे यूयं चैव न संशयः ।
दीनतो बालतश्चैव स्नेहं कुर्वन्ति मानवाः ।
तस्मादभ्यधिकः स्नेहो युष्मासु मम साम्प्रतम् ।। ९ ।।

इसमें संदेह नहीं कि मेरे लिये तुमलोग और धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन आदि सब समान ही हैं। फिर भी जहाँ दीनता और बचपन है, वहीं मनुष्य अधिक स्नेह करते हैं; इसी कारण इस समय तुमलोगोंपर मेरा अधिक स्नेह है ।। ९ ।।

स्नेहपूर्वं चिकीर्षामि हितं वस्तन्निबोधत ।
इदं नगरमभ्याशे रमणीयं निरामयम् ।
वसतेह प्रतिच्छन्ना ममागमनकाङ्क्षिणः ।। १० ।।

मैं स्नेहपूर्वक तुमलोगोंका हित करना चाहता हूँ। इसलिये मेरी बात सुनो। यहाँ पास ही जो यह रमणीय नगर है, इसमें रोग-व्याधिका भय नहीं है। अतः तुम सब लोग यहीं छिपकर रहो और मेरे पुनः आनेकी प्रतीक्षा करो ।। १० ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं स तान् समाश्वास्य व्यासः सत्यवतीसुतः ।
एकचक्रामभिगतः कुन्तीमाश्वासयत् प्रभुः ।। ११ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार पाण्डवोंको भलीभाँति आश्वासन देकर सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यास उन सबके साथ एकचक्रा नगरीके निकट गये। वहाँ उन्होंने कुन्तीको इस प्रकार सान्त्वना दी ।। ११ ।।

व्यास उवाच

जीवत्पुत्रि सुतस्तेऽयं धर्मनित्यो युधिष्ठिरः ।
धर्मेण पृथिवीं जित्वा महात्मा पुरुषर्षभः ।
पृथिव्यां पार्थिवान् सर्वान् प्रशासिष्यति धर्मराट् ।। १२ ।।

व्यासजी बोले—जीवित पुत्रोंवाली बहू! तुम्हारे ये पुत्र नरश्रेष्ठ महात्मा धर्मराज युधिष्ठिर सदा धर्मपरायण हैं; अतः ये धर्मसे ही सारी पृथ्वीको जीतकर भूमण्डलके सम्पूर्ण राजाओंपर शासन करेंगे ।। १२ ।।

पृथिवीमखिलां जित्वा सर्वां सागरमेखलाम् ।
भीमसेनार्जुनबलाद् भोक्ष्यते नात्र संशयः ।। १३ ।।

भीमसेन और अर्जुनके बलसे समुद्रपर्यन्त सारी वसुधाको अपने अधिकारमें करके ये उसका उपभोग करेंगे; इसमें संशय नहीं है ।। १३ ।।

पुत्रास्तव च माद्रयाश्च सर्व एव महारथाः ।
स्वराष्ट्रे विहरिष्यन्ति सुखं सुमनसः सदा ।। १४ ।।

तुम्हारे और माद्रीके सभी महारथी पुत्र सदा अपने राज्यमें प्रसन्नचित्त हो सुखपूर्वक विचरेंगे ।। १४ ।।

यक्ष्यन्ति च नरव्याघ्रा निर्जित्य पृथिवीमिमाम् ।
राजसूयाश्वमेधाद्यैः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।। १५ ।।

पुरुषोंमें सिंहके समान बलवान् पाण्डव इस पृथ्वीको जीतकर प्रचुर दक्षिणासे सम्पन्न राजसूय तथा अश्वमेध आदि यज्ञोंद्वारा भगवान्का यजन करेंगे ।। १५ ।।

अनुगृह्य सुहृद्वर्गं भोगैश्वर्यसुखेन च ।
पितृपैतामहं राज्यमिमे भोक्ष्यन्ति ते सुताः ।। १६ ।।

तुम्हारे ये पुत्र अपने सुहृदोंके समुदायको उत्तम भोग एवं ऐश्वर्य-सुखके द्वारा अनुगृहीत करके बाप-दादोंके राज्यका पालन एवं उपभोग करेंगे ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा निवेश्यैनान् ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अब्रवीत् पाण्डवश्रेष्ठमृषिर्द्वैपायनस्तदा ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यों कहकर महर्षि द्वैपायनने इन सबको एक ब्राह्मणके घरमें ठहरा दिया और पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे कहा— ।। १७ ।।

इह मासं प्रतीक्षध्वमागमिष्याम्यहं पुनः ।
देशकालौ विदित्वैव लप्स्यध्वं परमां मुदम् ।। १८ ।।

‘तुमलोग यहाँ एक मासतक मेरी प्रतीक्षा करो। मैं पुनः आऊँगा। देश और कालका विचार करके ही कोई कार्य करना चाहिये; इससे तुम्हें बड़ा सुख मिलेगा’ ।। १८ ।।

स तैः प्राञ्जलिभिः सर्वैस्तथेत्युक्तो नराधिप ।
जगाम भगवान् व्यासो यथागतमृषिः प्रभुः ।। १९ ।।

राजन्! उस समय सबने हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा स्वीकार की। तदनन्तर शक्तिशाली महर्षि भगवान् व्यास जैसे आये थे, वैसे ही चले गये ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि एकचक्राप्रवेशे व्यासदर्शने पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें पाण्डवोंका एकचक्रानगरीमें प्रवेश और व्यासजीका दर्शनविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५५ ।।

(बकवधपर्व)

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणपरिवारका कष्ट दूर करनेके लिये कुन्तीकी भीमसेनसे बातचीत तथा ब्राह्मणके चिन्तापूर्ण उद्गार

जनमेजय उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
अत ऊर्ध्वं द्विजश्रेष्ठ किमकुर्वत पाण्डवाः ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! कुन्तीके महारथी पुत्र पाण्डव जब एकचक्रा नगरीमें पहुँच गये, उसके बाद उन्होंने क्या किया? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
ऊषुर्नातिचिरं कालं ब्राह्मणस्य निवेशने ।। २ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! एकचक्रा नगरीमें जाकर महारथी कुन्तीपुत्र थोड़े दिनोंतक एक ब्राह्मणके घरमें रहे ।। २ ।।

रमणीयानि पश्यन्तो वनानि विविधानि च ।
पार्थिवानपि चोद्देशान् सरितश्च सरांसि च ।। ३ ।।
चेरुर्भैक्षं तदा ते तु सर्व एव विशाम्पते ।
बभूवुर्नागराणां च स्वैर्गुणैः प्रियदर्शनाः ।। ४ ।।

जनमेजय! उस समय वे सभी पाण्डव भाँति-भाँतिके रमणीय वनों, सुन्दर भूभागों, सरिताओं और सरोवरोंका दर्शन करते हुए भिक्षाके द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे। अपने उत्तम गुणोंके कारण वे सभी नागरिकोंके प्रीति-पात्र हो गये थे ।। ३-४ ।।

(दर्शनीया द्विजाः शुद्धा देवगर्भोपमाः शुभाः ।
भैक्षानर्हाश्च राज्यार्हाः सुकुमारास्तपस्विनः ।।
सर्वलक्षणसम्पन्ना भैक्षं नार्हन्ति नित्यशः ।
कार्यार्थिनश्चरन्तीति तर्कयन्त इति ब्रुवन् ।।
बन्धूनामागमान्नित्यमुपचिन्त्य तु नागराः ।
भाजनानि च पूर्णानि भक्ष्यभोज्यैरकारयन् ।।

मौनव्रतेन संयुक्ता भैक्षं गृह्णन्ति पाण्डवाः ।
माता चिरगतान् दृष्ट्वा शोचन्तीति च पाण्डवाः ।
त्वरमाणा निवर्तन्ते मातृगौरवयन्त्रिताः ।।)

उन्हें देखकर नगरनिवासी आपसमें तर्क-वितर्क करते हुए इस प्रकारकी बातें करते थे—'ये ब्राह्मणलोग तो देखने ही योग्य हैं। इनके आचार-विचार शुद्ध एवं सुन्दर हैं। इनकी आकृति देवकुमारोंके समान जान पड़ती है। ये भीख माँगनेयोग्य नहीं, राज्य करनेके योग्य हैं। सुकुमार होते हुए भी तपस्यामें लगे हैं। इनमें सब प्रकारके शुभ लक्षण शोभा पाते हैं। ये कदापि भिक्षा ग्रहण करनेयोग्य नहीं हैं। शायद किसी कार्यवश भिक्षुकोंके वेशमें विचर रहे हैं।' वे नागरिक पाण्डवोंके आगमनको अपने बन्धुजनोंका ही आगमन मानकर उनके लिये भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंसे भरे हुए पात्र तैयार रखते थे और मौनव्रतका पालन करनेवाले पाण्डव उनसे वह भिक्षा ग्रहण करते थे। हमें आये हुए बहुत देर हो गयी, इसलिये माताजी चिन्तामें पड़ी होंगी—यह सोचकर माताके गौरव-पाशमें बँधे हुए पाण्डव बड़ी उतावलीके साथ उनके पास लौट आते थे।

निवेदयन्ति स्म तदा कुन्त्या भैक्षं सदा निशि ।
तया विभक्तान् भागांस्ते भुञ्जते स्म पृथक् पृथक् ।। ५ ।।

प्रतिदिन रात्रिके आरम्भमें भिक्षा लाकर वे माता कुन्तीको सौंप देते और वे बाँटकर जिसके लिये जितना हिस्सा देतीं, उतना ही पृथक्-पृथक् लेकर पाण्डवलोग भोजन करते थे ।। ५ ।।

अर्धं ते भुञ्जते वीराः सह मात्रा परंतपाः ।
अर्धं सर्वस्य भैक्षस्य भीमो भुङ्क्ते महाबलः ।। ६ ।।

वे चारों वीर परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ आधी भिक्षाका उपयोग करते थे और सम्पूर्ण भिक्षाका आधा भाग अकेले महाबली भीमसेन खाते थे ।। ६ ।।

तथा तु तेषां वसतां तस्मिन् राष्ट्रे महात्मनाम् ।
अतिचक्राम सुमहान् कालोऽथ भरतर्षभ ।। ७ ।।

भरतवंशशिरोमणे! इस प्रकार उस राष्ट्रमें निवास करते हुए महात्मा पाण्डवोंका बहुत समय बीत गया ।। ७ ।।

ततः कदाचित् भैक्षाय गतास्ते पुरुषर्षभाः ।
संगत्या भीमसेनस्तु तत्रास्ते पृथया सह ।। ८ ।।

तदनन्तर एक दिन नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदि चार भाई भिक्षाके लिये गये; किंतु भीमसेन किसी कार्यविशेषके सम्बन्धसे कुन्तीके साथ वहाँ घरपर ही रह गये थे ।। ८ ।।

अथार्तिजं महाशब्दं ब्राह्मणस्य निवेशने ।
भृशमुत्पतितं घोरं कुन्ती शुश्राव भारत ।। ९ ।।

भारत! उस दिन ब्राह्मणके घरमें सहसा बड़े जोरका भयानक आर्तनाद होने लगा, जिसे कुन्तीने सुना ।। ९ ।।

रोरूयमाणांस्तान् दृष्ट्वा परिदेवयतश्च सा ।
कारुण्यात् साधुभावाच्च कुन्ती राजन् न चक्षमे ।। १० ।।

राजन्! उन ब्राह्मण-परिवारके लोगोंको बहुत रोते और विलाप करते देख कुन्तीदेवी अत्यन्त दयालुता तथा साधु-स्वभावके कारण सहन न कर सकीं ।। १० ।।

मथ्यमानेन दुःखेन हृदयेन पृथा तदा ।
उवाच भीमं कल्याणी कृपान्वितमिदं वचः ।। ११ ।।
वसाम सुसुखं पुत्र ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अज्ञाता धार्तराष्ट्रस्य सत्कृता वीतमन्यवः ।। १२ ।।

उस समय उनका दुःख मानो कुन्तीदेवीके हृदयको मथे डालता था। अतः कल्याणमयी कुन्ती भीमसेनसे इस प्रकार करुणायुक्त वचन बोलीं—'बेटा! हमलोग इस ब्राह्मणके घरमें दुर्योधनसे अज्ञात रहकर बड़े सुखसे निवास करते हैं। यहाँ हमारा इतना सत्कार हुआ है कि हम अपने दुःख और दैन्यको भूल गये हैं ।। ११-१२ ।।

सा चिन्तये सदा पुत्र ब्राह्मणस्यास्य किं न्वहम् ।
प्रियं कुर्यामिति गृहे यत् कुर्युरुषिताः सुखम् ।। १३ ।।

'इसलिये पुत्र! मैं सदा यही सोचती रहती हूँ कि इस ब्राह्मणका मैं कौन-सा प्रिय कार्य करूँ, जिसे किसीके घरमें सुखपूर्वक रहनेवाले लोग किया करते हैं ।। १३ ।।

एतावान् पुरुषस्तात कृतं यस्मिन् न नश्यति ।
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्यादभ्यधिकं ततः ।। १४ ।।

'तात! जिसके प्रति किया हुआ उपकार उसका बदला चुकाये बिना नष्ट नहीं होता, वही पुरुष है (और इतना ही उसका पौरुष—मानवता है कि) दूसरा मनुष्य उसके प्रति जितना उपकार करे, वह उससे भी अधिक उस मनुष्यका प्रत्युपकार कर दे ।। १४ ।।

तदिदं ब्राह्मणस्यास्य दुःखमापतितं ध्रुवम् ।
तत्रास्य यदि साहाय्यं कुर्यामुपकृतं भवेत् ।। १५ ।।

'इस समय निश्चय ही इस ब्राह्मणपर कोई भारी दुःख आ पड़ा है। यदि उसमें मैं इसकी सहायता करूँ तो वास्तविक उपकार हो सकता है' ।। १५ ।।

भीमसेन उवाच

ज्ञायतामस्य यद् दुःखं यतश्चैव समुत्थितम् ।
विदित्वा व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ।। १६ ।।

भीमसेन बोले—माँ! पहले यह मालूम करो कि इस ब्राह्मणको क्या दुःख है और वह किस कारणसे प्राप्त हुआ है। जान लेनेपर अत्यन्त दुष्कर होगा, तो भी मैं इसका कष्ट दूर

करनेके लिये उद्योग करूँगा ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं तौ कथयन्तौ च भूयः शुश्रुवतुः स्वनम् ।
आर्तिजं तस्य विप्रस्य सभार्यस्य विशाम्पते ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! वे माँ-बेटे इस प्रकार बात कर ही रहे थे कि पुनः पत्नीसहित ब्राह्मणका आर्तनाद उनके कानोंमें पड़ा ।। १७ ।।

अन्तःपुरं ततस्तस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः ।
विवेश त्वरिता कुन्ती बद्धवत्सेव सौरभी ।। १८ ।।

तब कुन्तीदेवी तुरंत ही उस महात्मा ब्राह्मणके अन्तःपुरमें घुस गयीं—ठीक उसी तरह जैसे घरके भीतर बँधे हुए बछड़ेवाली गाय स्वयं ही उसके पास पहुँच जाती है ।। १८ ।।

ततस्तं ब्राह्मणं तत्र भार्यया च सुतेन च ।
दुहित्रा चैव सहितं ददर्शावनताननम् ।। १९ ।।

भीतर जाकर कुन्तीने ब्राह्मणको वहाँ पत्नी, पुत्र और कन्याके साथ नीचे मुँह किये बैठे देखा ।। १९ ।।

ब्राह्मण उवाच

धिगिदं जीवितं लोके गतसारमनर्थकम् ।
दुःखमूलं पराधीनं भृशमप्रियभागि च ।। २० ।।

ब्राह्मणदेवता कह रहे थे—जगत्‌के इस जीवनको धिक्कार है; क्योंकि यह सारहीन, निरर्थक, दुःखकी जड़, पराधीन और अत्यन्त अप्रियका भागी है ।। २० ।।

जीविते परमं दुःखं जीविते परमो ज्वरः ।
जीविते वर्तमानस्य दुःखानामागमो ध्रुवः ।। २१ ।।

जीनेमें महान् दुःख है। जीवनकालमें बड़ी भारी चिन्ताका सामना करना पड़ता है। जिसने जीवन धारण कर रखा है, उसे दुःखोंकी प्राप्ति अवश्य होती है ।। २१ ।।

आत्मा ह्येको हि धर्मार्थौ कामं चैव निषेवते ।
एतैश्च विप्रयोगोऽपि दुःखं परमनन्तकम् ।। २२ ।।

जीवात्मा अकेला ही धर्म, अर्थ और कामका सेवन करता है। इनका वियोग होना भी उसके लिये महान् और अनन्त दुःखका कारण होता है ।। २२ ।।

आहुः केचित् परं मोक्षं स च नास्ति कथंचन ।
अर्थप्राप्तौ तु नरकः कृत्स्न एवोपपद्यते ।। २३ ।।

कुछ लोग चारों पुरुषार्थोंमें मोक्षको ही सर्वोत्तम बतलाते हैं, किंतु वह भी मेरे लिये किसी प्रकार सुलभ नहीं है। अर्थकी प्राप्ति होनेपर तो नरकका सम्पूर्ण दुःख भोगना ही पड़ता है ।। २३ ।।

अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम् ।
जातस्नेहस्य चार्थेषु विप्रयोगे महत्तरम् ।। २४ ।।

धनकी इच्छा सबसे बड़ा दुःख है, किंतु धन प्राप्त करनेमें तो और भी अधिक दुःख है और जिसकी धनमें आसक्ति हो गयी है*, उसे उस धनका वियोग होनेपर इतना महान् दुःख होता है, जिसकी कोई सीमा नहीं है ।। २४ ।।

न हि योगं प्रपश्यामि येन मुच्येयमापदः ।
पुत्रदारेण वा सार्धं प्राद्रवेयमनामयम् ।। २५ ।।

मुझे ऐसा कोई उपाय नहीं दिखायी देता, जिससे इस विपत्तिसे छुटकारा पा सकूँ अथवा पुत्र और स्त्रीके साथ किसी निरापद स्थानमें भाग चलूँ ।। २५ ।।

यतितं वै मया पूर्वं वेत्थ ब्राह्मणि तत् तथा ।
क्षेमं यतस्ततो गन्तुं त्वया तु मम न श्रुतम् ।। २६ ।।

ब्राह्मणी! तुम इस बातको ठीक-ठीक जानती हो कि पहले तुम्हारे साथ किसी ऐसे स्थानमें चलनेके लिये जहाँ सब प्रकारसे अपना भला हो, मैंने प्रयत्न किया था; परंतु उस समय तुमने मेरी बात नहीं सुनी ।। २६ ।।

इह जाता विवृद्धास्मि पिता चापि ममेति वै ।
उक्तवत्यसि दुर्मेधे याच्यमाना मयासकृत् ।। २७ ।।

मूढमते! मैं बार-बार तुमसे अन्यत्र चलनेके लिये अनुरोध करता। उस समय तुम कहने लगती थीं—‘यहीं मेरा जन्म हुआ, यहीं बड़ी हुई तथा मेरे पिता भी यहीं रहते थे’ ।। २७ ।।

स्वर्गतोऽपि पिता वृद्धस्तथा माता चिरं तव ।
बान्धवा भूतपूर्वाश्च तत्र वासे तु का रतिः ।। २८ ।।

अरी! तुम्हारे बूढ़े माता-पिता और पहलेके भाई-बन्धु जिसे छोड़कर बहुत दिन हुए स्वर्गलोकको चले गये, वहीं निवास करनेके लिये यह आसक्ति कैसी? ।। २८ ।।

सोऽयं ते बन्धुकामाया अशृण्वत्या वचो मम ।
बन्धुप्रणाशः सम्प्राप्तो भृशं दुःखकरो मम ।। २९ ।।

तुमने बंधु-बान्धवोंके साथ रहनेकी इच्छा रखकर जो मेरी बात नहीं सुनी, उसीका यह फल है कि आज समस्त भाई-बंधुओंके विनाशकी घड़ी आ पहुँची है, जो मेरे लिये अत्यन्त दुःखका कारण है ।। २९ ।।

अथवा मद्विनाशोऽयं न हि शक्ष्यामि कंचन ।
परित्यक्तुमहं बन्धुं स्वयं जीवन् नृशंसवत् ।। ३० ।।

अथवा यह मेरे ही विनाशका समय है; क्योंकि मैं स्वयं जीवित रहकर क्रूर मनुष्यकी भाँति दूसरे किसी भाई-बंधुका त्याग नहीं कर सकूँगा ।। ३० ।।

सहधर्मचरीं दान्तां नित्यं मातृसमां मम ।
सखायं विहितां देवैर्नित्यं परमिकां गतिम् ।। ३१ ।।

प्रिये! तुम मेरी सहधर्मिणी और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाली हो। सदा सावधान रहकर माताके समान मेरा पालन-पोषण करती हो। देवताओंने तुम्हें मेरी सखी (सहायिका) बनाया है। तुम सदा मेरी परम गति (सबसे बड़ा सहारा) हो ।। ३१ ।।

पित्रा मात्रा च विहितां सदा गार्हस्थ्यभागिनीम् ।
वरयित्वा यथान्यायं मन्त्रवत् परिणीय च ।। ३२ ।।

तुम्हारे पिता-माताने तुम्हें सदाके लिये मेरे गृहस्थाश्रमकी अधिकारिणी बनाया है। मैंने विधिपूर्वक तुम्हारा वरण करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक तुम्हारे साथ विवाह किया है ।। ३२ ।।

कुलीनां शीलसम्पन्नामपत्यजननीमपि ।
त्वामहं जीवितस्यार्थे साध्वीमनपकारिणीम् ।। ३३ ।।
परित्यक्तुं न शक्ष्यामि भार्यां नित्यमनुव्रताम् ।
कुत एव परित्यक्तुं सुतं शक्ष्याम्यहं स्वयम् ।। ३४ ।।
बालमप्राप्तवयसमजातव्यञ्जनाकृतिम् ।
भर्तुरर्थाय निक्षिप्तां न्यासं धात्रा महात्मना ।। ३५ ।।
यया दौहित्रजाँल्लोकानाशंसे पितृभिः सह ।
स्वयमुत्पाद्य तां बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे ।। ३६ ।।

तुम कुलीन, सुशीला और संतानवती हो, सती-साध्वी हो। तुमने कभी मेरा अपकार नहीं किया है। तुम नित्य मेरे अनुकूल चलनेवाली धर्मपत्नी हो। अतः मैं अपने जीवनकी रक्षाके लिये तुम्हें नहीं त्याग सकूँगा। फिर स्वयं ही अपने उस पुत्रका त्याग तो कैसे कर सकूँगा, जो अभी निरा बच्चा है, जिसने युवावस्थामें प्रवेश नहीं किया है तथा जिसके शरीरमें अभी जवानीके लक्षणतक नहीं प्रकट हुए हैं। साथ ही अपनी इस कन्याको कैसे त्याग दूँ, जिसे महात्मा ब्रह्माजीने उसके भावी पतिके लिये धरोहरके रूपमें मेरे यहाँ रख छोड़ा है? जिसके होनेसे मैं पितरोंके साथ दौहित्रजनित पुण्यलोकोंको पानेकी आशा रखता हूँ, उसी अपनी बालिकाको स्वयं ही जन्म देकर मैं मौतके मुखमें कैसे छोड़ सकता हूँ? ।। ३३-३६ ।।

मन्यन्ते केचिदधिकं स्नेहं पुत्रे पितुर्नराः ।
कन्यायां केचिदपरे मम तुल्यावुभौ स्मृतौ ।। ३७ ।।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पिताका अधिक स्नेह पुत्रपर होता है तथा कुछ दूसरे लोग पुत्रीपर ही अधिक स्नेह बताते हैं; किंतु मेरे लिये तो दोनों ही समान हैं ।। ३७ ।।

यस्यां लोकाः प्रसूतिश्च स्थिता नित्यमथो सुखम् ।
अपापां तामहं बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे ।। ३८ ।।

जिसपर पुण्यलोक, वंशपरम्परा और नित्य सुख—सब कुछ सदा निर्भर रहते हैं, उस निष्पाप बालिकाका परित्याग मैं कैसे कर सकता हूँ ।। ३८ ।।

आत्मानमपि चोत्सृज्य तप्स्यामि परलोकगः ।

त्यक्त्वा ह्येते मया व्यक्तं नेह शक्ष्यन्ति जीवितुम् ।। ३९ ।।

अपनेको भी त्यागकर परलोकमें जानेपर मैं सदा इस बातके लिये संतप्त होता रहूँगा कि मेरे द्वारा त्यागे हुए ये बच्चे अवश्य ही यहाँ जीवित नहीं रह सकेंगे ।। ३९ ।।

एषां चान्यतमत्यागो नृशंसो गर्हितो बुधैः ।
आत्मत्यागे कृते चेमे मरिष्यन्ति मया विना ।। ४० ।।

इनमेंसे किसीका भी त्याग विद्वानोंने निर्दयतापूर्ण तथा निन्दनीय बताया है और मेरे मर जानेपर ये सभी मेरे बिना मर जायँगे ।। ४० ।।

स कृच्छ्रामहमापन्नो न शक्तस्तर्तुमापदम् ।
अहो धिक् कां गतिं त्वद्य गमिष्यामि सबान्धवः ।
सर्वैः सह मृतं श्रेयो न च मे जीवितं क्षमम् ।। ४१ ।।

अहो! मैं बड़ी कठिन विपत्तिमें फँस गया हूँ। इससे पार होनेकी मुझमें शक्ति नहीं है। धिक्कार है इस जीवनको। हाय! मैं बन्धु-बान्धवोंके साथ आज किस गतिको प्राप्त होऊँगा? सबके साथ मर जाना ही अच्छा है। मेरा जीवित रहना कदापि उचित नहीं है ।। ४१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणचिन्तायां षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें ब्राह्मणकी चिन्ताविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

---

* यावन्तो यस्य संयोगा द्रव्यैरिष्टैर्भवन्त्युत । तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ।।

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणीका स्वयं मरनेके लिये उद्यत होकर पतिसे जीवित रहनेके लिये अनुरोध करना

ब्राह्मण्युवाच

न संतापस्त्वया कार्यः प्राकृतेनेव कर्हिचित् ।
न हि संतापकालोऽयं वैद्यस्य तव विद्यते ।। १ ।।

ब्राह्मणी बोली—प्राणनाथ! आपको साधारण मनुष्योंकी भाँति कभी संताप नहीं करना चाहिये। आप विद्वान् हैं, आपके लिये यह संतापका अवसर नहीं है ।। १ ।।

अवश्यं निधनं सर्वैर्गन्तव्यमिह मानवैः ।
अवश्यम्भाविन्यर्थे वै संतापो नेह विद्यते ।। २ ।।

एक-न-एक दिन संसारमें सभी मनुष्योंको अवश्य मरना पड़ेगा; अतः जो बात अवश्य होनेवाली है, उसके लिये यहाँ शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है ।। २ ।।

भार्या पुत्रोऽथ दुहिता सर्वमात्मार्थमिष्यते ।
व्यथां जहि सुबुद्ध्या त्वं स्वयं यास्यामि तत्र च ।। ३ ।।
एतद्धि परमं नार्याः कार्यं लोके सनातनम् ।
प्राणानपि परित्यज्य यद् भर्तृहितमाचरेत् ।। ४ ।।

पत्नी, पुत्र और पुत्री—ये सब अपने ही लिये अभीष्ट होते हैं। आप उत्तम बुद्धि-विवेकका आश्रय लेकर शोक-संताप छोड़िये। मैं स्वयं वहाँ (राक्षसके समीप) चली जाऊँगी। पत्नीके लिये लोकमें सबसे बढ़कर यही सनातन कर्तव्य है कि वह अपने प्राणोंको भी निछावर करके पतिकी भलाई करे ।। ३-४ ।।

तच्च तत्र कृतं कर्म तवापीदं सुखावहम् ।
भवत्यमुत्र चाक्षय्यं लोकेऽस्मिंश्च यशस्करम् ।। ५ ।।

पतिके हितके लिये किया हुआ मेरा वह प्राणोत्सर्गरूप कर्म आपके लिये तो सुखकारक होगा ही, मेरे लिये भी परलोकमें अक्षय सुखका साधक और इस लोकमें यशकी प्राप्ति करानेवाला होगा ।। ५ ।।

एष चैव गुरुर्धर्मो यं प्रवक्ष्याम्यहं तव ।
अर्थश्च तव धर्मश्च भूयानत्र प्रदृश्यते ।। ६ ।।

यह सबसे बड़ा धर्म है, जो मैं आपसे बता रही हूँ। इसमें आपके लिये अधिक-से-अधिक स्वार्थ और धर्मका लाभ दिखायी देता है ।। ६ ।।

यदर्थमिष्यते भार्या प्राप्तः सोऽर्थस्त्वया मयि ।

कन्या चैका कुमारश्च कृताहमनृणा त्वया ।। ७ ।।

जिस उद्देश्यसे पत्नीकी अभिलाषा की जाती है, आपने वह उद्देश्य मुझसे सिद्ध कर लिया है। एक पुत्री और एक पुत्र आपके द्वारा मेरे गर्भसे उत्पन्न हो चुके हैं। इस प्रकार आपने मुझे भी उऋण कर दिया है ।। ७ ।।

समर्थः पोषणे चासि सुतयो रक्षणे तथा ।
न त्वहं सुतयोः शक्ता तथा रक्षणपोषणे ।। ८ ।।

इन दोनों संतानोंका पालन-पोषण और संरक्षण करनेमें आप समर्थ हैं। आपकी तरह मैं इन दोनोंके पालन-पोषण तथा रक्षाकी व्यवस्था नहीं कर सकूँगी ।। ८ ।।

मम हि त्वद्विहीनायाः सर्वप्राणधनेश्वर ।
कथं स्यातां सुतौ बालौ भरेयं च कथं त्वहम् ।। ९ ।।

मेरे सर्वस्वके स्वामी प्राणेश्वर! आपके न रहनेपर मेरे इन दोनों बच्चोंकी क्या दशा होगी? मैं किस तरह इन बालकोंका भरण-पोषण करूँगी? ।। ९ ।।

कथं हि विधवानाथा बालपुत्रा विना त्वया ।
मिथुनं जीवयिष्यामि स्थिता साधुगते पथि ।। १० ।।

मेरा पुत्र अभी बालक है, आपके बिना मैं अनाथ विधवा सन्मार्गपर स्थित रहकर इन दोनों बच्चोंको कैसे जिलाऊँगी ।। १० ।।

अहंकृतावलिप्तैश्च प्रार्थ्यमानामिमां सुताम् ।
अयुक्तैस्तव सम्बन्धे कथं शक्ष्यामि रक्षितुम् ।। ११ ।।

जो आपके यहाँ सम्बन्ध करनेके सर्वथा अयोग्य हैं, ऐसे अहंकारी और घमंडीलोग जब मुझसे इस कन्याको माँगेंगे, तब मैं उनसे इसकी रक्षा कैसे कर सकूँगी ।। ११ ।।

उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः ।
प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियम् ।। १२ ।।
साहं विचाल्यमाना वै प्रार्थ्यमाना दुरात्मभिः ।
स्थातुं पथि न शक्ष्यामि सज्जनेष्टे द्विजोत्तम ।। १३ ।।

जैसे पक्षी पृथ्वीपर डाले हुए मांसके टुकड़ेको लेनेके लिये झपटते हैं, उसी प्रकार सब लोग विधवा स्त्रीको वशमें करना चाहते हैं। द्विजश्रेष्ठ! दुराचारी मनुष्य जब बार-बार मुझसे याचना करते हुए मुझे मर्यादासे विचलित करनेकी चेष्टा करेंगे, उस समय मैं श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा अभिलषित मार्गपर स्थिर नहीं रह सकूँगी ।। १२-१३ ।।

कथं तव कुलस्यैकामिमां बालामनागसम् ।
पितृपैतामहे मार्गे नियोक्तुमहमुत्सहे ।। १४ ।।

आपके कुलकी इस एकमात्र निरपराध बालिकाको मैं बाप-दादोंके द्वारा पालित धर्ममार्गपर लगाये रखनेमें कैसे समर्थ होऊँगी ।। १४ ।।

कथं शक्ष्यामि बालेऽस्मिन् गुणानाधातुमीप्सितान् ।

अनाथे सर्वतो लुप्ते यथा त्वं धर्मदर्शिवान् ।। १५ ।।

आप धर्मके ज्ञाता हैं, आप जैसे अपने बालकको सद्‌गुणी बना सकते हैं, उस प्रकार मैं आपके न रहनेपर सब ओरसे आश्रयहीन हुए इस अनाथ बालकमें वांछनीय उत्तम गुणोंका आधान कैसे कर सकूँगी ।। १५ ।।

इमामपि च ते बालामनाथां परिभूय माम् ।
अनर्हाः प्रार्थयिष्यन्ति शूद्रा वेदश्रुतिं यथा ।। १६ ।।

जैसे अनधिकारी शूद्र वेदकी श्रुतिको प्राप्त करना चाहता हो, उसी प्रकार अयोग्य पुरुष मेरी अवहेलना करके आपकी इस अनाथ बालिकाको भी ग्रहण करना चाहेंगे ।। १६ ।।

तां चैदहं न दित्सेयं त्वद्‌गुणैरुपबृंहिताम् ।
प्रमथ्यैनां हरेयुस्ते हविर्ध्वाङ्क्षा इवाध्वरात् ।। १७ ।।

आपके ही उत्तम गुणोंसे सम्पन्न अपनी इस पुत्रीको यदि मैं उन अयोग्य पुरुषोंके हाथमें न देना चाहूँगी तो वे बलपूर्वक इसे उसी प्रकार हर ले जायँगे, जैसे कौए यज्ञसे हविष्यका भाग लेकर उड़ जायँ ।। १७ ।।

सम्प्रेक्षमाणा पुत्रं ते नानुरूपमिवात्मनः ।
अनर्हवशमापन्नामिमां चापि सुतां तव ।। १८ ।।
अवज्ञाता च लोकेषु तथाऽऽत्मानमजानती ।
अवलिप्तैर्नरैर्ब्रह्मन् मरिष्यामि न संशयः ।। १९ ।।

ब्रह्मन्! आपके इस पुत्रको आपके अनुरूप न देखकर और आपकी इस पुत्रीको भी अयोग्य पुरुषके वशमें पड़ी देखकर तथा लोकमें घमंडी मनुष्योंद्वारा अपमानित हो अपनेको पूर्ववत् सम्मानित अवस्थामें न पाकर मैं प्राण त्याग दूँगी, इसमें संशय नहीं है ।। १८-१९ ।।

तौ च हीनौ मया बालौ त्वया चैव तथाऽऽत्मजौ ।
विनश्येतां न संदेहो मत्स्याविव जलक्षये ।। २० ।।

जैसे पानी सूख जानेपर वहाँकी मछलियाँ नष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार मुझसे और आपसे रहित होकर अपने ये दोनों बच्चे निस्संदेह नष्ट हो जायँगे ।। २० ।।

त्रितयं सर्वथाप्येवं विनशिष्यत्यसंशयम् ।
त्वया विहीनं तस्मात् त्वं मां परित्यक्तुमर्हसि ।। २१ ।।

नाथ! इस प्रकार आपके बिना मैं और ये दोनों बच्चे—तीनों ही सर्वथा विनष्ट हो जायँगे—इसमें तनिक भी संशय नहीं है। इसलिये आप केवल मुझे त्याग दीजिये ।। २१ ।।

व्युष्टिरेषा परा स्त्रीणां पूर्वं भर्तुः परां गतिम् ।
गन्तुं ब्रह्मन् सपुत्राणामिति धर्मविदो विदुः ।। २२ ।।

ब्रह्मन्! पुत्रवती स्त्रियाँ यदि अपने पतिसे पहले ही मृत्युको प्राप्त हो जायँ तो यह उनके लिये परम सौभाग्यकी बात है। धर्मज्ञ विद्वान् ऐसा ही मानते हैं ।। २२ ।।

(मितं ददाति हि पिता मितं माता मितं सुतः ।
अमितस्य हि दातारं का पतिं नाभिनन्दति ।।)

पिता, माता और पुत्र—ये सब परिमित मात्रामें ही सुख देते हैं, अपरिमित सुखको देनेवाला तो केवल पति है। ऐसे पतिका कौन स्त्री आदर नहीं करेगी?

परित्यक्तः सुतश्चायं दुहितेयं तथा मया ।
बान्धवाश्च परित्यक्तास्त्वदर्थं जीवितं च मे ।। २३ ।।

आर्यपुत्र! आपके लिये मैंने यह पुत्र और पुत्री भी छोड़ दी, समस्त बन्धु-बान्धवोंको भी छोड़ दिया और अब अपना यह जीवन भी त्याग देनेको उद्यत हूँ ।। २३ ।।

यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्दानैश्च विविधैस्तथा ।
विशिष्यते स्त्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते स्थितिः ।। २४ ।।

स्त्री यदि सदा अपने स्वामीके प्रिय और हितमें लगी रहे तो यह उसके लिये बड़े-बड़े यज्ञों, तपस्याओं, नियमों और नाना प्रकारके दानोंसे भी बढ़कर है ।। २४ ।।

तदिदं यच्चिकीर्षामि धर्मं परमसम्मतम् ।
इष्टं चैव हितं चैव तव चैव कुलस्य च ।। २५ ।।

अतः मैं जो यह कार्य करना चाहती हूँ, यह श्रेष्ठ पुरुषोंसे सम्मत धर्म है और आपके तथा इस कुलके लिये सर्वथा अनुकूल एवं हितकारक है ।। २५ ।।

इष्टानि चाप्यपत्यानि द्रव्याणि सुहृदः प्रियाः ।
आपद्धर्मप्रमोक्षाय भार्या चापि सतां मतम् ।। २६ ।।

अनुकूल संतान, धन, प्रिय, सुहृद् तथा पत्नी—ये सभी आपद्धर्मसे छूटनेके लिये ही वांछनीय हैं; ऐसा साधु पुरुषोंका मत है ।। २६ ।।

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ।। २७ ।।

आपत्तिके लिये धनकी रक्षा करे, धनके द्वारा स्त्रीकी रक्षा करे और स्त्री तथा धन दोनोंके द्वारा सदा अपनी रक्षा करे ।। २७ ।।

दृष्टादृष्टफलार्थं हि भार्या पुत्रो धनं गृहम् ।
सर्वमेतद् विधातव्यं बुधानामेष निश्चयः ।। २८ ।।

पत्नी, पुत्र, धन और घर—ये सब वस्तुएँ दृष्ट और अदृष्ट फल (लौकिक और पारलौकिक लाभ)-के लिये संग्रहणीय हैं। विद्वानोंका यह निश्चय है ।। २८ ।।

एकतो वा कुलं कृत्स्नमात्मा वा कुलवर्धनः ।
न समं सर्वमेवेति बुधानामेष निश्चयः ।। २९ ।।

एक ओर सम्पूर्ण कुल हो और दूसरी ओर उस कुलकी वृद्धि करनेवाला शरीर हो तो उन दोनोंकी तुलना करनेपर वह सारा कुल उस शरीरके बराबर नहीं हो सकता; यह विद्वानोंका निश्चय है ।। २९ ।।

स कुरुष्व मया कार्यं तारयात्मानमात्मना ।
अनुजानीहि मामार्य सुतौ मे परिपालय ।। ३० ।।

आर्य! अतः आप मेरे द्वारा अभीष्ट कार्यकी सिद्धि कीजिये और स्वयं प्रयत्न करके अपनेको इस संकटसे बचाइये। मुझे राक्षसके पास जानेकी आज्ञा दीजिये और मेरे दोनों बच्चोंका पालन कीजिये ।। ३० ।।

अवध्यां स्त्रियमित्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये ।
धर्मज्ञान् राक्षसानाहुर्न हन्यात् स च मामपि ।। ३१ ।।

धर्मज्ञ विद्वानोंने धर्म-निर्णयके प्रसंगमें नारीको अवध्य बताया है। राक्षसोंको भी लोग धर्मज्ञ कहते हैं। इसलिये सम्भव है, वह राक्षस भी मुझे स्त्री समझकर न मारे ।। ३१ ।।

निस्संशयं वधः पुंसां स्त्रीणां संशयितो वधः ।
अतो मामेव धर्मज्ञ प्रस्थापयितुमर्हसि ।। ३२ ।।

पुरुष वहाँ जायँ, तो वह राक्षस उनका वध कर ही डालेगा इसमें संशय नहीं है; परंतु स्त्रियोंके वधमें संदेह है। (यदि राक्षसने धर्मका विचार किया तो मेरे बच जानेकी आशा है) अतः धर्मज्ञ आर्यपुत्र! आप मुझे ही वहाँ भेजें ।। ३२ ।।

भुक्तं प्रियाण्यवाप्तानि धर्मश्च चरितो महान् ।
त्वत् प्रसूतिः प्रिया प्राप्ता न मां तप्स्यत्यजीवितम् ।। ३३ ।।

मैंने सब प्रकारके भोग भोग लिये, मनको प्रिय लगनेवाली वस्तुएँ प्राप्त कर लीं, महान् धर्मका अनुष्ठान भी पूरा कर लिया और आपसे प्यारी संतान भी प्राप्त कर ली। अब यदि मेरी मृत्यु भी हो जाय तो उससे मुझे दुःख न होगा ।। ३३ ।।

जातपुत्रा च वृद्धा च प्रियकामा च ते सदा ।
समीक्ष्यैतदहं सर्वं व्यवसायं करोम्यतः ।। ३४ ।।

मुझसे पुत्र उत्पन्न हो गया, मैं बूढ़ी भी हो चली और सदा आपका प्रिय करनेकी इच्छा रखती आयी हूँ। इन सब बातोंपर विचार करके ही अब मैं मरनेका निश्चय कर रही हूँ ।। ३४ ।।

उत्सृज्यापि हि मामार्य प्राप्स्यस्यन्यामपि स्त्रियम् ।
ततः प्रतिष्ठितो धर्मो भविष्यति पुनस्तव ।। ३५ ।।

आर्य! मुझे त्याग करके आप दूसरी स्त्री भी प्राप्त कर सकते हैं। उससे आपका गृहस्थ-धर्म पुनः प्रतिष्ठित हो जायगा ।। ३५ ।।

न चाप्यधर्मः कल्याण बहुपत्नीकृतां नृणाम् ।
स्त्रीणामधर्मः सुमहान् भर्तुः पूर्वस्य लङ्घने ।। ३६ ।।

कल्याणस्वरूप हृदयेश्वर! बहुत-सी स्त्रियोंसे विवाह करनेवाले पुरुषोंको भी पाप नहीं लगता। परंतु स्त्रियोंको अपने पूर्वपतिका उल्लंघन करनेपर बड़ा भारी पाप लगता है ।। ३६ ।।

एतत् सर्वं समीक्ष्य त्वमात्मत्यागं च गर्हितम् ।
आत्मानं तारयाद्याशु कुलं चेमौ च दारकौ ।। ३७ ।।

इन सब बातोंको विचार करके और अपने देहके त्यागको निन्दित कर्म मानकर आप अब शीघ्र ही अपनेको, अपने कुलको और इन दोनों बच्चोंको भी संकटसे बचा लीजिये ।। ३७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तया भर्ता तां समालिङ्ग्य भारत ।
मुमोच बाष्पं शनकैः सभार्यो भृशदुःखितः ।। ३८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! ब्राह्मणीके यों कहनेपर उसके पति ब्राह्मणदेवता अत्यन्त दुःखी हो उसे हृदयसे लगाकर उसके साथ ही धीरे-धीरे आँसू बहाने लगे ।। ३८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणीवाक्ये सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें ब्राह्मणीवाक्यविषयक एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३९ श्लोक हैं)

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मण-कन्याके त्याग और विवेकपूर्ण वचन तथा कुन्तीका उन सबके पास जाना

वैशम्पायन उवाच

तयोर्दुःखितयोर्वाक्यमतिमात्रं निशम्य तु ।
ततो दुःखपरीताङ्गी कन्या तावभ्यभाषत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुःखमें डूबे हुए माता-पिताका यह (अत्यन्त शोकपूर्ण) वचन सुनकर कन्याके सम्पूर्ण अंगोंमें दुःख व्याप्त हो गया; उसने माता और पिता दोनोंसे कहा— ।। १ ।।

किमेवं भृशदुःखार्तौ रोरूयेतामनाथवत् ।
ममापि श्रूयतां वाक्यं श्रुत्वा च क्रियतां क्षमम् ।। २ ।।

'आप दोनों इस प्रकार अत्यन्त दुःखसे आतुर हो अनाथकी भाँति क्यों बार-बार रो रहे हैं? मेरी भी बात सुनिये और उसे सुनकर जो उचित जान पड़े, वह कीजिये ।। २ ।।

धर्मतोऽहं परित्याज्या युवयोर्नात्र संशयः ।
त्यक्तव्यां मां परित्यज्य त्राहि सर्वं मयैकया ।। ३ ।।

'इसमें संदेह नहीं कि एक-न-एक दिन आप दोनोंको धर्मतः मेरा परित्याग करना पड़ेगा। जब मैं त्याज्य ही हूँ, तब आज ही मुझे त्यागकर मुझ अकेलीके द्वारा इस समूचे कुलकी रक्षा कर लीजिये ।। ३ ।।

इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं तारयिष्यति मामिति ।
अस्मिन्नुपस्थिते काले तरध्वं प्लववन्मया ।। ४ ।।

'संतानकी इच्छा इसीलिये की जाती है कि यह मुझे संकटसे उबारेगी। अतः इस समय जो संकट उपस्थित हुआ है, उसमें नौकाकी भाँति मेरा उपयोग करके आपलोग शोकसागरसे पार हो जाइये ।। ४ ।।

इह वा तारयेद् दुर्गादुत वा प्रेत्य भारत ।
सर्वथा तारयेत् पुत्रः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ।। ५ ।।

'जो पुत्र इस लोकमें दुर्गम संकटसे पार लगाये अथवा मृत्युके पश्चात् परलोकमें उद्धार करे—सब प्रकार पिताको तार दे, उसे ही विद्वानोंने वास्तवमें पुत्र कहा है ।। ५ ।।

आकाङ्क्षन्ते च दौहित्रान् मयि नित्यं पितामहाः ।
तत् स्वयं वै परित्रास्ये रक्षन्ती जीवितं पितुः ।। ६ ।।

'पितरलोग मुझसे उत्पन्न होनेवाले दौहित्रसे अपने उद्धारकी सदा अभिलाषा रखते हैं, इसलिये मैं स्वयं ही पिताके जीवनकी रक्षा करती हुई उन सबका उद्धार करूँगी ।। ६ ।।

भ्राता च मम बालोऽयं गते लोकममुं त्वयि ।
अचिरेणैव कालेन विनश्येत न संशयः ।। ७ ।।

'यदि आप परलोकवासी हो गये तो यह मेरा नन्हा-सा भाई थोड़े ही समयमें नष्ट हो जायगा, इसमें संशय नहीं है ।। ७ ।।

तातेऽपि हि गते स्वर्गं विनष्टे च ममानुजे ।
पिण्डः पितॄणां व्युच्छिद्येत् तत् तेषां विप्रियं भवेत् ।। ८ ।।

'पिता स्वर्गवासी हो जायँ और मेरा भैया भी नष्ट हो जाय, तो पितरोंका पिण्ड ही लुप्त हो जायगा, जो उनके लिये बहुत ही अप्रिय होगा ।। ८ ।।

पित्रा त्यक्ता तथा मात्रा भ्रात्रा चाहमसंशयम् ।
दुःखाद् दुःखतरं प्राप्य म्रियेयमतथोचिता ।। ९ ।।

'पिता, माता और भाई—तीनोंसे परित्यक्त होकर मैं एक दुःखसे दूसरे महान् दुःखमें पड़कर निश्चय ही मर जाऊँगी। यद्यपि मैं ऐसा दुःख भोगनेके योग्य नहीं हूँ, तथापि आप लोगोंके बिना मुझे वह सब भोगना ही पड़ेगा ।। ९ ।।

त्वयि त्वरोगे निर्मुक्ते माता भ्राता च मे शिशुः ।
संतानश्चैव पिण्डश्च प्रतिष्ठास्यत्यसंशयम् ।। १० ।।

'यदि आप मृत्युके संकटसे मुक्त एवं नीरोग रहे तो मेरी माता, मेरा नन्हा-सा भाई, संतान-परम्परा और पिण्ड (श्राद्धकर्म)—ये सब स्थिर रहेंगे; इसमें संशय नहीं है ।। १० ।।

आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं तु दुहिता किल ।
स कृच्छ्रान्मोचयात्मानं मां च धर्मे नियोजय ।। ११ ।।

'कहते हैं पुत्र अपना आत्मा है, पत्नी मित्र है; किंतु पुत्री निश्चय ही संकट है, अतः आप इस संकटसे अपनेको बचा लीजिये और मुझे भी धर्ममें लगाइये ।। ११ ।।

अनाथा कृपणा बाला यत्रक्वचनगामिनी ।
भविष्यामि त्वया तात विहीना कृपणा सदा ।। १२ ।।

'पिताजी! आपके बिना मैं सदाके लिये दीन और असहाय हो जाऊँगी, अनाथ और दयनीय समझी जाऊँगी। अरक्षित बालिका होनेके कारण मुझे जहाँ कहीं भी जानेके लिये विवश होना पड़ेगा ।। १२ ।।

अथवाहं करिष्यामि कुलस्यास्य विमोचनम् ।
फलसंस्था भविष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।। १३ ।।

'अथवा मैं अपनेको मृत्युके मुखमें डालकर इस कुलको संकटसे छुड़ाऊँगी। यह अत्यन्त दुष्कर कर्म कर लेनेसे मेरी मृत्यु सफल हो जायगी ।। १३ ।।

अथवा यास्यसे तत्र त्यक्त्वा मां द्विजसत्तम ।

पीडिताहं भविष्यामि तदवेक्षस्व मामपि ।। १४ ।।

'द्विजश्रेष्ठ पिताजी! यदि आप मुझे त्यागकर स्वयं राक्षसके पास चले जायँगे तो मैं बड़े दु:खमें पड़ जाऊँगी। अतः मेरी ओर भी देखिये ।। १४ ।।

तदस्मदर्थं धर्मार्थं प्रसवार्थं स सत्तम ।
आत्मानं परिरक्षस्व त्यक्तव्यां मां च संत्यज ।। १५ ।।

'अतः हे साधुशिरोमणे! आप मेरे लिये, धर्मके लिये तथा संतानकी रक्षाके लिये भी अपनी रक्षा कीजिये और मुझे, जिसको एक दिन छोड़ना ही है, आज ही त्याग दीजिये ।। १५ ।।

अवश्यकरणीये च मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ।
किं त्वतः परमं दु:खं यद् वयं स्वर्गते त्वयि ।। १६ ।।
याचमानाः परादन्नं परिधावेमहि श्ववत् ।
त्वयि त्वरोगे निर्मुक्ते क्लेशादस्मात् सबान्धवे ।
अमृते वसती लोके भविष्यामि सुखान्विता ।। १७ ।।

'पिताजी! जो काम अवश्य करना है, उसका निश्चय करनेमें आपको अपना समय व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये (शीघ्र मेरा त्याग करके इस कुलकी रक्षा करनी चाहिये)। हमलोगोंके लिये इससे बढ़कर महान् दु:ख और क्या होगा कि आपके स्वर्गवासी हो जानेपर हम दूसरोंसे अन्नकी भीख माँगते हुए कुत्तोंकी तरह इधर-उधर दौड़ते फिरें। यदि मुझे त्यागकर आप अपने भाई-बन्धुओंसहित इस क्लेशसे मुक्त हो नीरोग बने रहें तो मैं अमरलोकमें निवास करती हुई बहुत सुखी होऊँगी ।। १६-१७ ।।

इतः प्रदाने देवाश्च पितरश्चेति न श्रुतम् ।
त्वया दत्तेन तोयेन भविष्यन्ति हिताय वै ।। १८ ।।

'यद्यपि ऐसे दानसे देवता और पितर प्रसन्न नहीं होते, ऐसा मैंने सुन रखा है, तथापि आपके द्वारा दी हुई जलांजलिसे वे प्रसन्न होकर अवश्य हमारा हित-साधन करनेवाले होंगे' ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधं तस्या निशम्य परिदेवितम् ।
पिता माता च सा चैव कन्या प्ररुरुदुस्त्रयः ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस तरह उस कन्याके मुखसे नाना प्रकारका विलाप सुनकर पिता-माता और वह कन्या तीनों फूट-फूटकर रोने लगे ।। १९ ।।

ततः प्ररुदितान् सर्वान् निशम्याथ सुतस्तदा ।
उत्फुल्लनयनो बालः कलमव्यक्तमब्रवीत् ।। २० ।।

तब उन सबको रोते देख ब्राह्मणका नन्हा-सा बालक उन सबकी ओर प्रफुल्ल नेत्रोंसे देखता हुआ तोतली भाषामें अस्पष्ट एवं मधुर वचन बोला— ।। २० ।।

मा पिता रुद मा मातर्मा स्वसस्त्विति चाब्रवीत् ।

प्रहसन्निव सर्वांस्तानेकैकमनुसर्पति ।। २१ ।।

ततः स तृणमादाय प्रहृष्टः पुनरब्रवीत् ।

अनेनाहं हनिष्यामि राक्षसं पुरुषादकम् ।। २२ ।।

'पिताजी! न रोओ, माँ! न रोओ, बहिन! न रोओ, वह हँसता हुआ-सा प्रत्येकके पास जाता और सबसे यही बात कहता था। तदनन्तर उसने एक तिनका उठा लिया और अत्यन्त हर्षमें भरकर कहा—'मैं इसीसे उस नरभक्षी राक्षसको मार डालूँगा' ।। २१-२२ ।।

तथापि तेषां दुःखेन परीतानां निशम्य तत् ।

बालस्य वाक्यमव्यक्तं हर्षः समभवन्महान् ।। २३ ।।

यद्यपि वे सब लोग दुःखमें डूबे हुए थे, तथापि उस बालककी अस्पष्ट तोतली बोली सुनकर उनके हृदयमें सहसा अत्यन्त प्रसन्नताकी लहर दौड़ गयी ।। २३ ।।

अयं काल इति ज्ञात्वा कुन्ती समुपसृत्य तान् ।

गतासूनमृतेनेव जीवयन्तीदमब्रवीत् ।। २४ ।।

'अब यही अपनेको प्रकट करनेका अवसर है' यह जानकर कुन्तीदेवी उन सबके निकट गयीं और अपनी अमृतमयी वाणीसे उन मृतक (तुल्य) मानवोंको जीवन प्रदान करती हुई-सी बोलीं ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणकन्यापुत्रवाक्ये अष्टपञ्चशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें ब्राह्मणकी कन्या और पुत्रके वचन-सम्बन्धी एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५८ ।।

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीके पूछनेपर ब्राह्मणका उनसे अपने दुःखका कारण बताना

कुन्त्युवाच

कुतोमूलमिदं दुःखं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः ।
विदित्वाप्यपकर्षेयं शक्यं चेदपकर्षितुम् ।। १ ।।

कुन्तीने पूछा—ब्रह्मन्! आपलोगोंके इस दुःखका कारण क्या है? मैं यह ठीक-ठीक जानना चाहती हूँ। उसे जानकर यदि मिटाया जा सकेगा तो मिटानेकी चेष्टा करूँगी ।। १ ।।

ब्राह्मण उवाच

उपपन्नं सतामेतद् यद् ब्रवीषि तपोधने ।
न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितुम् ।। २ ।।

ब्राह्मणने कहा—तपोधने! आप जो कुछ कह रही हैं, वह आप-जैसे सज्जनोंके अनुरूप ही है; परंतु हमारे इस दुःखको मनुष्य नहीं मिटा सकता ।। २ ।।

समीपे नगरस्यास्य बको वसति राक्षसः ।
(इतो गव्यूतिमात्रेऽस्ति यमुनागह्वरे गुहा ।
तस्यां घोरः स वसति जिघांसुः पुरुषादकः ।।)
ईशो जनपदस्यास्य पुरस्य च महाबलः ।। ३ ।।
पुष्टो मानुषमांसेन दुर्बुद्धिः पुरुषादकः ।
(तेनेयं पुरुषादेन भक्ष्यमाणा दुरात्मना ।
अनाथा नगरी नाथं त्रातारं नाधिगच्छति ।।)
रक्षत्यसुरराण्नित्यमिमं जनपदं बली ।। ४ ।।
नगरं चैव देशं च रक्षोबलसमन्वितः ।
तत्कृते परचक्राच्च भूतेभ्यश्च न नो भयम् ।। ५ ।।

इस नगरके पास ही यहाँसे दो कोसकी दूरीपर यमुनाके किनारे घने जंगलमें एक गुफा है, उसीमें एक भयंकर हिंसाप्रिय नरभक्षी राक्षस रहता है। उसका नाम है बक। वह राक्षस अत्यन्त बलवान् है। वही इस जनपद और नगरका स्वामी है। वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्यभक्षी राक्षस मनुष्यके ही मांससे पुष्ट हुआ है। उस दुरात्मा नरभक्षी निशाचरद्वारा प्रतिदिन खायी जाती हुई यह नगरी अनाथ हो रही है। इसे कोई रक्षक या स्वामी नहीं मिल रहा है। राक्षसोचित-बलसे सम्पन्न वह शक्तिशाली असुरराज सदा इस जनपद, नगर और

देशकी रक्षा करता है। उसके कारण हमें शत्रुराज्यों तथा हिंसक प्राणियोंसे कभी भय नहीं होता ।। ३—५ ।।

वेतनं तस्य विहितं शालिवाहस्य भोजनम् ।
महिषौ पुरुषश्चैको यस्तदादाय गच्छति ।। ६ ।।

उसके लिये कर नियत किया गया है—बीस खारी अगहनीके चावलका भात, दो भैंसे और एक मनुष्य, जो वह सब सामान लेकर उसके पास जाता है ।। ६ ।।

एकैकश्चापि पुरुषस्तत् प्रयच्छति भोजनम् ।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः ।। ७ ।।

प्रत्येक गृहस्थ अपनी बारी आनेपर उसे भोजन देता है। यद्यपि यह बारी बहुत वर्षोंके बाद आती है, तथापि लोगोंके लिये उसकी पूर्ति बहुत कठिन होती है ।। ७ ।।

तद्विमोक्षाय ये केचिद् यतन्ति पुरुषाः क्वचित् ।
सपुत्रदारांस्तान् हत्वा तद् रक्षो भक्षयत्युत ।। ८ ।।

जो कोई पुरुष कभी उससे छूटनेका प्रयत्न करते हैं, वह राक्षस उन्हें पुत्र और स्त्रीसहित मारकर खा जाता है ।। ८ ।।

वेत्रकीयगृहे राजा नायं नयमिहास्थितः ।
उपायं तं न कुरुते यत्नादपि स मन्दधीः ।
अनामयं जनस्यास्य येन स्यादद्य शाश्वतम् ।। ९ ।।

वास्तवमें जो यहाँका राजा है, वह वेत्रकीयगृह नामक स्थानमें रहता है। परंतु वह न्यायके मार्गपर नहीं चलता। वह मन्दबुद्धि राजा यत्न करके भी ऐसा कोई उपाय नहीं करता, जिससे सदाके लिये प्रजाका संकट दूर हो जाय ।। ९ ।।

एतदर्हा वयं नूनं वसामो दुर्बलस्य ये ।
विषये नित्यवास्तव्याः कुराजानमुपाश्रिताः ।। १० ।।

निश्चय ही हमलोग ऐसा ही दुःख भोगनेके योग्य हैं; क्योंकि इस दुर्बल राजाके राज्यमें निवास करते हैं, यहाँके नित्य निवासी हो गये हैं और इस दुष्ट राजाके आश्रयमें रहते हैं ।। १० ।।

ब्राह्मणाः कस्य वक्तव्याः कस्य वाच्छन्दचारिणः ।
गुणैरेते हि वत्स्यन्ति कामगाः पक्षिणो यथा ।। ११ ।।

ब्राह्मणोंको कौन आदेश दे सकता है अथवा वे किसके अधीन रह सकते हैं। ये तो इच्छानुसार विचरनेवाले पक्षियोंकी भाँति देश या राजाके गुण देखकर ही कहीं भी निवास करते हैं ।। ११ ।।

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम् ।
त्रयस्य संचयेनास्य ज्ञातीन् पुत्रांश्च तारयेत् ।। १२ ।।

नीति कहती है, पहले अच्छे राजाको प्राप्त करे। उसके बाद पत्नीकी और फिर धनकी उपलब्धि करे। इन तीनोंके संग्रहद्वारा अपने जाति-भाइयों तथा पुत्रोंको संकटसे बचाये ।। १२ ।।

विपरीतं मया चेदं त्रयं सर्वमुपार्जितम् ।
तदिमामापदं प्राप्य भृशं तप्यामहे वयम् ।। १३ ।।

मैंने इन तीनोंका विपरीत ढंगसे उपार्जन किया है (अर्थात् दुष्ट राजाके राज्यमें निवास किया, कुराज्यमें विवाह किया और विवाहके पश्चात् धन नहीं कमाया); इसलिये इस विपत्तिमें पड़कर हमलोग भारी कष्ट पा रहे हैं ।। १३ ।।

सोऽयमस्माननुप्राप्तो वारः कुलविनाशनः ।
भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया ।। १४ ।।

वही आज हमारी बारी आयी है, जो समूचे कुलका विनाश करनेवाली है। मुझे उस राक्षसको करके रूपमें नियत भोजन और एक पुरुषकी बलि देनी पड़ेगी ।। १४ ।।

न च मे विद्यते वित्तं संक्रेतुं पुरुषं क्वचित् ।
सुहृज्जनं प्रदातुं च न शक्ष्यामि कदाचन ।। १५ ।।

मेरे पास धन नहीं है, जिससे कहींसे किसी पुरुषको खरीद लाऊँ। अपने सुहृदों एवं सगे-सम्बन्धियोंको तो मैं कदापि उस राक्षसके हाथमें नहीं दे सकूँगा ।। १५ ।।

गतिं चैव न पश्यामि तस्मान्मोक्षाय रक्षसः ।
सोऽहं दुःखार्णवे मग्नो महत्यसुकरे भृशम् ।। १६ ।।

उस निशाचरसे छूटनेका कोई उपाय मुझे नहीं दिखायी देता; अतः मैं अत्यन्त दुस्तर दुःखके महासागरमें डूबा हुआ हूँ ।। १६ ।।

सहैवैतैर्गमिष्यामि बान्धवैरद्य राक्षसम् ।
ततो नः सहितान् क्षुद्रः सर्वानेवोपभोक्ष्यति ।। १७ ।।

अब इन बान्धवजनोंके साथ ही मैं राक्षसके पास जाऊँगा; फिर वह नीच निशाचर एक ही साथ हम सबको खा जायगा ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि कुन्तीप्रश्ने एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १५९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें कुन्तीप्रश्नविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १९ श्लोक हैं)

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्ती और ब्राह्मणकी बातचीत

कुन्त्युवाच

न विषादस्त्वया कार्यो भयादस्मात् कथंचन ।
उपायः परिदृष्टोऽत्र तस्मान्मोक्षाय रक्षसः ।। १ ।।

कुन्ती बोली—ब्रह्मन्! आपको अपने ऊपर आये हुए इस भयसे किसी प्रकार विषाद नहीं करना चाहिये। इस परिस्थितिमें उस राक्षससे छूटनेका उपाय मेरी समझमें आ गया ।। १ ।।

एकस्तव सुतो बालः कन्या चैका तपस्विनी ।
न चैतयोस्तथा पत्न्या गमनं तव रोचये ।। २ ।।

आपके तो एक ही नन्हा-सा पुत्र और एक ही तपस्विनी कन्या है, अतः इन दोनोंका तथा आपकी पत्नीका भी वहाँ जाना मुझे अच्छा नहीं लगता ।। २ ।।

मम पञ्च सुता ब्रह्मंस्तेषामेको गमिष्यति ।
त्वदर्थं बलिमादाय तस्य पापस्य रक्षसः ।। ३ ।।

कुन्तीद्वारा ब्राह्मण-दम्पतिको सान्त्वना

बकासुरपर भीमका प्रहार

विप्रवर! मेरे पाँच पुत्र हैं, उनमेंसे एक आपके लिये उस पापी राक्षसकी बलि-सामग्री लेकर चला जायगा ।। ३ ।।

ब्राह्मण उवाच

नाहमेतत् करिष्यामि जीवितार्थी कथंचन ।
ब्राह्मणस्यातिथेश्चैव स्वार्थे प्राणान् वियोजयन् ।। ४ ।।

ब्राह्मणने कहा—मैं अपने जीवनकी रक्षाके लिये किसी तरह ऐसा नहीं करूँगा। एक तो ब्राह्मण, दूसरे अतिथिके प्राणोंका नाश मैं अपने तुच्छ स्वार्थके लिये कराऊँ! यह कदापि सम्भव नहीं है ।। ४ ।।

न त्वेतदकुलीनासु नाधर्मिष्ठासु विद्यते ।
यद् ब्राह्मणार्थं विसृजेदात्मानमपि चात्मजम् ।। ५ ।।

ऐसा निन्दनीय कार्य नीच और अधर्मी जनतामें भी नहीं देखा जाता। उचित तो यह है कि ब्राह्मणके लिये स्वयं अपनेको और अपने पुत्रको भी निछावर कर दे ।। ५ ।।

आत्मनस्तु मया श्रेयो बोद्धव्यमिति रोचते ।
ब्रह्मवध्याऽऽत्मवध्या वा श्रेयानात्मवधो मम ।। ६ ।।
ब्रह्मवध्या परं पापं निष्कृतिर्नात्र विद्यते ।
अबुद्धिपूर्वं कृत्वापि वरमात्मवधो मम ।। ७ ।।

इसीमें मुझे अपना कल्याण समझना चाहिये तथा यही मुझे अच्छा लगता है। ब्रह्महत्या और आत्महत्यामें मुझे आत्महत्या ही श्रेष्ठ जान पड़ती है। ब्रह्महत्या बहुत बड़ा पाप है। इस जगत्‌में उससे छूटनेका कोई उपाय नहीं है। अनजानमें भी ब्रह्महत्या करनेकी अपेक्षा मेरी दृष्टिमें आत्महत्या कर लेना अच्छा है ।। ६-७ ।।

न त्वहं वधमाकाङ्क्षे स्वयमेवात्मनः शुभे ।
परैः कृते वधे पापं न किंचिन्मयि विद्यते ।। ८ ।।

कल्याणि! मैं स्वयं तो आत्महत्याकी इच्छा करता नहीं; परंतु यदि दूसरोंने मेरा वध कर दिया तो उसके लिये मुझे कोई पाप नहीं लगेगा ।। ८ ।।

अभिसंधिकृते तस्मिन् ब्राह्मणस्य वधे मया ।
निष्कृतिं न प्रपश्यामि नृशंसं क्षुद्रमेव च ।। ९ ।।
आगतस्य गृहं त्यागस्तथैव शरणार्थिनः ।
याचमानस्य च वधो नृशंसो गर्हितो बुधैः ।। १० ।।

यदि मैंने जान-बूझकर ब्राह्मणका वध करा दिया तो वह बड़ा ही नीच और क्रूरतापूर्ण कर्म होगा। उससे छुटकारा पानेका कोई उपाय मुझे नहीं सूझता। घरपर आये हुए तथा शरणार्थीका त्याग और अपनी रक्षाके लिये याचना करनेवालेका वध—यह विद्वानोंकी रायमें अत्यन्त क्रूर एवं निन्दित कर्म है ।। ९-१० ।।

कुर्यान्न निन्दितं कर्म न नृशंसं कथंचन ।
इति पूर्वे महात्मान आपद्धर्मविदो विदुः ।। ११ ।।
श्रेयांस्तु सहदारस्य विनाशोऽद्य मम स्वयम् ।
ब्राह्मणस्य वधं नाहमनुमंस्ये कदाचन ।। १२ ।।

आपद्धर्मके ज्ञाता प्राचीन महात्माओंने कहा है कि किसी प्रकार भी क्रूर एवं निन्दित कर्म नहीं करना चाहिये। अतः आज अपनी पत्नीके साथ स्वयं मेरा विनाश हो जाय, यह श्रेष्ठ है; किंतु ब्राह्मणवधकी अनुमति मैं कदापि नहीं दे सकता ।। ११-१२ ।।

कुन्त्युवाच

ममाप्येषा मतिर्ब्रह्मन् विप्रा रक्ष्या इति स्थिरा ।
न चाप्यनिष्टः पुत्रो मे यदि पुत्रशतं भवेत् ।। १३ ।।
न चासौ राक्षसः शक्तो मम पुत्रविनाशने ।
वीर्यवान् मन्त्रसिद्धश्च तेजस्वी च सुतो मम ।। १४ ।।

कुन्ती बोली—ब्रह्मन्! मेरा भी यह स्थिर विचार है कि ब्राह्मणोंकी रक्षा करनी चाहिये। यों तो मुझे भी अपना कोई पुत्र अप्रिय नहीं है, चाहे मेरे सौ पुत्र ही क्यों न हों। किंतु वह राक्षस मेरे पुत्रका विनाश करनेमें समर्थ नहीं है; क्योंकि मेरा पुत्र पराक्रमी, मन्त्रसिद्ध और तेजस्वी है ।। १३-१४ ।।

राक्षसाय च तत् सर्वं प्रापयिष्यति भोजनम् ।
मोक्षयिष्यति चात्मानमिति मे निश्चिता मतिः ।। १५ ।।

मेरा यह निश्चित विश्वास है कि वह सारा भोजन राक्षसके पास पहुँचा देगा और उससे अपने-आपको भी छुड़ा लेगा ।। १५ ।।

समागताश्च वीरेण दृष्टपूर्वाश्च राक्षसाः ।
बलवन्तो महाकाया निहताश्चाप्यनेकशः ।। १६ ।।

मैंने पहले भी बहुत-से बलवान् और विशालकाय राक्षस देखे हैं, जो मेरे वीर पुत्रसे भिड़कर अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे हैं ।। १६ ।।

न त्विदं केषुचिद् ब्रह्मन् व्याहर्तव्यं कथंचन ।
विद्यार्थिनो हि मे पुत्रान् विप्रकुर्युः कुतूहलात् ।। १७ ।।

परंतु ब्रह्मन्! आपको किसीसे भी किसी तरह यह बात कहनी नहीं चाहिये। नहीं तो लोग मन्त्र सीखनेके लोभसे कौतूहलवश मेरे पुत्रोंको तंग करेंगे ।। १७ ।।

गुरुणा चाननुज्ञातो ग्राहयेद् यत् सुतो मम ।
न स कुर्यात् तथा कार्यं विद्ययेति सतां मतम् ।। १८ ।।

और यदि मेरा पुत्र गुरुकी आज्ञा लिये बिना अपना मन्त्र किसीको सिखा देगा तो वह सीखनेवाला मनुष्य उस मन्त्रसे वैसा कार्य नहीं कर सकेगा, जैसा मेरा पुत्र कर लेता है। इस

विषयमें साधु पुरुषोंका ऐसा ही मत है ।। १८ ।।

एवमुक्तस्तु पृथया स विप्रो भार्यया सह ।
हृष्टः सम्पूजयामास तद्वाक्यममृतोपमम् ।। १९ ।।

कुन्तीदेवीके यों कहनेपर पत्नीसहित वह ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कुन्तीके अमृत-तुल्य जीवनदायक मधुर वचनोंकी बड़ी प्रशंसा की ।। १९ ।।

ततः कुन्ती च विप्रश्च सहितावनिलात्मजम् ।
तमब्रूतां कुरुष्वेति स तथेत्यब्रवीच्च तौ ।। २० ।।

तदनन्तर कुन्ती और ब्राह्मणने मिलकर वायु-नन्दन भीमसेनसे कहा—‘तुम यह काम कर दो।’ भीमसेनने उन दोनोंसे ‘तथास्तु’ कहा ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि भीमबकवधाङ्गीकारे षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें भीमके द्वारा बकवधकी स्वीकृतिविषयक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६० ।।

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनको राक्षसके पास भेजनेके विषयमें युधिष्ठिर और कुन्तीकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

करिष्य इति भीमेन प्रतिज्ञातेऽथ भारत ।
आजग्मुस्ते ततः सर्वे भैक्षमादाय पाण्डवाः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब भीमसेनने यह प्रतिज्ञा कर ली कि 'मैं इस कार्यको पूरा करूँगा', उसी समय पूर्वोक्त सब पाण्डव भिक्षा लेकर वहाँ आये ।। १ ।।

आकारेणैव तं ज्ञात्वा पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
रहः समुपविश्यैकस्ततः पप्रच्छ मातरम् ।। २ ।।

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने भीमसेनकी आकृतिसे ही समझ लिया कि आज ये कुछ करनेवाले हैं; फिर उन्होंने एकान्तमें अकेले बैठकर मातासे पूछा ।। २ ।।

युधिष्ठिर उवाच

किं चिकीर्षत्ययं कर्म भीमो भीमपराक्रमः ।
भवत्यनुमते कच्चित् स्वयं वा कर्तुमिच्छति ।। ३ ।।

युधिष्ठिर बोले—माँ! ये भयंकर पराक्रमी भीमसेन कौन-सा कार्य करना चाहते हैं? वे आपकी रायसे अथवा स्वयं ही कुछ करनेको उतारू हो रहे हैं? ।। ३ ।।

कुन्त्युवाच

ममैव वचनादेष करिष्यति परंतपः ।
ब्राह्मणार्थे महत् कृत्यं मोक्षाय नगरस्य च ।। ४ ।।

कुन्तीने कहा—बेटा! शत्रुओंको संतप्त करनेवाला भीमसेन मेरी ही आज्ञासे ब्राह्मणके हितके लिये तथा सम्पूर्ण नगरको संकटसे छुड़ानेके लिये आज एक महान् कार्य करेगा ।। ४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

किमिदं साहसं तीक्ष्णं भवत्या दुष्करं कृतम् ।
परित्यागं हि पुत्रस्य न प्रशंसन्ति साधवः ।। ५ ।।

युधिष्ठिरने कहा—माँ! आपने यह असह्य और दुष्कर साहस क्यों किया? साधु पुरुष अपने पुत्रके परित्यागको अच्छा नहीं बताते ।। ५ ।।

कथं परसुतस्यार्थे स्वसुतं त्यक्तुमिच्छसि ।

लोकवेदविरुद्धं हि पुत्रत्यागात् कृतं त्वया ।। ६ ।।

दूसरेके बेटेके लिये आप अपने पुत्रको क्यों त्याग देना चाहती हैं? पुत्रका त्याग करके आपने लोक और वेद दोनोंके विरुद्ध कार्य किया है ।। ६ ।।

यस्य बाहू समाश्रित्य सुखं सर्वे शयामहे ।
राज्यं चापहृतं क्षुद्रैराजिहीर्षामहे पुनः ।। ७ ।।

जिसके बाहुबलका भरोसा करके हम सब लोग सुखसे सोते हैं और नीच शत्रुओंने जिस राज्यको हड़प लिया है, उसको पुनः वापस लेना चाहते हैं, ।। ७ ।।

यस्य दुर्योधनो वीर्यं चिन्तयन्नमितौजसः ।
न शेते रजनीः सर्वा दुःखाच्छकुनिना सह ।। ८ ।।

जिस अमिततेजस्वी वीरके पराक्रमका चिन्तन करके शकुनिसहित दुर्योधनको दुःखके मारे सारी रात नींद नहीं आती थी, ।। ८ ।।

यस्य वीरस्य वीर्येण मुक्ता जतुगृहाद् वयम् ।
अन्येभ्यश्चैव पापेभ्यो निहतश्च पुरोचनः ।। ९ ।।

जिस वीरके बलसे हमलोग लाक्षागृह तथा दूसरे-दूसरे पापपूर्ण अत्याचारोंसे बच पाये और दुष्ट पुरोचन भी मारा गया, ।। ९ ।।

यस्य वीर्यं समाश्रित्य वसुपूर्णां वसुन्धराम् ।
इमां मन्यामहे प्राप्तां निहत्य धृतराष्ट्रजान् ।। १० ।।
तस्य व्यवसितस्त्यागो बुद्धिमास्थाय कां त्वया ।
कच्चिन्नु दुःखैर्बुद्धिस्ते विलुप्ता गतचेतसः ।। ११ ।।

जिसके बल-पराक्रमका आश्रय लेकर हमलोग धृतराष्ट्रपुत्रोंको मारकर धन-धान्यसे सम्पन्न इस (सम्पूर्ण) पृथ्वीको अपने अधिकारमें आयी हुई ही मानते हैं, उस बलवान् पुत्रके त्यागका निश्चय आपने किस बुद्धिसे किया है? क्या आप अनेक दुःखोंके कारण अपनी चेतना खो बैठी हैं? आपकी बुद्धि लुप्त हो गयी है ।। १०-११ ।।

कुन्त्युवाच

युधिष्ठिर न संतापस्त्वया कार्यो वृकोदरे ।
न चायं बुद्धिदौर्बल्याद् व्यवसायः कृतो मया ।। १२ ।।

कुन्तीने कहा—युधिष्ठिर! तुम्हें भीमसेनके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये। मैंने जो यह निश्चय किया है, वह बुद्धिकी दुर्बलतासे नहीं किया है ।। १२ ।।

इह विप्रस्य भवने वयं पुत्र सुखोषिताः ।
अज्ञाता धार्तराष्ट्राणां सत्कृता वीतमन्यवः ।। १३ ।।
तस्य प्रतिक्रिया पार्थ मयेयं प्रसमीक्षिता ।
एतावानेव पुरुषः कृतं यस्मिन् न नश्यति ।। १४ ।।

बेटा! हमलोग यहाँ इस ब्राह्मणके घरमें बड़े सुखसे रहे हैं। धृतराष्ट्रके पुत्रोंको हमारी कानों-कान खबर नहीं होने पायी है। इस घरमें हमारा इतना सत्कार हुआ है कि हमने अपने पिछले दुःख और क्रोधको भुला दिया है। पार्थ! ब्राह्मणके इस उपकारसे उऋण होनेका यही एक उपाय मुझे दिखायी दिया। मनुष्य वही है, जिसके प्रति किया हुआ उपकार नष्ट न हो (जो उपकारको भुला न दे) ।। १३-१४ ।।

यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्याद् बहुगुणं ततः ।
दृष्ट्वा भीमस्य विक्रान्तं तदा जतुगृहे महत् ।
हिडिम्बस्य वधाच्चैवं विश्वासो मे वृकोदरे ।। १५ ।।

दूसरा मनुष्य उसके लिये जितना उपकार करे, उससे कई गुना अधिक प्रत्युपकार स्वयं उसके प्रति करना चाहिये। मैंने उस दिन लाक्षागृहमें भीमसेनका महान् पराक्रम देखा तथा हिडिम्बवधकी घटना भी मेरी आँखोंके सामने हुई। इससे भीमसेनपर मेरा पूरा विश्वास हो गया है ।। १५ ।।

बाह्वोर्बलं हि भीमस्य नागायुतसमं महत् ।
येन यूयं गजप्रख्या निर्व्यूढा वारणावतात् ।। १६ ।।

भीमका महान् बाहुबल दस हजार हाथियोंके समान है, जिससे वह हाथीके समान बलशाली तुम सब भाइयोंको वारणावत नगरसे ढोकर लाया है ।। १६ ।।

वृकोदरेण सदृशो बलेनान्यो न विद्यते ।
योऽभ्युदीयाद् युधि श्रेष्ठमपि वज्रधरं स्वयम् ।। १७ ।।

भीमसेनके समान बलवान् दूसरा कोई नहीं है। वह युद्धमें सर्वश्रेष्ठ वज्रपाणि इन्द्रका भी सामना कर सकता है ।। १७ ।।

जातमात्रः पुरा चैव ममाङ्कात् पतितो गिरौ ।
शरीरगौरवादस्य शिला गात्रैर्विचूर्णिता ।। १८ ।।

पहलेकी बात है, जब वह नवजात शिशुके रूपमें था, उसी समय मेरी गोदसे छूटकर पर्वतके शिखरपर गिर पड़ा था। जिस चट्टानपर यह गिरा, वह इसके शरीरकी गुरुताके कारण चूर-चूर हो गयी थी ।। १८ ।।

तदहं प्रज्ञया ज्ञात्वा बलं भीमस्य पाण्डव ।
प्रतिकार्ये च विप्रस्य ततः कृतवती मतिम् ।। १९ ।।

अतः पाण्डुनन्दन! मैंने भीमसेनके बलको अपनी बुद्धिसे भलीभाँति समझकर तब ब्राह्मणके शत्रुरूपी राक्षससे बदला लेनेका निश्चय किया है ।। १९ ।।

नेदं लोभान्न चाज्ञानान्न च मोहाद् विनिश्चितम् ।
बुद्धिपूर्वं तु धर्मस्य व्यवसायः कृतो मया ।। २० ।।

मैंने न लोभसे, न अज्ञानसे और न मोहसे ऐसा विचार किया है, अपितु बुद्धिके द्वारा खूब सोच-समझकर विशुद्ध धर्मानुकूल निश्चय किया है ।। २० ।।

अर्थौ द्वावपि निष्पन्नौ युधिष्ठिर भविष्यतः ।
प्रतीकारश्च वासस्य धर्मश्च चरितो महान् ।। २१ ।।

युधिष्ठिर! मेरे इस निश्चयसे दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जायँगे। एक तो ब्राह्मणके यहाँ निवास करनेका ऋण चुक जायगा और दूसरा लाभ यह है कि ब्राह्मण और पुरवासियोंकी रक्षा होनेके कारण महान् धर्मका पालन हो जायगा ।। २१ ।।

यो ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुर्यादर्थेषु कर्हिचित् ।
क्षत्रियः स शुभाँल्लोकानाप्नुयादिति मे मतिः ।। २२ ।।

जो क्षत्रिय कभी ब्राह्मणके कार्योंमें सहायता करता है, वह उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है—यह मेरा विश्वास है ।। २२ ।।

क्षत्रियस्यैव कुर्वाणः क्षत्रियो वधमोक्षणम् ।
विपुलां कीर्तिमाप्नोति लोकेऽस्मिंश्च परत्र च ।। २३ ।।

यदि क्षत्रिय किसी क्षत्रियको ही प्राणसंकटसे मुक्त कर दे तो वह इस लोक और परलोकमें भी महान् यशका भागी होता है ।। २३ ।।

वैश्यस्यार्थे च साहाय्यं कुर्वाणः क्षत्रियो भुवि ।
स सर्वेष्वपि लोकेषु प्रजा रञ्जयते ध्रुवम् ।। २४ ।।

जो क्षत्रिय इस भूतलपर वैश्यके कार्यमें सहायता पहुँचाता है, वह निश्चय ही सम्पूर्ण लोकोंमें प्रजाको प्रसन्न करनेवाला राजा होता है ।। २४ ।।

शूद्रं तु मोचयेद् राजा शरणार्थिनमागतम् ।
प्राप्नोतीह कुले जन्म सद्द्रव्ये राजपूजिते ।। २५ ।।

इसी प्रकार जो राजा अपनी शरणमें आये हुए शूद्रको प्राणसंकटसे बचाता है, वह इस संसारमें उत्तम धन-धान्यसे सम्पन्न एवं राजाओंद्वारा सम्मानित श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेता है ।। २५ ।।

एवं मां भगवान् व्यासः पुरा पौरवनन्दन ।
प्रोवाचासुकरप्रज्ञस्तस्मादेवं चिकीर्षितम् ।। २६ ।।

पौरववंशको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर! इस प्रकार पूर्वकालमें दुर्लभ विवेक-विज्ञानसे सम्पन्न भगवान् व्यासने मुझसे कहा था; इसीलिये मैंने ऐसी चेष्टा की है ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि कुन्तीयुधिष्ठिरसंवादे एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें कुन्ती-युधिष्ठिर-संवादविषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६१ ।।

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका भोजन-सामग्री लेकर बकासुरके पास जाना और स्वयं भोजन करना तथा युद्ध करके उसे मार गिराना

युधिष्ठिर उवाच

उपपन्नमिदं मातस्त्वया यद् बुद्धिपूर्वकम् ।
आर्तस्य ब्राह्मणस्यैतदनुक्रोशादिदं कृतम् ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—माँ! आपने समझ-बूझकर जो कुछ निश्चय किया है, वह सब उचित है। आपने संकटमें पड़े हुए ब्राह्मणपर दया करके ही ऐसा विचार किया है ।। १ ।।

ध्रुवमेष्यति भीमोऽयं निहत्य पुरुषादकम् ।
सर्वथा ब्राह्मणस्यार्थे यदनुक्रोशवत्यसि ।। २ ।।

निश्चय ही भीमसेन उस राक्षसको मारकर लौट आयेंगे; क्योंकि आप सर्वथा ब्राह्मणकी रक्षाके लिये ही उसपर इतनी दयालु हुई हैं ।। २ ।।

यथा त्विदं न विन्देयुर्नरा नगरवासिनः ।
तथायं ब्राह्मणो वाच्यः परिग्राह्यश्च यत्नतः ।। ३ ।।

आपको यत्नपूर्वक ब्राह्मणपर अनुग्रह तो करना ही चाहिये; किंतु ब्राह्मणसे यह कह देना चाहिये कि वे इस प्रकार मौन रहें कि नगरनिवासियोंको यह बात मालूम न होने पाये ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

(युधिष्ठिरेण सम्मन्त्र्य ब्राह्मणार्थमरिंदम ।
कुन्ती प्रविश्य तान् सर्वान् सान्त्वयामास भारत ।।)
ततो रात्र्यां व्यतीतायामन्नमादाय पाण्डवः ।
भीमसेनो ययौ तत्र यत्रासौ पुरुषादकः ।। ४ ।।
आसाद्य तु वनं तस्य रक्षसः पाण्डवो बली ।
आजुहाव ततो नाम्ना तदन्नमुपपादयन् ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ब्राह्मण (की रक्षा)-के निमित्त युधिष्ठिरसे इस प्रकार सलाह करके कुन्तीदेवीने भीतर जाकर समस्त ब्राह्मण-परिवारको सान्त्वना दी। तदनन्तर रात बीतनेपर पाण्डुनन्दन भीमसेन भोजनसामग्री लेकर उस स्थानपर गये, जहाँ वह नरभक्षी राक्षस रहता था। बक राक्षसके वनमें पहुँचकर महाबली पाण्डुकुमार भीमसेन उसके लिये लाये हुए अन्नको स्वयं खाते हुए राक्षसका नाम ले-लेकर उसे पुकारने लगे ।। ४-५ ।।

ततः स राक्षसः क्रुद्धो भीमस्य वचनात् तदा ।
आजगाम सुसंक्रुद्धो यत्र भीमो व्यवस्थितः ।। ६ ।।

भीमके इस प्रकार पुकारनेसे वह राक्षस कुपित हो उठा और अत्यन्त क्रोधमें भरकर जहाँ भीमसेन बैठकर भोजन कर रहे थे, वहाँ आया ।। ६ ।।

महाकायो महावेगो दारयन्निव मेदिनीम् ।
लोहिताक्षः करालश्च लोहितश्मश्रुमूर्धजः ।। ७ ।।

उसका शरीर बहुत बड़ा था। वह इतने महान् वेगसे चलता था, मानो पृथ्वीको विदीर्ण कर देगा। उसकी आँखें रोषसे लाल हो रही थीं। आकृति बड़ी विकराल जान पड़ती थी। उसके दाढ़ी, मूँछ और सिरके बाल लाल रंगके थे ।। ७ ।।

आकर्णाद् भिन्नवक्त्रश्च शङ्कुकर्णो बिभीषणः ।
त्रिशिखां भ्रुकुटिं कृत्वा संदश्य दशनच्छदम् ।। ८ ।।

मुँहका फैलाव कानोंके समीपतक था, कान भी शंकुके समान लंबे और नुकीले थे। बड़ा भयानक था वह राक्षस। उसने भौंहें ऐसी टेढ़ी कर रखी थीं कि वहाँ तीन रेखाएँ उभड़ आयी थीं और वह दाँतोंसे ओठ चबा रहा था ।। ८ ।।

भुञ्जानमन्नं तं दृष्ट्वा भीमसेनं स राक्षसः ।
विवृत्य नयने क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ।। ९ ।।

भीमसेनको वह अन्न खाते देख राक्षसका क्रोध बहुत बढ़ गया और उसने आँखें तरेरकर कहा— ।। ९ ।।

कोऽयमन्नमिदं भुङ्क्ते मदर्थमुपकल्पितम् ।
पश्यतो मम दुर्बुद्धिर्यियासुर्यमसादनम् ।। १० ।।

'यमलोकमें जानेकी इच्छा रखनेवाला यह कौन दुर्बुद्धि मनुष्य है, जो मेरी आँखोंके सामने मेरे ही लिये तैयार करके लाये हुए इस अन्नको स्वयं खा रहा है?' ।। १० ।।

भीमसेनस्ततः श्रुत्वा प्रहसन्निव भारत ।
राक्षसं तमनादृत्य भुङ्क्त एव पराङ्मुखः ।। ११ ।।

भारत! उसकी बात सुनकर भीमसेन मानो जोर-जोरसे हँसने लगे और उस राक्षसकी अवहेलना करते हुए मुँह फेरकर खाते ही रह गये ।। ११ ।।

रवं स भैरवं कृत्वा समुद्यम्य करावुभौ ।
अभ्यद्रवद् भीमसेनं जिघांसुः पुरुषादकः ।। १२ ।।

अब तो वह नरभक्षी राक्षस भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे भयंकर गर्जना करता हुआ दोनों हाथ ऊपर उठाकर उनकी ओर दौड़ा ।। १२ ।।

तथापि परिभूयैनं प्रेक्षमाणो वृकोदरः ।
राक्षसं भुङ्क्त एवान्नं पाण्डवः परवीरहा ।। १३ ।।
अमर्षेण तु सम्पूर्णः कुन्तीपुत्रं वृकोदरम् ।

जघान पृष्ठे पाणिभ्यामुभाभ्यां पृष्ठतः स्थितः ।। १४ ।।

तो भी शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाण्डुनन्दन भीमसेन उस राक्षसकी ओर देखते हुए उसका तिरस्कार करके उस अन्नको खाते ही रहे। तब उसने अत्यन्त अमर्षमें भरकर कुन्तीनन्दन भीमसेनके पीछे खड़े हो अपने दोनों हाथोंसे उनकी पीठपर प्रहार किया ।। १३-१४ ।।

तथा बलवता भीमः पाणिभ्यां भृशमाहतः ।
नैवावलोकयामास राक्षसं भुङ्क्त एव सः ।। १५ ।।

इस प्रकार बलवान् राक्षसके दोनों हाथोंसे भयानक चोट खाकर भी भीमसेनने उसकी ओर देखातक नहीं, वे भोजन करनेमें ही संलग्न रहे ।। १५ ।।

ततः स भूयः संक्रुद्धो वृक्षमादाय राक्षसः ।
ताडयिष्यंस्तदा भीमं पुनरभ्यद्रवद् बली ।। १६ ।।

तब उस बलवान् राक्षसने पुनः अत्यन्त कुपित हो एक वृक्ष उखाड़कर भीमसेनको मारनेके लिये फिर उनपर धावा किया ।। १६ ।।

ततो भीमः शनैर्भुक्त्वा तदन्नं पुरुषर्षभः ।
वार्युपस्पृश्य संहृष्टस्तस्थौ युधि महाबलः ।। १७ ।।

तदनन्तर नरश्रेष्ठ महाबली भीमसेनने धीरे-धीरे वह सब अन्न खाकर, आचमन करके मुँह-हाथ धो लिये, फिर वे अत्यन्त प्रसन्न हो युद्धके लिये डट गये ।। १७ ।।

क्षिप्तं क्रुद्धेन तं वृक्षं प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।
सव्येन पाणिना भीमः प्रहसन्निव भारत ।। १८ ।।

जनमेजय! कुपित राक्षसके द्वारा चलाये हुए उस वृक्षको पराक्रमी भीमसेनने बायें हाथसे हँसते हुए-से पकड़ लिया ।। १८ ।।

ततः स पुनरुद्यम्य वृक्षान् बहुविधान् बली ।
प्राहिणोद् भीमसेनाय तस्मै भीमश्च पाण्डवः ।। १९ ।।

तब उस बलवान् निशाचरने पुनः बहुत-से वृक्षोंको उखाड़ा और भीमसेनपर चला दिया। पाण्डुनन्दन भीमने भी उसपर अनेक वृक्षोंद्वारा प्रहार किया ।। १९ ।।

तद् वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ।
घोररूपं महाराज नरराक्षसराजयोः ।। २० ।।

महाराज! नरराज तथा राक्षसराजका वह भयंकर वृक्षयुद्ध उस वनके समस्त वृक्षोंके विनाशका कारण बन गया ।। २० ।।

नाम विश्राव्य तु बकः समभिद्रुत्य पाण्डवम् ।
भुजाभ्यां परिजग्राह भीमसेनं महाबलम् ।। २१ ।।

तदनन्तर बकासुरने अपना नाम सुनाकर महाबली पाण्डुनन्दन भीमसेनकी ओर दौड़कर दोनों बाँहोंसे उन्हें पकड़ लिया ।। २१ ।।

भीमसेनोऽपि तद् रक्षः परिरभ्य महाभुजः ।
विस्फुरन्तं महाबाहुं विचकर्ष बलाद् बली ।। २२ ।।

महाबाहु बलवान् भीमसेनने भी उस विशाल भुजाओंवाले राक्षसको दोनों भुजाओंसे कसकर छातीसे लगा लिया और बलपूर्वक उसे इधर-उधर खींचने लगे। उस समय बकासुर उनके बाहुपाशसे छूटनेके लिये छटपटा रहा था ।। २२ ।।

स कृष्यमाणो भीमेन कर्षमाणश्च पाण्डवम् ।
समयुज्यत तीव्रेण क्लमेन पुरुषादकः ।। २३ ।।

भीमसेन उस राक्षसको खींचते थे तथा राक्षस भीमसेनको खींच रहा था। इस खींचा-खींचीमें वह नरभक्षी राक्षस बहुत थक गया ।। २३ ।।

तयोर्वेगेन महता पृथिवी समकम्पत ।
पादपांश्च महाकायांश्चूर्णयामासतुस्तदा ।। २४ ।।

उन दोनोंके महान् वेगसे धरती जोरसे काँपने लगी। उन दोनोंने उस समय बड़े-बड़े वृक्षोंके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले ।। २४ ।।

हीयमानं तु तद् रक्षः समीक्ष्य पुरुषादकम् ।
निष्पिष्य भूमौ जानुभ्यां समाजघ्ने वृकोदरः ।। २५ ।।

उस नरभक्षी राक्षसको कमजोर पड़ते देख भीमसेन उसे पृथ्वीपर पटककर रगड़ने और दोनों घुटनोंसे मारने लगे ।। २५ ।।

ततोऽस्य जानुना पृष्ठमवपीड्य बलादिव ।
बाहुना परिजग्राह दक्षिणेन शिरोधराम् ।। २६ ।।
सव्येन च कटीदेशे गृह्य वाससि पाण्डवः ।
तद् रक्षो द्विगुणं चक्रे रुवन्तं भैरवं रवम् ।। २७ ।।

तदनन्तर उन्होंने अपने एक घुटनेसे बल-पूर्वक राक्षसकी पीठ दबाकर दाहिने हाथसे उसकी गर्दन पकड़ ली और बायें हाथसे कमरका लँगोट पकड़कर उस राक्षसको दुहरा मोड़ दिया। उस समय वह बड़ी भयानक आवाजमें चीत्कार कर रहा था ।। २६-२७ ।।

ततोऽस्य रुधिरं वक्त्रात् प्रादुरासीद् विशाम्पते ।
भज्यमानस्य भीमेन तस्य घोरस्य रक्षसः ।। २८ ।।

राजन्! भीमसेनके द्वारा उस घोर राक्षसकी जब कमर तोड़ी जा रही थी, उस समय उसके मुखसे (बहुत-सा) खून गिरा ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि बकभीमसेनयुद्धे
द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें बकासुर और भीमसेनका युद्धविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २९ श्लोक हैं)

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

बकासुरके वधसे राक्षसोंका भयभीत होकर पलायन और नगरनिवासियोंकी प्रसन्नता

वैशम्पायन उवाच

ततः स भग्नपार्श्वाङ्गो नदित्वा भैरवं रवम् ।
शैलराजप्रतीकाशो गतासुरभवद् बकः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पसलीकी हड्डियोंके टूट जानेपर पर्वतके समान विशालकाय बकासुर भयंकर चीत्कार करके प्राणरहित हो गया ।। १ ।।

तेन शब्देन वित्रस्तो जनस्तस्याथ रक्षसः ।
निष्पपात गृहाद् राजन् सहैव परिचारिभिः ।। २ ।।
तान् भीतान् विगतज्ञानान् भीमः प्रहरतां वरः ।
सान्त्वयामास बलवान् समये च न्यवेशयत् ।। ३ ।।
न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिति कर्हिचित् ।
हिंसतां हि वधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति ।। ४ ।।

जनमेजय! उस चीत्कारसे भयभीत हो उस राक्षसके परिवारके लोग अपने सेवकोंके साथ घरसे बाहर निकल आये। योद्धाओंमें श्रेष्ठ बलवान् भीमसेनने उन्हें भयसे अचेत देखकर ढाढ़स बँधाया और उनसे यह शर्त करा ली कि 'अबसे कभी तुमलोग मनुष्योंकी हिंसा न करना। जो हिंसा करेंगे, उनका शीघ्र ही इसी प्रकार वध कर दिया जायगा' ।। २—४ ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा तानि रक्षांसि भारत ।
एवमस्त्विति तं प्राहुर्जगृहुः समयं च तम् ।। ५ ।।

भारत! भीमकी यह बात सुनकर उन राक्षसोंने 'एवमस्तु' कहकर वह शर्त स्वीकार कर ली ।। ५ ।।

ततः प्रभृति रक्षांसि तत्र सौम्यानि भारत ।
नगरे प्रत्यदृश्यन्त नरैर्नगरवासिभिः ।। ६ ।।

भारत! तबसे नगरनिवासी मनुष्योंने अपने नगरमें राक्षसोंको बड़े सौम्य स्वभावका देखा ।। ६ ।।

ततो भीमस्तमादाय गतासुं पुरुषादकम् ।
द्वारदेशे विनिक्षिप्य जगामानुपलक्षितः ।। ७ ।।

तदनन्तर भीमसेनने उस राक्षसकी लाश उठाकर नगरके दरवाजेपर गिरा दी और स्वयं दूसरोंकी दृष्टिसे अपनेको बचाते हुए चले गये ।। ७ ।।

दृष्ट्वा भीमबलोद्भूतं बकं विनिहतं तदा ।
ज्ञातयोऽस्य भयोद्विग्नाः प्रतिजग्मुस्ततस्ततः ।। ८ ।।

भीमसेनके बलसे बकासुरको पछाड़ा एवं मारा गया देख उस राक्षसके कुटुम्बीजन भयसे व्याकुल हो इधर-उधर भाग गये ।। ८ ।।

ततः स भीमस्तं हत्वा गत्वा ब्राह्मणवेश्म तत् ।
आचचक्षे यथावृत्तं राज्ञः सर्वमशेषतः ।। ९ ।।

उस राक्षसको मारनेके पश्चात् भीमसेन ब्राह्मणके उसी घरमें गये तथा वहाँ उन्होंने राजा युधिष्ठिरसे सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक कह सुनाया ।। ९ ।।

ततो नरा विनिष्क्रान्ता नगरात् कल्यमेव तु ।
ददृशुर्निहतं भूमौ राक्षसं रुधिरोक्षितम् ।। १० ।।

तत्पश्चात् जब सबेरा हुआ और लोग नगरसे बाहर निकले, तब उन्होंने देखा बकासुर खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर मरा पड़ा है ।। १० ।।

तमद्रिकूटसदृशं विनिकीर्णं भयानकम् ।
दृष्ट्वा संहृष्टरोमाणो बभूवुस्तत्र नागराः ।। ११ ।।

पर्वतशिखरके समान भयानक उस राक्षसको नगरके दरवाजेपर फेंका हुआ देखकर नगरनिवासी मनुष्योंके शरीरमें रोमांच हो आया ।। ११ ।।

एकचक्रां ततो गत्वा प्रवृत्तिं प्रददुः पुरे ।
ततः सहस्रशो राजन् नरा नगरवासिनः ।। १२ ।।
तत्राजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्रीवृद्धकुमारकाः ।
ततस्ते विस्मिताः सर्वे कर्म दृष्ट्वातिमानुषम् ।
दैवतान्यर्चयांचक्रुः सर्व एव विशाम्पते ।। १३ ।।

राजन्! उन्होंने एकचक्रा नगरीमें जाकर नगरभरमें यह समाचार फैला दिया; फिर तो हजारों नगरनिवासी मनुष्य स्त्री, बच्चों और बूढ़ोंके साथ बकासुरको देखनेके लिये वहाँ आये। उस समय वह अमानुषिक कर्म देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। जनमेजय! उन सभी लोगोंने देवताओंकी पूजा की ।। १२-१३ ।।

ततः प्रगणयामासुः कस्य वारोऽद्य भोजने ।
ज्ञात्वा चागम्य तं विप्रं पप्रच्छुः सर्व एव ते ।। १४ ।।

इसके बाद उन्होंने यह जाननेके लिये कि आज भोजन पहुँचानेकी किसकी बारी थी, दिन आदिकी गणना की। फिर उस ब्राह्मणकी बारीका पता लगनेपर सब लोग उसके पास आकर पूछने लगे ।। १४ ।।

एवं पृष्टः स बहुशो रक्षमाणश्च पाण्डवान् ।

उवाच नागरान् सर्वानिदं विप्रर्षभस्तदा ।। १५ ।।

इस प्रकार उनके बार-बार पूछनेपर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने पाण्डवोंको गुप्त रखते हुए समस्त नागरिकोंसे इस प्रकार कहा— ।। १५ ।।

आज्ञापितं मामशने रुदन्तं सह बन्धुभिः ।
ददर्श ब्राह्मणः कश्चिन्मन्त्रसिद्धो महामनाः ।। १६ ।।

'कल जब मुझे भोजन पहुँचानेकी आज्ञा मिली, उस समय मैं अपने बन्धुजनोंके साथ रो रहा था। इस दशामें मुझे एक विशाल हृदयवाले मन्त्रसिद्ध ब्राह्मणने देखा ।। १६ ।।

परिपृच्छ्य स मां पूर्वं परिक्लेशं पुरस्य च ।
अब्रवीद् ब्राह्मणश्रेष्ठो विश्वास्य प्रहसन्निव ।। १७ ।।

'देखकर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणदेवताने पहले मुझसे सम्पूर्ण नगरके कष्टका कारण पूछा। इसके बाद अपनी अलौकिक शक्तिका विश्वास दिलाकर हँसते हुए-से कहा— ।। १७ ।।

प्रापयिष्याम्यहं तस्मा अन्नमेतद् दुरात्मने ।
मन्निमित्तं भयं चापि न कार्यमिति चाब्रवीत् ।। १८ ।।

'ब्रह्मन्! आज मैं स्वयं ही उस दुरात्मा राक्षसके लिये भोजन ले जाऊँगा।' उन्होंने यह भी बताया कि 'आपको मेरे लिये भय नहीं करना चाहिये' ।। १८ ।।

स तदन्नमुपादाय गतो बकवनं प्रति ।
तेन नूनं भवेदेतत् कर्म लोकहितं कृतम् ।। १९ ।।

'वे वह भोजन-सामग्री लेकर बकासुरके वनकी ओर गये। अवश्य उन्होंने ही यह लोक-हितकारी कर्म किया होगा' ।। १९ ।।

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिताः ।
वैश्याः शूद्राश्च मुदिताश्चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा ।। २० ।।

तब तो वे सब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आश्चर्यचकित हो आनन्दमें निमग्न हो गये। उस समय उन्होंने ब्राह्मणोंके उपलक्ष्यमें महान् उत्सव मनाया ।। २० ।।

ततो जानपदाः सर्वे आजग्मुर्नगरं प्रति ।
तदद्भुततमं द्रष्टुं पार्थास्तत्रैव चावसन् ।। २१ ।।

इसके बाद उस अद्भुत घटनाको देखनेके लिये जनपदमें रहनेवाले सब लोग नगरमें आये और पाण्डवलोग भी (पूर्ववत्) वहीं निवास करने लगे ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि बकवधे त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें बकासुरवधविषयक एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६३ ।।

(चैत्ररथपर्व)

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका एक ब्राह्मणसे विचित्र कथाएँ सुनना

जनमेजय उवाच

ते तथा पुरुषव्याघ्रा निहत्य बकराक्षसम् ।
अत ऊर्ध्वं ततो ब्रह्मन् किमकुर्वत पाण्डवाः ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! पुरुषसिंह पाण्डवोंने उस प्रकार बकासुरका वध करनेके पश्चात् कौन-सा कार्य किया? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

तत्रैव न्यवसन् राजन् निहत्य बकराक्षसम् ।
अधीयानाः परं ब्रह्म ब्राह्मणस्य निवेशने ।। २ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! बकासुरका वध करनेके पश्चात् पाण्डवलोग ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले उपनिषदोंका स्वाध्याय करते हुए वहीं ब्राह्मणके घरमें रहने लगे ।। २ ।।

ततः कतिपयाहस्य ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
प्रतिश्रयार्थी तद् वेश्म ब्राह्मणस्य जगाम ह ।। ३ ।।

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद एक कठोर नियमोंका पालन करनेवाला ब्राह्मण ठहरनेके लिये उन ब्राह्मणदेवताके घरपर आया ।। ३ ।।

स सम्यक् पूजयित्वा तं विप्रं विप्रर्षभस्तदा ।
ददौ प्रतिश्रयं तस्मै सदा सर्वातिथिव्रतः ।। ४ ।।

उन विप्रवरका सदा घरपर आये हुए सभी अतिथियोंकी सेवा करनेका व्रत था। उन्होंने आगन्तुक ब्राह्मणकी भलीभाँति पूजा करके उसे ठहरनेके लिये स्थान दिया ।। ४ ।।

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सह कुन्त्या नरर्षभाः ।
उपासांचक्रिरे विप्रं कथयन्तं कथाः शुभाः ।। ५ ।।

वह ब्राह्मण बड़ी सुन्दर एवं कल्याणमयी कथाएँ कह रहा था, (अतः उन्हें सुननेके लिये) सभी नरश्रेष्ठ पाण्डव माता कुन्तीके साथ उसके निकट जा बैठे ।। ५ ।।

कथयामास देशांश्च तीर्थानि सरितस्तथा ।

राज्ञश्च विविधाश्चर्यान् देशांश्चैव पुराणि च ।। ६ ।।

उसने अनेक देशों, तीर्थों, नदियों, राजाओं, नाना प्रकारके आश्चर्यजनक स्थानों तथा नगरोंका वर्णन किया ।। ६ ।।

स तत्राकथयद् विप्रः कथान्ते जनमेजय ।
पञ्चालेष्वद्भुताकारं याज्ञसेन्याः स्वयंवरम् ।। ७ ।।

जनमेजय! बातचीतके अन्तमें उस ब्राह्मणने वहाँ यह भी बताया कि पंचालदेशमें यज्ञसेनकुमारी द्रौपदीका अद्भुत स्वयंवर होने जा रहा है ।। ७ ।।

धृष्टद्युम्नस्य चोत्पत्तिमुत्पत्तिं च शिखण्डिनः ।
अयोनिजत्वं कृष्णाया द्रुपदस्य महामखे ।। ८ ।।

धृष्टद्युम्न और शिखण्डीकी उत्पत्ति तथा द्रुपदके महायज्ञमें कृष्णा (द्रौपदी)-का बिना माताके गर्भके ही (यज्ञकी वेदीसे) जन्म होना आदि बातें भी उसने कहीं ।। ८ ।।

तदद्भुततमं श्रुत्वा लोके तस्य महात्मनः ।
विस्तरेणैव पप्रच्छुः कथान्ते पुरुषर्षभाः ।। ९ ।।

उस महात्मा ब्राह्मणका इस लोकमें अत्यन्त अद्भुत प्रतीत होनेवाला यह वचन सुनकर कथाके अन्तमें पुरुषशिरोमणि पाण्डवोंने विस्तारपूर्वक जाननेके लिये पूछा ।। ९ ।।

पाण्डवा ऊचुः

कथं द्रुपदपुत्रस्य धृष्टद्युम्नस्य पावकात् ।
वेदीमध्याच्च कृष्णायाः सम्भवः कथमद्भुतः ।। १० ।।

पाण्डव बोले—द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नका यज्ञाग्निसे और कृष्णाका यज्ञवेदीके मध्यभागसे अद्भुत जन्म किस प्रकार हुआ? ।। १० ।।

कथं द्रोणान्महेष्वासात् सर्वाण्यस्त्राण्यशिक्षत ।
कथं विप्र सखायौ तौ भिन्नौ कस्य कृतेन वा ।। ११ ।।

धृष्टद्युम्नने महाधनुर्धर द्रोणसे सब अस्त्रोंकी शिक्षा किस प्रकार प्राप्त की? ब्रह्मन्! द्रुपद और द्रोणमें किस प्रकार मैत्री हुई? और किस कारणसे उनमें वैर पड़ गया? ।। ११ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं तैश्चोदितो राजन् स विप्रः पुरुषर्षभैः ।
कथयामास तत् सर्वं द्रौपदीसम्भवं तदा ।। १२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पुरुषशिरोमणि पाण्डवोंके इस प्रकार पूछनेपर आगन्तुक ब्राह्मणने उस समय द्रौपदीकी उत्पत्तिका सारा वृत्तान्त सुनाना आरम्भ किया ।। १२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसम्भवे चतु:षष्ट्यधिकशततमोऽध्याय: ।। १६४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें ब्राह्मणकथाविषयक एक सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६४ ।।

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणके द्वारा द्रुपदके अपमानित होनेका वृत्तान्त

ब्राह्मण उवाच

गङ्गाद्वारं प्रति महान् बभूवर्षिर्महातपाः ।
भरद्वाजो महाप्राज्ञः सततं संशितव्रतः ।। १ ।।

आगन्तुक ब्राह्मणने कहा—गंगाद्वारमें एक महाबुद्धिमान् और परम तपस्वी भरद्वाज नामक महर्षि रहते थे, जो सदा कठोर व्रतका पालन करते थे ।। १ ।।

सोऽभिषेक्तुं गतो गङ्गां पूर्वमेवागतां सतीम् ।
ददर्शाप्सरसं तत्र घृताचीमाप्लुतामृषिः ।। २ ।।

एक दिन वे गंगाजीमें स्नान करनेके लिये गये। वहाँ पहलेसे ही आकर सुन्दरी अप्सरा घृताची नामवाली गंगाजीमें गोते लगा रही थी। महर्षिने उसे देखा ।। २ ।।

तस्या वायुर्नदीतीरे वसनं व्यहरत् तदा ।
अपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे तदा ।। ३ ।।

जब नदीके तटपर खड़ी हो वह वस्त्र बदलने लगी, उस समय वायुने उसकी साड़ी उड़ा दी। वस्त्र हट जानेसे उसे नग्नावस्थामें देखकर महर्षिने उसे प्राप्त करनेकी इच्छा की ।। ३ ।।

तस्यां संसक्तमनसः कौमारब्रह्मचारिणः ।
चिरस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे ।। ४ ।।

मुनिवर भरद्वाजने कुमारावस्थासे ही दीर्घकाल-तक ब्रह्मचर्यका पालन किया था। घृताचीमें चित्त आसक्त हो जानेके कारण उनका वीर्य स्खलित हो गया। महर्षिने उस वीर्यको द्रोण (यज्ञकलश)-में रख दिया ।। ४ ।।

ततः समभवद् द्रोणः कुमारस्तस्य धीमतः ।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।। ५ ।।

उसीसे बुद्धिमान् भरद्वाजजीके द्रोण नामक पुत्र हुआ। उसने सम्पूर्ण वेदों और वेदांगोंका भी अध्ययन कर लिया ।। ५ ।।

भरद्वाजस्य तु सखा पृषतो नाम पार्थिवः ।
तस्यापि द्रुपदो नाम तदा समभवत् सुतः ।। ६ ।।

पृषत नामके एक राजा भरद्वाज मुनिके मित्र थे। उन्हीं दिनों राजा पृषतके भी द्रुपद नामक पुत्र हुआ ।। ६ ।।

स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्षतः ।
चिक्रीडाध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः ।। ७ ।।

क्षत्रियशिरोमणि पृषतकुमार द्रुपद प्रतिदिन भरद्वाज मुनिके आश्रमपर जाकर द्रोणके साथ खेलते और अध्ययन करते थे ।। ७ ।।

ततस्तु पृषतेऽतीते स राजा द्रुपदोऽभवत् ।
द्रोणोऽपि रामं शुश्राव दित्सन्तं वसु सर्वशः ।। ८ ।।
वनं तु प्रस्थितं रामं भरद्वाजसुतोऽब्रवीत् ।
आगतं वित्तकामं मां विद्धि द्रोणं द्विजोत्तम ।। ९ ।।

पृषतकी मृत्युके पश्चात् द्रुपद राजा हुए। इधर द्रोणने भी यह सुना कि परशुरामजी अपना सारा धन दान कर देना चाहते हैं और वनमें जानेके लिये उद्यत हैं। तब वे भरद्वाजनन्दन द्रोण परशुरामजीके पास जाकर बोले—'द्विजश्रेष्ठ! मुझे द्रोण जानिये। मैं धनकी कामनासे यहाँ आया हूँ' ।। ८-९ ।।

राम उवाच

शरीरमात्रमेवाद्य मया समवशेषितम् ।
अस्त्राणि वा शरीरं वा ब्रह्मन्नेकतमं वृणु ।। १० ।।

परशुरामजीने कहा—ब्रह्मन्! अब तो केवल मैंने अपने शरीरको ही बचा रखा है (शरीरके सिवा सब कुछ दान कर दिया)। अतः अब तुम मेरे अस्त्रों अथवा यह शरीर—दोनोंमेंसे किसी एकको माँग लो ।। १० ।।

द्रोण उवाच

अस्त्राणि चैव सर्वाणि तेषां संहारमेव च ।
प्रयोगं चैव सर्वेषां दातुमर्हति मे भवान् ।। ११ ।।

द्रोण बोले—भगवन्! आप मुझे सम्पूर्ण अस्त्र तथा उन सबके प्रयोग और उपसंहारकी विधि भी प्रदान करें ।। ११ ।।

ब्राह्मण उवाच

तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रददौ भृगुनन्दनः ।
प्रतिगृह्य तदा द्रोणः कृतकृत्योऽभवत् तदा ।। १२ ।।

आगन्तुक ब्राह्मणने कहा—तब भृगुनन्दन परशुरामजीने 'तथास्तु' कहकर अपने सब अस्त्र द्रोणको दे दिये। उन सबको ग्रहण करके द्रोण उस समय कृतार्थ हो गये ।। १२ ।।

सम्प्रहृष्टमना द्रोणो रामात् परमसम्मतम् ।
ब्रह्मास्त्रं समनुप्राप्य नरेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।। १३ ।।

उन्होंने परशुरामजीसे प्रसन्नचित्त होकर परम सम्मानित ब्रह्मास्त्रका ज्ञान प्राप्त किया और मनुष्योंमें सबसे बढ़-चढ़कर हो गये ।। १३ ।।

ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान् ।
अब्रवीत् पुरुषव्याघ्रः सखायं विद्धि मामिति ।। १४ ।।

तब पुरुषसिंह प्रतापी द्रोणने राजा द्रुपदके पास जाकर कहा—'राजन्! मैं तुम्हारा सखा हूँ, मुझे पहचानो' ।। १४ ।।

द्रुपद उवाच

नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ।। १५ ।।

द्रुपदने कहा—जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रियका; जो रथी नहीं है, वह रथी वीरका और इसी प्रकार जो राजा नहीं है, वह किसी राजाका मित्र होनेयोग्य नहीं है; फिर तुम पहलेकी मित्रताकी अभिलाषा क्यों करते हो? ।। १५ ।।

ब्राह्मण उवाच

स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चाल्यं प्रति बुद्धिमान् ।
जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम् ।। १६ ।।

आगन्तुक ब्राह्मणने कहा—बुद्धिमान् द्रोणने पांचालराज द्रुपदसे बदला लेनेका मन-ही-मन निश्चय किया। फिर वे कुरुवंशी राजाओंकी राजधानी हस्तिनापुरमें गये ।। १६ ।।

तस्मै पौत्रान् समादाय वसूनि विविधानि च ।
प्राप्ताय प्रददौ भीष्मः शिष्यान् द्रोणाय धीमते ।। १७ ।।

वहाँ जानेपर बुद्धिमान् द्रोणको नाना प्रकारके धन लेकर भीष्मजीने अपने सभी पौत्रोंको उन्हें शिष्यरूपमें सौंप दिया ।। १७ ।।

द्रोणः शिष्यांस्ततः पार्थानिदं वचनमब्रवीत् ।
समानीय तु ताञ्शिष्यान् द्रुपदस्यासुखाय वै ।। १८ ।।

तब द्रोणने सब शिष्योंको एकत्र करके, जिनमें कुन्तीके पुत्र तथा अन्य लोग भी थे, द्रुपदको कष्ट देनेके उद्देश्यसे इस प्रकार कहा— ।। १८ ।।

आचार्यवेतनं किंचिद् हृदि यद् वर्तते मम ।
कृतास्त्रैस्तत् प्रदेयं स्यात् तदृतं वदतानघाः ।
सोऽर्जुनप्रमुखैरुक्तस्तथास्त्विति गुरुस्तदा ।। १९ ।।

'निष्पाप शिष्यगण! मेरे मनमें तुमलोगोंसे कुछ गुरुदक्षिणा लेनेकी इच्छा है। अस्त्रविद्यामें पारंगत होनेपर तुम्हें वह दक्षिणा देनी होगी। इसके लिये सच्ची प्रतिज्ञा करो।' तब अर्जुन आदि शिष्योंने अपने गुरुसे कहा—'तथास्तु (ऐसा ही होगा)' ।। १९ ।।

यदा च पाण्डवाः सर्वे कृतास्त्राः कृतनिश्चयाः ।
ततो द्रोणोऽब्रवीद् भूयो वेतनार्थमिदं वचः ।। २० ।।

जब समस्त पाण्डव अस्त्रविद्यामें पारंगत हो गये और प्रतिज्ञापालनके निश्चयपर दृढ़तापूर्वक डटे रहे, तब द्रोणाचार्यने गुरुदक्षिणा लेनेके लिये पुनः यह बात कही — ।। २० ।।

पार्षतो द्रुपदो नामच्छत्रवत्यां नरेश्वरः ।
तस्मादाकृष्य तद् राज्यं मम शीघ्रं प्रदीयताम् ।। २१ ।।

'अहिच्छत्रा नगरीमें पृषतके पुत्र राजा द्रुपद रहते हैं। उनसे उनका राज्य छीनकर शीघ्र मुझे अर्पित कर दो' ।। २१ ।।

(धार्तराष्ट्रैश्च सहिताः पञ्चालान् पाण्डवा ययुः ।।
यज्ञसेनेन संगम्य कर्णदुर्योधनादयः ।
निर्जिताः संन्यवर्तन्त तथान्ये क्षत्रियर्षभाः ।।)
ततः पाण्डुसुताः पञ्च निर्जित्य द्रुपदं युधि ।
द्रोणाय दर्शयामासुर्बद्ध्वा ससचिवं तदा ।। २२ ।।

(गुरुकी आज्ञा पाकर) धृतराष्ट्रपुत्रोंसहित पाण्डव पंचाल देशमें गये। वहाँ राजा द्रुपदके साथ युद्ध होनेपर कर्ण, दुर्योधन आदि कौरव तथा दूसरे-दूसरे प्रमुख क्षत्रिय वीर परास्त होकर रणभूमिसे भाग गये। तब पाँचों पाण्डवोंने द्रुपदको युद्धमें परास्त कर दिया और मन्त्रियों-सहित उन्हें कैद करके द्रोणके सम्मुख ला दिया ।। २२ ।।

(महेन्द्र इव दुर्धर्षो महेन्द्र इव दानवम् ।
महेन्द्रपुत्रः पाञ्चालं जितवानर्जुनस्तदा ।।
तद् दृष्ट्वा तु महावीर्यं फाल्गुनस्यामितौजसः ।
व्यस्मयन्त जनाः सर्वे यज्ञसेनस्य बान्धवाः ।।
नास्त्यर्जुनसमो वीर्ये राजपुत्र इति ब्रुवन् ।।)

महेन्द्रपुत्र अर्जुन महेन्द्र पर्वतके समान दुर्धर्ष थे। जैसे महेन्द्रने दानवराजको परास्त किया था, उसी प्रकार उन्होंने पांचालराजपर विजय पायी। अमिततेजस्वी अर्जुनका वह महान् पराक्रम देख राजा द्रुपदके समस्त बान्धवजन बड़े विस्मित हुए और मन-ही-मन कहने लगे—'अर्जुनके समान शक्तिशाली दूसरा कोई राजकुमार नहीं है'।

द्रोण उवाच

प्रार्थयामि त्वया सख्यं पुनरेव नराधिप ।
अराजा किल नो राज्ञः सखा भवितुमर्हति ।। २३ ।।
अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन त्वया सह ।
राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याहमुत्तरे ।। २४ ।।

द्रोणाचार्य बोले—राजन्! मैं फिर भी तुमसे मित्रताके लिये प्रार्थना करता हूँ। यज्ञसेन! तुमने कहा था, जो राजा नहीं है, वह राजाका मित्र नहीं हो सकता; अतः मैंने राज्यप्राप्तिके

लिये तुम्हारे साथ युद्धका प्रयास किया है। तुम गंगाके दक्षिणतटके राजा रहो और मैं उत्तरतटका ।। २३-२४ ।।

ब्राह्मण उवाच

एवमुक्तो हि पाञ्चाल्यो भारद्वाजेन धीमता ।
उवाचास्त्रविदां श्रेष्ठो द्रोणं ब्राह्मणसत्तमम् ।। २५ ।।

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—बुद्धिमान् भरद्वाज-नन्दन द्रोणके यों कहनेपर अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ पंचाल-नरेश द्रुपदने विप्रवर द्रोणसे इस प्रकार कहा— ।। २५ ।।

एवं भवतु भद्रं ते भारद्वाज महामते ।
सख्यं तदेव भवतु शश्वद् यदभिमन्यसे ।। २६ ।।

'महामते द्रोण! एवमस्तु, आपका कल्याण हो। आपकी जैसी राय है, उसके अनुसार हम दोनोंकी वही पुरानी मैत्री सदा बनी रहे' ।। २६ ।।

एवमन्योन्यमुक्त्वा तौ कृत्वा सख्यमनुत्तमम् ।
जग्मतुर्द्रोणपाञ्चाल्यौ यथागतमरिंदमौ ।। २७ ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले द्रोणाचार्य और द्रुपद एक दूसरेसे उपर्युक्त बातें कहकर परम उत्तम मैत्रीभाव स्थापित करके इच्छानुसार अपने-अपने स्थानको चले गये ।। २७ ।।

असत्कारः स तु महान् मुहूर्तमपि तस्य तु ।
नापैति हृदयाद् राज्ञो दुर्मनाः स कृशोऽभवत् ।। २८ ।।

उस समय उनका जो महान् अपमान हुआ, वह दो घड़ीके लिये भी राजा द्रुपदके हृदयसे निकल नहीं पाया। वे मन-ही-मन बहुत दुःखी थे और उनका शरीर भी बहुत दुर्बल हो गया ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसम्भवे
पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें द्रौपदीजन्मविषयक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपदके यज्ञसे धृष्टद्युम्न और द्रौपदीकी उत्पत्ति

ब्राह्मण उवाच

अमर्षी द्रुपदो राजा कर्मसिद्धान् द्विजर्षभान् ।
अन्विच्छन् परिचक्राम ब्राह्मणावसथान् बहून् ।। १ ।।

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—राजा द्रुपद अमर्षमें भर गये थे, अतः उन्होंने कर्मसिद्ध श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको ढूँढ़नेके लिये बहुत-से ब्रह्मर्षियोंके आश्रमोंमें भ्रमण किया ।। १ ।।

पुत्रजन्म परीप्सन् वै शोकोपहतचेतनः ।
नास्ति श्रेष्ठमपत्यं मे इति नित्यमचिन्तयत् ।। २ ।।

वे अपने लिये एक श्रेष्ठ पुत्र चाहते थे। उनका चित्त शोकसे व्याकुल रहता था। वे रात-दिन इसी चिन्तामें पड़े रहते थे कि मेरे कोई श्रेष्ठ संतान नहीं है ।। २ ।।

जातान् पुत्रान् स निर्वेदाद् धिग् बन्धूनिति चाब्रवीत् ।
निःश्वासपरमश्चासीद् द्रोणं प्रतिचिकीर्षया ।। ३ ।।

जो पुत्र या भाई-बन्धु उत्पन्न हो चुके थे, उन्हें वे खेदवश धिक्कारते रहते थे। द्रोणसे बदला लेनेकी इच्छा रखकर राजा द्रुपद सदा लंबी साँसें खींचा करते थे ।। ३ ।।

प्रभावं विनयं शिक्षां द्रोणस्य चरितानि च ।
क्षात्रेण च बलेनास्य चिन्तयन् नाध्यगच्छत ।। ४ ।।
प्रतिकर्तुं नृपश्रेष्ठो यतमानोऽपि भारत ।
अभितः सोऽथ कल्माषीं गङ्गाकूले परिभ्रमन् ।। ५ ।।
ब्राह्मणावसथं पुण्यमाससाद महीपतिः ।
तत्र नास्नातकः कश्चिन्न चासीदव्रती द्विजः ।। ६ ।।

जनमेजय! नृपश्रेष्ठ द्रुपद द्रोणाचार्यसे बदला लेनेके लिये यत्न करनेपर भी उनके प्रभाव, विनय, शिक्षा एवं चरित्रका चिन्तन करके क्षात्रबलके द्वारा उन्हें परास्त करनेका कोई उपाय न जान सके। वे कृष्णवर्णा यमुना तथा गंगा दोनोंके तटोंपर घूमते हुए ब्राह्मणोंकी एक पवित्र बस्तीमें जा पहुँचे। वहाँ उन महाभाग नरेशने एक भी ऐसा ब्राह्मण नहीं देखा, जिसने विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करके वेद-वेदांगकी शिक्षा न प्राप्त की हो ।। ४—६ ।।

तथैव च महाभागः सोऽपश्यत् संशितव्रतौ ।
याजोपयाजौ ब्रह्मर्षी शाम्यन्तौ परमेष्ठिनौ ।। ७ ।।

इस प्रकार उन महाभागने वहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले दो ब्रह्मर्षियोंको देखा, जिनके नाम थे याज और उपयाज। वे दोनों ही परम शान्त और परमेष्ठी ब्रह्माके तुल्य

प्रभावशाली थे ।। ७ ।।

संहिताध्ययने युक्तौ गोत्रतश्चापि काश्यपौ ।
तारणेयौ युक्तरूपौ ब्राह्मणावृषिसत्तमौ ।। ८ ।।

वे वैदिक संहिताके अध्ययनमें सदा संलग्न रहते थे। उनका गोत्र काश्यप था। वे दोनों ब्राह्मण सूर्यदेवके भक्त, बड़े ही योग्य तथा श्रेष्ठ ऋषि थे ।। ८ ।।

स तावामन्त्रयामास सर्वकामैरतन्द्रितः ।
बुद्ध्वा बलं तयोस्तत्र कनीयांसमुपह्वरे ।। ९ ।।
प्रपेदे छन्दयन् कामैरुपयाजं धृतव्रतम् ।
पादशुश्रूषणे युक्तः प्रियवाक् सर्वकामदः ।। १० ।।
अर्चयित्वा यथान्यायमुपयाजमुवाच सः ।
येन मे कर्मणा ब्रह्मन् पुत्रः स्याद् द्रोणमृत्यवे ।। ११ ।।
उपयाज कृते तस्मिन् गवां दातास्मि तेऽर्बुदम् ।
यद् वा तेऽन्यद् द्विजश्रेष्ठ मनसः सुप्रियं भवेत् ।
सर्वं तत् ते प्रदाताहं न हि मेऽत्रास्ति संशयः ।। १२ ।।

उन दोनोंकी शक्तिको समझकर आलस्यरहित राजा द्रुपदने उन्हें सम्पूर्ण मनोवांछित भोग-पदार्थ अर्पण करनेका संकल्प लेकर निमन्त्रित किया। उन दोनोंमेंसे जो छोटे उपयाज थे, वे अत्यन्त उत्तम व्रतका पालन करनेवाले थे। द्रुपद एकान्तमें उनसे मिले और इच्छानुसार भोग्य वस्तुएँ अर्पण करके उन्हें अपने अनुकूल बनानेकी चेष्टा करने लगे। सम्पूर्ण मनोभिलषित पदार्थोंको देनेकी प्रतिज्ञा करके प्रिय वचन बोलते हुए द्रुपद मुनिके चरणोंकी सेवामें लग गये और यथायोग्य पूजन करके उपयाजसे बोले—'विप्रवर उपयाज! जिस कर्मसे मुझे ऐसा पुत्र प्राप्त हो, जो द्रोणाचार्यको मार सके। उस कर्मके पूरा होनेपर मैं आपको एक अर्बुद (दस करोड़) गायें दूँगा। द्विजश्रेष्ठ! इसके सिवा और भी जो आपके मनको अत्यन्त प्रिय लगनेवाली वस्तु होगी, वह सब आपको अर्पित करूँगा, इसमें कोई संशय नहीं है' ।। ९—१२ ।।

इत्युक्तो नाहमित्येवं तमृषिः प्रत्यभाषत ।
आराधयिष्यन् द्रुपदः स तं पर्यचरत् पुनः ।। १३ ।।

द्रुपदके यों कहनेपर ऋषि उपयाजने उन्हें जवाब दे दिया, 'मैं ऐसा कार्य नहीं करूँगा।' परंतु द्रुपद उन्हें प्रसन्न करनेका निश्चय करके पुनः उनकी सेवामें लगे रहे ।। १३ ।।

ततः संवत्सरस्यान्ते द्रुपदं स द्विजोत्तमः ।
उपयाजोऽब्रवीत् काले राजन् मधुरया गिरा ।। १४ ।।
ज्येष्ठो भ्राता ममागृह्णाद् विचरन् गहने वने ।
अपरिज्ञातशौचायां भूमौ निपतितं फलम् ।। १५ ।।

तदनन्तर एक वर्ष बीतनेपर द्विजश्रेष्ठ उपयाजने उपयुक्त अवसरपर मधुर वाणीमें द्रुपदसे कहा—'राजन्! मेरे बड़े भाई याज एक समय घने वनमें विचर रहे थे। उन्होंने एक ऐसी जमीनपर गिरे हुए फलको उठा लिया, जिसकी शुद्धिके सम्बन्धमें कुछ भी पता नहीं था ।। १४-१५ ।।

तदपश्यमहं भ्रातुरसाम्प्रतमनुव्रजन् ।
विमर्शं संकरादाने नायं कुर्यात् कदाचन ।। १६ ।।

'मैं भी भाईके पीछे-पीछे जा रहा था; अतः मैंने उनके इस अयोग्य कार्यको देख लिया और सोचा कि ये अपवित्र वस्तुको ग्रहण करनेमें भी कभी कोई विचार नहीं करते ।। १६ ।।

दृष्ट्वा फलस्य नापश्यद् दोषान् पापानुबन्धकान् ।
विविनक्ति न शौचं यः सोऽन्यत्रापि कथं भवेत् ।। १७ ।।

'जिन्होंने देखकर भी फलके पापजनक दोषोंकी ओर दृष्टिपात नहीं किया, जो किसी वस्तुको लेनेमें शुद्धि-अशुद्धिका विचार नहीं करते, वे दूसरे कार्योंमें भी कैसा बर्ताव करेंगे, कहा नहीं जा सकता ।। १७ ।।

संहिताध्ययनं कुर्वन् वसन् गुरुकुले च यः ।
भैक्ष्यमुत्सृष्टमन्येषां भुङ्क्ते स्म च यदा तदा ।। १८ ।।
कीर्तयन् गुणमन्नानामघृणी च पुनः पुनः ।
तं वै फलार्थिनं मन्ये भ्रातरं तर्कचक्षुषा ।। १९ ।।

'गुरुकुलमें रहकर संहिताभागका अध्ययन करते हुए भी जो दूसरोंकी त्यागी हुई भिक्षाको जब-तब खा लिया करते थे और घृणाशून्य होकर बार-बार उस अन्नके गुणोंका वर्णन करते रहते थे, उन अपने भाईको जब मैं तर्ककी दृष्टिसे देखता हूँ तो वे मुझे फलके लोभी जान पड़ते हैं ।। १८-१९ ।।

तं वै गच्छस्व नृपते स त्वां संयाजयिष्यति ।
जुगुप्समानो नृपतिर्मनसेदं विचिन्तयन् ।। २० ।।
उपयाजवचः श्रुत्वा याजस्याश्रममभ्यगात् ।
अभिसम्पूज्य पूजार्हमथ याजमुवाच ह ।। २१ ।।

'राजन्! तुम उन्हींके पास जाओ। वे तुम्हारा यज्ञ करा देंगे।' राजा द्रुपद उपयाजकी बात सुनकर याजके इस चरित्रकी मन-ही-मन निन्दा करने लगे, तो भी अपने कार्यका विचार करके याजके आश्रमपर गये और पूजनीय याज मुनिका पूजन करके तब उनसे इस प्रकार बोले— ।। २०-२१ ।।

अयुतानि ददान्यष्टौ गवां याजय मां विभो ।
द्रोणवैराभिसंतप्तं प्रह्लादयितुमर्हसि ।। २२ ।।

'भगवन्! मैं आपको अस्सी हजार गौएँ भेंट करता हूँ। आप मेरा यज्ञ करा दीजिये। मैं द्रोणके वैरसे संतप्त हो रहा हूँ। आप मुझे प्रसन्नता प्रदान करें ।। २२ ।।

स हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठो ब्रह्मास्त्रे चाप्यनुत्तमः ।
तस्माद् द्रोणः पराजैष्ट मां वै स सखिविग्रहे ।। २३ ।।

'द्रोणाचार्य ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और ब्रह्मास्त्रके प्रयोगमें भी सर्वोत्तम हैं; इसलिये मित्र मानने-न-माननेके प्रश्नको लेकर होनेवाले झगड़ेमें उन्होंने मुझे पराजित कर दिया है ।। २३ ।।

क्षत्रियो नास्ति तस्यास्यां पृथिव्यां कश्चिदग्रणीः ।
कौरवाचार्यमुख्यस्य भारद्वाजस्य धीमतः ।। २४ ।।

'परम बुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोण इन दिनों कुरुवंशी राजकुमारोंके प्रधान आचार्य हैं। इस पृथ्वीपर कोई भी ऐसा क्षत्रिय नहीं है, जो अस्त्र-विद्यामें उनसे आगे बढ़ा हो ।। २४ ।।

द्रोणस्य शरजालानि प्राणिदेहहराणि च ।
षडरत्नि धनुश्चास्य दृश्यते परमं महत् ।। २५ ।।
स हि ब्राह्मणवेषेण क्षात्रं वेगमसंशयम् ।
प्रतिहन्ति महेष्वासो भारद्वाजो महामनाः ।। २६ ।।

‘द्रोणाचार्यके बाणसमूह प्राणियोंके शरीरका संहार करनेवाले हैं। उनका छः हाथका लंबा धनुष बहुत बड़ा दिखायी देता है। इसमें संदेह नहीं कि महान् धनुर्धर महामना द्रोण ब्राह्मण-वेशमें (अपने ब्राह्मतेजके द्वारा) क्षत्रिय-तेजको प्रतिहत कर देते हैं ।। २५-२६ ।।

क्षत्रोच्छेदाय विहितो जामदग्न्य इवास्थितः ।
तस्य ह्यस्त्रबलं घोरमप्रधृष्यं नरैर्भुवि ।। २७ ।।

‘मानो जमदग्निनन्दन परशुरामजीकी भाँति क्षत्रियोंका संहार करनेके लिये उनकी सृष्टि हुई है। उनका अस्त्रबल बड़ा भयंकर है। पृथ्वीके सब मनुष्य मिलकर भी उसे दबा नहीं सकते ।। २७ ।।

ब्राह्मं संधारयंस्तेजो हुताहुतिरिवानलः ।
समेत्य स दहत्याजौ क्षात्रधर्मपुरस्सरः ।। २८ ।।

‘घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान वे प्रचण्ड ब्राह्मतेज धारण करते हैं और युद्धमें क्षात्रधर्मको आगे रखकर विपक्षियोंसे भिड़ंत होनेपर वे उन्हें भस्म कर डालते हैं ।। २८ ।।

ब्रह्मक्षत्रे च विहिते ब्राह्मं तेजो विशिष्यते ।
सोऽहं क्षात्राद् बलाद्धीनो ब्राह्मं तेजः प्रपेदिवान् ।। २९ ।।

‘यद्यपि द्रोणाचार्यमें ब्राह्मतेजके साथ-साथ क्षात्रतेज भी विद्यमान है, तथापि आपका ब्राह्मतेज उनसे बढ़कर है। मैं केवल क्षात्रबलके कारण द्रोणाचार्यसे हीन हूँ; अतः मैंने आपके ब्राह्मतेजकी शरण ली है ।। २९ ।।

द्रोणाद् विशिष्टमासाद्य भवन्तं ब्रह्मवित्तमम् ।
द्रोणान्तकमहं पुत्रं लभेयं युधि दुर्जयम् ।। ३० ।।

‘आप वेदवेत्ताओंमें सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण द्रोणाचार्यसे बहुत बढ़े-चढ़े हैं। मैं आपकी शरण लेकर एक ऐसा पुत्र पाना चाहता हूँ, जो युद्धमें दुर्जय और द्रोणाचार्यका विनाशक हो ।। ३० ।।

तत् कर्म कुरु मे याज वितसम्यर्बुदं गवाम् ।
तथेत्युक्त्वा तु तं याजो याज्यार्थमुपकल्पयत् ।। ३१ ।।

‘याजजी! मेरे इस मनोरथको पूर्ण करनेवाला यज्ञ कराइये। उसके लिये मैं आपको एक अर्बुद गौएँ दक्षिणामें दूँगा।’

तब याजने ‘तथास्तु’ कहकर यजमानकी अभीष्ट-सिद्धिके लिये आवश्यक यज्ञ और उसके साधनोंका स्मरण किया ।। ३१ ।।

गुर्वर्थ इति चाकाममुपयाजमचोदयत् ।
याजो द्रोणविनाशाय प्रतिजज्ञे तथा च सः ।। ३२ ।।
ततस्तस्य नरेन्द्रस्य उपयाजो महातपाः ।
आचख्यौ कर्म वैतानं तदा पुत्रफलाय वै ।। ३३ ।।

‘यह बहुत बड़ा कार्य है’ ऐसा विचार करके याजने इस कार्यके लिये किसी प्रकारकी कामना न रखनेवाले उपयाजको भी प्रेरित किया तथा याजने द्रोणके विनाशके लिये वैसा पुत्र उत्पन्न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली। इसके बाद महातपस्वी उपयाजने राजा द्रुपदको अभीष्ट पुत्ररूपी फलकी सिद्धिके लिये आवश्यक यज्ञकर्मका उपदेश किया ।। ३२—३३ ।।

स च पुत्रो महावीर्यो महातेजा महाबलः ।
इष्यते यद्विधो राजन् भविता ते तथाविधः ।। ३४ ।।

और कहा—‘राजन्! इस यज्ञसे तुम जैसा पुत्र चाहते हो, वैसा ही तुम्हें होगा। तुम्हारा वह पुत्र महान् पराक्रमी, महातेजस्वी और महाबली होगा’ ।। ३४ ।।

भारद्वाजस्य हन्तारं सोऽभिसंधाय भूपतिः ।
आजह्रे तत् तथा सर्वं द्रुपदः कर्मसिद्धये ।। ३५ ।।

तदनन्तर द्रोणके घातक पुत्रका संकल्प लेकर राजा द्रुपदने कर्मकी सिद्धिके लिये उपयाजके कथनानुसार सारी व्यवस्था की ।। ३५ ।।

याजस्तु हवनस्यान्ते देवीमाज्ञापयत् तदा ।
प्रेहि मां राज्ञि पृषति मिथुनं त्वामुपस्थितम् ।। ३६ ।।
(कुमारश्च कुमारी च पितृवंशविवृद्धये ।)

हवनके अन्तमें याजने द्रुपदकी रानीको आज्ञा दी—‘पृषतकी पुत्रवधू! महारानी! शीघ्र मेरे पास हविष्य ग्रहण करनेके लिये आओ। तुम्हें एक पुत्र और एक कन्याकी प्राप्ति होनेवाली है, वे कुमार और कुमारी अपने पिताके कुलकी वृद्धि करनेवाले होंगे’ ।। ३६ ।।

राज्युवाच

अवलिप्तं मुखं ब्रह्मन् दिव्यान् गन्धान् बिभर्मि च ।
सुतार्थे नोपलब्धास्मि तिष्ठ याज मम प्रिये ।। ३७ ।।

रानी बोली—ब्रह्मन्! अभी मेरे मुखमें ताम्बूल आदिका रंग लगा है! मैं अपने अंगोंमें दिव्य सुगन्धित अंगराग धारण कर रही हूँ, अतः मुँह धोये और स्नान किये बिना पुत्रदायक हविष्यका स्पर्श करनेके योग्य नहीं हूँ, इसलिये याजजी! मेरे इस प्रिय कार्यके लिये थोड़ी देर ठहर जाइये ।। ३७ ।।

याज उवाच

याजेन श्रपितं हव्यमुपयाजाभिमन्त्रितम् ।
कथं कामं न संदध्यात् सा त्वं विप्रेहि तिष्ठ वा ।। ३८ ।।

याजने कहा—इस हविष्यको स्वयं याजने पकाकर तैयार किया है और उपयाजने इसे अभिमन्त्रित किया है; अतः तुम आओ या वहीं खड़ी रहो, यह हविष्य यजमानकी कामनाको पूर्ण कैसे नहीं करेगा? ।। ३८ ।।

ब्राह्मण उवाच

एवमुक्त्वा तु याजेन हुते हविषि संस्कृते ।
उत्तस्थौ पावकात् तस्मात् कुमारो देवसंनिभः ।। ३९ ।।

ब्राह्मण कहता है—यों कहकर याजने उस संस्कारयुक्त हविष्यकी आहुति ज्यों ही अग्निमें डाली, त्यों ही उस अग्निसे देवताके समान तेजस्वी एक कुमार प्रकट हुआ ।। ३९ ।।

ज्वालावर्णो घोररूपः किरीटी वर्म चोत्तमम् ।
बिभ्रत् सखड्गः सशरो धनुष्मान् विनदन् मुहुः ।। ४० ।।

उसके अंगोंकी कान्ति अग्निकी ज्वालाके समान उद्भासित हो रही थी। उसका रूप भय उत्पन्न करनेवाला था। उसके माथेपर किरीट सुशोभित था। उसने अंगोंमें उत्तम कवच धारण कर रखा था। हाथोंमें खड्ग, बाण और धनुष धारण किये वह बार-बार गर्जना कर रहा था ।। ४० ।।

सोऽध्यारोहद् रथवरं तेन च प्रययौ तदा ।
ततः प्रणेदुः पञ्चालाः प्रहृष्टाः साधु साध्विति ।। ४१ ।।

वह कुमार उसी समय एक श्रेष्ठ रथपर जा चढ़ा, मानो उसके द्वारा युद्धके लिये यात्रा कर रहा हो। यह देखकर पांचालोंको बड़ा हर्ष हुआ और वे जोर-जोरसे बोल उठे, ‘बहुत अच्छा’, ‘बहुत अच्छा’, ।। ४१ ।।

हर्षाविष्टांस्ततश्चैतान् नेयं सेहे वसुंधरा ।
भयापहो राजपुत्रः पाञ्चालानां यशस्करः ।। ४२ ।।
राज्ञः शोकापहो जात एष द्रोणवधाय वै ।
इत्युवाच महद् भूतमदृश्यं खेचरं तदा ।। ४३ ।।

उस समय हर्षोल्लाससे भरे हुए इन पांचालोंका भार यह पृथ्वी नहीं सह सकी। आकाशमें कोई अदृश्य महाभूत इस प्रकार कहने लगा—‘यह राजकुमार पांचालोंके भयको दूर करके उनके यशकी वृद्धि करनेवाला होगा। यह राजा द्रुपदका शोक दूर करनेवाला है। द्रोणाचार्यके वधके लिये ही इसका जन्म हुआ है’ ।। ४२-४३ ।।

कुमारी चापि पाञ्चाली वेदीमध्यात् समुत्थिता ।
सुभगा दर्शनीयाङ्गी स्वसितायतलोचना ।। ४४ ।।

तत्पश्चात् यज्ञकी वेदीमेंसे एक कुमारी कन्या भी प्रकट हुई, जो पांचाली कहलायी। वह बड़ी सुन्दरी एवं सौभाग्यशालिनी थी। उसका एक-एक अंग देखने ही योग्य था। उसकी श्याम आँखें बड़ी-बड़ी थीं ।। ४४ ।।

श्यामा पद्मपलाशाक्षी नीलकुञ्चितमूर्धजा ।
ताम्रतुङ्गनखी सुभ्रूश्चारुपीनपयोधरा ।। ४५ ।।

उसके शरीरकी कान्ति श्याम थी। नेत्र ऐसे जान पड़ते मानो खिले हुए कमलके दल हों। केश काले-काले और घुँघराले थे। नख उभरे हुए और लाल रंगके थे। भौंहें बड़ी सुन्दर

थीं। दोनों उरोज स्थूल और मनोहर थे ।। ४५ ।।

मानुषं विग्रहं कृत्वा साक्षादमरवर्णिनी ।
नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात् प्रधावति ।। ४६ ।।

वह ऐसी जान पड़ती मानो साक्षात् देवी दुर्गा ही मानवशरीर धारण करके प्रकट हुई हों। उसके अंगोंसे नील कमलकी-सी सुगन्ध प्रकट होकर एक कोसतक चारों ओर फैल रही थी ।। ४६ ।।

या बिभर्ति परं रूपं यस्या नास्त्युपमा भुवि ।
देवदानवयक्षाणामीप्सितां देवरूपिणीम् ।। ४७ ।।

उसने परम सुन्दर रूप धारण कर रखा था। उस समय पृथ्वीपर उसके-जैसी सुन्दर स्त्री दूसरी नहीं थी। देवता, दानव और यक्ष भी उस देवोपम कन्याको पानेके लिये लालायित थे ।। ४७ ।।

तां चापि जातां सुश्रोणीं वागुवाचाशरीरिणी ।
सर्वयोषिद्वरा कृष्णा निनीषुः क्षत्रियान् क्षयम् ।। ४८ ।।

सुन्दर कटिप्रदेशवाली उस कन्याके प्रकट होनेपर भी आकाशवाणी हुई—'इस कन्याका नाम कृष्णा है। यह समस्त युवतियोंमें श्रेष्ठ एवं सुन्दरी है और क्षत्रियोंका संहार करनेके लिये प्रकट हुई है ।। ४८ ।।

सुरकार्यमियं काले करिष्यति सुमध्यमा ।
अस्या हेतोः कौरवाणां महदुत्पत्स्यते भयम् ।। ४९ ।।

'यह सुमध्यमा समयपर देवताओंका कार्य सिद्ध करेगी। इसके कारण कौरवोंको बहुत बड़ा भय प्राप्त होगा' ।। ४९ ।।

तच्छ्रुत्वा सर्वपाञ्चालाः प्रणेदुः सिंहसङ्घवत् ।
न चैतान् हर्षसम्पूर्णानियं सेहे वसुंधरा ।। ५० ।।

वह आकाशवाणी सुनकर समस्त पांचाल सिंहोंके समुदायकी भाँति गर्जना करने लगे। उस समय हर्षमें भरे हुए उन पांचालोंका वेग पृथ्वी नहीं सह सकी ।। ५० ।।

तौ दृष्ट्वा पार्षती याजं प्रपेदे वै सुतार्थिनी ।
न वै मदन्यां जननीं जानीयातामिमाविति ।। ५१ ।।

उन दोनों पुत्र और पुत्रीको देखकर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली राजा पृषतकी पुत्रवधू महर्षि याजकी शरणमें गयी और बोली—'भगवन्! आप ऐसी कृपा करें, जिससे ये दोनों बच्चे मेरे सिवा और किसीको अपनी माता न समझें' ।। ५१ ।।

तथेत्युवाच तं याजो राज्ञः प्रियचिकीर्षया ।
तयोश्च नामनी चक्रुर्द्विजाः सम्पूर्णमानसाः ।। ५२ ।।

तब राजाका प्रिय करनेकी इच्छासे याजने कहा—'ऐसा ही होगा।' उस समय सम्पूर्ण द्विजोंने सफल-मनोरथ होकर उन बालकोंके नामकरण किये ।। ५२ ।।

धृष्टत्वादत्यमर्षित्वाद् द्युम्नाद्युत्सम्भवादपि ।
धृष्टद्युम्नः कुमारोऽयं द्रुपदस्य भवत्विति ।। ५३ ।।

यह द्रुपदकुमार धृष्ट, अमर्षशील तथा द्युम्न (तेजोमय कवच-कुण्डल एवं क्षात्रतेज) आदिके साथ उत्पन्न होनेके कारण 'धृष्टद्युम्न' नामसे प्रसिद्ध होगा ।। ५३ ।।

कृष्णेत्येवाब्रुवन् कृष्णां कृष्णाभूत् सा हि वर्णतः ।
तथा तन्मिथुनं जज्ञे द्रुपदस्य महामखे ।। ५४ ।।

तत्पश्चात् उन्होंने कुमारीका नाम कृष्णा रखा; क्योंकि वह शरीरसे कृष्ण (श्याम) वर्णकी थी। इस प्रकार द्रुपदके महान् यज्ञमें वे जुड़वीं संतानें उत्पन्न हुईं ।। ५४ ।।

धृष्टद्युम्नं तु पाञ्चाल्यमानीय स्वं निवेशनम् ।
उपाकरोदस्त्रहेतोर्भारद्वाजः प्रतापवान् ।। ५५ ।।
अमोक्षणीयं दैवं हि भावि मत्वा महामतिः ।
तथा तत् कृतवान् द्रोण आत्मकीर्त्यनुरक्षणात् ।। ५६ ।।

परम बुद्धिमान् प्रतापी भरद्वाजनन्दन द्रोण यह सोचकर कि प्रारब्धके भावी विधानको टालना असम्भव है, पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्नको अपने घर ले आये और उन्होंने उसे अस्त्र-विद्याकी शिक्षा देकर उसका बहुत बड़ा उपकार किया। द्रोणाचार्यने अपनी कीर्तिकी रक्षाके लिये वह उदारतापूर्ण कार्य किया ।। ५५-५६ ।।

(ब्राह्मण उवाच

श्रुत्वा जतुगृहे वृत्तं ब्राह्मणाः सपुरोहिताः ।
पाञ्चालराजं द्रुपदमिदं वचनमब्रुवन् ।।
धार्तराष्ट्राः सहामात्या मन्त्रयित्वा परस्परम् ।
पाण्डवानां विनाशाय मतिं चक्रुः सुदुष्कराम् ।।
दुर्योधनेन प्रहितः पुरोचन इति श्रुतः ।
वारणावतमासाद्य कृत्वा जतुगृहं महत् ।।
तस्मिन् गृहे सुविश्वस्तान् पाण्डवान् पृथया सह ।
अर्धरात्रे महाराज दग्धवान् स पुरोचनः ।।
अग्निना तु स्वयमपि दग्धः क्षुद्रो नृशंसकृत् ।
एतच्छ्रुत्वा सुसंहृष्टो धृतराष्ट्रः सबान्धवः ।।
श्रुत्वा तु पाण्डवान् दग्धान् धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
एतावदुक्त्वा करुणं धृतराष्ट्रस्तु मारिषः ।।
अल्पशोकः प्रहृष्टात्मा शशास विदुरं तदा ।
पाण्डवानां महाप्राज्ञ कुरु पिण्डोदकक्रियाम् ।।
अद्य पाण्डुर्हतः क्षत्तः पाण्डवानां विनाशने ।

तस्माद् भागीरथीं गत्वा कुरु पिण्डोदकक्रियाम् ।।
अहो विधिवशादेव गतास्ते यमसादनम् ।
इत्युक्त्वा प्रारुदत् तत्र धृतराष्ट्रः ससौबलः ।।
श्रुत्वा भीष्मेण विधिवत् कृतवानौर्ध्वदेहिकम् ।
पाण्डवानां विनाशाय कृतं कर्म दुरात्मना ।।
एतत्कार्यस्य कर्ता तु न दृष्टो श्रुतः पुरा ।
एतद् वृत्तं महाराज पाण्डवान् प्रति नः श्रुतम् ।।
श्रुत्वा तु वचनं तेषां यज्ञसेनो महामतिः ।
यथा तज्जनकः शोचेदौरसस्य विनाशने ।
तथातप्यत पाञ्चालः पाण्डवानां विनाशने ।।
समाहूय प्रकृतयः सहिताः सह बान्धवैः ।
कारुण्यादेव पाञ्चालः प्रोवाचेदं वचस्तदा ।।

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—लाक्षागृहमें पाण्डवोंके साथ जो घटना घटित हुई थी, उसे सुनकर ब्राह्मणों तथा पुरोहितोंने पांचालराज द्रुपदसे इस प्रकार कहा—'राजन्! धृतराष्ट्रके पुत्रोंने अपने मन्त्रियोंके साथ परस्पर सलाह करके पाण्डवोंके विनाशका विचार कर लिया था। ऐसा क्रूरतापूर्ण विचार दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है। दुर्योधनके भेजे हुए उसके पुरोचन नामक सेवकने वारणावत नगरमें जाकर एक विशाल लाक्षागृहका निर्माण कराया था। उस भवनमें पाण्डव अपनी माता कुन्तीके साथ पूर्ण विश्वस्त होकर रहते थे। महाराज! एक दिन आधी रातके समय पुरोचनने लाक्षागृहमें आग लगा दी। वह नीच और नृशंस पुरोचन स्वयं भी उसी आगमें जलकर भस्म हो गया। यह समाचार सुनकर कि 'पाण्डव जल गये' अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रको अपने भाई-बन्धुओंके साथ बड़ा हर्ष हुआ। धृतराष्ट्रकी आत्मा हर्षसे खिल उठी थी, तो भी ऊपरसे कुछ शोकका प्रदर्शन करते हुए उन्होंने विदुरजीसे बड़ी करुण भाषामें यह वृत्तान्त बताया और उन्हें आज्ञा दी कि 'महामते! पाण्डवोंका श्राद्ध और तर्पण करो। विदुर! पाण्डवोंके मरनेसे मुझे ऐसा दुःख हुआ है मानो मेरे भाई पाण्डु आज ही स्वर्गवासी हुए हों। अतः गंगाजीके तटपर चलकर उनके लिये श्राद्ध और तर्पणकी व्यवस्था करो। अहो! भाग्यवश ही बेचारे पाण्डव यमलोकको चले गये।' यों कहकर धृतराष्ट्र और शकुनि फूट-फूटकर रोने लगे। भीष्मजीने यह समाचार सुनकर उनका विधिपूर्वक और्ध्वदैहिक संस्कार सम्पन्न किया है। इस प्रकार दुरात्मा दुर्योधनने पाण्डवोंके विनाशके लिये यह भयंकर षड्यन्त्र किया था। आजसे पहले हमने किसीको ऐसा नहीं देखा या सुना था जो इस तरहका जघन्य कार्य कर सके। महाराज! पाण्डवोंके सम्बन्धमें यह वृत्तान्त हमारे सुननेमें आया है।'

ब्राह्मण और पुरोहितका यह वचन सुनकर परम बुद्धिमान् राजा द्रुपद शोकमें डूब गये। जैसे अपने सगे पुत्रकी मृत्यु होनेपर उसके पिताको शोक होता है उसी प्रकार पाण्डवोंके

नष्ट होनेका समाचार सुनकर पांचालराजको पीड़ा हुई। उन्होंने अपने भाई-बन्धुओंके साथ समस्त प्रजाको बुलवाया और बड़ी करुणासे यह बात कही।

द्रुपद उवाच

अहो रूपमहो धैर्यमहो वीर्यं च शिक्षितम् ।
चिन्तयामि दिवारात्रमर्जुनं प्रति बान्धवाः ।।
भ्रातृभिः सहितो मात्रा सोऽदह्यत हुताशने ।
किमाश्चर्यमिदं लोके कालो हि दुरतिक्रमः ।।
मिथ्याप्रतिज्ञो लोकेषु किं वदिष्यामि साम्प्रतम् ।
अन्तर्गतेन दुःखेन दह्यमानो दिवानिशम् ।
याजोपयाजौ सत्कृत्य याचितौ तौ मयानघौ ।।
भारद्वाजस्य हन्तारं देवीं चाप्यर्जुनस्य वै ।
लोकस्तद् वेद यच्चैव तथा याजेन वै श्रुतम् ।।
याजेन पुत्रकामीयं हुत्वा चोत्पादितावुभौ ।
धृष्टद्युम्नश्च कृष्णा च मम तुष्टिकरावुभौ ।।
किं करिष्यामि ते नष्टाः पाण्डवाः पृथया सह ।

द्रुपद बोले—बन्धुओ! अर्जुनका रूप अद्भुत था। उनका धैर्य आश्चर्यजनक था। उनका पराक्रम और उनकी अस्त्र-शिक्षा भी अलौकिक थी। मैं दिन-रात अर्जुनकी ही चिन्तामें डूबा रहता हूँ। हाय! वे अपने भाइयों और माताके साथ आगमें जल गये। संसारमें इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है? सच है, कालका उल्लंघन करना अत्यन्त कठिन है। मेरी तो प्रतिज्ञा झूठी हो गयी। अब मैं लोगोंसे क्या कहूँगा। आन्तरिक दुःखसे दिन-रात दग्ध होता रहता हूँ। मैंने निष्पाप याज और उपयाजका सत्कार करके उनसे दो संतानोंकी याचना की थी। एक तो ऐसा पुत्र माँगा, जो द्रोणाचार्यका वध कर सके और दूसरी ऐसी कन्याके लिये प्रार्थना की, जो वीर अर्जुनकी पटरानी बन सके। मेरे इस उद्देश्यको सब लोग जानते हैं और महर्षि याजने भी यही घोषित किया था। उन्होंने पुत्रेष्टियज्ञ करके धृष्टद्युम्न और कृष्णाको उत्पन्न किया था। इन दोनों संतानोंको पाकर मुझे बड़ा संतोष हुआ। अब क्या करूँ? कुन्तीसहित पाण्डव तो नष्ट हो गये।

ब्राह्मण उवाच

इत्येवमुक्त्वा पाञ्चालः शुशोच परमातुरः ।।
दृष्ट्वा शोचन्तमत्यर्थं पाञ्चालगुरुरब्रवीत् ।
पुरोधाः सत्त्वसम्पन्नः सम्यग्विद्याशेषवान् ।।

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—ऐसा कहकर पांचालराज द्रुपद अत्यन्त दुःखी एवं शोकातुर हो गये। पांचालराजके गुरु बड़े सात्त्विक और विशिष्ट विद्वान् थे। उन्होंने राजाको

भारी शोकमें डूबा देखकर कहा।

गुरुरुवाच

वृद्धानुशासने सक्ताः पाण्डवा धर्मचारिणः ।
तादृशा न विनश्यन्ति नैव यान्ति पराभवम् ।।
मया दृष्टमिदं सत्यं शृणुष्व मनुजाधिप ।
ब्राह्मणैः कथितं सत्यं वेदेषु च मया श्रुतम् ।।
बृहस्पतिमुखेनाथ पौलोम्या च पुरा श्रुतम् ।
नष्ट इन्द्रो बिसग्रन्थ्यामुपश्रुत्या तु दर्शितः ।।
उपश्रुतिर्महाराज पाण्डवार्थे मया श्रुता ।
यत्र वा तत्र जीवन्ति पाण्डवास्ते न संशयः ।।

गुरु बोले—महाराज! पाण्डवलोग बड़े-बूढ़ोंके आज्ञापालनमें तत्पर रहनेवाले तथा धर्मात्मा हैं। ऐसे लोग न तो नष्ट होते हैं और न पराजित ही होते हैं। नरेश्वर! मैंने जिस सत्यका साक्षात्कार किया है, वह सुनिये। ब्राह्मणोंने तो इस सत्यका प्रतिपादन किया ही है, वेदके मन्त्रोंमें भी मैंने इसका श्रवण किया है। पूर्वकालमें इन्द्राणीने बृहस्पतिजीके मुखसे उपश्रुतिकी महिमा सुनी थी। उत्तरायणकी अधिष्ठात्री देवी उपश्रुतिने ही अदृष्ट हुए इन्द्रका कमलनालकी ग्रन्थिमें दर्शन कराया था। महाराज! इसी प्रकार मैंने भी पाण्डवोंके विषयमें उपश्रुति सुन रखी है। वे पाण्डव कहीं-न-कहीं अवश्य जीवित हैं, इसमें संशय नहीं है।

मया दृष्टानि लिङ्गानि ध्रुवमेष्यन्ति पाण्डवाः ।
यन्निमित्तमिहायान्ति तच्छृणुष्व नराधिप ।।
स्वयंवरः क्षत्रियाणां कन्यादाने प्रदर्शितः ।
स्वयंवरस्तु नगरे घुष्यतां राजसत्तम ।।
यत्र वा निवसन्तस्ते पाण्डवाः पृथया सह ।
दूरस्था वा समीपस्थाः स्वर्गस्था वापि पाण्डवाः ।।
श्रुत्वा स्वयंवरं राजन् समेष्यन्ति न संशयः ।
तस्मात् स्वयंवरो राजन् घुष्यतां मा चिरं कृथाः ।।

मैंने ऐसे (शुभ) चिह्न देखे हैं, जिनसे सूचित होता है कि पाण्डव यहाँ अवश्य पधारेंगे। नरेश्वर! वे जिस निमित्तसे यहाँ आ सकते हैं, वह सुनिये—क्षत्रियोंके लिये कन्यादानका श्रेष्ठ मार्ग स्वयंवर बताया गया है। नृपश्रेष्ठ! आप सम्पूर्ण नगरमें स्वयंवरकी घोषणा करा दें। फिर पाण्डव अपनी माता कुन्तीके साथ दूर हों, निकट हों अथवा स्वर्गमें ही क्यों न हों—जहाँ कहीं भी होंगे, स्वयंवरका समाचार सुनकर यहाँ अवश्य आयेंगे, इसमें संशय नहीं है। अतः राजन्! आप (सर्वत्र) स्वयंवरकी सूवना करा दें, इसमें विलम्ब न करें।

ब्राह्मण उवाच

श्रुत्वा पुरोहितेनोक्तं पाञ्चालः प्रीतिमांस्तदा ।
घोषयामास नगरे द्रौपद्यास्तु स्वयंवरम् ।।
पुष्यमासे तु रोहिण्यां शुक्लपक्षे शुभे तिथौ ।
दिवसैः पञ्चसप्तत्या भविष्यति स्वयंवरः ।।
देवगन्धर्वयक्षाश्च ऋषयश्च तपोधनाः ।
स्वयंवरं द्रष्टुकामा गच्छन्त्येव न संशयः ।।
तव पुत्रा महात्मानो दर्शनीया विशेषतः ।
यदृच्छया तु पाञ्चाली गच्छेद् वा मध्यमं पतिम् ।।
को हि जानाति लोकेषु प्रजापतिविधिं परम् ।
तस्मात् सपुत्रा गच्छेथा ब्राह्मण्यै यदि रोचते ।।
नित्यकालं सुभिक्षास्ते पञ्चालास्तु तपोधने ।।
यज्ञसेनस्तु राजासौ ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ।
ब्रह्मण्या नागराश्चाथ ब्राह्मणाश्चातिथिप्रियाः ।।
नित्यकालं प्रदास्यन्ति आमन्त्रणमयाचितम् ।।
अहं च तत्र गच्छामि ममैभिः सह शिष्यकैः ।
एकसार्थाः प्रयाताः स्मो ब्राह्मण्यै यदि रोचते ।।

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—पुरोहितकी बात सुनकर पंचालराजको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने नगरमें द्रौपदीका स्वयंवर घोषित करा दिया। पौषमासके शुक्लपक्षमें शुभ तिथि (एकादशी)-को रोहिणी नक्षत्रमें वह स्वयंवर होगा, जिसके लिये आजसे पचहत्तर दिन शेष हैं। ब्राह्मणी (कुन्ती)! देवता, गन्धर्व, यक्ष और तपस्वी ऋषि भी स्वयंवर देखनेके लिये अवश्य जाते हैं। तुम्हारे सभी महात्मा पुत्र देखनेमें परम सुन्दर हैं। पंचालराजपुत्री कृष्णा इनमेंसे किसीको अपनी इच्छासे पति चुन सकती है अथवा तुम्हारे मँझले पुत्रको अपना पति बना सकती है। संसारमें विधाताके उत्तम विधानको कौन जान सकता है? अतः यदि मेरी बात तुम्हें अच्छी लगे, तो तुम अपने पुत्रोंके साथ पंचालदेशमें अवश्य जाओ। तपोधने! पंचालदेशमें सदा सुभिक्ष रहता है। राजा यज्ञसेन सत्यप्रतिज्ञ होनेके साथ ही ब्राह्मणोंके भक्त हैं। वहाँके नागरिक भी ब्राह्मणोंके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले हैं। उस नगरके ब्राह्मण भी अतिथियोंके बड़े प्रेमी हैं। वे प्रतिदिन बिना माँगे ही न्यौता देंगे। मैं भी अपने इन शिष्योंके साथ वहीं जाता हूँ। ब्राह्मणी! यदि ठीक जान पड़े तो चलो। हम सब लोग एक साथ ही वहाँ चले चलेंगे।

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं ब्राह्मणो विरराम ह ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—इतना कहकर वे ब्राह्मण चुप हो गये।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसम्भवे षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें द्रौपदीप्रादुर्भावविषयक एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३८ श्लोक मिलाकर कुल ९४ श्लोक हैं)

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीकी अपने पुत्रोंसे पूछकर पंचालदेशमें जानेकी तैयारी

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेया ब्राह्मणात् संशितव्रतात् ।
सर्वे चास्वस्थमनसो बभूवुस्ते महाबलाः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कठोर व्रत-वाले उस ब्राह्मणसे यह सुनकर उन सब महाबली कुन्तीपुत्रोंका मन विचलित हो गया ।। १ ।।

ततः कुन्ती सुतान् दृष्ट्वा सर्वांस्तद्गतचेतसः ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वचनं सत्यवादिनी ।। २ ।।

तब सत्यवादिनी कुन्तीने अपने सभी पुत्रोंका मन उस स्वयंवरकी ओर आकृष्ट देख युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा ।। २ ।।

कुन्त्युवाच

चिररात्रोषिताः स्मेह ब्राह्मणस्य निवेशने ।
रममाणाः पुरे रम्ये लब्धभैक्षा महात्मनः ।। ३ ।।

कुन्ती बोली—बेटा! हमलोग यहाँ इन महात्मा ब्राह्मणके घरमें बहुत दिनोंसे रह रहे हैं। इस रमणीय नगरमें हम आनन्दपूर्वक घूमे-फिरे और यहाँ हमें (पर्याप्त) भिक्षा भी उपलब्ध हुई ।। ३ ।।

यानीह रमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
सर्वाणि तानि दृष्टानि पुनः पुनररिंदम ।। ४ ।।

शत्रुदमन! यहाँ जो रमणीय वन और उपवन हैं, उन सबको हमने बार-बार देख लिया ।। ४ ।।

पुनर्द्रष्टुं हि तानीह प्रीणयन्ति न नस्तथा ।
भैक्षं च न तथा वीर लभ्यते कुरुनन्दन ।। ५ ।।

वीर! यदि उन्हींको हम फिर देखनेके लिये जायँ तो वे हमें उतनी प्रसन्नता नहीं दे सकते। कुरुनन्दन! अब भिक्षा भी यहाँ हमें पहले-जैसी नहीं मिल रही है ।। ५ ।।

ते वयं साधु पञ्चालान् गच्छाम यदि मन्यसे ।
अपूर्वदर्शनं वीर रमणीयं भविष्यति ।। ६ ।।

यदि तुम्हारी राय हो तो अब हमलोग सुखपूर्वक पंचालदेशमें चलें। वीर! उस देशको हमने पहले कभी नहीं देखा है, इसलिये वह बड़ा रमणीय प्रतीत होगा ।। ६ ।।

सुभिक्षाश्चैव पञ्चालाः श्रूयन्ते शत्रुकर्शन ।

यज्ञसेनश्च राजासौ ब्रह्मण्य इति शुश्रुम ।। ७ ।।

शत्रुनाशन! सुना जाता है, पंचालदेशमें बड़ा सुकाल है (इसलिये भिक्षा बहुतायतसे मिलती है)। हमने यह भी सुना है कि राजा यज्ञसेन ब्राह्मणोंके बड़े भक्त हैं ।। ७ ।।

एकत्र चिरवासश्च क्षमो न च मतो मम ।
ते तत्र साधु गच्छामो यदि त्वं पुत्र मन्यसे ।। ८ ।।

बेटा! एक स्थानपर बहुत दिनोंतक रहना मुझे उचित नहीं जान पड़ता; अतः यदि तुम ठीक समझो तो हमलोग सुखपूर्वक वहाँ चलें ।। ८ ।।

युधिष्ठिर उवाच

भवत्या यन्मतं कार्यं तदस्माकं परं हितम् ।
अनुजांस्तु न जानामि गच्छेयुर्नेति वा पुनः ।। ९ ।।

युधिष्ठिरने कहा—माँ! आप जिस कार्यको ठीक समझती हैं, वह हमारे लिये परम हितकर है; परंतु अपने छोटे भाइयोंके सम्बन्धमें मैं नहीं जानता कि वे जानेके लिये उद्यत हैं या नहीं ।। ९ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्ती भीमसेनमर्जुनं यमजौ तथा ।
उवाच गमनं ते च तथेत्येवाब्रुवंस्तदा ।। १० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब कुन्तीने भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवसे भी चलनेके विषयमें पूछा। उन सबने भी ‘तथास्तु’ कहकर स्वीकृति दे दी ।। १० ।।

तत आमन्त्र्य तं विप्रं कुन्ती राजन् सुतैः सह ।
प्रतस्थे नगरीं रम्यां द्रुपदस्य महात्मनः ।। ११ ।।

राजन्! तब कुन्तीने उन ब्राह्मणदेवतासे विदा लेकर अपने पुत्रोंके साथ महात्मा द्रुपदकी रमणीय नगरीकी ओर जानेकी तैयारी की ।। ११ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि पञ्चालदेशयात्रायां सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें पंचालदेशकी यात्राविषयक एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६७ ।।

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीका पाण्डवोंको द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

वसत्सु तेषु प्रच्छन्नं पाण्डवेषु महात्मसु ।
आजगामाथ तान् द्रष्टुं व्यासः सत्यवतीसुतः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा पाण्डव जब गुप्तरूपसे वहाँ निवास कर रहे थे, उसी समय सत्यवतीनन्दन व्यासजी उनसे मिलनेके लिये वहाँ आये ।। १ ।।

तमागतमभिप्रेक्ष्य प्रत्युद्गम्य परंतपाः ।
प्रणिपत्याभिवाद्यैनं तस्थुः प्राञ्चलयस्तदा ।। २ ।।
समनुज्ञाप्य तान् सर्वानासीनान् मुनिरब्रवीत् ।
प्रच्छन्नं पूजितः पार्थैः प्रीतिपूर्वमिदं वचः ।। ३ ।।

उन्हें आया देख शत्रुसंतापन पाण्डवोंने आगे बढ़कर उनकी अगवानी की और प्रणामपूर्वक उनका अभिवादन करके वे सब उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये। कुन्तीपुत्रोंद्वारा गुप्तरूपसे पूजित हो मुनिवर व्यासने उन सबको आज्ञा देकर बिठाया और जब वे बैठ गये, तब उनसे प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार पूछा— ।। २-३ ।।

अपि धर्मेण वर्तेध्वं शास्त्रेण च परंतपाः ।
अपि विप्रेषु पूजा वः पूजार्हेषु न हीयते ।। ४ ।।

'शत्रुओंको संतप्त करनेवाले वीरो! तुमलोग शास्त्रकी आज्ञा और धर्मके अनुसार चलते हो न? पूजनीय ब्राह्मणोंकी पूजा करनेमें तो तुम्हारी ओरसे कभी भूल नहीं होती?' ।। ४ ।।

अथ धर्मार्थवद् वाक्यमुक्त्वा स भगवानृषिः ।
विचित्राश्च कथास्तास्ताः पुनरेवेदमब्रवीत् ।। ५ ।।

तदनन्तर महर्षि भगवान् व्यासने उनसे धर्म और अर्थयुक्त बातें कहीं। फिर विचित्र-विचित्र कथाएँ सुनाकर वे पुनः उनसे इस प्रकार बोले ।। ५ ।।

व्यास उवाच

आसीत् तपोवने काचिदृषेः कन्या महात्मनः ।
विलग्नमध्या सुश्रोणी सुभ्रूः सर्वगुणान्विता ।। ६ ।।

व्यासजीने कहा—पहलेकी बात है, तपोवनमें किसी महात्मा ऋषिकी कोई कन्या रहती थी, जिसकी कटि कृश तथा नितम्ब और भौंहें सुन्दर थीं। वह कन्या समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न थी ।। ६ ।।

कर्मभिः स्वकृतैः सा तु दुर्भगा समपद्यत ।
नाध्यगच्छत् पतिं सा तु कन्या रूपवती सती ।। ७ ।।

परंतु अपने ही किये हुए कर्मोंके कारण वह कन्या दुर्भाग्यके वश हो गयी, इसलिये वह रूपवती और सदाचारिणी होनेपर भी कोई पति न पा सकी ।। ७ ।।

ततस्तप्तुमथारेभे पत्यर्थमसुखा ततः ।
तोषयामास तपसा सा किलोग्रेण शंकरम् ।। ८ ।।

तब पतिके लिये दुःखी होकर उसने तपस्या प्रारम्भ की और कहते हैं उग्र तपस्याके द्वारा उसने भगवान् शंकरको प्रसन्न कर लिया ।। ८ ।।

तस्याः स भगवांस्तुष्टस्तामुवाच यशस्विनीम् ।
वरं वरय भद्रं ते वरदोऽस्मीति शङ्करः ।। ९ ।।

उसपर संतुष्ट हो भगवान् शंकरने उस यशस्विनी कन्यासे कहा—'शुभे! तुम्हारा कल्याण हो। तुम कोई वर माँगो। मैं तुम्हें वर देनेके लिये आया हूँ' ।। ९ ।।

अथेश्वरमुवाचेदमात्मनः सा वचो हितम् ।
पतिं सर्वगुणोपेतमिच्छामीति पुनः पुनः ।। १० ।।

तब उसने भगवान् शंकरसे अपने लिये हितकर वचन कहा—'प्रभो! मैं सर्वगुणसम्पन्न पति चाहती हूँ।' इस वाक्यको उसने बार-बार दुहराया ।। १० ।।

तामथ प्रत्युवाचेदमीशानो वदतां वरः ।
पञ्च ते पतयो भद्रे भविष्यन्तीति भारताः ।। ११ ।।

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान् शिवने उससे कहा—'भद्रे! तुम्हारे पाँच भरतवंशी पति होंगे' ।। ११ ।।

एवमुक्ता ततः कन्या देवं वरदमब्रवीत् ।
एकमिच्छाम्यहं देव त्वत्प्रसादात् पतिं प्रभो ।। १२ ।।

उनके ऐसा कहनेपर वह कन्या उन वरदायक देवता भगवान् शिवसे इस प्रकार बोली—'देव! प्रभो! मैं आपकी कृपासे एक ही पति चाहती हूँ' ।। १२ ।।

पुनरेवाब्रवीद् देव इदं वचनमुत्तमम् ।
पञ्चकृत्वस्त्वया ह्युक्तः पतिं देहीत्यहं पुनः ।। १३ ।।

तब भगवान्‌ने पुनः उससे यह उत्तम बात कही—'भद्रे! तुमने मुझसे पाँच बार कहा है कि मुझे पति दीजिये ।। १३ ।।

देहमन्यं गतायास्ते यथोक्तं तद् भविष्यति ।
द्रुपदस्य कुले जज्ञे सा कन्या देवरूपिणी ।। १४ ।।

'अतः दूसरा शरीर धारण करनेपर तुम्हें जैसा मैंने कहा है, वह वरदान प्राप्त होगा।' वही देवरूपिणी कन्या राजा द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हुई है ।। १४ ।।

निर्दिष्टा भवतां पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता ।
पाञ्चालनगरे तस्मान्निवसध्वं महाबलाः ।
सुखिनस्तामनुप्राप्य भविष्यथ न संशयः ।। १५ ।।

वह महाराज पृषतकी पौत्री सती-साध्वी कृष्णा तुमलोगोंकी पत्नी नियत की गयी है; अतः महाबली वीरो! अब तुम पंचालनगरमें जाकर रहो। द्रौपदीको पाकर तुम सब लोग सुखी होओगे, इसमें संशय नहीं है ।। १५ ।।

एवमुक्त्वा महाभागः पाण्डवान् स पितामहः ।
पार्थानामन्त्र्य कुन्तीं च प्रातिष्ठत महातपाः ।। १६ ।।

महान् सौभाग्यशाली और महातपस्वी पितामह व्यासजी पाण्डवोंसे ऐसा कहकर उन सबसे और कुन्तीसे विदा ले वहाँसे चल दिये ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीजन्मान्तरकथने अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें द्रौपदीजन्मान्तरकथनविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६८ ।।

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी पंचाल-यात्रा और अर्जुनके द्वारा चित्ररथ गन्धर्वकी पराजय एवं उन दोनोंकी मित्रता

वैशम्पायन उवाच

गते भगवति व्यासे पाण्डवा हृष्टमानसाः ।
ते प्रतस्थुः पुरस्कृत्य मातरं पुरुषर्षभाः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् व्यासके चले जानेपर पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव प्रसन्नचित्त हो अपनी माताको आगे करके वहाँसे पंचालदेशकी ओर चल दिये ।। १ ।।

आमन्त्र्य ब्राह्मणं पूर्वमभिवाद्यानुमान्य च ।
समैरुदङ्मुखैर्मार्गैर्यथोद्दिष्टं परंतपाः ।। २ ।।

परंतप! कुन्तीकुमारोंने पहले ही अपने आश्रयदाता ब्राह्मणसे पूछकर जानेकी आज्ञा ले ली थी और चलते समय बड़े आदरके साथ उन्हें प्रणाम किया। वे सब लोग उत्तर दिशाकी ओर जानेवाले सीधे मार्गोंद्वारा उत्तराभिमुख हो अपने अभीष्ट स्थान पंचालदेशकी ओर बढ़ने लगे ।। २ ।।

ते त्वगच्छन्नहोरात्रात् तीर्थं सोमाश्रयायणम् ।
आसेदुः पुरुषव्याघ्रा गङ्गायां पाण्डुनन्दनाः ।। ३ ।।

एक दिन और एक रात चलकर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव गंगाजीके तटपर सोमाश्रयायण नामक तीर्थमें जा पहुँचे ।। ३ ।।

उल्मुकं तु समुद्यम्य तेषामग्रे धनंजयः ।
प्रकाशार्थं ययौ तत्र रक्षार्थं च महारथः ।। ४ ।।

उस समय उनके आगे-आगे महारथी अर्जुन उजाला तथा रक्षा करनेके लिये जलती हुई मशाल उठाये चल रहे थे ।। ४ ।।

तत्र गङ्गाजले रम्ये विविक्ते क्रीडयन् स्त्रियः ।
ईर्ष्युर्गन्धर्वराजो वै जलक्रीडामुपागतः ।। ५ ।।

उस तीर्थकी गंगाके रमणीय तथा एकान्त जलमें गन्धर्वराज अंगारपर्ण (चित्ररथ) अपनी स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा कर रहा था। वह बड़ा ही ईर्ष्यालु था और जलक्रीड़ा करनेके लिये ही वहाँ आया था ।। ५ ।।

शब्दं तेषां स शुश्राव नदीं समुपसर्पताम् ।
तेन शब्देन चाविष्टश्चुक्रोध बलवद् बली ।। ६ ।।

उसने गंगाजीकी ओर बढ़ते हुए पाण्डवोंके पैरोंकी धमक सुनी। उस शब्दको सुनते ही वह बलवान् गन्धर्व क्रोधके आवेशमें आकर बड़े जोरसे कुपित हो उठा ।। ६ ।।

स दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सह मात्रा परंतपान् ।
विस्फारयन् धनुर्घोरमिदं वचनमब्रवीत् ।। ७ ।।

परंतप पाण्डवोंको अपनी माताके साथ वहाँ देख वह अपने भयानक धनुषको टंकारता हुआ इस प्रकार बोला— ।। ७ ।।

संध्या संरज्यते घोरा पूर्वरात्रागमेषु या ।
अशीतिभिर्लवैर्हीनं तन्मुहुर्तं प्रचक्षते ।। ८ ।।
विहितं कामचाराणां यक्षगन्धर्वरक्षसाम् ।
शेषमन्यन्मनुष्याणां कर्मचारेषु वै स्मृतम् ।। ९ ।।

'रात्रि प्रारम्भ होनेके पहले जो पश्चिम दिशामें भयंकर संध्याकी लाली छा जाती है, उस समय अस्सी लवको छोड़कर सारा मुहूर्त इच्छानुसार विचरनेवाले यक्षों, गन्धर्वों तथा राक्षसोंके लिये निश्चित बताया जाता है। शेष दिनका सब समय मनुष्योंके कार्यवश विचरनेके लिये माना गया है ।। ८-९ ।।

लोभात् प्रचारं चरतस्तासु वेलासु वै नरान् ।
उपक्रान्तानि गृह्णीमो राक्षसैः सह बालिशान् ।। १० ।।

'जो मनुष्य लोभवश हमलोगोंकी वेलामें इधर घूमते हुए आ जाते हैं, उन मूर्खोंको हम गन्धर्व और राक्षस कैद कर लेते हैं ।। १० ।।

अतो रात्रौ प्राप्नुवन्तो जलं ब्रह्मविदो जनाः ।
गर्हयन्ति नरान् सर्वान् बलस्थान् नृपतीनपि ।। ११ ।।

'इसीलिये वेदवेत्ता पुरुष रातके समय जलमें प्रवेश करनेवाले सम्पूर्ण मनुष्यों और बलवान् राजाओंकी भी निन्दा करते हैं ।। ११ ।।

आरात् तिष्ठत मा मह्यं समीपमुपसर्पत ।
कस्मान्मां नाभिजानीत प्राप्तं भागीरथीजलम् ।। १२ ।।
अङ्गारपर्णं गन्धर्वं वित्त मां स्वबलाश्रयम् ।
अहं हि मानी चेर्ष्युश्च कुबेरस्य प्रियः सखा ।। १३ ।।

'अरे, ओ मनुष्यो! दूर ही खड़े रहो। मेरे समीप न आना। तुम्हें ज्ञात कैसे नहीं हुआ कि मैं गन्धर्वराज अंगारपर्ण गंगाजीके जलमें उतरा हुआ हूँ। तुमलोग मुझे (अच्छी तरह) जान लो, मैं अपने ही बलका भरोसा करनेवाला स्वाभिमानी, ईर्ष्यालु तथा कुबेरका प्रिय मित्र हूँ ।। १२-१३ ।।

अङ्गारपर्णमित्येवं ख्यातं चेदं वनं मम ।
अनुगङ्गं चरन् कामांश्चित्रं यत्र रमाम्यहम् ।। १४ ।।

'मेरा यह वन भी अंगारपर्ण नामसे विख्यात है। मैं गंगाजीके तटपर विचरता हुआ इस वनमें इच्छानुसार विचित्र क्रीड़ाएँ करता रहता हूँ ।। १४ ।।

न कौणपाः शृङ्गिणो वा न देवा न च मानुषाः ।
इदं समुपसर्पन्ति तत् किं समनुसर्पथ ।। १५ ।।

'मेरी उपस्थितिमें यहाँ राक्षस, यक्ष, देवता अथवा मनुष्य—कोई भी नहीं आने पाते; फिर तुमलोग कैसे आ रहे हो?' ।। १५ ।।

अर्जुन उवाच

समुद्रे हिमवत्पार्श्वे नद्यामस्यां च दुर्मते ।
रात्रावहनि संध्यायां कस्य गुप्तः परिग्रहः ।। १६ ।।

अर्जुन बोले—दुर्मते! समुद्र, हिमालयकी तराई और गंगानदीके तटपर रात, दिन अथवा संध्याके समय किसका अधिकार सुरक्षित है? ।। १६ ।।

भुक्तो वाप्यथवाभुक्तो रात्रावहनि खेचर ।
न कालनियमो ह्यस्ति गङ्गां प्राप्य सरिद्वराम् ।। १७ ।।

आकाशचारी गन्धर्व! सरिताओंमें श्रेष्ठ गंगाजीके तटपर आनेके लिये यह नियम नहीं है कि यहाँ कोई खाकर आये या बिना खाये, रातमें आये या दिनमें। इसी प्रकार काल आदिका भी कोई नियम नहीं है ।। १७ ।।

वयं च शक्तिसम्पन्ना अकाले त्वामधृष्णुम ।
अशक्ता हि रणे क्रूर युष्मानर्चन्ति मानवाः ।। १८ ।।

अरे, ओ क्रूर! हमलोग तो शक्तिसम्पन्न हैं। असमयमें भी आकर तुम्हें कुचल सकते हैं। जो युद्ध करनेमें असमर्थ हैं, वे दुर्बल मनुष्य ही तुमलोगोंकी पूजा करते हैं ।। १८ ।।

पुरा हिमवतश्चैषा हेमशृङ्गाद् विनिस्सृता ।
गङ्गा गत्वा समुद्राम्भः सप्तधा समपद्यत ।। १९ ।।
गङ्गां च यमुनां चैव प्लक्षजातां सरस्वतीम् ।
रथस्थां सरयूं चैव गोमतीं गण्डकीं तथा ।। २० ।।
अपर्युषितपापास्ते नदीः सप्त पिबन्ति ये ।
इयं भूत्वा चैकवप्रा शुचिराकाशगा पुनः ।। २१ ।।
देवेषु गङ्गा गन्धर्व प्राप्नोत्यलकनन्दताम् ।
तथा पितॄन् वैतरणी दुस्तरा पापकर्मभिः ।
गङ्गा भवति वै प्राप्य कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।। २२ ।।

प्राचीन कालमें हिमालयके स्वर्णशिखरसे निकली हुई गंगा सात धाराओंमें विभक्त हो समुद्रमें जाकर मिल गयी हैं। जो पुरुष गंगा, यमुना, प्लक्षकी जड़से प्रकट हुई सरस्वती, रथस्था, सरयू, गोमती और गण्डकी—इन सात नदियोंका जल पीते हैं, उनके पाप तत्काल

नष्ट हो जाते हैं। ये गंगा बड़ी पवित्र नदी हैं। एकमात्र आकाश ही इनका तट है। गन्धर्व! ये आकाशमार्गसे विचरती हुई गंगा देवलोकमें अलकनन्दा नाम धारण करती हैं। ये ही वैतरणी होकर पितृलोकमें बहती हैं। वहाँ पापियोंके लिये इनके पार जाना अत्यन्त कठिन होता है। इस लोकमें आकर इनका नाम गंगा होता है। यह श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीका कथन है ।। १९—२२ ।।

असम्बाधा देवनदी स्वर्गसम्पादनी शुभा ।
कथमिच्छसि तां रोद्धुं नैष धर्मः सनातनः ।। २३ ।।

ये कल्याणमयी देवनदी सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे रहित एवं स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेवाली हैं। तुम उन्हीं गंगाजीपर किसलिये रोक लगाना चाहते हो? यह सनातन धर्म नहीं है ।। २३ ।।

अनिवार्यमसम्बाधं तव वाचा कथं वयम् ।
न स्पृशेम यथाकामं पुण्यं भागीरथीजलम् ।। २४ ।।

जिसे कोई रोक नहीं सकता, जहाँ पहुँचनेमें कोई बाधा नहीं है, भागीरथीके उस पावन जलका तुम्हारे कहनेसे हम अपने इच्छानुसार स्पर्श क्यों न करें? ।। २४ ।।

वैशम्पायन उवाच

अङ्गारपर्णस्तच्छ्रुत्वा क्रुद्ध आनम्य कार्मुकम् ।
मुमोच बाणान् निशितानहीनाशीविषानिव ।। २५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनकी वह बात सुनकर अंगारपर्ण क्रोधित हो गया और धनुष नवाकर विषैले साँपोंकी भाँति तीखे बाण छोड़ने लगा ।। २५ ।।

उल्मुकं भ्रामयंस्तूर्णं पाण्डवश्चर्म चोत्तरम् ।
व्यपोहत शरांस्तस्य सर्वानेव धनंजयः ।। २६ ।।

यह देख पाण्डुनन्दन धनंजयने तुरंत ही मशाल घुमाकर और उत्तम ढालसे रोककर उसके सभी बाण व्यर्थ कर दिये ।। २६ ।।

अर्जुन उवाच

बिभीषिका वै गन्धर्व नास्त्रज्ञेषु प्रयुज्यते ।

अस्त्रज्ञेषु प्रयुक्तेयं फेनवत् प्रविलीयते ।। २७ ।।

अर्जुनने कहा—गन्धर्व! जो अस्त्र-विद्याके विद्वान् हैं, उनपर तुम्हारी यह घुड़की नहीं चल सकती। अस्त्र-विद्याके मर्मज्ञोंपर फैलायी हुई तुम्हारी यह माया फेनकी तरह विलीन हो जायगी ।। २७ ।।

मानुषानतिगन्धर्वान् सर्वान् गन्धर्व लक्षये ।

तस्मादस्त्रेण दिव्येन योत्स्येऽहं न तु मायया ।। २८ ।।

गन्धर्व! मैं जानता हूँ कि सम्पूर्ण गन्धर्व मनुष्योंसे अधिक शक्तिशाली होते हैं, इसलिये मैं तुम्हारे साथ मायासे नहीं, दिव्यास्त्रसे युद्ध करूँगा ।। २८ ।।

पुरास्त्रमिदमाग्नेयं प्रादात् किल बृहस्पतिः ।

भरद्वाजाय गन्धर्व गुरुर्मान्यः शतक्रतोः ।। २९ ।।

गन्धर्व! यह आग्नेय अस्त्र पूर्वकालमें इन्द्रके माननीय गुरु बृहस्पतिजीने भरद्वाज मुनिको दिया था ।। २९ ।।

भरद्वाजादग्निवेश्य अग्निवेश्याद् गुरुर्मम ।

साध्विदं मह्यमददद् द्रोणो ब्राह्मणसत्तमः ।। ३० ।।

भरद्वाजसे इसे अग्निवेश्यने और अग्निवेश्यसे मेरे गुरु द्रोणाचार्यने प्राप्त किया है। फिर विप्रवर द्रोणाचार्यने यह उत्तम अस्त्र मुझे प्रदान किया ।। ३० ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा पाण्डवः क्रुद्धो गन्धर्वाय मुमोच ह ।
प्रदीप्तमस्त्रमाग्नेयं ददाहास्य रथं तु तत् ।। ३१ ।।
विरथं विप्लुतं तं तु स गन्धर्वं महाबलः ।
अस्त्रतेजःप्रमूढं च प्रपतन्तमवाङ्मुखम् ।। ३२ ।।
शिरोरुहेषु जग्राह माल्यवत्सु धनंजयः ।
भ्रातॄन् प्रति चकर्षाथ सोऽस्त्रपातादचेतसम् ।। ३३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर पाण्डुनन्दन अर्जुनने कुपित हो गन्धर्वपर वह प्रज्वलित आग्नेय अस्त्र चला दिया। उस अस्त्रने गन्धर्वके रथको जलाकर भस्म कर दिया। वह रथहीन गन्धर्व व्याकुल हो गया और अस्त्रके तेजसे मूढ होकर नीचे मुँह किये गिरने लगा। महाबली अर्जुनने उसके फूलकी मालाओंसे सुशोभित केश पकड़ लिये और घसीटकर अपने भाइयोंके पास ले आये। अस्त्रके आघातसे वह गन्धर्व अचेत हो गया था ।। ३१-३३ ।।

युधिष्ठिरं तस्य भार्या प्रपेदे शरणार्थिनी ।
नाम्ना कुम्भीनसी नाम पतित्राणमभीप्सती ।। ३४ ।।

उस गन्धर्वकी पत्नीका नाम कुम्भीनसी था। उसने अपने पतिके जीवनकी रक्षाके लिये महाराज युधिष्ठिरकी शरण ली ।। ३४ ।।

गन्धर्व्युवाच

त्रायस्व मां महाभाग पतिं चेमं विमुञ्च मे ।
गन्धर्वी शरणं प्राप्ता नाम्ना कुम्भीनसी प्रभो ।। ३५ ।।

गन्धर्वी बोली—महाभाग! मेरी रक्षा कीजिये और मेरे इन पतिदेवको आप छोड़ दीजिये। प्रभो! मैं गन्धर्वपत्नी कुम्भीनसी आपकी शरणमें आयी हूँ ।। ३५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

युद्धे जितं यशोहीनं स्त्रीनाथमपराक्रमम् ।
को निहन्याद् रिपुं तात मुञ्चेमं रिपुसूदन ।। ३६ ।।

युधिष्ठिरने कहा—तात! शत्रुसूदन अर्जुन! यह गन्धर्व युद्धमें हार गया और अपना यश खो चुका। अब स्त्री इसकी रक्षिका बनकर आयी है। यह स्वयं कोई पराक्रम नहीं कर सकता। ऐसे दीन-हीन शत्रुको कौन मारता है? इसे जीवित छोड़ दो ।। ३६ ।।

अर्जुन उवाच

जीवितं प्रतिपद्यस्व गच्छ गन्धर्व मा शुचः ।
प्रदिशत्यभयं तेऽद्य कुरुराजो युधिष्ठिरः ।। ३७ ।।

अर्जुन बोले—गन्धर्व! जीवन धारण करो। जाओ, अब शोक न करो। इस समय कुरुराज युधिष्ठिर तुम्हें अभयदान दे रहे हैं ।। ३७ ।।

गन्धर्व उवाच

जितोऽहं पूर्वकं नाम मुञ्चाम्यङ्गारपर्णताम् ।
न च श्लाघे बलेनाङ्ग न नाम्ना जनसंसदि ।। ३८ ।।

गन्धर्वने कहा—अर्जुन! मैं परास्त हो गया, अतः अपने पहले नाम अंगारपर्णको छोड़ देता हूँ। अब मैं जनसमुदायमें अपने बलकी श्लाघा नहीं करूँगा और न इस नामसे अपना परिचय ही दूँगा ।। ३८ ।।

साध्विमं लब्धवाँल्लाभं योऽहं दिव्यास्त्रधारिणम् ।
गान्धर्व्या माययेच्छामि संयोजयितुमर्जुनम् ।। ३९ ।।

(आजकी पराजयसे) मुझे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि मैंने दिव्यास्त्रधारी अर्जुनको (मित्ररूपमें) प्राप्त किया है और अब मैं इन्हें गन्धर्वोंकी मायासे संयुक्त करना चाहता हूँ ।। ३९ ।।

अस्त्राग्निना विचित्रोऽयं दग्धो मे रथ उत्तमः ।
सोऽहं चित्ररथो भूत्वा नाम्ना दग्धरथोऽभवम् ।। ४० ।।

इनके दिव्यास्त्रकी अग्निसे मेरा यह विचित्र एवं उत्तम रथ दग्ध हो गया है। पहले मैं विचित्र रथके कारण ‘चित्ररथ’ कहलाता था; परंतु अब मेरा नाम ‘दग्धरथ’ हो गया ।। ४० ।।

सम्भृता चैव विद्येयं तपसेह मया पुरा ।
निवेदयिष्ये तामद्य प्राणदाय महात्मने ।। ४१ ।।

मैंने पूर्वकालमें यहाँ तपस्याद्वारा जो यह विद्या प्राप्त की है, उसे आज अपने प्राणदाता महात्मा मित्रको अर्पित करूँगा ।। ४१ ।।

संस्तम्भयित्वा तरसा जितं शरणमागतम् ।
यो रिपुं योजयेत् प्राणैः कल्याणं किं न सोऽर्हति ।। ४२ ।।

जिन्होंने अपने वेगसे शत्रुकी शक्तिको कुण्ठित करके उसपर विजय पायी और फिर जब वह शत्रु शरणमें आ गया, तब जो उसे प्राणदान दे रहे हैं, वे किस कल्याणकी प्राप्तिके अधिकारी नहीं है? ।। ४२ ।।

चाक्षुषी नाम विद्येयं यां सोमाय ददौ मनुः ।
ददौ स विश्वावसवे मम विश्वावसुर्ददौ ।। ४३ ।।

यह चाक्षुषी नामक विद्या है, जिसे मनुने सोमको दिया। सोमने विश्वावसुको दिया और विश्वावसुने मुझे प्रदान किया है ।। ४३ ।।

सेयं कापुरुषं प्राप्ता गुरुदत्ता प्रणश्यति ।
आगमोऽस्या मया प्रोक्तो वीर्यं प्रतिनिबोध मे ।। ४४ ।।

यह गुरुकी दी हुई विद्या यदि किसी कायरको मिल गयी तो नष्ट हो जाती है। (इस प्रकार) मैंने इसके उपदेशकी परम्पराका वर्णन किया है। अब इसका बल भी मुझसे सुन लीजिये ।। ४४ ।।

यच्चक्षुषा द्रष्टुमिच्छेत् त्रिषु लोकेषु किंचन ।
तत् पश्येद् यादृशं चेच्छेत् तादृशं द्रष्टुमर्हति ।। ४५ ।।

तीनों लोकोंमें जो कोई भी वस्तु है, उसमेंसे जिस वस्तुको आँखसे देखनेकी इच्छा हो, उसे इस विद्याके प्रभावसे कोई भी देख सकता है और जिस रूपमें देखना चाहे, उसी रूपमें देख सकता है ।। ४५ ।।

एकपादेन षण्मासान् स्थितो विद्यां लभेदिमाम् ।
अनुनेष्याम्यहं विद्यां स्वयं तुभ्यं व्रतेऽकृते ।। ४६ ।।

जो एक पैरसे छः महीनेतक खड़ा रहकर तपस्या करे, वही इस विद्याको पा सकता है। परंतु आपको इस व्रतका पालन या तपस्या किये बिना ही मैं स्वयं उक्त विद्याकी प्राप्ति कराऊँगा ।। ४६ ।।

विद्यया ह्यनया राजन् वयं नृभ्यो विशेषिताः ।
अविशिष्टाश्च देवानामनुभावप्रदर्शिनः ।। ४७ ।।

राजन्! इस विद्याके बलसे ही हमलोग मनुष्योंसे श्रेष्ठ माने जाते हैं और देवताओंके तुल्य प्रभाव दिखा सकते हैं ।। ४७ ।।

गन्धर्वजानामश्वानामहं पुरुषसत्तम ।
भ्रातृभ्यस्तव तुभ्यं च पृथग्दाता शतं शतम् ।। ४८ ।।

पुरुषशिरोमणे! मैं आपको और आपके भाइयोंको अलग-अलग गन्धर्वलोकके सौ-सौ घोड़े भेंट करता हूँ ।। ४८ ।।

देवगन्धर्ववाहास्ते दिव्यवर्णा मनोजवाः ।
क्षीणाक्षीणा भवन्त्येते न हीयन्ते च रंहसः ।। ४९ ।।

वे घोड़े देवताओं और गन्धर्वोंके वाहन हैं। उनके शरीरकी कान्ति दिव्य है। वे मनके समान वेगशाली और आवश्यकताके अनुसार दुबले-मोटे होते हैं; किंतु उनका वेग कभी कम नहीं होता ।। ४९ ।।

पुरा कृतं महेन्द्रस्य वज्रं वृत्रनिबर्हणम् ।
दशधा शतधा चैव तच्छीर्णं वृत्रमूर्धनि ।। ५० ।।

पूर्वकालमें वृत्रासुरका संहार करनेके निमित्त इन्द्रके लिये जिस वज्रका निर्माण किया गया था, वृत्रासुरके मस्तकपर पड़ते ही उसके दस बड़े और सौ छोटे टुकड़े हो गये ।। ५० ।।

ततो भागीकृतो देवैर्वज्रभाग उपास्यते ।
लोके यशो धनं किंचित् सैव वज्रतनुः स्मृता ।। ५१ ।।

तबसे अनेक भागोंमें बँटे हुए उस वज्रके प्रत्येक भागकी देवतालोग उपासना करते हैं। लोकमें उत्कृष्ट धन और यश आदि जो कुछ भी वस्तु है, उसे वज्रका स्वरूप माना गया है ।। ५१ ।।

वज्रपाणिर्ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रं वज्ररथं स्मृतम् ।
वैश्या वै दानवज्राश्च कर्मवज्रा यवीयसः ।। ५२ ।।

(अग्निमें आहुति देनेके कारण) ब्राह्मणका दाहिना हाथ वज्र है। क्षत्रियका रथ वज्र है। वैश्यलोग जो दान करते हैं, वह भी वज्र है और शूद्रलोग जो सेवाकार्य करते हैं, उसे भी वज्र ही समझना चाहिये ।। ५२ ।।

क्षत्रवज्रस्य भागेन अवध्या वाजिनः स्मृताः ।
रथाङ्गं वडवा सूते शूराश्वाश्वेषु ये मताः ।। ५३ ।।

क्षत्रियके रथरूपी वज्रका एक विशिष्ट अंग होनेसे घोड़ोंको अवध्य बताया गया है। गन्धर्वदेशकी घोड़ी रथको वहन करनेवाले रथांगस्वरूप (वज्रस्वरूप) घोड़ेको जन्म देती है। वे घोड़े सब अश्वोंमें शूरवीर माने जाते हैं ।। ५३ ।।

कामवर्णाः कामजवाः कामतः समुपस्थिताः ।
इति गन्धर्वजाः कामं पूरयिष्यन्ति मे हयाः ।। ५४ ।।

गन्धर्व-देशके घोड़ोंकी यह विशेषता है कि वे इच्छानुसार अपना रंग बदल लेते हैं। सवारकी इच्छाके अनुसार अपने वेगको घटा-बढ़ा सकते हैं। जब आवश्यकता या इच्छा हो, तभी वे उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार मेरे गन्धर्वदेशीय घोड़े आपकी इच्छापूर्ण करते रहेंगे ।। ५४ ।।

अर्जुन उवाच

यदि प्रीतेन मे दत्तं संशये जीवितस्य वा ।
विद्याधनं श्रुतं वापि न तद् गन्धर्व रोचये ।। ५५ ।।

अर्जुनने कहा—गन्धर्व! यदि तुमने प्रसन्न होकर अथवा प्राणसंकटसे बचानेके कारण मुझे विद्या, धन अथवा शास्त्र प्रदान किया है तो मैं इस तरहका दान लेना पसंद नहीं करता ।। ५५ ।।

गन्धर्व उवाच

संयोगो वै प्रीतिकरो महत्सु प्रतिदृश्यते ।

जीवितस्य प्रदानेन प्रीतो विद्यां ददामि ते ।। ५६ ।।

गन्धर्व बोला—महापुरुषोंके साथ जो समागम होता है, वह प्रीतिको बढ़ानेवाला होता है—ऐसा देखनेमें आता है। आपने मुझे जीवनदान दिया है, इससे प्रसन्न होकर मैं आपको चाक्षुषी विद्या भेंट करता हूँ ।। ५६ ।।

त्वत्तोऽप्यहं ग्रहीष्यामि अस्त्रमाग्नेयमुत्तमम् ।
तथैव योग्यं बीभत्सो चिराय भरतर्षभ ।। ५७ ।।

साथ ही आपसे भी मैं उत्तम आग्नेयास्त्र ग्रहण करूँगा। भरतकुलभूषण अर्जुन! ऐसा करनेसे ही हम दोनोंमें दीर्घकालतक समुचित सौहार्द बना रहेगा ।। ५७ ।।

अर्जुन उवाच

त्वत्तोऽस्त्रेण वृणोम्यश्वान् संयोगः शाश्वतोऽस्तु नौ ।
सखे तद् ब्रूहि गन्धर्व युष्मभ्यो यद् भयं भवेत् ।। ५८ ।।

अर्जुनने कहा—ठीक है, मैं यह अस्त्र-विद्या देकर तुमसे घोड़े ले लूँगा। हम दोनोंकी मैत्री सदा बनी रहे। सखे गन्धर्वराज! बताओ तो सही, तुमलोगोंसे हम मनुष्योंको क्यों भय प्राप्त होता है? ।। ५८ ।।

कारणं ब्रूहि गन्धर्व किं तद् येन स्म धर्षिताः ।

यान्तो वेदविदः सर्वे सन्तो रात्रावरिंदमाः ।। ५९ ।।

गन्धर्व! हम सब लोग वेदवेत्ता हैं और शत्रुओंका दमन करनेकी शक्ति रखते हैं; फिर भी रातमें यात्रा करते समय जो तुमने हमलोगोंपर आक्रमण किया है, इसका क्या कारण है? इसपर भी प्रकाश डालो ।। ५९ ।।

गन्धर्व उवाच

अनग्नयोऽनाहुतयो न च विप्रपुरस्कृताः ।
यूयं ततो धर्षिताः स्थ मया वै पाण्डुनन्दनाः ।। ६० ।।

गन्धर्व बोला—पाण्डुकुमारो! आपलोग (विवाहित न होनेके कारण) त्रिविध अग्नियोंकी सेवा नहीं करते। (अध्ययन पूरा करके समावर्तन संस्कारसे सम्पन्न हो गये हैं, अतः) प्रतिदिन अग्निको आहुति भी नहीं देते। आपके आगे कोई ब्राह्मण पुरोहित भी नहीं है। इन्हीं कारणोंसे मैंने आपपर आक्रमण किया है ।। ६० ।।

(जानता च मया तस्मात् तेजश्चाभिजनं च वः ।
इयं मतिमतां श्रेष्ठ धर्षितुं वै कृता मतिः ।।
को हि वस्त्रिषु लोकेषु न वेद भरतर्षभ ।
स्वैर्गुणैर्विस्तृतं श्रीमद् यशोऽग्र्यं भूरिवर्चसाम् ।।)
यक्षराक्षसगन्धर्वाः पिशाचोरगदानवाः ।
विस्तरं कुरुवंशस्य धीमन्तः कथयन्ति ते ।। ६१ ।।

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! इसीलिये मैंने आपलोगोंके तेज और कुलोचित प्रभावको जानते हुए भी आपपर आक्रमण करनेका विचार किया। भरतश्रेष्ठ! आपलोग महान् तेजस्वी हैं। आपने अपने गुणोंसे जिस शोभाशाली श्रेष्ठ यशका विस्तार किया है, उसे तीनों लोकोंमें कौन नहीं जानता। बुद्धिमान् यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पिशाच, नाग और दानव कुरुकुलकी यशोगाथाका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं ।। ६१ ।।

नारदप्रभृतीनां तु देवर्षीणां मया श्रुतम् ।
गुणान् कथयतां वीर पूर्वेषां तव धीमताम् ।। ६२ ।।

वीर! नारद आदि देवर्षियोंके मुखसे भी मैंने आपके बुद्धिमान् पूर्वजोंका गुणगान सुना है ।। ६२ ।।

स्वयं चापि मया दृष्टश्चरता सागराम्बराम् ।
इमां वसुमतीं कृत्स्नां प्रभावः सुकुलस्य ते ।। ६३ ।।

तथा समुद्रसे घिरी हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरते हुए मैंने स्वयं भी आपके उत्तम कुलका प्रभाव प्रत्यक्ष देखा है ।। ६३ ।।

वेदे धनुषि चाचार्यमभिजानामि तेऽर्जुन ।
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु भारद्वाजं यशस्विनम् ।। ६४ ।।

अर्जुन! तीनों लोकोंमें विख्यात यशस्वी भरद्वाजनन्दन द्रोणको भी, जो आपके वेद और धनुर्वेदके आचार्य रहे हैं, मैं अच्छी तरह जानता हूँ ।। ६४ ।।

धर्मं वायुं च शक्रं च विजानाम्यश्विनौ तथा ।
पाण्डुं च कुरुशार्दूल षडेतान् कुरुवर्धनान् ।
पितॄनेतानहं पार्थ देवमानुषसत्तमान् ।। ६५ ।।

कुरुश्रेष्ठ! धर्म, वायु, इन्द्र, दोनों अश्विनीकुमार तथा महाराज पाण्डु—ये छः महापुरुष कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले हैं। पार्थ! ये देवताओं तथा मनुष्योंके सिरमौर छहों व्यक्ति आपलोगोंके पिता हैं। मैं इन सबको जानता हूँ ।। ६५ ।।

दिव्यात्मानो महात्मानः सर्वशस्त्रभृतां वराः ।
भवन्तो भ्रातरः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।। ६६ ।।

आप सब भाई देवस्वरूप, महात्मा, समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ शूरवीर हैं तथा आपलोगोंने ब्रह्मचर्यव्रतका भलीभाँति पालन किया है ।। ६६ ।।

उत्तमां च मनोबुद्धिं भवतां भावितात्मनाम् ।
जानन्नपि च वः पार्थ कृतवानिह धर्षणाम् ।। ६७ ।।

आपलोगोंका अन्तःकरण शुद्ध है, मन और बुद्धि भी उत्तम है। पार्थ! आपके विषयमें यह सब कुछ जानते हुए भी मैंने यहाँ आक्रमण किया था ।। ६७ ।।

स्त्रीसकाशे च कौरव्य न पुमान् क्षन्तुमर्हति ।
धर्षणामात्मनः पश्यन् बाहुद्रविणमाश्रितः ।। ६८ ।।

कुरुनन्दन! इसका कारण यह है कि अपने बाहुबलका भरोसा रखनेवाला कोई भी पुरुष जब स्त्रीके समीप अपना तिरस्कार होता देखता है, तब उसे सहन नहीं कर पाता ।। ६८ ।।

नक्तं च बलमस्माकं भूय एवाभिवर्धते ।
यतस्ततो मां कौन्तेय सदारं मन्युराविशत् ।। ६९ ।।

कुन्तीनन्दन! इसके सिवा एक बात यह भी है कि रातके समय हमलोगोंका बल बहुत बढ़ जाता है। इसीसे स्त्रीके साथ रहनेके कारण मुझमें क्रोधका आवेश हो गया था ।। ६९ ।।

सोऽहं त्वयेह विजितः संख्ये तापत्यवर्धन ।
येन तेनेह विधिना कीर्त्यमानं निबोध मे ।। ७० ।।

तपतीके कुलकी वृद्धि करनेवाले अर्जुन! आपने जिस कारण युद्धमें मुझे पराजित किया है, उसे (भी) बतलाता हूँ; सुनिये ।। ७० ।।

ब्रह्मचर्यं परो धर्मः स चापि नियतस्त्वयि ।
यस्मात् तस्मादहं पार्थ रणेऽस्मि विजितस्त्वया ।। ७१ ।।

ब्रह्मचर्य! सबसे बड़ा धर्म है और वह तुममें निश्चितरूपसे विद्यमान है। कुन्तीनन्दन! इसीलिये युद्धमें मैं तुमसे हार गया हूँ ।। ७१ ।।

यस्तु स्यात् क्षत्रियः कश्चित् कामवृत्तः परंतप ।
नक्तं च युधि युध्येत न स जीवेत् कथंचन ।। ७२ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! यदि दूसरा कोई कामासक्त क्षत्रिय रातमें मुझसे युद्ध करने आता तो किसी प्रकार जीवित नहीं बच सकता था ।। ७२ ।।

यस्तु स्यात् कामवृत्तोऽपि पार्थ ब्रह्मपुरस्कृतः ।
जयेन्नक्तंचरान् सर्वान् स पुरोहितधूर्गतः ।। ७३ ।।

किंतु कुन्तीकुमार! कामासक्त होनेपर भी यदि कोई पुरुष किसी ब्राह्मणको आगे करके चले तो वह समस्त निशाचरोंपर विजय पा सकता है; क्योंकि उस दशामें उसका सारा भार पुरोहितपर होता है ।। ७३ ।।

तस्मात् तापत्य यत्किंचिन्नृणां श्रेय इहेप्सितम् ।
तस्मिन् कर्मणि योक्तव्या दान्तात्मानः पुरोहिताः ।। ७४ ।।

अतः तपतीनन्दन! मनुष्योंको इस लोकमें जो भी कल्याणकारी कार्य करना अभीष्ट हो, उसमें वह मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले पुरोहितोंको नियुक्त करे ।। ७४ ।।

वेदे षडङ्गे निरताः शुचयः सत्यवादिनः ।
धर्मात्मानः कृतात्मानः स्युर्नृपाणां पुरोहिताः ।। ७५ ।।

जो छहों अंगोंसहित वेदके स्वाध्यायमें तत्पर, ईमानदार, सत्यवादी, धर्मात्मा और मनको वशमें रखनेवाले हों, ऐसे ही ब्राह्मण राजाओंके पुरोहित होने चाहिये ।। ७५ ।।

जयश्च नियतो राज्ञः स्वर्गश्च तदनन्तरम् ।
यस्य स्याद् धर्मविद् वाग्मी पुरोधाः शीलवान् शुचिः ।। ७६ ।।

जिसके यहाँ धर्मज्ञ, वक्ता, शीलवान् और ईमानदार ब्राह्मण पुरोहित हो, उस राजाको इस लोकमें निश्चय ही विजय प्राप्त होती है और मरनेके बाद उसे स्वर्गलोक मिलता है ।। ७६ ।।

लाभं लब्धुमलब्धं वा लब्धं वा परिरक्षितुम् ।
पुरोहितं प्रकुर्वीत राजा गुणसमन्वितम् ।। ७७ ।।

राजाको किसी अप्राप्त वस्तु या धनको प्राप्त करने अथवा उपलब्ध धन आदिकी रक्षा करनेके लिये गुणवान् ब्राह्मणको पुरोहित बनाना चाहिये ।। ७७ ।।

पुरोहितमते तिष्ठेद् य इच्छेद् भूतिमात्मनः ।
प्राप्तुं वसुमतीं सर्वां सर्वशः सागराम्बराम् ।। ७८ ।।

जो समुद्रसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीपर अपना अधिकार चाहे या अपने लिये ऐश्वर्य पाना चाहे, उसे पुरोहितकी आज्ञाके अधीन रहना चाहिये ।। ७८ ।।

न हि केवलशौर्येण तापत्याभिजनेन च ।

जयेदब्राह्मणः कश्चिद् भूमिं भूमिपतिः क्वचित् ।। ७९ ।।

तपतीनन्दन! कोई भी राजा कहीं भी पुरोहितकी सहायताके बिना केवल अपने बल अथवा कुलीनताके भरोसे भूमिपर विजय नहीं पाता ।। ७९ ।।

तस्मादेवं विजानीहि कुरूणां वंशवर्धन ।

ब्राह्मणप्रमुखं राज्यं शक्यं पालयितुं चिरम् ।। ८० ।।

अतः कौरवोंके कुलकी वृद्धि करनेवाले अर्जुन! आप यह जान लें कि जहाँ विद्वान् ब्राह्मणोंकी प्रधानता हो, उसी राज्यकी दीर्घकालतक रक्षा की जा सकती है ।। ८० ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि गन्धर्वपराभवे एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें गन्धर्वपराभवविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ८२ श्लोक हैं)

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

सूर्यकन्या तपतीको देखकर राजा संवरणका मोहित होना

अर्जुन उवाच

तापत्य इति यद् वाक्यमुक्तवानसि मामिह ।
तदहं ज्ञातुमिच्छामि तापत्यार्थं विनिश्चितम् ।। १ ।।

अर्जुनने कहा—गन्धर्व! तुमने 'तपतीनन्दन' कहकर जो बात यहाँ मुझसे कही है, उसके सम्बन्धमें मैं यह जानना चाहता हूँ कि तापत्यका निश्चित अर्थ क्या है? ।। १ ।।

तपती नाम का चैषा तापत्या यत्कृते वयम् ।
कौन्तेया हि वयं साधो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।। २ ।।

साधुस्वभाव गन्धर्वराज! यह तपती कौन है, जिसके कारण हमलोग तापत्य कहलाते हैं? हम तो अपनेको कुन्तीका पुत्र समझते हैं। अतः 'तापत्य' का यथार्थ रहस्य क्या है, यह जाननेकी मुझे बड़ी इच्छा हो रही है ।। २ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स गन्धर्वः कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु श्रावयामास वै कथाम् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उनके यों कहनेपर गन्धर्वने कुन्तीनन्दन धनंजयको वह कथा सुनानी प्रारम्भ की, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है ।। ३ ।।

गन्धर्व उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि कथामेतां मनोरमाम् ।
यथावदखिलां पार्थ सर्वबुद्धिमतां वर ।। ४ ।।

गन्धर्व बोला—समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार! इस विषयमें एक बहुत मनोरम कथा है, जिसे मैं यथार्थ एवं पूर्णरूपसे आपको सुनाऊँगा ।। ४ ।।

उक्तवानस्मि येन त्वां तापत्य इति यद् वचः ।
तत् तेऽहं कथयिष्यामि शृणुष्वैकमना भव ।। ५ ।।

मैंने जिस कारण अपने वक्तव्यमें तुम्हें 'तापत्य' कहा है, वह बता रहा हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो ।। ५ ।।

य एष दिवि धिष्ण्येन नाकं व्याप्नोति तेजसा ।
एतस्य तपती नाम बभूव सदृशी सुता ।। ६ ।।
विवस्वतो वै देवस्य सावित्र्यवरजा विभो ।
विश्रुता त्रिषु लोकेषु तपती तपसा युता ।। ७ ।।

ये जो आकाशमें उदित हो अपने तेजोमण्डलके द्वारा यहाँसे स्वर्गलोकतक व्याप्त हो रहे हैं, इन्हीं भगवान् सूर्यदेवके तपती नामकी एक पुत्री हुई, जो पिताके अनुरूप ही थी। प्रभो! वह सावित्रीदेवीकी छोटी बहिन थी। वह तपस्यामें संलग्न रहनेके कारण तीनों लोकोंमें तपती नामसे विख्यात हुई ।। ६-७ ।।

न देवी नासुरी चैव न यक्षी न च राक्षसी ।
नाप्सरा न च गन्धर्वी तथा रूपेण काचन ।। ८ ।।

उस समय देवता, असुर, यक्ष एवं राक्षस जातिकी स्त्री, कोई अप्सरा तथा गधर्वपत्नी भी उसके समान रूपवती न थी ।। ८ ।।

सुविभक्तानवद्याङ्गी स्वसितायतलोचना ।
स्वाचारा चैव साध्वी च सुवेषा चैव भामिनी ।। ९ ।।
न तस्याः सदृशं कंचित् त्रिषु लोकेषु भारत ।
भर्तारं सविता मेने रूपशीलगुणश्रुतैः ।। १० ।।

उसके शरीरका एक-एक अवयव बहुत सुन्दर, सुविभक्त और निर्दोष था। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी और कजरारी थीं। वह सुन्दरी सदाचार, साधु-स्वभाव और मनोहर वेशसे सुशोभित थी। भारत! भगवान् सूर्यने तीनों लोकोंमें किसी भी पुरुषको ऐसा नहीं पाया, जो रूप, शील, गुण और शास्त्रज्ञानकी दृष्टिसे उसका पति होनेयोग्य हो ।। ९-१० ।।

सम्प्राप्तयौवनां पश्यन् देयां दुहितरं तु ताम् ।
नोपलेभे ततः शान्तिं सम्प्रदानं विचिन्तयन् ।। ११ ।।

वह युवावस्थाको प्राप्त हो गयी। अब उसका किसीके साथ विवाह कर देना आवश्यक था। उसे उस अवस्थामें देखकर भगवान् सूर्य इस चिन्तामें पड़े कि इसका विवाह किसके साथ किया जाय। यही सोचकर उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी ।। ११ ।।

अथर्क्षपुत्रः कौन्तेय कुरूणामृषभो बली ।
सूर्यमाराधयामास नृपः संवरणस्तदा ।। १२ ।।

कुन्तीनन्दन! उन्हीं दिनों महाराज ऋक्षके पुत्र राजा संवरण कुरुकुलके श्रेष्ठ एवं बलवान् पुरुष थे। उन्होंने भगवान् सूर्यकी आराधना प्रारम्भ की ।। १२ ।।

अर्घ्यमाल्योपहाराद्यैर्गन्धैश्च नियतः शुचिः ।
नियमैरुपवासैश्च तपोभिर्विविधैरपि ।। १३ ।।
शुश्रूषुरनहंवादी शुचिः पौरवनन्दन ।
अंशुमन्तं समुद्यन्तं पूजयामास भक्तिमान् ।। १४ ।।

पौरवनन्दन! वे मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर पवित्र हो अर्घ्य, पुष्प, गन्ध एवं नैवेद्य आदि सामग्रियोंसे तथा भाँति-भाँतिके नियम, व्रत एवं तपस्याओंद्वारा बड़े भक्तिभावसे उदय होते हुए सूर्यकी पूजा करते थे। उनके हृदयमें सेवाका भाव था। वे शुद्ध तथा अहंकारशून्य थे ।। १३-१४ ।।

ततः कृतज्ञं धर्मज्ञं रूपेणासदृशं भुवि ।
तपत्याः सदृशं मेने सूर्यः संवरणं पतिम् ।। १५ ।।

रूपमें इस पृथ्वीपर उनके समान दूसरा कोई पुरुष नहीं था। वे कृतज्ञ और धर्मज्ञ थे। अतः सूर्यदेवने राजा संवरणको ही तपतीके योग्य पति माना ।। १५ ।।

दातुमैच्छत् ततः कन्यां तस्मै संवरणाय ताम् ।
नृपोत्तमाय कौरव्य विश्रुताभिजनाय च ।। १६ ।।

कुरुनन्दन! उन्होंने नृपश्रेष्ठ संवरणको, जिनका उत्तम कुल सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात था, अपनी कन्या देनेकी इच्छा की ।। १६ ।।

यथा हि दिवि दीप्तांशुः प्रभासयति तेजसा ।
तथा भुवि महीपालो दीप्त्या संवरणोऽभवत् ।। १७ ।।

जैसे आकाशमें उद्दीप्त किरणोंवाले सूर्यदेव अपने तेजसे प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार पृथ्वीपर राजा संवरण अपनी दिव्य कान्तिसे प्रकाशित थे ।। १७ ।।

यथार्चयन्ति चादित्यमुद्यन्तं ब्रह्मवादिनः ।
तथा संवरणं पार्थ ब्राह्मणावरजाः प्रजाः ।। १८ ।।

पार्थ! जैसे ब्रह्मवादी महर्षि उगते हुए सूर्यकी आराधना करते हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य आदि प्रजाएँ महाराज संवरणकी उपासना करती थीं ।। १८ ।।

स सोममति कान्तत्वादादित्यमति तेजसा ।
बभूव नृपतिः श्रीमान् सुहृदां दुर्हृदामपि ।। १९ ।।

वे अपनी कमनीय कान्तिसे चन्द्रमाको और तेजसे सूर्यदेवको भी तिरस्कृत करते थे। राजा संवरण मित्रों तथा शत्रुओंकी मण्डलीमें भी अपनी दिव्य शोभासे प्रकाशित होते थे ।। १९ ।।

एवंगुणस्य नृपतेस्तथावृत्तस्य कौरव ।
तस्मै दातुं मनश्चक्रे तपतीं तपनः स्वयम् ।। २० ।।

कुरुनन्दन! ऐसे उत्तम गुणोंसे विभूषित तथा श्रेष्ठ आचार-व्यवहारसे युक्त राजा संवरणको भगवान् सूर्यने स्वयं ही अपनी पुत्री तपतीको देनेका निश्चय कर लिया ।। २० ।।

स कदाचिदथो राजा श्रीमानमितविक्रमः ।
चचार मृगयां पार्थ पर्वतोपवने किल ।। २१ ।।

कुन्तीनन्दन! एक दिन अमितपराक्रमी श्रीमान् राजा संवरण पर्वतके समीपवर्ती उपवनमें हिंसक पशुओंका शिकार कर रहे थे ।। २१ ।।

चरतो मृगयां तस्य क्षुत्पिपासासमन्वितः ।
ममार राज्ञः कौन्तेय गिरावप्रतिमो हयः ।। २२ ।।
स मृताश्वश्चरन् पार्थ पद्भ्यामेव गिरौ नृपः ।
ददर्शासदृशीं लोके कन्यामायतलोचनाम् ।। २३ ।।

कुन्तीपुत्र! शिकार खेलते समय ही राजाका अनुपम अश्व पर्वतपर भूख-प्याससे पीड़ित हो मर गया। पार्थ! घोड़ेकी मृत्यु हो जानेसे राजा संवरण पैदल ही उस पर्वत-शिखरपर विचरने लगे। घूमते-घूमते उन्होंने एक विशाललोचना कन्या देखी, जिसकी समता करनेवाली स्त्री कहीं नहीं थी ।। २२-२३ ।।

स एक एकामासाद्य कन्यां परबलार्दनः ।
तस्थौ नृपतिशार्दूलः पश्यन्नविचलेक्षणः ।। २४ ।।

शत्रुओंकी सेनाका संहार करनेवाले नृपश्रेष्ठ संवरण अकेले थे और वह कन्या भी अकेली ही थी। उसके पास पहुँचकर राजा एकटक नेत्रोंसे उसकी ओर देखते हुए खड़े रह गये ।। २४ ।।

स हि तां तर्कयामास रूपतो नृपतिः श्रियम् ।
पुनः संतर्कयामास रवेर्भ्रष्टामिव प्रभाम् ।। २५ ।।

पहले तो उसका रूप देखकर नरेशने अनुमान किया कि हो-न-हो ये साक्षात् लक्ष्मी हैं; फिर उनके ध्यानमें यह बात आयी कि सम्भव है, भगवान् सूर्यकी प्रभा ही सूर्यमण्डलसे च्युत होकर इस कन्याके रूपमें आकाशसे पृथ्वीपर आ गयी हो ।। २५ ।।

वपुषा वर्चसा चैव शिखामिव विभावसोः ।
प्रसन्नत्वेन कान्त्या च चन्द्ररेखामिवामलाम् ।। २६ ।।

शरीर और तेजसे वह आगकी ज्वाला-सी जान पड़ती थी। उसकी प्रसन्नता और कमनीय कान्तिसे ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह निर्मल चन्द्रकला हो ।। २६ ।।

गिरिपृष्ठे तु सा यस्मिन् स्थिता स्वसितलोचना ।
विभ्राजमाना शुशुभे प्रतिमेव हिरण्मयी ।। २७ ।।

सुन्दर कजरारे नेत्रोंवाली वह दिव्य कन्या जिस पर्वत-शिखरपर खड़ी थी, वहाँ वह सोनेकी दमकती हुई प्रतिमा-सी सुशोभित हो रही थी ।। २७ ।।

तस्या रूपेण स गिरिर्वेषेण च विशेषतः ।
स सवृक्षक्षुपलतो हिरण्मय इवाभवत् ।। २८ ।।

विशेषतः उसके रूप और वेशसे विभूषित हो वृक्ष, गुल्म और लताओंसहित वह पर्वत सुवर्णमय-सा जान पड़ता था ।। २८ ।।

अवमेने च तां दृष्ट्वा सर्वलोकेषु योषितः ।
अवाप्तं चात्मनो मेने स राजा चक्षुषः फलम् ।। २९ ।।

उसे देखकर राजा संवरणकी समस्त लोकोंकी सुन्दरी युवतियोंमें अनादर-बुद्धि हो गयी। राजा यह मानने लगे कि आज मुझे अपने नेत्रोंका फल मिल गया ।। २९ ।।

जन्मप्रभृति यत् किंचिद् दृष्टवान् स महीपतिः ।
रूपं न सदृशं तस्यास्तर्कयामास किंचन ।। ३० ।।

भूपाल संवरणने जन्मसे लेकर (उस दिनतक) जो कुछ देखा था, उसमें कोई भी रूप उन्हें उस (दिव्य किशोरी)-के सदृश नहीं प्रतीत हुआ ।। ३० ।।

तया बद्धमनश्चक्षुः पाशैर्गुणमयैस्तदा ।
न चचाल ततो देशाद् बुबुधे न च किंचन ।। ३१ ।।

उस कन्याने उस समय अपने उत्तम गुणमय पाशोंसे राजाके मन और नेत्रोंको बाँध लिया। वे अपने स्थानसे हिल-डुलतक न सके। उन्हें किसी बातकी सुध-बुध (भी) न रही ।। ३१ ।।

अस्या नूनं विशालाक्ष्याः सदेवासुरमानुषम् ।
लोकं निर्मथ्य धात्रेदं रूपमाविष्कृतं कृतम् ।। ३२ ।।

वे सोचने लगे, निश्चय ही ब्रह्माने देवता, असुर और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण लोकोंके सौन्दर्य-सिन्धुको मथकर इस विशाल नेत्रोंवाली किशोरीके इस मनोहर रूपका आविष्कार किया होगा ।। ३२ ।।

एवं संतर्कयामास रूपद्रविणसम्पदा ।
कन्यामसदृशीं लोके नृपः संवरणस्तदा ।। ३३ ।।

इस प्रकार उस समय उसकी रूप-सम्पत्तिसे राजा संवरणने यही अनुमान किया कि संसारमें इस दिव्य कन्याकी समता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं है ।। ३३ ।।

तां च दृष्ट्वैव कल्याणीं कल्याणाभिजनो नृपः ।
जगाम मनसा चिन्तां कामबाणेन पीडितः ।। ३४ ।।

कल्याणमय कुलमें उत्पन्न हुए वे नरेश उस कल्याणस्वरूपा कामिनीको देखते ही काम-बाणसे पीड़ित हो गये। उनके मनमें चिन्ताकी आग जल उठी ।। ३४ ।।

दह्यमानः स तीव्रेण नृपतिर्मन्मथाग्निना ।
अप्रगल्भां प्रगल्भस्तां तदोवाच मनोहराम् ।। ३५ ।।

तदनन्तर तीव्र कामाग्निसे जलते हुए राजा संवरणने लज्जारहित होकर उस लज्जाशीला एवं मनोहारिणी कन्यासे इस प्रकार पूछा— ।। ३५ ।।

कासि कस्यासि रम्भोरु किमर्थं चेह तिष्ठसि ।
कथं च निर्जनेऽरण्ये चरस्येका शुचिस्मिते ।। ३६ ।।

‘रम्भोरु! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? और किसलिये यहाँ खड़ी हो? पवित्र मुसकानवाली! तुम इस निर्जन वनमें अकेली कैसे विचर रही हो? ।। ३६ ।।

त्वं हि सर्वानवद्याङ्गी सर्वाभरणभूषिता ।
विभूषणमिवैतेषां भूषणानामभीप्सितम् ।। ३७ ।।

‘तुम्हारे सभी अंग परम सुन्दर एवं निर्दोष हैं। तुम सब प्रकारके (दिव्य) आभूषणोंसे विभूषित हो। सुन्दरि! इन आभूषणोंसे तुम्हारी शोभा नहीं है, अपितु तुम स्वयं ही इन आभूषणोंकी शोभा बढ़ानेवाली अभीष्ट आभूषणके समान हो ।। ३७ ।।

न देवीं नासुरीं चैव न यक्षीं न च राक्षसीम् ।
न च भोगवतीं मन्ये न गन्धर्वीं न मानुषीम् ।। ३८ ।।

'मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, तुम न तो देवांगना हो न असुरकन्या, न यक्षकुलकी स्त्री हो न राक्षसवंशकी, न नागकन्या हो न गन्धर्वकन्या। मैं तुम्हें मानवी भी नहीं मानता ।। ३८ ।।

या हि दृष्टा मया काश्चिच्छ्रुता वापि वराङ्गनाः ।
न तासां सदृशीं मन्ये त्वामहं मत्तकाशिनि ।। ३९ ।।

'यौवनके मदसे सुशोभित होनेवाली सुन्दरी! मैंने अबतक जो कोई भी सुन्दरी स्त्रियाँ देखी अथवा सुनी हैं, उनमेंसे किसीको भी मैं तुम्हारे समान नहीं मानता ।। ३९ ।।

दृष्ट्वैव चारुवदने चन्द्रात् कान्ततरं तव ।
वदनं पद्मपत्राक्षं मां मथ्नातीव मन्मथः ।। ४० ।।

'सुमुखि! जबसे मैंने चन्द्रमासे भी बढ़कर कमनीय एवं कमलदलके समान विशाल नेत्रोंसे युक्त तुम्हारे मुखका दर्शन किया है, तभीसे मन्मथ मुझे मथ-सा रहा है' ।। ४० ।।

एवं तां स महीपालो बभाषे न तु सा तदा ।
कामार्तं निर्जनेऽरण्ये प्रत्यभाषत किंचन ।। ४१ ।।

इस प्रकार राजा संवरण उस सुन्दरीसे बहुत कुछ कह गये; परंतु उसने उस समय उस निर्जन वनमें उन कामपीड़ित नरेशको कुछ भी उत्तर नहीं दिया ।। ४१ ।।

ततो लालप्यमानस्य पार्थिवस्यायतेक्षणा ।
सौदामिनीव चाभ्रेषु तत्रैवान्तरधीयत ।। ४२ ।।

राजा संवरण उन्मत्तकी भाँति प्रलाप करते रह गये और वह विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरी वहीं उनके सामने ही बादलोंमें बिजलीकी भाँति अन्तर्धान हो गयी ।। ४२ ।।

तामन्वेष्टुं स नृपतिः परिचक्राम सर्वतः ।
वनं वनजपत्राक्षीं भ्रमन्नुन्मत्तवत् तदा ।। ४३ ।।

तब वे नरेश कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली उस (दिव्य) कन्याको ढूँढ़नेके लिये वनमें सब ओर उन्मत्तकी भाँति भ्रमण करने लगे ।। ४३ ।।

अपश्यमानः स तु तां बहु तत्र विलप्य च ।
निश्चेष्टः पार्थिवश्रेष्ठो मुहूर्तं स व्यतिष्ठत ।। ४४ ।।

जब कहीं भी उसे देख न सके, तब वे नृपश्रेष्ठ वहाँ बहुत विलाप करते-करते मूर्च्छित हो दो घड़ीतक निश्चेष्ट पड़े रहे ।। ४४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्याने सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें तपती-उपाख्यानविषयक एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७० ।।

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

तपती और संवरणकी बातचीत

गन्धर्व उवाच

अथ तस्यामदृश्यायां नृपतिः काममोहितः ।
पातनः शत्रुसङ्घानां पपात धरणीतले ।। १ ।।

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! जब तपती अदृश्य हो गयी, तब काममोहित राजा संवरण, जो शत्रुसमुदायको मार गिरानेवाले थे, स्वयं ही बेहोश होकर धरतीपर गिर पड़े ।। १ ।।

तस्मिन् निपतिते भूमावथ सा चारुहासिनी ।
पुनः पीनायतश्रोणी दर्शयामास तं नृपम् ।। २ ।।

जब वे इस प्रकार मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, तब स्थूल एवं विशाल श्रोणीप्रदेशवाली तपतीने मन्द-मन्द मुसकराते हुए अपनेको राजा संवरणके सामने प्रकट कर दिया ।। २ ।।

अथाबभाषे कल्याणी वाचा मधुरया नृपम् ।
तं कुरूणां कुलकरं कामाभिहतचेतसम् ।। ३ ।।
उवाच मधुरं वाक्यं तपती प्रहसन्निव ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते न त्वमर्हस्यरिंदम ।। ४ ।।
मोहं नृपतिशार्दूल गन्तुमाविष्कृतः क्षितौ ।
एवमुक्तोऽथ नृपतिर्वाचा मधुरया तदा ।। ५ ।।
ददर्श विपुलश्रोणीं तामेवाभिमुखे स्थिताम् ।
अथ तामसितापाङ्गीमाबभाषे स पार्थिवः ।। ६ ।।
मन्मथाग्निपरीतात्मा संदिग्धाक्षरया गिरा ।
साधु त्वमसितापाङ्गि कामार्तं मत्तकाशिनि ।। ७ ।।
भजस्व भजमानं मां प्राणा हि प्रजहन्ति माम् ।
त्वदर्थं हि विशालाक्षि मामयं निशितैः शरैः ।। ८ ।।
कामः कमलगर्भाभे प्रतिविध्यन् न शाम्यति ।
दष्टमेवमनाक्रन्दे भद्रे काममहाहिना ।। ९ ।।

कुरुवंशका विस्तार करनेवाले राजा संवरण कामाग्निसे पीड़ित हो अचेत हो गये थे। उस समय जैसे कोई हँसकर मधुर वचन बोलता हो, उसी प्रकार कल्याणी तपती मीठी वाणीमें उन नरेशसे बोली—‘शत्रुदमन! उठिये, उठिये; आपका कल्याण हो। राजसिंह! आप इस भूतलके विख्यात सम्राट् हैं। आपको इस प्रकार मोहके वशीभूत नहीं होना चाहिये।’ तपतीने जब मधुर वाणीमें इस प्रकार कहा, तब राजा संवरणने आँखें खोलकर

देखा। वही विशाल नितम्बोंवाली सुन्दरी सामने खड़ी थी। राजाके अन्तःकरणमें कामजनित आग जल रही थी। वे उस कजरारे नेत्रोंवाली सुन्दरीसे लड़खड़ाती वाणीमें बोले—'श्यामलोचने! तुम आ गयीं, अच्छा हुआ। यौवनके मदसे सुशोभित होनेवाली सुन्दरी! मैं कामसे पीड़ित तुम्हारा सेवक हूँ। तुम मुझे स्वीकार करो, अन्यथा मेरे प्राण मुझे छोड़कर चले जायँगे। विशालाक्षि! कमलके भीतरी भागकी-सी कान्तिवाली सुन्दरि! तुम्हारे लिये कामदेव मुझे अपने तीखे बाणोंद्वारा बार-बार घायल कर रहा है। यह (एक क्षणके लिये भी) शान्त नहीं होता। भद्रे! ऐसे समयमें जब मेरा कोई भी रक्षक नहीं है, मुझे कामरूपी महासर्पने डस लिया है ।। ३-९ ।।

सा त्वं पीनायतश्रोणि मामाप्नुहि वरानने ।
त्वदधीना हि मे प्राणाः किन्नरोद्गीतभाषिणि ।। १० ।।

'स्थूल एवं विशाल नितम्बोंवाली वरानने! मेरे समीप आओ। किन्नरोंकी-सी मीठी बोली बोलनेवाली! मेरे प्राण तुम्हारे ही अधीन हैं ।। १० ।।

चारुसर्वानवद्याङ्गि पद्मेन्दुप्रतिमानने ।
न ह्यहं त्वदृते भीरु शक्ष्यामि खलु जीवितुम् ।। ११ ।।

'भीरु! तुम्हारे सभी अंग मनोहर तथा अनिन्द्य सौन्दर्यसे सुशोभित हैं। तुम्हारा मुख कमल और चन्द्रमाके समान सुशोभित होता है। मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकूँगा ।। ११ ।।

कामः कमलपत्राक्षि प्रतिविध्यति मामयम् ।
तस्मात् कुरु विशालाक्षि मय्यनुक्रोशमङ्गने ।। १२ ।।

'कमलदलके समान सुन्दर नेत्रोंवाली सुन्दरि! यह कामदेव मुझे (अपने बाणोंसे) घायल कर रहा है; विशाललोचने! इसलिये तुम मुझपर दया करो ।। १२ ।।

भक्तं मामसितापाङ्गि न परित्यक्तुमर्हसि ।
त्वं हि मां प्रीतियोगेन त्रातुमर्हसि भाविनि ।। १३ ।।

'कजरारे नेत्रोंवाली भामिनि! मैं तुम्हारा भक्त हूँ। तुम मेरा परित्याग न करो। तुम्हें तो प्रेमपूर्वक मेरी रक्षा करनी चाहिये ।। १३ ।।

त्वद्दर्शनकृतस्नेहं मनश्चलति मे भृशम् ।
न त्वां दृष्ट्वा पुनश्चान्यां द्रष्टुं कल्याणि रोचते ।। १४ ।।

'मेरा मन तुम्हारे दर्शनके साथ ही तुमसे अनुरक्त हो गया है। इसलिये वह अत्यन्त चंचल हो उठा है। कल्याणि! तुम्हें देख लेनेके बाद फिर दूसरी स्त्रीकी ओर देखनेकी रुचि मुझे नहीं रह गयी है ।। १४ ।।

प्रसीद वशगोऽहं ते भक्तं मां भज भाविनि ।
दृष्ट्वैव त्वां वरारोहे मन्मथो भृशमङ्गने ।। १५ ।।
अन्तर्गतं विशालाक्षि विध्यति स्म पतत्त्रिभिः ।

मन्मथाग्निसमुद्भूतं दाहं कमललोचने ।। १६ ।।
प्रीतिसंयोगयुक्ताभिरद्भिः प्रह्लादयस्व मे ।
पुष्पायुधं दुराधर्षं प्रचण्डशरकार्मुकम् ।। १७ ।।
त्वद्दर्शनसमुद्भूतं विध्यन्तं दुस्सहैः शरैः ।
उपशामय कल्याणि आत्मदानेन भाविनि ।। १८ ।।

'मैं सर्वथा तुम्हारे अधीन हूँ, मुझपर प्रसन्न हो जाओ। महानुभावे! मुझ भक्तको अंगीकार करो। वरारोहे! विशाल नेत्रोंवाली अंगने! जबसे मैंने तुम्हें देखा है, तभीसे कामदेव मेरे अन्तःकरणको अपने बाणोंद्वारा घायल कर रहा है। कमललोचने! तुम प्रेमपूर्वक समागमके जलसे मेरे कामाग्निजनित दाहको बुझाकर मुझे आह्लाद प्रदान करो। कल्याणि! तुम्हारे दर्शनसे उत्पन्न हुआ कामदेव फूलोंके आयुध लेकर भी अत्यन्त दुर्धर्ष हो रहा है। उसके धनुष और बाण दोनों ही बड़े प्रचण्ड हैं। वह अपने दुस्सह बाणोंसे मुझे बींध रहा है। महानुभावे! तुम आत्मदान देकर मेरे उस कामको शान्त करो ।। १५—१८ ।।

गान्धर्वेण विवाहेन मामुपेहि वराङ्गने ।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते ।। १९ ।।

'वरांगने! गान्धर्व विवाहद्वारा तुम मुझे प्राप्त होओ। सब विवाहोंमें गान्धर्व विवाह ही श्रेष्ठ बतलाया जाता है' ।। १९ ।।

तपत्युवाच

नाहमीशाऽऽत्मनो राजन् कन्या पितृमती ह्यहम् ।
मयि चेदस्ति ते प्रीतिर्याचस्व पितरं मम ।। २० ।।

तपतीने कहा—राजन्! मैं ऐसी कन्या हूँ, जिसके पिता विद्यमान हैं; अतः अपने इस शरीरपर मेरा कोई अधिकार नहीं है। यदि आपका मुझपर प्रेम है तो मेरे पिताजीसे मुझे माँग लीजिये ।। २० ।।

यथा हि ते मया प्राणाः संगृहीता नरेश्वर ।
दर्शनादेव भूयस्त्वं तथा प्राणान् ममाहरः ।। २१ ।।

नरेश्वर! जैसे आपके प्राण मेरे अधीन हैं, उसी प्रकार आपने भी दर्शनमात्रसे ही मेरे प्राणोंको हर लिया है ।। २१ ।।

न चाहमीशा देहस्य तस्मान्नृपतिसत्तम ।
समीपं नोपगच्छामि न स्वतन्त्रा हि योषितः ।। २२ ।।
का हि सर्वेषु लोकेषु विश्रुताभिजनं नृपम् ।
कन्या नाभिलषेन्नाथं भर्तारं भक्तवत्सलम् ।। २३ ।।

नृपश्रेष्ठ! मैं अपने शरीरकी स्वामिनी नहीं हूँ, इसलिये आपके समीप नहीं आ सकती; कारण कि स्त्रियाँ कभी स्वतन्त्र नहीं होतीं। आपका कुल सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात है।

आप-जैसे भक्तवत्सल नरेशको कौन कन्या अपना पति बनानेकी इच्छा नहीं करेगी? ।। २२-२३ ।।

तस्मादेवं गते काले याचस्व पितरं मम ।
आदित्यं प्रणिपातेन तपसा नियमेन च ।। २४ ।।

ऐसी दशामें आप यथासमय नमस्कार, तपस्या और नियमके द्वारा मेरे पिता भगवान् सूर्यको प्रसन्न करके उनसे मुझे माँग लीजिये ।। २४ ।।

स चेत् कामयते दातुं तव मामरिसूदन ।
भविष्याम्यद्य ते राजन् सततं वशवर्तिनी ।। २५ ।।

शत्रुसूदन नरेश! यदि वे मुझे आपकी सेवामें देना चाहेंगे तो मैं आजसे सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहूँगी ।। २५ ।।

अहं हि तपती नाम सावित्र्यवरजा सुता ।
अस्य लोकप्रदीपस्य सवितुः क्षत्रियर्षभ ।। २६ ।।

क्षत्रियशिरोमणे! मैं इन्हीं अखिलभुवनभास्कर भगवान् सविताकी पुत्री और सावित्रीकी छोटी बहिन हूँ। मेरा नाम तपती है ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्याने एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें तपती-उपाख्यानविषयक एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७१ ।।

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

वसिष्ठजीकी सहायतासे राजा संवरणको तपतीकी प्राप्ति

गन्धर्व उवाच

एवमुक्त्वा ततस्तूर्णं जगामोर्ध्वमनिन्दिता ।
स तु राजा पुनर्भूमौ तत्रैव निपपात ह ।। १ ।।

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! यों कहकर वह अनिन्द्यसुन्दरी तपती तत्काल ऊपर (आकाशमें) चली गयी और वे राजा संवरण फिर वहीं (मूर्च्छित हो) पृथ्वीपर गिर पड़े ।। १ ।।

अन्वेषमाणः सबलस्तं राजानं नृपोत्तमम् ।
अमात्यः सानुयात्रश्च तं ददर्श महावने ।। २ ।।

इधर उनके मन्त्री सेना और अनुचरोंको साथ लिये उन श्रेष्ठ नरेशको खोजते हुए आ रहे थे। उस महान् वनमें पहुँचकर मन्त्रीने राजाको देखा ।। २ ।।

क्षितौ निपतितं काले शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम् ।
तं हि दृष्ट्वा महेष्वासं निरस्तं पतितं भुवि ।। ३ ।।
बभूव सोऽस्य सचिवः सम्प्रदीप्त इवाग्निना ।
त्वरया चोपसंगम्य स्नेहादागतसम्भ्रमः ।। ४ ।।

वे समय पाकर गिरे हुए ऊँचे इन्द्रध्वजकी भाँति पृथ्वीपर पड़े थे। तपतीसे विमुक्त उन महान् धनुर्धर महाराजको इस प्रकार पृथ्वीपर पड़ा देख राजमन्त्री ऐसे व्याकुल हो उठे मानो उनके शरीरमें आग लग गयी हो। वे तुरंत उनके पास जा पहुँचे। स्नेहवश उनके हृदयमें घबराहट पैदा हो गयी थी ।। ३-४ ।।

तं समुत्थापयामास नृपतिं काममोहितम् ।
भूतलाद् भूमिपालेशं पितेव पतितं सुतम् ।। ५ ।।
प्रज्ञया वयसा चैव वृद्धः कीर्त्या नयेन च ।
अमात्यस्तं समुत्थाप्य बभूव विगतज्वरः ।। ६ ।।

राजमन्त्री अवस्थामें तो बड़े-बूढ़े थे ही, बुद्धि, कीर्ति और नीतिमें भी बढ़े-चढ़े थे। उन्होंने जैसे पिता अपने गिरे हुए पुत्रको धरतीसे उठा ले, उसी प्रकार कामवेदनासे मूर्च्छित हुए भूमिपालोंके भी स्वामी महाराज संवरणको शीघ्रतापूर्वक पृथ्वीपरसे उठा लिया। राजाको उठाकर और उन्हें जीवित पाकर उनकी चिन्ता दूर हो गयी ।। ५-६ ।।

उवाच चैनं कल्याण्या वाचा मधुरयोत्थितम् ।
मा भैर्मनुजशार्दूल भद्रमस्तु तवानघ ।। ७ ।।

वे उठकर बैठे हुए महाराजसे कल्याणमयी मधुर वाणीमें बोले—'नरश्रेष्ठ! आप डरें नहीं। अनघ! आपका कल्याण हो' ।। ७ ।।

क्षुत्पिपासापरिश्रान्तं तर्कयामास वै नृपम् ।
पतितं पातनं संख्ये शात्रवाणां महीतले ।। ८ ।।

युद्धमें शत्रुदलको पृथ्वीपर गिरा देनेवाले नरेशको भूमिपर गिरा देख मन्त्रीने यह अनुमान लगाया कि ये भूख-प्याससे पीड़ित एवं थके-माँदे हैं ।। ८ ।।

वारिणा च सुशीतेन शिरस्तस्याभ्यषेचयत् ।
अस्फुटन्मुकुटं राज्ञः पुण्डरीकसुगन्धिना ।। ९ ।।

गिरनेपर राजाका मुकुट छिन्न-भिन्न नहीं हुआ था (इससे अनुमान होता था कि राजा युद्धमें घायल नहीं हुए हैं)। मन्त्रीने राजाके मस्तकको कमलकी सुगन्धसे युक्त ठंडे जलसे सींचा ।। ९ ।।

ततः प्रत्यागतप्राणस्तद् बलं बलवान् नृपः ।
सर्वं विसर्जयामास तमेकं सचिवं विना ।। १० ।।

उससे राजाको चेत हो आया। बलवान् नरेशने एकमात्र अपने मन्त्रीके सिवा सारी सेनाको लौटा दिया ।। १० ।।

ततस्तस्याज्ञया राज्ञो विप्रतस्थे महद् बलम् ।
स तु राजा गिरिप्रस्थे तस्मिन् पुनरुपाविशत् ।। ११ ।।

महाराजकी आज्ञासे तुरंत वह विशाल सेना राजधानीकी ओर चल दी; परंतु वे राजा संवरण फिर उसी पर्वत-शिखरपर जा बैठे ।। ११ ।।

ततस्तस्मिन् गिरिवरे शुचिर्भूत्वा कृताञ्जलिः ।
आरिराधयिषुः सूर्यं तस्थावूर्ध्वमुखः क्षितौ ।। १२ ।।

तदनन्तर उस श्रेष्ठ पर्वतपर स्नानादिसे पवित्र हो भगवान् सूर्यकी आराधना करनेके लिये हाथ जोड़ ऊपरकी ओर मुँह किये वे भूमिपर खड़े हो गये ।। १२ ।।

जगाम मनसा चैव वसिष्ठमृषिसत्तमम् ।
पुरोहितममित्रघ्नस्तदा संवरणो नृपः ।। १३ ।।

उस समय शत्रुओंका नाश करनेवाले राजा संवरणने अपने पुरोहित मुनिवर वसिष्ठका मन-ही-मन स्मरण किया ।। १३ ।।

नक्तं दिनमथैकत्र स्थिते तस्मिञ्जनाधिपे ।
अथाजगाम विप्रर्षिस्तदा द्वादशमेऽहनि ।। १४ ।।

वे रात-दिन एक ही जगह खड़े होकर तपस्यामें लगे रहे। तब बारहवें दिन महर्षि वसिष्ठका (वहाँ) शुभागमन हुआ ।। १४ ।।

स विदित्वैव नृपतिं तपत्या हृतमानसम् ।
दिव्येन विधिना ज्ञात्वा भावितात्मा महानृषिः ।। १५ ।।

विशुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि वसिष्ठ दिव्यज्ञानसे पहले ही जान गये कि सूर्यकन्या तपतीने राजाका चित्त चुरा लिया है ।। १५ ।।

तथा तु नियतात्मानं तं नृपं मुनिसत्तमः ।
आबभाषे स धर्मात्मा तस्यैवार्थचिकीर्षया ।। १६ ।।

इस प्रकार मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर तपस्यामें लगे हुए उक्त नरेशसे धर्मात्मा मुनिवर वसिष्ठने उन्हींकी कार्यसिद्धिके लिये कुछ बातचीत की ।। १६ ।।

स तस्य मनुजेन्द्रस्य पश्यतो भगवानृषिः ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे द्रष्टुं भास्करं भास्करद्युतिः ।। १७ ।।

उक्त महाराजके देखते-देखते सूर्यके समान तेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनि सूर्यदेवसे मिलनेके लिये ऊपरको गये ।। १७ ।।

सहस्रांशुं ततो विप्रः कृताञ्जलिरुपस्थितः ।
वसिष्ठोऽहमिति प्रीत्या स चात्मानं न्यवेदयत् ।। १८ ।।

ब्रह्मर्षि वसिष्ठ दोनों हाथ जोड़कर सहस्रों किरणोंसे सुशोभित भगवान् सूर्यदेवके समीप गये और 'मैं वसिष्ठ हूँ' यों कहकर उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे अपना समाचार निवेदित किया ।। १८ ।।

(वसिष्ठ उवाच

अजाय लोकत्रयपावनाय
भूतात्मने गोपतये वृषाय ।
सूर्याय सर्गप्रलयालयाय
नमो महाकारुणिकोत्तमाय ।।
विवस्वते ज्ञानभृदन्तरात्मने
जगत्प्रदीपाय जगद्धितैषिणे ।
स्वयम्भुवे दीप्तसहस्रचक्षुषे
सुरोत्तमायामिततेजसे नमः ।।
नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे
जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे
विरिञ्चिनारायणशङ्करात्मने ।।)

फिर वसिष्ठजी बोले—जो अजन्मा, तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाले, समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी, किरणोंके अधिपति, धर्मस्वरूप, सृष्टि और प्रलयके अधिष्ठान तथा परम दयालु देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, उन भगवान् सूर्यको नमस्कार है। जो ज्ञानियोंके अन्तरात्मा, जगत्को प्रकाशित करनेवाले, संसारके हितैषी, स्वयम्भू तथा सहस्रों उद्दीप्त

नेत्रोंसे सुशोभित हैं, उन अमिततेजस्वी सुरश्रेष्ठ भगवन् सूर्यको नमस्कार है। जो जगत्के एकमात्र नेत्र हैं, संसारकी सृष्टि, पालन और संहारके हेतु हैं, तीनों वेद जिनके स्वरूप हैं, जो त्रिगुणात्मक स्वरूप धारण करके ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामसे प्रसिद्ध हैं, उन भगवान् सविताको नमस्कार है।

तमुवाच महातेजा विवस्वान् मुनिसत्तमम् ।
महर्षे स्वागतं तेऽस्तु कथयस्व यथेप्सितम् ।। १९ ।।

तब महातेजस्वी भगवान् सूर्यने मुनिवर वसिष्ठसे कहा—'महर्षे! तुम्हारा स्वागत है! तुम्हारी जो अभिलाषा हो, उसे कहो ।। १९ ।।

यदिच्छसि महाभाग मत्तः प्रवदतां वर ।
तत् ते दद्यामभिप्रेतं यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ।। २० ।।

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाभाग! तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो, तुम्हारी वह अभीष्ट वस्तु कितनी ही दुर्लभ क्यों न हो, तुम्हें अवश्य दूँगा ।। २० ।।

(स्तुतोऽस्मि वरदस्तेऽहं वरं वरय सुव्रत ।
स्तुतिस्त्वयोक्ता भक्तानां जप्येयं वरदोऽस्म्यहम् ।।)

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! तुमने जो मेरा स्तवन किया है, इसके लिये मैं तुम्हें वर देनेको उद्यत हूँ, कोई वर माँगो। तुम्हारे द्वारा कही हुई वह स्तुति भक्तोंके लिये निरन्तर जप करनेयोग्य है। मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ'।

एवमुक्तः स तेनर्षिर्वसिष्ठः प्रत्यभाषत ।
प्रणिपत्य विवस्वन्तं भानुमन्तं महातपाः ।। २१ ।।

उनके यों कहनेपर महातपस्वी मुनिवर वसिष्ठ मरीचि-माली भगवान् भास्करको प्रणाम करके इस प्रकार बोले ।। २१ ।।

वसिष्ठ उवाच

यैषा ते तपती नाम सावित्र्यवरजा सुता ।
तां त्वां संवरणस्यार्थे वरयामि विभावसो ।। २२ ।।

वसिष्ठजीने कहा—विभावसो! यह जो आपकी तपती नामकी पुत्री एवं सावित्रीकी छोटी बहिन है, इसे मैं आपसे राजा संवरणके लिये माँगता हूँ ।। २२ ।।

स हि राजा बृहत्कीर्तिर्धर्मार्थविदुदारधीः ।
युक्तः संवरणो भर्ता दुहितुस्ते विहंगम ।। २३ ।।

उस राजाकी कीर्ति बहुत दूरतक फैली हुई है। वे धर्म और अर्थके ज्ञाता तथा उदार बुद्धिवाले हैं; अतः आकाशचारी सूर्यदेव! महाराज संवरण आपकी पुत्रीके लिये सुयोग्य पति होंगे ।। २३ ।।

इत्युक्तः स तदा तेन ददानीत्येव निश्चितः ।

प्रत्यभाषत तं विप्रं प्रतिनन्द्य दिवाकरः ।। २४ ।।

वसिष्ठजीके यों कहनेपर अपनी कन्या देनेका निश्चय करके भगवान् सूर्यने ब्रह्मर्षिका अभिनन्दन किया और इस प्रकार कहा— ।। २४ ।।

वरः संवरणो राज्ञां त्वमृषीणां वरो मुने ।
तपती योषितां श्रेष्ठा किमन्यदपवर्जनात् ।। २५ ।।

'मुने! संवरण राजाओंमें श्रेष्ठ हैं, आप महर्षियोंमें उत्तम हैं और तपती युवतियोंमें सर्वश्रेष्ठ है; अतः उसके दानसे श्रेष्ठ और क्या हो सकता है' ।। २५ ।।

ततः सर्वानवद्याङ्गीं तपतीं तपनः स्वयम् ।
ददौ संवरणस्यार्थे वसिष्ठाय महात्मने ।। २६ ।।

तदनन्तर साक्षात् भगवान् सूर्यने अनिन्द्यसुन्दरी तपतीको राजा संवरणकी पत्नी होनेके लिये महात्मा वसिष्ठको अर्पित कर दिया ।। २६ ।।

प्रतिजग्राह तां कन्यां महर्षिस्तपतीं तदा ।
वसिष्ठोऽथ विसृष्टस्तु पुनरेवाजगाम ह ।। २७ ।।
यत्र विख्यातकीर्तिः स कुरूणामृषभोऽभवत् ।
स राजा मन्मथाविष्टस्तद्गतेनान्तरात्मना ।। २८ ।।

ब्रह्मर्षि वसिष्ठने उस कन्याको ग्रहण किया और वहाँसे विदा होकर वे तपतीके साथ पुनः उस स्थानपर आये, जहाँ विख्यातकीर्ति, कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ राजा संवरण कामके वशीभूत हो मन-ही-मन तपतीका चिन्तन करते हुए बैठे थे ।। २७-२८ ।।

दृष्ट्वा च देवकन्यां तां तपतीं चारुहासिनीम् ।
वसिष्ठेन सहायान्तीं संहृष्टोऽभ्यधिकं बभौ ।। २९ ।।

मनोहर मुसकानवाली देवकन्या तपतीको वसिष्ठजीके साथ आती देख राजा संवरण अत्यन्त हर्षोल्लाससे युक्त हो अधिक शोभा पाने लगे ।। २९ ।।

रुरुचे साधिकं सुभ्रूरापतन्ती नभस्तलात् ।
सौदामिनीव विभ्रष्टा द्योतयन्ती दिशस्त्विषा ।। ३० ।।

सुन्दर भौंहोंवाली तपती आकाशसे पृथ्वीपर आते समय गिरी हुई बिजलीके समान सम्पूर्ण दिशाओंको अपनी प्रभासे प्रकाशित करती हुई अधिक सुशोभित हो रही थी ।। ३० ।।

कृच्छ्राद् द्वादशरात्रे तु तस्य राज्ञः समाहिते ।
आजगाम विशुद्धात्मा वसिष्ठो भगवानृषिः ।। ३१ ।।

राजाने क्लेश सहन करते हुए बारह राततक एकाग्रचित्त होकर ध्यान लगाया था। तब विशुद्ध अन्तःकरणवाले भगवान् वसिष्ठ मुनि राजाके पास आये थे ।। ३१ ।।

तपसाऽऽराध्य वरदं देवं गोपतिमीश्वरम् ।
लेभे संवरणो भार्यां वसिष्ठस्यैव तेजसा ।। ३२ ।।

सबके अधीश्वर वरदायक देवशिरोमणि भगवान् सूर्यको तपस्याद्वारा प्रसन्न करके महाराज संवरणने वसिष्ठजीके ही तेजसे तपतीको पत्नीरूपमें प्राप्त किया ।। ३२ ।।

ततस्तस्मिन् गिरिश्रेष्ठे देवगन्धर्वसेविते ।
जग्राह विधिवत् पाणिं तपत्याः स नरर्षभः ।। ३३ ।।

तदनन्तर उन नरश्रेष्ठने देवताओं और गन्धर्वोंसे सेवित उस उत्तम पर्वतपर विधिपूर्वक तपतीका पाणिग्रहण किया ।। ३३ ।।

वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञातस्तस्मिन्नेव धराधरे ।
सोऽकामयत राजर्षिर्विहर्तुं सह भार्यया ।। ३४ ।।

उसके बाद वसिष्ठजीकी आज्ञा लेकर राजर्षि संवरणने उसी पर्वतपर अपनी पत्नीके साथ विहार करनेकी इच्छा की ।। ३४ ।।

ततः पुरे च राष्ट्रे च वनेषूपवनेषु च ।
आदिदेश महीपालस्तमेव सचिवं तदा ।। ३५ ।।

उन दिनों भूपालने नगर, राष्ट्र, वन तथा उपवनोंकी देखभाल एवं रक्षाके लिये मन्त्रीको ही आदेश देकर विदा किया ।। ३५ ।।

नृपतिं त्वभ्यनुज्ञाप्य वसिष्ठोऽथापचक्रमे ।
सोऽथ राजा गिरौ तस्मिन् विजहारामरो यथा ।। ३६ ।।

वसिष्ठजी भी राजासे विदा ले अपने स्थानको चले गये। तदनन्तर राजा संवरण उस पर्वतपर देवताकी भाँति विहार करने लगे ।। ३६ ।।

ततो द्वादश वर्षाणि काननेषु वनेषु च ।
रेमे तस्मिन् गिरौ राजा तथैव सह भार्यया ।। ३७ ।।

वे उसी पर्वतके वनों और काननोंमें अपनी पत्नीके साथ उसी प्रकार बारह वर्षोंतक रमण करते रहे ।। ३७ ।।

तस्य राज्ञः पुरे तस्मिन् समा द्वादश सत्तम ।
न ववर्ष सहस्राक्षो राष्ट्रे चैवास्य भारत ।। ३८ ।।

अर्जुन! उन दिनों महाराज संवरणके राज्य और नगरमें इन्द्रने बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं की ।। ३८ ।।

ततस्तस्यामनावृष्ट्यां प्रवृत्तायामरिंदम ।
प्रजाः क्षयमुपाजग्मुः सर्वाः सस्थाणुजङ्गमाः ।। ३९ ।।

शत्रुसूदन! उस अनावृष्टिके समय प्रायः स्थावर एवं जंगम सभी प्रकारकी प्रजाका क्षय होने लगा ।। ३९ ।।

तस्मिंस्तथाविधे काले वर्तमाने सुदारुणे ।
नावश्यायः पपातोर्व्यां ततः सस्यानि नारुहन् ।। ४० ।।

ऐसे भयंकर समयमें पृथ्वीपर ओसकी एक बूँदतक न गिरी। परिणाम यह हुआ कि खेती उगती ही नहीं थी ।। ४० ।।

ततो विभ्रान्तमनसो जनाः क्षुद्भयपीडिताः ।
गृहाणि सम्परित्यज्य बभ्रमुः प्रदिशो दिशः ।। ४१ ।।

तब सभी लोगोंका चित्त व्याकुल हो उठा। मनुष्य भूखके भयसे पीड़ित हो घरोंको छोड़कर दिशा-विदिशाओंमें मारे-मारे फिरने लगे ।। ४१ ।।

ततस्तस्मिन् पुरे राष्ट्रे त्यक्तदारपरिग्रहाः ।

परस्परममर्यादाः क्षुधार्ता जघ्निरे जनाः ।। ४२ ।।
तत् क्षुधार्तैर्निरासहारैः शवभूतैस्तथा नरैः ।
अभवत् प्रेतराजस्य पुरं प्रेतैरिवावृतम् ।। ४३ ।।

फिर तो उस नगर और राष्ट्रके लोग क्षुधासे पीड़ित हो सनातन मर्यादाको छोड़कर स्त्री, पुत्र एवं परिवार आदिका त्याग करके परस्पर एक-दूसरेको मारने और लूटने-खसोटने लगे। राजाका नगर ऐसे लोगोंसे भर गया, जो भूखसे आतुर हो उपवास करते-करते मुर्दोंके समान हो रहे थे। उन नर-कंकालोंसे परिपूर्ण वह नगर प्रेतोंसे घिरे हुए यमराजके निवासस्थान-सा जान पड़ता था ।। ४२-४३ ।।

ततस्तत् तादृशं दृष्ट्वा स एव भगवानृषिः ।
अभ्यवर्षत धर्मात्मा वसिष्ठो मुनिसत्तमः ।। ४४ ।।

प्रजाकी ऐसी दुरवस्था देख धर्मात्मा मुनिश्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठने ही (अपने तपोबलसे) उस राज्यमें वर्षा की ।। ४४ ।।

तं च पार्थिवशार्दूलमानयामास तत् पुरम् ।
तपत्या सहितं राजन् व्युषितं शाश्वतीः समाः ।
ततः प्रवृष्टस्तत्रासीद् यथापूर्वं सुरारिहा ।। ४५ ।।

साथ ही वे नृपश्रेष्ठ संवरणको, जो बहुत वर्षोंसे प्रवासी हो रहे थे, तपतीके साथ नगरमें ले आये। उनके आनेपर दैत्यहन्ता देवराज इन्द्र वहाँ पूर्ववत् वर्षा करने लगे ।। ४५ ।।

तस्मिन् नृपतिशार्दूले प्रविष्टे नगरं पुनः ।
प्रववर्ष सहस्राक्षः सस्यानि जनयन् प्रभुः ।। ४६ ।।

उन श्रेष्ठ राजाके नगरमें प्रवेश करनेपर भगवान् इन्द्रने वहाँ अन्नका उत्पादन बढ़ानेके लिये पुनः अच्छी वर्षा की ।। ४६ ।।

ततः सराष्ट्रं मुमुदे तत् पुरं परया मुदा ।
तेन पार्थिवमुख्येन भावितं भावितात्मना ।। ४७ ।।

तबसे शुद्ध अन्तःकरणवाले नृपश्रेष्ठ संवरणके द्वारा पालित सब लोग प्रसन्न रहने लगे। उस राज्य और नगरमें बड़ा आनन्द छा गया ।। ४७ ।।

ततो द्वादश वर्षाणि पुनरीजे नराधिपः ।
तपत्या सहितः पत्न्या यथा शच्या मरुत्पतिः ।। ४८ ।।

तदनन्तर तपतीके सहित महाराज संवरणने शचीके साथ इन्द्रके समान सुशोभित होते हुए बारह वर्षोंतक यज्ञ किया ।। ४८ ।।

गन्धर्व उवाच

एवमासीन्महाभागा तपती नाम पौर्विकी ।
तव वैवस्वती पार्थ तापत्यस्त्वं यया मतः ।। ४९ ।।

गन्धर्व कहता है—कुन्तीनन्दन! इस प्रकार भगवान् सूर्यकी पुत्री महाभागा तपती आपके पूर्वपुरुष संवरणकी पत्नी हुई थी, जिससे मैंने आपको तपतीनन्दन माना है ।। ४९ ।।

तस्यां संजनयामास कुरुं संवरणो नृपः ।
तपत्यां तपतां श्रेष्ठ तापत्यस्त्वं ततोऽर्जुन ।। ५० ।।

तपस्वीजनोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! महाराज संवरणने तपतीके गर्भसे कुरुको उत्पन्न किया था; अतः उसी वंशमें जन्म लेनेके कारण आपलोग तापत्य हुए ।। ५० ।।

(कुरूद्भवा यतो यूयं कौरवाः कुरवस्तथा ।
पौरवा आजमीढाश्च भारता भरतर्षभ ।।
तापत्यमखिलं प्रोक्तं वृत्तान्तं तव पूर्वकम् ।
पुरोहितमुखा यूयं भुङ्ग्ध्वं वै पृथिवीमिमाम् ।।)

भरतश्रेष्ठ उन्हीं कुरुसे उत्पन्न होनेके कारण आप सब लोग ‘कौरव’ तथा ‘कुरुवंशी’ कहलाते हैं। इसी प्रकार पुरुसे उत्पन्न होनेके कारण ‘पौरव’, अजमीढकुलमें जन्म लेनेसे ‘आजमीढ’ तथा भरतकुलमें उत्पन्न होनेसे ‘भारत’ कहलाते हैं। इस प्रकार आपलोगोंकी वंशजननी तपतीका सारा पुरातन वृत्तान्त मैंने बता दिया। अब आपलोग पुरोहितको आगे रखकर इस पृथ्वीका पालन एवं उपभोग करें।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्यानसमाप्तौ द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें तपती-उपाख्यानकी समाप्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७२ ।।

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

गन्धर्वका वसिष्ठजीकी महत्ता बताते हुए किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणको पुरोहित बनानेके लिये आग्रह करना

वैशम्पायन उवाच

स गन्धर्ववचः श्रुत्वा तत् तदा भरतर्षभ ।
अर्जुनः परया भक्त्या पूर्णचन्द्र इवाबभौ ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! गन्धर्वका यह कथन सुनकर अर्जुन अत्यन्त भक्तिभावके कारण पूर्ण चन्द्रमाके समान शोभा पाने लगे ।। १ ।।

उवाच च महेष्वासो गन्धर्वं कुरुसत्तमः ।
जातकौतूहलोऽतीव वसिष्ठस्य तपोबलात् ।। २ ।।

फिर महाधनुर्धर कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने गन्धर्वसे कहा—'सखे! वसिष्ठके तपोबलकी बात सुनकर मेरे हृदयमें बड़ी उत्कण्ठा पैदा हो गयी है ।। २ ।।

वसिष्ठ इति तस्यैतदृषेर्नाम त्वयेरितम् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं यथावत् तद् वदस्व मे ।। ३ ।।

'तुमने उन महर्षिका नाम वसिष्ठ बताया था। उनका यह नाम क्यों पड़ा? इसे मैं सुनना चाहता हूँ। तुम यथार्थ रूपसे मुझे बताओ ।। ३ ।।

य एष गन्धर्वपते पूर्वेषां नः पुरोहितः ।
आसीदेतन्ममाचक्ष्व क एष भगवानृषिः ।। ४ ।।

'गन्धर्वराज! ये जो हमारे पूर्वजोंके पुरोहित थे, वे भगवान् वसिष्ठ मुनि कौन हैं? यह मुझसे कहो' ।। ४ ।।

गन्धर्व उवाच

ब्रह्मणो मानसः पुत्रो वसिष्ठोऽरुन्धतीपतिः ।
तपसा निर्जितौ शश्वदजेयावमरैरपि ।। ५ ।।
कामक्रोधावुभौ यस्य चरणौ संववाहतुः ।
इन्द्रियाणां वशकरो वसिष्ठ इति चोच्यते ।। ६ ।।

गन्धर्वने कहा—वसिष्ठजी ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। उनकी पत्नीका नाम अरुन्धती है। जिन्हें देवता भी कभी जीत नहीं सके, वे काम और क्रोध नामक दोनों शत्रु वसिष्ठजीकी तपस्यासे सदाके लिये पराभूत होकर उनके चरण दबाते रहे हैं। इन्द्रियोंको वशमें करनेके कारण वे वसिष्ठ कहलाते हैं ।। ५-६ ।।

यस्तु नोच्छेदनं चक्रे कुशिकानामुदारधीः ।

विश्वामित्रापराधेन धारयन् मन्युमुत्तमम् ।। ७ ।।

विश्वामित्रके अपराधसे मनमें पवित्र क्रोध धारण करते हुए भी उन उदारबुद्धि महर्षिने कुशिकवंशका समूलोच्छेद नहीं किया ।। ७ ।।

पुत्रव्यसनसंतप्तः शक्तिमानप्यशक्तवत् ।
विश्वामित्रविनाशाय न चक्रे कर्म दारुणम् ।। ८ ।।

विश्वामित्रके द्वारा अपने सौ पुत्रोंके मारे जानेसे वे संतप्त थे, उनमें बदला लेनेकी शक्ति भी थी, तो भी उन्होंने असमर्थकी भाँति सब कुछ सह लिया एवं विश्वामित्रका विनाश करनेके लिये कोई दारुण कर्म नहीं किया ।। ८ ।।

मृतांश्च पुनराहर्तुं शक्तः पुत्रान् यमक्षयात् ।
कृतान्तं नातिचक्राम वेलामिव महोदधिः ।। ९ ।।

वे अपने मरे हुए पुत्रोंको यमलोकसे वापस ला सकते थे; परंतु जैसे महासागर अपने तटका उल्लंघन नहीं करता, उसी प्रकार वे यमराजकी मर्यादाको लाँघनेके लिये उद्यत नहीं हुए ।। ९ ।।

यं प्राप्य विजितात्मानं महात्मानं नराधिपाः ।
इक्ष्वाकवो महीपाला लेभिरे पृथिवीमिमाम् ।। १० ।।

उन्हीं जितात्मा महात्मा वसिष्ठ मुनिको (पुरोहितरूपमें) पाकर इक्ष्वाकुवंशी भूपालोंने (दीर्घ-कालतक) इस (समूची) पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त किया था ।। १० ।।

पुरोहितमिमं प्राप्य वसिष्ठमृषिसत्तमम् ।
ईजिरे क्रतुभिश्चैव नृपास्ते कुरुनन्दन ।। ११ ।।

कुरुनन्दन! इन्हीं मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको पुरोहित-रूपमें पाकर उन नरपतियोंने बहुत-से यज्ञ भी किये थे ।। ११ ।।

स हि तान् याजयामास सर्वान् नृपतिसत्तमान् ।
ब्रह्मर्षिः पाण्डवश्रेष्ठ बृहस्पतिरिवामरान् ।। १२ ।।

पाण्डवश्रेष्ठ! जैसे बृहस्पतिजी सम्पूर्ण देवताओंका यज्ञ कराते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मर्षि वसिष्ठने उन सम्पूर्ण श्रेष्ठ राजाओंका यज्ञ कराया था ।। १२ ।।

तस्माद् धर्मप्रधानात्मा वेदधर्मविदीप्सितः ।
ब्राह्मणो गुणवान् कश्चित् पुरोधाः प्रतिदृश्यताम् ।। १३ ।।

इसलिये जिसके मनमें धर्मकी प्रधानता हो, जो वेदोक्त धर्मका ज्ञाता और मनके अनुकूल हो; ऐसे किसी गुणवान् ब्राह्मणको आपलोग भी पुरोहित बनानेका निश्चय करें ।। १३ ।।

क्षत्रियेणाभिजातेन पृथिवीं जेतुमिच्छता ।
पूर्वं पुरोहितः कार्यः पार्थ राज्याभिवृद्धये ।। १४ ।।

पार्थ! पृथ्वीको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले कुलीन क्षत्रियको अपने राज्यकी वृद्धिके लिये पहले (किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणको) पुरोहित नियुक्त कर लेना चाहिये ।। १४ ।।

महीं जिगीषता राज्ञा ब्रह्मकार्यं पुरस्सरम् ।
तस्मात् पुरोहितः कश्चिद् गुणवान् विजितेन्द्रियः ।
विद्वान् भवतु वो विप्रो धर्मकामार्थतत्त्ववित् ।। १५ ।।

पृथ्वीको जीतनेकी इच्छावाले राजाको उचित है कि वह ब्राह्मणको अपने आगे रखे; अतः कोई गुणवान्, जितेन्द्रिय, वेदाभ्यासी, विद्वान् तथा धर्म, काम और अर्थका तत्त्वज्ञ ब्राह्मण आपका पुरोहित हो ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि पुरोहितकरणकथने त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें पुरोहित बनानेके लिये कथनसम्बन्धी एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७३ ।।

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

वसिष्ठजीके अद्भुत क्षमा-बलके आगे विश्वामित्रजीका पराभव

अर्जुन उवाच

किंनिमित्तमभूद् वैरं विश्वामित्रवसिष्ठयोः ।
वसतोराश्रमे दिव्ये शंस नः सर्वमेव तत् ।। १ ।।

अर्जुनने पूछा—गन्धर्वराज! विश्वामित्र और वसिष्ठ मुनि तो अपने-अपने दिव्य आश्रममें निवास करते हैं, फिर उनमें वैर किस कारण हुआ? ये सब बातें मुझसे कहो ।। १ ।।

गन्धर्व उवाच

इदं वासिष्ठमाख्यानं पुराणं परिचक्षते ।
पार्थ सर्वेषु लोकेषु यथावत् तन्निबोध मे ।। २ ।।

गन्धर्वने कहा—पार्थ! वसिष्ठजीके इस उपाख्यानको सब लोकोंमें बहुत पुराना बतलाते हैं। उसे यथार्थरूपसे कहता हूँ, सुनिये ।। २ ।।

कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थिवो भरतर्षभ ।
गाधीति विश्रुतो लोके कुशिकस्यात्मसम्भवः ।। ३ ।।

भरतवंशशिरोमणे! कान्यकुब्ज देशमें एक बहुत बड़े राजा थे, जो इस लोकमें गाधिके नामसे विख्यात थे। वे कुशिकके औरस पुत्र बताये जाते हैं ।। ३ ।।

तस्य धर्मात्मनः पुत्रः समृद्धबलवाहनः ।
विश्वामित्र इति ख्यातो बभूव रिपुमर्दनः ।। ४ ।।

उन्हीं धर्मात्मा नरेशके पुत्र विश्वामित्रके नामसे प्रसिद्ध हैं, जो सेना और वाहनोंसे सम्पन्न होकर शत्रुओंका मानमर्दन किया करते थे ।। ४ ।।

स चचार सहामात्यो मृगयां गहने वने ।
मृगान् विध्यन् वराहांश्च रम्येषु मरुधन्वसु ।। ५ ।।
व्यायामकर्शितः सोऽथ मृगलिप्सुः पिपासितः ।
आजगाम नरश्रेष्ठ वसिष्ठस्याश्रमं प्रति ।। ६ ।।
तमागतमभिप्रेक्ष्य वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ।
विश्वामित्रं नरश्रेष्ठं प्रतिजग्राह पूजया ।। ७ ।।

एक दिन वे अपने मन्त्रियोंके साथ गहन वनमें आखेटके लिये गये। मरुप्रदेशके सुरम्य वनोंमें उन्होंने वराहों और अन्य हिंसक पशुओंको मारते हुए एक हिंसक पशुको पकड़नेके

लिये उसका पीछा किया। अधिक परिश्रमके कारण उन्हें बड़ा कष्ट सहना पड़ा। नरश्रेष्ठ! वे प्याससे पीड़ित हो महर्षि वसिष्ठके आश्रममें आये। मनुष्योंमें श्रेष्ठ महाराज विश्वामित्रको आया देख पूजनीय पुरुषोंकी पूजा करनेवाले महर्षि वसिष्ठने उनका सत्कार करते हुए आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये आमन्त्रित किया ।। ५—७ ।।

पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तं स्वागतेन च भारत ।
तथैव परिजग्राह वन्येन हविषा तदा ।। ८ ।।

भारत! पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्वागत-भाषण तथा वन्य हविष्य आदिसे उन्होंने विश्वामित्रजीका सत्कार किया ।। ८ ।।

तस्याथ कामधुग् धेनुर्वसिष्ठस्य महात्मनः ।
उक्ता कामान् प्रयच्छेति सा कामान् दुह्यते सदा ।। ९ ।।

महात्मा वसिष्ठजीके यहाँ एक कामधेनु थी, जो 'अमुक-अमुक मनोरथोंको पूर्ण करो' यह कहने-पर सदा उन-उन कामनाओंको पूर्ण कर दिया करती थी ।। ९ ।।

ग्राम्यारण्याश्चौषधीश्च दुदुहे पय एव च ।
षड्रसं चामृतनिभं रसायनमनुत्तमम् ।। १० ।।
भोजनीयानि पेयानि भक्ष्याणि विविधानि च ।
लेह्यान्यमृतकल्पानि चोष्याणि च तथार्जुन ।। ११ ।।
रत्नानि च महार्हाणि वासांसि विविधानि च ।
तैः कामैः सर्वसम्पूर्णैः पूजितश्च महीपतिः ।। १२ ।।

ग्रामीण तथा जंगली अन्न, फल-मूल, दूध, षड्रस भोजन, अमृतके समान मधुर परम उत्तम रसायन, खाने, पीने और चबानेयोग्य भाँति-भाँतिके पदार्थ, अमृतके समान स्वादिष्ठ चटनी आदि तथा चूसनेयोग्य ईख आदि वस्तुएँ तथा भाँति-भाँतिके बहुमूल्य रत्न एवं वस्त्र आदि सब सामग्रियोंको उस कामधेनुने प्रस्तुत कर दिया। सब प्रकारसे उन सम्पूर्ण मनोवांछित वस्तुओंके द्वारा हे अर्जुन! राजा विश्वामित्र भलीभाँति पूजित हुए ।। १०—१२ ।।

सामात्यः सबलश्चैव तुतोष स भृशं तदा ।
षडुन्नतां सुपार्श्वोरुं पृथुपञ्चसमावृताम् ।। १३ ।।

उस समय वे अपनी सेना और मन्त्रियोंके साथ बहुत संतुष्ट हुए। महर्षिकी धेनुका मस्तक, ग्रीवा, जाँघें, गलकम्बल, पूँछ और थन—ये छः अंग बड़े एवं विस्तृत थे।[१] उसके पार्श्वभाग तथा ऊरु बड़े सुन्दर थे। वह पाँच पृथुल अंगोंसे सुशोभित थी[२] ।। १३ ।।

मण्डूकनेत्रां स्वाकारां पीनोधसमनिन्दिताम् ।
सुवालधिं शङ्कुकर्णां चारुशृङ्गां मनोरमाम् ।। १४ ।।

उसकी आँखें मेढक-जैसी थीं। आकृति बड़ी सुन्दर थी। चारों थन मोटे और फैले हुए थे। वह सर्वथा प्रशंसाके योग्य थी। सुन्दर पूँछ, नुकीले कान और मनोहर सींगोंके कारण वह बड़ी मनोरम जान पड़ती थी ।। १४ ।।

पुष्टायतशिरोग्रीवां विस्मितः सोऽभिवीक्ष्य ताम् ।
अभिनन्द्य स तां राजा नन्दिनीं गाधिनन्दनः ।। १५ ।।

उसके सिर और गर्दन विस्तृत एवं पुष्ट थे। उसका नाम नन्दिनी था। उसे देखकर विस्मित हुए गाधिनन्दन विश्वामित्रने उसका अभिनन्दन किया ।। १५ ।।

अब्रवीच्च भृशं तुष्टः स राजा तमृषिं तदा ।
अर्बुदेन गवां ब्रह्मन् मम राज्येन वा पुनः ।। १६ ।।
नन्दिनीं सम्प्रयच्छस्व भुङ्क्ष्व राज्यं महामुने ।

और अत्यन्त संतुष्ट होकर राजा विश्वामित्रने उस समय उन महर्षिसे कहा—'ब्रह्मन्! आप दस करोड़ गायें अथवा मेरा सारा राज्य लेकर इस नन्दिनी-को मुझे दे दें। महामुने! इसे देकर आप राज्य भोग करें' ।। १६½ ।।

वसिष्ठ उवाच

देवतातिथिपित्रर्थं याज्यार्थं च पयस्विनी ।। १७ ।।
अदेया नन्दिनीयं वै राज्येनापि तवानघ ।

वसिष्ठजीने कहा—अनघ! देवता, अतिथि और पितरोंकी पूजा एवं यज्ञके हविष्य आदिके लिये यह दुधारू गाय नन्दिनी अपने यहाँ रहती है, इसे तुम्हारा राज्य लेकर भी नहीं दिया जा सकता ।। १७½ ।।

विश्वामित्र उवाच

क्षत्रियोऽहं भवान् विप्रस्तपस्स्वाध्यायसाधनः ।। १८ ।।

विश्वामित्रजी बोले—मैं क्षत्रिय राजा हूँ और आप तपस्या तथा स्वाध्यायका साधन करनेवाले ब्राह्मण हैं ।। १८ ।।

ब्राह्मणेषु कुतो वीर्यं प्रशान्तेषु धृतात्मसु ।
अर्बुदेन गवां यस्त्वं न ददासि ममेप्सितम् ।। १९ ।।
स्वधर्मं न प्रहास्यामि नेष्यामि च बलेन गाम् ।
(क्षत्रियोऽस्मि न विप्रोऽहं बाहुवीर्योऽस्मि धर्मतः ।
तस्माद् भुजबलेनेमां हरिष्यामीह पश्यतः ।।)

ब्राह्मण अत्यधिक शान्त और जितात्मा होते हैं। उनमें बल और पराक्रम कहाँसे आ सकता है; फिर क्या बात है जो आप मेरी अभीष्ट वस्तुको एक अर्बुद गाय लेकर भी नहीं दे रहे हैं। मैं अपना धर्म नहीं छोड़ूँगा, इस गायको बलपूर्वक ले जाऊँगा। मैं क्षत्रिय हूँ, ब्राह्मण नहीं हूँ। मुझे धर्मतः अपना बाहुबल प्रकट करनेका अधिकार है; अतः बाहुबलसे ही आपके देखते-देखते इस गायको हर ले जाऊँगा ।। १९½ ।।

वसिष्ठ उवाच

बलस्थश्चासि राजा च बाहुवीर्यश्च क्षत्रियः ।। २० ।।
यथेच्छसि तथा क्षिप्रं कुरु मा त्वं विचारय ।

वसिष्ठजीने कहा—तुम सेनाके साथ हो, राजा हो और अपने बाहुबलका भरोसा रखनेवाले क्षत्रिय हो। जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा शीघ्र कर डालो, विचार न करो ।। २०½ ।।

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तस्तथा पार्थ विश्वामित्रो बलादिव ।। २१ ।।
हंसचन्द्रप्रतीकाशां नन्दिनीं तां जहार गाम् ।
कशादण्डप्रणुदितां काल्यमानामितस्ततः ।। २२ ।।

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! वसिष्ठजीके यों कहनेपर विश्वामित्रने मानो बलपूर्वक ही हंस और चन्द्रमाके समान श्वेत रंगवाली उस नन्दिनी गायका अपहरण कर लिया। उसे कोड़ों और डंडोंसे मार-मारकर इधर-उधर हाँका जा रहा था ।। २१-२२ ।।

हम्भायमाना कल्याणी वसिष्ठस्याथ नन्दिनी ।
आगम्याभिमुखी पार्थ तस्थौ भगवदुन्मुखी ।। २३ ।।
भृशं च ताड्यमाना वै न जगामाश्रमात् ततः ।

अर्जुन! उस समय कल्याणमयी नन्दिनी डकराती हुई महर्षि वसिष्ठके सामने आकर खड़ी हो गयी और उन्हींकी ओर मुँह करके देखने लगी। उसके ऊपर जोर-जोरसे मार पड़ रही थी, तो भी वह आश्रमसे अन्यत्र नहीं गयी ।। २३½ ।।

वसिष्ठ उवाच

शृणोमि ते रवं भद्रे विनदन्त्याः पुनः पुनः ।। २४ ।।
ह्रियसे त्वं बलाद् भद्रे विश्वामित्रेण नन्दिनि ।
किं कर्तव्यं मया तत्र क्षमावान् ब्राह्मणो ह्यहम् ।। २५ ।।

वसिष्ठजी बोले—भद्रे! तुम बार-बार क्रन्दन कर रही हो। मैं तुम्हारा आर्तनाद सुनता हूँ, परंतु क्या करूँ? कल्याणमयी नन्दिनि! विश्वामित्र तुम्हें बलपूर्वक हर ले जा रहे हैं। इसमें मैं क्या कर सकता हूँ। मैं एक क्षमाशील ब्राह्मण हूँ ।। २४-२५ ।।

गन्धर्व उवाच

सा भयान्नन्दिनी तेषां बलानां भरतर्षभ ।
विश्वामित्रभयोद्विग्ना वसिष्ठं समुपागमत् ।। २६ ।।

गन्धर्व कहता है—भरतवंशशिरोमणे! नन्दिनी विश्वामित्रके भयसे उद्विग्न हो उठी थी। वह उनके सैनिकोंके भयसे मुनिवर वसिष्ठकी शरणमें गयी ।। २६ ।।

गौरुवाच

कशाग्रदण्डाभिहतां क्रोशन्तीं मामनाथवत् ।
विश्वामित्रबलैर्घोरैर्भगवन् किमुपेक्षसे ।। २७ ।।

गौने कहा—भगवन्! विश्वामित्रके निर्दय सैनिक मुझे कोड़ों और डंडोंसे पीट रहे हैं। मैं अनाथकी भाँति क्रन्दन कर रही हूँ। आप क्यों मेरी उपेक्षा कर रहे हैं? ।। २७ ।।

गन्धर्व उवाच

नन्दिन्यामेवं क्रन्दन्त्यां धर्षितायां महामुनिः ।

न चुक्षुभे तदा धैर्यान्न चचाल धृतव्रतः ।। २८ ।।

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! नन्दिनी इस प्रकार अपमानित होकर करुण क्रन्दन कर रही थी, तो भी दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले महामुनि वसिष्ठ न तो क्षुब्ध हुए और न धैर्यसे ही विचलित हुए ।। २८ ।।

वसिष्ठ उवाच

क्षत्रियाणां बलं तेजो ब्राह्मणानां क्षमा बलम् ।
क्षमा मां भजते यस्माद् गम्यतां यदि रोचते ।। २९ ।।

वसिष्ठजी बोले—भद्रे! क्षत्रियोंका बल उनका तेज है और ब्राह्मणोंका बल उनकी क्षमा है। चूँकि मुझे क्षमा अपनाये हुए है, अतः तुम्हारी रुचि हो, तो जा सकती हो ।। २९ ।।

नन्दिन्युवाच

किं नु त्यक्तास्मि भगवन् यदेवं त्वं प्रभाषसे ।
अत्यक्ताहं त्वया ब्रह्मन् नेतुं शक्या न वै बलात् ।। ३० ।।

नन्दिनीने कहा—भगवन्! क्या आपने मुझे त्याग दिया, जो ऐसी बात कहते हैं? ब्रह्मन्! आपने त्याग न दिया हो, तो कोई मुझे बलपूर्वक नहीं ले जा सकता ।। ३० ।।

वसिष्ठ उवाच

न त्वां त्यजामि कल्याणि स्थीयतां यदि शक्यते ।
दृढेन दाम्ना बद्ध्वैष वत्सस्ते ह्रियते बलात् ।। ३१ ।।

वसिष्ठजी बोले—कल्याणि! मैं तुम्हारा त्याग नहीं करता। तुम यदि रह सको तो यहीं रहो। यह तुम्हारा बछड़ा मजबूत रस्सीसे बाँधकर बलपूर्वक ले जाया जा रहा है ।। ३१ ।।

गन्धर्व उवाच

स्थीयतामिति तच्छ्रुत्वा वसिष्ठस्य पयस्विनी ।
ऊर्ध्वाञ्चितशिरोग्रीवा प्रबभौ रौद्रदर्शना ।। ३२ ।।

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! ‘यहीं रहो’ वसिष्ठजीका यह वचन सुनकर नन्दिनीने अपने सिर और गर्दनको ऊपरकी ओर उठाया। उस समय वह देखनेमें बड़ी भयानक जान पड़ती थी ।। ३२ ।।

क्रोधरक्तेक्षणा सा गौर्हम्भारवघनस्वना ।
विश्वामित्रस्य तत् सैन्यं व्यद्रावयत सर्वशः ।। ३३ ।।

क्रोधसे उसकी आँखें लाल हो गयी थीं। उसके डकरानेकी आवाज जोर-जोरसे सुनायी देने लगी। उसने विश्वामित्रकी उस सेनाको चारों ओर खदेड़ना शुरू किया ।। ३३ ।।

कशाग्रदण्डाभिहता काल्यमाना ततस्ततः ।
क्रोधरक्तेक्षणा क्रोधं भूय एव समाददे ।। ३४ ।।

कोड़ोंके अग्रभाग और डंडोंसे मार-मारकर इधर-उधर हाँके जानेके कारण उसके नेत्र पहलेसे ही क्रोधके कारण रक्तवर्णके हो गये थे। फिर उसने और भी क्रोध धारण किया ।। ३४ ।।

आदित्य इव मध्याह्ने क्रोधदीप्तवपुर्बभौ ।
अङ्गारवर्षं मुञ्चन्ती मुहुर्वालधितो महत् ।। ३५ ।।
असृजत् पह्लवान् पुच्छात् प्रस्रवाद् द्रविडाञ्छकान् ।
योनिदेशाच्च यवनान् शकृतः शबरान् बहुन् ।। ३६ ।।

क्रोधके कारण उसके शरीरसे अपूर्व दीप्ति प्रकट हो रही थी। वह दोपहरके सूर्यकी भाँति उद्भासित हो उठी। उसने अपनी पूँछसे बारंबार अंगारकी भारी वर्षा करते हुए पूँछसे स पह्लवोंकी सृष्टि की, थनोंसे द्रविडों और शकोंको उत्पन्न किया, योनिदेशसे यवनों और गोबरसे बहुतेरे शबरोंको जन्म दिया ।। ३५-३६ ।।

मूत्रतश्चासृजत् कांश्चिच्छबरांश्चैव पार्श्वतः ।
पौण्ड्रान् किरातान् यवनान् सिंहलान् बर्बरान् खसान् ।। ३७ ।।

कितने ही शबर उसके मूत्रसे प्रकट हुए। उसके पाश्वभागसे पौण्ड्र, किरात, यवन, सिंहल, बर्बर और खसोंकी सृष्टि हुई ।। ३७ ।।

चिबुकांश्च पुलिन्दांश्च चीनान् हूणान् सकेरलान् ।

ससर्ज फेनतः सा गौर्म्लेच्छान् बहुविधानपि ।। ३८ ।।

इसी प्रकार उस गौने फेनसे चिबुक, पुलिन्द, चीन, हूण, केरल आदि बहुत प्रकारके म्लेच्छोंकी सृष्टि की ।। ३८ ।।

विश्वामित्रकी सेनापर नन्दिनीका कोप

तैर्विसृष्टैर्महासैन्यैर्नानाम्लेच्छगणैस्तदा ।
नानावरणसंच्छन्नैर्नानायुधधरैस्तथा ।। ३९ ।।
अवाकीर्यत संरब्धैर्विश्वामित्रस्य पश्यतः ।
एकैकश्च तदा योधः पञ्चभिः सप्तभिर्वृतः ।। ४० ।।

उसके द्वारा रचे गये नाना प्रकारके म्लेच्छगणोंकी वे विशाल सेनाएँ जो अनेक प्रकारके कवच आदिसे आच्छादित थीं। सबने भाँति-भाँतिके आयुध धारण कर रखे थे और सभी सैनिक क्रोधमें भरे हुए थे। उन्होंने विश्वामित्रके देखते-देखते उनकी सेनाको तितर-बितर कर दिया। विश्वामित्रके एक-एक सैनिकको म्लेच्छ-सेनाके पाँच-पाँच, सात-सात योद्धाओंने घेर रखा था ।। ३९-४० ।।

अस्त्रवर्षेण महता वध्यमानं बलं तदा ।
प्रभग्नं सर्वतस्त्रस्तं विश्वामित्रस्य पश्यतः ।। ४१ ।।

उस समय अस्त्र-शस्त्रोंकी भारी वर्षासे घायल होकर विश्वामित्रकी सेनाके पाँव उखड़ गये और उनके सामने ही वे सभी योद्धा भयभीत हो सब ओर भाग चले ।। ४१ ।।

न च प्राणैर्वियुज्यन्ते केचित् तत्रास्य सैनिकाः ।
विश्वामित्रस्य संक्रुद्धैर्वासिष्ठैर्भरतर्षभ ।। ४२ ।।

भरतश्रेष्ठ! क्रोधमें भरे हुए होनेपर भी वसिष्ठसेनाके सैनिक विश्वामित्रके किसी भी योद्धाका प्राण नहीं लेते थे ।। ४२ ।।

सा गौस्तत् सकलं सैन्यं कालयामास दूरतः ।
विश्वामित्रस्य तत् सैन्यं काल्यमानं त्रियोजनम् ।। ४३ ।।
क्रोशमानं भयोद्विग्नं त्रातारं नाध्यगच्छत ।

इस प्रकार नन्दिनी गायने उनकी सारी सेनाको दूर भगा दिया। विश्वामित्रकी वह सेना तीन योजनतक खदेड़ी गयी। वह सेना भयसे व्याकुल होकर चीखती-चिल्लाती रही; किंतु कोई भी संरक्षक उसे नहीं मिला ।। ४३ १/२ ।।

(विश्वामित्रस्ततो दृष्ट्वा क्रोधाविष्टः स रोदसी ।
ववर्ष शरवर्षाणि वसिष्ठे मुनिसत्तमे ।।
घोररूपांश्च नाराचान् क्षुरान् भल्लान् महामुनिः ।
विश्वामित्रप्रयुक्तांस्तान् वैणवेन व्यमोचयत् ।।
वसिष्ठस्य तदा दृष्ट्वा कर्मकौशलमाहवे ।।
विश्वामित्रोऽपि कोपेन भूयः शत्रुनिपातनः ।
दिव्यास्त्रवर्षं तस्मै तु प्राहिणोन्मुनये रुषा ।।
आग्नेयं वारुणं चैन्द्रं याम्यं वायव्यमेव च ।

विससर्ज महाभागे वसिष्ठे ब्रह्मणः सुते ।।
अस्त्राणि सर्वतो ज्वालां विसृजन्ति प्रपेदिरे ।
युगान्तसमये घोराः पतङ्गस्येव रश्मयः ।।
वसिष्ठोऽपि महातेजा ब्रह्मशक्तिप्रयुक्तया ।
यष्ट्या निवारयामास सर्वाण्यस्त्राणि स स्मयन् ।।
ततस्ते भस्मसाद्भूताः पतन्ति स्म महीतले ।
अपोह्य दिव्यान्यस्त्राणि वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ।।

यह देखकर विश्वामित्र क्रोधसे व्याप्त हो मुनि-श्रेष्ठ वसिष्ठको लक्षित करके पृथिवी और आकाशमें बाणोंकी वर्षा करने लगे; परंतु महामुनि वसिष्ठने विश्वामित्रके चलाये हुए भयंकर नाराच, क्षुर और भल्ल नामक बाणोंका केवल बाँसकी छड़ीसे निवारण कर दिया। युद्धमें वसिष्ठ मुनिका वह कार्य-कौशल देखकर शत्रुओंको मार गिरानेवाले विश्वामित्र भी पुनः कुपित हो महर्षि वसिष्ठपर रोषपूर्वक दिव्यास्त्रोंकी वर्षा करने लगे। उन्होंने ब्रह्माजीके पुत्र महाभाग वसिष्ठपर आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, याम्यास्त्र और वायव्यास्त्रका प्रयोग किया। वे सब अस्त्र प्रलयकालके सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंके समान सब ओरसे आगकी लपटें छोड़ते हुए महर्षिपर टूट पड़े; परंतु महातेजस्वी वसिष्ठने मुसकराते हुए ब्राह्मबलसे प्रेरित हुई छड़ीके द्वारा इन सब अस्त्रोंको पीछे लौटा दिया। फिर तो वे सभी अस्त्र भस्मीभूत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। इस प्रकार उन दिव्यास्त्रोंका निवारण करके वसिष्ठजीने विश्वामित्रसे यह बात कही।

वसिष्ठ उवाच

निर्जितोऽसि महाराज दुरात्मन् गाधिनन्दन ।
यदि तेऽस्ति परं शौर्यं तद् दर्शय मयि स्थिते ।।

वसिष्ठजी बोले—महाराज दुरात्मा गाधिनन्दन! अब तू परास्त हो चुका है। यदि तुझमें और भी उत्तम पराक्रम है तो मेरे ऊपर दिखा। मैं तेरे सामने डटकर खड़ा हूँ।

गन्धर्व उवाच

विश्वामित्रस्तथा चोक्तो वसिष्ठेन नराधिप ।
नोवाच किंचिद् व्रीडाढ्यो विद्रावितमहाबलः ।।)

गन्धर्व कहता है—राजन्! विश्वामित्रकी वह विशाल सेना खदेड़ी जा चुकी थी। वसिष्ठके द्वारा पूर्वोक्तरूपसे ललकारे जानेपर वे लज्जित होकर कुछ भी उत्तर न दे सके।

दृष्ट्वा तन्महदाश्चर्यं ब्रह्मतेजोभवे तदा ।। ४४ ।।

विश्वामित्रः क्षत्रभावान्निर्विण्णो वाक्यमब्रवीत् ।
धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।। ४५ ।।

ब्रह्मतेजका यह अत्यन्त आश्चर्यजनक चमत्कार देखकर विश्वामित्र क्षत्रियत्वसे खिन्न एवं उदासीन हो यह बात बोले—'क्षत्रिय-बल तो नाममात्रका ही बल है, उसे धिक्कार है। ब्रह्मतेजजनित बल ही वास्तविक बल है' ।। ४४-४५ ।।

बलाबलं विनिश्चित्य तप एव परं बलम् ।
स राज्यं स्फीतमुत्सृज्य तां च दीप्तां नृपश्रियम् ।। ४६ ।।
भोगांश्च पृष्ठतः कृत्वा तपस्येव मनो दधे ।
स गत्वा तपसा सिद्धिं लोकान् विष्टभ्य तेजसा ।। ४७ ।।
तताप सर्वान् दीप्तौजा ब्राह्मणत्वमवाप्तवान् ।
अपिबच्च ततः सोममिन्द्रेण सह कौशिकः ।। ४८ ।।

इस प्रकार बलाबलका विचार करके उन्होंने तपस्याको ही सर्वोत्तम बल निश्चत किया और अपने समृद्धिशाली राज्य तथा देदीप्यमान राज्यलक्ष्मीको छोड़कर, भोगोंको पीछे करके तपस्यामें ही मन लगाया। इस तपस्यासे सिद्धिको प्राप्त हो उद्दीप्त तेजवाले विश्वामित्रजीने अपने प्रभावसे सम्पूर्ण लोकोंको स्तब्ध एवं संतप्त कर दिया और (अन्ततोगत्वा) ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया; फिर वे इन्द्रके साथ सोमपान करने लगे ।। ४६—४८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठे विश्वामित्रपराभवे चतु:सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठजीके चरित्रके प्रसंगमें विश्वामित्र-पराभवविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १० १/२ श्लोक मिलाकर कुल ५८ १/२ श्लोक हैं)

---

१. गौओंके मस्तक आदि छः अंगोंका बड़ा एवं विस्तृत होना शुभ माना गया है। जैसा कि शास्त्रका वचन है—

शिरो ग्रीवा सक्थिनी च सास्ना पुच्छमथ स्तनाः । शुभान्येतानि धेनूनामायतानि प्रचक्षते ।।

२. गौओंका ललाट, दोनों नेत्र और दोनों कान—ये पाँचों अंग पृथु (पुष्ट एवं विस्तृत) हों तो विद्वानोंद्वारा अच्छे माने जाते हैं। जैसा कि शास्त्रका वचन है—

ललाटं श्रवणौ चैव नयनद्वितयं तथा । पृथून्येतानि शस्यन्ते धेनूनां पञ्च सूरिभिः ।। [नीलकण्ठी टीकासे]

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

शक्तिके शापसे कल्माषपादका राक्षस होना, विश्वामित्रकी प्रेरणासे राक्षसद्वारा वसिष्ठके पुत्रोंका भक्षण और वसिष्ठका शोक

गन्धर्व उवाच

कल्माषपाद इत्येवं लोके राजा बभूव ह ।

इक्ष्वाकुवंशजः पार्थ तेजसासदृशो भुवि ।। १ ।।

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! इक्ष्वाकुवंशमें एक राजा हुए, जो लोकमें कल्माषपादके नामसे प्रसिद्ध थे। इस पृथ्वीपर वे एक असाधारण तेजस्वी राजा थे ।। १ ।।

स कदाचिद् वनं राजा मृगयां निर्ययौ पुरात् ।

मृगान् विध्यन् वराहांश्च चचार रिपुमर्दनः ।। २ ।।

एक दिन वे नगरसे निकलकर वनमें हिंसक पशुओंको मारनेके लिये गये। वहाँ वे रिपुमर्दन नरेश वराहों और अन्य हिंसक पशुओंको मारते हुए इधर-उधर विचरने लगे ।। २ ।।

तस्मिन् वने महाघोरे खड्गांश्च बहुशोऽहनत् ।

हत्वा च सुचिरं श्रान्तो राजा निववृते ततः ।। ३ ।।

उस महाभयानक वनमें उन्होंने बहुत-से गैंडे भी मारे। बहुत देरतक हिंस्र पशुओंको मारकर जब राजा थक गये, तब वहाँसे नगरकी ओर लौटे ।। ३ ।।

अकामयत् तं याज्यार्थे विश्वामित्रः प्रतापवान् ।

स तु राजा महात्मानं वासिष्ठमृषिसत्तमम् ।। ४ ।।

तृषार्तश्च क्षुधार्तश्च एकायनगतः पथि ।

अपश्यदजितः संख्ये मुनिं प्रतिमुखागतम् ।। ५ ।।

प्रतापी विश्वामित्र उन्हें अपना यजमान बनाना चाहते थे। राजा कल्माषपाद युद्धमें कभी पराजित नहीं होते थे। उस दिन वे भूख-प्याससे पीड़ित थे और ऐसे तंग रास्तेपर आ पहुँचे थे, जहाँ एक ही आदमी आ-जा सकता था। वहाँ आनेपर उन्होंने देखा, सामनेकी ओरसे मुनिश्रेष्ठ महामना वसिष्ठकुमार आ रहे हैं ।। ४-५ ।।

शक्तिं नाम महाभागं वसिष्ठकुलवर्धनम् ।

ज्येष्ठं पुत्रं पुत्रशताद् वसिष्ठस्य महात्मनः ।। ६ ।।

वे वसिष्ठजीके वंशकी वृद्धि करनेवाले महाभाग शक्ति थे। महात्मा वसिष्ठजीके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़े वे ही थे ।। ६ ।।

अपगच्छ पथोऽस्माकमित्येवं पार्थिवोऽब्रवीत् ।
तथा ऋषिरुवाचैनं सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा ।। ७ ।।

उन्हें देखकर राजाने कहा—'हमारे रास्तेसे हट जाओ।' तब शक्ति मुनिने मधुर वाणीमें उन्हें समझाते हुए कहा— ।। ७ ।।

मम पन्था महाराज धर्म एष सनातनः ।
राज्ञा सर्वेषु धर्मेषु देयः पन्था द्विजातये ।। ८ ।।

'महाराज! मार्ग तो मुझे ही मिलना चाहिये। यही सनातन धर्म है। सभी धर्मोंमें राजाके लिये यही उचित है कि ब्राह्मणको मार्ग दे' ।। ८ ।।

एवं परस्परं तौ तु पथोऽर्थं वाक्यमूचतुः ।
अपसर्पापसर्पेति वागुत्तरमकुर्वताम् ।। ९ ।।

इस प्रकार वे दोनों आपसमें रास्तेके लिये वाग्युद्ध करने लगे। एक कहता, 'तुम हटो' तो दूसरा कहता, 'नहीं, तुम हटो।' इस प्रकार वे उत्तर-प्रत्युत्तर करने लगे ।। ९ ।।

ऋषिस्तु नापचक्राम तस्मिन् धर्मपथे स्थितः ।
नापि राजा मुनेर्मानात् क्रोधाच्चाथ जगाम ह ।। १० ।।
अमुञ्चन्तं तु पन्थानं तमृषिं नृपसत्तमः ।
जघान कशया मोहात् तदा राक्षसवन्मुनिम् ।। ११ ।।

ऋषि तो धर्मके मार्गमें स्थित थे, अतः वे रास्ता छोड़कर नहीं हटे। उधर राजा भी मान और क्रोधके वशीभूत हो मुनिके मार्गसे इधर-उधर नहीं हट सके। राजाओंमें श्रेष्ठ कल्माषपादने मार्ग न छोड़नेवाले शक्ति मुनिके ऊपर मोह-वश राक्षसकी भाँति कोड़ेसे आघात किया ।। १०-११ ।।

कशाप्रहाराभिहतस्ततः स मुनिसत्तमः ।
तं शशाप नृपश्रेष्ठं वासिष्ठः क्रोधमूर्च्छितः ।। १२ ।।

कोड़ेकी चोट खाकर मुनिश्रेष्ठ शक्तिने क्रोधसे मूर्च्छित हो उन उत्तम नरेशको शाप दे दिया ।। १२ ।।

हंसि राक्षसवद् यस्माद् राजापसद तापसम् ।
तस्मात् त्वमद्यप्रभृति पुरुषादो भविष्यसि ।। १३ ।।
मनुष्यपिशिते सक्तश्चरिष्यसि महीमिमाम् ।
गच्छ राजाधमेत्युक्तः शक्तिना वीर्यशक्तिना ।। १४ ।।

तपस्याकी प्रबल शक्तिसे सम्पन्न शक्तिमुनिने कहा—'राजाओंमें नीच कल्माषपाद! तू एक तपस्वी ब्राह्मणको राक्षसकी भाँति मार रहा है, इसलिये आजसे नरभक्षी राक्षस हो जायगा तथा अबसे तू मनुष्योंके मांसमें आसक्त होकर इस पृथ्वीपर विचरता रहेगा। नृपाधम! जा यहाँसे' ।। १३-१४ ।।

ततो याज्यनिमित्ते तु विश्वामित्रवसिष्ठयोः ।
वैरमासीत् तदा तं तु विश्वामित्रोऽन्वपद्यत ।। १५ ।।

उन्हीं दिनों यजमानके लिये विश्वामित्र और वसिष्ठमें वैर चल रहा था। उस समय विश्वामित्र राजा कल्माषपादके पास आये ।। १५ ।।

तयोर्विवदतोरेवं समीपमुपचक्रमे ।
ऋषिरुग्रतपाः पार्थ विश्वामित्रः प्रतापवान् ।। १६ ।।

अर्जुन! जब राजा तथा ऋषिपुत्र दोनों इस प्रकार विवाद कर रहे थे, उग्रतपस्वी प्रतापी विश्वामित्र मुनि उनके निकट चले गये ।। १६ ।।

ततः स बुबुधे पश्चात् तमृषिं नृपसत्तमः ।
ऋषेः पुत्रं वसिष्ठस्य वसिष्ठमिव तेजसा ।। १७ ।।

तदनन्तर नृपश्रेष्ठ कल्माषपादने वसिष्ठके समान तेजस्वी वसिष्ठ मुनिके पुत्र उन महर्षि शक्तिको पहचाना ।। १७ ।।

अन्तर्धाय तदाऽऽत्मानं विश्वामित्रोऽपि भारत ।
तावुभावतिचक्राम चिकीर्षन्नात्मनः प्रियम् ।। १८ ।।

भारत! तब विश्वामित्रजीने भी अपनेको अदृश्य करके अपना प्रिय करनेकी इच्छासे राजा और शक्ति दोनोंको चकमा दिया ।। १८ ।।

स तु शप्तस्तदा तेन शक्तिना वै नृपोत्तमः ।
जगाम शरणं शक्तिं प्रसादयितुमर्हयन् ।। १९ ।।

जब शक्तिने शाप दे दिया, तब नृपतिशिरोमणि कल्माषपाद उनकी स्तुति करते हुए उन्हें प्रसन्न करनेके लिये उनके शरण होने चले ।। १९ ।।

तस्य भावं विदित्वा स नृपतेः कुरुसत्तम ।
विश्वामित्रस्ततो रक्ष आदिदेश नृपं प्रति ।। २० ।।

कुरुश्रेष्ठ! राजाके मनोभावको समझकर उक्त विश्वामित्रजीने एक राक्षसको राजाके भीतर प्रवेश करनेके लिये आज्ञा दी ।। २० ।।

शापात् तस्य तु विप्रर्षेर्विश्वामित्रस्य चाज्ञया ।
राक्षसः किंकरो नाम विवेश नृपतिं तदा ।। २१ ।।

ब्रह्मर्षि शक्तिके शाप तथा विश्वामित्रजीकी आज्ञासे किंकर नामक राक्षसने तब राजाके भीतर प्रवेश किया ।। २१ ।।

रक्षसा तं गृहीतं तु विदित्वा मुनिसत्तमः ।
विश्वामित्रोऽप्यपाक्रामत् तस्माद् देशादरिंदम ।। २२ ।।

शत्रुसूदन! राक्षसने राजाको आविष्ट कर लिया है, यह जानकर मुनिवर विश्वामित्रजी भी उस स्थानसे चले गये ।। २२ ।।

ततः स नृपतिस्तेन रक्षसान्तर्गतेन वै ।
बलवत् पीडितः पार्थ नान्यबुध्यत किंचन ।। २३ ।।

कुन्तीनन्दन! भीतर घुसे हुए राक्षससे अत्यन्त पीड़ित हो उन नरेशको किसी भी बातकी सुध-बुध न रही ।। २३ ।।

ददर्शाथ द्विजः कश्चिद् राजानं प्रस्थितं वनम् ।
अयाचत क्षुधापन्नः समांसं भोजनं तदा ।। २४ ।।

एक दिन किसी ब्राह्मणने (राक्षससे आविष्ट) राजाको वनकी ओर जाते देखा और भूखसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण उनसे मांससहित भोजन माँगा ।। २४ ।।

तमुवाचाथ राजर्षिर्द्विजं मित्रसहस्तदा ।
आस्स्व ब्रह्मंस्त्वमत्रैव मुहूर्तं प्रतिपालयन् ।। २५ ।।

तब राजर्षि मित्रसह (कल्माषपाद)-ने उस द्विजसे कहा—‘ब्रह्मन्! आप यहीं बैठिये और दो घड़ीतक प्रतीक्षा कीजिये ।। २५ ।।

निवृत्तः प्रतिदास्यामि भोजनं ते यथेप्सितम् ।
इत्युक्त्वा प्रययौ राजा तस्थौ च द्विजसत्तमः ।। २६ ।।

‘मैं वनसे लौटनेपर आपको यथेष्ट भोजन दूँगा।’ यह कहकर राजा चले गये और वह ब्राह्मण (वहाँ) ठहर गया ।। २६ ।।

ततो राजा परिक्रम्य यथाकामं यथासुखम् ।

निवृत्तोऽन्तःपुरं पार्थ प्रविवेश महामनाः ।। २७ ।।

पार्थ! तत्पश्चात् महामना राजा मित्रसह इच्छानुसार मौजसे घूम-फिरकर जब लौटे, तब अन्तःपुरमें चले गये ।। २७ ।।

ततोऽर्धरात्र उत्थाय सूदमानाय्य सत्वरम् ।
उवाच राजा संस्मृत्य ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुतम् ।। २८ ।।
गच्छामुष्मिन् वनोद्देशे ब्राह्मणो मां प्रतीक्षते ।
अन्नार्थी तं त्वमन्नेन समांसेनोपपादय ।। २९ ।।

वहाँ आधी रातके समय उन्हें ब्राह्मणको भोजन देनेकी प्रतिज्ञाका स्मरण हुआ। फिर तो वे उठ बैठे और तुरंत रसोइयेको बुलाकर बोले—'जाओ, वनके अमुक प्रदेशमें एक ब्राह्मण भोजनके लिये मेरी प्रतीक्षा करता है। उसे तुम मांसयुक्त भोजनसे तृप्त करो' ।। २८-२९ ।।

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तस्ततः सूदः सोऽनासाद्यामिषं क्वचित् ।
निवेदयामास तदा तस्मै राज्ञे व्यथान्वितः ।। ३० ।।

गन्धर्व कहता है—उनके यों कहनेपर रसोइयेने मांसके लिये खोज की; परंतु जब कहीं भी मांस नहीं मिला, तब उसने दुःखी होकर राजाको इस बातकी सूचना दी ।। ३० ।।

राजा तु रक्षसाऽऽविष्टः सूदमाह गतव्यथः ।
अप्येनं नरमांसेन भोजयेति पुनः पुनः ।। ३१ ।।

राजापर राक्षसका आवेश था, अतः उन्होंने रसोइयेसे निश्चिन्त होकर कहा—'उस ब्राह्मणको मनुष्यका मांस ही खिला दो' यह बात उन्होंने बार-बार दुहरायी ।। ३१ ।।

तथेत्युक्त्वा ततः सूदः संस्थानं वध्यघातिनाम् ।
गत्वाऽऽजहार त्वरितो नरमांसमपेतभीः ।। ३२ ।।

तब रसोइया 'तथास्तु' कहकर वध्यभूमिमें जल्लादोंके घर गया और (उनसे) निर्भय होकर तुरंत ही मनुष्यका मांस ले आया ।। ३२ ।।

एतत् संस्कृत्य विधिवदन्नोपहितमाशु वै ।
तस्मै प्रादाद् ब्राह्मणाय क्षुधिताय तपस्विने ।। ३३ ।।

फिर उसीको तुरंत विधिपूर्वक राँधकर अन्नके साथ उसे उस तपस्वी एवं भूखे ब्राह्मणको दे दिया ।। ३३ ।।

स सिद्धचक्षुषा दृष्ट्वा तदन्नं द्विजसत्तमः ।
अभोज्यमिदमित्याह क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।। ३४ ।।

तब उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने तपःसिद्ध दृष्टिसे उस अन्नको देखा और 'यह खानेयोग्य नहीं है' यों समझकर क्रोधपूर्ण नेत्रोंसे देखते हुए कहा ।। ३४ ।।

ब्राह्मण उवाच

यस्मादभोज्यमन्नं मे ददाति स नृपाधमः ।
तस्मात् तस्यैव मूढस्य भविष्यत्यत्र लोलुपा ।। ३५ ।।

ब्राह्मणने कहा—वह नीच राजा मुझे न खाने-योग्य अन्न दे रहा है, अतः उसी मूर्खकी जिह्वा ऐसे अन्नके लिये लालायित रहेगी ।। ३५ ।।

सक्तो मानुषमांसेषु यथोक्तः शक्तिना तथा ।
उद्वेजनीयो भूतानां चरिष्यति महीमिमाम् ।। ३६ ।।

जैसा कि शक्ति मुनिने कहा है, वह मनुष्योंके मांसमें आसक्त हो समस्त प्राणियोंका उद्वेगपात्र बनकर इस पृथ्वीपर विचरेगा ।। ३६ ।।

द्विरनुव्याहृते राज्ञः स शापो बलवानभूत् ।
रक्षोबलसमाविष्टो विसंज्ञश्चाभवन्नृपः ।। ३७ ।।

दो बार इस तरहकी बात कही जानेके कारण राजाका शाप प्रबल हो गया। उसके साथ उनमें राक्षसके बलका समावेश हो जानेके कारण राजाकी विवेकशक्ति सर्वथा लुप्त हो गयी ।। ३७ ।।

ततः स नृपतिश्रेष्ठो रक्षसापहृतेन्द्रियः ।
उवाच शक्तिं तं दृष्ट्वा न चिरादिव भारत ।। ३८ ।।

भारत! राक्षसने राजाके मन और इन्द्रियोंको काबूमें कर लिया था, अतः उन नृपश्रेष्ठने कुछ ही दिनों बाद उक्त शक्ति मुनिको अपने सामने देखकर कहा— ।। ३८ ।।

यस्मादसदृशः शापः प्रयुक्तोऽयं मयि त्वया ।
तस्मात् त्वत्तः प्रवर्तिष्ये खादितुं पुरुषानहम् ।। ३९ ।।

'चूँकि तुमने मुझे यह सर्वथा अयोग्य शाप दिया है, अतः अब मैं तुम्हींसे मनुष्योंका भक्षण आरम्भ करूँगा' ।। ३९ ।।

एवमुक्त्वा ततः सद्यस्तं प्राणैर्विप्रयुज्य च ।
शक्तिनं भक्षयामास व्याघ्रः पशुमिवेप्सितम् ।। ४० ।।

यों कहकर राजाने तत्काल ही शक्तिके प्राण ले लिये और जैसे बाघ अपनी रुचिके अनुकूल पशुको चबा जाता है, उसी प्रकार वे भी शक्तिको खा गये ।। ४० ।।

शक्तिनं तु मृतं दृष्ट्वा विश्वामित्रः पुनः पुनः ।
वसिष्ठस्यैव पुत्रेषु तद् रक्षः संदिदेश ह ।। ४१ ।।

शक्तिको मारा गया देख विश्वामित्र बार-बार वसिष्ठके पुत्रोंपर ही आक्रमण करनेके लिये उस राक्षसको प्रेरित करते थे ।। ४१ ।।

स ताञ्छक्त्यवरान् पुत्रान् वसिष्ठस्य महात्मनः ।
भक्षयामास संक्रुद्धः सिंहः क्षुद्रमृगानिव ।। ४२ ।।

जैसे क्रोधमें भरा हुआ सिंह छोटे मृगोंको खा जाता है, उसी प्रकार उन (राक्षसभावापन्न) नरेशने महात्मा वसिष्ठके उन सब पुत्रोंको भी, जो शक्तिसे छोटे थे, (मारकर) खा लिया ।। ४२ ।।

वसिष्ठो घातिताञ्छ्रुत्वा विश्वामित्रेण तान् सुतान् ।
धारयामास तं शोकं महाद्रिरिव मेदिनीम् ।। ४३ ।।

वसिष्ठने यह सुनकर भी कि विश्वामित्रने मेरे पुत्रोंको मरवा डाला है, अपने शोकके वेगको उसी प्रकार धारण कर लिया, जैसे महान् पर्वत सुमेरु इस पृथ्वीको ।। ४३ ।।

चक्रे चात्मविनाशाय बुद्धिं स मुनिसत्तमः ।
न त्वेव कौशिकोच्छेदं मेने मतिमतां वरः ।। ४४ ।।

उस समय (अपनी पुत्रवधुओंके दुःखसे दुःखित हो) वसिष्ठने अपने शरीरको त्याग देनेका विचार कर लिया; परंतु विश्वामित्रका मूलोच्छेद करनेकी बात बुद्धि-मानोंमें श्रेष्ठ मुनिवर वसिष्ठके मनमें ही नहीं आयी ।। ४४ ।।

स मेरुकूटादात्मानं मुमोच भगवानृषिः ।
गिरेस्तस्य शिलायां तु तूलराशाविवापतत् ।। ४५ ।।

महर्षि भगवान् वसिष्ठने मेरुपर्वतके शिखरसे अपने-आपको उसी पर्वतकी शिलापर गिराया; परंतु उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो वे रूईके ढेरपर गिरे हों ।। ४५ ।।

न ममार च पातेन स यदा तेन पाण्डव ।
तदाग्निमिद्धं भगवान् संविवेश महावने ।। ४६ ।।

पाण्डुनन्दन! जब (इस प्रकार) गिरनेसे भी वे नहीं मरे, तब वे भगवान् वसिष्ठ महान् वनके भीतर धधकते हुए दावानलमें घुस गये ।। ४६ ।।

तं तदा सुसमिद्धोऽपि न ददाह हुताशनः ।
दीप्यमानोऽप्यमित्रघ्न शीतोऽग्निरभवत् ततः ।। ४७ ।।

यद्यपि उस समय अग्नि प्रचण्ड वेगसे प्रज्वलित हो रही थी, तो भी उन्हें जला न सकी। शत्रुसूदन अर्जुन! उनके प्रभावसे वह दहकती हुई आग भी उनके लिये शीतल हो गयी ।। ४७ ।।

स समुद्रमभिप्रेक्ष्य शोकाविष्टो महामुनिः ।
बद्ध्वा कण्ठे शिलां गुर्वीं निपपात तदाम्भसि ।। ४८ ।।

तब शोकके आवेशसे युक्त महामुनि वसिष्ठने सामने समुद्र देखकर अपने कण्ठमें बड़ी भारी शिला बाँध ली और तत्काल जलमें कूद पड़े ।। ४८ ।।

स समुद्रोर्मिवेगेन स्थले न्यस्तो महामुनिः ।
न ममार यदा विप्रः कथंचित् संशितव्रतः ।
जगाम स ततः खिन्नः पुनरेवाश्रमं प्रति ।। ४९ ।।

परंतु समुद्रकी लहरोंके वेगने उन महामुनिको किनारे लाकर डाल दिया। कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मर्षि वसिष्ठ जब किसी प्रकार न मर सके, तब खिन्न होकर अपने आश्रमपर ही लौट पड़े ।। ४९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठे वसिष्ठशोके पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठचरित्रके प्रसंगमें वसिष्ठशोकविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७५ ।।

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

कल्माषपादका शापसे उद्धार और वसिष्ठजीके द्वारा उन्हें अशमक नामक पुत्रकी प्राप्ति

गन्धर्व उवाच

ततो दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं रहितं तैः सुतैर्मुनिः ।
निर्जगाम सुदुःखार्तः पुनरप्याश्रमात् ततः ।। १ ।।

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! तदनन्तर मुनिवर वसिष्ठ आश्रमको अपने पुत्रोंसे सूना देख अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो गये और पुनः आश्रम छोड़कर चल दिये ।। १ ।।

सोऽपश्यत् सरितं पूर्णां प्रावृट्काले नवाम्भसा ।
वृक्षान् बहुविधान् पार्थ हरन्तीं तीरजान् बहून् ।। २ ।।

कुन्तीनन्दन! वर्षाका समय था; उन्होंने देखा, एक नदी नूतन जलसे लबालब भरी है और तटवर्ती बहुत-से वृक्षोंको (अपने जलकी धारामें) बहाये लिये जाती है ।। २ ।।

अथ चिन्तां समापेदे पुनः कौरवनन्दन ।
अम्भस्यस्या निमज्जेयमिति दुःखसमन्वितः ।। ३ ।।

कौरवनन्दन! (उसे देखकर) दुःखसे युक्त वसिष्ठजीके मनमें फिर यह विचार आया कि मैं इसी नदीके जलमें डूब जाऊँ ।। ३ ।।

ततः पाशैस्तदाऽऽत्मानं गाढं बद्ध्वा महामुनिः ।
तस्या जले महानद्या निममज्ज सुदुःखितः ।। ४ ।।

तब अत्यन्त दुःखी हुए महामुनि वसिष्ठ अपने शरीरको पाशोंद्वारा अच्छी तरह बाँधकर उस महानदीके जलमें कूद पड़े ।। ४ ।।

अथ छित्त्वा नदी पाशांस्तस्यारिबलसूदन ।
स्थलस्थं तमृषिं कृत्वा विपाशं समवासृजत् ।। ५ ।।

शत्रुसेनाका संहार करनेवाले अर्जुन! उस नदीने वसिष्ठजीके बन्धन काटकर उन्हें स्थलमें पहुँचा दिया और उन्हें विपाश (बन्धनरहित) करके छोड़ दिया ।। ५ ।।

उत्ततार ततः पाशैर्विमुक्तः स महानृषिः ।
विपाशेति च नामास्या नद्याश्चक्रे महानृषिः ।। ६ ।।

तब पाशमुक्त हो महर्षि जलसे निकल आये और उन्होंने उस नदीका नाम 'विपाशा' (व्यास) रख दिया ।। ६ ।।

शोकबुद्धिं तदा चक्रे न चैकत्र व्यतिष्ठत ।
सोऽगच्छत् पर्वतांश्चैव सरितश्च सरांसि च ।। ७ ।।

उस समय (पुत्रवधुओंके संतोषके लिये) उन्होंने शोकबुद्धि कर ली थी, इसलिये वे किसी एक स्थानमें नहीं ठहरते थे; पर्वतों, नदियों और सरोवरोंके तटपर चक्कर लगाते रहते थे ।। ७ ।।

दृष्ट्वा स पुनरेवर्षिर्नदीं हैमवतीं तदा ।
चण्डग्राहवतीं भीमां तस्याः स्रोतस्यपातयत् ।। ८ ।।

(इस तरह घूमते-घूमते) महर्षिने पुनः हिमालय पर्वतसे निकली हुई एक भयंकर नदीको देखा, जिसमें बड़े प्रचण्ड ग्राह रहते थे। उन्होंने फिर उसीकी प्रखर धारामें अपने-आपको डाल दिया ।। ८ ।।

सा तमग्निसमं विप्रमनुचिन्त्य सरिद्वरा ।
शतधा विद्रुता यस्माच्छतद्रुरिति विश्रुता ।। ९ ।।

वह श्रेष्ठ नदी ब्रह्मर्षि वसिष्ठको अग्निके समान तेजस्वी जान सैकड़ों धाराओंमें फूटकर इधर-उधर भाग चली। इसीलिये वह 'शतद्रु' नामसे विख्यात हुई ।। ९ ।।

ततः स्थलगतं दृष्ट्वा तत्राप्यात्मानमात्मना ।
मर्तुं न शक्यमित्युक्त्वा पुनरेवाश्रमं ययौ ।। १० ।।

वहाँ भी अपनेको स्वयं ही स्थलमें पड़ा देख 'मैं मर नहीं सकता' यों कहकर वे फिर अपने आश्रमपर ही चले गये ।। १० ।।

स गत्वा विविधाञ्छैलान् देशान् बहुविधांस्तथा ।
अदृश्यन्त्याख्यया वध्वाथाश्रमेऽनुसृतोऽभवत् ।। ११ ।।

इस तरह नाना प्रकारके पर्वतों और बहुसंख्यक देशोंमें भ्रमण करके वे पुनः जब अपने आश्रमके समीप आये, उस समय उनकी पुत्रवधू अदृश्यन्ती उनके पीछे हो ली ।। ११ ।।

अथ शुश्राव संगत्या वेदाध्ययननिःस्वनम् ।
पृष्ठतः परिपूर्णार्थं षड्भिरङ्गैरलंकृतम् ।। १२ ।।

मुनिको पीछेकी ओरसे संगतिपूर्वक छहों अंगोंसे अलंकृत तथा स्फुट अर्थोंसे युक्त वेदमन्त्रोंके अध्ययनका शब्द सुन पड़ा ।। १२ ।।

अनुव्रजति को न्वेष मामित्येवाथ सोऽब्रवीत् ।
अहमित्यदृश्यन्तीमं सा स्नुषा प्रत्यभाषत ।
शक्तेर्भार्या महाभाग तपोयुक्ता तपस्विनी ।। १३ ।।

तब उन्होंने पूछा—'मेरे पीछे-पीछे कौन आ रहा है?' उक्त पुत्रवधूने उत्तर दिया, 'महाभाग! मैं तपमें ही संलग्न रहनेवाली महर्षि शक्तिकी अनाथ पत्नी अदृश्यन्ती हूँ' ।। १३ ।।

वसिष्ठ उवाच

पुत्रि कस्यैष साङ्गस्य वेदस्याध्ययनस्वनः ।

पुरा साङ्गस्य वेदस्य शक्तेरिव मया श्रुतः ।। १४ ।।

वसिष्ठजीने पूछा—बेटी! पहले शक्तिके मुँहसे मैं अंगोंसहित वेदका जैसा पाठ सुना करता था, ठीक उसी प्रकार यह किसके द्वारा किये हुए सांग वेदके अध्ययनकी ध्वनि मेरे कानोंमें आ रही है? ।। १४ ।।

अदृश्यन्त्युवाच

अयं कुक्षौ समुत्पन्नः शक्तेर्गर्भः सुतस्य ते ।
समा द्वादश तस्येह वेदानभ्यस्यतो मुने ।। १५ ।।

अदृश्यन्ती बोली—भगवन्! यह मेरे उदरमें उत्पन्न हुआ आपके पुत्र शक्तिका बालक है। मुने! उसे मेरे गर्भमें ही वेदाभ्यास करते बारह वर्ष हो गये हैं ।। १५ ।।

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तस्तया हृष्टो वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ।
अस्ति संतानमित्युक्त्वा मृत्योः पार्थ न्यवर्तत ।। १६ ।।

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! अदृश्यन्तीके यों कहनेपर भगवान् पुरुषोत्तमका भजन करनेवाले महर्षि वसिष्ठ बड़े प्रसन्न हुए और ‘मेरी वंशपरम्पराका लोप नहीं हुआ है,’ यों कहकर मरनेके संकल्पसे विरत हो गये ।। १६ ।।

ततः प्रतिनिवृत्तः स तया वध्वा सहानघ ।
कल्माषपादमासीनं ददर्श विजने वने ।। १७ ।।

अनघ! तब वे अपनी पुत्रवधूके साथ आश्रमकी ओर लौटने लगे। इतनेमें ही मुनिने निर्जन वनमें बैठे हुए राजा कल्माषपादको देखा ।। १७ ।।

स तु दृष्ट्वैव तं राजा क्रुद्ध उत्थाय भारत ।
आविष्टो रक्षसोग्रेण इयेषात्तुं तदा मुनिम् ।। १८ ।।

भारत! भयानक राक्षससे आविष्ट हुए राजा कल्माषपाद मुनिको देखते ही क्रोधमें भरकर उठे और उसी समय उन्हें खा जानेकी इच्छा करने लगे ।। १८ ।।

अदृश्यन्ती तु तं दृष्ट्वा क्रूरकर्माणमग्रतः ।
भयसंविग्नया वाचा वसिष्ठमिदमब्रवीत् ।। १९ ।।

उस क्रूरकर्मी राक्षसको सामने देख अदृश्यन्तीने भयाकुल वाणीमें वसिष्ठजीसे यह कहा— ।। १९ ।।

असौ मृत्युरिवोग्रेण दण्डेन भगवन्नितः ।
प्रगृहीतेन काष्ठेन राक्षसोऽभ्येति दारुणः ।। २० ।।

'भगवन्! वह भयंकर राक्षस एक बहुत बड़ा काठ लेकर इधर ही आ रहा है, मानो साक्षात् यमराज भयानक दण्ड लिये आ रहे हैं ।। २० ।।

तं निवारयितुं शक्तो नान्योऽस्ति भुवि कश्चन ।
त्वदृतेऽद्य महाभाग सर्ववेदविदां वर ।। २१ ।।

'महाभाग! आप सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। (इस समय) इस भूतलपर आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है, जो उस राक्षसका वेग रोक सके ।। २१ ।।

पाहि मां भगवन् पापादस्माद् दारुणदर्शनात् ।
राक्षसोऽयमिहात्तुं वै नूनमावां समीहते ।। २२ ।।

'भगवन्! देखनेमें अत्यन्त भयंकर इस पापीसे मेरी रक्षा कीजिये। निश्चय ही यह राक्षस यहाँ हम दोनोंको खा जानेकी घातमें लगा है' ।। २२ ।।

वसिष्ठ उवाच

मा भैः पुत्रि न भेतव्यं राक्षसात् तु कथंचन ।
नैतद् रक्षो भयं यस्मात् पश्यसि त्वमुपस्थितम् ।। २३ ।।

वसिष्ठजीने कहा—बेटी! भयभीत न हो। इस राक्षससे तो किसी प्रकार न डरो। जिससे तुम्हें भय उपस्थित दिखायी देता है, यह वास्तवमें राक्षस नहीं है ।। २३ ।।

राजा कल्माषपादोऽयं वीर्यवान् प्रथितो भुवि ।
स एषोऽस्मिन् वनोद्देशे निवसत्यतिभीषणः ।। २४ ।।

ये भूमण्डलमें विख्यात पराक्रमी राजा कल्माषपाद हैं। ये ही इस वनमें अत्यन्त भीषण रूप धारण करके रहते हैं ।। २४ ।।

गन्धर्व उवाच

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य वसिष्ठो भगवानृषिः ।
वारयामास तेजस्वी हुंकारेणैव भारत ।। २५ ।।

गन्धर्व कहता है—भारत! उस राक्षसको आते देख तेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनिने हुंकारमात्रसे ही रोक दिया ।। २५ ।।

मन्त्रपूतेन च पुनः स तमभ्युक्ष्य वारिणा ।
मोक्षयामास वै शापात् तस्माद् योगान्नराधिपम् ।। २६ ।।

और मन्त्रपूत जलसे उसके छींटे देकर अपने योगके प्रभावसे राजाको उस शापसे मुक्त कर दिया ।। २६ ।।

स हि द्वादश वर्षाणि वासिष्ठस्यैव तेजसा ।
ग्रस्त आसीद् ग्रहेणेव पर्वकाले दिवाकरः ।। २७ ।।

जैसे पर्वकालमें सूर्य राहुद्वारा ग्रस्त हो जाता है, उसी प्रकार राजा कल्माषपाद बारह वर्षोंतक वसिष्ठजीके पुत्र शक्तिके ही तेज (शापके प्रभाव)-से ग्रस्त रहे ।। २७ ।।

रक्षसा विप्रमुक्तोऽथ स नृपस्तद् वनं महत् ।
तेजसा रञ्जयामास संध्याभ्रमिव भास्करः ।। २८ ।।

उस (मन्त्रपूत जलके प्रभावसे) राक्षसने भी राजाको छोड़ दिया। फिर तो भगवान् भास्कर जैसे संध्याकालीन बादलोंको अपनी (अरुण) किरणोंसे रँग देते हैं, उसी प्रकार राजाने अपने (सहज) तेजसे उस महान् वनको अनुरंजित कर दिया ।। २८ ।।

प्रतिलभ्य ततः संज्ञामभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
उवाच नृपतिः काले वसिष्ठमृषिसत्तमम् ।। २९ ।।

तदनन्तर सचेत होनेपर राजा कल्माषपादने तत्काल ही मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा— ।। २९ ।।

सौदासोऽहं महाभाग याज्यस्ते मुनिसत्तम ।
अस्मिन् काले यदिष्टं ते ब्रूहि किं करवाणि ते ।। ३० ।।

'महाभाग मुनिश्रेष्ठ! मैं आपका यजमान सौदास हूँ। इस समय आपकी जो अभिलाषा हो, कहिये—मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' ।। ३० ।।

वसिष्ठ उवाच

वृत्तमेतद् यथाकालं गच्छ राज्यं प्रशाधि वै ।
ब्राह्मणं तु मनुष्येन्द्र मावमंस्थाः कदाचन ।। ३१ ।।

वसिष्ठजीने कहा—नरेन्द्र! मेरी जो अभिलाषा थी, वह समयानुसार सिद्ध हो गयी। अब जाओ, अपना राज्य सँभालो। (आजसे फिर) कभी ब्राह्मणका अपमान न करना ।। ३१ ।।

राजोवाच

नावमंस्ये महाभाग कदाचिद् ब्राह्मणानहम् ।
त्वन्निदेशे स्थितः सम्यक् पूजयिष्याम्यहं द्विजान् ।। ३२ ।।

राजा बोले—महाभाग! मैं कभी ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करूँगा। आपकी आज्ञाके पालनमें संलग्न हो (सदा) ब्राह्मणोंकी भलीभाँति पूजा करूँगा ।। ३२ ।।

इक्ष्वाकूणां च येनाहमनृणः स्यां द्विजोत्तम ।
तत् त्वत्तः प्राप्तुमिच्छामि सर्ववेदविदां वर ।। ३३ ।।

समस्त वेदवेत्ताओंमें अग्रगण्य द्विजश्रेष्ठ! मैं आपसे एक पुत्र प्राप्त करना चाहता हूँ, जिसके द्वारा मैं अपने इक्ष्वाकुवंशी पितरोंके ऋणसे उऋण हो सकूँ ।। ३३ ।।

अपत्यमीप्सितं मह्यं दातुमर्हसि सत्तम ।
शीलरूपगुणोपेतमिक्ष्वाकुकुलवृद्धये ।। ३४ ।।

साधुशिरोमणे! इक्ष्वाकुवंशकी वृद्धिके लिये आप मुझे ऐसी अभीष्ट संतान दीजिये, जो उत्तम स्वभाव, सुन्दर रूप और श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न हो ।। ३४ ।।

गन्धर्व उवाच

ददानीत्येव तं तत्र राजानं प्रत्युवाच ह ।
वसिष्ठः परमेष्वासं सत्यसंधो द्विजोत्तमः ।। ३५ ।।

गन्धर्व कहता है—कुन्तीनन्दन! तब सत्यप्रतिज्ञ विप्रवर वसिष्ठने महान् धनुर्धर राजा कल्माषपादसे उत्तरमें कहा—'मैं तुम्हें वैसा ही पुत्र दूँगा' ।। ३५ ।।

ततः प्रतिययौ काले वसिष्ठः सह तेन वै ।
ख्यातां पुरीमिमां लोकेष्वयोध्यां मनुजेश्वर ।। ३६ ।।

मनुजेश्वर! तदनन्तर यथासमय राजाके साथ वसिष्ठजी उनकी राजधानीमें गये, जो लोकोंमें अयोध्या पुरीके नामसे प्रसिद्ध है ।। ३६ ।।

तं प्रजाः प्रतिमोदन्त्यः सर्वाः प्रत्युद्गतास्तदा ।
विपाप्मानं महात्मानं दिवौकस इवेश्वरम् ।। ३७ ।।

अपने पापरहित महात्मा नरेशका आगमन सुनकर अयोध्याकी सारी प्रजा अत्यन्त प्रसन्न हो उनकी अगवानीके लिये ठीक उसी तरह बाहर निकल आयी, जैसे देवतालोग अपने स्वामी इन्द्रका स्वागत करते हैं ।। ३७ ।।

सुचिराय मनुष्येन्द्रो नगरीं पुण्यलक्षणाम् ।
विवेश सहितस्तेन वसिष्ठेन महर्षिणा ।। ३८ ।।
ददृशुस्तं महीपालमयोध्यावासिनो जनाः ।
पुरोहितेन सहितं दिवाकरमिवोदितम् ।। ३९ ।।

बहुत वर्षोंके बाद राजाने उस पुण्यमयी नगरीमें प्रसिद्ध महर्षि वसिष्ठके साथ प्रवेश किया। अयोध्या-वासी लोगोंने पुरोहितके साथ आये हुए राजा कल्माष-पादका उसी प्रकार दर्शन किया, जैसे (प्रातःकाल) प्रजा उदित हुए भगवान् सूर्यका दर्शन करती है ।। ३८-३९ ।।

स च तां पूरयामास लक्ष्म्या लक्ष्मीवतां वरः ।
अयोध्यां व्योम शीतांशुः शरत्काल इवोदितः ।। ४० ।।

जैसे शीतल किरणोंवाले चन्द्रमा शरत्कालमें उदित हो आकाशको अपनी ज्योत्स्नासे जगमग कर देते हैं, उसी प्रकार लक्ष्मीवानोंमें श्रेष्ठ नरेशने उस अयोध्यापुरीको शोभासे परिपूर्ण कर दिया ।। ४० ।।

संसिक्तमृष्टपन्थानं पताकाध्वजशोभितम् ।
मनः प्रह्लादयामास तस्य तत् पुरमुत्तमम् ।। ४१ ।।

नगरकी सड़कोंको झाड़-बुहारकर उनपर छिड़काव किया गया था। सब ओर लगी हुई ध्वजा-पताकाएँ उस पुरीकी शोभा बढ़ा रही थीं। इस प्रकार राजाकी वह उत्तम नगरी दर्शकोंके मनको उत्तम आह्लाद प्रदान कर रही थी ।। ४१ ।।

तुष्टपुष्टजनाकीर्णा सा पुरी कुरुनन्दन ।

अशोभत तदा तेन शक्रेणेवामरावती ।। ४२ ।।

कुरुनन्दन! जैसे इन्द्रसे अमरावतीकी शोभा होती है, उसी प्रकार संतुष्ट एवं पुष्ट मनुष्योंसे भरी हुई अयोध्यापुरी उस समय महाराज कल्माषपादकी उपस्थितिसे बड़ी शोभा पा रही थी ।। ४२ ।।

ततः प्रविष्टे राजर्षौ तस्मिंस्तत् पुरमुत्तमम् ।
राज्ञस्तस्याज्ञया देवी वसिष्ठमुपचक्रमे ।। ४३ ।।

राजर्षि कल्माषपादके उस उत्तम नगरीमें प्रवेश करनेके पश्चात् उक्त महाराजकी आज्ञाके अनुसार महारानी (मदयन्ती) महर्षि वसिष्ठजीके समीप गयीं ।। ४३ ।।

ऋतावथ महर्षिः स सम्बभूव तया सह ।
देव्या दिव्येन विधिना वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ।। ४४ ।।

तत्पश्चात् भगवद्भक्त महर्षि वसिष्ठने ऋतुकालमें शास्त्रकी अलौकिक विधिके अनुसार महारानीके साथ नियोग किया ।। ४४ ।।

ततस्तस्यां समुत्पन्ने गर्भे स मुनिसत्तमः ।
राज्ञाभिवादितस्तेन जगाम मुनिराश्रमम् ।। ४५ ।।

तदनन्तर रानीकी कुक्षिमें गर्भ स्थापित हो जानेपर उक्त राजासे वन्दित हो (उनसे विदा लेकर) मुनिवर वसिष्ठ अपने आश्रमको लौट गये ।। ४५ ।।

दीर्घकालेन सा गर्भं सुषुवे न तु तं यदा ।
तदा देव्यश्मना कुक्षिं निर्बिभेद यशस्विनी ।। ४६ ।।

जब बहुत समय बीतनेके बाद (भी) वह गर्भ बाहर न निकला, तब यशस्विनी रानी (मदयन्ती)-ने अश्म (पत्थर)-से अपने गर्भाशयपर प्रहार किया ।। ४६ ।।

ततोऽपि द्वादशे वर्षे स जज्ञे पुरुषर्षभः ।
अश्मको नाम राजर्षिः पौदन्यं यो न्यवेशयत् ।। ४७ ।।

तदनन्तर बारहवें वर्षमें बालकका जन्म हुआ। वही पुरुषश्रेष्ठ राजर्षि अश्मकके नामसे प्रसिद्ध हुआ, जिन्होंने पौदन्य नामका नगर बसाया था ।। ४७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठे सौदाससुतोत्पत्तौ षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठचरित्रके प्रसंगमें सौदासको पुत्र-प्राप्तिविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७६ ।।

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

शक्तिपुत्र पराशरका जन्म और पिताकी मृत्युका हाल सुनकर कुपित हुए पराशरको शान्त करनेके लिये वसिष्ठजीका उन्हें और्वोपाख्यान सुनाना

गन्धर्व उवाच

आश्रमस्था ततः पुत्रमदृश्यन्ती व्यजायत ।
शक्तेः कुलकरं राजन् द्वितीयमिव शक्तिनम् ।। १ ।।

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! तदनन्तर (वसिष्ठजीके) आश्रममें रहती हुई अदृश्यन्तीने शक्तिके वंशको बढ़ानेवाले एक पुत्रको जन्म दिया, मानो उस बालकके रूपमें दूसरे शक्ति मुनि ही हों ।। १ ।।

जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाः स मुनिसत्तमः ।
पौत्रस्य भरतश्रेष्ठ चकार भगवान् स्वयम् ।। २ ।।

भरतश्रेष्ठ! मुनिवर भगवान् वसिष्ठने स्वयं अपने पौत्रके जातकर्म आदि संस्कार किये ।। २ ।।

परासुः स यतस्तेन वसिष्ठः स्थापितो मुनिः ।
गर्भस्थेन ततो लोके पराशर इति स्मृतः ।। ३ ।।

उस बालकने गर्भमें आकर परासु (मरनेकी इच्छावाले) वसिष्ठ मुनिको पुनः जीवित रहनेके लिये उत्साहित किया था; इसलिये वह लोकमें 'पराशर' के नामसे विख्यात हुआ ।। ३ ।।

अमन्यत स धर्मात्मा वसिष्ठं पितरं मुनिः ।
जन्मप्रभृति तस्मिंस्तु पितरीवान्ववर्तत ।। ४ ।।

धर्मात्मा पराशर मुनि वसिष्ठको ही अपना पिता मानते थे और जन्मसे ही उनके प्रति पितृभाव रखते थे ।। ४ ।।

स तात इति विप्रर्षिर्वसिष्ठं प्रत्यभाषत ।
मातुः समक्षं कौन्तेय अदृश्यन्त्याः परंतप ।। ५ ।।

परंतप कुन्तीकुमार! एक दिन ब्रह्मर्षि पराशरने अपनी माता अदृश्यन्तीके सामने ही वसिष्ठजीको 'तात' कहकर पुकारा ।। ५ ।।

तातेति परिपूर्णार्थं तस्य तन्मधुरं वचः ।
अदृश्यन्त्यश्रुपूर्णाक्षी शृण्वती तमुवाच ह ।। ६ ।।

बेटेके मुखसे परिपूर्ण अर्थका बोधक 'तात' यह मधुर वचन सुनकर अदृश्यन्तीके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वह उससे बोली— ।। ६ ।।

मा तात तात तातेति ब्रूह्येनं पितरं पितुः ।
रक्षसा भक्षितस्तात तव तातो वनान्तरे ।। ७ ।।

'बेटा! ये तुम्हारे पिताके भी पिता हैं। तुम इन्हें 'तात तात!' कहकर न पुकारो। वत्स! तुम्हारे पिताको तो वनके भीतर राक्षस खा गया ।। ७ ।।

मन्यसे यं तु तातेति नैष तातस्तवानघ ।
आर्य एष पिता तस्य पितुस्तव यशस्विनः ।। ८ ।।

'अनघ! तुम जिन्हें तात मानते हो, ये तुम्हारे तात नहीं हैं। ये तो तुम्हारे यशस्वी पिताके भी पूजनीय पिता हैं' ।। ८ ।।

स एवमुक्तो दुःखार्तः सत्यवागृषिसत्तमः ।
सर्वलोकविनाशाय मतिं चक्रे महामनाः ।। ९ ।।

माताके यों कहनेपर सत्यवादी मुनिश्रेष्ठ महामना पराशर दुःखसे आतुर हो उठे। उन्होंने उसी समय सब लोकोंको नष्ट कर डालनेका विचार किया ।। ९ ।।

तं तथा निश्चितात्मानं स महात्मा महातपाः ।
ऋषिर्ब्रह्मविदां श्रेष्ठो मैत्रावरुणिरन्त्यधीः ।। १० ।।
वसिष्ठो वारयामास हेतुना येन तच्छृणु ।

उनके मनका ऐसा निश्चय जान ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महातपस्वी, महात्मा एवं तात्त्विक बुद्धिवाले मित्रावरुणनन्दन वसिष्ठजीने पराशरको ऐसा करनेसे रोक दिया। जिस हेतु और युक्तिसे वे उन्हें रोकनेमें सफल हुए, वह (बताता हूँ,) सुनिये ।। १०½ ।।

वसिष्ठ उवाच

कृतवीर्य इति ख्यातो बभूव पृथिवीपतिः ।। ११ ।।
याज्यो वेदविदां लोके भृगूणां पार्थिवर्षभः ।
स तानग्रभुजस्तात धान्येन च धनेन च ।। १२ ।।
सोमान्ते तर्पयामास विपुलेन विशाम्पतिः ।
तस्मिन् नृपतिशार्दूले स्वर्यातेऽथ कथंचन ।। १३ ।।
बभूव तत्कुलेयानां द्रव्यकार्यमुपस्थितम् ।
भृगूणां तु धनं ज्ञात्वा राजानः सर्व एव ते ।। १४ ।।
याचिष्णवोऽभिजग्मुस्तांस्ततो भार्गवसत्तमान् ।
भूमौ तु निदधुः केचिद् भृगवो धनमक्षयम् ।। १५ ।।

वसिष्ठजीने (पराशरसे) कहा—वत्स! इस पृथ्वीपर कृतवीर्य नामसे प्रसिद्ध एक राजा थे। वे नृपश्रेष्ठ वेदज्ञ भृगुवंशी ब्राह्मणोंके यजमान थे। तात! उन महाराजने सोमयज्ञ

करके उसके अन्तमें उन अग्रभोजी भार्गवोंको विपुल धन और धान्य देकर उसके द्वारा पूर्ण संतुष्ट किया। राजाओंमें श्रेष्ठ कृतवीर्यके स्वर्गवासी हो जानेपर उनके वंशजोंको किसी तरह द्रव्यकी आवश्यकता आ पड़ी। भृगुवंशी ब्राह्मणोंके यहाँ धन है, यह जानकर वे सभी राजपुत्र उन श्रेष्ठ भार्गवोंके पास याचक बनकर गये। उस समय कुछ भार्गवोंने अपनी अक्षय धनराशिको धरतीमें गाड़ दिया ।। ११—१५ ।।

ददुः केचिद् द्विजातिभ्यो ज्ञात्वा क्षत्रियतो भयम् ।
भृगवस्तु ददुः केचित् तेषां वित्तं यथेप्सितम् ।। १६ ।।

कुछने क्षत्रियोंसे भय समझकर अपना धन ब्राह्मणोंको दे दिया और कुछ भृगुवंशियोंने उन क्षत्रियोंको यथेष्ट धन दे भी दिया ।। १६ ।।

क्षत्रियाणां तदा तात कारणान्तरदर्शनात् ।
ततो महीतलं तात क्षत्रियेण यदृच्छया ।। १७ ।।
खनताधिगतं वित्तं केनचिद् भृगुवेश्मनि ।
तद् वित्तं ददृशुः सर्वे समेताः क्षत्रियर्षभाः ।। १८ ।।

तात! कुछ दूसरे-दूसरे कारणोंका विचार करके उस समय उन्होंने क्षत्रियोंको धन प्रदान किया था। वत्स! तदनन्तर किसी क्षत्रियने अकस्मात् धरती खोदते-खोदते किसी भृगुवंशीके घरमें गड़ा हुआ धन पा लिया। तब सभी श्रेष्ठ क्षत्रियोंने एकत्र होकर उस धनको देखा ।। १७-१८ ।।

अवमन्य ततः क्रोधाद् भृगूंस्ताञ्छरणागतान् ।
निजघ्नुः परमेष्वासाः सर्वांस्तान् निशितैः शरैः ।। १९ ।।

फिर तो उन्होंने क्रोधमें भरकर शरणमें आये हुए भृगुवंशियोंका भी अपमान किया। उन महान् धनुर्धर वीरोंने (वहाँ आये हुए) समस्त भार्गवोंको तीखे बाणोंसे मारकर यमलोक पहुँचा दिया ।। १९ ।।

आगर्भादवकृन्तन्तश्चेरुः सर्वां वसुन्धराम् ।
तत उच्छिद्यमानेषु भृगुष्वेवं भयात् तदा ।। २० ।।
भृगुपत्न्यो गिरिं दुर्गं हिमवन्तं प्रपेदिरे ।
तासामन्यतमा गर्भं भयाद् दध्रे महौजसम् ।। २१ ।।
ऊरुणैकेन वामोरुर्भर्तुः कुलविवृद्धये ।
तद् गर्भमुपलभ्याशु ब्राह्मणी या भयार्दिता ।। २२ ।।
गत्वैका कथयामास क्षत्रियाणामुपह्वरे ।
ततस्ते क्षत्रिया जग्मुस्तं गर्भं हन्तुमुद्यताः ।। २३ ।।

तदनन्तर भृगुवंशियोंके गर्भस्थ बालकोंकी भी हत्या करते हुए वे क्रोधान्ध क्षत्रिय सारी पृथ्वीपर विचरने लगे। इस प्रकार भृगुवंशका उच्छेद आरम्भ होनेपर भृगुवंशियोंकी पत्नियाँ उस समय भयके मारे हिमालयकी दुर्गम कन्दरामें जा छिपीं। उनमेंसे एक स्त्रीने अपने

महान् तेजस्वी गर्भको भयके मारे एक ओरकी जाँघको चीरकर उसमें रख लिया। उस वामोरुने अपने पतिके वंशकी वृद्धिके लिये ऐसा साहस किया था। उस गर्भका समाचार जानकर कोई ब्राह्मणी बहुत डर गयी और उसने शीघ्र ही अकेली जाकर क्षत्रियोंके समीप उसकी खबर पहुँचा दी। फिर तो वे क्षत्रियलोग उस गर्भकी हत्या करनेके लिये उद्यत हो वहाँ गये ।। २०—२३ ।।

ददृशुर्ब्राह्मणीं तेऽथ दीप्यमानां स्वतेजसा ।
अथ गर्भः स भित्त्वोरुं ब्राह्मण्या निर्जगाम ह ।। २४ ।।

उन्होंने देखा, वह ब्राह्मणी अपने तेजसे प्रकाशित हो रही है। उसी समय उस ब्राह्मणीका वह गर्भस्थ शिशु उसकी जाँघ फाड़कर बाहर निकल आया ।। २४ ।।

मुष्णन् दृष्टीः क्षत्रियाणां मध्याह्न इव भास्करः ।
ततश्चक्षुर्विहीनास्ते गिरिदुर्गेषु बभ्रमुः ।। २५ ।।

बाहर निकलते ही दोपहरके प्रचण्ड सूर्यकी भाँति उस तेजस्वी शिशुने (अपने तेजसे) उन क्षत्रियोंकी आँखोंकी ज्योति छीन ली। तब वे अंधे होकर उस पर्वतके बीहड़ स्थानोंमें भटकने लगे ।। २५ ।।

ततस्ते मोहमापन्ना राजानो नष्टदृष्टयः ।
ब्राह्मणीं शरणं जग्मुर्दृष्ट्यर्थं तामनिन्दिताम् ।। २६ ।।

फिर मोहके वशीभूत हो अपनी दृष्टिको खो देनेवाले क्षत्रियोंने पुनः दृष्टि प्राप्त करनेके लिये उसी सती-साध्वी ब्राह्मणीकी शरण ली ।। २६ ।।

ऊचुश्चैनां महाभागां क्षत्रियास्ते विचेतसः ।
ज्योतिः प्रहीणा दुःखार्ताः शान्तार्चिष इवाग्नयः ।। २७ ।।
भगवत्याः प्रसादेन गच्छेत् क्षत्रं सचक्षुषम् ।
उपारम्य च गच्छेम सहिताः पापकर्मिणः ।। २८ ।।

वे क्षत्रिय उस समय आँखकी ज्योतिसे वंचित हो बुझी हुई लपटोंवाली आगके समान अत्यन्त दुःखसे आतुर एवं अचेत हो रहे थे। अतः वे उस महान् सौभाग्यशालिनी देवीसे इस प्रकार बोले—‘देवि! यदि आपकी कृपा हो तो नेत्र पाकर यह क्षत्रियोंका दल अब लौट जायगा, थोड़ी देर विश्राम करके हम सभी पापाचारी यहाँसे साथ ही चले जायँगे’ ।। २७-२८ ।।

सपुत्रा त्वं प्रसादं नः कर्तुमर्हसि शोभने ।
पुनर्दृष्टिप्रदानेन राज्ञः संत्रातुमर्हसि ।। २९ ।।

‘शोभने! तुम अपने पुत्रके साथ हम सबपर प्रसन्न हो जाओ और पुनः नूतन दृष्टि देकर हम सभी राजपुत्रोंकी रक्षा करो’ ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें और्वोपाख्यानविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७७ ।।

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पितरोंद्वारा और्वके क्रोधका निवारण

ब्राह्मण्युवाच

नाहं गृह्णामि वस्ताता दृष्टीर्नास्मि रुषान्विता ।
अयं तु भार्गवो नूनमूरुजः कुपितोऽद्य वः ।। १ ।।

ब्राह्मणीने कहा—पुत्रो! मैंने तुम्हारी दृष्टि नहीं ली है; मुझे तुमपर क्रोध भी नहीं है। परंतु मेरी जाँघसे पैदा हुआ यह भृगुवंशी बालक निश्चय ही तुम्हारे ऊपर आज कुपित हुआ है ।। १ ।।

तेन चक्षूंषि वस्ताता व्यक्तं कोपान्महात्मना ।
स्मरता निहतान् बन्धूनादत्तानि न संशयः ।। २ ।।

पुत्रो! यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इस महात्मा शिशुने तुमलोगोंद्वारा मारे गये अपने बन्धु-बान्धवोंका स्मरण करके क्रोधवश तुम्हारी आँखें ले ली हैं, इसमें संशय नहीं है ।। २ ।।

गर्भानपि यदा यूयं भृगूणां घ्नत पुत्रकाः ।
तदायमूरुणा गर्भो मया वर्षशतं धृतः ।। ३ ।।

बच्चो! जबसे तुमलोग भृगुवंशियोंके गर्भस्थ बालकोंकी भी हत्या करने लगे, तबसे मैंने अपने इस गर्भको सौ वर्षोंतक एक जाँघमें छिपाकर रखा था ।। ३ ।।

षडङ्गश्चाखिलो वेद इमं गर्भस्थमेव ह ।
विवेश भृगुवंशस्य भूयः प्रियचिकीर्षया ।। ४ ।।

भृगुकुलका पुनः प्रिय करनेकी इच्छासे छहों अंगोंसहित सम्पूर्ण वेद इस बालकको गर्भमें ही प्राप्त हो गये थे ।। ४ ।।

सोऽयं पितृवधाद् व्यक्तं क्रोधाद् वो हन्तुमिच्छति ।
तेजसा तस्य दिव्येन चक्षूंषि मुषितानि वः ।। ५ ।।

अतः यह बालक अपने पिताके वधसे कुपित हो निश्चय ही तुमलोगोंको मार डालना चाहता है। इसीके दिव्य तेजसे तुम्हारी नेत्र-ज्योति छिन गयी है ।। ५ ।।

तमेव यूयं याचध्वमौर्वं मम सुतोत्तमम् ।
अयं वः प्रणिपातेन तुष्टो दृष्टीः प्रमोक्ष्यति ।। ६ ।।

इसलिये तुमलोग मेरे इस उत्तम पुत्र और्वसे ही याचना करो। यह तुमलोगोंके नतमस्तक होनेसे संतुष्ट होकर पुनः तुम्हारी खोयी हुई नेत्रोंकी ज्योति दे देगा ।। ६ ।।

वसिष्ठ उवाच

एवमुक्तास्ततः सर्वे राजानस्ते तमूरुजम् ।
ऊचुः प्रसीदेति तदा प्रसादं च चकार सः ।। ७ ।।

वसिष्ठजी कहते हैं—पराशर! ब्राह्मणीके यों कहनेपर उन सब क्षत्रियोंने तब और्वको (प्रणाम करके) कहा—'आप प्रसन्न होइये।' तब (उनके विनययुक्त वचन सुनकर) और्वने प्रसन्न हो (अपने तपके प्रभावसे) उनको नेत्रोंकी ज्योति दे दी ।। ७ ।।

अनेनैव च विख्यातो नाम्ना लोकेषु सत्तमः ।
स और्व इति विप्रर्षिरूरुं भित्त्वा व्यजायत ।। ८ ।।

वे साधुशिरोमणि ब्रह्मर्षि अपनी माताका ऊरु भेदन करके उत्पन्न हुए थे, इसी कारण लोकमें 'और्व' नामसे उनकी ख्याति हुई ।। ८ ।।

चक्षूंषि प्रतिलब्ध्वा च प्रतिजग्मुस्ततो नृपाः ।
भार्गवस्तु मुनिर्मेने सर्वलोकपराभवम् ।। ९ ।।

तदनन्तर अपनी खोयी हुई आँखें पाकर वे क्षत्रियलोग लौट गये; इधर भृगुवंशी और्व मुनिने सम्पूर्ण लोकोंके पराभवका विचार किया ।। ९ ।।

स चक्रे तात लोकानां विनाशाय महामनाः ।
सर्वेषामेव कात्स्न्र्येन मनः प्रवणमात्मनः ।। १० ।।

वत्स पराशर! उन महामना मुनिने समस्त लोकोंका पूर्णरूपसे विनाश करनेकी ओर अपना मन लगाया ।। १० ।।

इच्छन्नपचितिं कर्तुं भृगूणां भृगुनन्दनः ।
सर्वलोकविनाशाय तपसा महतैधितः ।। ११ ।।

भृगुकुलको आनन्दित करनेवाले उस कुमारने (क्षत्रियोंद्वारा मारे गये) अपने भृगुवंशी पूर्वजोंका सम्मान करने (अथवा उनके वधका बदला लेने)-के लिये सब लोकोंके विनाशका निश्चय किया और बहुत बड़ी तपस्याद्वारा अपनी शक्तिको बढ़ाया ।। ११ ।।

तापयामास ताँल्लोकान् सदेवासुरमानुषान् ।
तपसोग्रेण महता नन्दयिष्यन् पितामहान् ।। १२ ।।

उसने अपने पितरोंको आनन्दित करनेके लिये अत्यन्त उग्र तपस्याद्वारा देवता, असुर और मनुष्योंसहित उन सभी लोकोंको संतप्त कर दिया ।। १२ ।।

ततस्तं पितरस्तात विज्ञाय कुलनन्दनम् ।
पितृलोकादुपागम्य सर्व ऊचुरिदं वचः ।। १३ ।।

तात! तदनन्तर सभी पितरोंने अपने कुलका आनन्द बढ़ानेवाले और्व मुनिका वह निश्चय जानकर पितृलोकसे आकर यह बात कही ।। १३ ।।

पितर ऊचुः

और्व दृष्टः प्रभावस्ते तपसोग्रस्य पुत्रक ।

प्रसादं कुरु लोकानां नियच्छ क्रोधमात्मनः ।। १४ ।।

पितर बोले—बेटा और्व! तुम्हारी उग्र तपस्याका प्रभाव हमने देख लिया। अब अपना क्रोध रोको और सम्पूर्ण लोकोंपर प्रसन्न हो जाओ ।। १४ ।।

नानीशैर्हि तदा तात भृगुभिर्भावितात्मभिः ।
वधो ह्युपेक्षितः सर्वैः क्षत्रियाणां विहिंसताम् ।। १५ ।।

तात! यह न समझना कि जिस समय क्षत्रियलोग हमारी हिंसा कर रहे थे, उस समय शुद्ध अन्तःकरणवाले हम भृगुवंशी ब्राह्मणोंने असमर्थ होनेके कारण अपने कुलके वधको चुपचाप सह लिया ।। १५ ।।

आयुषा विप्रकृष्टेन यदा नः खेद आविशत् ।
तदास्माभिर्वधस्तात क्षत्रियैरीप्सितः स्वयम् ।। १६ ।।

वत्स! जब हमारी आयु बहुत बड़ी हो गयी (और तब भी मौत नहीं आयी), उस दशामें हमलोगोंको (बड़ा) खेद हुआ और हमने (जान-बूझकर) क्षत्रियोंसे स्वयं अपना वध करानेकी इच्छा की ।। १६ ।।

निखातं यच्च वै वित्तं केनचिद् भृगुवेश्मनि ।
वैरायैव तदा न्यस्तं क्षत्रियान् कोपयिष्णुभिः ।। १७ ।।

किसी भृगुवंशीने अपने घरमें जो धन गाड़ दिया था, वह भी वैर बढ़ानेके लिये ही किया गया था। हम चाहते थे कि क्षत्रियलोग हमारे ऊपर कुपित हो जायँ ।। १७ ।।

किं हि वित्तेन नः कार्यं स्वर्गेप्सूनां द्विजोत्तम ।
यदस्माकं धनाध्यक्षः प्रभूतं धनमाहरत् ।। १८ ।।

द्विजश्रेष्ठ! (यदि ऐसी बात न होती तो) स्वर्ग-लोककी इच्छावाले हम भार्गवोंको धनसे क्या काम था; क्योंकि साक्षात् कुबेरने हमें प्रचुर धनराशि लाकर दी थी ।। १८ ।।

यदा तु मृत्युरादातुं न नः शक्नोति सर्वशः ।
तदास्माभिरयं दृष्ट उपायस्तात सम्मतः ।। १९ ।।

तात! जब मौत हमें अपने अंकमें न ले सकी, तब हमलोगोंने सर्वसम्मतिसे यह उपाय ढूँढ़ निकाला था ।। १९ ।।

आत्महा च पुमांस्तात न लोकाँल्लभते शुभान् ।
ततोऽस्माभिः समीक्ष्यैवं नात्मनाऽऽत्मा निपातितः ।। २० ।।

बेटा! आत्महत्या करनेवाला पुरुष शुभ लोकोंको नहीं पाता, इसीलिये हमने खूब सोच-विचारकर अपने ही हाथों अपना वध नहीं किया ।। २० ।।

न चैतन्नः प्रियं तात यदिदं कर्तुमिच्छसि ।
नियच्छेदं मनः पापात् सर्वलोकपराभवात् ।। २१ ।।

वत्स! तुम जो यह (सब) करना चाहते हो, वह भी हमें प्रिय नहीं है। सम्पूर्ण लोकोंका पराभव बहुत बड़ा पाप है, अतः उधरसे मनको रोको ।। २१ ।।

मा वधीः क्षत्रियांस्तात न लोकान् सप्त पुत्रक ।
दूषयन्तं तपस्तेजः क्रोधमुत्पतितं जहि ।। २२ ।।

तात! क्षत्रियोंको न मारो। बेटा! भू आदि सात लोकोंका भी संहार न करो। यह जो क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह (तुम्हारे) तपस्याजनित तेजको दूषित करनेवाला है, अतः इसीको मारो ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्ववारणे अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें और्वक्रोधनिवारण-विषयक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७८ ।।

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

और्व और पितरोंकी बातचीत तथा और्वका अपनी क्रोधाग्निको बडवानलरूपसे समुद्रमें त्यागना

और्व उवाच

उक्तवानस्मि यां क्रोधात् प्रतिज्ञां पितरस्तदा ।
सर्वलोकविनाशाय न सा मे वितथा भवेत् ।। १ ।।

और्वने कहा—पितरो! मैंने क्रोधवश उस समय जो सम्पूर्ण लोकोंके विनाशकी प्रतिज्ञा कर ली थी, वह झूठी नहीं होनी चाहिये ।। १ ।।

वृथारोषप्रतिज्ञो वै नाहं भवितुमुत्सहे ।
अनिस्तीर्णो हि मां रोषो देहेदग्निरिवारणिम् ।। २ ।।

जिसका क्रोध और प्रतिज्ञा निष्फल होते हों, ऐसा बननेकी मेरी इच्छा नहीं है। यदि मेरा क्रोध सफल नहीं हुआ तो वह मुझको उसी प्रकार जला देगा, जैसे आग अरणी काष्ठको जला देती है ।। २ ।।

यो हि कारणतः क्रोधं संजातं क्षन्तुमर्हति ।
नालं स मनुजः सम्यक् त्रिवर्गं परिरक्षितुम् ।। ३ ।।

जो किसी कारणवश उत्पन्न हुए क्रोधको सह लेता है, वह मनुष्य धर्म, अर्थ और कामकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता ।। ३ ।।

अशिष्टानां नियन्ता हि शिष्टानां परिरक्षिता ।
स्थाने रोषः प्रयुक्तः स्यान्नृपैः सर्वजिगीषुभिः ।। ४ ।।

सबको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले राजाओंद्वारा उचित अवसरपर प्रयोगमें लाया हुआ रोष दुष्टोंका दमन और साधु पुरुषोंकी रक्षा करनेवाला हो ।। ४ ।।

अश्रौषमहमूरुस्थो गर्भशय्यागतस्तदा ।
आसवं मातृवर्गस्थ भृगूणां क्षत्रियैर्वधे ।। ५ ।।

मैं जिन दिनों माताकी एक जाँघमें गर्भ-शय्यापर सोता था, उन दिनों क्षत्रियोंद्वारा भार्गवोंका वध होनेपर माताओंका करुण क्रन्दन मुझे स्पष्ट सुनायी देता था ।। ५ ।।

संहारो हि यदा लोके भृगूणां क्षत्रियाधमैः ।
आगर्भोच्छेदनात् क्रान्तस्तदा मां मन्युराविशत् ।। ६ ।।

इन नीच क्षत्रियोंने जब गर्भके बच्चोंतकके सिर काट-काटकर संसारमें भृगुवंशी ब्राह्मणोंका संहार आरम्भ कर दिया, तब मुझमें क्रोधका आवेश हुआ ।। ६ ।।

सम्पूर्णकोशाः किल मे मातरः पितरस्तथा ।

भयात् सर्वेषु लोकेषु नाधिजग्मुः परायणम् ।। ७ ।।

जिनकी कोख भरी हुई थी, वे मेरी माताएँ और पितृगण भी भयके मारे समस्त लोकोंमें भागते फिरे; किंतु उन्हें कहीं भी शरण नहीं मिली ।। ७ ।।

तान् भृगूणां यदा दारान् कश्चिन्नाभ्युपपद्यत ।
माता तदा दधारेयमूरुणैकेन मां शुभा ।। ८ ।।

जब भार्गवोंकी पत्नियोंका कोई भी रक्षक नहीं मिला, तब मेरी इस कल्याणमयी माताने मुझे अपनी एक जाँघमें छिपाकर रखा था ।। ८ ।।

प्रतिषेद्धा हि पापस्य यदा लोकेषु विद्यते ।
तदा सर्वेषु लोकेषु पापकृन्नोपपद्यते ।। ९ ।।

जबतक जगत्‌में कोई भी पापकर्मको रोकनेवाला होता है, तबतक सम्पूर्ण लोकोंमें पापियोंका होना सम्भव नहीं होता ।। ९ ।।

यदा तु प्रतिषेद्धारं पापो न लभते क्वचित् ।
तिष्ठन्ति बहवो लोकास्तदा पापेषु कर्मसु ।। १० ।।

जब पापी मनुष्यको कहीं कोई रोकनेवाला नहीं मिलता, तब बहुतेरे मनुष्य पाप करनेमें लग जाते हैं ।। १० ।।

जानन्नपि च यः पापं शक्तिमान् न नियच्छति ।
ईशः सन् सोऽपि तेनैव कर्मणा सम्प्रयुज्यते ।। ११ ।।

जो मनुष्य शक्तिमान् एवं समर्थ होते हुए भी जान-बूझकर पापको नहीं रोकता, वह भी उसी पापकर्मसे लिप्त हो जाता है ।। ११ ।।

राजभिश्चेश्वरैश्चैव यदि वै पितरो मम ।
शक्तैर्न शकितास्त्रातुमिष्टं मत्वेह जीवितम् ।। १२ ।।
अत एषामहं क्रुद्धो लोकानामीश्वरो ह्यहम् ।
भवतां च वचो नालमहं समभिवर्तितुम् ।। १३ ।।

इस लोकमें अपना जीवन सबको प्रिय है, यह समझकर सबका शासन करनेवाले राजालोग सामर्थ्य होते हुए भी मेरे पिताओंकी रक्षा न कर सके, इसीलिये मैं भी इन सब लोकोंपर कुपित हुआ हूँ। मुझमें इन्हें दण्ड देनेकी शक्ति है। अतः (इस विषयमें) मैं आपलोगोंका वचन माननेमें असमर्थ हूँ ।। १२-१३ ।।

ममापि चेद् भवेदेवमीश्वरस्य सतो महत् ।
उपेक्षमाणस्य पुनर्लोकानां किल्बिषाद् भयम् ।। १४ ।।

यदि मैं भी शक्ति रहते हुए लोगोंके इस महान् पापाचारको उदासीनभावसे चुपचाप देखता रहूँ, तो मुझे भी उनलोगोंके पापसे भय हो सकता है ।। १४ ।।

यश्चायं मन्युजो मेऽग्निर्लोकानादातुमिच्छति ।
दहेदेष च मामेव निगृहीतः स्वतेजसा ।। १५ ।।

मेरे क्रोधसे उत्पन्न हुई जो यह आग (सम्पूर्ण) लोकोंको अपनी लपटोंसे लपेट लेना चाहती है, यदि मैं इसे रोक दूँ तो यह मुझे ही अपने तेजसे जलाकर भस्म कर डालेगी ।। १५ ।।

भवतां च विजानामि सर्वलोकहितेप्सुताम् ।
तस्माद् विधध्वं यच्छ्रेयो लोकानां मम चेश्वराः ।। १६ ।।

मैं यह भी जानता हूँ कि आपलोग समस्त जगत्का हित चाहनेवाले हैं। अतः शक्तिशाली पितरो! आपलोग ऐसा करें, जिससे इन लोकोंका और मेरा भी कल्याण हो ।। १६ ।।

पितर ऊचुः

य एष मन्युजस्तेऽग्निर्लोकानादातुमिच्छति ।
अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः ।। १७ ।।

पितर बोले—और्व! तुम्हारे क्रोधसे उत्पन्न हुई जो यह अग्नि सब लोकोंको अपना ग्रास बनाना चाहती है, उसे तुम जलमें छोड़ दो, तुम्हारा कल्याण हो; क्योंकि (सभी) लोक जलमें प्रतिष्ठित हैं ।। १७ ।।

आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ।
तस्मादप्सु विमुञ्चेमं क्रोधाग्निं द्विजसत्तम ।। १८ ।।

सभी रस जलके परिणाम हैं तथा सम्पूर्ण जगत् (भी) जलका परिणाम माना गया है। अतः द्विजश्रेष्ठ! तुम अपनी इस क्रोधाग्निको जलमें ही छोड़ दो ।। १८ ।।

अयं तिष्ठतु ते विप्र यदीच्छसि महोदधौ ।
मन्युजोऽग्निर्दहन्नापो लोका ह्यापोमयाः स्मृताः ।। १९ ।।

विप्रवर! यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह क्रोधाग्नि जलको जलाती हुई समुद्रमें स्थित रहे; क्योंकि सभी लोक जलके परिणाम माने गये हैं ।। १९ ।।

एवं प्रतिज्ञा सत्येयं तवानघ भविष्यति ।
न चैवं सामरा लोका गमिष्यन्ति पराभवम् ।। २० ।।

अनघ! ऐसा करनेसे तुम्हारी प्रतिज्ञा भी सच्ची हो जायगी और देवताओंसहित समस्त लोक भी नष्ट नहीं होंगे ।। २० ।।

वसिष्ठ उवाच

ततस्तं क्रोधजं तात और्वोऽग्निं वरुणालये ।
उत्ससर्ज स चैवाप उपयुङ्क्ते महोदधौ ।। २१ ।।
महद्धयशिरो भूत्वा यत् तद् वेदविदो विदुः ।
तमग्निमुद्गिरद् वक्त्रात् पिबत्यापो महोदधौ ।। २२ ।।

वसिष्ठजी कहते हैं—पराशर! तब और्वने (अपनी) उस क्रोधाग्निको समुद्रमें डाल दिया। आज भी वह बहुत बड़ी घोड़ीके मुखकी-सी आकृति धारण करके महासागरके जलका पान करती रहती है। वेदज्ञ पुरुष उससे (भली-भाँति) परिचित हैं। वह बड़वा अपने मुखसे वही आग उगलती हुई महासागरका जल पीती रहती है ।। २१-२२ ।।

तस्मात् त्वमपि भद्रं ते न लोकान् हन्तुमर्हसि ।
पराशर पराँल्लोकान् जानञ्ज्ञानवतां वर ।। २३ ।।

ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ पराशर! तुम्हारा कल्याण हो, तुम परलोकको भलीभाँति जानते हो; अतः तुम्हें भी समस्त लोकोंका विनाश नहीं करना चाहिये ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें और्वोपाख्यानविषयक एक सौ उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७९ ।।

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पुलस्त्य आदि महर्षियोंके समझानेसे पराशरजीके द्वारा राक्षससत्रकी समाप्ति

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तः स विप्रर्षिर्वसिष्ठेन महात्मना ।
न्ययच्छदात्मनः क्रोधं सर्वलोकपराभवात् ।। १ ।।

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! महात्मा वसिष्ठके यों कहनेपर उन ब्रह्मर्षि पराशरने अपने क्रोधको समस्त लोकोंके पराभवसे रोक लिया ।। १ ।।

ईजे च स महातेजाः सर्ववेदविदां वरः ।
ऋषी राक्षससत्रेण शाक्तेयोऽथ पराशरः ।। २ ।।

तब सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी शक्ति-नन्दन पराशरने राक्षससत्रका अनुष्ठान किया ।। २ ।।

ततो वृद्धांश्च बालांश्च राक्षसान् स महामुनिः ।
ददाह वितते यज्ञे शक्तेर्वधमनुस्मरन् ।। ३ ।।

उस विस्तृत यज्ञमें अपने पिता शक्तिके वधका बार-बार चिन्तन करते हुए महामुनि पराशरने राक्षसजातिके बूढ़ों तथा बालकोंको भी जलाना आरम्भ किया ।। ३ ।।

न हि तं वारयामास वसिष्ठो रक्षसां वधात् ।
द्वितीयामस्य मा भाङ्क्षं प्रतिज्ञामिति निश्चयात् ।। ४ ।।

उस समय महर्षि वसिष्ठने यह सोचकर कि इसकी दूसरी प्रतिज्ञाको न तोड़ूँ, उन्हें राक्षसोंके वधसे नहीं रोका ।। ४ ।।

त्रयाणां पावकानां च सत्रे तस्मिन् महामुनिः ।
आसीत् पुरस्ताद् दीप्तानां चतुर्थ इव पावकः ।। ५ ।।

उस सत्रमें तीन प्रज्वलित अग्नियोंके समक्ष महामुनि पराशर चौथे अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ।। ५ ।।

तेन यज्ञेन शुभ्रेण हूयमानेन शक्तिजः ।
तद्विदीपितमाकाशं सूर्येणेव घनात्यये ।। ६ ।।

(पापी राक्षसोंका संहार करनेके कारण) वह यज्ञ अत्यन्त निर्मल एवं शुद्ध समझा जाता था। शक्तिनन्दन पराशरद्वारा उसमें यज्ञसामग्रीका हवन आरम्भ होते ही (वह इतना प्रज्वलित हो उठा कि) उसके तेजसे सम्पूर्ण आकाश ठीक उसी तरह उद्भासित होने लगा, जैसे वर्षा बीतनेपर सूर्यकी प्रभासे उद्दीप्त हो उठता है ।। ६ ।।

तं वसिष्ठादयः सर्वे मुनयस्तत्र मेनिरे ।
तेजसा दीप्यमानं वै द्वितीयमिव भास्करम् ।। ७ ।।

उस समय वसिष्ठ आदि सभी मुनियोंको वहाँ तेजसे प्रकाशमान महर्षि पराशर दूसरे सूर्यके समान जान पड़ते थे ।। ७ ।।

ततः परमदुष्प्रापमन्यैर्ऋषिरुदारधीः ।
समापिपयिषुः सत्रं तमत्रिः समुपागमत् ।। ८ ।।

तदनन्तर दूसरोंके लिये उस यज्ञको बंद करना अत्यन्त कठिन जानकर उदारबुद्धि महर्षि अत्रि स्वयं उस यज्ञको समाप्त करानेकी इच्छासे पराशरके पास आये ।। ८ ।।

तथा पुलस्त्यः पुलहः क्रतुश्चैव महाक्रतुः ।
तत्राजग्मुरमित्रघ्न रक्षसां जीवितेप्सया ।। ९ ।।

शत्रुओंका नाश करनेवाले अर्जुन! उसी प्रकार पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और महाक्रतुने भी राक्षसोंके जीवनकी रक्षाके लिये वहाँ पदार्पण किया ।। ९ ।।

पुलस्त्यस्तु वधात् तेषां रक्षसां भरतर्षभ ।
उवाचेदं वचः पार्थ पराशरमरिंदमम् ।। १० ।।

भरतकुलभूषण कुन्तीकुमार! उन राक्षसोंका विनाश होता देख महर्षि पुलस्त्यने शत्रुसूदन पराशरसे यह बात कही— ।। १० ।।

कच्चित् तातापविघ्नं ते कच्चिन्नन्दसि पुत्रक ।
अजानतामदोषाणां सर्वेषां रक्षसां वधात् ।। ११ ।।

'तात! तुम्हारे इस यज्ञमें कोई विघ्न तो नहीं पड़ा? बेटा! तुम्हारे पिताकी हत्याके विषयमें कुछ भी न जाननेवाले इन सभी निर्दोष राक्षसोंका वध करके क्या तुम्हें प्रसन्नता होती है? ।। ११ ।।

प्रजोच्छेदमिमं मह्यं न हि कर्तुं त्वमर्हसि ।
नैष तात द्विजातीनां धर्मो दृष्टस्तपस्विनाम् ।। १२ ।।

'वत्स! मेरी संततिका तुम्हें इस प्रकार उच्छेद नहीं करना चाहिये। तात! यह हिंसा तपस्वी ब्राह्मणोंका धर्म कभी नहीं मानी गयी ।। १२ ।।

शम एव परो धर्मस्तमाचर पराशर ।
अधर्मिष्ठं वरिष्ठः सन् कुरुषे त्वं पराशर ।। १३ ।।

'पराशर! शान्त रहना ही (ब्राह्मणोंका) श्रेष्ठ धर्म है, अतः उसीका आचरण करो। तुम श्रेष्ठ ब्राह्मण होकर भी यह पापकर्म करते हो? ।। १३ ।।

शक्तिं चापि हि धर्मज्ञं नातिक्रान्तुमिहार्हसि ।
प्रजायाश्च ममोच्छेदं न चैवं कर्तुमर्हसि ।। १४ ।।

'तुम्हारे पिता शक्ति धर्मके ज्ञाता थे, तुम्हें (इस अधर्मकृत्यद्वारा) उनकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये। फिर मेरी संतानोंका विनाश करना तुम्हारे लिये कदापि उचित

नहीं है ।। १४ ।।

शापाद्धि शक्तेर्वासिष्ठ तदा तदुपपादितम् ।

आत्मजेन स दोषेण शक्तिर्नीत इतो दिवम् ।। १५ ।।

वसिष्ठकुलभूषण! शक्तिके शापसे ही उस समय वैसी दुर्घटना हो गयी थी। वे अपने ही अपराधसे इस लोकको छोड़कर स्वर्गवासी हुए हैं (इसमें राक्षसोंका कोई दोष नहीं है) ।। १५ ।।

न हि तं राक्षसः कश्चिच्छक्तो भक्षयितुं मुने ।

आत्मनैवात्मनस्तेन दृष्टो मृत्युस्तदाभवत् ।। १६ ।।

'मुने! कोई भी राक्षस उन्हें खा नहीं सकता था। अपने ही शापसे (राजाको नरभक्षी राक्षस बना देनेके कारण) उन्हें उस समय अपनी मृत्यु देखनी पड़ी ।। १६ ।।

निमित्तभूतस्तत्रासीद् विश्वामित्रः पराशर ।

राजा कल्माषपादश्च दिवमारुह्य मोदते ।। १७ ।।

'पराशर! विश्वामित्र तथा राजा कल्माषपाद भी इसमें निमित्तमात्र ही थे (तुम्हारे पूर्वजोंकी मृत्युमें तो प्रारब्ध ही प्रधान है)। इस समय तुम्हारे पिता शक्ति स्वर्गमें जाकर आनन्द भोगते हैं ।। १७ ।।

ये च शक्त्यवराः पुत्रा वसिष्ठस्य महामुने ।

ते च सर्वे मुदा युक्ता मोदन्ते सहिताः सुरैः ।। १८ ।।

'महामुने! वसिष्ठजीके शक्तिसे छोटे जो पुत्र थे, वे सभी देवताओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक सुख भोग रहे हैं ।। १८ ।।

सर्वमेतद् वसिष्ठस्य विदितं वै महामुने ।

रक्षसां च समुच्छेद एष तात तपस्विनाम् ।। १९ ।।

निमित्तभूतस्त्वं चात्र क्रतौ वासिष्ठनन्दन ।

तत् सत्रं मुञ्च भद्रं ते समाप्तमिदमस्तु ते ।। २० ।।

'महर्षे! तुम्हारे पितामह वसिष्ठजीको ये सब बातें विदित हैं। तात शक्तिनन्दन! तेजस्वी राक्षसोंके विनाशके लिये आयोजित इस यज्ञमें तुम भी निमित्तमात्र ही बने हो (वास्तवमें यह सब उन्हींके पूर्वकर्मोंका फल है)। अतः अब इस यज्ञको छोड़ दो। तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारे इस सत्रकी समाप्ति हो जानी चाहिये' ।। १९-२० ।।

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तः पुलस्त्येन वसिष्ठेन च धीमता ।

तदा समापयामास सत्रं शाक्तो महामुनिः ।। २१ ।।

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! पुलस्त्यजी तथा परम बुद्धिमान् वसिष्ठजीके यों कहनेपर महामुनि शक्तिपुत्र पराशरने उसी समय यज्ञको समाप्त कर दिया ।। २१ ।।

सर्वराक्षससत्राय सम्भृतं पावकं तदा ।
उत्तरे हिमवत्पार्श्वे उत्ससर्ज महावने ।। २२ ।।

सम्पूर्ण राक्षसोंके विनाशके उद्देश्यसे किये जाने-वाले उस सत्रके लिये जो अग्नि संचित की गयी थी, उसे उन्होंने उत्तरदिशामें हिमालयके आस-पासके विशाल वनमें छोड़ दिया ।। २२ ।।

स तत्राद्यापि रक्षांसि वृक्षानश्मन एव च ।
भक्षयन् दृश्यते वह्निः सदा पर्वणि पर्वणि ।। २३ ।।

वह अग्नि आज भी वहाँ सदा प्रत्येक पर्वके अवसरपर राक्षसों, वृक्षों और पत्थरोंको जलाती हुई देखी जाती है ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें और्वोपाख्यानविषयक एक सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८० ।।

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा कल्माषपादको ब्राह्मणी आंगिरसीका शाप

अर्जुन उवाच

राज्ञा कल्माषपादेन गुरौ ब्रह्मविदां वरे ।
कारणं किं पुरस्कृत्य भार्या वै संनियोजिता ।। १ ।।

अर्जुनने पूछा—गन्धर्वराज! किस कारणको सामने रखकर राजा कल्माषपादने ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ गुरु वसिष्ठजीके साथ अपनी पत्नीका नियोग कराया था? ।। १ ।।

जानता वै परं धर्मं वसिष्ठेन महात्मना ।
अगम्यागमनं कस्मात् कृतं तेन महर्षिणा ।। २ ।।

तथा उत्तम धर्मके ज्ञाता महात्मा महर्षि वसिष्ठने यह परस्त्रीगमनका पाप कैसे किया? ।। २ ।।

अधर्मिष्ठं वसिष्ठेन कृतं चापि पुरा सखे ।
एतन्मे संशयं सर्वं छेत्तुमर्हसि पृच्छतः ।। ३ ।।

सखे! पूर्वकालमें महर्षि वसिष्ठने जो यह अधर्म-कार्य किया, उसका क्या कारण है? यह मेरा संशय है, जिसे मैं पूछता हूँ। आप मेरे इन सारे संशयोंका निवारण कीजिये ।। ३ ।।

गन्धर्व उवाच

धनंजय निबोधेदं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
वसिष्ठं प्रति दुर्धर्ष तथा मित्रसहं नृपम् ।। ४ ।।

गन्धर्वने कहा—दुर्धर्ष वीर धनंजय! आप महर्षि वसिष्ठ तथा राजा मित्रसहके विषयमें जो कुछ मुझसे पूछ रहे हैं, उसका समाधान सुनिये ।। ४ ।।

कथितं ते मया सर्वं यथा शप्तः स पार्थिवः ।
शक्तिना भरतश्रेष्ठ वासिष्ठेन महात्मना ।। ५ ।।

भरतश्रेष्ठ! वसिष्ठपुत्र महात्मा शक्तिसे राजा कल्माषपादको जिस प्रकार शाप प्राप्त हुआ, वह सब प्रसंग मैं आपसे कह चुका हूँ ।। ५ ।।

स तु शापवशं प्राप्तः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।
निर्जगाम पुराद् राजा सहदारः परंतपः ।। ६ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा कल्माषपाद शापके परवश हो अपनी पत्नीके साथ नगरसे बाहर निकल गये। उस समय उनकी आँखें क्रोधसे व्याप्त हो रही थीं ।। ६ ।।

अरण्यं निर्जनं गत्वा सदारः परिचक्रमे ।
नानामृगगणाकीर्णं नानासत्त्वसमाकुलम् ।। ७ ।।

अपनी स्त्रीके साथ निर्जन वनमें जाकर वे चारों ओर चक्कर लगाने लगे। वह महान् वन भाँति-भाँतिके मृगोंसे भरा हुआ था। उसमें नाना प्रकारके जीव-जन्तु निवास करते थे ।। ७ ।।

नानागुल्मलताच्छन्नं नानाद्रुमसमावृतम् ।
अरण्यं घोरसंनादं शापग्रस्तः परिभ्रमन् ।। ८ ।।

अनेक प्रकारकी लताओं तथा गुल्मोंसे आच्छादित और विविध प्रकारके वृक्षोंसे आवृत वह (गहन) वन भयंकर शब्दोंसे गूँजता रहता था। शापग्रस्त राजा कल्माषपाद उसीमें भ्रमण करने लगे ।। ८ ।।

स कदाचित् क्षुधाविष्टो मृगयन् भक्ष्यमात्मनः ।
ददर्श सुपरिक्लिष्टः कस्मिंश्चिन्निर्जने वने ।। ९ ।।
ब्राह्मणं ब्राह्मणीं चैव मिथुनायोपसंगतौ ।
तौ तं वीक्ष्य सुवित्रस्तावकृतार्थौ प्रधावितौ ।। १० ।।

एक दिन भूखसे व्याकुल हो वे अपने लिये भोजनकी तलाश करने लगे। बहुत क्लेश उठानेके बाद उन्होंने देखा कि उस वनके किसी निर्जन प्रदेशमें एक ब्राह्मण और ब्राह्मणी मैथुनके लिये एकत्र हुए हैं। वे दोनों अभी अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर पाये थे, इतनेहीमें उन राक्षसाविष्ट कल्माषपादको देखकर अत्यन्त भयभीत हो (वहाँसे) भाग चले ।। ९-१० ।।

तयोः प्रद्रवतोर्विप्रं जग्राह नृपतिर्बलात् ।
दृष्ट्वा गृहीतं भर्तारमथ ब्राह्मण्यभाषत ।। ११ ।।

उन भागते हुए दम्पतिमेंसे ब्राह्मणको राजाने बलपूर्वक पकड़ लिया। पतिको राक्षसके हाथमें पड़ा देख ब्राह्मणी बोली— ।। ११ ।।

शृणु राजन् मम वचो यत् त्वां वक्ष्यामि सुव्रत ।
आदित्यवंशप्रभवस्त्वं हि लोके परिश्रुतः ।। १२ ।।

'राजन्! मैं आपसे जो बात कहती हूँ, उसे सुनिये। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले नरेश! आपका जन्म सूर्यवंशमें हुआ है। आप सम्पूर्ण जगत्‌में विख्यात हैं ।। १२ ।।

अप्रमत्तः स्थितो धर्मे गुरुशुश्रूषणे रतः ।
शापोपहत दुर्धर्ष न पापं कर्तुमर्हसि ।। १३ ।।

'आप सदा प्रमादशून्य होकर धर्ममें स्थित रहनेवाले हैं। गुरुजनोंकी सेवामें सदा संलग्न रहते हैं। दुर्धर्ष वीर! यद्यपि आप इस समय शापसे ग्रस्त हैं, तो भी आपको पापकर्म नहीं करना चाहिये ।। १३ ।।

ऋतुकाले तु सम्प्राप्ते भर्तृव्यसनकर्शिता ।
अकृतार्था ह्यहं भर्त्रा प्रसवार्थं समागता ।। १४ ।।
प्रसीद नृपतिश्रेष्ठ भर्तायं मे विसृज्यताम् ।

‘मेरा ऋतुकाल प्राप्त है, मैं पतिके कष्टसे दुःख पा रही हूँ। मैं संतानकी इच्छासे पतिके समीप आयी थी और उनसे मिलकर अभी अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर पायी हूँ। नृपश्रेष्ठ! ऐसी दशामें आप मुझपर प्रसन्न होइये और मेरे इन पतिदेवताको छोड़ दीजिये’ ।। १४½ ।।

एवं विक्रोशमानायास्तस्यास्तु स नृशंसवत् ।। १५ ।।
भर्तारं भक्षयामास व्याघ्रो मृगमिवेप्सितम् ।
तस्याः क्रोधाभिभूताया यान्यश्रूण्यपतन् भुवि ।। १६ ।।
सोऽग्निः समभवद् दीप्तस्तं च देशं व्यदीपयत् ।
ततः सा शोकसंतप्ता भर्तृव्यसनकर्शिता ।। १७ ।।
कल्माषपादं राजर्षिमशपद् ब्राह्मणी रुषा ।
यस्मान्ममाकृतार्थायास्त्वया क्षुद्र नृशंसवत् ।। १८ ।।
प्रेक्षन्त्या भक्षितो मेऽद्य प्रियो भर्ता महायशाः ।
तस्मात् त्वमपि दुर्बुद्धे मच्छापपरिविक्षतः ।। १९ ।।
पत्नीमृतावनुप्राप्य सद्यस्त्यक्ष्यसि जीवितम् ।
यस्य चर्षेर्वसिष्ठस्य त्वया पुत्रा विनाशिताः ।। २० ।।
तेन संगम्य ते भार्या तनयं जनयिष्यति ।
स ते वंशकरः पुत्रो भविष्यति नृपाधम ।। २१ ।।

इस प्रकार ब्राह्मणी करुण विलाप करती हुई याचना कर रही थी, तो भी जैसे व्याघ्र मनचाहे मृगको मारकर खा जाता है, उसी प्रकार राजाने अत्यन्त निर्दयीकी भाँति ब्राह्मणीके पतिको खा लिया। उस समय क्रोधसे पीड़ित हुई ब्राह्मणीके नेत्रोंसे धरतीपर आँसुओंकी जो बूँदें गिरीं, वे सब प्रज्वलित अग्नि बन गयीं। उस अग्निने उस स्थानको जलाकर भस्म कर दिया। तदनन्तर पतिके वियोगसे व्यथित एवं शोकसंतप्त ब्राह्मणीने रोषमें भरकर राजर्षि कल्माषपादको शाप दिया—‘ओ नीच! मेरी पतिविषयक कामना अभी पूर्ण नहीं हो पायी थी, तभी तूने अत्यन्त क्रूरकी भाँति मेरे देखते-देखते आज मेरे महायशस्वी प्रियतम पतिको अपना ग्रास बना लिया है; अतः दुर्बुद्धे! तू भी मेरे शापसे पीड़ित हुआ ऋतुकालमें पत्नीके साथ समागम करते ही तत्काल प्राण त्याग देगा। जिन महर्षि वसिष्ठके पुत्रोंका तुमने संहार किया है, उन्हींसे समागम करके तेरी पत्नी पुत्र पैदा करेगी। नृपाधम! वही पुत्र तेरा वंश चलानेवाला होगा’ ।। १५—२१ ।।

एवं शप्त्वा तु राजानं सा तमाङ्गिरसी शुभा ।
तस्यैव संनिधौ दीप्तं प्रविवेश हुताशनम् ।। २२ ।।

इस प्रकार राजाको शाप देकर वह सती साध्वी आंगिरसी राजा कल्माषपादके समीप ही प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश कर गयी ।। २२ ।।

वसिष्ठश्च महाभागः सर्वमेतदवैक्षत ।
ज्ञानयोगेन महता तपसा च परंतप ।। २३ ।।

शत्रुसूदन अर्जुन! महाभाग वसिष्ठजी अपनी बड़ी भारी तपस्या तथा ज्ञानयोगके प्रभावसे ये सब बातें जानते थे ।। २३ ।।

मुक्तशापश्च राजर्षिः कालेन महता ततः ।

ऋतुकालेऽभिपतितो मदयन्त्या निवारितः ।। २४ ।।

दीर्घकालके पश्चात् वे राजर्षि जब शापसे मुक्त हुए, तब ऋतुकालमें अपनी पत्नीके पास गये। परंतु उनकी रानी मदयन्तीने उन्हें (उक्त शापकी याद दिलाकर) रोक दिया ।। २४ ।।

न हि सस्मार स नृपस्तं शापं काममोहितः ।

देव्याः सोऽथ वचः श्रुत्वा सम्भ्रान्तो नृपसत्तमः ।। २५ ।।

राजा कल्माषपाद कामसे मोहित हो रहे थे। इसलिये उन्हें शापका स्मरण नहीं रहा। महारानी मदयन्तीकी बात सुनकर वे नृपश्रेष्ठ बड़े सम्भ्रम (घबराहट)-में पड़ गये ।। २५ ।।

तं शापमनुसंस्मृत्य पर्यतप्यद् भृशं तदा ।

एतस्मात् कारणाद् राजा वसिष्ठं संन्ययोजयत् ।

स्वदारेषु नरश्रेष्ठ शापदोषसमन्वितः ।। २६ ।।

उस शापको बार-बार याद करके उन्हें बड़ा संताप हुआ। नृपश्रेष्ठ! इसी कारण शापदोषसे युक्त राजा कल्माषपादने महर्षि वसिष्ठका अपनी पत्नीके साथ नियोग कराया ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वसिष्ठोपाख्याने एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठोपाख्यानविषयक एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८१ ।।

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका धौम्यको अपना पुरोहित बनाना

अर्जुन उवाच

अस्माकमनुरूपो वै यः स्याद् गन्धर्व वेदवित् ।
पुरोहितस्तमाचक्ष्व सर्वं हि विदितं तव ।। १ ।।

अर्जुनने कहा—गन्धर्वराज! हमारे अनुरूप जो कोई वेदवेत्ता पुरोहित हों, उनका नाम बताओ; क्योंकि तुम्हें सब कुछ ज्ञात है ।। १ ।।

गन्धर्व उवाच

यवीयान् देवलस्यैष वने भ्राता तपस्यति ।
धौम्य उत्कोचके तीर्थे तं वृणुध्वं यदीच्छथ ।। २ ।।

गन्धर्व बोला—कुन्तीनन्दन! इसी वनके उत्कोचक तीर्थमें महर्षि देवलके छोटे भाई धौम्य मुनि तपस्या करते हैं। यदि आपलोग चाहें तो उन्हींका पुरोहितके पदपर वरण करें ।। २ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनोऽस्त्रमाग्नेयं प्रददौ तद् यथाविधि ।
गन्धर्वाय तदा प्रीतो वचनं चेदमब्रवीत् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब अर्जुनने (बहुत) प्रसन्न होकर गन्धर्वको विधिपूर्वक आग्नेयास्त्र प्रदान किया और यह बात कही— ।। ३ ।।

त्वय्येव तावत् तिष्ठन्तु हया गन्धर्वसत्तम ।
कार्यकाले ग्रहीष्यामः स्वस्ति तेऽस्त्विति चाब्रवीत् ।। ४ ।।
तेऽन्योन्यमभिसम्पूज्य गन्धर्वः पाण्डवाश्च ह ।
रम्याद् भागीरथीतीराद् यथाकामं प्रतस्थिरे ।। ५ ।।

‘गन्धर्वप्रवर! तुमने जो घोड़े दिये हैं, वे अभी तुम्हारे ही पास रहें। आवश्यकताके समय हम तुमसे ले लेंगे, तुम्हारा कल्याण हो।’ अर्जुनकी यह बात पूरी होनेपर गन्धर्वराज और पाण्डवोंने एक-दूसरेका बड़ा सत्कार किया। फिर पाण्डवगण गंगाके रमणीय तटसे अपनी इच्छाके अनुसार चल दिये ।। ४-५ ।।

तत उत्कोचकं तीर्थं गत्वा धौम्याश्रमं तु ते ।
तं वव्रुः पाण्डवा धौम्यं पौरोहित्याय भारत ।। ६ ।।

जनमेजय! तदनन्तर उत्कोचक तीर्थमें धौम्यके आश्रमपर जाकर पाण्डवोंने धौम्यका पौरोहित्य-कर्मके लिये वरण किया ।। ६ ।।

तान् धौम्यः प्रतिजग्राह सर्ववेदविदां वरः ।
वन्येन फलमूलेन पौरोहित्येन चैव ह ।। ७ ।।

सम्पूर्ण वेदोंके विद्वानोंमें श्रेष्ठ धौम्यने जंगली फल-मूल अर्पण करके तथा पुरोहितीके लिये स्वीकृति देकर उन सबका सत्कार किया ।। ७ ।।

ते समाशंसिरे लब्धां श्रियं राज्यं च पाण्डवाः ।
ब्राह्मणं तै पुरस्कृत्य पाञ्चालीं च स्वयंवरे ।। ८ ।।

पाण्डवोंने उन ब्राह्मणदेवताको पुरोहित बनाकर यह भलीभाँति विश्वास कर लिया कि 'हमें अपना राज्य और धन अब मिले हुएके ही समान है।' साथ ही उन्हें यह भी भरोसा हो गया कि 'स्वयंवरमें द्रौपदी हमें मिल जायगी' ।। ८ ।।

पुरोहितेन तेनाथ गुरुणा संगतास्तदा ।
नाथवन्तमिवात्मानं मेनिरे भरतर्षभाः ।। ९ ।।

उन गुरु एवं पुरोहितके साथ हो जानेसे उस समय भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ पाण्डवोंने अपने-आपको सनाथ-सा समझा ।। ९ ।।

स हि वेदार्थतत्त्वज्ञस्तेषां गुरुरुदारधीः ।
तेन धर्मविदा पार्था याज्या धर्मविदः कृताः ।। १० ।।

उदारबुद्धि धौम्य वेदार्थके तत्त्वज्ञ थे, वे पाण्डवोंके गुरु हुए। उन धर्मज्ञ मुनिने धर्मज्ञ कुन्तीकुमारोंको अपना यजमान बना लिया ।। १० ।।

वीरांस्तु सहितान् मेने प्राप्तराज्यान् स्वधर्मतः ।

बुद्धिवीर्यबलोत्साहैर्युक्तान् देवानिव द्विजः ।। ११ ।।

धौम्यको भी यह विश्वास हो गया कि ये बुद्धि, वीर्य, बल और उत्साहसे युक्त देवोपम वीर संगठित होकर स्वधर्मके अनुसार अपना राज्य अवश्य प्राप्त कर लेंगे ।। ११ ।।

कृतस्वस्त्ययनास्तेन ततस्ते मनुजाधिपाः ।
मेनिरे सहिता गन्तुं पाञ्चाल्यास्तं स्वयंवरम् ।। १२ ।।

धौम्यने पाण्डवोंके लिये स्वस्तिवाचन किया। तदनन्तर उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने एक साथ द्रौपदीके स्वयंवरमें जानेका निश्चय किया ।। १२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि धौम्यपुरोहितकरणे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें धौम्यको पुरोहित बनानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८२ ।।

(स्वयंवरपर्व)

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी पंचालयात्रा और मार्गमें ब्राह्मणोंसे बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते नरशार्दूला भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
प्रययुर्द्रौपदीं द्रष्टुं तं च देशं महोत्सवम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब वे नरश्रेष्ठ पाँचों भाई पाण्डव राजकुमारी द्रौपदी, उसके पंचालदेश और वहाँके महान् उत्सवको देखनेके लिये वहाँसे चल दिये ।। १ ।।

ते प्रयाता नरव्याघ्राः सह मात्रा परंतपाः ।
ब्राह्मणान् ददृशुर्मार्गे गच्छतः संगतान् बहून् ।। २ ।।

मनुष्योंमें सिंहके समान वीर परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ यात्रा कर रहे थे। उन्होंने मार्गमें देखा, बहुत-से ब्राह्मण एक साथ जा रहे हैं ।। २ ।।

त ऊचुर्ब्राह्मणा राजन् पाण्डवान् ब्रह्मचारिणः ।
क्व भवन्तो गमिष्यन्ति कुतो वाभ्यागता इह ।। ३ ।।

राजन्! उन ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंने पाण्डवोंसे पूछा—'आपलोग कहाँ जायँगे और कहाँसे आ रहे हैं?' ।। ३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

आगतानेकचक्रायाः सोदर्यानेकचारिणः ।
भवन्तो वै विजानन्तु सह मात्रा द्विजर्षभाः ।। ४ ।।

युधिष्ठिर बोले—विप्रवरो! आपलोगोंको मालूम हो कि हमलोग एक साथ विचरनेवाले सहोदर भाई हैं और अपनी माताके साथ एकचक्रा नगरीसे आ रहे हैं ।। ४ ।।

ब्राह्मणा ऊचुः

गच्छताद्यैव पञ्चालान् द्रुपदस्य निवेशने ।
स्वयंवरो महांस्तत्र भविता सुमहाधनः ।। ५ ।।

ब्राह्मणोंने कहा—आज ही पंचालदेशको चलिये। वहाँ राजा द्रुपदके दरबारमें महान् धन-धान्यसे सम्पन्न स्वयंवरका बहुत बड़ा उत्सव होनेवाला है ।। ५ ।।

एकसार्थं प्रयाताः स्म वयं तत्रैव गामिनः ।
तत्र ह्यद्भुतसंकाशो भविता सुमहोत्सवः ।। ६ ।।

हम सबलोग एक साथ चले हैं और वहीं जा रहे हैं। वहाँ अत्यन्त अद्भुत और बहुत बड़ा उत्सव होनेवाला है ।। ६ ।।

यज्ञसेनस्य दुहिता द्रुपदस्य महात्मनः ।
वेदीमध्यात् समुत्पन्ना पद्मपत्रनिभेक्षणा ।। ७ ।।

यज्ञसेन नामवाले महाराज द्रुपदके एक पुत्री है, जो यज्ञकी वेदीसे प्रकट हुई है। उसके नेत्र विकसित कमलदलके समान सुन्दर हैं ।। ७ ।।

दर्शनीयानवद्याङ्गी सुकुमारी मनस्विनी ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी द्रोणशत्रोः प्रतापिनः ।। ८ ।।

उसका एक-एक अंग निर्दोष है। वह मनस्विनी सुकुमारी द्रुपदकन्या देखने ही योग्य है। द्रोणाचार्यके शत्रु प्रतापी धृष्टद्युम्नकी वह बहिन है ।। ८ ।।

यो जातः कवची खड्गी सशरः सशरासनः ।
सुसमिद्धे महाबाहुः पावके पावकोपमः ।। ९ ।।

धृष्टद्युम्न वे ही हैं, जो कवच, खड्ग, धनुष और बाणके साथ उत्पन्न हुए हैं। महाबाहु धृष्टद्युम्न प्रज्वलित अग्निसे प्रकट होनेके कारण अग्निके समान ही तेजस्वी हैं ।। ९ ।।

स्वसा तस्यानवद्याङ्गी द्रौपदी तनुमध्यमा ।
नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात् प्रवाति वै ।। १० ।।

द्रौपदी निर्दोष अंगों तथा पतली कमरवाली है और उसके शरीरसे नीलकमलके समान सुगन्ध निकलकर एक कोसतक फैलती रहती है। वह उन्हीं धृष्टद्युम्नकी बहिन है ।। १० ।।

यज्ञसेनस्य च सुतां स्वयंवरकृतक्षणाम् ।
गच्छामो वै वयं द्रष्टुं तं च दिव्यं महोत्सवम् ।। ११ ।।

यज्ञसेनकी पुत्री द्रौपदीका स्वयंवर नियत हुआ है। अतः हमलोग उस राजकुमारीको तथा उस स्वयंवरके दिव्य महोत्सवको देखनेके लिये वहाँ जा रहे हैं ।। ११ ।।

राजानो राजपुत्राश्च यज्वानो भूरिदक्षिणाः ।
स्वाध्यायवन्तः शुचयो महात्मानो यतव्रताः ।। १२ ।।
तरुणा दर्शनीयाश्च नानादेशसमागताः ।
महारथाः कृतास्त्राश्च समुपैष्यन्ति भूमिपाः ।। १३ ।।

(वहाँ) कितने ही प्रचुर दक्षिणा देनेवाले, यज्ञ करनेवाले, स्वाध्यायशील, पवित्र, नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले, महात्मा एवं तरुण अवस्थावाले दर्शनीय राजा और राजकुमार अनेक देशोंसे पधारेंगे। अस्त्रविद्यामें निपुण महारथी भूमिपाल भी वहाँ आयेंगे ।। १२-१३ ।।

ते तत्र विविधान् दायान् विजयार्थं नरेश्वराः ।

प्रदास्यन्ति धनं गाश्च भक्ष्यं भोज्यं च सर्वशः ।। १४ ।।

वे नरपतिगण अपनी-अपनी विजयके उद्देश्यसे वहाँ नाना प्रकारके उपहार, धन, गौएँ, भक्ष्य और भोज्य आदि सब प्रकारकी वस्तुएँ दान करेंगे ।। १४ ।।

प्रतिगृह्य च तत् सर्वं दृष्ट्वा चैव स्वयंवरम् ।
अनुभूयोत्सवं चैव गमिष्यामो यथेप्सितम् ।। १५ ।।

उनका वह सब दान ग्रहण कर, स्वयंवरको देखकर और उत्सवका आनन्द लेकर फिर हमलोग अपने-अपने अभीष्ट स्थानको चले जायँगे ।। १५ ।।

नटा वैतालिकास्तत्र नर्तकाः सूतमागधाः ।
नियोधकाश्च देशेभ्यः समेष्यन्ति महाबलाः ।। १६ ।।

वहाँ अनेक देशोंके नट, वैतालिक, नर्तक, सूत, मागध तथा अत्यन्त बलवान् मल्ल आयेंगे ।। १६ ।।

एवं कौतूहलं कृत्वा दृष्ट्वा च प्रतिगृह्य च ।
सहास्माभिर्महात्मानः पुनः प्रतिनिवर्त्स्यथ ।। १७ ।।

महात्माओ! इस प्रकार हमारे साथ खेल करके, तमाशा देखकर और नाना प्रकारके दान ग्रहण करके फिर आपलोग भी लौट आइयेगा ।। १७ ।।

दर्शनीयांश्च वः सर्वान् देवरूपानवस्थितान् ।
समीक्ष्य कृष्णा वरयेत् संगत्यैकतमं वरम् ।। १८ ।।

आप सब लोगोंका रूप तो देवताओंके समान है, आप सभी दर्शनीय हैं, आपलोगोंको (वहाँ उपस्थित) देखकर द्रौपदी दैवयोगसे आपमेंसे ही किसी एकको अपना वर चुन सकती है ।। १८ ।।

अयं भ्राता तव श्रीमान् दर्शनीयो महाभुजः ।
नियुज्यमानो विजये संगत्या द्रविणं बहु ।
आहरिष्यन्नयं नूनं प्रीतिं वो वर्धयिष्यति ।। १९ ।।

आपलोगोंके ये भाई अर्जुन तो बड़े सुन्दर और दर्शनीय हैं। इनकी भुजाएँ बहुत बड़ी हैं। इन्हें यदि विजयके कार्यमें नियुक्त कर दिया जाय, तो ये दैवात् बहुत बड़ी धनराशि जीत लाकर निश्चय ही आपलोगोंकी प्रसन्नता बढ़ायेंगे ।। १९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

परमं भो गमिष्यामो द्रष्टुं चैव महोत्सवम् ।
भवद्भिः सहिताः सर्वे कन्यायास्तं स्वयंवरम् ।। २० ।।

युधिष्ठिर बोले—ब्राह्मणो! हम भी द्रुपदकन्याके उस श्रेष्ठ स्वयंवर-महोत्सवको देखनेके लिये आपलोगोंके साथ चलेंगे ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि पाण्डवागमने त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें पाण्डवागमनविषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८३ ।।

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका द्रुपदकी राजधानीमें जाकर कुम्हारके यहाँ रहना, स्वयंवरसभाका वर्णन तथा धृष्टद्युम्नकी घोषणा

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ताः प्रयातास्ते पाण्डवा जनमेजय ।
राज्ञा दक्षिणपञ्चालान् द्रुपदेनाभिरक्षितान् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन ब्राह्मणोंके यों कहनेपर पाण्डवलोग (उन्हींके साथ) राजा द्रुपदके द्वारा पालित दक्षिणपांचाल देशकी ओर चले ।। १ ।।

ततस्ते सुमहात्मानं शुद्धात्मानमकल्मषम् ।
ददृशुः पाण्डवा वीरा मुनिं द्वैपायनं तदा ।। २ ।।

तदनन्तर उन पाण्डववीरोंको मार्गमें पापरहित, शुद्ध-चित्त एवं श्रेष्ठ महात्मा द्वैपायन मुनिका दर्शन हुआ ।। २ ।।

तस्मै यथावत् सत्कारं कृत्वा तेन च सत्कृताः ।
कथान्ते चाभ्यनुज्ञाताः प्रययुर्द्रुपदक्षयम् ।। ३ ।।

पाण्डवोंने उनका यथावत् सत्कार किया और उन्होंने पाण्डवोंका। फिर उनमें आवश्यक बातचीत हुई। वार्तालाप समाप्त होनेपर व्यासजीकी आज्ञा ले पाण्डव पुनः द्रुपदकी राजधानीकी ओर चल दिये ।। ३ ।।

पश्यन्तो रमणीयानि वनानि च सरांसि च ।
तत्र तत्र वसन्तश्च शनैर्जग्मुर्महारथाः ।। ४ ।।

महारथी पाण्डव मार्गमें अनेकानेक रमणीय वन और सरोवर देखते तथा उन-उन स्थानोंमें डेरा डालते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ते गये ।। ४ ।।

स्वाध्यायवन्तः शुचयो मधुराः प्रियवादिनः ।
आनुपूर्व्येण सम्प्राप्ताः पञ्चालान् पाण्डुनन्दनाः ।। ५ ।।

(प्रतिदिन) स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले, पवित्र, मधुर प्रकृतिवाले तथा प्रियवादी पाण्डुकुमार इस तरह चलकर क्रमशः पांचालदेशमें जा पहुँचे ।। ५ ।।

ते तु दृष्ट्वा पुरं तच्च स्कन्धावारं च पाण्डवाः ।
कुम्भकारस्य शालायां निवासं चक्रिरे तदा ।। ६ ।।

द्रुपदके नगर और उसकी चहारदीवारीको देखकर पाण्डवोंने उस समय एक कुम्हारके घरमें अपने रहनेकी व्यवस्था की ।। ६ ।।

तत्र भैक्षं समाजह्रुर्ब्राह्मणीं वृत्तिमाश्रिताः ।
तान् सम्प्राप्तांस्तथा वीराञ्जज्ञिरे न नराः क्वचित् ।। ७ ।।

वहाँ ब्राह्मणवृत्तिका आश्रय ले वे भिक्षा माँगकर लाते (और उसीसे निर्वाह करते) थे। इस प्रकार वहाँ पहुँचे हुए पाण्डववीरोंको कहीं कोई भी मनुष्य पहचान न सके ।। ७ ।।

यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने ।
कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद् विवृणोति सः ।। ८ ।।

राजा द्रुपदके मनमें सदा यही इच्छा रहती थी कि मैं पाण्डुनन्दन अर्जुनके साथ द्रौपदीका ब्याह करूँ। परंतु वे अपने इस मनोभावको किसीपर प्रकट नहीं करते थे ।। ८ ।।

सोऽन्वेषमाणः कौन्तेयं पाञ्चाल्यो जनमेजय ।
दृढं धनुरनानम्यं कारयामास भारत ।। ९ ।।

भरतवंशी जनमेजय! पांचालनरेशने कुन्तीकुमार अर्जुनको खोज निकालनेकी इच्छासे एक ऐसा दृढ़ धनुष बनवाया, जिसे दूसरा कोई झुका भी न सके ।। ९ ।।

यन्त्रं वैहायसं चापि कारयामास कृत्रिमम् ।
तेन यन्त्रेण समितं राजा लक्ष्यं चकार सः ।। १० ।।

राजाने एक कृत्रिम आकाश-यन्त्र भी बनवाया (जो तीव्रवेगसे आकाशमें घूमता रहता था)। उस यन्त्रके छिद्रके ऊपर उन्होंने उसीके बराबरका लक्ष्य तैयार कराकर रखवा दिया। (इसके बाद उन्होंने यह घोषणा करा दी) ।। १० ।।

द्रुपद उवाच

इदं सज्यं धनुः कृत्वा सज्जैरेभिश्च सायकैः ।
अतीत्य लक्ष्यं यो वेद्धा स लब्धा मत्सुतामिति ।। ११ ।।

द्रुपदने घोषणा की—जो वीर इस धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ाकर इन प्रस्तुत बाणोंद्वारा ही यन्त्रके छेदके भीतरसे इसे लाँघकर लक्ष्यवेध करेगा, वही मेरी पुत्रीको प्राप्त कर सकेगा ।। ११ ।।

वैशम्पायन उवाच

इति स द्रुपदो राजा स्वयंवरमघोषयत् ।
तच्छ्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे समीयुस्तत्र भारत ।। १२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार राजा द्रुपदने जब स्वयंवरकी घोषणा करा दी, तब उसे सुनकर सब राजा वहाँ उनकी राजधानीमें एकत्र होने लगे ।। १२ ।।

ऋषयश्च महात्मानः स्वयंवरदिदृक्षवः ।
दुर्योधनपुरोगाश्च सकर्णाः कुरवो नृप ।। १३ ।।

बहुत-से महात्मा ऋषि-मुनि भी स्वयंवर देखनेके लिये आये। राजन्! दुर्योधन आदि कुरुवंशी भी कर्णके साथ वहाँ आये थे ।। १३ ।।

ब्राह्मणाश्च महाभागा देशेभ्यः समुपागमन् ।
ततोऽर्चिता राजगणा द्रुपदेन महात्मना ।। १४ ।।
उपोपविष्टा मञ्चेषु द्रष्टुकामाः स्वयंवरम् ।
ततः पौरजनाः सर्वे सागरोद्धूतनिःस्वनाः ।। १५ ।।

भिन्न-भिन्न देशोंसे कितने ही महाभाग ब्राह्मणोंने भी पदार्पण किया था। महामना राजा द्रुपदने (वहाँ पधारे हुए) नरपतियोंका भलीभाँति स्वागत-सत्कार एवं सेवा-पूजा की।

तत्पश्चात् वे सभी नरेश स्वयंवर देखनेकी इच्छासे वहाँ रखे हुए मंचोंपर बैठे। उस नगरके समस्त निवासी भी यथास्थान आकर बैठ गये। उन सबका कोलाहल क्षुब्ध हुए समुद्रके भयंकर गर्जनके समान सुनायी पड़ता था ।। १४-१५ ।।

शिशुमारशिरः प्राप्य न्यविशंस्ते स्म पार्थिवाः ।
प्रागुत्तरेण नगराद् भूमिभागे समे शुभे ।
समाजवाटः शुशुभे भवनैः सर्वतो वृतः ।। १६ ।।

वहाँकी बैठक शिशुमारकी आकृतिमें सजायी गयी थी। शिशुमारके शिरोभागमें सब राजा अपने-अपने मंचोंपर बैठे थे। नगरसे ईशानकोणमें सुन्दर एवं समतल भूमिपर स्वयंवरसभाका रंगमण्डप सजाया गया था, जो सब ओरसे सुन्दर भवनोंद्वारा घिरा होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहा था ।। १६ ।।

प्राकारपरिखोपेतो द्वारतोरणमण्डितः ।
वितानेन विचित्रेण सर्वतः समलंकृतः ।। १७ ।।

उसके सब ओर चहारदीवारी और खाई बनी थीं। अनेक फाटक और दरवाजे उस मण्डपकी शोभा बढ़ा रहे थे। विचित्र चँदोवेसे उस सभाभवनको सब ओरसे सजाया गया था ।। १७ ।।

तूर्यौघशतसंकीर्णः पराघ्यागुरुधूपितः ।
चन्दनोदकसिक्तश्च माल्यदामोपशोभितः ।। १८ ।।

वहाँ सैकड़ों प्रकारके बाजे बज रहे थे। बहुमूल्य अगुरुधूपकी सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी। फर्शपर चन्दनके जलका छिड़काव किया गया था। सब ओर फूलोंकी मालाएँ और हार टँगे थे, जिससे वहाँकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी ।। १८ ।।

कैलासशिखरप्रख्यैर्नभस्तलविलेखिभिः ।
सर्वतः संवृतः शुभ्रैः प्रासादैः सुकृतोच्छ्रयैः ।। १९ ।।

उस रंगमण्डपके चारों ओर कैलासशिखरके समान ऊँचे और श्वेत रंगके गगनचुम्बी महल बने हुए थे ।। १९ ।।

सुवर्णजालसंवीतैर्मणिकुट्टिमभूषणैः ।
सुखारोहणसोपानैर्महासनपरिच्छदैः ।। २० ।।

उन्हें भीतरसे सोनेके जालीदार पर्दों और झालरोंसे सजाया गया था। फर्श और दीवारोंमें मणि एवं रत्न जड़े गये थे। उत्तम सुखपूर्वक चढ़नेयोग्य सीढ़ियाँ बनी थीं। बड़े-बड़े आसन और बिछावन आदि बिछाये गये थे ।। २० ।।

स्रग्दामसमवच्छन्नैरगुरूत्तमवासितैः ।
हंसांशुवर्णैर्बहुभिरायोजनसुगन्धिभिः ।। २१ ।।

अनेक प्रकारकी मालाएँ और हार उन भवनोंकी शोभा बढ़ा रहे थे। अगुरुकी सुगन्ध छा रही थी। वे हंस और चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेत दिखायी देते थे। उनके भीतरसे

निकली हुई धूपकी सुगन्ध चारों ओर एक योजनतक फैल रही थी ।। २१ ।।

असम्बाधशतद्वारैः शयनासनशोभितैः ।
बहुधा तु पिनद्धाङ्गैर्हिमवच्छिखरैरिव ।। २२ ।।

उन महलोंमें सैकड़ों दरवाजे थे। उनके भीतर आने-जानेके लिये बिलकुल रोक-टोक नहीं थी और वे भाँति-भाँतिकी शय्याओं तथा आसनोंसे सुशोभित थे। उनकी दीवारोंको अनेक प्रकारकी धातुओंके रंगोंसे रँगा गया था। अतः वे राजमहल हिमालयके बहुरंगे शिखरोंके समान सुशोभित हो रहे थे ।। २२ ।।

तत्र नानाप्रकारेषु विमानेषु स्वलंकृताः ।
स्पर्धमानास्तदान्योन्यं निषेदुः सर्वपार्थिवाः ।। २३ ।।

उन्हीं सतमहले मकानों या विमानोंमें, जो अनेक प्रकारके बने हुए थे, सब राजालोग परस्पर एक-दूसरेसे होड़ रखते हुए सुन्दर-से-सुन्दर शृंगार धारण करके बैठे ।। २३ ।।

तत्रोपविष्टान् ददृशुर्महासत्त्वपराक्रमान् ।
राजसिंहान् महाभागान् कृष्णागुरुविभूषितान् ।। २४ ।।
महाप्रसादान् ब्रह्मण्यान् स्वराष्ट्रपरिरक्षिणः ।
प्रियान् सर्वस्य लोकस्य सुकृतैः कर्मभिः शुभैः ।। २५ ।।
मञ्चेषु च परार्घ्येषु पौरजानपदा जनाः ।
कृष्णादर्शनसिद्ध्यर्थं सर्वतः समुपाविशन् ।। २६ ।।

नगर और जनपदके लोगोंने जब देखा कि उक्त विमानोंमें बहुमूल्य मंचोंके ऊपर महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न परम सौभाग्यशाली, कालागुरुसे विभूषित, महान् कृपाप्रसादसे युक्त, ब्राह्मणभक्त, अपने-अपने राष्ट्रके रक्षक और शुभ पुण्यकर्मोंके प्रभावसे सम्पूर्ण जगत्के प्रिय श्रेष्ठ नरपतिगण आकर बैठ गये हैं, तब राजकुमारी द्रौपदीके दर्शनका लाभ लेनेके लिये वे भी सब ओर सुखपूर्वक जा बैठे ।। २४—२६ ।।

ब्राह्मणैस्ते च सहिताः पाण्डवाः समुपाविशन् ।
ऋद्धिं पाञ्चालराजस्य पश्यन्तस्तामनुत्तमाम् ।। २७ ।।

वे पाण्डव भी पांचालनरेशकी उस सर्वोत्तम समृद्धिका अवलोकन करते हुए ब्राह्मणोंके साथ उन्हींकी पंक्तिमें बैठे थे ।। २७ ।।

ततः समाजो ववृधे स राजन् दिवसान् बहून् ।
रत्नप्रदानबहुलः शोभितो नटनर्तकैः ।। २८ ।।

राजन्! नगरमें बहुत दिनोंसे लोगोंकी भीड़ बढ़ रही थी। राजसमाजके द्वारा प्रचुर धन-रत्नोंका दान किया जा रहा था। बहुतेरे नट और नर्तक अपनी कला दिखाकर उस समाजकी शोभा बढ़ा रहे थे ।। २८ ।।

वर्तमाने समाजे तु रमणीयेऽह्नि षोडशे ।
आप्लुताङ्गी सुवसना सर्वाभरणभूषिता ।। २९ ।।

मालां च समुपादाय काञ्चनीं समलंकृताम् ।
अवतीर्णा ततो रङ्गं द्रौपदी भरतर्षभ ।। ३० ।।

सोलहवें दिन अत्यन्त मनोहर समाज जुटा। भरतश्रेष्ठ! उसी दिन स्नान करके सुन्दर वस्त्र और सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो हाथोंमें सोनेकी बनी हुई कामदार जयमाला लिये द्रुपदराजकुमारी उस रंग-भूमिमें उतरी ।। २९-३० ।।

पुरोहितः सोमकानां मन्त्रविद् ब्राह्मणः शुचिः ।
परिस्तीर्य जुहावाग्निमाज्येन विधिवत् तदा ।। ३१ ।।

तब सोमकवंशी क्षत्रियोंके पवित्र एवं मन्त्रज्ञ ब्राह्मण पुरोहितने अग्निवेदीके चारों ओर कुशा बिछाकर वेदोक्त विधिके अनुसार प्रज्वलित अग्निमें घीकी आहुति डाली ।। ३१ ।।

संतर्पयित्वा ज्वलनं ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ।
वारयामास सर्वाणि वादित्राणि समन्ततः ।। ३२ ।।

इस प्रकार अग्निदेवको तृप्त करके ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर चारों ओर बजनेवाले सब प्रकारके बाजे बंद करा दिये गये ।। ३२ ।।

निःशब्दे तु कृते तस्मिन् धृष्टद्युम्नो विशाम्पते ।
कृष्णामादाय विधिवन्मेघदुन्दुभिनिःस्वनः ।। ३३ ।।
रङ्गमध्ये गतस्तत्र मेघगम्भीरया गिरा ।
वाक्यमुच्चैर्जगादेदं श्लक्ष्णमर्थवदुत्तमम् ।। ३४ ।।

महाराज! बाजोंकी आवाज बंद हो जानेपर जब स्वयंवरसभामें सन्नाटा छा गया, तब विधिके अनुसार धृष्टद्युम्न द्रौपदीको (साथ) लेकर रंगमण्डपके बीचमें खड़ा हो मेघ और दुन्दुभिके समान स्वर तथा मेघ-गर्जनकी-सी गम्भीर वाणीमें यह अर्थयुक्त उत्तम एवं मधुर वचन बोला— ।। ३३-३४ ।।

इदं धनुर्लक्ष्यमिमे च बाणाः
शृण्वन्तु मे भूपतयः समेताः ।
छिद्रेण यन्त्रस्य समर्पयध्वं
शरैः शितैर्व्योमचरैर्दशार्धैः ।। ३५ ।।

'यहाँ आये हुए भूपालगण! आपलोग (ध्यान देकर) मेरी बात सुनें। यह धनुष है, ये बाण हैं और यह निशाना है। आपलोग आकाशमें छोड़े हुए पाँच पैने बाणोंद्वारा उस यन्त्रके छेदके भीतरसे लक्ष्यको बेधकर गिरा दें ।। ३५ ।।

एतन्महत् कर्म करोति यो वै
कुलेन रूपेण बलेन युक्तः ।
तस्याद्य भार्या भगिनी ममेयं
कृष्णा भवित्री न मृषा ब्रवीमि ।। ३६ ।।

'मैं सच कहता हूँ, झूठ नहीं बोलता—जो उत्तम कुल, सुन्दर रूप और श्रेष्ठ बलसे सम्पन्न वीर यह महान् कर्म कर दिखायेगा, आज यह मेरी बहिन कृष्णा उसीकी धर्मपत्नी होगी' ।। ३६ ।।

तानेवमुक्त्वा द्रुपदस्य पुत्रः
पश्चादिदं तां भगिनीमुवाच ।
नाम्ना च गोत्रेण च कर्मणा च
संकीर्तयन् भूमिपतीन् समेतान् ।। ३७ ।।

यों कहकर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने वहाँ आये हुए राजाओंके नाम, गोत्र और पराक्रमका वर्णन करते हुए अपनी बहिन द्रौपदीसे इस प्रकार कहा ।। ३७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि धृष्टद्युम्नवाक्ये चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें धृष्टद्युम्नवाक्यविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८४ ।।

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नका द्रौपदीको स्वयंवरमें आये हुए राजाओंका परिचय देना

धृष्टद्युम्न उवाच

दुर्योधनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुष्प्रधर्षणः ।
विविंशतिर्विकर्णश्च सहो दुःशासनस्तथा ।। १ ।।
युयुत्सुर्वायुवेगश्च भीमवेगरवस्तथा ।
उग्रायुधो बलाकी च करकायुर्विरोचनः ।। २ ।।
कुण्डकश्चित्रसेनश्च सुवर्चाः कनकध्वजः ।
नन्दको बाहुशाली च तुहुण्डो विकटस्तथा ।। ३ ।।
एते चान्ये च बहवो धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
कर्णेन सहिता वीरास्त्वदर्थं समुपागताः ।। ४ ।।

धृष्टद्युम्नने कहा—बहिन! यह देखो—दुर्योधन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुष्प्रधर्षण, विविंशति, विकर्ण, सह, दुःशासन, युयुत्सु, वायुवेग, भीमवेगरव, उग्रायुध, बलाकी, करकायु, विरोचन, कुण्डक, चित्रसेन, सुवर्चा, कनकध्वज, नन्दक, बाहुशाली, तुहुण्ड तथा विकट—ये और दूसरे भी बहुत-से महाबली धृतराष्ट्रपुत्र जो सब-के-सब वीर हैं, तुम्हें प्राप्त करनेके लिये कर्णके साथ यहाँ पधारे हैं ।। १—४ ।।

असंख्याता महात्मानः पार्थिवाः क्षत्रियर्षभाः ।
शकुनिः सौबलश्चैव वृषकोऽथ बृहद्बलः ।। ५ ।।
एते गान्धारराजस्य सुताः सर्वे समागताः ।
अश्वत्थामा च भोजश्च सर्वशस्त्रभृतां वरौ ।। ६ ।।
समवेतौ महात्मानौ त्वदर्थे समलंकृतौ ।
बृहन्तो मणिमांश्चैव दण्डधारश्च पार्थिवः ।। ७ ।।
सहदेवजयत्सेनौ मेघसंधिश्च पार्थिवः ।
विराटः सह पुत्राभ्यां शङ्खेनैवोत्तरेण च ।। ८ ।।
वार्द्धक्षेमिः सुशर्मा च सेनाबिन्दुश्च पार्थिवः ।
सुकेतुः सह पुत्रेण सुनाम्ना च सुवर्चसा ।। ९ ।।
सुचित्रः सुकुमारश्च वृकः सत्यधृतिस्तथा ।
सूर्यध्वजो रोचमानो नीलश्चित्रायुधस्तथा ।। १० ।।
अंशुमांश्चेकितानश्च श्रेणिमांश्च महाबलः ।

समुद्रसेनपुत्रश्च चन्द्रसेनः प्रतापवान् ।। ११ ।।
जलसंधः पितापुत्रौ विदण्डो दण्ड एव च ।
पौण्ड्रको वासुदेवश्च भगदत्तश्च वीर्यवान् ।। १२ ।।
कालिङ्गस्ताम्रलिप्तश्च पत्तनाधिपतिस्तथा ।
मद्रराजस्तथा शल्यः सहपुत्रो महारथः ।। १३ ।।
रुक्माङ्गदेन वीरेण तथा रुक्मरथेन च ।
कौरव्यः सोमदत्तश्च पुत्राश्चास्य महारथाः ।। १४ ।।
समवेतास्त्रयः शूरा भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ।
सुदक्षिणश्च काम्बोजो दृढधन्वा च पौरवः ।। १५ ।।

इनके सिवा और भी असंख्य महामना क्षत्रियशिरोमणि भूमिपाल यहाँ आये हैं। उधर देखो, गान्धारराज सुबलके पुत्र शकुनि, वृषक और बृहद्बल बैठे हैं। गान्धारराजके ये सभी पुत्र यहाँ पधारे हैं। अश्वत्थामा और भोज—ये दोनों महान् तेजस्वी और सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं और तुम्हारे लिये गहने-कपड़ोंसे सज-धजकर यहाँ आये हैं। राजा बृहन्त, मणिमान्, दण्डधार, सहदेव, जयत्सेन, राजा मेघसंधि, अपने दोनों पुत्रों शंख और उत्तरके साथ राजा विराट, वृद्धक्षेमके पुत्र सुशर्मा, राजा सेनाबिन्दु, सुकेतु और उनके पुत्र सुवर्चा, सुचित्र, सुकुमार, वृक, सत्यधृति, सूर्यध्वज, रोचमान, नील, चित्रायुध, अंशुमान्, चेकितान, महाबली श्रेणिमान्, समुद्रसेनके प्रतापी पुत्र चन्द्रसेन, जलसंध, विदण्ड और उनके पुत्र दण्ड, पौण्ड्रक वासुदेव, पराक्रमी भगदत्त, कलिंगनरेश ताम्रलिप्तनरेश, पाटनके राजा, अपने दो पुत्रों वीर रुक्मांगद तथा रुक्मरथके साथ महारथी मद्रराज शल्य, कुरुवंशी सोमदत्त तथा उनके तीन महारथी शूरवीर पुत्र भूरि, भूरिश्रवा और शल, काम्बोजदेशीय सुदक्षिण, पूरुवंशी दृढ़धन्वा ।। ५—१५ ।।

बृहद्बलः सुषेणश्च शिबिरौशीनरस्तथा ।
पटच्चरनिहन्ता च कारूषाधिपतिस्तथा ।। १६ ।।
संकर्षणो वासुदेवो रौक्मिणेयश्च वीर्यवान् ।
साम्बश्च चारुदेष्णश्च प्राद्युम्निः सगदस्तथा ।। १७ ।।
अक्रूरः सात्यकिश्चैव उद्धवश्च महामतिः ।
कृतकर्मा च हार्दिक्यः पृथुर्विपृथुरेव च ।। १८ ।।
विदूरथश्च कङ्कश्च शङ्कुश्च सगवेषणः ।
आशावहोऽनिरुद्धश्च शमीकः सारिमेजयः ।। १९ ।।
वीरो वातपतिश्चैव झिल्लीपिण्डारकस्तथा ।
उशीनरश्च विक्रान्तो वृष्णयस्ते प्रकीर्तिताः ।। २० ।।

महाबली सुषेण, उशीनरदेशीय शिबि तथा चोर-डाकुओंको मार डालनेवाले कारूषाधिपति भी यहाँ आये हैं। इधर संकर्षण, वासुदेव, (भगवान् श्रीकृष्ण)

रुक्मिणीनन्दन पराक्रमी प्रद्युम्न, साम्ब, चारुदेष्ण, प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध, श्रीकृष्णके बड़े भाई गद, अक्रूर, सात्यकि, परम बुद्धिमान् उद्धव, हृदिकपुत्र कृतकर्मा, पृथु, विपृथु, विदूरथ, कंक, शंकु, गवेषण, आशावह, अनिरुद्ध, शमीक, सारिमेजय, वीर, वातपति, झिल्लीपिण्डारक तथा पराक्रमी उशीनर—ये सब वृष्णिवंशी कहे गये हैं ।। १६—२० ।।

भागीरथो बृहत्क्षत्रः सैन्धवश्च जयद्रथः ।
बृहद्रथो बाह्लिकश्च श्रुतायुश्च महारथः ।। २१ ।।
उलूकः कैतवो राजा चित्राङ्गदशुभाङ्गदौ ।
वत्सराजश्च मतिमान् कोसलाधिपतिस्तथा ।। २२ ।।
शिशुपालश्च विक्रान्तो जरासंधस्तथैव च ।
एते चान्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः ।। २३ ।।
त्वदर्थमागता भद्रे क्षत्रियाः प्रथिता भुवि ।
एते भेत्स्यन्ति विक्रान्तास्त्वदर्थे लक्ष्यमुत्तमम् ।
विध्येत य इदं लक्ष्यं वरयेथाः शुभेऽद्य तम् ।। २४ ।।

भगीरथवंशी बृहत्क्षत्र, सिन्धुराज जयद्रथ, बृहद्रथ, बाह्लीक, महारथी श्रुतायु, उलूक, राजा कैतव, चित्रांगद, शुभांगद, बुद्धिमान् वत्सराज, कोसलनरेश, पराक्रमी शिशुपाल तथा जरासंध—ये तथा और भी अनेक जनपदोंके शासक भूमण्डलमें विख्यात बहुत-से क्षत्रिय वीर तुम्हारे लिये यहाँ पधारे हैं। भद्रे! ये पराक्रमी नरेश तुम्हें पानेके उद्देश्यसे इस उत्तम लक्ष्यका भेदन करेंगे। शुभे! जो इस निशानेको वेध डाले, उसीका आज तुम वरण करना ।। २१—२४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि राजनामकीर्तने पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें राजाओंके नामका परिचयविषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८५ ।।

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजाओंका लक्ष्यवेधके लिये उद्योग और असफल होना

वैशम्पायन उवाच

तेऽलंकृताः कुण्डलिनो युवानः
परस्परं स्पर्धमाना नरेन्द्राः ।
अस्त्रं बलं चात्मनि मन्यमानाः
सर्वे समुत्पेतुरुदायुधास्ते ।। १ ।।
रूपेण वीर्येण कुलेन चैव
शीलेन वित्तेन च यौवनेन ।
समिद्धदर्पा मदवेगभिन्ना
मत्ता यथा हैमवता गजेन्द्राः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वे सब नवयुवक राजा अनेक आभूषणोंसे विभूषित हो कानोंमें कुण्डल पहने और परस्पर लाग-डाँट रखते हुए हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये अपने-अपने आसनोंसे उठने लगे। उन्हें अपनेमें ही सबसे अधिक अस्त्रविद्या और बलके होनेका अभिमान था; सभीको अपने रूप, पराक्रम, कुल, शील, धन और जवानीका बड़ा घमंड था। वे सभी मस्तकसे वेगपूर्वक मदकी धारा बहानेवाले हिमाचल-प्रदेशके गजराजोंकी भाँति उन्मत्त हो रहे थे ।। १-२ ।।

परस्परं स्पर्धया प्रेक्षमाणाः
संकल्पजेनाभिपरिप्लुताङ्गाः ।
कृष्णा ममैवेत्यभिभाषमाणा
नृपासनेभ्यः सहसोदतिष्ठन् ।। ३ ।।

वे एक-दूसरेको बड़ी स्पर्धासे देख रहे थे। उनके सभी अंगोंमें कामोन्माद व्याप्त हो रहा था। ‘कृष्णा तो मेरी ही होनेवाली है’ यह कहते हुए वे अपने राजोचित आसनोंसे सहसा उठकर खड़े हो गये ।। ३ ।।

ते क्षत्रिया रङ्गगताः समेता
जिगीषमाणा द्रुपदात्मजां ताम् ।
चकाशिरे पर्वतराजकन्या-
मुमां यथा देवगणाः समेताः ।। ४ ।।

द्रुपदकुमारीको पानेकी इच्छासे रंगमण्डपमें एकत्र हुए वे क्षत्रियनरेश गिरिराजनन्दिनी उमाके विवाहमें इकट्ठे हुए देवताओंकी भाँति शोभा पा रहे थे ।। ४ ।।

कन्दर्पबाणाभिनिपीडिताङ्गाः

कृष्णागतैस्ते हृदयैर्नरेन्द्राः ।
रङ्गावतीर्णा द्रुपदात्मजार्थं
द्वेषं प्रचक्रुः सुहृदोऽपि तत्र ।। ५ ।।

कामदेवके बाणोंकी चोटसे उनके सभी अंगोंमें निरन्तर पीड़ा हो रही थी। उनका मन द्रौपदीमें ही लगा हुआ था। द्रुपदकुमारीको पानेके लिये रंगभूमिमें उतरे हुए वे सभी नरेश वहाँ अपने सुहृद् राजाओंसे भी ईर्ष्या करने लगे ।। ५ ।।

अथाययुर्देवगणा विमानै
रुद्रादित्या वसवोऽथाश्विनौ च ।
साध्याश्च सर्वे मरुतस्तथैव
यमं पुरस्कृत्य धनेश्वरं च ।। ६ ।।

इसी समय रुद्र, आदित्य, वसु, अश्विनीकुमार, समस्त साध्यगण तथा मरुद्गण यमराज और कुबेरको आगे करके अपने-अपने विमानोंपर बैठकर वहाँ आये ।। ६ ।।

दैत्याः सुपर्णाश्च महोरगाश्च
देवर्षयो गुह्यकाश्चारणाश्च ।
विश्वावसुर्नारदपर्वतौ च
गन्धर्वमुख्याः सहसाप्सरोभिः ।। ७ ।।

दैत्य, सुपर्ण, नाग, देवर्षि, गुह्यक, चारण तथा विश्वावसु, नारद और पर्वत आदि प्रधान-प्रधान गन्धर्व भी अप्सराओंको साथ लिये सहसा आकाशमें उपस्थित हो गये ।। ७ ।।

हलायुधस्तत्र जनार्दनश्च
वृष्ण्यन्धकाश्चैव यथाप्रधानम् ।
प्रेक्षां स्म चक्रुर्यदुपुङ्गवास्ते
स्थिताश्च कृष्णस्य मते महान्तः ।। ८ ।।

(अन्य राजालोग द्रौपदीकी प्राप्तिके लिये लक्ष्य बेधनेके विचारमें पड़े थे, किंतु) भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार चलनेवाले महान् यदुश्रेष्ठ, जिनमें बलराम और श्रीकृष्ण आदि वृष्णि और अन्धक वंशके प्रमुख व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे, चुपचाप अपनी जगहपर बैठे-बैठे देख रहे थे ।। ८ ।।

दृष्ट्वा तु तान् मत्तगजेन्द्ररूपान्
पञ्चाभिपद्मानिव वारणेन्द्रान् ।
भस्मावृताङ्गानिव हव्यवाहान्
कृष्णः प्रदध्यौ यदुवीरमुख्यः ।। ९ ।।

यदुवंशी वीरोंके प्रधान नेता श्रीकृष्णने लक्ष्मीके सम्मुख विराजमान गजराजों तथा राखमें छिपी हुई आगके समान मतवाले हाथीकी-सी आकृतिवाले पाण्डवोंको, जो अपने सब अंगोंमें भस्म लपेटे हुए थे, देखकर (तुरंत) पहचान लिया ।। ९ ।।

शशंस रामाय युधिष्ठिरं स
भीमं सजिष्णुं च यमौ च वीरौ ।
शनैः शनैस्तान् प्रसमीक्ष्य रामो
जनार्दनं प्रीतमना ददर्श ह ।। १० ।।

और बलरामजीसे धीरे-धीरे कहा—'भैया! वह देखिये, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और दोनों जुड़वे वीर नकुल-सहदेव उधर बैठे हैं।' बलरामजीने उन्हें देखकर अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो भगवान् श्रीकृष्णकी ओर दृष्टिपात किया ।। १० ।।

अन्ये तु वीरा नृपपुत्रपौत्राः
कृष्णागतैर्नेत्रमनःस्वभावैः ।
व्यायच्छमाना ददृशुर्न तान् वै
संदष्टदन्तच्छदताम्रनेत्राः ।। ११ ।।

दूसरे-दूसरे वीर राजा, राजकुमार एवं राजाओंके पौत्र अपने नेत्रों, मन और स्वभावको द्रौपदीकी ओर लगाकर उसीको देख रहे थे, अतः पाण्डवोंकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी। वे जोशमें आकर दाँतोंसे ओठ चबा रहे थे और रोषसे उनकी आँखें लाल हो रही थीं ।। ११ ।।

तथैव पार्थाः पृथुबाहवस्ते
वीरौ यमौ चैव महानुभावौ ।
तां द्रौपदीं प्रेक्ष्य तदा स्म सर्वे
कन्दर्पबाणाभिहता बभूवुः ।। १२ ।।

इसी प्रकार वे महाबाहु कुन्तीपुत्र तथा दोनों महानुभाव वीर नकुल-सहदेव सब-के-सब द्रौपदीको देखकर तुरंत कामदेवके बाणोंसे घायल हो गये ।। १२ ।।

देवर्षिगन्धर्वसमाकुलं तत्
सुपर्णनागासुरसिद्धजुष्टम् ।
दिव्येन गन्धेन समाकुलं च
दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्यमाणम् ।। १३ ।।

राजन्! उस समय वहाँका आकाश देवर्षियों तथा गन्धर्वोंसे खचाखच भरा था। सुपर्ण, नाग, असुर और सिद्धोंका समुदाय वहाँ जुट गया था। सब ओर दिव्य सुगन्ध व्याप्त हो रही थी और दिव्य पुष्पोंकी वर्षा की जा रही थी ।। १३ ।।

महास्वनैर्दुन्दुभिनादितैश्च
बभूव तत् संकुलमन्तरिक्षम् ।
विमानसम्बाधमभूत् समन्तात्
सवेणुवीणापणवानुनादम् ।। १४ ।।

बृहत् शब्द करनेवाली दुन्दुभियोंके नादसे सारा अन्तरिक्ष गूँज उठा था। चारों ओरका आकाश विमानोंसे ठसाठस भरा था और वहाँ बाँसुरी, वीणा तथा ढोलकी मधुर ध्वनि हो

रही थी ।। १४ ।।

ततस्तु ते राजगणाः क्रमेण
कृष्णानिमित्तं कृतविक्रमाश्च ।
सकर्णदुर्योधनशाल्वशल्य-
द्रौणायनिक्राथसुनीथवक्राः ।। १५ ।।
कलिङ्गवङ्गाधिपपाण्ड्यपौण्ड्रा
विदेहराजो यवनाधिपश्च ।
अन्ये च नानानृपपुत्रपौत्रा
राष्ट्राधिपाः पङ्कजपत्रनेत्राः ।। १६ ।।
किरीटहाराङ्गदचक्रवालै-
र्विभूषिताङ्गाः पृथुबाहवस्ते ।
अनुक्रमं विक्रमसत्त्वयुक्ता
बलेन वीर्येण च नर्दमानाः ।। १७ ।।

तदनन्तर वे नृपतिगण द्रौपदीके लिये क्रमशः अपना पराक्रम प्रकट करने लगे। कर्ण, दुर्योधन, शाल्व, शल्य, अश्वत्थामा, क्राथ, सुनीथ, वक्र, कलिंगराज, वंगनरेश, पाण्ड्यनरेश, पौण्ड्र देशके अधिपति, विदेहके राजा, यवनदेशके अधिपति तथा अन्यान्य अनेक राष्ट्रोंके स्वामी, बहुतेरे राजा, राजपुत्र तथा राजपौत्र, जिनके नेत्र प्रफुल्ल कमलपत्रके समान शोभा पा रहे थे, जिनके विभिन्न अंगोंमें किरीट, हार, अंगद (बाजूबंद) तथा कड़े आदि आभूषण शोभा दे रहे थे तथा जिनकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं, वे सब-के-सब पराक्रमी और धैर्यसे युक्त हो अपने बल और शक्तिपर गर्जते हुए क्रमशः उस धनुषपर अपना बल दिखाने लगे ।। १५—१७ ।।

तत् कार्मुकं संहननोपपन्नं
सज्यं न शेकुर्मनसापि कर्तुम् ।
ते विक्रमन्तः स्फुरता दृढेन
विक्षिप्यमाणा धनुषा नरेन्द्राः ।। १८ ।।
विचेष्टमाना धरणीतलस्था
यथाबलं शैक्ष्यगुणक्रमाश्च ।
गतौजसः स्रस्तकिरीटहारा
विनिःश्वसन्तः शमयाम्बभूवुः ।। १९ ।।

परंतु वे उस सुदृढ़ धनुषपर हाथसे कौन कहे, मनसे भी प्रत्यंचा न चढ़ा सके। अपने बल, शिक्षा और गुणके अनुसार उसपर जोर लगाते समय वे सभी नरेन्द्र उस सुदृढ़ एवं चमचमाते हुए धनुषके झटकेसे दूर फेंक दिये जाते और लड़खड़ाकर धरतीपर जा गिरते

थे। फिर तो उनका उत्साह समाप्त हो जाता, किरीट और हार खिसककर गिर जाते और वे लंबी साँसें खींचते हुए शान्त होकर बैठ जाते थे ।। १८-१९ ।।

हाहाकृतं तद् धनुषा दृढेन
विस्रस्तहाराङ्गचक्रवालम् ।
कृष्णानिमित्तं विनिवृत्तकामं
राज्ञां तदा मण्डलमार्तमासीत् ।। २० ।।

उस सुदृढ़ धनुषके झटकेसे जिनके हार, बाजूबंद और कड़े आदि आभूषण दूर जा गिरे थे, वे नरेश उस समय द्रौपदीको पानेकी आशा छोड़कर अत्यन्त व्यथित हो हाहाकार कर उठे ।। २० ।।

सर्वान् नृपांस्तान् प्रसमीक्ष्य कर्णो
धनुर्धराणां प्रवरो जगाम ।
उद्धृत्य तूर्णं धनुरुद्यतं तत्
सज्यं चकाराशु युयोज बाणान् ।। २१ ।।

उन सब राजाओंकी यह अवस्था देख धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण उस धनुषके पास गया और तुरंत ही उसे उठाकर उसपर प्रत्यंचा चढ़ा दी तथा शीघ्र ही उस धनुषपर वे पाँचों बाण जोड़ दिये* ।। २१ ।।

दृष्ट्वा सूतं मेनिरे पाण्डुपुत्रा
भित्त्वा नीतं लक्ष्यवरं धरायाम् ।
धनुर्धरा रागकृतप्रतिज्ञ-
मत्यग्निसोमार्कमथार्कपुत्रम् ।। २२ ।।

अग्नि, चन्द्रमा और सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी सूर्यपुत्र कर्ण द्रौपदीके प्रति आसक्त होनेके कारण जब लक्ष्य भेदनेकी प्रतिज्ञा करके उठा, तब उसे देखकर महाधनुर्धर पाण्डवोंने यह विश्वास कर लिया कि अब यह इस उत्तम लक्ष्यको भेदकर पृथ्वीपर गिरा देगा ।। २२ ।।

दृष्ट्वा तु तं द्रौपदी वाक्यमुच्चै-
र्जगाद नाहं वरयामि सूतम् ।
सामर्षहासं प्रसमीक्ष्य सूर्यं
तत्याज कर्णः स्फुरितं धनुस्तत् ।। २३ ।।

कर्णको देखकर द्रौपदीने उच्च स्वरसे यह बात कही—'मैं सूत जातिके पुरुषका वरण नहीं करूँगी।' यह सुनकर कर्णने अमर्षयुक्त हँसीके साथ भगवान् सूर्यकी ओर देखा और उस प्रकाशमान धनुषको डाल दिया ।। २३ ।।

एवं तेषु निवृत्तेषु क्षत्रियेषु समन्ततः ।
चेदीनामधिपो वीरो बलवानन्तकोपमः ।। २४ ।।

दमघोषसुतो धीरः शिशुपालो महामतिः ।
धनुरादायमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ।। २५ ।।

इस प्रकार जब वे सभी क्षत्रिय सब ओरसे हट गये, तब यमराजके समान बलवान्, धीर, वीर, चेदिराज दमघोषपुत्र महाबुद्धिमान् शिशुपाल धनुष उठानेके लिये चला। परंतु उसपर हाथ लगाते ही घुटनोंके बल पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। २४-२५ ।।

ततो राजा महावीर्यो जरासंधो महाबलः ।
धनुषोऽभ्याशमागत्य तस्थौ गिरिरिवाचलः ।। २६ ।।

तदनन्तर महापराक्रमी एवं महाबली राजा जरासंध धनुषके निकट आकर पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा हो गया ।। २६ ।।

धनुषा पीड्यमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ।
तत उत्थाय राजा स स्वराष्ट्राण्यभिजग्मिवान् ।। २७ ।।

परंतु उठाते समय धनुषका झटका खाकर वह भी घुटनेके बल गिर पड़ा। तब वहाँसे उठकर राजा जरासंध अपने राज्यको चला गया ।। २७ ।।

ततः शल्यो महावीरो मद्रराजो महाबलः ।
तदप्यारोप्यमाणस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ।। २८ ।।

तत्पश्चात् महावीर एवं महाबली मद्रराज शल्य आये। पर उन्होंने भी उस धनुषको चढ़ाते समय धरतीपर घुटने टेक दिये ।। २८ ।।

(ततो दुर्योधनो राजा धार्तराष्ट्रः परंतपः ।
मानी दृढास्त्रसम्पन्नः सर्वैश्च नृपलक्षणैः ।।
उत्थितः सहसा तत्र भ्रातृमध्ये महाबलः ।
विलोक्य द्रौपदीं हृष्टो धनुषोऽभ्याशमागमत् ।।
स बभौ धनुरादाय शक्रश्चापधरो यथा ।
आरोपयंस्तु तद् राजा धनुषा बलिना तदा ।।
उत्तानशय्यमपतदङ्गुल्यन्तरताडितः ।
स ययौ ताडितस्तेन व्रीडन्निव नराधिपः ।।)

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाला धृतराष्ट्रपुत्र महाबली राजा दुर्योधन सहसा अपने भाइयोंके बीचसे उठकर खड़ा हो गया। उसके अस्त्र-शस्त्र बड़े मजबूत थे। वह स्वाभिमानी होनेके साथ ही समस्त राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न था। द्रौपदीको देखकर उसका हृदय हर्षसे खिल उठा और वह शीघ्रतापूर्वक धनुषके पास आया। उस धनुषको हाथमें लेकर वह चापधारी इन्द्रके समान शोभा पाने लगा। राजा दुर्योधन उस मजबूत धनुषपर जब प्रत्यंचा चढ़ाने लगा, उस समय उसके अँगुलियोंके बीचमें झटकेसे ऐसी चोट लगी कि वह चित्त लोट गया। धनुषकी चोट खाकर राजा दुर्योधन अत्यन्त लज्जित होता हुआ-सा अपने स्थानपर लौट गया।

तस्मिंस्तु सम्भ्रान्तजने समाजे
निक्षिप्तवादेषु जनाधिपेषु ।
कुन्तीसुतो जिष्णुरियेष कर्तुं
सज्यं धनुस्तत् सशरं प्रवीरः ।। २९ ।।

(जब इस प्रकार बड़े-बड़े प्रभावशाली राजा लक्ष्यवेध न कर सके, तब) सारा समाज सम्भ्रम (घबराहट)-में पड़ गया और लक्ष्यवेधकी बातचीततक बंद हो गयी, उसी समय प्रमुख वीर कुन्तीनन्दन अर्जुनने उस धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ाकर उसपर बाण-संधान करनेकी अभिलाषा की ।। २९ ।।

(ततो वरिष्ठः सुरदानवाना-
मुदारधीर्वृष्णिकुलप्रवीरः ।
जहर्ष रामेण स पीड्य हस्तं
हस्तं गतां पाण्डुसुतस्य मत्वा ।।
न जज्ञुरन्ये नृपवीरमुख्याः
संछन्नरूपानथ पाण्डुपुत्रान् ।)

यह देख देवता और दानवोंके आदरणीय, वृष्णि-वंशके प्रमुख वीर उदारबुद्धि भगवान् श्रीकृष्ण बल-रामजीके साथ उनका हाथ दबाते हुए बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें यह विश्वास हो गया कि द्रौपदी अब पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथमें आ गयी। पाण्डवोंने अपना रूप छिपा रखा था, अतः दूसरे कोई राजा या प्रमुख वीर उन्हें पहचान न सके।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि राजपराङ्मुखीभवने षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें सम्पूर्ण राजाओंके विमुख होनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)

---

* कर्णके द्वारा प्रत्यंचा और बाण चढ़ानेकी बात दाक्षिणात्य पाठमें कहीं नहीं है। भण्डारकरकी प्रतिमें भी मुख्य पाठमें यह वर्णन नहीं है। नीलकण्ठी पाठमें भी इससे पूर्व श्लोक १५में तथा उत्तर अ० १८७ श्लोक ४ एवं १९में भी ऐसा ही उल्लेख है कि कर्ण धनुषपर प्रत्यंचा और बाण नहीं चढ़ा सका था; इससे यही सिद्ध होता है कि कर्णने बाण नहीं चढ़ाया था।

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका लक्ष्यवेध करके द्रौपदीको प्राप्त करना

वैशम्पायन उवाच

यदा निवृत्ता राजानो धनुषः सज्यकर्मणः ।
अथोदतिष्ठद् विप्राणां मध्याज्जिष्णुरुदारधीः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब सब राजाओंने उस धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ानेके कार्यसे मुँह मोड़ लिया, तब उदारबुद्धि अर्जुन ब्राह्मणमण्डलीके बीचसे उठकर खड़े हुए ।। १ ।।

उदक्रोशन् विप्रमुख्या विधुन्वन्तोऽजिनानि च ।
दृष्ट्वा सम्प्रस्थितं पार्थमिन्द्रकेतुसमप्रभम् ।। २ ।।

इन्द्रकी ध्वजाके समान (लंबे) अर्जुनको उठकर धनुषकी ओर जाते देख बड़े-बड़े ब्राह्मण अपने-अपने मृगचर्म हिलाते हुए जोर-जोरसे कोलाहल करने लगे ।। २ ।।

केचिदासन् विमनसः केचिदासन् मुदान्विताः ।
आहुः परस्परं केचिन्निपुणा बुद्धिजीविनः ।। ३ ।।

कुछ ब्राह्मण उदास हो गये और कुछ प्रसन्नताके मारे फूल उठे तथा कुछ चतुर एवं बुद्धिजीवी ब्राह्मण आपसमें इस प्रकार कहने लगे— ।। ३ ।।

यत् कर्णशल्यप्रमुखैः क्षत्रियैर्लोकविश्रुतैः ।
नानतं बलवद्भिर्हि धनुर्वेदपरायणैः ।। ४ ।।
तत् कथं त्वकृतास्त्रेण प्राणतो दुर्बलीयसा ।
वटुमात्रेण शक्यं हि सज्यं कर्तुं धनुर्द्विजाः ।। ५ ।।

‘ब्राह्मणो! कर्ण और शल्य आदि बलवान्, धनुर्वेदपरायण तथा लोकविख्यात क्षत्रिय जिसे झुका (-तक) न सके, उसी धनुषपर अस्त्र-ज्ञानसे शून्य और शारीरिक बलकी दृष्टिसे अत्यन्त दुर्बल यह निरा ब्राह्मण-बालक कैसे प्रत्यंचा चढ़ा सकेगा ।। ४-५ ।।

अवहास्या भविष्यन्ति ब्राह्मणाः सर्वराजसु ।
कर्मण्यस्मिन्नसंसिद्धे चापलादपरीक्षिते ।। ६ ।।

‘इसने बालोचित चपलताके कारण इस कार्यकी कठिनाईपर विचार नहीं किया है। यदि इसमें यह सफल न हुआ तो समस्त राजाओंमें ब्राह्मणोंकी बड़ी हँसी होगी ।। ६ ।।

यद्येष दर्पाद्धर्षाद् वाप्यथ ब्राह्मणचापलात् ।
प्रस्थितो धनुरायन्तुं वार्यतां साधु मा गमत् ।। ७ ।।

‘यदि यह अभिमान, हर्ष अथवा ब्राह्मणसुलभ चंचलताके कारण धनुषपर डोरी चढ़ानेके लिये आगे बढ़ा है तो इसे रोक देना चाहिये; अच्छा तो यही होगा कि यह जाय ही

नहीं' ।। ७ ।।

ब्राह्मणा ऊचुः

नावहास्या भविष्यामो न च लाघवमास्थिताः ।
न च विद्विष्टतां लोके गमिष्यामो महीक्षिताम् ।। ८ ।।

ब्राह्मण बोले—(भाइयो!) हमारी हँसी नहीं होगी। न हमें किसीके सामने छोटा ही बनना पड़ेगा और लोकमें हमलोग राजाओंके द्वेषपात्र भी नहीं होगे। (अतः इन बातोंकी चिन्ता छोड़ दो) ।। ८ ।।

केचिदाहुर्युवा श्रीमान् नागराजकरोपमः ।
पीनस्कन्धोरुबाहुश्च धैर्येण हिमवानिव ।। ९ ।।

कुछ ब्राह्मणोंने कहा—'यह सुन्दर युवक नागराज ऐरावतके शुण्ड-दण्डके समान हृष्ट-पुष्ट दिखायी देता है। इसके कंधे सुपुष्ट और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं। यह धैर्यमें हिमालयके समान जान पड़ता है ।। ९ ।।

सिंहखेलगतिः श्रीमान् मत्तनागेन्द्रविक्रमः ।
सम्भाव्यमस्मिन् कर्मेदमुत्साहाच्चानुमीयते ।। १० ।।

'इसकी सिंहके समान मस्तानी चाल है। यह शोभाशाली तरुण मतवाले गजराजके समान पराक्रमी प्रतीत होता है। इस वीरके लिये यह कार्य करना सम्भव है। इसका उत्साह देखकर भी ऐसा ही अनुमान होता है ।। १० ।।

शक्तिरस्य महोत्साहा न ह्यशक्तः स्वयं व्रजेत् ।
न च तद् विद्यते किंचित् कर्म लोकेषु यद् भवेत् ।। ११ ।।
ब्राह्मणानामसाध्यं च नृषु संस्थानचारिषु ।
अब्भक्षा वायुभक्षाश्च फलाहारा दृढव्रताः ।। १२ ।।
दुर्बला अपि विप्रा हि बलीयांसः स्वतेजसा ।
ब्राह्मणो नावमन्तव्यः सदसद् वा समाचरन् ।। १३ ।।
सुखं दुःखं महद् ह्रस्वं कर्म यत् समुपागतम् ।
(धनुर्वेदे च वेदे च योगेषु विविधेषु च ।
न तं पश्यामि मेदिन्यां ब्राह्मणाभ्यधिको भवेत् ।।
मन्त्रयोगबलेनापि महताऽऽत्मबलेन वा ।
जृम्भयेयुरमुं लोकमथवा द्विजसत्तमाः ।।)
जामदग्न्येन रामेण निर्जिताः क्षत्रिया युधि ।। १४ ।।

इसमें शक्ति और महान् उत्साह है। यदि यह असमर्थ होता तो स्वयं ही धनुषके पास जानेका साहस नहीं करता। सम्पूर्ण लोकोंमें देवता, असुर आदिके रूपमें विचरनेवाले पुरुषोंका ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो ब्राह्मणोंके लिये असाध्य हो। ब्राह्मणलोग जल पीकर,

हवा खाकर अथवा फलाहार करके (भी) दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हैं। अतः वे शरीरसे दुबले होनेपर भी अपने तेजके कारण अत्यन्त बलवान् होते हैं। ब्राह्मण भला-बुरा, सुखद-दुःखद और छोटा-बड़ा जो भी कर्म प्राप्त होता है, कर लेता है; अतः किसी भी कर्मको करते समय उस ब्राह्मणका अपमान नहीं करना चाहिये। मैं भूमण्डलमें ऐसे किसी पुरुषको नहीं देखता जो धनुर्वेद, वेद तथा नाना प्रकारके योगोंमें ब्राह्मणसे बढ़-चढ़कर हो। श्रेष्ठ ब्राह्मण मन्त्रबल, योगबल अथवा महान् आत्मबलसे इस सम्पूर्ण जगत्को स्तब्ध कर सकते हैं। (अतः उनके प्रति तुच्छ बुद्धि नहीं रखनी चाहिये।) देखो, जमदग्निनन्दन परशुरामजीने अकेले ही (सम्पूर्ण) क्षत्रियोंको युद्धमें जीत लिया था ।। ११—१४ ।।

पीतः समुद्रोऽगस्त्येन ह्यगाधो ब्रह्मतेजसा ।
तस्माद् ब्रुवन्तु सर्वेऽत्र बटुरेष धनुर्महान् ।। १५ ।।
आरोपयतु शीघ्रं वै तथेत्यूचुर्द्विजर्षभाः ।

'महर्षि अगस्त्यने अपने ब्रह्मतेजके प्रभावसे अगाध समुद्रको पी डाला। इसलिये आप सब लोग यहाँ आशीर्वाद दें कि यह महान् ब्रह्मचारी शीघ्र ही इस धनुषको चढ़ा दे (और लक्ष्य-वेध करनेमें सफल हो)। यह सुनकर वे श्रेष्ठ ब्राह्मण उसी प्रकार आशीर्वादकी वर्षा करने लगे ।। १५½ ।।

एवं तेषां विलपतां विप्राणां विविधा गिरः ।। १६ ।।
अर्जुनो धनुषोऽभ्याशे तस्थौ गिरिरिवाचलः ।
स तद् धनुः परिक्रम्य प्रदक्षिणमथाकरोत् ।। १७ ।।

इस प्रकार जब ब्राह्मणलोग भाँति-भाँतिकी बातें कर रहे थे, उसी समय अर्जुन धनुषके पास जाकर पर्वतके समान अविचलभावसे खड़े हो गये। फिर उन्होंने धनुषके चारों ओर घूमकर उसकी परिक्रमा की ।। १६-१७ ।।

प्रणम्य शिरसा देवमीशानं वरदं प्रभुम् ।
कृष्णं च मनसा कृत्वा जगृहे चार्जुनो धनुः ।। १८ ।।

इसके बाद वरदायक भगवान् शंकरको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और मन-ही-मन भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करके अर्जुनने वह धनुष उठा लिया ।। १८ ।।

यत् पार्थिवै रुक्मसुनीथवक्रैः
राधेयदुर्योधनशल्यशाल्वैः ।
तदा धनुर्वेदपरैर्नृसिंहैः
कृतं न सज्यं महतोऽपि यत्नात् ।। १९ ।।
तदर्जुनो वीर्यवतां सदर्प-
स्तदैन्द्रिरिन्द्रावरजप्रभावः ।
सज्यं च चक्रे निमिषान्तरेण
शरांश्च जग्राह दशार्धसंख्यान् ।। २० ।।

रुक्म, सुनीथ, वक्र, कर्ण, दुर्योधन, शल्य तथा शाल्व आदि धनुर्वेदके पारंगत विद्वान् पुरुषसिंह राजालोग महान् प्रयत्न करके भी जिस धनुषपर डोरी न चढ़ा सके, उसी धनुषपर विष्णुके समान प्रभावशाली एवं पराक्रमी वीरोंमें श्रेष्ठताका अभिमान रखनेवाले इन्द्रकुमार अर्जुनने पलक मारते-मारते प्रत्यंचा चढ़ा दी। इसके बाद उन्होंने वे पाँच बाण भी अपने हाथमें ले लिये ।। १९-२० ।।

विव्याध लक्ष्यं निपपात तच्च
छिद्रेण भूमौ सहसातिविद्धम् ।
ततोऽन्तरिक्षे च बभूव नादः
समाजमध्ये च महान् निनादः ।। २१ ।।

और उन्हें चलाकर बात-की-बातमें (लक्ष्य) वेध दिया। वह बिंधा हुआ लक्ष्य अत्यन्त छिन्न-भिन्न हो यन्त्रके छेदसे सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा। उस समय आकाशमें बड़े जोरका हर्षनाद हुआ और सभामण्डपमें तो उससे भी महान् आनन्द-कोलाहल छा गया ।। २१ ।।

पुष्पाणि दिव्यानि ववर्ष देवः
पार्थस्य मूर्ध्नि द्विषतां निहन्तुः ।। २२ ।।

देवतालोग शत्रुहन्ता अर्जुनके मस्तकपर दिव्य फूलोंकी वर्षा करने लगे ।। २२ ।।

चैलानि विव्यधुस्तत्र ब्राह्मणाश्च सहस्रशः ।
विलक्षितास्ततश्चक्रुर्हाहाकारांश्च सर्वशः ।
न्यपतंश्चात्र नभसः समन्तात् पुष्पवृष्टयः ।। २३ ।।
शताङ्गानि च तूर्याणि वादकाः समवादयन् ।
सूतमागधसङ्घाश्चाप्यस्तुवंस्तत्र सुस्वराः ।। २४ ।।

सहस्रों ब्राह्मण (हर्षमें भरकर) वहाँ अपने दुपट्टे हिलाने लगे (मानो अर्जुनकी विजय-ध्वजा फहरा रहे हों), फिर तो जो लोग (लक्ष्यवेध करनेमें असमर्थ हो, हार मान चुके थे) वे राजा लोग सब ओरसे हाहाकार करने लगे। उस रंगभूमिमें आकाशसे सब ओर फूलोंकी वर्षा हो रही थी। बाजा बजानेवाले लोग सैकड़ों अंगोंवाली तुरही आदि बजाने लगे। सूत और मागधगण वहाँ मीठे स्वरसे यशोगान करने लगे ।। २३-२४ ।।

तं दृष्ट्वा द्रुपदः प्रीतो बभूव रिपुसूदनः ।
सह सैन्यैश्च पार्थस्य साहाय्यार्थमियेष सः ।। २५ ।।

अर्जुनको देखकर शत्रुसूदन द्रुपदके हर्षकी सीमा न रही। उन्होंने अपनी सेनाके साथ उनकी सहायता करनेका निश्चय किया ।। २५ ।।

तस्मिंस्तु शब्दे महति प्रवृद्धे
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
आवासमेवोपजगाम शीघ्रं
सार्धं यमाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्याम् ।। २६ ।।

उस समय जब महान् कोलाहल बढ़ने लगा, धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर पुरुषोत्तम नकुल और सहदेवको साथ लेकर डेरेपर ही चले गये ।। २६ ।।

विद्धं तु लक्ष्यं प्रसमीक्ष्य कृष्णा
पार्थं च शक्रप्रतिमं निरीक्ष्य ।
आदाय शुक्लं वरमाल्यदाम
जगाम कुन्तीसुतमुत्स्मयन्ती ।। २७ ।।
(स्वभ्यस्तरूपापि नवेव नित्यं
विनापि हासं हसतीव कन्या ।
मदादृतेऽपि स्खलतीव भावै-
र्वाचा विना व्याहरतीव दृष्ट्या ।।
समेत्य तस्योपरि सोत्ससर्ज
समागतानां पुरतो नृपाणाम् ।
विन्यस्य मालां विनयेन तस्थौ
विहाय राज्ञः सहसा नृपात्मजा ।।
शचीव देवेन्द्रमथाग्निदेवं
स्वाहेव लक्ष्मीश्च यथा मुकुन्दम् ।
उषेव सूर्यं मदनं रतिश्च
महेश्वरं पर्वतराजपुत्री ।
रामं यथा मैथिलराजपुत्री
भैमी यथा राजवरं नलं हि ।।)

लक्ष्यको बिधंकर धरतीपर गिरा देख इन्द्रके तुल्य पराक्रमी अर्जुनपर दृष्टि डालकर हाथमें सुन्दर श्वेत फूलोंकी जयमाला लिये द्रौपदी मन्द-मन्द मुसकराती हुई कुन्तीकुमारके समीप गयी। उसका रूप जिन्होंने बार-बार देखा था, उनके लिये भी वह नित्य नयी-सी जान पड़ती थी। वह द्रुपदकुमारी बिना हँसीके भी हँसती-सी प्रतीत होती थी। मदसेवनके बिना भी (आन्तरिक अनुराग-सूचक) भावोंके द्वारा लड़खड़ाती-सी चलती थी और बिना बोले भी केवल दृष्टिसे ही बातचीत करती-सी जान पड़ती थी। निकट जाकर राजकुमारी द्रौपदीने वहाँ जुटे हुए समस्त राजाओंके समक्ष उन सबकी उपेक्षा करके सहसा वह माला अर्जुनके गलेमें डाल दी और विनयपूर्वक खड़ी हो गयी। जैसे शचीने देवराज इन्द्रका, स्वाहाने अग्निदेवका, लक्ष्मीने भगवान् विष्णुका, उषाने सूर्यदेवका, रतिने कामदेवका, गिरिराजकुमारी उमाने महेश्वरका, विदेहराजनन्दिनी सीताने श्रीरामका तथा भीमकुमारी दमयन्तीने नृपश्रेष्ठ नलका वरण किया था, उसी प्रकार द्रौपदीने पाण्डुपुत्र अर्जुनका वरण कर लिया ।। २७ ।।

स तामुपादाय विजित्य रङ्गे

द्विजातिभिस्तैरभिपूज्यमानः ।
रङ्गान्निरक्रामदचिन्त्यकर्मा
पत्न्या तया चाप्यनुगम्यमानः ।। २८ ।।

अद्भुत कर्म करनेवाले अर्जुन इस प्रकार उस स्वयंवरसभामें (स्त्रीरत्न द्रौपदीको जीतकर) उसे अपने साथ ले रंगभूमिसे बाहर निकले। पत्नी द्रौपदी उनके पीछे-पीछे चल रही थी। उस समय उपस्थित ब्राह्मणोंने उनका बड़ा सत्कार किया ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि लक्ष्यच्छेदने सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें लक्ष्यछेदनविषयक एक सौ सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ३३ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं)

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपदको मारनेके लिये उद्यत हुए राजाओंका सामना करनेके लिये भीम और अर्जुनका उद्यत होना और उनके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णका बलरामजीसे वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

तस्मै दित्सति कन्यां तु ब्राह्मणाय तदा नृपे ।
कोप आसीन्महीपानामालोक्यान्योन्यमन्तिकात् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा द्रुपद उस ब्राह्मणको कन्या देना चाहते हैं, यह जानकर उस समय राजाओंको बड़ा क्रोध हुआ और वे एक-दूसरेको देखकर तथा समीप आकर इस प्रकार कहने लगे— ।। १ ।।

अस्मानयमतिक्रम्य तृणीकृत्य च संगतान् ।
दातुमिच्छति विप्राय द्रौपदीं योषितां वराम् ।। २ ।।

'(अहो! देखो तो सही,) यह राजा द्रुपद (यहाँ) एकत्र हुए हमलोगोंको तिनकेकी तरह तुच्छ समझकर और हमारा उल्लंघन करके युवतियोंमें श्रेष्ठ अपनी कन्याका विवाह एक ब्राह्मणके साथ करना चाहता है ।। २ ।।

अवरोप्येह वृक्षं तु फलकाले निपात्यते ।
निहन्मैनं दुरात्मानं योऽयमस्मान् न मन्यते ।। ३ ।।

'यह वृक्ष लगाकर अब फल लगनेके समय उसे काटकर गिरा रहा है। अतः हमलोग इस दुरात्माको मार डालें; क्योंकि यह हमें कुछ नहीं समझ रहा है ।। ३ ।।

न ह्यर्हत्येष सम्मानं नापि वृद्धक्रमं गुणैः ।
हन्मैनं सह पुत्रेण दुराचारं नृपद्विषम् ।। ४ ।।

'यह राजा द्रुपद गुणोंके कारण हमसे वृद्धोचित सम्मान पानेका अधिकारी भी नहीं है; राजाओंसे द्वेष करनेवाले इस दुराचारीको पुत्रसहित हमलोग मार डालें ।। ४ ।।

अयं हि सर्वानाहूय सत्कृत्य च नराधिपान् ।
गुणवद् भोजयित्वान्नं ततः पश्चान्न मन्यते ।। ५ ।।

'पहले तो इसने हम सब राजाओंको बुलाकर सत्कार किया, उत्तम गुणयुक्त भोजन कराया और ऐसा करनेके बाद यह हमारा अपमान कर रहा है ।। ५ ।।

अस्मिन् राजसमावाये देवानामिव संनये ।
किमयं सदृशं कञ्चिन्नृपतिं नैव दृष्टवान् ।। ६ ।।

‘देवताओंके समूहकी भाँति उत्तम नीतिसे सुशोभित राजाओंके इस समुदायमें क्या इसने किसी भी नरेशको अपनी पुत्रीके योग्य नहीं देखा है? ।। ६ ।।

न च विप्रेष्वधीकारो विद्यते वरणं प्रति ।
स्वयंवरः क्षत्रियाणामितीयं प्रथिता श्रुतिः ।। ७ ।।

‘स्वयंवरमें कन्याद्वारा वरण प्राप्त करनेका अधिकार ही ब्राह्मणोंको नहीं है। (लोगोंमें) यह बात प्रसिद्ध है कि स्वयंवर क्षत्रियोंका ही होता है ।। ७ ।।

अथवा यदि कन्येयं न च कञ्चिद् बुभूषति ।
अग्नावेनां परिक्षिप्य याम राष्ट्राणि पार्थिवाः ।। ८ ।।

‘अथवा राजाओ! यदि यह कन्या हमलोगोंमेंसे किसीको अपना पति बनाना न चाहे तो हम इसे जलती हुई आगमें झोंककर अपने-अपने राज्यको चल दें ।। ८ ।।

ब्राह्मणो यदि चापल्याल्लोभाद् वा कृतवानिदम् ।
विप्रियं पार्थिवेन्द्राणां नैष वध्यः कथंचन ।। ९ ।।

‘यद्यपि इस ब्राह्मणने चपलताके कारण अथवा राजकन्याके प्रति लोभ होनेसे हम राजाओंका अप्रिय किया है, तथापि ब्राह्मण होनेके कारण हमें किसी प्रकार इसका वध नहीं करना चाहिये ।। ९ ।।

ब्राह्मणार्थं हि नो राज्यं जीवितं हि वसूनि च ।
पुत्रपौत्रं च यच्चान्यदस्माकं विद्यते धनम् ।। १० ।।

‘क्योंकि हमारा राज्य, जीवन, रत्न, पुत्र-पौत्र तथा और भी जो धन-वैभव है, वह सब ब्राह्मणोंके लिये ही है। (ब्राह्मणोंके लिये हम इन सब चीजोंका त्याग कर सकते हैं) ।। १० ।।

अवमानभयाच्चैव स्वधर्मस्य च रक्षणात् ।
स्वयंवराणामन्येषां मा भूदेवंविधा गतिः ।। ११ ।।

‘द्रुपदको तो हम इसलिये दण्ड देना चाहते हैं कि (हमारा) अपमान न हो, हमारे धर्मकी रक्षा हो और दूसरे स्वयंवरोंकी भी ऐसी दुर्गति न हो’ ।। ११ ।।

इत्युक्त्वा राजशार्दूला हृष्टाः परिघबाहवः ।
द्रुपदं तु जिघांसन्तः सायुधाः समुपाद्रवन् ।। १२ ।।

यों कहकर परिघ-जैसी मोटी बाँहोंवाले वे श्रेष्ठ भूपाल हर्ष (और उत्साह)-में भरकर हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये द्रुपदको मारनेकी इच्छासे उनकी ओर वेगसे दौड़े ।। १२ ।।

तान् गृहीतशरावापान् क्रुद्धानापततो बहून् ।
द्रुपदो वीक्ष्य संत्रासाद् ब्राह्मणाञ्छरणं गतः ।। १३ ।।

उन बहुत-से राजाओंको क्रोधमें भरकर धनुष लिये आते देख द्रुपद अत्यन्त भयभीत हो ब्राह्मणोंकी शरणमें गये ।। १३ ।।

वेगेनापततस्तांस्तु प्रभिन्नानिव वारणान् ।

पाण्डुपुत्रौ महेष्वासौ प्रतियातावरिंदमौ ।। १४ ।।

मदकी धारा बहानेवाले मदोन्मत्त गजराजोंकी भाँति उन नरेशोंको वेगसे आते देख शत्रुदमन महाधनुर्धर पाण्डुनन्दन भीम और अर्जुन उनका सामना करनेके लिये आ गये ।। १४ ।।

ततः समुत्पेतुरुदायुधास्ते
महीक्षितो बद्धगोधाङ्गुलित्राः ।
जिघांसमानाः कुरुराजपुत्रा-
वमर्षयन्तोऽर्जुनभीमसेनौ ।। १५ ।।

तब हाथोंमें गोहके चमड़ेके दस्ताने पहने और आयुधोंको ऊपर उठाये अमर्षमें भरे हुए वे (सभी) नरेश कुरुराजकुमार अर्जुन और भीमसेनको मारनेके लिये उनपर टूट पड़े ।। १५ ।।

ततस्तु भीमोऽद्भुतभीमकर्मा
महाबलो वज्रसमानसारः ।
उत्पाट्य दोर्भ्यां द्रुममेकवीरो
निष्पत्रयामास यथा गजेन्द्रः ।। १६ ।।

तब तो वज्रके समान शक्तिशाली तथा अद्भुत एवं भयानक कर्म करनेवाले अद्वितीय वीर महाबली भीमसेनने गजराजकी भाँति अपने दोनों हाथोंसे एक वृक्षको उखाड़ लिया और उसके पत्ते झाड़ दिये ।। १६ ।।

तं वृक्षमादाय रिपुप्रमाथी
दण्डीव दण्डं पितृराज उग्रम् ।
तस्थौ समीपे पुरुषर्षभस्य
पार्थस्य पार्थः पृथुदीर्घबाहुः ।। १७ ।।

फिर मोटी और विशाल भुजाओंवाले शत्रुनाशन कुन्तीकुमार भीमसेन उसी वृक्षको हाथमें लेकर भयंकर दण्ड उठाये हुए दण्डधारी यमराजकी भाँति पुरुषोत्तम अर्जुनके समीप खड़े हो गये ।। १७ ।।

तत् प्रेक्ष्य कर्मातिमनुष्यबुद्धि-
र्जिष्णुः स हि भ्रातुरचिन्त्यकर्मा ।
विसिष्मिये चापि भयं विहाय
तस्थौ धनुर्गृह्य महेन्द्रकर्मा ।। १८ ।।

असाधारण बुद्धिवाले तथा देवराज इन्द्रके समान महापराक्रमी, अचिन्त्यकर्मा अर्जुन अपने भाई भीमसेनके (अद्भुत) कार्यको देखकर चकित हो उठे और छोड़कर धनुष हाथमें लिये हुए युद्धके लिये गये ।। १८ ।।

तत् प्रेक्ष्य कर्मातिमनुष्यबुद्धि-
र्जिष्णोः सहभ्रातुरचिन्त्यकर्मा ।
दामोदरो भ्रातरमुग्रवीर्यं
हलायुधं वाक्यमिदं बभाषे ।। १९ ।।

जिनकी बुद्धि लोकोत्तर और कर्म अचिन्त्य हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुन तथा उनके भाई भीमसेनका वह (साहसपूर्ण) कार्य देखकर भयंकर पराक्रमी एवं हलको ही आयुधके रूपमें धारण करनेवाले अपने भ्राता बलरामजीसे यह बात कही— ।। १९ ।।

य एष सिंहर्षभखेलगामी
महद्धनुः कर्षति तालमात्रम् ।
एषोऽर्जुनो नात्र विचार्यमस्ति
यद्यस्मि संकर्षण वासुदेवः ।। २० ।।
यस्त्वेष वृक्षं तरसावभज्य
राज्ञां निकारे सहसा प्रवृत्तः ।
वृकोदरान्नान्य इहैतदद्य
कर्तुं समर्थः समरे पृथिव्याम् ।। २१ ।।

'भैया संकर्षण! ये जो श्रेष्ठ सिंहके समान चालसे लीलापूर्वक चल रहे हैं और तालके* बराबर विशाल धनुषको खींच रहे हैं, ये अर्जुन ही हैं; इसमें विचार करनेकी कोई बात नहीं है। यदि मैं वासुदेव हूँ तो मेरी यह बात झूठी नहीं है और ये जो बड़े वेगसे वृक्ष उखाड़कर

सहसा समस्त राजाओंका सामना करनेके लिये उद्यत हुए हैं, भीमसेन हैं; क्योंकि इस समय पृथ्वीपर भीमसेनके सिवा दूसरा कोई ऐसा वीर नहीं है, जो युद्ध-भूमिमें यह अद्भुत पराक्रम कर सके ।। २०-२१ ।।

योऽसौ पुरस्तात् कमलायताक्ष-
स्तनुर्महासिंहगतिर्विनीतः ।
गौरः प्रलम्बोज्ज्वलचारुघोणो
विनिःसृतः सोऽच्युत धर्मपुत्रः ।। २२ ।।

'अच्युत! जो विकसित कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाले, दुबले-पतले, विनयशील, गोरे, महान् सिंहकी-सी चालसे चलनेवाले तथा लंबी, सुन्दर एवं मनोहर नाकवाले पुरुष (अभी यहाँसे) निकले हैं, वे धर्मपुत्र युधिष्ठिर हैं ।। २२ ।।

यौ तौ कुमाराविव कार्तिकेयौ
द्वावश्विनेयाविति मे वितर्कः ।
मुक्ता हि तस्माज्जतुवेश्मदाहा-
न्मया श्रुताः पाण्डुसुताः पृथा च ।। २३ ।।

'उनके साथ युगल कार्तिकेय-जैसे जो दो कुमार थे, वे अश्विनीकुमारोंके पुत्र नकुल और सहदेव रहे हैं—ऐसा मेरा अनुमान है; क्योंकि मैंने सुन रखा है कि उस लाक्षागृहके दाहसे पाण्डव और कुन्तीदेवी—सभी बचकर निकल गये थे ।। २३ ।।

(यथा नृपाः पाण्डवमाजिमध्ये
तं प्राब्रवीच्चक्रधरो हलायुधम् ।
बलं विजानन् पुरुषोत्तमस्तदा
न कार्यमार्येण च सम्भ्रमस्त्वया ।।
भीमानुजो योधयितुं समर्थ
एको हि पार्थः ससुरासुरान् बहुन् ।
अलं विजेतुं किमु मानुषान् नृपान्
साहाय्यमस्मान् यदि सव्यसाची ।
स वाञ्छति स्म प्रयताम वीर
पराभवः पाण्डुसुते न चास्ति ।।)

राजालोग रणभूमिमें पाण्डुपुत्र अर्जुनके प्रति अपना क्रोध जैसे प्रकट कर रहे थे, उसे सुनकर अर्जुनके बलको जानते हुए चक्रधारी पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजीसे कहा—'भैया! आपको घबराना नहीं चाहिये। यदि बहुत-से देवता और असुर एकत्र हो जायँ, तो भी भीमके छोटे भाई कुन्तीकुमार अर्जुन उन सबके साथ अकेले ही युद्ध करनेमें समर्थ हैं। फिर इन मानव-भूपालोंपर विजय पाना कौन बड़ी बात है। यदि सव्यसाची अर्जुन

हमारी सहायता लेना चाहेंगे तो हम इसके लिये प्रयत्न करेंगे। वीरवर! मेरा विश्वास है कि पाण्डुपुत्र अर्जुनकी पराजय नहीं हो सकती।’

तमब्रवीन्निर्जलतोयदाभो
हलायुधोऽनन्तरजं प्रतीतः ।
प्रीतोऽस्मि दृष्ट्वा हि पितृष्वसारं
पृथां विमुक्तां सह कौरवाग्र्यैः ।। २४ ।।

जलहीन मेघके समान गौरवर्णवाले हलधर (बलरामजी)-ने अपने छोटे भाई श्रीकृष्णकी बातपर विश्वास करके उनसे कहा—‘भैया! कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर पाण्डवोंसहित अपनी बुआ कुन्तीको लाक्षागृहसे बची हुई देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है’ ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं।)

---

* ऊर्ध्वविस्तृतदोर्मानि तालमित्यभिधीयते। इस वचनके अनुसार एक मनुष्य अपनी बाँहको ऊपर उठाकर खड़ा हो तो उस हाथसे लेकर पैरतककी लम्बाईको ‘ताल’ कहते हैं।

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुन और भीमसेनके द्वारा कर्ण तथा शल्यकी पराजय और द्रौपदीसहित भीम-अर्जुनका अपने डेरेपर जाना

वैशम्पायन उवाच

अजिनानि विधुन्वन्तः करकांश्च द्विजर्षभाः ।
ऊचुस्ते भीर्न कर्तव्या वयं योत्स्यामहे परान् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय अपने मृगचर्म और कमण्डलुओंको हिलाते और उछालते हुए वे श्रेष्ठ ब्राह्मण अर्जुनसे कहने लगे—'तुम डरना नहीं, हम (सब)-लोग (तुम्हारी ओरसे) शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे' ।। १ ।।

तानेवं वदतो विप्रानर्जुनः प्रहसन्निव ।
उवाच प्रेक्षका भूत्वा यूयं तिष्ठथ पार्श्वतः ।। २ ।।

इस प्रकारकी बातें करनेवाले उन ब्राह्मणोंसे अर्जुनने हँसते हुए-से कहा—'आपलोग दर्शक होकर बगलमें चुपचाप खड़े रहें ।। २ ।।

अहमेनानजिह्माग्रैः शतशो विकिरञ्छरैः ।
वारयिष्यामि संक्रुद्धान् मन्त्रैराशीविषानिव ।। ३ ।।

'मैं (अकेला ही) सीधी नोकवाले सैकड़ों बाणोंकी वर्षा करके क्रोधमें भरे हुए इन शत्रुओंको उसी प्रकार रोक दूँगा, जैसे मन्त्रज्ञ लोग अपने मन्त्रों (के बल)-से विषैले सर्पोंको कुण्ठित कर देते हैं' ।। ३ ।।

इति तद् धनुरानम्य शुल्कावाप्तं महाबलः ।
भ्रात्रा भीमेन सहितस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ।। ४ ।।

यों कहकर महाबली अर्जुनने उसी स्वयंवरमें लक्ष्यवेधके लिये प्राप्त हुए धनुषको झुकाकर (उसपर प्रत्यंचा चढ़ा दी और उसे हाथमें लेकर) भाई भीमसेनके साथ वे पर्वतके समान अविचलभावसे खड़े हो गये ।। ४ ।।

ततः कर्णमुखान् दृष्ट्वा क्षत्रियान् युद्धदुर्मदान् ।
सम्पेततुरभीतौ तौ गजौ प्रतिगजानिव ।। ५ ।।

तदनन्तर कर्ण आदि रणोन्मत्त क्षत्रियोंको आते देख वे दोनों भाई निर्भय हो उनपर उसी तरह टूट पड़े, जैसे दो (मतवाले) हाथी अपने विपक्षी हाथियोंकी ओर बढ़े जा रहे हों ।। ५ ।।

ऊचुश्च वाचः परुषास्ते राजानो युयुत्सवः ।
आहवे हि द्विजस्यापि वधो दृष्टो युयुत्सतः ।। ६ ।।

तब युद्धके लिये उत्सुक उन राजाओंने कठोर स्वरमें ये बातें कहीं—'युद्धकी इच्छावाले ब्राह्मणका भी रणभूमिमें वध शास्त्रानुकूल देखा गया है' ।। ६ ।।

इत्येवमुक्त्वा राजानः सहसा दुद्रुवुर्द्विजान् ।
ततः कर्णो महातेजा जिष्णुं प्रति ययौ रणे ।। ७ ।।

यों कहकर वे राजालोग सहसा ब्राह्मणोंकी ओर दौड़े। महातेजस्वी कर्ण अर्जुनकी ओर युद्धके लिये बढ़ा ।। ७ ।।

युद्धार्थी वासिताहेतोर्गजः प्रतिगजं यथा ।
भीमसेनं ययौ शल्यो मद्राणामीश्वरो बली ।। ८ ।।

ठीक उसी तरह, जैसे हथिनीके लिये लड़नेकी इच्छा रखकर एक हाथी अपने प्रतिद्वन्द्वी दूसरे हाथीसे भिड़नेके लिये जा रहा हो, महाबली मद्रराज शल्य भीमसेनसे जा भिड़े ।। ८ ।।

दुर्योधनादयः सर्वे ब्राह्मणैः सह संगताः ।
मृदुपूर्वमयत्नेन प्रत्ययुध्यंस्तदाहवे ।। ९ ।।

दुर्योधन आदि सभी (भूपाल) एक साथ अन्यान्य ब्राह्मणोंके साथ उस युद्धभूमिमें बिना किसी प्रयासके (खेल-सा करते हुए) कोमलतापूर्वक (शीत) युद्ध करने लगे ।। ९ ।।

ततोऽर्जुनः प्रत्यविध्यदापतन्तं शितैः शरैः ।
कर्णं वैकर्तनं श्रीमान् विकृष्य बलवद् धनुः ।। १० ।।

तब तेजस्वी अर्जुनने अपने धनुषको जोरसे खींचकर अपनी ओर वेगसे आते हुए सूर्यपुत्र कर्णको कई तीक्ष्ण बाण मारे ।। १० ।।

तेषां शराणां वेगेन शितानां तिग्मतेजसाम् ।
विमुह्यमानो राधेयो यत्नात् तमनुधावति ।। ११ ।।

उन दुःसह तेजवाले तीखे बाणोंके वेगपूर्वक आघातसे राधानन्दन कर्णको मूर्च्छा आने लगी। वह बड़ी कठिनाईसे अर्जुनकी ओर बढ़ा ।। ११ ।।

तावुभावप्यनिर्देश्यौ लाघवाज्जयतां वरौ ।
अयुध्येतां सुसंरब्धावन्योन्यविजिगीषिणौ ।। १२ ।।

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ वे दोनों योद्धा हाथोंकी फुर्ती दिखानेमें बेजोड़ थे, उनमें कौन बड़ा है और कौन छोटा—यह बताना असम्भव था। दोनों ही एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखकर बड़े क्रोधसे लड़ रहे थे ।। १२ ।।

कृते प्रतिकृतं पश्य पश्य बाहुबलं च मे ।
इति शूरार्थवचनैरभाषेतां परस्परम् ।। १३ ।।

'देखो, तुमने जिस अस्त्रका प्रयोग किया था, उसे रोकनेके लिये मैंने यह अस्त्र चलाया है। देख लो, मेरी भुजाओंका बल!' इस प्रकार शौर्यसूचक वचनोंद्वारा वे आपसमें बातें भी करते जाते थे ।। १३ ।।

ततोऽर्जुनस्य भुजयोर्वीर्यमप्रतिमं भुवि ।
ज्ञात्वा वैकर्तनः कर्णः संरब्धः समयोधयत् ।। १४ ।।

तदनन्तर अर्जुनके बाहुबलकी इस पृथ्वीपर कहीं समता नहीं है, यह जानकर सूर्यपुत्र कर्ण अत्यन्त क्रोधपूर्वक जमकर युद्ध करने लगा ।। १४ ।।

अर्जुनेन प्रयुक्तांस्तान् बाणान् वेगवतस्तदा ।
प्रतिहत्य ननादोच्चैः सैन्यानि तदपूजयन् ।। १५ ।।

उस समय अर्जुनद्वारा चलाये हुए उन सभी वेगशाली बाणोंको काटकर कर्ण बड़े जोरसे सिंहनाद करने लगा। समस्त सैनिकोंने उसके इस अद्भुत कार्यकी सराहना की ।। १५ ।।

कर्ण उवाच

तुष्यामि ते विप्रमुख्य भुजवीर्यस्य संयुगे ।
अविषादस्य चैवास्य शस्त्रास्त्रविजयस्य च ।। १६ ।।

कर्ण बोला—विप्रवर! युद्धमें आपके बाहुबलसे मैं (बहुत) संतुष्ट हूँ। आपमें थकावट या विषादका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता और आपने सभी अस्त्र-शस्त्रोंको जीतकर मानो अपने काबूमें कर लिया है। (आपकी यह सफलता देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है) ।। १६ ।।

किं त्वं साक्षाद् धनुर्वेदो रामो वा विप्रसत्तम ।
अथ साक्षाद्धरिहयः साक्षाद् वा विष्णुरच्युतः ।। १७ ।।

विप्रशिरोमणे! आप मूर्तिमान् धनुर्वेद हैं? या परशुराम? अथवा आप स्वयं इन्द्र या अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले साक्षात् भगवान् विष्णु हैं? ।। १७ ।।

आत्मप्रच्छादनार्थं वै बाहुवीर्यमुपाश्रितः ।
विप्ररूपं विधायेदं मन्ये मां प्रतियुध्यसे ।। १८ ।।

मैं समझता हूँ, आप इन्हींमेंसे कोई हैं और अपने स्वरूपको छिपानेके लिये यह ब्राह्मणवेष धारण करके बाहुबलका आश्रय ले मेरे साथ युद्ध कर रहे हैं ।। १८ ।।

न हि मामाहवे क्रुद्धमन्यः साक्षाच्छचीपतेः ।
पुमान् योधयितुं शक्तः पाण्डवाद् वा किरीटिनः ।। १९ ।।

क्योंकि युद्धमें मेरे कुपित होनेपर साक्षात् शचीपति इन्द्र अथवा किरीटधारी पाण्डुनन्दन अर्जुनके अतिरिक्त दूसरा कोई मेरा सामना नहीं कर सकता ।। १९ ।।

तमेवं वादिनं तत्र फाल्गुनः प्रत्यभाषत ।
नास्मि कर्ण धनुर्वेदो नास्मि रामः प्रतापवान् ।। २० ।।

कर्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—‘कर्ण! न तो मैं धनुर्वेद हूँ और न प्रतापी परशुराम’ ।। २० ।।

ब्राह्मणोऽस्मि युधां श्रेष्ठः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
ब्राह्मे पौरंदरे चास्त्रे निष्ठितो गुरुशासनात् ।। २१ ।।
स्थितोऽस्म्यद्य रणे जेतुं त्वां वै वीर स्थिरो भव ।

मैं तो सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें उत्तम और योद्धाओंमें श्रेष्ठ एक ब्राह्मण हूँ। गुरुका उपदेश पाकर ब्रह्मास्त्र तथा इन्द्रास्त्र दोनोंमें पारंगत हो गया हूँ। वीर! आज मैं तुम्हें युद्धमें जीतनेके लिये खड़ा हूँ, तुम भी स्थिरतापूर्वक खड़े रहो ।। २१½ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राधेयो युद्धात् कर्णो न्यवर्तत ।। २२ ।।
बाह्मं तेजस्तदाजय्यं मन्यमानो महारथः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनकी यह बात सुनकर महारथी कर्ण ब्राह्मतेजको अजेय मानता हुआ उस समय युद्ध छोड़कर हट गया ।। २२½ ।।

अपरस्मिन् वनोद्देशे वीरौ शल्यवृकोदरौ ।। २३ ।।
बलिनौ युद्धसम्पन्नौ विद्यया च बलेन च ।
अन्योन्यमाह्वयन्तौ तु मत्ताविव महागजौ ।। २४ ।।

इसी समय दूसरे स्थानको अपना रणक्षेत्र बनाकर वहीं बलवान् वीर शल्य और भीमसेन एक-दूसरेको ललकारते हुए दो मतवाले गजराजोंकी भाँति युद्ध कर रहे थे। दोनों ही विद्या, बल और युद्धकी कलासे सम्पन्न थे ।। २३-२४ ।।

मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव निघ्नन्तावितरेतरम् ।
प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्याकर्षविकर्षणैः ।। २५ ।।

वे घूँसों और घुटनोंसे एक-दूसरेको मारने लगे। दोनों एक-दूसरेको दूरतक ठेल ले जाते, नीचे गिरानेका प्रयत्न करते, कभी अपनी ओर खींचते और कभी अगल-बगलसे पैतरें देकर गिरानेकी चेष्टा करते थे ।। २५ ।।

आचकर्षतुरन्योन्यं मुष्टिभिश्चापि जघ्नतुः ।
ततश्चटचटाशब्दः सुघोरो ह्यभवत् तयोः ।। २६ ।।
पाषाणसम्पातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ।
मुहूर्तं तौ तदान्योन्यं समरे पर्यकर्षताम् ।। २७ ।।

इस प्रकार वे एक-दूसरेको खींचते और मुक्कोंसे मारते थे। उस समय घूँसोंकी मारसे दोनोंके शरीरोंपर अत्यन्त भयंकर 'चट-चट' शब्द हो रहा था। वे परस्पर इस प्रकार प्रहार कर रहे थे, मानो पत्थर टकरा रहे हों। लगभग दो घड़ीतक दोनों उस युद्धमें एक-दूसरेको खींचते और ठेलते रहे ।। २६-२७ ।।

ततो भीमः समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां शल्यमाहवे ।
अपातयत् कुरुश्रेष्ठो ब्राह्मणा जहसुस्तदा ।। २८ ।।

तदनन्तर कुरुश्रेष्ठ भीमसेनने दोनों हाथोंसे शल्यको ऊपर उठाकर उस युद्धभूमिमें पटक दिया। यह देख ब्राह्मणलोग हँसने लगे ।। २८ ।।

तत्राश्चर्यं भीमसेनश्चकार पुरुषर्षभः ।

यच्छल्यं पातितं भूमौ नावधीद् बलिनं बली ।। २९ ।।

कुरुश्रेष्ठ बलवान् भीमसेनने एक आश्चर्यकी बात यह की कि महाबली शल्यको पृथ्वीपर पटककर भी मार नहीं डाला ।। २९ ।।

पातिते भीमसेनेन शल्ये कर्णे च शङ्किते ।

शङ्किताः सर्वराजानः परिवव्रुर्वृकोदरम् ।। ३० ।।

भीमसेनके द्वारा शल्यके पछाड़ दिये जाने और अर्जुनसे कर्णके डर जानेपर सभी राजा (युद्धका विचार छोड़) शंकित हो भीमसेनको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ।। ३० ।।

ऊचुश्च सहितास्तत्र साध्विमौ ब्राह्मणर्षभौ ।

विज्ञायेतां क्वजन्मानौ क्वनिवासौ तथैव च ।। ३१ ।।

और एक साथ ही बोल उठे—'अहो! ये दोनों श्रेष्ठ ब्राह्मण धन्य हैं। पता तो लगाओ, इनकी जन्मभूमि कहाँ है तथा ये रहनेवाले कहाँके हैं? ।। ३१ ।।

को हि राधासुतं कर्णं शक्तो योधयितुं रणे ।

अन्यत्र रामाद् द्रोणाद् वा पाण्डवाद् वा किरीटिनः ।। ३२ ।।

'परशुराम, द्रोण अथवा पाण्डुनन्दन अर्जुनके सिवा दूसरा ऐसा कौन है, जो युद्धमें राधानन्दन कर्णका सामना कर सके ।। ३२ ।।

कृष्णाद् वा देवकीपुत्रात् कृपाद् वापि शरद्वतः ।

को वा दुर्योधनं शक्तः प्रतियोधयितुं रणे ।। ३३ ।।

'(इसी प्रकार) देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यके सिवा दूसरा कौन है, जो समरभूमिमें दुर्योधनके साथ लोहा ले सके ।। ३३ ।।

तथैव मद्राधिपतिं शल्यं बलवतां वरम् ।

बलदेवादृते वीरात् पाण्डवाद् वा वृकोदरात् ।। ३४ ।।

वीराद् दुर्योधनाद् वान्यः शक्तः पातयितुं रणे ।

क्रियतामवहारोऽस्माद् युद्धाद् ब्राह्मणसंवृतात् ।। ३५ ।।

'बलवानोंमें श्रेष्ठ मद्रराज शल्यको भी वीरवर बलदेव, पाण्डुनन्दन भीमसेन अथवा वीर दुर्योधनको छोड़कर दूसरा कौन रणभूमिमें गिरा सकता है। अतः ब्राह्मणोंसे घिरे हुए इस युद्धक्षेत्रसे हमलोगोंको हट जाना चाहिये ।। ३४-३५ ।।

ब्राह्मणा हि सदा रक्ष्याः सापराधापि नित्यदा ।

अथैनानुपलभ्येह पुनर्योत्स्याम हृष्टवत् ।। ३६ ।।

‘क्योंकि ब्राह्मण अपराधी हों, तो भी सदा ही उनकी रक्षा करनी चाहिये। पहले इनका ठीक-ठीक परिचय ले लें, फिर (ये चाहें तो) हम इनके साथ प्रसन्नतापूर्वक युद्ध करेंगे’ ।। ३६ ।।

तांस्तथावादिनः सर्वान् प्रसमीक्ष्य क्षितीश्वरान् ।
अथान्यान् पुरुषांश्चापि कृत्वा तत् कर्म संयुगे ।। ३७ ।।

उन सब राजाओं तथा अन्य लोगोंको ऐसी बातें करते देख और युद्धमें वह महान् पराक्रम दिखाकर भीमसेन और अर्जुन बड़े प्रसन्न थे ।। ३७ ।।

वैशम्पायन उवाच

तत् कर्म भीमस्य समीक्ष्य कृष्णः
कुन्तीसुतौ तौ परिशङ्कमानः ।
निवारयामास महीपतींस्तान्
धर्मेण लब्धेत्यनुनीय सर्वान् ।। ३८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमसेनका वह अद्भुत कार्य देख भगवान् श्रीकृष्णने यह सोचते हुए कि ये दोनों भाई कुन्तीकुमार भीमसेन और अर्जुन ही हैं, उन सब राजाओंको यह समझाकर कि ‘इन्होंने धर्मपूर्वक द्रौपदीको प्राप्त किया है’ अनुनयपूर्वक युद्धसे रोका ।। ३८ ।।

एवं ते विनिवृत्तास्तु युद्धाद् युद्धविशारदाः ।
यथावासं ययुः सर्वे विस्मिता राजसत्तमाः ।। ३९ ।।

इस प्रकार श्रीकृष्णके समझानेसे वे सभी युद्धकुशल श्रेष्ठ नरेश युद्धसे निवृत्त हो गये और विस्मित होकर अपने-अपने डेरोंको चले गये ।। ३९ ।।

वृत्तो ब्रह्मोत्तरो रङ्गः पाञ्चाली ब्राह्मणैर्वृता ।
इति ब्रुवन्तः प्रययुर्ये तत्रासन् समागताः ।। ४० ।।

वहाँ जो दर्शक एकत्र हुए थे, वे ‘इस रंग-मण्डपके उत्सवसे ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता सिद्ध हुई; पांचालराजकुमारी द्रौपदीको ब्राह्मणोंने प्राप्त किया’, यों कहते हुए (अपने-अपने निवासस्थानको) चले गये ।। ४० ।।

ब्राह्मणैस्तु प्रतिच्छन्नौ रौरवाजिनवासिभिः ।
कृच्छ्रेण जग्मतुस्तौ तु भीमसेनधनंजयौ ।। ४१ ।।

रुरुमृगके चर्मको वस्त्रके रूपमें धारण करनेवाले ब्राह्मणोंसे घिरे होनेके कारण भीमसेन और अर्जुन बड़ी कठिनाईसे आगे बढ़ पाते थे ।। ४१ ।।

विमुक्तौ जनसम्बाधाच्छत्रुभिः परिवीक्षितौ ।
कृष्णयानुगतौ तत्र नृवीरौ तौ विरेजतुः ।। ४२ ।।

जनताकी भीड़से बाहर निकलनेपर शत्रुओंने उन्हें अच्छी तरह देखा। आगे-आगे वे दोनों नरवीर थे और उनके पीछे-पीछे द्रौपदी चली जा रही थी। द्रौपदीके साथ वहाँ उन दोनोंकी बड़ी शोभा हो रही थी ।। ४२ ।।

पौर्णमास्यां घनैर्मुक्तौ चन्द्रसूर्याविवोदितौ ।
तेषां माता बहुविधं विनाशं पर्यचिन्तयत् ।। ४३ ।।
अनागच्छत्सु पुत्रेषु भैक्षकालेऽभिगच्छति ।
धार्तराष्ट्रैर्हता न स्युर्विज्ञाय कुरुपुङ्गवाः ।। ४४ ।।
मायान्वितैर्वा रक्षोभिः सुघोरैर्दृढवैरिभिः ।
विपरीतं मतं जातं व्यासस्यापि महात्मनः ।। ४५ ।।

वे ऐसे लगते थे, जैसे पूर्णमासी तिथिको मेघोंकी घटासे निकलकर चन्द्रमा और सूर्य प्रकाशित हो रहे हों। इधर भिक्षाका समय बीत जानेपर भी जब पुत्र नहीं लौटे, तब उनकी माता कुन्तीदेवी स्नेहवश अनेक प्रकारकी चिन्ताओंमें डूबकर उनके विनाशकी आशंका करने लगीं—'कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंको पहचानकर उनकी हत्या कर डाली हो? अथवा दृढ़तापूर्वक वैरभावको मनमें रखनेवाले महाभयंकर मायावी राक्षसोंने तो मेरे बच्चोंको नहीं मार डाला? क्या महात्मा व्यासके भी निश्चित मतके विपरीत कोई बात हो गयी?' ।। ४३—४५ ।।

इत्येवं चिन्तयामास सुतस्नेहावृता पृथा ।
ततः सुप्तजनप्राये दुर्दिने मेघसम्प्लुते ।। ४६ ।।
महत्यथापराह्णे तु घनैः सूर्य इवावृतः ।
ब्राह्मणैः प्राविशत् तत्र जिष्णुर्भार्गववेश्म तत् ।। ४७ ।।

इस प्रकार पुत्रस्नेहमें पगी कुन्तीदेवी जब चिन्तामें मग्न हो रही थीं, आकाशमें मेघोंकी भारी घटा घिर आनेके कारण जब दुर्दिन-सा हो रहा था और जनता सब काम छोड़कर सोये हुएकी भाँति अपने-अपने घरोंपर निश्चेष्ट होकर बैठी थी, उसी समय दिनके तीसरे पहरमें बादलोंसे घिरे हुए सूर्यके समान ब्राह्मणमण्डलीसे घिरे हुए अर्जुनने वहाँ उस कुम्हारके घरमें प्रवेश किया ।। ४६-४७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि पाण्डवप्रत्यागमने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें पाण्डवप्रत्यागमनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८९ ।।

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्ती, अर्जुन और युधिष्ठिरकी बातचीत, पाँचों पाण्डवोंका द्रौपदीके साथ विवाहका विचार तथा बलराम और श्रीकृष्णकी पाण्डवोंसे भेंट

वैशम्पायन उवाच

गत्वा तु तां भार्गवकर्मशालां
पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ ।
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ
भिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मनुष्योंमें श्रेष्ठ महानुभाव कुन्तीपुत्र भीमसेन और अर्जुन कुम्हारके घरमें प्रवेश करके अत्यन्त प्रसन्न हो माताको द्रौपदीकी प्राप्ति सूचित करते हुए बोले—‘माँ! हमलोग भिक्षा लाये हैं’ ।। १ ।।

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ
प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे ।
पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां
कष्टं मया भाषितमित्युवाच ।। २ ।।

उस समय कुन्तीदेवी कुटियाके भीतर थीं। उन्होंने अपने पुत्रोंको देखे बिना ही उत्तर दे दिया—‘(भिक्षा लाये हो तो) तुम सभी भाई मिलकर उसे पाओ।’ तत्पश्चात् द्रौपदीको देखकर कुन्तीने चिन्तित होकर कहा—‘हाय! मेरे मुँहसे बड़ी अनुचित बात निकल गयी’ ।। २ ।।

साधर्मभीता परिचिन्तयन्ती
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीताम् ।
पाणौ गृहीत्वोपजगाम कुन्ती
युधिष्ठिरं वाक्यमुवाच चेदम् ।। ३ ।।

कुन्तीदेवी अधर्मके भयसे बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं; (परंतु मनोनुकूल पतिकी प्राप्तिसे) द्रौपदीके मनमें बड़ी प्रसन्नता थी। कुन्तीदेवी द्रौपदीका हाथ पकड़कर युधिष्ठिरके पास गयीं और उनसे उन्होंने यह बात कही— ।। ३ ।।

कुन्त्युवाच

इयं तु कन्या द्रुपदस्य राज्ञः
तवानुजाभ्यां मयि संनिविष्टा ।

यथोचितं पुत्र मयापि चोक्तं

समेत्य भुङ्क्तेति नृप प्रमादात् ।। ४ ।।

कुन्तीने कहा—बेटा! यह राजा द्रुपदकी कन्या द्रौपदी है। तुम्हारे छोटे भाई भीमसेन और अर्जुनने इसे भिक्षा कहकर मुझे समर्पित किया और मैंने भी (इसे देखे बिना ही) भूलसे (भिक्षा ही समझकर) अनुरूप उत्तर दे दिया—'तुम सब लोग मिलकर इसे पाओ' ।। ४ ।।

मया कथं नानृतमुक्तमद्य

भवेत् कुरूणामृषभ ब्रवीहि ।

पाञ्चालराजस्य सुतामधर्मो

न चोपवर्तेत न विभ्रमेच्च ।। ५ ।।

कुरुश्रेष्ठ! बताओ, अब कैसे मेरी बात झूठी न हो? और क्या किया जाय, जिससे इस पांचालराज-कुमारी कृष्णाको न तो पाप लगे और न नीच योनियोंमें ही भटकना पड़े ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तो मतिमान् नृवीरो

मात्रा मुहूर्तं तु विचिन्त्य राजा ।

कुन्तीं समाश्वास्य कुरुप्रवीरो

धनंजयं वाक्यमिदं बभाषे ।। ६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कुरुश्रेष्ठ नरवीर राजा युधिष्ठिर बड़े बुद्धिमान् थे। उन्होंने माताकी यह बात सुनकर दो घड़ीतक (मन-ही-मन) कुछ विचार किया। फिर कुन्तीदेवीको भलीभाँति आश्वासन देकर उन्होंने धनंजयसे यह बात कही— ।। ६ ।।

त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी
त्वयैव शोभिष्यति राजपुत्री ।
प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह
गृहाण पाणिं विधिवत् त्वमस्याः ।। ७ ।।

'अर्जुन! तुमने द्रौपदीको जीता है, तुम्हारे ही साथ इस राजकुमारीकी शोभा होगी। शत्रुओंका सामना करनेवाले वीर! तुम अग्नि प्रज्वलित करो और (अग्निदेवके साक्ष्यमें) विधिपूर्वक इस राजकन्याका पाणिग्रहण करो' ।। ७ ।।

अर्जुन उवाच

मा मां नरेन्द्र त्वमधर्मभाजं
कृथा न धर्मोऽयमशिष्टदृष्टः ।
भवान् निवेश्यः प्रथमं ततोऽयं
भीमो महाबाहुरचिन्त्यकर्मा ।। ८ ।।
अहं ततो नकुलोऽनन्तरं मे
पश्चादयं सहदेवस्तरस्वी ।
वृकोदरोऽहं च यमौ च राज-
न्नियं च कन्या भवतो नियोज्याः ।। ९ ।।

अर्जुन बोले—नरेन्द्र! आप मुझे अधर्मका भागी न बनाइये। (बड़े भाईके अविवाहित रहते छोटे भाईका विवाह हो जाय,) यह धर्म नहीं है; ऐसा व्यवहार तो अनार्योंमें देखा गया है। पहले आपका विवाह होना चाहिये; तत्पश्चात् अचिन्त्यकर्मा महाबाहु भीमसेनका और फिर मेरा। तत्पश्चात् नकुल फिर वेगवान् सहदेव विवाह कर सकते हैं। राजन्! भैया भीमसेन, मैं नकुल-सहदेव तथा यह राजकन्या—सभी आपकी आज्ञाके अधीन हैं ।। ८-९ ।।

एवं गते यत् करणीयमत्र
धर्म्यं यशस्यं कुरु तद् विचिन्त्य ।
पाञ्चालराजस्य हितं च यत् स्यात्
प्रशाधि सर्वे स्म वशे स्थितास्ते ।। १० ।।

ऐसी दशामें आप यहाँ अपनी बुद्धिसे विचार करके जो धर्म और यशके अनुकूल तथा पांचालराजके लिये भी हितकर कार्य हो, वह कीजिये और उसके लिये हमें आज्ञा दीजिये।

हम सब लोग आपके अधीन हैं ।। १० ।।

वैशम्पायन उवाच

जिष्णोर्वचनमाज्ञाय भक्तिस्नेहसमन्वितम् ।
दृष्टिं निवेशयामासुः पाञ्चाल्यां पाण्डुनन्दनाः ।। ११ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुनके ये भक्तिभाव तथा स्नेहसे भरे वचन सुननेके बाद समस्त पाण्डवोंने पांचालराजकुमारी द्रौपदीकी ओर देखा ।। ११ ।।

दृष्ट्वा ते तत्र पश्यन्तीं सर्वे कृष्णां यशस्विनीम् ।
सम्प्रेक्ष्यान्योन्यमासीना हृदयैस्तामधारयन् ।। १२ ।।

यशस्विनी कृष्णा भी उन सबको देख रही थी। वहाँ बैठे हुए पाण्डवोंने द्रौपदीको देखकर आपसमें भी एक-दूसरेपर दृष्टिपात किया और सबने अपने हृदयमें द्रुपदराजकुमारीको बसा लिया ।। १२ ।।

तेषां तु द्रौपदीं दृष्ट्वा सर्वेषाममितौजसाम् ।
सम्प्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रादुरासीन्मनोभवः ।। १३ ।।

द्रुपदकुमारीपर दृष्टि पड़ते ही उन सभी अमिततेजस्वी पाण्डुपुत्रोंकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मथकर मन्मथ प्रकट हो गया ।। १३ ।।

काम्यं हि रूपं पाञ्चाल्या विधात्रा विहितं स्वयम् ।
बभूवाधिकमन्याभ्यः सर्वभूतमनोहरम् ।। १४ ।।

विधाताने पांचालीका कमनीय रूप स्वयं ही रचा और सँवारा था। वह संसारकी अन्य स्त्रियोंसे बहुत अधिक आकर्षक और समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेनेवाला था ।। १४ ।।

तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
द्वैपायनवचः कृत्स्नं सस्मार मनुजर्षभः ।। १५ ।।

मनुष्योंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने उनकी आकृति देखकर ही उनके मनका भाव समझ लिया। फिर उन्हें द्वैपायन वेदव्यासजीके सारे वचनोंका स्मरण हो आया ।। १५ ।।

अब्रवीत् सहितान् भ्रातॄन् मिथोभेदभयान्नृपः ।
सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा ।। १६ ।।

द्रौपदीको लेकर हम सब भाइयोंमें फूट ना पड़ जाय, इस भयसे राजाने अपने सभी बन्धुओंसे कहा—'कल्याणमयी द्रौपदी हम सब लोगोंकी पत्नी होगी' ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

भ्रातुर्वचस्तत् प्रसमीक्ष्य सर्वे
ज्येष्ठस्य पाण्डोस्तनयास्तदानीम् ।
तमेवार्थं ध्यायमाना मनोभिः
सर्वे च ते तस्थुरदीनसत्त्वाः ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय अपने बड़े भाईका यह वचन सुनकर उदार हृदयवाले समस्त पाण्डव मन-ही-मन उसीका चिन्तन करते हुए चुपचाप बैठे रह गये ।। १७ ।।

वृष्णिप्रवीरस्तु कुरुप्रवीरा-
नाशंसमानः सहरौहिणेयः ।
जगाम तां भार्गवकर्मशालां
यत्रासते ते पुरुषप्रवीराः ।। १८ ।।

इधर वृष्णिवंशियोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण रोहिणीनन्दन बलरामजीके साथ कुरुकुलके प्रमुख वीर पाण्डवोंको पहचानकर कुम्हारके घरमें, जहाँ वे नरश्रेष्ठ निवास करते थे, मिलनेके लिये गये ।। १८ ।।

तत्रोपविष्टं पृथुदीर्घबाहुं
ददर्श कृष्णः सहरौहिणेयः ।
अजातशत्रुं परिवार्य तांश्चा-
प्युपोपविष्टाञ्ज्वलनप्रकाशान् ।। १९ ।।

वहाँ बलरामसहित श्रीकृष्णने मोटी और विशाल भुजाओंसे सुशोभित अजातशत्रु युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर बैठे हुए अग्निके समान तेजस्वी अन्य चारों भाइयोंको देखा ।। १९ ।।

ततोऽब्रवीद् वासुदेवोऽभिगम्य
कुन्तीसुतं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
कृष्णोऽहमस्मीति निपीड्य पादौ
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ।। २० ।।

वहाँ जाकर वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे 'मैं श्रीकृष्ण हूँ' यों कहकर अजमीढवंशी राजा युधिष्ठिरके दोनों चरणोंका स्पर्श किया ।। २० ।।

तथैव तस्याप्यनु रौहिणेय-
स्तौ चापि हृष्टाः कुरवोऽभ्यनन्दन् ।
पितृष्वसुश्चापि यदुप्रवीरा-
वगृह्णतां भारतमुख्य पादौ ।। २१ ।।

उन्हींके साथ उसी प्रकार बलरामजीने भी (अपना नाम बताकर) उनके चरण छूए। पाण्डव भी उन दोनोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। जनमेजय! फिर उन यदुवीरोंने अपनी बूआ कुन्तीके भी चरणोंका स्पर्श किया ।। २१ ।।

अजातशत्रुश्च कुरुप्रवीरः
पप्रच्छ कृष्णं कुशलं विलोक्य ।

कथं वयं वासुदेव त्वयेह
गूढा वसन्तो विदिताश्च सर्वे ।। २२ ।।

कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर अजातशत्रु युधिष्ठिरने श्रीकृष्णको देखकर कुशल-समाचार पूछा और कहा—'वसुदेवनन्दन! हम तो यहाँ छिपकर रहते हैं, फिर आपने हम सब लोगोंको कैसे पहचान लिया?' ।। २२ ।।

तमब्रवीद् वासुदेवः प्रहस्य
गूढोऽप्यग्निर्ज्ञायत एव राजन् ।
तं विक्रमं पाण्डवेयानतीत्य
कोऽन्यः कर्ता विद्यते मानुषेषु ।। २३ ।।

तब भगवान् वासुदेवने हँसकर उत्तर दिया—'राजन्! आग कितनी ही छिपी क्यों न हो, वह पहचानमें आ ही जाती है। भला, पाण्डवोंको छोड़कर मनुष्योंमें कौन ऐसा है, जो वैसा अद्भुत कर्म कर दिखाता ।। २३ ।।

दिष्ट्या सर्वे पावकाद् विप्रमुक्ता
यूयं घोरात् पाण्डवाः शत्रुसाहाः ।
दिष्ट्या पापो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः
सहामात्यो न सकामोऽभविष्यत् ।। २४ ।।

‘बड़े सौभाग्यकी बात है कि शत्रुओंका सामना करनेकी शक्ति रखनेवाले आप सभी पाण्डव उस भयंकर अग्निकाण्डसे जीवित बच गये। पापी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अपने मन्त्रियोंसहित इस षड्यन्त्रमें सफल न हो सका, यह भी सौभाग्यकी ही बात है ।। २४ ।।

भद्रं वोऽस्तु निहितं यद् गुहायां
विवर्धध्वं ज्वलना इवैधमानाः ।
मा वो विदुः पार्थिवाः केचिदेव
यास्यावहे शिविरायैव तावत् ।।
सोऽनुज्ञातः पाण्डवेनाव्ययश्रीः
प्रायाच्छीघ्रं बलदेवेन सार्धम् ।। २५ ।।

‘हमारे अन्तःकरणमें जो कल्याणकी भावना निहित है, वह आपको प्राप्त हो। आपलोग सदा प्रज्वलित अग्निकी भाँति बढ़ते रहें। अभी आपलोगोंको कोई भी राजा पहचान न सकें, इसलिये हमलोग भी अपने शिविरको ही लौट जायँगे।’ यों कहकर युधिष्ठिरकी आज्ञा ले अक्षय शोभासे सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण बलदेवजीके साथ शीघ्र वहाँसे चल दिये ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि रामकृष्णागमने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें बलराम और श्रीकृष्णका आगमनविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९० ।।

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नका गुप्तरूपसे वहाँका सब हाल देखकर राजा द्रुपदके पास आना तथा द्रौपदीके विषयमें द्रुपदका प्रश्न

वैशम्पायन उवाच

धृष्टद्युम्नस्तु पाञ्चाल्यः पृष्ठतः कुरुनन्दनौ ।
अन्वगच्छत् तदा यान्तौ भार्गवस्य निवेशने ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कुरु-नन्दन भीमसेन और अर्जुन कुम्हारके घर जा रहे थे, उसी समय पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्न गुप्तरूपसे उनके पीछे लग गये ।। १ ।।

सोऽज्ञायमानः पुरुषानवधाय समन्ततः ।
स्वयमारान्निलीनोऽभूद् भार्गवस्य निवेशने ।। २ ।।

उन्होंने चारों ओर अपने सेवकोंको बैठा दिया और स्वयं भी अज्ञातरूपसे कुम्हारके घरके पास ही छिपे रहे ।। २ ।।

सायं च भीमस्तु रिपुप्रमाथी
जिष्णुर्यमौ चापि महानुभावौ ।
भैक्षं चरित्वा तु युधिष्ठिराय
निवेदयाञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः ।। ३ ।।

सायंकाल होनेपर शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले भीमसेन, अर्जुन और महानुभाव नकुल-सहदेवने भिक्षा लाकर युधिष्ठिरको निवेदन की। इन सबका अन्तःकरण उदार था ।। ३ ।।

ततस्तु कुन्ती द्रुपदात्मजां ता-
मुवाच काले वचनं वदान्या ।
त्वमग्रमादाय कुरुष्व भद्रे
बलिं च विप्राय च देहि भिक्षाम् ।। ४ ।।

तब उदारहृदया कुन्तीने उस समय द्रौपदीसे कहा—‘भद्रे! तुम भोजनका प्रथम भाग लेकर उससे देवताओंको बलि अर्पण करो तथा ब्राह्मणको भिक्षा दो ।। ४ ।।

ये चान्नमिच्छन्ति ददस्व तेभ्यः
परिश्रिता ये परितो मनुष्याः ।
ततश्च शेषं प्रविभज्य शीघ्र-
मर्धं चतुर्धा मम चात्मनश्च ।। ५ ।।

‘तथा अपने आस-पास जो दूसरे मनुष्य आश्रितभावसे रहते और भोजन चाहते हैं, उन्हें भी अन्न परोसो। तदनन्तर जो शेष बच जाय, उसके शीघ्र ही इस प्रकार विभाग करो। अन्नका आधा भाग एकके लिये रखो, फिर शेषके छः भाग करके चार भाइयोंके लिये चार भाग अलग-अलग रख दो, उसके बाद मेरे लिये और अपने लिये भी एक-एक भाग पृथक्-पृथक् परोस दो ।। ५ ।।

अर्धं तु भीमाय च देहि भद्रे
य एष नागर्षभतुल्यरूपः ।
गौरो युवा संहननोपपन्न
एषो हि वीरो बहुभुक् सदैव ।। ६ ।।

‘कल्याणी! ये जो गजराजके समान शरीरवाले हृष्ट-पुष्ट गोरे युवक बैठे हैं, इनका नाम भीम है, इन्हें अन्नका आधा भाग दे दो। वीरवर भीम सदासे ही अधिक भोजन करनेवाले हैं’ ।। ६ ।।

सा हृष्टरूपेव तु राजपुत्री
तस्या वचः साधु विशङ्कमाना ।
यथावदुक्तं प्रचकार साध्वी
ते चापि सर्वे बुभुजुस्तदन्नम् ।। ७ ।।

सासकी आज्ञाका पालन करनेमें ही अपना कल्याण मानती हुई साध्वी राजकुमारी द्रौपदीने अत्यन्त प्रसन्न होकर कुन्तीदेवीने जैसा कहा था, ठीक वैसा ही किया। सबने उस अन्नका भोजन किया ।। ७ ।।

कुशैस्तु भूमौ शयनं चकार
माद्रीपुत्रः सहदेवस्तरस्वी ।
यथा स्वकीयान्यजिनानि सर्वे
संस्तीर्य वीराः सुषुपुर्धरण्याम् ।। ८ ।।

तदनन्तर वेगवान् वीर माद्रीकुमार सहदेवने धरतीपर कुशकी शय्या बिछा दी। फिर समस्त पाण्डव वीर अपने-अपने मृगचर्म बिछाकर भूमिधर ही सोये ।। ८ ।।

अगस्त्यशास्तामभितो दिशं तु
शिरांसि तेषां कुरुसत्तमानाम् ।
कुन्ती पुरस्तात् तु बभूव तेषां
पादान्तरे चाथ बभूव कृष्णा ।। ९ ।।
अशेत भूमौ सह पाण्डुपुत्रैः
पादोपधानीव कृता कुशेषु ।
न तत्र दुःखं मनसापि तस्या
न चावमेने कुरुपुङ्गवांस्तान् ।। १० ।।

उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंके सिर दक्षिण दिशाकी ओर थे। कुन्ती उनके मस्तककी ओर और द्रौपदी पैरोंकी ओर पृथ्वीपर ही पाण्डवोंके साथ सोयी, मानो उन कुशासनोंपर वह उनके पैरोंकी तकिया बन गयी। वहाँ उस परिस्थितिमें रहकर भी द्रौपदीके मनमें तनिक भी दुःख नहीं हुआ और उसने उन कुरुश्रेष्ठ वीरोंका किंचिन्मात्र भी तिरस्कार नहीं किया ।। ९-१० ।।

ते तत्र शूराः कथयाम्बभूवुः
कथा विचित्राः पृतनाधिकाराः ।
अस्त्राणि दिव्यानि रथांश्च नागान्
खड्गान् गदाश्चापि परश्वधांश्च ।। ११ ।।

वे शूरवीर पाण्डव वहाँ सेनापतियोंके योग्य अद्भुत कथाएँ कहने लगे। उन्होंने नाना प्रकारके दिव्यास्त्रों, रथों, हाथियों, तलवारों, गदाओं और फरसोंके विषयमें भी चर्चाएँ कीं ।। ११ ।।

तेषां कथास्ताः परिकीर्त्यमानाः
पाञ्चालराजस्य सुतस्तदानीम् ।
शुश्राव कृष्णां च तदा विषण्णां
ते चापि सर्वे ददृशुर्मनुष्याः ।। १२ ।।

उनकी कही हुई वे सभी बातें उस समय पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्नने सुनीं और उन सभी लोगोंने वहाँ सोयी हुई द्रौपदीको भी देखा ।। १२ ।।

धृष्टद्युम्नो राजपुत्रस्तु सर्वं
वृत्तं तेषां कथितं चैव रात्रौ ।
सर्वं राज्ञे द्रुपदायाखिलेन
निवेदयिष्यंस्त्वरितो जगाम ।। १३ ।।

तदनन्तर राजकुमार धृष्टद्युम्न रातमें पाण्डवोंका इतिहास तथा उनकी कही हुई सारी बातें राजा द्रुपदको पूर्णरूपसे सुनानेके लिये बड़ी उतावलीके साथ राजभवनमें गये ।। १३ ।।

पाञ्चालराजस्तु विषण्णरूप-
स्तान् पाण्डवानप्रतिविन्दमानः ।
धृष्टद्युम्नं पर्यपृच्छन्महात्मा
क्व सा गता केन नीता च कृष्णा ।। १४ ।।

पांचालराज द्रुपद पाण्डवोंका पता न पानेके कारण बहुत खिन्न थे। धृष्टद्युम्नके आनेपर महात्मा द्रुपदने उससे पूछा—'बेटा! मेरी पुत्री कृष्णा कहाँ गयी? कौन उसे ले गया? ।। १४ ।।

कच्चिन्न शूद्रेण न हीनजेन

वैश्येन वा करदेनोपपन्ना ।
कच्चित् पदं मूर्ध्नि न पङ्कदिग्धं
कच्चिन्न माला पतिता श्मशाने ।। १५ ।।

‘कहीं किसी शूद्रने अथवा नीच जातिके पुरुषद्वारा ऊँची जातिकी स्त्रीसे उत्पन्न मनुष्यने या कर देनेवाले वैश्यने तो मेरी पुत्रीको प्राप्त नहीं कर लिया? और इस प्रकार उन्होंने मेरे सिरपर अपना कीचड़से सना पाँव तो नहीं रख दिया? मालाके समान सुकुमारी और हृदयपर धारण करनेयोग्य मेरी लाडली पुत्री श्मशानके समान अपवित्र किसी पुरुषके हाथमें तो नहीं पड़ गयी? ।। १५ ।।

कच्चित् सवर्णप्रवरो मनुष्य
उद्रिक्तवर्णोऽप्युत एव कच्चित् ।
कच्चिन्न वामो मम मूर्ध्नि पादः
कृष्णाभिमर्शेन कृतोऽद्य पुत्र ।। १६ ।।

‘क्या द्रौपदीको पानेवाला मनुष्य अपने समान वर्ण (क्षत्रियकुल)-का ही कोई श्रेष्ठ पुरुष है? अथवा वह अपनेसे भी श्रेष्ठ ब्राह्मणकुलका है?’ बेटा! मेरी कृष्णाका स्पर्श कर किसी निम्नवर्णवाले मनुष्यने आज मेरे मस्तकपर अपना बायाँ पैर तो नहीं रख दिया? ।। १६ ।।

कच्चिन्न तप्स्ये परमप्रतीतः
संयुज्य पार्थेन नरर्षभेण ।
वदस्व तत्त्वेन महानुभाव
कोऽसौ विजेता दुहितुर्ममाद्य ।। १७ ।।

‘क्या ऐसा सौभाग्य होगा कि मैं नरश्रेष्ठ अर्जुनसे द्रौपदीका विवाह करके अत्यन्त प्रसन्न होऊँ और कभी भी संतप्त न हो सकूँ? महानुभाव पुत्र! ठीक-ठीक बताओ, आज जिसने मेरी पुत्रीको जीता है, वह पुरुष कौन है? ।। १७ ।।

विचित्रवीर्यस्य सुतस्य कच्चित्
कुरुप्रवीरस्य ध्रियन्ति पुत्राः ।
कच्चित् तु पार्थेन यवीयसाद्य
धनुर्गृहीतं निहतं च लक्ष्यम् ।। १८ ।।

‘क्या कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर विचित्रवीर्यकुमार पाण्डुके शूरवीर पुत्र अभी जीवित हैं? क्या आज कुन्तीके सबसे छोटे पुत्र अर्जुनने ही उस धनुषको उठाया और लक्ष्यको मार गिराया था?’ ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि धृष्टद्युम्नप्रत्यागमने एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें धृष्टद्युम्नका प्रत्यागमनविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९१ ।।

(वैवाहिकपर्व)

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नके द्वारा द्रौपदी तथा पाण्डवोंका हाल सुनकर राजा द्रुपदका उनके पास पुरोहितको भेजना तथा पुरोहित और युधिष्ठिरकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ततस्तथोक्तः परिहृष्टरूपः
पित्रे शशंसाथ स राजपुत्रः ।
धृष्टद्युम्नः सोमकानां प्रबर्हो
वृत्तं यथा येन हृता च कृष्णा ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा द्रुपदके यों कहनेपर सोमकशिरोमणि राजकुमार धृष्टद्युम्न अत्यन्त हर्षमें भरकर वहाँ जो वृत्तान्त हुआ था एवं जो कृष्णाको ले गया, वह कौन था, वह सब समाचार कहने लगे ।। १ ।।

धृष्टद्युम्न उवाच

योऽसौ युवा व्यायतलोहिताक्षः
कृष्णाजिनी देवसमानरूपः ।
यः कार्मुकाग्रयं कृतवानधिज्यं
लक्ष्यं च यः पातितवान् पृथिव्याम् ।। २ ।।
असज्जमानश्च ततस्तरस्वी
वृतो द्विजाग्रयैरभिपूज्यमानः ।
चक्राम वज्रीव दितेः सुतेषु
सर्वैश्च देवै ऋषिभिश्च जुष्टः ।। ३ ।।

धृष्टद्युम्न बोले—महाराज! जिन विशाल एवं लाल नेत्रोंवाले, कृष्णमृगचर्मधारी तथा देवताके समान मनोहर रूपवाले तरुण वीरने श्रेष्ठ धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ायी और लक्ष्यको वेधकर पृथ्वीपर गिराया था, वे किसीका भी साथ न करके अकेले ही बड़े वेगसे आगे बढ़े। उस समय बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मण उन्हें घेरे हुए थे और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे। सम्पूर्ण देवताओं तथा ऋषियोंसे सेवित देवराज इन्द्र जैसे दैत्योंकी सेनाके भीतर निःशंक

होकर विचरते हैं, उसी प्रकार वे नवयुवक वीर निर्भीक होकर राजाओंके बीचसे निकले ।। २-३ ।।

कृष्णा प्रगृह्याजिनमन्वयात् तं
नागं यथा नागवधूः प्रहृष्टा ।
अमृष्यमाणेषु नराधिपेषु
क्रुद्धेषु वै तत्र समापतत्सु ।। ४ ।।
ततोऽपरः पार्थिवसङ्घमध्ये
प्रवृद्धमारुज्य महीप्ररोहम् ।
प्रकालयन्नेव स पार्थिवौघान्
क्रुद्धोऽन्तकः प्राणभृतो यथैव ।। ५ ।।

उस समय राजकुमारी कृष्णा अत्यन्त प्रसन्न हो उनका मृगचर्म थामकर ठीक उसी तरह उनके पीछे-पीछे जा रही थी, जैसे गजराजके पीछे हथिनी जा रही हो। यह देख राजा लोग सहन न कर सके और क्रोधमें भरकर युद्ध करनेके लिये उसपर चारों ओरसे टूट पड़े। तब एक दूसरा वीर बहुत बड़े वृक्षको उखाड़कर राजाओंकी उस मण्डलीमें कूद पड़ा और जैसे कोपमें भरे हुए यमराज समस्त प्राणियोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार वह उन नरेशोंको मानो कालके गालमें भेजने लगा ।। ४-५ ।।

तौ पार्थिवानां मिषतां नरेन्द्र
कृष्णामुपादाय गतौ नराग्रयौ ।
विभ्राजमानाविव चन्द्रसूर्यौ
बाह्यां पुराद् भार्गवकर्मशालाम् ।। ६ ।।

नरेन्द्र! चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति प्रकाशित होनेवाले वे दोनों नरश्रेष्ठ सब राजाओंके देखते-देखते द्रौपदीको साथ ले नगरसे बाहर कुम्हारके घरमें चले गये ।। ६ ।।

तत्रोपविष्टार्चिरिवानलस्य
तेषां जनित्रीति मम प्रतर्कः ।
तथाविधैरेव नरप्रवीरै-
रुपोपविष्टैस्त्रिभिरग्निकल्पैः ।। ७ ।।

उस घरमें अग्निशिखाके समान तेजस्विनी एक स्त्री बैठी हुई थीं। मेरा अनुमान है कि वे उन वीरोंकी माता रही होंगी। उनके आस-पास अग्नितुल्य तेजस्वी वैसे ही तीन श्रेष्ठ नरवीर और बैठे हुए थे ।। ७ ।।

तस्यास्ततस्तावभिवाद्य पादौ
उक्ता च कृष्णा त्वभिवादयेति ।
स्थितां च तत्रैव निवेद्य कृष्णां
भिक्षाप्रचाराय गता नराग्रयाः ।। ८ ।।

इन दोनों वीरोंने माताके चरणोंमें प्रणाम करके द्रौपदीसे भी उन्हें प्रणाम करनेके लिये कहा। प्रणाम करके वहीं खड़ी हुई कृष्णाको उन्होंने माताको सौंप दिया और स्वयं वे नरश्रेष्ठ वीर भिक्षा लानेके लिये चले गये ।। ८ ।।

तेषां तु भैक्षं प्रतिगृह्य कृष्णा
दत्त्वा बलिं ब्राह्मणसाच्च कृत्वा ।
तां चैव वृद्धां परिवेष्य तांश्च
नरप्रवीरान् स्वयमप्यभुङ्क्त ।। ९ ।।

जब वे लौटे तब उनकी भिक्षामें मिले हुए अन्नको लेकर (उनकी माताके आज्ञानुसार) द्रौपदीने देवताओंको बलि समर्पित की, ब्राह्मणोंको दिया और उन वृद्धा स्त्री तथा उन प्रमुख नरवीरोंको अलग-अलग भोजन परोसकर अन्तमें स्वयं भी बचे हुए अन्नको खाया ।। ९ ।।

सुप्तास्तु ते पार्थिव सर्व एव
कृष्णा च तेषां चरणोपधाने ।
आसीत् पृथिव्यां शयनं च तेषां
दर्भाजिनाग्रास्तरणोपपन्नम् ।। १० ।।

राजन्! भोजनके बाद वे सब सो गये। कृष्णा उनके पैरोंके समीप सोयी। धरतीपर ही उनकी शय्या बिछी थी। नीचे कुशकी चटाइयाँ थीं और ऊपर मृगचर्म बिछा हुआ था ।। १० ।।

ते नर्दमाना इव कालमेघाः
कथा विचित्राः कथयाम्बभूवुः ।
न वैश्यशूद्रौपयिकीः कथास्ता
न च द्विजानां कथयन्ति वीराः ।। ११ ।।

सोते समय वे वर्षाकालके मेघके समान गम्भीर गर्जना करते हुए आपसमें बड़ी विचित्र बातें करने लगे। वे पाँचों वीर जो बातें कह रहे थे, वे वैश्यों, शूद्रों तथा ब्राह्मणों-जैसी नहीं थीं ।। ११ ।।

निःसंशयं क्षत्रियपुङ्गवास्ते
यथा हि युद्धं कथयन्ति राजन् ।
आशा हि नो व्यक्तमियं समृद्धा
मुक्तान् हि पार्थाञ्छृणुमोऽग्निदाहात् ।। १२ ।।

राजन्! जिस प्रकार वे युद्धका वर्णन करते थे, उससे यह मान लेनेमें तनिक भी संदेह नहीं रह जाता कि वे लोग क्षत्रियशिरोमणि हैं। हमने सुना है, कुन्तीके पुत्र लाक्षागृहकी आगमें जलनेसे बच गये हैं। अतः हमारे मनमें जो पाण्डवोंसे सम्बन्ध करनेकी अभिलाषा थी, अवश्य वही सफल हुई जान पड़ती है ।। १२ ।।

यथा हि लक्ष्यं निहतं धनुश्च
सज्यं कृतं तेन तथा प्रसह्य ।
यथा हि भाषन्ति परस्परं ते
छन्ना ध्रुवं ते प्रचरन्ति पार्थाः ।। १३ ।।

जिस प्रकार उन्होंने धनुषपर बलपूर्वक प्रत्यंचा चढ़ायी, जिस तरह दुर्भेद्य लक्ष्यको बेध गिराया और जिस प्रकार वे सभी भाई आपसमें बातें करते हैं, उससे यह निश्चय हो जाता है कि कुन्तीके पुत्र ही ब्राह्मणवेषमें छिपे हुए विचर रहे हैं ।। १३ ।।

ततः स राजा द्रुपदः प्रहृष्टः
पुरोहितं प्रेषयामास तेषाम् ।
विद्याम युष्मानिति भाषमाणो
महात्मानः पाण्डुसुतास्तु कच्चित् ।। १४ ।।

जनमेजय! इस समाचारसे राजा द्रुपदको बड़ी प्रसन्नता हुई, उन्होंने उसी समय उनके पास अपने पुरोहितको भेजते हुए कहा—'आप उन लोगोंसे कहियेगा कि मैं आपलोगोंका परिचय जानना चाहता हूँ। क्या आपलोग महात्मा पाण्डुके पुत्र हैं?' ।। १४ ।।

गृहीतवाक्यो नृपतेः पुरोधा
गत्वा प्रशंसामभिधाय तेषाम् ।
वाक्यं समग्रं नृपतेर्यथाव-
दुवाच चानुक्रमविक्रमेण ।। १५ ।।

राजाका अनुरोध मानकर पुरोहितजी गये और उन सबकी प्रशंसा करके राजा द्रुपदके वचनोंको ठीक-ठीक एकके बाद एक करके क्रमशः कहने लगे— ।। १५ ।।

विज्ञातुमिच्छत्यवनीश्वरो वः
पाञ्चालराजो वरदो वरार्हाः ।
लक्ष्यस्य वेद्धारमिमं हि दृष्ट्वा
हर्षस्य नान्तं प्रतिपद्यते सः ।। १६ ।।

'वरदानके योग्य वीर पुरुषो! वर देनेमें समर्थ पांचालदेशके राजा द्रुपद आपलोगोंका परिचय जानना चाहते हैं। इन वीर पुरुषको लक्ष्यवेध करते देखकर उन्हें हर्षकी सीमा नहीं रह गयी है ।। १६ ।।

आख्यात च ज्ञातिकुलानुपूर्वीं
पदं शिरस्सु द्विषतां कुरुध्वम् ।
प्रह्लादयध्वं हृदयं ममेदं
पाञ्चालराजस्य च सानुगस्य ।। १७ ।।

'आपलोग अपनी जाति और कुल आदिका यथावत् वर्णन करें, शत्रुओंके माथेपर पैर रखें और मेरे तथा अनुचरोंसहित पांचालराजके हृदयको आनन्द प्रदान करें ।। १७ ।।

पाण्डुर्हि राजा द्रुपदस्य राज्ञः
प्रियः सखा चात्मसमो बभूव ।
तस्यैष कामो दुहिता ममेयं
स्नुषां प्रदास्यामि हि कौरवाय ।। १८ ।।

'महाराज पाण्डु राजा द्रुपदके आत्माके समान प्रिय मित्र थे। इसलिये उनकी यह अभिलाषा थी कि मैं अपनी इस पुत्रीका विवाह पाण्डुकुमारसे करूँ। इसे राजा पाण्डुको पुत्रवधूके रूपमें समर्पित करूँ ।। १८ ।।

अयं हि कामो द्रुपदस्य राज्ञो
हृदि स्थितो नित्यमनिन्दिताङ्गाः ।
यदर्जुनो वै पृथुदीर्घबाहु-
र्धर्मेण विन्देत सुतां ममैताम् ।। १९ ।।

सर्वांगसुन्दर शूरवीरो! राजा द्रुपदके हृदयमें नित्य निरन्तर यह कामना रही है कि मोटी एवं विशाल भुजाओंवाले अर्जुन मेरी इस पुत्रीका धर्मपूर्वक पाणि-ग्रहण करें ।। १९ ।।

कृतं हि तत् स्यात् सुकृतं ममेदं
यशश्च पुण्यं च हितं तदेतत् ।

'उनका यह कहना है कि यदि मेरा यह मनोरथ पूर्ण हो जाय, तो मैं समझूँगा कि यह मेरे शुभ कर्मोंका फल प्राप्त हुआ है। यही मेरे लिये यश, पुण्य और हितकी बात होगी' ।। १९½ ।।

अथोक्तवाक्यं हि पुरोहितं स्थितं
ततो विनीतं समुदीक्ष्य राजा ।। २० ।।
समीपतो भीममिदं शशास
प्रदीयतां पाद्यमर्घ्यं तथास्मै ।
मान्यः पुरोधा द्रुपदस्य राज्ञ-
स्तस्मै प्रयोज्याभ्यधिका हि पूजा ।। २१ ।।

जब विनयशील पुरोहितजी यह बात कह चुके, तब राजा युधिष्ठिरने उनकी ओर देखकर पास बैठे हुए भीमसेनको यह आज्ञा दी कि 'इन्हें पाद्य और अर्घ्य समर्पित करो। ये महाराज द्रुपदके माननीय पुरोहित हैं। अतः इनका हमें विशेष आदर-सत्कार करना चाहिये' ।। २०-२१ ।।

भीमस्ततस्तत् कृतवान् नरेन्द्र
तां चैव पूजां प्रतिगृह्य हर्षात् ।
सुखोपविष्टं तु पुरोहितं तदा
युधिष्ठिरो ब्राह्मणमित्युवाच ।। २२ ।।

जनमेजय! तब भीमसेनने पाद्य, अर्घ्य निवेदन करके उनका विधिवत् पूजन किया। उनकी दी हुई पूजाको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करके पुरोहितजी जब बड़े सुखसे आसनपर बैठ गये, तब राजा युधिष्ठिरने उन ब्राह्मणदेवतासे इस प्रकार कहा— ।। २२ ।।

पाञ्चालराजेन सुता निसृष्टा
स्वधर्मदृष्टेन यथा न कामात् ।
प्रदिष्टशुल्का द्रुपदेन राज्ञा
सा तेन वीरेण तथानुवृत्ता ।। २३ ।।

'ब्रह्मन्! पाञ्चालराज द्रुपदने यह कन्या अपनी इच्छासे नहीं दी है, उन्होंने अपने धर्मके अनुसार लक्ष्यवेधकी शर्त करके अपनी कन्या देनेका निश्चय किया था। उस वीर पुरुषने उसी शर्तको पूर्ण करके यह कन्या प्राप्त की है ।। २३ ।।

न तत्र वर्णेषु कृता विवक्षा
न चापि शीले न कुले न गोत्रे ।।
कृतेन सज्येन हि कार्मुकेण
विद्धेन लक्ष्येण हि सा विसृष्टा ।। २४ ।।
सेयं तथानेन महात्मनेह
कृष्णा जिता पार्थिवसङ्घमध्ये ।

नैवंगते सौमकिरद्य राजा
संतापमर्हत्यसुखाय कर्तुम् ।। २५ ।।

'राजाने वहाँ वर्ण, शील, कुल और गोत्रके विषयमें कोई अभिप्राय नहीं व्यक्त किया था। धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ाकर लक्ष्यवेध कर देनेपर ही कन्यादानकी घोषणा की थी। इस महात्मा वीरने उसी घोषणाके अनुसार राजाओंकी मण्डलीमें राजकुमारी कृष्णापर विजय पायी है। ऐसी दशामें सोमकवंशी राजा द्रुपदको अब सुखका अभाव करनेवाला संताप नहीं करना चाहिये ।। २४-२५ ।।

कामश्च योऽसौ द्रुपदस्य राज्ञः
स चापि सम्पत्स्यति पार्थिवस्य ।
सम्प्राप्यरूपां हि नरेन्द्रकन्या-
मिमामहं ब्राह्मण साधु मन्ये ।। २६ ।।

'ब्राह्मण! राजा द्रुपदकी जो पहलेकी अभिलाषा है, वह भी पूरी होगी। इस राजकन्याको हम सर्वथा ग्रहण करनेयोग्य एवं उत्तम मानते हैं ।। २६ ।।

न तद् धनुर्मन्दबलेन शक्यं
मौर्व्या समायोजयितुं तथा हि ।
न चाकृतास्त्रेण न हीनजेन
लक्ष्यं तथा पातयितुं हि शक्यम् ।। २७ ।।

'कोई बलहीन पुरुष उस विशाल धनुषपर प्रत्यंचा नहीं चढ़ा सकता था। जिसने अस्त्रविद्याकी पूर्ण शिक्षा न पायी हो, ऐसे पुरुषके अथवा किसी नीच कुलके मनुष्यके लिये भी उस लक्ष्यको गिराना असम्भव था ।। २७ ।।

तस्मान्न तापं दुहितुर्निमित्तं
पाञ्चालराजोऽर्हति कर्तुमद्य ।
न चापि तत्पातनमन्यथेह
कर्तुं हि शक्यं भुवि मानवेन ।। २८ ।।

'अतः पांचालराजको अब अपनी पुत्रीके लिये पश्चात्ताप करना उचित नहीं है। इस पृथ्वीपर उस वीरके सिवा ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो उस लक्ष्यको वेध सके' ।। २८ ।।

एवं ब्रुवत्येव युधिष्ठिरे तु
पाञ्चालराजस्य समीपतोऽन्यः ।
तत्राजगामाशु नरो द्वितीयो
निवेदयिष्यन्निह सिद्धमन्नम् ।। २९ ।।

राजा युधिष्ठिर यों कह ही रहे थे कि पांचालराज द्रुपदके पाससे एक दूसरा मनुष्य यह समाचार देनेके लिये शीघ्रतापूर्वक आया कि 'राजभवनमें आपलोगोंके लिये भोजन तैयार है' ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पुरोहितयुधिष्ठिरसंवादे द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें पुरोहितयुधिष्ठिरविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९२ ।।

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवों और कुन्तीका द्रुपदके घरमें जाकर सम्मानित होना और राजा द्रुपदद्वारा पाण्डवोंके शील-स्वभावकी परीक्षा

दूत उवाच

जन्यार्थमन्नं द्रुपदेन राज्ञा
विवाहहेतोरुपसंस्कृतं च ।
तदाप्नुवध्वं कृतसर्वकार्याः
कृष्णां च तत्रैव चिरं न कार्यम् ।। १ ।।

दूत बोला—महाराज द्रुपदने विवाहके निमित्त बरातियोंको जिमानेके लिये उत्तम भोजनसामग्री तैयार करायी है। अतः आपलोग सम्पूर्ण दैनिक कार्योंसे निवृत्त हो उसे पायें। राजकुमारी कृष्णाको भी विवाहविधिसे वहीं प्राप्त करें। इसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये ।। १ ।।

इमे रथाः काञ्चनपद्मचित्राः
सदश्वयुक्ता वसुधाधिपार्हाः ।
एतान् समारुह्य समेत सर्वे
पाञ्चालराजस्य निवेशनं तत् ।। २ ।।

ये सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित तथा राजाओंकी सवारीके योग्य विचित्र रथ खड़े हैं, इनमें उत्तम घोड़े जुते हुए हैं; इनपर सवार हो आप सब लोग महाराज द्रुपदके महलमें पधारें ।। २ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयाताः कुरुपुङ्गवास्ते
पुरोहितं तं परियाप्य सर्वे ।
आस्थाय यानानि महान्ति तानि
कुन्ती च कृष्णा च सहैकयाने ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वहाँ वे सभी कुरुश्रेष्ठ पाण्डव पुरोहितजीको विदा करके उन विशाल रथोंपर आरूढ़ हो (राजभवनकी ओर) चले। उस समय कुन्ती और कृष्णा एक साथ एक ही सवारीपर बैठी हुई थीं ।। ३ ।।

श्रुत्वा तु वाक्यानि पुरोहितस्य
यान्युक्तवान् भारत धर्मराजः ।

जिज्ञासयैवाथ कुरूत्तमानां
द्रव्याण्यनेकान्युपसंजहार ।। ४ ।।

भारत! उस समय धर्मराज युधिष्ठिरने जो बातें कही थीं, उन्हें पुरोहितके मुखसे सुनकर उन कुरुश्रेष्ठ वीरोंके शीलस्वभावकी परीक्षाके लिये राजा द्रुपदने अनेक प्रकारकी वस्तुओंका संग्रह किया ।। ४ ।।

फलानि माल्यानि च संस्कृतानि
वर्माणि चर्माणि तथाऽऽसनानि ।
गाश्चैव राजन्नथ चैव रज्जू-
र्बीजानि चान्यानि कृषीनिमित्तम् ।। ५ ।।
अन्येषु शिल्पेषु च यान्यपि स्युः
सर्वाणि कृत्यान्यखिलेन तत्र ।
क्रीडानिमित्तान्यपि यानि तत्र
सर्वाणि तत्रोपजहार राजा ।। ६ ।।

राजन्! (सब प्रकारके) फल, सुन्दर ढंगसे बनायी हुई मालाएँ, कवच, ढाल, आसन, गौएँ रस्सियाँ, बीज एवं खेतीके अन्य सामान तथा अन्य कारीगरियोंके सब सामान पूर्णरूपसे वहाँ संगृहीत किये गये थे। इसके सिवा, खेलके लिये जो आवश्यक वस्तुएँ होती हैं, उन सबको राजा द्रुपदने वहाँ जुटाकर रखा था ।। ५-६ ।।

वर्माणि चर्माणि च भानुमन्ती
खड्गा महान्तोऽश्वरथाश्च चित्राः ।
धनूंषि चाग्रयाणि शराश्च चित्राः
शक्त्यृष्टयः काञ्चनभूषणाश्च ।। ७ ।।
प्रासा भुशुण्ड्यश्च परश्वधाश्च
सांग्रामिकं चैव तथैव सर्वम् ।
शय्यासनान्युत्तमवस्तुवन्ति
तथैव वासो विविधं च तत्र ।। ८ ।।

दूसरी ओर कवच, चमकती हुई ढालें, तलवारें, बड़े-बड़े विचित्र घोड़े तथा रथ, श्रेष्ठ धनुष, विचित्र बाण, सुवर्ण-भूषित शक्तियाँ एवं ऋष्टियाँ, प्रास, भुशुण्डियाँ, फरसे तथा सब प्रकारकी युद्धसामग्री, उत्तम वस्तुओंसे युक्त शय्या-आसन और नाना प्रकारके वस्त्र भी वहाँ संग्रह करके रखे गये थे ।। ७-८ ।।

कुन्ती तु कृष्णां परिगृह्य साध्वी-
मन्तःपुरं द्रुपदस्याविवेश ।
स्त्रियश्च तां कौरवराजपत्नीं
प्रत्यर्चयामासुरदीनसत्त्वाः ।। ९ ।।

कुन्तीदेवी सती-साध्वी कृष्णाको साथ ले द्रुपदके रनिवासमें गयीं। वहाँकी उदारहृदया स्त्रियोंने कौरवराज पाण्डुकी धर्मपत्नीका (बड़ा) आदर-सत्कार किया ।। ९ ।।

तान् सिंहविक्रान्तगतीन् निरीक्ष्य
महर्षभाक्षानजिनोत्तरीयान् ।
गूढोत्तरांसान् भुजगेन्द्रभोग-
प्रलम्बबाहून् पुरुषप्रवीरान् ।। १० ।।
राजा च राज्ञः सचिवाश्च सर्वे
पुत्राश्च राज्ञः सुहृदस्तथैव ।
प्रेष्याश्च सर्वे निखिलेन राजन्
हर्षं समापेतुरतीव तत्र ।। ११ ।।

राजन्! पाण्डवोंकी चाल-ढाल सिंहके समान पराक्रमसूचक थी, उनकी आँखें साँड़के समान बड़ी-बड़ी थीं, उन्होंने काले मृगचर्मके ही दुपट्टे ओढ़ रखे थे, उनकी हँसलीकी हड्डियाँ मांससे छिपी हुई थीं और भुजाएँ नागराजके शरीरके समान मोटी एवं विशाल थीं। उन पुरुषसिंह पाण्डवोंको देखकर राजा द्रुपद, उनके सभी पुत्र, मन्त्री, इष्ट-मित्र और समस्त नौकर-चाकर ये सब-के-सब वहाँ बड़े ही प्रसन्न हुए ।। १०-११ ।।

ते तत्र वीराः परमासनेषु
सपादपीठेष्वविशङ्कमानाः ।
यथानुपूर्वं विविशुर्नराग्रया-
स्तथा महार्हेषु न विस्मयन्तः ।। १२ ।।

वे नरश्रेष्ठ वीर पाण्डव वहाँ लगे हुए पादपीठसहित बहुमूल्य श्रेष्ठ सिंहासनोंपर बिना किसी हिचक या संकोचके मनमें तनिक भी विस्मय न करते हुए बड़े-छोटेके क्रमसे जा बैठे ।। १२ ।।

उच्चावचं पार्थिवभोजनीयं
पात्रीषु जाम्बूनदराजतीषु ।
दासाश्च दास्यश्च सुमृष्टवेषाः
सम्भोजकाश्चाप्युपजह्रुरन्नम् ।। १३ ।।

तब स्वच्छ और सुन्दर पोशाक पहने हुए दास-दासी तथा रसोइयोंने सोने-चाँदीके बरतनोंमें राजाओंके भोजन करनेयोग्य अनेक प्रकारकी सामान्य और विशेष भोजन-सामग्री लाकर परोसी ।। १३ ।।

ते तत्र भुक्त्वा पुरुषप्रवीरा
यथाऽऽत्मकामं सुभृशं प्रतीताः ।
उत्क्रम्य सर्वाणि वसूनि राजन्
सांग्रामिकं ते विविशुर्नृवीराः ।। १४ ।।

मनुष्योंमें श्रेष्ठ पाण्डव वहाँ अपनी रुचिके अनुसार उन सब वस्तुओंको खाकर बहुत अधिक प्रसन्न हुए। राजन्! (तदनन्तर वहाँ संग्रह की हुई अन्य) सब वैभव-भोगकी सामग्रियोंको छोड़कर वे वीर पहले उसी स्थानपर गये, जहाँ युद्धकी सामग्रियाँ रखी गयी थीं ।। १४ ।।

तल्लक्षयित्वा द्रुपदस्य पुत्रो
राजा च सर्वैः सह मन्त्रिमुख्यैः ।
समर्थयामासुरुपेत्य हृष्टाः
कुन्तीसुतान् पार्थिव राजपुत्रान् ।। १५ ।।

जनमेजय! यह सब देखकर राजा द्रुपद, राजकुमार और सभी प्रधान मन्त्री बड़े प्रसन्न हुए और उनके पास जाकर उन्होंने अपने मनमें यही निश्चय किया कि ये राजकुमार कुन्तीदेवीके ही पुत्र हैं ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि युधिष्ठिरादिपरीक्षणे त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी परीक्षाविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९३ ।।

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपद और युधिष्ठिरकी बातचीत तथा व्यासजीका आगमन

वैशम्पायन उवाच

तत आहूय पाञ्चाल्यो राजपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
परिग्रहेण ब्राह्मेण परिगृह्य महाद्युतिः ।। १ ।।
पर्यपृच्छददीनात्मा कुन्तीपुत्रं सुवर्चसम् ।
कथं जानीम भवतः क्षत्रियान् ब्राह्मणानुत ।। २ ।।
वैश्यान् वा गुणसम्पन्नानथवा शूद्रयोनिजान् ।
मायामास्थाय वा विप्रांश्चरतः सर्वतोदिशम् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महातेजस्वी, उदारचित्त, पांचालराज द्रुपदने अत्यन्त कान्तिमान् कुन्तीपुत्र राजकुमार युधिष्ठिरको (अपने पास) बुलाकर ब्राह्मणोचित आतिथ्य-सत्कारके द्वारा उन्हें अपनाकर पूछा—'हमें कैसे ज्ञात हो कि आपलोग किस वर्णके हैं? हम आपको क्षत्रिय, ब्राह्मण, गुणसम्पन्न वैश्य अथवा शूद्र क्या समझें? अथवा मायाका आश्रय लेकर ब्राह्मणरूपसे सब दिशाओंमें विचरनेवाले आपलोगोंको हम कोई देवता मानें? ।। १—३ ।।

कृष्णाहेतोरनुप्राप्ता देवाः संदर्शनार्थिनः ।
ब्रवीतु नो भवान् सत्यं संदेहो ह्यत्र नो महान् ।। ४ ।।

जान पड़ता है, आप कृष्णाको पानेके लिये यहाँ दर्शक बनकर आये हुए देवता ही हैं। आप सच्ची बात हमें बता दें; क्योंकि आपके विषयमें हमको बड़ा संदेह हो रहा है ।। ४ ।।

अपि नः संशयस्यान्ते मनः संतुष्टिमावहेत् ।
अपि नो भागधेयानि शुभानि स्युः परंतप ।। ५ ।।

परंतप! आपसे रहस्यकी बात सुनकर क्या हमारे इस संशयका नाश और मनको संतोष होगा और क्या हमारा भाग्य उदय होगा? ।। ५ ।।

इच्छया ब्रूहि तत् सत्यं सत्यं राजसु शोभते ।
इष्टापूर्तेन च तथा वक्तव्यमनृतं न तु ।। ६ ।।

आप स्वेच्छासे ही सच्ची बात बतायें, राजाओंमें इष्ट* और पूर्तकी अपेक्षा सत्यकी ही अधिक महिमा है; अतः असत्य नहीं बोलना चाहिये ।। ६ ।।

श्रुत्वा ह्यमरसंकाश तव वाक्यमरिंदम ।
ध्रुवं विवाहकरणमास्थास्यामि विधानतः ।। ७ ।।

देवताओंके समान तेजस्वी शत्रुसूदन! मैं आपकी बात सुनकर निश्चय ही विधिपूर्वक विवाहकी तैयारी करूँगा ।। ७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

मा राजन् विमना भूस्त्वं पाञ्चाल्य प्रीतिरस्तु ते ।
ईप्सितस्ते ध्रुवः कामः संवृत्तोऽयमसंशयम् ।। ८ ।।

युधिष्ठिर बोले—पांचालराज! आप उदास न हों, आपको प्रसन्न होना चाहिये। आपके मनमें जो अभीष्ट कामना थी, वह निश्चय ही आज पूरी हुई है, इसमें संशय नहीं है ।। ८ ।।

वयं हि क्षत्रिया राजन् पाण्डोः पुत्रा महात्मनः ।
ज्येष्ठ मां विद्धि कौन्तेयं भीमसेनार्जुनाविमौ ।। ९ ।।

राजन्! हमलोग क्षत्रिय ही हैं, महात्मा पाण्डुके पुत्र हैं। मुझे कुन्तीका ज्येष्ठ पुत्र समझिये, ये दोनों भीमसेन और अर्जुन हैं ।। ९ ।।

आभ्यां तव सुता राजन् निर्जिता राजसंसदि ।
यमौ च तत्र कुन्ती च यत्र कृष्णा व्यवस्थिता ।। १० ।।

राजन्! इन्हीं दोनोंने समस्त राजाओंके समूहमें आपकी पुत्रीको जीता है। उधर वे दोनों नकुल और सहदेव हैं। माता कुन्ती वहीं गयी हैं, जहाँ राजकुमारी कृष्णा है ।। १० ।।

व्येतु ते मानसं दुःखं क्षत्रियाः स्मो नरर्षभ ।
पद्मिनीव सुतेयं ते ह्रदादन्यह्रदं गता ।। ११ ।।

नरश्रेष्ठ! अब आपकी मानसिक चिन्ता निकल जानी चाहिये। हम सब लोग क्षत्रिय ही हैं। आपकी यह पुत्री कृष्णा कमलिनीकी भाँति एक सरोवरसे दूसरे सरोवरको प्राप्त हुई है ।। ११ ।।

इति तथ्यं महाराज सर्वमेतद् ब्रवीमि ते ।
भवान् हि गुरुरस्माकं परमं च परायणम् ।। १२ ।।

महाराज! यह सब मैं आपसे सच्ची बात कह रहा हूँ। आप हमारे बड़े तथा परम आश्रय हैं ।। १२ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः स द्रुपदो राजा हर्षव्याकुललोचनः ।
प्रतिवक्तुं मुदा युक्तो नाशकत् तं युधिष्ठिरम् ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिरकी ये बातें सुनकर महाराज द्रुपदकी आँखोंमें हर्षके आँसू छलक आये। वे आनन्दमें मग्न हो गये और (गला भर आनेके कारण) उन युधिष्ठिरको तत्काल (कुछ) उत्तर न दे सके ।। १३ ।।

यत्नेन तु स तं हर्षं संनिगृह्य परंतपः ।
अनुरूपं तदा वाचा प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ।। १४ ।।

शत्रुसूदन द्रुपदने (बड़े) यत्नसे अपने (हर्षके आवेश)-को रोका और युधिष्ठिरको उनके कथनके अनुरूप ही उत्तर दिया ।। १४ ।।

पप्रच्छ चैनं धर्मात्मा यथा ते प्रद्रुताः पुरात् ।
स तस्मै सर्वमाचख्यावानुपूर्व्येण पाण्डवः ।। १५ ।।

फिर उन धर्मात्मा पांचाल-नरेशने यह पूछा कि 'आपलोग वारणावत नगरसे किस प्रकार भाग निकले?' पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने वे सारी बातें उन्हें क्रमशः कह सुनायीं ।। १५ ।।

तच्छ्रुत्वा द्रुपदो राजा कुन्तीपुत्रस्य भाषितम् ।
विगर्हयमास तदा धृतराष्ट्रं नरेश्वरम् ।। १६ ।।
आश्वासयामास च तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
प्रतिजज्ञे च राज्याय द्रुपदो वदतां वरः ।। १७ ।।

कुन्तीकुमारके मुखसे वह सारा समाचार सुनकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाराज द्रुपदने उस समय राजा धृतराष्ट्रकी बड़ी निन्दा की और कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको आश्वासन दिया। साथ ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा भी की कि 'हम तुम्हें तुम्हारा राज्य दिलवाकर रहेंगे' ।। १६-१७ ।।

ततः कुन्ती च कृष्णा च भीमसेनार्जुनावपि ।
यमौ च राज्ञा संदिष्टं विविशुर्भवनं महत् ।। १८ ।।
तत्र ते न्यवसन् राजन् यज्ञसेनेन पूजिताः ।
प्रत्याश्वस्तस्ततो राजा सह पुत्रैरुवाच तम् ।। १९ ।।

राजन्! तत्पश्चात् कुन्ती, कृष्णा, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव राजा द्रुपदके द्वारा निर्दिष्ट किये हुए विशाल भवनमें गये और यज्ञसेन (द्रुपद)-से सम्मानित हो वहीं रहने लगे। इस प्रकार विश्वास जम जानेपर महाराज द्रुपदने अपने पुत्रोंके साथ जाकर युधिष्ठिरसे कहा— ।। १८-१९ ।।

गृह्णातु विधिवत् पाणिमद्यायं कुरुनन्दनः ।
पुण्येऽहनि महाबाहुरर्जुनः कुरुतां क्षणम् ।। २० ।।

'ये कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले महाबाहु अर्जुन आजके पुण्यमय दिवसमें मेरी पुत्रीका विधिपूर्वक पाणिग्रहण करें और (अपने कुलोचित)

मंगलाचारका पालन प्रारम्भ कर दें' ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीत् ततो राजा धर्मात्मा च युधिष्ठिरः ।
ममापि दारसम्बन्धः कार्यस्तावद् विशाम्पते ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने उनसे कहा—'राजन्! विवाह तो मेरा भी करना होगा' ।। २१ ।।

द्रुपद उवाच

भवान् वा विधिवत् पाणिं गृह्णातु दुहितुर्मम ।
यस्य वा मन्यसे वीर तस्य कृष्णामुपादिश ।। २२ ।।

द्रुपद बोले—वीर! तब आप ही विधिपूर्वक मेरी पुत्रीका पाणिग्रहण करें अथवा आप अपने भाइयोंमेंसे जिसके साथ चाहें, उसीके साथ कृष्णाको विवाहकी आज्ञा दे दें ।। २२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

सर्वेषां महिषी राजन् द्रौपदी नो भविष्यति ।
एवं प्रव्याहृतं पूर्वं मम मात्रा विशाम्पते ।। २३ ।।

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! द्रौपदी तो हम सभी भाइयोंकी पटरानी होगी। मेरी माताने पहले हम सब लोगोंको ऐसी ही आज्ञा दे रखी है ।। २३ ।।

अहं चाप्यनिविष्टो वै भीमसेनश्च पाण्डवः ।
पार्थेन विजिता चैषा रत्नभूता सुता तव ।। २४ ।।

मैं तथा पाण्डव भीमसेन भी अभीतक अविवाहित हैं और आपकी इस रत्नस्वरूपा कन्याको अर्जुनने जीता है ।। २४ ।।

एष नः समयो राजन् रत्नस्य सह भोजनम् ।
न च तं हातुमिच्छामः समयं राजसत्तम ।। २५ ।।

महाराज! हम लोगोंमें यह शर्त हो चुकी है कि रत्नको हम सब लोग बाँटकर एक साथ उपभोग करेंगे। नृपशिरोमणे! हम अपनी उस (पुरानी) शर्तको छोड़ना या तोड़ना नहीं चाहते ।। २५ ।।

सर्वेषां धर्मतः कृष्णा महिषी नो भविष्यति ।
आनुपूर्व्येण सर्वेषां गृह्णातु ज्वलने करान् ।। २६ ।।

अतः कृष्णा धर्मके अनुसार हम सभीकी महारानी होगी। इसलिये वह प्रज्वलित अग्निके सामने क्रमशः हम सबका पाणिग्रहण करे ।। २६ ।।

द्रुपद उवाच

एकस्य बह्वयो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन ।
नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित् ।। २७ ।।

द्रुपद बोले—‘कुरुनन्दन! एक राजा बहुत-सी रानियाँ (अथवा एक पुरुषकी अनेक स्त्रियाँ) हों, ऐसा विधान तो वेदोंमें देखा गया है; परंतु एक स्त्रीके अनेक पुरुष पति हों, ऐसा कहीं सुननेमें नहीं आया है* ।। २७ ।।

लोकवेदविरुद्धं त्वं नाधर्मं धर्मविच्छुचिः ।
कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात् ते बुद्धिरीदृशी ।। २८ ।।

‘तुम धर्मके ज्ञाता और पवित्र हो, अतः तुम्हें लोक और वेदके विरुद्ध यह अधर्म नहीं करना चाहिये। तुम कुन्तीके पुत्र हो; तुम्हारी बुद्धि ऐसी क्यों हो रही है? ।। २८ ।।

युधिष्ठिर उवाच

सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्मो वयं गतिम् ।
पूर्वेषामानुपूर्व्येण यातं वर्त्मानुयामहे ।। २९ ।।

युधिष्ठिरने कहा—महाराज! धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, हम उसकी गतिको नहीं जानते। पूर्वकालके प्रचेता आदि जिस मार्गसे गये हैं, उसीका हमलोग क्रमशः अनुसरण करते हैं ।। २९ ।।

न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः ।
एवं चैव वदत्यम्बा मम चैतन्मनोगतम् ।। ३० ।।

मेरी वाणी कभी झूठ नहीं बोलती और मेरी बुद्धि भी कभी अधर्ममें नहीं लगती। हमारी माताने हमें ऐसा ही करनेकी आज्ञा दी है और मेरे मनमें भी यही ठीक जँचा है ।। ३० ।।

एष धर्मो ध्रुवो राजंश्चरैनमविचारयम् ।
मा च शंका तत्र ते स्यात् कथंचिदपि पार्थिव ।। ३१ ।।

राजन्! यह अटल धर्म है। आप बिना किसी सोच-विचारके इसका पालन करें। पृथ्वीपते! आपको इस विषयमें किसी प्रकारकी आशंका नहीं होनी चाहिये ।। ३१ ।।

द्रुपद उवाच

त्वं च कुन्ती च कौन्तेय धृष्टद्युम्नश्च मे सुतः ।
कथयन्त्विति कर्तव्यं श्वः काले करवामहे ।। ३२ ।।

द्रुपद बोले—कुन्तीनन्दन! तुम, कुन्तीदेवी और मेरा पुत्र धृष्टद्युम्न—ये सब लोग मिलकर यह निश्चय करके बतायें कि क्या करना चाहिये? उसे ही कल ठीक समयपर हमलोग करेंगे ।। ३२ ।।

वैशम्पायन उवाच

ते समेत्य ततः सर्वे कथयन्ति स्म भारत ।
अथ द्वैपायनो राजन्नभ्यागच्छद् यदृच्छया ।। ३३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! तदनन्तर वे सब लोग मिलकर इस विषयमें सलाह करने लगे। राजन्! इसी समय भगवान् वेदव्यास वहाँ अकस्मात् आ पहुँचे ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि द्वैपायनागमने चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें वेदव्यासके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९४ ।।

---

* स्मृतियोंमें इष्ट और पूर्तका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् । आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ।।
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च । अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ।।

‘अग्निहोत्र, तप, सत्यभाषण, वेदोंकी आज्ञाका निरन्तर पालन, अतिथियोंका सत्कार तथा बलिवैश्वदेव कर्म—ये ‘इष्ट’ कहलाते हैं। बावली, कुआँ, पोखरे आदि बनवाना, देवमन्दिर निर्माण कराना, अन्नदान देना और बगीचे लगाना—इनका नाम पूर्त है।’

* इस विषयमें यह श्रुतिका वचन प्रसिद्ध है—‘एकस्य बह्वयो जाया भवन्ति, नैकस्यै बहवः सहपतयः’ अर्थात् एक पुरुषकी बहुत-सी स्त्रियाँ होती हैं, किंतु एक स्त्रीके लिये बहुत-से पति नहीं होते।

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीके सामने द्रौपदीका पाँच पुरुषोंसे विवाह होनेके विषयमें द्रुपद, धृष्टद्युम्न और युधिष्ठिरका अपने-अपने विचार व्यक्त करना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे पाञ्चाल्यश्च महायशाः ।
प्रत्युत्थाय महात्मानं कृष्णं सर्वेऽभ्यवादयन् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर वे पाण्डव तथा महायशस्वी पांचालराज द्रुपद—सबने खड़े होकर महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीको प्रणाम किया ।। १ ।।

प्रतिनन्द्य स तां पूजां पृष्ट्वा कुशलमन्ततः ।
आसने काञ्चने शुद्धे निषसाद महामनाः ।। २ ।।

उनके द्वारा की हुई पूजाको प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करके अन्तमें सबसे कुशल-मंगल पूछकर महामना व्यासजी शुद्ध सुवर्णमय आसनपर विराजमान हुए ।। २ ।।

अनुज्ञातास्तु ते सर्वे कृष्णेनामिततेजसा ।
आसनेषु महार्हेषु निषेदुर्द्विपदां वराः ।। ३ ।।

फिर अमित-तेजस्वी व्यासजीकी आज्ञा पाकर वे सभी नरश्रेष्ठ बहुमूल्य आसनोंपर बैठे ।। ३ ।।

ततो मुहूर्तान्मधुरां वाणीमुच्चार्य पार्षतः।
पप्रच्छ तं महात्मानं द्रौपद्यर्थं विशाम्पते ॥ ४ ॥
कथमेका बहूनां स्याद् धर्मपत्नी न संकरः।
एतन्मे भगवान् सर्वं प्रब्रवीतु यथातथम् ॥ ५ ॥

राजन्! तदनन्तर दो घड़ीके बाद राजा द्रुपदने मीठी वाणी बोलकर महात्मा व्यासजीसे द्रौपदीके विषयमें पूछा—'भगवन्! एक ही स्त्री बहुत-से पुरुषोंकी धर्मपत्नी कैसे हो सकती है? जिससे संकरताका दोष न लगे, यह सब आप ठीक-ठीक बतावें' ॥ ४-५ ॥

व्यास उवाच

अस्मिन् धर्मे विप्रलब्धे लोकवेदविरोधके।
यस्य यस्य मतं यद् यच्छ्रोतुमिच्छामि तस्य तत् ॥ ६ ॥

व्यासजीने कहा—अत्यन्त गहन होनेके कारण शास्त्रीय आवरणके द्वारा ढके हुए अतएव इस लोक-वेद-विरुद्ध धर्मके सम्बन्धमें तुममेंसे जिसका-जिसका जो-जो मत हो, उसे मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

द्रुपद उवाच

अधर्मोऽयं मम मतो विरुद्धो लोकवेदयोः।
न ह्येका विद्यते पत्नी बहूनां द्विजसत्तम ॥ ७ ॥

द्रुपद बोले—द्विजश्रेष्ठ! मेरी रायमें तो यह अधर्म ही है; क्योंकि यह लोक और वेद दोनोंके विरुद्ध है। बहुत-से पुरुषोंकी एक ही पत्नी हो, ऐसा व्यवहार कहीं भी नहीं

है ।। ७ ।।

न चाप्याचरितः पूर्वैरयं धर्मो महात्मभिः ।
न चाप्यधर्मो विद्वद्भिश्चरितव्यः कथंचन ।। ८ ।।

पूर्ववर्ती महात्मा पुरुषोंने भी ऐसे धर्मका आचरण नहीं किया है और विद्वान् पुरुषोंको किसी प्रकार भी अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ।। ८ ।।

ततोऽहं न करोम्येनं व्यवसायं क्रियां प्रति ।
धर्मः सदैव संदिग्धः प्रतिभाति हि मे त्वयम् ।। ९ ।।

इसलिये मैं इस धर्मविरोधी आचारको काममें नहीं लाना चाहता। मुझे तो इस कार्यके धर्मसंगत होनेमें सदा ही संदेह जान पड़ता है ।। ९ ।।

धृष्टद्युम्न उवाच

यवीयसः कथं भार्यां ज्येष्ठो भ्राता द्विजर्षभ ।
ब्रह्मन् समभिवर्तेत सवृत्तः संस्तपोधन ।। १० ।।

धृष्टद्युम्न बोले—द्विजश्रेष्ठ! आप ब्राह्मण हैं, तपोधन हैं; आप ही बताइये, बड़ा भाई सदाचारी होते हुए भी अपने छोटे भाईकी स्त्रीके साथ समागम कैसे कर सकता है? ।। १० ।।

न तु धर्मस्य सूक्ष्मत्वाद् गतिं विद्म कथंचन ।
अधर्मो धर्म इति वा व्यवसायो न शक्यते ।। ११ ।।
कर्तुमस्मद्विधैर्ब्रह्मंस्ततोऽयं न व्यवस्यते ।
पञ्चानां महिषी कृष्णा भवत्विति कथंचन ।। १२ ।।

धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण हम उसकी गतिको सर्वथा नहीं जानते; अतः यह कार्य अधर्म है या धर्म, इसका निश्चय करना हम-जैसे लोगोंके लिये असम्भव है। ब्रह्मन्! इसीलिये हम किसी तरह भी ऐसी सम्मति नहीं दे सकते कि राजकुमारी कृष्णा पाँच पुरुषोंकी धर्मपत्नी हो ।। ११-१२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः ।
वर्तते हि मनो मेऽत्र नैषोऽधर्मः कथंचन ।। १३ ।।
श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी ।
ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतां वरा ।। १४ ।।

युधिष्ठिरने कहा—मेरी वाणी कभी झूठ नहीं बोलती और मेरी बुद्धि भी कभी अधर्ममें नहीं लगती; परंतु इस विवाहमें मेरे मनकी प्रवृत्ति हो रही है, इसलिये यह किसी प्रकार भी अधर्म नहीं है। पुराणोंमें भी सुना जाता है कि धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ जटिला नामवाली गौतम गोत्रकी कन्याने सात ऋषियोंके साथ विवाह किया था ।। १३-१४ ।।

तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः ।
संगताभूद् दश भ्रातॄनेकनाम्नः प्रचेतसः ।। १५ ।।

इसी प्रकार कण्डु मुनिकी पुत्री वार्क्षीने तपस्यासे पवित्र अन्तःकरणवाले दस प्रचेताओंके साथ, जिनका एक ही नाम था और जो आपसमें भाई-भाई थे, विवाहसम्बन्ध स्थापित किया था ।। १५ ।।

गुरोर्हि वचनं प्राहुर्धर्म्यं धर्मज्ञसत्तम ।
गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः ।। १६ ।।

धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ व्यासजी! गुरुजनोंकी आज्ञाको धर्मसंगत बताया गया है और समस्त गुरुओंमें माता परम गुरु मानी गयी है ।। १६ ।।

सा चाप्युक्तवती वाचं भैक्षवद् भुज्यतामिति ।
तस्मादेतदहं मन्ये परं धर्मं द्विजोत्तम ।। १७ ।।

हमारी माताने भी यही बात कही है कि तुम सब लोग भिक्षाकी भाँति इसका उपभोग करो; अतः द्विजश्रेष्ठ! हम पाँचों भाइयोंके साथ होनेवाले इस विवाहसम्बन्धको परम धर्म मानते हैं ।। १७ ।।

कुन्त्युवाच

एवमेतद् यथा प्राह धर्मचारी युधिष्ठिरः ।
अनृतान्मे भयं तीव्रं मुच्येऽहमनृतात् कथम् ।। १८ ।।

कुन्तीने कहा—धर्मका आचरण करनेवाले युधिष्ठिरने जैसा कहा है, वह ठीक है। (अवश्य मैंने द्रौपदीके साथ पाँचों भाइयोंके विवाहसम्बन्धकी आज्ञा दे दी है।) मुझे झूठसे बहुत भय लगता है; बताइये, मैं झूठके पापसे कैसे बच सकूँगी? ।। १८ ।।

व्यास उवाच

अनृतान्मोक्ष्यसे भद्रे धर्मश्चैष सनातनः ।
न तु वक्ष्यामि सर्वेषां पाञ्चाल शृणु मे स्वयम् ।। १९ ।।

व्यासजी बोले—भद्रे! तुम झूठसे बच जाओगी। (पाण्डवोंके लिये) यह सनातन धर्म है। (कुन्तीसे यों कहकर वे द्रुपदसे बोले) पांचालराज! (इस विवाहमें एक रहस्य है, जिसे) मैं सबके सामने नहीं कहूँगा। तुम स्वयं एकान्तमें चलकर मुझसे सुन लो ।। १९ ।।

यथायं विहितो धर्मो यतश्चायं सनातनः ।
यथा च प्राह कौन्तेयस्तथा धर्मो न संशयः ।। २० ।।

जिस प्रकार और जिस कारणसे यह सनातन धर्मके अनुकूल कहा गया है और कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने जिस प्रकार इसकी धर्मानुकूलताका प्रतिपादन किया है, उसपर विचार करनेसे निस्संदेह यही सिद्ध होता है कि यह विवाह धर्मसम्मत है ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

तत उत्थाय भगवान् व्यासो द्वैपायनः प्रभुः ।
करे गृहीत्वा राजानं राजवेश्म समाविशत् ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर शक्तिशाली द्वैपायन भगवान् व्यासजी अपने आसनसे उठे और राजा द्रुपदका हाथ पकड़कर राजभवनके भीतर चले गये ।। २१ ।।

पाण्डवाश्चापि कुन्ती च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
विविशुर्यत्र तत्रैव प्रतीक्षन्ते स्म तावुभौ ।। २२ ।।

पाँचों पाण्डव, कुन्तीदेवी तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न—ये सब लोग जहाँ बैठे थे, वहीं उन दोनों (व्यास और द्रुपद)-की प्रतीक्षा करने लगे ।। २२ ।।

ततो द्वैपायनस्तस्मै नरेन्द्राय महात्मने ।
आचख्यौ तद् यथा धर्मो बहूनामेकपत्निता ।। २३ ।।

तदनन्तर व्यासजीने उन महात्मा नरेशको वह कथा सुनायी, जिसके अनुसार यहाँ बहुत-से पुरुषोंका एक ही पत्नीसे विवाह करना धर्मसम्मत माना गया ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि व्यासवाक्ये पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें व्यास-वाक्यविषयक एक सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९५ ।।

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीका द्रुपदको पाण्डवों तथा द्रौपदीके पूर्वजन्मकी कथा सुनाकर दिव्य दृष्टि देना और द्रुपदका उनके दिव्य रूपोंकी झाँकी करना

व्यास उवाच

पुरा वै नैमिषारण्ये देवाः सत्रमुपासते ।
तत्र वैवस्वतो राजञ्शामित्रमकरोत् तदा ।। १ ।।

व्यासजीने कहा—पांचालनरेश! पूर्व कालकी बात है, नैमिषारण्य क्षेत्रमें देवता लोग एक यज्ञ कर रहे थे। उस समय वहाँ सूर्यपुत्र यम शामित्र (यज्ञ)-कार्य करते थे ।। १ ।।

ततो यमो दीक्षितस्तत्र राजन्
नामारयत् कंचिदपि प्रजानाम् ।
ततः प्रजास्ता बहुला बभूवुः
कालातिपातान्मरणप्रहीणाः ।। २ ।।

राजन्! उस यज्ञकी दीक्षा लेनेके कारण यमराजने मानवप्रजाकी मृत्युका काम बंद कर रखा था। इस प्रकार मृत्युका नियत समय बीत जानेसे सारी प्रजा अमर होकर दिनों-दिन बढ़ने लगी। धीरे-धीरे उसकी संख्या बहुत बढ़ गयी ।। २ ।।

सोमश्च शक्रो वरुणः कुबेरः
साध्या रुद्रा वसवोऽथाश्विनौ च ।
प्रजापतिर्भुवनस्य प्रणेता
समाजग्मुस्तत्र देवास्तथान्ये ।। ३ ।।
ततोऽब्रुवन् लोकगुरुं समेता
भयात् तीव्रान्मानुषाणां च वृद्ध्या ।
तस्माद् भयादुद्विजन्तः सुखेप्सवः
प्रयाम सर्वे शरणं भवन्तम् ।। ४ ।।

चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण, कुबेर, साध्यगण, रुद्रगण, वसुगण, दोनों अश्विनीकुमार तथा अन्य सब देवता मिलकर जहाँ सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्माजी रहते थे, वहाँ गये। वहाँ जाकर वे सब देवता लोकगुरु ब्रह्माजीसे बोले—‘भगवन्! मनुष्योंकी संख्या बहुत बढ़ रही है। इससे हमें बड़ा भय लगता है। उस भयसे हम सबलोग व्याकुल हो उठे हैं और सुख पानेकी इच्छासे आपकी शरणमें आये हैं’ ।। ३-४ ।।

पितामह उवाच

किं वो भयं मानुषेभ्यो यूयं सर्वे यदामराः ।
मा वो मर्त्यसकाशाद् वै भयं भवितुमर्हति ।। ५ ।।

ब्रह्माजीने कहा—तुम्हें मनुष्योंसे क्यों भय लगता है? जबकि तुम सभी लोग अमर हो, तब तुम्हें मरणधर्मा मनुष्योंसे कभी भयभीत नहीं होना चाहिये ।। ५ ।।

देवा ऊचुः

मर्त्या अमर्त्याः संवृत्ता न विशेषोऽस्ति कश्चन ।
अविशेषादुद्विजन्तो विशेषार्थमिहागताः ।। ६ ।।

देवता बोले—जो मरणशील थे, वे अमर हो गये। अब हममें और उनमें कोई अन्तर नहीं रह गया। यह अन्तर मिट जानेसे ही हमें अधिक घबराहट हो रही है। हमारी विशेषता बनी रहे, इसीलिये हम यहाँ आये हैं ।। ६ ।।

श्रीभगवानुवाच

वैवस्वतो व्यापृतः सत्रहेतो-
स्तेन त्विमे न म्रियन्ते मनुष्याः ।
तस्मिन्नेकाग्रे कृतसर्वकार्ये
तत एषां भवितैवान्तकालः ।। ७ ।।
वैवस्वतस्यैव तनुर्विभक्ता
वीर्येण युष्माकमुत प्रयुक्ता ।
सैषामन्तो भविता ह्यन्तकाले
न तत्र वीर्यं भविता नरेषु ।। ८ ।।

भगवान् ब्रह्माजीने कहा—सूर्यपुत्र यमराज यज्ञके कार्यमें लगे हैं, इसीलिये ये मनुष्य मर नहीं रहे हैं। जब वे यज्ञका सारा काम पूरा करके इधर ध्यान देंगे, तब इन मनुष्योंका अन्तकाल उपस्थित होगा। तुमलोगोंके बलके प्रभावसे जब सूर्यनन्दन यमराजका शरीर यज्ञकार्यसे अलग होकर अपने कार्यमें प्रयुक्त होगा, तब वही अन्तकाल आनेपर मनुष्योंकी मृत्युका कारण बनेगा। उस समय मनुष्योंमें इतनी शक्ति नहीं होगी कि वे मृत्युसे अपनेको बचा सकें ।। ७-८ ।।

व्यास उवाच

ततस्तु ते पूर्वजदेववाक्यं
श्रुत्वा जग्मुर्यत्र देवा यजन्ते ।
समासीनास्ते समेता महाबला
भागीरथ्यां ददृशुः पुण्डरीकम् ।। ९ ।।

व्यासजी कहते हैं—राजन्! तब वे अपने पूर्वज देवता ब्रह्माजीका वचन सुनकर फिर वहीं चले गये, जहाँ सब देवता यज्ञ कर रहे थे। एक दिन वे सभी महाबली देवगण गंगाजीमें स्नान करनेके लिये गये और वहाँ तटपर बैठे। उसी समय उन्हें भागीरथीके जलमें बहता हुआ एक कमल दिखायी दिया ।। ९ ।।

दृष्ट्वा च तद् विस्मितास्ते बभूवु-
स्तेषामिन्द्रस्तत्र शूरो जगाम ।
सोऽपश्यद् योषामथ पावकप्रभां
यत्र देवी गङ्गा सततं प्रसूता ।। १० ।।

उसे देखकर वे सब देवता चकित हो गये। उनमें सबसे प्रधान और शूरवीर इन्द्र उस कमलका पता लगानेके लिये गंगाजीके मूल-स्थानकी ओर गये। गंगोत्तरीके पास, जहाँ गंगादेवीका जल सदा अविच्छिन्नरूपसे झरता रहता है, पहुँचकर इन्द्रने एक अग्निके समान तेजस्विनी युवती देखी ।। १० ।।

सा तत्र योषा रुदती जलार्थिनी
गङ्गां देवीं व्यवगाह्य व्यतिष्ठत् ।
तस्याश्रुबिन्दुः पतितो जले य-
स्तत् पद्ममासीदथ तत्र काञ्चनम् ।। ११ ।।

वह युवती वहाँ जलके लिये आयी थी और भगवती गंगाकी धारामें प्रवेश करके रोती हुई खड़ी थी। उसके आँसुओंका एक-एक बिन्दु, जो जलमें गिरता था, वहाँ सुवर्णमय कमल बन जाता था ।। ११ ।।

तदद्भुतं प्रेक्ष्य वज्री तदानी-
मपृच्छत् तां योषितमन्तिकाद् वै ।
का त्वं भद्रे रोदिषि कस्य हेतो-
र्वाक्यं तथ्यं कामयेऽहं ब्रवीहि ।। १२ ।।

यह अद्भुत दृश्य देखकर वज्रधारी इन्द्रने उस समय उस युवतीके निकट जाकर पूछा—'भद्रे! तुम कौन हो और किसलिये रोती हो? बताओ, मैं तुमसे सच्ची बात जानना चाहता हूँ' ।। १२ ।।

स्त्र्युवाच

त्वं वेत्स्यसे मामिह यास्मि शक्र
यदर्थं चाहं रोदिमि मन्दभाग्या ।
आगच्छ राजन् पुरतो गमिष्ये
द्रष्टासि तद् रोदिमि यत्कृतेऽहम् ।। १३ ।।

युवती बोली—देवराज इन्द्र! मैं एक भाग्यहीन अबला हूँ; कौन हूँ और किसलिये रो रही हूँ, यह सब तुम्हें ज्ञात हो जायगा। तुम मेरे पीछे-पीछे आओ, मैं आगे-आगे चल रही हूँ। वहाँ चलकर स्वयं ही देख लोगे कि मैं किसलिये रोती हूँ ।। १३ ।।

व्यास उवाच

तां गच्छन्तीमन्वगच्छत् तदानीं
सोऽपश्यदारात् तरुणं दर्शनीयम् ।
सिद्धासनस्थं युवतीसहायं
क्रीडन्तमैक्षद् गिरिराजमूर्ध्नि ।। १४ ।।

व्यासजी कहते हैं—राजन्! यों कहकर आगे-आगे जाती हुई उस स्त्रीके पीछे-पीछे उस समय इन्द्र भी गये। गिरिराज हिमालयके शिखरपर पहुँचकर उन्होंने देखा—पास ही एक परम सुन्दर तरुण पुरुष सिद्धासनसे बैठे हैं, उनके साथ एक युवती भी है। इन्द्रने उस युवतीके साथ उन्हें क्रीड़ा-विनोद करते देखा ।। १४ ।।

तमब्रवीद् देवराजो ममेदं
त्वं विद्धि विद्वन् भुवनं वशे स्थितम् ।
ईशोऽहमस्मीति समन्युरब्रवीद्
दृष्ट्वा तमक्षैः सुभृशं प्रमत्तम् ।। १५ ।।

वे अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे क्रीड़ामें अत्यन्त तन्मय हो रहे थे, अतः इधर-उधर उनका ध्यान नहीं जाता था। उन्हें इस प्रकार असावधान देख देवराज इन्द्रने कुपित होकर कहा—'महानुभाव! यह सारा जगत् मेरे अधिकारमें है, मेरी आज्ञाके अधीन है; मैं इस जगत्का ईश्वर हूँ' ।। १५ ।।

क्रुद्धं च शक्रं प्रसमीक्ष्य देवो
जहास शक्रं च शनैरुदैक्षत ।
संस्तम्भितोऽभूदथ देवराज-
स्तेनेक्षितः स्थाणुरिवावतस्थे ।। १६ ।।

इन्द्रको क्रोधमें भरा देख वे देवपुरुष हँस पड़े। उन्होंने धीरेसे आँख उठाकर उनकी ओर देखा। उनकी दृष्टि पड़ते ही देवराज इन्द्रका शरीर स्तम्भित हो गया (अकड़ गया)। वे ठूँठे काठकी भाँति निश्चेष्ट हो गये ।। १६ ।।

यदा तु पर्याप्तमिहास्य क्रीडया
तदा देवीं रुदतीं तामुवाच ।
आनीयतामेष यतोऽहमारा-
न्नैनं दर्पः पुनरप्याविशेत ।। १७ ।।

जब उनकी वह क्रीड़ा समाप्त हुई, तब वे उस रोती हुई देवीसे बोले—'इस इन्द्रको जहाँ मैं हूँ, यहीं—मेरे समीप ले आओ, जिससे फिर इसके भीतर अभिमानका प्रवेश न हो' ।। १७ ।।

ततः शक्रः स्पृष्टमात्रस्तया तु
स्रस्तैरङ्गैः पतितोऽभूद् धरण्याम् ।
तमब्रवीद् भगवानुग्रतेजा
मैवं पुनः शक्र कृथाः कथंचित् ।। १८ ।।

तदनन्तर उस स्त्रीने ज्यों ही इन्द्रका स्पर्श किया, उनके सारे अंग शिथिल हो गये और वे धरतीपर गिर पड़े। तब उग्र तेजस्वी भगवान् रुद्रने उनसे कहा—'इन्द्र! फिर किसी प्रकार भी ऐसा घमंड न करना ।। १८ ।।

निवर्तयैनं च महाद्रिराजं
बलं च वीर्यं च तवाप्रमेयम् ।
छिद्रस्य चैवाविश मध्यमस्य
यत्रासते त्वद्विधाः सूर्यभासः ।। १९ ।।

'तुममें अनन्त बल और पराक्रम है, अतः इस गुफाके दरवाजेपर लगे हुए इस महान् पर्वतराजको हटा दो और इसी गुफाके भीतर घुस जाओ, जहाँ सूर्यके समान तेजस्वी तुम्हारे-जैसे और भी इन्द्र रहते हैं' ।। १९ ।।

स तद् विवृत्य विवरं महागिरे-
स्तुल्यद्युतींश्चतुरोऽन्यान् ददर्श ।
स तानभिप्रेक्ष्य बभूव दुःखितः
कच्चिन्नाहं भविता वै यथेमे ।। २० ।।

उन्होंने उस महान् पर्वतकी कन्दराका द्वार खोलकर उसमें अपने ही समान तेजस्वी अन्य चार इन्द्रोंको भी देखा। उन्हें देखकर वे बहुत दुखी हुए और सोचने लगे—'कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि मैं भी इन्हींके समान दुर्दशामें पड़ जाऊँ' ।। २० ।।

ततो देवो गिरिशो वज्रपाणिं
विवृत्य नेत्रे कुपितोऽभ्युवाच ।
दरीमेतां प्रविश त्वं शतक्रतो
यन्मां बाल्यादवमंस्थाः पुरस्तात् ।। २१ ।।

तब पर्वतपर शयन करनेवाले महादेवजीने आँखें तरेरकर कुपित हो वज्रधारी इन्द्रसे कहा—'शतक्रतो! तुमने मूर्खतावश पहले मेरा अपमान किया है, इसलिये अब इस कन्दरामें प्रवेश करो' ।। २१ ।।

उक्तस्त्वेवं विभुना देवराजः
प्रावेपतार्तो भृशमेवाभिषङ्गात् ।

स्रस्तैरङ्गैरनिलेनेव नुन्न-
मश्वत्थपत्रं गिरिराजमूर्ध्नि ।। २२ ।।

उस पर्वत-शिखरपर भगवान् रुद्रके यों कहनेपर देवराज इन्द्र पराभवकी आशंकासे अत्यन्त दुःखी हो गये, उनके सारे अंग शिथिल पड़ गये और हवासे हिलनेवाले पीपलके पत्तेकी तरह वे थर-थर काँपने लगे ।। २२ ।।

स प्राञ्जलिर्वै वृषवाहनेन
प्रवेपमानः सहसैवमुक्तः ।
उवाच देवं बहुरूपमुग्र-
स्रष्टाशेषस्य भुवनस्य त्वं भवाद्यः ।। २३ ।।

वृषभवाहन भगवान् शंकरके द्वारा इस प्रकार सहसा गुहाप्रवेशकी आज्ञा मिलनेपर काँपते हुए इन्द्रने हाथ जोड़कर उन अनेक रूपधारी उग्रस्वरूप रुद्रदेवसे कहा—'जगद्योने! आप ही समस्त जगत्की उत्पत्ति करनेवाले आदिपुरुष हैं' ।। २३ ।।

तमब्रवीदुग्रवर्चाः प्रहस्य
नैवंशीलाः शेषमिहाप्नुवन्ति ।
एतेऽप्येवं भवितारः पुरस्तात्
तस्मादेतां दरीमाविश्य शेष्व ।। २४ ।।

तब भयंकर तेजवाले रुद्रने हँसकर कहा—'तुम्हारे-जैसे शील-स्वभाववाले लोगोंको यहाँ प्रसादकी प्राप्ति नहीं होती। ये लोग भी पहले तुम्हारेही-जैसे थे, अतः तुम भी इस कन्दरामें घुसकर शयन करो ।। २४ ।।

तत्र ह्येवं भवितारो न संशयो
योनिं सर्वे मानुषीमाविशध्वम् ।
तत्र यूयं कर्म कृत्वाविषह्यं
बहूनन्यान् निधनं प्रापयित्वा ।। २५ ।।
आगन्तारः पुनरेवेन्द्रलोकं
स्वकर्मणा पूर्वजितं महार्हम् ।
सर्वं मया भाषितमेतदेवं
कर्तव्यमन्यद् विविधार्थयुक्तम् ।। २६ ।।

'वहाँ भविष्यमें निश्चय ही तुमलोग ऐसे ही होनेवाले हो—तुम सबको मनुष्ययोनिमें प्रवेश करना पड़ेगा। उस जन्ममें तुम अनेक दुःसह कर्म करके बहुतोंको मौतके घाट उतारकर पुनः अपने शुभ कर्मोंद्वारा पहलेसे ही उपार्जित पुण्यात्माओंके निवासयोग्य इन्द्रलोकमें आ जाओगे। मैंने जो कुछ कहा है, वह सब कुछ तुम्हें करना होगा। इसके सिवा और भी नाना प्रकारके प्रयोजनोंसे युक्त कार्य तुम्हारे द्वारा सम्पन्न होंगे' ।। २५-२६ ।।

पूर्वेन्द्रा ऊचुः

गमिष्यामो मानुषं देवलोकाद्
दुराधरो विहितो यत्र मोक्षः ।

पाण्डव, द्रुपद और व्यासजीमें बातचीत

व्यासजीद्वारा पाण्डवोंके पूर्वजन्मके वृत्तान्तका वर्णन

देवास्त्वस्मानादधीरञ्जनन्यां
धर्मो वायुर्मघवानश्विनौ च ।
अस्त्रैर्दिव्यैर्मानुषान् योधयित्वा
आगन्तारः पुनरेवेन्द्रलोकम् ।। २७ ।।

पहलेके चारों इन्द्र बोले—भगवन्! हम आपकी आज्ञाके अनुसार देवलोकसे मनुष्यलोकमें जायँगे, जहाँ दुर्लभ मोक्षका साधन भी सुलभ होता है। परंतु वहाँ हमें धर्म, वायु, इन्द्र और दोनों अश्विनीकुमार—ये ही देवता माताके गर्भमें स्थापित करें। तदनन्तर हम दिव्यास्त्रोंद्वारा मानव-वीरोंसे युद्ध करके पुनः इन्द्रलोकमें चले आयेंगे ।। २७ ।।

व्यास उवाच

एतच्छ्रुत्वा वज्रपाणिर्वचस्तु
देवश्रेष्ठं पुनरेवेदमाह ।
वीर्येणाहं पुरुषं कार्यहेतो-
र्दद्यामेषां पञ्चमं मत्प्रसूतम् ।। २८ ।।
विश्वभुग् भूतधामा च शिबिरिन्द्रः प्रतापवान् ।
शान्तिश्चतुर्थस्तेषां वै तेजस्वी पञ्चमः स्मृतः ।। २९ ।।

व्यासजी कहते हैं—राजन्! पूर्ववर्ती इन्द्रोंका यह वचन सुनकर वज्रधारी इन्द्रने पुनः देवश्रेष्ठ महादेवजीसे इस प्रकार कहा—'भगवन्! मैं अपने वीर्यसे अपने ही अंशभूत पुरुषको देवताओंके कार्यके लिये समर्पित करूँगा, जो इन चारोंके साथ पाँचवाँ होगा। उसे मैं स्वयं ही उत्पन्न करूँगा। विश्वभुक्, भूतधामा, प्रतापी इन्द्र शिबि, चौथे शान्ति और पाँचवें तेजस्वी—ये ही उन पाँचोंके नाम हैं ।। २८-२९ ।।

तेषां कामं भगवानुग्रधन्वा
प्रादादिष्टं संनिसर्गाद् यथोक्तम् ।
तां चाप्येषां योषितं लोककान्तां
श्रियं भार्यां व्यदधान्मानुषेषु ।। ३० ।।

उग्र धनुष धारण करनेवाले भगवान् रुद्रने उन सबको उनकी अभीष्ट कामना पूर्ण होनेका वरदान दिया, जिसे वे अपने साधुस्वभावके कारण भगवान्‌के सामने प्रकट कर चुके थे। साथ ही उस लोककमनीया युवती स्त्रीको, जो स्वर्गलोककी लक्ष्मी थी, मनुष्यलोकमें उनकी पत्नी निश्चित की ।। ३० ।।

तैरेव सार्धं तु ततः स देवो
जगाम नारायणमप्रमेयम् ।
अनन्तमव्यक्तमजं पुराणं
सनातनं विश्वमनन्तरूपम् ।। ३१ ।।

तदनन्तर उन्हींके साथ महादेवजी अनन्त, अप्रमेय, अव्यक्त, अजन्मा, पुराणपुरुष, सनातन, विश्वरूप एवं अनन्तमूर्ति भगवान् नारायणके पास गये ।। ३१ ।।

स चापि तद् व्यदधात् सर्वमेव
ततः सर्वे सम्बभूवुर्धरण्याम् ।
स चापि केशौ हरिरुद्बबर्ह
शुक्लमेकमपरं चापि कृष्णम् ।। ३२ ।।

उन्होंने भी उन्हीं सब बातोंके लिये आज्ञा दी। तत्पश्चात् वे सब लोग पृथ्वीपर प्रकट हुए। उस समय भगवान् नारायणने अपने मस्तकसे दो केश निकाले, जिनमें एक श्वेत था और दूसरा श्याम ।। ३२ ।।

तौ चापि केशौ निविशेतां यदूनां
कुले स्त्रियौ देवकीं रोहिणीं च ।
तयोरेको बलदेवो बभूव
योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः ।
कृष्णो द्वितीयः केशवः सम्बभूव
केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः ।। ३३ ।।

वे दोनों केश यदुवंशकी दो स्त्रियों—देवकी तथा रोहिणीके भीतर प्रविष्ट हुए। उनमेंसे रोहिणीके बलदेव प्रकट हुए, जो भगवान् नारायणका श्वेत केश थे; दूसरा केश, जिसे श्यामवर्णका बताया गया है, वही देवकीके गर्भसे भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुआ* ।। ३३ ।।

ये ते पूर्वं शक्ररूपा निबद्धा-
स्तस्यां दर्यां पर्वतस्योत्तरस्य ।
इहैव ते पाण्डवा वीर्यवन्तः
शक्रस्यांशः पाण्डवः सव्यसाची ।। ३४ ।।

उत्तरवर्ती हिमालयकी कन्दरामें पहले जो इन्द्रस्वरूप पुरुष बंदी बनाकर रखे गये थे, वे ही चारों पराक्रमी पाण्डव यहाँ विद्यमान हैं और साक्षात् इन्द्रका अंशभूत जो पाँचवाँ पुरुष प्रकट होनेवाला था, वही पाण्डुकुमार सव्यसाची अर्जुन है ।। ३४ ।।

एवमेते पाण्डवाः सम्बभूवु-
र्ये ते राजन् पूर्वमिन्द्रा बभूवुः ।
लक्ष्मीश्चैषां पूर्वमेवोपदिष्टा
भार्या यैषा द्रौपदी दिव्यरूपा ।। ३५ ।।
कथं हि स्त्री कर्मणा ते महीतलात्
समुत्तिष्ठेदन्यतो दैवयोगात् ।
यस्या रूपं सोमसूर्यप्रकाशं

गन्धश्चास्याः क्रोशमात्रात् प्रवाति ।। ३६ ।।

राजन्! इस प्रकार ये पाण्डव प्रकट हुए हैं, जो पहले इन्द्र रह चुके हैं। यह दिव्यरूपा द्रौपदी वही स्वर्गलोककी लक्ष्मी है, जो पहलेसे ही इनकी पत्नी नियत हो चुकी है। महाराज! यदि इस कार्यमें देवताओंका सहयोग न होता तो तुम्हारे इस यज्ञकर्मद्वारा यज्ञवेदीकी भूमिसे ऐसी दिव्य नारी कैसे प्रकट हो सकती थी, जिसका रूप सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाश बिखेर रहा है और जिसकी सुगन्ध एक कोसतक फैलती रहती है ।। ३५-३६ ।।

इदं चान्यत् प्रीतिपूर्वं नरेन्द्र
ददानि ते वरमत्यद्भुतं च ।
दिव्यं चक्षुः पश्य कुन्तीसुतांस्त्वं
पुण्यैर्दिव्यैः पूर्वदेहैरुपेतान् ।। ३७ ।।

नरेन्द्र! मैं तुम्हें प्रसन्नतापूर्वक एक और अद्भुत वरके रूपमें यह दिव्य दृष्टि देता हूँ; इससे सम्पन्न होकर तुम कुन्तीके पुत्रोंको उनके पूर्वकालिक पुण्यमय दिव्य शरीरोंसे सम्पन्न देखो ।। ३७ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यासः परमोदारकर्मा
शुचिर्विप्रस्तपसा तस्य राज्ञः ।
चक्षुर्दिव्यं प्रददौ तांश्च सर्वान्
राजापश्यत् पूर्वदेहैर्यथावत् ।। ३८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर परम उदारकर्मवाले पवित्र ब्रह्मर्षि व्यासजीने अपनी तपस्याके प्रभावसे राजा द्रुपदको दिव्य दृष्टि प्रदान की, जिससे उन्होंने समस्त पाण्डवोंको पूर्वशरीरोंसे सम्पन्न वास्तविक रूपमें देखा ।। ३८ ।।

ततो दिव्यान् हेमकिरीटमालिनः
शक्रप्रख्यान् पावकादित्यवर्णान् ।
बद्धापीडांश्चारुरूपांश्च यूनो
व्यूढोरस्कांस्तालमात्रान् ददर्श ।। ३९ ।।

वे दिव्य शरीरसे सुशोभित थे। उनके मस्तकपर सुवर्णमय किरीट और गलेमें सुन्दर सोनेकी माला शोभा पा रही थी। उनकी छबि इन्द्रके ही समान थी। वे अग्नि और सूर्यके समान कान्तिमान् थे। उन्होंने अपने अंगोंमें सब तरहके दिव्य अलंकार धारण कर रखे थे। उनकी युवावस्था थी तथा रूप अत्यन्त मनोहर था। उन सबकी छाती चौड़ी थी और वे तालवृक्षके समान लंबे थे। इस रूपमें राजा द्रुपदने उनका दर्शन किया ।। ३९ ।।

दिव्यैर्वस्त्रैररजोभिः सुगन्धै-

र्माल्यैश्चाग्र्यैः शोभमानानतीव ।
साक्षात् त्र्यक्षान् वा वसूंश्चापि रुद्रा-
नादित्यान् वा सर्वगुणोपपन्नान् ।। ४० ।।

वे दिव्य निर्मल वस्त्रों, उत्तम गन्धों और सुन्दर मालाओंसे अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे तथा साक्षात् त्रिनेत्र महादेव, वसुगण, रुद्रगण अथवा आदित्यगणोंके समान तेजस्वी एवं सर्वगुणसम्पन्न दिखायी देते थे ।। ४० ।।

तान् पूर्वेन्द्रानभिवीक्ष्याभिरूपान्
शक्रात्मजं चेन्द्ररूपं निशम्य ।
प्रीतो राजा द्रुपदो विस्मितश्च
दिव्यां मायां तामवेक्ष्याप्रमेयाम् ।। ४१ ।।

चारों पाण्डवोंको परम सुन्दर पूर्वकालिक इन्द्रोंके रूपमें तथा इन्द्रपुत्र अर्जुनको भी इन्द्रके ही स्वरूपमें देखकर उस अप्रमेय दिव्य मायापर दृष्टिपात करके राजा द्रुपद अत्यन्त प्रसन्न एवं आश्चर्यचकित हो उठे ।। ४१ ।।

तां चैवाग्र्यां स्त्रियमतिरूपयुक्तां
दिव्यां साक्षात् सोमवह्निप्रकाशाम् ।
योग्यां तेषां रूपतेजोयशोभिः
पत्नीं मत्वा हृष्टवान् पार्थिवेन्द्रः ।। ४२ ।।

उन राजराजेश्वरने अपनी पुत्रीको भी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी, अत्यन्त रूपवती और साक्षात् चन्द्रमा तथा अग्निके समान प्रकाशित होनेवाली दिव्य नारीके रूपमें देखा। साथ ही यह मान लिया कि द्रौपदी रूप, तेज और यशकी दृष्टिसे अवश्य उन पाण्डवोंकी पत्नी होनेयोग्य है। इससे उन्हें महान् हर्ष हुआ ।। ४२ ।।

स तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यरूपं
जग्राह पादौ सत्यवत्याः सुतस्य ।
नैतच्चित्रं परमर्षे त्वयीति
प्रसन्नचेताः स उवाच चैनम् ।। ४३ ।।

यह महान् आश्चर्य देखकर द्रुपदने सत्यवतीनन्दन व्यासजीके चरण पकड़ लिये और प्रसन्नचित्त होकर उनसे कहा—'महर्षे! आपमें ऐसी अद्भुत शक्तिका होना आश्चर्यकी बात नहीं है।' तब व्यासजी प्रसन्नचित्त हो द्रुपदसे बोले ।। ४३ ।।

व्यास उवाच

आसीत् तपोवने काचिदृषेः कन्या महात्मनः ।
नाध्यगच्छत् पतिं सा तु कन्या रूपवती सती ।। ४४ ।।

व्यासजीने कहा—राजन्! (अपनी पुत्रीके एक और जन्मका वृत्तान्त भी सुनो—) एक तपोवनमें किसी महात्मा मुनिकी कोई कन्या रहती थी। सती-साध्वी एवं रूपवती होनेपर भी उसे योग्य पतिकी प्राप्ति नहीं हुई ।। ४४ ।।

तोषयामास तपसा सा किलोग्रेण शंकरम् ।
तामुवाचेश्वरः प्रीतो वृणु काममिति स्वयम् ।। ४५ ।।

उसने कठोर तपस्याद्वारा भगवान् शंकरको संतुष्ट किया; महादेवजी प्रसन्न हो साक्षात् प्रकट होकर उस मुनि-कन्यासे बोले—'तुम मनोवांछित वर माँगो' ।। ४५ ।।

सैवमुक्ताब्रवीत् कन्या देवं वरदमीश्वरम् ।
पतिं सर्वगुणोपेतमिच्छामीति पुनः पुनः ।। ४६ ।।

उनके यों कहनेपर उस मुनि-कन्याने वरदायक महेश्वरसे बार-बार कहा—'मैं सर्वगुणसम्पन्न पति चाहती हूँ' ।। ४६ ।।

ददौ तस्यै स देवेशस्तं वरं प्रीतमानसः ।
पञ्च ते पतयो भद्रे भविष्यन्तीति शंकरः ।। ४७ ।।

देवेश्वर भगवान् शंकर प्रसन्नचित्त होकर उसे वर देते हुए बोले—'भद्रे! तुम्हारे पाँच पति होंगे' ।। ४७ ।।

सा प्रसादयती देवमिदं भूयोऽभ्यभाषत ।
एकं पतिं गुणोपेतं त्वत्तोऽर्हामीति शंकर ।। ४८ ।।

यह सुनकर उसने महादेवजीको प्रसन्न करते हुए पुनः यह बात कही—'शंकरजी! मैं तो आपसे एक ही गुणवान् पति प्राप्त करना चाहती हूँ' ।। ४८ ।।

तां देवदेवः प्रीतात्मा पुनः प्राह शुभं वचः ।
पञ्चकृत्वस्त्वयोक्तोऽहं पतिं देहीति वै पुनः ।। ४९ ।।
तत् तथा भविता भद्रे वचस्तद् भद्रमस्तु ते ।
देहमन्यं गतायास्ते सर्वमेतद् भविष्यति ।। ५० ।।

तब देवाधिदेव महादेवजीने मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट होकर उससे यह शुभ वचन कहा—'भद्रे! तुमने 'पति दीजिये' इस वाक्यको पाँच बार दुहराया है; इसलिये मैंने जो पहले कहा है, वैसा ही होगा, तुम्हारा कल्याण हो। किंतु तुम्हें दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेपर यह सब होगा' ।। ४९-५० ।।

द्रुपदैषा हि सा जज्ञे सुता वै देवरूपिणी ।
पञ्चानां विहिता पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता ।। ५१ ।।

द्रुपद! वही मुनिकन्या तुम्हारी इस दिव्यरूपिणी पुत्रीके रूपमें फिर उत्पन्न हुई है। अतः यह पृषत-वंशकी सती कन्या कृष्णा पहलेसे ही पाँच पतियोंकी पत्नी नियत की गयी है ।। ५१ ।।

स्वर्गश्रीः पाण्डवार्थं तु समुत्पन्ना महामखे ।

सेह तप्त्वा तपो घोरं दुहितृत्वं तवागता ।। ५२ ।।

यह स्वर्गलोककी लक्ष्मी है, जो पाण्डवोंके लिये तुम्हारे महायज्ञमें प्रकट हुई है। इसने अत्यन्त घोर तपस्या करके इस जन्ममें तुम्हारी पुत्री होनेका सौभाग्य प्राप्त किया है ।। ५२ ।।

सैषा देवी रुचिरा देवजुष्टा
पञ्चानामेका स्वकृतेनेह कर्मणा ।
सृष्टा स्वयं देवपत्नी स्वयम्भुवा
श्रुत्वा राजन् द्रुपदेष्टं कुरुष्व ।। ५३ ।।

महाराज द्रुपद! वही यह देवसेवित सुन्दरी देवी अपने ही कर्मसे पाँच पुरुषोंकी एक ही पत्नी नियत की गयी है। स्वयं ब्रह्माजीने इसे देवस्वरूप पाण्डवोंकी पत्नी होनेके लिये रचा है। यह सब सुनकर तुम्हें जो अच्छा लगे, वह करो ।। ५३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पञ्चेन्द्रोपाख्याने षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें पाँच इन्द्रोंके उपाख्यानका वर्णन करनेवाला एक सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९६ ।।

---

[*] भगवान् नारायण सच्चिदानन्दघन हैं; उनके नाम, रूप, लीला और धाम—सभी चिन्मय हैं। उन्होंने अपने श्याम और श्वेत केशोंको द्वारमात्र बनाकर स्वयं ही सम्पूर्णरूपसे अपनेको प्रकट किया था।

सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका पाँचों पाण्डवोंके साथ विवाह

द्रुपद उवाच

अश्रुत्वैवं वचनं ते महर्षे
मया पूर्वं यतितं संविधातुम्।
न वै शक्यं विहितस्यापयानं
तदेवेदमुपपन्नं विधानम्॥ १॥

द्रुपद बोले—'ब्रह्मर्षे! आपके इस वचनको न सुननेके कारण ही पहले मैंने वैसा करने (कृष्णाको एक ही योग्य पतिसे ब्याहने)-का प्रयत्न किया था; परंतु विधाताने जो रच रखा है, उसे टाल देना असम्भव है; अतः उसी पूर्वनिश्चित विधानका पालन करना उचित है॥ १॥

दिष्टस्य ग्रन्थिरनिवर्तनीयः
स्वकर्मणा विहितं नेह किंचित्।
कृतं निमित्तं हि वरैकहेतो-
स्तदेवेदमुपपन्नं विधानम्॥ २॥

भाग्यमें जो लिख दिया है, उसे कोई भी बदल नहीं सकता। अपने प्रयत्नसे यहाँ कुछ नहीं हो सकता। एक वरकी प्राप्तिके लिये जो साधन (तप) किया गया, वही पाँच पतियोंकी प्राप्तिका कारण बन गया; अतः दैवके द्वारा पूर्वनिश्चित विधानका ही पालन करना उचित है॥ २॥

यथैव कृष्णोक्तवती पुरस्ता-
न्नैकं पतिं मे भगवान् ददातु।
स चाप्येवं वरमित्यब्रवीत् तां
देवो हि वेत्ता परमं यदत्र॥ ३॥

पूर्वजन्ममें कृष्णाने अनेक बार भगवान् शंकरसे कहा—'प्रभो! मुझे पति दें।' जैसा उसने कहा, वैसा ही वर उन्होंने भी उसे दे दिया। अतः इसमें कौन-सा उत्तम रहस्य छिपा है, उसे वे भगवान् ही जानते हैं॥ ३॥

यदि चैवं विहितः शंकरेण
धर्मोऽधर्मो वा नात्र ममापराधः।
गृह्णन्त्विमे विधिवत् पाणिमस्या
यथोपजोषं विहितैषां हि कृष्णा॥ ४॥

यदि साक्षात् शंकरने ऐसा विधान किया है तो यह धर्म हो या अधर्म, इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है। ये पाण्डवलोग विधिपूर्वक प्रसन्नतासे इसका पाणिग्रहण करें; विधाताने ही कृष्णाको इन पाण्डवोंकी पत्नी बनाया है ।। ४ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद् भगवान् धर्मराज-
मद्यैव पुण्याहमुत वः पाण्डवेय ।
अद्य पौष्यं योगमुपैति चन्द्रमाः
पाणिं कृष्णायास्त्वं गृहाणाद्य पूर्वम् ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भगवान् व्यासने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—‘पाण्डुनन्दन! आज ही तुम लोगोंके लिये पुण्य-दिवस है। आज चन्द्रमा भरण-पोषणकारक पुष्य नक्षत्रपर जा रहे हैं; इसलिये आज पहले तुम्हीं कृष्णाका पाणिग्रहण करो’ ।। ५ ।।

ततो राजा यज्ञसेनः सपुत्रो
जन्यार्थमुक्तं बहु तत् तदग्र्यम् ।
समानयामास सुतां च कृष्णा-
माप्लाव्य रत्नैर्बहुभिर्विभूष्य ।। ६ ।।

व्यासजीका यह आदेश सुनकर पुत्रोंसहित राजा द्रुपदने वर-वधूके लिये कथित समस्त उत्तम वस्तुओंको मँगवाया और अपनी पुत्री कृष्णाको स्नान कराकर बहुत-से रत्नमय आभूषणोंद्वारा विभूषित किया ।। ६ ।।

ततस्तु सर्वे सुहृदो नृपस्य
समाजग्मुः सहिता मन्त्रिणश्च ।
द्रष्टुं विवाहं परमप्रतीता
द्विजाश्च पौराश्च यथा प्रधानाः ।। ७ ।।

तत्पश्चात् राजाके सभी सुहृद्-सम्बन्धी, मन्त्री, ब्राह्मण और पुरवासी अत्यन्त प्रसन्न हो विवाह देखनेके लिये आये और बड़ोंको आगे करके बैठे ।। ७ ।।

ततोऽस्य वेश्माग्र्यजनोपशोभितं
विस्तीर्णपद्मोत्पलभूषिताजिरम् ।
बलौघरत्नौघविचित्रमाबभौ
नभो यथा निर्मलतारकान्वितम् ।। ८ ।।

तदनन्तर राजा द्रुपदका वह भवन श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुशोभित होने लगा। उसके आँगनको विस्तृत कमल और उत्पल आदिसे सजाया गया था। वहाँ एक ओर सेनाएँ खड़ी थीं और

दूसरी ओर रत्नोंका ढेर लगा था। इससे वह राजभवन निर्मल तारकाओंसे संयुक्त आकाशकी भाँति विचित्र शोभा धारण कर रहा था ।। ८ ।।

ततस्तु ते कौरवराजपुत्रा
विभूषिताः कुण्डलिनो युवानः ।
महार्हवस्त्राम्बरचन्दनोक्षिताः
कृताभिषेकाः कृतमङ्गलक्रियाः ।। ९ ।।

इधर युवावस्थासे सम्पन्न कौरव-राजकुमार पाण्डव वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और कुण्डलोंसे अलंकृत हो अभिषेक और मंगलाचार करके बहुमूल्य कपड़ों एवं केसर, चन्दनसे सुशोभित हुए ।। ९ ।।

पुरोहितेनाग्निसमानवर्चसा
सहैव धौम्येन यथाविधि प्रभो ।
क्रमेण सर्वे विविशुस्ततः सदो
महर्षभा गोष्ठमिवाभिनन्दिनः ।। १० ।।

तब अग्निके समान तेजस्वी अपने पुरोहित धौम्यजीके साथ विधिपूर्वक बड़े-छोटेके क्रमसे वे सभी प्रसन्नतापूर्वक विवाहमण्डपमें गये—ठीक उसी तरह, जैसे बड़े-बड़े साँड गोशालामें प्रवेश करें ।। १० ।।

ततः समाधाय स वेदपारगो
जुहाव मन्त्रैर्ज्वलितं हुताशनम् ।
युधिष्ठिरं चाप्युपनीय मन्त्रवि-
न्नियोजयामास सहैव कृष्णया ।। ११ ।।

तत्पश्चात् वेदके पारंगत विद्वान् मन्त्रज्ञ पुरोहित धौम्यने (वेदीपर) प्रज्वलित अग्निकी स्थापना करके उसमें मन्त्रोंद्वारा आहुति दी और युधिष्ठिरको बुलाकर कृष्णाके साथ उनका गँठबन्धन कर दिया ।। ११ ।।

प्रदक्षिणं तौ प्रगृहीतपाणी
समानयामास स वेदपारगः ।
ततोऽभ्यनुज्ञाय तमाजिशोभिनं
पुरोहितो राजगृहाद् विनिर्ययौ ।। १२ ।।

वेदोंके परिपूर्ण विद्वान् पुरोहितने उन दोनों दम्पतिका पाणिग्रहण कराकर उनसे अग्निकी परिक्रमा करवायी, फिर (अन्य शास्त्रोक्त विधियोंका अनुष्ठान करके) उनका विवाहकार्य सम्पन्न कर दिया। इसके बाद संग्राममें शोभा पानेवाले युधिष्ठिरको छुट्टी देकर पुरोहितजी भी उस राजभवनसे बाहर चले गये ।। १२ ।।

क्रमेण चानेन नराधिपात्मजा
वरस्त्रियस्ते जगृहुस्तदा करम् ।

अहन्यहन्युत्तमरूपधारिणो
महारथाः कौरववंशवर्धनाः ।। १३ ।।

इसी क्रमसे कौरव-कुलकी वृद्धि करनेवाले, उत्तम शोभा धारण करनेवाले महारथी राजकुमार पाण्डवोंने एक-एक दिन परम सुन्दरी द्रौपदीका पाणिग्रहण किया ।। १३ ।।

इदं च तत्राद्भुतरूपमुत्तमं
जगाद देवर्षिरतीतमानुषम् ।
महानुभावा किल सा सुमध्यमा
बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि ।। १४ ।।

देवर्षिने वहाँ घटित हुई इस अद्भुत, उत्तम एवं अलौकिक घटनाका वर्णन किया है कि सुन्दर कटिप्रदेशवाली महानुभावा द्रौपदी प्रतिवार विवाहके दूसरे दिन कन्याभावको ही प्राप्त हो जाती थी ।। १४ ।।

कृते विवाहे द्रुपदो धनं ददौ
महारथेभ्यो बहुरूपमुत्तमम् ।
शतं रथानां वरहेममालिनां
चतुर्युजां हेमखलीनमालिनाम् ।। १५ ।।

विवाह-कार्य सम्पन्न हो जानेपर द्रुपदने महारथी पाण्डवोंको दहेजमें बहुत-सा धन और नाना प्रकारकी उत्तम वस्तुएँ समर्पित कीं। सुन्दर सुवर्णकी मालाओं और सुवर्णजटित जुओंसे सुशोभित सौ रथ प्रदान किये, जिनमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे ।। १५ ।।

शतं गजानामपि पद्मिनां तथा
शतं गिरीणामिव हेमशृङ्गिणाम् ।
तथैव दासीशतमग्र्ययौवनं
महार्हवेषाभरणाम्बरस्रजम् ।। १६ ।।

पद्म आदि उत्तम लक्षणोंसे युक्त सौ हाथी तथा पर्वतोंके समान ऊँचे और सुनहरे हौदोंसे सुशोभित सौ हाथी और (साथ ही) बहुमूल्य शृंगार-सामग्री, वस्त्राभूषण एवं हार धारण करनेवाली एक सौ नवयौवना दासियाँ भी भेंट कीं ।। १६ ।।

पृथक् पृथग् दिव्यदृशां पुनर्ददौ
तदा धनं सौमकिरग्निसाक्षिकम् ।
तथैव वस्त्राणि विभूषणानि
प्रभावयुक्तानि महानुभावः ।। १७ ।।

सोमकवंशमें उत्पन्न महानुभाव राजा द्रुपदने इस प्रकार अग्निको साक्षी बनाकर प्रत्येक सुन्दर दृष्टिवाले पाण्डवोंके लिये अलग-अलग प्रचुर धन तथा प्रभुत्व-सूचक बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण अर्पित किये ।। १७ ।।

कृते विवाहे च ततस्तु पाण्डवाः

प्रभूतरत्नामुपलभ्य तां श्रियम् ।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमा महाबलाः
पुरे तु पाञ्चालनृपस्य तस्य ह ।। १८ ।।

विवाहके पश्चात् इन्द्रके समान महाबली पाण्डव प्रचुर रत्नराशिके साथ लक्ष्मीस्वरूपा द्रौपदीको पाकर पांचालराज द्रुपदके ही नगरमें सुखपूर्वक विहार करने लगे ।। १८ ।।

(सर्वेऽप्यतुष्यन् नृप पाण्डवेया-
स्तस्याः शुभैः शीलसमाधिवृत्तैः ।
सा चाप्येषा याज्ञसेनी तदानीं
विवर्धयामास मुदं स्वसुव्रतैः ।।)

राजन्! सभी पाण्डव द्रौपदीकी सुशीलता, एकाग्रता और सद्व्यवहारसे बहुत संतुष्ट थे (और द्रौपदीको भी संतुष्ट रखनेका प्रयत्न करते थे)। इसी प्रकार द्रुपदकुमारी कृष्णा भी उस समय अपने उत्तम नियमोंद्वारा पाण्डवोंका आनन्द बढ़ाती थी।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि द्रौपदीविवाहे सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें द्रौपदीविवाहविषयक एक सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १९ श्लोक हैं)

अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका द्रौपदीको उपदेश और आशीर्वाद तथा भगवान् श्रीकृष्णका पाण्डवोंके लिये उपहार भेजना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवैः सह संयोगं गतस्य द्रुपदस्य ह ।
न बभूव भयं किंचिद् देवेभ्योऽपि कथंचन ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंसे सम्बन्ध हो जानेपर राजा द्रुपदको देवताओंसे भी किसी प्रकारका कुछ भी भय नहीं रहा, फिर मनुष्योंसे तो हो ही कैसे सकता था ।। १ ।।

कुन्तीमासाद्य ता नार्यो द्रुपदस्य महात्मनः ।
नाम संकीर्तयन्त्योऽस्या जग्मुः पादौ स्वमूर्धभिः ।। २ ।।

महात्मा द्रुपदके कुटुम्बकी स्त्रियाँ कुन्तीके पास आकर अपने नाम ले-लेकर उनके चरणोंमें मस्तक नवाकर प्रणाम करने लगीं ।। २ ।।

कृष्णा च क्षौमसंवीता कृतकौतुकमङ्गला ।
कृताभिवादना श्वश्र्वास्तस्थौ प्रह्वा कृताञ्जलिः ।। ३ ।।

कृष्णा भी रेशमी साड़ी पहने मांगलिक कार्य सम्पन्न करनेके पश्चात् सासके चरणोंमें प्रणाम करके उनके सामने हाथ जोड़ विनीतभावसे खड़ी हुई ।। ३ ।।

रूपलक्षणसम्पन्नां शीलाचारसमन्विताम् ।
द्रौपदीमवदत् प्रेम्णा पृथाऽऽशीर्वचनं स्नुषाम् ।। ४ ।।

सुन्दर रूप तथा उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न, शील और सदाचारसे सुशोभित अपनी बहू द्रौपदीको सामने देख कुन्तीदेवी उसे प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देती हुई बोलीं— ।। ४ ।।

यथेन्द्राणी हरिहये स्वाहा चैव विभावसौ ।
रोहिणी च यथा सोमे दमयन्ती यथा नले ।। ५ ।।
यथा वैश्रवणे भद्रा वसिष्ठे चाप्यरुन्धती ।
यथा नारायणो लक्ष्मीस्तथा त्वं भव भर्तृषु ।। ६ ।।

‘बेटी! जैसे इन्द्राणी इन्द्रमें, स्वाहा अग्निमें, रोहिणी चन्द्रमामें, दमयन्ती नलमें, भद्रा कुबेरमें, अरुन्धती वसिष्ठमें तथा लक्ष्मी भगवान् नारायणमें भक्ति-भाव एवं प्रेम रखती हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने पतियोंमें अनुरक्त रहो ।। ५-६ ।।

जीवसूर्वीरसूर्भद्रे बहुसौख्यसमन्विता ।
सुभगा भोगसम्पन्ना यज्ञपत्नी पतिव्रता ।। ७ ।।

'भद्रे! तुम अनन्त सौख्यसे सम्पन्न होकर दीर्घजीवी तथा वीर पुत्रोंकी जननी बनो। सौभाग्यशालिनी, भोगसामग्रीसे सम्पन्न, पतिके साथ यज्ञमें बैठनेवाली तथा पतिव्रता होओ ।। ७ ।।

अतिथीनागतान् साधून् वृद्धान् बालांस्तथा गुरून् ।
पूजयन्त्या यथान्यायं शश्वद् गच्छन्तु ते समाः ।। ८ ।।

'अपने घरपर आये हुए अतिथियों, साधु पुरुषों, बड़े-बूढ़ों, बालकों तथा गुरुजनोंका यथायोग्य सत्कार करनेमें ही तुम्हारा प्रत्येक वर्ष बीते ।। ८ ।।

कुरुजाङ्गलमुख्येषु राष्ट्रेषु नगरेषु च ।
अनु त्वमभिषिच्यस्व नृपतिं धर्मवत्सला ।। ९ ।।

'तुम्हारे पति कुरुजांगल देशके प्रधान-प्रधान राष्ट्रों तथा नगरोंके राजा हों और उनके साथ ही रानीके पदपर तुम्हारा अभिषेक हो। धर्मके प्रति तुम्हारे हृदयमें स्वाभाविक स्नेह हो ।। ९ ।।

पतिभिर्निर्जितामुर्वीं विक्रमेण महाबलैः ।
कुरु ब्राह्मणसात् सर्वामश्वमेधे महाक्रतौ ।। १० ।।

'तुम्हारे महाबली पतियोंद्वारा पराक्रमसे जीती हुई इस समूची पृथ्वीको तुम अश्वमेध नामक महायज्ञमें ब्राह्मणोंके हवाले कर दो ।। १० ।।

पृथिव्यां यानि रत्नानि गुणवन्ति गुणान्विते ।
तान्याप्नुहि त्वं कल्याणि सुखिनी शरदां शतम् ।। ११ ।।

'कल्याणमयी गुणवती बहू! पृथ्वीपर जितने गुणवान् रत्न हैं, वे सब तुम्हें प्राप्त हों और तुम सौ वर्षतक सुखी रहो ।। ११ ।।

यथा च त्वाभिनन्दामि वध्वद्य क्षौमसंवृताम् ।
तथा भूयोऽभिनन्दिष्ये जातपुत्रां गुणान्विताम् ।। १२ ।।

'बहू! आज तुम्हें वैवाहिक रेशमी वस्त्रोंसे सुशोभित देखकर जिस प्रकार मैं तुम्हारा अभिनन्दन करती हूँ, उसी प्रकार जब तुम पुत्रवती होओगी, उस समय भी अभिनन्दन करूँगी; तुम सद्‌गुणसम्पन्न हो' ।। १२ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु कृतदारेभ्यः पाण्डुभ्यः प्राहिणोद्धरिः ।
वैदूर्यमणिचित्राणि हैमान्याभरणानि च ।। १३ ।।
वासांसि च महार्हाणि नानादेश्यानि माधवः ।
कम्बलाजिनरत्नानि स्पर्शवन्ति शुभानि च ।। १४ ।।
शयनासनयानानि विविधानि महान्ति च ।
वैदूर्यवज्रचित्राणि शतशो भाजनानि च ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर विवाह हो जानेपर पाण्डवोंके लिये भगवान् श्रीकृष्णने वैदूर्यमणि-जटित सोनेके बहुत-से आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र, अनेक देशोंके बने हुए कोमल स्पर्शवाले कम्बल, मृगचर्म, सुन्दर रत्न, शय्याएँ, आसन, भाँति-भाँतिके बड़े-बड़े वाहन तथा वैदूर्य और वज्रमणि (हीरे)-से खचित सैकड़ों बर्तन भेंटके तौरपर भेजे ।। १३—१५ ।।

रूपयौवनदाक्षिण्यैरुपेताश्च स्वलंकृताः ।
प्रेष्याः सम्प्रददौ कृष्णो नानादेश्याः स्वलंकृताः ।। १६ ।।

रूप-यौवन और चातुर्य आदि गुणोंसे सम्पन्न तथा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत अनेक देशोंकी सजी-धजी बहुत सी सुन्दरी सेविकाएँ भी समर्पित कीं ।। १६ ।।

गजान् विनीतान् भद्रांश्च सदश्वांश्च स्वलंकृतान् ।
रथांश्च दान्तान् सौवर्णैः शुभ्रैः पट्टैरलंकृतान् ।। १७ ।।
कोटिशश्च सुवर्णं च तेषामकृतकं तथा ।
वीथीकृतममेयात्मा प्राहिणोन्मधुसूदनः ।। १८ ।।

इसके सिवा अमेयात्मा मधुसूदनने सुशिक्षित और वशमें रहनेवाले अच्छी जातिके हाथी, गहनोंसे सजे हुए उत्तम घोड़े, चमकते हुए सोनेके पत्रोंसे सुशोभित और सधे हुए

घोड़ोंसे युक्त बहुत-से सुन्दर रथ, करोड़ों स्वर्णमुद्राएँ तथा पंक्तिमें रखी हुई सुवर्णकी ढेरियाँ उनके लिये भेजीं ।। १७-१८ ।।

तत् सर्वं प्रतिजग्राह धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
मुदा परमया युक्तो गोविन्दप्रियकाम्यया ।। १९ ।।

धर्मराज युधिष्ठिरने अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये वह सारा उपहार ग्रहण कर लिया ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें एक सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९८ ।।

(विदुरागमनराज्यलम्भपर्व)

नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके विवाहसे दुर्योधन आदिकी चिन्ता, धृतराष्ट्रका पाण्डवोंके प्रति प्रेमका दिखावा और दुर्योधनकी कुमन्त्रणा

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञां चरैराप्तैः प्रवृत्तिरुपनीयत ।
पाण्डवैरुपसम्पन्ना द्रौपदी पतिभिः शुभा ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सब राजाओंको अपने विश्वसनीय गुप्तचरोंद्वारा यह यथार्थ समाचार मिल गया कि शुभलक्षणा द्रौपदीका विवाह पाँचों पाण्डवोंके साथ हुआ है ।। १ ।।

येन तद् धनुरादाय लक्ष्यं विद्धं महात्मना ।
सोऽर्जुनो जयतां श्रेष्ठो महाबाणधनुर्धरः ।। २ ।।

जिन महात्मा पुरुषने वह धनुष लेकर लक्ष्यको वेधा था, वे विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ तथा महान् धनुष-बाण धारण करनेवाले स्वयं अर्जुन थे ।। २ ।।

यः शल्यं मद्रराजं वै प्रोत्क्षिप्यापातयद् बली ।
त्रासयामास संक्रुद्धो वृक्षेण पुरुषान् रणे ।। ३ ।।
न चास्य सम्भ्रमः कश्चिदासीत् तत्र महात्मनः ।
स भीमो भीमसंस्पर्शः शत्रुसेनाङ्गपातनः ।। ४ ।।

जिस बलवान् वीरने अत्यन्त कुपित हो मद्रराज शल्यको उठाकर पृथ्वीपर पटक दिया था और हाथमें वृक्ष ले रणभूमिमें समस्त योद्धाओंको भयभीत कर डाला था तथा जिस महातेजस्वी शूरवीरको उस समय तनिक भी घबराहट नहीं हुई थी, वह शत्रुसेनाके हाथी, घोड़े आदि अंगोंको मार गिरानेवाला तथा स्पर्शमात्रसे भय उत्पन्न करनेवाला महाबली भीमसेन था ।। ३-४ ।।

ब्रह्मरूपधराञ्छ्रुत्वा प्रशान्तान् पाण्डुनन्दनान् ।
कौन्तेयान् मनुजेन्द्राणां विस्मयः समजायत ।। ५ ।।

ब्राह्मणका रूप धारण करके प्रशान्तभावसे बैठे हुए वे वीर पुरुष कुन्तीपुत्र पाण्डव ही थे, यह सुनकर वहाँ आये हुए राजाओंको बड़ा आश्चर्य हुआ ।। ५ ।।

सपुत्रा हि पुरा कुन्ती दग्धा जतुगृहे श्रुता ।

पुनर्जातानिव च तांस्तेऽमन्यन्त नराधिपाः ।। ६ ।।

उन्होंने पहले सुन रखा था कि कुन्ती अपने पुत्रोंसहित लाक्षागृहमें जल गयी। अब उन्हें जीवित सुनकर वे राजालोग यह मानने लगे कि इन पाण्डवोंका फिर नया जन्म-सा हुआ है ।। ६ ।।

धिगकुर्वंस्तदा भीष्मं धृतराष्ट्रं च कौरवम् ।
कर्मणातिनृशंसेन पुरोचनकृतेन वै ।। ७ ।।

पुरोचनके किये हुए अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कर्मका स्मरण हो आनेसे उस समय सभी नरेश कुरुवंशी धृतराष्ट्र तथा भीष्मको धिक्कारने लगे ।। ७ ।।

(धार्मिकान् वृत्तसम्पन्नान् मातुः प्रियहिते रतान् ।
यदा तानीदृशान् पार्थानुत्सादयितुमिच्छति ।।

'देखो न; धर्मात्मा, सदाचारी तथा माताके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहनेवाले कुन्तीकुमारोंको भी यह धृतराष्ट्र नष्ट करना चाहता है (भला, इससे बढ़कर निन्दनीय कौन होगा)।'

ततः स्वयंवरे वृत्ते धार्तराष्ट्राः स्म भारत ।
मन्त्रयन्ते ततः सर्वे कर्णसौबलदूषिताः ।।

जनमेजय! उधर स्वयंवर समाप्त होनेपर धृतराष्ट्रके सभी पुत्र, जिन्हें कर्ण और शकुनिने बिगाड़ रखा था, इस प्रकार सलाह करने लगे।

शकुनिरुवाच

कश्चिच्छत्रुः कर्शनीयः पीडनीयस्तथापरः ।
उत्सादनीयाः कौन्तेयाः सर्वे क्षत्रस्य मे मताः ।।

शकुनि बोला—संसारमें कोई शत्रु तो ऐसा होता है, जिसे सब प्रकारसे दुर्बल कर देना उचित है; दूसरा ऐसा होता है, जिसे सदा पीड़ा दी जाय। परंतु कुन्तीके ये सभी पुत्र तो समस्त क्षत्रियोंके लिये समूल नष्ट कर देनेयोग्य हैं। इनके विषयमें मेरा यही मत है।

एवं पराजिताः सर्वे यदि यूयं गमिष्यथ ।
अकृत्वा संविदं कांचित् तद् वस्तप्स्यत्यसंशयम् ।।

यदि इस प्रकार पराजित होकर आप सब लोग इन (पाण्डवोंके विनाशकी) युक्ति निश्चित किये बिना ही चले जायँगे, तो अवश्य ही यह भूल आपलोगोंको सदा संतप्त करती रहेगी।

अयं देशश्च कालश्च पाण्डवोद्धरणाय नः ।
न चेदेवं करिष्यध्वं लोके हास्या भविष्यथ ।।

पाण्डवोंको जड़मूलसहित विनष्ट करनेके लिये हमारे सामने यही उपयुक्त देश और काल उपस्थित है। यदि आपलोग ऐसा नहीं करेंगे तो संसारमें उपहासके पात्र होंगे।

यमेते संश्रिता वस्तुं कामयन्ते च भूमिपम् ।
सोऽल्पवीर्यबलो राजा द्रुपदो वै मतो मम ।।

ये पाण्डव जिस राजाके आश्रयमें रहनेकी इच्छा रखते हैं, उस द्रुपदका बल और पराक्रम मेरी रायमें बहुत थोड़ा है।

यावदेतान् न जानन्ति जीवतो वृष्णिपुङ्गवाः ।
चैद्यश्च पुरुषव्याघ्रः शिशुपालः प्रतापवान् ।।

जबतक वृष्णिवंशके श्रेष्ठ वीर यह नहीं जानते कि पाण्डव जीवित हैं, पुरुषसिंह चेदिराज प्रतापी शिशुपाल भी जबतक इस बातसे अनभिज्ञ है, तभीतक पाण्डवोंको मार डालना चाहिये।

एकीभावं गता राज्ञा द्रुपदेन महात्मना ।
दुराधर्षतरा राजन् भविष्यन्ति न संशयः ।।

राजन्! जब ये महात्मा राजा द्रुपदके साथ मिलकर एक हो जायँगे, तब इन्हें परास्त करना अत्यन्त कठिन हो जायगा, इसमें संशय नहीं है।

यावदत्वरतां सर्वे प्राप्नुवन्ति नराधिपाः ।
तावदेव व्यवस्यामः पाण्डवानां वधं प्रति ।।

जबतक सब राजा ढीले पड़े हैं, तभीतक हमें पाण्डवोंके वधके लिये पूरा प्रयत्न कर लेना चाहिये।

मुक्ता जतुगृहाद् भीमाद् आशीविषमुखादिव ।
पुनर्यदीह मुच्यन्ते महन्नो भयमाविशेत् ।।

विषधर सर्पके मुख-सदृश भयंकर लाक्षागृहसे तो वे बच ही गये हैं। यदि फिर यहाँ हमारे हाथसे छूट जाते हैं तो उनसे हमलोगोंको महान् भय प्राप्त हो सकता है।

तेषामिहोपयातानामेषां च पुरवासिनाम् ।
अन्तरे दुष्करं स्थातुं मेषयोर्महतोरिव ।।

यदि वे वृष्णिवंशी और चेदिवंशी वीर यहाँ आ जायँ और यहाँके नागरिक भी अस्त्र-शस्त्र लेकर खड़े हो जायँ तो इनके बीचमें खड़ा होना उतना ही कठिन होगा, जितना आपसमें लड़ते हुए दो विशाल मेढोंके बीचमें ठहरना।

हलधृक्प्रगृहीतानि बलानि बलिनां स्वयम् ।
यावन्न कुरुसेनायां पतन्ति पतगा इव ।।
तावत् सर्वाभिसारेण पुरमेतद् विनाश्यताम् ।
एतदत्र परं मन्ये प्राप्तकालं नरर्षभाः ।।

जबतक हल धारण करनेवाले बलरामजीके द्वारा संचालित बलवान् योद्धाओंकी सेनाएँ स्वयं ही आकर कौरवसेनारूपी खेतीपर टिड्डियोंकी भाँति न टूट पड़ें, तबतक हम सब लोग

एक साथ आक्रमण करके इस नगरको नष्ट कर दें। नरश्रेष्ठ वीरो! मैं इस अवसरपर यही सर्वोत्तम कर्तव्य मानता हूँ!

वैशम्पायन उवाच

शकुनेर्वचनं श्रुत्वा भाषमाणस्य दुर्मतेः ।
सौमदत्तिरिदं वाक्यं जगाद परमं ततः ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—दुर्बुद्धि शकुनिका यह प्रस्ताव सुनकर सोमदतकुमार भूरिश्रवाने यह उत्तम बात कही।

सौमदत्तिरुवाच

प्रकृतीः सप्त वै ज्ञात्वा आत्मनश्च परस्य च ।
तथा देशं च कालं च षड्विधांश्च नयेद् गुणान् ।।

भूरिश्रवा बोले—अपने पक्षकी और शत्रुपक्षकी भी सातों[१] प्रकृतियोंको ठीक-ठीक जानकर ही देश और कालका ज्ञान रखते हुए छः[२] प्रकारके गुणोंका यथावसर प्रयोग करना चाहिये।

स्थानं वृद्धिं क्षयं चैव भूमिं मित्राणि विक्रमम् ।
समीक्ष्याथाभियुञ्जीत परं व्यसनपीडितम् ।।

स्थान, वृद्धि, क्षय, भूमि, मित्र तथा पराक्रम—इन सबकी ओर दृष्टि रखते हुए यदि शत्रु संकटसे पीड़ित हो तभी उसपर आक्रमण करना चाहिये।

ततोऽहं पाण्डवान् मन्ये मित्रकोशसमन्वितान् ।
बलस्थान् विक्रमस्थांश्च स्वकृतैः प्रकृतिप्रियान् ।।

इस दृष्टिसे देखनेपर मैं पाण्डवोंको मित्र और खजाना दोनोंसे सम्पन्न समझता हूँ। वे बलवान् तो हैं ही, पराक्रमी भी हैं और अपने सत्कर्मोंद्वारा समस्त प्रजाके प्रिय हो रहे हैं।

वपुषा हि तु भूतानां नेत्राणि हृदयानि च ।
श्रोत्रं मधुरया वाचा रमयत्यर्जुनो नृणाम् ।।

अर्जुन अपने शरीरकी गठनसे (सभी) मनुष्योंके नेत्रों तथा हृदयको आनन्द प्रदान करते हैं और मीठी-मीठी वाणीद्वारा सबके कानोंको सुख पहुँचाते हैं।

न तु केवलदैवेन प्रजा भावेन भेजिरे ।
यद् बभूव मनःकान्तं कर्मणा च चकार तत् ।।

केवल प्रारब्धसे ही प्रजा उनकी सेवा नहीं करती। प्रजाके मनको जो प्रिय लगता है, उसकी पूर्ति अर्जुन अपने प्रयत्नोंद्वारा करते रहते हैं।

न ह्ययुक्तं न चासक्तं नानृतं न च विप्रियम् ।
भाषितं चारुभाषस्य जज्ञे पार्थस्य भारती ।।

मनोहर वचन बोलनेवाले अर्जुनकी वाणी कभी ऐसा वचन नहीं बोलती, जो अयुक्त, आसक्तिपूर्ण, मिथ्या तथा अप्रिय हो।

तानेवंगुणसम्पन्नान् सम्पन्नान् राजलक्षणैः ।
न तान् पश्यामि ये शक्ताः समुच्छेत्तुं यथा बलात् ।।

समस्त पाण्डव राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न तथा उपर्युक्त गुणोंसे विभूषित हैं। मैं ऐसे किन्हीं वीरोंको नहीं देखता, जो अपने बलसे पाण्डवोंका वास्तवमें उच्छेद कर सकें।

प्रभावशक्तिर्विपुला मन्त्रशक्तिश्च पुष्कला ।
तथैवोत्साहशक्तिश्च पार्थेष्वभ्यधिका सदा ।।

उनकी प्रभावशक्ति विपुल है, मन्त्रशक्ति भी प्रचुर है तथा उत्साहशक्ति भी पाण्डवोंमें सबसे अधिक है।

मौलमित्रबलानां च कालज्ञो वै युधिष्ठिरः ।
साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनेति युधिष्ठिरः ।।
अमित्रं यतते जेतुं न रोषेणेति मे मतिः ।।

युधिष्ठिर इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि कब स्वाभाविक बलका प्रयोग करना चाहिये तथा कब मित्र और सैन्यबलका। राजा युधिष्ठिर साम, दान, भेद और दण्डनीतिके द्वारा ही यथासमय शत्रुको जीतनेका प्रयत्न करते हैं, क्रोधके द्वारा नहीं—ऐसा मेरा विश्वास है।

परिक्रीय धनैः शत्रून् मित्राणि च बलानि च ।
मूलं च सुदृढं कृत्वा हन्त्यरीन् पाण्डवस्तदा ।।

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर प्रचुर धन देकर शत्रुओंको, मित्रोंको तथा सेनाओंको भी खरीद लेते हैं और अपनी नींवको सुदृढ़ करके शत्रुओंका नाश करते हैं।

अशक्यान् पाण्डवान् मन्ये देवैरपि सवासवैः ।
येषामर्थे सदा युक्तौ कृष्णसंकर्षणावुभौ ।।

मैं ऐसा मानता हूँ कि इन्द्र आदि देवता भी उन पाण्डवोंका कुछ नहीं बिगाड़ सकते, जिनकी सहायताके लिये कृष्ण और बलराम दोनों सदा कमर कसे रहते हैं।

श्रेयश्च यदि मन्यध्वं मन्मतं यदि वो मतम् ।
संविदं पाण्डवैः सार्धं कृत्वा याम यथागतम् ।।

यदि आपलोग मेरी बातको हितकर मानते हों, यदि मेरे मतके अनुकूल ही आपलोगोंका मत हो, तो हमलोग पाण्डवोंसे मेल करके जैसे आये हैं, वैसे ही लौट चलें।

गोपुराट्टालकैरुच्चैरुपतल्पशतैरपि ।
गुप्तं पुरवरश्रेष्ठमेतदद्भिश्च संवृतम् ।।
तृणधान्येन्धनरसैस्तथा यन्त्रायुधौषधैः ।
युक्तं बहुकपाटैश्च द्रव्यागारतुषादिकैः ।।

यह श्रेष्ठ नगर गोपुरों, ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं तथा सैकड़ों उपतल्पोंसे सुरक्षित है। इसके चारों ओर जलसे भरी खाई है। घास-चारा, अनाज, ईंधन, रस, यन्त्र, आयुध तथा औषध आदिकी यहाँ बहुतायत है। बहुत-से कपाट, द्रव्यागार और भूसा आदिसे भी यह नगर भरपूर है।

भीमोच्छ्रितमहाचक्रं बृहदट्टालसंवृतम् ।
दृढप्राकारनिर्यूहं शतघ्नीजालसंवृतम् ।।

यहाँ बड़े भयंकर और ऊँचे विशाल चक्र हैं। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओंकी पंक्ति इस नगरको घेरे हुए है। इसकी चहारदीवारी और छज्जे सुदृढ़ हैं। शतघ्नी (तोप) नामक अस्त्रोंके समुदायसे यह नगरी घिरी हुई है।

ऐष्टको दारवो वप्रो मानुषश्चेति यः स्मृतः ।
प्राकारकर्तृभिर्वीरैर्नृगर्भस्तत्र पूजितः ।।

इसकी रक्षाके लिये तीन प्रकारका घेरा बना है—एक तो ईंटोंका, दूसरा काठका और तीसरा मानव-सैनिकोंका। चहारदीवारी बनानेवाले वीरोंने यहाँ नरगर्भकी पूजा की है।

तदेतन्नरगर्भेण पाण्डरेण विराजते ।
सालेनानेकतालेन सर्वतः संवृतं पुरम् ।।
अनुरक्ताः प्रकृतयो द्रुपदस्य महात्मनः ।
दानमानार्चिताः सर्वे बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ।।

इस प्रकार यह नगर श्वेत नरगर्भसे शोभित है। अनेक ताड़के बराबर ऊँचे शालवृक्षोंकी पंक्तियोंद्वारा यह श्रेष्ठ नगरी सब ओरसे घिरी हुई है। महामना राजा द्रुपदकी सभी प्रजा और प्रकृतियाँ (मन्त्री आदि) उनमें अनुराग रखती हैं। बाहर और भीतरके सभी कर्मचारियोंका दान और मानद्वारा सत्कार किया जाता है।

प्रतिरुद्धानिमाञ्ज्ञात्वा राजभिर्भीमविक्रमैः ।
उपयास्यन्ति दाशार्हाः समुदग्रोच्छ्रितायुधाः ।।

भयानक पराक्रमी राजाओंद्वारा पाण्डवोंको सब ओरसे घिरा हुआ जानकर समस्त यदुवंशी वीर प्रचण्ड अस्त्र-शस्त्र लिये यहाँ उपस्थित हो जायँगे।

तस्मात् संधिं वयं कृत्वा धार्तराष्ट्रस्य पापडवैः ।
स्वराष्ट्रमेव गच्छामो यद्याप्तवचनं मम ।।
एतन्मम मतं सर्वैः क्रियतां यदि रोचते ।
एतद्धि सुकृतं मन्ये क्षेमं चापि महीक्षिताम् ।।)

अतः हम धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनकी पाण्डवोंके साथ संधि कराकर अपने राज्यमें ही लौट चलें। यदि आपलोगोंको मेरी बातपर विश्वास हो और मेरा यह मत सबको ठीक जँचता हो तो आप सब लोग इसे काममें लायें। हमारा यही सर्वोत्तम कर्तव्य है और मैं इसीको राजाओंके लिये कल्याणकारी मानता हूँ।

वृत्ते स्वयंवरे चैव राजानः सर्व एव ते ।
यथागतं विप्रजग्मुर्विदित्वा पाण्डवान् वृतान् ।। ८ ।।

स्वयंवर समाप्त हो जानेपर जब यह ज्ञात हो गया कि द्रौपदीने पाण्डवोंका वरण किया है, तब वे सभी राजा जैसे आये थे, वैसे ही (अपने-अपने) देशको लौट गये ।। ८ ।।

अथ दुर्योधनो राजा विमना भ्रातृभिः सह ।
अश्वत्थाम्ना मातुलेन कर्णेन च कृपेण च ।। ९ ।।
विनिवृत्तो वृतं दृष्ट्वा द्रौपद्या श्वेतवाहनम् ।
तं तु दुःशासनो व्रीडन् मन्दं मन्दमिवाब्रवीत् ।। १० ।।

द्रुपदकुमारी कृष्णाने श्वेतवाहन अर्जुनको (जयमाला पहनाकर उनका) वरण किया है, यह अपनी आँखों देखकर राजा दुर्योधनके मनमें बड़ा दुःख हुआ। वह अश्वत्थामा, मामा शकुनि, कर्ण, कृपाचार्य तथा अपने भाइयोंके साथ (द्रुपदकी राजधानीसे) हस्तिनापुरके लिये लौट पड़ा। मार्गमें दुःशासनने लज्जित होकर दुर्योधनसे धीरे-धीरे (इस प्रकार) कहा — ।। ९-१० ।।

यद्यसौ ब्राह्मणो न स्याद् विन्देत द्रौपदीं न सः ।
न हि तं तत्त्वतो राजन् वेद कश्चिद् धनंजयम् ।। ११ ।।

'भाईजी! यदि अर्जुन ब्राह्मणके वेशमें न होता तो वह कदापि द्रौपदीको न पा सकता था। राजन्! वास्तवमें किसीको यह पता ही नहीं चला कि वह अर्जुन है ।। ११ ।।

दैवं च परमं मन्ये पौरुषं चाप्यनर्थकम् ।
धिगस्तु पौरुषं तात ध्रियन्ते यत्र पाण्डवाः ।। १२ ।।

'मैं तो भाग्यको ही प्रबल मानता हूँ, पुरुषका प्रयत्न निरर्थक है। तात! हमारे पुरुषार्थको धिक्कार है, जब कि पाण्डव अभीतक जी रहे हैं' ।। १२ ।।

एवं सम्भाषमाणास्ते निन्दन्तश्च पुरोचनम् ।
विविशुर्हास्तिनपुरं दीना विगतचेतसः ।। १३ ।।

इस प्रकार परस्पर बातें करते और पुरोचनको कोसते हुए वे सब कौरव दुःखी होकर हस्तिनापुरमें पहुँचे। (पाण्डवोंकी) सफलता देखकर, उनका चित्त ठिकाने न रहा ।। १३ ।।

त्रस्ता विगतसंकल्पा दृष्ट्वा पार्थान् महौजसः ।
मुक्तान् हव्यभुजश्चैव संयुक्तान् द्रुपदेन च ।। १४ ।।
धृष्टद्युम्नं तु संचिन्त्य तथैव च शिखण्डिनम् ।
द्रुपदस्यात्मजांश्चान्यान् सर्वयुद्धविशारदान् ।। १५ ।।

महातेजस्वी कुन्तीकुमार लाक्षागृहकी आगसे जीवित बचकर राजा द्रुपदके सम्बन्धी हो गये, यह अपनी आँखों देखकर और धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा द्रुपदके अन्य पुत्र युद्धकी सम्पूर्ण कलाओंमें दक्ष हैं, इस बातका विचार करके कौरव बहुत डर गये। उनकी आशा निराशामें परिणत हो गयी ।। १४-१५ ।।

विदुरस्त्वथ तां श्रुत्वा द्रौपदीं पाण्डवैर्वृतान् ।
व्रीडितान् धार्तराष्ट्रांश्च भग्नदर्पानुपागतान् ।। १६ ।।
ततः प्रीतमनाः क्षत्ता धृतराष्ट्रं विशाम्पते ।
उवाच दिष्टया कुरवो वर्धन्त इति विस्मितः ।। १७ ।।

विदुरजीने जब यह सुना कि पाण्डवोंने द्रौपदीको प्राप्त किया है और धृतराष्ट्रके पुत्र अपना अभिमान चूर्ण हो जानेसे लज्जित होकर लौट आये हैं, तब वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। राजन्! तब वे धृतराष्ट्रके पास जाकर विस्मयसूचक वाणीमें बोले—'महाराज! हमारा अहोभाग्य है, जो कौरववंशकी वृद्धि हो रही है ।। १६-१७ ।।

वैचित्रवीर्यस्तु वचो निशम्य विदुरस्य तत् ।
अब्रवीत् परमप्रीतो दिष्टया दिष्टयेति भारत ।। १८ ।।

भारत! विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्र विदुरकी यह बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हो सहसा बोल उठे—'अहोभाग्य, अहोभाग्य' ।। १८ ।।

मन्यते स वृतं पुत्रं ज्येष्ठं द्रुपदकन्यया ।
दुर्योधनमविज्ञानात् प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः ।। १९ ।।

उस अंधे नरेशने अज्ञानवश यह समझ लिया कि 'द्रुपदकन्याने मेरे ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधनका वरण किया है' ।। १९ ।।

अथ त्वाज्ञापयामास द्रौपद्या भूषणं बहु ।
आनीयतां वै कृष्णेति पुत्रं दुर्योधनं तदा ।। २० ।।

इसलिये उन्होंने आज्ञा दी—'द्रौपदीके लिये बहुत-से आभूषण मँगाओ और मेरे पुत्र दुर्योधन तथा द्रौपदीको बड़ी धूमधामसे नगरमें ले आओ' ।। २० ।।

अथास्य पश्चाद् विदुर आचख्यौ पाण्डवान् वृतान् ।
सर्वान् कुशलिनो वीरान् पूजितान् द्रुपदेन ह ।। २१ ।।

तब पीछेसे विदुरने उन्हें बताया कि—'द्रौपदीने पाण्डवोंका वरण किया है। वे सभी वीर राजा द्रुपदके द्वारा पूजित होकर वहाँ कुशलपूर्वक रह रहे हैं ।। २१ ।।

तेषां सम्बन्धिनश्चान्यान् बहून् बलसमन्वितान् ।
समागतान् पाण्डवेयैस्तस्मिन्नेव स्वयंवरे ।। २२ ।।

उसी स्वयंवरमें उनके बहुत-से अन्य सम्बन्धी भी, जो भारी सैनिकशक्तिसे सम्पन्न हैं, पाण्डवोंसे प्रेमपूर्वक मिले हैं ।। २२ ।।

(एतच्छ्रुत्वा तु वचनं विदुरस्य नराधिपः ।
आकारच्छादनार्थं तु दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रवीत् ।।

विदुरका यह कथन सुनकर राजा धृतराष्ट्रने अपनी बदली हुई आकृतिको छिपानेके लिये कहा—'अहोभाग्य! अहोभाग्य!'

धृतराष्ट्र उवाच

एवं विदुर भद्रं ते यदि जीवन्ति पाण्डवाः ।
साध्वाचारा तथा कुन्ती सम्बन्धो द्रुपदेन च ।।
अन्ववाये वसोर्जातः प्रकृष्टे मान्यके कुले ।
व्रतविद्यातपोवृद्धः पार्थिवानां धुरन्धरः ।।
पुत्राश्चास्य तथा पौत्राः सर्वे सुचरितव्रताः ।
तेषां सम्बन्धिनश्चान्ये बहवः सुमहाबलाः ।।)

धृतराष्ट्र (फिर) बोले—विदुर! यदि ऐसी बात है, यदि (वास्तवमें) पाण्डव जीवित हैं, तो बड़े आनन्दकी बात है, तुम्हारा कल्याण हो। अवश्य ही कुन्ती बड़ी साध्वी हैं। द्रुपदके साथ जो सम्बन्ध हुआ है, वह हमारे लिये अत्यन्त स्पृहणीय है। विदुर! राजा द्रुपद वसुके श्रेष्ठ और सम्माननीय कुलमें उत्पन्न हुए हैं। व्रत, विद्या और तप—तीनोंमें वे बढ़े-चढ़े हैं। राजाओंमें तो वे अग्रगण्य हैं ही। उनके सभी पुत्र और पौत्र भी उत्तम व्रतका पालन करनेवाले हैं। द्रुपदके अन्य बहुत-से सम्बन्धी भी अत्यन्त बलवान् हैं।

यथैव पाण्डोः पुत्रास्तु तथैवाभ्यधिका मम ।
यथा चाभ्यधिका बुद्धिर्मम तान् प्रति तच्छृणु ।। २३ ।।

विदुर! युधिष्ठिर आदि जैसे पाण्डुके पुत्र हैं, वैसे ही या उससे भी अधिक मेरे हैं। उनके प्रति मेरे मनमें अधिक अपनापनका भाव क्यों है?, यह बताता हूँ; सुनो ।। २३ ।।

यत् ते कुशलिनो वीरा मित्रवन्तश्च पाण्डवाः ।

तेषां सम्बन्धिनश्चान्ये बहवश्च महाबलाः ।। २४ ।।

वे वीर पाण्डव कुशलपूर्वक जीवित बच गये हैं और उन्हें मित्रोंका सहयोग भी प्राप्त हो गया है। इतना ही नहीं और भी बहुत-से महाबली नरेश उनके सम्बन्धी होते जा रहे हैं ।। २४ ।।

को हि द्रुपदमासाद्य मित्रं क्षत्तः सबान्धवम् ।
न बुभूषेद् भवेनार्थी गतश्रीरपि पार्थिवः ।। २५ ।।

विदुर! कौन ऐसा राजा है, जिसकी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर भी बन्धु-बान्धवोंसहित द्रुपदको मित्रके रूपमें पाकर जीना नहीं चाहेगा ।। २५ ।।

वैशम्पायन उवाच

तं तथा भाषमाणं तु विदुरः प्रत्यभाषत ।
नित्यं भवतु ते बुद्धिरेषा राजञ्छतं समाः ।
इत्युक्त्वा प्रययौ राजन् विदुरः स्वं निवेशनम् ।। २६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसी बातें कहनेवाले राजा धृतराष्ट्रसे विदुर (इस प्रकार) बोले—‘महाराज! सौ वर्षोंतक आपकी बुद्धि ऐसी ही बनी रहे।’ राजन्! इतना कहकर विदुरजी अपने घर चले गये ।। २६ ।।

ततो दुर्योधनश्चापि राधेयश्च विशाम्पते ।
धृतराष्ट्रमुपागम्य वचोऽब्रूतामिदं तदा ।। २७ ।।

जनमेजय! तदनन्तर दुर्योधन और कर्णने धृतराष्ट्रके पास आकर यह बात कही — ।। २७ ।।

संनिधौ विदुरस्य त्वां दोषं वक्तुं न शक्नुवः ।
विविक्तमिति वक्ष्यावः किं तवेदं चिकीर्षितम् ।। २८ ।।
सपत्नवृद्धिं यत् तात मन्यसे वृद्धिमात्मनः ।
अभिष्टौषि च यत् क्षत्तुः समीपे द्विषतां वर ।। २९ ।।

‘महाराज! विदुरके समीप हम आपसे आपका कोई दोष नहीं बता सकते। इस समय एकान्त है, इसलिये कहते हैं। आप यह क्या करना चाहते हैं? पूज्य पिताजी! आप तो शत्रुओंकी उन्नतिको ही अपनी उन्नति मानने लगे हैं और विदुरजीके निकट हमारे वैरियोंकी ही भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं ।। २८-२९ ।।

अन्यस्मिन् नृप कर्तव्ये त्वमन्यत् कुरुषेऽनघ ।
तेषां बलविघातो हि कर्तव्यस्तात नित्यशः ।। ३० ।।

निष्पाप नरेश! हमें करना तो कुछ और चाहिये, किंतु आप करते कुछ और (ही) हैं। तात! हमारे लिये तो यही उचित है कि हम सदा पाण्डवोंकी शक्तिका विनाश करते रहें ।। ३० ।।

ते वयं प्राप्तकालस्य चिकीर्षां मन्त्रयामहे ।
यथा नो न ग्रसेयुस्ते सपुत्रबलबान्धवान् ।। ३१ ।।

‘इस समय जैसा अवसर उपस्थित है, इसमें हमें क्या करना चाहिये—यही सोच-विचारकर निश्चय करना है, जिससे वे पाण्डव पुत्र, बान्धव तथा सेनासहित हमारा सर्वनाश न कर बैठें’ ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि दुर्योधनवाक्ये नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें दुर्योधनवचनविषयक एक सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३९ १/२ श्लोक मिलाकर कुल ७० १/२ श्लोक हैं)

---

१. राज्यके स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना—इन सात अंगोंको सात प्रकृतियाँ कहते हैं।

२. संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—ये छः गुण हैं। इनमें शत्रुसे मेल रखना संधि, उससे लड़ाई छेड़ना विग्रह, आक्रमण करना यान, अवसरकी प्रतीक्षामें बैठे रहना आसन, दुरंगी नीति बर्तना द्वैधीभाव और अपनेसे बलवान् राजाकी शरण लेना समाश्रय कहलाता।

द्विशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और दुर्योधनकी बातचीत, शत्रुओंको वशमें करनेके उपाय

धृतराष्ट्र उवाच

अहमप्येवमेवैतच्चिकीर्षामि यथा युवाम् ।
विवेक्तुं नाहमिच्छामि त्वाकारं विदुरं प्रति ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा! मैं भी तो वही करना चाहता हूँ, जैसा तुम दोनों चाहते हो; परंतु मैं अपनी आकृतिसे भी विदुरपर अपने मनका भाव प्रकट होने देना नहीं चाहता ।। १ ।।

ततस्तेषां गुणानेव कीर्तयामि विशेषतः ।
नावबुध्येत विदुरो ममाभिप्रायमिङ्गितैः ।। २ ।।

इसीलिये विदुरके सामने विशेषतः पाण्डवोंके गुणोंका ही बखान करता हूँ, जिससे वह इशारेसे भी मेरे मनोभावको न ताड़ सके ।। २ ।।

यच्च त्वं मन्यसे प्राप्तं तद् ब्रवीहि सुयोधन ।
राधेय मन्यसे यच्च प्राप्तकालं वदाशु मे ।। ३ ।।

सुयोधन और कर्ण! तुम दोनों समयके अनुसार जो कार्य करना आवश्यक समझते हो वह शीघ्र मुझे बताओ ।। ३ ।।

दुर्योधन उवाच

अद्य तान् कुशलैर्विप्रैः सुगुप्तैराप्तकारिभिः ।
कुन्तीपुत्रान् भेदयामो माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।। ४ ।।

दुर्योधन बोला—पिताजी! आज अत्यन्त गुप्तरूपसे कुछ ऐसे चतुर ब्राह्मणोंको नियुक्त करना चाहिये, जिनके कार्योंपर हमारा पूर्ण विश्वास हो। हमें उनके द्वारा पाण्डवोंमेंसे कुन्ती और माद्रीके पुत्रोंमें फूट डालनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।। ४ ।।

अथवा द्रुपदो राजा महद्भिर्वित्तसंचयैः ।
पुत्राश्चास्य प्रलोभ्यन्ताममात्याश्चैव सर्वशः ।। ५ ।।
परित्यजेद् यथा राजा कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अथ तत्रैव वा तेषां निवासं रोचयन्तु ते ।। ६ ।।

अथवा धनकी बहुत बड़ी राशि देकर राजा द्रुपद, उनके पुत्र तथा मन्त्रियोंको सर्वथा प्रलोभनमें डालना चाहिये, जिससे पंचालनरेश कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको त्याग दें—उन्हें

अपने घर और नगरसे निकाल दें, अथवा वे ब्राह्मणलोग पाण्डवोंके मनमें वहीं रहनेकी रुचि उत्पन्न करें ।। ५-६ ।।

इहैषां दोषवद्वासं वर्णयन्तु पृथक् पृथक् ।
ते भिद्यमानास्तत्रैव मनः कुर्वन्तु पाण्डवाः ।। ७ ।।

वे अलग-अलग इन सभी पाण्डवोंसे कहें कि हस्तिनापुरका निवास आपलोगोंके लिये अत्यन्त हानिकारक होगा। इस प्रकार ब्राह्मणोंद्वारा बुद्धिभेद उत्पन्न कर देनेपर सम्भव है, पाण्डवलोग अपने मनमें वहीं (पंचालदेशमें ही) रहनेका निश्चय कर लें ।। ७ ।।

अथवा कुशलाः केचिदुपायनिपुणा नराः ।
इतरेतरतः पार्थान् भेदयन्त्वनुरागतः ।। ८ ।।

अथवा कुछ ऐसे मनुष्य भेजे जायँ, जो उपाय ढूँढ़ निकालनेमें चतुर तथा कार्यकुशल हों और प्रेमपूर्वक बातें करके कुन्तीपुत्रोंमें परस्पर फूट डाल दें ।। ८ ।।

व्युत्थापयन्तु वा कृष्णां बहुत्वात् सुकरं हि तत् ।
अथवा पाण्डवांस्तस्यां भेदयन्तु ततश्च ताम् ।। ९ ।।

अथवा कृष्णाको ही इस प्रकार बहका दें कि वह अपने पतियोंका परित्याग कर दे। अनेक पति होनेके कारण (उसका किसीमें भी सुदृढ़ अनुराग नहीं हो सकता; अतः) उनका परित्याग कराना सरल है। अथवा वे लोग पाण्डवोंको ही द्रौपदीकी ओरसे विलग कर दें और ऐसा होनेपर द्रौपदीको उनकी ओरसे विरक्त बना दें ।। ९ ।।

भीमसेनस्य वा राजन्नुपायकुशलैर्नरैः ।
मृत्युर्विधीयतां छन्नैः स हि तेषां बलाधिकः ।। १० ।।

अथवा राजन्! उपायकुशल मनुष्य छिपे रहकर भीमसेनका ही वध कर डालें; क्योंकि वही पाण्डवोंमें सबसे अधिक बलवान् है ।। १० ।।

तमाश्रित्य हि कौन्तेयः पुरा चास्मान् न मन्यते ।
स हि तीक्ष्णश्च शूरश्च तेषां चैव परायणम् ।। ११ ।।

उसीका आश्रय लेकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर पहलेसे ही हमें कुछ नहीं समझते। वह बड़े तीखे स्वभावका और शूरवीर है। वही पाण्डवोंका सबसे बड़ा सहारा है ।। ११ ।।

तस्मिंस्त्वभिहते राजन् हतोत्साहा हतौजसः ।
यतिष्यन्ते न राज्याय स हि तेषां व्यपाश्रयः ।। १२ ।।

राजन्! उसके मारे जानेपर पाण्डवोंका बल और उत्साह नष्ट हो जायगा। फिर वे राज्य लेनेका प्रयत्न नहीं करेंगे। भीमसेन ही उनका सबसे बड़ा आश्रय है ।। १२ ।।

अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये पृष्ठगोपे वृकोदरे ।
तमृते फाल्गुनो युद्धे राधेयस्य न पादभाक् ।। १३ ।।

भीमसेनको पृष्ठरक्षक पाकर ही अर्जुन युद्धमें अजेय बने हुए हैं। यदि भीम न हों तो वे रणभूमिमें कर्णकी एक चौथाईके बराबर भी नहीं हो सकेंगे ।। १३ ।।

ते जानानास्तु दौर्बल्यं भीमसेनमृते महत् ।
अस्मान् बलवतो ज्ञात्वा न यतिष्यन्ति दुर्बलाः ।। १४ ।।

भीमसेनके बिना अपनी बहुत बड़ी दुर्बलताका अनुभव करके वे दुर्बल पाण्डव हमें अपनेसे बलवान् जानकर राज्य लेनेका प्रयत्न नहीं करेंगे ।। १४ ।।

इहागतेषु वा तेषु निदेशवशवर्तिषु ।
प्रवर्तिष्यामहे राजन् यथाशास्त्रं निबर्हणम् ।। १५ ।।

राजन्! अथवा यदि वे यहाँ आकर हमारी आज्ञाके अधीन होकर रहेंगे, तब हम नीतिशास्त्रके अनुसार उनके विनाशके कार्यमें लग जायँगे ।। १५ ।।

अथवा दर्शनीयाभिः प्रमदाभिर्विलोभ्यताम् ।
एकैकस्तत्र कौन्तेयस्ततः कृष्णा विरज्यताम् ।। १६ ।।

अथवा देखनेमें सुन्दर युवती स्त्रियोंद्वारा एक-एक पाण्डवको लुभाया जाय और इस प्रकार कृष्णाका मन उनकी ओरसे फेर दिया जाय ।। १६ ।।

प्रेष्यतां चैव राधेयस्तेषामागमनाय वै ।
तैस्तैः प्रकारैः संनीय पात्यन्तामाप्तकारिभिः ।। १७ ।।

अथवा पाण्डवोंको यहाँ बुला लानेके लिये राधानन्दन कर्णको भेजा जाय और यहाँ लाकर विश्वसनीय कार्यकर्ताओंद्वारा विभिन्न उपायोंसे उन सबको मार गिराया जाय ।। १७ ।।

एतेषामप्युपायानां यस्ते निर्दोषवान् मतः ।
तस्य प्रयोगमातिष्ठ पुरा कालोऽतिवर्तते ।। १८ ।।
यावद्ध्यकृतविश्वासा द्रुपदे पार्थिवर्षभे ।
तावदेव हि ते शक्या न शक्यास्तु ततः परम् ।। १९ ।।

पिताजी! इन उपायोंमेंसे जो भी आपको निर्दोष जान पड़े, उसीसे पहले काम लीजिये; क्योंकि समय बीता जा रहा है। जबतक वे राजाओंमें श्रेष्ठ द्रुपदपर उनका पूरा विश्वास नहीं जम जाता, तभीतक उन्हें मारा जा सकता है। पूरा विश्वास जम जानेपर तो उन्हें मारना असम्भव हो जायगा ।। १८-१९ ।।

एषा मम मतिस्तात निग्रहाय प्रवर्तते ।
साध्वी वा यदि वासाध्वी किं वा राधेय मन्यसे ।। २० ।।

पिताजी! शत्रुओंको वशमें करनेके लिये ये ही उपाय मेरी बुद्धिमें आते हैं; मेरा यह विचार भला है या बुरा, यह आप जानें। अथवा कर्ण! तुम्हारी क्या राय है? ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि दुर्योधनवाक्ये द्विशततमोऽध्यायः ।। २०० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक दो सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०० ।।

एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंको पराक्रमसे दबानेके लिये कर्णकी सम्मति

कर्ण उवाच

दुर्योधन तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मतिः ।
न ह्युपायेन ते शक्याः पाण्डवाः कुरुवर्धन ।। १ ।।

कर्णने कहा—दुर्योधन! मेरे विचारसे तुम्हारी यह सलाह ठीक नहीं है। कुरुवर्धन! ऐसे किसी भी उपायसे पाण्डवोंको वशमें नहीं किया जा सकता ।। १ ।।

पूर्वमेव हि ते सूक्ष्मैरुपायैर्यतितास्त्वया ।
निग्रहीतुं तदा वीर न चैव शकितास्त्वया ।। २ ।।
इहैव वर्तमानास्ते समीपे तव पार्थिव ।
अजातपक्षाः शिशवः शकिता नैव बाधितुम् ।। ३ ।।

वीर! पहले भी तुमने अनेक गुप्त उपायोंद्वारा पाण्डवोंको दबानेकी चेष्टा की है, परंतु उनपर तुम्हारा वश नहीं चल सका। भूपाल! वे जब बच्चे थे और यहीं तुम्हारे पास रहते थे, उस समय उनके पक्षमें कोई नहीं था, तब भी तुम उन्हें बाधा पहुँचानेमें सफल न हो सके ।। २-३ ।।

जातपक्षा विदेशस्था विवृद्धाः सर्वशोऽद्य ते ।
नोपायसाध्याः कौन्तेया ममैषा मतिरच्युत ।। ४ ।।

अब तो वे विदेशमें हैं, उनके पक्षमें बहुत-से लोग हो गये हैं और सब प्रकारसे उनकी बढ़ती हो गयी है। अतः अब वे कुन्तीकुमार तुम्हारे बताये हुए उपायोंद्वारा वशमें आनेवाले नहीं हैं। पुरुषार्थसे कभी च्युत न होनेवाले वीर! मेरा तो यही विचार है ।। ४ ।।

न च ते व्यसनैर्योक्तुं शक्या दिष्टकृतेन च ।
शकिताश्चेप्सवश्चैव पितृपैतामहं पदम् ।। ५ ।।

अब वे संकटमें नहीं डाले जा सकते। भाग्यने उन्हें शक्तिशाली बना दिया है और उनमें अपने बाप-दादोंके राज्यको प्राप्त करनेकी अभिलाषा जाग उठी है ।। ५ ।।

परस्परेण भेदश्च नाधातुं तेषु शक्यते ।
एकस्यां ये रताः पत्न्यां न भिद्यन्ते परस्परम् ।। ६ ।।

उनमें आपसमें भी फूट डालना सम्भव नहीं है। जो (एकराय होकर) एक ही पत्नीमें अनुरक्त हैं, उनमें परस्पर विरोध नहीं हो सकता ।। ६ ।।

न चापि कृष्णा शक्येत तेभ्यो भेदयितुं परः ।
परिद्यूनान् वृतवती किमुताद्य मृजावतः ।। ७ ।।

कृष्णाको भी उनकी ओरसे फूट डालकर विलग करना असम्भव है; क्योंकि जब पाण्डवलोग भिक्षाभोजी होनेके कारण दीन-हीन थे, उस अवस्थामें कृष्णाने उनका वरण किया है; अब तो वे सम्पत्तिशाली होकर स्वच्छ एवं सुन्दर वेषमें रहते हैं, अब वह क्यों उनकी ओरसे विरक्त होगी? ।। ७ ।।

ईप्सितश्च गुणः स्त्रीणामेकस्या बहुभर्तृता ।
तं च प्राप्तवती कृष्णा न सा भेदयितुं क्षमा ।। ८ ।।

प्रायः स्त्रियोंका यह अभीष्ट गुण है कि एक स्त्रीमें अनेक पुरुषोंसे सम्बन्ध स्थापित करनेकी रुचि हो। पाण्डवोंके साथ रहनेमें कृष्णाको यह लाभ स्वतः प्राप्त है; अतः उसके मनमें भेद नहीं उत्पन्न किया जा सकता ।। ८ ।।

आर्यव्रतश्च पाञ्चाल्यो न स राजा धनप्रियः ।
न संत्यक्ष्यति कौन्तेयान् राज्यदानैरपि ध्रुवम् ।। ९ ।।

पांचालराज द्रुपद श्रेष्ठ व्रतका पालन करनेवाले हैं। वे धनके लोभी नहीं हैं। अतः तुम अपना सारा राज्य दे दो, तो भी यह निश्चय है कि वे कुन्ती-पुत्रोंका परित्याग नहीं करेंगे ।। ९ ।।

यथास्य पुत्रो गुणवाननुरक्तश्च पाण्डवान् ।
तस्मान्नोपायसाध्यांस्तानहं मन्ये कथंचन ।। १० ।।

इसी प्रकार उनका पुत्र धृष्टद्युम्न भी गुणवान् तथा पाण्डवोंका प्रेमी है। अतः मैं उन्हें पूर्वोक्त उपायोंसे वशमें करनेयोग्य कदापि नहीं मान सकता ।। १० ।।

इदं त्वद्य क्षमं कर्तुमस्माकं पुरुषर्षभ ।
यावन्न कृतमूलास्ते पाण्डवेया विशाम्पते ।। ११ ।।
तावत् प्रहरणीयास्ते तत् तुभ्यं तात रोचताम् ।
अस्मत्पक्षो महान् यावद् यावत् पाञ्चालको लघुः ।
तावत् प्रहरणं तेषां क्रियतां मा विचारय ।। १२ ।।

'राजन्! इस समय हमारे लिये एक ही उपाय काममें लानेयोग्य है; वे पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव जबतक अपनी जड़ नहीं जमा लेते, तभीतक उनपर प्रहार करना चाहिये। इसीसे वे काबूमें आ सकते हैं।' तात! मैं समझता हूँ, तुम्हें भी यह राय पसंद होगी। जबतक हमारा पक्ष बढ़ा-चढ़ा है और जबतक पांचालराजका बल हमसे कम है, तभीतक उनपर आक्रमण कर दिया जाय। इसमें दूसरा कुछ विचार न करो ।। ११-१२ ।।

वाहनानि प्रभूतानि मित्राणि च कुलानि च ।
यावन्न तेषां गान्धारे तावद् विक्रम पार्थिव ।। १३ ।।

राजन्! गान्धारीनन्दन! जबतक पाण्डवोंके पास बहुत-से वाहन, मित्र और कुटुम्बी नहीं हो जाते, तभीतक तुम उनके ऊपर पराक्रम कर लो ।। १३ ।।

यावच्च राजा पाञ्चाल्यो नोद्यमे कुरुते मनः ।

सह पुत्रैर्महावीर्यैस्तावद् विक्रम पार्थिव ।। १४ ।।

पृथ्वीपते! जबतक पांचालनरेश अपने महा-पराक्रमी पुत्रोंके साथ हमारे ऊपर चढ़ाई करनेका विचार नहीं कर रहे हैं, तभीतक तुम अपना बल-विक्रम प्रकट कर लो ।। १४ ।।

यावन्नायाति वार्ष्णेयः कर्षन् यादववाहिनीम् ।
राज्यार्थे पाण्डवेयानां पाञ्चाल्यसदनं प्रति ।। १५ ।।

इसके लिये तुम्हें तभीतक अवसर है, जबतक कि वृष्णिकुलनन्दन श्रीकृष्ण यदुवंशियोंकी सेना साथ लिये पाण्डवोंको राज्य दिलानेके उद्देश्यसे पांचालराजके घरपर नहीं आ जाते ।। १५ ।।

वसूनि विविधान् भोगान् राज्यमेव च केवलम् ।
नात्याज्यमस्ति कृष्णस्य पाण्डवार्थे कथंचन ।। १६ ।।

पाण्डवोंके लिये श्रीकृष्णकी ओरसे धन-रत्न, भाँति-भाँतिके भोग तथा सारा राज्य—कुछ भी अदेय नहीं है ।। १६ ।।

विक्रमेण मही प्राप्ता भरतेन महात्मना ।
विक्रमेण च लोकांस्त्रीञ्जितवान् पाकशासनः ।। १७ ।।

महात्मा भरतने पराक्रमसे ही यह पृथ्वी प्राप्त की। इन्द्रने पराक्रमसे ही तीनों लोकोंपर विजय पायी ।। १७ ।।

विक्रमं च प्रशंसन्ति क्षत्रियस्य विशाम्पते ।
स्वको हि धर्मः शूराणां विक्रमः पार्थिवर्षभ ।। १८ ।।

राजन्! क्षत्रियके लिये पराक्रमकी ही प्रशंसा की जाती है। नृपश्रेष्ठ! पराक्रम करना ही शूरवीरोंका स्वधर्म है ।। १८ ।।

ते बलेन वयं राजन् महता चतुरङ्गिणा ।
प्रमथ्य द्रुपदं शीघ्रमानयामेह पाण्डवान् ।। १९ ।।

राजन्! हमलोग विशाल चतुरंगिणी सेनाके द्वारा राजा द्रुपदको कुचलकर शीघ्र ही यहाँ पाण्डवोंको कैद कर लायें ।। १९ ।।

न हि साम्ना न दानेन न भेदेन च पाण्डवाः ।
शक्याः साधयितुं तस्माद् विक्रमेणैव ताञ्जहि ।। २० ।।

न सामसे, न दानसे और न भेदकी नीतिसे पाण्डवोंको वशमें किया जा सकता है। अतः उन्हें पराक्रमसे ही नष्ट करो ।। २० ।।

तान् विक्रमेण जित्वेमामखिलां भुङ्क्षव मेदिनीम् ।
अतो नान्यं प्रपश्यामि कार्योपायं जनाधिप ।। २१ ।।

पराक्रमसे पाण्डवोंको जीतकर इस सारी पृथ्वीका राज्य भोगो। नरेश्वर! इसके सिवा दूसरा कोई कार्यसिद्धिका उपाय मैं नहीं देखता ।। २१ ।।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु राधेयवचो धृतराष्ट्रः प्रतापवान् ।
अभिपूज्य ततः पश्चादिदं वचनमब्रवीत् ।। २२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णकी बात सुनकर प्रतापी धृतराष्ट्रने उसकी बड़ी सराहना की और तदनन्तर इस प्रकार कहा— ।। २२ ।।

उपपन्नं महाप्राज्ञे कृतास्त्रे सूतनन्दने ।
त्वयि विक्रमसम्पन्नमिदं वचनमीदृशम् ।। २३ ।।

'कर्ण! तुम परम बुद्धिमान्, अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता और सूतकुलको आनन्दित करनेवाले हो। ऐसा पराक्रमयुक्त वचन तुम्हारे ही योग्य है ।। २३ ।।

भूय एव तु भीष्मश्च द्रोणो विदुर एव च ।
युवां च कुरुतं बुद्धिं भवेद् या नः सुखोदया ।। २४ ।।

'परंतु मेरा विचार है कि भीष्म, द्रोण, विदुर और तुम दोनों एक साथ बैठकर पुनः विचार कर लो तथा कोई ऐसी बात सोच निकालो, जो भविष्यमें भी हमें सुख देनेवाली हो' ।। २४ ।।

तत आनाय्य तान् सर्वान् मन्त्रिणः सुमहायशाः ।
धृतराष्ट्रो महाराज मन्त्रयामास वै तदा ।। २५ ।।

महाराज! तदनन्तर महायशस्वी धृतराष्ट्रने भीष्म, द्रोण आदि सम्पूर्ण मन्त्रियोंको बुलवाकर उनके साथ उस समय विचार आरम्भ किया ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि धृतराष्ट्रमन्त्रणे एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें धृतराष्ट्रमन्त्रणासम्बन्धी दो सौ पहला अध्याय पूरा हुआ ।। २०१ ।।

द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

भीष्मकी दुर्योधनसे पाण्डवोंको आधा राज्य देनेकी सलाह

भीष्म उवाच

न रोचते विग्रहो मे पाण्डुपुत्रैः कथंचन ।
यथैव धृतराष्ट्रो मे तथा पाण्डुरसंशयम् ।। १ ।।

भीष्मजी बोले—मुझे पाण्डवोंके साथ विरोध या युद्ध किसी प्रकार भी पसंद नहीं है। मेरे लिये जैसे धृतराष्ट्र हैं, वैसे ही पाण्डु—इसमें संशय नहीं है ।। १ ।।

गान्धार्याश्च यथा पुत्रास्तथा कुन्तीसुता मम ।
यथा च मम ते रक्ष्या धृतराष्ट्र तथा तव ।। २ ।।

धृतराष्ट्र! जैसे गान्धारीके पुत्र मेरे अपने हैं, उसी प्रकार कुन्तीके पुत्र भी हैं; इसीलिये जैसे मुझे पाण्डवोंकी रक्षा करनी चाहिये, वैसे तुम्हें भी ।। २ ।।

यथा च मम राज्ञश्च तथा दुर्योधनस्य ते ।
तथा कुरूणां सर्वेषामन्येषामपि पार्थिव ।। ३ ।।

भूपाल! मेरे और तुम्हारे लिये जैसे पाण्डवोंकी रक्षा आवश्यक है, वैसे ही दुर्योधन तथा अन्य समस्त कौरवोंको भी उनकी रक्षा करनी चाहिये ।। ३ ।।

एवं गते विग्रहं तैर्न रोचे
संधाय वीरैर्दीयतामर्धभूमिः ।
तेषामपीदं प्रपितामहानां
राज्यं पितुश्चैव कुरूत्तमानाम् ।। ४ ।।

ऐसी दशामें मैं पाण्डवोंके साथ लड़ाई-झगड़ा पसंद नहीं करता। उन वीरोंके साथ संधि करके उन्हें आधा राज्य दे दिया जाय। (दुर्योधनकी ही भाँति) उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंके भी बाप-दादोंका यह राज्य है ।। ४ ।।

दुर्योधन यथा राज्यं त्वमिदं तात पश्यसि ।
मम पैतृकमित्येवं तेऽपि पश्यन्ति पाण्डवाः ।। ५ ।।

तात दुर्योधन! जैसे तुम इस राज्यको अपनी पैतृक सम्पत्तिके रूपमें देखते हो, उसी प्रकार पाण्डव भी देखते हैं ।। ५ ।।

यदि राज्यं न ते प्राप्ताः पाण्डवेया यशस्विनः ।
कुत एव तवापीदं भारतस्यापि कस्यचित् ।। ६ ।।

यदि यशस्वी पाण्डव इस राज्यको नहीं पा सकते तो तुम्हें अथवा भरतवंशके किसी अन्य पुरुषको भी वह कैसे प्राप्त हो सकता है? ।। ६ ।।

अधर्मेण च राज्यं त्वं प्राप्तवान् भरतर्षभ ।

तेऽपि राज्यमनुप्राप्ताः पूर्वमेवेति मे मतिः ।। ७ ।।

भरतश्रेष्ठ! तुमने अधर्मपूर्वक इस राज्यको हथिया लिया है; परंतु मेरा विचार यह है कि तुमसे पहले ही वे भी इस राज्यको पा चुके थे ।। ७ ।।

मधुरेणैव राज्यस्य तेषामर्धं प्रदीयताम् ।
एतद्धि पुरुषव्याघ्र हितं सर्वजनस्य च ।। ८ ।।

पुरुषसिंह! प्रेमपूर्वक ही उन्हें आधा राज्य दे दो। इसीमें सब लोगोंका हित है ।। ८ ।।

अतोऽन्यथा चेत् क्रियते न हितं नो भविष्यति ।
तवाप्यकीर्तिः सकला भविष्यति न संशयः ।। ९ ।।

यदि इसके विपरीत कुछ किया जायगा तो हमारी भलाई नहीं हो सकती और तुम्हें भी पूरा-पूरा अपयश मिलेगा—इसमें संशय नहीं है ।। ९ ।।

कीर्तिरक्षणमातिष्ठ कीर्तिर्हि परमं बलम् ।
नष्टकीर्तेर्मनुष्यस्य जीवितं ह्यफलं स्मृतम् ।। १० ।।

अतः अपनी कीर्तिकी रक्षा करो, कीर्ति ही श्रेष्ठ बल है; जिसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है, उस मनुष्यका जीवन निष्फल माना गया है ।। १० ।।

यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य न प्रणश्यति कौरव ।
तावज्जीवति गान्धारे नष्टकीर्तिस्तु नश्यति ।। ११ ।।

गन्धारीनन्दन! कुरुश्रेष्ठ! मनुष्यकी कीर्ति जबतक नष्ट नहीं होती, तभीतक वह जीवित है; जिसकी कीर्ति नष्ट हो गयी, उसका तो जीवन ही नष्ट हो जाता है ।। ११ ।।

तमिमं समुपातिष्ठ धर्मं कुरुकुलोचितम् ।
अनुरूपं महाबाहो पूर्वेषामात्मनः कुरु ।। १२ ।।

महाबाहो! कुरुकुलके लिये उचित इस उत्तम धर्मका पालन करो। अपने पूर्वजोंके अनुरूप कार्य करते रहो ।। १२ ।।

दिष्टया ध्रियन्ते पार्था हि दिष्टया जीवति सा पृथा ।
दिष्टया पुरोचनः पापो न सकामोऽत्ययं गतः ।। १३ ।।

सौभाग्यकी बात है कि कुन्तीके पुत्र जीवित हैं; यह भी सौभाग्यकी ही बात है कि कुन्ती भी मरी नहीं है और सबसे बड़े सौभाग्यका विषय यह है कि पापी पुरोचन अपने (बुरे) इरादेमें सफल न होकर स्वयं नष्ट हो गया ।। १३ ।।

यदा प्रभृति दग्धास्ते कुन्तिभोजसुतासुताः ।
तदा प्रभृति गान्धारे न शक्नोम्यभिवीक्षितुम् ।। १४ ।।
लोके प्राणभृतां कंचिच्छ्रुत्वा कुन्तीं तथागताम् ।
न चापि दोषेण तथा लोको मन्येत् पुरोचनम् ।
यथा त्वां पुरुषव्याघ्र लोको दोषेण गच्छति ।। १५ ।।

गान्धारीकुमार! जबसे मैंने सुना कि कुन्तीके पुत्र लाक्षागृहकी आगमें जल गये तथा कुन्ती भी उसी अवस्थाको प्राप्त हुई है, तभीसे मैं (लज्जाके मारे) जगत्‌के किसी भी प्राणीकी ओर आँख उठाकर देख नहीं सकता था। नरश्रेष्ठ! लोग इस कार्यके लिये पुरोचनको उतना दोषी नहीं मानते, जितना तुम्हें दोषी समझते हैं ।। १४-१५ ।।

तदिदं जीवितं तेषां तव किल्बिषनाशनम् ।

सम्मन्तव्यं महाराज पाण्डवानां च दर्शनम् ।। १६ ।।

अतः महाराज! पाण्डवोंका यह जीवित रहना और उनका दर्शन होना वास्तवमें तुम्हारे ऊपर लगे हुए कलंकका नाश करनेवाला है, ऐसा मानना चाहिये ।। १६ ।।

न चापि तेषां वीराणां जीवतां कुरुनन्दन ।

पित्र्योंऽशः शक्य आदातुमपि वज्रभृता स्वयम् ।। १७ ।।

कुरुनन्दन! पाण्डववीरोंके जीते-जी उनका पैतृक अंश साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी नहीं ले सकते ।। १७ ।।

ते सर्वेऽवस्थिता धर्मे सर्वे चैवैकचेतसः ।

अधर्मेण निरस्ताश्च तुल्ये राज्ये विशेषतः ।। १८ ।।

वे सब धर्ममें स्थित हैं; उन सबका एक चित्त—एक विचार है। इस राज्यपर तुम्हारा और उनका समान स्वत्व है, तो भी उनके साथ विशेष अधर्मपूर्ण बर्ताव करके उन्हें यहाँसे हटाया गया है ।। १८ ।।

यदि धर्मस्त्वया कार्यो यदि कार्यं प्रियं च मे ।

क्षेमं च यदि कर्तव्यं तेषामर्धं प्रदीयताम् ।। १९ ।।

यदि तुम्हें धर्मके अनुकूल चलना है, यदि मेरा प्रिय करना है और यदि (संसारमें) भलाई करनी है, तो उन्हें आधा राज्य दे दो ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि भीष्मवाक्ये द्वयधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें भीष्मवाक्यविषयक दो सौ दूसरा अध्याय पूरा हुआ ।। २०२ ।।

त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यकी पाण्डवोंको उपहार भेजने और बुलानेकी सम्मति तथा कर्णके द्वारा उनकी सम्मतिका विरोध करनेपर द्रोणाचार्यकी फटकार

द्रोण उवाच

मन्त्राय समुपानीतैर्धृतराष्ट्र हितैर्नृप ।
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च वाच्यमित्यनुशुश्रुम ।। १ ।।

द्रोणाचार्यने कहा—राजा धृतराष्ट्र! सलाह लेनेके लिये बुलाये हुए हितैषियोंको उचित है कि वे ऐसी बात कहें, जो धर्म, अर्थ और यशकी प्राप्ति करानेवाली हो—यह हम परम्परासे सुनते आये हैं ।। १ ।।

ममाप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मनः ।
संविभज्यास्तु कौन्तेया धर्म एष सनातनः ।। २ ।।

तात! मेरी भी वही सम्मति है, जो महात्मा भीष्मकी है। कुन्तीके पुत्रोंको आधा राज्य बाँट देना चाहिये, यही परम्परासे चला आनेवाला धर्म है ।। २ ।।

प्रेष्यतां द्रुपदायाशु नरः कश्चित् प्रियंवदः ।
बहुलं रत्नमादाय तेषामर्थाय भारत ।। ३ ।।

भारत! द्रुपदके पास शीघ्र ही कोई प्रिय वचन बोलनेवाला मनुष्य भेजा जाय और वह पाण्डवोंके लिये बहुत-से रत्नोंकी भेंट लेकर जाय ।। ३ ।।

मिथः कृत्यं च तस्मै स आदाय वसु गच्छतु ।
वृद्धिं च परमां ब्रूयात् त्वत्संयोगोद्भवां तथा ।। ४ ।।
सम्प्रीयमाणं त्वां ब्रूयाद राजन् दुर्योधनं तथा ।
असकृद् द्रुपदे चैव धृष्टद्युम्ने च भारत ।। ५ ।।

राजा द्रुपदके पास बहूके लिये वरपक्षकी ओरसे उसे धन और रत्न लेकर जाना चाहिये। भारत! उस पुरुषको राजा द्रुपद और धृष्टद्युम्नके सामने बार-बार यह कहना चाहिये कि आपके साथ सम्बन्ध हो जानेसे राजा धृतराष्ट्र और दुर्योधन अपना बड़ा अभ्युदय मान रहे हैं और उन्हें इस वैवाहिक सम्बन्धसे बड़ी प्रसन्नता हुई है ।। ४-५ ।।

उचितत्वं प्रियत्वं च योगस्यापि च वर्णयेत् ।
पुनः पुनश्च कौन्तेयान् माद्रीपुत्रौ च सान्त्वयन् ।। ६ ।।

इसी प्रकार वह कुन्ती और माद्रीके पुत्रोंको सान्त्वना देते हुए बार-बार इस सम्बन्धके उचित और प्रिय होनेकी चर्चा करे ।। ६ ।।

हिरण्मयानि शुभ्राणि बहून्याभरणानि च ।
वचनात् तव राजेन्द्र द्रौपद्याः सम्प्रयच्छतु ।। ७ ।।

राजेन्द्र! वह आपकी आज्ञासे द्रौपदीके लिये बहुत-से सुन्दर सुवर्णमय आभूषण अर्पित करे ।। ७ ।।

तथा द्रुपदपुत्राणां सर्वेषां भरतर्षभ ।
पाण्डवानां च सर्वेषां कुन्त्या युक्तानि यानि च ।। ८ ।।

भरतश्रेष्ठ! द्रुपदके सभी पुत्रों, समस्त पाण्डवों और कुन्तीके लिये भी जो उपयुक्त आभूषण आदि हों, उन्हें भी वह अर्पित करे ।। ८ ।।

एवं सान्त्वसमायुक्तं द्रुपदं पाण्डवैः सह ।
उक्त्वा सोऽनन्तरं ब्रूयात् तेषामागमनं प्रति ।। ९ ।।

इस प्रकार (उपहार देनेके पश्चात्) पाण्डवोंसहित द्रुपदसे सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर अन्तमें वह पाण्डवोंके हस्तिनापुरमें आनेके विषयमें प्रस्ताव करे ।। ९ ।।

अनुज्ञातेषु वीरेषु बलं गच्छतु शोभनम् ।
दुःशासनो विकर्णश्चाप्यानेतुं पाण्डवानिह ।। १० ।।

जब द्रुपदकी ओरसे पाण्डववीरोंको यहाँ आनेकी अनुमति मिल जाय, तब एक अच्छी-सी सेना साथ ले दुःशासन और विकर्ण पाण्डवोंको यहाँ ले आनेके लिये जायँ ।। १० ।।

ततस्ते पाण्डवाः श्रेष्ठाः पूज्यमानाः सदा त्वया ।
प्रकृतीनामनुमते पदे स्थास्यन्ति पैतृके ।। ११ ।।

यहाँ आनेके पश्चात् वे श्रेष्ठ पाण्डव आपके द्वारा सदा आदर-सत्कार प्राप्त करते हुए प्रजाकी इच्छाके अनुसार वे अपने पैतृक राज्यपर प्रतिष्ठित होंगे ।। ११ ।।

एतत् तव महाराज पुत्रेषु तेषु चैव हि ।
वृत्तमौपयिकं मन्ये भीष्मेण सह भारत ।। १२ ।।

भरतवंशी महाराज! आपको अपने पुत्रों और पाण्डवोंके प्रति उपर्युक्त व्यवहार ही करना चाहिये—भीष्मजीके साथ मैं भी यही उचित समझता हूँ ।। १२ ।।

कर्ण उवाच

योजितावर्थमानाभ्यां सर्वकार्येष्वनन्तरौ ।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः किमद्भुततरं ततः ।। १३ ।।

कर्ण बोला—महाराज! भीष्मजी और द्रोणाचार्यको आपकी ओरसे सदा धन और सम्मान प्राप्त होता रहता है। इन्हें आप अपना अन्तरंग सुहृद् समझकर सभी कार्योंमें इनकी सलाह लेते हैं। फिर भी यदि ये आपके भलेकी सलाह न दें तो इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है? ।। १३ ।।

दुष्टेन मनसा यो वै प्रच्छन्नेनान्तरात्मना ।

ब्रूयान्निःश्रेयसं नाम कथं कुर्यात् सतां मतम् ।। १४ ।।

जो अपने अन्तःकरणके दुर्भावको छिपाकर, दोषयुक्त हृदयसे कोई सलाह देता है, वह अपने ऊपर विश्वास करनेवाले साधुपुरुषोंके अभीष्ट कल्याणकी सिद्धि कैसे कर सकता है? ।। १४ ।।

न मित्राण्यर्थकृच्छ्रेषु श्रेयसे चेतराय वा ।
विधिपूर्वं हि सर्वस्य दुःखं वा यदि वा सुखम् ।। १५ ।।

मित्र भी अर्थसंकटके समय अथवा किसी कामकी कठिनाई आ पड़नेपर न तो कल्याण कर सकते हैं और न अकल्याण ही। सभीके लिये दुःख या सुखकी प्राप्ति भाग्यके अनुसार ही होती है ।। १५ ।।

कृतप्रज्ञोऽकृतप्रज्ञो बालो वृद्धश्च मानवः ।
ससहायोऽसहायश्च सर्वं सर्वत्र विन्दति ।। १६ ।।

मनुष्य बुद्धिमान् हो या मूर्ख, बालक हो या वृद्ध तथा सहायकोंके साथ हो या असहाय, वह दैवयोगसे सर्वत्र सब कुछ पा लेता है ।। १६ ।।

श्रूयते हि पुरा कश्चिदम्बुवीच इतीश्वरः ।
आसीद् राजगृहे राजा मागधानां महीक्षिताम् ।। १७ ।।

सुना है, पहले राजगृहमें अम्बुवीच नामसे प्रसिद्ध एक राजा राज्य करते थे। वे मागध राजाओंमेंसे एक थे ।। १७ ।।

स हीनः करणैः सर्वैरुच्छ्‌वासपरमो नृपः ।
अमात्यसंस्थः सर्वेषु कार्येष्वेवाभवत् तदा ।। १८ ।।

उनकी कोई भी इन्द्रिय कार्य करनेमें समर्थ नहीं थी, वे (श्वासके रोगसे पीड़ित हो) एक स्थानपर पड़े-पड़े लंबी साँसें खींचा करते थे; अतः प्रत्येक कार्यमें उन्हें मन्त्रीके ही अधीन रहना पड़ता था ।। १८ ।।

तस्यामात्यो महाकर्णिर्बभूवैकेश्वरस्तदा ।
स लब्धबलमात्मानं मन्यमानोऽवमन्यते ।। १९ ।।

उनके मन्त्रीका नाम था महाकर्णि। उन दिनों वही वहाँका एकमात्र राजा बन बैठा था। उसे सैनिक बल प्राप्त था, अतः अपनेको सबल मानकर राजाकी अवहेलना करता था ।। १९ ।।

स राज्ञ उपभोग्यानि स्त्रियो रत्नधनानि च ।
आददे सर्वशो मूढ ऐश्वर्यं च स्वयं तदा ।। २० ।।

वह मूढ मन्त्री राजाके उपभोगमें आनेयोग्य स्त्री, रत्न, धन तथा ऐश्वर्यको भी स्वयं ही भोगता था ।। २० ।।

तदादाय च लुब्धस्य लोभाल्लोभोऽप्यवर्धत ।
तथा हि सर्वमादाय राज्यमस्य जिहीर्षति ।। २१ ।।

वह सब पाकर उस लोभीका लोभ उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इस प्रकार सारी चीजें लेकर वह उनके राज्यको भी हड़प लेनेकी इच्छा करने लगा ।। २१ ।।

हीनस्य करणैः सर्वैरुच्छ्वासपरमस्य च ।
यतमानोऽपि तद् राज्यं न शशाकेति नः श्रुतम् ।। २२ ।।

यद्यपि राजा सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी शक्तिसे रहित होनेके कारण केवल ऊपरको साँस ही खींचा करता था, तथापि अत्यन्त प्रयत्न करनेपर भी वह दुष्ट मन्त्री उनका राज्य न ले सका—यह बात हमने सुन रखी है ।। २२ ।।

किमन्यद् विहिता नूनं तस्य सा पुरुषेन्द्रता ।
यदि ते विहितं राज्यं भविष्यति विशाम्पते ।। २३ ।।
मिषतः सर्वलोकस्य स्थास्यते त्वयि तद् ध्रुवम् ।
अतोऽन्यथा चेद् विहितं यतमानो न लप्स्यसे ।। २४ ।।

राजाका राजत्व भाग्यसे ही सुरक्षित था (उनके प्रयत्नसे नहीं;) (अतः) भाग्यसे बढ़कर दूसरा सहारा क्या हो सकता है? महाराज! यदि आपके भाग्यमें राज्य बदा होगा तो सब लोगोंके देखते-देखते वह निश्चय ही आपके पास रहेगा और यदि भाग्यमें राज्यका विधान नहीं है, तो आप यत्न करके भी उसे नहीं पा सकेंगे ।। २३-२४ ।।

एवं विद्वन्नुपादत्स्व मन्त्रिणां साध्वसाधुताम् ।
दुष्टानां चैव बोद्धव्यमदुष्टानां च भाषितम् ।। २५ ।।

राजन्! आप समझदार हैं, अतः इसी प्रकार विचार करके अपने मन्त्रियोंकी साधुता और असाधुताको समझ लीजिये। किसने दूषित हृदयसे सलाह दी है और किसने दोषशून्य हृदयसे, इसे भी जान लेना चाहिये ।। २५ ।।

द्रोण उवाच

विद्म ते भावदोषेण यदर्थमिदमुच्यते ।
दुष्ट पाण्डवहेतोस्त्वं दोषमाख्यापयस्युत ।। २६ ।।

द्रोणाचार्यने कहा—ओ दुष्ट! तू क्यों ऐसी बात कहता है, यह हम जानते हैं। पाण्डवोंके लिये तेरे हृदयमें जो द्वेष संचित है, उसीसे प्रेरित होकर तू मेरी बातोंमें दोष बता रहा है ।। २६ ।।

हितं तु परमं कर्ण ब्रवीमि कुलवर्धनम् ।
अथ त्वं मन्यसे दुष्टं ब्रूहि यत् परमं हितम् ।। २७ ।।

कर्ण! मैं अपनी समझसे कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाली परम हितकी बात कहता हूँ। यदि तू इसे दोषयुक्त मानता है तो बता, क्या करनेसे कौरवोंका परम हित होगा? ।। २७ ।।

अतोऽन्यथा चेत् क्रियते यद् ब्रवीमि परं हितम् ।
कुरवो वै विनङ्क्षयक्ष्यन्ति नचिरेणैव मे मतिः ।। २८ ।।

मैं अत्यन्त हितकी बात बता रहा हूँ। यदि उसके विपरीत कुछ किया जायगा तो कौरवोंका शीघ्र ही नाश हो जायगा—ऐसा मेरा मत है ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि द्रोणवाक्ये त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें द्रोणवाक्यविषयक दो सौ तीसरा अध्याय पूरा हुआ ।। २०३ ।।

चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः

विदुरजीकी सम्मति—द्रोण और भीष्मके वचनोंका ही समर्थन

विदुर उवाच

राजन् निःसंशयं श्रेयो वाच्यस्त्वमसि बान्धवैः ।
न त्वशुश्रूषमाणे वै वाक्यं सम्प्रतितिष्ठति ।। १ ।।

विदुरजी बोले—राजन्! आपके (हितैषी) बान्धवोंका यह कर्तव्य है कि वे आपको संदेहरहित हितकी बात बतायें। परंतु आप सुनना नहीं चाहते, इसलिये आपके भीतर उनकी कही हुई हितकी बात भी ठहर नहीं पा रही है ।। १ ।।

प्रियं हितं च तद् वाक्यमुक्तवान् कुरुसत्तमः ।
भीष्मः शांतनवो राजन् प्रतिगृह्णासि तन्न च ।। २ ।।
तथा द्रोणेन बहुधा भाषितं हितमुत्तमम् ।
तच्च राधासुतः कर्णो मन्यते न हितं तव ।। ३ ।।

राजन्! कुरुश्रेष्ठ शंतनुनन्दन भीष्मने आपसे प्रिय और हितकी बात कही है; परंतु आप उसे ग्रहण नहीं कर रहे हैं। इसी प्रकार आचार्य द्रोणने अनेक प्रकारसे आपके लिये उत्तम हितकी बात बतायी है; किंतु राधानन्दन कर्ण उसे आपके लिये हितकर नहीं मानते ।। २-३ ।।

चिन्तयंश्च न पश्यामि राजंस्तव सुहृत्तमम् ।
आभ्यां पुरुषसिंहाभ्यां यो वा स्यात् प्रज्ञयाधिकः ।। ४ ।।

महाराज! मैं बहुत सोचने-विचारनेपर भी आपके किसी ऐसे परम सुहृद् व्यक्तिको नहीं देखता, जो इन दोनों वीर महापुरुषोंसे बुद्धि या विचारशक्तिमें अधिक हो ।। ४ ।।

इमौ हि वृद्धौ वयसा प्रज्ञया च श्रुतेन च ।
समौ च त्वयि राजेन्द्र तथा पाण्डुसुतेषु च ।। ५ ।।

राजेन्द्र! अवस्था, बुद्धि और शास्त्रज्ञान—सभी बातोंमें ये दोनों बढ़े-चढ़े हैं और आपमें तथा पाण्डवोंमें समानभाव रखते हैं ।। ५ ।।

धर्मे चानवरौ राजन् सत्यतायां च भारत ।
रामाद् दाशरथेश्चैव गयाच्चैव न संशयः ।। ६ ।।

भरतवंशी नरेश! ये दोनों धर्म और सत्यवादितामें दशरथनन्दन श्रीराम तथा राजा गयसे कम नहीं हैं। मेरा यह कथन सर्वथा संशयरहित है ।। ६ ।।

न चोक्तवन्तावश्रेयः पुरस्तादपि किंचन ।

न चाप्यपकृतं किंचिदनयोर्लक्ष्यते त्वयि ।। ७ ।।

उन्होंने आपके सामने भी (कभी) कोई ऐसी बात नहीं कही होगी, जो आपके लिये अनिष्टकारक सिद्ध हुई हो तथा इनके द्वारा आपका कुछ अपकार हुआ हो, ऐसा भी देखनेमें नहीं आता ।। ७ ।।

तावुभौ पुरुषव्याघ्रावनागसि नृपे त्वयि ।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः कथं सत्यपराक्रमौ ।। ८ ।।

महाराज! आपने भी इनका कोई अपराध नहीं किया है; फिर ये दोनों सत्यपराक्रमी पुरुषसिंह आपको हितकारक सलाह न दें, यह कैसे हो सकता है? ।। ८ ।।

प्रज्ञावन्तौ नरश्रेष्ठावस्मिँल्लोके नराधिप ।
त्वन्निमित्तमतो नेमौ किंचिज्जिह्मं वदिष्यतः ।। ९ ।।

नरेश्वर! ये दोनों इस लोकमें नरश्रेष्ठ और बुद्धिमान् हैं, अतः आपके लिये ये कोई कुटिलतापूर्ण बात नहीं कहेंगे ।। ९ ।।

इति मे नैष्ठिकी बुद्धिर्वर्तते कुरुनन्दन ।
न चार्थहेतोर्धर्मज्ञौ वक्ष्यतः पक्षसंश्रितम् ।। १० ।।

कुरुनन्दन! इनके विषयमें मेरा यह निश्चित विचार है कि ये दोनों धर्मके ज्ञाता महापुरुष हैं, अतः स्वार्थके लिये किसी एक ही पक्षको लाभ पहुँचाने-वाली बात नहीं कहेंगे ।। १० ।।

एतद्धि परमं श्रेयो मन्येऽहं तव भारत ।
दुर्योधनप्रभृतयः पुत्रा राजन् यथा तव ।। ११ ।।
तथैव पाण्डवेयास्ते पुत्रा राजन् न संशयः ।
तेषु चेदहितं किंचिन्मन्त्रयेयुरतद्विदः ।। १२ ।।
मन्त्रिणस्ते न च श्रेयः प्रपश्यन्ति विशेषतः ।
अथ ते हृदये राजन् विशेषः स्वेषु वर्तते ।
अन्तरस्थं विवृण्वानाः श्रेयः कुर्युर्न ते ध्रुवम् ।। १३ ।।

भारत! इन्होंने जो सम्मति दी है, इसीको मैं आपके लिये परम कल्याणकारक मानता हूँ। महाराज! जैसे दुर्योधन आदि आपके पुत्र हैं, वैसे ही पाण्डव भी आपके पुत्र हैं—इसमें संशय नहीं है। इस बातको न जाननेवाले कुछ मन्त्री यदि आपको पाण्डवोंके अहितकी सलाह दें तो यह कहना पड़ेगा कि वे मन्त्रीलोग, आपका कल्याण किस बातमें है, यह विशेषरूपमें नहीं देख पा रहे हैं। राजन्! यदि आपके हृदयमें अपने पुत्रोंपर विशेष पक्षपात है तो आपके भीतरके छिपे हुए भावको बाहर सबके सामने प्रकट करनेवाले लोग निश्चय ही आपका भला नहीं कर सकते ।। ११—१३ ।।

एतदर्थमिमौ राजन् महात्मानौ महाद्युती ।
नोचतुर्विवृतं किंचिन्न ह्येष तव निश्चयः ।। १४ ।।

महाराज! इसीलिये ये दोनों महातेजस्वी महात्मा आपके सामने कुछ खोलकर नहीं कह सके हैं। इन्होंने आपको ठीक ही सलाह दी है; परंतु आप उसे निश्चितरूपसे स्वीकार नहीं करते हैं ।। १४ ।।

यच्चाप्यशक्यतां तेषामाहतुः पुरुषर्षभौ ।
तत् तथा पुरुषव्याघ्र तव तद् भद्रमस्तु ते ।। १५ ।।

इन पुरुषशिरोमणियोंने जो पाण्डवोंके अजेय होनेकी बात बतायी है, वह बिलकुल ठीक है। पुरुषसिंह! आपका कल्याण हो ।। १५ ।।

कथं हि पाण्डवः श्रीमान् सव्यसाची धनंजयः ।
शक्यो विजेतुं संग्रामे राजन् मघवतापि हि ।। १६ ।।

राजन्! दायें-बायें दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाले श्रीमान् पाण्डुकुमार धनंजयको साक्षात् इन्द्र भी युद्धमें कैसे जीत सकते हैं? ।। १६ ।।

भीमसेनो महाबाहुर्नागायुतबलो महान् ।
कथं स्म युधि शक्येत विजेतुममरैरपि ।। १७ ।।

दस हजार हाथियोंके समान महान् बलवान् महाबाहु भीमसेनको युद्धमें देवता भी कैसे जीत सकते हैं? ।। १७ ।।

तथैव कृतिनौ युद्धे यमौ यमसुताविव ।
कथं विजेतुं शक्यौ तौ रणे जीवितुमिच्छता ।। १८ ।।

इसी प्रकार जो जीवित रहना चाहता है, उसके द्वारा युद्धमें निपुण तथा यमराजके पुत्रोंकी भाँति भयंकर दोनों भाई नकुल-सहदेव कैसे जीते जा सकते हैं? ।। १८ ।।

यस्मिन् धृतिरनुक्रोशः क्षमा सत्यं पराक्रमः ।
नित्यानि पाण्डवे ज्येष्ठे स जीयेत रणे कथम् ।। १९ ।।

जिन ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरमें धैर्य, दया, क्षमा, सत्य और पराक्रम आदि गुण नित्य निवास करते हैं, उन्हें रणभूमिमें कैसे हराया जा सकता है? ।। १९ ।।

येषां पक्षधरो रामो येषां मन्त्री जनार्दनः ।
किं नु तैरजितं संख्ये येषां पक्षे च सात्यकिः ।। २० ।।

बलरामजी जिनके पक्षपाती हैं, भगवान् श्रीकृष्ण जिनके सलाहकार हैं तथा जिनके पक्षमें सात्यकि-जैसा वीर है, वे पाण्डव युद्धमें किसे नहीं परास्त कर देंगे? ।। २० ।।

द्रुपदः श्वशुरो येषां येषां श्यालाश्च पार्षताः ।
धृष्टद्युम्नमुखा वीरा भ्रातरो द्रुपदात्मजाः ।। २१ ।।
सोऽशक्यतां च विज्ञाय तेषामग्रे च भारत ।
दायाद्यतां च धर्मेण सम्यक् तेषु समाचर ।। २२ ।।

द्रुपद जिनके श्वशुर हैं और उनके पुत्र पृषतवंशी धृष्टद्युम्न आदि वीर भ्राता जिनके साले हैं, भारत! ऐसे पाण्डवोंको रणभूमिमें जीतना असम्भव है। इस बातको जानकर तथा पहले

उनके पिताका राज्य होनेके कारण वे ही धर्मपूर्वक इस राज्यके उत्तराधिकारी हैं, इस बातकी ओर ध्यान देकर आप उनके साथ उत्तम बर्ताव कीजिये ।। २१-२२ ।।

इदं निर्दिष्टमयशः पुरोचनकृतं महत् ।
तेषामनुग्रहेणाद्य राजन् प्रक्षालयात्मनः ।। २३ ।।

राजन्! पुरोचनके हाथों जो कुछ कराया गया, उससे आपका बहुत बड़ा अपयश सब ओर फैल गया है। अपने उस कलंकको आज आप पाण्डवोंपर अनुग्रह करके धो डालिये ।। २३ ।।

तेषामनुग्रहश्चायं सर्वेषां चैव नः कुले ।
जीवितं च परं श्रेयः क्षत्रस्य च विवर्धनम् ।। २४ ।।

पाण्डवोंपर किया हुआ यह अनुग्रह हमारे कुलके सभी लोगोंके जीवनका रक्षक, परम हितकारक और सम्पूर्ण क्षत्रिय जातिका अभ्युदय करनेवाला होगा ।। २४ ।।

द्रुपदोऽपि महान् राजा कृतवैरश्च नः पुरा ।
तस्य संग्रहणं राजन् स्वपक्षस्य विवर्धनम् ।। २५ ।।

राजन्! द्रुपद भी बहुत बड़े राजा हैं और पहले हमारे साथ उनका वैर भी हो चुका है। अतः मित्रके रूपमें उनका संग्रह हमारे अपने पक्षकी वृद्धिका कारण होगा ।। २५ ।।

बलवन्तश्च दाशार्हा बहवश्च विशाम्पते ।
यतः कृष्णस्ततः सर्वे यतः कृष्णस्ततो जयः ।। २६ ।।

पृथ्वीपते! यदुवंशियोंकी संख्या बहुत है और वे बलवान् भी हैं। जिस ओर श्रीकृष्ण रहेंगे, उधर ही वे सभी रहेंगे। इसलिये जिस पक्षमें श्रीकृष्ण होंगे, उस पक्षकी विजय अवश्य होगी ।। २६ ।।

यच्च साम्नैव शक्येत कार्यं साधयितुं नृप ।
को दैवशप्तस्तत् कार्यं विग्रहेण समाचरेत् ।। २७ ।।

महाराज! जो कार्य शान्तिपूर्वक समझाने-बुझानेसे ही सिद्ध हो जा सकता है, उसीको कौन दैवका मारा हुआ मनुष्य युद्धके द्वारा सिद्ध करेगा ।। २७ ।।

श्रुत्वा च जीवतः पार्थान् पौरजानपदा जनाः ।
बलवद् दर्शने हृष्टास्तेषां राजन् प्रियं कुरु ।। २८ ।।

कुन्तीके पुत्रोंको जीवित सुनकर नगर और जनपदके सभी लोग उन्हें देखनेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो रहे हैं। राजन्! उन सबका प्रिय कीजिये ।। २८ ।।

दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ।
अधर्मयुक्ता दुष्प्रज्ञा बाला मैषां वचः कृथाः ।। २९ ।।

दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि—ये अधर्मपरायण, खोटी बुद्धिवाले और मूर्ख हैं; अतः इनका कहना न मानिये ।। २९ ।।

उक्तमेतत् पुरा राजन् मया गुणवतस्तव ।

दुर्योधनापराधेन प्रजेयं वै विनङ्क्ष्यति ।। ३० ।।

भूपाल! आप गुणवान् हैं। आपसे तो मैंने पहले ही यह कह दिया था कि दुर्योधनके अपराधसे निश्चय ही यह समस्त प्रजा नष्ट हो जायगी ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि विदुरवाक्ये चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें विदुरवाक्यविषयक दो सौ चौथा अध्याय पूरा हुआ ।। २०४ ।।

पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे विदुरका द्रुपदके यहाँ जाना और पाण्डवोंको हस्तिनापुर भेजनेका प्रस्ताव करना

धृतराष्ट्र उवाच

भीष्मः शांतनवो विद्वान् द्रोणश्च भगवानृषिः ।
हितं च परमं वाक्यं त्वं च सत्यं ब्रवीषि माम् ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! शंतनुनन्दन भीष्म ज्ञानी हैं और भगवान् द्रोणाचार्य तो ऋषि ही ठहरे। अतः इनका वचन परम हितकारक है। तुम भी मुझसे जो कुछ कहते हो, वह सत्य ही है ।। १ ।।

यथैव पाण्डोस्ते वीराः कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
तथैव धर्मतः सर्वे मम पुत्रा न संशयः ।। २ ।।

कुन्तीके वीर महारथी पुत्र जैसे पाण्डुके लड़के हैं, उसी प्रकार धर्मकी दृष्टिसे वे सब मेरे भी पुत्र हैं—इसमें संशय नहीं है ।। २ ।।

यथैव मम पुत्राणामिदं राज्यं विधीयते ।
तथैव पाण्डुपुत्राणामिदं राज्यं न संशयः ।। ३ ।।

जैसे मेरे पुत्रोंका यह राज्य कहा जाता है, उसी प्रकार पाण्डुपुत्रोंका भी यह राज्य है—इसमें भी संशय नहीं है ।। ३ ।।

क्षत्तरानय गच्छैतान् सह मात्रा सुसत्कृतान् ।
तया च देवरूपिण्या कृष्णया सह भारत ।। ४ ।।

भरतवंशी विदुर! अब तुम्हीं जाओ और उनकी माता कुन्ती तथा उस देवरूपिणी वधू कृष्णाके साथ इन पाण्डवोंको सत्कारपूर्वक ले आओ ।। ४ ।।

दिष्टया जीवन्ति ते पार्था दिष्टया जीवति सा पृथा ।
दिष्टया द्रुपदकन्यां च लब्धवन्तो महारथाः ।। ५ ।।

सौभाग्यकी बात है कि वे कुन्तीपुत्र जीवित हैं। सौभाग्यसे ही कुन्ती भी जीवित है और यह भी बड़े सौभाग्यकी बात है कि उन महारथियोंने द्रुपदकन्याको प्राप्त कर लिया ।। ५ ।।

दिष्टया वर्धामहे सर्वे दिष्टया शान्तः पुरोचनः ।
दिष्टया मम परं दुःखमपनीतं महाद्युते ।। ६ ।।

महाद्युते! सौभाग्यसे हम सबकी वृद्धि हो रही है। भाग्यकी बात है कि पापी पुरोचन शान्त हो गया और सौभाग्यसे ही मेरा महान् दुःख मिट गया ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रस्य शासनात् ।
सकाशं यज्ञसेनस्य पाण्डवानां च भारत ।। ७ ।।
समुपादाय रत्नानि वसूनि विविधानि च ।
द्रौपद्याः पाण्डवानां च यज्ञसेनस्य चैव ह ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे विदुरजी द्रौपदी, पाण्डव तथा महाराज यज्ञसेनके लिये नाना प्रकारके धन-रत्नोंकी भेंट लेकर राजा द्रुपद और पाण्डवोंके समीप गये ।। ७-८ ।।

तत्र गत्वा स धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
द्रुपदं न्यायतो राजन् संयुक्तमुपतस्थिवान् ।। ९ ।।

राजन्! वहाँ पहुँचकर सम्पूर्ण शास्त्रोंके विद्वान् एवं धर्मज्ञ विदुर न्यायके अनुसार बड़े-छोटेके क्रमसे द्रुपद और अन्य लोगोंके साथ हृदयसे लगकर नमस्कार आदिपूर्वक मिले ।। ९ ।।

स चापि प्रतिजग्राह धर्मेण विदुरं ततः ।
चक्रतुश्च यथान्यायं कुशलप्रश्नसंविदम् ।। १० ।।

राजा द्रुपदने भी धर्मके अनुसार विदुरजीका आदर-सत्कार किया। फिर वे दोनों यथोचित रीतिसे एक-दूसरेके कुशल-समाचार पूछने और कहने लगे ।। १० ।।

ददर्श पाण्डवांस्तत्र वासुदेवं च भारत ।
स्नेहात् परिष्वज्य स तान् पप्रच्छानामयं ततः ।। ११ ।।

भारत! विदुरजीने वहाँ पाण्डवों तथा वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको भी देखा और स्नेहपूर्वक उन्हें हृदयसे लगाकर उन सबकी कुशल पूछी ।। ११ ।।

तैश्चाप्यमितबुद्धिः स पूजितो हि यथाक्रमम् ।
वचनाद् धृतराष्ट्रस्य स्नेहयुक्तं पुनः पुनः ।। १२ ।।
पप्रच्छानामयं राजंस्ततस्तान् पाण्डुनन्दनान् ।
प्रददौ चापि रत्नानि विविधानि वसूनि च ।। १३ ।।
पाण्डवानां च कुन्त्याश्च द्रौपद्याश्च विशाम्पते ।
द्रुपदस्य च पुत्राणां यथा दत्तानि कौरवैः ।। १४ ।।

उन्होंने भी अमित-बुद्धिमान् विदुरजीका क्रमशः आदर-सत्कार किया। तदनन्तर विदुरजीने राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञाके अनुसार बारंबार स्नेहपूर्वक युधिष्ठिर आदि पाण्डुपुत्रोंसे कुशल-मंगल एवं स्वास्थ्यविषयक प्रश्न किया। जनमेजय! फिर विदुरजीने कौरवोंकी ओरसे जैसे दिये गये थे, उसीके अनुसार पाण्डवों, कुन्ती, द्रौपदी तथा द्रुपदके पुत्रोंके लिये नाना प्रकारके रत्न और धन भेंट किये ।। १२—१४ ।।

प्रोवाच चामितमतिः प्रश्रितं विनयान्वितः ।
द्रुपदं पाण्डुपुत्राणां संनिधौ केशवस्य च ।। १५ ।।

अगाध बुद्धिवाले विदुरजी पाण्डवों तथा भगवान् श्रीकृष्णके समीप विनीतभावसे नम्रतापूर्वक बोले— ।। १५ ।।

विदुर उवाच

राजञ्छृणु सहामात्यः सपुत्रश्च वचो मम ।
धृतराष्ट्रः सपुत्रस्त्वां सहामात्यः सबान्धवः ।। १६ ।।
अब्रवीत् कुशलं राजन् प्रीयमाणः पुनः पुनः ।
प्रीतिमांस्ते दृढं चापि सम्बन्धेन नराधिप ।। १७ ।।

विदुरने कहा—राजन्! आप अपने मन्त्रियों और पुत्रोंके साथ मेरी बात सुनें। महाराज धृतराष्ट्रने अपने पुत्र, मन्त्री और बन्धुओंके साथ अत्यन्त प्रसन्न होकर बारंबार आपकी कुशल पूछी है। महाराज! आपके साथ यह जो सम्बन्ध हुआ है, इससे उनको बड़ी प्रसन्नता हुई है ।। १६-१७ ।।

तथा भीष्मः शांतनवः कौरवैः सह सर्वशः ।
कुशलं त्वां महाप्राज्ञः सर्वतः परिपृच्छति ।। १८ ।।

इसी प्रकार शंतनुनन्दन महाप्राज्ञ भीष्मजी भी समस्त कौरवोंके साथ सब तरहसे आपकी कुशल पूछते हैं ।। १८ ।।

भारद्वाजो महाप्राज्ञो द्रोणः प्रियसखस्तव ।
समाश्लेषमुपेत्य त्वां कुशलं परिपृच्छति ।। १९ ।।

आपके प्रिय मित्र महाबुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य भी (मन-ही-मन) आपको हृदयसे लगाकर कुशल पूछ रहे हैं ।। १९ ।।

धृतराष्ट्रश्च पाञ्चाल्य त्वया सम्बन्धमीयिवान् ।
कृतार्थं मन्यतेऽऽत्मानं तथा सर्वेऽपि कौरवाः ।। २० ।।

पांचालनरेश! राजा धृतराष्ट्र आपके सम्बन्धी होकर अपने-आपको कृतार्थ मानते हैं। यही दशा समस्त कौरवोंकी है ।। २० ।।

न तथा राज्यसम्प्राप्तिस्तेषां प्रीतिकरी मता ।
यथा सम्बन्धकं प्राप्य यज्ञसेन त्वया सह ।। २१ ।।

यज्ञसेन! उन्हें राज्यकी प्राप्ति भी उतनी प्रसन्नता देनेवाली नहीं जान पड़ी, जितनी प्रसन्नता आपके साथ सम्बन्धका सौभाग्य पाकर हुई है ।। २१ ।।

एतद् विदित्वा तु भवान् प्रस्थापयतु पाण्डवान् ।
द्रष्टुं हि पाण्डुपुत्रांश्च त्वरन्ति कुरवो भृशम् ।। २२ ।।

यह जानकर आप पाण्डवोंको हस्तिनापुर भेज दें। समस्त कुरुवंशी पाण्डवोंको देखने और मिलनेके लिये अत्यन्त उतावले हो रहे हैं ।। २२ ।।

विप्रोषिता दीर्घकालमेते चापि नरर्षभाः ।
उत्सुका नगरं द्रष्टुं भविष्यन्ति तथा पृथा ।। २३ ।।

दीर्घकालसे ये परदेशमें रह रहे हैं, अतः नरश्रेष्ठ पाण्डव तथा कुन्ती—सभी लोग अपना नगर देखनेके लिये उत्सुक हो रहे होंगे ।। २३ ।।

कृष्णामपि च पाञ्चालीं सर्वाः कुरुवरस्त्रियः ।
द्रष्टुकामाः प्रतीक्षन्ते पुरं च विषयाश्च नः ।। २४ ।।

कौरवकुलकी सभी श्रेष्ठ स्त्रियाँ, हमारे हस्तिनापुर नगर तथा राष्ट्रके सभी लोग पांचालराजकुमारी कृष्णाको देखनेकी इच्छा रखकर उसके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।। २४ ।।

स भवान् पाण्डुपुत्राणामाज्ञापयतु मा चिरम् ।
गमनं सहदाराणामेतदत्र मतं मम ।। २५ ।।

अतः आप पत्नीसहित पाण्डवोंको हस्तिनापुर चलनेके लिये शीघ्र आज्ञा दीजिये। इस विषयमें मेरी सम्मति यही है ।। २५ ।।

निसृष्टेषु त्वया राजन् पाण्डवेषु महात्मसु ।
ततोऽहं प्रेषयिष्यामि धृतराष्ट्रस्य शीघ्रगान् ।
आगमिष्यन्ति कौन्तेयाः कुन्ती च सह कृष्णया ।। २६ ।।

राजन्! जब आप महामना पाण्डवोंको जानेकी आज्ञा दे देंगे, तब मैं यहाँसे राजा धृतराष्ट्रके पास शीघ्रगामी दूत भेजूँगा और यह संदेश कहला दूँगा कि कुन्ती तथा कृष्णाके साथ समस्त पाण्डव हस्तिनापुरमें आयेंगे ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि विदुरद्रुपदसंवादे पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें विदुर-द्रुपदसंवादविषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०५ ।।

षडधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका हस्तिनापुरमें आना और आधा राज्य पाकर इन्द्रप्रस्थ नगरका निर्माण करना एवं भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीका द्वारकाके लिये प्रस्थान

द्रुपद उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथाऽऽत्थ विदुराद्य माम् ।
ममापि परमो हर्षः सम्बन्धेऽस्मिन् कृते प्रभो ।। १ ।।

द्रुपद बोले—महाप्राज्ञ विदुरजी! आज आपने जो कुछ मुझसे कहा है, सब ठीक है। प्रभो! (कौरवोंके साथ) यह सम्बन्ध हो जानेसे मुझे भी महान् हर्ष हुआ है ।। १ ।।

गमनं चापि युक्तं स्याद् दृढमेषां महात्मनाम् ।
न तु तावन्मया युक्तमेतद् वक्तुं स्वयं गिरा ।। २ ।।
यदा तु मन्यते वीरः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव यमौ च पुरुषर्षभौ ।। ३ ।।
रामकृष्णौ च धर्मज्ञौ तदा गच्छन्तु पाण्डवाः ।
एतौ हि पुरुषव्याघ्रावेषां प्रियहिते रतौ ।। ४ ।।

महात्मा पाण्डवोंका अपने नगरमें जाना भी अत्यन्त उचित ही है। तथापि मेरे लिये अपने मुखसे इन्हें जानेके लिये कहना उचित नहीं है। यदि कुन्तीकुमार वीरवर युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव जाना उचित समझें तथा धर्मज्ञ बलराम और श्रीकृष्ण पाण्डवोंका वहाँ जाना उचित समझते हों तो ये अवश्य वहाँ जायँ; क्योंकि ये दोनों पुरुषसिंह सदा इनके प्रिय और हितमें लगे रहते हैं ।। २—४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

परवन्तो वयं राजंस्त्वयि सर्वे सहानुगाः ।
यथा वक्ष्यसि नः प्रीत्या तत् करिष्यामहे वयम् ।। ५ ।।

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! हम सब लोग अपने सेवकोंसहित सदा आपके अधीन हैं। आप स्वयं प्रसन्नतापूर्वक हमसे जैसा कहेंगे, वही हम करेंगे ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद् वासुदेवो गमनं रोचते मम ।
यथा वा मन्यते राजा द्रुपदः सर्वधर्मवित् ।। ६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'मुझे तो इनका जाना ही ठीक जान पड़ता है अथवा सब धर्मोंके ज्ञाता महाराज द्रुपद जैसा उचित समझें, वैसा किया जाय' ।। ६ ।।

द्रुपद उवाच

यथैव मन्यते वीरो दाशार्हः पुरुषोत्तमः ।
प्राप्तकालं महाबाहुः सा बुद्धिर्निश्चिता मम ।। ७ ।।
यथैव हि महाभागाः कौन्तेया मम साम्प्रतम् ।
तथैव वासुदेवस्य पाण्डुपुत्रा न संशयः ।। ८ ।।

द्रुपद बोले—दशार्हकुलके रत्न वीरवर पुरुषोत्तम महाबाहु श्रीकृष्ण इस समय जो कर्तव्य उचित समझते हों, निश्चय ही मेरी भी वही सम्मति है। महाभाग कुन्तीपुत्र इस समय मेरे लिये जैसे अपने हैं, उसी प्रकार इन भगवान् वासुदेवके लिये भी समस्त पाण्डव उतने ही प्रिय एवं आत्मीय हैं—इसमें संशय नहीं है ।। ७-८ ।।

न तद् ध्यायति कौन्तेयः पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यथैषां पुरुषव्याघ्रः श्रेयो ध्यायति केशवः ।। ९ ।।

पुरुषोत्तम केशव जिस प्रकार इन पाण्डवोंके श्रेय (अत्यन्त हित)-का ध्यान रखते हैं, उतना ध्यान कुन्तीनन्दन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर भी नहीं रखते ।। ९ ।।

(वैशम्पायन उवाच

पृथायास्तु तथा वेश्म प्रविवेश महाद्युतिः ।
पादौ स्पृष्ट्वा पृथायास्तु शिरसा च महीं गतः ।
दृष्ट्वा तु देवरं कुन्ती शुशोच च मुहुर्मुहुः ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उसी प्रकार महातेजस्वी विदुर कुन्तीके भवनमें गये। वहाँ उन्होंने धरतीपर माथा टेककर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। विदुरको आया देख कुन्ती बार-बार शोक करने लगी।

कुन्त्युवाच

वैचित्रवीर्य ते पुत्राः कथंचिज्जीवितास्त्वया ।
त्वत्प्रसादाज्जतुगृहे त्राताः प्रत्यागतास्तव ।।
कूर्मश्चिन्तयते पुत्रान् यत्र वा तत्र वा गतान् ।
चिन्तया वर्धयेत् पुत्रान् यथा कुशलिनस्तथा ।।
तव पुत्रास्तु जीवन्ति त्वं त्राता भरतर्षभ ।
यथा परभृतः पुत्रानरिष्टा वर्धयेत् सदा ।
तथैव तव पुत्रास्तु मया तात सुरक्षिताः ।।

दुःखास्तु बहवः प्राप्ता तथा प्राणान्तिका मया ।
अतः परं न जानामि कर्तव्यं ज्ञातुमर्हसि ।।

कुन्ती बोली—विदुरजी! आपके पुत्र पाण्डव किसी प्रकार आपके ही कृपाप्रसादसे जीवित हैं। लाक्षागृहमें आपने इन सबके प्राण बचाये हैं और अब यह पुनः आपके समीप जीते-जागते लौट आये हैं। कछुआ अपने पुत्रोंका, वे कहीं भी क्यों न हो, मनसे चिन्तन करता रहता है। इस चिन्तासे ही अपने पुत्रोंका वह पालन-पोषण एवं संवर्धन करता है। उसीके अनुसार जैसे वे सकुशल जीवित रहते हैं, वैसे ही आपके पुत्र पाण्डव (आपकी ही मंगल-कामनासे) जी रहे हैं! भरतश्रेष्ठ! आप ही इनके रक्षक हैं। तात! जैसे कोयलके पुत्रोंका पालन-पोषण सदा कौएकी माता करती है, उसी प्रकार आपके पुत्रोंकी रक्षा मैंने की है। अबतक मैंने बहुत-से प्राणान्तक कष्ट उठाये हैं; इसके बाद मेरा क्या कर्तव्य है, यह मैं नहीं जानती। यह सब आप ही जानें!

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा दुःखार्ता शुशोच परमातुरा ।
प्रणिपत्याब्रवीत् क्षत्ता मा शोच इति भारत ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—यों कहकर दुःखसे पीड़ित हुई कुन्ती अत्यन्त आतुर होकर शोक करने लगी। उस समय विदुरने उन्हें प्रणाम करके कहा, तुम शोक न करो।

विदुर उवाच

न विनश्यन्ति लोकेषु तव पुत्रा महाबलाः ।
नचिरेणैव कालेन स्वराज्यस्था भवन्ति ते ।
बान्धवैः सहिताः सर्वैर्मा शोकं कुरु माधवि ।।)

विदुर बोले—यदुकुलनन्दिनी! तुम्हारे महाबली पुत्र संसारमें (दूसरोंके सतानेसे) नष्ट नहीं हो सकते। अब वे थोड़े ही दिनोंमें समस्त बन्धुओंके साथ अपने राज्यपर अधिकार करनेवाले हैं। अतः तुम शोक मत करो।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते समनुज्ञाता द्रुपदेन महात्मना ।
पाण्डवाश्चैव कृष्णश्च विदुरश्च महीपते ।। १० ।।
आदाय द्रौपदीं कृष्णां कुन्तीं चैव यशस्विनीम् ।
सविहारं सुखं जग्मुर्नगरं नागसाह्वयम् ।। ११ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर महात्मा द्रुपदकी आज्ञा पाकर पाण्डव, श्रीकृष्ण और विदुर द्रुपद-कुमारी कृष्णा और यशस्विनी कुन्तीको साथ ले आमोद-प्रमोद करते हुए हस्तिनापुरकी ओर चले ।। १०-११ ।।

(सुवर्णकक्ष्याग्रैवेयान् सुवर्णाङ्कुशभूषितान् ।
जाम्बूनदपरिष्कारान् प्रभिन्नकरटामुखान् ।।
अधिष्ठितान् महामात्रैः सर्वशस्त्रसमन्वितान् ।
सहस्रं प्रददौ राजा गजानां वरवर्णिनाम् ।।
रथानां च सहस्रं वै सुवर्णमणिचित्रितम् ।
चतुर्युजां भानुमच्च पञ्चानां प्रददौ तदा ।।
सुवर्णपरिबर्हाणां वरचामरमालिनाम् ।
जात्यश्वानां च पञ्चाशत्सहस्रं प्रददौ नृपः ।।
दासीनामयुतं राजा प्रददौ वरभूषणम् ।
ततः सहस्रं दासानां प्रददौ वरधन्विनाम् ।।
हैमानि शय्यासनभाजनानि
द्रव्याणि चान्यानि च गोधनानि ।
पृथक् पृथक् चैव ददौ स कोटिं
पाञ्चालराजः परमप्रहृष्टः ।।
शिबिकानां शतं पूर्णं वाहान् पञ्चशतं नरान् ।
एवमेतानि पाञ्चालो कन्यार्थे प्रददौ धनम् ।।
हरणं चापि पाञ्चाल्या ज्ञातिदेयं तु सौमकिः ।
धृष्टद्युम्नो ययौ तत्र भगिनीं गृह्य भारत ।।
नानद्यमाने बहुभिस्तूर्यशब्दैः सहस्रशः ।।)

उस समय राजा द्रुपदने उन्हें एक हजार सुन्दर हाथी प्रदान किये, जिनकी पीठोंपर सोनेके हौदे कसे हुए थे और गलेमें सोनेके आभूषण शोभा पा रहे थे। उनके अंकुश भी सोनेके ही थे। जाम्बूनद नामक सुवर्णसे उन सबको सजाया गया था। उनके गण्डस्थलसे मदकी धारा बह रही थी। बड़े-बड़े महावत उन सबका संचालन करते थे। वे सभी गजराज सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे। राजाने पाँचों पाण्डवोंके लिये चार घोड़ोंसे जुते हुए एक हजार रथ दिये, जो सुवर्ण और मणियोंसे विभूषित होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करते थे और सब ओर अपनी प्रभा बिखेर रहे थे। इतना ही नहीं, राजाने अच्छी जातिके पचास हजार घोड़े भी दिये, जो सुनहरे साज-बाजसे सुसज्जित और सुन्दर चँवर तथा मालाओंसे अलंकृत थे। इनके सिवा सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित दस हजार दासियाँ भी दीं। साथ ही उत्तम धनुष धारण करनेवाले एक हजार दास पाण्डवोंको भेंट किये। बहुत-सी शय्याएँ, आसन और पात्र भी दिये जो सब-के-सब सुवर्णके बने हुए थे। दूसरे-दूसरे द्रव्य और गोधन भी समर्पित किये। इन सबकी पृथक्-पृथक् संख्या एक-एक करोड़ थी। इस प्रकार पांचालराज द्रुपदने बड़े हर्ष और उल्लासके साथ पाण्डवोंको उपर्युक्त वस्तुएँ अर्पित कीं। सौ पालकियाँ और उनको ढोनेवाले पाँच सौ कहार दिये। इस प्रकार पांचालराजने

अपनी कन्याके लिये ये सभी वस्तुएँ तथा बहुत-सा धन दहेजमें दिया। जनमेजय! धृष्टद्युम्न स्वयं अपनी बहिनका हाथ पकड़कर सवारीपर बैठानेके लिये ले गये। उस समय सहस्रों प्रकारके बाजे एक साथ बज उठे।

श्रुत्वा चाप्यागतान् वीरान् धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
प्रतिग्रहाय पाण्डूनां प्रेषयामास कौरवान् ।। १२ ।।

राजा धृतराष्ट्रने पाण्डववीरोंका आगमन सुनकर उनकी अगवानीके लिये कौरवोंको भेजा ।। १२ ।।

विकर्णं च महेष्वासं चित्रसेनं च भारत ।
द्रोणं च परमेष्वासं गौतमं कृपमेव च ।। १३ ।।

भारत! विकर्ण, महान् धनुर्धर चित्रसेन, विशाल धनुषवाले द्रोणाचार्य, गौतमवंशी कृपाचार्य आदि भेजे गये थे ।। १३ ।।

तैस्ते परिवृता वीराः शोभमाना महाबलाः ।
नगरं हास्तिनपुरं शनैः प्रविविशुस्तदा ।। १४ ।।
(पाण्डवानागताञ्छ्रुत्वा नागरास्तु कुतूहलात् ।
मण्डयाञ्चक्रिरे तत्र नगरं नागसाह्वयम् ।।
मुक्तपुष्पावकीर्णं तज्जलसिक्तं तु सर्वशः ।
धूपितं दिव्यधूपेन मण्डनैश्चापि संवृतम् ।।
पताकोच्छ्रितमाल्यं च पुरमप्रतिमं बभौ ।।
शङ्खभेरीनिनादैश्च नानावादित्रनिःस्वनैः ।)
कौतूहलेन नगरं दीप्यमानमिवाभवत् ।
तत्र ते पुरुषव्याघ्राः शोकदुःखविनाशनाः ।। १५ ।।
तत उच्चावचा वाचः पौरैः प्रियचिकीर्षुभिः ।
उदीरिता अशृण्वंस्ते पाण्डवा हृदयंगमाः ।। १६ ।।

इन सबसे घिरे हुए शोभाशाली महाबली वीर पाण्डवोंने तब धीरे-धीरे हस्तिनापुर नगरमें प्रवेश किया। पाण्डवोंका आगमन सुनकर नागरिकोंने कौतूहलवश हस्तिनापुर नगरको (अच्छी तरहसे) सजा रखा था। सड़कोंपर सब ओर फूल बिखेरे गये थे, जलका छिड़काव किया गया था, सारा नगर दिव्य धूपकी सुगन्धसे महँ-महँ कर रहा था और भाँति-भाँतिकी प्रसाधन-सामग्रियोंसे सजाया गया था। पताकाएँ फहराती थीं और ऊँचे गृहोंमें पुष्पहार सुशोभित होते थे। शंख, भेरी तथा नाना प्रकारके वाद्योंकी ध्वनिसे वह अनुपम नगर बड़ी शोभा पा रहा था। उस समय कौतूहलवश सारा नगर देदीप्यमान-सा हो उठा। पुरुषसिंह पाण्डव प्रजाजनोंके शोक और दुःखका निवारण करनेवाले थे; अतः वहाँ उनका प्रिय करनेकी इच्छावाले पुरवासियोंद्वारा कही हुई भिन्न-भिन्न प्रकारकी हृदय-स्पर्शिनी बातें सुनायी पड़ीं— ।। १४—१६ ।।

अयं स पुरुषव्याघ्रः पुनरायाति धर्मवित् ।
यो नः स्वानिव दायादान् धर्मेण परिरक्षति ।। १७ ।।

(पुरवासी कह रहे थे—) ‘ये ही वे नरश्रेष्ठ धर्मज्ञ युधिष्ठिर पुनः यहाँ पधार रहे हैं, जो धर्मपूर्वक अपने पुत्रोंकी भाँति हमलोगोंकी रक्षा करते थे ।। १७ ।।

अद्य पाण्डुर्महाराजो वनादिव जनप्रियः ।
आगतः प्रियमस्माकं चिकीर्षुर्नात्र संशयः ।। १८ ।।

इनके आनेसे निःसंदेह ऐसा जान पड़ता है, आज प्रजाजनोंके प्रिय महाराज पाण्डु ही मानो हमारा प्रिय करनेके लिये वनसे चले आये हों ।। १८ ।।

किं नु नाद्य कृतं तात सर्वेषां नः परं प्रियम् ।
यन्नः कुन्तीसुता वीरा नगरं पुनरागताः ।। १९ ।।

तात! कुन्तीके वीर पुत्र यदि पुनः इस नगरमें चले आये तो आज हम सब लोगोंका कौन-सा परम प्रिय कार्य नहीं सम्पन्न हो गया ।। १९ ।।

यदि दत्तं यदि हुतं विद्यते यदि नस्तपः ।
तेन तिष्ठन्तु नगरे पाण्डवाः शरदां शतम् ।। २० ।।

यदि हमने दान और होम किया है, यदि हमारी तपस्या शेष है तो उन सबके पुण्यसे ये पाण्डव सौ वर्षतक इसी नगरमें निवास करें’ ।। २० ।।

ततस्ते धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य च महात्मनः ।
अन्येषां च तदर्हाणां चक्रुः पादाभिवन्दनम् ।। २१ ।।

इतनेमें ही पाण्डवोंने धृतराष्ट्र, महात्मा भीष्म तथा अन्य वन्दनीय पुरुषोंके पास जाकर उन सबके चरणोंमें प्रणाम किया ।। २१ ।।

कृत्वा तु कुशलप्रश्नं सर्वेण नगरेण च ।
न्यविशन्ताथ वेश्मानि धृतराष्ट्रस्य शासनात् ।। २२ ।।

फिर समस्त नगरवासियोंसे कुशलप्रश्न करके वे राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे राजमहलोंमें गये ।। २२ ।।

(दुर्योधनस्य महिषी काशिराजसुता तदा ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां बधूभिः सहिता तदा ।।
पाञ्चालीं प्रतिजग्राह द्रौपदीं श्रीमिवापराम् ।
पूजयामास पूजार्हां शचीदेवीमिवागताम् ।।
ववन्दे तत्र गान्धारीं माधवी कृष्णया सह ।
आशिषश्च प्रयुक्त्वा तु पाञ्चालीं परिषस्वजे ।।
परिष्वज्य च गान्धारी कृष्णां कमललोचनाम् ।
पुत्राणां मम पाञ्चाली मृत्युरेवेत्यमन्यत ।
सा चिन्त्य विदुरं प्राह युक्तितः सुबलात्मजा ।।

उस समय दुर्योधनकी रानीने, जो काशिराजकी पुत्री थी, धृतराष्ट्रपुत्रोंकी अन्य वधुओंके साथ आकर द्वितीय लक्ष्मीके समान सुन्दरी पंचालराजकुमारी द्रौपदीकी अगवानी की। द्रौपदी सर्वथा पूजाके योग्य थी। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो साक्षात् शचीदेवीने पदार्पण किया हो। दुर्योधन-पत्नीने उसका भलीभाँति सत्कार किया। वहाँ पहुँचकर कुन्तीने अपनी बहूरानी द्रौपदीके साथ गान्धारीको प्रणाम किया। गान्धारीने आशीर्वाद देकर द्रौपदीको हृदयसे लगा लिया। कमलसदृश नेत्रोंवाली कृष्णाको हृदयसे लगाकर गान्धारी सोचने लगी कि यह पाञ्चाली तो मेरे पुत्रोंकी मृत्यु ही है। यह सोचकर सुबलपुत्री गान्धारीने युक्तिसे विदुरको बुलाकर कहा—

गान्धार्युवाच

कुन्तीं राजसुतां क्षत्तः सवधूं सपरिच्छदाम् ।
पाण्डोर्निवेशनं शीघ्रं नीयतां यदि रोचते ।।
करणेन मुहूर्तेन नक्षत्रेण शुभे तिथौ ।
यथासुखं तथा कुन्ती रंस्यते स्वगृहे सुतैः ।।

फिर गान्धारीने कहा—विदुर! यदि तुम्हें जँचे तो राजकुमारी कुन्तीको पुत्रवधूसहित शीघ्र ही पाण्डुके महलमें ले जाओ और वहीं इनका सारा सामान भी पहुँचा दो। उत्तम करण, मुहूर्त और नक्षत्रसहित शुभ तिथिको उस महलमें इन्हें प्रवेश करना चाहिये, जिससे कुन्तीदेवी अपने घरमें पुत्रोंके साथ सुखपूर्वक रह सकें।

वैशम्पायन उवाच

तथेत्येव तदा क्षत्ता कारयामास तत्तदा ।।
पूजयामासुरत्यर्थं बान्धवाः पाण्डवांस्तदा ।
नागराः श्रेणिमुख्याश्च पूजयन्ति स्म पाण्डवान् ।।
भीष्मो द्रोणस्तथा कर्णो बाह्लीकः ससुतस्तदा ।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य अकुर्वन्नतिथिक्रियाम् ।।
एवं विहरतां तेषां पाण्डवानां महात्मनाम् ।
नेता सर्वस्य कार्यस्य विदुरो राजशासनात् ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! 'बहुत अच्छा' कहकर उसी समय विदुरने वैसी ही व्यवस्था की। सभी बन्धु-बान्धवोंने पाण्डवोंका उस समय अत्यन्त आदर-सत्कार किया। प्रमुख नागरिकों तथा सेठोंने भी पाण्डवोंका पूजन किया। भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा पुत्रसहित बाह्लीकने धृतराष्ट्रके आदेशसे पाण्डवोंका आतिथ्य-सत्कार किया। इस प्रकार हस्तिनापुरमें विहार करनेवाले महात्मा पाण्डवोंके सभी कार्योंमें विदुरजी ही नेता थे। उन्हें इसके लिये राजाकी ओरसे आदेश प्राप्त हुआ था।

विश्रान्तास्ते महात्मानः कंचित् कालं महाबलाः ।

आहूता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शांतनवेन च ।। २३ ।।

कुछ कालतक विश्राम कर लेनेपर उन महाबली महात्मा पाण्डवोंको राजा धृतराष्ट्र तथा भीष्मजीने बुलाया ।। २३ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

भ्रातृभिः सह कौन्तेय निबोध गदतो मम ।
(पाण्डुना वर्धितं राज्यं पाण्डुना पालितं जगत् ।।
शासनान्मम कौन्तेय मम भ्राता महाबलः ।
कृतवान् दुष्करं कर्म नित्यमेव विशाम्पते ।।
तस्मात् त्वमपि कौन्तेय शासनं कुरु मा चिरम् ।।
मम पुत्रा दुरात्मानो दर्पाहंकारसंयुताः ।
शासनं न करिष्यन्ति मम नित्यं युधिष्ठिर ।।
स्वकार्यनिरतैर्नित्यमवलिप्तैर्दुरात्मभिः ।)
पुनर्वो विग्रहो मा भूत् खाण्डवप्रस्थमाविश ।। २४ ।।

धृतराष्ट्र बोले—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे अपने भाइयोंसहित ध्यान देकर सुनो। कुन्तीनन्दन! मेरी आज्ञासे पाण्डुने इस राज्यको बढ़ाया और पाण्डुने ही जगत्का पालन किया। मेरे भाई पाण्डु बड़े बलवान् थे। राजन्! मेरे कहनेसे सदा ही दुष्कर कार्य किया करते थे। कुन्तीकुमार! तुम भी यथासम्भव शीघ्र मेरी आज्ञाका पालन करो, विलम्ब न करो। मेरे दुरात्मा पुत्र दर्प और अहंकारसे भरे हुए हैं। युधिष्ठिर! वे सदा मेरी आज्ञाका पालन नहीं करेंगे। अपने स्वार्थसाधनमें लगे हुए उन बलाभिमानी दुरात्माओंके साथ तुम्हारा फिर कोई झगड़ा न खड़ा हो जाय, इसलिये तुम खाण्डवप्रस्थमें निवास करो ।। २४ ।।

न च वो वसतस्तत्र कश्चिच्छक्तः प्रबाधितुम् ।
संरक्ष्यमाणान् पार्थेन त्रिदशानिव वज्रिणा ।। २५ ।।
अर्धं राज्यस्य सम्प्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविश ।

वहाँ रहते समय कोई तुम्हें बाधा नहीं दे सकता; क्योंकि जैसे वज्रधारी इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार कुन्तीनन्दन अर्जुन वहाँ तुमलोगोंकी भलीभाँति रक्षा करेंगे। तुम आधा राज्य लेकर खाण्डवप्रस्थमें चलकर रहो ।। २५½ ।।

(धृतराष्ट्र उवाच

अभिषेकस्य सम्भारान् क्षत्तरानय मा चिरम् ।
अभिषिक्तं करिष्यामि अद्य वै कुरुनन्दनम् ।।
ब्राह्मणा नैगमश्रेष्ठाः श्रेणीमुख्याश्च सर्वशः ।
आहूयन्तां प्रकृतयो बान्धवाश्च विशेषतः ।।
पुण्याहं वाच्यतां तात गोसहस्रं तु दीयताम् ।
ग्राममुख्याश्च विप्रेभ्यो दीयन्तां सहदक्षिणाः ।।
अङ्गदे मुकुटं क्षत्तः हस्ताभरणमानय ।।
मुक्तावलीश्च हारं च निष्कादीन् कुण्डलानि च ।
कटिबन्धश्च सूत्रं च तथोदरनिबन्धनम् ।।
अष्टोत्तरसहस्रं तु ब्राह्मणाधिष्ठिता गजाः ।
जाह्नवीसलिलं शीघ्रमानयन्तु पुरोहितैः ।।

अभिषेकोदकक्लिन्नं सर्वाभरणभूषितम् ।
औपवाह्योपरिगतं दिव्यचामरवीजितम् ।।
सुवर्णमणिचित्रेण श्वेतच्छत्रेण शोभितम् ।
जयेति द्विजवाक्येन स्तूयमानं नृपैस्तथा ।।
दृष्ट्वा कुन्तीसुतं ज्येष्ठमाजमीढं युधिष्ठिरम् ।
प्रीताः प्रीतेन मनसा प्रशंसन्तु पुरे जनाः ।।
पाण्डोः कृतोपकारस्य राज्यं दत्त्वा ममैव च ।
प्रतिक्रियाकृतमिदं भविष्यति न संशयः ।।

(फिर) धृतराष्ट्रने (विदुरसे) कहा—विदुर! तुम राज्याभिषेककी सामग्री लाओ, इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये। मैं आज ही कुरुकुलनन्दन युधिष्ठिरका अभिषेक करूँगा। वेदवेत्ता विद्वानोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण, नगरके सभी प्रमुख व्यापारी, प्रजावर्गके लोग और विशेषतः बन्धु-बान्धव बुलाये जायँ। तात! पुण्याहवाचन कराओ और ब्राह्मणोंको दक्षिणाके साथ एक सहस्र गौएँ तथा मुख्य-मुख्य ग्राम दो। विदुर! दो भुजबंद, एक सुन्दर मुकुट तथा हाथके आभूषण मँगाओं। मोतीकी कई मालाएँ, हार, पदक, कुण्डल, करधनी, कटिसूत्र तथा उदरबन्ध भी ले आओ। एक हजार आठ हाथी मँगाओ, जिनपर ब्राह्मण सवार हों। पुरोहितोंके साथ जाकर वे हाथी शीघ्र गंगाजीका जल ले आयें। युधिष्ठिर अभिषेकके जलसे भीगे हों, समस्त आभूषणोंसे उन्हें विभूषित किया गया हो, वे राजाकी सवारीके योग्य गजराजपर बैठे हों, उनपर दिव्य चँवर ढुल रहे हों और उनके मस्तकके ऊपर सुवर्ण और मणियोंसे विचित्र शोभा धारण करनेवाला श्वेत छत्र सुशोभित हो, ब्राह्मणोंद्वारा की हुई जय-जयकारके साथ बहुत-से नरेश उनकी स्तुति करते हों। इस प्रकार कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र अजमीढकुलतिलक युधिष्ठिरका प्रसन्नमनसे दर्शन करके प्रसन्न हुए पुरवासीजन इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करें। राजा पाण्डुने मुझे ही अपना राज्य देकर जो उपकार किया था, उसका बदला इसीसे पूर्ण होगा कि युधिष्ठिरका राज्याभिषेक कर दिया जाय; इसमें संशय नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता साधु साध्वित्यभाषत ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर भीष्म, द्रोण, कृप तथा विदुरने कहा—‘बहुत अच्छा! बहुत अच्छा!’

श्रीवासुदेव उवाच

युक्तमेतन्महाराज कौरवाणां यशस्करम् ।
शीघ्रमद्यैव राजेन्द्र यथोक्तं कर्तुमर्हसि ।।

(तब) भगवान् श्रीकृष्ण बोले—महाराज! आपका यह विचार सर्वथा उत्तम तथा कौरवोंका यश बढ़ानेवाला है। राजेन्द्र! आपने जैसा कहा है, उसे आज ही जितना शीघ्र सम्भाव हो सके, पूर्ण कर डालिये।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा वार्ष्णेयस्त्वरयामास तं तदा ।
यथोक्तं धृतराष्ट्रस्य कारयामास कौरवः ।।
तस्मिन् क्षणे महाराज कृष्णद्वैपायनस्तदा ।
आगत्य कुरुभिः सर्वैः पूजितः स सुहृद्गणैः ।।
मूर्धावसिक्तैः सहितो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
कारयामास विधिवत् केशवानुमते तदा ।।
कृपो द्रोणश्च भीष्मश्च धौम्यश्च व्यासकेशवौ ।
बाह्लीकः सोमदत्तश्च चातुर्वेद्यपुरस्कृताः ।।
अभिषेकं तदा चक्रुर्भद्रपीठे सुसंयतम् ।
जित्वा तु पृथिवीं कृत्स्नां वशे कृत्वा नरर्षभान् ।।
राजसूयादिभिर्यज्ञैः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
स्नात्वा ह्यवभृथस्नानं मोदतां बान्धवैः सह ।।
एवमुक्त्वा तु ते सर्वे आशीर्भिरभिपूजयन् ।
मूर्धाभिषिक्तः कौरव्य सर्वाभरणभूषितः ।।
जयेति संस्तुतो राजा प्रददौ धनमक्षयम् ।
सर्वमूर्धावसिक्तैश्च पूजितः कुरुनन्दनः ।।
औपवाह्यमथारुह्य श्वेतच्छत्रेण शोभितः ।
रराजानुगतो राजा महेन्द्र इव दैवतैः ।।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य नगरं नागसाह्वयम् ।
प्रविवेश ततो राजा नागरैः पूजितो भृशम् ।।
मूर्धाभिषिक्तं कौन्तेयमभ्यनन्दन्त बान्धवाः ।
गान्धारिपुत्राः शोचन्तः सर्वे ते सह बान्धवैः ।।
ज्ञात्वा शोकं तु पुत्राणां धृतराष्ट्रोऽब्रवीन्नृपम् ।
समक्षं वासुदेवस्य कुरूणां च समक्षतः ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—इतना कहकर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें जल्दी करनेकी प्रेरणा दी। विदुरजीने धृतराष्ट्रके कथनानुसार सब कार्य पूर्ण कर दिया। उसी समय, राजन्! वहाँ महर्षि कृष्णद्वैपायन पधारे। समस्त कौरवोंने अपने सुहृदोंके साथ आकर उनकी पूजा की। तब वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणों तथा मूर्धाभिषिक्त नरेशोंके साथ मिलकर भगवान्

श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार व्यासजीने विधिपूर्वक अभिषेक-कार्य सम्पन्न किया। कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, भीष्म, धौम्य, व्यास, श्रीकृष्ण, बाह्लीक और सोमदत्तने चारों वेदोंके विद्वानोंको आगे रखकर भद्रपीठपर संयमपूर्वक बैठे हुए युधिष्ठिरका उस समय अभिषेक किया और सबने यह आशीर्वाद दिया कि 'राजन्! तुम सारी पृथ्वीको जीतकर सम्पूर्ण नरेशोंको अपने अधीन करके प्रचुर दक्षिणासे युक्त राजसूय आदि यज्ञ-याग पूर्ण करनेके पश्चात् अवभृथ-स्नान करके बन्धु-बान्धवोंके साथ सुखी रहो।' जनमेजय! यों कहकर उन सबने अपने आशीर्वादोंद्वारा युधिष्ठिरका सम्मान किया। समस्त आभूषणोंसे विभूषित, मूर्धाभिषिक्त राजा युधिष्ठिरने अक्षय धनका दान किया। उस समय सब लोगोंने जय-जयकारपूर्वक उनकी स्तुति की। समस्त मूर्धाभिषिक्त राजाओंने भी कुरुनन्दन युधिष्ठिरका पूजन किया। फिर वे राजोचित गजराजपर आरूढ़ हो श्वेत छत्रसे सुशोभित हुए। उनके पीछे-पीछे बहुत-से मनुष्य चल रहे थे। उस समय देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति उनकी बड़ी शोभा हो रही थी। समस्त हस्तिनापुर नगरकी परिक्रमा करके राजाने पुनः राजधानीमें प्रवेश किया। उस समय नागरिकोंने उनका विशेष समादर किया। बन्धु-बान्धवोंने भी मूर्धाभिषिक्त राजा युधिष्ठिरका सादर अभिनन्दन किया। यह सब देखकर वे गान्धारीके दुर्योधन आदि सभी पुत्र अपने भाइयोंके साथ शोकातुर हो रहे थे। अपने पुत्रोंको शोक हुआ जानकर धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्ण तथा कौरवोंके समक्ष राजा युधिष्ठिरसे (इस प्रकार) कहा।

धृतराष्ट्र उवाच

अभिषेकं त्वया प्राप्तं दुष्प्रापमकृतात्मभिः ।
गच्छ त्वमद्यैव नृप कृतकृत्योऽसि कौरव ।।
आयुः पुरूरवा राजन् नहुषश्च ययातिना ।
तत्रैव निवसन्ति स्म खाण्डवाह्वे नृपोत्तम ।।
राजधानी तु सर्वेषां पौरवाणां महाभुज ।
विनाशितं मुनिगणैर्लोभाद् बुधसुतस्य च ।।
तस्मात् त्वं खाण्डवप्रस्थं पुरं राष्ट्रं च वर्धय ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च कृतनिश्चयाः ।।
त्वद्भक्त्या जन्तवश्चान्ये भजन्त्वेव पुरं शुभम् ।
पुरं राष्ट्रं समृद्धं वै धनधान्यैः समावृतम् ।।
तस्माद् गच्छस्व कौन्तेय भ्रातृभिः सहितोऽनघ ।)

धृतराष्ट्र बोले—कुरुनन्दन! तुमने वह राज्याभिषेक प्राप्त किया है, जो अजितात्मा पुरुषोंके लिये दुर्लभ है। राजन्! तुम राज्य पाकर कृतार्थ हो गये। अतः आज ही खाण्डवप्रस्थ चले जाओ। नृपश्रेष्ठ! पुरूरवा, आयु, नहुष तथा ययाति खाण्डवप्रस्थमें ही

निवास करते थे। महाबाहो! वहीं समस्त पौरव नरेशोंकी राजधानी थी। आगे चलकर मुनियोंने बुधपुत्रके लोभसे खाण्डवप्रस्थको नष्ट कर दिया था। इसलिये तुम खाण्डवप्रस्थ नगरको पुनः बसाओ और अपने राष्ट्रकी वृद्धि करो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सबने तुम्हारे साथ वहाँ जानेका निश्चय किया है। तुममें भक्ति रखनेके कारण दूसरे लोग भी उस सुन्दर नगरका आश्रय लेंगे। निष्पाप कुन्तीकुमार! वह नगर तथा राष्ट्र समृद्धिशाली और धन-धान्यसे सम्पन्न है। अतः तुम भाइयोंसहित वहीं जाओ।

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तद् वाक्यं नृपं सर्वे प्रणम्य च ।। २६ ।।
प्रतस्थिरे ततो घोरं वनं तन्मनुजर्षभाः ।
अर्धं राज्यस्य सम्प्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविशन् ।। २७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रकी बात मानकर पाण्डवोंने उन्हें प्रणाम किया और आधा राज्य पाकर वे खाण्डवप्रस्थकी ओर चल दिये, जो भयंकर वनके रूपमें था। धीरे-धीरे वे खाण्डवप्रस्थमें जा पहुँचे ।। २६-२७ ।।

ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्णपुरोगमाः ।
मण्डयांचक्रिरे तद् वै परं स्वर्गवदच्युताः ।। २८ ।।

तदनन्तर अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले पाण्डवोंने श्रीकृष्णसहित वहाँ जाकर उस स्थानको उत्तम स्वर्गलोककी भाँति शोभायमान कर दिया ।। २८ ।।

(वासुदेवो जगन्नाथश्चिन्तयामास वासवम् ।
महेन्द्रश्चिन्तितो राजन् विश्वकर्माणमादिशत् ।।

फिर जगदीश्वर भगवान् वासुदेवने देवराज इन्द्रका चिन्तन किया। राजन्! उनके चिन्तन करनेपर इन्द्रदेवने (उनके मनकी बात जानकर) विश्वकर्माको इस प्रकार आज्ञा दी।

महेन्द्र उवाच

विश्वकर्मन् महाप्राज्ञ अद्यप्रभृति तत् पुरम् ।
इन्द्रप्रस्थमिति ख्यातं दिव्यं रम्यं भविष्यति ।।

इन्द्र बोले—विश्वकर्मन्! महामते! (आप जाकर खाण्डवप्रस्थ नगरका निर्माण करें।) आजसे वह दिव्य और रमणीय नगर इन्द्रप्रस्थके नामसे विख्यात होगा।

वैशम्पायन उवाच

महेन्द्रशासनाद् गत्वा विश्वकर्मा तु केशवम् ।
प्रणम्य प्रणिपातर्हं किं करोमीत्यभाषत ।।
वासुदेवस्तु तच्छ्रुत्वा विश्वकर्माणमूचिवान् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महेन्द्रकी आज्ञासे विश्वकर्माने खाण्डवप्रस्थमें जाकर वन्दनीय भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करके कहा—मेरे लिये क्या आज्ञा है? उनकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा।

वासुदेव उवाच

कुरुष्व कुरुराजाय महेन्द्रपुरसंनिभम् ।
इन्द्रेण कृतनामानमिन्द्रप्रस्थं महापुरम् ।।)

श्रीकृष्ण बोले—विश्वकर्मन्! तुम कुरुराज युधिष्ठिरके लिये महेन्द्रपुरीके समान एक महानगरका निर्माण करो। इन्द्रके निश्चय किये हुए नामके अनुसार वह इन्द्रप्रस्थ कहलायेगा।

ततः पुण्ये शिवे देशो शान्तिं कृत्वा महारथाः ।
नगरं मापयामासुर्द्वैपायनपुरोगमाः ।। २९ ।।

तत्पश्चात् पवित्र एवं कल्याणमय प्रदेशमें शान्तिकर्म कराके महारथी पाण्डवोंने वेदव्यासजीको अगुआ बनाकर नगर बसानेके लिये जमीनका नाप करवाया ।। २९ ।।

सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृतम् ।
प्राकारेण च सम्पन्नं दिवमावृत्य तिष्ठता ।। ३० ।।
पाण्डुराभ्रप्रकाशेन हिमरश्मिनिभेन च ।
शुशुभे तत् पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा ।। ३१ ।।

उसके चारों ओर समुद्रकी भाँति विस्तृत एवं अगाध जलसे भरी हुई खाइयाँ बनी थीं, जो उस नगरकी शोभा बढ़ा रही थीं। श्वेत बादलों तथा चन्द्रमाके समान उज्ज्वल चहारदीवारी शोभा दे रही थी, जो अपनी ऊँचाईसे आकाशमण्डलको व्याप्त करके खड़ी थी। जैसे नागोंसे भोगवती सुशोभित होती है, उसी प्रकार उस चहारदीवारीसे खाईसहित वह श्रेष्ठ नगर सुशोभित हो रहा था ।। ३०-३१ ।।

द्विपक्षगरुडप्रख्यैर्द्वारैः सौधैश्च शोभितम् ।
गुप्तमभ्रचयप्रख्यैर्गोपुरैर्मन्दरोपमैः ।। ३२ ।।

उस नगरके दरवाजे ऐसे जान पड़ते थे, मानो दो पाँख फैलाये गरुड़ हों। ऐसे अनेक बड़े-बड़े फाटक और अट्टालिकाएँ उस नगरकी श्रीवृद्धि कर रही थीं। मेघोंकी घटाके समान सुशोभित तथा मन्दराचलके समान ऊँचे गोपुरोंद्वारा वह नगर सब ओरसे सुरक्षित था ।। ३२ ।।

विविधैरपि निर्विद्धैः शस्त्रोपेतैः सुसंवृतैः ।
शक्तिभिश्चावृतं तद्धि द्विजिह्वैरिव पन्नगैः ।। ३३ ।।

नाना प्रकारके अभेद्य तथा सब ओरसे घिरे हुए शस्त्रागारोंमें शस्त्र संग्रह करके रखे गये थे। नगरके चारों ओर हाथसे चलायी जानेवाली लोहेकी शक्तियाँ तैयार करके रखी गयी थीं,

जो दो जीभोंवाले साँपोंके समान जान पड़ती थीं। इन सबके द्वारा उस नगरकी सुरक्षा की गयी थी ।। ३३ ।।

तल्पैश्चाभ्यासिकैर्युक्तं शुशुभे योधरक्षितम् ।
तीक्ष्णाङ्कुशशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैश्च शोभितम् ।। ३४ ।।

जिनमें अस्त्र-शस्त्रोंका अभ्यास किया जाता था, ऐसी अनेक अट्टालिकाओंसे युक्त और योद्धाओंसे सुरक्षित उस नगरकी शोभा देखते ही बनती थी। तीखे अंकुशों (बर्छों), शतघ्नियों (तोपों) और अन्यान्य युद्धसम्बन्धी यन्त्रोंके जालसे वह नगर शोभा पा रहा था ।। ३४ ।।

आयसैश्च महाचक्रैः शुशुभे तत् पुरोत्तमम् ।
सुविभक्तमहारथ्यं देवताबाधवर्जितम् ।। ३५ ।।

लोहेके बने हुए महान् चक्रोंद्वारा उस उत्तम नगरकी अवर्णनीय शोभा हो रही थी। वहाँ विभागपूर्वक विभिन्न स्थानोंमें जानेके लिये विशाल एवं चौड़ी सड़कें बनी हुई थीं। उस नगरमें दैवी आपत्तिका नाम नहीं था ।। ३५ ।।

विरोचमानं विविधैः पाण्डुरैर्भवनोत्तमैः ।
तत् त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचत ।। ३६ ।।

अनेक प्रकारके श्रेष्ठ एवं शुभ्र सदनोंसे शोभित वह नगर स्वर्गलोकके समान प्रकाशित हो रहा था। उसका नाम था इन्द्रप्रस्थ ।। ३६ ।।

मेघवृन्दमिवाकाशे विद्धं विद्युत्समावृतम् ।
तत्र रम्ये शिवे देशो कौरव्यस्य निवेशनम् ।। ३७ ।।

इन्द्रप्रस्थके रमणीय एवं शुभ प्रदेशमें कुरुराज युधिष्ठिरका सुन्दर राजभवन बना हुआ था, जो आकाशमें विद्युत्की प्रभासे व्याप्त मेघमण्डलकी भाँति देदीप्यमान था ।। ३७ ।।

शुशुभे धनसम्पूर्णं धनाध्यक्षक्षयोपमम् ।
तत्रागच्छन् द्विजा राजन् सर्ववेदविदां वराः ।। ३८ ।।
निवासं रोचयन्ति स्म सर्वभाषाविदस्तथा ।
वणिजश्चाययुस्तत्र नानादिग्भ्यो धनार्थिनः ।। ३९ ।।

अनन्त धनराशिसे परिपूर्ण होनेके कारण वह भवन धनाध्यक्ष कुबेरके निवासस्थानकी समानता करता था। राजन्! सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण उस नगरमें निवास करनेके लिये आये, जो सम्पूर्ण भाषाओंके जानकार थे। उन सबको वहाँका रहना बहुत पसंद आया। अनेक दिशाओंसे धनोपार्जनकी इच्छावाले वणिक् भी उस नगरमें आये ।। ३८-३९ ।।

सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायाभ्यागमंस्तदा ।
उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः ।। ४० ।।

सब प्रकारकी शिल्पकलाके जानकार मनुष्य भी उन दिनों इन्द्रप्रस्थमें निवास करनेके लिये आ गये थे। नगरके चारों ओर रमणीय उद्यान थे ।। ४० ।।

आम्रैराम्रातकैर्नीपैरशोकैश्चम्पकैस्तथा ।
पुन्नागैर्नागपुष्पैश्च लकुचैः पनसैस्तथा ।। ४१ ।।
शालतालतमालैश्च बकुलैश्च सकेतकैः ।
मनोहरः सुपुष्पैश्च फलभारावनामितैः ।। ४२ ।।

जो आम, आमड़ा, कदम्ब, अशोक, चम्पा, पुन्नाग, नागपुष्प, लकुच, कटहल, साल, ताल, तमाल, मौलसिरी और केवड़ा आदि सुन्दर फूलोंसे भरे और फलोंके भारसे झुके हुए मनोहर वृक्षोंसे सुशोभित थे ।। ४१-४२ ।।

प्राचीनामलकैर्लोध्रैरङ्कोलैश्च सुपुष्पितैः ।
जम्बूभिः पाटलाभिश्च कुब्जकैरतिमुक्तकैः ।। ४३ ।।
करवीरैः पारिजातैरन्यैश्च विविधैर्द्रुमैः ।
नित्यपुष्पफलोपेतैर्नानाद्विजगणायुतैः ।। ४४ ।।

प्राचीन आँवले, लोध्र, खिले हुए अंकोल, जामुन, पाटल, कुब्जक, अतिमुक्तक लता, करवीर, पारिजात तथा अन्य नाना प्रकारके वृक्ष, जिनमें सदा फल और फूल लगे रहते थे और जिनके ऊपर भाँति-भाँतिके सहस्रों पक्षी कलरव करते थे, उन उद्यानोंकी शोभा बढ़ा रहे थे ।। ४३-४४ ।।

मत्तबर्हिणसंघुष्टकोकिलैश्च सदामदैः ।
गृहैरादर्शविमलैर्विविधैश्च लतागृहैः ।। ४५ ।।

मतवाले मयूरोंके केकारव तथा सदा उन्मत्त रहनेवाली कोकिलोंकी काकली वहाँ गूँजती रहती थी। उन उद्यानोंमें दर्पणके समान स्वच्छ क्रीड़ाभवन तथा नाना प्रकारके लतामण्डप बनाये गये थे ।। ४५ ।।

मनोहरैश्चित्रगृहैस्तथाजगतिपर्वतैः ।
वापीभिर्विविधाभिश्च पूर्णाभिः परमाम्भसा ।। ४६ ।।
सरोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः ।
हंसकारण्डवयुतैश्चक्रवाकोपशोभितैः ।। ४७ ।।

मनोहर चित्रशालाओं तथा राजाओंकी विहारयात्राके लिये निर्मित हुए कृत्रिम पर्वतोंसे भी वे उद्यान बड़ी शोभा पा रहे थे। उत्तम जलसे भरी हुई अनेक प्रकारकी बावलियाँ तथा कमल और उत्पलकी सुगन्धसे वासित अत्यन्त रमणीय सरोवर जहाँ हंस, कारण्डव तथा चक्रवाक आदि पक्षी निवास करते थे, उन उद्यानोंकी शोभा बढ़ा रहे थे ।। ४६-४७ ।।

रम्याश्च विविधास्तत्र पुष्करिण्यो वनावृताः ।
तडागानि च रम्याणि बृहन्ति सुबहूनि च ।। ४८ ।।

वहाँ वनसे घिरी हुई भाँति-भाँतिकी रमणीय पुष्करिणियाँ और सुरम्य एवं विशाल बहुसंख्यक तड़ाग बड़े सुन्दर जान पड़ते थे ।। ४८ ।।

(चातुर्वर्ण्यसमाकीर्णं मान्यैः शिल्पिभिरावृतम् ।
उपयोगसमर्थैश्च सर्वद्रव्यैः समावृतम् ।।
नित्यमार्यजनोपेतं नरनारीगणैर्युतम् ।
मत्तवारणसम्पूर्णं गोभिरुष्ट्रैः खरैरजैः ।।
सर्वदाभिगतं सद्भिः कारितं विश्वकर्मणा ।
तत् त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचत ।।
पुरीं सर्वगुणोपेतां निर्मितां विश्वकर्मणा ।
पौरवाणामधिपतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।।
कृतमङ्गलसत्कारो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
द्वैपायनं पुरस्कृत्य धौम्यस्यानुमते स्थितः ।।
भ्रातृभिः सहितो राजन् केशवेन सहाभिभूः ।
तोरणद्वारसुमुखं द्वात्रिंशद्द्वारसंयुतम् ।।
वर्धमानपुरद्वारं प्रविवेश महाद्युतिः ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषाः श्रूयन्ते बहवो भृशम् ।।
जयेति ब्राह्मणगिरः श्रूयन्ते च सहस्रशः ।
संस्तूयमानो मुनिभिः सूतमागधवन्दिभिः ।।
औपवाह्यगतो राजा राजमार्गमतीत्य च ।
कृतमङ्गलसत्कारं प्रविवेश गृहोत्तमम् ।।
प्रविश्य भवनं राजा सत्कारैरभिपूजितः ।
पूजयामास विप्रेन्द्रान् केशवेन यथाक्रमम् ।।
ततस्तु राष्ट्रं नगरं नरनारीगणायुतम् ।
गोधनैश्च समाकीर्णं सस्यवृद्धिस्तदाभवत् ।।)

वह नगर चारों वर्णोंके लोगोंसे ठसाठस भरा था। माननीय शिल्पी वहाँ निवास करते थे। वह पुरी उपभोगमें आनेवाली समस्त सामग्रियोंसे सम्पन्न थी। वहाँ सदा श्रेष्ठ पुरुष रहा करते थे। असंख्य नर-नारी उस नगरकी शोभा बढ़ाते थे। वहाँ मतवाले हाथी, ऊँट, गायें, बैल, गदहे और बकरे आदि पशु भी सदा मौजूद रहते थे। विश्वकर्माद्वारा बनायी हुई उस पुरीमें सदा साधु-महात्माओंका समागम होता था। वह इन्द्रप्रस्थ नगर स्वर्गके समान शोभा पाता था। राजन्! कौरवराज महातेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणोंद्वारा मंगल-कृत्य कराकर द्वैपायन व्यासको आगे करके धौम्य मुनिकी सम्मतिके अनुसार भाइयों तथा भगवान् श्रीकृष्णके साथ बत्तीस दरवाजोंसे युक्त तोरणद्वारके सामने आकर वर्धमान नामक नगरद्वारमें प्रवेश किया। उस समय शंख और नगारोंकी आवाज बड़े

जोर-जोरसे सुनायी देती थी। सहस्रों ब्राह्मणोंके मुखसे निकले हुए जयघोषका श्रवण होता था। मुनि तथा सूत, मागध और बन्दीजन राजाकी स्तुति कर रहे थे। राजा युधिष्ठिर हाथीपर बैठे हुए थे। उन्होंने राजमार्गको पार करके एक उत्तम भवनमें प्रवेश किया, जहाँ मांगलिक कृत्य सम्पन्न किया गया था। उस भवनमें प्रवेश करके भाँति-भाँतिके सत्कारोंसे सम्मानित हो राजा युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके साथ क्रमशः सभी शेष ब्राह्मणोंका पूजन किया। तदनन्तर अगणित नर-नारियोंसे सुशोभित वह राष्ट्र और नगर गोधनसे सम्पन्न हो गया और दिनोंदिन खेतीकी वृद्धि होने लगी।

तेषां पुण्यजनोपेतं राष्ट्रमाविशतां महत् ।
पाण्डवानां महाराज शश्वत् प्रीतिरवर्धत ।। ४९ ।।

महाराज! पुण्यात्मा मनुष्योंसे भरे हुए उस महान् राष्ट्रमें प्रवेश करनेके बाद पाण्डवोंकी प्रसन्नता निरन्तर बढ़ती गयी ।। ४९ ।।

तत्र भीष्मेण राज्ञा च धर्मप्रणयने कृते ।
पाण्डवाः समपद्यन्त खाण्डवप्रस्थवासिनः ।। ५० ।।

भीष्म तथा राजा धृतराष्ट्रके द्वारा धर्मराज युधिष्ठिरको आधा राज्य देकर वहाँसे विदा कर देनेपर समस्त पाण्डव खाण्डवप्रस्थके निवासी हो गये ।। ५० ।।

पञ्चभिस्तैर्महेष्वासैरिन्द्रकल्पैः समन्वितम् ।
शुशुभे तत् पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा ।। ५१ ।।

इन्द्रके समान शक्तिशाली और महान् धनुर्धर पाँचों पाण्डवोंके द्वारा वह श्रेष्ठ इन्द्रप्रस्थ नगर नागोंसे युक्त भोगवतीपुरीकी भाँति सुशोभित होने लगा ।। ५१ ।।

(ततस्तु विश्वकर्माणं पूजयित्वा विसृज्य च ।
द्वैपायनं च सम्पूज्य विसृज्य च नराधिप ।
वार्ष्णेयमब्रवीद् राजा गन्तुकामं कृतक्षणम् ।।

तदनन्तर विश्वकर्माका पूजन करके राजाने उन्हें विदा कर दिया। फिर व्यासजीको सम्मानपूर्वक विदा देकर राजा युधिष्ठिरने जानेके लिये उद्यत हुए भगवान् श्रीकृष्णसे कहा।

युधिष्ठिर उवाच

तव प्रसादाद् वार्ष्णेय राज्यं प्राप्तं मयानघ ।
प्रसादादेव ते वीर शून्यं राष्ट्रं सुदुर्गमम् ।।
तवैव तु प्रसादेन राज्यस्थाश्च महामते ।
गतिस्त्वमन्तकाले च पाण्डवानां तु माधव ।।
मातास्माकं पिता देवो न पाण्डुं विद्म वै वयम् ।
ज्ञात्वा तु कृत्यं कर्तव्यं कारयस्व भवान् हि नः ।
यदिष्टमनुमन्तव्यं पाण्डवानां त्वयानघ ।।

युधिष्ठिर बोले—निष्पाप वृष्णिनन्दन! आपकी ही कृपासे मैंने राज्य प्राप्त किया है। वीर! आपके ही प्रसादसे यह अत्यन्त दुर्गम एवं निर्जन प्रदेश आज धन-धान्यसे सम्पन्न राष्ट्र बन गया। महामते! आपकी ही दयासे हमलोग राज्यसिंहासनपर आसीन हुए हैं। माधव! अन्तकालमें भी आप ही हम पाण्डवोंकी गति हैं। आप ही हमारे माता-पिता और इष्टदेव हैं। हम पाण्डुको नहीं जानते। अनघ! आप स्वयं समझकर जो करनेयोग्य कार्य हो, वह हमसे करायें। पाण्डवोंके लिये जो अभीष्ट हो, उसी कार्यको करनेके लिये आप हमें अनुमति दें।

श्रीवासुदेव उवाच

त्वत्प्रभावान्महाभाग राज्यं प्राप्तं स्वधर्मतः ।
पितृपैतामहं राज्यं कथं न स्यात् तव प्रभो ।।
धार्तराष्ट्रा दुराचाराः किं करिष्यन्ति पाण्डवान् ।
यथेष्टं पालय महीं सदा धर्मधुरं वह ।।
धर्मोपदेशं संक्षेपाद् ब्राह्मणान् भज कौरव ।
अद्यैव नारदः श्रीमानागमिष्यति सत्वरः ।
आदृत्य तस्य वाक्यानि शासनं कुरु तस्य वै ।।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाभाग! आपको अपने ही प्रभावसे अपने ही धर्मके फलस्वरूप राज्य प्राप्त हुआ है। प्रभो! जो राज्य आपके बाप-दादोंका ही है, वह आपको कैसे नहीं मिलता। धृतराष्ट्रके पुत्र दुराचारी हैं। वे पाण्डवोंका क्या कर लेंगे? आप इच्छानुसार पृथ्वीका पालन कीजिये और सदा धर्ममर्यादाकी धुरी धारण करिये। कुरुनन्दन! संक्षेपमें आपके लिये धर्मका उपदेश इतना ही है कि ब्राह्मणोंकी सेवा करिये। आज ही बड़ी जल्दीमें आपके यहाँ श्रीनारदजी पधारेंगे, उनका आदर-सत्कार करके उनकी बातें सुनिये और उनकी आज्ञाका पालन कीजिये।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः कुन्तीमभिवाद्य जनार्दनः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा गमिष्यामि नमोऽस्तु ते ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यों कहकर भगवान् श्रीकृष्ण कुन्तीदेवीके पास गये और उन्हें प्रणाम करके मधुर वाणीमें बोले—'बुआजी! नमस्कार। अब मैं जाऊँगा (आज्ञा दीजिये)।'

कुन्त्युवाच

जातुषं गृहमासाद्य मया प्राप्तं च केशव ।
आर्येण चापि न ज्ञातं कुन्तिभोजेन चानघ ।।
त्वया नाथेन गोविन्द दुःखं तीर्णं महत्तरम् ।

त्वं हि नाथस्त्वनाथानां दरिद्राणां विशेषतः ।।
सर्वदुःखानि शाम्यन्ति तव संदर्शनान्मम ।
स्मरस्वैनान् महाप्राज्ञ तेन जीवन्ति पाण्डवाः ।।

कुन्ती बोली—केशव! लाक्षागृहमें जाकर मैंने जो कष्ट भोगा है, उसे मेरे पूज्य पिता कुन्तिभोज भी नहीं जान सके हैं। गोविन्द! तुम्हारी सहायतासे ही मैं इस महान् दुःख-समुद्रसे पार हुई हूँ। प्रभो! तुम अनाथोंके, विशेषतः दीन-दुःखियोंके नाथ (रक्षक) हो। तुम्हारे दर्शनसे हमारे सारे दुःख दूर हो जाते हैं। महामते! इन पाण्डवोंको सदा याद रखना। ये तुम्हारे शुभ चिन्तनसे ही जीवन धारण करते हैं।

वैशम्पायन उवाच

करिष्यामीति चामन्त्र्य अभिवाद्य पितृष्वसाम् ।
गमनाय मतिं चक्रे वासुदेवः सहानुगः ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने कुन्तीसे यह कहकर कि मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा, प्रणाम करके, विदा ले सेवकोंसहित वहाँसे जानेका विचार किया।

तां निवेश्य ततो वीरो रामेण सह केशवः ।
ययौ द्वारवतीं राजन् पाण्डवानुमते तदा ।। ५२ ।।

राजन्! इस प्रकार उस पुरीको बसाकर बलरामजीके साथ वीरवर श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी अनुमति ले उस समय द्वारकापुरीको चले गये ।। ५२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि पुरनिर्माणे षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें नगरनिर्माणविषयक दो सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ।। २०६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९९ श्लोक मिलाकर कुल १५१ श्लोक हैं)

सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके यहाँ नारदजीका आगमन और उनमें फूट न हो, इसके लिये कुछ नियम बनानेके लिये प्रेरणा करके सुन्द और उपसुन्दकी कथाको प्रस्तावित करना

जनमेजय उवाच

एवं सम्प्राप्य राज्यं तदिन्द्रप्रस्थं तपोधन।
अत ऊर्ध्वं महात्मानः किमकुर्वत पाण्डवाः॥ १॥

जनमेजयने पूछा—तपोधन! इस प्रकार इन्द्रप्रस्थका राज्य प्राप्त कर लेनेके पश्चात् महात्मा पाण्डवोंने कौन-सा कार्य किया?॥ १॥

सर्व एव महासत्त्वा मम पूर्वपितामहाः।
द्रौपदी धर्मपत्नी च कथं तानन्ववर्तत॥ २॥

मेरे पूर्वपितामह सभी पाण्डव महान् सत्त्व (मनोबल) से सम्पन्न थे। उनकी धर्मपत्नी द्रौपदीने किस प्रकार उन सबका अनुसरण किया?॥ २॥

कथं च पञ्च कृष्णायामेकस्यां ते नराधिपाः।
वर्तमाना महाभागा नाभिद्यन्त परस्परम्॥ ३॥

वे महान् सौभाग्यशाली नरेश जब एक ही कृष्णाके प्रति अनुरक्त थे, तब उनमें आपसमें फूट कैसे नहीं हुई?॥ ३॥

श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं विस्तरेण तपोधन।
तेषां चेष्टितमन्योन्यं युक्तानां कृष्णया सह॥ ४॥

तपोधन! द्रौपदीसे सम्बन्ध रखनेवाले उन पाण्डवोंका आपसमें कैसा बर्ताव था, यह सब मैं विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ॥ ४॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञाताः कृष्णया सह पाण्डवाः।
रेमिरे खाण्डवप्रस्थे प्राप्तराज्याः परंतपाः॥ ५॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! धृतराष्ट्रकी आज्ञासे राज्य पाकर परंतप पाण्डव द्रौपदीके साथ खाण्डव-प्रस्थमें विहार करने लगे॥ ५॥

प्राप्य राज्यं महातेजाः सत्यसंधो युधिष्ठिरः।
पालयामास धर्मेण पृथिवीं भ्रातृभिः सह॥ ६॥

सत्यप्रतिज्ञ महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर उस राज्यको पाकर अपने भाइयोंके साथ धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करने लगे॥ ६॥

जितारयो महाप्रज्ञाः सत्यधर्मपरायणाः ।
मुदं परमिकां प्राप्तास्तत्रोषुः पाण्डुनन्दनाः ।। ७ ।।

वे सभी शत्रुओंपर विजय पा चुके थे, सभी महाबुद्धिमान् थे। सबने सत्यधर्मका आश्रय ले रखा था। इस प्रकार वे पाण्डव वहाँ बड़े आनन्दके साथ रहते थे ।। ७ ।।

कुर्वाणाः पौरकार्याणि सर्वाणि पुरुषर्षभाः ।
आसांचक्रुर्महार्हेषु पार्थिवेष्वासनेषु च ।। ८ ।।

नरश्रेष्ठ पाण्डव नगरवासियोंके सम्पूर्ण कार्य करते हुए बहुमूल्य तथा राजोचित सिंहासनोंपर बैठा करते थे ।। ८ ।।

अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव महात्मसु ।
नारदस्त्वथ देवर्षिराजगाम यदृच्छया ।। ९ ।।

एक दिन जब वे सभी महामना पाण्डव अपने सिंहासनोंपर विराजमान थे, उसी समय देवर्षि नारद अकस्मात् वहाँ आ पहुँचे ।। ९ ।।

(पथा नक्षत्रजुष्टेन सुपर्णचरितेन च ।।
चन्द्रसूर्यप्रकाशेन सेवितेन महर्षिभिः ।
नभःस्थलेन दिव्येन दुर्लभेनातपस्विनाम् ।।

उनका आगमन आकाशमार्गसे हुआ, जिसका नक्षत्र सेवन करते हैं, जिसपर गरुड़ चलते हैं, जहाँ चन्द्रमा और सूर्यका प्रकाश फैलता है और जो महर्षियोंसे सेवित है। जो लोग तपस्वी नहीं हैं, उनके लिये व्योममण्डलका वह दिव्य मार्ग दुर्लभ है।

भूतार्चितो भूतधरं राष्ट्रं नगरभूषितम् ।
अवेक्षमाणो द्युतिमानाजगाम महातपाः ।।
सर्ववेदान्तगो विप्रः सर्वविद्यासु पारगः ।
परेण तपसा युक्तो ब्राह्मेण तपसा वृतः ।।
नये नीतौ च निरतो विश्रुतश्च महामुनिः ।

सम्पूर्ण प्राणियोंद्वारा पूजित महान् तपस्वी एवं तेजस्वी देवर्षि नारद बड़े-बड़े नगरोंसे विभूषित और सम्पूर्ण प्राणियोंके आश्रयभूत राष्ट्रोंका अवलोकन करते हुए वहाँ आये। विप्रवर नारद सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रके ज्ञाता तथा समस्त विद्याओंके पारंगत पण्डित हैं। वे परमतपस्वी तथा ब्राह्मतेजसे सम्पन्न हैं; न्यायोचित बर्ताव तथा नीतिमें निरन्तर निरत रहनेवाले सुविख्यात महामुनि हैं।

परात् परतरं प्राप्तो धर्मात् समभिजग्मिवान् ।।
भावितात्मा गतरजाः शान्तो मृदुर्ऋजुर्द्विजः ।
धर्मेणाधिगतः सर्वैर्देवदानवमानुषैः ।।
अक्षीणवृत्तधर्मश्च संसारभयवर्जितः ।
सर्वथा कृतमर्यादो वेदेषु विविधेषु च ।।

ऋक्सामयजुषां वेत्ता न्यायवृत्तान्तकोविदः ।।
ऋजुरारोहवाञ्छुक्लो भूयिष्ठपथिकोऽनघः ।
श्लक्ष्णया शिखयोपेतः सम्पन्नः परमत्विषा ।।
अवदाते च सूक्ष्मे च दिव्ये च रुचिरे शुभे ।
महेन्द्रदत्ते महती बिभ्रत् परमवाससी ।।
प्राप्य दुष्प्रापमन्येन ब्रह्मवर्चसमुत्तमम् ।
भवने भूमिपालस्य बृहस्पतिरिवाप्लुतः ।।

उन्होंने धर्म-बलसे परात्पर परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। वे शुद्धात्मा, रजोगुणरहित, शान्त, मृदु तथा सरल स्वभावके ब्राह्मण हैं। वे देवता, दानव और मनुष्य सबको धर्मतः प्राप्त होते हैं। उनका धर्म और सदाचार कभी खण्डित नहीं हुआ है। वे संसारभयसे सर्वथा रहित हैं। उन्होंने सब प्रकारसे विविध वैदिक धर्मोंकी मर्यादा स्थापित की है। वे ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदके विद्वान् हैं। न्यायशास्त्रके पारंगत पण्डित हैं। वे सीधे और ऊँचे कदके तथा शुक्ल वर्णके हैं। वे निष्पाप नारद अधिकांश समय यात्रामें व्यतीत करते हैं। उनके मस्तकपर सुन्दर शिखा शोभित है। वे उत्तम कान्तिसे प्रकाशित होते हैं। वे देवराज इन्द्रके दिये हुए दो बहुमूल्य वस्त्र धारण करते हैं। उनके वे दोनों वस्त्र उज्ज्वल, महीन, दिव्य, सुन्दर और शुभ हैं। दूसरोंके लिये दुर्लभ एवं उत्तम ब्रह्मतेजसे युक्त वे बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् नारदजी राजा युधिष्ठिरके महलमें उतरे।

संहितायां च सर्वेषां स्थितस्योपस्थितस्य च ।
द्विपदस्य च धर्मस्य क्रमधर्मस्य पारगः ।।
गाथासामानुधर्मज्ञः साम्नां परमवल्गुनाम् ।
आत्मना सर्वमोक्षिभ्यः कृतिमान् कृत्यवित् तथा ।।
योक्ता धर्मे बहुविधे मनो मतिमतां वरः ।
विदितार्थः समश्चैव छेत्ता निगमसंशयान् ।।
अर्थनिर्वचने नित्यं संशयच्छिदसंशयः ।
प्रकृत्या धर्मकुशलो नानाधर्मविशारदः ।।
लोपेनागमधर्मेण संक्रमेण च वृत्तिषु ।
एकशब्दांश्च नानार्थानेकार्थांश्च पृथक्छ्रुतीन् ।।
पृथगर्थाभिधानांश्च प्रयोगाणामवेक्षिता ।।

संहिताशास्त्रमें सबके लिये स्थित और उपस्थित मानवधर्म तथा क्रमप्राप्त धर्मके वे पारगामी विद्वान् हैं। वे गाथा और साममन्त्रोंमें कहे हुए आनुषंगिक धर्मोंके भी ज्ञाता हैं तथा अत्यन्त मधुर सामगानके पण्डित हैं। मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले सब लोगोंके हितके लिये नारदजी स्वयं ही प्रयत्नशील रहते हैं। कब किसका क्या कर्तव्य है, इसका उन्हें पूर्ण ज्ञान है। वे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं और मनको नाना प्रकारके धर्ममें लगाये रखते हैं। उन्हें जानने

योग्य सभी अर्थोंका ज्ञान है। वे सबमें समभाव रखनेवाले हैं और वेदविषयक सम्पूर्ण संदेहोंका निवारण करनेवाले हैं। अर्थकी व्याख्याके समय सदा संशयोंका उच्छेद करते हैं। उनके हृदयमें संशयका लेश भी नहीं है। वे स्वभावतः धर्मनिपुण तथा नाना धर्मोंके विशेषज्ञ हैं। लोप, आगमधर्म तथा वृतिसंक्रमणके द्वारा प्रयोगमें आये हुए एक शब्दके अनेक अर्थोंको, पृथक्-पृथक् श्रवणगोचर होनेवाले अनेक शब्दोंके एक अर्थको तथा विभिन्न शब्दोंके भिन्न-भिन्न अर्थोंको वे पूर्णरूपसे देखते और समझते हैं।

प्रमाणभूतो लोकस्य सर्वाधिकरणेषु च ।
सर्ववर्णविकारेषु नित्यं सकलपूजितः ।।
स्वरेऽस्वरे च विविधे वृत्तेषु विविधेषु च ।
समस्थानेषु सर्वेषु समाम्नायेषु धातुषु ।।
उद्देश्यानां समाख्याता सर्वमाख्यातमुद्दिशन् ।
अभिसंधिषु तत्त्वज्ञः पदान्यङ्गान्यनुस्मरन् ।।
कालधर्मेण निर्दिष्टं यथार्थं च विचारयन् ।
चिकीर्षितं च यो वेत्ता यथा लोकेन संवृतम् ।।
विभाषितं च समयं भाषितं हृदयङ्गमम् ।
आत्मने च परस्मै च स्वरसंस्कारयोगवान् ।।
एषां स्वराणां वेत्ता च बोद्धा च वचनस्वरान् ।
विज्ञाता चोक्तवाक्यानामेकतां बहुतां तथा ।।
बोद्धा हि परमार्थांश्च विविधांश्च व्यतिक्रमान् ।
अभेदतश्च बहुशो बहुशश्चापि भेदतः ।।
वचनानां च विविधानादेशांश्च समीक्षिता ।
नानार्थकुशलस्तत्र तद्धितेषु च सर्वशः ।।
परिभूषयिता वाचां वर्णतः स्वरतोऽर्थतः ।
प्रत्ययांश्च समाख्याता नियतं प्रतिधातुकम् ।।
पञ्च चाक्षरजातानि स्वरसंज्ञानि यानि च ।)

सभी अधिकरणों और समस्त वर्णोंके विकारोंमें निर्णय देनेके निमित्त वे सब लोगोंके लिये प्रमाणभूत हैं। सदा सब लोग उनकी पूजा करते हैं। नाना प्रकारके स्वर, व्यंजन, भाँति-भाँतिके छन्द, समान स्थानवाले सभी वर्ण, समाम्नाय तथा धातु—इन सबके उद्देश्योंकी नारदजी बहुत अच्छी व्याख्या करते हैं। सम्पूर्ण आख्यात प्रकरण (धातुरूप तिङन्त आदि)-का प्रतिपादन कर सकते हैं। सब प्रकारकी संधियोंके सम्पूर्ण रहस्योंको जानते हैं। पदों और अंगोंका निरन्तर स्मरण रखते हैं, काल-धर्मसे निर्दिष्ट यथार्थ तत्त्वका विचार करनेवाले हैं तथा वे लोगोंके छिपे हुए मनोभावको—वे क्या करना चाहते हैं, इस बातको भी अच्छी तरह जानते हैं। विभाषित (वैकल्पिक), भाषित (निश्चयपूर्वक कथित)

और हृदयंगम किये हुए समयका उन्हें यथार्थ ज्ञान है। वे अपने तथा दूसरेके लिये स्वरसंस्कार तथा योगसाधनमें तत्पर रहते हैं। वे इन प्रत्यक्ष चलनेवाले स्वरोंको भी जानते हैं, वचन-स्वरोंका भी ज्ञान रखते हैं, कही हुई बातोंके मर्मको जानते और उनकी एकता तथा अनेकताको समझते हैं। उन्हें परमार्थका यथार्थ ज्ञान है। वे नाना प्रकारके व्यतिक्रमों (अपराधों)-को भी जानते हैं। अभेद और भेददृष्टिसे भी बारंबार तत्त्वविचार करते रहते हैं। वे शास्त्रीय वाक्योंके विविध आदेशोंकी भी समीक्षा करनेवाले तथा नाना प्रकारके अर्थज्ञानमें कुशल हैं, तद्धित प्रत्ययोंका उन्हें पूरा ज्ञान है। वे स्वर, वर्ण और अर्थ तीनोंसे ही वाणीको विभूषित करते हैं। प्रत्येक धातुके प्रत्ययोंका नियमपूर्वक प्रतिपादन करनेवाले हैं। पाँच प्रकारके जो अक्षरसमूह तथा स्वर हैं*, उनको भी वे यथार्थरूपसे जानते हैं।

तमागतमृषिं दृष्ट्वा प्रत्युद्‍गम्याभिवाद्य च ।
आसनं रुचिरं तस्मै प्रददौ स्वं युधिष्ठिरः ।
देवर्षेरुपविष्टस्य स्वयमर्घ्यं यथाविधि ।। १० ।।
प्रादाद् युधिष्ठिरो धीमान् राज्यं तस्मै न्यवेदयत् ।
प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिः प्रीतमनास्तदा ।। ११ ।।

उन्हें आया देख राजा युधिष्ठिरने आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया और अपना परम सुन्दर आसन उन्हें बैठनेके लिये दिया। जब देवर्षि उसपर बैठ गये, तब परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने स्वयं ही विधिपूर्वक उन्हें अर्घ्य निवेदन किया और उसीके साथ-साथ उन्हें अपना राज्य समर्पित कर दिया। उनकी यह पूजा ग्रहण करके देवर्षि उस समय मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ।। १०-११ ।।

आशीर्भिर्वर्धयित्वा च तमुवाचास्यतामिति ।
निषसादाभ्यनुज्ञातस्ततो राजा युधिष्ठिरः ।। १२ ।।
कथयामास कृष्णायै भगवन्तमुपस्थितम् ।
श्रुत्वैतद् द्रौपदी चापि शुचिर्भूत्वा समाहिता ।। १३ ।।
जगाम तत्र यत्रास्ते नारदः पाण्डवैः सह ।
तस्याभिवाद्य चरणौ देवर्षेर्धर्मचारिणी ।। १४ ।।
कृताञ्जलिः सुसंवीता स्थिताथ द्रुपदात्मजा ।
तस्याश्चापि स धर्मात्मा सत्यवागृषिसत्तमः ।। १५ ।।
आशिषो विविधाः प्रोच्य राजपुत्र्यास्तु नारदः ।
गम्यतामिति होवाच भगवांस्तामनिन्दिताम् ।। १६ ।।
गतायामथ कृष्णायां युधिष्ठिरपुरोगमान् ।
विविक्ते पाण्डवान् सर्वानुवाच भगवानृषिः ।। १७ ।।

फिर आशीर्वादसूचक वचनोंद्वारा उनके अभ्युदयकी कामना करके बोले—'तुम भी बैठो।' नारदकी आज्ञा पाकर राजा युधिष्ठिर बैठे और कृष्णाको कहला दिया कि स्वयं

भगवान् नारदजी पधारे हैं। यह सुनकर द्रौपदी भी पवित्र एवं एकाग्रचित हो उसी स्थानपर गयी, जहाँ पाण्डवोंके साथ नारदजी विराजमान थे। धर्मका आचरण करनेवाली कृष्णा देवर्षिके चरणोंमें प्रणाम करके अपने अंगोंको ढके हुए हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी। धर्मात्मा एवं सत्यवादी मुनिश्रेष्ठ भगवान् नारदने राजकुमारी द्रौपदीको नाना प्रकारके आशीर्वाद देकर उस सती-साध्वी देवीसे कहा, 'अब तुम भीतर जाओ।' कृष्णाके चले जानेपर भगवान् देवर्षिने एकान्तमें युधिष्ठिर आदि समस्त पाण्डवोंसे कहा ।। १२—१७ ।।

नारद उवाच

पाञ्चाली भवतामेका धर्मपत्नी यशस्विनी ।
यथा वो नात्र भेदः स्यात् तथा नीतिर्विधीयताम् ।। १८ ।।

नारदजी बोले—पाण्डवो! यशस्विनी पांचाली तुम सब लोगोंकी एक ही धर्मपत्नी है; अतः तुमलोग ऐसी नीति बना लो, जिससे तुमलोगोंमें कभी परस्पर फूट न हो ।। १८ ।।

सुन्दोपसुन्दौ हि पुरा भ्रातरौ सहितावुभौ ।
आस्तामवध्यावन्येषां त्रिषु लोकेषु विश्रुतौ ।। १९ ।।

पहलेकी बात है, सुन्द और उपसुन्द नामक दो असुर भाई-भाई थे। वे सदा साथ रहते थे एवं दूसरेके लिये अवध्य थे (केवल आपसमें ही लड़कर वे मर सकते थे)। उनकी तीनों लोकोंमें बड़ी ख्याति थी ।। १९ ।।

एकराज्यावेकगृहावेकशय्यासनाशनौ ।
तिलोत्तमायास्तौ हेतोरन्योन्यमभिजघ्नतुः ।। २० ।।

उनका एक ही राज्य था और एक ही घर। वे एक ही शय्यापर सोते, एक ही आसनपर बैठते और एक साथ ही भोजन करते थे। इस प्रकार आपसमें अटूट प्रेम होनेपर भी तिलोत्तमा अप्सराके लिये लड़कर उन्होंने एक-दूसरेको मार डाला ।। २० ।।

रक्ष्यतां सौहृदं तस्मादन्योन्यप्रीतिभावकम् ।
यथा वो नात्र भेदः स्यात् तत् कुरुष्व युधिष्ठिर ।। २१ ।।

युधिष्ठिर! इसलिये आपसकी प्रीतिको बढ़ानेवाले सौहार्दकी रक्षा करो और ऐसा कोई नियम बनाओ, जिससे यहाँ तुमलोगोंमें वैर-विरोध न हो ।। २१ ।।

युधिष्ठिर उवाच

सुन्दोपसुन्दावसुरौ कस्य पुत्रौ महामुने ।
उत्पन्नश्च कथं भेदः कथं चान्योन्यमघ्नताम् ।। २२ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—महामुने! सुन्द और उपसुन्द नामक असुर किसके पुत्र थे? उनमें कैसे विरोध उत्पन्न हुआ और किस प्रकार उन्होंने एक-दूसरेको मार डाला? ।। २२ ।।

अप्सरा देवकन्या वा कस्य चैषा तिलोत्तमा ।
यस्याः कामेन सम्मत्तौ जघ्नतुस्तौ परस्परम् ।। २३ ।।

यह तिलोत्तमा अप्सरा थी? किसी देवताकी कन्या थी? तथा वह किसके अधिकारमें थी, जिसकी कामनासे उन्मत्त होकर उन्होंने एक-दूसरेको मार डाला ।। २३ ।।

एतत् सर्वं यथावृत्तं विस्तरेण तपोधन ।
श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन् परं कौतूहलं हि नः ।। २४ ।।

तपोधन! यह सब वृत्तान्त जिस प्रकार घटित हुआ था, वह सब हम विस्तारपूर्वक सुनना चाहते हैं। ब्रह्मन्! उसे सुननेके लिये हमारे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि युधिष्ठिरनारदसंवादे सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें युधिष्ठिर-नारद-संवादविषयक दो सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २५½ श्लोक मिलाकर कुल ४९½ श्लोक हैं)

---

* कण्ठ, तालू, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ—इन पाँच स्थानों अथवा पाँच आभ्यन्तर प्रयत्नोंके भेदसे पाँच प्रकारके अक्षरसमूह कहे गये हैं। अ इ उ ऋ लृ ये पाँच ही मूल स्वर हैं, अन्य स्वर इन्हींके दीर्घ आदि भेद अथवा संधिज हैं।

अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सुन्द-उपसुन्दकी तपस्या, ब्रह्माजीके द्वारा उन्हें वर प्राप्त होना और दैत्योंके यहाँ आनन्दोत्सव

नारद उवाच

शृणु मे विस्तरेणेममितिहासं पुरातनम् ।
भ्रातृभिः सहितः पार्थ यथावृत्तं युधिष्ठिर ।। १ ।।

नारदजीने कहा—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! यह वृत्तान्त जिस प्रकार संघटित हुआ था, वह प्राचीन इतिहास तुम मुझसे भाइयोंसहित विस्तारपूर्वक सुनो ।। १ ।।

महासुरस्यान्ववाये हिरण्यकशिपोः पुरा ।
निकुम्भो नाम दैत्येन्द्रस्तेजस्वी बलवानभूत् ।। २ ।।

प्राचीनकालमें महान् दैत्य हिरण्यकशिपुके कुलमें निकुम्भ नामसे प्रसिद्ध एक दैत्यराज हो गया है, जो अत्यन्त तेजस्वी और बलवान् था ।। २ ।।

तस्य पुत्रौ महावीर्यौ जातौ भीमपराक्रमौ ।
सुन्दोपसुन्दौ दैत्येन्द्रौ दारुणौ क्रूरमानसौ ।। ३ ।।

उसके महाबली और भयानक पराक्रमी दो पुत्र हुए, जिनका नाम था सुन्द और उपसुन्द। वे दोनों दैत्यराज बड़े भयंकर और क्रूर हृदयके थे ।। ३ ।।

तावेकनिश्चयो दैत्यावेककार्यार्थसम्मतौ ।
निरन्तरमवर्तेतां समदुःखसुखावुभौ ।। ४ ।।

उनका एक ही निश्चय होता था और एक ही कार्यके लिये वे सदा सहमत रहते थे। उनके सुख और दुःख भी एक ही प्रकारके थे। वे दोनों सदा साथ रहते थे ।। ४ ।।

विनान्योन्यं न भुञ्जाते विनान्योन्यं न जल्पतः ।
अन्योन्यस्य प्रियकरावन्योन्यस्य प्रियंवदौ ।। ५ ।।

उनमेंसे एकके बिना दूसरा न तो खाता-पीता और न किसीसे कुछ बात-चीत ही करता था। वे दोनों एक-दूसरेका प्रिय करते और परस्पर मीठे वचन बोलते थे ।। ५ ।।

एकशीलसमाचारौ द्विधैवैकोऽभवत् कृतः ।
तौ विवृद्धौ महावीर्यौ कार्येष्वप्येकनिश्चयौ ।। ६ ।।

उनके शील और आचरण एक-से थे, मानो एक ही जीवात्मा दो शरीरोंमें विभक्त कर दिया गया हो। वे महापराक्रमी दैत्य साथ-साथ बढ़ने लगे। वे प्रत्येक कार्यमें एक ही निश्चयपर पहुँचते थे ।। ६ ।।

त्रैलोक्यविजयार्थाय समाधायैकनिश्चयम् ।

दीक्षां कृत्वा गतौ विन्ध्यं तावुग्रं तेपतुस्तपः ।। ७ ।।

किसी समय वे तीनों लोकोंपर विजय पानेकी इच्छासे एकमत होकर गुरुसे दीक्षा ले विन्ध्य पर्वतपर आये और वहाँ कठोर तपस्या करने लगे ।। ७ ।।

तौ तु दीर्घेण कालेन तपोयुक्तौ बभूवतुः ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ जटावल्कलधारिणौ ।। ८ ।।

भूख और प्यासका कष्ट सहते हुए सिरपर जटा तथा शरीरपर वल्कल धारण किये वे दोनों भाई दीर्घकालतक भारी तपस्यामें लगे रहे ।। ८ ।।

मलोपचितसर्वाङ्गौ वायुभक्षौ बभूवतुः ।
आत्ममांसानि जुह्वन्तौ पादाङ्गुष्ठाग्रविष्ठितौ ।
ऊर्ध्वबाहू चानिमिषौ दीर्घकालं धृतव्रतौ ।। ९ ।।

उनके सम्पूर्ण अंगोंमें मैल जम गयी थी, वे हवा पीकर रहते थे और अपने ही शरीरके मांसखण्ड काट-काटकर अग्निमें आहुति देते थे। तदनन्तर बहुत समयतक पैरोंके अंगूठोंके अग्रभागके बलपर खड़े हो दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये एकटक दृष्टिसे देखते हुए वे दोनों व्रत धारण करके तपस्यामें संलग्न रहे ।। ९ ।।

तयोस्तपःप्रभावेण दीर्घकालं प्रतापितः ।
धूमं प्रमुमुचे विन्ध्यस्तदद्भुतमिवाभवत् ।। १० ।।

उन दैत्योंकी तपस्याके प्रभावसे दीर्घकालतक संतप्त होनेके कारण विन्ध्य पर्वत धुआँ छोड़ने लगा, यह एक अद्भुत-सी बात हुई ।। १० ।।

ततो देवा भयं जग्मुरुग्रं दृष्ट्वा तयोस्तपः ।
तपोविघातार्थमथो देवा विघ्नानि चक्रिरे ।। ११ ।।

उनकी उग्र तपस्या देखकर देवताओंको बड़ा भय हुआ। वे देवतागण उनके तपको भंग करनेके लिये अनेक प्रकारके विघ्न डालने लगे ।। ११ ।।

रत्नैः प्रलोभयामासुः स्त्रीभिश्चोभौ पुनः पुनः ।
न च तौ चक्रतुर्भङ्गं व्रतस्य सुमहाव्रतौ ।। १२ ।।

उन्होंने बार-बार रत्नोंके ढेर तथा सुन्दरी स्त्रियोंको भेज-भेजकर उन दोनोंको प्रलोभनमें डालनेकी चेष्टा की; किंतु उन महान् व्रतधारी दैत्योंने अपने तपको भंग नहीं किया ।। १२ ।।

अथ मायां पुनर्देवास्तयोश्चक्रुर्महात्मनोः ।
भगिन्यो मातरो भार्यास्तयोश्चात्मजनस्तथा ।। १३ ।।
प्रपात्यमाना विस्रस्ताः शूलहस्तेन रक्षसा ।
भ्रष्टाभरणकेशान्ता भ्रष्टाभरणवाससः ।। १४ ।।
अभिभाष्य ततः सर्वास्तौ त्राहीति विचुक्रुशुः ।
न च तौ चक्रतुर्भङ्गं व्रतस्य सुमहाव्रतौ ।। १५ ।।

तत्पश्चात् देवताओंने महान् आत्मबलसे सम्पन्न उन दोनों दैत्योंके सामने पुनः मायाका प्रयोग किया। उनकी मायानिर्मित बहनें, माताएँ, पत्नियाँ तथा अन्य आत्मीयजन वहाँ भागते हुए आते और उन्हें कोई शूलधारी राक्षस बार-बार खदेड़ता तथा पृथ्वीपर पटक देता था। उनके आभूषण गिर जाते, वस्त्र खिसक जाते और बालोंकी लटें खुल जाती थीं। वे सभी आत्मीयजन सुन्द-उपसुन्दको पुकारकर चीखते हुए कहते—'बेटा! मुझे बचाओ, भैया! मेरी रक्षा करो।' यह सब सुनकर भी वे दोनों महान् व्रतधारी तपस्वी अपनी तपस्यासे नहीं डिगे; अपने व्रतको नहीं तोड़ सके ।। १३—१५ ।।

यदा क्षोभं नोपयाति नार्तिमन्यतरस्तयोः ।
ततः स्त्रियस्ता भूतं च सर्वमन्तरधीयत ।। १६ ।।

जब उन दोनोंमेंसे एक भी न तो इन घटनाओंसे क्षुब्ध हुआ और न किसीके मनमें कष्टका ही अनुभव हुआ, तब वे मायामयी स्त्रियाँ और वह राक्षस सब-के-सब अदृश्य हो गये ।। १६ ।।

ततः पितामहः साक्षादभिगम्य महासुरौ ।
वरेणच्छन्दयामास सर्वलोकहितः प्रभुः ।। १७ ।।

तब सम्पूर्ण लोकोंके हितैषी पितामह साक्षात् भगवान् ब्रह्माने उन दोनों महादैत्योंके निकट आकर उन्हें इच्छानुसार वर माँगनेको कहा ।। १७ ।।

ततः सुन्दोपसुन्दौ तौ भ्रातरौ दृढविक्रमौ ।
दृष्ट्वा पितामहं देवं तस्थतुः प्राञ्जली तदा ।। १८ ।।
ऊचतुश्च प्रभुं देवं ततस्तौ सहितौ तदा ।
आवयोस्तपसानेन यदि प्रीतः पितामहः ।। १९ ।।
मायाविदावस्त्रविदौ बलिनौ कामरूपिणौ ।
उभावप्यमरौ स्यावः प्रसन्नो यदि नौ प्रभुः ।। २० ।।

तदनन्तर सुदृढ़ पराक्रमी दोनों भाई सुन्द और उपसुन्द भगवान् ब्रह्माको उपस्थित देख हाथ जोड़कर खड़े हो गये और एक साथ भगवान् ब्रह्मासे बोले—'भगवन्! यदि आप हमारी तपस्यासे प्रसन्न हैं तो हम दोनों सम्पूर्ण मायाओंके ज्ञाता, अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान्, बलवान्, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले और अमर हो जायँ' ।। १८—२० ।।

ब्रह्मोवाच

ऋतेऽमरत्वं युवयोः सर्वमुक्तं भविष्यति ।
अन्यद् वृणीतं मृत्योश्च विधानममरैः समम् ।। २१ ।।

ब्रह्माजीने कहा—अमरत्वके सिवा तुम्हारी माँगी हुई सब वस्तुएँ तुम्हें प्राप्त होंगी। तुम मृत्युका कोई दूसरा ऐसा विधान माँग लो, जो तुम्हें देवताओंके समान बनाये रख सके ।। २१ ।।

प्रभविष्याव इति यन्महदभ्युद्यतं तपः ।
युवयोर्हेतुनानेन नामरत्वं विधीयते ।। २२ ।।

हम तीनों लोकोंके ईश्वर होंगे, ऐसा संकल्प करके जो तुमलोगोंने यह बड़ी भारी तपस्या प्रारम्भ की थी, इसीलिये तुमलोगोंको अमर नहीं बनाया जाता; क्योंकि अमरत्व तुम्हारी तपस्याका उद्देश्य नहीं था ।। २२ ।।

त्रैलोक्यविजयार्थाय भवद्भ्यामास्थितं तपः ।
हेतुनानेन दैत्येन्द्रौ न वा कामं करोम्यहम् ।। २३ ।।

दैत्यपतियो! तुम दोनोंने त्रिलोकीपर विजय पानेके लिये ही इस तपस्याका आश्रय लिया था, इसीलिये तुम्हारी अमरत्वविषयक कामनाकी पूर्ति मैं नहीं कर रहा हूँ ।। २३ ।।

सुन्दोपसुन्दावूचतुः

त्रिषु लोकेषु यद् भूतं किंचित् स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वस्मान्नो भयं न स्यादृतेऽन्योन्यं पितामह ।। २४ ।।

सुन्द और उपसुन्द बोले—पितामह! तब यह वर दीजिये कि हम दोनोंमेंसे एक-दूसरेको छोड़कर तीनों लोकोंमें जो कोई भी चर या अचर भूत हैं, उनसे हमें मृत्युका भय न हो ।। २४ ।।

पितामह उवाच

यत् प्रार्थितं यथोक्तं च काममेतद् ददानि वाम् ।

मृत्योर्विधानमेतच्च यथावद् वा भविष्यति ।। २५ ।।

ब्रह्माजीने कहा—तुमने जैसी प्रार्थना की है, तुम्हारी वह मुँहमाँगी वस्तु तुम्हें अवश्य दूँगा। तुम्हारी मृत्युका विधान ठीक इसी प्रकार होगा ।। २५ ।।

नारद उवाच

ततः पितामहो दत्त्वा वरमेतत् तदा तयोः ।
निवर्त्त्य तपसस्तौ च ब्रह्मलोकं जगाम ह ।। २६ ।।

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस समय उन दोनों दैत्योंको यह वरदान देकर और उन्हें तपस्यासे निवृत्त करके ब्रह्माजी ब्रह्मलोकको चले गये ।। २६ ।।

लब्ध्वा वराणि दैत्येन्द्रावथ तौ भ्रातरावुभौ ।
अवध्यौ सर्वलोकस्य स्वमेव भवनं गतौ ।। २७ ।।

फिर वे दोनों भाई दैत्यराज सुन्द और उपसुन्द यह अभीष्ट वर पाकर सम्पूर्ण लोकोंके लिये अवध्य हो पुनः अपने घरको ही लौट गये ।। २७ ।।

तौ तु लब्धवरौ दृष्ट्वा कृतकामौ मनस्विनौ ।
सर्वः सुहृज्जनस्ताभ्यां प्रहर्षमुपजग्मिवान् ।। २८ ।।

वरदान पाकर पूर्णकाम होकर लौटे हुए उनदोनों मनस्वी वीरोंको देखकर उनके सभी सगे-सम्बन्धी बड़े प्रसन्न हुए ।। २८ ।।

ततस्तौ तु जटा भित्त्वा मौलिनौ सम्बभूवतुः ।
महार्हाभरणोपेतौ विरजोऽम्बरधारिणौ ।। २९ ।।
अकालकौमुदीं चैव चक्रतुः सार्वकालिकीम् ।
नित्यप्रमुदितः सर्वस्तयोश्चैव सुहृज्जनः ।। ३० ।।

तदनन्तर उन्होंने जटाएँ कटाकर मस्तकपर मुकुट धारण कर लिये और बहुमूल्य आभूषण तथा निर्मल वस्त्र धारण करके ऐसा प्रकाश फैलाया, मानो असमयमें ही चाँदनी छिटक गयी हो और सर्वदा दिन-रात एकरस रहने लगी हो। उनके सभी सगे-सम्बन्धी सदा आमोद-प्रमोदमें डूबे रहते थे ।। २९-३० ।।

भक्ष्यतां भुज्यतां नित्यं दीयतां रम्यतामिति ।
गीयतां पीयतां चेति शब्दश्चासीद् गृहे गृहे ।। ३१ ।।

प्रत्येक घरमें सर्वदा 'खाओ, भोग करो, लुटाओ, मौज करो, गाओ और पीओ'का शब्द गूँजता रहता था ।। ३१ ।।

तत्र तत्र महानादैरुत्कृष्टतलनादितैः ।
हृष्टं प्रमुदितं सर्वं दैत्यानामभवत् पुरम् ।। ३२ ।।

जहाँ-तहाँ जोर-जोरसे तालियाँ पीटनेकी ऊँची आवाजसे दैत्योंका वह सारा नगर हर्ष और आनन्दमें मग्न जान पड़ता था ।। ३२ ।।

तैस्तैर्विहारैर्बहुभिर्दैत्यानां कामरूपिणाम् ।
समाः संक्रीडतां तेषामहरेकमिवाभवत् ।। ३३ ।।

इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वे दैत्य वर्षोंतक भाँति-भाँतिके खेल-कूद और आमोद-प्रमोद करनेमें लगे रहे; किंतु वह सारा समय उन्हें एक दिनके समान लगा ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्यानेऽष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानविषयक दो सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०८ ।।

नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सुन्द और उपसुन्दद्वारा क्रूरतापूर्ण कर्मोंसे त्रिलोकीपर विजय प्राप्त करना

नारद उवाच

उत्सवे वृत्तमात्रे तु त्रैलोक्याकाङ्क्षिणावुभौ ।
मन्त्रयित्वा ततः सेनां तावाज्ञापयतां तदा ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उत्सव समाप्त हो जानेपर तीनों लोकोंको अपने अधिकारमें करनेकी इच्छासे आपसमें सलाह करके उन दोनों दैत्योंने सेनाको कूच करनेकी आज्ञा दी ।। १ ।।

सुहृद्भिरप्यनुज्ञातौ दैत्यैर्वृद्धैश्च मन्त्रिभिः ।
कृत्वा प्रास्थानिकं रात्रौ मघासु ययतुस्तदा ।। २ ।।

सुहृदों तथा दैत्यजातीय बूढ़े मन्त्रियोंकी अनुमति लेकर उन्होंने रातके समय मघा नक्षत्रमें प्रस्थान करके यात्रा प्रारम्भ की ।। २ ।।

गदापट्टिशधारिण्या शूलमुद्‌गरहस्तया ।
प्रस्थितौ सह वर्मिण्या महत्या दैत्यसेनया ।। ३ ।।
मङ्गलैः स्तुतिभिश्चापि विजयप्रतिसंहितैः ।
चारणैः स्तूयमानौ तौ जग्मतुः परया मुदा ।। ४ ।।

उनके साथ गदा, पट्टिश, शूल, मुद्‌गर और कवचसे सुसज्जित दैत्योंकी विशाल सेना जा रही थी। वे दोनों सेनाके साथ प्रस्थान कर रहे थे। चारणलोग विजयसूचक मंगल और स्तुतिपाठ करते हुए उन दोनोंके गुण गाते जाते थे। इस प्रकार उन दोनों दैत्योंने बड़े आनन्दसे यात्रा की ।। ३-४ ।।

तावन्तरिक्षमुत्प्लुत्य दैत्यौ कामगमावुभौ ।
देवानामेव भवनं जग्मतुर्युद्धदुर्मदौ ।। ५ ।।

युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले वे दोनों दैत्य इच्छानुसार सर्वत्र जानेकी शक्ति रखते थे; अतः आकाशमें उछलकर पहले देवताओंके ही घरोंपर जा चढ़े ।। ५ ।।

तयोरागमनं ज्ञात्वा वरदानं च तत् प्रभोः ।
हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्ब्रह्मलोकं ततः सुराः ।। ६ ।।

उनका आगमन सुनकर और ब्रह्माजीसे मिले हुए उनके वरदानका विचार करके देवतालोग स्वर्ग छोड़कर ब्रह्मलोकमें चले गये ।। ६ ।।

ताविन्द्रलोकं निर्जित्य यक्षरक्षोगणांस्तदा ।

खेचराण्यपि भूतानि जघ्नतुस्तीव्रविक्रमौ ।। ७ ।।

इस प्रकार इन्द्रलोकपर विजय पाकर वे तीव्रपराक्रमी दैत्य यक्षों, राक्षसों तथा अन्यान्य आकाशचारी भूतोंको मारने और पीड़ा देने लगे ।। ७ ।।

अन्तर्भूमिगतान् नागाञ्जित्वा तौ च महारथौ ।
समुद्रवासिनीः सर्वा म्लेच्छजातीर्विजिग्यतुः ।। ८ ।।

उन दोनों महारथियोंने भूमिके अंदर पातालमें रहनेवाले नागोंको जीतकर समुद्रके तटपर निवास करनेवाली सम्पूर्ण म्लेच्छ जातियोंको परास्त किया ।। ८ ।।

ततः सर्वां महीं जेतुमारब्धावुग्रशासनौ ।
सैनिकांश्च समाहूय सुतीक्ष्णं वाक्यमूचतुः ।। ९ ।।

तदनन्तर भयंकर शासन करनेवाले वे दोनों दैत्य सारी पृथ्वीको जीतनेके लिये उद्यत हो गये और अपने सैनिकोंको बुलाकर अत्यन्त तीखे वचन बोले— ।। ९ ।।

राजर्षयो महायज्ञैर्हव्यकव्यैर्द्विजातयः ।
तेजो बलं च देवानां वर्धयन्ति श्रियं तथा ।। १० ।।

‘इस पृथ्वीपर बहुतसे राजर्षि और ब्राह्मण रहते हैं, जो बड़े-बड़े यज्ञ करके हव्य-कव्योंद्वारा देवताओंके तेज, बल और लक्ष्मीकी वृद्धि किया करते हैं’ ।। १० ।।

तेषामेवंप्रवृत्तानां सर्वेषामसुरद्विषाम् ।
सम्भूय सर्वैरस्माभिः कार्यः सर्वात्मना वधः ।। ११ ।।

‘इस प्रकार यज्ञादि कर्मोंमें लगे हुए वे सभी लोग असुरोंके द्रोही हैं। इसलिये हम सबको संगठित होकर उन सबका सब प्रकारसे वध कर डालना चाहिये’ ।। ११ ।।

एवं सर्वान् समादिश्य पूर्वतीरे महोदधेः ।
क्रूरां मतिं समास्थाय जग्मतुः सर्वतोमुखौ ।। १२ ।।

समुद्रके पूर्वतटपर अपने समस्त सैनिकोंको ऐसा आदेश देकर मनमें क्रूर संकल्प लिये वे दोनों भाई सब ओर आक्रमण करने लगे ।। १२ ।।

यज्ञैर्यजन्ति ये केचिद् याजयन्ति च ये द्विजाः ।
तान् सर्वान् प्रसभं हत्वा बलिनौ जग्मतुस्ततः ।। १३ ।।

जो लोग यज्ञ करते तथा जो ब्राह्मण आचार्य बनकर यज्ञ कराते थे, उन सबका बलपूर्वक वध करके वे महाबली दैत्य आगे बढ़ जाते थे ।। १३ ।।

आश्रमेष्वग्निहोत्राणि मुनीनां भावितात्मनाम् ।
गृहीत्वा प्रक्षिपन्त्यप्सु विश्रब्धं सैनिकास्तयोः ।। १४ ।।

उनके सैनिक शुद्धात्मा मुनियोंके आश्रमोंपर जाकर उनके अग्निहोत्रकी सामग्री उठाकर बिना किसी डर-भयके पानीमें फेंक देते थे ।। १४ ।।

तपोधनैश्च ये क्रुद्धैः शापा उक्ता महात्मभिः ।
नाक्रामन्त तयोस्तेऽपि वरदाननिराकृताः ।। १५ ।।

कुछ तपस्याके धनी महात्माओंने क्रोधमें भरकर उन्हें जो शाप दिये, उनके शाप भी उन दैत्योंके मिले हुए वरदानसे प्रतिहत होकर उनका कुछ बिगाड़ नहीं सके ।। १५ ।।

नाक्रामन्त यदा शापा बाणा मुक्ताः शिलास्विव ।
नियमान् सम्परित्यज्य व्यद्रवन्त द्विजातयः ।। १६ ।।

पत्थरपर चलाये हुए बाणोंकी भाँति जब शाप उन्हें पीड़ित न कर सके, तब ब्राह्मणलोग अपने सारे नियम छोड़कर वहाँसे भाग चले ।। १६ ।।

पृथिव्यां ये तपःसिद्धा दान्ताः शमपरायणाः ।
तयोर्भयाद् दुद्रुवुस्ते वैनतेयादिवोरगाः ।। १७ ।।

जैसे साँप गरुड़के डरसे भाग जाते हैं, उसी प्रकार भूमण्डलके जितेन्द्रिय, शान्तिपरायण एवं तपःसिद्ध महात्मा भी उन दोनों दैत्योंके भयसे भाग जाते थे ।। १७ ।।

मथितैराश्रमैर्भग्नैर्विकीर्णकलशस्रुवैः ।
शून्यमासीज्जगत् सर्वं कालेनेव हतं तदा ।। १८ ।।

सारे आश्रम मथकर उजाड़ डाले गये। कलश और स्रुव तोड़-फोड़कर फेंक दिये गये। उस समय सारा जगत् कालके द्वारा विनष्ट हुएकी भाँति सूना हो गया ।। १८ ।।

ततो राजन्नदृश्यद्भिर्ऋषिभिश्च महासुरौ ।
उभौ विनिश्चयं कृत्वा विकुर्वाते वधैषिणौ ।। १९ ।।

राजन्! तदनन्तर जब गुफाओंमें छिपे हुए ऋषि दिखायी न दिये, तब उन दोनोंने एक राय करके उनके वधकी इच्छासे अपने स्वरूपको अनेक जीव-जन्तुओंके रूपमें बदल लिया ।। १९ ।।

प्रभिन्नकरटौ मत्तौ भूत्वा कुञ्जररूपिणौ ।
संलीनमपि दुर्गेषु निन्यतुर्यमसादनम् ।। २० ।।

कठिन-से-कठिन स्थानमें छिपे हुए मुनिको भी वे मद बहानेवाले मतवाले हाथीका रूप धारण करके यमलोक पहुँचा देते थे ।। २० ।।

सिंहौ भूत्वा पुनर्व्याघ्रौ पुनश्चान्तर्हितावुभौ ।
तैस्तैरुपायैस्तौ क्रूरावृषीन् दृष्ट्वा निजघ्नतुः ।। २१ ।।
निवृत्तयज्ञस्वाध्याया प्रणष्टनृपतिद्विजा ।
उत्सन्नोत्सवयज्ञा च बभूव वसुधा तदा ।। २२ ।।

वे कभी सिंह होते, कभी बाघ बन जाते और कभी अदृश्य हो जाते थे। इस प्रकार वे क्रूर दैत्य विभिन्न उपायोंद्वारा ऋषियोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर मारने लगे। उस समय पृथ्वीपर यज्ञ और स्वाध्याय बंद हो गये। राजर्षि और ब्राह्मण नष्ट हो गये और यात्रा, विवाह आदि उत्सवों तथा यज्ञोंकी सर्वथा समाप्ति हो गयी ।। २१-२२ ।।

हाहाभूता भयार्ता च निवृत्तविपणापणा ।
निवृत्तदेवकार्या च पुण्योद्वाहविवर्जिता ।। २३ ।।

सर्वत्र हाहाकार छा रहा था, भयका आर्तनाद सुनायी पड़ता था। बाजारोंमें खरीद-बिक्रीका नाम नहीं था। देवकार्य बंद हो गये। पुण्य और विवाहादि कर्म छूट गये थे ।। २३ ।।

निवृत्तकृषिगोरक्षा विध्वस्तनगराश्रमा ।
अस्थिकङ्कालसंकीर्णा भूर्बभूवोग्रदर्शना ।। २४ ।।

कृषि और गोरक्षाका नाम नहीं था, नगर और आश्रम उजड़कर खण्डहर हो गये थे। चारों ओर हड्डियाँ और कंकाल भरे पड़े थे। इस प्रकार पृथ्वीकी ओर देखना भी भयानक प्रतीत होता था ।। २४ ।।

निवृत्तपितृकार्यं च निर्वषट्कारमङ्गलम् ।
जगत् प्रतिभयाकारं दुष्प्रेक्ष्यमभवत् तदा ।। २५ ।।

श्राद्धकर्म लुप्त हो गया। वषट्कार और मंगलका कहीं नाम नहीं रह गया। सारा जगत् भयानक प्रतीत होता था। इसकी ओर देखनातक कठिन हो गया था ।। २५ ।।

चन्द्रादित्यौ ग्रहास्तारा नक्षत्राणि दिवौकसः ।
जग्मुर्विषादं तत् कर्म दृष्ट्वा सुन्दोपसुन्दयोः ।। २६ ।।

सुन्द और उपसुन्दका वह भयानक कर्म देखकर चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, तारे, नक्षत्र और देवता सभी अत्यन्त खिन्न हो उठे ।। २६ ।।

एवं सर्वा दिशो दैत्यौ जित्वा क्रूरेण कर्मणा ।
निःसपत्नौ कुरुक्षेत्रे निवेशमभिचक्रतुः ।। २७ ।।

इस प्रकार वे दोनों दैत्य अपने क्रूर कर्मद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको जीतकर शत्रुओंसे रहित हो कुरुक्षेत्रमें निवास करने लगे ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानविषयक दो सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०९ ।।

दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

तिलोत्तमाकी उत्पत्ति, उसके रूपका आकर्षण तथा सुन्दोप-सुन्दको मोहित करनेके लिये उसका प्रस्थान

नारद उवाच

ततो देवर्षयः सर्वे सिद्धाश्च परमर्षयः ।
जग्मुस्तदा परामार्तिं दृष्ट्वा तत् कदनं महत् ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर सम्पूर्ण देवर्षि और सिद्ध-महर्षि वह महान् हत्याकाण्ड देखकर बहुत दुःखी हुए ।। १ ।।

तेऽभिजग्मुर्जितक्रोधा जितात्मानो जितेन्द्रियाः ।
पितामहस्य भवनं जगतः कृपया तदा ।। २ ।।

उन्होंने अपने मन, इन्द्रियसमुदाय तथा क्रोधको जीत लिया था। फिर भी सम्पूर्ण जगत्पर दया करके वे ब्रह्माजीके धाममें गये ।। २ ।।

ततो ददृशुरासीनं सह देवैः पितामहम् ।
सिद्धैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव समन्तात् परिवारितम् ।। ३ ।।

वहाँ पहुँचकर उन्होंने ब्रह्माजीको देवताओं, सिद्धों और महर्षियोंसे सब ओर घिरे हुए बैठे देखा ।। ३ ।।

तत्र देवो महादेवस्तत्राग्निर्वायुना सह ।
चन्द्रादित्यौ च शक्रश्च पारमेष्ठयास्तथर्षयः ।। ४ ।।
वैखानसा बालखिल्या वानप्रस्था मरीचिपाः ।
अजाश्चैवाविमूढाश्च तेजोगर्भास्तपस्विनः ।। ५ ।।
ऋषयः सर्व एवैते पितामहमुपागमन् ।
ततोऽभिगम्य ते दीनाः सर्व एव महर्षयः ।। ६ ।।
सुन्दोपसुन्दयो कर्म सर्वमेव शशंसिरे ।
यथा हृतं यथा चैव कृतं येन क्रमेण च ।। ७ ।।
न्यवेदयंस्ततः सर्वमखिलेन पितामहे ।
ततो देवगणाः सर्वे ते चैव परमर्षयः ।। ८ ।।
तमेवार्थं पुरस्कृत्य पितामहमचोदयन् ।
ततः पितामहः श्रुत्वा सर्वेषां तद् वचस्तदा ।। ९ ।।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य कर्तव्यस्य च निश्चयम् ।
तयोर्वधं समुद्दिश्य विश्वकर्माणमाह्वयत् ।। १० ।।

वहाँ भगवान् महादेव, वायुसहित अग्निदेव, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मपुत्र महर्षि, वैखानस (वनवासी), बालखिल्य, वानप्रस्थ, मरीचिप, अजन्मा, अविमूढ़ तथा तेजोगर्भ आदि नाना प्रकारके तपस्वी मुनि ब्रह्माजीके पास आये थे। उन सभी महर्षियोंने निकट जाकर दीनभावसे ब्रह्माजीसे सुन्द-उपसुन्दके सारे क्रूर कर्मोंका वृत्तान्त कह सुनाया। दैत्योंने जिस प्रकार लूट-पाट की, जैसे-जैसे और जिस क्रमसे लोगोंकी हत्याएँ कीं, वह सब समाचार पूर्णरूपसे ब्रह्माजीको बताया। तब सम्पूर्ण देवताओं और महर्षियोंने भी इस बातको लेकर ब्रह्माजीको प्रेरणा की। ब्रह्माजीने उन सबकी बातें सुनकर दो घड़ीतक कुछ विचार किया। फिर उन दोनोंके वधके लिये कर्तव्यका निश्चय करके विश्वकर्माको बुलाया ।। ४—१० ।।

दृष्ट्वा च विश्वकर्माणं व्यादिदेश पितामहः ।
सज्यतां प्रार्थनीयैका प्रमदेति महातपाः ।। ११ ।।

उनको आया देखकर महातपस्वी ब्रह्माजीने यह आज्ञा दी कि तुम एक तरुणी स्त्रीके शरीरकी रचना करो, जो सबका मन लुभा लेनेवाली हो ।। ११ ।।

पितामहं नमस्कृत्य तद्वाक्यमभिनन्द्य च ।
निर्ममे योषितं दिव्यां चिन्तयित्वा पुनः पुनः ।। १२ ।।

ब्रह्माजीकी आज्ञाको शिरोधार्य करके विश्वकर्माने उन्हें प्रणाम किया और खूब सोच-विचारकर एक दिव्य युवतीका निर्माण किया ।। १२ ।।

त्रिषु लोकेषु यत् किंचिद् भूतं स्थावरजङ्गमम् ।
समानयद् दर्शनीयं तत् तदत्र स विश्ववित् ।। १३ ।।

तीनों लोकोंमें जो कुछ भी चर और अचर दर्शनीय पदार्थ था, सर्वज्ञ विश्वकर्माने उन सबके सारांशका उस सुन्दरीके शरीरमें संग्रह किया ।। १३ ।।

कोटिशश्चैव रत्नानि तस्या गात्रे न्यवेशयत् ।
तां रत्नसंघातमयीमसृजद् देवरूपिणीम् ।। १४ ।।

उन्होंने उस युवतीके अंगोंमें करोड़ों रत्नोंका समावेश किया और इस प्रकार रत्नराशिमयी उस देवरूपिणी रमणीका निर्माण किया ।। १४ ।।

सा प्रयत्नेन महता निर्मिता विश्वकर्मणा ।
त्रिषु लोकेषु नारीणां रूपेणाप्रतिमाभवत् ।। १५ ।।

विश्वकर्माद्वारा बड़े प्रयत्नसे बनायी हुई वह दिव्य युवती अपने रूप-सौन्दर्यके कारण तीनों लोकोंकी स्त्रियोंमें अनुपम थी ।। १५ ।।

न तस्याः सूक्ष्ममप्यस्ति यद् गात्रे रूपसम्पदा ।
नियुक्ता यत्र वा दृष्टिर्न सज्जति निरीक्षताम् ।। १६ ।।

उसके शरीरमें कहीं तिलभर भी ऐसी जगह नहीं थी, जहाँकी रूपसम्पत्तिको देखनेके लिये लगी हुई दर्शकोंकी दृष्टि जम न जाती हो ।। १६ ।।

सा विग्रहवतीव श्रीः कामरूपा वपुष्मती ।
जहार सर्वभूतानां चक्षूंषि च मनांसि च ।। १७ ।।

वह मूर्तिमती कामरूपिणी लक्ष्मीकी भाँति समस्त प्राणियोंके नेत्रों और मनको हर लेती थी ।। १७ ।।

तिलं तिलं समानीय रत्नानां यद् विनिर्मिता ।
तिलोत्तमेति तत् तस्या नाम चक्रे पितामहः ।। १८ ।।

उत्तम रत्नोंका तिल-तिलभर अंश लेकर उसके अंगोंका निर्माण हुआ था, इसलिये ब्रह्माजीने उसका नाम 'तिलोत्तमा' रख दिया ।। १८ ।।

ब्रह्माणं सा नमस्कृत्य प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
किं कार्यं मयि भूतेश येनास्म्यद्येह निर्मिता ।। १९ ।।

तदनन्तर तिलोत्तमा ब्रह्माजीको नमस्कार करके हाथ जोड़कर बोली—'प्रजापते! मुझपर किस कार्यका भार रखा गया है? जिसके लिये आज मेरे शरीरका निर्माण किया गया है' ।। १९ ।।

पितामह उवाच

गच्छ सुन्दोपसुन्दाभ्यामसुराभ्यां तिलोत्तमे ।
प्रार्थनीयेन रूपेण कुरु भद्रे प्रलोभनम् ।। २० ।।

ब्रह्माजीने कहा—भद्रे तिलोत्तमे! तू सुन्द और उपसुन्द नामक असुरोंके पास जा और अपने अत्यन्त कमनीय रूपके द्वारा उनको लुभा ।। २० ।।

त्वत्कृते दर्शनादेव रूपसम्पतत्कृतेन वै ।
विरोधः स्याद् यथा ताभ्यामन्योन्येन तथा कुरु ।। २१ ।।

तुझे देखते ही तेरे लिये—तेरी रूपसम्पत्तिके लिये उन दोनों दैत्योंमें परस्पर विरोध हो जाय, ऐसा प्रयत्न कर ।। २१ ।।

नारद उवाच

सा तथेति प्रतिज्ञाय नमस्कृत्य पितामहम् ।
चकार मण्डलं तत्र विबुधानां प्रदक्षिणम् ।। २२ ।।

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब तिलोत्तमाने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा करके ब्रह्माजीके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर वह देवमण्डलीकी परिक्रमा करने लगी ।। २२ ।।

प्राङ्मुखो भगवानास्ते दक्षिणेन महेश्वरः ।
देवाश्चैवोत्तरेणासन् सर्वतस्त्वृषयोऽभवन् ।। २३ ।।

ब्रह्माजीके दक्षिणभागमें भगवान् महेश्वर पूर्वाभिमुख होकर बैठे थे, उत्तरभागमें देवतालोग थे तथा ऋषि-मुनि ब्रह्माजीके चारों ओर बैठे थे ।। २३ ।।

कुर्वत्या तु तदा तत्र मण्डलं तत् प्रदक्षिणम् ।

इन्द्रः स्थाणुश्च भगवान् धैर्येण प्रत्यवस्थितौ ।। २४ ।।

वहाँ तिलोत्तमाने जब देवमण्डलीकी प्रदक्षिणा आरम्भ की, तब इन्द्र और भगवान् शंकर दोनों धैर्यपूर्वक अपने स्थानपर ही बैठे रहे ।। २४ ।।

द्रष्टुकामस्य चात्यर्थं गतया पार्श्वतस्तया ।
अन्यदञ्चितपद्माक्षं दक्षिणं निःसृतं मुखम् ।। २५ ।।

जब वह दक्षिण पार्श्वकी ओर गयी, तब उसे देखनेकी इच्छासे भगवान् शंकरके दक्षिणभागमें एक और मुख प्रकट हो गया, जो कमलसदृश नेत्रोंसे सुशोभित था ।। २५ ।।

पृष्ठतः परिवर्तन्त्या पश्चिमं निःसृतं मुखम् ।
गतया चोत्तरं पार्श्वमुत्तरं निःसृतं मुखम् ।। २६ ।।

जब वह पीछेकी ओर गयी, तब उनका पश्चिम मुख प्रकट हुआ और उत्तर पार्श्वकी ओर उसके जानेपर भगवान् शिवके उत्तरवर्ती मुखका प्राकट्य हुआ ।। २६ ।।

महेन्द्रस्यापि नेत्राणां पृष्ठतः पार्श्वतोऽग्रतः ।
रक्तान्तानां विशालानां सहस्रं सर्वतोऽभवत् ।। २७ ।।

इसी प्रकार इन्द्रके भी आगे, पीछे और पार्श्व-भागमें सब ओर लाल कोनेवाले सहस्रों विशाल नेत्र प्रकट हो गये ।। २७ ।।

एवं चतुर्मुखः स्थाणुर्महादेवोऽभवत् पुरा ।
तथा सहस्रनेत्रश्च बभूव बलसूदनः ।। २८ ।।

इस प्रकार पूर्वकालमें अविनाशी भगवान् महादेवजीके चार मुख प्रकट हुए और बलहन्ता इन्द्रके हजार नेत्र हुए ।। २८ ।।

तथा देवनिकायानां महर्षीणां च सर्वशः ।
मुखानि चाभ्यवर्तन्त येन याति तिलोत्तमा ।। २९ ।।

दूसरे-दूसरे देवताओं और महर्षियोंके मुख भी जिस ओर तिलोत्तमा जाती थी, उसी ओर घूम जाते थे ।। २९ ।।

तस्या गात्रे निपतिता दृष्टिस्तेषां महात्मनाम् ।
सर्वेषामेव भूयिष्ठमृते देवं पितामहम् ।। ३० ।।

उस समय देवाधिदेव ब्रह्माजीको छोड़कर शेष सभी महानुभावोंकी दृष्टि तिलोत्तमाके शरीरपर बार-बार पड़ने लगी ।। ३० ।।

गच्छन्त्या तु तया सर्वे देवाश्च परमर्षयः ।
कृतमित्येव तत् कार्यं मेनिरे रूपसम्पदा ।। ३१ ।।

जब वह जाने लगी, तब सभी देवताओं और महर्षियोंको उसकी रूपसम्पत्ति देखकर यह विश्वास हो गया कि अब वह सारा कार्य सिद्ध ही है ।। ३१ ।।

सुन्द और उपसुन्दका अत्याचार

तिलोत्तमाके लिये सुन्द और उपसुन्दका युद्ध

तिलोत्तमायां तस्यां तु गतायां लोकभावनः ।
सर्वान् विसर्जयामास देवानृषिगणांश्च तान् ।। ३२ ।।

तिलोत्तमाके चले जानेपर लोकस्रष्टा ब्रह्माजीने उन सम्पूर्ण देवताओं और महर्षियोंको विदा किया ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने तिलोत्तमाप्रस्थापने दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानके प्रसंगमें तिलोत्तमाप्रस्थापनविषयक दो सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१० ।।

एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

तिलोत्तमापर मोहित होकर सुन्द-उपसुन्दका आपसमें लड़ना और मारा जाना एवं तिलोत्तमाको ब्रह्माजीद्वारा वरप्राप्ति तथा पाण्डवोंका द्रौपदीके विषयमें नियम-निर्धारण

नारद उवाच

जित्वा तु पृथिवीं दैत्यौ निःसपत्नौ गतव्यथौ ।
कृत्वा त्रैलोक्यमव्यग्रं कृतकृत्यौ बभूवतुः ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! वे दोनों दैत्य सुन्द और उपसुन्द सारी पृथ्वीको जीतकर शत्रुओंसे रहित एवं व्यथारहित हो तीनों लोकोंको पूर्णतः अपने वशमें करके कृतकृत्य हो गये ।। १ ।।

देवगन्धर्वयक्षाणां नागपार्थिवरक्षसाम् ।
आदाय सर्वरत्नानि परां तुष्टिमुपागतौ ।। २ ।।

देवता, गन्धर्व, यक्ष, नाग, मनुष्य तथा राक्षसोंके सभी रत्नोंको छीनकर उन दोनों दैत्योंको बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ ।। २ ।।

यदा न प्रतिषेद्धारस्तयोः सन्तीह केचन ।
निरुद्योगौ तदा भूत्वा विजह्रातेऽमराविव ।। ३ ।।

जब त्रिलोकीमें उनका सामना करनेवाले कोई नहीं रह गये, तब वे देवताओंके समान अकर्मण्य होकर भोग-विलासमें लग गये ।। ३ ।।

स्त्रीभिर्माल्यैश्च गन्धैश्च भक्ष्यभोज्यैः सुपुष्कलैः ।
पानैश्च विविधैर्हृद्यैः परां प्रीतिमवापतुः ।। ४ ।।

सुन्दरी स्त्रियों, मनोहर मालाओं, भाँति-भाँतिके सुगन्ध-द्रव्यों, पर्याप्त भोजन-सामग्रियों तथा मनको प्रिय लगनेवाले अनेक प्रकारके पेय रसोंका सेवन करके वे बड़े आनन्दसे दिन बिताने लगे ।। ४ ।।

अन्तःपुरवनोद्याने पर्वतेषु वनेषु च ।
यथेप्सितेषु देशेषु विजह्रातेऽमराविव ।। ५ ।।

अन्तःपुरके उपवन और उद्यानमें, पर्वतोंपर, वनोंमें तथा अन्य मनोवांछित प्रदेशोंमें भी वे देवताओंकी भाँति विहार करने लगे ।। ५ ।।

ततः कदाचिद् विन्ध्यस्य प्रस्थे समशिलातले ।
पुष्पिताग्रेषु शालेषु विहारमभिजग्मतुः ।। ६ ।।

तदनन्तर एक दिन विन्ध्यपर्वतके शिखरपर जहाँकी शिलामयी भूमि समतल थी और जहाँ ऊँचे शाल-वृक्षोंकी शाखाएँ फूलोंसे भरी हुई थीं, वहाँ वे दोनों दैत्य विहार करनेके लिये गये ।। ६ ।।

दिव्येषु सर्वकामेषु समानीतेषु तावुभौ ।
वरासनेषु संहृष्टौ सह स्त्रीभिर्निषीदतुः ।। ७ ।।

वहाँ उनके लिये सम्पूर्ण दिव्य भोग प्रस्तुत किये गये, तदनन्तर वे दोनों भाई श्रेष्ठ आसनोंपर सुन्दरी स्त्रियोंके साथ आनन्दमग्न होकर बैठे ।। ७ ।।

ततो वादित्रनृत्याभ्यामुपातिष्ठन्त तौ स्त्रियः ।
गीतैश्च स्तुतिसंयुक्तैः प्रीत्या समुपजग्मिरे ।। ८ ।।

तदनन्तर बहुत-सी स्त्रियाँ प्रेमपूर्वक उनके पास आयीं और वाद्य, नृत्य, गीत एवं स्तुति-प्रशंसा आदिके द्वारा उन दोनोंका मनोरंजन करने लगीं ।। ८ ।।

ततस्तिलोत्तमा तत्र वने पुष्पाणि चिन्वती ।
वेशं साऽऽक्षिप्तमाधाय रक्तेनैकेन वाससा ।। ९ ।।

इसी समय तिलोत्तमा वहाँ वनमें फूल चुनती हुई आयी। उसके शरीरपर एक ही लाल रंगकी महीन साड़ी थी। उसने ऐसा वेश धारण कर रखा था, जो किसी भी पुरुषको उन्मत्त बना सकता था ।। ९ ।।

नदीतीरेषु जातान् सा कर्णिकारान् प्रचिन्वती ।
शनैर्जगाम तं देशं यत्रास्तां तौ महासुरौ ।। १० ।।

नदीके किनारे उगे हुए कनेरके फूलोंका संग्रह करती हुई वह धीरे-धीरे उसी स्थानकी ओर गयी, जहाँ वे दोनों महादैत्य बैठे थे ।। १० ।।

तौ तु पीत्वा वरं पानं मदरक्तान्तलोचनौ ।
दृष्ट्वैव तां वरारोहां व्यथितौ सम्बभूवतुः ।। ११ ।।

उन दोनोंने बहुत अच्छा मादक रस पी लिया था, जिससे उनके नेत्र नशेके कारण कुछ लाल हो गये थे। उस सुन्दर अंगोंवाली तिलोत्तमाको देखते ही वे दोनों दैत्य कामवेदनासे व्यथित हो उठे ।। ११ ।।

तावुत्थायासनं हित्वा जग्मतुर्यत्र सा स्थिता ।
उभौ च कामसम्मत्तावुभौ प्रार्थयतश्च ताम् ।। १२ ।।

और अपना आसन छोड़कर खड़े हो उसी स्थानपर गये, जहाँ वह खड़ी थी। दोनों ही कामसे उन्मत्त हो रहे थे, इसलिये दोनों ही उसे अपनी स्त्री बनानेके लिये उससे प्रेमकी याचना करने लगे ।। १२ ।।

दक्षिणे तां करे सुभ्रूं सुन्दो जग्राह पाणिना ।
उपसुन्दोऽपि जग्राह वामे पाणौ तिलोत्तमाम् ।। १३ ।।

सुन्दने सुन्दर भौंहोंवाली तिलोत्तमाका दाहिना हाथ पकड़ा और उपसुन्दने उसका बायाँ हाथ पकड़ लिया ।। १३ ।।

वरप्रदानमत्तौ तावौरसेन बलेन च ।
धनरत्नमदाभ्यां च सुरापानमदेन च ।। १४ ।।

एक तो वे दुर्लभ वरदानके मदसे उन्मत्त थे, दूसरे उनपर अपने स्वाभाविक बलका नशा सवार था। इसके सिवा धनमद, रत्नमद और सुरापानके मदसे भी वे उन्मत्त हो रहे थे ।। १४ ।।

सर्वैरेतैर्मदैर्मत्तावन्योन्यं भ्रुकुटीकृतौ ।
(तौ कटाक्षेण दैत्येन्द्रावाकर्षति मुहुर्मुहुः ।
दक्षिणेन कटाक्षेण सुन्दं जग्राह कामिनी ।।
वामेनैव कटाक्षेण उपसुन्दं जिघृक्षती ।
गन्धाभरणरूपैस्तौ व्यामोहं जग्मतुस्तदा ।।)
मदकामसमाविष्टौ परस्परमथोचतुः ।। १५ ।।

इन सभी मदोंसे उन्मत्त होनेके कारण आपसमें ही एक-दूसरेपर उनकी भौंहें तन गयीं। तिलोत्तमा कटाक्षद्वारा उन दोनों दैत्यराजोंको बार-बार अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी। उस कामिनीने अपने दाहिने कटाक्षसे सुन्दको आकृष्ट कर लिया और बायें कटाक्षसे वह उपसुन्दको वशमें करनेकी चेष्टा करने लगी। उसकी दिव्य सुगन्ध, आभूषणराशि तथा रूपसम्पत्तिसे वे दोनों दैत्य तत्काल मोहित हो गये। उनमें मद और कामका आवेश हो गया; अतः वे एक-दूसरेसे इस प्रकार बोले— ।। १५ ।।

मम भार्या तव गुरुरिति सुन्दोऽभ्यभाषत ।
मम भार्या तव वधूरुपसुन्दोऽभ्यभाषत ।। १६ ।।

सुन्दने कहा—‘अरे! यह मेरी पत्नी है, तुम्हारे लिये माताके समान है।’ यह सुनकर उपसुन्द बोल उठा—‘नहीं-नहीं, यह मेरी भार्या है, तुम्हारे लिये तो पुत्रवधूके समान है’ ।। १६ ।।

नैषा तव ममैषेति ततस्तौ मन्युराविशत् ।
तस्या रूपेण सम्मत्तौ विगतस्नेहसौहृदौ ।। १७ ।।

‘यह तुम्हारी नहीं है, मेरी है’, यही कहते-कहते उन दोनोंको क्रोध चढ़ आया। तिलोत्तमाके रूपसे मतवाले होकर वे दोनों स्नेह और सौहार्दसे शून्य हो गये ।। १७ ।।

तस्या हेतोर्गदे भीमे संगृह्णीतावुभौ तदा ।
प्रगृह्य च गदे भीमे तस्यां तौ काममोहितौ ।। १८ ।।

उस सुन्दरीको पानेके लिये दोनों भाइयोंने उस समय हाथमें भयंकर गदाएँ ले लीं। दोनों ही उसके प्रति कामसे मोहित हो रहे थे ।। १८ ।।

अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यन्योन्यं निजघ्नतुः ।

तौ गदाभिहतौ भीमौ पेततुर्धरणीतले ।। १९ ।।

'पहले मैं इसे प्राप्त करूँगा', 'नहीं, पहले मैं'; ऐसा कहते हुए दोनों एक-दूसरेको मारने लगे। इस प्रकार गदाओंकी चोट खाकर वे दोनों भयानक दैत्य धरतीपर गिर पड़े ।। १९ ।।

रुधिरेणावसिक्ताङ्गौ द्वाविवार्कौ नभश्च्युतौ ।
ततस्ता विद्रुता नार्यः स च दैत्यगणस्तथा ।। २० ।।
पातालमगमत् सर्वो विषादभयकम्पितः ।
ततः पितामहस्तत्र सह देवैर्महर्षिभिः ।। २१ ।।
आजगाम विशुद्धात्मा पूजयंश्च तिलोत्तमाम् ।
वरेणच्छन्दयामास भगवान् प्रपितामहः ।। २२ ।।

उनके सारे अंग खूनसे लथपथ हो रहे थे। ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशसे दो सूर्य पृथ्वीपर गिर गये हों। उनके मारे जानेपर वे सब स्त्रियाँ वहाँसे भाग गयीं और दैत्योंका वह सारा समुदाय विषाद और भयसे कम्पित होकर पातालमें चला गया। तत्पश्चात् विशुद्ध अन्तःकरणवाले भगवान् ब्रह्माजी देवताओं और महर्षियोंके साथ तिलोत्तमाकी प्रशंसा करते हुए वहाँ आये और भगवान् पितामहने उसे वरके द्वारा प्रसन्न किया ।। २०—२२ ।।

वरं दित्सुः स तत्रैनां प्रीतः प्राह पितामहः ।
आदित्यचरिताँल्लोकान् विचरिष्यसि भाविनि ।। २३ ।।
तेजसा च सुदृष्टां त्वां न करिष्यति कश्चन ।
एवं तस्यै वरं दत्त्वा सर्वलोकपितामहः ।। २४ ।।
इन्द्रे त्रैलोक्यमाधाय ब्रह्मलोकं गतः प्रभुः ।

वर देनेके लिये उत्सुक हुए ब्रह्माजी स्वयं ही प्रसन्नतापूर्वक बोले—'भामिनि! जहाँतक सूर्यकी गति है, उन सभी लोकोंमें तू इच्छानुसार विचर सकेगी। तुझमें इतना तेज होगा कि कोई आँख भरकर तुझे अच्छी तरह देख भी न सकेगा।' इस प्रकार सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजी तिलोत्तमाको वरदान देकर तथा त्रिलोकीकी रक्षाका भार इन्द्रको सौंपकर पुनः ब्रह्मलोकको चले गये ।। २३-२४½ ।।

नारद उवाच

एवं तौ सहितौ भूत्वा सर्वार्थेष्वेकनिश्चयौ ।। २५ ।।
तिलोत्तमार्थं संक्रुद्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ।
तस्माद् ब्रवीमि वः स्नेहात् सर्वान् भरतसत्तमाः ।। २६ ।।
यथा वो नात्र भेदः स्यात् सर्वेषां द्रौपदीकृते ।
तथा कुरुत भद्रं वो मम चेत् प्रियमिच्छथ ।। २७ ।।

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार सुन्द और उपसुन्दने परस्पर संगठित और सभी बातोंमें एकमत रहकर भी तिलोत्तमाके लिये कुपित हो एक-दूसरेको मार डाला। अतः

भरतवंशशिरोमणियो! मैं तुम सब लोगोंसे स्नेहवश कहता हूँ कि यदि मेरा प्रिय चाहते हो, तो ऐसा कुछ नियम बना लो, जिससे द्रौपदीके लिये तुम सब लोगोंमें फूट न होने पावे। तुम्हारा कल्याण हो ।। २५—२७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता महात्मानो नारदेन महर्षिणा ।
समयं चक्रिरे राजंस्तेऽन्योन्यवशमागताः ।
समक्षं तस्य देवर्षेर्नारदस्यामितौजसः ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवर्षि नारदके ऐसा कहनेपर एक-दूसरेके अधीन रहनेवाले उन अमिततेजस्वी महात्मा पाण्डवोंने देवर्षिके सामने ही यह नियम बनाया— ।। २८ ।।

(एकैकस्य गृहे कृष्णा वसेद् वर्षमकल्मषा ।)
द्रौपद्या नः सहासीनानन्योन्यं योऽभिदर्शयेत् ।
स नो द्वादश वर्षाणि ब्रह्मचारी वने वसेत् ।। २९ ।।

‘हममेंसे प्रत्येकके घरमें पापरहित द्रौपदी एक-एक वर्ष निवास करे। द्रौपदीके साथ एकान्तमें बैठे हुए हममेंसे एक भाईको यदि दूसरा देख ले, तो वह बारह वर्षोंतक ब्रह्मचर्यपूर्वक वनमें निवास करे’ ।। २९ ।।

कृते तु समये तस्मिन् पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ।
नारदोऽप्यगमत् प्रीत इष्टं देशं महामुनिः ।। ३० ।।

धर्मका आचरण करनेवाले पाण्डवोंद्वारा यह नियम स्वीकार कर लिये जानेपर महामुनि नारदजी प्रसन्न हो अभीष्ट स्थानको चले गये ।। ३० ।।

एवं तैः समयः पूर्वं कृतो नारदचोदितैः ।
न चाभिद्यन्त ते सर्वे तदान्योन्येन भारत ।। ३१ ।।

भारत! इस प्रकार नारदजीकी प्रेरणासे पाण्डवोंने पहले ही नियम बना लिया था। इसीलिये वे सब आपसमें कभी एक-दूसरेके विरोधी नहीं हुए ।। ३१ ।।

(एतद् विस्तरशः सर्वमाख्यातं ते नरेश्वर ।
काले च तस्मिन् सम्पन्नं यथावज्जनमेजय ।।)

नरेश्वर जनमेजय! उस समय जो बातें जिस प्रकार घटित हुई थीं, वे सब मैंने तुम्हें विस्तारपूर्वक बतायी हैं।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २११ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानविषयक दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २११ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ३४ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं)

(अर्जुनवनवासपर्व)

द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा ब्राह्मणके गोधनकी रक्षाके लिये नियमभंग और वनकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

एवं ते समयं कृत्वा न्यवसंस्तत्र पाण्डवाः ।
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान् महीक्षितः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार नियम बनाकर पाण्डवलोग वहाँ रहने लगे। वे अपने अस्त्र-शस्त्रोंके प्रतापसे दूसरे राजाओंको अधीन करते रहते थे ।। १ ।।

तेषां मनुजसिंहानां पञ्चानाममितौजसाम् ।
बभूव कृष्णा सर्वेषां पार्थानां वशवर्तिनी ।। २ ।।

कृष्णा मनुष्योंमें सिंहके समान वीर और अमित तेजस्वी उन पाँचों पाण्डवोंकी आज्ञाके अधीन रहती थी ।। २ ।।

ते तया तैश्च सा वीरैः पतिभिः सह पञ्चभिः ।
बभूव परमप्रीता नागैर्भोगवती यथा ।। ३ ।।

पाण्डव द्रौपदीके साथ और द्रौपदी उन पाँचों वीर पतियोंके साथ ठीक उसी तरह अत्यन्त प्रसन्न रहती थी जैसे नागोंके रहनेसे भोगवतीपुरी परम शोभायुक्त होती है ।। ३ ।।

वर्तमानेषु धर्मेण पाण्डवेषु महात्मसु ।
व्यवर्धन् कुरवः सर्वे हीनदोषाः सुखान्विताः ।। ४ ।।

महात्मा पाण्डवोंके धर्मानुसार बर्ताव करनेके कारण समस्त कुरुवंशी निर्दोष एवं सुखी रहकर निरन्तर उन्नति करने लगे ।। ४ ।।

अथ दीर्घेण कालेन ब्राह्मणस्य विशाम्पते ।
कस्यचित् तस्करा जह्रुः केचिद् गा नृपसत्तम ।। ५ ।।

महाराज! तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् एक दिन कुछ चोरोंने किसी ब्राह्मणकी गौएँ चुरा लीं ।। ५ ।।

ह्रियमाणे धने तस्मिन् ब्राह्मणः क्रोधमूर्च्छितः ।
आगम्य खाण्डवप्रस्थमुदक्रोशत् स पाण्डवान् ।। ६ ।।

अपने गोधनका अपहरण होता देख ब्राह्मण अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और खाण्डवप्रस्थमें आकर उसने उच्चस्वरसे पाण्डवोंको पुकारा— ।। ६ ।।

ह्रियते गोधनं क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ।
प्रसह्य चास्मद्विषयादभ्यधावत पाण्डवाः ।। ७ ।।

'पाण्डवो! हमारे गाँवसे कुछ नीच, क्रूर और पापात्मा चोर जबरदस्ती गोधन चुराकर लिये जा रहे हैं। उसकी रक्षाके लिये दौड़ो ।। ७ ।।

ब्राह्मणस्य प्रशान्तस्य हविर्ध्वाङ्क्षैः प्रलुप्यते ।
शार्दूलस्य गुहां शून्यां नीचः क्रोष्टाभिमर्दति ।। ८ ।।

'आज एक शान्तस्वभाव ब्राह्मणका हविष्य कौए लूटकर खा रहे हैं। नीच सियार सिंहकी सूनी गुफाको रौंद रहा है ।। ८ ।।

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रं पापचारिणम् ।। ९ ।।

'जो राजा प्रजाकी आयका छठा भाग करके रूपमें वसूल करता है, किंतु प्रजाकी रक्षाकी कोई व्यवस्था नहीं करता, उसे सम्पूर्ण लोकोंमें पूर्ण पापाचारी कहा गया है ।। ९ ।।

ब्राह्मणस्वे हृते चौरैर्धर्मार्थे च विलोपिते ।
रोरूयमाणे च मयि क्रियतामस्त्रधारणम् ।। १० ।।

'मुझ ब्राह्मणका धन चोर लिये जा रहे हैं, मेरे गौके न रहनेपर दुग्ध आदि हविष्यके अभावसे धर्म और अर्थका लोप हो रहा है तथा मैं यहाँ आकर रो रहा हूँ। पाण्डवो! (चोरोंको दण्ड देनेके लिये) अस्त्र धारण करो' ।। १० ।।

वैशम्पायन उवाच

रोरूयमाणस्याभ्याशे भृशं विप्रस्य पाण्डवः ।
तानि वाक्यानि शुश्राव कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।। ११ ।।
श्रुत्वैव च महाबाहुर्मा भैरित्याह तं द्विजम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वह ब्राह्मण निकट आकर बहुत रो रहा था। पाण्डुपुत्र कुन्तीनन्दन धनंजयने उसकी कही हुई सारी बातें सुनीं और सुनकर उन महाबाहुने उस ब्राह्मणसे कहा—'डरो मत' ।। ११½ ।।

आयुधानि च यत्रासन् पाण्डवानां महात्मनाम् ।। १२ ।।
कृष्णया सह तत्रास्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
सम्प्रवेशाय चाशक्तो गमनाय च पाण्डवः ।। १३ ।।

महात्मा पाण्डवोंके अस्त्र-शस्त्र जहाँ रखे गये थे, वहीं धर्मराज युधिष्ठिर कृष्णाके साथ एकान्तमें बैठे थे। अतः पाण्डुपुत्र अर्जुन न तो घरके भीतर प्रवेश कर सकते थे और न खाली हाथ चोरोंका ही पीछा कर सकते थे ।। १२-१३ ।।

तस्य चार्तस्य तैर्वाक्यैश्चोद्यमानः पुनः पुनः ।
आक्रन्दे तत्र कौन्तेयश्चिन्तयामास दुःखितः ।। १४ ।।

इधर उस आर्त ब्राह्मणकी बातें उन्हें बार-बार शस्त्र ले आनेको प्रेरित कर रही थीं। जब वह अधिक रोने-चिल्लाने लगा, तब अर्जुनने दुःखी होकर सोचा— ।। १४ ।।

ह्रियमाणे धने तस्मिन् ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
अश्रुप्रमार्जनं तस्य कर्तव्यमिति निश्चयः ।। १५ ।।

'इस तपस्वी ब्राह्मणके गोधनका अपहरण हो रहा है; अतः ऐसे समयमें इसके आँसू पोंछना मेरा कर्तव्य है। यही मेरा निश्चय है ।। १५ ।।

उपक्षेपणजोऽधर्मः सुमहान् स्यान्महीपतेः ।
यद्यस्य रुदतो द्वारि न करोम्यद्य रक्षणम् ।। १६ ।।

'यदि मैं राजद्वारपर रोते हुए इस ब्राह्मणकी रक्षा आज नहीं करूँगा, तो महाराज युधिष्ठिरको उपेक्षाजनित महान् अधर्मका भागी होना पड़ेगा ।। १६ ।।

अनास्तिक्यं च सर्वेषामस्माकमपि रक्षणे ।
प्रतितिष्ठेत लोकेऽस्मिन्नधर्मश्चैव नो भवेत् ।। १७ ।।

'इसके सिवा लोकमें यह बात फैल जायगी कि हम सब लोग किसी आर्तकी रक्षारूप धर्मके पालनमें श्रद्धा नहीं रखते। साथ ही हमें अधर्म भी प्राप्तहोगा ।। १७ ।।

अनादृत्य तु राजानं गते मयि न संशयः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्मम चैवानृतं भवेत् ।। १८ ।।

'यदि राजाका अनादर करके मैं घरके भीतर चला जाऊँ, तो महाराज अजातशत्रुके प्रति मेरी प्रतिज्ञा मिथ्या होगी ।। १८ ।।

अनुप्रवेशे राज्ञस्तु वनवासो भवेन्मम ।
सर्वमन्यत् परिहृतं धर्षणात् तु महीपतेः ।। १९ ।।

'राजाकी उपस्थितिमें घरके भीतर प्रवेश करनेपर मुझको वनमें निवास करना होगा। इसमें महाराजके तिरस्कारके सिवा और सारी बातें तुच्छ होनेके कारण उपेक्षणीय हैं ।। १९ ।।

अधर्मो वै महानस्तु वने वा मरणं मम ।
शरीरस्य विनाशेन धर्म एव विशिष्यते ।। २० ।।

'चाहे राजाके तिरस्कारसे मुझे नियमभंगका महान् दोष प्राप्त हो अथवा वनमें ही मेरी मृत्यु हो जाय तथापि शरीरको नष्ट करके भी गौ-ब्राह्मण-रक्षारूप धर्मका पालन ही श्रेष्ठ है' ।। २० ।।

एवं विनिश्चित्य ततः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
अनुप्रविश्य राजानमापृच्छ्य च विशाम्पते ।। २१ ।।
धनुरादाय संहृष्टो ब्राह्मणं प्रत्यभाषत ।

जनमेजय! ऐसा निश्चय करके कुन्तीकुमार धनंजयने राजासे पूछकर घरके भीतर प्रवेश करके धनुष ले लिया और (बाहर आकर) प्रसन्नतापूर्वक ब्राह्मणसे कहा— ।। २१½ ।।

ब्राह्मणागम्यतां शीघ्रं यावत् परधनैषिणः ।। २२ ।।
न दूरे ते गताः क्षुद्रास्तावद् गच्छावहे सह ।
यावन्निवर्तयाम्यद्य चौरहस्ताद् धनं तव ।। २३ ।।

'विप्रवर! शीघ्र आइये। जबतक दूसरोंके धन हड़पनेकी इच्छावाले वे क्षुद्र चोर दूर नहीं चले जाते, तभीतक हम दोनों एक साथ वहाँ पहुँच जायँ। मैं अभी आपका गोधन चोरोंके हाथसे छीनकर आपको लौटा देता हूँ' ।। २२-२३ ।।

सोऽनुसृत्य महाबाहुर्धन्वी वर्मी रथी ध्वजी ।
शरैर्विध्वस्य तांश्चौरानवजित्य च तद् धनम् ।। २४ ।।

ऐसा कहकर महाबाहु अर्जुनने धनुष और कवच धारण करके ध्वजायुक्त रथपर आरूढ़ हो उन चोरोंका पीछा किया और बाणोंसे चोरोंका विनाश करके सारा गोधन जीत

लिया ।। २४ ।।

ब्राह्मणं समुपाकृत्य यशः प्राप्य च पाण्डवः ।
ततस्तद् गोधनं पार्थो दत्त्वा तस्मै द्विजातये ।। २५ ।।
आजगाम पुरं वीरः सव्यसाची धनंजयः ।
सोऽभिवाद्य गुरून् सर्वान् सर्वैश्चाप्यभिनन्दितः ।। २६ ।।

फिर ब्राह्मणको वह सारा गोधन देकर प्रसन्न करके अनुपम यशके भागी हो पाण्डुपुत्र सव्यसाची वीर धनंजय पुनः अपने नगरमें लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने समस्त गुरुजनोंको प्रणाम किया और उन सभी गुरुजनोंने उनकी बड़ी प्रशंसा एवं अभिनन्दन किया ।। २५-२६ ।।

धर्मराजमुवाचेदं व्रतमादिश मे प्रभो ।
समयः समतिक्रान्तो भवत्संदर्शने मया ।। २७ ।।
वनवासो गमिष्यामि समयो ह्येष नः कृतः ।

इसके बाद अर्जुनने धर्मराजसे कहा—‘प्रभो! मैंने आपको द्रौपदीके साथ देखकर पहलेके निश्चित नियमको भंग किया है; अतः आप इसके लिये मुझे प्रायश्चित्त करनेकी आज्ञा दीजिये। मैं वनवासके लिये जाऊँगा; क्योंकि हमलोगोंमें यह शर्त हो चुकी है’ ।। २७ १/२ ।।

इत्युक्तो धर्मराजस्तु सहसा वाक्यमप्रियम् ।। २८ ।।
कथमित्यब्रवीद् वाचा शोकार्तः सज्जमानया ।
युधिष्ठिरो गुडाकेशं भ्राता भ्रातरमच्युतम् ।। २९ ।।
उवाच दीनो राजा च धनंजयमिदं वचः ।
प्रमाणमस्मि यदि ते मत्तः शृणु वचोऽनघ ।। ३० ।।

अर्जुनके मुखसे सहसा यह अप्रिय वचन सुनकर धर्मराज शोकातुर होकर लड़खड़ाती हुई वाणीमें बोले—‘ऐसा क्यों करते हो?’ इसके बाद राजा युधिष्ठिर धर्ममर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले अपने भाई गुडाकेश धनंजयसे फिर दीन होकर बोले—‘अनघ! यदि तुम मुझको प्रमाण मानते हो, तो मेरी यह बात सुनो— ।। २८—३० ।।

अनुप्रवेशे यद् वीर कृतवांस्त्वं मम प्रियम् ।
सर्वं तदनुजानामि व्यलीकं न च मे हृदि ।। ३१ ।।

‘वीरवर! तुमने घरके भीतर प्रवेश करके तो मेरा प्रिय कार्य किया है, अतः उसके लिये मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ; क्योंकि मेरे हृदयमें वह अप्रिय नहीं है ।। ३१ ।।

गुरोरनुप्रवेशो हि नोपघातो यवीयसः ।
यवीयसोऽनुप्रवेशो ज्येष्ठस्य विधिलोपकः ।। ३२ ।।

‘यदि बड़ा भाई घरमें स्त्रीके साथ बैठा हो, तो छोटे भाईका वहाँ जाना दोषकी बात नहीं है; परंतु छोटा भाई घरमें हो, तो बड़े भाईका वहाँ जाना उसके धर्मका नाश करनेवाला

है ।। ३२ ।।

निवर्तस्व महाबाहो कुरुष्व वचनं मम ।
न हि ते धर्मलोपोऽस्ति न च ते धर्षणा कृता ।। ३३ ।।

'अतः महाबाहो! मेरी बात मानो; वनवासका विचार छोड़ दो। न तो तुम्हारे धर्मका लोप हुआ है और न तुम्हारे द्वारा मेरा तिरस्कार ही किया गया है' ।। ३३ ।।

अर्जुन उवाच

न व्याजेन चरेद् धर्ममिति मे भवतः श्रुतम् ।
न सत्याद् विचलिष्यामि सत्येनायुधमालभे ।। ३४ ।।

अर्जुन बोले—प्रभो! मैंने आपके ही मुखसे सुना है कि धर्माचरणमें कभी बहानेबाजी नहीं करनी चाहिये। अतः मैं सत्यकी शपथ खाकर और शस्त्र छूकर कहता हूँ कि सत्यसे विचलित नहीं होऊँगा ।। ३४ ।।

(आज्ञा तु मम दातव्या भवता कीर्तिवर्धन ।
भवदाज्ञामृते किंचिन्न कार्यमिति निश्चितम् ।।)

यशोवर्धन! मुझे आप वनवासके लिये आज्ञा दें, मेरा यह निश्चय है कि मैं आपकी आज्ञाके बिना कोई कार्य नहीं करूँगा ।।

वैशम्पायन उवाच

सोऽभ्यनुज्ञाय राजानं वनचर्याय दीक्षितः ।
वने द्वादश वर्षाणि वासायानुजगाम ह ।। ३५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजाकी आज्ञा लेकर अर्जुनने वनवासकी दीक्षा ली और वनमें बारह वर्षोंतक रहनेके लिये वे वहाँसे चल पड़े ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि अर्जुनतीर्थयात्रायां द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें अर्जुनतीर्थयात्राविषयक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलकर कुल ३६ श्लोक हैं)

त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका गंगाद्वारमें ठहरना और वहाँ उनका उलूपीके साथ मिलन

वैशम्पायन उवाच

तं प्रयान्तं महाबाहुं कौरवाणां यशस्करम् ।
अनुजग्मुर्महात्मानो ब्राह्मणा वेदपारगाः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कौरववंशका यश बढ़ानेवाले महाबाहु अर्जुन जब जाने लगे, उस समय बहुत-से वेदज्ञ महात्मा ब्राह्मण उनके साथ हो लिये ।। १ ।।

वेदवेदाङ्गविद्वांसस्तथैवाध्यात्मचिन्तकाः ।
भैक्षाश्च भगवद्भक्ताः सूताः पौराणिकाश्च ये ।। २ ।।
कथकाश्चापरे राजन् श्रमणाश्च वनौकसः ।
दिव्याख्यानानि ये चापि पठन्ति मधुरं द्विजाः ।। ३ ।।

वेद-वेदांगोंके विद्वान्, अध्यात्मचिन्तन करनेवाले, भिक्षाजीवी ब्रह्मचारी, भगवद्भक्त, पुराणोंके ज्ञाता सूत, अन्य कथावाचक, संन्यासी, वानप्रस्थ तथा जो ब्राह्मण मधुर स्वरसे दिव्य कथाओंका पाठ करते हैं, वे सब अर्जुनके साथ गये ।। २-३ ।।

एतैश्चान्यैश्च बहुभिः सहायैः पाण्डुनन्दनः ।
वृतः श्लक्ष्णकथैः प्रायान्मरुद्भिरिव वासवः ।। ४ ।।

जैसे इन्द्र देवताओंके साथ चलते हैं, उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुन पूर्वोक्त पुरुषों तथा अन्य बहुत-से मधुरभाषी सहायकोंके साथ यात्रा कर रहे थे ।। ४ ।।

रमणीयानि चित्राणि वनानि च सरांसि च ।
सरितः सागरांश्चैव देशानपि च भारत ।। ५ ।।
पुण्यान्यपि च तीर्थानि ददर्श भरतर्षभः ।
स गङ्गाद्वारमाश्रित्य निवेशमकरोत् प्रभुः ।। ६ ।।

भारत! नरश्रेष्ठ अर्जुनने मार्गमें अनेक रमणीय एवं विचित्र वन, सरोवर, नदी, सागर, देश और पुण्यतीर्थ देखे। धीरे-धीरे गंगाद्वार (हरद्वार)-में पहुँचकर शक्तिशाली पार्थने वहीं डेरा डाल दिया ।। ५-६ ।।

तत्र तस्याद्भुतं कर्म शृणु त्वं जनमेजय ।
कृतवान् यद् विशुद्धात्मा पाण्डूनां प्रवरो हि सः ।। ७ ।।

जनमेजय! गंगाद्वारमें अर्जुनका एक अद्भुत कार्य सुनो, जो पाण्डवोंमें श्रेष्ठ विशुद्धचित्त धनंजयने किया था ।। ७ ।।

निविष्टे तत्र कौन्तेये ब्राह्मणेषु च भारत ।
अग्निहोत्राणि विप्रास्ते प्रादुश्चक्रुरनेकशः ।। ८ ।।

भारत! जब कुन्तीकुमार और उनके साथी ब्राह्मणलोग गंगाद्वारमें ठहर गये, तब उन ब्राह्मणोंने अनेक स्थानोंपर अग्निहोत्रके लिये अग्नि प्रकट की ।। ८ ।।

तेषु प्रबोध्यमानेषु ज्वलितेषु हुतेषु च ।
कृतपुष्पोपहारेषु तीरान्तरगतेषु च ।। ९ ।।
कृताभिषेकैर्विद्वद्भिर्नियतैः सत्पथि स्थितैः ।
शुशुभेऽतीव तद् राजन् गङ्गाद्वारं महात्मभिः ।। १० ।।

गंगाके तटपर जब अलग-अलग अग्नियाँ प्रज्वलित हो गयीं और सन्मार्गमें स्थित एवं मन-इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले विद्वान् ब्राह्मणलोग स्नान करके फूलोंके उपहार चढ़ाकर जब पूर्वोक्त अग्नियोंमें आहुति दे चुके, तब उन महात्माओंके द्वारा उस गंगाद्वार नामक तीर्थकी शोभा बहुत बढ़ गयी ।। ९-१० ।।

तथा पर्याकुले तस्मिन् निवेशे पाण्डवर्षभः ।
अभिषेकाय कौन्तेयो गङ्गामवततार ह ।। ११ ।।

इस प्रकार विद्वान् एवं महात्मा ब्राह्मणोंसे जब उनका आश्रम भरा-पूरा हो गया, उस समय कुन्तीनन्दन अर्जुन स्नान करनेके लिये गंगामें उतरे ।। ११ ।।

तत्राभिषेकं कृत्वा स तर्पयित्वा पितामहान् ।
उत्तितीर्षुर्जलाद् राजन्नग्निकार्यचिकीर्षया ।। १२ ।।
अपकृष्टो महाबाहुर्नागराजस्य कन्यया ।
अन्तर्जले महाराज उलूप्या कामयानया ।। १३ ।।

राजन्! वहाँ स्नान करके पितरोंका तर्पण करनेके पश्चात् अग्निहोत्र करनेके लिये वे जलसे निकलना ही चाहते थे कि नागराजकी पुत्री उलूपीने उनके प्रति आसक्त हो पानीके भीतरसे ही महाबाहु अर्जुनको खींच लिया ।। १२-१३ ।।

ददर्श पाण्डवस्तत्र पावकं सुसमाहितः ।
कौरव्यस्याथ नागस्य भवने परमार्चिते ।। १४ ।।

नागराज कौरव्यके परम सुन्दर भवनमें पहुँचकर पाण्डुनन्दन अर्जुनने एकाग्रचित्त होकर देखा, तो वहाँ अग्नि प्रज्वलित हो रही थी ।। १४ ।।

तत्राग्निकार्यं कृतवान् कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
अशङ्कमानेन हुतस्तेनातुष्यद् हुताशनः ।। १५ ।।

उस समय कुन्तीपुत्र धनंजयने निर्भीक होकर उसी अग्निमें अपना अग्निहोत्रकार्य सम्पन्न किया। इससे अग्निदेव बहुत संतुष्ट हुए ।। १५ ।।

अग्निकार्यं स कृत्वा तु नागराजसुतां तदा ।
प्रहसन्निव कौन्तेय इदं वचनमब्रवीत् ।। १६ ।।

अग्निहोत्रका कार्य कर लेनेके पश्चात् अर्जुनने नागराजकन्यासे हँसते हुए-से यह बात कही— ।। १६ ।।

किमिदं साहसं भीरु कृतवत्यसि भाविनि ।
कश्चायं सुभगे देशः का च त्वं कस्य वाऽऽत्मजा ।। १७ ।।

'भीरु! तुमने ऐसा साहस क्यों किया है? भाविनि! यह कौन-सा देश है? सुभगे! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो?' ।। १७ ।।

उलूप्युवाच

ऐरावतकुले जातः कौरव्यो नाम पन्नगः ।
तस्यास्मि दुहिता राजन्नुलूपी नाम पन्नगी ।। १८ ।।

उलूपीने कहा—राजन्! ऐरावत नागके कुलमें कौरव्य नामक नाग उत्पन्न हुए हैं, मैं उन्हींकी पुत्री नागिन हूँ। मेरा नाम उलूपी है ।। १८ ।।

साहं त्वामभिषेकार्थमवतीर्णं समुद्रगाम् ।
दृष्ट्वैव पुरुषव्याघ्र कन्दर्पेणाभिमूर्च्छिता ।। १९ ।।

नरश्रेष्ठ! जब आप स्नान करनेके लिये समुद्रगामिनी नदी गंगामें उतरे थे, उस समय आपको देखते ही मैं कामवेदनासे मूर्च्छित हो गयी थी ।। १९ ।।

तां मामनङ्गग्लपितां त्वत्कृते कुरुनन्दन ।
अनन्यां नन्दयस्वाद्य प्रदानेनात्मनोऽनघ ।। २० ।।

निष्पाप कुरुनन्दन! मैं आपके ही लिये कामदेवके तापसे जली जा रही हूँ। मैंने आपके सिवा दूसरेको अपना हृदय अर्पण नहीं किया है। अतः मुझे आत्मदान देकर आनन्दित कीजिये ।। २० ।।

अर्जुन उवाच

ब्रह्मचर्यमिदं भद्रे मम द्वादशवार्षिकम् ।
धर्मराजेन चादिष्टं नाहमस्मि स्वयंवशः ।। २१ ।।

अर्जुन बोले—भद्रे! यह मेरे बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाले ब्रह्मचर्यव्रतका समय है। धर्मराज युधिष्ठिरने मुझे इस व्रतके पालनकी आज्ञा दी है। अतः मैं अपने वशमें नहीं हूँ ।। २१ ।।

तव चापि प्रियं कर्तुमिच्छामि जलचारिणि ।
अनृतं नोक्तपूर्वं च मया किंचन कर्हिचित् ।। २२ ।।

जलचारिणि! मैं तुम्हारा भी प्रिय करना चाहता हूँ। मैंने पहले कभी कोई असत्य बात नहीं कही है ।। २२ ।।

कथं च नानृतं मे स्यात् तव चापि प्रियं भवेत् ।
न च पीड्येत मे धर्मस्तथा कुर्यां भुजङ्गमे ।। २३ ।।

नागकन्ये! तुम ऐसा कोई उपाय करो, जिससे मुझे झूठका दोष न लगे, तुम्हारा भी प्रिय हो और मेरे धर्मको भी हानि न पहुँचे ।। २३ ।।

उलूप्युवाच

जानाम्यहं पाण्डवेय यथा चरसि मेदिनीम् ।
यथा च ते ब्रह्मचर्यमिदमादिष्टवान् गुरुः ।। २४ ।।

उलूपीने कहा—पाण्डुनन्दन! आप जिस उद्देश्यसे पृथ्वीपर विचर रहे हैं और आपके बड़े भाईने जिस प्रकार आपको ब्रह्मचर्य-पालनका आदेश दिया है, वह सब मैं जानती हूँ ।। २४ ।।

परस्परं वर्तमानान् द्रुपदस्यात्मजां प्रति ।
यो नोऽनुप्रविशेन्मोहात् स वै द्वादशवार्षिकम् ।। २५ ।।
वने चरेद् ब्रह्मचर्यमिति वः समयः कृतः ।

आपलोगोंने आपसमें यह शर्त कर रखी है कि हम लोगोंमेंसे कोई भी यदि द्रौपदीके पास रहे, उस दशामें यदि दूसरा मोहवश उस घरमें प्रवेश करे, तो वह बारह वर्षोंतक वनमें रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करे ।। २५½ ।।

तदिदं द्रौपदीहेतोरन्योन्यस्य प्रवासनम् ।। २६ ।।
कृतवांस्तत्र धर्मार्थमत्र धर्मो न दुष्यति ।
परित्राणं च कर्तव्यमार्तानां पृथुलोचन ।। २७ ।।

अतः आपके बड़े भाईने वहाँ धर्मकी रक्षाके लिये केवल द्रौपदीको निमित्त बनाकर यह एक-दूसरेके प्रवासका नियम बनाया है। यहाँ आपका धर्म दूषित नहीं होता। विशाल नेत्रोंवाले अर्जुन! आपको आर्त प्राणियोंकी रक्षा करनी चाहिये ।। २६-२७ ।।

कृत्वा मम परित्राणं तव धर्मो न लुप्यते ।
यदि वाप्यस्य धर्मस्य सूक्ष्मोऽपि स्याद् व्यतिक्रमः ।। २८ ।।
स च ते धर्म एव स्याद् दत्त्वा प्राणान् ममार्जुन ।
भक्तां च भज मां पार्थ सतामेतन्मतं प्रभो ।। २९ ।।

मेरी रक्षा करनेसे आपके धर्मका लोप नहीं होगा। यदि आपके इस धर्मका थोड़ा-सा व्यतिक्रम भी हो जाय तो भी मुझे प्राणदान देनेसे तो आपको महान् धर्म होगा ही। अतः मेरे स्वामी कुन्तीकुमार अर्जुन! मैं आपकी भक्त हूँ, मुझे स्वीकार कीजिये; यह आर्तरक्षण सत्पुरुषोंका मत है ।। २८-२९ ।।

न करिष्यसि चेदेवं मृतां मामुपधारय ।
प्राणदानान्महाबाहो चर धर्ममनुत्तमम् ।। ३० ।।

महाबाहो! यदि आप मेरी प्रार्थना पूर्ण नहीं करेंगे तो निश्चय जानिये, मैं मर जाऊँगी। अतः मुझे प्राणदान देकर अत्यन्त उत्तम धर्मका अनुष्ठान कीजिये ।। ३० ।।

शरणं च प्रपन्नास्मि त्वामद्य पुरुषोत्तम ।
दीनाननाथान् कौन्तेय परिरक्षसि नित्यशः ।। ३१ ।।

पुरुषोत्तम! आज मैं आपकी शरणमें आयी हूँ। कुन्तीकुमार! आप प्रतिदिन न जाने कितने दीनों और अनाथोंकी रक्षा करते हैं ।। ३१ ।।

साहं शरणमभ्येमि रोरवीमि च दुःखिता ।
याचे त्वां चाभिकामाहं तस्मात् कुरु मम प्रियम् ।
स त्वमात्मप्रदानेन सकामां कर्तुमर्हसि ।। ३२ ।।

मैं भी यही आशा लेकर शरणमें आयी हूँ और बार-बार दुःखी होकर रोती-गिड़गिड़ाती हूँ। मैं आपके प्रति अनुरक्त हूँ और आपसे समागमकी याचना करती हूँ। अतः मेरा प्रिय मनोरथ पूर्ण कीजिये। मुझे आत्मदान देकर मेरी कामना सफल कीजिये ।। ३२ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पन्नगेश्वरकन्यया ।
कृतवांस्तत् तथा सर्वं धर्ममुद्दिश्य कारणम् ।। ३३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! नागराजकी कन्या उलूपीके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार अर्जुनने धर्मको ही सामने रखकर वह सब कार्य पूर्ण किया ।। ३३ ।।

स नागभवने रात्रिं तामुषित्वा प्रतापवान् ।
उदितेऽभ्युत्थितः सूर्ये कौरव्यस्य निवेशनात् ।। ३४ ।।

प्रतापी अर्जुनने नागराजके घरमें ही वह रात्रि व्यतीत की। फिर सूर्योदय होनेपर वे कौरव्यके भवनसे ऊपरको उठे ।। ३४ ।।

आगतस्तु पुनस्तत्र गङ्गाद्वारं तया सह ।
परित्यज्य गता साध्वी उलूपी निजमन्दिरम् ।। ३५ ।।

उलूपीके साथ अर्जुन फिर गंगाद्वारमें आ पहुँचे। साध्वी उलूपी उन्हें वहाँ छोड़कर पुनः अपने घरको लौट गयी ।। ३५ ।।

दत्त्वा वरमजेयत्वं जले सर्वत्र भारत ।
साध्या जलचराः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः ।। ३६ ।।
(पुत्रमुत्पादयामास स तस्यां सुमनोहरम् ।
इरावन्तं महाभागं महाबलपराक्रमम् ।।)

भारत! जाते समय उसने अर्जुनको यह वर दिया 'कि आप जलमें सर्वत्र अजेय होंगे और सभी जलचर आपके वशमें रहेंगे, इसमें संशय नहीं है।' इस प्रकार अर्जुनने उलूपीके गर्भसे अत्यन्त मनोहर तथा महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न इरावान् नामक महा उत्पन्न किया ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वण्युलूपीसङ्गमे च त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें उलूपी-समागमविषयक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३७ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका पूर्वदिशाके तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए मणिपूरमें जाकर चित्रांगदाका पाणिग्रहण करके उसके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न करना

वैशम्पायन उवाच

कथयित्वा च तत् सर्वं ब्राह्मणेभ्यः स भारत ।
प्रययौ हिमवत्पार्श्वं ततो वज्रधरात्मजः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! रातकी वह सारी घटना ब्राह्मणोंसे कहकर इन्द्रपुत्र अर्जुन हिमालयके पास चले गये ।। १ ।।

अगस्त्यवटमासाद्य वसिष्ठस्य च पर्वतम् ।
भृगुतुङ्गे च कौन्तेयः कृतवाञ्छौचमात्मनः ।। २ ।।

अगस्त्यवट, वसिष्ठपर्वत तथा भृगुतुंगपर जाकर उन्होंने शौच-स्नान आदि किये ।। २ ।।

प्रददौ गोसहस्राणि सुबहूनि च भारत ।
निवेशांश्च द्विजातिभ्यः सोऽददत् कुरुसत्तमः ।। ३ ।।

भारत! कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने उन तीर्थोंमें ब्राह्मणोंको कई हजार गौएँ दान कीं और द्विजातियोंके रहनेके लिये घर एवं आश्रम बनवा दिये ।। ३ ।।

हिरण्यविन्दोस्तीर्थे च स्नात्वा पुरुषसत्तमः ।
दृष्टवान् पाण्डवश्रेष्ठः पुण्यान्यायतनानि च ।। ४ ।।

हिरण्यबिंदुतीर्थमें स्नान करके पाण्डवश्रेष्ठ पुरुषोत्तम अर्जुनने अनेक पवित्र स्थानोंका दर्शन किया ।। ४ ।।

अवतीर्य नरश्रेष्ठो ब्राह्मणैः सह भारत ।
प्राचीं दिशमभिप्रेप्सुर्जगाम भरतर्षभः ।। ५ ।।

जनमेजय! तत्पश्चात् हिमालयसे नीचे उतरकर भरत-कुलभूषण नरश्रेष्ठ अर्जुन पूर्व दिशाकी ओर चल दिये ।। ५ ।।

आनुपूर्व्येण तीर्थानि दृष्टवान् कुरुसत्तमः ।
नदीं चोत्पलिनीं रम्यामरण्यं नैमिषं प्रति ।। ६ ।।
नन्दामपरनन्दां च कौशिकीं च यशस्विनीम् ।
महानदीं गयां चैव गङ्गामपि च भारत ।। ७ ।।

भारत! फिर उस यात्रामें कुरुश्रेष्ठ धनंजयने क्रमशः अनेक तीर्थोंका तथा नैमिषारण्यतीर्थमें बहनेवाली रमणीय उत्पलिनी नदी, नन्दा, अपरनन्दा, यशस्विनी कौशिकी

(कोसी), महानदी, गयातीर्थ और गंगाजीका भी दर्शन किया ।। ६-७ ।।

एवं तीर्थानि सर्वाणि पश्यमानस्तथाऽऽश्रमान् ।
आत्मनः पावनं कुर्वन् ब्राह्मणेभ्यो ददौ च गाः ।। ८ ।।

इस प्रकार उन्होंने सब तीर्थों और आश्रमोंको देखते हुए स्नान आदिसे अपनेको पवित्र करके ब्राह्मणोंके लिये बहुत-सी गौएँ दान कीं ।। ८ ।।

अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु यानि तीर्थानि कानिचित् ।
जगाम तानि सर्वाणि पुण्यान्यायतनानि च ।। ९ ।।

तदनन्तर अंग, वंग और कलिंग देशोंमें जो कोई भी पवित्र तीर्थ और मन्दिर थे, उन सबमें वे गये ।। ९ ।।

दृष्ट्वा च विधिवत् तानि धनं चापि ददौ ततः ।
कलिङ्गराष्ट्रद्वारेषु ब्राह्मणाः पाण्डवानुगाः ।
अभ्यनुज्ञाय कौन्तेयमुपावर्तन्त भारत ।। १० ।।

और उन तीर्थोंका दर्शन करके उन्होंने विधिपूर्वक वहाँ धन-दान किया। कलिंग राष्ट्रके द्वारपर पहुँचकर अर्जुनके साथ चलनेवाले ब्राह्मण उनकी अनुमति लेकर वहाँसे लौट गये ।। १० ।।

स तु तैरभ्यनुज्ञातः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
सहायैरल्पकैः शूरः प्रययौ यत्र सागरः ।। ११ ।।

परंतु कुन्तीपुत्र शूरवीर धनंजय उन ब्राह्मणोंकी आज्ञा ले थोड़े-से सहायकोंके साथ उस स्थानकी ओर गये, जहाँ समुद्र लहराता था ।। ११ ।।

स कलिङ्गानतिक्रम्य देशानायतनानि च ।
हर्म्याणि रमणीयानि प्रेक्षमाणो ययौ प्रभुः ।। १२ ।।

कलिंग देशको लाँघकर शक्तिशाली अर्जुन अनेक देशों, मन्दिरों तथा रमणीय अट्टालिकाओंका दर्शन करते हुए आगे बढ़े ।। १२ ।।

महेन्द्रपर्वतं दृष्ट्वा तापसैरुपशोभितम् ।
समुद्रतीरेण शनैर्मणिपूरं जगाम ह ।। १३ ।।

इस प्रकार वे तपस्वी मुनियोंसे सुशोभित महेन्द्र पर्वतका दर्शन कर समुद्रके किनारे-किनारे यात्रा करते हुए धीरे-धीरे मणिपूर पहुँच गये ।। १३ ।।

तत्र सर्वाणि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
अभिगम्य महाबाहुरभ्यगच्छन्महीपतिम् ।। १४ ।।

वहाँके सम्पूर्ण तीर्थों और पवित्र मन्दिरोंमें जानेके बाद महाबाहु अर्जुन मणिपूरनरेशके पास गये ।। १४ ।।

मणिपूरेश्वरं राजन् धर्मज्ञं चित्रवाहनम् ।
तस्य चित्राङ्गदा नाम दुहिता चारुदर्शना ।। १५ ।।

राजन्! मणिपूरके स्वामी धर्मज्ञ चित्रवाहन थे। उनके चित्रांगदा नामवाली एक परम सुन्दरी कन्या थी ।। १५ ।।

तां ददर्श पुरे तस्मिन् विचरन्तीं यदृच्छया ।
दृष्ट्वा च तां वरारोहां चकमे चैत्रवाहनीम् ।। १६ ।।

उस नगरमें विचरण करती हुई उस सुन्दर अंगोंवाली चित्रवाहनकुमारीको अकस्मात् देखकर अर्जुनके मनमें उसे प्राप्त करनेकी अभिलाषा हुई ।। १६ ।।

अभिगम्य च राजानमवदत् स्वं प्रयोजनम् ।
देहि मे खल्विमां राजन् क्षत्रियाय महात्मने ।। १७ ।।

अतः राजासे मिलकर उन्होंने अपना अभिप्राय इस प्रकार बताया—'महाराज! मुझ महामनस्वी क्षत्रियको आप अपनी यह पुत्री प्रदान कर दीजिये' ।। १७ ।।

तच्छ्रुत्वा त्वब्रवीद् राजा कस्य पुत्रोऽसि नाम किम् ।
उवाच तं पाण्डवोऽहं कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।। १८ ।।

यह सुनकर राजाने पूछा—'आप किनके पुत्र हैं और आपका क्या नाम है?' अर्जुनने उत्तर दिया, 'मैं महाराज पाण्डु तथा कुन्तीदेवीका पुत्र हूँ। मुझे लोग धनंजय कहते हैं' ।। १८ ।।

तमुवाचाथ राजा स सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।
राजा प्रभञ्जनो नाम कुलेऽस्मिन् सम्बभूव ह ।। १९ ।।

तब राजाने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'इस कुलमें पहले प्रभंजन नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं ।। १९ ।।

अपुत्रः प्रसवेनार्थी तपस्तेपे स उत्तमम् ।
उग्रेण तपसा तेन देवदेवः पिनाकधृक् ।। २० ।।
ईश्वरस्तोषितः पार्थ देवदेव उमापतिः ।
स तस्मै भगवान् प्रादादेकैकं प्रसवं कुले ।। २१ ।।

'उनके कोई पुत्र नहीं था, अतः उन्होंने पुत्रकी इच्छासे उत्तम तपस्या प्रारम्भ की। पार्थ! उन्होंने उस उग्र तपस्यासे पिनाकधारी देवाधिदेव महेश्वरको संतुष्ट कर लिया। तब देवदेवेश्वर भगवान् उमापति उन्हें वरदान देते हुए बोले—'तुम्हारे कुलमें एक-एक संतान होती जायगी' ।। २०-२१ ।।

एकैकः प्रसवस्तस्माद् भवत्यस्मिन् कुले सदा ।
तेषां कुमाराः सर्वेषां पूर्वेषां मम जज्ञिरे ।। २२ ।।
एका च मम कन्येयं कुलस्योत्पादिनी भृशम् ।
पुत्रो ममायमिति मे भावना पुरुषर्षभ ।। २३ ।।

'इस कारण हमारे इस कुलमें सदासे एक-एक संतान ही होती चली आ रही है। मेरे अन्य सभी पूर्वजोंके तो पुत्र होते आये हैं, परंतु मेरे यह एक कन्या ही हुई है। यही इस कुलकी परम्पराको चलानेवाली है। अतः भरतश्रेष्ठ! इसके प्रति मेरी यही भावना रहती है कि 'यह मेरा पुत्र है' ।। २२-२३ ।।

पुत्रिका हेतुविधिना संज्ञिता भरतर्षभ ।
तस्मादेकः सुतो योऽस्यां जायते भारत त्वया ।। २४ ।।
एतच्छुल्कं भवत्वस्याः कुलकृज्जायतामिह ।
एतेन समयेनेमां प्रतिगृह्णीष्व पाण्डव ।। २५ ।।

'यद्यपि यह पुत्री है, तो भी हेतुविधिसे (अर्थात् इससे जो प्रथम पुत्र होगा, वह मेरा ही पुत्र माना जायगा, इस हेतुसे) मैंने इसे पुत्रकी संज्ञा दे रखी है। भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे द्वारा इसके गर्भसे जो एक पुत्र उत्पन्न हो, वह यहीं रहकर इस कुलपरम्पराका प्रवर्तक हो; इस कन्याके विवाहका यही शुल्क आपको देना होगा। पाण्डुनन्दन! इसी शर्तके अनुसार आप इसे ग्रहण करें' ।। २४-२५ ।।

स तथेति प्रतिज्ञाय तां कन्यां प्रतिगृह्य च ।
उवास नगरे तस्मिंस्तिस्रः कुन्तीसुतः समाः ।। २६ ।।

'तथास्तु' कहकर अर्जुनने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की और उस कन्याका पाणिग्रहण करके उन्होंने तीन वर्षोंतक उसके साथ उस नगरमें निवास किया ।। २६ ।।

तस्यां सुते समुत्पन्ने परिष्वज्य वराङ्गनाम् ।
आमन्त्र्य नृपतिं तं तु जगाम परिवर्तितुम् ।। २७ ।।

उसके गर्भसे पुत्र उत्पन्न हो जानेपर उस सुन्दरीको हृदयसे लगाकर अर्जुनने विदा ली तथा राजा चित्रवाहनसे पूछकर वे पुनः तीर्थोंमें भ्रमण करनेके लिये चल दिये ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि चित्राङ्गदासङ्गमे चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें चित्रांगदासमागमविषयक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१४ ।।

पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा वर्गा अप्सराका ग्राहयोनिसे उद्धार तथा वर्गाकी आत्मकथाका आरम्भ

वैशम्पायन उवाच

ततः समुद्रे तीर्थानि दक्षिणे भरतर्षभ ।
अभ्यगच्छत् सुपुण्यानि शोभितानि तपस्विभिः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर अर्जुन दक्षिण समुद्रके तटपर तपस्वीजनोंसे सुशोभित परम पुण्यमय तीर्थोंमें गये ।। १ ।।

वर्जयन्ति स्म तीर्थानि तत्र पञ्च स्म तापसाः ।
अवकीर्णानि यान्यासन् पुरस्तात् तु तपस्विभिः ।। २ ।।

वहाँ उन दिनों तपस्वीलोग पाँच तीर्थोंको छोड़ देते थे। ये वे ही तीर्थ थे, जहाँ पूर्वकालमें बहुतेरे तपस्वी महात्मा भरे रहते थे ।। २ ।।

अगस्त्यतीर्थं सौभद्रं पौलोमं च सुपावनम् ।
कारन्धमं प्रसन्नं च हयमेधफलं च तत् ।। ३ ।।
भारद्वाजस्य तीर्थं तु पापप्रशमनं महत् ।
एतानि पञ्च तीर्थानि ददर्श कुरुसत्तमः ।। ४ ।।

उनके नाम इस प्रकार हैं—अगस्त्यतीर्थ, सौभद्र-तीर्थ, परम पावन पौलोमतीर्थ, अश्वमेध यज्ञका फल देनेवाला स्वच्छ कारन्धमतीर्थ तथा पापनाशक महान् भारद्वाजतीर्थ। कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने इन पाँचों तीर्थोंका दर्शन किया ।। ३-४ ।।

विविक्तान्युपलक्ष्याथ तानि तीर्थानि पाण्डवः ।
दृष्ट्वा च वर्ज्यमानानि मुनिभिर्धर्मबुद्धिभिः ।। ५ ।।

पाण्डुपुत्र अर्जुनने देखा, ये सभी तीर्थ बड़े एकान्तमें हैं, तो भी एकमात्र धर्ममें बुद्धिको लगाये रखनेवाले मुनि भी उन तीर्थोंको दूरसे ही छोड़ दे रहे हैं ।। ५ ।।

तपस्विनस्ततोऽपृच्छत् प्राञ्जलिः कुरुनन्दनः ।
तीर्थानीमानि वर्ज्यन्ते किमर्थं ब्रह्मवादिभिः ।। ६ ।।

तब कुरुनन्दन धनंजयने दोनों हाथ जोड़कर तपस्वी मुनियोंसे पूछा—‘वेदवक्ता ऋषिगण इन तीर्थोंका परित्याग किसलिये कर रहे हैं?’ ।। ६ ।।

तापसा ऊचुः

ग्राहाः पञ्च वसन्त्येषु हरन्ति च तपोधनान् ।
तत एतानि वर्ज्यन्ते तीर्थानि कुरुनन्दन ।। ७ ।।

तपस्वी बोले—कुरुनन्दन! उन तीर्थोंमें पाँच ग्राह रहते हैं, जो नहानेवाले तपोधन ऋषियोंको जलके भीतर खींच ले जाते हैं; इसीलिये ये तीर्थ मुनियोंद्वारा त्याग दिये गये हैं ।। ७ ।।

वैशम्पायन उवाच

तेषां श्रुत्वा महाबाहुर्वार्यमाणस्तपोधनैः ।
जगाम तानि तीर्थानि द्रष्टुं पुरुषसत्तमः ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—उनकी बातें सुनकर कुरुश्रेष्ठ महाबाहु अर्जुन उन तपोधनोंके मना करनेपर भी उन तीर्थोंका दर्शन करनेके लिये गये ।। ८ ।।

ततः सौभद्रमासाद्य महर्षेस्तीर्थमुत्तमम् ।
विगाह्य सहसा शूरः स्नानं चक्रे परंतपः ।। ९ ।।

तदनन्तर परंतप शूरवीर अर्जुन महर्षि सुभद्रके उत्तम सौभद्रतीर्थमें सहसा उतरकर स्नान करने लगे ।। ९ ।।

अथ तं पुरुषव्याघ्रमन्तर्जलचरो महान् ।
जग्राह चरणे ग्राहः कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ।। १० ।।

इतनेमें ही जलके भीतर विचरनेवाले एक महान् ग्राहने नरश्रेष्ठ कुन्तीकुमार धनंजयका एक पैर पकड़ लिया ।। १० ।।

स तमादाय कौन्तेयो विस्फुरन्तं जलेचरम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्बलेन बलिनां वरः ।। ११ ।।

परंतु बलवानोंमें श्रेष्ठ महाबाहु कुन्तीकुमार बहुत उछल-कूद मचाते हुए उस जलचर जीवको लिये-दिये पानीसे बाहर निकल आये ।। ११ ।।

उत्कृष्ट एव ग्राहस्तु सोऽर्जुनेन यशस्विना ।
बभूव नारी कल्याणी सर्वाभरणभूषिता ।। १२ ।।

यशस्वी अर्जुनद्वारा पानीके ऊपर खिंच आनेपर वह ग्राह समस्त आभूषणोंसे विभूषित एक परम सुन्दरी नारीके रूपमें परिणत हो गया ।। १२ ।।

दीप्यमाना श्रिया राजन् दिव्यरूपा मनोरमा ।
तदद्भुतं महद् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।। १३ ।।
तां स्त्रियं परमप्रीत इदं वचनमब्रवीत् ।
का वै त्वमसि कल्याणि कुतो वासि जलेचरी ।। १४ ।।
किमर्थं च महत् पापमिदं कृतवती पुरा ।

राजन्! वह दिव्यरूपिणी मनोरमा रमणी अपनी अद्भुत कान्तिसे प्रकाशित हो रही थी। यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर कुन्तीनन्दन धनंजय बड़े प्रसन्न हुए और उस स्त्रीसे इस प्रकार बोले—'कल्याणी! तुम कौन हो और कैसे जलचरयोनिको प्राप्त हुई थी? तुमने पूर्वकालमें ऐसा महान् पाप किसलिये किया जिससे तुम्हारी यह दुर्गति हुई?' ।। १३-१४½ ।।

वर्गोवाच

अप्सरास्मि महाबाहो देवारण्यविहारिणी ।। १५ ।।

वर्गा बोली—महाबाहो! मैं नन्दनवनमें विहार करनेवाली एक अप्सरा हूँ ।। १५ ।।

इष्टा धनपतेर्नित्यं वर्गा नाम महाबल ।
मम सख्यश्चतस्रोऽन्याः सर्वाः कामगमाः शुभाः ।। १६ ।।

महाबल! मेरा नाम वर्गा है। मैं कुबेरकी नित्यप्रेयसी रही हूँ। मेरी चार दूसरी सखियाँ भी हैं। वे सब इच्छानुसार गमन करनेवाली और सुन्दरी हैं ।। १६ ।।

ताभिः सार्धं प्रयातास्मि लोकपालनिवेशनम् ।
ततः पश्यामहे सर्वा ब्राह्मणं संशितव्रतम् ।। १७ ।।

उन सबके साथ एक दिन मैं लोकपाल कुबेरके घरपर जा रही थी। मार्गमें हम सबने उत्तम व्रतका पालन करनेवाले एक ब्राह्मणको देखा ।। १७ ।।

रूपवन्तमधीयानमेकमेकान्तचारिणम् ।
तस्यैव तपसा राजंस्तद् वनं तेजसाऽऽवृतम् ।। १८ ।।

वे बड़े रूपवान् थे और अकेले एकान्तमें रहकर वेदोंका स्वाध्याय करते थे। राजन्! उन्हींकी तपस्यासे वह सारा वनप्रान्त तेजोमय हो रहा था ।। १८ ।।

आदित्य इव तं देशं कृत्स्नं सर्वं व्यकाशयत् ।
तस्य दृष्ट्वा तपस्तादृग् रूपं चाद्भुतमुत्तमम् ।। १९ ।।
अवतीर्णाः स्म तं देशं तपोविघ्नचिकीर्षया ।

वे सूर्यकी भाँति उस सम्पूर्ण प्रदेशको प्रकाशित कर रहे थे। उनकी वैसी तपस्या और वह अद्भुत एवं उत्तम रूप देखकर हम सभी अप्सराएँ उनके तपमें विघ्न डालनेकी इच्छासे उस स्थानमें उतर पड़ीं ।। १९½ ।।

अहं च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता ।। २० ।।
यौगपद्येन तं विप्रमभ्यगच्छाम भारत ।
गायन्त्योऽथ हसन्त्यश्च लोभयित्वा च तं द्विजम् ।। २१ ।।

भारत! मैं, सौरभेयी, समीची, बुद्बुदा और लता—पाँचों एक ही साथ उन ब्राह्मणके समीप गयीं और उन्हें लुभाती हुई हँसने तथा गाने लगीं ।। २०-२१ ।।

स च नास्मासु कृतवान् मनो वीर कथंचन ।

नाकम्पत महातेजाः स्थितस्तपसि निर्मले ।। २२ ।।

परंतु वीरवर! उन्होंने किसी प्रकार भी अपने मनको हमारी ओर नहीं खिंचने दिया। वे महातेजस्वी ब्राह्मण निर्मल तपस्यामें संलग्न थे। वे उससे तनिक भी विचलित नहीं हुए ।। २२ ।।

सोऽशपत् कुपितोऽस्मासु ब्राह्मणः क्षत्रियर्षभ ।
ग्राहभूता जले यूयं चरिष्यथ शतं समाः ।। २३ ।।

क्षत्रियशिरोमणे! हमारी उद्दण्डतासे कुपित होकर उन ब्राह्मणने हमें शाप दे दिया—'तुमलोग सौ वर्षोंतक जलमें ग्राह बनकर रहोगी' ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यर्जुनवनवासपर्वणि तीर्थग्राहविमोचने पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें तीर्थग्राहविमोचनविषयक दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१५ ।।

षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

वर्गाकी प्रार्थनासे अर्जुनका शेष चारों अप्सराओंको भी शापमुक्त करके मणिपूर जाना और चित्रांगदासे मिलकर गोकर्णतीर्थको प्रस्थान करना

वर्गोवाच

ततो वयं प्रव्यथिताः सर्वा भारतसत्तम ।
अयाम शरणं विप्रं तं तपोधनमच्युतम् ।। १ ।।

वर्गा बोली—भरतवंशके महापुरुष! उन ब्राह्मणका शाप सुनकर हमें बड़ा दुःख हुआ। तब हम सब-की-सब अपने धर्मसे च्युत न होनेवाले उन तपस्वी विप्रकी शरणमें गयीं ।। १ ।।

रूपेण वयसा चैव कन्दर्पेण च दर्पिताः ।
अयुक्तं कृतवत्यः स्म क्षन्तुमर्हसि नो द्विज ।। २ ।।

(और इस प्रकार बोलीं—) 'ब्रह्मन्! हम रूप, यौवन और कामसे उन्मत्त हो गयी थीं। इसीलिये यह अनुचित कार्य कर बैठीं। आप कृपापूर्वक हमारा अपराध क्षमा करें ।। २ ।।

एष एव वधोऽस्माकं सुपर्याप्तस्तपोधन ।
यद् वयं संशितात्मानं प्रलोब्धुं त्वामिहागताः ।। ३ ।।

'तपोधन! हमारा तो पूर्णरूपसे यही मरण हो गया कि हम आप-जैसे शुद्धात्मा मुनिको लुभानेके लिये यहाँ आयीं ।। ३ ।।

अवध्यास्तु स्त्रियः सृष्टा मन्यन्ते धर्मचारिणः ।
तस्माद् धर्मेण वर्ध त्वं नास्मान् हिंसितुमर्हसि ।। ४ ।।

'धर्मात्मा पुरुष ऐसा मानते हैं कि स्त्रियाँ अवध्य बनायी गयी हैं। अतः आप अपने धर्माचरणद्वारा निरन्तर उन्नति कीजिये। आपको हम अबलाओंकी हत्या नहीं करनी चाहिये ।। ४ ।।

सर्वभूतेषु धर्मज्ञ मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
सत्यो भवतु कल्याण एष वादो मनीषिणाम् ।। ५ ।।

'धर्मज्ञ! ब्राह्मण समस्त प्राणियोंपर मैत्रीभाव रखनेवाला कहा जाता है। भद्र पुरुष! मनीषी पुरुषोंका यह कथन सत्य होना चाहिये ।। ५ ।।

शरणं च प्रपन्नानां शिष्टाः कुर्वन्ति पालनाम् ।
शरणं त्वां प्रपन्नाः स्मस्तस्मात् त्वं क्षन्तुमर्हसि ।। ६ ।।

'श्रेष्ठ महात्मा शरणागतोंकी रक्षा करते हैं। हम भी आपकी शरणमें आयी हैं; अतः आप हमारे अपराध क्षमा करें' ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स धर्मात्मा ब्राह्मणः शुभकर्मकृत् ।
प्रसादं कृतवान् वीर रविसोमसमप्रभः ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—वीरवर! उनके ऐसा कहनेपर सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी तथा शुभ कर्म करनेवाले उन धर्मात्मा ब्राह्मणने उन सबपर कृपा की ।। ७ ।।

ब्राह्मण उवाच

शतं शतसहस्रं तु सर्वमक्षय्यवाचकम् ।
परिमाणं शतं त्वेतन्नेदमक्षय्यवाचकम् ।। ८ ।।

ब्राह्मण बोले—'शत' और 'शतसहस्र' शब्द—ये सभी अनन्त संख्याके वाचक हैं, परंतु यहाँ जो मैंने 'शतं समाः' (तुमलोगोंको सौ वर्षोंतक ग्राह होनेके लिये) कहा है, उसमें शत शब्द सौ वर्षके परिमाणका ही वाचक है। अनन्तकालका वाचक नहीं है ।। ८ ।।

यदा च वो ग्राहभूता गृह्णन्तीः पुरुषाञ्जले ।
उत्कर्षति जलात् तस्मात् स्थलं पुरुषसत्तमः ।। ९ ।।
तदा यूयं पुनः सर्वाः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यथ ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे हसतापि कदाचन ।। १० ।।

जब जलमें ग्राह बनकर लोगोंको पकड़नेवाली तुम सब अप्सराओंको कोई श्रेष्ठ पुरुष जलसे बाहर स्थलपर खींच लायेगा, उस समय तुम सब लोग फिर अपना दिव्य रूप प्राप्त कर लोगी। मैंने पहले कभी हँसीमें भी झूठ नहीं कहा है ।। ९-१० ।।

तानि सर्वाणि तीर्थानि ततः प्रभृति चैव ह ।
नारीतीर्थानि नाम्नेह ख्यातिं यास्यन्ति सर्वशः ।
पुण्यानि च भविष्यन्ति पावनानि मनीषिणाम् ।। ११ ।।

तुमलोगोंका उद्धार हो जानेके बाद वे सभी तीर्थ इस जगत्में नारीतीर्थके नामसे विख्यात होंगे और मनीषी पुरुषोंको भी पवित्र करनेवाले पुण्यतीर्थ बन जायँगे ।। ११ ।।

वर्गोवाच

ततोऽभिवाद्य तं विप्रं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
अचिन्तयामोऽपसृत्य तस्माद् देशात् सुदुःखिताः ।। १२ ।।
क्व नु नाम वयं सर्वाः कालेनाल्पेन तं नरम् ।
समागच्छेम यो नस्तद् रूपमापादयेत् पुनः ।। १३ ।।

वर्गा कहती है—भारत! तदनन्तर उन ब्राह्मणको प्रणाम और उनकी प्रदक्षिणा करके अत्यन्त दुःखी हो हम सब उस स्थानसे अन्यत्र चली आयीं और इस चिन्तामें पड़ गयीं कि कहाँ जाकर हम सब लोग रहें, जिससे थोड़े ही समयमें हमें वह मनुष्य मिल जाय, जो हमें पुनः हमारे पूर्व स्वरूपकी प्राप्ति करायेगा ।। १२-१३ ।।

ता वयं चिन्तयित्वैव मुहूर्तादिव भारत ।
दृष्टवत्यो महाभागं देवर्षिमुत नारदम् ।। १४ ।।

भरतश्रेष्ठ! हमलोग दो घड़ीसे इस प्रकार सोच-विचार कर ही रही थीं कि हमको महाभाग देवर्षि नारदजीका दर्शन प्राप्त हुआ ।। १४ ।।

सम्प्रहृष्टाः स्म तं दृष्ट्वा देवर्षिममितद्युतिम् ।
अभिवाद्य च तं पार्थ स्थिताः स्म व्रीडिताननाः ।। १५ ।।

कुन्तीनन्दन! उन अमिततेजस्वी देवर्षिको देखकर हमें बड़ा हर्ष हुआ और उन्हें प्रणाम करके हम लज्जावश सिर झुकाकर वहाँ खड़ी हो गयीं ।। १५ ।।

स नोऽपृच्छद् दुःखमूलमुक्तवत्यो वयं च तम् ।
श्रुत्वा तत्र यथावृत्तमिदं वचनमब्रवीत् ।। १६ ।।

फिर उन्होंने हमारे दुःखका कारण पूछा और हमने उनसे सब कुछ बता दिया। सारा हाल सुनकर वे इस प्रकार बोले— ।। १६ ।।

दक्षिणे सागरानूपे पञ्च तीर्थानि सन्ति वै ।
पुण्यानि रमणीयानि तानि गच्छत मा चिरम् ।। १७ ।।

‘दक्षिण समुद्रके तटके समीप पाँच तीर्थ हैं, जो परम पुण्यजनक तथा अत्यन्त रमणीय हैं। तुम सब उन्हींमें चली जाओ, देर न करो ।। १७ ।।

तत्राशु पुरुषव्याघ्रः पाण्डवेयो धनंजयः ।
मोक्षयिष्यति शुद्धात्मा दुःखादस्मान्न संशयः ।। १८ ।।
तस्य सर्वा वयं वीर श्रुत्वा वाक्यमिहागताः ।
तदिदं सत्यमेवाद्य मोक्षिताहं त्वयानघ ।। १९ ।।

‘वहाँ पुरुषोंमें श्रेष्ठ शुद्धात्मा पाण्डुकुमार धनंजय शीघ्र ही पहुँचकर तुम्हें इस दुःखसे छुड़ायेंगे, इसमें संशय नहीं है।’ वीर अर्जुन! नारदजीका यह वचन सुनकर हम सब सखियाँ यहीं चली आयीं। अनघ! आज सचमुच ही आपने मुझे उस शापसे मुक्त कर दिया ।। १८-१९ ।।

एतास्तु मम ताः सख्यश्चतस्रोऽन्या जले श्रिताः ।
कुरु कर्म शुभं वीर एताः सर्वा विमोक्षय ।। २० ।।

ये मेरी चार सखियाँ और हैं, जो अभी जलमें ही पड़ी हैं। वीरवर! आप यह पुण्य कर्म कीजिये; इन सबको शापसे छुड़ा दीजिये ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ताः पाण्डवश्रेष्ठः सर्वा एव विशाम्पते ।
तस्माच्छापाददीनात्मा मोक्षयामास वीर्यवान् ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब उदारहृदय पराक्रमी पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनने उन सभी अप्सराओंको उस शापसे मुक्त कर दिया ।। २१ ।।

उत्थाय च जलात् तस्मात् प्रतिलभ्य वपुः स्वकम् ।
तास्तदाप्सरसो राजन्नदृश्यन्त यथा पुरा ।। २२ ।।

राजन्! उस जलसे ऊपर निकलकर फिर अपना पूर्वस्वरूप प्राप्त कर लेनेपर वे अप्सराएँ उस समय पहलेकी भाँति दिखायी देने लगीं ।। २२ ।।

तीर्थानि शोधयित्वा तु तथानुज्ञाय ताः प्रभुः ।
चित्राङ्गदां पुनर्द्रष्टुं मणिपूरं पुनर्ययौ ।। २३ ।।

इस प्रकार उन तीर्थोंका शोधन करके उन अप्सराओंको जानेकी आज्ञा दे शक्तिशाली अर्जुन चित्रांगदासे मिलनेके लिये पुनः मणिपूर गये ।। २३ ।।

तस्यामजनयत् पुत्रं राजानं बभ्रुवाहनम् ।
तं दृष्ट्वा पाण्डवो राजंश्चित्रवाहनमब्रवीत् ।। २४ ।।

वहाँ उन्होंने चित्रांगदाके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न किया था, उसका नाम बभ्रुवाहन रखा गया था। राजन्! अपने उस पुत्रको देखकर पाण्डुपुत्र अर्जुनने राजा चित्रवाहनसे कहा — ।। २४ ।।

चित्राङ्गदायाः शुल्कं त्वं गृहाण बभ्रुवाहनम् ।
अनेन च भविष्यामि ऋणान्मुक्तो नराधिप ।। २५ ।।

'महाराज! इस बभ्रुवाहनको आप चित्रांगदाके शुल्करूपमें ग्रहण कीजिये, इससे मैं आपके ऋणसे मुक्त हो जाऊँगा' ।। २५ ।।

चित्राङ्गदां पुनर्वाक्यमब्रवीत् पाण्डुनन्दनः ।
इह वै भव भद्रं ते वर्धेथा बभ्रुवाहनम् ।। २६ ।।

तत्पश्चात् पाण्डुकुमारने पुनः चित्रांगदासे कहा—'प्रिये! तुम्हारा कल्याण हो। तुम यहीं रहो और बभ्रुवाहनका पालन-पोषण करो ।। २६ ।।

इन्द्रप्रस्थनिवासं मे त्वं तत्रागत्य रंस्यसि ।
कुन्तीं युधिष्ठिरं भीमं भ्रातरौ मे कनीयसौ ।। २७ ।।
आगत्य तत्र पश्येथा अन्यानपि च बान्धवान् ।
बान्धवैः सहिताः सर्वैर्नन्दसे त्वमनिन्दिते ।। २८ ।।

'फिर यथासमय हमारे निवासस्थान इन्द्रप्रस्थमें आकर तुम बड़े सुखसे रहोगी। वहाँ आनेपर माता कुन्ती, युधिष्ठिर, भीमसेन, मेरे छोटे भाई नकुल-सहदेव तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंको देखनेका तुम्हें अवसर मिलेगा। अनिन्दिते! इन्द्रप्रस्थमें मेरे समस्त बन्धु-बान्धवोंसे मिलकर तुम बहुत प्रसन्न होओगी ।। २७-२८ ।।

धर्मे स्थितः सत्यधृतिः कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः ।
जित्वा तु पृथिवीं सर्वां राजसूयं करिष्यति ।। २९ ।।

'सदा धर्मपर स्थित रहनेवाले सत्यवादी कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर सारी पृथ्वीको जीतकर राजसूययज्ञ करेंगे ।। २९ ।।

तत्रागच्छन्ति राजानः पृथिव्यां नृपसंज्ञिताः ।
बहूनि रत्नान्यादाय आगमिष्यति ते पिता ।। ३० ।।

'उस समय वहाँ भूमण्डलके नरेशनामधारी सभी राजा आयेंगे। तुम्हारे पिता भी बहुत-से रत्नोंकी भेंट लेकर उस समय उपस्थित होंगे ।। ३० ।।

एकसार्थं प्रयातासि चित्रवाहनसेवया ।
द्रक्ष्यामि राजसूये त्वां पुत्रं पालय मा शुचः ।। ३१ ।।

'चित्रवाहनकी सेवाके निमित्त उन्हींके साथ राजसूययज्ञमें तुम भी चली आना। मैं वहीं तुमसे मिलूँगा। इस समय पुत्रका पालन करो और शोक छोड़ दो ।। ३१ ।।

बभ्रुवाहननाम्ना तु मम प्राणो महीचरः ।
तस्माद् भरस्व पुत्रं वै पुरुषं वंशवर्धनम् ।। ३२ ।।

'बभ्रुवाहनके नामसे मेरा प्राण ही इस भूतलपर विद्यमान है, अतः तुम इस पुत्रका भरण-पोषण करो। यह इस वंशको बढ़ानेवाला पुरुषरत्न है ।। ३२ ।।

चित्रवाहनदायादं धर्मात् पौरवनन्दनम् ।
पाण्डवानां प्रियं पुत्रं तस्मात् पालय सर्वदा ।। ३३ ।।

'यह धर्मतः चित्रवाहनका पुत्र है; किंतु शरीरसे पूरुवंशको आनन्दित करनेवाला है। अतः पाण्डवोंके इस प्रिय पुत्रका तुम सदा पालन करो ।। ३३ ।।

विप्रयोगेन संतापं मा कृथास्त्वमनिन्दिते ।
चित्राङ्गदामेवमुक्त्वा गोकर्णमभितोऽगमत् ।। ३४ ।।

'सती-साध्वी प्रिये! मेरे वियोगसे तुम संतप्त न होना।' चित्रांगदासे ऐसा कहकर अर्जुन गोकर्णतीर्थकी ओर चल दिये ।। ३४ ।।

आद्यं पशुपतेः स्थानं दर्शनादेव मुक्तिदम् ।
यत्र पापोऽपि मनुजः प्राप्नोत्यभयदं पदम् ।। ३५ ।।

वह भगवान् शंकरका आदिस्थान है और दर्शनमात्रसे मोक्ष देनेवाला है। पापी मनुष्य भी वहाँ जाकर निर्भय पद प्राप्त कर लेता है ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यर्जुनवनवासपर्वण्यर्जुनतीर्थयात्रायां षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें अर्जुनकी तीर्थयात्रासे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१६ ।।

सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका प्रभासतीर्थमें श्रीकृष्णसे मिलना और उन्हींके साथ उनका रैवतक पर्वत एवं द्वारकापुरीमें आना

वैशम्पायन उवाच

सोऽपरान्तेषु तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
सर्वाण्येवानुपूर्व्येण जगामामितविक्रमः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अमित-पराक्रमी अर्जुन क्रमशः अपरान्त (पश्चिम समुद्रतटवर्ती)-देशके समस्त पुण्य तीर्थों और मन्दिरोंमें गये ।। १ ।।

समुद्रे पश्चिमे यानि तीर्थान्यायतनानि च ।
तानि सर्वाणि गत्वा स प्रभासमुपजग्मिवान् ।। २ ।।

पश्चिम समुद्रके तटपर जितने तीर्थ और देवालय थे, उन सबकी यात्रा करके वे प्रभासक्षेत्रमें जा पहुँचे ।। २ ।।

प्रभासदेशं सम्प्राप्तं बीभत्सुमपराजितम् ।
सुपुण्यं रमणीयं च शुश्राव मधुसूदनः ।। ३ ।।
ततोऽभ्यगच्छत् कौन्तेयं सखायं तत्र माधवः ।
ददृशाते तदान्योन्यं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ ।। ४ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने गुप्तचरोंद्वारा यह सुना कि किसीसे भी परास्त न होनेवाले अर्जुन परम पवित्र एवं रमणीय प्रभासक्षेत्रमें आ गये हैं, तब वे अपने सखा कुन्तीनन्दनसे मिलनेके लिये वहाँ गये। उस समय प्रभासमें श्रीकृष्ण और अर्जुनने एक-दूसरेको देखा ।। ३-४ ।।

तावन्योन्यं समाश्लिष्य पृष्ट्वा च कुशलं वने ।
आस्तां प्रियसखायौ तौ नरनारायणावृषी ।। ५ ।।

दोनों ही दोनोंको हृदयसे लगाकर कुशल-प्रश्न पूछनेके पश्चात् वे परस्पर प्रिय मित्र साक्षात् नर-नारायण ऋषि वनमें एक स्थानपर बैठ गये ।। ५ ।।

ततोऽर्जुनं वासुदेवस्तां चर्यां पर्यपृच्छत ।
किमर्थं पाण्डवैतानि तीर्थान्यनुचरस्युत ।। ६ ।।

तब भगवान् वासुदेवने अर्जुनसे उनकी जीवनचर्याके सम्बन्धमें पूछा—'पाण्डव! तुम किसलिये तीर्थोंमें विचर रहे हो?' ।। ६ ।।

ततोऽर्जुनो यथावृत्तं सर्वमाख्यातवांस्तदा ।
श्रुत्वोवाच च वार्ष्णेय एवमेतदिति प्रभुः ।। ७ ।।

यह सुनकर अर्जुनने उन्हें सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों सुना दिया। सब कुछ सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'यह बात ऐसी ही है' ।। ७ ।।

तौ विहृत्य यथाकामं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ ।
महीधरं रैवतकं वासायैवाभिजग्मतुः ।। ८ ।।

तदनन्तर श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों प्रभासक्षेत्रमें इच्छानुसार घूम-फिरकर रैवतक पर्वतपर चले गये। उन्हें रातको वहीं ठहरना था ।। ८ ।।

पूर्वमेव तु कृष्णस्य वचनात् तं महीधरम् ।
पुरुषा मण्डयाञ्चक्रुरुपजह्रुश्च भोजनम् ।। ९ ।।

भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे उनके सेवकोंने पहलेसे ही आकर उस पर्वतको सजा रखा था और वहाँ भोजन भी तैयार करके रख लिया था ।। ९ ।।

प्रतिगृह्यार्जुनः सर्वमुपभुज्य च पाण्डवः ।

सहैव वासुदेवेन दृष्टवान् नटनर्तकान् ।। १० ।।
अभ्यनुज्ञाय तान् सर्वानर्चयित्वा च पाण्डवः ।
सत्कृतं शयनं दिव्यमभ्यगच्छन्महामतिः ।। ११ ।।

पाण्डुकुमार अर्जुनने भगवान् वासुदेवके साथ प्रस्तुत किये हुए सम्पूर्ण भोज्य पदार्थोंको यथारुचि खाकर नटों और नर्तकोंके नृत्य देखे। तत्पश्चात् उन सबको उपहार आदिसे सम्मानित करके जानेकी आज्ञा दे महाबुद्धिमान् पाण्डुकुमार अर्जुन सत्कारपूर्वक बिछी हुई दिव्य शय्यापर सोनेके लिये गये ।। १०-११ ।।

ततस्तत्र महाबाहुः शयानः शयने शुभे ।
तीर्थानां पल्वलानां च पर्वतानां च दर्शनम् ।
आपगानां वनानां च कथयामास सात्वते ।। १२ ।।

वहाँ सुन्दर शय्यापर सोये हुए महाबाहु धनंजयने भगवान् श्रीकृष्णसे अनेक तीर्थों, कुण्डों, पर्वतों, नदियों तथा वनोंके दर्शनसम्बन्धी अनुभवकी विचित्र बातें कहीं ।। १२ ।।

एवं स कथयन्नेव निद्रया जनमेजय ।
कौन्तेयोऽपि हृतस्तस्मिन् शयने स्वर्गसंनिभे ।। १३ ।।

जनमेजय! इस प्रकार बात करते-करते अर्जुन उस स्वर्गसदृश सुखदायिनी शय्यापर सो गये ।। १३ ।।

मधुरेणैव गीतेन वीणाशब्देन चैव ह ।
प्रबोध्यमानो बुबुधे स्तुतिभिर्मङ्गलैस्तथा ।। १४ ।।

तदनन्तर प्रातःकाल मधुर गीत, वीणाकी मीठी ध्वनि, स्तुति और मंगलपाठके शब्दोंद्वारा जगाये जानेपर उनकी नींद खुली ।। १४ ।।

स कृत्वावश्यकार्याणि वार्ष्णेयेनाभिनन्दितः ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन द्वारकामभिजग्मिवान् ।। १५ ।।

तत्पश्चात् आवश्यक कार्य करके श्रीकृष्णके द्वारा अभिनन्दित हो उनके साथ सुवर्णमय रथपर बैठकर वे द्वारकापुरीको गये ।। १५ ।।

अलंकृता द्वारका तु बभूव जनमेजय ।
कुन्तीपुत्रस्य पूजार्थमपि निष्कुटकेष्वपि ।। १६ ।।

जनमेजय! उस समय कुन्तीकुमारके स्वागतके लिये समूची द्वारकापुरी सजायी गयी थी तथा वहाँके घरोंके बगीचेतक सजाये गये थे ।। १६ ।।

दिदृक्षन्तश्च कौन्तेयं द्वारकावासिनो जनाः ।
नरेन्द्रमार्गमाजग्मुस्तूर्णं शतसहस्रशः ।। १७ ।।

कुन्तीनन्दन अर्जुनको देखनेके लिये द्वारका-वासी मनुष्य लाखोंकी संख्यामें मुख्य सड़कपर चले आये थे ।। १७ ।।

अवलोकेषु नारीणां सहस्राणि शतानि च ।

भोजवृष्ण्यन्धकानां च समवायो महानभूत् ।। १८ ।।

जहाँसे अर्जुनका दर्शन हो सके, ऐसे स्थानोंपर सैकड़ों-हजारों स्त्रियाँ आँख लगाये खड़ी थीं तथा भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके पुरुषोंकी बहुत बड़ी भीड़ एकत्र हो गयी थी ।। १८ ।।

स तथा सत्कृतः सर्वैर्भोजवृष्ण्यन्धकात्मजैः ।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वैश्च प्रतिनन्दितः ।। १९ ।।

भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके सब लोगोंद्वारा इस प्रकार आदर-सत्कार पाकर अर्जुनने वन्दनीय पुरुषोंको प्रणाम किया और उन सबने उनका स्वागत किया ।। १९ ।।

कुमारैः सर्वशो वीरः सत्कारेणाभिचोदितः ।
समानवयसः सर्वानाश्लिष्य स पुनः पुनः ।। २० ।।

यदुकुलके समस्त कुमारोंने भी वीरवर अर्जुनका बड़ा सत्कार किया। अर्जुन अपने समान अवस्थावाले सब लोगोंसे उन्हें बारंबार हृदयसे लगाकर मिले ।। २० ।।

कृष्णस्य भवने रम्ये रत्नभोज्यसमावृते ।
उवास सह कृष्णेन बहुलास्तत्र शर्वरीः ।। २१ ।।

इसके बाद नाना प्रकारके रत्न तथा भाँति-भाँतिके भोज्यपदार्थोंसे भरपूर श्रीकृष्णके रमणीय भवनमें उन्होंने श्रीकृष्णके साथ ही अनेक रात्रियोंतक निवास किया ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि अर्जुनद्वारकागमने सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें अर्जुनका द्वारकागमनविषयक दो सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१७ ।।

(सुभद्राहरणपर्व)

अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

रैवतक पर्वतके उत्सवमें अर्जुनका सुभद्रापर आसक्त होना और श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिरकी अनुमतिसे उसे हर ले जानेका निश्चय करना

वैशम्पायन उवाच

ततः कतिपयाहस्य तस्मिन् रैवतके गिरौ ।
वृष्ण्यन्धकानामभवदुत्सवो नृपसत्तम ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर कुछ दिन बीतनेके बाद रैवतक पर्वतपर वृष्णि और अन्धकवंशके लोगोंका एक बड़ा भारी उत्सव हुआ ।। १ ।।

तत्र दानं ददुर्वीरा ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ।
भोजवृष्ण्यन्धकाश्चैव महे तस्य गिरेस्तदा ।। २ ।।

पर्वतपर होनेवाले उस उत्सवमें भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके वीरोंने सहस्रों ब्राह्मणोंको दान दिया ।। २ ।।

प्रासादै रत्नचित्रैश्च गिरेस्तस्य समन्ततः ।
स देशः शोभितो राजन् कल्पवृक्षैश्च सर्वशः ।। ३ ।।

राजन्! उस पर्वतके चारों ओर रत्नजटित विचित्र राजभवन और कल्पवृक्ष थे, जिनसे उस स्थानकी बड़ी शोभा हो रही थी ।। ३ ।।

वादित्राणि च तत्रान्ये वादकाः समवादयन् ।
ननृतुर्नर्तकाश्चैव जगुर्गेयानि गायनाः ।। ४ ।।

वहाँ बाजे बजानेमें कुशल मनुष्य अनेक प्रकारके बाजे बजाते, नाचनेवाले नाचते और गायकगण गीत गाते थे ।। ४ ।।

अलंकृताः कुमाराश्च वृष्णीनां सुमहौजसाम् ।
यानैर्हाटकचित्रैश्च चञ्चूर्यन्ते स्म सर्वशः ।। ५ ।।

महान् तेजस्वी वृष्णिवंशियोंके बालक वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सुवर्णचित्रित सवारियोंपर बैठकर देदीप्यमान होते हुए चारों ओर घूम रहे थे ।। ५ ।।

पौराश्च पादचारेण यानैरुच्चावचैस्तथा ।

सदाराः सानुयात्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।। ६ ।।
ततो हलधरः क्षीबो रेवतीसहितः प्रभुः ।
अनुगम्यमानो गन्धर्वैरचरत् तत्र भारत ।। ७ ।।

द्वारकापुरीके निवासी सैकड़ों-हजारों मनुष्य अपनी स्त्रियों और सेवकोंके साथ पैदल चलकर अथवा छोटी-बड़ी सवारियोंके द्वारा आकर उस उत्सवमें सम्मिलित हुए थे। भारत! भगवान् बलराम हर्षोन्मत्त होकर वहाँ रेवतीके साथ विचर रहे थे। उनके पीछे-पीछे गन्धर्व (गायक) चल रहे थे ।। ६-७ ।।

तथैव राजा वृष्णीनामुग्रसेनः प्रतापवान् ।
अनुगीयमानो गन्धर्वैः स्त्रीसहस्रसहायवान् ।। ८ ।।

वृष्णिवंशके प्रतापी राजा उग्रसेन भी वहाँ आमोद-प्रमोद कर रहे थे। उनके पास बहुतसे गन्धर्व गा रहे थे और सहस्रों स्त्रियाँ उनकी सेवा कर रही थीं ।। ८ ।।

रौक्मिणेयश्च साम्बश्च क्षीबौ समरदुर्मदौ ।
दिव्यमाल्याम्बरधरौ विजह्रातेऽमराविव ।। ९ ।।

युद्धमें दुर्मद वीरवर प्रद्युम्न और साम्ब दिव्य मालाएँ तथा दिव्य वस्त्र धारण करके आनन्दसे उन्मत्त हो देवताओंकी भाँति विहार करते थे ।। ९ ।।

अक्रूरः सारणश्चैव गदो बभ्रुर्विदूरथः ।
निशठश्चारुदेष्णश्च पृथुर्विपृथुरेव च ।। १० ।।
सत्यकः सात्यकिश्चैव भङ्गकारमहारवौ ।
हार्दिक्य उद्धवश्चैव ये चान्ये नानुकीर्तिताः ।। ११ ।।
एते परिवृताः स्त्रीभिर्गन्धर्वैश्च पृथक् पृथक् ।
तमुत्सवं रैवतके शोभयाञ्चक्रिरे तदा ।। १२ ।।

अक्रूर, सारण, गद, बभ्रु, विदूरथ, निशठ, चारुदेष्ण, पृथु, विपृथु, सत्यक, सात्यकि, भंगकार, महारव, हृदिकपुत्र कृतवर्मा, उद्धव और जिनका नाम यहाँ नहीं लिया गया है, ऐसे अन्य यदुवंशी भी सब-के-सब अलग-अलग स्त्रियों और गन्धर्वोंसे घिरे हुए रैवतक पर्वतके उस उत्सवकी शोभा बढ़ा रहे थे ।। १०—१२ ।।

चित्रकौतूहले तस्मिन् वर्तमाने महाद्भुते ।
वासुदेवश्च पार्थश्च सहितौ परिजग्मतुः ।। १३ ।।

उस अत्यन्त अद्भुत विचित्र कौतूहलपूर्ण उत्सवमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन एक साथ घूम रहे थे ।। १३ ।।

तत्र चङ्क्रममाणौ तौ वसुदेवसुतां शुभाम् ।
अलंकृतां सखीमध्ये भद्रां ददृशतुस्तदा ।। १४ ।।

इसी समय वहाँ वसुदेवजीकी सुन्दरी पुत्री सुभद्रा शृंगारसे सुसज्जित हो सखियोंसे घिरी हुई उधर आ निकली। वहाँ टहलते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने उसे देखा ।। १४ ।।

दृष्ट्वैव तामर्जुनस्य कन्दर्पः समजायत ।
तं तदैकाग्रमनसं कृष्णः पार्थमलक्षयत् ।। १५ ।।

उसे देखते ही अर्जुनके हृदयमें कामाग्नि प्रज्वलित हो उठी। उनका चित्त उसीके चिन्तनमें एकाग्र हो गया। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनकी इस मनोदशाको भाँप लिया ।। १५ ।।

अब्रवीत् पुरुषव्याघ्रः प्रहसन्निव भारत ।
वनेचरस्य किमिदं कामेनालोड्यते मनः ।। १६ ।।

फिर वे पुरुषोतम हँसते हुए-से बोले—'भारत! यह क्या, वनवासीका मन भी इस तरह कामसे उन्मथित हो रहा है? ।। १६ ।।

ममैषा भगिनी पार्थ सारणस्य सहोदरा ।
सुभद्रा नाम भद्रं ते पितुर्मे दयिता सुता ।
यदि ते वर्तते बुद्धिर्वक्ष्यामि पितरं स्वयम् ।। १७ ।।

'कुन्तीनन्दन! यह मेरी बहिन और सारणकी सगी बहिन है, तुम्हारा कल्याण हो, इसका नाम सुभद्रा है। यह मेरे पिताकी बड़ी लाड़िली कन्या है। यदि तुम्हारा विचार इससे ब्याह करनेका हो तो मैं पितासे स्वयं कहूँगा' ।। १७ ।।

अर्जुन उवाच

दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा ।
रूपेण चैषा सम्पन्ना कमिवैषा न मोहयेत् ।। १८ ।।

अर्जुनने कहा—यह वसुदेवजीकी पुत्री, साक्षात् आप वासुदेवकी बहिन और अनुपम रूपसे सम्पन्न है, फिर यह किसका मन न मोह लेगी ।। १८ ।।

कृतमेव तु कल्याणं सर्वं मम भवेद् ध्रुवम् ।
यदि स्यान्मम वार्ष्णेयी महिषीयं स्वसा तव ।। १९ ।।

सखे! यदि यह वृष्णिकुलकी कुमारी और आपकी बहिन सुभद्रा मेरी रानी हो सके तो निश्चय ही मेरा समस्त कल्याणमय मनोरथ पूर्ण हो जाय ।। १९ ।।

प्राप्तौ तु क उपायः स्यात् तं ब्रवीहि जनार्दन ।
आस्थास्यामि तदा सर्वं यदि शक्यं नरेण तत् ।। २० ।।

जनार्दन! बताइये, इसे प्राप्त करनेका क्या उपाय हो सकता है? यदि मनुष्यके द्वारा कर सकने योग्य होगा तो वह सारा प्रयत्न मैं अवश्य करूँगा ।। २० ।।

वासुदेव उवाच

स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ ।
स च संशयितः पार्थ स्वभावस्यानिमित्ततः ।। २१ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—नरश्रेष्ठ पार्थ! क्षत्रियोंके विवाहका स्वयंवर एक प्रकार है, परंतु उसका परिणाम संदिग्ध होता है; क्योंकि स्त्रियोंका स्वभाव अनिश्चित हुआ करता है (पता नहीं, वे स्वयंवरमें किसका वरण करें) ।। २१ ।।

प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः ।। २२ ।।

बलपूर्वक कन्याका हरण भी शूरवीर क्षत्रियोंके लिये विवाहका उत्तम हेतु कहा गया है; ऐसा धर्मज्ञ पुरुषोंका मत है ।। २२ ।।

स त्वमर्जुन कल्याणीं प्रसह्य भगिनीं मम ।
हर स्वयंवरे ह्यस्याः को वै वेद चिकीर्षितम् ।। २३ ।।

अतः अर्जुन! मेरी राय तो यही है कि तुम मेरी कल्याणमयी बहिनको बलपूर्वक हर ले जाओ। कौन जानता है, स्वयंवरमें उसकी क्या चेष्टा होगी—वह किसे वरण करना चाहेगी? ।। २३ ।।

ततोऽर्जुनश्च कृष्णश्च विनिश्चित्येति कृत्यताम् ।
शीघ्रगान् पुरुषानन्याम् प्रेषयामासतुस्तदा ।। २४ ।।
धर्मराजाय तत् सर्वमिन्द्रप्रस्थगताय वै ।
श्रुत्वैव च महाबाहुरनुजज्ञे स पाण्डवः ।। २५ ।।

तब अर्जुन और श्रीकृष्णने कर्तव्यका निश्चय करके कुछ दूसरे शीघ्रगामी पुरुषोंको इन्द्रप्रस्थमें धर्मराज युधिष्ठिरके पास भेजा और सब बातें उन्हें सूचित करके उनकी सम्मति जाननेकी इच्छा प्रकट की। महाबाहु युधिष्ठिरने यह सुनते ही अपनी ओरसे आज्ञा दे दी ।। २४-२५ ।।

(भीमसेनस्तु तच्छ्रुत्वा कृतकृत्योऽभ्यमन्यत ।
इत्येवं मनुजैः सार्धमुक्त्वा प्रीतिमुपेयिवान् ।।)

भीमसेन यह समाचार सुनकर अपनेको कृतकृत्य मानने लगे और दूसरे लोगोंके साथ ये बातें करके उनको बड़ी प्रसन्नता हुई।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सुभद्राहरणपर्वणि
युधिष्ठिरानुज्ञायामष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सुभद्राहरणपर्वमें युधिष्ठिरकी आज्ञासम्बन्धी दो सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

यादवोंकी युद्धके लिये तैयारी और अर्जुनके प्रति बलरामजीके क्रोधपूर्ण उद्गार

वैशम्पायन उवाच

ततः संवादिते तस्मिन्ननुज्ञातो धनंजयः ।
गतां रैवतके कन्यां विदित्वा जनमेजय ।। १ ।।
वासुदेवाभ्यनुज्ञातः कथयित्वेतिकृत्यताम् ।
कृष्णस्य मतमादाय प्रययौ भरतर्षभः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर उस विवाहसम्बन्धी संदेशपर युधिष्ठिरकी आज्ञा मिल जानेके पश्चात् धनंजयको जब यह मालूम हुआ कि सुभद्रा रैवतक पर्वतपर गयी हुई है, तब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे सलाह ली। श्रीकृष्णने उन्हें आगे क्या करना है, यह बताकर सुभद्रासे विवाह करने तथा उसे हर ले जानेकी अनुमति दे दी। श्रीकृष्णकी सम्मति पाकर भरतश्रेष्ठ अर्जुन अपने विश्रामस्थानपर चले गये ।। १२ ।।

रथेन काञ्चनाङ्गेन कल्पितेन यथाविधि ।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन किङ्किणीजालमालिना ।। ३ ।।
सर्वशस्त्रोपपन्नेन जीमूतरवनादिना ।
ज्वलिताग्निप्रकाशेन द्विषतां हर्षघातिना ।। ४ ।।
संनद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
मृगयाव्यपदेशेन प्रययौ पुरुषर्षभः ।। ५ ।।

(भगवान्‌की आज्ञासे दारुकने) उनके सुवर्णमय रथको विधिपूर्वक सजाकर तैयार किया था। उसमें स्थान-स्थानपर छोटी-छोटी घंटिकाएँ तथा झालरें लगा दी थीं और शैब्य, सुग्रीव आदि अश्व भी उसमें जोत दिये थे। उस रथके भीतर सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र मौजूद थे। उसकी घर्घराहटसे मेघकी गर्जनाके समान आवाज होती थी। वह प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी जान पड़ता था। उसे देखते ही शत्रुओंका हर्ष हवा हो जाता था। नरश्रेष्ठ धनंजय कवच और तलवार बाँधकर एवं हाथोंमें दस्ताने पहनकर उसी रथके द्वारा शिकार खेलनेके बहाने रैवतक पर्वतपर गये ।। ३—५ ।।

सुभद्रा त्वथ शैलेन्द्रमभ्यर्च्यैव हि रैवतम् ।
दैवतानि च सर्वाणि ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ।। ६ ।।
प्रदक्षिणं गिरेः कृत्वा प्रययौ द्वारकां प्रति ।
तामभिद्रुत्य कौन्तेयः प्रसह्यारोपयद् रथम् ।

सुभद्रां चारुसर्वाङ्गीं कामबाणप्रपीडितः ।। ७ ।।

उधर सुभद्रा गिरिराज रैवतक तथा सब देवताओंकी पूजा करके ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर पर्वतकी परिक्रमा पूरी करके द्वारकाकी ओर लौट रही थी। अर्जुन कामदेवके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे। उन्होंने दौड़कर सर्वांगसुन्दरी सुभद्राको बलपूर्वक रथपर बिठा लिया ।। ६-७ ।।

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तामादाय शुचिस्मिताम् ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन प्रययौ स्वपुरं प्रति ।। ८ ।।

इसके बाद पुरुषसिंह धनंजय पवित्र मुसकानवाली सुभद्राको साथ ले उस सुवर्णमय रथद्वारा अपने नगरकी ओर चल दिये ।। ८ ।।

ह्रियमाणां तु तां दृष्ट्वा सुभद्रां सैनिका जनाः ।
विक्रोशन्तोऽद्रवन् सर्वे द्वारकामभितः पुरीम् ।। ९ ।।

सुभद्राका अपहरण होता देख समस्त सैनिकगण हल्ला मचाते हुए द्वारकापुरीकी ओर दौड़े गये ।। ९ ।।

ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम् ।
सभापालस्य तत् सर्वमाचख्युः पार्थविक्रमम् ।। १० ।।

उन्होंने एक साथ सुधर्मासभामें पहुँचकर सभापालसे अर्जुनके उस साहसपूर्ण पराक्रमका सारा हाल कह सुनाया ।। १० ।।

तेषां श्रुत्वा सभापालो भेरीं सांनाहिकीं ततः ।

समाजघ्ने महाघोषां जाम्बूनदपरिष्कृताम् ।। ११ ।।

उनकी बातें सुनकर सभापालने सबको युद्धके लिये तैयार होनेकी सूवना देनेके उद्देश्यसे सुवर्णखचित नगाड़ा बजाया, जिसकी आवाज बहुत ऊँची और दूरतक फैलनेवाली थी ।। ११ ।।

क्षुब्धास्तेनाथ शब्देन भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा ।

अन्नपानमपास्याथ समापेतुः समन्ततः ।। १२ ।।

उसकी आवाज सुनकर भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके वीर क्षुब्ध हो उठे और खाना-पीना छोड़कर चारों ओरसे दौड़े आये ।। १२ ।।

तत्र जाम्बूनदाङ्गानि स्पर्ध्यास्तरणवन्ति च ।

मणिविद्रुमचित्राणि ज्वलिताग्निप्रभाणि च ।। १३ ।।

भेजिरे पुरुषव्याघ्रा वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।

सिंहासनानि शतशो धिष्ण्यानीव हुताशनाः ।। १४ ।।

उस सभामें सैकड़ों सिंहासन रखे गये भै, जिनमें सुवर्ण जड़ा गया था। उन सिंहासनोंपर बहुमूल्य बिछौने पड़े थे। वे सभी आसन मणि और मूँगोंसे चित्रित होनेके कारण प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे। भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके पुरुषसिंह महारथी वीर उन्हीं सिंहासनोंपर आकर बैठे, मानो यज्ञकी वेदियोंपर प्रज्वलित अग्निदेव शोभा पा रहे हों ।। १३-१४ ।।

तेषां समुपविष्टानां देवानामिव संनये ।

आचख्यौ चेष्टितं जिष्णोः सभापालः सहानुगः ।। १५ ।।

देवसमूहकी भाँति वहाँ बैठे हुए उन यदुवंशियोंके समुदायमें सेवकोंसहित सभापालने अर्जुनकी वह सारी करतूत कह सुनायी ।। १५ ।।

तच्छ्रुत्वा वृष्णिवीरास्ते मदसंरक्तलोचनाः ।

अमृष्यमाणाः पार्थस्य समुत्पेतुरहंकृताः ।। १६ ।।

यह सुनते ही युद्धोन्मादसे लाल नेत्रोंवाले वृष्णि-वंशी वीर अर्जुनके प्रति अमर्षसे भर गये और गर्वसे उछल पड़े ।। १६ ।।

योजयध्वं रथानाशु प्रासानाहरतेति च ।

धनूंषि च महार्हाणि कवचानि बृहन्ति च ।। १७ ।।

(वे बड़ी उतावलीसे कहने लगे—) 'जल्दी रथ जोतो, फौरन प्रास ले आओ, धनुष तथा बहुमूल्य एवं विशाल कवच लाओ' ।। १७ ।।

सूतानुच्चुक्रुशुः केचिद् रथान् योजयतेति च ।

स्वयं च तुरगान् केचिदयुञ्जन् हेमभूषितान् ।। १८ ।।

कोई सारथियोंको पुकारकर कहने लगे—'अरे! जल्दी रथ जोतो।' कुछ लोग स्वयं ही सोनेके आभूषणोंसे विभूषित घोड़ोंको रथोंमें जोतने लगे ।। १८ ।।

रथेष्वानीयमानेषु कवचेषु ध्वजेषु च ।
अभिक्रन्दे नृवीराणां तदासीत् तुमुलं महत् ।। १९ ।।

रथ, कवच और ध्वजाओंके लाये जाते समय चारों ओर उन नर-वीरोंके कोलाहलसे वहाँ बड़ी भारी तुमुल ध्वनि व्याप्त हो गयी ।। १९ ।।

वनमाली ततः क्षीबः कैलासशिखरोपमः ।
नीलवासा मदोत्सिक्त इदं वचनमब्रवीत् ।। २० ।।

तदनन्तर कैलासशिखरके समान गौरवर्णवाले नील वस्त्र और वनमाला धारण करनेवाले बलरामजी उन यादवोंसे इस प्रकार बोले— ।। २० ।।

किमिदं कुरुथाप्रज्ञास्तूष्णींभूते जनार्दने ।
अस्य भावमविज्ञाय संक्रुद्धा मोघगर्जिताः ।। २१ ।।

'मूर्खो! श्रीकृष्ण तो चुपचाप बैठे हैं, तुम यह क्या कर रहे हो? इनका अभिप्राय जाने बिना ही तुम इतने कुपित हो उठे। तुमलोगोंकी यह गर्जना व्यर्थ ही है ।। २१ ।।

एष तावदभिप्रायमाख्यातु स्वं महामतिः ।
यदस्य रुचिरं कर्तुं तत् कुरुध्वमतन्द्रिताः ।। २२ ।।

'पहले परम बुद्धिमान् श्रीकृष्ण अपना अभिप्राय बतावें। तदनन्तर जो कर्तव्य इन्हें उचित जान पड़े, उसीका आलस्य छोड़कर पालन करो' ।। २२ ।।

ततस्ते तद् वचः श्रुत्वा ग्राह्यरूपं हलायुधात् ।
तूष्णीम्भूतास्ततः सर्वे साधु साध्विति चाब्रुवन् ।। २३ ।।

बलरामजीकी यह मानने योग्य बात सुनकर सब यादव चुप हो गये और सब लोग उन्हें साधुवाद देने लगे ।। २३ ।।

समं वचो निशम्यैव बलदेवस्य धीमतः ।
पुनरेव सभामध्ये सर्वे ते समुपाविशन् ।। २४ ।।

परम बुद्धिमान् बलरामजीके उस वचनको सुननेके साथ ही वे सभी वीर फिर उस सभामें मौन होकर बैठ गये ।। २४ ।।

ततोऽब्रवीद् वासुदेवं वचो रामः परंतपः ।
किमवागुपविष्टोऽसि प्रेक्षमाणो जनार्दन ।। २५ ।।

तदनन्तर परंतप बलरामजी भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—जनार्दन! यह सब कुछ देखते हुए भी तुम क्यों मौन होकर बैठे हो? ।। २५ ।।

सत्कृतस्त्वत्कृते पार्थः सर्वैरस्माभिरच्युत ।
न च सोऽर्हति तां पूजां दुर्बुद्धिः कुलपांसनः ।। २६ ।।

'अच्युत! तुम्हारे संतोषके लिये ही हम सब लोगोंने अर्जुनका इतना सत्कार किया; परंतु वह खोटी बुद्धिवाला कुलांगार उस सत्कारके योग्य कदापि न था ।। २६ ।।

को हि तत्रैव भुक्त्वान्नं भाजनं भेत्तुमर्हति ।

मन्यमानः कुले जातमात्मानं पुरुषः क्वचित् ।। २७ ।।

‘अपनेको कुलीन माननेवाला कौन ऐसा मनुष्य है, जो जिस बर्तनमें खाये, उसीमें छेद करे ।। २७ ।।

इच्छन्नेव हि सम्बन्धं कृतं पूर्वं च मानयन् ।
को हि नाम भवेनार्थी साहसेन समाचरेत् ।। २८ ।।

‘सम्बन्धकी इच्छा रहते हुए भी कौन ऐसा कल्याणकामी पुरुष होगा, जो पहलेके उपकारको मानते हुए ऐसा दुःसाहसपूर्ण कार्य करे ।। २८ ।।

सोऽवमन्य तथास्माकमनादृत्य च केशवम् ।
प्रसह्य हृतवानद्य सुभद्रां मृत्युमात्मनः ।। २९ ।।

‘उसने हमलोगोंका अपमान और केशवका अनादर करके आज बलपूर्वक सुभद्राका अपहरण किया है, जो उसके लिये अपनी मृत्युके समान है ।। २९ ।।

कथं हि शिरसो मध्ये कृतं तेन पदं मम ।
मर्षयिष्यामि गोविन्द पादस्पर्शमिवोरगः ।। ३० ।।

‘गोविन्द! जैसे सर्प पैरकी ठोकर नहीं सह सकता, उसी प्रकार मैं उसने जो मेरे सिरपर पैर रख दिया है, उसे कैसे सह सकूँगा? ।। ३० ।।

अद्य निष्कौरवामेकः करिष्यामि वसुंधराम् ।
न हि मे मर्षणीयोऽयमर्जुनस्य व्यतिक्रमः ।। ३१ ।।

‘अर्जुनका यह अन्याय मेरे लिये असह्य है। आज मैं अकेला ही इस वसुन्धराको कुरुवंशियोंसे विहीन कर दूँगा’ ।। ३१ ।।

तं तथा गर्जमानं तु मेघदुन्दुभिनिःस्वनम् ।
अन्वपद्यन्त ते सर्वे भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा ।। ३२ ।।

मेघ और दुन्दुभिकी गम्भीर ध्वनिके समान बलरामजीकी वैसी गर्जना सुनकर उस समय भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके समस्त वीरोंने उन्हींका अनुसरण किया ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सुभद्राहरणपर्वणि बलदेवक्रोधे एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सुभद्राहरणपर्वमें बलदेवक्रोधविषयक दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१९ ।।

(हरणाहरणपर्व)

विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्वारकामें अर्जुन और सुभद्राका विवाह, अर्जुनके इन्द्रप्रस्थ पहुँचनेपर श्रीकृष्ण आदिका दहेज लेकर वहाँ जाना, द्रौपदीके पुत्र एवं अभिमन्युके जन्म, संस्कार और शिक्षा

वैशम्पायन उवाच

उक्तवन्तो यथा वीर्यमसकृत् सर्ववृष्णयः ।
ततोऽब्रवीद् वासुदेवो वाक्यं धर्मार्थसंयुतम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय सभी वृष्णिवंशियोंने अपने-अपने पराक्रमके अनुसार अर्जुनसे बदला लेनेकी बात बार-बार दुहरायी। तब भगवान् वासुदेव यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन बोले— ।। १ ।।

नावमानं कुलस्यास्य गुडाकेशः प्रयुक्तवान् ।
सम्मानोऽभ्यधिकस्तेन प्रयुक्तोऽयं न संशयः ।। २ ।।

'निद्राविजयी अर्जुनने इस कुलका अपमान नहीं किया है। अपितु ऐसा करके उन्होंने इस कुलके प्रति अधिक सम्मानका भाव ही प्रकट किया है, इसमें संशय नहीं है ।। २ ।।

अर्थलुब्धान् न वः पार्थो मन्यते सात्वतान् सदा ।
स्वयंवरमनाधृष्यं मन्यते चापि पाण्डवः ।। ३ ।।

'पाण्डुपुत्र अर्जुन यह जानते हैं कि सात्वतवंशके लोग सदासे ही धनके लोभी नहीं हैं, अतः धन देकर कन्या नहीं ली जा सकती। साथ ही पाण्डुपुत्र अर्जुनको यह भी मालूम है कि स्वयंवरमें कन्याके मिल जानेका पूर्ण निश्चय नहीं रहता, अतः वह भी अग्राह्य ही है ।। ३ ।।

प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत् कोऽनुमन्यते ।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात् पुरुषो भुवि ।। ४ ।।

'भला, कौन ऐसा वीर पुरुष होगा, जो पशुकी तरह पराक्रमशून्य होकर कन्यादानकी प्रतीक्षामें बैठा रहेगा एवं इस पृथ्वीपर कौन ऐसा अधम पुरुष होगा, जो धन लेकर अपनी संतानको बेचेगा ।। ४ ।।

एतान् दोषांस्तु कौन्तेयो दृष्टवानिति मे मतिः ।
अतः प्रसह्य हृतवान् कन्यां धर्मेण पाण्डवः ।। ५ ।।

'मेरा विश्वास है कि कुन्तीकुमारने इन सभी दोषोंकी ओर दृष्टिपात किया है; इसीलिये उन्होंने क्षत्रिय-धर्मके अनुसार बलपूर्वक कन्याका अपहरण किया है ।। ५ ।।

उचितश्चैव सम्बन्धः सुभद्रां च यशस्विनीम् ।
एष चापीदृशः पार्थः प्रसह्य हृतवानिति ।। ६ ।।

'मेरी समझमें यह सम्बन्ध बहुत उचित है। सुभद्रा यशस्विनी है और ये कुन्तीपुत्र अर्जुन भी ऐसे ही यशस्वी हैं; अतः इन्होंने सुभद्राका बलपूर्वक हरण किया है ।। ६ ।।

भरतस्यान्वये जातं शान्तनोश्च यशस्विनः ।
कुन्तिभोजात्मजापुत्रं को बुभूषेत नार्जुनम् ।। ७ ।।

'महाराज भरत तथा महायशस्वी शान्तनुके कुलमें जिनका जन्म हुआ है, जो कुन्तिभोजकुमारी कुन्तीके पुत्र हैं, ऐसे वीरवर अर्जुनको कौन अपना सम्बन्धी बनाना न चाहेगा? ।। ७ ।।

न च पश्यामि यः पार्थं विजयेत रणे बलात् ।
वर्जयित्वा विरूपाक्षं भगनेत्रहरं हरम् ।। ८ ।।
अपि सर्वेषु लोकेषु सेन्द्ररुद्रेषु मारिष ।

'आर्य! इन्द्रलोक एवं रुद्रलोकसहित सम्पूर्ण लोकोंमें भगदेवताके नेत्रोंका नाश करनेवाले विकराल नेत्रोंवाले भगवान् रुद्रको छोड़कर दूसरे किसीको मैं ऐसा नहीं देखता, जो संग्राममें बलपूर्वक पार्थको परास्त कर सके ।। ८ १/२ ।।

स च नाम रथस्तादृङ्मदीयास्ते च वाजिनः ।। ९ ।।

योद्धा पार्थश्च शीघ्रास्त्रः को नु तेन समो भवेत् ।
तमभिद्रुत्य सान्त्वेन परमेण धनंजयम् ।। १० ।।
न्यवर्तयत संहृष्टा ममैषा परमा मतिः ।

'इस समय अर्जुनके पास मेरा सुप्रसिद्ध रथ है, मेरे ही अद्भुत घोड़े हैं और स्वयं अर्जुन शीघ्रता-पूर्वक अस्त्र-शस्त्र चलानेवाले योद्धा हैं। ऐसी दशामें अर्जुनकी समानता कौन कर सकता है? आपलोग प्रसन्नताके साथ दौड़े जाइये और बड़ी सान्त्वनासे धनंजयको लौटा लाइये। मेरी तो यही परम सम्मति है ।। ९-१०½ ।।

यदि निर्जित्य वः पार्थो बलाद् गच्छेत् स्वकं पुरम् ।। ११ ।।
प्रणश्येद् वो यशः सद्यो न तु सान्त्वे पराजयः ।

'यदि अर्जुन आपलोगोंको बलपूर्वक हराकर अपने नगरमें चले गये, तब तो आपलोगोंका सारा यश तत्काल ही नष्ट हो जायगा और सान्त्वनापूर्वक उन्हें ले आनेमें अपनी पराजय नहीं है' ।। ११½ ।।

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथा चक्रुर्जनाधिप ।। १२ ।।

जनमेजय! वासुदेवका यह वचन सुनकर यादवोंने वैसा ही किया ।। १२ ।।

निवृत्तश्चार्जुनस्तत्र विवाहं कृतवान् प्रभुः ।
उषित्वा तत्र कौन्तेयः संवत्सरपराः क्षपाः ।। १३ ।।

शक्तिशाली अर्जुन द्वारकामें लौट आये। वहाँ उन्होंने सुभद्रासे विवाह किया और एक सालसे कुछ अधिक दिनतक वे वहीं रहे ।। १३ ।।

विहृत्य च यथाकामं पूजितो वृष्णिनन्दनैः ।
पुष्करे तु ततः शेषं कालं वर्तितवान् प्रभुः ।। १४ ।।

द्वारकामें इच्छानुसार विहार करके वृष्णिवंशियोंद्वारा पूजित होकर अर्जुन वहाँसे पुष्करतीर्थमें चले गये और वनवासका शेष समय वहीं व्यतीत किया ।। १४ ।।

पूर्णे तु द्वादशे वर्षे खाण्डवप्रस्थमागतः ।
(ववन्दे धौम्यमासाद्य मातरं च धनंजयः ।।

बारहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर वे खाण्डवप्रस्थमें आये। उन्होंने धौम्यजीके पास जाकर उनको तथा माता कुन्तीको प्रणाम किया।

स्पृष्ट्वा च चरणौ राज्ञो भीमस्य च धनंजयः ।
यमाभ्यां वन्दितो हृष्टः सस्वजे तौ ननन्द च ।।)
अभिगम्य च राजानं नियमेन समाहितः ।। १५ ।।
अभ्यर्च्य ब्राह्मणान् पार्थो द्रौपदीमभिजग्मिवान् ।

इसके बाद राजा युधिष्ठिर और भीमके चरण छुये। तदनन्तर नकुल और सहदेवने आकर अर्जुनको प्रणाम किया। अर्जुनने भी हर्षमें भरकर उन दोनोंको हृदयसे लगा लिया और उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नताका अनुभव किया। फिर वहाँ राजासे मिलकर नियमपूर्वक एकाग्रचित्त हो उन्होंने ब्राह्मणोंका पूजन किया। तत्पश्चात् वे द्रौपदीके समीप गये ।। १५½ ।।

तं द्रौपदी प्रत्युवाच प्रणयात् कुरुनन्दनम् ।। १६ ।।

तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा ।

सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते ।। १७ ।।

द्रौपदीने प्रणयकोपवश कुरुनन्दन अर्जुनसे कहा—‘कुन्तीकुमार! यहाँ क्यों आये हो, वहीं जाओ, जहाँ वह सात्वतवंशकी कन्या सुभद्रा है। सच है, बोझको कितना ही कसकर बाँधा गया हो, जब उसे दूसरी बार बाँधते हैं, तब पहला बन्धन ढीला पड़ जाता है (यही हालत मेरे प्रति तुम्हारे प्रेमबन्धनकी है) ।। १६-१७ ।।

तथा बहुविधं कृष्णां विलपन्तीं धनंजयः ।

सान्त्वयामास भूयश्च क्षमयामास चासकृत् ।। १८ ।।

इस तरह नाना प्रकारकी बातें कहकर कृष्णा विलाप करने लगी। तब धनंजयने उसे पूर्ण सान्त्वना दी और अपने अपराधके लिये उससे बार-बार क्षमा माँगी ।। १८ ।।

सुभद्रां त्वरमाणश्च रक्तकौशेयवासिनीम् ।

पार्थः प्रस्थापयामास कृत्वा गोपालिकावपुः ।। १९ ।।

इसके बाद अर्जुनने लाल रेशमी साड़ी पहनकर आयी हुई अनिन्द्यसुन्दरी सुभद्राका ग्वालिनका-सा वेश बनाकर उसे बड़ी उतावलीके साथ महलमें भेजा ।। १९ ।।

साधिकं तेन रूपेण शोभमाना यशस्विनी ।

भवनं श्रेष्ठमासाद्य वीरपत्नी वराङ्गना ।। २० ।।

ववन्दे पृथुताम्राक्षी पृथां भद्रा यशस्विनी ।

तां कुन्ती चारुसर्वाङ्गीमुपाजिघ्रत मूर्धनि ।। २१ ।।

वीरपत्नी, वरांगना एवं यशस्विनी सुभद्रा उस वेशमें और अधिक शोभा पाने लगी। उसकी आँखें विशाल और कुछ-कुछ लाल थीं। उस यशस्विनीने सुन्दर राजभवनके भीतर जाकर राजमाता कुन्तीके चरणोंमें प्रणाम किया। कुन्ती उस सर्वांगसुन्दरी पुत्र-वधूको हृदयसे लगाकर उसका मस्तक सूँघने लगी ।। २०-२१ ।।

सुभद्राका कुन्ती और द्रौपदीकी सेवामें उपस्थित होना

प्रीत्या परमया युक्ता आशीर्भिर्युञ्जतातुलाम् ।
ततोऽभिगम्य त्वरिता पूर्णेन्दुसदृशानना ।। २२ ।।
ववन्दे द्रौपदीं भद्रा प्रेष्याहमिति चाब्रवीत् ।

और उसने बड़ी प्रसन्नताके साथ उस अनुपम वधूको अनेक आशीर्वाद दिये। तदनन्तर पूर्ण चन्द्रमाके सदृश मनोहर मुखवाली सुभद्राने तुरंत जाकर महारानी द्रौपदीके चरण छूए और कहा—'देवि! मैं आपकी दासी हूँ' ।। २२½ ।।

प्रत्युत्थाय तदा कृष्णा स्वसारं माधवस्य च ।। २३ ।।
परिष्वज्यावदत् प्रीत्या निःसपत्नोऽस्तु ते पतिः ।
तथैव मुदिता भद्रा तामुवाचैवमस्त्विति ।। २४ ।।

उस समय द्रौपदी तुरंत उठकर खड़ी हो गयी और श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्राको हृदयसे लगाकर बड़ी प्रसन्नतासे बोली—'बहिन! तुम्हारे पति शत्रुरहित हों।' सुभद्राने भी आनन्दमग्न होकर कहा—'बहिन! ऐसा ही हो' ।। २३-२४ ।।

ततस्ते हृष्टमनसः पाण्डवेया महारथाः ।
कुन्ती च परमप्रीता बभूव जनमेजय ।। २५ ।।
श्रुत्वा तु पुण्डरीकाक्षः सम्प्राप्तं स्वं पुरोत्तमम् ।
अर्जुनं पाण्डवश्रेष्ठमिन्द्रप्रस्थगतं तदा ।। २६ ।।
आजगाम विशुद्धात्मा सह रामेण केशवः ।
वृष्ण्यन्धकमहामात्रैः सह वीरैर्महारथैः ।। २७ ।।

जनमेजय! तत्पश्चात् महारथी पाण्डव मन-ही-मन हर्षविभोर हो उठे और कुन्तीदेवी भी बहुत प्रसन्न हुईं। कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने जब यह सुना कि पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन अपने उत्तम नगर इन्द्रप्रस्थ पहुँच गये हैं, तब वे शुद्धात्मा श्रीकृष्ण एवं बलराम तथा वृष्णि और अन्धकवंशके प्रधान-प्रधान वीर महारथियोंके साथ वहाँ आये ।। २५—२७ ।।

भ्रातृभिश्च कुमारैश्च योधैश्च बहुभिर्वृतः ।
सैन्येन महता शौरिरभिगुप्तः परंतपः ।। २८ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्ण भाइयों, पुत्रों और बहुतेरे योद्धाओंके साथ घिरे हुए तथा विशाल सेनासे सुरक्षित होकर इन्द्रप्रस्थमें पधारे ।। २८ ।।

तत्र दानपतिर्धीमानाजगाम महायशाः ।
अक्रूरो वृष्णिवीराणां सेनापतिररिंदमः ।। २९ ।।

उस समय वहाँ वृष्णिवीरोंके सेनापति शत्रुदमन महायशस्वी और परम बुद्धिमान् दानपति अक्रूरजी भी आये थे ।। २९ ।।

अनाधृष्टिर्महातेजा उद्धवश्च महायशाः ।
साक्षाद् बृहस्पतेः शिष्यो महाबुद्धिर्महामनाः ।। ३० ।।

इनके सिवा महातेजस्वी अनाधृष्टि तथा साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य परम बुद्धिमान् महामनस्वी एवं परम यशस्वी उद्धव भी आये थे ।। ३० ।।

सत्यकः सात्यकिश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
प्रद्युम्नश्चैव साम्बश्च निशठः शङ्कुरेव च ।। ३१ ।।
चारुदेष्णश्च विक्रान्तो झिल्ली विपृथुरेव च ।
सारणश्च महाबाहुर्गदश्च विदुषां वरः ।। ३२ ।।
एते चान्ये च बहवो वृष्णिभोजान्धकास्तथा ।
आजग्मुः खाण्डवप्रस्थमादाय हरणं बहु ।। ३३ ।।

सत्यक, सात्यकि, सात्वतवंशी कृतवर्मा, प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, शंकु, पराक्रमी चारुदेष्ण, झिल्ली, विपृथु, महाबाहु सारण तथा विद्वानोंमें श्रेष्ठ गद—ये तथा और दूसरे भी बहुत-से वृष्णि, भोज और अन्धकवंशके लोग दहेजकी बहुत-सी सामग्री लेकर खाण्डवप्रस्थमें आये थे ।। ३१—३३ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा श्रुत्वा माधवमागतम् ।
प्रतिग्रहार्थं कृष्णस्य यमौ प्रास्थापयत् तदा ।। ३४ ।।

महाराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णका आगमन सुनकर उन्हें आदरपूर्वक लिवा लानेके लिये नकुल और सहदेवको भेजा ।। ३४ ।।

ताभ्यां प्रतिगृहीतं तु वृष्णिचक्रं महर्द्धिमत् ।
विवेश खाण्डवप्रस्थं पताकाध्वजशोभितम् ।। ३५ ।।

उन दोनोंके द्वारा स्वागतपूर्वक लाये हुए वृष्णि-वंशियोंके उस परम समृद्धिशाली समुदायने खाण्डवप्रस्थमें प्रवेश किया। उस समय ध्वजा-पताकाओंसे सजाया हुआ वह नगर सुशोभित हो रहा था ।। ३५ ।।

सम्मृष्टसिक्तपन्थानं पुष्पप्रकरशोभितम् ।
चन्दनस्य रसैः शीतैः पुण्यगन्धैर्निषेवितम् ।। ३६ ।।

नगरकी सड़कें झाड़-बुहारकर साफ की गयी थीं। उनके ऊपर जलका छिड़काव किया गया था। स्थान-स्थानपर फूलोंके गजरोंसे नगरकी सजावट की गयी थी। शीतल चन्दन, रस तथा अन्य पवित्र सुगन्धित पदार्थोंकी सुवास सब ओर छा रही थी ।। ३६ ।।

दह्यतागुरुणा चैव देशे देशे सुगन्धिना ।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णं वणिग्भिरुपशोभितम् ।। ३७ ।।

जगह-जगह जलते हुए अगुरुकी सुगन्ध फैल रही थी, सारा नगर हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरा था। कितने ही व्यापारी उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ।। ३७ ।।

प्रतिपेदे महाबाहुः सह रामेण केशवः ।
वृष्ण्यन्धकैस्तथा भोजैः समेतः पुरुषोत्तमः ।। ३८ ।।

महाबाहु पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने बलरामजी तथा वृष्णि, अन्धक एवं भोजवंशी वीरोंके साथ नगरमें प्रवेश किया ।। ३८ ।।

सम्पूज्यमानः पौरैश्च ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ।
विवेश भवनं राज्ञः पुरन्दरगृहोपमम् ।। ३९ ।।

पुरवासी मनुष्यों तथा सहस्रों ब्राह्मणोंद्वारा सम्मानित हो उन्होंने राजभवनके भीतर प्रवेश किया। वह घर इन्द्रभवनकी शोभाको भी तिरस्कृत कर रहा था ।। ३९ ।।

युधिष्ठिरस्तु रामेण समागच्छद् यथाविधि ।
मूर्ध्नि केशवमाघ्राय बाहुभ्यां परिषस्वजे ।। ४० ।।

युधिष्ठिरजी बलरामजीके साथ विधिपूर्वक मिले और श्रीकृष्णका मस्तक सूँघकर उन्हें दोनों भुजाओंमें कस लिया ।। ४० ।।

तं प्रीयमाणो गोविन्दो विनयेनाभिपूजयन् ।
भीमं च पुरुषव्याघ्रं विधिवत् प्रत्यपूजयत् ।। ४१ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर विनीतभावसे युधिष्ठिरका सम्मान किया। नरश्रेष्ठ भीमसेनका भी उन्होंने विधिवत् पूजन किया ।। ४१ ।।

तांश्च वृष्ण्यन्धकश्रेष्ठान् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
प्रतिजग्राह सत्कारैर्यथाविधि यथागतम् ।। ४२ ।।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने वृष्णि और अन्धकवंशके श्रेष्ठ पुरुषोंका विधिपूर्वक यथायोग्य स्वागत-सत्कार किया ।। ४२ ।।

गुरुवत् पूजयामास कांश्चित् कांश्चिद् वयस्यवत् ।

काांश्चिदभ्यवदत् प्रेम्णा कैश्चिदप्यभिवादितः ।। ४३ ।।

कुछ लोगोंका उन्होंने गुरुकी भाँति पूजन किया, कितनोंको समवयस्क मित्रोंकी भाँति गलेसे लगाया, कुछ लोगोंसे प्रेमपूर्वक वार्तालाप किया और कुछ लोगोंने उन्हींको प्रणाम किया ।। ४३ ।।

तेषां ददौ हृषीकेशो जन्यार्थे धनमुत्तमम् ।
हरणं वै सुभद्राया ज्ञातिदेयं महायशाः ।। ४४ ।।

महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्णने वधू तथा वरपक्षके लोगोंके लिये उत्तम धन अर्पित किया। वरके कुटुम्बीजनोंको देनेयोग्य दहेज पहले नहीं दिया गया था, उसीकी पूर्ति उन्होंने इस समय की ।। ४४ ।।

रथानां काञ्चनाङ्गानां किङ्किणीजालमालिनाम् ।
चतुर्युजामुपेतानां सूतैः कुशलशिक्षितैः ।। ४५ ।।
सहस्रं प्रददौ कृष्णो गवामयुतमेव च ।
श्रीमान् माथुरदेश्यानां दोग्ध्रीणां पुण्यवर्चसाम् ।। ४६ ।।

किंकिणी और झालरोंसे सुशोभित सुवर्णखचित एक हजार रथ जिनमेंसे प्रत्येकमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे और प्रत्येकमें पूर्ण शिक्षित चतुर सारथि बैठा हुआ था, श्रीमान् कृष्णने समर्पित किये तथा मथुरामण्डलकी पवित्र तेजवाली दस हजार दुधारू गौएँ दीं ।। ४५-४६ ।।

वडवानां च शुद्धानां चन्द्रांशुसमवर्चसाम् ।
ददौ जनार्दनः प्रीत्या सहस्रं हेमभूषितम् ।। ४७ ।।

चन्द्रमाके समान श्वेत कान्तिवाली विशुद्ध जातिकी एक हजार सुवर्णभूषित घोड़ियाँ भी जनार्दनने प्रेमपूर्वक भेंट कीं ।। ४७ ।।

तथैवाश्वतरीणां च दान्तानां वातरंहसाम् ।
शतान्यञ्जनकेशीनां श्वेतानां पञ्च पञ्च च ।। ४८ ।।

इसी प्रकार पाँच सौ काले अयालवाली और पाँच सौ सफेद रंगवाली खच्चरियाँ समर्पित कीं, जो सभी वशमें की हुई तथा वायुके समान वेगवाली थीं ।। ४८ ।।

स्नानपानोत्सवे चैव प्रयुक्तं वयसान्वितम् ।
स्त्रीणां सहस्रं गौरीणां सुवेषाणां सुवर्चसाम् ।। ४९ ।।
सुवर्णशतकण्ठीनामरोमाणां स्वलंकृताम् ।
परिचर्यासु दक्षाणां प्रददौ पुष्करेक्षणः ।। ५० ।।

स्नान, पान और उत्सवमें जिनका उपयोग किया गया था, जो वयःप्राप्त थीं, जिनके वेष सुन्दर और कान्ति मनोहर थी, जिन्होंने सोनेके सौ-सौ मणियोंकी कण्ठियाँ पहन रखी थीं, जिनके शरीरमें रोमावलियाँ नहीं प्रकट हुई थीं, जो वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत तथा सेवाके

काममें पूर्ण दक्ष थीं, ऐसी एक हजार गौरवर्णा कन्याएँ भी कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने भेंट कीं ।। ४९-५० ।।

पृष्ठ्यानामपि चाश्वानां बाह्लिकानां जनार्दनः ।
ददौ शतसहस्राख्यं कन्याधनमनुत्तमम् ।। ५१ ।।

जनार्दनने उत्तम दहेजके रूपमें बाह्लीकदेशके एक लाख घोड़े दिये, जो पीठपर सवारी ढोनेवाले थे ।। ५१ ।।

कृताकृतस्य मुख्यस्थ कनकस्याग्निवर्चसः ।
मनुष्यभारान् दाशार्हो ददौ दश जनार्दनः ।। ५२ ।।

दशार्हवंशके रत्न भगवान् श्रीकृष्णने अग्निके समान देदीप्यमान कृत्रिम सुवर्ण (मोहर) और अकृत्रिम विशुद्ध सुवर्णके (डले) दस भार उपहारमें दिये ।। ५२ ।।

गजानां तु प्रभिन्नानां त्रिधा प्रस्रवतां मदम् ।
गिरिकूटनिकाशानां समरेष्वनिवर्तिनाम् ।। ५३ ।।
क्लृप्तानां पटुघण्टानां चारूणां हेममालिनाम् ।
हस्त्यारोहैरुपेतानां सहस्रं साहसप्रियः ।। ५४ ।।
रामः पाणिग्रहणिकं ददौ पार्थाय लाङ्गली ।
प्रीयमाणो हलधरः सम्बन्धं प्रतिमानयन् ।। ५५ ।।

जिन्हें साहसका काम प्रिय है और जो हाथमें हल धारण करते हैं, उन बलरामने प्रसन्न होकर इस नूतन सम्बन्धका आदर करते हुए अर्जुनको पाणिग्रहणके दहेजके रूपमें एक हजार मतवाले हाथी भेंट किये, जो तीन अंगोंसे मदकी धारा बहानेवाले थे। वे हाथी युद्धमें कभी पीछे नहीं हटते थे और देखनेमें पर्वतशिखरके समान जान पड़ते थे। उनके मस्तकोंपर सुन्दर वेषरचना की गयी थी। उन सबके पार्श्वभागमें मजबूत घण्टे लटक रहे थे तथा गलेमें सोनेके हार शोभा दे रहे थे। वे सभी हाथी बड़े सुन्दर लगते थे और उन सबके साथ महावत थे ।। ५३—५५ ।।

स महाधनरत्नौघो वस्त्रकम्बलफेनवान् ।
महागजमहाग्राहः पताकाशैवलाकुलः ।। ५६ ।।
पाण्डुसागरमाविद्धः प्रविवेश महाधनः ।
पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत् ।। ५७ ।।

जैसे नदियोंके जलका महान् प्रवाह समुद्रमें मिलता है, उसी प्रकार वह महान् धन और रत्नोंका भारी प्रवाह, जिसमें वस्त्र और कम्बल फेनके समान जान पड़ते थे, बड़े-बड़े हाथी महान् ग्राहोंका भ्रम उत्पन्न करते थे और जहाँ ध्वजा-पताकाएँ सेवारका काम कर रही थीं, पाण्डवरूपी महासागरमें जा मिला। यद्यपि पाण्डव-समुद्र पहलेसे ही परिपूर्ण था तथापि इस महान् धनप्रवाहने उसे और भी पूर्णतर बना दिया। यही कारण था कि वह पाण्डव-महासागर शत्रुओंके लिये शोकदायक प्रतीत होने लगा ।। ५६-५७ ।।

प्रतिजग्राह तत् सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
पूजयामास तांश्चैव वृष्ण्यन्धकमहारथान् ।। ५८ ।।

धर्मराज युधिष्ठिरने वह सारा धन ग्रहण किया और वृष्णि तथा अन्धकवंशके उन सभी महारथियोंका भलीभाँति आदर-सत्कार किया ।। ५८ ।।

ते समेता महात्मानः कुरुवृष्ण्यन्धकोत्तमाः ।
विजह्रुरमरावासे नराः सुकृतिनो यथा ।। ५९ ।।

जैसे पुण्यात्मा मनुष्य देवलोकमें सुख भोगते हैं, उसी प्रकार कुरु, वृष्णि और अन्धकवंशके वे श्रेष्ठ महात्मा पुरुष एकत्र होकर इच्छानुसार विहार करने लगे ।। ५९ ।।

तत्र तत्र महानादैरुत्कृष्टतलनादितैः ।
यथायोगं यथाप्रीति विजह्रुः कुरुवृष्णयः ।। ६० ।।

वे कौरव और वृष्णिवंशके वीर जहाँ-तहाँ वीणाकी उत्तम ध्वनिके साथ गाते-बजाते और संगीतका आनन्द लेते हुए यथावसर अपनी-अपनी रुचिके अनुसार विहार करने लगे ।। ६० ।।

एवमुत्तमवीर्यास्ते विहृत्य दिवसान् बहून् ।
पूजिताः कुरुभिर्जग्मुः पुनर्द्वारवतीं प्रति ।। ६१ ।।

इस प्रकार वे उत्तम पराक्रमी यदुवंशी बहुत दिनोंतक इन्द्रप्रस्थमें विहार करते हुए कौरवोंसे सम्मानित हो फिर द्वारका चले गये ।। ६१ ।।

रामं पुरस्कृत्य ययुर्वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
रत्नान्यादाय शुभ्राणि दत्तानि कुरुसत्तमैः ।। ६२ ।।

वृष्णि और अन्धकवंशके महारथी कुरुप्रवर पाण्डवोंके दिये हुए उज्ज्वल रत्नोंकी भेंट ले बलरामजीको आगे करके चले गये ।। ६२ ।।

वासुदेवस्तु पार्थेन तत्रैव सह भारत ।
उवास नगरे रम्ये शक्रप्रस्थे महात्मना ।। ६३ ।।

जनमेजय! परंतु भगवान् वासुदेव महात्मा अर्जुनके साथ रमणीय इन्द्रप्रस्थमें ही ठहर गये ।। ६३ ।।

व्यचरद् यमुनातीरे मृगयां स महायशाः ।
मृगान् विध्यन् वराहांश्च रेमे सार्धं किरीटिना ।। ६४ ।।

महायशस्वी श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ शिकार खेलते और जंगली वराहों तथा हिंस्र पशुओंका वध करते हुए यमुनाजीके तटपर विचरते थे। इस प्रकार वे किरीटधारी अर्जुनके साथ विहार करते थे ।। ६४ ।।

ततः सुभद्रा सौभद्रं केशवस्य प्रिया स्वसा ।
जयन्तमिव पौलोमी ख्यातिमन्तमजीजनत् ।। ६५ ।।

तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् श्रीकृष्णकी प्यारी बहिन सुभद्राने यशस्वी सौभद्रको जन्म दिया; ठीक वैसे ही, जैसे शचीने जयन्तको उत्पन्न किया था ।। ६५ ।।

दीर्घबाहुं महोरस्कं वृषभाक्षमरिंदमम् ।
सुभद्रा सुषुवे वीरमभिमन्युं नरर्षभम् ।। ६६ ।।

सुभद्राने वीरवर नरश्रेष्ठ अभिमन्युको उत्पन्न किया, जिसकी बड़ी-बड़ी बाँहें, विशाल वक्षःस्थल और बैलोंके समान विशाल नेत्र थे। वह शत्रुओंका दमन करनेवाला था ।। ६६ ।।

अभिश्च मन्युमांश्चैव ततस्तमरिमर्दनम् ।
अभिमन्युमिति प्राहुरार्जुनिं पुरुषर्षभम् ।। ६७ ।।

वह अभि (निर्भय) एवं मन्युमान् (क्रुद्ध होकर लड़नेवाला) था, इसीलिये पुरुषोतम अर्जुनकुमारको 'अभिमन्यु' कहते हैं ।। ६७ ।।

स सात्वत्यामतिरथः सम्बभूव धनंजयात् ।
मखे निर्मथनेनेव शमीगर्भाद्धुताशनः ।। ६८ ।।

जैसे यज्ञमें मन्थन करनेपर शमीके गर्भसे उत्पन्न अश्वत्थसे अग्नि प्रकट होती है, उसी प्रकार अर्जुनके द्वारा सुभद्राके गर्भसे उस अतिरथी वीरका प्रादुर्भाव हुआ था ।। ६८ ।।

यस्मिञ्जाते महातेजाः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अयुतं गा द्विजातिभ्यः प्रादान्निष्कांश्च भारत ।। ६९ ।।

भारत! उसके जन्म लेनेपर महातेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंको दस हजार गौएँ तथा बहुत-सी स्वर्णमुद्राएँ दानमें दीं ।। ६९ ।।

दयितो वासुदेवस्य बाल्यात् प्रभृति चाभवत् ।
पितॄणामिव सर्वेषां प्रजानामिव चन्द्रमाः ।। ७० ।।

जैसे समस्त पितरों और प्रजाओंको चन्द्रमा प्रिय लगते हैं, उसी प्रकार अभिमन्यु बचपनसे ही भगवान् श्रीकृष्णका अत्यन्त प्रिय हो गया था ।। ७० ।।

जन्मप्रभृति कृष्णश्च चक्रे तस्य क्रियाः शुभाः ।
स चापि ववृधे बालः शुक्लपक्षे यथा शशी ।। ७१ ।।

श्रीकृष्णने जन्मसे ही उसके लालन-पालनकी सुन्दर व्यवस्थाएँ की थीं। बालक अभिमन्यु शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति दिनोंदिन बढ़ने लगा ।। ७१ ।।

चतुष्पादं दशविधं धनुर्वेदमरिंदमः ।
अर्जुनाद् वेद वेदज्ञः सकलं दिव्यमानुषम् ।। ७२ ।।

उस शत्रुदमन बालकने वेदोंका ज्ञान प्राप्त करके अपने पिता अर्जुनसे चार पदों[१] और दशविध[२] अंगोंसे युक्त दिव्य एवं मानुष[३] सब प्रकारके धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त कर लिया ।। ७२ ।।

विज्ञानेष्वपि चास्त्राणां सौष्ठवे च महाबलः ।

क्रियास्वपि च सर्वासु विशेषानभ्यशिक्षयत् ।। ७३ ।।

अस्त्रोंके विज्ञान, सौष्ठव (प्रयोगपटुता) तथा सम्पूर्ण क्रियाओंमें भी महाबली अर्जुनने उसे विशेष शिक्षा दी थी ।। ७३ ।।

आगमे च प्रयोगे च चक्रे तुल्यमिवात्मना ।
तुतोष पुत्रं सौभद्रं प्रेक्षमाणो धनंजयः ।। ७४ ।।

धनंजयने अभिमन्युको (अस्त्र-शस्त्रोंके) आगम और प्रयोगमें अपने समान बना दिया था। वे सुभद्राकुमारको देखकर बहुत संतुष्ट रहते थे ।। ७४ ।।

सर्वसंहननोपेतं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
दुर्धर्षमृषभस्कन्धं व्यात्ताननमिवोरगम् ।। ७५ ।।

वह दूसरोंको तिरस्कृत करनेवाले समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न, सभी उत्तम लक्षणोंसे सुशोभित एवं दुर्धर्ष था। उसके कंधे वृषभके समान हृष्ट-पुष्ट थे तथा मुँह बाये हुए सर्पकी भाँति वह शत्रुओंको भयानक प्रतीत होता था ।। ७५ ।।

सिंहदर्पं महेष्वासं मत्तमातङ्गविक्रमम् ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ।। ७६ ।।

उसमें सिंहके समान गर्व तथा मतवाले गजराजकी भाँति पराक्रम था। वह महाधनुर्धर वीर अपने गम्भीर स्वरसे मेघ और दुन्दुभिकी ध्वनिको लजा देता था। उसका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनमें आह्लाद उत्पन्न करता था ।। ७६ ।।

कृष्णस्य सदृशं शौर्ये वीर्ये रूपे तथाऽऽकृतौ ।
ददर्श पुत्रं बीभत्सुर्मघवानिव तं यथा ।। ७७ ।।

वह शूरता, पराक्रम, रूप तथा आकृति—सभी बातोंमें श्रीकृष्णके समान ही जान पड़ता था। अर्जुन अपने उस पुत्रको वैसी ही प्रसन्नतासे देखते थे, जैसे इन्द्र उन्हें देखा करते थे ।। ७७ ।।

पाञ्चाल्यपि तु पञ्चभ्यः पतिभ्यः शुभलक्षणा ।
लेभे पञ्च सुतान् वीराञ्श्रेष्ठान् पञ्चाचलानिव ।। ७८ ।।

शुभलक्षणा पांचालीने भी अपने पाँचों पतियोंसे पाँच श्रेष्ठ पुत्रोंको प्राप्त किया। वे सब-के-सब वीर और पर्वतके समान अविचल थे ।। ७८ ।।

युधिष्ठिरात् प्रतिविन्ध्यं सुतसोमं वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं शतानीकं च नाकुलिम् ।। ७९ ।।
सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान् पञ्च महारथान् ।
पाञ्चाली सुषुवे वीरानादित्यानदितिर्यथा ।। ८० ।।

युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकर्मा, नकुलसे शतानीक और सहदेवसे श्रुतसेन उत्पन्न हुए थे। इन पाँच वीर महारथी पुत्रोंको पांचाली (द्रौपदी)-ने उसी प्रकार जन्म दिया, जैसे अदितिने बारह आदित्योंको ।। ७९-८० ।।

शास्त्रतः प्रतिविन्ध्यं तमूचुर्विप्रा युधिष्ठिरम् ।
परप्रहरणज्ञाने प्रतिविन्ध्यो भवत्वयम् ।। ८१ ।।

ब्राह्मणोंने युधिष्ठिरसे उनके पुत्रका नाम शास्त्रके अनुसार प्रतिविन्ध्य बताया। उनका उद्देश्य यह था कि यह प्रहारजनित वेदनाके ज्ञानमें विन्ध्यपर्वतके समान हो। (इसे शत्रुओंके प्रहारसे तनिक भी पीड़ा न हो) ।। ८१ ।।

सुते सोमसहस्रे तु सोमार्कसमतेजसम् ।
सुतसोमं महेष्वासं सुषुवे भीमसेनतः ।। ८२ ।।

भीमसेनके सहस्र सोमयाग करनेके पश्चात् द्रौपदीने उनसे सोम और सूर्यके समान तेजस्वी महान् धनुर्धर पुत्रको उत्पन्न किया था, इसलिये उसका नाम सुतसोम रखा गया ।। ८२ ।।

श्रुतं कर्म महत् कृत्वा निवृत्तेन किरीटिना ।
जातः पुत्रस्तथेत्येवं श्रुतकर्मा ततोऽभवत् ।। ८३ ।।

किरीटधारी अर्जुनने महान् एवं विख्यात कर्म करनेके पश्चात् लौटकर द्रौपदीसे पुत्र उत्पन्न किया था, इसलिये उनके पुत्रका नाम श्रुतकर्मा हुआ ।। ८३ ।।

शतानीकस्य राजर्षेः कौरव्यस्य महात्मनः ।
चक्रे पुत्रं सनामानं नकुलः कीर्तिवर्धनम् ।। ८४ ।।

कौरवकुलके महामना राजर्षि शतानीकके नामपर नकुलने अपने कीर्तिवर्धक पुत्रका नाम शतानीक रख दिया ।। ८४ ।।

ततस्त्वजीजनत् कृष्णा नक्षत्रे वह्निदैवते ।
सहदेवात् सुतं तस्माच्छ्रुतसेनेति यं विदुः ।। ८५ ।।

तदनन्तर कृष्णाने सहदेवसे अग्निदेवतासम्बन्धी कृत्तिका नक्षत्रमें एक पुत्र उत्पन्न किया, इसलिये उसका नाम श्रुतसेन रखा गया (श्रुतसेन अग्निका ही नामान्तर है) ।। ८५ ।।

एकवर्षान्तरास्त्वेते द्रौपदेया यशस्विनः ।
अन्वजायन्त राजेन्द्र परस्परहितैषिणः ।। ८६ ।।

राजेन्द्र! ये यशस्वी द्रौपदीकुमार एक-एक वर्षके अन्तरसे उत्पन्न हुए थे और एक-दूसरेका हित चाहनेवाले थे ।। ८६ ।।

जातकर्माण्यानुपूर्व्याच्चूडोपनयनानि च ।
चकार विधिवद् धौम्यस्तेषां भरतसत्तम ।। ८७ ।।

भरतश्रेष्ठ! पुरोहित धौम्यने क्रमशः उन सभी बालकोंके जातकर्म, चूड़ाकरण और उपनयन आदि संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न किये ।। ८७ ।।

कृत्वा च वेदाध्ययनं ततः सुचरितव्रताः ।
जगृहुः सर्वमिष्वस्त्रमर्जुनाद् दिव्यमानुषम् ।। ८८ ।।

पूर्णरूपसे ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेवाले उन बालकोंने धौम्य मुनिसे वेदाध्ययन करनेके पश्चात् अर्जुनसे सम्पूर्ण दिव्य एवं मानुष धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त किया ।। ८८ ।।

दिव्यगर्भोपमैः पुत्रैर्व्यूढोरस्कैर्महारथैः ।

अन्वितो राजशार्दूल पाण्डवा मुदमाप्नुवन् ।। ८९ ।।

राजेश्वर! देवपुत्रोंके समान चौड़ी छातीवाले महारथी पुत्रोंसे संयुक्त हो पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए ।। ८९ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हरणाहरणपर्वणि विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हरणाहरणपर्वमें दो सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२० ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ९०½ श्लोक हैं)

---

१. धनुर्वेदमें निम्नांकित चार पाद बताये गये हैं—मन्त्रमुक्त, पाणिमुक्त, मुक्तामुक्त और अमुक्त। जैसा कि वचन है—

मन्त्रमुक्तं पाणिमुक्तं मुक्तामुक्तं तथैव च । अमुक्तं च धनुर्वेदे चतुष्पाच्छस्त्रमीरितम् ।।

जिसका मन्त्रद्वारा केवल प्रयोग होता है, उपसंहार नहीं, उसे मन्त्रमुक्त कहते हैं। जिसे हाथमें लेकर धनुषद्वारा छोड़ा जाय, वह बाण आदि पाणिमुक्त कहा गया है। जिसके प्रयोग और उपसंहार दोनों हों, वह मुक्तामुक्त है। जो वस्तुतः छोड़ा नहीं जाता, जैसे मन्त्रद्वारा साधित (ध्वजा आदि) है, जिसको देखनेमात्रसे शत्रु भाग जाते हैं, वह अमुक्त कहलाता है। ये अथवा सूत्र, शिक्षा, प्रयोग तथा रहस्य—ये ही धनुर्वेदके चार पाद हैं।

२. आदान, संधान, मोक्षण, निवर्तन, स्थान, मुष्टि, प्रयोग, प्रायश्चित्त, मण्डल तथा रहस्य—धनुर्वेदके ये दस अंग हैं। यथा—

आदानमथ संधानं मोक्षणं विनिवर्तनम् । स्थानं मुष्टिः प्रयोगश्च प्रायश्चित्तानि मण्डलम् ।।
रहस्यं चेति दशधा धनुर्वेदाङ्गमिष्यते ।

'तरकससे बाणको निकालना आदान है। उसे धनुषकी प्रत्यंचापर रखना संधान है, लक्ष्यपर छोड़ना मोक्षण कहा गया है। यदि बाण छोड़ देनेके बाद यह मालूम हो जाय कि हमारा विपक्षी निर्बल या शस्त्रहीन है, तो वीर पुरुष मन्त्रशक्तिसे उस बाणको लौटा लेते हैं। इस प्रकार छोड़े हुए अस्त्रको लौटा लेना विनिवर्तन कहलाता है। धनुष या उसकी प्रत्यंचाके धारण अथवा शरसंधानकालमें धनुष और प्रत्यंचाके मध्यदेशको स्थान कहा गया है। तीन या चार अंगुलियोंका सहयोग ही मुष्टि है। तर्जनी और मध्यमा अंगुलिके अथवा मध्यमा और अंगुष्ठके मध्यसे बाणका संधान करना प्रयोग कहलाता है। स्वतः या दूसरेसे प्राप्त होनेवाले ज्याघात (प्रत्यंचाके आघात) और बाणके आघातको रोकनेके लिये जो दस्तानों आदिका प्रयोग किया जाता है, उसका नाम प्रायश्चित्त है। चक्राकार घूमते हुए रथके साथ-साथ घूमनेवाले लक्ष्यका वेध मण्डल कहलाता है। शब्दके आधारपर लक्ष्य बींधना अथवा एक ही समय अनेक लक्ष्योंको बींध डालना, ये सब रहस्यके अन्तर्गत हैं।'

३. ब्रह्मास्त्र आदिको दिव्य और खड्ग आदिको मानुष कहा गया है।

(खाण्डवदाहपर्व)

एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके राज्यकी विशेषता, कृष्ण और अर्जुनका खाण्डववनमें जाना तथा उन दोनोंके पास ब्राह्मणवेशधारी अग्निदेवका आगमन

वैशम्पायन उवाच

इन्द्रप्रस्थे वसन्तस्ते जघ्नुरन्यान् नराधिपान् ।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य राज्ञः शान्तनवस्य च ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्र तथा शान्तनुनन्दन भीष्मकी आज्ञासे इन्द्रप्रस्थमें रहते हुए पाण्डवोंने अन्य बहुत-से राजाओंको, जो उनके शत्रु थे, मार दिया ।। १ ।।

आश्रित्य धर्मराजानं सर्वलोकोऽवसत् सुखम् ।
पुण्यलक्षणकर्माणं स्वदेहमिव देहिनः ।। २ ।।

धर्मराज युधिष्ठिरका आसरा लेकर सब लोग सुखसे रहने लगे, जैसे जीवात्मा पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप अपने उत्तम शरीरको पाकर सुखसे रहता है ।। २ ।।

स समं धर्मकामार्थान् सिषेवे भरतर्षभ ।
त्रीनिवात्मसमान् बन्धून् नीतिमानिव मानयन् ।। ३ ।।

भरतश्रेष्ठ! महाराज युधिष्ठिर नीतिज्ञ पुरुषकी भाँति धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंको आत्माके समान प्रिय बन्धु मानते हुए न्याय और समतापूर्वक इनका सेवन करते थे ।। ३ ।।

तेषां समविभक्तानां क्षितौ देहवतामिव ।
बभौ धर्मार्थकामानां चतुर्थ इव पार्थिवः ।। ४ ।।

इस प्रकार तुल्यरूपसे बँटे हुए धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थ भूतलपर मानो मूर्तिमान् होकर प्रकट हो रहे थे और राजा युधिष्ठिर चौथे पुरुषार्थ मोक्षकी भाँति सुशोभित होते थे ।। ४ ।।

अध्येतारं परं वेदान् प्रयोक्तारं महाध्वरे ।
रक्षितारं शुभाँल्लोकान् लेभिरे तं जनाधिपम् ।। ५ ।।

प्रजाने महाराज युधिष्ठिरके रूपमें ऐसा राजा पाया था, जो परम ब्रह्म परमात्माका चिन्तन करनेवाला, बड़े-बड़े यज्ञोंमें वेदोंका उपयोग करनेवाला और शुभ लोकोंके संरक्षणमें तत्पर रहनेवाला था ।। ५ ।।

अधिष्ठानवती लक्ष्मीः परायणवती मतिः ।
वर्धमानोऽखिलो धर्मस्तेनासीत् पृथिवीक्षिताम् ।। ६ ।।

राजा युधिष्ठिरके द्वारा दूसरे राजाओंकी चंचल लक्ष्मी भी स्थिर हो गयी, बुद्धि उत्तम निष्ठावाली हो गयी और सम्पूर्ण धर्मकी दिनोंदिन वृद्धि होने लगी ।। ६ ।।

भ्रातृभिः सहितो राजा चतुर्भिरधिकं बभौ ।
प्रयुज्यमानैर्विततो वेदैरिव महाध्वरः ।। ७ ।।

जैसे यथावसर उपयोगमें लाये जानेवाले चारों वेदोंके द्वारा विस्तारपूर्वक आरम्भ किया हुआ महायज्ञ शोभा पाता है, उसी प्रकार अपनी आज्ञाके अधीन रहनेवाले चारों भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिर अत्यन्त सुशोभित होते थे ।। ७ ।।

तं तु धौम्यादयो विप्राः परिवार्योपतस्थिरे ।
बृहस्पतिसमा मुख्याः प्रजापतिमिवामराः ।। ८ ।।

जैसे बृहस्पति-सदृश मुख्य-मुख्य देवता प्रजापतिकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार धौम्य आदि ब्राह्मण राजा युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर बैठते थे ।। ८ ।।

धर्मराजे ह्यतिप्रीत्या पूर्णचन्द्र इवामले ।
प्रजानां रेमिरे तुल्यं नेत्राणि हृदयानि च ।। ९ ।।

निर्मल एवं पूर्ण चन्द्रमाके समान आनन्दप्रद राजा युधिष्ठिरके प्रति अत्यन्त प्रीति होनेके कारण उन्हें देखकर प्रजाके नेत्र और मन एक साथ प्रफुल्लित हो उठते थे ।। ९ ।।

न तु केवलदैवेन प्रजा भावेन रेमिरे ।
यद् बभूव मनःकान्तं कर्मणा स चकार तत् ।। १० ।।

प्रजा केवल उनके पालनरूप राजोचित कर्मसे ही संतुष्ट नहीं थी, वह उनके प्रति श्रद्धा और भक्तिभाव रखनेके कारण भी सदा आनन्दित रहती थी। राजाके प्रति प्रजाकी भक्ति इसलिये थी कि प्रजाके मनको जो प्रिय लगता था, राजा युधिष्ठिर उसीको क्रियाद्वारा पूर्ण करते थे ।। १० ।।

न ह्ययुक्तं न चासत्यं नासह्यं न च वाप्रियम् ।
भाषितं चारुभाषस्य जज्ञे पार्थस्य धीमतः ।। ११ ।।

सदा मीठी बातें करनेवाले बुद्धिमान् कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरके मुखसे कभी कोई अनुचित, असत्य, असह्य और अप्रिय बात नहीं निकलती थी ।। ११ ।।

स हि सर्वस्य लोकस्य हितमात्मन एव च ।
चिकीर्षन् सुमहातेजा रेमे भरतसत्तम ।। १२ ।।

भरतश्रेष्ठ! महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर सब लोगोंका और अपना भी हित करनेकी चेष्टामें लगे रहकर सदा प्रसन्नतापूर्वक समय बिताते थे ।। १२ ।।

तथा तु मुदिताः सर्वे पाण्डवा विगतज्वराः ।

अवसन् पृथिवीपालांस्तापयन्तः स्वतेजसा ।। १३ ।।

इस प्रकार सभी पाण्डव अपने तेजसे दूसरे नरेशोंको संतप्त करते हुए निश्चिन्त तथा आनन्दमग्न होकर वहाँ निवास करते थे ।। १३ ।।

ततः कतिपयाहस्य बीभत्सुः कृष्णमब्रवीत् ।

उष्णानि कृष्ण वर्तन्ते गच्छावो यमुनां प्रति ।। १४ ।।

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—'कृष्ण! बड़ी गरमी पड़ रही है। चलिये, यमुनाजीमें स्नानके लिये चलें ।। १४ ।।

सुहृज्जनवृतौ तत्र विहृत्य मधुसूदन ।

सायाह्ने पुनरेष्यावो रोचतां ते जनार्दन ।। १५ ।।

'मधुसूदन! मित्रोंके साथ वहाँ जलविहार करके हमलोग शामतक फिर लौट आयेंगे। जनार्दन! यदि आपकी रुचि हो, तो चलें' ।। १५ ।।

वासुदेव उवाच

कुन्तीमातर्ममाप्येतद् रोचते यद् वयं जले ।

सुहृज्जनवृताः पार्थ विहरेम यथासुखम् ।। १६ ।।

वासुदेव बोले—कुन्तीनन्दन! मेरी भी ऐसी ही इच्छा हो रही है कि हमलोग सुहृदोंके साथ वहाँ चलकर सुखपूर्वक जलविहार करें ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

आमन्त्र्य तौ धर्मराजमनुज्ञाप्य च भारत ।

जग्मतुः पार्थगोविन्दौ सुहृज्जनवृतौ ततः ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! यह सलाह करके युधिष्ठिरकी आज्ञा ले अर्जुन और श्रीकृष्ण सुहृदोंके साथ वहाँ गये ।। १७ ।।

विहारदेशं सम्प्राप्य नानाद्रुममनुत्तमम् ।

गृहैरुच्चावचैर्युक्तं पुरन्दरपुरोपमम् ।। १८ ।।

भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च रसवद्भिर्महाधनैः ।

माल्यैश्च विविधैर्गन्धैर्युक्तं वार्ष्णेयपार्थयोः ।। १९ ।।

विवेशान्तःपुरं तूर्णं रत्नैरुच्चावचैः शुभैः ।

यथोपजोषं सर्वश्च जनश्चिक्रीड भारत ।। २० ।।

यमुनाके तटपर जहाँ विहारस्थान था, वहाँ पहुँचकर श्रीकृष्ण और अर्जुनके रनिवासकी स्त्रियाँ नाना प्रकारके सुन्दर रत्नोंके साथ क्रीड़ाभवनके भीतर चली गयीं। वह

उत्तम विहारभूमि नाना प्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित थी। वहाँ बने हुए अनेक छोटे-बड़े भवनोंके कारण वह स्थान इन्द्रपुरीके समान सुशोभित होता था। अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ अनेक प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, बहुमूल्य सरस पेय, भाँति-भाँतिके पुष्पहार और सुगन्धित द्रव्य भी थे। भारत! वहाँ जाकर सब लोग अपनी-अपनी रुचिके अनुसार जलक्रीड़ा करने लगे ।। १८—२० ।।

स्त्रियश्च विपुलश्रोण्यश्चारुपीनपयोधराः ।
मदस्खलितगामिन्यश्चिक्रीडुर्वामलोचनाः ।। २१ ।।

विशाल नितम्बों और मनोहर पीन उरोजोंवाली वामलोचना वनिताएँ भी यौवनके मदके कारण डगमगाती चालसे चलकर इच्छानुसार क्रीड़ाएँ करने लगीं ।। २१ ।।

वने काश्चिचज्जले काश्चित् काश्चिद् वेश्मसु चाङ्गनाः ।
यथायोग्यं यथाप्रीति चिक्रीडुः पार्थकृष्णयोः ।। २२ ।।

वे स्त्रियाँ श्रीकृष्ण और अर्जुनकी रुचिके अनुसार कुछ वनमें, कुछ जलमें और कुछ घरोंमें यथोचितरूपसे क्रीड़ा करने लगीं ।। २२ ।।

द्रौपदी च सुभद्रा च वासांस्याभरणानि च ।
प्रायच्छतां महाराज ते तु तस्मिन् मदोत्कटे ।। २३ ।।

महाराज! उस समय यौवनमदसे युक्त द्रौपदी और सुभद्राने बहुत-से वस्त्र और आभूषण बाँटे ।। २३ ।।

काश्चित् प्रहृष्टा ननृतुश्चुक्रुशुश्च तथापराः ।
जहसुश्च परा नार्यो जगुश्चान्या वरस्त्रियः ।। २४ ।।

वहाँ कुछ श्रेष्ठ स्त्रियाँ हर्षोल्लासमें भरकर नृत्य करने लगीं। कुछ जोर-जोरसे कोलाहल करने लगीं। अन्य बहुत-सी स्त्रियाँ ठठाकर हँसने लगीं तथा कुछ सुन्दरी स्त्रियाँ गीत गाने लगीं ।। २४ ।।

रुरुधुश्चापरास्तत्र प्रजघ्नुश्च परस्परम् ।
मन्त्रयामासुरन्याश्च रहस्यानि परस्परम् ।। २५ ।।

कुछ एक-दूसरीको पकड़कर रोकने और मृदु प्रहार करने लगीं तथा कुछ दूसरी स्त्रियाँ एकान्तमें बैठकर आपसमें कुछ गुप्त बातें करने लगीं ।। २५ ।।

वेणुवीणामृदङ्गानां मनोज्ञानां च सर्वशः ।
शब्देन पूर्यते हर्म्यं तद् वनं सुमहर्द्धिमत् ।। २६ ।।

वहाँका राजभवन और महान् समृद्धिशाली वन वीणा, वेणु और मृदंग आदि मनोहर वाद्योंकी सुमधुर ध्वनिसे सब ओर गूँजने लगा ।। २६ ।।

तस्मिंस्तदा वर्तमाने कुरुदाशार्हनन्दनौ ।
समीपं जग्मतुः कंचिदुद्देशं सुमनोहरम् ।। २७ ।।

इस प्रकार जब वहाँ क्रीड़ा-विहारका आनन्दमय उत्सव चल रहा था, उसी समय श्रीकृष्ण और अर्जुन पासके ही किसी अत्यन्त मनोहर प्रदेशमें गये ।। २७ ।।

तत्र गत्वा महात्मानौ कृष्णौ परपुरंजयौ ।
महार्हासनयो राजंस्ततस्तौ संनिषीदतुः ।। २८ ।।
तत्र पूर्वव्यतीतानि विक्रान्तानीतराणि च ।
बहूनि कथयित्वा तौ रेमाते पार्थमाधवौ ।। २९ ।।

राजन्! वहाँ जाकर शत्रुओंकी राजधानीको जीतनेवाले वे दोनों महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन दो बहुमूल्य सिंहासनोंपर बैठे और पहले किये हुए पराक्रमों तथा अन्य बहुत-सी बातोंकी चर्चा करके आमोद-प्रमोद करने लगे ।। २८-२९ ।।

तत्रोपविष्टौ मुदितौ नाकपृष्ठेऽश्विनाविव ।
अभ्यागच्छत् तदा विप्रो वासुदेवधनंजयौ ।। ३० ।।

वहाँ प्रसन्नतापूर्वक बैठे हुए धनंजय और वासुदेव स्वर्गलोकमें स्थित अश्विनीकुमारोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे। उसी समय उन दोनोंके पास एक ब्राह्मणदेवता आये ।। ३० ।।

बृहच्छालप्रतीकाशः प्रतप्तकनकप्रभः ।
हरिपिङ्गोज्ज्वलश्मश्रुः प्रमाणायामतः समः ।। ३१ ।।

वे विशाल शालवृक्षके समान ऊँचे थे। उनकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान थी। उनके सारे अंग नीले और पीले रंगके थे, दाढ़ी-मूँछें अग्निज्वालाके समान पीतवर्णकी थीं तथा ऊँचाईके अनुसार ही उनकी मोटाई थी ।। ३१ ।।

तरुणादित्यसंकाशश्चीरवासा जटाधरः ।
पद्मपत्राननः पिङ्गस्तेजसा प्रज्वलन्निव ।। ३२ ।।

वे प्रातःकालिक सूर्यके समान तेजस्वी जान पड़ते थे। वे चीरवस्त्र पहने और मस्तकपर जटा धारण किये हुए थे। उनका मुख कमलदलके समान शोभा पा रहा था। उनकी प्रभा पिंगलवर्णकी थी और वे अपने तेजसे मानो प्रज्वलित हो रहे थे ।। ३२ ।।

उपसृष्टं तु तं कृष्णौ भ्राजमानं द्विजोत्तमम् ।
अर्जुनो वासुदेवश्च तूर्णमुत्पत्य तस्थतुः ।। ३३ ।।

वे तेजस्वी द्विजश्रेष्ठ जब निकट आ गये, तब अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत ही आसनसे उठकर खड़े हो गये ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि ब्राह्मणरूप्यनलागमने एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें ब्राह्मणरूपी अग्निदेवके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२१ ।।

द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अग्निदेवका खाण्डववनको जलानेके लिये श्रीकृष्ण और अर्जुनसे सहायताकी याचना करना, अग्निदेव उस वनको क्यों जलाना चाहते थे, इसे बतानेके प्रसंगमें राजा श्वेतकिकी कथा

वैशम्पायन उवाच

सोऽब्रवीदर्जुनं चैव वासुदेवं च सात्वतम् ।
लोकप्रवीरौ तिष्ठन्तौ खाण्डवस्य समीपतः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन ब्राह्मण-देवताने अर्जुन और सात्वतवंशी भगवान् वासुदेवसे, जो विश्वविख्यात वीर थे और खाण्डववनके समीप खड़े हुए थे, कहा— ।। १ ।।

ब्राह्मणो बहुभोक्तास्मि भुञ्जेऽपरिमितं सदा ।
भिक्षे वार्ष्णेयपार्थौ वामेकां तृप्तिं प्रयच्छतम् ।। २ ।।

'मैं अधिक भोजन करनेवाला एक ब्राह्मण हूँ और सदा अपरिमित अन्न भोजन करता हूँ। वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन! आज मैं आप दोनोंसे भिक्षा माँगता हूँ। आपलोग एक बार पूर्ण भोजन कराकर मुझे तृप्ति प्रदान कीजिये' ।। २ ।।

एवमुक्तौ तमब्रूतां ततस्तौ कृष्णपाण्डवौ ।
केनान्नेन भवांस्तृप्येत् तस्यान्नस्य यतावहे ।। ३ ।।

उनके ऐसा कहनेपर श्रीकृष्ण और अर्जुन बोले—'ब्रह्मन्! बताइये, आप किस अन्नसे तृप्त होंगे? हम दोनों उसीके लिये प्रयत्न करेंगे' ।। ३ ।।

एवमुक्तः स भगवानब्रवीत् तावुभौ ततः ।
भाषमाणौ तदा वीरौ किमन्नं क्रियतामिति ।। ४ ।।

जब वे दोनों वीर 'आपके लिये किस अन्नकी व्यवस्था की जाय?' इसी बातको बार-बार दुहराने लगे, तब उनके ऐसा कहनेपर भगवान् अग्निदेव उन दोनोंसे इस प्रकार बोले ।। ४ ।।

ब्राह्मण उवाच

नाहमन्नं बुभुक्षे वै पावकं मां निबोधतम् ।
यदन्नमनुरूपं मे तद् युवां सम्प्रयच्छतम् ।। ५ ।।

ब्राह्मणदेवताने कहा—वीरो! मुझे अन्नकी भूख नहीं है, आपलोग मुझे अग्नि समझें। जो अन्न मेरे अनुरूप हो, वही आप दोनों मुझे दें ।। ५ ।।

इदमिन्द्रः सदा दावं खाण्डवं परिरक्षति ।
न च शक्नोम्यहं दग्धुं रक्ष्यमाणं महात्मना ।। ६ ।।

इन्द्र सदा इस खाण्डववनकी रक्षा करते हैं। उन महामनासे सुरक्षित होनेके कारण मैं इसे जला नहीं पाता ।। ६ ।।

वसत्यत्र सखा तस्य तक्षकः पन्नगः सदा ।
सगणस्तत्कृते दावं परिरक्षति वज्रभृत् ।। ७ ।।

इस वनमें इन्द्रका सखा तक्षक नाग अपने परिवारसहित सदा निवास करता है। उसीके लिये वज्रधारी इन्द्र सदा इसकी रक्षा करते हैं ।। ७ ।।

तत्र भूतान्यनेकानि रक्षतेऽस्य प्रसङ्गतः ।
तं दिधक्षुर्न शक्नोमि दग्धुं शक्रस्य तेजसा ।। ८ ।।

उस तक्षक नागके प्रसंगसे ही यहाँ रहनेवाले और भी अनेक जीवोंकी वे रक्षा करते हैं, इसलिये इन्द्रके प्रभावसे मैं इस वनको जला नहीं पाता। परंतु मैं सदा ही इसे जलानेकी इच्छा रखता हूँ ।। ८ ।।

स मां प्रज्वलितं दृष्ट्वा मेघाम्भोभिः प्रवर्षति ।
ततो दग्धुं न शक्नोमि दिधक्षुर्दावमीप्सितम् ।। ९ ।।

मुझे प्रज्वलित देखकर वे मेघोंद्वारा जलकी वर्षा करने लगते हैं, यही कारण है कि जलानेकी इच्छा रखते हुए भी मैं इस खाण्डववनको दग्ध करनेमें सफल नहीं हो पाता ।। ९ ।।

स युवाभ्यां सहायाभ्यामस्त्रविद्भ्यां समागतः ।
दहेयं खाण्डवं दावमेतदन्नं वृतं मया ।। १० ।।

आप दोनों अस्त्रविद्याके पूरे जानकार हैं, अतः मैं इसी उद्देश्यसे आपके पास आया हूँ कि आप दोनोंकी सहायतासे इस खाण्डववनको जला सकूँ। मैं इसी अन्नकी भिक्षा माँगता हूँ ।। १० ।।

युवां ह्युदकधारास्ता भूतानि च समन्ततः ।
उत्तमास्त्रविदौ सम्यक् सर्वतो वारयिष्यथः ।। ११ ।।

आप दोनों उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता हैं, अतः जब मैं इस वनको जलाने लगूँ, उस समय आपलोग ऊपरसे बरसती हुई जलकी धाराओं तथा इस वनसे निकलकर चारों ओर भागनेवाले प्राणियोंको रोकियेगा ।। ११ ।।

जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवानग्निः खाण्डवं दग्धुमिच्छति ।

रक्ष्यमाणं महेन्द्रेण नानासत्त्वसमायुतम् ।। १२ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! भगवान् अग्निदेव देवराज इन्द्रके द्वारा सुरक्षित और अनेक प्रकारके जीव-जन्तुओंसे भरे हुए खाण्डववनको किसलिये जलाना चाहते थे? ।। १२ ।।

न ह्येतत् कारणं ब्रह्मन्नल्पं सम्प्रतिभाति मे ।
यद् ददाह सुसंक्रुद्धः खाण्डवं हव्यवाहनः ।। १३ ।।

विप्रवर! मुझे इसका कोई साधारण कारण नहीं जान पड़ता, जिसके लिये कुपित होकर हव्यवाहन अग्निने समूचे खाण्डववनको भस्म कर दिया ।। १३ ।।

एतद् विस्तरशो ब्रह्मञ्छ्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
खाण्डवस्य पुरा दाहो यथा समभवन्मुने ।। १४ ।।

ब्रह्मन्! मुने! पूर्वकालमें खाण्डववनका दाह जिस प्रकार हुआ, वह सब विस्तारके साथ मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ ।। १४ ।।

वैशम्पायन उवाच

शृणु मे ब्रुवतो राजन् सर्वमेतद् यथातथम् ।
यन्निमित्तं ददाहाग्निः खाण्डवं पृथिवीपते ।। १५ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज जनमेजय! अग्निदेवने जिस कारण खाण्डववनको जलाया, वह सब वृत्तान्त मैं यथावत् बतलाता हूँ, सुनो ।। १५ ।।

हन्त ते कथयिष्यामि पौराणीमृषिसंस्तुताम् ।
कथामिमां नरश्रेष्ठ खाण्डवस्य विनाशिनीम् ।। १६ ।।

नरश्रेष्ठ! खाण्डववनके विनाशसे सम्बन्ध रखनेवाली यह प्राचीन कथा महर्षियोंद्वारा प्रस्तुत की गयी है। उसीको मैं तुमसे कहूँगा ।। १६ ।।

पौराणः श्रूयते राजन् राजा हरिहयोपमः ।
श्वेतकिर्नाम विख्यातों बलविक्रमसंयुतः ।। १७ ।।

राजन्! सुना जाता है, प्राचीनकालमें इन्द्रके समान बल और पराक्रमसे सम्पन्न श्वेतकि नामके एक राजा थे ।। १७ ।।

यज्वा दानपतिर्धीमान् यथा नान्योऽस्ति कश्चन ।
ईजे च स महायज्ञैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।। १८ ।।

उस समय उनके-जैसा यज्ञ करनेवाला, दाता और बुद्धिमान् दूसरा कोई नहीं था। उन्होंने पर्याप्त दक्षिणावाले अनेक बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ।। १८ ।।

तस्य नान्याभवद् बुद्धिर्दिवसे दिवसे नृप ।
सत्रे क्रियासमारम्भे दानेषु विविधेषु च ।। १९ ।।

राजन्! प्रतिदिन उनके मनमें यज्ञ और दानके सिवा दूसरा कोई विचार ही नहीं उठता था। वे यज्ञकर्मोंके आरम्भ और नाना प्रकारके दानोंमें ही लगे रहते थे ।। १९ ।।

ऋत्विग्भिः सहितो धीमानेवमीजे स भूमिपः ।

ततस्तु ऋत्विजश्चास्य धूमव्याकुललोचनाः ।। २० ।।

इस प्रकार वे बुद्धिमान् नरेश ऋत्विजोंके साथ यज्ञ किया करते थे। यज्ञ करते-करते उनके ऋत्विजोंकी आँखें धूएँसे व्याकुल हो उठीं ।। २० ।।

कालेन महता खिन्नास्तत्यजुस्ते नराधिपम् ।

ततः प्रचोदयामास ऋत्विजस्तान् महीपतिः ।। २१ ।।

चक्षुर्विकलतां प्राप्ता न प्रपेदुश्च ते क्रतुम् ।

ततस्तेषामनुमते तद् विप्रैस्तु नराधिपः ।। २२ ।।

सत्रं समापयामास ऋत्विग्भिरपरैः सह ।

दीर्घकालतक आहुति देते-देते वे सभी खिन्न हो गये थे। इसलिये राजाको छोड़कर चले गये। तब राजाने उन ऋत्विजोंको पुनः यज्ञके लिये प्रेरित किया। परंतु जिनके नेत्र दुखने लगे थे, वे ऋत्विज उनके यज्ञमें नहीं आये। तब राजाने उनकी अनुमति लेकर दूसरे ब्राह्मणोंको ऋत्विज बनाया और उन्हींके साथ अपने चालू किये हुए यज्ञको पूरा किया ।। २१-२२½ ।।

तस्यैवं वर्तमानस्य कदाचित् कालपर्यये ।। २३ ।।

सत्रमाहर्तुकामस्य संवत्सरशतं किल ।

ऋत्विजो नाभ्यपद्यन्त समाहर्तुं महात्मनः ।। २४ ।।

इस प्रकार यज्ञपरायण राजाके मनमें किसी समय यह संकल्प उठा कि मैं सौ वर्षोंतक चालू रहनेवाला एक सत्र प्रारम्भ करूँ; परंतु उन महामनाको वह यज्ञ आरम्य करनेके लिये ऋत्विज ही नहीं मिले ।। २३-२४ ।।

स च राजाकरोद् यत्नं महान्तं ससुहृज्जनः ।

प्रणिपातेन सान्त्वेन दानेन च महायशाः ।। २५ ।।

ऋत्विजोऽनुनयामास भूयो भूयस्त्वतन्द्रितः ।

ते चास्य तमभिप्रायं न चक्रुरमितौजसः ।। २६ ।।

उन महायशस्वी नरेशने अपने सुहृदोंको साथ लेकर इस कार्यके लिये बहुत बड़ा प्रयत्न किया। पैरोंपर पड़कर, सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर और इच्छानुसार दान देकर बार-बार निरालस्यभावसे ऋत्विजोंको मनाया, उनसे यज्ञ करानेके लिये अनुनय-विनय की; परंतु उन्होंने अमिततेजस्वी नरेशके मनोरथको सफल नहीं किया ।। २५-२६ ।।

स चाश्रमस्थान् राजर्षिस्तानुवाच रुषान्वितः ।

यद्यहं पतितो विप्राः शुश्रूषायां न च स्थितः ।। २७ ।।

आशु त्याज्योऽस्मि युष्माभिर्ब्राह्मणैश्च जुगुप्सितः ।

तन्नार्हथ क्रतुश्रद्धां व्याघातयितुमद्य ताम् ।। २८ ।।

तब उन राजर्षिने कुछ कुपित होकर आश्रमवासी महर्षियोंसे कहा—'ब्राह्मणो! यदि मैं पतित होऊँ और आपलोगोंकी शुश्रूषासे मुँह मोड़ता होऊँ तो निन्दित होनेके कारण आप सभी ब्राह्मणोंके द्वारा शीघ्र ही त्याग देनेयोग्य हूँ, अन्यथा नहीं; अतः यज्ञ करानेके लिये मेरी इस बढ़ी हुई श्रद्धामें आपलोगोंको बाधा नहीं डालनी चाहिये ।। २७-२८ ।।

अस्थाने वा परित्यागं कर्तुं मे द्विजसत्तमाः ।
प्रपन्न एव वो विप्राः प्रसादं कर्तुमर्हथ ।। २९ ।।

'विप्रवरो! इस प्रकार बिना किसी अपराधके मेरा परित्याग करना आपलोगोंके लिये कदापि उचित नहीं है। मैं आपकी शरणमें हूँ। आपलोग कृपापूर्वक मुझपर प्रसन्न होइये ।। २९ ।।

सान्त्वदानादिभिर्वाक्यैस्तत्त्वतः कार्यवत्तया ।
प्रसादयित्वा वक्ष्यामि यन्नः कार्यं द्विजोत्तमाः ।। ३० ।।

'श्रेष्ठ द्विजगण! मैं कार्यार्थी होनेके कारण सान्त्वना देकर दान आदि देनेकी बात कहकर यथार्थ वचनोंद्वारा आपलोगोंको प्रसन्न करके आपकी सेवामें अपना कार्य निवेदन कर रहा हूँ ।। ३० ।।

अथवाहं परित्यक्तो भवद्भिर्द्वेषकारणात् ।
ऋत्विजोऽन्यान् गमिष्यामि याजनार्थं द्विजोत्तमाः ।। ३१ ।।

'द्विजोत्तमो! यदि आपलोगोंने द्वेषवश मुझे त्याग दिया तो मैं यह यज्ञ करानेके लिये दूसरे ऋत्विजोंके पास जाऊँगा' ।। ३१ ।।

एतावदुक्त्वा वचनं विरराम स पार्थिवः ।
यदा न शेकू राजानं याजनार्थं परंतप ।। ३२ ।।
ततस्ते याजकाः क्रुद्धास्तमूचुर्नृपसत्तमम् ।
तव कर्माण्यजस्रं वै वर्तन्ते पार्थिवोत्तम ।। ३३ ।।

इतना कहकर राजा चुप हो गये। परंतप जनमेजय! जब वे ऋत्विज राजाका यज्ञ करानेके लिये उद्यत न हो सके, तब वे रुष्ट होकर उन नृपश्रेष्ठसे बोले—'भूपालशिरोमणे! आपके यज्ञकर्म तो निरन्तर चलते रहते हैं ।। ३२-३३ ।।

ततो वयं परिश्रान्ताः सततं कर्मवाहिनः ।
श्रमादस्मात् परिश्रान्तान् स त्वं नस्त्यक्तुमर्हसि ।। ३४ ।।
बुद्धिमोहं समास्थाय त्वरासम्भावितोऽनघ ।
गच्छ रुद्र सकाशं त्वं स हि त्वां याजयिष्यति ।। ३५ ।।

'अतः सदा कर्ममें लगे रहनेके कारण हमलोग थक गये हैं, पहलेके परिश्रमसे हमारा कष्ट बढ़ गया है। ऐसी दशामें बुद्धिमोहित होनेके कारण उतावले होकर आप चाहें तो

हमारा त्याग कर सकते हैं। निष्पाप नरेश! आप तो भगवान् रुद्रके ही समीप जाइये। अब वे ही आपका यज्ञ करायेंगे' ।। ३४-३५ ।।

साधिक्षेपं वचः श्रुत्वा संक्रुद्धः श्वेतकिर्नृपः ।
कैलासं पर्वतं गत्वा तप उग्रं समास्थितः ।। ३६ ।।

ब्राह्मणोंका यह आक्षेपयुक्त वचन सुनकर राजा श्वेतकिको बड़ा क्रोध हुआ। वे कैलास पर्वतपर जाकर उग्र तपस्यामें लग गये ।। ३६ ।।

आराधयन् महादेवं नियतः संशितव्रतः ।
उपवासपरो राजन् दीर्घकालमतिष्ठत ।। ३७ ।।

राजन्! तीक्ष्ण व्रतका पालन करनेवाले राजा श्वेतकि मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक महादेवजीकी आराधना करते हुए बहुत दिनोंतक निराहार खड़े रहे ।। ३७ ।।

कदाचिद् द्वादशे काले कदाचिदपि षोडशे ।
आहारमकरोद् राजा मूलानि च फलानि च ।। ३८ ।।

वे कभी बारहवें दिन और कभी सोलहवें दिन फल-मूलका आहार कर लेते थे ।। ३८ ।।

ऊर्ध्वबाहुस्त्वनिमिषस्तिष्ठन् स्थाणुरिवाचलः ।
षण्मासानभवद् राजा श्वेतकिः सुसमाहितः ।। ३९ ।।

दोनों बाहें ऊपर उठाकर एकटक देखते हुए राजा श्वेतकि एकाग्रचित हो छः महीनोंतक ठूँठकी तरह अविचल भावसे खड़े रहे ।। ३९ ।।

तं तथा नृपशार्दूलं तप्यमानं महत् तपः ।
शंकरः परमप्रीत्या दर्शयामास भारत ।। ४० ।।

भारत! उन नृपश्रेष्ठको इस प्रकार भारी तपस्या करते देख भगवान् शंकरने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया ।। ४० ।।

उवाच चैनं भगवान् स्निग्धगम्भीरया गिरा ।
प्रीतोऽस्मि नरशार्दूल तपसा ते परंतप ।। ४१ ।।

और स्नेहपूर्वक गम्भीर वाणीमें भगवान्ने उनसे कहा—'परंतप! नरश्रेष्ठ! मैं तुम्हारी तपस्यासे बहुत प्रसन्न हूँ ।। ४१ ।।

वरं वृणीष्व भद्रं ते यं त्वमिच्छसि पार्थिव ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रुद्रस्यामिततेजसः ।। ४२ ।।
प्रणिपत्य महात्मानं राजर्षिः प्रत्यभाषत ।

'भूपाल! तुम्हारा कल्याण हो। तुम जैसा चाहते हो, वैसा वर माँग लो।' अमिततेजस्वी रुद्रका यह वचन सुनकर राजर्षि श्वेतकिने परमात्मा शिवके चरणोंमें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा— ।। ४२½ ।।

यदि मे भगवान् प्रीतः सर्वलोकनमस्कृतः ।। ४३ ।।

स्वयं मां देवदेवेश याजयस्व सुरेश्वर ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं राज्ञा तेन प्रभाषितम् ।। ४४ ।।
उवाच भगवान् प्रीतः स्मितपूर्वमिदं वचः ।

'देवदेवेश! सुरेश्वर! यदि मेरे ऊपर आप सर्वलोक-वन्दित भगवान् प्रसन्न हुए हैं तो स्वयं चलकर मेरा यज्ञ करायें।' राजाकी कही हुई यह बात सुनकर भगवान् शिव प्रसन्न होकर मुसकराते हुए बोले— ।। ४३-४४½ ।।

नास्माकमेष विषयो वर्तते याजनं प्रति ।। ४५ ।।
त्वया च सुमहत् तप्तं तपो राजन् वरार्थिना ।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां समयेन परंतप ।। ४६ ।।

'राजन्! यज्ञ कराना हमारा काम नहीं है; परंतु तुमने यही वर माँगनेके लिये भारी तपस्या की है, अतः परंतप नरेश! मैं एक शर्तपर तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा' ।। ४५-४६ ।।

रुद्र उवाच

समा द्वादश राजेन्द्र ब्रह्मचारी समाहितः ।
सततं त्वाज्यधाराभिर्यदि तर्पयसेऽनलम् ।। ४७ ।।
कामं प्रार्थयसे यं त्वं मत्तः प्राप्स्यसि तं नृप ।

रुद्र बोले—राजेन्द्र! यदि तुम एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए बारह वर्षोंतक घृतकी निरन्तर अविच्छिन्न धाराद्वारा अग्निदेवको तृप्त करो तो मुझसे जिस कामनाके लिये प्रार्थना कर रहे हो, उसे पाओगे ।। ४७½ ।।

एवमुक्तश्च रुद्रेण श्वेतकिर्मनुजाधिपः ।। ४८ ।।
तथा चकार तत् सर्वं यथोक्तं शूलपाणिना ।
पूर्णे तु द्वादशे वर्षे पुनरायान्महेश्वरः ।। ४९ ।।

भगवान् रुद्रके ऐसा कहनेपर राजा श्वेतकिने शूलपाणि शिवकी आज्ञाके अनुसार सारा कार्य सम्पन्न किया। बारहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर भगवान् महेश्वर पुनः आये ।। ४८-४९ ।।

दृष्ट्वैव च स राजानं शंकरो लोकभावनः ।
उवाच परमप्रीतः श्वेतकिं नृपसत्तमम् ।। ५० ।।

सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्ति करनेवाले भगवान् शंकर नृपश्रेष्ठ श्वेतकिको देखते ही अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले— ।। ५० ।।

तोषितोऽहं नृपश्रेष्ठ त्वयेहाद्येन कर्मणा ।
याजनं ब्राह्मणानां तु विधिदृष्टं परंतप ।। ५१ ।।

'भूपालशिरोमणे! तुमने इस वेदविहित कर्मके द्वारा मुझे पूर्ण संतुष्ट किया है, परंतु परंतप! शास्त्रीय विधिके अनुसार यज्ञ करानेका अधिकार ब्राह्मणोंको ही है ।। ५१ ।।

अतोऽहं त्वां स्वयं नाद्य याजयामि परंतप ।

ममांशस्तु क्षितितले महाभागो द्विजोत्तमः ।। ५२ ।।

'अतः परंतप! मैं स्वयं तुम्हारा यज्ञ नहीं कराऊँगा। पृथ्वीपर मेरे ही अंशभूत एक महाभाग श्रेष्ठ द्विज हैं ।। ५२ ।।

दुर्वासा इति विख्यातः स हि त्वां याजयिष्यति ।
मन्नियोगान्महातेजाः सम्भाराः सम्भ्रियन्तु ते ।। ५३ ।।

'वे दुर्वासा नामसे विख्यात हैं। महातेजस्वी दुर्वासा मेरी आज्ञासे तुम्हारा यज्ञ करायेंगे; तुम सामग्री जुटाओ' ।। ५३ ।।

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रुद्रेण समुदाहृतम् ।
स्वपुरं पुनरागम्य सम्भारान् पुनरार्जयत् ।। ५४ ।।

भगवान् रुद्रका कहा हुआ यह वचन सुनकर राजा पुनः अपने नगरमें आये और यज्ञसामग्री जुटाने लगे ।। ५४ ।।

ततः सम्भृतसम्भारो भूयो रुद्रमुपागमत् ।
सम्भृता मम सम्भाराः सर्वोपकरणानि च ।। ५५ ।।
त्वत्प्रसादान्महादेव श्वो मे दीक्षा भवेदिति ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं तस्य राज्ञो महात्मनः ।। ५६ ।।
दुर्वाससं समाहूय रुद्रो वचनमब्रवीत् ।
एष राजा महाभागः श्वेतकिर्द्विजसत्तम ।। ५७ ।।
एनं याजय विप्रेन्द्र मन्नियोगेन भूमिपम् ।
बाढमित्येव वचनं रुद्रं त्वृषिरुवाच ह ।। ५८ ।।

तदनन्तर सामग्री जुटाकर वे पुनः भगवान् रुद्रके पास गये और बोले—'महादेव! आपकी कृपासे मेरी यज्ञसामग्री तथा अन्य सभी आवश्यक उपकरण जुट गये। अब कल मुझे यज्ञकी दीक्षा मिल जानी चाहिये।' महामना राजाका यह कथन सुनकर भगवान् रुद्रने दुर्वासाको बुलाया और कहा—'द्विजश्रेष्ठ! ये महाभाग राजा श्वेतकि हैं। विप्रेन्द्र! मेरी आज्ञासे तुम इन भूमिपालका यज्ञ कराओ।' यह सुनकर महर्षिने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली ।। ५५—५८ ।।

ततः सत्रं समभवत् तस्य राज्ञो महात्मनः ।
यथाविधि यथाकालं यथोक्तं बहुदक्षिणम् ।। ५९ ।।

तदनन्तर यथासमय विधिपूर्वक उन महामना नरेशका यज्ञ आरम्भ हुआ। शास्त्रमें जैसा बताया गया है, उसी ढंगसे सब कार्य हुआ। उस यज्ञमें बहुत-सी दक्षिणा दी गयी ।। ५९ ।।

तस्मिन् परिसमाप्ते तु राज्ञः सत्रे महात्मनः ।
दुर्वाससाभ्यनुज्ञाता विप्रतस्थुः स्म याजकाः ।। ६० ।।
ये तत्र दीक्षिताः सर्वे सदस्याश्च महौजसः ।
सोऽपि राजन् महाभागः स्वपुरं प्राविशत् तदा ।। ६१ ।।

पूज्यमानो महाभागैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
वन्दिभिः स्तूयमानश्च नागरैश्चाभिनन्दितः ।। ६२ ।।

उन महामना नरेशका वह यज्ञ पूरा होनेपर उसमें जो महातेजस्वी सदस्य और ऋत्विज दीक्षित हुए थे, वे सब दुर्वासाजीकी आज्ञा ले अपने-अपने स्थानको चले गये। राजन्! वे महान् सौभाग्यशाली नरेश भी वेदोंके पारंगत महाभाग ब्राह्मणोंद्वारा सम्मानित हो उस समय अपनी राजधानीमें गये। उस समय वन्दीजनोंने उनका यश गाया और पुरवासियोंने अभिनन्दन किया ।। ६०—६२ ।।

एवंवृत्तः स राजर्षिः श्वेतकिर्नृपसत्तमः ।
कालेन महता चापि ययौ स्वर्गमभिष्टुतः ।। ६३ ।।
ऋत्विग्भिः सहितः सर्वैः सदस्यैश्च समन्वितः ।
तस्य सत्रे पपौ वह्निर्हविर्द्वादश वत्सरान् ।। ६४ ।।

नृपश्रेष्ठ राजर्षि श्वेतकिका आचार-व्यवहार ऐसा ही था। वे दीर्घकालके पश्चात् अपने यज्ञके सम्पूर्ण सदस्यों तथा ऋत्विजोंसहित देवताओंसे प्रशंसित हो स्वर्गलोकमें गये। उनके यज्ञमें अग्निने लगातार बारह वर्षोंतक घृतपान किया था ।। ६३-६४ ।।

सततं चाज्यधाराभिरैकात्म्ये तत्र कर्मणि ।
हविषा च ततो वह्निः परां तृप्तिमगच्छत ।। ६५ ।।

उस अद्वितीय यज्ञमें निरन्तर घीकी अविच्छिन्न धाराओंसे अग्निदेवको बड़ी तृप्ति प्राप्त हुई ।। ६५ ।।

न चैच्छत् पुनरादातुं हविरन्यस्य कस्यचित् ।
पाण्डुवर्णो विवर्णश्च न यथावत् प्रकाशते ।। ६६ ।।

अब उन्हें फिर दूसरे किसीका हविष्य ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं रही। उनका रंग सफेद हो गया, कान्ति फीकी पड़ गयी तथा वे पहलेकी भाँति प्रकाशित नहीं होते थे ।। ६६ ।।

ततो भगवतो वह्नेर्विकारः समजायत ।
तेजसा विप्रहीणश्च ग्लानिश्चैनं समाविशत् ।। ६७ ।।

तब भगवान् अग्निदेवके उदरमें विकार हो गया। वे तेजसे हीन हो ग्लानिको प्राप्त होने लगे ।। ६७ ।।

स लक्षयित्वा चात्मानं तेजोहीनं हुताशनः ।
जगाम सदनं पुण्यं ब्रह्मणो लोकपूजितम् ।। ६८ ।।

अपनेको तेजसे हीन देख अग्निदेव ब्रह्माजीके लोकपूजित पुण्यधाममें गये ।। ६८ ।।

तत्र ब्रह्माणमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ।
भगवन् परमा प्रीतिः कृत्वा मे श्वेतकेतुना ।। ६९ ।।

वहाँ बैठे हुए ब्रह्माजीसे वे यह वचन बोले—‘भगवन्! राजा श्वेतकिने अपने यज्ञमें मुझे परम संतुष्ट कर दिया ।। ६९ ।।

अरुचिश्चाभवत् तीव्रा तां न शक्नोम्यपोहितुम् ।
तेजसा विप्रहीणोऽस्मि बलेन च जगत्पते ।। ७० ।।
इच्छेय त्वत्प्रसादेन स्वात्मनः प्रकृतिं स्थिराम् ।

'परंतु मुझे अत्यन्त अरुचि हो गयी है, जिसे मैं किसी प्रकार दूर नहीं कर पाता। जगत्पते! उस अरुचिके कारण मैं तेज और बलसे हीन होता जा रहा हूँ। अतः मैं चाहता हूँ कि आपकी कृपासे मैं स्वस्थ हो जाऊँ; मेरी स्वाभाविक स्थिति सुदृढ़ बनी रहे' ।। ७०½ ।।

एतच्छ्रुत्वा हुतवहाद् भगवान् सर्वलोककृत् ।। ७१ ।।
हव्यवाहमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव ।
त्वया द्वादश वर्षाणि वसोर्धाराहुतं हविः ।। ७२ ।।
उपयुक्तं महाभाग तेन त्वां ग्लानिराविशत् ।
तेजसा विप्रहीणत्वात् सहसा हव्यवाहन ।। ७३ ।।
मा गमस्त्वं यथा वहने प्रकृतिस्थो भविष्यसि ।
अरुचिं नाशयिष्येऽहं समयं प्रतिपद्य ते ।। ७४ ।।

अग्निदेवकी यह बात सुनकर सम्पूर्ण जगत्के स्रष्टा भगवान् ब्रह्माजी हव्यवाहन अग्निसे हँसते हुए-से इस प्रकार बोले—'महाभाग! तुमने बारह वर्षोंतक वसुधाराकी आहुतिके रूपमें प्राप्त हुई घृतधाराका उपभोग किया है। इसीलिये तुम्हें ग्लानि प्राप्त हुई है। हव्यवाहन! तेजसे हीन होनेके कारण तुम्हें सहसा अपने मनमें ग्लानि नहीं आने देनी चाहिये। वहने! तुम फिर पूर्ववत् स्वस्थ हो जाओगे। मैं समय पाकर तुम्हारी अरुचि नष्ट कर दूँगा ।। ७१—७४ ।।

पुरा देवनियोगेन यत् त्वया भस्मसात् कृतम् ।
आलयं देवशत्रूणां सुघोरं खाण्डवं वनम् ।। ७५ ।।
तत्र सर्वाणि सत्त्वानि निवसन्ति विभावसो ।
तेषां त्वं मेदसा तृप्तः प्रकृतिस्थो भविष्यसि ।। ७६ ।।

'पूर्वकालमें देवताओंके आदेशसे तुमने दैत्योंके जिस अत्यन्त घोर निवासस्थान खाण्डववनको जलाया था, वहाँ इस समय सब प्रकारके जीव-जन्तु आकर निवास करते हैं। विभावसो! उन्हींके मेदसे तृप्त होकर तुम स्वस्थ हो सकोगे ।। ७५-७६ ।।

गच्छ शीघ्रं प्रदग्धुं त्वं ततो मोक्ष्यसि किल्बिषात् ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं परमेष्ठिमुखाच्च्युतम् ।। ७७ ।।
उत्तमं जवमास्थाय प्रदुद्राव हुताशनः ।
आगम्य खाण्डवं दावमुत्तमं वीर्यमास्थितः ।
सहसा प्राज्वलच्चाग्निः क्रुद्धो वायुसमीरितः ।। ७८ ।।

'उस वनको जलानेके लिये तुम शीघ्र ही जाओ। तभी इस ग्लानिसे छुटकारा पा सकोगे।' परमेष्ठी ब्रह्माजीके मुखसे निकली हुई यह बात सुनकर अग्निदेव बड़े वेगसे वहाँ

दौड़े गये। खाण्डववनमें पहुँचकर उत्तम बलका आश्रय ले वायुका सहारा पाकर कुपित अग्निदेव सहसा प्रज्वलित हो उठे ।। ७७-७८ ।।

प्रदीप्तं खाण्डवं दृष्ट्वा ये स्युस्तत्र निवासिनः ।
परमं यत्नमातिष्ठन् पावकस्य प्रशान्तये ।। ७९ ।।

खाण्डववनको जलते देख वहाँ रहनेवाले प्राणियोंने उस आगको बुझानेके लिये बड़ा यत्न किया ।। ७९ ।।

करैस्तु करिणः शीघ्रं जलमादाय सत्वराः ।
सिषिचुः पावकं क्रुद्धाः शतशोऽथ सहस्रशः ।। ८० ।।

सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें हाथी अपनी सूँड़ोंमें जल लेकर शीघ्रतापूर्वक दौड़े आते और क्रोधपूर्वक उतावलीके साथ आगपर उस जलको उड़ेल दिया करते थे ।। ८० ।।

बहुशीर्षास्ततो नागाः शिरोभिर्जलसंततिम् ।
मुमुचुः पावकाभ्याशे सत्वराः क्रोधमूर्च्छिताः ।। ८१ ।।

अनेक सिरवाले नाग भी क्रोधसे मूर्च्छित हो अपने मस्तकोंद्वारा अग्निके समीप शीघ्रतापूर्वक जलकी धारा बरसाने लगे ।। ८१ ।।

तथैवान्यानि सत्त्वानि नानाप्रहरणोद्यमैः ।
विलयं पावकं शीघ्रमनयन् भरतर्षभ ।। ८२ ।।

भरतश्रेष्ठ! इसी प्रकार दूसरे-दूसरे जीवोंने भी अनेक प्रकारके प्रहारों (धूल झोंकने आदि) तथा उद्यमों (जल छिड़कने आदि)-के द्वारा शीघ्रतापूर्वक उस आगको बुझा दिया ।। ८२ ।।

अनेन तु प्रकारेण भूयो भूयश्च प्रज्वलन् ।
सप्तकृत्वः प्रशमितः खाण्डवे हव्यवाहनः ।। ८३ ।।

इस तरह खाण्डववनमें अग्निने बार-बार प्रज्वलित होकर सात बार उसे जलानेका प्रयास किया; परंतु प्रतिबार वहाँके निवासियोंने उन्हें बुझा दिया ।। ८३ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि अग्निपराभवे द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें अग्निपराभवविषयक दो सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२२ ।।

त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका अग्निकी प्रार्थना स्वीकार करके उनसे दिव्य धनुष एवं रथ आदि माँगना

वैशम्पायन उवाच

स तु नैराश्यमापन्नः सदा ग्लानिसमन्वितः ।
पितामहमुपागच्छत् संक्रुद्धो हव्यवाहनः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपनी असफलतासे अग्निदेवको बड़ी निराशा हुई। वे सदा ग्लानिमें डूबे रहने लगे और कुपित हो पितामह ब्रह्माजीके पास गये ।। १ ।।

तच्च सर्वं यथान्यायं ब्रह्मणे संन्यवेदयत् ।
उवाच चैनं भगवान् मुहूर्तं स विचिन्त्य तु ।। २ ।।

वहाँ उन्होंने ब्रह्माजीसे सब बातें यथोचित रीतिसे कह सुनायीं। तब भगवान् ब्रह्माजी दो घड़ीतक विचार करके उनसे बोले— ।। २ ।।

उपायः परिदृष्टो मे यथा त्वं धक्ष्यसेऽनघ ।
कालं च कंचित् क्षमतां ततस्त्वं धक्ष्यसेऽनल ।। ३ ।।

'अनघ! तुम जिस प्रकार खाण्डववनको जलाओगे, वह उपाय तो मुझे सूझ गया है; किंतु उसके लिये तुम्हें कुछ समयतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अनल! इसके बाद तुम खाण्डववनको जला सकोगे ।। ३ ।।

भविष्यतः सहायौ ते नरनारायणौ तदा ।
ताभ्यां त्वं सहितो दावं धक्ष्यसे हव्यवाहन ।। ४ ।।

'हव्यवाहन! उस समय नर और नारायण तुम्हारे सहायक होंगे। उन दोनोंके साथ रहकर तुम उस वनको जला सकोगे' ।। ४ ।।

एवमस्त्विति तं वह्निर्ब्रह्माणं प्रत्यभाषत ।
सम्भूतौ तौ विदित्वा तु नरनारायणावृषी ।। ५ ।।
कालस्य महतो राजंस्तस्य वाक्यं स्वयम्भुवः ।
अनुस्मृत्य जगामाथ पुनरेव पितामहम् ।। ६ ।।

तब अग्निने ब्रह्माजीसे कहा—'अच्छा, ऐसा ही सही।' तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् नर-नारायण ऋषियोंके अवतीर्ण होनेकी बात जानकर अग्निदेवको ब्रह्माजीकी बातका स्मरण हुआ। राजन्! तब वे पुनः ब्रह्माजीके पास गये ।। ५-६ ।।

अब्रवीच्च तदा ब्रह्मा यथा त्वं धक्ष्यसेऽनल ।
खाण्डवं दावमद्यैव मिषतोऽस्य शचीपतेः ।। ७ ।।

उस समय ब्रह्माजीने कहा—‘अनल! अब जिस प्रकार तुम इन्द्रके देखते-देखते अभी खाण्डववन जला सकोगे, वह उपाय सुनो ।। ७ ।।

नरनारायणौ यौ तौ पूर्वदेवौ विभावसो ।

सम्प्राप्तौ मानुषे लोके कार्यार्थं हि दिवौकसाम् ।। ८ ।।

‘विभावसो! आदिदेव नर और नारायण मुनि इस समय देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये मनुष्यलोकमें अवतीर्ण हुए हैं ।। ८ ।।

अर्जुनं वासुदेवं च यौ तौ लोकोऽभिमन्यते ।

तावेतौ सहितावेहि खाण्डवस्य समीपतः ।। ९ ।।

‘वहाँके लोग उन्हें अर्जुन और वासुदेवके नामसे जानते हैं। वे दोनों इस समय खाण्डववनके पास ही एक साथ बैठे हैं ।। ९ ।।

तौ त्वं याचस्व साहाय्ये दाहार्थं खाण्डवस्य च ।

ततो धक्ष्यसि तं दावं रक्षितं त्रिदशैरपि ।। १० ।।

‘उन दोनोंसे तुम खाण्डववन जलानेके कार्यमें सहायताकी याचना करो। तब तुम इन्द्रादि देवताओंसे रक्षित होनेपर भी उस वनको जला सकोगे ।। १० ।।

तौ तु सत्त्वानि सर्वाणि यत्नतो वारयिष्यतः ।

देवराजं च सहितौ तत्र मे नास्ति संशयः ।। ११ ।।

‘वे दोनों वीर एक साथ होनेपर यत्नपूर्वक वनके सारे जीवोंको भी रोकेंगे और देवराज इन्द्रका भी सामना करेंगे, मुझे इसमें कोई संशय नहीं है’ ।। ११ ।।

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं त्वरितो हव्यवाहनः ।

कृष्णपार्थावुपागम्य यमर्थं त्वभ्यभाषत ।। १२ ।।

तं ते कथितवानस्मि पूर्वमेव नृपोत्तम ।

तच्छ्रुत्वा वचनं त्वग्नेर्बीभत्सुर्जातवेदसम् ।। १३ ।।

अब्रवीन्नृपशार्दूल तत्कालसदृशं वचः ।

दिधक्षुं खाण्डवं दावमकामस्य शतक्रतोः ।। १४ ।।

नृपश्रेष्ठ! यह सुनकर हव्यवाहनने तुरंत श्रीकृष्ण और अर्जुनके पास आकर जो कार्य निवेदन किया, वह मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ। जनमेजय! अग्निका वह कथन सुनकर अर्जुनने इन्द्रकी इच्छाके विरुद्ध खाण्डववन जलानेकी अभिलाषा रखनेवाले जातवेदा अग्निसे उस समयके अनुकूल यह बात कही ।। १२—१४ ।।

अर्जुन उवाच

उत्तमास्त्राणि मे सन्ति दिव्यानि च बहूनि च ।

यैरहं शक्नुयां योद्धुमपि वज्रधरान् बहून् ।। १५ ।।

अर्जुन बोले—भगवन्! मेरे पास बहुत-से दिव्य एवं उत्तम अस्त्र तो हैं, जिनके द्वारा मैं एक क्या, अनेक वज्रधारियोंसे युद्ध कर सकता हूँ ।। १५ ।।

धनुर्मे नास्ति भगवन् बाहुवीर्येण सम्मितम् ।
कुर्वतः समरे यत्नं वेगं यद् विषहेन्मम ।। १६ ।।

परंतु मेरे पास मेरे बाहुबलके अनुरूप धनुष नहीं है, जो समरभूमिमें युद्धके लिये प्रयत्न करते समय मेरा वेग सह सके ।। १६ ।।

शरैश्च मेऽर्थो बहुभिरक्षयैः क्षिप्रमस्यतः ।
न हि वोढुं रथः शक्तः शरान् मम यथेप्सितान् ।। १७ ।।

इसके सिवा शीघ्रतापूर्वक बाण चलाते रहनेके लिये मुझे इतने अधिक बाणोंकी आवश्यकता होगी, जो कभी समाप्त न हों तथा मेरी इच्छाके अनुरूप बाणोंको ढोनेके लिये शक्तिशाली रथ भी मेरे पास नहीं है ।। १७ ।।

अश्वांश्च दिव्यानिच्छेयं पाण्डुरान् वातरंहसः ।
रथं च मेघनिर्घोषं सूर्यप्रतिमतेजसम् ।। १८ ।।
तथा कृष्णस्य वीर्येण नायुधं विद्यते समम् ।
येन नागान् पिशाचांश्च निहन्यान्माधवो रणे ।। १९ ।।

मैं वायुके समान वेगवान् श्वेत वर्णके दिव्य अश्व तथा मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाला एवं सूर्यके समान तेजस्वी रथ चाहता हूँ। इसी प्रकार इन भगवान् श्रीकृष्णके बल-पराक्रमके अनुसार कोई आयुध इनके पास भी नहीं है, जिससे ये नागों और पिशाचोंको युद्धमें मार सकें ।। १८-१९ ।।

उपायं कर्मसिद्धौ च भगवन् वक्तुमर्हसि ।
निवारयेयं येनेन्द्रं वर्षमाणं महावने ।। २० ।।

भगवन्! इस कार्यकी सिद्धिके लिये जो उपाय सम्भव हो, वह मुझे बताइये, जिससे मैं इस महान् वनमें जल बरसाते हुए इन्द्रको रोक सकूँ ।। २० ।।

पौरुषेण तु यत् कार्यं तत् कर्तारौ स्व पावक ।
करणानि समर्थानि भगवन् दातुमर्हसि ।। २१ ।।

भगवन् अग्निदेव! पुरुषार्थसे जो कार्य हो सकता है, उसे हमलोग करनेके लिये तैयार हैं; किंतु इसके लिये सुदृढ़ साधन जुटा देनेकी कृपा आपको करनी चाहिये ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि अर्जुनाग्निसंवादे त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें अर्जुन-अग्निसंवादविषयक दो सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२३ ।।

चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अग्निदेवका अर्जुन और श्रीकृष्णको दिव्य धनुष, अक्षय तरकस, दिव्य रथ और चक्र आदि प्रदान करना तथा उन दोनोंकी सहायतासे खाण्डववनको जलाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स भगवान् धूमकेतुर्हुताशनः ।
चिन्तयामास वरुणं लोकपालं दिदृक्षया ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनके ऐसा कहनेपर धूमरूपी ध्वजासे सुशोभित होनेवाले भगवान् हुताशनने दर्शनकी इच्छासे लोकपाल वरुणका चिन्तन किया ।। १ ।।

आदित्यमुदके देवं निवसन्तं जलेश्वरम् ।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास पावकम् ।। २ ।।

अदितिके पुत्र, जलके स्वामी और सदा जलमें ही निवास करनेवाले उन वरुणदेवने, अग्निदेवने मेरा चिन्तन किया है, यह जानकर तत्काल उन्हें दर्शन दिया ।। २ ।।

तमब्रवीद् धूमकेतुः प्रतिगृह्य जलेश्वरम् ।
चतुर्थं लोकपालानां देवदेवं सनातनम् ।। ३ ।।

चौथे लोकपाल सनातन देवदेव जलेश्वर वरुणका स्वागत-सत्कार करके धूमकेतु अग्निने उनसे कहा— ।। ३ ।।

सोमेन राज्ञा यद् दत्तं धनुश्चैवेषुधी च ते ।
तत् प्रयच्छोभयं शीघ्रं रथं च कपिलक्षणम् ।। ४ ।।

'वरुणदेव! राजा सोमने आपको जो दिव्य धनुष और अक्षय तरकस दिये हैं, वे दोनों मुझे शीघ्र दीजिये। साथ ही कपियुक्त ध्वजासे सुशोभित रथ भी प्रदान कीजिये' ।। ४ ।।

कार्यं च सुमहत् पार्थो गाण्डीवेन करिष्यति ।
चक्रेण वासुदेवश्च तन्ममाद्य प्रदीयताम् ।। ५ ।।

'आज कुन्तीपुत्र अर्जुन गाण्डीव धनुषके द्वारा और भगवान् वासुदेव चक्रके द्वारा मेरा महान् कार्य सिद्ध करेंगे; अतः वह सब आज मुझे दे दीजिये' ।। ५ ।।

ददानीत्येव वरुणः पावकं प्रत्यभाषत ।
तदद्भुतं महावीर्यं यशःकीर्तिविवर्धनम् ।। ६ ।।
सर्वशस्त्रैरनाधृष्यं सर्वशस्त्रप्रमाथि च ।
सर्वायुधमहामात्रं परसैन्यप्रधर्षणम् ।। ७ ।।

एकं शतसहस्रेण सम्मितं राष्ट्रवर्धनम् ।
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः शोभितं श्लक्ष्णमव्रणम् ।। ८ ।।
देवदानवगन्धर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः ।
प्रादाच्चैव धनूरत्नमक्षय्ये च महेषुधी ।। ९ ।।

तब वरुणने अग्निदेवसे 'अभी देता हूँ' ऐसा कहकर वह धनुषोंमें रत्नके समान गाण्डीव तथा बाणोंसे भरे हुए दो अक्षय एवं बड़े तरकस भी दिये। वह धनुष अद्भुत था। उसमें बड़ी शक्ति थी और वह यश एवं कीर्तिको बढ़ानेवाला था। किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे वह टूट नहीं सकता था और दूसरे सब शस्त्रोंको नष्ट कर डालनेकी शक्ति उसमें मौजूद थी। उसका आकार सभी आयुधोंसे बढ़कर था। शत्रुओंकी सेनाको विदीर्ण करनेवाला वह एक ही धनुष दूसरे लाख धनुषोंके बराबर था। वह अपने धारण करनेवालेके राष्ट्रको बढ़ानेवाला एवं विचित्र था। अनेक प्रकारके रंगोंसे उसकी शोभा होती थी। वह चिकना और छिद्रसे रहित था। देवताओं, दानवों और गन्धर्वोंने अनन्त वर्षोंतक उसकी पूजा की थी ।। ६—९ ।।

रथं च दिव्याश्वयुजं कपिप्रवरकेतनम् ।
उपेतं राजतैरश्वैर्गान्धर्वैर्हेममालिभिः ।। १० ।।

इसके सिवा वरुणने दिव्य घोड़ोंसे जुता हुआ एक रथ भी प्रस्तुत किया, जिसकी ध्वजापर श्रेष्ठ कपि विराजमान था। उसमें जुते हुए अश्वोंका रंग चाँदीके समान सफेद था। वे सभी घोड़े गन्धर्वदेशमें उत्पन्न तथा सोनेकी मालाओंसे विभूषित थे ।। १० ।।

पाण्डुराभ्रप्रतीकाशैर्मनोवायुसमैर्जवे ।
सर्वोपकरणैर्युक्तमजय्यं देवदानवैः ।। ११ ।।

उनकी कान्ति सफेद बादलोंकी-सी जान पड़ती थी। वे वेगमें मन और वायुकी समानता करते थे। वह रथ सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुओंसे युक्त तथा देवताओं और दानवोंके लिये भी अजेय था ।। ११ ।।

भानुमन्तं महाघोषं सर्वरत्नमनोरमम् ।
ससर्ज यं सुतपसा भौमनो भुवनप्रभुः ।। १२ ।।
प्रजापतिरनिर्देश्यं यस्य रूपं रवेरिव ।
यं स्म सोमः समारुह्य दानवानजयत् प्रभुः ।। १३ ।।

उससे तेजोमयी किरणें छिटकती थीं। उसके चलनेपर सब ओर बड़े जोरकी आवाज गूँज उठती थी। वह रथ सब प्रकारके रत्नोंसे जटित होनेके कारण बड़ा मनोरम जान पड़ता था। सम्पूर्ण जगत्के स्वामी प्रजापति विश्वकर्माने बड़ी भारी तपस्याके द्वारा उस रथका निर्माण किया था। उस सूर्यके समान तेजस्वी रथका 'इदमित्थम्' रूपसे वर्णन नहीं हो सकता था। पूर्वकालमें शक्तिशाली सोम (चन्द्रमा)-ने उसी रथपर आरूढ़ हो दानवोंपर विजय पायी थी ।। १२-१३ ।।

नवमेघप्रतीकाशं ज्वलन्तमिव च श्रिया ।
आश्रितौ तं रथश्रेष्ठं शक्रायुधसमावुभौ ।। १४ ।।

वह रथ नूतन मेघके समान प्रतीत होता था और अपनी दिव्य शोभासे प्रज्वलित-सा हो रहा था। इन्द्र-धनुषके समान कान्तिवाले श्रीकृष्ण और अर्जुन उस श्रेष्ठ रथके समीप गये ।। १४ ।।

तापनीया सुरुचिरा ध्वजयष्टिरनुत्तमा ।
तस्यां तु वानरो दिव्यः सिंहशार्दूलकेतनः ।। १५ ।।

उस रथका ध्वजदण्ड बड़ा सुन्दर और सुवर्णमय था। उसके ऊपर सिंह और व्याघ्रके समान भयंकर आकृतिवाला दिव्य वानर बैठा था ।। १५ ।।

दिधक्षन्निव तत्र स्म संस्थितो मूर्ध्न्यशोभत ।
ध्वजे भूतानि तत्रासन् विविधानि महान्ति च ।। १६ ।।
नादेन रिपुसैन्यानां येषां संज्ञा प्रणश्यति ।

उस रथके शिखरपर बैठा हुआ वह वानर ऐसा जान पड़ता था, मानो शत्रुओंको भस्म कर डालना चाहता हो। उस ध्वजमें और भी नाना प्रकारके बड़े भयंकर प्राणी रहते थे, जिनकी आवाज सुनकर शत्रु-सैनिकोंके होश उड़ जाते थे ।। १६½ ।।

स तं नानापताकाभिः शोभितं रथसत्तमम् ।। १७ ।।
प्रदक्षिणमुपावृत्य दैवतेभ्यः प्रणम्य च ।
संनद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रकः ।। १८ ।।
आरुरोह तदा पार्थो विमानं सुकृती यथा ।

वह श्रेष्ठ रथ भाँति-भाँतिकी पताकाओंसे सुशोभित हो रहा था। अर्जुनने कमर कस ली, कवच और तलवार बाँध ली, दस्ताने पहन लिये तथा रथकी परिक्रमा और देवताओंको प्रणाम करके वे उसपर आरूढ़ हुए, ठीक वैसे ही, जैसे कोई पुण्यात्मा विमानपर बैठता है ।। १७-१८½ ।।

तच्च दिव्यं धनुः श्रेष्ठं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा ।। १९ ।।
गाण्डीवमुपसंगृह्य बभूव मुदितोऽर्जुनः ।
हुताशनं पुरस्कृत्य ततस्तदपि वीर्यवान् ।। २० ।।
जग्राह बलमास्थाय ज्यया च युयुजे धनुः ।
मौर्व्यां तु योज्यमानायां बलिना पाण्डवेन ह ।। २१ ।।
येऽशृण्वन् कूजितं तत्र तेषां वै व्यथितं मनः ।

तदनन्तर, पूर्वकालमें ब्रह्माजीने जिसका निर्माण किया था, उस दिव्य एवं श्रेष्ठ गाण्डीव धनुषको हाथमें लेकर अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए। पराक्रमी धनंजयने अग्निदेवको सामने रखकर उस धनुषको हाथमें उठाया और बल लगाकर उसपर प्रत्यंचा चढ़ा दी। महाबली पाण्डुकुमारके उस धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ाते समय जिन लोगोंने उसकी टंकार सुनी, उनका हृदय व्यथित हो उठा ।। १९—२१½ ।।

लब्ध्वा रथं धनुश्चैव तथाक्षय्ये महेषुधी ।। २२ ।।

बभूव कल्पः कौन्तेयः प्रहृष्टः साह्यकर्मणि ।

वज्रनाभं ततश्चक्रं ददौ कृष्णाय पावकः ।। २३ ।।

वह रथ, धनुष तथा अक्षय तरकस पाकर कुन्तीनन्दन अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न हो अग्निकी सहायता करनेमें समर्थ हो गये। तदनन्तर पावकने भगवान् श्रीकृष्णको एक चक्र दिया, जिसका मध्यभाग वज्रके समान था ।। २२-२३ ।।

आग्नेयमस्त्रं दयितं स च कल्योऽभवत् तदा ।

अब्रवीत् पावकश्चैवमेतेन मधुसूदन ।। २४ ।।

अमानुषानपि रणे जेष्यसि त्वमसंशयम् ।

अनेन तु मनुष्याणां देवानामपि चाहवे ।। २५ ।।

रक्षःपिशाचदैत्यानां नागानां चाधिकस्तथा ।

भविष्यसि न संदेहः प्रवरोऽपि निबर्हणे ।। २६ ।।

उस अग्निप्रदत्त प्रिय अस्त्र चक्रको पाकर भगवान् श्रीकृष्ण भी उस समय सहायताके लिये समर्थ हो गये। उनसे अग्निदेवने कहा—'मधुसूदन! इस चक्रके द्वारा आप युद्धमें अमानव प्राणियोंको भी जीत लेंगे, इसमें संशय नहीं है। इसके होनेसे आप युद्धमें मनुष्यों, देवताओं, राक्षसों, पिशाचों, दैत्यों और नागोंसे भी अधिक शक्तिशाली होंगे तथा इन सबका संहार करनेमें भी निःसंदेह सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होंगे ।। २४—२६ ।।

क्षिप्तं क्षिप्तं रणे चैतत् त्वया माधव शत्रुषु ।

हत्वाप्रतिहतं संख्ये पाणिमेष्यति ते पुनः ।। २७ ।।

'माधव! युद्धमें आप जब-जब इसे शत्रुओंपर चलायेंगे, तब-तब यह उन्हें मारकर और स्वयं किसी अस्त्रसे प्रतिहत न होकर पुनः आपके हाथमें आ जायगा' ।। २७ ।।

वरुणश्च ददौ तस्मै गदामशनिनिःस्वनाम् ।

दैत्यान्तकरणीं घोरां नाम्ना कौमोदकीं प्रभुः ।। २८ ।।

तत्पश्चात् भगवान् वरुणने भी बिजलीके समान कड़कड़ाहट पैदा करनेवाली कौमोदकी नामक गदा भगवान्को भेंट की, जो दैत्योंका विनाश करनेवाली और भयंकर थी ।। २८ ।।

ततः पावकमब्रूतां प्रहृष्टावर्जुनाच्युतौ ।

कृतास्त्रौ शस्त्रसम्पन्नो रथिनौ ध्वजिनावपि ।। २९ ।।

कल्यौ स्वो भगवन् योद्धुमपि सर्वैः सुरासुरैः ।
किं पुनर्वज्रिणैकेन पन्नगार्थे युयुत्सता ।। ३० ।।

इसके बाद अस्त्रविद्याके ज्ञाता एवं शस्त्रसम्पन्न अर्जुन और श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर अग्निदेवसे कहा—‘भगवन्! अब हम दोनों रथ और ध्वजासे युक्त हो सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंसे भी युद्ध करनेमें समर्थ हो गये हैं; फिर तक्षक नागके लिये युद्धकी इच्छा रखनेवाले अकेले वज्रधारी इन्द्रसे युद्ध करना क्या बड़ी बात है?’ ।। २९-३० ।।

अर्जुन उवाच

चक्रपाणिर्हृषीकेशो विचरन् युधि वीर्यवान् ।
चक्रेण भस्मसात् सर्वं विसृष्टेन तु वीर्यवान् ।
त्रिषु लोकेषु तन्नास्ति यन्न कुर्याज्जनार्दनः ।। ३१ ।।

अर्जुन बोले—अग्निदेव! सबकी इन्द्रियोंके प्रेरक ये महापराक्रमी जनार्दन जब हाथमें चक्र लेकर युद्धमें विचरेंगे, उस समय त्रिलोकीमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसे ये चक्रके प्रहारसे भस्म न कर सकें ।। ३१ ।।

गाण्डीवं धनुरादाय तथाक्षय्ये महेषुधी ।
अहमप्युत्सहे लोकान् विजेतुं युधि पावक ।। ३२ ।।

पावक! मैं भी यह गाण्डीव धनुष और ये दोनों बड़े-बड़े अक्षय तरकस लेकर सम्पूर्ण लोकोंको युद्धमें जीत लेनेका उत्साह रखता हूँ ।। ३२ ।।

सर्वतः परिवार्यैवं दावमेतं महाप्रभो ।
कामं सम्प्रज्वलाद्यैव कल्यौ स्वः साह्यकर्मणि ।। ३३ ।।

महाप्रभो! अब आप इस सम्पूर्ण वनको चारों ओरसे घेरकर आज ही इच्छानुसार जलाइये। हम आपकी सहायताके लिये तैयार हैं ।। ३३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स भगवान् दाशार्हेणार्जुनेन च ।
तैजसं रूपमास्थाय दावं दग्धुं प्रचक्रमे ।। ३४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्ण और अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान् अग्निने तेजोमय रूप धारण करके खाण्डववनको सब ओरसे जलाना आरम्भ कर दिया ।। ३४ ।।

सर्वतः परिवार्याथ सप्तार्चिर्ज्वलनस्तथा ।
ददाह खाण्डवं दावं युगान्तमिव दर्शयन् ।। ३५ ।।

सात ज्वालामयी जिह्वाओंवाले अग्निदेव खाण्डव-वनको सब ओरसे घेरकर महाप्रलयका-सा दृश्य उपस्थित करते हुए जलाने लगे ।। ३५ ।।

प्रतिगृह्य समाविश्य तद् वनं भरतर्षभ ।

मेघस्तनितनिर्घोषः सर्वभूतान्यकम्पयत् ।। ३६ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस वनको चारों ओरसे अपनी लपटोंमें लपेटकर और उसके भीतरी भागमें भी व्याप्त होकर अग्निदेव मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर घोष करते हुए समस्त प्राणियोंको कँपाने लगे ।। ३६ ।।

दह्यतस्तस्य च बभौ रूपं दावस्य भारत ।
मेरोरिव नगेन्द्रस्य कीर्णस्यांशुमतोंऽशुभिः ।। ३७ ।।

भारत! उस जलते हुए खाण्डववनका स्वरूप ऐसा जान पड़ता था, मानो सूर्यकी किरणोंसे व्याप्त पर्वतराज मेरुका सम्पूर्ण कलेवर उद्दीप्त हो उठा हो ।। ३७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि गाण्डीवादिदाने चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें गाण्डीवादिदानविषयक दो सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२४ ।।

पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

खाण्डववनमें जलते हुए प्राणियोंकी दुर्दशा और इन्द्रके द्वारा जल बरसाकर आग बुझानेकी चेष्टा

वैशम्पायन उवाच

तौ रथाभ्यां रथश्रेष्ठौ दावस्योभयतः स्थितौ ।
दिक्षु सर्वासु भूतानां चक्राते कदनं महत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वे दोनों रथियोंमें श्रेष्ठ वीर दो रथोंपर बैठकर खाण्डववनके दोनों ओर खड़े हो गये और सब दिशाओंमें घूम-घूमकर प्राणियोंका महान् संहार करने लगे ।। १ ।।

यत्र यत्र च दृश्यन्ते प्राणिनः खाण्डवालयाः ।
पलायन्तः प्रवीरौ तौ तत्र तत्राभ्यधावताम् ।। २ ।।

खाण्डववनमें रहनेवाले प्राणी जहाँ-जहाँ भागते दिखायी देते, वहीं-वहीं वे दोनों प्रमुख वीर उनका पीछा करते ।। २ ।।

छिद्रं न स्म प्रपश्यन्ति रथयोराशुचारिणोः ।
आविद्धावेव दृश्येते रथिनौ तौ रथोत्तमौ ।। ३ ।।

(खाण्डववनके प्राणियोंको) शीघ्रतापूर्वक सब ओर दौड़नेवाले उन दोनों महारथियोंका छिद्र नहीं दिखायी देता था, जिससे वे भाग सकें। रथियोंमें श्रेष्ठ वे दोनों रथारूढ़ वीर अलातचक्रकी भाँति सब ओर घूमते हुए ही दीख पड़ते थे ।। ३ ।।

खाण्डवे दह्यमाने तु भूताः शतसहस्रशः ।
उत्पेतुर्भैरवान् नादान् विनदन्तः समन्ततः ।। ४ ।।

जब खाण्डववनमें आग फैल गयी और वह अच्छी तरह जलने लगा, उस समय लाखों प्राणी भयानक चीत्कार करते हुए चारों ओर उछलने-कूदने लगे ।। ४ ।।

दग्धैकदेशा बहवो निष्टप्ताश्च तथापरे ।
स्फुटिताक्षा विशीर्णाश्च विप्लुताश्च तथापरे ।। ५ ।।

बहुत-से प्राणियोंके शरीरका एक हिस्सा जल गया था, बहुतेरे आँचमें झुलस गये थे, कितनोंकी आँखें फूट गयी थीं और कितनोंके शरीर फट गये थे। ऐसी अवस्थामें भी सब भाग रहे थे ।। ५ ।।

समालिङ्गय सुतानन्ये पितॄन् भ्रातॄनथापरे ।
त्यक्तुं न शेकुः स्नेहेन तत्रैव निधनं गताः ।। ६ ।।

कोई अपने पुत्रोंको छातीसे चिपकाये हुए थे, कुछ प्राणी अपने पिता और भाइयोंसे सटे हुए थे। वे स्नेहवश एक-दूसरेको छोड़ न सके और वहीं कालके गालमें समा गये ।। ६ ।।

संदष्टदशनाश्चान्ये समुत्पेतुरनेकशः ।
ततस्तेऽतीव घूर्णन्तः पुनरग्नौ प्रपेदिरे ।। ७ ।।

कुछ जानवर दाँत कटकटाते, बार-बार उछलते-कूदते और अत्यन्त चक्कर काटते हुए फिर आगमें ही पड़ जाते थे ।। ७ ।।

दग्धपक्षाक्षिचरणा विचेष्टन्तो महीतले ।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते विनश्यन्तः शरीरिणः ।। ८ ।।

कितने ही पक्षी पाँख, आँख और पंजोंके जल जानेसे धरतीपर गिरकर छटपटा रहे थे। स्थान-स्थानपर मरणोन्मुख जीव-जन्तु दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। ८ ।।

जलाशयेषु तप्तेषु क्वाथ्यमानेषु वह्निना ।
गतसत्त्वाः स्म दृश्यन्ते कूर्ममत्स्याः समन्ततः ।। ९ ।।

जलाशय आगसे तपकर काढ़ेकी भाँति खौल रहे थे। उनमें रहनेवाले कछुए और मछली आदि जीव सब ओर निर्जीव दिखायी देते थे ।। ९ ।।

शरीरैरपरे दीप्तैर्देहवन्त इवाग्नयः ।
अदृश्यन्त वने तत्र प्राणिनः प्राणिसंक्षये ।। १० ।।

प्राणियोंके संहारस्थल बने हुए उस वनमें कितने ही प्राणी अपने जलते हुए अंगोंसे मूर्तिमान् अग्निके समान दीख पड़ते थे ।। १० ।।

काञ्श्चिदुत्पततः पार्थः शरैः संछिद्य खण्डशः ।
पातयामास विहगान् प्रदीप्ते वसुरेतसि ।। ११ ।।

अर्जुनने कितने ही उड़ते हुए पक्षियोंको अपने बाणोंसे टुकड़े-टुकड़े करके प्रज्वलित आगमें झोंक दिया ।। ११ ।।

ते शराचितसर्वाङ्गा निनदन्तो महारवान् ।
ऊर्ध्वमुत्पत्य वेगेन निपेतुः खाण्डवे पुनः ।। १२ ।।

पहले तो पक्षी बड़े वेगसे ऊपरको उड़ते, परंतु बाणोंसे सारा अंग छिद जानेपर जोर-जोरसे आर्तनाद करते हुए पुनः खाण्डववनमें ही गिर पड़ते थे ।। १२ ।।

शरैरभ्याहतानां च संघशः स्म वनौकसाम् ।
विरावः शुश्रुवे घोरः समुद्रस्येव मथ्यतः ।। १३ ।।

बाणोंसे घायल हुए झुंड-के-झुंड वनवासी जीवोंका भयानक चीत्कार समुद्र-मन्थनके समय होनेवाले जल-जन्तुओंके करुण-क्रन्दनके समान जान पड़ता था ।। १३ ।।

वह्नेश्चापि प्रदीप्तस्य खमुत्पेतुर्महार्चिषः ।
जनयामासुरुद्वेगं सुमहान्तं दिवौकसाम् ।। १४ ।।

प्रज्वलित अग्निकी बड़ी-बड़ी लपटें आकाशमें ऊपरकी ओर उठने और देवताओंके मनमें बड़ा भारी भय उत्पन्न करने लगीं ।। १४ ।।

तेनार्चिषा सुसंतप्ता देवाः सर्षिपुरोगमाः ।
ततो जग्मुर्महात्मानः सर्व एव दिवौकसः ।
शतक्रतुं सहस्राक्षं देवेशमसुरार्दनम् ।। १५ ।।

उस लपटसे संतप्त हुए देवता और महर्षि आदि सभी देवलोकवासी महात्मा असुरोंका नाश करनेवाले देवेश्वर सहस्राक्ष इन्द्रके पास गये ।। १५ ।।

देवा ऊचुः

किं न्विमे मानवाः सर्वे दह्यन्ते चित्रभानुना ।
कच्चिन्न संक्षयः प्राप्तो लोकानाममरेश्वर ।। १६ ।।

देवता बोले—अमरेश्वर! अग्निदेव इन सब मनुष्योंको क्यों जला रहे हैं? कहीं संसारका प्रलय तो नहीं आ गया ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा वृत्रहा तेभ्यः स्वयमेवान्ववेक्ष्य च ।
खाण्डवस्य विमोक्षार्थं प्रययौ हरिवाहनः ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवताओंसे यह सुनकर वृत्रासुरका नाश करनेवाले इन्द्र स्वयं वह घटना देखकर खाण्डववनको आगके भयसे छुड़ानेके लिये चले ।। १७ ।।

महता रथवृन्देन नानारूपेण वासवः ।
आकाशं समवाकीर्य प्रववर्ष सुरेश्वरः ।। १८ ।।

उन्होंने अपने साथ अनेक प्रकारके विशाल रथ ले लिये और आकाशमें स्थित हो देवताओंके स्वामी वे इन्द्र जलकी वर्षा करने लगे ।। १८ ।।

ततोऽक्षमात्रा व्यसृजन् धाराः शतसहस्रशः ।
चोदिता देवराजेन जलदाः खाण्डवं प्रति ।। १९ ।।

देवराज इन्द्रसे प्रेरित होकर मेघ रथके धुरेके समान मोटी-मोटी असंख्य धाराएँ खाण्डववनमें गिराने लगे ।। १९ ।।

असम्प्राप्तास्तु ता धारास्तेजसा जातवेदसः ।
ख एव समशुष्यन्त न काश्चित् पावकं गताः ।। २० ।।

परंतु अग्निके तेजसे वे धाराएँ वहाँ पहुँचनेसे पहले आकाशमें ही सूख जाती थीं। अग्नितक कोई धारा पहुँची ही नहीं ।। २० ।।

ततो नमुचिहा क्रुद्धो भृशमर्चिष्मतस्तदा ।
पुनरेव महामेघैरम्भांसि व्यसृजद् बहु ।। २१ ।।

तब नमुचिनाशक इन्द्रदेव अग्निपर अत्यन्त कुपित हो पुनः बड़े-बड़े मेघोंद्वारा बहुत जलकी वर्षा कराने लगे ।। २१ ।।

अर्चिर्धाराभिसम्बद्धं धूमविद्युत्समाकुलम् ।
बभूव तद् वनं घोरं स्तनयित्नुसमाकुलम् ।। २२ ।।

आगकी लपटों और जलकी धाराओंसे संयुक्त होनेपर उस वनमें धुआँ उठने लगा। सब ओर बिजली चमकने लगी और चारों ओर मेघोंकी गड़गड़ाहटका शब्द गूँज उठा। इस प्रकार खाण्डववनकी दशा बड़ी भयंकर हो गयी ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि इन्द्रक्रोधे पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें इन्द्रकोपविषयक दो सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२५ ।।

षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवताओं आदिके साथ श्रीकृष्ण और अर्जुनका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

तस्याथ वर्षतो वारि पाण्डवः प्रत्यवारयत् ।
शरवर्षेण बीभत्सुरुत्तमास्त्राणि दर्शयन् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वर्षा करते हुए इन्द्रकी उस जलधाराको पाण्डुकुमार अर्जुनने अपने उत्तम अस्त्रका प्रदर्शन करते हुए बाणोंकी बौछारसे रोक दिया ।। १ ।।

खाण्डवं च वनं सर्वं पाण्डवो बहुभिः शरैः ।
आच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव चन्द्रमाः ।। २ ।।

अमित आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डव अर्जुनने बहुत-से बाणोंकी वर्षा करके सारे खाण्डववनको ढँक दिया, जैसे कुहरा चन्द्रमाको ढक देता है ।। २ ।।

न च स्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः ।
संछाद्यमाने खे बाणैरस्यता सव्यसाचिना ।। ३ ।।

सव्यसाची अर्जुनके चलाये हुए बाणोंसे सारा आकाश छा गया था; इसलिये कोई भी प्राणी उस वनसे निकल नहीं पाता था ।। ३ ।।

तक्षकस्तु न तत्रासीन्नागराजो महाबलः ।
दह्यमाने वने तस्मिन् कुरुक्षेत्रं गतो हि सः ।। ४ ।।

जब खाण्डववन जलाया जा रहा था, उस समय महाबली नागराज तक्षक वहाँ नहीं था, कुरुक्षेत्र चला गया था ।। ४ ।।

अश्वसेनोऽभवत् तत्र तक्षकस्य सुतो बली ।
स यत्नमकरोत् तीव्रं मोक्षार्थं जातवेदसः ।। ५ ।।

परंतु तक्षकका बलवान् पुत्र अश्वसेन वहीं रह गया था। उसने उस आगसे अपनेको छुड़ानेके लिये बड़ा भारी प्रयत्न किया ।। ५ ।।

न शशाक स निर्गन्तुं निरुद्धोऽर्जुनपत्रिभिः ।
मोक्षयामास तं माता निगीर्य भुजगात्मजा ।। ६ ।।

किंतु अर्जुनके बाणोंसे रुँध जानेके कारण वह बाहर निकल न सका। उसकी माता सर्पिणीने उसे निगलकर उस आगसे बचाया ।। ६ ।।

तस्य पूर्वं शिरो ग्रस्तं पुच्छमस्य निगीर्य च ।
निगीर्यमाणा साक्रामत् सुतं नागी मुमुक्षया ।। ७ ।।

उसने पहले उसका मस्तक निगल लिया। फिर धीरे-धीरे पूँछतकका भाग निगल गयी। निगलते-निगलते ही उस नागिनने पुत्रको बचानेके लिये आकाशमें उड़कर निकल भागनेकी चेष्टा की ।। ७ ।।

तस्याः शरेण तीक्ष्णेन पृथुधारेण पाण्डवः ।
शिरश्चिच्छेद गच्छन्त्यास्तामपश्यच्छचीपतिः ।। ८ ।।

परंतु पाण्डुकुमार अर्जुनने मोटी धारवाले तीखे बाणसे उस भागती हुई सर्पिणीका मस्तक काट दिया। शचीपति इन्द्रने उसकी यह अवस्था अपनी आँखों देखी ।। ८ ।।

तं मुमोचयिषुर्वज्री वातवर्षेण पाण्डवम् ।
मोहयामास तत्कालमश्वसेनस्त्वमुच्यत ।। ९ ।।

तब उसे छुड़ानेकी इच्छासे वज्रधारी इन्द्रने आँधी और वर्षा चलाकर पाण्डुकुमार अर्जुनको उस समय मोहित कर दिया। इतनेहीमें तक्षकका पुत्र अश्वसेन उस संकटसे मुक्त हो गया ।। ९ ।।

तां च मायां तदा दृष्ट्वा घोरां नागेन वञ्चितः ।
द्विधा त्रिधा च खगतान् प्राणिनः पाण्डवोऽच्छिनत् ।। १० ।।

तब उस भयानक मायाको देखकर नागसे ठगे गये पाण्डुपुत्र अर्जुनने आकाशमें उड़नेवाले प्राणियोंके दो-दो, तीन-तीन टुकड़े कर डाले ।। १० ।।

शशाप तं च संक्रुद्धो बीभत्सुर्जिह्मगामिनम् ।
पावको वासुदेवश्चाप्यप्रतिष्ठो भविष्यसि ।। ११ ।।

फिर क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने टेढ़ी चालसे चलनेवाले उस नागको शाप दिया—‘अरे! तू आश्रयहीन हो जायगा।’ अग्नि और श्रीकृष्णने भी उसका अनुमोदन किया ।। ११ ।।

ततो जिष्णुः सहस्राक्षं खं वितत्याशुगैः शरैः ।
योधयामास संक्रुद्धो वञ्चनां तामनुस्मरन् ।। १२ ।।

तदनन्तर अपने साथ की हुई वंचनाको बार-बार स्मरण करके क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने शीघ्रगामी बाणोंद्वारा आकाशको आच्छादित करके इन्द्रके साथ युद्ध छेड़ दिया ।। १२ ।।

देवराजोऽपि तं दृष्ट्वा संरब्धं समरेऽर्जुनम् ।
स्वमस्त्रमसृजत् तीव्रं छादयित्वाखिलं नभः ।। १३ ।।

देवराजने भी अर्जुनको युद्धमें कुपित देख सम्पूर्ण आकाशको आच्छादित करते हुए अपने दुस्सह अस्त्र (ऐन्द्रास्त्र)-को प्रकट किया ।। १३ ।।

ततो वायुर्महाघोषः क्षोभयन् सर्वसागरान् ।
वियत्स्थो जनयन् मेघाञ्जलधारासमाकुलान् ।। १४ ।।

फिर तो बड़ी भारी आवाजके साथ प्रचण्ड वायु चलने लगी। उसने समस्त समुद्रोंको क्षुब्ध करते हुए आकाशमें स्थित हो मूसलाधार पानी बरसानेवाले मेघोंको उत्पन्न किया ।। १४ ।।

ततोऽशनिमुचो घोरांस्तडित्स्तनितनिःस्वनान् ।
तद्विघातार्थमसृजदर्जुनोऽप्यस्त्रमुत्तमम् ।। १५ ।।
वायव्यमभिमन्त्र्याथ प्रतिपत्तिविशारदः ।
तेनेन्द्राशनिमेघानां वीर्यौजस्तद् विनाशितम् ।। १६ ।।

वे भयंकर मेघ बिजलीकी कड़कड़ाहटके साथ धरतीपर वज्र गिराने लगे। उस अस्त्रके प्रतीकारकी विद्यामें कुशल अर्जुनने उन मेघोंको नष्ट करनेके लिये अभिमन्त्रित करके वायव्य नामक उत्तम अस्त्रका प्रयोग किया। उस अस्त्रने इन्द्रके छोड़े हुए वज्र और मेघोंका ओज एवं बल नष्ट कर दिया ।। १५-१६ ।।

जलधाराश्च ताः शोषं जग्मुर्नेशुश्च विद्युतः ।
क्षणेन चाभवद् व्योम सम्प्रशान्तरजस्तमः ।। १७ ।।

जलकी वे सारी धाराएँ सूख गयीं और बिजलियाँ भी नष्ट हो गयीं। क्षणभरमें आकाश धूल और अन्धकारसे रहित हो गया ।। १७ ।।

सुखशीतानिलवहं प्रकृतिस्थार्कमण्डलम् ।
निष्प्रतीकारहृष्टश्च हुतभुग् विविधाकृतिः ।। १८ ।।
सिच्यमानो वसौघैस्तैः प्राणिनां देहनिःसृतैः ।
प्रजज्वालाथ सोऽर्चिष्मान् स्वनादैः पूरयञ्जगत् ।। १९ ।।

सुखदायिनी शीतल हवा चलने लगी। सूर्यमण्डल स्वाभाविक स्थितिमें दिखायी देने लगा। अग्निदेव प्रतीकारशून्य होनेके कारण बहुत प्रसन्न हुए और अनेक रूपोंमें प्रकट हो प्राणियोंके शरीरसे निकली हुई वसाके समूहसे अभिषिक्त होकर बड़ी-बड़ी लपटोंके साथ प्रज्वलित हो उठे। उस समय अपनी आवाजसे वे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रहे थे ।। १८-१९ ।।

कृष्णाभ्यां रक्षितं दृष्ट्वा तं च दावमहंकृताः ।
खमुत्पेतुर्महाराज सुपर्णाद्याः पतत्त्रिणः ।। २० ।।

महाराज! उस खाण्डववनको श्रीकृष्ण और अर्जुनसे सुरक्षित देख अहंकारसे युक्त सुन्दर पंख आदि अंगोंवाले पक्षी आकाशमें उड़ने लगे ।। २० ।।

गरुत्मान् वज्रसदृशैः पक्षतुण्डनखैस्तथा ।
प्रहर्तुकामो न्यपतदाकाशात् कृष्णपाण्डवौ ।। २१ ।।

एक गरुडजातीय पक्षी* वज्रके समान पाँख, चोंच और पंजोंसे प्रहार करनेकी इच्छा रखकर आकाशसे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी ओर झपटा ।। २१ ।।

तथैवोरगसङ्घाताः पाण्डवस्य समीपतः ।
उत्सृजन्तो विषं घोरं निपेतुर्ज्वलिताननाः ।। २२ ।।

इसी प्रकार प्रज्वलित मुखवाले नागोंके समुदाय भी पाण्डव अर्जुनके समीप भयानक जहर उगलते हुए उनकी ओर टूट पड़े ।। २२ ।।

तांश्चकर्त शरैः पार्थः सरोषाग्निसमुक्षितैः ।
विविशुश्चापि तं दीप्तं देहाभावाय पावकम् ।। २३ ।।

यह देख अर्जुनने रोषाग्निप्रेरित बाणोंद्वारा उन सबके टुकड़े-टुकड़े कर डाले और वे सभी अपने शरीरको भस्म करनेके लिये उस जलती हुई आगमें समा गये ।। २३ ।।

ततोऽसुराः सगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
उत्पेतुर्नादमतुलमुत्सृजन्तो रणार्थिनः ।। २४ ।।

तत्पश्चात् असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग युद्धके लिये उत्सुक हो अनुपम गर्जना करते हुए वहाँ दौड़े आये ।। २४ ।।

अयःकणपचक्राश्मभुशुण्ड्युद्यतबाहवः ।
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः क्रोधसम्मूर्छितौजसः ।। २५ ।।

किन्हींके हाथमें लोहेकी गोली छोड़नेवाले यन्त्र (तोप, बंदूक आदि) थे और कुछ लोगोंने हाथोंमें चक्र, पत्थर एवं भुशुण्डी उठा रखी थी। क्रोधाग्निसे बढ़े हुए तेजवाले वे सब-के-सब श्रीकृष्ण और अर्जुनको मार डालना चाहते थे ।। २५ ।।

तेषामतिव्याहरतां शस्त्रवर्षं प्रमुञ्चताम् ।
प्रममाथोत्तमाङ्गानि बीभत्सुर्निशितैः शरैः ।। २६ ।।

वे लोग बड़ी-बड़ी डींग हाँकते हुए अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे। उस समय अर्जुनने अपने तीखे बाणोंसे उन सबके सिर उड़ा दिये ।। २६ ।।

कृष्णश्च सुमहातेजाश्चक्रेणारिविनाशनः ।
दैत्यदानवसङ्घानां चकार कदनं महत् ।। २७ ।।

शत्रुविनाशन महातेजस्वी श्रीकृष्णने भी चक्रद्वारा दैत्यों और दानवोंके समुदायका महान् संहार कर दिया ।। २७ ।।

अथापरे शरैर्विद्धाश्चक्रवेगेरितास्तथा ।
वेलामिव समासाद्य व्यतिष्ठन्नमितौजसः ।। २८ ।।

फिर दूसरे-दूसरे अमित तेजस्वी दैत्य-दानव बाणोंसे घायल और चक्रवेगसे कम्पित हो तटपर आकर रुक जानेवाली समुद्रकी लहरोंके समान एक सीमातक ही ठहर गये—आगे न बढ़ सके ।। २८ ।।

ततः शक्रोऽतिसंक्रुद्धस्त्रिदशानां महेश्वरः ।
पाण्डुरं गजमास्थाय तावुभौ समुपाद्रवत् ।। २९ ।।

तब देवताओंके महाराज इन्द्र श्वेत ऐरावतपर आरूढ़ हो अत्यन्त क्रोधपूर्वक उन दोनोंकी ओर दौड़े ।। २९ ।।

वेगेनाशनिमादाय वज्रमस्त्रं च सोऽसृजत् ।
हतावेताविति प्राह सुरानसुरसूदनः ।। ३० ।।

असुरसूदन इन्द्रने बड़े वेगसे अशनि-रूप अपना वज्रास्त्र उठाकर चला दिया और देवताओंसे कहा—'लो ये दोनों मारे गये' ।। ३० ।।

ततः समुद्यतां दृष्ट्वा देवेन्द्रेण महाशनिम् ।
जगृहुः सर्वशस्त्राणि स्वानि स्वानि सुरास्तथा ।। ३१ ।।

देवराज इन्द्रको वह महान् वज्र उठाये देख देवताओंने भी अपने-अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र ले लिये ।। ३१ ।।

कालदण्डं यमो राजन् गदां चैव धनेश्वरः ।
पाशांश्च तत्र वरुणो विचित्रां च तथाशनिम् ।। ३२ ।।

राजन्! यमराजने कालदण्ड, कुबेरने गदा तथा वरुणने पाश और विचित्र वज्र हाथमें ले लिये ।। ३२ ।।

स्कन्दः शक्तिं समादाय तस्थौ मेरुरिवाचलः ।
ओषधीर्दीप्यमानाश्च जगृहातेऽश्विनावपि ।। ३३ ।।

देवताओंके सेनापति स्कन्द शक्ति हाथमें लेकर मेरु पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े हो गये। दोनों अश्विनीकुमारोंने भी चमकीली ओषधियाँ उठा लीं ।। ३३ ।।

जगृहे च धनुर्धाता मुसलं तु जयस्तथा ।
पर्वतं चापि जग्राह क्रुद्धस्त्वष्टा महाबलः ।। ३४ ।।

धाताने धनुष लिया और जयने मुसल, क्रोधमें भरे हुए महाबली त्वष्टाने पर्वत उठा लिया ।। ३४ ।।

अंशस्तु शक्तिं जग्राह मृत्युर्देवः परश्वधम् ।
प्रगृह्य परिघं घोरं विचचारार्यमा अपि ।। ३५ ।।

अंशने शक्ति हाथमें ले ली और मृत्युदेवने फरसा। अर्यमा भी भयानक परिघ लेकर युद्धके लिये विचरने लगे ।। ३५ ।।

मित्रश्च क्षुरपर्यन्तं चक्रमादाय तस्थिवान् ।
पूषा भगश्च संक्रुद्धः सविता च विशाम्पते ।। ३६ ।।
आत्तकार्मुकनिस्त्रिंशाः कृष्णपार्थौ प्रदुद्रुवुः ।

मित्र देवता जिसके किनारोंपर छुरे लगे हुए थे, वह चक्र लेकर खड़े हो गये। महाराज! पूषा, भग और क्रोधमें भरे हुए सविता धनुष और तलवार लेकर श्रीकृष्ण और अर्जुनपर टूट पड़े ।। ३६½ ।।

रुद्राश्च वसवश्चैव मरुतश्च महाबलाः ।। ३७ ।।
विश्वेदेवास्तथा साध्या दीप्यमानाः स्वतेजसा ।
एते चान्ये च बहवो देवास्तौ पुरुषोत्तमौ ।। ३८ ।।
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः प्रतीयुर्विविधायुधाः ।

रुद्र, वसु, महाबली मरुद्‌गण, विश्वेदेव तथा अपने तेजसे प्रकाशित होनेवाले साध्यगण—ये और दूसरे बहुत-से देवता नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर उन पुरुषोतम श्रीकृष्ण और अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे उनकी ओर बढ़े ।। ३७-३८½ ।।

तत्राद्भुतान्यदृश्यन्त निमित्तानि महाहवे ।। ३९ ।।
युगान्तसमरूपाणि भूतसम्मोहनानि च ।
तथा दृष्ट्वा सुसंरब्धं शक्रं देवैः सहाच्युतौ ।। ४० ।।
अभीतौ युधि दुर्धर्षौ तस्थतुः सज्जकार्मुकौ ।

उस महासंग्राममें प्रलयकालके समान रूपवाले तथा प्राणियोंको मोहमें डाल देनेवाले अद्भुत अपशकुन दिखायी देने लगे। देवताओंसहित इन्द्रको रोषमें भरा देख अपनी महिमासे च्युत न होनेवाले निर्भय तथा दुर्धर्ष वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन धनुष तानकर युद्धके लिये खड़े हो गये ।। ३९-४०½ ।।

आगच्छतस्ततो देवानुभौ युद्धविशारदौ ।। ४१ ।।
व्यताडयेतां संक्रुद्धौ शरैर्वज्रोपमैस्तदा ।

तदनन्तर वे दोनों युद्धकुशल वीर कुपित हो अपने वज्रोपम बाणोंद्वारा वहाँ आते हुए देवताओंको घायल करने लगे ।। ४१½ ।।

असकृद् भग्नसंकल्पाः सुराश्च बहुशः कृताः ।। ४२ ।।
भयाद् रणं परित्यज्य शक्रमेवाभिशिश्रियुः ।

बहुत-से देवता बार-बार प्रयत्न करनेपर भी कभी सफलमनोरथ न हो सके। उनकी आशा टूट गयी और वे भयके मारे युद्ध छोड़कर इन्द्रकी ही शरणमें चले गये ।। ४२½ ।।

दृष्ट्वा निवारितान् देवान् माधवेनार्जुनेन च ।। ४३ ।।
आश्चर्यमगमंस्तत्र मुनयो नभसि स्थिताः ।

श्रीकृष्ण और अर्जुनके द्वारा देवताओंकी गति कुण्ठित हुई देख आकाशमें खड़े हुए महर्षिगण बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ।। ४३½ ।।

शक्रश्चापि तयोर्वीर्यमुपलभ्यासकृद् रणे ।। ४४ ।।
बभूव परमप्रीतो भूयश्चैतावयोधयत् ।

इन्द्र भी उस युद्धमें बार-बार उन दोनों वीरोंका पराक्रम देख बड़े प्रसन्न हुए और पुनः उन दोनोंके साथ युद्ध करने लगे ।। ४४½ ।।

ततोऽश्मवर्षं सुमहद् व्यसृजत् पाकशासनः ।। ४५ ।।
भूय एव तदा वीर्यं जिज्ञासुः सव्यसाचिनः ।

तदनन्तर इन्द्रने सव्यसाची अर्जुनके पराक्रमकी परीक्षा लेनेके लिये पुनः उनपर पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा प्रारम्भ की ।। ४५½ ।।

तच्छरैरर्जुनो वर्षं प्रतिजघ्नेऽत्यमर्षितः ।। ४६ ।।

विफलं क्रियमाणं तत् समवेक्ष्य शतक्रतुः ।
भूयः संवर्धयामास तद्वर्षं पाकशासनः ।। ४७ ।।

अर्जुनने अत्यन्त अमर्षमें भरकर अपने बाणोंद्वारा वह सारी वर्षा नष्ट कर दी। सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले पाकशासन इन्द्रने उस पत्थरोंकी वर्षाको विफल हुई देख पुनः पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा की ।। ४६-४७ ।।

सोऽश्मवर्षं महावेगैरिषुभिः पाकशासनिः ।
विलयं गमयामास हर्षयन् पितरं तथा ।। ४८ ।।

यह देख इन्द्रकुमार अर्जुनने अपने पिताका हर्ष बढ़ाते हुए महान् वेगशाली बाणोंद्वारा पत्थरोंकी उस वृष्टिको फिर विलीन कर दिया ।। ४८ ।।

तत उत्पाट्य पाणिभ्यां मन्दराच्छिखरं महत् ।
सद्रुमं व्यसृजच्छक्रो जिघांसुः पाण्डुनन्दनम् ।। ४९ ।।

इसके बाद इन्द्रने पाण्डुनन्दन अर्जुनको मारनेके लिये अपने दोनों हाथोंसे मन्दर पर्वतका महान् शिखर वृक्षोंसहित उखाड़ लिया और उसे उनके ऊपर चलाया ।। ४९ ।।

ततोऽर्जुनो वेगवद्भिर्ज्वलिताग्रैरजिह्मगैः ।
शरैर्विध्वंसयामास गिरेः शृङ्गं सहस्रधा ।। ५० ।।

यह देख अर्जुनने प्रज्वलित नोकवाले वेगवान् एवं सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा उस पर्वत-शिखरको हजारों टुकड़े करके गिरा दिया ।। ५० ।।

गिरेर्विशीर्यमाणस्य तस्य रूपं तदा बभौ ।
सार्कचन्द्रग्रहस्येव नभसः परिशीर्यतः ।। ५१ ।।

छिन्न-भिन्न होकर गिरता हुआ वह पर्वतशिखर ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्य-चन्द्रमा आदि ग्रह आकाशसे टूटकर गिर रहे हों ।। ५१ ।।

तेनाभिपतिता दावं शैलेन महता भृशम् ।
शृङ्गेण निहतास्तत्र प्राणिनः खाण्डवालयाः ।। ५२ ।।

वहाँ गिरे हुए उस महान् पर्वतशिखरके द्वारा खाण्डववनमें निवास करनेवाले बहुतसे प्राणी मारे गये ।। ५२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि देवकृष्णार्जुनयुद्धे षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें देवताओंके साथ श्रीकृष्ण और अर्जुनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२६ ।।

---

* यह विष्णुवाहन गरुडसे भिन्न था।

(मयदर्शनपर्व)

सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवताओंकी पराजय, खाण्डववनका विनाश और मयासुरकी रक्षा

वैशम्पायन उवाच

तथा शैलनिपातेन भीषिताः खाण्डवालयाः ।
दानवा राक्षसा नागास्तरक्ष्वृक्षवनौकसः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार पर्वतशिखरके गिरनेसे खाण्डववनमें रहनेवाले दानव, राक्षस, नाग, चीते तथा रीछ आदि वनचर प्राणी भयभीत हो उठे ।। १ ।।

द्विपाः प्रभिन्नाः शार्दूलाः सिंहाः केसरिणस्तथा ।
मृगाश्च महिषाश्चैव शतशः पक्षिणस्तथा ।। २ ।।
समुद्विग्ना विसस्रुपुस्तथान्या भूतजातयः ।

मदकी धारा बहानेवाले हाथी, शार्दूल, केसरी, सिंह, मृग, भैंस, सैकड़ों पक्षी तथा दूसरी-दूसरी जातिके प्राणी अत्यन्त उद्विग्न हो इधर-उधर भागने लगे ।। २½ ।।

तं दावं समुदैक्षन्त कृष्णौ चाभ्युद्यतायुधौ ।। ३ ।।
उत्पातनादशब्देन त्रासिता इव च स्थिताः ।
ते वनं प्रसमीक्ष्याथ दह्यमानमनेकधा ।। ४ ।।
कृष्णमभ्युद्यतास्त्रं च नादं मुमुचुरुल्बणम् ।

उन्होंने उस जलते हुए वनको और मारनेके लिये अस्त्र उठाये हुए श्रीकृष्ण तथा अर्जुनको देखा। उत्पात और आर्तनादके शब्दसे उस वनमें खड़े हुए वे सभी प्राणी संत्रस्त-से हो उठे थे। उस वनको अनेक प्रकारसे दग्ध होते देख और अस्त्र उठाये हुए श्रीकृष्णपर दृष्टि डाल भयानक आर्तनाद करने लगे ।। ३-४½ ।।

तेन नादेन रौद्रेण नादेन च विभावसोः ।। ५ ।।
ररास गगनं कृत्स्नमुत्पातजलदैरिव ।

उस भयंकर आर्तनाद और अग्निदेवकी गर्जनासे वहाँका सम्पूर्ण आकाश मानो उत्पातकालिक मेघोंकी गर्जनासे गूँज रहा था ।। ५½ ।।

ततः कृष्णो महाबाहुः स्वतेजोभास्वरं महत् ।। ६ ।।
चक्रं व्यसृजदत्युग्रं तेषां नाशाय केशवः ।

तब महाबाहु श्रीकृष्णने अपने तेजसे प्रकाशित होनेवाले उस अत्यन्त भयंकर महान् चक्रको उन दैत्य आदि प्राणियोंके विनाशके लिये छोड़ा ।। ६½ ।।

तेनार्ता जातयः क्षुद्राः सदानवनिशाचराः ।। ७ ।।

श्रीकृष्ण और अर्जुनका देवताओंसे युद्ध

अर्जुन और श्रीकृष्णको इन्द्रका वरदान

निकृत्ताः शतशः सर्वा निपेतुरनलं क्षणात् ।

उस चक्रके प्रहारसे पीड़ित हो दानव, निशाचर आदि समस्त क्षुद्र प्राणी सौ-सौ टुकड़े होकर क्षणभरमें आगमें गिर गये ।। ७½ ।।

तत्रादृश्यन्त ते दैत्याः कृष्णचक्रविदारिताः ।। ८ ।।
वसारुधिरसम्पृक्ताः संध्यायामिव तोयदाः ।

श्रीकृष्णके चक्रसे विदीर्ण हुए दैत्य मेदा तथा रक्तमें सनकर संध्याकालके मेघोंकी भाँति दिखायी देने लगे ।। ८½ ।।

पिशाचान् पक्षिणो नागान् पशूंश्चैव सहस्रशः ।। ९ ।।
निघ्नंश्चरति वार्ष्णेयः कालवत् तत्र भारत ।

भारत! भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ सहस्रों पिशाचों, पक्षियों, नागों तथा पशुओंका वध करते हुए कालके समान विचर रहे थे ।। ९½ ।।

क्षिप्तं क्षिप्तं पुनश्चक्रं कृष्णस्यामित्रघातिनः ।। १० ।।
छित्त्वानेकानि सत्त्वानि पाणिमेति पुनः पुनः ।

शत्रुघाती श्रीकृष्णके द्वारा बार-बार चलाया हुआ वह चक्र अनेक प्राणियोंका संहार करके पुनः उनके हाथमें चला आता था ।। १०½ ।।

तथा तु निघ्नतस्तस्य पिशाचोरगराक्षसान् ।। ११ ।।
बभूव रूपमत्युग्रं सर्वभूतात्मनस्तदा ।

इस प्रकार पिशाच, नाग तथा राक्षसोंका संहार करनेवाले सर्वभूतात्मा भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप उस समय बड़ा भयंकर जान पड़ता था ।। ११½ ।।

समेतानां च सर्वेषां दानवानां च सर्वशः ।। १२ ।।
विजेता नाभवत् कश्चित् कृष्णपाण्डवयोर्मृधे ।

वहाँ सब ओरसे सम्पूर्ण दानव एकत्र हो गये थे, तथापि उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं निकला, जो युद्धमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको जीत सके ।। १२½ ।।

तयोर्बलात् परित्रातुं तं च दावं यदा सुराः ।। १३ ।।
नाशक्नुवञ्छमयितुं तदाभूवन् पराङ्मुखाः ।

जब देवतालोग उन दोनोंके बलसे खाण्डववनकी रक्षा करने और उस आगको बुझानेमें सफल न हो सके, तब पीठ दिखाकर चल दिये ।। १३½ ।।

शतक्रतुस्तु सम्प्रेक्ष्य विमुखानमरांस्तथा ।। १४ ।।
बभूव मुदितो राजन् प्रशंसन् केशवार्जुनौ ।

राजन्! शतक्रतु इन्द्र देवताओंको विमुख हुआ देख श्रीकृष्ण और अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए बड़े प्रसन्न हुए ।। १४½ ।।

निवृत्तेष्वथ देवेषु वागुवाचाशरीरिणी ।। १५ ।।

शतक्रतुं समाभाष्य महागम्भीरनिःस्वना ।

देवताओंके लौट जानेपर इन्द्रको सम्बोधित करके बड़े गम्भीर स्वरसे आकाशवाणी हुई — ।। १५½ ।।

न ते सखा संनिहितस्तक्षको भुजगोत्तमः ।। १६ ।।

दाहकाले खाण्डवस्य कुरुक्षेत्रं गतो ह्यसौ ।

'वासव! तुम्हारे सखा नागप्रवर तक्षक इस समय यहाँ नहीं हैं। वे खाण्डवदाहके समय कुरुक्षेत्र चले गये थे ।। १६½ ।।

न च शक्यौ युधा जेतुं कथंचिदपि वासव ।। १७ ।।

वासुदेवार्जुनावेतौ निबोध वचनान्मम ।

नरनारायणावेतौ पूर्वदेवौ दिवि श्रुतौ ।। १८ ।।

भवानप्यभिजानाति यद्वीर्यौ यत्पराक्रमौ ।

नैतौ शक्यौ दुराधर्षौ विजेतुमजितौ युधि ।। १९ ।।

'भगवान् वासुदेव तथा अर्जुनको किसी प्रकार युद्धसे जीता नहीं जा सकता। मेरे कहनेसे तुम इस बातको समझ लो। ये दोनों पहलेके देवता नर और नारायण हैं। देवलोकमें भी इनकी ख्याति है। इनका बल और पराक्रम कैसा है, यह तुम भी जानते हो। ये अपराजित और दुर्धर्ष वीर हैं। सम्पूर्ण लोकोंमें किसीके द्वारा भी ये युद्धमें जीते नहीं जा सकते ।। १७—१९ ।।

अपि सर्वेषु लोकेषु पुराणावृषिसत्तमौ ।

पूजनीयतमावेतावपि सर्वैः सुरासुरैः ।। २० ।।

यक्षराक्षसगन्धर्वनरकिन्नरपन्नगैः ।

'ये दोनों पुरातन ऋषिश्रेष्ठ नर-नारायण सम्पूर्ण देवताओं, असुरों, यक्षों, राक्षसों, गन्धर्वों, मनुष्यों, किन्नरों तथा नागोंके लिये भी परम पूजनीय हैं ।। २०½ ।।

तस्मादितः सुरैः सार्धं गन्तुमर्हसि वासव ।। २१ ।।

दिष्टं चाप्यनुपश्यैतत् खाण्डवस्य विनाशनम् ।

'अतः इन्द्र! तुम्हें देवताओंके साथ यहाँसे चले जाना ही उचित है। खाण्डववनके इस विनाशको तुम प्रारब्धका ही कार्य समझो' ।। २१½ ।।

इति वाक्यमुपश्रुत्य तथ्यमित्यमरेश्वरः ।। २२ ।।

क्रोधामर्षौ समुत्सृज्य सम्प्रतस्थे दिवं तदा ।

यह आकाशवाणी सुनकर देवराज इन्द्रने इसे ही सत्य माना और क्रोध तथा अमर्ष छोड़कर वे उसी समय स्वर्गलोकको लौट गये ।। २२½ ।।

तं प्रस्थितं महात्मानं समवेक्ष्य दिवौकसः ।। २३ ।।

सहिताः सेनया राजन्ननुजग्मुः पुरंदरम् ।

राजन्! महात्मा इन्द्रको वहाँसे प्रस्थान करते देख समस्त स्वर्गवासी देवता सेनासहित उनके पीछे-पीछे चले गये ।। २३½ ।।

देवराजं तदा यान्तं सह देवैरवेक्ष्य तु ।। २४ ।।
वासुदेवार्जुनौ वीरौ सिंहनादं विनेदतुः ।

उस समय देवताओंसहित देवराज इन्द्रको जाते देख वीरवर श्रीकृष्ण और अर्जुनने सिंहनाद किया ।। २४½ ।।

देवराजे गते राजन् प्रहृष्टौ केशवार्जुनौ ।। २५ ।।
निर्विशङ्कं वनं वीरौ दाहयामासतुस्तदा ।

राजन्! देवराजके चले जानेपर वीरवर केशव तथा अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न हो उस समय बेखटके खाण्डववनका दाह कराने लगे ।। २५½ ।।

स मारुत इवाभ्राणि नाशयित्वार्जुनः सुरान् ।। २६ ।।
व्यधमच्छरसङ्घातैर्देहिनः खाण्डवालयान् ।

जैसे प्रबल वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनने देवताओंको भगाकर अपने बाणोंके समुदायसे खाण्डववासी प्राणियोंको मारना आरम्भ किया ।। २६½ ।।

न च स्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः ।। २७ ।।
संछिद्यमानमिषुभिरस्यता सव्यसाचिना ।

सव्यसाची अर्जुनके बाण चलाते समय उनके बाणोंसे कट जानेके कारण कोई भी जीव वहाँसे बाहर न निकल सका ।। २७½ ।।

नाशक्नुवंश्च भूतानि महान्त्यपि रणेऽर्जुनम् ।। २८ ।।
निरीक्षितुममोघास्त्रं योद्धुं चापि कुतो रणे ।
शतं चैकेन विव्याध शतेनैकं पतत्त्रिणाम् ।। २९ ।।

अमोघ अस्त्रधारी अर्जुनको उस समय बड़े-से-बड़े प्राणी देख भी न सके, फिर रणभूमिमें युद्ध तो कर ही कैसे सकते थे। वे कभी एक ही बाणसे सैकड़ोंको बींध डालते थे और कभी एकहीको सौ बाणोंसे घायल कर देते थे ।। २८-२९ ।।

व्यसवस्तेऽपतन्नग्नौ साक्षात् कालहता इव ।
न चालभन्त ते शर्म रोधस्सु विषमेषु च ।। ३० ।।

वे सभी प्राणी प्राणशून्य होकर साक्षात् कालसे मारे हुएकी भाँति आगमें गिर पड़ते थे। वे वनके किनारे हों या दुर्गम स्थानोंमें हों, कहीं भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी ।। ३० ।।

पितृदेवनिवासेषु संतापश्चाप्यजायत ।
भूतसङ्घाश्च बहवो दीनाश्चक्रुर्महास्वनम् ।। ३१ ।।

पितरों और देवताओंके लोकमें भी खाण्डववनके दाहकी गर्मी पहुँचने लगी। बहुतेरे प्राणियोंके समुदाय कातर हो जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे ।। ३१ ।।

रुरुदुर्वारणाश्चैव तथा मृगतरक्षवः ।
तेन शब्देन वित्रेसुर्गङ्गोदधिचरा झषाः ।। ३२ ।।

हाथी, मृग और चीते भी रोदन करते थे। उनके आर्तनादसे गंगा तथा समुद्रके भीतर रहनेवाले मत्स्य भी थर्रा उठे ।। ३२ ।।

विद्याधरगणाश्चैव ये च तत्र वनौकसः ।
न त्वर्जुनं महाबाहो नापि कृष्णं जनार्दनम् ।। ३३ ।।
निरीक्षितुं वै शक्नोति कश्चिद् योद्धुं कुतः पुनः ।

उस वनमें रहनेवाले जो विद्याधर-जातिके लोग थे, उनकी भी यही दशा थी। महाबाहो! उस समय कोई श्रीकृष्ण और अर्जुनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता था; फिर युद्ध करनेकी तो बात ही क्या है ।। ३३½ ।।

एकायनगता येऽपि निष्पेतुस्तत्र केचन ।। ३४ ।।
राक्षसा दानवा नागा जघ्ने चक्रेण तान् हरिः ।

जो कोई राक्षस, दानव और नाग वहाँ एक साथ संघ बनाकर निकलते थे, उन सबको भगवान् श्रीहरि चक्रद्वारा मार देते थे ।। ३४½ ।।

ते तु भिन्नशिरोदेहाश्चक्रवेगाद् गतासवः ।। ३५ ।।
पेतुरन्ये महाकायाः प्रदीप्ते वसुरेतसि ।

वे तथा दूसरे विशालकाय प्राणी चक्रके वेगसे शरीर और मस्तक छिन्न-भिन्न हो जानेके कारण निर्जीव हो प्रज्वलित आगमें गिर पड़ते थे ।। ३५½ ।।

स मांसरुधिरौघैश्च वसाभिश्चापि तर्पितः ।। ३६ ।।
उपर्याकाशगो भूत्वा विधूमः समपद्यत ।
दीप्ताक्षो दीप्तजिह्वश्च सम्प्रदीप्तमहाननः ।। ३७ ।।

इस प्रकार वनजन्तुओंके मांस, रुधिर और मेदेके समूहसे अत्यन्त तृप्त हो अग्निदेव ऊपर आकाशचारी होकर धूमरहित हो गये। उनकी आँखें चमक उठीं, जिह्वामें दीप्ति आ गयी और उनका विशाल मुख भी अत्यन्त तेजसे प्रकाशित होने लगा ।। ३६-३७ ।।

दीप्तोर्ध्वकेशः पिङ्गाक्षः पिबन् प्राणभृतां वसाम् ।
तां स कृष्णार्जुनकृतां सुधां प्राप्य हुताशनः ।। ३८ ।।
बभूव मुदितस्तृप्तः परां निर्वृतिमागतः ।

उनके चमकीले केश ऊपरकी ओर उठे हुए थे, आँखें पिंगलवर्णकी थीं और वे प्राणियोंके मेदेका रस पी रहे थे। श्रीकृष्ण और अर्जुनका दिया हुआ वह इच्छानुसार भोजन पाकर अग्निदेव बड़े प्रसन्न और पूर्ण तृप्त हो गये। उन्हें बड़ी शान्ति मिली ।। ३८½ ।।

तथासुरं मयं नाम तक्षकस्य निवेशनात् ।। ३९ ।।

विप्रद्रवन्तं सहसा ददर्श मधुसूदनः ।

इसी समय तक्षकके निवासस्थानसे निकलकर सहसा भागते हुए मयासुरपर भगवान् मधुसूदनकी दृष्टि पड़ी ।। ३९½ ।।

तमग्निः प्रार्थयामास दिधक्षुर्वातसारथिः ।। ४० ।।
शरीरवाञ्जटी भूत्वा नदन्निव बलाहकः ।

वातसारथि अग्निदेव मूर्तिमान् हो सिरपर जटा धारण किये मेघके समान गर्जना करने लगे और उस असुरको जला डालनेकी इच्छासे माँगने लगे ।। ४०½ ।।

विज्ञाय दानवेन्द्राणां मयं वै शिल्पिनां वरम् ।। ४१ ।।
जिघांसुर्वासुदेवस्तं चक्रमुद्यम्य धिष्ठितः ।
स चक्रमुद्यतं दृष्ट्वा दिधक्षन्तं च पावकम् ।। ४२ ।।
अभिधावार्जुनेत्येवं मयस्त्राहीति चाब्रवीत् ।

मय दानवेन्द्रोंके शिल्पियोंमें श्रेष्ठ था, उसे पहचानकर भगवान् वासुदेव उसका वध करनेके लिये चक्र लेकर खड़े हो गये। मयने देखा एक ओर मुझे मारनेके लिये चक्र उठा है, दूसरी ओर अग्निदेव मुझे भस्म कर डालना चाहते हैं; तब वह अर्जुनकी शरणमें गया और बोला—'अर्जुन! दौड़ो मुझे बचाओ, बचाओ' ।। ४१-४२½ ।।

तस्य भीतस्वनं श्रुत्वा मा भैरिति धनंजयः ।। ४३ ।।

प्रत्युवाच मयं पार्थो जीवयन्निव भारत ।

भारत! उसका भययुक्त स्वर सुनकर कुन्तीकुमार धनंजयने उसे जीवनदान देते हुए कहा—‘डरो मत’ ।। ४३½ ।।

तं न भेतव्यमित्याह मयं पार्थो दयापरः ।। ४४ ।।

अर्जुनके मनमें दया आ गयी थी, अतः उन्होंने मयासुरसे फिर कहा—‘तुम्हें डरना नहीं चाहिये’ ।। ४४ ।।

तं पार्थेनाभये दत्ते नमुचेर्भ्रातरं मयम् ।
न हन्तुमैच्छद् दाशार्हः पावको न ददाह च ।। ४५ ।।

अर्जुनके अभयदान देनेपर भगवान् श्रीकृष्णने नमुचिके भ्राता मयासुरको मारनेकी इच्छा त्याग दी और अग्निदेवने भी उसे नहीं जलाया ।। ४५ ।।

वैशम्पायन उवाच

तद् वनं पावको धीमान् दिनानि दश पञ्च च ।
ददाह कृष्णपार्थाभ्यां रक्षितः पाकशासनात् ।। ४६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—परम बुद्धिमान् अग्निदेवने श्रीकृष्ण और अर्जुनके द्वारा इन्द्रके आक्रमणसे सुरक्षित रहकर खाण्डववनको पंद्रह दिनोंतक जलाया ।। ४६ ।।

तस्मिन् वने दह्यमाने षडग्निर्न ददाह च ।
अश्वसेनं मयं चैव चतुरः शार्ङ्गकांस्तथा ।। ४७ ।।

उस वनके जलाये जाते समय अश्वसेन नाग, मयासुर तथा चार शार्ङ्गक नामवाले पक्षियोंको अग्निने नहीं जलाया ।। ४७ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि मयदानवत्राणे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें मयदानवकी रक्षाविषयक दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२७ ।।

अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शार्ङ्गकोपाख्यान—मन्दपाल मुनिके द्वारा जरिता-शार्ङ्गिकासे पुत्रोंकी उत्पत्ति और उन्हें बचानेके लिये मुनिका अग्निदेवकी स्तुति करना

जनमेजय उवाच

किमर्थं शार्ङ्गकानग्निर्न ददाह तथागते ।
तस्मिन् वने दह्यमाने ब्रह्मन्नेतत् प्रचक्ष्व मे ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! इस प्रकार सारे वनके जलाये जानेपर भी अग्निदेवने उन चारों शाङ्‍र्गकोंको क्यों दग्ध नहीं किया? यह मुझे बताइये ।। १ ।।

अदाहे ह्यश्वसेनस्य दानवस्य मयस्य च ।
कारणं कीर्तितं ब्रह्मञ्छार्ङ्गकाणां न कीर्तितम् ।। २ ।।

विप्रवर! आपने अश्वसेन नाग तथा मयदानवके न जलनेका कारण तो बताया है; परंतु शाङ्‍र्गकोंके दग्ध न होनेका कारण नहीं कहा है ।। २ ।।

तदेतदद्‌भुतं ब्रह्मञ्छार्ङ्गकाणामनामयम् ।
कीर्तयस्वाग्निसम्मर्दे कथं ते न विनाशिताः ।। ३ ।।

ब्रह्मन्! उस भयानक अग्निकाण्डमें उन शाङ्‍र्गकोंका सकुशल बच जाना, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। कृपया बताइये, उनका नाश कैसे नहीं हुआ? ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

यदर्थं शार्ङ्गकानग्निर्न ददाह तथागते ।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि यथाभूतमरिंदम ।। ४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन जनमेजय! वैसे भयंकर अग्निकाण्डमें भी अग्निदेवने जिस कारणसे शाङ्‍र्गकोंको दग्ध नहीं किया और जिस प्रकार वह घटना घटित हुई, वह सब मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो ।। ४ ।।

धर्मज्ञानां मुख्यतमस्तपस्वी संशितव्रतः ।
आसीन्महर्षिः श्रुतवान् मन्दपाल इति श्रुतः ।। ५ ।।

मन्दपाल नामसे विख्यात एक विद्वान् महर्षि थे। वे धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ और कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी थे ।। ५ ।।

स मार्गमाश्रितो राजन्नृषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
स्वाध्यायवान् धर्मरतस्तपस्वी विजितेन्द्रियः ।। ६ ।।

राजन्! वे ऊर्ध्वरेता मुनियोंके मार्ग (ब्रह्मचर्य)-का आश्रय लेकर सदा वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न और धर्मपालनमें तत्पर रहते थे। उन्होंने सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें कर लिया था और वे सदा तपस्यामें ही लगे रहते थे ।। ६ ।।

स गत्वा तपसः पारं देहमुत्सृज्य भारत ।
जगाम पितृलोकाय न लेभे तत्र तत्फलम् ।। ७ ।।

भारत! वे अपनी तपस्याको पूरी करके शरीरका त्याग करनेपर पितृलोकमें गये; किंतु वहाँ उन्हें अपने तप एवं सत्कर्मोंका फल नहीं मिला ।। ७ ।।

स लोकानफलान् दृष्ट्वा तपसा निर्जितानपि ।
पप्रच्छ धर्मराजस्य समीपस्थान् दिवौकसः ।। ८ ।।

उन्होंने तपस्याद्वारा वशमें किये हुए लोकोंको भी निष्फल देखकर धर्मराजके पास बैठे हुए देवताओंसे पूछा ।। ८ ।।

मन्दपाल उवाच

किमर्थमावृता लोका ममैते तपसार्जिताः ।
किं मया न कृतं तत्र यस्यैतत् कर्मणः फलम् ।। ९ ।।

मन्दपाल बोले—देवताओ! मेरी तपस्याद्वारा प्राप्त हुए ये लोक बंद क्यों हैं? (उपभोगके साधनोंसे शून्य क्यों हैं?) मैंने वहाँ कौन-सा सत्कर्म नहीं किया है, जिसका फल मुझे इस रूपमें मिला है ।। ९ ।।

तत्राहं तत् करिष्यामि यदर्थमिदमावृतम् ।
फलमेतस्य तपसः कथयध्वं दिवौकसः ।। १० ।।

जिसके लिये इस तपस्याका फल ढका हुआ है, मैं उस लोकमें जाकर वह कर्म करूँगा। आपलोग मुझसे उसको बताइये ।। १० ।।

देवा ऊचुः

ऋणिनो मानवा ब्रह्मन् जायन्ते येन तच्छृणु ।
क्रियाभिर्ब्रह्मचर्येण प्रजया च न संशयः ।। ११ ।।
तदपाक्रियते सर्वं यज्ञेन तपसा श्रुतैः ।
तपस्वी यज्ञकृच्चासि न च ते विद्यते प्रजा ।। १२ ।।

देवताओंने कहा—ब्रह्मन्! मनुष्य जिस ऋणसे ऋणी होकर जन्म लेते हैं, उसे सुनिये। यज्ञकर्म, ब्रह्मचर्यपालन और प्रजाकी उत्पत्ति—इन तीनोंके लिये सभी मनुष्योंपर ऋण रहता है, इसमें संशय नहीं है। यज्ञ, तपस्या और वेदाध्ययनके द्वारा वह सारा ऋण दूर किया जाता है। आप तपस्वी और यज्ञकर्ता तो हैं ही, आपके कोई संतान नहीं है ।। ११-१२ ।।

त इमे प्रसवस्यार्थे तव लोकाः समावृताः ।
प्रजायस्व ततो लोकानुपभोक्ष्यसि पुष्कलान् ।। १३ ।।

अतः संतानके लिये ही आपके ये लोक ढके हुए हैं। इसलिये पहले संतान उत्पन्न कीजिये, फिर अपने प्रचुर पुण्यलोकोंका फल भोगियेगा ।। १३ ।।

पुंनाम्नो नरकात् पुत्रस्त्रायते पितरं श्रुतिः ।
तस्मादपत्यसंताने यतस्व ब्रह्मसत्तम ।। १४ ।।

श्रुतिका कथन है कि पुत्र 'पुत्' नामक नरकसे पिताका उद्धार करता है। अतः विप्रवर! आप अपनी वंशपरम्पराको अविच्छिन्न बनानेका प्रयत्न कीजिये ।। १४ ।।

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा मन्दपालस्तु वचस्तेषां दिवौकसाम् ।
क्व नु शीघ्रमपत्यं स्याद् बहुलं चेत्यचिन्तयत् ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवताओंका वह वचन सुनकर मन्दपालने बहुत सोचा-विचारा कि कहाँ जानेसे मुझे शीघ्र संतान होगी ।। १५ ।।

स चिन्तयन्नभ्यगच्छत् सुबहुप्रसवान् खगान् ।
शार्ङ्गिकां शार्ङ्गिको भूत्वा जरितां समुपेयिवान् ।। १६ ।।

यह सोचते हुए वे अधिक बच्चे देनेवाले पक्षियोंके यहाँ गये और शार्ङ्गिक होकर जरिता नामवाली शार्ङ्गिकासे सम्बन्ध स्थापित किया ।। १६ ।।

तस्यां पुत्रानजनयच्चतुरो ब्रह्मवादिनः ।
तानपास्य स तत्रैव जगाम लपितां प्रति ।। १७ ।।
बालान् स तानण्डगतान् सह मात्रा मुनिर्वने ।

जरिताके गर्भसे चार ब्रह्मवादी पुत्रोंको मुनिने जन्म दिया। अंडेमें पड़े हुए उन बच्चोंको मातासहित वहीं छोड़कर वे मुनि वनमें लपिताके पास चले गये ।। १७½ ।।

तस्मिन् गते महाभागे लपितां प्रति भारत ।। १८ ।।
अपत्यस्नेहसंयुक्ता जरिता बह्वचिन्तयत् ।

भारत! महाभाग मन्दपाल मुनिके लपिताके पास चले जानेपर संतानके प्रति स्नेहयुक्त जरिताको बड़ी चिन्ता हुई ।। १८½ ।।

तेन त्यक्तानसंत्याज्यानृषीनण्डगतान् वने ।। १९ ।।
न जहौ पुत्रशोकार्ता जरिता खाण्डवे सुतान् ।
बभार चैतान् संजातान् स्ववृत्त्या स्नेहविप्लवा ।। २० ।।

अंडेमें स्थित उन मुनियोंको यद्यपि मन्दपालने त्याग दिया था, तो भी वे त्यागने योग्य नहीं थे। अतः पुत्र-शोकसे पीड़ित हुई जरिताने खाण्डववनमें अपने पुत्रोंको नहीं छोड़ा। वह स्नेहसे विह्वल होकर अपनी वृत्तिद्वारा उन नवजात शिशुओंका भरण-पोषण करती रही ।। १९-२० ।।

ततोऽग्निं खाण्डवं दग्धुमायान्तं दृष्टवानृषिः ।

मन्दपालश्चरंस्तस्मिन् वने लपितया सह ।। २१ ।।

उधर वनमें लपिताके साथ विचरते हुए मन्दपाल मुनिने अग्निदेवको खाण्डववनका दाह करनेके लिये आते देखा ।। २१ ।।

तं संकल्पं विदित्वाग्नेर्ज्ञात्वा पुत्रांश्च बालकान् ।
सोऽभितुष्टाव विप्रर्षिर्ब्राह्मणो जातवेदसम् ।। २२ ।।
पुत्रान् प्रति वदन् भीतो लोकपालं महौजसम् ।

अग्निदेवके संकल्पको जानकर और अपने पुत्रोंकी बाल्यावस्थाका विचार करके ब्रह्मर्षि मन्दपाल भयभीत होकर महातेजस्वी लोकपाल अग्निसे अपने पुत्रोंकी रक्षाके लिये निवेदन करते हुए (ईश्वरकी भाँति) उनकी स्तुति करने लगे ।। २२½ ।।

मन्दपाल उवाच

त्वमग्ने सर्वलोकानां मुखं त्वमसि हव्यवाट् ।। २३ ।।

मन्दपालने कहा—अग्निदेव! आप सब लोकोंके मुख हैं, आप ही देवताओंको हविष्य पहुँचाते हैं ।। २३ ।।

त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि पावक ।
त्वामेकमाहुः कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ।। २४ ।।

पावक! आप समस्त प्राणियोंके अन्तस्तलमें गूढ़-रूपसे विचरते हैं। विद्वान् पुरुष आपको एक (अद्वितीय ब्रह्मरूप) बताते हैं। फिर दिव्य, भौम और जठरानलरूपसे आपके त्रिविध स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं ।। २४ ।।

त्वामष्टधा कल्पयित्वा यज्ञवाहमकल्पयन् ।
त्वया विश्वमिदं सृष्टं वदन्ति परमर्षयः ।। २५ ।।

आपको ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और यजमान—इन आठ मूर्तियोंमें विभक्त करके ज्ञानी पुरुषोंने आपको यज्ञवाहन बनाया है। महर्षि कहते हैं कि इस सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि आपने ही की है ।। २५ ।।

त्वदृते हि जगत् कृत्स्नं सद्यो नश्येद् हुताशन ।
तुभ्यं कृत्वा नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम् ।। २६ ।।
गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम् ।

हुताशन! आपके बिना सम्पूर्ण जगत् तत्काल नष्ट हो जायगा। ब्राह्मणलोग आपको नमस्कार करके अपनी पत्नियों और पुत्रोंके साथ कर्मानुसार प्राप्त की हुई सनातन गतिको प्राप्त होते हैं ।। २६½ ।।

त्वामग्ने जलदानाहुः खे विषक्तान् सविद्युतः ।। २७ ।।

अग्ने! आकाशमें विद्युत्कें साथ मेघोंकी जो घटा घिर आती है, उसे भी आपका ही स्वरूप कहते हैं ।। २७ ।।

दहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः ।
जातवेदस्त्वयैवेदं विश्वं सृष्टं महाद्युते ।। २८ ।।

प्रलयकालमें आपसे ही भयंकर ज्वालाएँ निकलकर सम्पूर्ण प्राणियोंको भस्म कर डालती हैं। महान् तेजस्वी जातवेदा! आपसे ही यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है ।। २८ ।।

तवैव कर्म विहितं भूतं सर्वं चराचरम् ।
त्वयाऽऽपो विहिताः पूर्वं त्वयि सर्वमिदं जगत् ।। २९ ।।

तथा आपके ही द्वारा कर्मोंका विधान किया गया है और सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति भी आपसे ही हुई है। आपसे ही पूर्वकालमें जलकी सृष्टि हुई है और आपमें ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ।। २९ ।।

त्वयि हव्यं च कव्यं च यथावत् सम्प्रतिष्ठितम् ।
त्वमेव दहनो देव त्वं धाता त्वं बृहस्पतिः ।। ३० ।।
त्वमश्विनौ यमौ मित्रः सोमस्त्वमसि चानिलः ।

आपहीमें हव्य और कव्य यथावत् प्रतिष्ठित हैं। देव! आप ही दग्ध करनेवाले अग्नि, धारण-पोषण करनेवाले धाता और बुद्धिके स्वामी बृहस्पति हैं। आप ही युगल अश्विनीकुमार, मित्र (सूर्य), चन्द्रमा और वायु हैं ।। ३०½ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं स्तुतस्तदा तेन मन्दपालेन पावकः ।। ३१ ।।
तुतोष तस्य नृपते मुनेरमिततेजसः ।
उवाच चैनं प्रीतात्मा किमिष्टं करवाणि ते ।। ३२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! मन्दपाल मुनिके इस प्रकार स्तुति करनेपर अग्निदेव उन अमित-तेजस्वी महर्षिपर बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्नचित्त होकर उनसे बोले—'मैं आपके किस अभीष्ट कार्यकी सिद्धि करूँ?' ।। ३१-३२ ।।

तमब्रवीन्मन्दपालः प्राञ्जलिर्हव्यवाहनम् ।
प्रदहन् खाण्डवं दावं मम पुत्रान् विसर्जय ।। ३३ ।।

तब मन्दपालने हाथ जोड़कर हव्यवाहन अग्निसे कहा—'भगवन्! आप खाण्डववनका दाह करते समय मेरे पुत्रोंको बचा दें' ।। ३३ ।।

तथेति तत् प्रतिश्रुत्य भगवान् हव्यवाहनः ।
खाण्डवे तेन कालेन प्रजज्वाल दिधक्षया ।। ३४ ।।

'बहुत अच्छा' कहकर भगवान् हव्यवाहनने वैसा करनेकी प्रतिज्ञा की और उस समय खाण्डववनको जलानेके लिये वे प्रज्वलित हो उठे ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि
शार्ङ्गकोपाख्यानेऽष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गकोपाख्यानविषयक दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२८ ।।

एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

जरिताका अपने बच्चोंकी रक्षाके लिये चिन्तित होकर विलाप करना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रज्वलिते वह्नौ शार्ङ्गकास्ते सुदुःखिताः ।
व्यथिताः परमोद्विग्ना नाधिजग्मुः परायणम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर जब आग प्रज्वलित हुई, तब वे शाङ्र्गक शिशु बहुत दुःखी, व्यथित और अत्यन्त उद्विग्न हो गये। उस समय उन्हें अपना कोई रक्षक नहीं जान पड़ता था ।। १ ।।

निशम्य पुत्रकान् बालान् माता तेषां तपस्विनी ।
जरिता शोकदुःखार्ता विललाप सुदुःखिता ।। २ ।।

उन बच्चोंको छोटे जानकर उनकी तपस्विनी माता शोक और दुःखसे आतुर हुई जरिता बहुत दुःखी होकर विलाप करने लगी ।। २ ।।

जरितोवाच

अयमग्निर्दहन् कक्षमित आयाति भीषणः ।
जगत् संदीपयन् भीमो मम दुःखविवर्धनः ।। ३ ।।

जरिता बोली—यह भयानक आग इस वनको जलाती हुई इधर ही बढ़ी आ रही है। जान पड़ता है, यह सम्पूर्ण जगत्‌को भस्म कर डालेगी। इसका स्वरूप भयंकर और मेरे दुःखको बढ़ानेवाला है ।। ३ ।।

इमे च मां कर्षयन्ति शिशवो मन्दचेतसः ।
अबर्हाश्चरणैर्हीनाः पूर्वेषां नः परायणाः ।। ४ ।।

ये सांसारिक ज्ञानसे शून्य चित्तवाले शिशु मुझे अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इन्हें पाँखें नहीं निकलीं और अभीतक ये पैरोंसे भी हीन हैं, हमारे पितरोंके ये ही आधार हैं ।। ४ ।।

त्रासयंश्चायमायाति लेलिहानो महीरुहान् ।
अजातपक्षाश्च सुता न शक्ताः सरणे मम ।। ५ ।।

सबको त्रास देती और वृक्षोंको चाटती हुई यह आगकी लपट इधर ही चली आ रही है। हाय! मेरे बच्चे बिना पंखके हैं, मेरे साथ उड़ नहीं सकते ।। ५ ।।

आदाय च न शक्नोमि पुत्रांस्तरितुमात्मना ।
न च त्यक्तुमहं शक्ता हृदयं दूयतीव मे ।। ६ ।।

मैं स्वयं भी इन्हें लेकर इस आगसे पार नहीं हो सकूँगी। इन्हें छोड़ भी नहीं सकती। मेरे हृदयमें इनके लिये बड़ी व्यथा हो रही है ।। ६ ।।

कं तु जह्यामहं पुत्रं कमादाय व्रजाम्यहम् ।
किं नु मे स्यात् कृतं कृत्वा मन्यध्वं पुत्रकाः कथम् ।। ७ ।।

मैं किस बच्चेको छोड़ दूँ और किसे साथ लेकर जाऊँ? क्या करनेसे कृतकृत्य हो सकती हूँ? मेरे बच्चो! तुमलोगोंकी क्या राय है? ।। ७ ।।

चिन्तयाना विमोक्षं वो नाधिगच्छामि किंचन ।
छादयिष्यामि वो गात्रैः करिष्ये मरणं सह ।। ८ ।।

मैं तुमलोगोंके छुटकारेका उपाय सोचती हूँ; किंतु कुछ भी समझमें नहीं आता। अच्छा; अपने अंगोंसे तुमलोगोंको ढक लूँगी और तुम्हारे साथ ही मैं भी मर जाऊँगी ।। ८ ।।

जरितारौ कुलं ह्येतज्ज्येष्ठत्वेन प्रतिष्ठितम् ।
सारिसृक्कः प्रजायेत पितॄणां कुलवर्धनः ।। ९ ।।
स्तम्बमित्रस्तपः कुर्याद् द्रोणो ब्रह्मविदां वरः ।
इत्येवमुक्त्वा प्रययौ पिता वो निर्घृणः पुरा ।। १० ।।

पुत्रो! तुम्हारे निर्दयी पिता पहले ही यह कहकर चल दिये कि 'जरितारि ज्येष्ठ है, अतः इस कुलकी रक्षाका भार इसीपर होगा। दूसरा पुत्र सारिसृक्क अपने पितरोंके कुलकी वृद्धि करनेवाला होगा। स्तम्बमित्र तपस्या करेगा और द्रोण ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ होगा' ।। ९-१० ।।

कमुपादाय शक्येयं गन्तुं कष्टापदुत्तमा ।
किं नु कृत्वा कृतं कार्यं भवेदिति च विह्वला ।
नापश्यत् स्वधिया मोक्षं स्वसुतानां तदानलात् ।। ११ ।।

हाय! मुझपर बड़ी भारी कष्टदायिनी आपत्ति आ पड़ी। इन चारों बच्चोंमेंसे किसको लेकर मैं इस आगको पार कर सकूँगी। क्या करनेसे मेरा कार्य सिद्ध हो सकता है?

इस प्रकार विचार करते-करते जरिता अत्यन्त विह्वल हो गयी; परंतु अपने पुत्रोंको उस आगसे बचानेका कोई उपाय उस समय उसके ध्यानमें नहीं आया ।। ११ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणां शार्ङ्गास्ते प्रत्यूचुरथ मातरम् ।
स्नेहमुत्सृज्य मातस्त्वं पत यत्र न हव्यवाट् ।। १२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार बिलखती हुई अपनी मातासे वे शाङ्‍र्गपक्षीके बच्चे बोले—'माँ! तुम स्नेह छोड़कर जहाँ आग न हो, उधर उड़ जाओ ।। १२ ।।

अस्मास्विह विनष्टेषु भवितारः सुतास्तव ।
त्वयि मातर्विनष्टायां न नः स्यात् कुलसंततिः ।। १३ ।।

'माँ! यदि हम यहाँ नष्ट हो जायँ तो भी तुम्हारे दूसरे बच्चे हो सकते हैं; परंतु तुम्हारे नष्ट हो जानेपर तो हमारे इस कुलकी परम्परा ही लुप्त हो जायगी ।। १३ ।।

अन्ववेक्ष्यैतदुभयं क्षेमं स्याद् यत् कुलस्य नः ।
तद् वै कर्तुं परः कालो मातरेष भवेत् तव ।। १४ ।।

'माँ! इन दोनों बातोंपर विचार करके जिस प्रकार हमारे कुलका कल्याण हो, वही करनेको तुम्हारे लिये यह उत्तम अवसर है ।। १४ ।।

मा त्वं सर्वविनाशाय स्नेहं कार्षीः सुतेषु नः ।
न हीदं कर्म मोघं स्याल्लोककामस्य नः पितुः ।। १५ ।।

'तुम हम सब पुत्रोंपर ऐसा स्नेह न करो, जिससे सबका विनाश हो जाय। उत्तम लोककी इच्छा रखनेवाले मेरे पिताका यह कर्म व्यर्थ न हो जाय' ।। १५ ।।

जरितोवाच

इदमाखोर्बिलं भूमौ वृक्षस्यास्य समीपतः ।
तदाविशध्वं त्वरिता वह्नेरत्र न वो भयम् ।। १६ ।।

जरिता बोली—मेरे बच्चो! इस वृक्षके पास भूमिमें यह चूहेका बिल है। तुमलोग जल्दी-से-जल्दी इसके भीतर घुस जाओ। इसके भीतर तुम्हें आगसे भय नहीं है ।। १६ ।।

ततोऽहं पांसुना छिद्रमपिधास्यामि पुत्रकाः ।
एवं प्रतिकृतं मन्ये ज्वलतः कृष्णवर्त्मनः ।। १७ ।।

तुमलोगोंके घुस जानेपर मैं इस बिलका छेद धूलसे बंद कर दूँगी। बच्चो! मेरा विश्वास है, ऐसा करनेसे इस जलती आगसे तुम्हारा बचाव हो सकेगा ।। १७ ।।

तत एष्याम्यतीतेऽग्नौ विहन्तुं पांसुसंचयम् ।
रोचतामेष वो वादो मोक्षार्थं च हुताशनात् ।। १८ ।।

फिर आग बुझ जानेपर मैं धूल हटानेके लिये यहाँ आ जाऊँगी। आगसे बचनेके लिये मेरी यह बात तुमलोगोंको पसंद आनी चाहिये ।। १८ ।।

शाङ्‌र्गका ऊचुः

अबर्हान् मांसभूतान् नः क्रव्यादाखुर्विनाशयेत् ।
पश्यमाना भयमिदं प्रवेष्टुं नात्र शक्नुमः ।। १९ ।।

शाङ्‌र्गक बोले—अभी हम बिना पंखोंके बच्चे हैं, हमारा शरीर मांसका लोथड़ामात्र है। चूहा मांसभक्षी जीव है, वह हमें नष्ट कर देगा। इस भयको देखते हुए हम इस बिलमें प्रवेश नहीं कर सकते ।। १९ ।।

कथमग्निर्न नो धक्ष्येत् कथमाखुर्न नाशयेत् ।
कथं न स्यात् पिता मोघः कथं माता ध्रियेत नः ।। २० ।।

हम तो यह सोचते हैं कि क्या उपाय हो, जिससे अग्नि हमें न जलावे, चूहा हमें न मारे एवं हमारे पिताका संतानोत्पादनविषयक प्रयत्न निष्फल न हो और हमारी माता भी जीवित रहे? ।। २० ।।

बिल आखोर्विनाशः स्यादग्नेराकाशचारिणाम् ।
अन्ववेक्ष्यैतदुभयं श्रेयान् दाहो न भक्षणम् ।। २१ ।।

बिलमें चूहेसे हमारा विनाश हो जायगा और आकाशमें उड़नेपर अग्निसे। इन दोनों परिणामोंपर विचार करनेसे हमें आगसे जल जाना ही श्रेष्ठ जान पड़ता है, चूहेका भोजन बनना नहीं ।। २१ ।।

गर्हितं मरणं नः स्यादाखुना भक्षिते बिले ।
शिष्टादिष्टः परित्यागः शरीरस्य हुताशनात् ।। २२ ।।

यदि हमलोगोंको बिलमें चूहेने खा लिया तो वह हमारी निन्दित मृत्यु होगी। आगसे जलकर शरीरका परित्याग करनेके लिये शिष्ट पुरुषोंकी आज्ञा है ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि जरिताविलापे एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें जरिताविलापविषयक दो सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२९ ।।

त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

जरिता और उसके बच्चोंका संवाद

जरितोवाच

अस्माद् बिलान्निष्पतितमाखुं श्येनो जहार तम् ।
क्षुद्रं पद्भ्यां गृहीत्वा च यातो नात्र भयं हि वः ।। १ ।।

जरिताने कहा—बच्चो! चूहा इस बिलसे निकला था, उस समय उसे बाज उठा ले गया; उस छोटेसे चूहेको वह अपने दोनों पंजोंसे पकड़कर उड़ गया। अतः अब इस बिलमें तुम्हारे लिये भय नहीं है ।। १ ।।

शाङ्‍र्गका ऊचुः

न हृतं तं वयं विद्मः श्येनेनाखुं कथंचन ।
अन्येऽपि भवितारोऽत्र तेभ्योऽपि भयमेव नः ।। २ ।।

शाङ्‍र्गक बोले—हम किसी तरह यह नहीं समझ सकते कि बाज चूहेको उठा ले गया। उस बिलमें दूसरे चूहे भी तो हो सकते हैं; हमारे लिये तो उनसे भी भय ही है ।। २ ।।

संशयो वह्निरागच्छेद् दृष्टं वायोर्निवर्तनम् ।
मृत्युर्नो बिलवासिभ्यो बिले स्यान्नात्र संशयः ।। ३ ।।

आग यहाँतक आयेगी, इसमें संदेह है; क्योंकि वायुके वेगसे अग्निका दूसरी ओर पलट जाना भी देखा गया है। परंतु बिलमें तो उसके भीतर रहनेवाले जीवोंसे हमारी मृत्यु होनेमें कोई संशय ही नहीं है ।। ३ ।।

निःसंशयात् संशयितो मृत्युर्मातर्विशिष्यते ।
चर खे त्वं यथान्यायं पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ।। ४ ।।

माँ! संशयरहित मृत्युसे संशययुक्त मृत्यु अच्छी है (क्योंकि उसमें बच जानेकी भी आशा होती है); अतः तुम आकाशमें उड़ जाओ। तुम्हें फिर (धर्मानुकूल रीतिसे) सुन्दर पुत्रोंकी प्राप्ति हो जायगी ।। ४ ।।

जरितोवाच

अहं वेगेन तं यान्तमद्राक्षं पततां वरम् ।
बिलादाखुं समादाय श्येनं पुत्रा महाबलम् ।। ५ ।।
तं पतन्तं महावेगात् त्वरिता पृष्ठतोऽन्वगाम् ।
आशिषोऽस्य प्रयुञ्जाना हरतो मूषिकं बिलात् ।। ६ ।।

जरिताने कहा—बच्चो! जब पक्षियोंमें श्रेष्ठ महाबली बाज बिलसे चूहेको लेकर वेगपूर्वक उड़ा जा रहा था, उस समय महान् वेगसे उड़नेवाले उस बाजके पीछे मैं भी बड़ी

तीव्र गतिसे गयी और बिलसे चूहेको ले जानेके कारण उसे आशीर्वाद देती हुई बोली — ।। ५-६ ।।

यो नो द्वेष्टारमादाय श्येनराज प्रधावसि ।
भव त्वं दिवमास्थाय निरमित्रो हिरण्मयः ।। ७ ।।

'श्येनराज! तुम मेरे शत्रुको लेकर उड़े जा रहे हो, इसलिये स्वर्गमें जानेपर तुम्हारा शरीर सोनेका हो जाय और तुम्हारे कोई शत्रु न रह जाय' ।। ७ ।।

स यदा भक्षितस्तेन श्येनेनाखुः पतत्त्रिणा ।
तदाहं तमनुज्ञाप्य प्रत्युपायां पुनर्गृहम् ।। ८ ।।

जब उस पक्षिप्रवर बाजने चूहेको खा लिया, तब मैं उसकी आज्ञा लेकर पुनः घर लौट आयी ।। ८ ।।

प्रविशध्वं बिलं पुत्रा विश्रब्धा नास्ति वो भयम् ।
श्येनेन मम पश्यन्त्या हृत आखुर्महात्मना ।। ९ ।।

अतः बच्चो! तुमलोग विश्वासपूर्वक बिलमें घुसो। वहाँ तुम्हारे लिये भय नहीं है। महान् बाजने मेरी आँखोंके सामने ही चूहेका अपहरण किया था ।। ९ ।।

शाङ्‍र्गका ऊचुः

न विद्महे हृतं मातः श्येनेनाखुं कथंचन ।
अविज्ञाय न शक्यामः प्रवेष्टुं विवरं भुवः ।। १० ।।

शाङ्‍र्गका बोले—माँ! बाजने चूहेको पकड़ लिया, इसको हम नहीं जानते और जाने बिना हम इस बिलमें कभी प्रवेश नहीं कर सकते ।। १० ।।

जरितोवाच

अहं तमभिजानामि हृतं श्येनेन मूषिकम् ।
नास्ति वोऽत्र भयं पुत्राः क्रियतां वचनं मम ।। ११ ।।

जरिताने कहा—बेटो! मैं जानती हूँ, बाजने अवश्य चूहेको पकड़ लिया। तुमलोग मेरी बात मानो। इस बिलमें तुम्हें कोई भय नहीं है ।। ११ ।।

शाङ्‍र्गका ऊचुः

न त्वं मिथ्योपचारेण मोक्षयेथा भयाद्धि नः ।
समाकुलेषु ज्ञानेषु न बुद्धिकृतमेव तत् ।। १२ ।।

शाङ्‍र्गका बोले—माँ! तुम झूठे बहाने बनाकर हमें भयसे छुड़ानेकी चेष्टा न करो। संदिग्ध कार्योंमें प्रवृत्त होना बुद्धिमानीका काम नहीं है ।। १२ ।।

न चोपकृतमस्माभिर्न चास्मान् वेत्थ ये वयम् ।
पीड्यमाना बिभर्ष्यस्मान् का सती के वयं तव ।। १३ ।।

हमने तुम्हारा कोई उपकार नहीं किया है और हम पहले कौन थे, इस बातको भी तुम नहीं जानतीं। फिर तुम क्यों कष्ट सहकर हमारी रक्षा करना चाहती हो? तुम हमारी कौन हो और हम तुम्हारे कौन हैं? ।। १३ ।।

तरुणी दर्शनीयासि समर्था भर्तुरेषणे ।

अनुगच्छ पतिं मातः पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ।। १४ ।।

माँ! अभी तुम्हारी तरुण अवस्था है, तुम दर्शनीय सुन्दरी हो और पतिके अन्वेषणमें समर्थ भी हो। अतः पतिका ही अनुसरण करो। तुम्हें फिर सुन्दर पुत्र मिल जायँगे ।। १४ ।।

वयमग्निं समाविश्य लोकानाप्स्याम शोभनान् ।

अथास्मान् न दहेदग्निरायास्त्वं पुनरेव नः ।। १५ ।।

हम आगमें जलकर उत्तम लोक प्राप्त करेंगे और यदि अग्निने हमें नहीं जलाया तो तुम फिर हमारे पास चली आना ।। १५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता ततः शार्ङ्गी पुत्रानुत्सृज्य खाण्डवे ।

जगाम त्वरिता देशं क्षेममग्नेरनामयम् ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बच्चोंके ऐसा कहनेपर शाङ्‍र्गी उन्हें खाण्डववनमें छोड़कर तुरंत ऐसे स्थानमें चली गयी, जहाँ आगसे कुशलपूर्वक बिना किसी कष्टके बच जानेकी सम्भावना थी ।। १६ ।।

ततस्तीक्ष्णार्चिरभ्यागात् त्वरितो हव्यवाहनः ।

यत्र शार्ङ्गा बभूवुस्ते मन्दपालस्य पुत्रकाः ।। १७ ।।

तदनन्तर तीखी लपटोंवाले अग्निदेव तुरंत वहाँ आ पहुँचे, जहाँ मन्दपालके पुत्र शाङ्‍र्गक पक्षी मौजूद थे ।। १७ ।।

ततस्तं ज्वलितं दृष्ट्वा ज्वलनं ते विहंगमाः ।

जरितारिस्ततो वाक्यं श्रावयामास पावकम् ।। १८ ।।

तब उस जलती हुई आगको देखकर वे पक्षी आपसमें वार्तालाप करने लगे। उनमेंसे जरितारिने अग्निदेवको यह बात सुनायी ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २३० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शाङ्‍र्गकोपाख्यानविषयक दो सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३० ।।

एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शार्ङ्गकोंके स्तवनसे प्रसन्न होकर अग्निदेवका उन्हें अभय देना

जरितारिरुवाच

पुरतः कृच्छ्रकालस्य धीमाञ्जागर्ति पूरुषः ।
स कृच्छ्रकालं सम्प्राप्य व्यथां नैवैति कर्हिचित् ।। १ ।।

जरितारि बोला—बुद्धिमान् पुरुष संकटकाल आनेके पहले ही सजग हो जाता है, वह संकटका समय आ जानेपर कभी व्यथित नहीं होता ।। १ ।।

यस्तु कृच्छ्रमनुप्राप्तं विचेता नावबुध्यते ।
स कृच्छ्रकाले व्यथितो न श्रेयो विन्दते महत् ।। २ ।।

जो मूढ़चित्त जीव आनेवाले संकटको नहीं जानता, वह संकटके समय व्यथित होनेके कारण महान् कल्याणसे वंचित रह जाता है ।। २ ।।

सारिसृक्क उवाच

धीरस्त्वमसि मेधावी प्राणकृच्छ्रमिदं च नः ।
प्राज्ञः शूरो बहूनां हि भवत्येको न संशयः ।। ३ ।।

सारिसृक्कने कहा—भैया! तुम धीर और बुद्धिमान् हो और हमारे लिये यह प्राणसंकटका समय है (अतः इससे तुम्हीं हमारी रक्षा कर सकते हो); क्योंकि बहुतोंमें कोई एक ही बुद्धिमान् और शूरवीर होता है, इसमें संशय नहीं है ।। ३ ।।

स्तम्बमित्र उवाच

ज्येष्ठस्तातो भवति वै ज्येष्ठो मुञ्चति कृच्छ्रतः ।
ज्येष्ठश्चेन्न प्रजानाति कनीयान् किं करिष्यति ।। ४ ।।

स्तम्बमित्र बोला—बड़ा भाई पिताके तुल्य है, बड़ा भाई ही संकटसे छुड़ाता है। यदि बड़ा भाई ही आनेवाले भय और उससे बचनेके उपायको न जाने तो छोटा भाई क्या करेगा? ।। ४ ।।

द्रोण उवाच

हिरण्यरेतास्त्वरितो ज्वलन्नायाति नः क्षयम् ।
सप्तजिह्वाननः क्रूरो लेलिहानो विसर्पति ।। ५ ।।

द्रोणने कहा—यह जाज्वल्यमान अग्नि हमारे घोंसलेकी ओर तीव्र वेगसे आ रहा है। इसके मुखमें सात जिह्वाएँ हैं और यह क्रूर अग्नि समस्त वृक्षोंको चाटता हुआ सब ओर

फैल रहा है ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाष्य तेऽन्योन्यं मन्दपालस्य पुत्रकाः ।
तुष्टुवुः प्रयता भूत्वा यथाग्निं शृणु पार्थिव ।। ६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार आपसमें बातें करके मन्दपालके वे पुत्र एकाग्रचित्त हो अग्निदेवकी स्तुति करने लगे; वह स्तुति सुनो ।। ६ ।।

जरितारिरुवाच

आत्मासि वायोर्ज्वलन शरीरमसि वीरुधाम् ।
योनिरापश्च ते शुक्रं योनिस्त्वमसि चाम्भसः ।। ७ ।।

जरितारिने कहा—अग्निदेव! आप वायुके आत्मस्वरूप और वनस्पतियोंके शरीर हैं। तृण-लता आदिकी योनि पृथ्वी और जल तुम्हारे वीर्य हैं, जलकी योनि भी तुम्हीं हो ।। ७ ।।

ऊर्ध्वं चाधश्च सर्पन्ति पृष्ठतः पार्श्वतस्तथा ।
अर्चिषस्ते महावीर्य रश्मयः सवितुर्यथा ।। ८ ।।

महावीर्य! आपकी ज्वालाएँ सूर्यकी किरणोंके समान ऊपर-नीचे, आगे-पीछे तथा अगल-बगल सब ओर फैल रही हैं ।। ८ ।।

सारिसृक्क उवाच

माता प्रणष्टा पितरं न विद्मः
पक्षा जाता नैव नो धूमकेतो ।
न नस्त्राता विद्यते वै त्वदन्य-
स्तस्मादस्मांस्त्राहि बालांस्त्वमग्ने ।। ९ ।।

सारिसृक्क बोला—धूममयी ध्वजासे सुशोभित अग्निदेव! हमारी माता चली गयी, पिताका भी हमें पता नहीं है और हमारे अभी पंखतक नहीं निकले हैं। हमारा आपके सिवा दूसरा कोई रक्षक नहीं है; अतः आप ही हम बालकोंकी रक्षा करें ।। ९ ।।

यदग्ने ते शिवं रूपं ये च ते सप्त हेतयः ।
तेन नः परिपाहि त्वमार्त्तान् वै शरणैषिणः ।। १० ।।

अग्ने! आपका जो कल्याणमय स्वरूप है तथा आपकी जो सात ज्वालाएँ हैं, उन सबके द्वारा आप शरणमें आनेकी इच्छावाले हम आर्त प्राणियोंकी रक्षा कीजिये ।। १० ।।

त्वमेवैकस्तपसे जातवेदो
नान्यस्तप्ता विद्यते गोषु देव ।
ऋषीनस्मान् बालकान् पालयस्व
परेणास्मान् प्रेहि वै हव्यवाह ।। ११ ।।

जातवेदा! एकमात्र आप ही सर्वत्र तपते हैं। देव! सूर्यकी किरणोंमें तपनेवाला पुरुष भी आपसे भिन्न नहीं है। हव्यवाहन! हम बालक ऋषि हैं; हमारी रक्षा कीजिये। हमसे दूर चले जाइये ।। ११ ।।

स्तम्बमित्र उवाच

सर्वमग्ने त्वमेवैकस्त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
त्वं धारयसि भूतानि भुवनं त्वं बिभर्षि च ।। १२ ।।

स्तम्बमित्रने कहा—अग्ने! एकमात्र आप ही सब कुछ हैं, यह सम्पूर्ण जगत् आपमें ही प्रतिष्ठित है। आप ही प्राणियोंका पालन और जगत्को धारण करते हैं ।। १२ ।।

त्वमग्निर्हव्यवाहस्त्वं त्वमेव परमं हविः ।
मनीषिणस्त्वां जानन्ति बहुधा चैकधापि च ।। १३ ।।

आप ही अग्नि, आप ही हव्यका वहन करनेवाले और आप ही उत्तम हविष्य हैं। मनीषी पुरुष आपको ही अनेक और एकरूपमें स्थित जानते हैं ।। १३ ।।

सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान् हव्यवाह
काले प्राप्ते पचसि पुनः समिद्धः ।
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूति-
स्त्वमेवाग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा ।। १४ ।।

हव्यवाह! आप इन तीनों लोकोंकी सृष्टि करके प्रलयकाल आनेपर पुनः प्रज्वलित हो इन सबका संहार कर देते हैं। अतः अग्ने! आप सम्पूर्ण जगत्के उत्पत्तिस्थान हैं और आप ही इसके लयस्थान भी हैं ।। १४ ।।

द्रोण उवाच

त्वमन्नं प्राणिभिर्भुक्तमन्तर्भूतो जगत्पते ।
नित्यप्रवृद्धः पचसि त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।। १५ ।।

द्रोण बोला—जगत्पते! आप ही शरीरके भीतर रहकर प्राणियोंद्वारा खाये हुए अन्नको सदा उद्दीप्त होकर पचाते हैं। सम्पूर्ण विश्व आपमें ही प्रतिष्ठित है ।। १५ ।।

सूर्यो भूत्वा रश्मिभिर्जातवेदो
भूमेरम्भो भूमिजातान् रसांश्च ।
विश्वानादाय पुनरुत्सृज्य काले
दृष्ट्वा वृष्ट्या भावयसीह शुक्र ।। १६ ।।

शुक्लवर्णवाले सर्वज्ञ अग्निदेव! आप ही सूर्य होकर अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीसे जलको और सम्पूर्ण पार्थिव रसोंको ग्रहण करते हैं तथा पुनः समय आनेपर आवश्यकता देखकर वर्षाके द्वारा इस पृथ्वीपर जलरूपमें उन सब रसोंको प्रस्तुत कर देते हैं ।। १६ ।।

त्वत्त एताः पुनः शुक्र वीरुधों हरितच्छदाः ।

जायन्ते पुष्करिण्यश्च सुभद्रश्च महोदधिः ।। १७ ।।

उज्ज्वलवर्णवाले अग्ने! फिर आपसे ही हरे-हरे पत्तोंवाले वनस्पति उत्पन्न होते हैं और आपसे ही पोखरियाँ तथा कल्याणमय महासागर पूर्ण होते हैं ।। १७ ।।

इदं वै सद्म तिग्मांशो वरुणस्य परायणम् ।
शिवस्त्राता भवास्माकं मास्मानद्य विनाशय ।। १८ ।।

प्रचण्ड किरणोंवाले अग्निदेव! हमारा यह शरीररूप घर रसनेन्द्रियाधिपति वरुणदेवका आलम्बन है। आप आज शीतल एवं कल्याणमय बनकर हमारे रक्षक होइये; हमें नष्ट न कीजिये ।। १८ ।।

पिङ्गाक्ष लोहितग्रीव कृष्णवर्त्मन् हुताशन ।
परेण प्रेहि मुञ्चास्मान् सागरस्य गृहानिव ।। १९ ।।

पिंगल नेत्र तथा लोहित ग्रीवावाले हुताशन! आप कृष्णवर्त्मा हैं। समुद्रतटवर्ती गृहोंकी भाँति हमें भी छोड़ दीजिये। दूरसे ही निकल जाइये ।। १९ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो जातवेदा द्रोणेन ब्रह्मवादिना ।
द्रोणमाह प्रतीतात्मा मन्दपालप्रतिज्ञया ।। २० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ब्रह्मवादी द्रोणके द्वारा इस प्रकार प्रार्थना की जानेपर प्रसन्नचित्त हुए अग्निने मन्दपालसे की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण करके द्रोणसे कहा ।। २० ।।

अग्निरुवाच

ऋषिर्द्रोणस्त्वमसि वै ब्रह्म तद् व्याहृतं त्वया ।
ईप्सितं ते करिष्यामि न च ते विद्यते भयम् ।। २१ ।।

अग्नि बोले—जान पड़ता है, तुम द्रोण ऋषि हो; क्योंकि तुमने उस ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया है। मैं तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध करूँगा, तुम्हें कोई भय नहीं है ।। २१ ।।

मन्दपालेन वै यूयं मम पूर्वं निवेदिताः ।
वर्जयेः पुत्रकान् मह्यं दहन् दावमिति स्म ह ।। २२ ।।

मन्दपाल मुनिने पहले ही मुझसे तुमलोगोंके विषयमें निवेदन किया था कि ‘आप खाण्डववनका दाह करते समय मेरे पुत्रोंको बचा दीजियेगा’ ।। २२ ।।

तस्य तद् वचनं द्रोण त्वया यच्चेह भाषितम् ।
उभयं मे गरीयस्तु ब्रूहि किं करवाणि ते ।
भृशं प्रीतोऽस्मि भद्रं ते ब्रह्मन् स्तोत्रेण सत्तम ।। २३ ।।

द्रोण! तुम्हारे पिताका यह वचन और तुमने यहाँ जो कुछ कहा है, वह भी मेरे लिये गौरवकी वस्तु है। बोलो, तुम्हारी और कौन-सी इच्छा पूर्ण करूँ? ब्रह्मन्! साधुशिरोमणे!

तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे इस स्तोत्रसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ ।। २३ ।।

द्रोण उवाच

इमे मार्जारकाः शुक्र नित्यमुद्वेजयन्ति नः ।
एतान् कुरुष्व दग्धांस्त्वं हुताशन सबान्धवान् ।। २४ ।।

द्रोणने कहा—शुक्लस्वरूप अग्ने! ये बिलाव हमें प्रतिदिन उद्विग्न करते रहते हैं। हुताशन! आप इन्हें बन्धु-बान्धवोंसहित भस्म कर डालिये ।। २४ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथा तत् कृतवानग्निरभ्यनुज्ञाय शार्ङ्गकान् ।
ददाह खाण्डवं दावं समिद्धो जनमेजय ।। २५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शार्ङ्गकोंकी अनुमतिसे अग्निदेवने वैसा ही किया और प्रज्वलित होकर वे सम्पूर्ण खाण्डववनको जलाने लगे ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २३१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गकोपाख्यानविषयक दो सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३१ ।।

द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

मन्दपालका अपने बाल-बच्चोंसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

मन्दपालोऽपि कौरव्य चिन्तयामास पुत्रकान् ।
उक्त्वापि च स तिग्मांशुं नैव शर्माधिगच्छति ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मन्दपाल भी अपने पुत्रोंकी चिन्तामें पड़े थे। यद्यपि वे (उनकी रक्षाके लिये) अग्निदेवसे प्रार्थना कर चुके थे, तो भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी ।। १ ।।

स तप्यमानः पुत्रार्थे लपितामिदमब्रवीत् ।
कथं नु शक्ताः शरणे लपिते मम पुत्रकाः ।। २ ।।

पुत्रोंके लिये संतप्त होते हुए वे लपितासे बोले—‘लपिते! मेरे बच्चे अपने घोंसलेमें कैसे बच सकेंगे? ।। २ ।।

वर्धमाने हुतवहे वाते चाशु प्रवायति ।
असमर्था विमोक्षाय भविष्यन्ति ममात्मजाः ।। ३ ।।

‘जब अग्निका वेग बढ़ेगा और हवा तीव्र गतिसे चलने लगेगी, उस समय मेरे बच्चे अपनेको आगसे बचानेमें असमर्थ हो जायँगे ।। ३ ।।

कथं त्वशक्ता त्राणाय माता तेषां तपस्विनी ।
भविष्यति हि शोकार्ता पुत्रत्राणमपश्यती ।। ४ ।।

‘उनकी तपस्विनी माता स्वयं असमर्थ है, वह बेचारी उनकी रक्षा कैसे करेगी? अपने बच्चोंके बचनेका कोई उपाय न देखकर वह शोकसे आतुर हो जायगी ।। ४ ।।

कथमुड्डयनेऽशक्तान् पतने च ममात्मजान् ।
संतप्यमाना बहुधा वाशमाना प्रधावती ।। ५ ।।

‘मेरे बच्चे उड़ने और पंख फड़फड़ानेमें असमर्थ हैं। उन्हें उस दशामें देखकर संतप्त हो बार-बार चीत्कार करती और दौड़ती हुई जरिता किस दशामें होगी? ।। ५ ।।

जरितारिः कथं पुत्रः सारिसृक्कः कथं च मे ।
स्तम्बमित्रः कथं द्रोणः कथं सा च तपस्विनी ।। ६ ।।

‘मेरा बेटा जरितारि कैसे होगा, सारिसृक्ककी क्या अवस्था होगी, स्तम्बमित्र और द्रोण कैसे होंगे? तथा वह तपस्विनी जरिता किस हालतमें होगी?’ ।। ६ ।।

लालप्यमानं तमृषिं मन्दपालं तथा वने ।
लपिता प्रत्युवाचेदं सासूयमिव भारत ।। ७ ।।

भारत! मन्दपाल मुनि जब इस प्रकार वनमें (अपनी स्त्री एवं बच्चोंके लिये) विलाप कर रहे थे, उस समय लपिताने ईर्ष्यापूर्वक कहा— ।। ७ ।।

न ते पुत्रेष्ववेक्षास्ति यानृषीनुक्तवानसि ।
तेजस्विनो वीर्यवन्तो न तेषां ज्वलनाद् भयम् ।। ८ ।।

'तुम्हें पुत्रोंको देखनेकी चिन्ता नहीं है। तुमने जिन ऋषियोंके नाम लिये हैं, वे तेजस्वी और शक्तिशाली हैं; उन्हें अग्निसे तनिक भी भय नहीं है ।। ८ ।।

त्वयाग्नौ ते परीताश्च स्वयं हि मम संनिधौ ।
प्रतिश्रुतं तथा चेति ज्वलनेन महात्मना ।। ९ ।।

'मेरे पास ही तुमने अग्निदेवको स्वयं अपने पुत्र सौंपे थे और उन महात्मा अग्निने भी उनकी रक्षाके लिये प्रतिज्ञा की थी ।। ९ ।।

लोकपालो न तां वाचमुक्त्वा मिथ्या करिष्यति ।
समक्षं बन्धुकृत्ये न तेन ते स्वस्थ मानसम् ।। १० ।।

'वे लोकपाल हैं। जब बात दे चुके हैं, तब उसे झूठी नहीं करेंगे। अतः स्वस्थ पुरुष! तुम्हारा मन अपने बच्चोंकी रक्षारूप बन्धुजनोचित कर्तव्यके पालनेके लिये उत्सुक नहीं है ।। १० ।।

तामेव तु ममामित्रां चिन्तयन् परितप्यसे ।
ध्रुवं मयि न ते स्नेहो यथा तस्यां पुराभवत् ।। ११ ।।

'तुम तो मेरी दुश्मन उसी जरिता सौतके लिये चिन्ता करते हुए संतप्त हो रहे हो। पहले जरितामें तुम्हारा जैसा स्नेह था वैसा अवश्य ही मुझपर नहीं है ।। ११ ।।

न हि पक्षवता न्याय्यं निःस्नेहेन सुहृज्जने ।
पीड्यमान उपद्रष्टुं शक्तेनात्मा कथंचन ।। १२ ।।

'जो सहायकोंसे सम्पन्न और शक्तिशाली है' वह मुझ-जैसे अपने सुहृद् व्यक्तिपर स्नेह नहीं रखे और अपने आत्मीय जनको पीड़ित देखकर उसकी उपेक्षा करे, यह किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता ।। १२ ।।

गच्छ त्वं जरितामेव यदर्थं परितप्यसे ।
चरिष्याम्यहमप्येका यथा कुपुरुषाश्रिता ।। १३ ।।

'अतः अब तुम उस जरिताके ही पास जाओ, जिसके लिये तुम इतने संतप्त हो रहे हो। मैं भी दुष्ट पुरुषके आश्रयमें पड़ी हुई स्त्रीकी भाँति अकेली ही विचरूँगी' ।। १३ ।।

मन्दपाल उवाच

नाहमेवं चरे लोके यथा त्वमभिमन्यसे ।
अपत्यहेतोर्विचरे तच्च कृच्छ्रगतं मम ।। १४ ।।

मन्दपालने कहा—अरी! तू जैसा समझती है, उस भावसे मैं इस संसारमें नहीं विचरता हूँ। मेरा विचरना तो केवल संतानके लिये होता है। मेरी वह संतान ही संकटमें पड़ी हुई है ।। १४ ।।

भूतं हित्वा च भाव्यर्थे योऽवलम्बेत् स मन्दधीः ।
अवमन्येत तं लोको यथेच्छसि तथा कुरु ।। १५ ।।

जो पैदा हुए बच्चोंका परित्याग कर भविष्यमें होनेवालोंका भरोसा करता है, वह मूर्ख है; सब लोग उसका अनादर करते हैं; तेरी जैसी इच्छा हो, वैसा कर ।। १५ ।।

एष हि प्रज्वलन्नग्निर्लेलिहानो महीरुहान् ।
आविग्ने हृदि संतापं जनयत्यशिवं मम ।। १६ ।।

यह प्रज्वलित आग सारे वृक्षोंको अपनी लपटोंमें लपेटती हुई मेरे उद्विग्न हृदयमें अमंगलसूचक संताप उत्पन्न कर रही है ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्माद् देशादतिक्रान्ते ज्वलने जरिता पुनः ।
जगाम पुत्रकानेव त्वरिता पुत्रगृद्धिनी ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जब अग्निदेव उस स्थानसे हट गये, तब पुत्रोंकी लालसा रखनेवाली जरिता पुनः शीघ्रतापूर्वक अपने बच्चोंके पास गयी ।। १७ ।।

सा तान् कुशलिनः सर्वान् विमुक्ताञ्जातवेदसः ।
रोरूयमाणान् ददृशे वने पुत्रान् निरामयान् ।। १८ ।।

उसने देखा, सभी बच्चे आगसे बच गये हैं और सकुशल हैं। उन्हें कुछ भी कष्ट नहीं हुआ है और वे वनमें जोर-जोरसे चहक रहे हैं ।। १८ ।।

अश्रूणि मुमुचे तेषां दर्शनात् सा पुनः पुनः ।
एकैकश्येन तान् सर्वान् क्रोशमानान्वपद्यत ।। १९ ।।

उन्हें बार-बार देखकर वह नेत्रोंसे आँसू बहाने लगी और बारी-बारीसे पुकारकर वह सभी बच्चोंसे मिली ।। १९ ।।

ततोऽभ्यगच्छत् सहसा मन्दपालोऽपि भारत ।
अथ ते सर्व एवैनं नाभ्यनन्दंस्तदा सुताः ।। २० ।।

भारत! इतनेमें ही मन्दपाल मुनि भी सहसा वहाँ आ पहुँचे; किंतु उन बच्चोंमेंसे किसीने भी उस समय उनका अभिनन्दन नहीं किया ।। २० ।।

लालप्यमानमेकैकं जरितां च पुनः पुनः ।
न चैवोचुस्तदा किंचित् तमृषिं साध्वसाधु वा ।। २१ ।।

वे एक-एक बच्चेसे बोलते और जरिताको भी बारबार बुलाते, परंतु वे लोग उन मुनिसे भला या बुरा कुछ भी नहीं बोले ।। २१ ।।

मन्दपाल उवाच

ज्येष्ठः सुतस्ते कतमः कतमस्तस्य चानुजः ।
मध्यमः कतमश्चैव कनीयान् कतमश्च ते ।। २२ ।।

मन्दपालने पूछा—प्रिये! तुम्हारा ज्येष्ठ पुत्र कौन है, उससे छोटा कौन है, मझला कौन है और सबसे छोटा कौन है? ।। २२ ।।

एवं ब्रुवन्तं दुःखार्तं किं मां न प्रतिभाषसे ।
कृतवानपि हि त्यागं नैव शान्तिमितो लभे ।। २३ ।।

मैं इस प्रकार दुःखसे आतुर होकर तुमसे पूछ रहा हूँ, तुम मुझे उत्तर क्यों नहीं देती? यद्यपि मैंने तुम्हें त्याग दिया था, तो भी यहाँसे जानेपर मुझे शान्ति नहीं मिलती थी ।। २३ ।।

जरितोवाच

किं नु ज्येष्ठेन ते कार्यं किमनन्तरजेन ते ।
किं वा मध्यमजातेन किं कनिष्ठेन वा पुनः ।। २४ ।।

जरिता बोली—तुम्हें ज्येष्ठ पुत्रसे क्या काम है, उसके बादवालेसे भी क्या लेना है, मझले अथवा छोटे पुत्रसे भी तुम्हें क्या प्रयोजन है? ।। २४ ।।

यां त्वं मां सर्वतो हीनामुत्सृज्यासि गतः पुरा ।
तामेव लपितां गच्छ तरुणीं चारुहासिनीम् ।। २५ ।।

पहले तुम मुझे सबसे हीन समझकर त्यागकर जिसके पास चले गये थे, उसी मनोहर मुसकानवाली तरुणी लपिताके पास जाओ ।। २५ ।।

मन्दपाल उवाच

न स्त्रीणां विद्यते किंचिदमुत्र पुरुषान्तरात् ।
सापत्नकमृते लोके नान्यदर्थविनाशनम् ।। २६ ।।

मन्दपालने कहा—परलोकमें स्त्रियोंके लिये परपुरुषसे सम्बन्ध और सौतियाडाहको छोड़कर दूसरा कोई दोष उनके परमार्थका नाश करनेवाला नहीं है ।। २६ ।।

वैराग्निदीपनं चैव भृशमुद्वेगकारि च ।
सुव्रता चापि कल्याणी सर्वभूतेषु विश्रुता ।। २७ ।।
अरुन्धती महात्मानं वसिष्ठं पर्यशङ्कत ।
विशुद्धभावमत्यन्तं सदा प्रियहिते रतम् ।। २८ ।।
सप्तर्षिमध्यगं धीरमवमेने च तं मुनिम् ।
अपध्यानेन सा तेन धूमारुणसमप्रभा ।
लक्ष्यालक्ष्या नाभिरूपा निमित्तमिव पश्यति ।। २९ ।।

यह सौतियाडाह वैरकी आगको भड़कानेवाला और अत्यन्त उद्वेगमें डालनेवाला है। समस्त प्राणियोंमें विख्यात और उत्तम व्रतका पालन करनेवाली कल्याणमयी अरुन्धतीने उन महात्मा वसिष्ठपर भी शंका की थी, जिनका हृदय अत्यन्त विशुद्ध है, जो सदा उनके प्रिय और हितमें लगे रहते हैं और सप्तर्षिमण्डलके मध्यमें विराजमान होते हैं। ऐसे धैर्यवान् मुनिका भी उन्होंने सौतियाडाहके कारण तिरस्कार किया था। इस अशुभ चिन्तनके कारण उनकी अंगकान्ति धूम और अरुणके समान (मंद) हो गयी। वे कभी लक्ष्य और कभी अलक्ष्य रहकर प्रच्छन्न वेषमें मानो कोई निमित्त देखा करती हैं ।। २७—२९ ।।

अपत्यहेतोः सम्प्राप्तं तथा त्वमपि मामिह ।
इष्टमेवं गते हि त्वं सा तथैवाद्य वर्तते ।। ३० ।।

मैं पुत्रोंसे मिलनेके लिये आया हूँ, तो भी तुम मेरा तिरस्कार करती हो और इस प्रकार अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो जानेपर जैसे तुम मेरे साथ संदेहयुक्त व्यवहार करती हो, वैसा ही लपिता भी करती है ।। ३० ।।

न हि भार्येति विश्वासः कार्यः पुंसा कथंचन ।
न हि कार्यमनुध्याति नारी पुत्रवती सती ।। ३१ ।।

यह मेरी भार्या है, ऐसा मानकर पुरुषको किसी प्रकार भी स्त्रीपर विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि नारी पुत्रवती हो जानेपर पतिसेवा आदि अपने कर्तव्योंपर ध्यान नहीं देती ।। ३१ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते सर्व एवैनं पुत्राः सम्यगुपासते ।
स च तानात्मजान् सर्वानाश्वासयितुमुद्यतः ।। ३२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर वे सभी पुत्र यथोचितरूपसे अपने पिताके पास आ बैठे और वे मुनि भी उन सब पुत्रोंको आश्वासन देनेके लिये उद्यत हुए ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २३२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गकोपाख्यानविषयक दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३२ ।।

त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रदेवका श्रीकृष्ण और अर्जुनको वरदान तथा श्रीकृष्ण, अर्जुन और मयासुरका अग्निसे विदा लेकर एक साथ यमुनातटपर बैठना

मन्दपाल उवाच

युष्माकमपवर्गार्थं विज्ञप्तो ज्वलनो मया ।
अग्निना च तथेत्येवं प्रतिज्ञातं महात्मना ।। १ ।।

मन्दपाल बोले—मैंने अग्निदेवसे यह प्रार्थना की थी कि वे तुमलोगोंको दाहसे मुक्त कर दें। महात्मा अग्निने भी वैसा करनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी ।। १ ।।

अग्नेर्वचनमाज्ञाय मातुर्धर्मज्ञता च वः ।
भवतां च परं वीर्यं पूर्वं नाहमिहागतः ।। २ ।।

अग्निके दिये हुए वचनको स्मरण करके, तुम्हारी माताकी धर्मज्ञताको जानकर और तुमलोगोंमें भी महान् शक्ति है, इस बातको समझकर ही मैं पहले यहाँ नहीं आया था ।। २ ।।

न संतापो हि वः कार्यः पुत्रका हृदि मां प्रति ।
ऋषीन् वेद हुताशोऽपि ब्रह्म तद् विदितं च वः ।। ३ ।।

बच्चो! तुम्हें मेरे प्रति अपने हृदयमें संताप नहीं करना चाहिये। तुमलोग ऋषि हो, यह बात अग्निदेव भी जानते हैं; क्योंकि तुम्हें ब्रह्मतत्त्वका बोध हो चुका है ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितान् पुत्रान् भार्यामादाय स द्विजः ।
मन्दपालस्ततो देशादन्यं देशं जगाम ह ।। ४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार आश्वस्त किये हुए अपने पुत्रों और पत्नी जरिताको साथ ले द्विज मन्दपाल उस देशसे दूसरे देशमें चले गये ।। ४ ।।

भगवानपि तिग्मांशुः समिद्धः खाण्डवं ततः ।
ददाह सह कृष्णाभ्यां जनयञ्जगतो हितम् ।। ५ ।।

उधर प्रज्वलित हुए प्रचण्ड ज्वालाओंवाले भगवान् हुताशनने भी जगत्का हित करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सहायतासे खाण्डववनको जला दिया ।। ५ ।।

वसामेदोवहाः कुल्यास्तत्र पीत्वा च पावकः ।
जगाम परमां तृप्तिं दर्शयामास चार्जुनम् ।। ६ ।।

वहाँ मज्जा और मेदकी कई नहरें बह चलीं और उन सबको पीकर अग्निदेव पूर्ण तृप्त हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने अर्जुनको दर्शन दिया ।। ६ ।।

ततोऽन्तरिक्षाद् भगवानवतीर्य पुरंदरः ।
मरुद्गणैर्वृतः पार्थं केशवं चेदमब्रवीत् ।। ७ ।।

उसी समय भगवान् इन्द्र मरुद्गणों एवं अन्य देवताओंके साथ आकाशसे उतरे और अर्जुन तथा श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले— ।। ७ ।।

कृतं युवाभ्यां कर्मेदममरैरपि दुष्करम् ।
वरं वृणीतं तुष्टोऽस्मि दुर्लभं पुरुषेष्विह ।। ८ ।।

'आप दोनोंने यह ऐसा कार्य किया है, जो देवताओंके लिये भी दुष्कर है। मैं बहुत प्रसन्न हूँ। इस लोकमें मनुष्योंके लिये जो दुर्लभ हो ऐसा कोई वर आप दोनों माँग लें' ।। ८ ।।

पार्थस्तु वरयामास शक्रादस्त्राणि सर्वशः ।
प्रदातुं तच्च शक्रस्तु कालं चक्रे महाद्युतिः ।। ९ ।।

तब अर्जुनने इन्द्रसे सब प्रकारके दिव्यास्त्र माँगे। महातेजस्वी इन्द्रने उन अस्त्रोंको देनेके लिये समय निश्चित कर दिया ।। ९ ।।

यदा प्रसन्नो भगवान् महादेवो भविष्यति ।
तदा तुभ्यं प्रदास्यामि पाण्डवास्त्राणि सर्वशः ।। १० ।।

(वे बोले—) 'पाण्डुनन्दन! जब तुमपर भगवान् महादेव प्रसन्न होंगे, तब मैं तुम्हें सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र प्रदान करूँगा ।। १० ।।

अहमेव च तं कालं वेत्स्यामि कुरुनन्दन ।
तपसा महता चापि दास्यामि भवतोऽप्यहम् ।। ११ ।।
आग्नेयानि च सर्वाणि वायव्यानि च सर्वशः ।
मदीयानि च सर्वाणि ग्रहीष्यसि धनंजय ।। १२ ।।

'कुरुनन्दन! वह समय कब आनेवाला है, इसे भी मैं जानता हूँ। तुम्हारे महान् तपसे प्रसन्न होकर मैं तुम्हें सम्पूर्ण आग्नेय तथा सब प्रकारके वायव्य अस्त्र प्रदान करूँगा। धनंजय! उसी समय तुम मेरे सम्पूर्ण अस्त्रोंको ग्रहण करोगे' ।। ११-१२ ।।

वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम् ।
ददौ सुरपतिश्चैव वरं कृष्णाय धीमते ।। १३ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने भी यह वर माँगा कि अर्जुनके साथ मेरा प्रेम निरन्तर बढ़ता रहे। इन्द्रने परम बुद्धिमान् श्रीकृष्णको वह वर दे दिया ।। १३ ।।

एवं दत्त्वा वर ताभ्यां सह देवैर्मरुत्पतिः ।
हुताशनमनुज्ञाप्य जगाम त्रिदिवं प्रभुः ।। १४ ।।

इस प्रकार दोनोंको वर देकर अग्निदेवकी आज्ञा ले देवताओंसहित देवराज भगवान् इन्द्र स्वर्गलोकको चले गये ।। १४ ।।

पावकश्च तदा दावं दग्ध्वा समृगपक्षिणम् ।
अहानि पञ्च चैकं च विरराम सुतर्पितः ।। १५ ।।

अग्निदेव भी मृगों और पक्षियोंसहित सम्पूर्ण वनको जलाकर पूर्ण तृप्त हो छः दिनोंतक विश्राम करते रहे ।। १५ ।।

जग्ध्वा मांसानि पीत्वा च मेदांसि रुधिराणि च ।
युक्तः परमया प्रीत्या तावुवाचाच्युतार्जुनौ ।। १६ ।।

जीव-जन्तुओंके मांस खाकर उनके मेद तथा रक्त पीकर अत्यन्त प्रसन्न हो अग्निने श्रीकृष्ण और अर्जुनसे कहा— ।। १६ ।।

युवाभ्यां पुरुषाग्रयाभ्यां तर्पितोऽस्मि यथासुखम् ।
अनुजानामि वां वीरौ चरतं यत्र वाञ्छितम् ।। १७ ।।

'वीरो! आप दोनों पुरुषरत्नोंने मुझे आनन्दपूर्वक तृप्त कर दिया। अब मैं आपको अनुमति देता हूँ, जहाँ आपकी इच्छा हो, जाइये' ।। १७ ।।

एवं तौ समनुज्ञातौ पावकेन महात्मना ।
अर्जुनो वासुदेवश्च दानवश्च मयस्तथा ।। १८ ।।
परिक्रम्य ततः सर्वे त्रयोऽपि भरतर्षभ ।
रमणीये नदीकूले सहिताः समुपाविशन् ।। १९ ।।

भरतश्रेष्ठ! महात्मा अग्निदेवके इस प्रकार आज्ञा देनेपर अर्जुन, श्रीकृष्ण तथा मयासुर सबने उनकी परिक्रमा की। फिर तीनों ही यमुनानदीके रमणीय तटपर जाकर एक साथ बैठे ।। १८-१९ ।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि वरप्रदाने त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २३३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारतमें व्यासनिर्मित एक लाख श्लोकोंकी संहिताके अंतर्गत आदिपर्वके मयदर्शनपर्वमें इन्द्रवरदानविषयक दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३३ ।।

(आदिपर्व सम्पूर्णम्)

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप्के अनुसार गिननेपर	गद्योंको अनुष्टुप् छन्द बनाकर जोड़नेपर	कुल
उत्तरभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	७८७० $\frac{१}{२}$	(५११ $\frac{१}{२}$)	७३६ $\frac{१}{२}$	२८३	८८९०
दक्षिणभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	७१० $\frac{१}{२}$	(१८ $\frac{१}{२}$)	२६	X	७३६ $\frac{१}{२}$

आदिपर्वकी पूर्ण श्लोकसंख्या—९६२६ $\frac{१}{२}$

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

सभापर्व

सभाक्रियापर्व

प्रथमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाके अनुसार मयासुरद्वारा सभाभवन बनानेकी तैयारी

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ।। १ ।।

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, उनके नित्यसखा-नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत)-का पाठ करना चाहिये ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीन्मयः पार्थं वासुदेवस्य संनिधौ ।
प्राञ्जलिः श्लक्ष्णया वाचा पूजयित्वा पुनः पुनः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! खाण्डवदाहके अनन्तर मयासुरने भगवान् श्रीकृष्णके पास बैठे हुए अर्जुनकी बारंबार प्रशंसा करके हाथ जोड़कर मधुर वाणीमें उनसे कहा ।। २ ।।

मय उवाच

अस्मात् कृष्णात् सुसंरब्धात् पावकाच्च दिधक्षतः ।
त्वया त्रातोऽस्मि कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते ।। ३ ।।

मयासुर बोला—कुन्तीनन्दन! आपने अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए इन भगवान् श्रीकृष्णसे तथा जला डालनेकी इच्छावाले अग्निदेवसे भी मेरी रक्षा की है। अतः बताइये, मैं (इस उपकारके बदले) आपकी क्या सेवा करूँ? ।। ३ ।।

अर्जुन उवाच

कृतमेव त्वया सर्वं स्वस्ति गच्छ महासुर ।
प्रीतिमान् भव मे नित्यं प्रीतिमन्तो वयं च ते ।। ४ ।।

अर्जुनने कहा—असुरराज! तुमने इस प्रकार कृतज्ञता प्रकट करके मेरे उपकारका मानो सारा बदला चुका दिया। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम जाओ। मुझपर प्रेम बनाये रखना। हम भी तुम्हारे प्रति सदा स्नेहका भाव रखेंगे ।। ४ ।।

मय उवाच

युक्तमेतत् त्वयि विभो यथाऽऽत्थ पुरुषर्षभ ।
प्रीतिपूर्वमहं किंचित् कर्तुमिच्छामि भारत ।। ५ ।।

मयासुर बोला—प्रभो! पुरुषोतम! आपने जो बात कही है, वह आप-जैसे महापुरुषके अनुरूप ही है; परंतु भारत! मैं बड़े प्रेमसे आपके लिये कुछ करना चाहता हूँ ।। ५ ।।

अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः ।
सोऽहं वै त्वत्कृते कर्तुं किंचिदिच्छामि पाण्डव ।। ६ ।।

पाण्डुनन्दन! मैं दानवोंका विश्वकर्मा एवं शिल्प-विद्याका महान् पण्डित हूँ। अतः मैं आपके लिये किसी वस्तुका निर्माण करना चाहता हूँ ।। ६ ।।

(दानवानां पुरा पार्थ प्रासादा हि मया कृताः ।
रम्याणि सुखगर्भाणि भोगाढ्यानि सहस्रशः ।।
उद्यानानि च रम्याणि सरांसि विविधानि च ।
विचित्राणि च शस्त्राणि रथाः कामगमास्तथा ।।
नगराणि विशालानि साट्टप्राकारतोरणैः ।
वाहनानि च मुख्यानि विचित्राणि सहस्रशः ।।
बिलानि रमणीयानि सुखयुक्तानि वै भृशम् ।
एतत् कृतं मया सर्वं तस्मादिच्छामि फाल्गुन ।।)

कुन्तीनन्दन! पूर्वकालमें मैंने दानवोंके बहुत-से महल बनाये हैं। इसके सिवा देखनेमें रमणीय, सुख और भोगसाधनोंसे सम्पन्न अनेक प्रकारके रमणीय उद्यानों, भाँति-भाँतिके सरोवरों, विचित्र अस्त्र-शस्त्रों, इच्छानुसार चलनेवाले रथों, अट्टालिकाओं, चहारदीवारियों और बड़े-बड़े फाटकोंसहित विशाल नगरों, हजारों अद्भुत एवं श्रेष्ठ वाहनों तथा बहुत-सी मनोहर एवं अत्यन्त सुखदायक सुरंगोंका मैंने निर्माण किया है। अतः अर्जुन! मैं आपके लिये भी कुछ बनाना चाहता हूँ।

अर्जुन उवाच

प्राणकृच्छ्राद् विमुक्तं त्वमात्मानं मन्यसे मया ।
एवं गते न शक्ष्यामि किंचित् कारयितुं त्वया ।। ७ ।।

अर्जुन बोले—मयासुर! तुम मेरे द्वारा अपनेको प्राणसंकटसे मुक्त हुआ मानते हो और इसीलिये कुछ करना चाहते हो। ऐसी दशामें मैं तुमसे कोई काम नहीं करा सकूँगा ।। ७ ।।

न चापि तव संकल्पं मोघमिच्छामि दानव ।
कृष्णस्य क्रियतां किंचित् तथा प्रतिकृतं मयि ।। ८ ।।

दानव! साथ ही मैं यह भी नहीं चाहता कि तुम्हारा यह संकल्प व्यर्थ हो। इसलिये तुम भगवान् श्रीकृष्णका कोई कार्य कर दो, इससे मेरे प्रति तुम्हारा कर्तव्य पूर्ण हो जायगा ।। ८ ।।

चोदितो वासुदेवस्तु मयेन भरतर्षभ ।
मुहूर्तमिव संदध्यौ किमयं चोद्यतामिति ।। ९ ।।

भरतश्रेष्ठ! तब मयासुरने भगवान् श्रीकृष्णसे काम बतानेका अनुरोध किया। उसके प्रेरणा करनेपर भगवान् श्रीकृष्णने अनुमानतः दो घड़ीतक विचार किया कि 'इसे कौन-सा काम बताया जाय?' ।। ९ ।।

ततो विचिन्त्य मनसा लोकनाथः प्रजापतिः ।
चोदयामास तं कृष्णः सभा वै क्रियतामिति ।। १० ।।
यदि त्वं कर्तुकामोऽसि प्रियं शिल्पवतां वर ।
धर्मराजस्य दैतेय यादृशीमिह मन्यसे ।। ११ ।।

तदनन्तर मन-ही-मन कुछ सोचकर प्रजापालक लोकनाथ भगवान् श्रीकृष्णने उससे कहा—'शिल्पियोंमें श्रेष्ठ दैत्यराज मय! यदि तुम मेरा कोई प्रिय कार्य करना चाहते हो तो तुम धर्मराज युधिष्ठिरके लिये जैसा ठीक समझो, वैसा एक सभाभवन बना दो ।। १०-११ ।।

यां कृतां नानुकुर्वन्ति मानवाः प्रेक्ष्य विस्मिताः ।
मनुष्यलोके सकले तादृशीं कुरु वै सभाम् ।। १२ ।।

'वह सभाभवन ऐसा बनाओ, जिसके बन जानेपर सम्पूर्ण मनुष्यलोकके मानव देखकर विस्मित हो जायँ एवं कोई उसकी नकल न कर सके ।। १२ ।।

यत्र दिव्यानभिप्रायान् पश्येम हि कृतांस्त्वया ।
आसुरान् मानुषांश्चैव सभां तां कुरु वै मय ।। १३ ।।

'मयासुर! तुम ऐसे सभाभवनका निर्माण करो, जिसमें हम तुम्हारे द्वारा अंकित देवता, असुर और मनुष्योंकी शिल्पनिपुणताका दर्शन कर सकें' ।। १३ ।।

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं सम्प्रहृष्टो मयस्तदा ।
विमानप्रतिमां चक्रे पाण्डवस्य शुभां सभाम् ।। १४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णकी उस आज्ञाको शिरोधार्य करके मयासुर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उस समय पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके लिये विमान-जैसी सुन्दर सभाभवन बनानेका निश्चय किया ।। १४ ।।

ततः कृष्णश्च पार्थश्च धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
सर्वमेतत् समावेद्य दर्शयामासतुर्मयम् ।। १५ ।।

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरको ये सब बातें बताकर मयासुरको उनसे मिलाया ।। १५ ।।

तस्मै युधिष्ठिरः पूजां यथार्हमकरोत् तदा ।
स तु तां प्रतिजग्राह मयः सत्कृत्य भारत ।। १६ ।।

भारत! राजा युधिष्ठिरने उस समय मयासुरका यथायोग्य सत्कार किया और मयासुरने भी बड़े आदरके साथ उनका वह सत्कार ग्रहण किया ।। १६ ।।

स पूर्वदेवचरितं तदा तत्र विशाम्पते ।

कथयामास दैतेयः पाण्डुपुत्रेषु भारत ।। १७ ।।

जनमेजय! दैत्यराज मयने उस समय वहाँ पाण्डवोंको दैत्योंके अद्भुत चरित्र सुनाये ।। १७ ।।

स कालं कंचिदाश्वस्य विश्वकर्मा विचिन्त्य तु ।

सभां प्रचक्रमे कर्तुं पाण्डवानां महात्मनाम् ।। १८ ।।

कुछ दिनोंतक वहाँ आरामसे रहकर दैत्योंके विश्वकर्मा मयासुरने सोच-विचारकर महात्मा पाण्डवोंके लिये सभाभवन बनानेकी तैयारी की ।। १८ ।।

अभिप्रायेण पार्थानां कृष्णस्य च महात्मनः ।

पुण्येऽहनि महातेजाः कृतकौतुकमङ्गलः ।। १९ ।।

तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठान् पायसेन सहस्रशः ।

धनं बहुविधं दत्त्वा तेभ्य एव च वीर्यवान् ।। २० ।।

सर्वर्तुगुणसम्पन्नां दिव्यरूपां मनोरमाम् ।

दशकिष्कुसहस्रां तां मापयामास सर्वतः ।। २१ ।।

उसने कुन्तीपुत्रों तथा महात्मा श्रीकृष्णकी रुचिके अनुसार सभाभवन बनानेका निश्चय किया। किसी पवित्र तिथिको (शुभ मुहूर्तमें) मंगलानुष्ठान, स्वस्तिवाचन आदि करके महातेजस्वी और पराक्रमी मयने हजारों श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको खीर खिलाकर तृप्त किया तथा उन्हें अनेक प्रकारका धन दान किया। इसके बाद उसने सभाभवन बनानेके लिये समस्त ऋतुओंके गुणोंसे सम्पन्न दिव्य रूपवाली मनोरम सब ओरसे दस हजार हाथकी (अर्थात् दस हजार हाथ चौड़ी और दस हजार हाथ लम्बी) धरती नपवायी ।। १९—२१ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभास्थाननिर्णये प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभास्थाननिर्णयविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ।। १ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी द्वारकायात्रा

वैशम्पायन उवाच

उषित्वा खाण्डवप्रस्थे सुखवासं जनार्दनः ।
पार्थैः प्रीतिसमायुक्तैः पूजनार्होऽभिपूजितः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! परम पूजनीय भगवान् श्रीकृष्ण खाण्डवप्रस्थमें सुखपूर्वक रहकर प्रेमी पाण्डवोंके द्वारा नित्य पूजित होते रहे ।। १ ।।

गमनाय मतिं चक्रे पितुर्दर्शनलालसः ।
धर्मराजमथामन्त्र्य पृथां च पृथुलोचनः ।। २ ।।

तदनन्तर पिताके दर्शनके लिये उत्सुक होकर विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिर और कुन्तीकी आज्ञा लेकर वहाँसे द्वारका जानेका विचार किया ।। २ ।।

ववन्दे चरणौ मूर्ध्ना जगद्वन्द्यः पितृष्वसुः ।
स तया मूर्ध्न्युपाघ्रातः परिष्वक्तश्च केशवः ।। ३ ।।

जगद्वन्द्य केशवने अपनी बुआ कुन्तीके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और कुन्तीने उनका मस्तक सूँघकर उन्हें हृदयसे लगा लिया ।। ३ ।।

ददर्शानन्तरं कृष्णो भगिनीं स्वां महायशाः ।
तामुपेत्य हृषीकेशः प्रीत्या बाष्पसमन्वितः ।। ४ ।।

तत्पश्चात् महायशस्वी हृषीकेश अपनी बहिन सुभद्रासे मिले। उसके पास जानेपर स्नेहवश उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये ।। ४ ।।

अर्थ्यं तथ्यं हितं वाक्यं लघु युक्तमनुत्तरम् ।
उवाच भगवान् भद्रां सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ।। ५ ।।

भगवान्‌ने मंगलमय वचन बोलनेवाली कल्याणमयी सुभद्रासे बहुत थोड़े, सत्य, प्रयोजनपूर्ण, हितकारी, युक्तियुक्त एवं अकाट्य वचनोंद्वारा अपने जानेकी आवश्यकता बतायी (और उसे ढाढ़स बँधाया) ।। ५ ।।

तया स्वजनगामीनि श्रावितो वचनानि सः ।
सम्पूजितश्चाप्यसकृच्छिरसा चाभिवादितः ।। ६ ।।

सुभद्राने बार-बार भाईकी पूजा करके मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और माता-पिता आदि स्वजनोंसे कहनेके लिये संदेश दिये ।। ६ ।।

तामनुज्ञाय वार्ष्णेयः प्रतिनन्द्य च भामिनीम् ।
ददर्शानन्तरं कृष्णां धौम्यं चापि जनार्दनः ।। ७ ।।

भामिनी सुभद्राको प्रसन्न करके उससे जानेकी अनुमति लेकर वृष्णिकुलभूषण जनार्दन द्रौपदी तथा धौम्यमुनिसे मिले ।। ७ ।।

ववन्दे च यथान्यायं धौम्यं पुरुषसत्तमः ।
द्रौपदीं सान्त्वयित्वा च आमन्त्र्य च जनार्दनः ।। ८ ।।
भ्रातॄनभ्यगमद् विद्वान् पार्थेन सहितो बली ।
भ्रातृभिः पञ्चभिः कृष्णो वृतः शक्र इवामरैः ।। ९ ।।

पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने यथोचित रीतिसे धौम्यजीको प्रणाम किया और द्रौपदीको सान्त्वना दे उसकी अनुमति लेकर वे अर्जुनके साथ अन्य भाइयोंके पास गये। पाँचों भाई पाण्डवोंसे घिरे हुए विद्वान् एवं बलवान् श्रीकृष्ण देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति सुशोभित हुए ।। ८-९ ।।

यात्राकालस्य योग्यानि कर्माणि गरुडध्वजः ।
कर्तुकामः शुचिर्भूत्वा स्नातवान् समलंकृतः ।। १० ।।

तदनन्तर गरुडध्वज श्रीकृष्णने यात्राकालोचित कर्म करनेके लिये पवित्र हो स्नान करके अलंकार धारण किया ।। १० ।।

अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुङ्गवः ।
माल्यजाप्यनमस्कारैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ।। ११ ।।

फिर उन यदुश्रेष्ठने प्रचुर पुष्प-माला, जप, नमस्कार और चन्दन आदि अनेक प्रकारके सुगन्धित पदार्थोंद्वारा देवताओं और ब्राह्मणोंकी पूजा की ।। ११ ।।

स कृत्वा सर्वकार्याणि प्रतस्थे तस्थुषां वरः ।
उपेत्य स यदुश्रेष्ठो बाह्यकक्षाद् विनिर्गतः ।। १२ ।।

प्रतिष्ठित पुरुषोंमें श्रेष्ठ यदुप्रवर श्रीकृष्ण यात्राकालोचित सब कार्य पूर्ण करके प्रस्थित हुए और भीतरसे चलकर बाहरी ड्योढ़ीको पार करते हुए राजभवनसे बाहर निकले ।। १२ ।।

स्वस्तिवाच्यार्हतो विप्रान् दधिपात्रफलाक्षतैः ।
वसु प्रदाय च ततः प्रदक्षिणमथाकरोत् ।। १३ ।।

उस समय सुयोग्य ब्राह्मणोंने स्वस्तिवाचन किया और भगवान्ने दहीसे भरे पात्र, अक्षत, फल आदिके साथ उन ब्राह्मणोंको धन देकर उन सबकी परिक्रमा की ।। १३ ।।

काञ्चनं रथमास्थाय तार्क्ष्यकेतनमाशुगम् ।
गदाचक्रासिशार्ङ्गाद्यैरायुधैरावृतं शुभम् ।। १४ ।।
तिथावप्यथ नक्षत्रे मुहूर्ते च गुणान्विते ।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षः शैब्यसुग्रीववाहनः ।। १५ ।।

इसके बाद गरुडचिह्नित ध्वजासे सुशोभित और गदा, चक्र, खड्ग एवं शाङ्‌र्गधनुष आदि आयुधोंसे सम्पन्न शैब्य, सुग्रीव आदि घोड़ोंसे युक्त शुभ सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हो

कमलनयन श्रीकृष्णने उत्तम तिथि, शुभ नक्षत्र एवं गुणयुक्त मुहूर्तमें यात्रा आरम्भ की ।। १४-१५ ।।

अन्वारुरोह चाप्येनं प्रेम्णा राजा युधिष्ठिरः ।
अपास्य चास्य यन्तारं दारुकं यन्तृसत्तमम् ।। १६ ।।

उस समय श्रीकृष्णका रथ हाँकनेवाले सारथियोंमें श्रेष्ठ दारुकको हटाकर उसके स्थानमें राजा युधिष्ठिर प्रेमपूर्वक भगवान्‌के साथ रथपर जा बैठे ।। १६ ।।

अभीषून् सम्प्रजग्राह स्वयं कुरुपतिस्तदा ।
उपारुह्यार्जुनश्चापि चामरव्यजनं सितम् ।। १७ ।।
रुक्मदण्डं बृहद्बाहुर्विदुधाव प्रदक्षिणम् ।

कुरुराज युधिष्ठिरने घोड़ोंकी बागडोर स्वयं अपने हाथमें ले ली। फिर महाबाहु अर्जुन भी रथपर बैठ गये और सुवर्णमय दण्डसे विभूषित श्वेत चँवर और व्यजन लेकर दाहिनी ओरसे उनके ऊपर डुलाने लगे ।। १७½ ।।

तथैव भीमसेनोऽपि यमाभ्यां सहितो बली ।। १८ ।।
पृष्ठतोऽनुययौ कृष्णमृत्विक्पौरजनैः सह ।
(छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ।
वैडूर्यमणिदण्डं च चामीकरविभूषितम् ।।
दधार तरसा भीमश्छत्रं तच्छार्ङ्गधन्वने ।

उपारुह्य रथं शीघ्रं चामरव्यजने सिते ।।
नकुलः सहदेवश्च धूयमानौ जनार्दनम् ।)
स तथा भ्रातृभिः सर्वैः केशवः परवीरहा ।। १९ ।।
अन्वीयमानः शुशुभे शिष्यैरिव गुरुः प्रियैः ।

इसी प्रकार नकुल-सहदेवसहित बलवान् भीमसेन भी ऋत्विजों और पुरवासियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णके पीछे-पीछे चल रहे थे। उन्होंने वेगपूर्वक आगे बढ़कर शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके ऊपर दिव्य मालाओंसे सुशोभित एवं सौ शलाकाओं (तिल्लियों)-से युक्त स्वर्णविभूषित छत्र लगाया। उस छत्रमें वैदूर्य-मणिका डंडा लगा हुआ था। नकुल और सहदेव भी शीघ्रतापूर्वक रथपर आरूढ़ हो श्वेत चँवर और व्यजन डुलाते हुए जनार्दनकी सेवा करने लगे। उस समय अपने समस्त फुफेरे भाइयोंसे संयुक्त शत्रुदमन केशव ऐसी शोभा पाने लगे, मानो अपने प्रिय शिष्योंके साथ गुरु यात्रा कर रहे हों ।। १८-१९½ ।।

पार्थमामन्त्र्य गोविन्दः परिष्वज्य सुपीडितम् ।। २० ।।
युधिष्ठिरं पूजयित्वा भीमसेनं यमौ तथा ।
परिष्वक्तो भृशं तैस्तु यमाभ्यामभिवादितः ।। २१ ।।

श्रीकृष्णके बिछोहसे अर्जुनको बड़ी व्यथा हो रही थी। गोविन्दने उन्हें हृदयसे लगाकर उनसे जानेकी अनुमति ली। फिर उन्होंने युधिष्ठिर और भीमसेनका चरणस्पर्श किया। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनने भगवान्को छातीसे लगा लिया और नकुल-सहदेवने उनके चरणोंमें प्रणाम किया (तब भगवान्ने भी उन दोनोंको छातीसे लगा लिया) ।। २०-२१ ।।

योजनार्धमथो गत्वा कृष्णः परपुरंजयः ।
युधिष्ठिरं समामन्त्र्य निवर्तस्वेति भारत ।। २२ ।।

भारत! शत्रुविजयी श्रीकृष्णने दो कोस दूर चले जानेपर युधिष्ठिरसे जानेकी अनुमति ले यह अनुरोध किया कि 'अब आप लौट जाइये' ।। २२ ।।

ततोऽभिवाद्य गोविन्दः पादौ जग्राह धर्मवित् ।
उत्थाप्य धर्मराजस्तु मूर्ध्न्युपाघ्राय केशवम् ।। २३ ।।
पाण्डवो यादवश्रेष्ठं कृष्णं कमललोचनम् ।
गम्यतामित्यनुज्ञाप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। २४ ।।

तदनन्तर धर्मज्ञ गोविन्दने प्रणाम करके युधिष्ठिरके पैर पकड़ लिये। फिर पाण्डुकुमार धर्मराज युधिष्ठिरने यादवश्रेष्ठ कमलनयन केशवको दोनों हाथोंसे उठाकर उनका मस्तक सूँघा और 'जाओ' कहकर उन्हें जानेकी आज्ञा दी ।। २३-२४ ।।

ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः ।
निवर्त्य च तथा कृच्छ्रात् पाण्डवान् सपदानुगान् ।। २५ ।।
स्वां पुरीं प्रययौ हृष्टो यथा शक्रोऽमरावतीम् ।

लोचनैरनुजग्मुस्ते तमादृष्टिपथात् तदा ।। २६ ।।

तत्पश्चात् उनके साथ पुनः आनेका निश्चित वादा करके भगवान् मधुसूदनने पैदल आये हुए नागरिकों-सहित पाण्डवोंको बड़ी कठिनाईसे लौटाया और प्रसन्नतापूर्वक अपनी पुरी द्वारकाको गये, मानो इन्द्र अमरावतीको जा रहे हों। जबतक वे दिखायी दिये, तबतक पाण्डव अपने नेत्रोंद्वारा उनका अनुसरण करते रहे ।। २५-२६ ।।

मनोभिरनुजग्मुस्ते कृष्णं प्रीतिसमन्वयात् ।
अतृप्तमनसामेव तेषां केशवदर्शने ।। २७ ।।
क्षिप्रमन्तर्दधे शौरिश्चक्षुषां प्रियदर्शनः ।
अकामा एव पार्थास्ते गोविन्दगतमानसाः ।। २८ ।।

अत्यन्त प्रेमके कारण उनका मन श्रीकृष्णके साथ ही चला गया। अभी केशवके दर्शनसे पाण्डवोंका मन तृप्त नहीं हुआ था, तभी नयनाभिराम भगवान् श्रीकृष्ण सहसा अदृश्य हो गये। पाण्डवोंकी श्रीकृष्णदर्शनविषयक कामना अधूरी ही रह गयी। उन सबका मन भगवान् गोविन्दके साथ ही चला गया ।। २७-२८ ।।

निवृत्योपययुस्तर्णं स्वं पुरं पुरुषर्षभाः ।
स्यन्दनेनाथ कृष्णोऽपि त्वरितं द्वारकामगात् ।। २९ ।।

अब वे पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव मार्गसे लौटकर तुरंत अपने नगरकी ओर चल पड़े। उधर श्रीकृष्ण भी रथके द्वारा शीघ्र ही द्वारका जा पहुँचे ।। २९ ।।

सात्वतेन च वीरेण पृष्ठतो यायिना तदा ।
दारुकेण च सूतेन सहितो देवकीसुतः ।
स गतो द्वारकां विष्णुर्गरुत्मानिव वेगवान् ।। ३० ।।

सात्वतवंशी वीर सात्यकि भगवान् श्रीकृष्णके पीछे बैठकर यात्रा कर रहे थे और सारथि दारुक आगे था। उन दोनोंके साथ देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण वेगशाली गरुडकी भाँति द्वारकामें पहुँच गये ।। ३० ।।

वैशम्पायन उवाच

निवृत्य धर्मराजस्तु सह भ्रातृभिरच्युतः ।
सुहृत्परिवृतो राजा प्रविवेश पुरोत्तमम् ।। ३१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर भाइयों-सहित मार्गसे लौटकर सुहृदोंके साथ अपने श्रेष्ठ नगरके भीतर प्रविष्ट हुए ।। ३१ ।।

विसृज्य सुहृदः सर्वान् भ्रातृन् पुत्रांश्च धर्मराट् ।
मुमोद पुरुषव्याघ्रो द्रौपद्या सहितो नृप ।। ३२ ।।

राजन्! वहाँ पुरुषसिंह धर्मराजने समस्त सुहृदों, भाइयों और पुत्रोंको विदा करके राजमहलमें द्रौपदीके साथ बैठकर प्रसन्नताका अनुभव किया ।। ३२ ।।

केशवोऽपि मुदा युक्तः प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
पूज्यमानो यदुश्रेष्ठैरुग्रसेनमुखैस्तथा ।। ३३ ।।

इधर भगवान् केशव भी उग्रसेन आदि श्रेष्ठ यादवोंसे सम्मानित हो प्रसन्नतापूर्वक द्वारकापुरीके भीतर गये ।। ३३ ।।

आहुकं पितरं वृद्धं मातरं च यशस्विनीम् ।
अभिवाद्य बलं चैव स्थितः कमललोचनः ।। ३४ ।।

कमलनयन श्रीकृष्णने राजा उग्रसेन, बूढ़े पिता वसुदेव और यशस्विनी माता देवकीको प्रणाम करके बलरामजीके चरणोंमें मस्तक झुकाया ।। ३४ ।।

प्रद्युम्नसाम्बनिशठांश्चारुदेष्णं गदं तथा ।
अनिरुद्धं च भानुं च परिष्वज्य जनार्दनः ।। ३५ ।।
स वृद्धैरभ्यनुज्ञातो रुक्मिण्या भवनं ययौ ।

तत्पश्चात् जनार्दनने प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, चारुदेष्ण, गद, अनिरुद्ध तथा भानु आदिको स्नेहपूर्वक हृदयसे लगाया और बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञा लेकर रुक्मिणीजीके महलमें प्रवेश किया ।। ३५½ ।।

मयोऽपि स महाभागः सर्वरत्नविभूषिताम् ।
विधिवत् कल्पयामास सभां धर्मसुताय वै ।। ३६ ।।

इधर महाभाग मयने भी धर्मपुत्र युधिष्ठिरके लिये विधिपूर्वक सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित सभामण्डप बनानेकी मन-ही-मन कल्पना की ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि भगवद्याने द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारकायात्राविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ।। २ ।।

तृतीयोऽध्यायः

मयासुरका भीमसेन और अर्जुनको गदा और शंख लाकर देना तथा उसके द्वारा अद्भुत सभाका निर्माण

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्मयः पार्थमर्जुनं जयतां वरम् ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पुनरेष्यामि चाप्यहम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर मयासुरने विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनसे कहा—'भारत! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ। मैं एक जगह जाऊँगा और फिर शीघ्र ही लौट आऊँगा ।। १ ।।

(विश्रुतां त्रिषु लोकेषु पार्थ दिव्यां सभां तव ।
प्राणिनां विस्मयकरीं तव प्रीतिविवर्धिनीम् ।
पाण्डवानां च सर्वेषां करिष्यामि धनंजय ।।)

'कुन्तीकुमार धनंजय! मैं आपके लिये तीनों लोकोंमें विख्यात एक दिव्य सभाभवनका निर्माण करूँगा। जो समस्त प्राणियोंको आश्चर्यमें डालनेवाली तथा आपके साथ ही समस्त पाण्डवोंकी प्रसन्नता बढ़ानेवाली होगी।

उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ।
यियक्षमाणेषु पुरा दानवेषु मया कृतम् ।। २ ।।
चित्रं मणिमयं भाण्डं रम्यं बिन्दुसरः प्रति ।
सभायां सत्यसंधस्य यदासीद् वृषपर्वणः ।। ३ ।।

'पूर्वकालमें जब दैत्यलोग कैलास पर्वतसे उत्तर दिशामें स्थित मैनाक पर्वतपर यज्ञ करना चाहते थे, उस समय मैंने एक विचित्र एवं रमणीय मणिमय भाण्ड तैयार किया था, जो बिन्दुसरके समीप सत्यप्रतिज्ञ राजा वृषपर्वाकी सभामें रखा गया था ।। २-३ ।।

आगमिष्यामि तद् गृह्य यदि तिष्ठति भारत ।
ततः सभां करिष्यामि पाण्डवस्य यशस्विनीम् ।। ४ ।।

'भारत! यदि वह अबतक वहीं होगा तो उसे लेकर पुनः लौट आऊँगा। फिर उसीसे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके यशको बढ़ानेवाली सभा तैयार करूँगा ।। ४ ।।

मनःप्रह्लादिनीं चित्रां सर्वरत्नविभूषिताम् ।
अस्ति बिन्दुसरस्युग्रा गदा च कुरुनन्दन ।। ५ ।।

'जो सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित, विचित्र एवं मनको आह्लाद प्रदान करनेवाली होगी। कुरुनन्दन! बिन्दुसरमें एक भयंकर गदा भी है ।। ५ ।।

निहिता भावयाम्येवं राज्ञा हत्वा रणे रिपून् ।
सुवर्णबिन्दुभिश्चित्रा गुर्वी भारसहा दृढा ।। ६ ।।

'मैं समझता हूँ, राजा वृषपर्वाने युद्धमें शत्रुओंका संहार करके वह गदा वहीं रख दी थी। वह गदा बड़ी भारी है, विशेष भार या आघात सहन करनेमें समर्थ एवं सुदृढ़ है। उसमें सोनेकी फूलियाँ लगी हुई हैं, जिनसे वह बड़ी विचित्र दिखायी देती है ।। ६ ।।

सा वै शतसहस्रस्य सम्मिता शत्रुघातिनी ।
अनुरूपा च भीमस्य गाण्डीवं भवतो यथा ।। ७ ।।

'शत्रुओंका संहार करनेवाली वह गदा अकेली ही एक लाख गदाओंके बराबर है। जैसे गाण्डीव धनुष आपके योग्य है, वैसे ही वह गदा भीमसेनके योग्य होगी ।। ७ ।।

वारुणश्च महाशङ्खो देवदत्तः सुघोषवान् ।
सर्वमेतत् प्रदास्यामि भवते नात्र संशयः ।। ८ ।।

'वहाँ वरुणदेवका देवदत्त नामक महान् शंख भी है, जो बड़ी भारी आवाज करनेवाला है। ये सब वस्तुएँ लाकर मैं आपको भेंट करूँगा, इसमें संशय नहीं है' ।। ८ ।।

इत्युक्त्वा सोऽसुरः पार्थं प्रागुदीचीं दिशं गतः ।
अथोत्तरेण कैलासान्मैनाकं पर्वतं प्रति ।। ९ ।।

अर्जुनसे ऐसा कहकर मयासुर पूर्वोत्तर दिशा (ईशानकोण)-में कैलाससे उत्तर मैनाक पर्वतके पास गया ।। ९ ।।

हिरण्यशृङ्गः सुमहान् महामणिमयो गिरिः ।
रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ।। १० ।।
द्रष्टुं भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः ।

'वहीं हिरण्यशृंग नामक महामणिमय विशाल पर्वत है, जहाँ रमणीय बिन्दुसर नामक तीर्थ है। वहीं राजा भगीरथने भागीरथी गंगाका दर्शन करनेके लिये बहुत वर्षोंतक (तपस्या करते हुए) निवास किया था ।। १०½ ।।

यत्रेष्टं सर्वभूतानामीश्वरेण महात्मना ।। ११ ।।
आहृताः क्रतवो मुख्याः शतं भरतसत्तम ।
यत्र यूपा मणिमयाश्चैत्याश्चापि हिरण्मयाः ।। १२ ।।

भरतश्रेष्ठ! वहीं सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी महात्मा प्रजापतिने मुख्य-मुख्य सौ यज्ञोंका अनुष्ठान किया था, जिनमें सोनेकी वेदियाँ और मणियोंके खंभे बने थे ।। ११-१२ ।।

शोभार्थं विहितास्तत्र न तु दृष्टान्ततः कृताः ।
अत्रेष्ट्वा स गतः सिद्धिं सहस्राक्षः शचीपतिः ।। १३ ।।

यह सब शोभाके लिये बनाया गया था, शास्त्रीय विधि अथवा सिद्धान्तके अनुसार नहीं। सहस्र नेत्रोंवाले शचीपति इन्द्रने भी वहीं यज्ञ करके सिद्धि प्राप्त की थी ।। १३ ।।

यत्र भूतपतिः सृष्ट्वा सर्वान् लोकान् सनातनः ।

उपास्यते तिग्मतेजाः स्थितो भूतैः सहस्रशः ।। १४ ।।

सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा और समस्त प्राणियोंके अधिपति उग्रतेजस्वी सनातन देवता महादेवजी वहीं रहकर सहस्रों भूतोंसे सेवित होते हैं ।। १४ ।।

नरनारायणौ ब्रह्मा यमः स्थाणुश्च पञ्चमः ।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये ।। १५ ।।

एक हजार युग बीतनेपर वहीं नर-नारायण ऋषि, ब्रह्मा, यमराज और पाँचवें महादेवजी यज्ञका अनुष्ठान करते हैं ।। १५ ।।

यत्रेष्टं वासुदेवेन सत्रैर्वर्षगणान् बहून् ।
श्रद्दधानेन सततं धर्मसम्प्रतिपत्तये ।। १६ ।।

यह वही स्थान है, जहाँ भगवान् वासुदेवने धर्मपरम्पराकी रक्षाके लिये बहुत वर्षोंतक निरंतर श्रद्धापूर्वक यज्ञ किया था ।। १६ ।।

सुवर्णमालिनो यूपाश्चैत्याश्चाप्यतिभास्वराः ।
ददौ यत्र सहस्राणि प्रयुतानि च केशवः ।। १७ ।।

उस यज्ञमें स्वर्णमालाओंसे मण्डित खंभे और अत्यन्त चमकीली वेदियाँ बनी थीं। भगवान् केशवने उस यज्ञमें सहस्रों-लाखों वस्तुएँ दानमें दी थीं ।। १७ ।।

तत्र गत्वा स जग्राह गदां शङ्खं च भारत ।
स्फाटिकं च सभाद्रव्यं यदासीद् वृषपर्वणः ।। १८ ।।

भारत! तदनन्तर मयासुरने वहाँ जाकर वह गदा, शंख और सभाभवन बनानेके लिये स्फटिक मणिमय द्रव्य ले लिया, जो पहले वृषपर्वाके अधिकारमें था ।। १८ ।।

किंकरैः सह रक्षोभिर्यदरक्षन्महद् धनम् ।
तदगृह्णान्मयस्तत्र गत्वा सर्वं महासुरः ।। १९ ।।

बहुत-से किंकर तथा राक्षस जिस महान् धनकी रक्षा करते थे, वहाँ जाकर महान् असुर मयने वह सब ले लिया ।। १९ ।।

तदाहृत्य च तां चक्रे सोऽसुरोऽप्रतिमां सभाम् ।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु दिव्यां मणिमयीं शुभाम् ।। २० ।।

वे सब वस्तुएँ लाकर उस असुरने वह अनुपम सभाभवन तैयार की, जो तीनों लोकोंमें विख्यात, दिव्य, मणिमयी और शुभ एवं सुन्दर थी ।। २० ।।

गदां च भीमसेनाय प्रवरां प्रददौ तदा ।
देवदत्तं चार्जुनाय शङ्खप्रवरमुत्तमम् ।। २१ ।।

उसने उस समय वह श्रेष्ठ गदा भीमसेनको और देवदत्त नामक उत्तम शंख अर्जुनको भेंट कर दिया ।। २१ ।।

यस्य शङ्खस्य नादेन भूतानि प्रचकम्पिरे ।
सभा च सा महाराज शातकुम्भमयद्रुमा ।। २२ ।।

उस शंखकी आवाज सुनकर समस्त प्राणी काँप उठते थे। महाराज! उस सभामें सुवर्णमय वृक्ष शोभा पाते थे ।। २२ ।।

दशकिष्कुसहस्राणि समन्तादायताभवत् ।
यथा वह्नेर्यथार्कस्य सोमस्य च यथा सभा ।। २३ ।।
भ्राजमाना तथात्यर्थं दधार परमं वपुः ।

वह सब ओरसे दस हजार हाथ विस्तृत थी (अर्थात् उसकी लंबाई और चौड़ाई भी दस-दस हजार हाथ थी)। जैसे अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाकी सभाभवन प्रकाशित होती है, उसी प्रकार अत्यन्त उद्भासित होनेवाली उस सभाने बड़ा मनोहर रूप धारण किया ।। २३½ ।।

अभिघ्नतीव प्रभया प्रभामर्कस्य भास्वराम् ।। २४ ।।

वह अपनी प्रभाद्वारा सूर्यदेवकी तेजोमयी प्रभासे टक्कर लेती थी ।। २४ ।।

प्रबभौ ज्वलमानेव दिव्या दिव्येन वर्चसा ।
नवमेघप्रतीकाशा दिवमावृत्य विष्ठिता ।
आयता विपुला रम्या विपाप्मा विगतक्लमा ।। २५ ।।

वह दिव्य सभाभवन अपने अलौकिक तेजसे निरंतर प्रदीप्त-सी जान पड़ती थी। उसकी ऊँचाई इतनी अधिक थी कि नूतन मेघोंकी घटाके समान वह आकाशको घेरकर खड़ी थी। उसका विस्तार भी बहुत था। वह रमणीय सभाभवन पाप-तापका नाश करनेवाली थी ।। २५ ।।

उत्तमद्रव्यसम्पन्ना रत्नप्राकारतोरणा ।
बहुचित्रा बहुधना सुकृता विश्वकर्मणा ।। २६ ।।

उत्तमोत्तम द्रव्योंसे उसका निर्माण किया गया था। उसके परकोटे और फाटक रत्नोंसे बने हुए थे। उसमें अनेक प्रकारके अद्भुत चित्र अंकित थे। वह बहुत धनसे पूर्ण थी। दानवोंके विश्वकर्मा मयासुरने उस सभाभवनको बहुत सुन्दरतासे बनाया था ।। २६ ।।

न दाशार्ही सुधर्मा वा ब्रह्मणो वाथ तादृशी ।
सभा रूपेण सम्पन्ना यां चक्रे मतिमान् मयः ।। २७ ।।

बुद्धिमान् मयने जिस सभाका निर्माण किया था, उसके समान सुन्दर यादवोंकी सुधर्मा सभा अथवा ब्रह्माजीकी सभा भी नहीं थी ।। २७ ।।

तां स्म तत्र मयेनोक्ता रक्षन्ति च वहन्ति च ।
सभामष्टौ सहस्राणि किंकरा नाम राक्षसाः ।। २८ ।।

मयासुरकी आज्ञाके अनुसार आठ हजार किंकर नामक राक्षस उस सभाकी रक्षा करते और उसे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर उठाकर ले जाते थे ।। २८ ।।

अन्तरिक्षचरा घोरा महाकाया महाबलाः ।
रक्ताक्षाः पिङ्गलाक्षाश्च शुक्तिकर्णाः प्रहारिणः ।। २९ ।।

वे राक्षस भयंकर आकृतिवाले, आकाशमें विचरने-वाले, विशालकाय और महाबली थे। उनकी आँखें लाल और पिंगलवर्णकी थीं तथा कान सीपीके समान जान पड़ते थे। वे सब-के-सब प्रहार करनेमें कुशल थे ।। २९ ।।

तस्यां सभायां नलिनीं चकाराप्रतिमां मयः ।
वैदूर्यपत्रविततां मणिनालमयाम्बुजाम् ।। ३० ।।

मयासुरने उस सभाभवनके भीतर एक बड़ी सुन्दर पुष्करिणी बना रखी थी, जिसकी कहीं तुलना नहीं थी। उसमें इन्द्रनीलमणिमय कमलके पत्ते फैले हुए थे। उन कमलोंके मृणाल मणियोंके बने थे ।। ३० ।।

पद्मसौगन्धिकवतीं नानाद्विजगणायुताम् ।
पुष्पितैः पङ्कजैश्चित्रां कूर्मैर्मत्स्यैश्च काञ्चनैः ।
चित्रस्फटिकसोपानां निष्पङ्कसलिलां शुभाम् ।। ३१ ।।

उसमें पद्मरागमणिमय कमलोंकी मनोहर सुगंध छा रही थी। अनेक प्रकारके पक्षी उसमें रहते थे। खिले हुए कमलों और सुनहली मछलियों तथा कछुओंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उस पोखरीमें उतरनेके लिये स्फटिकमणिकी विचित्र सीढ़ियाँ बनी थीं। उसमें पंकरहित स्वच्छ जल भरा हुआ था। वह देखनेमें बड़ी सुन्दर थी ।। ३१ ।।

मन्दानिलसमुद्धूतां मुक्ताबिन्दुभिराचिताम् ।
महामणिशिलापट्टबद्धपर्यन्तवेदिकाम् ।। ३२ ।।

मन्द वायुसे उद्वेलित हो जब जलकी बूँदें उछलकर कमलके पत्तोंपर बिखर जाती थीं, उस समय वह सारी पुष्करिणी मौक्तिकबिन्दुओंसे व्याप्त जान पड़ती थी। उसके चारों ओरके घाटोंपर बड़ी-बड़ी मणियोंकी चौकोर शिलाखण्डोंसे पक्की वेदियाँ बनायी गयी थीं ।। ३२ ।।

मणिरत्नचितां तां तु केचिदभ्येत्य पार्थिवाः ।
दृष्ट्वापि नाभ्यजानन्त तेऽज्ञानात् प्रपतन्त्युत ।। ३३ ।।

मणियों तथा रत्नोंसे व्याप्त होनेके कारण कुछ राजालोग उस पुष्करिणीके पास आकर और उसे देखकर भी उसकी यथार्थतापर विश्वास नहीं करते थे और भ्रमसे उसे स्थल समझकर उसमें गिर पड़ते थे ।। ३३ ।।

तां सभामभितो नित्यं पुष्पवन्तो महाद्रुमाः ।
आसन् नानाविधा लोलाः शीतच्छाया मनोरमाः ।। ३४ ।।

उस सभाभवनके सब ओर अनेक प्रकारके बड़े-बड़े वृक्ष लहलहा रहे थे, जो सदा फूलोंसे भरे रहते थे। उनकी छाया बड़ी शीतल थी। वे मनोरम वृक्ष सदा हवाके झोंकोंसे हिलते रहते थे ।। ३४ ।।

काननानि सुगन्धीनि पुष्करिण्यश्च सर्वशः ।
हंसकारण्डवोपेताश्चक्रवाकोपशोभिताः ।। ३५ ।।

केवल वृक्ष ही नहीं; उस भवनके चारों ओर अनेक सुगन्धित वन, उपवन और बावलियाँ भी थीं, जो हंस, कारण्डव तथा चक्रवाक आदि पक्षियोंसे युक्त होनेके कारण बड़ी शोभा पा रही थीं ।। ३५ ।।

जलजानां च पद्मानां स्थलजानां च सर्वशः ।
मारुतो गन्धमादाय पाण्डवान् स्म निषेवते ।। ३६ ।।

वहाँ जल और स्थलमें होनेवाले कमलोंकी सुगन्ध लेकर वायु सदा पाण्डवोंकी सेवा किया करती थी ।। ३६ ।।

ईदृशीं तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः ।
निष्ठितां धर्मराजाय मयो राजन् न्यवेदयत् ।। ३७ ।।

मयासुरने पूरे चौदह महीनोंमें इस प्रकारकी उस अद्भुत सभाभवनका निर्माण किया था। राजन्! जब वह बनकर तैयार हो गयी, तब उसने धर्मराजको इस बातकी सूचना दी ।। ३७ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभानिर्माणे तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभानिर्माणविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ।। ३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३८½ श्लोक हैं)

चतुर्थोऽध्यायः

मयद्वारा निर्मित सभाभवनमें धर्मराज युधिष्ठिरका प्रवेश तथा सभामें स्थित महर्षियों और राजाओं आदिका वर्णन

(वैशम्पायन उवाच

तां तु कृत्वा सभां श्रेष्ठां मयश्चार्जुनमब्रवीत् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस श्रेष्ठ सभाभवनका निर्माण करके मयासुरने अर्जुनसे कहा।

मय उवाच

एषा सभा सव्यसाचिन् ध्वजो ह्यत्र भविष्यति ।।

मयासुर बोला—सव्यसाचिन्! यह है आपकी सभा, इसमें एक ध्वजा होगी।

भूतानां च महावीर्यो ध्वजाग्रे किङ्करो गणः ।
तव विस्फारघोषेण मेघवन्निनदिष्यति ।।

उसके अग्रभागमें भूतोंका महापराक्रमी किंकर नामक गण निवास करेगा। जिस समय तुम्हारे धनुषकी टंकारध्वनि होगी, उस समय उस ध्वनिके साथ ये भूत भी मेघोंके समान गर्जना करेंगे।

अयं हि सूर्यसंकाशो ज्वलनस्य रथोत्तमः ।
इमे च दिविजाः श्वेता वीर्यवन्तो हयोत्तमाः ।।
मायामयः कृतो ह्येष ध्वजो वानरलक्षणः ।
असज्जमानो वृक्षेषु धूमकेतुरिवोच्छ्रितः ।।

यह जो सूर्यके समान तेजस्वी अग्निदेवका उत्तम रथ है और ये जो श्वेत वर्णवाले दिव्य एवं बलवान् अश्वरत्न हैं तथा यह जो वानरचिह्नसे उपलक्षित ध्वज है, इन सबका निर्माण मायासे ही हुआ है। यह ध्वज वृक्षोंमें कहीं अटकता नहीं है तथा अग्निकी लपटोंके समान सदा ऊपरकी ओर ही उठा रहता है।

बहुवर्णं हि लक्ष्येत ध्वजं वानरलक्षणम् ।
ध्वजोत्कटं ह्यनवमं युद्धे द्रक्ष्यसि विष्ठितम् ।।

आपका यह वानरचिह्नित ध्वज अनेक रंगका दिखायी देता है। आप युद्धमें इस उत्कट एवं स्थिर ध्वजको कभी झुकता नहीं देखेंगे।

इत्युक्त्वाऽऽलिङ्ग्य बीभत्सुं विसृष्टः प्रययौ मयः ।)

ऐसा कहकर मयासुरने अर्जुनको हृदयसे लगा लिया और उनसे विदा लेकर (अभीष्ट स्थानको) चला गया।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रवेशनं तस्यां चक्रे राजा युधिष्ठिरः ।
अयुतं भोजयित्वा तु ब्राह्मणानां नराधिपः ।। १ ।।
साज्येन पायसेनैव मधुना मिश्रितेन च ।
कृसरेणाथ जीवन्त्या हविष्येण च सर्वशः ।। २ ।।
भक्ष्यप्रकारैर्विविधैः फलैश्चापि तथा नृप ।
चोष्यैश्च विविधै राजन् पेयैश्च बहुविस्तरैः ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने घी और मधु मिलायी हुई खीर, खिचड़ी, जीवन्तिकाके साग, सब प्रकारके हविष्य, भाँति-भाँतिके भक्ष्य तथा फल, ईख आदि नाना प्रकारके चोष्य और बहुत अधिक पेय (शर्बत) आदि सामग्रियों-द्वारा दस हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उस सभा-भवनमें प्रवेश किया ।। १—३ ।।

अहतैश्चैव वासोभिर्माल्यैरुच्चावचैरपि ।
तर्पयामास विप्रेन्द्रान् नानादिग्भ्यः समागतान् ।। ४ ।।

उन्होंने नये-नये वस्त्र और छोटे-बड़े अनेक प्रकारके हार आदिके उपहार देकर अनेक दिशाओंसे आये हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त किया ।। ४ ।।

ददौ तेभ्यः सहस्राणि गवां प्रत्येकशः पुनः ।
पुण्याहघोषस्तत्रासीद् दिवस्पृगिव भारत ।। ५ ।।

भारत! तत्पश्चात् उन्होंने प्रत्येक ब्राह्मणको एक-एक हजार गौएँ दीं। उस समय वहाँ ब्राह्मणोंके पुण्याह-वाचनका गम्भीर घोष मानो स्वर्गलोकतक गूँज उठा ।। ५ ।।

वादित्रैर्विविधैर्दिव्यैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ।
पूजयित्वा कुरुश्रेष्ठो दैवतानि निवेश्य च ।। ६ ।।

कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने अनेक प्रकारके बाजे तथा भाँति-भाँतिके दिव्य सुगन्धित पदार्थोंद्वारा उस भवनमें देवताओंकी स्थापना एवं पूजा की। इसके बाद वे उस भवनमें प्रविष्ट हुए ।। ६ ।।

तत्र मल्ला नटा झल्लाः सूता वैतालिकास्तथा ।
उपतस्थुर्महात्मानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।। ७ ।।

वहाँ धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिरकी सेवामें कितने ही मल्ल (बाहुयुद्ध करनेवाले), नट, झल्ल (लकुटियोंसे युद्ध करनेवाले), सूत और वैतालिक उपस्थित हुए ।। ७ ।।

तथा स कृत्वा पूजां तां भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
तस्यां सभायां रम्यायां रेमे शक्रो यथा दिवि ।। ८ ।।

इस प्रकार पूजनका कार्य सम्पन्न करके भाइयोंसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर स्वर्गमें इन्द्रकी भाँति उस रमणीय सभामें आनन्दपूर्वक रहने लगे ।। ८ ।।

सभायामृषयस्तस्यां पाण्डवैः सह आसते ।

आसांचक्रुर्नरेन्द्राश्च नानादेशसमागताः ।। ९ ।।

उस सभामें ऋषि तथा विभिन्न देशोंसे आये हुए नरेश पाण्डवोंके साथ बैठा करते थे ।। ९ ।।

असितो देवलः सत्यः सर्पिर्माली महाशिराः ।
अर्वावसुः सुमित्रश्च मैत्रेयः शुनको बलिः ।। १० ।।
बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनः शुकः ।
सुमन्तुर्जैमिनिः पैलो व्यासशिष्यास्तथा वयम् ।। ११ ।।
तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च ससुतो लोमहर्षणः ।
अप्सुहोम्यश्च धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ ।। १२ ।।
दामोष्णीषस्त्रैबलिश्च पर्णादो घटजानुकः ।
मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्यश्च सारिकः ।। १३ ।।
बलिवाकः सिनीवाकः सत्यपालः कृतश्रमः ।
जातूकर्णः शिखावांश्च आलम्बः पारिजातकः ।। १४ ।।
पर्वतश्च महाभागो मार्कण्डेयो महामुनिः ।
पवित्रपाणिः सावर्णो भालुकिर्गालवस्तथा ।। १५ ।।
जङ्घाबन्धुश्च रैभ्यश्च कोपवेगस्तथा भृगुः ।
हरिबभ्रुश्च कौण्डिन्यो बभ्रुमाली सनातनः ।। १६ ।।
काक्षीवानौशिजश्चैव नाचिकेतोऽथ गौतमः ।
पैङ्गयो वराहः शुनकः शाण्डिल्यश्च महातपाः ।। १७ ।।
कुक्कुरो वेणुजङ्घोऽथ कालापः कठ एव च ।
मुनयो धर्मविद्वांसो धृतात्मानो जितेन्द्रियाः ।। १८ ।।

असित, देवल, सत्य, सर्पिर्माली, महाशिरा, अर्वावसु, सुमित्र, मैत्रेय, शुनक, बलि, बक, दाल्भ्य, स्थूलशिरा, कृष्णद्वैपायन, शुकदेव, व्यासजीके शिष्य सुमन्तु, जैमिनि, पैल तथा हमलोग, तित्तिरि, याज्ञवल्क्य, पुत्रसहित लोमहर्षण, अप्सुहोम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य, कौशिक, दामोष्णीष, त्रैबलि, पर्णाद, घटजानुक, मौंजायन, वायुभक्ष, पाराशर्य, सारिक, बलिवाक, सिनीवाक, सत्यपाल, कृतश्रम, जातूकर्ण, शिखावान्, आलम्ब, पारिजातक, महाभाग पर्वत, महामुनि मार्कण्डेय, पवित्रपाणि, सावर्ण, भालुकि, गालव, जंघाबन्धु, रैभ्य, कोपवेग, भृगु, हरिबभ्रु, कौण्डिन्य, बभ्रुमाली, सनातन, काक्षीवान्, औशिज, नाचिकेत, गौतम, पैंगय, वराह, शुनक (द्वितीय), महातपस्वी शाण्डिल्य, कुक्कुर, वेणुजंघ, कालाप तथा कठ आदि धर्मज्ञ, जितात्मा और जितेन्द्रिय मुनि उस सभामें विराजते थे ।। १०—१८ ।।

एते चान्ये च बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः ।
उपासते महात्मानं सभायामृषिसत्तमाः ।। १९ ।।

ये तथा और भी वेद-वेदांगोंके पारंगत बहुत-से मुनिश्रेष्ठ उस सभामें महात्मा युधिष्ठिरके पास बैठा करते थे ।। १९ ।।

कथयन्तः कथाः पुण्या धर्मज्ञाः शुचयोऽमलाः ।
तथैव क्षत्रियश्रेष्ठा धर्मराजमुपासते ।। २० ।।

वे धर्मज्ञ, पवित्रात्मा और निर्मल महर्षि राजा युधिष्ठिरको पवित्र कथाएँ सुनाया करते थे। इसी प्रकार क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ नरेश भी वहाँ धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते थे ।। २० ।।

श्रीमान् महात्मा धर्मात्मा मुञ्जकेतुर्विवर्धनः ।
संग्रामजिद् दुर्मुखश्च उग्रसेनश्च वीर्यवान् ।। २१ ।।
कक्षसेनः क्षितिपतिः क्षेमकश्चापराजितः ।
कम्बोजराजः कमठः कम्पनश्च महाबलः ।। २२ ।।
सततं कम्पयामास यवनानेक एव यः ।
बलपौरुषसम्पन्नान् कृतास्त्रानमितौजसः ।
यथासुरान् कालकेयान् देवो वज्रधरस्तथा ।। २३ ।।

श्रीमान् महामना धर्मात्मा मुंजकेतु, विवर्धन, संग्रामजित्, दुर्मुख, पराक्रमी उग्रसेन, राजा कक्षसेन, अपराजित क्षेमक, कम्बोजराज कमठ और महाबली कम्पन, जो अकेले ही बल-पौरुषसम्पन्न, अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा अमिततेजस्वी यवनोंको सदा उसी प्रकार कँपाते रहते थे, जैसे वज्रधारी इन्द्रने कालकेय नामक असुरोंको कम्पित किया था। (ये सभी नरेश धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते रहते थे) ।। २१—२३ ।।

जटासुरो मद्रकाणां च राजा
कुन्तिः पुलिन्दश्च किरातराजः ।
तथाऽऽङ्गवाङ्गौ सह पुण्ड्रकेण
पाण्ड्योड्रराजौ च सहान्ध्रकेण ।। २४ ।।
अङ्गो वङ्गः सुमित्रश्च शैब्यश्चामित्रकर्शनः ।
किरातराजः सुमना यवनाधिपतिस्तथा ।। २५ ।।
चाणूरो देवरातश्च भोजो भीमरथश्च यः ।
श्रुतायुधश्च कालिङ्गो जयसेनश्च मागधः ।। २६ ।।
सुकर्मा चेकितानश्च पुरुश्चामित्रकर्शनः ।
केतुमान् वसुदानश्च वैदेहोऽथ कृतक्षणः ।। २७ ।।
सुधर्मा चानिरुद्धश्च श्रुतायुश्च महाबलः ।
अनूपराजो दुर्धर्षः क्रमजिच्च सुदर्शनः ।। २८ ।।
शिशुपालः सहसुतः करूषाधिपतिस्तथा ।
वृष्णीनां चैव दुर्धर्षाः कुमारा देवरूपिणः ।। २९ ।।

आहुको विपृथुश्चैव गदः सारण एव च ।
अक्रूरः कृतवर्मा च सत्यकश्च शिनेः सुतः ।। ३० ।।
भीष्मकोऽथाकृतिश्चैव द्युमत्सेनश्च वीर्यवान् ।
केकयाश्च महेष्वासा यज्ञसेनश्च सौमकिः ।। ३१ ।।
केतुमान् वसुमांश्चैव कृतास्त्रश्च महाबलः ।
एते चान्ये च बहवः क्षत्रिया मुख्यसम्मताः ।। ३२ ।।
उपासते सभायां स्म कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।

इनके सिवा जटासुर, मद्रराज शल्य, राजा कुन्तिभोज, किरातराज पुलिन्द, अंगराज, वंगराज, पुण्ड्रक, पाण्ड्य, उड्रराज, आन्ध्रनरेश, अंग, वंग, सुमित्र, शत्रुसूदन शैब्य, किरातराज सुमना, यवननरेश, चाणूर, देवरात, भोज, भीमरथ, कलिंगराज श्रुतायुध, मगधदेशीय जयसेन, सुकर्मा, चेकितान, शत्रुसंहारक पुरु, केतुमान्, वसुदान, विदेहराज कृतक्षण, सुधर्मा, अनिरुद्ध, महाबली श्रुतायु, दुर्धर्ष वीर अनूपराज, क्रमजित्, सुदर्शन, पुत्रसहित शिशुपाल, करूषराज दन्तवक्त्र, वृष्णिवंशियोंके देवस्वरूप दुर्धर्ष राजकुमार, आहुक, विपृथु, गद, सारण, अक्रूर, कृतवर्मा, शिनिपुत्र सत्यक, भीष्मक, आकृति, पराक्रमी द्युमत्सेन, महान् धनुर्धर केकयराजकुमार, सोमक-पौत्र द्रुपद, केतुमान् (द्वितीय) तथा अस्त्रविद्यामें निपुण महाबली वसुमान्—ये तथा और भी बहुत-से प्रधान क्षत्रिय उस सभामें कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी सेवामें बैठते थे ।। २४—३२ $\frac{१}{२}$ ।।

अर्जुनं ये च संश्रित्य राजपुत्रा महाबलाः ।। ३३ ।।
अशिक्षन्त धनुर्वेदं रौरवाजिनवाससः ।
तत्रैव शिक्षिता राजन् कुमारा वृष्णिनन्दनाः ।। ३४ ।।

जो महाबली राजकुमार अर्जुनके पास रहकर कृष्णमृगचर्म धारण किये धनुर्वेदकी शिक्षा लेते थे (वे भी उस सभाभवनमें बैठकर राजा युधिष्ठिरकी उपासना करते थे)। राजन्! वृष्णिवंशको आनन्दित करनेवाले राजकुमारोंको वहीं शिक्षा मिली थी ।। ३३-३४ ।।

रौक्मिणेयश्च साम्बश्च युयुधानश्च सात्यकिः ।
सुधर्मा चानिरुद्धश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ।। ३५ ।।
एते चान्ये च बहवो राजानः पृथिवीपते ।
धनंजयसखा चात्र नित्यमास्ते स्म तुम्बुरुः ।। ३६ ।।

रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न, जाम्बवतीकुमार साम्ब, सत्यकपुत्र (सात्यकि) युयुधान, सुधर्मा, अनिरुद्ध, नरश्रेष्ठ शैब्य—ये और दूसरे भी बहुत-से राजा उस सभामें बैठते थे। पृथ्वीपते! अर्जुनके सखा तुम्बुरु गन्धर्व भी उस सभामें नित्य विराजमान होते थे ।। ३५-३६ ।।

उपासते महात्मानमासीनं सप्तविंशतिः ।
चित्रसेनः सहामात्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।। ३७ ।।

मन्त्रीसहित चित्रसेन आदि सत्ताईस गन्धर्व और अप्सराएँ सभामें बैठे हुए महात्मा युधिष्ठिरकी उपासना करती थीं ।। ३७ ।।

गीतवादित्रकुशलाः साम्यतालविशारदाः ।
प्रमाणेऽथ लये स्थाने किन्नराः कृतनिश्रमाः ।। ३८ ।।
संचोदितास्तुम्बुरुणा गन्धर्वसहितास्तदा ।
गायन्ति दिव्यतानैस्ते यथान्यायं मनस्विनः ।
पाण्डुपुत्रानृषींश्चैव रमयन्त उपासते ।। ३९ ।।

गाने-बजानेमें कुशल, साम्य[1] और तालके[2] विशेषज्ञ तथा प्रमाण, लय और स्थानकी जानकारीके लिये विशेष परिश्रम किये हुए मनस्वी किन्नर तुम्बुरुकी आज्ञासे वहाँ अन्य गन्धर्वोंके साथ दिव्य तान छेड़ते हुए यथोचित रीतिसे गाते और पाण्डवों तथा महर्षियोंका मनोरंजन करते हुए धर्मराजकी उपासना करते थे ।। ३८-३९ ।।

तस्यां सभायामासीनाः सुव्रताः सत्यसंगराः ।
दिवीव देवा ब्रह्माणं युधिष्ठिरमुपासते ।। ४० ।।

जैसे देवतालोग दिव्यलोककी सभामें ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार कितने ही सत्यप्रतिज्ञ और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महापुरुष उस सभामें बैठकर महाराज युधिष्ठिरकी आराधना करते थे ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।। ४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभाप्रवेश नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ।। ४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

---

१. संगीतमें नृत्य, गीत और वाद्यकी समताको लय अथवा साम्य कहते हैं; जैसा कि अमरकोषका वाक्य है—‘लयः साम्यम्’।

२. नृत्य या गीतमें उसके काल और क्रियाका परिमाण, जिसे बीच-बीचमें हाथपर हाथ मारकर सूचित करते जाते हैं, ताल कहलाता है; जैसा कि अमरकोषका वचन है—‘तालः कालक्रियामानम्’।

(लोकपालसभाख्यानपर्व)

पञ्चमोऽध्यायः

नारदजीका युधिष्ठिरकी सभामें आगमन और प्रश्नके रूपमें युधिष्ठिरको शिक्षा देना

वैशम्पायन उवाच

अथ तत्रोपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
महत्सु चोपविष्टेषु गन्धर्वेषु च भारत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक दिन उस सभामें महात्मा पाण्डव अन्यान्य महापुरुषों तथा गन्धर्वों आदिके साथ बैठे हुए थे ।। १ ।।

वेदोपनिषदां वेत्ता ऋषिः सुरगणार्चितः ।
इतिहासपुराणज्ञः पुराकल्पविशेषवित् ।। २ ।।
न्यायविद् धर्मतत्त्वज्ञः षडङ्गविदनुत्तमः ।
ऐक्यसंयोगनानात्वसमवायविशारदः ।। ३ ।।
वक्ता प्रगल्भो मेधावी स्मृतिमान् नयवित् कविः ।
परापरविभागज्ञः प्रमाणकृतनिश्चयः ।। ४ ।।
पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित् ।
उत्तरोत्तरवक्ता च वदतोऽपि बृहस्पतेः ।। ५ ।।
धर्मकामार्थमोक्षेषु यथावत् कृतनिश्चयः ।
तथा भुवनकोशस्य सर्वस्यास्य महामतिः ।। ६ ।।
प्रत्यक्षदर्शी लोकस्य तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
सांख्ययोगविभागज्ञो निर्विवित्सुः सुरासुरान् ।। ७ ।।
संधिविग्रहतत्त्वज्ञस्त्वनुमानविभागवित् ।
षाड्गुण्यविधियुक्तश्च सर्वशास्त्रविशारदः ।। ८ ।।
युद्धगान्धर्वसेवी च सर्वत्राप्रतिघस्तथा ।
एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्युक्तो गुणगणैर्मुनिः ।। ९ ।।
लोकाननुचरन् सर्वानागमत् तां सभां नृप ।
नारदः सुमहातेजा ऋषिभिः सहितस्तदा ।। १० ।।
पारिजातेन राजेन्द्र पर्वतेन च धीमता ।

सुमुखेन च सौम्येन देवर्षिरमितद्युतिः ।। ११ ।।
सभास्थान् पाण्डवान् द्रष्टुं प्रीयमाणो मनोजवः ।
जयाशीर्भिस्तु तं विप्रो धर्मराजानमार्चयत् ।। १२ ।।

उसी समय वेद और उपनिषदोंके ज्ञाता, ऋषि, देवताओंद्वारा पूजित, इतिहास-पुराणके मर्मज्ञ, पूर्वकल्पकी बातोंके विशेषज्ञ, न्यायके विद्वान्, धर्मके तत्त्वको जाननेवाले, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष—इन छहों अंगोंके पण्डितोंमें शिरोमणि, ऐक्य[3], संयोगनानात्व[4] और समवाय के[5] ज्ञानमें विशारद, प्रगल्भ वक्ता, मेधावी, स्मरणशक्तिसम्पन्न, नीतिज्ञ, त्रिकालदर्शी, अपर ब्रह्म और परब्रह्मको विभागपूर्वक जाननेवाले, प्रमाणोंद्वारा एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँचे हुए, पंचावयवयुक्त[*] वाक्यके गुण-दोषको जाननेवाले, बृहस्पति-जैसे वक्ताके साथ भी उत्तर-प्रत्युत्तर करनेमें समर्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके सम्बन्धमें यथार्थ निश्चय रखनेवाले तथा इन सम्पूर्ण चौदहों भुवनोंको ऊपर, नीचे और तिरछे सब ओरसे प्रत्यक्ष देखनेवाले, महाबुद्धिमान्, सांख्य और योगके विभागपूर्वक ज्ञाता, देवताओं और असुरोंमें भी निर्वेद (वैराग्य) उत्पन्न करनेके इच्छुक, संधि और विग्रहके तत्त्वको समझनेवाले, अपने और शत्रुपक्षके बलाबलका अनुमानसे निश्चय करके शत्रुपक्षके मन्त्रियों आदिको फोड़नेके लिये धन आदि बाँटनेके उपयुक्त अवसरका ज्ञान रखनेवाले, संधि (सुलह), विग्रह (कलह), यान (चढ़ाई करना), आसन (अपने स्थानपर ही चुप्पी मारकर बैठे रहना), द्वैधीभाव (शत्रुओंमें फूट डालना) और समाश्रय (किसी बलवान् राजाका आश्रय ग्रहण करना)—राजनीतिके इन छहों अंगोंके उपयोगके जानकार, समस्त शास्त्रोंके निपुण विद्वान्, युद्ध और संगीतकी कलामें कुशल, सर्वत्र क्रोधरहित, इन उपर्युक्त गुणोंके सिवा और भी असंख्य सद्‌गुणोंसे सम्पन्न, मननशील, परम कान्तिमान् महातेजस्वी देवर्षि नारद लोक-लोकान्तरोंमें घूमते-फिरते पारिजात, बुद्धिमान् पर्वत तथा सौम्य, सुमुख आदि अन्य अनेक ऋषियोंके साथ सभामें स्थित पाण्डवोंसे प्रेमपूर्वक मिलनेके लिये मनके समान वेगसे वहाँ आये और उन ब्रह्मर्षिने जयसूचक आशीर्वादोंद्वारा धर्मराज युधिष्ठिरका अत्यन्त सम्मान किया ।। २—१२ ।।

तमागतमृषिं दृष्ट्वा नारदं सर्वधर्मवित् ।
सहसा पाण्डवश्रेष्ठः प्रत्युत्थायानुजैः सह ।। १३ ।।
अभ्यवादयत प्रीत्या विनयावनतस्तदा ।
तदर्हमासनं तस्मै सम्प्रदाय यथाविधि ।। १४ ।।
गां चैव मधुपर्कं च सम्प्रदायार्घ्यमेव च ।
अर्चयामास रत्नैश्च सर्वकामैश्च धर्मवित् ।। १५ ।।

सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता पाण्डवश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने देवर्षि नारदको आया देख भाइयोंसहित सहसा उठकर उन्हें प्रेम, विनय और नम्रतापूर्वक उस समय नमस्कार किया और उन्हें उनके योग्य आसन देकर धर्मज्ञ नरेशने गौ, मधुपर्क तथा अर्घ्य आदि उपचार अर्पण करते हुए रत्नोंसे उनका विधिपूर्वक पूजन किया तथा उनकी सब इच्छाओंकी पूर्ति करके उन्हें संतुष्ट किया ।। १३—१५ ।।

तुतोष च यथावच्च पूजां प्राप्य युधिष्ठिरात् ।
सोऽर्चितः पाण्डवैः सर्वैर्महर्षिर्वेदपारगः ।
धर्मकामार्थसंयुक्तं पप्रच्छेदं युधिष्ठिरम् ।। १६ ।।

राजा युधिष्ठिरसे यथोचित पूजा पाकर नारदजी भी बहुत प्रसन्न हुए। इस प्रकार सम्पूर्ण पाण्डवोंसे पूजित होकर उन वेदवेत्ता महर्षिने युधिष्ठिरसे धर्म, काम और अर्थ तीनोंके उपदेशपूर्वक ये बातें पूछीं ।। १६ ।।

नारद उवाच

कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः ।
सुखानि चानुभूयन्ते मनश्च न विहन्यते ।। १७ ।।

नारदजी बोले—राजन्! क्या तुम्हारा धन तुम्हारे (यज्ञ, दान तथा कुटुम्बरक्षा आदि आवश्यक कार्योंके) निर्वाहके लिये पूरा पड़ जाता है? क्या धर्ममें तुम्हारा मन प्रसन्नतापूर्वक लगता है? क्या तुम्हें इच्छानुसार सुख-भोग प्राप्त होते हैं? (भावच्चिन्तनमें लगे हुए) तुम्हारे मनको (किन्हीं दूसरी वृत्तियोंद्वारा) आघात या विक्षेप तो नहीं पहुँचता है? ।। १७ ।।

पाण्डवोंद्वारा देवर्षि नारदका पूजन

कच्चिदाचरितं पूर्वैर्नरदेव पितामहैः ।
वर्तसे वृत्तिमक्षुद्रां धर्मार्थसहितां त्रिषु ।। १८ ।।

नरदेव! क्या तुम ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र—इन तीनों वर्णोंकी प्रजाओंके प्रति अपने पिता-पितामहोंद्वारा व्यवहारमें लायी हुई धर्मार्थयुक्त उत्तम एवं उदार वृत्तिका व्यवहार करते हो? ।। १८ ।।

कच्चिदर्थेन वा धर्मं धर्मेणार्थमथापि वा ।
उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रबाधसे ।। १९ ।।

तुम धनके लोभमें पड़कर धर्मको, केवल धर्ममें ही संलग्न रहकर धनको अथवा आसक्ति ही जिसका बल है, उस कामभोगके सेवनद्वारा धर्म और अर्थ दोनोंको ही हानि तो नहीं पहुँचाते? ।। १९ ।।

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञः सदा वरद सेवसे ।। २० ।।

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ एवं वरदायक नरेश! तुम त्रिवर्गसेवनके उपयुक्त समयका ज्ञान रखते हो; अतः कालका विभाग करके नियत और उचित समयपर सदा धर्म, अर्थ एवं कामका सेवन करते हो न? ।। २० ।।[१]

कच्चिद् राजगुणैः षड्भिः सप्तोपायांस्तथानघ ।
बलाबलं तथा सम्यक् चतुर्दश परीक्षसे ।। २१ ।।

निष्पाप युधिष्ठिर! क्या तुम राजोचित छः[२] गुणोंके द्वारा सात[३] उपायोंकी, अपने और शत्रुके बलाबलकी तथा देशपाल, दुर्गपाल आदि चौदह[४] व्यक्तियोंकी भलीभाँति परख करते रहते हो? ।। २१ ।।

कच्चिदात्मानमन्वीक्ष्य परांश्च जयतां वर ।
तथा संधाय कर्माणि अष्टौ भारत सेवसे ।। २२ ।।

विजेताओंमें श्रेष्ठ भरतवंशी युधिष्ठिर! क्या तुम अपनी और शत्रुकी शक्तिको अच्छी तरह समझकर यदि शत्रु प्रबल हुआ तो उसके साथ संधि बनाये रखकर अपने धन और कोषकी वृद्धिके लिये आठ[५] कर्मोंका सेवन करते हो? ।। २२ ।।

कच्चित् प्रकृतयः सप्त न लुप्ता भरतर्षभ ।
आढ्यास्तथा व्यसनिनः स्वनुरक्ताश्च सर्वशः ।। २३ ।।

भरतश्रेष्ठ! तुम्हारी मन्त्री आदि सात[६] प्रकृतियाँ कहीं शत्रुओंमें मिल तो नहीं गयी हैं? तुम्हारे राज्यके धनीलोग बुरे व्यसनोंसे बचे रहकर सर्वथा तुमसे प्रेम करते हैं न? ।। २३ ।।

कच्चिन्न कृतकैर्दूतैर्ये चाप्यपरिशङ्किताः ।
त्वत्तो वा तव चामात्यैर्भिद्यते मन्त्रितं तथा ।। २४ ।।

जिनपर तुम्हें संदेह नहीं होता, ऐसे शत्रुके गुप्तचर कृत्रिम मित्र बनकर तुम्हारे मन्त्रियोंद्वारा तुम्हारी गुप्त मन्त्रणाको जानकर उसे प्रकाशित तो नहीं कर देते? ।। २४ ।।

मित्रोदासीनशत्रूणां कच्चिद् वेत्सि चिकीर्षितम् ।
कच्चित् संधिं यथाकालं विग्रहं चोपसेवसे ।। २५ ।।

क्या तुम मित्र, शत्रु और उदासीन लोगोंके सम्बन्धमें यह ज्ञान रखते हो कि वे कब क्या करना चाहते हैं? उपयुक्त समयका विचार करके ही संधि और विग्रहकी नीतिका सेवन करते हो न? ।। २५ ।।

कच्चिद् वृत्तिमुदासीने मध्यमे चानुमन्यसे ।
कच्चिदात्मसमा वृद्धाः शुद्धाः सम्बोधनक्षमाः ।। २६ ।।
कुलीनाश्चानुरक्ताश्च कृतास्ते वीर मन्त्रिणः ।
विजयो मन्त्रमूलो हि राज्ञो भवति भारत ।। २७ ।।

क्या तुम्हें इस बातका अनुमान है कि उदासीन एवं मध्यम व्यक्तियोंके प्रति कैसा बर्ताव करना चाहिये? वीर! तुमने अपने स्वयंके समान विश्वसनीय वृद्ध, शुद्ध हृदयवाले, किसी बातको अच्छी तरह समझानेमें समर्थ, उत्तम कुलमें उत्पन्न और अपने प्रति अत्यन्त अनुराग रखनेवाले पुरुषोंको ही मन्त्री बना रखा है न? क्योंकि भारत! राजाकी विजयप्राप्तिका मूल कारण अच्छी मन्त्रणा (सलाह) और उसकी सुरक्षा ही है, (जो सुयोग्य मन्त्रीके अधीन है) ।। २६-२७ ।।

कच्चित् संवृतमन्त्रैस्तैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः ।
राष्ट्रं सुरक्षितं तात शत्रुभिर्न विलुप्यते ।। २८ ।।

तात! मन्त्रको गुप्त रखनेवाले उन शास्त्रज्ञ सचिवोंद्वारा तुम्हारा राष्ट्र सुरक्षित तो है न? शत्रुओंद्वारा उसका नाश तो नहीं हो रहा है? ।। २८ ।।

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित् काले विबुद्ध्यसे ।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थमर्थवित् ।। २९ ।।

तुम असमयमें ही निद्राके वशीभूत तो नहीं होते? समयपर जग जाते हो न? अर्थशास्त्रके जानकार तो तुम हो ही। रात्रिके पिछले भागमें जगकर अपने अर्थ (आवश्यक कर्तव्य एवं हित)-के विषयमें विचार तो करते हो न?* ।। २९ ।।

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह ।
कच्चित् ते मन्त्रितो मन्त्रो न राष्ट्रं परिधावति ।। ३० ।।

(कोई भी गुप्त मन्त्रणा दोसे चार कानोंतक ही गुप्त रहती है, छः कानोंमें जाते ही वह फूट जाती है, अतः मैं पूछता हूँ,) तुम किसी गूढ़ विषयपर अकेले ही तो विचार नहीं करते अथवा बहुत लोगोंके साथ बैठकर तो मन्त्रणा नहीं

करते? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारी निश्चित की हुई गुप्त मन्त्रणा फूटकर शत्रुके राज्यतक फैल जाती हो? ।। ३० ।।

कच्चिदर्थान् विनिश्चित्य लघुमूलान् महोदयान् ।
क्षिप्रमारभसे कर्तुं न विघ्नयसि तादृशान् ।। ३१ ।।

धनकी वृद्धिके ऐसे उपायोंका निश्चय करके, जिनमें मूलधन तो कम लगाना पड़ता हो, किंतु वृद्धि अधिक होती हो, उनका शीघ्रतापूर्वक आरम्भ कर देते हो न? वैसे कार्योंमें अथवा वैसा कार्य करनेवाले लोगोंके मार्गमें तुम विघ्न तो नहीं डालते? ।। ३१ ।।

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः परोक्षास्ते विशङ्किताः ।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टाः संसृष्टं चात्र कारणम् ।। ३२ ।।

तुम्हारे राज्यके किसान—मजदूर आदि श्रमजीवी मनुष्य तुमसे अज्ञात तो नहीं हैं? उनके कार्य और गतिविधिपर तुम्हारी दृष्टि है न? वे तुम्हारे अविश्वासके पात्र तो नहीं हैं अथवा तुम उन्हें बार-बार छोड़ते और पुनः कामपर लेते तो नहीं रहते? क्योंकि महान् अभ्युदय या उन्नतिमें उन सबका स्नेहपूर्ण सहयोग ही कारण है। (क्योंकि चिरकालसे अनुगृहीत होनेपर ही वे ज्ञात, विश्वासपात्र और स्वामीके प्रति अनुरक्त होते हैं) ।। ३२ ।।

आप्तैरलुब्धैः क्रमिकैस्ते च कच्चिदनुष्ठिताः ।
कच्चिद् राजन् कृतान्येव कृतप्रायाणि वा पुनः ।। ३३ ।।
विदुस्ते वीर कर्माणि नानवाप्तानि कानिचित् ।

कृषि आदिके कार्य विश्वसनीय, लोभरहित और बड़े-बूढ़ोंके समयसे चले आनेवाले कार्यकर्ताओंद्वारा ही कराते हो न? राजन्! वीरशिरोमणे! क्या तुम्हारे कार्योंके सिद्ध हो जानेपर या सिद्धिके निकट पहुँच जानेपर ही लोग जान पाते हैं? सिद्ध होनेसे पहले ही तुम्हारे किन्हीं कार्योंको लोग जान तो नहीं लेते ।। ३३ $\frac{१}{२}$ ।।

कच्चित् कारणिका धर्मे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः ।
कारयन्ति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः ।। ३४ ।।

तुम्हारे यहाँ जो शिक्षा देनेका काम करते हैं, वे धर्म एवं सम्पूर्ण शास्त्रोंके मर्मज्ञ विद्वान् होकर ही राजकुमारों तथा मुख्य-मुख्य योद्धाओंको सब प्रकारकी आवश्यक शिक्षाएँ देते हैं न? ।। ३४ ।।

कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं परम् ।। ३५ ।।

तुम हजारों मूर्खोंके बदले एक पण्डितको ही तो खरीदते हो न? अर्थात् आदरपूर्वक स्वीकार करते हो न? क्योंकि विद्वान् पुरुष ही अर्थसंकटके समय

महान् कल्याण कर सकता है ।। ३५ ।।

कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ।। ३६ ।।

क्या तुम्हारे सभी दुर्ग (किले) धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, यन्त्र (मशीन), शिल्पी और धनुर्धर सैनिकोंसे भरे-पूरे रहते हैं? ।। ३६ ।।

एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दान्तो विचक्षणः ।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ।। ३७ ।।

यदि एक भी मन्त्री मेधावी, शौर्यसम्पन्न, संयमी और चतुर हो तो राजा अथवा राजकुमारको विपुल सम्पत्तिकी प्राप्ति करा देता है ।। ३७ ।।

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ।। ३८ ।।

क्या तुम शत्रुपक्षके अठारह[१] और अपने पक्षके पंद्रह[२] तीर्थोंकी तीन-तीन अज्ञात गुप्तचरोंद्वारा देख-भाल या जाँच-पड़ताल करते रहते हो? ।। ३८ ।।

कच्चिद् द्विषामविदितः प्रतिपन्नश्च सर्वदा ।
नित्ययुक्तो रिपून् सर्वान् वीक्षसे रिपुसूदन ।। ३९ ।।

शत्रुसूदन! तुम शत्रुओंसे अज्ञात, सतत सावधान और नित्य प्रयत्नशील रहकर अपने सम्पूर्ण शत्रुओंकी गतिविधिपर दृष्टि रखते हो न? ।। ३९ ।।

कच्चिद् विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ।
अनसूयुरनुप्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः ।। ४० ।।

क्या तुम्हारे पुरोहित विनयशील, कुलीन, बहुज्ञ, विद्वान्, दोषदृष्टिसे रहित तथा शास्त्रचर्चामें कुशल हैं? क्या तुम उनका पूर्ण सत्कार करते हो? ।। ४० ।।

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ।। ४१ ।।

तुमने अग्निहोत्रके लिये विधिज्ञ, बुद्धिमान् और सरल स्वभावके ब्राह्मणको नियुक्त किया है न? वह सदा किये हुए और किये जानेवाले हवनको तुम्हें ठीक समयपर सूचित कर देता है न? ।। ४१ ।।

कच्चिदङ्गेषु निष्णातो ज्योतिषः प्रतिपादकः ।
उत्पातेषु च सर्वेषु दैवज्ञः कुशलस्तव ।। ४२ ।।

क्या तुम्हारे यहाँ हस्त-पादादि अंगोंकी परीक्षामें निपुण, ग्रहोंकी वक्र तथा अतिचार आदि गतियों एवं उनके शुभाशुभ परिणाम आदिको बतानेवाला तथा दिव्य, भौम एवं शरीरसम्बन्धी सब प्रकारके उत्पातोंको पहलेसे ही जान लेनेमें कुशल ज्योतिषी है? ।। ४२ ।।

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।

जघन्याश्च जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ।। ४३ ।।

तुमने प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंको उनके योग्य महान् कार्योंमें, मध्यम श्रेणीके कार्यकर्ताओंको मध्यम कार्योंमें तथा निम्न श्रेणीके सेवकोंको उनकी योग्यताके अनुसार छोटे कामोंमें ही लगा रखा है न? ।। ४३ ।।

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्छुचीन् ।
श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित् त्वं नियोजयसि कर्मसु ।। ४४ ।।

क्या तुम निश्छल, बाप-दादोंके क्रमसे चले आये हुए और पवित्र आचार-विचारवाले श्रेष्ठ मन्त्रियोंको सदा श्रेष्ठ कर्मोंमें लगाये रखते हो? ।। ४४ ।।

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्विजसे प्रजाः ।
राष्ट्रं तवानुशासन्ति मन्त्रिणो भरतर्षभ ।। ४५ ।।

भरतश्रेष्ठ! कठोर दण्डके द्वारा तुम प्रजाजनोंको अत्यन्त उद्वेगमें तो नहीं डाल देते? मन्त्रीलोग तुम्हारे राज्यका न्यायपूर्वक पालन करते हैं न? ।। ४५ ।।

कच्चित् त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा ।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ।। ४६ ।।

जैसे पवित्र याजक पतित यजमानका और स्त्रियाँ कामचारी पुरुषका तिरस्कार कर देती हैं, उसी प्रकार प्रजा कठोरतापूर्वक अधिक कर लेनेके कारण तुम्हारा अनादर तो नहीं करती? ।। ४६ ।।

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान् धृतिमाञ्छुचिः ।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिस्तथा ।। ४७ ।।

क्या तुम्हारा सेनापति हर्ष और उत्साहसे सम्पन्न, शूरवीर, बुद्धिमान्, धैर्यवान्, पवित्र, कुलीन, स्वामिभक्त तथा अपने कार्यमें कुशल है? ।। ४७ ।।

कच्चिद् बलस्य ते मुख्याः सर्वयुद्धविशारदाः ।
धृष्टावदाता विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ।। ४८ ।।

तुम्हारी सेनाके मुख्य-मुख्य दलपति सब प्रकारके युद्धोंमें चतुर, धृष्ट (निर्भय), निष्कपट और पराक्रमी हैं न? तुम उनका यथोचित सत्कार एवं सम्मान करते हो न? ।। ४८ ।।

कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
सम्प्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि ।। ४९ ।।

अपनी सेनाके लिये यथोचित भोजन और वेतन ठीक समयपर दे देते हो न? जो उन्हें दिया जाना चाहिये, उसमें कमी या विलम्ब तो नहीं कर देते? ।। ४९ ।।

कालातिक्रमणादेते भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुः कुप्यन्ति यद्भृत्याः सोऽनर्थः सुमहान् स्मृतः ।। ५० ।।

भोजन और वेतनमें अधिक विलम्ब होनेपर भृत्यगण अपने स्वामीपर कुपित हो जाते हैं और उनका वह कोप महान् अनर्थका कारण बताया गया है ।। ५० ।।

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।
कच्चित् प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति सदा युधि ।। ५१ ।।

क्या उत्तम कुलमें उत्पन्न मन्त्री आदि सभी प्रधान अधिकारी तुमसे प्रेम रखते हैं? क्या वे युद्धमें तुम्हारे हितके लिये अपने प्राणोंतकका त्याग करनेको सदा तैयार रहते हैं? ।। ५१ ।।

कच्चिन्नैको बहूनर्थान् सर्वशः साम्परायिकान् ।
अनुशास्ति यथाकामं कामात्मा शासनातिगः ।। ५२ ।।

तुम्हारे कर्मचारियोंमें कोई ऐसा तो नहीं है, जो अपनी इच्छाके अनुसार चलनेवाला और तुम्हारे शासनका उल्लंघन करनेवाला हो तथा युद्धके सारे साधनों एवं कार्योंको अकेला ही अपनी रुचिके अनुसार चला रहा हो? ।। ५२ ।।

कच्चित् पुरुषकारेण पुरुषः कर्म शोभयन् ।
लभते मानमधिकं भूयो वा भक्तवेतनम् ।। ५३ ।।

(तुम्हारे यहाँ काम करनेवाला) कोई पुरुष अपने पुरुषार्थसे जब किसी कार्यको अच्छे ढंगसे सम्पन्न करता है, तब वह आपसे अधिक सम्मान अथवा अधिक भत्ता और वेतन पाता है न? ।। ५३ ।।

कच्चिद् विद्याविनीतांश्च नराञ्ज्ञानविशारदान् ।
यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाभ्युपपद्यसे ।। ५४ ।।

क्या तुम विद्यासे विनयशील एवं ज्ञाननिपुण मनुष्योंको उनके गुणोंके अनुसार यथायोग्य धन आदि देकर उनका सम्मान करते हो? ।। ५४ ।।

कच्चिद् दारान्मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम् ।
व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ ।। ५५ ।।

भरतश्रेष्ठ! जो लोग तुम्हारे हितके लिये सहर्ष मृत्युका वरण कर लेते हैं अथवा भारी संकटमें पड़ जाते हैं, उनके बाल-बच्चोंकी रक्षा तुम करते हो न? ।। ५५ ।।

कच्चिद् भयादुपगतं क्षीणं वा रिपुमागतम् ।
युद्धे वा विजितं पार्थ पुत्रवत् परिरक्षसि ।। ५६ ।।

कुन्तीनन्दन! जो भयसे अथवा अपनी धन-सम्पत्तिका नाश होनेसे तुम्हारी शरणमें आया हो या युद्धमें तुमसे परास्त हो गया हो, ऐसे शत्रुका तुम पुत्रके समान पालन करते हो या नहीं? ।। ५६ ।।

कच्चित् त्वमेव सर्वस्याः पृथिव्याः पृथिवीपते ।

समश्चानभिशङ्क्यश्च यथा माता यथा पिता ।। ५७ ।।

पृथ्वीपते! क्या समस्त भूमण्डलकी प्रजा तुम्हें ही समदर्शी एवं माता-पिताके समान विश्वसनीय मानती है? ।। ५७ ।।

कच्चिद् व्यसनिनं शत्रुं निशम्य भरतर्षभ ।
अभियासि जवेनैव समीक्ष्य त्रिविधं बलम् ।। ५८ ।।

भरतकुलभूषण! क्या तुम अपने शत्रुको (स्त्री-द्यूत आदि) दुर्व्यसनोंमें फँसा हुआ सुनकर उसके त्रिविध बल (मन्त्र, कोष एवं भृत्य-बल अथवा प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति एवं उत्साहशक्ति)-पर विचार करके यदि वह दुर्बल हो तो उसके ऊपर बड़े वेगसे आक्रमण कर देते हो? ।। ५८ ।।

यात्रामारभसे दिष्ट्या प्राप्तकालमरिंदम ।
पार्ष्णिमूलं च विज्ञाय व्यवसायं पराजयम् ।
बलस्य च महाराज दत्त्वा वेतनमग्रतः ।। ५९ ।।

शत्रुदमन! क्या तुम पार्ष्णिग्राह आदि बारह* व्यक्तियोंके मण्डल (समुदाय)-को जानकर अपने कर्तव्यका[१] निश्चय करके और पराजयमूलक व्यसनोंका[२] अपने पक्षमें अभाव तथा शत्रुपक्षमें आधिक्य देखकर उचित अवसर आनेपर दैवका भरोसा करके अपने सैनिकोंको अग्रिम वेतन देकर शत्रुपर चढ़ाई कर देते हो? ।। ५९ ।।

कच्चिच्च बलमुख्येभ्यः परराष्ट्रे परंतप ।
उपच्छन्नानि रत्नानि प्रयच्छसि यथार्हतः ।। ६० ।।

परंतप! शत्रुके राज्यमें जो प्रधान-प्रधान योद्धा हैं, उन्हें छिपे-छिपे यथायोग्य रत्न आदि भेंट करते रहते हो या नहीं? ।। ६० ।।

कच्चिदात्मानमेवाग्रे विजित्य विजितेन्द्रियः ।
परान् जिगीषसे पार्थ प्रमत्तानजितेन्द्रियान् ।। ६१ ।।

कुन्तीनन्दन! क्या तुम पहले अपनी इन्द्रियों और मनको जीतकर ही प्रमादमें पड़े हुए अजितेन्द्रिय शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करते हो? ।। ६१ ।।

कच्चित् ते यास्यतः शत्रून् पूर्वं यान्ति स्वनुष्ठिताः ।
साम दानं च भेदश्च दण्डश्च विधिवद् गुणाः ।। ६२ ।।

शत्रुओंपर तुम्हारे आक्रमण करनेसे पहले अच्छी तरह प्रयोगमें लाये हुए तुम्हारे साम, दान, भेद और दण्ड—ये चार गुण विधिपूर्वक उन शत्रुओंतक पहुँच जाते हैं न? (क्योंकि शत्रुओंको वशमें करनेके लिये इनका प्रयोग आवश्यक है।) ।। ६२ ।।

कच्चिन्मूलं दृढं कृत्वा परान् यासि विशाम्पते ।

तांश्च विक्रमसे जेतुं जित्वा च परिरक्षसि ।। ६३ ।।

महाराज! तुम अपने राज्यकी नींवको दृढ़ करके शत्रुओंपर धावा करते हो न? उन शत्रुओंको जीतनेके लिये पूरा पराक्रम प्रकट करते हो न? और उन्हें जीतकर उनकी पूर्णरूपसे रक्षा तो करते रहते हो न? ।। ६३ ।।

कच्चिदष्टाङ्गसंयुक्ता चतुर्विधबला चमूः ।
बलमुख्यैः सुनीता ते द्विषतां प्रतिवर्धिनी ।। ६४ ।।

क्या धनरक्षक, द्रव्यसंग्राहक, चिकित्सक, गुप्तचर, पाचक, सेवक, लेखक और प्रहरी—इन आठ अंगों और हाथी, घोड़े, रथ एवं पैदल—इन चार[3] प्रकारके बलोंसे युक्त तुम्हारी सेना सुयोग्य सेनापतियोंद्वारा अच्छी तरह संचालित होकर शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ होती है? ।।

कच्चिल्लवं च मुष्टिं च परराष्ट्रे परंतप ।
अविहाय महाराज निहंसि समरे रिपून् ।। ६५ ।।

शत्रुओंको संतप्त करनेवाले महाराज! तुम शत्रुओंके राज्यमें अनाज काटने और दुर्भिक्षके समयकी उपेक्षा न करके रणभूमिमें शत्रुओंको मारते हो न? ।। ६५ ।।

कच्चित् स्वपरराष्ट्रेषु बहवोऽधिकृतास्तव ।
अर्थान् समधितिष्ठन्ति रक्षन्ति च परस्परम् ।। ६६ ।।

क्या अपने और शत्रुके राष्ट्रोंमें तुम्हारे बहुत-से अधिकारी स्थान-स्थानमें घूम-फिरकर प्रजाको वशमें करने एवं कर लेने आदि प्रयोजनोंको सिद्ध करते हैं और परस्पर मिलकर राष्ट्र एवं अपने पक्षके लोगोंकी रक्षामें लगे रहते हैं? ।। ६६ ।।

कच्चिदभ्यवहार्याणि गात्रसंस्पर्शनानि च ।
घ्रेयाणि च महाराज रक्षन्त्यनुमतास्तव ।। ६७ ।।

महाराज! तुम्हारे खाद्य पदार्थ, शरीरमें धारण करनेके वस्त्र आदि तथा सूँघनेके उपयोगमें आनेवाले सुगन्धित द्रव्योंकी रक्षा विश्वस्त पुरुष ही करते हैं न? ।। ६७ ।।

कच्चित् कोषश्च कोष्ठं च वाहनं द्वारमायुधम् ।
आयश्च कृतकल्याणैस्तव भक्तैरनुष्ठितः ।। ६८ ।।

तुम्हारे कल्याणके लिये सदा प्रयत्नशील रहनेवाले, स्वामिभक्त मनुष्योंद्वारा ही तुम्हारे धन-भण्डार, अन्न-भण्डार, वाहन, प्रधान द्वार, अस्त्र-शस्त्र तथा आयके साधनोंकी रक्षा एवं देख-भाल की जाती है न? ।। ६८ ।।

कच्चिदाभ्यन्तरेभ्यश्च बाह्येभ्यश्च विशाम्पते ।
रक्षस्यात्मानमेवाग्रे तांश्च स्वेभ्यो मिथश्च तान् ।। ६९ ।।

प्रजापालक नरेश! क्या तुम रसोइये आदि भीतरी सेवकों तथा सेनापति आदि बाह्य सेवकोंद्वारा भी पहले अपनी ही रक्षा करते हो, फिर आत्मीयजनोंद्वारा एवं परस्पर एक-दूसरेसे उन सबकी रक्षापर भी ध्यान देते हो? ।। ६९ ।।

कच्चिन्न पाने द्यूते वा क्रीडासु प्रमदासु च ।
प्रतिजानन्ति पूर्वाह्णे व्ययं व्यसनजं तव ।। ७० ।।

तुम्हारे सेवक पूर्वाह्णकालमें (जो कि धर्माचरणका समय है) तुमसे मद्यपान, द्यूत, क्रीड़ा और युवती स्त्री आदि दुर्व्यसनोंमें तुम्हारा समय और धनको व्यर्थ नष्ट करनेके लिये प्रस्ताव तो नहीं करते? ।। ७० ।।

कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः ।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशुद्ध्यते तव ।। ७१ ।।

क्या तुम्हारी आयके एक चौथाई या आधे अथवा तीन चौथाई भागसे तुम्हारा सारा खर्च चल जाता है? ।। ७१ ।।

कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून् वृद्धान् वणिजः शिल्पिनः श्रितान् ।
अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ।। ७२ ।।

तुम अपने आश्रित कुटुम्बके लोगों, गुरुजनों, बड़े-बूढ़ों, व्यापारियों, शिल्पियों तथा दीन-दुखियोंको धन-धान्य देकर उनपर सदा अनुग्रह करते रहते हो न? ।। ७२ ।।

कच्चिच्चायव्यये युक्ताः सर्वे गणकलेखकाः ।
अनुतिष्ठन्ति पूर्वाह्णे नित्यमायं व्ययं तव ।। ७३ ।।

तुम्हारी आमदनी और खर्चको लिखने और जोड़नेके काममें लगाये हुए सभी लेखक और गणक प्रतिदिन पूर्वाह्णकालमें तुम्हारे सामने अपना हिसाब पेश करते हैं न? ।। ७३ ।।

कच्चिदर्थेषु सम्प्रौढान् हितकामाननुप्रियान् ।
नापकर्षसि कर्मभ्यः पूर्वमप्राप्य किल्बिषम् ।। ७४ ।।

किन्हीं कार्योंमें नियुक्त किये हुए प्रौढ़, हितैषी एवं प्रिय कर्मचारियोंको पहले उनके किसी अपराधको जाँच किये बिना तुम कामसे अलग तो नहीं कर देते हो? ।। ७४ ।।

कच्चिद् विदित्वा पुरुषानुत्तमाधममध्यमान् ।
त्वं कर्मस्वनुरूपेषु नियोजयसि भारत ।। ७५ ।।

भारत! तुम उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणीके मनुष्योंको पहचानकर उन्हें उनके अनुरूप कार्योंमें ही लगाते हो न? ।। ७५ ।।

कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा वा वैरिणो वा विशाम्पते ।

अप्राप्तव्यवहारा वा तव कर्मस्वनुष्ठिताः ।। ७६ ।।

राजन्! तुमने ऐसे लोगोंको तो अपने कामोंपर नहीं लगा रखा है? जो लोभी, चोर, शत्रु अथवा व्यावहारिक अनुभवसे सर्वथा शून्य हों? ।। ७६ ।।

कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा ।
त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित् तुष्टाः कृषीवलाः ।। ७७ ।।

चोरों, लोभियों, राजकुमारों या राजकुलकी स्त्रियोंद्वारा अथवा स्वयं तुमसे ही तुम्हारे राष्ट्रको पीड़ा तो नहीं पहुँच रही है? क्या तुम्हारे राज्यके किसान संतुष्ट हैं? ।। ७७ ।।

कच्चिद् राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च ।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ।। ७८ ।।

क्या तुम्हारे राज्यके सभी भागोंमें जलसे भरे हुए बड़े-बड़े तालाब बनवाये गये हैं? केवल वर्षाके पानीके भरोसे ही तो खेती नहीं होती है? ।। ७८ ।।

कच्चिन्न भक्तं बीजं च कर्षकस्यावसीदति ।
प्रत्येकं च शतं वृद्ध्या ददास्यृणमनुग्रहम् ।। ७९ ।।

तुम्हारे राज्यके किसानका अन्न या बीज तो नष्ट नहीं होता? क्या तुम प्रत्येक किसानपर अनुग्रह करके उसे एक रुपया सैकड़े ब्याजपर ऋण देते हो? ।। ७९ ।।

कच्चित् स्वनुष्ठिता तात वार्ता ते साधुभिर्जनैः ।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ।। ८० ।।

तात! तुम्हारे राष्ट्रमें अच्छे पुरुषोंद्वारा वार्ता—कृषि, गोरक्षा तथा व्यापारका काम अच्छी तरह किया जाता है न? क्योंकि उपर्युक्त वार्तावृत्तिपर अवलम्बित रहनेवाले लोग ही सुखपूर्वक उन्नति करते हैं ।। ८० ।।

कच्चिच्छूराः कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्च स्वनुष्ठिताः ।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजञ्जनपदे तव ।। ८१ ।।

राजन्! क्या तुम्हारे जनपदके प्रत्येक गाँवमें शूरवीर, बुद्धिमान् और कार्यकुशल पाँच-पाँच पंच मिलकर सुचारुरूपसे जनहितके कार्य करते हुए सबका कल्याण करते हैं? ।। ८१ ।।

कच्चिन्नगरगुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत् कृताः ।
ग्रामवच्च कृताः प्रान्तास्ते च सर्वे त्वदर्पणाः ।। ८२ ।।

क्या नगरोंकी रक्षाके लिये गाँवोंको भी नगरके ही समान बहुत-से शूरवीरोंद्वारा सुरक्षित कर दिया गया है? सीमावर्ती गाँवोंको भी अन्य गाँवोंकी भाँति सभी सुविधाएँ दी गयी हैं? तथा क्या वे सभी प्रान्त, ग्राम और नगर तुम्हें (कर-रूपमें एकत्र किया हुआ) धन समर्पित करते हैं?[१] ।। ८२ ।।

कच्चिद् बलेनानुगताः समानि विषमाणि च ।
पुराणि चौरान् निघ्नन्तश्चरन्ति विषये तव ।। ८३ ।।

क्या तुम्हारे राज्यमें कुछ रक्षक पुरुष सेना साथ लेकर चोर-डाकुओंका दमन करते हुए सुगम एवं दुर्गम नगरोंमें विचरते रहते हैं? ।। ८३ ।।

कच्चित् स्त्रियः सान्त्वयसि कच्चित् ताश्च सुरक्षिताः ।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद् गुह्यं न भाषसे ।। ८४ ।।

तुम स्त्रियोंको सान्त्वना देकर संतुष्ट रखते हो न? क्या वे तुम्हारे यहाँ पूर्णरूपसे सुरक्षित हैं? तुम उनपर पूरा विश्वास तो नहीं करते? और विश्वास करके उन्हें कोई गुप्त बात तो नहीं बता देते? ।। ८४ ।।

कच्चिदात्ययिकं श्रुत्वा तदर्थमनुचिन्त्य च ।
प्रियाण्यनुभवञ्छेषे न त्वमन्तःपुरे नृप ।। ८५ ।।

राजन्! तुम कोई अमंगलसूचक समाचार सुनकर और उसके विषयमें बार-बार विचार करके भी प्रिय भोग-विलासोंका आनन्द लेते हुए अन्तःपुरमें ही सोते तो नहीं रह जाते? ।। ८५ ।।

कच्चिद् द्वौ प्रथमौ यामौ रात्रेः सुप्त्वा विशाम्पते ।
संचिन्तयसि धर्मार्थौ याम उत्थाय पश्चिमे ।। ८६ ।।

प्रजानाथ! क्या तुम रात्रिके (पहले पहरके बाद) जो प्रथम दो (दूसरे-तीसरे) याम हैं, उन्हींमें सोकर अन्तिम पहरमें उठकर बैठ जाते और धर्म एवं अर्थका चिन्तन करते हो? ।। ८६ ।।

कच्चिदर्थयसे नित्यं मनुष्यान् समलंकृतः ।
उत्थाय काले कालज्ञैः सह पाण्डव मन्त्रिभिः ।। ८७ ।।

पाण्डुनन्दन! तुम प्रतिदिन समयपर उठकर स्नान आदिके पश्चात् वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो देश-कालके ज्ञाता मन्त्रियोंके साथ बैठकर (प्रार्थी या दर्शनार्थी) मनुष्योंकी इच्छा पूर्ण करते हो न? ।। ८७ ।।

कच्चिद् रक्ताम्बरधराः खड्गहस्ताः स्वलंकृताः ।
उपासते त्वामभितो रक्षणार्थमरिंदम ।। ८८ ।।

शत्रुदमन! क्या लाल वस्त्र धारण करके अलंकारोंसे अलंकृत हुए योद्धा अपने हाथोंमें तलवार लेकर तुम्हारी रक्षाके लिये सब ओरसे सेवामें उपस्थित रहते हैं? ।। ८८ ।।

कच्चिद् दण्ड्येषु यमवत्पूज्येषु च विशाम्पते ।
परीक्ष्य वर्तसे सम्यगप्रियेषु प्रियेषु च ।। ८९ ।।

महाराज! क्या तुम दण्डनीय अपराधियोंके प्रति यमराज और पूजनीय पुरुषोंके प्रति धर्मराजका-सा बर्ताव करते हो? प्रिय एवं अप्रिय व्यक्तियोंकी

भलीभाँति परीक्षा करके ही व्यवहार करते हो न? ।। ८९ ।।

कच्चिच्छारीरमाबाधमौषधैर्नियमेन वा ।
मानसं वृद्धसेवाभिः सदा पार्थापकर्षसि ।। ९० ।।

कुन्तीकुमार! क्या तुम ओषधिसेवन या पथ्य-भोजन आदि नियमोंके पालनद्वारा अपने शारीरिक कष्टको तथा वृद्ध पुरुषोंकी सेवारूप सत्संगद्वारा मानसिक संतापको सदा दूर करते रहते हो? ।। ९० ।।

कच्चिद् वैद्याश्चिकित्सायामष्टाङ्गायां विशारदाः ।
सुहृदश्चानुरक्ताश्च शरीरे ते हिताः सदा ।। ९१ ।।

तुम्हारे वैद्य अष्टांगचिकित्सामें[२] कुशल, हितैषी, प्रेमी एवं तुम्हारे शरीरको स्वस्थ रखनेके प्रयत्नमें सदा संलग्न रहनेवाले हैं न? ।। ९१ ।।

कच्चिन्न लोभान्मोहाद् वा मानाद् वापि विशाम्पते ।
अर्थिप्रत्यर्थिनः प्राप्तान् न पश्यसि कथंचन ।। ९२ ।।

नरेश्वर! कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम अपने यहाँ आये हुए अर्थी (याचक) और प्रत्यर्थी (राजाकी ओरसे मिली हुई वृत्ति बंद हो जानेसे दुःखी हो पुनः उसीको पानेके लिये प्रार्थी)-की ओर लोभ, मोह अथवा अभिमानवश किसी प्रकार आँख उठाकर देखतेतक नहीं? ।। ९२ ।।

कच्चिन्न लोभान्मोहाद् वा विश्रम्भात् प्रणयेन वा ।
आश्रितानां मनुष्याणां वृत्तिं त्वं संरुणत्सि वै ।। ९३ ।।

कहीं अपने आश्रितजनोंकी जीविकावृत्तिको तुम लोभ, मोह, आत्मविश्वास अथवा आसक्तिसे बंद तो नहीं कर देते? ।। ९३ ।।

कच्चित् पौरा न सहिता ये च ते राष्ट्रवासिन ।
त्वया सह विरुध्यन्ते परैः क्रीताः कथंचन ।। ९४ ।।

तुम्हारे नगर तथा राष्ट्रके निवासी मनुष्य संगठित होकर तुम्हारे साथ विरोध तो नहीं करते? शत्रुओंने उन्हें किसी तरह घूस देकर खरीद तो नहीं लिया है? ।। ९४ ।।

कच्चिन्न दुर्बलः शत्रुर्बलेन परिपीडितः ।
मन्त्रेण बलवान् कश्चिदुभाभ्यां च कथंचन ।। ९५ ।।

कोई दुर्बल शत्रु जो तुम्हारे द्वारा पहले बलपूर्वक पीड़ित किया गया (किंतु मारा नहीं गया), अब मन्त्रणाशक्तिसे अथवा मन्त्रणा और सेना दोनों ही शक्तियोंसे किसी तरह बलवान् होकर सिर तो नहीं उठा रहा है? ।। ९५ ।।

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां भूमिपालाः प्रधानतः ।
कच्चित् प्राणांस्त्वदर्थेषु संत्यजन्ति त्वयाऽऽदृताः ।। ९६ ।।

क्या सभी मुख्य-मुख्य भूपाल तुमसे प्रेम रखते हैं? क्या वे तुम्हारे द्वारा सम्मान पाकर तुम्हारे लिये अपने प्राणोंकी बलि दे सकते हैं? ।। ९६ ।।

कच्चित् ते सर्वविद्यासु गुणतोऽर्चा प्रवर्तते ।
ब्राह्मणानां च साधूनां तव नैःश्रेयसी शुभा ।
दक्षिणास्त्वं ददास्येषां नित्यं स्वर्गापवर्गदाः ।। ९७ ।।

क्या तुम्हारे मनमें सभी विद्याओंके प्रति गुणके अनुसार आदरका भाव है? क्या तुम ब्राह्मणों तथा साधु-संतोंकी सेवा-पूजा करते हो? जो तुम्हारे लिये शुभ एवं कल्याणकारिणी है। इन ब्राह्मणोंको तुम सदा दक्षिणा तो देते रहते हो न? क्योंकि वह स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली है ।। ९७ ।।

कच्चिद् धर्मे त्रयीमूले पूर्वैराचरिते जनैः ।
यतमानस्तथा कर्तुं तस्मिन् कर्मणि वर्तसे ।। ९८ ।।

तीनों वेद ही जिसके मूल हैं और पूर्वपुरुषोंने जिसका आचरण किया है, उस धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये तुम अपने पूर्वजोंकी ही भाँति प्रयत्नशील तो रहते हो? धर्मानुकूल कर्ममें ही तुम्हारी प्रवृत्ति तो रहती है? ।। ९८ ।।

कच्चित्तव गृहेऽन्नानि स्वादून्यश्नन्ति वै द्विजाः ।
गुणवन्ति गुणोपेतास्तवाध्यक्षं सदक्षिणम् ।। ९९ ।।

क्या तुम्हारे महलमें तुम्हारी आँखोंके सामने गुणवान् ब्राह्मण स्वादिष्ठ और गुणकारक अन्न भोजन करते हैं? और भोजनके पश्चात् उन्हें दक्षिणा दी जाती है? ।। ९९ ।।

कच्चित् क्रतूनेकचित्तो वाजपेयांश्च सर्वशः ।
पुण्डरीकांश्च कात्स्न्र्येन यतसे कर्तुमात्मवान् ।। १०० ।।

अपने मनको वशमें करके एकाग्रचित्त हो वाजपेय और पुण्डरीक आदि सभी यज्ञ-यागोंका तुम पूर्णरूपसे अनुष्ठान करनेका प्रयत्न तो करते हो न? ।। १०० ।।

कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून् वृद्धान् दैवतांस्तापसानपि ।
चैत्यांश्च वृक्षान् कल्याणान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ।। १०१ ।।

जाति-भाई, गुरुजन, वृद्ध पुरुष, देवता, तपस्वी, चैत्यवृक्ष (पीपल) आदि तथा कल्याणकारी ब्राह्मणोंको नमस्कार तो करते हो न? ।। १०१ ।।

कच्चिच्छोको न मन्युर्वा त्वया प्रोत्पाद्यतेऽनघ ।
अपि मङ्गलहस्तश्च जनः पार्श्वे नु तिष्ठति ।। १०२ ।।

निष्पाप नरेश! तुम किसीके मनमें शोक या क्रोध तो नहीं पैदा करते? तुम्हारे पास कोई मनुष्य हाथमें मंगलसामग्री लेकर सदा उपस्थित रहता है न? ।। १०२ ।।

कच्चिदेषा च ते बुद्धिर्वृत्तिरेषा च तेऽनघ ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थदर्शिनी ।। १०३ ।।

पापरहित युधिष्ठिर! अबतक जैसा बतलाया गया है, उसके अनुसार ही तुम्हारी बुद्धि और वृत्ति (विचार और आचार) हैं न? ऐसी धर्मानुकूल बुद्धि और वृत्ति आयु तथा यशको बढ़ानेवाली एवं धर्म, अर्थ तथा कामको पूर्ण करनेवाली है ।। १०३ ।।

एतया वर्तमानस्य बुद्धया राष्ट्रं न सीदति ।
विजित्य च महीं राजा सोऽत्यन्तसुखमेधते ।। १०४ ।।

जो ऐसी बुद्धिके अनुसार बर्ताव करता है, उसका राष्ट्र कभी संकटमें नहीं पड़ता। वह राजा सारी पृथ्वीको जीतकर बड़े सुखसे दिनोदिन उन्नति करता है ।। १०४ ।।

कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा क्षारितश्चौरकर्मणि ।
अदृष्टशास्त्रकुशलैर्न लोभाद् वध्यते शुचिः ।। १०५ ।।

कहीं ऐसा तो नहीं होता कि शास्त्रकुशल विद्वानोंका संग न करनेवाले तुम्हारे मूर्ख मन्त्रियोंने किसी विशुद्ध हृदयवाले श्रेष्ठ एवं पवित्र पुरुषपर चोरीका अपराध लगाकर उसका सारा धन हड़प लिया हो? और फिर अधिक धनके लोभसे वे उसे प्राणदण्ड देते हों? ।। १०५ ।।

दुष्टो गृहीतस्तत्कारी तज्ज्ञैर्दृष्टः सकारणः ।
कच्चिन्न मुच्यते स्तेनो द्रव्यलोभान्नरर्षभ ।। १०६ ।।

नरश्रेष्ठ! कोई ऐसा दुष्ट चोर जो चोरी करते समय गृहरक्षकोंद्वारा देख लिया गया और चोरीके मालसहित पकड़ लिया गया हो, धनके लोभसे छोड़ तो नहीं दिया जाता? ।। १०६ ।।

उत्पन्नान् कच्चिदाढ्यस्य दरिद्रस्य च भारत ।
अर्थान् न मिथ्या पश्यन्ति तवामात्या हृता जनैः ।। १०७ ।।

भारत! तुम्हारे मन्त्री चुगली करनेवाले लोगोंके बहकावेमें आकर विवेकशून्य हो किसी धनीके या दरिद्रके थोड़े समयमें ही अचानक पैदा हुए अधिक धनको मिथ्यादृष्टिसे तो नहीं देखते? या उनके बढ़े हुए धनको चोरी आदिसे लाया हुआ तो नहीं मान लेते? ।। १०७ ।।

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ।
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम् ।। १०८ ।।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ।
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ।। १०९ ।।

कच्चित्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूलापि पार्थिवाः ।। ११० ।।

युधिष्ठिर! तुम नास्तिकता, झूठ, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियोंका संग न करना, आलस्य, पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति, प्रजाजनोंपर अकेले ही विचार करना, अर्थशास्त्रको न जाननेवाले मूर्खोंके साथ विचार-विमर्श, निश्चित कार्योंके आरम्भ करनेमें विलम्ब या टालमटोल, गुप्त मन्त्रणाको सुरक्षित न रखना, मांगलिक उत्सव आदि न करना तथा एक साथ ही सभी शत्रुओंपर चढ़ाई कर देना—इन राजसम्बन्धी चौदह दोषोंका त्याग तो करते हो न? क्योंकि जिनके राज्यकी जड़ जम गयी है, ऐसे राजा भी इन दोषोंके कारण नष्ट हो जाते हैं ।। १०८—११० ।।

कच्चित् ते सफला वेदाः कच्चित् ते सफलं धनम् ।
कच्चित् ते सफला दाराः कच्चित् ते सफलं श्रुतम् ।। १११ ।।

क्या तुम्हारे वेद सफल हैं? क्या तुम्हारा धन सफल है? क्या तुम्हारी स्त्री सफल है? और क्या तुम्हारा शास्त्रज्ञान सफल है? ।। १११ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै सफला वेदाः कथं वै सफलं धनम् ।
कथं वै सफला दाराः कथं वै सफलं श्रुतम् ।। ११२ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—देवर्षे! वेद कैसे सफल होते हैं, धनकी सफलता कैसे होती है? स्त्रीकी सफलता कैसे मानी गयी है तथा शास्त्रज्ञान कैसे सफल होता है? ।। ११२ ।।

नारद उवाच

अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम् ।
रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।। ११३ ।।

नारदजीने कहा—राजन्! वेदोंकी सफलता अग्निहोत्रसे होती है, दान और भोगसे ही धन सफल होता है, स्त्रीका फल है—रति और पुत्रकी प्राप्ति तथा शास्त्रज्ञानका फल है, शील और सदाचार ।। ११३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतदाख्याय स मुनिर्नारदो वै महातपाः ।
पप्रच्छानन्तरमिदं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।। ११४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यह कहकर महातपस्वी नारद मुनिने धर्मात्मा युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया ।। ११४ ।।

नारद उवाच

कच्चिदभ्यागता दूराद् वणिजो लाभकारणात् ।

यथोक्तमवहार्यन्ते शुल्कं शुल्कोपजीविभिः ।। ११५ ।।

नारदजीने पूछा—राजन्! कर वसूलनेका काम करनेवाले तुम्हारे कर्मचारीलोग दूरसे लाभ उठानेके लिये आये हुए व्यापारियोंसे ठीक-ठीक कर वसूल करते हैं न? (अधिक तो नहीं लेते?) ।। ११५ ।।

कच्चित् ते पुरुषा राजन् पुरे राष्ट्रे च मानिताः ।

उपानयन्ति पण्यानि उपधाभिरवञ्चिताः ।। ११६ ।।

महाराज! वे व्यापारीलोग आपके नगर और राष्ट्रमें सम्मानित हो विक्रीके लिये उपयोगी सामान लाते हैं न! उन्हें तुम्हारे कर्मचारी छलसे ठगते तो नहीं? ।। ११६ ।।

कच्चिच्छृणोषि वृद्धानां धर्मार्थसहिता गिरः ।

नित्यमर्थविदां तात यथाधर्मार्थदर्शिनाम् ।। ११७ ।।

तात! तुम सदा धर्म और अर्थके ज्ञाता एवं अर्थशास्त्रके पूरे पण्डित बड़े-बूढ़े लोगोंकी धर्म और अर्थसे युक्त बातें सुनते रहते हो न? ।। ११७ ।।

कच्चित् ते कृषितन्त्रेषु गोषु पुष्पफलेषु च ।

धर्मार्थं च द्विजातिभ्यो दीयेते मधुसर्पिषी ।। ११८ ।।

क्या तुम्हारे यहाँ खेतीसे उत्पन्न होनेवाले अन्न तथा फल-फूल एवं गौओंसे प्राप्त होनेवाले दूध, घी आदिमेंसे मधु (अन्न) और घृत आदि धर्मके लिये ब्राह्मणोंको दिये जाते हैं? ।। ११८ ।।

द्रव्योपकरणं किंचित् सर्वदा सर्वशिल्पिनाम् ।

चातुर्मास्यावरं सम्यङ् नियतं सम्प्रयच्छसि ।। ११९ ।।

नरेश्वर! क्या तुम सदा नियमसे सभी शिल्पियोंको व्यवस्थापूर्वक एक साथ इतनी वस्तु-निर्माणकी सामग्री दे देते हो, जो कम-से-कम चौमासे भर चल सके ।। ११९ ।।

कच्चित् कृतं विजानीषे कर्तारं च प्रशंससि ।

सतां मध्ये महाराज सत्करोषि च पूजयन् ।। १२० ।।

महाराज! क्या तुम्हें किसीके किये हुए उपकारका पता चलता है? क्या तुम उस उपकारीकी प्रशंसा करते हो और साधु पुरुषोंसे भरी हुई सभाके बीच उस उपकारीके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसका आदर-सत्कार करते हो? ।। १२० ।।

कच्चित् सूत्राणि सर्वाणि गृह्णासि भरतर्षभ ।

हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो ।। १२१ ।।

भरतश्रेष्ठ! क्या तुम संक्षेपसे सिद्धान्तका प्रति-पादन करनेवाले सभी सूत्रग्रन्थ—हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र एवं रथसूत्र आदिका संग्रह (पठन एवं अभ्यास) करते रहते हो? ।। १२१ ।।

कच्चिदभ्यस्यते सम्यग् गृहे ते भरतर्षभ ।
धनुर्वेदस्य सूत्रं वै यन्त्रसूत्रं च नागरम् ।। १२२ ।।

भरतकुलभूषण! क्या तुम्हारे घरपर धनुर्वेदसूत्र, यन्त्रसूत्र[1] और नागरिक[2] सूत्रका अच्छी तरह अभ्यास किया जाता है? ।। १२२ ।।

कच्चिदस्त्राणि सर्वाणि ब्रह्मदण्डश्च तेऽनघ ।
विषयोगास्तथा सर्वे विदिताः शत्रुनाशनाः ।। १२३ ।।

निष्पाप नरेश! तुम्हें सब प्रकारके अस्त्र (जो मन्त्रबलसे प्रयुक्त होते हैं), वेदोक्त दण्ड-विधान तथा शत्रुओंका नाश करनेवाले सब प्रकारके विषप्रयोग ज्ञात हैं न? ।। १२३ ।।

कच्चिदग्निभयाच्चैव सर्वं व्यालभयात् तथा ।
रोगरक्षोभयाच्चैव राष्ट्रं स्वं परिरक्षसि ।। १२४ ।।

क्या तुम अग्नि, सर्प, रोग तथा राक्षसोंके भयसे अपने सम्पूर्ण राष्ट्रकी रक्षा करते हो? ।। १२४ ।।

कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पङ्गून् व्यङ्गानबान्धवान् ।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ।। १२५ ।।

धर्मज्ञ! क्या तुम अंधों, गूँगों, पंगुओं, अंगहीनों और बन्धु-बान्धवोंसे रहित अनाथों तथा संन्यासियोंका भी पिताकी भाँति पालन करते हो? ।। १२५ ।।

षडनर्था महाराज कच्चित् ते पृष्ठतः कृताः ।
निद्राऽऽलस्यं भयं क्रोधोऽमार्दवं दीर्घसूत्रता ।। १२६ ।।

महाराज! क्या तुमने निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, कठोरता और दीर्घसूत्रता—इन छः दोषोंको पीछे कर दिया (त्याग दिया) है? ।। १२६ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः कुरूणामृषभो महात्मा
श्रुत्वा गिरो ब्राह्मणसत्तमस्य ।
प्रणम्य पादावभिवाद्य तुष्टो
राजाब्रवीन्नारदं देवरूपम् ।। १२७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुरुश्रेष्ठ महात्मा राजा युधिष्ठिरने ब्रह्माके पुत्रोंमें श्रेष्ठ नारदजीका यह वचन सुनकर उनके दोनों चरणोंमें प्रणाम एवं अभिवादन किया और अत्यन्त संतुष्ट हो देवस्वरूप नारदजीसे कहा ।।

युधिष्ठिर उवाच

एवं करिष्यामि यथा त्वयोक्तं
प्रज्ञा हि मे भूय एवाभिवृद्धा ।
उक्त्वा तथा चैव चकार राजा
लेभे महीं सागरमेखलां च ।। १२८ ।।

युधिष्ठिर बोले—देवर्षे! आपने जैसा उपदेश दिया है, वैसा ही करूँगा। आपके इस प्रवचनसे मेरी प्रज्ञा और भी बढ़ गयी है। ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिरने वैसा ही आचरण किया और इसीसे समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य पा लिया ।। १२८ ।।

नारद उवाच

एवं यो वर्तते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ।
स विहृत्येह सुसुखी शक्रस्यैति सलोकताम् ।। १२९ ।।

नारदजीने कहा—जो राजा इस प्रकार चारों वर्णों (और वर्णाश्रमधर्म)-की रक्षामें संलग्न रहता है, वह इस लोकमें अत्यन्त सुखपूर्वक विहार करके अन्तमें देवराज इन्द्रके लोकमें जाता है ।। १२९ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि नारदप्रश्नमुखेन राजधर्मानुशासने पञ्चमोऽध्यायः ।। ५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें नारदजीके द्वारा प्रश्नके व्याजसे राजधर्मका उपदेशविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५ ।।

---

३. परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले वेदके वचनोंकी एकवाक्यता।

४. एकमें मिले हुए वचनोंको प्रयोगके अनुसार अलग-अलग करना।

५. यज्ञके अनेक कर्मोंके एक साथ उपस्थित होनेपर अधिकारके अनुसार यजमानके साथ कर्मका जो सम्बन्ध होता है, उसका नाम समवाय है।

* दूसरेको किसी वस्तुका बोध करानेके लिये प्रवृत्त हुआ पुरुष जिस अनुमानवाक्यका प्रयोग करता है, उसमें पाँच अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। जैसे किसीने कहा—‘इस पर्वतपर आग है’ यह वाक्य प्रतिज्ञा है। ‘क्योंकि वहाँ धूम है’ यह हेतु है। ‘जैसे रसोईघरमें धूआँ दीखनेपर वहाँ आग देखी जाती है’ यह दृष्टान्त ही उदाहरण है। ‘चूँकि इस पर्वतपर धूआँ दिखायी देता है’ हेतुकी इस उपलब्धिका नाम उपनय है। ‘इसलिये वहाँ आग है’ यह निश्चय ही निगमन है। इस वाक्यमें अनुकूल तर्कका होना गुण है और प्रतिकूल तर्कका होना दोष है, जैसे ‘यदि वहाँ आग न होती, तो धूआँ भी नहीं उठता’ यह अनुकूल तर्क है। जैसे कोई तालाबसे भाप उठती देखकर यह कहे कि इस तालाबमें आग है, तो उसका वह अनुमान आश्रयासिद्धरूप हेत्वाभाससे युक्त होगा।

१. दक्षस्मृतिमें त्रिवर्गसेवनका काल-विभाग इस प्रकार बताया गया है—

पूर्वाह्णे त्वाचरेद् धर्मं मध्याह्नेऽर्थमुपार्जयेत् । सायाह्ने चाचरेत् काममित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।।

पूर्वाह्णकालमें धर्मका आचरण करे, मध्याह्नके समय धनोपार्जनका काम देखे और सायाह्न (रात्रि)-के समय कामका सेवन करे। यह वैदिक श्रुतिका आदेश है।

(नीलकण्ठीसे उद्‌धृत)

२. राजाओंमें छः गुण होने चाहिये—व्याख्यानशक्ति, प्रगल्भता, तर्ककुशलता, भूतकालकी स्मृति, भविष्यपर दृष्टि तथा नीतिनिपुणता।

३. सात उपाय ये हैं—मन्त्र, औषध, इन्द्रजाल, साम, दान, दण्ड और भेद।

४. परीक्षाके योग्य चौदह स्थान या व्यक्ति नीतिशास्त्रमें इस प्रकार बताये गये हैं—

देशो दुर्गं रथो हस्तिवाजियोधाधिकारिणः । अन्तःपुरान्नगणनाशास्त्रलेख्यधनासवः ।।

देश, दुर्ग, रथ, हाथी, घोड़े, शूर सैनिक, अधिकारी, अन्तःपुर, अन्न, गणना, शास्त्र, लेख्य, धन और असु (बल), इनके जो चौदह अधिकारी हैं, राजाओंको उनकी परीक्षा करते रहना चाहिये।

५. राजाके कोष और धनकी वृद्धिके लिये आठ कर्म ये हैं—

कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् । खन्याकरकरादानं शून्यानां च निवेशनम् ।।
अष्ट संधानकर्माणि प्रयुक्तानि मनीषिभिः ।।

खेतीका विस्तार, व्यापारकी रक्षा, दुर्गकी रचना एवं रक्षा, पुलोंका निर्माण और उनकी रक्षा, हाथी बाँधना, सोने-हीरे आदिकी खानोंपर अधिकार करना, करकी वसूली और उजाड़ प्रान्तोंमें लोगोंको बसाना—मनीषी पुरुषोंद्वारा ये आठ संधानकर्म बताये गये हैं।

६. स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोष, राष्ट्र, दुर्ग तथा सेना एवं पुरवासी—ये राज्यके सात अंग ही सात प्रकृतियाँ हैं। अथवा—दुर्गाध्यक्ष, बलाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, सेनापति, पुरोहित, वैद्य और ज्योतिषी—ये भी सात प्रकृतियाँ कही गयी हैं।

* स्मृतिमें कहा है कि—'ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम् ।' अर्थात् ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर अपने हितका चिन्तन करे। (नीलकण्ठी टीकासे उद्‌धृत)

१. शत्रुपक्षके मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक (अन्तःपुरका अध्यक्ष), कारागाराध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, यथायोग्य कार्योंमें धनको व्यय करनेवाला सचिव, प्रदेष्टा (पहरेदारोंको काम बतानेवाला), नगराध्यक्ष (कोतवाल), कार्यनिर्माणकर्ता (शिल्पियोंका परिचालक), धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रसीमापाल तथा वनरक्षक—ये अठारह तीर्थ हैं, जिनपर राजाको दृष्टि रखनी चाहिये।

२. उपर्युक्त टिप्पणीमें अठारह तीर्थोंमेंसे आदिके तीनको छोड़कर शेष पंद्रह तीर्थ अपने पक्षके भी सदा परीक्षणीय हैं।

* विजयके इच्छुक राजाके आगे खड़े होनेवाले उसके शत्रुके शत्रु २, उन शत्रुओंके मित्र २, उन मित्रोंके मित्र २—ये छः व्यक्ति युद्धमें आगे खड़े होते हैं। विजिगीषुके पीछे पार्ष्णिग्राह (पृष्ठरक्षक) और आक्रन्द (उत्साह दिलानेवाला)—ये दो व्यक्ति खड़े होते हैं। इन दोनोंकी सहायता करनेवाले एक-एक व्यक्ति इनके पीछे खड़े होते हैं, जिनकी आसार संज्ञा है। ये क्रमशः पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दासार कहे जाते हैं। इस प्रकार आगेके छः और पीछेके चार मिलकर दस होते हैं। विजिगीषुके पार्श्वभागमें मध्यम और उसके भी पार्श्वभागमें उदासीन होता है। इन दोनोंको जोड़ लेनेसे इन सबकी संख्या बारह होती है। इन्हींको द्वादश राजमण्डल अथवा 'पार्ष्णिमूल' कहते हैं। अपने और शत्रुपक्षके इन व्यक्तियोंको जानना चाहिये।

१. नीतिशास्त्रके अनुसार विजयकी इच्छा रखनेवाले राजाको चाहिये कि वह शत्रुपक्षके सैनिकोंमेंसे जो लोभी हो, किंतु जिसे वेतन न मिला हो, जो मानी हो किंतु किसी तरह अपमानित हो गया हो, जो क्रोधी हो और उसे क्रोध दिलाया गया हो, जो स्वभावसे ही डरनेवाला हो और उसे पुनः डरा दिया गया हो—इन चार प्रकारके लोगोंको फोड़ ले और अपने पक्षमें ऐसे लोग हों, तो उन्हें उचित सम्मान देकर मिला ले।

२. व्यसन दो प्रकारके हैं—दैव और मानुष। दैव व्यसन पाँच प्रकारके हैं—अग्नि, जल, व्याधि, दुर्भिक्ष और महामारी। मानुष व्यसन भी पाँच प्रकारका है—मूर्ख पुरुषोंसे, चोरोंसे, शत्रुओंसे, राजाके प्रिय व्यक्तिसे तथा राजाके लोभसे प्रजाको प्राप्त भय। (नीलकंठी टीकाके अनुसार)

३. आठ अंग और चार बल भारतकौमुदीटीकाके अनुसार लिये गये हैं।

१. सीमावर्ती गाँवका अधिपति अपने यहाँका राजकीय कर एकत्र करके ग्रामाधिपतिको दे, ग्रामाधिपति नगराधिपतिको, वह देशाधिपतिको और देशाधिपति साक्षात् राजाको वह धन अर्पित करे।

२. नाड़ी, मल, मूत्र, जिह्वा, नेत्र, रूप, शब्द तथा स्पर्श—ये आठ चिकित्साके प्रकार कहे जाते हैं।

१. लोहेकी बनी हुई उन मशीनोंको, जिनके द्वारा बारूदके बलसे शीशे, काँसे और पत्थरकी गोलियाँ चलायी जाती हैं—यन्त्र कहते हैं। उन यन्त्रोंके प्रयोगकी विधिके प्रतिपादक संक्षिप्त वाक्य ही यन्त्रसूत्र हैं।

२. नगरकी रक्षा तथा उन्नतिके साधनोंको बतानेवाले संक्षिप्त वाक्योंको ही यहाँ नागरिक सूत्र कहा गया है।

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी दिव्य सभाओंके विषयमें जिज्ञासा

वैशम्पायन उवाच

सम्पूज्याथाभ्यनुज्ञातो महर्षेर्वचनात् परम् ।
प्रत्युवाचानुपूर्व्येण धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवर्षि नारदका यह उपदेश पूर्ण होनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भलीभाँति उनकी पूजा की; तदनन्तर उनसे आज्ञा लेकर उनके प्रश्नका उत्तर दिया ।। १ ।।

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् न्याय्यमाहैतं यथावद् धर्मनिश्चयम् ।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियतेऽयं विधिर्मया ।। २ ।।

युधिष्ठिर बोले—भगवन्! आपने जो यह राजधर्मका यथार्थ सिद्धान्त बताया है, वह सर्वथा न्यायोचित है। मैं आपके इस न्यायानुकूल आदेशका यथाशक्ति पालन करता हूँ ।। २ ।।

राजभिर्यद् यथा कार्यं पुरा वै तन्न संशयः ।
यथान्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थवत् ।। ३ ।।

इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन कालके राजाओंने जो कार्य जैसे सम्पन्न किया, वह प्रत्येक न्यायोचित, सकारण और किसी विशेष प्रयोजनसे युक्त होता था ।। ३ ।।

वयं तु सत्पथं तेषां यातुमिच्छामहे प्रभो ।
न तु शक्यं तथा गन्तुं यथा तैर्नियतात्मभिः ।। ४ ।।

प्रभो! हम भी उन्हींके उत्तम मार्गसे चलना चाहते हैं, परंतु उस प्रकार (सर्वथा) चल नहीं पाते; जैसे वे नियतात्मा महापुरुष चला करते थे ।। ४ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा वाक्यं तदभिपूज्य च ।
मुहूर्तात् प्राप्तकालं च दृष्ट्वा लोकचरं मुनिम् ।। ५ ।।
नारदं सुस्थमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः ।
अपृच्छत् पाण्डवस्तत्र राजमध्ये महाद्युतिः ।। ६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर धर्मात्मा युधिष्ठिरने नारदजीके पूर्वोक्त प्रवचनकी बड़ी प्रशंसा की। फिर सम्पूर्ण लोकोंमें विचरनेवाले नारद मुनि जब शान्तिपूर्वक बैठ गये, तब दो घड़ीके बाद ठीक अवसर जानकर महातेजस्वी पाण्डुपुत्र राजा

युधिष्ठिर भी उनके निकट आ बैठे और सम्पूर्ण राजाओंके बीच वहाँ उनसे इस प्रकार पूछने लगे ।। ५-६ ।।

युधिष्ठिर उवाच

भवान् संचरते लोकान् सदा नानाविधान् बहून् ।
ब्रह्मणा निर्मितान् पूर्वं प्रेक्षमाणो मनोजवः ।। ७ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—मुनिवर! आप मनके समान वेगशाली हैं, अतः ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिनका निर्माण किया है, उन अनेक प्रकारके बहुत-से लोकोंका दर्शन करते हुए आप उनमें सदा बेरोक-टोक विचरते रहते हैं ।। ७ ।।

ईदृशी भवता काचिद् दृष्टपूर्वा सभा क्वचित् ।
इतो वा श्रेयसी ब्रह्मंस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।। ८ ।।

ब्रह्मन्! क्या आपने पहले कहीं ऐसी या इससे भी अच्छी कोई सभा देखी है? मैं जानना चाहता हूँ, अतः आप मुझसे यह बात बतावें ।। ८ ।।

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा नारदस्तस्य धर्मराजस्य भाषितम् ।
पाण्डवं प्रत्युवाचेदं स्मयन् मधुरया गिरा ।। ९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराज युधिष्ठिरका यह प्रश्न सुनकर देवर्षि नारदजी मुसकराने लगे और उन पाण्डुकुमारको इसका उत्तर देते हुए मधुर वाणीमें बोले ।। ९ ।।

नारद उवाच

मानुषेषु न मे तात दृष्टपूर्वा न च श्रुता ।
सभा मणिमयी राजन् यथेयं तव भारत ।। १० ।।

नारदजीने कहा—तात! भरतवंशी नरेश! मणि एवं रत्नोंकी बनी हुई जैसी तुम्हारी यह सभा है, ऐसी सभा मैंने मनुष्यलोकमें न तो पहले कभी देखी है और न कानोंसे ही सुनी है ।। १० ।।

सभां तु पितृराजस्य वरुणस्य च धीमतः ।
कथयिष्ये तथेन्द्रस्य कैलासनिलयस्य च ।। ११ ।।
ब्रह्मणश्च सभां दिव्यां कथयिष्ये गतक्लमाम् ।
दिव्यादिव्यैरभिप्रायैरुपेतां विश्वरूपिणीम् ।। १२ ।।
देवैः पितृगणैः साध्यैर्यज्वभिर्नियतात्मभिः ।
जुष्टां मुनिगणैः शान्तैर्वेदयज्ञैः सदक्षिणैः ।
यदि ते श्रवणे बुद्धिर्वर्तते भरतर्षभ ।। १३ ।।

भरतश्रेष्ठ! यदि तुम्हारा मन दिव्य सभाओंका वर्णन सुननेको उत्सुक हो तो मैं तुम्हें पितृराज यम, बुद्धिमान् वरुण, स्वर्गवासी इन्द्र, कैलासनिवासी कुबेर तथा ब्रह्माजीकी दिव्य सभाका वर्णन सुनाऊँगा, जहाँ किसी प्रकारका क्लेश नहीं है एवं जो दिव्य और अदिव्य भोगोंसे सम्पन्न तथा संसारके अनेक रूपोंसे अलंकृत है। वह देवता, पितृगण, साध्यगण, याजक तथा मनको वशमें रखनेवाले शान्त मुनिगणोंसे सेवित है। वहाँ उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त वैदिक यज्ञोंका अनुष्ठान होता रहता है ।। ११—१३ ।।

नारदेनैवमुक्तस्तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
प्राञ्जलिर्भ्रातृभिः सार्धं तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ।। १४ ।।
नारदं प्रत्युवाचेदं धर्मराजो महामनाः ।
सभाः कथय ताः सर्वाः श्रोतुमिच्छामहे वयम् ।। १५ ।।

नारदजीके ऐसा कहनेपर भाइयों तथा सम्पूर्ण श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ महामनस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने हाथ जोड़कर उनसे इस प्रकार कहा—'महर्षे! हम सभी दिव्य सभाओंका वर्णन सुनना चाहते हैं। आप उनके विषयमें सब बातें बताइये ।। १४-१५ ।।

किंद्रव्यास्ताः सभा ब्रह्मन् किंविस्ताराः किमायताः ।
पितामहं च के तस्यां सभायां पर्युपासते ।। १६ ।।

'ब्रह्मन्! उन सभाओंका निर्माण किस द्रव्यसे हुआ है? उनकी लंबाई-चौड़ाई कितनी है? ब्रह्माजीकी उस दिव्य-सभामें कौन-कौन सभासद् उन्हें चारों ओरसे घेरकर बैठते हैं? ।। १६ ।।

वासवं देवराजं च यमं वैवस्वतं च के ।
वरुणं च कुबेरं च सभायां पर्युपासते ।। १७ ।।

'इसी प्रकार देवराज इन्द्र, वैवस्वत यम, वरुण तथा कुबेरकी सभामें कौन-कौन लोग उनकी उपासना करते हैं? ।। १७ ।।

एतत् सर्वं यथान्यायं ब्रह्मर्षे वदतस्तव ।
श्रोतुमिच्छाम सहिताः परं कौतूहलं हि नः ।। १८ ।।

'ब्रह्मर्षे! हम सब लोग आपके मुखसे ये सब बातें यथोचित रीतिसे सुनना चाहते हैं। हमारे मनमें उसके लिये बड़ा कौतूहल है' ।। १८ ।।

एवमुक्तः पाण्डवेन नारदः प्रत्यभाषत ।
क्रमेण राजन् दिव्यास्ताः श्रूयन्तामिह नः सभाः ।। १९ ।।

पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर नारदजीने उत्तर दिया—'राजन्! तुम हमसे यहाँ उन सभी दिव्य सभाओंका क्रमशः वर्णन सुनो' ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरसभाजिज्ञासायां षष्ठोऽध्यायः ।। ६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें युधिष्ठिरकी दिव्य सभाओंके विषयमें जिज्ञासाविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ।। ६ ।।

सप्तमोऽध्यायः

इन्द्रसभाका वर्णन

नारद उवाच

शक्रस्य तु सभा दिव्या भास्वरा कर्मनिर्मिता ।
स्वयं शक्रेण कौरव्य निर्जितार्कसमप्रभा ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—कुरुनन्दन! इन्द्रकी तेजोमयी दिव्य सभा सूर्यके समान प्रकाशित होती है। (विश्वकर्माके) प्रयत्नोंसे उसका निर्माण हुआ है। स्वयं इन्द्रने (सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके) उसपर विजय पायी है ।। १ ।।

विस्तीर्णा योजनशतं शतमध्यर्धमायता ।
वैहायसी कामगमा पञ्चयोजनमुच्छ्रिता ।। २ ।।

उसकी लंबाई डेढ़ सौ और चौड़ाई सौ योजनकी है। वह आकाशमें विचरनेवाली और इच्छाके अनुसार तीव्र या मन्द गतिसे चलनेवाली है। उसकी ऊँचाई भी पाँच योजनकी है ।। २ ।।

जराशोकक्लमापेता निरातङ्का शिवा शुभा ।
वेश्मासनवती रम्या दिव्यपादपशोभिता ।। ३ ।।

उसमें जीर्णता, शोक और थकावट आदिका प्रवेश नहीं है। वहाँ भय नहीं है, वह मंगलमयी और शोभासम्पन्न है। उसमें ठहरनेके लिये सुन्दर-सुन्दर महल और बैठनेके लिये उत्तमोत्तम सिंहासन बने हुए हैं। वह रमणीय सभा दिव्य वृक्षोंसे सुशोभित होती है ।। ३ ।।

तस्यां देवेश्वरः पार्थ सभायां परमासने ।
आस्ते शच्या महेन्द्राण्या श्रिया लक्ष्म्या च भारत ।। ४ ।।

भारत! कुन्तीनन्दन! उस सभामें सर्वश्रेष्ठ सिंहासनपर देवराज इन्द्र शोभामें लक्ष्मीके समान प्रतीत होनेवाली इन्द्राणी शचीके साथ विराजते हैं ।। ४ ।।

बिभ्रद् वपुरनिर्देश्यं किरीटी लोहिताङ्गदः ।
विरजोऽम्बरश्चित्रमाल्यो ह्रीकीर्तिद्युतिभिः सह ।। ५ ।।

उस समय वे अवर्णनीय रूप धारण करते हैं। उनके मस्तकपर किरीट रहता है और दोनों भुजाओंमें लाल रंगके बाजूबंद शोभा पाते हैं। उनके शरीरपर स्वच्छ वस्त्र और कण्ठमें विचित्र माला सुशोभित होती है। वे लज्जा, कीर्ति और कान्ति—इन देवियोंके साथ उस दिव्य सभामें विराजमान होते हैं ।। ५ ।।

तस्यामुपासते नित्यं महात्मानं शतक्रतुम् ।
मरुतः सर्वशो राजन् सर्वे च गृहमेधिनः ।। ६ ।।

राजन्! उस दिव्य सभामें सभी मरुद्गण और गृहवासी देवता सौ यज्ञोंका अनुष्ठान पूर्ण कर लेनेवाले महात्मा इन्द्रकी प्रतिदिन सेवा करते हैं ।। ६ ।।

सिद्धा देवर्षयश्चैव साध्या देवगणास्तथा ।
मरुत्वन्तश्च सहिता भास्वन्तो हेममालिनः ।। ७ ।।
एते सानुचराः सर्वे दिव्यरूपाः स्वलंकृताः ।
उपासते महात्मानं देवराजमरिंदमम् ।। ८ ।।

सिद्ध, देवर्षि, साध्यदेवगण तथा मरुत्वान्—ये सभी सुवर्णमालाओंसे सुशोभित हो तेजस्वी रूप धारण किये एक साथ उस दिव्य सभामें बैठकर शत्रुदमन महामना देवराज इन्द्रकी उपासना करते हैं। वे सभी देवता अपने अनुचरों (सेवकों)-के साथ वहाँ विराजमान होते हैं। वे दिव्यरूपधारी होनेके साथ ही उत्तमोत्तम अलंकारोंसे अलंकृत रहते हैं ।। ७-८ ।।

तथा देवर्षयः सर्वे पार्थ शक्रमुपासते ।
अमला धूतपाप्मानो दीप्यमाना इवाग्नयः ।। ९ ।।

कुन्तीनन्दन! इसी प्रकार जिनके पाप धुल गये हैं, वे अग्निके समान उद्दीप्त होनेवाले सभी निर्मल देवर्षि वहाँ इन्द्रकी उपासना करते हैं ।। ९ ।।

तेजस्विनः सोमसुतो विशोका विगतज्वराः ।

वे देवर्षिगण तेजस्वी, सोमयाग करनेवाले तथा शोक और चिन्तासे शून्य हैं ।। ९½ ।।

पराशरः पर्वतश्च तथा सावर्णिगालवौ ।। १० ।।
शङ्खश्च लिखितश्चैव तथा गौरशिरा मुनिः ।
दुर्वासाः क्रोधनः श्येनस्तथा दीर्घतमा मुनिः ।। ११ ।।
पवित्रपाणिः सावर्णिर्याज्ञवल्क्योऽथ भालुकिः ।
उद्दालकः श्वेतकेतुस्ताण्ड्यो भाण्डायनिस्तथा ।। १२ ।।
हविष्मांश्च गरिष्ठश्च हरिश्चन्द्रश्च पार्थिवः ।
हृद्यश्चोदरशाण्डिल्यः पाराशर्यः कृषीवलः ।। १३ ।।
वातस्कन्धो विशाखश्च विधाता काल एव च ।
करालदन्तस्त्वष्टा च विश्वकर्मा च तुम्बुरुः ।। १४ ।।
अयोनिजा योनिजाश्च वायुभक्षा हुताशिनः ।
ईशानं सर्वलोकस्य वज्रिणं समुपासते ।। १५ ।।

पराशर, पर्वत, सावर्णि, गालव, शंख, लिखित, गौरशिरा मुनि, दुर्वासा, क्रोधन, श्येन, दीर्घतमा मुनि, पवित्रपाणि, सावर्णि (द्वितीय), याज्ञवल्क्य, भालुकि, उद्दालक, श्वेतकेतु, ताण्ड्य, भाण्डायनि, हविष्मान्, गरिष्ठ, राजा हरिश्चन्द्र, हृद्य, उदरशाण्डिल्य, पराशरनन्दन व्यास, कृषीवल, वातस्कन्ध, विशाख, विधाता, काल, करालदन्त, त्वष्टा, विश्वकर्मा तथा तुम्बुरु—ये और दूसरे अयोनिज या योनिज मुनि एवं वायु पीकर रहनेवाले तथा हविष्य-

पदार्थोंको खानेवाले महर्षि सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर वज्रधारी इन्द्रकी उपासना करते हैं ।। १०—१५ ।।

सहदेवः सुनीथश्च वाल्मीकिश्च महातपाः ।
शमीकः सत्यवाक् चैव प्रचेताः सत्यसंगरः ।। १६ ।।
मेधातिथिर्वामदेवः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
मरुत्तश्च मरीचिश्च स्थाणुश्चात्र महातपाः ।। १७ ।।
कक्षीवान् गौतमस्तार्क्ष्यस्तथा वैश्वानरो मुनिः ।
(षडर्तुः कवषो धूम्रो रैभ्यो नलपरावसू ।
स्वस्त्यात्रेयो जरत्कारुः कहोलः काश्यपस्तथा ।
विभाण्डकर्ष्यशृङ्गौ च उन्मुखो विमुखस्तथा ।।)
मुनिः कालकवृक्षीय आश्राव्योऽथ हिरण्मयः ।। १८ ।।
संवर्तो देवहव्यश्च विष्वक्सेनश्च वीर्यवान् ।
(कण्वः कात्यायनो राजन् गार्ग्यः कौशिक एव च ।)
दिव्या आपस्तथौषध्यः श्रद्धा मेधा सरस्वती ।। १९ ।।
अर्थो धर्मश्च कामश्च विद्युतश्चैव पाण्डव ।
जलवाहस्तथा मेघा वायवः स्तनयित्नवः ।। २० ।।
प्राची दिग्र यज्ञवाहाश्च पावकाः सप्तविंशतिः ।
अग्नीषोमौ तथेन्द्राग्नी मित्रश्च सवितार्यमा ।। २१ ।।
भगो विश्वे च साध्याश्च गुरुः शुक्रस्तथैव च ।
विश्वावसुश्चित्रसेनः सुमनस्तरुणस्तथा ।। २२ ।।
यज्ञाश्च दक्षिणाश्चैवं ग्रहास्ताराश्च भारत ।
यज्ञवाहश्च ये मन्त्राः सर्वे तत्र समासते ।। २३ ।।

भरतवंशी नरेश पाण्डुनन्दन! सहदेव, सुनीथ, महातपस्वी वाल्मीकि, सत्यवादी शमीक, सत्यप्रतिज्ञ प्रचेता, मेधातिथि, वामदेव, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, मरुत्त, मरीचि, महातपस्वी स्थाणु, कक्षीवान्, गौतम, तार्क्ष्य, वैश्वानर मुनि, षडर्तु, कवष, धूम्र, रैभ्य, नल, परावसु, स्वस्त्यात्रेय, जरत्कारु, कहोल, काश्यप, विभाण्डक, ऋष्यशृंग, उन्मुख, विमुख, कालकवृक्षीय मुनि, आश्राव्य, हिरण्मय, संवर्त, देवहव्य, पराक्रमी विष्वक्सेन, कण्व, कात्यायन, गार्ग्य, कौशिक, दिव्य जल, ओषधियाँ, श्रद्धा, मेधा, सरस्वती, अर्थ, धर्म, काम, विद्युत्, जलधर मेघ, वायु, गर्जना करनेवाले बादल, प्राची दिशा, यज्ञके हविष्यको वहन करनेवाले सत्ताईस पावक,* सम्मिलित अग्नि और सोम, संयुक्त इन्द्र और अग्नि, मित्र, सविता, अर्यमा, भग, विश्वेदेव, साध्य, बृहस्पति, शुक्र, विश्वावसु, चित्रसेन, सुमन, तरुण, विविध यज्ञ, दक्षिणा, ग्रह, तारा और यज्ञनिर्वाहक मन्त्र—ये सभी वहाँ इन्द्रसभामें बैठते हैं ।। १६—२३ ।।

तथैवाप्सरसो राजन् गन्धर्वाश्च मनोरमाः ।
नृत्यवादित्रगीतैश्च हास्यैश्च विविधैरपि ।। २४ ।।
रमयन्ति स्म नृपते देवराजं शतक्रतुम् ।

राजन्! इसी प्रकार मनोहर अप्सराएँ तथा सुन्दर गन्धर्व नृत्य, वाद्य, गीत एवं नाना प्रकारके हास्योंद्वारा देवराज इन्द्रका मनोरंजन करते हैं ।। २४½ ।।

स्तुतिभिर्मङ्गलैश्चैव स्तुवन्तः कर्मभिस्तथा ।। २५ ।।
विक्रमैश्च महात्मानं बलवृत्रनिषूदनम् ।

इतना ही नहीं, वे स्तुति, मंगलपाठ और पराक्रम-सूचक कर्मोंके गायनद्वारा बल और वृत्रनामक असुरोंके नाशक महात्मा इन्द्रका स्तवन करते हैं ।। २५½ ।।

ब्रह्मराजर्षयश्चैव सर्वे देवर्षयस्तथा ।। २६ ।।
विमानैर्विविधैर्दिव्यैर्दीप्यमाना इवाग्नयः ।
स्रग्विणो भूषिताः सर्वे यान्ति चायान्ति चापरे ।। २७ ।।

ब्रह्मर्षि, राजर्षि तथा सम्पूर्ण देवर्षि माला पहने एवं वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो, नाना प्रकारके दिव्य विमानोंद्वारा अग्निके समान देदीप्यमान होते हुए वहाँ आते-जाते रहते हैं ।। २६-२७ ।।

बृहस्पतिश्च शुक्रश्च नित्यमास्तां हि तत्र वै ।
एते चान्ये च बहवो महात्मानो यतव्रताः ।। २८ ।।
विमानैश्चन्द्रसंकाशैः सोमवत्प्रियदर्शनाः ।
ब्रह्मणः सदृशा राजन् भृगुः सप्तर्षयस्तथा ।। २९ ।।

बृहस्पति और शुक्र वहाँ नित्य विराजते हैं। ये तथा और भी बहुत-से संयमी महात्मा जिनका दर्शन चन्द्रमाके समान प्रिय है, चन्द्रमाकी भाँति चमकीले विमानोंद्वारा वहाँ उपस्थित होते हैं। राजन्! भृगु और सप्तर्षि, जो साक्षात् ब्रह्माजीके समान प्रभावशाली हैं, ये भी इन्द्र-सभाकी शोभा बढ़ाते हैं ।। २८-२९ ।।

एषा सभा मया राजन् दृष्टा पुष्करमालिनी ।
शतक्रतोर्महाबाहो याम्यामपि सभां शृणु ।। ३० ।।

महाबाहु नरेश! शतक्रतु इन्द्रकी यह कमल-मालाओंसे सुशोभित सभा मैंने अपनी आँखों देखी है। अब यमराजकी सभाका वर्णन सुनो ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकसभाख्यानपर्वणि इन्द्रसभावर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः ।। ७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें इन्द्रसभा-वर्णन नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

अष्टमोऽध्यायः

यमराजकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

कथयिष्ये सभां याम्यां युधिष्ठिर निबोध ताम् ।
वैवस्वतस्य यां पार्थ विश्वकर्मा चकार ह ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! अब मैं सूर्यपुत्र यमकी सभाका वर्णन करता हूँ, सुनो। उसकी रचना भी विश्वकर्माने ही की है ।। १ ।।

तैजसी सा सभा राजन् बभूव शतयोजना ।
विस्तारायामसम्पन्ना भूयसी चापि पाण्डव ।। २ ।।

राजन्! वह तेजोमयी विशाल सभा लम्बाई और चौड़ाईमें भी सौ योजन है तथा पाण्डुनन्दन! सम्भव है, इससे भी कुछ बड़ी हो ।। २ ।।

अर्कप्रकाशा भ्राजिष्णुः सर्वतः कामरूपिणी ।
नातिशीता न चात्युष्णा मनसश्च प्रहर्षिणी ।। ३ ।।

उसका प्रकाश सूर्यके समान है। इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली वह सभा सब ओरसे प्रकाशित होती है। वह न तो अधिक शीतल है, न अधिक गर्म। मनको अत्यन्त आनन्द देनेवाली है ।। ३ ।।

न शोको न जरा तस्यां क्षुत्पिपासे न चाप्रियम् ।
न च दैन्यं क्लमो वापि प्रतिकूलं न चाप्युत ।। ४ ।।

उसके भीतर न शोक है, न जीर्णता; न भूख लगती है, न प्यास। वहाँ कोई भी अप्रिय घटना नहीं घटित होती। दीनता, थकावट अथवा प्रतिकूलताका तो वहाँ नाम भी नहीं है ।। ४ ।।

सर्वे कामाः स्थितास्तस्यां ये दिव्या ये च मानुषाः ।
सारवच्च प्रभूतं च भक्ष्यं भोज्यमरिंदम ।। ५ ।।

शत्रुदमन! वहाँ दिव्य और मानुष, सभी प्रकारके भोग उपस्थित रहते हैं। सरस एवं स्वादिष्ठ भक्ष्य-भोज्य पदार्थ प्रचुर मात्रामें संचित रहते हैं ।। ५ ।।

लेह्यं चोष्यं च पेयं च हृद्यं स्वादु मनोहरम् ।
पुण्यगन्धाः स्रजस्तस्य नित्यं कामफला द्रुमाः ।। ६ ।।

इसके सिवा चाटनेयोग्य, चूसनेयोग्य, पीनेयोग्य तथा हृदयको प्रिय लगनेवाली और भी स्वादिष्ठ एवं मनोहर वस्तुएँ वहाँ सदा प्रस्तुत रहती हैं। उस सभामें पवित्र सुगन्ध फैलानेवाली पुष्प-मालाएँ और सदा इच्छानुसार फल देनेवाले वृक्ष लहलहाते रहते हैं ।। ६ ।।

रसवन्ति च तोयानि शीतान्युष्णानि चैव हि ।
तस्यां राजर्षयः पुण्यास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।। ७ ।।
यमं वैवस्वतं तात प्रहृष्टाः पर्युपासते ।

वहाँ ठंडे और गर्म स्वादिष्ठ जल नित्य उपलब्ध होते हैं। तात! वहाँ बहुत-से पुण्यात्मा राजर्षि और निर्मल हृदयवाले ब्रह्मर्षि प्रसन्नतापूर्वक बैठकर सूर्यपुत्र यमकी उपासना करते हैं ।। ७½ ।।

ययातिर्नहुषः पूरुर्मान्धाता सोमको नृगः ।। ८ ।।
त्रसद्दस्युश्च राजर्षिः कृतवीर्यः श्रुतश्रवाः ।
अरिष्टनेमिः सिद्धश्च कृतवेगः कृतिर्निमिः ।। ९ ।।
प्रतर्दनः शिबिर्मत्स्यः पृथुलाक्षो बृहद्रथः ।
वार्तो मरुत्तः कुशिकः सांकाश्यः सांकृतिर्ध्रुव ।। १० ।।
चतुरश्वः सदश्वोर्मिः कार्तवीर्यश्च पार्थिवः ।
भरतः सुरथश्चैव सुनीथो निशठो नलः ।। ११ ।।
दिवोदासश्च सुमना अम्बरीषो भगीरथः ।
व्यश्वः सदश्वो वध्यश्वः पृथुवेगः पृथुश्रवाः ।। १२ ।।
पृषदश्वो वसुमनाः क्षुपश्च सुमहाबलः ।
रुषद्रुर्वृषसेनश्च पुरुकुत्सो ध्वजी रथी ।। १३ ।।
आर्ष्टिषेणो दिलीपश्च महात्मा चाप्युशीनरः ।
औशीनरिः पुण्डरीकः शर्यातिः शरभः शुचिः ।। १४ ।।
अङ्गोऽरिष्टश्च वेनश्च दुष्यन्तः सृञ्जयो जयः ।
भाङ्गासुरिः सुनीथश्च निषधोऽथ वहीनरः ।। १५ ।।
करन्धमो बाह्लिकश्च सुद्युम्नो बलवान् मधुः ।
ऐलो मरुत्तश्च तथा बलवान् पृथिवीपतिः ।। १६ ।।
कपोतरोमा तृणकः सहदेवार्जुनौ तथा ।
व्यश्वः साश्वः कृशाश्वश्च शशबिन्दुश्च पार्थिवः ।। १७ ।।
राजा दशरथश्चैव ककुत्स्थोऽथ प्रवर्धनः ।
अलर्कः कक्षसेनश्च गयो गौराश्व एव च ।। १८ ।।
जामदग्न्यश्च रामश्च नाभागसगरौ तथा ।
भूरिद्युम्नो महाश्वश्च पृथाश्वो जनकस्तथा ।। १९ ।।
राजा वैन्यो वारिसेनः पुरुजिज्जनमेजयः ।
ब्रह्मदत्तस्त्रिगर्तश्च राजोपरिचरस्तथा ।। २० ।।
इन्द्रद्युम्नो भीमजानुर्गौरपृष्ठोऽनघो लयः ।
पद्मोऽथ मुचुकुन्दश्च भूरिद्युम्नः प्रसेनजित् ।। २१ ।।

अरिष्टनेमिः सुद्युम्नः पृथुलाश्वोऽष्टकस्तथा ।
शतं मत्स्या नृपतयः शतं नीपाः शतं गयाः ।। २२ ।।
धृतराष्ट्राश्चैकशतमशीतिर्जनमेजयाः ।
शतं च ब्रह्मदत्तानां वीरिणामीरिणां शतम् ।। २३ ।।
भीष्माणां द्वे शतेऽप्यत्र भीमानां तु तथा शतम् ।
शतं च प्रतिविन्ध्यानां शतं नागाः शतं हयाः ।। २४ ।।
पलाशानां शतं ज्ञेयं शतं काशकुशादयः ।
शान्तनुश्चैव राजेन्द्र पाण्डुश्चैव पिता तव ।। २५ ।।
उशङ्गवः शतरथो देवराजो जयद्रथः ।
वृषदर्भश्च राजर्षिर्बुद्धिमान् सह मन्त्रिभिः ।। २६ ।।
अथापरे सहस्राणि ये गताः शशबिन्दवः ।
इष्ट्वाश्वमेधैर्बहुभिर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ।। २७ ।।
एते राजर्षयः पुण्याः कीर्तिमन्तो बहुश्रुताः ।
तस्यां सभायां राजेन्द्र वैवस्वतमुपासते ।। २८ ।।

ययाति, नहुष, पूरु, मान्धाता, सोमक, नृग, त्रसद्दस्यु, राजर्षि कृतवीर्य, श्रुतश्रवा, अरिष्टनेमि, सिद्ध, कृतवेग, कृति, निमि, प्रतर्दन, शिबि, मत्स्य, पृथुलाक्ष, बृहद्रथ, वार्त, मरुत्त, कुशिक, सांकाश्य, सांकृति, ध्रुव, चतुरश्व, सदश्वोर्मि, राजा कार्तवीर्य अर्जुन, भरत, सुरथ, सुनीथ, निशठ, नल, दिवोदास, सुमना, अम्बरीष, भगीरथ, व्यश्व, सदश्व, वध्यश्व, पृथुवेग, पृथुश्रवा, पृषदश्व, वसुमना, महाबली क्षुप, रुषद्रु, वृषसेन, रथ और ध्वजासे युक्त पुरुकुत्स, आर्ष्टिषेण, दिलीप, महात्मा उशीनर, औशीनरि, पुण्डरीक, शर्याति, शरभ, शुचि, अंग, अरिष्ट, वेन, दुष्यन्त, संजय, जय, भांगासुरि, सुनीथ, निषध, वहीनर, करन्धम, बाह्लिक, सुद्युम्न, बलवान् मधु, इला-नन्दन पुरूरवा, बलवान् राजा मरुत्त, कपोतरोमा, तृणक, सहदेव, अर्जुन, व्यश्व, साश्व, कृशाश्व, राजा शशबिन्दु, महाराज दशरथ, ककुत्स्थ, प्रवर्धन, अलर्क, कक्षसेन, गय, गौराश्व, जमदग्निनन्दन परशुराम, नाभाग, सगर, भूरिद्युम्न, महाश्व, पृथाश्व, जनक, राजा पृथु, वारिसेन, पुरुजित्, जनमेजय, ब्रह्मदत्त, त्रिगर्त, राजा उपरिचर, इन्द्रद्युम्न, भीमजानु, गौरपृष्ठ, अनघ, लय, पद्म, मुचुकुन्द, भूरिद्युम्न, प्रसेनजित्, अरिष्टनेमि, सुद्युम्न, पृथुलाश्व, अष्टक, एक सौ मत्स्य, एक सौ नीप, एक सौ गय, एक सौ धृतराष्ट्र, अस्सी जनमेजय, सौ ब्रह्मदत्त, सौ वीरी, सौ ईरी, दो सौ भीष्म, एक सौ भीम, एक सौ प्रतिविन्ध्य, एक सौ नाग तथा एक सौ हय, सौ पलाश, सौ काश और सौ कुश राजा एवं शान्तनु, तुम्हारे पिता पाण्डु, उशंगव, शतरथ, देवराज, जयद्रथ, मन्त्रियोंसहित बुद्धिमान् राजर्षि वृषदर्भ तथा इनके सिवा सहस्रों शशबिन्दु नामक राजा, जो अधिक दक्षिणावाले अनेक महान् अश्वमेधयज्ञोंद्वारा यजन करके धर्मराजके लोकमें गये हुए हैं। राजेन्द्र! ये सभी

पुण्यात्मा, कीर्तिमान् और बहुश्रुत राजर्षि उस सभामें सूर्यपुत्र यमकी उपासना करते हैं ।। ८—२८ ।।

अगस्त्योऽथ मतङ्गश्च कालो मृत्युस्तथैव च ।
यज्वानश्चैव सिद्धाश्च ये च योगशरीरिणः ।। २९ ।।
अग्निष्वात्ताश्च पितरः फेनपाश्चोष्मपाश्च ये ।
स्वधावन्तो बर्हिषदो मूर्तिमन्तस्तथापरे ।। ३० ।।
कालचक्रं च साक्षाच्च भगवान् हव्यवाहनः ।
नरा दुष्कृतकर्माणो दक्षिणायनमृत्यवः ।। ३१ ।।
कालस्य नयने युक्ता यमस्य पुरुषाश्च ये ।
तस्यां शिंशपपालाशास्तथा काशकुशादयः ।
उपासते धर्मराजं मूर्तिमन्तो जनाधिप ।। ३२ ।।

अगस्त्य, मतंग, काल, मृत्यु, यज्ञकर्ता, सिद्ध, योगशरीरधारी, अग्निष्वात्त पितर, फेनप, ऊष्मप, स्वधावान्, बर्हिषद् तथा दूसरे मूर्तिमान् पितर, साक्षात् कालचक्र (संवत्सर आदि कालविभागके अभिमानी देवता), भगवान् हव्यवाहन (अग्नि), दक्षिणायनमें मरनेवाले तथा सकामभावसे दुष्कर (श्रमसाध्य) कर्म करनेवाले मनुष्य, जनेश्वर कालकी आज्ञामें तत्पर यमदूत, शिंशप एवं पलाश, काश और कुश आदिके अभिमानी देवता मूर्तिमान् होकर उस सभामें धर्मराजकी उपासना करते हैं ।। २९—३२ ।।

एते चान्ये च बहवः पितृराजसभासदः ।
न शक्याः परिसंख्यातुं नामभिः कर्मभिस्तथा ।। ३३ ।।

ये तथा और भी बहुत-से लोग पितृराज यमकी सभाके सदस्य हैं, जिनके नामों और कर्मोंकी गणना नहीं की जा सकती ।। ३३ ।।

असम्बाधा हि सा पार्थ रम्या कामगमा सभा ।
दीर्घकालं तपस्तप्त्वा निर्मिता विश्वकर्मणा ।। ३४ ।।

कुन्तीनन्दन! वह सभा बाधारहित है। वह रमणीय तथा इच्छानुसार गमन करनेवाली है। विश्वकर्माने दीर्घ-कालतक तपस्या करके उसका निर्माण किया है ।। ३४ ।।

ज्वलन्ती भासमाना च तेजसा स्वेन भारत ।
तामुग्रतपसो यान्ति सुव्रताः सत्यवादिनः ।। ३५ ।।
शान्ताः संन्यासिनः शुद्धाः पूताः पुण्येन कर्मणा ।
सर्वे भास्वरदेहाश्च सर्वे च विरजोऽम्बराः ।। ३६ ।।

भारत! वह सभा अपने तेजसे प्रज्वलित तथा उद्भासित होती रहती है। कठोर तपस्या और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, सत्यवादी, शान्त, संन्यासी तथा अपने पुण्यकर्मसे शुद्ध एवं पवित्र हुए पुरुष उस सभामें जाते हैं। उन सबके शरीर तेजसे प्रकाशित होते रहते हैं। सभी निर्मल वस्त्र धारण करते हैं ।। ३५-३६ ।।

चित्राङ्गदाश्चित्रमाल्याः सर्वे ज्वलितकुण्डलाः ।
सुकृतैः कर्मभिः पुण्यैः पारिबर्हैश्च भूषिताः ।। ३७ ।।

सभी अद्भुत बाजूबंद, विचित्र हार और जगमगाते हुए कुण्डल धारण करते हैं। वे अपने पवित्र शुभ कर्मों तथा वस्त्राभूषणोंसे भी विभूषित होते हैं ।। ३७ ।।

गन्धर्वाश्च महात्मानः सङ्घशश्चाप्सरोगणाः ।
वादित्रं नृत्यगीतं च हास्यं लास्यं च सर्वशः ।। ३८ ।।

कितने ही महामना गन्धर्व और झुंड-की-झुंड अप्सराएँ उस सभामें उपस्थित हो सब प्रकारके वाद्य, नृत्य, गीत, हास्य और लास्यकी उत्तम कलाका प्रदर्शन करती हैं ।। ३८ ।।

पुण्याश्च गन्धाः शब्दाश्च तस्यां पार्थ समन्ततः ।
दिव्यानि चैव माल्यानि उपतिष्ठन्ति नित्यशः ।। ३९ ।।

कुन्तीकुमार! उस सभामें सदा सब ओर पवित्र गन्ध, मधुर शब्द और दिव्य मालाओंके सुखद स्पर्श प्राप्त होते रहते हैं ।। ३९ ।।

शतं शतसहस्राणि धर्मिणां तं प्रजेश्वरम् ।
उपासते महात्मानं रूपयुक्ता मनस्विनः ।। ४० ।।

सुन्दर रूप धारण करनेवाले एक करोड़ धर्मात्मा एवं मनस्वी पुरुष महात्मा यमकी उपासना करते हैं ।। ४० ।।

ईदृशी सा सभा राजन् पितृराज्ञो महात्मनः ।
वरुणस्यापि वक्ष्यामि सभां पुष्करमालिनीम् ।। ४१ ।।

राजन्! पितृराज महात्मा यमकी सभा ऐसी ही है। अब मैं वरुणकी मूर्तिमान् पुष्कर आदि तीर्थमालाओंसे सुशोभित सभाका भी वर्णन करूँगा ।। ४१ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि यमसभावर्णनं नामाष्टमोऽध्यायः ।। ८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें यमसभा-वर्णन नामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८ ।।

---

* नीलकण्ठने अपनी टीकामें इन सत्ताईस पावकोंके नाम इस प्रकार बताये हैं—अंगिरा, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि, निर्मन्थ्य, वैद्युत, शूर, संवर्त, लौकिक, जठराग्नि, विषग, क्रव्यात्, क्षेमवान्, वैष्णव, दस्युमान्, बलद, शान्त, पुष्ट, विभावसु, ज्योतिष्मान्, भरत, भद्र, स्विष्टकृत्, वसुमान्, क्रतु, सोम और पितृमान्।

नवमोऽध्यायः

वरुणकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

युधिष्ठिर सभा दिव्या वरुणस्यामितप्रभा ।
प्रमाणेन यथा याम्या शुभप्राकारतोरणा ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! वरुणदेवकी दिव्य सभा अपनी अनन्त कान्तिसे प्रकाशित होती रहती है। उसकी भी लंबाई-चौड़ाईका मान वही है, जो यम-राजकी सभाका है। उसके परकोटे और फाटक बड़े सुन्दर हैं ।। १ ।।

अन्तःसलिलमास्थाय विहिता विश्वकर्मणा ।
दिव्यै रत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युता ।। २ ।।

विश्वकर्माने उस सभाको जलके भीतर रहकर बनाया है। वह फल-फूल देनेवाले दिव्य रत्नमय वृक्षोंसे सुशोभित होती है ।। २ ।।

नीलपीतासितश्यामैः सितैर्लोहितकैरपि ।
अवतानैस्तथा गुल्मैर्मञ्जरीजालधारिभिः ।। ३ ।।

उस सभाके भिन्न-भिन्न प्रदेश नीले-पीले, काले, सफेद और लाल रंगके लतागुल्मोंसे आच्छादित हैं। उन लताओंने मनोहर मंजरीपुंज धारण कर रखे हैं ।। ३ ।।

तथा शकुनयस्तस्यां विचित्रा मधुरस्वराः ।
अनिर्देश्या वपुष्मन्तः शतशोऽथ सहस्रशः ।। ४ ।।

सभाभवनके भीतर विचित्र और मधुर स्वरसे बोलनेवाले सैकड़ों-हजारों पक्षी चहकते रहते हैं। उनके विलक्षण रूप-सौन्दर्यका वर्णन नहीं हो सकता। उनकी आकृति बड़ी सुन्दर है ।। ४ ।।

सा सभा सुखसंस्पर्शा न शीता न च घर्मदा ।
वेश्मासनवती रम्या सिता वरुणपालिता ।। ५ ।।

वरुणकी सभाका स्पर्श बड़ा ही सुखद है, वहाँ न सर्दी है, न गर्मी। उसका रंग श्वेत है, उसमें कितने ही कमरे और आसन (दिव्य मंच आदि) सजाये गये हैं। वरुणजीके द्वारा सुरक्षित वह सभा बड़ी रमणीय जान पड़ती है ।। ५ ।।

यस्यामास्ते स वरुणो वारुण्या च समन्वितः ।
दिव्यरत्नाम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ।। ६ ।।

उसमें दिव्य रत्नों और वस्त्रोंको धारण करनेवाले तथा दिव्य अलंकारोंसे अलंकृत वरुणदेव वारुणी देवीके साथ विराजमान होते हैं ।। ६ ।।

स्रग्विणो दिव्यगन्धाश्च दिव्यगन्धानुलेपनाः ।

आदित्यास्तत्र वरुणं जलेश्वरमुपासते ।। ७ ।।

उस सभामें दिव्य हार, दिव्य सुगन्ध तथा दिव्य चन्दनका अंगराग धारण करनेवाले आदित्यगण जलके स्वामी वरुणकी उपासना करते हैं ।। ७ ।।

वासुकिस्तक्षकश्चैव नागश्चैरावतस्तथा ।
कृष्णश्च लोहितश्चैव पद्मश्चित्रश्च वीर्यवान् ।। ८ ।।

वासुकि नाग, तक्षक, ऐरावतनाग, कृष्ण, लोहित, पद्म और पराक्रमी चित्र, ।। ८ ।।

कम्बलाश्वतरौ नागौ धृतराष्ट्रबलाहकौ ।
(मणिनागश्च नागश्च मणिः शङ्खनखस्तथा ।
कौरव्यः स्वस्तिकश्चैव एलापत्रश्च वामनः ।।
अपराजितश्च दोषश्च नन्दकः पूरणस्तथा ।
अभीकः शिभिकः श्वेतो भद्रो भद्रेश्वरस्तथा ।।)
मणिमान् कुण्डधारश्च कर्कोटकधनंजयौ ।। ९ ।।

कम्बल, अश्वतर, धृतराष्ट्र, बलाहक, मणिनाग, नाग, मणि, शंखनख, कौरव्य, स्वस्तिक, एलापत्र, वामन, अपराजित, दोष, नन्दक, पूरण, अभीक, शिभिक, श्वेत, भद्र, भद्रेश्वर, मणिमान्, कुण्डधार, कर्कोटक, धनंजय, ।। ९ ।।

पाणिमान् कुण्डधारश्च बलवान् पृथिवीपते ।
प्रह्लादो मूषिकादश्च तथैव जनमेजयः ।। १० ।।
पताकिनो मण्डलिनः फणावन्तश्च सर्वशः ।
(अनन्तश्च महानागो यं स दृष्ट्वा जलेश्वरः ।
अभ्यर्चयति सत्कारैरासनेन च तं विभुम् ।।
वासुकिप्रमुखाश्चैव सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ।
अनुज्ञाताश्च शेषेण यथार्हमुपविश्य च ।।)
एते चान्ये च बहवः सर्पास्तस्यां युधिष्ठिर ।
उपासते महात्मानं वरुण विगतक्लमाः ।। ११ ।।

पाणिमान्, बलवान् कुण्डधार, प्रह्लाद, मूषिकाद, जनमेजय आदि नाग जो पताका, मण्डल और फणोंसे सुशोभित वहाँ उपस्थित होते हैं, महानाग भगवान् अनन्त भी वहाँ स्थित होते हैं, जिन्हें देखते ही जलके स्वामी वरुण आसन आदि देते और सत्कारपूर्वक उनका पूजन करते हैं। वासुकि आदि सभी नाग हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े होते और भगवान् शेषकी आज्ञा पाकर यथायोग्य आसनोंपर बैठकर वहाँकी शोभा बढ़ाते हैं। युधिष्ठिर! ये तथा और भी बहुतसे नाग उस सभामें क्लेशरहित हो महात्मा वरुणकी उपासना करते हैं ।। १०-११ ।।

बलिर्वैरोचनो राजा नरकः पृथिवींजयः ।
प्रह्लादो विप्रचित्तिश्च कालखञ्जाश्च दानवाः ।। १२ ।।

सुहनुर्दुर्मुखः शुङ्खः सुमनाः सुमतिस्ततः ।
घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा ।। १३ ।।
विश्वरूपः स्वरूपश्च विरूपोऽथ महाशिराः ।
दशग्रीवश्च वाली च मेघवासा दशावरः ।। १४ ।।
टिट्टिभो विटभूतश्च संह्लादश्चेन्द्रतापनः ।
दैत्यदानवसङ्घाश्च सर्वे रुचिरकुण्डलाः ।। १५ ।।
स्रग्विणो मौलिनश्चैव तथा दिव्यपरिच्छदाः ।
सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगतमृत्यवः ।। १६ ।।
ते तस्यां वरुणं देवं धर्मपाशधरं सदा ।
उपासते महात्मानं सर्वे सुचरितव्रताः ।। १७ ।।

विरोचनपुत्र राजा बलि, पृथ्वीविजयी नरकासुर, प्रह्लाद, विप्रचित्ति, कालखंज दानव, सुहनु, दुर्मुख, शंख, सुमना, सुमति, घटोदर, महापार्श्व, क्रथन, पिठर, विश्वरूप, स्वरूप, विरूप, महाशिरा, दशमुख रावण, वाली, मेघवासा, दशावर, टिट्टिभ, विटभूत, संह्लाद तथा इन्द्रतापन आदि सभी दैत्यों और दानवोंके समुदाय मनोहर कुण्डल, सुन्दर हार, किरीट तथा दिव्य वस्त्राभूषण धारण किये उस सभामें धर्मपाशधारी महात्मा वरुणदेवकी सदा उपासना करते हैं। वे सभी दैत्य वरदान पाकर शौर्यसम्पन्न हो मृत्युरहित हो गये हैं। उनका चरित्र एवं व्रत बहुत उत्तम है ।। १२—१७ ।।

तथा समुद्राश्चत्वारो नदी भागीरथी च सा ।
कालिन्दी विदिशा वेणा नर्मदा वेगवाहिनी ।। १८ ।।

चारों समुद्र, भागीरथी नदी, कालिन्दी, विदिशा, वेणा, नर्मदा, वेगवाहिनी, ।। १८ ।।

विपाशा च शतद्रुश्च चन्द्रभागा सरस्वती ।
इरावती वितस्ता च सिन्धुर्देवनदी तथा ।। १९ ।।

विपाशा, शतद्रु, चन्द्रभागा, सरस्वती, इरावती, वितस्ता, सिन्धु, देवनदी, ।। १९ ।।

गोदावरी कृष्णवेणा कावेरी च सरिद्वरा ।
किम्पुना च विशल्या च तथा वैतरणी नदी ।। २० ।।

गोदावरी, कृष्णवेणा, सरिताओंमें श्रेष्ठ कावेरी, किम्पुना, विशल्या, वैतरणी नदी, ।। २० ।।

तृतीया ज्येष्ठिला चैव शोणश्चापि महानदः ।
चर्मण्वती तथा चैव पर्णाशा च महानदी ।। २१ ।।

तृतीया, ज्येष्ठिला, महानद शोण, चर्मण्वती, पर्णाशा, महानदी, ।। २१ ।।

सरयूर्वारवत्याथ लाङ्गली च सरिद्वरा ।
करतोया तथात्रेयी लौहित्यश्च महानदः ।। २२ ।।

सरयू, वारवत्या, सरिताओंमें श्रेष्ठ लांगली, करतोया, आत्रेयी, महानद लौहित्य, ।। २२ ।।

लङ्घती गोमती चैव संध्या त्रिःस्रोतसी तथा ।

एताश्चान्याश्च राजेन्द्र सुतीर्था लोकविश्रुताः ।। २३ ।।

भरतवंशी राजेन्द्र युधिष्ठिर! लंघती, गोमती, संध्या और त्रिस्रोतसी, ये तथा दूसरे लोकविख्यात उत्तम तीर्थ (वहाँ वरुणकी उपासना करते हैं), ।। २३ ।।

सरितः सर्वतश्चान्यास्तीर्थानि च सरांसि च ।

कूपाश्च सप्रस्रवणा देहवन्तो युधिष्ठिर ।। २४ ।।

पल्वलानि तडागानि देहवन्त्यथ भारत ।

दिशस्तथा मही चैव तथा सर्वे महीधराः ।। २५ ।।

उपासते महात्मानं सर्वे जलचरास्तथा ।

समस्त सरिताएँ, जलाशय, सरोवर, कूप, झरने, पोखरे और तालाब, सम्पूर्ण दिशाएँ, पृथ्वी, पर्वत तथा सम्पूर्ण जलचर जीव अपने-अपने स्वरूप धारण करके महात्मा वरुणकी उपासना करते हैं ।। २४-२५½ ।।

गीतवादित्रवन्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।। २६ ।।

स्तुवन्तो वरुणं तस्यां सर्व एव समासते ।

सभी गन्धर्व और अप्सराओंके समुदाय भी गीत गाते और बाजे बजाते हुए उस सभामें वरुणदेवताकी स्तुति एवं उपासना करते हैं ।। २६½ ।।

महीधरा रत्नवन्तो रसा ये च प्रतिष्ठिताः ।। २७ ।।

कथयन्तः सुमधुराः कथास्तत्र समासते ।

रत्नयुक्त पर्वत और प्रतिष्ठित रस (मूर्तिमान् होकर) अत्यन्त मधुर कथाएँ कहते हुए वहाँ निवास करते हैं ।। २७½ ।।

वारुणश्च तथा मन्त्री सुनाभः पर्युपासते ।। २८ ।।

पुत्रपौत्रैः परिवृतो गोनाम्ना पुष्करेण च ।

वरुणका मन्त्री सुनाभ अपने पुत्र-पौत्रोंसे घिरा हुआ गौ तथा पुष्कर नामवाले तीर्थके साथ वरुणदेवकी उपासना करता है ।। २८½ ।।

सर्वे विग्रहवन्तस्ते तमीश्वरमुपासते ।। २९ ।।

ये सभी शरीर धारण करके लोकेश्वर वरुणकी उपासना करते रहते हैं ।। २९ ।।

एषा मया सम्पतता वारुणी भरतर्षभ ।

दृष्टपूर्वा सभा रम्या कुबेरस्य सभां शृणु ।। ३० ।।

भरतश्रेष्ठ! पहले सब ओर घूमते हुए मैंने वरुणजीकी इस रमणीय सभाका भी दर्शन किया है। अब तुम कुबेरकी सभाका वर्णन सुनो ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि वरुणसभावर्णने नवमोऽध्यायः ।। ९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें वरुणसभा-वर्णनविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

दशमोऽध्यायः

कुबेरकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

सभा वैश्रवणी राजञ्छतयोजनमायता ।
विस्तीर्णा सप्ततिश्चैव योजनानि सितप्रभा ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—राजन्! कुबेरकी सभा सौ योजन लंबी और सत्तर योजन चौड़ी है, वह अत्यन्त श्वेतप्रभासे युक्त है ।। १ ।।

तपसा निर्जिता राजन् स्वयं वैश्रवणेन सा ।
शशिप्रभा प्रावरणा कैलासशिखरोपमा ।। २ ।।

युधिष्ठिर! विश्रवाके पुत्र कुबेरने स्वयं ही तपस्या करके उस सभाको प्राप्त किया है। वह अपनी धवल कान्तिसे चन्द्रमाकी चाँदनीको भी तिरस्कृत कर देती है और देखनेमें कैलासशिखर-सी जान पड़ती है ।। २ ।।

गुह्यकैरुह्यमाना सा खे विषक्तेव शोभते ।
दिव्या हेममयैरुच्चैः प्रासादैरुपशोभिता ।। ३ ।।

गुह्यकगण जब उस सभाको उठाकर ले चलते हैं, उस समय वह आकाशमें सटी हुई-सी सुशोभित होती है। यह दिव्य सभा ऊँचे सुवर्णमय महलोंसे शोभायमान होती है ।। ३ ।।

महारत्नवती चित्रा दिव्यगन्धा मनोरमा ।
सिताभ्रशिखराकारा प्लवमानेव दृश्यते ।। ४ ।।

महान् रत्नोंसे उसका निर्माण हुआ है। उसकी झाँकी बड़ी विचित्र है। उससे दिव्य सुगन्ध फैलती रहती है और वह दर्शकके मनको अपनी ओर खींच लेती है। श्वेत बादलोंके शिखर-सी प्रतीत होनेवाली वह सभा आकाशमें तैरती-सी दिखायी देती है ।। ४ ।।

दिव्या हेममयैरङ्गैर्विद्युद्भिरिव चित्रिता ।

उस दिव्य सभाकी दीवारें विद्युत्के समान उद्दीप्त होनेवाले सुनहले रंगोंसे चित्रित की गयी हैं ।। ४½ ।।

तस्यां वैश्रवणो राजा विचित्राभरणाम्बरः ।। ५ ।।
स्त्रीसहस्रैर्वृतः श्रीमानास्ते ज्वलितकुण्डलः ।
दिवाकरनिभे पुण्य दिव्यास्तरणसंवृते ।
दिव्यपादोपधाने च निषण्णः परमासने ।। ६ ।।

उस सभामें सूर्यके समान चमकीले दिव्य बिछौनोंसे ढके हुए तथा दिव्य पादपीठोंसे सुशोभित श्रेष्ठ सिंहासनपर कानोंमें ज्योतिसे जगमगाते कुण्डल और अंगोंमें विचित्र वस्त्र

एवं आभूषण धारण करनेवाले श्रीमान् राजा वैश्रवण (कुबेर) सहस्रों स्त्रियोंसे घिरे हुए बैठते हैं ।। ५-६ ।।

मन्दाराणामुदाराणां वनानि परिलोडयन् ।
सौगन्धिकवनानां च गन्धं गन्धवहो वहन् ।। ७ ।।
नलिन्याश्चालकाख्याया नन्दनस्य वनस्य च ।
शीतो हृदयसंह्लादी वायुस्तमुपसेवते ।। ८ ।।

(अपने पास आये हुए याचककी प्रत्येक इच्छा पूर्ण करनेमें अत्यन्त) उदार मन्दार वृक्षोंके वनोंको आन्दोलित करता तथा सौगन्धिक कानन, अलका नामक पुष्करिणी और नन्दन वनकी सुगन्धका भार वहन करता हुआ हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाला गन्धवाही शीतल समीर उस सभामें कुबेरकी सेवा करता है ।। ७-८ ।।

तत्र देवाः सगन्धर्वा गणैरप्सरसां वृताः ।
दिव्यतानैर्महाराज गायन्ति स्म सभागताः ।। ९ ।।

महाराज! देवता और गन्धर्व अप्सराओंके साथ उस सभामें आकर दिव्य तानोंसे युक्त गीत गाते हैं ।। ९ ।।

मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रसेना शुचिस्मिता ।
चारुनेत्रा घृताची च मेनका पुञ्जिकस्थला ।। १० ।।
विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचा उर्वशी इरा ।
वर्गा च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता ।। ११ ।।
एताः सहस्रशश्चान्या नृत्यगीतविशारदाः ।
उपतिष्ठन्ति धनदं गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।। १२ ।।

मिश्रकेशी, रम्भा, चित्रसेना, शुचिस्मिता, चारुनेत्रा, घृताची, मेनका, पुंजिकस्थला, विश्वाची, सहजन्या, प्रम्लोचा, उर्वशी, इरा, वर्गा, सौरभेयी, समीची, बुद्बुदा तथा लता आदि नृत्य और गीतमें कुशल सहस्रों अप्सराओं और गन्धर्वोंके गण कुबेरकी सेवामें उपस्थित होते हैं ।। १०—१२ ।।

अनिशं दिव्यवादित्रैर्नृत्यगीतैश्च सा सभा ।
अशून्या रुचिरा भाति गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।। १३ ।।

गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदायसे भरी तथा दिव्य वाद्य, नृत्य एवं गीतोंसे निरन्तर गूँजती हुई कुबेरकी वह सभा बड़ी मनोहर जान पड़ती है ।। १३ ।।

किन्नरा नाम गन्धर्वा नरा नाम तथा परे ।। १४ ।।
मणिभद्रोऽथ धनदः श्वेतभद्रश्च गुह्यकः ।
कशेरको गण्डकण्डूः प्रद्योतश्च महाबलः ।। १५ ।।
कुस्तुम्बुरुः पिशाचश्च गजकर्णो विशालकः ।
वराहकर्णस्ताम्रोष्ठः फलकक्षः फलोदकः ।। १६ ।।

हंसचूडः शिखावर्तो हेमनेत्रो विभीषणः ।
पुष्पाननः पिङ्गलकः शोणितोदः प्रवालकः ।। १७ ।।
वृक्षवास्यनिकेतश्च चीरवासाश्च भारत ।
एते चान्ये च बहवो यक्षाः शतसहस्रशः ।। १८ ।।

किन्नर तथा नर नामवाले गन्धर्व, मणिभद्र, धनद, श्वेतभद्र, गुह्यक, कशेरक, गण्डकण्डू, महाबली प्रद्योत, कुस्तुम्बुरु पिशाच, गजकर्ण, विशालक, वराहकर्ण, ताम्रोष्ठ, फलकक्ष, फलोदक, हंसचूड, शिखावर्त, हेमनेत्र, विभीषण, पुष्पानन, पिंगलक, शोणितोद, प्रवालक, वृक्षवासी, अनिकेत तथा चीरवासा, भारत! ये तथा दूसरे बहुत-से यक्ष लाखोंकी संख्यामें उपस्थित होकर उस सभामें कुबेरकी सेवा करते हैं ।। १४—१८ ।।

सदा भगवती लक्ष्मीस्तत्रैव नलकूबरः ।
अहं च बहुशस्तस्यां भवन्त्यन्ये च मद्विधाः ।। १९ ।।

धन-सम्पत्तिकी अधिष्ठात्री देवी भगवती लक्ष्मी, नलकूबर, मैं तथा मेरे-जैसे और भी बहुत-से लोग प्रायः उस सभामें उपस्थित होते हैं ।। १९ ।।

ब्रह्मर्षयो भवन्त्यत्र तथा देवर्षयोऽपरे ।
क्रव्यादाश्च तथैवान्ये गन्धर्वाश्च महाबलाः ।। २० ।।
उपासते महात्मानं तस्यां धनदमीश्वरम् ।

ब्रह्मर्षि, देवर्षि तथा अन्य ऋषिगण उस सभामें विराजमान होते हैं। इनके सिवा बहुत-से पिशाच और महाबली गन्धर्व वहाँ लोकपाल महात्मा धनदकी उपासना करते हैं ।। २०१/२ ।।

भगवान् भूतसङ्घैश्च वृतः शतसहस्रशः ।। २१ ।।
उमापतिः पशुपतिः शूलभृद् भगनेत्रहा ।
त्र्यम्बको राजशार्दूल देवी च विगतक्लमा ।। २२ ।।
वामनैर्विकटैः कुब्जैः क्षतजाक्षैर्महारवैः ।
मेदोमांसाशनैरुग्रैरुग्रधन्वा महाबलः ।। २३ ।।
नानाप्रहरणैरुग्रैर्वातैरिव महाजवैः ।
वृतः सखायमन्वास्ते सदैव धनदं नृप ।। २४ ।।

नृपश्रेष्ठ! लाखों भूतसमूहोंसे घिरे हुए उग्र धनुर्धर महाबली पशुपति (जीवोंके स्वामी), शूलधारी, भगदेवताके नेत्र नष्ट करनेवाले तथा त्रिलोचन भगवान् उमापति और क्लेशरहित देवी पार्वती ये दोनों, वामन, विकट, कुब्ज, लाल नेत्रोंवाले, महान् कोलाहल करनेवाले, मेदा और मांस खानेवाले, अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले तथा वायुके समान महान् वेगशाली भयानक भूत-प्रेतादिके साथ उस सभामें सदैव धन देनेवाले अपने मित्र कुबेरके पास बैठते हैं ।। २१—२४ ।।

प्रहृष्टाः शतशश्चान्ये बहुशः सपरिच्छदाः ।

गन्धर्वाणां च पतयो विश्वावसुर्हहाहुहूः ।। २५ ।।
तुम्बुरुः पर्वतश्चैव शैलूषश्च तथापरः ।
चित्रसेनश्च गीतज्ञस्तथा चित्ररथोऽपि च ।। २६ ।।
एते चान्ये च गन्धर्वा धनेश्वरमुपासते ।

इनके सिवा और भी विविध वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और प्रसन्नचित्त सैकड़ों गन्धर्वपति विश्वावसु, हाहा, हुहू, तुम्बुरु, पर्वत, शैलूष, संगीतज्ञ चित्रसेन तथा चित्ररथ—ये और अन्य गन्धर्व भी धनाध्यक्ष कुबेरकी उपासना करते हैं ।। २५-२६½ ।।

विद्याधराधिपश्चैव चक्रधर्मा सहानुजैः ।। २७ ।।
उपाचरति तत्र स्म धनानामीश्वरं प्रभुम् ।। २८ ।।

विद्याधरोंके अधिपति चक्रधर्मा भी अपने छोटे भाइयोंके साथ वहाँ धनेश्वर भगवान् कुबेरकी आराधना करते हैं ।। २७-२८ ।।

आसते चापि राजानो भगदत्तपुरोगमाः ।
द्रुमः किम्पुरुषेशश्च उपास्ते धनदेश्वरम् ।। २९ ।।

भगदत्त आदि राजा भी उस सभामें बैठते हैं तथा किन्नरोंके स्वामी द्रुम कुबेरकी उपासना करते हैं ।। २९ ।।

राक्षसाधिपतिश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ।
सह यक्षैः सगन्धर्वैः सह सर्वैर्निशाचरैः ।। ३० ।।
विभीषणश्च धर्मिष्ठ उपास्ते भ्रातरं प्रभुम् ।

महेन्द्र, गन्धमादन एवं धर्मनिष्ठ राक्षसराज विभीषण भी यक्षों, गन्धर्वों तथा सम्पूर्ण निशाचरोंके साथ अपने भाई भगवान् कुबेरकी उपासना करते हैं ।। ३०½ ।।

हिमवान् पारियात्रश्च विन्ध्यकैलासमन्दराः ।। ३१ ।।
मलयो दर्दुरश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ।
इन्द्रकीलः सुनाभश्च तथा दिव्यौ च पर्वतौ ।। ३२ ।।
एते चान्ये च बहवः सर्वे मेरुपुरोगमाः ।
उपासते महात्मानं धनानामीश्वरं प्रभुम् ।। ३३ ।।

हिमवान्, पारियात्र, विन्ध्य, कैलास, मन्दराचल, मलय, दर्दुर, महेन्द्र, गन्धमादन और इन्द्रकील तथा सुनाभ नामवाले दोनों दिव्य पर्वत—ये तथा अन्य सब मेरु आदि बहुत-से पर्वत धनके स्वामी महामना प्रभु कुबेरकी उपासना करते हैं ।। ३१—३३ ।।

नन्दीश्वरश्च भगवान् महाकालस्तथैव च ।
शङ्कुकर्णमुखाः सर्वे दिव्याः पारिषदास्तथा ।। ३४ ।।
काष्ठः कुटीमुखो दन्ती विजयश्च तपोऽधिकः ।
श्वेतश्च वृषभस्तत्र नर्दन्नास्ते महाबलः ।। ३५ ।।

भगवान् नन्दीश्वर, महाकाल तथा शंकुकर्ण आदि भगवान् शिवके सभी दिव्य-पार्षद काष्ठ, कुटीमुख, दन्ती, तपस्वी विजय तथा गर्जनशील महाबली श्वेत वृषभ वहाँ उपस्थित रहते हैं ।। ३४-३५ ।।

धनदं राक्षसाश्चान्ये पिशाचाश्च उपासते ।
पारिषदैः परिवृतमुपायान्तं महेश्वरम् ।। ३६ ।।
सदा हि देवदेवेशं शिवं त्रैलोक्यभावनम् ।
प्रणम्य मूर्ध्ना पौलस्त्यो बहुरूपमुमापतिम् ।। ३७ ।।
ततोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य महादेवाद् धनेश्वरः ।
आस्ते कदाचित् भगवान् भवो धनपतेः सखा ।। ३८ ।।

दूसरे-दूसरे राक्षस और पिशाच भी धनदाता कुबेरकी उपासना करते हैं। पार्षदोंसे घिरे हुए देवदेवेश्वर, त्रिभुवनभावन, बहुरूपधारी, कल्याणस्वरूप, उमावल्लभ भगवान् महेश्वर जब उस सभामें पधारते हैं, तब पुलस्त्यनन्दन धनाध्यक्ष कुबेर उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते और उनकी आज्ञा ले उन्हींके पास बैठ जाते हैं। उनका सदाका यही नियम है। कुबेरके सखा भगवान् शंकर कभी-कभी उस सभामें पदार्पण किया करते हैं ।। ३६—३८ ।।

निधिप्रवरमुख्यौ च शङ्खपद्मौ धनेश्वरौ ।
सर्वान् निधीन् प्रगृह्याथ उपासाते धनेश्वरम् ।। ३९ ।।

श्रेष्ठ निधियोंमें प्रमुख और धनके अधीश्वर शंख तथा पद्म—ये दोनों (मूर्तिमान् हो) अन्य सब निधियोंको साथ ले धनाध्यक्ष कुबेरकी उपासना करते हैं ।। ३९ ।।

सा सभा तादृशी रम्या मया दृष्टान्तरिक्षगा ।
पितामहसभां राजन् कीर्तयिष्ये निबोध ताम् ।। ४० ।।

राजन्! कुबेरकी वैसी रमणीय सभा जो आकाशमें विचरनेवाली है, मैंने अपनी आँखों देखी है। अब मैं ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन करूँगा, उसे सुनो ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि धनदसभावर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ।। १० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें कुबेरसभा-वर्णन नामक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १० ।।

एकादशोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

पितामहसभां तात कथ्यमानां निबोध मे ।
शक्यते या न निर्देष्टुमेवंरूपेति भारत ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—तात भारत! अब तुम मेरे मुखसे कही हुई पितामह ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन सुनो! वह सभा ऐसी है, इस रूपसे नहीं बतलायी जा सकती ।। १ ।।

पुरा देवयुगे राजन्नादित्यो भगवान् दिवः ।
आगच्छन्मानुषं लोकं दिदृक्षुर्विगतक्लमः ।। २ ।।
चरन् मानुषरूपेण सभां दृष्ट्वा स्वयम्भुवः ।
स तामकथयन्मह्यं ब्राह्मीं तत्त्वेन पाण्डव ।। ३ ।।

राजन्! पहले सत्ययुगकी बात है, भगवान् सूर्य ब्रह्माजीकी सभा देखकर फिर मनुष्यलोकको देखनेके लिये बिना परिश्रमके ही द्युलोकसे उतरकर इस लोकमें आये और मनुष्यरूपसे इधर-उधर विचरने लगे। पाण्डुनन्दन! सूर्यदेवने मुझसे उस ब्राह्मी सभाका यथार्थतः वर्णन किया ।। २-३ ।।

अप्रमेयां सभां दिव्यां मानसीं भरतर्षभ ।
अनिर्देश्यां प्रभावेण सर्वभूतमनोरमाम् ।। ४ ।।

भरतश्रेष्ठ! वह सभा अप्रमेय, दिव्य, ब्रह्माजीके मानसिक संकल्पसे प्रकट हुई तथा समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेनेवाली है। उसका प्रभाव अवर्णनीय है ।। ४ ।।

श्रुत्वा गुणानहं तस्याः सभायाः पाण्डवर्षभ ।
दर्शनेप्सुस्तथा राजन्नादित्यमिदमब्रुवम् ।। ५ ।।

पाण्डुकुलभूषण युधिष्ठिर! उस सभाके अलौकिक गुण सुनकर मेरे मनमें उसके दर्शनकी इच्छा जाग उठी और मैंने सूर्यदेवसे कहा— ।। ५ ।।

भगवन् द्रष्टुमिच्छामि पितामहसभां शुभाम् ।
येन वा तपसा शक्या कर्मणा वापि गोपते ।। ६ ।।
औषधैर्वा तथा युक्तैरुत्तमा पापनाशिनी ।
तन्ममाचक्ष्व भगवन् पश्येयं तां सभां यथा ।। ७ ।।

‘भगवन्! मैं भी ब्रह्माजीकी कल्याणमयी सभाका दर्शन करना चाहता हूँ। किरणोंके स्वामी सूर्यदेव! जिस तपस्यासे, सत्कर्मसे अथवा उपयुक्त ओषधियोंके प्रभावसे उस पापनाशिनी उत्तम सभाका दर्शन हो सके, वह मुझे बताइये। भगवन्! मैं जैसे भी उस सभाको देख सकूँ, उस उपायका वर्णन कीजिये’ ।। ६-७ ।।

स तन्मम वचः श्रुत्वा सहस्रांशुर्दिवाकरः ।
प्रोवाच भरतश्रेष्ठ व्रतं वर्षसहस्रिकम् ।। ८ ।।
ब्रह्मव्रतमुपास्स्व त्वं प्रयतेनान्तरात्मना ।
ततोऽहं हिमवत्पृष्ठे समारब्धो महाव्रतम् ।। ९ ।।

भरतश्रेष्ठ! मेरी वह बात सुनकर सहस्रों किरणोंवाले भगवान् दिवाकरने कहा—'तुम एकाग्रचित्त होकर ब्रह्माजीके व्रतका पालन करो। वह श्रेष्ठ व्रत एक हजार वर्षोंमें पूर्ण होगा।' तब मैंने हिमालयके शिखरपर आकर उस महान् व्रतका अनुष्ठान आरम्भ कर दिया ।। ८-९ ।।

ततः स भगवान् सूर्यो मामुपादाय वीर्यवान् ।
आगच्छत् तां सभां ब्राह्मीं विपाप्मा विगतक्लमः ।। १० ।।

तदनन्तर मेरी तपस्या पूर्ण होनेपर पापरहित, क्लेशशून्य और परम शक्तिशाली भगवान् सूर्य मुझे साथ ले ब्रह्माजीकी उस सभामें गये ।। १० ।।

एवंरूपेति सा शक्या न निर्देष्टुं नराधिप ।
क्षणेन हि बिभर्त्यन्यदनिर्देश्यं वपुस्तथा ।। ११ ।।

राजन्! वह सभा 'ऐसी ही है' इस प्रकार नहीं बतायी जा सकती; क्योंकि वह एक-एक क्षणमें दूसरा अनिर्वचनीय स्वरूप धारण कर लेती है ।। ११ ।।

न वेद परिमाणं वा संस्थानं चापि भारत ।
न च रूपं मया तादृग् दृष्टपूर्वं कदाचन ।। १२ ।।

भारत! उसकी लंबाई-चौड़ाई कितनी है अथवा उसकी स्थिति क्या है, यह सब मैं कुछ नहीं जानता। मैंने किसी भी सभाका वैसा स्वरूप पहले कभी नहीं देखा था ।। १२ ।।

सुसुखा सा सदा राजन् न शीता न च घर्मदा ।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिं प्राप्य तां प्राप्नुवन्त्युत ।। १३ ।।

राजन्! वह सदा उत्तम सुख देनेवाली है। वहाँ न सर्दीका अनुभव होता है, न गर्मीका। उस सभामें पहुँच जानेपर लोगोंको भूख, प्यास और ग्लानिका अनुभव नहीं होता। । १३ ।।

नानारूपैरिव कृता मणिभिः सा सुभास्वरैः ।
स्तम्भैर्न च धृता सा तु शाश्वती न च सा क्षरा ।। १४ ।।

वह सभा अनेक प्रकारकी अत्यन्त प्रकाशमान मणियोंसे निर्मित हुई है। वह खंभोंके आधारपर नहीं टिकी है और उसमें कभी क्षयरूप विकार न आनेके कारण वह नित्य मानी गयी है* ।। १४ ।।

दिव्यैर्नानाविधैर्भावैर्भासद्भिरमितप्रभैः ।। १५ ।।
अति चन्द्रं च सूर्यं च शिखिनं च स्वयम्प्रभा ।
दीप्यते नाकपृष्ठस्था भर्त्सयन्तीव भास्करम् ।। १६ ।।

अनन्त प्रभावाले नाना प्रकारके प्रकाशमान दिव्य पदार्थोंद्वारा अग्नि, चन्द्रमा और सूर्यसे भी अधिक स्वयं ही प्रकाशित होनेवाली वह सभा अपने तेजसे सूर्यमण्डलको तिरस्कृत करती हुई-सी स्वर्गसे भी ऊपर स्थित हुई प्रकाशित हो रही है ।। १५-१६ ।।

तस्यां स भगवानास्ते विदधद् देवमायया ।
स्वयमेकोऽनिशं राजन् सर्वलोकपितामहः ।। १७ ।।

राजन्! उस सभामें सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजी देवमायाद्वारा समस्त जगत्‌की स्वयं ही सृष्टि करते हुए सदा अकेले ही विराजमान होते हैं ।। १७ ।।

उपतिष्ठन्ति चाप्येनं प्रजानां पतयः प्रभुम् ।
दक्षः प्रचेताः पुलहो मरीचिः कश्यपः प्रभुः ।। १८ ।।

भारत! वहाँ दक्ष आदि प्रजापतिगण उन भगवान् ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित होते हैं। दक्ष, प्रचेता, पुलह, मरीचि, प्रभावशाली कश्यप, ।। १८ ।।

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च गौतमोऽथ तथाङ्गिराः ।
पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव प्रह्लादः कर्दमस्तथा ।। १९ ।।

भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, गौतम, अंगिरा, पुलस्त्य, क्रतु, प्रह्लाद, कर्दम, ।। १९ ।।

अथर्वाङ्गिरसश्चैव बालखिल्या मरीचिपाः ।
मनोऽन्तरिक्षं विद्याश्च वायुस्तेजो जलं मही ।। २० ।।
शब्दस्पर्शौ तथा रूपं रसो गन्धश्च भारत ।
प्रकृतिश्च विकारश्च यच्चान्यत् कारणं भुवः ।। २१ ।।

अथर्वांगिरस, सूर्यकिरणोंका पान करनेवाले बालखिल्य, मन, अन्तरिक्ष, विद्या, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रकृति, विकृति तथा पृथ्वीकी रचनाके जो अन्य कारण हैं, इन सबके अभिमानी देवता, ।। २०-२१ ।।

अगस्त्यश्च महातेजा मार्कण्डेयश्च वीर्यवान् ।
जमदग्निर्भरद्वाजः संवर्तश्च्यवनस्तथा ।। २२ ।।

महातेजस्वी अगस्त्य, शक्तिशाली मार्कण्डेय, जमदग्नि, भरद्वाज, संवर्त, च्यवन, ।। २२ ।।

दुर्वासाश्च महाभाग ऋष्यशृङ्गश्च धार्मिकः ।
सनत्कुमारो भगवान् योगाचार्यो महातपाः ।। २३ ।।

महाभाग दुर्वासा, धर्मात्मा ऋष्यशृंग, महातपस्वी योगाचार्य भगवान् सनत्कुमार, ।। २३ ।।

असितो देवलश्चैव जैगीषव्यश्च तत्त्ववित् ।
ऋषभो जितशत्रुश्च महावीर्यस्तथा मणिः ।। २४ ।।

असित, देवल, तत्त्वज्ञानी जैगीषव्य, शत्रुविजयी ऋषभ, महापराक्रमी मणि ।। २४ ।।

आयुर्वेदस्तथाष्टाङ्गो देहवांस्तत्र भारत ।

चन्द्रमाः सह नक्षत्रैरादित्यश्च गभस्तिमान् ।। २५ ।।

तथा आठ अंगोंसे युक्त मूर्तिमान् आयुर्वेद, नक्षत्रों-सहित चन्द्रमा, अंशुमाली सूर्य, ।। २५ ।।

वायवः क्रतवश्चैव संकल्पः प्राण एव च ।
मूर्तिमन्तो महात्मानो महाव्रतपरायणाः ।। २६ ।।
एते चान्ये च बहवो ब्रह्माणं समुपस्थिताः ।

वायु, क्रतु, संकल्प और प्राण—ये तथा और भी बहुत-से मूर्तिमान् महान् व्रतधारी महात्मा ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित होते हैं ।। २६१/२ ।।

अर्थो धर्मश्च कामश्च हर्षो द्वेषस्तपो दमः ।। २७ ।।

अर्थ, धर्म, काम, हर्ष, द्वेष, तप और दम—ये भी मूर्तिमान् होकर ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं ।। २७ ।।

आयान्ति तस्यां सहिता गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
विंशतिः सप्त चैवान्ये लोकपालाश्च सर्वशः ।। २८ ।।
शुक्रो बृहस्पतिश्चैव बुधोऽङ्गारक एव च ।
शनैश्चरश्च राहुश्च ग्रहाः सर्वे तथैव च ।। २९ ।।

गन्धर्वों और अप्सराओंके बीस गण एक साथ उस सभामें आते हैं। सात अन्य गन्धर्व भी जो प्रधान हैं, वहाँ उपस्थित होते हैं। समस्त लोकपाल, शुक्र, बृहस्पति, बुध, मंगल, शनैश्चर, राहु तथा केतु—ये सभी ग्रह, ।। २८-२९ ।।

मन्त्रो रथन्तरं चैव हरिमान् वसुमानपि ।
आदित्याः साधिराजानो नामद्वन्द्वैरुदाहृताः ।। ३० ।।

सामगानसम्बन्धी मन्त्र, रथन्तरसाम, हरिमान्, वसुमान्, अपने स्वामी इन्द्रसहित बारह आदित्य, अग्नि-सोम आदि युगल नामोंसे कहे जानेवाले देवता, ।। ३० ।।

मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्चैव भारत ।
तथा पितृगणाः सर्वे सर्वाणि च हवींष्यथ ।। ३१ ।।

मरुद्गण, विश्वकर्मा, वसुगण, समस्त पितृगण, सभी हविष्य, ।। ३१ ।।

ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव ।
अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव ह ।। ३२ ।।

पाण्डुनन्दन! ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा सम्पूर्ण शास्त्र, ।। ३२ ।।

इतिहासोपवेदाश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
ग्रहा यज्ञाश्च सोमश्च देवताश्चापि सर्वशः ।। ३३ ।।

इतिहास, उपवेद[१], सम्पूर्ण वेदांग, ग्रह, यज्ञ, सोम और समस्त देवता, ।। ३३ ।।

सावित्री दुर्गतरणी वाणी सप्तविधा तथा ।

मेधा धृतिः श्रुतिश्चैव प्रज्ञा बुद्धिर्यशः क्षमा ।। ३४ ।।

सावित्री, दुर्गम दुःखसे उबारनेवाली दुर्गा, सात प्रकारकी प्रणवरूपा वाणी[२], मेधा, धृति, श्रुति, प्रज्ञा, बुद्धि, यश और क्षमा, ।। ३४ ।।

सामानि स्तुतिगीतानि गाथाश्च विविधास्तथा ।
भाष्याणि तर्कयुक्तानि देहवन्ति विशाम्पते ।। ३५ ।।
नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिककारिकाः ।
तत्र तिष्ठन्ति ते पुण्या ये चान्ये गुरुपूजकाः ।। ३६ ।।

साम, स्तुति, गीत, विविध गाथा तथा तर्कयुक्त भाष्य—ये सभी देहधारी होकर एवं अनेक प्रकारके नाटक, काव्य, कथा, आख्यायिका तथा कारिका आदि उस सभामें मूर्तिमान् होकर रहते हैं। इसी प्रकार गुरुजनोंकी पूजा करनेवाले जो दूसरे पुण्यात्मा पुरुष हैं, वे सभी उस सभामें स्थित होते हैं ।। ३५-३६ ।।

क्षणा लवा मुहूर्ताश्च दिवारात्रिस्तथैव च ।
अर्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः षट् च भारत ।। ३७ ।।

युधिष्ठिर! क्षण, लव, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, छहों ऋतुएँ, ।। ३७ ।।

संवत्सराः पञ्च युगमहोरात्रश्चतुर्विधः ।
कालचक्रं च तद् दिव्यं नित्यमक्षयमव्ययम् ।। ३८ ।।
धर्मचक्रं तथा चापि नित्यमास्ते युधिष्ठिर ।

साठ संवत्सर, पाँच संवत्सरोंका युग, चार प्रकारके दिन-रात (मानव, पितर, देवता और ब्रह्माजीके दिन-रात), नित्य, दिव्य, अक्षय एवं अव्यय कालचक्र तथा धर्मचक्र भी देह धारण करके सदा ब्रह्माजीकी सभामें उपस्थित रहते हैं ।। ३८½ ।।

अदितिर्दितिर्दनुश्चैव सुरसा विनता इरा ।। ३९ ।।
कालिका सुरभी देवी सरमा चाथ गौतमी ।। ४० ।।
प्रभा कद्रूश्च वै देव्यौ देवतानां च मातरः ।
रुद्राणी श्रीश्च लक्ष्मीश्च भद्रा षष्ठी तथापरा ।। ४१ ।।
पृथ्वी गां गता देवी ह्रीः स्वाहा कीर्तिरव च ।
सुरा देवी शची चैव तथा पुष्टिररुन्धती ।। ४२ ।।
संवृत्तिराशा नियतिः सृष्टिर्देवी रतिस्तथा ।
एताश्चान्याश्च वै देव्य उपतस्थुः प्रजापतिम् ।। ४३ ।।

अदिति, दिति, दनु, सुरसा, विनता, इरा, कालिका, सुरभी देवी, सरमा, गौतमी, प्रभा और कद्रू—ये दो देवियाँ, देवमाताएँ, रुद्राणी, श्री, लक्ष्मी, भद्रा तथा अपरा, षष्ठी, पृथ्वी, भूतलपर उतरी हुई गंगादेवी, लज्जा, स्वाहा, कीर्ति, सुरादेवी, शची, पुष्टि, अरुन्धती संवृत्ति,

आशा, नियति, सृष्टिदेवी, रति तथा अन्य देवियाँ भी उस सभामें प्रजापति ब्रह्माजीकी उपासना करती हैं ।। ३९—४३ ।।

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्चाश्विनावपि ।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च पितरश्च मनोजवाः ।। ४४ ।।

आदित्य, वसु, रुद्र, मरुद्‌गण, अश्विनीकुमार, विश्वेदेव, साध्य तथा मनके समान वेगशाली पितर भी उस सभामें उपस्थित होते हैं ।। ४४ ।।

पितॄणां च गणान् विद्धि सप्तैव पुरुषर्षभ ।
मूर्तिमन्तो हि चत्वारस्त्रयश्चाप्यशरीरिणः ।। ४५ ।।

नरश्रेष्ठ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि पितरोंके सात ही गण होते हैं, जिनमें चार तो मूर्तिमान् हैं और तीन अमूर्त ।। ४५ ।।

वैराजाश्च महाभागा अग्निष्वात्ताश्च भारत ।
गार्हपत्या नाकचराः पितरो लोकविश्रुताः ।। ४६ ।।
सोमपा एकशृङ्गाश्च चतुर्वेदाः कलास्तथा ।
एते चतुर्षु वर्णेषु पूज्यन्ते पितरो नृप ।। ४७ ।।
एतैराप्यायितैः पूर्वं सोमश्चाप्याय्यते पुनः ।
त एते पितरः सर्वे प्रजापतिमुपस्थिताः ।। ४८ ।।
उपासते च संहृष्टा ब्रह्माणममितौजसम् ।

भारत! सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात स्वर्गलोकमें विचरनेवाले महाभाग वैराज, अग्निष्वात्त, सोमपा, गार्हपत्य (ये चार मूर्त हैं), एकशृंग, चतुर्वेद तथा कला (ये तीन अमूर्त हैं)। ये सातों पितर क्रमशः चारों वर्णोंमें पूजित होते हैं। राजन्! पहले इन पितरोंके तृप्त होनेसे फिर सोम देवता भी तृप्त हो जाते हैं। ये सभी पितर उक्त सभामें उपस्थित हो प्रसन्नतापूर्वक अमित तेजस्वी प्रजापति ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं ।। ४६—४८½ ।।

राक्षसाश्च पिशाचाश्च दानवा गुह्यकास्तथा ।। ४९ ।।
नागाः सुपर्णाः पशवः पितामहमुपासते ।
स्थावरा जङ्गमाश्चैव महाभूतास्तथापरे ।। ५० ।।
पुरंदरश्च देवेन्द्रो वरुणो धनदो यमः ।
महादेवः सहोमोऽत्र सदा गच्छति सर्वशः ।। ५१ ।।

इसी प्रकार राक्षस, पिशाच, दानव, गुह्यक, नाग, सुपर्ण तथा श्रेष्ठ पशु भी वहाँ पितामह ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं। स्थावर और जंगम महाभूत, देवराज इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम तथा पार्वतीसहित महादेवजी—ये सब सदा उस सभामें पधारते हैं ।। ४९-५१ ।।

महासेनश्च राजेन्द्र सदोपास्ते पितामहम् ।
देवो नारायणस्तस्यां तथा देवर्षयश्च ये ।। ५२ ।।
ऋषयो बालखिल्याश्च योनिजायोनिजास्तथा ।

राजेन्द्र! स्वामी कार्तिकेय भी वहाँ उपस्थित होकर सदा ब्रह्माजीकी सेवा करते हैं। भगवान् नारायण, देवर्षिगण, बालखिल्य ऋषि तथा दूसरे योनिज और अयोनिज ऋषि उस सभामें ब्रह्माजीकी आराधना करते हैं ।। ५२½ ।।

यच्च किंचित् त्रिलोकेऽस्मिन् दृश्यते स्थाणु जङ्गमम् ।
सर्वं तस्यां मया दृष्टमिति विद्धि नराधिप ।। ५३ ।।

नरेश्वर! संक्षेपमें यह समझ लो कि तीनों लोकोंमें स्थावर-जंगम भूतोंके रूपमें जो कुछ भी दिखायी देता है, वह सब मैंने उस सभामें देखा था ।। ५३ ।।

अष्टाशीतिसहस्राणि ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
प्रजावतां च पञ्चाशदृषीणामपि पाण्डव ।। ५४ ।।

पाण्डुनन्दन! अट्ठासी हजार ऊर्ध्वरेता ऋषि और पचास संतानवान् महर्षि उस सभामें उपस्थित होते हैं ।। ५४ ।।

ते स्म तत्र यथाकामं दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
प्रणम्य शिरसा तस्मै सर्वे यान्ति यथाऽऽगतम् ।। ५५ ।।

वे सब महर्षि तथा सम्पूर्ण देवता वहाँ इच्छानुसार ब्रह्माजीका दर्शन करके उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम करते और आज्ञा लेकर जैसे आये होते हैं, वैसे ही चले जाते हैं ।। ५५ ।।

अतिथीनागतान् देवान् दैत्यान् नागांस्तथा द्विजान् ।
यक्षान् सुपर्णान् कालेयान् गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।। ५६ ।।
महाभागानमितधीर्ब्रह्मा लोकपितामहः ।
दयावान् सर्वभूतेषु यथार्हं प्रतिपद्यते ।। ५७ ।।

अगाध बुद्धिवाले दयालु लोकपितामह ब्रह्माजी अपने यहाँ आये हुए सभी महाभाग अतिथियों—देवता, दैत्य, नाग, पक्षी, यक्ष, सुपर्ण, कालेय, गन्धर्व तथा अप्सराओं एवं सम्पूर्ण भूतोंसे यथायोग्य मिलते हैं और उन्हें अनुगृहीत करते हैं ।। ५६-५७ ।।

प्रतिगृह्य तु विश्वात्मा स्वयम्भूरमितद्युतिः ।
सान्त्वमानार्थसम्भोगैर्युनक्ति मनुजाधिप ।। ५८ ।।

मनुजेश्वर! अमित तेजस्वी विश्वात्मा स्वयम्भू उन सब अतिथियोंको अपनाकर उन्हें सान्त्वना देते, उनका सम्मान करते, उनके प्रयोजनकी पूर्ति करके उन सबको आवश्यकता तथा रुचिके अनुसार भोगसामग्री प्रदान करते हैं ।। ५८ ।।

तथा तैरुपयातैश्च प्रतियद्भिश्च भारत ।
आकुला सा सभा तात भवति स्म सुखप्रदा ।। ५९ ।।

तात भारत! इस प्रकार वहाँ आने-जानेवाले लोगोंसे भरी हुई वह सभा बड़ी सुखदायिनी जान पड़ती है ।। ५९ ।।

सर्वतेजोमयी दिव्या ब्रह्मर्षिगणसेविता ।
ब्राह्मया श्रिया दीप्यमाना शुशुभे विगतक्लमा ।। ६० ।।

सा सभा तादृशी दृष्टा मया लोकेषु दुर्लभा ।
सभेयं राजशार्दूल मनुष्येषु यथा तव ।। ६१ ।।

नृपश्रेष्ठ! वह सभा सम्पूर्ण तेजसे सम्पन्न, दिव्य तथा ब्रह्मर्षियोंके समुदायसे सेवित और पापरहित एवं ब्राह्मी श्रीसे उद्भासित और सुशोभित होती रहती है। वैसी उस सभाका मैंने दर्शन किया है। जैसे मनुष्यलोकमें तुम्हारी यह सभा दुर्लभ है, वैसे ही सम्पूर्ण लोकोंमें ब्रह्माजीकी सभा परम दुर्लभ है ।। ६०-६१ ।।

एता मया दृष्टपूर्वाः सभा देवेषु भारत ।
सभेयं मानुषे लोके सर्वश्रेष्ठतमा तव ।। ६२ ।।

भारत! ये सभी सभाएँ मैंने पूर्वकालसे देव-लोकमें देखी हैं। मनुष्यलोकमें तो तुम्हारी यह सभा ही सर्वश्रेष्ठ है ।। ६२ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि ब्रह्मसभावर्णनं नामैकादशोऽध्यायः ।। ११ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें ब्रह्मसभा-वर्णन नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११ ।।

---

* ‘एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम्’ इस श्रुतिसे भी उसकी नित्यता ही सूचित होती है।

१. आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र—ये चार उपवेद माने गये हैं।

२. अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, नाद, बिन्दु और शक्ति—ये प्रणवके सात प्रकार हैं अथवा संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, अपभ्रंश, ललित, मागध और गद्य—ये वाणीके सात प्रकार जानने चाहिये।

द्वादशोऽध्यायः

राजा हरिश्चन्द्रका माहात्म्य तथा युधिष्ठिरके प्रति राजा पाण्डुका संदेश

युधिष्ठिर उवाच

प्रायशो राजलोकस्ते कथितो वदतां वर ।
वैवस्वतसभायां तु यथा वदसि मे प्रभो ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवन्! जैसा आपने मुझसे वर्णन किया है, उसके अनुसार सूर्यपुत्र यमकी सभामें ही अधिकांश राजालोगोंकी स्थिति बतायी गयी है ।। १ ।।

वरुणस्य सभायां तु नागास्ते कथिता विभो ।
दैत्येन्द्राश्चापि भूयिष्ठाः सरितः सागरास्तथा ।। २ ।।

प्रभो! वरुणकी सभामें तो अधिकांश नाग, दैत्येन्द्र, सरिताएँ और समुद्र ही बताये गये हैं ।। २ ।।

तथा धनपतेर्यक्षा गुह्यका राक्षसास्तथा ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव भगवांश्च वृषध्वजः ।। ३ ।।

इसी प्रकार धनाध्यक्ष कुबेरकी सभामें यक्ष, गुह्यक, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा तथा भगवान् शंकरकी उपस्थितिका वर्णन हुआ है ।। ३ ।।

पितामहसभायां तु कथितास्ते महर्षयः ।
सर्वे देवनिकायाश्च सर्वशास्त्राणि चैव ह ।। ४ ।।

ब्रह्माजीकी सभामें आपने महर्षियों, सम्पूर्ण देवगणों तथा समस्त शास्त्रोंकी स्थिति बतायी है ।। ४ ।।

शक्रस्य तु सभायां तु देवाः संकीर्तिता मुने ।
उद्देशतश्च गन्धर्वा विविधाश्च महर्षयः ।। ५ ।।

परंतु मुने! इन्द्रकी सभामें आपने अधिकांश देवताओंकी ही उपस्थितिका वर्णन किया है और थोड़े-से विभिन्न गधर्वों एवं महर्षियोंकी भी स्थिति बतायी है ।। ५ ।।

एक एव तु राजर्षिर्हरिश्चन्द्रो महामुने ।
कथितस्ते सभायां वै देवेन्द्रस्य महात्मनः ।। ६ ।।

महामुने! महात्मा देवराज इन्द्रकी सभामें आपने राजर्षियोंमेंसे एकमात्र हरिश्चन्द्रका ही नाम लिया है ।। ६ ।।

किं कर्म तेनाचरितं तपो वा नियतव्रत ।
येनासौ सह शक्रेण स्पर्द्धते सुमहायशाः ।। ७ ।।

नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! उन्होंने कौन-सा कर्म अथवा कौन-सी तपस्या की है, जिससे वे महान् यशस्वी होकर देवराज इन्द्रसे स्पर्धा कर रहे हैं ।। ७ ।।

पितृलोकगतश्चैव त्वया विप्र पिता मम ।
दृष्टः पाण्डुर्महाभागः कथं वापि समागतः ।। ८ ।।
किमुक्तवांश्च भगवंस्तन्ममाचक्ष्व सुव्रत ।
त्वत्तः श्रोतुं सर्वमिदं परं कौतूहलं हि मे ।। ९ ।।

विप्रवर! आपने पितृलोकमें जाकर मेरे पिता महाभाग पाण्डुको भी देखा था, किस प्रकार वे आपसे मिले थे? भगवन्! उन्होंने आपसे क्या कहा? यह मुझे बताइये। सुव्रत! आपसे यह सब कुछ सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ।। ८-९ ।।

नारद उवाच

यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र हरिश्चन्द्रं प्रति प्रभो ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि माहात्म्यं तस्य धीमतः ।। १० ।।

नारदजीने कहा—शक्तिशाली राजेन्द्र! तुमने जो राजर्षि हरिश्चन्द्रके विषयमें मुझसे पूछा है, उसके उत्तरमें मैं उन बुद्धिमान् नरेशका माहात्म्य बता रहा हूँ, सुनो ।। १० ।।

(इक्ष्वाकूणां कुले जातस्त्रिशङ्कुर्नाम पार्थिवः ।
अयोध्याधिपतिर्वीरो विश्वामित्रेण संस्थितः ।।
तस्य सत्यवती नाम पत्नी केकयवंशजा ।
तस्यां गर्भः समभवद् धर्मेण कुरुनन्दन ।।
सा च काले महाभागा जन्ममासं प्रविश्य वै ।
कुमारं जनयामास हरिश्चन्द्रमकल्मषम् ।।
स वै राजा हरिश्चन्द्रस्त्रैशङ्कव इति स्मृतः ।)

इक्ष्वाकुकुलमें त्रिशंकु नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वीर त्रिशंकु अयोध्याके स्वामी थे और वहाँ विश्वामित्र मुनिके साथ रहा करते थे। उनकी पत्नीका नाम सत्यवती था, वह केकय-कुलमें उत्पन्न हुई थी। कुरुनन्दन! रानी सत्यवतीके धर्मानुकूल गर्भ रहा। फिर समयानुसार जन्ममास प्राप्त होनेपर महाभागा रानीने एक निष्पाप पुत्रको जन्म दिया, उसका नाम हुआ हरिश्चन्द्र। वे त्रिशंकुकुमार ही लोकविख्यात राजा हरिश्चन्द्र कहे गये हैं।

स राजा बलवानासीत् सम्राट् सर्वमहीक्षिताम् ।
तस्य सर्वे महीपालाः शासनावनताः स्थिताः ।। ११ ।।

राजा हरिश्चन्द्र बड़े बलवान् और समस्त भूपालोंके सम्राट् थे। भूमण्डलके सभी नरेश उनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सिर झुकाये खड़े रहते थे ।। ११ ।।

तेनैकं रथमास्थाय जैत्रं हेमविभूषितम् ।
शस्त्रप्रतापेन जिता द्वीपाः सप्त जनेश्वर ।। १२ ।।

जनेश्वर! उन्होंने एकमात्र स्वर्णविभूषित जैत्र नामक रथपर चढ़कर अपने शस्त्रोंके प्रतापसे सातों द्वीपोंपर विजय प्राप्त कर ली थी ।। १२ ।।

स निर्जित्य महीं कृत्स्नां सशैलवनकाननाम् ।
आजहार महाराज राजसूयं महाक्रतुम् ।। १३ ।।

महाराज! पर्वतों और वनोंसहित इस सारी पृथ्वीको जीतकर राजा हरिश्चन्द्रने राजसूय नामक महान् यज्ञका अनुष्ठान किया ।। १३ ।।

तस्य सर्वे महीपाला धनान्याजह्रुराज्ञया ।
द्विजानां परिवेष्टारस्तस्मिन् यज्ञे च तेऽभवन् ।। १४ ।।

राजाकी आज्ञासे समस्त भूपालोंने धन लाकर भेंट किये और उस यज्ञमें ब्राह्मणोंको भोजन परोसनेका कार्य किया ।। १४ ।।

प्रादाच्च द्रविणं प्रीत्या याचकानां नरेश्वरः ।
यथोक्तवन्तस्ते तस्मिंस्ततः पञ्चगुणाधिकम् ।। १५ ।।

महाराज हरिश्चन्द्रने बड़ी प्रसन्नताके साथ उस यज्ञमें याचकोंको, जितना उन्होंने माँगा, उससे पाँचगुना अधिक धन दान किया ।। १५ ।।

अतर्पयच्च विविधैर्वसुभिर्ब्राह्मणांस्तदा ।
प्रसर्पकाले सम्प्राप्ते नानादिग्भ्यः समागतान् ।। १६ ।।

जब अग्निदेवके विसर्जनका अवसर आया, उस समय उन्होंने विभिन्न दिशाओंसे आये हुए ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके धन एवं रत्न देकर तृप्त किया ।। १६ ।।

भक्ष्यभोज्यैश्च विविधैर्यथाकामपुरस्कृतैः ।
रत्नौघतर्पितैस्तुष्टैर्द्विजैश्च समुदाहृतम् ।
तेजस्वी च यशस्वी च नृपेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत् ।। १७ ।।

नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ, मनोवांछित वस्तुओंका पुरस्कार तथा रत्नराशिका दान देकर तृप्त एवं संतुष्ट किये हुए ब्राह्मणोंने राजा हरिश्चन्द्रको आशीर्वाद दिये। इसीलिये वे अन्य राजाओंकी अपेक्षा अधिक तेजस्वी और यशस्वी हुए हैं ।। १७ ।।

एतस्मात् कारणाद् राजन् हरिश्चन्द्रो विराजते ।
तेभ्यो राजसहस्रेभ्यस्तद् विद्धि भरतर्षभ ।। १८ ।।

राजन्! भरतश्रेष्ठ! यही कारण है कि उन सहस्रों राजाओंकी अपेक्षा महाराज हरिश्चन्द्र अधिक सम्मानपूर्वक इन्द्रसभामें विराजमान होते हैं—इस बातको तुम अच्छी तरह जान लो ।। १८ ।।

समाप्य च हरिश्चन्द्रो महायज्ञं प्रतापवान् ।
अभिषिक्तश्च शुशुभे साम्राज्येन नराधिप ।। १९ ।।

नरेश्वर! प्रतापी हरिश्चन्द्र उस महायज्ञको समाप्त करके जब सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुए, उस समय उनकी बड़ी शोभा हुई ।। १९ ।।

ये चान्ये च महीपाला राजसूयं महाक्रतुम् ।
यजन्ते ते सहेन्द्रेण मोदन्ते भरतर्षभ ।। २० ।।

भरतकुलभूषण! दूसरे भी जो भूपाल राजसूय नामक महायज्ञका अनुष्ठान करते हैं, वे देवराज इन्द्रके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं ।। २० ।।

ये चापि निधनं प्राप्ताः संग्रामेष्वपलायिनः ।
ते तत् सदनमासाद्य मोदन्ते भरतर्षभ ।। २१ ।।

भरतर्षभ! जो लोग संग्राममें पीठ न दिखाकर वहीं मृत्युका वरण कर लेते हैं, वे भी देवराज इन्द्रकी उस सभामें जाकर वहाँ आनन्दका उपभोग करते हैं ।। २१ ।।

तपसा ये च तीव्रेण त्यजन्तीह कलेवरम् ।
ते तत् स्थानं समासाद्य श्रीमन्तो भान्ति नित्यशः ।। २२ ।।

तथा जो लोग कठोर तपस्याके द्वारा यहाँ अपने शरीरका त्याग करते हैं, वे भी उस इन्द्रसभामें जाकर तेजस्वीरूप धारण करके सदा प्रकाशित होते रहते हैं ।। २२ ।।

पिता च त्वाऽऽह कौन्तेय पाण्डुः कौरवनन्दन ।
हरिश्चन्द्रे श्रियं दृष्ट्वा नृपतौ जातविस्मयः ।। २३ ।।

कौरवनन्दन कुन्तीकुमार! तुम्हारे पिता पाण्डुने राजा हरिश्चन्द्रकी सम्पत्ति देखकर अत्यन्त चकित हो तुमसे कहनेके लिये संदेश दिया है ।। २३ ।।

विज्ञाय मानुषं लोकमायान्तं मां नराधिप ।
प्रोवाच प्रणतो भूत्वा वदेथास्त्वं युधिष्ठिरम् ।। २४ ।।

नरेश्वर! मुझे मनुष्यलोकमें आता जान उन्होंने प्रणाम करके मुझसे कहा—'देवर्षे! आप युधिष्ठिरसे यह कहियेगा— ।। २४ ।।

समर्थोऽसि महीं जेतुं भ्रातरस्ते स्थिता वशे ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहरस्वेति भारत ।। २५ ।।

'भारत! तुम्हारे भाई तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं, तुम सारी पृथ्वीको जीतनेमें समर्थ हो; अतः राजसूय नामक श्रेष्ठ यज्ञका अनुष्ठान करो ।। २५ ।।

त्वयीष्टवति पुत्रेऽहं हरिश्चन्द्रवदाशु वै ।
मोदिष्ये बहुलाः शश्वत् समाः शक्रस्य संसदि ।। २६ ।।

'तुम-जैसे पुत्रके द्वारा वह यज्ञ सम्पन्न होनेपर मैं भी शीघ्र ही राजा हरिश्चन्द्रकी भाँति बहुत वर्षोंतक इन्द्रभवनमें आनन्द भोगूँगा' ।। २६ ।।

एवं भवतु वक्ष्येऽहं तव पुत्रं नराधिपम् ।
भूलोकं यदि गच्छेयमिति पाण्डुमथाब्रुवम् ।। २७ ।।

तब मैंने पाण्डुसे कहा—'एवमस्तु, यदि मैं भूलोकमें जाऊँगा तो आपके पुत्र राजा युधिष्ठिरसे कह दूँगा' ।। २७ ।।

तस्य त्वं पुरुषव्याघ्र संकल्पं कुरु पाण्डव ।

गन्तासि त्वं महेन्द्रस्य पूर्वैः सह सलोकताम् ।। २८ ।।

पुरुषसिंह पाण्डुनन्दन! तुम अपने पिताके संकल्पको पूरा करो। ऐसा करनेपर तुम पूर्वजोंके साथ देवराज इन्द्रके लोकमें जाओगे ।। २८ ।।

बहुविघ्नश्च नृपते क्रतुरेष स्मृतो महान् ।
छिद्राण्यस्य तु वाञ्छन्ति यज्ञघ्ना ब्रह्मराक्षसाः ।। २९ ।।

राजन्! इस महान् यज्ञमें बहुत-से विघ्न आनेकी सम्भावना रहती है; क्योंकि यज्ञनाशक ब्रह्मराक्षस इसका छिद्र ढूँढ़ते रहते हैं ।। २९ ।।

युद्धं च क्षत्रशमनं पृथिवीक्षयकारणम् ।
किंचिदेव निमित्तं च भवत्यत्र क्षयावहम् ।। ३० ।।

तथा इसका अनुष्ठान होनेपर कोई एक ऐसा निमित्त भी बन जाता है, जिससे पृथ्वीपर विनाशकारी युद्ध उपस्थित हो जाता है, जो क्षत्रियोंके संहार और भूमण्डलके विनाशका कारण होता है ।। ३० ।।

एतत् संचिन्त्य राजेन्द्र यत् क्षेमं तत् समाचर ।
अप्रमत्तोत्थितो नित्यं चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ।। ३१ ।।

राजेन्द्र! यह सब सोच-विचारकर तुम्हें जो हितकर जान पड़े, वह करो। चारों वर्णोंकी रक्षाके लिये सदा सावधान और उद्यत रहो ।। ३१ ।।

भव एधस्व मोदस्व धनैस्तर्पय च द्विजान् ।
एतत् ते विस्तरेणोक्तं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि दाशार्हनगरीं प्रति ।। ३२ ।।

संसारमें तुम्हारा अभ्युदय हो, तुम आनन्दित रहो और धनसे ब्राह्मणोंको तृप्त करो। तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने विस्तारपूर्वक बता दिया। अब मैं यहाँसे द्वारका जाऊँगा, इसके लिये तुमसे अनुमति चाहता हूँ ।। ३२ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमाख्याय पार्थेभ्यो नारदो जनमेजय ।
जगाम तैर्वृतो राजनृषिभिर्यैः समागतः ।। ३३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीकुमारोंसे ऐसा कहकर नारदजी जिन ऋषियोंके साथ आये थे, उन्हींसे घिरे हुए पुनः चले गये ।। ३३ ।।

गते तु नारदे पार्थो भ्रातृभिः सह कौरवः ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास पार्थिवः ।। ३४ ।।

नारदजीके चले जानेपर कुरुश्रेष्ठ कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ राजसूय नामक श्रेष्ठ यज्ञके विषयमें विचार करने लगे ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यान पर्वणि पाण्डुसंदेशकथने द्वादशोऽध्यायः ।। १२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें पाण्डु-संदेश-कथनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ३७½ श्लोक हैं)

(राजसूयारम्भपर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका राजसूयविषयक संकल्प और उसके विषयमें भाइयों, मन्त्रियों, मुनियों तथा श्रीकृष्णसे सलाह लेना

वैशम्पायन उवाच

ऋषेस्तद् वचनं श्रुत्वा निशश्वास युधिष्ठिरः ।
चिन्तयन् राजसूयेष्टिं न लेभे शर्म भारत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवर्षि नारदका वह वचन सुनकर युधिष्ठिरने लंबी साँस खींची। राजसूययज्ञके सम्बन्धमें चिन्तन करते हुए उन्हें शान्ति नहीं मिली ।। १ ।।

राजर्षीणां च तं श्रुत्वा महिमानं महात्मनाम् ।
यज्वनां कर्मभिः पुण्यैर्लोकप्राप्तिं समीक्ष्य च ।। २ ।।
हरिश्चन्द्रं च राजर्षिं रोचमानं विशेषतः ।
यज्वानं यज्ञमाहर्तुं राजसूयमियेष सः ।। ३ ।।

राजसूययज्ञ करनेवाले महात्मा राजर्षियोंकी वैसी महिमा सुनकर तथा पुण्यकर्मोंद्वारा उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती देखकर एवं यज्ञ करनेवाले राजर्षि हरिश्चन्द्रका महान् तेज (तथा विशेष वैभव एवं आदर-सत्कार) सुनकर उनके मनमें राजसूययज्ञ करनेकी इच्छा हुई ।। २-३ ।।

युधिष्ठिरस्ततः सर्वानर्चयित्वा सभासदः ।
प्रत्यर्चितश्च तैः सर्वैर्यज्ञायैव मनो दधे ।। ४ ।।

तदनन्तर युधिष्ठिरने अपने समस्त सभासदोंका सत्कार किया और उन सब सदस्योंने भी उनका बड़ा सम्मान किया। अन्तमें (सबकी सम्मतिसे) उनका मन यज्ञ करनेके ही संकल्पपर दृढ़ हो गया ।। ४ ।।

स राजसूयं राजेन्द्र कुरूणामृषभस्तदा ।
आहर्तुं प्रवणं चक्रे मनः संचिन्त्य चासकृत् ।। ५ ।।

राजेन्द्र! कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने उस समय बार-बार विचार करके राजसूययज्ञके अनुष्ठानमें ही मन लगाया ।। ५ ।।

भूयश्चाद्भुतवीर्यौजा धर्ममेवानुचिन्तयन् ।

किं हितं सर्वलोकानां भवेदिति मनो दधे ।। ६ ।।

अद्भुत बल और पराक्रमवाले धर्मराजने पुनः अपने धर्मका ही चिन्तन किया और सम्पूर्ण लोकोंका हित कैसे हो, इसी ओर वे ध्यान देने लगे ।। ६ ।।

अनुगृह्णन् प्रजाः सर्वाः सर्वधर्मभृतां वरः ।
अविशेषेण सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ।। ७ ।।

युधिष्ठिर समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे। वे सारी प्रजापर अनुग्रह करके सबका समानरूपसे हितसाधन करने लगे ।। ७ ।।

सर्वेषां दीयतां देयं मुञ्चन् कोपमदावुभौ ।
साधु धर्मेति धर्मेति नान्यच्छ्रूयेत भाषितम् ।। ८ ।।

क्रोध और अभिमानसे रहित होकर राजा युधिष्ठिरने अपने सेवकोंसे कह दिया कि ‘देनेयोग्य वस्तुएँ सबको दी जायँ अथवा सारी जनताका पावना (ऋण) चुका दिया जाय।’ उनके राज्यमें ‘धर्मराज! आप धन्य हैं। धर्मस्वरूप युधिष्ठिर आपको साधुवाद!’ इसके सिवा और कोई बात नहीं सुनी जाती थी ।। ८ ।।

एवंगते ततस्तस्मिन् पितरीवाश्वसञ्जनाः ।
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्याजातशत्रुता ।। ९ ।।

उनका ऐसा व्यवहार देख सारी प्रजा उनके ऊपर पिताके समान भरोसा रखने लगी। उनके प्रति द्वेष रखनेवाला कोई नहीं रहा। इसीलिये वे ‘अजातशत्रु’ नामसे प्रसिद्ध हुए ।। ९ ।।

परिग्रहान्नरेन्द्रस्य भीमस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव बीभत्सोः सव्यसाचिनः ।। १० ।।
धीमतः सहदेवस्य धर्माणामनुशासनात् ।
वैनत्यात् सर्वतश्चैव नकुलस्य स्वभावतः ।
अविग्रहा वीतभयाः स्वधर्मनिरताः सदा ।। ११ ।।
निकामवर्षाः स्फीताश्च आसञ्जनपदास्तथा ।

महाराज युधिष्ठिर सबको आत्मीयजनोंकी भाँति अपनाते, भीमसेन सबकी रक्षा करते, सव्यसाची अर्जुन शत्रुओंके संहारमें लगे रहते, बुद्धिमान् सहदेव सबको धर्मका उपदेश दिया करते और नकुल स्वभावसे ही सबके साथ विनयपूर्ण बर्ताव करते थे। इससे उनके राज्यके सभी जनपद कलहशून्य, निर्भय, स्वधर्मपरायण तथा उन्नतिशील थे। वहाँ उनकी इच्छाके अनुसार समयपर वर्षा होती थी ।। १०-११½ ।।

वार्धुषी यज्ञसत्त्वानि गोरक्षं कर्षणं वणिक् ।। १२ ।।
विशेषात् सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणा ।
अनुकर्षं च निष्कर्षं व्याधिपावकमूर्च्छनम् ।। १३ ।।
सर्वमेव न तत्रासीद् धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ।

उन दिनों राजाके सुप्रबन्धसे ब्याजकी आजीविका, यज्ञकी सामग्री, गोरक्षा, खेती और व्यापार—इन सबकी विशेष उन्नति होने लगी। निर्धन प्रजाजनोंसे पिछले वर्षका बाकी कर नहीं लिया जाता था तथा चालू वर्षका कर वसूल करनेके लिये किसीको पीड़ा नहीं दी जाती थी। सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले युधिष्ठिरके शासनकालमें रोग तथा अग्निका प्रकोप आदि कोई भी उपद्रव नहीं था ।। १२-१३ $\frac{1}{2}$ ।।

दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यश्च राज्ञः प्रति परस्परम् ।। १४ ।।
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयत मृषा कृतम् ।

लुटेरोंसे, ठगोंसे, राजासे तथा राजाके प्रिय व्यक्तियोंसे प्रजाके प्रति अत्याचार या मिथ्या व्यवहार कभी नहीं सुना जाता था और आपसमें भी सारी प्रजा एक-दूसरेसे मिथ्या व्यवहार नहीं करती थी ।। १४ $\frac{1}{2}$ ।।

प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वकर्मजम् ।। १५ ।।
अभिहर्तुं नृपाः षट्सु पृथग् जात्यैश्च नैगमैः ।
ववृधे विषयस्तत्र धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ।। १६ ।।
कामतोऽप्युपयुञ्जानै राजसैर्लोभजैर्जनैः ।

दूसरे राजालोग विभिन्न देशके कुलीन वैश्योंके साथ धर्मराज युधिष्ठिरका प्रिय करने, उन्हें कर देने, अपने उपार्जित धन-रत्न आदिकी भेंट देने तथा संधि-विग्रहादि छः कार्योंमें राजाको सहयोग देनेके लिये उनके पास आते थे। सदा धर्ममें ही लगे रहनेवाले राजा युधिष्ठिरके शासनकालमें राजस स्वभाववाले तथा लोभी मनुष्योंद्वारा इच्छानुसार धन आदिका उपभोग किये जानेपर भी उनका देश दिनोदिन उन्नति करने लगा ।। १५-१६ $\frac{1}{2}$ ।।

सर्वव्यापी सर्वगुणी सर्वसाहः स सर्वराट् ।। १७ ।।

राजा युधिष्ठिरकी ख्याति सर्वत्र फैल रही थी। सभी सद्‌गुण उनकी शोभा बढ़ा रहे थे। वे शीत एवं उष्ण आदि सभी द्वन्द्वोंको सहनेमें समर्थ तथा अपने राजोचित गुणोंसे सर्वत्र सुशोभित होते थे ।। १७ ।।

यस्मिन्नधिकृतः सम्राड् भ्राजमानो महायशाः ।
यत्र राजन् दश दिशः पितृतो मातृतस्तथा ।
अनुरक्ताः प्रजा आसन्नागोपाला द्विजातयः ।। १८ ।।

राजन्! दसों दिशाओंमें प्रकाशित होनेवाले वे महायशस्वी सम्राट् जिस देशपर अधिकार जमाते, वहाँ ग्वालोंसे लेकर ब्राह्मणोंतक सारी प्रजा उनके प्रति पिता-माताके समान भाव रखकर प्रेम करने लगती थी ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

स मन्त्रिणः समानाय्य भ्रातॄंश्च वदतां वरः ।
राजसूयं प्रति तदा पुनः पुनरपृच्छत ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उस समय अपने मन्त्रियों और भाइयोंको बुलाकर उनसे बार-बार पूछा—'राजसूययज्ञके सम्बन्धमें आपलोगोंकी क्या सम्मति है?' ।। १९ ।।

ते पृच्छमानाः सहिता वचोऽर्थ्यं मन्त्रिणस्तदा ।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं यियक्षुमिदमब्रुवन् ।। २० ।।

इस प्रकार पूछे जानेपर उन सब मन्त्रियोंने एक साथ यज्ञकी इच्छावाले परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरसे उस समय यह अर्थयुक्त बात कही— ।। २० ।।

येनाभिषिक्तो नृपतिर्वारुणं गुणमृच्छति ।
तेन राजापि तं कृत्स्नं सम्राड्गुणमभीप्सति ।। २१ ।।

'महाराज! राजसूययज्ञके द्वारा अभिषिक्त होनेपर राजा वरुणके गुणोंको प्राप्त कर लेता है; इसलिये प्रत्येक नरेश उस यज्ञके द्वारा सम्राट्के समस्त गुणोंको पानेकी अभिलाषा रखता है ।। २१ ।।

तस्य सम्राड्गुणार्हस्य भवतः कुरुनन्दन ।
राजसूयस्य समयं मन्यन्ते सुहृदस्तव ।। २२ ।।

'कुरुनन्दन! आप तो सम्राट्के गुणोंको पानेके सर्वथा योग्य हैं; अतः आपके हितैषी सुहृद् आपके द्वारा राजसूययज्ञके अनुष्ठानका यह उचित अवसर प्राप्त हुआ मानते हैं ।। २२ ।।

तस्य यज्ञस्य समयः स्वाधीनः क्षत्रसम्पदा ।
साम्ना षडग्नयो यस्मिंश्चीयन्ते शंसितव्रतैः ।। २३ ।।

'उस यज्ञका समय क्षत्रसम्पत्ति यानी सेना आदिके अधीन है। उसमें उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले ब्राह्मण सामवेदके मन्त्रोंद्वारा अग्निकी स्थापनाके लिये छः अग्निवेदियोंका निर्माण करते हैं ।। २३ ।।

दर्वीहोमानुपादाय सर्वान् यः प्राप्नुते क्रतून् ।
अभिषेकं च यस्यान्ते सर्वजित् तेन चोच्यते ।। २४ ।।

'जो उस यज्ञका अनुष्ठान करता है, वह 'दर्वीहोम' (अग्निहोत्र आदि)-से लेकर समस्त यज्ञोंके फलको प्राप्त कर लेता है एवं यज्ञके अन्तमें जो अभिषेक होता है, उससे वह यज्ञकर्ता नरेश 'सर्वजित् सम्राट्' कहलाने लगता है ।। २४ ।।

समर्थोऽसि महाबाहो सर्वे ते वशगा वयम् ।
अचिरात् त्वं महाराज राजसूयमवाप्स्यसि ।। २५ ।।

'महाबाहो! आप उस यज्ञके सम्पादनमें समर्थ हैं। हम सब लोग आपकी आज्ञाके अधीन हैं। महाराज! आप शीघ्र ही राजसूययज्ञ पूर्ण कर सकेंगे ।। २५ ।।

अविचार्य महाराज राजसूये मनः कुरु ।
इत्येवं सुहृदः सर्वे पृथक् च सह चाब्रुवन् ।। २६ ।।

‘अतः किसी प्रकारका सोच-विचार न करके आप राजसूयके अनुष्ठानमें मन लगाइये।’ इस प्रकार उनके सभी सुहृदोंने अलग-अलग और सम्मिलित होकर अपनी यही सम्मति प्रकट की ।। २६ ।।

स धर्म्यं पाण्डवस्तेषां वचः श्रुत्वा विशाम्पते ।
धृष्टमिष्टं वरिष्ठं च जग्राह मनसारिहा ।। २७ ।।

प्रजानाथ! शत्रुसूदन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने उनका यह साहसपूर्ण, प्रिय एवं श्रेष्ठ वचन सुनकर उसे मन-ही-मन ग्रहण किया ।। २७ ।।

श्रुत्वा सुहृद्वचस्तच्च जानंश्चाप्यात्मनः क्षमम् ।
पुनः पुनर्मनो दध्रे राजसूयाय भारत ।। २८ ।।

भारत! उन्होंने सुहृदोंका वह सम्मतिसूचक वचन सुनकर तथा यह भी जानते हुए कि राजसूययज्ञ अपने लिये साध्य है, उसके विषयमें बारम्बार मन-ही-मन विचार किया ।। २८ ।।

स भ्रातृभिः पुनर्धीमानृत्विग्भिश्च महात्मभिः ।
मन्त्रिभिश्चापि सहितो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
धौम्यद्वैपायनाद्यैश्च मन्त्रयामास मन्त्रवित् ।। २९ ।।

फिर मन्त्रणाका महत्त्व जाननेवाले बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों, महात्मा ऋत्विजों, मन्त्रियों तथा धौम्य एवं व्यास आदि महर्षियोंके साथ इस विषयपर पुनः विचार करने लगे ।। २९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

इयं या राजसूयस्य सम्राडर्हस्य सुक्रतोः ।
श्रद्दधानस्य वदतः स्पृहा मे सा कथं भवेत् ।। ३० ।।

युधिष्ठिरने कहा—महात्माओ! राजसूय नामक उत्तम यज्ञ किसी सम्राट्‌के ही योग्य है, तो भी मैं उसके प्रति श्रद्धा रखने लगा हूँ; अतः आपलोग बताइये, मेरे मनमें जो यह राजसूययज्ञ करनेकी अभिलाषा हुई है, कैसी है? ।। ३० ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्तु ते तेन राज्ञा राजीवलोचन ।
इदमूचुर्वचः काले धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।। ३१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—कमलनयन जनमेजय! राजाके इस प्रकार पूछनेपर वे सब लोग उस समय धर्मराज युधिष्ठिरसे यों बोले— ।। ३१ ।।

अर्हस्त्वमसि धर्मज्ञ राजसूयं महाक्रतुम् ।
अथैवमुक्ते नृपतावृत्विग्भिर्ऋषिभिस्तथा ।। ३२ ।।
मन्त्रिणो भ्रातरश्चान्ये तद्वचः प्रत्यपूजयन् ।

'धर्मज्ञ! आप राजसूय महायज्ञ करनेके सर्वथा योग्य हैं।' ऋत्विजों तथा महर्षियोंने जब राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा, तब उनके मन्त्रियों और भाइयोंने उन महात्माओंके वचनका बड़ा आदर किया ।। ३२½ ।।

स तु राजा महाप्राज्ञः पुनरेवात्मनाऽऽत्मवान् ।। ३३ ।।
भूयो विममृशे पार्थो लोकानां हितकाम्यया ।
सामर्थ्ययोगं सम्प्रेक्ष्य देशकालौ व्ययागमौ ।। ३४ ।।
विमृश्य सम्यक् च धिया कुर्वन् प्राज्ञो न सीदति ।
न हि यज्ञसमारम्भः केवलात्मविनिश्चयात् ।। ३५ ।।
भवतीति समाज्ञाय यत्नतः कार्यमुद्वहन् ।
स निश्चयार्थं कार्यस्य कृष्णमेव जनार्दनम् ।। ३६ ।।
सर्वलोकात् परं मत्वा जगाम मनसा हरिम् ।
अप्रमेयं महाबाहुं कामाज्जातमजं नृषु ।। ३७ ।।

तदनन्तर मनको वशमें रखनेवाले महाबुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण लोकोंके हितकी इच्छासे पुनः इस विषयपर मन-ही-मन विचार किया—'जो बुद्धिमान् अपनी शक्ति और साधनोंको देखकर तथा देश, काल, आय और व्ययको बुद्धिके द्वारा भलीभाँति समझ करके कार्य आरम्भ करता है, वह कष्टमें नहीं पड़ता। केवल अपने ही निश्चयसे यज्ञका आरम्भ नहीं किया जाता।' ऐसा समझकर यत्नपूर्वक कार्यभार वहन करनेवाले युधिष्ठिरने उस कार्यके विषयमें पूर्ण निश्चय करनेके लिये जनार्दन भगवान् श्रीकृष्णको ही सब लोगोंसे उत्तम माना और वे मन-ही-मन उन अप्रमेय महाबाहु श्रीहरिकी शरणमें गये, जो अजन्मा होते हुए भी धर्म एवं साधु पुरुषोंकी रक्षा आदिकी इच्छासे मनुष्यलोकमें अवतीर्ण हुए थे ।। ३३-३७ ।।

पाण्डवस्तर्कयामास कर्मभिर्देवसम्मतैः ।
नास्य किंचिदविज्ञातं नास्य किंचिदकर्मजम् ।। ३८ ।।

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने श्रीकृष्णके देवपूजित अलौकिक कर्मोंद्वारा यह अनुमान किया कि श्रीकृष्णके लिये कुछ भी अज्ञात नहीं है तथा कोई भी ऐसा कार्य नहीं है, जिसे वे कर न सकें ।। ३८ ।।

न स किंचिन्न विषहेदिति कृष्णममन्यत ।
स तु तां नैष्ठिकीं बुद्धिं कृत्वा पार्थो युधिष्ठिरः ।। ३९ ।।
गुरुवद् भूतगुरवे प्राहिणोद् दूतमञ्जसा ।
शीघ्रगेन रथेनाशु स दूतः प्राप्य यादवान् ।। ४० ।।
द्वारकावासिनं कृष्णं द्वारवत्यां समासदत् ।

उनके लिये कुछ भी असह्य नहीं है। इस तरह उन्होंने उन्हें सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ माना। ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि करके कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने गुरुजनोंके प्रति निवेदन करनेकी भाँति समस्त प्राणियोंके गुरु श्रीकृष्णके पास शीघ्र ही एक दूत भेजा। वह दूत शीघ्रगामी रथके द्वारा तुरंत यादवोंके यहाँ पहुँचकर द्वारकावासी श्रीकृष्णसे द्वारकामें ही मिला ।। ३९-४० $\frac{1}{2}$ ।।

(स प्रह्वः प्राञ्जलिर्भूत्वा व्यज्ञापयत माधवम् ।।

उसने विनयपूर्वक हाथ जोड़ भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार निवेदन किया।

दूत उवाच

धर्मराजो हृषीकेश धौम्यव्यासादिभिः सह ।
पाञ्चालमात्स्यसहितैर्भ्रातृभिश्चैव सर्वशः ।।
त्वद्दर्शनं महाबाहो काङ्क्षते स युधिष्ठिरः ।

दूतने कहा—महाबाहु हृषीकेश! धर्मराज युधिष्ठिर धौम्य एवं व्यास आदि महर्षियों, द्रुपद और विराट आदि नरेशों तथा अपने समस्त भाइयोंके साथ आपका दर्शन करना चाहते हैं।

वैशम्पायन उवाच

इन्द्रसेनवचः श्रुत्वा यादवप्रवरो बली ।)
दर्शनाकङ्क्षिणं पार्थं दर्शनाकाङ्क्षयाच्युतः ।। ४१ ।।
इन्द्रसेनेन सहित इन्द्रप्रस्थमगात् तदा ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—दूत इन्द्रसेनकी यह बात सुनकर यदुवंशशिरोमणि महाबली भगवान् श्रीकृष्ण दर्शनाभिलाषी युधिष्ठिरके पास स्वयं भी उनके दर्शनकी अभिलाषासे दूत इन्द्रसेनके साथ इन्द्रप्रस्थ नगरमें आये ।। ४१ $\frac{1}{2}$ ।।

व्यतीत्य विविधान् देशांस्त्वरावान् क्षिप्रवाहनः ।। ४२ ।।

मार्गमें अनेक देशोंको लाँघते हुए वे बड़ी उतावलीके साथ आगे बढ़ रहे थे। उनके रथके घोड़े बहुत तेज चलनेवाले थे ।। ४२ ।।

इन्द्रप्रस्थगतं पार्थमभ्यगच्छज्जनार्दनः ।
स गृहे पितृवद् भ्रात्रा धर्मराजेन पूजितः ।
भीमेन च ततोऽपश्यत् स्वसारं प्रीतिमान् पितुः ।। ४३ ।।

भगवान् जनार्दन इन्द्रप्रस्थमें आकर राजा युधिष्ठिरसे मिले। फुफेरे भाई धर्मराज युधिष्ठिर तथा भीमसेनने अपने घरमें श्रीकृष्णका पिताकी भाँति पूजन किया। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण अपनी बुआ कुन्तीसे प्रसन्नतापूर्वक मिले ।। ४३ ।।

प्रीतः प्रीतेन सुहृदा रेमे स सहितस्तदा ।
अर्जुनेन यमाभ्यां च गुरुवत् पर्युपासितः ।। ४४ ।।

तदनन्तर प्रेमी सुहृद् अर्जुनसे मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए। फिर नकुल-सहदेवने गुरुकी भाँति उनकी सेवा-पूजा की ।। ४४ ।।

तं विश्रान्तं शुभे देशे क्षणिनं कल्पमच्युतम् ।
धर्मराजः समागम्याज्ञापयत् स्वप्रयोजनम् ।। ४५ ।।

इसके बाद उन्होंने एक उत्तम भवनमें विश्राम किया। थोड़ी देर बाद जब वे मिलनेके योग्य हुए और इसके लिये उन्होंने अवसर निकाल लिया, तब धर्मराज युधिष्ठिरने आकर उनसे अपना सारा प्रयोजन बतलाया ।। ४५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

प्रार्थितो राजसूयो मे न चासौ केवलेप्सया ।
प्राप्यते येन तत् ते हि विदितं कृष्ण सर्वशः ।। ४६ ।।

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण! मैं राजसूययज्ञ करना चाहता हूँ; परंतु वह केवल चाहनेभरसे ही पूरा नहीं हो सकता। जिस उपायसे उस यज्ञकी पूर्ति हो सकती है, वह सब आपको ही ज्ञात है ।। ४६ ।।

यस्मिन् सर्वं सम्भवति यश्च सर्वत्र पूज्यते ।
यश्च सर्वेश्वरो राजा राजसूयं स विन्दति ।। ४७ ।।

जिसमें सब कुछ सम्भव है अर्थात् जो सब कुछ कर सकता है, जिसकी सर्वत्र पूजा होती है तथा जो सर्वेश्वर होता है, वही राजा राजसूययज्ञ सम्पन्न कर सकता है ।। ४७ ।।

तं राजसूयं सुहृदः कार्यमाहुः समेत्य मे ।
तत्र मे निश्चिततमं तव कृष्ण गिरा भवेत् ।। ४८ ।।

मेरे सब सुहृद् एकत्र होकर मुझसे वही राजसूययज्ञ करनेके लिये कहते हैं; परंतु इसके विषयमें अन्तिम निश्चय तो आपके कहनेसे ही होगा ।। ४८ ।।

केचिद्धि सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते ।
स्वार्थहेतोस्तथैवान्ये प्रियमेव वदन्त्युत ।। ४९ ।।

कुछ लोग प्रेम-सम्बन्धके नाते ही मेरे दोषों या त्रुटियोंको नहीं बताते हैं। दूसरे लोग स्वार्थवश वही बात कहते हैं, जो मुझे प्रिय लगे ।। ४९ ।।

प्रियमेव परीप्सन्ते केचिदात्मनि यद्धितम् ।
एवम्प्रायाश्च दृश्यन्ते जनवादाः प्रयोजने ।। ५० ।।

कुछ लोग जो अपने लिये हितकर है, उसीको मेरे लिये भी प्रिय एवं हितकर समझ बैठते हैं। इस प्रकार अपने-अपने प्रयोजनको लेकर प्रायः लोगोंकी भिन्न-भिन्न बातें देखी जाती हैं ।। ५० ।।

त्वं तु हेतूनतीत्यैतान् कामक्रोधौ व्युदस्य च ।
परमं यत् क्षमं लोके यथावद् वक्तुमर्हसि ।। ५१ ।।

परंतु आप उपर्युक्त सभी हेतुओंसे एवं काम-क्रोधसे रहित होकर (अपने स्वरूपमें स्थित हैं। अतः) इस लोकमें मेरे लिये जो उत्तम एवं करनेयोग्य हो, उसको ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें ।। ५१ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि वासुदेवागमने त्रयोदशोऽध्यायः ।। १३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें वासुदेवागमनविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ १/२ श्लोक मिलाकर कुल ५३ १/२ श्लोक हैं)

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी राजसूययज्ञके लिये सम्मति

श्रीकृष्ण उवाच

सर्वैर्गुणैर्महाराज राजसूयं त्वमर्हसि ।
जानतस्त्वेव ते सर्वं किंचिद् वक्ष्यामि भारत ।। १ ।।

श्रीकृष्णने कहा—महाराज! आपमें सभी सद्गुण विद्यमान हैं; अतः आप राजसूययज्ञ करनेके लिये योग्य हैं। भारत! आप सब कुछ जानते हैं, तो भी आपके पूछनेपर मैं इस विषयमें कुछ निवेदन करता हूँ ।। १ ।।

जामदग्न्येन रामेण क्षत्रं यदवशेषितम् ।
तस्मादवरजं लोके यदिदं क्षत्रसंज्ञितम् ।। २ ।।

जमदग्निनन्दन परशुरामने पूर्वकालमें जब क्षत्रियोंका संहार किया था, उस समय लुक-छिपकर जो क्षत्रिय शेष रह गये, वे पूर्ववर्ती क्षत्रियोंकी अपेक्षा निम्नकोटिके हैं। इस प्रकार इस समय संसारमें नाम-मात्रके क्षत्रिय रह गये हैं ।। २ ।।

कृतोऽयं कुलसंकल्पः क्षत्रियैर्वसुधाधिप ।
निदेशवाग्भिस्तत् ते ह विदितं भरतर्षभ ।। ३ ।।

पृथ्वीपते! इन क्षत्रियोंने पूर्वजोंके कथनानुसार सामूहिकरूपसे यह नियम बना लिया है कि हममेंसे जो समस्त क्षत्रियोंको जीत लेगा, वही सम्राट् होगा। भरतश्रेष्ठ! यह बात

आपको भी मालूम ही होगी ।। ३ ।।

ऐलस्येक्ष्वाकुवंशस्य प्रकृतिं परिचक्षते ।
राजानः श्रेणिबद्धाश्च तथान्ये क्षत्रिया भुवि ।। ४ ।।

इस समय श्रेणिबद्ध (सब-के-सब) राजा तथा भूमण्डलके दूसरे क्षत्रिय भी अपनेको सम्राट् पुरूरवा तथा इक्ष्वाकुकी संतान कहते हैं ।। ४ ।।

ऐलवंश्याश्च ये राजंस्तथैवेक्ष्वाकवो नृपाः ।
तानि चैकशतं विद्धि कुलानि भरतर्षभ ।। ५ ।।

भरतश्रेष्ठ राजन्! पुरूरवा तथा इक्ष्वाकुके वंशमें जो नरेश आजकल हैं, उनके एक सौ कुल विद्यमान हैं; यह बात आप अच्छी तरह जान लें ।। ५ ।।

ययातेस्त्वेव भोजानां विस्तरो गुणतो महान् ।
भजतेऽद्य महाराज विस्तरं स चतुर्दिशम् ।। ६ ।।
तेषां तथैव तां लक्ष्मीं सर्वक्षत्रमुपासते ।

महाराज! आजकल राजा ययातिके कुलमें गुणकी दृष्टिसे भोजवंशियोंका ही अधिक विस्तार हुआ है। भोजवंशी बढ़कर चारों दिशाओंमें फैल गये हैं तथा आजके सभी क्षत्रिय उन्हींकी धन-सम्पत्तिका आश्रय ले रहे हैं ।। ६½ ।।

इदानीमेव वै राजन् जरासंधो महीपतिः ।। ७ ।।
अभिभूय श्रियं तेषां कुलानामभिषेचितः ।
स्थितो मूर्ध्नि नरेन्द्राणामोजसाऽऽक्रम्य सर्वशः ।। ८ ।।

राजन्! अभी-अभी भूपाल जरासंध उन समस्त क्षत्रियकुलोंकी राजलक्ष्मीको लाँघकर राजाओंद्वारा सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुआ है और वह अपने बल-पराक्रमसे सबपर आक्रमण करके समस्त राजाओंका सिरमौर हो रहा है ।। ७-८ ।।

सोऽवनिं मध्यमां भुक्त्वा मिथोभेदममन्यत ।
प्रभुर्यस्तु परो राजा यस्मिन्नेकवशे जगत् ।। ९ ।।

जरासंध मध्यभूमिका उपभोग करते हुए समस्त राजाओंमें परस्पर फूट डालनेकी नीतिको पसंद करता है। इस समय वही सबसे प्रबल एवं उत्कृष्ट राजा है। यह सारा जगत् एकमात्र उसीके वशमें है ।। ९ ।।

स साम्राज्यं महाराज प्राप्तो भवति योगतः ।
तं स राजा जरासंधं संश्रित्य किल सर्वशः ।। १० ।।
राजन् सेनापतिर्जातः शिशुपालः प्रतापवान् ।

महाराज! वह अपनी राजनीतिक युक्तियोंसे इस समय सम्राट् बन बैठा है। राजन्! कहते हैं, प्रतापी राजा शिशुपाल सब प्रकारसे जरासंधका आश्रय लेकर ही उसका प्रधान सेनापति हो गया है ।। १०½ ।।

तमेव च महाराज शिष्यवत् समुपस्थितः ।। ११ ।।

वक्रः करूषाधिपतिर्मायायोधी महाबलः ।

युधिष्ठिर! मायायुद्ध करनेवाला महाबली करूषराज दन्तवक्र भी जरासंधके सामने शिष्यकी भाँति हाथ जोड़े खड़ा रहता है ।। ११½ ।।

अपरौ च महावीर्यौ महात्मानौ समाश्रितौ ।। १२ ।।

जरासंधं महावीर्यं तौ हंसडिम्भकावुभौ ।

विशालकाय अन्य दो महापराक्रमी योद्धा सुप्रसिद्ध हंस और डिम्भक भी महाबली जरासंधकी शरण ले चुके थे ।। १२½ ।।

दन्तवक्रः करूषश्च करभो मेघवाहनः ।

मूर्ध्ना दिव्यमणिं बिभ्रद् यमद्भुतमणिं विदुः ।। १३ ।।

करूषदेशका राजा दन्तवक्र, करभ और मेघवाहन—ये सभी सिरपर दिव्य मणिमय मुकुट धारण करते हुए भी जरासंधको अपने मस्तककी अद्भुत मणि मानते हैं (अर्थात् उसके चरणोंमें सिर झुकाते रहते हैं) ।। १३ ।।

मुरं च नरकं चैव शास्ति यो यवनाधिपः ।

अपर्यन्तबलो राजा प्रतीच्यां वरुणो यथा ।। १४ ।।

भगदत्तो महाराज वृद्धस्तव पितुः सखा ।

स वाचा प्रणतस्तस्य कर्मणा च विशेषतः ।। १५ ।।

स्नेहबद्धश्च मनसा पितृवद् भक्तिमांस्त्वयि ।

महाराज! जो मुर और नरक नामक देशका शासन करते हैं, जिनकी सेना अनन्त है, जो वरुणके समान पश्चिम दिशाके अधिपति कहे जाते हैं, जिनकी वृद्धावस्था हो चली है तथा जो आपके पिताके मित्र रहे हैं, वे यवनाधिपति राजा भगदत्त भी वाणी तथा क्रियाद्वारा भी जरासंधके सामने विशेषरूपसे नतमस्तक रहते हैं; फिर वे मन-ही-मन तुम्हारे स्नेहपाशमें बँधे हैं और जैसे पिता अपने पुत्रपर प्रेम रखता है, वैसे ही उनका तुम्हारे ऊपर वात्सल्यभाव बना हुआ है ।। १४-१५½ ।।

प्रतीच्यां दक्षिणं चान्तं पृथिव्याः प्रति यो नृपः ।। १६ ।।

मातुलो भवतः शूरः पुरुजित् कुन्तिवर्धनः ।

स ते सन्नतिमानेकः स्नेहतः शत्रुसूदनः ।। १७ ।।

जो भारतभूमिके पश्चिमसे लेकर दक्षिणतकके भागपर शासन करते हैं, आपके मामा वे शत्रुसंहारक शूरवीर कुन्तिभोजकुलवर्द्धक पुरुजित् अकेले ही स्नेहवश आपके प्रति प्रेम और आदरका भाव रखते हैं ।। १६-१७ ।।

जरासंधं गतस्त्वेव पुरा यो न मया हतः ।

पुरुषोत्तमविज्ञातो योऽसौ चेदिषु दुर्मतिः ।। १८ ।।

आत्मानं प्रतिजानाति लोकेऽस्मिन् पुरुषोत्तमम् ।

आदत्ते सततं मोहाद् यः स चिह्नं च मामकम् ।। १९ ।।

वङ्गपुण्ड्रकिरातेषु राजा बलसमन्वितः ।
पौण्ड्रको वासुदेवेति योऽसौ लोकेऽभिविश्रुतः ।। २० ।।

जिसे मैंने पहले मारा नहीं, उपेक्षावश छोड़ रखा है, जिसकी बुद्धि बड़ी खोटी है, जो चेदिदेशमें पुरुषोत्तम समझा जाता है, इस जगत्‌में जो अपने-आपको पुरुषोतम ही कहकर बताया करता है और मोहवश सदा मेरे शंख-चक्र आदि चिह्नोंको धारण करता है; वंग, पुण्ड्र तथा किरातदेशका जो राजा है तथा लोकमें वासुदेवके नामसे जिसकी प्रसिद्धि हो रही है, वह बलवान् राजा पौण्ड्रक भी जरासंधसे ही मिला हुआ है ।। १८—२० ।।

चतुर्थभाग् महाराज भोज इन्द्रसखो बली ।
विद्याबलाद् यो व्यजयत् सपाण्ड्यक्रथकैशिकान् ।। २१ ।।
भ्राता यस्याकृतिः शूरो जामदग्न्यसमोऽभवत् ।
स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा ।। २२ ।।

राजन्! जो पृथ्वीके एक चौथाई भागके स्वामी हैं, इन्द्रके सखा हैं, बलवान् हैं, जिन्होंने अस्त्र-विद्याके बलसे पाण्ड्य, क्रथ और कैशिक देशोंपर विजय पायी है, जिनका भाई आकृति जमदग्निनन्दन परशुरामके समान शौर्यसम्पन्न है, वे भोजवंशी शत्रुहन्ता राजा भीष्मक (मेरे श्वशुर होते हुए) भी मगधराज जरासंधके भक्त हैं ।। २१-२२ ।।

प्रियाण्याचरतः प्रह्वान् सदा सम्बन्धिनस्ततः ।
भजतो न भजत्यस्मानप्रियेषु व्यवस्थितः ।। २३ ।।

हम सदा उनका प्रिय करते रहते हैं, उनके प्रति नम्रता दिखाते हैं और उनके सगे-सम्बन्धी हैं; तो भी वे हम-जैसे अपने भक्तोंको तो नहीं अपनाते हैं और हमारे शत्रुओंसे मिलते-जुलते हैं ।। २३ ।।

न कुलं स बलं राजन्नभ्यजानात् तथाऽऽत्मनः ।
पश्यमानो यशो दीप्तं जरासंधमुपस्थितः ।। २४ ।।

राजन्! वे अपने बल और कुलकी ओर भी ध्यान नहीं देते, केवल जरासंधके उज्ज्वल यशकी ओर देखकर उसके आश्रित बन गये हैं ।। २४ ।।

उदीच्याश्च तथा भोजाः कुलान्यष्टादश प्रभो ।
जरासंधभयादेव प्रतीचीं दिशमास्थिताः ।। २५ ।।

प्रभो! इसी प्रकार उत्तर दिशामें निवास करनेवाले भोजवंशियोंके अठारह कुल जरासंधके ही भयसे भागकर पश्चिम दिशामें रहने लगे हैं ।। २५ ।।

शूरसेना भद्रकारा बोधाः शाल्वाः पटच्चराः ।
सुस्थलाश्च सुकुट्टाश्च कुलिन्दाः कुन्तिभिः सह ।। २६ ।।
शाल्वायनाश्च राजानः सोदर्यानुचरैः सह ।
दक्षिणा ये च पञ्चालाः पूर्वाः कुन्तिषु कोशलाः ।। २७ ।।
तथोत्तरां दिशं चापि परित्यज्य भयार्दिताः ।

मत्स्याः संन्यस्तपादाश्च दक्षिणां दिशमाश्रिताः ।। २८ ।।

शूरसेन, भद्रकार, बोध, शाल्व, पटच्चर, सुस्थल, सुकुट्ट, कुलिन्द, कुन्ति तथा शाल्वायन आदि राजा भी अपने भाइयों तथा सेवकोंके साथ दक्षिण दिशामें भाग गये हैं। जो लोग दक्षिण पंचाल एवं पूर्वी कुन्तिप्रदेशमें रहते थे, वे सभी क्षत्रिय तथा कोशल, मत्स्य, संन्यस्तपाद आदि राजपूत भी जरासंधके भयसे पीड़ित हो उत्तर दिशाको छोड़कर दक्षिण दिशाका ही आश्रय ले चुके हैं ।। २६—२८ ।।

तथैव सर्वपञ्चाला जरासंधभयार्दिताः ।
स्वराज्यं सम्परित्यज्य विद्रुताः सर्वतो दिशम् ।। २९ ।।

उसी प्रकार समस्त पंचालदेशीय क्षत्रिय जरासंधके भयसे दुःखी हो अपना राज्य छोड़कर चारों दिशाओंमें भाग गये हैं ।। २९ ।।

कस्यचित् त्वथ कालस्य कंसो निर्मथ्य यादवान् ।
बार्हद्रथसुते देव्यावुपागच्छद् वृथामतिः ।। ३० ।।

कुछ समय पहलेकी बात है, व्यर्थ बुद्धिवाले कंसने समस्त यादवोंको कुचलकर जरासंधकी दो पुत्रियोंके साथ विवाह किया ।। ३० ।।

अस्तिः प्राप्तिश्च नाम्ना ते सहदेवानुजेऽबले ।
बलेन तेन स्वज्ञातीनभिभूय वृथामतिः ।। ३१ ।।
श्रैष्ठ्यं प्राप्तः स तस्यासीदतीवापनयो महान् ।

उनके नाम थे अस्ति और प्राप्ति। वे दोनों अबलाएँ सहदेवकी छोटी बहिनें थीं। निःसार बुद्धिवाला कंस जरासंधके ही बलसे अपने जाति-भाइयोंको अपमानित करके सबका प्रधान बन बैठा था। यह उसका बहुत बड़ा अत्याचार था ।। ३१½ ।।

भोजराजन्यवृद्धैश्च पीड्यमानैर्दुरात्मना ।। ३२ ।।
ज्ञातित्राणमभीप्सद्भिरस्मत्सम्भावना कृता ।

उस दुरात्मासे पीड़ित हो भोजराजवंशके बड़े-बूढ़े लोगोंने जाति-भाइयोंकी रक्षाके लिये हमसे प्रार्थना की ।। ३२½ ।।

दत्त्वाक्रूराय सुतनुं तामाहुकसुतां तदा ।। ३३ ।।
संकर्षणद्वितीयेन ज्ञातिकार्यं मया कृतम् ।
हतौ कंससुनामानौ मया रामेण चाप्युत ।। ३४ ।।

तब मैंने आहुककी पुत्री सुतनुका विवाह अक्रूरसे करा दिया और बलरामजीको साथी बनाकर जाति-भाइयोंका कार्य सिद्ध किया। मैंने और बलरामजीने कंस और सुनामाको मार डाला ।। ३३-३४ ।।

भये तु समतिक्रान्ते जरासंधे समुद्यते ।
मन्त्रोऽयं मन्त्रितो राजन् कुलैरष्टादशावरैः ।। ३५ ।।

इससे कंसका भय तो जाता रहा; परंतु जरासंध कुपित हो हमसे बदला लेनेको उद्यत हो गया। राजन्! उस समय भोजवंशके अठारह कुलों (मन्त्री-पुरोहित आदि)-ने मिलकर इस प्रकार विचार-विमर्श किया— ।। ३५ ।।

अनारभन्तो निघ्नन्तो महास्त्रैः शत्रुघातिभिः ।
न हन्यामो वयं तस्य त्रिभिर्वर्षशतैर्बलम् ।। ३६ ।।

'यदि हमलोग शत्रुओंका अन्त करनेवाले बड़े-बड़े अस्त्रोंद्वारा निरन्तर आघात करते रहें, तो भी तीन सौ वर्षोंमें भी उसकी सेनाका नाश नहीं कर सकते ।। ३६ ।।

तस्य ह्यमरसंकाशौ बलेन बलिनां वरौ ।
नामभ्यां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ।। ३७ ।।

'क्योंकि बलवानोंमें श्रेष्ठ हंस और डिम्भक उसके सहायक हैं, जो बलमें देवताओंके समान हैं। उन दोनोंको यह वरदान प्राप्त है कि वे किसी अस्त्र-शस्त्रसे नहीं मारे जा सकते' ।। ३७ ।।

तावुभौ सहितौ वीरौ जरासंधश्च वीर्यवान् ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ।। ३८ ।।

भैया युधिष्ठिर! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि एक साथ रहनेवाले वे दोनों वीर हंस और डिम्भक तथा पराक्रमी जरासंध—ये तीनों मिलकर तीनों लोकोंका सामना करनेके लिये पर्याप्त थे ।। ३८ ।।

न हि केवलमस्माकं यावन्तोऽन्ये च पार्थिवाः ।
तथैव तेषामासीच्च बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ।। ३९ ।।

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ नरेश! यह केवल मेरा ही मत नहीं है, दूसरे भी जितने भूमिपाल हैं, उन सबका यही विचार रहा है ।। ३९ ।।

अथ हंस इति ख्यातः कश्चिदासीन्महान् नृपः ।
रामेण स हतस्तत्र संग्रामेऽष्टादशावरे ।। ४० ।।

जरासंधके साथ जब सत्रहवीं बार युद्ध हो रहा था, उसमें हंस नामसे प्रसिद्ध कोई दूसरा राजा भी लड़ने आया था, वह उस युद्धमें बलरामजीके हाथसे मारा गया ।। ४० ।।

हतो हंस इति प्रोक्तमथ केनापि भारत ।
तच्छ्रुत्वा डिम्भको राजन् यमुनाम्भस्यमज्जत ।। ४१ ।।

भारत! यह देख किसी सैनिकने चिल्लाकर कहा—'हंस मारा गया।' राजन्! उसकी वह बात कानमें पड़ते ही डिम्भक अपने भाईको मरा हुआ जान यमुनाजीमें कूद पड़ा ।। ४१ ।।

विना हंसेन लोकेऽस्मिन् नाहं जीवितुमुत्सहे ।
इत्येतां मतिमास्थाय डिम्भको निधनं गतः ।। ४२ ।।

'मैं हंसके बिना इस संसारमें जीवित नहीं रह सकता।' ऐसा निश्चय करके डिम्भकने अपनी जान दे दी ।। ४२ ।।

तथा तु डिम्भकं श्रुत्वा हंसः परपुरंजयः ।
प्रपेदे यमुनामेव सोऽपि तस्यां न्यमज्जत ।। ४३ ।।

डिम्भककी इस प्रकार मृत्यु हुई सुनकर शत्रु-नगरीको जीतनेवाला हंस भी भाईके शोकसे यमुनामें ही कूद पड़ा और उसीमें डूबकर मर गया ।। ४३ ।।

तौ स राजा जरासंधः श्रुत्वा च निधनं गतौ ।
पुरं शून्येन मनसा प्रययौ भरतर्षभ ।। ४४ ।।

भरतश्रेष्ठ! उन दोनोंकी मृत्यु हुई सुनकर राजा जरासंध हताश हो गया और उत्साहशून्य हृदयसे अपनी राजधानीको लौट गया ।। ४४ ।।

ततो वयममित्रघ्न तस्मिन् प्रतिगते नृपे ।
पुनरानन्दिनः सर्वे मथुरायां वसामहे ।। ४५ ।।

शत्रुसूदन! उसके इस प्रकार लौट जानेपर हम सब लोग पुनः मथुरामें आनन्दपूर्वक रहने लगे ।। ४५ ।।

यदा त्वभ्येत्य पितरं सा वै राजीवलोचना ।
कंसभार्या जरासंधं दुहिता मागधं नृपम् ।
चोदयत्येव राजेन्द्र पतिव्यसनदुःखिता ।। ४६ ।।
पतिघ्नं मे जहीत्येवं पुनः पुनररिंदम ।

शत्रुदमन राजेन्द्र! फिर जब पतिके शोकसे पीड़ित हुई कंसकी कमललोचना भार्या अपने पिता मगधनरेश जरासंधके पास जाकर उसे बार-बार उकसाने लगी कि मेरे पतिके घातकको मार डालो ।। ४६½ ।।

ततो वयं महाराज तं मन्त्रं पूर्वमन्त्रितम् ।। ४७ ।।
संस्मरन्तो विमनसो व्यपयाता नराधिप ।

तब हमलोग भी पहले की हुई गुप्त मन्त्रणाको स्मरण करके उदास हो गये। महाराज! फिर तो हम मथुरासे भाग खड़े हुए ।। ४७½ ।।

पृथक्त्वेन महाराज संक्षिप्य महतीं श्रियम् ।। ४८ ।।
पलायामो भयात् तस्य ससुतज्ञातिबान्धवाः ।
इति संचिन्त्य सर्वे स्म प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ।। ४९ ।।

राजन्! उस समय हमने यही निश्चय किया कि 'यहाँकी विशाल सम्पत्तिको पृथक्-पृथक् बाँटकर थोड़ी-थोड़ी करके पुत्र एवं भाई-बन्धुओंके साथ शत्रुके भयसे भाग चलें।' ऐसा विचार करके हम सबने पश्चिम दिशाकी शरण ली ।। ४८-४९ ।।

कुशस्थलीं पुरीं रम्यां रैवतेनोपशोभिताम् ।
ततो निवेशं तस्यां च कृतवन्तो वयं नृप ।। ५० ।।

और राजन्! रैवतक पर्वतसे सुशोभित रमणीय कुशस्थली पुरीमें जाकर हमलोग निवास करने लगे ।। ५० ।।

तथैव दुर्गसंस्कारं देवैरपि दुरासदम् ।

स्त्रियोऽपि यस्यां युध्येयुः किमु वृष्णिमहारथाः ।। ५१ ।।

हमने कुशस्थली दुर्गकी ऐसी मरम्मत करायी कि देवताओंके लिये भी उसमें प्रवेश करना कठिन हो गया। अब तो उस दुर्गमें रहकर स्त्रियाँ भी युद्ध कर सकती हैं, फिर वृष्णिकुलके महारथियोंकी तो बात ही क्या है? ।। ५१ ।।

तस्यां वयममित्रघ्न निवसामोऽकुतोभयाः ।

आलोच्य गिरिमुख्यं तं मागधं तीर्णमेव च ।। ५२ ।।

माधवाः कुरुशार्दूल परां मुदमवाप्नुवन् ।

शत्रुसूदन! हमलोग द्वारकापुरीमें सब ओरसे निर्भय होकर रहते हैं। कुरुश्रेष्ठ! गिरिराज रैवतककी दुर्गमताका विचार करके अपनेको जरासंधके संकटसे पार हुआ मानकर हम सभी मधुवंशियोंको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई है ।। ५२½ ।।

एवं वयं जरासंधादभितः कृतकिल्बिषाः ।। ५३ ।।

सामर्थ्यवन्तः सम्बन्धाद् गोमन्तं समुपाश्रिताः ।

राजन्! हम जरासंधके अपराधी हैं, अतः शक्तिशाली होते हुए भी जिस स्थानसे हमारा सम्बन्ध था, उसे छोड़कर गोमान् (रैवतक) पर्वतके आश्रयमें आ गये हैं ।। ५३½ ।।

त्रियोजनायतं सद्म त्रिस्कन्धं योजनावधि ।। ५४ ।।

योजनान्ते शतद्वारं वीरविक्रमतोरणम् ।

अष्टादशावरैर्नद्धं क्षत्रियैर्युद्धदुर्मदैः ।। ५५ ।।

रैवतकी दुर्गकी लम्बाई तीन योजनकी है। एक-एक योजनपर सेनाओंके तीन-तीन दलोंकी छावनी है। प्रत्येक योजनके अन्तमें सौ-सौ द्वार हैं, जो सेनाओंसे सुरक्षित हैं। वीरोंका पराक्रम ही उस गढ़का प्रधान फाटक है। युद्धमें उन्मत्त होकर पराक्रम दिखानेवाले अठारह यादववंशी क्षत्रियोंसे वह दुर्ग सुरक्षित है ।। ५४-५५ ।।

अष्टादश सहस्राणि भ्रातॄणां सन्ति नः कुले ।

आहुकस्य शतं पुत्रा एकैकस्त्रिदशावरः ।। ५६ ।।

हमारे कुलमें अठारह हजार भाई हैं। आहुकके सौ पुत्र हैं, जिनमेंसे एक-एक देवताओंके समान पराक्रमी हैं ।। ५६ ।।

चारुदेष्णः सह भ्रात्रा चक्रदेवोऽथ सात्यकिः ।

अहं च रौहिणेयश्च साम्बः प्रद्युम्न एव च ।। ५७ ।।

एवमतिरथाः सप्त राजन्नन्यान् निबोध मे ।

कृतवर्मा ह्यनाधृष्टिः समीकः समितिंजयः ।। ५८ ।।

कङ्कः शङ्कुश्च कुन्तिश्च सप्तैते वै महारथाः ।

पुत्रौ चान्धकभोजस्य वृद्धो राजा च ते दश ।। ५९ ।।

अपने भाईके साथ चारुदेष्ण, चक्रदेव, सात्यकि, मैं, बलरामजी, साम्ब और प्रद्युम्न—ये सात अतिरथी वीर हैं। राजन्! अब मुझसे दूसरोंका परिचय सुनिये। कृतवर्मा, अनाधृष्टि, समीक, समितिंजय, कंक, शंकु और कुन्ति—ये सात महारथी हैं। अन्धक भोजके दो पुत्र और बूढ़े राजा उग्रसेनको भी गिन लेनेपर उन महारथियोंकी संख्या दस हो जाती है ।। ५७—५९ ।।

वज्रसंहनना वीरा वीर्यवन्तो महारथाः ।
स्मरन्तो मध्यमं देशं वृष्णिमध्ये व्यवस्थिताः ।। ६० ।।

ये सभी वीर वज्रके समान सुदृढ़ शरीरवाले, पराक्रमी और महारथी हैं, जो मध्यदेशका स्मरण करते हुए वृष्णिकुलमें निवास करते हैं ।। ६० ।।

(वितद्रुर्झल्लिबभ्रू च उद्धवोऽथ विदूरथः ।
वसुदेवोग्रसेनौ च सप्तैते मन्त्रिपुङ्गवाः ।।
प्रसेनजिच्च यमलो राजराजगुणान्वितः ।
स्यमन्तको मणिर्यस्य रुक्मं निस्रवते बहु ।।)

वितद्रु, झल्लि, बभ्रु, उद्धव, विदूरथ, वसुदेव तथा उग्रसेन—ये सात मुख्य मन्त्री हैं। प्रसेनजित् और सत्राजित्—ये दोनों जुड़वें बन्धु कुबेरोपम सद्‌गुणोंसे सुशोभित हैं। उनके पास जो 'स्यमन्तक' नामक मणि है, उससे प्रचुरमात्रामें सुवर्ण झरता रहता है।

स त्वं सम्राड्‌गुणैर्युक्तः सदा भरतसत्तम ।
क्षत्रे सम्राजमात्मानं कर्तुमर्हसि भारत ।। ६१ ।।

भरतवंशशिरोमणे! आप सदा ही सम्राट्‌के गुणोंसे युक्त हैं। अतः भारत! आपको क्षत्रियसमाजमें अपनेको सम्राट् बना लेना चाहिये ।। ६१ ।।

(दुर्योधनं शान्तनवं द्रोणं द्रौणायनिं कृपम् ।
कर्णं च शिशुपालं च रुक्मिणं च धनुर्धरम् ।।
एकलव्यं द्रुमं श्वेतं शैब्यं शकुनिमेव च ।
एतानजित्वा संग्रामे कथं शक्नोषि तं क्रतुम् ।।
अथैते गौरवेणैव न योत्स्यन्ति नराधिपाः ।)

दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, शिशुपाल, रुक्मी, धनुर्धर एकलव्य, द्रुम, श्वेत, शैब्य तथा शकुनि—इन सब वीरोंको संग्राममें जीते बिना आप कैसे वह यज्ञ कर सकते हैं? परंतु ये नरश्रेष्ठ आपका गौरव मानकर युद्ध नहीं करेंगे।

न तु शक्यं जरासंधे जीवमाने महाबले ।
राजसूयस्त्वयावाप्तुमेषा राजन् मतिर्मम ।। ६२ ।।

किंतु राजन्! मेरी सम्मति यह है कि जबतक महाबली जरासंध जीवित है, तबतक आप राजसूययज्ञ पूर्ण नहीं कर सकते ।। ६२ ।।

तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे ।
कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः ।। ६३ ।।

उसने सब राजाओंको जीतकर गिरिव्रजमें इस प्रकार कैद कर रखा है, मानो सिंहने किसी महान् पर्वतकी गुफामें बड़े-बड़े गजराजोंको रोक रखा हो ।। ६३ ।।

स हि राजा जरासंधो यियक्षुर्वसुधाधिपैः ।
महादेवं महात्मानमुमापतिमरिंदम ।। ६४ ।।
आराध्य तपसोग्रेण निर्जितास्तेन पार्थिवाः ।
प्रतिज्ञायाश्च पारं स गतः पार्थिवसत्तम ।। ६५ ।।

शत्रुदमन! राजा जरासंधने उमावल्लभ महात्मा महादेवजीकी उग्र तपस्याके द्वारा आराधना करके एक विशेष प्रकारकी शक्ति प्राप्त कर ली है; इसीलिये वे सभी राजा उससे परास्त हो गये हैं। वह राजाओंकी बलि देकर एक यज्ञ करना चाहता है। नृपश्रेष्ठ! वह अपनी प्रतिज्ञा प्रायः पूरी कर चुका है ।। ६४-६५ ।।

स हि निर्जित्य निर्जित्य पार्थिवान् पृतनागतान् ।
पुरमानीय बद्ध्वा च चकार पुरुषव्रजम् ।। ६६ ।।

क्योंकि उसने सेनाके साथ आये हुए राजाओंको एक-एक करके जीता है और अपनी राजधानीमें लाकर उन्हें कैद करके राजाओंका बहुत बड़ा समुदाय एकत्र कर लिया है ।। ६६ ।।

वयं चैव महाराज जरासंधभयात् तदा ।
मथुरां सम्परित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम् ।। ६७ ।।

महाराज! उस समय हम भी जरासंधके भयसे ही पीड़ित हो मथुराको छोड़कर द्वारकापुरीमें चले गये (और अबतक वहीं निवास करते हैं) ।। ६७ ।।

यदि त्वेनं महाराज यज्ञं प्राप्तुमभीप्ससि ।
यतस्व तेषां मोक्षाय जरासंधवधाय च ।। ६८ ।।

राजन्! यदि आप इस यज्ञको पूर्णरूपसे सम्पन्न करना चाहते हैं तो उन कैदी राजाओंको छुड़ाने और जरासंधको मारनेका प्रयत्न कीजिये ।। ६८ ।।

समारम्भो न शक्योऽयमन्यथा कुरुनन्दन ।
राजसूयश्च कार्त्स्न्येन कर्तुं मतिमतां वर ।। ६९ ।।

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुनन्दन! ऐसा किये बिना राजसूययज्ञका आयोजन पूर्णरूपसे सफल न हो सकेगा ।। ६९ ।।

(जरासंधवधोपायश्चिन्त्यतां भरतर्षभ ।
तस्मिन् जिते जितं सर्वं सकलं पार्थिवं बलम् ।।)

भरतश्रेष्ठ! आप जरासंधके वधका उपाय सोचिये। उसके जीत लिये जानेपर समस्त भूपालोंकी सेनाओंपर विजय प्राप्त हो जायगी।

इत्येषा मे मती राजन् यथा वा मन्यसेऽनघ ।
एवंगते ममाचक्ष्व स्वयं निश्चित्य हेतुभिः ।। ७० ।।

निष्पाप नरेश! मेरा मत तो यही है, फिर आप जैसा उचित समझें, करें। ऐसी दशामें स्वयं हेतु और युक्तियोंद्वारा कुछ निश्चय करके मुझे बताइये ।। ७० ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये चतुर्दशोऽध्यायः ।। १४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें श्रीकृष्णवाक्य-विषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ७५½ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

जरासंधके विषयमें राजा युधिष्ठिर, भीम और श्रीकृष्णकी बातचीत

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं त्वया बुद्धिमता यन्नान्यो वक्तुमर्हति ।
संशयानां हि निर्मोक्ता त्वन्नान्यो विद्यते भुवि ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण! आप परम बुद्धिमान् हैं, आपने जैसी बात कही है, वैसी दूसरा कोई नहीं कह सकता। इस पृथ्वीपर आपके सिवा समस्त संशयोंको मिटानेवाला और कोई नहीं है ।। १ ।।

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः ।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्छब्दो हि कृच्छ्रभाक् ।। २ ।।

आजकल तो घर-घरमें राजा हैं और सभी अपना-अपना प्रिय कार्य करते हैं, परंतु वे सम्राट्पदको नहीं प्राप्त कर सके; क्योंकि सम्राट्की पदवी बड़ी कठिनाईसे मिलती है ।। २ ।।

कथं परानुभावज्ञः स्वं प्रशंसितुमर्हति ।
परेण समवेतस्तु यः प्रशस्यः स पूज्यते ।। ३ ।।

जो दूसरोंके प्रभावको जानता है, वह अपनी प्रशंसा कैसे कर सकता है? दूसरेके साथ मुकाबला होनेपर भी जो प्रशंसनीय बना रह जाय, उसीकी सर्वत्र पूजा होती है ।। ३ ।।

विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्नसमाचिता ।
दूरं गत्वा विजानाति श्रेयो वृष्णिकुलोद्वह ।। ४ ।।

वृष्णिकुलभूषण! यह पृथ्वी बहुत विशाल है, अनेक प्रकारके रत्नोंसे भरी हुई है, मनुष्य दूर जाकर (सत्पुरुषोंका संग करके) यह समझ पाता है कि अपना कल्याण कैसे होगा ।। ४ ।।

शममेव परं मन्ये शमात् क्षेमं भवेन्मम ।
आरम्भे पारमेष्ठ्ये तु न प्राप्यमिति मे मतिः ।। ५ ।।

मैं तो मन और इन्द्रियोंके संयमको ही सबसे उत्तम मानता हूँ, उसीसे मेरा भला होगा। राजसूय-यज्ञका आरम्भ करनेपर भी उसके फलस्वरूप ब्रह्मलोककी प्राप्ति अपने लिये असम्भव है—मेरी तो यही धारणा है ।। ५ ।।

एवमेते हि जानन्ति कुले जाता मनस्विनः ।
कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन ।। ६ ।।

जनार्दन! ये उत्तम कुलमें उत्पन्न मनस्वी सभासद् ऐसा जानते हैं कि इनमें कभी कोई श्रेष्ठ (सर्वविजयी) भी हो सकता है ।। ६ ।।

वयं चैव महाभाग जरासंधभयात् तदा ।
शङ्किताः स्म महाभाग दौरात्म्यात् तस्य चानघ ।। ७ ।।
अहं हि तव दुर्धर्ष भुजवीर्याश्रयः प्रभो ।
नात्मानं बलिनं मन्ये त्वयि तस्माद् विशङ्किते ।। ८ ।।

पापरहित महाभाग! हम भी जरासंधके भयसे तथा उसकी दुष्टतासे सदा शंकित रहते हैं। किसीसे परास्त न होनेवाले प्रभो! मैं तो आपके ही बाहुबलका भरोसा रखता हूँ। जब आप ही जरासंधसे शंकित हैं, तब तो मैं अपनेको उसके सामने कदापि बलवान् नहीं मान सकता ।। ७-८ ।।

त्वत्सकाशाच्च रामाच्च भीमसेनाच्च माधव ।
अर्जुनाद् वा महाबाहो हन्तुं शक्यो न वेति वै ।
एवं जानन् हि वार्ष्णेय विमृशामि पुनः पुनः ।। ९ ।।

महाबाहु माधव! आपसे, बलरामजीसे, भीमसेनसे अथवा अर्जुनसे वह मारा जा सकता है या नहीं? वार्ष्णेय! (आपकी शक्ति अनन्त है,) यह जानते हुए भी मैं बार-बार इसी बातपर विचार करता रहता हूँ ।। ९ ।।

त्वं मे प्रमाणभूतोऽसि सर्वकार्येषु केशव ।
तच्छ्रुत्वा चाब्रवीद् भीमो वाक्यं वाक्यविशारदः ।। १० ।।

केशव! मेरे लिये सभी कार्योंमें आप ही प्रमाण हैं। युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर बोलनेमें चतुर भीमसेनने यह वचन कहा ।। १० ।।

भीम उवाच

अनारम्भपरो राजा वल्मीक इव सीदति ।
दुर्बलश्चानुपायेन बलिनं योऽधितिष्ठति ।। ११ ।।

भीमसेन बोले—महाराज! जो राजा उद्योग नहीं करता तथा जो दुर्बल होकर भी उचित उपाय अथवा युक्तिसे काम न लेकर किसी बलवान्‌से भिड़ जाता है, वे दोनों दीमकोंके बनाये हुए मिट्टीके ढेरके समान नष्ट हो जाते हैं ।। ११ ।।

अतन्द्रितश्च प्रायेण दुर्बलो बलिनं रिपुम् ।
जयेत् सम्यक् प्रयोगेण नीत्यार्थानात्मनो हितान् ।। १२ ।।

परंतु जो आलस्य त्यागकर उत्तम युक्ति एवं नीतिसे काम लेता है, वह दुर्बल होनेपर भी बलवान् शत्रुको जीत लेता है और अपने लिये हितकर एवं अभीष्ट अर्थ प्राप्त करता है ।। १२ ।।

कृष्णे नयो मयि बलं जयः पार्थे धनंजये ।

मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः ।। १३ ।।

श्रीकृष्णमें नीति है, मुझमें बल है और अर्जुनमें विजयकी शक्ति है। हम तीनों मिलकर मगधराज जरासंधके वधका कार्य पूरा कर लेंगे; ठीक उसी तरह, जैसे तीनों अग्नियाँ यज्ञकी सिद्धि कर देती हैं ।। १३ ।।

(त्वद्बुद्धिबलमाश्रित्य सर्वं प्राप्स्यति धर्मराट् ।
जयोऽस्माकं हि गोविन्द येषां नाथो भवान् सदा ।।)

गोविन्द! आपके बुद्धिबलका आश्रय लेकर धर्मराज युधिष्ठिर सब कुछ पा सकते हैं। जिनकी सदा रक्षा करनेवाले आप हैं, उनकी—हम पाण्डवोंकी विजय निश्चित है।

कृष्ण उवाच

अर्थानारभते बालो नानुबन्धमवेक्षते ।
तस्मादरिं न मृष्यन्ति बालमर्थपरायणम् ।। १४ ।।
जित्वा जय्यान् यौवनाश्विः पालनाच्च भगीरथः ।
कार्तवीर्यस्तपोवीर्याद् बलात् तु भरतो विभुः ।। १५ ।।

श्रीकृष्णने कहा—राजन्! अज्ञानी मनुष्य बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ तो कर देता है, परंतु उनके परिणामकी ओर नहीं देखता। अतः केवल अपने स्वार्थसाधनमें लगे हुए विवेकशून्य शत्रुके व्यवहारको वीर पुरुष नहीं सह सकते। युवनाश्वके पुत्र मान्धाताने जीतनेयोग्य शत्रुओंको जीतकर सम्राट्का पद प्राप्त किया था। भगीरथ प्रजाका पालन करनेसे, कार्तवीर्य (सहस्रबाहु अर्जुन) तपोबलसे तथा राजा भरत स्वाभाविक बलसे सम्राट् हुए थे ।। १४-१५ ।।

ऋद्ध्या मरुत्तस्तान् पञ्च सम्राजस्त्वनुशुश्रुम ।
साम्राज्यमिच्छतस्ते तु सर्वाकारं युधिष्ठिर ।। १६ ।।
निग्राह्यलक्षणं प्राप्तिर्धर्मार्थनयलक्षणैः ।। १७ ।।

इसी प्रकार राजा मरुत्त अपनी समृद्धिके प्रभावसे सम्राट् बने थे। अबतक उन पाँच सम्राटोंका ही नाम हम सुनते आ रहे हैं। युधिष्ठिर! वे मान्धाता आदि एक-एक गुणसे ही सम्राट् हो सके थे; परंतु आप तो सम्पूर्णरूपसे सम्राट्पद प्राप्त करना चाहते हैं। साम्राज्य-प्राप्तिके जो पाँच गुण—शत्रुविजय, प्रजापालन, तपःशक्ति, धन-समृद्धि और उत्तम नीति हैं, उन सबसे आप सम्पन्न हैं ।। १६-१७ ।।

बार्हद्रथो जरासंधस्तद् विद्धि भरतर्षभ ।
न चैनमनुरुद्ध्यन्ते कुलान्येकशतं नृपाः ।
तस्मादिह बलादेव साम्राज्यं कुरुते हि सः ।। १८ ।।

परंतु भरतश्रेष्ठ! आपके मार्गमें बृहद्रथका पुत्र जरासंध बाधक है, यह आपको जान लेना चाहिये। क्षत्रियोंके जो एक सौ कुल हैं, वे कभी उसका अनुसरण नहीं करते, अतः वह

बलसे ही अपना साम्राज्य स्थापित कर रहा है ।। १८ ।।

रत्नभाजो हि राजानो जरासंधमुपासते ।
न च तुष्यति तेनापि बाल्यादनयमास्थितः ।। १९ ।।

जो रत्नोंके अधिपति हैं, ऐसे राजालोग (धन देकर) जरासंधकी उपासना करते हैं, परंतु वह उससे भी संतुष्ट नहीं होता। अपनी विवेकशून्यताके कारण अन्यायका आश्रय ले उनपर अत्याचार ही करता है ।। १९ ।।

मूर्धाभिषिक्तं नृपतिं प्रधानपुरुषो बलात् ।
आदत्ते न च नो दृष्टोऽभागः पुरुषतः क्वचित् ।। २० ।।

आजकल वह प्रधान पुरुष बनकर मूर्धाभिषिक्त राजाको बलपूर्वक बंदी बना लेता है। जिनका विधि-पूर्वक राज्यपर अभिषेक हुआ है, ऐसे पुरुषोंमेंसे कहीं किसी एकको भी हमने ऐसा नहीं देखा, जिसे उसने बलिका भाग न बना लिया हो—कैदमें न डाल रखा हो ।। २० ।।

एवं सर्वान् वशे चक्रे जरासंधः शतावरान् ।
तं दुर्बलतरो राजा कथं पार्थ उपैष्यति ।। २१ ।।

इस प्रकार जरासंधने लगभग सौ राजकुलोंके राजाओंमेंसे कुछको छोड़कर सबको वशमें कर लिया है। कुन्तीनन्दन! कोई अत्यन्त दुर्बल राजा उससे भिड़नेका साहस कैसे करेगा ।। २१ ।।

प्रोक्षितानां प्रमृष्टानां राज्ञां पशुपतेर्गृहे ।
पशूनामिव का प्रीतिर्जीविते भरतर्षभ ।। २२ ।।

भरतश्रेष्ठ! रुद्रदेवताको बलि देनेके लिये जल छिड़ककर एवं मार्जन करके शुद्ध किये हुए पशुओंकी भाँति जो पशुपतिके मन्दिरमें कैद हैं, उन राजाओंको अब अपने जीवनमें क्या प्रीति रह गयी है? ।। २२ ।।

क्षत्रियः शस्त्रमरणो यदा भवति सत्कृतः ।
ततः स्म मागधं संख्ये प्रतिबाधेम यद् वयम् ।। २३ ।।

क्षत्रिय जब युद्धमें अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा मारा जाता है, तब यह उसका सत्कार है; अतः हमलोग जरासंधको द्वन्द्व-युद्धमें मार डालें ।। २३ ।।

षडशीतिः समानीताः शेषा राजंश्चतुर्दश ।
जरासंधेन राजानस्ततः क्रूरं प्रवर्त्स्यते ।। २४ ।।

राजन्! जरासंधने सौमेंसे छियासी (प्रतिशत) राजाओंको तो कैद कर लिया है, केवल चौदह (प्रतिशत) बाकी हैं। उनको भी बंदी बनानेके पश्चात् वह क्रूर कर्ममें प्रवृत्त होगा ।। २४ ।।

प्राप्नुयात् स यशो दीप्तं तत्र यो विघ्नमाचरेत् ।
जयेद् यश्च जरासंधं स सम्राण्नियतं भवेत् ।। २५ ।।

जो उसके इस कर्ममें विघ्न डालेगा, वह उज्ज्वल यशका भागी होगा तथा जो जरासंधको जीत लेगा, वह निश्चय ही सम्राट् होगा ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः ।। १५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें श्रीकृष्णवाक्य-विषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

षोडशोऽध्यायः

जरासंधको जीतनेके विषयमें युधिष्ठिरके उत्साहहीन होनेपर अर्जुनका उत्साहपूर्ण उद्‌गार

युधिष्ठिर उवाच

सम्राड्‌गुणमभीप्सन् वै युष्मान् स्वार्थपरायणः ।
कथं प्रहिणुयां कृष्ण सोऽहं केवलसाहसात् ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण! मैं सम्राट्‌के गुणोंको प्राप्त करनेकी इच्छा रखकर स्वार्थसाधनमें तत्पर हो केवल साहसके भरोसे आपलोगोंको जरासंधके पास कैसे भेज दूँ? ।। १ ।।

भीमार्जुनावुभौ नेत्रे मनो मन्ये जनार्दनम् ।
मनश्चक्षुर्विहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत् ।। २ ।।

भीमसेन और अर्जुन मेरे दोनों नेत्र हैं और जनार्दन आपको मैं अपना मन मानता हूँ। अपने मन और नेत्रोंको खो देनेपर मेरा यह जीवन कैसा हो जायगा? ।। २ ।।

जरासंधबलं प्राप्य दुष्पारं भीमविक्रमम् ।
यमोऽपि न विजेताऽऽजौ तत्र वः किं विचेष्टितम् ।। ३ ।।

जरासंधकी सेनाका पार पाना कठिन है। उसका पराक्रम भयानक है। युद्धमें उस सेनाका सामना करके यमराज भी विजयी नहीं हो सकते, फिर वहाँ आपलोगोंका प्रयत्न क्या कर सकता है? ।। ३ ।।

(कथं जित्वा पुनर्यूयमस्मान् सम्प्रति यास्यथ ।)
अस्मिंस्त्वर्थान्तरे युक्तमनर्थः प्रतिपद्यते ।
तस्मान्न प्रतिपत्तिस्तु कार्या युक्ता मता मम ।। ४ ।।

आपलोग किस प्रकार उसे जीतकर फिर हमारे पास लौट सकेंगे? यह कार्य हमारे लिये इष्ट फलके विपरीत फल देनेवाला जान पड़ता है। इसमें लगे हुए मनुष्यको निश्चय ही अनर्थकी प्राप्ति होती है। इसलिये अबतक हम जिसे करना चाहते थे, उस राजसूययज्ञकी ओर ध्यान देना उचित नहीं जान पड़ता ।। ४ ।।

यथाहं विमृशाम्येकस्तत् तावच्छ्रूयतां मम ।
संन्यासं रोचये साधु कार्यस्यास्य जनार्दन ।
प्रतिहन्ति मनो मेऽद्य राजसूयो दुराहरः ।। ५ ।।

जनार्दन! इस विषयमें मैं अकेले जैसा सोचता हूँ, मेरे उस विचारको आप सुनें। मुझे तो इस कार्यको छोड़ देना ही अच्छा लगता है। राजसूयका अनुष्ठान बहुत कठिन है। अब यह

मेरे मनको निरुत्साह कर रहा है ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्ये च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ।। ६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीनन्दन अर्जुन उत्तम गाण्डीव धनुष, दो अक्षय तूणीर, दिव्य रथ, ध्वजा और सभा प्राप्त कर चुके थे; इससे उत्साहित होकर वे युधिष्ठिरसे बोले ।। ६ ।।

अर्जुन उवाच

धनुः शस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ।। ७ ।।

अर्जुनने कहा—राजन्! धनुष, शस्त्र, बाण, पराक्रम, श्रेष्ठ सहायक, भूमि, यश और बलकी प्राप्ति बड़ी कठिनाईसे होती है; किंतु ये सभी दुर्लभ वस्तुएँ मुझे अपनी इच्छाके अनुकूल प्राप्त हुई हैं ।। ७ ।।

कुले जन्म प्रशंसन्ति वैद्याः साधु सुनिष्ठिताः ।
बलेन सदृशं नास्ति वीर्यं तु मम रोचते ।। ८ ।।

अनुभवी विद्वान् उत्तम कुलमें जन्मकी बड़ी प्रशंसा करते हैं; परंतु बलके समान वह भी नहीं है। मुझे तो बल-पराक्रम ही श्रेष्ठ जान पड़ता है ।। ८ ।।

कृतवीर्यकुले जातो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।
निर्वीर्ये तु कुले जातो वीर्यवांस्तु विशिष्यते ।। ९ ।।

महापराक्रमी राजा कृतवीर्यके कुलमें उत्पन्न होकर भी जो स्वयं निर्बल है, वह क्या करेगा? निर्बल कुलमें जन्म लेकर भी जो बलवान् और पराक्रमी है, वही श्रेष्ठ है ।। ९ ।।

क्षत्रियः सर्वशो राजन् यस्य वृत्तिर्द्विषज्जये ।
सर्वैर्गुणैर्विहीनोऽपि वीर्यवान् हि तरेद् रिपून् ।। १० ।।

महाराज! शत्रुओंको जीतनेमें जिसकी प्रवृत्ति हो, वही सब प्रकारसे श्रेष्ठ क्षत्रिय है। बलवान् पुरुष सब गुणोंसे हीन हो, तो भी वह शत्रुओंके संकटसे पार हो सकता है ।। १० ।।

सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।
गुणीभूता गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे ।। ११ ।।

जो निर्बल है, वह सर्वगुणसम्पन्न होकर भी क्या करेगा? पराक्रममें सभी गुण उसके अंग बनकर रहते हैं ।। ११ ।।

जयस्य हेतुः सिद्धिर्हि कर्म दैवं च संश्रितम् ।
संयुक्तो हि बलैः कश्चित् प्रमादान्नोपयुज्यते ।। १२ ।।

महाराज! सिद्धि (मनोयोग) और प्रारब्धके अनुकूल पुरुषार्थ ही विजयका हेतु है। कोई बलसे संयुक्त होनेपर भी प्रमाद करे—कर्तव्यमें मन न लगावे, तो वह अपने उद्देश्यमें सफल नहीं हो सकता ।। १२ ।।

तेन द्वारेण शत्रुभ्यः क्षीयते सबलो रिपुः ।। १३ ।।

प्रमादरूप छिद्रके कारण बलवान् शत्रु भी अपने शत्रुओंद्वारा मारा जाता है ।। १३ ।।

दैन्यं यथा बलवति तथा मोहो बलान्विते ।
तावुभौ नाशकौ हेतू राज्ञा त्याज्यौ जयार्थिना ।। १४ ।।

बलवान् पुरुषमें जैसे दीनताका होना बड़ा भारी दोष है, वैसे ही बलिष्ठ पुरुषमें मोहका होना भी महान् दुर्गुण है। दीनता और मोह दोनों विनाशके कारण हैं; अतः विजय चाहनेवाले राजाके लिये वे दोनों ही त्याज्य हैं ।। १४ ।।

जरासंधविनाशं च राज्ञां च परिरक्षणम् ।
यदि कुर्याम यज्ञार्थं किं ततः परमं भवेत् ।। १५ ।।

यदि हम राजसूययज्ञकी सिद्धिके लिये जरासंधका विनाश तथा कैदमें पड़े हुए राजाओंकी रक्षा कर सकें तो इससे उत्तम और क्या हो सकता है? ।। १५ ।।

अनारम्भे हि नियतो भवेदगुणनिश्चयः ।
गुणान्निःसंशयाद् राजन् नैर्गुण्यं मन्यसे कथम् ।। १६ ।।

यदि हम यज्ञका आरम्भ नहीं करते हैं तो निश्चय ही हमारी अयोग्यता एवं दुर्बलता प्रकट होती है; अतः राजन्! सुनिश्चित गुणकी उपेक्षा करके आप निर्गुणताका कलंक क्यों स्वीकार कर रहे हैं? ।। १६ ।।

काषायं सुलभं पश्चान्मुनीनां शममिच्छताम् ।
साम्राज्यं तु भवेच्छक्यं वयं योत्स्यामहे परान् ।। १७ ।।

ऐसा करनेपर तो शान्तिकी इच्छा रखनेवाले संन्यासियोंका गेरुआ वस्त्र ही हमें सुलभ होगा, परंतु हमलोग साम्राज्यको प्राप्त करनेमें समर्थ हैं; अतः हमलोग शत्रुओंसे अवश्य युद्ध करेंगे ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधवधमन्त्रणे षोडशोऽध्यायः ।। १६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधवधके लिये मन्त्रणाविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६ ।।

सप्तदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनकी बातका अनुमोदन तथा युधिष्ठिरको जरासंधकी उत्पत्तिका प्रसंग सुनाना

वासुदेव उवाच

जातस्य भारते वंशे तथा कुन्त्याः सुतस्य च ।
या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेन प्रदर्शिता ।। १ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन्! भरतवंशमें उत्पन्न पुरुष और कुन्ती-जैसी माताके पुत्रकी जैसी बुद्धि होनी चाहिये, अर्जुनने यहाँ उसीका परिचय दिया है ।। १ ।।

न स्म मृत्युं वयं विद्म रात्रौ वा यदि वा दिवा ।
न चापि कंचिदमरमयुद्धेनानुशुश्रुम ।। २ ।।

महाराज! हमलोग यह नहीं जानते कि मौत कब आयेगी? रातमें आयेगी या दिनमें? (क्योंकि उसके नियत समयका ज्ञान किसीको नहीं है।) हमने यह भी नहीं सुना है कि युद्ध न करनेके कारण कोई अमर हो गया हो ।। २ ।।

एतावदेव पुरुषैः कार्यं हृदयतोषणम् ।
नयेन विधिदृष्टेन यदुपक्रमते परान् ।। ३ ।।

अतः वीर पुरुषोंका इतना ही कर्तव्य है कि वे अपने हृदयके संतोषके लिये नीतिशास्त्रमें बतायी हुई नीतिके अनुसार शत्रुओंपर आक्रमण करें ।। ३ ।।

सुनयस्यानपायस्य संयोगे परमः क्रमः ।
संगत्या जायतेऽसाम्यं साम्यं च न भवेद् द्वयोः ।। ४ ।।

दैव आदिकी प्रतिकूलतासे रहित अच्छी नीति एवं सलाह प्राप्त होनेपर आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्णरूपसे सफल होता है। शत्रुके साथ भिड़नेपर ही दोनों पक्षोंका अन्तर ज्ञात होता है। दोनों दल सभी बातोंमें समान ही हों, ऐसा सम्भव नहीं ।। ४ ।।

अनयस्यानुपायस्य संयुगे परमः क्षयः ।
संशयो जायते साम्याज्जयश्च न भवेद् द्वयोः ।। ५ ।।

जिसने अच्छी नीति नहीं अपनायी है और उत्तम उपायसे काम नहीं लिया है, उसका युद्धमें सर्वथा विनाश होता है। यदि दोनों पक्षोंमें समानता हो तो संशय ही रहता है तथा दोनोंमेंसे किसीकी भी जय अथवा पराजय नहीं होती ।। ५ ।।

ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः ।
कथमन्तं न गच्छेम वृक्षस्येव नदीरयाः ।
पररन्ध्रे पराक्रान्ताः स्वरन्ध्रावरणे स्थिताः ।। ६ ।।

जब हमलोग नीतिका आश्रय लेकर शत्रुके शरीरके निकटतक पहुँच जायँगे, तब जैसे नदीका वेग किनारेके वृक्षको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार हम शत्रुका अन्त क्यों न कर डालेंगे? हम अपने छिद्रोंको छिपाये रखकर शत्रुके छिद्रको देखेंगे और अवसर मिलते ही उसपर बलपूर्वक आक्रमण कर देंगे ।। ६ ।।

व्यूढानीकैरतिबलैर्न युद्ध्येदरिभिः सह ।
इति बुद्धिमतां नीतिस्तन्ममापीह रोचते ।। ७ ।।

जिनकी सेनाएँ मोर्चा बाँधकर खड़ी हों और जो अत्यन्त बलवान् हों, ऐसे शत्रुओंके साथ (सम्मुख होकर) युद्ध नहीं करना चाहिये; यह बुद्धिमानोंकी नीति है। यही नीति यहाँ मुझे भी अच्छी लगती है ।। ७ ।।

अनवद्या ह्यसम्बुद्धाः प्रविष्टाः शत्रुसद्म तत् ।
शत्रुदेहमुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे ।। ८ ।।

यदि हम छिपे-छिपे शत्रुके घरतक पहुँच जायँ तो यह हमारे लिये कोई निन्दाकी बात नहीं होगी। फिर हम शत्रुके शरीरपर आक्रमण करके अपना काम बना लेंगे ।। ८ ।।

एको ह्येव श्रियं नित्यं बिभर्ति पुरुषर्षभः ।
अन्तरात्मेव भूतानां तत्क्षयं नैव लक्षये ।। ९ ।।

यह पुरुषोंमें श्रेष्ठ जरासंध प्राणियोंके भीतर स्थित आत्माकी भाँति सदा अकेला ही साम्राज्यलक्ष्मीका उपभोग करता है; अतः उसका और किसी उपायसे नाश होता नहीं दिखायी देता (उसके विनाशके लिये हमें स्वयं प्रयत्न करना होगा) ।। ९ ।।

अथवैनं निहत्याजौ शेषेणापि समाहताः ।
प्राप्नुयाम ततः स्वर्गं ज्ञातित्राणपरायणाः ।। १० ।।

अथवा यदि जरासंधको युद्धमें मारकर उसके पक्षमें रहनेवाले शेष सैनिकोंद्वारा हम भी मारे गये तो भी हमें कोई हानि नहीं है। अपने जाति-भाइयोंकी रक्षामें संलग्न होनेके कारण हमें स्वर्गकी ही प्राप्ति होगी ।। १० ।।

युधिष्ठिर उवाच

कृष्ण कोऽयं जरासंधः किंवीर्यः किम्पराक्रमः ।
यस्त्वां स्पृष्ट्वाग्निसदृशं न दग्धः शलभो यथा ।। ११ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—श्रीकृष्ण! यह जरासंध कौन है? उसका बल और पराक्रम कैसा है जो प्रज्वलित अग्निके समान आपका स्पर्श करके भी पतंगके समान जलकर भस्म नहीं हो गया? ।। ११ ।।

कृष्ण उवाच

शृणु राजन् जरासंधो यद्वीर्यो यत्पराक्रमः ।
यथा चोपेक्षितोऽस्माभिर्बहुशः कृतविप्रियः ।। १२ ।।

श्रीकृष्णने कहा—राजन्! जरासंधका बल और पराक्रम कैसा है तथा अनेक बार हमारा अप्रिय करनेपर भी हमलोगोंने क्यों उसकी उपेक्षा कर दी, यह सब बता रहा हूँ, सुनिये ।। १२ ।।

अक्षौहिणीनां तिसृणां पतिः समरदर्पितः ।
राजा बृहद्रथो नाम मगधाधिपतिर्बली ।। १३ ।।

मगधदेशमें बृहद्रथ नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् राजा राज्य करते थे। वे तीन अक्षौहिणी सेनाओंके स्वामी और युद्धमें बड़े अभिमानके साथ लड़नेवाले थे ।। १३ ।।

रूपवान् वीर्यसम्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः ।
नित्यं दीक्षाङ्कितततनुः शतक्रतुरिवापरः ।। १४ ।।

राजा बृहद्रथ बड़े ही रूपवान्, बलवान्, धनवान् और अनुपम पराक्रमी थे। उनका शरीर दूसरे इन्द्रकी भाँति सदा यज्ञकी दीक्षाके चिह्नोंसे ही सुशोभित होता रहता था ।। १४ ।।

तेजसा सूर्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसमः ।
यमान्तकसमः क्रोधे श्रिया वैश्रवणोपमः ।। १५ ।।

वे तेजमें सूर्य, क्षमामें पृथ्वी, क्रोधमें यमराज और धन-सम्पत्तिमें कुबेरके समान थे ।। १५ ।।

तस्याभिजनसंयुक्तैर्गुणैर्भरतसत्तम ।
व्याप्तेयं पृथिवी सर्वा सूर्यस्येव गभस्तिभिः ।। १६ ।।

भरतश्रेष्ठ! जैसे सूर्यकी किरणोंसे यह सारी पृथ्वी आच्छादित हो जाती है, उसी प्रकार उनके उत्तम कुलोचित सद्‌गुणोंसे समस्त भूमण्डल व्याप्त हो रहा था—सर्वत्र उनके गुणोंकी चर्चा एवं प्रशंसा होती रहती थी ।। १६ ।।

स काशिराजस्य सुते यमजे भरतर्षभ ।
उपयेमे महावीर्यो रूपद्रविणसंयुते ।
तयोश्चकार समयं मिथः स पुरुषर्षभः ।। १७ ।।
नातिवर्तिष्य इत्येवं पत्नीभ्यां संनिधौ तदा ।
स ताभ्यां शुशुभे राजा पत्नीभ्यां वसुधाधिपः ।। १८ ।।
प्रियाभ्यामनुरूपाभ्यां करेणुभ्यामिव द्विपः ।

भरतकुलभूषण! महापराक्रमी राजा बृहद्रथने काशिराजकी दो जुड़वीं कन्याओंके साथ, जो अपनी रूप-सम्पत्तिसे अपूर्व शोभा पा रही थीं, विवाह किया और उन नरश्रेष्ठने एकान्तमें अपनी दोनों पत्नियोंके समीप यह प्रतिज्ञा की कि मैं तुम दोनोंके साथ कभी विषम व्यवहार नहीं करूँगा (अर्थात् दोनोंके प्रति समानरूपसे मेरा प्रेमभाव बना रहेगा)। जैसे दो हथिनियोंके साथ गजराज सुशोभित होता है, उसी प्रकार वे महाराज बृहद्रथ अपने मनके अनुरूप दोनों प्रिय पत्नियोंके साथ शोभा पाने लगे ।। १७-१८½ ।।

तयोर्मध्यगतश्चापि रराज वसुधाधिपः ।। १९ ।।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये मूर्तिमानिव सागरः ।

जब वे दोनों पत्नियोंके बीच विराजमान होते, उस समय ऐसा जान पड़ता, मानो गंगा और यमुनाके बीचमें मूर्तिमान् समुद्र सुशोभित हो रहा है ।। १९½ ।।

विषयेषु निमग्नस्य तस्य यौवनमभ्यगात् ।। २० ।।
न च वंशकरः पुत्रस्तस्याजायत कश्चन ।
मङ्गलैर्बहुभिर्होमैः पुत्रकामाभिरिष्टिभिः ।
नाससाद नृपश्रेष्ठः पुत्रं कुलविवर्धनम् ।। २१ ।।

विषयोंमें डूबे हुए राजाकी सारी जवानी बीत गयी, परंतु उन्हें कोई वंश चलानेवाला पुत्र नहीं प्राप्त हुआ। उन श्रेष्ठ नरेशने बहुत-से मांगलिक कृत्य, होम और पुत्रेष्टियज्ञ कराये, तो भी उन्हें वंशकी वृद्धि करनेवाले पुत्रकी प्राप्ति नहीं हुई ।। २०-२१ ।।

अथ काक्षीवतः पुत्रं गौतमस्य महात्मनः ।
शुश्राव तपसि श्रान्तमुदारं चण्डकौशिकम् ।। २२ ।।
यदृच्छयाऽऽगतं तं तु वृक्षमूलमुपाश्रितम् ।
पत्नीभ्यां सहितो राजा सर्वरत्नैरतोषयत् ।। २३ ।।

एक दिन उन्होंने सुना कि गौतमगोत्रीय महात्मा काक्षीवान्‌के पुत्र परम उदार चण्डकौशिक मुनि तपस्यासे उपरत होकर अकस्मात् इधर आ गये हैं और एक वृक्षके नीचे बैठे हैं। यह समाचार पाकर राजा बृहद्रथ अपनी दोनों पत्नियों (एवं पुरवासियों)-के साथ उनके पास गये तथा सब प्रकारके रत्नों (मुनिजनोचित उत्कृष्ट वस्तुओं)-की भेंट देकर उन्हें संतुष्ट किया ।। २२-२३ ।।

(बृहद्रथं च स ऋषिः यथावत् प्रत्यनन्दत ।
उपविष्टश्च तेनाथ अनुज्ञातो महात्मना ।।
तमपृच्छत् तदा विप्रः किमागमनमित्यथ ।
पौरैरनुगतस्यैव पत्नीभ्यां सहितस्य च ।।

महर्षिने भी यथोचित बर्तावद्वारा बृहद्रथको प्रसन्न किया। उन महात्माकी आज्ञा पाकर राजा उनके निकट बैठे। उस समय ब्रह्मर्षि चण्डकौशिकने उनसे पूछा—'राजन्! अपनी दोनों पत्नियों और पुरवासियोंके साथ यहाँ तुम्हारा आगमन किस उद्देश्यसे हुआ है?'।

स उवाच मुनिं राजा भगवन् नास्ति मे सुतः ।
अपुत्रस्य वृथा जन्म इत्याहुर्मुनिसत्तम ।।

तब राजाने मुनिसे कहा—'भगवन्! मेरे कोई पुत्र नहीं है। मुनिश्रेष्ठ! लोग कहते हैं कि पुत्रहीन मनुष्यका जन्म व्यर्थ है।

तादृशस्य हि राज्येन वृद्धत्वे किं प्रयोजनम् ।
सोऽहं तपश्चरिष्यामि पत्नीभ्यां सहितो वने ।।

'इस बुढ़ापेमें पुत्रहीन रहकर मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है? इसलिये अब मैं दोनों पत्नियोंके साथ तपोवनमें रहकर तपस्या करूँगा।

नाप्रजस्य मुने कीर्तिः स्वर्गश्चैवाक्षयो भवेत् ।
एवमुक्तस्य राज्ञा तु मुनेः कारुण्यमागतम् ।।)

'मुने! संतानहीन मनुष्यको न तो इस लोकमें कीर्ति प्राप्त होती है और न परलोकमें अक्षय स्वर्ग ही प्राप्त होता है।' राजाके ऐसा कहनेपर महर्षिको दया आ गयी।

तमब्रवीत् सत्यधृतिः सत्यवागृषिसत्तमः ।
परितुष्टोऽस्मि राजेन्द्र वरं वरय सुव्रत ।। २४ ।।
ततः सभार्यः प्रणतस्तमुवाच बृहद्रथः ।
पुत्रदर्शननैराश्याद् वाष्पसंदिग्धया गिरा ।। २५ ।।

तब धैर्यसे सम्पन्न और सत्यवादी मुनिवर चण्डकौशिकने राजा बृहद्रथसे कहा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजेन्द्र! मैं तुमपर संतुष्ट हूँ। तुम इच्छानुसार वर माँगो।' यह सुनकर राजा बृहद्रथ अपनी दोनों रानियोंके साथ मुनिके चरणोंमें पड़ गये और पुत्रदर्शनसे निराश होनेके कारण नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए गद्‌गद वाणीमें बोले ।। २४-२५ ।।

राजोवाच

भगवन् राज्यमुत्सृज्य प्रस्थितोऽहं तपोवनम् ।
किं वरेणाल्पभाग्यस्य किं राज्येनाप्रजस्य मे ।। २६ ।।

राजाने कहा—भगवन्! मैं तो अब राज्य छोड़कर तपोवनकी ओर चल पड़ा हूँ। मुझ अभागे और संतानहीनको वर अथवा राज्यकी क्या आवश्यकता? ।। २६ ।।

श्रीकृष्ण उवाच

एतच्छ्रुत्वा मुनिर्ध्यानमगमत् क्षुभितेन्द्रियः ।
तस्यैव चाम्रवृक्षस्यच्छायायां समुपाविशत् ।। २७ ।।

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजाका यह कातर वचन सुनकर मुनिकी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो गयीं (उनका हृदय पिघल गया)। तब वे ध्यानस्थ हो गये और उसी आम्रवृक्षकी छायामें बैठे रहे ।। २७ ।।

तस्योपविष्टस्य मुनेरुत्सङ्गे निपपात ह ।
अवातमशुकादष्टमेकमाम्रफलं किल ।। २८ ।।

उसी समय वहाँ बैठे हुए मुनिकी गोदमें एक आमका फल गिरा। वह न हवाके चलनेसे गिरा था, न किसी तोतेने ही उस फलमें अपनी चोंच गड़ायी थी ।। २८ ।।

तत् प्रगृह्य मुनिश्रेष्ठो हृदयेनाभिमन्त्र्य च ।
राज्ञे ददावप्रतिमं पुत्रसम्प्राप्तिकारणम् ।। २९ ।।

मुनिश्रेष्ठ चण्डकौशिकने उस अनुपम फलको हाथमें ले लिया और उसे मन-ही-मन अभिमन्त्रित करके पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये राजाको दे दिया ।। २९ ।।

उवाच च महाप्राज्ञस्तं राजानं महामुनिः ।
गच्छ राजन् कृतार्थोऽसि निवर्तस्व नराधिप ।। ३० ।।

तत्पश्चात् उन महाज्ञानी महामुनिने राजासे कहा—'राजन्! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया। नरेश्वर! अब तुम अपनी राजधानीको लौट जाओ ।। ३० ।।

(एष ते तनयो राजन् मा तप्सीस्त्वं तपो वने ।
प्रजाः पालय धर्मेण एष धर्मो महीक्षिताम् ।।

महाराज! यह फल तुम्हें पुत्रप्राप्ति करायेगा, अब तुम वनमें जाकर तपस्या न करो; धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करो। यही राजाओंका धर्म है।

यजस्व विविधैर्यज्ञैरिन्द्रं तर्पय चेन्दुना ।
पुत्रं राज्ये प्रतिष्ठाप्य तत आश्रममाव्रज ।।

'नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करो और देवराज इन्द्रको सोमरससे तृप्त करो। फिर पुत्रको राज्यसिंहासनपर बिठाकर वानप्रस्थाश्रममें आ जाना।

अष्टौ वरान् प्रयच्छामि तव पुत्रस्य पार्थिव ।
ब्रह्मण्यतामजेयत्वं युद्धेषु च तथा रतिम् ।।

'भूपाल! मैं तुम्हारे पुत्रके लिये आठ वर देता हूँ—वह ब्राह्मणभक्त होगा, युद्धमें अजेय होगा, उसकी युद्धविषयक रुचि कभी कम न होगी'।

प्रियातिथेयतां चैव दीनानामन्ववेक्षणम् ।
तथा बलं च सुमहल्लोके कीर्तिं च शाश्वतीम् ।।
अनुरागं प्रजानां च ददौ तस्मै स कौशिकः ।)

'वह अतिथियोंका प्रेमी होगा, दीन-दुखियोंपर उसकी सदा कृपा-दृष्टि बनी रहेगी, उसका बल महान् होगा, लोकमें उसकी अक्षय कीर्तिका विस्तार होगा और प्रजाजनोंपर उसका सदा स्नेह बना रहेगा।' इस प्रकार चण्डकौशिक मुनिने उसके लिये ये आठ वर दिये।

एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यं शिरसा प्रणिपत्य च ।
मुनेः पादौ महाप्राज्ञः स नृपः स्वगृहं गतः ।। ३१ ।।

मुनिका यह वचन सुनकर उन परम बुद्धिमान् राजा बृहद्रथने उनके दोनों चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और अपने घरको लौट गये ।। ३१ ।।

यथासमयमाज्ञाय तदा स नृपसत्तमः ।
द्वाभ्यामेकं फलं प्रादात् पत्नीभ्यां भरतर्षभ ।। ३२ ।।

भरतश्रेष्ठ! उन उत्तम नरेशने उचित कालका विचार करके दोनों पत्नियोंके लिये वह एक फल दे दिया ।। ३२ ।।

ते तदाम्रं द्विधा कृत्वा भक्षयामासतुः शुभे ।
भावित्वादपि चार्थस्य सत्यवाक्यतया मुनेः ।। ३३ ।।
तयोः समभवद् गर्भः फलप्राशनसम्भवः ।
ते च दृष्ट्वा स नृपतिः परां मुदमवाप ह ।। ३४ ।।

उन दोनों शुभस्वरूपा रानियोंने उस आमके दो टुकड़े करके एक-एक टुकड़ा खा लिया। होनेवाली बात होकर ही रहती है, इसलिये तथा मुनिकी सत्यवादिताके प्रभावसे वह फल खानेके कारण दोनों रानियोंको गर्भ रह गये। उन्हें गर्भवती हुई देखकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई ।। ३३-३४ ।।

अथ काले महाप्राज्ञ यथासमयमागते ।
प्रजायेतामुभे राजञ्छरीरशकले तदा ।। ३५ ।।

महाप्राज्ञ युधिष्ठिर! प्रसवकाल पूर्ण होनेपर उन दोनों रानियोंने यथासमय अपने गर्भसे शरीरका एक-एक टुकड़ा पैदा किया ।। ३५ ।।

एकाक्षिबाहुचरणे अर्धोदरमुखस्फिचे ।
दृष्ट्वा शरीरशकले प्रवेपतुरुभे भृशम् ।। ३६ ।।

प्रत्येक टुकड़ेमें एक आँख, एक हाथ, एक पैर, आधा पेट, आधा मुँह और कटिके नीचेका आधा भाग था। एक शरीरके उन टुकड़ोंको देखकर वे दोनों भयके मारे थर-थर काँपने लगीं ।। ३६ ।।

उद्विग्ने सह सम्मन्त्र्य ते भगिन्यौ तदाबले ।

सजीवे प्राणिशकले तत्यजाते सुदुःखिते ॥ ३७ ॥

उनका हृदय उद्विग्न हो उठा; अबला ही तो थीं। उन दोनों बहिनोंने अत्यन्त दुःखी होकर परस्पर सलाह करके उन दोनों टुकड़ोंको, जिनमें जीव तथा प्राण विद्यमान थे, त्याग दिया ॥ ३७ ॥

तयोर्धात्र्यौ सुसंवीते कृत्वा ते गर्भसम्प्लवे ।
निर्गम्यान्तःपुरद्वारात् समुत्सृज्याभिजग्मतुः ॥ ३८ ॥

उन दोनोंकी धायें गर्भके उन टुकड़ोंको कपड़ेसे ढककर अन्तःपुरके दरवाजेसे बाहर निकलीं और चौराहेपर फेंककर चली गयीं ॥ ३८ ॥

ते चतुष्पथनिक्षिप्ते जरा नामाथ राक्षसी ।
जग्राह मनुजव्याघ्र मांसशोणितभोजना ॥ ३९ ॥

पुरुषसिंह! चौराहेपर फेंके हुए उन टुकड़ोंको रक्त और मांस खानेवाली जरा नामकी एक राक्षसीने उठा लिया ॥ ३९ ॥

कर्तुकामा सुखवहे शकले सा तु राक्षसी ।
संयोजयामास तदा विधानबलचोदिता ॥ ४० ॥

विधाताके विधानसे प्रेरित होकर उस राक्षसीने उन दोनों टुकड़ोंको सुविधापूर्वक ले जानेयोग्य बनानेकी इच्छासे उस समय जोड़ दिया ॥ ४० ॥

ते समानीतमात्रे तु शकले पुरुषर्षभ ।
एकमूर्तिधरो वीरः कुमारः समपद्यत ॥ ४१ ॥

नरश्रेष्ठ! उन टुकड़ोंका परस्पर संयोग होते ही एक शरीरधारी वीर कुमार बन गया ॥ ४१ ॥

ततः सा राक्षसी राजन् विस्मयोत्फुल्ललोचना ।
न शशाक समुद्वोढुं वज्रसारमयं शिशुम् ।। ४२ ।।

राजन्! यह देखकर राक्षसीके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। उसे वह शिशु वज्रके सारतत्त्वका बना जान पड़ा। राक्षसी उसे उठाकर ले जानेमें असमर्थ हो गयी ।। ४२ ।।

बालस्ताम्रतलं मुष्टिं कृत्वा चास्ये निधाय सः ।
प्राक्रोशदतिसंरब्धः सतोय इव तोयदः ।। ४३ ।।

उस बालकने अपने लाल हथेलीवाले हाथोंकी मुट्ठी बाँधकर मुँहमें डाल ली और अत्यन्त क्रुद्ध होकर जलसे भरे मेघकी भाँति गम्भीर स्वरसे रोना शुरू कर दिया ।। ४३ ।।

तेन शब्देन सम्भ्रान्तः सहसान्तःपुरे जनः ।
निर्जगाम नरव्याघ्र राज्ञा सह परंतप ।। ४४ ।।

परंतप नरव्याघ्र! बालकके उस रोने-चिल्लानेके शब्दसे रनिवासकी सब स्त्रियाँ घबरा उठीं तथा राजाके साथ सहसा बाहर निकलीं ।। ४४ ।।

ते चाबले परिम्लाने पयःपूर्णपयोधरे ।
निराशे पुत्रलाभाय सहसैवाभ्यगच्छताम् ।। ४५ ।।

दूधसे भरे हुए स्तनोंवाली वे दोनों अबला रानियाँ भी, जो पुत्रप्राप्तिकी आशा छोड़ चुकी थीं, मलिन मुख हो सहसा बाहर निकल आयीं ।। ४५ ।।

अथ दृष्ट्वा तथाभूते राजानं चेष्टसंततिम् ।
तं च बालं सुबलिनं चिन्तयामास राक्षसी ।। ४६ ।।
नार्हामि विषये राज्ञो वसन्ती पुत्रगृद्धिनः ।
बालं पुत्रमिमं हन्तुं धार्मिकस्य महात्मनः ।। ४७ ।।

उन दोनों रानियोंको उस प्रकार उदास, राजाको संतान पानेके लिये उत्सुक तथा उस बालकको अत्यन्त बलवान् देखकर राक्षसीने सोचा, 'मैं इस राजाके राज्यमें रहती हूँ। यह पुत्रकी इच्छा रखता है; अतः इस धर्मात्मा तथा महात्मा नरेशके बालक पुत्रकी हत्या करना मेरे लिये उचित नहीं है' ।। ४६-४७ ।।

सा तं बालमुपादाय मेघलेखेव भास्करम् ।
कृत्वा च मानुषं रूपमुवाच वसुधाधिपम् ।। ४८ ।।

ऐसा विचारकर उस राक्षसीने मानवीका रूप धारण किया और जैसे मेघमाला सूर्यको धारण करे, उसी प्रकार वह उस बालकको गोदमें उठाकर भूपालसे बोली ।। ४८ ।।

राक्षस्युवाच

बृहद्रथ सुतस्तेऽयं मया दत्तः प्रगृह्यताम् ।
तव पत्नीद्वये जातो द्विजातिवरशासनात् ।
धात्रीजनपरित्यक्तो मयायं परिरक्षितः ।। ४९ ।।

राक्षसीने कहा—बृहद्रथ! यह तुम्हारा पुत्र है, जिसे मैंने तुम्हें दिया है। तुम इसे ग्रहण करो। ब्रह्मर्षिके वरदान एवं आशीर्वादसे तुम्हारी पत्नियोंके गर्भसे इसका जन्म हुआ है। धायोंने इसे घरके बाहर लाकर डाल दिया था; किंतु मैंने इसकी रक्षा की है ।। ४९ ।।

श्रीकृष्ण उवाच

ततस्ते भरतश्रेष्ठ काशिराजसुते शुभे ।
तं बालमभिपद्याशु प्रस्रवैरभ्यषिञ्चताम् ।। ५० ।।

श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतकुलभूषण! तब काशिराजकी उन दोनों शुभलक्षणा कन्याओंने उस बालकको तुरंत गोदमें लेकर उसे स्तनोंके दूधसे सींच दिया ।। ५० ।।

ततः स राजा संहृष्टः सर्वं तदुपलभ्य च ।
अपृच्छद्धेमगर्भाभां राक्षसीं तामराक्षसीम् ।। ५१ ।।

यह सब देख-सुनकर राजाके हर्षकी सीमा न रही। उन्होंने सुवर्णकी-सी कान्तिवाली उस राक्षसीसे, जो स्वरूप-से राक्षसी नहीं जान पड़ती थी, इस प्रकार पूछा ।। ५१ ।।

राजोवाच

का त्वं कमलगर्भाभे मम पुत्रप्रदायिनी ।
कामया ब्रूहि कल्याणि देवता प्रतिभासि मे ।। ५२ ।।

राजाने कहा—कमलके भीतरी भागके समान मनोहर कान्तिवाली कल्याणी! मुझे पुत्र प्रदान करनेवाली तुम कौन हो? बताओ। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम इच्छानुसार विचरनेवाली कोई देवी हो ।। ५२ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधोत्पत्तौ सप्तदशोऽध्यायः ।। १७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधकी उत्पत्तिविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९ ½ श्लोक मिलाकर कुल ६१ ½ श्लोक हैं)

अष्टादशोऽध्यायः

जरा राक्षसीका अपना परिचय देना और उसीके नामपर बालकका नामकरण होना

राक्षस्युवाच

जरा नामास्मि भद्रं ते राक्षसी कामरूपिणी ।
तव वेश्मनि राजेन्द्र पूजिता न्यवसं सुखम् ।। १ ।।

राक्षसीने कहा—राजेन्द्र! तुम्हारा कल्याण हो। मेरा नाम जरा है। मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली राक्षसी हूँ और तुम्हारे घरमें पूजित हो सुखपूर्वक रहती चली आयी हूँ ।। १ ।।

गृहे गृहे मनुष्याणां नित्यं तिष्ठामि राक्षसी ।
गृहदेवीति नाम्ना वै पुरा सृष्टा स्वयंभुवा ।। २ ।।

मैं मनुष्योंके घर-घरमें सदा मौजूद रहती हूँ। कहनेको मैं राक्षसी ही हूँ; किंतु पूर्वकालमें ब्रह्माजीने गृहदेवीके नामसे मेरी सृष्टि की थी ।। २ ।।

दानवानां विनाशाय स्थापिता दिव्यरूपिणी ।
यो मां भक्त्या लिखेत् कुड्ये सपुत्रां यौवनान्विताम् ।। ३ ।।
गृहे तस्य भवेद् वृद्धिरन्यथा क्षयमाप्नुयात् ।
त्वद्‌गृहे तिष्ठमानाहं पूजिताहं सदा विभो ।। ४ ।।

और उन्होंने मुझे दानवोंके विनाशके लिये नियुक्त किया था। मैं दिव्य रूप धारण करनेवाली हूँ। जो अपने घरकी दीवारपर मुझे अनेक पुत्रोंसहित युवती स्त्रीके रूपमें भक्तिपूर्वक लिखता है (मेरा चित्र अंकित करता है), उसके घरमें सदा वृद्धि होती है; अन्यथा उसे हानि उठानी पड़ती है। प्रभो! मैं तुम्हारे घरमें रहकर सदा पूजित होती चली आयी हूँ ।। ३-४ ।।

लिखिता चैव कुड्येषु पुत्रैर्बहुभिरावृता ।
गन्धपुष्पैस्तथा धूपैर्भक्ष्यभोज्यैः सुपूजिता ।। ५ ।।

एवं तुम्हारे घरकी दीवारोंपर मेरा ऐसा चित्र अंकित किया गया है, जिसमें मैं अनेक पुत्रोंसे घिरी हुई खड़ी हूँ। उस चित्रके रूपमें मेरा गन्ध, पुष्प, धूप और भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंद्वारा भलीभाँति पूजन होता आ रहा है ।। ५ ।।

साहं प्रत्युपकारार्थं चिन्तयाम्यनिशं तव ।
तवेमे पुत्रशकले दृष्टवत्यस्मि धार्मिक ।। ६ ।।
संश्लेषिते मया दैवात् कुमारः समपद्यत ।

तव भाग्यान्महाराज हेतुमात्रमहं त्विह ।। ७ ।।

अतः मैं उस पूजनके बदले तुम्हारा कोई उपकार करनेकी बात सदा सोचती रहती थी। धर्मात्मन्! मैंने तुम्हारे पुत्रके शरीरके इन दोनों टुकड़ोंको देखा और दोनोंको जोड़ दिया। महाराज! दैववश तुम्हारे भाग्यसे ही उन टुकड़ोंके जुड़नेसे यह राजकुमार प्रकट हो गया है। मैं तो इसमें केवल निमित्तमात्र बन गयी हूँ ।। ६-७ ।।

(तस्य बालस्य यत् कृत्यं तत् कुरुष्व नराधिप ।
मम नाम्ना च लोकेऽस्मिन् ख्यात एष भविष्यति ।।)

राजन्! अब इस बालकके लिये जो आवश्यक संस्कार हैं, उन्हें करो। यह इस संसारमें मेरे ही नामसे विख्यात होगा।

मेरुं वा खादितुं शक्ता किं पुनस्तव बालकम् ।
गृहसम्पूजनात् तुष्ट्या मया प्रत्यर्पितस्तव ।। ८ ।।

मुझमें सुमेरु पर्वतको भी निगल जानेकी शक्ति है; फिर तुम्हारे इस बच्चेको खा जाना कौन बड़ी बात है? किंतु तुम्हारे घरमें जो मेरी भलीभाँति पूजा होती आयी है, उसीसे संतुष्ट होकर मैंने तुम्हें यह बालक समर्पित किया है ।। ८ ।।

श्रीकृष्ण उवाच

एवमुक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ।
स संगृह्य कुमारं तं प्रविवेश गृहं नृपः ।। ९ ।।

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर जरा राक्षसी वहीं अन्तर्धान हो गयी और राजा उस बालकको लेकर अपने महलमें चले आये ।। ९ ।।

तस्य बालस्य यत् कृत्यं तच्चकार नृपस्तदा ।
आज्ञापयच्च राक्षस्या मगधेषु महोत्सवम् ।। १० ।।

उस समय राजाने उस बालकके जातकर्म आदि सभी आवश्यक संस्कार सम्पन्न किये और मगधदेशमें जरा राक्षसी (गृहदेवी)-के पूजनका महान् उत्सव मनानेकी आज्ञा दी ।। १० ।।

तस्य नामाकरोच्चैव पितामहसमः पिता ।
जरया संधितो यस्माज्जरासंधो भवत्वयम् ।। ११ ।।

ब्रह्माजीके समान प्रभावशाली राजा बृहद्रथने उस बालकका नाम रखते हुए कहा —‘इसको जराने संधित किया (जोड़ा) है, इसलिये इसका नाम जरासंध होगा’ ।। ११ ।।

सोऽवर्धत महातेजा मगधाधिपतेः सुतः ।
प्रमाणबलसम्पन्नो हुताहुतिरिवानलः ।
मातापित्रोर्नन्दिकरः शुक्लपक्षे यथा शशी ।। १२ ।।

मगधराजका वह महातेजस्वी बालक माता-पिताको आनन्द प्रदान करते हुए आकार और बलसे सम्पन्न हो घीकी आहुति दी जानेसे प्रज्वलित हुई अग्नि और शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति दिनोदिन बढ़ने लगा ।। १२ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधोत्पत्तौ अष्टादशोऽध्यायः ।। १८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधकी उत्पत्तिविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १३ श्लोक हैं)

एकोनविंशोऽध्यायः

चण्डकौशिक मुनिके द्वारा जरासंधका भविष्यकथन तथा पिताके द्वारा उसका राज्याभिषेक करके वनमें जाना

श्रीकृष्ण उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य पुनरेव महातपाः ।
मगधेषूपचक्राम भगवांश्चण्डकौशिकः ।। १ ।।

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! कुछ कालके पश्चात् महातपस्वी भगवान् चण्डकौशिक मुनि पुनः मगधदेशमें घूमते हुए आये ।। १ ।।

तस्यागमनसंहृष्टः सामात्यः सपुरःसरः ।
सभार्यः सह पुत्रेण निर्जगाम बृहद्रथः ।। २ ।।

उनके आगमनसे राजा बृहद्रथको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे मन्त्री, अग्रगामी सेवक, रानी तथा पुत्रके साथ मुनिके पास गये ।। २ ।।

पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तमर्चयामास भारत ।
स नृपो राज्यसहितं पुत्रं तस्मै न्यवेदयत् ।। ३ ।।

भारत! पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय आदिके द्वारा राजाने महर्षिका पूजन किया और अपने सारे राज्यके सहित पुत्रको उन्हें सौंप दिया ।। ३ ।।

प्रतिगृह्य च तां पूजां पार्थिवाद् भगवानृषिः ।
उवाच मागधं राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।। ४ ।।
सर्वमेतन्मया ज्ञातं राजन् दिव्येन चक्षुषा ।
पुत्रस्तु शृणु राजेन्द्र यादृशोऽयं भविष्यति ।। ५ ।।

महाराज! राजाकी ओरसे प्राप्त हुई उस पूजाको स्वीकार करके ऐश्वर्यशाली महर्षिने मगधनरेशको सम्बोधित करके प्रसन्न चित्तसे कहा—'राजन्! जरासंधके जन्मसे लेकर अबतककी सारी बातें मुझे दिव्य दृष्टिसे ज्ञात हो चुकी हैं। राजेन्द्र! अब यह सुनो कि तुम्हारा पुत्र भविष्यमें कैसा होगा? ।। ४-५ ।।

अस्य रूपं च सत्त्वं च बलमूर्जितमेव च ।
एष श्रिया समुदितः पुत्रस्तव न संशयः ।। ६ ।।

'इसमें रूप, सत्त्व, बल और ओजका विशेष आविर्भाव होगा। इसमें संदेह नहीं कि तुम्हारा यह पुत्र साम्राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न होगा ।। ६ ।।

प्रापयिष्यति तत् सर्वं विक्रमेण समन्वितः ।
अस्य वीर्यवतो वीर्यं नानुयास्यन्ति पार्थिवाः ।। ७ ।।

पततो वैनतेयस्य गतिमन्ये यथा खगाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति ये चास्य परिपन्थिनः ।। ८ ।।

'यह पराक्रमयुक्त होकर सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेगा। जैसे उड़ते हुए गरुडके वेगको दूसरे पक्षी नहीं पा सकते, उसी प्रकार इस बलवान् राजकुमारके शौर्यका अनुसरण दूसरे राजा नहीं कर सकेंगे। जो लोग इससे शत्रुता करेंगे, वे नष्ट हो जायँगे ।। ७-८ ।।

देवैरपि विसृष्टानि शस्त्राण्यस्य महीपते ।
न रुजं जनयिष्यन्ति गिरेरिव नदीरयाः ।। ९ ।।

'महीपते! जैसे नदीका वेग किसी पर्वतको पीड़ा नहीं पहुँचा सकता, उसी प्रकार देवताओंके छोड़े हुए अस्त्र-शस्त्र भी इसे चोट नहीं पहुँचा सकेंगे ।। ९ ।।

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामेष मुर्ध्नि ज्वलिष्यति ।
प्रभाहरोऽयं सर्वेषां ज्योतिषामिव भास्करः ।। १० ।।

'जिनके मस्तकपर राज्याभिषेक हुआ है, उन सभी राजाओंके ऊपर रहकर यह अपने तेजसे प्रकाशित होता रहेगा। जैसे सूर्य समस्त ग्रह-नक्षत्रोंकी कान्ति हर लेते हैं, उसी प्रकार यह राजकुमार समस्त राजाओंके तेजको तिरस्कृत कर देगा ।। १० ।।

एनमासाद्य राजानः समृद्धबलवाहनाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति शलभा इव पावकम् ।। ११ ।।

'जैसे फतिंगे आगमें जलकर भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार सेना और सवारियोंसे भरे-पूरे समृद्धिशाली नरेश भी इससे टक्कर लेते ही नष्ट हो जायँगे ।। ११ ।।

एष श्रियः समुदिताः सर्वराज्ञां ग्रहीष्यति ।
वर्षास्विवोदीर्णजला नदीर्नदनदीपतिः ।। १२ ।।

'यह समस्त राजाओंकी संगृहीत सम्पदाओंको उसी प्रकार अपने अधिकारमें कर लेगा, जैसे नदों और नदियोंका अधिपति समुद्र वर्षा-ऋतुमें बढ़े हुए जलवाली नदियोंको अपनेमें मिला लेता है ।। १२ ।।

एष धारयिता सम्यक् चातुर्वर्ण्यं महाबलः ।
शुभाशुभमिव स्फीता सर्वसस्यधरा धरा ।। १३ ।।

'यह महाबली राजकुमार चारों वर्णोंको भलीभाँति धारण करेगा (उन्हें आश्रय देगा;) ठीक वैसे ही, जैसे सभी प्रकारके धान्योंको धारण करनेवाली समृद्धिशालिनी पृथ्वी शुभ और अशुभ सबको आश्रय देती है ।। १३ ।।

अस्याज्ञावशगाः सर्वे भविष्यन्ति नराधिपाः ।
सर्वभूतात्मभूतस्य वायोरिव शरीरिणः ।। १४ ।।

'जैसे सब देहधारी समस्त प्राणियोंके आत्मारूप वायुदेवके अधीन होते हैं, उसी प्रकार सभी नरेश इसकी आज्ञाके अधीन होंगे ।। १४ ।।

एष रुद्रं महादेवं त्रिपुरान्तकरं हरम् ।
सर्वलोकेष्वतिबलः साक्षाद् द्रक्ष्यति मागधः ।। १५ ।।

'यह मगधराज सम्पूर्ण लोकोंमें अत्यन्त बलवान् होगा और त्रिपुरासुरका नाश करनेवाले सर्वदुःखहारी महादेव रुद्रकी आराधना करके उनका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करेगा' ।। १५ ।।

एवं ब्रुवन्नेव मुनिः स्वकार्यमिव चिन्तयन् ।
विसर्जयामास नृपं बृहद्रथमथारिहन् ।। १६ ।।

शत्रुसूदन नरेश! ऐसा कहकर अपने कार्यके चिन्तनमें लगे हुए मुनिने राजा बृहद्रथको विदा कर दिया ।। १६ ।।

प्रविश्य नगरीं चापि ज्ञातिसम्बन्धिभिर्वृतः ।
अभिषिच्य जरासंधं मगधाधिपतिस्तदा ।। १७ ।।
बृहद्रथो नरपतिः परां निर्वृतिमाययौ ।
अभिषिक्ते जरासंधे तदा राजा बृहद्रथः ।
पत्नीद्वयेनानुगतस्तपोवनचरोऽभवत् ।। १८ ।।

राजधानीमें प्रवेश करके अपने जाति-भाइयों और सगे-सम्बन्धियोंसे घिरे हुए मगधनरेश बृहद्रथने उसी समय जरासंधका राज्याभिषेक कर दिया। ऐसा करके उन्हें बड़ा संतोष हुआ। जरासंधका अभिषेक हो जानेपर महाराज बृहद्रथ अपनी दोनों पत्नियोंके साथ तपोवनमें चले गये ।। १७-१८ ।।

ततो वनस्थे पितरि मात्रोश्चैव विशाम्पते ।
जरासंधः स्ववीर्येण पार्थिवानकरोद् वशे ।। १९ ।।

महाराज! दोनों माताओं और पिताके वनवासी हो जानेपर जरासंधने अपने पराक्रमसे समस्त राजाओंको वशमें कर लिया ।। १९ ।।

वैशम्पायन उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य तपोवनचरो नृपः ।
सभार्यः स्वर्गमगमत् तपस्तप्त्वा बृहद्रथः ।। २० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर दीर्घकालतक तपोवनमें रहकर तपस्या करते हुए महाराज बृहद्रथ अपनी पत्नियोंके साथ स्वर्गवासी हो गये ।। २० ।।

जरासंधोऽपि नृपतिर्यथोक्तं कौशिकेन तत् ।
वरप्रदानमखिलं प्राप्य राज्यमपालयत् ।। २१ ।।

इधर जरासंध भी चण्डकौशिक मुनिके कथनानुसार भगवान् शंकरसे सारा वरदान पाकर राज्यकी रक्षा करने लगा ।। २१ ।।

निहते वासुदेवेन तदा कंसे महीपतौ ।

जातो वै वैरनिर्बन्धः कृष्णेन सह तस्य वै ।। २२ ।।

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके द्वारा अपने जामाता राजा कंसके मारे जानेपर श्रीकृष्णके साथ उसका वैर बहुत बढ़ गया ।। २२ ।।

भ्रामयित्वा शतगुणमेकोनं येन भारत ।
गदा क्षिप्ता बलवता मागधेन गिरिव्रजात् ।। २३ ।।
तिष्ठतो मथुरायां वै कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ।
एकोनयोजनशते सा पपात गदा शुभा ।। २४ ।।

भारत! उसी वैरके कारण बलवान् मगधराजने अपनी गदा निन्यानबे बार घुमाकर गिरिव्रजसे मथुराकी ओर फेंकी। उन दिनों अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीकृष्ण मथुरामें ही रहते थे। वह उत्तम गदा निन्यानबे योजन दूर मथुरामें जाकर गिरी ।। २३-२४ ।।

दृष्ट्वा पौरैस्तदा सम्यग् गदा चैव निवेदिता ।
गदावसानं तत् ख्यातं मथुरायाः समीपतः ।। २५ ।।

पुरवासियोंने उसे देखकर उसकी सूचना भगवान् श्रीकृष्णको दी। मथुराके समीपका वह स्थान, जहाँ गदा गिरी थी, गदावसानके नामसे विख्यात हुआ ।। २५ ।।

तस्यास्तां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ।
मन्त्रे मतिमतां श्रेष्ठौ नीतिशास्त्रे विशारदौ ।। २६ ।।

जरासंधको सलाह देनेके लिये बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तथा नीतिशास्त्रमें निपुण दो मन्त्री थे, जो हंस और डिम्भकके नामसे विख्यात थे। वे दोनों किसी भी शस्त्रसे मरनेवाले नहीं थे ।। २६ ।।

यौ तौ मया ते कथितौ पूर्वमेव महाबलौ ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ।। २७ ।।

जनमेजय! उन दोनों महाबली वीरोंका परिचय मैंने तुम्हें पहले ही दे दिया है। मेरा ऐसा विश्वास है, जरासंध और वे तीनों मिलकर तीनों लोकोंका सामना करनेके लिये पर्याप्त थे ।। २७ ।।

एवमेव तदा वीर बलिभिः कुकुरान्धकैः ।
वृष्णिभिश्च महाराज नीतिहेतोरुपेक्षितः ।। २८ ।।

वीरवर महाराज! इस प्रकार नीतिका पालन करनेके लिये ही उस समय बलवान् कुकुर, अन्धक और वृष्णिवंशके योद्धाओंने जरासंधकी उपेक्षा कर दी ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि
जरासंधप्रशंसायामेकोनविंशतितमोऽध्यायः ।। १९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधप्रशंसाविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९ ।।

(जरासंधवधपर्व)

विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके अनुमोदन करनेपर श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेनकी मगध-यात्रा

वासुदेव उवाच

पतितौ हंसडिम्भकौ कंसश्च सगणो हतः ।
जरासंधस्य निधने कालोऽयं समुपागतः ।। १ ।।

श्रीकृष्ण कहते हैं—धर्मराज! जरासंधके मुख्य सहायक हंस और डिम्भक यमुनाजीमें डूब मरे। कंस भी अपने सेवकों और सहायकोंसहित कालके गालमें चला गया। अब जरासंधके नाशका यह उचित अवसर आ पहुँचा है ।। १ ।।

न शक्योऽसौ रणे जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः ।
बाहुयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे ।। २ ।।

युद्धमें तो सम्पूर्ण देवता और असुर भी उसे जीत नहीं सकते, अतः मेरी समझमें यही आता है कि उसे बाहुयुद्धके द्वारा जीतना चाहिये ।। २ ।।

मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चावयोर्जयः ।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः ।। ३ ।।

मुझमें नीति है, भीमसेनमें बल है और अर्जुन हम दोनोंकी रक्षा करनेवाले हैं; अतः जैसे तीन अग्नियाँ यज्ञकी सिद्धि करती हैं, उसी प्रकार हम तीनों मिलकर जरासंधके वधका काम पूरा कर लेंगे ।। ३ ।।

त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः ।
न संदेहो यथा युद्धमेकेनाप्युपयास्यति ।। ४ ।।
अवमानाच्च लोभाच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः ।
भीमसेनेन युद्धाय ध्रुवमप्युपयास्यति ।। ५ ।।

जब हम तीनों एकान्तमें राजा जरासंधसे मिलेंगे, तब वह हम तीनोंमेंसे किसी एकके साथ द्वन्द्वयुद्ध करना स्वीकार कर लेगा; इसमें संदेह नहीं है। अपमानके भयसे, बड़े योद्धा भीमसेनके साथ लड़नेके लोभसे तथा अपने बाहुबलसे घमंडमें चूर होनेसे जरासंध निश्चय ही भीमसेनके साथ युद्ध करनेको उद्यत होगा ।। ४-५ ।।

अलं तस्य महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ।

लोकस्य समुदीर्णस्य निधनायान्तको यथा ।। ६ ।।

जैसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत्‌के विनाशके लिये एक ही यमराज काफी हैं, उसी प्रकार महाबली महाबाहु भीमसेन जरासंधके वधके लिये पर्याप्त हैं ।। ६ ।।

यदि मे हृदयं वेत्सि यदि ते प्रत्ययो मयि ।
भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ प्रयच्छ मे ।। ७ ।।

राजन्! यदि आप मेरे हृदयको जानते हैं और यदि आपका मुझपर विश्वास है तो भीमसेन और अर्जुनको शीघ्र ही धरोहरके रूपमें मुझे दे दीजिये ।। ७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो भगवता प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
भीमार्जुनौ समालोक्य सम्प्रहृष्टमुखौ स्थितौ ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान्‌के ऐसा कहनेपर वहाँ खड़े हुए भीमसेन और अर्जुनका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। उस समय उन दोनोंकी ओर देखकर युधिष्ठिरने इस प्रकार उत्तर दिया ।। ८ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अच्युताच्युत मा मैवं व्याहरामित्रकर्शन ।
पाण्डवानां भवान् नाथो भवन्तं चाश्रिता वयम् ।। ९ ।।

युधिष्ठिर बोले—अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले शत्रुसूदन अच्युत! आप ऐसी बात न कहें, न कहें। आप हम सब पाण्डवोंके स्वामी हैं, रक्षक हैं; हम सब लोग आपकी शरणमें हैं ।। ९ ।।

यथा वदसि गोविन्द सर्वं तदुपपद्यते ।
न हि त्वमग्रतस्तेषां येषां लक्ष्मीः पराङ्मुखी ।। १० ।।

गोविन्द! आप जैसा कहते हैं, वह सब ठीक है। जिनकी राज्यलक्ष्मी विमुख हो चुकी है, उनके सम्मुख आप आते ही नहीं हैं ।। १० ।।

निहतश्च जरासंधो मोक्षिताश्च महीक्षितः ।
राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः ।। ११ ।।

आपकी आज्ञाके अनुसार चलनेमात्रसे मैं यह मानता हूँ कि जरासंध मारा गया। समस्त राजा उसकी कैदसे छुटकारा पा गये और मेरा राजसूययज्ञ भी पूरा हो गया ।। ११ ।।

क्षिप्रमेव यथा त्वेतत् कार्यं समुपपद्यते ।
अप्रमत्तो जगन्नाथ तथा कुरु नरोत्तम ।। १२ ।।
त्रिभिर्भवद्भिर्हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे ।
धर्मकामार्थरहितो रोगार्त इव दुःखितः ।। १३ ।।
न शौरिणा विना पार्थो न शौरिः पाण्डवं विना ।

नाजेयोऽस्त्यनयोर्लोके कृष्णयोरिति मे मतिः ।। १४ ।।

जगन्नाथ! पुरुषोत्तम! आप सावधान होकर वही उपाय कीजिये, जिससे यह कार्य शीघ्र ही पूरा हो जाय। जैसे धर्म, काम और अर्थसे रहित रोगातुर मनुष्य अत्यन्त दुःखी हो जीवनसे हाथ धो बैठता है, उसी प्रकार मैं भी आप तीनोंके बिना जीवित नहीं रह सकता। श्रीकृष्णके बिना अर्जुन और पाण्डुपुत्र अर्जुनके बिना श्रीकृष्ण नहीं रह सकते। इन दोनों कृष्णनामधारी वीरोंके लिये लोकमें कोई भी अजेय नहीं है; ऐसा मेरा विश्वास है ।। १२—१४ ।।

अयं च बलिनां श्रेष्ठः श्रीमानपि वृकोदरः ।
युवाभ्यां सहितो वीरः किं न कुर्यान्महायशाः ।। १५ ।।

यह बलवानोंमें श्रेष्ठ महायशस्वी कान्तिमान् वीर भीमसेन भी आप दोनोंके साथ रहकर क्या नहीं कर सकता? ।। १५ ।।

सुप्रणीतो बलौघो हि कुरुते कार्यमुत्तमम् ।
अंधं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः ।। १६ ।।

चतुर सेनापतियोंद्वारा अच्छी तरह संचालित की हुई सेना उत्तम कार्य करती है, अन्यथा उस सेनाको अंधी और जड कहते हैं; अतः नीतिनिपुण पुरुषोंद्वारा ही सेनाका संचालन होना चाहिये ।। १६ ।।

यतो हि निम्नं भवति नयन्ति हि ततो जलम् ।
यतश्छिद्रं ततश्चापि नयन्ते धीवरा जलम् ।। १७ ।।

जिधर नीची जमीन होती है, उधर ही लोग जल बहाकर ले जाते हैं। जहाँ गड्ढा होता है, उधर ही धीवर भी जल बहाते हैं (इसी प्रकार आपलोग भी जैसे कार्य-साधनमें सुविधा हो, वैसा ही करें) ।। १७ ।।

तस्मान्नयविधानज्ञं पुरुषं लोकविश्रुतम् ।
वयमाश्रित्य गोविन्दं यतामः कार्यसिद्धये ।। १८ ।।

इसीलिये हम नीतिविधानके ज्ञाता लोकविख्यात महापुरुष श्रीगोविन्दकी शरण लेकर कार्यसिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं ।। १८ ।।

एवं प्रज्ञानयबलं क्रियोपायसमन्वितम् ।
पुरस्कुर्वीत कार्येषु कृष्णं कार्यार्थसिद्धये ।। १९ ।।

इसी प्रकार सबके लिये यह उचित है कि कार्य और प्रयोजनकी सिद्धिके लिये सभी कार्योंमें बुद्धि, नीति, बल, प्रयत्न और उपायसे युक्त श्रीकृष्णको ही आगे रखे ।। १९ ।।

एवमेव यदुश्रेष्ठ यावत्कार्यार्थसिद्धये ।
अर्जुनः कृष्णमन्वेतु भीमोऽन्वेतु धनंजयम् ।
नयो जयो बलं चैव विक्रमे सिद्धिमेष्यति ।। २० ।।

यदुश्रेष्ठ! इसी प्रकार समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये आपका आश्रय लेना परम आवश्यक है। अर्जुन आप श्रीकृष्णका अनुसरण करें और भीमसेन अर्जुनका। नीति, विजय और बल तीनों मिलकर पराक्रम करें तो उन्हें अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ।

वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं प्रति ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर वे सब महातेजस्वी भाई—श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन मगधराज जरासंधसे भिड़नेके लिये उसकी राजधानीकी ओर चल दिये ।। २१ ।।

वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदम् ।

आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोज्ञैरभिनन्दिताः ।। २२ ।।

उन्होंने तेजस्वी स्नातक ब्राह्मणोंके-से वस्त्र पहनकर उनके द्वारा अपने क्षत्रियरूपको छिपाकर यात्रा की। उस समय हितैषी सुहृदोंने मनोहर वचनोंद्वारा उन सबका अभिनन्दन किया ।। २२ ।।

अमर्षादभितप्तानां ज्ञात्यर्थं मुख्यतेजसाम् ।

रविसोमाग्निवपुषां दीप्तमासीत् तदा वपुः ।। २३ ।।

हतं मेने जरासंधं दृष्ट्वा भीमपुरोगमौ ।

एककार्यसमुद्यन्तौ कृष्णौ युद्धेऽपराजितौ ।। २४ ।।

जरासंधके प्रति रोषके कारण वे प्रज्वलित-से हो रहे थे। जाति-भाइयोंके उद्धारके लिये उनका महान् तेज प्रकट हुआ था। उस समय सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके समान तेजस्वी शरीरवाले उन तीनोंका स्वरूप अत्यन्त उद्भासित हो रहा था। एक ही कार्यके लिये उद्यत हुए और युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले उन दोनों (कृष्णोंको अर्थात् नर-नारायणरूप कृष्ण और अर्जुन)-को भीमसेनको आगे लिये जाते देख युधिष्ठिरको निश्चय हो गया कि जरासंध अवश्य मारा जायगा ।। २३-२४ ।।

ईशौ हि तौ महात्मानौ सर्वकार्यप्रवर्तिनौ ।

धर्मकामार्थलोकानां कार्याणां च प्रवर्तकौ ।। २५ ।।

क्योंकि वे दोनों महात्मा निमेष-उन्मेषसे लेकर महाप्रलयपर्यन्त समस्त कार्योंके नियन्ता तथा धर्म, काम और अर्थसाधनमें लगे हुए लोगोंको तत्सम्बन्धी कार्योंमें लगानेवाले ईश्वर (नर-नारायण) हैं ।। २५ ।।

कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुरुजाङ्गलम् ।

रम्यं पद्मसरो गत्वा कालकूटमतीत्य च ।। २६ ।।

गण्डकीं च महाशोणं सदानीरां तथैव च ।

एकपर्वतके नद्यः क्रमेणैत्याव्रजन्त ते ।। २७ ।।

वे तीनों कुरुदेशसे प्रस्थित हो कुरुजांगलके बीचसे होते हुए रमणीय पद्मसरोवरपर पहुँचे। फिर कालकूट पर्वतको लाँघकर गण्डकी, महाशोण, सदानीरा एवं एकपर्वतक प्रदेशकी सब नदियोंको क्रमशः पार करते हुए आगे बढ़ते गये ।। २६-२७ ।।

उत्तीर्य सरयूं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कोसलान् ।
अतीत्य जग्मुर्मिथिलां पश्यन्तो विपुला नदीः ।। २८ ।।
अतीत्य गङ्गां शोणं च त्रयस्ते प्राङ्मुखास्तदा ।
कुशचीरच्छदा जग्मुर्मागधं क्षेत्रमच्युताः ।। २९ ।।

इससे पहले मार्गमें उन्होंने रमणीय सरयू नदी पार करके पूर्वी कोसलप्रदेशमें भी पदार्पण किया था। कोसल पार करके बहुत-सी नदियोंका अवलोकन करते हुए वे मिथिलामें गये। गंगा और शोणभद्रको पार करके वे तीनों अच्युत वीर पूर्वाभिमुख होकर चलने लगे। उन्होंने कुश एवं चीरसे ही अपने शरीरको ढक रखा था। जाते-जाते वे मगधक्षेत्रकी सीमामें पहुँच गये ।। २८-२९ ।।

ते शश्वद् गोधनाकीर्णमम्बुमन्तं शुभद्रुमम् ।
गोरथं गिरिमासाद्य ददृशुर्मागधं पुरम् ।। ३० ।।

फिर सदा गोधनसे भरे-पूरे, जलसे परिपूर्ण तथा सुन्दर वृक्षोंसे सुशोभित गोरथ पर्वतपर पहुँचकर उन्होंने मगधकी राजधानीको देखा ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि कृष्णपाण्डवमागधयात्रायां विंशोऽध्यायः ।। २० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें कृष्ण, अर्जुन एवं भीमसेनकी मगधयात्राविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २० ।।

एकविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा मगधकी राजधानीकी प्रशंसा, चैत्यक पर्वतशिखर और नगाड़ोंको तोड़-फोड़-कर तीनोंका नगर एवं राजभवनमें प्रवेश तथा श्रीकृष्ण और जरासंधका संवाद

वासुदेव उवाच

एष पार्थ महान् भाति पशुमान् नित्यमम्बुमान् ।
निरामयः सुवेश्माढ्यो निवेशो मागधः शुभः ।। १ ।।

श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीनन्दन! देखो, यह मगध-देशकी सुन्दर एवं विशाल राजधानी कैसी शोभा पा रही है। यहाँ पशुओंकी अधिकता है। जलकी भी सदा पूर्ण सुविधा रहती है। यहाँ रोग-व्याधिका प्रकोप नहीं होता। सुन्दर महलोंसे भरा-पूरा यह नगर बड़ा मनोहर प्रतीत होता है ।। १ ।।

वैहारो विपुलः शैलो वराहो वृषभस्तथा ।
तथा ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः ।। २ ।।
एते पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः ।
रक्षन्तीवाभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम् ।। ३ ।।

तात! यहाँ विहारोपयोगी विपुल, वराह, वृषभ (ऋषभ), ऋषिगिरि (मातंग) तथा पाँचवाँ चैत्यक नामक पर्वत है। बड़े-बड़े शिखरोंवाले ये पाँचों सुन्दर पर्वत शीतल छायावाले वृक्षोंसे सुशोभित हैं और एक साथ मिलकर एक-दूसरेके शरीरका स्पर्श करते हुए मानो गिरिव्रज नगरकी रक्षा कर रहे हैं ।। २-३ ।।

पुष्पवेष्टितशाखाग्रैर्गन्धवद्भिर्मनोहरैः ।
निगूढा इव लोध्राणां वनैः कामिजनप्रियैः ।। ४ ।।

वहाँ लोध नामक वृक्षोंके कई मनोहर वन हैं, जिनसे वे पाँचों पर्वत ढके हुए-से जान पड़ते हैं। उनकी शाखाओंके अग्रभागमें फूल-ही-फूल दिखायी देते हैं। लोधोंके ये सुगन्धित वन कामीजनोंको बहुत प्रिय हैं ।। ४ ।।

शूद्रायां गौतमो यत्र महात्मा संशितव्रतः ।
औशीनर्यामजनयत् काक्षीवाद्यान् सुतान् मुनिः ।। ५ ।।

यहीं अत्यन्त कठोर व्रतका पालन करनेवाले महामना गौतमने उशीनरदेशकी शूद्रजातीय कन्याके गर्भसे काक्षीवान् आदि पुत्रोंको उत्पन्न किया था ।। ५ ।।

गौतमः प्रणयात् तस्माद् यथासौ तत्र सद्मनि ।

भजते मागधं वंशं स नृपाणामनुग्रहात् ।। ६ ।।

इसी कारण वह गौतम मुनि राजाओंके प्रेमसे वहाँ आश्रममें रहता तथा मगधदेशीय राजवंशकी सेवा करता है ।। ६ ।।

अङ्गवङ्गादयश्चैव राजानः सुमहाबलाः ।
गौतमक्षयमभ्येत्य रमन्ते स्म पुरार्जुन ।। ७ ।।

अर्जुन! पूर्वकालमें अंग-वंग आदि महाबली राजा भी गौतमके घरमें आकर आनन्दपूर्वक रहते थे ।। ७ ।।

वनराजीस्तु पश्येमाः पिप्पलानां मनोरमाः ।
लोध्राणां च शुभाः पार्थ गौतमौकः समीपजाः ।। ८ ।।

पार्थ! गौतमके आश्रमके निकट लहलहाती हुई पीपल और लोधोंकी इन सुन्दर एवं मनोरम वन-पंक्तियोंको तो देखो ।। ८ ।।

अर्बुदः शक्रवापी च पन्नगौ शत्रुतापनौ ।
स्वस्तिकस्यालयश्चात्र मणिनागस्य चोत्तमः ।। ९ ।।

यहाँ अर्बुद और शक्रवापी नामवाले दो नाग रहते हैं, जो अपने शत्रुओंको संतप्त करनेवाले हैं। यहीं स्वस्तिक नाग और मणि नागके भी उत्तम भवन हैं ।। ९ ।।

अपरिहार्या मेघानां मागधा मनुना कृताः ।
कौशिको मणिमांश्चैव चक्राते चाप्यनुग्रहम् ।। १० ।।

मनुने मगधदेशके निवासियोंको मेघोंके लिये अपरिहार्य (अनुग्राह्य) कर दिया है; (अतः वहाँ सदा ही बादल समयपर यथेष्ट वर्षा करते हैं।) चण्डकौशिक मुनि और मणिमान् नाग भी मगधदेशपर अनुग्रह कर चुके हैं ।। १० ।।

(पाण्डरे विपुले चैव तथा वाराहकेऽपि च ।
चैत्यके च गिरिश्रेष्ठे मातङ्गे च शिलोच्चये ।।
एतेषु पर्वतेन्द्रेषु सर्वसिद्धमहालयाः ।
यतीनामाश्रमाच्चैव मुनीनां च महात्मनाम् ।।

श्वेतवर्णके वृषभ, विपुल, वाराह, गिरिश्रेष्ठ चैत्यक तथा मातंग गिरि—इन सभी श्रेष्ठ पर्वतोंपर सम्पूर्ण सिद्धोंके विशाल भवन हैं तथा यतियों, मुनियों और महात्माओंके बहुत-से आश्रम हैं।

वृषभस्य तमालस्य महावीर्यस्य वै तथा ।
गन्धर्वरक्षसां चैव नागानां च तथाऽऽलयाः ।।)

वृषभ, महापराक्रमी तमाल, गन्धर्वों, राक्षसों तथा नागोंके भी निवासस्थान उन पर्वतोंकी शोभा बढ़ाते हैं।

एवं प्राप्य पुरं रम्यं दुराधर्षं समन्ततः ।
अर्थसिद्धिं त्वनुपमां जरासंधोऽभिमन्यते ।। ११ ।।

इस प्रकार चारों ओरसे दुर्धर्ष उस रमणीय नगरको पाकर जरासंधको यह अभिमान बना रहता है कि मुझे अनुपम अर्थसिद्धि प्राप्त होगी ।। ११ ।।

वयमासादने तस्य दर्पमद्य हरेमहि ।

आज हमलोग उसके घरपर ही चलकर उसका सारा घमंड हर लेंगे ।। ११½ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ।। १२ ।।
वार्ष्णेयः पाण्डवौ चैव प्रतस्थुर्मागधं पुरम् ।
हृष्टपुष्टजनोपेतं चातुर्वर्ण्यसमाकुलम् ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसी बातें करते हुए वे सभी महातेजस्वी भाई श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन मगधकी राजधानीमें प्रवेश करनेके लिये चल पड़े। वह नगर चारों वर्णोंके लोगोंसे भरा-पूरा था। उसमें रहनेवाले सभी लोग हृष्ट-पुष्ट दिखायी देते थे ।। १२-१३ ।।

स्फीतोत्सवमनाधृष्यमासेदुश्च गिरिव्रजम् ।
ततो द्वारमनासाद्य पुरस्य गिरिमुच्छ्रितम् ।। १४ ।।
बार्हद्रथैः पूज्यमानं तथा नगरवासिभिः ।
मगधानां सुरुचिरं चैत्यकान्तं समाद्रवन् ।। १५ ।।

वहाँ अधिकाधिक उत्सव होते रहते थे। कोई भी उसको जीत नहीं सकता था। ऐसे गिरिव्रजके निकट वे तीनों जा पहुँचे। वे मुख्य फाटकपर न जाकर नगरके चैत्यक नामक ऊँचे पर्वतपर चले गये। उस नगरमें निवास करनेवाले मनुष्य तथा बृहद्रथ-परिवारके लोग उस पर्वतकी पूजा किया करते थे। मगधदेशकी प्रजाको यह चैत्यक पर्वत बहुत ही प्रिय था ।। १४-१५ ।।

यत्र मांसादमृषभमाससाद बृहद्रथः ।
तं हत्वा मासतालाभिस्तिस्रो भेरीरकारयत् ।। १६ ।।

उस स्थानपर राजा बृहद्रथने (वृषभरूपधारी) ऋषभ नामक एक मांसभक्षी राक्षससे युद्ध किया और उसे मारकर उसकी खालसे तीन बड़े-बड़े नगाड़े तैयार कराये, जिनपर चोट करनेसे महीनेभरतक आवाज होती रहती थी ।। १६ ।।

स्वपुरे स्थापयामास तेन चानह्य चर्मणा ।
यत्र ताः प्राणदन् भेर्यो दिव्यपुष्पावचूर्णिताः ।। १७ ।।

राजाने उन नगाड़ोंको उस राक्षसके चमड़ेसे मढ़ाकर अपने नगरमें रखवा दिया। जहाँ वे नगाड़े बजते थे, वहाँ दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगती थी ।। १७ ।।

भङ्क्त्वा भेरीत्रयं तेऽपि चैत्यप्राकारमाद्रवन् ।
द्वारतोऽभिमुखाः सर्वे ययुर्नानाऽऽयुधास्तदा ।। १८ ।।

मागधानां सुरुचिरं चैत्यकं तं समाद्रवन् ।
शिरसीव समाघ्नन्तो जरासंधं जिघांसवः ।। १९ ।।

इन तीनों वीरोंने उपर्युक्त तीनों नगाड़ोंको फोड़कर चैत्यक पर्वतके परकोटेपर आक्रमण किया। उन सबने अनेक प्रकारके आयुध लेकर द्वारके सामने मगध-निवासियोंके परम प्रिय उस चैत्यक पर्वतपर धावा किया था। जरासंधको मारनेकी इच्छा रखकर मानो वे उसके मस्तकपर आघात कर रहे थे ।। १८-१९ ।।

स्थिरं सुविपुलं शृङ्गं सुमहत् तत् पुरातनम् ।
अर्चितं गन्धमाल्यैश्च सततं सुप्रतिष्ठितम् ।। २० ।।
विपुलैर्बाहुभिर्वीरास्तेऽभिहत्याभ्यपातयन् ।
ततस्ते मागधं हृष्टाः पुरं प्रविविशुस्तदा ।। २१ ।।

उस चैत्यकका विशाल शिखर बहुत पुराना, किंतु सुदृढ़ था। मगधदेशमें उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। गन्ध और पुष्पकी मालाओंसे उसकी सदा पूजा की जाती थी। श्रीकृष्ण आदि तीनों वीरोंने अपनी विशाल भुजाओंसे टक्कर मारकर उस चैत्यक पर्वतके शिखरको गिरा दिया। तदनन्तर वे अत्यन्त प्रसन्न होकर मगधकी राजधानी गिरिव्रजके भीतर घुसे ।। २०-२१ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
दृष्ट्वा तु दुर्निमित्तानि जरासंधमदर्शयन् ।। २२ ।।

इसी समय वेदोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मणोंने अनेक अपशकुन देखकर राजा जरासंधको उनके विषयमें सूचित किया ।। २२ ।।

पर्यग्न्यकुर्वंश्च नृपं द्विरदस्थं पुरोहिताः ।
ततस्तच्छान्तये राजा जरासंधः प्रतापवान् ।
दीक्षितो नियमस्थोऽसावुपवासपरोऽभवत् ।। २३ ।।

पुरोहितोंने राजाको हाथीपर बिठाकर उसके चारों ओर प्रज्वलित आग घुमायी। प्रतापी राजा जरासंधने अनिष्टकी शान्तिके लिये व्रतकी दीक्षा ले नियमोंका पालन करते हुए उपवास किया ।। २३ ।।

स्नातकव्रतिनस्ते तु बाहुशस्त्रा निरायुधाः ।
युयुत्सवः प्रविविशुर्जरासंधेन भारत ।। २४ ।।

भारत! इधर भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन स्नातक-व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंके वेषमें अस्त्र-शस्त्रोंका परित्याग करके अपनी भुजाओंसे ही आयुधोंका काम लेते हुए जरासंधके साथ युद्ध करनेकी इच्छा रखकर नगरमें प्रविष्ट हुए ।। २४ ।।

भक्ष्यमाल्यापणानां च ददृशुः श्रियमुत्तमाम् ।
स्फीतां सर्वगुणोपेतां सर्वकामसमृद्धिनीम् ।। २५ ।।
तां तु दृष्ट्वा समृद्धिं ते वीथ्यां तस्यां नरोत्तमाः ।

राजमार्गेण गच्छन्तः कृष्णभीमधनंजयाः ।
बलाद् गृहीत्वा माल्यानि मालाकारान्महाबलाः ।। २६ ।।

उन्होंने खाने-पीनेकी वस्तुओं, फूल-मालाओं तथा अन्य आवश्यक पदार्थोंकी दूकानोंसे सजे हुए हाट-बाटकी अपूर्व शोभा और सम्पदा देखी। नगरका वह वैभव बहुत बढ़ा-चढ़ा, सर्वगुणसम्पन्न तथा समस्त कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला था। उस गलीकी अद्भुत समृद्धिको देखकर वे महाबली नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन एक मालीसे बलपूर्वक बहुत-सी मालाएँ लेकर नगरकी प्रधान सड़कसे चलने लगे ।। २५-२६ ।।

विरागवसनाः सर्वे स्रग्विणो मृष्टकुण्डलाः ।
निवेशनमथाजग्मुर्जरासंधस्य धीमतः ।। २७ ।।

उन सबके वस्त्र अनेक रंगके थे। उन्होंने गलेमें हार और कानोंमें चमकीले कुण्डल पहन रखे थे। वे क्रमशः बुद्धिमान् राजा जरासंधके महलके समीप जा पहुँचे ।। २७ ।।

गोवासमिव वीक्षन्तः सिंहा हैमवता यथा ।
शालस्तम्भनिभास्तेषां चन्दनागुरुरूषिताः ।। २८ ।।
अशोभन्त महाराज बाहवो युद्धशालिनाम् ।

जैसे हिमालयकी गुफाओंमें रहनेवाले सिंह गौओंका स्थान ढूँढ़ते हुए आगे बढ़ते हों, उसी प्रकार वे तीनों वीर राजभवनकी तलाश करते हुए वहाँ पहुँचे थे। महाराज! युद्धमें विशेष शोभा पानेवाले उन तीनों वीरोंकी भुजाएँ साखूके लट्ठे-जैसी सुशोभित हो रही थीं। उनपर चन्दन और अगुरुका लेप किया गया था ।। २८½ ।।

तान् दृष्ट्वा द्विरदप्रख्याञ्शालस्कन्धानिवोद्गतान् ।
व्यूढोरस्कान् मागधानां विस्मयः समपद्यत ।। २९ ।।

शालवृक्षके तनेके समान ऊँचे डील और चौड़ी छातीवाले गजराजसदृश उन बलवान् वीरोंको देखकर मगधनिवासियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ।। २९ ।।

ते त्वतीत्य जनाकीर्णाः कक्षास्तिस्रो नरर्षभाः ।
अहंकारेण राजानमुपतस्थुर्गतव्यथाः ।। ३० ।।

वे नरश्रेष्ठ लोगोंसे भरी हुई तीन ड्योढ़ियोंको पार करके निर्भय एवं निश्चिन्त हो बड़े अभिमानके साथ राजा जरासंधके निकट गये ।। ३० ।।

तान् पाद्यमधुपर्कार्हान् गवार्हान् सत्कृतिं गतान् ।
प्रत्युत्थाय जरासंध उपतस्थे यथाविधि ।। ३१ ।।

वे पाद्य, मधुपर्क और गोदान पानेके योग्य थे। उनका सर्वत्र सत्कार होता था। उन्हें आया देख जरासंध उठकर खड़ा हो गया और उसने विधिपूर्वक उनका आतिथ्य-सत्कार किया ।। ३१ ।।

उवाच चैतान् राजासौ स्वागतं वोऽस्त्विति प्रभुः ।
मौनमासीत् तदा पार्थभीमयोर्जनमेजय ।। ३२ ।।

तेषां मध्ये महाबुद्धिः कृष्णो वचनमब्रवीत् ।
वक्तुं नायाति राजेन्द्र एतयोर्नियमस्थयोः ।। ३३ ।।
अर्वाङ्निशीथात् परतस्त्वया सार्धं वदिष्यतः ।

तदनन्तर शक्तिशाली राजाने इन तीनों अतिथियोंसे कहा—'आपलोगोंका स्वागत है।' जनमेजय! उस समय अर्जुन और भीमसेन तो मौन थे। उनमेंसे महाबुद्धिमान् श्रीकृष्णने यह बात कही—'राजेन्द्र! ये दोनों एक नियम ले चुके हैं; अतः आधी रातसे पहले नहीं बोलते। आधी रातके बाद ये दोनों आपसे बात करेंगे' ।। ३२-३३ $\frac{1}{2}$ ।।

यज्ञागारे स्थापयित्वा राजा राजगृहं गतः ।। ३४ ।।
ततोऽर्धरात्रे सम्प्राप्ते यातो यत्र स्थिता द्विजाः ।
तस्य ह्येतद् व्रतं राजन् बभूव भुवि विश्रुतम् ।। ३५ ।।

तब राजा उन्हें यज्ञशालामें ठहराकर स्वयं राजभवनमें चला गया। फिर आधी रात होनेपर जहाँ वे ब्राह्मण ठहरे थे, वहाँ वह गया। राजन्! उसका यह नियम भूमण्डलमें विख्यात था ।। ३४-३५ ।।

स्नातकान् ब्राह्मणान् प्राप्ताञ्छ्रुत्वा स समितिंजयः ।
अत्यर्धरात्रे नृपतिः प्रत्युद्गच्छति भारत ।। ३६ ।।

भारत! युद्धविजयी राजा जरासंध स्नातक ब्राह्मणोंका आगमन सुनकर आधी रातके समय भी उनकी आवभगतके लिये उनके पास चला जाता था ।। ३६ ।।

तांस्त्वपूर्वेण वेषेण दृष्ट्वा स नृपसत्तमः ।
उपतस्थे जरासंधो विस्मितश्चाभवत् तदा ।। ३७ ।।

उन तीनोंको अपूर्व वेषमें देखकर नृपश्रेष्ठ जरासंधको बड़ा विस्मय हुआ। वह उनके पास गया ।। ३७ ।।

ते तु दृष्ट्वैव राजानं जरासंधं नरर्षभाः ।
इदमूचुरमित्रघ्नाः सर्वे भरतसत्तम ।। ३८ ।।
स्वस्त्यस्तु कुशलं राजन्निति तत्र व्यवस्थिताः ।
तं नृपं नृपशार्दूल प्रेक्षमाणाः परस्परम् ।। ३९ ।।

भरतवंशशिरोमणे! शत्रुओंका नाश करनेवाले वे सभी नरश्रेष्ठ राजा जरासंधको देखते ही इस प्रकार बोले—'महाराज! आपका कल्याण हो।' जनमेजय! ऐसा कहकर वे तीनों खड़े हो गये तथा कभी राजा जरासंधको और कभी आपसमें एक दूसरेको देखने लगे ।। ३८-३९ ।।

तानब्रवीज्जरासंधस्तथा पाण्डवयादवान् ।
आस्यतामिति राजेन्द्र ब्राह्मणच्छद्मसंवृतान् ।। ४० ।।

राजेन्द्र! ब्राह्मणोंके छद्मवेषमें छिपे हुए उन पाण्डव तथा यादव वीरोंको लक्ष्य करके जरासंधने कहा—'आपलोग बैठ जायँ' ।। ४० ।।

अथोपविविशुः सर्वे त्रयस्ते पुरुषर्षभाः ।
सम्प्रदीप्तास्त्रयो लक्ष्म्या महाध्वर इवाग्नयः ।। ४१ ।।

फिर वे सभी बैठ गये। वे तीनों पुरुषसिंह महान् यज्ञमें प्रज्वलित तीन अग्नियोंकी भाँति अपनी अपूर्व शोभासे उद्भासित हो रहे थे ।। ४१ ।।

तानुवाच जरासंधः सत्यसंधो नराधिपः ।
विगर्हमाणः कौरव्य वेषग्रहणवैकृतान् ।
न स्नातकव्रता विप्रा बहिर्माल्यानुलेपनाः ।। ४२ ।।
भवन्तीति नृलोकेऽस्मिन् विदितं मम सर्वशः ।
के यूयं पुष्पवन्तश्च भुजैर्ज्याकृतलक्षणैः ।। ४३ ।।

कुरुनन्दन! उस समय सत्यप्रतिज्ञ राजा जरासंधने वेषग्रहणके विपरीत आचरणवाले उन तीनोंकी निन्दा करते हुए कहा—'ब्राह्मणो! इस मानव-जगत्में सर्वत्र प्रसिद्ध है कि स्नातक-व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण समावर्तन आदि विशेष निमित्तके बिना माला और चन्दन नहीं धारण करते। मुझे भी यह अच्छी तरह मालूम है। आपलोग कौन हैं? आपके गलेमें फूलोंकी माला है और भुजाओंमें धनुषकी प्रत्यंचाकी रगड़का चिह्न स्पष्ट दिखायी देता है ।। ४२-४३ ।।

जरासंधके भवनमें श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन

भीमसेन और जरासंधका युद्ध

बिभ्रतः क्षात्रमोजश्च ब्राह्मण्यं प्रतिजानथ ।
एवं विरागवसना बहिर्माल्यानुलेपनाः ।
सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते ।। ४४ ।।

'आपलोग क्षत्रियोचित तेज धारण करते हैं, परंतु ब्राह्मण होनेका परिचय दे रहे हैं। इस प्रकार भाँति-भाँतिके रंगीन कपड़े पहने और अकारण माला तथा चन्दन लगाये हुए आप कौन हैं? सच बताइये। राजाओंमें सत्यकी ही शोभा होती है ।। ४४ ।।

चैत्यकस्य गिरेः शृङ्गं भित्त्वा किमिह छद्मना ।
अद्वारेण प्रविष्टाः स्थ निर्भया राजकिल्बिषात् ।। ४५ ।।

'चैत्यक पर्वतके शिखरको तोड़कर राजाका अपराध करके भी उससे भयभीत न हो छद्मवेष धारण किये द्वारके बिना ही इस नगरमें जो आपलोग घुस आये हैं, इसका क्या कारण है? ।। ४५ ।।

वदध्वं वाचि वीर्यं च ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
कर्म चैतद् विलिङ्गस्थं किं वोऽद्य प्रसमीक्षितम् ।। ४६ ।।

'बताइये, ब्राह्मणके तो प्रायः वचनमें ही वीरता होती है, उसकी क्रियामें नहीं। आपलोगोंने जो यह पर्वतशिखर तोड़नेका काम किया है, यह आपके वर्ण तथा वेषके सर्वथा विपरीत है, बताइये आपने आज क्या सोच रखा है? ।। ४६ ।।

एवं च मामुपास्थाय कस्माच्च विधिनार्हणाम् ।
प्रतीतां नानुगृह्णीत कार्यं किं वास्मदागमे ।। ४७ ।।

'इस प्रकार मेरे यहाँ उपस्थित हो मेरे द्वारा विधिपूर्वक अर्पित की हुई इस पूजाको आपलोग ग्रहण क्यों नहीं करते हैं? फिर मेरे यहाँ आनेका प्रयोजन ही क्या है?' ।। ४७ ।।

एवमुक्ते ततः कृष्णः प्रत्युवाच महामनाः ।
स्निग्धगम्भीरया वाचा वाक्यं वाक्यविशारदः ।। ४८ ।।

जरासंधके ऐसा कहनेपर बोलनेमें चतुर महामना श्रीकृष्ण स्निग्ध एवं गम्भीर वाणीमें इस प्रकार बोले ।। ४८ ।।

श्रीकृष्ण उवाच

स्नातकान् ब्राह्मणान् राजन् विद्ध्यस्मांस्त्वं नराधिप ।
स्नातकव्रतिनो राजन् ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ।। ४९ ।।

श्रीकृष्णने कहा—राजन्! तुम हमें (वेषके अनुसार) स्नातक ब्राह्मण समझ सकते हो। वैसे तो स्नातक व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंके लोग होते हैं ।। ४९ ।।

विशेषनियमाश्चैषामविशेषाश्च सन्त्युत ।
विशेषवांश्च सततं क्षत्रियः श्रियमृच्छति ।। ५० ।।

इन स्नातकोंमें कुछ विशेष नियमका पालन करनेवाले होते हैं और कुछ साधारण। विशेष नियमका पालन करनेवाला क्षत्रिय सदा लक्ष्मीको प्राप्त करता है ।। ५० ।।

पुष्पवत्सु ध्रुवा श्रीश्च पुष्पवन्तस्ततो वयम् ।
क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न तथा वाक्यवीर्यवान् ।
अप्रगल्भं वचस्तस्य तस्माद् बार्हद्रथेरितम् ।। ५१ ।।

जो पुष्प धारण करनेवाले हैं, उनमें लक्ष्मीका निवास ध्रुव है, इसीलिये हमलोग पुष्पमालाधारी हैं। क्षत्रियका बल और पराक्रम उसकी भुजाओंमें होता है, वह बोलनेमें वैसा वीर नहीं होता। बृहद्रथनन्दन! इसीलिये क्षत्रियका वचन धृष्टतारहित (विनययुक्त) बताया गया है ।। ५१ ।।

स्ववीर्यं क्षत्रियाणां तु बाह्वोर्धाता न्यवेशयत् ।
तद् दिदृक्षसि चेद् राजन् द्रष्टास्यद्य न संशयः ।। ५२ ।।

विधाताने क्षत्रियोंका अपना बल उनकी भुजाओंमें ही भर दिया है। राजन्! यदि आज उसे देखना चाहते हो तो निश्चय ही देख लोगे ।। ५२ ।।

अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान् ।
प्रविशन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि धर्मतः ।। ५३ ।।

धीर मनुष्य शत्रुके घरमें बिना दरवाजेके और मित्रके घरमें दरवाजेसे जाते हैं। शत्रु और मित्रके लिये ये धर्मतः द्वार बतलाये गये हैं ।। ५३ ।।

कार्यवन्तो गृहानेत्य शत्रुतो नार्हणां वयम् ।
प्रतिगृह्णीम तद् विद्धि एतन्नः शाश्वतं व्रतम् ।। ५४ ।।

हम अपने कार्यसे तुम्हारे घर आये हैं; अतः शत्रुसे पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो। यह हमारा सनातन व्रत है ।। ५४ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि कृष्णजरासंधसंवादे एकविंशोऽध्यायः ।। २१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें श्रीकृष्णजरासंधसंवादविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ५७ श्लोक हैं)

द्वाविंशोऽध्यायः

जरासंध और श्रीकृष्णका संवाद तथा जरासंधकी युद्धके लिये तैयारी एवं जरासंधका श्रीकृष्णके साथ वैर होनेके कारणका वर्णन

जरासंध उवाच

न स्मरामि कदा वैरं कृतं युष्माभिरित्युत ।
चिन्तयंश्च न पश्यामि भवतां प्रति वैकृतम् ।। १ ।।

जरासंध बोला—ब्राह्मणो! मुझे याद नहीं आता कि कब मैंने आपलोगोंके साथ वैर किया है? बहुत सोचनेपर भी मुझे आपके प्रति अपने द्वारा किया हुआ अपराध नहीं दिखायी देता ।। १ ।।

वैकृते वासति कथं मन्यध्वं मामनागसम् ।
अरिं वै ब्रूत हे विप्राः सतां समय एष हि ।। २ ।।

विप्रगण! जब मुझसे अपराध ही नहीं हुआ है, तब मुझ निरपराधको आपलोग शत्रु कैसे मान रहे हैं? यह बताइये। क्या यही साधु पुरुषोंका बर्ताव है? ।। २ ।।

अथ धर्मोपघाताद्धि मनः समुपतप्यते ।
योऽनागसि प्रसजति क्षत्रियो हि न संशयः ।। ३ ।।
अतोऽन्यथा चरँल्लोके धर्मज्ञः सन् महारथः ।
वृजिनां गतिमाप्नोति श्रेयसोऽप्युपहन्ति च ।। ४ ।।

किसीके धर्म (और अर्थ)-में बाधा डालनेसे अवश्य ही मनको बड़ा संताप होता है। जो धर्मज्ञ महारथी क्षत्रिय लोकमें धर्मके विपरीत आचरण करता हुआ किसी निरपराध व्यक्तिपर दूसरोंके धन और धर्मके नाशका दोष लगाता है, वह कष्टमयी गतिको प्राप्त होता है और अपनेको कल्याणसे भी वंचित कर लेता है; इसमें संशय नहीं है ।। ३-४ ।।

त्रैलोक्ये क्षत्रधर्मो हि श्रेयान् वै साधुचारिणाम् ।
नान्यं धर्मं प्रशंसन्ति ये च धर्मविदो जनाः ।। ५ ।।

सत्कर्म करनेवाले क्षत्रियोंके लिये तीनों लोकोंमें क्षत्रियधर्म ही श्रेष्ठ है। धर्मज्ञ पुरुष क्षत्रियके लिये अन्य धर्मकी प्रशंसा नहीं करते ।। ५ ।।

तस्य मेऽद्य स्थितस्येह स्वधर्मे नियतात्मनः ।
अनागसं प्रजानां च प्रमादादिव जल्पथ ।। ६ ।।

मैं अपने मनको वशमें रखकर सदा स्वधर्म (क्षत्रियधर्म)-में स्थित रहता हूँ। प्रजाओंका भी कोई अपराध नहीं करता, ऐसी दशामें भी आपलोग प्रमादसे ही मुझे शत्रु या अपराधी

बता रहे हैं ।। ६ ।।

श्रीकृष्ण उवाच

कुलकार्यं महाबाहो कश्चिदेकः कुलोद्वहः ।
वहते यस्तन्नियोगाद् वयमभ्युद्यतास्त्वयि ।। ७ ।।

श्रीकृष्णने कहा—महाबाहो! समूचे कुलमें कोई एक ही पुरुष कुलका भार सँभालता है। उस कुलके सभी लोगोंकी रक्षा आदिका कार्य सम्पन्न करता है। जो वैसे महापुरुष हैं, उन्हींकी आज्ञासे हमलोग आज तुम्हें दण्ड देनेको उद्यत हुए हैं ।। ७ ।।

त्वया चोपहृता राजन् क्षत्रिया लोकवासिनः ।
तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किमनागसम् ।। ८ ।।

राजन्! तुमने भूलोकनिवासी क्षत्रियोंको कैद कर लिया है। ऐसे क्रूर अपराधका आयोजन करके भी तुम अपनेको निरपराध कैसे मानते हो? ।। ८ ।।

राजा राज्ञः कथं साधून् हिंस्यान्नृपतिसत्तम ।
तद् राज्ञः संनिगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ।। ९ ।।

नृपश्रेष्ठ! एक राजा दूसरे श्रेष्ठ राजाओंकी हत्या कैसे कर सकता है? तुम राजाओंको कैद करके उन्हें रुद्रदेवताकी भेंट चढ़ाना चाहते हो? ।। ९ ।।

अस्मांस्तदेनो गच्छेद्धि कृतं बार्हद्रथ त्वया ।
वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ।। १० ।।

बृहद्रथकुमार! तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह पाप हम सब लोगोंपर लागू होगा; क्योंकि हम धर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ और धर्मका पालन करनेवाले हैं ।। १० ।।

मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन ।
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शंकरम् ।। ११ ।।

किसी देवताकी पूजाके लिये मनुष्योंका वध कभी नहीं देखा गया। फिर तुम कल्याणकारी देवता भगवान् शिवकी पूजा मनुष्योंकी हिंसाद्वारा कैसे करना चाहते हो? ।। ११ ।।

सवर्णो हि सवर्णानां पशुसंज्ञां करिष्यसि ।
कोऽन्य एवं यथा हि त्वं जरासंध वृथामतिः ।। १२ ।।

जरासंध! तुम्हारी बुद्धि मारी गयी है, तुम भी उसी वर्णके हो, जिस वर्णके वे राजालोग हैं। क्या तुम अपने ही वर्णके लोगोंको पशुनाम देकर उनकी हत्या करोगे? तुम्हारे-जैसा क्रूर दूसरा कौन है? ।। १२ ।।

यस्यां यस्यामवस्थायां यद् यत् कर्म करोति यः ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत् फलं समवाप्नुयात् ।। १३ ।।

जो जिस-जिस अवस्थामें जो-जो कर्म करता है, वह उसी-उसी अवस्थामें उसके फलको प्राप्त करता है ।। १३ ।।

ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं वयमार्तानुसारिणः ।
ज्ञातिवृद्धिनिमित्तार्थं विनिहन्तुमिहागताः ।। १४ ।।

तुम अपने ही जाति-भाइयोंके हत्यारे हो और हमलोग संकटमें पड़े हुए दीन-दुःखियोंकी रक्षा करनेवाले हैं; अतः सजातीय बन्धुओंकी वृद्धिके उद्देश्यसे हम तुम्हारा वध करनेके लिये यहाँ आये हैं ।। १४ ।।

नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्विति चैव तत् ।
मन्यसे स च ते राजन् सुमहान् बुद्धिविप्लवः ।। १५ ।।

राजन्! तुम जो यह मान बैठे हो कि इस जगत्के क्षत्रियोंमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है, यह तुम्हारी बुद्धिका बहुत बड़ा भ्रम है ।। १५ ।।

को हि जानन्नभिजनमात्मवान् क्षत्रियो नृप ।
नाविशेत् स्वर्गमतुलं रणानन्तरमव्ययम् ।। १६ ।।

नरेश्वर! कौन ऐसा स्वाभिमानी क्षत्रिय होगा जो अपने अभिजनको (जातीय बन्धुओंकी रक्षा परम धर्म है, इस बातको) जानते हुए भी युद्ध करके अनुपम एवं अक्षय स्वर्गलोकमें जाना नहीं चाहेगा? ।। १६ ।।

स्वर्गं ह्येव समास्थाय रणयज्ञेषु दीक्षिताः ।
जयन्ति क्षत्रिया लोकांस्तद् विद्धि मनुजर्षभ ।। १७ ।।

नरश्रेष्ठ! स्वर्गप्राप्तिका ही उद्देश्य रखकर रणयज्ञकी दीक्षा लेनेवाले क्षत्रिय अपने अभीष्ट लोकोंपर विजय पाते हैं, यह बात तुम्हें भलीभाँति जाननी चाहिये ।। १७ ।।

स्वर्गयोनिर्महद् ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद् यशः ।
स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मृत्युः सोऽव्यभिचारवान् ।। १८ ।।

वेदाध्ययन स्वर्गप्राप्तिका कारण है, परोपकाररूप महान् यश भी स्वर्गका हेतु है, तपस्याको भी स्वर्गलोकका साधन बताया गया है; परंतु क्षत्रियके लिये इन तीनोंकी अपेक्षा युद्धमें मृत्युका वरण करना ही स्वर्गप्राप्तिका अमोघ साधन है ।। १८ ।।

एष ह्यैन्द्रो वैजयन्तो गुणैर्नित्यं समाहितः ।
येनासुरान् पराजित्य जगत् पाति शतक्रतुः ।। १९ ।।

क्षत्रियका यह युद्धमें मरण इन्द्रका वैजयन्त नामक प्रासाद (राजमहल) है। यह सदा सभी गुणोंसे परिपूर्ण है। इसी युद्धके द्वारा शतक्रतु इन्द्र असुरोंको परास्त करके सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करते हैं ।। १९ ।।

स्वर्गमार्गाय कस्य स्याद् विग्रहो वै यथा तव ।
मागधैर्विपुलैः सैन्यैर्बाहुल्यबलदर्पितः ।। २० ।।
मावमंस्थाः परान् राजन्नस्ति वीर्यं नरे नरे ।

समं तेजस्त्वया चैव विशिष्टं वा नरेश्वर ।। २१ ।।

हमारे साथ जो तुम्हारा युद्ध होनेवाला है, वह तुम्हारे लिये जैसा स्वर्गलोककी प्राप्तिका साधक हो सकता है, वैसा युद्ध और किसको सुलभ है? मेरे पास बहुत बड़ी सेना एवं शक्ति है, इस घमंडमें आकर मगधदेशकी अगणित सेनाओंद्वारा तुम दूसरोंका अपमान न करो। राजन्! प्रत्येक मनुष्यमें बल एवं पराक्रम होता है। महाराज! किसीमें तुम्हारे समान तेज है तो किसीमें तुमसे अधिक भी है ।। २०-२१ ।।

यावदेतदसम्बुद्धं तावदेव भवेत् तव ।
विषह्यमेतदस्माकमतो राजन् ब्रवीमि ते ।। २२ ।।

भूपाल! जबतक तुम इस बातको नहीं जानते थे, तभीतक तुम्हारा घमंड बढ़ रहा था। अब तुम्हारा यह अभिमान हमलोगोंके लिये असह्य हो उठा है, इसलिये मैं तुम्हें यह सलाह देता हूँ ।। २२ ।।

जहि त्वं सदृशेष्वेव मानं दर्पं च मागध ।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ।। २३ ।।

मगधराज! तुम अपने समान वीरोंके साथ अभिमान और घमंड करना छोड़ दो। इस घमंडको रखकर अपने पुत्र, मन्त्री और सेनाके साथ यमलोकमें जानेकी तैयारी न करो ।। २३ ।।

दम्भोद्भवः कार्तवीर्य उत्तरश्च बृहद्रथः ।
श्रेयसो ह्यवमन्येह विनेशुः सबला नृपाः ।। २४ ।।

दम्भोद्भव, कार्तवीर्य अर्जुन, उत्तर तथा बृहद्रथ—ये सभी नरेश अपनेसे बड़ोंका अपमान करके अपनी सेनासहित नष्ट हो गये ।। २४ ।।

युयुक्षमाणास्त्वत्तो हि न वयं ब्राह्मणा ध्रुवम् ।
शौरिरस्मि हृषीकेशो नृवीरौ पाण्डवाविमौ ।
अनयोर्मातुलेयं च कृष्णं मां विद्धि ते रिपुम् ।। २५ ।।

तुमसे युद्धकी इच्छा रखनेवाले हमलोग अवश्य ही ब्राह्मण नहीं हैं। मैं वसुदेवपुत्र हृषीकेश हूँ और ये दोनों पाण्डुपुत्र वीरवर भीमसेन और अर्जुन हैं। मैं इन दोनोंके मामाका पुत्र और तुम्हारा प्रसिद्ध शत्रु श्रीकृष्ण हूँ। मुझे अच्छी तरह पहचान लो ।। २५ ।।

त्वामाह्वयामहे राजन् स्थिरो युध्यस्व मागध ।
मुञ्च वा नृपतीन् सर्वान् गच्छ वा त्वं यमक्षयम् ।। २६ ।।

मगधनरेश! हम तुम्हें युद्धके लिये ललकारते हैं। तुम डटकर युद्ध करो। तुम या तो समस्त राजाओंको छोड़ दो अथवा यमलोककी राह लो ।। २६ ।।

जरासंध उवाच

नाजितान् वै नरपतीनहमादद्मि कांश्चन ।

अजितः पर्यवस्थाता कोऽत्र यो न मया जितः ।। २७ ।।

जरासंधने कहा—श्रीकृष्ण! मैं युद्धमें जीते बिना किन्हीं राजाओंको कैद करके यहाँ नहीं लाता हूँ। यहाँ कौन ऐसा शत्रु राजा है, जो दूसरोंसे अजेय होनेपर भी मेरेद्वारा जीत न लिया गया हो? ।। २७ ।।

क्षत्रियस्यैतदेवाहुर्धर्म्यं कृष्णोपजीवनम् ।
विक्रम्य वशमानीय कामतो यत् समाचरेत् ।। २८ ।।

श्रीकृष्ण! क्षत्रियके लिये तो यह धर्मानुकूल जीविका बतायी गयी है कि वह पराक्रम करके शत्रुको अपने वशमें लाकर फिर उसके साथ मनमाना बर्ताव करे ।। २८ ।।

देवतार्थमुपाहृत्य राज्ञः कृष्ण कथं भयात् ।
अहमद्य विमुच्येयं क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ।। २९ ।।

श्रीकृष्ण! मैं क्षत्रियके व्रतको सदा याद रखता हुआ देवताको बलि देनेके लिये उपहारके रूपमें लाये हुए इन राजाओंको आज तुम्हारे भयसे कैसे छोड़ सकता हूँ? ।। २९ ।।

सैन्यं सैन्येन व्यूढेन एक एकेन वा पुनः ।
द्वाभ्यां त्रिभिर्वा योत्स्येऽहं युगपत् पृथगेव वा ।। ३० ।।

तुम्हारी सेना मेरी व्यूहरचनायुक्त सेनाके साथ लड़ ले अथवा तुममेंसे कोई एक मुझ अकेलेके साथ युद्ध करे अथवा मैं अकेला ही तुममेंसे दो या तीनोंके साथ बारी-बारीसे या एक ही साथ युद्ध कर सकता हूँ ।। ३० ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा जरासंधः सहदेवाभिषेचनम् ।
आज्ञापयत् तदा राजा युयुत्सुर्भीमकर्मभिः ।। ३१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर भयानक कर्म करनेवाले उन तीनों वीरोंके साथ युद्धकी इच्छा रखकर राजा जरासंधने अपने पुत्र सहदेवके राज्याभिषेककी आज्ञा दे दी ।। ३१ ।।

स तु सेनापतिं राजा सस्मार भरतर्षभ ।
कौशिकं चित्रसेनं च तस्मिन् युद्ध उपस्थिते ।। ३२ ।।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर मगधनरेशने वह युद्ध उपस्थित होनेपर अपने सेनापति कौशिक और चित्रसेनका स्मरण किया (जो उस समय जीवित नहीं थे) ।। ३२ ।।

ययोस्ते नामनी राजन् हंसेति डिम्भकेति च ।
पूर्वं संकथितं पुम्भिर्नृलोके लोकसत्कृते ।। ३३ ।।

राजन्! ये वे ही थे, जिनके नाम पहले तुमसे हंस और डिम्भक बताये हैं। मनुष्यलोकके सभी पुरुष उनके प्रति बड़े आदरका भाव रखते थे ।। ३३ ।।

तं तु राजन् विभुः शौरी राजानं बलिनां वरम् ।
स्मृत्वा पुरुषशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमम् ।। ३४ ।।
सत्यसंधो जरासंधं भुवि भीमपराक्रमम् ।
भागमन्यस्य निर्दिष्टमवध्यं मधुभिर्मृधे ।। ३५ ।।
नात्मनाऽऽत्मवतां मुख्य इयेष मधुसूदनः ।
ब्राह्मीमाज्ञां पुरस्कृत्य हन्तुं हलधरानुजः ।। ३६ ।।

जनमेजय! मनस्वी पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ, मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी, वसुदेवपुत्र एवं बलरामके छोटे भाई भगवान् मधुसूदनने दिव्य दृष्टिसे स्मरण करके यह जान लिया था कि सिंहके समान पराक्रमी, बलवानोंमें श्रेष्ठ और भयानक पुरुषार्थ प्रकट करनेवाला यह राजा जरासंध युद्धमें दूसरे वीरका भाग (वध्य) नियत किया गया है। यदुवंशियोंमेंसे किसीके हाथसे उसकी मृत्यु नहीं हो सकती, अतः ब्रह्माजीके आदेशकी रक्षा करनेके लिये उन्होंने स्वयं उसे मारनेकी इच्छा नहीं की ।। ३४—३६ ।।

(जनमेजय उवाच

किमर्थं वैरिणावास्तामुभौ तौ कृष्णमागधौ ।
कथं च निर्जितः संख्ये जरासंधेन माधवः ।।

जनमेजयने पूछा—मुने! भगवान् श्रीकृष्ण और मगधराज जरासंध दोनों एक-दूसरेके शत्रु क्यों हो गये थे? तथा जरासंधने यदुकुलतिलक श्रीकृष्णको युद्धमें कैसे परास्त किया?।

कश्च कंसो मागधस्य यस्य हेतोः स वैरवान् ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं वैशम्पायन तत्त्वतः ।।

कंस मगधराज जरासंधका कौन था, जिसके लिये उसने भगवान्‌से वैर ठान लिया। वैशम्पायनजी! ये सब बातें मुझे यथार्थरूपसे बताइये।

वैशम्पायन उवाच

यादवानामन्ववाये वसुदेवो महामतिः ।
उदपद्यत वार्ष्णेयो ह्युग्रसेनस्य मन्त्रभृत् ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! यदुकुलमें परम बुद्धिमान् वसुदेव उत्पन्न हुए, जो वृष्णिवंशके राजकुमार तथा राजा उग्रसेनके विश्वसनीय मन्त्री थे।

उग्रसेनस्य कंसस्तु बभूव बलवान् सुतः ।
ज्येष्ठो बहूनां कौरव्य सर्वशस्त्रविशारदः ।।

उग्रसेनका पुत्र बलवान् कंस हुआ, जो उनके अनेक पुत्रोंमें सबसे बड़ा था। कुरुनन्दन! कंसने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी विद्यामें निपुणता प्राप्त की थी।

जरासंधस्य दुहिता तस्य भार्यातिविश्रुता ।
राज्यशुल्केन दत्ता सा जरासंधेन धीमता ।।

जरासंधकी पुत्री उसकी सुप्रसिद्ध पत्नी थी, जिसे बुद्धिमान् जरासंधने इस शर्तके साथ दिया था कि इसके पतिको तत्काल राजाके पदपर अभिषिक्त किया जाय।

तदर्थमुग्रसेनस्य मथुरायां सुतस्तदा ।
अभिषिक्तस्तदामात्यैः स वै तीव्रपराक्रमः ।।

इस शुल्ककी पूर्तिके लिये उग्रसेनके उस दुःसह पराक्रमी पुत्रको मन्त्रियोंने मथुराके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया।

ऐश्वर्यबलमत्तस्तु स तदा बलमोहितः ।
निगृह्य पितरं भुङ्क्ते तद् राज्यं मन्त्रिभिः सह ।।

तब ऐश्वर्यके बलसे उन्मत्त और शारीरिक शक्तिसे मोहित हो कंस अपने पिताको कैद करके मन्त्रियोंके साथ उनका राज्य भोगने लगा।

वसुदेवस्य तत् कृत्यं न शृणोति स मन्दधीः ।
स तेन सह तद् राज्यं धर्मतः पर्यपालयत् ।।

मन्दबुद्धि कंस वसुदेवजीके कर्तव्य-विषयक उपदेशको नहीं सुनता था, तो भी उसके साथ रहकर वसुदेवजी मथुराके राज्यका धर्मपूर्वक पालन करने लगे।

प्रीतिमान् स तु दैत्येन्द्रो वसुदेवस्य देवकीम् ।
उवाह भार्यां स तदा दुहिता देवकस्य या ।।

दैत्यराज कंसने अत्यन्त प्रसन्न होकर वसुदेवजीके साथ देवकीका ब्याह कर दिया, जो उग्रसेनके भाई देवककी पुत्री थी।

तस्यामुद्वाह्यमानायां रथेन जनमेजय ।
उपारुरोह वार्ष्णेयं कंसो भूमिपतिस्तदा ।।

जनमेजय! जब रथपर बैठकर देवकी विदा होने लगी, तब राजा कंस भी उसे पहुँचानेके लिये वृष्णिवंश-विभूषण वसुदेवजीके पास उस रथपर जा बैठा।

ततोऽन्तरिक्षे वागासीद् देवदूतस्य कस्यचित् ।
वसुदेवश्च शुश्राव तां वाचं पार्थिवश्च सः ।।

इसी समय आकाशमें किसी देवदूतकी वाणी स्पष्ट सुनायी देने लगी। वसुदेवजीने तो उसे सुना ही, राजा कंसने भी सुना।

यामेतां वहमानोऽद्य कंसोद्वहसि देवकीम् ।
अस्या यश्चाष्टमो गर्भः स ते मृत्युर्भविष्यति ।।

देवदूत कह रहा था—‘कंस! आज तू जिस देवकीको रथपर बिठाकर लिये जा रहा है, उसका आठवाँ गर्भ तेरी मृत्युका कारण होगा’।

सोऽवतीर्य ततो राजा खड्गमुद्धृत्य निर्मलम् ।
इयेष तस्या मूर्धानं छेत्तुं परमदुर्मतिः ।।

यह आकाशवाणी सुनते ही अत्यन्त खोटी बुद्धिवाले राजा कंसने म्यानसे चमचमाती हुई तलवार खींच ली और देवकीका सिर काट लेनेका विचार किया।

स सान्त्वयंस्तदा कंसं हसन् क्रोधवशानुगम् ।
राजन्ननुनयामास वसुदेवो महामतिः ।।

राजन्! उस समय परम बुद्धिमान् वसुदेवजी हँसते हुए क्रोधके वशीभूत हुए कंसको सान्त्वना दे उसकी अनुनय-विनय करने लगे।

अहिंस्यां प्रमदामाहुः सर्वधर्मेषु पार्थिव ।
अकस्मादबलां नारीं हन्तासीमामनागसीम् ।।

'पृथ्वीपते! प्रायः सभी धर्मोंमें नारीको अवध्य बताया गया है। क्या तुम इस निर्बल एवं निरपराध नारीको सहसा मार डालोगे?'

यच्च तेऽत्र भयं राजन् शक्यते बाधितुं त्वया ।
इयं च शक्या पालयितुं समयश्चैव रक्षितुम् ।।

'राजन्! इससे जो तुम्हें भय प्राप्त होनेवाला है, उसका तो तुम निवारण कर सकते हो। तुम्हें इसकी रक्षा करनी चाहिये और मुझे इसकी प्राणरक्षाके लिये जो शर्त निश्चित हो, उसका पालन करना चाहिये।

अस्यास्त्वमष्टमं गर्भं जातमात्रं महीपते ।
विध्वंसय तदा प्राप्तमेवं परिहृतं भवेत् ।।

'राजन्! इसके आठवें गर्भको तुम पैदा होते ही नष्ट कर देना। इस प्रकार तुमपर आयी हुई विपत्ति टल सकती है'।

एवं स राजा कथितो वसुदेवेन भारत ।
तस्य तद् वचनं चक्रे शूरसेनाधिपस्तदा ।।
ततस्तस्यां सम्बभूवुः कुमाराः सूर्यवर्चसः ।
जाताञ्जातांस्तु तान् सर्वाञ्जघान मधुरेश्वरः ।।

भरतनन्दन! वसुदेवजीके ऐसा कहनेपर शूरसेन-देशके राजा कंसने उनकी बात मान ली। तदनन्तर देवकीके गर्भसे सूर्यके समान तेजस्वी अनेक कुमार क्रमशः उत्पन्न हुए। मथुरानरेश कंसने जन्म लेते ही उन सबको मार डालता था।

अथ तस्यां समभवद् बलदेवस्तु सप्तमः ।
याम्यया मायया तं तु यमो राजा विशाम्पते ।।
देवक्या गर्भमतुलं रोहिण्या जठरेऽक्षिपत् ।
आकृष्य कर्षणात् सम्यक् संकर्षण इति स्मृतः ।।
बलश्रेष्ठतया तस्य बलदेव इति स्मृतः ।

तदनन्तर देवकीके उदरमें सातवें गर्भके रूपमें बलदेवका आगमन हुआ। राजन्! यमराजने यमसम्बन्धिनी मायाके द्वारा उस अनुपम गर्भको देवकीके उदरसे निकालकर

रोहिणीकी कुक्षिमें स्थापित कर दिया। आकर्षण होनेके कारण उस बालकका नाम संकर्षण हुआ। बलमें प्रधान होनेसे उसका नाम बलदेव हुआ।

पुनस्तस्यां समभवदष्टमो मधुसूदनः ।
तस्य गर्भस्य रक्षां तु चक्रे सोऽभ्यधिकं नृपः ।।

तत्पश्चात् देवकीके उदरमें आठवें गर्भके रूपमें साक्षात् भगवान् मधुसूदनका आविर्भाव हुआ। राजा कंसने बड़े यत्नसे उस गर्भकी रक्षा की।

ततः काले रक्षणार्थं वसुदेवस्य सात्वतः ।।
उग्रः प्रयुक्तः कंसेन सचिवः क्रूरकर्मकृत् ।
विमूढेषु प्रभावेन बालस्योत्तीर्य तत्र वै ।।
उपागम्य स घोषे तु जगाम स महाद्युतिः ।
जातमात्रं वासुदेवमथाकृष्य पिता ततः ।।
उपजह्रे परिक्रीतां सुतां गोपस्य कस्यचित् ।

तदनन्तर प्रसवकाल आनेपर सात्वतवंशी वसुदेवपर कड़ी नजर रखनेके लिये कंसने उग्र स्वभाववाले अपने क्रूरकर्मा मन्त्रीको नियुक्त किया। परंतु बालस्वरूप श्रीकृष्णके प्रभावसे रक्षकोंके निद्रासे मोहित हो जानेपर वहाँसे उठकर महातेजस्वी वसुदेवजी बालकके साथ व्रजमें चले गये। नवजात वासुदेवको मथुरासे हटाकर पिता वसुदेवने उसके बदलेमें किसी गोपकी पुत्रीको लाकर कंसको भेंट कर दिया।

मुमुक्षमाणस्तं शब्दं देवदूतस्य पार्थिवः ।।
जघान कंसस्तां कन्यां प्रहसन्ती जगाम सा ।
आर्येति वाशती शब्दं तस्मादार्येति कीर्तिता ।।

देवदूतके कहे हुए पूर्वोक्त शब्दका स्मरण करके उसके भयसे छूटनेकी इच्छा रखनेवाले कंसने उस कन्याको भी पृथ्वीपर दे मारा। परंतु वह कन्या उसके हाथसे छूटकर हँसती और आर्य शब्दका उच्चारण करती हुई वहाँसे चली गयी। इसीलिये उसका नाम 'आर्या' हुआ।

एवं तं वञ्चयित्वा च राजानं स महामतिः ।
वासुदेवं महात्मानं वर्धयामास गोकुले ।।

परम बुद्धिमान् वसुदेवने इस प्रकार राजा कंसको चकमा देकर गोकुलमें अपने महात्मा पुत्र वासुदेवका पालन कराया।

वासुदेवोऽपि गोपेषु ववृधेऽब्जमिवाम्भसि ।
अज्ञायमानः कंसेन गूढोऽग्निरिव दारुषु ।।

वासुदेव भी पानीमें कमलकी भाँति गोपोंमें रहकर बड़े हुए। काठमें छिपी हुई अग्निकी भाँति वे अज्ञातभावसे वहाँ रहने लगे। कंसको उनका पता न चला।

विप्रचक्रेऽथ तान् सर्वान् वल्लवान् मधुरेश्वरः ।
वर्धमानो महाबाहुस्तेजोबलसमन्वितः ।।

मथुरानरेश कंस उन सब गोपोंको बहुत सताया करता था। इधर महाबाहु श्रीकृष्ण बड़े होकर तेज और बलसे सम्पन्न हो गये।

ततस्ते क्लिश्यमानास्तु पुण्डरीकाक्षमच्युतम् ।
भयेन कामादपरे गणशः पर्यवारयन् ।।

राजाके सताये हुए गोपगण भय तथा कामनासे झुंड-के-झुंड एकत्र हो कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको घेरकर संगठित होने लगे।

स तु लब्ध्वा बलं राजन्नुग्रसेनस्य सम्मतः ।
वसुदेवात्मजः सर्वैर्भ्रातृभिः सहितं पुनः ।।
निर्जित्य युधि भोजेन्द्रं हत्वा कंसं महाबलः ।
अभ्यषिञ्चत् ततो राज्य उग्रसेनं विशाम्पते ।।

राजन्! इस प्रकार बलका संग्रह करके महाबली वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने उग्रसेनकी सम्मतिके अनुसार समस्त भाइयोंसहित भोजराज कंसको मारकर पुनः उग्रसेनको ही मथुराके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया।

ततः श्रुत्वा जरासंधो माधवेन हतं युधि ।
शूरसेनाधिपं चक्रे कंसपुत्रं तदा नृपः ।।

राजन्! जरासंधने जब यह सुना कि श्रीकृष्णने कंसको युद्धमें मार डाला है, तब उसने कंसके पुत्रको शूरसेनदेशका राजा बनाया।

स सैन्यं महदुत्थाप्य वासुदेवं प्रसह्य च ।
अभ्यषिञ्चत् सुतं तत्र सुताया जनमेजय ।।

जनमेजय! उसने बड़ी भारी सेना लेकर आक्रमण किया और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको हराकर अपनी पुत्रीके पुत्रको वहाँ राज्यपर अभिषिक्त कर दिया।

उग्रसेनं च वृष्णींश्च महाबलसमन्वितः ।
स तत्र विप्रकुरुते जरासंधः प्रतापवान् ।।
एतद् वैरं कौरवेय जरासंधस्य माधवे ।

जनमेजय! प्रतापी जरासंध महान् बल और सैनिकशक्तिसे सम्पन्न था। वह उग्रसेन तथा वृष्णिवंशको सदा क्लेश पहुँचाया करता था। कुरुनन्दन! जरासंध और श्रीकृष्णके वैरका यही वृत्तान्त है।

आशासितार्थे राजेन्द्र संरुरोध विनिर्जितान् ।
पार्थिवैस्तैर्नृपतिभिर्यक्ष्यमाणः समृद्धिमान् ।।
देवश्रेष्ठं महादेवं कृत्तिवासं त्रियम्बकम् ।
एतत् सर्वं यथा वृत्तं कथितं भरतर्षभ ।।
यथा तु स हतो राजा भीमसेनेन तच्छृणु ।)

राजेन्द्र! समृद्धिशाली जरासंध कृत्तिवासा और त्र्यम्बक नामोंसे प्रसिद्ध देवश्रेष्ठ महादेवजीको भूमण्डलके राजाओंकी बलि देकर उनका यजन करना चाहता था और इसी मनोवांछित प्रयोजनकी सिद्धिके लिये उसने अपने जीते हुए समस्त राजाओंको कैदमें डाल रखा था। भरतश्रेष्ठ! यह सब वृत्तान्त तुम्हें यथावत् बताया गया। अब जिस प्रकार भीमसेनने राजा जरासंधका वध किया, वह प्रसंग सुनो।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधयुद्धोद्योगे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधका युद्धके लिये उद्योगविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३९ श्लोक मिलाकर कुल ७५ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

जरासंधका भीमसेनके साथ युद्ध करनेका निश्चय, भीम और जरासंधका भयानक युद्ध तथा जरासंधकी थकावट

वैशम्पायन उवाच

ततस्तं निश्चितात्मानं युद्धाय यदुनन्दनः ।
उवाच वाग्मी राजानं जरासंधमधोक्षजः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा जरासंधने अपने मनमें युद्धका निश्चय कर लिया है, यह देख बोलनेमें कुशल यदुनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उससे कहा ।। १ ।।

श्रीकृष्ण उवाच

त्रयाणां केन ते राजन् योद्‌धुमुत्सहते मनः ।
अस्मदन्यतमेनेह सज्जीभवतु को युधि ।। २ ।।

श्रीकृष्णने पूछा—राजन्! हम तीनोंमेंसे किस एक व्यक्तिके साथ युद्ध करनेके लिये तुम्हारे मनमें उत्साह हो रहा है? हममेंसे कौन तुम्हारे साथ युद्धके लिये तैयार हो? ।। २ ।।

एवमुक्तः स नृपतिर्युद्धं वव्रे महाद्युतिः ।
जरासंधस्ततो राजा भीमसेनेन मागधः ।। ३ ।।

उनके इस प्रकार पूछनेपर महातेजस्वी मगधनरेश राजा जरासंधने भीमसेनके साथ युद्ध करना स्वीकार किया ।। ३ ।।

आदाय रोचनां माल्यं मङ्गल्यान्यपराणि च ।
धारयन्नगदान् मुख्यान् निर्वृतीर्वेदनानि च ।
उपतस्थे जरासंधं युयुत्सुं वै पुरोहितः ।। ४ ।।

जरासंधको युद्ध करनेके लिये उत्सुक देख उसके पुरोहित गोरोचन, माला, अन्यान्य मांगलिक वस्तुएँ तथा उत्तम-उत्तम ओषधियाँ, जो पीड़ाके समय भी सुख देनेवाली और मूर्च्छाकालमें भी होश बनाये रखनेवाली थीं, लेकर उसके पास आये ।। ४ ।।

कृतस्वस्त्ययनो राजा ब्राह्मणेन यशस्विना ।
समनह्यज्जरासंधः क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ।। ५ ।।

यशस्वी ब्राह्मणके द्वारा स्वस्तिवाचन सम्पन्न हो जानेपर जरासंध क्षत्रियधर्मका स्मरण करके युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हो गया ।। ५ ।।

अवमुच्य किरीटं स केशान् समनुगृह्य च ।
उदतिष्ठज्जरासंधो वेलातिग इवार्णवः ।। ६ ।।

जरासंधने किरीट उतारकर केशोंको कसकर बाँध लिया। तत्पश्चात् वह युद्धके लिये उठकर खड़ा हो गया; मानो महासागर अपनी मर्यादा—तटवर्तिनी भूमिको लाँघ जानेको उद्यत हो गया हो ।। ६ ।।

उवाच मतिमान् राजा भीमं भीमपराक्रमः ।
भीम योत्स्ये त्वया सार्धं श्रेयसा निर्जितं वरम् ।। ७ ।।

उस समय भयानक पराक्रम करनेवाले बुद्धिमान् राजा जरासंधने भीमसेनसे कहा—'भीम! आओ, मैं तुमसे युद्ध करूँगा; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषसे लड़कर हारना भी अच्छा है' ।। ७ ।।

एवमुक्त्वा जरासंधो भीमसेनमरिंदमः ।
प्रत्युद्ययौ महातेजाः शक्रं बल इवासुरः ।। ८ ।।

ऐसा कहकर महातेजस्वी शत्रुदमन जरासंध भीमसेनकी ओर बढ़ा; मानो बल नामक असुर इन्द्रसे भिड़नेके लिये बढ़ा जा रहा हो ।। ८ ।।

ततः सम्मन्त्र्य कृष्णेन कृतस्वस्त्ययनो बली ।
भीमसेनो जरासंधमाससाद युयुत्सया ।। ९ ।।

तदनन्तर बलवान् भीमसेन भी श्रीकृष्णसे सलाह लेकर स्वस्तिवाचनके अनन्तर युद्धकी इच्छासे जरासंधके पास आ धमके ।। ९ ।।

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुशस्त्रौ समीयतुः ।
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकङ्क्षिणौ ।। १० ।।

फिर तो मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी वे दोनों वीर अत्यन्त हर्ष और उत्साहमें भरकर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अपनी भुजाओंसे ही आयुधका काम लेते हुए परस्पर भिड़ गये ।। १० ।।

करग्रहणपूर्वं तु कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।
कक्षैः कक्षां विधुन्वानावास्फोटं तत्र चक्रतुः ।। ११ ।।

पहले उन दोनोंने हाथ मिलाये। फिर एक-दूसरेके चरणोंका अभिवन्दन किया। तत्पश्चात् भुजाओंके मूलभागके संचालनसे वहाँ बँधे हुए बाजूबंदकी डोरको हिलाते हुए वे दोनों वीर वहीं ताल ठोंकने लगे ।। ११ ।।

स्कन्धे दोर्भ्यां समाहत्य निहत्य च मुहुर्मुहुः ।
अङ्गमङ्गैः समाश्लिष्य पुनरास्फालनं विभो ।। १२ ।।

राजन्! फिर वे दोनों हाथोंसे एक-दूसरेके कंधे-पर बार-बार चोट करते हुए अंग-अंगसे भिड़कर आपसमें गुँथ गये तथा एक-दूसरेको बार-बार रगड़ने लगे ।। १२ ।।

चित्रहस्तादिकं कृत्वा कक्षाबन्धं च चक्रतुः ।
गलगण्डाभिघातेन सस्फुलिङ्गेन चाशनिम् ।। १३ ।।

वे कभी हाथोंको बड़े वेगसे सिकोड़ लेते, कभी फैला देते, कभी ऊपर-नीचे चलाते और कभी मुट्ठी बाँध लेते। इस प्रकार चित्रहस्त आदि दाँव दिखाकर उन दोनोंने कक्षाबन्धका प्रयोग किया अर्थात् एक-दूसरेकी काख या कमरमें दोनों हाथ डालकर प्रतिद्वन्द्वीको बाँध लेनेकी चेष्टा की। फिर गलेमें और गालमें ऐसे-ऐसे हाथ मारने लगे कि आगकी चिनगारी-सी निकलने लगी और वज्रपातका-सा शब्द होने लगा ।। १३ ।।

बाहुपाशादिकं कृत्वा पादाहतशिरावुभौ ।
उरोहस्तं ततश्चक्रे पूर्णकुम्भौ प्रयुज्य तौ ।। १४ ।।

तत्पश्चात् वे ‘बाहुपाश’ और ‘चरणपाश’ आदि दाँव-पेंचोंसे काम लेते हुए एक-दूसरेपर पैरोंसे ऐसा भीषण प्रहार करने लगे कि शरीरकी नस-नाड़ियाँतक पीड़ित हो उठीं। तदनन्तर दोनोंने दोनोंपर ‘पूर्णकुम्भ’ नामक दाँव लगाया (दोनों हाथोंकी अंगुलियोंको परस्पर गूँथकर उन हाथोंकी हथेलियोंसे शत्रुके सिरको दबाया)। इसके बाद ‘उरोहस्त’ का प्रयोग किया (छातीपर थप्पड़ मारना शुरू कर दिया) ।। १४ ।।

करसम्पीडनं कृत्वा गर्जन्तौ वारणाविव ।
नर्दन्तौ मेघसंकाशौ बाहुप्रहरणावुभौ ।। १५ ।।

फिर एक-दूसरेके हाथ दबाकर वे दोनों दो गजराजोंकी भाँति गर्जने लगे। दोनों ही भुजाओंसे प्रहार करते हुए मेघके समान गम्भीर स्वरसे सिंहनाद करने लगे ।। १५ ।।

तलेनाहन्यमानौ तु अन्योन्यं कृतवीक्षणौ ।
सिंहाविव सुसंक्रुद्धावाकृष्याकृष्य युध्यताम् ।। १६ ।।

थप्पड़ोंकी मार खाकर वे परस्पर घूर-घूरकर देखते और अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए दो सिंहोंके समान एक-दूसरेको खींच-खींचकर लड़ने लगे ।। १६ ।।

अङ्गेनाङ्गं समापीड्य बाहुभ्यामुभयोरपि ।
आवृत्य बाहुभिश्चापि उदरं च प्रचक्रतुः ।। १७ ।।

उस समय दोनों अपने अंगों और भुजाओंसे प्रतिद्वन्द्वीके शरीरको दबाकर शत्रुकी पीठमें अपने गलेकी हँसली भिड़ाकर उसके पेटको दोनों बाँहोंसे कस लेते और उठाकर दूर फेंकते थे ।। १७ ।।

उभौ कट्यां सुपार्श्वे तु तक्षवन्तौ च शिक्षितौ ।
अधोहस्तं स्वकण्ठे तूदरस्योरसि चाक्षिपत् ।। १८ ।।

इसी प्रकार कमरमें और बगलमें भी हाथ लगाकर दोनों प्रतिद्वन्द्वीको पछाड़नेकी चेष्टा करते थे। अपने शरीरको सिकोड़कर शत्रुकी पकड़से छूट जानेकी कला दोनों जानते थे। दोनों ही मल्लयुद्धकी शिक्षामें प्रवीण थे। वे उदरके नीचे हाथ लगाकर दोनों हाथोंसे पेटको लपेट लेते और विपक्षीको कण्ठ एवं छातीतक ऊँचे उठाकर धरतीपर दे मारते थे ।। १८ ।।

सर्वातिक्रान्तमर्यादं पृष्ठभङ्गं च चक्रतुः ।
सम्पूर्णमूर्च्छां बाहुभ्यां पूर्णकुम्भं प्रचक्रतुः ।। १९ ।।

फिर वे सारी मर्यादाओंसे ऊँचे उठे हुए 'पृष्ठभंग' नामक दाँव-पेंचसे काम लेने लगे (अर्थात् एक-दूसरेकी पीठको धरतीसे लगा देनेकी चेष्टामें लग गये)। दोनों भुजाओंसे सम्पूर्ण मूर्च्छा (उदर आदिमें आघात करके मूर्च्छित करनेका प्रयत्न) तथा पूर्वोक्त पूर्णकुम्भका प्रयोग करने लगे ।। १९ ।।

तृणपीडं यथाकामं पूर्णयोगं समुष्टिकम् ।
एवमादीनि युद्धानि प्रकुर्वन्तौ परस्परम् ।। २० ।।

तदनन्तर वे अपनी इच्छाके अनुसार 'तृणपीड' (रस्सी बनानेके लिये बटे जानेवाले तिनकोंकी भाँति हाथ-पैर आदिको ऐंठना) तथा मुष्टिकाघातसहित पूर्णयोग (मुक्केको एक अंगमें मारनेकी चेष्टा दिखाकर दूसरे अंगमें आघात करना) आदि युद्धके दाँव-पेंचोंका प्रयोग एक-दूसरेपर करने लगे ।। २० ।।

तयोर्युद्धं ततो द्रष्टुं समेताः पुरवासिनः ।
ब्राह्मणा वणिजश्चैव क्षत्रियाश्च सहस्रशः ।। २१ ।।
शूद्राश्च नरशार्दूल स्त्रियो वृद्धाश्च सर्वशः ।
निरन्तरमभूत् तत्र जनौघैरभिसंवृतम् ।। २२ ।।

जनमेजय! उस समय उनका मल्लयुद्ध देखनेके लिये हजारों पुरवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ एवं वृद्ध इकट्ठे हो गये। मनुष्योंकी अपार भीड़से वह स्थान ठसाठस भर गया ।। २१-२२ ।।

तयोरथ भुजाघातान्निग्रहप्रग्रहात् तथा ।
आसीत् सुभीमसम्पातो वज्रपर्वतयोरिव ।। २३ ।।

उन दोनोंकी भुजाओंके आघातसे तथा एक-दूसरेके निग्रह-प्रग्रहसे* ऐसा भयंकर चटचट शब्द होता था, मानो वज्र और पर्वत परस्पर टकरा रहे हों ।। २३ ।।

उभौ परमसंहृष्टौ बलेन बलिनां वरौ ।
अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ।। २४ ।।

बलवानोंमें श्रेष्ठ वे दोनों वीर अत्यन्त हर्ष एवं उत्साहमें भरे हुए थे और एक-दूसरेकी दुर्बलता या असावधानीपर दृष्टि रखते हुए परस्पर बलपूर्वक विजय पानेकी इच्छा रखते थे ।। २४ ।।

तद् भीममुत्सार्यजनं युद्धमासीदुपप्लवे ।
बलिनोः संयुगे राजन् वृत्रवासवयोरिव ।। २५ ।।

राजन्! उस समरभूमिमें जहाँ वृत्रासुर और इन्द्रकी भाँति उन दोनों बलवान् वीरोंमें संघर्ष छिड़ा था, ऐसा भयंकर युद्ध हुआ कि दर्शकलोग दूर भाग खड़े हुए ।। २५ ।।

प्रकर्षणाकर्षणाभ्यामनुकर्षविकर्षणैः ।
आचकर्षतुरन्योन्यं जानुभिश्चावजघ्नतुः ।। २६ ।।

वे एक-दूसरेको पीछे ढकेलते और आगे खींचते थे। बार-बार खींचतान और छीना-झपटी करते थे। दोनोंने अपने प्रहारोंसे एक-दूसरेके शरीरमें खरौंच एवं घाव पैदा कर दिये और दोनों दोनोंको पटककर घुटनोंसे मारने तथा रगड़ने लगे ।। २६ ।।

ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम् ।
पाषाणसंघातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ।। २७ ।।

फिर बड़े भारी गर्जन-तर्जनके द्वारा आपसमें डाँट बताते हुए एक-दूसरेपर ऐसे प्रहार करने लगे मानो पत्थरोंकी वर्षा कर रहे हों ।। २७ ।।

व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव ।। २८ ।।

दोनोंकी छाती चौड़ी और भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं। दोनों ही मल्लयुद्धमें कुशल थे और लोहेकी परिघ-जैसी मोटी भुजाओंको भिड़ाकर आपसमें गुँथ जाते थे ।। २८ ।।

कार्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्तं प्रथमेऽहनि ।
अनाहारं दिवारात्रमविश्रान्तमवर्तत ।। २९ ।।

कार्तिक मासके पहले दिन उन दोनोंका युद्ध प्रारम्भ हुआ और दिन-रात बिना खाये-पिये अविरामगतिसे चलता रहा ।। २९ ।।

तद् वृत्तं तु त्रयोदश्यां समवेतं महात्मनोः ।
चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो मागधः क्लमात् ।। ३० ।।

उन महात्माओंका वह युद्ध इसी रूपमें त्रयोदशी-तक होता रहा। चतुर्दशीकी रातमें मगधनरेश जरासंध क्लेशसे थककर युद्धसे निवृत्त-सा होने लगा ।। ३० ।।

तं राजानं तथा क्लान्तं दृष्ट्वा राजञ्जनार्दनः ।
उवाच भीमकर्माणं भीमं सम्बोधयन्निव ।। ३१ ।।

राजन्! उसे इस प्रकार थका देख भगवान् श्रीकृष्ण भयानक कर्म करनेवाले भीमसेनको समझाते हुए-से बोले— ।। ३१ ।।

क्लान्तः शत्रुर्न कौन्तेय लभ्यः पीडयितुं रणे ।
पीड्यमानो हि कात्स्न्र्येन जह्याज्जीवितमात्मनः ।। ३२ ।।

'कुन्तीनन्दन! शत्रु थक गया हो तो युद्धमें उसे अधिक पीड़ा देना उचित नहीं है। यदि उसे पूर्णतः पीड़ा दी जाय तो वह अपने प्राण त्याग देगा ।। ३२ ।।

तस्मात् ते नैव कौन्तेय पीडनीयो जनाधिपः ।
सममेतेन युध्यस्व बाहुभ्यां भरतर्षभ ।। ३३ ।।

'अतः पार्थ! तुम्हें राजा जरासंधको अधिक पीड़ा नहीं देनी चाहिये। भरतश्रेष्ठ! तुम अपनी भुजाओंद्वारा इनके साथ समभावसे ही युद्ध करो' ।। ३३ ।।

एवमुक्तः स कृष्णेन पाण्डवः परवीरहा ।
जरासंधस्य तद् रूपं ज्ञात्वा चक्रे मतिं वधे ।। ३४ ।।

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले पाण्डुकुमार भीमसेनने जरासंधको थका हुआ जानकर उसके वधका विचार किया ।। ३४ ।।

ततस्तमजितं जेतुं जरासंधं वृकोदरः ।
संरम्भं बलिनां श्रेष्ठो जग्राह कुरुनन्दनः ।। ३५ ।।

तदनन्तर कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले बलवानोंमें श्रेष्ठ वृकोदरने उस अपराजित शत्रु जरासंधको जीतनेके लिये भारी क्रोध धारण किया ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधक्लान्तौ त्रयोविंशोऽध्यायः ।। २३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधकी थकावटसे सम्बन्ध रखनेवाला तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३ ।।

---

[*] दोनों हाथोंसे शत्रुका कंधा पकड़कर खींचने और उसे नीचे मुख गिरानेकी चेष्टाका नाम 'निग्रह' है तथा शत्रुको उत्तान गिरा देनेके लिये उसके पैरोंको पकड़कर खींचना 'प्रग्रह' कहलाता है।

चतुर्विंशोऽध्यायः

भीमके द्वारा जरासंधका वध, बंदी राजाओंकी मुक्ति, श्रीकृष्ण आदिका भेंट लेकर इन्द्रप्रस्थमें आना और वहाँसे श्रीकृष्णका द्वारका जाना

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्ततः कृष्णमुवाच यदुनन्दनम् ।
बुद्धिमास्थाय विपुलां जरासंधवधेप्सया ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भीमसेनने विशाल बुद्धिका सहारा ले जरासंधके वधकी इच्छासे यदुनन्दन श्रीकृष्णको सम्बोधित करके कहा— ।। १ ।।

नायं पापो मया कृष्ण युक्तः स्यादनुरोधितुम् ।
प्राणेन यदुशार्दूल बद्धकक्षेण वाससा ।। २ ।।

'यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण! जरासंधने लंगोटसे अपनी कमर खूब कस ली है। यह पापी प्राण रहते मेरे वशमें आनेवाला नहीं जान पड़ता' ।। २ ।।

एवमुक्तस्ततः कृष्णः प्रत्युवाच वृकोदरम् ।
त्वरयन् पुरुषव्याघ्रो जरासंधवधेप्सया ।। ३ ।।

उनके ऐसा कहनेपर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने जरासंधके वधके लिये भीमसेनको उत्तेजित करते हुए कहा— ।। ३ ।।

यत् ते दैवं परं सत्त्वं यच्च ते मातरिश्वनः ।
बलं भीम जरासंधे दर्शयाशु तदद्य नः ।। ४ ।।

'भीम! तुम्हारा जो सर्वोत्कृष्ट दैवी स्वरूप है और तुम्हें वायुदेवतासे जो दिव्य बल प्राप्त हुआ है, उसे आज हमारे सामने जरासंधपर शीघ्रतापूर्वक दिखाओ ।। ४ ।।

(तवैष वध्यो दुर्बुद्धिः जरासंधो महारथः ।
इत्यन्तरिक्षे त्वश्रौषं यदा वायुरपोह्यते ।।

'यह खोटी बुद्धिवाला महारथी जरासंध तुम्हारे हाथोंसे ही मारा जा सकता है। यह बात आकाशमें मुझे उस समय सुनायी पड़ी थी जब कि बलरामजीके द्वारा जरासंधके प्राण लेनेकी चेष्टा की जा रही थी।

गोमन्ते पर्वतश्रेष्ठे येनैष परिमोक्षितः ।
बलदेवबलं प्राप्य कोऽन्यो जीवेत मागधात् ।।

'इसीलिये गिरिश्रेष्ठ गोमन्तपर भैया बलरामने इसे जीवित छोड़ दिया था; अन्यथा बलदेवजीके काबूमें आ जानेपर इस जरासंधके सिवा दूसरा कौन जीवित बच सकता था?

तदस्य मृत्युर्विहितः त्वदृते न महाबल ।

वायुं चिन्त्य महाबाहो जहीमं मगधाधिपम् ।।)

'महाबली भीम! तुम्हारे सिवा और किसीके द्वारा इसकी मृत्यु नहीं होनेवाली है। महाबाहो! तुम वायुदेवका चिन्तन करके इस मगधराजको मार डालो'।

एवमुक्तस्तदा भीमो जरासंधमरिंदमः ।

उत्क्षिप्य भ्रामयामास बलवन्तं महाबलः ।। ५ ।।

उनके इस तरह संकेत करनेपर शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबली भीमने उस समय बलवान् जरासंधको उठाकर आकाशमें वेगसे घुमाना आरम्भ किया ।। ५ ।।

(ततस्तु भगवान् कृष्णो जरासंधजिघांसया ।

भीमसेनं समालोक्य नलं जग्राह पाणिना ।।

द्विधा चिच्छेद वै तत् तु जरासंधवधं प्रति ।)

तब भगवान् श्रीकृष्णने जरासंधका वध करानेकी इच्छासे भीमसेनकी ओर देखकर एक नरकट* हाथमें ले लिया और उसे (दातुनकी भाँति) दो टुकड़ोंमें चीर डाला (तथा उसे फेंक दिया)। यह जरासंधको मारनेके लिये एक संकेत था।

भ्रामयित्वा शतगुणं जानुभ्यां भरतर्षभ ।

बभञ्ज पृष्ठं संक्षिप्य निष्पिष्य विननाद च ।। ६ ।।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! (भीमने उनके संकेतको समझ लिया और) उन्होंने सौ बार घुमाकर उसे धरतीपर पटक दिया और उसकी पीठको धनुषकी तरह मोड़कर दोनों घुटनोंकी चोटसे उसकी रीढ़ तोड़ डाली, फिर अपने शरीरकी रगड़से पीसते हुए भीमने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ।। ६ ।।

करे गृहीत्वा चरणं द्वेधा चक्रे महाबलः ।। ७ ।।

इसके बाद अपने एक हाथसे उसका एक पैर पकड़कर और दूसरे पैरपर अपना पैर रखकर महाबली भीमने उसे दो खण्डोंमें चीर डाला ।। ७ ।।

(पुनः संधाय तु तदा जरासंधः प्रतापवान् ।।

भीमेन च समागम्य बाहुयुद्धं चकार ह ।

तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ।।

सर्वलोकक्षयकरं सर्वभूतभयावहम् ।

पुनः कृष्णस्तमिरिणं द्विधा विच्छिद्य माधवः ।।

व्यत्यस्य प्राक्षिपत् तत् तु जरासंधवधेप्सया ।

तब वे दोनों टुकड़े फिरसे जुड़ गये और प्रतापी जरासंध भीमसे भिड़कर बाहुयुद्ध करने लगा। उन दोनों वीरोंका वह युद्ध अत्यन्त भयंकर और रोमांचकारी था। उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो सम्पूर्ण जगत्‌का संहार हो जायगा। वह द्वन्द्वयुद्ध सम्पूर्ण प्राणियोंके भयको बढ़ानेवाला था। उस समय भगवान् श्रीकृष्णने पुनः एक नरकट लेकर

पहलेकी ही भाँति चीरकर उसके दो टुकड़े कर दिये और उन दोनों टुकड़ोंको अलग-अलग विपरीत दिशामें फेंक दिया। जरासंधके वधके लिये यह दूसरा संकेत था।

भीमसेनस्तदा ज्ञात्वा निर्बिभेद च मागधम् ।।

द्विधा व्यत्यस्य पादेन प्राक्षिपच्च ननाद ह ।

भीमसेनने उसे समझकर पुनः मगधराजको दो टुकड़ोंमें चीर डाला और पैरसे ही उन दोनों टुकड़ोंको विपरीत दिशाओंमें करके फेंक दिया। इसके बाद वे विकट गर्जना करने लगे।

शुष्कमांसास्थिमेदस्त्वग्भिन्नमस्तिष्कपिण्डकः ।।

शवभूतस्तदा राजन् पिण्डीकृत इवाबभौ ।)

राजन्! उस समय जरासंधका शरीर शवरूप होकर मांसके लोंदे-सा जान पड़ने लगा। उसके शरीरके मांस, हड्डियाँ, मेदा और चमड़ा सभी सूख गये थे। मस्तिष्क और शरीर दो भागोंमें विदीर्ण हो गये थे।

तस्य निष्पिष्यमाणस्य पाण्डवस्य च गर्जतः ।

अभवत् तुमुलो नादः सर्वप्राणिभयंकरः ।। ८ ।।

वित्रेसुर्मागधाः सर्वे स्त्रीणां गर्भाश्च सुस्रुवुः ।

भीमसेनस्य नादेन जरासंधस्य चैव ह ।। ९ ।।

जब जरासंध रगड़ा जा रहा था और पाण्डुकुमार गर्ज-गर्जकर उसे पीसे डालते थे, उस समय भीमसेनकी गर्जना और जरासंधकी चीत्कारसे जो तुमुल नाद प्रकट हुआ, वह समस्त प्राणियोंको भयभीत करनेवाला था। उसे सुनकर सभी मगधनिवासी भयसे थर्रा उठे। स्त्रियोंके तो गर्भतक गिर गये ।। ८-९ ।।

किं नु स्याद्धिमवान् भिन्नः किं नु स्विद् दीर्यते मही ।

इति वै मागधा जज्ञुर्भीमसेनस्य निःस्वनात् ।। १० ।।

भीमसेनकी गर्जना सुनकर मगधके लोग भयभीत होकर सोचने लगे कि ‘कहीं हिमालय पहाड़ तो नहीं फट पड़ा? कहीं पृथ्वी तो विदीर्ण नहीं हो रही है? ।। १० ।।

ततो राज्ञः कुलद्वारि प्रसुप्तमिव तं नृपम् ।

रात्रौ गतासुमुत्सृज्य निश्चक्रमुररिंदमाः ।। ११ ।।

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे तीनों वीर रातमें राजा जरासंधके प्राणहीन शरीरको सोते हुएके समान राजभवनके द्वारपर छोड़कर वहाँसे चल दिये ।। ११ ।।

जरासंधरथं कृष्णो योजयित्वा पताकिनम् ।

आरोप्य भ्रातरौ चैव मोक्षयामास बान्धवान् ।। १२ ।।

श्रीकृष्णने जरासंधके ध्वजा-पताकामण्डित दिव्य रथको जोत लिया और उसपर दोनों भाई भीमसेन और अर्जुनको बिठाकर पहाड़ी खोहके पास जा वहाँ कैदमें पड़े हुए अपने बान्धवस्वरूप समस्त राजाओंको छुड़ाया ।। १२ ।।

ते वै रत्नभुजं कृष्णं रत्नार्हाः पृथिवीश्वराः ।
राजानश्चक्रुरासाद्य मोक्षिता महतो भयात् ।। १३ ।।

उस महान् भयसे छूटे हुए रत्नभोगी नरेशोंने भगवान् श्रीकृष्णसे मिलकर उन्हें विविध रत्नोंसे युक्त कर दिया ।। १३ ।।

अक्षतः शस्त्रसम्पन्नो जितारिः सह राजभिः ।
रथमास्थाय तं दिव्यं निर्जगाम गिरिव्रजात् ।। १४ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण क्षतरहित और अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे। वे शत्रुपर विजय पा चुके थे, उस अवस्थामें वे उस दिव्य रथपर आरूढ़ हो कैदसे छूटे हुए राजाओंके साथ गिरिव्रज नगरसे बाहर निकले ।। १४ ।।

यः स सोदर्यवान् नाम द्वियोधी कृष्णसारथिः ।
अभ्यासघाती संदृश्यो दुर्जयः सर्वराजभिः ।। १५ ।।

उस रथका नाम था सोदर्यवान्, उसमें दो महारथी योद्धा एक साथ बैठकर युद्ध कर सकते थे, इस समय भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथि थे। उस रथमें बार-बार शत्रुओंपर आघात करनेकी सुविधा थी तथा वह दर्शनीय होनेके साथ ही समस्त राजाओंके लिये दुर्जय था ।। १५ ।।

भीमार्जुनाभ्यां योधाभ्यामास्थितः कृष्णसारथिः ।
शुशुभे रथवर्योऽसौ दुर्जयः सर्वधन्विभिः ।। १६ ।।
शक्रविष्णू हि संग्रामे चेरतुस्तारकामये ।

भीम और अर्जुन—से दो योद्धा उस रथपर बैठे थे, श्रीकृष्ण सारथिका काम सँभाल रहे थे, सम्पूर्ण धनुर्धर वीरोंके लिये भी उसे जीतना कठिन था। इन दोनों रथियोंके द्वारा उस श्रेष्ठ रथकी ऐसी शोभा हो रही थी मानो इन्द्र और विष्णु एक साथ बैठकर तारकामय संग्राममें विचर रहे हों ।। १६½ ।।

रथेन तेन वै कृष्ण उपारुह्य ययौ तदा ।। १७ ।।
तप्तचामीकराभेण किङ्किणीजालमालिना ।
मेघनिर्घोषनादेन जैत्रेणामित्रघातिना ।। १८ ।।

वह रथ तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् था। उसमें क्षुद्र घण्टिकाओंसे युक्त झालरें लगी थीं। उसकी घर्घराहट मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान जान पड़ती थी। वह शत्रुओंका विघातक और विजय प्रदान करनेवाला था। उसी रथपर सवार हो उसके द्वारा श्रीकृष्णने उस समय यात्रा की ।। १७-१८ ।।

येन शक्रो दानवानां जघान नवतीर्नव ।
तं प्राप्य समहृष्यन्त रथं ते पुरुषर्षभाः ।। १९ ।।

यह वही रथ था, जिसके द्वारा इन्द्रने निन्यानबे दानवोंका वध किया था। उस रथको पाकर वे तीनों नरश्रेष्ठ बहुत प्रसन्न हुए ।। १९ ।।

ततः कृष्णं महाबाहुं भ्रातृभ्यां सहितं तदा ।
रथस्थं मागधा दृष्ट्वा समपद्यन्त विस्मिताः ।। २० ।।

तदनन्तर दोनों फुफेरे भाइयोंके साथ रथपर बैठे हुए महाबाहु श्रीकृष्णको देखकर मगधके निवासी बड़े विस्मित हुए ।। २० ।।

हयैर्दिव्यैः समायुक्तो रथो वायुसमो जवे ।
अधिष्ठितः स शुशुभे कृष्णेनातीव भारत ।। २१ ।।

वह रथ वायुके समान वेगशाली था, उसमें दिव्य घोड़े जुते हुए थे। भारत! श्रीकृष्णके बैठ जानेसे उस दिव्य रथकी बड़ी शोभा हो रही थी ।। २१ ।।

असङ्गो देवविहितस्तस्मिन् रथवरे ध्वजः ।
योजनाद् ददृशे श्रीमानिन्द्रायुधसमप्रभः ।। २२ ।।

उस उत्तम रथपर देवनिर्मित ध्वज फहराता रहता था, जो रथसे अछूता था (रथके साथ उसका लगाव नहीं था, वह बिना आधारके ही उसके ऊपर लहराया करता था)। इन्द्रधनुषके समान प्रकाशमान बहुरंगी एवं शोभाशाली वह ध्वज एक योजन दूरसे ही दीखने लगता था ।। २२ ।।

चिन्तयामास कृष्णोऽथ गरुत्मन्तं स चाभ्ययात् ।
क्षणे तस्मिन् स तेनासीच्चैत्यवृक्ष इवोत्थितः ।। २३ ।।
व्यादितास्यैर्महानादैः सह भूतैर्ध्वजालयैः ।
तस्मिन् रथवरे तस्थौ गरुत्मान् पन्नगाशनः ।। २४ ।।

उस समय भगवान् श्रीकृष्णने गरुडजीका स्मरण किया। गरुडजी उसी क्षण वहाँ आ गये। उस रथकी ध्वजामें बहुत-से भूत मुँह बाये हुए विकट गर्जना करते रहते थे। उन्हींके साथ सर्पभोजी गरुडजी भी उस श्रेष्ठ रथपर स्थित हो गये। उनके द्वारा वह ध्वज ऊँचे उठे हुए चैत्य वृक्षके समान सुशोभित हो गया ।। २३-२४ ।।

दुर्निरीक्ष्यो हि भूतानां तेजसाभ्यधिकं बभौ ।
आदित्य इव मध्याह्ने सहस्रकिरणावृतः ।। २५ ।।
न स सज्जति वृक्षेषु शस्त्रैश्चापि न रिष्यते ।
दिव्यो ध्वजवरो राजन् दृश्यते चेह मानुषैः ।। २६ ।।

अब वह उत्तम ध्वज सहस्रों किरणोंसे आवृत मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति अपने तेजसे अधिक प्रकाशित होने लगा। प्राणियोंके लिये उसकी ओर देखना कठिन हो गया। वह वृक्षोंमें कहीं अटकता नहीं था, अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा कटता नहीं था। राजन्! वह दिव्य और श्रेष्ठ ध्वज इस लोकके मनुष्योंको दृष्टिगोचर मात्र होता था ।। २५-२६ ।।

तमास्थाय रथं दिव्यं पर्जन्यसमनिःस्वनम् ।
निर्ययौ पुरुषव्याघ्रः पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः ।। २७ ।।

मेघके समान गम्भीर घर्घर ध्वनिसे परिपूर्ण उसी दिव्य रथपर भीमसेन और अर्जुनके साथ बैठे हुए पुरुषसिंह भगवान् श्रीकृष्ण नगरसे बाहर निकले ।। २७ ।।

यं लेभे वासवाद् राजा वसुस्तस्माद् बृहद्रथः ।
बृहद्रथात् क्रमेणैव प्राप्तो बार्हद्रथं नृप ।। २८ ।।

राजन्! इन्द्रसे उस रथको राजा वसुने प्राप्त किया था। फिर क्रमशः वसुसे बृहद्रथको और बृहद्रथसे जरासंधको वह रथ मिला था ।। २८ ।।

स निर्याय महाबाहुः पुण्डरीकेक्षणस्ततः ।
गिरिव्रजाद् बहिस्तस्थौ समदेशे महायशाः ।। २९ ।।

महायशस्वी कमलनयन महाबाहु श्रीकृष्ण गिरिव्रजसे बाहर आ समतल भूमिपर खड़े हुए ।। २९ ।।

तत्रैनं नागराः सर्वे सत्कारेणाभ्ययुस्तदा ।
ब्राह्मणप्रमुखा राजन् विधिदृष्टेन कर्मणा ।। ३० ।।

जनमेजय! वहाँ ब्राह्मण आदि सभी नागरिकोंने शास्त्रीय विधिसे उनका सत्कार एवं पूजन किया ।। ३० ।।

बन्धनाद् विप्रमुक्ताश्च राजानो मधुसूदनम् ।
पूजयामासुरूचुश्च स्तुतिपूर्वमिदं वचः ।। ३१ ।।

कैदसे छूटे हुए राजाओंने भी मधुसूदनकी पूजा की और उनकी स्तुति करते हुए इस प्रकार कहा— ।। ३१ ।।

नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दने ।
भीमार्जुनबलोपेते धर्मस्य प्रतिपालनम् ।। ३२ ।।

'महाबाहो! आप देवकी देवीको आनन्दित करनेवाले साक्षात् भगवान् हैं, भीमसेन और अर्जुनका बल भी आपके साथ है। आपके द्वारा जो धर्मकी रक्षा हो रही है, वह आप-सरीखे धर्मावतारके लिये आश्चर्यकी बात नहीं है ।। ३२ ।।

जरासंधह्रदे घोरे दुःखपङ्के निमज्जताम् ।
राज्ञां समभ्युद्धरणं यदिदं कृतमद्य वै ।। ३३ ।।

'प्रभो! हम सब राजा दुःखरूपी पंकसे युक्त जरासंध-रूपी भयानक कुण्डमें डूब रहे थे, आपने जो आज हमारा यह उद्धार किया है, वह आपके योग्य ही है ।। ३३ ।।

विष्णो समवसन्नानां गिरिदुर्गे सुदारुणे ।
दिष्ट्या मोक्षाद् यशो दीप्तमाप्तं ते यदुनन्दन ।। ३४ ।।

'विष्णो! अत्यन्त भयंकर पहाड़ी किलेमें कैद हो हम बड़े दुःखसे दिन काट रहे थे। यदुनन्दन! आपने हमें इस संकटसे मुक्त करके अत्यन्त उज्ज्वल यश प्राप्त किया है; यह बड़े सौभाग्यकी बात है ।। ३४ ।।

किं कुर्मः पुरुषव्याघ्र शाधि नः प्रणतिस्थितान् ।
कृतमित्येव तद् विद्धि नृपैर्यद्यपि दुष्करम् ।। ३५ ।।

'पुरुषसिंह! हम आपके चरणोंमें पड़े हैं। आप हमें आज्ञा दीजिये, हम क्या सेवा करें? कोई दुष्कर कार्य हो तो भी आपको यह समझना चाहिये मानो हम सब राजाओंने मिलकर उसे पूर्ण कर ही दिया' ।। ३५ ।।

तानुवाच हृषीकेशः समाश्वास्य महामनाः ।
युधिष्ठिरो राजसूयं क्रतुमाहर्तुमिच्छति ।। ३६ ।।

तब महामना भगवान् हृषीकेशने उन सबको आश्वासन देकर कहा—'राजाओ! धर्मराज युधिष्ठिर राजसूययज्ञ करना चाहते हैं ।। ३६ ।।

तस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
सर्वैर्भवद्भिर्विज्ञाय साहाय्यं क्रियतामिति ।। ३७ ।।

'धर्ममें तत्पर रहते हुए ही उन्हें सम्राट् पद प्राप्त करनेकी इच्छा हुई है। इस कार्यमें तुम सब लोग उनकी सहायता करो' ।। ३७ ।।

ततः सुप्रीतमनसस्ते नृपा नृपसत्तम ।
तथेत्येवाब्रुवन् सर्वे प्रतिगृह्यास्य तां गिरम् ।। ३८ ।।

नृपश्रेष्ठ जनमेजय! तब उन सभी राजाओंने प्रसन्नचित्त हो 'तथास्तु' कहकर भगवान्‌की वह आज्ञा शिरोधार्य कर ली ।। ३८ ।।

रत्नभाजं च दाशार्हं चक्रुस्ते पृथिवीश्वराः ।
कृच्छ्राज्जग्राह गोविन्दस्तेषां तदनुकम्पया ।। ३९ ।।

इतना ही नहीं, उन भूपालोंने दशार्हकुलभूषण भगवान्‌को रत्न भेंट किये। भगवान् गोविन्दने बड़ी कठिनाईसे उन सबपर कृपा करनेके लिये ही वह भेंट स्वीकार की ।। ३९ ।।

जरासंधात्मजश्चैव सहदेवो महामनाः ।
निर्ययौ सजनामात्यः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ।। ४० ।।

तदनन्तर जरासंधका पुत्र महामना सहदेव पुरोहितको आगे करके सेवकों और मन्त्रियोंके साथ नगरसे बाहर निकला ।। ४० ।।

स नीचैः प्रणतो भूत्वा बहुरत्नपुरोगमः ।
सहदेवो नृणां देवं वासुदेवमुपस्थितः ।। ४१ ।।

उसके आगे रत्नोंका बहुत बड़ा भण्डार आ रहा था। सहदेव अत्यन्त विनीतभावसे चरणोंमें पड़कर नरदेव भगवान् वासुदेवकी शरणमें आया था ।। ४१ ।।

(सहदेव उवाच

यत् कृतं पुरुषव्याघ्र मम पित्रा जनार्दन ।
तत् ते हृदि महाबाहो न कार्यं पुरुषोत्तम ।।

सहदेव बोला—पुरुषसिंह जनार्दन! महाबाहु पुरुषोतम! मेरे पिताने जो अपराध किया है, उसे आप अपने हृदयसे निकाल दें।

त्वां प्रपन्नोऽस्मि गोविन्द प्रसादं कुरु मे प्रभो ।
पितुरिच्छामि संस्कारं कर्तुं देवकिनन्दन ।।

गोविन्द! मैं आपकी शरणमें आया हूँ। प्रभो! आप मुझपर कृपा कीजिये। देवकीनन्दन! मैं अपने पिताका दाह-संस्कार करना चाहता हूँ।

त्वत्तोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य भीमसेनात् तथार्जुनात् ।
निर्भयो विचरिष्यामि यथाकामं यथासुखम् ।।

आपसे, भीमसेनसे तथा अर्जुनसे आज्ञा लेकर यह कार्य करूँगा और आपकी कृपासे निर्भय हो इच्छानुसार सुखपूर्वक विचरूँगा।

वैशम्पायन उवाच

एवं विज्ञाप्यमानस्य सहदेवस्य मारिष ।
प्रहृष्टो देवकीपुत्रः पाण्डवौ च महारथौ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सहदेवके इस प्रकार निवेदन करनेपर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण तथा महारथी भीमसेन और अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए।

क्रियतां संस्क्रिया राजन् पितुस्त इति चाब्रुवन् ।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य पार्थयोश्च स मागधः ।।
प्रविश्य नगरं तूर्णं सह मन्त्रिभिरप्युत ।
चितां चन्दनकाष्ठैश्च कालेयसरलैस्तथा ।।

कालागुरुसुगन्धैश्च तैलैश्च विविधैरपि ।
घृतधाराक्षतैश्चैव सुमनोभिश्च मागधम् ।।
समन्तादवकीर्यन्त दह्यन्तं मगधाधिपम् ।

उन सबने एक स्वरसे कहा—'राजन्! तुम अपने पिताका अन्त्येष्टि-संस्कार करो।' भगवान् श्रीकृष्ण तथा दोनों कुन्तीकुमारोंका यह आदेश सुनकर मगधराजकुमारने मन्त्रियोंके साथ शीघ्र ही नगरमें प्रवेश किया। फिर चन्दनकी लकड़ी तथा केसर, देवदारु और काला अगुरु आदि सुगन्धित काष्ठोंसे चिता बनाकर उसपर मगधराजका शव रखा गया। तत्पश्चात् जलती चितामें दग्ध होते हुए मगधराजके शरीरपर नाना प्रकारके चन्दनादि सुगन्धित तैल और घीकी धाराएँ गिरायी गयीं। सब ओरसे अक्षत और फूलोंकी वर्षा की गयी।

उदकं तस्य चक्रेऽथ सहदेवः सहानुजः ।।
कृत्वा पितुः स्वर्गगतिं निर्ययौ यत्र केशवः ।
पाण्डवौ च महाभागौ भीमसेनार्जुनावुभौ ।।
स प्रह्वः प्राञ्जलिर्भूत्वा विज्ञापयत माधवम् ।

शवदाहके पश्चात् सहदेवने अपने छोटे भाईके साथ पिताके लिये जलांजलि दी। इस प्रकार पिताका पारलौकिक कार्य करके राजकुमार सहदेव नगरसे निकलकर उस स्थानमें गया, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण तथा महाभाग पाण्डुपुत्र भीमसेन और अर्जुन विद्यमान थे। उसने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा।

सहदेव उवाच

इमे रत्नानि भूरीणि गोऽजाविमहिषादयः ।
हस्तिनोऽश्वाश्च गोविन्द वासांसि विविधानि च ।।
दीयतां धर्मराजाय यथा वा मन्यते भवान् ।)

सहदेवने कहा—प्रभो! ये गाय, भैंस, भेड़-बकरे आदि पशु, बहुत-से रत्न, हाथी-घोड़े और नाना प्रकारके वस्त्र आपकी सेवामें प्रस्तुत हैं। गोविन्द! ये सब वस्तुएँ धर्मराज युधिष्ठिरको दीजिये अथवा आपकी जैसी रुचि हो, उसके अनुसार मुझे सेवाके लिये आदेश दीजिये।

भयार्ताय ततस्तस्मै कृष्णो दत्त्वाभयं तदा ।
आददेऽस्य महार्हाणि रत्नानि पुरुषोत्तमः ।। ४२ ।।

वह भयसे पीड़ित हो रहा था; पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने उसे अभयदान देकर उसके लाये हुए बहुमूल्य रत्नोंकी भेंट स्वीकार कर ली ।। ४२ ।।

अभ्यषिञ्चत तत्रैव जरासंधात्मजं मुदा ।
गत्वैकत्वं च कृष्णेन पार्थाभ्यां चैव सत्कृतः ।। ४३ ।।

तत्पश्चात् जरासंधकुमारको प्रसन्नतापूर्वक वहीं पिताके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया। श्रीकृष्णने सहदेवको अपना अभिन्न सुहृद् बना लिया, इसलिये भीमसेन और अर्जुनने भी उसका बड़ा सत्कार किया ।। ४३ ।।

विवेश राजा द्युतिमान् बार्हद्रथपुरं नृप ।
अभिषिक्तो महाबाहुर्जारासंधिर्महात्मभिः ।। ४४ ।।

राजन्! उन महात्माओंद्वारा अभिषिक्त हो महाबाहु जरासंधपुत्र तेजस्वी राजा सहदेव अपने पिताके नगरमें लौट गया ।। ४४ ।।

कृष्णस्तु सह पार्थाभ्यां श्रिया परमया युतः ।
रत्नान्यादाय भूरीणि प्रययौ पुरुषर्षभः ।। ४५ ।।

और पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने सर्वोत्तम शोभासे सम्पन्न हो प्रचुर रत्नोंकी भेंट ले दोनों कुन्तीकुमारोंके साथ वहाँसे प्रस्थान किया ।। ४५ ।।

इन्द्रप्रस्थमुपागम्य पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः ।
समेत्य धर्मराजानं प्रीयमाणोऽभ्यभाषत ।। ४६ ।।

भीमसेन और अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थमें आकर भगवान् श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिरसे मिले और अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले— ।। ४६ ।।

दिष्ट्या भीमेन बलवाञ्जरासंधो निपातितः ।
राजानो मोक्षिताश्चैव बन्धनान्नृपसत्तम ।। ४७ ।।

‘नृपश्रेष्ठ! सौभाग्यकी बात है कि महाबली भीमसेनने जरासंधको मार गिराया और समस्त राजाओंको उसकी कैदसे छुड़ा दिया ।। ४७ ।।

दिष्ट्या कुशलिनौ चेमौ भीमसेनधनंजयौ ।
पुनः स्वनगरं प्राप्तावक्षताविति भारत ।। ४८ ।।

‘भारत! भाग्यसे ही ये दोनों भाई भीमसेन और अर्जुन अपने नगरमें पुनः सकुशल लौट आये और इन्हें कोई क्षति नहीं पहुँची’ ।। ४८ ।।

ततो युधिष्ठिरः कृष्णं पूजयित्वा यथार्हतः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव प्रहृष्टः परिषस्वजे ।। ४९ ।।

तब युधिष्ठिरने श्रीकृष्णका यथायोग्य सत्कार करके भीमसेन और अर्जुनको भी प्रसन्नतापूर्वक गले लगाया ।। ४९ ।।

ततः क्षीणे जरासंधे भ्रातृभ्यां विहितं जयम् ।
अजातशत्रुरासाद्य मुमुदे भ्रातृभिः सह ।। ५० ।।

तदनन्तर जरासंधके नष्ट होनेपर अपने दोनों भाइयोंद्वारा की हुई विजयको पाकर अजातशत्रु राजा युधिष्ठिर भाइयोंसहित आनन्दमग्न हो गये ।। ५० ।।

(हृष्टश्च धर्मराड् वाक्यं जनार्दनमभाषत ।

फिर धर्मराजने हर्षमें भरकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा।

युधिष्ठिर उवाच

त्वां प्राप्य पुरुषव्याघ्र भीमसेनेन पातितः ।
मागधोऽसौ बलोन्मत्तो जरासंधः प्रतापवान् ।।

युधिष्ठिर बोले—पुरुषसिंह जनार्दन! आपका सहारा पाकर ही भीमसेनने बलके अभिमानसे उन्मत्त रहनेवाले प्रतापी मगधराज जरासंधको मार गिराया है।

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं प्राप्स्यामि विगतज्वरः ।
त्वद्बुद्धिबलमाश्रित्य यागार्होऽस्मि जनार्दन ।।

अब मैं निश्चिन्त होकर यज्ञोंमें श्रेष्ठ राजसूयका शुभ अवसर प्राप्त करूँगा। प्रभो! आपके बुद्धि-बलका सहारा पाकर मैं यज्ञ करनेयोग्य हो गया।

पीतं पृथिव्यां युद्धेन यशस्ते पुरुषोत्तम ।
जरासंधवधेनैव प्राप्तास्ते विपुलाः श्रियः ।।

पुरुषोत्तम! इस युद्धसे भूमण्डलमें आपके यशका विस्तार हुआ। जरासंधके वधसे ही आपको प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त हुई है।

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाष्य कौन्तेयः प्रादाद् रथवरं प्रभोः ।
प्रतिगृह्य तु गोविन्दो जरासंधस्य तं रथम् ।।
प्रहृष्टस्तस्य मुमुदे फाल्गुनेन जनार्दनः ।
प्रीतिमानभवद् राजन् धर्मराजपुरस्कृतः ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भगवान्‌को श्रेष्ठ रथ प्रदान किया। जरासंधके उस रथको पाकर गोविन्द बड़े प्रसन्न हुए और अर्जुनके साथ उसमें बैठकर बड़े हर्षका अनुभव करने लगे। धर्मराज युधिष्ठिरके उस भेंटको अंगीकार करके उन्हें बड़ा संतोष हुआ।

यथावयः समागम्य भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
सत्कृत्य पूजयित्वा च विससर्ज नराधिपान् ।। ५१ ।।

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भाइयोंके साथ जाकर समस्त राजाओंसे उनकी अवस्थाके अनुसार क्रमशः मिले; फिर उन सबका यथायोग्य सत्कार एवं पूजन करके उन्होंने सभी नरपतियोंको विदा कर दिया ।। ५१ ।।

युधिष्ठिराभ्यनुज्ञातास्ते नृपा हृष्टमानसाः ।
जग्मुः स्वदेशांस्त्वरिता यानैरुच्चावचैस्ततः ।। ५२ ।।

राजा युधिष्ठिरकी आज्ञा ले वे सब नरेश मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो अनेक प्रकारकी सवारियोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक अपने-अपने देशको चले गये ।। ५२ ।।

एवं पुरुषशार्दूलो महाबुद्धिर्जनार्दनः ।

पाण्डवैर्घातयामास जरासंधमरिं तदा ।। ५३ ।।

जनमेजय! इस प्रकार महाबुद्धिमान् पुरुषसिंह जनार्दनने उस समय पाण्डवोंद्वारा अपने शत्रु जरासंधका वध करवाया ।। ५३ ।।

घातयित्वा जरासंधं बुद्धिपूर्वमरिंदमः ।

धर्मराजमनुज्ञाप्य पृथां कृष्णां च भारत ।। ५४ ।।

सुभद्रां भीमसेनं च फाल्गुनं यमजौ तथा ।

धौम्यमामन्त्रयित्वा च प्रययौ स्वां पुरीं प्रति ।। ५५ ।।

तेनैव रथमुख्येन मनसस्तुल्यगामिना ।

धर्मराजविसृष्टेन दिव्येनानादयन् दिशः ।। ५६ ।।

भारत! जरासंधको बुद्धिपूर्वक मरवाकर शत्रुदमन श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिर, कुन्ती तथा द्रौपदीसे आज्ञा ले, सुभद्रा, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा धौम्यजीसे भी पूछकर धर्मराजके दिये हुए उसी मनके समान वेगशाली दिव्य एवं उत्तम रथके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए अपनी द्वारकापुरीको चले गये ।। ५४—५६ ।।

ततो युधिष्ठिरमुखाः पाण्डवा भरतर्षभ ।

प्रदक्षिणमकुर्वन्त कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ।। ५७ ।।

भरतश्रेष्ठ! जाते समय युधिष्ठिर आदि समस्त पाण्डवोंने अनायास ही सब कार्य करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी परिक्रमा की ।। ५७ ।।

ततो गते भगवति कृष्णे देवकिनन्दने ।

जयं लब्ध्वा सुविपुलं राज्ञां दत्त्वाभयं तदा ।। ५८ ।।

संवर्धितं यशो भूयः कर्मणा तेन भारत ।

द्रौपद्याः पाण्डवा राजन् परां प्रीतिमवर्धयन् ।। ५९ ।।

भारत! महान् विजयको प्राप्त करके और जरासंधके द्वारा कैद किये हुए उन राजाओंको अभयदान देकर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर उक्त कर्मके द्वारा पाण्डवोंके यशका बहुत विस्तार हुआ और वे पाण्डव द्रौपदीकी भी प्रीतिको बढ़ाने लगे ।। ५८-५९ ।।

तस्मिन् काले तु यद् युक्तं धर्मकामार्थसंहितम् ।

तद् राजा धर्मतश्चक्रे प्रजापालनकीर्तनम् ।। ६० ।।

उस समय धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये जो उचित कर्तव्य था, उसका राजा युधिष्ठिरने धर्मपूर्वक पालन किया। वे प्रजाओंकी रक्षा करनेके साथ ही उन्हें धर्मका उपदेश भी देते रहते थे ।। ६० ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधवधे चतुर्विंशोऽध्यायः ।। २४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधवधविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २६ श्लोक मिलाकर कुल ८६ श्लोक हैं)

---

* नरकट बेंतकी तरह पोले डंठलका एक पौधा होता है, जो कलम बनानेके काम आता है।

(दिग्विजयपर्व)

पञ्चविंशोऽध्यायः

अर्जुन आदि चारों भाइयोंकी दिग्विजयके लिये यात्रा

वैशम्पायन उवाच

पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्यौ च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुन श्रेष्ठ धनुष, दो विशाल एवं अक्षय तूणीर, दिव्य रथ, ध्वज और अद्भुत सभाभवन पहले ही प्राप्त कर चुके थे; अब वे युधिष्ठिरसे बोले ।। १ ।।

अर्जुन उवाच

धनुरस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ।। २ ।।

अर्जुनने कहा—राजन्! मुझे धनुष, अस्त्र, बाण, पराक्रम, श्रीकृष्ण-जैसे सहायक, भूमि (राज्य एवं इन्द्रप्रस्थका दुर्ग), यश और बल—ये सभी दुर्लभ एवं मनोवांछित वस्तुएँ प्राप्त हो चुकी हैं ।। २ ।।

तत्र कृत्यमहं मन्ये कोशस्य परिवर्धनम् ।
करमाहारयिष्यामि राज्ञः सर्वान् नृपोत्तम ।। ३ ।।

नृपश्रेष्ठ! अब मैं अपने कोषको बढ़ाना ही आवश्यक कार्य समझता हूँ। मेरी इच्छा है कि समस्त राजाओंको जीतकर उनसे कर वसूल करूँ ।। ३ ।।

विजयाय प्रयास्यामि दिशं धनदपालिताम् ।
तिथावथ मुहूर्ते च नक्षत्रे चाभिपूजिते ।। ४ ।।

आपकी आज्ञा हो तो उत्तम तिथि, मुहूर्त और नक्षत्रमें कुबेरद्वारा पालित उत्तर दिशाको जीतनेके लिये प्रस्थान करूँ ।। ४ ।।

(एतच्छ्रुत्वा कुरुश्रेष्ठो धर्मराजः सहानुजः ।
प्रहृष्टो मन्त्रिभिश्चैव व्यासधौम्यादिभिः सह ।।
ततो व्यासो महाबुद्धिरुवाचेदं वचोऽर्जुनम् ।

यह सुनकर भाइयोंसहित कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरको बड़ी प्रसन्नता हुई। साथ ही मन्त्रियों तथा व्यास, धौम्य आदि महर्षियोंको बड़ा हर्ष हुआ। तत्पश्चात् परम बुद्धिमान् व्यासजीने अर्जुनसे कहा।

व्यास उवाच

साधु साध्विति कौन्तेय दिष्ट्या ते बुद्धिरीदृशी ।
पृथिवीमखिलां जेतुमेकोऽध्यवसितो भवान् ।।

व्यासजी बोले—कुन्तीनन्दन! मैं तुम्हें बारंबार साधुवाद देता हूँ। सौभाग्यसे तुम्हारी बुद्धिमें ऐसा संकल्प हुआ है। तुम सारी पृथ्वीको अकेले ही जीतनेके लिये उत्साहित हो रहे हो।

धन्यः पाण्डुर्महीपालो यस्य पुत्रस्त्वमीदृशः ।
सर्वं प्राप्स्यति राजेन्द्रो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।।
त्वद्वीर्येण स धर्मात्मा सार्वभौमत्वमेष्यति ।

राजा पाण्डु धन्य थे, जिनके पुत्र तुम ऐसे पराक्रमी निकले। तुम्हारे पराक्रमसे धर्मपुत्र धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिर सब कुछ पा लेंगे। सार्वभौम सम्राट्के पदपर प्रतिष्ठित होंगे।

त्वद्बाहुबलमाश्रित्य राजसूयमवाप्स्यति ।।
सुनयाद् वासुदेवस्य भीमार्जुनबलेन च ।
यमयोश्चैव वीर्येण सर्वं प्राप्स्यति धर्मराट् ।।

तुम्हारे बाहुबलका सहारा पाकर ये राजसूययज्ञ पूर्ण कर लेंगे। भगवान् श्रीकृष्णकी उत्तम नीति, भीम और अर्जुनके बल तथा नकुल और सहदेवके पराक्रमसे धर्मराज युधिष्ठिरको सब कुछ प्राप्त हो जायगा।

तस्माद् दिशं देवगुप्तामुदीचीं गच्छ फाल्गुन ।
शक्तो भवान् सुराञ्जित्वा रत्नान्याहर्तुमोजसा ।।

इसलिये अर्जुन! तुम तो देवताओंद्वारा सुरक्षित उत्तर दिशाकी यात्रा करो; क्योंकि देवताओंको जीतकर वहाँसे बलपूर्वक रत्न ले आनेमें तुम्हीं समर्थ हो।

प्राचीं भीमो बलश्लाघी प्रयातु भरतर्षभः ।
याम्यां तत्र दिशं यातु सहदेवो महारथः ।।
प्रतीचीं नकुलो गन्ता वरुणेनाभिपालिताम् ।
एषा मे नैष्ठिकी बुद्धिः क्रियतां भरतर्षभाः ।।

अपने बलद्वारा दूसरोंसे होड़ लेनेवाले भरतकुल-भूषण भीमसेन पूर्व दिशाकी यात्रा करें। महारथी सहदेव दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान करें और नकुल वरुणपालित पश्चिम दिशापर आक्रमण करें। भरतश्रेष्ठ पाण्डवो! मेरी बुद्धिका ऐसा ही निश्चय है। तुमलोग इसका पालन करो।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा व्यासवचो हृष्टास्तमूचुः पाण्डुनन्दनाः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजीकी यह बात सुनकर पाण्डवोंने बड़े हर्षके साथ कहा।

पाण्डवा ऊचुः

एवमस्तु मुनिश्रेष्ठ यथाऽऽज्ञापयसि प्रभो ।)

पाण्डव बोले—मुनिश्रेष्ठ! आप जैसी आज्ञा देते हैं वैसा ही हो।

वैशम्पायन उवाच

धनंजयवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
स्निग्धगम्भीरनादिन्या तं गिरा प्रत्यभाषत ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनकी पूर्वोक्त बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर स्नेहयुक्त गम्भीर वाणीमें उनसे इस प्रकार बोले— ।। ५ ।।

स्वस्तिवाच्यार्हतो विप्रान् प्रयाहि भरतर्षभ ।
दुर्हृदामप्रहर्षाय सुहृदां नन्दनाय च ।। ६ ।।

'भरतकुलभूषण! पूजनीय ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर यात्रा करो। तुम्हारी यह यात्रा शत्रुओंका शोक और सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाली हो ।। ६ ।।

विजयस्ते ध्रुवं पार्थ प्रियं काममवाप्स्यसि ।

'पार्थ! तुम्हारी विजय सुनिश्चित है, तुम अभीष्ट कामनाओंको प्राप्त करोगे' ।। ६½ ।।

इत्युक्तः प्रययौ पार्थः सैन्येन महताऽऽवृतः ।। ७ ।।
अग्निदत्तेन दिव्येन रथेनाद्भुतकर्मणा ।
तथैव भीमसेनोऽपि यमौ च पुरुषर्षभौ ।। ८ ।।
ससैन्याः प्रययुः सर्वे धर्मराजेन पूजिताः ।

उनके इस प्रकार आदेश देनेपर कुन्तीपुत्र अर्जुन विशाल सेनाके साथ अग्निके दिये हुए अद्भुतकर्मा दिव्य रथद्वारा वहाँसे प्रस्थित हुए। इसी प्रकार भीमसेन तथा नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव—इन सभी भाइयोंने धर्मराजसे सम्मानित हो सेनाओंके साथ दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया ।। ७-८½ ।।

दिशं धनपतेरिष्टामजयत् पाकशासनिः ।। ९ ।।
भीमसेनस्तथा प्राचीं सहदेवस्तु दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं नकुलो राजन् दिशं व्यजयतास्त्रवित् ।। १० ।।

राजन्! इन्द्रकुमार अर्जुनने कुबेरकी प्रिय उत्तर दिशापर विजय पायी। भीमसेनने पूर्व दिशा, सहदेवने दक्षिण दिशा तथा अस्त्रवेत्ता नकुलने पश्चिम दिशाको जीता ।। ९-१० ।।

खाण्डवप्रस्थमध्यस्थो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।

आसीत् परमया लक्ष्म्या सुहृद्गणवृतः प्रभुः ।। ११ ।।

केवल धर्मराज युधिष्ठिर सुहृदोंसे घिरे हुए अपनी उत्तम राजलक्ष्मीके साथ खाण्डवप्रस्थमें रह गये थे ।। ११ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि दिग्विजयसंक्षेपकथने पञ्चविंशोऽध्यायः ।। २५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें दिग्विजयका संक्षिप्त वर्णनविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल २०½ श्लोक हैं)

षड्विंशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा अनेक देशों, राजाओं तथा भगदत्तकी पराजय

जनमेजय उवाच

दिशामभिजयं ब्रह्मन् विस्तरेणानुकीर्तय ।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ।। १ ।।

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! दिग्विजयका विस्तार-पूर्वक वर्णन कीजिये। अपने पूर्वजोंके इस महान् चरित्रको सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

धनंजयस्य वक्ष्यामि विजयं पूर्वमेव ते ।
यौगपद्येन पार्थैर्हि निर्जितेयं वसुन्धरा ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यद्यपि कुन्तीके चारों पुत्रोंने एक ही समय इन चारों दिशाओंकी पृथ्वीपर विजय प्राप्त की थी, तो भी पहले तुम्हें अर्जुनका दिग्विजयवृत्तान्त सुनाऊँगा ।। २ ।।

पूर्वं कुलिन्दविषये वशे चक्रे महीपतीन् ।
धनंजयो महाबाहुर्नातितीव्रेण कर्मणा ।। ३ ।।

महाबाहु धनंजयने अत्यन्त दुःसह पराक्रम प्रकट किये बिना ही पहले कुलिन्द देशके भूमिपालोंको अपने वशमें किया ।। ३ ।।

आनर्तान् कालकूटांश्च कुलिन्दांश्च विजित्य सः ।
सुमण्डलं च विजितं कृतवान् सहसैनिकम् ।। ४ ।।

कुलिन्दोंके साथ-साथ कालकूट और आनर्त देशके राजाओंको जीतकर सेनासहित राजा सुमण्डलको भी जीत लिया ।। ४ ।।

स तेन सहितो राजन् सव्यसाची परंतपः ।
विजिग्ये शाकलं द्वीपं प्रतिविन्ध्यं च पार्थिवम् ।। ५ ।।

राजन्! तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने सुमण्डलको साथी बना लिया और उनके साथ जाकर शाकलद्वीप तथा राजा प्रतिविन्ध्य-पर विजय प्राप्त की ।। ५ ।।

शाकलद्वीपवासाश्च सप्तद्वीपेषु ये नृपाः ।
अर्जुनस्य च सैन्यैस्तैर्विग्रहस्तुमुलोऽभवत् ।। ६ ।।

शाकलद्वीप तथा अन्य सातों द्वीपोंमें जो राजा रहते थे, उनके साथ अर्जुनके सैनिकोंका घमासान युद्ध हुआ ।। ६ ।।

स तानपि महेष्वासान् विजिग्ये भरतर्षभ ।
तैरेव सहितः सर्वैः प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ।। ७ ।।

भरतकुलभूषण जनमेजय! अर्जुनने उन महान् धनुर्धरोंको भी जीत लिया और उन सबको साथ लेकर प्राग्ज्योतिषपुरपर धावा किया ।। ७ ।।

तत्र राजा महानासीद् भगदत्तो विशाम्पते ।
तेनासीत् सुमहद् युद्धं पाण्डवस्य महात्मनः ।। ८ ।।

महाराज! प्राग्ज्योतिषपुरके प्रधान राजा भगदत्त थे। उनके साथ महात्मा अर्जुनका बड़ा भारी युद्ध हुआ ।। ८ ।।

स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत् ।
अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः ।। ९ ।।

प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश किरात, चीन तथा समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले अन्य बहुतेरे योद्धाओंसे घिरे हुए थे ।। ९ ।।

ततः स दिवसानष्टौ योधयित्वा धनंजयम् ।
प्रहसन्नब्रवीद् राजा संग्रामविगतक्लमम् ।। १० ।।

राजा भगदत्तने अर्जुनके साथ आठ दिनोंतक युद्ध किया, तो भी उन्हें युद्धसे थकते न देख वे हँसते हुए बोले— ।। १० ।।

उपपन्नं महाबाहो त्वयि कौरवनन्दन ।
पाकशासनदायादे वीर्यमाहवशोभिनि ।। ११ ।।

‘महाबाहु कौरवनन्दन! तुम इन्द्रके पुत्र और संग्राममें शोभा पानेवाले शूरवीर हो। तुममें ऐसा बल और पराक्रम उचित ही है ।। ११ ।।

अहं सखा महेन्द्रस्य शक्रादनवरो रणे ।
न शक्ष्यामि च ते तात स्थातुं प्रमुखतो युधि ।। १२ ।।

‘मैं देवराज इन्द्रका मित्र हूँ और युद्धमें उनसे तनिक भी कम नहीं हूँ, बेटा! तो भी मैं संग्राममें तुम्हारे सामने खड़ा नहीं हो सकूँगा ।। १२ ।।

त्वमीप्सितं पाण्डवेय ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यद् वक्ष्यसि महाबाहो तत् करिष्यामि पुत्रक ।। १३ ।।

‘पाण्डुनन्दन! तुम्हारी इच्छा क्या है, बताओ? मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? वत्स! महाबाहो! तुम जो कहोगे, वही करूँगा’ ।। १३ ।।

अर्जुन उवाच

कुरूणामृषभो राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।

धर्मज्ञः सत्यसंधश्च यज्वा विपुलदक्षिणः ।। १४ ।।
तस्य पार्थिवतामीप्से करस्तस्मै प्रदीयताम् ।
भवान् पितृसखा चैव प्रीयमाणो मयापि च ।
ततो नाज्ञापयामि त्वां प्रीतिपूर्वं प्रदीयताम् ।। १५ ।।

अर्जुन बोले—महाराज! धर्मज्ञ सत्यप्रतिज्ञ कुरु-कुलरत्न धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर बहुत दक्षिणा देकर राजसूययज्ञ करनेवाले हैं। मैं चाहता हूँ वे चक्रवर्ती सम्राट् हों। आप उन्हें कर दीजिये। आप मेरे पिताके मित्र हैं और मुझसे भी प्रेम रखते हैं; अतः मैं आपको आज्ञा नहीं दे सकता। आप प्रेमभावसे ही उन्हें भेंट दीजिये ।। १४-१५ ।।

भगदत्त उवाच

कुन्तीमातर्यथा मे त्वं तथा राजा युधिष्ठिरः ।
सर्वमेतत् करिष्यामि किं चान्यत् करवाणि ते ।। १६ ।।

भगदत्तने कहा—कुन्तीकुमार! मेरे लिये जैसे तुम हो वैसे राजा युधिष्ठिर हैं, मैं यह सब कुछ करूँगा। बोलो, तुम्हारे लिये और क्या करूँ? ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि अर्जुनदिग्विजये भगदत्तपराजये षड्विंशोऽध्यायः ।। २६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनदिग्विजयप्रसंगमें भगदत्तपराजयसम्बन्धी छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६ ।।

सप्तविंशोऽध्यायः

अर्जुनका अनेक पर्वतीय देशोंपर विजय पाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच भगदत्तं धनंजयः ।
अनेनैव कृतं सर्वमनुजानीहि याम्यहम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उनके ऐसा कहनेपर धनंजयने भगदत्तसे कहा—'राजन्! आपने जो कर देना स्वीकार कर लिया, इतनेसे ही मेरा सब सत्कार हो जायगा, अब आज्ञा दीजिये, मैं जाता हूँ' ।। १ ।।

तं विजित्य महाबाहुः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
प्रययावुत्तरां तस्माद् दिशं धनदपालिताम् ।। २ ।।

भगदत्तको जीतकर महाबाहु कुन्तीपुत्र अर्जुन वहाँसे कुबेरद्वारा सुरक्षित उत्तर दिशामें गये ।। २ ।।

अन्तर्गिरिं च कौन्तेयस्तथैव च बहिर्गिरिम् ।
तथैवोपगिरिं चैव विजिग्ये पुरुषर्षभः ।। ३ ।।

कुरुश्रेष्ठ धनंजयने क्रमशः अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि नामक प्रदेशोंपर विजय प्राप्त की ।। ३ ।।

विजित्य पर्वतान् सर्वान् ये च तत्र नराधिपाः ।
तान् वशे स्थापयित्वा स धनान्यादाय सर्वशः ।। ४ ।।

फिर समस्त पर्वतों और वहाँ निवास करनेवाले राजाओंको अपने अधीन करके उन्होंने सबसे धन वसूल किये ।। ४ ।।

तैरेव सहितः सर्वैरनुरज्य च तान् नृपान् ।
उलूकवासिनं राजन् बृहन्तमुपजग्मिवान् ।। ५ ।।

तत्पश्चात् उन नरेशोंको प्रसन्न करके उन सबके साथ उलूकवासी राजा बृहन्तपर आक्रमण किया ।। ५ ।।

मृदङ्गवरनादेन रथनेमिस्वनेन च ।
हस्तिनां च निनादेन कम्पयन् वसुधामिमाम् ।। ६ ।।

जुझाऊ बाजे, श्रेष्ठ मृदंग आदिकी ध्वनि, रथके पहियोंकी घर्घराहट और हाथियोंकी गर्जनासे वे इस पृथ्वीको कँपाते हुए आगे बढ़ रहे थे ।। ६ ।।

ततो बृहन्तस्त्वरितो बलेन चतुरङ्गिणा ।
निष्क्रम्य नगरात् तस्माद् योधयामास फाल्गुनम् ।। ७ ।।

तब राजा बृहन्त तुरंत ही चतुरंगिणी सेनाके साथ नगरसे बाहर निकले और अर्जुनसे युद्ध करने लगे ।। ७ ।।

सुमहान् संनिपातोऽभूद् धनंजयबृहन्तयोः ।
न शशाक बृहन्तस्तु सोढुं पाण्डवविक्रमम् ।। ८ ।।

उस समय अर्जुन और बृहन्तमें बड़े जोरकी मार-काट शुरू हुई, परंतु बृहन्त पाण्डुपुत्र अर्जुनके पराक्रमको न सह सके ।। ८ ।।

सोऽविषह्यतमं मत्वा कौन्तेयं पर्वतेश्वरः ।
उपावर्तत दुर्धर्षो रत्नान्यादाय सर्वशः ।। ९ ।।

कुन्तीकुमारको असह्य मानकर दुर्धर्ष वीर पर्वतराज बृहन्त युद्धसे हट गये और सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए ।। ९ ।।

स तद्राज्यमवस्थाप्य उलूकसहितो ययौ ।
सेनाबिन्दुमथो राजन् राज्यादाशु समाक्षिपत् ।। १० ।।

जनमेजय! अर्जुनने बृहन्तका राज्य पुनः उन्हींके हाथमें सौंपकर उलूकराजके साथ सेनाबिन्दुपर आक्रमण किया और उन्हें शीघ्र ही राज्यच्युत कर दिया ।। १० ।।

मोदापुरं वामदेवं सुदामानं सुसंकुलम् ।
उलूकानुत्तरांश्चैव तांश्च राज्ञः समानयत् ।। ११ ।।

तदनन्तर मोदापुर, वामदेव, सुदामा, सुसंकुल तथा उत्तर उलूक देशों और वहाँके राजाओंको अपने अधीन किया ।। ११ ।।

तत्रस्थः पुरुषैरेव धर्मराजस्य शासनात् ।
किरीटी जितवान् राजन् देशान् पञ्चगणांस्ततः ।। १२ ।।

राजन्! धर्मराजकी आज्ञासे किरीटधारी अर्जुनने वहीं रहकर अपने सेवकोंद्वारा पंचगण नामक देशोंको जीत लिया ।। १२ ।।

स देवप्रस्थमासाद्य सेनाबिन्दोः पुरं प्रति ।
बलेन चतुरङ्गेण निवेशमकरोत् प्रभुः ।। १३ ।।

वहाँसे सेनाबिन्दुकी राजधानी देवप्रस्थमें आकर चतुरंगिणी सेनाके साथ शक्तिशाली अर्जुनने वहीं पड़ाव डाला ।। १३ ।।

स तैः परिवृतः सर्वैर्विष्वगश्वं नराधिपम् ।
अभ्यगच्छन्महातेजाः पौरवं पुरुषर्षभ ।। १४ ।।

नरश्रेष्ठ! उन सभी पराजित राजाओंसे घिरे हुए महातेजस्वी अर्जुनने पौरव राजा विष्वगश्वपर आक्रमण किया ।। १४ ।।

विजित्य चाहवे शूरान् पर्वतीयान् महारथान् ।
जिगाय सेनया राजन् पुरं पौरवरक्षितम् ।। १५ ।।

वहाँ संग्राममें शूरवीर पर्वतीय महारथियोंको परास्त करके पौरवद्वारा सुरक्षित उनकी राजधानीको भी सेनाद्वारा जीत लिया ।। १५ ।।

पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून् पर्वतवासिनः ।

गणानुत्सवसंकेतानजयत् सप्त पाण्डवः ।। १६ ।।

पौरवको युद्धमें जीतकर पर्वतनिवासी लुटेरोंके सात दलोंपर, जो 'उत्सवसंकेत' कहलाते थे, पाण्डुकुमार अर्जुनने विजय प्राप्त की ।। १६ ।।

ततः काश्मीरकान् वीरान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ।

व्यजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिः सह ।। १७ ।।

इसके बाद क्षत्रियशिरोमणि धनंजयने काश्मीरके क्षत्रियवीरोंको तथा दस मण्डलोंके साथ राजा लोहितको भी जीत लिया ।। १७ ।।

ततस्त्रिगर्ताः कौन्तेयं दार्वाः कोकनदास्तथा ।

क्षत्रिया बहवो राजन्नुपावर्तन्त सर्वशः ।। १८ ।।

तदनन्तर त्रिगर्त, दार्व और कोकनद आदि बहुत-से क्षत्रियनरेशगण सब ओरसे कुन्तीनन्दन अर्जुनकी शरणमें आये ।। १८ ।।

अभिसारीं ततो रम्यां विजिग्ये कुरुनन्दनः ।

उरगावासिनं चैव रोचमानं रणेऽजयत् ।। १९ ।।

इसके बाद कुरुनन्दन धनंजयने रमणीय अभिसारी नगरीपर विजय पायी और उरगावासी राजा रोचमानको भी युद्धमें परास्त किया ।। १९ ।।

ततः सिंहपुरं रम्यं चित्रायुधसुरक्षितम् ।

प्राधमद् बलमास्थाय पाकशासनिराहवे ।। २० ।।

तदनन्तर इन्द्रकुमार अर्जुनने राजा चित्रायुधके द्वारा सुरक्षित सुरम्य नगर सिंहपुरपर सेना लेकर आक्रमण किया और उसे युद्धमें जीत लिया ।। २० ।।

ततः सुह्मांश्च चोलांश्च किरीटी पाण्डवर्षभः ।

सहितः सर्वसैन्येन प्रामथत् कुरुनन्दनः ।। २१ ।।

इसके बाद पाण्डवप्रवर कुरुकुलनन्दन किरीटीने अपनी सारी सेनाके साथ धावा करके सुह्म तथा चोल-देशकी सेनाओंको मथ डाला ।। २१ ।।

ततः परमविक्रान्तो बाह्लीकान् पाकशासनिः ।

महता परिमर्देन वशे चक्रे दुरासदान् ।। २२ ।।

तत्पश्चात् परम पराक्रमी इन्द्रकुमारने बड़ी भारी मार-काट मचाकर दुर्धर्ष वीर बाह्लीकोंको वशमें किया ।। २२ ।।

गृहीत्वा तु बलं सारं फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः ।

दरदान् सह काम्बोजैरजयत् पाकशासनिः ।। २३ ।।

पाण्डुनन्दन अर्जुनने अपने साथ शक्तिशालिनी सेना लेकर काम्बोजोंके साथ दरदोंको भी जीत लिया ।। २३ ।।

प्रागुत्तरां दिशं ये च वसन्त्याश्रित्य दस्यवः ।
निवसन्ति वने ये च तान् सर्वानजयत् प्रभुः ।। २४ ।।

ईशान कोणका आश्रय ले जो लुटेरे या डाकू वनमें निवास करते थे, उन सबको शक्तिशाली धनंजयने जीतकर वशमें कर लिया ।। २४ ।।

लोहान् परमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि ।
सहितांस्तान् महाराज व्यजयत् पाकशासनिः ।। २५ ।।

महाराज! लोह, परमकाम्बोज, ऋषिक तथा उत्तर देशोंको भी अर्जुनने एक साथ जीत लिया ।। २५ ।।

ऋषिकेष्वपि संग्रामो बभूवातिभयंकरः ।
तारकामयसंकाशः परस्त्वृषिकपार्थयोः ।। २६ ।।

ऋषिकदेशमें भी ऋषिकराज और अर्जुनमें तारकामय संग्रामके समान बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ।। २६ ।।

स विजित्य ततो राजन्नृषिकान् रणमूर्धनि ।
शुकोदरसमांस्तत्र हयानष्टौ समानयत् ।। २७ ।।

राजन्! युद्धके मुहानेपर ऋषिकोंको हराकर अर्जुनने तोतेके उदरके समान हरे रंगवाले आठ घोड़े उनसे भेंट लिये ।। २७ ।।

मयूरसदृशानन्यानुत्तरानपरानपि ।
जवनानाशुगांश्चैव करार्थं समुपानयत् ।। २८ ।।

इनके सिवा मोरके समान रंगवाले उत्तम, गतिशील और शीघ्रगामी दूसरे भी बहुत-से घोड़े वे करके रूपमें वसूल कर लाये ।। २८ ।।

स विनिर्जित्य संग्रामे हिमवन्तं सनिष्कुटम् ।
श्वेतपर्वतमासाद्य न्यविशत् पुरुषर्षभः ।। २९ ।।

इसके बाद पुरुषोत्तम अर्जुन संग्राममें हिमवान् और निष्कुट प्रदेशके अधिपतियोंको जीतकर धवलगिरिपर आये और वहीं सेनाका पड़ाव डाला ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि फाल्गुनदिग्विजये नानादेशजये सप्तविंशोऽध्यायः ।। २७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनदिग्विजयके प्रसंगमें अनेक देशोंपर विजयसम्बन्धी सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७ ।।

अष्टाविंशोऽध्यायः

किम्पुरुष, हाटक तथा उत्तरकुरुपर विजय प्राप्त करके अर्जुनका इन्द्रप्रस्थ लौटना

वैशम्पायन उवाच

स श्वेतपर्वतं वीरः समतिक्रम्य वीर्यवान् ।
देशं किम्पुरुषावासं द्रुमपुत्रेण रक्षितम् ।। १ ।।
महता संनिपातेन क्षत्रियान्तकरेण ह ।
अजयत् पाण्डवश्रेष्ठः करे चैनं न्यवेशयत् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पराक्रमी वीर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन धवलगिरिको लाँघकर द्रुमपुत्रके द्वारा सुरक्षित किम्पुरुषदेशमें गये, जहाँ किन्नरोंका निवास था। वहाँ क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले भारी संग्रामके द्वारा उन्होंने उस देशको जीत लिया और कर देते रहनेकी शर्तपर उस राजाको पुनः उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया ।। १-२ ।।

तं जित्वा हाटकं नाम देशं गुह्यकरक्षितम् ।
पाकशासनिरव्यग्रः सहसैन्यः समासदत् ।। ३ ।।

किन्नरदेशको जीतकर शान्तचित्त इन्द्रकुमारने सेनाके साथ गुह्यकोंद्वारा सुरक्षित हाटकदेशपर हमला किया ।। ३ ।।

तांस्तु सान्त्वेन निर्जित्य मानसं सर उत्तमम् ।
ऋषिकुल्यास्तथा सर्वा ददर्श कुरुनन्दनः ।। ४ ।।

और उन गुह्यकोंको सामनीतिसे समझा-बुझाकर ही वशमें कर लेनेके पश्चात् वे परम उत्तम मानसरोवरपर गये। वहाँ कुरुनन्दन अर्जुनने समस्त ऋषि-कुल्याओं (ऋषियोंके नामसे प्रसिद्ध जल-स्रोतों)-का दर्शन किया ।। ४ ।।

सरो मानसमासाद्य हाटकानभितः प्रभुः ।
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत् पाण्डवस्ततः ।। ५ ।।

मानसरोवरपर पहुँचकर शक्तिशाली पाण्डुकुमारने हाटकदेशके निकटवर्ती गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशपर भी अधिकार प्राप्त कर लिया ।। ५ ।।

तत्र तित्तिरिकल्माषान् मण्डूकाख्यान् हयोत्तमान् ।
लेभे स करमत्यन्तं गन्धर्वनगरात् तदा ।। ६ ।।

वहाँ गन्धर्वनगरसे उन्होंने उस समय करके रूपमें तित्तिरि, कल्माष और मण्डूक नामवाले बहुत-से उत्तम घोड़े प्राप्त किये ।। ६ ।।

(हेमकूटमथासाद्य न्यविशत् फाल्गुनस्तथा ।

तं हेमकूटं राजेन्द्र समतिक्रम्य पाण्डवः ।।
हरिवर्षं विवेशाथ सैन्येन महताऽऽवृतः ।
तत्र पार्थो ददर्शाथ बहूनिह मनोरमान् ।।
नगरांश्च वनांश्चैव नदीश्च विमलोदकाः ।

तत्पश्चात् अर्जुनने हेमकूट पर्वतपर जाकर पड़ाव डाला। राजेन्द्र! फिर हेमकूटको भी लाँघकर वे पाण्डुनन्दन पार्थ अपनी विशाल सेनाके साथ हरिवर्षमें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने बहुत-से मनोरम नगर, सुन्दर वन तथा निर्मल जलसे भरी हुई नदियाँ देखीं।

पुरुषान् देवकल्पांश्च नारीश्च प्रियदर्शनाः ।।
तान् सर्वांस्तत्र दृष्ट्वाथ मुदा युक्तो धनंजयः ।

वहाँके पुरुष देवताओंके समान तेजस्वी थे। स्त्रियाँ भी परम सुन्दरी थीं। उन सबका अवलोकन करके अर्जुनको वहाँ बड़ी प्रसन्नता हुई।

वशे चक्रेऽथ रत्नानि लेभे च सुबहूनि च ।।
ततो निषधमासाद्य गिरिस्थानजयत् प्रभुः ।
अथ राजन्नतिक्रम्य निषधं शैलमायतम् ।।
विवेश मध्यमं वर्षं पार्थो दिव्यमिलावृतम् ।

उन्होंने हरिवर्षको अपने अधीन कर लिया और वहाँसे बहुतेरे रत्न प्राप्त किये। इसके बाद निषधपर्वतपर जाकर शक्तिशाली अर्जुनने वहाँके निवासियोंको पराजित किया। तदनन्तर विशाल निषधपर्वतको लाँघकर वे दिव्य इलावृतवर्षमें पहुँचे, जो जम्बूद्वीपका मध्यवर्ती भूभाग है।

तत्र देवोपमान् दिव्यान् पुरुषान् देवदर्शनान् ।।
अदृष्टपूर्वान् सुभगान् स ददर्श धनंजयः ।

वहाँ अर्जुनने देवताओं-जैसे दिखायी देनेवाले देवोपम शक्तिशाली दिव्य पुरुष देखे। वे सब-के-सब अत्यन्त सौभाग्यशाली और अद्भुत थे। उससे पहले अर्जुनने कभी वैसे दिव्य पुरुष नहीं देखे थे।

सदनानि च शुभ्राणि नारीश्चाप्सरसंनिभाः ।।
दृष्ट्वा तानजयद् रम्यान् स तैश्च ददृशे तदा ।

वहाँके भवन अत्यन्त उज्ज्वल और भव्य थे तथा नारियाँ अप्सराओंके समान प्रतीत होती थीं। अर्जुनने वहाँके रमणीय स्त्री-पुरुषोंको देखा। इनपर भी वहाँके लोगोंकी दृष्टि पड़ी।

जित्वा च तान् महाभागान् करे च विनिवेश्य सः ।।
रत्नान्यादाय दिव्यानि भूषणैर्वसनैः सह ।
उदीचीमथ राजेन्द्र ययौ पार्थो मुदान्वितः ।।

तत्पश्चात् उस देशके निवासियोंको अर्जुनने युद्धमें जीत लिया, जीतकर उनपर कर लगाया और फिर उन्हीं बड़भागियोंको वहाँके राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया। फिर वस्त्रों और आभूषणोंके साथ दिव्य रत्नोंकी भेंट लेकर अर्जुन बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँसे उत्तर दिशाकी ओर बढ़ गये।

स ददर्श महामेरुं शिखराणां प्रभुं महत् ।
तं काञ्चनमयं दिव्यं चतुर्वर्णं दुरासदम् ।।
आयतं शतसाहस्रं योजनानां तु सुस्थितम् ।
ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम् ।।
आक्षिपन्तं प्रभां भानोः स्वशृङ्गैः काञ्जनोज्ज्वलैः ।
काञ्चनाभरणं दिव्यं देवगन्धर्वसेवितम् ।।
नित्यपुष्पफलोपेतं सिद्धचारणसेवितम् ।
अप्रमेयमनाधृष्यमधर्मबहुलैर्जनैः ।।

आगे जाकर उन्हें पर्वतोंके स्वामी गिरिप्रवर महामेरुका दर्शन हुआ, जो दिव्य तथा सुवर्णमय है। उसमें चार प्रकारके रंग दिखायी पड़ते हैं। वहाँतक पहुँचना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है। उसकी लम्बाई एक लाख योजन है। वह परम उत्तम मेरुपर्वत महान् तेजके पुंज-सा जगमगाता रहता है और अपने सुवर्णमय कान्तिमान् शिखरोंद्वारा सूर्यकी प्रभाको तिरस्कृत करता है। वह सुवर्णभूषित दिव्य पर्वत देवताओं तथा गन्धर्वोंसे सेवित है। सिद्ध और चारण भी वहाँ नित्य निवास करते हैं। उस पर्वतपर सदा फल और फूलोंकी बहुतायत रहती है। उसकी ऊँचाईका कोई माप नहीं है। अधर्मपरायण मनुष्य उस पर्वतका स्पर्श नहीं कर सकते।

व्यालैराचरितं घोरैर्दिव्यौषधिविदीपितम् ।
स्वर्गमावृत्य तिष्ठन्तमुच्छ्रायेण महागिरिम् ।।
अगम्यं मनसाप्यन्यैर्नदीवृक्षसमन्वितम् ।
नानाविहगसङ्घैश्च नादितं सुमनोहरैः ।।
तं दृष्ट्वा फाल्गुनो मेरुं प्रीतिमानभवत् तदा ।

बड़े भयंकर सर्प वहाँ विचरण करते हैं। दिव्य ओषधियाँ उस पर्वतको प्रकाशित करती रहती हैं। महागिरि मेरु ऊँचाईद्वारा स्वर्गलोकको भी घेरकर खड़ा है। दूसरे मनुष्य मनसे भी वहाँ नहीं पहुँच सकते। कितनी ही नदियाँ और वृक्ष उस शैल-शिखरकी शोभा बढ़ाते हैं। भाँति-भाँतिके मनोहर पक्षी वहाँ कलरव करते रहते हैं। ऐसे मनोहर मेरुगिरिको देखकर उस समय अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई।

मेरोरिलावृतं वर्षं सर्वतः परिमण्डलम् ।।
मेरोस्तु दक्षिणे पार्श्वे जम्बूर्नाम वनस्पतिः ।
नित्यपुष्पफलोपेतः सिद्धचारणसेवितः ।।

मेरुके चारों ओर मण्डलाकार इलावृतवर्ष बसा हुआ है। मेरुके दक्षिण पार्श्वमें जम्बू नामका एक वृक्ष है, जो सदा फल और फूलोंसे भरा रहता है। सिद्ध और चारण उस वृक्षका सेवन करते हैं।

आस्वर्गमुच्छ्रिता राजन् तस्य शाखा वनस्पतेः ।
यस्य नाम्ना त्विदं द्वीपं जम्बूद्वीपमिति श्रुतम् ।।

राजन्! उक्त जम्बूवृक्षकी शाखा ऊँचाईमें स्वर्ग-लोकतक फैली हुई है। उसीके नामपर इस द्वीपको जम्बूद्वीप कहते हैं।

तां च जम्बूं ददर्शाथ सव्यसाची परंतपः ।
तौ दृष्ट्वाप्रतिमौ लोके जम्बूं मेरुं च संस्थितौ ।।
प्रीतिमानभवद् राजन् सर्वतः स विलोकयन् ।
तत्र लेभे ततो जिष्णुः सिद्धैर्दिव्यैश्च चारणैः ।।
रत्नानि बहुसाहस्रं वस्त्राण्याभरणानि च ।
अन्यानि च महार्हाणि तत्र लब्ध्वार्जुनस्तदा ।।
आमन्त्रयित्वा तान् सर्वान् यज्ञमुद्दिश्य वै गुरोः ।
अथादाय बहून् रत्नान् गमनायोपचक्रमे ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने उस जम्बूवृक्षको देखा। जम्बू और मेरुगिरि दोनों ही इस जगत्‌में अनुपम हैं। उन्हें देखकर अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई। राजन्! वहाँ सब ओर दृष्टिपात करते हुए अर्जुनने सिद्धों और दिव्य चारणोंसे कई सहस्र रत्न, वस्त्र, आभूषण तथा अन्य बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त कीं। तदनन्तर उन सबसे विदा ले बड़े भाईके यज्ञके उद्देश्यसे बहुत-से रत्नोंका संग्रह करके वे वहाँसे जानेको उद्यत हुए।

मेरुं प्रदक्षिणं कृत्वा पर्वतप्रवरं प्रभुः ।
ययौ जम्बूनदीतीरे नदीं श्रेष्ठां विलोकयन् ।।
स तां मनोरमां दिव्यां जम्बूस्वादुरसावहाम् ।

पर्वतश्रेष्ठ मेरुको अपने दाहिने करके अर्जुन जम्बूनदीके तटपर गये। वे उस श्रेष्ठ सरिताकी शोभा देखना चाहते थे। वह मनोरम दिव्य नदी जलके रूपमें जम्बूवृक्षके फलोंका स्वादिष्ट रस बहाती थी ।।

हैमपक्षिगणैर्जुष्टां सौवर्णजलजाकुलाम् ।।
हैमपङ्कां हैमजलां शुभां सौवर्णवालुकाम् ।

सुनहरे पंखोंवाले पक्षी उसका सेवन करते थे। वह नदी सुवर्णमय कमलोंसे भरी हुई थी। उसकी कीचड़ भी स्वर्णमय थी। उसके जलसे भी सुवर्णमयी आभा छिटक रही थी। उस मंगलमयी नदीकी बालुका भी सुवर्णके चूर्ण-सी शोभा पाती थी।

क्वचित् सौवर्णपद्मैश्च संकुलां हेमपुष्पकैः ।।
क्वचित् सुपुष्पितैः कीर्णां सुवर्णकुमुदोत्पलैः ।

क्वचित् तीररुहैः कीर्णां हैमवृक्षैः सुपुष्पितैः ।।

कहीं-कहीं सुवर्णमय कमलों तथा स्वर्णमय पुष्पोंसे वह व्याप्त थी। कहीं सुन्दर खिले हुए सुवर्णमय कुमुद और उत्पल छाये हुए थे। कहीं उस नदीके तटपर सुन्दर फूलोंसे भरे हुए स्वर्णमय वृक्ष सब ओर फैले हुए थे।

तीर्थैश्च रुक्मसोपानैः सर्वतः संकुलां शुभाम् ।
विमलैर्मणिजालैश्च नृत्यगीतरवैर्युताम् ।।

उस सुन्दर सरिताके घाटोंपर सब ओर सोनेकी सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। निर्मल मणियोंके समूह उसकी शोभा बढ़ाते थे। नृत्य और गीतके मधुर शब्द उस प्रदेशको मुखरित कर रहे थे।

दीप्तैर्हेमवितानैश्च समन्ताच्छोभितां शुभाम् ।
तथाविधां नदीं दृष्ट्वा पार्थस्तां प्रशशंस ह ।।
अदृष्टपूर्वां राजेन्द्र दृष्ट्वा हर्षमवाप च ।

उसके दोनों तटोंपर सुनहरे और चमकीले चँदोवे तने थे, जिनके कारण जम्बूनदीकी बड़ी शोभा हो रही थी। राजेन्द्र! ऐसी अदृष्टपूर्व नदीका दर्शन करके अर्जुनने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए।

दर्शनीयान् नदीतीरे पुरुषान् सुमनोहरान् ।।
तान् नदीसलिलाहारान् सदारानमरोपमान् ।
नित्यं सुखमुदा युक्तान् सर्वालंकारशोभितान् ।।

उस नदीके तटपर बहुत-से देवोपम पुरुष अपनी स्त्रियोंके साथ विचर रहे थे। उनका सौन्दर्य देखने ही योग्य था। वे सबके मनको मोह लेते थे। जम्बूनदीका जल ही उनका आहार था। वे सदा सुख और आनन्दमें निमग्न रहनेवाले तथा सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित थे।

तेभ्यो बहूनि रत्नानि तदा लेभे धनंजयः ।
दिव्यजाम्बूनदं हेमभूषणानि च पेशलम् ।।
लब्ध्वा तान् दुर्लभान् पार्थः प्रतीचीं प्रययौ दिशम् ।

उस समय अर्जुनने उनसे भी नाना प्रकारके रत्न प्राप्त किये। दिव्य जाम्बूनद नामक सुवर्ण और भाँति-भाँतिके आभूषण आदि दुर्लभ वस्तुएँ पाकर अर्जुन वहाँसे पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये।

नागानां रक्षितं देशमजयच्चार्जुनस्ततः ।।
ततो गत्वा महाराज वारुणीं पाकशासनिः ।
गन्धमादनमासाद्य तत्रस्थानजयत् प्रभुः ।।
तं गन्धमादनं राजन्नतिक्रम्य ततोऽर्जुनः ।
केतुमालं विवेशाथ वर्षं रत्नसमन्वितम् ।

सेवितं देवकल्पैश्च नारीभिः प्रियदर्शनैः ।।

उधर जाकर अर्जुनने नागोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशपर विजय पायी। महाराज! वहाँसे और पश्चिम जाकर शक्तिशाली अर्जुन गन्धमादन पर्वतपर पहुँच गये और वहाँके रहनेवालोंको जीतकर अपने अधीन बना लिया। राजन्! इस प्रकार गन्धमादन पर्वतको लाँघकर अर्जुन रत्नोंसे सम्पन्न केतुमालवर्षमें गये, जो देवोपम पुरुषों और सुन्दरी स्त्रियोंकी निवासभूमि है।

तं जित्वा चार्जुनो राजन् करे च विनिवेश्य च ।

आहृत्य तत्र रत्नानि दुर्लभानि तथार्जुनः ।।

पुनश्च परिवृत्याथ मध्यं देशमिलावृतम् ।

राजन्! उस वर्षको जीतकर अर्जुनने उसे कर देनेवाला बना दिया और वहाँसे दुर्लभ रत्न लेकर वे पुनः मध्यवर्ती इलावृतवर्षमें लौट आये।

गत्वा प्राचीं दिशं राजन् सव्यसाची परंतपः ।।

मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम् ।

ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ।।

खशाञ्झषांश्च नद्योतान् प्रघसान् दीर्घवेणिकान् ।

पशुपांश्च कुलिन्दांश्च तङ्गणान् परतङ्गणान् ।।

रत्नान्यादाय सर्वेभ्यो माल्यवन्तं ततो ययौ ।

तं माल्यवन्तं शैलेन्द्रं समतिक्रम्य पाण्डवः ।।

भद्राश्वं प्रविवेशाथ वर्षं स्वर्गोपमं शुभम् ।

तदनन्तर शत्रुदमन सव्यसाची अर्जुनने पूर्व दिशामें प्रस्थान किया। मेरु और मन्दराचलके बीच शैलोदा नदीके दोनों तटोंपर जो लोग कीचक और वेणु नामक बाँसोंकी रमणीय छायाका आश्रय लेकर रहते हैं, उन खश, झष, नद्योत, प्रघस, दीर्घवेणिक, पशुप, कुलिन्द, तंगण तथा परतंगण आदि जातियोंको हराकर उन सबसे रत्नोंकी भेंट ले अर्जुन माल्यवान् पर्वतपर गये। तत्पश्चात् गिरिराज माल्यवान्‌को भी लाँघकर उन पाण्डुकुमारने भद्राश्ववर्षमें प्रवेश किया, जो स्वर्गके समान सुन्दर है।

तत्रामरोपमान् रम्यान् पुरुषान् सुखसंयुतान् ।।

जित्वा तान् स्ववशे कृत्वा करे च विनिवेश्य च ।

आहृत्य सर्वरत्नानि असंख्यानि ततस्ततः ।।

नीलं नाम गिरिं गत्वा तत्रस्थानजयत् प्रभुः ।

उस देशमें देवताओंके समान सुन्दर और सुखी पुरुष निवास करते थे। अर्जुनने उन सबको जीतकर अपने अधीन कर लिया और उनपर कर लगा दिया। इस प्रकार इधर-उधरसे असंख्य रत्नोंका संग्रह करके शक्तिशाली अर्जुनने नीलगिरिकी यात्रा की और वहाँके निवासियोंको पराजित किया।

ततो जिष्णुरतिक्रम्य पर्वतं नीलमायतम् ।।

विवेश रम्यकं वर्षं संकीर्णं मिथुनैः शुभैः ।
तं देशमथ जित्वा च करे च विनिवेश्य च ।।
अजयच्चापि बीभत्सुर्देशं गुह्यकरक्षितम् ।
तत्र लेभे च राजेन्द्र सौवर्णान् मृगपक्षिणः ।।
अगृह्णाद् यज्ञभूत्यर्थं रमणीयान् मनोरमान् ।

तदनन्तर विशाल नीलगिरिको भी लाँघकर सुन्दर नर-नारियोंसे भरे हुए रम्यकवर्षमें उन्होंने प्रवेश किया। उस देशको भी जीतकर अर्जुनने वहाँके निवासियोंपर कर लगा दिया। तत्पश्चात् गुह्यकोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशको जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया। राजेन्द्र! वहाँ उन्हें सोनेके मृग और पक्षी उपलब्ध हुए, जो देखनेमें बड़े ही रमणीय और मनोरम थे। उन्होंने यज्ञ-वैभवकी समृद्धिके लिये उन मृगों और पक्षियोंको ग्रहण कर लिया।

अन्यानि लब्ध्वा रत्नानि पाण्डवोऽथ महाबलः ।।
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत् सगणं तदा ।
तत्र रत्नानि दिव्यानि लब्ध्वा राजन्नथार्जुनः ।।
श्वेतपर्वतमासाद्य जित्वा पर्वतवासिनः ।
स श्वेतं पर्वतं राजन् समतिक्रम्य पाण्डवः ।।
वर्षं हिरण्यकं नाम विवेशाथ महीपते ।

तदनन्तर महाबली पाण्डुनन्दन अन्य बहुत-से रत्न लेकर गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशमें गये और गन्धर्वगणोंसहित उस देशपर अधिकार जमा लिया। राजन्! वहाँ भी अर्जुनको बहुत-से दिव्य रत्न प्राप्त हुए। तदनन्तर उन्होंने श्वेत पर्वतपर जाकर वहाँके निवासियोंको जीता। फिर उस पर्वतको लाँघकर पाण्डुकुमार अर्जुनने हिरण्यकवर्षमें प्रवेश किया।

स तु देशेषु रम्येषु गन्तुं तत्रोपचक्रमे ।।
मध्ये प्रासादवृन्देषु नक्षत्राणां शशी यथा ।

महाराज! वहाँ पहुँचकर वे उस देशके रमणीय प्रदेशोंमें विचरने लगे। बड़े-बड़े महलोंकी पंक्तियोंमें भ्रमण करते हुए श्वेताश्व अर्जुन नक्षत्रोंके बीच चन्द्रमाके समान सुशोभित होते थे।

महापथेषु राजेन्द्र सर्वतो यान्तमर्जुनम् ।।
प्रासादवरशृङ्गस्थाः परया वीर्यशोभया ।
ददृशुस्ताः स्त्रियः सर्वाः पार्थमात्मयशस्करम् ।।
तं कलापधरं शूरं सरथं सानुगं प्रभुम् ।
सवर्मसुकिरीटं वै संनद्धं सपरिच्छदम् ।।
सुकुमारं महासत्त्वं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
शक्रोपममित्रघ्नं परवारणवारणम् ।।
पश्यन्तः स्त्रीगणास्तत्र शक्तिपाणिं स्म मेनिरे ।

राजेन्द्र! जब अर्जुन उत्तम बल और शोभासे सम्पन्न हो हिरण्यकवर्षकी विशाल सड़कोंपर चलते थे, उस समय प्रासादशिखरोंपर खड़ी हुई वहाँकी सुन्दरी स्त्रियाँ उनका दर्शन करती थीं। कुन्तीनन्दन अर्जुन अपने यशको बढ़ानेवाले थे। उन्होंने आभूषण धारण कर रखा था। वे शूरवीर, रथयुक्त, सेवकोंसे सम्पन्न और शक्तिशाली थे। उनके अंगोंमें कवच और मस्तकपर सुन्दर किरीट शोभा दे रहा था। वे कमर कसकर युद्धके लिये तैयार थे और सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री उनके साथ थी। वे सुकुमार, अत्यन्त धैर्यवान्, तेजके पुंज, परम उत्तम, इन्द्र-तुल्य पराक्रमी, शत्रुहन्ता तथा शत्रुओंके गजराजोंकी गतिको रोक देनेवाले थे। उन्हें देखकर वहाँकी स्त्रियोंने यही अनुमान लगाया कि इस वीर पुरुषके रूपमें साक्षात् शक्तिधारी कार्तिकेय पधारे हैं।

अयं स पुरुषव्याघ्रो रणेऽद्भुतपराक्रमः ।।
अस्य बाहुबलं प्राप्य न भवन्त्यसुहृद्‌गणाः ।

वे आपसमें इस प्रकार बातें करने लगीं—'सखियो! ये जो पुरुषसिंह दिखायी दे रहे हैं, संग्राममें इनका पराक्रम अद्भुत है। इनके बाहुबलका आक्रमण होनेपर शत्रुओंके समुदाय अपना अस्तित्व खो बैठते हैं।'

इति वाचो ब्रुवन्त्यस्ताः स्त्रियः प्रेम्णा धनंजयम् ।।
तुष्टुवुः पुष्पवृष्टिं च ससृजुस्तस्य मूर्धनि ।

इस प्रकारकी बातें करती हुई स्त्रियाँ बड़े प्रेमसे अर्जुनकी ओर देखकर उनके गुण गातीं और उनके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा करती थीं।

दृष्ट्वा ते तु मुदा युक्ताः कौतूहलसमन्विताः ।।
रत्नैर्विभूषणैश्चैव अभ्यवर्षन्त पाण्डवम् ।

वहाँके सभी निवासी बड़ी प्रसन्नताके साथ कौतूहलवश उन्हें देखते और उनके निकट रत्नों तथा आभूषणोंकी वर्षा करते थे।

अथ जित्वा समस्तांस्तान् करे च विनिवेश्य च ।।
मणिहेमप्रवालानि रत्नान्याभरणानि च ।
एतानि लब्ध्वा पार्थोऽपि शृङ्गवन्तं गिरिं ययौ ।।
शृङ्गवन्तं च कौन्तेयः समतिक्रम्य फाल्गुनः ।।)
उत्तरं कुरुवर्षं तु स समासाद्य पाण्डवः ।
इयेष जेतुं तं देशं पाकशासननन्दनः ।। ७ ।।

उन सबको जीतकर तथा उनके ऊपर कर लगाकर वहाँसे मणि, सुवर्ण, मूँगे, रत्न तथा आभूषण ले अर्जुन शृंगवान् पर्वतपर चले गये। वहाँसे आगे बढ़कर पाकशासनपुत्र पाण्डव अर्जुनने उत्तर कुरुवर्षमें पहुँचकर उस देशको जीतनेका विचार किया ।। ७ ।।

तत एनं महावीर्यं महाकाया महाबलाः ।
द्वारपालाः समासाद्य हृष्टा वचनमब्रुवन् ।। ८ ।।

इतनेहीमें महापराक्रमी अर्जुनके पास बहुत-से विशालकाय महाबली द्वारपाल आ पहुँचे और प्रसन्नतापूर्वक बोले— ।। ८ ।।

पार्थ नेदं त्वया शक्यं पुरं जेतुं कथंचन ।
उपावर्तस्व कल्याण पर्याप्तमिदमच्युत ।। ९ ।।
इदं पुरं यः प्रविशेद् ध्रुवं न स भवेन्नरः ।
प्रीयामहे त्वया वीर पर्याप्तो विजयस्तव ।। १० ।।

'पार्थ! इस नगरको तुम किसी तरह जीत नहीं सकते। कल्याणस्वरूप अर्जुन! यहाँसे लौट जाओ। अच्युत! तुम यहाँतक आ गये, यही बहुत हुआ। जो मनुष्य इस नगरमें प्रवेश करता है, निश्चय ही उसकी मृत्यु हो जाती है। वीर! हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं। यहाँतक आ पहुँचना ही तुम्हारी बहुत बड़ी विजय है ।। ९-१० ।।

न चात्र किंचिज्जेतव्यमर्जुनात्र प्रदृश्यते ।
उत्तराः कुरवो ह्येते नात्र युद्धं प्रवर्तते ।। ११ ।।
प्रविष्टोऽपि हि कौन्तेय नेह द्रक्ष्यसि किंचन ।
न हि मानुषदेहेन शक्यमत्राभिवीक्षितुम् ।। १२ ।।

'अर्जुन! यहाँ कोई जीतनेयोग्य वस्तु नहीं दिखायी देती। यह उत्तर कुरुदेश है। यहाँ युद्ध नहीं होता है। कुन्तीकुमार! इसके भीतर प्रवेश करके भी तुम यहाँ कुछ देख नहीं सकोगे, क्योंकि मानव-शरीरसे यहाँकी कोई वस्तु देखी नहीं जा सकती ।। ११-१२ ।।

अथेह पुरुषव्याघ्र किंचिदन्यच्चिकीर्षसि ।
तत् प्रब्रूहि करिष्यामो वचनात् तव भारत ।। १३ ।।

'भरतकुलभूषण पुरुषसिंह! यदि यहाँ तुम युद्धके सिवा और कोई काम करना चाहते हो तो बताओ, तुम्हारे कहनेसे हम स्वयं ही उस कार्यको पूर्ण कर देंगे' ।। १३ ।।

ततस्तानब्रवीद् राजन्नर्जुनः प्रहसन्निव ।
पार्थिवत्वं चिकीर्षामि धर्मराजस्य धीमतः ।। १४ ।।

राजन्! तब अर्जुनने उनसे हँसते हुए कहा—'मैं अपने भाई बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरको समस्त भूमण्डलका एकमात्र चक्रवर्ती सम्राट् बनाना चाहता हूँ ।। १४ ।।

न प्रवेक्ष्यामि वो देशं विरुद्धं यदि मानुषैः ।
युधिष्ठिराय यत् किंचित् करपण्यं प्रदीयताम् ।। १५ ।।

'आपलोगोंका देश यदि मनुष्योंके विपरीत पड़ता है तो मैं इसमें प्रवेश नहीं करूँगा। महाराज युधिष्ठिरके लिये करके रूपमें कुछ धन दीजिये' ।। १५ ।।

ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।
क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते प्रददुः करम् ।। १६ ।।

तब उन द्वारपालोंने अर्जुनको करके रूपमें बहुत-से दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण तथा दिव्य रेशमी वस्त्र एवं मृगचर्म दिये ।। १६ ।।

एवं स पुरुषव्याघ्रो विजित्य दिशमुत्तराम् ।
संग्रामान् सुबहून् कृत्वा क्षत्रियैर्दस्युभिस्तथा ।। १७ ।।
स विनिर्जित्य राज्ञस्तान् करे च विनिवेश्य तु ।
धनान्यादाय सर्वेभ्यो रत्नानि विविधानि च ।। १८ ।।
हयांस्तित्तिरिकल्माषाञ्छुकपत्रनिभानपि ।
मयूरसदृशानन्यान् सर्वाननिलरंहसः ।। १९ ।।
वृतः सुमहता राजन् बलेन चतुरङ्गिणाः ।
आजगाम पुनर्वीरः शक्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ।। २० ।।

इस प्रकार पुरुषसिंह अर्जुनने क्षत्रिय राजाओं तथा लुटेरोंके साथ बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ी और उत्तर दिशापर विजय प्राप्त की। राजाओंको जीतकर उनसे कर लेते और उन्हें फिर अपने राज्यपर ही स्थापित कर देते थे। राजन्! वे वीर अर्जुन सबसे धन और भाँति-भाँतिके रत्न लेकर तथा भेंटमें मिले हुए वायुके समान वेगवाले तित्तिरि,* कल्माष, सुग्गापंखी एवं मोर-सदृश सभी घोड़ोंको साथ लिये और विशाल चतुरंगिणी सेनासे घिरे हुए फिर अपने उत्तम नगर इन्द्रप्रस्थमें लौट आये ।। १७—२० ।।

धर्मराजाय तत् पार्थो धनं सर्वं सवाहनम् ।
न्यवेदयदनुज्ञातस्तेन राज्ञा गृहान् ययौ ।। २१ ।।

पार्थने घोड़ोंसहित वह सारा धन धर्मराजको सौंप दिया और उनकी आज्ञा लेकर वे महलमें चले गये ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि अर्जुनोत्तरदिग्विजये अष्टाविंशोऽध्यायः ।। २८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनकी उत्तर दिशापर विजयविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५८ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं)

---

* तीतरके समान चितकबरे रंगवाले।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

भीमसेनका पूर्व दिशाको जीतनेके लिये प्रस्थान और विभिन्न देशोंपर विजय पाना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भीमसेनोऽपि वीर्यवान् ।
धर्मराजमनुप्राप्य ययौ प्राचीं दिशं प्रति ।। १ ।।
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना ।
हस्त्यश्वरथपूर्णेन दंशितेन प्रतापवान् ।। २ ।।
वृतो भरतशार्दूलो द्विषच्छोकविवर्द्धनः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी समय शत्रुओंका शोक बढ़ानेवाले भरतवंशशिरोमणि महाप्रतापी एवं पराक्रमी भीमसेन भी धर्मराजकी आज्ञा ले, शत्रुके राज्यको कुचल देनेवाली और हाथी, घोड़े एवं रथसे भरी हुई, कवच आदिसे सुसज्जित विशाल सेनाके साथ पूर्व दिशाको जीतनेके लिये चले ।। १-२½ ।।

स गत्वा नरशार्दूलः पञ्चालानां पुरं महत् ।। ३ ।।
पञ्चालान् विविधोपायैः सान्त्वयामास पाण्डवः ।

नरश्रेष्ठ भीमसेनने पहले पांचालोंकी महानगरी अहिच्छत्रामें जाकर भाँति-भाँतिके उपायोंसे पांचाल वीरोंको समझा-बुझाकर वशमें किया ।। ३½ ।।

ततः स गण्डकाञ्छूरो विदेहान् भरतर्षभः ।। ४ ।।
विजित्याल्पेन कालेन दशार्णानजयत् प्रभुः ।
तत्र दाशार्णको राजा सुधर्मा लोमहर्षणम् ।
कृतवान् भीमसेनेन महद् युद्धं निरायुधम् ।। ५ ।।

वहाँसे आगे जाकर उन भरतवंशशिरोमणि शूर-वीर भीमने गण्डक (गण्डकी नदीके तटवर्ती) और विदेह (मिथिला) देशोंको थोड़े ही समयमें जीतकर दशार्ण देशको भी अपने अधिकारमें कर लिया। वहाँ दशार्णनरेश सुधर्माने भीमसेनके साथ बिना अस्त्र-शस्त्रके ही महान् युद्ध किया। उन दोनोंका वह मल्लयुद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ।। ४-५ ।।

भीमसेनस्तु तद् दृष्ट्वा तस्य कर्म महात्मनः ।
अधिसेनापतिं चक्रे सुधर्माणं महाबलम् ।। ६ ।।

भीमसेनने उस महामना राजाका यह अद्भुत पराक्रम देखकर महाबली सुधर्माको अपना प्रधान सेनापति बना दिया ।। ६ ।।

ततः प्राचीं दिशं भीमो ययौ भीमपराक्रमः ।

सैन्येन महता राजन् कम्पयन्निव मेदिनीम् ।। ७ ।।

राजन्! इसके बाद भयानक पराक्रमी भीमसेन पुनः विशाल सेनाके साथ पृथ्वीको कँपाते हुए पूर्व दिशाकी ओर बढ़े ।। ७ ।।

सोऽश्वमेधेश्वरं राजन् रोचमानं सहानुगम् ।
जिगाय समरे वीरो बलेन बलिनां वरः ।। ८ ।।

जनमेजय! बलवानोंमें श्रेष्ठ वीरवर भीमने अश्वमेध-देशके राजा रोचमानको उनके सेवकोंसहित बलपूर्वक जीत लिया ।। ८ ।।

स तं निर्जित्य कौन्तेयो नातितीव्रेण कर्मणा ।
पूर्वदेशं महावीर्यो विजिग्ये कुरुनन्दनः ।। ९ ।।

उन्हें हराकर महापराक्रमी कुरुनन्दन कुन्तीकुमार भीमने कोमल बर्तावके द्वारा ही पूर्वदेशपर विजय प्राप्त कर ली ।। ९ ।।

ततो दक्षिणमागम्य पुलिन्दनगरं महत् ।
सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ।। १० ।।

तदनन्तर दक्षिण आकर पुलिन्दोंके महान् नगर सुकुमार और वहाँके राजा सुमित्रको अपने अधीन कर लिया ।। १० ।।

ततस्तु धर्मराजस्य शासनाद् भरतर्षभः ।
शिशुपालं महावीर्यमभ्यगाज्जनमेजय ।। ११ ।।

जनमेजय! तत्पश्चात् भरतश्रेष्ठ भीम धर्मराजकी आज्ञासे महापराक्रमी शिशुपालके यहाँ गये ।। ११ ।।

चेदिराजोऽपि तच्छ्रुत्वा पाण्डवस्य चिकीर्षितम् ।
उपनिष्क्रम्य नगरात् प्रत्यगृह्णात् परंतप ।। १२ ।।

परंतप! चेदिराज शिशुपालने भी पाण्डुकुमार भीमका अभिप्राय जानकर नगरसे बाहर आ स्वागत-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया ।। १२ ।।

तौ समेत्य महाराज कुरुचेदिवृषौ तदा ।
उभयोरात्मकुलयोः कौशल्यं पर्यपृच्छताम् ।। १३ ।।

महाराज! कुरुकुल और चेदिकुलके वे श्रेष्ठ पुरुष परस्पर मिलकर दोनोंने दोनों कुलोंके कुशल-प्रश्न पूछे ।। १३ ।।

ततो निवेद्य तद् राष्ट्रं चेदिराजो विशाम्पते ।
उवाच भीमं प्रहसन् किमिदं कुरुषेऽनघ ।। १४ ।।

राजन्! तदनन्तर चेदिराजने अपना राष्ट्र भीमसेनको सौंपकर हँसते हुए पूछा—‘अनघ! यह क्या करते हो?’ ।। १४ ।।

तस्य भीमस्तदाऽऽचख्यौ धर्मराजचिकीर्षितम् ।
स च तं प्रतिगृह्यैव तथा चक्रे नराधिपः ।। १५ ।।

तब भीमने उससे धर्मराज जो कुछ करना चाहते थे, वह सब कह सुनाया। तदनन्तर राजा शिशुपालने उनकी बात मानकर कर देना स्वीकार कर लिया ।। १५ ।।

ततो भीमस्तत्र राजन्नुषित्वा त्रिदश क्षपाः ।
सत्कृतः शिशुपालेन ययौ सबलवाहनः ।। १६ ।।

राजन्! उसके बाद शिशुपालसे सम्मानित हो भीमसेन अपनी सेना और सवारियोंके साथ तेरह दिन वहाँ रह गये। तत्पश्चात् वहाँसे विदा हुए ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमदिग्विजये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ।। २९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें भीमदिग्विजयविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९ ।।

त्रिंशोऽध्यायः

भीमका पूर्व दिशाके अनेक देशों तथा राजाओंको जीतकर भारी धन-सम्पत्तिके साथ इन्द्रप्रस्थमें लौटना

वैशम्पायन उवाच

ततः कुमारविषये श्रेणिमन्तमथाजयत् ।
कोसलाधिपतिं चैव बृहद्बलमरिंदमः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले भीमसेनने कुमारदेशके राजा श्रेणिमान् तथा कोसलराज बृहद्बलको परास्त किया ।। १ ।।

अयोध्यायां तु धर्मज्ञं दीर्घयज्ञं महाबलम् ।
अजयत् पाण्डवश्रेष्ठो नातितीव्रेण कर्मणा ।। २ ।।

इसके बाद अयोध्याके धर्मज्ञ नरेश महाबली दीर्घयज्ञको पाण्डवश्रेष्ठ भीमने कोमलतापूर्ण बर्तावसे वशमें कर लिया ।। २ ।।

ततो गोपालकक्षं च सोत्तरानपि कोसलान् ।
मल्लानामधिपं चैव पार्थिवं चाजयत् प्रभुः ।। ३ ।।

तत्पश्चात् शक्तिशाली पाण्डुकुमारने गोपालकक्ष और उत्तर कोसल देशको जीतकर मल्लराष्ट्रके अधिपति पार्थिवको अपने अधीन कर लिया ।। ३ ।।

ततो हिमवतः पार्श्वं समभ्येत्य जलोद्भवम् ।
सर्वमल्पेन कालेन देशं चक्रे वशं बली ।। ४ ।।

इसके बाद हिमालयके पास जाकर बलवान् भीमने सारे जलोद्भव देशपर थोड़े ही समयमें अधिकार प्राप्त कर लिया ।। ४ ।।

एवं बहुविधान् देशान् विजिग्ये भरतर्षभः ।
भल्लाटमभितो जिग्ये शुक्तिमन्तं च पर्वतम् ।। ५ ।।

इस प्रकार भरतवंशभूषण भीमसेनने अनेक देश जीते और भल्लाटके समीपवर्ती देशों तथा शुक्तिमान् पर्वतपर भी विजय प्राप्त की ।। ५ ।।

पाण्डवः सुमहावीर्यो बलेन बलिनां वरः ।
स काशिराजं समरे सुबाहुमनिवर्तिनम् ।। ६ ।।
वशे चक्रे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।

बलवानोंमें श्रेष्ठ महापराक्रमी तथा भयंकर पुरुषार्थ प्रकट करनेवाले पाण्डुकुमार महाबाहु भीमसेनने समरमें पीठ न दिखानेवाले काशिराज सुबाहुको बलपूर्वक हराया ।। ६$\frac{1}{2}$ ।।

ततः सुपार्श्वमभितस्तथा राजपतिं क्रथम् ।। ७ ।।
युध्यमानं बलात् संख्ये विजिग्ये पाण्डवर्षभः ।

इसके बाद पाण्डुपुत्र भीमने सुपार्श्वके निकट राजराजेश्वर क्रथको, जो युद्धमें बलपूर्वक उनका सामना कर रहे थे, हरा दिया ।। ७½ ।।

ततो मत्स्यान् महातेजा मलदांश्च महाबलान् ।। ८ ।।
अनघानभयांश्चैव पशुभूमिं च सर्वशः ।
निवृत्य च महाबाहुर्मदधारं महीधरम् ।। ९ ।।
सोमधेयांश्च निर्जित्य प्रययावुत्तरामुखः ।
वत्सभूमिं च कौन्तेयो विजिग्ये बलवान् बलात् ।। १० ।।

तत्पश्चात् महातेजस्वी कुन्तीकुमारने मत्स्य, महाबली मलद, अनघ और अभय नामक देशोंको जीतकर पशुभूमि (पशुपतिनाथके निकटवर्ती स्थान—नेपाल)-को भी सब ओरसे जीत लिया। वहाँसे लौटकर महाबाहु भीमने मदधार पर्वत और सोमधेयनिवासियों-को परास्त किया। इसके बाद बलवान् भीमने उत्तराभिमुख यात्रा की और वत्सभूमिपर बलपूर्वक अधिकार जमा लिया ।। ८—१० ।।

भर्गाणामधिपं चैव निषादाधिपतिं तथा ।
विजिग्ये भूमिपालांश्च मणिमत्प्रमुखान् बहून् ।। ११ ।।
ततो दक्षिणमल्लांश्च भोगवन्तं च पर्वतम् ।
तरसैवाजयद् भीमो नातितीव्रेण कर्मणा ।। १२ ।।

फिर क्रमशः भर्गोंके स्वामी, निषादोंके अधिपति तथा मणिमान् आदि बहुत-से भूपालोंको अपने अधिकारमें कर लिया। तदनन्तर दक्षिण मल्लदेश तथा भोगवान् पर्वतको भीमसेनने अधिक प्रयास किये बिना ही वेगपूर्वक जीत लिया ।। ११-१२ ।।

शर्मकान् वर्मकांश्चैव व्यजयत् सान्त्वपूर्वकम् ।
वैदेहकं च राजानं जनकं जगतीपतिम् ।। १३ ।।
विजिग्ये पुरुषव्याघ्रो नातितीव्रेण कर्मणा ।
शकांश्च बर्बरांश्चैव अजयच्छद्मपूर्वकम् ।। १४ ।।

शर्मक और वर्मकोंको उन्होंने समझा-बुझाकर ही जीत लिया। विदेह देशके राजा जनकको भी पुरुषसिंह भीमने अधिक उग्र प्रयास किये बिना ही परास्त किया। फिर शकों और बर्बरोंपर छलसे विजय प्राप्त कर ली ।। १३-१४ ।।

वैदेहस्थस्तु कौन्तेय इन्द्रपर्वतमन्तिकात् ।
किरातानामधिपतीनजयत् सप्त पाण्डवः ।। १५ ।।
ततः सुह्मान् प्रसुह्मांश्च सपक्षानतिवीर्यवान् ।
विजित्य युधि कौन्तेयो मागधानभ्यधाद् बली ।। १६ ।।

विदेह देशमें ही ठहरकर कुन्तीकुमार भीमने इन्द्रपर्वतके निकटवर्ती सात किरातराजोंको जीत लिया। इसके बाद सुह्म और प्रसुह्म देशके राजाओंको, जिनके पक्षमें बहुत लोग थे, अत्यन्त पराक्रमी और बलवान् कुन्तीकुमार भीम युद्धमें परास्त करके मगधदेशको चल दिये ।। १५-१६ ।।

दण्डं च दण्डधारं च विजित्य पृथिवीपतीन् ।
तैरेव सहितैः सर्वैर्गिरिव्रजमुपाद्रवत् ।। १७ ।।

मार्गमें दण्ड-दण्डधार तथा अन्य राजाओंको जीतकर उन सबके साथ वे गिरिव्रज नगरमें आये ।। १७ ।।

जारासंधिं सान्त्वयित्वा करे च विनिवेश्य ह ।
तैरेव सहितैः सर्वैः कर्णमभ्यद्रवद् बली ।। १८ ।।
स कम्पयन्निव महीं बलेन चतुरङ्गिणा ।
युयुधे पाण्डवश्रेष्ठः कर्णेनामित्रघातिना ।। १९ ।।
स कर्णं युधि निर्जित्य वशे कृत्वा च भारत ।
ततो विजिग्ये बलवान् राज्ञः पर्वतवासिनः ।। २० ।।
अथ मोदागिरौ चैव राजानं बलवत्तरम् ।
पाण्डवो बाहुवीर्येण निजघान महामृधे ।। २१ ।।

वहाँ जरासंधकुमार सहदेवको सान्त्वना देकर उसे कर देनेकी शर्तपर उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया और उन सबके साथ बलवान् भीमने कर्णपर चढ़ाई की। पाण्डवश्रेष्ठ भीमने पृथ्वीको कम्पित-सी करते हुए चतुरंगिणी सेना साथ ले शत्रुघाती कर्णके साथ युद्ध छेड़ दिया। भारत! उस युद्धमें कर्णको परास्त करके अपने वशमें कर लेनेके पश्चात् बलवान् भीमने पर्वतीय राजाओंपर विजय प्राप्त की। तदनन्तर पाण्डुनन्दन भीमसेनने मोदागिरिके अत्यन्त बलिष्ठ राजाको अपनी भुजाओंके बलसे महासमरमें मार गिराया ।। १८—२१ ।।

ततः पुण्ड्राधिपं वीरं वासुदेवं महाबलम् ।
कौशिकीकच्छनिलयं राजानं च महौजसम् ।। २२ ।।
उभौ बलभृतौ वीरावुभौ तीव्रपराक्रमौ ।
निर्जित्याजौ महाराज वङ्गराजमुपाद्रवत् ।। २३ ।।

महाराज! तत्पश्चात् भीमसेन पुण्ड्रकदेशके अधिपति महाबली वीर राजा वासुदेवके साथ, जो कोसी नदीके कछारमें रहनेवाले तथा महान् तेजस्वी थे, जा भिड़े। वे दोनों ही बलवान् एवं दुःसह पराक्रमवाले वीर थे। भीमने विपक्षी वासुदेव (पौण्ड्रक)-को युद्धमें हराकर वंगदेशके राजापर आक्रमण किया ।। २२-२३ ।।

समुद्रसेनं निर्जित्य चन्द्रसेनं च पार्थिवम् ।
ताम्रलिप्तं च राजानं कर्वटाधिपतिं तथा ।। २४ ।।
सुह्मानामधिपं चैव ये च सागरवासिनः ।

सर्वान् म्लेच्छगणांश्चैव विजिग्ये भरतर्षभः ।। २५ ।।

तदनन्तर भरतश्रेष्ठ भीमसेनने समुद्रसेन, भूपाल चन्द्रसेन, राजा ताम्रलिप्त, कर्वटाधिपति तथा सुह्मनरेशको जीतकर समुद्रके तटपर निवास करनेवाले समस्त म्लेच्छोंको भी अपने अधीन कर लिया ।। २४-२५ ।।

एवं बहुविधान् देशान् विजित्य पवनात्मजः ।
वसु तेभ्य उपादाय लौहित्यमगमद् बली ।। २६ ।।

इस प्रकार पवनपुत्र बलवान् भीमने बहुत-से देशोंपर अधिकार प्राप्त करके उन सबसे धन लेकर लौहित्य देशकी यात्रा की ।। २६ ।।

स सर्वान् म्लेच्छनृपतीन् सागरानूपवासिनः ।
करमाहारयामास रत्नानि विविधानि च ।। २७ ।।

वहाँ उन्होंने समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले बहुत-से म्लेच्छ राजाओंको जीतकर उनसे करके रूपमें भाँति-भाँतिके रत्न वसूल किये ।। २७ ।।

चन्दनागुरुवस्त्राणि मणिमौक्तिककम्बलम् ।
काञ्चनं रजतं चैव विद्रुमं च महाधनम् ।। २८ ।।
ते कोटिशतसंख्येन कौन्तेयं महता तदा ।
अभ्यवर्षन् महात्मानं धनवर्षेण पाण्डवम् ।। २९ ।।

इतना ही नहीं, उन राजाओंने भीमसेनको चन्दन, अगुरु, वस्त्र, मणि, मोती, कम्बल, सोना, चाँदी और बहुमूल्य मूँगे भेंट किये। कुन्ती और पाण्डुके पुत्र महात्मा भीमसेनके पास उन्होंने करोड़की संख्यामें धन-रत्नोंकी वर्षा की (करके रूपमें धन-रत्न प्रदान किये) ।। २८-२९ ।।

इन्द्रप्रस्थमुपागम्य भीमो भीमपराक्रमः ।
निवेदयामास तदा धर्मराजाय तद् धनम् ।। ३० ।।

तदनन्तर भयानक पराक्रमी भीमने इन्द्रप्रस्थमें आकर वह सारा धन धर्मराजको सौंप दिया ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमप्राचीदिग्विजये त्रिंशोऽध्यायः ।। ३० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें भीमके द्वारा पूर्व दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३० ।।

एकत्रिंशोऽध्यायः

सहदेवके द्वारा दक्षिण दिशाकी विजय

वैशम्पायन उवाच

तथैव सहदेवोऽपि धर्मराजेन पूजितः ।
महत्या सेनया राजन् प्रययौ दक्षिणां दिशम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सहदेव भी धर्मराज युधिष्ठिरसे सम्मानित हो दक्षिण दिशापर विजय पानेके लिये विशाल सेनाके साथ प्रस्थित हुए ।। १ ।।

स शूरसेनान् कात्स्न्येंन पूर्वमेवाजयत् प्रभुः ।
मत्स्यराजं च कौरव्यो वशे चक्रे बलाद् बली ।। २ ।।

शक्तिशाली सहदेवने सबसे पहले समस्त शूरसेननिवासियोंको पूर्णरूपसे जीत लिया; फिर मत्स्यराज विराटको अपने अधीन बनाया ।। २ ।।

अधिराजाधिपं चैव दन्तवक्रं महाबलम् ।
जिगाय करदं चैव कृत्वा राज्ये न्यवेशयत् ।। ३ ।।

राजाओंके अधिपति महाबली दन्तवक्रको भी परास्त किया और उसे कर देनेवाला बनाकर फिर उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया ।। ३ ।।

सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ।
तथैवापरमत्स्यांश्च व्यजयत् स पटच्चरान् ।। ४ ।।
निषादभूमिं गोशृङ्गं पर्वतप्रवरं तथा ।
तरसैवाजयद् धीमान् श्रेणिमन्तं च पार्थिवम् ।। ५ ।।

इसके बाद राजा सुकुमार तथा सुमित्रको वशमें किया। इसी प्रकार अपर मत्स्यों और लुटेरोंपर भी विजय प्राप्त की। तदनन्तर निषाददेश तथा पर्वतप्रवर गोशृंगको जीतकर बुद्धिमान् सहदेवने राजा श्रेणिमान्‌को वेगपूर्वक परास्त किया ।। ४-५ ।।

नरराष्ट्रं च निर्जित्य कुन्तिभोजमुपाद्रवत् ।
प्रीतिपूर्वं च तस्यासौ प्रतिजग्राह शासनम् ।। ६ ।।

फिर नरराष्ट्रको जीतकर राजा कुन्तिभोजपर धावा किया। परंतु कुन्तिभोजने प्रसन्नताके साथ ही उसका शासन स्वीकार कर लिया ।। ६ ।।

ततश्चर्मण्वतीकूले जम्भकस्यात्मजं नृपम् ।
ददर्श वासुदेवेन शेषितं पूर्ववैरिणा ।। ७ ।।

इसके बाद चर्मण्वतीके तटपर सहदेवने जम्भकके पुत्रको देखा, जिसे पूर्ववैरी वासुदेवने जीवित छोड़ दिया था ।। ७ ।।

चक्रे तेन स संग्रामं सहदेवेन भारत ।

स तमाजौ विनिर्जित्य दक्षिणाभिमुखो ययौ ।। ८ ।।

भारत! उस जम्भकपुत्रने सहदेवके साथ घोर संग्राम किया; परंतु सहदेव उसे युद्धमें जीतकर दक्षिण दिशाकी ओर बढ़ गये ।। ८ ।।

सेकानपरसेकांश्च व्यजयत् सुमहाबलः ।
करं तेभ्य उपादाय रत्नानि विविधानि च ।। ९ ।।
ततस्तेनैव सहितो नर्मदामभितो ययौ ।

वहाँ महाबली माद्रीकुमारने सेक और अपरसेक देशोंपर विजय पायी और उन सबसे नाना प्रकारके रत्न भेंटमें लिये। तत्पश्चात् सेकाधिपतिको साथ ले उन्होंने नर्मदाकी ओर प्रस्थान किया ।। ९½ ।।

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महताऽऽवृतौ ।
जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान् ।। १० ।।

अश्विनीकुमारोंके पुत्र प्रतापी सहदेवने वहाँ युद्धमें विशाल सेनासे घिरे हुए अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्दको परास्त किया ।। १० ।।

ततो रत्नान्युपादाय पुरं भोजकटं ययौ ।
तत्र युद्धमभूद् राजन् दिवसद्वयमच्युत ।। ११ ।।

वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर वे भोजकट नगरमें गये। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले राजन्! वहाँ दो दिनोंतक युद्ध होता रहा ।। ११ ।।

स विजित्य दुराधर्षं भीष्मकं माद्रिनन्दनः ।
कोसलाधिपतिं चैव तथा वेणातटाधिपम् ।। १२ ।।
कान्तारकांश्च समरे तथा प्राक्कोसलान् नृपान् ।
नाटकेयांश्च समरे तथा हेरम्बकान् युधि ।। १३ ।।

माद्रीनन्दनने उस संग्राममें दुर्धर्ष वीर भीष्मकको परास्त करके कोसलाधिपति, वेणानदीके तटवर्ती प्रदेशोंके स्वामी, कान्तारक तथा पूर्वकोसलके राजाओंको भी समरमें पराजित किया। तत्पश्चात् नाटकेयों और हेरम्बकोंको भी युद्धमें हराया ।। १२-१३ ।।

मारुधं च विनिर्जित्य रम्यग्राममथो बलात् ।
नाचीनानर्बुकांश्चैव राज्ञश्चैव महाबलः ।। १४ ।।
तांस्तानाटविकान् सर्वानजयत् पाण्डुनन्दनः ।
वाताधिपं च नृपतिं वशे चक्रे महाबलः ।। १५ ।।

महाबली पाण्डुनन्दन सहदेवने मारुध तथा रम्यग्रामको बलपूर्वक परास्त करके नाचीन, अर्बुक तथा समस्त वनेचर राजाओंको जीत लिया। तदनन्तर महाबली माद्रीकुमारने राजा वाताधिपको वशमें किया ।। १४-१५ ।।

पुलिन्दांश्च रणे जित्वा ययौ दक्षिणतः पुरः ।
युयुधे पाण्ड्यराजेन दिवसं नकुलानुजः ।। १६ ।।

फिर पुलिन्दोंको संग्राममें हराकर नकुलके छोटे भाई सहदेव दक्षिण दिशामें और आगे बढ़ गये। तत्पश्चात् उन्होंने पाण्ड्य-नरेशके साथ एक दिन युद्ध किया ।। १६ ।।

तं जित्वा स महाबाहुः प्रययौ दक्षिणापथम् ।
गुहामासादयामास किष्किन्धां लोकविश्रुताम् ।। १७ ।।

उन्हें जीतकर महाबाहु सहदेव दक्षिणापथकी ओर गये और लोकविख्यात किष्किन्धा नामक गुफामें जा पहुँचे ।। १७ ।।

तत्र वानरराजाभ्यां मैन्देन द्विविदेन च ।
युयुधे दिवसान् सप्त न च तौ विकृतिं गतौ ।। १८ ।।

वहाँ वानरराज मैन्द और द्विविदके साथ उन्होंने सात दिनोंतक युद्ध किया; किंतु उन दोनोंका कुछ बिगाड़ न हो सका ।। १८ ।।

ततस्तुष्टौ महात्मानौ सहदेवाय वानरौ ।
ऊचतुश्चैव संहृष्टौ प्रीतिपूर्वमिदं वचः ।। १९ ।।

तब वे दोनों महात्मा वानर अत्यन्त प्रसन्न हो सहदेवसे प्रेमपूर्वक बोले— ।। १९ ।।

गच्छ पाण्डवशार्दूल रत्नान्यादाय सर्वशः ।
अविघ्नमस्तु कार्याय धर्मराजाय धीमते ।। २० ।।

'पाण्डवप्रवर! तुम सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर जाओ। परम बुद्धिमान् धर्मराजके कार्यमें कोई विघ्न नहीं पड़ना चाहिये' ।। २० ।।

ततो रत्नान्युपादाय पुरीं माहिष्मतीं ययौ ।
तत्र नीलेन राज्ञा स चक्रे युद्धं नरर्षभः ।। २१ ।।

तदनन्तर वे नरश्रेष्ठ वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर माहिष्मतीपुरीको गये और वहाँ राजा नीलके* साथ घोर युद्ध किया ।। २१ ।।

पाण्डवः परवीरघ्नः सहदेवः प्रतापवान् ।
ततोऽस्य सुमहद् युद्धमासीद् भीरुभयंकरम् ।। २२ ।।
सैन्यक्षयकरं चैव प्राणानां संशयावहम् ।
चक्रे तस्य हि साहाय्यं भगवान् हव्यवाहनः ।। २३ ।।

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले पाण्डुपुत्र सहदेव बड़े प्रतापी थे। उनसे राजा नीलका जो महान् युद्ध हुआ, वह कायरोंको भयभीत करनेवाला, सेनाओंका विनाशक और प्राणोंको संशयमें डालनेवाला था। भगवान् अग्निदेव राजा नीलकी सहायता कर रहे थे ।। २२-२३ ।।

ततो रथा हया नागाः पुरुषाः कवचानि च ।
प्रदीप्तानि व्यदृश्यन्त सहदेवबले तदा ।। २४ ।।

उस समय सहदेवकी सेनामें रथ, घोड़े, हाथी, मनुष्य और कवच सभी आगसे जलते दिखायी देने लगे ।। २४ ।।

ततः सुसम्भ्रान्तमना बभूव कुरुनन्दनः ।

नोत्तरं प्रतिवक्तुं च शक्तोऽभूज्जनमेजय ।। २५ ।।

जनमेजय! इससे कुरुनन्दन सहदेवके मनमें बड़ी घबराहट हुई। वे इसका प्रतीकार करनेमें असमर्थ हो गये ।। २५ ।।

जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवान् वह्निः प्रत्यमित्रोऽभवद् युधि ।
सहदेवस्य यज्ञार्थं घटमानस्य वै द्विज ।। २६ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! सहदेव तो यज्ञके लिये ही चेष्टा कर रहे थे, फिर भगवान् अग्निदेव उस युद्धमें उनके विरोधी कैसे हो गये? ।। २६ ।।

वैशम्पायन उवाच

तत्र माहिष्मतीवासी भगवान् हव्यवाहनः ।
श्रूयते हि गृहीतो वै पुरस्तात् पारदारिकः ।। २७ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! सुननेमें आया है कि माहिष्मती नगरीमें निवास करनेवाले भगवान् अग्निदेव किसी समय उस नील राजाकी कन्या सुदर्शनाके प्रति आसक्त हो गये ।। २७ ।।

नीलस्य राज्ञो दुहिता बभूवातीवशोभना ।
साग्निहोत्रमुपातिष्ठद् बोधनाय पितुः सदा ।। २८ ।।

राजा नीलके एक कन्या थी, जो अनुपम सुन्दरी थी। वह सदा अपने पिताके अग्निहोत्रगृहमें अग्निको प्रज्वलित करनेके लिये उपस्थित हुआ करती थी ।। २८ ।।

व्यजनैर्धूयमानोऽपि तावत् प्रज्वलते न सः ।
यावच्चारुपुटौष्ठेन वायुना न विधूयते ।। २९ ।।

पंखेसे हवा करनेपर भी अग्निदेव तबतक प्रज्वलित नहीं होते थे, जबतक कि वह सुन्दरी अपने मनोहर ओष्ठसम्पुटसे फूँक मारकर हवा न देती थी ।। २९ ।।

ततः स भगवानग्निश्चकमे तां सुदर्शनाम् ।
नीलस्य राज्ञः सर्वेषामुपनीतश्च सोऽभवत् ।। ३० ।।

तत्पश्चात् भगवान् अग्नि उस सुदर्शना नामकी राजकन्याको चाहने लगे। इस बातको राजा नील और सभी नागरिक जान गये ।। ३० ।।

ततो ब्राह्मणरूपेण रममाणो यदृच्छया ।
चकमे तां वरारोहां कन्यामुत्पललोचनाम् ।
तं तु राजा यथाशास्त्रमशासद् धार्मिकस्तदा ।। ३१ ।।

तदनन्तर एक दिन ब्राह्मणका रूप धारण करके इच्छानुसार घूमते हुए अग्निदेव उस सर्वांगसुन्दरी कमल-नयनी कन्याके पास आये और उसके प्रति कामभाव प्रकट करने लगे। धर्मात्मा राजा नीलने शास्त्रके अनुसार उस ब्राह्मणपर शासन किया ।। ३१ ।।

प्रजज्वाल ततः कोपाद् भगवान् हव्यवाहनः ।
तं दृष्ट्वा विस्मितो राजा जगाम शिरसावनिम् ।। ३२ ।।

तब क्रोधसे भगवान् अग्निदेव अपने रूपमें प्रज्वलित हो उठे। उन्हें इस रूपमें देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने पृथ्वीपर मस्तक रखकर अग्निदेवको प्रणाम किया ।। ३२ ।।

ततः कालेन तां कन्यां तथैव हि तदा नृपः ।
प्रददौ विप्ररूपाय वह्नये शिरसा नतः ।। ३३ ।।
प्रतिगृह्य च तां सुभ्रूं नीलराज्ञः सुतां तदा ।
चक्रे प्रसादं भगवांस्तस्य राज्ञो विभावसुः ।। ३४ ।।

तत्पश्चात् विवाहके योग्य समय आनेपर राजाने उस कन्याको ब्राह्मणरूपधारी अग्निदेवकी सेवामें अर्पित कर दिया और उनके चरणोंमें सिर रखकर नमस्कार किया। राजा नीलकी सुन्दरी कन्याको पत्नीरूपमें ग्रहण करके भगवान् अग्निने राजापर अपना कृपाप्रसाद प्रकट किया ।। ३३-३४ ।।

वरेणच्छन्दयामास तं नृपं स्विष्टकृत्तमः ।
अभयं च स जग्राह स्वसैन्ये वै महीपतिः ।। ३५ ।।

वे उनकी अभीष्ट-सिद्धिमें सर्वोत्तम सहायक हो राजासे वर माँगनेका अनुरोध करने लगे। राजाने अपनी सेनाके प्रति अभयदान माँगा ।। ३५ ।।

ततः प्रभृति ये केचिदज्ञानात् तां पुरीं नृपाः ।
जिगीषन्ति बलाद् राजंस्ते दह्यन्ते स्म वह्निना ।। ३६ ।।

राजन्! तभीसे जो कोई नरेश अज्ञानवश उस पुरीको बलपूर्वक जीतना चाहते, उन्हें अग्निदेव जला देते थे ।। ३६ ।।

तस्यां पुर्यां तदा चैव माहिष्मत्यां कुरूद्वह ।
बभूवुरनतिग्राह्या योषितश्छन्दतः किल ।। ३७ ।।

कुरुश्रेष्ठ जनमेजय! उस समय माहिष्मतीपुरीमें युवती स्त्रियाँ इच्छानुसार ग्रहण करनेके योग्य नहीं रह गयी थीं (क्योंकि वे स्वतन्त्रतासे ही वरका वरण किया करती थीं) ।। ३७ ।।

एवमग्निर्वरं प्रादात् स्त्रीणामप्रतिवारणे ।
वरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत ।। ३८ ।।

अग्निदेवने स्त्रियोंके लिये यह वर दे दिया था कि अपने प्रतिकूल होनेके कारण ही कोई स्त्रियोंको वरका स्वयं ही वरण करनेसे रोक नहीं सकता। इससे वहाँकी स्त्रियाँ स्वेच्छापूर्वक वरका वरण करनेके लिये विचरण किया करती थीं ।। ३८ ।।

वर्जयन्ति च राजानस्तत् पुरं भरतर्षभ ।
भयादग्नेर्महाराज तदाप्रभृति सर्वदा ।। ३९ ।।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! तभीसे सब राजा (जो इस रहस्यसे परिचित थे) अग्निके भयके कारण माहिष्मती-पुरीपर चढ़ाई नहीं करते थे ।। ३९ ।।

सहदेवस्तु धर्मात्मा सैन्यं दृष्ट्वा भयार्दितम् ।
परीतमग्निना राजन् नाकम्पत यथाचलः ।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा सोऽब्रवीत् पावकं ततः ।। ४० ।।

राजन्! धर्मात्मा सहदेव अग्निसे व्याप्त हुई अपनी सेनाको भयसे पीड़ित देख पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे, भयसे कम्पित नहीं हुए। उन्होंने आचमन करके पवित्र हो अग्निदेवसे इस प्रकार कहा ।। ४० ।।

सहदेव उवाच

त्वदर्थोऽयं समारम्भः कृष्णवर्त्मन् नमोऽस्तु ते ।
मुखं त्वमसि देवानां यज्ञस्त्वमसि पावक ।। ४१ ।।

सहदेव बोले—कृष्णवर्त्मन्! हमारा यह आयोजन तो आपहीके लिये है, आपको नमस्कार है। पावक! आप देवताओंके मुख हैं, यज्ञस्वरूप हैं ।। ४१ ।।

पावनात् पावकश्चासि वहनाद्धव्यवाहनः ।
वेदास्त्वदर्थं जाता वै जातवेदास्ततो ह्यसि ।। ४२ ।।

आप सबको पवित्र करनेके कारण पावक हैं और हव्य (हवनीय पदार्थ)-को वहन करनेके कारण हव्यवाहन कहलाते हैं। वेद आपके लिये ही जात अर्थात् प्रकट हुए हैं, इसीलिये आप जातवेदा हैं ।। ४२ ।।

चित्रभानुः सुरेशश्च अनलस्त्वं विभावसो ।
स्वर्गद्वारस्पृशश्चासि हुताशो ज्वलनः शिखी ।। ४३ ।।

विभावसो! आप ही चित्रभानु, सुरेश और अनल कहलाते हैं। आप सदा स्वर्गद्वारका स्पर्श करते हैं। आप आहुति दिये हुए पदार्थोंको खाते हैं, इसलिये हुताशन हैं। प्रज्वलित होनेसे ज्वलन और शिखा (लपट) धारण करनेसे शिखी हैं ।। ४३ ।।

वैश्वानरस्त्वं पिङ्गेशः प्लवङ्गो भूरितेजसः ।
कुमारसूस्त्वं भगवान् रुद्रगर्भो हिरण्यकृत् ।। ४४ ।।

आप ही वैश्वानर, पिंगेश, प्लवंग और भूरितेजस् नाम धारण करते हैं। आपने ही कुमार कार्तिकेयको जन्म दिया है, आप ही ऐश्वर्यसम्पन्न होनेके कारण भगवान् हैं। श्रीरुद्रका वीर्य धारण करनेसे आप रुद्रगर्भ कहलाते हैं। सुवर्णके उत्पादक होनेसे आपका नाम हिरण्यकृत् है ।। ४४ ।।

अग्निर्ददातु मे तेजो वायुः प्राणं ददातु मे ।
पृथिवी बलमादध्याच्छिवं चापो दिशन्तु मे ।। ४५ ।।

आप अग्नि मुझे तेज दें, वायुदेव प्राणशक्ति प्रदान करें, पृथ्वी मुझमें बलका आधान करें और जल मुझे कल्याण प्रदान करें ।। ४५ ।।

अपांगर्भ महासत्त्व जातवेदः सुरेश्वर ।
देवानां मुखमग्ने त्वं सत्येन विपुनीहि माम् ।। ४६ ।।

जलको प्रकट करनेवाले महान् शक्तिसम्पन्न जातवेदा सुरेश्वर अग्निदेव! आप देवताओंके मुख हैं, अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र कीजिये ।। ४६ ।।

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव दैवतैरसुरैरपि ।
नित्यं सुहुत यज्ञेषु सत्येन विपुनीहि माम् ।। ४७ ।।

ऋषि, ब्राह्मण, देवता तथा असुर भी सदा यज्ञ करते समय आपमें आहुति डालते हैं, अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र करें ।। ४७ ।।

धूमकेतुः शिखी च त्वं पापहानिलसम्भवः ।
सर्वप्राणिषु नित्यस्थः सत्येन विपुनीहि माम् ।। ४८ ।।

देव! धूम आपका ध्वज है, आप शिखा धारण करनेवाले हैं, वायुसे आपका प्राकट्य हुआ है। आप समस्त पापोंके नाशक हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर आप सदा विराजमान होते हैं। अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र कीजिये ।। ४८ ।।

एवं स्तुतोऽसि भगवन् प्रीतेन शुचिना मया ।
तुष्टिं पुष्टिं श्रुतिं चैव प्रीतिं चाग्ने प्रयच्छ मे ।। ४९ ।।

भगवन्! मैंने पवित्र होकर प्रेमभावसे आपका इस प्रकार स्तवन किया है। अग्निदेव! आप मुझे तुष्टि, पुष्टि, श्रवण-शक्ति एवं शास्त्रज्ञान और प्रीति प्रदान करें ।। ४९ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवं मन्त्रमाग्नेयं पठन् यो जुहुयाद् विभुम् ।
ऋद्धिमान् सततं दान्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ५० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जो द्विज इस प्रकार इन श्लोकरूप आग्नेय मन्त्रोंका पाठ करते हुए (अन्तमें ‘स्वाहा’ बोलकर) भगवान् अग्निदेवको आहुति समर्पित करता है, वह सदा समृद्धिशाली और जितेन्द्रिय होकर सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। ५० ।।

सहदेव उवाच

यज्ञविघ्नमिमं कर्तुं नार्हस्त्वं हव्यवाहन ।

सहदेव बोले—हव्यवाहन! आपको यज्ञमें यह विघ्न नहीं डालना चाहिये ।। ५०½ ।।

एवमुक्त्वा तु माद्रेयः कुशैरास्तीर्य मेदिनीम् ।। ५१ ।।
विधिवत् पुरुषव्याघ्रः पावकं प्रत्युपाविशत् ।
प्रमुखे तस्य सैन्यस्य भीतोद्विग्नस्य भारत ।। ५२ ।।

भारत! ऐसा कहकर नरश्रेष्ठ माद्रीकुमार सहदेव धरतीपर कुश बिछाकर अपनी भयभीत और उद्विग्न सेनाके अग्रभागमें विधिपूर्वक अग्निके सम्मुख धरना देकर बैठ गये ।। ५१-५२ ।।

न चैनमत्यगाद् वह्निर्वेलामिव महोदधिः ।
तमुपेत्य शनैर्वह्निरुवाच कुरुनन्दनम् ।। ५३ ।।
सहदेवं नृणां देवं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ कौरव्य जिज्ञासेयं कृता मया ।
वेद्मि सर्वमभिप्रायं तव धर्मसुतस्य च ।। ५४ ।।

जैसे महासागर अपनी तटभूमिका उल्लंघन नहीं करता, उसी प्रकार अग्निदेव सहदेवको लाँघकर उनकी सेनामें नहीं गये। वे कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले नरदेव सहदेवके पास धीरे-धीरे आकर उन्हें सान्त्वना देते हुए यह वचन बोले—'कौरव्य! उठो, उठो, मैंने यह तुम्हारी परीक्षा की है। तुम्हारे और धर्मपुत्र युधिष्ठिरके सम्पूर्ण अभिप्रायको मैं जानता हूँ ।। ५३-५४ ।।

मया तु रक्षितव्येयं पुरी भरतसत्तम ।
यावद् राज्ञो हि नीलस्य कुले वंशधरा इति ।। ५५ ।।
ईप्सितं तु करिष्यामि मनसस्तव पाण्डव ।। ५६ ।।

'परंतु भरतसत्तम! राजा नीलके कुलमें जबतक उनकी वंशपरम्परा चलती रहेगी, तबतक मुझे इस माहिष्मतीपुरीकी रक्षा करनी होगी। पाण्डुकुमार! साथ ही मैं तुम्हारा मनोरथ भी पूर्ण करूँगा' ।। ५५-५६ ।।

तत उत्थाय हृष्टात्मा प्राञ्जलिः शिरसा नतः ।
पूजयामास माद्रेयः पावकं भरतर्षभ ।। ५७ ।।

भरतश्रेष्ठ! जनमेजय! यह सुनकर माद्रीकुमार सहदेव प्रसन्नचित्त हो वहाँसे उठे और हाथ जोड़कर एवं सिर झुकाकर उन्होंने अग्निदेवका पूजन किया ।। ५७ ।।

पावके विनिवृत्ते तु नीलो राजाभ्यगात् तदा ।
पावकस्याज्ञया चैनमर्चयामास पार्थिवः ।। ५८ ।।
सत्कारेण नरव्याघ्रं सहदेवं युधाम्पतिम् ।

अग्निके लौट जानेपर उन्हींकी आज्ञासे राजा नील उस समय वहाँ आये और उन्होंने योद्धाओंके अधिपति पुरुषसिंह सहदेवका सत्कारपूर्वक पूजन किया ।। ५८$\frac{1}{2}$ ।।

प्रतिगृह्य च तां पूजां करे च विनिवेश्य च ।। ५९ ।।
माद्रीसुतस्ततः प्रायाद् विजयी दक्षिणां दिशम् ।

राजा नीलकी वह पूजा ग्रहणकर और उनपर कर लगाकर विजयी माद्रीकुमार सहदेव दक्षिण दिशाकी ओर बढ़ गये ।। ५९$\frac{1}{2}$ ।।

त्रैपुरं स वशे कृत्वा राजानममितौजसम् ।। ६० ।।

निजग्राह महाबाहुस्तरसा पौरवेश्वरम् ।
आकृतिं कौशिकाचार्यं यत्नेन महता ततः ।। ६१ ।।
वशे चक्रे महाबाहुः सुराष्ट्राधिपतिं तदा ।

फिर त्रिपुरीके राजा अमितौजाको वशमें करके महाबाहु सहदेवने पौरवेश्वरको वेगपूर्वक बंदी बना लिया। तदनन्तर बड़े भारी प्रयत्नके द्वारा विशाल भुजाओंवाले माद्रीकुमारने सुराष्ट्रदेशके अधिपति कौशिकाचार्य आकृतिको वशमें किया ।। ६०-६१½ ।।

सुराष्ट्रविषयस्थश्च प्रेषयामास रुक्मिणे ।। ६२ ।।
राज्ञे भोजकटस्थाय महामात्राय धीमते ।
भीष्मकाय स धर्मात्मा साक्षादिन्द्रसखाय वै ।। ६३ ।।
स चास्य प्रतिजग्राह ससुतः शासनं तदा ।
प्रीतिपूर्वं महाराज वासुदेवमवेक्ष्य च ।। ६४ ।।
ततः स रत्नान्यादाय पुनः प्रायाद् युधाम्पतिः ।

महाराज! सुराष्ट्रमें ही ठहरकर धर्मात्मा सहदेवने भोजकटनिवासी रुक्मी तथा विशाल राज्यके अधिपति परम बुद्धिमान् साक्षात् इन्द्रसखा भीष्मकके पास दूत भेजा। पुत्रसहित भीष्मकने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी ओर दृष्टि रखकर प्रेमपूर्वक ही सहदेवका शासन स्वीकार कर लिया। तदनन्तर योद्धाओंके अधिपति सहदेव वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर पुनः आगे बढ़ गये ।। ६२—६४½ ।।

ततः शूर्पारकं चैव तालाकटमथापि च ।। ६५ ।।
वशे चक्रे महातेजा दण्डकांश्च महाबलः ।
सागरद्वीपवासांश्च नृपतीन् म्लेच्छयोनिजान् ।। ६६ ।।
निषादान् पुरुषादांश्च कर्णप्रावरणानपि ।

महाबलशाली महातेजस्वी माद्रीकुमारने शूर्पारक और तालाकट नामक देशोंको जीतते हुए दण्डकारण्यको अपने अधीन कर लिया। तत्पश्चात् समुद्रके द्वीपोंमें निवास करनेवाले म्लेच्छजातीय राजाओं, निषादों तथा राक्षसों, कर्णप्रावरणोंको* भी परास्त किया ।। ६५-६६½ ।।

ये च कालमुखा नाम नरराक्षसयोनयः ।। ६७ ।।

कालमुख नामसे प्रसिद्ध जो मनुष्य और राक्षस दोनोंके संयोगसे उत्पन्न हुए योद्धा थे, उनपर भी विजय प्राप्त की ।। ६७ ।।

कृत्स्नं कोलगिरिं चैव सुरभीपत्तनं तथा ।
द्वीपं ताम्राह्वयं चैव पर्वतं रामकं तथा ।। ६८ ।।
तिमिङ्गिलं च स नृपं वशे कृत्वा महामतिः ।
एकपादांश्च पुरुषान् केरलान् वनवासिनः ।। ६९ ।।

नगरीं संजयन्तीं च पाखण्डं करहाटकम् ।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ।। ७० ।।

समूचे कोलगिरि, सुरभीपत्तन, ताम्रद्वीप, रामकपर्वत तथा तिमिंगिलनरेशको भी अपने वशमें करके परम बुद्धिमान् सहदेवने एक पैरके पुरुषों, केरलों, वनवासियों, संजयन्ती नगरी तथा पाखण्ड और करहाटक देशोंको दूतोंद्वारा संदेश देकर ही अपने अधीन कर लिया और उन सबसे कर वसूल किया ।। ६८—७० ।।

पाण्ड्यांश्च द्रविडांश्चैव सहितांश्चोण्ड्रकेरलैः ।
आन्ध्रांस्तालवनांश्चैव कलिङ्गानुष्ट्रकर्णिकान् ।। ७१ ।।
आटवीं च पुरीं रम्यां यवनानां पुरं तथा ।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ।। ७२ ।।

पाण्ड्य, द्रविड, उण्ड्र, केरल, आन्ध्र, तालवन, कलिंग, उष्ट्रकर्णिक, रमणीय आटवीपुरी तथा यवनोंके नगर—इन सबको उन्होंने दूतोंद्वारा ही वशमें कर लिया और सबको कर देनेके लिये विवश किया ।। ७१-७२ ।।

(समुद्रतीरमासाद्य न्यविशत् पाण्डुनन्दनः ।
सहदेवस्ततो राजन् मन्त्रिभिः सह भारत ।
सम्प्रधार्य महाबाहुः सचिवैर्बुद्धिमत्तरैः ।।

वहाँसे समुद्रके तटपर पहुँचकर पाण्डुनन्दन सहदेवने सेनाका पड़ाव डाला। भारत! तदनन्तर महाबाहु सहदेवने अत्यन्त बुद्धिमान् मन्त्रणा देनेमें कुशल सचिवोंके साथ बैठकर बहुत देरतक विचारविमर्श किया।

अनुमान्य स तां राजन् सहदेवस्त्वरान्वितः ।
चिन्तयामास राजेन्द्र भ्रातुः पुत्रं घटोत्कचम् ।।

राजेन्द्र जनमेजय! उन सबकी सम्मतिको आदर देते हुए माद्रीकुमारने अपने भतीजे राक्षसराज घटोत्कचका तुरंत चिन्तन किया।

ततश्चिन्तितमात्रे तु राक्षसः प्रत्यदृश्यत ।
अतिदीर्घो महाकायः सर्वाभरणभूषितः ।।

उनके चिन्तन करते ही वह बड़े डील-डौलवाला विशालकाय राक्षस दिखायी दिया। उसने सब प्रकारके आभूषण धारण कर रखे थे।

नीलजीमूतसंकाशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
विचित्रहारकेयूरः किङ्किणीमणिभूषितः ।।

उसके शरीरका रंग मेघोंकी काली घटाके समान था। उसके कानोंमें तपाये हुए सुवर्णके कुण्डल झिलमिला रहे थे। उसके गलेमें हार और भुजाओंमें केयूरकी विचित्र शोभा हो रही थी। कटिभागमें वह किंकिणीकी मणियोंसे विभूषित था।

हेममाली महादंष्ट्रः किरीटी कुक्षिबन्धनः ।

ताम्रकेशो हरिश्मश्रुर्भीमाक्षः कनकाङ्गदः ।।

उसके कण्ठमें सुवर्णकी माला, मस्तकपर किरीट और कमरमें करधनीकी शोभा हो रही थी। उसकी दाढ़ें बहुत बड़ी थीं, सिरके बाल ताँबेके समान लाल थे, मूँछ-दाढ़ीके बाल हरे दिखायी देते थे एवं आँखें बड़ी भयंकर थीं। उसकी भुजाओंमें सोनेके बाजूबंद चमक रहे थे।

रक्तचन्दनदिग्धाङ्गः सूक्ष्माम्बरधरो बली ।
जवेन स ययौ तत्र चालयन्निव मेदिनीम् ।।

उसने अपने सब अंगोंमें लाल चन्दन लगा रखा था। उसके कपड़े बहुत महीन थे। वह बलवान् राक्षस अपने वेगसे समूची पृथ्वीको हिलाता हुआ-सा वहाँ पहुँचा।

ततो दृष्ट्वा जना राजन्नायान्तं पर्वतोपमम् ।
भयाद्धि दुद्रुवुः सर्वे सिंहात् क्षुद्रमृगा यथा ।।

राजन्! उस पर्वताकार घटोत्कचको आता देख वहाँके सब लोग भयके मारे भाग खड़े हुए; मानो किसी सिंहके भयसे जंगलके मृग आदि क्षुद्र पशु भाग रहे हों।

आससाद च माद्रेयं पुलस्त्यं रावणो यथा ।
अभिवाद्य ततो राजन् सहदेवं घटोत्कचः ।।
प्रह्वः कृताञ्जलिस्तस्थौ किं कार्यमिति चाब्रवीत् ।

घटोत्कच माद्रीनन्दन सहदेवके पास आया, मानो रावणने महर्षि पुलस्त्यके पास पदार्पण किया हो। महाराज! तदनन्तर घटोत्कच सहदेवको प्रणाम करके उनके सामने विनीतभावसे हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बोला—'मेरे लिये क्या आज्ञा है?'

तं मेरुशिखराकारमागतं पाण्डुनन्दनः ।।
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां मूर्ध्न्युपाघ्राय चासकृत् ।
पूजयित्वा सहामात्यः प्रीतो वाक्यमुवाच ह ।।

घटोत्कच मेरुपर्वतके शिखर-जैसा जान पड़ता था। उसको आया देख पाण्डुनन्दन सहदेवने दोनों भुजाओंमें भरकर उसे हृदयसे लगा लिया और बार-बार उसका मस्तक सूँघा। तत्पश्चात् उसका स्वागत-सत्कार करके मन्त्रियोंसहित सहदेव बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले।

सहदेव उवाच

गच्छ लङ्कां पुरीं वत्स करार्थं मम शासनात् ।
तत्र दृष्ट्वा महात्मानं राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ।।
रत्नानि राजसूयार्थं विविधानि बहूनि च ।
उपादाय च सर्वाणि प्रत्यागच्छ महाबल ।।

सहदेवने कहा—वत्स! तुम मेरी आज्ञासे कर लेनेके लिये लंकापुरीमें जाओ और वहाँ राक्षसराज महात्मा विभीषणसे मिलकर राजसूययज्ञके लिये भाँति-भाँतिके बहुत-से रत्न प्राप्त करो। महाबली वीर! उनकी ओरसे भेंटमें मिली हुई सब वस्तुएँ लेकर शीघ्र यहाँ लौट आओ।

नो चेदेवं वदेः पुत्र समर्थमिदमुत्तरम् ।
विष्णोर्भुजबलं वीक्ष्य राजसूयमथारभत् ।।
कौन्तेयोः भ्रातृभिः सार्धं सर्वं जानीहि साम्प्रतम् ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सर्वं वैश्रवणानुज ।।
इत्युक्त्वा शीघ्रमागच्छ मा भूत् कालस्य पर्ययः ।

बेटा! यदि विभीषण तुम्हें भेंट न दें, तो उन्हें अपनी शक्तिका परिचय देते हुए इस प्रकार कहना—‘कुबेरके छोटे भाई लंकेश्वर! कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके बाहुबलको देखकर भाइयोंसहित राजसूययज्ञ आरम्भ किया है। आप इस समय इन बातोंको अच्छी तरह जान लें। आपका कल्याण हो, अब मैं यहाँसे चला जाऊँगा।’ इतना कहकर तुम शीघ्र लौट आना; अधिक विलम्ब मत करना।

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवेनैवमुक्तस्तु मुदा युक्तो घटोत्कचः ।
तथेत्युक्त्वा महाराज प्रतस्थे दक्षिणां दिशम् ।।
ययौ प्रदक्षिणं कृत्वा सहदेवं घटोत्कचः ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! पाण्डुकुमार सहदेवके ऐसा कहनेपर घटोत्कच बहुत प्रसन्न हुआ और ‘तथास्तु’ कहकर सहदेवकी परिक्रमा करके दक्षिण दिशाकी ओर चल दिया।

ततः कच्छगतो धीमान् दूतं माद्रवतीसुतः ।
प्रेषयामास हैडिम्बं पौलस्त्याय महात्मने ।
विभीषणाय धर्मात्मा प्रीतिपूर्वमरिंदमः ।। ७३ ।।

इस प्रकार समुद्रके तटपर पहुँचकर बुद्धिमान् शत्रुदमन धर्मात्मा माद्रवतीकुमारने महात्मा पुलस्त्यनन्दन विभीषणके पास प्रेमपूर्वक घटोत्कचको अपना दूत बनाकर भेजा ।। ७३ ।।

(लङ्कामभिमुखो राजन् समुद्रमवलोकयत् ।।
कूर्मग्राहझषाकीर्णं नक्रैर्मीनैस्तथाऽऽकुलम् ।
शुक्तिव्रातैः समाकीर्णं शङ्खानां निचयाकुलम् ।।

राजन्! लंकाकी ओर जाते हुए घटोत्कचने समुद्रको देखा। वह कछुओं, मगरों, नाकों तथा मत्स्य आदि जल-जन्तुओंसे भरा हुआ था। उसमें ढेर-के-ढेर शंख और सीपियाँ छा

रही थीं।

स दृष्ट्वा रामसेतुं च चिन्तयन् रामविक्रमम् ।
प्रणम्य तमतिक्रम्य याम्यां वेलामलोकयत् ।।

भगवान् श्रीरामके द्वारा बनवाये हुए पुलको देखकर घटोत्कचको भगवान्के पराक्रमका चिन्तन हो आया और उस सेतुतीर्थको प्रणाम करके उसने समुद्रके दक्षिणतटकी ओर दृष्टिपात किया।

गत्वा पारं समुद्रस्य दक्षिणं स घटोत्कचः ।
ददर्श लङ्कां राजेन्द्र नाकपृष्ठोपमां शुभाम् ।।

राजेन्द्र! तत्पश्चात् दक्षिणतटपर पहुँचकर घटोत्कचने लंकापुरी देखी, जो स्वर्गके समान सुन्दर थी।

प्राकारेणावृतां रम्यां शुभद्वारैश्च शोभिताम् ।
प्रासादैर्बहुसाहस्रैः श्वेतरक्तैश्च संकुलाम् ।।

उसके चारों ओर चहारदीवारी बनी थी। सुन्दर फाटक उस रमणीयपुरीकी शोभा बढ़ाते थे। सफेद और लाल रंगके हजारों महलोंसे वह लंकापुरी भरी हुई थी।

तापनीयगवाक्षेण मुक्ताजालान्तरेण च ।
हैमराजतजालेन दान्तजालैश्च शोभिताम् ।।

वहाँके गवाक्ष (जँगले) सोनेके बने हुए थे और उनके भीतर मोतियोंकी जाली लगी हुई थी। कितने ही गवाक्ष सोने, चाँदी तथा हाथीदाँतकी जालियोंसे सुशोभित थे।

हर्म्यगोपुरसम्बाधां रुक्मतोरणसंकुलाम् ।
दिव्यदुन्दुभिनिर्ह्रादामुद्यानवनशोभिताम् ।।

कितनी ही अट्टालिकाएँ तथा गोपुर उस नगरीकी शोभा बढ़ाते थे। स्थान-स्थानपर सोनेके फाटक लगे हुए थे। वहाँ दिव्य दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनि गूँजती रहती थी। बहुत-से उद्यान और वन उस नगरीकी श्रीवृद्धि कर रहे थे।

पुष्पगन्धैश्च संकीर्णां रमणीयमहापथाम् ।
नानारत्नैश्च सम्पूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम् ।।

उसमें चारों ओर फूलोंकी सुगन्ध छा रही थी। वहाँकी लंबी-चौड़ी सड़कें बहुत सुन्दर थीं। भाँति-भाँतिके रत्नोंसे भरी-पुरी लंका इन्द्रकी अमरावतीपुरीको भी लज्जित कर रही थी।

विवेश स पुरीं लङ्कां राक्षसैश्च निषेविताम् ।
ददर्श राक्षसव्राताञ्छूलप्राशधरान् बहून् ।।

घटोत्कचने राक्षसोंसे सेवित उस लंकापुरीमें प्रवेश किया और देखा, झुंड-के-झुंड राक्षस त्रिशूल और भाले लिये विचर रहे हैं।

नानावेषधरान् दक्षान् नारीश्च प्रियदर्शनाः ।

दिव्यमाल्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिताः ।।

वे सभी युद्धमें कुशल हैं और नाना प्रकारके वेष धारण करते हैं। घटोत्कचने वहाँकी नारियोंको भी देखा। वे सब-की-सब बड़ी सुन्दर थीं। उनके अंगोंमें दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण तथा दिव्य हार शोभा दे रहे थे।

मदरक्तान्तनयनाः पीनश्रोणिपयोधराः ।
भैमसेनिं ततो दृष्ट्वा हृष्टास्ते विस्मयं गताः ।।

उनके नेत्रोंके किनारे मदिराके नशेसे कुछ लाल हो रहे थे। उनके नितम्ब और उरोज उभरे हुए तथा मांसल थे। भीमसेनपुत्र घटोत्कचको वहाँ आया देख लंकानिवासी राक्षसोंको बड़ा हर्ष और विस्मय हुआ।

आससाद गृहं राज्ञ इन्द्रस्य सदनोपमम् ।
स द्वारपालमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह ।।

इधर घटोत्कच इन्द्रभवनके समान मनोहर राजमहलके द्वारपर जा पहुँचा और द्वारपालसे इस प्रकार बोला।

घटोत्कच उवाच

कुरूणामृषभो राजा पाण्डुर्नाम महाबलः ।
कनीयांस्तस्य दायादः सहदेव इति श्रुतः ।।

घटोत्कचने कहा—कुरुकुलमें एक श्रेष्ठ राजा हो गये हैं। वे महाबली नरेश ‘पाण्डु’ के नामसे विख्यात थे। उनके सबसे छोटे पुत्रका नाम ‘सहदेव’ है।

कृष्णमित्रस्य तु गुरो राजसूयार्थमुद्यतः ।
तेनाहं प्रेषितो दूतः करार्थं कौरवस्य च ।।

वे अपने बड़े भाई युधिष्ठिरका राजसूययज्ञ सम्पन्न करनेके लिये कटिबद्ध हैं। धर्मराज युधिष्ठिरके सहायक भगवान् श्रीकृष्ण हैं। सहदेवने कुरुराज युधिष्ठिरके लिये कर लेनेके निमित्त मुझे दूत बनाकर यहाँ भेजा है।

द्रष्टुमिच्छामि पौलस्त्यं त्वं क्षिप्रं मां निवेदय ।

मैं पुलस्त्यनन्दन महाराज विभीषणसे मिलना चाहता हूँ। तुम शीघ्र जाकर उन्हें मेरे आगमनकी सूचना दो।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा द्वारपालो महीपते ।
तथेत्युक्त्वा विवेशाथ भवनं स निवेदकः ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! घटोत्कचका वह वचन सुनकर वह द्वारपाल ‘बहुत अच्छा’ कहकर सूचना देनेके लिये राजभवनके भीतर गया।

साञ्जलिः स समाचष्ट सर्वां दूतगिरं तदा ।

द्वारपालवचः श्रुत्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः ।।
उवाच वाक्यं धर्मात्मा समीपे मे प्रवेश्यताम् ।

वहाँ उसने हाथ जोड़कर दूतकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं। द्वारपालकी बात सुनकर धर्मात्मा राक्षसराज विभीषणने उससे कहा—'दूतको मेरे समीप ले आओ'।

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र धर्मज्ञेन महात्मना ।
अथ निष्क्रम्य सम्भ्रान्तो द्वाःस्थो हैडिम्बमब्रवीत् ।।

राजेन्द्र! धर्मज्ञ महात्मा विभीषणकी ऐसी आज्ञा होनेपर द्वारपाल बड़ी उतावलीके साथ बाहर निकला और घटोत्कचसे बोला—।

एहि दूत नृपं द्रष्टुं क्षिप्रं प्रविश च स्वयम् ।
द्वारपालवचः श्रुत्वा प्रविवेश घटोत्कचः ।।

'दूत! आओ। महाराजसे मिलनेके लिये राजभवनमें शीघ्र प्रवेश करो।' द्वारपालका कथन सुनकर घटोत्कचने राजभवनमें प्रवेश किया।

स प्रविश्य ददर्शाथ राक्षसेन्द्रस्य मन्दिरम् ।
ततः कैलाससंकाशं तप्तकाञ्चनतोरणम् ।।

तदनन्तर उसमें प्रवेश करके उसने राक्षसराज विभीषणका महल देखा, जो अपनी उज्ज्वल आभासे कैलासके समान जान पड़ता था। उसका फाटक तपाकर शुद्ध किये हुए सोनेसे तैयार किया गया था।

प्राकारेण परिक्षिप्तं गोपुरैश्चापि शोभितम् ।
हर्म्यप्रासादसम्बाधं नानारत्नसमन्वितम् ।।

चहारदीवारीसे घिरा हुआ वह राजमन्दिर अनेक गोपुरोंसे सुशोभित हो रहा था। उसमें बहुत-सी अट्टालिकाएँ तथा महल बने हुए थे। भाँति-भाँतिके रत्न उस राजभवनकी शोभा बढ़ाते थे।

काञ्चनैस्तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैरपि ।
वज्रवैडूर्यगर्भैश्च स्तम्भैर्दृष्टिमनोहरैः ।
नानाध्वजपताकाभिः सुवर्णाभिश्च चित्रितम् ।

तपाये हुए सुवर्ण, रजत (चाँदी) तथा स्फटिकमणिके बने हुए खम्भे नेत्र और मनको बरबस अपनी ओर खींच लेते थे। उन खम्भोंमें हीरे और वैदूर्य जड़े हुए थे। सुनहरे रंगकी विविध ध्वजा-पताकाओंसे उस भव्य भवनकी विचित्र शोभा हो रही थी।

चित्रमाल्यावृतं रम्यं तप्तकाञ्चनवेदिकम् ।।
तान् दृष्ट्वा तत्र सर्वान् स भैमसेनिर्मनोरमान् ।
प्रविशन्नेव हैडिम्बः शुश्राव मुरजस्वनम् ।।

विचित्र मालाओंसे अलंकृत तथा विशुद्ध स्वर्णमय वेदिकाओंसे विभूषित वह राजभवन बड़ा रमणीय दिखायी दे रहा था। उस महलकी इन सारी मनोरम विशेषताओंको देखकर

घटोत्कचने ज्यों ही भीतर प्रवेश किया, त्यों ही उसके कानोंमें मृदंगकी मधुर ध्वनि सुनायी पड़ी।

तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समतालमिताक्षरम् ।
दिव्यदुन्दुभिनिर्ह्रादं वादित्रशतसंकुलम् ।।

वहाँ वीणाके तार झंकृत हो रहे थे और उसके लयपर गीत गाया जा रहा था, जिसका एक-एक अक्षर समतालके अनुसार उच्चारित हो रहा था। सैकड़ों वाद्योंके साथ दिव्य दुन्दुभियोंका मधुर घोष गूँज रहा था।

स श्रुत्वा मधुरं शब्दं प्रीतिमानभवत् तदा ।
ततो विगाह्य हैडिम्बो बहुकक्षां मनोरमाम् ।।
स ददर्श महात्मानं द्वाःस्थेन भरतर्षभ ।
तं विभीषणमासीनं काञ्चने परमासने ।।

भरतश्रेष्ठ! वह मधुर शब्द सुनकर घटोत्कचके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने अनेक मनोरम कक्षाओंको पार करके द्वारपालके साथ जा सुन्दर स्वर्ण सिंहासनपर बैठे हुए महात्मा विभीषणका दर्शन किया।

दिव्ये भास्करसंकाशे मुक्तामणिविभूषिते ।
दिव्याभरणचित्राङ्गं दिव्यरूपधरं विभुम् ।।

उनका सिंहासन सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था और उसमें मोती तथा मणि आदि रत्न जड़े हुए थे। दिव्य आभूषणोंसे राक्षसराज विभीषणके अंगोंकी विचित्र शोभा हो रही थी। उनका रूप दिव्य था।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धोक्षितं शुभम् ।
विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरप्रभम् ।।

वे दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करके दिव्य गन्धसे अभिषिक्त हो बड़े सुन्दर दिखायी दे रहे थे। उनकी अंगकान्ति सूर्य तथा अग्निके समान उद्भासित हो रही थी।

उपोपविष्टं सचिवैर्देवैरिव शतक्रतुम् ।।
यक्षैर्महारथैर्दिव्यैर्नारीभिः प्रियदर्शनैः ।
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिः पूज्यमानं यथाविधि ।।

जैसे इन्द्रके पास बहुत-से देवता बैठते हैं, उसी प्रकार विभीषणके समीप उनके अनेक सचिव बैठे थे। बहुत-से दिव्य सुन्दर महारथी यक्ष अपनी स्त्रियोंके साथ मंगलयुक्त वाणीद्वारा विभीषणका विधिपूर्वक पूजन कर रहे थे।

चामरे व्यजने चाग्रये हेमदण्डे महाधने ।
गृहीते वरनारीभ्यां धूयमाने च मूर्धनि ।।

दो सुन्दरी नारियाँ सुवर्णमय दण्डसे विभूषित बहुमूल्य चँवर तथा व्यजन लेकर उनके मस्तकपर डुला रही थीं।

अर्चिष्मन्तं श्रिया जुष्टं कुबेरवरुणोपमम् ।
धर्मे चैव स्थितं नित्यमद्भुतं राक्षसेश्वरम् ।।

राक्षसराज विभीषण कुबेर और वरुणके समान राजलक्ष्मीसे सम्पन्न एवं अद्भुत दिखायी देते थे। उनके अंगोंसे दिव्य प्रभा छिटक रही थी। वे सदा धर्ममें स्थित रहते थे।

राममिक्ष्वाकुनाथं वै स्मरन्तं मनसा सदा ।
दृष्ट्वा घटोत्कचो राजन् ववन्दे तं कृताञ्जलिः ।।

वे मन-ही-मन इक्ष्वाकुवंशशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करते थे। राजन्! उन राक्षसराज विभीषणको देख घटोत्कचने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया।

प्रह्वस्तस्थौ महावीर्यः शक्रं चित्ररथो यथा ।
तं दूतमागतं दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः ।।
पूजयित्वा यथान्यायं सान्त्वपूर्वं वचोऽब्रवीत् ।

और जैसे महापराक्रमी चित्ररथ इन्द्रके सामने नम्र रहते हैं, उसी प्रकार महाबली घटोत्कच भी विनीतभावसे उनके सम्मुख खड़ा हो गया। राक्षसराज विभीषणने उस दूतको आया हुआ देख उसका यथायोग्य सम्मान करके सान्त्वनापूर्ण वचनोंमें कहा।

विभीषण उवाच

कस्य वंशे तु संजातः करमिच्छन् महीपतिः ।।
तस्यानुजान् समस्तांश्च पुरं देशं च तस्य वै ।
त्वां च कार्यं च तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।।
विस्तरेण मम ब्रूहि सर्वानेतान् पृथक्-पृथक् ।

विभीषणने पूछा—दूत! जो महाराज मुझसे कर लेना चाहते हैं, वे किसके कुलमें उत्पन्न हुए हैं। उनके समस्त भाइयों तथा ग्राम और देशका परिचय दो। मैं तुम्हारे विषयमें भी जानना चाहता हूँ तथा तुम जिस कार्यके लिये कर लेने आये हो, उस समस्त कार्यके विषयमें भी मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ। तुम मेरी पूछी हुई इन सब बातोंको विस्तारपूर्वक पृथक्-पृथक् बताओ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु हैडिम्बः पौलस्त्येन महात्मना ।।
कृताञ्जलिरुवाचाथ सान्त्वयन् राक्षसाधिपम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा विभीषणके इस प्रकार पूछनेपर हिडिम्बाकुमार घटोत्कचने हाथ जोड़कर राक्षसराजको आश्वासन देते हुए कहा।

घटोत्कच उवाच

सोमस्य वंशे राजाऽऽसीत् पाण्डुर्नाम महाबलः ।

पाण्डोः पुत्राश्च पञ्चासञ्छक्रतुल्यपराक्रमाः ॥

तेषां ज्येष्ठस्तु नाम्नाभूद् धर्मपुत्र इति श्रुतः ।

घटोत्कच बोला—महाराज! चन्द्रवंशमें पाण्डु नामसे प्रसिद्ध एक महाबली राजा हो गये हैं। उनके पाँच पुत्र हैं, जो इन्द्रके समान पराक्रमी हैं। उन पाँचोंमें जो बड़े हैं, वे धर्मपुत्रके नामसे विख्यात हैं।

अजातशत्रुर्धर्मात्मा धर्मो विग्रहवानिव ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा प्राप्य राज्यमकारयत् ।

गङ्गाया दक्षिणे तीरे नगरे नागसाह्वये ॥

उनके मनमें किसीके प्रति शत्रुता नहीं है; इसलिये लोग उन्हें अजातशत्रु कहते हैं। उनका मन सदा धर्ममें ही लगा रहता है। वे धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप जान पड़ते हैं। गंगाके दक्षिणतटपर हस्तिनापुर नामका एक नगर है। राजा युधिष्ठिर वहीं अपना पैतृक राज्य प्राप्त करके उसकी रक्षा करते थे।

तद् दत्त्वा धृतराष्ट्राय शक्रप्रस्थं ययौ ततः ।

भ्रातृभि सह राजेन्द्र शक्रप्रस्थे प्रमोदते ॥

राक्षसराज! कुछ कालके पश्चात् उन्होंने हस्तिनापुरका राज्य धृतराष्ट्रको सौंप दिया और स्वयं वे भाइयोंसहित इन्द्रप्रस्थ चले गये। इन दिनों वे वहीं आनन्दपूर्वक रहते हैं।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये तावुभौ नगरोत्तमौ ।

नित्यं धर्मे स्थितो राजा शक्रप्रस्थे प्रशासति ॥

वे दोनों श्रेष्ठ नगर गंगा-यमुनाके बीचमें बसे हुए हैं। नित्य धर्मपरायण राजा युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थमें ही रहकर शासन करते हैं।

तस्यानुजो महाबाहुः भीमसेनो महाबलः ।

महातेजा महावीर्यः सिंहतुल्यः स पाण्डवः ॥

उनके छोटे भाई पाण्डुकुमार महाबाहु भीमसेन भी बड़े बलवान् हैं। वे सिंहके समान महापराक्रमी और अत्यन्त तेजस्वी हैं।

दशनागसहस्राणां बले तुल्यः स पाण्डवः ।

तस्यानुजोऽर्जुनो नाम महावीर्यपराक्रमः ॥

सुकुमारो महासत्त्वो लोके वीर्येण विश्रुतः ।

उनमें दस हजार हाथियोंका बल है। उनसे छोटे भाईका नाम अर्जुन है, जो महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न, सुकुमार तथा अत्यन्त धैर्यवान् हैं। उनका पराक्रम विश्वमें विख्यात है।

कार्तवीर्यसमो वीर्ये सागरप्रतिमो बले ॥

जामदग्न्यसमो ह्यस्त्रे संख्ये रामसमोऽर्जुनः ।

रूपे शक्रसमः पार्थस्तेजसा भास्करोपमः ॥

वे कुन्तीनन्दन अर्जुन कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी, सगरपुत्रोंके समान बलवान्, परशुरामजीके समान अस्त्रविद्याके ज्ञाता, श्रीरामचन्द्रजीके समान समरविजयी, इन्द्रके समान रूपवान् तथा भगवान् सूर्यके समान तेजस्वी हैं।

देवदानवगन्धर्वैः पिशाचोरगराक्षसैः ।

मानुषैश्च समस्तैश्च अजेयः फाल्गुनो रणे ।।

देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग, राक्षस और मनुष्य ये सब मिलकर भी युद्धमें अर्जुनको परास्त नहीं कर सकते।

तेन तत् खाण्डवं दावं तर्पितं जातवेदसे ।

तरसा धर्षयित्वा तं शक्रं देवगणैः सह ।।

लब्धान्यस्त्राणि दिव्यानि तर्पयित्वा हुताशनम् ।

उन्होंने खाण्डववनको जलाकर अग्निदेवको तृप्त किया है। देवताओंसहित इन्द्रको वेगपूर्वक पराजित करके उन्होंने अग्निदेवको संतुष्ट किया और उनसे दिव्यास्त्र प्राप्त किये हैं।

तेन लब्धा महाराज दुर्लभा देवतैरपि ।

वासुदेवस्य भगिनी सुभद्रा नाम विश्रुता ।।

महाराज! उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्राको पत्नीरूपमें प्राप्त किया है, जो देवताओंके लिये भी दुर्लभ थी।

अर्जुनस्यानुजो राजन् नकुलश्चेति विश्रुतः ।।

दर्शनीयतमो लोके मूर्तिमानिव मन्मथः ।

राजन्! अर्जुनके छोटे भाई नकुल नामसे विख्यात हैं, जो इस जगत्में मूर्तिमान् कामदेवके समान दर्शनीय हैं।

तस्यानुजो महातेजाः सहदेव इति श्रुतः ।

तेनाहं प्रेषितो राजन् सहदेवेन मारिष ।।

नकुलके छोटे भाई महातेजस्वी सहदेवके नामसे विख्यात हैं। माननीय महाराज! उन्हीं सहदेवने मुझे यहाँ भेजा है।

अहं घटोत्कचो नाम भीमसेनसुतो बली ।

मम माता महाभागा हिडिम्बा नाम राक्षसी ।।

मेरा नाम घटोत्कच है। मैं भीमसेनका बलवान् पुत्र हूँ। मेरी सौभाग्यशालिनी माताका नाम हिडिम्बा है। वे राक्षसकुलकी कन्या हैं।

पार्थानामुपकारार्थं चरामि पृथिवीमिमाम् ।

आसीत् पृथिव्याः सर्वस्या महीपालो युधिष्ठिरः ।।

मैं कुन्तीपुत्रोंका उपकार करनेके लिये ही इस पृथ्वीपर विचरता हूँ। महाराज युधिष्ठिर सम्पूर्ण भूमण्डलके शासक हो गये हैं।

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहर्तुमुपचक्रमे ।
संदिदेश च स भ्रातॄन् करार्थं सर्वतोदिशम् ।।

उन्होंने क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान करनेकी तैयारी की है। उन्हीं महाराजने अपने सब भाइयोंको कर वसूल करनेके लिये सब दिशाओंमें भेजा है।

वृष्णिवीरेण सहितः संदिदेशानुजान् नृपः ।
उदीचीमर्जुनस्तूर्णं करार्थं समुपाययौ ।।

वृष्णिवीर भगवान् श्रीकृष्णके साथ धर्मराजने जब अपने भाइयोंको दिग्विजयके लिये आदेश दिया, तब महाबली अर्जुन कर वसूल करनेके लिये तुरंत उत्तर दिशाकी ओर चल दिये।

गत्वा शतसहस्राणि योजनानि महाबलः ।
जित्वा सर्वान् नृपान् युद्धे हत्वा च तरसा वशी ।।
स्वर्गद्वारमुपागम्य रत्नान्यादाय वै भृशम् ।

उन्होंने लाख योजनकी यात्रा करके सम्पूर्ण राजाओंको युद्धमें हराया है और सामना करनेके लिये आये हुए विपक्षियोंको वेगपूर्वक मारा है। जितेन्द्रिय अर्जुनने स्वर्गके द्वारतक जाकर प्रचुर रत्न-राशि प्राप्त की है।

अश्वांश्च विविधान् दिव्यान् सर्वानादाय फाल्गुनः ।।
धनं बहुविधं राजन् धर्मपुत्राय वै ददौ ।

नाना प्रकारके दिव्य अश्व उन्हें भेंटमें मिले हैं। इस प्रकार भाँति-भाँतिके धन लाकर उन्होंने धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी सेवामें समर्पित किये हैं।

भीमसेनो हि राजेन्द्र जित्वा प्राचीं दिशं बलात् ।।
वशे कृत्वा महीपालान् पाण्डवाय धनं ददौ ।

राजेन्द्र! युधिष्ठिरके दूसरे भाई भीमसेनने पूर्व दिशामें जाकर उसे बलपूर्वक जीता है और वहाँके राजाओंको अपने वशमें करके पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको बहुत धन अर्पित किया है।

दिशं प्रतीचीं नकुलः करार्थं प्रययौ तथा ।।
सहदेवो दिशं याम्यां जित्वा सर्वान् महीक्षितः ।

नकुल कर लेनेके लिये पश्चिम दिशाकी ओर गये हैं और सहदेव सम्पूर्ण राजाओंको जीतते हुए दक्षिण दिशामें बढ़ते चले आये हैं।

मां संदिदेश राजेन्द्र करार्थमिह सत्कृतः ।।
पार्थानां चरितं तुभ्यं संक्षेपात् समुदाहृतम् ।

राजेन्द्र! उन्होंने बड़े सत्कारपूर्वक मुझे आपके यहाँ राजकीय कर देनेके लिये संदेश भेजा है। महाराज! पाण्डवोंका यह चरित्र मैंने अत्यन्त संक्षेपमें आपके समक्ष रखा है।

तमवेक्ष्य महाराज धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।।

पावकं राजसूयं च भगवन्तं हरिं प्रभुम् ।
एतानवेक्ष्य धर्मज्ञ करं त्वं दातुमर्हसि ।।

आप धर्मराज युधिष्ठिरकी ओर देखिये, पवित्र करनेवाले राजसूययज्ञ तथा जगदीश्वर भगवान् श्रीहरिकी ओर भी ध्यान दीजिये। धर्मज्ञ नरेश! इन सबकी ओर दृष्टि रखते हुए आपको मुझे कर देना चाहिये।

वैशम्पायन उवाच

तेन तद् भाषितं श्रुत्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः ।
प्रीतिमानभवद् राजन् धर्मात्मा सचिवैः सह ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! घटोत्कचकी वह बात सुनकर धर्मात्मा राक्षसराज विभीषण अपने मन्त्रियोंके साथ बड़े प्रसन्न हुए।

स चास्य प्रतिजग्राह शासनं प्रीतिपूर्वकम् ।
तच्च कालकृतं धीमानभ्यमन्यत स प्रभुः ।। ७४ ।।

विभीषणने प्रेमपूर्वक ही उनका शासन स्वीकार कर लिया। शक्तिशाली एवं बुद्धिमान् विभीषणने उसे कालका ही विधान समझा ।। ७४ ।।

(ततो ददौ विचित्राणि कम्बलानि कुथानि च ।
दन्तकाञ्चनपर्यङ्कान् मणिहेमविचित्रितान् ।।

उन्होंने सहदेवके लिये हाथीकी पीठपर बिछाने योग्य विचित्र कम्बल (कालीन) तथा हाथीदाँत और सुवर्णके बने हुए पलंग दिये, जिनमें सोने तथा रत्न जड़े हुए थे।

भूषणानि विचित्राणि महार्हाणि बहूनि च ।
प्रवालानि च शुभ्राणि मणींश्च विविधान् बहून् ।।
काञ्चनानि च भाण्डानि कलशानि घटानि च ।
कटाहान्यपि चित्राणि द्रोण्यश्चैव सहस्रशः ।।

इसके सिवा बहुत-से विचित्र और बहुमूल्य आभूषण भी भेंट किये। सुन्दर मूँगे, भाँति-भाँतिके मणिरत्न, सोनेके बर्तन, कलश, घड़े, विचित्र कड़ाहे और हजारों जलपात्र समर्पित किये।

राजतानि च भाण्डानि चित्राणि च बहूनि च ।
शस्त्राणि रुक्मचित्राणि मणिमुक्तैर्विचित्रितान् ।।

इनके सिवा चाँदीके भी बहुत-से ऐसे बर्तन दिये, जिनमें चित्रकारी की गयी थी। कुछ ऐसे शस्त्र भेंट किये, जिनमें सुवर्ण, मणि और मोती जड़े हुए थे।

यज्ञस्य तोरणे युक्तान् ददौ तालांश्चतुर्दश ।
रुक्मपङ्कजपुष्पाणि शिबिका मणिभूषिताः ।।

यज्ञके फाटकपर लगानेयोग्य चौदह ताड़ प्रदान किये। सुवर्णमय कमलपुष्प और मणिजटित शिबिकाएँ भी दीं।

मुकुटानि महार्हाणि हेमवर्णांश्च कुण्डलान् ।
हेमपुष्पाण्यनेकानि रुक्ममाल्यानि चापरान् ।।
शङ्खांश्च चन्द्रसंकाशाञ्छतावर्तान् विचित्रिणः ।

बहुमूल्य मुकुट, सुनहले कुण्डल, सोनेके बने हुए अनेकानेक पुष्प, सोनेके ही हार तथा चन्द्रमाके समान उज्ज्वल एवं विचित्र शतावर्त शंख भेंट किये।

चन्दनानि च मुख्यानि रुक्मरत्नान्यनेकशः ।।
वासांसि च महार्हाणि कम्बलानि बहून्यपि ।
अन्यांश्च विविधान् राजन् रत्नानि च बहूनि च ।।
स ददौ सहदेवाय तदा राजा विभीषणः ।)

श्रेष्ठ चन्दन, अनेक प्रकारके सुवर्ण तथा रत्न, महँगे वस्त्र, बहुत-से कम्बल, अनेक जातिके रत्न तथा और भी भाँति-भाँतिके बहुमूल्य पदार्थ राजा विभीषणने सहदेवको भेंट किये।

ततः सम्प्रेषयामास रत्नानि विविधानि च ।
चन्दनागुरुकाष्ठानि दिव्यान्याभरणानि च ।। ७५ ।।
वासांसि च महार्हाणि मणींश्चैव महाधनान् ।

तथा उन्होंने नाना प्रकारके रत्न, चन्दन, अगुरुके काष्ठ, दिव्य आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र और विशेष मूल्यवान् मणि-रत्न भी उसके साथ भिजवाये ।। ७५ १/२ ।।

(विभीषणं च राजानमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।।
प्रदक्षिणं परीत्यैव निर्जगाम घटोत्कचः ।

तदनन्तर घटोत्कचने हाथ जोड़कर राजा विभीषणको प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा करके वहाँसे प्रस्थान किया।

तानि सर्वाणि रत्नानि अष्टाशीतिर्निशाचराः ।।
आजह्रुः समुदा राजन् हैडिम्बेन तदा सह ।

राजन्! घटोत्कचके साथ अट्ठासी निशाचर उन सब रत्नोंको पहुँचानेके लिये प्रसन्नतापूर्वक आये।

रत्नान्यादाय सर्वाणि प्रतस्थे स घटोत्कचः ।।
ततो रत्नान्युपादाय हैडिम्बो राक्षसैः सह ।
जगाम तूर्णं लङ्कायाः सहदेवपदं प्रति ।।
आसेदुः पाण्डवं सर्वे लङ्घयित्वा महोदधिम् ।।

इस प्रकार उन सब रत्नोंको साथ ले घटोत्कचने राक्षसोंके साथ लंकासे सहदेवके पड़ावकी ओर प्रस्थान किया और समुद्र लाँघकर वे सब-के-सब पाण्डुनन्दन सहदेवके

निकट आ पहुँचे।

सहदेवो ददर्शाथ रत्नाहारान् निशाचरान् ।

आगतान् भीमसंकाशान् हैडिम्बं च तथा नृप ।।

राजन्! सहदेवने रत्न लेकर आये हुए भयंकर निशाचरों तथा घटोत्कचको भी देखा।

द्रमिला नैर्ऋतान् दृष्ट्वा दुद्रुवुस्ते भयार्दिताः ।

भैमसेनिस्ततो गत्वा माद्रेयं प्राञ्जलिः स्थितः ।।

उस समय उन राक्षसोंको देखकर द्राविड़ सैनिक भयभीत हो सब ओर भागने लगे। इतनेमें ही भीमसेनकुमार घटोत्कच माद्रीनन्दन सहदेवके पास आ हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

प्रीतिमानभवद् दृष्ट्वा रत्नौघं तं च पाण्डवः ।

तं परिष्वज्य पाणिभ्यां दृष्ट्वा तान् प्रीतिमानभूत् ।।

विसृज्य द्रमिलान् सर्वान् गमनायोपचक्रमे ।)

पाण्डुकुमार सहदेव वह रत्न-राशि देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने घटोत्कचको दोनों हाथोंसे पकड़कर गले लगाया और दूसरे राक्षसोंकी ओर देखकर भी बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। इसके बाद समस्त द्राविड़ सैनिकोंको विदा करके सहदेव वहाँसे लौटनेकी तैयारी करने लगे।

न्यवर्तत ततो धीमान् सहदेवः प्रतापवान् ।। ७६ ।।

तैयारी पूरी हो जानेपर प्रतापी और बुद्धिमान् सहदेव इन्द्रप्रस्थकी ओर चल दिये ।। ७६ ।।

एवं निर्जित्य तरसा सान्त्वेन विजयेन च ।

करदान् पार्थिवान् कृत्वा प्रत्यागच्छदरिंदमः ।। ७७ ।।

इस प्रकार बलपूर्वक जीतकर तथा सामनीतिसे समझा-बुझाकर सब राजाओंको अपने अधीन करके उन्हें करद बनाकर शत्रुदमन माद्रीनन्दन इन्द्रप्रस्थमें वापस आ गये ।। ७७ ।।

(रत्नभारमुपादाय ययौ सह निशाचरैः ।

इन्द्रप्रस्थं विवेशाथ कम्पयन्निव मेदिनीम् ।।

रत्नोंका वह भारी भार साथ लिये निशाचरोंके साथ सहदेवने इन्द्रप्रस्थ नगरमें प्रवेश किया। उस समय वे पैरोंकी धमकसे सारी पृथ्वीको कम्पित करते हुए-से चल रहे थे।

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं राजन् सहदेवः कृताञ्जलिः ।

प्रह्वोऽभिवाद्य तस्थौ स पूजितश्चैव तेन वै ।।

राजन्! युधिष्ठिरको देखते ही सहदेव हाथ जोड़ नम्रतापूर्वक उनके चरणोंमें पड़ गये। फिर विनीतभावसे उनके समीप खड़े हो गये। उस समय युधिष्ठिरने भी उनका बहुत सम्मान किया।

लङ्काप्राप्तान् धनौघांश्च दृष्ट्वा तान् दुर्लभान् बहून् ।

प्रीतिमानभवद् राजा विस्मयं च ययौ तदा ।।

लंकासे प्राप्त हुई अत्यन्त दुर्लभ एवं प्रचुर धनराशियोंको देखकर राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न और विस्मित हुए।

कोटीसहस्रमधिकं हिरण्यस्य महात्मने ।
विचित्रांस्तु मणींश्चैव गोऽजाविमहिषांस्तथा ।।)
धर्मराजाय तत् सर्वं निवेद्य भरतर्षभ ।
कृतकर्मा सुखं राजन्नुवास जनमेजय ।। ७८ ।।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! उस धनराशिमें सहस्र कोटिसे भी अधिक सुवर्ण था। विचित्र मणि एवं रत्न थे। गाय, भैंस, भेड़ और बकरियोंकी संख्या भी अधिक थी। राजन्! इन सबको महात्मा धर्मराजकी सेवामें समर्पित करके कृतकृत्य हो सहदेव सुखपूर्वक राजधानीमें रहने लगे ।। ७८ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि सहदेवदक्षिणदिग्विजये एकत्रिंशोऽध्यायः ।। ३१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें सहदेवके द्वारा दक्षिण दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०० श्लोक मिलाकर कुल १७८ श्लोक हैं)

---

* यह इक्ष्वाकुवंशीय दुर्जयका पुत्र था। इसका दूसरा नाम दुर्योधन था। यह राजा बड़ा धर्मात्मा था। इसकी कथा अनुशासनपर्वके दूसरे अध्यायमें आती है।

* जो अपने कानोंसे ही शरीरको ढक लें उन्हें ‘कर्णप्रावरण’ कहते हैं। प्राचीन कालमें ऐसी जातिके लोग थे, जिनके कान पैरोंतक लटकते थे।

द्वात्रिंशोऽध्यायः

नकुलके द्वारा पश्चिम दिशाकी विजय

वैशम्पायन उवाच

नकुलस्य तु वक्ष्यामि कर्माणि विजयं तथा ।
वासुदेवजितामाशां यथासावजयत् प्रभुः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अब मैं नकुलके पराक्रम और विजयका वर्णन करूँगा। शक्तिशाली नकुलने जिस प्रकार भगवान् वासुदेवद्वारा अधिकृत पश्चिम दिशापर विजय पायी थी, वह सुनो ।। १ ।।

निर्याय खाण्डवप्रस्थात् प्रतीचीमभितोदिशम् ।
उद्दिश्य मतिमान् प्रायान्महत्या सेनया सह ।। २ ।।

बुद्धिमान् माद्रीकुमारने विशाल सेनाके साथ खाण्डवप्रस्थसे निकलकर पश्चिम दिशामें जानेके लिये प्रस्थान किया ।। २ ।।

सिंहनादेन महता योधानां गर्जितेन च ।
रथनेमिनिनादैश्च कम्पयन् वसुधामिमाम् ।। ३ ।।

वे अपने सैनिकोंके महान् सिंहनाद, गर्जना तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटकी तुमुल ध्वनिसे इस पृथ्वीको कम्पित करते हुए जा रहे थे ।। ३ ।।

ततो बहुधनं रम्यं गवाढ्यं धनधान्यवत् ।
कार्तिकेयस्य दयितं रोहीतकमुपाद्रवत् ।। ४ ।।

जाते-जाते वे बहुत धन-धान्यसे सम्पन्न, गौओंकी बहुलतासे युक्त तथा स्वामिकार्तिकेयके अत्यन्त प्रिय रमणीय रोहीतक* पर्वत एवं उसके समीपवर्ती देशमें जा पहुँचे ।। ४ ।।

तत्र युद्धं महच्चासीच्छूरैर्मत्तमयूरकैः ।
मरुभूमिं स कात्स्न्र्येन तथैव बहुधान्यकम् ।। ५ ।।
शैरीषकं महोत्थं च वशे चक्रे महाद्युतिः ।
आक्रोशं चैव राजर्षिं तेन युद्धमभून्महत् ।। ६ ।।

वहाँ उनका मत्तमयूर नामवाले शूरवीर क्षत्रियोंके साथ घोर संग्राम हुआ। उसपर अधिकार करनेके पश्चात् महान् तेजस्वी नकुलने समूची मरुभूमि (मारवाड़), प्रचुर धन-धान्यपूर्ण शैरीषक और महोत्थ नामक देशोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया। महोत्थ देशके अधिपति राजर्षि आक्रोशको भी जीत लिया। आक्रोशके साथ उनका बड़ा भारी युद्ध हुआ था ।। ५-६ ।।

तान् दशार्णान् स जित्वा च प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः ।

शिबींस्त्रिगर्तानम्बष्ठान् मालवान् पञ्चकर्पटान् ।। ७ ।।
तथा माध्यमिकांश्चैव वाटधानान् द्विजानथ ।

तत्पश्चात् दशार्णदेशपर विजय प्राप्त करके पाण्डुनन्दन नकुलने शिबि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मालव, पंचकर्पट एवं माध्यमिक देशोंको प्रस्थान किया और उन सबको जीतकर वाटधानदेशीय क्षत्रियोंको भी हराया ।। ७½ ।।

पुनश्च परिवृत्याथ पुष्करारण्यवासिनः ।। ८ ।।
गणानुत्सवसंकेतान् व्यजयत् पुरुषर्षभः ।

पुनः उधरसे लौटकर नरश्रेष्ठ नकुलने पुष्करारण्य-निवासी उत्सवसंकेत नामक गणोंको परास्त किया ।। ८½ ।।

सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः ।। ९ ।।
शूद्राभीरगणाश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम् ।
वर्तयन्ति च ये मत्स्यैर्ये च पर्वतवासिनः ।। १० ।।

समुद्रके तटपर रहनेवाले जो महाबली ग्रामणीय (ग्राम शासकके वंशज) क्षत्रिय थे, सरस्वती नदीके किनारे निवास करनेवाले जो शूद्र आभीरगण थे, मछलियोंसे जीविका चलानेवाले जो धीवर जातिके लोग थे तथा जो पर्वतोंपर वास करनेवाले दूसरे-दूसरे मनुष्य थे, उन सबको नकुलने जीतकर अपने वशमें कर लिया ।। ९-१० ।।

कृत्स्नं पञ्चनदं चैव तथैवामरपर्वतम् ।
उत्तरज्योतिषं चैव तथा दिव्यकटं पुरम् ।। ११ ।।
द्वारपालं च तरसा वशे चक्रे महाद्युतिः ।

फिर सम्पूर्ण पंचनददेश (पंजाब), अमरपर्वत, उत्तरज्योतिष, दिव्यकट नगर और द्वारपालपुरको अत्यन्त कान्तिमान् नकुलने शीघ्र ही अपने अधिकारमें कर लिया ।। ११½ ।।

रामठान् हारहूणांश्च प्रतीच्याश्चैव ये नृपाः ।। १२ ।।
तान् सर्वान् स वशे चक्रे शासनादेव पाण्डवः ।
तत्रस्थः प्रेषयामास वासुदेवाय भारत ।। १३ ।।

रामठ, हार, हूण तथा अन्य जो पश्चिमी नरेश थे, उन सबको पाण्डुकुमार नकुलने आज्ञामात्रसे ही अपने अधीन कर लिया। भारत! वहीं रहकर उन्होंने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके पास दूत भेजा ।। १२-१३ ।।

स चास्य गतभी राजन् प्रतिजग्राह शासनम् ।
ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटभेदनम् ।। १४ ।।
मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली ।

राजन्! उन्होंने केवल प्रेमके कारण नकुलका शासन स्वीकार कर लिया। इसके बाद शाकलदेशको जीतकर बलवान् नकुलने मद्रदेशकी राजधानीमें प्रवेश किया और वहाँके शासक अपने मामा शल्यको प्रेमसे ही वशमें कर लिया ।। १४½ ।।

स तेन सत्कृतो राज्ञा सत्कारार्हो विशाम्पते ।। १५ ।।

रत्नानि भूरीण्यादाय सम्प्रतस्थे युधाम्पतिः ।

राजन्! राजा शल्यने सत्कारके योग्य नकुलका यथावत् सत्कार किया। शल्यसे भेंटमें बहुत-से रत्न लेकर योद्धाओंके अधिपति माद्रीकुमार आगे बढ़ गये ।। १५½ ।।

ततः सागरकुक्षिस्थान् म्लेच्छान् परमदारुणान् ।। १६ ।।

पह्लवान् बर्बरांश्चैव किरातान् यवनाञ्छकान् ।

ततो रत्नान्युपादाय वशे कृत्वा च पार्थिवान् ।

न्यवर्तत कुरुश्रेष्ठो नकुलश्चित्रमार्गवित् ।। १७ ।।

तदनन्तर समुद्री टापुओंमें रहनेवाले अत्यन्त भयंकर म्लेच्छ, पह्लव, बर्बर, किरात, यवन और शकोंको जीतकर उनसे रत्नोंकी भेंट ले विजयके विचित्र उपायोंके जाननेवाले कुरुश्रेष्ठ नकुल इन्द्रप्रस्थकी ओर लौटे ।। १६-१७ ।।

करभाणां सहस्राणि कोशं तस्य महात्मनः ।

ऊहुर्दश महाराज कृच्छ्रादिव महाधनम् ।। १८ ।।

महाराज! उन महामना नकुलके बहुमूल्य खजानेका बोझ दस हजार हाथी बड़ी कठिनाईसे ढो रहे थे ।। १८ ।।

इन्द्रप्रस्थगतं वीरमभ्येत्य स युधिष्ठिरम् ।

ततो माद्रीसुतः श्रीमान् धनं तस्मै न्यवेदयेत् ।। १९ ।।

तदनन्तर श्रीमान् माद्रीकुमारने इन्द्रप्रस्थमें विराजमान वीरवर राजा युधिष्ठिरसे मिलकर वह सारा धन उन्हें समर्पित कर दिया ।। १९ ।।

एवं विजित्य नकुलो दिशं वरुणपालिताम् ।

प्रतीचीं वासुदेवेन निर्जितां भरतर्षभ ।। २० ।।

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार भगवान् वासुदेवके द्वारा अपने अधिकारमें की हुई, वरुणपालित पश्चिम दिशापर विजय पाकर नकुल इन्द्रप्रस्थ लौट आये ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि नकुलप्रतीचीविजये द्वात्रिंशोऽध्यायः ।। ३२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें नकुलके द्वारा पश्चिम दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२ ।।

* इसीको आजकल रोहतक (पंजाब) कहते हैं।

(राजसूयपर्व)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके शासनकी विशेषता, श्रीकृष्णकी आज्ञासे युधिष्ठिरका राजसूययज्ञकी दीक्षा लेना तथा राजाओं, ब्राह्मणों एवं सगे-सम्बन्धियोंको बुलानेके लिये निमन्त्रण भेजना

वैशम्पायन उवाच

(एवं निर्जित्य पृथिवीं भ्रातरः कुरुनन्दन ।
वर्तमानाः स्वधर्मेण शशासुः पृथिवीमिमाम् ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुशनन्दन! इस प्रकार सारी पृथ्वीको जीतकर अपने धर्मके अनुसार बर्ताव करते हुए पाँचों भाई पाण्डव इस भूमण्डलका शासन करने लगे।

चतुर्भिर्भीमसेनाद्यैर्भ्रातृभिः सहितो नृपः ।
अनुगृह्य प्रजाः सर्वाः सर्ववर्णानगोपयत् ।।

भीमसेन आदि चारों भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिर सम्पूर्ण प्रजापर अनुग्रह करते हुए सब वर्णके लोगोंको संतुष्ट रखते थे।

अविरोधेन सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ।
प्रीयतां दीयतां सर्वं मुक्त्वा कोषं बलं विना ।।
साधु धर्मेति पार्थस्य नान्यच्छ्रूयेत भाषितम् ।

युधिष्ठिर किसीका भी विरोध न करके सबके हितसाधनमें लगे रहते थे। 'सबको तृप्त एवं प्रसन्न किया जाय, खजाना खोलकर सबको खुले हाथ दान दिया जाय, किसीपर बलप्रयोग न किया जाय, धर्म! तुम धन्य हो।' इत्यादि बातोंके सिवा युधिष्ठिरके मुखसे और कुछ नहीं सुनायी पड़ता था।

एवंवृत्ते जगत् तस्मिन् पितरीवान्वरज्यत ।।
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्याजातशत्रुता ।)

उनके ऐसे बर्तावके कारण सारा जगत् उनके प्रति वैसा ही अनुराग रखने लगा, जैसे पुत्र पिताके प्रति अनुरक्त होता है। राजा युधिष्ठिरसे द्वेष रखनेवाला कोई नहीं था, इसीलिये वे 'अजातशत्रु' कहलाते थे।

रक्षणाद् धर्मराजस्य सत्यस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव स्वकर्मनिरताः प्रजाः ।। १ ।।

धर्मराज युधिष्ठिर प्रजाकी रक्षा, सत्यका पालन और शत्रुओंका संहार करते थे। उनके इन कार्योंसे निश्चिन्त एवं उत्साहित होकर प्रजावर्गके सब लोग अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंके पालनमें संलग्न रहते थे ।। १ ।।

बलीनां सम्यगादानाद् धर्मतश्चानुशासनात् ।
निकामवर्षी पर्जन्यः स्फीतो जनपदोऽभवत् ।। २ ।।

न्यायपूर्वक कर लेने और धर्मपूर्वक शासन करनेसे उनके राज्यमें मेघ इच्छानुसार वर्षा करते थे। इस प्रकार युधिष्ठिरका सम्पूर्ण जनपद धन-धान्यसे सम्पन्न हो गया था ।। २ ।।

सर्वारम्भाः सुप्रवृत्ता गोरक्षा कर्षणं वणिक् ।
विशेषात् सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणः ।। ३ ।।

गोरक्षा, खेती और व्यापार आदि सभी कार्य अच्छे ढंगसे होने लगे। विशेषतः राजाकी सुव्यवस्थासे ही यह सब कुछ उत्तमरूपसे सम्पन्न होता था ।। ३ ।।

दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यो वा राजन् प्रति परस्परम् ।
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयन्त मृषा गिरः ।। ४ ।।

राजन्! औरोंकी तो बात ही क्या है, चोरों, ठगों, राजा अथवा राजाके विश्वासपात्र व्यक्तियोंके मुखसे भी वहाँ कोई झूठी बात नहीं सुनी जाती थी। केवल प्रजाके साथ ही नहीं, आपसमें भी वे लोग झूठ-कपटका बर्ताव नहीं करते थे ।। ४ ।।

अवर्षं चातिवर्षं च व्याधिपावकमूर्च्छनम् ।
सर्वमेतत् तदा नासीद् धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ।। ५ ।।

धर्मपरायण युधिष्ठिरके शासनकालमें अनावृष्टि, अतिवृष्टि, रोग-व्याधि तथा आग लगने आदि उपद्रवोंका नाम भी नहीं था ।। ५ ।।

प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्मं स्वभावजम् ।
अभिहर्तुं नृपा जग्मुर्नान्यैः कार्यैः कथंचन ।। ६ ।।

राजा लोग उनके यहाँ स्वाभाविक भेंट देने अथवा उनका कोई प्रिय कार्य करनेके लिये ही आते थे, युद्ध आदि दूसरे किसी कामसे नहीं ।। ६ ।।

धर्म्यैर्धनागमैस्तस्य ववृधे निचयो महान् ।
कर्तुं यस्य न शक्येत क्षयो वर्षशतैरपि ।। ७ ।।

धर्मपूर्वक प्राप्त होनेवाले धनकी आयसे उनका महान् धन-भण्डार इतना बढ़ गया था कि सैकड़ों वर्षोंतक खुले हाथ लुटानेपर भी उसे समाप्त नहीं किया जा सकता था ।। ७ ।।

स्वकोष्ठस्य परीमाणं कोशस्य च महीपतिः ।
विज्ञाय राजा कौन्तेयो यज्ञायैव मनो दधे ।। ८ ।।

कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने अन्न-वस्त्रके भंडार तथा खजानेका परिमाण जानकर यज्ञ करनेका ही निश्चय किया ।। ८ ।।

सुहृदश्चैव ये सर्वे पृथक् च सह चाब्रुवन् ।
यज्ञकालस्तव विभो क्रियतामत्र साम्प्रतम् ।। ९ ।।

उनके जितने हितैषी सुहृद् थे, वे सभी अलग-अलग और एक साथ यही कहने लगे—'प्रभो! यह आपके यज्ञ करनेका उपयुक्त समय आया है; अतः अब उसका आरम्भ कीजिये' ।। ९ ।।

अथैवं ब्रुवतामेव तेषामभ्याययौ हरिः ।
ऋषिः पुराणो वेदात्मादृश्यश्चैव विजानताम् ।। १० ।।

वे सुहृद् इस तरहकी बातें कर ही रहे थे कि उसी समय भगवान् श्रीहरि आ पहुँचे। वे पुराणपुरुष, नारायण ऋषि, वेदात्मा एवं विज्ञानीजनोंके लिये भी अगम्य परमेश्वर हैं ।। १० ।।

जगतस्तस्थुषां श्रेष्ठः प्रभवश्चाप्ययश्च ह ।
भूतभव्यभवन्नाथः केशवः केशिसूदनः ।। ११ ।।

वे ही स्थावर-जंगम प्राणियोंके उत्तम उत्पत्ति-स्थान और लयके अधिष्ठान हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके नियन्ता हैं। वे ही केशी दैत्यको मारनेवाले केशव हैं ।। ११ ।।

प्राकारः सर्ववृष्णीनामापत्स्वभयदोऽरिहा ।
बलाधिकारे निक्षिप्य सम्यगानकदुन्दुभिम् ।। १२ ।।
उच्चावचमुपादाय धर्मराजाय माधवः ।
धनौघं पुरुषव्याघ्रो बलेन महताऽऽवृतः ।। १३ ।।

वे सम्पूर्ण वृष्णिवंशियोंके परकोटेकी भाँति संरक्षक, आपत्तिमें अभय देनेवाले तथा उनके शत्रुओंका संहार करनेवाले हैं। पुरुषसिंह माधव अपने पिता वसुदेवजीको द्वारकाकी सेनाके आधिपत्यपर स्थापित करके धर्मराजके लिये नाना प्रकारके धन-रत्नोंकी भेंट ले विशाल सेनाके साथ वहाँ आये थे ।। १२-१३ ।।

तं धनौघमपर्यन्तं रत्नसागरमक्षयम् ।
नादयन् रथघोषेण प्रविवेश पुरोत्तमम् ।। १४ ।।

उस धनराशिकी कहीं सीमा नहीं थी, मानो रत्नोंका अक्षय महासागर हो। उसे लेकर रथोंकी आवाजसे समूची दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए वे उत्तम नगर इन्द्रप्रस्थमें प्रविष्ट हुए ।। १४ ।।

पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत् ।
असूर्यमिव सूर्येण निवातमिव वायुना ।
कृष्णेन समुपेतेन जहृषे भारतं पुरम् ।। १५ ।।

पाण्डवोंका धन-भण्डार तो यों ही भरा-पूरा था, भगवान्ने (उन्हें अक्षय धनकी भेंट देकर) उसे और भी पूर्ण कर दिया। उनका शुभागमन पाण्डवोंके शत्रुओंका शोक बढ़ानेवाला था। बिना सूर्यका अन्धकारपूर्ण जगत् सूर्योदय होनेसे जिस प्रकार प्रकाशसे भर जाता है, बिना वायुके स्थानमें वायुके चलनेसे जैसे नूतन प्राण-शक्तिका संचार हो उठता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके पदार्पण करनेपर समस्त इन्द्रप्रस्थमें हर्षोल्लास छा गया ।। १५ ।।

तं मुदाभिसमागम्य सत्कृत्य च यथाविधि ।
स पृष्ट्वा कुशलं चैव सुखासीनं युधिष्ठिरः ।। १६ ।।
धौम्यद्वैपायनमुखैर्ऋत्विग्भिः पुरुषर्षभ ।
भीमार्जुनयमैश्चैव सहितः कृष्णमब्रवीत् ।। १७ ।।

नरश्रेष्ठ जनमेजय! राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न होकर उनसे मिले। उनका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार करके कुशलमंगल पूछा और जब वे सुखपूर्वक बैठ गये, तब धौम्य, द्वैपायन आदि ऋत्विजों तथा भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव—चारों भाइयोंके साथ निकट जाकर युधिष्ठिरने श्रीकृष्णसे कहा ।। १६-१७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

त्वत्कृते पृथिवी सर्वा मद्वशे कृष्ण वर्तते ।
धनं च बहु वार्ष्णेय त्वत्प्रसादादुपार्जितम् ।। १८ ।।

युधिष्ठिरने कहा—श्रीकृष्ण! आपकी दयासे आपकी सेवाके लिये सारी पृथ्वी इस समय मेरे अधीन हो गयी है। वार्ष्णेय! मुझे धन भी बहुत प्राप्त हो गया है ।। १८ ।।

सोऽहमिच्छामि तत् सर्वं विधिवद् देवकीसुत ।
उपयोक्तुं द्विजाग्र्येभ्यो हव्यवाहे च माधव ।। १९ ।।

देवकीनन्दन माधव! वह सारा धन मैं विधिपूर्वक श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा हव्यवाहन अग्निके उपयोगमें लाना चाहता हूँ ।। १९ ।।

तदहं यष्टुमिच्छामि दाशार्ह सहितस्त्वया ।
अनुजैश्च महाबाहो तन्मानुज्ञातुमर्हसि ।। २० ।।

महाबाहु दाशार्ह! अब मैं आप तथा अपने छोटे भाइयोंके साथ यज्ञ करना चाहता हूँ। इसके लिये आप मुझे आज्ञा दें ।। २० ।।

तद् दीक्षापय गोविन्द त्वमात्मानं महाभुज ।
त्वयीष्टवति दाशार्ह विपाप्मा भविता ह्यहम् ।। २१ ।।

विशाल भुजाओंवाले गोविन्द! आप स्वयं यज्ञकी दीक्षा ग्रहण कीजिये। दाशार्ह! आपके यज्ञ करनेपर मैं पापरहित हो जाऊँगा ।। २१ ।।

मां वाप्यभ्यनुजानीहि सहैभिरनुजैर्विभो ।

अनुज्ञातस्त्वया कृष्ण प्राप्नुयां क्रतुमुत्तमम् ।। २२ ।।

प्रभो! अथवा मुझे अपने इन छोटे भाइयोंके साथ दीक्षा ग्रहण करनेकी आज्ञा दीजिये। श्रीकृष्ण! आपकी अनुज्ञा मिलनेपर ही मैं उस उत्तम यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करूँगा ।। २२ ।।

वैशम्पायन उवाच

तं कृष्णः प्रत्युवाचेदं बहूक्त्वा गुणविस्तरम् ।
त्वमेव राजशार्दूल सम्राडर्हो महाक्रतुम् ।
सम्प्राप्नुहि त्वया प्राप्ते कृतकृत्यास्ततो वयम् ।। २३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब भगवान् श्रीकृष्णने राजसूययज्ञके गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करके उनसे इस प्रकार कहा—'राजसिंह! आप सम्राट् होने योग्य हैं, अतः आप ही इस महान् यज्ञकी दीक्षा ग्रहण कीजिये। आपके दीक्षा लेनेपर हम सबलोग कृतकृत्य हो जायँगे ।। २३ ।।

यजस्वाभीप्सितं यज्ञं मयि श्रेयस्यवस्थिते ।
नियुङ्क्ष्व त्वं च मां कृत्ये सर्वं कर्तास्मि ते वचः ।। २४ ।।

आप अपने इस अभीष्ट यज्ञको प्रारम्भ कीजिये। मैं आपका कल्याण करनेके लिये सदा उद्यत हूँ। मुझे आवश्यक कार्यमें लगाइये, मैं आपकी सब आज्ञाओंका पालन करूँगा' ।। २४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

सफलः कृष्ण संकल्पः सिद्धिश्च नियता मम ।
यस्य मे त्वं हृषीकेश यथेप्सितमुपस्थितः ।। २५ ।।

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण मेरा संकल्प सफल हो गया, मेरी सिद्धि सुनिश्चित है; क्योंकि हृषीकेश! आप मेरी इच्छाके अनुसार स्वयं ही यहाँ उपस्थित हो गये हैं ।। २५ ।।

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातस्तु कृष्णेन पाण्डवो भ्रातृभिः सह ।
ईजितुं राजसूयेन साधनान्युपचक्रमे ।। २६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णसे आज्ञा लेकर भाइयोंसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने राजसूययज्ञ करनेके लिये साधन जुटाना आरम्भ किया ।। २६ ।।

ततस्त्वाज्ञापयामास पाण्डवोऽरिनिबर्हणः ।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं मन्त्रिणश्चैव सर्वशः ।। २७ ।।

उस समय शत्रुओंका संहार करनेवाले पाण्डुकुमारने योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेव तथा सम्पूर्ण मन्त्रियोंको आज्ञा दी ।। २७ ।।

अस्मिन् क्रतौ यथोक्तानि यज्ञाङ्गानि द्विजातिभिः ।

तथोपकरणं सर्वं मङ्गलानि च सर्वशः ।। २८ ।।
अधियज्ञांश्च सम्भारान् धौम्योक्तान् क्षिप्रमेव हि ।
समानयन्तु पुरुषा यथायोगं यथाक्रमम् ।। २९ ।।

'इस यज्ञके लिये ब्राह्मणोंके बताये अनुसार यज्ञके अंगभूत सामान, आवश्यक उपकरण, सब प्रकारकी मांगलिक वस्तुएँ तथा धौम्यजीकी बतायी हुई यज्ञोपयोगी सामग्री—इन सभी वस्तुओंको क्रमशः जैसे मिलें, वैसे शीघ्र ही अपने सेवक जाकर ले आवें ।। २८-२९ ।।

इन्द्रसेनो विशोकश्च पूरुश्चार्जुनसारथिः ।
अन्नाद्याहरणे युक्ताः सन्तु मत्प्रियकाम्यया ।। ३० ।।

'इन्द्रसेन, विशोक और अर्जुनका सारथि पूरु, ये मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे अन्न आदिके संग्रहके कामपर जुट जायँ ।। ३० ।।

सर्वकामाश्च कार्यन्तां रसगन्धसमन्विताः ।
मनोरथप्रीतिकरा द्विजानां कुरुसत्तम ।। ३१ ।।

'कुरुश्रेष्ठ! जिनको खानेकी प्रायः सभी इच्छा करते हैं, वे रस और गन्धसे युक्त भाँति-भाँतिके मिष्टान्न आदि तैयार कराये जाँय, जो ब्राह्मणोंको उनकी इच्छाके अनुसार प्रीति प्रदान करनेवाले हों' ।। ३१ ।।

तद्वाक्यसमकालं च कृतं सर्वं न्यवेदयत् ।
सहदेवो युधां श्रेष्ठो धर्मराजे युधिष्ठिरे ।। ३२ ।।

धर्मराज युधिष्ठिरकी यह बात समाप्त होते ही योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेवने उनसे निवेदन किया, 'यह सब व्यवस्था हो चुकी है' ।। ३२ ।।

ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपानयत् ।
वेदानिव महाभागान् साक्षान्मूर्तिमतो द्विजान् ।। ३३ ।।

राजन्! तदनन्तर द्वैपायन व्यासजी बहुत-से ऋत्विजोंको ले आये। वे महाभाग ब्राह्मण मानो साक्षात् मूर्तिमान् वेद ही थे ।। ३३ ।।

स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत् तस्य सत्यवतीसुतः ।
धनंजयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत् ।। ३४ ।।

स्वयं सत्यवतीनन्दन व्यासने उस यज्ञमें ब्रह्माका काम सँभाला। धनंजयगोत्रीय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ सुसामा सामगान करनेवाले हुए ।। ३४ ।।

याज्ञवल्क्यो बभूवाथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्युसत्तमः ।
पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत् ।। ३५ ।।

और ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य उस यज्ञके श्रेष्ठतम अध्वर्यु थे। वसुपुत्र पैल धौम्य मुनिके साथ होता बने थे ।। ३५ ।।

एतेषां पुत्रवर्गाश्च शिष्याश्च भरतर्षभ ।

बभूवुर्होत्रगाः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः ।। ३६ ।।

भरतश्रेष्ठ! इनके पुत्र और शिष्यवर्गके लोग, जो सब-के-सब वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान् थे, 'होत्रग' (सप्तहोता) हुए ।। ३६ ।।

ते वाचयित्वा पुण्याहमूहयित्वा च तं विधिम् ।
शास्त्रोक्तं पूजयामासुस्तद् देवयजनं महत् ।। ३७ ।।

उन सबने पुण्याहवाचन कराकर उस विधिका ऊहन (अर्थात्र **'राजसूयेन यक्ष्ये, स्वाराज्यमवाप्नवानि'**—मैं स्वाराज्य प्राप्त करूँ, इस उद्देश्यसे राजसूययज्ञ करूँगा, इत्यादि रूपसे संकल्प) कराकर शास्त्रोक्त विधिसे उस महान् यज्ञस्थानका पूजन कराया ।। ३७ ।।

तत्र चक्रुरनुज्ञाताः शरणान्युत शिल्पिनः ।
गन्धवन्ति विशालानि वेश्मानीव दिवौकसाम् ।। ३८ ।।

उस स्थानपर राजाकी आज्ञासे शिल्पियोंने देवमन्दिरोंके समान विशाल एवं सुगन्धित भवन बनाये ।। ३८ ।।

तत आज्ञापयामास स राजा राजसत्तमः ।
सहदेवं तदा सद्यो मन्त्रिणं पुरुषर्षभः ।। ३९ ।।
आमन्त्रणार्थं दूतांस्त्वं प्रेषयस्वाशुगान् द्रुतम् ।
उपश्रुत्य वचो राज्ञः स दूतान् प्राहिणोत् तदा ।। ४० ।।

तदनन्तर राजशिरोमणि नरश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने तुरंत ही मन्त्री सहदेवको आज्ञा दी, 'सब राजाओं तथा ब्राह्मणोंको आमन्त्रित करनेके लिये तुरंत ही शीघ्रगामी दूत भेजो।' राजाकी यह बात सुनकर सहदेवने दूतोंको भेजा और कहा— ।। ३९-४० ।।

आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानथ ।
विशश्च मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ।। ४१ ।।

'तुमलोग सभी राज्योंमें घूम-घूमकर वहाँके राजाओं, ब्राह्मणों, वैश्यों तथा सब माननीय शूद्रोंको निमन्त्रित कर दो और बुला ले आओ' ।। ४१ ।।

वैशम्पायन उवाच

समाज्ञप्तास्ततो दूताः पाण्डवेयस्य शासनात् ।
आमन्त्रयाम्बभूवुश्च आनयंश्चापरान् द्रुतम् ।
तथा परानपि नरानात्मनः शीघ्रगामिनः ।। ४२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरके आदेशसे सहदेवकी आज्ञा पाकर सब शीघ्रगामी दूत गये और उन्होंने ब्राह्मण आदि सब वर्णोंके लोगोंको निमन्त्रित किया तथा बहुतोंको वे अपने साथ ही शीघ्र बुला लाये। वे अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य व्यक्तियोंको भी साथ लाना न भूले ।। ४२ ।।

ततस्ते तु यथाकालं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
दीक्षयाञ्चक्रिरे विप्रा राजसूयाय भारत ।। ४३ ।।

भारत! तदनन्तर वहाँ आये हुए सब ब्राह्मणोंने ठीक समयपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको राजसूययज्ञकी दीक्षा दी ।। ४३ ।।

दीक्षितः स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
जगाम यज्ञायतनं वृतो विप्रैः सहस्रशः ।। ४४ ।।

यज्ञकी दीक्षा लेकर धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिर सहस्रों ब्राह्मणोंसे घिरे हुए यज्ञमण्डपमें गये ।। ४४ ।।

भ्रातृभिर्ज्ञातिभिश्चैव सुहृद्भिः सचिवैः सह ।
क्षत्रियैश्च मनुष्येन्द्रैर्नानादेशसमागतैः ।। ४५ ।।
अमात्यैश्च नरश्रेष्ठो धर्मो विग्रहवानिव ।

उस समय उनके सगे भाई, जाति-बन्धु, सुहृद्, सहायक अनेक देशोंसे आये हुए क्षत्रिय-नरेश तथा मन्त्रिगण भी थे। नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर मूर्तिमान् धर्म ही जान पड़ते थे ।। ४५ १/२ ।।

आजग्मुर्ब्राह्मणास्तत्र विषयेभ्यस्ततस्ततः ।। ४६ ।।
सर्वविद्यासु निष्णाता वेदवेदाङ्गपारगाः ।

तत्पश्चात् वहाँ भिन्न-भिन्न देशोंसे ब्राह्मणलोग आये, जो सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्पात तथा वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान् थे ।। ४६ १/२ ।।

तेषामावसथांश्चक्रुर्धर्मराजस्य शासनात् ।। ४७ ।।
बह्वन्नाच्छादनैर्युक्तान् सगणानां पृथक् पृथक् ।
सर्वर्तुगुणसम्पन्नान् शिल्पिनोऽथ सहस्रशः ।। ४८ ।।

धर्मराजकी आज्ञासे हजारों शिल्पियोंने आत्मीयजनोंके साथ आये हुए उन ब्राह्मणोंके ठहरनेके लिये पृथक्-पृथक् घर बनाये थे, जो बहुत-से अन्न और वस्त्रोंसे परिपूर्ण थे और जिनमें सभी ऋतुओंमें सुखपूर्वक रहनेकी सुविधाएँ थीं ।। ४७-४८ ।।

तेषु ते न्यवसन् राजन् ब्राह्मणा नृपसत्कृताः ।
कथयन्तः कथा बह्वीः पश्यन्तो नटनर्तकान् ।। ४९ ।।

राजन्! उन गृहोंमें वे ब्राह्मणलोग राजासे सत्कार पाकर निवास करने लगे। वहाँ वे नाना प्रकारकी कथाएँ कहते और नट-नर्तकोंके खेल देखते थे ।। ४९ ।।

भुञ्जतां चैव विप्राणां वदतां च महास्वनः ।
अनिशं श्रूयते तत्र मुदितानां महात्मनाम् ।। ५० ।।

वहाँ भोजन करते और बोलते हुए आनन्दमग्न महात्मा ब्राह्मणोंका निरन्तर महान् कोलाहल सुनायी पड़ता था ।। ५० ।।

दीयतां दीयतामेषां भुज्यतां भुज्यतामिति ।

एवम्प्रकाराः संजल्पाः श्रूयन्ते स्मात्र नित्यशः ।। ५१ ।।

'इनको दीजिये, इन्हें परोसिये, भोजन कीजिये, भोजन कीजिये' इसी प्रकारके शब्द वहाँ प्रतिदिन कानोंमें पड़ते थे ।। ५१ ।।

गवां शतसहस्राणि शयनानां च भारत ।
रुक्मस्य योषितां चैव धर्मराजः पृथग् ददौ ।। ५२ ।।

भारत! धर्मराज युधिष्ठिरने एक लाख गौएँ, उतनी ही शय्याएँ, एक लाख स्वर्णमुद्राएँ तथा उतनी ही अविवाहित युवतियाँ पृथक्-पृथक् ब्राह्मणोंको दान कीं ।। ५२ ।।

प्रावर्ततैवं यज्ञः स पाण्डवस्य महात्मनः ।
पृथिव्यामेकवीरस्य शक्रस्येव त्रिविष्टपे ।। ५३ ।।

इस प्रकार स्वर्गमें इन्द्रकी भाँति भूमण्डलमें अद्वितीय वीर महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका वह यज्ञ प्रारम्भ हुआ ।। ५३ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रेषयामास पाण्डवम् ।
नकुलं हास्तिनपुरं भीष्माय पुरुषर्षभः ।। ५४ ।।
द्रोणाय धृतराष्ट्राय विदुराय कृपाय च ।
भ्रातॄणां चैव सर्वेषां येऽनुरक्ता युधिष्ठिरे ।। ५५ ।।

तदनन्तर पुरुषोतम राजा युधिष्ठिरने भीष्म, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, विदुर, कृपाचार्य तथा दुर्योधन आदि सब भाइयों एवं अपनेमें अनुराग रखनेवाले अन्य जो लोग वहाँ रहते थे, उन सबको बुलानेके लिये पाण्डुपुत्र नकुलको हस्तिनापुर भेजा ।। ५४-५५ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि राजसूयदीक्षायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें राजसूयदीक्षाविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ५९ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके यज्ञमें सब देशके राजाओं, कौरवों तथा यादवोंका आगमन और उन सबके भोजन-विश्राम आदिकी सुव्यवस्था

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा हास्तिनपुरं नकुलः समितिंजयः ।
भीष्ममामन्त्रयाञ्चक्रे धृतराष्ट्रं च पाण्डवः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युद्धविजयी पाण्डुकुमार नकुलने हस्तिनापुरमें जाकर भीष्म और धृतराष्ट्रको निमन्त्रित किया ।। १ ।।

सत्कृत्यामन्त्रितास्तेन आचार्यप्रमुखास्ततः ।
प्रययुः प्रीतमनसो यज्ञं ब्रह्मपुरःसराः ।। २ ।।

तत्पश्चात् उन्होंने बड़े सत्कारके साथ आचार्य आदिको भी न्यौता दिया। वे सब लोग बड़े प्रसन्न मनसे ब्राह्मणोंको आगे करके उस यज्ञमें गये ।। २ ।।

संश्रुत्य धर्मराजस्य यज्ञं यज्ञविदस्तदा ।
अन्ये च शतशस्तुष्टैर्मनोभिर्भरतर्षभ ।। ३ ।।

भरतकुलभूषण! यज्ञवेत्ता धर्मराजका यज्ञ सुनकर अन्य सैकड़ों मनुष्य भी संतुष्ट हृदयसे वहाँ गये ।। ३ ।।

द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं च पाण्डवम् ।
दिग्भ्यः सर्वे समापेतुः क्षत्रियास्तत्र भारत ।। ४ ।।
समुपादाय रत्नानि विविधानि महान्ति च ।

भारत! धर्मराज युधिष्ठिर और उनकी सभाको देखनेके लिये सम्पूर्ण दिशाओंसे सभी क्षत्रिय वहाँ नाना प्रकारके बहुमूल्य रत्नोंकी भेंट लेकर आये ।। ४½ ।।

धृतराष्ट्रश्च भीष्मश्च विदुरश्च महामतिः ।। ५ ।।
दुर्योधनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते ।
गान्धारराजः सुबलः शकुनिश्च महाबलः ।। ६ ।।
अचलो वृषकश्चैव कर्णश्च रथिनां वरः ।
तथा शल्यश्च बलवान् बाह्लिकश्च महाबलः ।। ७ ।।
सोमदत्तोऽथ कौरव्यो भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ।
अश्वत्थामा कृपो द्रोणः सैन्धवश्च जयद्रथः ।। ८ ।।
यज्ञसेनः सपुत्रश्च शाल्वश्च वसुधाधिपः ।

प्राग्ज्योतिषश्च नृपतिर्भगदत्तो महारथः ।। ९ ।।

स तु सर्वैः सह म्लेच्छैः सागरानूपवासिभिः ।

पर्वतीयाश्च राजानो राजा चैव बृहद्बलः ।। १० ।।

पौण्ड्रको वासुदेवश्च वङ्गः कालिङ्गकस्तथा ।

आकर्षाः कुन्तलाश्चैव मालवाश्चान्ध्रकास्तथा ।। ११ ।।

द्राविडाः सिंहलाश्चैव राजा काश्मीरकस्तथा ।

कुन्तिभोजो महातेजाः पार्थिवो गौरवाहनः ।। १२ ।।

बाह्लिकाश्चापरे शूरा राजानः सर्व एव ते ।

विराटः सह पुत्राभ्यां मावेल्लश्च महाबलः ।। १३ ।।

राजानो राजपुत्राश्च नानाजनपदेश्वराः ।

धृतराष्ट्र, भीष्म, महाबुद्धिमान् विदुर, दुर्योधन आदि सभी भाई, गान्धारराज सुबल, महाबली शकुनि, अचल, वृषक, रथियोंमें श्रेष्ठ कर्ण, बलवान् राजा शल्य, महाबली बाह्लिक, सोमदत्त, कुरुनन्दन भूरि, भूरिश्रवा, शाल, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, सिन्धुराज जयद्रथ, पुत्रोंसहित द्रुपद, राजा शाल्व, प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश महारथी भगदत्त, जिनके साथ समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले सब जातियोंके म्लेच्छ भी थे, पर्वतीय नृपतिगण, राजा बृहद्बल, पौण्ड्रक वासुदेव, वंगदेशके राजा, कलिंगनरेश, आकर्ष, कुन्तल, मालव आन्ध्र, द्राविड और सिंहलदेशके नरेशगण, काश्मीरनरेश, महातेजस्वी कुन्तिभोज, राजा गौरवाहन, बाह्लिक, दूसरे शूर नृपतिगण, अपने दोनों पुत्रोंके साथ विराट, महाबली मावेल्ल तथा नाना जनपदोंके शासक राजा एवं राजकुमार उस यज्ञमें पधारे थे ।। ५—१३½ ।।

शिशुपालो महावीर्यः सह पुत्रेण भारत ।। १४ ।।

आगच्छत् पाण्डवेयस्य यज्ञं समरदुर्मदः ।

रामश्चैवानिरुद्धश्च कङ्कश्च सहसारणः ।। १५ ।।

गदप्रद्युम्नसाम्बाश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ।

उल्मुको निशठश्चैव वीरश्चाङ्गावहस्तथा ।। १६ ।।

वृष्णयो निखिलाश्चान्ये समाजग्मुर्महारथाः ।

भारत! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके उस यज्ञमें रणदुर्मद महापराक्रमी राजा शिशुपाल भी अपने पुत्रके साथ आया था। इसके सिवा बलराम, अनिरुद्ध, कंक, सारण, गद, प्रद्युम्न, साम्ब, पराक्रमी चारुदेष्ण, उल्मुक, निशठ, वीर अंगावह तथा अन्य सभी वृष्णिवंशी महारथी उस यज्ञमें आये थे ।। १४—१६½ ।।

एते चान्ये च बहवो राजानो मध्यदेशजाः ।। १७ ।।

आजग्मुः पाण्डुपुत्रस्य राजसूयं महाक्रतुम् ।

ये तथा दूसरे भी बहुत-से-मध्यदेशीय नरेश पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके राजसूय महायज्ञमें सम्मिलित हुए थे ।। १७½ ।।

ददुस्तेषामावसथान् धर्मराजस्य शासनात् ।। १८ ।।
बहुभक्ष्यान्वितान् राजन् दीर्घिकावृक्षशोभितान् ।
तथा धर्मात्मजः पूजां चक्रे तेषां महात्मनाम् ।। १९ ।।

धर्मराजकी आज्ञासे प्रबन्धकोंने उनके ठहरनेके लिये उत्तम भवन दिये, जो बहुत अधिक भोजनसामग्रीसे सम्पन्न थे। राजन्! उन घरोंके भीतर स्नानके लिये बावलियाँ बनी थीं और वे भाँति-भाँतिके वृक्षोंसे भी सुशोभित थे। धर्मपुत्र युधिष्ठिर उन सभी महात्मा नरेशोंका स्वागत-सत्कार करते थे ।। १८-१९ ।।

सत्कृताश्च यथोद्दिष्टाञ्जग्मुरावसथान् नृपाः ।
कैलासशिखरप्रख्यान् मनोज्ञान् द्रव्यभूषितान् ।। २० ।।

उनसे सम्मानित हो उन्हींके बताये हुए विभिन्न भवनोंमें जाकर राजालोग ठहरते थे। वे सभी भवन कैलासशिखरके समान ऊँचे और भव्य थे। नाना प्रकारके द्रव्योंसे विभूषित एवं मनोहर थे ।। २० ।।

सर्वतः संवृतानुच्चैः प्राकारैः सुकृतैः सितैः ।
सुवर्णजालसंवीतान् मणिकुट्टिमभूषितान् ।। २१ ।।

वे भव्य भवन सब ओरसे सुन्दर, सफेद और ऊँचे परकोटोंद्वारा घिरे हुए थे। उनमें सोनेकी झालरें लगी थीं। उनके आँगनके फर्शमें मणि एवं रत्न जड़े हुए थे ।। २१ ।।

सुखारोहणसोपानान् महासनपरिच्छदान् ।
स्रग्दामसमवच्छन्नानुत्तमागुरुगन्धिनः ।। २२ ।।

उनमें सुखपूर्वक ऊपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। उन महलोंके भीतर बहुमूल्य एवं बड़े-बड़े आसन तथा अन्य आवश्यक सामान थे। उन घरोंको मालाओंसे सजाया गया था। उनमें उत्तम अगुरुकी सुगन्ध व्याप्त हो रही थी ।। २२ ।।

हंसेन्दुवर्णसदृशानायोजनसुदर्शनान् ।
असम्बाधान् समद्वारान् युतानुच्चावचैर्गुणैः ।। २३ ।।

वे सभी अतिथिभवन हंस और चन्द्रमाके समान सफेद थे। एक योजन दूरसे ही वे अच्छी तरह दिखायी देने लगते थे। उनमें स्थानकी संकीर्णता या तंगी नहीं थी। सबके दरवाजे बराबर थे। वे सभी गृह विभिन्न गुणों (सुख-सुविधाओं)-से युक्त थे ।। २३ ।।

बहुधातुनिबद्धाङ्गान् हिमवच्छिखरानिव ।

उनकी दीवारें अनेक प्रकारकी धातुओंसे चित्रित थीं तथा वे हिमालयके शिखरोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ।। २३ १/२ ।।

विश्रान्तास्ते ततोऽपश्यन् भूमिपा भूरिदक्षिणम् ।। २४ ।।
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
तत् सदः पार्थिवै कीर्णं ब्राह्मणैश्च महर्षिभि ।
भ्राजते स्म तदा राजन् नाकपृष्ठं यथामरैः ।। २५ ।।

वहाँ विश्राम करनेके अनन्तर वे भूमिमपाल बहुत दक्षिणा देनेवाले एवं बहुतेरे सदस्योंसे घिरे हुए धर्मराज युधिष्ठिरसे मिले। जनमेजय! उस समय राजाओं, ब्राह्मणों तथा महर्षियोंसे भरा हुआ वह यज्ञमण्डप देवताओंसे भरे-पूरे स्वर्गलोकके समान शोभा पा रहा था ।। २४-२५ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि निमन्त्रितराजागमने चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें निमन्त्रित राजाओंका आगमनविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३४ ।।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

राजसूययज्ञका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

पितामहं गुरुं चैव प्रत्युद्गम्य युधिष्ठिरः ।
अभिवाद्य ततो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ।। १ ।।
भीष्मं द्रोणं कृपं द्रौणिं दुर्योधनविविंशती ।
अस्मिन् यज्ञे भवन्तों मामनुगृह्णन्तु सर्वशः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोणाचार्य आदिकी अगवानी करके युधिष्ठिरने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, दुर्योधन और विविंशतिसे कहा—'इस यज्ञमें आपलोग सब प्रकारसे मुझपर अनुग्रह करें ।। १-२ ।।

इदं वः सुमहच्चैव यदिहास्ति धनं मम ।
प्रणयन्तु भवन्तो मां यथेष्टमभिमन्त्रिताः ।। ३ ।।

यहाँ मेरा जो यह महान् धन है, उसे आपलोग मेरी प्रार्थना मानकर इच्छानुसार सत्कर्मोंमें लगाइये ।। ३ ।।

एवमुक्त्वा स तान् सर्वान् दीक्षितः पाण्डवाग्रजः ।
युयोज स यथायोगमधिकारेष्वनन्तरम् ।। ४ ।।

यज्ञदीक्षित युधिष्ठिरने ऐसा कहकर उन सबको यथायोग्य अधिकारोंमें लगाया ।। ४ ।।

भक्ष्यभोज्याधिकारेषु दुःशासनमयोजयत् ।
परिग्रहे ब्राह्मणानामश्वत्थामानमुक्तवान् ।। ५ ।।

भक्ष्य-भोज्य आदि सामग्रीकी देख-रेख तथा उसके बाँटने परोसनेकी व्यवस्थाका अधिकार दुःशासनको दिया। ब्राह्मणोंके स्वागत-सत्कारका भार उन्होंने अश्वत्थामाको सौंप दिया ।। ५ ।।

राज्ञां तु प्रतिपूजार्थं संजयं स न्ययोजयत् ।
कृताकृतपरिज्ञाने भीष्मद्रोणौ महामती ।। ६ ।।

राजाओंकी सेवा और सत्कारके लिये धर्मराजने संजयको नियुक्त किया। कौन काम हुआ और कौन नहीं हुआ, इसकी देख-रेखका काम महाबुद्धिमान् भीष्म और द्रोणाचार्यको मिला ।। ६ ।।

हिरण्यस्य सुवर्णस्य रत्नानां चान्ववेक्षणे ।
दक्षिणानां च वै दाने कृपं राजा न्ययोजयत् ।। ७ ।।
तथान्यान् पुरुषव्याघ्रांस्तस्मिंस्तस्मिन् न्ययोजयत् ।

बाह्लिको धृतराष्ट्रश्च सोमदत्तो जयद्रथः ।
नकुलेन समानीताः स्वामिवत् तत्र रेमिरे ।। ८ ।।

उत्तम वर्णके स्वर्ण तथा रत्नोंको परखने, रखने और दक्षिणा देनेके कार्यमें राजाने कृपाचार्यकी नियुक्ति की। इसी प्रकार दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ पुरुषोंको यथायोग्य भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगाया। नकुलके द्वारा सम्मानपूर्वक बुलाकर लाये हुए बाह्लिक, धृतराष्ट्र, सोमदत्त और जयद्रथ वहाँ घरके मालिककी तरह सुखपूर्वक रहने और इच्छानुसार विचरने लगे ।। ७-८ ।।

क्षत्ता व्ययकरस्त्वासीद् विदुरः सर्वधर्मवित् ।
दुर्योधनस्त्वर्हणानि प्रतिजग्राह सर्वशः ।। ९ ।।

सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरजी धनको व्यय करनेके कार्यमें नियुक्त किये गये थे तथा राजा दुर्योधन कर देनेवाले राजाओंसे सब प्रकारकी भेंट स्वीकार करने और व्यवस्थापूर्वक रखनेका काम सँभाल रहे थे ।। ९ ।।

चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत् ।
सर्वलोकसमावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम् ।। १० ।।

सब लोगोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण सबको संतुष्ट करनेकी इच्छासे स्वयं ही ब्राह्मणोंके चरण पखारनेमें लगे थे, जिससे उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ।। १० ।।

द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
न कश्चिदाहरत् तत्र सहस्रावरमर्हणम् ।। ११ ।।

धर्मराज युधिष्ठिरको और उनकी सभाको देखनेकी इच्छासे आये हुए राजाओंमेंसे कोई भी ऐसा नहीं था, जो एक हजार स्वर्णमुद्राओंसे कम भेंट लाया हो ।। ११ ।।

रत्नैश्च बहुभिस्तत्र धर्मराजमवर्धयत् ।
कथं तु मम कौरव्यो रत्नदानैः समाप्नुयात् ।। १२ ।।
यज्ञमित्येव राजानः स्पर्धमाना ददुर्धनम् ।

प्रत्येक राजा बहुसंख्यक रत्नोंकी भेंट देकर धर्मराज युधिष्ठिरके धनकी वृद्धि करने लगा। सभी राजा यह होड़ लगाकर धन दे रहे थे कि कुरुनन्दन युधिष्ठिर किसी प्रकार मेरे ही दिये हुए रत्नोंके दानसे अपना यज्ञ सम्पूर्ण करें ।। १२½ ।।

भवनैः सविमानाग्रैः सोदर्कैर्बलसंवृतैः ।। १३ ।।
लोकराजविमानैश्च ब्राह्मणावसथैः सह ।
कृतैरावसथैर्दिव्यैर्विमानप्रतिमैस्तथा ।। १४ ।।
विचित्रै रत्नवद्भिश्च ऋद्ध्या परमया युतैः ।
राजभिश्च समावृत्तैरतीव श्रीसमृद्धिभिः ।
अशोभत सदो राजन् कौन्तेयस्य महात्मनः ।। १५ ।।

राजन् ! जिनके शिखर यज्ञ देखनेके लिये आये हुए देवताओंके विमानोंका स्पर्श कर रहे थे, जो जलाशयोंसे परिपूर्ण और सेनाओंसे घिरे हुए थे, उन सुन्दर भवनों, इन्द्रादि लोकपालोंके विमानों, ब्राह्मणोंके निवासस्थानों तथा परम समृद्धिसे सम्पन्न रत्नोंसे परिपूर्ण चित्र एवं विमानके तुल्य बने हुए दिव्य गृहोंसे, समागत राजाओंसे तथा असीम श्रीसमृद्धियोंसे महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी वह सभा बड़ी शोभा पा रही थी ।। १३—१५ ।।

ऋद्ध्या तु वरुणं देवं स्पर्धमानो युधिष्ठिरः ।
षडग्निनाथ यज्ञेन सोऽयजद् दक्षिणावता ।। १६ ।।

महाराज युधिष्ठिर अपनी अनुपम समृद्धिद्वारा वरुणदेवताकी बराबरी कर रहे थे। उन्होंने यज्ञमें छः अग्नियोंकी* स्थापना करके पर्याप्त दक्षिणा देकर उस यज्ञके द्वारा भगवान्‌का यजन किया ।। १६ ।।

सर्वाञ्जनान् सर्वकामैः समृद्धैः समतर्पयत् ।
अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च भुक्तवज्जनसंवृतः ।
रत्नोपहारसम्पन्नो बभूव स समागमः ।। १७ ।।

राजाने उस यज्ञमें आये हुए सब लोगोंको उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण करके संतुष्ट किया। वह यज्ञसमारोह अन्नसे भरापूरा था, उसमें खाने-पीनेकी सब सामग्रियाँ पर्याप्त

मात्रामें सदा प्रस्तुत रहती थीं। वह यज्ञ खा-पीकर तृप्त हुए लोगोंसे ही पूर्ण था। वहाँ कोई भूखा नहीं रहने पाता था तथा उस उत्सवसमारोहमें सब ओर रत्नोंका ही उपहार दिया जाता था ।। १७ ।।

इडाज्यहोमाहुतिभिर्मन्त्रशिक्षाविशारदैः ।
तस्मिन् हि ततृपुर्देवास्तते यज्ञे महर्षिभिः ।। १८ ।।

मन्त्रशिक्षामें निपुण महर्षियोंद्वारा विस्तारपूर्वक किये जानेवाले उस यज्ञमें इडा (मन्त्र-पाठ एवं स्तुति), घृतहोम तथा तिल आदि शाकल्य पदार्थोंकी आहुतियोंसे देवतालोग तृप्त हो गये ।। १८ ।।

यथा देवास्तथा विप्रा दक्षिणान्नमहाधनैः ।
ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन् यज्ञे मुदान्विताः ।। १९ ।।

जिस प्रकार देवता तृप्त हुए उसी प्रकार दक्षिणामें अन्न और महान् धन पाकर ब्राह्मण भी तृप्त हो गये। अधिक क्या कहा जाय, उस यज्ञमें सभी वर्णके लोग बड़े प्रसन्न थे, सबको पूर्ण तृप्ति मिली थी ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि यज्ञकरणे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ।। ३५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें यज्ञकरणविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३५ ।।

---

* नीलकण्ठीकी टीकामें छः अग्नियाँ इस प्रकार बतायी गयी हैं—आरम्भणीय, क्षत्र, धृति, व्युष्टि, द्विरात्र और दशपेय।

(अर्घाभिहरणपर्व)

षट्त्रिंशोऽध्यायः

राजसूययज्ञमें ब्राह्मणों तथा राजाओंका समागम, श्रीनारदजीके द्वारा श्रीकृष्ण-महिमाका वर्णन और भीष्मजीकी अनुमतिसे श्रीकृष्णकी अग्रपूजा

वैशम्पायन उवाच

ततोऽभिषेचनीयेऽह्नि ब्राह्मणा राजभिः सह ।
अन्तर्वेदीं प्रविविशुः सत्काराहां महर्षयः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अभिषेचनीय[1] कर्मके दिन सत्कारके योग्य महर्षिगण और ब्राह्मणलोग राजाओंके साथ यज्ञभवनमें गये ।। १ ।।

नारदप्रमुखास्तस्यामन्तर्वेद्यां महात्मनः ।
समासीनाः शुशुभिरे सह राजर्षिभिस्तदा ।। २ ।।
समेता ब्रह्मभवने देवा देवर्षयस्तथा ।
कर्मान्तरमुपासन्तो जजल्पुरमितौजसः ।। ३ ।।
एवमेतन्न चाप्येवमेवं चैतन्न चान्यथा ।
इत्यूचुर्बहवस्तत्र वितण्डा वै परस्परम् ।। ४ ।।

महात्मा राजा युधिष्ठिरके उस यज्ञभवनमें राजर्षियोंके साथ बैठे हुए नारद आदि महर्षि उस समय ब्रह्माजीकी सभामें एकत्र हुए देवताओं और देवर्षियोंके समान सुशोभित हो रहे थे। बीच-बीचमें यज्ञसम्वन्धी एक-एक कर्मसे अवकाश पाकर अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान् आपसमें जल्प[2] (वाद-विवाद) करते थे। 'यह इसी प्रकार होना चाहिये', 'नहीं, ऐसे नहीं होना चाहिये', 'यह बात ऐसी ही है, ऐसी ही है, इससे भिन्न नहीं है।' इस प्रकार कह-कहकर बहुत-से वितण्डावादी[3] द्विज वहाँ वाद-विवाद करते थे ।। २—४ ।।

कृशानर्थांस्ततः केचिदकृशांस्तत्र कुर्वते ।
अकृशांश्च कृशांश्चक्रुर्हेतुभिः शास्त्रनिश्चयैः ।। ५ ।।

कुछ विद्वान् शास्त्रनिश्चित नाना प्रकारके तर्कों और युक्तियोंसे दुर्बल पक्षोंको पुष्ट और पुष्ट पक्षोंको दुर्बल सिद्ध कर देते थे ।। ५ ।।

तत्र मेधाविनः केचिदर्थमन्यैरुदीरितम् ।

विचिक्षिपुर्यथा श्येना नभोगतमिवामिषम् ।। ६ ।।

वहीं कुछ मेधावी पण्डित, जो दूसरोंके कथनमें दोष दिखानेके ही अभ्यासी थे, अन्य लोगोंके कहे हुए अनुमानसाधित विषयको उसी तरह बीचसे ही लोक लेते थे, जैसे बाज मांसके लोथड़ेको आकाशमें ही एक-दूसरेसे छीन लेते हैं ।। ६ ।।

केचिद् धर्मार्थकुशलाः केचित् तत्र महाव्रताः ।
रेमिरे कथयन्तश्च सर्वभाष्यविदां वराः ।। ७ ।।

उन्हींमें कुछ लोग धर्म और अर्थके निर्णयमें अत्यन्त निपुण थे। कोई महान् व्रतका पालन करनेवाले थे। इस प्रकार सम्पूर्ण भाष्यके विद्वानोंमें श्रेष्ठ वे महात्मा अच्छी कथाएँ और शिक्षाप्रद बातें कहकर स्वयं भी सुखी होते और दूसरोंको भी प्रसन्न करते थे ।। ७ ।।

सा वेदिर्वेदसम्पन्नैर्देवद्विजमहर्षिभिः ।
आबभासे समाकीर्णा नक्षत्रैर्द्यौरिवायता ।। ८ ।।

जैसे नक्षत्रमालाओंद्वारा मण्डित विशाल आकाश मण्डलकी शोभा होती है, उसी प्रकार वेदज्ञ देवर्षियों, ब्रह्मर्षियों और महर्षियोंसे वह वेदी सुशोभित हो रही थी ।। ८ ।।

न तस्यां संनिधौ शूद्रः कश्चिदासीन्न चाव्रती ।
अन्तर्वेद्यां तदा राजन् युधिष्ठिरनिवेशने ।। ९ ।।

राजन् युधिष्ठिरकी यज्ञशालाके भीतर उस अन्तर्वेदीके आस-पास उस समय न तो कोई शूद्र था और न व्रतहीन द्विज ही ।। ९ ।।

तां तु लक्ष्मीवतो लक्ष्मीं तदा यज्ञविधानजाम् ।
तुतोष नारदः पश्यन् धर्मराजस्य धीमतः ।। १० ।।

परम बुद्धिमान् राजलक्ष्मीसम्पन्न धर्मराज युधिष्ठिरके उस धन-वैभव और यज्ञविधिको देखकर देवर्षि नारदको बड़ी प्रसन्नता हुई ।। १० ।।

अथ चिन्तां समापेदे स मुनिर्मनुजाधिप ।
नारदस्तु तदा पश्यन् सर्वक्षत्रसमागमम् ।। ११ ।।

जनमेजय! उस समय वहाँ समस्त क्षत्रियोंका सम्मेलन देखकर मुनिवर नारदजी सहसा चिन्तित हो उठे ।। ११ ।।

सस्मार च पुरा वृत्तां कथां तां पुरुषर्षभ ।
अंशावतरणे यासौ ब्रह्मणो भवनेऽभवत् ।। १२ ।।

नरश्रेष्ठ! भगवान्‌के सम्पूर्ण अंशों (देवताओं)-सहित अवतार लेनेके सम्बन्धमें ब्रह्मलोकमें पहले जो चर्चा हुई थी, वह प्राचीन घटना उन्हें याद आ गयी ।। १२ ।।

देवानां संगमं तं तु विज्ञाय कुरुनन्दन ।
नारदः पुण्डरीकाक्षं सस्मार मनसा हरिम् ।। १३ ।।

कुरुनन्दन! नारदजीने यह जानकर कि राजाओंके इस समुदायके रूपमें वास्तवमें देवताओंका ही समागम हुआ है, मन-ही-मन कमलनयन भगवान् श्रीहरिका चिन्तन

किया ।। १३ ।।

साक्षात् स विबुधारिघ्नः क्षत्रे नारायणो विभुः ।
प्रतिज्ञां पालयंश्चेमां जातः परपुरंजयः ।। १४ ।।

वे सोचने लगे—'अहो! सर्वव्यापक देवशत्रु-विनाशक वैरिनगरविजयी साक्षात् भगवान् नारायणने ही अपनी इस प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके लिये क्षत्रियकुलमें अवतार ग्रहण किया है ।। १४ ।।

संदिदेश पुरायोऽसौ विबुधान् भूतकृत् स्वयम् ।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्तः पुनर्लोकानवाप्स्यथ ।। १५ ।।

'पूर्वकालमें सम्पूर्ण भूतोंके उत्पादक साक्षात् उन्हीं भगवान्ने देवताओंको यह आदेश दिया था कि तुमलोग भूतलपर जन्म ग्रहण करके अपना अभीष्ट साधन करते हुए आपसमें एक-दूसरेको मारकर फिर देवलोकमें आ जाओगे ।। १५ ।।

इति नारायणः शम्भुर्भगवान् भूतभावनः ।
आदित्यविबुधान् सर्वानजायत यदुक्षये ।। १६ ।।

'कल्याणस्वरूप भूतभावन भगवान् नारायणने सब देवताओंको यह आज्ञा देनेके पश्चात् स्वयं भी यदुकुलमें अवतार लिया ।। १६ ।।

क्षितावन्धकवृष्णीनां वंशे वंशभृतां वरः ।
परया शुशुभे लक्ष्म्या नक्षत्राणामिवोडुराट् ।। १७ ।।

'अन्धक और वृष्णियोंके कुलमें वंशधारियोंमें श्रेष्ठ वे ही भगवान् इस पृथ्वीपर प्रकट हो अपनी सर्वोत्तम कान्तिसे उसी प्रकार शोभायमान हैं, जैसे नक्षत्रोंमें चन्द्रमा सुशोभित होते हैं ।। १७ ।।

यस्य बाहुबलं सेन्द्राः सुराः सर्व उपासते ।
सोऽयं मानुषवन्नाम हरिरास्तेऽरिमर्दनः ।। १८ ।।

'इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता जिनके बाहुबलकी उपासना करते हैं, वे ही शत्रुमर्दन श्रीहरि यहाँ मनुष्यके समान बैठे हैं ।। १८ ।।

अहो बत महद्भूतं स्वयंभूर्यदिदं स्वयम् ।
आदास्यति पुनः क्षत्रमेवं बलसमन्वितम् ।। १९ ।।

'अहो! ये स्वयम्भू महाविष्णु ऐसे बलसम्पन्न क्षत्रियसमुदायको पुनः उच्छिन्न करना चाहते हैं' ।। १९ ।।

इत्येतां नारदश्चिन्तां चिन्तयामास सर्ववित् ।
हरिं नारायणं ध्यात्वा यज्ञैरीज्यन्तमीश्वरम् ।। २० ।।
तस्मिन् धर्मविदां श्रेष्ठो धर्मराजस्य धीमतः ।
महाध्वरे महाबुद्धिस्तस्थौ स बहुमानतः ।। २१ ।।

धर्मज्ञ नारदजीने इसी पुरातन वृत्तान्तका स्मरण किया और ये भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त यज्ञोंके द्वारा आराधनीय, सर्वेश्वर नारायण हैं; ऐसा समझकर वे धर्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ परम बुद्धिमान् देवर्षि मेधावी धर्मराजके उस महायज्ञमें बड़े आदरके साथ बैठे रहे ।। २०-२१ ।।

ततो भीष्मोऽब्रवीद् राजन् धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
क्रियतामर्हणं राज्ञां यथार्हमिति भारत ।। २२ ।।

जनमेजय! तत्पश्चात् भीष्मजीने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'भरतकुलभूषण युधिष्ठिर! अब तुम यहाँ पधारे हुए राजाओंका यथायोग्य सत्कार करो' ।। २२ ।।

आचार्यमृत्विजं चैव संयुजं च युधिष्ठिर ।
स्नातकं च प्रियं प्राहुः षडर्घ्यार्हान् नृपं तथा ।। २३ ।।

आचार्य, ऋत्विज्, सम्बन्धी, स्नातक, प्रिय मित्र तथा राजा—इन छहोंको अर्घ्य देकर पूजनेयोग्य बताया गया है ।। २३ ।।

एतानर्घ्यानभिगतानाहुः संवत्सरोषितान् ।
त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः ।। २४ ।।

'ये यदि एक वर्ष बिताकर अपने यहाँ आवें तो इनके लिये अर्घ्य निवेदन करके इनकी पूजा करनी चाहिये, ऐसा शास्त्रज्ञ पुरुषोंका कथन है। ये सभी नरेश हमारे यहाँ सुदीर्घकालके पश्चात् पधारे हैं ।। २४ ।।

एषामेकैकशो राजन्नर्घ्यमानीयतामिति ।
अथ चैषां वरिष्ठाय समर्थायोपनीयताम् ।। २५ ।।

इसलिये राजन्! तुम बारी-बारीसे इन सबके लिये अर्घ्य दो और इन सबमें जो श्रेष्ठ एवं शक्तिशाली हो, उसको सबसे पहले अर्घ्य समर्पित करो' ।। २५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कस्मै भवान् मन्यतेऽर्घ्यमेकस्मै कुरुनन्दन ।
उपनीयमानं युक्तं च तन्मे ब्रूहि पितामह ।। २६ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुनन्दन पितामह! इन समागत नरेशोंमें किस एकको सबसे पहले अर्घ्य निवेदन करना आप उचित समझते हैं? यह मुझे बताइये ।। २६ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्धया निश्चित्य वीर्यवान् ।
अमन्यत तदा कृष्णमर्हणीयतमं भुवि ।। २७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्मने अपनी बुद्धिसे निश्चय करके भगवान् श्रीकृष्णको ही भूमण्डलमें सबसे अधिक पूजनीय माना ।। २७ ।।

भीष्म उवाच

एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः ।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः ।। २८ ।।
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना ।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ।। २९ ।।

भीष्मने कहा—कुन्तीनन्दन! ये भगवान् श्रीकृष्ण इन सब राजाओंके बीचमें अपने तेज, बल और पराक्रमसे उसी प्रकार देदीप्यमान हो रहे हैं, जैसे ग्रह-नक्षत्रोंमें भुवनभास्कर भगवान् सूर्य। अन्धकारपूर्ण स्थान जैसे सूर्यका उदय होनेपर ज्योतिसे जगमग हो उठता है और वायुहीन स्थान जैसे वायुके संचारसे सजीव-सा हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा हमारी यह सभा आह्लादित और प्रकाशित हो रही है (अतः ये ही अग्रपूजाके योग्य हैं) ।। २८-२९ ।।

तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान् ।
उपजह्रेऽथ विधिवद् वार्ष्णेयायार्घ्यमुत्तमम् ।। ३० ।।

भीष्मजीकी आज्ञा मिल जानेपर प्रतापी सहदेवने वृष्णिकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णको विधिपूर्वक उत्तम अर्घ्य निवेदन किया ।। ३० ।।

प्रतिजग्राह तत् कृष्णः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ।। ३१ ।।

श्रीकृष्णने शास्त्रीय विधिके अनुसार वह अर्घ्य स्वीकार किया। वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीहरिकी वह पूजा राजा शिशुपाल नहीं सह सका ।। ३१ ।।

स उपालभ्य भीष्मं च धर्मराजं च संसदि ।

अपाक्षिपद् वासुदेवं चेदिराजो महाबलः ।। ३२ ।।

महाबली चेदिराज भरी सभामें भीष्म और धर्मराज युधिष्ठिरको उलाहना देकर भगवान् वासुदेवपर आक्षेप करने लगा ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि श्रीकृष्णार्घ्यदाने षट्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें श्रीकृष्णको अर्घ्यदानविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३६ ।।

---

१. जिसमें पूजनीय पुरुषोंका अभिषेक—अर्घ्य देकर सम्मान किया जाता है, उस कर्मका नाम अभिषेचनीय है। यह राजसूययज्ञका अंगभूत सोमयागविशेष है।

२. यह एक प्रकारका वाद है, जिसमें वादी छल, जाति और निग्रहस्थानको लेकर अपने पक्षका मण्डन और विपक्षीके पक्षका खण्डन करता है। इसमें वादीका उद्देश्य तत्त्वनिर्णय नहीं होता, किंतु स्वपक्षस्थापन और परपक्षखण्डनमात्र होता है। वादके समान इसमें भी प्रतिज्ञा, हेतु आदि पाँच अवयव होते हैं।

३. जिस बहस या वाद-विवादका उद्देश्य अपने पक्षकी स्थापना या परपक्षका खण्डन न होकर व्यर्थकी बकवादमात्र हो, उसका नाम 'वितण्डा' है।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

शिशुपालके आक्षेपपूर्ण वचन

शिशुपाल उवाच

नायमर्हति वार्ष्णेयस्तिष्ठत्स्विह महात्मसु ।
महीपतिषु कौरव्य राजवत् पार्थिवार्हणम् ।। १ ।।

शिशुपाल बोला—कौरव्य! यहाँ इन महात्मा भूमिपतियोंके रहते हुए यह वृष्णिवंशी कृष्ण राजाओंकी भाँति राजोचित पूजाका अधिकारी कदापि नहीं हो सकता ।। १ ।।

नायं युक्तः समाचारः पाण्डवेषु महात्मसु ।
यत् कामात् पुण्डरीकाक्षं पाण्डवार्चितवानसि ।। २ ।।
बाला यूयं न जानीध्वं धर्मः सूक्ष्मो हि पाण्डवाः ।
अयं च स्मृत्यतिक्रान्तो ह्यापगेयोऽल्पदर्शनः ।। ३ ।।

महात्मा पाण्डवोंके लिये यह विपरीत आचार कभी उचित नहीं है। पाण्डुकुमार! तुमने स्वार्थवश कमलनयन श्रीकृष्णका पूजन किया है। पाण्डवो! अभी तुमलोग बालक हो। तुम्हें धर्मका पता नहीं है, क्योंकि धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। ये गंगानन्दन भीष्म बहुत बूढ़े हो गये हैं। अब इनकी स्मरणशक्ति जवाब दे चुकी है। इनकी सूझ और समझ भी बहुत कम हो गयी है (तभी इन्होंने श्रीकृष्णपूजाकी सम्मति दी है) ।। २-३ ।।

त्वादृशो धर्मयुक्तो हि कुर्वाणः प्रियकाम्यया ।
भवत्यभ्यधिकं भीष्म लोकेष्ववमतः सताम् ।। ४ ।।

भीष्म तुम्हारे-जैसा धर्मात्मा पुरुष भी जब मनमाना अथवा किसीका प्रिय करनेके लिये मुँहदेखी करने लगता है, तब वह साधु पुरुषोंके समाजमें अधिक अपमानका पात्र बन जाता है ।। ४ ।।

कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ।
अर्हणामर्हति तथा यथा युष्माभिरर्चितः ।। ५ ।।

यह सभी जानते हैं कि यदुवंशी कृष्ण राजा नहीं है, फिर सम्पूर्ण भूपालोंके बीच तुमलोगोंने जिस प्रकार इसकी पूजा की है, वैसी पूजाका अधिकारी यह कैसे हो सकता है? ।। ५ ।।

अथ वा मन्यसे कृष्णं स्थविरं कुरुपुङ्गव ।
वसुदेवे स्थिते वृद्धे कथमर्हति तत्सुतः ।। ६ ।।

कुरुपुंगव! अथवा यदि तुम श्रीकृष्णको बड़ा-बूढ़ा समझते हो तो इसके पिता वृद्ध वसुदेवजीके रहते हुए उनका यह पुत्र कैसे पूजाका पात्र हो सकता है? ।। ६ ।।

अथ वा वासुदेवोऽपि प्रियकामोऽनुवृत्तवान् ।
द्रुपदे तिष्ठति कथं माधवोऽर्हति पूजनम् ।। ७ ।।
आचार्यं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन ।
द्रोणे तिष्ठति वार्ष्णेयं कस्मादर्चितवानसि ।। ८ ।।

अथवा यह मान लिया जाय कि वासुदेव कृष्ण तुमलोगोंका प्रिय चाहनेवाला और तुम्हारा अनुसरण करनेवाला सुहृद् है, इसीलिये तुमने इसकी पूजा की है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तुम्हारे सबसे बड़े सुहृद् तो राजा द्रुपद हैं। उनके रहते यह माधव पूजा पानेका अधिकारी कैसे हो सकता है। कुरुनन्दन! अथवा यह समझ लें कि तुम कृष्णको आचार्य मानते हो, फिर भी आचार्योंमें भी बड़े-बूढ़े द्रोणाचार्यके रहते हुए इस यदुवंशीकी पूजा तुमने क्यों की है? ।। ७-८ ।।

भीष्मका युधिष्ठिरको श्रीकृष्णकी महिमा बताना

शिशुपालका युद्धके लिये उद्योग

ऋत्विजं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन ।
द्वैपायने स्थिते वृद्धे कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ।। ९ ।।

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर! अथवा यदि यह कहा जाय कि तुम कृष्णको अपना ऋत्विज् समझते हो तो ऋत्विजोंमें भी सबसे वृद्ध द्वैपायन वेदव्यासके रहते हुए तुमने कृष्णकी अग्रपूजा कैसे की? ।। ९ ।।

भीष्मे शान्तनवे राजन् स्थिते पुरुषसत्तमे ।
स्वच्छन्दमृत्युके राजन् कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ।। १० ।।
अश्वत्थाम्नि स्थिते वीरे सर्वशास्त्रविशारदे ।
कथं कृष्णस्त्वया राजन्नर्चितः कुरुनन्दन ।। ११ ।।

राजन्! शान्तनुनन्दन भीष्म पुरुषशिरोमणि तथा स्वच्छन्दमृत्यु हैं। इनके रहते तुमने कृष्णकी अर्चना कैसे की? कुरुनन्दन युधिष्ठिर! सम्पूर्ण शास्त्रोंके निपुण विद्वान् वीर अश्वत्थामाके रहते हुए तुमने कृष्णकी पूजा कैसे कर डाली? ।। १०-११ ।।

दुर्योधने च राजेन्द्रे स्थिते पुरुषसत्तमे ।
कृपे च भारताचार्ये कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ।। १२ ।।
द्रुमं किम्पुरुषाचार्यमतिक्रम्य तथार्चितः ।
भीष्मके चैव दुर्धर्षे पाण्डुवत् कृतलक्षणे ।। १३ ।।
नृपे च रुक्मिणि श्रेष्ठे एकलव्ये तथैव च ।
शल्ये मद्राधिपे चैव कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ।। १४ ।।

पुरुषप्रवर राजाधिराज दुर्योधन और भरतवंशके आचार्य महात्मा कृपके रहते हुए तुमने कृष्णकी पूजाका औचित्य कैसे स्वीकार किया? तुमने किम्पुरुषोंके आचार्य द्रुमका उल्लंघन करके कृष्णकी अग्रपूजा क्यों की? पाण्डुके समान दुर्धर्ष वीर तथा राजोचित शुभ-लक्षणोंसे सम्पन्न भीष्मक, राजा रुक्मी और उसी प्रकार श्रेष्ठ धनुर्धर एकलव्य तथा मद्रराज शल्यके रहते हुए तुम्हारे द्वारा कृष्णकी पूजा किस दृष्टिसे की गयी? ।। १२—१४ ।।

अयं च सर्वराज्ञां वै बलश्लाघी महाबलः ।
जामदग्न्यस्य दयितः शिष्यो विप्रस्य भारत ।। १५ ।।
येनात्मबलमाश्रित्य राजानो युधि निर्जिताः ।
तं च कर्णमतिक्रम्य कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ।। १६ ।।

भारत! ये जो अपने बलके द्वारा सब राजाओंसे होड़ लेते हैं, विप्रवर परशुरामजीके प्रिय शिष्य हैं तथा जिन्होंने अपने बलका भरोसा करके युद्धमें अनेक राजाओंको परास्त किया है, उन महाबली कर्णको छोड़कर तुमने कृष्णकी आराधना कैसे की? ।। १५-१६ ।।

नैवर्त्विग् नैव चाचार्यो न राजा मधुसूदनः ।
अर्चितश्च कुरुश्रेष्ठ किमन्यत्प्रियकाम्यया ।। १७ ।।

कुरुश्रेष्ठ! मधुसूदन कृष्ण न ऋत्विज् है, न आचार्य है और न राजा ही है; फिर तुमने किस प्रिय कामनासे इसकी पूजा की है? ।। १७ ।।

अथ वाभ्यर्चनीयोऽयं युष्माकं मधुसूदनः ।
किं राजभिरिहानीतैरवमानाय भारत ।। १८ ।।

भारत! अथवा यदि यह मधुसूदन ही तुमलोगोंका पूजनीय देवता है, इसलिये इसकी ही पूजा तुम्हें करनी थी तो इन राजाओंको केवल अपमानित करनेके लिये बुलानेकी क्या आवश्यकता थी? ।। १८ ।।

वयं तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात् ।। १९ ।।

राजाओ! हम सब लोग इन महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जो कर दे रहे हैं, वह भय, लोभ अथवा कोई विशेष आश्वासन मिलनेके कारण नहीं ।। १९ ।।

अस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
करानस्मै प्रयच्छामः सोऽयमस्मान् न मन्यते ।। २० ।।

हमने तो यही समझा था कि यह धर्माचरणमें संलग्न रहनेवाला क्षत्रिय सम्राट्का पद पाना चाहता है तो अच्छा ही है। यही सोचकर हम उसे कर देते हैं, परंतु यह राजा युधिष्ठिर हमलोगोंको नहीं मानता है ।। २० ।।

किमन्यदवमानाद्धि यदेनं राजसंसदि ।
अप्राप्तलक्षणं कृष्णमर्घ्येणार्चितवानसि ।। २१ ।।

युधिष्ठिर! इससे बढ़कर दूसरा अपमान और क्या हो सकता है कि तुमने राजाओंकी सभामें जिसे राजोचित चिह्न छत्र-चँवर आदि प्राप्त नहीं हुआ है, उस कृष्णकी अर्घ्यके द्वारा पूजा की है ।। २१ ।।

अकस्माद् धर्मपुत्रस्य धर्मात्मेति यशो गतम् ।
को हि धर्मच्युते पूजामेवं युक्तां नियोजयेत् ।। २२ ।।

धर्मपुत्र युधिष्ठिरको अकस्मात् ही धर्मात्मा होनेका यश प्राप्त हो गया है, अन्यथा कौन ऐसा धर्मनिष्ठ पुरुष होगा जो किसी धर्मच्युतकी इस प्रकार पूजा करेगा ।। २२ ।।

योऽयं वृष्णिकुले जातो राजानं हतवान् पुरा ।
जरासंधं महात्मानमन्यायेन दुरात्मवान् ।। २३ ।।

वृष्णिकुलमें पैदा हुए इस दुरात्माने तो कुछ ही दिन पहले महात्मा राजा जरासंधका अन्यायपूर्वक वध किया है ।। २३ ।।

अद्य धर्मात्मता चैव व्यपकृष्टा युधिष्ठिरात् ।
दर्शितं कृपणत्वं च कृष्णेऽर्घ्यस्य निवेदनात् ।। २४ ।।

आज युधिष्ठिरका धर्मात्मापन दूर निकल गया, क्योंकि इन्होंने कृष्णको अर्घ्य निवेदन करके अपनी कायरता ही दिखायी है ।। २४ ।।

यदि भीताश्च कौन्तेयाः कृपणाश्च तपस्विनः ।
ननु त्वयापि बोद्धव्यं यां पूजां माधवार्हसि ।। २५ ।।

(अब शिशुपालने भगवान् श्रीकृष्णको देखकर कहा—) माधव! कुन्तीके पुत्र डरपोक, कायर और तपस्वी हैं। इन्होंने तुम्हें ठीक-ठीक न जानकर यदि तुम्हारी पूजा कर दी तो तुम्हें तो समझना चाहिये था कि तुम किस पूजाके अधिकारी हो? ।। २५ ।।

अथ वा कृपणैरेतामुपनीतां जनार्दन ।
पूजामनर्हः कस्मात् त्वमभ्यनुज्ञातवानसि ।। २६ ।।

अथवा जनार्दन! इन कायरोंद्वारा उपस्थित की हुई इस अग्रपूजाको उसके योग्य न होते हुए भी तुमने क्यों स्वीकार कर लिया? ।। २६ ।।

अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्बहु मन्यसे ।
हविषः प्राप्य निष्यन्दं प्राशिता श्वेव निर्जने ।। २७ ।।

जैसे कुत्ता एकान्तमें चूकर गिरे हुए थोड़े-से हविष्य (घृत)-को चाट ले और अपनेको धन्य धन्य मानने लगे, उसी प्रकार तुम अपने लिये अयोग्य पूजा स्वीकार करके अपने-आपको बहुत बड़ा मान रहे हो ।। २७ ।।

न त्वयं पार्थिवेन्द्राणामपमानः प्रयुज्यते ।
त्वामेव कुरवो व्यक्तं प्रलम्भन्ते जनार्दन ।। २८ ।।

कृष्ण! तुम्हारी इस अग्रपूजासे हम राजाधिराजोंका कोई अपमान नहीं होता, परंतु ये कुरुवंशी पाण्डव तुम्हें अर्घ्य देकर वास्तवमें तुम्हींको ठग रहे हैं ।। २८ ।।

क्लीबे दारक्रिया यादृगन्धे वा रूपदर्शनम् ।
अराज्ञो राजवत् पूजा तथा ते मधुसूदन ।। २९ ।।

मधुसूदन! जैसे नपुंसकका ब्याह रचाना और अंधेको रूप दिखाना उनका उपहास ही करना है, उसी प्रकार तुम-जैसे राज्यहीनकी यह राजाओंके समान पूजा भी विडम्बनामात्र ही है ।। २९ ।।

दृष्टो युधिष्ठिरो राजा दृष्टो भीष्मश्च यादृशः ।
वासुदेवोऽप्ययं दृष्टः सर्वमेतद् यथातथम् ।। ३० ।।

आज मैंने राजा युधिष्ठिरको देख लिया; भीष्म भी जैसे हैं, उनको भी देख लिया और इस वासुदेव कृष्णका भी वास्तविक रूप क्या है, यह भी देख लिया। वास्तवमें ये सब ऐसे ही हैं ।। ३० ।।

इत्युक्त्वा शिशुपालस्तानुत्थाय परमासनात् ।
निर्ययौ सदसस्तस्मात् सहितो राजभिस्तदा ।। ३१ ।।

उनसे ऐसा कहकर शिशुपाल अपने उत्तम आसनसे उठकर कुछ राजाओंके साथ उस सभाभवनसे जानेको उद्यत हो गया ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि शिशुपालक्रोधे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ।। ३७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें शिशुपालका क्रोधविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३७ ।।

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका शिशुपालको समझाना और भीष्मजीका उसके आक्षेपोंका उत्तर देना

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा शिशुपालमुपाद्रवत् ।
उवाच चैनं मधुरं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब राजा युधिष्ठिर शिशुपालके समीप दौड़े गये और उसे शान्तिपूर्वक समझाते हुए मधुर वाणीमें बोले— ।। १ ।।

नेदं युक्तं महीपाल यादृशं वै त्वमुक्तवान् ।
अधर्मश्च परो राजन् पारुष्यं च निरर्थकम् ।। २ ।।

'राजन्! तुमने जैसी बात कह डाली है, वह कदापि उचित नहीं है। किसीके प्रति इस प्रकार व्यर्थ कठोर बातें कहना महान् अधर्म है ।। २ ।।

न हि धर्मं परं जातु नावबुध्येत पार्थिवः ।
भीष्मः शान्तनवस्त्वेनं मावमंस्थास्त्वमन्यथा ।। ३ ।।

'शान्तनुनन्दन भीष्मजी धर्मके तत्त्वको न जानते हों ऐसी बात नहीं है, अतः तुम इनका अनादर न करो ।। ३ ।।

पश्य चैतान् महीपालांस्त्वत्तो वृद्धतरान् बहून् ।
मृष्यन्ते चार्हणां कृष्णे तद्वत् त्वं क्षन्तुमर्हसि ।। ४ ।।

'देखो! ये सभी नरेश, जिनमेंसे कई तो तुम्हारी अपेक्षा बहुत बड़ी अवस्थाके हैं, श्रीकृष्णकी अग्रपूजाको चुपचाप सहन कर रहे हैं, इसी प्रकार तुम्हें भी इस विषयमें कुछ नहीं बोलना चाहिये ।। ४ ।।

वेद तत्त्वेन कृष्णं हि भीष्मश्चेदिपते भृशम् ।
न ह्येनं त्वं तथा वेत्थ यथैनं वेद कौरवः ।। ५ ।।

'चेदिराज! भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थरूपसे हमारे पितामह भीष्मजी ही जानते हैं। कुरुनन्दन भीष्मजीको उनके तत्त्वका जैसा ज्ञान है, वैसा तुम्हें नहीं है' ।। ५ ।।

भीष्म उवाच

नास्मै देयो ह्यनुनयो नायमर्हति सान्त्वनम् ।
लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणां नाभिमन्यते ।। ६ ।।

भीष्मजीने कहा—धर्मराज! भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्में सबसे बढ़कर हैं । वे ही परम पूजनीय हैं। जो उनकी अग्रपूजा स्वीकार नहीं करता है, उसकी अनुनय-विनय

नहीं करनी चाहिये। वह सान्त्वना देने या समझाने-बुझानेके योग्य भी नहीं है ।। ६ ।।

क्षत्रियः क्षत्रियं जित्वा रणे रणकृतां वरः ।
यो मुञ्चति वशे कृत्वा गुरुर्भवति तस्य सः ।। ७ ।।

जो योद्धाओंमें श्रेष्ठ क्षत्रिय जिसे युद्धमें जीतकर अपने वशमें करके छोड़ देता है, वह उस पराजित क्षत्रियके लिये गुरुतुल्य पूज्य हो जाता है ।। ७ ।।

अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि ।
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा ।। ८ ।।

राजाओंके इस समुदायमें एक भी भूपाल ऐसा नहीं दिखायी देता, जो युद्धमें देवकीनन्दन श्रीकृष्णके तेजसे परास्त न हो चुका हो ।। ८ ।।

न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः ।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः ।। ९ ।।

महाबाहु श्रीकृष्ण केवल हमारे लिये ही परम पूजनीय हों, ऐसी बात नहीं है, ये तो तीनों लोकोंके पूजनीय हैं ।। ९ ।।

कृष्णेन हि जिता युद्धे बहवः क्षत्रियर्षभाः ।
जगत् सर्वं च वार्ष्णेये निखिलेन प्रतिष्ठितम् ।। १० ।।

श्रीकृष्णके द्वारा संग्राममें अनेक क्षत्रियशिरोमणि परास्त हुए हैं । यह सम्पूर्ण जगत् वृष्णिकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णमें ही पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित है ।। १० ।।

तस्मात् सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चाम नेतरान् ।
एवं वक्तुं न चार्हस्त्वं मा ते भूद् बुद्धिरीदृशी ।। ११ ।।

इसीलिये हम दूसरे वृद्ध पुरुषोंके होते हुए भी श्रीकृष्णकी ही पूजा करते हैं, दूसरोंकी नहीं । राजन्! तुम्हें श्रीकृष्णके प्रति वैसी बातें मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये थीं। उनके प्रति तुम्हें ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिये ।। ११ ।।

ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः ।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ।। १२ ।।
समागतानामश्रौषं बहुन् बहुमतान् सताम् ।

मैंने बहुत-से ज्ञानवृद्ध महात्माओंका संग किया है। अपने यहाँ पधारे हुए उन संतोंके मुखसे अनन्तगुणशाली भगवान् श्रीकृष्णके असंख्य बहुसम्मत गुणोंका वर्णन सुना है ।। १२½ ।।

कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः ।। १३ ।।
बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे ।

जन्मकालसे लेकर अबतक इन बुद्धिमान् श्रीकृष्णके जो-जो चरित्र बहुधा बहुतेरे मनुष्योंद्वारा कहे गये हैं, उन सबको मैंने बार-बार सुना है ।। १३½ ।।

न केवलं वयं कामाच्चेदिराज जनार्दनम् ।। १४ ।।

न सम्बन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन ।
अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम् ।। १५ ।।

चेदिराज! हमलोग किसी कामनासे, अपना सम्बन्धी मानकर अथवा इन्होंने हमारा किसी प्रकारका उपकार किया है, इस दृष्टिसे श्रीकृष्णकी पूजा नहीं कर रहे हैं। हमारी दृष्टि तो यह है कि ये इस भूमण्डलके सभी प्राणियोंको सुख पहुँचानेवाले हैं और बड़े-बड़े संत-महात्माओंने इनकी पूजा की है ।। १४-१५ ।।

यशः शौर्यं जयं चास्य विज्ञायार्चां प्रयुञ्ज्महे ।
न च कश्चिदिहास्माभिः सुबालोऽप्यपरीक्षितः ।। १६ ।।

हम इनके यश, शौर्य और विजयको भलीभाँति जानकर इनकी पूजा कर रहे हैं । यहाँ बैठे हुए लोगोंमेंसे कोई छोटा-सा बालक भी ऐसा नहीं है, जिसके गुणोंकी हमलोगोंने पूर्णतः परीक्षा न की हो ।। १६ ।।

गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः ।
ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ।। १७ ।।

श्रीकृष्णके गुणोंको ही दृष्टिमें रखते हुए हमने वयोवृद्ध पुरुषोंका उल्लंघन करके इनको ही परम पूजनीय माना है। ब्राह्मणोंमें वही पूजनीय समझा जाता है, जो ज्ञानमें बड़ा हो तथा क्षत्रियोंमें वही पूजाके योग्य हैं, जो बलमें सबसे अधिक हो ।। १७ ।।

वैश्यानां धान्यधनवाञ्छूद्राणामेव जन्मतः ।
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ।। १८ ।।

वैश्योंमें वही सर्वमान्य है, जो धन-धान्यमें बढ़कर हो, केवल शूद्रोंमें ही जन्मकालको ध्यानमें रखकर जो अवस्थामें बड़ा हो, उसको पूजनीय माना जाता है । श्रीकृष्णके परम पूजनीय होनेमें दोनों ही कारण विद्यमान हैं ।। १८ ।।

वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाभ्यधिकं तथा ।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ।। १९ ।।

इनमें वेद-वेदांगोंका ज्ञान तो है ही, बल भी सबसे अधिक है। श्रीकृष्णके सिवा संसारके मनुष्योंमें दूसरा कौन सबसे बढ़कर है? ।। १९ ।।

दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
सन्नतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ।। २० ।।

दान, दक्षता; शास्त्रज्ञान, शौर्य, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि और पुष्टि —ये सभी सद्‌गुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य विद्यमान हैं ।। २० ।।

तमिमं गुणसम्पन्नमार्यं च पितरं गुरुम् ।
अर्घ्यमर्चितमर्चार्हं सर्वे संक्षन्तुमर्हथ ।। २१ ।।

जो अर्घ्य पानेके सर्वथा योग्य और पूजनीय है, उन सकलगुणसम्पन्न, श्रेष्ठ, पिता और गुरु भगवान् श्रीकृष्णकी हमलोगोंने पूजा की है, अतः सब राजालोग इसके लिये हमें क्षमा

करें ।। २१ ।।

ऋत्विग् गुरुस्तथाऽऽचार्यः स्नातको नृपतिः प्रियः ।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ।। २२ ।।

श्रीकृष्ण हमारे ऋत्विक्, गुरु, आचार्य, स्नातक, राजा और प्रिय मित्र सब कुछ हैं। इसीलिये हमने इनकी अग्रपूजा की है ।। २२ ।।

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ।। २३ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। यह सारा चराचर विश्व इन्हींके लिये प्रकट हुआ है ।। २३ ।।

एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः ।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः ।। २४ ।।

ये ही अव्यक्त प्रकृति, सनातन कर्ता तथा सम्पूर्ण भूतोंसे परे हैं; अतः भगवान् अच्युत ही सबसे बढ़कर पूजनीय हैं ।। २४ ।।

बुद्धिर्मनो महद् वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।
चतुर्विधं च यद् भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ।। २५ ।।

महत्तत्त्व, अहंकार, मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये चार प्रकारके प्राणी भगवान् श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं ।। २५ ।।

आदित्यश्चन्द्रमाश्चैव नक्षत्राणि ग्रहाश्च ये ।
दिशश्च विदिशश्चैव सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ।। २६ ।।
अग्निहोत्रमुखा वेदा गायत्री छन्दसां मुखम् ।
राजा मुखं मनुष्याणां नदीनां सागरो मुखम् ।। २७ ।।
नक्षत्राणां मुखं चन्द्र आदित्यस्तेजसां मुखम् ।
पर्वतानां मुखं मेरुर्गरुडः पततां मुखम् ।। २८ ।।
ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव यावती जगतो गतिः ।
सदेवकेषु लोकेषु भगवान् केशवो मुखम् ।। २९ ।।

सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, दिशा और विदिशा सब उन्हींमें स्थित हैं। जैसे वेदोंमें अग्निहोत्रकर्म, छन्दोंमें गायत्री, मनुष्योंमें राजा, नदियों (जलाशयों)-में समुद्र, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, तेजोमय पदार्थोंमें सूर्य, पर्वतोंमें मेरु और पक्षियोंमें गरुड श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार देवलोकसहित सम्पूर्ण लोकोंमें ऊपर-नीचे, दायें-बायें, जितने भी जगत्के आश्रय हैं, उन सबमें भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रेष्ठ हैं ।। २६—२९ ।।

[भगवान् नारायणकी महिमा और उनके द्वारा मधु-कैटभका वध]

(वैशम्पायन उवाच

ततो भीष्मस्य तच्छ्रुत्वा वचः काले युधिष्ठिरः ।
उवाच मतिमान् भीष्मं ततः कौरवनन्दनः ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भीष्मजीका वह समयोचित वचन सुनकर कौरवनन्दन बुद्धिमान् युधिष्ठिरने उनसे इस प्रकार कहा।

युधिष्ठिर उवाच

विस्तरेणास्य देवस्य कर्माणीच्छामि सर्वशः ।
श्रोतुं भगवतस्तानि प्रब्रवीहि पितामह ।।
कर्मणामानुपूर्व्यं च प्रादुर्भावांश्च मे विभोः ।
यथा च प्रकृतिः कृष्णे तन्मे ब्रूहि पितामह ।।

युधिष्ठिर बोले—पितामह! मैं इन भगवान् श्रीकृष्णके सम्पूर्ण चरित्रोंको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। आप उन्हें कृपापूर्वक बतावें। पितामह! भगवान्‌के अवतारों और चरित्रोंका क्रमशः वर्णन कीजिये। साथ ही मुझे यह भी बताइये कि श्रीकृष्णका शील-स्वभाव कैसा है?

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तदा भीष्मः प्रोवाच भरतर्षभम् ।
युधिष्ठिरममित्रघ्नं तस्मिन् क्षत्रसमागमे ।।
समक्षं वासुदेवस्य देवस्येव शतक्रतोः ।
कर्माण्यसुकराण्यन्यैराचचक्षे जनाधिप ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय युधिष्ठिरके इस प्रकार अनुरोध करनेपर भीष्मने राजाओंके उस समुदायमें देवराज इन्द्रके समान सुशोभित होनेवाले भगवान् वासुदेवके सामने ही शत्रुहन्ता भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक कर्मोंका, जिन्हें दूसरा कोई कदापि नहीं कर सकता, वर्णन किया।

शृण्वतां पार्थिवानां च धर्मराजस्य चान्तिके ।
इदं मतिमतां श्रेष्ठः कृष्णं प्रति विशाम्पते ।।
साम्नैवामन्त्र्य राजेन्द्र चेदिराजमरिंदमम् ।
भीमकर्मा ततो भीष्मो भूयः स इदमब्रवीत् ।।
कुरूणां चापि राजानं युधिष्ठिरमुवाच ह ।

धर्मराजके समीप बैठे हुए सम्पूर्ण नरेश उनकी यह बात सुन रहे थे। राजन्! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भीमकर्मा भीष्मने शत्रुदमन चेदिराज शिशुपालको सान्त्वनापूर्ण शब्दोंमें ही

समझाकर कुरुराज युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार कहना आरम्भ किया।

भीष्म उवाच

वर्तमानामतीतां च शृणु राजन् युधिष्ठिर ।
ईश्वरस्योत्तमस्यैनां कर्मणां गहनां गतिम् ।

भीष्म बोले—राजा युधिष्ठिर! पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य कर्मोंकी गति बड़ी गहन है। उन्होंने पूर्वकालमें और इस समय भी जो महान् कर्म किये हैं, उन्हें बताता हूँ; सुनो।

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः ।।
पुरा नारायणो देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः ।

ये सर्वशक्तिमान् भगवान् अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त स्वरूप धारण करके स्थित हैं। पूर्वकालमें ये भगवान् श्रीकृष्ण ही नारायणरूपमें स्थित थे। ये ही स्वयम्भू एवं सम्पूर्ण जगत्के प्रपितामह हैं।

सहस्रशीर्षः पुरुषो ध्रुवोऽव्यक्तः सनातनः ।।
सहस्राक्षः सहस्रास्यः सहस्रचरणो विभुः ।
सहस्रबाहुः साहस्रो देवो नामसहस्रवान् ।।

इनके सहस्रों मस्तक हैं। ये ही पुरुष, ध्रुव, अव्यक्त एवं सनातन परमात्मा हैं। इनके सहस्रों नेत्र, सहस्रों मुख और सहस्रों चरण हैं। ये सर्वव्यापी परमेश्वर सहस्रों भुजाओं, सहस्रों रूपों और सहस्रों नामोंसे युक्त हैं।

सहस्रमुकुटो देवो विश्वरूपो महाद्युतिः ।
अनेकवर्णो देवादिरव्यक्ताद् वै परे स्थितः ।।

इनके मस्तक सहस्रों मुकुटोंसे मण्डित हैं। ये महान् तेजस्वी देवता हैं। सम्पूर्ण विश्व इन्हींका स्वरूप है। इनके अनेक वर्ण हैं। ये देवताओंके भी आदि कारण हैं और अव्यक्त प्रकृतिसे परे (अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें स्थित) हैं।

असृजत् सलिलं पूर्वं स च नारायणः प्रभुः ।
ततस्तु भगवांस्तोये ब्रह्माणमसृजत् स्वयम् ।।

उन्हीं सामर्थ्यवान् भगवान् नारायणने सबसे पहले जलकी सृष्टि की है। फिर उस जलमें उन्होंने स्वयं ही ब्रह्माजीको उत्पन्न किया।

ब्रह्मा चतुर्मुखो लोकान् सर्वांस्तानसृजत् स्वयम् ।
आदिकाले पुरा ह्येवं सर्वलोकस्य चोद्भवः ।।

ब्रह्माजीके चार मुख हैं। उन्होंने स्वयं ही सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि की है। इस प्रकार आदिकालमें समस्त जगत्की उत्पत्ति हुई।

पुराथ प्रलये प्राप्ते नष्टे स्थावरजङ्गमे ।

ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके चराचरे ।।

फिर प्रलयकाल आनेपर, जैसा कि पहले हुआ था, समस्त स्थावर-जंगम सृष्टिका नाश हो जाता है एवं चराचर जगत्का नाश होनेके पश्चात् ब्रह्मा आदि देवता भी अपने कारणतत्त्वमें लीन हो जाते हैं।

आभूतसम्प्लवे प्राप्ते प्रलीने प्रकृतौ महान् ।
एकस्तिष्ठति सर्वात्मा स तु नारायणः प्रभुः ।।

और समस्त भूतोंका प्रवाह प्रकृतिमें विलीन हो जाता है, उस समय एकमात्र सर्वात्मा भगवान् महानारायण शेष रह जाते हैं।

नारायणस्य चाङ्गानि सर्वदेवानि भारत ।
शिरस्तस्य दिवं राजन् नाभिः खं चरणौ मही ।।

भरतनन्दन! भगवान् नारायणके सब अंग सर्वदेवमय हैं। राजन्! द्युलोक उनका मस्तक, आकाश नाभि और पृथ्वी चरण हैं।

अश्विनौ घ्राणयोर्देवो चक्षुषी शशिभास्करौ ।
इन्द्रवैश्वानरौ देवौ मुखं तस्य महात्मनः ।।

दोनों अश्विनीकुमार उनकी नासिकाके स्थानमें हैं, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं एवं इन्द्र और अग्निदेवता उन परमात्माके मुख हैं।

अन्यानि सर्वदैवानि तस्याङ्गानि महात्मनः ।
सर्वं व्याप्य हरिस्तस्थौ सूत्रं मणिगणानिव ।।

इसी प्रकार अन्य सब देवता भी उन महात्माके विभिन्न अवयव हैं। जैसे गुँथी हुई मालाकी सभी मणियोंमें एक ही सूत्र व्याप्त रहता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हैं।

आभूतसम्प्लवान्तेऽथ दृष्ट्वा सर्वं तमोऽन्वितम् ।
नारायणो महायोगी सर्वज्ञः परमात्मवान् ।।
ब्रह्मभूतस्तदाऽऽत्मानं ब्रह्माणमसृजत् स्वयम् ।

प्रलयकालके अन्तमें सबको अन्धकारसे व्याप्त देख सर्वज्ञ परमात्मा ब्रह्मभूत महायोगी नारायणने स्वयं अपने-आपको ही ब्रह्मारूपमें प्रकट किया।

सोऽध्यक्षः सर्वभूतानां प्रभूतः प्रभवोऽच्युतः ।।
सनत्कुमारं रुद्रं च मनुं चैव तपोधनान् ।
सर्वमेवासृजद् ब्रह्मा ततो लोकान् प्रजास्तथा ।।

इस प्रकार अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले, सबकी उत्पत्तिके कारणभूत और सम्पूर्ण भूतोंके अध्यक्ष श्रीहरिने ब्रह्मारूपसे प्रकट हो सनत्कुमार, रुद्र, मनु तथा तपस्वी ऋषि-मुनियोंको उत्पन्न किया। सबकी सृष्टि उन्होंने ही की। उन्हींसे सम्पूर्ण लोकों और प्रजाओंकी उत्पत्ति हुई।

ते च तद् व्यसृजंस्तत्र प्राप्ते काले युधिष्ठिर ।
तेभ्योऽभवन्महात्मभ्यो बहुधा ब्रह्म शाश्वतम् ।।

युधिष्ठिर! समय आनेपर उन मनु आदिने भी सृष्टिका विस्तार किया। उन सब महात्माओंसे नाना प्रकारकी सृष्टि प्रकट हुई। इस प्रकार एक ही सनातन ब्रह्म अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त हो गया।

कल्पानां बहुकोट्यश्च समतीता हि भारत ।
आभूतसम्प्लवाश्चैव बहुकोट्योऽतिचक्रमुः ।।

भरतनन्दन! अबतक कई करोड़ कल्प बीत चुके हैं और कितने ही करोड़ प्रलयकाल भी गत हो चुके हैं।

मन्वन्तरयुगेऽजस्रं सकल्पा भूतसम्प्लवा ।
चक्रवत् परिवर्तन्ते सर्वं विष्णुमयं जगत् ।।

मन्वन्तर, युग, कल्प और प्रलय—ये निरन्तर चक्रकी भाँति घूमते रहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय है।

सृष्ट्वा चतुर्मुखं देवं देवो नारायणः प्रभुः ।
स लोकानां हितार्थाय क्षीरोदे वसति प्रभुः ।।

देवाधिदेव भगवान् नारायण चतुर्मुख भगवान् ब्रह्माकी सृष्टि करके सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये क्षीरसागरमें निवास करते हैं।

ब्रह्मा च सर्वदेवानां लोकस्य च पितामहः ।
ततो नारायणो देवः सर्वस्य प्रपितामहः ।।

ब्रह्माजी सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकोंके पितामह हैं, इसलिये श्रीनारायणदेव सबके प्रपितामह हैं।

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः ।
नारायणो जगच्चक्रे प्रभवाप्ययसंहितः ।।

जो अव्यक्त होते हुए व्यक्त शरीरमें स्थित हैं, सृष्टि और प्रलयकालमें भी जो नित्य विद्यमान रहते हैं, उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणने इस जगत्की रचना की है।

एष नारायणो भूत्वा हरिरासीद् युधिष्ठिर ।
ब्रह्माणं शशिसूर्यौ च धर्मं चैवासृजत् स्वयम् ।।

युधिष्ठिर! इन भगवान् श्रीकृष्णने ही नारायणरूपमें स्थित होकर स्वयं ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा और धर्मकी सृष्टि की है।

बहुशः सर्वभूतात्मा प्रादुर्भवति कार्यतः ।
प्रादुर्भावांस्तु वक्ष्यामि दिव्यान् देवगणैर्युतान् ।।

ये समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं और कार्यवश अनेक रूपोंमें अवतीर्ण होते रहते हैं। इनके सभी अवतार दिव्य हैं और देवगणोंसे संयुक्त भी हैं। मैं उन सबका वर्णन करता हूँ।

सुप्त्वा युगसहस्रं स प्रादुर्भवति कार्यवान् ।
पूर्णे युगसहस्रेऽथ देवदेवो जगत्पतिः ।।
ब्रह्माणं कपिलं चैव परमेष्ठिनमेव च ।
देवान् सप्त ऋषींश्चैव शङ्करं च महायशाः ।।

देवाधिदेव जगदीश्वर महायशस्वी भगवान् श्रीहरि सहस्र युगोंतक शयन करनेके पश्चात् कल्पान्तकी सहस्रयुगात्मक अवधि पूरी होनेपर प्रकट होते और सृष्टिकार्यमें संलग्न हो परमेष्ठी ब्रह्मा, कपिल, देवगणों, सप्तर्षियों तथा शंकरकी उत्पत्ति करते हैं।

सनत्कुमारं भगवान् मनुं चैव प्रजापतिम् ।
पुरा चक्रेऽथ देवादीन् प्रदीप्ताग्निसमप्रभः ।।

इसी प्रकार भगवान् श्रीहरि सनत्कुमार, मनु एवं प्रजापतिको भी उत्पन्न करते हैं। पूर्वकालमें प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी नारायणदेवने ही देवताओं आदिकी सृष्टि की है।

येन चार्णवमध्यस्थौ नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टदेवासुरनरे प्रणष्टोरगराक्षसे ।।
योद्धुकामौ सुदुर्धर्षौ भ्रातरौ मधुकैटभौ ।
हतौ भगवता तेन तयोर्दत्त्वा वृतं वरम् ।।

पहलेकी बात है, प्रलयकालमें समस्त चराचर प्राणी, देवता, असुर, मनुष्य, नाग तथा राक्षस सभी नष्ट हो चुके थे। उस समय एकार्णव (महासागर)-की जलराशिमें दो अत्यन्त दुर्धर्ष दैत्य रहते थे, जिनके नाम थे—मधु और कैटभ। वे दोनों भाई युद्धकी इच्छा रखते थे। उन्हीं भगवान् नारायणने उन्हें मनोवांछित वर देकर उन दोनों दैत्योंका वध किया था।

भूमिं बद्ध्वा कृतौ पूर्वं मृन्मयौ द्वौ महासुरौ ।
कर्णस्रोतोद्भवौ तौ तु विष्णोस्तस्य महात्मनः ।।

कहते हैं, वे दोनों महान् असुर महात्मा भगवान् विष्णुके कानोंकी मैलसे उत्पन्न हुए थे। पहले भगवान्ने इस पृथ्वीको आबद्ध करके मिट्टीसे ही उनकी आकृति बनायी थी।

महार्णवे प्रस्वपतः शैलराजसमौ स्थितौ ।
तौ विवेश स्वयं वायुः ब्रह्मणा साधु चोदितः ।।

वे पर्वतराज हिमालयके समान विशाल शरीर लिये महासागरके जलमें सो रहे थे। उस समय ब्रह्माजीकी प्रेरणासे स्वयं वायुदेवने उनके भीतर प्रवेश किया।

तौ दिवं छादयित्वा तु ववृधाते महासुरौ ।
वायुप्राणौ तु तौ दृष्ट्वा ब्रह्मा पर्यामृशच्छनैः ।।

फिर तो वे दोनों महान् असुर सम्पूर्ण द्युलोकको आच्छादित करके बढ़ने लगे। वायुदेव ही जिनके प्राण थे, उन दोनों असुरोंको देखकर ब्रह्माजीने धीरे-धीरे उनके शरीरपर हाथ फेरा।

एकं मृदुतरं बुद्ध्वा कठिनं बुध्य चापरम् ।
नामनी तु तयोश्चक्रे स विभुः सलिलोद्भवः ।।

एकका शरीर उन्हें अत्यन्त कोमल प्रतीत हुआ और दूसरेका अत्यन्त कठोर। तब जलसे उत्पन्न होनेवाले भगवान् ब्रह्माने उन दोनोंका नामकरण किया।

मृदुस्त्वयं मधुर्नाम कठिनः कैटभः स्वयम् ।
तौ दैत्यौ कृतनामानौ चेरतुर्बलगर्वितौ ।।

यह जो मृदुल शरीरवाला असुर है, इसका नाम मधु होगा और जिसका शरीर कठोर है, वह कैटभ कहलायेगा। इस प्रकार नाम निश्चित हो जानेपर वे दोनों दैत्य बलसे उन्मत्त होकर सब ओर विचरने लगे।

तौ पुराथ दिवं सर्वां प्राप्तौ राजन् महासुरौ ।
प्रच्छाद्याथ दिवं सर्वां चेरतुर्मधुकैटभौ ।।

राजन्! सबसे पहले वे दोनों महादैत्य मधु और कैटभ द्युलोकमें पहुँचे और उस सारे लोकको आच्छादित करके सब ओर विचरने लगे।

सर्वमेकार्णवं लोकं योद्धुकामौ सुनिर्भयौ ।
तौ गतावसुरौ दृष्ट्वा ब्रह्मा लोकपितामहः ।।
एकार्णवाम्बुनिचये तत्रैवान्तरधीयत ।

उस समय सारा लोक जलमय हो रहा था। उसमें युद्धकी कामनासे अत्यन्त निर्भय होकर आये हुए उन दोनों असुरोंको देखकर लोकपितामह ब्रह्माजी वहीं एकार्णवरूप जलराशिमें अन्तर्धान हो गये।

स पद्मे पद्मनाभस्य नाभिदेशात् समुत्थिते ।।
आसीदादौ स्वयंजन्म तत् पङ्कजमपङ्कजम् ।
पूजयामास वसतिं ब्रह्मा लोकपितामहः ।।

वे भगवान् पद्मनाभ (विष्णु)-की नाभिसे प्रकट हुए कमलमें जा बैठे। वह कमल वहाँ पहले ही स्वयं प्रकट हुआ था। कहनेको तो वह पंकज था, परंतु पंकसे उसकी उत्पत्ति नहीं हुई थी। लोकपितामह ब्रह्माने अपने निवासके लिये उस कमलको ही पसंद किया और उसकी भूरि-भूरि सराहना की।

तावुभौ जलगर्भस्थौ नारायणचतुर्मुखौ ।
बहून् वर्षायुतानप्सु शयानौ न चकम्पतुः ।।
अथ दीर्घस्य कालस्य तावुभौ मधुकैटभौ ।
आजग्मतुस्तौ तं देशं यत्र ब्रह्मा व्यवस्थितः ।।

भगवान् नारायण और ब्रह्मा दोनों ही अनेक सहस्र वर्षोंतक उस जलके भीतर सोते रहे; किंतु कभी तनिक भी कम्पायमान नहीं हुए। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् वे दोनों असुर मधु और कैटभ उसी स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ ब्रह्माजी स्थित थे।

तौ दृष्ट्वा लोकनाथस्तु कोपात् संरक्तलोचनः ।
उत्पपाताथ शयनात् पद्मनाभो महाद्युतिः ।।
तद् युद्धमभवद् घोरं तयोस्तस्य च वै तदा ।
एकार्णवे तदा घोरे त्रैलोक्ये जलतां गते ।।
तदभूत् तुमुलं युद्धं वर्षसङ्घान् सहस्रशः ।
न च तावसुरौ युद्धे तदा श्रममवापतुः ।।

उन दोनोंको आया देख महातेजस्वी लोकनाथ भगवान् पद्मनाभ अपनी शय्यासे खड़े हो गये। क्रोधसे उनकी आँखें लाल हो गयीं। फिर तो उन दोनोंके साथ उनका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। उस भयानक एकार्णवमें जहाँ त्रिलोकी जलरूप हो गयी थी, सहस्रों वर्षोंतक उनका वह घमासान युद्ध चलता रहा; परंतु उस समय उस युद्धमें उन दोनों दैत्योंको तनिक भी थकावट नहीं होती थी।

अथ दीर्घस्य कालस्य तौ दैत्यौ युद्धदुर्मदौ ।
ऊचतुः प्रीतमनसौ देवं नारायणं प्रभुम् ।।
प्रीतौ स्वस्तव युद्धेन श्लाघ्यस्त्वं मृत्युरावयोः ।
आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता ।।

तत्पश्चात् दीर्घकाल व्यतीत होनेपर वे दोनों रणोन्मत्त दैत्य प्रसन्न होकर सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणसे बोले—'सुरश्रेष्ठ! हम दोनों तुम्हारे युद्ध-कौशलसे बहुत प्रसन्न हैं। तुम हमारे लिये स्पृहणीय मृत्यु हो। हमें ऐसी जगह मारो, जहाँकी भूमि पानीमें डूबी हुई न हो।

हतौ च तव पुत्रत्वं प्राप्नुयाव सुरोत्तम ।
यो ह्यावां युधि निर्जेता तस्यावां विहितौ सुतौ ।।
तयोः स वचनं श्रुत्वा तदा नारायणः प्रभुः ।
तौ प्रगृह्य मृधे दैत्यौ दोर्भ्यां तौ समपीडयत् ।।
ऊरुभ्यां निधनं चक्रे तावुभौ मधुकैटभौ ।

'तथा मरनेके पश्चात् हम दोनों तुम्हारे पुत्र हों। जो हमें युद्धमें जीत ले, हम उसीके पुत्र हों—ऐसी हमारी इच्छा है।' उनकी बात सुनकर भगवान् नारायणने उन दोनों दैत्योंको युद्धमें पकड़कर उन्हें दोनों हाथोंसे दबाया और मधु तथा कैटभ दोनोंको अपनी जाँघोंपर रखकर मार डाला।

तौ हतौ चाप्लुतौ तोये वपुर्भ्यामेकतां गतौ ।।
मेदो मुमुचतुर्दैत्यौ मथ्यमानौ जलोर्मिभिः ।
मेदसा तज्जलं व्याप्तं ताभ्यामन्तर्दधे तदा ।।
नारायणश्च भगवानसृजद् विविधाः प्रजाः ।
दैत्ययोर्मेदसाच्छन्ना सर्वा राजन् वसुन्धरा ।।
तदा प्रभृति कौन्तेय मेदिनीति स्मृता मही ।

प्रभावात् पद्मनाभस्य शाश्वती च कृता नृणाम् ।।

मरनेपर उन दोनोंकी लाशें जलमें डूबकर एक हो गयीं। जलकी लहरोंसे मथित होकर उन दोनों दैत्योंने जो मेद छोड़ा, उससे आच्छादित होकर वहाँका जल अदृश्य हो गया। उसीपर भगवान् नारायणने नाना प्रकारके जीवोंकी सृष्टि की। राजन् कुन्तीकुमार! उन दोनों दैत्योंके मेदसे सारी वसुधा आच्छादित हो गयी, अतः तभीसे यह मही 'मेदिनी' के नामसे प्रसिद्ध हुई। भगवान् पद्मनाभके प्रभावसे यह मनुष्योंके लिये शाश्वत आधार बन गयी।

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[वराह, नृसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा कल्कि अवतारोंकी संक्षिप्त कथा]

भीष्म उवाच

प्रादुर्भावसहस्राणि समतीतान्यनेकशः ।
यथाशक्ति तु वक्ष्यामि शृणु तान् कुरुनन्दन ।।

भीष्मजी कहते हैं—कुरुनन्दन! भगवान्‌के अब-तक कई सहस्र अवतार हो चुके हैं। मैं यहाँ कुछ अवतारोंका यथाशक्ति वर्णन करूँगा। तुम ध्यान देकर उनका वृत्तान्त सुनो।

पुरा कमलनाभस्य स्वपतः सागराम्भसि ।
पुष्करे यत्र सम्भूता देवा ऋषिगणैः सह ।।

पूर्वकालमें जब भगवान् पद्मनाभ समुद्रके जलमें शयन कर रहे थे, पुष्करमें उनसे अनेक देवताओं और महर्षियोंका प्रादुर्भाव हुआ।

एष पौष्करिको नाम प्रादुर्भावः प्रकीर्तितः ।
पुराणः कथ्यते यत्र वेदश्रुतिसमाहितः ।।

'यह भगवान्‌का 'पौष्करिक' (पुष्करसम्बन्धी) पुरातन अवतार कहा गया है, जो वैदिक श्रुतियोंद्वारा अनुमोदित है।

वाराहस्तु श्रुतिमुखः प्रादुर्भावो महात्मनः ।
यत्र विष्णुः सुरश्रेष्ठो वाराहं रूपमास्थितः ।।
उज्जहार महीं तोयात् सशैलवनकाननाम् ।

महात्मा श्रीहरिका जो वराह नामक अवतार है, उसमें भी प्रधानतः वैदिक श्रुति ही प्रमाण है। उस अवतारके समय भगवान्‌ने वराहरूप धारण करके पर्वतों और वनोंसहित सारी पृथ्वीको जलसे बाहर निकाला था।

वेदपादो यूपदंष्ट्रः क्रतुदन्तश्चितीमुखः ।।
अग्निजिह्वो दर्भरोमा ब्रह्मशीर्षो महातपाः ।

चारों वेद ही भगवान् वराहके चार पैर थे। यूप ही उनकी दाढ़ थे। क्रतु (यज्ञ) ही दाँत और 'चिति' (इष्टिकाचयन) ही मुख थे। अग्नि जिह्वा, कुश रोम तथा ब्रह्म मस्तक थे। वे महान् तपसे सम्पन्न थे।

अहोरात्रेक्षणो दिव्यो वेदाङ्गः श्रुतिभूषणः ।।
आज्यनासः स्रुवतुण्डः सामघोषस्वनो महान् ।

दिन और रात ही उनके दो नेत्र थे। उनका स्वरूप दिव्य था। वेदांग ही उनके विभिन्न अंग थे। श्रुतियाँ ही उनके लिये आभूषणका काम देती थीं। घी उनकी नासिका, स्रुवा उनकी थूथन और सामवेदका स्वर ही उनकी भीषण गर्जना थी। उनका शरीर बहुत बड़ा था।

धर्मसत्यमयः श्रीमान् कर्मविक्रमसत्कृतः ।।

प्रायश्चित्तनखो धीरः पशुजानुर्महावृषः ।

धर्म और सत्य उनका स्वरूप था, वे अलौकिक तेजसे सम्पन्न थे। वे विभिन्न कर्मरूपी विक्रमसे सुशोभित हो रहे थे, प्रायश्चित्त उनके नख थे, वे धीर स्वभावसे युक्त थे, पशु उनके घुटनोंके स्थानमें थे और महान् वृषभ (धर्म) ही उनका श्रीविग्रह था।

औद्गात्रहोमलिङ्गोऽसौ फलबीजमहौषधिः ।।
बाह्यान्तरात्मा मन्त्रास्थिविकृतः सौम्यदर्शनः ।

उद्गाताका होमरूप कर्म उनका लिंग था, फल और बीज ही उनके लिये महान् औषध थे, वे बाह्य और आभ्यन्तर जगत्के आत्मा थे, वैदिक मन्त्र ही उनके शारीरिक अस्थिविकार थे। देखनेमें उनका स्वरूप बड़ा ही सौम्य था।

वेदिस्कन्धो हविर्गन्धो हव्यकव्यादिवेगवान् ।।
प्राग्वंशकायो द्युतिमान् नानादीक्षाभिराचितः ।

यज्ञकी वेदी ही उनके कंधे, हविष्य सुगन्ध और हव्य-कव्य आदि उनके वेग थे। प्राग्वंश (यजमानगृह एवं पत्नीशाला) उनका शरीर कहा गया है। वे महान् तेजस्वी और अनेक प्रकारकी दीक्षाओंसे व्याप्त थे।

दक्षिणाहृदयो योगी महाशास्त्रमयो महान् ।।
उपाकर्मोष्ठरुचकः प्रवर्ग्यावर्तभूषणः ।

दक्षिणा उनके हृदयके स्थानमें थीं, वे महान् योगी और महान् शास्त्रस्वरूप थे। प्रीतिकारक उपाकर्म उनके ओष्ठ और प्रवर्ग्य कर्म ही उनके रत्नोंके आभूषण थे।

छायापत्नीसहायो वै मणिशृङ्ग इवोच्छ्रितः ।।
एवं यज्ञवराहो वै भूत्वा विष्णुः सनातनः ।
महीं सागरपर्यन्तां सशैलवनकाननाम् ।।
एकार्णवजले भ्रष्टामेकार्णवगतः प्रभुः ।
मज्जितां सलिले तस्मिन् स्वदेवीं पृथिवीं तदा ।।
उज्जहार विषाणेन मार्कण्डेयस्य पश्यतः ।

जलमें पड़नेवाली छाया (परछाईं) ही पत्नीकी भाँति उनकी सहायिका थी। वे मणिमय पर्वत-शिखरकी भाँति ऊँचे जान पड़ते थे। इस प्रकार यज्ञमय वराहरूप धारण करके एकार्णवके जलमें प्रविष्ट हो सर्वशक्तिमान् सनातन भगवान् विष्णुने उस जलमें गिरकर डूबी हुई पर्वत, वन और समुद्रोंसहित अपनी महारानी भूदेवीका (दाढ़ या) सींगकी सहायतासे मार्कण्डेय मुनिके देखते-देखते उद्धार किया।

शृङ्गेणेमां समुद्धृत्य लोकानां हितकाम्यया ।।
सहस्रशीर्षो देवो हि निर्ममे जगतीं प्रभुः ।

सहस्रों मस्तकोंसे सुशोभित होनेवाले उन भगवान्ने सींग (या दाढ़)-के द्वारा सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये इस पृथ्वीका उद्धार करके उसे जगत्का एक सुदृढ़ आश्रय बना दिया।

एवं यज्ञवराहेण भूतभव्यभवात्मना ।।
उद्धृता पृथिवी देवी सागराम्बुधरा पुरा ।
निहता दानवाः सर्वे देवदेवेन विष्णुना ।।

इस प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमानस्वरूप भगवान् यज्ञवराहने समुद्रका जल हरण करनेवाली भूदेवीका पूर्वकालमें उद्धार किया था। उस समय उन देवाधिदेव विष्णुने समस्त दानवोंका संहार किया था।

वाराहः कथितो ह्येष नारसिंहमथो शृणु ।
यत्र भूत्वा मृगेन्द्रेण हिरण्यकशिपुर्हतः ।।

यह वराह अवतारका वृत्तान्त बतलाया गया। अब नृसिंहावतारका वर्णन सुनो, जिसमें नरसिंहरूप धारण करके भगवान्ने हिरण्यकशिपु नामक दैत्यका वध किया था।

दैत्येन्द्रो बलवान् राजन् सुरारिर्बलगर्वितः ।
हिरण्यकशिपुर्नाम आसीत् त्रैलोक्यकण्टकः ।।

राजन्! प्राचीन कालमें देवताओंका शत्रु हिरण्यकशिपु समस्त दैत्योंका राजा था। वह बलवान् तो था ही, उसे अपने बलका घमंड भी बहुत था। वह तीनों लोकोंके लिये कण्टकरूप हो रहा था।

दैत्यानामादिपुरुषो वीर्यवान् धृतिमान् बली ।
प्रविश्य स वनं राजंश्चकार तप उत्तमम् ।।

पराक्रमी हिरण्यकशिपु धीर और बलवान् था। दैत्यकुलका आदिपुरुष वही था। राजन्! उसने वनमें जाकर बड़ी भारी तपस्या की।

दशवर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च ।
जपोपवासैस्तस्यासीत् स्थाणुर्मौनव्रतो दृढः ।।

साढ़े ग्यारह हजार वर्षोंतक पूर्वोक्त तपस्याके हेतुभूत जप और उपवासमें संलग्न रहनेसे वह ठूँठे काठके समान अविचल और दृढ़तापूर्वक मौनव्रतका पालन करनेवाला हो गया।

ततो दमशमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चानघ ।
ब्रह्मा प्रीतमनास्तस्य तपसा नियमेन च ।।

निष्पाप नरेश! उसके इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, ब्रह्मचर्य, तपस्या तथा शौच-संतोषादि नियमोंके पालनसे ब्रह्माजीके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई।

ततः स्वयम्भूर्भगवान् स्वयमागम्य भूपते ।
विमानेनार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता ।।

भूपाल! तदनन्तर स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा हंस जुते हुए सूर्यके समान तेजस्वी विमानद्वारा स्वयं वहाँ पधारे।

आदित्यैर्वसुभिः साध्यैः मरुद्भिर्दैवतैः सह ।

रुद्रैर्विश्वसहायैश्च यक्षराक्षसकिन्नरैः ।।

दिशाभिर्विदिशाभिश्च नदीभिः सागरैस्तथा ।

नक्षत्रैश्च मुहूर्तैश्च खेचरैश्चापरैर्ग्रहैः ।।

देवर्षिभिस्तपोयुक्तैः सिद्धैः सप्तर्षिभिस्तथा ।

राजर्षिभिः पुण्यतमैर्गन्धर्वैरप्सरोगणैः ।।

उनके साथ आदित्य, वसु, साध्य, मरुद्गण, देवगण, रुद्रगण, विश्वेदेव, यक्ष, राक्षस, किन्नर, दिशा, विदिशा, नदी, समुद्र, नक्षत्र, मुहूर्त, अन्यान्य आकाशचारी ग्रह, तपस्वी देवर्षि, सिद्ध, सप्तर्षि, पुण्यात्मा राजर्षि, गन्धर्व तथा अप्सराएँ भी थीं।

चराचरगुरुः श्रीमान् वृतः सर्वसुरैस्तथा ।

ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्यमागम्य चाब्रवीत् ।।

सम्पूर्ण देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ चराचरगुरु श्रीमान् ब्रह्मा उस दैत्यके पास आकर बोले।

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्मि तव भक्तस्य तपसानेन सुव्रत ।

वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि ।।

ब्रह्माजीने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले दैत्यराज! तुम मेरे भक्त हो। तुम्हारी इस तपस्यासे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारा भला हो। तुम कोई वर माँगो और मनोवांछित वस्तु प्राप्त करो।

हिरण्यकशिपुरुवाच

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः ।

न मानुषाः पिशाचाश्च हन्युर्मां देवसत्तम ।।

हिरण्यकशिपु बोला—सुरश्रेष्ठ! मुझे देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग, राक्षस, मनुष्य और पिशाच—कोई भी न मार सके।

ऋषयो वा न मां शापैः क्रुद्धा लोकपितामह ।

शपेयुस्तपसा युक्ता वर एष वृतो मया ।।

लोकपितामह! तपस्वी ऋषि-महर्षि कुपित होकर मुझे शाप भी न दें यही वर मैंने माँगा है।

न शस्त्रेण न चास्त्रेण गिरिणा पादपेन च ।

न शुष्केण न चार्द्रेण स्यान्न वान्येन मे वधः ।।

न शस्त्रसे, न अस्त्रसे, न पर्वतसे, न वृक्षसे, न सूखेसे, न गीलेसे और न दूसरे ही किसी आयुधसे मेरा वध हो।

नाकाशे वा न भूमौ वा रात्रौ वा दिवसेऽपि वा ।

नान्तर्वा न बहिर्वापि स्याद् वधो मे पितामह ।।

पितामह! न आकाशमें, न पृथ्वीपर, न रातमें, न दिनमें तथा न बाहर और न भीतर ही मेरा वध हो सके।

पशुभिर्वा मृगैर्न स्यात् पक्षिभिर्वा सरीसृपैः ।
ददासि चेद् वरानेतान् देवदेव वृणोम्यहम् ।।

पशु या मृग, पक्षी अथवा सरीसृप (सर्प-बिच्छू) आदिसे भी मेरी मृत्यु न हो। देवदेव! यदि आप वर दे रहे हैं तो मैं इन्हीं वरोंको लेना चाहता हूँ।

ब्रह्मोवाच

एते देव्या वरास्तात मया दत्तास्तवाद्भुताः ।
सर्वकामान् वरांस्तात प्राप्स्यसे त्वं न संशयः ।।

ब्रह्माजीने कहा—तात! ये दिव्य और अद्भुत वर मैंने तुम्हें दे दिये। वत्स! इसमें संशय नहीं कि सम्पूर्ण कामनाओंसहित इन मनोवांछित वरोंको तुम अवश्य प्राप्त कर लोगे।

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवानाकाशेन जगाम ह ।
रराज ब्रह्मलोके स ब्रह्मर्षिगणसेवितः ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर भगवान् ब्रह्मा आकाशमार्गसे चले गये और ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्मर्षिगणोंसे सेवित होकर अत्यन्त शोभा पाने लगे।

ततो देवाश्च नागाश्च गन्धर्वा मुनयस्तथा ।
वरप्रदानं श्रुत्वा ते ब्रह्माणमुपतस्थिरे ।।

तदनन्तर देवता, नाग, गन्धर्व और मुनि उस वरदानका समाचार सुनकर ब्रह्माजीकी सभामें उपस्थित हुए।

देवा ऊचुः

वरेणानेन भगवन् बाधिष्यति स नोऽसुरः ।
तत् प्रसीदस्व भगवत् वधोऽस्य प्रविचिन्त्यताम् ।।

देवता बोले—भगवन्! इस वरके प्रभावसे वह असुर हमलोगोंको बहुत कष्ट देगा, अतः आप प्रसन्न होइये और उसके वधका कोई उपाय सोचिये।

भवान् हि सर्वभूतानां स्वयम्भूरादिकृद् विभुः ।
स्रष्टा च हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिर्ध्रुवः ।।

क्योंकि आप ही सम्पूर्ण भूतोंके आदिस्रष्टा, स्वयम्भू, सर्वव्यापी, हव्य-कव्यके निर्माता तथा अव्यक्त प्रकृति और ध्रुवस्वरूप हैं।

भीष्म उवाच

ततो लोकहितं वाक्यं श्रुत्वा देवः प्रजापतिः ।

प्रोवाच भगवान् वाक्यं सर्वदेवगणांस्तदा ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर देवताओंका यह लोकहितकारी वचन सुनकर दिव्यशक्तिसम्पन्न भगवान् प्रजापतिने उन सब देवगणोंसे इस प्रकार कहा।

ब्रह्मोवाच

अवश्यं त्रिदशास्तेन प्राप्तव्यं तपसः फलम् ।

तपसोऽन्तेऽस्य भगवान् वधं कृष्णः करिष्यति ।।

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ! उस असुरको अपनी तपस्याका फल अवश्य प्राप्त होगा। फलभोगके द्वारा जब तपस्याकी समाप्ति हो जायगी, तब भगवान् विष्णु स्वयं ही उसका वध करेंगे।

भीष्म उवाच

एकच्छ्रुत्वा सुराः सर्वे ब्रह्मणा तस्य वै वधम् ।

स्वानि स्थानानि दिव्यानि जग्मुस्ते वै मुदान्विताः ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ब्रह्माजीके द्वारा इस प्रकार उसके वधकी बात सुनकर सब देवता प्रसन्नतापूर्वक अपने दिव्य धामको चले गये।

लब्धमात्रे वरे चापि सर्वास्ता बाधते प्रजाः ।

हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन दर्पितः ।।

दैत्य हिरण्यकशिपु ब्रह्माजीका वर पाते ही समस्त प्रजाको कष्ट पहुँचाने लगा। वरदानसे उसका घमण्ड बहुत बढ़ गया था।

राज्यं चकार दैत्येन्द्रो दैत्यसङ्घैः समावृतः ।

सप्त द्वीपान्वशे चक्रे लोकान् लोकान्तरान् बलात् ।।

वह दैत्योंका राजा होकर राज्य भोगने लगा। झुंड-के-झुंड दैत्य उसे घेरे रहते थे। उसने सातों द्वीपों और अनेक लोक-लोकान्तरोंको बलपूर्वक अपने वशमें कर लिया।

दिव्यलोकान् समस्तान् वै भोगान् दिव्यानवाप सः ।

देवांस्त्रिभुवनस्थांस्तान् पराजित्य महासुरः ।।

उस महान् असुरने तीनों लोकोंमें रहनेवाले समस्त देवताओंको जीतकर सम्पूर्ण दिव्य लोकों और वहाँके दिव्य भोगोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया।

त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति दानवः ।

यदा वरमदोन्मत्तो न्यवसद् दानवो दिवि ।।

इस प्रकार तीनों लोकोंको अपने अधीन करके वह दैत्य स्वर्गलोकमें निवास करने लगा। वरदानके मदसे उन्मत्त हो दानव हिरण्यकशिपु देवलोकका निवासी बन बैठा।

अथ लोकान् समस्तांश्च विजित्य स महासुरः ।

भवेयमहमेवेन्द्रः सोमोऽग्निर्मारुतो रविः ।।
सलिलं चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि दिशो दश ।
अहं क्रोधश्च कामश्च वरुणो वसवोऽर्यमा ।।
धनदश्च धनाध्यक्षो यक्षः किम्पुरुषाधिपः ।
एते भवेयमित्युक्त्वा स्वयं भूत्वा बलात् स च ।।

तदनन्तर वह महान् असुर अन्य समस्त लोकोंको जीतकर यह सोचने लगा कि मैं ही इन्द्र हो जाऊँ, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, सूर्य, जल, आकाश, नक्षत्र, दसों दिशाएँ, क्रोध, काम, वरुण, वसुगण, अर्यमा, धन देनेवाले धनाध्यक्ष, यक्ष और किम्पुरुषोंका स्वामी—ये सब मैं ही हो जाऊँ।

ऐसा सोचकर उसने स्वयं ही बलपूर्वक उन-उन पदोंपर अधिकार जमा लिया।

तेषां गृहीत्वा स्थानानि तेषां कार्याण्यवाप सः ।
इज्यश्चासीन्मखवरैः स तैर्देवर्षिसत्तमैः ।।
नरकस्थान् समानीय स्वर्गस्थांस्तांश्चकार सः ।
एवमादीनि कर्माणि कृत्वा दैत्यपतिर्बली ।।
आश्रमेषु महाभागान् मुनीन् वै संशितव्रतान् ।
सत्यधर्मपरान् दान्तान् पुरा धर्षितवांश्च सः ।।

उनके स्थान ग्रहण करके उन सबके कार्य वह स्वयं देखने लगा। उत्तम देवर्षिगण श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा जिन देवताओंका यजन करते थे, उन सबके स्थानपर वह स्वयं ही यज्ञभागका अधिकारी बन बैठा। नरकमें पड़े हुए सब जीवोंको वहाँसे निकालकर उसने स्वर्गका निवासी बना दिया। बलवान् दैत्यराजने ये सब कार्य करके मुनियोंके आश्रमोंपर धावा किया और कठोर व्रतका पालन करनेवाले सत्यधर्मपरायण एवं जितेन्द्रिय महाभाग मुनियोंको सताना आरम्भ किया।

यज्ञीयान् कृतवान् दैत्यानयज्ञीयांश्च देवताः ।
यत्र यत्र सुरा जग्मुस्तत्र तत्र व्रजत्युत ।।
स्थानानि देवतानां तु हृत्वा राज्यमपालयत् ।

उसने दैत्योंको यज्ञका अधिकारी बनाया और देवताओंको उस अधिकारसे वंचित कर दिया। जहाँ-जहाँ देवता जाते थे, वहाँ-वहाँ वह उनका पीछा करता था। देवताओंके सारे स्थान हड़पकर वह स्वयं ही त्रिलोकीके राज्यका पालन करने लगा।

पञ्च कोट्यश्च वर्षाणि नियुतान्येकषष्टि च ।।
षष्टिश्चैव सहस्राणां जग्मुस्तस्य दुरात्मनः ।
एतद् वर्षं स दैत्येन्द्रो भोगैश्वर्यमवाप सः ।।

उस दुरात्माके राज्य करते पाँच करोड़ इकसठ लाख साठ हजार वर्ष व्यतीत हो गये। इतने वर्षोंतक दैत्यराज हिरण्यकशिपुने दिव्य भोगों और ऐश्वर्यका उपभोग किया।

तेनातिबाध्यमानास्ते दैत्येन्द्रेण बलीयसा ।
ब्रह्मलोकं सुरा जग्मुः सर्वे शक्रपुरोगमाः ।।
पितामहं समासाद्य खिन्नाः प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ।

महाबली दैत्यराज हिरण्यकशिपुके द्वारा अत्यन्त पीड़ित हो इन्द्र आदि सब देवता ब्रह्मलोकमें गये और ब्रह्माजीके पास पहुँचकर खेदग्रस्त हो हाथ जोड़कर बोले।

देवा ऊचुः

भगवन् भूतभव्येश नस्त्रायस्व इहागतान् ।
भयं दितिसुताद् घोरं भवत्यद्य दिवानिशम् ।।

देवताओंने कहा—भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी भगवान् पितामह! हम यहाँ आपकी शरणमें आये हैं! आप हमारी रक्षा कीजिये। अब हमें उस दैत्यसे दिन-रात घोर भयकी प्राप्ति हो रही है।

भगवन् सर्वभूतानां स्वयम्भूरादिकृद् विभुः ।
स्रष्टा त्वं हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिर्ध्रुवः ।।

भगवन्! आप सम्पूर्ण भूतोंके आदिस्रष्टा, स्वयम्भू, सर्वव्यापी, हव्य-कव्योंके निर्माता, अव्यक्त प्रकृति एवं नित्यस्वरूप हैं।

ब्रह्मोवाच

श्रूयतामापदेवं हि दुर्विज्ञेया मयापि च ।
नारायणस्तु पुरुषो विश्वरूपो महाद्युतिः ।।
अव्यक्तः सर्वभूतानामचिन्त्यो विभुरव्ययः ।

ब्रह्माजी बोले—देवताओ! सुनो, ऐसी विपत्तिको समझना मेरे लिये भी अत्यन्त कठिन है। अन्तर्यामी भगवान् नारायण ही हमारी सहायता कर सकते हैं। वे विश्वरूप, महातेजस्वी, अव्यक्तस्वरूप, सर्वव्यापी, अविनाशी तथा सम्पूर्ण भूतोंके लिये अचिन्त्य हैं।

ममापि स तु युष्माकं व्यसने परमा गतिः ।।
नारायणः परोऽव्यक्तादहमव्यक्तसम्भवः ।

संकटकालमें मेरे और तुम्हारे वे ही परम गति हैं। भगवान् नारायण अव्यक्तसे परे हैं और मेरा आविर्भाव अव्यक्तसे हुआ है।

मत्तो जज्ञुः प्रजा लोकाः सर्वे देवासुराश्च ते ।।
देवा यथाहं युष्माकं तथा नारायणो मम ।
पितामहोऽहं सर्वस्य स विष्णुः प्रपितामहः ।।
तमिमं विबुधा दैत्यं स विष्णुः संहरिष्यति ।
तस्य नास्ति ह्यशक्यं च तस्माद् व्रजत मा चिरम् ।।

मुझसे समस्त प्रजा, सम्पूर्ण लोक तथा देवता और असुर भी उत्पन्न हुए हैं। देवताओ! जैसे मैं तुमलोगोंका जनक हूँ, उसी प्रकार भगवान् नारायण मेरे जनक हैं। मैं सबका पितामह हूँ और वे भगवान् विष्णु प्रपितामह हैं। देवताओ! इस हिरण्यकशिपु नामक दैत्यका वे विष्णु ही संहार करेंगे। उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, अतः सब लोग उन्हींकी शरणमें जाओ, विलम्ब न करो।

भीष्म उवाच

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वे ते भरतर्षभ ।
विबुधा ब्रह्मणा सार्धं जग्मुः क्षीरोदधिं प्रति ।।

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! पितामह ब्रह्माका यह वचन सुनकर सब देवता उनके साथ ही क्षीरसमुद्रके तटपर गये।

आदित्या मरुतः साध्या विश्वे च वसवस्तथा ।
रुद्रा महर्षयश्चैव अश्विनौ च सुरूपिणौ ।।
अन्ये च दिव्या ये राजंस्ते सर्वे सगणाः सुराः ।
चतुर्मुखं पुरस्कृत्य श्वेतद्वीपमुपस्थिताः ।।

आदित्य, मरुद्गण, साध्य, विश्वेदेव, वसु, रुद्र, महर्षि, सुन्दर रूपवाले अश्विनीकुमार तथा अन्यान्य जो दिव्य योनिके पुरुष हैं, वे सब अर्थात् अपने गणोंसहित समस्त देवता चतुर्मुख ब्रह्माजीको आगे करके श्वेतद्वीपमें उपस्थित हुए।

गत्वा क्षीरसमुद्रं तं शाश्वतीं परमां गतिम् ।
अनन्तशयनं देवमनन्तं दीप्ततेजसम् ।।
शरण्यं त्रिदशा विष्णुमुपतस्थुः सनातनम् ।
देवं ब्रह्ममयं यज्ञं ब्रह्मदेवं महाबलम् ।।
भूतं भव्यं भविष्यच्च प्रभुं लोकनमस्कृतम् ।
नारायणं विभुं देवं शरण्यं शरणं गताः ।।

क्षीरसमुद्रके तटपर पहुँचकर सब देवता अनन्त नामक शेषनागकी शय्यापर शयन करनेवाले अनन्त एवं उद्दीप्त तेजसे प्रकाशमान उन शरणागतवत्सल सनातन देवता श्रीविष्णुके सम्मुख उपस्थित हुए, जो सबके सनातन परम गति हैं। वे प्रभु देवस्वरूप, वेदमय, यज्ञरूप, ब्राह्मणको देवता माननेवाले, महान् बल और पराक्रमके आश्रय, भूत, वर्तमान और भविष्यरूप, सर्वसमर्थ, विश्ववन्दित, सर्वव्यापी, दिव्यशक्तिसम्पन्न तथा शरणागतरक्षक हैं। वे सब देवता उन्हीं भगवान् नारायणकी शरणमें गये।

देवा ऊचुः

त्रायस्व नोऽद्य देवेश हिरण्यकशिपोर्वधात् ।
त्वं हि नः परमो धाता ब्रह्मादीनां सुरोत्तम ।।

देवता बोले—देवेश्वर! आज आप हिरण्यकशिपुका वध करके हमारी रक्षा कीजिये। सुरश्रेष्ठ! आप ही हमारे और ब्रह्मा आदिके भी धारण-पोषण करनेवाले परमेश्वर हैं।

उत्फुल्लपद्मपत्राक्ष शत्रुपक्षभयङ्कर ।
क्षयाय दितिवंशस्य शरण्यस्त्वं भवाद्य नः ।।

खिले हुए कमलदलके समान नेत्रोंवाले नारायण! आप शत्रुपक्षको भय प्रदान करनेवाले हैं। प्रभो! आज आप दैत्योंका विनाश करनेके लिये उद्यत हो हमारे शरणदाता होइये।

भीष्म उवाच

देवानां वचनं श्रुत्वा तदा विष्णुः शुचिश्रवाः ।
अदृश्यः सर्वभूतानां वक्तुमेवोपचक्रमे ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! देवताओंकी यह बात सुनकर पवित्र कीर्तिवाले भगवान् विष्णुने उस समय सम्पूर्ण भूतोंसे अदृश्य रहकर बोलना आरम्भ किया।

श्रीभगवानुवाच

भयं त्यजध्वममरा अभयं वो ददाम्यहम् ।
तदेवं त्रिदिवं देवाः प्रतिपद्यत मा चिरम् ।।

श्रीभगवान् बोले—देवताओ! भय छोड़ दो। मैं तुम्हें अभय देता हूँ। देवगण! तुमलोग अविलम्ब स्वर्गलोकमें जाओ और पहलेकी ही भाँति वहाँ निर्भय होकर रहो।

एषोऽहं सगणं दैत्यं वरदानेन दर्पितम् ।
अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्म्यहम् ।।

मैं वरदान पाकर घमंडमें भरे हुए दानवराज हिरण्यकशिपुको, जो देवेश्वरोंके लिये भी अवध्य हो रहा है, सेवकोंसहित अभी मार डालता हूँ।

ब्रह्मोवाच

भगवन् भूतभव्येश खिन्ना ह्येते भृशं सुराः ।
तस्मात् त्वं जहि दैत्येन्द्रं क्षिप्रं कालोऽस्य मा चिरम् ।।

ब्रह्माजीने कहा—भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी नारायण! ये देवता बहुत दुःखी हो गये हैं, अतः आप दैत्यराज हिरण्यकशिपुको शीघ्र मार डालिये। उसकी मृत्युका समय आ गया है, इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये।

श्रीभगवानुवाच

क्षिप्रं देवाः करिष्यामि त्वरया दैत्यनाशनम् ।
तस्मात् त्वं विबुधाश्चैव प्रतिपद्यत वै दिवम् ।।

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मा तथा देवताओ! मैं शीघ्र ही उस दैत्यका नाश करूँगा, अतः तुम सब लोग अपने-अपने दिव्यलोकमें जाओ।

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् विसृज्य त्रिदिवेश्वरान् ।
नरस्यार्धतनुं कृत्वा सिंहस्यार्धतनुं तथा ।।
नारसिंहेन वपुषा पाणिं निष्पिष्य पाणिना ।
भीमरूपो महातेजा व्यादितास्य इवान्तकः ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर भगवान् विष्णुने देवेश्वरोंको विदा करके आधा शरीर मनुष्यका और आधा सिंहका-सा बनाकर नरसिंहविग्रह धारण करके एक हाथसे दूसरे हाथको रगड़ते हुए बड़ा भयंकर रूप बना लिया। वे महातेजस्वी नरसिंह मुँह बाये हुए कालके समान जान पड़ते थे।

हिरण्यकशिपुं राजन् जगाम हरिरीश्वरः ।
दैत्यास्तमागतं दृष्ट्वा नारसिंहं महाबलम् ।।
ववर्षुः शस्त्रवर्षैस्ते सुसंक्रुद्धास्तदा हरिम् ।

राजन्! तदनन्तर भगवान् विष्णु हिरण्यकशिपुके पास गये। नृसिंहरूपधारी महाबली भगवान् श्रीहरिको आया देख दैत्योंने कुपित होकर उनपर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा आरम्भ की।

तैर्विसृष्टानि शस्त्राणि भक्षयामास वै हरिः ।।
जघान च रणे दैत्यान् सहस्राणि बहून्यपि ।

उनके द्वारा चलाये हुए सभी शस्त्रोंको भगवान् खा गये, साथ ही उन्होंने उस युद्धमें कई हजार दैत्योंका संहार कर डाला।

तान् निहत्य च दैत्येन्द्रान् सर्वान् क्रुद्धान् महाबलान् ।।
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धो दैत्येन्द्रं बलगर्वितम् ।

क्रोधमें भरे हुए उन सभी महाबलवान्, दैत्येश्वरोंका विनाश करके अत्यन्त कुपित हो भगवान्‌ने बलोन्मत्त दैत्यराज हिरण्यकशिपुपर धावा किया।

जीमूतघनसंकाशो जीमूतघननिःस्वनः ।।
जीमूत इव दीप्तौजा जीमूत इव वेगवान् ।

भगवान् नृसिंहकी अंगकान्ति मेघोंकी घटाके समान श्याम थी। वे मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान दहाड़ रहे थे। उनका उद्दीप्त तेज भी मेघोंके ही समान शोभा पाता था और वे मेघोंके ही समान महान् वेगशाली थे।

देवारिर्दितिजो दुष्टो नृसिंहं समुपाद्रवत् ।।

भगवान् नृसिंहको आया देख देवताओंसे द्वेष रखनेवाला दुष्ट दैत्य हिरण्यकशिपु उनकी ओर दौड़ा।

दैत्यं सोऽतिबलं दृष्ट्वा क्रुद्धशार्दूलविक्रमम् ।
दीप्तैर्दैत्यगणैर्गुप्तं खरैर्नखमुखैरुत ।।
ततः कृत्वा तु युद्धं वै तेन दैत्येन वै हरिः ।

कुपित सिंहके समान पराक्रमी उस अत्यन्त बलशाली, दर्पयुक्त एवं दैत्यगणोंसे सुरक्षित दैत्यको सामने आया देख महातेजस्वी भगवान् नृसिंहने नखोंके तीखे अग्रभागोंके द्वारा उस दैत्यके साथ घोर युद्ध किया।

संध्याकाले महातेजाः प्रघाणे च त्वरान्वितः ।।
ऊरौ निधाय दैत्येन्द्रं निर्बिभेद नखैर्हि तम् ।

फिर संध्याकाल आनेपर बड़ी उतावलीके साथ उसे पकड़कर वे राजभवनकी देहलीपर बैठ गये। तदनन्तर उन्होंने अपनी जाँघोंपर दैत्यराजको रखकर नखोंसे उसका वक्षःस्थल विदीर्ण कर डाला।

महाबलं महावीर्यं वरदानेन दर्पितम् ।।
दैत्यश्रेष्ठं सुरश्रेष्ठो जघान तरसा हरिः ।

सुरश्रेष्ठ श्रीहरिने वरदानसे घमंडमें भरे हुए महाबली महापराक्रमी दैत्यराजको बड़े वेगसे मार डाला।

हिरण्यकशिपुं हत्वा सर्वदैत्यांश्च वै तदा ।।
विबुधानां प्रजानां च हितं कृत्वा महाद्युतिः ।
प्रमुमोद हरिर्देवः स्थाप्य धर्मं तदा भुवि ।।

इस प्रकार हिरण्यकशिपु तथा उसके अनुयायी सब दैत्योंका संहार करके महातेजस्वी भगवान् श्रीहरिने देवताओं तथा प्रजाजनोंका हितसाधन किया और इस पृथ्वीपर धर्मकी स्थापना करके वे बड़े प्रसन्न हुए।

एष ते नारसिंहोऽत्र कथितः पाण्डुनन्दन ।
शृणु त्वं वामनं नाम प्रादुर्भावं महात्मनः ।।

पाण्डुनन्दन! यह मैंने तुम्हें संक्षेपसे नृसिंहावतारकी कथा सुनायी है। अब तुम परमात्मा श्रीहरिके वामन-अवतारका वृत्तान्त सुनो।

पुरा त्रेतायुगे राजन् बलिर्वैरोचनोऽभवत् ।
दैत्यानां पार्थिवो वीरो बलेनाप्रतिमो बली ।।

राजन्! प्राचीन त्रेतायुगकी बात है; विरोचनकुमार बलि दैत्योंके राजा थे। बलमें उनके समान दूसरा कोई नहीं था। बलि अत्यन्त बलवान् होनेके साथ ही महान् वीर भी थे।

तदा बलिर्महाराज दैत्यसङ्घैः समावृतः ।
विजित्य तरसा शक्रमिन्द्रस्थानमवाप सः ।।

महाराज! दैत्यसमूहसे घिरे हुए बलिने बड़े वेगसे इन्द्रपर आक्रमण किया और उन्हें जीतकर इन्द्रलोकपर अधिकार प्राप्त कर लिया।

तेन वित्रासिता देवा बलिनाऽऽखण्डलादयः ।
ब्रह्माणं तु पुरस्कृत्य गत्वा क्षीरोदधिं तदा ।।
तुष्टुवुः सहिताः सर्वे देवं नारायणं प्रभुम् ।

राजा बलिके आक्रमणसे अत्यन्त त्रस्त हुए इन्द्र आदि देवता ब्रह्माजीको आगे करके क्षीरसागरके तटपर गये और सबने मिलकर देवाधिदेव भगवान् नारायणका स्तवन किया।

स तेषां दर्शनं चक्रे विबुधानां हरिः स्तुतः ।।
प्रसादजं ह्यस्य विभोरदित्यां जन्म चोच्यते ।

देवताओंके स्तुति करनेपर श्रीहरिने उन्हें दर्शन दिया और कहा जाता है, उनपर कृपाप्रसाद करनेके फलस्वरूप भगवान्‌का अदितिके गर्भसे प्रादुर्भाव हुआ।

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दनः ।।
एष विष्णुरिति ख्यात इन्द्रस्यावरजोऽभवत् ।

जो इस समय यदुकुलको आनन्दित कर रहे हैं, ये ही भगवान् श्रीकृष्ण पहले अदितिके पुत्र होकर इन्द्रके छोटे भाई विष्णु (या उपेन्द्र)-के नामसे विख्यात हुए।

तस्मिन्नेव च काले तु दैत्येन्द्रो वीर्यवान् बलिः ।।
अश्वमेधं क्रतुश्रेष्ठमाहर्तुमुपचक्रमे ।

उन्हीं दिनों महापराक्रमी दैत्यराज बलिने क्रतुश्रेष्ठ अश्वमेधके अनुष्ठानकी तैयारी आरम्भ की।

वर्तमाने तदा यज्ञे दैत्येन्द्रस्य युधिष्ठिर ।।
स विष्णुर्वामनो भूत्वा प्रच्छन्नो ब्रह्मवेषधृक् ।
मुण्डो यज्ञोपवीती च कृष्णाजिनधरः शिखी ।।
पलाशदण्डं संगृह्य वामनोऽद्भुतदर्शनः ।
प्रविश्य स बलेर्यज्ञे वर्तमाने तु दक्षिणाम् ।।
देहीत्युवाच दैत्येन्द्रं विक्रमांस्त्रीन् ममैव ह ।

युधिष्ठिर! जब दैत्यराजका यज्ञ आरम्भ हो गया, उस समय भगवान् विष्णु ब्राह्मणवेषधारी वामन ब्रह्मचारीके रूपमें अपनेको छिपाकर सिर मुँड़ाये, यज्ञोपवीत, काला मृगचर्म और शिखा धारण किये, हाथमें पलाशका डंडा लिये उस यज्ञमें गये। उस समय भगवान् वामनकी अद्भुत शोभा दिखायी देती थी। बलिके वर्तमान यज्ञमें प्रवेश करके उन्होंने दैत्यराजसे कहा—'मुझे तीन पग भूमि दक्षिणारूपमें दीजिये।'

दीयतां त्रिपदीमात्रमित्ययाचन्महासुरम् ।।
स तथेति प्रतिश्रुत्य प्रददौ विष्णवे तदा ।

'केवल तीन पग भूमि मुझे दे दीजिये।' ऐसा कहकर उन्होंने महान् असुर बलिसे याचना की। बलिने भी 'तथास्तु' कहकर श्रीविष्णुको भूमि दे दी।

तेन लब्ध्वा हरिर्भूमिं जृम्भयामास वै भृशम् ।

स शिशुः सदिवं खं च पृथिवीं च विशाम्पते ।।
त्रिभिर्विक्रमणैरेतत् सर्वमाक्रमताभिभूः ।
बलेर्बलवतो यज्ञे बलिना विष्णुना पुरा ।।
विक्रमैस्त्रिभिरक्षोभ्याः क्षोभितास्ते महासुराः ।

बलिसे वह भूमि पाकर भगवान् विष्णु बड़े वेगसे बढ़ने लगे। राजन्! वे पहले तो बालक-जैसे लगते थे; किंतु उन्होंने बढ़कर तीन ही पगोंमें स्वर्ग, आकाश और पृथ्वी—सबको माप लिया। इस प्रकार बलवान् राजा बलिके यज्ञमें जब महाबली भगवान् विष्णुने केवल तीन पगोंद्वारा त्रिलोकीको नाप लिया, तब किसीसे भी क्षुब्ध न किये जा सकनेवाले महान् असुर क्षुब्ध हो उठे।

विप्रचित्तिमुखाः क्रुद्धा दैत्यसङ्घा महाबलाः ।।
नानावक्त्रा महाकाया नानावेषधरा नृप ।

राजन्! उनमें विप्रचित्ति आदि दानव प्रधान थे। क्रोधमें भरे हुए उन महाबली दैत्योंके समुदाय अनेक प्रकारके वेष धारण किये वहाँ उपस्थित थे। उनके मुख अनेक प्रकारके दिखायी देते थे। वे सब-के-सब विशालकाय थे।

नानाप्रहरणा रौद्रा नानामाल्यानुलेपनाः ।।
स्वान्यायुधानि संगृह्य प्रदीप्ता इव तेजसा ।
क्रममाणं हरिं तत्र उपावर्तन्त भारत ।।

उनके हाथोंमें भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र थे। उन्होंने विविध प्रकारकी मालाएँ तथा चन्दन धारण कर रखे थे। वे देखनेमें बड़े भयंकर थे और तेजसे मानो प्रज्वलित हो रहे थे। भरतनन्दन! जब भगवान् विष्णुने तीनों लोकोंको मापना आरम्भ किया, उस समय सभी दैत्य अपने-अपने आयुध लेकर उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये।

प्रमथ्य सर्वान् दैतेयान् पादहस्ततलैस्तु तान् ।
रूपं कृत्वा महाभीमं जहाराशु स मेदिनीम् ।।
सम्प्राप्य पादमाकाशमादित्यसदने स्थितः ।
अत्यरोचत भूतात्मा भास्करं स्वेन तेजसा ।।

भगवान्ने महाभयंकर रूप धारण करके उन सब दैत्योंको लातों-थप्पड़ोंसे मारकर भूमण्डलका सारा राज्य उनसे शीघ्र छीन लिया। उनका एक पैर आकाशमें पहुँचकर आदित्य-मण्डलमें स्थित हो गया। भूतात्मा भगवान् श्रीहरि उस समय अपने तेजसे सूर्यकी अपेक्षा बहुत बढ़-चढ़कर प्रकाशित हो रहे थे।

प्रकाशयन् दिशः सर्वाः प्रदिशश्च महाबलः ।
शुशुभे स महाबाहुः सर्वलोकान् प्रकाशयन् ।।
तस्य विक्रमतो भूमिं चन्द्रादित्यौ स्तनान्तरे ।
नभः प्रक्रममाणस्य नाभ्यां किल तदा स्थितौ ।।

महाबली महाबाहु भगवान् विष्णु सम्पूर्ण दिशाओं-विदिशाओं तथा समस्त लोकोंको प्रकाशित करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे। जिस समय वे वसुधाको अपने पैरोंसे माप रहे थे, उस समय वे इतने बढ़े कि चन्द्रमा और सूर्य उनकी छातीके सामने आ गये थे। जब वे आकाशको लाँघने लगे, तब वे ही चन्द्रमा और सूर्य उनके नाभिदेशमें आ गये।

परमाक्रममाणस्य जानुभ्यां तौ व्यवस्थितौ ।।
विष्णोरमितवीर्यस्य वदन्त्येवं द्विजातयः ।
अथासाद्य कपालं स अण्डस्य तु युधिष्ठिर ।।
तच्छिद्रात् स्यन्दिनी तस्य पादाद् भ्रष्टा तु निम्नगा ।
ससार सागरं साऽऽशु पावनी सागरङ्गमा ।।

जब वे आकाश या स्वर्गलोकसे भी ऊपरको पैर बढ़ाने लगे, उस समय उनका रूप इतना विशाल हो गया कि सूर्य और चन्द्रमा उनके घुटनोंमें स्थित दिखायी देने लगे। इस प्रकार ब्राह्मणलोग अमितपराक्रमी भगवान् विष्णुके उस विशाल रूपका वर्णन करते हैं। युधिष्ठिर! भगवान्का पैर ब्रह्माण्डकपालतक पहुँच गया और उसके आघातसे कपालमें छिद्र हो गया, जिससे झर-झर करके एक नदी प्रकट हो गयी, जो शीघ्र ही नीचे उतरकर समुद्रमें जा मिली। सागरमें मिलनेवाली वह पावन सरिता ही गंगा है।

जहार मेदिनीं सर्वां हत्वा दानवपुङ्गवान् ।
आसुरीं श्रियमाहृत्य त्रींल्लोकान् स जनार्दनः ।।
सपुत्रदारानसुरान् पाताले तानपातयत् ।
नमुचिः शम्बरश्चैव प्रह्लादश्च महामनाः ।।
पादपाताभिनिर्धूताः पाताले विनिपातिताः ।
महाभूतानि भूतात्मा स विशेषेण वै हरिः ।।
कालं च सकलं राजन् गात्रभूतान्यदर्शयत् ।

भगवान् श्रीहरिने बड़े-बड़े दानवोंको मारकर सारी पृथ्वी उनके अधिकारसे छीन ली और तीनों लोकोंके साथ सारी आसुरी-सम्पदाका अपहरण करके उन असुरोंको स्त्री-पुत्रोंसहित पातालमें भेज दिया। नमुचि, शम्बर और महामना प्रह्लाद भगवान्के चरणोंके स्पर्शसे पवित्र हो गये। भगवान्ने उनको भी पातालमें भेज दिया। राजन्! भूतात्मा भगवान् श्रीहरिने अपने श्रीअंगोंमें विशेषरूपसे पंचमहाभूतों तथा भूत, भविष्य और वर्तमान—सभी कालोंका दर्शन कराया।

तस्य गात्रे जगत् सर्वमानीतमिव दृश्यते ।।
न किंचिदस्ति लोकेषु यदव्याप्तं महात्मना ।
तद्धि रूपं महेशस्य देवदानवमानवाः ।।
दृष्ट्वा तं मुमुहुः सर्वे विष्णुतेजोऽभिपीडिताः ।

उनके शरीरमें सारा संसार इस प्रकार दिखायी देता था, मानो उसमें लाकर रख दिया गया हो। संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उन परमात्मासे व्याप्त न हो। परमेश्वर भगवान् विष्णुके उस रूपको देखकर उनके तेजसे तिरस्कृत हो देवता, दानव और मानव सभी मोहित हो गये।

बलिर्बद्धोऽभिमानी च यज्ञवाटे महात्मना ।।
विरोचनकुलं सर्वं पाताले विनिपातितम् ।।

अभिमानी राजा बलिको भगवान्ने यज्ञमण्डपमें ही बाँध लिया और विरोचनके समस्त कुलको स्वर्गसे पातालमें भेज दिया।

एवंविधानि कर्माणि कृत्वा गरुडवाहनः ।
न विस्मयमुपागच्छत् पारमेष्ठ्येन तेजसा ।।

गरुडवाहन भगवान् विष्णुको अपने परमेश्वरीय तेजसे उपर्युक्त कर्म करके भी अहंकार नहीं हुआ।

स सर्वममरैश्वर्यं सम्प्रदाय शचीपतेः ।
त्रैलोक्यं च ददौ शक्रे विष्णुर्दानवसूदनः ।।

दानवसूदन श्रीविष्णुने शचीपति इन्द्रको समस्त देवताओंका आधिपत्य देकर त्रिलोकीका राज्य भी उन्हें दे दिया।

एष ते वामनो नाम प्रादुर्भावो महात्मनः ।
वेदविद्भिर्द्विजैरेतत् कथ्यते वैष्णवं यशः ।।
मानुषेषु यथा विष्णोः प्रादुर्भावं तथा शृणु ।।

इस प्रकार परमात्मा श्रीहरिके वामन-अवतारका वृत्तान्त संक्षेपसे तुम्हें बताया गया। वेदवेत्ता ब्राह्मण भगवान् विष्णुके इस सुयशका वर्णन करते हैं। युधिष्ठिर! अब तुम मनुष्योंमें श्रीहरिके जो अवतार हुए हैं, उनका वृत्तान्त सुनो।

विष्णोः पुनर्महाराज प्रादुर्भावो महात्मनः ।
दत्तात्रेय इति ख्यात ऋषिरासीन्महायशाः ।।

महाराज! अब मैं पुनः भगवान् विष्णुके दत्तात्रेय नामक अवतारका वर्णन करता हूँ। दत्तात्रेयजी महान् यशस्वी महर्षि थे।

तेन नष्टेषु वेदेषु क्रियासु च मखेषु च ।
चातुर्वर्ण्ये च संकीर्णे धर्मे शिथिलतां गते ।।
अभिवर्धति चाधर्मे सत्ये नष्टे स्थितेऽनृते ।
प्रजासु क्षीयमाणासु धर्मे चाकुलतां गते ।।
सयज्ञाः सक्रिया वेदाः प्रत्यानीताश्च तेन वै ।
चातुर्वर्ण्यमसंकीर्णं कृतं तेन महात्मना ।।
स एव वै यदा प्रादाद्धैहयाधिपतेर्वरम् ।

तं हैहयानामधिपस्त्वर्जुनोऽभिप्रसादयत् ।।

एक समयकी बात है, सारे वेद नष्ट-से हो गये। वैदिक कर्मों और यज्ञ-यागादिकोंका लोप हो गया। चारों वर्ण एकमें मिल गये और सर्वत्र वर्णसंकरता फैल गयी। धर्म शिथिल हो गया एवं अधर्म दिनोदिन बढ़ने लगा। सत्य दब गया और सब ओर असत्यने सिक्का जमा लिया। प्रजा क्षीण होने लगी और धर्मको अधर्मद्वारा हर तरहसे पीड़ा (हानि) पहुँचने लगी। ऐसे समयमें महात्मा दत्तात्रेयने यज्ञ और कर्मानुष्ठानकी विधिसहित सम्पूर्ण वेदोंका पुनरुद्धार किया और पुनः चारों वर्णोंको पृथक्- पृथक् अपनी-अपनी मर्यादामें स्थापित किया। इन्होंने ही हैहयराज अर्जुनको वर प्रदान किया था। हैहयराज अर्जुनने अपनी सेवाओंद्वारा दत्तात्रेयजीको प्रसन्न कर लिया था।

वने पर्यचरत् सम्यक् शुश्रूषुरनसूयकः ।
निर्ममो निरहंकारो दीर्घकालमतोषयत् ।।
आराध्य दत्तात्रेयं हि अगृह्णात् स वरानिमान् ।
आप्तादाप्ततराद् विप्राद् विद्वान् विद्वन्निषेवितात् ।।
ऋतेऽमरत्वं विप्रेण दत्तात्रेयेण धीमता ।
वरैश्चतुर्भिः प्रवृत इमांस्तत्राभ्यनन्दत ।।

वह अच्छी तरह सेवामें संलग्न हो वनमें मुनिवर दत्तात्रेयकी परिचर्यामें लगा रहता था। उसने दूसरोंका दोष देखना छोड़ दिया था। वह ममता और अहंकारसे रहित था। उसने दीर्घकालतक दत्तात्रेयजीकी आराधना करके उन्हें संतुष्ट किया। दत्तात्रेयजी आप्त पुरुषोंसे भी बढ़कर आप्त पुरुष थे। बड़े-बड़े विद्वान् उनकी सेवामें रहते थे। विद्वान् सहस्रबाहु अर्जुनने उन ब्रह्मर्षिसे ये निम्नांकित वर प्राप्त किये। अमरत्व छोड़कर उसके माँगे हुए सभी वर विद्वान् ब्राह्मण दत्तात्रेयजीने दे दिये। उसने चार वरोंके लिये महर्षिसे प्रार्थना की थी और उन चारोंका ही महर्षिने अभिनन्दन किया था।

श्रीमान् मनस्वी बलवान् सत्यवागनसूयकः ।
सहस्रबाहुर्भूयासमेष मे प्रथमो वरः ।।
जरायुजाण्डजं सर्वं सर्वं चैव चराचरम् ।
प्रशास्तुमिच्छे धर्मेण द्वितीयस्त्वेष मे वरः ।।

(वे वर इस प्रकार हैं—हैहयराज बोला—) 'मैं श्रीमान्, मनस्वी, बलवान्, सत्यवादी, अदोषदर्शी तथा सहस्रभुजाओंसे विभूषित होऊँ, यह मेरे लिये पहला वर है। 'मैं जरायुज और अण्डज जीवोंके साथ-साथ समस्त चराचर जगत्का धर्मपूर्वक शासन करना चाहता हूँ'—मेरे लिये दूसरा वर यही हो।

पितॄन् देवानृषीन् विप्रान् यजेयं विपुलैर्मखैः ।
अमित्रान् निशितैर्बाणैर्घातयेयं रणाजिरे ।।
दत्तात्रेयेह भगवंस्तृतीयो वर एष मे ।

यस्य नासीन्न भविता न चास्ति सदृशः पुमान् ।।
इह वा दिवि वा लोके स मे हन्ता भवेदिति ।।

'मैं अनेक प्रकारके यज्ञोंद्वारा देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा ब्राह्मण अतिथियोंका यजन करूँ और जो लोग मेरे शत्रु हैं, उन्हें समरांगणमें तीखे बाणोंद्वारा मारकर यमलोक पहुँचा दूँ।' भगवन् दत्तात्रेय! मेरे लिये यही तीसरा वर हो। 'जिसके समान इहलोक या स्वर्गलोकमें कोई पुरुष न था, न है और न होगा ही, वही मेरा वध करनेवाला हो' (यह मेरे लिये चौथा वर हो)।

सोऽर्जुनः कृतवीर्यस्य वरः पुत्रोऽभवद् युधि ।
स सहस्रं सहस्राणां माहिष्मत्यामवर्धत ।।

वह अर्जुन राजा कृतवीर्यका ज्येष्ठ पुत्र था और युद्धमें महान् शौर्यका परिचय देता था। उसने माहिष्मती नगरीमें दस लाख वर्षोंतक निरन्तर अभ्युदयशील होकर राज्य किया।

पृथिवीमखिलां जित्वा द्वीपांश्चापि समुद्रिणः ।
नभसीव ज्वलन् सूर्यः पुण्यैः कर्मभिरर्जुनः ।।

जैसे आकाशमें सूर्यदेव सदा प्रकाशमान होते हैं, उसी प्रकार कार्तवीर्य अर्जुन सारी पृथ्वी और समुद्री द्वीपोंको जीतकर इस भूतलपर अपने पुण्यकर्मोंसे प्रकाशित हो रहा था।

इन्द्रद्वीपं कशेरुं च ताम्रद्वीपं गभस्तिमत् ।
गान्धर्वं वारुणं द्वीपं सौम्याक्षमिति च प्रभुः ।।
पूर्वैरजितपूर्वांश्च द्वीपानजयदर्जुनः ।।
सौवर्णं सर्वमप्यासीद् विमानवरमुत्तमम् ।
चतुर्धाव्यभजद् राष्ट्रं तद् विभज्यान्वपालयत् ।।

शक्तिशाली सहस्रबाहुने इन्द्रद्वीप, कशेरुद्वीप, ताम्रद्वीप, गभस्तिमान् द्वीप, गन्धर्वद्वीप, वरुणद्वीप और सौम्याक्षद्वीपको, जिन्हें उसके पूर्वजोंने भी नहीं जीता था, जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया। उसका श्रेष्ठ राजभवन बहुत ही सुन्दर और सारा-का-सारा सुवर्णमय था। उसने अपने राज्यकी आयको चार भागोंमें बाँट रखा था और इस विभाजनके अनुसार ही वह प्रजाका पालन करता था।

एकांशेनाहरत् सेनामेकांशेनावसद् गृहान् ।
यस्तु तस्य तृतीयांशो राजाऽऽसीज्जनसंग्रहे ।।
आप्तः परमकल्याणस्तेन यज्ञानकल्पयत् ।।

वह उस आयके एक अंशके द्वारा सेनाका संग्रह और संरक्षण करता था, दूसरे अंशके द्वारा गृहस्थीका खर्च चलाता था तथा उसका जो तीसरा अंश था, उसके द्वारा राजा अर्जुन प्रजाजनोंकी भलाईके लिये यज्ञोंका अनुष्ठान करता था। वह सबका विश्वासपात्र और परम कल्याणकारी था।

ये दस्यवो ग्रामचरा अरण्ये च वसन्ति ये ।

चतुर्थेन च सोंऽशेन तान् सर्वान् प्रत्यषेधयत् ।।
सर्वेभ्यश्चान्तवासिभ्यः कार्तवीर्योऽहरद् बलिम् ।
आहृतं स्वबलैर्यत् तदर्जुनश्चाभिमन्यते ।।
काको वा मूषिको वापि तं तमेव न्यबर्हयत् ।
द्वाराणि नापिधीयन्ते राष्ट्रेषु नगरेषु च ।।

वह राजकीय आयके चौथे अंशके द्वारा गाँवों और जंगलोंमें डाकुओं और लुटेरोंको शासनपूर्वक रोकता था। कृतवीर्यकुमार अर्जुन उसी धनको अच्छा मानता था, जिसे उसने अपने बल-पराक्रमद्वारा प्राप्त किया हो। काक या मूषकवृत्तिसे जो लोग प्रजाके धनका अपहरण करते थे, उन सबको वह नष्ट कर देता था। उसके राज्यके भीतर गाँवों तथा नगरोंमें घरके दरवाजे बंद नहीं किये जाते थे।

स एव राष्ट्रपालोऽभूत् स्त्रीपालोऽभवदर्जुनः ।
स एवासीदजापालः स गोपालो विशाम्पते ।।

राजन्! कार्तवीर्य अर्जुन ही समूचे राष्ट्रका पोषक, स्त्रियोंका संरक्षक, बकरियोंकी रक्षा करनेवाला तथा गौओंका पालक था।

स स्मारण्ये मनुष्याणां राजा क्षेत्राणि रक्षति ।
इदं तु कार्तवीर्यस्य बभूवासदृशं जनैः ।।

वही जंगलोंमें मनुष्योंके खेतोंकी रक्षा करता था। यह है कार्तवीर्यका अद्भुत कार्य, जिसकी मनुष्योंसे तुलना नहीं हो सकती।

न पूर्वे नापरे तस्य गमिष्यन्ति गतिं नृपाः ।
यदर्णवे प्रयातस्य वस्त्रं न परिषिच्यते ।।
शतं वर्षसहस्राणामनुशिष्यार्जुनो महीम् ।
दत्तात्रेयप्रसादेन एवं राज्यं चकार सः ।।

न पहलेका कोई राजा कार्तवीर्यकी किसी महत्ताको प्राप्त कर सका और न भविष्यमें ही कोई प्राप्त कर सकेगा। वह जब समुद्रमें चलता था, तब उसका वस्त्र नहीं भीगता था। राजा अर्जुन दत्तात्रेयजीके कृपाप्रसादसे लाखों वर्षतक पृथ्वीपर शासन करते हुए इस प्रकार राज्यका पालन करता रहा।

एवं बहूनि कर्माणि चक्रे लोकहिताय सः ।
दत्तात्रेय इति ख्यातः प्रादुर्भावस्तु वैष्णवः ।।
कथितो भरतश्रेष्ठ शृणु भूयो महात्मनः ।।
यदा भृगुकुले जन्म यदर्थं च महात्मनः ।
जामदग्न्य इति ख्यातः प्रादुर्भावस्तु वैष्णवः ।।

इस प्रकार उसने लोकहितके लिये बहुत-से कार्य किये। भरतश्रेष्ठ! यह मैंने भगवान् विष्णुके दत्तात्रेय नामक अवतारका वर्णन किया। अब पुनः उन महात्माके अन्य अवतारका

वर्णन सुनो। भगवान्का वह अवतार जामदग्न्य (परशुराम)-के नामसे विख्यात है। उन्होंने किसलिये और कब भृगुकुलमें अवतार ग्रहण किया, वह प्रसंग बतलाता हूँ; सुनो।

जगदग्निसुतो राजन् रामो नाम स वीर्यवान् ।
हैहयान्तकरो राजन् स रामो बलिनां वरः ।।
कार्तवीर्यो महावीर्यो बलेनाप्रतिमस्तथा ।
रामेण जामदग्न्येन हतो विषममाचरन् ।।

महाराज युधिष्ठिर! महर्षि जमदग्निके पुत्र परशुराम बड़े पराक्रमी हुए हैं। बलवानोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने ही हैहयवंशका संहार किया था। महापराक्रमी कार्तवीर्य अर्जुन बलमें अपना सानी नहीं रखता था; किंतु अपने अनुचित बर्तावके कारण जमदग्निनन्दन परशुरामके द्वारा मारा गया।

तं कार्तवीर्यं राजानं हैहयानामरिंदमम् ।
रथस्थं पार्थिवं रामः पातयित्वावधीद् रणे ।।

शत्रुसूदन हैहयराज कार्तवीर्य अर्जुन रथपर बैठा था, परंतु युद्धमें परशुरामजीने उसे नीचे गिराकर मार डाला।

जम्भस्य मूर्ध्नि भेत्ता च हन्ता च शतदुन्दुभेः ।
स एष कृष्णो गोविन्दो जातो भृगुषु वीर्यवान् ।।
सहस्रबाहुमुद्धर्त्तुं सहस्रजितमाहवे ।।
क्षत्रियाणां चतुष्षष्टिमयुतानां महायशाः ।
सरस्वत्यां समेतानि एष वै धनुषाजयत् ।।
ब्रह्मद्विषां वधे तस्मिन् सहस्राणि चतुर्दश ।
पुनर्जग्राह शूराणामन्तं चक्रे नरर्षभः ।।
ततो दशसहस्रस्य हन्ता पूर्वमरिंदमः ।
सहस्रं मुसलेनाहन् सहस्रमुदकृन्तत ।।

ये भगवान् गोविन्द ही पराक्रमी परशुरामरूपसे भृगुवंशमें अवतीर्ण हुए। ये ही जम्भासुरका मस्तक विदीर्ण करनेवाले तथा शतदुन्दुभिके घातक हैं। इन्होंने सहस्रोंपर विजय पानेवाले सहस्रबाहु अर्जुनका युद्धमें संहार करनेके लिये ही अवतार लिया था। महायशस्वी परशुरामने केवल धनुषकी सहायतासे सरस्वती नदीके तटपर एकत्रित हुए छः लाख चालीस हजार क्षत्रियोंपर विजय पायी थी। वे सभी क्षत्रिय ब्राह्मणोंसे द्वेष करनेवाले थे। उनका वध करते समय नरश्रेष्ठ परशुरामने और भी चौदह हजार शूरवीरोंका अन्त कर डाला। तदनन्तर शत्रुदमन रामने दस हजार क्षत्रियोंका और वध किया। इसके बाद उन्होंने हजारों वीरोंको मूसलसे मारकर यमलोक पहुँचा दिया तथा सहस्रोंको फरसेसे काट डाला।

चतुर्दश सहस्राणि क्षणमात्रमपातयत् ।
शिष्टान् ब्रह्मद्विषश्छित्त्वा ततोऽस्नायत भार्गवः ।।

राम रामेत्यभिक्रुष्टो ब्राह्मणैः क्षत्रियार्दितैः ।
न्यघ्नद् दशसहस्राणि रामः परशुनाभिभूः ।।

भृगुनन्दन परशुरामने चौदह हजार क्षत्रियोंको क्षणमात्रमें मार गिराया तथा शेष ब्रह्मद्रोहियोंका भी मूलोच्छेद करके स्नान किया। क्षत्रियोंसे पीड़ित होकर ब्राह्मणोंने 'राम-राम' कहकर आर्तनाद किया था; इसीलिये सर्वविजयी परशुरामने पुनः फरसेसे दस हजार क्षत्रियोंका अन्त किया।

न ह्यमृष्यत तां वाचमार्तैर्भृशमुदीरिताम् ।
भृगो रामाभिधावेति यदाक्रन्दन् द्विजातयः ।।

जिस समय द्विजलोग 'भृगुनन्दन परशुराम! दौड़ो, बचाओ' इत्यादि बातें कहकर करुणक्रन्दन करते, उस समय उन पीड़ितोंद्वारा कही हुई वह आर्तवाणी परशुरामजी नहीं सहन कर सके।

काश्मीरान् दरदान् कुन्तीन् क्षुद्रकान् मालवाञ्छकान् ।
चेदिकाशिकरूषांश्च ऋषिकान् क्रथकैशिकान् ।।
अङ्गान् बङ्गान् कलिङ्गांश्च मागधान् काशिकोसलान् ।
रात्रायणान् वीतिहोत्रान् किरातान् मार्तिकावतान् ।।
एतानन्यांश्च राजेन्द्रान् देशे देशे सहस्रशः ।
निकृत्त्य निशितैर्बाणैः सम्प्रदाय विवस्वते ।।

उन्होंने काश्मीर, दरद, कुन्तिभोज, क्षुद्रक, मालव, शक, चेदि, काशि, करूष, ऋषिक, क्रथ, कैशिक, अंग, वंग, कलिंग, मागध, काशी, कोसल, रात्रायण, वीतिहोत्र, किरात तथा मार्तिकावत—इनको तथा अन्य सहस्रों राजेश्वरोंको प्रत्येक देशमें तीखे बाणोंसे मारकर यमराजके भेंट कर दिया।

कीर्णा क्षत्रियकोटीभिः मेरुमन्दरभूषणा ।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी तेन निःक्षत्रिया कृता ।।

मेरु और मन्दर पर्वत जिसके आभूषण हैं, वह पृथ्वी करोड़ों क्षत्रियोंकी लाशोंसे पट गयी। एक-दो बार नहीं, इक्कीस बार परशुरामने यह पृथ्वी क्षत्रियोंसे सूनी कर दी।

एवमिष्ट्वा महाबाहुः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
अन्यद् वर्षशतं रामः सौभे शाल्वमयोधयत् ।।
ततः स भृगुशार्दूलस्तं सौभं योधयन् प्रभुः ।
सुबन्धुरं रथं राजन्नास्थाय भरतर्षभ ।।
नग्निकानां कुमारीणां गायन्तीनामुपाशृणोत् ।

तदनन्तर महाबाहु परशुरामने प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करके सौ वर्षोंतक सौभ नामक विमानपर बैठे हुए राजा शाल्वके साथ युद्ध किया। भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर!

तदनन्तर सुन्दर रथपर बैठकर सौभ विमानके साथ युद्ध करनेवाले शक्तिशाली वीर भृगुश्रेष्ठ परशुरामने गीत गाती हुई नग्निका* कुमारियोंके मुखसे यह सुना—

राम राम महाबाहो भृगूणां कीर्तिवर्धन ।
त्यज शस्त्राणि सर्वाणि न त्वं सौभं वधिष्यसि ।।
चक्रहस्तो गदापाणिर्भीतानामभयंकरः ।
युधि प्रद्युम्नसाम्बाभ्यां कृष्णः सौभं वधिष्यति ।।

'राम! राम! महाबाहो! तुम भृगुवंशकी कीर्ति बढ़ानेवाले हो; अपने सारे अस्त्र-शस्त्र नीचे डाल दो। तुम सौभ विमानका नाश नहीं कर सकोगे। भयभीतोंको अभय देनेवाले चक्रधारी गदापाणि भगवान् श्रीविष्णु प्रद्युम्न और साम्बको साथ लेकर युद्धमें सौभ विमानका नाश करेंगे'।

तच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रस्तत एव वनं ययौ ।
न्यस्य सर्वाणि शस्त्राणि कालकाङ्क्षी महायशाः ।।
रथं वर्मायुधं चैव शरान् परशुमेव च ।
धनूंष्यप्सु प्रतिष्ठाप्य राजंस्तेपे परं तपः ।।

यह सुनकर पुरुषसिंह परशुराम उसी समय वनको चल दिये। राजन्! वे महायशस्वी मुनि कृष्णावतारके समयकी प्रतीक्षा करते हुए अपने सारे अस्त्र-शस्त्र, रथ, कवच, आयुध बाण, परशु और धनुष जलमें डालकर बड़ी भारी तपस्यामें लग गये।

ह्रियं प्रज्ञां श्रियं कीर्तिं लक्ष्मीं चामित्रकर्शनः ।
पञ्चाधिष्ठाय धर्मात्मा तं रथं विससर्ज ह ।।

शत्रुओंका नाश करनेवाले धर्मात्मा परशुरामने लज्जा, प्रज्ञा, श्री, कीर्ति और लक्ष्मी—इन पाँचोंका आश्रय लेकर अपने पूर्वोक्त रथको त्याग दिया।

आदिकाले प्रवृत्तं हि विभजन् कालमीश्वरः ।
नाहनच्छ्रद्धया सौभं न ह्यशक्तो महायशाः ।।
जामदग्न्य इति ख्यातो यस्त्वसौ भगवानृषिः ।
सोऽस्य भागस्तपस्तेपे भार्गवो लोकविश्रुतः ।।
शृणु राजंस्तथा विष्णोः प्रादुर्भावं महात्मनः ।
चतुर्विंशे युगे चापि विश्वामित्रपुरःसरः ।।

आदिकालमें जिसकी प्रवृत्ति हुई थी, उस कालका विभाग करके भगवान् परशुरामने कुमारियोंकी बातपर श्रद्धा होनेके कारण ही सौभ विमानका नाश नहीं किया, असमर्थताके कारण नहीं। जमदग्निनन्दन परशुरामके नामसे विख्यात वे महर्षि, जो विश्वविदित ऐश्वर्यशाली महर्षि हैं, वे इन्हीं श्रीकृष्णके अंश हैं, जो इस समय तपस्या कर रहे हैं। राजन्! अब महात्मा भगवान् विष्णुके साक्षात् स्वरूप श्रीरामके अवतारका वर्णन सुनो, जो विश्वामित्र मुनिको आगे करके चलनेवाले थे।

तिथौ नावमिके जज्ञे तथा दशरथादपि ।

कृत्वाऽऽत्मानं महाबाहुश्चतुर्धा विष्णुरव्ययः ।।

चैत्रमासके शुक्लपक्षकी नवमी तिथिको अविनाशी भगवान् महाबाहु विष्णुने अपने-आपको चार स्वरूपोंमें विभक्त करके महाराज दशरथके सकाशसे अवतार ग्रहण किया था।

लोके राम इति ख्यातस्तेजसा भास्करोपमः ।

प्रसादनार्थं लोकस्य विष्णुस्तस्य सनातनः ।।

धर्मार्थमेव कौन्तेय जज्ञे तत्र महायशाः ।

वे भगवान् सूर्यके समान तेजस्वी राजकुमार लोकमें श्रीरामके नामसे विख्यात हुए। कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! जगत्को प्रसन्न करने तथा धर्मकी स्थापनाके लिये ही महायशस्वी सनातन भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हुए थे।

तमप्याहुर्मनुष्येन्द्रं सर्वभूतपतेस्तनुम् ।।

यज्ञविघ्नं तदा कृत्वा विश्वामित्रस्य भारत ।

सुबाहुर्निहतस्तेन मारीचस्ताडितो भृशम् ।।

मनुष्योंके स्वामी भगवान् श्रीरामको साक्षात् सर्वभूतपति श्रीहरिका ही स्वरूप बतलाया जाता है। भारत! उस समय विश्वामित्रके यज्ञमें विघ्न डालनेके कारण राक्षस सुबाहु श्रीरामचन्द्रजीके हाथों मारा गया और मारीच नामक राक्षसको भी बड़ी चोट पहुँची।

तस्मै दत्तानि शस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता ।

वधार्थं देवशत्रूणां दुर्वाराणि सुरैरपि ।।

परम बुद्धिमान् विश्वामित्र मुनिने देवशत्रु राक्षसोंका वध करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजीको ऐसे-ऐसे दिव्यास्त्र प्रदान किये थे, जिनका निवारण करना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन था।

वर्तमाने तदा यज्ञे जनकस्य महात्मनः ।

भग्नं माहेश्वरं चापं क्रीडता लीलया परम् ।।

ततो विवाहं सीतायाः कृत्वा स रघुवल्लभः ।

नगरीं पुनरासाद्य मुमुदे तत्र सीतया ।।

उन्हीं दिनों महात्मा जनकके यहाँ धनुषयज्ञ हो रहा था, उसमें श्रीरामने भगवान् शंकरके महान् धनुषको खेल-खेलमें ही तोड़ डाला। तदनन्तर सीताजीके साथ विवाह करके रघुनाथजी अयोध्यापुरीमें लौट आये और वहाँ सीताजीके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे।

कस्यचित् त्वथ कालस्य पित्रा तत्राभिचोदितः ।

कैकेय्याः प्रियमन्विच्छन् वनमभ्यवपद्यत ।।

कुछ कालके पश्चात् पिताकी आज्ञा पाकर वे अपनी विमाता महारानी कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे वनमें चले गये।

यः समाः सर्वधर्मज्ञश्चतुर्दश वने वसन् ।
लक्ष्मणानुचरो रामः सर्वभूतहिते रतः ।।
चतुर्दश वने तप्त्वा तपो वर्षाणि भारत ।
रूपिणी यस्य पार्श्वस्था सीतेत्यभिहिता जनैः ।।

वहाँ सब धर्मोंके ज्ञाता और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणके साथ चौदह वर्षोंतक वनमें निवास किया। भरतवंशी राजन्! चौदह वर्षोंतक उन्होंने वनमें तपस्यापूर्वक जीवन बिताया। उनके साथ उनकी अत्यन्त रूपवती धर्मपत्नी भी थीं, जिन्हें लोग सीता कहते थे।

पूर्वोचितत्वात् सा लक्ष्मीर्भर्तारमनुगच्छति ।
जनस्थाने वसन् कार्यं त्रिदशानां चकार सः ।।
मारीचं दूषणं हत्वा खरं त्रिशिरसं तथा ।
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां घोरकर्मणाम् ।।
जघान रामो धर्मात्मा प्रजानां हितकाम्यया ।

अवतारके पहले श्रीविष्णुरूपमें रहते समय भगवान्‌के साथ उनकी जो योग्यतमा भार्या लक्ष्मी रहा करती हैं, उन्होंने ही उपयुक्त होनेके कारण श्रीरामावतारके समय सीताके रूपमें अवतीर्ण हो अपने पतिदेवका अनुसरण किया था। भगवान् श्रीराम जनस्थानमें रहकर देवताओंके कार्य सिद्ध करते थे। धर्मात्मा श्रीरामने प्रजाजनोंके हितकी कामनासे भयानक कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंका वध किया। जिनमें मारीच, खर-दूषण और त्रिशिरा आदि प्रधान थे।

विराधं च कबन्धं च राक्षसौ क्रूरकर्मिणौ ।।
जघान च तदा रामो गन्धर्वौ शापविक्षतौ ।।

उन्हीं दिनों दो शापग्रस्त गन्धर्व क्रूरकर्मा राक्षसोंके रूपमें वहाँ रहते थे, जिनके नाम विराध और कबन्ध थे। श्रीरामने उन दोनोंका भी संहार कर डाला।

स रावणस्य भगिनीनासाच्छेदं चकार ह ।
भार्यावियोगं तं प्राप्य मृगयन् व्यचरद् वनम् ।।
ततस्तमृष्यमूकं स गत्वा पम्पामतीत्य च ।
सुग्रीवं मारुतिं दृष्ट्वा चक्रे मैत्रीं तयोः स वै ।।

उन्होंने रावणकी बहिन शूर्पणखाकी नाक भी लक्ष्मणके द्वारा कटवा दी; इसीके कारण (राक्षसोंके षड्यन्त्रसे) उन्हें पत्नीका वियोग देखना पड़ा। तब वे सीताकी खोज करते हुए वनमें विचरने लगे। तदनन्तर ऋष्यमूक पर्वतपर जा पम्पासरोवरको लाँघकर श्रीरामजी सुग्रीव और हनुमान्‌जीसे मिले और उन दोनोंके साथ उन्होंने मैत्री स्थापित कर ली।

अथ गत्वा स किष्किन्धां सुग्रीवेण तदा सह ।
निहत्य वालिनं युद्धे वानरेन्द्रं महाबलम् ।।
अभ्यषिञ्चत् तदा रामः सुग्रीवं वानरेश्वरम् ।
ततः स वीर्यवान् राजंस्त्वरयन् वै समुत्सुकः ।
विचित्य वायुपुत्रेण लङ्कादेशं निवेदितम् ।।

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवके साथ किष्किन्धामें जाकर महाबली वानरराज बालीको युद्धमें मारा और सुग्रीवको वानरोंके राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया। राजन्! तदनन्तर पराक्रमी श्रीराम सीताजीके लिये उत्सुक हो बड़ी उतावलीके साथ उनकी खोज कराने लगे। वायुपुत्र हनुमान्जीने पता लगाकर यह बतलाया कि सीताजी लंकामें हैं।

सेतुं बद्ध्वा समुद्रस्य वानरैः सहितस्तदा ।
सीतायाः पदमन्विच्छन् रामो लङ्कां विवेश ह ।।

तब समुद्रपर पुल बाँधकर वानरोंसहित श्रीरामने सीताजीके स्थानका पता लगाते हुए लंकामें प्रवेश किया।

देवोरगगणानां हि यक्षराक्षसपक्षिणाम् ।
तत्रावध्यं राक्षसेन्द्रं रावणं युधि दुर्जयम् ।।
युक्तं राक्षसकोटीभिर्भिन्नाञ्जनचयोपमम् ।

वहाँ देवता, नागगण, यक्ष, राक्षस तथा पक्षियोंके लिये अवध्य और युद्धमें दुर्जय राक्षसराज रावण करोड़ों राक्षसोंके साथ रहता था। वह देखनेमें खानसे खोदकर निकाले हुए कोयलेके ढेरके समान जान पड़ता था।

दुर्निरीक्ष्यं सुरगणैर्वरदानेन दर्पितम् ।
जघान सचिवैः सार्धं सान्वयं रावणं रणे ।
त्रैलोक्यकण्टकं वीरं महाकायं महाबलम् ।।
रावणं सगणं हत्वा रामो भूतपतिः पुरा ।।
लङ्कायां तं महात्मानं राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ।
अभिषिच्य च तत्रैव अमरत्वं ददौ तदा ।।

देवताओंके लिये उसकी ओर आँख उठाकर देखना भी कठिन था। ब्रह्माजीसे वरदान मिलनेसे उसका घमंड बहुत बढ़ गया था। श्रीरामने त्रिलोकीके लिये कण्टकरूप महाबली विशालकाय वीर रावणको उसके मन्त्रियों और वंशजोंसहित युद्धमें मार डाला। इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी श्रीरघुनाथजीने प्राचीन कालमें रावणको सेवकोंसहित मारकर लंकाके राज्यपर राक्षसपति महात्मा विभीषणका अभिषेक करके उन्हें वहीं अमरत्व प्रदान किया।

आरुह्य पुष्पकं रामः सीतामादाय पाण्डव ।
सबलः स्वपुरं गत्वा धर्मराज्यमपालयत् ।।

दानवो लवणो नाम मधोः पुत्रो महाबलः ।
शत्रुघ्नेन हतो राजंस्ततो रामस्य शासनात् ।।

पाण्डुनन्दन! तत्पश्चात् श्रीरामने पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो सीताको साथ ले दलबलसहित अपनी राजधानीमें जाकर धर्मपूर्वक राज्यका पालन किया। राजन्! उन्हीं दिनों मथुरामें मधुका पुत्र लवण नामक दानव राज्य करता था, जिसे रामचन्द्रजीकी आज्ञासे शत्रुघ्नने मार डाला।

एवं बहूनि कर्माणि कृत्वा लोकहिताय सः ।
राज्यं चकार विधिवद् रामो धर्मभृतां वरः ।।

इस प्रकार धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने लोकहितके लिये बहुत-से कार्य करके विधिपूर्वक राज्यका पालन किया।

दशाश्वमेधानाजह्रे जारुधिस्थान् निरर्गलान् ।।
नाश्रूयन्ताशुभा वाचो नात्ययः प्राणिनां तदा ।
न वित्तजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति ।।
प्राणिनां च भयं नासीज्जलानलविधानजम् ।
पर्यदेवन्न विधवा नानाथाः काश्चनाभवन् ।।

उन्होंने दस अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया और सरयूतटके जारुधिप्रदेशको विघ्न-बाधाओंसे रहित कर दिया। श्रीरामचन्द्रजीके शासनकालमें कभी कोई अमंगल-की बात नहीं सुनी गयी। उस समय प्राणियोंकी अकालमृत्यु नहीं होती थी और किसीको भी धनकी रक्षा आदिके निमित्त भय नहीं प्राप्त होता था। संसारके जीवोंको जल और अग्नि आदिसे भी भय नहीं होता था। विधवाओंका करुण क्रन्दन नहीं सुना जाता था तथा स्त्रियाँ अनाथ नहीं होती थीं।

सर्वमासीत् तदा तृप्तं रामे राज्यं प्रशासति ।
न संकरकरा वर्णा नाकृष्टकरकृज्जनः ।।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यशासनकालमें सम्पूर्ण जगत् संतुष्ट था। किसी भी वर्णके लोग वर्णसंकर संतान नहीं उत्पन्न करते थे। कोई भी मनुष्य ऐसी जमीनके लिये कर नहीं देता था, जो जोतने-बोनेके काममें न आती हो।

न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते ।।
विशः पर्यचरन् क्षत्रं क्षत्रं नापीडयद् विशः ।
नरा नात्यचरन् भार्या भार्या नात्यचरन् पतीन् ।।
नासीदल्पकृषिर्लोके रामे राज्यं प्रशासति ।
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः ।
अरोगाः प्राणिनोऽप्यासन् रामे राज्यं प्रशासति ।।

बूढ़ेलोग बालकोंका अन्त्येष्टि-संस्कार नहीं करते थे (उनके सामने ऐसा अवसर ही नहीं आता था)। वैश्यलोग क्षत्रियोंकी परिचर्या करते थे और क्षत्रियलोग भी वैश्योंको कष्ट नहीं होने देते थे। पुरुष अपनी पत्नियोंकी अवहेलना नहीं करते थे और पत्नियाँ भी पतियोंकी अवहेलना नहीं करती थीं। श्रीरामचन्द्रजीके राज्य-शासन करते समय लोकमें खेतीकी उपज कम नहीं होती थी। लोग सहस्र पुत्रोंसे युक्त होकर सहस्रों वर्षोंतक जीवित रहते थे। श्रीरामके राज्य-शासनकालमें सब प्राणी नीरोग थे।

ऋषीणां देवतानां च मनुष्याणां तथैव च ।
पृथिव्यां सहवासोऽभूद् रामे राज्यं प्रशासति ।।
सर्वे ह्यासंस्तृप्तरूपास्तदा तस्मिन् विशाम्पते ।
धर्मेण पृथिवीं सर्वामनुशासति भूमिपे ।।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें इस पृथ्वीपर ऋषि, देवता और मनुष्य साथ-साथ रहते थे। राजन्! भूमिपाल श्रीरघुनाथजी जिन दिनों सारी पृथ्वीका शासन करते थे, उस समय उनके राज्यमें सब लोग पूर्णतः तृप्तिका अनुभव करते थे।

तपस्येवाभवन् सर्वे सर्वे धर्ममनुव्रताः ।
पृथिव्यां धार्मिके तस्मिन् रामे राज्यं प्रशासति ।।

धर्मात्मा राजा रामके राज्यमें पृथ्वीपर सब लोग तपस्यामें ही लगे रहते थे और सब-के-सब धर्मानुरागी थे।

नाधर्मिष्ठो नरः कश्चिद् बभूव प्राणिनां क्वचित् ।
प्राणापानौ समावास्तां रामे राज्यं प्रशासति ।।

श्रीरामके राज्य-शासनकालमें कोई भी मनुष्य अधर्ममें प्रवृत्त नहीं होता था। सबके प्राण और अपान समवृत्तिमें स्थित थे।

गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ।
श्यामो युवा लोहिताक्षो मातङ्गानामिवर्षभः ।।
आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाबलः ।
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।।
राज्यं भोगं च सम्प्राप्य शशास पृथिवीमिमाम् ।

जो पुराणवेत्ता विद्वान् हैं, वे इस विषयमें निम्नांकित गाथा गाया करते हैं—‘भगवान् श्रीरामकी अंगकान्ति श्याम है, युवावस्था है, उनके नेत्रोंमें कुछ-कुछ लाली है। वे गजराज-जैसे पराक्रमी हैं। उनकी भुजाएँ घुटनोंतक लंबी हैं। मुख बहुत सुन्दर है। कंधे सिंहके समान हैं और वे महान् बलशाली हैं। उन्होंने राज्य और भोग पाकर ग्यारह हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका शासन किया।

रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः ।।
रामभूतं जगदिदं रामे राज्यं प्रशासति ।

ऋग्यजुःसामहीनाश्च न तदासन् द्विजातयः ।।

प्रजाजनोंमें 'राम राम राम' इस प्रकार केवल रामकी ही चर्चा होती थी। रामके राज्य-शासनकालमें यह सारा जगत् राममय हो रहा था। उस समयके द्विज ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके ज्ञानसे शून्य नहीं थे।

उषित्वा दण्डके कार्यं त्रिदशानां चकार सः ।
पूर्वापकारिणं संख्ये पौलस्त्यं मनुजर्षभः ।।
देवगन्धर्वनागानामरिं स निजघान ह ।
सत्त्ववान् गुणसम्पन्नो दीप्यमानः स्वतेजसा ।।
एवमेव महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलवर्धनः ।।

इस प्रकार मनुष्योंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने दण्डकारण्यमें निवास करके देवताओंका कार्य सिद्ध किया और पहलेके अपराधी पुलस्त्यनन्दन रावणको, जो देवताओं, गन्धर्वों और नागोंका शत्रु था, युद्धमें मार गिराया। इक्ष्वाकुकुलका अभ्युदय करनेवाले महाबाहु श्रीराम महान् पराक्रमी, सर्वगुणसम्पन्न और अपने तेजसे देदीप्यमान थे।

रावणं सगणं हत्वा दिवमाक्रमताभिभूः ।
इति दाशरथेः ख्यातः प्रादुर्भावो महात्मनः ।।

वे इसी प्रकार सेवकोंसहित रावणका वध करके राज्यपालनके पश्चात् साकेतलोकमें पधारे। इस प्रकार परमात्मा दशरथनन्दन श्रीरामके अवतारका वर्णन किया गया।

(कृष्णावतारः)

ततः कृष्णो महाबाहुर्भीतानामभयङ्करः ।
अष्टाविंशे युगे राजन् जज्ञे श्रीवत्सलक्षणः ।।

राजन्! तदनन्तर अब अट्ठाईसवें द्वापरमें भय-भीतोंको अभय देनेवाले श्रीवत्सविभूषित महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें श्रीविष्णुका अवतार हुआ है।

पेशलश्च वदान्यश्च लोके बहुमतो नृषु ।
स्मृतिमान् देशकालज्ञः शङ्खचक्रगदासिधृक् ।।

ये इस लोकमें परम सुन्दर, उदार, मनुष्योंमें अत्यन्त सम्मानित, स्मरणशक्तिसे सम्पन्न, देशकालके ज्ञाता एवं शंख, चक्र, गदा और खड्ग आदि आयुध धारण करनेवाले हैं।

वासुदेव इति ख्यातो लोकानां हितकृत् सदा ।
वृष्णीनां च कुले जातो भूमेः प्रियचिकीर्षया ।।

वासुदेवके नामसे इनकी प्रसिद्धि है। ये सदा सब लोगोंके हितमें संलग्न रहते हैं। भूदेवीका प्रिय कार्य करनेकी इच्छासे इन्होंने वृष्णिवंशमें अवतार ग्रहण किया है।

स नृणामभयं दाता मधुहेति स विश्रुतः ।
शकटार्जुनरामाणां किल स्थानान्यसूदयत् ।।

ये ही मनुष्योंको अभयदान करनेवाले हैं। इन्हींकी मधुसूदन नामसे प्रसिद्धि है। इन्होंने ही शकटासुर, यमलार्जुन और पूतनाके मर्मस्थानोंमें आघात करके उनका संहार किया है।

कंसादीन् निजघानाजौ दैत्यान् मानुषविग्रहान् ।
अयं लोकहितार्थाय प्रादुर्भावो महात्मनः ।।

मनुष्य-शरीरमें प्रकट हुए कंस आदि दैत्योंको युद्धमें मार गिराया। परमात्माका यह अवतार भी लोकहितके लिये ही हुआ है।

(कल्क्यवतारः)

कल्की विष्णुयशा नाम भूयश्चोत्पत्स्यते हरिः ।
कलेर्युगान्ते सम्प्राप्ते धर्मे शिथिलतां गते ।।
पाखण्डिनां गणानां हि वधार्थं भरतर्षभः ।
धर्मस्य च विवृद्ध्यर्थं विप्राणां हितकाम्यया ।।

कलियुगके अन्तमें जब धर्म शिथिल हो जायगा, उस समय भगवान् श्रीहरि पाखण्डियोंके वध तथा धर्मकी वृद्धिके लिये और ब्राह्मणोंके हितकी कामनासे पुनः अवतार लेंगे। उनके उस अवतारका नाम होगा 'कल्कि विष्णुयशा'।

एते चान्ये च बहवो दिव्या देवगणैर्युताः ।
प्रादुर्भावाः पुराणेषु गीयन्ते ब्रह्मवादिभिः ।।

भगवान्‌के ये तथा और भी बहुत-से दिव्य अवतार देवगणोंके साथ होते हैं, जिनका ब्रह्मवादी पुरुष पुराणोंमें वर्णन करते हैं।

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[श्रीकृष्णका प्राकट्य तथा श्रीकृष्ण-बलरामकी बाललीलाओंका वर्णन]

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तोऽथ कौन्तेयस्ततः पौरवनन्दनः ।
आबभाषे पुनर्भीष्मं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजीके इस प्रकार कहनेपर पूरुवंशको आनन्दित करनेवाले कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिरने पुनः उनसे कहा।

युधिष्ठिर उवाच

भूय एव मनुष्येन्द्र उपेन्द्रस्य यशस्विनः ।
जन्म वृष्णिषु विज्ञातुमिच्छामि वदतां वर ।।

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ नरेन्द्र! मैं यशस्वी भगवान् विष्णुके वृष्णिवंशमें अवतार ग्रहण करनेका वृत्तान्त पुनः (विस्तारपूर्वक) जानना चाहता हूँ।

यथैव भगवाञ्जातः क्षिताविह जनार्दनः ।
माधवेषु महाबुद्धिस्तन्मे ब्रूहि पितामह ।।

पितामह! परम बुद्धिमान् भगवान् जनार्दन इस पृथ्वीपर मधुवंशमें जिस प्रकार उत्पन्न हुए, वह सब प्रसंग मुझसे कहिये।

यदर्थं च महातेजा गास्तु गोवृषभेक्षणः ।
ररक्ष कंसस्य वधाल्लोकानामभिरक्षिता ।।

बैलके समान विशाल नेत्रोंवाले लोकरक्षक महा-तेजस्वी श्रीकृष्णने किसलिये कंसका वध करके गौओंकी रक्षा की?

क्रीडता चैव यद् बाल्ये गोविन्देन विचेष्टितम् ।
तदा मतिमतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ।।

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ पितामह! उस समय बाल्यावस्थामें बालकोचित क्रीड़ाएँ करते समय भगवान् गोविन्दने क्या-क्या लीलाएँ कीं? यह सब मुझे बताइये।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो भीष्मः केशवस्य महात्मनः ।
माधवेषु तदा जन्म कथयामास वीर्यवान् ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर महापराक्रमी भीष्मने मधुवंशमें भगवान् केशवके अवतार लेनेकी कथा कहनी प्रारम्भ की।

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर यथातथम् ।
यतो नारायणस्येह जन्म वृष्णिषु कौरव ।।

भीष्मजी बोले—कुरुरत्न युधिष्ठिर! अब मैं वृष्णिवंशमें भगवान् नारायणके अवतार-ग्रहणका यथावत् वृत्तान्त कहूँगा।

अजातशत्रो जातस्तु यथैष भुवि भूमिपः ।
कीर्त्यमानं मया तात निबोध भरतर्षभ ।।

भरतकुलभूषण तात अजातशत्रो! वसुधाकी रक्षा करनेवाले ये भगवान् यहाँ किस प्रकार प्रकट हुए? यह मैं बतला रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो।

सागराः समकम्पन्त मुदा चेलुश्च पर्वताः ।
जज्वलुश्चाग्नयः शान्ता जायमाने जनार्दने ।।

भगवान्के जन्मके समय आनन्दोद्रेकके कारण समुद्रमें उत्ताल तरंगें उठने लगीं, पर्वत हिलने लगे और बुझी हुई अग्नियाँ भी सहसा प्रज्वलित हो उठीं।

शिवाः सम्प्रववुर्वाताः प्रशान्तमभवद् रजः ।
ज्योतींषि सम्प्रकाशन्ते जायमाने जनार्दने ।।

भगवान् जनार्दनके जन्मकालमें शीतल, मन्द एवं सुखद वायु चलने लगी। धरतीकी धूल शान्त हो गयी और नक्षत्र प्रकाशित होने लगे।

देवदुन्दुभयश्चापि सस्वनुर्भृशमम्बरे ।
अभ्यवर्षंस्तदाऽऽगम्य देवताः पुष्पवृष्टिभिः ।।

आकाशमें देवलोकके नगाड़े जोर-जोरसे बजने लगे और देवगण आ-आकर वहाँ फूलोंकी वर्षा करने लगे।

गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिरस्तुवन् मधुसूदनम् ।
उपतस्थुस्तदा प्रीताः प्रादुर्भावे महर्षयः ।।

वे मंगलमयी वाणीद्वारा भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करने लगे। भगवान्के अवतारका समय जान महर्षिगण भी अत्यन्त प्रसन्न होकर वहाँ आ पहुँचे।

ततस्तानभिसम्प्रेक्ष्य नारदप्रमुखानृषीन् ।
उपानृत्यन्नुपजगुर्गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।।

नारद आदि देवर्षियोंको उपस्थित देख गन्धर्व और अप्सराएँ नाचने और गाने लगीं।

उपतस्थे च गोविन्दं सहस्राक्षः शचीपतिः ।
अभ्यभाषत तेजस्वी महर्षीन् पूजयंस्तदा ।।

उस समय सहस्र नेत्रोंवाले शचीवल्लभ तेजस्वी इन्द्र भगवान् गोविन्दकी सेवामें उपस्थित हुए और महर्षियोंका आदर करते हुए बोले।

इन्द्र उवाच

कृत्यानि देवकार्याणि कृत्वा लोकहिताय च ।
स्वलोकं लोककृद् देव पुनर्गच्छ स्वतेजसा ।।

इन्द्रने कहा—देव! आप सम्पूर्ण जगत्के स्रष्टा हैं। देवताओंके जो कर्तव्य कार्य हैं, उन सबको सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये सिद्ध करके आप अपने तेजसहित पुनः परमधामको पधारिये।

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा मुनिभिः सार्धं जगाम त्रिदिवेश्वरः ।

भीष्मजी कहते हैं—ऐसा कहकर स्वर्गलोकके स्वामी इन्द्र देवर्षियोंके साथ अपने लोकको चले गये।

वसुदेवस्ततो जातं बालमादित्यसंनिभम् ।
नन्दगोपकुले राजन् भयात् प्राच्छादयद्धरिम् ।।

राजन्! तदनन्तर वसुदेवजीने कंसके भयसे सूर्यके समान तेजस्वी अपने नवजात बालक श्रीहरिको नन्दगोपके घरमें छिपा दिया।

नन्दगोपकुले कृष्ण उवास बहुलाः समाः ।
ततः कदाचित् सुप्तं तं शकटस्य त्वधः शिशुम् ।।
यशोदा सम्परित्यज्य जगाम यमुनां नदीम् ।

श्रीकृष्ण बहुत वर्षोंतक नन्दगोपके ही घरमें रहे। एक दिन वहाँ शिशु श्रीकृष्ण एक छकड़ेके नीचे सोये थे। माता यशोदा उन्हें वहीं छोड़कर यमुनाजीके तटपर चली गयीं।

शिशुलीलां ततः कुर्वन् स्वहस्तचरणौ क्षिपन् ।।
रुरोद मधुरं कृष्णः पादावूर्ध्वं प्रसारयन् ।
पादाङ्गुष्ठेन शकटं धारयन्नथ केशवः ।।
तत्राथैकेन पादेन पातयित्वा तथा शिशुः ।

उस समय श्रीकृष्ण शिशुलीलाका प्रदर्शन करते हुए अपने हाथ-पैर फेंक-फेंककर मधुर स्वरमें रोने लगे। पैरोंको ऊपर फेंकते समय भगवान् केशवने अपने पैरके अंगूठेसे छकड़ेको धक्का दे दिया और इस प्रकार एक ही पाँवसे छकड़ेको उलटकर गिरा दिया।

न्युब्जः पयोधराकाङ्क्षी चकार च रुरोद च ।।
पातितं शकटं दृष्ट्वा भिन्नभाण्डघटीघटम् ।
जनास्ते शिशुना तेन विस्मयं परमं ययुः ।।

उसके बाद वे स्वयं औंधे मुँह हो गये और माताका स्तन पीनेकी इच्छासे जोर-जोरसे रोने लगे। शिशुके ही पदाघातसे छकड़ा उलटकर गिर गया तथा उसपर रखे हुए सभी मटके और घड़े आदि बर्तन चकनाचूर हो गये। यह देखकर सब लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ।

प्रत्यक्षं शूरसेनानां दृश्यते महदद्भुतम् ।
पूतना चापि निहता महाकाया महास्तनी ।।
पश्यतां सर्वदेवानां वासुदेवेन भारत ।

भरतनन्दन! शूरसेनदेश (मथुरामण्डल)-के निवासियोंको यह अत्यन्त अद्भुत घटना प्रत्यक्ष दिखायी दी तथा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने (आकाशमें स्थित) सब देवताओंके देखते-देखते महाकाय एवं विशाल स्तनोंवाली पूतनाको भी पहले मार डाला था।

ततः काले महाराज संसक्तौ रामकेशवौ ।।
विष्णुः सङ्कर्षणश्चोभौ रिङ्गिणौ समपद्यताम् ।

महाराज! तदनन्तर संकर्षण और विष्णुके स्वरूप बलराम और श्रीकृष्ण दोनों भाई कुछ कालके अनन्तर एक साथ ही घुटनोंके बल रेंगने लगे।

अन्योन्यकिरणग्रस्तौ चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ।।
विसर्पयेतां सर्वत्र सर्पभोगभुजौ तदा ।

जैसे चन्द्रमा और सूर्य एक-दूसरेकी किरणोंसे बँधकर आकाशमें एक साथ विचरते हों, उसी प्रकार बलराम और श्रीकृष्ण सर्वत्र एक साथ चलते-फिरते थे। उनकी भुजाएँ सर्पके शरीरकी भाँति सुशोभित होती थीं।

रेजतुः पांसुदिग्धाङ्गौ रामकृष्णौ तदा नृप ।।
क्वचिच्च जानुभिर्घृष्टौ क्रीडमानौ क्वचिद् वने ।
पिबन्तौ दधिकुल्याश्च मथ्यमाने च भारत ।।

नरेश्वर! बलराम और श्रीकृष्ण दोनोंके अंग धूलि-धूसरित होकर बड़ी शोभा पाते। भारत! कभी वे दोनों भाई घुटनोंके बल चलते थे, जिससे उनमें घट्ठे पड़ गये थे। कभी वे वनमें खेला करते और कभी मथते समय दहीकी घोल लेकर पीया करते थे।

ततः स बालो गोविन्दो नवनीतं तदा क्षये ।

ग्रसमानस्तु तत्रायं गोपीभिर्ददृशेऽथ वै ।।

एक दिन बालक श्रीकृष्ण एकान्त गृहमें छिपकर माखन खा रहे थे। उस समय वहाँ उन्हें कुछ गोपियोंने देख लिया।

दाम्नाथोलूखले कृष्णो गोपस्त्रीभिश्च बन्धितः ।

तदाथ शिशुना तेन राजंस्तावर्जुनावुभौ ।।

समूलविटपौ भग्नौ तदद्भुतमिवाभवत् ।

तब उन यशोदा आदि गोपांगनाओंने एक रस्सीसे श्रीकृष्णको ऊखलमें बाँध दिया। राजन्! उस समय उन्होंने उस ऊखलको यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें अड़ाकर उन्हें जड़ और शाखाओंसहित तोड़ डाला। वह एक अद्भुत-सी घटना घटित हुई।

तत्रासुरौ महाकायौ गतप्राणौ बभूवतुः ।।

उन वृक्षोंपर दो विशालकाय असुर रहा करते थे। वे भी वृक्षोंके टूटनेके साथ ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे।

ततस्तौ बाल्यमुत्तीर्णौ कृष्णसङ्कर्षणावुभौ ।

तस्मिन्नेव व्रजस्थाने सप्तवर्षौ बभूवतुः ।।

तदनन्तर वे दोनों भाई श्रीकृष्ण और बलराम बाल्यावस्थाकी सीमाको पार करके उस व्रजमण्डलमें ही सात वर्षकी अवस्थावाले हो गये।

नीलपीताम्बरधरौ पतिश्वेतानुलेपनौ ।

बभूवतुर्वत्सपालौ काकपक्षधरावुभौ ।।

बलराम नीले रंगके और श्रीकृष्ण पीले रंगके वस्त्र धारण करते थे। एकके श्रीअंगोंपर पीले रंगका अंगराग लगता था और दूसरेके श्वेत रंगका। दोनों भाई काकपक्ष (सिरके पिछले भागमें बड़े-बड़े केश) धारण किये बछड़े चराने लगे।

पर्णवाद्यं श्रुतिसुखं वादयन्तौ वराननौ ।

शुशुभाते वनगतावुदीर्णाविव पन्नगौ ।।

उन दोनोंकी मुखच्छवि बड़ी मनोहारिणी थी। वे वनमें जाकर श्रवण-सुखद पर्णवाद्य (पत्तोंके बाजे—पिपिहरी आदि) बजाया करते थे। वहाँ दो तरुण नागकुमारोंकी भाँति उन दोनोंकी बड़ी शोभा होती थी।

मयूराङ्गजकर्णौ तौ पल्लवापीडधारिणौ ।

वनमालापरिक्षिप्तौ सालपोताविवोद्गतौ ।।

वे अपने कानोंमें मोरके पंख लगा लेते, मस्तकपर पल्लवोंके मुकुट धारण करते और गलेमें वनमाला डाल लेते थे। उस समय शालके नये पौधोंकी भाँति उन दोनोंकी बड़ी शोभा होती थी।

अरविन्दकृतापीडौ रज्जुयज्ञोपवीतिनौ ।
शिक्यतुम्बधरौ वीरौ गोपवेणुप्रवादकौ ।।

वे कभी कमलके फूलोंके शिरोभूषण धारण करते और कभी बछड़ोंकी रस्सियोंको यज्ञोपवीतकी भाँति धारण कर लेते थे। वीरवर श्रीकृष्ण और बलराम छींके और तुम्बी लिये वनमें घूमते और गोपजनोचित वेणु बजाया करते थे।

क्वचिद् वसन्तावन्योन्यं क्रीडमानौ क्वचिद् वने ।
पर्णशय्यासु संसुप्तौ क्वचिन्निद्रान्तरैषिणौ ।।

वे दोनों भाई कहीं ठहर जाते, कहीं वनमें एक-दूसरेके साथ खेलने लगते और कहीं पत्तोंकी शय्या बिछाकर सो जाते तथा नींद लेने लगते थे।

तौ वत्सान् पालयन्तौ हि शोभयन्तौ महद् वनम् ।
चञ्चूर्यन्तौ रमन्तौ स्म राजन्नेवं तदा शुभौ ।।

राजन्! इस प्रकार वे मंगलमय बलराम और श्रीकृष्ण बछड़ोंकी रक्षा करते तथा उस महान् वनकी शोभा बढ़ाते हुए सब ओर घूमते और भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करते थे।

ततो वृन्दावनं गत्वा वसुदेवसुतावुभौ ।
गोव्रजं तत्र कौन्तेय चारयन्तौ विजह्रतुः ।।

कुन्तीनन्दन! तदनन्तर वे दोनों वसुदेवपुत्र वृन्दावनमें जाकर गौएँ चराते हुए लीला-विहार करने लगे।

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[कालियमर्दन एवं धेनुकासुर, अरिष्टासुर और कंस आदिका वध, श्रीकृष्ण और बलरामका विद्याभ्यास तथा गुरुदक्षिणारूपसे गुरुजीको उनके मरे हुए पुत्रको जीवित करके देना]

भीष्म उवाच

ततः कदाचिद् गोविन्दो ज्येष्ठं सङ्कर्षणं विना ।
चचार तद् वनं रम्यं रम्यरूपो वराननः ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर एक दिन मनोहर रूप और सुन्दर मुखवाले भगवान् गोविन्द अपने बड़े भाई संकर्षणको साथ लिये बिना ही रमणीय वृन्दावनमें चले गये और वहाँ इधर-उधर भ्रमण करने लगे।

काकपक्षधरः श्रीमाञ्छ्यामः पद्मनिभेक्षणः ।
श्रीवत्सेनोरसा युक्तः शशाङ्क इव लक्ष्मणा ।।

उन्होंने काकपक्ष धारण कर रखा था। वे परम शोभायमान, श्याम-वर्ण तथा कमलके समान सुन्दर नेत्रोंसे सुशोभित थे। जैसे चन्द्रमा कलंकसे युक्त होकर शोभा पाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णका वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्नसे शोभा पा रहा था।

रज्जुयज्ञोपवीती स पीताम्बरधरो युवा ।
श्वेतगन्धेन लिप्ताङ्गो नीलकुञ्चितमूर्धजः ।।
राजता बर्हिपत्रेण मन्दमारुतकम्पिना ।
क्वचिद् गायन् क्वचित् क्रीडन् क्वचिन्नृत्यन् क्वचिद्धसन् ।।
गोपवेषः स मधुरं गायन् वेणुं च वादयन् ।
प्रह्लादनार्थं तु गवां क्वचिद् वनगतो युवा ।।
गोकुले मेघकाले तु चचार द्युतिमान् प्रभुः ।
बहुरम्येषु देशेषु वनस्य वनराजिषु ।।
तासु कृष्णो मुदं लेभे क्रीडया भरतर्षभ ।
स कदाचिद् वने तस्मिन् गोभिः सह परिव्रजन् ।।

उन्होंने रस्सियोंको यज्ञोपवीतकी भाँति पहन रखा था। उनके श्रीअंगोंपर पीताम्बर शोभा पा रहा था। विभिन्न अंगोंमें श्वेत चन्दनका अनुलेप किया गया था। उनके मस्तकपर काले-घुँघराले केश सुशोभित थे। सिरपर मोरपंखका मुकुट शोभा पाता था, जो मन्द-मन्द वायुके झोंकोंसे लहरा रहा था। भगवान् कहीं गीत गाते, कहीं क्रीड़ा करते, कहीं नाचते और कहीं हँसते थे। इस प्रकार गोपालोचित वेष धारण किये मधुर गीत गाते और वेणु बजाते हुए तरुण श्रीकृष्ण गौओंको आनन्दित करनेके लिये कभी-कभी वनमें घूमते थे। अत्यन्त कान्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण वर्षाके समय गोकुलमें वहाँके अतिशय रमणीय प्रदेशों तथा

वनश्रेणियोंमें विचरण करते थे। भरतश्रेष्ठ! उन वनश्रेणियोंमें भाँति-भाँतिके खेल करके श्यामसुन्दर बड़े प्रसन्न होते थे। एक दिन वे गौओंके साथ वनमें घूम रहे थे।

भाण्डीरं नाम दृष्ट्वाथ न्यग्रोधं केशवो महान् ।
तच्छायायां निवासाय मतिं चक्रे तदा प्रभुः ।।

घूमते-घूमते महात्मा भगवान् केशवने भाण्डीर नामक वटवृक्ष देखा और उसकी छायामें बैठनेका विचार किया।

स तत्र वयसा तुल्यैः वत्सपालैः सहानघ ।
रेमे स दिवसान् कृष्णः पुरा स्वर्गपुरे तथा ।।

निष्पाप युधिष्ठिर! वहाँ श्रीकृष्ण समान अवस्थावाले दूसरे गोपबालकोंके साथ बछड़े चराते थे, दिनभर खेल-कूद करते थे और पहले दिव्य धाममें जिस प्रकार वे आनन्दित होते थे, उसी प्रकार वनमें आनन्दपूर्वक दिन बिताते थे।

तं क्रीडमानं गोपालाः कृष्णं भाण्डीरवासिनः ।
रमयन्ति स्म बहवो मान्यैः क्रीडनकैस्तदा ।।
अन्ये स्म परिगायन्ति गोपा मुदितमानसाः ।
गोपालाः कृष्णमेवान्ये गायन्ति स्म वनप्रियाः ।।

भाण्डीरवनमें निवास करनेवाले बहुत-से ग्वाले वहाँ क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्णको अच्छे-अच्छे खिलौनोंद्वारा प्रसन्न रखते थे। दूसरे प्रसन्नचित्त रहनेवाले गोप, जिन्हें वनमें घूमना प्रिय था, सदा श्रीकृष्णकी महिमाका गान किया करते थे।

तेषां संगायतामेव वादयामास केशवः ।
पर्णवाद्यान्तरे वेणुं तुम्बं वीणां च तत्र वै ।।
एवं क्रीडान्तरैः कृष्णो गोपालैर्विजहार सः ।

जब वे गीत गाते, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण पत्तोंके बाजोंके बीच-बीचमें वेणु, तुम्बी और वीणा बजाया करते थे। इस प्रकार विभिन्न लीलाओंद्वारा श्रीकृष्ण गोपबालकोंके साथ खेलते थे।

तेन बालेन कौन्तेय कृतं लोकहितं तदा ।।
पश्यतां सर्वभूतानां वासुदेवेन भारत ।

भरतनन्दन! उस समय बालक श्रीकृष्णने सम्पूर्ण भूतोंके देखते-देखते लोकहितके अनेक कार्य किये।

ह्रदे नीपवने तत्र क्रीडितं नागमूर्धनि ।।
कालियं शासयित्वा तु सर्वलोकस्य पश्यतः ।
विजहार ततः कृष्णो बलदेवसहायवान् ।।

वृन्दावनमें कदम्बवनके पास जो ह्रद (कुण्ड) था, उसमें प्रवेश करके उन्होंने कालियनागके मस्तक-पर नृत्यक्रीड़ा की थी। फिर सब लोगोंके सामने ही कालियनागको

अन्यत्र जानेका आदेश देकर वे बलदेवजीके साथ वनमें इधर-उधर विचरण करने लगे।

धेनुको दारुणो दैत्यो राजन् रासभविग्रहः ।
तदा तालवने राजन् बलदेवेन वै हतः ।।

राजन्! तालवनमें धेनुक नामक भयंकर दैत्य निवास करता था, जो गधेका रूप धारण करके रहता था। उस समय वह बलदेवजीके हाथसे मारा गया।

ततः कदाचित् कौन्तेय रामकृष्णौ वनं गतौ ।
चारयन्तौ प्रवृद्धानि गोधनानि शुभाननौ ।।

कुन्तीनन्दन! तदनन्तर किसी समय सुन्दर मुखवाले बलराम और श्रीकृष्ण अपने बढ़े हुए गोधनको चरानेके लिये वनमें गये।

विहरन्तौ मुदा युक्तौ वीक्षमाणौ वनानि वै ।
क्ष्वेलयन्तौ प्रगायन्तौ विचिन्वन्तौ च पादपान् ।।

वहाँ वनकी शोभा निहारते हुए वे दोनों भाई घूमते, खेलते, गीत गाते और विभिन्न वृक्षोंकी खोज करते हुए बड़े प्रसन्न होते थे।

नामभिर्व्याहरन्तौ च वत्सान् गाश्च परंतपौ ।
चेरतुर्लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिरपराजितौ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले वे दोनों अजेय वीर वहाँ गौओं और बछड़ोंको नाम ले-लेकर बुलाते और लोकप्रचलित बालोचित क्रीड़ाएँ करते रहते थे।

तौ देवौ मानुषीं दीक्षां वहन्तौ सुरपूजितौ ।

तज्जातिगुणयुक्ताभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वनम् ।।

वे दोनों देववन्दित देवता थे तो भी मानवी दीक्षा ग्रहण करनेके कारण मानव-जातिके अनुरूप गुणोंवाली क्रीड़ाएँ करते हुए वनमें विचरते थे।

ततः कृष्णो महातेजास्तदा गत्वा तु गोव्रजम् ।
गिरियज्ञं तमेवैष प्रकृतं गोपदारकैः ।।
बुभुजे पायसं शौरिरीश्वरः सर्वभूतकृत् ।

तत्पश्चात् महातेजस्वी श्रीकृष्ण गौओंके व्रजमें जाकर गोपबालकोंद्वारा किये जानेवाले गिरियज्ञमें सम्मिलित हो वहाँ सर्वभूतस्रष्टा ईश्वरके रूपमें अपनेको प्रकट करके (गिरिराजके लिये समर्पित) खीरको स्वयं ही खाने लगे।

तं दृष्ट्वा गोपकाः सर्वे कृष्णमेव समर्चयन् ।।
पूज्यमानस्ततो गोपैर्दिव्यं वपुरधारयत् ।

उन्हें देखकर सब गोप भगवद्बुद्धिसे श्रीकृष्णके उस स्वरूपकी ही पूजा करने लगे। गोपालोंद्वारा पूजित श्रीकृष्णने दिव्य रूप धारण कर लिया।

धृतो गोवर्धनो नाम सप्ताहं पर्वतस्तदा ।।
शिशुना वासुदेवेन गवार्थमरिमर्दन ।

शत्रुमर्दन युधिष्ठिर! (जब इन्द्र वर्षा कर रहे थे, उस समय) बालक वासुदेवने गौओंकी रक्षाके लिये एक सप्ताहतक गोवर्धन पर्वतको अपने हाथपर उठा रखा था।

क्रीडमानस्तदा कृष्णः कृतवान् कर्म दुष्करम् ।।
तदद्भुतमिवात्रासीत् सर्वलोकस्य भारत ।

भरतनन्दन! उस समय श्रीकृष्णने खेल-खेलमें ही अत्यन्त दुष्कर कर्म कर डाला, जो सब लोगोंके लिये अत्यन्त अद्भुत-सा था।

देवदेवः क्षितिं गत्वा कृष्णं दृष्ट्वा मुदान्वितः ।।
गोविन्द इति तं ह्युक्त्वा ह्यभ्यषिञ्चत् पुरंदरः ।
इत्युक्त्वाऽऽश्लिष्य गोविन्दं पुरुहूतोऽभ्ययाद् दिवम् ।

देवाधिदेव इन्द्रने भूतलपर जाकर जब श्रीकृष्णको (गोवर्धन धारण किये) देखा, तब उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने श्रीकृष्णको 'गोविन्द' नाम देकर उनका ('गवेन्द्र' पदपर) अभिषेक किया। देवराज इन्द्र गोविन्दको हृदयसे लगाकर उनकी अनुमति ले स्वर्गलोकको चले गये।

अथारिष्ट इति ख्यातं दैत्यं वृषभविग्रहम् ।
जघान तरसा कृष्णः पशूनां हितकाम्यया ।।

तदनन्तर श्रीकृष्णने पशुओंके हितकी कामनासे वृषभरूपधारी अरिष्ट नामक दैत्यको वेगपूर्वक मार गिराया।

केशिनं नाम दैतेयं राजन् वै हयविग्रहम् ।

तथा वनगतं पार्थ गजायुतबलं हयम् ।।
प्रहितं भोजपुत्रेण जघान पुरुषोत्तमः ।

राजन्! व्रजमें केशी नामका एक दैत्य रहता था, जिसका शरीर घोड़ेके समान था। उसमें दस हजार हाथियोंका बल था। कुन्तीनन्दन! उस अश्वरूपधारी दैत्यको भोजकुलोत्पन्न कंसने भेजा था। वृन्दावनमें आनेपर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने उसे भी अरिष्टासुरकी भाँति मार दिया।

आन्ध्रं मल्लं च चाणूरं निजघान महासुरम् ।।

कंसके दरबारमें एक आन्ध्रदेशीय मल्ल था, जिसका नाम था चाणूर। वह एक महान् असुर था। श्रीकृष्णने उसे भी मार डाला।

सुनामानममित्रघ्नं सर्वसैन्यपुरस्कृतम् ।
बालरूपेण गोविन्दो निजघान च भारत ।।

भरतनन्दन! (कंसका भाई) शत्रुनाशक सुनामा कंसकी सारी सेनाका अगुआ—सेनापति था। गोविन्द अभी बालक थे, तो भी उन्होंने सुनामाको मार दिया।

बलदेवेन चायत्तः समाजे मुष्टिको हतः ।

भारत! (दंगल देखनेके लिये जुटे हुए) जनसमाजमें युद्धके लिये तैयार खड़े हुए मुष्टिक नामक पहलवानको बलरामजीने अखाड़ेमें ही मार दिया।

त्रासितश्च तदा कंसः स हि कृष्णेन भारत ।।

युधिष्ठिर! उस समय श्रीकृष्णने कंसके मनमें भारी भय उत्पन्न कर दिया।

ऐरावतं युयुत्सन्तं मातङ्गानामिवर्षभम् ।
कृष्णः कुवलयापीडं हतवांस्तस्य पश्यतः ।।

हाथियोंमें श्रेष्ठ कुवलयापीडको, जो ऐरावतकुलमें उत्पन्न हुआ था और श्रीकृष्णको कुचल देना चाहता था, श्रीकृष्णने कंसके देखते-देखते ही मार गिराया।

हत्वा कंसममित्रघ्नः सर्वेषां पश्यतां तदा ।
अभिषिच्योग्रसेनं तं पित्रोः पादमवन्दत ।।

फिर शत्रुनाशन श्रीकृष्णने सब लोगोंके सामने ही कंसको मारकर उग्रसेनको राजपदपर अभिषिक्त कर दिया और अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवके चरणोंमें प्रणाम किया।

एवमादीनि कर्माणि कृतवान् वै जनार्दनः ।
उवास कतिचित् तत्र दिनानि सहलायुधः ।।

इस प्रकार जनार्दनने कितने ही अद्‌भुत कार्य किये और कुछ दिनोंतक बलरामजीके साथ वे मथुरामें ही रहे।

ततस्तौ जग्मतुस्तात गुरुं सान्दीपनिं पुनः ।
गुरुशुश्रूषया युक्तौ धर्मज्ञौ धर्मचारिणौ ।।

तात युधिष्ठिर! तदनन्तर वे दोनों धर्मज्ञ भाई गुरु सान्दीपनिके यहाँ (उज्जयिनीपुरीमें) विद्याध्ययनके लिये गये। वहाँ वे गुरुसेवा-परायण हो सदा धर्मके ही अनुष्ठानमें लगे रहे।

व्रतमुग्रं महात्मानौ विचरन्तावतिष्ठताम् ।
अहोरात्रचतुष्षष्ट्या षडङ्गं वेदमापतुः ।।

वे दोनों महात्मा कठोर व्रतका पालन करते हुए वहाँ रहते थे। उन्होंने चौंसठ दिन-रातमें ही छहों अंगोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया।

लेख्यं च गणितं चोभौ प्राप्नुतां यदुनन्दनौ ।
गान्धर्ववेदं वैद्यं च सकलं समवापतुः ।।

इतना ही नहीं, उन यदुकुलकुमारोंने लेख्य (चित्रकला), गणित, गान्धर्ववेद तथा सारे वेदको भी उतने ही समयके भीतर जान लिया।

हस्तिशिक्षामश्वशिक्षां द्वादशाहेन चापतुः ।
तावुभौ जग्मतुर्वीरौ गुरुं सान्दीपनिं पुनः ॥
धनुर्वेदचिकीर्षार्थं धर्मज्ञौ धर्मचारिणौ ।

गजशिक्षा तथा अश्वशिक्षाको तो उन्होंने कुल बारह दिनोंमें ही प्राप्त कर लिया। इसके बाद वे दोनों धर्मज्ञ एवं धर्मपरायण वीर धनुर्वेद सीखनेके लिये पुनः सान्दीपनि मुनिके पास गये।

ताविष्वस्त्रवराचार्यमभिगम्य प्रणम्य च ॥
तेन तौ सत्कृतौ राजन् विचरन्ताववन्तिषु ।

राजन्! धनुर्वेदके श्रेष्ठ आचार्य सान्दीपनिके पास जाकर उन दोनोंने प्रणाम किया। सान्दीपनिने उन्हें सत्कारपूर्वक अपनाया एवं वे फिर अवन्तीमें विचरते हुए वहाँ रहने लगे।

पञ्चाशद्भिरहोरात्रैर्दशाङ्गं सुप्रतिष्ठितम् ॥
सरहस्यं धनुर्वेदं सकलं ताववापतुः ।

पचास दिन-रातमें ही उन दोनोंने दस अंगोंसे युक्त, सुप्रतिष्ठित एवं रहस्यसहित सम्पूर्ण धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त कर लिया।

दृष्ट्वा कृतास्त्रौ विप्रेन्द्रो गुर्वर्थे तावचोदयत् ॥
अयाचतार्थं गोविन्दं ततः सान्दीपनिर्विभुः ।

उन दोनों भाइयोंको अस्त्र-विद्यामें निपुण देखकर विप्रवर सान्दीपनिने उन्हें गुरुदक्षिणा देनेकी आज्ञा दी। सान्दीपनिजी सब विषयोंमें विद्वान् थे। उन्होंने श्रीकृष्णसे अपने अभीष्ट मनोरथकी याचना इस प्रकार की।

सान्दीपनिरुवाच

मम पुत्रः समुद्रेऽस्मिंस्तिमिना चापवाहितः ॥
पुत्रमानय भद्रं ते भक्षितं तिमिना मम ।

सान्दीपनिजी बोले—मेरा पुत्र इस समुद्रमें नहा रहा था, उस समय ‘तिमि’ नामक जलजन्तु उसे पकड़कर भीतर ले गया और उसके शरीरको खा गया। तुम दोनोंका भला हो। मेरे उस मरे हुए पुत्रको जीवित करके यहाँ ला दो।

भीष्म उवाच

आर्ताय गुरवे तत्र प्रतिशुश्राव दुष्करम् ॥
अशक्यं त्रिषु लोकेषु कर्तुमन्येन केनचित् ।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इतना कहते-कहते गुरु सान्दीपनि पुत्रशोकसे आर्त हो गये। यद्यपि उनकी माँग बहुत कठिन थी, तीनों लोकोंमें दूसरे किसी पुरुषके लिये इस

कार्यका साधन करना असम्भव था, तो भी श्रीकृष्णने उसे पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली।

यश्च सान्दीपनेः पुत्रं जघान भरतर्षभ ।।

सोऽसुरः समरे ताभ्यां समुद्रे विनिपातितः ।

भरतश्रेष्ठ! जिसने सान्दीपनिके पुत्रको मारा था, उस असुरको उन दोनों भाइयोंने युद्ध करके समुद्रमें मार गिराया।

ततः सान्दीपनेः पुत्रः प्रसादादमितौजसः ।।

दीर्घकालं गतः प्रेतं पुनरासीच्छरीरवान् ।

तदनन्तर अमिततेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णके कृपाप्रसादसे सान्दीपनिका पुत्र, जो दीर्घकालसे यमलोकमें जा चुका था, पुनः पूर्ववत् शरीर धारण करके जी उठा।

तदशक्यमचिन्त्यं च दृष्ट्वा सुमहदद्भुतम् ।।

सर्वेषामेव भूतानां विस्मयः समजायत ।

वह अशक्य, अचिन्त्य और अत्यन्त अद्भुत कार्य देखकर सभी प्राणियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ।

ऐश्वर्याणि च सर्वाणि गवाश्वं च धनानि च ।।

सर्वं तदुपजह्राते गुरवे रामकेशवौ ।

ततस्तं पुत्रमादाय ददौ च गुरवे प्रभुः ।।

बलराम और श्रीकृष्णने अपने गुरुको सब प्रकारके ऐश्वर्य, गाय, घोड़े और प्रचुर धन सब कुछ दिये। तत्पश्चात् गुरुपुत्रको लेकर भगवान्‌ने गुरुजीको सौंप दिया।

तं दृष्ट्वा पुत्रमायान्तं सान्दीपनिपुरे जनाः ।

अशक्यमेतत् सर्वेषामचिन्त्यमिति मेनिरे ।।

कश्च नारायणादन्यश्चिन्तयेदिदमद्भुतम् ।

उस पुत्रको आया देख सान्दीपनिके नगरके लोग यह मान गये कि श्रीकृष्णके द्वारा यह ऐसा कार्य सम्पन्न हुआ है, जो अन्य सब लोगोंके लिये असम्भव और अचिन्त्य है। भगवान् नारायणके सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष है, जो इस अद्भुत कार्यको सोच भी सके (करना तो दूरकी बात है)।

गदापरिघयुद्धेषु सर्वास्त्रेषु च केशवः ।।

परमां मुख्यतां प्राप्तः सर्वलोकेषु विश्रुतः ।

भगवान् श्रीकृष्णने गदा और परिघके युद्धमें तथा सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें सबसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया। वे समस्त लोकोंमें विख्यात हो गये।

भोजराजतनूजोऽपि कंसस्तात युधिष्ठिर ।।

अस्त्रज्ञाने बले वीर्ये कार्तवीर्यसमोऽभवत् ।

तात युधिष्ठिर! भोजराजकुमार कंस भी अस्त्रज्ञान, बल और पराक्रममें कार्तवीर्य अर्जुनकी समानता करता था।

तस्य भोजपतेः पुत्राद् भोजराज्यविवर्धनात् ।।

उद्विजन्ते स्म राजानः सुपर्णादिव पन्नगाः ।

भोजवंशके राज्यकी वृद्धि करनेवाले भोजराजकुमार कंससे भूमण्डलके सब राजा उसी प्रकार उद्विग्न रहते थे, जैसे गरुड़से सर्प।

चित्रकार्मुकनिस्त्रिंशविमलप्रासयोधिनः ।।

शतं शतसहस्राणि पादातास्तस्य भारत ।

भरतनन्दन! उसके यहाँ धनुष, खड्ग और चमचमाते हुए भाले लेकर विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले एक करोड़ पैदल सैनिक थे।

अष्टौ शतसहस्राणि शूराणामनिवर्तिनाम् ।।

अभवन् भोजराजस्य जाम्बूनदमयध्वजाः ।

भोजराजके रथी सैनिक, जिनके रथोंपर सुवर्णमय ध्वज फहराते रहते थे तथा जो शूरवीर होनेके साथ ही युद्धमें कभी पीठ दिखलानेवाले नहीं थे, आठ लाखकी संख्यामें थे।

स्फुरत्काञ्चनकक्ष्यास्तु गजास्तस्य युधिष्ठिर ।।

तावन्त्येव सहस्राणि गजानामनिवर्तिनाम् ।

युधिष्ठिर! कंसके यहाँ युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले हाथीसवार भी आठ ही लाख थे। उनके हाथियोंकी पीठपर सुवर्णके चमकीले हौदे कसे होते थे।

ते च पर्वतसङ्काशाश्चित्रध्वजपताकिनः ।।

बभूवुर्भोजराजस्य नित्यं प्रमुदिता गजाः ।

भोजराजके वे पर्वताकार गजराज विचित्र ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित होते थे और सदा संतुष्ट रहते थे।

स्वलङ्कृतानां शीघ्राणां करेणूनां युधिष्ठिर ।

अभवद् भोजराजस्य द्विस्तावद्धि महद् बलम् ।।

युधिष्ठिर! भोजराज कंसके यहाँ आभूषणोंसे सजी हुई शीघ्रगामिनी हथिनियोंकी विशाल सेना गजराजोंकी अपेक्षा दूनी थी।

षोडशाश्वसहस्राणि किंशुकाभानि तस्य वै ।

अपरस्तु महाव्यूहः किशोराणां युधिष्ठिर ।।

आरोहवरसम्पन्नो दुर्धर्षः केनचिद् बलात् ।

स च षोडशसाहस्रः कंसभ्रातृपुरस्सरः ।।

उसके यहाँ सोलह हजार घोड़े ऐसे थे, जिनका रंग पलासके फूलकी भाँति लाल था। राजन्! किशोर-अवस्थाके घोड़ोंका एक दूसरा दल भी मौजूद था, जिसकी संख्या सोलह हजार थी। इन अश्वोंके सवार भी बहुत अच्छे थे। इस अश्वसेनाको कोई भी बलपूर्वक दबा नहीं सकता था। कंसका भाई सुनामा इन सबका सरदार था।

सुनामा सदृशस्तेन स कंसं पर्यपालयत् ।

वह भी कंसके ही समान बलवान् था एवं सदा कंसकी रक्षाके लिये तत्पर रहता था।

य आसन् सर्ववर्णास्तु हयास्तस्य युधिष्ठिर ।।

स गणो मिश्रको नाम षष्टिसाहस्र उच्यते ।

युधिष्ठिर! कंसके यहाँ घोड़ोंका एक और भी बहुत बड़ा दल था, जिसमें सभी रंगके घोड़े थे। उस दलका नाम था मिश्रक। मिश्रकोंकी संख्या साठ हजार बतलायी जाती है।

कंसरोषमहावेगां ध्वजानूपमहाद्रुमाम् ।।

मत्तद्विपमहाग्राहां वैवस्वतवशानुगाम् ।

(कंसके साथ होनेवाला महान् समर एक भयंकर नदीके समान था।) कंसका रोष ही उस नदीका महान् वेग था। ऊँचे-ऊँचे ध्वज तटवर्ती वृक्षोंके समान जान पड़ते थे। मतवाले हाथी बड़े-बड़े ग्राहोंके समान थे। वह नदी यमराजकी आज्ञाके अधीन होकर चलती थी।

शस्त्रजालमहाफेनां सादिवेगमहाजलाम् ।।

गदापरिघपाठीनां नानाकवचशैवलाम् ।

अस्त्र-शस्त्रोंके समूह उसमें फेनका भ्रम उत्पन्न करते थे। सवारोंका वेग उसमें महान् जलप्रवाह-सा प्रतीत होता था। गदा और परिघ पाठीन नामक मछलियोंके सदृश जान पड़ते थे। नाना प्रकारके कवच सेवारके समान थे।

रथनागमहावर्तां नानारुधिरकर्दमाम् ।।

चित्रकार्मुककल्लोलां रथाश्वकलिलह्रदाम् ।

रथ और हाथी उसमें बड़ी-बड़ी भँवरोंका दृश्य उपस्थित करते थे। नाना प्रकारका रक्त ही कीचड़का काम करता था। विचित्र धनुष उठती हुई लहरोंके समान जान पड़ते थे। रथ और अश्वोंका समूह ह्रदके समान था।

महामृधनदीं घोरां योधावर्तननिःस्वनाम् ।।

को वा नारायणादन्यः कंसहन्ता युधिष्ठिर ।

योद्धाओंके इधर-उधर दौड़ने या बोलनेसे जो शब्द होता था, वही उस भयानक समर-सरिताका कलकल नाद था। युधिष्ठिर! भगवान् नारायणके सिवा ऐसे कंसको कौन मार सकता था?

एष शक्ररथे तिष्ठंस्तान्यनीकानि भारत ।।

व्यधमद् भोजपुत्रस्य महाभ्राणीव मारुतः ।

भारत! जैसे हवा बड़े-बड़े बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार इन भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रके रथमें बैठकर कंसकी उपर्युक्त सारी सेनाओंका संहार कर डाला।

तं सभास्थं सहामात्यं हत्वा कंसं सहान्वयम् ।।

मानयामास मानार्हां देवकीं ससुहृद्गणाम् ।

सभामें विराजमान कंसको मन्त्रियों और परिवारके साथ मारकर श्रीकृष्णने सुहृदोंसहित सम्माननीय माता देवकीका समादर किया।

यशोदां रोहिणीं चैव अभिवाद्य पुनः पुनः ।।

उग्रसेनं च राजानमभिषिच्य जनार्दनः ।

अर्चितो यदुमुख्यैश्च भगवान् वासवानुजः ।।

जनार्दनने यशोदा और रोहिणीको भी बारंबार प्रणाम करके उग्रसेनको राजाके पदपर अभिषिक्त किया। उस समय यदुकुलके प्रधान-प्रधान पुरुषोंने इन्द्रके छोटे भाई भगवान् श्रीहरिका पूजन किया।

ततः पार्थिवमायान्तं सहितं सर्वराजभिः ।

सरस्वत्यां जरासंधमजयत् पुरुषोत्तमः ।।

तदनन्तर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने समस्त राजाओंके सहित आक्रमण करनेवाले राजा जरासंधको सरोवरों या ह्रदोंसे सुशोभित यमुनाके तटपर परास्त किया।

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[नरकासुरका सैनिकोंसहित वध, देवता आदिकी सोलह हजार कन्याओंको पत्नीरूपमें स्वीकार करके श्रीकृष्णका उन्हें द्वारका भेजना तथा इन्द्रलोकमें जाकर अदितिको कुण्डल अर्पणकर द्वारकापुरीमें वापस आना]

भीष्म उवाच

शूरसेनपुरं त्यक्त्वा सर्वयादवनन्दनः ।
द्वारकां भगवान् कृष्णः प्रत्यपद्यत केशवः ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर समस्त यदुवंशियोंको आनन्दित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण शूरसेनपुरी मथुराको छोड़कर द्वारकामें चले गये।

प्रत्यपद्यत यानानि रत्नानि च बहूनि च ।
यथार्हं पुण्डरीकाक्षो नैर्ऋतान् प्रतिपालयन् ।।

कमलनयन श्रीकृष्णने असुरोंको पराजित करके जो बहुत-से रत्न और वाहन प्राप्त किये थे, उनका वे द्वारकामें यथोचितरूपसे संरक्षण करते थे।

तत्र विघ्नं चरन्ति स्म दैतेयाः सह दानवैः ।
ताञ्जघान महाबाहुः वरमत्तान् महासुरान् ।।

उनके इस कार्यमें दैत्य और दानव विघ्न डालने लगे। तब महाबाहु श्रीकृष्णने वरदानसे उन्मत्त हुए उन बड़े-बड़े असुरोंको मार डाला।

स विघ्नमकरोत् तत्र नरको नाम नैर्ऋतः ।
त्रासनः सुरसंघानां विदितो वः प्रभावतः ।।

तत्पश्चात् नरक नामक राक्षसने भगवान्के कार्यमें विघ्न डालना आरम्भ किया। वह समस्त देवताओंको भयभीत करनेवाला था। राजन्! तुम्हें तो उसका प्रभाव विदित ही है।

स भूम्यां मूर्तिलिङ्गस्थः सर्वदेवासुरान्तकः ।
मानुषाणामृषीणां च प्रतीपमकरोत् तदा ।।

समस्त देवताओंके लिये अन्तकरूप नरकासुर इस धरतीके भीतर मूर्तिलिंगमें* स्थित हो मनुष्यों और ऋषियोंके प्रतिकूल आचरण किया करता था।

त्वष्टुर्दुहितरं भौमः कशेरुमगमत् तदा ।
गजरूपेण जग्राह रुचिराङ्गीं चतुर्दशीम् ।।

भूमिका पुत्र होनेसे नरकको भौमासुर भी कहते हैं। उसने हाथीका रूप धारण करके प्रजापति त्वष्टाकी पुत्री कशेरुके पास जाकर उसे पकड़ लिया। कशेरु बड़ी सुन्दरी और चौदह वर्षकी अवस्थावाली थी।

प्रमथ्य च जहारैतां हृत्वा च नरकोऽब्रवीत् ।
नष्टशोकभयाबाधः प्राग्ज्योतिषपतिस्तदा ।।

नरकासुर प्राग्ज्योतिषपुरका राजा था। उसके शोक, भय और बाधाएँ दूर हो गयी थीं। उसने कशेरुको मूर्च्छित करके हर लिया और अपने घर लाकर उससे इस प्रकार कहा।

नरक उवाच

यानि देवमनुष्येषु रत्नानि विविधानि च ।
बिभर्ति च मही कृत्स्ना सागरेषु च यद् वसु ।।
अद्यप्रभृति तद् देवि सहिताः सर्वनैर्ऋताः ।
तवैवोपहरिष्यन्ति दैत्याश्च सह दानवैः ।।

नरकासुर बोला—देवि! देवताओं और मनुष्योंके पास जो नाना प्रकारके रत्न हैं, सारी पृथ्वी जिन रत्नोंको धारण करती है तथा समुद्रोंमें जो रत्न संचित हैं, उन सबको आजसे सभी राक्षस ला-लाकर तुम्हें ही अर्पित किया करेंगे। दैत्य और दानव भी तुम्हें उत्तमोत्तम रत्नोंकी भेंट देंगे।

भीष्म उवाच

एवमुत्तमरत्नानि बहूनि विविधानि च ।
स जहार तदा भौमः स्त्रीरत्नानि च भारत ।।

भीष्मजी कहते हैं—भारत! इस प्रकार भौमासुरने नाना प्रकारके बहुत-से उत्तम रत्नों तथा स्त्री-रत्नोंका भी अपहरण किया।

गन्धर्वाणां च याः कन्या जहार नरको बलात् ।
याश्च देवमनुष्याणां सप्त चाप्सरसां गणाः ।।

गन्धर्वोंकी जो कन्याएँ थीं, उन्हें भी नरकासुर बलपूर्वक हर लाया। देवताओं और मनुष्योंकी कन्याओं तथा अप्सराओंके सात समुदायोंका भी उसने अपहरण कर लिया।

चतुर्दशसहस्राणां चैकविंशच्छतानि च ।
एकवेणीधराः सर्वाः सतां मार्गमनुव्रताः ।।

इस प्रकार सोलह हजार एक सौ सुन्दरी कुमारियाँ उसके घरमें एकत्र हो गयीं। वे सब-की-सब सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करके व्रत और नियमके पालनमें तत्पर हो एक वेणी धारण करती थीं।

तासामन्तःपुरं भौमोऽकारयन्मणिपर्वते ।
औदकायामदीनात्मा मुरस्य विषयं प्रति ।।

उत्साहयुक्त मनवाले भौमासुरने उनके रहनेके लिये मणिपर्वतपर अन्तःपुरका निर्माण कराया। उस स्थानका नाम था औदका (जलकी सुविधासे सम्पन्न भूमि)। वह अन्तःपुर मुर नामक दैत्यके अधिकृत प्रदेशमें बना था।

ताश्च प्राग्ज्योतिषो राजा मुरस्य दश चात्मजाः ।
नैर्ऋताश्च यथा मुख्याः पालयन्त उपासते ।।

प्राग्ज्योतिषपुरका राजा भौमासुर, मुरके दस पुत्र तथा प्रधान-प्रधान राक्षस उस अन्तःपुरकी रक्षा करते हुए सदा उसके समीप ही रहते थे।

स एव तपसां पारे वरदत्तो महीसुतः ।
अदितिं धर्षयामास कुण्डलार्थं युधिष्ठिर ।।

युधिष्ठिर! पृथ्वीपुत्र भौमासुर तपस्याके अन्तमें वरदान पाकर इतना गर्वोन्मत्त हो गया था कि इसने कुण्डलके लिये देवमाता अदितितकका तिरस्कार कर दिया।

न चासुरगणैः सर्वैः सहितैः कर्म तत् पुरा ।
कृतपूर्वं महाघोरं यदकार्षीन्महासुरः ।।

पूर्वकालमें समस्त महादैत्योंने एक साथ मिलकर भी वैसा अत्यन्त घोर पाप नहीं किया था, जैसा अकेले इस महान् असुरने कर डाला था।

यं मही सुषुवे देवी यस्य प्राग्ज्योतिषं पुरम् ।
विषयान्तपालाश्चत्वारो यस्यासन् युद्धदुर्मदाः ।।

पृथ्वीदेवीने उसे उत्पन्न किया था, प्राग्ज्योतिषपुर उसकी राजधानी थी तथा चार युद्धोन्मत्त दैत्य उसके राज्यकी सीमाकी रक्षा करनेवाले थे।

आदेवयानमावृत्य पन्थानं पर्यवस्थिताः ।
त्रासनाः सुरसङ्घानां विरूपै राक्षसैः सह ।।

वे पृथ्वीसे लेकर देवयानतकके मार्गको रोककर खड़े रहते थे। भयानक रूपवाले राक्षसोंके साथ रहकर वे देवसमुदायको भयभीत किया करते थे।

हयग्रीवो निशुम्भश्च घोरः पञ्चजनस्तथा ।
मुरः पुत्रसहस्रैश्च वरदत्तो महासुरः ।।

उन चारों दैत्योंके नाम इस प्रकार हैं—हयग्रीव, निशुम्भ, भयंकर पंचजन तथा सहस्र पुत्रोंसहित महान् असुर मुर, जो वरदान प्राप्त कर चुका था।

तद्वधार्थं महाबाहुरेष चक्रगदासिधृक् ।
जातो वृष्णिषु देवक्यां वासुदेवो जनार्दनः ।।

उसीके वधके लिये चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले ये महाबाहु श्रीकृष्ण वृष्णिकुलमें देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं। वसुदेवजीके पुत्र होनेसे ये जनार्दन ‘वासुदेव’ कहलाते हैं।

तस्यास्य पुरुषेन्द्रस्य लोकप्रथिततेजसः ।
निवासो द्वारका तात विदितो वः प्रधानतः ।।

तात युधिष्ठिर! इनका तेज सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात है। इन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका निवासस्थान प्रधानतः द्वारका ही है, यह तुम सब लोग जानते हो।

अतीव हि पुरी रम्या द्वारका वासवक्षयात् ।
अति वै राजते पृथ्व्यां प्रत्यक्षं ते युधिष्ठिर ।।

द्वारकापुरी इन्द्रके निवासस्थान अमरावती पुरीसे भी अत्यन्त रमणीय है। युधिष्ठिर! भूमण्डलमें द्वारकाकी शोभा सबसे अधिक है। यह तो तुम प्रत्यक्ष ही देख चुके हो।

तस्मिन् देवपुरप्रख्ये सा सभा वृष्ण्युपाश्रया ।
या दाशार्हीति विख्याता योजनायतविस्तृता ।।

देवपुरीके समान सुशोभित द्वारका नगरीमें वृष्णिवंशियोंके बैठनेके लिये एक सुन्दर सभा है, जो दाशार्हीके नामसे विख्यात है। उसकी लम्बाई और चौड़ाई एक-एक योजनकी है।

तत्र वृष्ण्यन्धकाः सर्वे रामकृष्णपुरोगमाः ।
लोकयात्रामिमां कृत्स्नां परिरक्षन्त आसते ।।

उसमें बलराम और श्रीकृष्ण आदि वृष्णि और अन्धकवंशके सभी लोग बैठते हैं और सम्पूर्ण लोक-जीवनकी रक्षामें दत्तचित्त रहते हैं।

तत्रासीनेषु सर्वेषु कदाचिद् भरतर्षभ ।
दिव्यगन्धा ववुर्वाताः कुसुमानां च वृष्टयः ।।

भरतश्रेष्ठ! एक दिनकी बात है; सभी यदुवंशी उस सभामें विराजमान थे। इतनेमें ही दिव्य सुगन्धसे भरी हुई वायु चलने लगी और दिव्य कुसुमोंकी वर्षा होने लगी।

ततः सूर्यसहस्राभस्तेजोराशिर्महाद्भुतः ।
मुहूर्तमन्तरिक्षेऽभूत् ततो भूमौ प्रतिष्ठितः ।।

तदनन्तर दो ही घड़ीके अंदर आकाशमें सहस्रों सूर्योंके समान महान् एवं अद्‌भुत तेजोराशि प्रकट हुई। वह धीरे-धीरे पृथ्वीपर आकर खड़ी हो गयी।

मध्ये तु तेजसस्तस्य पाण्डरं गजमास्थितः ।
वृतो देवगणैः सर्वैर्वासवः प्रत्यदृश्यत ।।

उस तेजोमण्डलके भीतर श्वेत हाथीपर बैठे हुए इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंसहित दिखायी दिये।

रामकृष्णौ च राजा च वृष्ण्यन्धकगणैः सह ।
उत्पत्य सहसा तस्मै नमस्कारमकुर्वत ।।

बलराम, श्रीकृष्ण तथा राजा उग्रसेन वृष्णि और अन्धकवंशके अन्य लोगोंके साथ सहसा उठकर बाहर आये और सबने देवराज इन्द्रको नमस्कार किया।

सोऽवतीर्य गजात् तूर्णं परिष्वज्य जनार्दनम् ।
सस्वजे बलदेवं च राजानं च तमाहुकम् ।।

इन्द्रने हाथीसे उतरकर शीघ्र ही भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया। फिर बलराम तथा राजा उग्रसेनसे भी उसी प्रकार मिले।

उद्धवं वसुदेवं च विकद्रुं च महामतिम् ।
प्रद्युम्नसाम्बनिशठाननिरुद्धं ससात्यकिम् ।।

गदं सारणमक्रूरं कृतवर्माणमेव च ।

चारुदेष्णं सुदेष्णं च अन्यानपि यथोचितम् ।।

परिष्वज्य च दृष्ट्वा च भगवान् भूतभावनः ।

भूतभावन ऐश्वर्यशाली इन्द्रने वसुदेव, उद्धव, महामति विकद्रु, प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, अनिरुद्ध, सात्यकि, गद, सारण, अक्रूर, कृतवर्मा, चारुदेष्ण तथा सुदेष्ण आदि अन्य यादवोंका भी यथोचित रीतिसे आलिंगन करके उन सबकी ओर दृष्टिपात किया।

वृष्ण्यन्धकमहामात्रान् परिष्वज्याथ वासवः ।।

प्रगृह्य पूजां तैर्दत्तामुवाचावनताननः ।

इस प्रकार उन्होंने वृष्णि और अन्धकवंशके प्रधान व्यक्तियोंको हृदयसे लगाकर उनकी दी हुई पूजा ग्रहण की तथा मुखको नीचेकी ओर झुकाकर वे इस प्रकार बोले—

इन्द्र उवाच

अदित्या चोदितः कृष्ण तव मात्राहमागतः ।।

कुण्डलेऽपहृते तात भौमेन नरकेण च ।

इन्द्रने कहा—भैया कृष्ण! तुम्हारी माता अदितिकी आज्ञासे मैं यहाँ आया हूँ। तात! भूमिपुत्र नरकासुरने उनके कुण्डल छीन लिये हैं।

निदेशशब्दवाच्यस्त्वं लोकेऽस्मिन् मधुसूदन ।।

तस्माज्जहि महाभाग भूमिपुत्रं नरेश्वर ।

मधुसूदन! इस लोकमें माताका आदेश सुननेके पात्र केवल तुम्हीं हो। अतः महाभाग नरेश्वर! तुम भौमासुरको मार डालो।

भीष्म उवाच

तमुवाच महाबाहुः प्रीयमाणो जनार्दनः ।

निर्जित्य नरकं भौममाहरिष्यामि कुण्डले ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब महाबाहु जनार्दन अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले —'देवराज! मैं भूमिपुत्र नरकासुरको पराजित करके माताजीके कुण्डल अवश्य ला दूँगा'।

एवमुक्त्वा तु गोविन्दो राममेवाभ्यभाषत ।

प्रद्युम्नमनिरुद्धं च साम्बं चाप्रतिमं बले ।।

एतांश्चोक्त्वा तदा तत्र वासुदेवो महायशाः ।

अथारुह्य सुपर्णं वै शङ्खचक्रगदासिधृक् ।।

ययौ तदा हृषीकेशो देवानां हितकाम्यया ।

ऐसा कहकर भगवान् गोविन्दने बलरामजीसे बातचीत की। तत्पश्चात् प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और अनुपम बलवान् साम्बसे भी इसके विषयमें वार्तालाप करके महायशस्वी इन्द्रियाधीश्वर

भगवान् श्रीकृष्ण शंख, चक्र, गदा और खड्ग धारणकर गरुड़पर आरूढ़ हो देवताओंका हित करनेकी इच्छासे वहाँसे चल दिये।

तं प्रयान्तममित्रघ्नं देवाः सहपुरन्दराः ।।
पृष्ठतोऽनुययुः प्रीताः स्तुवन्तो विष्णुमच्युतम् ।

शत्रुनाशन भगवान् श्रीकृष्णको प्रस्थान करते देख इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता बड़े प्रसन्न हुए और अच्युत भगवान् कृष्णकी स्तुति करते हुए उन्हींके पीछे-पीछे चले।

सोऽग्रयान् रक्षोगणान् हत्वा नरकस्य महासुरान् ।।
क्षुरान्तान् मौरवान् पाशान् षट्सहस्रं ददर्श सः ।

भगवान् श्रीकृष्णने नरकासुरके उन मुख्य-मुख्य राक्षसोंको मारकर मुर दैत्यके बनाये हुए छः हजार पाशोंको देखा, जिनके किनारोंके भागोंमें छुरे लगे हुए थे।

संच्छिद्य पाशांस्त्वस्त्रेण मुरं हत्वा सहान्वयम् ।।
शिलासङ्घानतिक्रम्य निशुम्भमवपोथयत् ।

भगवान्ने अपने अस्त्र (चक्र)-से मुर दैत्यके पाशोंको काटकर मुर नामक असुरको उसके वंशजों-सहित मार डाला और शिलाओंके समूहोंको लाँघकर निशुम्भको भी मार गिराया।

यः सहस्रसमस्त्वेकः सर्वान् देवानयोधयत् ।।
तं जघान महावीर्यं हयग्रीवं महाबलम् ।

तत्पश्चात् जो अकेला ही सहस्रों योद्धाओंके समान था और सम्पूर्ण देवताओंके साथ अकेला ही युद्ध कर सकता था, उस महाबली एवं महापराक्रमी हयग्रीवको भी मार दिया।

अपारतेजा दुर्धर्षः सर्वयादवनन्दनः ।।
मध्ये लोहितगङ्गायां भगवान् देवकीसुतः ।
औदकायां विरूपाक्षं जघान भरतर्षभ ।।
पञ्च पञ्चजनान् घोरान् नरकस्य महासुरान् ।

भरतश्रेष्ठ! सम्पूर्ण यादवोंको आनन्दित करनेवाले अमित तेजस्वी दुर्धर्ष वीर भगवान् देवकीनन्दनने औदकाके अन्तर्गत लोहितगंगाके बीच विरूपाक्षको तथा 'पंचजन' नामसे प्रसिद्ध नरकासुरके पाँच भयंकर राक्षसोंको भी मार गिराया।

ततः प्राग्ज्योतिषं नाम दीप्यमानमिव श्रिया ।।
पुरमासादयामास तत्र युद्धमवर्तत ।

फिर भगवान् अपनी शोभासे उद्दीप्त-से दिखायी देनेवाले प्राग्ज्योतिषपुरमें जा पहुँचे। वहाँ उनका दानवोंसे फिर युद्ध छिड़ गया।

महद् दैवासुरं युद्धं यद् वृत्तं भरतर्षभ ।।
युद्धं न स्यात् समं तेन लोकविस्मयकारकम् ।

भरतकुलभूषण! वह युद्ध महान् देवासुर-संग्रामके रूपमें परिणत हो गया। उसके समान लोकविस्मयकारी युद्ध दूसरा कोई नहीं हो सकता।

चक्रलाञ्छनसंछिन्नाः शक्तिखड्गहतास्तदा ।।
निपेतुर्दानवास्तत्र समासाद्य जनार्दनम् ।

चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्णसे भिड़कर सभी दानव वहाँ चक्रसे छिन्न-भिन्न एवं शक्ति तथा खड्गसे आहत होकर धराशायी हो गये।

अष्टौ शतसहस्राणि दानवानां परंतप ।
निहत्य पुरुषव्याघ्रः पातालविवरं ययौ ।।
त्रासनं सुरसङ्घानां नरकं पुरुषोत्तमः ।
योधयत्यतितेजस्वी मधुवन्मधुसूदनः ।।

परंतप युधिष्ठिर! इस प्रकार आठ लाख दानवोंका संहार करके पुरुषसिंह पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण पातालगुफामें गये, जहाँ देवसमुदायको आतंकित करनेवाला नरकासुर रहता था। अत्यन्त तेजस्वी भगवान् मधुसूदनने मधुकी भाँति पराक्रमी नरकासुरसे युद्ध प्रारम्भ किया।

तद् युद्धमभवद् घोरं तेन भौमेन भारत ।
कुण्डलार्थे सुरेशस्य नरकेण महात्मना ।।

भारत! देवमाता अदितिके कुण्डलोंके लिये भूमिपुत्र महाकाय नरकासुरके साथ छिड़ा हुआ वह युद्ध बड़ा भयंकर था।

मुहूर्तं लालयित्वाथ नरकं मधुसूदनः ।

प्रवृत्तचक्रं चक्रेण प्रममाथ बलाद् बली ।।

बलवान् मधुसूदनने चक्र हाथमें लिये हुए नरकासुरके साथ दो घड़ीतक खिलवाड़ करके बलपूर्वक चक्रसे उसके मस्तकको काट डाला।

चक्रप्रमथितं तस्य पपात सहसा भुवि ।
उत्तमाङ्गं हताङ्गस्य वृत्रे वज्रहते यथा ।।

चक्रसे छिन्न-भिन्न होकर घायल हुए शरीरवाले नरकासुरका मस्तक वज्रके मारे हुए वृत्रासुरके सिरकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा।

भूमिस्तु पतितं दृष्ट्वा ते वै प्रादाच्च कुण्डले ।
प्रदाय च महाबाहुमिदं वचनमब्रवीत् ।।

भूमिने अपने पुत्रको रणभूमिमें गिरा देख अदितिके दोनों कुण्डल लौटा दिये और महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा।

भूमिरुवाच

सृष्टस्त्वयैव मधुहंस्त्वयैव निहतः प्रभो ।
यथेच्छसि तथा क्रीडन् प्रजास्तस्यानुपालय ।।

भूमि बोली—प्रभो मधुसूदन! आपने ही इसे जन्म दिया था और आपने ही इसे मारा है। आपकी जैसी इच्छा हो, वैसी ही लीला करते हुए नरकासुरकी संतानका पालन कीजिये।

श्रीभगवानुवाच

देवानां च मुनीनां च पितॄणां च महात्मनाम् ।
उद्वेजनीयो भूतानां ब्रह्मद्विट् पुरुषाधमः ।।
लोकद्विष्टः सुतस्ते तु देवारिर्लोककण्टकः ।

श्रीभगवान्‌ने कहा—भामिनि! तुम्हारा यह पुत्र देवताओं, मुनियों, पितरों, महात्माओं तथा सम्पूर्ण भूतोंके उद्वेगका पात्र हो रहा था। यह पुरुषाधम ब्राह्मणोंसे द्वेष रखनेवाला, देवताओंका शत्रु तथा सम्पूर्ण विश्वका कण्टक था, इसलिये सब लोग इससे द्वेष रखते थे।

सर्वलोकनमस्कार्यामदितिं बाधते बली ।।
कुण्डले दर्पसम्पूर्णस्ततोऽसौ निहतोऽसुरः ।

इस बलवान् असुरने बलके घमंडमें आकर सम्पूर्ण विश्वके लिये वन्दनीय देवमाता अदितिको भी कष्ट पहुँचाया और उनके कुण्डल ले लिये। इन्हीं सब कारणोंसे यह मारा गया है।

नैव मन्युस्त्वया कार्यो यत् कृतं मयि भामिनि ।।
मत्प्रभावाच्च ते पुत्रो लब्धवान् गतिमुत्तमाम् ।
तस्माद् गच्छ महाभागे भारावतरणं कृतम् ।।

भामिनि! मैंने इस समय जो कुछ किया है, उसके लिये तुम्हें मुझपर क्षोभ नहीं करना चाहिये। महाभागे! तुम्हारे पुत्रने मेरे प्रभावसे अत्यन्त उत्तम गति प्राप्त की है; इसलिये जाओ, मैंने तुम्हारा भार उतार दिया है।

भूमिका भगवान्को अदितिके कुण्डल देना

भीष्म उवाच

निहत्य नरकं भौम सत्यभामासहायवान् ।

सहितो लोकपालैश्च ददर्श नरकालयम् ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! भूमिपुत्र नरकासुरको मारकर सत्यभामासहित भगवान् श्रीकृष्णने लोकपालोंके साथ जाकर नरकासुरके घरको देखा।

अथास्य गृहमासाद्य नरकस्य यशस्विनः ।

ददर्श धनमक्षय्यं रत्नानि विविधानि च ।।

यशस्वी नरकके घरमें जाकर उन्होंने नाना प्रकारके रत्न और अक्षय धन देखा।

मणिमुक्ताप्रवालानि वैडूर्यविकृतानि च ।

अश्मसारानर्कमणीन् विमलान् स्फाटिकानपि ।।

मणि, मोती, मूँगे, वैदूर्यमणिकी बनी हुई वस्तुएँ, पुखराज, सूर्यकान्तमणि और निर्मल स्फटिकमणिकी वस्तुएँ भी वहाँ देखनेमें आयीं।

जाम्बूनदमयान्येव शातकुम्भमयानि च ।

प्रदीप्तज्वलनाभानि शीतरश्मिप्रभाणि च ।।

जाम्बूनद तथा शातकुम्भसंज्ञक सुवर्णकी बनी हुई बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ वहाँ दृष्टिगोचर हुईं, जो प्रज्वलित अग्नि और शीतरश्मि चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रही थीं।

हिरण्यवर्णं रुचिरं श्वेतमभ्यन्तरं गृहम् ।

यदक्षयं गृहे दृष्टं नरकस्य धनं बहु ।।

न हि राज्ञः कुबेरस्य तावद् धनसमुच्छ्रयः ।

दृष्टपूर्वः पुरा साक्षान्महेन्द्रसदनेष्वपि ।।

नरकासुरका भीतरी भवन सुवर्णके समान सुन्दर, कान्तिमान् एवं उज्ज्वल था। उसके घरमें जो असंख्य एवं अक्षय धन दिखायी दिया, उतनी धनराशि राजा कुबेरके घरमें भी नहीं है। देवराज इन्द्रके भवनमें भी पहले कभी उतना वैभव नहीं देखा गया था।

इन्द्र उवाच

इमानि मणिरत्नानि विविधानि वसूनि च ।।

हेमसूत्रा महाकक्ष्यास्तोमरैर्वीर्यशालिनः ।

भीमरूपाश्च मातङ्गाः प्रवालविकृताः कुथाः ।।

विमलाभिः पताकाभिर्वासांसि विविधानि च ।

ते च विंशतिसाहस्रा द्विस्तावत्यः करेणवः ।।

इन्द्र बोले—जनार्दन! ये जो नाना प्रकारके माणिक्य, रत्न, धन तथा सोनेकी जालियोंसे सुशोभित बड़े-बड़े हौदोंवाले, तोमरसहित पराक्रमशाली बड़े भारी गजराज एवं उनपर बिछानेके लिये मूँगेसे विभूषित कम्बल, निर्मल पताकाओंसे युक्त नाना प्रकारके वस्त्र

आदि हैं, इन सबपर आपका अधिकार है। इन गजराजोंकी संख्या बीस हजार है तथा इससे दूनी हथिनियाँ हैं।

अष्टौ शतसहस्राणि देशजाश्चोत्तमा हयाः ।
गोभिश्चाविकृतैर्यानैः कामं तव जनार्दन ।।

जनार्दन! यहाँ आठ लाख उत्तम देशी घोड़े हैं और बैल जुते हुए नये-नये वाहन हैं। इनमेंसे जिनकी आपको आवश्यकता हो, वे सब आपके यहाँ जा सकते हैं।

आविकानि च सूक्ष्माणि शयनान्यासनानि च ।
कामव्याहारिणश्चैव पक्षिणः प्रियदर्शनाः ।।
चन्दनागुरुमिश्राणि यानानि विविधानि च ।
एतत् ते प्रापयिष्यामि वृष्ण्यावासमरिंदम ।।

शत्रुदमन! ये महीन ऊनी वस्त्र, अनेक प्रकारकी शय्याएँ, बहुत-से आसन, इच्छानुसार बोली बोलनेवाले देखनेमें सुन्दर पक्षी, चन्दन और अगुरुमिश्रित नाना प्रकारके रथ—ये सब वस्तुएँ मैं आपके लिये वृष्णियोंके निवासस्थान द्वारकामें पहुँचा दूँगा।

भीष्म उवाच

देवगन्धर्वरत्नानि दैतेयासुरजानि च ।
यानि सन्तीह रत्नानि नरकस्य निवेशने ।।
एतत् तु गरुडे सर्वं क्षिप्रमारोप्य वासवः ।
दाशार्हपतिना सार्धमुपायान्मणिपर्वतम् ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! देवता, गन्धर्व, दैत्य और असुरसम्बन्धी जितने भी रत्न नरकासुरके घरमें उपलब्ध हुए, उन्हें शीघ्र ही गरुड़पर रखकर देवराज इन्द्र दाशार्हवंशके अधिपति भगवान् श्रीकृष्णके साथ मणिपर्वतपर गये।

तत्र पुण्या ववुर्वाताः प्रभाश्चित्राः समुज्ज्वलाः ।
प्रेक्षतां सुरसङ्घानां विस्मयः समपद्यत ।।

वहाँ बड़ी पवित्र हवा बह रही थी तथा विचित्र एवं उज्ज्वल प्रभा सब ओर फैली हुई थी। यह सब देखकर देवताओंको बड़ा विस्मय हुआ।

त्रिदशा ऋषयश्चैव चन्द्रादित्यौ यथा दिवि ।
प्रभया तस्य शैलस्य निर्विशेषमिवाभवत् ।।

आकाशमण्डलमें प्रकाशित होनेवाले देवता, ऋषि, चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति वहाँ आये हुए देवगण उस पर्वतकी प्रभासे तिरस्कृत हो साधारण-से प्रतीत हो रहे थे।

अनुज्ञातस्तु रामेण वासवेन च केशवः ।
प्रीयमाणो महाबाहुर्विवेश मणिपर्वतम् ।।

तदनन्तर बलरामजी तथा देवराज इन्द्रकी आज्ञासे महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने नरकासुरके मणिपर्वतपर बने हुए अन्तःपुरमें प्रसन्नतापूर्वक प्रवेश किया।

तत्र वैडूर्यवर्णानि ददर्श मधुसूदनः ।
सतोरणपताकानि द्वाराणि शरणानि च ।।

मधुसूदनने देखा; उस अन्तःपुरके द्वार और गृह वैदूर्यमणिके समान प्रकाशित हो रहे हैं। उनके फाटकोंपर पताकाएँ फहरा रही थीं।

चित्रग्रथितमेघाभः प्रबभौ मणिपर्वतः ।
हेमचित्रपताकैश्च प्रासादैरुपशोभितः ।।

सुवर्णमय विचित्र पताकाओंवाले महलोंसे सुशोभित वह मणिपर्वत चित्रलिखित मेघोंके समान प्रतीत होता था।

हर्म्याणि च विशालानि मणिसोपानवन्ति च ।
तत्रस्था वरवर्णाभा ददृशुर्मधुसूदनम् ।।
गन्धर्वसुरमुख्यानां प्रिया दुहितरस्तदा ।
त्रिविष्टपसमे देशे तिष्ठन्तमपराजितम् ।।

उन महलोंमें विशाल अट्टालिकाएँ बनी थीं, जिनपर चढ़नेके लिये मणिनिर्मित सीढ़ियाँ सुशोभित हो रही थीं। वहाँ रहनेवाली प्रधान-प्रधान गन्धर्वों और सुरोंकी परम सुन्दरी प्यारी पुत्रियोंने उस स्वर्गके समान प्रदेशमें खड़े हुए अपराजित वीर भगवान् मधुसूदनको देखा।

परिवव्रुर्महाबाहुमेकवेणीधराः स्त्रियः ।
सर्वाः काषायवासिन्यः सर्वाश्च नियतेन्द्रियाः ।।

देखते-देखते ही उन सबने महाबाहु श्रीकृष्णको घेर लिया। वे सभी स्त्रियाँ एक वेणी धारण किये गेरुए वस्त्र पहने इन्द्रियसंयमपूर्वक वहाँ तपस्या करती थीं।

व्रतसंतापजः शोको नात्र काश्चिदपीडयत् ।
अरजांसि च वासांसि बिभ्रत्यः कौशिकान्यपि ।।
समेत्य यदुसिंहस्य चक्रुरस्याञ्जलिं स्त्रियः ।
ऊचुश्चैनं हृषीकेशं सर्वास्ताः कमलेक्षणाः ।।

उस समय व्रत और संतापजनित शोक उनमेंसे किसीको पीड़ा नहीं दे सका। वे निर्मल रेशमी वस्त्र पहने हुए यदुवीर श्रीकृष्णके पास जा उनके सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गयीं। उन कमलनयनी कामिनियोंने अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी श्रीहरिसे इस प्रकार कहा।

कन्यका ऊचुः

नारदेन समाख्यातमस्माकं पुरुषोत्तम ।
आगमिष्यति गोविन्दः सुरकार्यार्थसिद्धये ।।

कन्याएँ बोलीं—पुरुषोत्तम! देवर्षि नारदने हमसे कह रखा था कि 'देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये भगवान् गोविन्द यहाँ पधारेंगे।

सोऽसुरं नरकं हत्वा निशुम्भं मुरमेव च ।
भौमं च सपरीवारं हयग्रीवं च दानवम् ।।
तथा पञ्चजनं चैव प्राप्स्यते धनमक्षयम् ।

'एवं वे सपरिवार नरकासुर, निशुम्भ, मुर, दानव हयग्रीव तथा पंचजनको मारकर अक्षय धन प्राप्त करेंगे।

सोऽचिरेणैव कालेन युष्मन्मोक्ता भविष्यति ।।
एवमुक्त्वागमद् धीमान् देवर्षिर्नारदस्तथा ।

'थोड़े ही दिनोंमें भगवान् यहाँ पधारकर तुम सब लोगोंका इस संकटसे उद्धार करेंगे।' ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् देवर्षि नारद यहाँसे चले गये।

त्वां चिन्तयानाः सततं तपो घोरमुपास्महे ।।
कालेऽतीते महाबाहुं कदा द्रक्ष्याम माधवम् ।

हम सदा आपका ही चिन्तन करती हुई घोर तपस्यामें लग गयीं। हमारे मनमें यह संकल्प उठता रहता था कि कितना समय बीतनेपर हमें महाबाहु माधवका दर्शन प्राप्त होगा।

इत्येवं हृदि संकल्पं कृत्वा पुरुषसत्तम ।।
तपश्चराम सततं रक्ष्यमाणा हि दानवैः ।

पुरुषोत्तम! यही संकल्प लेकर दानवोंद्वारा सुरक्षित हो हम सदा तपस्या करती आ रही हैं।

गान्धर्वेण विवाहेन विवाहं कुरु नः प्रियम् ।।
ततोऽस्मत्प्रियकामार्थं भगवान् मारुतोऽब्रवीत् ।
यथोक्तं नारदेनाद्य न चिरात् तद् भविष्यति ।।

भगवन्! आप गान्धर्व विवाहकी रीतिसे हमारे साथ विवाह करके हमारा प्रिय करें। हमारे पूर्वोक्त मनोरथको जानकर भगवान् वायुदेवने भी हम सबके प्रिय मनोरथकी सिद्धिके लिये कहा था कि 'देवर्षि नारदजीने जो कहा है, वह शीघ्र ही पूर्ण होगा'।

भीष्म उवाच

तासां परमनारीणामृषभाक्षं पुरस्कृतम् ।
ददृशुर्देवगन्धर्वा गृष्टीनामिव गोपतिम् ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! देवताओं तथा ग्रन्धर्वोंने देखा, वृषभके समान विशाल नेत्रोंवाले भगवान् श्रीकृष्ण उन परम सुन्दरी नारियोंके समक्ष वैसे ही खड़े थे, जैसे नयी गायोंके आगे साँड़ हो।

तस्य चन्द्रोपमं वक्त्रमुदीक्ष्य मुदितेन्द्रियाः ।
सम्प्रहृष्टा महाबाहुमिदं वचनमब्रुवन् ।।

भगवान्‌के मुखचन्द्रको देखकर उन सबकी इन्द्रियाँ उल्लसित हो उठीं और वे हर्षमें भरकर महाबाहु श्रीकृष्णसे पुनः इस प्रकार बोलीं।

कन्यका ऊचुः

सत्यं बत पुरा वायुरिदमस्मानिहाब्रवीत् ।
सर्वभूतकृतज्ञश्च महर्षिरपि नारदः ।।

कन्याओंने कहा—बड़े हर्षकी बात है कि पूर्व-कालमें वायुदेवने तथा सम्पूर्ण भूतोंके प्रति कृतज्ञता रखनेवाले महर्षि नारदजीने जो बात कही थी, वह सत्य हो गयी।

विष्णुर्नारायणो देवः शङ्खचक्रगदासिधृक् ।
स भौमं नरकं हत्वा भर्ता वो भविता ह्यतः ।।

उन्होंने कहा था कि 'शंख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले सर्वव्यापी नारायण भगवान् विष्णु भूमिपुत्र नरकको मारकर तुमलोगोंके पति होंगे'।

दिष्ट्या तस्यर्षिमुख्यस्य नारदस्य महात्मनः ।
वचनं दर्शनादेव सत्यं भवितुमर्हति ।।

ऋषियोंमें प्रधान महात्मा नारदका वह वचन आज आपके दर्शनमात्रसे सत्य होने जा रहा है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है।

यत् प्रियं बत पश्याम वक्त्रं चन्द्रोपमं तु ते ।
दर्शनेन कृतार्थाः स्मो वयमद्य महात्मनः ।।

तभी तो आज हम आपके परम प्रिय चन्द्रतुल्य मुखका दर्शन कर रही हैं। आप परमात्माके दर्शनमात्रसे ही हम कृतार्थ हो गयीं।

भीष्म उवाच

उवाच स यदुश्रेष्ठः सर्वास्ता जातमन्मथाः ।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! भगवान्के प्रति उन सबके हृदयमें कामभावका संचार हो गया था। उस समय यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने उनसे कहा।

श्रीभगवानुवाच

यथा ब्रूत विशालाक्ष्यस्तत् सर्वं वो भविष्यति ।।

श्रीभगवान् बोले—विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरियो! जैसा तुम कहती हो, उसके अनुसार तुम्हारी सारी अभिलाषा पूर्ण हो जायगी।

भीष्म उवाच

तानि सर्वाणि रत्नानि गमयित्वाथ किङ्करैः ।
स्त्रियश्च गमयित्वाथ देवतानृपकन्यकाः ।।
वैनतेयभुजे कृष्णो मणिपर्वतमुत्तमम् ।
क्षिप्रमारोपयाञ्चक्रे भगवान् देवकीसुतः ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! सेवकोंद्वारा उन सब रत्नोंको तथा देवताओं एवं राजाओं आदिकी कन्याओंको द्वारका भेजकर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उस उत्तम मणिपर्वतको शीघ्र ही गरुड़की बाँह (पंख या पीठ)-पर चढ़ा दिया।

सपक्षिगणमातङ्गं सव्यालमृगपन्नगम् ।
शाखामृगगणैर्जुष्टं सप्रस्तरशिलातलम् ।।
न्यङ्कुभिश्च वराहैश्च रुरुभिश्च निषेवितम् ।
सप्रपातमहासानुं विचित्रशिखिसंकुलम् ।।
तं महेन्द्रानुजः शौरिश्चकार गरुडोपरि ।
पश्यतां सर्वभूतानामुत्पाट्य मणिपर्वतम् ।।

केवल पर्वत ही नहीं, उसपर रहनेवाले जो पक्षियोंके समुदाय, हाथी, सर्प, मृग, नाग, बंदर, पत्थर, शिला, न्यंकु, वराह, रुरु मृग, झरने, बड़े-बड़े शिखर तथा विचित्र मोर आदि

थे, उन सबके साथ मणिपर्वतको उखाड़कर इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णने सब प्राणियोंके देखते-देखते गरुड़पर रख लिया।

उपेन्द्रं बलदेवं च वासवं च महाबलम् ।
तं च रत्नौघमतुलं पर्वतं च महाबलः ।।
वरुणस्यामृतं दिव्यं छत्रं चन्द्रोपमं शुभम् ।
स्वपक्षबलविक्षेपैर्महाद्रिशिखरोपमः ।।
दिक्षु सर्वासु संरावं स चक्रे गरुडो वहन् ।

महाबली गरुड़ श्रीकृष्ण, बलराम तथा महाबलवान् इन्द्रको, उस अनुपम रत्नराशि तथा पर्वतको, वरुणदेवताके दिव्य अमृत तथा चन्द्रतुल्य उज्ज्वल शुभकारक छत्रको वहन करते हुए चल दिये। उनका शरीर विशाल पर्वतशिखरके समान था। वे अपनी पाँखोंको बलपूर्वक हिला-हिलाकर सब दिशाओंमें भारी शोर मचाते जा रहे थे।

आरुजन् पर्वताग्राणि पादपांश्च समुत्क्षिपन् ।।
संजहार महाभ्राणि वैश्वानरपथं गतः ।

उड़ते समय गरुड़ पर्वतोंके शिखर तोड़ डालते थे, पेड़ोंको उखाड़ फेंकते थे और ज्योतिष्पथ (आकाश)-में चलते समय बड़े-बड़े बादलोंको अपने साथ उड़ा ले जाते थे।

ग्रहनक्षत्रताराणां सप्तर्षीणां स्वतेजसा ।।
प्रभाजालमतिक्रम्य चन्द्रसूर्यपथं ययौ ।

वे अपने तेजसे ग्रह, नक्षत्र, तारों और सप्तर्षियोंके प्रकाशपुंजको तिरस्कृत करते हुए चन्द्रमा और सूर्यके मार्गपर जा पहुँचे।

मेरोः शिखरमासाद्य मध्यमं मधुसूदनः ।।
देवस्थानानि सर्वाणि ददर्श भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर मधुसूदनने मेरुपर्वतके मध्यम शिखरपर पहुँचकर समस्त देवताओंके निवासस्थानोंका दर्शन किया।

विश्वेषां मरुतां चैव साध्यानां च युधिष्ठिर ।।
भ्राजमानान्यतिक्रम्य अश्विनोश्च परंतप ।
प्राप्य पुण्यतमं स्थानं देवलोकमरिंदमः ।।

युधिष्ठिर! उन्होंने विश्वेदेवों, मरुद्गणों और साध्योंके प्रकाशमान स्थानोंको लाँघकर अश्विनीकुमारोंके पुण्यतम लोकमें पदार्पण किया। परंतप! तत्पश्चात् शत्रुहन्ता भगवान् श्रीकृष्ण देवलोकमें जा पहुँचे।

शक्रसद्म समासाद्य चावरुह्य जनार्दनः ।
सोऽभिवाद्यादितेः पादावर्चितः सर्वदैवतैः ।।
ब्रह्मदक्षपुरोगैश्च प्रजापतिभिरेव च ।

इन्द्रभवनके निकट जाकर भगवान् जनार्दन गरुड़परसे उतर पड़े। वहाँ उन्होंने देवमाता अदितिके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर ब्रह्मा और दक्ष आदि प्रजापतियोंने तथा सम्पूर्ण देवताओंने उनका भी स्वागत-सत्कार किया।

अदितेः कुण्डले दिव्ये ददावथ तदा विभुः ।।
रत्नानि च परार्घ्याणि रामेण सह केशवः ।

उस समय बलरामसहित भगवान् केशवने माता अदितिको दोनों दिव्य कुण्डल और बहुमूल्य रत्न भेंट किये।

प्रतिगृह्य च तत् सर्वमदितिर्वासवानुजम् ।।
पूजयामास दाशार्हं रामं च विगतज्वरा ।

वह सब ग्रहण करके माता अदितिका मानसिक दुःख दूर हो गया और उन्होंने इन्द्रके छोटे भाई यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण और बलरामका बहुत आदर-सत्कार किया।

शची महेन्द्रमहिषी कृष्णस्य महिषीं तदा ।।
सत्यभामां तु संगृह्य अदित्यै वै न्यवेदयत् ।

इन्द्रकी महारानी शचीने उस समय भगवान् श्रीकृष्णकी पटरानी सत्यभामाका हाथ पकड़कर उन्हें माता अदितिकी सेवामें पहुँचाया।

सा तस्याः सत्यभामायाः कृष्णप्रियचिकीर्षया ।।
वरं प्रादाद् देवमाता सत्यायै विगतज्वरा ।

देवमाताकी सारी चिन्ता दूर हो गयी थी। उन्होंने श्रीकृष्णका प्रिय करनेकी इच्छासे सत्यभामाको उत्तम वर प्रदान किया।

अदितिरुवाच

जरां न यास्यसि वधूर्यावद् वै कृष्णमानुषम् ।।
सर्वगन्धगुणोपेता भविष्यसि वरानने ।

अदिति बोलीं—सुन्दर मुखवाली बहू! जबतक श्रीकृष्ण मानव-शरीरमें रहेंगे, तबतक तू वृद्धावस्थाको प्राप्त न होगी और सब प्रकारकी दिव्य सुगन्ध एवं उत्तम गुणोंसे सुशोभित होती रहेगी।

भीष्म उवाच

विहृत्य सत्यभामा वै सह शच्या सुमध्यमा ।।
शच्यापि समनुज्ञाता ययौ कृष्णनिवेशनम् ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! सुन्दरी सत्यभामा शचीदेवीके साथ घूम-फिरकर उनकी आज्ञा ले भगवान् श्रीकृष्णके विश्रामगृहमें चली गयीं।

सम्पूज्यमानस्त्रिदशैर्महर्षिगणसेवितः ।
द्वारकां प्रययौ कृष्णो देवलोकादरिंदमः ।।

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण महर्षियोंसे सेवित और देवताओंद्वारा पूजित होकर देवलोकसे द्वारकाको चले गये।

सोऽतिपत्य महाबाहुर्दीर्घमध्वानमच्युतः ।
वर्धमानपुरद्वारमाससाद पुरोत्तमम् ।।

महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण लंबा मार्ग तय करके उत्तम द्वारका नगरीमें, जिसके प्रधान द्वारका नाम वर्धमान था, जा पहुँचे।

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[द्वारकापुरी एवं रुक्मिणी आदि रानियोंके महलोंका वर्णन, श्रीबलराम और श्रीकृष्णका द्वारकामें प्रवेश]

भीष्म उवाच

तां पुरीं द्वारकां दृष्ट्वा विभुर्नारायणो हरिः ।
हृष्टः सर्वार्थसम्पन्नां प्रवेष्टुमुपचक्रमे ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! सर्वव्यापी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने सब प्रकारके मनोवांछित पदार्थोंसे भरी-पूरी द्वारकापुरीको देखकर प्रसन्नतापूर्वक उसमें प्रवेश करनेकी तैयारी की।

सोऽपश्यद् वृक्षषण्डांश्च रम्यानारामजान् बहून् ।
समन्ततो द्वारवत्यां नानापुष्पफलान्वितान् ।।

उन्होंने देखा, द्वारकापुरीके सब ओर बगीचोंमें बहुत-से रमणीय वृक्षसमूह शोभा पा रहे हैं, जिनमें नाना प्रकारके फल और फूल लगे हुए हैं।

अर्कचन्द्रप्रतीकाशैर्मेरुकुटनिभैर्गृहैः ।
द्वारका रचिता रम्यैः सुकृता विश्वकर्मणा ।।

वहाँके रमणीय राजसदन सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशमान तथा मेरुपर्वतके शिखरोंकी भाँति गगनचुम्बी थे। उन भवनोंसे विभूषित द्वारकापुरीकी रचना साक्षात् विश्वकर्माने की थी।

पद्मषण्डाकुलाभिश्च हंससेवितवारिभिः ।
गङ्गासिन्धुप्रकाशाभिः परिखाभिरलंकृता ।।

उस पुरीके चारों ओर बनी हुई चौड़ी खाइयाँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। उनमें कमलके फूल खिले हुए थे। हंस आदि पक्षी उनके जलका सेवन करते थे। वे देखनेमें गंगा और सिन्धुके समान जान पड़ती थीं।

प्राकारेणार्कवर्णेन पाण्डरेण विराजिता ।
वियन्मूर्ध्नि निविष्टेन द्यौरिवाभ्रपरिच्छदा ।।

सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाली ऊँची गगनचुम्बिनी श्वेत चहारदीवारीसे सुशोभित द्वारकापुरी सफेद बादलोंसे घिरी हुई देवपुरी (अमरावती)-के समान जान पड़ती थी।

नन्दनप्रतिमैश्चापि मिश्रकप्रतिमैर्वनैः ।
भाति चैत्ररथं दिव्यं पितामहवनं यथा ।।
वैभ्राजप्रतिमैश्चैव सर्वर्तुकुसुमोत्कटैः ।
भाति तारापरिक्षिप्ता द्वारका द्यौरिवाम्बरे ।।

नन्दन और मिश्रक-जैसे वन उस पुरीकी शोभा बढ़ा रहे थे। वहाँका दिव्य चैत्ररथ वन ब्रह्माजीके अलौकिक उद्यानकी भाँति शोभित था। सभी ऋतुओंके फूलोंसे भरे हुए वैभ्राज

नामक वनके सदृश मनोहर उपवनोंसे घिरी हुई द्वारकापुरी ऐसी जान पड़ती थी, मानो आकाशमें तारिकाओंसे व्याप्त स्वर्गपुरी शोभा पा रही हो।

भाति रैवतकः शैलो रम्यसानुर्महाजिरः ।
पूर्वस्यां दिशि रम्यायां द्वारकायां विभूषणम् ।।

रमणीय द्वारकापुरीकी पूर्वदिशामें महाकाय रैवतक पर्वत, जो उस पुरीका आभूषणरूप था, सुशोभित हो रहा था। उसके शिखर बड़े मनोहर थे।

दक्षिणस्यां लतावेष्टः पञ्चवर्णो विराजते ।
इन्द्रकेतुप्रतीकाशः पश्चिमां दिशमाश्रितः ।।
सुकक्षो राजतः शैलश्चित्रपुष्पमहावनः ।
उत्तरस्यां दिशि तथा वेणुमन्तो विराजते ।।
मन्दराद्रिप्रतीकाशः पाण्डरः पाण्डवर्षभ ।

पुरीके दक्षिण भागमें लतावेष्ट नामक पर्वत शोभा पा रहा था, जो पाँच रंगका होनेके कारण इन्द्रध्वज-सा प्रतीत होता था। पश्चिमदिशामें सुकक्ष नामक रजत-पर्वत था, जिसके ऊपर विचित्र पुष्पोंसे सुशोभित महान् वन शोभा पा रहा था। पाण्डवश्रेष्ठ! इसी प्रकार उत्तरदिशामें मन्दराचलके सदृश श्वेत वर्णवाला वेणुमन्त पर्वत शोभायमान था।

चित्रकम्बलवर्णाभं पाञ्चजन्यवनं तथा ।।
सर्वर्तुकवनं चैव भाति रैवतकं प्रति ।

रैवतक पर्वतके पास चित्रकम्बलके-से वर्णवाले पांचजन्यवन तथा सर्वर्तुकवनकी भी बड़ी शोभा होती थी।

लतावेष्टं समन्तात् तु मेरुप्रभवनं महत् ।।
भाति तालवनं चैव पुष्पकं पुण्डरीकवत् ।

लतावेष्ट पर्वतके चारों ओर मेरुप्रभ नामक महान् वन, तालवन तथा कमलोंसे सुशोभित पुष्पकवन शोभा पा रहे हैं।

सुकक्षं परिवार्यैनं चित्रपुष्पं महावनम् ।।
शतपत्रवनं चैव करवीरकुसुम्भि च ।

सुकक्ष पर्वतको चारों ओरसे घेरकर चित्रपुष्प नामक महावन, शतपत्रवन, करवीरवन और कुसुम्भिवन सुशोभित होते हैं।

भाति चैत्ररथं चैव नन्दनं च महावनम् ।।
रमणं भावनं चैव वेणुमन्तं समन्ततः ।

वेणुमन्त पर्वतके सब ओर चैत्ररथ, नन्दन, रमण और भावन नामक महान् वन शोभा पाते हैं।

भाति पुष्करिणी रम्या पूर्वस्यां दिशि भारत ।।
धनुः शतपरीणाहा केशवस्य महात्मनः ।

भारत! महात्मा केशवकी उस पुरीमें पूर्वदिशाकी ओर एक रमणीय पुष्करिणी शोभा पाती है, जिसका विस्तार सौ धनुष है।

महापुरीं द्वारवतीं पञ्चाशद्भिर्मुखैर्युताम् ।
प्रविष्टो द्वारकां रम्यां भासयन्तीं समन्ततः ।।

पचास दरवाजोंसे सुशोभित और सब ओरसे प्रकाशमान उस सुरम्य महापुरी द्वारकामें श्रीकृष्णने प्रवेश किया।

अप्रमेयां महोत्सेधां महागाधपरिप्लवाम् ।
प्रासादवरसम्पन्नां श्वेतप्रासादशालिनीम् ।।

वह कितनी बड़ी है, इसका कोई माप नहीं था। उसकी ऊँचाई भी बहुत अधिक थी। वह पुरी चारों ओर अत्यन्त अगाध जलराशिसे घिरी हुई थी। सुन्दर-सुन्दर महलोंसे भरी हुई द्वारका श्वेत अट्टालिकाओंसे सुशोभित होती थी।

तीक्ष्णयन्त्रशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैः समन्विताम् ।
आयसैश्च महाचक्रैर्ददर्श द्वारकां पुरीम् ।।

तीखे यन्त्र, शतघ्नी, विभिन्न यन्त्रोंके समुदाय और लोहेके बने हुए बड़े-बड़े चक्रोंसे सुरक्षित द्वारकापुरीको भगवान्‌ने देखा।

अष्टौ रथसहस्राणि प्राकारे किङ्किणीकिनः ।
समुच्छ्रितपताकानि यथा देवपुरे तथा ।।

देवपुरीकी भाँति उसकी चहारदीवारीके निकट क्षुद्रघण्टिकाओंसे सुशोभित आठ हजार रथ शोभा पाते थे, जिनमें पताकाएँ फहराती रहती थीं।

अष्टयोजनविस्तीर्णामचलां द्वादशायताम् ।
द्विगुणोपनिवेशां च ददर्श द्वारकां पुरीम् ।।

द्वारकापुरीकी चौड़ाई आठ योजन है एवं लम्बाई बारह योजन है अर्थात् वह कुल ९६ योजन विस्तृत है। उसका उपनिवेश (समीपस्थ प्रदेश) उससे दुगुना अर्थात् १९२ योजन विस्तृत है। वह पुरी सब प्रकारसे अविचल है। श्रीकृष्णने उस पुरीको देखा।

अष्टमार्गां महाकक्ष्यां महाषोडशचत्वराम् ।
एवं मार्गपरिक्षिप्तां साक्षादुशनसा कृताम् ।।

उसमें जानेके लिये आठ मार्ग हैं, बड़ी-बड़ी ड्योढ़ियाँ हैं और सोलह बड़े-बड़े चौराहे हैं। इस प्रकार विभिन्न मार्गोंसे परिष्कृत द्वारकापुरी साक्षात् शुक्राचार्यकी नीतिके अनुसार बनायी गयी है।

व्यूहानामन्तरा मार्गाः सप्त चैव महापथाः ।
तत्र सा विहिता साक्षान्नगरी विश्वकर्मणा ।।

व्यूहोंके बीच-बीचमें मार्ग बने हैं, सात बड़ी-बड़ी सड़कें हैं। साक्षात् विश्वकर्माने इस द्वारकानगरीका निर्माण किया है।

काञ्चनैर्मणिसोपानैरुपेता जनहर्षिणी ।

गीतघोषमहाघोषैः प्रासादप्रवरैः शुभा ।।

सोने और मणियोंकी सीढ़ियोंसे सुशोभित यह नगरी जन-जनको हर्ष प्रदान करनेवाली है। यहाँ गीतके मधुर स्वर तथा अन्य प्रकारके घोष गूँजते रहते हैं। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओंके कारण वह पुरी परम सुन्दर प्रतीत होती है।

तस्मिन् पुरवरश्रेष्ठे दाशार्हाणां यशस्विनाम् ।

वेश्मानि जहृषे दृष्ट्वा भगवान् पाकशासनः ।।

नगरोंमें श्रेष्ठ उस द्वारकामें यशस्वी दशार्हवंशियोंके महल देखकर भगवान् पाकशासन इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई।

समुच्छ्रितपताकानि पारिप्लवनिभानि च ।

काञ्चनाभानि भास्वन्ति मेरुकूटनिभानि च ।।

उन महलोंके ऊपर ऊँची पताकाएँ फहरा रही थीं। वे मनोहर भवन मेघोंके समान जान पड़ते थे और सुवर्णमय होनेके कारण अत्यन्त प्रकाशमान थे। वे मेरुपर्वतके उत्तुंग शिखरोंके समान आकाशको चूम रहे थे।

सुधापाण्डरशृङ्गैश्च शातकुम्भपरिच्छदैः ।

रत्नसानुगुहाशृङ्गैः सर्वरत्नविभूषितैः ।।

उन गृहोंके शिखर चूनेसे लिपे-पुते और सफेद थे। उनकी छतें सुवर्णकी बनी हुई थीं। वहाँके शिखर, गुफा और शृंग—सभी रत्नमय थे। उस पुरीके भवन सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित थे।

सहर्म्यैः सार्धचन्द्रैश्च सनिर्यूहैः सपञ्जरैः ।

सयन्त्रगृहसम्बाधैः सधातुभिरिवाद्रिभिः ।।

(भगवान्‌ने देखा) वहाँ बड़े-बड़े महल, अटारी तथा छज्जे हैं और उन छज्जोंमें लटकते हुए पक्षियोंके पिंजड़े शोभा पाते हैं। कितने ही यन्त्रगृह वहाँके महलोंकी शोभा बढ़ाते हैं। अनेक प्रकारके रत्नोंसे जटित होनेके कारण द्वारकाके भवन विविध धातुओंसे विभूषित पर्वतोंके समान शोभा धारण करते हैं

मणिकाञ्चनभौमैश्च सुधामृष्टतलैस्तथा ।

जाम्बूनदमयैर्द्वारैर्वैडूर्यविकृतार्गलैः ।।

कुछ गृह तो मणिके बने हैं, कुछ सुवर्णसे तैयार किये गये हैं और कुछ पार्थिव पदार्थों (ईंट, पत्थर आदि) द्वारा निर्मित हुए हैं। उन सबके निम्नभाग चूनेसे स्वच्छ किये गये हैं। उनके दरवाजे (चौखट-किंवाड़े) जाम्बूनद सुवर्णके बने हैं और अर्गलाएँ (सिटकनियाँ) वैदूर्यमणिसे तैयार की गयी हैं।

सर्वर्तुसुखसंस्पर्शैर्महाधनपरिच्छदैः ।

रम्यसानुगुहाशृङ्गैर्विचित्रैरिव पर्वतैः ।।

उन गृहोंका स्पर्श सभी ऋतुओंमें सुख देनेवाला है। वे सभी बहुमूल्य सामानोंसे भरे हैं। उनकी समतल भूमि, गुफा और शिखर सभी अत्यन्त मनोहर हैं। इससे उन भवनोंकी शोभा विचित्र पर्वतोंके समान जान पड़ती है।

पञ्चवर्णसुवर्णैश्च पुष्पवृष्टिसमप्रभैः ।
तुल्यपर्जन्यनिर्घोषैर्नानावर्णैरिवाम्बुदैः ।।

उन गृहोंमें पाँच रंगोंके सुवर्ण मढ़े गये हैं। उनसे जो बहुरंगी आभा फैलती है, वह फुलझड़ी-सी जान पड़ती है। उन गृहोंसे मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान शब्द होते रहते हैं। वे देखनेमें अनेक वर्णोंके बादलोंके समान जान पड़ते हैं।

महेन्द्रशिखरप्रख्यैर्विहितैर्विश्वकर्मणा ।
आलिखद्भिरिवाकाशमतिचन्द्रार्कभास्वरैः ।।

विश्वकर्माके बनाये हुए वे (ऊँचे और विशाल) भवन महेन्द्र पर्वतके शिखरोंकी शोभा धारण करते हैं। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो वे आकाशमें रेखा खींच रहे हों। उनका प्रकाश चन्द्रमा और सूर्यसे भी बढ़कर है।

तैर्दाशार्हमहाभागैर्बभासे भवनह्रदैः ।
चण्डनागाकुलैर्घोरैर्ह्रदैर्भोगवती यथा ।।

जैसे भोगवती गंगा प्रचण्ड नागगणोंसे भरे हुए भयंकर कुण्डोंसे सुशोभित होती है, उसी प्रकार द्वारकापुरी दशार्हकुलके महान् सौभाग्यशाली पुरुषोंसे भरे हुए उपर्युक्त भवनरूपी ह्रदोंके द्वारा शोभा पा रही है।

कृष्णध्वजोपवाह्यैश्च दाशार्हायुधरोहितैः ।
वृष्णिमत्तमयूरैश्च स्त्रीसहस्रप्रभाकुलैः ।।
वासुदेवेन्द्रपर्जन्यैर्गृहमेघैरलङ्कृता ।
ददृशे द्वारकातीव मेघैर्द्यौरिव संवृता ।

जैसे आकाश मेघोंकी घटासे आच्छादित होता है, उसी प्रकार द्वारकापुरी मनोहर भवनरूपी मेघोंसे अलंकृत दिखायी देती है। ये भगवान् श्रीकृष्ण ही वहाँ इन्द्र एवं पर्जन्य (प्रमुख मेघ)-के समान हैं। वृष्णिवंशी युवक मतवाले मयूरोंके समान उन भवनरूपी मेघोंको देखकर हर्षसे नाच उठते हैं। सहस्रों स्त्रियोंकी कान्ति विद्युत्की प्रभाके समान उनमें व्याप्त है। जैसे मेघ कृष्णध्वज (अग्नि या सूर्यकिरण)-के उपबाह्य (आधेय अथवा कार्य) हैं, उसी प्रकार द्वारकाके भवन भी कृष्णध्वजसे विभूषित उपबाह्य (वाहनों)-से सम्पन्न हैं। यदुवंशियोंके विविध प्रकारके अस्त्र-शस्त्र उन मेघसदृश महलोंमें इन्द्रधनुषकी बहुरंगी छटा छिटकाते हैं।

साक्षाद् भगवतो वेश्म विहितं विश्वकर्मणा ।।
ददृशुर्देवदेवस्य चतुर्योजनमायतम् ।
तावदेव च विस्तीर्णमप्रमेयं महाधनैः ।।

प्रासादवरसम्पन्नं युक्तं जगति पर्वतैः ।

भारत! देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्णका भवन, जिसे साक्षात् विश्वकर्माने अपने हाथों बनाया है, चार योजन लम्बा और उतना ही चौड़ा दिखायी देता है। उसमें कितनी बहुमूल्य सामग्रियाँ लगी हैं! इसका अनुमान लगाना असम्भव है। उस विशाल भवनके भीतर सुन्दर-सुन्दर महल और अट्टालिकाएँ बनी हुई हैं। वह प्रासाद जगत्के सभी पर्वतीय दृश्योंसे युक्त है। श्रीकृष्ण, बलराम और इन्द्रने उस द्वारकाको देखा।

यं चकार महाबाहुस्त्वष्टा वासवचोदितः ।।
प्रासादं पद्मनाभस्य सर्वतो योजनायतम् ।
मेरोरिव गिरेः शृङ्गमुच्छ्रितं काञ्चनायुतम् ।
रुक्मिण्याः प्रवरो वासो विहितः सुमहात्मना ।।

महाबाहु विश्वकर्माने इन्द्रकी प्रेरणासे भगवान् पद्मनाभके लिये जिस मनोहर प्रासादका निर्माण किया है, उसका विस्तार सब ओरसे एक-एक योजनका है। उसके ऊँचे शिखरपर सुवर्ण मढ़ा गया है, जिससे वह मेरुपर्वतके उत्तुंग शृंगकी शोभा धारण कर रहा है। वह प्रासाद महात्मा विश्वकर्माने महारानी रुक्मिणीके रहनेके लिये बनाया है। यह उनका सर्वोत्तम निवास है।

सत्यभामा पुनर्वेश्म सदा वसति पाण्डरम् ।
विचित्रमणिसोपानं यं विदुः शीतवानिति ।।

श्रीकृष्णकी दूसरी पटरानी सत्यभामा सदा श्वेत-रंगके प्रासादमें निवास करती हैं, जिसमें विचित्र मणियोंके सोपान बनाये गये हैं। उसमें प्रवेश करनेपर लोगोंको (ग्रीष्म-ऋतुमें

भी) शीतलताका अनुभव होता है।

विमलादित्यवर्णाभिः पताकाभिरलङ्कृतम् ।

व्यक्तबद्धं वनोद्देशे चतुर्दिशि महाध्वजम् ।।

निर्मल सूर्यके समान तेजस्विनी पताकाएँ उस मनोरम प्रासादकी शोभा बढ़ाती हैं। एक सुन्दर उद्यानमें उस भवनका निर्माण किया गया है। उसके चारों ओर ऊँची-ऊँची ध्वजाएँ फहराती रहती हैं।

स च प्रासादमुख्योऽत्र जाम्बवत्या विभूषितः ।

प्रभया भूषणैश्चित्रैस्त्रैलोक्यमिव भासयन् ।।

यस्तु पाण्डरवर्णाभस्तयोरन्तरमाश्रितः ।

विश्वकर्माकरोदेनं कैलासशिखरोपमम् ।।

इसके सिवा वह प्रमुख प्रासाद, जो रुक्मिणी तथा सत्यभामाके महलोंके बीचमें पड़ता है और जिसकी उज्ज्वल प्रभा सब ओर फैली रहती है, जाम्बवतीदेवीद्वारा विभूषित किया गया है। वह अपनी दिव्य प्रभा और विचित्र सजावटसे मानो तीनों लोकोंको प्रकाशित कर रहा है। उसे भी विश्वकर्माने ही बनाया है। जाम्बवतीका वह विशाल भवन कैलास-शिखरके समान सुशोभित होता है।

जाम्बूनदप्रदीप्ताग्रः प्रदीप्तज्वलनोपमः ।

सागरप्रतिमोऽतिष्ठन्मेरुरित्यभिविश्रुतः ।।

तस्मिन् गान्धारराजस्य दुहिता कुलशालिनी ।

सुकेशी नाम विख्याता केशवेन निवेशिता ।।

जिसका दरवाजा जाम्बूनद सुवर्णके समान उद्दीप्त होता है, जो देखनेमें प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ता है। विशालतामें समुद्रसे जिसकी उपमा दी जाती है, जो मेरुके नामसे विख्यात है, उस महान् प्रासादमें गान्धारराजकी कुलीन कन्या सुकेशीको भगवान् श्रीकृष्णने ठहराया है।

पद्मकूट इति ख्यातः पद्मवर्णो महाप्रभः ।

सुप्रभाया महाबाहो निवासः परमार्चितः ।।

महाबाहो! पद्मकूट नामसे विख्यात जो कमलके समान कान्तिवाला प्रासाद है, वह महारानी सुप्रभाका परम पूजित निवासस्थान है।

यस्तु सूर्यप्रभो नाम प्रासादवर उच्यते ।

लक्ष्मणायाः कुरुश्रेष्ठ स दत्तः शार्ङ्गधन्वना ।।

कुरुश्रेष्ठ! जिस उत्तम प्रासादकी प्रभा सूर्यके समान है, उसे शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्णने महारानी लक्ष्मणाको दे रखा है।

वैडूर्यवरवर्णाभः प्रासादो हरितप्रभः ।

यं विदुः सर्वभूतानि हरिरित्येव भारत ।

वासः स मित्रविन्दाया देवर्षिगणपूजितः ।।

महिष्या वासुदेवस्य भूषणं सर्ववेश्मनाम् ।

भारत! वैदूर्यमणिके समान कान्तिमान् हरे रंगका महल, जिसे देखकर सब प्राणियोंको 'श्रीहरि' ही हैं, ऐसा अनुभव होता है, वह मित्रविन्दाका निवासस्थान है। उसकी देवगण भी सराहना करते हैं। भगवान् वासुदेवकी रानी मित्रविन्दाका यह भवन अन्य सब महलोंका आभूषणरूप है।

यस्तु प्रासादमुख्योऽत्र विहितः सर्वशिल्पिभिः ।।

अतीव रम्यः सोऽप्यत्र प्रहसन्निव तिष्ठति ।

सुदत्तायाः सुवासस्तु पूजितः सर्वशिल्पिभिः ।।

महिष्या वासुदेवस्य केतुमानिति विश्रुतः ।

युधिष्ठिर! द्वारकामें जो दूसरा प्रमुख प्रासाद है, उसे सम्पूर्ण शिल्पियोंने मिलकर बनाया है। वह अत्यन्त रमणीय भवन हँसता-सा खड़ा है। सभी शिल्पी उसके निर्माण-कौशलकी सराहना करते हैं। उस प्रासादका नाम है केतुमान्। वह भगवान् वासुदेवकी महारानी सुदत्तादेवीका सुन्दर निवासस्थान है।

प्रासादो विरजो नाम विरजस्को महात्मनः ।।

उपस्थानगृहं तात केशवस्य महात्मनः ।

वहीं 'विरज' नामसे प्रसिद्ध एक प्रासाद है, जो निर्मल एवं रजोगुणके प्रभावसे शून्य है। वह परमात्मा श्रीकृष्णका उपस्थानगृह (खास रहनेका स्थान) है।

यस्तु प्रासादमुख्योऽत्र यं त्वष्टा व्यदधात् स्वयम् ।।

योजनायतविष्कुम्भं सर्वरत्नमयं विभोः ।

इसी प्रकार वहाँ एक और भी प्रमुख प्रासाद है, जिसे स्वयं विश्वकर्माने बनाया है। उसकी लंबाई-चौड़ाई एक-एक योजनकी है। भगवान्‌का वह भवन सब प्रकारके रत्नोंद्वारा निर्मित हुआ है।

तेषां तु विहिताः सर्वे रुक्मदण्डाः पताकिनः ।

सदने वासुदेवस्य मार्गसंजनना ध्वजाः ।।

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके सुन्दर सदनमें जो मार्गदर्शक ध्वज हैं, उन सबके दण्ड सुवर्णमय बनाये गये हैं। उन सबपर पताकाएँ फहराती रहती हैं।

घण्टाजालानि तत्रैव सर्वेषां च निवेशने ।

आहृत्य यदुसिंहेन वैजयन्त्यचलो महान् ।।

द्वारकापुरीमें सभीके घरोंमें घंटा लगाया गया है। यदुसिंह श्रीकृष्णने वहाँ लाकर वैजयन्ती पताकाओंसे युक्त पर्वत स्थापित किया है।

हंसकूटस्य यच्छृङ्गमिन्द्रद्युम्नसरो महत् ।

षष्टितालसमुत्सेधमर्धयोजनविस्तृतम् ।।

वहाँ हंसकूट पर्वतका शिखर है, जो साठ ताड़के बराबर ऊँचा और आधा योजन चौड़ा है। वहीं इन्द्रद्युम्नसरोवर भी है, जिसका विस्तार बहुत बड़ा है।

सकिन्नरमहानादं तदप्यमिततेजसः ।
पश्यतां सर्वभूतानां त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।।

वहाँ सब भूतोंके देखते-देखते किन्नरोंके संगीतका महान् शब्द होता रहता है। वह भी अमिततेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णका ही लीलास्थल है। उसकी तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि है।

आदित्यपथगं यत् तन्मेरोः शिखरमुत्तमम् ।
जाम्बूनदमयं दिव्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।।
तदप्युत्पाट्य कृच्छ्रेण स्वं निवेशनमाहृतम् ।
भ्राजमानं पुरा तत्र सर्वौषधिविभूषितम् ।।

मेरुपर्वतका जो सूर्यके मार्गतक पहुँचा हुआ जाम्बूनदमय दिव्य और त्रिभुवनविख्यात उत्तम शिखर है, उसे उखाड़कर भगवान् श्रीकृष्ण कठिनाई उठाकर भी अपने महलमें ले आये हैं। सब प्रकारकी ओषधियोंसे अलंकृत वह मेरुशिखर द्वारकामें पूर्ववत् प्रकाशित है।

यमिन्द्रभवनाच्छौरिराजहार परंतपः ।
पारिजातः स तत्रैव केशवेन निवेशितः ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण जिसे इन्द्रभवनसे हर ले आये थे, वह पारिजातवृक्ष भी उन्होंने द्वारकामें ही लगा रखा है।

विहिता वासुदेवेन ब्रह्मस्थलमहाद्रुमाः ।।
शालतालाश्वकर्णाश्चशतशाखाश्च रोहिणाः ।
भल्लातककपित्थाश्च चन्द्रवृक्षाश्च चम्पकाः ।।
खर्जूराः केतकाश्चैव समन्तात् परिरोपिताः ।

भगवान् वासुदेवने ब्रह्मलोकके बड़े-बड़े वृक्षोंको भी लाकर द्वारकामें लगाया है। साल, ताल, अश्वकर्ण (कनेर), सौ शाखाओंसे सुशोभित वटवृक्ष, भल्लातक (भिलावा), कपित्थ (कैथ), चन्द्र (बड़ी इलायचीके) वृक्ष, चम्पा, खजूर और केतक (केवड़ा)—ये वृक्ष वहाँ सब ओर लगाये गये थे।

पद्माकुलजलोपेता रक्ताः सौगन्धिकोत्पलाः ।।
मणिमौक्तिकवालूकाः पुष्करिण्यः सरांसि च ।
तासां परमकूलानि शोभयन्ति महाद्रुमाः ।।

द्वारकामें जो पुष्करिणियाँ और सरोवर हैं, वे कमलपुष्पोंसे सुशोभित स्वच्छ जलसे भरे हुए हैं। उनकी आभा लाल रंगकी है। उनमें सुगन्धयुक्त उत्पल खिले हुए हैं। उनमें स्थित बालूके कण मणियों और मोतियोंके चूर्ण-जैसे जान पड़ते हैं। वहाँ लगाये हुए बड़े-बड़े वृक्ष उन सरोवरोंके सुन्दर तटोंकी शोभा बढ़ाते हैं।

ये च हैमवता वृक्षा ये च नन्दनजास्तथा ।

आहृत्य यदुसिंहेन तेऽपि तत्र निवेशिताः ।।

जो वृक्ष हिमालयपर उगते हैं तथा जो नन्दनवनमें उत्पन्न होते हैं, उन्हें भी यदुप्रवर श्रीकृष्णने वहाँ लाकर लगाया है।

रक्तपीतारुणप्रख्याः सितपुष्पाश्च पादपाः ।
सर्वर्तुफलपूर्णास्ते तेषु काननसंधिषु ।।

कोई वृक्ष लाल रंगके हैं, कोई पीत वर्णके हैं और कोई अरुण कान्तिसे सुशोभित हैं तथा बहुत-से वृक्ष ऐसे हैं, जिनमें श्वेत रंगके पुष्प शोभा पाते हैं। द्वारकाके उपवनोंमें लगे हुए पूर्वोक्त सभी वृक्ष सम्पूर्ण ऋतुओंके फलोंसे परिपूर्ण हैं।

सहस्रपत्रपद्माश्च मन्दराश्च सहस्रशः ।
अशोकाः कर्णिकाराश्च तिलका नागमल्लिकाः ।।
कुरवा नागपुष्पाश्च चम्पकास्तृणगुल्मकाः ।
सप्तपर्णाः कदम्बाश्च नीपाः कुरबकास्तथा ।।
केतक्यः केसराश्चैव हिन्तालतलताटकाः ।
तालाः प्रियङ्गुवकुलाः पिण्डिका बीजपूरकाः ।।
द्राक्षामलकखर्जूरा मृद्वीका जम्बुकास्तथा ।
आम्राः पनसवृक्षाश्च अङ्कोलास्तिलतिन्दुकाः ।।
लिकुचाम्रातकाश्चैव क्षीरिका कण्टकी तथा ।
नालिकेरेङ्गुदाश्चैव उत्क्रोशकवनानि च ।।
वनानि च कदल्याश्च जातिमल्लिकपाटलाः ।
भल्लातककपित्थाश्च तैतभा बन्धुजीवकाः ।।
प्रवालाशोककाश्मर्यः प्राचीनाश्चैव सर्वशः ।
प्रियङ्गुबदरीभिश्च यवैः स्पन्दनचन्दनैः ।।
शमीबिल्वपलाशैश्च पाटलावटपिप्पलैः ।
उदुम्बरैश्च द्विदलैः पालाशैः पारिभद्रकैः ।।
इन्द्रवृक्षार्जुनैश्चैव अश्वत्थैश्चिरिबिल्वकैः ।
सौभञ्जनकवृक्षैश्च भल्लटैरश्वसाह्वयैः ।।
सर्जैस्ताम्बूलवल्लीभिर्लवङ्गैः क्रमुकैस्तथा ।
वंशैश्च विविधैस्तत्र समन्तात् परिरोपितैः ।।

सहस्रदल कमल, सहस्रों मन्दार, अशोक, कर्णिकार, तिलक, नागमल्लिका, कुरव (कटसरैया), नागपुष्प, चम्पक, तृण, गुल्म, सप्तपर्ण (छितवन), कदम्ब, नीप, कुरबक, केतकी, केसर, हिंताल, तल, ताटक, ताल, प्रियंगु, वकुल (मौलसिरी), पिण्डिका, बीजपूर (बिजौरा), दाख, आँवला, खजूर, मुनक्का, जामुन, आम, कटहल, अंकोल, तिल, तिन्दुक, लिकुच (लीची), आमड़ा, क्षीरिका (काकोली नामकी जड़ी या पिंडखजूर), करटकी (बेर),

नारियल, इंगुद (हिंगोट), उत्क्रोशकवन, कदलीवन, जाति (चमेली), मल्लिका (मोतिया), पाटल, भल्लातक, कपित्थ, तैतभ, बन्धुजीव (दुपहरिया), प्रवाल, अशोक और काश्मरी (गाँभारी) आदि सब प्रकारके प्राचीन वृक्ष, प्रियंगुलता, बेर, जौ, स्पन्दन, चन्दन, शमी, बिल्व, पलाश, पाटला, बड़, पीपल, गूलर, द्विदल, पालाश, पारिभद्रक, इन्द्रवृक्ष, अर्जुनवृक्ष, अश्वत्थ, चिरिबिल्व, सौभंजन, भल्लट, अश्वपुष्प, सर्ज, ताम्बूललता, लवंग, सुपारी तथा नाना प्रकारके बाँस—ये सब द्वारकापुरीमें श्रीकृष्णभवनके चारों ओर लगाये हैं।

ये च नन्दनजा वृक्षा ये च चैत्ररथे वने ।
सर्वे ते यदुनाथेन समन्तात् परिरोपिताः ।।

नन्दनवनमें और चैत्ररथवनमें जो-जो वृक्ष होते हैं, वे सभी यदुपति भगवान् श्रीकृष्णने लाकर यहाँ सब ओर लगाये हैं।

कुमुदोत्पलपूर्णाश्च वाप्यः कूपाः सहस्रशः ।
समाकुलमहावाप्यः पीता लोहितवालुकाः ।।

भगवान् श्रीकृष्णके गृहोद्यानमें कुमुद और कमलोंसे भरी हुई कितनी ही छोटी बावलियाँ हैं। सहस्रों कुएँ बने हुए हैं। जलसे भरी हुई बड़ी-बड़ी वापिकाएँ भी तैयार करायी गयी हैं, जो देखनेमें पीत वर्णकी हैं और जिनकी बालुकाएँ लाल हैं।

तस्मिन् गृहवने नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदाः ।
फुल्लोत्पलजलोपेता नानाद्रुमसमाकुलाः ।।

उनके गृहोद्यानमें स्वच्छ जलसे भरे हुए कुण्डवाली कितनी ही कृत्रिम नदियाँ प्रवाहित होती रहती हैं, जो प्रफुल्ल उत्पलयुक्त जलसे परिपूर्ण हैं तथा जिन्हें दोनों ओरसे अनेक प्रकारके वृक्षोंने घेर रखा है।

तस्मिन् गृहवने नद्यो मणिशर्करवालुकाः ।
मत्तबर्हिणसङ्घाश्च कोकिलाश्च मदोद्वहाः ।।

उस भवनके उद्यानकी सीमामें मणिमय कंकड़ और बालुकाओंसे सुशोभित नदियाँ निकाली गयी हैं, जहाँ मतवाले मयूरोंके झुंड विचरते हैं और मदोन्मत्त कोकिलाएँ कुहू-कुहू किया करती हैं।

बभूवुः परमोपेताः सर्वे जगतिपर्वताः ।
तत्रैव गजयूथानि तत्र गोमहिषास्तथा ।।
निवासाश्च कृतास्तत्र वराहमृगपक्षिणाम् ।

उस गृहोद्यानमें जगत्के सभी श्रेष्ठ पर्वत अंशतः संगृहीत हुए हैं। वहाँ हाथियोंके यूथ तथा गाय-भैंसोंके झुंड रहते हैं। वहीं जंगली सूअर, मृग और पक्षियोंके रहनेयोग्य निवासस्थान भी बनाये गये हैं।

विश्वकर्मकृतः शैलः प्राकारस्तस्य वेश्मनः ।।
व्यक्तं किष्कुशतोद्यामः सुधाकरसमप्रभः ।

विश्वकर्माद्वारा निर्मित पर्वतमाला ही उस विशाल भवनकी चहारदीवारी है। उसकी ऊँचाई सौ हाथकी है और वह चन्द्रमाके समान अपनी श्वेत छटा छिटकाती रहती है।

तेन ते च महाशैलाः सरितश्च सरांसि च ।।
परिक्षिप्तानि हर्म्यस्य वनान्युपवनानि च ।

पूर्वोक्त बड़े-बड़े पर्वत, सरिताएँ, सरोवर और प्रासादके समीपवर्ती वन-उपवन इस चहारदीवारीसे घिरे हुए हैं।

एवं तच्छिल्पिवर्येण विहितं विश्वकर्मणा ।।
प्रविशन्नेव गोविन्दो ददर्श परितो मुहुः ।

इस प्रकार शिल्पियोंमें श्रेष्ठ विश्वकर्माद्वारा बनाये हुए द्वारकानगरमें प्रवेश करते समय भगवान् श्रीकृष्णने बारंबार सब ओर दृष्टिपात किया।

इन्द्रः सहामरैः श्रीमांस्तत्र तत्रावलोकयत् ।

देवताओंके साथ श्रीमान् इन्द्रने वहाँ द्वारकाको सब ओर दृष्टि दौड़ाते हुए देखा।

एवमालोकयांचक्रुर्द्वारकामृषभास्त्रयः ।
उपेन्द्रबलदेवौ च वासवश्च महायशाः ।।

इस प्रकार उपेन्द्र (श्रीकृष्ण), बलराम तथा महायशस्वी इन्द्र इन तीनों श्रेष्ठ महापुरुषोंने द्वारकापुरीकी शोभा देखी।

ततस्तं पाण्डरं शौरिर्मूर्ध्नि तिष्ठन् गरुत्मतः ।।
प्रीतः शङ्खमुपादध्मौ विद्विषां रोमहर्षणम् ।

तदनन्तर गरुडके ऊपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक श्वेतवर्णवाले अपने उस पांचजन्य शंखको बजाया, जो शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला है।

तस्य शङ्खस्य शब्देन सागरश्चुक्षुभे भृशम् ।।
ररास च नभः सर्वं तच्चित्रमभवत् तदा ।

उस घोर शंखध्वनिसे समुद्र विक्षुब्ध हो उठा तथा सारा आकाशमण्डल गूँजने लगा। उस समय वहाँ यह अद्भुत बात हुई।

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं निशम्य कुकुरान्धकाः ।।
विशोकाः समपद्यन्त गरुडस्य च दर्शनात् ।

पांचजन्यका गम्भीर घोष सुनकर और गरुडका दर्शन कर कुकुर और अन्धकवंशी यादव शोकरहित हो गये।

शङ्खचक्रगदापाणिं सुपर्णशिरसि स्थितम् ।।
दृष्ट्वा जहृषिरे कृष्णं भास्करोदयतेजसम् ।

भगवान् श्रीकृष्णके हाथोंमें शंख, चक्र और गदा आदि आयुध सुशोभित थे। वे गरुडके ऊपर बैठे थे। उनका तेज सूर्योदयके समान नूतन चेतना और उत्साह पैदा करनेवाला था। उन्हें देखकर सबको बड़ा हर्ष हुआ।

ततस्तूर्यप्रणादश्च भेरीनां च महास्वनः ।।
सिंहनादश्च सञ्जज्ञे सर्वेषां पुरवासिनाम् ।

तदनन्तर तुरही और भेरियाँ बज उठीं। उनकी आवाज बहुत दूरतक फैल गयी। समस्त पुरवासी भी सिंहनाद कर उठे।

ततस्ते सर्वदाशार्हाः सर्वे च कुकुरान्धकाः ।।
प्रीयमाणाः समाजग्मुरालोक्य मधुसूदनम् ।

उस समय दाशार्ह, कुकुर और अन्धकवंशके सब लोग भगवान् मधुसूदनका दर्शन करके बड़े प्रसन्न हुए और सभी उनकी अगवानीके लिये आ गये।

वासुदेवं पुरस्कृत्य वेणुशंखरवैः सह ।।
उग्रसेनो ययौ राजा वासुदेवनिवेशनम् ।

राजा उग्रसेन भगवान् वासुदेवको आगे करके वेणुनाद और शंखध्वनिके साथ उनके महलतक उन्हें पहुँचानेके लिये गये।

आनन्दितुं पर्यचरन् स्वेषु वेश्मसु देवकी ।।
रोहिणी च यथोद्देशमाहुकस्य च याः स्त्रियः ।

देवकी, रोहिणी तथा उग्रसेनकी स्त्रियाँ अपने-अपने महलोंमें भगवान् श्रीकृष्णका अभिनन्दन करनेके लिये यथास्थान खड़ी थीं। पास आनेपर उन सबने उनका यथावत् सत्कार किया।

हता ब्रह्मद्विषः सर्वे जयन्त्यन्धकवृष्णयः ।।
एवमुक्तः स ह स्त्रीभिरीक्षितो मधुसूदनः ।

वे आशीर्वाद देती हुई इस प्रकार बोलीं—'समस्त ब्राह्मणद्वेषी असुर मारे गये; अन्धक और वृष्णिवंशके वीर सर्वत्र विजयी हो रहे हैं।' स्त्रियोंने भगवान् मधुसूदनसे ऐसा कहकर उनकी ओर देखा।

ततः शौरिः सुपर्णेन स्वं निवेशनमभ्ययात् ।।
चकाराथ यथोद्देशमीश्वरो मणिपर्वतम् ।

तदनन्तर श्रीकृष्ण गरुडके द्वारा ही अपने महलमें गये। वहाँ उन परमेश्वरने एक उपयुक्त स्थानमें मणिपर्वतको स्थापित कर दिया।

ततो धनानि रत्नानि सभायां मधुसूदनः ।।
निधाय पुण्डरीकाक्षः पितुर्दर्शनलालसः ।

इसके बाद कमलनयन मधुसूदनने सभाभवनमें धन और रत्नोंको रखकर मन-ही-मन पिताके दर्शनकी अभिलाषा की।

ततः सान्दीपनिं पूर्वमुपस्पृष्ट्वा महायशाः ।।
ववन्दे पृथुताम्राक्षः प्रीयमाणो महाभुजः ।

फिर विशाल एवं कुछ लाल नेत्रोंवाले उन महायशस्वी महाबाहुने पहले मन-ही-मन गुरु सान्दीपनिके चरणोंका स्पर्श किया।

तथाश्रुपरिपूर्णाक्षमानन्दगतचेतसम् ।।

ववन्दे सह रामेण पितरं वासवानुजः ।

तत्पश्चात् भाई बलरामजीके साथ जाकर श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। उस समय पिता वसुदेवके नेत्रोंमें प्रेमके आँसू भर आये और उनका हृदय आनन्दके समुद्रके निमग्न हो गया।

रामकृष्णौ समाश्लिष्य सर्वे चान्धकवृष्णयः ।।

अन्धक और वृष्णिवंशके सब लोगोंने बलराम और श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया।

तं तु कृष्णः समाहृत्य रत्नौघधनसंचयम् ।।

व्यभजत् सर्ववृष्णिभ्य आदध्वमिति चाब्रवीत् ।

भगवान् श्रीकृष्णने रत्न और धनकी उस राशिको एकत्र करके अलग-अलग बाँट दिया और सम्पूर्ण वृष्णिवंशियोंसे कहा—'यह सब आपलोग ग्रहण करें'।

यथाश्रेष्ठमुपागम्य सात्वतान् यदुनन्दनः ।।

सर्वेषां नाम जग्राह दाशार्हाणामधोक्षजः ।

ततः सर्वाणि वित्तानि सर्वरत्नमयानि च ।।

व्यभजत् तानि तेभ्योऽथ सर्वेभ्यो यदुनन्दनः ।

तदनन्तर यदुनन्दन श्रीकृष्णने यदुवंशियोंमें जो श्रेष्ठ पुरुष थे, उन सबसे क्रमशः मिलकर सब यादवोंको नाम ले-लेकर बुलाया और उन सबको वे सभी रत्नमय धन पृथक्-पृथक् बाँट दिये।

सा केशवमहामात्रैर्महेन्द्रप्रमुखैः सह ।।

शुशुभे वृष्णिशार्दूलैः सिंहैरिव गिरेर्गुहा ।

जैसे पर्वतकी कन्दरा सिंहोंसे सुशोभित होती है, उसी प्रकार द्वारकापुरी उस समय भगवान् श्रीकृष्ण, देवराज इन्द्र तथा वृष्णिवंशी वीर पुरुषसिंहोंसे अत्यन्त शोभा पा रही थी।

अथासनगतान् सर्वानुवाच विबुधाधिपः ।।

शुभया हर्षयन् वाचा महेन्द्रस्तान् महायशाः ।

कुकुरान्धकमुख्यांश्च तं च राजानमाहुकम् ।।

जब सभी यदुवंशी अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये, उस समय देवताओंके स्वामी महायशस्वी महेन्द्र अपनी कल्याणमयी वाणीद्वारा कुकुर और अन्धक आदि यादवों तथा राजा उग्रसेनका हर्ष बढ़ाते हुए बोले।

इन्द्र उवाच

यदर्थं जन्म कृष्णस्य मानुषेषु महात्मनः ।

यत् कृतं वासुदेवेन तद् वक्ष्यामि समासतः ।।

इन्द्रने कहा—यदुवंशी वीरो! परमात्मा श्रीकृष्णका मनुष्य-योनिमें जिस उद्देश्यको लेकर अवतार हुआ है और भगवान् वासुदेवने इस समय जो महान् पुरुषार्थ किया है, वह सब मैं संक्षेपमें बताऊँगा।

अयं शतसहस्राणि दानवानामरिंदमः ।
निहत्य पुण्डरीकाक्षः पातालविवरं ययौ ।।
यच्च नाधिगतं पूर्वैः प्रह्लादबलिशम्बरैः ।
तदिदं शौरिणा वित्तं प्रापितं भवतामिह ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले कमलनयन श्रीहरिने एक लाख दानवोंका संहार करके उस पाताल-विवरमें प्रवेश किया था, जहाँ पहलेके प्रह्लाद, बलि और शम्बर आदि दैत्य भी नहीं पहुँच सके थे। भगवान् आपलोगोंके लिये यह धन वहींसे लाये हैं।

सपाशं मुरमाक्रम्य पाञ्चजन्यं च धीमता ।
शिलासङ्घानतिक्रम्य निशुम्भः सगणो हतः ।

बुद्धिमान् श्रीकृष्णने पाशसहित मुर नामक दैत्यको कुचलकर पंचजन नामवाले राक्षसोंका विनाश किया और शिला-समूहोंको लाँघकर सेवकगणोंसहित निशुम्भको मौतके घाट उतार दिया।

हयग्रीवश्च विक्रान्तो निहतो दानवो बली ।।
मथितश्च मृधे भौमः कुण्डले चाहृते पुनः ।
प्राप्तं च दिवि देवेषु केशवेन महद् यशः ।।

तत्पश्चात् इन्होंने बलवान् एवं पराक्रमी दानव हयग्रीवपर आक्रमण करके उसे मार गिराया और भौमासुरका भी युद्धमें संहार कर डाला। इसके बाद केशवने माता अदितिके कुण्डल प्राप्त करके उन्हें यथास्थान पहुँचाया और स्वर्गलोक तथा देवताओंमें अपने महान् यशका विस्तार किया।

वीतशोकभयाबाधाः कृष्णबाहुबलाश्रयाः ।
यजन्तु विविधैः सोमैर्मखैरन्धकवृष्णयः ।।

अन्धक और वृष्णिवंशके लोग श्रीकृष्णके बाहुबलका आश्रय लेकर शोक, भय और बाधाओंसे मुक्त हैं। अब ये सभी नाना प्रकारके यज्ञों तथा सोमरसद्वारा भगवान्‌का यजन करें।

पुनर्बाणवधे शौरिमादित्या वसुभिः सह ।
मन्मुखा हि गमिष्यन्ति साध्याश्च मधुसूदनम् ।।

अब पुनः बाणासुरके वधका अवसर उपस्थित होनेपर मैं तथा सब देवता, वसु और साध्यगण मधुसूदन श्रीकृष्णकी सेवामें उपस्थित होंगे।

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा ततः सर्वानामन्त्र्य कुकुरान्धकान् ।
सस्वजे रामकृष्णौ च वसुदेवं च वासवः ।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! समस्त कुकुर और अन्धकवंशके लोगोंसे ऐसा कहकर सबसे विदा ले देवराज इन्द्रने बलराम, श्रीकृष्ण और वसुदेवको हृदयसे लगाया।

प्रद्युम्नसाम्बनिशठाननिरुद्धं च सारणम् ।
बभ्रुं झल्लिं गदं भानुं चारुदेष्णं च वृत्रहा ।।
सत्कृत्य सारणाक्रूरौ पुनराभाष्य सात्यकिम् ।
सस्वजे वृष्णिराजानमाहुकं कुकुराधिपम् ।।

प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, अनिरुद्ध, सारण, बभ्रु, झल्लि, गद, भानु, चारुदेष्ण, सारण और अक्रूरका भी सत्कार करके वृत्रासुरनिषुदन इन्द्रने पुनः सात्यकिसे वार्तालाप किया। इसके बाद वृष्णि और कुकुरवंशके अधिपति राजा उग्रसेनको गले लगाया।

भोजं च कृतवर्माणमन्यांश्चान्धकवृष्णिषु ।
आमन्त्र्य देवप्रवरो वासवो वासवानुजम् ।।

तत्पश्चात् भोज, कृतवर्मा तथा अन्य अन्धकवंशी एवं वृष्णिवंशियोंका आलिंगन करके देवराजने अपने छोटे भाई श्रीकृष्णसे विदा ली।

ततः श्वेताचलप्रख्यं गजमैरावतं प्रभुः ।
पश्यतां सर्वभूतानामारुरोह शचीपतिः ।।

तदनन्तर शचीपति भगवान् इन्द्र सब प्राणियोंके देखते-देखते श्वेतपर्वतके समान सुशोभित ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हुए।

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च वरवारणम् ।
मुखाडम्बरनिर्घोषैः पूरयन्तमिवासकृत् ।।

वह श्रेष्ठ गजराज अपनी गम्भीर गर्जनासे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गलोकको बारंबार निनादित-सा कर रहा था।

हैमयन्त्रमहाकक्ष्यं हिरण्मयविषाणिनम् ।
मनोहरकुथास्तीर्णं सर्वरत्नविभूषितम् ।।

उसकी पीठपर सोनेके खंभोंसे युक्त बहुत बड़ा हौदा कसा हुआ था। उसके दाँतोंमें सोना मढ़ा गया था। उसके ऊपर मनोहर झूल पड़ी हुई थी। वह सब प्रकारके रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित था।

अनेकशतरत्नाभिः पताकाभिरलङ्कृतम् ।
नित्यस्रुतमदस्रावं क्षरन्तमिव तोयदम् ।।

सैकड़ों रत्नोंसे अलंकृत पताकाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। उसके मस्तकसे निरन्तर मदकी धारा इस प्रकार बहती रहती थी, मानो मेघ पानी बरसा रहा हो।

दिशागजं महामात्रं काञ्चनस्रजमास्थितः ।

प्रबभौ मन्दराग्रस्थः प्रतपन् भानुमानिव ॥

वह विशालकाय दिग्गज सोनेकी माला धारण किये हुए था। उसपर बैठे हुए देवराज इन्द्र मन्दराचलके शिखरपर तपते हुए सूर्यदेवकी भाँति उद्भासित हो रहे थे।

ततो वज्रमयं भीमं प्रगृह्य परमाङ्कुशम् ।
ययौ बलवता सार्धं पावकेन शचीपतिः ॥

तदनन्तर शचीपति इन्द्र वज्रमय भयंकर एवं विशाल अंकुश लेकर बलवान् अग्निदेवके साथ स्वर्गलोकको चल दिये।

तं करेणुगजव्रातैर्विमानैश्च मरुद्गणाः ।
पृष्ठतोऽनुययुः प्रीताः कुबेरवरुणग्रहाः ॥

उनके पीछे हाथी-हथिनियोंके समुदायों और विमानोंद्वारा मरुद्गण, कुबेर तथा वरुण आदि देवता भी प्रसन्नतापूर्वक चल पड़े।

स वायुपथमास्थाय वैश्वानरपथं गतः ।
प्राप्य सूर्यपथं देवस्तत्रैवान्तरधीयत ॥

इन्द्रदेव पहले वायुपथमें पहुँचकर वैश्वानरपथ (तेजोमय लोक)-में जा पहुँचे। तत्पश्चात् सूर्यदेवके मार्गमें जाकर वहाँ अन्तर्धान हो गये।

ततः सर्वदशार्हाणामाहुकस्य च याः स्त्रियः ।
नन्दगोपस्य महिषी यशोदा लोकविश्रुता ॥
रेवती च महाभागा रुक्मिणी च पतिव्रता ।
सत्या जाम्बवती चोभे गान्धारी शिंशुमापि वा ॥
विशोका लक्ष्मणा साध्वी सुमित्रा केतुमा तथा ।
वासुदेवमहिष्योऽन्याः श्रिया सार्धं ययुस्तदा ॥
विभूतिं द्रष्टुमनसः केशवस्य वराङ्गनाः ।
प्रीयमाणाः सभां जग्मुरालोकयितुमच्युतम् ॥

तदनन्तर सब दशार्हकुलकी स्त्रियाँ, राजा उग्रसेनकी रानियाँ, नन्दगोपकी विश्वविख्यात रानी यशोदा, महाभागा रेवती (बलभद्र-पत्नी) तथा पतिव्रता रुक्मिणी, सत्या, जाम्बवती, गान्धारराजकन्या शिंशुमा, विशोका, लक्ष्मणा, साध्वी सुमित्रा, केतुमा तथा भगवान् वासुदेवकी अन्य रानियाँ—वे सब-की-सब श्रीजीके साथ भगवान् केशवकी विभूति एवं नवागत सुन्दरी रानियोंको देखनेके लिये और श्रीअच्युतका दर्शन करनेके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ सभाभवनमें गयीं।

देवकी सर्वदेवीनां रोहिणी च पुरस्कृता ।
ददृशुर्देवमासीनं कृष्णं हलभृता सह ॥

देवकी तथा रोहिणीजी सब रानियोंके आगे चल रही थीं। सबने वहाँ जाकर श्रीबलरामजीके साथ बैठे हुए श्रीकृष्णको देखा।

तौ तु पूर्वमुपक्रम्य रोहिणीमभिवाद्य च ।
अभ्यवादयतां देवौ देवकीं रामकेशवौ ।।
देवकीं सप्तदेवीनां यथाश्रेष्ठं च मातरः ।

उन दोनों भाई बलराम और श्रीकृष्णने उठकर पहले रोहिणीजीको प्रणाम किया। फिर देवकीजीकी तथा सात देवियोंमेंसे श्रेष्ठताके क्रमसे अन्य सभी माताओंकी चरणवन्दना की।

ववन्दे सह रामेण भगवान् वासवानुजः ।।
अथासनवरं प्राप्य वृष्णिदारपुरस्कृता ।।
उभावङ्कगतौ चक्रे देवकी रामकेशवौ ।

बलरामसहित भगवान् उपेन्द्रने जब इस प्रकार मातृचरणोंमें प्रणाम किया, तब वृष्णिकुलकी महिलाओंमें अग्रणी माता देवकीजीने एक श्रेष्ठ आसनपर बैठकर बलराम और श्रीकृष्ण दोनोंको गोदमें ले लिया।

सा ताभ्यामृषभाक्षाभ्यां पुत्राभ्यां शुशुभे तदा ।।
देवकी देवमातेव मित्रेण वरुणेन च ।

वृषभके सदृश विशाल नेत्रोंवाले उन दोनों पुत्रोंके साथ उस समय माता देवकीकी वैसी ही शोभा हुई, जैसी मित्र और वरुणके साथ देवमाता अदितिकी होती है।

ततः प्राप्ता यशोदाया दुहिता वै क्षणेन हि ।।
जाज्वल्यमाना वपुषा प्रभयातीव भारत ।

इसी समय यशोदाजीकी पुत्री क्षणभरमें वहाँ आ पहुँची। भारत! उसके श्रीअंग दिव्य प्रभासे प्रज्वलित-से हो रहे थे।

एकानङ्गेति यामाहुः कन्यां तां कामरूपिणीम् ।।
यत्कृते सगणं कंसं जघान पुरुषोत्तमः ।

उस कामरूपिणी कन्याका नाम था 'एकानंगा'। जिसके निमित्तसे पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने सेवकोंसहित कंसका वध किया था।

ततः स भगवान् समस्तामुपाक्रम्य भामिनीम् ।।
मूर्ध्न्युपाघ्राय सव्येन परिजग्राह पाणिना ।
दक्षिणेन कराग्रेण परिजग्राह माधवः ।।

तब भगवान् बलरामने आगे बढ़कर उस मानिनी बहिनको बायें हाथसे पकड़ लिया और वात्सल्य-स्नेहसे उसका मस्तक सूँघा। तदनन्तर श्रीकृष्णने भी उस कन्याको दाहिने हाथसे पकड़ लिया।

ददृशुस्तां सभामध्ये भगिनीं रामकृष्णयोः ।।
रुक्मपद्मशयां पद्मां श्रीमिवोत्तमनागयोः ।

लोगोंने उस सभामें बलराम और श्रीकृष्णकी इस बहिनको देखा; मानो दो श्रेष्ठ गजराजोंके बीचमें सुवर्णमय कमलके आसनपर विराजमान भगवती लक्ष्मी हों।

अथाक्षतमहावृष्ट्या लाजपुष्पघृतैरपि ।।

वृष्णयोऽवाकिरन् प्रीताः संकर्षणजनार्दनौ ।

तत्पश्चात् वृष्णिवंशी पुरुषोंने प्रसन्न होकर बलराम और श्रीकृष्णपर लाजा (खील), फूल और घीसे युक्त अक्षतकी वर्षा की।

सबालाः सहवृद्धाश्च सज्ञातिकुलबान्धवाः ।।

उपोपविविशुः प्रीता वृष्णयो मधुसूदनम् ।

उस समय बालक, वृद्ध, ज्ञाति, कुल और बन्धु-बान्धवोंसहित समस्त वृष्णिवंशी प्रसन्नतापूर्वक भगवान् मधुसूदनके समीप बैठ गये।

पूज्यमानो महाबाहुः पौराणां रतिवर्धनः ।।

विवेश पुरुषव्याघ्रः स्ववेश्म मधुसूदनः ।

इसके बाद पुरवासियोंकी प्रीति बढ़ानेवाले पुरुषसिंह महाबाहु मधुसूदनने सबसे पूजित हो अपने महलमें प्रवेश किया।

रुक्मिण्या सहितो देव्या प्रमुमोद सुखी सुखम् ।

अनन्तरं च सत्याया जाम्बवत्याश्च भारत ।

सर्वासां च यदुश्रेष्ठः सर्वकालविहारवान् ।।

वहाँ सदा प्रसन्न रहनेवाले श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीके साथ बड़े सुखका अनुभव करने लगे। भारत! तत्पश्चात् सदा लीला-विहार करनेवाले यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण क्रमशः सत्यभामा तथा जाम्बवती आदि सभी देवियोंके निवास-स्थानोंमें गये।

जगाम च हृषीकेशो रुक्मिण्याः स्वं निवेशनम् ।

फिर अन्तमें श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीके महलमें पधारे।

एष तात महाबाहो विजयः शार्ङ्गधन्वनः ।।

एतदर्थं च जन्माहुर्मानुषेषु महात्मनः ।

तात! महाबाहु युधिष्ठिर! शार्ङ्ग नामक धनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी यह विजयगाथा कही गयी है। इसीके लिये महात्मा श्रीकृष्णका मनुष्योंमें अवतार हुआ बताया जाता है।

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा बाणासुरपर विजय और भीष्मके द्वारा श्रीकृष्ण-माहात्म्यका उपसंहार]

भीष्म उवाच

द्वारकायां ततः कृष्णः स्वदारेषु दिवानिशम् ।
सुखं लब्ध्वा महाराज प्रमुमोद महायशाः ।।

भीष्मजी कहते हैं—महाराज युधिष्ठिर! तदनन्तर महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्ण अपनी रानियोंके साथ दिन-रात सुखका अनुभव करते हुए द्वारकापुरीमें आनन्दपूर्वक रहने लगे।

पौत्रस्य कारणाच्चक्रे विबुधानां हितं तदा ।
सवासवैः सुरैः सर्वैर्दुष्करं भरतर्षभ ।।

भरतश्रेष्ठ! उन्होंने अपने पौत्र अनिरुद्धको निमित्त बनाकर देवताओंका जो हित-साधन किया, वह इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये अत्यन्त दुष्कर था।

बाणो नामाभवद् राजा बलेर्ज्येष्ठसुतो बली ।
वीर्यवान् भरतश्रेष्ठ स च बाहुसहस्रवान् ।।

भरतकुलभूषण! बाण नामक एक राजा हुआ था, जो बलिका ज्येष्ठ पुत्र था। वह महान् बलवान् और पराक्रमी होनेके साथ ही सहस्र भुजाओंसे सुशोभित था।

ततश्चक्रे तपस्तीव्रं सत्येन मनसा नृप ।
रुद्रमाराधयामास स च बाणः समा बहूः ।।

राजन्! बाणासुरने सच्चे मनसे बड़ी कठोर तपस्या की। उसने बहुत वर्षोंतक भगवान् शंकरकी आराधना की।

तस्मै बहुवरा दत्ताः शङ्करेण महात्मना ।
तस्माल्लब्ध्वा वरान् बाणो दुर्लभान् ससुरैरपि ।।
स शोणितपुरे राज्यं चकाराप्रतिमो बली ।

महात्मा शंकरने उसे अनेक वरदान दिये। भगवान् शंकरसे देवदुर्लभ वरदान पाकर बाणासुर अनुपम बलशाली हो गया और शोणितपुरमें राज्य करने लगा।

त्रासिताश्च सुराः सर्वे तेन बाणेन पाण्डव ।।
विजित्य विबुधान् सर्वान् सेन्द्रान् बाणः समा बहूः ।
अशासत महद् राज्यं कुबेर इव भारत ।।

भरतवंशी पाण्डुनन्दन! बाणासुरने सब देवताओंको आतंकित कर रखा था। उसने इन्द्र आदि सब देवताओंको जीतकर कुबेरकी भाँति दीर्घकालतक इस भूतलपर महान् राज्यका शासन किया।

ऋद्ध्यर्थं कुरुते यत्नं तस्य चैवोशना कविः ।

ज्ञानी विद्वान् शुक्राचार्य उसकी समृद्धि बढ़ानेके लिये प्रयत्न करते रहते थे।

ततो राजन्नुषा नाम बाणस्य दुहिता तथा ।।

रूपेणाप्रतिमा लोके मेनकायाः सुता यथा ।

राजन्! बाणासुरके एक पुत्री थी, जिसका नाम उषा था। संसारमें उसके रूपकी तुलना करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं थी। वह मेनका अप्सराकी पुत्री-सी प्रतीत होती थी।

अथोपायेन कौन्तेय अनिरुद्धो महाद्युतिः ।।

प्राद्युम्निस्तामुषां प्राप्य प्रच्छन्नः प्रमुमोद ह ।

कुन्तीनन्दन! महान् तेजस्वी प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध किसी उपायसे उषातक पहुँचकर छिपे रहकर उसके साथ आनन्दका उपभोग करने लगे।

अथ बाणो महातेजास्तदा तत्र युधिष्ठिर ।।

तं गुह्यनिलयं ज्ञात्वा प्राद्युम्निं सुतया सह ।

गृहीत्वा कारयामास वस्तुं कारागृहे बलात् ।।

युधिष्ठिर! महातेजस्वी बाणासुरने गुप्तरूपसे छिपे हुए प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धका अपनी पुत्रीके साथ रहना जान लिया और उन्हें अपनी पुत्रीसहित बलपूर्वक कारागारमें ठूँस देनेके लिये बंदी बना लिया।

सुकुमारः सुखार्होऽथ तदा दुःखमवाप सः ।

बाणेन खेदितो राजन्ननिरुद्धो मुमोह च ।।

राजन्! वे सुकुमार एवं सुख भोगनेके योग्य थे, तो भी उन्हें उस समय दुःख उठाना पड़ा। बाणासुरके द्वारा भाँति-भाँतिके कष्ट दिये जानेपर अनिरुद्ध मूर्च्छित हो गये।

एतस्मिन्नेव काले तु नारदो मुनिपुङ्गवः ।

द्वारकां प्राप्य कौन्तेय कृष्णं दृष्ट्वा वचोऽब्रवीत् ।।

कुन्तीकुमार! इसी समय मुनिप्रवर नारदजी द्वारकामें आकर श्रीकृष्णसे मिले और इस प्रकार बोले।

नारद उवाच

कृष्ण कृष्ण महाबाहो यदूनां कीर्तिवर्धन ।

त्वत्पौत्रो बाध्यमानोऽथ बाणेनामिततेजसा ।।

कृच्छ्रं प्राप्तोऽनिरुद्धो वै शेते कारागृहे सदा ।

नारदजीने कहा—महाबाहु श्रीकृष्ण! आप यदुवंशियोंकी कीर्ति बढ़ानेवाले हैं। इस समय अमित-तेजस्वी बाणासुर आपके पौत्र अनिरुद्धको बहुत कष्ट दे रहा है। वे संकटमें पड़े हैं और सदा कारागारमें निवास कर रहे हैं।

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा सुरर्षिर्वै बाणस्याथ पुरं ययौ ।।

नारदस्य वचः श्रुत्वा ततो राजन् जनार्दनः ।

आहूय बलदेवं वै प्रद्युम्नं च महाद्युतिम् ।।

आरुरोह गरुत्मन्तं ताभ्यां सह जनार्दनः ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर देवर्षि नारद बाणासुरकी राजधानी शोणितपुरको चले गये। नारदजीकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजी तथा महातेजस्वी प्रद्युम्नको बुलाया और उन दोनोंके साथ वे गरुड़पर आरूढ़ हुए।

ततः सुपर्णमारुह्य त्रयस्ते पुरुषर्षभाः ।।

जग्मुः क्रुद्धा महावीर्या बाणस्य नगरं प्रति ।

तदनन्तर वे तीनों महापराक्रमी पुरुषरत्न गरुड़पर आरूढ़ हो क्रोधमें भरकर बाणासुरके नगरकी ओर चल दिये।

अथासाद्य महाराज तत्पुरीं ददृशुश्च ते ।।

ताम्रप्राकारसंवीतां रूप्यद्वारैश्च शोभिताम् ।

महाराज! वहाँ जाकर उन्होंने बाणासुरकी पुरीको देखा, जो ताँबेकी चहारदीवारीसे घिरी हुई थी। चाँदीके बने हुए दरवाजे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे।

हेमप्रासादसम्बाधां मुक्तामणिविचित्रताम् ।।

उद्यानवनसम्पन्नां नृत्तगीतैश्च शोभिताम् ।

वह पुरी सुवर्णमय प्रासादोंसे भरी हुई थी और मुक्तामणियोंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसमें स्थान-स्थानपर उद्यान और वन शोभा पा रहे थे। वह नगरी नृत्य और गीतोंसे सुशोभित थी।

तोरणैः पक्षिभिः कीर्णां पुष्करिण्या च शोभिताम् ।।

तां पुरीं स्वर्गसंकाशां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ।

दृष्ट्वा मुदा युतां हैमां विस्मयं परमं ययुः ।।

वहाँ अनेक सुन्दर फाटक बने थे। सब ओर भाँति-भाँतिके पक्षी चहचहाते थे। कमलोंसे भरी हुई पुष्करिणी उस पुरीकी शोभा बढ़ाती थी। उसमें हृष्ट-पुष्ट स्त्री-पुरुष निवास करते थे और वह पुरी स्वर्गके समान मनोहर दिखायी देती थी। प्रसन्नतासे भरी हुई उस सुवर्णमयी नगरीको देखकर श्रीकृष्ण, बलराम और प्रद्युम्न तीनोंको बड़ा विस्मय हुआ।

तस्य बाणपुरस्यासन् द्वारस्था देवताः सदा ।

महेश्वरो गुहश्चैव भद्रकाली च पावकः ।।

एता वै देवता राजन् ररक्षुस्तां पुरीं सदा ।

बाणासुरकी राजधानीमें कितने ही देवता सदा द्वारपर बैठकर पहरा देते थे। राजन्! भगवान् शंकर, कार्तिकेय, भद्रकालीदेवी और अग्नि—ये देवता सदा उस पुरीकी रक्षा करते थे।

अथ कृष्णो बलाज्जित्वा द्वारपालान् युधिष्ठिर ।।

सुसंक्रुद्धो महातेजाः शङ्खचक्रगदाधरः ।
आससादोत्तरद्वारं शङ्करेणाभिपालितम् ।।

युधिष्ठिर! शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महातेजस्वी श्रीकृष्णने अत्यन्त कुपित हो पूर्वद्वारके रक्षकोंको बलपूर्वक जीतकर भगवान् शंकरके द्वारा सुरक्षित उत्तरद्वारपर आक्रमण किया।

तत्र तस्थौ महातेजाः शूलपाणिर्महेश्वरः ।
पिनाकं सशरं गृह्य बाणस्य हितकाम्यया ।।
ज्ञात्वा तमागतं कृष्णं व्यादितास्यमिवान्तकम् ।
महेश्वरो महाबाहुः कृष्णाभिमुखमाययौ ।।

वहाँ महान् तेजस्वी भगवान् महेश्वर हाथमें त्रिशूल लिये खड़े थे। जब उन्हें मालूम हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण मुँह बाये कालकी भाँति आ रहे हैं, तब वे महाबाहु महेश्वर बाणासुरके हित-साधनकी इच्छासे बाणसहित पिनाक नामक धनुष हाथमें लेकर श्रीकृष्णके सम्मुख आये।

ततस्तौ चक्रतुर्युद्धं वासुदेवमहेश्वरौ ।
तद् युद्धमभवद् घोरमचिन्त्यं रोमहर्षणम् ।।

तदनन्तर भगवान् वासुदेव और महेश्वर परस्पर युद्ध करने लगे। उनका वह युद्ध अचिन्त्य, रोमांचकारी तथा भयंकर था।

अन्योन्यं तौ ततक्षाते अन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ।
दिव्यास्त्राणि च तौ देवौ क्रुद्धौ मुमुचतुस्तदा ।।

वे दोनों देवता एक-दूसरेपर विजय पानेकी इच्छासे परस्पर प्रहार करने लगे। दोनों ही क्रोधमें भरकर एक-दूसरेपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते थे।

ततः कृष्णो रणं कृत्वा मुहूर्तं शूलपाणिना ।
विजित्य तं महादेवं ततो युद्धे जनार्दनः ।।
अन्यांश्च जित्वा द्वारस्थान् प्रविवेश पुरोत्तमम् ।

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने शूलपाणि भगवान् शंकरके साथ दो घड़ीतक युद्ध करके महादेवजीको जीत लिया तथा द्वारपर खड़े हुए अन्य शिवगणोंको भी परास्त करके उस उत्तम नगरमें प्रवेश किया।

प्रविश्य बाणमासाद्य स तत्राथ जनार्दनः ।।
चक्रे युद्धं महाक्रुद्धस्तेन बाणेन पाण्डव ।

पाण्डुनन्दन! पुरीमें प्रवेश करके अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए श्रीजनार्दनने बाणासुरके पास पहुँचकर उसके साथ युद्ध छेड़ दिया।

बाणोऽपि सर्वशस्त्राणि शितानि भरतर्षभ ।।
सुसंक्रुद्धस्तदा युद्धे पातयामास केशवे ।

भरतश्रेष्ठ! बाणासुर भी क्रोधसे आगबबूला हो रहा था। उसने भी युद्धमें भगवान् केशवपर सभी तीखे-तीखे अस्त्र-शस्त्र चलाये।

पुनरुद्यम्य शस्त्राणां सहस्रं सर्वबाहुभिः ।।
मुमोच बाणः संक्रुद्धः कृष्णं प्रति रणाजिरे ।

फिर उसने उद्योगपूर्वक अपनी सभी भुजाओंसे उस समरांगणमें कुपित हो श्रीकृष्णपर सहस्रों शस्त्रोंका प्रहार किया।

ततः कृष्णस्तु सञ्छिद्य तानि सर्वाणि भारत ।।
कृत्वा मुहूर्तं बाणेन युद्धं राजन्नधोक्षजः ।
चक्रमुद्यम्य राजन् वै दिव्यं शस्त्रोत्तमं ततः ।।
सहस्रबाहूंश्चिच्छेद बाणस्यामिततेजसः ।

भारत! परंतु श्रीकृष्णने वे सभी शस्त्र काट डाले। राजन्! तदनन्तर भगवान् अधोक्षजने दो घड़ीतक बाणासुरके साथ युद्ध करके अपना दिव्य उत्तम शस्त्र चक्र हाथमें उठाया और अमिततेजस्वी बाणासुरकी सहस्र भुजाओंको काट दिया।

ततो बाणो महाराज कृष्णेन भृशपीडितः ।।
छिन्नबाहुः पपाताशु विशाख इव पादपः ।

महाराज! तब श्रीकृष्णद्वारा अत्यन्त पीड़ित होकर बाणासुर भुजाएँ कट जानेपर शाखाहीन वृक्षकी भाँति धरतीपर गिर पड़ा।

स पातयित्वा बालेयं बाणं कृष्णस्त्वरान्वितः ।।

प्राद्युम्निं मोक्षयामास क्षिप्तं कारागृहे तदा ।

इस प्रकार बलिपुत्र बाणासुरको रणभूमिमें गिराकर श्रीकृष्णने बड़ी उतावलीके साथ कैदमें पड़े हुए प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धको छुड़ा लिया।

मोक्षयित्वाथ गोविन्दः प्राद्युम्निं सह भार्यया ।
बाणस्य सर्वरत्नानि असंख्यानि जहार सः ।।

पत्नीसहित अनिरुद्धको छुड़ाकर भगवान् गोविन्दने बाणासुरके सभी प्रकारके असंख्य रत्न हर लिये।

गोधनान्यथ सर्वस्वं स बाणस्यालये बलात् ।
जहार च हृषीकेशो यदूनां कीर्तिवर्धनः ।।
ततः स सर्वरत्नानि चाहृत्य मधुसूदनः ।
क्षिप्रमारोपयाञ्चक्रे तत् सर्वं गरुडोपरि ।।

उसके घरमें जो भी गोधन अथवा अन्य किसी प्रकारके धन मौजूद थे, उन सबको भी यदुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले भगवान् हृषीकेशने हर लिया। फिर वे सब रत्न लेकर मधुसूदनने शीघ्रतापूर्वक गरुड़पर रख लिये।

त्वरयाथ स कौन्तेय बलदेवं महाबलम् ।
प्रद्युम्नं च महावीर्यमनिरुद्धं महाद्युतिम् ।।
उषां च सुन्दरीं राजन् भृत्यदासीगणैः सह ।
सर्वानेतान् समारोप्य रत्नानि विविधानि च ।।

कुन्तीनन्दन! तत्पश्चात् उन्होंने महाबली बलदेव, अमितपराक्रमी प्रद्युम्न, परम कान्तिमान् अनिरुद्ध तथा सेवकों और दासियोंसहित सुन्दरी उषा—इन सबको और नाना प्रकारके रत्नोंको भी गरुड़पर चढ़ाया।

मुदा युक्तो महातेजाः पीताम्बरधरो बली ।
दिव्याभरणचित्राङ्गः शङ्खचक्रगदासिभृत् ।।
आरुरोह गरुत्मन्तमुदयं भास्करो यथा ।

इसके बाद शंख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले, पीताम्बरधारी, महाबली एवं महातेजस्वी श्रीकृष्ण बड़ी प्रसन्नताके साथ स्वयं भी गरुड़पर आरूढ़ हुए, मानो भगवान् भास्कर उदयाचलपर आसीन हुए हों। उस समय भगवान्‌के श्रीअंग दिव्य आभूषणोंसे विचित्र शोभा धारण कर रहे थे।

अथारुह्य सुपर्णं स प्रययौ द्वारकां प्रति ।।
प्रविश्य स्वपुरं कृष्णो यादवैः सहितस्ततः ।
प्रमुमोद तदा राजन् स्वर्गस्थो वासवो यथा ।।

गरुड़पर आरूढ़ हो श्रीकृष्ण द्वारकाकी ओर चल दिये। राजन्! अपनी पुरी द्वारकामें पहुँचकर वे यदुवंशियोंके साथ ठीक वैसे ही आनन्दपूर्वक रहने लगे, जैसे इन्द्र स्वर्गलोकमें

देवताओंके साथ रहते हैं।

सूदिता मौरवाः पाशा निशुम्भनरकौ हतौ ।
कृतक्षेमः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ।।
शौरिणा पृथिवीपालास्त्रासिता भरतर्षभ ।
धनुषश्च प्रणादेन पाञ्चजन्यस्वनेन च ।।

भरतश्रेष्ठ! भगवान् श्रीकृष्णने मुरदैत्यके पाश काट दिये, निशुम्भ और नरकासुरको मार डाला और प्राग्ज्योतिषपुरका मार्ग सब लोगोंके लिये निष्कण्टक बना दिया। इन्होंने अपने धनुषकी टंकार और पांचजन्य शंखके हुंकारसे समस्त भूपालोंको आतंकित कर दिया है।

मेघप्रख्यैरनीकैश्च दाक्षिणात्यैः सुसंवृतम् ।
रुक्मिणं त्रासयामास केशवो भरतर्षभ ।।

भरतकुलभूषण! भगवान् केशवने उस रुक्मीको भी भयभीत कर दिया, जिसके पास मेघोंकी घटाके समान असंख्य सेनाएँ हैं और जो दाक्षिणात्य सेवकोंसे सदा सुरक्षित रहता है।

ततः पर्जन्यघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
उवाह महिषीं भोज्यामेष चक्रगदाधरः ।।

इन चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान्ने रुक्मीको हराकर सूर्यके समान तेजस्वी तथा मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले रथके द्वारा भोजकुलोत्पन्ना रुक्मिणीका अपहरण किया, जो इस समय इनकी महारानीके पदपर प्रतिष्ठित हैं।

जारूथ्यामाहुतिः क्राथः शिशुपालश्च निर्जितः ।
वक्रश्च सह शैब्येन शतधन्वा च क्षत्रियः ।।

ये जारूथी नगरीमें वहाँके राजा आहुतिको तथा क्राथ एवं शिशुपालको भी परास्त कर चुके हैं। इन्होंने शैब्य, दन्तवक्र तथा शतधन्वा नामक क्षत्रियोंको भी हराया है।

इन्द्रद्युम्नो हतः क्रोधाद् यवनश्च कशेरुमान् ।

इन्होंने इन्द्रद्युम्न, कालयवन और कशेरुमान्का भी क्रोधपूर्वक वध किया है।

पर्वतानां सहस्रं च चक्रेण पुरुषोत्तमः ।।
विभिद्य पुण्डरीकाक्षो द्युमत्सेनमयोधयत् ।

कमलनयन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने चक्रद्वारा सहस्रों पर्वतोंको विदीर्ण करके द्युमत्सेनके साथ युद्ध किया।

महेन्द्रशिखरे चैव निमेषान्तरचारिणौ ।।
जग्राह भरतश्रेष्ठ वरुणस्याभितश्चरौ ।
इरावत्यामुभौ चैतावग्निसूर्यसमौ बले ।।
गोपतिस्तालकेतुश्च निहतौ शार्ङ्गधन्वना ।

भरतश्रेष्ठ! जो बलमें अग्नि और सूर्यके समान थे और वरुणदेवताके उभय पार्श्वमें विचरण करते तथा जिनमें पलक मारते-मारते एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँच जानेकी शक्ति थी, वे गोपति और तालकेतु भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा महेन्द्र पर्वतके शिखरपर इरावती नदीके किनारे पकड़े और मारे गये।

अक्षप्रपतने चैव नेमिहंसपथेषु च ।।
उभौ तावपि कृष्णेन स्वराष्ट्रे विनिपातितौ ।

अक्षप्रपतनके अन्तर्गत नेमिहंसपथ नामक स्थानमें, जो उनके अपने ही राज्यमें पड़ता था, उन दोनोंको भगवान् श्रीकृष्णने मारा था।

प्राग्ज्योतिषं पुरश्रेष्ठमसुरैर्बहुभिर्वृतम् ।
प्राप्य लोहितकूटानि कृष्णेन वरुणो जितः ।।
अजेयो दुष्प्रधर्षश्च लोकपालो महाद्युतिः ।

बहुतेरे असुरोंसे घिरे हुए पुरश्रेष्ठ प्राग्ज्योतिषमें पहुँचकर वहाँकी पर्वतमालाके लाल शिखरोंपर जाकर श्रीकृष्णने उन लोकपाल वरुणदेवतापर विजय पायी, जो दूसरोंके लिये दुर्धर्ष, अजेय एवं अत्यन्त तेजस्वी हैं।

इन्द्रद्वीपो महेन्द्रेण गुप्तो मघवता स्वयम् ।।
पारिजातो हृतः पार्थ केशवेन बलीयसा ।

पार्थ! यद्यपि इन्द्र पारिजातके लिये द्वीप (रक्षक) बने हुए थे, स्वयं ही उसकी रक्षा करते थे, तथापि महाबली केशवने उस वृक्षका अपहरण कर लिया।

पाण्ड्यं पौण्ड्रं च मात्स्यं च कलिङ्गं च जनार्दनः ।।
जघान सहितान् सर्वानङ्गराजं च माधवः ।

लक्ष्मीपति जनार्दनने पाण्ड्य, पौण्ड्र, मत्स्य, कलिंग और अंग आदि देशोंके समस्त राजाओंको एक साथ पराजित किया।

एष चैकशतं हत्वा रथेन क्षत्रपुङ्गवान् ।।
गान्धारीमवहत् कृष्णो महिषीं यादवर्षभः ।

यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने केवल एक रथपर चढ़कर अपने विरोधमें खड़े हुए सौ क्षत्रियनरेशोंको मौतके घाट उतारकर गान्धारराजकुमारी शिंशुमाको अपनी महारानी बनाया।

बभ्रोश्च प्रियमन्विच्छन्नेष चक्रगदाधरः ।।
वेणुदारिहृतां भार्यामुन्ममाथ युधिष्ठिर ।

युधिष्ठिर! चक्र और गदा धारण करनेवाले इन भगवान्ने बभ्रुका प्रिय करनेकी इच्छासे वेणुदारिके द्वारा अपहृत की हुई उनकी भार्याका उद्धार किया था।

पर्याप्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम् ।।
वेणुदारिवशे युक्तां जिगाय मधुसूदनः ।

इतना ही नहीं; मधुसूदनने वेणुदारिके वशमें पड़ी हुई घोड़ों, हाथियों एवं रथोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीको भी जीत लिया।

अवाप्य तपसा वीर्यं बलमोजश्च भारत ।।
त्रासिताः सगणाः सर्वे बाणेन विबुधाधिपाः ।
वज्राशनिगदापाशैस्त्रासयद्भिरनेकशः ।।
तस्य नासीद् रणे मृत्युर्देवैरपि सवासवैः ।
सोऽभिभूतश्च कृष्णेन निहतश्च महात्मना ।।
छित्त्वा बाहुसहस्रं तद् गोविन्देन महात्मना ।

भारत! जिस बाणासुरने तपस्याद्वारा बल, वीर्य और ओज पाकर समस्त देवेश्वरोंको उनके गणोंसहित भयभीत कर दिया था, इन्द्र आदि देवताओंके द्वारा बारंबार वज्र, अशनि, गदा और पाशोंका प्रहार करके त्रास दिये जानेपर भी समरांगणमें जिसकी मृत्यु न हो सकी, उसी दैत्यराज बाणासुरको महामना भगवान् गोविन्दने उसकी सहस्र भुजाएँ काटकर पराजित एवं क्षत-विक्षत कर दिया।

एष पीठं महाबाहुः कंसं च मधुसूदनः ।।
पैठकं चातिलोमानं निजघान जनार्दनः ।

मधु दैत्यका विनाश करनेवाले इन महाबाहु जनार्दनने पीठ, कंस, पैठक और अतिलोमा नामक असुरोंको भी मार दिया।

जम्भमैरावतं चैव विरूपं च महायशाः ।।
जघान भरतश्रेष्ठ शम्बरं चारिमर्दनम् ।

भरतश्रेष्ठ! इन महायशस्वी श्रीकृष्णने जम्भ, ऐरावत, विरूप और शत्रुमर्दन शम्बरासुरको भी (अपनी विभूतियों-द्वारा) मरवा डाला।

एष भोगवतीं गत्वा वासुकिं भरतर्षभ ।।
निर्जित्य पुण्डरीकाक्षो रौहिणेयममोचयत् ।

भरतकुलभूषण! इन कमलनयन श्रीहरिने भोगवती-पुरीमें जाकर वासुकि नागको हराकर रोहिणीनन्दनको* बन्धनसे छुड़ाया।

एवं बहूनि कर्माणि शिशुरेव जनार्दनः ।।
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः संकर्षणसहायवान् ।

इस प्रकार संकर्षणसहित कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने बाल्यावस्थामें ही बहुत-से अद्भुत कर्म किये थे।

एवमेषोऽसुराणां च सुराणां चापि सर्वशः ।।
भयाभयकरः कृष्णः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ।

ये ही देवताओं और असुरोंको सर्वथा अभय तथा भय देनेवाले हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर हैं।

एवमेष महाबाहुः शास्ता सर्वदुरात्मनाम् ।।

कृत्वा देवार्थममितं स्वस्थानं प्रतिपत्स्यते ।

इस प्रकार सम्पूर्ण दुष्टोंका दमन करनेवाले ये महाबाहु भगवान् श्रीहरि अनन्त देवकार्य सिद्ध करके अपने परमधामको पधारेंगे।

एष भोगवतीं रम्यामृषिकान्तां महायशाः ।।

द्वारकामात्मसात् कृत्वा सागरं गमयिष्यति ।

ये महायशस्वी श्रीकृष्ण मुनिजनवांछित एवं भोगोंसे सम्पन्न रमणीय द्वारकापुरीको आत्मसात् करके समुद्रमें विलीन कर देंगे।

बहुपुण्यवतीं रम्यां चैत्ययूपवतीं शुभाम् ।।

द्वारकां वरुणावासं प्रवेक्ष्यति सकाननाम् ।

ये चैत्य और यूपोंसे सम्पन्न, परम पुण्यवती, रमणीय एवं मंगलमयी द्वारकाको वन-उपवनोंसहित वरुणालयमें डुबा देंगे।

तां सूर्यसदनप्रख्यां मनोज्ञां शार्ङ्गधन्वना ।।

विश्लिष्टां वासुदेवेन सागरः प्लावयिष्यति ।

सूर्यलोकके समान कान्तिमती एवं मनोरम द्वारकापुरीको जब शार्ङ्गधन्वा वासुदेव त्याग देंगे, उस समय समुद्र इसे अपने भीतर ले लेगा।

सुरासुरमनुष्येषु नाभून्न भविता क्वचित् ।।

यस्तामध्यवसद् राजा अन्यत्र मधुसूदनात् ।

भगवान् मधुसूदनके सिवा देवताओं, असुरों और मनुष्योंमें ऐसा कोई राजा न हुआ और न होगा ही, जो द्वारकापुरीमें रहनेका संकल्प भी कर सके।

भ्राजमानास्तु शिशवो वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।।

तज्जुष्टं प्रतिपत्स्यन्ते नाकपृष्ठं गतासवः ।

उस समय वृष्णि और अन्धकवंशके महारथी एवं उनके कान्तिमान् शिशु भी प्राण त्यागकर भगवत्सेवित परमधामको प्राप्त करेंगे।

एवमेव दशार्हाणां विधाय विधिना विधिम् ।।

विष्णुर्नारायणः सोमः सूर्यश्च सविता स्वयम् ।

इस प्रकार ये दशार्हवंशियोंके सब कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न करेंगे। ये स्वयं ही विष्णु, नारायण, सोम, सूर्य और सविता हैं।

अप्रमेयोऽनियोज्यश्च यत्रकामगमो वशी ।।

मोदते भगवान् भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ।

ये अप्रमेय हैं। इनपर किसीका नियन्त्रण नहीं चल सकता। ये इच्छानुसार चलनेवाले और सबको अपने वशमें रखनेवाले हैं। जैसे बालक खिलौनेसे खेलता है, उसी प्रकार ये भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ आनन्दमयी क्रीड़ा करते हैं।

नैष गर्भत्वमापेदे न योन्यामवसत् प्रभुः ।।

आत्मनस्तेजसा कृष्णः सर्वेषां कुरुते गतिम् ।

ये प्रभु न तो किसीके गर्भमें आते हैं और न किसी योनिविशेषमें ही इनका आवास हुआ है अर्थात् ये अपने-आप ही प्रकट हो जाते हैं। श्रीकृष्ण अपने ही तेजसे सबकी सद्गति करते हैं।

यथा बुद्‍बुद उत्थाय तत्रैव प्रविलीयते ।।

चराचराणि भूतानि तथा नारायणे सदा ।

जैसे बुद्‍बुद पानीसे उठकर फिर उसीमें विलीन हो जाता है, उसी प्रकार समस्त चराचर भूत सदा भगवान् नारायणसे प्रकट होकर उन्हींमें विलीन हो जाते हैं।

न प्रमातुं महाबाहुः शक्यो भारत केशवः ।।

परं ह्यपरमेतस्माद् विश्वरूपान्न विद्यते ।

भारत! इन महाबाहु केशवकी कोई इतिश्री नहीं बतायी जा सकती। इन विश्वरूप परमेश्वरसे भिन्न पर और अपर कुछ भी नहीं है।

अयं तु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते ।

सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभाषते ।। ३० ।।

यह शिशुपाल मूढ़बुद्धि पुरुष है, यह भगवान् श्रीकृष्णको सर्वत्र व्यापक तथा सर्वदा स्थिर नहीं जानता है, इसीलिये उनके सम्बन्धमें ऐसी बातें कहता है ।। ३० ।।

यो हि धर्मं विचिनुयादुत्कृष्टं मतिमान् नरः ।

स वै पश्येद् यथा धर्मं न तथा चेदिराडयम् ।। ३१ ।।

जो बुद्धिमान् मनुष्य उत्तम धर्मकी खोज करता है, वह धर्मके स्वरूपको जैसा समझता है, वैसा यह चेदिराज शिशुपाल नहीं समझता ।। ३१ ।।

सवृद्धबालेष्वथवा पार्थिवेषु महात्मसु ।

को नार्हं मन्यते कृष्णं को वाप्येनं न पूजयेत् ।।

अथवा वृद्धों और बालकोंसहित यहाँ बैठे हुए समस्त महात्मा राजाओंमें ऐसा कौन है, जो श्रीकृष्ण-को पूज्य न मानता हो या कौन है, जो इनकी पूजा न करता हो? ।। ३२ ।।

अथैनां दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति ।

दुष्कृतायां यथान्यायं तथायं कर्तुमर्हति ।। ३३ ।।

यदि शिशुपाल इस पूजाको अनुचित मानता है, तो अब उस अनुचित पूजाके विषयमें उसे जो उचित जान पड़े, वैसा करे ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि भीष्मवाक्ये अष्टात्रिंशोऽध्यायः ।। ३८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें भीष्मवाक्य नामक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७२८½ श्लोक मिलाकर कुल ७६१½ श्लोक हैं)

---

* जिनमें ॠतुधर्म (रजस्वलावस्था)-का प्रादुर्भाव न हुआ हो, उन्हें नग्निका कहते हैं।

* मूर्ति या शिवलिंगके आकारका कोई दुर्भेद्य गृह, जो पृथ्वीके भीतर गुफामें बनाया गया हो। शत्रुओंसे आत्मरक्षाकी दृष्टिसे नरकासुरने ऐसे निवासस्थानका निर्माण करा रखा था।

* रोहिणीके गद और सारण आदि कई पुत्र थे।

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

सहदेवकी राजाओंको चुनौती तथा क्षुब्ध हुए शिशुपाल आदि नरेशोंका युद्धके लिये उद्यत होना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो विरराम महाबलः ।
व्याजहारोत्तरं तत्र सहदेवोऽर्थवद् वचः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर महाबली भीष्म चुप हो गये। तत्पश्चात् माद्रीकुमार सहदेवने शिशुपालकी बातोंका मुँहतोड़ उत्तर देते हुए यह सार्थक बात कही— ।। १ ।।

केशवं केशिहन्तारमप्रमेयपराक्रमम् ।
पूज्यमानं मया यो वः कृष्णं न सहते नृपाः ।। २ ।।
सर्वेषां बलिनां मूर्ध्नि मयेदं निहितं पदम् ।
एवमुक्ते मया सम्यगुत्तरं प्रब्रवीतु सः ।। ३ ।।
स एव हि मया वध्यो भविष्यति न संशयः ।

‘राजाओ! केशी दैत्यका वध करनेवाले अनन्त-पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्णकी मेरे द्वारा जो पूजा की गयी है, उसे आपलोगोंमेंसे जो सहन न कर सकें, उन सब बलवानोंके मस्तकपर मैंने यह पैर रख दिया। मैंने खूब सोच-समझकर यह बात कही है। जो इसका उत्तर देना चाहे, वह सामने आ जाय। मेरे द्वारा वह वधके योग्य होगा; इसमें संशय नहीं है ।। २-३½ ।।

मतिमन्तश्च ये केचिदाचार्यं पितरं गुरुम् ।। ४ ।।
अर्च्यमर्चितमर्घार्हमनुजानन्तु ते नृपाः ।

‘जो बुद्धिमान् राजा हों वे मेरे द्वारा की हुई आचार्य, पिता, गुरु, पूजनीय तथा अर्घ्यनिवेदनके सर्वथा योग्य भगवान् श्रीकृष्णकी पूजाका हृदयसे अनुमोदन करें’ ।। ४½ ।।

ततो न व्याजहारैषां कश्चिद् बुद्धिमतां सताम् ।। ५ ।।
मानिनां बलिनां राज्ञां मध्ये वै दर्शिते पदे ।

सहदेवने महामानी और बलवान् राजाओंके बीच खड़े होकर अपना पैर दिखाया था, तो भी जो बुद्धिमान् एवं श्रेष्ठ नरेश थे, उनमेंसे कोई कुछ न बोला ।। ५½ ।।

ततोऽपतत् पुष्पवृष्टिः सहदेवस्य मूर्धनि ।। ६ ।।
अदृश्यरूपा वाचश्चाप्यब्रुवन् साधु साध्विति ।

उस समय सहदेवके मस्तकपर आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी और अदृश्यरूपसे खड़े हुए देवताओंने ‘साधु’, ‘साधु’ कहकर उनके सत्साहसकी प्रशंसा की ।। ६½ ।।

आविध्यदजितं कृष्णं भविष्यद्भूतजल्पकः ।। ७ ।।

सर्वसंशयनिर्मोक्ता नारदः सर्वलोकवित् ।

उवाचाखिलभूतानां मध्ये स्पष्टतरं वचः ।। ८ ।।

तदनन्तर कभी पराजित न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाके ज्ञाता, भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंकी बातें बतानेवाले, सब लोगोंके सभी संशयोंका निवारण करनेवाले तथा सम्पूर्ण लोकोंसे परिचित देवर्षि नारद समस्त उपस्थित प्राणियोंके बीच स्पष्ट शब्दोंमें बोले— ।। ७-८ ।।

कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः ।

जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन ।। ९ ।।

‘जो मानव कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा नहीं करेंगे, वे जीते-जी ही मृतक-तुल्य समझे जायँगे। ऐसे लोगोंसे कभी बातचीत नहीं करनी चाहिये’ ।। ९ ।।

वैशम्पायन उवाच

पूजयित्वा च पूजार्हान् ब्रह्मक्षत्रविशेषवित् ।

सहदेवो नृणां देवः समापद्यत कर्म तत् ।। १० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वहाँ आये हुए ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमें विशिष्ट व्यक्तियोंको पहचानने-वाले नरदेव सहदेवने क्रमशः पूज्य व्यक्तियोंकी पूजा करके वह अर्घ्यनिवेदनका कार्य पूरा कर दिया ।। १० ।।

तस्मिन्नभ्यर्चिते कृष्णे सुनीथः शत्रुकर्षणः ।

अतिताम्रेक्षणः कोपादुवाच मनुजाधिपान् ।। ११ ।।

इस प्रकार श्रीकृष्णका पूजन सम्पन्न हो जानेपर शत्रुविजयी शिशुपालने क्रोधसे अत्यन्त लाल आँखें करके समस्त राजाओंसे कहा— ।। ११ ।।

स्थितः सेनापतिर्योऽहं मन्यध्वं किं तु साम्प्रतम् ।

युधि तिष्ठाम संनह्य समेतान् वृष्णिपाण्डवान् ।। १२ ।।

‘भूमिपालो! मैं सबका सेनापति बनकर खड़ा हूँ। अब तुमलोग किस चिन्तामें पड़े हो। आओ, हम सब लोग युद्धके लिये सुसज्जित हो पाण्डवों और यादवोंकी सम्मिलित सेनाका सामना करनेके लिये डट जायँ’ ।। १२ ।।

इति सर्वान् समुत्साह्य राज्ञस्तांश्चेदिपुङ्गवः ।

यज्ञोपघाताय ततः सोऽमन्त्रयत राजभिः ।। १३ ।।

तत्राहूता गताः सर्वे सुनीथप्रमुखा गणाः ।

समदृश्यन्त संक्रुद्धा विवर्णवदनास्तथा ।। १४ ।।

इस प्रकार उन सब राजाओंको युद्धके लिये उत्साहित करके चेदिराजने युधिष्ठिरके यज्ञमें विघ्न डालनेके उद्देश्यसे राजाओंसे सलाह की। शिशुपालके इस प्रकार बुलानेपर उसके सेनापतित्वमें सुनीथ आदि कुछ प्रमुख नरेशगण चले आये। वे सब-के-सब अत्यन्त क्रोधसे भर रहे थे एवं उनके मुखकी कान्ति बदली हुई दिखायी देती थी ।। १३-१४ ।।

युधिष्ठिराभिषेकं च वासुदेवस्य चार्हणम् ।
न स्याद् यथा तथा कार्यमेवं सर्वे तदाब्रुवन् ।। १५ ।।

उन सबने यह कहा कि ‘युधिष्ठिरके अभिषेक और श्रीकृष्णकी पूजाका कार्य सफल न हो, वैसा प्रयत्न करना चाहिये’ ।। १५ ।।

निष्कर्षान्निश्चयात् सर्वे राजानः क्रोधमूर्छिताः ।
अब्रुवंस्तत्र राजानो निर्वेदादात्मनिश्चयात् ।। १६ ।।

इस निर्णय एवं निष्कर्षपर पहुँचकर वे सभी नरेश क्रोधसे मोहित हो गये। सहदेवकी बातोंसे अपमानका अनुभव करके अपनी शक्तिकी प्रबलताका विश्वास करके राजाओंने उपर्युक्त बातें कही थीं ।। १६ ।।

सुहृद्भिर्वार्यमाणानां तेषां हि वपुराबभौ ।
आमिषादपकृष्टानां सिंहानामिव गर्जताम् ।। १७ ।।

अपने सगे-सम्बन्धियोंके मना करनेपर भी उनका क्रोधसे तमतमाता हुआ शरीर उन सिंहोंके समान सुशोभित हुआ, जो मांससे वंचित कर दिये जानेके कारण दहाड़ रहे हों।

तं बलौघमपर्यन्तं राजसागरमक्षयम् ।
कुर्वाणं समयं कृष्णो युद्धाय बुबुधे तदा ।। १८ ।।

राजाओंका वह समुदाय अक्षय समुद्रकी भाँति उमड़ रहा था। उसका कहीं अन्त नहीं दिखायी देता था। सेनाएँ ही उसकी अपार जलराशि थीं। उसे इस प्रकार शपथ करते देख भगवान् श्रीकृष्णने यह समझ लिया कि अब ये नरेश युद्धके लिये तैयार हैं ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि राजमन्त्रणे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ३९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें राजाओंकी मन्त्रणाविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३९ ।।

(शिशुपालवधपर्व)

चत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता और भीष्मजीका उन्हें सान्त्वना देना

वैशम्पायन उवाच

ततः सागरसंकाशं दृष्ट्वा नृपतिमण्डलम् ।
संवर्तवाताभिहतं भीमं क्षुब्धमिवार्णवम् ।। १ ।।
रोषात् प्रचलितं सर्वमिदमाह युधिष्ठिरः ।
भीष्मं मतिमतां मुख्यं वृद्धं कुरुपितामहम् ।
बृहस्पतिं बृहत्तेजाः पुरुहूत इवारिहा ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर प्रलयकालीन महावायुके थपेड़ोंसे क्षुब्ध हुए भयंकर महासागरकी भाँति राजाओंके उस समुदायको क्रोधसे चंचल हुआ देख धर्मराज युधिष्ठिर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ और कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मजीसे उसी प्रकार बोले, जैसे शत्रुहन्ता महातेजस्वी इन्द्र बृहस्पतिजीसे कोई बात पूछते हैं— ।। १-२ ।।

असौ रोषात् प्रचलितो महान् नृपतिसागरः ।
अत्र यत् प्रतिपत्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ।। ३ ।।

'पितामह! यह देखिये, राजाओंका महासमुद्र रोषसे अत्यन्त चंचल हो उठा है। अब यहाँ इन सबको शान्त करनेका जो उचित उपाय जान पड़े, वह मुझे बताइये ।। ३ ।।

यज्ञस्य च न विघ्नः स्यात् प्रजानां च हितं भवेत् ।
यथा सर्वत्र तत् सर्वं ब्रूहि मेऽद्य पितामह ।। ४ ।।

'दादाजी! यज्ञमें विघ्न न पड़े और प्रजाओंका हित हो तथा जिस प्रकार सर्वत्र शान्ति भी बनी रहे, वह सब उपाय अब मुझे बतानेकी कृपा करें' ।। ४ ।।

इत्युक्तवति धर्मज्ञे धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
उवाचेदं वचो भीष्मस्ततः कुरुपितामहः ।। ५ ।।

धर्मके ज्ञाता धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर कुरुकुलपितामह भीष्मजी इस प्रकार बोले— ।। ५ ।।

मा भैस्त्वं कुरुशार्दूल श्वा सिंहं हन्तुमर्हति ।
शिवः पन्थाः सुनीतोऽत्र मया पूर्वतरं वृतः ।। ६ ।।

‘कुरुवंशके वीर! तुम डरो मत, क्या कुत्ता कभी सिंहको मार सकता है? हमने कल्याणमय मार्ग पहले ही चुन लिया है (श्रीकृष्णका आश्रय ही वह मार्ग है जिसका मैंने वरण कर लिया है) ।। ६ ।।

प्रसुप्ते हि यथा सिंहे श्वानस्तस्मिन् समागताः ।
भषेयुः सहिताः सर्वे तथेमे वसुधाधिपाः ।। ७ ।।
वृष्णिसिंहस्य सुप्तस्य तथामी प्रमुखे स्थिताः ।

‘जैसे सिंहके सो जानेपर बहुत-से कुत्ते उसके निकट आकर एक साथ भूँकने लगते हैं, उसी प्रकार ये सामने खड़े हुए राजा भी तभीतक भूँक रहे हैं, जबतक वृष्णिवंशका सिंह सो रहा है ।। ७½ ।।

भषन्ते तात संक्रुद्धाः श्वानः सिंहस्य संनिधौ ।। ८ ।।
न हि सम्बुध्यते यावत् सुप्तः सिंह इवाच्युतः ।
तेन सिंहीकरोत्येतान् नृसिंहश्चेदिपुङ्गवः ।। ९ ।।
पार्थिवान् पार्थिवश्रेष्ठः शिशुपालोऽप्यचेतनः ।
सर्वान् सर्वात्मना तात नेतुकामो यमक्षयम् ।। १० ।।

‘क्रोधमें भरे हुए कुत्तोंके समान ये लोग सिंहके निकट तभीतक कोलाहल मचा रहे हैं, जबतक भगवान् श्रीकृष्ण सिंहकी तरह जाग नहीं उठते—इन्हें दण्ड देनेके लिये उद्यत नहीं हो जाते। राजाओंमें श्रेष्ठ चेदिकुलभूषण नृसिंह शिशुपाल भी अपनी विवेकशक्ति खो बैठा है, तभी इन सब नरेशोंको यमलोकमें भेज देनेकी इच्छासे कुत्तेसे सिंह बनानेकी कोशिश कर रहा है ।। ८—१० ।।

नूनमेतत् समादातुं पुनरिच्छत्यधोक्षजः ।
यदस्य शिशुपालस्य तेजस्तिष्ठति भारत ।। ११ ।।

‘भारत! अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्ण इस शिशुपालके भीतर उनका जो तेज है, उसे पुनः समेट लेना चाहते हैं ।। ११ ।।

विप्लुता चास्य भद्रं ते बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ।
चेदिराजस्य कौन्तेय सर्वेषां च महीक्षिताम् ।। १२ ।।

‘बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! तुम्हारा कल्याण हो। अवश्य ही इस चेदिराज शिशुपालकी तथा इन समस्त भूपालोंकी बुद्धि मारी गयी है ।। १२ ।।

आदातुं च नरव्याघ्रो यं यमिच्छत्ययं तदा ।
तस्य विप्लवते बुद्धिरेवं चेदिपतेर्यथा ।। १३ ।।

‘क्योंकि नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण जिस-जिसको अपनेमें विलीन कर लेना चाहते हैं, उस-उस मनुष्यकी बुद्धि इसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे इस चेदिराज शिशुपालकी ।। १३ ।।

चतुर्विधानां भूतानां त्रिषु लोकेषु माधवः ।
प्रभवश्चैव सर्वेषां निधनं च युधिष्ठिरः ।। १४ ।।

‘युधिष्ठिर! माधव श्रीकृष्ण तीनों लोकोंमें जो स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज —ये चार प्रकारके प्राणी हैं, उन सबकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं ।। १४ ।।

वैशम्पायन उवाच

इति तस्य वचः श्रुत्वा ततश्चेदिपतिर्नृपः ।
भीष्मं रूक्षाक्षरा वाचः श्रावयामास भारत ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजीकी यह बात सुनकर चेदिराज शिशुपाल उनको बड़ी कठोर बातें सुनाने लगा ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें युधिष्ठिरको आश्वासन नामक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४० ।।

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

शिशुपालद्वारा भीष्मकी निन्दा

शिशुपाल उवाच

विभीषिकाभिर्बह्वीभिर्भीषयन् सर्वपार्थिवान् ।
न व्यपत्रपसे कस्माद् वृद्धः सन् कुलपांसन ।। १ ।।

शिशुपाल बोला—कुलको कलंकित करनेवाले भीष्म! तुम अनेक प्रकारकी विभीषिकाओंद्वारा इन सब राजाओंको डरानेकी चेष्टा कर रहे हो। बड़े-बूढ़े होकर भी तुम्हें अपने इस कृत्यपर लज्जा क्यों नहीं आती? ।। १ ।।

युक्तमेतत् तृतीयायां प्रकृतौ वर्तता त्वया ।
वक्तुं धर्मादपेतार्थं त्वं हि सर्वकुरूत्तमः ।। २ ।।

तुम तीसरी प्रकृतिमें स्थित (नपुंसक) हो, अतः तुम्हारे लिये इस प्रकार धर्मविरुद्ध बातें कहना उचित ही है। फिर भी यह आश्चर्य है कि तुम समूचे कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष कहे जाते हो ।। २ ।।

नावि नौरिव सम्बद्धा यथान्धो बान्धमन्वियात् ।
तथाभूता हि कौरव्या येषां भीष्म त्वमग्रणीः ।। ३ ।।

भीष्म! जैसे एक नाव दूसरी नावमें बाँध दी जाय, एक अंधा दूसरे अंधेके पीछे चले; वही दशा इन सब कौरवोंकी है, जिन्हें तुम-जैसा अगुआ मिला है ।। ३ ।।

पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः ।
त्वया कीर्तयतास्माकं भूयः प्रव्यथितं मनः ।। ४ ।।

तुमने श्रीकृष्णके पूतना-वध आदि कर्मोंका जो विशेषरूपसे वर्णन किया है, उससे हमारे मनको पुनः बहुत बड़ी चोट पहुँची है ।। ४ ।।

अवलिप्तस्य मूर्खस्य केशवं स्तोतुमिच्छतः ।
कथं भीष्म न ते जिह्वा शतधेयं विदीर्यते ।। ५ ।।

भीष्म! तुम्हें अपने ज्ञानीपनका बड़ा घमंड है, परंतु तुम हो वास्तवमें बड़े मूर्ख! ओह! इस केशवकी स्तुति करनेकी इच्छा होते ही तुम्हारी जीभके सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते? ।। ५ ।।

यत्र कुत्सा प्रयोक्तव्या भीष्म बालतरैर्नरैः ।
तमिमं ज्ञानवृद्धः सन् गोपं संस्तोतुमिच्छसि ।। ६ ।।

भीष्म! जिसके प्रति मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्योंको भी घृणा करनी चाहिये, उसी ग्वालियेकी तुम ज्ञानवृद्ध होकर भी स्तुति करना चाहते हो (यह आश्चर्य है!) ।। ६ ।।

यद्यनेन हतो बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम् ।

तौ वाश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ ।। ७ ।।

भीष्म! यदि इसने बचपनमें एक पक्षी (बकासुर)-को अथवा जो युद्धकी कलासे सर्वथा अनभिज्ञ थे, उन अश्व (केशी) और वृषभ (अरिष्टासुर) नामक पशुओंको मार डाला तो इसमें क्या आश्चर्यकी बात हो गयी? ।। ७ ।।

चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम् ।
पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम् ।। ८ ।।

भीष्म! छकड़ा क्या है, चेतनाशून्य लकड़ियोंका ढेर ही तो, यदि इसने पैरसे उसको उलट ही दिया तो कौन अनोखी करामात कर डाली? ।। ८ ।।

(अर्कप्रमाणौ तौ वृक्षौ यद्यनेन निपातितौ ।
नागश्च पातितोऽनेन तत्र को विस्मयः कृतः ।।)

आकके पौधोंके बराबर दो अर्जुन वृक्षोंको यदि श्रीकृष्णने गिरा दिया अथवा एक नागको ही मार गिराया तो कौन बड़े आश्चर्यका काम कर डाला?।

वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः ।
तदा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ।। ९ ।।

भीष्म! यदि इसने गोवर्धनपर्वतको सात दिनतक अपने हाथपर उठाये रखा तो उसमें भी मुझे कोई आश्चर्यकी बात नहीं जान पड़ती; क्योंकि गोवर्धन तो दीमकोंकी खोदी हुई मिट्टीका ढेरमात्र है ।। ९ ।।

भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि ।
इति ते भीष्म शृण्वानाः परे विस्मयमागताः ।। १० ।।

भीष्म! कृष्णने गोवर्धनपर्वतके शिखरपर खेलते हुए अकेले ही बहुत-सा अन्न खा लिया, यह बात भी तुम्हारे मुँहसे सुनकर दूसरे लोगोंको ही आश्चर्य हुआ होगा (मुझे नहीं) ।। १० ।।

यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं बलीयसः ।
स चानेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम् ।। ११ ।।

धर्मज्ञ भीष्म! जिस महाबली कंसका अन्न खाकर यह पला था, उसीको इसने मार डाला। यह भी इसके लिये कोई बड़ी अद्भुत बात नहीं है ।। ११ ।।

न ते श्रुतमिदं भीष्म नूनं कथयतां सताम् ।
यद् वक्ष्ये त्वामधर्मज्ञं वाक्यं कुरुकुलाधम ।। १२ ।।

कुरुकुलाधम भीष्म! तुम धर्मको बिलकुल नहीं जानते। मैं तुमसे धर्मकी जो बात कहूँगा, वह तुमने संत-महात्माओंके मुखसे भी नहीं सुनी होगी ।। १२ ।।

स्त्रीषु गोषु न शस्त्राणि पातयेद् ब्राह्मणेषु च ।
यस्य चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात् प्रतिश्रयः ।। १३ ।।

स्त्रीपर, गौपर, ब्राह्मणोंपर तथा जिसका अन्न खाय अथवा जिनके यहाँ अपनेको आश्रय मिला हो, उनपर भी हथियार न चलाये ।। १३ ।।

इति सन्तोऽनुशासन्ति सज्जनं धर्मिणः सदा ।

भीष्म लोके हि तत् सर्वं वितथं त्वयि दृश्यते ।। १४ ।।

भीष्म! जगत्में साधु धर्मात्मा पुरुष सज्जनोंको सदा इसी धर्मका उपदेश देते रहते हैं; किंतु तुम्हारे निकट यह सब धर्म मिथ्या दिखायी देता है ।। १४ ।।

ज्ञानवृद्धं च वृद्धं च भूयांसं केशवं मम ।

अजानत इवाख्यासि संस्तुवन् कौरवाधम ।। १५ ।।

कौरवाधम! तुम मेरे सामने इस कृष्णकी स्तुति करते हुए इसे ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध बता रहे हो, मानो मैं इसके विषयमें कुछ जानता ही न होऊँ ।। १५ ।।

गोघ्नः स्त्रीघ्नश्च सन् भीष्म त्वद्वाक्याद् यदि पूज्यते ।

एवंभूतश्च यो भीष्म कथं संस्तवमर्हति ।। १६ ।।

भीष्म! यदि तुम्हारे कहनेसे गोघाती और स्त्रीहन्ता होते हुए भी इस कृष्णकी पूजा हो रही है तो तुम्हारी धर्मज्ञताकी हद हो गयी। तुम्हीं बताओ, जो इन दोनों ही प्रकारकी हत्याओंका अपराधी है, वह स्तुतिका अधिकारी कैसे हो सकता है? ।। १६ ।।

असौ मतिमतां श्रेष्ठो य एष जगतः प्रभुः ।

सम्भावयति चाप्येवं त्वद्वाक्याच्च जनार्दनः ।

एवमेतत् सर्वमिति तत् सर्वं वितथं ध्रुवम् ।। १७ ।।

तुम कहते हो—‘ये बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं, ये ही सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर हैं’ और तुम्हारे ही कहनेसे यह कृष्ण अपनेको ऐसा ही समझने भी लगा है। वह इन सभी बातोंको ज्यों-की-त्यों ठीक मानता है; परंतु मेरी दृष्टिमें कृष्णके सम्बन्धमें तुम्हारे द्वारा जो कुछ कहा गया है, वह सब निश्चय ही झूठा है ।। १७ ।।

न गाथागाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि भूलिङ्गशकुनिर्यथा ।। १८ ।।

कोई भी गीत गानेवालेको कुछ सिखा नहीं सकता, चाहे वह कितनी ही बार क्यों न गाता हो। भूलिंग पक्षीकी भाँति सब प्राणी अपनी प्रकृतिका ही अनुसरण करते हैं ।। १८ ।।

नूनं प्रकृतिरेषा ते जघन्या नात्र संशयः ।

अति पापीयसी चैषा पाण्डवानामपीष्यते ।। १९ ।।

निश्चय ही तुम्हारी यह प्रकृति बड़ी अधम है, इसमें संशय नहीं है। अतएव इन पाण्डवोंकी प्रकृति भी तुम्हारे ही समान अत्यन्त पापमयी होती जा रही है ।। १९ ।।

येषामर्च्यतमः कृष्णस्त्वं च येषां प्रदर्शकः ।

धर्मवांस्त्वमधर्मज्ञः सतां मार्गादवप्लुतः ।। २० ।।

अथवा क्यों न हो, जिनका परम पूजनीय कृष्ण है और सत्पुरुषोंके मार्गसे गिरा हुआ तुम-जैसा धर्मज्ञानशून्य धर्मात्मा जिनका मार्गदर्शक है ।। २० ।।

को हि धर्मिणमात्मानं जानन् ज्ञानविदां वरः ।
कुर्याद् यथा त्वया भीष्म कृतं धर्ममवेक्षता ।। २१ ।।

भीष्म! कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपनेको ज्ञानवानोंमें श्रेष्ठ और धर्मात्मा जानते हुए भी ऐसे नीच कर्म करेगा, जो धर्मपर दृष्टि रखते हुए भी तुम्हारे द्वारा किये गये हैं ।। २१ ।।

चेत् त्वं धर्मं विजानासि यदि प्राज्ञा मतिस्तव ।
अन्यकामा हि धर्मज्ञा कन्यका प्राज्ञमानिना ।
अम्बा नामेति भद्रं ते कथं सापहृता त्वया ।। २२ ।।

यदि तुम धर्मको जानते हो, यदि तुम्हारी बुद्धि उत्तम ज्ञान और विवेकसे सम्पन्न है तो तुम्हारा भला हो, बताओ, काशिराजकी जो धर्मज्ञ कन्या अम्बा दूसरे पुरुषमें अनुरक्त थी, उसका अपनेको पण्डित माननेवाले तुमने क्यों अपहरण किया? ।। २२ ।।

तां त्वयापि हृतां भीष्म कन्यां नैषितवान् यतः ।
भ्राता विचित्रवीर्यस्ते सतां मार्गमनुष्ठितः ।। २३ ।।

भीष्म! तुम्हारे द्वारा अपहरण की गयी उस काशिराजकी कन्याको तुम्हारे भाई विचित्रवीर्यने अपनानेकी इच्छा नहीं की, क्योंकि वे सन्मार्गपर स्थित रहनेवाले थे ।। २३ ।।

दारयोर्यस्य चान्येन मिषतः प्राज्ञमानिनः ।
तव जातान्यपत्यानि सज्जनाचरिते पथि ।। २४ ।।

उन्हींकी दोनों विधवा पत्नियोंके गर्भसे तुम-जैसे पण्डितमानीके देखते-देखते दूसरे पुरुषद्वारा संतानें उत्पन्न की गयीं, फिर भी तुम अपनेको साधु पुरुषोंके मार्गपर स्थिर मानते हो ।। २४ ।।

को हि धर्मोऽस्ति ते भीष्म ब्रह्मचर्यमिदं वृथा ।
यद् धारयसि मोहाद् वा क्लीबत्वाद् वा न संशयः ।। २५ ।।

भीष्म! तुम्हारा धर्म क्या है! तुम्हारा यह ब्रह्मचर्य भी व्यर्थका ढकोसलामात्र है, जिसे तुमने मोहवश अथवा नपुंसकताके कारण धारण कर रखा है, इसमें संशय नहीं ।। २५ ।।

न त्वहं तव धर्मज्ञ पश्याम्युपचयं क्वचित् ।
न हि ते सेविता वृद्धा य एवं धर्ममब्रवीः ।। २६ ।।

धर्मज्ञ भीष्म! मैं तुम्हारी कहीं कोई उन्नति भी तो नहीं देख रहा हूँ। मेरा तो विश्वास है, तुमने ज्ञानवृद्ध पुरुषोंका कभी संग नहीं किया है। तभी तो तुम ऐसे धर्मका उपदेश करते हो ।। २६ ।।

इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
सर्वमेतदपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।। २७ ।।

यज्ञ, दान, स्वाध्याय तथा बहुत दक्षिणावाले बड़े-बड़े यज्ञ—ये सब संतानकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते ।। २७ ।।

व्रतोपवासैर्बहुभिः कृतं भवति भीष्म यत् ।
सर्वं तदनपत्यस्य मोघं भवति निश्चयात् ।। २८ ।।

भीष्म! अनेक व्रतों और उपवासोंद्वारा जो पुण्य कार्य किया जाता है, वह सब संतानहीन पुरुषके लिये निश्चय ही व्यर्थ हो जाता है ।। २८ ।।

सोऽनपत्यश्च वृद्धश्च मिथ्याधर्मानुसारकः ।
हंसवत् त्वमपीदानीं ज्ञातिभ्यः प्राप्नुया वधम् ।। २९ ।।

तुम संतानहीन, वृद्ध और मिथ्याधर्मका अनुसरण करनेवाले हो; अतः इस समय हंसकी भाँति तुम भी अपने जातिभाइयोंके हाथसे ही मारे जाओगे ।। २९ ।।

एवं हि कथयन्त्यन्ये नरा ज्ञानविदः पुरा ।
भीष्म यत् तदहं सम्यग् वक्ष्यामि तव शृण्वतः ।। ३० ।।

भीष्म! पहलेके विवेकी मनुष्य एक प्राचीन वृत्तान्त सुनाया करते हैं, वही मैं ज्यों-का-त्यों तुम्हारे सामने उपस्थित करता हूँ, सुनो ।। ३० ।।

वृद्धः किल समुद्रान्ते कश्चिद्धंसोऽभवत् पुरा ।
धर्मवागन्यथावृत्तः पक्षिणः सोऽनुशास्ति च ।। ३१ ।।
धर्मं चरत माधर्ममिति तस्य वचः किल ।
पक्षिणः शुश्रुवुर्भीष्म सततं सत्यवादिनः ।। ३२ ।।

पूर्वकालकी बात है, समुद्रके निकट कोई बूढ़ा हंस रहता था। वह धर्मकी बातें करता; परंतु उसका आचरण ठीक उसके विपरीत होता था। वह पक्षियोंको सदा यह उपदेश किया करता कि धर्म करो, अधर्मसे दूर रहो। सदा सत्य बोलनेवाले उस हंसके मुखसे दूसरे-दूसरे पक्षी यही उपदेश सुना करते थे ।। ३१-३२ ।।

अथास्य भक्ष्यमाजह्रुः समुद्रजलचारिणः ।
अण्डजा भीष्म तस्यान्ये धर्मार्थमिति शुश्रुम ।। ३३ ।।

भीष्म! ऐसा सुननेमें आया है कि वे समुद्रके जलमें विचरनेवाले पक्षी धर्म समझकर उसके लिये भोजन जुटा दिया करते थे ।। ३३ ।।

ते च तस्य समभ्याशे निक्षिप्याण्डानि सर्वशः ।
समुद्राम्भस्यमज्जन्त चरन्तो भीष्म पक्षिणः ।
तेषामण्डानि सर्वेषां भक्षयामास पापकृत् ।। ३४ ।।

भीष्म! हंसपर विश्वास हो जानेके कारण वे सभी पक्षी अपने अण्डे उसके पास ही रखकर समुद्रके जलमें गोते लगाते और विचरते थे; परंतु वह पापी हंस उन सबके अण्डे खा जाता था ।। ३४ ।।

स हंसः सम्प्रमत्तानामप्रमत्तः स्वकर्मणि ।

ततः प्रक्षीयमाणेषु तेषु तेष्वण्डजोऽपरः ।
अशङ्कत महाप्राज्ञः स कदाचिद् ददर्श ह ।। ३५ ।।

वे बेचारे पक्षी असावधान थे और वह अपना काम बनानेके लिये सदा चौकन्ना रहता था। तदनन्तर जब वे अण्डे नष्ट होने लगे, तब एक बुद्धिमान् पक्षीको हंसपर कुछ संदेह हुआ और एक दिन उसने उसकी सारी करतूत देख भी ली ।। ३५ ।।

ततः स कथयामास दृष्ट्वा हंसस्य किल्बिषम् ।
तेषां परमदुःखार्तः स पक्षी सर्वपक्षिणाम् ।। ३६ ।।

हंसका यह पापपूर्ण कृत्य देखकर वह पक्षी दुःखसे अत्यन्त आतुर हो उठा और उसने अन्य सब पक्षियोंसे सारा हाल कह सुनाया ।। ३६ ।।

ततः प्रत्यक्षतो दृष्ट्वा पक्षिणस्ते समीपगाः ।
निजघ्नुस्तं तदा हंसं मिथ्यावृत्तं कुरूद्वह ।। ३७ ।।

कुरुवंशी भीष्म! तब उन पक्षियोंने निकट जाकर सब कुछ प्रत्यक्ष देख लिया और धर्मात्माका मिथ्या ढोंग बनाये हुए उस हंसको मार डाला ।। ३७ ।।

ते त्वां हंससधर्माणमपीमे वसुधाधिपाः ।
निहन्युर्भीष्म संक्रुद्धाः पक्षिणस्तं यथाण्डजम् ।। ३८ ।।
गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ।
भीष्म यां तां च ते सम्यक् कथयिष्यामि भारत ।। ३९ ।।

तुम भी उस हंसके ही समान हो, अतः ये सब नरेश अत्यन्त कुपित होकर आज तुम्हें उसी तरह मार डालेंगे, जैसे उन पक्षियोंने हंसकी हत्या कर डाली थी। भीष्म! इस विषयमें पुराणवेत्ता विद्वान् एक गाथा गाया करते हैं। भरतकुलभूषण! मैं उसे भी तुमको भलीभाँति सुनाये देता हूँ ।। ३८-३९ ।।

अन्तरात्मन्यभिहते रौषि पत्ररथाशुचि ।
अण्डभक्षणकर्मैतत् तव वाचमतीयते ।। ४० ।।

‘हंस! तुम्हारी अन्तरात्मा रागादि दोषोंसे दूषित है, तुम्हारा यह अण्डभक्षणरूप अपवित्र कर्म तुम्हारी इस धर्मोपदेशमयी वाणीके सर्वथा विरुद्ध है’ ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते समापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवाक्ये एकचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें शिशुपालवाक्यविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४१ श्लोक हैं)

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

शिशुपालकी बातोंपर भीमसेनका क्रोध और भीष्मजीका उन्हें शान्त करना

शिशुपाल उवाच

स मे बहुमतो राजा जरासंधो महाबलः ।
योऽनेन युद्धं नेयेष दासोऽयमिति संयुगे ।। १ ।।

शिशुपाल बोला—महाबली राजा जरासंध मेरे लिये बड़े ही सम्माननीय थे। वे कृष्णको दास समझकर इसके साथ युद्धमें लड़ना ही नहीं चाहते थे ।। १ ।।

केशवेन कृतं कर्म जरासंधवधे तदा ।
भीमसेनार्जुनाभ्यां च कस्तत् साध्विति मन्यते ।। २ ।।

तब इस केशवने जरासंधके वधके लिये भीमसेन और अर्जुनको साथ लेकर जो नीच कर्म किया है, उसे कौन अच्छा मान सकता है? ।। २ ।।

अद्वारेण प्रविष्टेन छद्मना ब्रह्मवादिना ।
दृष्टः प्रभावः कृष्णेन जरासंधस्य भूपतेः ।। ३ ।।

पहले तो (चैत्यकगिरिके शिखरको तोड़कर) बिना दरवाजेके ही इसने नगरमें प्रवेश किया। उसपर भी छद्मवेष बना लिया और अपनेको ब्राह्मण प्रसिद्ध कर दिया। इस प्रकार इस कृष्णने भूपाल जरासंधका प्रभाव देखा ।। ३ ।।

येन धर्मात्मनाऽऽत्मानं ब्रह्मण्यमविजानता ।
नेषितं पाद्यमस्मै तद् दातुमग्रे दुरात्मने ।। ४ ।।

उस धर्मात्मा जरासंधने जब इस दुरात्माके आगे ब्राह्मण अतिथिके योग्य पाद्य आदि प्रस्तुत किये, तब इसने यह जानकर कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, उसे ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं की ।। ४ ।।

भुज्यतामिति तेनोक्ताः कृष्णभीमधनंजयाः ।
जरासंधेन कौरव्य कृष्णेन विकृतं कृतम् ।। ५ ।।

कौरव्य भीष्म! तत्पश्चात् जब उन्होंने कृष्ण, भीम और अर्जुन तीनोंसे भोजन करनेका आग्रह किया, तब इस कृष्णने ही उसका निषेध किया था ।। ५ ।।

यद्ययं जगतः कर्ता यथैनं मूर्ख मन्यसे ।
कस्मान्न ब्राह्मणं सम्यगात्मानमवगच्छति ।। ६ ।।

मूर्ख भीष्म! यदि यह कृष्ण सम्पूर्ण जगत्का कर्ता-धर्ता है, जैसा कि तुम इसे मानते हो तो यह अपनेको भलीभाँति ब्राह्मण भी क्यों नहीं मानता? ।। ६ ।।

इदं त्वाश्चर्यभूतं मे यदिमे पाण्डवास्त्वया ।
अपकृष्टाः सतां मार्गान्मन्यन्ते तच्च साध्विति ।। ७ ।।

मुझे सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात तो यह जान पड़ती है कि ये पाण्डव भी तुम्हारे द्वारा सन्मार्गसे दूर हटा दिये गये हैं; इसलिये ये भी कृष्णके इस कार्यको ठीक समझते हैं ।। ७ ।।

अथ वा नैतदाश्चर्यं येषां त्वमसि भारत ।
स्त्रीसधर्मा च वृद्धश्च सर्वार्थानां प्रदर्शकः ।। ८ ।।

अथवा भारत! स्त्रीके समान धर्मवाले (नपुंसक) और बूढ़े तुम-जैसे लोग जिनके सभी कार्योंमें पथ-प्रदर्शन करते हैं, उनका ऐसा समझना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ।। ८ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रूक्षं रूक्षाक्षरं बहु ।
चुकोप बलिनां श्रेष्ठो भीमसेनः प्रतापवान् ।। ९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शिशुपालकी बातें बड़ी रूखी थीं। उनका एक-एक अक्षर कटुतासे भरा हुआ था। उन्हें सुनकर बलवानोंमें श्रेष्ठ प्रतापी भीमसेन क्रोधाग्निसे जल उठे ।। ९ ।।

तथा पद्मप्रतीकाशे स्वभावायतविस्तृते ।
भूयः क्रोधाभिताम्राक्षे रक्ते नेत्रे बभूवतुः ।। १० ।।

उनकी आँखें स्वभावतः बड़ी-बड़ी और कमलके समान सुन्दर थीं। वे क्रोधके कारण अधिक लाल हो गयीं; मानो उनमें खून उतर आया हो ।। १० ।।

त्रिशिखां भ्रुकुटीं चास्य ददृशुः सर्वपार्थिवाः ।
ललाटस्थां त्रिकूटस्थां गङ्गां त्रिपथगामिव ।। ११ ।।

सब राजाओंने देखा, उनके ललाटमें तीन रेखाओंसे युक्त भ्रुकुटी तन गयी है; मानो त्रिकूटपर्वतपर त्रिपथगामिनी गंगा लहरा उठी हों ।। ११ ।।

दन्तान् संदशतस्तस्य कोपाद् ददृशुराननम् ।
युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव जिघत्सतः ।। १२ ।।

वे दाँतोंसे दाँत पीसने लगे, रोषकी अधिकतासे उनका मुख ऐसा भयंकर दिखायी देने लगा; मानो प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंको निगल जानेकी इच्छावाला विकराल काल ही प्रकट हो गया हो ।। १२ ।।

उत्पतन्तं तु वेगेन जग्राहैनं मनस्विनम् ।
भीष्म एव महाबाहुर्महासेनमिवेश्वरः ।। १३ ।।

वे उछलकर शिशुपालके पास पहुँचना ही चाहते थे कि महाबाहु भीष्मने बड़े वेगसे उठकर उन मनस्वी भीमको पकड़ लिया, मानो महेश्वरने कार्तिकेयको रोक लिया हो ।। १३ ।।

तस्य भीमस्य भीष्मेण वार्यमाणस्य भारत ।
गुरुणा विविधैर्वाक्यैः क्रोधः प्रशममागतः ।। १४ ।।

भारत! पितामह भीष्मके द्वारा अनेक प्रकारकी बातें कहकर रोके जानेपर भीमसेनका क्रोध शान्त हो गया ।। १४ ।।

नातिचक्राम भीष्मस्य स हि वाक्यमरिंदमः ।
समुद्वृत्तो घनापाये वेलामिव महोदधिः ।। १५ ।।

शत्रुदमन भीम भीष्मजीकी आज्ञाका उल्लंघन उसी प्रकार न कर सके, जैसे वर्षाके अन्तमें उमड़ा हुआ होनेपर भी महासागर अपनी तटभूमिसे आगे नहीं बढ़ता है ।। १५ ।।

शिशुपालस्तु संक्रुद्धे भीमसेने जनाधिप ।
नाकम्पत तदा वीरः पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ।। १६ ।।

राजन्! भीमसेनके कुपित होनेपर भी वीर शिशुपाल भयभीत नहीं हुआ। उसे अपने पुरुषार्थका पूरा भरोसा था ।। १६ ।।

उत्पतन्तं तु वेगेन पुनः पुनररिंदमः ।
न स तं चिन्तयामास सिंहः क्रुद्धो मृगं यथा ।। १७ ।।

भीमको बार-बार वेगसे उछलते देख शत्रुदमन शिशुपालने उनकी कुछ भी परवाह नहीं की, जैसे क्रोधमें भरा हुआ सिंह मृगको कुछ भी नहीं समझता ।। १७ ।।

प्रहसंश्चाब्रवीद् वाक्यं चेदिराजः प्रतापवान् ।
भीमसेनमभिक्रुद्धं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम् ।। १८ ।।

उस समय भयानक पराक्रमी भीमसेनको कुपित देख प्रतापी चेदिराज हँसते हुए बोला — ।। १८ ।।

मुञ्चैनं भीष्म पश्यन्तु यावदेनं नराधिपाः ।
मत्प्रभावविनिर्दग्धं पतङ्गमिव वह्निना ।। १९ ।।

‘भीष्म! छोड़ दो इसे, ये सभी राजा देख लें कि यह भीम मेरे प्रभावसे उसी प्रकार दग्ध हो जायगा जैसे फतिंगा आगके पास जाते ही भस्म हो जाता है’ ।। १९ ।।

ततश्चेदिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा तत् कुरुसत्तमः ।
भीमसेनमुवाचेदं भीष्मो मतिमतां वरः ।। २० ।।

तब चेदिराजकी वह बात सुनकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुकुलतिलक भीष्मने भीमसे यह कहा ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीमक्रोधे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें भीमक्रोधविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४२ ।।

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मजीके द्वारा शिशुपालके जन्मके वृत्तान्तका वर्णन

भीष्म उवाच

चेदिराजकुले जातस्त्र्यक्ष एष चतुर्भुजः ।
रासभारावसदृशं ररास च ननाद च ।। १ ।।

भीष्मजी बोले—भीमसेन! सुनो, चेदिराज दमघोषके कुलमें जब यह शिशुपाल उत्पन्न हुआ, उस समय इसके तीन आँखें और चार भुजाएँ थीं। इसने रोनेकी जगह गदहेके रेंकनेकी भाँति शब्द किया और जोर-जोरसे गर्जना भी की ।। १ ।।

तेनास्य मातापितरौ त्रेसतुस्तौ सबान्धवौ ।
वैकृतं तस्य तौ दृष्ट्वा त्यागायाकुरुतां मतिम् ।। २ ।।

इससे इसके माता-पिता अन्य भाई-बन्धुओंसहित भयसे थर्रा उठे। इसकी वह विकराल आकृति देख उन्होंने इसे त्याग देनेका निश्चय किया ।। २ ।।

ततः सभार्यं नृपतिं सामात्यं सपुरोहितम् ।
चिन्तासम्मूढहृदयं वागुवाचाशरीरिणी ।। ३ ।।

पत्नी, पुरोहित तथा मन्त्रियोंसहित चेदिराजका हृदय चिन्तासे मोहित हो रहा था। उस समय आकाशवाणी हुई— ।। ३ ।।

एष ते नृपते पुत्रः श्रीमान् जातो बलाधिकः ।
तस्मादस्मान्न भेतव्यमव्यग्रः पाहि वै शिशुम् ।। ४ ।।

'राजन्! तुम्हारा यह पुत्र श्रीसम्पन्न और महाबली है, अतः तुम्हें इससे डरना नहीं चाहिये। तुम शान्तचित्त होकर इस शिशुका पालन करो ।। ४ ।।

न च वै तस्य मृत्युर्वै न कालः प्रत्युपस्थितः ।
मृत्युर्हन्तास्य शस्त्रेण स चोत्पन्नो नराधिप ।। ५ ।।

'नरेश्वर! अभी इसकी मृत्यु नहीं आयी है और न काल ही उपस्थित हुआ है। जो इसकी मृत्युका कारण है तथा जो शस्त्रद्वारा इसका वध करेगा, वह अन्यत्र उत्पन्न हो चुका है' ।। ५ ।।

संश्रुत्योदाहृतं वाक्यं भूतमन्तर्हितं ततः ।
पुत्रस्नेहाभिसंतप्ता जननी वाक्यमब्रवीत् ।। ६ ।।

तदनन्तर यह आकाशवाणी सुनकर उस अन्तर्हित भूतको लक्ष्य करके पुत्रस्नेहसे संतप्त हुई इसकी माता बोली— ।। ६ ।।

येनेदमीरितं वाक्यं ममैतं तनयं प्रति ।
प्राञ्जलिस्तं नमस्यामि ब्रवीतु स पुनर्वचः ।। ७ ।।
याथातथ्येन भगवान् देवो वा यदि वेतरः ।
श्रोतुमिच्छामि पुत्रस्य कोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ।। ८ ।।

'मेरे इस पुत्रके विषयमें जिन्होंने यह बात कही है, उन्हें मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करती हूँ। चाहे वे कोई देवता हों अथवा और कोई प्राणी? वे फिर मेरे प्रश्नका उत्तर दें। मैं यह यथार्थरूपसे सुनना चाहती हूँ कि मेरे इस पुत्रकी मृत्युमें कौन निमित्त बनेगा?' ।। ७-८ ।।

अन्तर्भूतं ततो भूतमुवाचेदं पुनर्वचः ।
यस्योत्सङ्गे गृहीतस्य भुजावभ्यधिकावुभौ ।। ९ ।।
पतिष्यतः क्षितितले पञ्चशीर्षाविवोरगौ ।
तृतीयमेतद् बालस्य ललाटस्थं तु लोचनम् ।। १० ।।
निमज्जिष्यति यं दृष्ट्वा सोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ।

तब पुनः उसी अदृश्य भूतने यह उत्तर दिया—'जिसके द्वारा गोदमें लिये जानेपर पाँच सिरवाले दो सर्पोंकी भाँति इसकी पाँचों अँगुलियोंसे युक्त दो अधिक भुजाएँ पृथ्वीपर गिर जायँगी और जिसे देखकर इस बालकका ललाटवर्ती तीसरा नेत्र भी ललाटमें लीन हो जायगा, वही इसकी मृत्युमें निमित्त बनेगा' ।। ९-१०$\frac{१}{२}$ ।।

त्र्यक्षं चतुर्भुजं श्रुत्वा तथा च समुदाहृतम् ।। ११ ।।
पृथिव्यां पार्थिवाः सर्वे अभ्यागच्छन् दिदृक्षवः ।

चार बाँह और तीन आँखवाले बालकके जन्मका समाचार सुनकर भूमण्डलके सभी नरेश उसे देखनेके लिये आये ।। ११$\frac{१}{२}$ ।।

तान् पूजयित्वा सम्प्राप्तान् यथार्हं स महीपतिः ।। १२ ।।
एकैकस्य नृपस्याङ्के पुत्रमारोपयत् तदा ।

चेदिराजने अपने घर पधारे हुए उन सभी नरेशोंका यथायोग्य सत्कार करके अपने पुत्रको हर एकके गोदमें रखा ।। १२½ ।।

एवं राजसहस्राणां पृथक्त्वेन यथाक्रमम् ।। १३ ।।
शिशुरङ्कसमारूढो न तत् प्राप निदर्शनम् ।

इस प्रकार वह शिशु क्रमशः सहस्रों राजाओंकी गोदमें अलग-अलग रखा गया, परन्तु मृत्युसूचक लक्षण कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ ।। १३½ ।।

एतदेव तु संश्रुत्य द्वारवत्यां महाबलौ ।। १४ ।।
ततश्चेदिपुरं प्राप्तौ संकर्षणजनार्दनौ ।
यादवौ यादवीं द्रष्टुं स्वसारं तौ पितुस्तदा ।। १५ ।।

द्वारकामें यही समाचार सुनकर महाबली बलराम और श्रीकृष्ण दोनों यदुवंशी वीर अपनी बुआसे मिलनेके लिये उस समय चेदिराज्यकी राजधानीमें गये ।। १४-१५ ।।

अभिवाद्य यथान्यायं यथाश्रेष्ठं नृपं च ताम् ।
कुशलानामयं पृष्ट्वा निषण्णौ रामकेशवौ ।। १६ ।।

वहाँ बलराम और श्रीकृष्णने बड़े-छोटेके क्रमसे सबको यथायोग्य प्रणाम किया एवं राजा दमघोष और अपनी बुआ श्रुतश्रवासे कुशल और आरोग्यविषयक प्रश्न किया। तत्पश्चात् दोनों भाई एक उत्तम आसनपर विराजमान हुए ।। १६ ।।

साभ्यर्च्य तौ तदा वीरौ प्रीत्या चाभ्यधिकं ततः ।
पुत्रं दामोदरोत्सङ्गे देवी संन्यदधात् स्वयम् ।। १७ ।।

महादेवी श्रुतश्रवाने बड़े प्रेमसे उन दोनों वीरोंका सत्कार किया और स्वयं ही अपने पुत्रको श्रीकृष्णकी गोदमें डाल दिया ।। १७ ।।

न्यस्तमात्रस्य तस्याङ्के भुजावभ्यधिकावुभौ ।
पेततुस्तच्च नयनं न्यमज्जत ललाटजम् ।। १८ ।।

उनकी गोदमें रखते ही बालककी वे दोनों बाँहें गिर गयीं और ललाटवर्ती नेत्र भी वहीं विलीन हो गया ।। १८ ।।

तद् दृष्ट्वा व्यथिता त्रस्ता वरं कृष्णमयाचत ।
ददस्व मे वरं कृष्ण भयार्ताया महाभुज ।। १९ ।।

यह देखकर बालककी माता भयभीत हो मन-ही-मन व्यथित हो गयी और श्रीकृष्णसे वर माँगती हुई बोली—'महाबाहु श्रीकृष्ण! मैं भयसे व्याकुल हो रही हूँ। मुझे इस पुत्रकी जीवनरक्षाके लिये कोई वर दो ।। १९ ।।

त्वं ह्यार्तानां समाश्वासो भीतानामभयप्रदः ।
एवमुक्तस्ततः कृष्णः सोऽब्रवीद् यदुनन्दनः ।। २० ।।

‘क्योंकि तुम संकटमें पड़े हुए प्राणियोंके सबसे बड़े सहारे और भयभीत मनुष्योंको अभय देनेवाले हो।’ अपनी बुआके ऐसा कहनेपर यदुनन्दन श्रीकृष्णने कहा— ।। २० ।।

मा भैस्त्वं देवि धर्मज्ञे न मत्तोऽस्ति भयं तव ।
ददामि कं वरं किं च करवाणि पितृष्वसः ।। २१ ।।

‘देवि! धर्मज्ञे! तुम डरो मत। तुम्हें मुझसे कोई भय नहीं है। बुआ! तुम्हीं कहो, मैं तुम्हें कौन-सा वर दूँ? तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध कर दूँ? ।। २१ ।।

शक्यं वा यदि वाशक्यं करिष्यामि वचस्तव ।
एवमुक्ता ततः कृष्णमब्रवीद् यदुनन्दनम् ।। २२ ।।

‘सम्भव हो या असम्भव, तुम्हारे वचनका मैं अवश्य पालन करूँगा।’ इस प्रकार आश्वासन मिलनेपर श्रुतश्रवा यदुनन्दन श्रीकृष्णसे बोली— ।। २२ ।।

शिशुपालस्यापराधान् क्षमेथास्त्वं महाबल ।
मत्कृते यदुशार्दूल विद्धयेनं मे वरं प्रभो ।। २३ ।।

‘महाबली यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण! तुम मेरे लिये शिशुपालके सब अपराध क्षमा कर देना। प्रभो! यही मेरा मनोवांछित वर समझो’ ।। २३ ।।

श्रीकृष्ण उवाच

अपराधशतं क्षाम्यं मया ह्यस्य पितृष्वसः ।
पुत्रस्य ते वधार्हस्य मा त्वं शोके मनः कृथाः ।। २४ ।।

श्रीकृष्णने कहा—बुआ! तुम्हारा पुत्र अपने दोषोंके कारण मेरे द्वारा यदि वधके योग्य होगा, तो भी मैं इसके सौ अपराध क्षमा करूँगा। तुम अपने मनमें शोक न करो ।। २४ ।।

भीष्म उवाच

एवमेष नृपः पापः शिशुपालः सुमन्दधीः ।
त्वां समाह्वयते वीर गोविन्दवरदर्पितः ।। २५ ।।

भीष्मजी कहते हैं—वीरवर भीमसेन! इस प्रकार यह मन्दबुद्धि पापी राजा शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णके दिये हुए वरदानसे उन्मत्त होकर तुम्हें युद्धके लिये ललकार रहा है ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवृत्तान्तकथने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें शिशुपालवृत्तान्तवर्णनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४३ ।।

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मकी बातोंसे चिढ़े हुए शिशुपालका उन्हें फटकारना तथा भीष्मका श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये समस्त राजाओंको चुनौती देना

भीष्म उवाच

नैषा चेदिपतेर्बुद्धिर्यया त्वाऽऽह्वयतेऽच्युतम् ।
नूनमेष जगद्भर्तुः कृष्णस्यैव विनिश्चयः ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—भीमसेन यह चेदिराज शिशुपालकी बुद्धि नहीं है, जिसके द्वारा वह युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले तुम-जैसे महावीरको ललकार रहा है, अवश्य ही सम्पूर्ण जगत्के स्वामी भगवान् श्रीकृष्णका ही यह निश्चित विधान है ।। १ ।।

को हि मां भीमसेनाद्य क्षितावर्हति पार्थिवः ।
क्षेप्तुं कालपरीतात्मा यथैष कुलपांसनः ।। २ ।।

भीमसेन! कालने ही इसके मन और बुद्धिको ग्रस लिया है, अन्यथा इस भूमण्डलमें कौन ऐसा राजा होगा, जो मुझपर इस तरह आक्षेप कर सके, जैसे यह कुलकलंक शिशुपाल कर रहा है ।। २ ।।

एष ह्यस्य महाबाहुस्तेजोंऽशश्च हरेर्ध्रुवम् ।
तमेव पुनरादातुमिच्छत्युत तथा विभुः ।। ३ ।।

यह महाबाहु चेदिराज निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्णके तेजका अंश है। ये सर्वव्यापी भगवान् अपने उस अंशको पुनः समेट लेना चाहते हैं ।। ३ ।।

येनैष कुरुशार्दूल शार्दूल इव चेदिराट् ।
गर्जत्यतीव दुर्बुद्धिः सर्वानस्मानचिन्तयन् ।। ४ ।।

कुरुसिंह भीम! यही कारण है कि यह दुर्बुद्धि शिशुपाल हम सबको कुछ न समझकर आज सिंहके समान गरज रहा है ।। ४ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो न ममृषे चैद्यस्तद् भीष्मवचनं तदा ।
उवाच चैनं संक्रुद्धः पुनर्भीष्ममथोत्तरम् ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मकी यह बात शिशुपाल न सह सका। वह पुनः अत्यन्त क्रोधमें भरकर भीष्मको उनकी बातोंका उत्तर देते हुए बोला ।। ५ ।।

शिशुपाल उवाच

द्विषतां नोऽस्तु भीष्मैष प्रभावः केशवस्य यः ।
यस्य संस्तववक्ता त्वं वन्दिवत् सततोत्थितः ।। ६ ।।

शिशुपालने कहा—भीष्म! तुम सदा भाटकी तरह खड़े होकर जिसकी स्तुति गाया करते हो, उस कृष्णका जो प्रभाव है, वह हमारे शत्रुओंके पास ही रहे ।। ६ ।।

संस्तवे च मनो भीष्म परेषां रमते यदि ।
तदा संस्तौषि राज्ञस्त्वमिमं हित्वा जनार्दनम् ।। ७ ।।

भीष्म! यदि तुम्हारा मन सदा दूसरोंकी स्तुतिमें ही लगता है तो इस जनार्दनको छोड़कर इन राजाओंकी ही स्तुति करो ।। ७ ।।

दरदं स्तुहि बाह्लीकमिमं पार्थिवसत्तमम् ।
जायमानेन येनेयमभवद् दारिता मही ।। ८ ।।

ये दरददेशके राजा हैं, इनकी स्तुति करो। ये भूमिपालोंमें श्रेष्ठ बाह्लीक बैठे हैं, इनके गुण गाओ। इन्होंने जन्म लेते ही अपने शरीरके भारसे इस पृथ्वीको विदीर्ण कर दिया था ।। ८ ।।

वङ्गाङ्गविषयाध्यक्षं सहस्राक्षसमं बले ।
स्तुहि कर्णमिमं भीष्म महाचापविकर्षणम् ।। ९ ।।

भीष्म! ये जो वंग और अंग दोनों देशोंके राजा हैं, इन्द्रके समान बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं तथा महान् धनुषकी प्रत्यंचा खींचनेवाले हैं, इन वीरवर कर्णकी कीर्तिका गान करो ।। ९ ।।

यस्येमे कुण्डले दिव्ये सहजे देवनिर्मिते ।
कवचं च महाबाहो बालार्कसदृशप्रभम् ।। १० ।।

महाबाहो! इन कर्णके ये दोनों दिव्य कुण्डल जन्मके साथ ही प्रकट हुए हैं। किसी देवताने ही इन कुण्डलोंका निर्माण किया है। कुण्डलोंके साथ-साथ इनके शरीरपर यह दिव्य कवच भी जन्मसे ही पैदा हुआ है, जो प्रातःकालके सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा है ।। १० ।।

वासवप्रतिमो येन जरासंधोऽतिदुर्जयः ।
विजितो बाहुयुद्धेन देहभेदं च लम्भितः ।। ११ ।।

जिन्होंने इन्द्रके तुल्य पराक्रमी तथा अत्यन्त दुर्जय जरासंधको बाहुयुद्धके द्वारा केवल परास्त ही नहीं किया, उनके शरीरको चीर भी डाला, उन भीमसेनकी स्तुति करो ।। ११ ।।

द्रोणं द्रौणिं च साधु त्वं पितापुत्रौ महारथौ ।
स्तुहि स्तुत्यावुभौ भीष्म सततं द्विजसत्तमौ ।। १२ ।।

द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा दोनों पिता-पुत्र महारथी हैं तथा ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ हैं, अतएव स्तुत्य भी हैं। भीष्म! तुम उन दोनोंकी अच्छी तरह स्तुति करो ।। १२ ।।

ययोरन्यतरो भीष्म संक्रुद्धः सचराचराम् ।

इमां वसुमतीं कुर्यान्निःशेषामिति मे मतिः ।। १३ ।।

भीष्म! इन दोनों पिता-पुत्रोंमेंसे यदि एक भी अत्यन्त क्रोधमें भर जाय, तो चराचर प्राणियोंसहित इस सारी पृथ्वीको नष्ट कर सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है ।। १३ ।।

द्रोणस्य हि समं युद्धे न पश्यामि नराधिपम् ।

नाश्वत्थाम्नः समं भीष्म न च तौ स्तोतुमिच्छसि ।। १४ ।।

भीष्म! मुझे तो कोई भी ऐसा राजा नहीं दिखायी देता, जो युद्धमें द्रोण अथवा अश्वत्थामाकी बराबरी कर सके। तो भी तुम इन दोनोंकी स्तुति करना नहीं चाहते ।। १४ ।।

पृथिव्यां सागरान्तायां यो वै प्रतिसमो भवेत् ।

दुर्योधनं त्वं राजेन्द्रमतिक्रम्य महाभुजम् ।। १५ ।।

जयद्रथं च राजानं कृतास्त्रं दृढविक्रमम् ।

द्रुमं किम्पुरुषाचार्यं लोके प्रथितविक्रमम् ।

अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ।। १६ ।।

इस समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीपर जो अद्वितीय अनुपम वीर हैं, उन राजाधिराज महाबाहु दुर्योधनको, अस्त्रविद्यामें निपुण और सुदृढ़पराक्रमी राजा जयद्रथको और विश्वविख्यात विक्रमशाली महाबली किम्पुरुषा-चार्य द्रुमको छोड़कर तुम कृष्णकी प्रशंसा क्यों करते हो? ।। १५-१६ ।।

वृद्धं च भारताचार्यं तथा शारद्वतं कृपम् ।

अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ।। १७ ।।

शरद्वान् मुनिके पुत्र महापराक्रमी कृप भरतवंशके वृद्ध आचार्य हैं। इनका उल्लंघन करके तुम कृष्णका गुण क्यों गाते हो? ।। १७ ।।

धनुर्धराणां प्रवरं रुक्मिणं पुरुषोत्तमम् ।

अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ।। १८ ।।

धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ पुरुषरत्न महाबली रुक्मीकी अवहेलना करके तुम केशवकी प्रशंसाके गीत क्यों गाते हो? ।। १८ ।।

भीष्मकं च महावीर्यं दन्तवक्रं च भूमिपम् ।

भगदत्तं यूपकेतुं जयत्सेनं च मागधम् ।। १९ ।।

विराटद्रुपदौ चोभौ शकुनिं च बृहद्बलम् ।

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पाण्ड्यं श्वेतमथोत्तरम् ।। २० ।।

शङ्खं च सुमहाभागं वृषसेनं च मानिनम् ।

एकलव्यं च विक्रान्तं कालिङ्गं च महारथम् ।। २१ ।।

अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ।

महापराक्रमी भीष्मक, भूमिपाल दन्तवक्र, भगदत्त, यूपकेतु, जयत्सेन, मगधराज सहदेव, विराट, द्रुपद, शकुनि, बृहद्बल, अवन्तीके राजकुमार विन्द-अनुविन्द, पाण्ड्यनरेश, श्वेत, उत्तर, महाभाग शंख, अभिमानी वृषसेन, पराक्रमी एकलव्य तथा महारथी एवं महाबली कलिंगनरेशकी अवहेलना करके कृष्णकी प्रशंसा क्यों कर रहे हो? ।। १९—२१½ ।।

शल्यादीनपि कस्मात् त्वं न स्तौषि वसुधाधिपान् ।
स्तवाय यदि ते बुद्धिर्वर्तते भीष्म सर्वदा ।। २२ ।।

भीष्म! यदि तुम्हारा मन सदा दूसरोंकी स्तुति करनेमें ही लगता है तो इन शल्य आदि श्रेष्ठ राजाओंकी स्तुति क्यों नहीं करते? ।। २२ ।।

किं हि शक्यं मया कर्तुं यद् वृद्धानां त्वया नृप ।
पुरा कथयतां नूनं न श्रुतं धर्मवादिनाम् ।। २३ ।।

भीष्म! तुमने पहले बड़े-बूढ़े धर्मोपदेशकोंके मुखसे यदि यह धर्मसंगत बात, जिसे मैं अभी बताऊँगा नहीं सुनी, तो मैं क्या कर सकता हूँ? ।। २३ ।।

आत्मनिन्दाऽऽत्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः ।
अनाचरितमार्याणां वृत्तमेतच्चतुर्विधम् ।। २४ ।।

भीष्म! अपनी निन्दा, अपनी प्रशंसा, दूसरेकी निन्दा और दूसरेकी स्तुति—ये चार प्रकारके कार्य पहलेके श्रेष्ठ पुरुषोंने कभी नहीं किये हैं ।। २४ ।।

यदस्तव्यमिमं शश्वन्मोहात् संस्तौषि भक्तितः ।
केशवं तच्च ते भीष्म न कश्चिदनुमन्यते ।। २५ ।।

भीष्म! जो स्तुतिके सर्वथा अयोग्य है, उसी केशवकी तुम मोहवश सदा भक्तिभावसे जो स्तुति करते रहते हो, उसका कोई अनुमोदन नहीं करता ।। २५ ।।

कथं भोजस्य पुरुषे वर्गपाले दुरात्मनि ।
समावेशयसे सर्वं जगत् केवलकाम्यया ।। २६ ।।

दुरात्मा कृष्ण तो राजा कंसका सेवक है, उनकी गौओंका चरवाहा रहा है। तुम केवल स्वार्थवश इसमें सारे जगत्का समावेश कर रहे हो ।। २६ ।।

अथ चैषा न ते बुद्धिः प्रकृतिं याति भारत ।
मयैव कथितं पूर्वं भूलिङ्गशकुनिर्यथा ।। २७ ।।

भारत! तुम्हारी बुद्धि ठिकानेपर नहीं आ रही है। मैं यह बात पहले ही बता चुका हूँ कि तुम भूलिंग पक्षीके समान कहते कुछ और करते कुछ हो ।। २७ ।।

भूलिङ्गशकुनिर्नाम पार्श्वे हिमवतः परे ।
भीष्म तस्याः सदा वाचः श्रूयन्तेऽर्थविगर्हिताः ।। २८ ।।

भीष्म! हिमालयके दूसरे भागमें भूलिंग नामसे प्रसिद्ध एक चिड़िया रहती है। उसके मुखसे सदा ऐसी बात सुनायी पड़ती है, जो उसके कार्यके विपरीत भावकी सूचक होनेके

कारण अत्यन्त निन्दनीय जान पड़ती है ।। २८ ।।

मा साहसमितीदं सा सततं वाशते किल ।
साहसं चात्मनातीव चरन्ती नावबुध्यते ।। २९ ।।

वह चिड़िया सदा यही बोला करती है—'मा साहसम्' (अर्थात् साहसका काम न करो), परंतु वह स्वयं ही भारी साहसका काम करती हुई भी यह नहीं समझ पाती ।। २९ ।।

सा हि मांसार्गलं भीष्म मुखात् सिंहस्य खादतः ।
दन्तान्तरविलग्नं यत् तदादत्तेऽल्पचेतना ।। ३० ।।

भीष्म! वह मूर्ख चिड़िया मांस खाते हुए सिंहके दाँतोंमें लगे हुए मांसके टुकड़ेको अपनी चोंचसे चुगती रहती है ।। ३० ।।

इच्छतः सा हि सिंहस्य भीष्म जीवत्यसंशयम् ।
तद्वत् त्वमप्यधर्मिष्ठ सदा वाचः प्रभाषसे ।। ३१ ।।

निःसंदेह सिंहकी इच्छासे ही वह अबतक जी रही है। पापी भीष्म! इसी प्रकार तुम भी सदा बढ़-बढ़कर बातें करते हो ।। ३१ ।।

इच्छतां भूमिपालानां भीष्म जीवस्यसंशयम् ।
लोकविद्विष्टकर्मा हि नान्योऽस्ति भवता समः ।। ३२ ।।

भीष्म! निःसंदेह तुम्हारा जीवन इन राजाओंकी इच्छासे ही बचा हुआ है; क्योंकि तुम्हारे समान दूसरा कोई राजा ऐसा नहीं है, जिसके कर्म सम्पूर्ण जगत्से द्वेष करनेवाले हों ।। ३२ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततश्चेदिपतेः श्रुत्वा भीष्मः स कटुकं वचः ।
उवाचेदं वचो राजंश्चेदिराजस्य शृण्वतः ।। ३३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शिशुपालका यह कटु वचन सुनकर भीष्मजीने शिशुपालके सुनते हुए यह बात कही— ।। ३३ ।।

इच्छतां किल नामाहं जीवाम्येषां महीक्षिताम् ।
सोऽहं न गणयाम्येतांस्तृणेनापि नराधिपान् ।। ३४ ।।

'अहो! शिशुपालके कथनानुसार मैं इन राजाओंकी इच्छापर जी रहा हूँ; परंतु मैं तो इन समस्त भूपालोंको तिनके-बराबर भी नहीं समझता' ।। ३४ ।।

एवमुक्ते तु भीष्मेण ततः संचुक्रुशुर्नृपाः ।
केचिज्जहृषिरे तत्र केचिद् भीष्मं जगर्हिरे ।। ३५ ।।

भीष्मके ऐसा कहनेपर बहुत-से राजा कुपित हो उठे। कुछ लोगोंको हर्ष हुआ तथा कुछ भीष्मजीकी निन्दा करने लगे ।। ३५ ।।

केचिदूचुर्महेष्वासाः श्रुत्वा भीष्मस्य तद् वचः ।

पापोऽवलिप्तो वृद्धश्च नायं भीष्मोऽर्हति क्षमाम् ।। ३६ ।।

कुछ महान् धनुर्धर नरेश भीष्मकी वह बात सुनकर कहने लगे—'यह बूढ़ा भीष्म पापी और घमण्डी है; अतः क्षमाके योग्य नहीं है ।। ३६ ।।

हन्यतां दुर्मतिर्भीष्मः पशुवत् साध्वयं नृपाः ।
सर्वैः समेत्य संरब्धैर्दह्यतां वा कटाग्निना ।। ३७ ।।

'राजाओ! क्रोधमें भरे हुए हम सब लोग मिलकर इस खोटी बुद्धिवाले भीष्मको पशुकी भाँति गला दबाकर मार डालें अथवा घास-फूसकी आगमें इसे जीते-जी जला दें' ।। ३७ ।।

इति तेषां वचः श्रुत्वा ततः कुरुपितामहः ।
उवाच मतिमान् भीष्मस्तानेव वसुधाधिपान् ।। ३८ ।।

उन राजाओंकी ये बातें सुनकर कुरुकुलके पितामह बुद्धिमान् भीष्मजी फिर उन्हीं नरेशोंसे बोले— ।। ३८ ।।

उक्तस्योक्तस्य नेहान्तमहं समुपलक्षये ।
यत् तु वक्ष्यामि तत् सर्वं शृणुध्वं वसुधाधिपाः ।। ३९ ।।

'राजाओ! यदि मैं सबकी बातका अलग-अलग उत्तर दूँ तो यहाँ उसकी समाप्ति होती नहीं दिखायी देती। अतः मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब ध्यान देकर सुनो ।। ३९ ।।

पशुवद् घातनं वा मे दहनं वा कटाग्निना ।
क्रियतां मूर्ध्नि वो न्यस्तं मयेदं सकलं पदम् ।। ४० ।।

'तुमलोगोंमें साहस या शक्ति हो, तो पशुकी भाँति मेरी हत्या कर दो अथवा घास-फूसकी आगमें मुझे जला दो। मैंने तो तुमलोगोंके मस्तकपर अपना यह पूरा पैर रख दिया ।। ४० ।।

एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभिरच्युतः ।
यस्य वस्त्वरते बुद्धिर्मरणाय स माधवम् ।। ४१ ।।
कृष्णमाह्वयतामद्य युद्धे चक्रगदाधरम् ।
यादवस्यैव देवस्य देहं विशतु पातितः ।। ४२ ।।

'हमने जिनकी पूजा की है, अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले वे भगवान् गोविन्द तुमलोगोंके सामने मौजूद हैं। तुमलोगोंमेंसे जिसकी बुद्धि मृत्युका आलिंगन करनेके लिये उतावली हो रही हो, वह इन्हीं यदुकुल-तिलक चक्रगदाधर श्रीकृष्णको आज युद्धके लिये ललकारे और इनके हाथों मारा जाकर इन्हीं भगवान्के शरीरमें प्रविष्ट हो जाय' ।। ४१-४२ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीष्मवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें भीष्मवाक्यविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४४ ।।

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा शिशुपालका वध, राजसूययज्ञकी समाप्ति तथा सभी ब्राह्मणों, राजाओं और श्रीकृष्णका स्वदेशगमन

वैशम्पायन उवाच

ततः श्रुत्वैव भीष्मस्य चेदिराडुरुविक्रमः ।
युयुत्सुर्वासुदेवेन वासुदेवमुवाच ह ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मकी यह बात सुनते ही महापराक्रमी चेदिराज शिशुपाल भगवान् वासुदेवके साथ युद्धके लिये उत्सुक हो उनसे इस प्रकार बोला— ।। १ ।।

आह्वये त्वां रणं गच्छ मया सार्धं जनार्दन ।
यावदद्य निहन्मि त्वां सहितं सर्वपाण्डवैः ।। २ ।।

'जनार्दन! मैं तुम्हें बुला रहा हूँ आओ, मेरे साथ युद्ध करो, जिससे आज मैं समस्त पाण्डवोंसहित तुम्हें मार डालूँ ।। २ ।।

सह त्वया हि मे वध्याः सर्वथा कृष्ण पाण्डवाः ।
नृपतीन् समतिक्रम्य यैरराजा त्वमर्चितः ।। ३ ।।

'कृष्ण! तुम्हारे साथ ये पाण्डव भी सर्वथा मेरे वध्य हैं; क्योंकि इन्होंने सब राजाओंकी अवहेलना करके राजा न होनेपर भी तुम्हारी पूजा की ।। ३ ।।

ये त्वां दासमराजानं बाल्यादर्चन्ति दुर्मतिम् ।
अनर्हमर्हवत् कृष्ण वध्यास्त इति मे मतिः ।। ४ ।।

'तुम कंसके दास थे तथा राजा भी नहीं हो, इसीलिये राजोचित पूजाके अनधिकारी हो। तो भी कृष्ण! जो लोग मूर्खतावश तुम-जैसे दुर्बुद्धिकी पूजनीय पुरुषकी भाँति पूजा करते हैं, वे अवश्य ही मेरे वध्य हैं, मैं तो ऐसा ही मानता हूँ' ।। ४ ।।

इत्युक्त्वा राजशार्दूलस्तस्थौ गर्जन्नमर्षणः ।

ऐसा कहकर क्रोधमें भरा हुआ राजसिंह शिशुपाल दहाड़ता हुआ युद्धके लिये डट गया ।। ४½ ।।

एवमुक्तस्ततः कृष्णो मृदुपूर्वमिदं वचः ।
उवाच पार्थिवान् सर्वान् स समक्षं च वीर्यवान् ।। ५ ।।

शिशुपालके ऐसा कहनेपर अनन्तपराक्रमी भगवान् श्रीकृष्णने उसके सामने समस्त राजाओंसे मधुर वाणीमें कहा— ।। ५ ।।

एष नः शत्रुरत्यन्तं पार्थिवाः सात्वतीसुतः ।

सात्वतानां नृशंसात्मा न हितोऽनपकारिणाम् ।। ६ ।।

'भूमिपालो! यह है तो यदुकुलकी कन्याका पुत्र, परंतु हमलोगोंसे अत्यन्त शत्रुता रखता है। यद्यपि यादवोंने इसका कभी कोई अपराध नहीं किया है, तो भी यह क्रूरात्मा उनके अहितमें ही लगा रहता है ।। ६ ।।

प्राग्ज्योतिषपुरं यातानस्मान् ज्ञात्वा नृशंसकृत् ।

अदहद् द्वारकामेष स्वस्रीयः सन् नराधिपाः ।। ७ ।।

'नरेश्वरो! हम प्राग्ज्योतिषपुरमें गये थे, यह बात जब इसे मालूम हुई, तब इस क्रूरकर्माने मेरे पिताजीका भानजा होकर भी द्वारकामें आग लगवा दी ।। ७ ।।

क्रीडतो भोजराजस्य एष रैवतके गिरौ ।

हत्वा बद्ध्वा च तान् सर्वानुपायात् स्वपुरं पुरा ।। ८ ।।

'एक बार भोजराज (उग्रसेन) रैवतक पर्वतपर क्रीड़ा कर रहे थे। उस समय यह वहीं जा पहुँचा और उनके सेवकोंको मारकर तथा शेष व्यक्तियोंको कैद करके उन सबको अपने नगरमें ले गया ।। ८ ।।

अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्टं रक्षिभिर्वृतम् ।

पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमहरत् पापनिश्चयः ।। ९ ।।

'मेरे पिताजी अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ले चुके थे। उसमें रक्षकोंसे घिरा हुआ पवित्र अश्व छोड़ा गया था। इस पापपूर्ण विचारवाले दुष्टात्माने पिताजीके यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये उस अश्वको भी चुरा लिया था ।। ९ ।।

सौवीरान् प्रति यातां च बभ्रोरेष तपस्विनः ।

भार्यामभ्यहरन्मोहादकामां तामितो गताम् ।। १० ।।

'इतना ही नहीं, इसने तपस्वी बभ्रुकी पत्नीका, जो यहाँसे द्वारका जाते समय सौवीरदेश पहुँची थी और इसके प्रति जिसके मनमें तनिक भी अनुराग नहीं था, मोहवश अपहरण कर लिया ।। १० ।।

एष मायाप्रतिच्छन्नः करूषार्थे तपस्विनीम् ।

जहार भद्रां वैशालीं मातुलस्य नृशंसकृत् ।। ११ ।।

'इस क्रूरकर्माने मायासे अपने असली रूपको छिपाकर करूषराजकी प्राप्तिके लिये तपस्या करनेवाली अपने मामा विशालानरेशकी कन्या भद्राका (करूषराजके ही वेषमें उपस्थित हो उसे धोखा देकर) अपहरण कर लिया ।। ११ ।।

पितृष्वसुः कृते दुःखं सुमहन्मर्षयाम्यहम् ।

दिष्ट्या हीदं सर्वराज्ञां संनिधावद्य वर्तते ।। १२ ।।

'मैं अपनी बुआके संतोषके लिये ही इसके बड़े दुःखद अपराधोंको सहन कर रहा हूँ; सौभाग्यकी बात है कि आज यह समस्त राजाओंके समीप मौजूद है ।। १२ ।।

पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम् ।

कृतानि तु परोक्षं मे यानि तानि निबोधत ।। १३ ।।

'आप सब लोग देख ही रहे हैं कि इस समय यह मेरे प्रति कैसा अभद्र बर्ताव कर रहा है। इसने परोक्षमें मेरे प्रति जो अपराध किये हैं, उन्हें भी आप अच्छी तरह जान लें ।। १३ ।।

इमं त्वस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम् ।
अवलेपाद् वधार्हस्य समग्रे राजमण्डले ।। १४ ।।

'परंतु आज इसने अहंकारवश समस्त राजाओंके सामने मेरे साथ जो दुर्व्यवहार किया है, उसे मैं कभी क्षमा न कर सकूँगा ।। १४ ।।

रुक्मिण्यामस्य मूढस्य प्रार्थनाऽऽसीन्मुमूर्षतः ।
न च तां प्राप्तवान् मूढः शूद्रो वेदश्रुतीमिव ।। १५ ।।

'अब यह मरना ही चाहता है। इस मूर्खने पहले रुक्मिणीके लिये उसके बन्धु-बान्धवोंसे याचना की थी, परंतु जैसे शूद्र वेदकी ऋचाओंको श्रवण नहीं कर सकता, उसी प्रकार इस अज्ञानीको वह प्राप्त न हो सकी' ।। १५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमादि ततः सर्वे सहितास्ते नराधिपाः ।
वासुदेववचः श्रुत्वा चेदिराजं व्यगर्हयन् ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णकी ये सब बातें सुनकर उन समस्त राजाओंने एक स्वरसे चेदिराज शिशुपालको धिक्कारा और उसकी निन्दा की ।। १६ ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शिशुपालः प्रतापवान् ।
जहास स्वनवद्धासं वाक्यं चेदमुवाच ह ।। १७ ।।

श्रीकृष्णका उपर्युक्त वचन सुनकर प्रतापी शिशुपाल खिलखिलाकर हँसने लगा और इस प्रकार बोला— ।। १७ ।।

मत्पूर्वां रुक्मिणीं कृष्ण संसत्सु परिकीर्तयन् ।
विशेषतः पार्थिवेषु व्रीडां न कुरुषे कथम् ।। १८ ।।

'कृष्ण! तुम इस भरी सभामें, विशेषतः सभी राजाओंके सामने रुक्मिणीको मेरी पहलेकी मनोनीत पत्नी बताते हुए लज्जाका अनुभव कैसे नहीं करते? ।। १८ ।।

मन्यमानो हि कः सत्सु पुरुषः परिकीर्तयेत् ।
अन्यपूर्वां स्त्रियं जातु त्वदन्यो मधुसूदन ।। १९ ।।

'मधुसूदन! तुम्हारे सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपनी स्त्रीको पहले दूसरेकी वाग्दत्ता पत्नी स्वीकार करते हुए सत्पुरुषोंकी सभामें इसका वर्णन करेगा? ।। १९ ।।

क्षम वा यदि ते श्रद्धा मा वा कृष्ण मम क्षम ।

क्रुद्धाद् वापि प्रसन्नाद् वा किं मे त्वत्तो भविष्यति ।। २० ।।

‘कृष्ण! यदि अपनी बुआकी बातोंपर तुम्हें श्रद्धा हो तो मेरे अपराध क्षमा करो या न भी करो, तुम्हारे कुपित होने या प्रसन्न होनेसे मेरा क्या बनने-बिगड़ने-वाला है?’ ।। २० ।।

तथा ब्रुवत एवास्य भगवान् मधुसूदनः ।
मनसाचिन्तयच्चक्रं दैत्यवर्गनिषूदनम् ।। २१ ।।

शिशुपाल इस तरहकी बातें कर ही रहा था कि भगवान् मधुसूदनने मन-ही-मन दैत्यवर्गविनाशक सुदर्शन चक्रका स्मरण किया ।। २१ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु चक्रे हस्तगते सति ।
उवाच भगवानुच्चैर्वाक्यं वाक्यविशारदः ।। २२ ।।

चिन्तन करते ही तत्काल चक्र हाथमें आ गया। तब बोलनेमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णने उच्च स्वरसे यह वचन कहा— ।। २२ ।।

शृण्वन्तु मे महीपाला येनैतत् क्षमितं मया ।
अपराधशतं क्षाम्यं मातुरस्यैव याचने ।। २३ ।।
दत्तं मया याचितं च तानि पूर्णानि पार्थिवाः ।
अधुना वधयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षिताम् ।। २४ ।।

‘यहाँ बैठे हुए सब महीपाल यह सुन लें कि मैंने क्यों अबतक इसके अपराध क्षमा किये हैं? इसीकी माताके याचना करनेपर मैंने उसे यह प्रार्थित वर दिया था कि शिशुपालके सौ अपराध क्षमा कर दूँगा। राजाओ! वे सब अपराध अब पूरे हो गये हैं; अतः आप सभी भूमिपतियोंके देखते-देखते मैं अभी इसका वध किये देता हूँ’ ।। २३-२४ ।।

एवमुक्त्वा यदुश्रेष्ठश्चेदिराजस्य तत्क्षणात् ।
व्यपाहरच्छिरः क्रुद्धश्चक्रेणामित्रकर्षणः ।। २५ ।।

ऐसा कहकर कुपित हुए शत्रुहन्ता यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्णने चक्रसे उसी क्षण चेदिराज शिशुपालका सिर उड़ा दिया ।। २५ ।।

स पपात महाबाहुर्वज्राहत इवाचलः ।
ततश्चेदिपतेर्देहात् तेजोऽग्रयं ददृशुर्नृपाः ।। २६ ।।
उत्पतन्तं महाराज गगनादिव भास्करम् ।
ततः कमलपत्राक्षं कृष्णं लोकनमस्कृतम् ।
ववन्दे तत् तदा तेजो विवेश च नराधिप ।। २७ ।।

महाबाहु शिशुपाल वज्रके मारे हुए पर्वत-शिखरकी भाँति धराशायी हो गया। महाराज! तदनन्तर सभी नरेशोंने देखा; चेदिराजके शरीरसे एक उत्कृष्ट तेज निकलकर ऊपर उठ रहा है; मानो आकाशसे सूर्य उदित हुआ हो। नरेश्वर! उस तेजने विश्ववन्दित कमलदललोचन श्रीकृष्णको नमस्कार किया और उसी समय उनके भीतर प्रविष्ट हो गया ।। २६-२७ ।।

तदद्भुतममन्यन्त दृष्ट्वा सर्वे महीक्षितः ।
यद् विवेश महाबाहुं तत् तेजः पुरुषोत्तमम् ।। २८ ।।

यह देखकर सभी राजाओंको बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसका तेज महाबाहु पुरुषोत्तममें प्रविष्ट हो गया ।। २८ ।।

अनभ्रे प्रववर्ष द्यौः पपात ज्वलिताशनिः ।
कृष्णेन निहते चैद्ये चचाल च वसुंधरा ।। २९ ।।

श्रीकृष्णके द्वारा शिशुपालके मारे जानेपर सारी पृथ्वी हिलने लगी, बिना बादलोंके ही आकाशसे वर्षा होने लगी और प्रज्वलित बिजली टूट-टूटकर गिरने लगी ।। २९ ।।

ततः केचिन्महीपाला नाब्रुवंस्तत्र किंचन ।
अतीतवाक्पथे काले प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ।। ३० ।।

वह समय वाणीकी पहुँचके परे था। उसका वर्णन करना कठिन था। उस समय कोई भूपाल वहाँ इस विषयमें कुछ भी न बोल सके—मौन रह गये। वे बार-बार केवल श्रीकृष्णके मुखकी ओर देखते रहे ।। ३० ।।

हस्तैर्हस्ताग्रमपरे प्रत्यपिंषन्नमर्षिताः ।
अपरे दशनैरोष्ठानदशन् क्रोधमूर्च्छिताः ।। ३१ ।।

कुछ अन्य नरेश अत्यन्त अमर्षमें भरकर हाथोंसे हाथ मसलने लगे तथा दूसरे लोग क्रोधसे मूर्च्छित होकर दाँतोंसे ओठ चबाने लगे ।। ३१ ।।

रहश्च केचिद् वार्ष्णेयं प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
केचिदेव सुसंरब्धा मध्यस्थास्त्वपरेऽभवन् ।। ३२ ।।

कुछ राजा एकान्तमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रशंसा करने लगे। कुछ ही भूपाल अत्यन्त क्रोधके वशीभूत हो रहे थे तथा कुछ लोग तटस्थ थे ।। ३२ ।।

शिशुपालके वधके लिये भगवान्‌का हाथमें चक्र ग्रहण करना

दुर्योधनका स्थलके भ्रमसे जलमें गिरना

प्रहृष्टाः केशवं जग्मुः संस्तुवन्तो महर्षयः ।

ब्राह्मणाश्च महात्मानः पार्थिवाश्च महाबलाः ।। ३३ ।।

शशंसुर्निर्वृताः सर्वे दृष्ट्वा कृष्णस्य विक्रमम् ।

बड़े-बड़े ऋषि, महात्मा ब्राह्मणों तथा महाबली भूमिपालोंने भगवान् श्रीकृष्णका वह पराक्रम देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो उनकी स्तुति करते हुए उन्हींकी शरण ली ।। ३३½ ।।

पाण्डवस्त्वब्रवीद् भ्रातॄन् सत्कारेण महीपतिम् ।। ३४ ।।

दमघोषात्मजं वीरं संस्कारयत मा चिरम् ।

तथा च कृतवन्तस्ते भ्रातुर्वै शासनं तदा ।। ३५ ।।

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे कहा—'दमघोष-पुत्र वीर राजा शिशुपालका अन्त्येष्टि संस्कार बड़े सत्कारके साथ करो, इसमें देर न लगाओ।' पाण्डवोंने भाईकी उस आज्ञाका यथार्थरूपसे पालन किया ।। ३४-३५ ।।

चेदीनामाधिपत्ये च पुत्रमस्य महीपतेः ।

अभ्यषिञ्चत् तदा पार्थः सह तैर्वसुधाधिपैः ।। ३६ ।।

उस समय कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने वहाँ आये हुए सभी भूमिपालोंके साथ चेदिदेशके राजसिंहासनपर शिशुपालके पुत्रको अभिषिक्त कर दिया ।। ३६ ।।

ततः स कुरुराजस्य क्रतुः सर्वसमृद्धिमान् ।

यूनां प्रीतिकरो राजन् स बभौ विपुलौजसः ।। ३७ ।।

तदनन्तर महातेजस्वी कुरुराज युधिष्ठिरका वह सम्पूर्ण समृद्धियोंसे भरा-पूरा राजसूययज्ञ तरुण राजाओंकी प्रसन्नताको बढ़ाता हुआ अनुपम शोभा पाने लगा ।। ३७ ।।

शान्तविघ्नः सुखारम्भः प्रभूतधनधान्यवान् ।

अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च केशवेन सुरक्षितः ।। ३८ ।।

उस यज्ञका विघ्न शान्त हो गया था; अतः उसका सुखपूर्वक आरम्भ हुआ। उसमें अपरिमित धन-धान्यका संग्रह एवं सदुपयोग किया गया था। भगवान् श्रीकृष्णसे सुरक्षित होनेके कारण उस यज्ञमें कभी अन्नकी कमी नहीं होने पायी। उसमें सदा पर्याप्तमात्रामें भक्ष्य-भोज्य आदिकी सामग्री प्रस्तुत रहती थी ।। ३८ ।।

(ददृशुस्तं नृपतयो यज्ञस्य विधिमुत्तमम् ।

उपेन्द्रबुद्ध्या विहितं सहदेवेन भारत ।।

भरतनन्दन! राजाओंने सहदेवके द्वारा विष्णु-बुद्धिसे भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले उस यज्ञका उत्तम विधि-विधान देखा।

ददृशुस्तोरणान्यत्र हेमतालमयानि च ।

दीप्तभास्करतुल्यानि प्रदीप्तानीव तेजसा ।

स यज्ञस्तोरणैस्तैश्च ग्रहैर्द्यौरिव सम्बभौ ।।

उस यज्ञमण्डपमें सुवर्णमय तालके बने हुए फाटक दिखायी देते थे, जो अपनी प्रभासे तेजस्वी सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहे थे। उन तेजस्वी द्वारोंसे वह विशाल यज्ञमण्डप ग्रहोंसे आकाशकी भाँति प्रकाशित हो रहा था।

शय्यासनविहारांश्च सुबहून् वित्तसम्भृतान् ।
घटान् पात्रीः कटाहानि कलशानि समन्ततः ।
न ते किञ्चिदसौवर्णमपश्यंस्तत्र पार्थिवाः ।।

वहाँ शय्या, आसन और क्रीडाभवनोंकी संख्या बहुत थी। उनके निर्माणमें प्रचुर धन लगा था। चारों ओर घड़े, भाँति भाँतिके पात्र, कड़ाहे और कलश आदि सुवर्णनिर्मित सामान दृष्टिगोचर हो रहे थे। वहाँ राजाओंने कोई ऐसी वस्तु नहीं देखी, जो सोनेकी बनी हुई न हो।

ओदनानां विकाराणि स्वादूनि विविधानि च ।
सुबहूनि च भक्ष्याणि पेयानि मधुराणि च ।
ददुर्द्विजानां सततं राजप्रेष्या महाध्वरे ।।

उस महान् यज्ञमें राजसेवकगण ब्राह्मणोंके आगे सदा नाना प्रकारके स्वादिष्ट भात तथा चावलकी बनी हुई बहुत-सी दूसरी भोज्य वस्तुएँ परोसते रहते थे। वे उनके लिये मधुर पेय पदार्थ भी अर्पण करते थे।

पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां भुञ्जतां तदा ।
स्थापिता तत्र संज्ञाभूच्छङ्खोऽध्मायत नित्यशः ।।

भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंकी संख्या जब एक लाख पूरी हो जाती थी, तब वहाँ प्रतिदिन शंख बजाया जाता था।

मुहुर्मुहुः प्रणादस्तु तस्य शङ्खस्य भारत ।
उत्तमं शङ्खशब्दं तं श्रुत्वा विस्मयमागताः ।।

जनमेजय! दिनमें कई बार इस तरहकी शंख-ध्वनि होती थी। वह उत्तम शंखनाद सुनकर लोगोंको बड़ा विस्मय होता था।

एवं प्रवृत्ते यज्ञे तु तुष्टपुष्टजनायुते ।
अन्नस्य बहवो राजन्नुत्सेधाः पर्वतोपमाः ।
दधिकुल्याश्च ददृशुः सर्पिषां च ह्रदाञ्जनाः ।।

इस प्रकार सहस्रों हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए उस यज्ञका कार्य चलने लगा। राजन्! उसमें अन्नके बहुत-से ऊँचे ढेर लगाये गये थे, जो पर्वतोंके समान जान पड़ते थे। लोगोंने देखा, वहाँ दहीकी नहरें बह रही थीं तथा घीके कितने ही कुण्ड भरे हुए थे।

जम्बूद्वीपो हि सकलो नानाजनपदायुतः ।
राजन्नदृश्यतैकस्थो राज्ञस्तस्मिन् महाक्रतौ ।।

राजन्! महाराज युधिष्ठिरके उस महान् यज्ञमें नाना जनपदोंसे युक्त सारा जम्बूद्वीप ही एकत्र हुआ-सा दिखायी देता था।

राजानः स्रग्विणस्तत्र सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।
विविधान्यन्नपानानि लेह्यानि विविधानि च ।
तेषां नृपोपभोग्यानि ब्राह्मणेभ्यो ददुः स्म ते ।।

वहाँ विशुद्ध मणिमय कुण्डल तथा हार धारण किये नरेश ब्राह्मणोंको राजाओंके उपभोगमें आनेयोग्य नाना प्रकारके अन्न-पान और भाँति-भाँतिकी चटनी परोसते थे।

एतानि सततं भुक्त्वा तस्मिन् यज्ञे द्विजातयः ।
परां प्रीतिं ययुः सर्वे मोदमानास्तदा भृशम् ।।

उस यज्ञमें निरन्तर उपर्युक्त पदार्थ भोजन करके सब ब्राह्मण आनन्दमग्न हो बड़ी तृप्ति और प्रसन्नताका अनुभव करते थे।

एवं समुदितं सर्वं बहुगोधनधान्यवत् ।
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा विस्मयं परमं ययुः ।।

इस प्रकार बहुत-सी गायों तथा धन-धान्यसे सम्पन्न उस समृद्धिशाली यज्ञमण्डपको देखकर सब राजाओंको बड़ा आश्चर्य होता था।

ऋत्विजश्च यथाशास्त्रं राजसूयं महाक्रतुम् ।
पाण्डवस्य यथाकालं जुहुवुः सर्वयाजकाः ।।

ऋत्विज्लोग शास्त्रीय विधिके अनुसार राजा युधिष्ठिरके उस राजसूय नामक महायज्ञका अनुष्ठान करते थे और समस्त याजक ठीक समयपर अग्निमें आहुतियाँ देते थे।

व्यासधौम्यादयः सर्वे विधिवत् षोडशर्त्विजः ।
स्वस्वकर्माणि चक्रुस्ते पाण्डवस्य महाक्रतौ ।।

व्यास और धौम्य आदि जो सोलह ऋत्विज् थे, वे युधिष्ठिरके उस महायज्ञमें विधिपूर्वक अपने-अपने निश्चित कार्योंका सम्पादन करते थे।

नाषडङ्गविदत्रासीत् सदस्यो नाबहुश्रुतः ।
नाव्रतो नानुपाध्यायो नपापो नाक्षमो द्विजः ।।

उस यज्ञमण्डपमें कोई भी सदस्य ऐसा नहीं था, जो वेदके छहों अंगोंका ज्ञाता, बहुश्रुत, व्रतशील, अध्यापक, पापरहित, क्षमाशील एवं सामर्थ्यशील न हो।

न तत्र कृपणः कश्चिद् दरिद्रो न बभूव ह ।
क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानुषः ।।

उस यज्ञमें कोई भी मनुष्य दीन, दरिद्र, दुःखी, भूखा-प्यासा अथवा मूढ़ नहीं था।

भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास सर्वदा ।
सहदेवो महातेजाः सततं राजशासनात् ।।

महातेजस्वी सहदेव महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे भोजनार्थियोंको सदा भोजन दिलाया करते थे।

सस्तरे कुशलाश्चापि सर्वकर्माणि याजकाः ।
दिवसे दिवसे चक्रुर्यथाशास्त्रार्थचक्षुषः ।।

शास्त्रोक्त अर्थपर दृष्टि रखनेवाले यज्ञकुशल याजक प्रतिदिन सब कार्योंको विधिवत् सम्पन्न करते थे।

ब्राह्मणा वेदशास्त्रज्ञाः कथाश्चक्रुश्च सर्वदा ।
रेमिरे च कथान्ते तु सर्वे तस्मिन् महाक्रतौ ।।

वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मण वहाँ सदा कथा-प्रवचन किया करते थे। उस महायज्ञमें सब लोग कथाके अन्तमें बड़े सुखका अनुभव करते थे।

देवैरन्यैश्च यक्षैश्च उरगैर्दिव्यमानुषैः ।
विद्याधरगणैः कीर्णः पाण्डवस्य महात्मनः ।।
स राजसूयः शुशुभे धर्मराजस्य धीमतः ।

देवता, असुर, यक्ष, नाग, दिव्य मानव तथा विद्याधरगणोंसे भरा हुआ बुद्धिमान् पाण्डुनन्दन महात्मा धर्मराजका वह राजसूययज्ञ बड़ी शोभा पाता था।

गन्धर्वगणसंकीर्णः शोभितोऽप्सरसां गणैः ।।
देवैर्मुनिगणैर्यक्षैर्देवलोक इवापरः ।
स किम्पुरुषगीतैश्च किन्नरैरुपशोभितः ।।

वह यज्ञमण्डप गन्धर्वों, अप्सरा-समूहों, देवताओं, मुनिगणों तथा यक्षोंसे सुशोभित हो दूसरे देवलोकके समान जान पड़ता था। किम्पुरुषोंके गीत तथा किन्नरगण उस स्थानकी शोभा बढ़ा रहे थे।

नारदश्च जगौ तत्र तुम्बुरुश्च महाद्युतिः ।
विश्वावसुश्चित्रसेनस्तथान्ये गीतकोविदाः ।
रमयन्ति स्म तान् सर्वान् यज्ञकर्मान्तरेष्वथ ।।

नारद, महातेजस्वी तुम्बुरु, विश्वावसु, चित्रसेन तथा दूसरे गीतकुशल गन्धर्व वहाँ गीत गाकर यज्ञकार्योंके बीच-बीचमें अवकाश मिलनेपर सब लोगोंका मनोरंजन करते थे।

इतिहासपुराणानि आख्यानानि च सर्वशः ।
ऊचुर्वै शब्दशास्त्रज्ञा नित्यं कर्मान्तरेष्वथ ।।

यज्ञसम्बन्धी कर्मोंके बीचमें अवसर मिलनेपर व्याकरणशास्त्रके ज्ञाता विद्वान् पुरुष इतिहास, पुराण तथा सब प्रकारके उपाख्यान सुनाया करते थे।

भेर्यश्च मुरजाश्चैव मड्डुका गोमुखाश्च ये ।
शृङ्गवंशाम्बुजाश्चैव श्रूयन्ते स्म सहस्रशः ।।

वहाँ सहस्रों भेरी, मृदंग, मड्डुक, गोमुख, शृंग, वंशी और शंखोंके शब्द सुनायी पड़ते थे।

लोकेऽस्मिन् सर्वविप्राश्च वैश्याः शूद्राश्च सर्वशः ।
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णाः सादिमध्यान्तजास्तथा ।।
नानादेशसमुद्भूतैर्नानाजातिभिरागतैः ।
पर्याप्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने ।।

इस जगत्‌में रहनेवाले समस्त ब्राह्मण, (क्षत्रिय,) वैश्य, शूद्र, सब प्रकारके म्लेच्छ तथा अग्रज, मध्यज और अन्त्यज आदि सभी वर्णोंके लोग उस यज्ञमें उपस्थित हुए थे। अनेक देशोंमें उत्पन्न विभिन्न जातिके लोगोंके शुभागमनसे युधिष्ठिरके उस राजभवनमें ऐसा जान पड़ता था कि यह समस्त लोक वहाँ उपस्थित हो गया है।

भीष्मद्रोणादयः सर्वे कुरवः ससुयोधनाः ।
वृष्णयश्च समग्राश्च पञ्चालाश्चापि सर्वशः ।
यथार्हं सर्वकर्माणि चक्रुर्दासा इव क्रतौ ।।

उस राजसूययज्ञमें भीष्म, द्रोण और दुर्योधन आदि समस्त कौरव, सारे वृष्णिवंशी तथा सम्पूर्ण पांचाल भी सेवकोंकी भाँति यथायोग्य सभी कार्य अपने हाथों करते थे।

एवं प्रवृत्तो यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः ।
शुशुभे च महाबाहो सोमस्येव क्रतुर्यथा ।।

महाबाहु जनमेजय! इस प्रकार बुद्धिमान् युधिष्ठिरका वह यज्ञ चन्द्रमाके राजसूययज्ञकी भाँति शोभा पाता था।

वस्त्राणि कम्बलांश्चैव प्रावारांश्चैव सर्वदा ।
निष्कहेमजभाण्डानि भूषणानि च सर्वशः ।
प्रददौ तत्र सततं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।।

धर्मराज युधिष्ठिर उस यज्ञमें हर समय वस्त्र, कम्बल, चादर, स्वर्णपदक, सोनेके बर्तन और सब प्रकारके आभूषणोंका दान करते रहते थे।

यानि तत्र महीपेभ्यो लब्धं वा धनमुत्तमम् ।
तानि रत्नानि सर्वाणि विप्राणां प्रददौ तदा ।।

वहाँ राजाओंसे जो-जो रत्न अथवा उत्तम धन भेंटके रूपमें प्राप्त हुए, उन सबको युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंकी सेवामें समर्पित कर दिया।

कोटीसहस्रं प्रददौ ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।

उन्होंने महात्मा ब्राह्मणोंको दक्षिणाके रूपमें सहस्र कोटि स्वर्णमुद्राएँ प्रदान कीं।

न करिष्यति तं लोके कश्चिदन्यो महीपतिः ।।
याजकाः सर्वकामैश्च सततं ततृपुर्धनैः ।

उन्होंने संसारमें वह कार्य किया जिसे दूसरा कोई राजा नहीं कर सकेगा। यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण सम्पूर्ण मनोवांछित वस्तुएँ और प्रचुर धन पाकर सदाके लिये तृप्त हो गये।

व्यासं धौम्यं च प्रयतो नारदं च महामतिम् ।।
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं वैशम्पायनमेव च ।
याज्ञवल्क्यं कठं चैव कलापं च महौजसम् ।
सर्वांश्च विप्रप्रवरान् पूजयामास सत्कृतान् ।।

फिर राजा युधिष्ठिरने व्यास, धौम्य, महामति नारद, सुमन्तु, जैमिनि, पैल, वैशम्पायन, याज्ञवल्क्य, कठ तथा महातेजस्वी कलाप—इन सब श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका पूर्ण मनोयोगके साथ सत्कार एवं पूजन किया।

युधिष्ठिर उवाच

युष्मत्प्रभावात् प्राप्तोऽयं राजसूयो महाक्रतुः ।
जनार्दनप्रभावाच्च सम्पूर्णो मे मनोरथः ।।

युधिष्ठिर उनसे बोले—महर्षियो! आपलोगोंके प्रभावसे यह राजसूय महायज्ञ सांगोपांग सम्पन्न हुआ। भगवान् श्रीकृष्णके प्रतापसे मेरा सारा मनोरथ पूर्ण हो गया।

वैशम्पायन उवाच

अथ यज्ञं समाप्यान्ते पूजयामास माधवम् ।
बलदेवं च देवेशं भीष्माद्यांश्च कुरूत्तमान् ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार यज्ञसमाप्तिके समय राजा युधिष्ठिरने अन्तमें लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण, देवेश्वर बलदेव तथा कुरुश्रेष्ठ भीष्म आदिका पूजन किया।

समापयामास च तं राजसूयं महाक्रतुम् ।
तं तु यज्ञं महाबाहुरासमाप्तेर्जनार्दनः ।
ररक्ष भगवाञ्छौरिः शार्ङ्गचक्रगदाधरः ।। ३९ ।।

तदनन्तर उस राजसूय महायज्ञको विधिपूर्वक समाप्त किया। शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने आरम्भसे लेकर अन्ततक उस यज्ञकी रक्षा की ।। ३९ ।।

ततस्त्ववभृथस्नातं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
समस्तं पार्थिवं क्षत्रमुपगम्येदमब्रवीत् ।। ४० ।।

तदनन्तर धर्मात्मा युधिष्ठिर जब अवभृथस्नान कर चुके, उस समय समस्त क्षत्रियराजाओंका समुदाय उनके पास जाकर बोला— ।। ४० ।।

दिष्ट्या वर्धसि धर्मज्ञ साम्राज्यं प्राप्तवानसि ।

आजमीढाजमीढानां यशः संवर्धितं त्वया ।। ४१ ।।
कर्मणैतेन राजेन्द्र धर्मश्च सुमहान् कृतः ।
आपृच्छामो नरव्याघ्र सर्वकामैः सुपूजिताः ।। ४२ ।।

'धर्मज्ञ! आपका अभ्युदय हो रहा है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। आपने सम्राट्का पद प्राप्त कर लिया। अजमीढकुलनन्दन राजाधिराज! आपने इस कर्मद्वारा अजमीढवंशी क्षत्रियोंके यशका विस्तार तो किया ही है, महान् धर्मका भी सम्पादन किया है। नरव्याघ्र! आपने हमारे लिये सब प्रकारके अभीष्ट पदार्थ सुलभ करके हमारा बड़ा सम्मान किया है। अब हम आपसे जानेकी अनुमति लेना चाहते हैं ।। ४१-४२ ।।

स्वराष्ट्राणि गमिष्यामस्तदनुज्ञातुमर्हसि ।
श्रुत्वा तु वचनं राज्ञां धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। ४३ ।।
यथार्हं पूज्य नृपतीन् भ्रातॄन् सर्वानुवाच ह ।
राजानः सर्व एवैते प्रीत्यास्मान् समुपागताः ।। ४४ ।।
प्रस्थिताः स्वानि राष्ट्राणि मामापृच्छ्य परंतपाः ।
अनुव्रजत भद्रं वो विषयान्तं नृपोत्तमान् ।। ४५ ।।

'हम अपने-अपने राष्ट्रको जायँगे, आप हमें आज्ञा दें।' राजाओंका यह वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उन पूजनीय नरेशोंका यथायोग्य सत्कार करके सब भाइयोंसे कहा—'ये सभी राजा प्रेमसे ही हमारे यहाँ पधारे थे। ये परंतप भूपाल अब मुझसे पूछकर अपने राष्ट्रको जानेके लिये उद्यत हैं। तुमलोगोंका भला हो। तुमलोग अपने राज्यकी सीमातक आदरपूर्वक इन श्रेष्ठ नरपतियोंको पहुँचा आओ' ।। ४३—४५ ।।

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय पाण्डवा धर्मचारिणः ।
यथार्हं नृपतीन् सर्वानेकैकं समनुव्रजन् ।। ४६ ।।

भाईकी बात मानकर वे धर्मात्मा पाण्डव एक-एक करके यथायोग्य सभी राजाओंके साथ गये ।। ४६ ।।

विराटमन्वयात् तूर्णं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
धनंजयो यज्ञसेनं महात्मानं महारथम् ।। ४७ ।।

प्रतापी धृष्टद्युम्न तुरंत ही राजा विराटके साथ गया। धनंजयने महारथी महात्मा द्रुपदका अनुसरण किया ।। ४७ ।।

भीष्मं च धृतराष्ट्रं च भीमसेनो महाबलः ।
द्रोणं च ससुतं वीरं सहदेवो युधाम्पतिः ।। ४८ ।।

महाबली भीमसेन भीष्म और धृतराष्ट्रके साथ गये। योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेवने द्रोणाचार्य तथा उनके वीर पुत्र अश्वत्थामाको पहुँचाया ।। ४८ ।।

नकुलः सुबलं राजन् सहपुत्रं समन्वयात् ।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पर्वतीयान् महारथान् ।। ४९ ।।

राजन्! सुबल और उनके पुत्रके साथ नकुल गये। द्रौपदीके पाँच पुत्रों तथा अभिमन्युने पर्वतीय महारथियोंको अपने राज्यकी सीमातक पहुँचाया ।। ४९ ।।

अन्वगच्छंस्तथैवान्यान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभाः ।
एवं सुपूजिताः सर्वे जग्मुर्विप्राः सहस्रशः ।। ५० ।।
गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु सर्वेषु ब्राह्मणेषु च ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वासुदेवः प्रतापवान् ।। ५१ ।।

इसी प्रकार अन्य क्षत्रियशिरोमणियोंने दूसरे-दूसरे क्षत्रिय राजाओंका अनुगमन किया। इसी तरह सभी ब्राह्मण भी अत्यन्त पूजित हो सहस्रोंकी संख्यामें वहाँसे विदा हुए। राजाओं तथा ब्राह्मणोंके चले जानेपर प्रतापी भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कहा— ।। ५०-५१ ।।

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि द्वारकां कुरुनन्दन ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं दिष्ट्या त्वं प्राप्तवानसि ।। ५२ ।।

'कुरुनन्दन! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ, अब मैं द्वारकापुरीको जाऊँगा। सौभाग्यसे आपने सब यज्ञोंमें उत्तम राजसूयका सम्पादन कर लिया' ।। ५२ ।।

तमुवाचैवमुक्तस्तु धर्मराजो जनार्दनम् ।
तव प्रसादाद् गोविन्द प्राप्तः क्रतुवरो मया ।। ५३ ।।

उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिर जनार्दनसे बोले—'गोविन्द! आपकी ही कृपासे मैंने यह श्रेष्ठ यज्ञ सम्पन्न किया है ।। ५३ ।।

क्षत्रं समग्रमपि च त्वत्प्रसादाद् वशे स्थितम् ।
उपादाय बलिं मुख्यं मामेव समुपस्थितम् ।। ५४ ।।

'तथा सारा क्षत्रियमण्डल भी आपके ही प्रसादसे मेरे अधीन हुआ और उत्तमोत्तम रत्नोंकी भेंट ले मेरे पास आया ।। ५४ ।।

कथं त्वद्गमनार्थं मे वाणी वितरतेऽनघ ।
न ह्यहं त्वामृते वीर रतिं प्राप्नोमि कर्हिचित् ।। ५५ ।।

'अनघ! आपको जानेके लिये मेरी वाणी कैसे कह सकती है? वीर! मैं आपके बिना कभी प्रसन्न नहीं रह सकूँगा ।। ५५ ।।

अवश्यं चैव गन्तव्या भवता द्वारकापुरी ।
एवमुक्तः स धर्मात्मा युधिष्ठिरसहायवान् ।। ५६ ।।
अभिगम्याब्रवीत् प्रीतः पृथां पृथुयशा हरिः ।
साम्राज्यं समनुप्राप्ताः पुत्रास्तेऽद्य पितृष्वसः ।। ५७ ।।
सिद्धार्था वसुमन्तश्च सा त्वं प्रीतिमवाप्नुहि ।
अनुज्ञातस्त्वया चाहं द्वारकां गन्तुमुत्सहे ।। ५८ ।।

'परंतु आपका द्वारकापुरी जाना भी आवश्यक ही है।' उनके ऐसा कहनेपर महायशस्वी धर्मात्मा श्रीहरि युधिष्ठिरको साथ ले बुआ कुन्तीके पास गये और प्रसन्नतापूर्वक

बोले—‘बुआजी! तुम्हारे पुत्रोंने अब साम्राज्य प्राप्त कर लिया, उनका मनोरथ पूर्ण हो गया। वे सब-के-सब धन तथा रत्नोंसे सम्पन्न हैं। अब तुम इनके साथ प्रसन्नतापूर्वक रहो। यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो मैं द्वारका जाना चाहता हूँ’ ।। ५६—५८ ।।

सुभद्रां द्रौपदीं चैव सभाजयत केशवः ।
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्माद् युधिष्ठिरसहायवान् ।। ५९ ।।

कुन्तीकी आज्ञा ले श्रीकृष्ण सुभद्रा और द्रौपदीसे भी मिले और मीठे वचनोंसे उन दोनोंको प्रसन्न किया। तत्पश्चात् वे युधिष्ठिरके साथ अन्तःपुरसे बाहर निकले ।। ५९ ।।

स्नातश्च कृतजप्यश्च ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ।
ततो मेघवपुः प्रख्यं स्यन्दनं च सुकल्पितम् ।
योजयित्वा महाबाहुर्दारुकः समुपस्थितः ।। ६० ।।
उपस्थितं रथं दृष्ट्वा तार्क्ष्यप्रवरकेतनम् ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारुह्य महामनाः ।। ६१ ।।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षस्ततो द्वारवतीं पुरीम् ।। ६२ ।।

फिर स्नान और जप करके उन्होंने ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया। इसके बाद महाबाहु दारुक मेघके समान नीले रंगका सुन्दर रथ जोतकर उनकी सेवामें उपस्थित हुआ। गरुडध्वजसे सुशोभित उस सुन्दर रथको उपस्थित देख महामना कमलनयन श्रीकृष्णने उसकी दक्षिणावर्त प्रदक्षिणा की और उसपर आरूढ़ हो वे द्वारकापुरीकी ओर चल पड़े ।। ६०—६२ ।।

(सात्यकिः कृतवर्मा च रथमारुह्य सत्वरौ ।
वीजयामासतुस्तत्र चामराभ्यां हरिं तथा ।।
बलदेवश्च देवेशो यादवाश्च सहस्रशः ।
प्रययू राजवत् सर्वे धर्मपुत्रेण पूजिताः ।
ततः स सम्मतं राजा हित्वा सौवर्णमासनम् ।।)
तं पद्भ्यामनुवव्राज धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् वासुदेवं महाबलम् ।। ६३ ।।

सात्यकि और कृतवर्मा शीघ्रतापूर्वक उस रथपर आरूढ़ हो श्रीहरिकी सेवाके लिये चँवर डुलाने लगे। देवेश्वर बलदेवजी तथा सहस्रों यदुवंशी धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे पूजित हो राजाकी भाँति वहाँसे विदा हुए। तदनन्तर सोनेके श्रेष्ठ सिंहासनको छोड़कर भाइयोंसहित श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर पैदल ही महाबली भगवान् वासुदेवके पीछे-पीछे चलने लगे ।। ६३ ।।

ततो मुहूर्तं संगृह्य स्यन्दनप्रवरं हरिः ।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।। ६४ ।।

तब कमललोचन भगवान् श्रीहरिने दो घड़ीतक अपने श्रेष्ठ रथको रोककर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे कहा— ।। ६४ ।।

अप्रमत्तः स्थितो नित्यं प्रजाः पाहि विशाम्पते ।
पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ।। ६५ ।।
बान्धवास्त्वोपजीवन्तु सहस्राक्षमिवामराः ।
कृत्वा परस्परेणैवं संविदं कृष्णपाण्डवौ ।। ६६ ।।
अन्योन्यं समनुज्ञाप्य जग्मतुः स्वगृहान् प्रति ।

'राजन्! आप सदा सावधान रहकर प्रजाजनोंके पालनमें लगे रहें। जैसे सब प्राणी मेघको, पक्षी महान् वृक्षको और सम्पूर्ण देवता इन्द्रको अपने जीवनका आधार मानकर उनका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार सभी बन्धु-बान्धव जीवन-निर्वाहके लिये आपका आश्रय लें।' श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर आपसमें इस प्रकार बातें करके एक दूसरेकी आज्ञा ले अपने-अपने स्थानको चल दिये ।। ६५-६६½ ।।

गते द्वारवतीं कृष्णे सात्वतप्रवरे नृप ।। ६७ ।।
एको दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ।
तस्यां सभायां दिव्यायामूषतुस्तौ नरर्षभौ ।। ६८ ।।

राजन्! यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णके द्वारका चले जानेपर भी राजा दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि—ये दोनों नरश्रेष्ठ उस दिव्य सभाभवनमें ही रहे ।। ६७-६८ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवधे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें शिशुपालवधविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४२ श्लोक मिलाकर कुल ११० श्लोक हैं)

(द्यूतपर्व)

षट्‌चत्वारिंशोऽध्यायः

व्यासजीकी भविष्यवाणीसे युधिष्ठिरकी चिन्ता और समत्वपूर्ण बर्ताव करनेकी प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

समाप्ते राजसूये तु क्रतुश्रेष्ठे सुदुर्लभे ।
शिष्यैः परिवृतो व्यासः पुरस्तात् समपद्यत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यज्ञोंमें श्रेष्ठ परम दुर्लभ राजसूययज्ञके समाप्त हो जानेपर शिष्योंसे घिरे हुए भगवान् व्यास राजा युधिष्ठिरके पास आये ।। १ ।।

सोऽभ्ययादासनात् तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः ।
पाद्येनासनदानेन पितामहमपूजयत् ।। २ ।।

उन्हें देखकर भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिर तुरंत आसनसे उठकर खड़े हो गये और आसन एवं पाद्य आदि समर्पण करके उन्होंने पितामह व्यासजीका यथावत् पूजन किया ।। २ ।।

अथोपविश्य भगवान् काञ्चने परमासने ।
आस्यतामिति चोवाच धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।। ३ ।।

तत्पश्चात् सुवर्णमय उत्तम आसनपर बैठकर भगवान् व्यासने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'बैठ जाओ' ।। ३ ।।

अथोपविष्टं राजानं भ्रातृभिः परिवारितम् ।
उवाच भगवान् व्यासस्तत्तद्वाक्यविशारदः ।। ४ ।।

भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरके बैठ जानेपर बातचीतमें कुशल भगवान् व्यासने उनसे कहा— ।। ४ ।।

दिष्ट्या वर्धसि कौन्तेय साम्राज्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
वर्धिताः कुरवः सर्वे त्वया कुरुकुलोद्वह ।। ५ ।।

'कुन्तीनन्दन! बड़े आनन्दकी बात है कि तुम परम दुर्लभ सम्राट्का पद पाकर सदा उन्नतिशील हो रहे हो। कुरुकुलका भार वहन करनेवाले नरेश! तुमने समस्त कुरुवंशियोंको समृद्धिशाली बना दिया ।। ५ ।।

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पूजितोऽस्मि विशाम्पते ।
एवमुक्तः स कृष्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। ६ ।।
अभिवाद्योपसंगृह्य पितामहमथाब्रवीत् ।

‘राजन्! अब मैं जाऊँगा। इसके लिये तुम्हारी अनुमति चाहता हूँ। तुमने मेरा अच्छी तरह सम्मान किया है।’ महात्मा कृष्णद्वैपायन व्यासके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने उन पितामहके दोनों चरणोंको पकड़कर प्रणाम किया और कहा ।। ६½ ।।

युधिष्ठिर उवाच

संशयो द्विपदां श्रेष्ठ ममोत्पन्नः सुदुर्लभः ।। ७ ।।
तस्य नान्योऽस्ति वक्ता वै त्वामृते द्विजपुङ्गव ।

युधिष्ठिर बोले—नरश्रेष्ठ! मेरे मनमें एक भारी संशय उत्पन्न हो गया है। विप्रवर! आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो उसका समाधान कर सके ।। ७½ ।।

उत्पातांस्त्रिविधान् प्राह नारदो भगवानृषिः ।। ८ ।।
दिव्यांश्चैवान्तरिक्षांश्च पार्थिवांश्च पितामह ।
अपि चैद्यस्य पतनाच्छन्नमौत्पातिकं महत् ।। ९ ।।

पितामह! देवर्षि भगवान् नारदने स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथ्वीविषयक तीन प्रकारके उत्पात बताये हैं। क्या शिशुपालके मारे जानेसे वे महान् उत्पात शान्त हो गये? ।।

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः ।
कृष्णद्वैपायनो व्यास इदं वचनमब्रवीत् ।। १० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिरका यह प्रश्न सुनकर पराशरनन्दन कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासने इस प्रकार कहा— ।। १० ।।

त्रयोदश समा राजन्नुत्पातानां फलं महत् ।
सर्वक्षत्रविनाशाय भविष्यति विशाम्पते ।। ११ ।।

‘राजन्! उत्पातोंका महान् फल तेरह वर्षोंतक हुआ करता है। इस समय जो उत्पात प्रकट हुआ था, वह समस्त क्षत्रियोंका विनाश करनेवाला होगा ।। ११ ।।

त्वामेकं कारणं कृत्वा कालेन भरतर्षभ ।
समेतं पार्थिवं क्षत्रं क्षयं यास्यति भारत ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ।। १२ ।।

‘भरतकुलतिलक! एकमात्र तुम्हींको निमित्त बनाकर यथासमय समस्त भूमिपालोंका समुदाय आपसमें लड़कर नष्ट हो जायगा। भारत! क्षत्रियोंका यह विनाश दुर्योधनके अपराधसे तथा भीमसेन और अर्जुनके पराक्रमद्वारा सम्पन्न होगा ।। १२ ।।

स्वप्ने द्रक्ष्यसि राजेन्द्र क्षपान्ते त्वं वृषध्वजम् ।
नीलकण्ठं भवं स्थाणुं कपालिं त्रिपुरान्तकम् ।। १३ ।।
उग्रं रुद्रं पशुपतिं महादेवमुमापतिम् ।
हरं शर्वं वृषं शूलं पिनाकिं कृत्तिवाससम् ।। १४ ।।

'राजेन्द्र! तुम रातके अन्तमें स्वप्नमें उन वृषभध्वज भगवान् शंकरका दर्शन करोगे, जो नीलकण्ठ, भव, स्थाणु, कपाली, त्रिपुरान्तक, उग्र, रुद्र, पशुपति, महादेव, उमापति, हर, शर्व, वृष, शूली, पिनाकी तथा कृत्तिवासा कहलाते हैं ।। १३-१४ ।।

कैलासकूटप्रतिमं वृषभेऽवस्थितं शिवम् ।
निरीक्षमाणं सततं पितृराजाश्रितां दिशम् ।। १५ ।।

'उन भगवान् शिवकी कान्ति कैलासशिखरके समान उज्ज्वल होगी। वे वृषभपर आरूढ़ हुए सदा दक्षिण दिशाकी ओर देख रहे होंगे ।। १५ ।।

एवमीदृशकं स्वप्नं द्रक्ष्यसि त्वं विशाम्पते ।
मा तत्कृते ह्यनुध्याहि कालो हि दुरतिक्रमः ।। १६ ।।

'राजन्! तुम्हें इस प्रकार ऐसा स्वप्न दिखायी देगा, किंतु उसके लिये तुम्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि काल सबके लिये दुर्लङ्घ है ।। १६ ।।

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासं पर्वतं प्रति ।
अप्रमत्तः स्थितो दान्तः पृथिवीं परिपालय ।। १७ ।।

'तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं कैलासपर्वतपर जाऊँगा। तुम सावधान एवं जितेन्द्रिय होकर पृथ्वीका पालन करो' ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् कैलासं पर्वतं ययौ ।
कृष्णद्वैपायनो व्यासः सह शिष्यैः श्रुतानुगैः ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास वेदमार्गका अनुसरण करनेवाले अपने शिष्योंके साथ कैलासपर्वतपर चले गये ।। १८ ।।

गते पितामहे राजा चिन्ताशोकसमन्वितः ।
निःश्वसन्नुष्णमसकृत् तमेवार्थं विचिन्तयन् ।। १९ ।।
कथं तु दैवं शक्येत पौरुषेण प्रबाधितुम् ।
अवश्यमेव भविता यदुक्तं परमर्षिणा ।। २० ।।

अपने पितामह व्यासजीके चले जानेपर चिन्ता और शोकसे युक्त राजा युधिष्ठिर बारंबार गरम साँसें लेते हुए उसी बातका चिन्तन करते रहे। अहो! दैवका विधान पुरुषार्थसे किस प्रकार टाला जा सकता है? महर्षिने जो कुछ कहा है, वह निश्चय ही होगा ।। १९-२० ।।

ततोऽब्रवीन्महातेजाः सर्वान् भ्रातॄन् युधिष्ठिरः ।
श्रुतं वै पुरुषव्याघ्रा यन्मां द्वैपायनोऽब्रवीत् ।। २१ ।।
तदा तद्वचनं श्रुत्वा मरणे निश्चिता मतिः ।
सर्वक्षत्रस्य निधने यद्यहं हेतुरीप्सितः ।। २२ ।।

कालेन निर्मितस्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः ।
एवं ब्रुवन्तं राजानं फाल्गुनः प्रत्यभाषत ।। २३ ।।

यही सोचते-सोचते महातेजस्वी युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे कहा—'पुरुषसिंहो! महर्षि व्यासने मुझसे जो कहा है, उसे तुमलोगोंने सुना है न? उनकी वह बात सुनकर मैंने मरनेका निश्चय कर लिया है। तात! यदि समस्त क्षत्रियोंके विनाशमें विधाताने मुझे ही निमित्त बनानेकी इच्छा की है, कालने मुझे ही इस अनर्थका कारण बनाया है तो मेरे जीवनका क्या प्रयोजन है?' राजाकी ऐसी बातें सुनकर अर्जुनने उत्तर दिया— ।। २१—२३ ।।

मा राजन् कश्मलं घोरं प्रविशो बुद्धिनाशनम् ।
सम्प्रधार्य महाराज यत् क्षेमं तत् समाचर ।। २४ ।।

'राजन्! इस भयंकर मोहमें न पड़िये, यह बुद्धिको नष्ट करनेवाला है। महाराज! अच्छी तरह सोच-विचारकर आपको जो कल्याणप्रद जान पड़े, वह कीजिये' ।। २४ ।।

ततोऽब्रवीत् सत्यधृतिर्भ्रातॄन् सर्वान् युधिष्ठिरः ।
द्वैपायनस्य वचनं ह्येवं समनुचिन्तयन् ।। २५ ।।

तब सत्यवादी युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे व्यासजीकी बातोंपर विचार करते हुए कहा— ।। २५ ।।

अद्यप्रभृति भद्रं वः प्रतिज्ञां मे निबोधत ।
त्रयोदश समास्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः ।। २६ ।।

'तात! तुमलोगोंका कल्याण हो, भाइयोंके विनाशका कारण बननेके लिये मुझे तेरह वर्षोंतक जीवित रहनेसे क्या लाभ? यदि जीना ही है तो आजसे मेरी यह प्रतिज्ञा सुन लो — ।। २६ ।।

न प्रवक्ष्यामि परुषं भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान् ।
स्थितो निदेशे ज्ञातीनां योक्ष्ये तत् समुदाहरन् ।। २७ ।।

'मैं अपने भाइयों तथा दूसरे राजाओंसे कभी कड़वी बात नहीं बोलूँगा। बन्धु-बान्धवोंकी आज्ञामें रहकर प्रसन्नतापूर्वक उनकी मुँहमाँगी वस्तुएँ लानेमें संलग्न रहूँगा' ।। २७ ।।

एवं मे वर्तमानस्य स्वसुतेष्वितरेषु च ।
भेदो न भविता लोके भेदमूलो हि विग्रहः ।। २८ ।।

'इस प्रकार समतापूर्ण बर्ताव करते हुए मेरा अपने पुत्रों तथा दूसरोंके प्रति भेदभाव न होगा; क्योंकि जगत्‌में लड़ाई-झगड़ेका मूल कारण भेदभाव ही है ।। २८ ।।

विग्रहं दूरतो रक्षन् प्रियाण्येव समाचरन् ।
वाच्यतां न गमिष्यामि लोकेषु मनुजर्षभाः ।। २९ ।।

‘नररत्नो! विग्रह या वैर-विरोधको अपनेसे दूर ही रखकर सबका प्रिय करते हुए मैं संसारमें निन्दाका पात्र नहीं हो सकूँगा’ ।। २९ ।।

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वचनं पाण्डवाः संनिशम्य तत् ।
तमेव समवर्तन्त धर्मराजहिते रताः ।। ३० ।।

अपने बड़े भाईकी वह बात सुनकर सब पाण्डव उन्हींके हितमें तत्पर हो सदा उनका ही अनुसरण करने लगे ।। ३० ।।

संसत्सु समयं कृत्वा धर्मराड् भ्रातृभिः सह ।
पितॄंस्तर्प्य यथान्यायं देवताश्च विशाम्पते ।। ३१ ।।

राजन्! धर्मराजने अपने भाइयोंके साथ भरी सभामें यह प्रतिज्ञा करके देवताओं तथा पितरोंका विधिपूर्वक तर्पण किया ।। ३१ ।।

कृतमङ्गलकल्याणो भ्रातृभिः परिवारितः ।
गतेषु क्षत्रियेन्द्रेषु सर्वेषु भरतर्षभ ।। ३२ ।।
युधिष्ठिरः सहामात्यः प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
दुर्योधनो महाराज शकुनिश्चापि सौबलः ।
सभायां रमणीयायां तत्रैवास्ते नराधिप ।। ३३ ।।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! समस्त क्षत्रियोंके चले जानेपर कल्याणमय मांगलिक कृत्य पूर्ण करके भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरने मन्त्रियोंके साथ अपने उत्तम नगरमें प्रवेश किया। महाराज! दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि ये दोनों उस रमणीय सभामें ही रह गये ।। ३२-३३ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसमये षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिर-प्रतिज्ञाविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४६ ।।

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

दुर्योधनका मयनिर्मित सभाभवनको देखना और पग-पगपर भ्रमके कारण उपहासका पात्र बनना तथा युधिष्ठिरके वैभवको देखकर उसका चिन्तित होना

वैशम्पायन उवाच

वसन् दुर्योधनस्तस्यां सभायां पुरुषर्षभ ।
शनैर्ददर्श तां सर्वां सभां शकुनिना सह ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय! राजा दुर्योधनने उस सभाभवनमें निवास करते समय शकुनिके साथ धीरे-धीरे उस सारी सभाका निरीक्षण किया ।। १ ।।

तस्यां दिव्यानभिप्रायान् ददर्श कुरुनन्दनः ।
न दृष्टपूर्वा ये तेन नगरे नागसाह्वये ।। २ ।।

कुरुनन्दन दुर्योधन उस सभामें उन दिव्य अभिप्रायों (दृश्यों)-को देखने लगा, जिन्हें उसने हस्तिनापुरमें पहले कभी नहीं देखा था ।। २ ।।

स कदाचित् सभामध्ये धार्तराष्ट्रो महीपतिः ।
स्फाटिकं स्थलमासाद्य जलमित्यभिशङ्कया ।। ३ ।।
स्ववस्त्रोत्कर्षणं राजा कृतवान् बुद्धिमोहितः ।
दुर्मना विमुखश्चैव परिचक्राम तां सभाम् ।। ४ ।।

एक दिनकी बात है, राजा दुर्योधन उस सभाभवनमें घूमता हुआ स्फटिक-मणिमय स्थलपर जा पहुँचा और वहाँ जलकी आशंकासे उसने अपना वस्त्र ऊपर उठा लिया। इस प्रकार बुद्धि-मोह हो जानेसे उसका मन उदास हो गया और वह उस स्थानसे लौटकर सभामें दूसरी ओर चक्कर लगाने लगा ।। ३-४ ।।

ततः स्थले निपतितो दुर्मना व्रीडितो नृपः ।
निःश्वसन् विमुखश्चापि परिचक्राम तां सभाम् ।। ५ ।।

तदनन्तर वह स्थलमें ही गिर पड़ा, इससे वह मन-ही-मन दुःखी और लज्जित हो गया तथा वहाँसे हटकर लम्बी साँसें लेता हुआ सभाभवनमें घूमने लगा ।। ५ ।।

ततः स्फाटिकतोयां वै स्फाटिकाम्बुजशोभिताम् ।
वापीं मत्वा स्थलमिव सवासाः प्रापतज्जले ।। ६ ।।

तत्पश्चात् स्फटिकमणिके समान स्वच्छ जलसे भरी और स्फटिकमणिमय कमलोंसे सुशोभित बावलीको स्थल मानकर वह वस्त्रसहित जलमें गिर पड़ा ।। ६ ।।

जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।

जहास जहसुश्चैव किंकराश्च सुयोधनम् ।। ७ ।।
वासांसि च शुभान्यस्मै प्रददू राजशासनात् ।
तथागतं तु तं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।। ८ ।।
अर्जुनश्च यमौ चोभौ सर्वे ते प्राहसंस्तदा ।
नामर्षयत् ततस्तेषामवहासममर्षणः ।। ९ ।।

उसे जलमें गिरा देख महाबली भीमसेन हँसने लगे। उनके सेवकोंने भी दुर्योधनकी हँसी उड़ायी तथा राजाज्ञासे उन्होंने दुर्योधनको सुन्दर वस्त्र दिये। दुर्योधनकी यह दुरवस्था देख महाबली भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेव सभी उस समय जोर-जोरसे हँसने लगे। दुर्योधन स्वभावसे ही अमर्षशील था; अतः वह उनका उपहास न सह सका ।।

आकारं रक्षमाणस्तु न स तान् समुदैक्षत ।
पुनर्वसनमुत्क्षिप्य प्रतरिष्यन्निव स्थलम् ।। १० ।।

वह अपने चेहरेके भावको छिपाये रखनेके लिये उनकी ओर दृष्टि नहीं डालता था। फिर स्थलमें ही जलका भ्रम हो जानेसे वह कपड़े उठाकर इस प्रकार चलने लगा; मानो तैरनेकी तैयारी कर रहा हो ।। १० ।।

आरुरोह ततः सर्वे जहसुश्च पुनर्जनाः ।
द्वारं तु पिहिताकारं स्फाटिकं प्रेक्ष्य भूमिपः ।
प्रविशन्नाहतो मूर्ध्नि व्याघूर्णित इव स्थितः ।। ११ ।।

इस प्रकार जब वह ऊपर चढ़ा, तब सब लोग उसकी भ्रान्तिपर हँसने लगे। उसके बाद राजा दुर्योधनने एक स्फटिकमणिका बना हुआ दरवाजा देखा, जो वास्तवमें बंद था, तो भी खुला दीखता था। उसमें प्रवेश करते ही उसका सिर टकरा गया और उसे चक्कर-सा आ गया ।।

तादृशं च परं द्वारं स्फाटिकोरुकपाटकम् ।
विघट्टयन् कराभ्यां तु निष्क्रम्याग्रे पपात ह ।। १२ ।।

ठीक उसी तरहका एक दूसरा दरवाजा मिला, जिसमें स्फटिकमणिके बड़े-बड़े किंवाड़ लगे थे। यद्यपि वह खुला था, तो भी दुर्योधनने उसे बंद समझकर उसपर दोनों हाथोंसे धक्का देना चाहा। किंतु धक्केसे वह स्वयं द्वारके बाहर निकलकर गिर पड़ा ।। १२ ।।

द्वारं तु वितताकारं समापेदे पुनश्च सः ।
तद्वत्तं चेति मन्वानो द्वारस्थानादुपारमत् ।। १३ ।।

आगे जानेपर उसे एक बहुत बड़ा फाटक और मिला; परंतु कहीं पिछले दरवाजोंकी भाँति यहाँ भी कोई अप्रिय घटना न घटित हो इस भयसे वह उस दरवाजेके इधरसे ही लौट आया ।। १३ ।।

एवं प्रलम्भान् विविधान् प्राप्य तत्र विशाम्पते ।
पाण्डवेयाभ्यनुज्ञातस्ततो दुर्योधनो नृपः ।। १४ ।।

अप्रहृष्टेन मनसा राजसूये महाक्रतौ ।
प्रेक्ष्य तामद्भुतामृद्धिं जगाम गजसाह्वयम् ।। १५ ।।

राजन्! इस प्रकार बार-बार धोखा खाकर राजा दुर्योधन राजसूय महायज्ञमें पाण्डवोंके पास आयी हुई अद्भुत समृद्धिपर दृष्टि डालकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर-की आज्ञा ले अप्रसन्न मनसे हस्तिनापुरको चला गया ।। १४-१५ ।।

पाण्डवश्रीप्रतप्तस्य ध्यायमानस्य गच्छतः ।
दुर्योधनस्य नृपतेः पापा मतिरजायत ।। १६ ।।

पाण्डवोंकी राजलक्ष्मीसे संतप्त हो उसीका चिन्तन करते हुए जानेवाले राजा दुर्योधनके मनमें पापपूर्ण विचारका उदय हुआ ।। १६ ।।

पार्थान् सुमनसो दृष्ट्वा पार्थिवांश्च वशानुगान् ।
कृत्स्नं चापि हितं लोकमाकुमारं कुरूद्वह ।। १७ ।।
महिमानं परं चापि पाण्डवानां महात्मनाम् ।
दुर्योधनो धार्तराष्ट्रो विवर्णः समपद्यत ।। १८ ।।

कुरुश्रेष्ठ! यह देखकर कि कुन्तीके पुत्रोंका मन प्रसन्न है, भूमण्डलके सब नरेश उनके वशमें हैं तथा बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक सारा जगत् उनका हितैषी है, इस प्रकार महात्मा पाण्डवोंकी महिमा अत्यन्त बढ़ी हुई देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनका रंग फीका पड़ गया ।। १७-१८ ।।

स तु गच्छन्ननेकाग्रः सभामेकोऽन्वचिन्तयत् ।
श्रियं च तामनुपमां धर्मराजस्य धीमतः ।। १९ ।।

रास्तेमें जाते समय वह नाना प्रकारके विचारोंसे चिन्तातुर था। वह अकेला ही परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी अलौकिक सभा तथा अनुपम लक्ष्मीके विषयमें सोच रहा था ।। १९ ।।

प्रमत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनस्तदा ।
नाभ्यभाषत् सुबलजं भाषमाणं पुनः पुनः ।। २० ।।

इस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन उन्मत्त-सा हो रहा था। वह शकुनिके बार-बार पूछनेपर भी उसे कोई उत्तर नहीं दे रहा था ।। २० ।।

अनेकाग्रं तु तं दृष्ट्वा शकुनिः प्रत्यभाषत ।
दुर्योधन कुतोमूलं निःश्वसन्निव गच्छसि ।। २१ ।।

उसे नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे युक्त देख शकुनि-ने पूछा—‘दुर्योधन! तुम्हें कहाँसे यह दुःखका कारण प्राप्त हो गया, जिससे तुम लंबी साँसें खींचते चल रहे हो’ ।। २१ ।।

दुर्योधन उवाच

दृष्ट्वेमां पृथिवीं कृत्स्नां युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
जितामस्त्रप्रतापेन श्वेताश्वस्य महात्मनः ।। २२ ।।
तं च यज्ञं तथाभूतं दृष्ट्वा पार्थस्य मातुल ।
यथा शक्रस्य देवेषु तथाभूतं महाद्युतेः ।। २३ ।।
अमर्षेण तु सम्पूर्णो दह्यमानो दिवानिशम् ।
शुचिशुक्रागमे काले शुष्येत् तोयमिवाल्पकम् ।। २४ ।।

दुर्योधनने कहा—मामाजी! मैंने देखा है, श्वेतवाहन महात्मा अर्जुनके अस्त्रोंके प्रतापसे जीती हुई यह सारी पृथ्वी युधिष्ठिरके वशमें हो गयी है। महातेजस्वी युधिष्ठिरका वह राजसूययज्ञ उसी प्रकार सम्पन्न हुआ है, जैसे देवताओंमें देवराज इन्द्रका यज्ञ पूर्ण हुआ था। यह सब देखकर मैं दिन-रात ईर्ष्यासे भरा ठीक उसी प्रकार जलता रहता हूँ, जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें थोड़ा-सा जल जल्दी सूख जाता है ।। २२—२४ ।।

पश्य सात्वतमुख्येन शिशुपालो निपातितः ।
न च तत्र पुमानासीत् कश्चित् तस्य पदानुगः ।। २५ ।।

और भी देखिये, यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णने शिशुपालको मार गिराया, परंतु वहाँ कोई भी वीर पुरुष उसका बदला लेनेको तैयार नहीं हुआ ।। २५ ।।

दह्यमाना हि राजानः पाण्डवोत्थेन वह्निना ।
क्षान्तवन्तोऽपराधं ते को हि तत् क्षन्तुमर्हति ।। २६ ।।

पाण्डवजनित आगसे दग्ध होनेवाले राजाओंने वह अपराध क्षमा कर दिया। अन्यथा इतने बड़े अन्यायको कौन सह सकता है? ।। २६ ।।

वासुदेवेन तत् कर्म यथायुक्तं महत् कृतम् ।
सिद्धं च पाण्डुपुत्राणां प्रतापेन महात्मनाम् ।। २७ ।।

वासुदेव श्रीकृष्णने जैसा महान् अनुचित कर्म किया था, वह महामना पाण्डवोंके प्रतापसे सफल हो गया ।। २७ ।।

तथा हि रत्नान्यादाय विविधानि नृपा नृपम् ।
उपातिष्ठन्त कौन्तेयं वैश्या इव करप्रदाः ।। २८ ।।

जैसे कर देनेवाले व्यापारी वैश्य नाना प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर राजाकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार सब राजा अनेक प्रकारके उत्तम रत्न लेकर राजा युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित हुए थे ।। २८ ।।

श्रियं तथाऽऽगतां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमिव पाण्डवे ।
अमर्षवशमापन्नो दह्यामि न तथोचितः ।। २९ ।।

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके समीप प्राप्त हुई उस प्रकाश-मयी लक्ष्मीको देखकर मैं ईर्ष्यावश जल रहा हूँ। यद्यपि मेरी यह दुरवस्था उचित नहीं है ।। २९ ।।

एवं स निश्चयं कृत्वा ततो वचनमब्रवीत् ।
पुनर्गान्धारनृपतिं दह्यमान इवाग्निना ।। ३० ।।

ऐसा निश्चय करके दुर्योधन चिन्ताकी आगसे दग्ध-सा होता हुआ पुनः गान्धारराज शकुनिसे बोला ।। ३० ।।

वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम् ।
अपो वापि प्रवेक्ष्यामि न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ।। ३१ ।।

मैं आगमें प्रवेश कर जाऊँगा, विष खा लूँगा अथवा जलमें डूब मरूँगा, अब मैं जीवित नहीं रह सकूँगा ।। ३१ ।।

को हि नाम पुमाँल्लोके मर्षयिष्यति सत्त्ववान् ।
सपत्नानृद्धयतो दृष्ट्वा हीनमात्मानमेव च ।। ३२ ।।

संसारमें कौन ऐसा शक्तिशाली पुरुष होगा, जो शत्रुओंकी वृद्धि और अपनी हीन दशा होती देखकर भी चुपचाप सहन कर लेगा ।। ३२ ।।

सोऽहं न स्त्री न चाप्यस्त्री न पुमान्नापुमानपि ।
योऽहं तां मर्षयाम्यद्य तादृशीं श्रियमागताम् ।। ३३ ।।

मैं इस समय न तो स्त्री हूँ, न अस्त्रबलसे सम्पन्न हूँ, न पुरुष हूँ और न नपुंसक ही हूँ, तो भी अपने शत्रुओंके पास आयी हुई वैसी उत्कृष्ट सम्पत्तिको देखकर भी चुपचाप सहन कर रहा हूँ? ।। ३३ ।।

ईश्वरत्वं पृथिव्याश्च वसुमत्तां च तादृशीम् ।

यज्ञं च तादृशं दृष्ट्वा मादृशः को न संज्वरेत् ।। ३४ ।।

शत्रुओंके पास समस्त भूमण्डलका वह साम्राज्य, वैसी धन-रत्नोंसे भरी सम्पदा और उनका वैसा उत्कृष्ट राजसूययज्ञ देखकर मेरे-जैसा कौन पुरुष चिन्तित न होगा? ।। ३४ ।।

अशक्तश्चैक एवाहं तामाहर्तुं नृपश्रियम् ।

सहायांश्च न पश्यामि तेन मृत्युं विचिन्तये ।। ३५ ।।

मैं अकेला उस राजलक्ष्मीको हड़प लेनेमें असमर्थ हूँ और अपने पास योग्य सहायक नहीं देखता हूँ, इसीलिये मृत्युका चिन्तन करता हूँ ।। ३५ ।।

दैवमेव परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम् ।

दृष्ट्वा कुन्तीसुते शुद्धां श्रियं तामहतां तथा ।। ३६ ।।

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके पास उस अक्षय विशुद्ध लक्ष्मीका संचय देख मैं दैवको ही प्रबल मानता हूँ, पुरुषार्थ तो निरर्थक जान पड़ता है ।। ३६ ।।

कृतो यत्नो मया पूर्वं विनाशे तस्य सौबल ।

तच्च सर्वमतिक्रम्य संवृद्धोऽप्स्विव पङ्कजम् ।। ३७ ।।

सुबलपुत्र! मैंने पहले धर्मराज युधिष्ठिरको नष्ट कर देनेका प्रयत्न किया था, किंतु उन सारे संकटोंको लाँघ करके वे जलमें कमलकी भाँति उत्तरोत्तर बढ़ते गये ।। ३७ ।।

तेन दैवं परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम् ।

धार्तराष्ट्राश्च हीयन्ते पार्था वर्धन्ति नित्यशः ।। ३८ ।।

इसीसे मैं दैवको उत्तम मानता हूँ और पुरुषार्थको निरर्थक; क्योंकि हम धृतराष्ट्रपुत्र हानि उठा रहे हैं और ये कुन्तीके पुत्र प्रतिदिन उन्नति करते जा रहे हैं ।। ३८ ।।

सोऽहं श्रियं च तां दृष्ट्वा सभां तां च तथाविधाम् ।

रक्षिभिश्चावहासं तं परितप्ये यथाग्निना ।। ३९ ।।

मैं उस राजलक्ष्मीको, उस दिव्य सभाको तथा रक्षकोंद्वारा किये गये अपने उपहासको देखकर निरन्तर संतप्त हो रहा हूँ, मानो आगमें जलता होऊँ ।। ३९ ।।

स मामभ्यनुजानीहि मातुलाद्य सुदुःखितम् ।

अमर्षं च समाविष्टं धृतराष्ट्रे निवेदय ।। ४० ।।

मामाजी! अब मुझे (मरनेके लिये) आज्ञा दीजिये, क्योंकि मैं बहुत दुःखी हूँ और ईर्ष्याकी आगमें जल रहा हूँ। महाराज धृतराष्ट्रको मेरी यह अवस्था सूचित कर दीजियेगा ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४७ ।।

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करनेके लिये शकुनि और दुर्योधनकी बातचीत

शकुनिरुवाच

दुर्योधन न तेऽमर्षः कार्यः प्रति युधिष्ठिरम् ।
भागधेयानि हि स्वानि पाण्डवा भुञ्जते सदा ।। १ ।।
विधानं विविधाकारं परं तेषां विधानतः ।
अनेकैरभ्युपायैश्च त्वया न शकिताः पुरा ।। २ ।।

शकुनि बोला—दुर्योधन! तुम्हें युधिष्ठिरके प्रति ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये; क्योंकि पाण्डव सदा अपने भाग्यका ही उपभोग करते आ रहे हैं। तुमने उन्हें वशमें लानेके लिये अनेक प्रकारके उपायोंका अवलम्बन किया, परंतु उनके द्वारा तुम उन्हें अपने अधीन न कर सके ।।

आरब्धाश्च महाराज पुनः पुनररिंदम ।
विमुक्ताश्च नरव्याघ्रा भागधेयपुरस्कृताः ।। ३ ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज! तुमने बार-बार पाण्डवोंपर कुचक्र चलाये, परंतु वे नरश्रेष्ठ अपने भाग्यसे उन सभी संकटोंसे छुटकारा पाते गये ।। ३ ।।

तैर्लब्धा द्रौपदी भार्या द्रुपदश्च सुतैः सह ।
सहायः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान् ।। ४ ।।

उन पाँचोंने पत्नीरूपमें द्रौपदीको तथा पुत्रों-सहित राजा द्रुपद एवं सम्पूर्ण पृथ्वीकी प्राप्तिमें कारण महापराक्रमी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको सहायकरूपमें प्राप्त किया है ।। ४ ।।

(अजितः सोऽपि सर्वैर्हि सदेवासुरमानुषैः ।
तत्तेजसा प्रवृद्धोऽसौ तत्र का परिदेवना ।।)

श्रीकृष्णको सब देवता, असुर और मनुष्य मिलकर भी जीत नहीं सकते। उन्हींके तेजसे राजा युधिष्ठिरकी उन्नति हुई है; इसके लिये शोक करनेकी क्या बात है?

लब्धश्चानभिभूतार्थैः पित्र्योंऽशः पृथिवीपते ।
विवृद्धस्तेजसा तेषां तत्र का परिदेवना ।। ५ ।।

पृथ्वीपते! पाण्डवोंने अपने उद्देश्यसे विचलित न होकर निरन्तर प्रयत्न करके राज्यमें अपना पैतृक अंश प्राप्त किया है और वह पैतृक सम्पत्ति आज उन्हींके तेजसे बहुत बढ़ गयी है, अतः उसके लिये चिन्ता करनेकी क्या आवश्यकता है? ।। ५ ।।

धनंजयेन गाण्डीवमक्षय्यौ च महेषुधी ।
लब्धान्यस्त्राणि दिव्यानि तोषयित्वा हुताशनम् ।। ६ ।।
तेन कार्मुकमुख्येन बाहुवीर्येण चात्मनः ।
कृता वशे महीपालास्तत्र का परिदेवना ।। ७ ।।

अर्जुनने अग्निदेवको संतुष्ट करके गाण्डीव धनुष, अक्षय तरकस तथा कितने ही दिव्य अस्त्र प्राप्त किये हैं। उस श्रेष्ठ धनुषके द्वारा तथा अपनी भुजाओंके बलसे उन्होंने समस्त राजाओंको वशमें किया है, अतः इसके लिये शोककी क्या आवश्यकता है? ।। ६-७ ।।

अग्निदाहान्मयं चापि मोक्षयित्वा स दानवम् ।
सभां तां कारयामास सव्यसाची परंतपः ।। ८ ।।

सव्यसाची परंतप अर्जुनने मय दानवको आगमें जलनेसे बचाया और उसीके द्वारा उस दिव्य सभाका निर्माण कराया ।। ८ ।।

तेन चैव मयेनोक्ताः किंकरा नाम राक्षसाः ।
वहन्ति तां सभां भीमास्तत्र का परिदेवना ।। ९ ।।
यच्चासहायतां राजन्नुक्तवानसि भारत ।
तन्मिथ्या भ्रातरो हीमे तव सर्वे वशानुगाः ।। १० ।।

उस मयके ही कहनेसे किंकरनामधारी भयंकर राक्षसगण उस सभाको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाते हैं। अतः इसके लिये भी शोक-संताप क्यों किया जाय? भारत! तुमने जो अपनेको असहाय बताया है, वह मिथ्या है; क्योंकि तुम्हारे ये सब भाई तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं ।।

द्रोणस्तव महेष्वासः सह पुत्रेण वीर्यवान् ।
सूतपुत्रश्च राधेयो गौतमश्च महारथः ।। ११ ।।
अहं च सह सोदर्यैः सौमदत्तिश्च पार्थिवः ।
एतैस्त्वं सहितः सर्वैर्जय कृत्स्नां वसुन्धराम् ।। १२ ।।

महान् धनुर्धर और पराक्रमी द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामाके साथ तुम्हारी सहायताके लिये उद्यत हैं। राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण, महारथी कृपाचार्य, भाइयोंसहित मैं तथा राजा भूरिश्रवा—इन सबके साथ तुम भी सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त करो ।। ११-१२ ।।

दुर्योधन उवाच

त्वया च सहितो राजन्नेतैश्चान्यैर्महारथैः ।
एतानेव विजेष्यामि यदि त्वमनुमन्यसे ।। १३ ।।
एतेषु विजितेष्वद्य भविष्यति मही मम ।
सर्वे च पृथिवीपालाः सभा सा च महाधना ।। १४ ।।

दुर्योधनने कहा—राजन्! यदि तुम्हारी अनुमति हो, तो तुम्हारे और इन द्रोण आदि अन्य महारथियोंके साथ इन पाण्डवोंको ही युद्धमें जीत लूँ। इनके पराजित हो जाने-पर अभी यह सारी पृथ्वी, समस्त भूपाल और वह महाधन-सम्पन्न सभा भी हमारे अधीन हो जायगी ।। १३-१४ ।।

शकुनिरुवाच

धनंजयो वासुदेवो भीमसेनो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रुपदश्च सहात्मजैः ।। १५ ।।
नैते युधि पराजेतुं शक्या देवगणैरपि ।
महारथा महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ।। १६ ।।

शकुनि बोला—राजन्! अर्जुन, श्रीकृष्ण, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा पुत्रोंसहित द्रुपद—इन्हें देवता भी युद्धमें परास्त नहीं कर सकते। ये सब-के-सब महारथी, महान् धनुर्धर, अस्त्रविद्यामें निपुण तथा युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं ।। १५-१६ ।।

अहं तु तद् विजानामि विजेतुं येन शक्यते ।
युधिष्ठिरं स्वयं राजंस्तन्निबोध जुषस्व च ।। १७ ।।

राजन्! मैं वह उपाय जानता हूँ, जिससे युधिष्ठिर स्वयं पराजित हो सकते हैं। तुम उसे सुनो और उसका सेवन करो ।। १७ ।।

दुर्योधन उवाच

अप्रमादेन सुहृदामन्येषां च महात्मनाम् ।
यदि शक्या विजेतुं ते तन्ममाचक्ष्व मातुल ।। १८ ।।

दुर्योधनने कहा—मामाजी! यदि मेरे सगे-सम्बन्धियों तथा अन्य महात्माओंकी सतत सावधानीसे किसी उपायद्वारा पाण्डवोंको जीता जा सके तो वह मुझे बताइये ।। १८ ।।

शकुनिरुवाच

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न स जानाति देवितुम् ।
समाहूतश्च राजेन्द्रो न शक्ष्यति निवर्तितुम् ।। १९ ।।

शकुनि बोला—राजन्! कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जुएका खेल बहुत प्रिय है, किंतु वे उसे खेलना नहीं जानते। यदि महाराज युधिष्ठिरको द्यूतक्रीड़ाके लिये बुलाया जाय तो वे पीछे नहीं हट सकेंगे ।। १९ ।।

देवने कुशलश्चाहं न मेऽस्ति सदृशो भुवि ।
त्रिषु लोकेषु कौरव्य तं त्वं द्यूते समाह्वय ।। २० ।।

मैं जूआ खेलनेमें बहुत निपुण हूँ। इस कलामें मेरी समानता करनेवाला पृथ्वीपर दूसरा कोई नहीं है। केवल यहीं नहीं, तीनों लोकोंमें मेरे-जैसा द्यूतविद्याका जानकार नहीं है। अतः

कुरुनन्दन! तुम द्यूतक्रीड़ाके लिये युधिष्ठिरको बुलाओ ।। २० ।।

तस्याक्षकुशलो राजन्नादास्येऽहमसंशयम् ।
राज्यं श्रियं च तां दीप्तां त्वदर्थं पुरुषर्षभ ।। २१ ।।

नरश्रेष्ठ! मैं पासा फेंकनेमें कुशल हूँ; अतः युधिष्ठिरके राज्य तथा देदीप्यमान राजलक्ष्मीको तुम्हारे लिये अवश्य प्राप्त कर लूँगा, इसमें संशय नहीं है ।। २१ ।।

इदं तु सर्वं त्वं राज्ञे दुर्योधन निवेदय ।
अनुज्ञातस्तु ते पित्रा विजेष्ये तान् न संशयः ।। २२ ।।

दुर्योधन! तुम ये सारी बातें पिताजीसे कहो। उनकी आज्ञा मिल जानेपर मैं निःसंदेह पाण्डवोंको जीत लूँगा ।।

दुर्योधन उवाच

त्वमेव कुरुमुख्याय धृतराष्ट्राय सौबल ।
निवेदय यथान्यायं नाहं शक्ष्ये निवेदितुम् ।। २३ ।।

दुर्योधनने कहा—सुबलनन्दन! आप ही कुरुकुलके प्रधान महाराज धृतराष्ट्रसे इन सब बातोंको यथोचित रूपसे कहिये। मैं स्वयं कुछ नहीं कह सकूँगा ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पूछनेपर दुर्योधनका अपनी चिन्ता बताना और द्यूतके लिये धृतराष्ट्रसे अनुरोध करना एवं धृतराष्ट्रका विदुरको इन्द्रप्रस्थ जानेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

अनुभूय तु राज्ञस्तं राजसूयं महाक्रतुम् ।
युधिष्ठिरस्य नृपतेर्गान्धारीपुत्रसंयुतः ।। १ ।।
प्रियकृन्मतमाज्ञाय पूर्वं दुर्योधनस्य तत् ।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनं शकुनिः सौबलस्तदा ।। २ ।।
दुर्योधनवचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
उपगम्य महाप्राज्ञं शकुनिर्वाक्यमब्रवीत् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गान्धारीपुत्र दुर्योधनके सहित सुबलनन्दन शकुनि राजा युधिष्ठिरके राजसूय महायज्ञका उत्सव देखकर जब लौटा, तब पहले दुर्योधनके अपने अनुकूल मतको जानकर और उसकी पूरी बातें सुनकर सिंहासनपर बैठे हुए प्रज्ञाचक्षु महाप्राज्ञ राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर इस प्रकार बोला ।। १—३ ।।

शकुनिरुवाच

दुर्योधनो महाराज विवर्णो हरिणः कृशः ।
दीनश्चिन्तापरश्चैव तं विद्धि मनुजाधिप ।। ४ ।।

शकुनिने कहा—महाराज! दुर्योधनकी कान्ति फीकी पड़ती जा रही है! वह सफेद और दुर्बल हो गया है। उसकी बड़ी दयनीय दशा है। वह निरन्तर चिन्तामें डूबा रहता है। नरेश्वर! उसके मनोभावको समझिये ।। ४ ।।

न वै परीक्षसे सम्यगसह्यं शत्रुसम्भवम् ।
ज्येष्ठपुत्रस्य हृच्छोकं किमर्थं नावबुध्यसे ।। ५ ।।

उसे शत्रुओंकी ओरसे कोई असह्य कष्ट प्राप्त हुआ है। आप उसकी अच्छी तरह परीक्षा क्यों नहीं करते? दुर्योधन आपका ज्येष्ठ पुत्र है। उसके हृदयमें महान् शोक व्याप्त है। आप उसका पता क्यों नहीं लगाते? ।। ५ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन कुतोमूलं भृशमार्तोऽसि पुत्रक ।
श्रोतव्यश्चेन्मया सोऽर्थो ब्रूहि मे कुरुनन्दन ।। ६ ।।

धृतराष्ट्र दुर्योधनके पास जाकर बोले—बेटा दुर्योधन! तुम्हारे दुःखका कारण क्या है? सुना है, तुम बड़े कष्टमें हो। कुरुनन्दन! यदि मेरे सुननेयोग्य हो तो वह बात मुझे बताओ ।। ६ ।।

अयं त्वां शकुनिः प्राह विवर्णं हरिणं कृशम् ।
चिन्तयंश्च न पश्यामि शोकस्य तव सम्भवम् ।। ७ ।।

यह शकुनि कहता है कि तुम्हारी कान्ति फीकी पड़ गयी है। तुम सफेद और दुबले हो गये हो; परंतु मैं बहुत सोचनेपर भी तुम्हारे शोकका कोई कारण नहीं देखता ।।

ऐश्वर्यं हि महत् पुत्र त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
भ्रातरः सुहृदश्चैव नाचरन्ति तवाप्रियम् ।। ८ ।।

बेटा! इस सम्पूर्ण महान् ऐश्वर्यका भार तुम्हारे ही ऊपर है। तुम्हारे भाई और सुहृद् कभी तुम्हारे प्रतिकूल आचरण नहीं करते ।। ८ ।।

आच्छादयसि प्रावारानश्नासि विशदौदनम् ।
आजानेया वहन्त्यश्वाः केनासि हरिणः कृशः ।। ९ ।।

तुम बहुमूल्य वस्त्र ओढ़ते-पहनते हो, बढ़िया विशुद्ध भात खाते हो तथा अच्छी जातिके घोड़े तुम्हारी सवारीमें रहते हैं; फिर किस दुःखसे तुम सफेद और दुबले हो गये हो? ।। ९ ।।

शयनानि महार्हाणि योषितश्च मनोरमाः ।
गुणवन्ति च वेश्मानि विहाराश्च यथासुखम् ।। १० ।।
देवानामिव ते सर्वं वाचि बद्धं न संशयः ।
स दीन इव दुर्धर्ष कस्माच्छोचसि पुत्रक ।। ११ ।।

बहुमूल्य शय्याएँ, मनको प्रिय लगनेवाली युवतियाँ, सभी ऋतुओंमें लाभदायक भवन और इच्छानुसार सुख देनेवाले विहारस्थान—देवताओंकी भाँति ये सभी वस्तुएँ निःसंदेह तुम्हें वाणीद्वारा कहनेमात्रसे सुलभ हैं। मेरे दुर्धर्ष पुत्र! फिर तुम दीनकी भाँति क्यों शोक करते हो? ।। १०-११ ।।

(उपस्थितः सर्वकामैस्त्रिदिवे वासवो यथा ।
विविधैरन्नपानैश्च प्रवरैः किं नु शोचसि ।।

जैसे स्वर्गमें इन्द्रको सम्पूर्ण मनोवांछित भोग सुलभ हैं, उसी प्रकार समस्त अभिलषित भोग और खाने-पीनेकी विविध उत्तम वस्तुएँ तुम्हारे लिये सदा प्रस्तुत हैं। फिर तुम किसलिये शोक करते हो?

निरुक्तं निगमं छन्दः सषडङ्गार्थशास्त्रवान् ।
अधीतः कृतविद्यस्त्वमष्टव्याकरणैः कृपात् ।।

तुमने कृपाचार्यसे निरुक्त, निगम, छन्द, वेदके छहों अंग, अर्थशास्त्र तथा आठ प्रकारके व्याकरणशास्त्रोंका अध्ययन किया है।

हलायुधात् कृपाद् द्रोणादस्त्रविद्यामधीतवान् ।
प्रभुस्त्वं भुञ्जसे पुत्र संस्तुतः सूतमागधैः ।।
तस्य ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम् ।
लोकेऽस्मिञ्ज्येष्ठभागी त्वं तन्ममाचक्ष्व पुत्रक ।।

हलायुध, कृपाचार्य तथा द्रोणाचार्यसे तुमने अस्त्रविद्या सीखी है। बेटा! तुम इस राज्यके स्वामी होकर इच्छानुसार सब वस्तुओंका उपभोग करते हो। सूत और मागध सदा तुम्हारी स्तुति करते रहते हैं। तुम्हारी बुद्धिकी प्रखरता प्रसिद्ध है। तुम इस जगत्में ज्येष्ठ पुत्रके लिये सुलभ समस्त राजोचित सुखोंके भागी हो। फिर भी तुम्हें कैसे चिन्ता हो रही है? बेटा! तुम्हारे इस शोकका कारण क्या है? यह मुझे बताओ।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मन्दः क्रोधवशानुगः ।
पितरं प्रत्युवाचेदं स्वमतिं सम्प्रकाशयन् ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—पिताका यह कथन सुनकर क्रोधके वशीभूत हुए मूढ़ दुर्योधनने उन्हें अपना विचार बताते हुए इस प्रकार उत्तर दिया।

दुर्योधन उवाच

अश्नाम्याच्छादये चाहं यथा कुपुरुषस्तथा ।
अमर्षं धारये चोग्रं निनीषुः कालपर्ययम् ।। १२ ।।

दुर्योधन बोला—पिताजी! मैं अच्छा खाता-पहनता तो हूँ, परंतु कायरोंकी भाँति। मैं समयके परिवर्तनकी प्रतीक्षामें रहकर अपने हृदयमें भारी ईर्ष्या धारण करता हूँ ।। १२ ।।

अमर्षणः स्वाः प्रकृतीरभिभूय परं स्थितः ।
क्लेशान् मुमुक्षुः परजान् स वै पुरुष उच्यते ।। १३ ।।

जो शत्रुओंके प्रति अमर्ष रख उन्हें पराजित करके विश्राम लेता है और अपनी प्रजाको शत्रुजनित क्लेशसे छुड़ानेकी इच्छा करता है, वही पुरुष कहलाता है ।। १३ ।।

संतोषो वै श्रियं हन्ति ह्यभिमानं च भारत ।
अनुक्रोशभये चोभे यैर्वृतो नाश्नुते महत् ।। १४ ।।

भारत! संतोष लक्ष्मी और अभिमानका नाश कर देता है। दया और भय—ये दोनों भी वैसे ही हैं। इन (संतोषादि)-से युक्त मनुष्य कभी ऊँचा पद नहीं पा सकता ।।

न मां प्रीणाति मद्भुक्तं श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ।
अति ज्वलन्तीं कौन्तेये विवर्णकरणीं मम ।। १५ ।।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी वह अत्यन्त प्रकाशमान राजलक्ष्मी देखकर मुझे भोजन अच्छा नहीं लगता। वही मेरी कान्तिको नष्ट करनेवाली है ।। १५ ।।

सपत्नानृध्यतोऽऽत्मानं हीयमानं निशम्य च ।

अदृश्यामपि कौन्तेयश्रियं पश्यन्निवोद्यताम् ।। १६ ।।
तस्मादहं विवर्णश्च दीनश्च हरिणः कृशः ।

शत्रुओंको बढ़ते और अपनेको हीन दशामें जाते देख तथा युधिष्ठिरकी उस अदृश्य लक्ष्मीपर भी प्रत्यक्षकी भाँति दृष्टिपात करके मैं चिन्तित हो उठा हूँ। यही कारण है कि मेरी कान्ति फीकी पड़ गयी है तथा मैं दीन, दुर्बल और सफेद हो गया हूँ ।। १६½ ।।

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।। १७ ।।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ।

राजा युधिष्ठिर अपने घरमें बसनेवाले अट्ठासी हजार स्नातकोंका भरण-पोषण करते हैं। उनमेंसे प्रत्येककी सेवाके लिये तीस-तीस दासियाँ प्रस्तुत रहती हैं ।। १७½ ।।

दशान्यानि सहस्राणि नित्यं तत्रान्नमुत्तमम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ।। १८ ।।

इसके सिवा युधिष्ठिरके महलमें दस हजार अन्य ब्राह्मण प्रतिदिन सोनेकी थालियोंमें भोजन करते हैं ।। १८ ।।

कदलीमृगमोकानि कृष्णश्यामारुणानि च ।
काम्बोजः प्राहिणोत् तस्मै परार्घ्यानपि कम्बलान् ।

काम्बोजराजने काले, नीले और लाल रंगके कदलीमृगके चर्म तथा अनेक बहुमूल्य कम्बल युधिष्ठिरके लिये भेंटमें भेजे थे ।। १८½ ।।

गजयोषिद्गवाश्वस्य शतशोऽथ सहस्रशः ।। १९ ।।
त्रिशतं चोष्ट्रवामीनां शतानि विचरन्त्युत ।
राजन्या बलिमादाय समेता हि नृपक्षये ।। २० ।।

उन्हींकी भेजी हुई सैकड़ों हथिनियाँ, सहस्रों गायें और घोड़े तथा तीस-तीस हजार ऊँट और घोड़ियाँ वहाँ विचरती थीं। सभी राजालोग भेंट लेकर युधिष्ठिरके भवनमें एकत्र हुए थे ।। १९-२० ।।

पृथग्विधानि रत्नानि पार्थिवाः पृथिवीपते ।
आहरन् क्रतुमुख्येऽस्मिन् कुन्तीपुत्राय भूरिशः ।। २१ ।।

पृथ्वीपते! उस महान् यज्ञमें भूपालगण कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके लिये भाँति-भाँतिके बहुत-से रत्न लाये थे ।। २१ ।।

न क्वचिद्धि मया तादृग् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः ।
यादृग् धनागमो यज्ञे पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ।। २२ ।।

बुद्धिमान् पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके यज्ञमें धनकी जैसी प्राप्ति हुई है, वैसी मैंने पहले कहीं न तो देखी है और न सुनी ही है ।। २२ ।।

अपर्यन्तं धनौघं तं दृष्ट्वा शत्रोरहं नृप ।
शमं नैवाभिगच्छामि चिन्तयानो विशाम्पते ।। २३ ।।

महाराज! शत्रुकी वह अनन्त धनराशि देखकर मैं चिन्तित हो रहा हूँ; मुझे चैन नहीं मिलता ।। २३ ।।

ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसङ्घशः ।
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।। २४ ।।

ब्राह्मणलोग तथा हरी-भरी खेती उपजाकर जीवन-निर्वाह करनेवाले और बहुत-से गाय-बैल रखनेवाले वैश्य सैकड़ों दलोंमें इकट्ठे होकर तीन खर्व भेंट लेकर राजाके द्वारपर रोके हुए खड़े थे ।। २४ ।।

कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान् ।
एतद् धनं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ।। २५ ।।

वे सब लोग सोनेके सुन्दर कलश और इतना धन लेकर आये थे, तो भी वे सभी राजद्वारमें प्रवेश नहीं कर पाते थे अर्थात् उनमेंसे कोई-कोई ही प्रवेश कर पाते थे ।।

यथैव मधु शक्राय धारयन्त्यमरस्त्रियः ।
तदस्मै कांस्यमाहार्षीद् वारुणं कलशोदधिः ।। २६ ।।

देवांगनाएँ इन्द्रके लिये कलशोंमें जैसा मधु लिये रहती हैं, वैसा ही वरुणदेवताका दिया हुआ और काँसके पात्रमें रखा हुआ मधु समुद्रने युधिष्ठिरके लिये उपहारमें भेजा था ।। २६ ।।

शैक्यं रुक्मसहस्रस्य बहुरत्नविभूषितम् ।
शङ्खप्रवरमादाय वासुदेवोऽभिषिक्तवान् ।। २७ ।।

वहाँ छींकेपर रखकर लाया हुआ एक हजार स्वर्ण-मुद्राओंका बना हुआ कलश रखा था, जिसमें अनेक प्रकारके रत्न जड़े हुए थे। उस पात्रमें स्थित समुद्रजलको उत्तम शंखमें लेकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरका अभिषेक किया था ।। २७ ।।

दृष्ट्वा च मम तत् सर्वं ज्वररूपमिवाभवत् ।
गृहीत्वा तत् तु गच्छन्ति समुद्रौ पूर्वदक्षिणौ ।। २८ ।।
तथैव पश्चिमं यान्ति गृहीत्वा भरतर्षभ ।
उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्त्रिणः ।। २९ ।।
तत्र गत्वार्जुनो दण्डमाजहारामितं धनम् ।

तात! वह सब देखकर मुझे ज्वर-सा आ गया। भरतश्रेष्ठ! वैसे ही सुवर्णकलशोंको लेकर पाण्डवलोग जल लानेके लिये पूर्व, दक्षिण, पश्चिम समुद्रतक तो जाया करते थे, किंतु सुना जाता है कि उत्तर समुद्रके समीप, जहाँ पक्षियोंके सिवा मनुष्य नहीं जा सकते, वहाँ भी जाकर अर्जुन अपार धन करके रूपमें वसूल कर लाये ।।

इदं चाद्भुतमत्रासीत् तन्मे निगदतः शृणु ।। ३० ।।

युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें एक यह अद्भुत बात और भी हुई थी, वह मैं बताता हूँ; सुनिये ।। ३० ।।

पूर्णे शतसहस्त्रे तु विप्राणां परिविष्यताम् ।
स्थापिता तत्र संज्ञाभूच्छङ्खो ध्मायति नित्यशः ।। ३१ ।।

जब एक लाख ब्राह्मणोंको रसोई परोस दी जाती, तब उसके लिये एक संकेत नियत किया गया था; प्रतिदिन लाखकी संख्या पूरी होते ही बड़े जोरसे शंख बजाया जाता था ।। ३१ ।।

मुहुर्मुहुः प्रणदतस्तस्य शङ्खस्य भारत ।
अनिशं शब्दमश्रौषं ततो रोमाणि मेऽहृषन् ।। ३२ ।।

भारत! ऐसा शंख वहाँ बार-बार बजता था और मैं निरन्तर उस शंख-ध्वनिको सुना करता था; इससे मेरे शरीरमें रोमांच हो आता था ।। ३२ ।।

पार्थिवैर्बहुभिः कीर्णमुपस्थानं दिदृक्षुभिः ।
अशोभत महाराज नक्षत्रैर्द्यौरिवामला ।। ३३ ।।

महाराज! वहाँ यज्ञ देखनेके लिये आये हुए बहुत-से राजाओंद्वारा भरी हुई यज्ञमण्डपकी बैठक ताराओंसे व्याप्त हुए निर्मल आकाशकी भाँति शोभा पाती थी ।। ३३ ।।

सर्वरत्नान्युपादाय पार्थिवा वै जनेश्वर ।
यज्ञे तस्य महाराज पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ।। ३४ ।।

जनेश्वर! बुद्धिमान् पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके उस यज्ञमें भूपालगण सब रत्नोंकी भेंट लेकर आये थे ।। ३४ ।।

वैश्या इव महीपाला द्विजातिपरिवेषकाः ।
न सा श्रीर्देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च ।
गुह्यकाधिपतेर्वापि या श्री राजन् युधिष्ठिरे ।। ३५ ।।

राजालोग वैश्योंकी भाँति ब्राह्मणोंको भोजन परोसते थे। राजा युधिष्ठिरके पास जो लक्ष्मी है, वह देवराज इन्द्र, यम, वरुण अथवा यक्षराज कुबेरके पास भी नहीं होगी ।। ३५ ।।

तां दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रस्य श्रियं परमिकामहम् ।
शान्तिं न परिगच्छामि दह्यमानेन चेतसा ।। ३६ ।।

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी उस उत्कृष्ट लक्ष्मीको देखकर मेरे हृदयमें जलन पैदा हो गयी है; अतः मुझे क्षणभर भी शान्ति नहीं मिलती ।। ३६ ।।

(अप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं शमो मम न विद्यते ।
अवाप्स्ये वा रणं बाणैः शयिष्ये वा हतः परैः ।।
एतादृशस्य मे किं नु जीवितेन परंतप ।
वर्धन्ते पाण्डवा राजन् वयं हि स्थितवृद्धयः ।।)

पाण्डवोंका ऐश्वर्य यदि मुझे नहीं प्राप्त हुआ तो मेरे मनको शान्ति नहीं मिलेगी। या तो मैं बाणोंद्वारा रण-भूमिमें उपस्थित होकर शत्रुओंकी सम्पत्तिपर अधिकार प्राप्त करूँगा या शत्रुओंद्वारा मारा जाकर संग्राममें सदाके लिये सो जाऊँगा। परंतप! ऐसी स्थितिमें मेरे इस जीवनसे क्या लाभ? पाण्डव दिनों-दिन बढ़ रहे हैं और हमारी उन्नति रुक गयी है।

शकुनिरुवाच

यामेतामतुलां लक्ष्मीं दृष्टवानसि पाण्डवे ।
तस्याः प्राप्तावुपायं मे शृणु सत्यपराक्रम ।। ३७ ।।

शकुनिने दुर्योधनसे पुनः कहा—सत्यपराक्रमी दुर्योधन! तुमने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके यहाँ जो अनुपम लक्ष्मी देखी है, उसकी प्राप्तिका उपाय मुझसे सुनो ।। ३७ ।।

अहमक्षेष्वभिज्ञातः पृथिव्यामपि भारत ।
हृदयज्ञः पणज्ञश्च विशेषज्ञश्च देवने ।। ३८ ।।

भारत! मैं इस भूमण्डलमें द्यूतविद्याका विशेष जानकार हूँ, द्यूतक्रीड़ाका मर्म जानता हूँ; दाव लगानेका भी मुझे ज्ञान है तथा पासे फेंकनेकी कलाका भी मैं विशेषज्ञ हूँ ।।

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम् ।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जुआ खेलना बहुत प्रिय है, परंतु वे उसे खेलना जानते नहीं हैं ।। ३८½ ।।

आहूतश्चैष्यति व्यक्तं द्यूतादपि रणादपि ।। ३९ ।।

द्यूत अथवा युद्ध किसी भी उद्देश्यसे यदि उन्हें बुलाया जाय, तो वे अवश्य पधारेंगे ।। ३९ ।।

नियतं तं विजेष्यामि कृत्वा तु कपटं विभो ।
आनयामि समृद्धिं तां दिव्यां चोपाह्वयस्व तम् ।। ४० ।।

प्रभो! मैं छल करके युधिष्ठिरको निश्चय ही जीत लूँगा और उनकी उस दिव्य समृद्धिको यहाँ मँगा लूँगा; अतः तुम उन्हें बुलाओ ।। ४० ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः शकुनिना राजा दुर्योधनस्ततः ।
धृतराष्ट्रमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ।। ४१ ।।
अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रस्य तदनुज्ञातुमर्हसि ।। ४२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शकुनिके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने तुरंत ही धृतराष्ट्रसे इस प्रकार कहा—'राजन्! ये अक्षविद्याका मर्म जाननेवाले हैं और जूएके द्वारा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी राजलक्ष्मीका अपहरण कर लेनेका उत्साह रखते हैं; अतः इसके लिये इन्हें आज्ञा दीजिये' ।। ४१-४२ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्ता मन्त्री महाप्राज्ञः स्थितो यस्यास्मि शासने ।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ।। ४३ ।।

धृतराष्ट्र बोले—महाबुद्धिमान् विदुर मेरे मन्त्री हैं, जिनके आदेशके अनुसार मैं चलता हूँ। उनसे मिलकर विचार करनेके पश्चात् मैं यह समझ सकूँगा कि इस कार्यके सम्बन्धमें क्या निश्चय किया जाय? ।। ४३ ।।

स हि धर्मं पुरस्कृत्य दीर्घदर्शी परं हितम् ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं वक्ष्यत्यर्थविनिश्चयम् ।। ४४ ।।

विदुर दूरदर्शी हैं, वे धर्मको सामने रखकर दोनों पक्षोंके लिये उचित और परम हितकी बात सोचकर उसके अनुकूल ही कार्यका निश्चय बतायेंगे ।। ४४ ।।

दुर्योधन उवाच

निवर्तयिष्यति त्वासौ यदि क्षत्ता समेष्यति ।
निवृत्ते त्वयि राजेन्द्र मरिष्येऽहमसंशयम् ।। ४५ ।।

दुर्योधनने कहा—विदुरजी जब आपसे मिलेंगे, तब अवश्य ही आपको इस कार्यसे निवृत्त कर देंगे। राजेन्द्र! यदि आपने इस कार्यसे मुँह मोड़ लिया तो मैं निःसंदेह प्राण त्याग दूँगा ।। ४५ ।।

स त्वं मयि मृते राजन् विदुरेण सुखी भव ।
भोक्ष्यसे पृथिवीं कृत्स्नां किं मया त्वं करिष्यसि ।। ४६ ।।

राजन्! मेरी मृत्यु हो जानेपर आप विदुरके साथ सुखसे रहियेगा और सारी पृथ्वीका राज्य भोगियेगा। मेरे जीवित रहनेसे आप क्या प्रयोजन सिद्ध करेंगे? ।। ४६ ।।

वैशम्पायन उवाच

आर्तवाक्यं तु तत् तस्य प्रणयोक्तं निशम्य सः ।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीत् प्रेष्यान् दुर्योधनमते स्थितः ।। ४७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने पुत्रका यह प्रेमपूर्ण आर्त वचन सुनकर राजा धृतराष्ट्र दुर्योधनके मतमें आ गये और सेवकोंसे इस प्रकार बोले— ।। ४७ ।।

स्थूणासहस्रैर्बृहतीं शतद्वारां सभां मम ।
मनोरमां दर्शनीयामाशु कुर्वन्तु शिल्पिनः ।। ४८ ।।

'बहुत-से शिल्पी लगकर एक परम सुन्दर दर्शनीय एवं विशाल सभाभवनका शीघ्र निर्माण करें। उसमें सौ दरवाजे हों और एक हजार खंभे लगे हुए हों ।। ४८ ।।

ततः संस्तीर्य रत्नैस्तां तक्षण आनाय्य सर्वशः ।
सुकृतां सुप्रवेशां च निवेदयत मे शनैः ।। ४९ ।।

'फिर सब देशोंसे बढ़ई बुलाकर उस सभाभवनके खंभों और दीवारोंमें रत्न जड़वा दिये जायँ। इस प्रकार वह सुन्दर एवं सुसज्जित सभाभवन जब सुखपूर्वक प्रवेशके योग्य हो जाय, तब धीरे-से मेरे पास आकर इसकी सूचना दो' ।। ४९ ।।

दुर्योधनस्य शान्त्यर्थमिति निश्चित्य भूमिपः ।
धृतराष्ट्रो महाराज प्राहिणोद् विदुराय वै ।। ५० ।।

महाराज! दुर्योधनकी शान्तिके लिये ऐसा निश्चय करके राजा धृतराष्ट्रने विदुरके पास दूत भेजा ।। ५० ।।

अपृष्ट्वा विदुरं स्वस्य नासीत् कश्चिद् विनिश्चयः ।
द्यूते दोषांश्च जानन् स पुत्रस्नेहादकृष्यत ।। ५१ ।।

विदुरसे पूछे बिना उनका कोई भी निश्चय नहीं होता था। जूएके दोषोंको जानते हुए भी वे पुत्रस्नेहसे उसकी ओर आकृष्ट हो गये थे ।। ५१ ।।

तच्छ्रुत्वा विदुरो धीमान् कलिद्वारमुपस्थितम् ।
विनाशमुखमुत्पन्नं धृतराष्ट्रमुपाद्रवत् ।। ५२ ।।

बुद्धिमान् विदुर कलहके द्वाररूप जूएका अवसर उपस्थित हुआ सुनकर और विनाशका मुख प्रकट हुआ जान धृतराष्ट्रके पास दौड़े आये ।। ५२ ।।

सोऽभिगम्य महात्मानं भ्राता भ्रातरमग्रजम् ।
मूर्ध्ना प्रणम्य चरणाविदं वचनमब्रवीत् ।। ५३ ।।

विदुरने अपने श्रेष्ठ भ्राता महामना धृतराष्ट्रके पास जाकर उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा ।। ५३ ।।

विदुर उवाच

नाभिनन्दामि ते राजन् व्यवसायमिमं प्रभो ।
पुत्रैर्भेदो यथा न स्याद् द्यूतहेतोस्तथा कुरु ।। ५४ ।।

विदुर बोले—राजन्! मैं आपके इस निश्चयको पसंद नहीं करता। प्रभो! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे जूएके लिये आपके और पाण्डुके पुत्रोंमें भेदभाव न हो ।। ५४ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्तः पुत्रेषु पुत्रैर्मे कलहो न भविष्यति ।
यदि देवाः प्रसादं नः करिष्यन्ति न संशयः ।। ५५ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! यदि हमलोगोंपर देवताओंकी कृपा होगी तो मेरे पुत्रोंका पाण्डुपुत्रोंके साथ निःसंदेह कलह न होगा ।। ५५ ।।

अशुभं वा शुभं वापि हितं वा यदि वाहितम् ।
प्रवर्ततां सुहृद्द्यूतं दिष्टमेतन्न संशयः ।। ५६ ।।

अशुभ हो या शुभ, हितकर हो या अहितकर, सुहृदोंमें यह द्यूतक्रीड़ा प्रारम्भ होनी ही चाहिये। निःसंदेह यह भाग्यसे ही प्राप्त हुई है ।। ५६ ।।

मयि संनिहिते द्रोणे भीष्मे त्वयि च भारत ।
अनयो दैवविहितो न कथंचिद् भविष्यति ।। ५७ ।।

भारत! जब मैं, द्रोणाचार्य, भीष्मजी तथा तुम—ये सब लोग संनिकट रहेंगे, तब किसी प्रकार दैवविहित अन्याय नहीं होने पायेगा ।। ५७ ।।

गच्छ त्वं रथमास्थाय हयैर्वातसमैर्जवे ।
खाण्डवप्रस्थमद्यैव समानय युधिष्ठिरम् ।। ५८ ।।

तुम वायुके समान वेगशाली घोड़ोंद्वारा जुते हुए रथपर बैठकर अभी खाण्डवप्रस्थको जाओ और युधिष्ठिरको बुला ले आओ ।। ५८ ।।

न वाच्यो व्यवसायो मे विदुरैतद् ब्रवीमि ते ।
दैवमेव परं मन्ये येनैतदुपपद्यते ।। ५९ ।।

विदुर! मेरा निश्चय तुम युधिष्ठिरसे न बताना; यह बात मैं तुमसे कहे देता हूँ। मैं दैवको भी प्रबल मानता हूँ, जिसकी प्रेरणासे यह द्यूतक्रीड़ाका आरम्भ होने जा रहा है ।।

इत्युक्तो विदुरो धीमान् नेदमस्तीति चिन्तयन् ।
आपगेयं महाप्राज्ञमभ्यगच्छत् सुदुःखितः ।। ६० ।।

धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् विदुरजी यह सोचते हुए कि यह द्यूतक्रीड़ा अच्छी नहीं है, अत्यन्त दुःखी हो महाज्ञानी गंगानन्दन भीष्मजीके पास गये ।। ६९ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ४९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रको अपने दुःख और चिन्ताका कारण बताना

जनमेजय उवाच

कथं समभवद् द्यूतं भ्रातॄणां तन्महात्ययम् ।
यत्र तद् व्यसनं प्राप्तं पाण्डवैर्मे पितामहैः ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—मुने! भाइयोंमें वह महाविनाशकारी द्यूत किस प्रकार आरम्भ हुआ; जिसमें मेरे पितामह पाण्डवोंको उस महान् संकटका सामना करना पड़ा? ।। १ ।।

के च तत्र सभास्तारा राजानो ब्रह्मवित्तम ।
के चैनमन्वमोदन्त के चैनं प्रत्यषेधयन् ।। २ ।।

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! वहाँ कौन-कौन-से राजा सभासद् थे? किसने द्यूतक्रीड़ाका अनुमोदन किया और किसने निषेध? ।। २ ।।

विस्तरेणैतदिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज ।
मूलं ह्येतद् विनाशस्य पृथिव्या द्विजसत्तम ।। ३ ।।

ब्रह्मन्! मैं इस प्रसंगको आपके मुखसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। विप्रवर! यह द्यूत ही समस्त भूमण्डलके विनाशका मुख्य कारण है ।। ३ ।।

सौतिरुवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा व्यासशिष्यः प्रतापवान् ।
आचचक्षेऽथ यद् वृत्तं तत् सर्वं वेदतत्त्ववित् ।। ४ ।।

सौति कहते हैं—राजाके इस प्रकार पूछनेपर व्यासजीके प्रतापी शिष्य वेदतत्त्वज्ञ वैशम्पायनजी वह सब प्रसंग सुनाने लगे ।। ४ ।।

वैशम्पायन उवाच

शृणु मे विस्तरेणेमां कथां भारतसत्तम ।
भूय एव महाराज यदि ते श्रवणे मतिः ।। ५ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—भरतवंशशिरोमणे! महाराज जनमेजय! यदि तुम्हारा मन यह सब सुननेमें लगता है तो पुनः विस्तारके साथ इस कथाको सुनो ।। ५ ।।

विदुरस्य मतिं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमुवाच विजने पुनः ।। ६ ।।

विदुरका विचार जानकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने एकान्तमें दुर्योधनसे पुनः इस प्रकार कहा— ।। ६ ।।

अलं द्यूतेन गान्धारे विदुरो न प्रशंसति ।
न ह्यसौ सुमहाबुद्धिरहितं नो वदिष्यति ।। ७ ।।

'गान्धारीनन्दन! जूएका खेल नहीं होना चाहिये, विदुर इसे अच्छा नहीं बताते हैं। महाबुद्धिमान् विदुर हमें कोई ऐसी सलाह नहीं देंगे, जिससे हमलोगोंका अहित होनेवाला हो ।। ७ ।।

हितं हि परमं मन्ये विदुरो यत् प्रभाषते ।
क्रियतां पुत्र तत् सर्वमेतन्मन्ये हितं तव ।। ८ ।।

'विदुर जो कहते हैं, उसीको मैं अपना सर्वोत्तम हित मानता हूँ। बेटा! तुम भी वही सब करो। मेरी समझमें तुम्हारे लिये यही हितकर है ।। ८ ।।

देवर्षिर्वासवगुरुर्देवराजाय धीमते ।
यत् प्राह शास्त्रं भगवान् बृहस्पतिरुदारधीः ।
तद् वेद विदुरः सर्वं सरहस्यं महाकविः ।। ९ ।।
स्थितस्तु वचने तस्य सदाहमपि पुत्रक ।
विदुरो वापि मेधावी कुरूणां प्रवरो मतः ।। १० ।।
उद्धवो वा महाबुद्धिर्वृष्णीनामर्चितो नृप ।
तदलं पुत्र द्यूतेन द्यूते भेदो हि दृश्यते ।। ११ ।।

'उदार बुद्धिवाले इन्द्रगुरु देवर्षि भगवान् बृहस्पतिने परम बुद्धिमान् देवराज इन्द्रको जिस शास्त्रका उपदेश दिया था, वह सब उसके रहस्यसहित महाज्ञानी विदुर जानते हैं। बेटा! मैं भी सदा विदुरकी बात मानता हूँ। कुरुकुलमें सबसे श्रेष्ठ और मेधावी विदुर माने गये हैं तथा वृष्णिवंशमें पूजित उद्धवको परम बुद्धिमान् बताया गया है। अतः बेटा! जूआ खेलनेसे कोई लाभ नहीं है। जूएमें वैर-विरोधकी सम्भावना दिखायी देती है ।। ९—११ ।।

भेदे विनाशो राज्यस्य तत् पुत्र परिवर्जय ।
पित्रा मात्रा च पुत्रस्य यद् वै कार्यं परं स्मृतम् ।। १२ ।।

'वैर-विरोध होनेसे राज्यका नाश हो जाता है, अतः पुत्र! जूएका आग्रह छोड़ दो। पिता-माताको चाहिये कि वे पुत्रको उत्तम कर्तव्यकी शिक्षा दें; इसीलिये मैंने ऐसा कहा है ।। १२ ।।

प्राप्तस्त्वमसि तन्नाम पितृपैतामहं पदम् ।
अधीतवान् कृती शास्त्रे लालितः सततं गृहे ।। १३ ।।

'बेटा! तुम अपने बाप-दादोंके पदपर प्रतिष्ठित हो, तुमने वेदोंका स्वाध्याय किया है, शास्त्रोंकी विद्वत्ता प्राप्त की है और घरमें सदा तुम्हारा लालन-पालन हुआ है ।। १३ ।।

भ्रातृज्येष्ठः स्थितो राज्ये विन्दसे किं न शोभनम् ।
पृथग्जनैरलभ्यं यद् भोजनाच्छादनं परम् ।। १४ ।।
तत् प्राप्तोऽसि महाबाहो कस्माच्छोचसि पुत्रक ।

स्फीतं राष्ट्रं महाबाहो पितृपैतामहं महत् ।। १५ ।।

'महाबाहो! तुम अपने भाइयोंमें बड़े हो, अतः राजाके पदपर स्थित हो, तुम्हें किस कल्याणमय वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती है? दूसरे लोगोंके लिये जो अलभ्य है, वह उत्तम भोजन और वस्त्र तुम्हें प्राप्त हैं। फिर तुम क्यों शोक करते हो? महाबाहो! तुम्हारे बाप-दादोंका यह महान् राष्ट्र धन-धान्यसे सम्पन्न है ।। १४-१५ ।।

नित्यमाज्ञापयन् भासि दिवि देवेश्वरो यथा ।
तस्य ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम् ।
समुत्थितं दुःखकरं यन्मे शंसितुमर्हसि ।। १६ ।।

'स्वर्गमें देवराज इन्द्रकी भाँति तुम इस लोकमें सदा सबपर शासन करते हुए शोभा पाते हो। तुम्हारी उत्तम बुद्धि प्रसिद्ध है। फिर तुम्हें शोककी कारणभूत यह दुःखदायिनी चिन्ता कैसे प्राप्त हुई है? यह मुझसे बताओ' ।। १६ ।।

दुर्योधन उवाच

अश्नाम्याच्छादयामीति प्रपश्यन् पापपूरुषः ।
नामर्षं कुरुते यस्तु पुरुषः सोऽधमः स्मृतः ।। १७ ।।

दुर्योधन बोला—मैं अच्छा खाता हूँ और अच्छा पहिनता हूँ, इतना ही देखते हुए जो पापी पुरुष शत्रुओंके प्रति ईर्ष्या नहीं करता, वह अधम बताया गया है ।। १७ ।।

न मां प्रीणाति राजेन्द्र लक्ष्मीः साधारणी विभो ।
ज्वलितामेव कौन्तेये श्रियं दृष्ट्वा च विव्यथे ।। १८ ।।

राजेन्द्र! यह साधारण लक्ष्मी मुझे प्रसन्न नहीं कर पाती। मैं तो कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी उस जगमगाती हुई लक्ष्मीको देखकर व्यथित हो रहा हूँ ।। १८ ।।

सर्वां च पृथिवीं चैव युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
स्थिरोऽस्मि योऽहं जीवामि दुःखादेतद् ब्रवीमि ते ।। १९ ।।

सारी पृथ्वी युधिष्ठिरके अधीन हो गयी है; फिर भी मैं पाषाणतुल्य हूँ, जो कि ऐसा दुःख प्राप्त होनेपर भी जीवित हूँ और आपसे बातें करता हूँ ।। १९ ।।

आवर्जिता इवाभान्ति नीपाश्चित्रककौकुराः ।
कारस्कारा लोहजङ्घा युधिष्ठिरनिवेशने ।। २० ।।

नीप, चित्रक, कुकुर, कारस्कर तथा लोहजंघ आदि क्षत्रियनरेश युधिष्ठिरके घरमें सेवकोंकी भाँति सेवा करते हुए शोभा पा रहे थे ।। २० ।।

हिमवत्सागरानूपाः सर्वे रत्नाकरास्तथा ।
अन्त्याः सर्वे पर्युदस्ता युधिष्ठिरनिवेशने ।। २१ ।।

हिमालय प्रदेश तथा समुद्री द्वीपोंके रहनेवाले और रत्नोंकी खानोंके सभी अधिपति म्लेच्छजातीय नरेश युधिष्ठिरके घरमें प्रवेश करने नहीं पाते थे, उन्हें महलसे दूर ही ठहराया

गया था ।। २१ ।।

ज्येष्ठोऽयमिति मां मत्वा श्रेष्ठश्चेति विशाम्पते ।

युधिष्ठिरेण सत्कृत्य युक्तो रत्नपरिग्रहे ।। २२ ।।

महाराज! मुझे अन्य सब भाइयोंसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ मानकर युधिष्ठिरने सत्कारपूर्वक रत्नोंकी भेंट लेनेके कामपर नियुक्त कर दिया था ।। २२ ।।

उपस्थितानां रत्नानां श्रेष्ठानामर्घहारिणाम् ।

नादृश्यत परः पारो नापरस्तत्र भारत ।। २३ ।।

भारत! वहाँ भेंट लाये हुए नरेशोंके द्वारा उपस्थित श्रेष्ठ और बहुमूल्य रत्नोंकी जो राशि एकत्र हुई थी, उसका आरपार दिखायी नहीं देता था ।। २३ ।।

न मे हस्तः समभवद् वसु तत् प्रतिगृह्णतः ।

अतिष्ठन्त मयि श्रान्ते गृह्य दूराहृतं वसु ।। २४ ।।

उस रत्नराशिको ग्रहण करते-करते जब मेरा हाथ थक गया, तब मेरे थक जानेपर राजालोग रत्नराशि लिये बहुत दूरतक खड़े दिखायी देने लगते थे ।। २४ ।।

कृतां विन्दुसरोरत्नैर्मयेन स्फाटिकच्छदाम् ।

अपश्यं नलिनीं पूर्णामुदकस्येव भारत ।। २५ ।।

वस्त्रमुत्कर्षति मयि प्राहसत् स वृकोदरः ।

शत्रोर्ऋद्धिविशेषेण विमूढं रत्नवर्जितम् ।। २६ ।।

भारत! बिन्दु-सरोवरसे लाये हुए रत्नोंद्वारा मयासुरने एक कृत्रिम पुष्करिणीका निर्माण किया था, जो स्फटिकमणिकी शिलाओंसे आच्छादित है। वह मुझे जलसे भरी हुई-सी दिखायी दी। भारत! जब मैं उसमें उतरनेके लिये वस्त्र उठाने लगा, तब भीमसेन ठठाकर हँस पड़े। शत्रुकी विशिष्ट समृद्धिसे मैं मूढ़-सा हो रहा था और रत्नोंसे रहित तो था ही ।। २५-२६ ।।

तत्र स्म यदि शक्तः स्यां पातयेऽहं वृकोदरम् ।

यदि कुर्यां समारम्भं भीमं हन्तुं नराधिप ।। २७ ।।

शिशुपाल इवास्माकं गतिः स्यान्नात्र संशयः ।

सपत्नेनावहासो मे स मां दहति भारत ।। २८ ।।

उस समय वहाँ यदि मैं समर्थ होता तो भीमसेनको वहीं मार गिराता। राजन्! यदि मैं भीमसेनको मारनेका उद्योग करता तो मेरी भी शिशुपालकी-सी ही दशा हो जाती; इसमें संशय नहीं है। भारत! शत्रुके द्वारा किया हुआ उपहास मुझे दग्ध किये देता है ।। २७-२८ ।।

पुनश्च तादृशीमेव वापीं जलजशालिनीम् ।

मत्वा शिलासमां तोये पतितोऽस्मि नराधिप ।। २९ ।।

नरेश्वर! मैंने पुनः एक वैसी ही बावलीको देखकर, जो कमलोंसे सुशोभित हो रही थी, समझा कि यह भी पहली पुष्करिणीकी भाँति स्फटिकशिलासे पाटकर बराबर कर दी गयी

होगी; परंतु वह वास्तवमें जलसे परिपूर्ण थी, इसीलिये मैं भ्रमसे उसमें गिर पड़ा ।। २९ ।।

तत्र मां प्राहसत् कृष्णः पार्थेन सह सुस्वरम् ।
द्रौपदी च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम ।। ३० ।।

वहाँ श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ मेरी ओर देखकर जोर-जोरसे हँसने लगे। स्त्रियोंसहित द्रौपदी भी मेरे हृदयमें चोट पहुँचाती हुई हँस रही थी ।। ३० ।।

क्लिन्नवस्त्रस्य तु जले किंकरा राजनोदिताः ।
ददुर्वासांसि मेऽन्यानि तच्च दुःखं परं मम ।। ३१ ।।

मेरे सब कपड़े जलमें भीग गये थे; अतः राजाकी आज्ञासे सेवकोंने मुझे दूसरे वस्त्र दिये। यह मेरे लिये बड़े दुःखकी बात हुई ।। ३१ ।।

प्रलम्भं च शृणुष्वान्यद् वदतो मे नराधिप ।
अद्वारेण विनिर्गच्छन् द्वारसंस्थानरूपिणा ।
अभिहत्य शिलां भूयो ललाटेनास्मि विक्षतः ।। ३२ ।।

महाराज! एक और वंचना मुझे सहनी पड़ी, जिसे बताता हूँ, सुनिये। एक जगह बिना द्वारके ही द्वारकी आकृति बनी हुई थी, मैं उसीसे निकलने लगा; अतः शिलासे टकरा गया। जिससे मेरे ललाटमें बड़े जोरकी चोट लगी ।। ३२ ।।

तत्र मां यमजौ दूरादालोक्याभिहतं तदा ।
बाहुभिः परिगृह्णीतां शोचन्तौ सहितायुभौ ।। ३३ ।।

उस समय नकुल और सहदेवने दूरसे मुझे टकराते देख निकट आकर अपने हाथोंसे मुझे पकड़ लिया और दोनों भाई साथ रहकर मेरे लिये शोक करने लगे ।। ३३ ।।

उवाच सहदेवस्तु तत्र मां विस्मयन्निव ।
इदं द्वारमितो गच्छ राजन्निति पुनः पुनः ।। ३४ ।।

वहाँ सहदेवने मुझे आश्चर्यमें डालते हुए बार-बार यह कहा—'राजन्! यह दरवाजा है, इधर चलिये' ।। ३४ ।।

भीमसेनेन तत्रोक्तो धृतराष्ट्रात्मजेति च ।
सम्बोध्य प्रहसित्वा च इतो द्वारं नराधिप ।। ३५ ।।

महाराज! वहाँ भीमसेनने मुझे 'धृतराष्ट्रपुत्र' कहकर सम्बोधित किया और हँसते हुए कहा—'राजन्! इधर दरवाजा है' ।। ३५ ।।

नामधेयानि रत्नानां पुरस्तान्न श्रुतानि मे ।
यानि दृष्टानि मे तस्यां मनस्तपति तच्च मे ।। ३६ ।।

मैंने उस सभामें जो-जो रत्न देखे हैं, उनके पहले कभी नाम नहीं सुने थे; अतः इन सब बातोंके लिये मेरे मनमें बड़ा संताप हो रहा है ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५० ।।

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको भेंटमें मिली हुई वस्तुओंका दुर्योधनद्वारा वर्णन

दुर्योधन उवाच

यन्मया पाण्डवेयानां दृष्टं तच्छृणु भारत ।
आहृतं भूमिपालैर्हि वसु मुख्यं ततस्ततः ।। १ ।।

दुर्योधन बोला—भारत! मैंने पाण्डवोंके यज्ञमें राजाओंके द्वारा भिन्न-भिन्न देशोंसे लाये हुए जो उत्तम धनरत्न देखे थे, उन्हें बताता हूँ, सुनिये ।। १ ।।

नाविदं मूढमात्मानं दृष्ट्वाहं तदरेर्धनम् ।
फलतो भूमितो वापि प्रतिपद्यस्व भारत ।। २ ।।

भरतकुलभूषण! आप सच मानिये, शत्रुओंका वह वैभव देखकर मेरा मन मूढ़-सा हो गया था। मैं इस बातको न जान सका कि यह धन कितना है और किस देशसे लाया गया है ।। २ ।।

और्णान् बैलान् वार्षदंशान् जातरूपपरिष्कृतान् ।
प्रावाराजिनमुख्यांश्च काम्बोजः प्रददौ बहून् ।। ३ ।।
अश्वांस्तित्तिरिकल्माषांस्त्रिशतं शुकनासिकान् ।
उष्ट्रवामीस्त्रिशतं च पुष्टाः पीलुशमीङ्गुदैः ।। ४ ।।

काम्बोजनरेशने भेड़के ऊन, बिलमें रहनेवाले चूहे आदिके रोएँ तथा बिल्लियोंकी रोमावलियोंसे तैयार किये हुए सुवर्णचित्रित बहुत-से सुन्दर वस्त्र और मृगचर्म भेंटमें दिये थे। तीतर पक्षीकी भाँति चितकबरे और तोतेके समान नाकवाले तीन सौ घोड़े दिये थे। इसके सिवा तीन-तीन सौ ऊँटनियाँ और खच्चरियाँ भी दी थीं, जो पीलु, शमी और इंगुद खाकर मोटी-ताजी हुई थीं ।। ३-४ ।।

गोवासना ब्राह्मणाश्च दासनीयाश्च सर्वशः ।
प्रीत्यर्थं ते महाराज धर्मराज्ञो महात्मनः ।। ५ ।।
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।
ब्रह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसङ्घशः ।। ६ ।।
कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान् ।
एवं बलिं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ।। ७ ।।

महाराज! ब्राह्मणलोग तथा गाय-बैलोंका पोषण करनेवाले वैश्य और दास-कर्मके योग्य शूद्र आदि सभी महात्मा धर्मराजकी प्रसन्नताके लिये तीन खर्बके लागतकी भेंट लेकर दरवाजेपर रोके हुए खड़े थे। ब्राह्मणलोग तथा हरी-भरी खेती उपजाकर जीवन-निर्वाह करनेवाले और बहुत-से गाय-बैल रखनेवाले वैश्य सैकड़ों दलोंमें इकट्ठे होकर सोनेके बने

हुए सुन्दर कलश एवं अन्य भेंट-सामग्री लेकर द्वारपर खड़े थे। परंतु भीतर प्रवेश नहीं कर पाते थे ।। ५—७ ।।

(यश्च स द्विजमुख्येन राज्ञः शङ्खो निवेदितः ।
प्रीत्या दत्तः कुणिन्देन धर्मराजाय धीमते ।।

द्विजोंमें प्रधान राजा कुणिन्दने परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरको बड़े प्रेमसे एक शंख निवेदन किया।

तं सर्वे भ्रातरो भ्रात्रे ददुः शङ्खं किरीटिने ।
तं प्रत्यगृह्णाद् बीभत्सुस्तोयजं हेममालिनम् ।।
चितं निष्कसहस्रेण भ्राजमानं स्वतेजसा ।

उस शंखको सब भाइयोंने मिलकर किरीटधारी अर्जुनको दे दिया। उसमें सोनेका हार जड़ा हुआ था और एक हजार स्वर्णमुद्राएँ मढ़ी गयी थीं। अर्जुनने उसे सादर ग्रहण किया। वह शंख अपने तेजसे प्रकाशित हो रहा था।

रुचिरं दर्शनीयं च भूषितं विश्वकर्मणा ।।
अधारयच्च धर्मश्च तं नमस्य पुनः पुनः ।

साक्षात् विश्वकर्माने उसे रत्नोंद्वारा विभूषित किया था। वह बहुत ही सुन्दर और दर्शनीय था। साक्षात् धर्मने उस शंखको बार-बार नमस्कार करके धारण किया था।

यो अन्नदाने नदति स ननादाधिकं तदा ।।
प्रणादाद् भूमिपास्तस्य पेतुर्हीनाः स्वतेजसा ।।

अन्नदान करनेपर वह शंख अपने-आप बज उठता था। उस समय उस शंखने बड़े जोरसे अपनी ध्वनिका विस्तार किया। उसके गम्भीर नादसे समस्त भूमिपाल तेजोहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़े।

धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः ।

सत्त्वस्थाः शौर्यसम्पन्ना अन्योन्यप्रियकारिणः ।।

केवल धृष्टद्युम्न, पाँच पाण्डव, सात्यकि तथा आठवें श्रीकृष्ण धैर्यपूर्वक खड़े रहे। ये सब-के-सब एक-दूसरेका प्रिय करनेवाले तथा शौर्यसे सम्पन्न हैं।

विसंज्ञान् भूमिपान् दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा ।।

ततः प्रहृष्टो बीभत्सुरददाद्धेमशृङ्गिणः ।

शतान्यनडुहां पञ्च द्विजमुख्याय भारत ।।

इन्होंने मुझको तथा दूसरे भूमिपालोंको मूर्च्छित हुआ देख जोर-जोरसे हँसना आरम्भ किया। उस समय अर्जुनने अत्यन्त प्रसन्न होकर एक श्रेष्ठ ब्राह्मणको पाँच सौ हृष्ट-पुष्ट बैल दिये। वे बैल गाड़ीका बोझ ढोनेमें समर्थ थे और उनके सींगोंमें सोना मढ़ा गया था।

सुमुखेन बलिर्मुख्यः प्रेषितोऽजातशत्रवे ।

कुणिन्देन हिरण्यं च वासांसि विविधानि च ।।

भारत! राजा सुमुखने अजातशत्रु युधिष्ठिरके पास भेंटकी प्रमुख वस्तुएँ भेजी थीं। कुणिन्दने भाँति-भाँतिके वस्त्र और सुवर्ण दिये थे।

काश्मीरराजो मार्द्वीकं शुद्धं च रसवन्मधु ।

बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवायाभ्युपाहरत् ।।

काश्मीरनरेशने मीठे तथा रसीले शुद्ध अंगूरोंके गुच्छे भेंट किये थे। साथ ही सब प्रकारकी उपहार-सामग्री लेकर उन्होंने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित की थी।

यवना हयानुपादाय पर्वतीयान् मनोजवान् ।

आसनानि महार्हाणि कम्बलांश्च महाधनान् ।।

नवान् विचित्रान् सूक्ष्मांश्च परार्घ्यान् सुप्रदर्शनान् ।

अन्यच्च विविधं रत्नं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।।

कितने ही यवन मनके समान वेगशाली पर्वतीय घोड़े, बहुमूल्य आसन, नूतन, सूक्ष्म, विचित्र दर्शनीय और कीमती कम्बल, भाँति-भाँतिके रत्न तथा अन्य वस्तुएँ लेकर राजद्वारपर खड़े थे, फिर भी अंदर नहीं जाने पाते थे।

श्रुतायुरपि कालिङ्गो मणिरत्नमनुत्तमम् ।

कलिंगनरेश श्रुतायुने उत्तम मणिरत्न भेंट किये।

दक्षिणात् सागराभ्याशात् प्रावारांश्च परःशतान् ।।

औदकानि सरत्नानि बलिं चादाय भारत ।

अन्येभ्यो भूमिपालेभ्यः पाण्डवाय न्यवेदयत् ।।

इसके सिवा, उन्होंने दूसरे भूपालोंसे दक्षिण समुद्रके निकटसे सैकड़ों उत्तरीय वस्त्र, शंख, रत्न तथा अन्य उपहार-सामग्री लेकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको समर्पित की।

दार्दुरं चन्दनं मुख्यं भारान् षण्णवतिं ध्रुवम् ।
पाण्डवाय ददौ पाण्ड्यः शङ्खांस्तावत एव च ।।

पाण्ड्यनरेशने मलय और दर्दुरपर्वतके श्रेष्ठ चन्दनके छियानबे भार युधिष्ठिरको भेंट किये। फिर उतने ही शंख भी समर्पित किये।

चन्दनागरु चानन्तं मुक्तावैदूर्यचित्रकाः ।
चोलश्च केरलश्चोभौ ददतुः पाण्डवाय वै ।।

चोल और केरलदेशके नरेशोंने असंख्य चन्दन, अगुरु तथा मोती, वैदूर्य तथा चित्रक नामक रत्न धर्मराज युधिष्ठिरको अर्पित किये।

अश्मको हेमशृङ्गीश्च दोग्ध्रीर्हेमविभूषिताः ।
सवत्साः कुम्भदोहाश्च गाः सहस्राण्यदाद् दश ।।

राजा अश्मकने बछड़ोंसहित दस हजार दुधारू गौएँ भेंट कीं, जिनके सींगोंमें सोना मढ़ा हुआ था और गलेमें सोनेके आभूषण पहनाये गये थे। उनके थन घड़ोंके समान दिखायी देते थे।

सैन्धवानां सहस्राणि हयानां पञ्चविंशतिम् ।
अददात् सैन्धवो राजा हेममाल्यैरलंकृतान् ।।

सिन्धुनरेशने सुवर्णमालाओंसे अलंकृत पचीस हजार सिन्धुदेशीय घोड़े उपहारमें दिये थे।

सौवीरो हस्तिभिर्युक्तान् रथांश्च त्रिशतावरान् ।
जातरूपपरिष्कारान् मणिरत्नविभूषितान् ।।
मध्यंदिनार्कप्रतिमांस्तेजसाप्रतिमानिव ।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवाय न्यवेदयत् ।।

सौवीरराजने हाथी जुते हुए रथ प्रदान किये, जो तीन सौसे कम न रहे होंगे। उन रथोंको सुवर्ण, मणि तथा रत्नोंसे सजाया गया था। वे दोपहरके सूर्यकी भाँति जगमगा रहे थे। उनसे जो प्रभा फैल रही थी, उसकी कहीं भी उपमा न थी। इन रथोंके सिवा, उन्होंने अन्य सब प्रकारकी भी उपहार-सामग्री युधिष्ठिरको भेंट की थी।

अवन्तिराजो रत्नानि विविधानि सहस्रशः ।
हाराङ्गदांश्च मुख्यान् वै विविधं च विभूषणम् ।।
दासीनामयुतं चैव बलिमादाय भारत ।
सभाद्वारि नरश्रेष्ठ दिदृक्षुरवतिष्ठते ।।

नरश्रेष्ठ भरतनन्दन! अवन्तीनरेश नाना प्रकारके सहस्रों रत्न, हार, श्रेष्ठ अंगद (बाजूबंद), भाँति-भाँतिके अन्यान्य आभूषण, दस हजार दासियों तथा अन्यान्य उपहार-

सामग्री साथ लेकर राजसभाके द्वारपर खड़े थे और भीतर जाकर युधिष्ठिरका दर्शन पानेके लिये उत्सुक हो रहे थे।

दशार्णश्चेदिराजश्च शूरसेनश्च वीर्यवान् ।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवाय न्यवेदयत् ।।

दशार्णनरेश, चेदिराज तथा पराक्रमी राजा शूरसेनने सब प्रकारकी उपहार-सामग्री लाकर युधिष्ठिरको समर्पित की।

काशिराजेन हृष्टेन बली राजन् निवेदितः ।।
अशीतिगोसहस्राणि शतान्यष्टौ च दन्तिनाम् ।
विविधानि च रत्नानि काशिराजो बलिं ददौ ।।

राजन्! काशीनरेशने भी बड़ी प्रसन्नताके साथ अस्सी हजार गौएँ, आठ सौ गजराज तथा नाना प्रकारके रत्न भेंट किये।

कृतक्षणश्च वैदेहः कौसलश्च बृहद्बलः ।
ददतुर्वाजिमुख्यांश्च सहस्राणि चतुर्दश ।।

विदेहराज कृतक्षण तथा कोसलनरेश बृहद्बलने चौदह-चौदह हजार उत्तम घोड़े दिये थे।

शैब्यो वसादिभिः सार्धं त्रिगर्तो मालवैः सह ।
तस्मै रत्नानि ददतुरेकैको भूमिपोऽमितम् ।।
हारांस्तु मुक्तान् मुख्यांश्च विविधं च विभूषणम् ।)

वस आदि नरेशोंसहित राजा शैब्य तथा मालवोंसहित त्रिगर्तराजने युधिष्ठिरको बहुत-से रत्न भेंट किये, उनमेंसे एक-एक भूपालने असंख्य हार, श्रेष्ठ मोती तथा भाँति-भाँतिके आभूषण समर्पित किये थे।

शतं दासीसहस्राणां कार्पासिकनिवासिनाम् ।। ८ ।।
श्यामास्तन्व्यो दीर्घकेश्यो हेमाभरणभूषिताः ।

कार्पासिक देशमें निवास करनेवाली एक लाख दासियाँ उस यज्ञमें सेवा कर रही थीं। वे सब-की-सब श्यामा तथा तन्वंगी थीं। उन सबके केश बड़े-बड़े थे और वे सभी सोनेके आभूषणोंसे विभूषित थीं ।। ८½ ।।

शूद्रा विप्रोत्तमार्हाणि राङ्कवाण्यजिनानि च ।। ९ ।।
बलिं च कृत्स्नमादाय भरुकच्छनिवासिनः ।
उपनिन्युर्महाराज हयान् गान्धारदेशजान् ।। १० ।।

महाराज! भरुकच्छ (भड़ौंच)-निवासी शूद्र श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके उपयोगमें आनेयोग्य रंकुमृगके चर्म तथा अन्य सब प्रकारकी भेंट-सामग्री लेकर उपस्थित हुए थे। वे अपने साथ गान्धारदेशके बहुत-से घोड़े भी लाये थे ।। ९-१० ।।

इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैर्ये च नदीमुखैः ।

समुद्रनिष्कुटे जाताः पारेसिन्धु च मानवाः ।। ११ ।।
ते वैरामाः पारदाश्च आभीराः कितवैः सह ।
विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च ।। १२ ।।
अजाविकं गोहिरण्यं खरोष्ट्रं फलजं मधु ।
कम्बलान् विविधांश्चैव द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।। १३ ।।

जो समुद्रतटवर्ती गृहोद्यानमें तथा सिन्धुके उस पार रहते हैं, वर्षाद्वारा इन्द्रके पैदा किये हुए तथा नदीके जलसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके धान्योंद्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं, वे वैराम, पारद, आभीर तथा कितव जातिके लोग नाना प्रकारके रत्न एवं भाँति-भाँतिकी भेंट-सामग्री—बकरी, भेड़, गाय, सुवर्ण, गधे, ऊँट, फलसे तैयार किया हुआ मधु तथा अनेक प्रकारके कम्बल लेकर राजद्वारपर रोक दिये जानेके कारण (बाहर ही) खड़े थे और भीतर नहीं जाने पाते थे ।। ११—१३ ।।

प्राग्ज्योतिषाधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली ।
यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः ।। १४ ।।
आजानेयान् हयाञ्छीघ्रानादायानिलरंहसः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठति वारितः ।। १५ ।।

प्राग्ज्योतिषपुरके अधिपति तथा म्लेच्छोंके स्वामी शूरवीर एवं बलवान् महारथी राजा भगदत्त यवनोंके साथ पधारे थे और वायुके समान वेगवाले अच्छी जातिके शीघ्रगामी घोड़े तथा सब प्रकारकी भेंट-सामग्री लेकर राजद्वारपर खड़े थे। (अधिक भीड़के कारण) उनका प्रवेश भी रोक दिया गया था ।। १४-१५ ।।

अश्मसारमयं भाण्डं शुद्धदन्तत्सरूनसीन् ।

प्राग्ज्योतिषाधिपो दत्त्वा भगदत्तोऽव्रजत् तदा ।। १६ ।।

उस समय प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त हीरे और पद्मराग आदि मणियोंके आभूषण तथा विशुद्ध हाथी-दाँतकी मूँठवाले खड्‌ग देकर भीतर गये थे ।। १६ ।।

द्व्यक्षांस्त्र्यक्षाँल्ललाटाक्षान् नानादिग्भ्यः समागतान् ।

औष्णीकानन्तवासांश्च रोमकान् पुरुषादकान् ।। १७ ।।

एकपादांश्च तत्राहमपश्यं द्वारि वारितान् ।

राजानो बलिमादाय नानावर्णाननेकशः ।। १८ ।।

कृष्णग्रीवान् महाकायान् रासभान् दूरपातिनः ।

आजह्रुर्दशसाहस्रान् विनीतान् दिक्षु विश्रुतान् ।। १९ ।।

द्व्यक्ष, त्र्यक्ष, ललाटाक्ष, औष्णीक, अन्तवास, रोमक, पुरुषादक तथा एकपाद—इन देशोंके राजा नाना दिशाओंसे आकर राजद्वारपर रोक दिये जानेके कारण खड़े थे, यह मैंने अपनी आँखों देखा था। ये राजालोग भेंट-सामग्री लेकर आये थे और अपने साथ अनेक रंगवाले बहुत-से दूरगामी गधे (खच्चर) लाये थे, जिनकी गर्दन काली और शरीर विशाल थे। उनकी संख्या दस हजार थी। वे सभी रासभ सिखलाये हुए तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें विख्यात थे ।। १७—१९ ।।

प्रमाणरागसम्पन्नान् वङ्‌क्षुतीरसमुद्भवान् ।

बल्यर्थं ददतस्तस्मै हिरण्यं रजतं बहु ।। २० ।।

दत्त्वा प्रवेशं प्राप्तास्ते युधिष्ठिरनिवेशने ।

उनकी लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई जैसी होनी चाहिये, वैसी ही थी। उनका रंग भी अच्छा था। वे समस्त रासभ वंक्षु नदीके तटपर उत्पन्न हुए थे। उक्त राजालोग युधिष्ठिरको भेंटके लिये बहुत-सा सोना और चाँदी देते थे और देकर युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें प्रविष्ट होते थे ।। २०$\frac{1}{2}$ ।।

इन्द्रगोपकवर्णाभाञ्छुकवर्णान् मनोजवान् ।। २१ ।।

तथैवेन्द्रायुधनिभान् संध्याभ्रसदृशानपि ।

अनेकवर्णानारण्यान् गृहीत्वाश्वान् महाजवान् ।। २२ ।।

जातरूपमनर्घ्यं च ददुस्तस्यैकपादकाः ।

एकपाददेशीय राजाओंने इन्द्रगोप (बीरबहूटी)-के समान लाल, तोतेके समान हरे, मनके समान वेगशाली, इन्द्रधनुषके तुल्य बहुरंगे, संध्याकालके बादलोंके सदृश लाल और अनेक वर्णवाले महावेगशाली जंगली घोड़े एवं बहुमूल्य सुवर्ण उन्हें भेंटमें दिये ।। २१-२२$\frac{1}{2}$ ।।

चीनाञ्छकांस्तथा चौड्रान् बर्बरान् वनवासिनः ।। २३ ।।

वार्ष्णेयान् हारहूणांश्च कृष्णान् हैमवतांस्तथा ।

नीपानूपानधिगतान् विविधान् द्वारवारितान् ।। २४ ।।
बल्यर्थं ददतस्तस्य नानारूपाननेकशः ।
कृष्णग्रीवान् महाकायान् रासभाञ्छतपातिनः ।
अहार्षुर्दशसाहस्रान् विनीतान् दिक्षु विश्रुतान् ।। २५ ।।

चीन, शक, ओड्र, वनवासी बर्बर, वार्ष्णेय, हार, हूण, कृष्ण, हिमालयप्रदेश, नीप और अनूप देशोंके नाना रूपधारी राजा वहाँ भेंट देनेके लिये आये थे, किंतु रोक दिये जानेके कारण दरवाजेपर ही खड़े थे। उन्होंने अनेक रूपवाले दस हजार गधे भेंटके लिये वहाँ प्रस्तुत किये थे, जिनकी गर्दन काली और शरीर विशाल थे, जो सौ कोसतक लगातार चल सकते थे। वे सभी सिखलाये हुए तथा सब दिशाओंमें विख्यात थे ।। २३—२५ ।।

प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं बाह्लीचीनसमुद्भवम् ।
और्णं च राङ्कवं चैव कीटजं पट्टजं तथा ।। २६ ।।
कुटीकृतं तथैवात्र कमलाभं सहस्रशः ।
श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम् ।। २७ ।।
निशितांश्चैव दीर्घासीनृष्टिशक्तिपरश्वधान् ।
अपरान्तसमुद्भूतांस्तथैव परशूञ्छितान् ।। २८ ।।
रसान् गन्धांश्च विविधान् रत्नानि च सहस्रशः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।। २९ ।।
शकास्तुषाराः कङ्काश्च रोमशाः शृङ्गिणो नराः ।

जिनकी लंबाई-चौड़ाई पूरी थी, जिनका रंग सुन्दर और स्पर्श सुखद था, ऐसे बाह्लीक चीनके बने हुए, ऊनी, हिरनके रोमसमूहसे बने हुए, रेशमी, पाटके, विचित्र गुच्छेदार तथा कमलके तुल्य कोमल सहस्रों चिकने वस्त्र, जिनमें कपासका नाम भी नहीं था तथा मुलायम मृगचर्म—ये सभी वस्तुएँ भेंटके लिये प्रस्तुत थीं। तीखी और लंबी तलवारें, ऋष्टि, शक्ति, फरसे, अपरान्त (पश्चिम) देशके बने हुए तीखे परशु, भाँति-भाँतिके रस और गन्ध, सहस्रों रत्न तथा सम्पूर्ण भेंट-सामग्री लेकर शक, तुषार, कंक, रोमश तथा शृंगीदेशके लोग राजद्वारपर रोके जाकर खड़े थे ।। २६—२९½ ।।

महागजान् दूरगमान् गणितानर्बुदान् हयान् ।। ३० ।।
शतशश्चैव बहुशः सुवर्णं पद्मसम्मितम् ।
बलिमादाय विविधं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।। ३१ ।।

दूरतक जानेवाले बड़े-बड़े हाथी, जिनकी संख्या एक अर्बुद थी एवं घोड़े, जिनकी संख्या कई सौ अर्बुद थी और सुवर्ण जो एक पद्मकी लागतका था—इन सबको तथा भाँति-भाँतिकी दूसरी उपहार-सामग्रीको साथ लेकर कितने ही नरेश राजद्वारपर रोके जाकर भेंट देनेके लिये खड़े थे ।। ३०-३१ ।।

आसनानि महार्हाणि यानानि शयनानि च ।

मणिकाञ्चनचित्राणि गजदन्तमयानि च ।। ३२ ।।
कवचानि विचित्राणि शस्त्राणि विविधानि च ।
रथांश्च विविधाकाराञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।। ३३ ।।
हयैर्विनीतैः सम्पन्नान् वैयाघ्रपरिवारितान् ।
विचित्रांश्च परिस्तोमान् रत्नानि विविधानि च ।। ३४ ।।
नाराचानर्धनाराचाञ्छस्त्राणि विविधानि च ।
एतद् दत्त्वा महद् द्रव्यं पूर्वदेशाधिपा नृपाः ।।
प्रविष्टा यज्ञसदनं पाण्डवस्य महात्मनः ।। ३५ ।।

बहुमूल्य आसन, वाहन, रत्न तथा सुवर्णसे जटित हाथीदाँतकी बनी हुए शय्याएँ, विचित्र कवच, भाँति-भाँतिके शस्त्र, सुवर्णभूषित, व्याघ्रचर्मसे आच्छादित और सुशिक्षित घोड़ोंसे जुते हुए अनेक प्रकारके रथ, हाथियोंपर बिछाने योग्य विचित्र कम्बल, विभिन्न प्रकारके रत्न, नाराच, अर्धनाराच तथा अनेक तरहके शस्त्र—इन सब बहुमूल्य वस्तुओंको देकर पूर्वदेशके नरपतिगण महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें प्रविष्ट हुए थे ।। ३२—३५ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २६ श्लोक मिलाकर कुल ६१ श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको भेंटमें मिली हुई वस्तुओंका दुर्योधनद्वारा वर्णन

दुर्योधन उवाच

दायं तु विविधं तस्मै शृणु मे गदतोऽनघ ।
यज्ञार्थं राजभिर्दत्तं महान्तं धनसंचयम् ।। १ ।।

दुर्योधन बोला—अनघ! राजाओंद्वारा युधिष्ठिरके यज्ञके लिये दिये हुए जिस महान् धनका संग्रह वहाँ हुआ था, वह अनेक प्रकारका था। मैं उसका वर्णन करता हूँ, सुनिये ।।

मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम् ।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ।। २ ।।
खसा एकासना ह्यर्हाः प्रदरा दीर्घवेणवः ।
पारदाश्च कुलिन्दाश्च तङ्गणाः परतङ्गणाः ।। ३ ।।
तद् वै पिपीलिकं नाम उद्धृतं यत् पिपीलिकैः ।
जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुञ्जशो नृपाः ।। ४ ।।

मेरु और मन्दराचलके बीचमें प्रवाहित होनेवाली शैलोदा नदीके दोनों तटोंपर छिद्रोंमें वायुके भर जानेसे वेणुकी तरह बजनेवाले बाँसोंकी रमणीय छायामें जो लोग बैठते और विश्राम करते हैं, वे खस, एकासन, अर्ह, प्रदर, दीर्घवेणु, पारद, पुलिन्द, तंगण और परतंगण आदि नरेश भेंटमें देनेके लिये पिपीलिकाओं (चींटियों)-द्वारा निकाले हुए पिपीलिक नामवाले सुवर्णके ढेर-के-ढेर उठा लाये थे। उसका माप द्रोणसे किया जाता था ।। २—४ ।।

कृष्णाँल्ललामांश्चमराञ्छुक्लांश्चान्याञ्छशिप्रभान् ।
हिमवत्पुष्पजं चैव स्वादु क्षौद्रं तथा बहु ।। ५ ।।
उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्चाप्यपोढं माल्यमम्बुभिः ।
उत्तरादपि कैलासादोषधीः सुमहाबलाः ।। ६ ।।
पर्वतीया बलिं चान्यमाहृत्य प्रणताः स्थिताः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।। ७ ।।

इतना ही नहीं, वे सुन्दर काले रंगके चँवर तथा चन्द्रमाके समान श्वेत दूसरे चामर एवं हिमालयके पुष्पोंसे उत्पन्न हुआ स्वादिष्ट मधु भी प्रचुर मात्रामें लाये थे। उत्तरकुरुदेशसे गंगाजल और मालाके योग्य रत्न तथा उत्तर कैलाससे प्राप्त हुई अतीव बलसम्पन्न औषधियाँ एवं अन्य भेंटकी सामग्री साथ लेकर आये हुए पर्वतीय भूपालगण अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरके द्वारपर रोके जाकर विनीतभावसे खड़े थे ।।

ये परार्धे हिमवतः सूर्योदयगिरौ नृपाः ।

कारूषे च समुद्रान्ते लौहित्यमभितश्च ये ।। ८ ।।
फलमूलाशना ये च किराताश्चर्मवाससः ।
क्रूरशस्त्राः क्रूरकृतस्तांश्च पश्याम्यहं प्रभो ।। ९ ।।

पिताजी! मैंने देखा कि जो राजा हिमालयके परार्धभागमें निवास करते हैं, जो उदयगिरिके निवासी हैं, जो समुद्र-तटवर्ती कारूषदेशमें रहते हैं तथा जो लौहित्यपर्वतके दोनों ओर वास करते हैं, फल और मूल ही जिनका भोजन है, वे चर्मवस्त्रधारी क्रूरतापूर्वक शस्त्र चलानेवाले और क्रूरकर्मा किरातनरेश भी वहाँ भेंट लेकर आये थे ।। ८-९ ।।

चन्दनागुरुकाष्ठानां भारान् कालीयकस्य च ।
चर्मरत्नसुवर्णानां गन्धानां चैव राशयः ।। १० ।।
कैरातकीनामयुतं दासीनां च विशाम्पते ।
आहृत्य रमणीयार्थान् दूरजान् मृगपक्षिणः ।। ११ ।।
निचितं पर्वतेभ्यश्च हिरण्यं भूरिवर्चसम् ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।। १२ ।।

राजन्! चन्दन और अगुरुकाष्ठ तथा कृष्णागुरुकाष्ठके अनेक भार, चर्म, रत्न, सुवर्ण तथा सुगन्धित पदार्थोंकी राशि और दस हजार किरातदेशीय दासियाँ, सुन्दर-सुन्दर पदार्थ, दूर देशोंके मृग और पक्षी तथा पर्वतोंसे संगृहीत तेजस्वी सुवर्ण एवं सम्पूर्ण भेंट-सामग्री लेकर आये हुए राजालोग द्वारपर रोके जानेके कारण खड़े थे ।। १०—१२ ।।

कैराता दरदा दर्वाः शूरा वै यमकास्तथा ।
औदुम्बरा दुर्विभागाः पारदा बाह्लिकैः सह ।। १३ ।।
काश्मीराश्च कुमाराश्च घोरका हंसकायनाः ।
शिबित्रिगर्तयौधेया राजन्या भद्रकेकयाः ।। १४ ।।
अम्बष्ठाः कौकुरास्ताक्ष्र्या वस्त्रपाः पह्लवैः सह ।
वशातलाश्च मौलेयाः सह क्षुद्रकमालवैः ।। १५ ।।
शौण्डिकाः कुकुराश्चैव शकाश्चैव विशाम्पते ।
अङ्गा वङ्गाश्च पुण्ड्राश्च शाणवत्या गयास्तथा ।। १६ ।।
सुजातयः श्रेणिमन्तः श्रेयांसः शस्त्रधारिणः ।
अहार्षुः क्षत्रिया वित्तं शतशोऽजातशत्रवे ।। १७ ।।

किरात, दरद, दर्व, शूर, यमक, औदुम्बर, दुर्विभाग, पारद, बाह्लिक, काश्मीर, कुमार, घोरक, हंसकायन, शिबि, त्रिगर्त, यौधेय, भद्र, केकय, अम्बष्ठ, कौकुर, ताक्ष्र्य, वस्त्रप, पह्लव, वशातल, मौलेय, क्षुद्रक, मालव, शौण्डिक, कुक्कुर, शक, अंग, वंग, पुण्ड्र, शाणवत्य तथा गय—ये उत्तम कुलमें उत्पन्न श्रेष्ठ एवं शस्त्रधारी क्षत्रिय राजकुमार सैकड़ोंकी संख्यामें पंक्तिबद्ध खड़े होकर अजातशत्रु युधिष्ठिरको बहुत धन अर्पित कर रहे थे ।। १३—१७ ।।

वङ्गाः कलिङ्गा मगधास्ताम्रलिप्ताः सपुण्ड्रकाः ।
दौवालिकाः सागरकाः पत्रोर्णाः शैशवास्तथा ।। १८ ।।
कर्णप्रावरणाश्चैव बहवस्तत्र भारत ।
तत्रस्था द्वारपालैस्ते प्रोच्यन्ते राजशासनात् ।
कृतकालाः सुबलयस्ततो द्वारमवाप्स्यथ ।। १९ ।।

भारत! वंग, कलिंग, मगध, ताम्रलिप्त, पुण्ड्रक, दौवालिक, सागरक, पत्रोर्ण, शैशव तथा कर्णप्रावरण आदि बहुत-से क्षत्रियनरेश वहाँ दरवाजेपर खड़े थे तथा राजाज्ञासे द्वारपालगण उन सबको यह संदेश देते थे कि आपलोग अपने लिये समय निश्चित कर लें। फिर उत्तम भेंट-सामग्री अर्पित करें। इसके बाद आपलोगोंको भीतर जानेका मार्ग मिल सकेगा ।। १८-१९ ।।

ईषादन्तान् हेमकक्षान् पद्मवर्णान् कुथावृतान् ।
शैलाभान् नित्यमत्तांश्चाप्यभितः काम्यकं सरः ।। २० ।।
दत्त्वैकैको दश शतान् कुञ्जरान् कवचावृतान् ।
क्षमावन्तः कुलीनाश्च द्वारेण प्राविशंस्तदा ।। २१ ।।

तदनन्तर एक-एक क्षमाशील और कुलीन राजाने काम्यक सरोवरके निकट उत्पन्न हुए एक-एक हजार हाथियोंकी भेंट देकर द्वारके भीतर प्रवेश किया। उन हाथियोंके दाँत हलदण्डके समान लंबे थे। उनको बाँधनेकी रस्सी सोनेकी बनी हुई थी। उन हाथियोंका रंग कमलके समान सफेद था। उनकी पीठपर झूल पड़ा हुआ था। वे देखनेमें पर्वताकार और उन्मत्त प्रतीत होते थे ।। २०-२१ ।।

एते चान्ये च बहवो गणा दिग्भ्यः समागताः ।
अन्यैश्चोपाहृतान्यत्र रत्नानीह महात्मभिः ।। २२ ।।

ये तथा और भी बहुत-से भूपालगण अनेक दिशाओंसे भेंट लेकर आये थे। दूसरे-दूसरे महामना नरेशोंने भी वहाँ रत्नोंकी भेंट अर्पित की थी ।। २२ ।।

राजा चित्ररथो नाम गन्धर्वो वासवानुगः ।
शतानि चत्वार्यददद्धयानां वातरंहसाम् ।। २३ ।।

इन्द्रके अनुगामी गन्धर्वराज चित्ररथने चार सौ दिव्य अश्व दिये, जो वायुके समान वेगशाली थे ।। २३ ।।

तुम्बुरुस्तु प्रमुदितो गन्धर्वो वाजिनां शतम् ।
आम्रपत्रसवर्णानामददाद्धेममालिनाम् ।। २४ ।।

तुम्बुरु नामक गन्धर्वराजने प्रसन्नतापूर्वक सौ घोड़े भेंट किये, जो आमके पत्तेके समान हरे रंगवाले तथा सुवर्णकी मालाओंसे विभूषित थे ।। २४ ।।

कृती राजा च कौरव्य शूकराणां विशाम्पते ।
अददाद् गजरत्नानां शतानि सुबहून्यथ ।। २५ ।।

महाराज! शूकरदेशके पुण्यात्मा राजाने कई सौ गजरत्न भेंट किये ।। २५ ।।

विराटेन तु मत्स्येन बल्यर्थं हेममालिनाम् ।
कुञ्जराणां सहस्रे द्वे मत्तानां समुपाहृते ।। २६ ।।

मत्स्यदेशके राजा विराटने सुवर्णमालाओंसे विभूषित दो हजार मतवाले हाथी उपहारके रूपमें दिये ।। २६ ।।

पांशुराष्ट्राद् वसुदानो राजा षड्विंशतिं गजान् ।
अश्वानां च सहस्रे द्वे राजन् काञ्चनमालिनाम् ।। २७ ।।
जवसत्त्वोपपन्नानां वयस्थानां नराधिप ।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवेभ्यो न्यवेदयत् ।। २८ ।।

राजन्! राजा वसुदानने पांशुदेशसे छब्बीस हाथी, वेग और शक्तिसे सम्पन्न दो हजार सुवर्णमालाभूषित जवान घोड़े और सब प्रकारकी दूसरी भेंट-सामग्री भी पाण्डवोंको समर्पित की ।। २७-२८ ।।

यज्ञसेनेन दासीनां सहस्राणि चतुर्दश ।
दासानामयुतं चैव सदाराणां विशाम्पते ।
गजयुक्ता महाराज रथाः षड्विंशतिस्तथा ।। २९ ।।
राज्यं च कृत्स्नं पार्थेभ्यो यज्ञार्थं वै निवेदितम् ।

राजन्! राजा द्रुपदने चौदह हजार दासियाँ, दस हजार सपत्नीक दास, हाथी जुते हुए छब्बीस रथ तथा अपना सम्पूर्ण राज्य कुन्तीपुत्रोंको यज्ञके लिये समर्पित किया था ।।

वासुदेवोऽपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन् किरीटिनः ।। ३० ।।
अददाद् गजमुख्यानां सहस्राणि चतुर्दश ।
आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनंजयः ।। ३१ ।।

वृष्णिकुलभूषण वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने भी अर्जुनका आदर करते हुए चौदह हजार उत्तम हाथी दिये। श्रीकृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन श्रीकृष्णके आत्मा हैं ।।

यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम् ।
कृष्णो धनंजयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत् ।। ३२ ।।

अर्जुन श्रीकृष्णसे जो कह देंगे, वह सब वे निःसंदेह पूर्ण करेंगे। श्रीकृष्ण अर्जुनके लिये परमधामको भी त्याग सकते हैं ।। ३२ ।।

तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत् ।
सुरभींश्चन्दनरसान् हेमकुम्भसमास्थितान् ।। ३३ ।।
मलयाद् दर्दुराच्चैव चन्दनागुरुसंचयान् ।

इसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णके लिये अपने प्राणोंतकका त्याग कर सकते हैं। मलय तथा दर्दुरपर्वतसे वहाँके राजालोग सोनेके घड़ोंमें रखे हुए सुगन्धित चन्दन-रस तथा चन्दन एवं अगुरुके ढेर भेंटके लिये लेकर आये थे ।। ३३ १/२ ।।

मणिरत्नानि भास्वन्ति काञ्चनं सूक्ष्मवस्त्रकम् ।। ३४ ।।
चोलपाण्ड्यावपि द्वारं न लेभाते ह्युपस्थितौ ।

चोल और पाण्ड्यदेशोंके नरेश चमकीले मणि-रत्न, सुवर्ण तथा महीन वस्त्र लेकर उपस्थित हुए थे; परंतु उन्हें भी भीतर जानेके लिये रास्ता नहीं मिला ।। ३४½ ।।

समुद्रसारं वैदूर्यं मुक्तासङ्घांस्तथैव च ।। ३५ ।।
शतशश्च कुथांस्तत्र सिंहलाः समुपाहरन् ।

सिंहलदेशके क्षत्रियोंने समुद्रका सारभूत वैदूर्य, मोतियोंके ढेर तथा हाथियोंके सैकड़ों झूल अर्पित किये ।।

संवृता मणिचीरैस्तु श्यामास्ताम्रान्तलोचनाः ।। ३६ ।।
ता गृहीत्वा नरास्तत्र द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।
प्रीत्यर्थं ब्राह्मणाश्चैव क्षत्रियाश्च विनिर्जिताः ।। ३७ ।।
उपाजह्रुर्विशश्चैव शूद्राः शुश्रूषवस्तथा ।

वे सिंहलदेशीय वीर मणियुक्त वस्त्रोंसे अपने शरीरोंको ढके हुए थे। उनके शरीरका रंग काला था और उनकी आँखोंके कोने लाल दिखायी देते थे। उन भेंट-सामग्रियोंको लेकर वे सब लोग दरवाजेपर रोके हुए खड़े थे। ब्राह्मण, विजित क्षत्रिय, वैश्य तथा सेवाकी इच्छावाले शूद्र प्रसन्नता-पूर्वक वहाँ उपहार अर्पित करते थे ।। ३६-३७½ ।।

प्रीत्या च बहुमानाच्चाप्युपागच्छन् युधिष्ठिरम् ।। ३८ ।।
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णा आदिमध्यान्तजास्तथा ।

सभी म्लेच्छ तथा आदि, मध्य और अन्तमें उत्पन्न सभी वर्णके लोग विशेष प्रेम और आदरके साथ युधिष्ठिरके पास भेंट लेकर आये थे ।। ३८½ ।।

नानादेशसमुत्थैश्च नानाजातिभिरेव च ।। ३९ ।।
पर्यस्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने ।

अनेक देशोंमें उत्पन्न और विभिन्न जातिके लोगोंके आगमनसे युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें मानो यह सम्पूर्ण लोक ही एकत्र हुआ जान पड़ता था ।। ३९½ ।।

उच्चावचानुपग्राहान् राजभिः प्रापितान् बहून् ।। ४० ।।
शत्रूणां पश्यतो दुःखान्मुमूर्षा मे व्यजायत ।
भृत्यास्तु ये पाण्डवानां तांस्ते वक्ष्यामि पार्थिव ।। ४१ ।।
येषामामं च पक्वं च संविधत्ते युधिष्ठिरः ।

मेरे शत्रुओंके घरमें राजाओंद्वारा लाये हुए बहुत-से छोटे-बड़े उपहारोंको देखकर दुःखसे मुझे मरनेकी इच्छा होती थी। राजन्! पाण्डवोंके वहाँ जिन लोगोंका भरण-पोषण होता है, उनकी संख्या मैं आपको बता रहा हूँ। राजा युधिष्ठिर उन सबके लिये कच्चे-पक्के भोजनकी व्यवस्था करते हैं ।। ४०-४१½ ।।

अयुतं त्रीणि पद्मानि गजारोहाः ससादिनः ।। ४२ ।।

रथानामर्बुदं चापि पादाता बहवस्तथा ।

युधिष्ठिरके यहाँ तीन पद्म दस हजार हाथीसवार और घुड़सवार, एक अर्बुद (दस करोड़) रथारोही तथा असंख्य पैदल सैनिक हैं ।। ४२½ ।।

प्रमीयमाणमामं च पच्यमानं तथैव च ।। ४३ ।।

विसृज्यमानं चान्यत्र पुण्याहस्वन एव च ।

युधिष्ठिरके यज्ञमें कहीं कच्चा अन्न तौला जा रहा था, कहीं पक रहा था, कहीं परोसा जाता था और कहीं ब्राह्मणोंके पुण्याहवाचनकी ध्वनि सुनायी पड़ती थी ।। ४३½ ।।

नाभुक्तवन्तं नापीतं नालङ्कृतमसत्कृतम् ।। ४४ ।।

अपश्यं सर्ववर्णानां युधिष्ठिरनिवेशने ।

मैंने युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें सभी वर्णके लोगोंमेंसे किसीको ऐसा नहीं देखा, जो खा-पीकर आभूषणोंसे विभूषित और सत्कृत न हुआ हो ।। ४४½ ।।

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।। ४५ ।।

त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ।

राजा युधिष्ठिर घरमें बसनेवाले जिन अट्ठासी हजार स्नातकोंका भरण-पोषण करते हैं, उनमेंसे प्रत्येककी सेवामें तीस-तीस दास-दासी उपस्थित रहते हैं ।। ४५½ ।।

सुप्रीताः परितुष्टाश्च ते ह्याशंसन्त्यरिक्षयम् ।। ४६ ।।

वे सब ब्राह्मण भोजनसे अत्यन्त तृप्त एवं संतुष्ट हो राजा युधिष्ठिरको उनके (काम-क्रोधादि) शत्रुओंके विनाशके लिये आशीर्वाद देते हैं ।। ४६ ।।

दशान्यानि सहस्राणि यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।

भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ।। ४७ ।।

इसी प्रकार युधिष्ठिरके महलमें दूसरे दस हजार ऊर्ध्वरेता यति भी सोनेकी थालियोंमें भोजन करते हैं ।। ४७ ।।

अभुक्तं भुक्तवद् वापि सर्वमाकुब्जवामनम् ।

अभुञ्जाना याज्ञसेनी प्रत्यवैक्षद् विशाम्पते ।। ४८ ।।

राजन्! उस यज्ञमें द्रौपदी प्रतिदिन स्वयं पहले भोजन न करके इस बातकी देखभाल करती थी कि कुबड़े और बौनोंसे लेकर सब मनुष्योंमें किसने खाया है और किसने अभीतक भोजन नहीं किया है ।। ४८ ।।

द्वौ करौ न प्रयच्छेतां कुन्तीपुत्राय भारत ।

सम्बन्धिकेन पञ्चालाः सख्येनान्धकवृष्णयः ।। ४९ ।।

भारत! कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको दो ही कुलके लोग कर नहीं देते थे। सम्बन्धके कारण पांचाल और मित्रताके कारण अन्धक एवं वृष्णि ।। ४९ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५२ ।।

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्याय:

दुर्योधनद्वारा युधिष्ठिरके अभिषेकका वर्णन

दुर्योधन उवाच

आर्यास्तु ये वै राजानः सत्यसंधा महाव्रताः ।
पर्याप्तविद्या वक्तारो वेदोक्तावभृथप्लुताः ।। १ ।।
धृतिमन्तो ह्रीनिषेवा धर्मात्मानो यशस्विनः ।
मूर्धाभिषिक्तास्ते चैनं राजानः पर्युपासते ।। २ ।।
दक्षिणार्थं समानीता राजभिः कांस्यदोहनाः ।
आरण्या बहुसाहस्रा अपश्यंस्तत्र तत्र गाः ।। ३ ।।

दुर्योधन बोला—पिताजी! जो राजा आर्य, सत्यप्रतिज्ञ, महाव्रती, विद्वान्, वक्ता, वेदोक्त यज्ञोंके अन्तमें अवभृथ-स्नान करनेवाले, धैर्यवान्, लज्जाशील, धर्मात्मा, यशस्वी तथा मूर्धाभिषिक्त थे, वे सभी इन धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते थे। राजाओंने दक्षिणामें देनेके लिये जो गौएँ मँगवायी थीं, उन सबको मैंने जहाँ-तहाँ देखा। उनके दुग्धपात्र काँसेके थे। वे सब-की-सब जंगलोंमें खुली चरनेवाली थीं तथा उनकी संख्या कई हजार थी ।।

आजह्रुस्तत्र सत्कृत्य स्वयमुद्यम्य भारत ।
अभिषेकार्थमव्यग्रा भाण्डमुच्चावचं नृपाः ।। ४ ।।
बाह्लीको रथमाहार्षीज्जाम्बूनदविभूषितम् ।
सुदक्षिणस्तु युयुजे श्वेतैः काम्बोजजैर्हयैः ।। ५ ।।

भारत! राजालोग युधिष्ठिरके अभिषेकके लिये स्वयं ही प्रयत्न करके शान्तचित्त हो सत्कारपूर्वक छोटे-बड़े पात्र उठा-उठाकर ले आये थे। बाह्लीकनरेश रथ ले आये, जो सुवर्णसे सजाया गया था। सुदक्षिणने उस रथमें काम्बोजदेशके सफेद घोड़े जोत दिये ।। ४-५ ।।

सुनीथः प्रीतिमांश्चैव ह्यनुकर्षं महाबलः ।
ध्वजं चेदिपतिश्चैवमहार्षीत् स्वयमुद्यतम् ।। ६ ।।
दाक्षिणात्यः संनहनं स्रगुष्णीषे च मागधः ।
वसुदानो महेष्वासो गजेन्द्रं षष्टिहायनम् ।। ७ ।।
मत्स्यस्त्वक्षान् हेमनद्धानेकलव्य उपानहौ ।
आवन्त्यस्त्वभिषेकार्थमापो बहुविधास्तथा ।। ८ ।।
चेकितान उपासङ्गं धनुः काश्य उपाहरत् ।
असिं च सुत्सरुं शल्यः शैक्यं काञ्चनभूषणम् ।। ९ ।।

महाबली सुनीथने बड़ी प्रसन्नताके साथ उसमें अनुकर्ष (रथके नीचे लगनेयोग्य काष्ठ) लगा दिया। चेदिराजने स्वयं उस रथमें ध्वजा फहरा दी। दक्षिणदेशके राजाने कवच दिया। मगधनरेशने माला और पगड़ी प्रस्तुत की। महान् धनुर्धर वसुदानने साठ वर्षकी अवस्थाका एक गजराज उपस्थित कर दिया। मत्स्यनरेशने सुवर्णजटित धुरी ला दी। एकलव्यने पैरोंके समीप जूते लाकर रख दिये। अवन्तीनरेशने अभिषेकके लिये अनेक प्रकारका जल एकत्र कर दिया। चेकितानने तूणीर और काशिराजने धनुष अर्पित किया। शल्यने अच्छी मूठवाली तलवार तथा छींकेपर रखा हुआ सुवर्णभूषित कलश प्रदान किया ।। ६—९ ।।

अभ्यषिञ्चत् ततो धौम्यो व्यासश्च सुमहातपाः ।
नारदं च पुरस्कृत्य देवलं चासितं मुनिम् ।। १० ।।

तदनन्तर धौम्य तथा महातपस्वी व्यासने देवर्षि नारद, देवल और असित मुनिको आगे करके युधिष्ठिरका अभिषेक किया ।। १० ।।

प्रीतिमन्त उपातिष्ठन्नभिषेकं महर्षयः ।
जामदग्न्येन सहितास्तथान्ये वेदपारगाः ।। ११ ।।

परशुरामजीके साथ वेदके पारंगत दूसरे विद्वान् महर्षियोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा युधिष्ठिरका अभिषेक किया ।। ११ ।।

अभिजग्मुर्महात्मानो मन्त्रवद् भूरिदक्षिणम् ।
महेन्द्रमिव देवेन्द्रं दिवि सप्तर्षयो यथा ।। १२ ।।

जैसे स्वर्गमें देवराज इन्द्रके पास सप्तर्षि पधारते हैं, उसी प्रकार पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले महाराज युधिष्ठिरके पास बहुत-से महात्मा मन्त्रोच्चारण करते हुए पधारे थे ।।

अधारयच्छत्रमस्य सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
धनंजयश्च व्यजने भीमसेनश्च पाण्डवः ।। १३ ।।

सत्यपराक्रमी सात्यकिने युधिष्ठिरके लिये छत्र धारण किया तथा अर्जुन और भीमसेनने व्यजन डुलाये ।।

चामरे चापि शुद्धे द्वे यमौ जगृहतुस्तथा ।
उपागृह्णाद् यमिन्द्राय पुराकल्पे प्रजापतिः ।। १४ ।।
तमस्मै शङ्खमाहार्षीद् वारुणं कलशोदधिः ।
शैक्यं निष्कसहस्रेण सुकृतं विश्वकर्मणा ।। १५ ।।
तेनाभिषिक्तः कृष्णेन तत्र मे कश्मलोऽभवत् ।

तथा नकुल और सहदेवने दो विशुद्ध चँवर हाथमें ले लिये। पूर्वकालमें प्रजापतिने इन्द्रके लिये जिस शंखको धारण किया था, वही वरुणदेवताका शंख समुद्रने युधिष्ठिरको भेंट किया था। विश्वकर्माने एक हजार स्वर्णमुद्राओंसे जिस शैक्यपात्र (छींकेपर रखे हुए सुवर्णकलश)-का निर्माण किया था, उसमें स्थित समुद्रजलको शंखमें लेकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरका अभिषेक किया। उस समय वहाँ मुझे मूर्च्छा आ गयी थी ।।

गच्छन्ति पूर्वादपरं समुद्रं चापि दक्षिणम् ।। १६ ।।

पिताजी! लोग जल लानेके लिये पूर्वसे पश्चिम समुद्रतक जाते हैं, दक्षिण समुद्रकी भी यात्रा करते हैं ।।

उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्त्रिभिः ।
तत्र स्म दध्मुः शतशः शङ्खान् मङ्गलकारकान् ।। १७ ।।
प्राणदन्त समाध्मातास्ततो रोमाणि मेऽहृषन् ।
प्रापतन् भूमिपालाश्च ये तु हीनाः स्वतेजसा ।। १८ ।।

परंतु उत्तर समुद्रतक पक्षियोंके सिवा और कोई नहीं जाता; (किंतु वहाँ भी अर्जुन पहुँच गये।) वहाँ अभिषेकके समय सैकड़ों मंगलकारी शंख एक साथ ही जोर-जोरसे बजने लगे, जिससे मेरे रोंगटे खड़े हो गये। उस समय वहाँ जो तेजोहीन भूपाल थे, वे भयके मारे मूर्च्छित होकर गिर पड़े ।। १७-१८ ।।

धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः ।
सत्त्वस्था वीर्यसम्पन्ना ह्यन्योन्यप्रियदर्शनाः ।। १९ ।।

धृष्टद्युम्न, पाँचों पाण्डव, सात्यकि और आठवें श्रीकृष्ण—ये ही धैर्यपूर्वक स्थिर रहे। ये सभी पराक्रमसम्पन्न तथा एक-दूसरेका प्रिय करनेवाले हैं ।। १९ ।।

विसंज्ञान् भूमिपान् दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा ।
ततः प्रहृष्टो बीभत्सुः प्रादाद्धेमविषाणिनाम् ।। २० ।।
शतान्यनडुहां पञ्च द्विजमुख्येषु भारत ।

न रन्तिदेवो नाभागो यौवनाश्वो मनुर्न च ।। २१ ।।

न च राजा पृथुर्वैन्यो न चाप्यासीद् भगीरथः ।

ययातिर्नहुषो वापि यथा राजा युधिष्ठिरः ।। २२ ।।

वे मुझे तथा अन्य राजाओंको अचेत हुए देखकर उस समय जोर-जोरसे हँस रहे थे। भारत! तदनन्तर अर्जुनने प्रसन्न होकर पाँच सौ बैलोंको, जिनके सींगोंमें सोना मँढ़ा हुआ था, मुख्य-मुख्य ब्राह्मणोंमें बाँट दिया। पिताजी! न रन्तिदेव, न नाभाग, न मान्धाता, न मनु, न वेननन्दन राजा पृथु, न भगीरथ, न ययाति और न नहुष ही वैसे ऐश्वर्यसम्पन्न सम्राट् थे, जैसे कि आज राजा युधिष्ठिर हैं ।। २०—२२ ।।

यथातिमात्रं कौन्तेयः श्रिया परमया युतः ।

राजसूयमवाप्यैवं हरिश्चन्द्र इव प्रभुः ।। २३ ।।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर राजसूययज्ञ पूर्ण करके अत्यन्त उच्चकोटिकी राजलक्ष्मीसे सम्पन्न हो गये हैं। ये शक्तिशाली महाराज हरिश्चन्द्रकी भाँति सुशोभित होते हैं ।। २३ ।।

एतां दृष्ट्वा श्रियं पार्थे हरिश्चन्द्रे यथा विभो ।

कथं तु जीवितं श्रेयो मम पश्यसि भारत ।। २४ ।।

भारत! हरिश्चन्द्रकी भाँति कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी इस राजलक्ष्मीको देखकर मेरा जीवित रहना आप किस दृष्टिसे अच्छा समझते हैं? ।। २४ ।।

अन्धेनेव युगं नद्धं विपर्यस्तं नराधिप ।

कनीयांसो विवर्धन्ते ज्येष्ठा हीयन्त एव च ।। २५ ।।

राजन्! यह युग अंधे विधातासे बँधा हुआ है। इसीलिये इसमें सब बातें उलटी हो रही हैं। छोटे बढ़ रहे हैं और बड़े हीन दशामें गिरते जा रहे हैं ।। २५ ।।

एवं दृष्ट्वा नाभिविन्दामि शर्म

समीक्षमाणोऽपि कुरुप्रवीर ।

तेनाहमेवं कृशतां गतश्च

विवर्णतां चैव सशोकतां च ।। २६ ।।

कुरुप्रवीर! ऐसा देखकर अच्छी तरह विचार करनेपर भी मुझे चैन नहीं पड़ता। इसीसे मैं दुर्बल, कान्तिहीन और शोकमग्न हो रहा हूँ ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५३ ।।

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

त्वं वै ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः पुत्र मा पाण्डवान् द्विषः ।
द्वेष्टा ह्यसुखमादत्ते यथैव निधनं तथा ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—दुर्योधन! तुम मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो, जेठी रानीके गर्भसे उत्पन्न हुए हो। बेटा! पाण्डवोंसे द्वेष मत करो; क्योंकि द्वेष करनेवाला मनुष्य मृत्युके समान कष्ट पाता है ।।

अव्युत्पन्नं समानार्थं तुल्यमित्रं युधिष्ठिरम् ।
अद्विषन्तं कथं द्विष्यात् त्वादृशो भरतर्षभ ।। २ ।।

युधिष्ठिर किसीके साथ छल नहीं करते, उनका धन तुम्हारे ही जैसा है। जो तुम्हारे मित्र हैं, वे उनके भी मित्र हैं और युधिष्ठिर तुमसे कभी द्वेष नहीं करते। भरतकुलतिलक! फिर तुम्हारे-जैसे पुरुषको उनसे द्वेष क्यों करना चाहिये? ।।

तुल्याभिजनवीर्यश्च कथं भ्रातुः श्रियं नृप ।
पुत्र कामयसे मोहान्मैवं भूः शाम्य मा शुचः ।। ३ ।।

राजन्! तुम्हारा और युधिष्ठिरका कुल एवं पराक्रम एक-सा है। बेटा! तुम मोहवश अपने भाईकी लक्ष्मीकी इच्छा क्यों करते हो? ऐसे अधम न बनो; शान्तभावसे रहो। शोक न करो ।। ३ ।।

अथ यज्ञविभूतिं तां काङ्क्षसे भरतर्षभ ।
ऋत्विजस्तव तन्वन्तु सप्ततन्तुं महाध्वरम् ।। ४ ।।

भरतश्रेष्ठ! यदि तुम उस यज्ञ-वैभवको पानेकी अभिलाषा रखते हो तो ऋत्विजलोग तुम्हारे लिये भी गायत्री आदि सात छन्दरूपी तन्तुओंसे युक्त राजसूय महायज्ञका अनुष्ठान करा देंगे ।। ४ ।।

आहरिष्यन्ति राजानस्तवापि विपुलं धनम् ।
प्रीत्या च बहुमानाच्च रत्नान्याभरणानि च ।। ५ ।।

उसमें देश-देशके राजालोग तुम्हारे लिये भी बड़े प्रेम और आदरसे रत्न, आभूषण तथा बहुत धन ले आयेंगे ।। ५ ।।

(मही कामदुघा सा हि वीरपत्नीति चोच्यते ।
तथा वीर्याश्रिता भूमिस्तनुते हि मनोरथम् ।।
तवाप्यस्ति हि चेद् वीर्यं भोक्ष्यसे हि महीमिमाम् ।।)

बेटा! यह पृथ्वी कामधेनु है। इसे वीरपत्नी भी कहते हैं। अपने पराक्रमसे जीती हुई भूमि मनोवांछित फल प्रदान करती है। यदि तुममें भी बल और पराक्रम हो तो तुम इस पृथ्वीका यथेष्ट उपभोग कर सकते हो।

अनार्याचरितं तात परस्वस्पृहणं भृशम् ।
स्वसंतुष्टः स्वधर्मस्थो यः स वै सुखमेधते ।। ६ ।।
अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु ।
रक्षणं समुपात्तानामेतद् वैभवलक्षणम् ।। ७ ।।

तात! दूसरेके धनकी स्पृहा रखना नीच पुरुषोंका काम है। जो भलीभाँति अपने धनसे संतुष्ट तथा अपने धर्ममें ही स्थित है, वही सुखपूर्वक उन्नतिशील होता है। दूसरेके धनको हड़पनेकी कोई चेष्टा न करना, अपने कर्तव्यको पूरा करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहना और अपनेको जो कुछ प्राप्त है, उसकी रक्षा करना—यही उत्तम वैभवका लक्षण है ।।

विपत्तिष्वव्यथो दक्षो नित्यमुत्थानवान् नरः ।
अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति ।। ८ ।।

जो विपत्तिमें व्यथित नहीं होता, सदा उद्योगशील बना रहता है, जिसमें प्रमादका अभाव है तथा जिसके हृदयमें विनयरूप सद्‌गुण है, वह चतुर मनुष्य सदा कल्याण ही देखता है ।। ८ ।।

बाहूनिवैतान् मा छेत्सीः पाण्डुपुत्रास्तथैव ते ।
भ्रातॄणां तद्धनार्थं वै मित्रद्रोहं च मा कुरु ।। ९ ।।

ये पाण्डुपुत्र तुम्हारी भुजाओंके समान हैं, इन्हें काटो मत। इसी प्रकार तुम भाइयोंके धनके लिये मित्रद्रोह न करो ।। ९ ।।

पाण्डोः पुत्रान् मा द्विषस्वेह राजं-
स्तथैव ते भ्रातृधनं समग्रम् ।
मित्रद्रोहे तात महानधर्मः
पितामहा ये तव तेऽपि तेषाम् ।। १० ।।

राजन्! तुम पाण्डवोंसे द्वेष न करो। वे तुम्हारे भाई हैं और भाइयोंका सारा धन तुम्हारा ही है। तात! मित्रद्रोहसे बहुत बड़ा पाप होता है। देखो, जो तुम्हारे बाप-दादे हैं, वे ही उनके भी हैं ।। १० ।।

अन्तर्वेद्यां ददद् वित्तं कामाननुभवन् प्रियान् ।
क्रीडन् स्त्रीभिर्निरातङ्कः प्रशाम्य भरतर्षभ ।। ११ ।।

भरतश्रेष्ठ! तुम यज्ञमें धन दान करो, मनको प्रिय लगनेवाले भोग भोगो और निर्भय होकर स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करते हुए शान्त रहो ।। ११ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १$\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल १२$\frac{१}{२}$ श्लोक हैं)

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रको उकसाना

दुर्योधन उवाच

यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः ।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव ।। १ ।।

दुर्योधन बोला—पिताजी! जिसके पास अपनी बुद्धि नहीं है, जिसने केवल बहुत-से शास्त्रोंका श्रवणभर किया है, वह शास्त्रके तात्पर्यको नहीं समझ सकता; ठीक उसी तरह, जैसे कलछी दालके रसको नहीं जानती ।। १ ।।

जानन् वै मोहयसि मां नावि नौरिव संयता ।
स्वार्थे किं नावधानं ते उताहो द्वेष्टि मां भवान् ।। २ ।।

एक नौकामें बँधी हुई दूसरी नौकाके समान आप विदुरकी बुद्धिके आश्रित हैं। जानते हुए भी मुझे मोहमें क्यों डालते हैं, स्वार्थसाधनके लिये क्या आपमें तनिक भी सावधानी नहीं है अथवा आप मुझसे द्वेष रखते हैं? ।। २ ।।

न सन्तीमे धार्तराष्ट्रा येषां त्वमनुशासिता ।
भविष्यमर्थमाख्यासि सर्वदा कृत्यमात्मनः ।। ३ ।।

आप जिनके शासक हैं, वे धार्तराष्ट्र नहींके बराबर हैं (क्योंकि आप उन्हें स्वेच्छासे उन्नतिके पथपर बढ़ने नहीं देते)। आप सदा अपने वर्तमान कर्तव्यको भविष्यपर ही टालते रहते हैं ।। ३ ।।

परनेयोऽग्रणीर्यस्य स मार्गान् प्रति मुह्यति ।
पन्थानमनुगच्छेयुः कथं तस्य पदानुगाः ।। ४ ।।

जिस दलका अगुआ दूसरेकी बुद्धिपर चलता हो, वह अपने मार्गमें सदा मोहित होता रहता है। फिर उसके पीछे चलनेवाले लोग अपने मार्गका अनुसरण कैसे कर सकते हैं? ।। ४ ।।

राजन् परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।
प्रतिपन्नान् स्वकार्येषु सम्मोहयसि नो भृशम् ।। ५ ।।

राजन्! आपकी बुद्धि परिपक्व है, आप वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करते रहते हैं, आपने अपनी इन्द्रियोंपर विजय पा ली है, तो भी जब हमलोग अपने कार्योंमें तत्पर होते हैं, उस समय आप हमें बार-बार मोहमें ही डाल देते हैं ।। ५ ।।

लोकवृत्ताद् राजवृत्तमन्यदाह बृहस्पतिः ।
तस्माद् राज्ञाप्रमत्तेन स्वार्थश्चिन्त्यः सदैव हि ।। ६ ।।
क्षत्रियस्य महाराज जये वृत्तिः समाहिता ।
स वै धर्मस्त्वधर्मो वा स्ववृत्तौ का परीक्षणा ।। ७ ।।

बृहस्पतिने राजव्यवहारको लोकव्यवहारसे भिन्न बताया है; अतः राजाको सावधान होकर सदा अपने प्रयोजनका ही चिन्तन करना चाहिये। महाराज! क्षत्रियकी वृत्ति विजयमें ही लगी रहती है, वह चाहे धर्म हो या अधर्म। अपनी वृत्तिके विषयमें क्या परीक्षा करनी है? ।। ६-७ ।।

प्रकालयेद् दिशः सर्वाः प्रतोदेनेव सारथिः ।
प्रत्यमित्रश्रियं दीप्तां जिघृक्षुर्भरतर्षभ ।। ८ ।।

भरतकुलभूषण! शत्रुकी जगमगाती हुई राजलक्ष्मीको अपने अधिकारमें करनेकी इच्छावाला भूपाल सम्पूर्ण दिशाओंका उसी प्रकार संचालन करे, जैसे सारथि चाबुकसे घोड़ोंको हाँककर अपनी रुचिके अनुसार चलाता है ।।

प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा योगो योऽरिं प्रबाधते ।
तद् वै शस्त्रं शस्त्रविदां न शस्त्रं छेदनं स्मृतम् ।। ९ ।।

गुप्त या प्रकट, जो उपाय शत्रुको संकटमें डाल दे, वही शस्त्रज्ञ पुरुषोंका शस्त्र है। केवल काटनेवाला शस्त्र ही शस्त्र नहीं है ।। ९ ।।

शत्रुश्चैव हि मित्रं च न लेख्यं न च मातृका ।
यो वै संतापयति यं स शत्रुः प्रोच्यते नृप ।। १० ।।

राजन्! अमुक शत्रु है और अमुक मित्र, इसका कोई लेखा नहीं है और न शत्रु-मित्रसूचक कोई अक्षर ही है। जो जिसको संताप देता है, वही उसका शत्रु कहा जाता है ।। १० ।।

असंतोषः श्रियो मूलं तस्मात् तं कामयाम्यहम् ।

समुच्छ्रये यो यतते स राजन् परमो नयः ।। ११ ।।

असंतोष ही लक्ष्मीकी प्राप्तिका मूल कारण है; अतः मैं असंतोष चाहता हूँ। राजन्! जो अपनी उन्नतिके लिये प्रयत्न करता है, उसका वह प्रयत्न ही सर्वोत्तम नीति है ।।

ममत्वं हि न कर्तव्यमैश्वर्ये वा धनेऽपि वा ।
पूर्वावाप्तं हरन्त्यन्ये राजधर्मं हि तं विदुः ।। १२ ।।

ऐश्वर्य अथवा धनमें ममता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि पहलेके उपार्जित धनको दूसरे लोग बलात् छीन लेते हैं। यही राजधर्म माना गया है ।। १२ ।।

अद्रोहसमयं कृत्वा चिच्छेद नमुचेः शिरः ।
शक्रः साभिमता तस्य रिपौ वृत्तिः सनातनी ।। १३ ।।

इन्द्रने नमुचिसे कभी वैर न करनेकी प्रतिज्ञा करके उसपर विश्वास जमाया और मौका देखकर उसका सिर काट लिया। तात! शत्रुके प्रति इसी प्रकारका व्यवहार सदासे होता चला आया है। यह इन्द्रको भी मान्य है ।। १३ ।।

द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ।। १४ ।।

जैसे सर्प बिलमें रहनेवाले चूहों आदिको निगल जाता है, उसी प्रकार यह भूमि विरोध न करनेवाले राजा तथा परदेशमें न विचरनेवाले ब्राह्मण (संन्यासी)-को ग्रस लेती है ।। १४ ।।

नास्ति वै जातितः शत्रुः पुरुषस्य विशाम्पते ।
येन साधारणी वृत्तिः स शत्रुर्नेतरो जनः ।। १५ ।।

नरेश्वर! मनुष्यका जन्मसे कोई शत्रु नहीं होता, जिसके साथ एक-सी जीविका होती है अर्थात् जो लोग एक ही वृत्तिसे जीवननिर्वाह करते हैं, वे ही (ईर्ष्याके कारण) आपसमें एक-दूसरेके शत्रु होते हैं, दूसरे नहीं ।। १५ ।।

शत्रुपक्षं समृध्यन्तं यो मोहात् समुपेक्षते ।
व्याधिराप्यायित इव तस्य मूलं छिनत्ति सः ।। १६ ।।

जो निरन्तर बढ़ते हुए शत्रुपक्षकी ओरसे मोहवश उदासीन हो जाता है, बढ़े हुए रोगकी भाँति शत्रु उस उदासीन राजाकी जड़ काट डालता है ।। १६ ।।

अल्पोऽपि ह्यरिरत्यर्थं वर्धमानः पराक्रमैः ।
वल्मीको मूलज इव ग्रसते वृक्षमन्तिकात् ।। १७ ।।

जैसे वृक्षकी जड़में उत्पन्न हुई दीमक उसमें लगी रहनेके कारण उस वृक्षको ही खा जाती है, वैसे ही छोटा-सा भी शत्रु यदि पराक्रमसे बहुत बढ़ जाय, तो वह पहलेके प्रबल शत्रुको भी नष्ट कर डालता है ।। १७ ।।

आजमीढ रिपोर्लक्ष्मीर्मा ते रोचिष्ट भारत ।
एष भारः सत्त्ववतां नयः शिरसि विष्ठितः ।। १८ ।।

भरतकुलभूषण! अजमीढनन्दन! आपको शत्रुकी लक्ष्मी अच्छी नहीं लगनी चाहिये। हर समय न्यायको सिरपर चढ़ाये रखना भी बुद्धिमानोंके लिये भार ही है ।। १८ ।।

जन्मवृद्धिमिवार्थानां यो वृद्धिमभिकाङ्क्षते ।
एधते ज्ञातिषु स वै सद्यो वृद्धिर्हि विक्रमः ।। १९ ।।

जो जन्मकालसे शरीर आदिकी वृद्धिके समान धनवृद्धिकी भी अभिलाषा करता है, वह कुटुम्बीजनोंमें बहुत आगे बढ़ जाता है। पराक्रम करना तत्काल उन्नतिका कारण है ।। १९ ।।

नाप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं संशयो मे भविष्यति ।
अवाप्स्ये वा श्रियं तां हि शयिष्ये वा हतो युधि ।। २० ।।

जबतक मैं पाण्डवोंकी सम्पत्तिको प्राप्त न कर लूँ, तबतक मेरे मनमें दुविधा ही रहेगी। इसलिये या तो मैं पाण्डवोंकी उस सम्पत्तिको ले लूँगा अथवा युद्धमें मरकर सो जाऊँगा (तभी मेरी दुविधा मिटेगी) ।। २० ।।

एतादृशस्य किं मेऽद्य जीवितेन विशाम्पते ।
वर्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयं त्वस्थिरवृद्धयः ।। २१ ।।

महाराज! आज जो मेरी दशा है, इसमें मेरे जीवित रहनेसे क्या लाभ? पाण्डव प्रतिदिन उन्नति कर रहे हैं और हम लोगोंकी वृद्धि (उन्नति) अस्थिर है—अधिक कालतक टिकनेवाली नहीं जान पड़ती है ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५५ ।।

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और दुर्योधनकी बातचीत, द्यूतक्रीड़ाके लिये सभानिर्माण और धृतराष्ट्रका युधिष्ठिरको बुलानेके लिये विदुरको आज्ञा देना

शकुनिरुवाच

यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे ।
तप्यसे तां हरिष्यामि द्यूतेन जयतां वर ।। १ ।।

शकुनि बोला—विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ दुर्योधन! तुम पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी जिस लक्ष्मीको देखकर संतप्त हो रहे हो, उसका मैं द्यूतके द्वारा अपहरण कर लूँगा ।।

आहूयतां परं राजन् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अगत्वा संशयमहमयुद्ध्वा च चमूमुखे ।। २ ।।
अक्षान् क्षिपन्नक्षतः सन् विद्वानविदुषो जये ।
ग्लहान् धनूंषि मे विद्धि शरानक्षांश्च भारत ।। ३ ।।

परंतु राजन्! तुम कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको बुला लो। मैं किसी संशयमें पड़े बिना, सेनाके सामने युद्ध किये बिना केवल पासे फेंककर स्वयं किसी प्रकारकी क्षति उठाये बिना ही पाण्डवोंको जीत लूँगा; क्योंकि मैं द्यूतविद्याका ज्ञाता हूँ और पाण्डव इस कलासे अनभिज्ञ हैं। भारत! दावोंको मेरे धनुष समझो और पासोंको मेरे बाण ।। २-३ ।।

अक्षाणां हृदयं मे ज्यां रथं विद्धि ममास्तरम् ।। ४ ।।

पासोंका जो हृदय (मर्म) है, उसीको मेरे धनुषकी प्रत्यंचा समझो और जहाँसे पासे फेंके जाते हैं, वह स्थान ही मेरा रथ है ।। ४ ।।

दुर्योधन उवाच

अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ।। ५ ।।

दुर्योधन बोला—राजन्! ये मामाजी पासे फेंकनेकी कलामें निपुण हैं। ये द्यूतके द्वारा पाण्डवोंसे उनकी सम्पत्ति ले लेनेका उत्साह रखते हैं। उसके लिये इन्हें आज्ञा दीजिये ।। ५ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

स्थितोऽस्मि शासने भ्रातुर्विदुरस्य महात्मनः ।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ।। ६ ।।

धृतराष्ट्र बोले—बेटा! मैं अपने भाई महात्मा विदुरकी सम्मतिके अनुसार चलता हूँ। उनसे मिलकर यह जान सकूँगा कि इस कार्यके विषयमें क्या निश्चय करना चाहिये? ।। ६ ।।

दुर्योधन उवाच

व्यपनेष्यति ते बुद्धिं विदुरो मुक्तसंशयः ।
पाण्डवानां हिते युक्तो न तथा मम कौरव ।। ७ ।।

दुर्योधन बोला—पिताजी! विदुर सब प्रकारसे संशयरहित हैं। वे आपकी बुद्धिको जूएके निश्चयसे हटा देंगे। कुरुनन्दन! वे जैसे पाण्डवोंके हितमें संलग्न रहते हैं, वैसे मेरे हितमें नहीं ।। ७ ।।

नारभेतान्यसामर्थ्यात् पुरुषः कार्यमात्मनः ।
मतिसाम्यं द्वयोर्नास्ति कार्येषु कुरुनन्दन ।। ८ ।।

मनुष्यको चाहिये कि वह अपना कार्य दूसरेके बलपर न करे। कुरुराज! किसी भी कार्यमें दो पुरुषोंकी राय पूर्णरूपसे नहीं मिलती ।। ८ ।।

भयं परिहरन् मन्द आत्मानं परिपालयन् ।
वर्षासु क्लिन्नकटवत् तिष्ठन्नेवावसीदति ।। ९ ।।

मूर्ख मनुष्य भयका त्याग और आत्मरक्षा करते हुए भी यदि चुपचाप बैठा रहे, उद्योग न करे, तो वह वर्षाकालमें भींगी हुई चटाईके समान नष्ट हो जाता है ।। ९ ।।

न व्याधयो नापि यमः प्राप्तुं श्रेयः प्रतीक्षते ।
यावदेव भवेत् कल्पस्तावच्छ्रेयः समाचरेत् ।। १० ।।

रोग अथवा यमराज इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करते कि इसने श्रेय प्राप्त कर लिया या नहीं। अतः जबतक अपनेमें सामर्थ्य हो, तभीतक अपने हितका साधन कर लेना चाहिये ।। १० ।।

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वथा पुत्र बलिभिर्विग्रहो मे न रोचते ।
वैरं विकारं सृजति तद् वै शस्त्रमनायसम् ।। ११ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा! मुझे तो बलवानोंके साथ विरोध करना किसी प्रकार भी अच्छा नहीं लगता; क्योंकि वैर-विरोध बड़ा भारी झगड़ा खड़ा कर देता है, जो (कुलके विनाशके लिये) बिना लोहेका शस्त्र है ।। ११ ।।

अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र
संग्रन्थनं कलहस्याति घोरम् ।
तद् वै प्रवृत्तं तु यथा कथंचित्
सृजेदसीन् निशितान् सायकांश्च ।। १२ ।।

राजकुमार! तुम द्यूतरूपी अनर्थको ही अर्थ मान रहे हो। यह जूआ कलहको ही गूँथनेवाला एवं अत्यन्त भयंकर है। यदि किसी प्रकार यह शुरू हो गया तो तीखी तलवारों और बाणोंकी भी सृष्टि कर देगा ।। १२ ।।

दुर्योधन उवाच

द्यूते पुराणैर्व्यवहारः प्रणीत-
स्तत्रात्ययो नास्ति न सम्प्रहारः ।
तद् रोचतां शकुनेर्वाक्यमद्य
सभां क्षिप्रं त्वमिहाज्ञापयस्व ।। १३ ।।

दुर्योधन बोला—पिताजी! पुराने लोगोंने भी द्यूतक्रीड़ाका व्यवहार किया है। उसमें न तो दोष है और न युद्ध ही होता है। अतः आप शकुनि मामाकी बात मान लीजिये और शीघ्र ही यहाँ (द्यूतके लिये) सभामण्डप बन जानेकी आज्ञा दीजिये ।। १३ ।।

स्वर्गद्वारं दीव्यतां नो विशिष्टं
तद्वर्तिनां चापि तथैव युक्तम् ।
भवेदेवं ह्यात्मना तुल्यमेव
दुरोदरं पाण्डवैस्त्वं कुरुष्व ।। १४ ।।

यह जूआ हम खेलनेवालोंके लिये एक विशिष्ट स्वर्गीय सुखका द्वार है। उसके आस-पास बैठनेवाले लोगोंके लिये भी वह वैसा ही सुखद होता है। इस प्रकार इसमें पाण्डवोंको भी हमारे समान ही सुख प्राप्त होगा। अतः आप पाण्डवोंके साथ द्यूतक्रीड़ाकी व्यवस्था कीजिये ।।

धृतराष्ट्र उवाच

वाक्यं न मे रोचते यत् त्वयोक्तं
यत् ते प्रियं तत् क्रियतां नरेन्द्र ।
पश्चात् तप्स्यसे तदुपाक्रम्य वाक्यं
न हीदृशं भावि वचो हि धर्म्यम् ।। १५ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा! तुमने जो बात कही है, वह मुझे अच्छी नहीं लगती। नरेन्द्र! जैसी तुम्हारी रुचि हो, वैसा करो। जूएका आरम्भ करनेपर मेरी बातोंको याद करके तुम पीछे पछताओगे; क्योंकि ऐसी बातें जो तुम्हारे मुखसे निकली हैं, धर्मानुकूल नहीं कही जा सकतीं ।। १५ ।।

दृष्टं ह्येतद् विदुरेणैव सर्वं
विपश्चिता बुद्धिविद्यानुगेन ।
तदेवैतदवशस्याभ्युपैति
महद् भयं क्षत्रियजीवघाति ।। १६ ।।

बुद्धि और विद्याका अनुसरण करनेवाले विद्वान् विदुरने यह सब परिणाम पहलेसे ही देख लिया था। क्षत्रियोंके लिये विनाशकारी वही यह महान् भय मुझ विवशके सामने आ रहा है ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी
दैवं मत्वा परमं दुस्तरं च ।
शशासोच्चैः पुरुषान् पुत्रवाक्ये
स्थितो राजा दैवसम्मूढचेताः ।। १७ ।।
सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्यचित्रां
शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम् ।
सभामग्र्‍यां क्रोशमात्रायतां मे
तद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने दैवको परम दुस्तर माना और दैवके प्रतापसे ही उनके चित्तपर मोह छा गया। वे कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेमें असमर्थ हो गये। फिर पुत्रकी बात मानकर उन्होंने सेवकोंको आज्ञा दी कि शीघ्र ही तत्पर होकर तोरणस्फाटिक नामक सभा तैयार कराओ। उसमें सुवर्ण तथा वैदूर्यसे जटित एक हजार खम्भे और सौ दरवाजे हों। उस सुन्दर सभाकी लंबाई और चौड़ाई एक-एक कोसकी होनी चाहिये ।। १७-१८ ।।

श्रुत्वा तस्य त्वरिता निर्विशङ्काः
प्राज्ञा दक्षास्तां तदा चक्रुराशु ।
सर्वद्रव्याण्युपजह्रुः सभायां
सहस्रशः शिल्पिनश्चैव युक्ताः ।। १९ ।।

उनकी यह आज्ञा सुनकर तेज काम करनेवाले चतुर एवं बुद्धिमान् सहस्रों शिल्पी निर्भीक होकर काममें लग गये। उन्होंने शीघ्र ही वह सभा तैयार कर दी और उसमें सब तरहकी वस्तुएँ यथास्थान सजा दीं ।। १९ ।।

कालेनाल्पेनाथ निष्ठां गतां तां
सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम् ।
चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेता-
माचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः ।। २० ।।

थोड़े ही समयमें तैयार हुई उस असंख्य रत्नोंसे सुशोभित रमणीय एवं विचित्र सभाको अद्भुत सोनेके आसनोंद्वारा सजा दिया गया। तत्पश्चात् विश्वस्त सेवकोंने राजा धृतराष्ट्रको उस सभाभवनके तैयार हो जानेकी सूचना दी ।।

ततो विद्वान् विदुरं मन्त्रिमुख्य-
मुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः ।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा
मद्वाक्येन क्षिप्रमिहानयस्व ।। २१ ।।

तत्पश्चात् विद्वान् राजा धृतराष्ट्रने मन्त्रियोंमें प्रधान विदुरको यह आज्ञा दी कि तुम राजकुमार युधिष्ठिरके पास जाकर मेरी आज्ञासे उन्हें शीघ्र यहाँ लिवा लाओ ।।

सभेयं मे बहुरत्ना विचित्रा
शय्यासनैरुपपन्ना महार्हैः ।
सा दृश्यतां भ्रातृभिः सार्धमेत्य
सुहृद्द्यूतं वर्ततामत्र चेति ।। २२ ।।

उनसे कहना, 'मेरी यह विचित्र सभा अनेक प्रकारके रत्नोंसे जटित है। इसे बहुमूल्य शय्याओं और आसनोंद्वारा सजाया गया है। युधिष्ठिर! तुम अपने भाइयोंके साथ यहाँ आकर इसे देखो और इसमें सुहृदोंकी द्यूतक्रीड़ा प्रारम्भ हो' ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरके बुलानेसे सम्बन्ध रखनेवाला छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५६ ।।

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विदुर और धृतराष्ट्रकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

मतमाज्ञाय पुत्रस्य धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
मत्वा च दुस्तरं दैवमेतद् राजंश्चकार ह ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने पुत्र दुर्योधनका मत जानकर राजा धृतराष्ट्रने दैवको दुस्तर माना और यह कार्य किया ।। १ ।।

अन्यायेन तथोक्तस्तु विदुरो विदुषां वरः ।
नाभ्यनन्दद् वचो भ्रातुर्वचनं चेदमब्रवीत् ।। २ ।।

विद्वानोंमें श्रेष्ठ विदुरने धृतराष्ट्रका वह अन्यायपूर्ण आदेश सुनकर भाईकी उस बातका अभिनन्दन नहीं किया और इस प्रकार कहा ।। २ ।।

विदुर उवाच

नाभिनन्दे नृपते प्रैषमेतं
मैवं कृथाः कुलनाशाद् बिभेमि ।
पुत्रैर्भिन्नैः कलहस्ते ध्रुवं स्या-
देतच्छङ्के द्यूतकृते नरेन्द्र ।। ३ ।।

विदुर बोले—महराज! मैं आपके इस आदेशका अभिनन्दन नहीं करता, आप ऐसा काम मत कीजिये। इससे मुझे समस्त कुलके विनाशका भय है। नरेन्द्र! पुत्रोंमें भेद होनेपर निश्चय ही आपको कलहका सामना करना पड़ेगा। इस जूएके कारण मुझे ऐसी आशंका हो रही है ।। ३ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

नेह क्षत्तः कलहस्तप्स्यते मां
न चेद् दैवं प्रतिलोमं भविष्यत् ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं
सर्वं जगच्चेष्टति न स्वतन्त्रम् ।। ४ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! यदि दैव प्रतिकूल न हो, तो मुझे कलह भी कष्ट नहीं दे सकेगा। विधाताका बनाया हुआ यह सम्पूर्ण जगत् दैवके अधीन होकर ही चेष्टा कर रहा है, स्वतन्त्र नहीं है ।। ४ ।।

तदद्य विदुर प्राप्य राजानं मम शासनात् ।
क्षिप्रमानय दुर्धर्षं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।। ५ ।।

इसलिये विदुर! तुम मेरी आज्ञासे आज राजा युधिष्ठिरके पास जाकर उन दुर्धर्ष कुन्तीकुमार युधिष्ठिरको यहाँ शीघ्र बुला ले आओ ।। ५ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरके बुलानेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५७ ।।

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विदुर और युधिष्ठिरकी बातचीत तथा युधिष्ठिरका हस्तिनापुरमें जाकर सबसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रायाद् विदुरोऽश्वैरुदारै-
र्महाजवैर्बलिभिः साधुदान्तैः ।
बलान्नियुक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
मनीषिणां पाण्डवानां सकाशे ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा धृतराष्ट्रके बलपूर्वक भेजनेपर विदुरजी अत्यन्त वेगशाली, बलवान् और अच्छी प्रकार काबूमें किये हुए महान् अश्वोंसे जुते रथपर सवार हो परम बुद्धिमान् पाण्डवोंके समीप गये ।। १ ।।

सोऽभिपत्य तदध्वानमासाद्य नृपतेः पुरम् ।
प्रविवेश महाबुद्धिः पूज्यमानो द्विजातिभिः ।। २ ।।

महाबुद्धिमान् विदुरजी उस मार्गको तय करके राजा युधिष्ठिरकी राजधानीमें जा पहुँचे और वहाँ द्विजातियोंसे सम्मानित होकर उन्होंने नगरमें प्रवेश किया ।। २ ।।

स राजगृहमासाद्य कुबेरभवनोपमम् ।
अभ्यागच्छत धर्मात्मा धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।। ३ ।।
तं वै राजा सत्यधृतिर्महात्मा
अजातशत्रुर्विदुरं यथावत् ।
पूजापर्वं प्रतिगृह्याजमीढ-
स्ततोऽपृच्छद् धृतराष्ट्रं सपुत्रम् ।। ४ ।।

कुबेरके भवनके समान सुशोभित राजमहलमें जाकर धर्मात्मा विदुर धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे मिले। सत्यवादी महात्मा अजमीढनन्दन अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने विदुरजीका यथावत् आदर-सत्कार करके उनसे पुत्रसहित धृतराष्ट्रकी कुशल पूछी ।। ३-४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

विज्ञायते ते मनसोऽप्रहर्षः
कच्चित् क्षत्तः कुशलेनागतोऽसि ।
कच्चित् पुत्राः स्थविरस्यानुलोमा
वशानुगाश्चापि विशोऽथ कच्चित् ।। ५ ।।

युधिष्ठिर बोले—विदुरजी! आपका मन प्रसन्न नहीं जान पड़ता। आप कुशलसे तो आये हैं? बूढ़े राजा धृतराष्ट्रके पुत्र उनके अनुकूल चलते हैं न? तथा सारी प्रजा उनके वशमें है न? ।। ५ ।।

विदुर उवाच

राजा महात्मा कुशली सपुत्र
आस्ते वृतो ज्ञातिभिरिन्द्रकल्पः ।
प्रीतो राजन् पुत्रगणैर्विनीतै-
र्विशोक एवात्मरतिर्महात्मा ।। ६ ।।

विदुरने कहा—राजन्! इन्द्रके समान प्रभावशाली महामना राजा धृतराष्ट्र अपने जातिभाइयों तथा पुत्रोंसहित सकुशल हैं। अपने विनीत पुत्रोंसे वे प्रसन्न रहते हैं। उनमें शोकका अभाव है। वे महामना अपनी आत्मामें ही अनुराग रखनेवाले हैं ।। ६ ।।

इदं तु त्वां कुरुराजोऽभ्युवाच
पूर्वं पृष्ट्वा कुशलं चाव्ययं च ।
इयं सभा त्वत्सभातुल्यरूपा
भ्रातृणां ते दृश्यतामेत्य पुत्र ।। ७ ।।
समागम्य भ्रातृभिः पार्थ तस्यां
सुहृद्द्यूतं क्रियतां रम्यतां च ।
प्रीयामहे भवतां संगमेन
समागताः कुरवश्चापि सर्वे ।। ८ ।।

कुरुराज धृतराष्ट्रने पहले तुमसे कुशल और आरोग्य पूछकर यह संदेश दिया है कि वत्स! मैंने तुम्हारी सभाके समान ही एक सभा तैयार करायी है। तुम अपने भाइयोंके साथ आकर अपने दुर्योधन आदि भाइयोंकी इस सभाको देखो। इसमें सभी इष्ट-मित्र मिलकर द्यूतक्रीड़ा करें और मन बहलावें। हम सभी कौरव तुम सबसे मिलकर बहुत प्रसन्न होंगे ।। ७-८ ।।

दुरोदरा विहिता ये तु तत्र
महात्मना धृतराष्ट्रेण राज्ञा ।
तान् द्रक्ष्यसे कितवान् संनिविष्टा-
नित्यागतोऽहं नृपते तज्जुषस्व ।। ९ ।।

महामना राजा धृतराष्ट्रने वहाँ जो जूएके स्थान बनवाये हैं, उनको और वहाँ जुटकर बैठे हुए धूर्त जुआरियोंको तुम देखोगे। राजन्! मैं इसीलिये आया हूँ। तुम चलकर उस सभा एवं द्यूतक्रीड़ाका सेवन करो ।। ९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते नः
को वै द्यूतं रोचयेद् बुध्यमानः ।
किं वा भवान् मन्यते युक्तरूपं
भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म ।। १० ।।

युधिष्ठिरने पूछा—विदुरजी! जूएमें तो झगड़ा-फसाद होता है। कौन समझदार मनुष्य जूआ खेलना पसंद करेगा अथवा आप क्या ठीक समझते हैं; हम सब लोग तो आपकी आज्ञाके अनुसार ही चलनेवाले हैं ।। १० ।।

विदुर उवाच

जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं
कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवारणे ।
राजा च मां प्राहिणोत् त्वत्सकाशं
श्रुत्वा विद्वञ्छ्रेय इहाचरस्व ।। ११ ।।

विदुरजीने कहा—विद्वन्! मैं जानता हूँ, जूआ अनर्थकी जड़ है; इसीलिये मैंने उसे रोकनेका प्रयत्न भी किया तथापि राजा धृतराष्ट्रने मुझे तुम्हारे पास भेजा है, यह सुनकर तुम्हें जो कल्याणकर जान पड़े, वह करो ।। ११ ।।

युधिष्ठिर उवाच

के तत्रान्ये कितवा दीव्यमाना
विना राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः ।
पृच्छामि त्वां विदुर ब्रूहि नस्तान्
यैर्दीव्यामः शतशः संनिपत्य ।। १२ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—विदुरजी! वहाँ राजा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको छोड़कर दूसरे कौन-कौन धूर्त जुआ खेलनेवाले हैं? यह मैं आपसे पूछता हूँ। आप उन सबको बताइये, जिनके साथ मिलकर और सैकड़ोंकी बाजी लगाकर हमें जुआ खेलना पड़ेगा ।। १२ ।।

विदुर उवाच

गान्धारराजः शकुनिर्विशाम्पते
राजातिदेवी कृतहस्तो मताक्षः ।
विविंशतिश्चित्रसेनश्च राजा
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयश्च ।। १३ ।।

विदुरने कहा—राजन्! वहाँ गान्धारराज शकुनि है, जो जुएका बहुत बड़ा खिलाड़ी है। वह अपनी इच्छाके अनुसार पासे फेंकनेमें सिद्धहस्त है। उसे द्यूतविद्याके रहस्यका ज्ञान है। उसके सिवा राजा विविंशति, चित्रसेन, राजा सत्यव्रत, पुरुमित्र और जय भी रहेंगे ।। १३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

महाभयाः कितवाः संनिविष्टा
मायोपधा देवितारोऽत्र सन्ति ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं
सर्वं जगत् तिष्ठति न स्वतन्त्रम् ।। १४ ।।

युधिष्ठिर बोले—तब तो वहाँ बड़े भयंकर, कपटी और धूर्त जुआरी जुटे हुए हैं। विधाताका रचा हुआ यह सम्पूर्ण जगत् दैवके ही अधीन है; स्वतन्त्र नहीं है ।। १४ ।।

नाहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य शासना-
न्न गन्तुमिच्छामि कवे दुरोदरम् ।
इष्टो हि पुत्रस्य पिता सदैव
तदस्मि कर्ता विदुरात्थ मां यथा ।। १५ ।।

बुद्धिमान् विदुरजी! मैं राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे जूएमें अवश्य चलना चाहता हूँ। पुत्रको पिता सदैव प्रिय है; अतः आपने मुझे जैसा आदेश दिया है, वैसा ही करूँगा ।।

न चाकामः शकुनिना देविताहं
न चेन्मां जिष्णुराह्वयिता सभायाम् ।
आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्
तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे ।। १६ ।।

मेरे मनमें जूआ खेलनेकी इच्छा नहीं है। यदि मुझे विजयशील राजा धृतराष्ट्र सभामें न बुलाते, तो मैं शकुनिसे कभी जुआ न खेलता; किंतु बुलानेपर मैं कभी पीछे नहीं हटूँगा। यह मेरा सदाका नियम है ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा विदुरं धर्मराजः
प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम् ।
प्रायाच्छ्वोभूते सगणः सानुयात्रः
सह स्त्रीभिर्द्रौपदीमादि कृत्वा ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विदुरसे ऐसा कहकर धर्मराज युधिष्ठिरने तुरंत ही यात्राकी सारी तैयारी करनेके लिये आज्ञा दे दी। फिर सबेरा होनेपर उन्होंने अपने भाई-बन्धुओं, सेवकों तथा द्रौपदी आदि स्त्रियोंके साथ हस्तिनापुरकी यात्रा की ।। १७ ।।

दैवं हि प्रज्ञां मुष्णाति चक्षुस्तेज इवापतत् ।
धातुश्च वशमन्वेति पाशैरिव नरः सितः ।। १८ ।।

जैसे उत्कृष्ट तेज सामने आनेपर आँखकी ज्योतिको हर लेता है, उसी प्रकार दैव मनुष्यकी बुद्धिको हर लेता है। दैवसे ही प्रेरित होकर मनुष्य रस्सीमें बँधे हुएकी भाँति विधाताके वशमें घूमता रहता है ।। १८ ।।

इत्युक्त्वा प्रययौ राजा सह क्षत्त्रा युधिष्ठिरः ।
अमृष्यमाणस्तस्याथ समाह्वानमरिंदमः ।। १९ ।।

ऐसा कहकर शत्रुदमन राजा युधिष्ठिर जूएके लिये राजा धृतराष्ट्रके उस बुलावेको सहन न करते हुए भी विदुरजीके साथ वहाँ जानेको उद्यत हो गये ।। १९ ।।

बाह्लीकेन रथं यत्तमास्थाय परवीरहा ।
परिच्छन्नो ययौ पार्थो भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।। २० ।।

बाह्लीकद्वारा जोते हुए रथपर बैठकर शत्रुसूदन पाण्डुकुमार युधिष्ठिरने अपने भाइयोंके साथ हस्तिनापुरकी यात्रा प्रारम्भ की ।। २० ।।

राजश्रिया दीप्यमानो ययौ ब्रह्मपुरःसरः ।

वे अपनी राजलक्ष्मीसे देदीप्यमान हो रहे थे। उन्होंने ब्राह्मणको आगे करके प्रस्थान किया ।। २०½ ।।

(संदिदेश ततः प्रेष्यान् नागाह्वयगतिं प्रति ।

ततस्ते नरशार्दूलाश्चक्रुर्वै नृपशासनम् ।।

सबसे पहले राजा युधिष्ठिरने अपने सेवकोंको हस्तिनापुरकी ओर चलनेका आदेश दिया। वे नरश्रेष्ठ राजसेवक महाराजकी आज्ञाका पालन करनेमें तत्पर हो गये।

ततो राजा महातेजाः सधौम्यः सपरिच्छदः ।

ब्राह्मणैः स्वस्ति वाच्यैव निर्ययौ मन्दिराद् बहिः ।।

तत्पश्चात् महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर समस्त सामग्रियोंसे सुसज्जित हो ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर पुरोहित धौम्यके साथ राजभवनसे बाहर निकले।

ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा गत्यर्थं स यथाविधि ।

अन्येभ्यः स तु दत्त्वार्थं गन्तुमेवोपचक्रमे ।।

यात्राकी सफलताके लिये उन्होंने ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक धन देकर और दूसरोंको भी मनोवांछित वस्तुएँ अर्पित करके यात्रा प्रारम्भ की।

सर्वलक्षणसम्पन्नं राजार्हं सपरिच्छदम् ।

तमारुह्य महाराजो गजेन्द्रं षष्टिहायनम् ।।

निषसाद गजस्कन्धे काञ्चने परमासने ।

हारी किरीटी हेमाभः सर्वाभरणभूषितः ।।

रराज राजन् पार्थो वै परया नृपशोभया ।

रुक्मवेदिगतः प्राज्यो ज्वलन्निव हुताशनः ।।

राजाके बैठनेयोग्य एक साठ वर्षका गजराज सब आवश्यक सामग्रियोंसे सुसज्जित करके लाया गया। वह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न था। उसकी पीठपर सोनेका सुन्दर हौदा कसा गया था। महाराज युधिष्ठिर (पूर्वोक्त रथसे उतर कर) उस गजराजपर आरूढ़ हो हौदेमें बैठे। उस समय वे हार, किरीट तथा अन्य सभी आभूषणोंसे विभूषित हो अपनी स्वर्णगौर-कान्ति तथा उत्कृष्ट राजोचित शोभासे सुशोभित हो रहे थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो सोनेकी वेदीपर स्थापित अग्निदेव घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हो रहे हों।

ततो जगाम राजा स प्रहृष्टनरवाहनः ।

रथघोषेण महता पूरयन् वै नभःस्थलम् ।।

संस्तूयमानः स्तुतिभिः सूतमागधवन्दिभिः ।

महासैन्येन संवीतो यथाऽऽदित्यः स्वरश्मिभिः ।।

तदनन्तर हर्षमें भरे हुए मनुष्यों तथा वाहनोंके साथ राजा युधिष्ठिर वहाँसे चल पड़े। वे (राजपरिवारके लोगोंसे भरे हुए पूर्वोक्त) रथके महान् घोषसे समस्त आकाशमण्डलको

गुँजाते जा रहे थे। सूत, मागध और बन्दीजन नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा उनके गुण गाते थे। उस समय विशाल सेनासे घिरे हुए राजा युधिष्ठिर अपनी किरणोंसे आवृत हुए सूर्यदेवकी भाँति शोभा पा रहे थे।

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
बभौ युधिष्ठिरो राजा पौर्णमास्यामिवोडुराट् ।।

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे राजा युधिष्ठिर पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते थे।

चामरैर्हेमदण्डैश्च धूयमानः समन्ततः ।
जयाशिषः प्रहृष्टाणां नराणां पथि पाण्डवः ।।
प्रत्यगृह्णाद् यथान्यायं यथावद् भरतर्षभ ।

उनके चारों ओर स्वर्णदण्डविभूषित चँवर डुलाये जाते थे। भरतश्रेष्ठ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको मार्गमें बहुतेरे मनुष्य हर्षोल्लासमें भरकर 'महाराजकी जय हो' कहते हुए शुभाशीर्वाद देते थे और वे यथोचितरूपसे सिर झुकाकर उन सबको स्वीकार करते थे।

अपरे कुरुराजानं पथि यान्तं समाहिताः ।।
स्तुवन्ति सततं सौख्यान्मृगपक्षिस्वनैर्नराः ।

उस मार्गमें दूसरे बहुत-से मनुष्य एकाग्रचित्त हो मृगों और पक्षियोंकी-सी आवाजमें निरन्तर सुखपूर्वक कुरुराज युधिष्ठिरकी स्तुति करते थे।

तथैव सैनिका राजन् राजानमनुयान्ति ये ।।
तेषां हलहलाशब्दो दिवं स्तब्ध्वा प्रतिष्ठितः ।

जनमेजय! इसी प्रकार जो सैनिक राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे जा रहे थे, उनका कोलाहल भी समूचे आकाशमण्डलको स्तब्ध करके गूँज रहा था।

नृपस्याग्रे ययौ भीमो गजस्कन्धगतो बली ।।
उभौ पार्श्वगतौ राज्ञः सदश्वौ वै सुकल्पितौ ।
अधिरूढौ यमौ चापि जग्मतुर्भरतर्षभ ।।
शोभयन्तौ महासैन्यं तावुभौ रूपशालिनौ ।

हाथीकी पीठपर बैठे हुए बलवान् भीमसेन राजाके आगे-आगे जा रहे थे। उनके दोनों ओर सजे-सजाये दो श्रेष्ठ अश्व थे, जिनपर नकुल और सहदेव बैठे थे। भरतश्रेष्ठ! वे दोनों भाई स्वयं तो अपने रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित थे ही, उस विशाल सेनाकी भी शोभा बढ़ा रहे थे।

पृष्ठतोऽनुययौ धीमान् पार्थः शस्त्रभृतां वरः ।।
श्वेताश्वो गाण्डिवं गृह्य अग्निदत्तं रथं गतः ।

शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ परम बुद्धिमान् श्वेतवाहन अर्जुन अग्निदेवके दिये हुए रथपर बैठकर गाण्डीव धनुष धारण किये महाराजके पीछे-पीछे जा रहे थे।

सैन्यमध्ये ययौ राजन् कुरुराजो युधिष्ठिरः ।।
द्रौपदीप्रमुखा नार्यः सानुगाः सपरिच्छदाः ।
आरुह्य ता विचित्राणि शिबिकानां शतानि च ।।
महत्या सेनया राजन्नग्रे राज्ञो ययुस्तदा ।

राजन्! कुरुराज युधिष्ठिर सेनाके बीचमें चल रहे थे। द्रौपदी आदि स्त्रियाँ अपनी सेविकाओं तथा आवश्यक सामग्रियोंके साथ सैकड़ों विचित्र शिबिकाओं (पालकियों)-पर आरूढ़ हो बड़ी भारी सेनाके साथ महाराजके आगे-आगे जा रही थीं।

समृद्धनरनागाश्वं सपताकरथध्वजम् ।।
समृद्धरथनिस्त्रिंशं पत्तिभिर्घोषितस्वनम् ।

पाण्डवोंकी वह सेना हाथी-घोड़ों तथा पैदल सैनिकोंसे भरी-पूरी थी। उसमें बहुत-से रथ भी थे, जिनकी ध्वजाओंपर पताकाएँ फहरा रही थीं। उन सभी रथोंमें खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्र संगृहीत थे। पैदल सैनिकोंका कोलाहल सब ओर फैल रहा था।

शङ्खदुन्दुभितालानां वेणुवीणानुनादितम् ।।
शुशुभे पाण्डवं सैन्यं प्रयातं तत् तदा नृप ।

राजन्! शंख, दुन्दुभि, ताल, वेणु और वीणा आदि वाद्योंकी तुमुल ध्वनि वहाँ गूँज रही थी। उस समय हस्तिनापुरकी ओर जाती हुई पाण्डवोंकी उस सेनाकी बड़ी शोभा हो रही थी।

स सरांसि नदीश्चैव वनान्युपवनानि च ।।
अत्यक्रामन्महाराज पुरीं चाभ्यवपद्यत ।
हस्तीपुरसमीपे तु कुरुराजो युधिष्ठिरः ।।

जनमेजय! कुरुराज युधिष्ठिर अनेक सरोवर, नदी, वन और उपवनोंको लाँघते हुए हस्तिनापुरके समीप जा पहुँचे।

चक्रे निवेशनं तत्र ततः स सहसैनिकः ।
शिवे देशे समे चैव न्यवसत् पाण्डवस्तदा ।।

वहाँ उन्होंने एक सुखद एवं समतल प्रदेशमें सैनिकोंसहित पड़ाव डाल दिया। उसी छावनीमें पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर स्वयं भी ठहर गये।

ततो राजन् समाहूय शोकविह्वलया गिरा ।
एतद् वाक्यं च सर्वस्वं धृतराष्ट्रचिकीर्षितम् ।
आचचक्षे यथावृत्तं विदुरोऽथ तपस्य ह ।।)

राजन्! तदनन्तर विदुरजीने शोकाकुल वाणीमें महाराज युधिष्ठिरको वहाँका सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया कि धृतराष्ट्र क्या करना चाहते हैं और इस द्यूतक्रीडाके पीछे क्या रहस्य है?

धृतराष्ट्रेण चाहूतः कालस्य समयेन च ।। २१ ।।

स हास्तिनपुरं गत्वा धृतराष्ट्रगृहं ययौ ।
समियाय च धर्मात्मा धृतराष्ट्रेण पाण्डवः ।। २२ ।।

तब धृतराष्ट्रके द्वारा बुलाये हुए कालके समयानुसार धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हस्तिनापुरमें पहुँचकर धृतराष्ट्रके भवनमें गये और उनसे मिले ।। २१-२२ ।।

तथा भीष्मेण द्रोणेन कर्णेन च कृपेण च ।
समियाय यथान्यायं द्रौणिना च विभुः सह ।। २३ ।।

इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर, भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य और अश्वत्थामाके साथ भी यथायोग्य मिले ।। २३ ।।

समेत्य च महाबाहुः सोमदत्तेन चैव ह ।
दुर्योधनेन शल्येन सौबलेन च वीर्यवान् ।। २४ ।।
ये चान्ये तत्र राजानः पूर्वमेव समागताः ।
दुःशासनेन वीरेण सर्वैर्भ्रातृभिरेव च ।। २५ ।।
जयद्रथेन च तथा कुरुभिश्चापि सर्वशः ।
ततः सर्वैर्महाबाहुर्भ्रातृभिः परिवारितः ।। २६ ।।
प्रविवेश गृहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
ददर्श तत्र गान्धारीं देवीं पतिमनुव्रताम् ।। २७ ।।
स्नुषाभिः संवृतां शश्वत् ताराभिरिव रोहिणीम् ।
अभिवाद्य स गान्धारीं तया च प्रतिनन्दितः ।। २८ ।।

तत्पश्चात् पराक्रमी महाबाहु युधिष्ठिर सोमदत्तसे मिलकर दुर्योधन, शल्य, शकुनि तथा जो राजा वहाँ पहलेसे ही आये हुए थे, उन सबसे मिले। फिर वीर दुःशासन, उसके समस्त भाई, राजा जयद्रथ तथा सम्पूर्ण कौरवोंसे मिल करके भाइयोंसहित महाबाहु युधिष्ठिरने बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके भवनमें प्रवेश किया और वहाँ सदा ताराओंसे घिरी रहनेवाली रोहिणीदेवीके समान पुत्रवधुओंके साथ बैठी हुई पतिव्रता गान्धारीदेवीको देखा। युधिष्ठिरने गान्धारीको प्रणाम किया और गान्धारीने भी उन्हें आशीर्वाद देकर प्रसन्न किया ।। २४—२८ ।।

ददर्श पितरं वृद्धं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ।। २९ ।।

तत्पश्चात् उन्होंने अपने बूढ़े चाचा प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रका पुनः दर्शन किया ।। २९ ।।

राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातास्ते च कौरवनन्दनाः ।
चत्वारः पाण्डवा राजन् भीमसेनपुरोगमाः ।। ३० ।।

राजा धृतराष्ट्रने कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर तथा भीमसेन आदि अन्य चारों पाण्डवोंका मस्तक सूँघा ।।

ततो हर्षः समभवत् कौरवाणां विशाम्पते ।

तान् दष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान् पाण्डवान् प्रियदर्शनान् ।। ३१ ।।

जनमेजय! उन पुरुषश्रेष्ठ प्रियदर्शन पाण्डवोंको आये देख कौरवोंको बड़ा हर्ष हुआ ।। ३१ ।।

विविशुस्तेऽभ्यनुज्ञाता रत्नवन्ति गृहाणि च ।
ददृशुश्चोपयातांस्तान् दुःशलाप्रमुखाः स्त्रियः ।। ३२ ।।
याज्ञसेन्याः परामृद्धिं दृष्ट्वा प्रज्वलितामिव ।
स्नुषास्ता धृतराष्ट्रस्य नातिप्रमनसोऽभवन् ।। ३३ ।।

तत्पश्चात् धृतराष्ट्रकी आज्ञा ले पाण्डवोंने रत्नमय गृहोंमें प्रवेश किया। दुःशला आदि स्त्रियोंने वहाँ आये हुए उन सबको देखा। द्रुपदकुमारीकी प्रज्वलित अग्निके समान उत्तम समृद्धि देखकर धृतराष्ट्रकी पुत्रवधुएँ अधिक प्रसन्न नहीं हुईं ।। ३२-३३ ।।

ततस्ते पुरुषव्याघ्रा गत्वा स्त्रीभिस्तु संविदम् ।
कृत्वा व्यायामपूर्वाणि कृत्यानि प्रतिकर्म च ।। ३४ ।।
ततः कृताह्निकाः सर्वे दिव्यचन्दनभूषिताः ।
कल्याणमनसश्चैव ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ।। ३५ ।।
मनोज्ञमशनं भुक्त्वा विविशुः शरणान्यथ ।

तदनन्तर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव द्रौपदी आदि अपनी स्त्रियोंसे बातचीत करके पहले व्यायाम एवं केश-प्रसाधन आदि कार्य किया। तदनन्तर नित्यकर्म करके सबने अपनेको दिव्य चन्दन आदिसे विभूषित किया। तत्पश्चात् मनमें कल्याणकी भावना रखनेवाले पाण्डव ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर मनोऽनुकूल भोजन करनेके पश्चात् शयनगृहमें गये ।। ३४-३५½ ।।

उपगीयमाना नारीभिरस्वपन् कुरुपुङ्गवाः ।। ३६ ।।

वहाँ स्त्रियोंद्वारा अपने सुयशका गान सुनते हुए वे कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष सो गये ।। ३६ ।।

जगाम तेषां सा रात्रिः पुण्या रतिविहारिणाम् ।
स्तूयमानाश्च विश्रान्ताः काले निद्रामथात्यजन् ।। ३७ ।।

उनकी वह पुण्यमयी रात्रि रति-विलासपूर्वक समाप्त हुई। प्रातःकाल बन्दीजनोंके द्वारा स्तुति सुनते हुए पूर्ण विश्रामके पश्चात् उन्होंने निद्राका त्याग किया ।। ३७ ।।

सुखोषितास्ते रजनीं प्रातः सर्वे कृताह्निकाः ।
सभां रम्यां प्रविविशुः कितवैरभिनन्दिताः ।। ३८ ।।

इस प्रकार सुखपूर्वक रात बिताकर वे प्रातःकाल उठे और संध्योपासनादि नित्यकर्म करनेके अनन्तर उस रमणीय सभामें गये। वहाँ जुआरियोंने उनका अभिनन्दन किया ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसभागमनेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरसभागमनविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २३½ श्लोक मिलाकर कुल ६१½ श्लोक हैं)

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

जूएके अनौचित्यके सम्बन्धमें युधिष्ठिर और शकुनिका संवाद

वैशम्पायन उवाच

प्रविश्य तां सभां पार्था युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
समेत्य पार्थिवान् सर्वान् पूजार्हानभिपूज्य च ।। १ ।।
यथावयः समेयाना उपविष्टा यथार्हतः ।
आसनेषु विचित्रेषु स्पर्ध्यास्तरणवत्सु च ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिर आदि कुन्तीकुमार उस सभामें पहुँचकर सब राजाओंसे मिले। अवस्थाक्रमके अनुसार समस्त पूजनीय राजाओंका बारी-बारीसे सम्मान करके सबसे मिलने-जुलनेके पश्चात् वे यथायोग्य सुन्दर रमणीय गलीचोंसे युक्त विचित्र आसनोंपर बैठे ।। १-२ ।।

तेषु तत्रोपविष्टेषु सर्वेष्वथ नृपेषु च ।
शकुनिः सौबलस्तत्र युधिष्ठिरमभाषत ।। ३ ।।

उनके एवं सब नरेशोंके बैठ जानेपर वहाँ सुबलकुमार शकुनिने युधिष्ठिरसे कहा ।। ३ ।।

शकुनिरुवाच

उपस्तीर्णा सभा राजन् सर्वे त्वयि कृतक्षणाः ।
अक्षानुप्त्वा देवनस्य समयोऽस्तु युधिष्ठिर ।। ४ ।।

शकुनि बोला—महाराज युधिष्ठिर! सभामें पासे फेंकनेवाला वस्त्र बिछा दिया गया है, सब आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। अब पासे फेंककर जूआ खेलनेका अवसर मिलना चाहिये ।। ४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

निकृतिर्देवनं पापं न क्षात्रोऽत्र पराक्रमः ।
न च नीतिर्ध्रुवा राजन् किं त्वं द्यूतं प्रशंससि ।। ५ ।।

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! जूआ तो एक प्रकारका छल है तथा पापका कारण है! इसमें न तो क्षत्रियोचित पराक्रम दिखाया जा सकता है और न इसकी कोई निश्चित नीति ही है। फिर तुम द्यूतकी प्रशंसा क्यों करते हो? ।। ५ ।।

न हि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य हि ।
शकुने मैव नो जैषीरमार्गेण नृशंसवत् ।। ६ ।।

शकुने! जुआरियोंका छल-कपटमें ही सम्मान होता है; सज्जन पुरुष वैसे सम्मानकी प्रशंसा नहीं करते। अतः तुम क्रूर मनुष्यकी भाँति अनुचित मार्गसे हमें जीतनेकी चेष्टा न करो ।। ६ ।।

शकुनिरुवाच

यो वेत्ति संख्यां निकृतौ विधिज्ञ-
श्चेष्टास्वखिन्नः कितवोऽक्षजासु ।
महामतिर्यश्च जानाति द्यूतं
स वै सर्वं सहते प्रक्रियासु ।। ७ ।।

शकुनि बोला—जिस अंकपर पासा पड़ता है, उसे जो पहले ही समझ लेता है, जो शठताका प्रतीकार करना जानता है एवं पासे फेंकने आदि समस्त व्यापारोंमें उत्साहपूर्वक लगा रहता है तथा जो परम बुद्धिमान् पुरुष द्यूतक्रीड़ाविषयक सब बातोंकी जानकारी रखता है, वही जूएका असली खिलाड़ी है; वह द्यूतक्रीड़ामें दूसरोंकी सारी शठतापूर्ण चेष्टाओंको सह लेता है ।। ७ ।।

अक्षग्लहः सोऽभिभवेत् परं न-
स्तेनैव दोषो भवतीह पार्थ ।
दीव्यामहे पार्थिव मा विशङ्कां
कुरुष्व पाणं च चिरं च मा कृथाः ।। ८ ।।

कुन्तीनन्दन! यदि पासा विपरीत पड़ जाय तो हम खिलाड़ियोंमेंसे एक पक्षको पराजित कर सकता है; अतः जय-पराजय दैवाधीन पासोंके ही आश्रित है। उसीसे पराजयरूप दोषकी प्राप्ति होती है। हारनेकी शंका तो हमें भी है, फिर भी हम खेलते हैं। अतः भूमिपाल! आप शंका न कीजिये, दाँव लगाइये, अब विलम्ब न कीजिये ।।

युधिष्ठिर उवाच

एवमाहायमसितो देवलो मुनिसत्तमः ।
इमानि लोकद्वाराणि यो वै भ्राम्यति सर्वदा ।। ९ ।।
इदं वै देवनं पापं निकृत्या कितवैः सह ।
धर्मेण तु जयो युद्धे तत्परं न तु देवनम् ।। १० ।।

युधिष्ठिरने कहा—मुनिश्रेष्ठ असित-देवलने, जो सदा इन लोकद्वारोंमें भ्रमण करते रहते हैं, ऐसा कहा है कि जुआरियोंके साथ शठतापूर्वक जो जूआ खेला जाता है, पाप है। धर्मानुकूल विजय तो युद्धमें ही प्राप्त होती है; अतः क्षत्रियोंके लिये युद्ध ही उत्तम है, जूआ खेलना नहीं ।। ९-१० ।।

नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभिर्मायया न चरन्त्युत ।
अजिह्ममशठं युद्धमेतत् सत्पुरुषव्रतम् ।। ११ ।।

श्रेष्ठ पुरुष वाणीद्वारा किसीके प्रति अनुचित शब्द नहीं निकालते तथा कपटपूर्ण बर्ताव नहीं करते। कुटिलता और शठतासे रहित युद्ध ही सत्पुरुषोंका व्रत है ।। ११ ।।

शक्तितो ब्राह्मणान् नूनं रक्षितुं प्रयतामहे ।

तद् वै वित्तं मातिदेवीर्मा जैषीः शकुने परान् ।। १२ ।।

शकुने! हमलोग जिस धनसे अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेका ही प्रयत्न करते हैं, उसको तुम जूआ खेलकर हमलोगोंसे हड़पनेकी चेष्टा न करो ।।

निकृत्या कामये नाहं सुखान्युत धनानि वा ।

कितवस्येह कृतिनो वृत्तमेतन्न पूज्यते ।। १३ ।।

मैं धूर्ततापूर्ण बर्तावके द्वारा सुख अथवा धन पानेकी इच्छा नहीं करता; क्योंकि जुआरीके कार्यको विद्वान् पुरुष अच्छा नहीं समझते ।। १३ ।।

शकुनिरुवाच

श्रोत्रियः श्रोत्रियानेति निकृत्यैव युधिष्ठिर ।

विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ।। १४ ।।

शकुनि बोला—युधिष्ठिर! श्रोत्रिय विद्वान् दूसरे श्रोत्रिय विद्वानोंके पास जब उन्हें जीतनेके लिये जाता है, तब शठतासे ही काम लेता है। विद्वान् अविद्वानोंको शठतासे ही पराजित करता है; परंतु इसे जनसाधारण शठता नहीं कहते ।। १४ ।।

अक्षैर्हि शिक्षितोऽभ्येति निकृत्यैव युधिष्ठिर ।

विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ।। १५ ।।

धर्मराज! जो द्यूतविद्यामें पूर्ण शिक्षित है, वह अशिक्षितोंपर शठतासे ही विजय पाता है। विद्वान् पुरुष अविद्वानोंको जो परास्त करता है, वह भी शठता ही है; किंतु लोग उसे शठता नहीं कहते ।। १५ ।।

अकृतास्त्रं कृतास्त्रश्च दुर्बलं बलवत्तरः ।

एवं कर्मसु सर्वेषु निकृत्यैव युधिष्ठिर ।

विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ।। १६ ।।

धर्मराज युधिष्ठिर! अस्त्रविद्यामें निपुण योद्धा अनाड़ीको एवं बलिष्ठ पुरुष दुर्बलको शठतासे ही जीतना चाहता है। इस प्रकार सब कार्योंमें विद्वान् पुरुष अविद्वानोंको शठतासे ही जीतते हैं; किंतु लोग उसे शठता नहीं कहते ।। १६ ।।

एवं त्वं मामिहाभ्येत्य निकृतिं यदि मन्यसे ।

देवनाद् विनिवर्तस्व यदि ते विद्यते भयम् ।। १७ ।।

इसी प्रकार आप यदि मेरे पास आकर यह मानते हैं कि आपके साथ शठता की जायगी एवं यदि आपको भय मालूम होता है तो इस जूएके खेलसे निवृत्त हो जाइये ।।

युधिष्ठिर उवाच

आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम् ।
विधिश्च बलवान् राजन् दिष्टस्यास्मि वशे स्थितः ।। १८ ।।

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! मैं बुलानेपर पीछे नहीं हटता, यह मेरा निश्चित व्रत है। दैव बलवान् है। मैं दैवके वशमें हूँ ।। १८ ।।

अस्मिन् समागमे केन देवनं मे भविष्यति ।
प्रतिपाणश्च कोऽन्योऽस्ति ततो द्यूतं प्रवर्तताम् ।। १९ ।।

अच्छा तो यहाँ जिन लोगोंका जमाव हुआ है, उनमें किसके साथ मुझे जूआ खेलना होगा? मेरे मुकाबलेमें बैठकर दूसरा कौन पुरुष दाँव लगायेगा? इसका निश्चय हो जाय, तो जूएका खेल प्रारम्भ हो ।। १९ ।।

दुर्योधन उवाच

अहं दातास्मि रत्नानां धनानां च विशाम्पते ।। २० ।।
मदर्थे देविता चायं शकुनिर्मातुलो मम ।

दुर्योधन बोला—महाराज! दाँवपर लगानेके लिये धन और रत्न तो मैं दूँगा; परंतु मेरी ओरसे खेलेंगे ये मेरे मामा शकुनि ।। २०½ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अन्येनान्यस्य वै द्यूतं विषमं प्रतिभाति मे ।
एतद् विद्वन्नुपादत्स्व काममेवं प्रवर्तताम् ।। २१ ।।

युधिष्ठिरने कहा—दूसरेके लिये दूसरेका जूआ खेलना मुझे तो अनुचित ही प्रतीत होता है। विद्वन्! इस बातको समझ लो, फिर इच्छानुसार जूएका खेल प्रारम्भ हो ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरशकुनिसंवादे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ।। ५९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरशकुनिसंवादविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५९ ।।

षष्टितमोऽध्यायः

द्यूतक्रीड़ाका आरम्भ

वैशम्पायन उवाच

उपोह्यमाने द्यूते तु राजानः सर्व एव ते ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां ततः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब जूएका खेल आरम्भ होने लगा, उस समय सब राजालोग धृतराष्ट्रको आगे करके उस सभामें आये ।। १ ।।

भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विदुरश्च महामतिः ।
नातिप्रीतेन मनसा तेऽन्ववर्तन्त भारत ।। २ ।।

भारत! भीष्म, द्रोण, कृप और परम बुद्धिमान् विदुर—ये सब लोग असंतुष्ट चित्तसे ही धृतराष्ट्रके पीछे-पीछे वहाँ आये ।। २ ।।

ते द्वन्द्वशः पृथक् चैव सिंहग्रीवा महौजसः ।
सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि च भेजिरे ।। ३ ।।

सिंहके समान ग्रीवावाले वे महातेजस्वी राजालोग कहीं एक-एक आसनपर दो-दो तथा कहीं पृथक्-पृथक् एक-एक आसनपर एक ही व्यक्ति बैठे। इस प्रकार उन्होंने वहाँ रखे हुए बहुसंख्यक विचित्र सिंहासनोंको ग्रहण किया ।।

शुशुभे सा सभा राजन् राजभिस्तैः समागतैः ।
देवैरिव महाभागैः समवेतैस्त्रिविष्टपम् ।। ४ ।।

राजन्! जैसे महाभाग देवताओंके एकत्र होनेसे स्वर्गलोक सुशोभित होता है, उसी प्रकार उन आगन्तुक नरेशोंसे उस सभाकी बड़ी शोभा हो रही थी ।। ४ ।।

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्तयः ।
प्रावर्तत महाराज सुहृद्‌ द्यूतमनन्तरम् ।। ५ ।।

महाराज! वे सब-के-सब वेदवेत्ता एवं शूरवीर थे तथा उनके शरीर तेजोयुक्त थे। उनके बैठ जानेके अनन्तर वहाँ सुहृदोंकी द्यूतक्रीड़ा आरम्भ हुई ।। ५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अयं बहुधनो राजन् सागरावर्तसम्भवः ।
मणिर्हारोत्तरः श्रीमान् कनकोत्तमभूषणः ।। ६ ।।

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! यह समुद्रके आवर्तमें उत्पन्न हुआ कान्तिमान् मणिरत्न बहुत बड़े मूल्यका है। मेरे हारोंमें यह सर्वोत्तम है तथा इसपर उत्तम सुवर्ण जड़ा गया है ।। ६ ।।

एतद् राजन् मम धनं प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव ।
येन मां त्वं महाराज धनेन प्रतिदीव्यसे ।। ७ ।।

राजन्! मेरी ओरसे यही धन दाँवपर रखा गया है। इसके बदलेमें तुम्हारी ओरसे कौन-सा धन दाँवपर रखा जाता है, जिस धनके द्वारा तुम मेरे साथ खेलना चाहते हो ।।

दुर्योधन उवाच

सन्ति मे मणयश्चैव धनानि सुबहूनि च ।
मत्सरश्च न मेऽर्थेषु जयस्वैनं दुरोदरम् ।। ८ ।।

दुर्योधन बोला—मेरे पास भी मणियाँ और बहुत-सा धन है, मुझे अपने धनपर अहंकार नहीं है। आप इस जूएको जीतिये ।। ८ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो जग्राह शकुनिस्तानक्षानक्षतत्त्ववित् ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। ९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पासे फेंकनेकी कलामें अत्यन्त निपुण शकुनिने उन पासोंको हाथमें लिया और उन्हें फेंककर युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह दाँव मैंने जीता' ।। ९ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्यूतारम्भे षष्टितमोऽध्यायः ।। ६० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्यूतारम्भविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६० ।।

एकषष्टितमोऽध्यायः

जूएमें शकुनिके छलसे प्रत्येक दाँवपर युधिष्ठिरकी हार

युधिष्ठिर उवाच

मत्तः कैतवकेनैव यज्जितोऽस्मि दुरोदरे ।
शकुने हन्त दीव्यामो ग्लहमानाः परस्परम् ।। १ ।।

युधिष्ठिरने कहा—शकुने! तुमने छलसे इस दाँवमें मुझे हरा दिया, इसीपर तुम गर्वित हो उठे हो; आओ, हमलोग पुनः परस्पर पासे फेंककर जूआ खेलें ।। १ ।।

सन्ति निष्कसहस्रस्य भाण्डिन्यो भरिताः शुभाः ।
कोशो हिरण्यमक्षय्यं जातरूपमनेकशः ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ।। २ ।।

मेरे पास हजारों निष्कोंसे* भरी हुई बहुत-सी सुन्दर पेटियाँ रखी हैं। इसके सिवा खजाना है, अक्षय धन है और अनेक प्रकारके सुवर्ण हैं। राजन्! मेरा यह सब धन दाँवपर लगा दिया गया। मैं इसीके द्वारा तुम्हारे साथ खेलता हूँ ।।

वैशम्पायन उवाच

कौरवाणां कुलकरं ज्येष्ठं पाण्डवमच्युतम् ।
इत्युक्तः शकुनिः प्राह जितमित्येव तं नृपम् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले कौरवोंके वंशधर एवं पाण्डुके ज्येष्ठ पुत्र राजा युधिष्ठिरसे शकुनिने फिर कहा—‘लो, यह दाँव भी मैंने ही जीता’ ।। ३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अयं सहस्रसमितो वैयाघ्रः सुप्रतिष्ठितः ।
सुचक्रोपस्करः श्रीमान् किङ्किणीजालमण्डितः ।। ४ ।।
संह्रादनो राजरथो य इहास्मानुपावहत् ।
जैत्रो रथवरः पुण्यो मेघसागरनिःस्वनः ।।
अष्टौ यं कुररच्छायाः सदश्वा राष्ट्रसम्मताः ।। ५ ।।
वहन्ति नैषां मुच्येत पदाद् भूमिमुपस्पृशन् ।
एतद् राजन् धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ।। ६ ।।

युधिष्ठिरने कहा—यह जो परमानन्ददायक राजरथ है, जो हमलोगोंको यहाँतक ले आया है, रथोंमें श्रेष्ठ जैत्र नामक पुण्यमय श्रेष्ठ रथ है। चलते समय इससे मेघ और समुद्रकी गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनि होती रहती है। यह अकेला ही एक हजार रथोंके समान है।

इसके ऊपर बाघका चमड़ा लगा हुआ है। यह अत्यन्त सुदृढ़ है। इसके पहिये तथा अन्य आवश्यक सामग्री बहुत सुन्दर है। यह परम शोभायमान रथ क्षुद्र घण्टिकाओंसे सजाया गया है। कुरर पक्षीकी-सी कान्तिवाले आठ अच्छे घोड़े, जो समूचे राष्ट्रमें सम्मानित हैं, इस रथको वहन करते हैं। भूमिका स्पर्श करनेवाला कोई भी प्राणी इन घोड़ोंके सामने पड़ जानेपर बच नहीं सकता। राजन्! इन घोड़ोंसहित यह रथ मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पुनः पासे फेंके और जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—‘लो, यह भी जीत लिया’ ।। ७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

शतं दासीसहस्राणि तरुण्यो हेमभद्रिकाः ।
कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलंकृताः ।। ८ ।।
महार्हमाल्याभरणाः सुवस्त्राश्चन्दनोक्षिताः ।
मणीन् हेम च बिभ्रत्यश्चतुःषष्टिविशारदाः ।। ९ ।।
अनुसेवां चरन्तीमाः कुशला नृत्यसामसु ।
स्नातकानाममात्यानां राज्ञां च मम शासनात् ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ।। १० ।।

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास एक लाख तरुणी दासियाँ हैं, जो सुवर्णमय मांगलिक आभूषण धारण करती हैं। जिनके हाथोंमें शंखकी चूड़ियाँ, बाँहोंमें भुजबंद, कण्ठमें निष्कोंका हार तथा अन्य अंगोंमें भी सुन्दर आभूषण हैं। बहुमूल्य हार उनकी शोभा बढ़ाते हैं। उनके वस्त्र बहुत ही सुन्दर हैं। वे अपने शरीरमें चन्दनका लेप लगाती हैं, मणि और सुवर्ण धारण करती हैं तथा चौसठ कलाओंमें निपुण हैं। नृत्य और गानमें भी वे कुशल हैं। ये सब-की-सब मेरे आदेशसे स्नातकों, मन्त्रियों तथा राजाओंकी सेवा-परिचर्या करती हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ।। ८—१० ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। ११ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर कपटी शकुनिने पुनः जीतका निश्चय करके पासे फेंके और युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ।। ११ ।।

युधिष्ठिर उवाच

एतावन्ति च दासानां सहस्राण्युत सन्ति मे ।
प्रदक्षिणानुलोमाश्च प्रावारवसनाः सदा ।। १२ ।।

युधिष्ठिरने कहा—दासियोंकी तरह ही मेरे यहाँ एक लाख दास हैं। वे कार्यकुशल तथा अनुकूल रहनेवाले हैं। उनके शरीरपर सदा सुन्दर उत्तरीय वस्त्र सुशोभित होते हैं ।। १२ ।।

प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ।। १३ ।।

वे चतुर, बुद्धिमान्, संयमी और तरुण अवस्थावाले हैं। उनके कानोंमें कुण्डल झिलमिलाते रहते हैं। वे हाथोंमें भोजनपात्र लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन परोसते रहते हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ।। १३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। १४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर पुनः शठताका आश्रय लेनेवाले शकुनिने अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह दाँव भी मैंने जीत लिया' ।। १४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

सहस्रसंख्या नागा मे मत्तास्तिष्ठन्ति सौबल ।
हेमकक्षाः कृतापीडाः पद्मिनो हेममालिनः ।। १५ ।।

युधिष्ठिरने कहा—सुबलकुमार! मेरे यहाँ एक हजार मतवाले हाथी हैं, जिनके बाँधनेके रस्से सुवर्णमय हैं। वे सदा आभूषणोंसे विभूषित रहते हैं। उनके कपोल और मस्तक आदि अंगोंपर कमलके चिह्न बने हुए हैं। उनके गलेमें सोनेके हार सुशोभित होते हैं ।। १५ ।।

सुदान्ता राजवहनाः सर्वशब्दक्षमा युधि ।
ईषादन्ता महाकायाः सर्वे चाष्टकरेणवः ।। १६ ।।

वे अच्छी तरह वशमें किये हुए हैं और राजाओंकी सवारीके काममें आते हैं। युद्धमें वे सब प्रकारके शब्द सहन करनेवाले हैं। उनके दाँत हलदण्डके समान लंबे हैं और शरीर विशाल है। उनमेंसे प्रत्येकके आठ-आठ हथिनियाँ हैं ।। १६ ।।

सर्वे च पुरभेत्तारो नवमेघनिभा गजाः ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ।। १७ ।।

उनकी कान्ति नूतन मेघोंकी घटाके समान है। वे सब-के-सब बड़े-बड़े नगरोंको भी नाश कर देनेकी शक्ति रखते हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवंवादिनं पार्थं प्रहसन्निव सौबलः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसी बातें कहते हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे शकुनिने हँसकर कहा—'इस दाँवको भी मैंने ही जीता' ।। १८ ।।

युधिष्ठिर उवाच

रथास्तावन्त एवेमे हेमदण्डाः पताकिनः ।
हयैर्विनीतैः सम्पन्ना रथिभिश्चित्रयोधिभिः ।। १९ ।।
एकैको ह्यत्र लभते सहस्रपरमां भृतिम् ।
युध्यतोऽयुध्यतो वापि वेतनं मासकालिकम् ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ।। २० ।।

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास उतने ही अर्थात् एक हजार रथ हैं, जिनकी ध्वजाओंमें सोनेके डंडे लगे हैं। उन रथोंपर पताकाएँ फहराती रहती हैं। उनमें सधे हुए घोड़े जोते जाते हैं और विचित्र युद्ध करनेवाले रथी उनमें बैठते हैं। उन रथियोंमेंसे प्रत्येकको अधिक-से-अधिक एक सहस्र स्वर्णमुद्राएँतक वेतनमें मिलती हैं। वे युद्ध कर रहे हों या न कर रहे हों, प्रत्येक मासमें उन्हें यह वेतन प्राप्त होता रहता है। राजन्! यह मेरा धन है, इसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ।। १९-२० ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते वचने कृतवैरो दुरात्मवान् ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उनके ऐसा कहनेपर वैरी दुरात्मा शकुनिने युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह भी जीत लिया' ।। २१ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अश्वांस्तित्तिरिकल्माषान् गान्धर्वान् हेममालिनः ।
ददौ चित्ररथस्तुष्टो यांस्तान् गाण्डीवधन्वने ।। २२ ।।
युद्धे जितः पराभूतः प्रीतिपूर्वमरिंदमः ।

एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ।। २३ ।।

युधिष्ठिरने कहा—मेरे यहाँ तीतर पक्षीके समान विचित्र वर्णवाले गन्धर्वदेशके घोड़े हैं, जो सोनेके हारसे विभूषित हैं। शत्रुदमन चित्ररथ गन्धर्वने युद्धमें पराजित एवं तिरस्कृत होनेके पश्चात् संतुष्ट हो गाण्डीवधारी अर्जुनको प्रेमपूर्वक वे घोड़े भेंट किये थे। राजन्! यह मेरा धन है जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। २४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पुनः अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता है' ।।

युधिष्ठिर उवाच

रथानां शकटानां च श्रेष्ठानां चायुतानि मे ।
युक्तान्येव हि तिष्ठन्ति वाहैरुच्चावचैस्तथा ।। २५ ।।

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास दस हजार श्रेष्ठ रथ और छकड़े हैं। जिनमें छोटे-बड़े वाहन सदा जुटे ही रहते हैं ।।

एवं वर्णस्य वर्णस्य समुच्चीय सहस्रशः ।
यथा समुदिता वीराः सर्वे वीरपराक्रमाः ।। २६ ।।

इसी प्रकार प्रत्येक वर्णके हजारों चुने हुए योद्धा मेरे यहाँ एक साथ रहते हैं। वे सब-के-सब वीरोचित पराक्रमसे सम्पन्न एवं शूरवीर हैं ।। २६ ।।

क्षीरं पिबन्तस्तिष्ठन्ति भुञ्जानाः शालितण्डुलान् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सर्वे विपुलवक्षसः ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ।। २७ ।।

उनकी संख्या साठ हजार है। वे दूध पीते और शालिके चावलका भात खाकर रहते हैं। उन सबकी छाती बहुत चौड़ी है। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ।। २७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर शठताके उपासक शकुनिने पुनः युधिष्ठिरसे पूर्ण निश्चयके साथ कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता है' ।। २८ ।।

युधिष्ठिर उवाच

ताम्रलोहैः परिवृता निधयो ये चतुःशताः ।
पञ्चद्रौणिक एकैकः सुवर्णस्याहतस्य वै ।। २९ ।।
जातरूपस्य मुख्यस्य अनर्घेयस्य भारत ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ।। ३० ।।

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास ताँबे और लोहेकी चार सौ निधियाँ यानी खजानेसे भरी हुई पेटियाँ हैं। प्रत्येकमें पाँच-पाँच द्रोण विशुद्ध सोना भरा हुआ है, वह सारा सोना तपाकर शुद्ध किया हुआ है, उसकी कीमत आँकी नहीं जा सकती। भारत! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ।। २९-३० ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। ३१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पूर्ववत् पूर्ण निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—‘यह दाँव भी मैंने ही जीता’ ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि देवने एकषष्टितमोऽध्यायः ।। ६१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्यूतक्रीड़ाविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६१ ।।

---

* प्राचीनकालमें प्रचलित एक सिक्का, जो एक कर्ष अथवा सोलह मासे सोनेका बना होता था।

द्विषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रको विदुरकी चेतावनी

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रवर्तिते द्यूते घोरे सर्वापहारिणि ।
सर्वसंशयनिर्मोक्ता विदुरो वाक्यमब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार जब सर्वस्वका अपहरण करनेवाली वह भयानक द्यूतक्रीड़ा चल रही थी, उसी समय समस्त संशयोंका निवारण करनेवाले विदुरजी बोल उठे ।। १ ।।

विदुर उवाच

महाराज विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि भारत ।
मुमूर्षोरौषधमिव न रोचेतापि ते श्रुतम् ।। २ ।।

विदुरजीने कहा—भरतकुलतिलक महाराज धृतराष्ट्र! मरणासन्न रोगीको जैसे ओषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार आपलोगोंको मेरी शास्त्रसम्मत बात भी अच्छी नहीं लगेगी। फिर भी मैं आपसे जो कुछ कह रहा हूँ, उसे अच्छी तरह सुनिये और समझिये ।। २ ।।

यद् वै पुरा जातमात्रो रुराव
गोमायुवद् विस्वरं पापचेताः ।
दुर्योधनो भरतानां कुलघ्नः
सोऽयं युक्तो भवतां कालहेतुः ।। ३ ।।

यह भरतवंशका विनाश करनेवाला पापी दुर्योधन पहले जब गर्भसे बाहर निकला था, गीदड़के समान जोर-जोरसे चिल्लाने लगा था; अतः यह निश्चय ही आप सब लोगोंके विनाशका कारण बनेगा ।। ३ ।।

गृहे वसन्तं गोमायुं त्वं वै मोहान्न बुध्यसे ।
दुर्योधनस्य रूपेण शृणु काव्यां गिरं मम ।। ४ ।।

राजन्! दुर्योधनके रूपमें आपके घरके भीतर एक गीदड़ निवास कर रहा है; परंतु आप मोहवश इस बातको समझ नहीं पाते। सुनिये, मैं आपको शुक्राचार्यकी कही हुई नीतिकी बात बतलाता हूँ ।। ४ ।।

मधु वै माध्विको लब्ध्वा प्रपातं नैव बुध्यते ।
आरुह्य तं मज्जति वा पतनं चाधिगच्छति ।। ५ ।।

मधु बेचनेवाला मनुष्य जब कहीं ऊँचे वृक्ष आदिपर मधुका छत्ता देख लेता है, तब वहाँसे गिरनेकी सम्भावनाकी ओर ध्यान नहीं देता। वह ऊँचे स्थानपर चढ़कर या तो मधु

पाकर मग्न हो जाता है अथवा उस स्थानसे नीचे गिर जाता है ।। ५ ।।

सोऽयं मत्तोऽक्षद्यूतेन मधुवन्न परीक्षते ।

प्रपातं बुध्यते नैव वैरं कृत्वा महारथैः ।। ६ ।।

वैसे ही यह दुर्योधन जूएके नशेमें इतना उन्मत्त हो गया है कि मधुमत्त पुरुषकी भाँति अपने ऊपर आनेवाले संकटको नहीं देखता। महारथी पाण्डवोंके साथ वैर करके हमें पतनके गर्तमें गिरकर मरना पड़ेगा, इस बातको समझ नहीं पा रहा है ।। ६ ।।

विदितं मे महाप्राज्ञ भोजेष्वेवासमञ्जसम् ।

पुत्रं संत्यक्तवान् पूर्वं पौराणां हितकाम्यया ।। ७ ।।

महाप्राज्ञ! मुझे मालूम है कि भोजवंशके एक नरेशने पूर्वकालमें पुरवासियोंके हितकी इच्छासे अपने कुमार्गगामी पुत्रका परित्याग कर दिया था ।। ७ ।।

अन्धका यादवा भोजाः समेताः कंसमत्यजन् ।

नियोगात् तु हते तस्मिन् कृष्णेनामित्रघातिना ।। ८ ।।

अन्धकों, यादवों और भोजोंने मिलकर कंसको त्याग दिया तथा उन्हींके आदेशसे शत्रुघाती श्रीकृष्णने उसको मार डाला ।। ८ ।।

एवं ते ज्ञातयः सर्वे मोदमानाः शतं समाः ।

त्वन्नियुक्तः सव्यसाची निगृह्णातु सुयोधनम् ।। ९ ।।

इस प्रकार उसके मारे जानेसे समस्त बन्धु-बान्धव सदाके लिये सुखी हो गये हैं। आप भी आज्ञा दें तो ये सव्यसाची अर्जुन इस दुर्योधनको बंदी बना ले सकते हैं ।।

निग्रहादस्य पापस्य मोदन्तां कुरवः सुखम् ।

काकेनेमांश्चित्रबर्हान् शार्दूलान् क्रोष्टुकेन च ।

क्रीणीष्व पाण्डवान् राजन् मा मज्जीः शोकसागरे ।। १० ।।

इसी पापीके कैद हो जानेसे समस्त कौरव सुख और आनन्दसे रह सकते हैं। राजन्! दुर्योधन कौवा है और पाण्डव मोर। इस कौवेको देकर आप विचित्र पंखवाले मयूरोंको खरीद लीजिये। इस गीदड़के द्वारा इन पाण्डवरूपी शेरोंको अपनाइये। शोकके समुद्रमें डूबकर प्राण न दीजिये ।। १० ।।

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।

ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।। ११ ।।

समूचे कुलकी भलाईके लिये एक मनुष्यको त्याग दे, गाँवके हितके लिये एक कुलको छोड़ दे, देशकी भलाईके लिये एक गाँवको त्याग दे और आत्माके उद्धारके लिये सारी पृथ्वीका ही परित्याग कर दे ।। ११ ।।

सर्वज्ञः सर्वभावज्ञः सर्वशत्रुभयंकरः ।

इति स्म भाषते काव्यो जम्भत्यागे महासुरान् ।। १२ ।।

सबके मनोभावोंको जाननेवाले तथा सब शत्रुओंके लिये भयंकर सर्वज्ञ शुक्राचार्यने जम्भ दैत्यको त्याग करनेके समय समस्त बड़े-बड़े असुरोंसे यह कथा सुनायी थी ।। १२ ।।

हिरण्यष्ठीविनः कांश्चित् पक्षिणो वनगोचरान् ।
गृहे किल कृतावासान् लोभाद् राजा न्यपीडयत् ।
स चोपभोगलोभान्धो हिरण्यार्थी परंतप ।। १३ ।।

एक वनमें कुछ पक्षी रहते थे, जो अपने मुखसे सोना उगला करते थे। एक दिन जब वे अपने घोंसलोंमें आरामसे बैठे थे, उस देशके राजाने उन्हें लोभवश मरवा डाला। शत्रुओंको संताप देनवाले नरेश! उस राजाको एक साथ बहुत-सा सुवर्ण पा लेनेकी इच्छा थी। उपभोगके लोभने उसे अंधा बना दिया था ।। १३ ।।

आयतिं च तदात्वं च उभे सद्यो व्यनाशयत् ।
तदर्थकामस्तद्वत् त्वं मा द्रुहः पाण्डवान् नृप ।। १४ ।।

अतः उसने उस धनके लोभसे उन पक्षियोंका वध करके वर्तमान और भविष्य दोनों लाभोंका तत्काल नाश कर दिया। राजन्! इसी प्रकार आप पाण्डवोंका सारा धन हड़प लेनेके लोभसे उनके साथ द्रोह न करें ।। १४ ।।

मोहात्मा तप्स्यसे पश्चात् पत्रिहा पुरुषो यथा ।
(एतेन तव नाशः स्याद् बडिशाच्छफरो यथा ।)
जातं जातं पाण्डवेभ्यः पुष्पमादत्स्व भारत ।। १५ ।।
मालाकार इवारामे स्नेहं कुर्वन् पुनः पुनः ।

अन्यथा उन पक्षियोंकी हिंसा करनेवाले राजाकी भाँति आपको भी मोहवश पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस द्रोहसे आपका उसी तरह सर्वनाश हो जायगा, जैसे बंसीका काँटा निगल लेनेसे मछलीका नाश हो जाता है। भरतकुलभूषण! जैसे माली उद्यानके वृक्षोंको बार-बार सींचता रहता है और समय-समयपर उनसे खिले पुष्पोंको चुनता भी रहता है, उसी प्रकार आप पाण्डवरूपी वृक्षोंको स्नेहजलसे सींचते हुए उनसे उत्पन्न होनेवाले धनरूपी पुष्पोंको लेते रहिये ।। १५½ ।।

वृक्षानङ्गारकारीव मैनान् धाक्षीः समूलकान् ।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ।। १६ ।।

जैसे कोयला बनानेवाला वृक्षोंको जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार आप इन्हें जड़मूलसहित जलानेकी चेष्टा न कीजिये। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डवोंके साथ विरोध करनेके कारण आपको पुत्र, मन्त्री और सेनाके साथ यमलोकमें जाना पड़े ।। १६ ।।

समवेतान् हि कः पार्थान् प्रतियुध्येत भारत ।
मरुद्भिः सहितो राजन्नपि साक्षान्मरुत्पतिः ।। १७ ।।

भरतवंशीय राजन्! देवताओंसहित साक्षात् देवराज इन्द्र ही क्यों न हों, जब कुन्तीपुत्र संगठित होकर युद्धके लिये तैयार होंगे, उनका मुकाबला कौन कर सकता है? ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ।। ६२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरके हितकारक वचनसम्बन्धी बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १७½ श्लोक हैं)

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

विदुरजीके द्वारा जूएका घोर विरोध

विदुर उवाच

द्यूतं मूलं कलहस्याभ्युपैति
मिथो भेदं महते दारुणाय ।
यदास्थितोऽयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
दुर्योधनः सृजते वैरमुग्रम् ।। १ ।।

विदुरजी बोले—महाराज! जूआ खेलना झगड़ेकी जड़ है। इससे आपसमें फूट पैदा होती है, जो बड़े भयंकर संकटकी सृष्टि करती है। यह धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन उसीका आश्रय लेकर इस समय भयानक वैरकी सृष्टि कर रहा है ।। १ ।।

प्रातीपेयाः शान्तनवा भैमसेनाः सबाह्लिकाः ।
दुर्योधनापराधेन कृच्छ्रं प्राप्स्यन्ति सर्वशः ।। २ ।।

दुर्योधनके अपराधसे प्रतीप, शन्तनु, भीमसेन* तथा बाह्लीकके वंशज सब प्रकारसे घोर संकटमें पड़ जायँगे ।। २ ।।

दुर्योधनो मदेनैष क्षेमं राष्ट्रादपोहति ।
विषाणं गौरिव मदात् स्वयमारुजतेऽऽत्मनः ।। ३ ।।

जैसे मतवाला बैल मदोन्मत्त होकर स्वयं ही अपने सींगोंको तोड़ लेता है, उसी प्रकार यह दुर्योधन मदान्धताके कारण स्वयं अपने राज्यसे मंगलका बहिष्कार कर रहा है ।। ३ ।।

यश्चित्तमन्वेति परस्य राजन्
वीरः कविः स्वामवमन्य दृष्टिम् ।
नावं समुद्रे इव बालनेत्रा-
मारुह्य घोरे व्यसने निमज्जेत् ।। ४ ।।

राजन्! जो वीर और विद्वान् मनुष्य अपनी दृष्टिकी अवहेलना करके दूसरेके चित्तके अनुसार चलता है, वह समुद्रमें मूर्ख नाविकद्वारा चलायी जाती हुई नावपर बैठे हुए मनुष्यके समान भयंकर विपत्तिमें पड़ जाता है ।। ४ ।।

दुर्योधनो ग्लहते पाण्डवेन
प्रियायसे त्वं जयतीति तच्च ।
अतिनर्मा जायते सम्प्रहारो
यतो विनाशः समुपैति पुंसाम् ।। ५ ।।

दुर्योधन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके साथ दाँव लगाकर जूआ खेल रहा है, साथ ही वह जीत भी रहा है; यह सोचकर तुम बहुत प्रसन्न हो रहे हो; किंतु आजका यह अतिशय

विनोद शीघ्र ही भयंकर युद्धके रूपमें परिणत होनेवाला है, जिससे (अगणित) मनुष्योंका संहार होगा ।। ५ ।।

आकर्षस्तेऽवाक्फलः सुप्रणीतो
हृदि प्रौढो मन्त्रपदः समाधिः ।
युधिष्ठिरेण कलहस्तवाय-
मचिन्तितोऽनभिमतः स्वबन्धुना ।। ६ ।।

जूआ अधःपतन करनेवाला है; परंतु शकुनिने इसे उत्तम मानकर यहाँ उपस्थित किया है। यह जूएका निश्चय आपलोगोंके हृदयमें गुप्त मन्त्रणाके पश्चात् स्थिर हुआ है। परंतु यह जूएका खेल आपके अपने ही बन्धु युधिष्ठिरके साथ आपके विचार और इच्छाके विरुद्ध कलहके रूपमें परिणत हो जायगा ।। ६ ।।

प्रातीपेयाः शान्तनवाः शृणुध्वं
काव्यां वाचं संसदि कौरवाणाम् ।
वैश्वानरं प्रज्वलितं सुघोरं
मा यास्यध्वं मन्दमनुप्रपन्नाः ।। ७ ।।

प्रतीप और शन्तनुके वंशजो! कौरवोंकी सभामें मेरी कही हुई बात ध्यानसे सुनो। यह विद्वानोंको भी मान्य है। तुमलोग इस मूर्ख दुर्योधनके पीछे चलकर वैरकी धधकती हुई भयानक आगमें न कूदो ।। ७ ।।

यदा मन्युं पाण्डवोऽजातशत्रु-
र्न संयच्छेदक्षमदाभिभूतः ।
वृकोदरः सव्यसाची यमौ च
कोऽत्र द्वीपः स्यात् तुमुले वस्तदानीम् ।। ८ ।।

जूएके मदमें भूले हुए अजातशत्रु युधिष्ठिर जब अपना क्रोध न रोक सकेंगे तथा भीमसेन, अर्जुन एवं नकुल-सहदेव भी जब क्रुद्ध हो उठेंगे, उस समय घमासान युद्ध छिड़ जानेपर विपत्तिके महासागरमें डूबते हुए तुमलोगोंका कौन आश्रयदाता होगा? ।। ८ ।।

महाराज प्रभवस्त्वं धनानां
पुरा द्यूतान्मनसा यावदिच्छेः ।
बहुवित्तान् पाण्डवांश्चेज्जयस्त्वं
किं ते तत् स्याद् वसु विन्देह पार्थान् ।। ९ ।।

महाराज! आप जूएसे पहले भी मनसे जितना धन चाहते, उतना धन पा सकते थे; यदि अत्यन्त धनवान् पाण्डवोंको आपने जूएके द्वारा जीत ही लिया तो इससे आपका क्या होगा? कुन्तीके पुत्र स्वयं ही धनस्वरूप हैं। आप इन्हींको अपनाइये ।। ९ ।।

जानीमहे देवितं सौबलस्य
वेद द्यूते निकृतिं पर्वतीयः ।

यतः प्राप्तः शकुनिस्तत्र यातु
मा यूयुधो भारत पाण्डवेयान् ।। १० ।।

मैं सुबलपुत्र शकुनिका जूआ खेलना कैसा है, यह जानता हूँ। यह पर्वतीय नरेश जूएकी सारी कपटविद्याको जानता है। मेरी इच्छा है कि यह शकुनि जहाँसे आया है, वहीं लौट जाय। भारत! इस तरह कौरवों तथा पाण्डवोंमें युद्धकी आग न भड़काओ ।। १० ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ।। ६३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरवाक्यविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६३ ।।

---

* कुरुकुलके एक पूर्वपुरुष ।

चतुष्षष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनका विदुरको फटकारना और विदुरका उसे चेतावनी देना

दुर्योधन उवाच

परेषामेव यशसा श्लाघसे त्वं
सदा क्षत्तः कुत्सयन् धार्तराष्ट्रान् ।
जानीमहे विदुर यत् प्रियस्त्वं
बालानिवास्मानवमन्यसे नित्यमेव ।। १ ।।

दुर्योधन बोला—विदुर! तुम सदा हमारे शत्रुओंके ही सुयशकी डींग हाँकते रहते हो और हम सभी धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी निन्दा किया करते हो। तुम किसके प्रेमी हो, यह हम जानते हैं, हमें मूर्ख समझकर तुम सदा हमारा अपमान ही करते रहते हो ।। १ ।।

स विज्ञेयः पुरुषोऽन्यत्रकामो
निन्दाप्रशंसे हि तथा युनक्ति ।
जिह्वा कथं ते हृदयं व्यनक्ति यो
न ज्यायसः कृथा मनसः प्रातिकूल्यम् ।। २ ।।

जो दूसरोंको चाहनेवाला है, वह मनुष्य पहचानमें आ जाता है; क्योंकि वह जिसके प्रति द्वेष होता है, उसकी निन्दा और जिसके प्रति राग होता है, उसकी प्रशंसामें संलग्न रहता है। तुम्हारा हृदय हमारे प्रति किस प्रकार द्वेषसे परिपूर्ण है, यह बात तुम्हारी जिह्वा प्रकट कर देती है। तुम अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषोंके प्रति इस प्रकार हृदयका द्वेष न प्रकट करो ।। २ ।।

उत्सङ्गे च व्याल इवाहितोऽसि
मार्जारवत् पोषकं चोपहंसि ।
भर्तृघ्नं त्वां न हि पापीय आहु-
स्तस्मात् क्षत्तः किं न बिभेषि पापात् ।। ३ ।।

हमारे लिये तुम गोदमें बैठे साँपके समान हो और बिलावकी भाँति पालनेवालेका ही गला घोंट रहे हो। तुम स्वामिद्रोह रखते हो, फिर भी तुम्हें लोग पापी नहीं कहते? विदुर! तुम इस पापसे डरते क्यों नहीं? ।। ३ ।।

जित्वा शत्रून् फलमाप्तं महद् वै
मास्मान् क्षत्तः परुषाणीह वोचः ।
द्विषद्भिस्त्वं सम्प्रयोगाभिनन्दी

मुहुर्द्वेषं यासि नः सम्प्रयोगात् ।। ४ ।।

हमने शत्रुओंको जीतकर (धनरूप) महान् फल प्राप्त किया है। विदुर! तुम हमसे यहाँ कटु वचन न बोलो। तुम शत्रुओंके साथ मेल करके प्रसन्न हो रहे हो और हमारे साथ मेल करके भी अब (हमारे शत्रुओंकी प्रशंसा करके) हमलोगोंके बारंबार द्वेषके पात्र बन रहे हो ।। ४ ।।

अमित्रतां याति नरोऽक्षमं ब्रुवन्
निगूहते गुह्यममित्रसंस्तवे ।
तदाश्रितोऽपत्रप किं नु बाधसे
यदिच्छसि त्वं तदिहाभिभाषसे ।। ५ ।।

अक्षम्य कटुवचन बोलनेवाला मनुष्य शत्रु बन जाता है। शत्रुकी प्रशंसा करते समय भी लोग अपने गूढ़ मनोभावको छिपाये रखते हैं। निर्लज्ज विदुर! तुम भी उसी नीतिका आश्रय लेकर चुप क्यों नहीं रहते? हमारे काममें बाधा क्यों डालते हो? तुम जो मनमें आता है, वही बक जाते हो ।। ५ ।।

मा नोऽवमंस्था विद्म मनस्तवेदं
शिक्षस्व बुद्धिं स्थविराणां सकाशात् ।
यशो रक्षस्व विदुर सम्प्रणीतं
मा व्यापृतः परकार्येषु भूस्त्वम् ।। ६ ।।

विदुर! तुम हमलोगोंका अपमान न करो, तुम्हारे इस मनको हम जान चुके हैं। तुम बड़े-बूढ़ोंके निकट बैठकर बुद्धि सीखो। अपने पूर्वार्जित यशकी रक्षा करो। दूसरोंके कामोंमें हस्तक्षेप न करो ।। ६ ।।

अहं कर्तेति विदुर मा च मंस्था
मा नो नित्यं परुषाणीह वोचः ।
न त्वां पृच्छामि विदुर यद्धितं मे
स्वस्ति क्षत्तर्मा तितिक्षून् क्षिणु त्वम् ।। ७ ।।

विदुर! 'मैं ही कर्ता-धर्ता हूँ' ऐसा न समझो और हमें प्रतिदिन कड़वी बातें न कहो। मैं अपने हितके सम्बन्धमें तुमसे कोई सलाह नहीं पूछता हूँ। तुम्हारा भला हो। हम तुम्हारी कठोर बातें सहते चले जाते हैं, इसलिये हम क्षमाशीलोंको तुम अपने वचनरूपी बाणोंसे छेदो मत ।।

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता
गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता ।
तेनानुशिष्टः प्रवणादिवाम्भो
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा भवामि ।। ८ ।।

देखो, इस जगत्का शासन करनेवाला एक ही है, दूसरा नहीं। वही शासक माताके गर्भमें सोये हुए शिशुपर भी शासन करता है; उसीके द्वारा मैं भी अनुशासित हूँ। अतः जैसे जल स्वाभाविक ही नीचेकी ओर जाता है, वैसे ही वह जगन्नियन्ता मुझे जिस काममें लगाता है, मैं वैसे ही उसी काममें लगता हूँ ।। ८ ।।

भिनत्ति शिरसा शैलमहिं भोजयते च यः ।
धीरेव कुरुते तस्य कार्याणामनुशासनम् ।
यो बलादनुशास्तीह सोऽमित्रं तेन विन्दति ।। ९ ।।

जिनसे प्रेरित होकर मनुष्य अपने सिरसे पर्वतको विदीर्ण करना चाहता है—अर्थात् पत्थरपर सिर पटककर स्वयं ही अपनेको पीड़ा देता है तथा जिनकी प्रेरणासे मनुष्य सर्पको भी दूध पिलाकर पालता है, उसी सर्वनियन्ताकी बुद्धि समस्त जगत्के कार्योंका अनुशासन करती है। जो बलपूर्वक किसीपर अपना उपदेश लादता है, वह अपने उस व्यवहारके द्वारा उसे अपना शत्रु बना लेता है ।। ९ ।।

मित्रतामनुवृत्तं तु समुपेक्षेत पण्डितः ।
प्रदीप्य यः प्रदीप्ताग्निं प्राक् चिरं नाभिधावति ।
भस्मापि न स विन्देत शिष्टं क्वचन भारत ।। १० ।।

इस प्रकार मित्रताका अनुसरण करनेवाले मनुष्यको विद्वान् पुरुष त्याग दे। भारत! जो पहले कपूरमें आग लगाकर उसके प्रज्वलित हो जानेपर देरतक उसे बुझानेके लिये नहीं दौड़ता, वह कहीं उसकी बची हुई राख भी नहीं पाता ।। १० ।।

न वासयेत् पारवर्ग्यं द्विषन्तं
विशेषतः क्षत्तरहितं मनुष्यम् ।
स यत्रेच्छसि विदुर तत्र गच्छ
सुसान्त्विता ह्यसती स्त्री जहाति ।। ११ ।।

विदुर! जो शत्रुका पक्षपाती हो, अपनेसे द्वेष रखता हो और अहित करनेवाला हो, ऐसे मनुष्यको घरमें नहीं रहने देना चाहिये। अतः तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चले जाओ। कुलटा स्त्रीको मीठी-मीठी बातोंद्वारा कितनी ही सान्त्वना दी जाय, वह पतिको छोड़ ही देती है ।। ११ ।।

विदुर उवाच

एतावता पुरुषं ये त्यजन्ति
तेषां वृत्तं साक्षिवद् ब्रूहि राजन् ।
राज्ञां हि चित्तानि परिप्लुतानि
सान्त्वं दत्त्वा मुसलैर्घातयन्ति ।। १२ ।।

विदुरने कहा—राजन्! जो इस प्रकार मनके प्रतिकूल किंतु हितभरी शिक्षा देनेमात्रसे अपने हितैषी पुरुषको त्याग देते हैं, उनका वह बर्ताव कैसा है, यह आप साक्षीकी भाँति पक्षपातरहित होकर बताइये; क्योंकि राजाओंके चित्त द्वेषसे भरे होते हैं, इसलिये वे सामने मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना देकर पीठ-पीछे मूसलोंसे आघात करवाते हैं ।। १२ ।।

अबालत्वं मन्यसे राजपुत्र
बालोऽहमित्येव सुमन्दबुद्धे ।
यः सौहृदे पुरुषं स्थापयित्वा
पश्चादेनं दूषयते स बालः ।। १३ ।।

राजकुमार दुर्योधन! तुम्हारी बुद्धि बड़ी मन्द है। तुम अपनेको विद्वान् और मुझे मूर्ख समझते हो। जो किसी पुरुषको सुहृद्के पदपर स्थापित करके फिर स्वयं ही उसपर दोषारोपण करता है, वही मूर्ख है ।। १३ ।।

न श्रेयसे नीयते मन्दबुद्धिः
स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा ।
ध्रुवं न रोचेद् भरतर्षभस्य
पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ।। १४ ।।

जैसे श्रोत्रियके घरमें दुराचारिणी स्त्री कल्याणमय अग्निहोत्र आदि कार्योंमें नहीं लगायी जा सकती, उसी प्रकार मन्दबुद्धि पुरुषको कल्याणके मार्गपर नहीं लगाया जा सकता।

जैसे कुमारी कन्याको साठ वर्षका बूढ़ा पति नहीं पसंद आ सकता, उसी प्रकार भरतवंशशिरोमणि दुर्योधनको निश्चय ही मेरा उपदेश रुचिकर नहीं प्रतीत होता ।। १४ ।।

अतः प्रियं चेदनुकाङ्क्षसे त्वं
सर्वेषु कार्येषु हिताहितेषु ।
स्त्रियश्च राजन् जडपङ्गुकांश्च
पृच्छ त्वं वै तादृशांश्चैव सर्वान् ।। १५ ।।

राजन्! यदि तुम भले-बुरे सभी कार्योंमें केवल चिकनी-चुपड़ी बातें ही सुनना चाहते हो, तो स्त्रियों, मूर्खों, पंगुओं तथा उसी तरहके अन्य सब मनुष्योंसे सलाह लिया करो ।। १५ ।।

लभ्यते खलु पापीयान् नरो नु प्रियवागिह ।
अप्रियस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।। १६ ।।

इस संसारमें सदा मनको प्रिय लगनेवाले वचन बोलनेवाला महापापी मनुष्य भी अवश्य मिल सकता है; परंतु हितकर होते हुए भी अप्रिय वचनको कहने और सुननेवाले दोनों दुर्लभ हैं ।। १६ ।।

यस्तु धर्मपरश्च स्याद्धित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ।। १७ ।।

जो धर्ममें तत्पर रहकर स्वामीके प्रिय-अप्रियका विचार छोड़कर अप्रिय होनेपर भी हितकर वचन बोलता है, वही राजाका सच्चा सहायक है ।। १७ ।।

अव्याधिजं कटुजं तीक्ष्णमुष्णं
यशोमुषं परुषं पूतिगन्धि ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ।। १८ ।।

महाराज! जो पी लेनेपर मानसिक रोगोंका नाश करनेवाला है, कड़वी बातोंसे जिसकी उत्पत्ति होती है, जो तीखा, तापदायक, कीर्तिनाशक, कठोर और दूषित प्रतीत होता है, जिसे दुष्टलोग नहीं पी सकते तथा जो सत्पुरुषोंके पीनेकी वस्तु है, उस क्रोधको पीकर शान्त हो जाइये ।। १८ ।।

वैचित्रवीर्यस्य यशो धनं च
वाञ्छाम्यहं सहपुत्रस्य शश्वत् ।
यथा तथा तेऽस्तु नमश्च तेऽस्तु
ममापि च स्वस्ति दिशन्तु विप्राः ।। १९ ।।

मैं तो चाहता हूँ कि विचित्रवीर्यनन्दन धृतराष्ट्र और उनके पुत्रोंको सदा यश और धन दोनों प्राप्त हो, परंतु दुर्योधन! तुम जैसे रहना चाहते हो, वैसे रहो, तुम्हें नमस्कार है। ब्राह्मणलोग मेरे लिये भी कल्याणका आशीर्वाद दें ।। १९ ।।

आशीविषान् नेत्रविषान् कोपयेन्न च पण्डितः ।
एवं तेऽहं वदामीदं प्रयतः कुरुनन्दन ।। २० ।।

कुरुनन्दन! मैं एकाग्र हृदयसे तुमसे यह बात बता रहा हूँ, 'विद्वान् पुरुष उन सर्पोंको कुपित न करें, जो दाँतों और नेत्रोंसे भी विष उगलते रहते हैं (अर्थात् ये पाण्डव तुम्हारे लिये सर्पोंसे भी अधिक भयंकर हैं, इन्हें मत छेड़ो)' ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ।। ६४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरके हितकारक वचनविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६४ ।।

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धन, राज्य, भाइयों तथा द्रौपदीसहित अपनेको भी हारना

शकुनिरुवाच

बहु वित्तं पराजैषीः पाण्डवानां युधिष्ठिर ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ।। १ ।।

शकुनि बोला—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! आप अबतक पाण्डवोंका बहुत-सा धन हार चुके। यदि आपके पास बिना हारा हुआ कोई धन शेष हो तो बताइये ।। १ ।।

युधिष्ठिर उवाच

मम वित्तमसंख्येयं यदहं वेद सौबल ।
अथ त्वं शकुने कस्माद् वित्तं समनुपृच्छसि ।। २ ।।

युधिष्ठिर बोले—सुबलपुत्र! मेरे पास असंख्य धन है, जिसे मैं जानता हूँ। शकुने! तुम मेरे धनका परिमाण क्यों पूछते हो? ।। २ ।।

अयुतं प्रयुतं चैव शङ्कुं पद्मं तथार्बुदम् ।
खर्वं शङ्खं निखर्वं च महापद्मं च कोटयः ।। ३ ।।
मध्यं चैव परार्थं च सपरं चात्र पण्यताम् ।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ।। ४ ।।

अयुत, प्रयुत, शंकु, पद्म, अर्बुद, खर्व, शंख, निखर्व, महापद्म, कोटि, मध्य, परार्ध और पर इतना धन मेरे पास है। राजन्! खेलो, मैं इसीको दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ ।। ३-४ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर शकुनिने छलका आश्रय ले पुनः इसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह धन भी मैंने जीत लिया' ।। ५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

गवाश्वं बहुधेनूकमसंख्येयमजाविकम् ।
यत् किंचिदनुपर्णाशां प्राक् सिन्धोरपि सौबल ।
एतन्मम धनं सर्वं तेन दीव्याम्यहं त्वया ।। ६ ।।

युधिष्ठिर बोले—सुबलपुत्र! मेरे पास सिन्धु नदीके पूर्वी तटसे लेकर पर्णाशा नदीके किनारेतक जो भी बैल, घोड़े, गाय, भेड़ एवं बकरी आदि पशुधन हैं, वह असंख्य है। उनमें भी दूध देनेवाली गौओंकी संख्या अधिक है। यह सारा मेरा धन है, जिसे मैं दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर शठताके आश्रित हुए शकुनिने अपनी ही जीत घोषित करते हुए युधिष्ठिरसे कहा—‘लो, यह दाँव भी मैंने ही जीता’ ।। ७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

पुरं जनपदो भूमिरब्राह्मणधनैः सह ।
अब्राह्मणाश्च पुरुषा राजञ्छिष्टं धनं मम ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ।। ८ ।।

युधिष्ठिर बोले—राजन्! ब्राह्मणोंको जीविकारूपमें जो ग्रामादि दिये गये हैं, उन्हें छोड़कर शेष जो नगर, जनपद तथा भूमि मेरे अधिकारमें है तथा जो ब्राह्मणेतर मनुष्य मेरे यहाँ रहते हैं, वे सब मेरे शेष धन हैं। शकुने! मैं इसी धनको दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ ।। ८ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। ९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर कपटका आश्रय ग्रहण करके शकुनिने पुनः अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—‘इस दाँवपर भी मेरी ही विजय हुई’ ।। ९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

राजपुत्रा इमे राजञ्छोभन्ते यैर्विभूषिताः ।
कुण्डलानि च निष्काश्च सर्वं राजविभूषणम् ।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ।। १० ।।

युधिष्ठिर बोले—राजन्! ये राजपुत्र जिन आभूषणोंसे विभूषित होकर शोभित हो रहे हैं, वे कुण्डल और गलेके स्वर्णभूषण आदि समस्त राजकीय आभूषण मेरे धन हैं। इन्हें दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ।। १० ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। ११ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर छल-कपटका आश्रय लेनेवाले शकुनिने युधिष्ठिरसे निश्चयपूर्वक कहा—'लो, यह भी मैंने जीता' ।। ११ ।।

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो युवा लोहिताक्षः सिंहस्कन्धो महाभुजः ।
नकुलो ग्लह एवैको विद्धयेतन्मम तद्धनम् ।। १२ ।।

युधिष्ठिर बोले—श्यामवर्ण, तरुण, लाल नेत्रों और सिंहके समान कंधोंवाले महाबाहु नकुलको ही इस समय मैं दाँवपर रखता हूँ, इन्हींको मेरे दाँवका धन समझो ।। १२ ।।

शकुनिरुवाच

प्रियस्ते नकुलो राजन् राजपुत्रो युधिष्ठिर ।
अस्माकं वशतां प्राप्तो भूयः केनेह दीव्यसे ।। १३ ।।

शकुनि बोला—धर्मराज युधिष्ठिर! आपके परमप्रिय राजकुमार नकुल तो हमारे अधीन हो गये, अब किस धनसे आप यहाँ खेल रहे हैं? ।। १३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु तानक्षाञ्छकुनिः प्रत्यदीव्यत ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। १४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर शकुनिने पासे फेंके और युधिष्ठिरसे कहा—'लो, इस दाँवपर भी मेरी ही विजय हुई' ।। १४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अयं धर्मान् सहदेवोऽनुशास्ति
लोके ह्यस्मिन् पण्डिताख्यां गतश्च ।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन
दीव्याम्यहं चाप्रियवत् प्रियेण ।। १५ ।।

युधिष्ठिर बोले—ये सहदेव धर्मोंका उपदेश करते हैं। संसारमें पण्डितके रूपमें इनकी ख्याति है। मेरे प्रिय राजकुमार सहदेव यद्यपि दाँवपर लगानेके योग्य नहीं हैं, तो भी मैं अप्रिय वस्तुकी भाँति इन्हें दाँवपर रखकर खेलता हूँ ।। १५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।

जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर छली शकुनिने उसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ।। १६ ।।

शकुनिरुवाच

माद्रीपुत्रौ प्रियौ राजंस्तवेमौ विजितौ मया ।
गरीयांसौ तु ते मन्ये भीमसेनधनंजयौ ।। १७ ।।

शकुनि बोला—राजन्! आपके ये दोनों प्रिय भाई माद्रीके पुत्र नकुल-सहदेव तो मेरे द्वारा जीत लिये गये, अब रहे भीमसेन और अर्जुन। मैं समझता हूँ, ये दोनों आपके लिये अधिक गौरवकी वस्तु हैं (इसीलिये आप इन्हें दाँवपर नहीं लगाते) ।। १७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अधर्मं चरसे नूनं यो नावेक्षसि वै नयम् ।
यो नः सुमनसां मूढ विभेदं कर्तुमिच्छसि ।। १८ ।।

युधिष्ठिर बोले—ओ मूढ़! तू निश्चय ही अधर्मका आचरण कर रहा है, जो न्यायकी ओर नहीं देखता। तू शुद्ध हृदयवाले हमारे भाइयोंमें फूट डालना चाहता है ।।

शकुनिरुवाच

गर्ते मत्तः प्रपतते प्रमत्तः स्थाणुमृच्छति ।
ज्येष्ठो राजन् वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ ।। १९ ।।

शकुनि बोला—राजन्! धनके लोभसे अधर्म करनेवाला मतवाला मनुष्य नरककुण्डमें सरिता है। अधिक उन्मत्त हुआ ठूँठा काठ हो जाता है। आप तो आयुमें बड़े और गुणोंमें श्रेष्ठ हैं। भरतवंशविभूषण! आपको नमस्कार है ।।

स्वप्ने तानि न दृश्यन्ते जाग्रतो वा युधिष्ठिर ।
कितवा यानि दीव्यन्तः प्रलपन्त्युत्कटा इव ।। २० ।।

धर्मराज युधिष्ठिर! जुआरी जूआ खेलते समय पागल होकर जो अनाप-शनाप बातें बक जाया करते हैं, वे न कभी स्वप्नमें दिखायी देती हैं और न जाग्रत्कालमें ही ।। २० ।।

युधिष्ठिर उवाच

यो नः संख्ये नौरिव पारनेता
जेता रिपूणां राजपुत्रस्तरस्वी ।
अनर्हता लोकवीरेण तेन
दीव्याम्यहं शकुने फाल्गुनेन ।। २१ ।।

युधिष्ठिरने कहा—शकुने! जो युद्धरूपी समुद्रमें हमलोगोंको नौकाकी भाँति पार लगानेवाले हैं तथा शत्रुओंपर विजय पाते हैं, वे लोकविख्यात वेगशाली वीर राजकुमार

अर्जुन यद्यपि दाँवपर लगानेयोग्य नहीं हैं, तो भी उनको दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ।। २१ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। २२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर कपटी शकुनिने पूर्ववत् विजयका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'यह भी मैंने ही जीता' ।। २२ ।।

शकुनिरुवाच

अयं मया पाण्डवानां धनुर्धरः
पराजितः पाण्डवः सव्यसाची ।
भीमेन राजन् दयितेन दीव्य
यत् कैतवं पाण्डव तेऽवशिष्टम् ।। २३ ।।

शकुनि फिर बोला—राजन्! ये पाण्डवोंमें धनुर्धर वीर सव्यसाची अर्जुन मेरे द्वारा जीत लिये गये। पाण्डुनन्दन! अब आपके पास भीमसेन ही जुआरियोंको प्राप्त होनेवाले धनके रूपमें शेष हैं, अतः उन्हींको दाँवपर रखकर खेलिये ।। २३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

यो नो नेता युधि नः प्रणेता
यथा वज्री दानवशत्रुरेकः ।
तिर्यक्प्रेक्षी संनतभ्रूर्महात्मा
सिंहस्कन्धो यश्च सदात्यमर्षी ।। २४ ।।
बलेन तुल्यो यस्य पुमान् न विद्यते
गदाभृतामग्रय इहारिमर्दनः ।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन
दीव्याम्यहं भीमसेनेन राजन् ।। २५ ।।

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! जो युद्धमें हमारे सेनापति और दानवशत्रु वज्रधारी इन्द्रके समान अकेले ही आगे बढ़नेवाले हैं; जो तिरछी दृष्टिसे देखते हैं, जिनकी भौंहें धनुषकी भाँति झुकी हुई हैं, जिनका हृदय विशाल और कंधे सिंहके समान हैं, जो सदा अत्यन्त अमर्षमें भरे रहते हैं, बलमें जिनकी समानता करनेवाला कोई पुरुष नहीं है, जो गदाधारियोंमें अग्रगण्य तथा अपने शत्रुओंको कुचल डालनेवाले हैं, उन्हीं राजकुमार भीमसेनको दाँवपर लगाकर मैं जूआ खेलता हूँ। यद्यपि वे इसके योग्य नहीं हैं ।। २४-२५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। २६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर शठताका आश्रय लेकर शकुनिने उसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा, 'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ।। २६ ।।

शकुनिरुवाच

बहु वित्तं पराजैषीर्भ्रातृंश्च सहयद्विपान् ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ।। २७ ।।

शकुनि बोला—कुन्तीनन्दन! आप अपने भाइयों और हाथी-घोड़ोंसहित बहुत धन हार चुके, अब आपके पास बिना हारा हुआ धन कोई अवशिष्ट हो, तो बतलाइये ।।

युधिष्ठिर उवाच

अहं विशिष्टः सर्वेषां भ्रातृणां दयितस्तथा ।
कुर्यामहं जितः कर्म स्वयमात्मन्युपप्लुते ।। २८ ।।

युधिष्ठिरने कहा—मैं अपने सब भाइयोंमें बड़ा और सबका प्रिय हूँ; अतः अपनेको ही दाँवपर लगाता हूँ। यदि मैं हार गया तो पराजित दासकी भाँति सब कार्य करूँगा ।। २८ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। २९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर कपटी शकुनिने निश्चयपूर्वक अपनी जीत घोषित करते हुए युधिष्ठिरसे कहा—'ये दाँव भी मैंने ही जीता' ।। २९ ।।

शकुनिरुवाच

एतत् पापिष्ठमकरोर्यदात्मानमहारयः ।
शिष्टे सति धने राजन् पाप आत्मपराजयः ।। ३० ।।

शकुनि फिर बोला—राजन्! आप अपनेको दाँवपर लगाकर जो हार गये, यह आपके द्वारा बड़ा अधर्म-कार्य हुआ। धनके शेष रहते हुए अपने-आपको हार जाना महान् पाप है ।। ३० ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा मताक्षस्तान् ग्लहे सर्वानवस्थितान् ।
पराजयं लोकवीरानुक्त्वा राज्ञां पृथक्-पृथक् ।। ३१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पासा फेंकनेकी विद्यामें निपुण शकुनिने राजा युधिष्ठिरसे दाँव लगानेके विषयमें उक्त बातें कहकर सभामें बैठे हुए लोक-प्रसिद्ध वीर

राजाओंको पृथक्-पृथक् पाण्डवोंकी पराजय सूचित की ।। ३१ ।।

शकुनिरुवाच

अस्ति ते वै प्रिया राजन् ग्लह एकोऽपराजितः ।
पणस्व कृष्णां पाञ्चालीं तयाऽऽत्मानं पुनर्जय ।। ३२ ।।

तत्पश्चात् शकुनिने फिर कहा—राजन्! आपकी प्रियतमा द्रौपदी एक ऐसा दाँव है, जिसे आप अबतक नहीं हारे हैं; अतः पांचालराजकुमारी कृष्णाको आप दाँवपर रखिये और उसके द्वारा फिर अपनेको जीत लीजिये ।। ३२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

नैव ह्रस्वा न महती न कृष्णा नातिरोहिणी ।
नीलकुञ्चितकेशी च तया दीव्याम्यहं त्वया ।। ३३ ।।

युधिष्ठिरने कहा—जो न नाटी है न लंबी, न कृष्णवर्णा है न अधिक रक्तवर्णा तथा जिसके केश नीले और घुँघराले हैं, उस द्रौपदीको दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ ।। ३३ ।।

शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया ।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया ।। ३४ ।।

उसके नेत्र शरद्-ऋतुके प्रफुल्ल कमलदलके समान सुन्दर एवं विशाल हैं। उसके शरीरसे शारदीय कमलके समान सुगन्ध फैलती रहती है। वह शरद्-ऋतुके कमलोंका सेवन करती है तथा रूपमें साक्षात् लक्ष्मीके समान है ।। ३४ ।।

तथैव स्यादानृशंस्यात् तथा स्याद् रूपसम्पदा ।
तथा स्याच्छीलसम्पत्त्या यामिच्छेत् पुरुषः स्त्रियम् ।। ३५ ।।

पुरुष जैसी स्त्री प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता है, उसमें वैसा ही दयाभाव है, वैसी ही रूपसम्पत्ति है तथा वैसे ही शील-स्वभाव हैं ।। ३५ ।।

सर्वैर्गुणैर्हि सम्पन्नामनुकूलां प्रियंवदाम् ।
यादृशीं धर्मकामार्थसिद्धिमिच्छेन्नरः स्त्रियम् ।। ३६ ।।

वह समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न तथा मनके अनुकूल और प्रिय वचन बोलनेवाली है। मनुष्य धर्म, काम और अर्थकी सिद्धिके लिये जैसी पत्नीकी इच्छा रखता है, द्रौपदी वैसी ही है ।। ३६ ।।

चरमं संविशति या प्रथमं प्रतिबुध्यते ।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ।। ३७ ।।

वह ग्वालों और भेड़ोंके चरवाहोंसे भी पीछे सोती और सबसे पहले जागती है। कौन-सा कार्य हुआ और कौन-सा नहीं हुआ, इन सबकी वह जानकारी रखती है ।। ३७ ।।

आभाति पद्मवद् वक्त्रं सस्वेदं मल्लिकेव च ।

वेदिमध्या दीर्घकेशी ताम्रास्या नातिलोमशा ।। ३८ ।।

उसका स्वेदबिन्दुओंसे विभूषित मुख कमलके समान सुन्दर और मल्लिकाके समान सुगन्धित है। उसका मध्यभाग वेदीके समान कृश दिखायी देता है। उसके सिरके केश बड़े-बड़े हैं, मुख और ओष्ठ अरुणवर्णके हैं तथा उसके अंगोंमें अधिक रोमावलियाँ नहीं हैं ।। ३८ ।।

तयैवंविधया राजन् पाञ्चाल्याहं सुमध्यया ।
ग्लहं दीव्यामि चार्वङ्‌ग्या द्रौपद्या हन्त सौबल ।। ३९ ।।

सुबलपुत्र! ऐसी सर्वांगसुन्दरी सुमध्यमा पांचाल-राजकुमारी द्रौपदीको दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ; यद्यपि ऐसा करते हुए मुझे महान् कष्ट हो रहा है ।। ३९ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन धीमता ।
धिग्धिगित्येव वृद्धानां सभ्यानां निःसृता गिरः ।। ४० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बुद्धिमान् धर्मराजके ऐसा कहते ही उस सभामें बैठे हुए बड़े-बूढ़े लोगोंके मुखसे 'धिक्कार है, धिक्कार है' की आवाज आने लगी ।। ४० ।।

चुक्षुभे सा सभा राजन् राज्ञां संजज्ञिरे शुचः ।
भीष्मद्रोणकृपादीनां स्वेदश्च समजायत ।। ४१ ।।

राजन्! उस समय सारी सभामें हलचल मच गयी। राजाओंको बड़ा शोक हुआ। भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके शरीरसे पसीना छूटने लगा ।। ४१ ।।

शिरो गृहीत्वा विदुरो गतसत्त्व इवाभवत् ।
आस्ते ध्यायन्नधोवक्त्रो निःश्वसन्निव पन्नगः ।। ४२ ।।

विदुरजी तो दोनों हाथोंसे अपना सिर थामकर बेहोश-से हो गये। वे फुँफकारते हुए सर्पकी भाँति उच्छ्‌वास लेकर मुँह नीचे किये हुए गम्भीर चिन्तामें निमग्न हो बैठे रह गये ।। ४२ ।।

(बाह्लीकः सोमदत्तश्च प्रातीपेयः ससंजयः ।
द्रौणिभूरिश्रवाश्चैव युयुत्सुर्धृतराष्ट्रजः ।।
हस्तौ पिंषन्नधोवक्त्रा निःश्वसन्त इवोरगाः ।।)

बाह्लीक, प्रतीपके पौत्र सोमदत्त, भीष्म, संजय, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा तथा धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सु—ये सब मुँह नीचे किये सर्पोंके समान लंबी साँसें खींचते हुए अपने दोनों हाथ मलने लगे।

धृतराष्ट्रस्तु तं हृष्टः पर्यपृच्छत् पुनः पुनः ।
किं जितं किं जितमिति ह्याकारं नाभ्यरक्षत ।। ४३ ।।

धृतराष्ट्र मन-ही-मन प्रसन्न हो उनसे बार-बार पूछ रहे थे, 'क्या हमारे पक्षकी जीत हो रही है?' वे अपनी प्रसन्नताकी आकृतिको न छिपा सके ।। ४३ ।।

जहर्ष कर्णोऽतिभृशं सह दुःशासनादिभिः ।
इतरेषां तु सभ्यानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ।। ४४ ।।

दुःशासन आदिके साथ कर्णको तो बड़ा हर्ष हुआ; परंतु अन्य सभासदोंकी आँखोंसे आँसू गिरने लगे ।। ४४ ।।

सौबलस्त्वभिधायैवं जितकाशी मदोत्कटः ।
जितमित्येव तानक्षान् पुनरेवान्वपद्यत ।। ४५ ।।

सुबलपुत्र शकुनिने मैंने यह भी जीत लिया, ऐसा कहकर पासोंको पुनः उठा लिया। उस समय वह विजयोल्लाससे सुशोभित और मदोन्मत्त हो रहा था ।। ४५ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीपराजये पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ।। ६५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीपराजयविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १$\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ४६$\frac{१}{२}$ श्लोक हैं)

षट्षष्टितमोऽध्यायः

विदुरका दुर्योधनको फटकारना

दुर्योधन उवाच

एहि क्षत्तर्द्रौपदीमानयस्व
प्रियां भार्यां सम्मतां पाण्डवानाम् ।
सम्मार्जतां वेश्म परैतु शीघ्रं
तत्रास्तु दासीभिरपुण्यशीला ।। १ ।।

दुर्योधन बोला—विदुर! यहाँ आओ। तुम जाकर पाण्डवोंकी प्यारी और मनोनुकूल पत्नी द्रौपदीको यहाँ ले आओ। वह पापाचारिणी शीघ्र यहाँ आये और मेरे महलमें झाड़ू लगाये। उसे वहीं दासियोंके साथ रहना होगा ।। १ ।।

विदुर उवाच

दुर्विभाषं भाषितं त्वादृशेन
न मन्द सम्बुध्यसि पाशबद्धः ।
प्रपाते त्वं लम्बमानो न वेत्सि
व्याघ्रान् मृगः कोपयसेऽतिवेलम् ।। २ ।।

विदुर बोले—ओ मूर्ख! तेरे-जैसे नीचके मुखसे ही ऐसा दुर्वचन निकल सकता है। अरे! तू कालपाशसे बँधा हुआ है, इसीलिये कुछ समझ नहीं पाता। तू ऐसे ऊँचे स्थानमें लटक रहा है जहाँसे गिरकर प्राण जानेमें अधिक विलम्ब नहीं; किंतु तुझे इस बातका पता नहीं है। तू एक साधारण मृग होकर व्याघ्रोंको अत्यन्त क्रुद्ध कर रहा है ।।

आशीविषास्ते शिरसि पूर्णकोपा महाविषाः ।
मा कोपिष्ठाः सुमन्दात्मन् मा गमस्त्वं यमक्षयम् ।। ३ ।।

मन्दात्मन्! तेरे सिरपर कोपमें भरे हुए महान् विषधर सर्प चढ़ आये हैं। तू उनका क्रोध न बढ़ा, यमलोकमें जानेको उद्यत न हो ।। ३ ।।

न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति ।
अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः ।। ४ ।।

द्रौपदी कभी दासी नहीं हो सकती, क्योंकि राजा युधिष्ठिर जब पहले अपनेको हारकर द्रौपदीको दाँवपर लगानेका अधिकार खो चुके थे, उस दशामें उन्होंने इसे दाँवपर रखा है (अतः मेरा विश्वास है कि द्रौपदी हारी नहीं गयी) ।।

अयं धत्ते वेणुरिवात्मघाती
फलं राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।

द्यूतं हि वैराय महाभयाय
मत्तो न बुध्यत्ययमन्तकालम् ।। ५ ।।

जैसे बाँस अपने नाशके लिये ही फल धारण करता है, उसी प्रकार धृतराष्ट्रके पुत्र इस राजा दुर्योधनने महान् भयदायक वैरकी सृष्टिके लिये इस जूएके खेलको अपनाया है। यह ऐसा मतवाला हो गया है कि मौत सिरपर नाच रही है; किंतु इसे उसका पता ही नहीं है ।।

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम् ।। ६ ।।

किसीको मर्मभेदी बात न कहे, किसीसे कठोर वचन न बोले। नीच कर्मके द्वारा शत्रुको वशमें करनेकी चेष्टा न करे। जिस बातसे दूसरेको उद्वेग हो, जो जलन पैदा करनेवाली और नरककी प्राप्ति करानेवाली हो, वैसी बात मुँहसे कभी न निकाले ।। ६ ।।

समुच्चरन्त्यतिवादाश्च वक्त्राद्
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ।। ७ ।।

मुँहसे जो कटु वचनरूपी बाण निकलते हैं, उनसे आहत हुआ मनुष्य रात-दिन शोक और चिन्तामें डूबा रहता है। वे दूसरेके मर्मपर ही आघात करते हैं; अतः विद्वान् पुरुषको दूसरोंके प्रति निष्ठुर वचनोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये ।। ७ ।।

द्यूत-क्रीडामें युधिष्ठिरकी पराजय

दुःशासनका द्रौपदीके केश पकड़कर खींचना

अजो हि शस्त्रमगिलत् किलैकः
शस्त्रे विपन्ने शिरसास्य भूमौ ।
निकृन्तनं स्वस्य कण्ठस्य घोरं
तद्वद् वैरं मा कृथाः पाण्डुपुत्रैः ।। ८ ।।

कहते हैं, एक बकरा कोई शस्त्र निगलने लगा; किंतु जब वह निगला न जा सका, तब उसने पृथ्वीपर अपना सिर पटक-पटककर उस शस्त्रको निगल जानेका प्रयत्न किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह भयानक शस्त्र उस बकरेका ही गला काटनेवाला हो गया। इसी प्रकार तुम पाण्डवोंसे वैर न ठानो ।। ८ ।।

न किंचिदित्थं प्रवदन्ति पार्था
वनेचरं वा गृहमेधिनं वा ।
तपस्विनं वा परिपूर्णविद्यं
भषन्ति हैवं श्वनराः सदैव ।। ९ ।।

कुन्तीके पुत्र किसी वनवासी, गृहस्थ, तपस्वी अथवा विद्वान्‌से ऐसी कड़ी बात कभी नहीं बोलते। तुम्हारे-जैसे कुत्तेके-से स्वभाववाले मनुष्य ही सदा इस तरह दूसरोंको भूँका करते हैं ।। ९ ।।

द्वारं सुघोरं नरकस्य जिह्मं
न बुध्यते धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।
तमन्वेतारो बहवः कुरूणां
द्यूतोदये सह दुःशासनेन ।। १० ।।

धृतराष्ट्रका पुत्र नरकके अत्यन्त भयंकर एवं कुटिल द्वारको नहीं देख रहा है। दुःशासनके साथ कौरवोंमेंसे बहुत-से लोग दुर्योधनकी इस द्यूतक्रीड़ामें उसके साथी बन गये ।।

मज्जन्त्यलाबूनि शिलाः प्लवन्ते
मुह्यन्ति नावोऽम्भसि शश्वदेव ।
मूढो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
न मे वाचः पथ्यरूपाः शृणोति ।। ११ ।।

चाहे तूँबी जलमें डूब जाय, पत्थर तैरने लग जाय तथा नौकाएँ भी सदा ही जलमें डूब जाया करें; परंतु धृतराष्ट्रका यह मूर्ख पुत्र राजा दुर्योधन मेरी हितकर बातें नहीं सुन सकता ।। ११ ।।

अन्तो नूनं भवितायं कुरूणां
सुदारुणः सर्वहरो विनाशः ।
वाचः काव्याः सुहृदां पथ्यरूपा
न श्रूयन्ते वर्धते लोभ एव ।। १२ ।।

यह दुर्योधन निश्चय ही कुरुकुलका नाश करनेवाला होगा। इसके द्वारा अत्यन्त भयंकर सर्वनाशका अवसर उपस्थित होगा। यह अपने सुहृदोंका पाण्डित्यपूर्ण हितकर वचन भी नहीं सुनता; इसका लोभ बढ़ता ही जा रहा है ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ।। ६६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरवाक्यविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६६ ।।

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

प्रातिकामीके बुलानेसे न आनेपर दुःशासनका सभामें द्रौपदीको केश पकड़कर घसीटकर लाना एवं सभासदोंसे द्रौपदीका प्रश्न

वैशम्पायन उवाच

धिगस्तु क्षत्तारमिति ब्रुवाणो
दर्पेण मत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।
अवैक्षत प्रातिकामीं सभाया-
मुवाच चैनं परमार्यमध्ये ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन गर्वसे उन्मत्त हो रहा था। उसने 'विदुरको धिक्कार है' ऐसा कहकर प्रातिकामीकी ओर देखा और सभामें बैठे हुए श्रेष्ठ पुरुषोंके बीच उससे कहा ।। १ ।।

दुर्योधन उवाच

प्रातिकामिन् द्रौपदीमानयस्व
न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः ।
क्षत्ता ह्ययं विवदत्येव भीतो
न चास्माकं वृद्धिकामः सदैव ।। २ ।।

दुर्योधन बोला—प्रातिकामिन्! तुम द्रौपदीको यहाँ ले आओ। तुम्हें पाण्डवोंसे कोई भय नहीं है। ये विदुर तो डरपोक हैं, अतः सदा ऐसी ही बातें कहा करते हैं। ये कभी हमलोगोंकी वृद्धि नहीं चाहते ।। २ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रातिकामी स सूतः
प्रायाच्छीघ्रं राजवचो निशम्य ।
प्रविश्य च श्वेव हि सिंहगोष्ठं
समासदन्महिषीं पाण्डवानाम् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके वह सूत प्रातिकामी शीघ्र चला गया एवं जैसे कुत्ता सिंहकी माँदमें घुसे, उसी प्रकार उस राजभवनमें प्रवेश करके वह पाण्डवोंकी महारानीके पास गया ।। ३ ।।

प्रातिकाम्युवाच

युधिष्ठिरो द्यूतमदेन मत्तो
दुर्योधनो द्रौपदि त्वामजैषीत् ।
सा त्वं प्रपद्यस्व धृतराष्ट्रस्य वेश्म
नयामि त्वां कर्मणे याज्ञसेनि ।। ४ ।।

प्रातिकामी बोला—द्रुपदकुमारी! धर्मराज युधिष्ठिर जूएके मदसे उन्मत्त हो गये थे। उन्होंने सर्वस्व हारकर आपको दाँवपर लगा दिया। तब दुर्योधनने आपको जीत लिया। याज्ञसेनी! अब आप धृतराष्ट्रके महलमें पधारें। मैं आपको वहाँ दासीका काम करवानेके लिये ले चलता हूँ ।। ४ ।।

द्रौपद्युवाच

कथं त्वेवं वदसि प्रातिकामिन्
को हि दीव्येद् भार्यया राजपुत्रः ।
मूढो राजा द्यूतमदेन मत्तो
ह्यभून्नान्यत् कैतवमस्य किंचित् ।। ५ ।।

द्रौपदीने कहा—प्रातिकामिन्! तू ऐसी बात कैसे कहता है? कौन राजकुमार अपनी पत्नीको दाँवपर रखकर जूआ खेलेगा? क्या राजा युधिष्ठिर जूएके नशेमें इतने पागल हो गये कि उनके पास जुआरियोंको देनेके लिये दूसरा कोई धन नहीं रह गया? ।। ५ ।।

प्रातिकाम्युवाच

यदा नाभूत् कैतवमन्यदस्य
तदादेवीत् पाण्डवोऽजातशत्रुः ।
न्यस्ताः पूर्वं भ्रातरस्तेन राज्ञा
स्वयं चात्मा त्वमथो राजपुत्रि ।। ६ ।।

प्रातिकामी बोला—राजकुमारी! जब जुआरियोंको देनेके लिये दूसरा कोई धन नहीं रह गया, तब अजातशत्रु पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर इस प्रकार जूआ खेलने लगे। पहले तो उन्होंने अपने भाइयोंको दाँवपर लगाया, उसके बाद अपनेको और अन्तमें आपको भी दाँवपर रख दिया ।। ६ ।।

द्रौपद्युवाच

गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवा नु माम् ।। ७ ।।

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र! तुम सभामें उन जुआरी महाराजके पास जाओ और जाकर यह पूछो कि 'आप पहले अपनेको हारे थे या मुझे?' ।। ७ ।।

एतज्ज्ञात्वा समागच्छ ततो मां नय सूतज ।

ज्ञात्वा चिकीर्षितमहं राज्ञो यास्यामि दुःखिता ।। ८ ।।

सूतनन्दन! यह जानकर आओ। तब मुझे ले चलो। राजा क्या करना चाहते हैं? यह जानकर ही मैं दुःखिनी अबला उस सभामें चलूँगी ।। ८ ।।

वैशम्पायन उवाच

सभां गत्वा स चोवाच द्रौपद्यास्तद् वचस्तदा ।
युधिष्ठिरं नरेन्द्राणां मध्ये स्थितमिदं वचः ।। ९ ।।
कस्येशो नः पराजैषीरिति त्वामाह द्रौपदी ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवापि माम् ।। १० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! प्रातिकामीने सभामें जाकर राजाओंके बीचमें बैठे हुए युधिष्ठिरसे द्रौपदीकी वह बात कह सुनायी। उसने कहा—'द्रौपदी आपसे पूछना चाहती है कि किस-किस वस्तुके स्वामी रहते हुए आप मुझे हारे हैं? आप पहले अपनेको हारे हैं या मुझे?' ।। ९-१० ।।

युधिष्ठिरस्तु निश्चेता गतसत्त्व इवाभवत् ।
न तं सूतं प्रत्युवाच वचनं साध्वसाधु वा ।। ११ ।।

राजन्! उस समय युधिष्ठिर अचेत और निष्प्राण-से हो रहे थे, अतः उन्होंने प्रातिकामीको भला-बुरा कुछ भी उत्तर नहीं दिया ।। ११ ।।

दुर्योधन उवाच

इहैवागत्य पाञ्चाली प्रश्नमेनं प्रभाषताम् ।
इहैव सर्वे शृण्वन्तु तस्याश्चैतस्य यद् वचः ।। १२ ।।

तब दुर्योधन बोला—सूतपुत्र! जाकर कह दो, द्रौपदी यहीं आकर अपने इस प्रश्नको पूछे। यहीं सब सभासद् उसके प्रश्न और युधिष्ठिरके उत्तरको सुनें ।।

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा राजभवनं दुर्योधनवशानुगः ।
उवाच द्रौपदीं सूतः प्रातिकामी व्यथान्वितः ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! प्रातिकामी दुर्योधनके वशमें था, इसलिये वह राजभवनमें जाकर द्रौपदीसे व्यथित होकर बोला ।। १३ ।।

प्रातिकाम्युवाच

सभ्यास्त्वमी राजपुत्र्याह्वयन्ति
मन्ये प्राप्तः संक्षयः कौरवाणाम् ।
न वै समृद्धिं पालयते लघीयान्
यस्त्वां सभां नेष्यति राजपुत्रि ।। १४ ।।

प्रातिकामीने कहा—राजकुमारी! वे (दुर्योधन आदि) सभासद् तुम्हें सभामें ही बुला रहे हैं। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, अब कौरवोंके विनाशका समय आ गया है। जो (दुर्योधन) इतना गिर गया है कि तुम्हें सभामें बुलानेका साहस करता है, वह कभी अपने धन-वैभवकी रक्षा नहीं कर सकता ।। १४ ।।

द्रौपद्युवाच

एवं नूनं व्यदधात् संविधाता
स्पर्शावुभौ स्पृशतो वृद्धबालौ ।
धर्मं त्वेकं परमं प्राह लोके
स नः शमं धास्यति गोप्यमानः ।। १५ ।।

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र! निश्चय ही विधाताका ऐसा ही विधान है। बालक और वृद्ध सबको सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। जगत्‌में एकमात्र धर्मको ही श्रेष्ठ बतलाया जाता है। यदि हम उसका पालन करें तो वह हमारा कल्याण करेगा ।। १५ ।।

सोऽयं धर्मो मात्यगात् कौरवान् वै
सभ्यान् गत्वा पृच्छ धर्म्यं वचो मे ।
ते मां ब्रूयुर्निश्चितं तत् करिष्ये
धर्मात्मानो नीतिमन्तो वरिष्ठाः ।। १६ ।।

मेरे इस धर्मका उल्लंघन न हो, इसलिये तुम सभामें बैठे हुए कुरुवंशियोंके पास जाकर मेरी यह धर्मानुकूल बात पूछो—‘इस समय मुझे क्या करना चाहिये?’ वे धर्मात्मा, नीतिज्ञ और श्रेष्ठ महापुरुष मुझे जैसी आज्ञा देंगे, मैं निश्चय ही वैसा करूँगी ।। १६ ।।

श्रुत्वा सूतस्तद्वचो याज्ञसेन्याः
सभां गत्वा प्राह वाक्यं तदानीम् ।
अधोमुखास्ते न च किंचिदूचु-
र्निर्बन्धं तं धार्तराष्ट्रस्य बुद्ध्वा ।। १७ ।।

द्रौपदीका यह कथन सुनकर सूत प्रातिकामीने पुनः सभामें जाकर द्रौपदीके प्रश्नको दुहराया; किंतु उस समय दुर्योधनके उस दुराग्रहको जानकर सभी नीचे मुँह किये बैठे रहे, कोई कुछ भी नहीं बोला ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा दुर्योधनचिकीर्षितम् ।
द्रौपद्याः सम्मतं दूतं प्राहिणोद् भरतर्षभ ।। १८ ।।
एकवस्त्रा त्वधोनीवी रोदमाना रजस्वला ।
सभामागम्य पाञ्चालि श्वशुरस्याग्रतो भव ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुर्योधन क्या करना चाहता है, यह सुनकर युधिष्ठिरने द्रौपदीके पास एक ऐसा दूत भेजा, जिसे वह पहचानती थी और उसीके द्वारा यह संदेश कहलाया, 'पांचालराजकुमारी! यद्यपि तुम रजस्वला और नीवीको नीचे रखकर एक ही वस्त्र धारण कर रही हो, तो भी उसी दशामें रोती हुई सभामें आकर अपने श्वशुरके सामने खड़ी हो जाओ ।। १८-१९ ।।

अथ त्वामागतां दृष्ट्वा राजपुत्रीं सभां तदा ।
सभ्याः सर्वे विनिन्देरन् मनोभिर्धृतराष्ट्रजम् ।। २० ।।

'तुम-जैसी राजकुमारीको सभामें आयी देख सभी सभासद् मन-ही-मन इस दुर्योधनकी निन्दा करेंगे' ।। २० ।।

स गत्वा त्वरितं दूतः कृष्णाया भवनं नृप ।
न्यवेदयन्मतं धीमान् धर्मराजस्य निश्चितम् ।। २१ ।।

राजन्! वह बुद्धिमान् दूत तुरंत द्रौपदीके भवनमें गया। वहाँ उसने धर्मराजका निश्चित मत उसे बता दिया ।। २१ ।।

पाण्डवाश्च महात्मानो दीना दुःखसमन्विताः ।
सत्येनातिपरीताङ्गा नोदीक्षन्ते स्म किंचन ।। २२ ।।

इधर महात्मा पाण्डव सत्यके बन्धनसे बँधकर अत्यन्त दीन और दुःखमग्न हो गये। उन्हें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ।। २२ ।।

ततस्त्वेषां मुखमालोक्य राजा
दुर्योधनः सूतमुवाच हृष्टः ।
इहैवैतामानय प्रातिकामिन्
प्रत्यक्षमस्याः कुरवो ब्रुवन्तु ।। २३ ।।

उनके दीन मुँहकी ओर देखकर राजा दुर्योधन अत्यन्त प्रसन्न हो सूतसे बोला—'प्रातिकामिन्! तुम द्रौपदीको यहीं ले आओ। उसके सामने ही धर्मात्मा कौरव उसके प्रश्नोंका उत्तर देंगे' ।। २३ ।।

ततः सूतस्तस्य वशानुगामी
भीतश्च कोपाद् द्रुपदात्मजायाः ।
विहाय मानं पुनरेव सभ्या-
नुवाच कृष्णां किमहं ब्रवीमि ।। २४ ।।

तदनन्तर दुर्योधनके वशमें रहनेवाले प्रातिकामीने द्रौपदीके क्रोधसे डरते हुए अपने मान-सम्मानकी परवा न करके पुनः सभासदोंसे पूछा—'मैं द्रौपदीको क्या उत्तर दूँ?' ।।

दुर्योधन उवाच

दुःशासनैष मम सूतपुत्रो

वृकोदरादुद्विजतेऽल्पचेताः ।
स्वयं प्रगृह्यानय याज्ञसेनीं
किं ते करिष्यन्त्यवशाः सपत्नाः ।। २५ ।।

दुर्योधन बोला—दुःशासन! यह मेरा सेवक सूतपुत्र प्रातिकामी बड़ा मूर्ख है। इसे भीमसेनका डर लगा हुआ है। तुम स्वयं द्रौपदीको यहाँ पकड़ लाओ। हमारे शत्रु पाण्डव इस समय हमलोगोंके वशमें हैं। वे तुम्हारा क्या कर लेंगे ।। २५ ।।

ततः समुत्थाय स राजपुत्रः
श्रुत्वा भ्रातुः शासनं रक्तदृष्टिः ।
प्रविश्य तद् वेश्म महारथाना-
मित्यब्रवीद् द्रौपदीं राजपुत्रीम् ।। २६ ।।

भाईका यह आदेश सुनकर राजकुमार दुःशासन उठ खड़ा हुआ और लाल आँख किये वहाँसे चल दिया। महारथी पाण्डवोंके महलमें प्रवेश करके उसने राजकुमारी द्रौपदीसे इस प्रकार कहा— ।। २६ ।।

एह्येहि पाञ्चालि जितासि कृष्णे
दुर्योधनं पश्य विमुक्तलज्जा ।
कुरून् भजस्वायतपत्रनेत्रे
धर्मेण लब्धासि सभां परैहि ।। २७ ।।

'पांचालि! आओ, आओ, तुम जूएमें जीती जा चुकी हो। कृष्णे! अब लज्जा छोड़कर दुर्योधनकी ओर देखो। कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी! हमने धर्मके अनुसार तुम्हें प्राप्त किया है, अतः तुम कौरवोंकी सेवा करो। अभी राजसभामें चली चलो' ।। २७ ।।

ततः समुत्थाय सुदुर्मनाः सा
विवर्णमामृज्य मुखं करेण ।
आर्ता प्रदुद्राव यतः स्त्रियस्ता
वृद्धस्य राज्ञः कुरुपुङ्गवस्य ।। २८ ।।

यह सुनकर द्रौपदीका हृदय अत्यन्त दुःखित होने लगा। उसने अपने मलिन मुखको हाथसे पोंछा। फिर उठकर वह आर्त अबला उसी ओर भागी, जहाँ बूढ़े महाराज धृतराष्ट्रकी स्त्रियाँ बैठी हुई थीं ।। २८ ।।

ततो जवेनाभिससार रोषाद्
दुःशासनस्तामभिगर्जमानः ।
दीर्घेषु नीलेष्वथ चोर्मिमत्सु
जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम् ।। २९ ।।

तब दुःशासन भी रोषसे गर्जता हुआ बड़े वेगसे उसके पीछे दौड़ा। उसने महाराज युधिष्ठिरकी पत्नी द्रौपदीके लम्बे, नीले और लहराते हुए केशोंको पकड़ लिया ।।

ये राजसूयावभृथे जलेन
महाक्रतौ मन्त्रपूतेन सिक्ताः ।
ते पाण्डवानां परिभूय वीर्यं
बलात् प्रमृष्टा धृतराष्ट्रजेन ।। ३० ।।

जो केश राजसूय महायज्ञके अवभृथस्नानमें मन्त्रपूत जलसे सींचे गये थे, उन्हींको दुःशासनने पाण्डवोंके पराक्रमकी अवहेलना करके बलपूर्वक पकड़ लिया ।।

स तां पराकृष्य सभासमीप-
मानीय कृष्णामतिदीर्घकेशीम् ।
दुःशासनो नाथवतीमनाथव-
च्चकर्ष वायुः कदलीमिवार्ताम् ।। ३१ ।।

लंबे-लंबे केशोंवाली वह द्रौपदी यद्यपि सनाथा थी, तो भी दुःशासन उस बेचारी आर्त अबलाको अनाथकी भाँति घसीटता हुआ सभाके समीप ले आया और जैसे वायु केलेके वृक्षको झकझोरकर झुका देता है, उसी प्रकार वह द्रौपदीको बलपूर्वक खींचने लगा ।।

सा कृष्यमाणा नमिताङ्गयष्टिः
शनैरुवाचाथ रजस्वलास्मि ।
एकं च वासो मम मन्दबुद्धे
सभां नेतुं नार्हसि मामनार्य ।। ३२ ।।

दुःशासनके खींचनेसे द्रौपदीका शरीर झुक गया। उसने धीरेसे कहा—'ओ मन्दबुद्धि दुष्टात्मा दुःशासन! मैं रजस्वला हूँ तथा मेरे शरीरपर एक ही वस्त्र है। इस दशामें मुझे सभामें ले जाना अनुचित है' ।। ३२ ।।

ततोऽब्रवीत् तां प्रसभं निगृह्य
केशेषु कृष्णेषु तदा स कृष्णाम् ।
कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ।। ३३ ।।

यह सुनकर दुःशासन उसके काले-काले केशोंको और जोरसे पकड़कर कुछ बकने लगा; इधर यज्ञसेनकुमारी कृष्णाने अपनी रक्षाके लिये सर्वपापहारी, सर्वविजयी, नरस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको पुकारने लगी ।। ३३ ।।

दुःशासन उवाच

रजस्वला वा भव याज्ञसेनि
एकाम्बरा वाप्यथवा विवस्त्रा ।
द्यूते जिता चासि कृतासि दासी
दासीषु वासश्च यथोपजोषम् ।। ३४ ।।

दुःशासन बोला—द्रौपदी! तू रजस्वला, एकवस्त्रा अथवा नंगी ही क्यों न हो, हमने तुझे जूएमें जीता है; अतः तू हमारी दासी हो चुकी है, इसलिये अब तुझे हमारी इच्छाके अनुसार दासियोंमें रहना पड़ेगा ।। ३४ ।।

वैशम्पायन उवाच

प्रकीर्णकेशी पतितार्धवस्त्रा
दुःशासनेन व्यवधूयमाना ।
ह्रीमत्यमर्षेण च दह्यमाना
शनैरिदं वाक्यमुवाच कृष्णा ।। ३५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय द्रौपदीके केश बिखर गये थे। दुःशासनके झकझोरनेसे उसका आधा वस्त्र भी खिसककर गिर गया था। वह लाजसे गड़ी जाती थी और भीतर-ही-भीतर क्रोधसे दग्ध हो रही थी। उसी दशामें वह धीरेसे इस प्रकार बोली ।। ३५ ।।

द्रौपद्युवाच

इमे सभायामुपनीतशास्त्राः
क्रियावन्तः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।
गुरुस्थाना गुरवश्चैव सर्वे
तेषामग्रे नोत्सहे स्थातुमेवम् ।। ३६ ।।

द्रौपदीने कहा—अरे दुष्ट! ये सभामें शास्त्रोंके विद्वान्, कर्मठ और इन्द्रके समान तेजस्वी मेरे पिताके समान सभी गुरुजन बैठे हुए हैं। मैं उनके सामने इस रूपमें खड़ी होना नहीं चाहती ।। ३६ ।।

नृशंसकर्मंस्त्वमनार्यवृत्त
मा मा विवस्त्रां कुरु मा विकर्षीः ।
न मर्षयेयुस्तव राजपुत्राः
सेन्द्राश्च देवा यदि ते सहायाः ।। ३७ ।।

क्रूरकर्मा दुराचारी दुःशासन! तू इस प्रकार मुझे न खींच, न खींच, मुझे वस्त्रहीन मत कर। इन्द्र आदि देवता भी तेरी सहायताके लिये आ जायँ, तो भी मेरे पति राजकुमार पाण्डव तेरे इस अत्याचारको सहन नहीं कर सकेंगे ।। ३७ ।।

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा
धर्मश्च सूक्ष्मो निपुणोपलक्ष्यः ।
वाचापि भर्तुः परमाणुमात्र-
मिच्छामि दोषं न गुणान् विसृज्य ।। ३८ ।।

धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिर धर्ममें ही स्थित हैं। धर्मका स्वरूप बड़ा सूक्ष्म है। सूक्ष्म बुद्धिवाले धर्मपालनमें निपुण महापुरुष ही उसे समझ सकते हैं। मैं अपने पतिके गुणोंको छोड़कर वाणीद्वारा उनके परमाणुतुल्य छोटे-से-छोटे दोषको भी कहना नहीं चाहती ।। ३८ ।।

इदं त्वकार्यं कुरुवीरमध्ये
रजस्वलां यत् परिकर्षसे माम् ।
न चापि कश्चित् कुरुतेऽत्र कुत्सां
ध्रुवं तवेदं मतमभ्युपेताः ।। ३९ ।।

अरे! तू इन कौरववीरोंके बीचमें जो मुझ रजस्वला स्त्रीको खींचकर लिये जा रहा है, यह अत्यन्त पापपूर्ण कृत्य है। मैं देखती हूँ यहाँ कोई भी मनुष्य तेरे इस कुकर्मकी निन्दा नहीं कर रहा है। निश्चय ही ये सब लोग तेरे मतमें हो गये ।। ३९ ।।

धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां
धर्मस्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम् ।
यत्र ह्यतीतां कुरुधर्मवेलां
प्रेक्षन्ति सर्वे कुरवः सभायाम् ।। ४० ।।

अहो! धिक्कार है! भरतवंशके नरेशोंका धर्म निश्चय ही नष्ट हो गया तथा क्षत्रियधर्मके जाननेवाले इन महापुरुषोंका सदाचार भी लुप्त हो गया; क्योंकि यहाँ कौरवोंकी धर्ममर्यादाका उल्लंघन हो रहा है, तो भी सभामें बैठे हुए सभी कुरुवंशी चुपचाप देख रहे हैं ।। ४० ।।

द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वं
क्षत्तुस्तथैवास्य महात्मनोऽपि ।
राज्ञस्तथा हीममधर्ममुग्रं
न लक्षयन्ते कुरुवृद्धमुख्याः ।। ४१ ।।

जान पड़ता है द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, महात्मा विदुर तथा राजा धृतराष्ट्रमें अब कोई शक्ति नहीं रह गयी है; तभी तो ये कुरुवंशके, बड़े-बूढ़े महापुरुष राजा दुर्योधनके इस भयानक पापाचारकी ओर दृष्टिपात नहीं कर रहे हैं ।। ४१ ।।

(इमं प्रश्नमिमे ब्रूत सर्व एव सभासदः ।
जितां वाप्यजितां वा मां मन्यध्वे सर्वभूमिपाः ।।)

मेरे इस प्रश्नका सभी सभासद् उत्तर दें। राजाओ! आपलोग क्या समझते हैं? धर्मके अनुसार मैं जीती गयी हूँ या नहीं?

वैशम्पायन उवाच

तथा ब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा

भर्तॄन् कटाक्षैः कुपितानपश्यत् ।
सा पाण्डवान् कोपपरीतदेहान्
संदीपयामास कटाक्षपातैः ।। ४२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार करुण स्वरमें विलाप करती सुमध्यमा द्रौपदीने क्रोधमें भरे हुए अपने पतियोंकी ओर तिरछी दृष्टिसे देखा। पाण्डवोंके अंग-अंगमें क्रोधकी अग्नि व्याप्त हो गयी थी। द्रौपदीने अपने कटाक्षद्वारा देखकर उनकी क्रोधाग्निको और भी उद्दीप्त कर दिया ।। ४२ ।।

हृतेन राज्येन तथा धनेन
रत्नैश्च मुख्यैर्न तथा बभूव ।
यथा त्रपाकोपसमीरितेन
कृष्णाकटाक्षेण बभूव दुःखम् ।। ४३ ।।

राज्य, धन तथा मुख्य-मुख्य रत्नोंको हार जानेपर भी पाण्डवोंको उतना दुःख नहीं हुआ था, जितना कि द्रौपदीके लज्जा एवं क्रोधयुक्त कटाक्षपातसे हुआ था ।। ४३ ।।

दुःशासनश्चापि समीक्ष्य कृष्णा-
मवेक्षमाणां कृपणान् पतींस्तान् ।
आधूय वेगेन विसंज्ञकल्पा-
मुवाच दासीति हसन् सशब्दम् ।। ४४ ।।

द्रौपदीको अपने दीन पतियोंकी ओर देखती देख दुःशासन उसे बड़े वेगसे झकझोरकर जोर-जोरसे हँसते हुए 'दासी' कहकर पुकारने लगा। उस समय द्रौपदी मूर्च्छित-सी हो रही थी ।। ४४ ।।

कर्णस्तु तद्वाक्यमतीव हृष्टः
सम्पूजयामास हसन् सशब्दम् ।
गान्धारराजः सुबलस्य पुत्र-
स्तथैव दुःशासनमभ्यनन्दत् ।। ४५ ।।

कर्णको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने खिलखिलाकर हँसते हुए दुःशासनके उस कथनकी बड़ी सराहना की। सुबलपुत्र गान्धारराज शकुनिने भी दुःशासनका अभिनन्दन किया ।। ४५ ।।

सभ्यास्तु ये तत्र बभूवुरन्ये
ताभ्यामृते धार्तराष्ट्रेण चैव ।
तेषामभूद् दुःखमतीव कृष्णां
दृष्ट्वा सभायां परिकृष्यमाणाम् ।। ४६ ।।

उस समय वहाँ जितने सभासद् उपस्थित थे, उनमेंसे कर्ण, शकुनि और दुर्योधनको छोड़कर अन्य सब लोगोंको सभामें इस प्रकार घसीटी जाती हुई द्रौपदीकी दुर्दशा देखकर

बड़ा दु:ख हुआ ।। ४६ ।।

भीष्म उवाच

न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तु
शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत् ।
अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं
स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ।। ४७ ।।

उस समय भीष्मने कहा—सौभाग्यशालिनी बहू! धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण मैं तुम्हारे इस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन नहीं कर सकता। जो स्वामी नहीं है वह पराये धनको दाँवपर नहीं लगा सकता, परंतु स्त्रीको सदा अपने स्वामीके अधीन देखा जाता है, अतः इन सब बातोंपर विचार करनेसे मुझसे कुछ कहते नहीं बनता ।। ४७ ।।

त्यजेत सर्वां पृथिवीं समृद्धां
युधिष्ठिरो धर्ममथो न जह्यात् ।
उक्तं जितोऽस्मीति च पाण्डवेन
तस्मान्न शक्नोमि विवेक्तुमेतत् ।। ४८ ।।

मेरा विश्वास है कि धर्मराज युधिष्ठिर धन-समृद्धिसे भरी हुई इस सारी पृथ्वीको त्याग सकते हैं, किंतु धर्मको नहीं छोड़ सकते। इन पाण्डुनन्दनने स्वयं कहा है कि मैं अपनेको हार गया; अतः मैं इस प्रश्नका विवेचन नहीं कर सकता ।। ४८ ।।

द्यूतेऽद्वितीयः शकुनिर्नरेषु
कुन्तीसुतस्तेन निसृष्टकामः ।
न मन्यते तां निकृतिं युधिष्ठिर-
स्तस्मान्न ते प्रश्नमिमं ब्रवीमि ।। ४९ ।।

यह शकुनि मनुष्योंमें द्यूतविद्याका अद्वितीय जानकार है। इसीने कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको प्रेरित करके उनके मनमें तुम्हें दाँवपर रखनेकी इच्छा उत्पन्न की है, परंतु युधिष्ठिर इसे शकुनिका छल नहीं मानते; इसीलिये मैं तुम्हारे इस प्रश्नका विवेचन नहीं कर पाता हूँ ।। ४९ ।।

द्रौपद्युवाच

आहूय राजा कुशलैरनार्यै-
र्दुष्टात्मभिर्नैकृतिकैः सभायाम् ।
द्यूतप्रियैर्नातिकृतप्रयत्नः
कस्मादयं नाम निसृष्टकामः ।। ५० ।।

द्रौपदीने कहा—जूआ खेलनेमें निपुण, अनार्य, दुष्टात्मा, कपटी तथा द्यूतप्रेमी धूर्तोंने राजा युधिष्ठिरको सभामें बुलाकर जूएका खेल आरम्भ कर दिया। इन्हें जूआ खेलनेका

अधिक अभ्यास नहीं है। फिर इनके मनमें जूएकी इच्छा क्यों उत्पन्न की गयी? ।। ५० ।।

अशुद्धभावैर्निकृतिप्रवृत्तै-
रबुध्यमानः कुरुपाण्डवाग्र्यः ।
सम्भूय सर्वैश्च जितोऽपि यस्मात्
पश्चादयं कैतवमभ्युपेतः ।। ५१ ।।

जिनके हृदयकी भावना शुद्ध नहीं है, जो सदा छल और कपटमें लगे रहते हैं, उन समस्त दुरात्माओंने मिलकर इन भोले-भाले कुरु-पाण्डव-शिरोमणि महाराज युधिष्ठिरको पहले जूएमें जीत लिया है, तत्पश्चात् ये मुझे दाँवपर लगानेके लिये विवश किये गये हैं ।। ५१ ।।

तिष्ठन्ति चेमे कुरवः सभाया-
मीशाः सुतानां च तथा स्नुषाणाम् ।
समीक्ष्य सर्वे मम चापि वाक्यं
विब्रूत मे प्रश्नमिमं यथावत् ।। ५२ ।।

ये कुरुवंशी महापुरुष जो सभामें बैठे हुए हैं, सभी पुत्रों और पुत्रवधुओंके स्वामी हैं (सभीके घरमें पुत्र और पुत्रवधुएँ हैं), अतः ये सब लोग मेरे कथनपर अच्छी तरह विचार करके इस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन करें ।। ५२ ।।

(न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ।।)

वह सभा नहीं है जहाँ वृद्ध पुरुष न हों, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्मकी बात न बतावें, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नहीं है जो छलसे युक्त हो।

वैशम्पायन उवाच

तथा ब्रुवन्तीं करुणं रुदन्ती-
मवेक्षमाणां कृपणान् पतींस्तान् ।
दुःशासनः परुषाण्यप्रियाणि
वाक्यान्युवाचामधुराणि चैव ।। ५३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार द्रौपदी करुणस्वरमें बोलकर रोती हुई अपने दीन पतियोंकी ओर देखने लगी। उस समय दुःशासनने उसके प्रति कितने ही अप्रिय कठोर एवं कटुवचन कहे ।। ५३ ।।

तां कृष्यमाणां च रजस्वलां च
स्रस्तोत्तरीयामतदर्हमाणाम् ।

वृकोदरः प्रेक्ष्य युधिष्ठिरं च

चकार कोपं परमार्तरूपः ।। ५४ ।।

कृष्णा रजस्वलावस्थामें घसीटी जा रही थी, उसके सिरका कपड़ा सरक गया था, वह इस तिरस्कारके योग्य कदापि नहीं थी। उसकी यह दुरवस्था देखकर भीमसेनको बड़ी पीड़ा हुई। वे युधिष्ठिरकी ओर देखकर अत्यन्त कुपित हो उठे ।। ५४ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीप्रश्ने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ।। ६७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीप्रश्नविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५६ श्लोक हैं)

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

भीमसेनका क्रोध एवं अर्जुनका उन्हें शान्त करना, विकर्णकी धर्मसंगत बातका कर्णके द्वारा विरोध, द्रौपदीका चीरहरण एवं भगवान्‌द्वारा उसकी लज्जारक्षा तथा विदुरके द्वारा प्रह्लादका उदाहरण देकर सभासदोंको विरोधके लिये प्रेरित करना

भीम उवाच

भवन्ति गेहे बन्धक्यः कितवानां युधिष्ठिर ।
न ताभिरुत दीव्यन्ति दया चैवास्ति तास्वपि ।। १ ।।

भीमसेन बोले—भैया युधिष्ठिर! जुआरियोंके घरमें प्रायः कुलटा स्त्रियाँ रहती हैं, किंतु वे भी उन्हें दाँवपर लगाकर जूआ नहीं खेलते। उन कुलटाओंके प्रति भी उनके हृदयमें दया रहती है ।। १ ।।

काश्यो यद् धनमाहार्षीद् द्रव्यं यच्चान्यदुत्तमम् ।
तथान्ये पृथिवीपाला यानि रत्नान्युपाहरन् ।। २ ।।
वाहनानि धनं चैव कवचान्यायुधानि च ।
राज्यमात्मा वयं चैव कैतवेन हृतं परैः ।। ३ ।।

काशिराजने जो धन उपहारमें दिया था एवं और भी जो उत्तम द्रव्य वे हमारे लिये लाये थे तथा अन्य राजाओंने भी जो रत्न हमें भेंट किये थे, उन सबको और हमारे वाहनों, वैभवों, कवचों, आयुधों, राज्य, आपके शरीर तथा हम सब भाइयोंको भी शत्रुओंने जूएके दाँवपर रखवाकर अपने अधिकारमें कर लिया ।। २-३ ।।

न च मे तत्र कोपोऽभूत् सर्वस्येशो हि नो भवान् ।
इमं त्वतिक्रमं मन्ये द्रौपदी यत्र पण्यते ।। ४ ।।

किंतु इसके लिये मेरे मनमें क्रोध नहीं हुआ; क्योंकि आप हमारे सर्वस्वके स्वामी हैं। पर द्रौपदीको जो दाँवपर लगाया गया, इसे मैं बहुत ही अनुचित मानता हूँ ।। ४ ।।

एषा ह्यनर्हती बाला पाण्डवान् प्राप्य कौरवैः ।
त्वत्कृते क्लिश्यते क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ।। ५ ।।

यह भोली-भाली अबला पाण्डवोंको पतिरूपमें पाकर इस प्रकार अपमानित होनेके योग्य नहीं थी, परंतु आपके कारण ये नीच, नृशंस और अजितेन्द्रिय कौरव इसे नाना प्रकारके कष्ट दे रहे हैं ।। ५ ।।

अस्याः कृते मन्युरयं त्वयि राजन् निपात्यते ।

बाहू ते सम्प्रधक्ष्यामि सहदेवाग्निमानय ।। ६ ।।

राजन्! द्रौपदीकी इस दुर्दशाके लिये मैं आपपर ही अपना क्रोध छोड़ता हूँ। आपकी दोनों बाहें जला डालूँगा। सहदेव! आग ले आओ ।। ६ ।।

अर्जुन उवाच

न पुरा भीमसेन त्वमीदृशीर्वदिता गिरः ।
परैस्ते नाशितं नूनं नृशंसैर्धर्मगौरवम् ।। ७ ।।

अर्जुन बोले—भैया भीमसेन! तुमने पहले कभी ऐसी बातें नहीं कही थीं। निश्चय ही क्रूरकर्मा शत्रुओंने तुम्हारी धर्मविषयक गौरवबुद्धिको नष्ट कर दिया है ।। ७ ।।

न सकामाः परे कार्या धर्ममेवाचरोत्तमम् ।
भ्रातरं धार्मिकं ज्येष्ठं कोऽतिवर्तितुमर्हति ।। ८ ।।

भैया! शत्रुओंकी कामना सफल न करो; उत्तम धर्मका ही आचरण करो। भला, अपने धर्मात्मा ज्येष्ठ भ्राताका अपमान कौन कर सकता है? ।। ८ ।।

आहूतो हि परै राजा क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ।
दीव्यते परकामेन तन्नः कीर्तिकरं महत् ।। ९ ।।

महाराज युधिष्ठिरको शत्रुओंने द्यूतके लिये बुलाया है; अतः ये क्षत्रियव्रतको ध्यानमें रखकर दूसरोंकी इच्छासे जूआ खेलते हैं। यह हमारे महान् यशका विस्तार करनेवाला है ।। ९ ।।

भीमसेन उवाच

एवमस्मिन् कृतं विद्यां यदि नाहं धनंजय ।
दीप्तेऽग्नौ सहितौ बाहू निर्दहेयं बलादिव ।। १० ।।

भीमसेनने कहा—अर्जुन! यदि मैं इस विषयमें यह न जानता कि इनका यह कार्य क्षत्रियधर्मके अनुकूल ही है, तो बलपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें इनकी दोनों बाँहोंको एक साथ ही जलाकर राख कर डालता ।। १० ।।

वैशम्पायन उवाच

तथा तान् दुःखितान् दृष्ट्वा पाण्डवान् धृतराष्ट्रजः ।
कृष्यमाणां च पाञ्चालीं विकर्ण इदमब्रवीत् ।। ११ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंको दुःखी और पांचालराजकुमारी द्रौपदीको घसीटी जाती हुई देख धृतराष्ट्रनन्दन विकर्णने यह कहा— ।। ११ ।।

याज्ञसेन्या यदुक्तं तद् वाक्यं विब्रूत पार्थिवाः ।
अविवेकेन वाक्यस्य नरकः सद्य एव नः ।। १२ ।।

'भूमिपालो! द्रौपदीने जो प्रश्न उपस्थित किया है, उसका आपलोग उत्तर दें। यदि इसके प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन नहीं किया गया, तो हमें शीघ्र ही नरक भोगना पड़ेगा ।। १२ ।।

भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च कुरुवृद्धतमावुभौ ।

समेत्य नाहतुः किंचिद् विदुरश्च महामतिः ।। १३ ।।

'पितामह भीष्म और पिता धृतराष्ट्र—ये दोनों कुरुवंशके सबसे वृद्ध पुरुष हैं। ये तथा परम बुद्धिमान् विदुरजी मिलकर कुछ उत्तर क्यों नहीं देते?' ।। १३ ।।

भारद्वाजश्च सर्वेषामाचार्यः कृप एव च ।

कुत एतावपि प्रश्नं नाहतुर्द्विजसत्तमौ ।। १४ ।।

'हम सबके आचार्य भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ये दोनों ब्राह्मणकुलके श्रेष्ठ पुरुष हैं। ये दोनों भी इस प्रश्नपर अपने विचार क्यों नहीं प्रकट करते? ।।

ये त्वन्ये पृथिवीपालाः समेताः सर्वतो दिशः ।

कामक्रोधौ समुत्सृज्य ते ब्रुवन्तु यथामति ।। १५ ।।

'जो दूसरे राजालोग चारों दिशाओंसे यहाँ पधारे हैं, वे सभी काम और क्रोधको त्यागकर अपनी बुद्धिके अनुसार इस प्रश्नका उत्तर दें ।। १५ ।।

यदिदं द्रौपदीवाक्यमुक्तवत्यसकृच्छुभा ।

विमृश्य कस्य कः पक्षः पार्थिवा वदतोत्तरम् ।। १६ ।।

राजाओ! कल्याणी द्रौपदीने बार-बार जिस प्रश्नको दुहराया है, उसपर विचार करके आपलोग उत्तर दें, जिससे मालूम हो जाय कि इस विषयमें किसका क्या पक्ष (विचार) है' ।। १६ ।।

एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान् सभासदः ।

न च ते पृथिवीपालास्तमूचुः साध्वसाधु वा ।। १७ ।।

इस प्रकार विकर्णने उन सब सभासदोंसे बार-बार अनुरोध किया; परंतु उन नरेशोंने उस विषयमें उससे भला-बुरा कुछ नहीं कहा ।। १७ ।।

उक्त्वा सकृत् तथा सर्वान् विकर्णः पृथिवीपतीन् ।

पाणौ पाणिं विनिष्पिष्य निःश्वसन्निदमब्रवीत् ।। १८ ।।

उन सब राजाओंसे बार-बार आग्रह करनेपर भी जब कुछ उत्तर नहीं मिला, तब विकर्णने हाथ-पर-हाथ मलते हुए लंबी साँस खींचकर कहा— ।। १८ ।।

विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन ।

मन्ये न्याय्यं यदत्राहं तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ।। १९ ।।

'कौरवो तथा अन्य भूमिपालो! आपलोग द्रौपदीके प्रश्नपर किसी प्रकारका विचार प्रकट करें या न करें, मैं इस विषयमें जो न्यायसंगत समझता हूँ, वह कहता हूँ ।।

चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम् ।

मृगयां पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिरक्तताम् ।। २० ।।

'नरश्रेष्ठ भूपालो! राजाओंके चार दुर्व्यसन बताये गये हैं—शिकार, मदिरापान, जूआ तथा विषयभोगमें अत्यन्त आसक्ति ।। २० ।।

एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते ।
यथायुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते ।। २१ ।।

'इन दुर्व्यसनोंमें आसक्त मनुष्य धर्मकी अवहेलना करके मनमाना बर्ताव करने लगता है। इस प्रकार व्यसनासक्त पुरुषके द्वारा किये हुए किसी भी कार्यको लोग सम्मान नहीं देते हैं ।। २१ ।।

तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्तता भृशम् ।
समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः ।। २२ ।।

'ये पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर द्यूतरूपी दुर्व्यसनमें अत्यन्त आसक्त हैं। इन्होंने धूर्त जुआरियोंसे प्रेरित होकर द्रौपदीको दाँवपर लगा दिया है ।। २२ ।।

साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता ।
जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन कृतः पणः ।। २३ ।।

'सती-साध्वी द्रौपदी समस्त पाण्डवोंकी समानरूपसे पत्नी है, केवल युधिष्ठिरकी ही नहीं है। इसके सिवा, पाण्डुकुमार युधिष्ठिर पहले अपने-आपको हार चुके थे, उसके बाद उन्होंने द्रौपदीको दाँवपर रखा है ।। २३ ।।

इयं च कीर्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना ।
एतत् सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम् ।। २४ ।।

'सब दाँवोंको जीतनेकी इच्छावाले सुबलपुत्र शकुनिने ही द्रौपदीको दाँवपर लगानेकी बात उठायी है। इन सब बातोंपर विचार करके मैं द्रुपदकुमारी कृष्णाको जीती हुई नहीं मानता' ।। २४ ।।

एतच्छ्रुत्वा महान् नादः सभ्यानामुदतिष्ठत ।
विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निन्दताम् ।। २५ ।।

यह सुनकर सभी सभासद विकर्णकी प्रशंसा और सुबलपुत्र शकुनिकी निन्दा करने लगे। उस समय वहाँ बड़ा कोलाहल मच गया ।। २५ ।।

तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुमिदं वचनमब्रवीत् ।। २६ ।।

उस कोलाहलके शान्त होनेपर राधानन्दन कर्ण क्रोधसे मूर्च्छित हो उसकी सुन्दर बाँह पकड़कर इस प्रकार बोला ।।

कर्ण उवाच

दृश्यन्ते वै विकर्णेह वैकृतानि बहून्यपि ।
तज्जातस्तद्विनाशाय यथाग्निररणिप्रजः ।। २७ ।।

कर्णने कहा—विकर्ण! इस जगत्‌में बहुत-सी वस्तुएँ विपरीत परिणाम उत्पन्न करनेवाली देखी जाती हैं। जैसे अरणिसे उत्पन्न हुई अग्नि उसीको जला देती है, उसी प्रकार कोई-कोई मनुष्य जिस कुलमें उत्पन्न होता है, उसीका विनाश करनेवाला बन जाता है ।। २७ ।।

(व्याधिर्बलं नाशयते शरीरस्थोऽपि सम्भृतः ।
तृणानि पशवो घ्नन्ति स्वपक्षं चैव कौरवः ।।
द्रोणो भीष्मः कृपो द्रौणिर्विदुरश्च महामतिः ।
धृतराष्ट्रमश्च गान्धारी भवतः प्राज्ञवत्तराः ।।)

रोग यद्यपि शरीरमें ही पलता है, तथापि वह शरीरके ही बलका नाश करता है। पशु घासको ही चरते हैं, फिर भी उसे पैरोंसे कुचल डालते हैं। उसी प्रकार कुरुकुलमें उत्पन्न होकर भी तुम अपने ही पक्षको हानि पहुँचाना चाहते हो। विकर्ण! द्रोण, भीष्म, कृप, अश्वत्थामा, महाबुद्धिमान् विदुर, धृतराष्ट्र तथा गान्धारी—ये तुमसे अधिक बुद्धिमान् हैं।

एते न किंचिदप्याहुश्चोदिता ह्यपि कृष्णया ।
धर्मेण विजितामेतां मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम् ।। २८ ।।

द्रौपदीने बार-बार प्रेरित किया है, तो भी ये सभासद कुछ भी नहीं बोलते हैं; क्योंकि ये सब लोग द्रुपदकुमारीको धर्मके अनुसार जीती हुई समझते हैं ।।

त्वं तु केवलबाल्येन धार्तराष्ट्र विदीर्यसे ।
यद् ब्रवीषि सभामध्ये बालः स्थविरभाषितम् ।। २९ ।।

धृतराष्ट्रकुमार! तुम केवल अपनी मूर्खताके कारण आप ही अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मार रहे हो; क्योंकि तुम बालक होकर भी भरी सभामें वृद्धोंकी-सी बातें करते हो ।।

न च धर्मं यथावत् त्वं वेत्सि दुर्योधनावर ।
यद् ब्रवीषि जितां कृष्णां न जितेति सुमन्दधीः ।। ३० ।।

दुर्योधनके छोटे भाई! तुम्हें धर्मके विषयमें यथार्थ ज्ञान नहीं है। तुम जो जीती हुई द्रौपदीको नहीं जीती हुई बता रहे हो, इससे तुम्हारे मन्दबुद्धि होनेका परिचय मिलता है ।।

कथं ह्यविजितां कृष्णां मन्यसे धृतराष्ट्रज ।
यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान् पाण्डवाग्रजः ।। ३१ ।।

धृतराष्ट्रकुमार! तुम कृष्णाको नहीं जीती हुई कैसे मानते हो? जब कि पाण्डवोंके बड़े भाई युधिष्ठिरने द्यूतसभाके बीच अपना सर्वस्व दाँवपर लगा दिया है ।।

अभ्यन्तरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ ।
एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम् ।। ३२ ।।

भरतश्रेष्ठ! द्रौपदी भी तो सर्वस्वके भीतर ही है। इस प्रकार जब कृष्णाको धर्मपूर्वक जीत लिया गया है, तब तुम उसे नहीं जीती हुई क्यों समझते हो? ।। ३२ ।।

कीर्तिता द्रौपदी वाचा अनुज्ञाता च पाण्डवैः ।

भवत्यविजिता केन हेतुनैषा मता तव ।। ३३ ।।

युधिष्ठिरने अपनी वाणीद्वारा कहकर द्रौपदीको दाँवपर रखा और शेष पाण्डवोंने मौन रहकर उसका अनुमोदन किया। फिर किस कारणसे तुम उसे नहीं जीती हुई मानते हो? ।।

मन्यसे वा सभामेतामानीतामेकवाससम् ।
अधर्मेणेति तत्रापि शृणु मे वाक्यमुत्तमम् ।। ३४ ।।

अथवा यदि तुम्हारी यह राय हो कि एकवस्त्रा द्रौपदीको इस सभामें अधर्मपूर्वक लाया गया है तो इसके उत्तरमें भी मेरी उत्तम बात सुनो ।। ३४ ।।

एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन ।
इयं त्वनेकवशगा बन्धकीति विनिश्चिता ।। ३५ ।।
अस्याः सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः ।
एकाम्बरधरत्वं वाप्यथ वापि विवस्त्रता ।। ३६ ।।

कुरुनन्दन! देवताओंने स्त्रीके लिये एक ही पतिका विधान किया है; परंतु यह द्रौपदी अनेक पतियोंके अधीन है, अतः यह निश्चय ही वेश्या है। इसका सभामें लाया जाना कोई अनोखी बात नहीं है। यह एकवस्त्रा अथवा नंगी हो तो भी यहाँ लायी जा सकती है, यह मेरा स्पष्ट मत है ।। ३५-३६ ।।

यच्चैषां द्रविणं किंचिद् या चैषा ये च पाण्डवाः ।
सौबलेनेह तत् सर्वं धर्मेण विजितं वसु ।। ३७ ।।

इन पाण्डवोंके पास जो कुछ धन है, जो यह द्रौपदी है तथा जो ये पाण्डव हैं, इन सबको सुबलपुत्र शकुनिने यहाँ जूएके धनके रूपमें धर्मपूर्वक जीता है ।। ३७ ।।

दुःशासन सुबालोऽयं विकर्णः प्राज्ञवादिकः ।
पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ।। ३८ ।।

दुःशासन! यह विकर्ण अत्यन्त मूढ़ है, तथापि विद्वानोंकी-सी बातें बनाता है। तुम पाण्डवोंके और द्रौपदीके भी वस्त्र उतार लो ।। ३८ ।।

तच्छ्रुत्वा पाण्डवाः सर्वे स्वानि वासांसि भारत ।
अवकीर्योत्तरीयाणि सभायां समुपाविशन् ।। ३९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णकी बात सुनकर समस्त पाण्डव अपने-अपने उत्तरीय वस्त्र उतारकर सभामें बैठ गये ।। ३९ ।।

ततो दुःशासनो राजन् द्रौपद्या वसनं बलात् ।
सभामध्ये समाक्षिप्य व्यपाक्रष्टुं प्रचक्रमे ।। ४० ।।

राजन्! तब दुःशासनने उस भरी सभामें द्रौपदीका वस्त्र बलपूर्वक पकड़कर खींचना प्रारम्भ किया ।। ४० ।।

वैशम्पायन उवाच

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्याश्चिन्तितो हरिः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब वस्त्र खींचा जाने लगा, तब द्रौपदीने भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया ।।

(द्रौपद्युवाच

ज्ञातं मया वसिष्ठेन पुरा गीतं महात्मना ।
महत्यापदि सम्प्राप्ते स्मर्तव्यो भगवान् हरिः ।।

द्रौपदीने मन-ही-मन कहा—मैंने पूर्वकालमें महात्मा वसिष्ठजीकी बतायी हुई इस बातको अच्छी तरह समझा है कि भारी विपत्ति पड़नेपर भगवान् श्रीहरिका स्मरण करना चाहिये।

वैशम्पायन उवाच

गोविन्देति समाभाष्य कृष्णेति च पुनः पुनः ।
मनसा चिन्तयामास देवं नारायणं प्रभुम् ।।
आपत्स्वभयदं कृष्णं लोकानां प्रपितामहम् ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा विचारकर द्रौपदीने बारंबार ‘गोविन्द’ और ‘कृष्ण’ का नाम लेकर पुकारा और आपत्तिकालमें अभय देनेवाले लोकप्रपितामह नारायण-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका मन-ही-मन चिन्तन किया।

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ।। ४१ ।।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव ।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन ।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ।। ४२ ।।

‘हे गोविन्द! हे द्वारकावासी श्रीकृष्ण! हे गोपांगनाओंके प्राणवल्लभ केशव! कौरव मेरा अपमान कर रहे हैं, क्या आप नहीं जानते? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे संकटनाशन जनार्दन! मैं कौरवरूप समुद्रमें डूबी जा रही हूँ, मेरा उद्धार कीजिये ।। ४१-४२ ।।

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ।। ४३ ।।

‘सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! महायोगिन्! विश्वात्मन्! विश्वभावन! गोविन्द! कौरवोंके बीचमें कष्ट पाती हुई मुझ शरणागत अबलाकी रक्षा कीजिये’ ।। ४३ ।।

इत्यनुस्मृत्य कृष्णं सा हरिं त्रिभुवनेश्वरम् ।
प्रारुदद् दुःखिता राजन् मुखमाच्छाद्य भामिनी ।। ४४ ।।

राजन्! इस प्रकार तीनों लोकोंके स्वामी श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका बार-बार चिन्तन करके मानिनी द्रौपदी दुःखी हो अंचलसे मुँह ढककर जोर-जोरसे रोने लगी ।। ४४ ।।

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितोऽभवत् ।
त्यक्त्वा शय्याऽऽसनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाभ्यगात् ।। ४५ ।।
कृष्णं च विष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ।
ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा
समावृणोद् वै विविधैः सुवस्त्रैः ।। ४६ ।।

द्रुपदनन्दिनीकी वह करुण पुकार सुनकर कृपालु श्रीकृष्ण गद्‌गद हो गये तथा शय्या और आसन छोड़कर दयासे द्रवित हो पैदल ही दौड़ पड़े। यज्ञसेनकुमारी कृष्णा अपनी रक्षाके लिये श्रीकृष्ण, विष्णु हरि और नर आदि भगवन्नामोंको जोर-जोरसे पुकार रही थी। इसी समय धर्मस्वरूप महात्मा श्रीकृष्णने अव्यक्तरूपसे उसके वस्त्रमें प्रवेश करके भाँति-भाँतिके सुन्दर वस्त्रोंद्वारा द्रौपदीको आच्छादित कर लिया ।। ४५-४६ ।।

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्यास्तु विशाम्पते ।
तद्रूपमपरं वस्त्रं प्रादुरासीदनेकशः ।। ४७ ।।

जनमेजय! द्रौपदीके वस्त्र खींचे जाते समय उसी तरहके दूसरे-दूसरे अनेक वस्त्र प्रकट होने लगे ।। ४७ ।।

नानारागविरागाणि वसनान्यथ वै प्रभो ।
प्रादुर्भवन्ति शतशो धर्मस्य परिपालनात् ।। ४८ ।।

राजन्! धर्मपालनके प्रभावसे वहाँ भाँति-भाँतिके सैकड़ों रंग-बिरंगे वस्त्र प्रकट होते रहे ।। ४८ ।।

ततो हलहलाशब्दस्तत्रासीद् घोरदर्शनः ।
तदद्भुततमं लोको वीक्ष्य सर्वे महीभृतः ।
शशंसुर्द्रौपदीं तत्र कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ।। ४९ ।।
शशाप तत्र भीमस्तु राजमध्ये बृहत्स्वनः ।
क्रोधाद् विस्फुरमाणौष्ठो विनिष्पिष्य करे करम् ।। ५० ।।

उस समय वहाँ बड़ा भयंकर कोलाहल मच गया। जगत्‌में यह अद्भुत दृश्य देखकर सब राजा द्रौपदीकी प्रशंसा और दुःशासनकी निन्दा करने लगे। उस समय वहाँ समस्त राजाओंके बीच हाथ-पर-हाथ मलते हुए भीमसेनने क्रोधसे फड़कते हुए ओठोंद्वारा भयंकर गर्जनाके साथ यह शाप दिया (प्रतिज्ञा की) ।। ४९-५० ।।

भीम उवाच

इदं मे वाक्यमादध्वं क्षत्रिया लोकवासिनः ।
नोक्तपूर्वं नरैरन्यैर्न चान्यो यद् वदिष्यति ।। ५१ ।।

भीमसेनने कहा—देश-देशान्तरके निवासी क्षत्रियो! आपलोग मेरी इस बातपर ध्यान दें। ऐसी बात आजसे पहले न तो किसीने कही होगी और न दूसरा कोई कहेगा ही ।।

यद्येतदेवमुक्त्वाहं न कुर्यां पृथिवीश्वराः ।
पितामहानां पूर्वेषां नाहं गतिमवाप्नुयाम् ।। ५२ ।।
अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च ।
न पिबेयं बलाद् वक्षो भित्त्वा चेद् रुधिरं युधि ।। ५३ ।।

भूमिपालो! यह खोटी बुद्धिवाला दुःशासन भरतवंशके लिये कलंक है। मैं युद्धमें बलपूर्वक इस पापीकी छाती फाड़कर इसका रक्त पीऊँगा। यदि न पीऊँ अर्थात्—अपनी कही हुई उस बातको पूरा न करूँ, तो मुझे अपने पूर्वज बाप-दादोंकी श्रेष्ठ गति न मिले ।। ५२-५३ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्य ते तद् वचः श्रुत्वा रौद्रं लोमप्रहर्षणम् ।
प्रचक्रुर्बहुलां पूजां कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ।। ५४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमसेनकी यह रोंगटे खड़े कर देनेवाली भयंकर बात सुनकर वहाँ बैठे हुए राजाओंने धृतराष्ट्रपुत्र दुःशासनकी निन्दा करते हुए भीमसेनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ।। ५४ ।।

यदा तु वाससां राशिः सभामध्ये समाचितः ।
ततो दुःशासनः श्रान्तो व्रीडितः समुपाविशत् ।। ५५ ।।

जब सभामें वस्त्रोंका ढेर लग गया, तब दुःशासन थककर लज्जित हो चुपचाप बैठ गया ।। ५५ ।।

धिक्शब्दस्तु ततस्तत्र समभूल्लोमहर्षणः ।
सभ्यानां नरदेवानां दृष्ट्वा कुन्तीसुतांस्तथा ।। ५६ ।।

उस समय कुन्तीपुत्रोंकी ओर देखकर सभामें उपस्थित नरेशोंकी ओरसे दुःशासनपर रोमांचकारी शब्दोंमें धिक्कारकी बौछार होने लगी ।। ५६ ।।

न विब्रुवन्ति कौरव्याः प्रश्नमेतमिति स्म ह ।
स जनः क्रोशति स्मात्र धृतराष्ट्रं विगर्हयन् ।। ५७ ।।

कौरव द्रौपदीके पूर्वोक्त प्रश्नपर स्पष्ट विवेचन नहीं कर रहे थे, अतः वहाँ बैठे हुए लोग राजा धृतराष्ट्रकी निन्दा करते हुए उन्हें कोसने लगे ।। ५७ ।।

ततो बाहू समुच्छ्रित्य निवार्य च सभासदः ।
विदुरः सर्वधर्मज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ।। ५८ ।।

तब सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने अपनी दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर सभासदोंको चुप कराया और इस प्रकार कहा ।।

विदुर उवाच

द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति ह्यनाथवत् ।
न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते ।। ५९ ।।

विदुरजी बोले—इस सभामें पधारे हुए भूपालगण! द्रुपदकुमारी कृष्णा यहाँ अपना प्रश्न उपस्थित करके इस तरह अनाथकी भाँति रो रही है; परंतु आपलोग उसका विवेचन नहीं करते, अतः यहाँ धर्मकी हानि हो रही है ।।

सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट् ।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ।। ६० ।।

संकटमें पड़ा हुआ मनुष्य अग्निकी भाँति चिन्तासे प्रज्वलित हुआ सभाकी शरण लेता है, उस समय सभासदगण धर्म और सत्यका आश्रय लेकर अपने वचनोंद्वारा उसे शान्त करते हैं ।।

धर्मप्रश्नमतो ब्रूयादार्यः सत्येन मानवः ।
विब्रूयुस्तत्र तं प्रश्नं कामक्रोधबलातिगाः ।। ६१ ।।

अतः श्रेष्ठ मनुष्यको उचित है कि वह धर्मानुकूल प्रश्नको सचाईके साथ उपस्थित करे और सभासदोंको चाहिये कि वे काम-क्रोधके वेगसे ऊपर उठकर उस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन करें ।। ६१ ।।

विकर्णेन यथाप्रज्ञमुक्तः प्रश्नो नराधिपाः ।
भवन्तोऽपि हि तं प्रश्नं विब्रुवन्तु यथामति ।। ६२ ।।

द्रौपदी-चीर-हरण

राजाओ! विकर्णने अपनी बुद्धिके अनुसार इस प्रश्नका उत्तर दिया है, अब आपलोग भी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार उस प्रश्नका निर्णय करें ।। ६२ ।।

यो हि प्रश्नं न विब्रूयाद् धर्मदर्शी सभां गतः ।
अनृते या फलावाप्तिस्तस्याः सोऽर्धं समश्नुते ।। ६३ ।।

जो धर्मज्ञ पुरुष सभामें जाकर वहाँ उपस्थित हुए प्रश्नका उत्तर नहीं देता, वह झूठ बोलनेके आधे फलका भागी होता है ।। ६३ ।।

यः पुनर्वितथं ब्रूयाद् धर्मदर्शी सभां गतः ।
अनृतस्य फलं कृत्स्नं सम्प्राप्नोतीति निश्चयः ।। ६४ ।।

इसी प्रकार जो धर्मज्ञ मानव सभामें जाकर किसी प्रश्नपर झूठा निर्णय देता है, वह निश्चय ही असत्यभाषण-का पूरा फल (दण्ड) पाता है ।। ६४ ।।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराङ्गिरसस्य च ।। ६५ ।।

इस विषयमें विज्ञपुरुष प्रह्लाद और अंगिराकुमार मुनि सुधन्वाके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ।। ६५ ।।

प्रह्लादो नाम दैत्येन्द्रस्तस्य पुत्रो विरोचनः ।
कन्याहेतोराङ्गिरसं सुधन्वानमुपाद्रवत् ।। ६६ ।।

दैत्यराज प्रह्लादके एक पुत्र था विरोचन। उसका केशिनी नामवाली एक कन्याकी प्राप्तिके लिये अंगिराके पुत्र सुधन्वाके साथ विवाद हो गया ।। ६६ ।।

अहं ज्यायानहं ज्यायानिति कन्येप्सया तदा ।
तयोर्देवनमत्रासीत् प्राणयोरिति नः श्रुतम् ।। ६७ ।।

दोनों ही उस कन्याको पानेकी इच्छासे 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' ऐसा कहने लगे। मेरे सुननेमें आया है कि उन दोनोंने अपनी बात सत्य करनेके लिये प्राणोंकी बाजी लगा दी ।।

तयोः प्रश्नविवादोऽभूत् प्रह्लादं तावपृच्छताम् ।
ज्यायान् क आवयोरेकः प्रश्नं प्रब्रूहि मा मृषा ।। ६८ ।।

श्रेष्ठताके प्रश्नको लेकर जब उनका विवाद बहुत बढ़ गया, तब उन्होंने दैत्यराज प्रह्लादसे जाकर पूछा—'हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है? आप इस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दीजिये, झूठ न बोलियेगा' ।। ६८ ।।

स वै विवदनाद् भीतः सुधन्वानं विलोकयन् ।
तं सुधन्वाब्रवीत् क्रुद्धो ब्रह्मदण्ड इव ज्वलन् ।। ६९ ।।

प्रह्लाद उस विवादसे भयभीत हो सुधन्वाकी ओर देखने लगे, तब सुधन्वाने प्रज्वलित ब्रह्मदण्डके समान कुपित होकर कहा— ।। ६९ ।।

यदि वै वक्ष्यसि मृषा प्रह्लादाथ न वक्ष्यसि ।
शतधा ते शिरो वज्री वज्रेण प्रहरिष्यति ।। ७० ।।

'प्रह्लाद! यदि तुम इस प्रश्नके उत्तरमें झूठ बोलोगे अथवा मौन रह जाओगे तो वज्रधारी इन्द्र अपने वज्रद्वारा तुम्हारे सिरके सैकड़ों टुकड़े कर देगा' ।। ७० ।।

सुधन्वना तथोक्तः सन् व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत् ।
जगाम कश्यपं दैत्यः परिप्रष्टुं महौजसम् ।। ७१ ।।

सुधन्वाके ऐसा कहनेपर प्रह्लाद व्यथित हो पीपलके पत्तेकी तरह काँपने लगे और इसके विषयमें कुछ पूछनेके लिये वे महातेजस्वी कश्यपजीके पास गये ।। ७१ ।।

प्रह्लाद उवाच

त्वं वै धर्मस्य विज्ञाता दैवस्येहासुरस्य च ।
ब्राह्मणस्य महाभाग धर्मकृच्छ्रमिदं शृणु ।। ७२ ।।

प्रह्लाद बोले—महाभाग! आप देवताओं, असुरों तथा ब्राह्मणके भी धर्मको जानते हैं। मुझपर एक धर्मसंकट उपस्थित हुआ है, उसे सुनिये ।। ७२ ।।

यो वै प्रश्नं न विब्रूयाद् वितथं चैव निर्दिशेत् ।
के वै तस्य परे लोकास्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।। ७३ ।।

मैं पूछता हूँ कि जो प्रश्नका उत्तर ही न दे अथवा असत्य उत्तर दे दे, उसे परलोकमें कौन-से लोक प्राप्त होते हैं? यह मुझे बताइये ।। ७३ ।।

कश्यप उवाच

जानन्नविब्रुवन् प्रश्नान् कामात् क्रोधाद् भयात् तथा ।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ।। ७४ ।।

कश्यपजीने कहा—जो जानते हुए भी काम, क्रोध तथा भयसे प्रश्नोंका उत्तर नहीं देता, वह अपने ऊपर वरुणदेवताके सहस्रों पाश डाल लेता है ।। ७४ ।।

साक्षी वा विब्रुवन् साक्ष्यं गोकर्णशिथिलश्चरन् ।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ।। ७५ ।।

जो गवाह गाय-बैलके ढीले-ढाले कानोंकी तरह शिथिल हो दोनों पक्षोंसे सम्बन्ध बनाये रखकर गवाही नहीं देता, वह भी अपनेको वरुणदेवताके सहस्रों पाशोंसे बाँध लेता है ।। ७५ ।।

तस्य संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते ।
तस्मात् सत्यं तु वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ।। ७६ ।।

एक वर्ष पूरा होनेपर उसका एक पाश खुलता है, अतः सच्ची बात जाननेवाले पुरुषको यथार्थरूपसे सत्य ही बोलना चाहिये ।। ७६ ।।

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते ।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ।। ७७ ।।

जहाँ धर्म अधर्मसे विद्ध होकर सभामें उपस्थित होता है, उसके काँटेको उससे बिंधे हुए सभासदलोग नहीं काट पाते (अर्थात् उनको पापका फल भोगना ही पड़ता है) ।।

अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु ।

पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ।। ७८ ।।

सभामें जो अधर्म होता है, उसका आधा भाग स्वयं सभापति ले लेता है, एक चौथाई भाग करनेवालोंको मिलता है और एक चतुर्थांश उन सभासदोंको प्राप्त होता है जो निन्दनीय पुरुषकी निन्दा नहीं करते ।। ७८ ।।

अनेना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः ।

एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ।। ७९ ।।

जिस सभामें निन्दाके योग्य मनुष्यकी निन्दा की जाती है, वहाँ सभापति निष्पाप हो जाता है, सभासद भी पापसे मुक्त हो जाते हैं और सारा पाप करनेवालेको ही लगता है ।।

वितथं तु वदेयुर्ये धर्मं प्रह्लाद पृच्छते ।

इष्टापूर्तं च ते घ्नन्ति सप्त सप्त परावरान् ।। ८० ।।

प्रह्लाद! जो लोग धर्मविषयक प्रश्न पूछनेवालेको झूठा उत्तर देते हैं, वे अपने इष्टापूर्त धर्मका नाश तो करते ही हैं आगे-पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंके भी पुण्योंका वे हनन करते हैं ।। ८० ।।

हृतस्वस्य हि यद् दुःखं हतपुत्रस्य चैव यत् ।

ऋणिनः प्रति यच्चैव स्वार्थाद् भ्रष्टस्य चैव यत् ।। ८१ ।।

स्त्रियाः पत्या विहीनाया राज्ञा ग्रस्तस्य चैव यत् ।

अपुत्रायाश्च यद् दुःखं व्याघ्राघ्रातस्य चैव यत् ।। ८२ ।।

अध्यूढायाश्च यद् दुःखं साक्षिभिर्विहतस्य च ।

एतानि वै समान्याहुर्दुःखानि त्रिदिवेश्वराः ।। ८३ ।।

जिसका सर्वस्व छीन लिया गया हो, उसे जो दुःख होता है, जिसका पुत्र मर गया हो, उसे जो शोक होता है, ऋणग्रस्त और स्वार्थसे वंचित मनुष्यको जो क्लेश होता है, पतिसे विहीन होनेपर स्त्रीको तथा राजाके कोपभाजन मनुष्यको जो कष्ट उठाना पड़ता है, पुत्रहीना नारीको जो संताप होता है, शेरके चंगुलमें फँसे हुए प्राणीको जो व्याकुलता होती है, सौतवाली स्त्रीको जो दुःख होता है, साक्षियोंने जिसे धोखा दिया हो, उस मनुष्यको जो महान् क्लेश होता है—इन सभी प्रकारके दुःखोंको देवताओंने समान बतलाया है ।। ८१—८३ ।।

तानि सर्वाणि दुःखानि प्राप्नोति वितथं ब्रुवन् ।

समक्षदर्शनात् साक्षी श्रवणाच्चेति धारणात् ।। ८४ ।।

तस्मात् सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।

झूठ बोलनेवाला मनुष्य उन सभी दुःखोंका भागी होता है। समक्ष दर्शन, श्रवण और धारणसे साक्षी संज्ञा होती है, अतः सत्य बोलनेवाला साक्षी कभी धर्म और अर्थसे वंचित नहीं होता ।। ८४½ ।।

कश्यपस्य वचः श्रुत्वा प्रह्लादः पुत्रमब्रवीत् ।। ८५ ।।

कश्यपजीकी यह बात सुनकर प्रह्लादने अपने पुत्रसे कहा— ।। ८५ ।।

श्रेयान् सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाङ्गिराः ।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव ।
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव ।। ८६ ।।

'विरोचन! सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है, उसके पिता अंगिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं और सुधन्वाकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ है। अब यह सुधन्वा ही तुम्हारे प्राणोंका स्वामी है' ।। ८६ ।।

सुधन्वोवाच

पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः ।
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः ।। ८७ ।।

सुधन्वाने कहा—दैत्यराज! तुम पुत्रस्नेहकी परवा न करके जो धर्मपर डटे रह गये, इससे प्रसन्न होकर मैं तुम्हारे पुत्रको यह आज्ञा देता हूँ कि यह सौ वर्षोंतक जीवित रहे ।।

विदुर उवाच

एवं वै परमं धर्मं श्रुत्वा सर्वे सभासदः ।
यथाप्रश्नं तु कृष्णाया मन्यध्वं तत्र किं परम् ।। ८८ ।।

विदुरजी कहते हैं—सभासदो! इस प्रकार इस उत्तम धर्ममय प्रसंगको सुनकर आप सब लोग द्रौपदीके प्रश्नके अनुसार यह बतावें कि उसके सम्बन्धमें आपकी क्या मान्यता है? ।। ८८ ।।

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा नोचुः किंचन पार्थिवाः ।
कर्णो दुःशासनं त्वाह कृष्णां दासीं गृहान् नय ।। ८९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विदुरकी यह बात सुनकर भी सब राजालोग कुछ न बोले। उस समय कर्णने दुःशासनसे कहा—'इस दासी द्रौपदीको अपने घर ले जाओ' ।। ८९ ।।

तां वेपमानां सव्रीडां प्रलपन्तीं स्म पाण्डवान् ।
दुःशासनः सभामध्ये विचकर्ष तपस्विनीम् ।। ९० ।।

द्रौपदी लज्जामें डूबी हुई थर-थर काँपती और पाण्डवोंको पुकारती थी। उस दशामें दुःशासनने उस भरी सभाके बीच उस बेचारी दुःखिया तपस्विनीको घसीटना आरम्भ

किया ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपद्याकर्षणेऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ।। ६८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें ‘द्रौपदीको भरी सभामें खींचना’ इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ९४½ श्लोक हैं)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

द्रौपदीका चेतावनीयुक्त विलाप एवं भीष्मका वचन

द्रौपद्युवाच

पुरस्तात् करणीयं मे न कृतं कार्यमुत्तरम् ।
विह्वलास्मि कृतानेन कर्षता बलिना बलात् ।। १ ।।

द्रौपदी बोली—हाय! मेरा जो कार्य सबसे पहले करनेका था, वह अभीतक नहीं हुआ। मुझे अब वह कार्य कर लेना चाहिये। इस बलवान् दुरात्मा दुःशासनने मुझे बलपूर्वक घसीटकर व्याकुल कर दिया है ।। १ ।।

अभिवादं करोम्येषां कुरूणां कुरुसंसदि ।
न मे स्यादपराधोऽयं यदिदं न कृतं मया ।। २ ।।

कौरवोंकी सभामें मैं समस्त कुरुवंशी महात्माओंको प्रणाम करती हूँ। मैंने घबराहटके कारण पहले प्रणाम नहीं किया; अतः यह मेरा अपराध न माना जाय ।। २ ।।

वैशम्पायन उवाच

सा तेन च समाधूता दुःखेन च तपस्विनी ।
पतिता विललापेदं सभायामतथोचिता ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुशासनके बार-बार खींचनेसे तपस्विनी द्रौपदी पृथ्वीपर गिर पड़ी और उस सभामें अत्यन्त दुःखित हो विलाप करने लगी। वह जिस दुरवस्थामें पड़ी थी, उसके योग्य कदापि न थी ।। ३ ।।

द्रौपद्युवाच

स्वयंवरे यास्मि नृपैर्दृष्टा रङ्गे समागतैः ।
न दृष्टपूर्वा चान्यत्र साहमद्य सभां गता ।। ४ ।।

द्रौपदीने कहा—हा! मैं स्वयंवरके समय सभामें आयी थी और उस समय रंगभूमिमें पधारे हुए राजाओंने मुझे देखा था। उसके सिवा, अन्य अवसरोंपर कहीं भी आजसे पहले किसीने मुझे नहीं देखा। वही मैं आज सभामें बलपूर्वक लायी गयी हूँ ।। ४ ।।

यां न वायुर्न चादित्यो दृष्टवन्तौ पुरा गृहे ।
साहमद्य सभामध्ये दृश्यास्मि जनसंसदि ।। ५ ।।

पहले राजभवनमें रहते हुए जिसे वायु तथा सूर्य भी नहीं देख पाते थे, वही मैं आज इस सभाके भीतर महान् जनसमुदायमें आकर सबके नेत्रोंकी लक्ष्य बन गयी हूँ ।।

यां न मृष्यन्ति वातेन स्पृश्यमानां गृहे पुरा ।
स्पृश्यमानां सहन्तेऽद्य पाण्डवास्तां दुरात्मना ।। ६ ।।

पहले अपने महलमें रहते समय जिसका वायुद्वारा स्पर्श भी पाण्डवोंको सहन नहीं होता था, उसी मुझ द्रौपदीका यह दुरात्मा दुःशासन भरी सभामें स्पर्श कर रहा है, तो भी आज ये पाण्डुकुमार सह रहे हैं ।। ६ ।।

मृष्यन्ति कुरवश्चेमे मन्ये कालस्य पर्ययम् ।
स्नुषां दुहितरं चैव क्लिश्यमानामनर्हतीम् ।। ७ ।।

मैं कुरुकुलकी पुत्रवधू एवं पुत्रीतुल्य हूँ। सताये जानेके योग्य नहीं हूँ, फिर भी मुझे यह दारुण क्लेश दिया जा रहा है और ये समस्त कुरुवंशी इसे सहन करते हैं। मैं समझती हूँ, बड़ा विपरीत समय आ गया है ।। ७ ।।

किं न्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री सती शुभा ।
सभामध्यं विगाहेऽद्य क्व नु धर्मो महीक्षिताम् ।। ८ ।।

इससे बढ़कर दयनीय दशा और क्या हो सकती है कि मुझ-जैसी शुभकर्मपरायणा सती-साध्वी स्त्री भरी सभामें विवश करके लायी गयी है। आज राजाओंका धर्म कहाँ चला गया? ।। ८ ।।

धर्म्यां स्त्रियं सभां पूर्वे न नयन्तीति नः श्रुतम् ।
स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः ।। ९ ।।

मैंने सुना है, पहले लोग धर्मपरायणा स्त्रीको कभी सभामें नहीं लाते थे, किंतु इन कौरवोंके समाजमें वह प्राचीन सनातनधर्म नष्ट हो गया है ।। ९ ।।

कथं हि भार्या पाण्डूनां पार्षतस्य स्वसा सती ।
वासुदेवस्य च सखी पार्थिवानां सभामियाम् ।। १० ।।

अन्यथा मैं पाण्डवोंकी पत्नी, धृष्टद्युम्नकी सुशीला बहन और भगवान् श्रीकृष्णकी सखी होकर राजाओंकी इस सभामें कैसे लायी जा सकती थी? ।। १० ।।

तामिमां धर्मराजस्य भार्यां सदृशवर्णजाम् ।
ब्रूत दासीमदासीं वा तत् करिष्यामि कौरवाः ।। ११ ।।

कौरवो! मैं धर्मराज युधिष्ठिरकी धर्मपत्नी तथा उनके समान वर्णकी कन्या हूँ। आपलोग बतावें, मैं दासी हूँ या अदासी? आप जैसा कहेंगे मैं वैसा ही करूँगी ।। ११ ।।

अयं मां सुदृढं क्षुद्रः कौरवाणां यशोहरः ।
क्लिश्नाति नाहं तत् सोढुं चिरं शक्ष्यामि कौरवाः ।। १२ ।।

कुरुवंशी क्षत्रियो! यह कुरुकुलकी कीर्तिमें कलंक लगानेवाला नीच दुःशासन मुझे बहुत कष्ट दे रहा है। मैं इस क्लेशको देरतक नहीं सह सकूँगी ।। १२ ।।

जितां वाप्यजितां वापि मन्यध्वं मां यथा नृपाः ।
तथा प्रत्युक्तमिच्छामि तत् करिष्यामि कौरवाः ।। १३ ।।

कुरुवंशियो! आप क्या मानते हैं? मैं जीती गयी हूँ या नहीं। मैं आपके मुँहसे इसका ठीक-ठीक उत्तर सुनना चाहती हूँ। फिर उसीके अनुसार कार्य करूँगी ।। १३ ।।

भीष्म उवाच

उक्तवानस्मि कल्याणि धर्मस्य परमा गतिः ।
लोके न शक्यते ज्ञातुमपि विज्ञैर्महात्मभिः ।। १४ ।।

भीष्मजीने कहा—कल्याणि! मैं पहले ही कह चुका हूँ कि धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है। लोकमें विज्ञ महात्मा भी उसे ठीक-ठीक नहीं जान सकते ।। १४ ।।

बलवांश्च यथा धर्मं लोके पश्यति पूरुषः ।
स धर्मो धर्मवेलायां भवत्यभिहतः परः ।। १५ ।।

संसारमें बलवान् मनुष्य जिसको धर्म समझता है, धर्मविचारके समय लोग उसीको धर्म मान लेते हैं और बलहीन पुरुष जो धर्म बतलाता है, वह बलवान् पुरुषके बताये धर्मसे दब जाता है (अतः इस समय कर्ण और दुर्योधनका बताया हुआ धर्म ही सर्वोपरि हो रहा है।) ।।

न विवेक्तुं च ते प्रश्नमिमं शक्नोमि निश्चयात् ।
सूक्ष्मत्वाद् गहनत्वाच्च कार्यस्यास्य च गौरवात् ।। १६ ।।

मैं तो धर्मका स्वरूप सूक्ष्म और गहन होनेके कारण तथा इस धर्मनिर्णयके कार्यके अत्यन्त गुरुतर होनेसे तुम्हारे इस प्रश्नका निश्चितरूपसे यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता ।।

नूनमन्तः कुलस्यायं भविता नचिरादिव ।
तथा हि कुरवः सर्वे लोभमोहपरायणाः ।। १७ ।।

अवश्य ही बहुत शीघ्र इस कुलका नाश होनेवाला है; क्योंकि समस्त कौरव लोभ और मोहके वशीभूत हो गये हैं ।। १७ ।।

कुलेषु जाताः कल्याणि व्यसनैराहता भृशम् ।
धर्म्यान्मार्गान्न च्यवन्ते येषां नस्त्वं वधूः स्थिता ।। १८ ।।

कल्याणि! तुम जिनकी पत्नी हो, वे पाण्डव हमारे उत्तम कुलमें उत्पन्न हैं और भारी-से-भारी संकटमें पड़कर भी धर्मके मार्गसे विचलित नहीं होते हैं ।। १८ ।।

उपपन्नं च पाञ्चालि तवेदं वृत्तमीदृशम् ।
यत् कृच्छ्रमपि सम्प्राप्ता धर्ममेवान्ववेक्षसे ।। १९ ।।

पांचालराजकुमारी! तुम्हारा यह आचार-व्यवहार तुम्हारे योग्य ही है; क्योंकि भारी संकटमें पड़कर भी तुम धर्मकी ओर ही देख रही हो ।। १९ ।।

एते द्रोणादयश्चैव वृद्धा धर्मविदो जनाः ।
शून्यैः शरीरैस्तिष्ठन्ति गतासव इवानताः ।। २० ।।
युधिष्ठिरस्तु प्रश्नेऽस्मिन् प्रमाणमिति मे मतिः ।
अजितां वा जितां वेति स्वयं व्याहर्तुमर्हति ।। २१ ।।

ये द्रोणाचार्य आदि वृद्ध एवं धर्मज्ञ पुरुष भी सिर लटकाये शून्य शरीरसे इस प्रकार बैठे हैं; मानो निष्प्राण हो गये हों। मेरी राय यह है कि इस प्रश्नका निर्णय करनेके लिये धर्मराज

युधिष्ठिर ही सबसे प्रामाणिक व्यक्ति हैं। तुम जीती गयी हो या नहीं? यह बात स्वयं इन्हें बतलानी चाहिये ।। २०-२१ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीष्मवाक्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ।। ६९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीष्मवाक्यविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६९ ।।

सप्ततितमोऽध्यायः

दुर्योधनके छल-कपटयुक्त वचन और भीमसेनका रोषपूर्ण उद्‌गार

वैशम्पायन उवाच

तथा तु दृष्ट्वा बहु तत्र देवीं
रोरूयमाणां कुररीमिवार्ताम् ।
नोचुर्वचः साध्वथ वाप्यसाधु
महीक्षितो धार्तराष्ट्रस्य भीताः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महारानी द्रौपदीको वहाँ आर्त होकर कुररीकी भाँति बहुत विलाप करती देखकर भी सभामें बैठे हुए राजालोग दुर्योधनके भयसे भला या बुरा कुछ भी नहीं कह सके ।। १ ।।

दृष्ट्वा तथा पार्थिवपुत्रपौत्रां-
स्तूष्णींभूतान् धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।
स्मयन्निवेदं वचनं बभाषे
पाञ्चालराजस्य सुतां तदानीम् ।। २ ।।

राजाओंके बेटों और पोतोंको मौन देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने उस समय मुसकराते हुए पांचालराजकुमारी द्रौपदीसे यह बात कही ।। २ ।।

दुर्योधन उवाच

तिष्ठत्वयं प्रश्न उदारसत्त्वे
भीमेऽर्जुने सहदेवे तथैव ।
पत्यौ च ते नकुले याज्ञसेनि
वदन्त्वेते वचनं त्वत्प्रसूतम् ।। ३ ।।

दुर्योधन बोला—द्रौपदी! तुम्हारा यह प्रश्न तुम्हारे ही पति महाबली भीम, अर्जुन, सहदेव और नकुलपर छोड़ दिया जाता है। ये ही तुम्हारी पूछी हुई बातका उत्तर दें ।।

अनीश्वरं विब्रुवन्त्वार्यमध्ये
युधिष्ठिरं तव पाञ्चालि हेतोः ।
कुर्वन्तु सर्वे चानृतं धर्मराजं
पाञ्चालि त्वं मोक्ष्यसे दासभावात् ।। ४ ।।

पांचालि! इन श्रेष्ठ राजाओंके बीच ये लोग यह स्पष्ट कह दें कि युधिष्ठिरको तुम्हें दाँवपर रखनेका कोई अधिकार नहीं था। सभी पाण्डव मिलकर धर्मराज युधिष्ठिरको झूठा

ठहरा दें। फिर पांचालि! तुम दास्यभावसे मुक्त कर दी जाओगी ।। ४ ।।

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा
स्वयं चेदं कथयत्विन्द्रकल्पः ।
ईशो वा ते ह्यनीशोऽथ वैष
वाक्यादस्य क्षिप्रमेकं भजस्व ।। ५ ।।

ये धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिर इन्द्रके समान तेजस्वी तथा सदा धर्ममें स्थित रहनेवाले हैं। तुमको दाँवपर रखनेका इन्हें अधिकार था या नहीं? ये स्वयं ही कह दें; फिर इन्हींके कथनानुसार तुम शीघ्र दासीपन या अदासीपन किसी एकका आश्रय लो ।। ५ ।।

सर्वे हीमे कौरवेयाः सभायां
दुःखान्तरे वर्तमानास्तवैव ।
न विब्रुवन्त्यार्यसत्त्वा यथावत्
पतींश्च ते समवेक्ष्याल्पभाग्यान् ।। ६ ।।

द्रौपदी! ये सभी उत्तम स्वभाववाले कुरुवंशी इस सभामें तुम्हारे लिये ही दुःखी हैं और तुम्हारे मन्दभाग्य पतियोंको देखकर तुम्हारे प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे पाते हैं ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः सभ्याः कुरुराजस्य तस्य
वाक्यं सर्वे प्रशशंसुस्तथोच्चैः ।
चेलावेधांश्चापि चक्रुर्नदन्तो
हाहेत्यासीदपि चैवार्तनादः ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर एक ओर सभी सभासदोंने कुरुराज दुर्योधनके उस कथनकी उच्च स्वरसे भूरि-भूरि प्रशंसा की और गर्जना करते हुए वे वस्त्र हिलाने लगे तथा वहीं दूसरी ओर हाहाकार और आर्तनाद होने लगा ।। ७ ।।

श्रुत्वा तु वाक्यं सुमनोहरं त-
द्धर्षश्चासीत् कौरवाणां सभायाम् ।
सर्वे चासन् पार्थिवाः प्रीतिमन्तः
कुरुश्रेष्ठं धार्मिकं पूजयन्तः ।। ८ ।।

दुर्योधनका वह मनोहर वचन सुनकर उस समय सभामें कौरवोंको बड़ा हर्ष हुआ। अन्य सब राजा भी बड़े प्रसन्न हुए तथा दुर्योधनको कौरवोंमें श्रेष्ठ और धार्मिक कहते हुए उसका आदर करने लगे ।। ८ ।।

युधिष्ठिरं च ते सर्वे समुदैक्षन्त पार्थिवाः ।
किं नु वक्ष्यति धर्मज्ञ इति साचीकृताननाः ।। ९ ।।

फिर वे सब नरेश मुँह घुमाकर राजा युधिष्ठिरकी ओर इस आशासे देखने लगे कि देखें, ये धर्मज्ञ पाण्डुकुमार क्या कहते हैं? ।। ९ ।।

किं नु वक्ष्यति बीभत्सुरजितो युधि पाण्डवः ।
भीमसेनो यमौ चोभौ भृशं कौतूहलान्विताः ।। १० ।।

युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुन किस प्रकार अपना मत व्यक्त करते हैं? भीमसेन, नकुल तथा सहदेव भी क्या कहते हैं? इसके लिये उन राजाओंके मनमें बड़ी उत्कण्ठा थी ।। १० ।।

तस्मिन्नुपरते शब्दे भीमसेनोऽब्रवीदिदम् ।
प्रगृह्य रुचिरं दिव्यं भुजं चन्दनचर्चितम् ।। ११ ।।

वह कोलाहल शान्त होनेपर भीमसेन अपनी चन्दनचर्चित सुन्दर दिव्य भुजा उठाकर इस प्रकार बोले ।। ११ ।।

भीमसेन उवाच

यद्येष गुरुरस्माकं धर्मराजो महामनाः ।
न प्रभुः स्यात् कुलस्यास्य न वयं मर्षयेमहि ।। १२ ।।

भीमसेनने कहा—यदि ये महामना धर्मराज युधिष्ठिर हमारे पितृतुल्य तथा इस पाण्डुकुलके स्वामी न होते तो हम कौरवोंका यह अत्याचार कदापि सहन नहीं करते ।।

ईशो नः पुण्यतपसां प्राणानामपि चेश्वरः ।
मन्यतेऽजितमात्मानं यद्येष विजिता वयम् ।। १३ ।।
न हि मुच्येत मे जीवन् पदा भूमिमुपस्पृशन् ।
मर्त्यधर्मा परामृश्य पाञ्चाल्या मूर्धजानिमान् ।। १४ ।।
पश्यध्वं ह्यायतौ वृत्तौ भुजौ मे परिघाविव ।
नैतयोरन्तरं प्राप्य मुच्येतापि शतक्रतुः ।। १५ ।।

ये हमारे पुण्य, तप और प्राणोंके भी प्रभु हैं। यदि ये द्रौपदीको दाँवपर लगानेसे पूर्व अपनेको हारा हुआ नहीं मानते हैं तो हम सब लोग इनके द्वारा दाँवपर रखे जानेके कारण हारे जा चुके हैं। यदि मैं हारा गया न होता तो अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श करनेवाला कोई भी मरणधर्मा मनुष्य द्रौपदीके इन केशोंको छू लेनेपर मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकता था। राजाओ! परिघके समान मोटी और गोलाकार मेरी इन विशाल भुजाओंकी ओर तो देखो। इनके बीचमें आकर इन्द्र भी जीवित नहीं बच सकता ।। १३—१५ ।।

धर्मपाशसितस्त्वेवं नाधिगच्छामि संकटम् ।
गौरवेण विरुद्धश्च निग्रहादर्जुनस्य च ।। १६ ।।

मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हूँ, बड़े भाईके गौरवने मुझे रोक रखा है और अर्जुन भी मना कर रहा है, इसीलिये मैं इस संकटसे पार नहीं हो पाता ।। १६ ।।

धर्मराजनिसृष्टस्तु सिंहः क्षुद्रमृगानिव ।
धार्तराष्ट्रानिमान् पापान् निष्पिषेयं तलासिभिः ।। १७ ।।

यदि धर्मराज मुझे आज्ञा दे दें तो जैसे सिंह छोटे मृगोंको दबोच लेता है, उसी प्रकार मैं धृतराष्ट्रके इन पापी पुत्रोंको तलवारकी जगह हाथोंके तलवोंसे ही मसल डालूँ ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च ।
क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं सम्भाव्यते त्वयि ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तब भीष्म, द्रोण और विदुरने भीमसेनको शान्त करते हुए कहा—‘भीम! क्षमा करो, तुम सब कुछ कर सकते हो’ ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ।। ७० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीमवाक्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७० ।।

एकसप्ततितमोऽध्यायः

कर्ण और दुर्योधनके वचन, भीमसेनकी प्रतिज्ञा, विदुरकी चेतावनी और द्रौपदीको धृतराष्ट्रसे वरप्राप्ति

कर्ण उवाच

त्रयः किलेमे ह्यधना भवन्ति
दासः पुत्रश्चास्वतन्त्रा च नारी ।
दासस्य पत्नी त्वधनस्य भद्रे
हीनेश्वरा दासधनं च सर्वम् ।। १ ।।

कर्ण बोला—भद्रे द्रौपदी! दास, पुत्र और सदा पराधीन रहनेवाली स्त्री—ये तीनों धनके स्वामी नहीं होते। जिसका पति अपने ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो गया है, ऐसी निर्धन दासकी पत्नी और दासका सारा धन—इन सबपर उस दासके स्वामीका ही अधिकार होता है ।। १ ।।

प्रविश्य राज्ञः परिवारं भजस्व
तत् ते कार्यं शिष्टमादिश्यतेऽत्र ।
ईशास्तु सर्वे तव राजपुत्रि
भवन्ति वै धार्तराष्ट्रा न पार्थाः ।। २ ।।

राजकुमारी! अतः अब तुम राजा दुर्योधनके परिवारमें जाकर सबकी सेवा करो। यही कार्य तुम्हारे लिये शेष बचा है, जिसके लिये तुम्हें यहाँ आदेश दिया जा रहा है। आजसे धृतराष्ट्रके समस्त पुत्र ही तुम्हारे स्वामी हैं, कुन्तीके पुत्र नहीं ।। २ ।।

अन्यं वृणीष्व पतिमाशु भाविनि
यस्माद् दास्यं न लभसि देवनेन ।
अवाच्या वै पतिषु कामवृत्ति-
र्नित्यं दास्ये विदितं तत् तवास्तु ।। ३ ।।

सुन्दरी। अब तुम शीघ्र ही दूसरा पति चुन लो, जिससे द्यूतक्रीड़ाके द्वारा तुम्हें फिर किसीकी दासी न बनना पड़े। पतियोंके प्रति इच्छानुसार बर्ताव तुम-जैसी स्त्रीके लिये निन्दनीय नहीं है। दासीपनमें तो स्त्रीकी स्वेच्छाचारिता प्रसिद्ध है ही, अतः यह दास्यभाव ही तुम्हें प्राप्त हो ।। ३ ।।

पराजितो नकुलो भीमसेनो
युधिष्ठिरः सहदेवार्जुनौ च ।
दासीभूता त्वं हि वै याज्ञसेनि

पराजितास्ते पतयो नैव सन्ति ।। ४ ।।

यज्ञसेनकुमारी! नकुल हार गये, भीमसेन, युधिष्ठिर, सहदेव तथा अर्जुन भी पराजित होकर दास बन गये। अब तुम दासी हो चुकी हो। वे हारे हुए पाण्डव अब तुम्हारे पति नहीं हैं ।। ४ ।।

प्रयोजनं जन्मनि किं न मन्यते
पराक्रमं पौरुषं चैव पार्थः ।
पाञ्चाल्यस्य द्रुपदस्यात्मजामिमां
सभामध्ये यो व्यदेवीद् ग्लहेषु ।। ५ ।।

क्या कुन्तीकुमार युधिष्ठिर इस जीवनमें पराक्रम और पुरुषार्थकी आवश्यकता नहीं समझते, जिन्होंने सभामें इस द्रुपदराजकुमारी कृष्णाको दाँवपर लगाकर जूएका खेल किया? ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी
भृशं निशश्वास तदाऽऽर्तरूपः ।
राजानुगो धर्मपाशानुबद्धो
दहन्निवैनं क्रोधसंरक्तदृष्टिः ।। ६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णकी वह बात सुनकर अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए भीमसेन बड़ी वेदनाका अनुभव करते हुए उस समय जोर-जोरसे उच्छ्वास लेने लगे। वे राजा युधिष्ठिरके अनुगामी होकर धर्मके पाशमें बँधे हुए थे। क्रोधसे उनके नेत्र रक्तवर्ण हो रहे थे। वे युधिष्ठिरको दग्ध करते हुए-से बोले ।। ६ ।।

भीम उवाच

नाहं कुप्ये सूतपुत्रस्य राज-
न्नेष सत्यं दासधर्मः प्रदिष्टः ।
किं विद्विषो वै मामेवं व्याहरेयु-
र्नादेवीस्त्वं यद्यनया नरेन्द्र ।। ७ ।।

भीमसेनने कहा—राजन्! मुझे सूतपुत्र कर्णपर क्रोध नहीं आता। सचमुच ही दासधर्म वही है, जो उसने बताया है। महाराज! यदि आप इस द्रौपदीको दाँवपर लगाकर जूआ न खेलते तो क्या ये शत्रु हमलोगोंसे ऐसी बातें कह सकते थे? ।। ७ ।।

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं तूष्णीम्भूतमचेतनम् ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीमसेनका यह कथन सुनकर उस समय राजा दुर्योधनने मौन एवं अचेतकी-सी दशामें बैठे हुए युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा— ।। ८ ।।

भीमार्जुनौ यमौ चैव स्थितौ ते नृप शासने ।
प्रश्नं ब्रूहि च कृष्णां त्वमजितां यदि मन्यसे ।। ९ ।।

'नरेश! भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव आपकी आज्ञाके अधीन हैं। आप ही द्रौपदीके प्रश्नपर कुछ बोलिये। क्या आप कृष्णाको हारी हुई नहीं मानते हैं?' ।। ९ ।।

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयमपोह्य वसनं स्वकम् ।
स्मयन्नवेक्ष्य पाञ्चालीमैश्वर्यमदमोहितः ।। १० ।।
कदलीस्तम्भसदृशं सर्वलक्षणसंयुतम् ।
गजहस्तप्रतीकाशं वज्रप्रतिमगौरवम् ।। ११ ।।
अभ्युत्स्मयित्वा राधेयं भीममाधर्षयन्निव ।
द्रौपद्याः प्रेक्षमाणायाः सव्यमूरुमदर्शयत् ।। १२ ।।

कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर ऐश्वर्यमदसे मोहित हुए दुर्योधनने इशारेसे राधानन्दन कर्णको बढ़ावा देते और भीमसेनका तिरस्कार-सा करते हुए अपनी जाँघका वस्त्र हटाकर द्रौपदीकी ओर मुसकराते हुए देखा। उसने केलेके खंभेके समान मोटी, समस्त लक्षणोंसे सुशोभित, हाथीकी सूँडके सदृश चढ़ाव-उतारवाली और वज्रके समान कठोर अपनी बायीं जाँघ द्रौपदीकी दृष्टिके सामने करके दिखायी ।। १०—१२ ।।

भीमसेनस्तमालोक्य नेत्रे उत्फाल्य लोहिते ।
प्रोवाच राजमध्ये तं सभां विश्रावयन्निव ।। १३ ।।

उसे देखकर भीमसेनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वे आँखें फाड़-फाड़कर देखते और सारी सभाको सुनाते हुए-से राजाओंके बीचमें बोले— ।। १३ ।।

पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद् वृकोदरः ।
यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे ।। १४ ।।

'दुर्योधन! यदि महासमरमें तेरी इस जाँघको मैं अपनी गदासे न तोड़ डालूँ तो मुझ भीमसेनको अपने पूर्वजोंके साथ उन्हींके समान पुण्यलोकोंकी प्राप्ति न हो' ।। १४ ।।

क्रुद्धस्य तस्य सर्वेभ्यः स्रोतोभ्यः पावकार्चिषः ।
वृक्षस्येव विनिश्चेरुः कोटरेभ्यः प्रदह्यतः ।। १५ ।।

उस समय क्रोधमें भरे हुए भीमसेनके रोम-रोमसे आगकी चिनगारियाँ निकल रही थीं; ठीक उसी तरह, जैसे जलते हुए वृक्षके कोटरोंसे आगकी लपटें निकलती दिखायी देती हैं ।। १५ ।।

विदुर उवाच

परं भयं पश्यत भीमसेनात्

तद् बुध्यध्वं धृतराष्ट्रस्य पुत्राः ।
दैवेरितो नूनमयं पुरस्तात्
परोऽनयो भरतेषूदपादि ।। १६ ।।

विदुरजीने कहा—धृतराष्ट्रके पुत्रो! देखो, भीमसेनसे यह बड़ा भारी भय उपस्थित हो गया है। इसपर ध्यान दो। निश्चय ही प्रारब्धकी प्रेरणासे ही भरतवंशियोंके समक्ष यह महान् अन्याय उत्पन्न हुआ है ।। १६ ।।

अतिद्यूतं कृतमिदं धार्तराष्ट्रा
यस्मात् स्त्रियं विवदध्वं सभायाम् ।
योगक्षेमौ नश्यतो वः समग्रौ
पापान् मन्त्रान् कुरवो मन्त्रयन्ति ।। १७ ।।

धृतराष्ट्रके पुत्रो! तुमलोगोंने मर्यादाका उल्लंघन करके यह जूएका खेल किया है। तभी तो तुम भरी सभामें स्त्रीको लाकर उसके लिये विवाद कर रहे हो। तुम्हारे योग और क्षेम दोनों पूर्णतया नष्ट हो रहे हैं। आज सब लोगोंको मालूम हो गया कि कौरव पापपूर्ण मन्त्रणा ही करते हैं ।। १७ ।।

इमं धर्मं कुरवो जानताशु
ध्वस्ते धर्मे परिषत् सम्प्रदुष्येत् ।
इमां चेत् पूर्वं कितवोऽग्लहिष्य-
दीशोऽभविष्यदपराजितात्मा ।। १८ ।।

कौरवो! तुम धर्मकी इस महत्ताको शीघ्र ही समझ लो; क्योंकि धर्मका नाश होनेपर सारी सभाको दोष लगता है। यदि जूआ खेलनेवाले राजा युधिष्ठिर अपने शरीरको हारे बिना पहले ही इस द्रौपदीको दाँवपर लगाते तो वे ऐसा करनेके अधिकारी हो सकते थे ।। १८ ।।

स्वप्ने यथैतद् विजितं धनं स्या-
देवं मन्ये यस्य दीव्यत्यनीशः ।
गान्धारराजस्य वचो निशम्य
धर्मादस्मात् कुरवो मापयात ।। १९ ।।

(परंतु जब वे पहले अपनेको हारकर उसे दाँवपर लगानेका अधिकार ही खो बैठे थे, तब उसका मूल्य ही क्या रहा?) अनधिकारी पुरुष जिस धनको दाँवपर लगाता है, उसकी हार-जीत मैं वैसी ही मानता हूँ जैसे कोई स्वप्नमें किसी धनको हारता या जीतता है। कौरवो! तुमलोग गान्धारराज शकुनिकी बात सुनकर अपने धर्मसे भ्रष्ट न होओ ।। १९ ।।

दुर्योधन उवाच

भीमस्य वाक्ये तद्वदेवार्जुनस्य
स्थितोऽहं वै यमयोश्चैवमेव ।

युधिष्ठिरं ते प्रवदन्त्वनीश-
मथो दास्यान्मोक्ष्यसे याज्ञसेनि ।। २० ।।

दुर्योधन बोला—द्रौपदी! मैं भीम, अर्जुन एवं नकुल-सहदेवकी बात माननेके लिये तैयार हूँ। ये सब लोग कह दें कि युधिष्ठिरको तुम्हें हारनेका कोई अधिकार नहीं था, फिर तुम दासीपनसे मुक्त कर दी जाओगी ।। २० ।।

अर्जुन उवाच

ईशो राजा पूर्वमासीद् ग्लहे नः
कुन्तीसुतो धर्मराजो महात्मा ।
ईशस्त्वयं कस्य पराजितात्मा
तज्जानीध्वं कुरवः सर्व एव ।। २१ ।।

अर्जुनने कहा—कुन्तीनन्दन महात्मा धर्मराज राजा युधिष्ठिर पहले तो हमें दाँवपर लगानेके अधिकारी थे ही, किंतु जब वे अपने शरीरको ही हार गये, तब किसके स्वामी रहे? इस बातपर सब कौरव विचार करें ।। २१ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञो धृतराष्ट्रस्य गेहे
गोमायुरुच्चैर्व्याहरदग्निहोत्रे ।
तं रासभाः प्रत्यभाषन्त राजन्
समन्ततः पक्षिणश्चैव रौद्राः ।। २२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्रकी अग्निशालाके भीतर एक गीदड़ आकर जोर-जोरसे हुँआ-हुँआ करने लगा। उस शब्दको लक्ष्य करके सब ओर गदहे रेंकने लगे तथा गृध्र आदि भयंकर पक्षी भी चारों ओर अशुभसूचक कोलाहल करने लगे ।। २२ ।।

तं वै शब्दं विदुरस्तत्त्ववेदी
शुश्राव घोरं सुबलात्मजा च ।
भीष्मो द्रोणो गौतमश्चापि विद्वान्
स्वस्ति स्वस्तीत्यपि चैवाहुरुच्चैः ।। २३ ।।

तत्त्वज्ञानी विदुर तथा सुबलपुत्री गान्धारीने भी उस भयानक शब्दको सुना। भीष्म, द्रोण और गौतमवंशीय विद्वान् कृपाचार्यके कानोंमें भी वह अमंगलकारी शब्द सुन पड़ा। फिर तो वे सभी लोग उच्च स्वरसे 'स्वस्ति', 'स्वस्ति' ऐसा कहने लगे ।। २३ ।।

ततो गान्धारी विदुरश्चापि विद्वां-
स्तमुत्पातं घोरमालक्ष्य राजे ।
निवेदयामासतुरार्तवत् तदा
ततो राजा वाक्यमिदं बभाषे ।। २४ ।।

तदनन्तर गान्धारी और विद्वान् विदुरने उस उत्पात-सूचक भयंकर शब्दको लक्ष्य करके अत्यन्त दुःखी हो राजा धृतराष्ट्रसे उसके विषयमें निवेदन किया, तब राजाने इस प्रकार कहा ।। २४ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

हतोऽसि दुर्योधन मन्दबुद्धे
यस्त्वं सभायां कुरुपुङ्गवानाम् ।
स्त्रियं समाभाषसि दुर्विनीत
विशेषतो द्रौपदीं धर्मपत्नीम् ।। २५ ।।

धृतराष्ट्र बोले—रे मन्दबुद्धि दुर्योधन! तू तो जीता ही मारा गया। दुर्विनीत! तू श्रेष्ठ कुरुवंशियोंकी सभामें अपने ही कुलकी महिला एवं विशेषतः पाण्डवोंकी धर्मपत्नीको ले आकर उससे पापपूर्ण बातें कर रहा है ।। २५ ।।

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी
हितान्वेषी बान्धवानामपायात् ।
कृष्णां पाञ्चालीमब्रवीत् सान्त्वपूर्वं
विमृश्यैतत् प्रज्ञया तत्त्वबुद्धिः ।। २६ ।।

ऐसा कहकर बन्धु-बान्धवोंको विनाशसे बचाकर उनके हितकी इच्छा रखनेवाले तत्त्वदर्शी एवं मेधावी राजा धृतराष्ट्रने अपनी बुद्धिसे इस दुःखद प्रसंगपर विचार करके पांचालराजकुमारी कृष्णाको सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा— ।। २६ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

वरं वृणीष्व पाञ्चालि मत्तो यदभिवाञ्छसि ।
वधूनां हि विशिष्टा मे त्वं धर्मपरमा सती ।। २७ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—बहू द्रौपदी! तुम मेरी पुत्रवधुओंमें सबसे श्रेष्ठ एवं धर्मपरायणा सती हो। तुम्हारी जो इच्छा हो, उसके अनुसार मुझसे वर माँग लो ।। २७ ।।

द्रौपद्युवाच

ददासि चेद् वरं मह्यं वृणोमि भरतर्षभ ।
सर्वधर्मानुगः श्रीमानदासोऽस्तु युधिष्ठिरः ।। २८ ।।
मनस्विनमजानन्तो मैवं ब्रूयुः कुमारकाः ।
एष वै दासपुत्रो हि प्रतिविन्ध्यं ममात्मजम् ।। २९ ।।

द्रौपदी बोली—भरतवंशशिरोमणे! यदि आप मुझे वर देते हैं तो मैं यही माँगती हूँ कि सम्पूर्ण धर्मका आचरण करनेवाले राजा युधिष्ठिर दासभावसे मुक्त हो जायँ। जिससे मेरे मनस्वी पुत्र प्रतिविन्ध्यको अज्ञानवश दूसरे राजकुमार ऐसा न कह सकें कि यह ‘दासपुत्र’ है ।।

राजपुत्रः पुरा भूत्वा यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ।
राजभिर्लालितस्यास्य न युक्ता दासपुत्रता ।। ३० ।।

जैसे पहले राजकुमार होकर फिर कोई मनुष्य कभी दासपुत्र नहीं हुआ है, उसी प्रकार राजाओंके द्वारा जिसका लालन-पालन हुआ है, उस मेरे पुत्र प्रतिविन्ध्यका दासपुत्र होना कदापि उचित नहीं है ।। ३० ।।

धृतराष्ट्र उवाच

एवं भवतु कल्याणि यथा त्वमभिभाषसे ।

द्वितीयं ते वरं भद्रे ददानि वरयस्व ह ।
मनो हि मे वितरति नैकं त्वं वरमर्हसि ।। ३१ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—कल्याणि! तुम जैसा कहती हो, वैसे ही हो। भद्रे! अब मैं तुम्हें दूसरा वर देता हूँ, वह भी माँग लो। मेरा मन मुझे वर देनेके लिये प्रेरित कर रहा है कि तुम एक ही वर पानेके योग्य नहीं हो ।। ३१ ।।

द्रौपद्युवाच

सरथौ सधनुष्कौ च भीमसेनधनंजयौ ।
यमौ च वरये राजन्नदासान् स्ववशानहम् ।। ३२ ।।

द्रौपदी बोली—राजन्! मैं दूसरा वर यह माँगती हूँ कि भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपने रथ और धनुष-बाणसहित दासभावसे रहित एवं स्वतन्त्र हो जायँ ।। ३२ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

तथास्तु ते महाभागे यथा त्वं नन्दिनीच्छसि ।
तृतीयं वरयास्मत्तो नासि द्वाभ्यां सुसत्कृता ।
त्वं हि सर्वस्नुषाणां मे श्रेयसी धर्मचारिणी ।। ३३ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—महाभागे! तुम अपने कुलको आनन्द प्रदान करनेवाली हो। तुम जैसा चाहती हो, वैसा ही हो। अब तुम तीसरा वर और माँगो। तुम मेरी सब पुत्रवधुओंमें श्रेष्ठ एवं धर्मका पालन करनेवाली हो। मैं समझता हूँ, केवल दो वरोंसे तुम्हारा पूरा सत्कार नहीं हुआ ।। ३३ ।।

द्रौपद्युवाच

लोभो धर्मस्य नाशाय भगवन् नाहमुत्सहे ।
अनर्हा वरमादातुं तृतीयं राजसत्तम ।। ३४ ।।

द्रौपदी बोली—भगवन्! लोभ धर्मका नाशक होता है, अतः अब मेरे मनमें वर माँगनेका उत्साह नहीं है। राजशिरोमणे! तीसरा वर लेनेका मुझे अधिकार भी नहीं है ।।

एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रिया वरौ ।
त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतं वराः ।। ३५ ।।

राजेन्द्र! वैश्यको एक वर माँगनेका अधिकार बताया गया है, क्षत्रियकी स्त्री दो वर माँग सकती है, क्षत्रियको तीन वर तथा ब्राह्मणको सौ वर लेनेका अधिकार है ।।

पापीयांस इमे भूत्वा संतीर्णाः पतयो मम ।
वेत्स्यन्ति चैव भद्राणि राजन् पुण्येन कर्मणा ।। ३६ ।।

राजन्! ये मेरे पति दासभावको प्राप्त होकर भारी विपत्तिमें फँस गये थे। अब उससे पार हो गये। इसके बाद पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानद्वारा ये लोग स्वयं कल्याण प्राप्त कर

लेंगे ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीवरलाभे एकसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीवरलाभविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७१ ।।

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

शत्रुओंको मारनेके लिये उद्यत हुए भीमको युधिष्ठिरका शान्त करना

कर्ण उवाच

या नः श्रुता मनुष्येषु स्त्रियो रूपेण सम्मताः ।
तासामेतादृशं कर्म न कस्याश्चन शुश्रुम ।। १ ।।

कर्ण बोला—मैंने मनुष्योंमें जिन सुन्दरी स्त्रियोंके नाम सुने हैं, उनमेंसे किसीने भी ऐसा अद्‌भुत कार्य किया हो, यह मेरे सुननेमें नहीं आया ।। १ ।।

क्रोधाविष्टेषु पार्थेषु धार्तराष्ट्रेषु चाप्यति ।
द्रौपदी पाण्डुपुत्राणां कृष्णा शान्तिरिहाभवत् ।। २ ।।

कुन्तीके पुत्र तथा धृतराष्ट्रके पुत्र सभी एक-दूसरेके प्रति अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए थे, ऐसे समयमें यह द्रुपदकुमारी कृष्णा इन पाण्डवोंको परम शान्ति देनेवाली बन गयी ।। २ ।।

अप्लवेऽम्भसि मग्नानामप्रतिष्ठे निमज्जताम् ।
पाञ्चाली पाण्डुपुत्राणां नौरेषा पारगाभवत् ।। ३ ।।

पाण्डवलोग नौका और आधारसे रहित जलमें गोते खा रहे थे अर्थात् संकटके अथाह सागरमें डूब रहे थे, किंतु यह पांचालराजकुमारी इनके लिये पार लगानेवाली नौका बन गयी ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनः कुरुमध्येऽत्यमर्षणः ।
स्त्रीगतिः पाण्डुपुत्राणामित्युवाच सुदुर्मनाः ।। ४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कौरवोंके बीचमें कर्णकी वह बात सुनकर अत्यन्त असहनशील भीमसेन मन-ही-मन बहुत दुःखी होकर बोले—'हाय! पाण्डवोंको उबारनेवाली एक स्त्री हुई' ।। ४ ।।

भीम उवाच

त्रीणि ज्योतींषि पुरुष इति वै देवलोऽब्रवीत् ।
अपत्यं कर्म विद्या च यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ।। ५ ।।

भीमसेनने कहा—महर्षि देवलका कथन है कि पुरुषमें तीन प्रकारकी ज्योतियाँ हैं—संतान, कर्म और ज्ञान; क्योंकि इन्हींसे सारी प्रजाकी सृष्टि हुई ।। ५ ।।

अमेध्ये वै गतप्राणे शून्ये ज्ञातिभिरुज्झिते ।
देहे त्रितयमेवैतत् पुरुषस्योपयुज्यते ।। ६ ।।

जब यह शरीर प्राणरहित होकर शून्य एवं अपवित्र हो जाता है तथा समस्त बन्धु-बान्धव उसे त्याग देते हैं, तब ये ही ज्ञान आदि तीनों ज्योतियाँ (परलोकगत) पुरुषके उपयोगमें आती हैं ।। ६ ।।

तन्नो ज्योतिरभिहतं दाराणामभिमर्शनात् ।

धनंजय कथंस्वित् स्यादपत्यमभिमृष्टजम् ।। ७ ।।

धनंजय! हमारी धर्मपत्नी द्रौपदीके शरीरका बल-पूर्वक स्पर्श करके दुःशासनने उसे अपवित्र कर दिया है, इससे हमारी संतानरूप ज्योति नष्ट हो गयी। जो पराये पुरुषसे छू गयी, उस स्त्रीसे उत्पन्न संतान किस कामकी होगी? ।। ७ ।।

अर्जुन उवाच

न चैवोक्ता न चानुक्ता हीनतः परुषा गिरः ।

भारत प्रतिजल्पन्ति सदा तूत्तमपूरुषाः ।। ८ ।।

अर्जुन बोले—भारत! (द्रौपदी सती है। उसके विषयमें आप ऐसी बात न कहें। दुःशासनने अवश्य नीचता की है, किंतु) श्रेष्ठ पुरुष नीच पुरुषोंद्वारा कही या न कही गयी कड़वी बातोंका कभी उत्तर नहीं देते ।। ८ ।।

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।

सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्धसम्भावनाः स्वयम् ।। ९ ।।

प्रतिशोधका उपाय जानते हुए भी सत्पुरुष दूसरोंके उपकारोंको ही याद रखते हैं, उनके द्वारा किये हुए वैरको नहीं। उन साधु पुरुषोंको स्वयं सबसे सम्मान प्राप्त होता रहता है ।। ९ ।।

भीम उवाच

इहैवैतांस्त्वहं सर्वान् हन्मि शत्रून् समागतान् ।

अथ निष्क्रम्य राजेन्द्र समूलान् हन्मि भारत ।। १० ।।

भीमसेनने (राजा युधिष्ठिरसे) कहा—भरतवंशी राजराजेश्वर! (यदि आपकी आज्ञा हो, तो) यहाँ आये हुए इन सब शत्रुओंको मैं यहीं समाप्त कर दूँ और यहाँसे बाहर निकलकर इनके मूलका भी नाश कर डालूँ ।। १० ।।

किं नो विवदितेनेह किमुक्तेन च भारत ।

अद्यैवैतान् निहन्मीह प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ।। ११ ।।

भारत! अब यहाँ विवाद या उत्तर-प्रत्युत्तर करनेकी हमें क्या आवश्यकता है? मैं आज ही इन सबको यमलोक भेज देता हूँ, आप इस सारी पृथ्वीका शासन कीजिये ।।

इत्युक्त्वा भीमसेनस्तु कनिष्ठैर्भ्रातृभिः सह ।

मृगमध्ये यथा सिंहो मुहुर्मुहुरुदैक्षत ।। १२ ।।

अपने छोटे भाइयोंके साथ खड़े हुए भीमसेन उपर्युक्त बात कहकर शत्रुओंकी ओर बार-बार देखने लगे; मानो सिंह मृगोंके समूहमें खड़ा हो उन्हींकी ओर देख रहा हो ।।

सान्त्व्यमानो वीक्षमाणः पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा ।
खिद्यत्येव महाबाहुरन्तर्दाहेन वीर्यवान् ।। १३ ।।

अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले अर्जुन शत्रुओंकी ओर देखनेवाले भीमसेनको बार-बार शान्त कर रहे थे, परंतु पराक्रमी महाबाहु भीमसेन अपने भीतर धधकती हुई क्रोधाग्निसे जल रहे थे ।। १३ ।।

क्रुद्धस्य तस्य स्रोतोभ्यः कर्णादिभ्यो नराधिप ।
सधूमः सस्फुलिङ्गार्चिः पावकः समजायत ।। १४ ।।

राजन्! उस समय क्रोधमें भरे हुए भीमसेनकी श्रवणादि इन्द्रियोंके छिद्रों तथा रोमकूपोंसे धूम और चिनगारियोंसहित आगकी लपटें निकल रहीं थीं ।। १४ ।।

भ्रुकुटीकृतदुष्प्रेक्ष्यमभवत् तस्य तन्मुखम् ।
युगान्तकाले सम्प्राप्ते कृतान्तस्येव रूपिणः ।। १५ ।।

भौंहें तनी होनेके कारण प्रलयकालमें मूर्तिमान् यमराजकी भाँति उनके भयानक मुखकी ओर देखना भी कठिन हो रहा था ।। १५ ।।

युधिष्ठिरस्तमावार्य बाहुना बाहुशालिनम् ।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं जोषमास्स्वेति भारत ।। १६ ।।

भारत! तब विशाल भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले भीमसेनको अपने एक हाथसे रोकते हुए युधिष्ठिरने कहा—‘ऐसा न करो, शान्तिपूर्वक बैठ जाओ’ ।। १६ ।।

निवार्य च महाबाहुं कोपसंरक्तलोचनम् ।
पितरं समुपातिष्ठद् धृतराष्ट्रं कृताञ्जलिः ।। १७ ।।

उस समय महाबाहु भीमके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे। उन्हें रोककर राजा युधिष्ठिर हाथ जोड़े हुए अपने ताऊ महाराज धृतराष्ट्रके पास गये ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमक्रोधे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीमसेनका क्रोधविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७२ ।।

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका युधिष्ठिरको सारा धन लौटाकर एवं समझा-बुझाकर इन्द्रप्रस्थ जानेका आदेश देना

युधिष्ठिर उवाच

राजन् किं करवामस्ते प्रशाध्यस्मांस्त्वमीश्वरः ।
नित्यं हि स्थातुमिच्छामस्तव भारत शासने ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—राजन्! आप हमारे स्वामी हैं। आज्ञा दीजिये, हम क्या करें। भारत! हमलोग सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहना चाहते हैं ।। १ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

अजातशत्रो भद्रं ते अरिष्टं स्वस्ति गच्छत ।
अनुज्ञाताः सहधनाः स्वराज्यमनुशासत ।। २ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—अजातशत्रो! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी आज्ञासे हारे हुए धनके साथ बिना किसी विघ्न-बाधाके कुशलपूर्वक अपनी राजधानीको जाओ और अपने राज्यका शासन करो ।। २ ।।

इदं चैवावबोद्धव्यं वृद्धस्य मम शासनम् ।
मया निगदितं सर्वं पथ्यं निःश्रेयसं परम् ।। ३ ।।

मुझ वृद्धकी यही आज्ञा है। एक बात और है, उसपर भी ध्यान देना। मेरी कही हुई सारी बातें तुम्हारे हित और परम मंगलके लिये होंगी ।। ३ ।।

वेत्थ त्वं तात धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर ।
विनीतोऽसि महाप्राज्ञ वृद्धानां पर्युपासिता ।। ४ ।।

तात युधिष्ठिर! तुम धर्मकी सूक्ष्म गतिको जानते हो। महामते! तुममें विनय है। तुमने बड़े-बूढ़ोंकी उपासना की है ।।

यतो बुद्धिस्ततः शान्तिः प्रशमं गच्छ भारत ।
नादारुणि पतेच्छस्त्रं दारुण्येतन्निपात्यते ।। ५ ।।

जहाँ बुद्धि है, वहीं शान्ति है। भारत! तुम शान्त हो जाओ। (जो कुछ हुआ है, उसे भूल जाओ।) पत्थर या लोहेपर कुल्हाड़ी नहीं पड़ती। लोग उसे लकड़ीपर ही चलाते हैं ।। ५ ।।

न वैराण्यभिजानन्ति गुणान् पश्यन्ति नागुणान् ।
विरोधं नाधिगच्छन्ति ये त उत्तमपूरुषाः ।। ६ ।।
स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ते प्रतिक्रियाम् ।। ७ ।।

जो पुरुष वैरको याद नहीं रखते, गुणोंको ही देखते हैं, अवगुणोंको नहीं तथा किसीसे विरोध नहीं रखते, वे ही उत्तम पुरुष कहे गये हैं। साधु पुरुष दूसरोंके सत्कर्मों (उपकारादि)-को ही याद रखते हैं, उनके किये हुए वैरको नहीं। वे दूसरोंकी भलाई तो करते हैं; परंतु उनसे बदला लेनेकी भावना नहीं रखते ।। ६-७ ।।

संवादे परुषाण्याहुर्युधिष्ठिर नराधमाः ।
प्रत्याहुर्मध्यमास्त्वेतेऽनुक्ताः परुषमुत्तरम् ।। ८ ।।
न चोक्ता नैव चानुक्तास्त्वहिताः परुषा गिरः ।
प्रतिजल्पन्ति वै धीराः सदा तूत्तमपूरुषाः ।। ९ ।।

युधिष्ठिर! नीच मनुष्य साधारण बातचीतमें भी कटुवचन बोलने लगते हैं। जो स्वयं पहले कटु वचन न कहकर प्रत्युत्तरमें कठोर बातें कहते हैं, वे मध्यम श्रेणीके पुरुष हैं। परंतु जो धीर एवं श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे किसीके कटुवचन बोलने या न बोलनेपर भी अपने मुखसे कभी कठोर एवं अहितकर बात नहीं निकालते ।। ८-९ ।।

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्ध्वा प्रत्ययमात्मनः ।। १० ।।

महात्मा पुरुष अपने अनुभवको सामने रखकर दूसरोंके सुख-दुःखको भी अपने समान जानते हुए उनके अच्छे बर्तावोंको ही याद रखते हैं, उनके द्वारा किये हुए वैर-विरोधको नहीं ।। १० ।।

असम्भिन्नार्थमर्यादाः साधवः प्रियदर्शनाः ।
तथा चरितमार्येण त्वयास्मिन् सत्समागमे ।। ११ ।।

सत्पुरुष आर्यमर्यादाको कभी भंग नहीं करते। उनके दर्शनसे सभी लोग प्रसन्न हो जाते हैं। युधिष्ठिर! कौरव-पाण्डवोंके समागममें तुमने श्रेष्ठ पुरुषोंके समान ही आचरण किया है ।। ११ ।।

दुर्योधनस्य पारुष्यं तत् तात हृदि मा कृथाः ।
मातरं चैव गान्धारीं मां च त्वं गुणकाङ्क्षया ।। १२ ।।
उपस्थितं वृद्धमन्धं पितरं पश्य भारत ।

तात! दुर्योधनने जो कठोर बर्ताव किया है, उसे तुम अपने हृदयमें मत लाना। भारत! तुम तो उत्तम गुण ग्रहण करनेकी इच्छासे अपनी माता गान्धारी तथा यहाँ बैठे हुए मुझ अंधे बूढ़े ताऊकी ओर देखो ।। १२ १/२ ।।

प्रेक्षापूर्वं मया द्यूतमिदमासीदुपेक्षितम् ।। १३ ।।
मित्राणि द्रष्टुकामेन पुत्राणां च बलाबलम् ।
अशोच्याः कुरवो राजन् येषां त्वमनुशासिता ।। १४ ।।
मन्त्री च विदुरो धीमान् सर्वशास्त्रविशारदः ।

मैंने सोच-समझकर भी इस जूएकी इसलिये उपेक्षा कर दी—उसे रोकनेकी चेष्टा नहीं की कि मैं मित्रों और सुहृदोंसे मिलना चाहता था और अपने पुत्रोंके बलाबलको देखना चाहता था। राजन्! जिनके तुम शासक हो और सब शास्त्रोंमें निपुण परम बुद्धिमान् विदुर जिनके मन्त्री हैं, वे कुरुवंशी कदापि शोकके योग्य नहीं हैं ।।

त्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्यं भीमसेने पराक्रमः ।। १५ ।।
श्रद्धा च गुरुशुश्रूषा यमयोः पुरुषाग्रययोः ।
अजातशत्रो भद्रं ते खाण्डवप्रस्थमाविश ।
भ्रातृभिस्तेऽस्तु सौभ्रात्रं धर्मे ते धीयतां मनः ।। १६ ।।

तुममें धर्म है, अर्जुनमें धैर्य है, भीमसेनमें पराक्रम है और नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेवमें श्रद्धा एवं विशुद्ध गुरुसेवाका भाव है। अजातशत्रो! तुम्हारा भला हो। अब तुम खाण्डवप्रस्थको जाओ। दुर्योधन आदि बन्धुओंके प्रति तुम्हें अच्छे भाईका-सा स्नेहभाव रहे और तुम्हारा मन सदा धर्ममें लगा रहे ।। १५-१६ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो भरतश्रेष्ठ धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कृत्वाऽऽर्यसमयं सर्वं प्रतस्थे भ्रातृभिः सह ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिर पूज्यवर धृतराष्ट्रके आदेशको स्वीकार करके भाइयोंके सहित वहाँसे विदा हो गये ।। १७ ।।

ते रथान् मेघसंकाशानास्थाय सह कृष्णया ।
प्रययुर्हृष्टमनस इन्द्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ।। १८ ।।

वे मेघके समान शब्द करनेवाले रथोंपर द्रौपदीके साथ बैठकर प्रसन्नमनसे नगरोंमें उत्तम इन्द्रप्रस्थको चल दिये ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रवरप्रदानपूर्वकमिन्द्रप्रस्थं प्रति युधिष्ठिरगमने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें धृतराष्ट्रवरदानपूर्वक युधिष्ठिरका इन्द्रप्रस्थगमनविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७३ ।।

(अनुद्यूतपर्व)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रसे अर्जुनकी वीरता बतलाकर पुनः द्यूतक्रीड़ाके लिये पाण्डवोंको बुलानेका अनुरोध और उनकी स्वीकृति

जनमेजय उवाच

अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा सरत्नधनसंचयान् ।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्राणां कथमासीन्मनस्तदा ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! जब कौरवोंको यह मालूम हुआ कि पाण्डवोंको रथ और धनके संग्रहसहित खाण्डवप्रस्थ जानेकी आज्ञा मिल गयी, तब उनके मनकी अवस्था कैसी हुई? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा धृतराष्ट्रेण धीमता ।
राजन् दुःशासनः क्षिप्रं जगाम भ्रातरं प्रति ।। २ ।।
दुर्योधनं समासाद्य सामात्यं भरतर्षभ ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—भरतकुलभूषण जनमेजय! परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको जानेकी आज्ञा दे दी, यह जानकर दुःशासन शीघ्र ही अपने भाई भरतश्रेष्ठ दुर्योधनके पास, जो अपने मन्त्रियों (कर्ण एवं शकुनि)-के साथ बैठा था, गया और दुःखसे पीड़ित होकर इस प्रकार बोला ।। २-३ ।।

दुःशासन उवाच

दुःखेनैतत् समानीतं स्थविरो नाशयत्यसौ ।
शत्रुसाद् गमयद् द्रव्यं तद् बुध्यध्वं महारथाः ।। ४ ।।

दुःशासनने कहा—महारथियो! आपलोगोंको यह मालूम होना चाहिये कि हमने बड़े दुःखसे जिस धनराशिको प्राप्त किया था, उसे हमारा बूढ़ा बाप नष्ट कर रहा है। उसने सारा धन शत्रुओंके अधीन कर दिया ।। ४ ।।

अथ दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
मिथः संगम्य सहिताः पाण्डवान् प्रति मानिनः ।। ५ ।।
वैचित्रवीर्यं राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
अभिगम्य त्वरायुक्ताः श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ।। ६ ।।

यह सुनकर दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि, जो बड़े ही अभिमानी थे, पाण्डवोंसे बदला लेनेके लिये परस्पर मिलकर सलाह करने लगे। फिर उन सबने बड़ी उतावलीके साथ विचित्रवीर्यनन्दन मनीषी राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर मधुर वाणीमें कहा ।। ५-६ ।।

(दुर्योधन उवाच

अर्जुनेन समो वीर्ये नास्ति लोके धनुर्धरः ।
योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ।।

दुर्योधन बोला—पिताजी! संसारमें अर्जुनके समान पराक्रमी धनुर्धर दूसरा कोई नहीं है। ये दो बाहुवाले अर्जुन सहस्र भुजाओंवाले कार्तवीर्य अर्जुनके समान शक्तिशाली हैं।

शृणु राजन् पुराचिन्त्यानर्जुनस्य च साहसान् ।
अर्जुनो धन्विनां श्रेष्ठो दुष्कृतं कृतवान् पुरा ।।
द्रुपदस्य पुरे राजन् द्रौपद्याश्च स्वयंवरे ।

महाराज! अर्जुनने पहले जो-जो अचिन्त्य साहसपूर्ण कार्य किये हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनिये। राजन्! पहले राजा द्रुपदके नगरमें द्रौपदीके स्वयंवरके समय धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने वह पराक्रम कर दिखाया था, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है।

स दृष्ट्वा पार्थिवान् सर्वान् क्रुद्धान् पार्थो महाबलः ।।
वारयित्वा शरैस्तीक्ष्णैरजयत् तत्र स स्वयम् ।
जित्वा तु तान् महीपालान् सर्वान् कर्णपुरोगमान् ।।
लेभे कृष्णां शुभां पार्थो युद्ध्वा वीर्यबलात् तदा ।
सर्वक्षत्रसमूहेषु अम्बां भीष्मो यथा पुरा ।।

उस समय महाबली अर्जुनने सब राजाओंको कुपित देख तीखे बाणोंके प्रहारसे उन्हें जहाँके तहाँ रोक दिया और स्वयं ही सबपर विजय पायी। कर्ण आदि सभी राजाओंको अपने बल और पराक्रमसे युद्धमें जीतकर कुन्तीकुमार अर्जुनने उस समय शुभलक्षणा द्रौपदीको प्राप्त किया; ठीक वैसे ही, जैसे पूर्वकालमें भीष्मजीने सम्पूर्ण क्षत्रियसमुदायमें अपने बल-पराक्रमसे काशिराजकी कन्या अम्बा आदिको प्राप्त किया था।

ततः कदाचिद् बीभत्सुस्तीर्थयात्रां ययौ स्वयम् ।
अथोलूपीं शुभां जातां नागराजसुतां तदा ।।
नागेष्ववाप चाग्र्येषु प्रार्थितोऽथ यथातथम् ।
ततो गोदावरीं वेण्णां कावेरीं चावगाहत ।

तदनन्तर अर्जुन किसी समय स्वयं तीर्थयात्राके लिये गये। उस यात्रामें ही उन्होंने नागलोकमें पहुँचकर परम सुन्दरी नागराजकन्या उलूपीको उसके प्रार्थना करनेपर विधिपूर्वक पत्नीरूपमें ग्रहण किया। फिर क्रमशः अन्य तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए दक्षिणदिशामें जाकर गोदावरी, वेण्णा तथा कावेरी आदि नदियोंमें स्नान किया।

स दक्षिणं समुद्रान्तं गत्वा चाप्सरसां च वै ।

कुमारीतीर्थमासाद्य मोक्षयामास चार्जुनः ।।

ग्राहरूपान्विताः पञ्च अतिशौर्येण वै बलात् ।

दक्षिणसमुद्रके तटपर कुमारीतीर्थमें पहुँचकर अर्जुनने अत्यन्त शौर्यका परिचय देते हुए ग्राहरूपधारिणी पाँच अप्सराओंका बलपूर्वक उद्धार किया।

कन्यातीर्थं समभ्येत्य ततो द्वारवतीं ययौ ।।

तत्र कृष्णनिदेशात् स सुभद्रां प्राप्य फाल्गुनः ।

तामारोप्य रथोपस्थे प्रययौ स्वपुरीं प्रति ।।

तत्पश्चात् कन्याकुमारीतीर्थकी यात्रा करके वे दक्षिणसे लौट आये और अनेक तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए द्वारकापुरी जा पहुँचे। वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके आदेशसे अर्जुनने सुभद्राको लेकर रथपर बिठा लिया और अपनी नगरी इन्द्रप्रस्थकी ओर प्रस्थान किया।

भूयः शृणु महाराज फाल्गुनस्य तु साहसम् ।

ददौ च वह्नेर्बीभत्सुः प्रार्थितं खाण्डवं वनम् ।।

लब्धमात्रे तु तेनाथ भगवान् हव्यवाहनः ।

भक्षितुं खाण्डवं राजंस्ततः समुपचक्रमे ।।

महाराज! अर्जुनके साहसका और भी वर्णन सुनिये; उन्होंने अग्निदेवको उनके माँगनेपर खाण्डववन समर्पित किया था। राजन्! उनके द्वारा उपलब्ध होते ही भगवान् अग्निदेवने उस वनको अपना आहार बनाना आरम्भ किया।

ततस्तं भक्षयन्तं वै सव्यसाची विभावसुम् ।

रथी धन्वी शरान् गृह्य स कलापयुतः प्रभुः ।।

पालयामास राजेन्द्र स्ववीर्येण महाबलः ।।

राजेन्द्र! जब अग्निदेव खाण्डववनको जलाने लगे, उस समय (अग्निदेवसे) रथ, धनुष, बाण और कवच आदि लेकर महान् बल तथा प्रभावसे युक्त सव्यसाची अर्जुन अपने पराक्रमसे उसकी रक्षा करने लगे।

ततः श्रुत्वा महेन्द्रस्तं मेघांस्तान् संदिदेश ह ।

तेनोक्ता मेघसङ्घास्ते ववर्षुरतिवृष्टिभिः ।।

खाण्डववनके दाहका समाचार सुनकर देवराज इन्द्रने मेघोंको आग बुझानेकी आज्ञा दी। उनकी प्रेरणासे मेघोंने बड़ी भारी वर्षा प्रारम्भ की।

ततो मेघगणान् पार्थः शरव्रातैः समन्ततः ।

खगमैर्वारयामास तदाश्चर्यमिवाभवत् ।।

यह देख अर्जुनने आकाशगामी बाणसमूहोंद्वारा सब ओरसे बादलोंको रोक दिया। वह एक अद्‌भुत-सी घटना हुई।

वारितान् मेघसङ्घांश्च श्रुत्वा क्रुद्धः पुरंदरः ।
पाण्डरं गजमास्थाय सर्वदेवगणैर्वृतः ।।
ययौ पार्थेन संयोद्धुं रक्षार्थं खाण्डवस्य च ।।

मेघोंको रोका गया सुनकर इन्द्रदेव कुपित हो उठे। श्वेतवर्णवाले ऐरावत हाथीपर आरूढ हो वे समस्त देवताओंके साथ खाण्डववनकी रक्षाके निमित्त अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये गये।

रुद्राश्च मरुतश्चैव वसवश्चाश्विनौ तदा ।
आदित्याश्चैव साध्याश्च विश्वेदेवाश्च भारत ।।
गन्धर्वाश्चैव सहिता अन्ये सुरगणाश्च ये ।
ते सर्वे शस्त्रसम्पन्ना दीप्यमानाः स्वतेजसा ।
धनंजयं जिघांसन्तः प्रपेतुर्विबुधाधिपाः ।।

भारत! उस समय रुद्र, मरुद्‌गण, वसु, अश्विनीकुमार, आदित्य, साध्यगण, विश्वेदेव, गन्धर्व तथा अन्य देवगण अपने-अपने तेजसे देदीप्यमान एवं अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो युद्धके लिये गये। वे सभी देवेश्वर अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे उनपर टूट पड़े।

ततो देवगणाः सर्वे युद्‌ध्वा पार्थेन वै मुहुः ।

रणे जेतुमशक्यं तं ज्ञात्वा ते भरतर्षभ ।।
शान्तास्ते विबुधाः सर्वे पार्थबाणाभिपीडिताः ।

भरतश्रेष्ठ! कुन्तीकुमार अर्जुनके साथ बारंबार युद्ध करके जब देवताओंने यह समझ लिया कि इन्हें समरांगणमें पराजित करना असम्भव है, तब वे अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण युद्धसे विरत हो गये (भाग खड़े हुए)।

युगान्ते यानि दृश्यन्ते निमित्तानि महान्त्यपि ।
सर्वाणि तत्र दृश्यन्ते सुघोराणि महीपते ।।

महाराज! प्रलयकालमें जो विनाशसूचक अत्यन्त भयंकर अपशकुन दिखायी देते हैं, वे सभी उस समय प्रत्यक्ष दीखने लगे।

ततो देवगणाः सर्वे पार्थं समभिदुद्रुवुः ।
असम्भ्रान्तस्तु तान् दृष्ट्वा स तां देवमयीं चमूम् ।
त्वरितः फाल्गुनो गृह्य तीक्ष्णांस्तानाशुगांस्तदा ।।
शक्रं देवांश्च सम्प्रेक्ष्य तस्थौ काल इवात्यये ।।

तदनन्तर सब देवताओंने एक साथ अर्जुनपर धावा किया; परंतु उस देवसेनाको देखकर अर्जुनके मनमें घबराहट नहीं हुई। वे तुरंत ही तीखे बाण हाथमें लेकर इन्द्र और देवताओंकी ओर देखते हुए प्रलयकालमें सर्वसंहारक कालकी भाँति अविचलभावसे खड़े हो गये।

ततो देवगणाः सर्वे बीभत्सुं सपुरंदराः ।
अवाकिरञ्छरव्रातैर्मानुषं तं महीपते ।।

राजन्! अर्जुनको मानव समझकर इन्द्रसहित सब देवता उनपर बाणसमूहोंकी बौछार करने लगे।

ततः पार्थो महातेजा गाण्डीवं गृह्य सत्वरः ।।
वारयामास देवानां शरव्रातैः शरांस्तदा ।

परंतु महातेजस्वी पार्थने शीघ्रतापूर्वक गाण्डीव धनुष लेकर अपने बाणसमूहोंकी वर्षासे देवताओंके बाणोंको रोक दिया।

पुनः क्रुद्धाः सुराः सर्वे मर्त्यं संख्ये महाबलाः ।।
नानाशस्त्रैर्ववर्षुस्तं सव्यसाचिं महीपते ।।

पिताजी! यह देख समस्त महाबली देवता पुनः कुपित हो गये और उस युद्धमें मरणधर्मा अर्जुनपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी बौछार करने लगे।

तान् पार्थः शस्त्रवर्षान् वै विसृष्टान् विबुधैस्तदा ।
द्विधा त्रिधा च चिच्छेद ख एव निशितैः शरैः ।।

अर्जुनने अपने तीखे बाणोंद्वारा देवताओंके छोड़े हुए उन अस्त्र-शस्त्रोंके आकाशमें ही दो-दो तीन-तीन टुकड़े कर दिये।

पुनश्च पार्थः संक्रुद्धो मण्डलीकृतकार्मुकः ।
देवसङ्घाञ्छरैस्तीक्ष्णैरार्पयद् वै समन्ततः ।।

फिर अधिक क्रोधमें भरकर अर्जुनने अपने धनुषको इस प्रकार खींचा कि वह मण्डलाकार दिखायी देने लगा और उसके द्वारा सब ओर तीखे सायकोंकी वृष्टि करके सब देवताओंको घायल कर दिया।

विद्रुतान् देवसङ्घांस्तान् रणे दृष्ट्वा पुरंदरः ।
ततः क्रुद्धो महातेजाः पार्थं बाणैरवाकिरत् ।।

देवताओंको युद्धसे भागा हुआ देख महातेजस्वी इन्द्रने अत्यन्त कुपित हो पार्थपर बाणोंकी झड़ी लगा दी।

पार्थोऽपि शक्रं विव्याध मानुषो विबुधाधिपम् ।।
ततः सोऽश्ममयं वर्षं व्यसृजद् विबुधाधिपः ।
तच्छरैरर्जुनो वर्षं प्रतिजघ्नेऽत्यमर्षणः ।।
अथ संवर्धयामास तद् वर्षं देवराडपि ।
भूय एव तदा वीर्यं जिज्ञासुः सव्यसाचिनः ।।

पार्थने मनुष्य होकर भी देवताओंके स्वामी इन्द्रको अपने सायकोंसे बींध डाला। तब देवेश्वरने अर्जुनपर पत्थरोंकी वर्षा आरम्भ की। यह देख अर्जुन अत्यन्त अमर्षमें भर गये और अपने बाणोंद्वारा उन्होंने इन्द्रकी उस पाषाण-वर्षाका निवारण कर दिया। तदनन्तर देवराज इन्द्रने सव्यसाची अर्जुनके पराक्रमकी परीक्षा लेनेके लिये पुनः उस पाषाण-वर्षाको पहलेसे भी अधिक बढ़ा दिया।

सोऽश्मवर्षं महावेगमिषुभिः पाण्डवोऽपि च ।
विलयं गमयामास हर्षयन् पाकशासनम् ।।

यह देख पाण्डुनन्दन अर्जुनने इन्द्रका हर्ष बढ़ाते हुए उस अत्यन्त वेगशालिनी पाषाणवर्षाको अपने बाणोंसे विलीन कर दिया।

उपादाय तु पाणिभ्यामङ्गदं नाम पर्वतम् ।
सद्रुमं व्यसृजच्छक्रो जिघांसुः श्वेतवाहनम् ।।
ततोऽर्जुनो वेगवद्भिर्ज्वलमानैरजिह्मगैः ।
बाणैर्विध्वंसयामास गिरिराजं सहस्रशः ।।
शक्रं च वारयामास शरैः पार्थो बलाद् युधि ।

तब इन्द्रने श्वेतवाहन अर्जुनको कुचल डालनेकी इच्छासे वृक्षोंसहित अंगद नामक पर्वत (जो मन्दराचलका एक शिखर है)-को दोनों हाथोंसे उठाकर उनके ऊपर छोड़ दिया। यह देख अर्जुनने अग्निके समान प्रज्वलित और सीधे लक्ष्यतक पहुँचनेवाले सहस्रों वेगशाली बाणोंद्वारा उस पर्वतराजको खण्ड-खण्ड कर दिया। साथ ही पार्थने उस युद्धमें बलपूर्वक बाण मारकर इन्द्रको स्तब्ध कर दिया।

ततः शक्रो महाराज रणे वीरं धनंजयम् ।।
ज्ञात्वा जेतुमशक्यं तं तेजोबलसमन्वितम् ।।
परां प्रीतिं ययौ तत्र पुत्रशौर्येण वासवः ।

महाराज! तदनन्तर तेज और बलसे सम्पन्न वीर धनंजयको युद्धमें जीतना असम्भव जानकर इन्द्रको अपने पुत्रके पराक्रमसे वहाँ बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई।

तदा तत्र न तस्यासीद् दिवि कश्चिन्महायशाः ।।
समर्थो निर्जये राजन्नपि साक्षात् प्रजापतिः ।।

राजन्! उस समय वहाँ स्वर्गका कोई भी महायशस्वी वीर, चाहे साक्षात् प्रजापति ही क्यों न हों, ऐसा नहीं था, जो अर्जुनको जीतनेमें समर्थ हो सके।

ततः पार्थः शरैर्हत्वा यक्षराक्षसपन्नगान् ।
दीप्ते चाग्नौ महातेजाः पातयामास संततम् ।।
प्रतिप्रेक्षयितुं पार्थं न शेकुस्तत्र केचन ।
दृष्ट्वा निवारितं शक्रं दिवि देवगणैः सह ।।

तदनन्तर महातेजस्वी अर्जुन अपने बाणोंसे यक्ष, राक्षस और नागोंको मारकर उन्हें लगातार प्रज्वलित अग्निमें गिराने लगे। स्वर्गवासी देवताओंसहित इन्द्रको अर्जुनने युद्धसे विरत कर दिया, यह देख उस समय कोई भी उनकी ओर दृष्टिपात नहीं कर पाते थे।

यथा सुपर्णः सोमार्थं विबुधानजयत् पुरा ।
तथा जित्वा सुरान् पार्थस्तर्पयामास पावकम् ।।
ततोऽर्जुनः स्ववीर्येण तर्पयित्वा विभावसुम् ।
रथं ध्वजं हयांश्चैव दिव्यास्त्राणि सभां च वै ।।
गाण्डीवं च धनुःश्रेष्ठं तूणी चाक्षयसायकौ ।
एतान्यवाप बीभत्सुर्लेभे कीर्तिं च भारत ।।

भारत! जैसे पूर्वकालमें गरुड़ने अमृतके लिये देवताओंको जीत लिया था, उसी प्रकार कुन्तीपुत्र अर्जुनने भी देवताओंको जीतकर खाण्डववनके द्वारा अग्निदेवको तृप्त किया। इस प्रकार पार्थने अपने पराक्रमसे अग्निदेवको तृप्त करके उनसे रथ, ध्वजा, अश्व, दिव्यास्त्र, उत्तम धनुष गाण्डीव तथा अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तूणीर प्राप्त किये। इनके सिवा अनुपम यश और मयासुरसे एक सभाभवन भी उन्हें प्राप्त हुआ।

भूयोऽपि शृणु राजेन्द्र पार्थो गत्वोत्तरां दिशम् ।
विजित्य नववर्षांश्च सपुरांश्च सपर्वतान् ।।
जम्बूद्वीपं वशे कृत्वा सर्वं तद् भरतर्षभ ।
बलाज्जित्वा नृपान् सर्वान् करे च विनिवेश्य च ।।
रत्नान्यादाय सर्वाणि गत्वा चैव पुनः पुरीम् ।
ततो ज्येष्ठं महात्मानं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।।

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं कारयामास भारत ।।

राजेन्द्र! अर्जुनके पराक्रमकी कथा अभी और सुनिये। उन्होंने उत्तरदिशामें जाकर नगरों और पर्वतोंसहित जम्बूद्वीपके नौ वर्षोंपर विजय पायी। भरतश्रेष्ठ! उन्होंने समस्त जम्बूद्वीपको वशमें करके सब राजाओंको बलपूर्वक जीत लिया और सबपर कर लगाकर उनसे सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट ले वे पुनः अपनी पुरीको लौट आये। भारत! तदनन्तर अर्जुनने अपने बड़े भाई महात्मा धर्मराज युधिष्ठिरसे क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान करवाया।

स तान्यन्यानि कर्माणि कृतवानर्जुनः पुरा ।
अर्जुनेन समो वीर्ये नास्ति लोके पुमान् क्वचित् ।।

पिताजी! इस प्रकार अर्जुनने पूर्वकालमें ये तथा और भी बहुत-से पराक्रम कर दिखाये हैं। संसारमें कहीं कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो बल और पराक्रममें अर्जुनकी समानता कर सके।

देवदानवयक्षाश्च पिशाचोरगराक्षसाः ।
भीष्मद्रोणादयः सर्वे कुरवश्च महारथाः ।।
लोके सर्वनृपाश्चैव वीराश्चान्ये धनुर्धराः ।
एते चान्ये च बहवः परिवार्य महीपते ।।
एकं पार्थं रणे यत्ताः प्रतियोद्‌धुं न शक्नुयुः ।।

देवता, दानव, यक्ष, पिशाच, नाग, राक्षस एवं भीष्म, द्रोण आदि समस्त कौरव महारथी, भूमण्डलके सम्पूर्ण नरेश तथा अन्य धनुर्धर वीर—ये तथा अन्य बहुत-से शूरवीर युद्धभूमिमें अकेले अर्जुनको चारों ओरसे घेरकर पूरी सावधानीके साथ खड़े हो जायँ तो भी उनका सामना नहीं कर सकते।

अहं हि नित्यं कौरव्य फाल्गुनं प्रति सत्तमम् ।
अनिशं चिन्तयित्वा तं समुद्विग्नोऽस्मि तद्भयात् ।।

कुरुश्रेष्ठ! मैं साधुशिरोमणि अर्जुनके विषयमें नित्य-निरन्तर चिन्तन करते हुए उनके भयसे अत्यन्त उद्विग्न हो जाता हूँ।

गृहे गृहे च पश्यामि तात पार्थमहं सदा ।
शरगाण्डीवसंयुक्तं पाशहस्तमिवान्तकम् ।।
अपि पार्थसहस्राणि भीतः पश्यामि भारत ।
पार्थभूतमिदं सर्वं नगरं प्रतिभाति मे ।।

पिताजी! मुझे प्रत्येक घरमें सदा हाथमें पाश लिये यमराजकी भाँति गाण्डीव धनुषपर बाण चढ़ाये अर्जुन दिखायी देते हैं। भारत! मैं इतना डर गया हूँ कि मुझे सहस्रों अर्जुन दृष्टिगोचर होते हैं। यह सारा नगर मुझे अर्जुनरूप ही प्रतीत होता है।

पार्थमेव हि पश्यामि रहिते तात भारत ।

दृष्ट्वा स्वप्नगतं पार्थमुद्भ्रमामि ह्यचेतनः ।।

भारत! मैं एकान्तमें अर्जुनको ही देखता हूँ। स्वप्नमें भी अर्जुनको देखकर मैं अचेत और उद्भ्रान्त हो उठता हूँ।

अकारादीनि नामानि अर्जुनत्रस्तचेतसः ।
अश्वाश्चार्था ह्यजाश्चैव त्रासं संजनयन्ति मे ।।

मेरा हृदय अर्जुनसे इतना भयभीत हो गया है कि अश्व, अर्थ और अज आदि अकारादि नाम मेरे मनमें त्रास उत्पन्न कर देते हैं।

नास्ति पार्थादृते तात परवीराद् भयं मम ।
प्रह्लादं वा बलिं वापि हन्याद्धि विजयो रणे ।।
तस्मात् तेन महाराज युद्धमस्मज्जनक्षयम् ।
अहं तस्य प्रभावज्ञो नित्यं दुःखं वहामि च ।।

तात! अर्जुनके सिवा शत्रुपक्षके दूसरे किसी वीरसे मुझे डर नहीं लगता है। महाराज! मेरा विश्वास है कि अर्जुन युद्धमें प्रह्लाद अथवा बलिको भी मार सकते हैं; अतः उनके साथ किया हुआ युद्ध हमारे सैनिकोंके ही संहारका कारण होगा। मैं अर्जुनके प्रभावको जानता हूँ। इसीलिये सदा दुःखके भारसे दबा रहता हूँ।

पुरा हि दण्डकारण्ये मारीचस्य यथा भयम् ।
भवेद् रामे महावीर्ये तथा पार्थे भयं मम ।।

जैसे पूर्वकालमें दण्डकारण्यवासी महापराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीसे मारीचको भय हो गया था, उसी प्रकार अर्जुनसे मुझे भय हो रहा है।

धृतराष्ट्र उवाच

जानाम्येव महद् वीर्यं जिष्णोरेतद् दुरासदम् ।
तात वीरस्य पार्थस्य मा कार्षीस्त्वं तु विप्रियम् ।।
द्यूतं वा शस्त्रयुद्धं वा दुर्वाक्यं वा कदाचन ।
एतेष्वेवं कृते तस्य विग्रहश्चैव वो भवेत् ।।
तस्मात् त्वं पुत्र पार्थेन नित्यं स्नेहेन वर्तय ।।
यश्च पार्थेन सम्बन्धाद् वर्तते च नरो भुवि ।
तस्य नास्ति भयं किंचित् त्रिषु लोकेषु भारत ।।
तस्मात् त्वं जिष्णुना वत्स नित्यं स्नेहेन वर्तय ।।

धृतराष्ट्र बोले—बेटा! अर्जुनके महान् पराक्रमको तो मैं जानता ही हूँ। उनके इस पराक्रमका सामना करना अत्यन्त कठिन है। अतः तुम वीर अर्जुनका कोई अपराध न करो। उनके साथ द्यूतक्रीड़ा, शस्त्रयुद्ध अथवा कटु वचनका प्रयोग कभी न करो; क्योंकि इन्हींके कारण उनका तुमलोगोंके साथ विवाद हो सकता है। अतः बेटा! तुम अर्जुनके साथ सदा

स्नेहपूर्ण बर्ताव करो। भारत! जो मनुष्य इस पृथ्वीपर अर्जुनके साथ प्रेमपूर्ण सम्बन्ध रखते हुए उनसे सद्व्यवहार करता है, उसे तीनों लोकोंमें तनिक भी भय नहीं है; अतः वत्स! तुम अर्जुनके साथ सदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करो।

दुर्योधन उवाच

द्यूते पार्थस्य कौरव्य मायया निकृतिः कृता ।
तस्माद्धि तं जहि सदा त्वन्योपायेन नो भवेत् ।।

दुर्योधन बोला—कुरुश्रेष्ठ! जूएमें हमलोगोंने अर्जुनके प्रति छल-कपटका बर्ताव किया था, अतः आप किसी दूसरे उपायसे उन्हें मार डालें। इसीसे हमलोगोंका सदा भला होगा।

धृतराष्ट्र उवाच

उपायश्च न कर्तव्यः पाण्डवान् प्रति भारत ।
पार्थान् प्रति पुरा वत्स बहूपायाः कृतास्त्वया ।।
तानुपायान् हि कौन्तेया बहुशो व्यतिचक्रमुः ।।
तस्माद्धितं जीविताय नः कुलस्य जनस्य च ।
त्वं चिकीर्षसि चेद् वत्स समित्रः सहबान्धवः ।
सभ्रातृकस्त्वं पार्थेन नित्यं स्नेहेन वर्तय ।।

धृतराष्ट्रने कहा—भारत! पाण्डवोंके प्रति किसी अनुचित उपायका प्रयोग नहीं करना चाहिये। बेटा! तुमने उन सबको मारनेके लिये पहले बहुत-से उपाय किये हैं। कुन्तीके पुत्र तुम्हारे उन सभी प्रयत्नोंका उल्लंघन करके बहुत बार आगे बढ़ गये हैं; अतः वत्स! यदि तुम अपने कुल और आत्मीयजनोंकी जीवनरक्षाके लिये किसी हितकर उपायका अवलम्बन करना चाहते हो तो मित्र, बन्धु-बान्धव तथा भाइयोंसहित तुम अर्जुनके साथ सदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करो।

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु विधिना चोदितोऽब्रवीत् ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—धृतराष्ट्रकी यह बात सुनकर राजा दुर्योधन दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार करके विधातासे प्रेरित हो इस प्रकार बोला।

दुर्योधन उवाच

न त्वयेदं श्रुतं राजन् यज्जगाद बृहस्पतिः ।
शक्रस्य नीतिं प्रवदन् विद्वान् देवपुरोहितः ।। ७ ।।

दुर्योधन बोला—राजन्! देवगुरु विद्वान् बृहस्पतिजीने इन्द्रको नीतिका उपदेश करते हुए जो बात कही है, उसे शायद आपने नहीं सुना है ।। ७ ।।

सर्वोपायैर्निहन्तव्याः शत्रवः शत्रुसूदन ।
पुरा युद्धाद् बलाद् वापि प्रकुर्वन्ति तवाहितम् ।। ८ ।।

शत्रुसूदन! जो आपका अहित करते हैं, उन शत्रुओंको बिना युद्धके अथवा युद्ध करके—सभी उपायोंसे मार डालना चाहिये ।। ८ ।।

ते वयं पाण्डवधनैः सर्वान् सम्पूज्य पार्थिवान् ।
यदि तान् योधयिष्यामः किं वै नः परिहास्यति ।। ९ ।।

महाराज! यदि हम पाण्डवोंके धनसे सब राजाओंका सत्कार करके उन्हें साथ ले पाण्डवोंसे युद्ध करें, तो हमारा क्या बिगड़ जायगा? ।। ९ ।।

अहीनाशीविषान् क्रुद्धान् नाशाय समुपस्थितान् ।
कृत्वा कण्ठे च पृष्ठे च कः समुत्स्रष्टुमर्हति ।। १० ।।

क्रोधमें भरकर काटनेके लिये उद्यत हुए विषधर सर्पोंको अपने गलेमें लटकाकर अथवा पीठपर चढ़ाकर कौन मनुष्य उन्हें उसी अवस्थामें छोड़ सकता है? ।। १० ।।

आत्तशस्त्रा रथगताः कुपितास्तात पाण्डवाः ।
निःशेषं वः करिष्यन्ति क्रुद्धा ह्याशीविषा इव ।। ११ ।।

तात! अस्त्र-शस्त्रोंको लेकर रथमें बैठे हुए पाण्डव कुपित होकर क्रुद्ध विषधर सर्पोंकी भाँति आपके कुलका संहार कर डालेंगे ।। ११ ।।

संनद्धो ह्यर्जुनो याति विधृत्य परमेषुधी ।
गाण्डीवं मुहुरादत्ते निःश्वसंश्च निरीक्षते ।। १२ ।।
गदां गुर्वीं समुद्यम्य त्वरितश्च वृकोदरः ।
स्वरथं योजयित्वाऽऽशु निर्यात इति नः श्रुतम् ।। १३ ।।

हमने सुना है, अर्जुन कवच धारण करके दो उत्तम तूणीर पीठपर लटकाये हुए जाते हैं। वे बार-बार गाण्डीव धनुष हाथमें लेते हैं और लम्बी साँसें खींचकर इधर-उधर देखते हैं। इसी प्रकार भीमसेन शीघ्र ही अपना रथ जोतकर भारी गदा उठाये बड़ी उतावलीके साथ यहाँसे निकलकर गये हैं ।। १२-१३ ।।

नकुलः खड्गमादाय चर्म चाप्यर्धचन्द्रवत् ।
सहदेवश्च राजा च चक्रुराकारमिङ्गितैः ।। १४ ।।

नकुल अर्धचन्द्रविभूषित ढाल एवं तलवार लेकर जा रहे हैं। सहदेव तथा राजा युधिष्ठिरने भी विभिन्न चेष्टाओंद्वारा यह व्यक्त कर दिया है कि वे लोग क्या करना चाहते हैं? ।। १४ ।।

ते त्वास्थाय रथान् सर्वे बहुशस्त्रपरिच्छदान् ।
अभिघ्नन्तो रथव्रातान् सेनायोगाय निर्ययुः ।। १५ ।।

वे सब लोग अनेक शस्त्र आदि सामग्रियोंसे सम्पन्न रथोंपर बैठकर शत्रुपक्षके रथियोंका संहार करनेके उद्देश्यसे सेना एकत्र करनेके लिये गये हैं ।। १५ ।।

न क्षंस्यन्ते तथास्माभिर्जातु विप्रकृता हि ते ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं कस्तेषां क्षन्तुमर्हति ।। १६ ।।

हमने उनका तिरस्कार किया है, अतः वे इसके लिये हमें कभी क्षमा न करेंगे। द्रौपदीको जो कष्ट दिया गया है, उसे उनमेंसे कौन चुपचाप सह लेगा? ।। १६ ।।

पुनर्दीव्याम भद्रं ते वनवासाय पाण्डवैः ।
एवमेतान् वशे कर्तुं शक्ष्यामः पुरुषर्षभ ।। १७ ।।

पुरुषश्रेष्ठ! आपका भला हो, हम चाहते हैं कि वनवासकी शर्त रखकर पाण्डवोंके साथ फिर एक बार जूआ खेलें। इस प्रकार इन्हें हम अपने वशमें कर सकेंगे ।। १७ ।।

ते वा द्वादश वर्षाणि वयं वा द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यमजिनैः प्रतिवासिताः ।। १८ ।।

जूएमें हार जानेपर वे या हम मृगचर्म धारण करके महान् वनमें प्रवेश करें और बारह वर्षतक वनमें ही निवास करें ।। १८ ।।

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ।। १९ ।।
निवसेम वयं ते वा तथा द्यूतं प्रवर्तताम् ।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ।। २० ।।

तेरहवें वर्षमें लोगोंकी जानकारीसे दूर किसी नगरमें रहें। यदि तेरहवें वर्ष किसीकी जानकारीमें आ जायँ तो फिर दुबारा बारह वर्षतक वनवास करें। हम हारें तो हम ऐसा करें और उनकी हार हो तो वे। इसी शर्तपर फिर जूएका खेल आरम्भ हो। पाण्डव पासे फेंककर जूआ खेलें ।।

एतत् कृत्यतमं राजन्नस्माकं भरतर्षभ ।
अयं हि शकुनिर्वेद सविद्यामक्षसम्पदम् ।। २१ ।।

भरतकुलभूषण महाराज! यही हमारा सबसे महान् कार्य है। ये शकुनि मामा विद्यासहित पासे फेंकनेकी कलाको अच्छी तरह जानते हैं ।। २१ ।।

दृढमूला वयं राज्ये मित्राणि परिगृह्य च ।
सारवद् विपुलं सैन्यं सत्कृत्य च दुरासदम् ।। २२ ।।

(हमारी विजय होनेपर) हमलोग बहुत-से मित्रोंका संग्रह करके बलशाली, दुर्धर्ष एवं विशाल सेनाका पुरस्कार आदिके द्वारा सत्कार करते हुए इस राज्यपर अपनी जड़ जमा लेंगे ।। २२ ।।

ते च त्रयोदशं वर्षं पारयिष्यन्ति चेद् व्रतम् ।
जेष्यामस्तान् वयं राजन् रोचतां ते परंतप ।। २३ ।।

यदि वे तेरहवें वर्षके अज्ञातवासकी प्रतिज्ञा पूर्ण कर लेंगे तो हम उन्हें युद्धमें परास्त कर देंगे। शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! आप हमारे इस प्रस्तावको पसंद करें ।। २३ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान् कामं व्यध्वगतानपि ।
आगच्छन्तु पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ।। २४ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा! पाण्डवलोग दूर चले गये हों, तो भी तुम्हारी इच्छा हो, तो उन्हें तुरंत बुला लो। समस्त पाण्डव यहाँ आयें और इस नये दाँवपर फिर जूआ खेलें ।। २४ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणः सोमदत्तो बाह्लीकश्चैव गौतमः ।
विदुरो द्रोणपुत्रश्च वैश्यापुत्रश्च वीर्यवान् ।। २५ ।।
भूरिश्रवाः शान्तनवो विकर्णश्च महारथः ।
मा द्यूतमित्यभाषन्त शमोऽस्त्विति च सर्वशः ।। २६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब द्रोणाचार्य, सोमदत्त, बाह्लीक, कृपाचार्य, विदुर, अश्वत्थामा, पराक्रमी युयुत्सु, भूरिश्रवा, पितामह भीष्म तथा महारथी विकर्ण सबने एक स्वरसे इस निर्णयका विरोध करते हुए कहा—'अब जूआ नहीं होना चाहिये, तभी सर्वत्र शान्ति बनी रह सकती है' ।। २५-२६ ।।

अकामानां च सर्वेषां सुहृदामर्थदर्शिनाम् ।
अकरोत् पाण्डवाह्वानं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ।। २७ ।।

भावी अर्थको देखने और समझनेवाले सुहृद् अपनी अनिच्छा प्रकट करते ही रह गये; किंतु दुर्योधनादि पुत्रोंके प्रेममें आकर धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको बुलानेका आदेश दे ही दिया ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि युधिष्ठिरप्रत्यानयने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरप्रत्यानयनविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७४ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६७½ श्लोक मिलाकर कुल ९४½ श्लोक हैं।]

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

गान्धारीकी धृतराष्ट्रको चेतावनी और धृतराष्ट्रका अस्वीकार करना

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
पुत्रहार्दाद् धर्मयुक्ता गान्धारी शोककर्षिता ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय भावी अनिष्टकी आशंकासे धर्मपरायणा गान्धारी पुत्र-स्नेहवश शोकसे कातर हो उठी और राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार बोली— ।। १ ।।

जाते दुर्योधने क्षत्ता महामतिरभाषत ।
नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः ।। २ ।।

‘आर्यपुत्र! दुर्योधनके जन्म लेनेपर परम बुद्धिमान् विदुरजीने कहा था—यह बालक अपने कुलका नाश करनेवाला होगा; अतः इसे त्याग देना चाहिये ।। २ ।।

व्यनदज्जातमात्रो हि गोमायुरिव भारत ।
अन्तो नूनं कुलस्यास्य कुरवस्तन्निबोधत ।। ३ ।।

‘भारत! इसने जन्म लेते ही गीदड़की भाँति ‘हुँआ-हुँआ’ का शब्द किया था; अतः यह अवश्य ही इस कुलका अन्त करनेवाला होगा। कौरवो! आपलोग भी इस बातको अच्छी तरह समझ लें ।। ३ ।।

मा निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं हि भारत ।
मा बालानामशिष्टानामभिमंस्था मतिं प्रभो ।। ४ ।।

‘भरतकुलतिलक! आप अपने ही दोषसे इस कुलको विपत्तिके महासागरमें न डुबाइये। प्रभो! इन उद्दण्ड बालकोंकी हाँ-में-हाँ न मिलाइये ।। ४ ।।

मा कुलस्य क्षये घोरे कारणं त्वं भविष्यसि ।
बद्धं सेतुं को नु भिन्द्याद् धमेच्छान्तं च पावकम् ।। ५ ।।
शमे स्थितान् को नु पार्थान् कोपयेद् भरतर्षभ ।
स्मरन्तं त्वामाजमीढ स्मारयिष्याम्यहं पुनः ।। ६ ।।

‘इस कुलके भयंकर विनाशमें स्वयं ही कारण न बनिये। भरतश्रेष्ठ! बँधे हुए पुलको कौन तोड़ेगा? बुझी हुई वैरकी आगको फिर कौन भड़कायेगा? कुन्तीके शान्तिपरायण पुत्रोंको फिर कुपित करनेका साहस कौन करेगा? अजमीढकुलके रत्न! आप सब कुछ जानते और याद रखते हैं, तो भी मैं पुनः आपको स्मरण दिलाती रहूँगी ।। ५-६ ।।

शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे चेतराय च ।
न वै वृद्धो बालमतिर्भवेद् राजन् कथंचन ।। ७ ।।

'राजन्! जिसकी बुद्धि खोटी है, उसे शास्त्र भी भला-बुरा कुछ नहीं सिखा सकता। मन्दबुद्धि बालक वृद्धों-जैसा विवेकशील किसी प्रकार नहीं हो सकता ।। ७ ।।

त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्रा मा त्वां दीर्णाः प्रहासिषुः ।
तस्मादयं मद्वचनात् त्यज्यतां कुलपांसनः ।। ८ ।।

'आपके पुत्र आपके ही नियन्त्रणमें रहें, ऐसी चेष्टा कीजिये। ऐसा न हो कि वे सभी मर्यादाका त्याग करके प्राणोंसे हाथ धो बैठें और आपको इस बुढ़ापेमें छोड़कर चल बसें। इसलिये आप मेरी बात मानकर इस कुलांगार दुर्योधनको त्याग दें ।। ८ ।।

गान्धारीका धृतराष्ट्रको समझाना

तथा ते न कृतं राजन् पुत्रस्नेहान्नराधिप ।
तस्य प्राप्तं फलं विद्धि कुलान्तकरणाय यत् ।। ९ ।।

'महाराज! आपको जो करना चाहिये था, वह आपने पुत्रस्नेहवश नहीं किया। अतः समझ लीजिये, उसीका यह फल प्राप्त हुआ है, जो समूचे कुलके विनाशका कारण होने जा रहा है ।। ९ ।।

शमेन धर्मेण नयेन युक्ता
या ते बुद्धिः सास्तु ते मा प्रमादीः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्री-
र्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ।। १० ।।

'शान्ति, धर्म तथा उत्तम नीतिसे युक्त जो आपकी बुद्धि थी, वह बनी रहे। आप प्रमाद मत कीजिये। क्रूरतापूर्ण कर्मोंसे प्राप्त की हुई लक्ष्मी विनाशशील होती है और कोमलतापूर्ण बर्तावसे बढ़ी हुई धन-सम्पत्ति पुत्र-पौत्रोंतक चली जाती है' ।। १० ।।

अथाब्रवीन्महाराजो गान्धारीं धर्मदर्शिनीम् ।
अन्तः कामं कुलस्यास्तु न शक्नोमि निवारितुम् ।। ११ ।।

तब महाराज धृतराष्ट्रने धर्मपर दृष्टि रखनेवाली गान्धारीसे कहा—'देवि! इस कुलका अन्त भले ही हो जाय, परंतु मैं दुर्योधनको रोक नहीं सकता ।। ११ ।।

यथेच्छन्ति तथैवास्तु प्रत्यागच्छन्तु पाण्डवाः ।
पुनर्द्यूतं च कुर्वन्तु मामकाः पाण्डवैः सह ।। १२ ।।

'ये सब जैसा चाहते हैं, वैसा ही हो। पाण्डव लौट आयें और मेरे पुत्र उनके साथ फिर जूआ खेलें' ।। १२ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि गान्धारीवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७५ ।।

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

सबके मना करनेपर भी धृतराष्ट्रकी आज्ञासे युधिष्ठिरका पुनः जूआ खेलना और हारना

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यध्वगतं पार्थं प्रातिकामी युधिष्ठिरम् ।
उवाच वचनाद् राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थके मार्गमें बहुत दूरतक चले गये थे। उस समय बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे प्रातिकामी उनके पास गया और इस प्रकार बोला— ।। १ ।।

उपास्तीर्णा सभा राजन्नक्षानुप्त्वा युधिष्ठिर ।
एहि पाण्डव दीव्येति पिता त्वाहेति भारत ।। २ ।।

‘भरतकुलभूषण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर! आपके पिता राजा धृतराष्ट्रने यह आदेश दिया है कि तुम लौट आओ। हमारी सभा फिर सदस्योंसे भर गयी है और तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। तुम पासे फेंककर जूआ खेलो’ ।। २ ।।

युधिष्ठिर उवाच

धातुर्नियोगाद् भूतानि प्राप्नुवन्ति शुभाशुभम् ।

न निवृत्तिस्तयोरस्ति देवितव्यं पुनर्यदि ।। ३ ।।

युधिष्ठिरने कहा—समस्त प्राणी विधाताकी प्रेरणासे शुभ और अशुभ फल प्राप्त करते हैं। उन्हें कोई टाल नहीं सकता। जान पड़ता है, मुझे फिर जूआ खेलना पड़ेगा ।। ३ ।।

अक्षद्यूते समाह्वानं नियोगात् स्थविरस्य च ।

जानन्नपि क्षयकरं नातिक्रमितुमुत्सहे ।। ४ ।।

वृद्ध राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे जूएके लिये यह बुलावा हमारे कुलके विनाशका कारण है, यह जानते हुए भी मैं उनकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकता ।। ४ ।।

वैशम्पायन उवाच

असम्भवे हेममयस्य जन्तो-

स्तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।

प्रायः समासन्नपराभवाणां

धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! किसी जानवरका शरीर सुवर्णका हो, यह सम्भव नहीं; तथापि श्रीराम स्वर्णमय प्रतीत होनेवाले मृगके लिये लुभा गये। जिनका पतन या पराभव निकट होता है, उनकी बुद्धि प्रायः अत्यन्त विपरीत हो जाती है ।। ५ ।।

इति ब्रुवन् निववृते भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।

जानंश्च शकुनेर्मायां पार्थो द्यूतमियात् पुनः ।। ६ ।।

ऐसा कहते हुए पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भाइयोंके साथ पुनः लौट पड़े। वे शकुनिकी मायाको जानते थे, तो भी जूआ खेलनेके लिये चले आये ।। ६ ।।

विविशुस्ते सभां तां तु पुनरेव महारथाः ।

व्यथयन्ति स्म चेतांसि सुहृदां भरतर्षभाः ।। ७ ।।

यथोपजोषमासीनाः पुनर्द्यूतप्रवृत्तये ।

सर्वलोकविनाशाय दैवेनोपनिपीडिताः ।। ८ ।।

महारथी भरतश्रेष्ठ पाण्डव पुनः उस सभामें प्रविष्ट हुए। उन्हें देखकर सुहृदोंके मनमें बड़ी पीड़ा होने लगी। प्रारब्धके वशीभूत हुए कुन्तीकुमार सम्पूर्ण लोकोंके विनाशके लिये पुनः द्यूतक्रीड़ा आरम्भ करनेके उद्देश्यसे चुपचाप वहाँ जाकर बैठ गये ।। ७-८ ।।

शकुनिरुवाच

अमुञ्चत् स्थविरो यद् वो धनं पूजितमेव तत् ।

महाधनं ग्लहं त्वेकं शृणु भो भरतर्षभ ।। ९ ।।

शकुनिने कहा—राजन्! भरतश्रेष्ठ! हमारे बूढ़े महाराजने आपको जो सारा धन लौटा दिया है, वह बहुत अच्छा किया है। अब जूएके लिये एक ही दाँव रखा जायगा उसे सुनिये

— ।। ९ ।।

वयं वा द्वादशाब्दानि युष्माभिर्द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः ।। १० ।।

‘यदि आपने हमलोगोंको जूएमें हरा दिया तो हम मृगचर्म धारण करके महान् वनमें प्रवेश करेंगे ।। १० ।।

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ।। ११ ।।

‘और बारह वर्ष वहाँ रहेंगे एवं तेरहवाँ वर्ष हम जनसमूहमें लोगोंसे अज्ञात रहकर पूरा करेंगे और यदि हम तेरहवें वर्षमें लोगोंकी जानकारीमें आ जायँ तो फिर दुबारा बारह वर्ष वनमें रहेंगे ।। ११ ।।

अस्माभिर्निर्जिता यूयं वने द्वादश वत्सरान् ।
वसध्वं कृष्णया सार्धमजिनैः प्रतिवासिताः ।। १२ ।।

‘यदि हम जीत गये तो आपलोग द्रौपदीके साथ बारह वर्षोंतक मृगचर्म धारण करते हुए वनमें रहें ।। १२ ।।

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ।। १३ ।।

‘आपको भी तेरहवाँ वर्ष जनसमूहमें लोगोंसे अज्ञात रहकर व्यतीत करना पड़ेगा और यदि ज्ञात हो गये तो फिर दुबारा बारह वर्ष वनमें रहना होगा ।। १३ ।।

त्रयोदशे च निर्वृत्ते पुनरेव यथोचितम् ।
स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरैरथवेतरैः ।। १४ ।।

‘तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर हम या आप फिर वनसे आकर यथोचित रीतिसे अपना-अपना राज्य प्राप्त कर सकते हैं’ ।। १४ ।।

अनेन व्यवसायेन सहास्माभिर्युधिष्ठिर ।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमेहि दीव्यस्व भारत ।। १५ ।।

भरतवंशी युधिष्ठिर! इसी निश्चयके साथ आप आइये और पुनः पासा फेंककर हमलोगोंके साथ जूआ खेलिये ।। १५ ।।

अथ सभ्याः सभामध्ये समुच्छ्रितकरास्तदा ।
ऊचुरुद्विग्नमनसः संवेगात् सर्व एव हि ।। १६ ।।

यह सुनकर सब सभासदोंने सभामें अपने हाथ ऊपर उठाकर अत्यन्त उद्विग्नचित्त हो बड़ी घबराहटके साथ कहा ।।

सभ्या ऊचुः

अहो धिग् बान्धवा नैनं बोधयन्ति महद् भयम् ।

बुद्ध्या बुध्येन्न वा बुध्येदयं वै भरतर्षभः ।। १७ ।।

सभासद् बोले—अहो धिक्कार है! ये भाई-बन्धु भी युधिष्ठिरको उनके ऊपर आनेवाले महान् भयकी बात नहीं समझाते। पता नहीं, ये भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर अपनी बुद्धिके द्वारा इस भयको समझें या न समझें ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

जनप्रवादान् सुबहूञ्छृण्वन्नपि नराधिपः ।
ह्रिया च धर्मसंयोगात् पार्थो द्यूतमियात् पुनः ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! लोगोंकी तरह-तरहकी बातें सुनते हुए भी राजा युधिष्ठिर लज्जाके कारण तथा धृतराष्ट्रके आज्ञापालनरूप धर्मकी दृष्टिसे पुनः जूआ खेलनेके लिये उद्यत हो गये ।। १८ ।।

जानन्नपि महाबुद्धिः पुनर्द्यूतमवर्तयत् ।
अप्यासन्नो विनाशः स्यात् कुरूणामिति चिन्तयन् ।। १९ ।।

परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर जूएका परिणाम जानते थे, तो भी यह सोचकर कि सम्भवतः कुरुकुलका विनाश बहुत निकट है, वे द्यूतक्रीड़ामें प्रवृत्त हो गये ।। १९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै मद्विधो राजा स्वधर्ममनुपालयन् ।
आहूतो विनिवर्तेत दीव्यामि शकुने त्वया ।। २० ।।

युधिष्ठिर बोले—शकुने! स्वधर्मपालनमें संलग्न रहनेवाला मेरे-जैसा राजा जूएके लिये बुलाये जानेपर कैसे पीछे हट सकता था, अतः मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ।। २० ।।

(वैशम्पायन उवाच

एवं दैवबलाविष्टो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भीष्मद्रोणैर्वार्यमाणो विदुरेण च धीमता ।।
युयुत्सुना कृपेणाथ सञ्जयेन च भारत ।
गान्धार्या पृथया चैव भीमार्जुनयमैस्तथा ।।
विकर्णेन च वीरेण द्रौपद्या द्रौणिना तथा ।
सोमदत्तेन च तथा बाह्लीकेन च धीमता ।।
वार्यमाणोऽपि सततं न च राजा नियच्छति ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय धर्मराज युधिष्ठिर प्रारब्धके वशीभूत हो गये थे। महाराज! उन्हें भीष्म, द्रोण और बुद्धिमान् विदुरजी दुबारा जूआ खेलनेसे रोक रहे थे। युयुत्सु, कृपाचार्य तथा संजय भी मना कर रहे थे। गान्धारी, कुन्ती, भीम, अर्जुन,

नकुल, सहदेव, वीर विकर्ण, द्रौपदी, अश्वत्थामा, सोमदत्त तथा बुद्धिमान् बाह्लीक भी बारंबार रोक रहे थे तो भी राजा युधिष्ठिर भावीके वश होनेके कारण जूएसे नहीं हटे।

शकुनिरुवाच

गवाश्वं बहुधेनूकमपर्यन्तमजाविकम् ।
गजाः कोशो हिरण्यं च दासीदासाश्च सर्वशः ।। २१ ।।

शकुनिने कहा—राजन्! हमलोगोंके पास बैल, घोड़े और बहुत-सी दुधारू गौएँ हैं। भेड़ और बकरियोंकी तो गिनती ही नहीं है। हाथी, खजाना, दास-दासी तथा सुवर्ण सब कुछ हैं ।। २१ ।।

एष नो ग्लह एवैको वनवासाय पाण्डवाः ।
यूयं वयं वा विजिता वसेम वनमाश्रिताः ।। २२ ।।

फिर भी (इन्हें छोड़कर) एकमात्र वनवासका निश्चय ही हमारा दाँव है। पाण्डवो! आपलोग या हम, जो भी हारेंगे, उन्हें वनमें जाकर रहना होगा ।। २२ ।।

त्रयोदशं च वै वर्षमज्ञाताः सजने तथा ।
अनेन व्यवसायेन दीव्याम पुरुषर्षभाः ।। २३ ।।

केवल तेरहवें वर्ष हमें किसी जनसमूहमें अज्ञात-भावसे रहना होगा। नरश्रेष्ठगण! हम इसी निश्चयके साथ जूआ खेलें ।। २३ ।।

समुत्क्षेपेण चैकेन वनवासाय भारत ।
प्रतिजग्राह तं पार्थो ग्लहं जग्राह सौबलः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।। २४ ।।

भारत! वनवासकी शर्त रखकर केवल एक ही बार पासा फेंकनेसे जूएका खेल पूरा हो जायगा। युधिष्ठिरने उसकी बात स्वीकार कर ली। तत्पश्चात् सुबलपुत्र शकुनिने पासा हाथमें उठाया और उसे फेंककर युधिष्ठिरसे कहा—मेरी जीत हो गयी ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि पुनर्युधिष्ठिरपराभवे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ।। ७६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरपराभवविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ १/२ श्लोक मिलाकर कुल २७ १/२ श्लोक हैं)

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

दुःशासनद्वारा पाण्डवोंका उपहास एवं भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवकी शत्रुओंको मारनेके लिये भीषण प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

ततः पराजिताः पार्था वनवासाय दीक्षिताः ।
अजिनान्युत्तरीयाणि जगृहुश्च यथाक्रमम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर जूएमें हारे हुए कुन्तीके पुत्रोंने वनवासकी दीक्षा ली और क्रमशः सबने मृगचर्मको उत्तरीय वस्त्रके रूपमें धारण किया ।। १ ।।

अजिनैः संवृतान् दृष्ट्वा हृतराज्यानरिंदमान् ।
प्रस्थितान् वनवासाय ततो दुःशासनोऽब्रवीत् ।। २ ।।

जिनका राज्य छिन गया था, वे शत्रुदमन पाण्डव जब मृगचर्मसे अपने अंगोंको ढँककर वनवासके लिये प्रस्थित हुए, उस समय दुःशासनने सभामें उनको लक्ष्य करके कहा— ।। २ ।।

प्रवृत्तं धार्तराष्ट्रस्य चक्रं राज्ञो महात्मनः ।
पराजिताः पाण्डवेया विपत्तिं परमां गताः ।। ३ ।।

'धृतराष्ट्रपुत्र महामना राजा दुर्योधनका समस्त भूमण्डलपर एकछत्र राज्य हो गया। पाण्डव पराजित होकर बड़ी भारी विपत्तिमें पड़ गये ।। ३ ।।

अद्यैव ते सम्प्रयाताः समैर्वर्त्मभिरस्थलैः ।
गुणज्येष्ठास्तथा श्रेष्ठाः श्रेयांसो यद् वयं परैः ।। ४ ।।

'आज वे पाण्डव समान मार्गोंसे, जिनपर आये हुओंकी भीड़के कारण जगह नहीं रही है, वनको चले जा रहे हैं। हमलोग अपने प्रतिपक्षियोंसे गुण और अवस्था दोनोंमें बड़े हैं। अतः हमारा स्थान उनसे बहुत ऊँचा है ।। ४ ।।

नरकं पातिताः पार्था दीर्घकालमनन्तकम् ।
सुखाच्च हीना राज्याच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः ।। ५ ।।
धनेन मत्ता ये ते स्म धार्तराष्ट्रान् प्रहासिषुः ।
ते निर्जिता हृतधना वनमेष्यन्ति पाण्डवा ।। ६ ।।

'कुन्तीके पुत्र दीर्घकालतकके लिये अनन्त दुःखरूप नरकमें गिरा दिये गये। ये सदाके लिये सुखसे वंचित तथा राज्यसे हीन हो गये हैं। जो लोग पहले अपने धनसे उन्मत्त हो धृतराष्ट्रपुत्रोंकी हँसी उड़ाया करते थे, वे ही पाण्डव आज पराजित हो अपने धन-वैभवसे हाथ धोकर वनमें जा रहे हैं ।। ५-६ ।।

चित्रान् सन्नाहानवमुच्य पार्था
वासांसि दिव्यानि च भानुमन्ति ।
विवास्यन्तां रुरुचर्माणि सर्वे
यथा ग्लहं सौबलस्याभ्युपेताः ।। ७ ।।

'सभी पाण्डव अपने शरीरपर जो विचित्र कवच और चमकीले दिव्य वस्त्र हैं, उन सबको उतारकर मृगचर्म धारण कर लें; जैसा कि सुबलपुत्र शकुनिके भावको स्वीकार करके ये लोग जूआ खेले हैं ।। ७ ।।

न सन्ति लोकेषु पुमांस ईदृशा
इत्येव ये भावितबुद्धयः सदा ।
ज्ञास्यन्ति तेऽऽत्मानमिमेऽद्य पाण्डवा
विपर्यये षण्ढतिला इवाफलाः ।। ८ ।।

'जो अपनी बुद्धिमें सदा यही अभिमान लिये बैठे थे कि हमारे-जैसे पुरुष तीनों लोकोंमें नहीं हैं, वे ही पाण्डव आज विपरीत अवस्थामें पहुँचकर थोथे तिलों-की भाँति निःसत्त्व हो गये हैं। अब इन्हें अपनी स्थितिका ज्ञान होगा ।। ८ ।।

इदं हि वासो यदि वेदृशानां
मनस्विनां रौरवमाहवेषु ।
अदीक्षितानामजिनानि यद्वद्
बलीयसां पश्यत पाण्डवानाम् ।। ९ ।।

'इन मनस्वी और बलवान् पाण्डवोंका यह मृगचर्ममय वस्त्र तो देखो, जिसे यज्ञमें महात्मालोग धारण करते हैं। मुझे तो इनके शरीरपर ये मृगचर्म यज्ञकी दीक्षाके अधिकारसे रहित जंगली कोलभीलोंके चर्ममय वस्त्रके समान ही प्रतीत होते हैं ।। ९ ।।

महाप्राज्ञः सौमकिर्यज्ञसेनः
कन्यां पाञ्चालीं पाण्डवेभ्यः प्रदाय ।
अकार्षीद् वै सुकृतं नेह किंचित्
क्लीबाः पार्थाः पतयो याज्ञसेन्याः ।। १० ।।

'महाबुद्धिमान् सोमकवंशी राजा द्रुपदने अपनी कन्या पांचालीको पाण्डवोंके लिये देकर कोई अच्छा काम नहीं किया। द्रौपदीके पति ये कुन्तीपुत्र निरे नपुंसक ही हैं ।। १० ।।

सूक्ष्मप्रावारानजिनोत्तरीयान्
दृष्ट्वारण्ये निर्धनानप्रतिष्ठान् ।
कां त्वं प्रीतिं लप्स्यसे याज्ञसेनि
पतिं वृणीष्वेह यमन्यमिच्छसि ।। ११ ।।

'द्रौपदी! जो सुन्दर महीन कपड़े पहना करते थे, उन्हीं पाण्डवोंको वनमें निर्धन, अप्रतिष्ठित और मृगचर्मकी चादर ओढ़े देख तुम्हें क्या प्रसन्नता होगी? अब तुम किसी अन्य

पुरुषको, जिसे चाहो, अपना पति बना लो ।। ११ ।।

एते हि सर्वे कुरवः समेताः
क्षान्ता दान्ताः सुद्रविणोपपन्नाः ।
एषां वृणीष्वैकतमं पतित्वे
न त्वां तपेत् कालविपर्ययोऽयम् ।। १२ ।।

'ये समस्त कौरव क्षमाशील, जितेन्द्रिय तथा उत्तम धन-वैभवसे सम्पन्न हैं। इन्हींमेंसे किसीको अपना पति चुन लो, जिससे यह विपरीत काल (निर्धनावस्था) तुम्हें संतप्त न करे ।। १२ ।।

यथाफलाः षण्ढतिला यथा चर्ममया मृगाः ।
तथैव पाण्डवाः सर्वे यथा काकयवा अपि ।। १३ ।।

'जैसे थोथे तिल बोनेपर फल नहीं देते हैं, जैसे केवल चर्ममय मृग व्यर्थ हैं तथा जैसे काकयव (तंदुलरहित तृणधान्य) निष्प्रयोजन होते हैं, उसी प्रकार समस्त पाण्डवोंका जीवन निरर्थक हो गया है ।। १३ ।।

किं पाण्डवांस्ते पतितानुपास्य
मोघः श्रमः षण्ढतिलानुपास्य ।
एवं नृशंसः परुषाणि पार्था-
नश्रावयद् धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।। १४ ।।

'थोथे तिलोंकी भाँति इन पतित और नपुंसक पाण्डवोंकी सेवा करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा, व्यर्थका परिश्रम ही तो उठाना पड़ेगा।'

इस प्रकार धृतराष्ट्रके नृशंस पुत्र दुःशासनने पाण्डवोंको बहुत-से कठोर वचन सुनाये ।। १४ ।।

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी
निर्भर्त्स्योच्चैः संनिगृह्यैव रोषात् ।
उवाच चैनं सहसैवोपगम्य
सिंहो यथा हैमवतः शृगालम् ।। १५ ।।

यह सब सुनकर भीमसेनको बड़ा क्रोध हुआ। जैसे हिमालयकी गुफामें रहनेवाला सिंह गीदड़के पास जाय, उसी प्रकार वे सहसा दुःशासनके पास जा पहुँचे और रोषपूर्वक उसे रोककर जोर-जोरसे फटकारते हुए बोले ।। १५ ।।

भीमसेन उवाच

क्रूर पापजनैर्जुष्टमकृतार्थं प्रभाषसे ।
गान्धारविद्यया हि त्वं राजमध्ये विकत्थसे ।। १६ ।।

भीमसेनने कहा—क्रूर एवं नीच दुःशासन! तू पापी मनुष्योंद्वारा प्रयुक्त होनेवाली ओछी बातें बक रहा है। अरे! तू अपने बाहुबलसे नहीं, शकुनिकी छल-विद्याके प्रभावसे आज राजाओंकी मण्डलीमें अपने मुँहसे अपनी बड़ाई कर रहा है ।। १६ ।।

यथा तुदसि मर्माणि वाक्शरैरिह नो भृशम् ।
तथा स्मारयिता तेऽहं कृन्तन् मर्माणि संयुगे ।। १७ ।।

जैसे यहाँ तू अपने वचनरूपी बाणोंसे हमारे मर्मस्थानोंमें अत्यन्त पीड़ा पहुँचा रहा है, उसी प्रकार जब युद्धमें मैं तेरा हृदय विदीर्ण करने लगूँगा, उस समय तेरी कही हुई इन बातोंकी याद दिलाऊँगा ।। १७ ।।

ये च त्वामनुवर्तन्ते क्रोधलोभवशानुगाः ।
गोप्तारः सानुबन्धांस्तान् नेतास्मि यमसादनम् ।। १८ ।।

जो लोग क्रोध और लोभके वशीभूत हो तुम्हारे रक्षक बनकर पीछे-पीछे चलते हैं, उन्हें उनके सम्बन्धियोंसहित यमलोक भेज दूँगा ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणमजिनैर्विवासितं
दुःशासनस्तं परिनृत्यति स्म ।
मध्ये कुरूणां धर्मनिबद्धमार्गं
गौर्गौरिति स्माह्वयन् मुक्तलज्जः ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मृगचर्म धारण किये भीमसेनको ऐसी बातें करते देख निर्लज्ज दुःशासन कौरवोंके बीचमें उनकी हँसी उड़ाते हुए नाचने लगा और 'ओ बैल! ओ बैल' कहकर उन्हें पुकारने लगा। उस समय भीमका मार्ग धर्मराज युधिष्ठिरने रोक रखा था (अन्यथा वे दुःशासनको जीता न छोड़ते) ।। १९ ।।

भीमसेन उवाच

नृशंस परुषं वक्तुं शक्यं दुःशासन त्वया ।
निकृत्या हि धनं लब्ध्वा को विकत्थितुमर्हति ।। २० ।।

भीमसेन बोले—ओ नृशंस दुःशासन! तेरे ही मुखसे ऐसी कठोर बातें निकल सकती हैं, तेरे सिवा दूसरा कौन है, जो छल-कपटसे धन पाकर इस तरह आप ही अपनी प्रशंसा करेगा ।। २० ।।

मैव स्म सुकृताँल्लोकान् गच्छेत् पार्थो वृकोदरः ।
यदि वक्षो हि ते भित्त्वा न पिबेच्छोणितं रणे ।। २१ ।।

मेरी बात सुन ले। यह कुन्तीपुत्र भीमसेन यदि युद्धमें तेरी छाती फाड़कर तेरा रक्त न पीये तो इसे पुण्यलोकोंकी प्राप्ति न हो ।। २१ ।।

धार्तराष्ट्रान् रणे हत्वा मिषतां सर्वधन्विनाम् ।

शमं गन्तास्मि नचिरात् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। २२ ।।

मैं तुझसे सच्ची बात कह रहा हूँ, शीघ्र ही वह समय आनेवाला है, जब कि समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते मैं युद्धमें धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंका वध करके शान्ति प्राप्त करूँगा ।। २२ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्य राजा सिंहगतेः सखेलं
दुर्योधनो भीमसेनस्य हर्षात् ।
गतिं स्वगत्यानुचकार मन्दो
निर्गच्छतां पाण्डवानां सभायाः ।। २३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब पाण्डवलोग सभाभवनसे निकले, उस समय मन्दबुद्धि राजा दुर्योधन हर्षमें भरकर सिंहके समान मस्तानी चालसे चलनेवाले भीमसेनकी खिल्ली उड़ाते हुए उनकी चालकी नकल करने लगा ।। २३ ।।

नैतावता कृतमित्यब्रवीत् तं
वृकोदरः संनिवृत्तार्धकायः ।
शीघ्रं हि त्वां निहतं सानुबन्धं
संस्मार्याहं प्रतिवक्ष्यामि मूढ ।। २४ ।।

यह देख भीमसेनने अपने आधे शरीरको पीछेकी ओर मोड़कर कहा—‘ओ मूढ़! केवल दुःशासनके रक्तपान-द्वारा ही मेरा कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता है। तुझे भी सम्बन्धियोंसहित शीघ्र ही यमलोक भेजकर तेरे इस परिहासकी याद दिलाते हुए इसका समुचित उत्तर दूँगा’ ।। २४ ।।

एवं समीक्ष्यात्मनि चावमानं
नियम्य मन्युं बलवान् स मानी ।
राजानुगः संसदि कौरवाणां
विनिष्क्रामन् वाक्यमुवाच भीमः ।। २५ ।।

इस प्रकार अपना अपमान होता देख बलवान् एवं मानी भीमसेन क्रोधको किसी प्रकार रोककर राजा युधिष्ठिरके पीछे कौरवसभासे निकलते हुए इस प्रकार बोले ।। २५ ।।

भीमसेन उवाच

अहं दुर्योधनं हन्ता कर्णं हन्ता धनंजयः ।
शकुनिं चाक्षकितवं सहदेवो हनिष्यति ।। २६ ।।

भीमसेनने कहा—मैं दुर्योधनका वध करूँगा, अर्जुन कर्णका संहार करेंगे और इस जुआरी शकुनिको सहदेव मार डालेंगे ।। २६ ।।

इदं च भूयो वक्ष्यामि सभामध्ये बृहद् वचः ।

सत्यं देवाः करिष्यन्ति यन्नो युद्धं भविष्यति ।। २७ ।।
सुयोधनमिमं पापं हन्तास्मि गदया युधि ।
शिरः पादेन चास्याहमधिष्ठास्यामि भूतले ।। २८ ।।

साथ ही इस भरी सभामें मैं पुनः एक बहुत बड़ी बात कह रहा हूँ। मेरा यह विश्वास है कि देवतालोग मेरी यह बात सत्य कर दिखायेंगे। जब हम कौरव और पाण्डवोंमें युद्ध होगा, उस समय इस पापी दुर्योधनको मैं गदासे मार गिराऊँगा तथा रणभूमिमें पड़े हुए इस पापीके मस्तकको पैरसे ठुकराऊँगा ।। २७-२८ ।।

वाक्यशूरस्य चैवास्य परुषस्य दुरात्मनः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पातास्मि मृगराडिव ।। २९ ।।

और यह जो केवल बात बनानेमें बहादुर क्रूर-स्वभाववाला दुरात्मा दुःशासन है, इसकी छातीका खून उसी प्रकार पी लूँगा, जैसे सिंह किसी मृगका रक्त पान करता है ।। २९ ।।

अर्जुन उवाच

नैवं वाचा व्यवसितं भीम विज्ञायते सताम् ।
इतश्चतुर्दशे वर्षे द्रष्टारो यद् भविष्यति ।। ३० ।।

अर्जुनने कहा—आर्य भीमसेन! साधु पुरुष जो कुछ करना चाहते हैं, उसे इस प्रकार वाणीद्वारा सूचित नहीं करते। आजसे चौदहवें वर्षमें जो घटना घटित होगी, उसे स्वयं ही लोग देखेंगे ।। ३० ।।

भीमसेन उवाच

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ।। ३१ ।।

भीमसेन बोले—यह भूमि दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि तथा चौथे दुःशासनके रक्तका निश्चय ही पान करेगी ।।

अर्जुन उवाच

असूयितारं द्रष्टारं प्रवक्तारं विकत्थनम् ।
भीमसेन नियोगात् ते हन्ताहं कर्णमाहवे ।। ३२ ।।

अर्जुनने कहा—भैया भीमसेन! जो हमलोगोंके दोष ही ढूँढ़ा करता है, हमारे दुःख देखकर प्रसन्न होता है, कौरवोंको बुरी सलाहें देता है और व्यर्थ बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, उस कर्णको मैं आपकी आज्ञासे अवश्य युद्धमें मार डालूँगा ।। ३२ ।।

अर्जुनः प्रतिजानीते भीमस्य प्रियकाम्यया ।
कर्णं कर्णानुगांश्चैव रणे हन्तास्मि पत्रिभिः ।। ३३ ।।

अपने भाई भीमसेनका प्रिय करनेकी इच्छासे अर्जुन यह प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं युद्धमें कर्ण और उसके अनुगामियोंको भी बाणोंद्वारा मार डालूँगा' ।। ३३ ।।

ये चान्ये प्रतियोत्स्यन्ति बुद्धिमोहेन मां नृपाः ।
तांश्च सर्वानहं बाणैर्नेतास्मि यमसादनम् ।। ३४ ।।

दूसरे भी जो नरेश बुद्धिके व्यामोहवश हमारे विपक्षमें होकर युद्ध करेंगे, उन सबको अपने तीक्ष्ण सायकोंद्वारा मैं यमलोक पहुँचा दूँगा ।। ३४ ।।

चलेद्धि हिमवान् स्थानान्निष्प्रभः स्याद् दिवाकरः ।
शैत्यं सोमात् प्रणश्येत मत्सत्यं विचलेद् यदि ।। ३५ ।।

यदि मेरा सत्य विचलित हो जाय तो हिमालय पर्वत अपने स्थानसे हट जाय, सूर्यकी प्रभा नष्ट हो जाय और चन्द्रमासे उसकी शीतलता दूर हो जाय (अर्थात् जैसे हिमालय अपने स्थानसे नहीं हट सकता, सूर्यकी प्रभा नष्ट नहीं हो सकती, चन्द्रमासे उसकी शीतलता दूर नहीं हो सकती, वैसे ही मेरे वचन मिथ्या नहीं हो सकते) ।। ३५ ।।

न प्रदास्यति भेद् राज्यमितो वर्षे चतुर्दशे ।
दुर्योधनोऽभिसत्कृत्य सत्यमेतद् भविष्यति ।। ३६ ।।

यदि आजसे चौदहवें वर्षमें दुर्योधन सत्कारपूर्वक हमारा राज्य हमें वापस न दे देगा तो ये सब बातें सत्य होकर रहेंगी ।। ३६ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति पार्थे तु श्रीमान् माद्रवतीसुतः ।
प्रगृह्य विपुलं बाहुं सहदेवः प्रतापवान् ।। ३७ ।।
सौबलस्य वधं प्रेप्सुरिदं वचनमब्रवीत् ।
क्रोधसंरक्तनयनो निःश्वसन्निव पन्नगः ।। ३८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनके ऐसा कहनेपर परम सुन्दर प्रतापी वीर माद्रीनन्दन सहदेवने अपनी विशाल भुजा ऊपर उठाकर शकुनिके वधकी इच्छासे इस प्रकार कहा; उस समय उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे और वे फुँफकारते हुए सर्पकी भाँति उच्छ्वास ले रहे थे ।। ३७-३८ ।।

सहदेव उवाच

अक्षान् यान् मन्यसे मूढ गान्धाराणां यशोहर ।
नैतेऽक्षा निशिता बाणास्त्वयैते समरे वृताः ।। ३९ ।।

सहदेवने कहा—ओ गान्धारनिवासी क्षत्रियकुलके कलंक मूर्ख शकुने! जिन्हें तू पासे समझ रहा है, वे पासे नहीं हैं, उनके रूपमें तूने युद्धमें तीखे बाणोंका वरण किया है ।। ३९ ।।

यथा चैवोक्तवान् भीमस्त्वामुद्दिश्य सबान्धवम् ।

कर्ताहं कर्मणस्तस्य कुरु कार्याणि सर्वशः ।। ४० ।।

आर्य भीमसेनने बन्धु-बान्धवोंसहित तेरे विषयमें जो बात कही है, मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगा। तुझे अपने बचावके लिये जो कुछ करना हो, वह सब कर डाल ।। ४० ।।

हन्तास्मि तरसा युद्धे त्वामेवेह सबान्धवम् ।
यदि स्थास्यसि संग्रामे क्षत्रधर्मेण सौबल ।। ४१ ।।

सुबलकुमार! यदि तू क्षत्रियधर्मके अनुसार संग्राममें डटा रह जायगा, तो मैं वेगपूर्वक तुझे तेरे बन्धु-बान्धवोंसहित अवश्य मार डालूँगा ।। ४१ ।।

सहदेववचः श्रुत्वा नकुलोऽपि विशाम्पते ।
दर्शनीयतमो नृणामिदं वचनमब्रवीत् ।। ४२ ।।

राजन्! सहदेवकी बात सुनकर मनुष्योंमें परम दर्शनीय रूपवाले नकुलने भी यह बात कही ।। ४२ ।।

नकुल उवाच

सुतेयं यज्ञसेनस्य द्यूतेऽस्मिन् धृतराष्ट्रजैः ।
यैर्वाचः श्राविता रूक्षाः स्थितैर्दुर्योधनप्रिये ।। ४३ ।।
तान् धार्तराष्ट्रान् दुर्वृत्तान् मुमूर्षून् कालनोदितान् ।
गमयिष्यामि भूयिष्ठानहं वैवस्वतक्षयम् ।। ४४ ।।

नकुल बोले—दुर्योधनके प्रियसाधनमें लगे हुए जिन धृतराष्ट्रपुत्रोंने इस द्यूतसभामें द्रुपदकुमारी कृष्णाको कठोर बातें सुनायी हैं, कालसे प्रेरित हो मौतके मुँहमें जानेकी इच्छा रखनेवाले उन दुराचारी बहुसंख्यक धृतराष्ट्रकुमारोंको मैं यमलोकका अतिथि बना दूँगा ।।

निदेशाद् धर्मराजस्य द्रौपद्याः पदवीं चरन् ।
निर्धार्तराष्ट्रां पृथिवीं कर्तास्मि नचिरादिव ।। ४५ ।।

धर्मराजकी आज्ञासे द्रौपदीका प्रिय करते हुए मैं सारी पृथिवीको धृतराष्ट्रपुत्रोंसे सूनी कर दूँगा; इसमें अधिक देर नहीं है ।। ४५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं ते पुरुषव्याघ्राः सर्वे व्यायतबाहवः ।
प्रतिज्ञा बहुलाः कृत्वा धृतराष्ट्रमुपागमन् ।। ४६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार वे सभी पुरुषसिंह महाबाहु पाण्डव बहुत-सी प्रतिज्ञाएँ करके राजा धृतराष्ट्रके पास गये ।। ४६ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि पाण्डवप्रतिज्ञाकरणे सप्तसप्ततितमोध्यायः ।। ७७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें पाण्डवोंकी प्रतिज्ञासे सम्बन्ध रखनेवाला सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७७ ।।

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धृतराष्ट्र आदिसे विदा लेना, विदुरका कुन्तीको अपने यहाँ रखनेका प्रस्ताव और पाण्डवोंको धर्मपूर्वक रहनेका उपदेश देना

युधिष्ठिर उवाच

आमन्त्रयामि भरतांस्तथा वृद्धं पितामहम् ।
राजानं सोमदत्तं च महाराजं च बाह्लिकम् ।। १ ।।
द्रोणं कृपं नृपांश्चान्यानश्वत्थामानमेव च ।
विदुरं धृतराष्ट्रं च धार्तराष्ट्रांश्च सर्वशः ।। २ ।।
युयुत्सुं संजयं चैव तथैवान्यान् सभासदः ।
सर्वानामन्त्र्य गच्छामि द्रष्टास्मि पुनरेत्य वः ।। ३ ।।

युधिष्ठिर बोले—मैं भरतवंशके समस्त गुरुजनोंसे वनमें जानेकी आज्ञा चाहता हूँ। बड़े-बूढ़े पितामह भीष्म, राजा सोमदत्त, महाराज बाह्लिक, गुरुवर द्रोण और कृपाचार्य, अश्वत्थामा, अन्यान्य नृपतिगण, विदुर, राजा धृतराष्ट्र, उनके सभी पुत्र, युयुत्सु, संजय तथा दूसरे सब सदस्योंसे पूछकर सबकी आज्ञा लेकर वनमें जाता हूँ, फिर लौटकर आप लोगोंका दर्शन करूँगा ।। १—३ ।।

वैशम्पायन उवाच

न च किंचिदथोचुस्तं ह्रिया सन्ना युधिष्ठिरम् ।
मनोभिरेव कल्याणं दध्युस्ते तस्य धीमतः ।। ४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर सब कौरव लाजके मारे सन्न रह गये, कुछ भी उत्तर न दे सके। उन्होंने मन-ही-मन उन बुद्धिमान् युधिष्ठिरके कल्याणका चिन्तन किया ।। ४ ।।

विदुर उवाच

आर्या पृथा राजपुत्री नारण्यं गन्तुमर्हति ।
सुकुमारी च वृद्धा च नित्यं चैव सुखोचिता ।। ५ ।।
इह वत्स्यति कल्याणी सत्कृता मम वेश्मनि ।
इति पार्था विजानीध्वमगदं वोऽस्तु सर्वशः ।। ६ ।।

विदुर बोले—कुन्तीकुमारो! राजपुत्री आर्या कुन्ती वनमें जाने लायक नहीं हैं। वे कोमल अंगोंवाली और वृद्धा हैं, सदा सुख और आरामके ही योग्य हैं; अतः वे मेरे ही घरमें

सत्कारपूर्वक रहेंगी। यह बात तुम सब लोग जान लो। मेरी शुभ कामना है कि तुम वहाँ सर्वथा नीरोग एवं सुखसे रहो ।। ५-६ ।।

पाण्डवा ऊचुः

तथेत्युक्त्वाब्रुवन् सर्वे यथा नो वदसेऽनघ ।
त्वं पितृव्यः पितृसमो वयं च त्वत्परायणाः ।। ७ ।।

पाण्डवोंने कहा—बहुत अच्छा, ऐसा ही हो। इतना कहकर वे सब फिर बोले—'अनघ! आप हमें जैसा कहें—जैसी आज्ञा दें, वही शिरोधार्य है। आप हमारे पितृव्य (पिताके भाई) हैं, अतः पिताके ही तुल्य हैं। हम सब भाई आपकी शरणमें हैं ।। ७ ।।

यथाऽऽज्ञापयसे विद्वंस्त्वं हि नः परमो गुरुः ।
यच्चान्यदपि कर्तव्यं तद् विधत्स्व महामते ।। ८ ।।

'विद्वन्! आप जैसी आज्ञा दें, वही हमें मान्य है; क्योंकि आप हमारे परम गुरु हैं। महामते! इसके सिवा और भी जो कुछ हमारा कर्तव्य हो, वह हमें बताइये' ।। ८ ।।

विदुर उवाच

युधिष्ठिर विजानीहि ममेदं भरतर्षभ ।
नाधर्मेण जितः कश्चिद् व्यथते वै पराजये ।। ९ ।।

विदुर बोले—भरतकुलभूषण युधिष्ठिर! तुम मुझसे यह जान लो कि अधर्मसे पराजित होनेवाला कोई भी पुरुष अपनी उस पराजयके लिये दुःखी नहीं होता ।। ९ ।।

त्वं वै धर्मं विजानीषे युद्धे जेता धनंजयः ।
हन्तारीणां भीमसेनो नकुलस्त्वर्थसंग्रही ।। १० ।।

तुम धर्मके ज्ञाता हो। अर्जुन युद्धमें विजय पानेवाले हैं। भीमसेन शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ हैं। नकुल आवश्यक वस्तुओंको जुटानेमें कुशल हैं ।। १० ।।

संयन्ता सहदेवस्तु धौम्यो ब्रह्मविदुत्तमः ।
धर्मार्थकुशला चैव द्रौपदी धर्मचारिणी ।। ११ ।।

सहदेव संयमी हैं तथा ब्रह्मर्षि धौम्यजी ब्रह्मवेत्ताओंके शिरोमणि हैं। एवं धर्मपरायणा द्रौपदी भी धर्म और अर्थके सम्पादनमें कुशल है ।। ११ ।।

अन्योन्यस्य प्रियाः सर्वे तथैव प्रियदर्शनाः ।
परैरभेद्याः संतुष्टाः को वो न स्पृहयेदिह ।। १२ ।।

तुम सब लोग आपसमें एक-दूसरेके प्रिय हो, तुम्हें देखकर सबको प्रसन्नता होती है। शत्रु तुममें भेद या फूट नहीं डाल सकते, इस जगत्में कौन है जो तुमलोगोंको न चाहता हो ।। १२ ।।

एष वै सर्वकल्याणः समाधिस्तव भारत ।
नैनं शत्रुर्विषहते शक्रेणापि समोऽप्युत ।। १३ ।।

भारत! तुम्हारा यह क्षमाशीलताका नियम सब प्रकारसे कल्याणकारी है। इन्द्रके समान पराक्रमी शत्रु भी इसका सामना नहीं कर सकता ।। १३ ।।

हिमवत्यनुशिष्टोऽसि मेरुसावर्णिना पुरा ।
द्वैपायनेन कृष्णेन नगरे वारणावते ।। १४ ।।
भृगुतुङ्गे च रामेण दृषद्वत्यां च शम्भुना ।
अश्रौषीरसितस्यापि महर्षेरञ्जनं प्रति ।। १५ ।।

पूर्वकालमें मेरुसावर्णिने हिमालयपर तुम्हें धर्म और ज्ञानका उपदेश दिया है, वारणावत नगरमें श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने, भृगुतुंग पर्वतपर परशुरामजीने तथा दृषद्वतीके तटपर साक्षात् भगवान् शंकरने तुम्हें अपने सदुपदेशसे कृतार्थ किया है। अंजन पर्वतपर तुमने महर्षि असितका भी उपदेश सुना है ।। १४-१५ ।।

कल्माषीतीरसंस्थस्य गतस्त्वं शिष्यतां भृगोः ।
द्रष्टा सदा नारदस्ते धौम्यस्तेऽयं पुरोहितः ।। १६ ।।

कल्माषी नदीके किनारे निवास करनेवाले महर्षि भृगुने भी तुम्हें उपदेश देकर अनुगृहीत किया है। देवर्षि नारदजी सदा तुम्हारी देखभाल करते हैं और तुम्हारे ये पुरोहित धौम्यजी तो सदा साथ ही रहते हैं ।। १६ ।।

मा हासीः साम्पराये त्वं बुद्धिं तामृषिपूजिताम् ।
पुरूरवसमैलं त्वं बुद्ध्या जयसि पाण्डव ।। १७ ।।

ऋषियोंद्वारा सम्मानित उस परलोकविषयक विज्ञानका तुम कभी त्याग न करना। पाण्डुनन्दन! तुम अपनी बुद्धिसे इलानन्दन पुरूरवाको भी पराजित करते हो ।। १७ ।।

शक्त्या जयसि राज्ञोऽन्यानृषीन् धर्मोपसेवया ।
ऐन्द्रे जये धृतमना याम्ये कोपविधारणे ।। १८ ।।

शक्तिसे समस्त राजाओंको तथा धर्मसेवनद्वारा ऋषियोंको भी जीत लेते हो। तुम इन्द्रसे मनमें विजयका उत्साह प्राप्त करो। क्रोधको काबूमें रखनेका पाठ यमराजसे सीखो।

तथा विसर्गे कौबेरे वारुणे चैव संयमे ।
आत्मप्रदानं सौम्यत्वमद्भ्यश्चैवोपजीवनम् ।। १९ ।।

उदारता एवं दानमें कुबेरका और संयममें वरुणका आदर्श ग्रहण करो। दूसरोंके हितके लिये अपने-आपको निछावर करना, सौम्यभाव (शीतलता) तथा दूसरोंको जीवन-दान देना—इन सब बातोंकी शिक्षा तुम्हें जलसे लेनी चाहिये ।। १९ ।।

भूमेः क्षमा च तेजश्च समग्रं सूर्यमण्डलात् ।
वायोर्बलं प्राप्नुहि त्वं भूतेभ्यश्चात्मसम्पदम् ।। २० ।।

तुम भूमिसे क्षमा, सूर्यमण्डलसे तेज, वायुसे बल तथा सम्पूर्ण भूतोंसे अपनी सम्पत्ति प्राप्त करो ।। २० ।।

अगदं वोऽस्तु भद्रं वो द्रष्टास्मि पुनरागतान् ।

आपद्धर्मार्थकृच्छ्रेषु सर्वकार्येषु वा पुनः ।। २१ ।।
यथावत् प्रतिपद्येथाः काले काले युधिष्ठिर ।
आपृष्टोऽसीह कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ।। २२ ।।

तुम्हें कभी कोई रोग न हो, सदा मंगल-ही-मंगल दिखायी दे। कुशलपूर्वक वनसे लौटनेपर मैं फिर तुम्हें देखूँगा। युधिष्ठिर! आपत्तिकालमें, धर्म तथा अर्थका संकट उपस्थित होनेपर अथवा सभी कार्योंमें समय-समयपर अपने उचित कर्तव्यका पालन करना। कुन्तीनन्दन! भारत! तुमसे आवश्यक बातें कर लीं। तुम्हें कल्याण प्राप्त हो ।। २१-२२ ।।

कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामः पुनरागतम् ।
न हि वो वृजिनं किंचिद् वेद कश्चित् पुरा कृतम् ।। २३ ।।

जब वनसे कुशलपूर्वक कृतार्थ होकर लौटोगे, तब यहाँ आनेपर फिर तुमसे मिलूँगा। तुम्हारे पहलेके किसी दोषको दूसरा कोई न जाने, इसकी चेष्टा रखना ।। २३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा पाण्डवः सत्यविक्रमः ।
भीष्मद्रोणौ नमस्कृत्य प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ।। २४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विदुरके ऐसा कहनेपर सत्यपराक्रमी पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भीष्म और द्रोणको नमस्कार करके वहाँसे प्रस्थित हुए ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि युधिष्ठिरवनप्रस्थानेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरका वनको प्रस्थानविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७८ ।।

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

द्रौपदीका कुन्तीसे विदा लेना तथा कुन्तीका विलाप एवं नगरके नर-नारियोंका शोकातुर होना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् सम्प्रस्थिते कृष्णा पृथां प्राप्य यशस्विनीम् ।
अपृच्छद् भृशदुःखार्ता याश्चान्यास्तत्र योषितः ।। १ ।।
यथार्हं वन्दनाश्लेषान् कृत्वा गन्तुमियेष सा ।
ततो निनादः सुमहान् पाण्डवान्तःपुरेऽभवत् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—युधिष्ठिरके प्रस्थान करनेपर कृष्णाने यशस्विनी कुन्तीके पास जाकर अत्यन्त दुःखसे आतुर हो वनमें जानेकी आज्ञा माँगी। वहाँ जो दूसरी स्त्रियाँ बैठी थीं, उन सबकी यथायोग्य वन्दना करके सबसे गले मिलकर उसने वनमें जानेकी इच्छा प्रकट की। फिर तो पाण्डवोंके अन्तःपुरमें महान् आर्तनाद होने लगा ।।

कुन्ती च भृशसंतप्ता द्रौपदीं प्रेक्ष्य गच्छतीम् ।
शोकविह्वलया वाचा कृच्छ्राद् वचनमब्रवीत् ।। ३ ।।

द्रौपदीको जाती देख कुन्ती अत्यन्त संतप्त हो उठीं और शोकाकुल वाणीद्वारा बड़ी कठिनाईसे इस प्रकार बोलीं— ।। ३ ।।

वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत् ।

स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा ।। ४ ।।

'बेटी! इस महान् संकटको पाकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। तुम स्त्रीके धर्मोंको जानती हो, शील और सदाचारका पालन करनेवाली हो ।। ४ ।।

न त्वां संदेष्टुमर्हामि भर्तॄन् प्रति शुचिस्मिते ।
साध्वीगुणसमापन्ना भूषितं ते कुलद्वयम् ।। ५ ।।

'पवित्र मुसकानवाली बहू! इसीलिये पतियोंके प्रति तुम्हारा क्या कर्तव्य है, यह तुम्हें बतानेकी आवश्यकता मैं नहीं समझती। तुम सती स्त्रियोंके सद्‌गुणोंसे सम्पन्न हो; तुमने पति और पिता—दोनोंके कुलोंकी शोभा बढ़ायी है ।। ५ ।।

सभाग्याः कुरवश्चेमे ये न दग्धास्त्वयानघे ।
अरिष्टं व्रज पन्थानं मदनुध्यानबृंहिता ।। ६ ।।

'निष्पाप द्रौपदी! ये कौरव बड़े भाग्यशाली हैं, जिन्हें तुमने अपनी क्रोधाग्निसे जलाकर भस्म नहीं कर दिया। जाओ, तुम्हारा मार्ग विघ्न-बाधाओंसे रहित हो; मेरे किये हुए शुभ चिन्तनसे तुम्हारा अभ्युदय हो ।। ६ ।।

भाविन्यर्थे हि सत्स्त्रीणां वैकृतं नोपजायते ।
गुरुधर्माभिगुप्ता च श्रेयः क्षिप्रमवाप्स्यसि ।। ७ ।।

'जो बात अवश्य होनेवाली है उसके होनेपर साध्वी स्त्रियोंके मनमें व्याकुलता नहीं होती। तुम अपने श्रेष्ठ धर्मसे सुरक्षित रहकर शीघ्र ही कल्याण प्राप्त करोगी ।। ७ ।।

सहदेवश्च मे पुत्रः सदावेक्ष्यो वने वसन् ।
यथेदं व्यसनं प्राप्य नायं सीदेन्महामतिः ।। ८ ।।

'बेटी! वनमें रहते हुए मेरे पुत्र सहदेवकी तुम सदा देखभाल रखना, जिससे यह परम बुद्धिमान् सहदेव इस भारी संकटमें पड़कर दुःखी न होने पावे' ।। ८ ।।

तथेत्युक्त्वा तु सा देवी स्रवन्नेत्रजलाविला ।
शोणिताक्तैकवसना मुक्तकेशी विनिर्ययौ ।। ९ ।।

कुन्तीके ऐसा कहनेपर नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई द्रौपदीने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। उस समय उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था, उसका भी कुछ भाग रजसे सना हुआ था और उसके सिरके बाल बिखरे हुए थे। उसी दशामें वह अन्तःपुरसे बाहर निकली ।। ९ ।।

तां क्रोशन्तीं पृथा दुःखादनुवव्राज गच्छतीम् ।
अथापश्यत् सुतान् सर्वान् हृताभरणवाससः ।। १० ।।

रोती-बिलखती, वनको जाती हुई द्रौपदीके पीछे-पीछे कुन्ती भी दुःखसे व्याकुल हो कुछ दूरतक गयीं, इतनेहीमें उन्होंने अपने सभी पुत्रोंको देखा, जिनके वस्त्र और आभूषण उतार लिये गये थे ।। १० ।।

रुरुचर्मावृततनून् ह्रिया किंचिदवाङ्मुखान् ।

परैः परीतान् संहृष्टैः सुहृद्भिश्चानुशोचितान् ।। ११ ।।

उनके सभी अंग मृगचर्मसे ढँके हुए थे और वे लज्जावश नीचे मुख किये चले जा रहे थे। हर्षमें भरे हुए शत्रुओंने उन्हें सब ओरसे घेर रखा था और हितैषी सुहृद् उनके लिये शोक कर रहे थे ।। ११ ।।

तदवस्थान् सुतान् सर्वानुपसृत्यातिवत्सला ।
स्वजमानावदच्छोकात् तत्तद् विलपती बहु ।। १२ ।।

उस अवस्थामें उन सभी पुत्रोंके निकट पहुँचकर कुन्तीके हृदयमें अत्यन्त वात्सल्य उमड़ आया। वे उन्हें हृदयसे लगाकर शोकवश बहुत विलाप करती हुई बोलीं ।। १२ ।।

कुन्त्युवाच

कथं सद्धर्मचारित्रान् वृत्तस्थितिविभूषितान् ।
अक्षुद्रान् दृढभक्तांश्च दैवतेज्यापरान् सदा ।। १३ ।।
व्यसनं वः समभ्यागात् कोऽयं विधिविपर्ययः ।
कस्यापध्यानजं चेदं धिया पश्यामि नैव तत् ।। १४ ।।

कुन्तीने कहा—पुत्रो! तुम उत्तम धर्मका पालन करनेवाले तथा सदाचारकी मर्यादासे विभूषित हो। तुममें क्षुद्रताका अभाव है। तुम भगवान्‌के सुदृढ़ भक्त और देवाराधनमें सदा तत्पर रहनेवाले हो, तो भी तुम्हारे ऊपर यह विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा है। विधाताका यह कैसा विपरीत विधान है। किसके अनिष्टचिन्तनसे तुम्हारे ऊपर यह महान् दुःख आया है, यह बुद्धिसे बार-बार विचार करनेपर भी मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ता ।। १३-१४ ।।

स्यात् तु मद्भाग्यदोषोऽयं याहं युष्मानजीजनम् ।
दुःखायासभुजोऽत्यर्थं युक्तानप्युत्तमैर्गुणैः ।। १५ ।।

यह मेरे ही भाग्यका दोष हो सकता है। तुम तो उत्तम गुणोंसे युक्त हो तो भी अत्यन्त दुःख और कष्ट भोगनेके लिये ही मैंने तुम्हें जन्म दिया है ।। १५ ।।

कथं वत्स्यथ दुर्गेषु वने ऋद्धिविनाकृताः ।
वीर्यसत्त्वबलोत्साहतेजोभिरकृशाः कृशाः ।। १६ ।।

इस प्रकार सम्पत्तिसे वंचित होकर तुम वनके दुर्गम स्थानोंमें कैसे रह सकोगे? वीर्य, धैर्य, बल, उत्साह और तेजसे परिपुष्ट होते हुए भी तुम दुर्बल हो ।। १६ ।।

यद्येतदेवमज्ञास्यं वने वासो हि वो ध्रुवम् ।
शतशृङ्गान्मृते पाण्डौ नागमिष्यं गजाह्वयम् ।। १७ ।।

यदि मैं यह जानती कि नगरमें आनेपर तुम्हें निश्चय ही वनवासका कष्ट भोगना पड़ेगा तो महाराज पाण्डुके परलोकवासी हो जानेपर शतशृंगपुरसे हस्तिनापुर नहीं आती ।। १७ ।।

धन्यं वः पितरं मन्ये तपोमेधान्वितं तथा ।

यः पुत्राधिमसम्प्राप्य स्वर्गेच्छामकरोत् प्रियाम् ।। १८ ।।

मैं तो तुम्हारे तपस्वी एवं मेधावी पिताको ही धन्य मानती हूँ, जिन्होंने पुत्रोंके दुःखसे दुःखी होनेका अवसर न पाकर स्वर्गलोककी अभिलाषाको ही प्रिय समझा ।। १८ ।।

धन्यां चातीन्द्रियज्ञानामिमां प्राप्तां परां गतिम् ।
मन्ये तु माद्रीं धर्मज्ञां कल्याणीं सर्वथैव तु ।। १९ ।।
रत्या मत्या च गत्या च ययाहमभिसन्धिता ।
जीवितप्रियतां मह्यं धिङ्मां संक्लेशभागिनीम् ।। २० ।।

इसी प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञानसे सम्पन्न एवं परमगतिको प्राप्त हुई कल्याणमयी इस धर्मज्ञा माद्रीको भी सर्वथा धन्य मानती हूँ। जिसने अपने अनुराग, उत्तम बुद्धि और सद्व्यवहारद्वारा मुझे भुलाकर जीवित रहनेके लिये विवश कर दिया। मुझको और जीवनके प्रति मेरी इस आसक्तिको धिक्कार है! जिसके कारण मुझे यह महान् क्लेश भोगना पड़ता है ।। १९-२० ।।

पुत्रका न विहास्ये वः कृच्छ्रलब्धान् प्रियान् सतः ।
साहं यास्यामि हि वनं हा कृष्णे किं जहासि माम् ।। २१ ।।

पुत्रो! तुम सदाचारी और मेरे लिये प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हो। मैंने बड़े कष्टसे तुम्हें पाया है; अतः तुम्हें छोड़कर अलग नहीं रहूँगी। मैं भी तुम्हारे साथ वनमें चलूँगी। हाय कृष्णे! तुम क्यों मुझे छोड़े जाती हो? ।।

अन्तवत्यसुधर्मेऽस्मिन् धात्रा किं नु प्रमादतः ।
ममान्तो नैव विहितस्तेनायुर्न जहाति माम् ।। २२ ।।

यह प्राणधारणरूपी धर्म अनित्य है, एक-न-एक दिन इसका अन्त होना निश्चित है, फिर भी विधाताने न जाने क्यों प्रमादवश मेरे जीवनका भी शीघ्र ही अन्त नहीं नियत कर दिया। तभी तो आयु मुझे छोड़ नहीं रही है ।।

हा कृष्ण द्वारकावासिन् क्वासि संकर्षणानुज ।
कस्मान्न त्रायसे दुःखान्मां चेमांश्च नरोत्तमान् ।। २३ ।।

हा द्वारकावासी श्रीकृष्ण! तुम कहाँ हो! बलरामजीके छोटे भैया! मुझको तथा इन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंको इस दुःखसे क्यों नहीं बचाते? ।। २३ ।।

अनादिनिधनं ये त्वामनुध्यायन्ति वै नराः ।
तांस्त्वं पासीत्ययं वादः स गतो व्यर्थतां कथम् ।। २४ ।।

'प्रभो! तुम आदि-अन्तसे रहित हो, जो मनुष्य तुम्हारा निरन्तर स्मरण करते हैं, उन्हें तुम अवश्य संकटसे बचाते हो।' तुम्हारी यह विरद व्यर्थ कैसे हो रही है? ।। २४ ।।

इमे सद्धर्ममाहात्म्ययशोवीर्यानुवर्तिनः ।
नार्हन्ति व्यसनं भोक्तुं नन्वेषां क्रियतां दया ।। २५ ।।

ये मेरे पुत्र उत्तम धर्म, महात्मा पुरुषोंके शील-स्वभाव, यश और पराक्रमका अनुसरण करनेवाले हैं, अतः कष्ट भोगनेके योग्य नहीं हैं; भगवन्! इनपर तो दया करो ।। २५ ।।

सेयं नीत्यर्थविज्ञेषु भीष्मद्रोणकृपादिषु ।
स्थितेषु कुलनाथेषु कथमापदुपागता ।। २६ ।।

नीतिके अर्थको जाननेवाले परम विद्वान् भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके, जो इस कुलके रक्षक हैं, उनके रहते हुए यह विपत्ति हमपर क्यों आयी? ।। २६ ।।

हा पाण्डो हा महाराज क्वासि किं समुपेक्षसे ।
पुत्रान् विवास्यतः साधूनरिभिर्द्यूतनिर्जितान् ।। २७ ।।

हा महाराज पाण्डु! कहाँ हो? आज तुम्हारे श्रेष्ठ पुत्रोंको शत्रुओंने जूएमें जीतकर वनवास दे दिया है, तुम क्यों इनकी दुरवस्थाकी उपेक्षा कर रहे हो? ।। २७ ।।

सहदेव निवर्तस्व ननु त्वमसि मे प्रियः ।
शरीरादपि माद्रेय मा मा त्याक्षीः कुपुत्रवत् ।। २८ ।।

माद्रीनन्दन सहदेव! तुम मुझे अपने शरीरसे भी अधिक प्रिय हो। बेटा! लौट आओ। कुपुत्रकी भाँति मेरा त्याग न करो ।। २८ ।।

व्रजन्तु भ्रातरस्तेऽमी यदि सत्याभिसंधिनः ।
मत्परित्राणजं धर्ममिहैव त्वमवाप्नुहि ।। २९ ।।

तुम्हारे ये भाई यदि सत्यधर्मके पालनका आग्रह रखकर वनमें जा रहे हैं तो जायँ; तुम यहीं रहकर मेरी रक्षाजनित धर्मका लाभ लो ।। २९ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपतीं कुन्तीमभिवाद्य प्रणम्य च ।
पाण्डवा विगतानन्दा वनायैव प्रवव्रजुः ।। ३० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार विलाप करती हुई माता कुन्तीको अभिवादन एवं प्रणाम करके पाण्डवलोग दुःखी हो वनको चले गये ।। ३० ।।

विदुरश्चापि तामार्तां कुन्तीमाश्वास्य हेतुभिः ।
प्रावेशयद् गृहं क्षत्ता स्वयमार्ततरः शनैः ।। ३१ ।।

विदुरजी शोकाकुला कुन्तीको अनेक प्रकारकी युक्तियोंद्वारा धीरज बँधाकर उन्हें धीरे-धीरे अपने घर ले गये। उस समय वे स्वयं भी बहुत दुःखी थे ।। ३१ ।।

(ततः सम्प्रस्थिते तत्र धर्मराजे तदा नृपे ।
जनाः समस्तास्तं द्रष्टुं समारुरुहुरातुराः ।।
ततः प्रासादवर्याणि विमानशिखराणि च ।
गोपुराणि च सर्वाणि वृक्षानन्यांश्च सर्वशः ।।
अधिरुह्य जनः श्रीमानुदासीनो व्यलोकयत् ।

तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर जब वनकी ओर प्रस्थित हुए, तब उस नगरके समस्त निवासी दुःखसे आतुर हो उन्हें देखनेके लिये महलों, मकानकी छतों, समस्त गोपुरों और वृक्षोंपर चढ़ गये। वहाँसे सब लोग उदास होकर उन्हें देखने लगे।

न हि रथ्यास्ततः शक्या गन्तुं बहुजनाकुलाः ।।
आरुह्य ते स्म तान्यत्र दीनाः पश्यन्ति पाण्डवम् ।

उस समय सड़कें मनुष्योंकी भारी भीड़से इतनी भर गयी थीं कि उनपर चलना असम्भव हो गया था। इसीलिये लोग ऊँचे चढ़कर अत्यन्त दीनभावसे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको देख रहे थे ।।

पदातिं वर्जितच्छत्रं चेलभूषणवर्जितम् ।।
वल्कलाजिनसंवीतं पार्थं दृष्ट्वा जनास्तदा ।
ऊचुर्बहुविधा वाचो भृशोपहतचेतसः ।।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर छत्ररहित एवं पैदल ही चल रहे थे। उनके शरीरपर राजोचित वस्त्रों और आभूषणोंका भी अभाव था। वे वल्कल और मृगचर्म पहने हुए थे। उन्हें इस

दशामें देखकर लोगोंके हृदयमें गहरी चोट पहुँची और वे सब लोग नाना प्रकारकी बातें करने लगे।

जना ऊचुः

यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत्।
तमेवं कृष्णया सार्धमनुयान्ति स्म पाण्डवाः ।।
चत्वारो भ्रातरश्चैव पुरोधाश्च विशाम्पतिम्।

नगरनिवासी मनुष्य बोले—अहो! यात्रा करते समय जिनके पीछे विशाल चतुरंगिणी सेना चलती थी, आज वे ही राजा युधिष्ठिर इस प्रकार जा रहे हैं और उनके पीछे द्रौपदीके साथ केवल चार भाई पाण्डव तथा पुरोहित चल रहे हैं।

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि ।।
तामद्य कृष्णां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ।

जिसे आजसे पहले आकाशचारी प्राणीतक नहीं देख पाते थे, उसी द्रुपदकुमारी कृष्णाको अब सड़कपर चलनेवाले साधारण लोग भी देख रहे हैं।

अङ्गरागोचितां कृष्णां रक्तचन्दनसेविनीम् ।।
वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यत्याशु विवर्णताम् ।

सुकुमारी द्रौपदीके अंगोंमें दिव्य अंगराग शोभा पाता था। वह लाल चन्दनका सेवन करती थी, परंतु अब वनमें सर्दी, गर्मी और वर्षा लगनेसे उसकी अंगकान्ति शीघ्र ही फीकी पड़ जायगी।

अद्य नूनं पृथा देवी सत्त्वमाविश्य भाषते ।।
पुत्रान् स्नुषां च देवी तु द्रष्टुमद्याथ नार्हति ।।

निश्चय ही आज कुन्तीदेवी बड़े भारी धैर्यका आश्रय लेकर अपने पुत्रों और पुत्रवधूसे वार्तालाप करती हैं; अन्यथा इस दशामें वे इनकी ओर देख भी नहीं सकतीं।

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद् दुःखदर्शनम् ।
किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम् ।।

गुणहीन पुत्रका भी दुःख मातासे कैसे देखा जायगा; फिर जिस पुत्रके सदाचारमात्रसे यह सारा संसार वशीभूत हो जाता है, उसपर कोई दुःख आये तो उसकी माता वह कैसे देख सकती है?

आनृशंस्यमनुक्रोशो धृतिः शीलं दमः शमः ।
पाण्डवं शोभयन्त्येते षड् गुणाः पुरुषोत्तमम् ।।
तस्मात् तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः ।

पुरुषरत्न पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको कोमलता, दया, धैर्य, शील, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह—ये छः सद्गुण सुशोभित करते हैं। अतः उनकी हानिसे आज सारी प्रजाको

बड़ी पीड़ा हो रही है।

औदकानीव सत्त्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात् ।।
पीडया पीडितं सर्वं जगत् तस्य जगत्पतेः ।
मूलस्यैवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः ।।

जैसे गर्मीमें जलाशयका पानी घट जानेसे जलचर जीव-जन्तु व्यथित हो उठते हैं एवं जड़ कट जानेसे फल और फूलोंसे युक्त वृक्ष सूखने लगता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्के पालक महाराज युधिष्ठिरकी पीड़ासे सारा संसार पीड़ित हो गया है।

मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मराजो महाद्युतिः ।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखास्तस्येतरे जनाः ।।
ते भ्रातर इव क्षिप्रं सपुत्राः सहबान्धवाः ।
गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति पाण्डवः ।।

महातेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिर मनुष्योंके मूल हैं। जगत्के दूसरे लोग उन्हींकी शाखा, पत्र, पुष्प और फल हैं। आज हम अपने पुत्रों और भाई-बन्धुओंको साथ लेकर चारों भाई पाण्डवोंकी भाँति शीघ्र उसी मार्गसे उनके पीछे-पीछे चलें, जिससे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर जा रहे हैं।

उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च ।
एकदुःखसुखाः पार्थमनुयाम सुधार्मिकम् ।।

आज हम अपने खेत, बाग-बगीचे और घर-द्वार छोड़कर परम धर्मात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके साथ चल दें और उन्हींके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझें।

समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च ।
उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि सर्वशः ।।
रजसाप्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः ।
मूषकैः परिधावद्भिरुद्बिलैरावृतानि च ।।
अपेतोदकधूमानि हीनसम्मार्जनानि च ।
प्रणष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च ।।
दुष्कालेनेव भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च ।
अस्मत्त्यक्तानि वेश्मानि सौबलः प्रतिपद्यताम् ।।

हम अपने घरोंकी गड़ी हुई निधि निकाल लें। आँगनकी फर्श खोद डालें। सारा धन धान्य साथ ले लें। सारी आवश्यक वस्तुएँ हटा लें। इनमें चारों ओर धूल भर जाय। देवता इन घरोंको छोड़कर भाग जायँ। चूहे बिलसे बाहर निकलकर इनमें चारों ओर दौड़ लगाने लगें। इनमें न कभी आग जले, न पानी रहे और न झाड़ू ही लगे। यहाँ बलिवैश्वदेव, यज्ञ, मन्त्रपाठ, होम और जप बंद हो जाय। मानो बड़ा भारी अकाल पड़ गया हो, इस प्रकार ये

सारे घर ढह जायँ। इनमें टूटे बर्तन बिखरे पड़े हों और हम सदाके लिये इन्हें छोड़ दें—ऐसी दशामें इन घरोंपर कपटी सुबलपुत्र शकुनि आकर अधिकार कर ले।

वनं नगरमद्यास्तु यत्र गच्छन्ति पाण्डवाः ।
अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम् ।।

अब जहाँ पाण्डव जा रहे हैं, वह वन ही नगर हो जाय और हमारे छोड़ देनेपर यह नगर ही वनके रूपमें परिणत हो जाय।

बिलानि दंष्ट्रिणः सर्वे वनानि मृगपक्षिणः ।
त्यजन्त्वस्मद्भयाद् भीता गजाः सिंहा वनान्यपि ।।

वनमें हमलोगोंके भयसे साँप अपने बिल छोड़कर भाग जायँ, मृग और पक्षी जंगलोंको छोड़ दें तथा हाथी और सिंह भी वहाँसे दूर चले जायँ।

अनाक्रान्तं प्रपद्यन्तु सेव्यमानं त्यजन्तु च ।
तृणमाषफलादानां देशांस्त्यक्त्वा मृगद्विजाः ।।
वयं पार्थैर्वने सम्यक् सह वत्स्याम निर्वृताः ।

हमलोग तृण (साग-पात), अन्न और फलका उपयोग करनेवाले हैं। जंगलके हिंसक पशु और पक्षी हमारे रहनेके स्थानोंको छोड़कर चले जायँ। वे ऐसे स्थानका आश्रय लें, जहाँ हम न जायँ और वे उन स्थानोंको छोड़ दें, जिनका हम सेवन करें। हमलोग वनमें कुन्तीपुत्रोंके साथ बड़े सुखसे रहेंगे।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः ।
शुश्राव पार्थः श्रुत्वा च न विचक्रेऽस्य मानसम् ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी कही हुई भाँति-भाँतिकी बातें युधिष्ठिरने सुनीं। सुनकर भी उनके मनमें कोई विकार नहीं आया।

ततः प्रासादसंस्थास्तु समन्ताद् वै गृहे गृहे ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां चैव योषितः ।।
ततः प्रासादजालानामुत्पाट्यावरणानि च ।
ददृशुः पाण्डवान् दीनान् रौरवाजिनवाससः ।।
कृष्णां त्वदृष्टपूर्वां तां व्रजन्तीं पद्भिरेव च ।
एकवस्त्रां रुदन्तीं तां मुक्तकेशीं रजस्वलाम् ।।
दृष्ट्वा तदा स्त्रियः सर्वा विवर्णवदना भृशम् ।
विलप्य बहुधा मोहाद् दुःखशोकेन पीडिताः ।।
हा हा धिग् धिग् धिगित्युक्त्वा नेत्रैरश्रूण्यवर्तयन् ।)

तदनन्तर चारों ओर महलोंमें रहनेवाली ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकी स्त्रियाँ अपने-अपने भवनोंकी खिड़कियोंके पर्दे हटाकर दीन पाण्डवोंको देखने लगीं। सब पाण्डवोंने मृगचर्ममय वस्त्र धारण कर रखा था। उनके साथ द्रौपदी भी पैदल ही चली जा रही थी। उसे उन स्त्रियोंने पहले कभी नहीं देखा था। उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था, केश खुले हुए थे, वह रजस्वला थी और रोती चली जा रही थी। उसे देखकर उस समय सब स्त्रियोंका मुख उदास हो गया। वे क्षोभ एवं मोहके कारण नाना प्रकारसे विलाप करती हुई दु:ख-शोकसे पीड़ित हो गयीं और 'हाय हाय! इन धृतराष्ट्रपुत्रोंको बार-बार धिक्कार है, धिक्कार है' ऐसा कहकर नेत्रोंसे आँसू बहाने लगीं।

धार्तराष्ट्रस्त्रियस्ताश्च निखिलेनोपलभ्य तत् ।
गमनं परिकर्षं च कृष्णाया द्यूतमण्डले ।। ३२ ।।
रुरुदुः सुस्वनं सर्वा विनिन्दन्त्यः कुरून् भृशम् ।
दध्युश्च सुचिरं कालं करासक्तमुखाम्बुजाः ।। ३३ ।।

धृतराष्ट्रपुत्रोंकी स्त्रियाँ द्रौपदीके द्यूतसभामें जाने और उसके वस्त्र खींचे जाने (एवं वनमें जाने) आदिका सारा वृत्तान्त सुनकर कौरवोंकी अत्यन्त निन्दा करती हुई फूट-फूटकर रोने लगीं और अपने मुखारविन्दको हथेलीपर रखकर बहुत देरतक गहरी चिन्तामें डूबी रहीं ।।

राजा च धृतराष्ट्रस्तु पुत्राणामनयं तदा ।
ध्यायन्नुद्विग्नहृदयो न शान्तिमधिजग्मिवान् ।। ३४ ।।

उस समय अपने पुत्रोंके अन्यायका चिन्तन करके राजा धृतराष्ट्रका भी हृदय उद्विग्न हो उठा। उन्हें तनिक भी शान्ति नहीं मिली ।। ३४ ।।

स चिन्तयन्ननेकाग्रः शोकव्याकुलचेतनः ।
क्षत्तुः सम्प्रेषयामास शीघ्रमागम्यतामिति ।। ३५ ।।

चिन्तामें पड़े-पड़े उनकी एकाग्रता नष्ट हो गयी। उनका चित्त शोकसे व्याकुल हो रहा था। उन्होंने विदुरके पास संदेश भेजा कि तुम शीघ्र मेरे पास चले आओ ।। ३५ ।।

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
तं पर्यपृच्छत् संविग्नो धृतराष्ट्रो जनाधिपः ।। ३६ ।।

तब विदुर राजा धृतराष्ट्रके महलमें गये। उस समय महाराज धृतराष्ट्रने अत्यन्त उद्विग्न होकर उनसे पूछा ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि द्रौपदीकुन्तीसंवादे
एकोनाशीतितमोऽध्यायः ।। ७९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें द्रौपदीकुन्तीसंवादविषयक उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २९ श्लोक मिलाकर कुल ६५ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

वनगमनके समय पाण्डवोंकी चेष्टा और प्रजाजनोंकी शोकातुरताके विषयमें धृतराष्ट्र तथा विदुरका संवाद और शरणागत कौरवोंको द्रोणाचार्यका आश्वासन

वैशम्पायन उवाच

तमागतमथो राजा विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
साशङ्क इव पप्रच्छ धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दूरदर्शी विदुरजीके आनेपर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने शंकित-सा होकर पूछा ।। १ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

कथं गच्छति कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनः सव्यसाची माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।। २ ।।

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! कुन्तीनन्दन धर्मपुत्र युधिष्ठिर किस प्रकार जा रहे हैं? भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ये चारों पाण्डव भी किस प्रकार यात्रा करते हैं? ।। २ ।।

धौम्यश्चैव कथं क्षत्तर्द्रौपदी च यशस्विनी ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं तेषां शंस विचेष्टितम् ।। ३ ।।

पुरोहित धौम्य तथा यशस्विनी द्रौपदी भी कैसे जा रही है? मैं उन सबकी पृथक्-पृथक् चेष्टाओंको सुनना चाहता हूँ, तुम मुझसे कहो ।। ३ ।।

विदुर उवाच

वस्त्रेण संवृत्य मुखं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
बाहू विशालौ सम्पश्यन् भीमो गच्छति पाण्डवः ।। ४ ।।

विदुर बोले—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर वस्त्रसे मुँह ढँककर जा रहे हैं। पाण्डुकुमार भीमसेन अपनी विशाल भुजाओंकी ओर देखते हुए जाते हैं ।। ४ ।।

सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति ।
माद्रीपुत्रः सहदेवो मुखमालिप्य गच्छति ।। ५ ।।

सव्यसाची अर्जुन बालू बिखेरते हुए राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे जा रहे हैं। माद्रीकुमार सहदेव अपने मुँहपर मिट्टी पोतकर जाते हैं ।। ५ ।।

पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलश्चित्तविह्वलः ।
दर्शनीयतमो लोके राजानमनुगच्छति ।। ६ ।।

लोकमें अत्यन्त दर्शनीय मनोहर रूपवाले नकुल अपने सब अंगोंमें धूल लपेटकर व्याकुलचित हो राजा युधिष्ठिरका अनुसरण कर रहे हैं ।। ६ ।।

कृष्णा तु केशौः प्रच्छाद्य मुखमायतलोचना ।
दर्शनीया प्ररुदती राजानमनुगच्छति ।। ७ ।।

परम सुन्दरी विशाललोचना कृष्णा अपने केशोंसे ही मुँह ढँककर रोती हुई राजाके पीछे-पीछे जा रही है ।। ७ ।।

धौम्यौ रौद्राणि सामानि याम्यानि च विशाम्पते ।
गायन् गच्छति मार्गेषु कुशानादाय पाणिना ।। ८ ।।

महाराज! पुरोहित धौम्यजी हाथमें कुश लेकर रुद्र तथा यमदेवतासम्बन्धी साम-मन्त्रोंका गान करते हुए आगे-आगे मार्गपर चल रहे हैं ।। ८ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

विविधानीह रूपाणि कृत्वा गच्छन्ति पाण्डवाः ।
तन्ममाचक्ष्व विदुर कस्मादेवं व्रजन्ति ते ।। ९ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—विदुर! पाण्डवलोग यहाँ जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी चेष्टाएँ करते हुए यात्रा कर रहे हैं, उसका क्या रहस्य है, यह बताओ। वे क्यों इस प्रकार जा रहे हैं? ।।

विदुर उवाच

निकृतस्यापि ते पुत्रैर्हृते राज्ये धनेषु च ।
न धर्माच्चलते बुद्धिर्धर्मराजस्य धीमतः ।। १० ।।

विदुर बोले—महाराज! यद्यपि आपके पुत्रोंने छलपूर्ण बर्ताव किया है। पाण्डवोंका राज्य और धन सब कुछ चला गया है तो भी परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी बुद्धि धर्मसे विचलित नहीं हो रही है ।। १० ।।

योऽसौ राजा घृणी नित्यं धार्तराष्ट्रेषु भारत ।
निकृत्या भ्रंशितः क्रोधान्नोन्मीलयति लोचने ।। ११ ।।

भारत! राजा युधिष्ठिर आपके पुत्रोंपर सदा दयाभाव बनाये रखते थे, किंतु इन्होंने छलपूर्ण जूएका आश्रय लेकर उन्हें राज्यसे वंचित किया है, इससे उनके मनमें बड़ा क्रोध है और इसीलिये वे अपनी आँखोंको नहीं खोलते हैं ।।

नाहं जनं निर्दहेयं दृष्ट्वा घोरेण चक्षुषा ।
स पिधाय मुखं राजा तस्माद् गच्छति पाण्डवः ।। १२ ।।

'मैं भयानक दृष्टिसे देखकर किसी (निरपराधी) मनुष्यको भस्म न कर डालूँ' इसी भयसे पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपना मुँह ढँककर जा रहे हैं ।। १२ ।।

यथा च भीमो व्रजति तन्मे निगदतः शृणु ।
बाह्वोर्बले नास्ति समो ममेति भरतर्षभ ।। १३ ।।

अब भीमसेन जिस प्रकार चल रहे हैं, उसका रहस्य बताता हूँ, सुनिये! भरतश्रेष्ठ! उन्हें इस बातका अभिमान है कि बाहुबलमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है ।। १३ ।।

बाहू विशालौ कृत्वासौ तेन भीमोऽपि गच्छति ।
बाहू विदर्शयन् राजन् बाहुद्रविणदर्पितः ।। १४ ।।
चिकीर्षन् कर्म शत्रुभ्यो बाहुद्रव्यानुरूपतः ।

इसीलिये वे अपनी विशाल भुजाओंकी ओर देखते हुए यात्रा करते हैं। राजन्! अपने बाहुबलरूपी वैभवपर उन्हें गर्व है। अतः वे अपनी दोनों भुजाएँ दिखाते हुए शत्रुओंसे बदला लेनेके लिये अपने बाहुबलके अनुरूप ही पराक्रम करना चाहते हैं ।। १४½ ।।

प्रदिशञ्छरसम्पातान् कुन्तीपुत्रोऽर्जुनस्तदा ।। १५ ।।
सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति ।
असक्ताः सिकतास्तस्य यथा सम्प्रति भारत ।
असक्तं शरवर्षाणि तथा मोक्ष्यति शत्रुषु ।। १६ ।।

कुन्तीपुत्र सव्यसाची अर्जुन उस समय राजाके पीछे-पीछे जो बालू बिखेरते हुए यात्रा कर रहे थे, उसके द्वारा वे शत्रुओंपर बाण बरसानेकी अभिलाषा व्यक्त करते थे। भारत! इस समय उनके गिराये हुए बालूके कण जैसे आपसमें संसक्त न होते हुए लगातार गिरते हैं, उसी प्रकार वे शत्रुओंपर परस्पर संसक्त न होनेवाले असंख्य बाणोंकी वर्षा करेंगे ।। १५-१६ ।।

न मे कश्चिद् विजानीयान्मुखमद्येति भारत ।
मुखमालिप्य तेनासौ सहदेवोऽपि गच्छति ।। १७ ।।

भारत! 'आज इस दुर्दिनमें कोई मेरे मुँहको पहचान न ले' यही सोचकर सहदेव अपने मुँहमें मिट्टी पोतकर जा रहे हैं ।। १७ ।।

नाहं मनांस्याददेयं मार्गे स्त्रीणामिति प्रभो ।
पांसूलिप्तसर्वाङ्गो नकुलस्तेन गच्छति ।। १८ ।।

प्रभो! 'मार्गमें मैं स्त्रियोंका चित्त न चुरा लूँ' इस भयसे नकुल अपने सारे अंगोंमें धूल लगाकर यात्रा करते हैं ।। १८ ।।

एकवस्त्रा प्ररुदती मुक्तकेशी रजस्वला ।
शोणितेनाक्तवसना द्रौपदी वाक्यमब्रवीत् ।। १९ ।।

द्रौपदीके शरीरपर एक ही वस्त्र था, उसके बाल खुले हुए थे, वह रजस्वला थी और उसके कपड़ोंमें रक्त (रज)-का दाग लगा हुआ था, उसने रोते हुए यह बात कही थी ।। १९ ।।

यत्कृतेऽहमिदं प्राप्ता तेषां वर्षे चतुर्दशे ।
हतपत्यो हतसुता हतबन्धुजनप्रियाः ।। २० ।।
बहुशोणितदिग्धाङ्ग्यो मुक्तकेशयो रजस्वलाः ।

एवं कृतोदका भार्याः प्रवेक्ष्यन्ति गजाह्वयम् ।। २१ ।।

'जिनके अन्यायसे आज मैं इस दशाको पहुँची हूँ, आजके चौदहवें वर्षमें उनकी स्त्रियाँ भी अपने पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेसे उनकी लाशोंके पास लोट-लोटकर रोयेंगी और अपने अंगोंमें रक्त तथा धूल लपेटे, बाल खोले हुए, अपने सगे-सम्बन्धियोंको तिलांजलि दे इसी प्रकार हस्तिनापुरमें प्रवेश करेंगी' ।। २०-२१ ।।

कृत्वा तु नैर्ऋतान् दर्भान् धीरो धौम्यः पुरोहितः ।

सामानि गायन् याम्यानि पुरतो याति भारत ।। २२ ।।

भारत! धीरस्वभाववाले पुरोहित धौम्यजी कुशोंका अग्रभाग नैर्ऋत्यकोणकी ओर करके यमदेवतासम्बन्धी साम-मन्त्रोंका गान करते हुए पाण्डवोंके आगे-आगे जा रहे हैं ।।

हतेषु भारतेष्वाजौ कुरूणां गुरवस्तदा ।

एवं सामानि गास्यन्तीत्युक्त्वा धौम्योऽपि गच्छति ।। २३ ।।

धौम्यजी यह कहकर गये थे कि युद्धमें कौरवोंके मारे जानेपर उनके गुरु भी इसी प्रकार कभी सामगान करेंगे ।।

हा हा गच्छन्ति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम् ।

अहो धिक् कुरुवृद्धानां बालानामिव चेष्टितम् ।। २४ ।।

राष्ट्रेभ्यः पाण्डुदायादाँल्लोभान्निर्वासयन्ति ये ।

अनाथाः स्म वयं सर्वे वियुक्ताः पाण्डुनन्दनैः ।। २५ ।।

दुर्विनीतेषु लुब्धेषु का प्रीतिः कौरवेषु नः ।

इति पौराः सुदुःखार्ताः क्रोशन्ति स्म पुनः पुनः ।। २६ ।।

महाराज! उस समय नगरके लोग अत्यन्त दुःखसे आतुर हो बार-बार चिल्लाकर कह रहे थे कि 'हाय! हाय! हमारे स्वामी पाण्डव चले जा रहे हैं। अहो! कौरवोंमें जो बड़े-बूढ़े लोग हैं, उनकी यह बालकोंकी-सी चेष्टा तो देखो। धिक्कार है उनके इस बर्तावको! ये कौरव लोभवश महाराज पाण्डुके पुत्रोंको राज्यसे निकाल रहे हैं। इन पाण्डुपुत्रोंसे वियुक्त होकर हम सब लोग आज अनाथ हो गये। इन लोभी और उद्दण्ड कौरवोंके प्रति हमारा प्रेम कैसे हो सकता है? ।। २४—२६ ।।

एवमाकारलिङ्गैस्ते व्यवसायं मनोगतम् ।

कथयन्तश्च कौन्तेया वनं जग्मुर्मनस्विनः ।। २७ ।।

महाराज! इस प्रकार मनस्वी कुन्तीपुत्र अपनी आकृति एवं चिह्नोंके द्वारा अपने आन्तरिक निश्चयको प्रकट करते हुए वनको गये हैं ।। २७ ।।

एवं तेषु नराग्र्येषु निर्यत्सु गजसाह्वयात् ।

अनभ्रे विद्युतश्चासन् भूमिश्च समकम्पत ।। २८ ।।

राहुरग्रसदादित्यमपर्वणि विशाम्पते ।

उल्का चाप्यपसव्येन पुरं कृत्वा व्यशीर्यत ।। २९ ।।

हस्तिनापुरसे उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंके निकलते ही बिना बादलके बिजली गिरने लगी, पृथ्वी काँप उठी। राजन्! बिना पर्व (अमावस्या)-के ही राहुने सूर्यको ग्रस लिया था और नगरको दायें रखकर उल्का गिरी थी ।।

प्रत्याहरन्ति क्रव्यादा गृध्रगोमायुवायसाः ।
देवायतनचैत्येषु प्राकाराट्टालकेषु च ।। ३० ।।

गीध, गीदड़ और कौवे आदि मांसाहारी जन्तु नगरके मन्दिरों, देववृक्षों, चहारदीवारी तथा अट्टालिकाओंपर मांस और हड्डी आदि लाकर गिराने लगे थे ।। ३० ।।

एवमेते महोत्पाताः प्रादुरासन् दुरासदाः ।
भरतानामभावाय राजन् दुर्मन्त्रिते तव ।। ३१ ।।

राजन्! इस प्रकार आपकी दुर्मन्त्रणाके कारण ऐसे-ऐसे अपशकुनरूप दुर्दम्य एवं महान् उत्पात प्रकट हुए हैं, जो भरतवंशियोंके विनाशकी सूचना दे रहे हैं ।। ३१ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रवदतोरेव तयोस्तत्र विशाम्पते ।
धृतराष्ट्रस्य राज्ञश्च विदुरस्य च धीमतः ।। ३२ ।।
नारदश्च सभामध्ये कुरूणामग्रतः स्थितः ।
महर्षिभिः परिवृतो रौद्रं वाक्यमुवाच ह ।। ३३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र और बुद्धिमान् विदुर जब दोनों वहाँ बातचीत कर रहे थे, उसी समय सभामें महर्षियोंसे घिरे हुए देवर्षि नारद कौरवोंके सामने आकर खड़े हो गये और यह भयंकर वचन बोले— ।। ३२-३३ ।।

इतश्चतुर्दशे वर्षे विनक्ष्यन्तीह कौरवाः ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ।। ३४ ।।

‘आजसे चौदहवें वर्षमें दुर्योधनके अपराधसे भीम और अर्जुनके पराक्रमद्वारा कौरवकुलका नाश हो जायगा’ ।।

इत्युक्त्वा दिवमाक्रम्य क्षिप्रमन्तरधीयत ।
ब्राह्मीं श्रियं सुविपुलां बिभ्रद् देवर्षिसत्तमः ।। ३५ ।।

ऐसा कहकर विशाल ब्रह्मतेज धारण करनेवाले देवर्षि-प्रवर नारद आकाशमें जाकर सहसा अन्तर्धान हो गये ।।

(धृतराष्ट्र उवाच

किमब्रुवन् नागरिकाः किं वै जानपदा जनाः ।
मह्यं तत्त्वेन चाचक्ष्व क्षत्तः सर्वमशेषतः ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—विदुर! जब पाण्डव वनको जाने लगे, उस समय नगर और देशके लोग क्या कह रहे थे, ये सब बातें मुझे पूर्णरूपसे ठीक-ठीक बताओ।

विदुर उवाच

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा येऽन्ये वदन्त्यथ ।
तच्छृणुष्व महाराज वक्ष्यते च मया तव ।।

विदुर बोले—महाराज! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्यलोग इस घटनाके सम्बन्धमें जो कुछ कहते हैं, वह सुनिये, मैं आपसे सब बातें बता रहा हूँ।

हा हा गच्छन्ति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम् ।
इति पौराः सुदुःखार्ताः शोचन्ति स्म समन्ततः ।।

पाण्डवोंके जाते समय समस्त पुरवासी दुःखसे आतुर हो सब ओर शोकमें डूबे हुए थे और इस प्रकार कह रहे थे—'हाय! हाय! हमारे स्वामी, हमारे रक्षक वनमें चले जा रहे हैं। भाइयो! देखो, धृतराष्ट्रके पुत्रोंका यह कैसा अन्याय है?'

तदहृष्टमिवाकूजं गतोत्सवमिवाभवत् ।
नगरं हास्तिनपुरं सस्त्रीवृद्धकुमारकम् ।।

स्त्री, बालक और वृद्धोंसहित सारा हस्तिनापुर नगर हर्षरहित, शब्दशून्य तथा उत्सवहीन-सा हो गया।

सर्वे चासन् निरुत्साहा व्याधिना बाधिता यथा ।।
पार्थात् प्रति नरा नित्यं चिन्ताशोकपरायणाः ।
तत्र तत्र कथां चक्रुः समासाद्य परस्परम् ।।

सब लोग कुन्तीपुत्रोंके लिये निरन्तर चिन्ता एवं शोकमें निमग्न हो उत्साह खो बैठे थे। सबकी दशा रोगियोंके समान हो गयी थी। सब एक-दूसरेसे मिलकर जहाँ-तहाँ पाण्डवोंके विषयमें ही वार्तालाप करते थे।

वनं गते धर्मराजे दुःखशोकपरायणाः ।
बभूवुः कौरवा वृद्धा भृशं शोकेन पीडिताः ।।

धर्मराजके वनमें चले जानेपर समस्त वृद्ध कौरव भी अत्यन्त शोकसे व्यथित हो दुःख और चिन्तामें निमग्न हो गये।

ततः पौरजनः सर्वः शोचन्नास्ते जनाधिपम् ।
कुर्वाणाश्च कथास्तत्र ब्राह्मणाः पार्थिवं प्रति ।।

तदनन्तर समस्त पुरवासी राजा युधिष्ठिरके लिये शोकाकुल हो गये। उस समय वहाँ ब्राह्मणलोग राजा युधिष्ठिरके विषयमें निम्नांकित बातें करने लगे।

ब्राह्मणा ऊचुः

कथं नु राजा धर्मात्मा वने वसति निर्जने ।
तस्यानुजाश्च ते नित्यं कृष्णा च द्रुपदात्मजा ।।
सुखार्हापि च दुःखार्ता कथं वसति सा वने ।।

ब्राह्मणोंने कहा—हाय! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर और उनके भाई निर्जन वनमें कैसे रहेंगे? तथा द्रुपदकुमारी कृष्णा तो सुख भोगनेके ही योग्य है, वह दुःखसे आतुर हो वनमें कैसे रहेगी।

विदुर उवाच

एवं पौराश्च विप्राश्च सदाराः सहपुत्रकाः ।
स्मरन्तः पाण्डवान् सर्वे बभूवुर्भृशदुःखिताः ।।

विदुरजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार पुरवासी ब्राह्मण अपनी स्त्रियों और पुत्रोंके साथ पाण्डवोंका स्मरण करते हुए बहुत दुःखी हो गये।

आविद्धा इव शस्त्रेण नाभ्यनन्दन् कथंचन ।
सम्भाष्यमाणा अपि ते न कंचित् प्रत्यपूजयन् ।।

शस्त्रोंके आघातसे घायल हुए मनुष्योंकी भाँति वे किसी प्रकार सुखी न हो सके। बात कहनेपर भी वे किसीको आदरपूर्वक उत्तर नहीं देते थे।

न भुक्त्वा न शयित्वा ते दिवा वा यदि वा निशि ।
शोकोपहतविज्ञाना नष्टसंज्ञा इवाभवन् ।।

उन्होंने दिन अथवा रातमें न तो भोजन किया और न नींद ही ली; शोकके कारण उनका सारा विज्ञान आच्छादित हो गया था। वे सब-के-सब अचेत-से हो रहे थे।

यदवस्था बभूवार्ता ह्ययोध्या नगरी पुरा ।
रामे वनं गते दुःखाद्धृतराज्ये सलक्ष्मणे ।।
तदवस्थं बभूवार्तमद्येदं गजसाह्वयम् ।
गते पार्थे वनं दुःखाद्धृतराज्ये सहानुजैः ।।

जैसे त्रेतायुगमें राज्यका अपहरण हो जानेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीके वनमें चले जानेके बाद अयोध्या नगरी दुःखसे अत्यन्त आतुर हो बड़ी दुरवस्थाको पहुँच गयी थी, वही दशा राज्यके अपहरण हो जानेपर भाइयोंसहित युधिष्ठिरके वनमें चले जानेसे आज हमारे इस हस्तिनापुरकी हो गयी है।

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा नागरस्य गिरं च वै ।
भूयो मुमोह शोकाच्च धृतराष्ट्रः सबान्धवः ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विदुरका कथन और पुरवासियोंकी कही हुई बातें सुनकर बन्धु-बान्धवोंसहित राजा धृतराष्ट्र पुनः शोकसे मूर्च्छित हो गये।

ततो दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
द्रोणं द्वीपममन्यन्त राज्यं चास्मै न्यवेदयन् ।। ३६ ।।

तब दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनिने द्रोणको अपना द्वीप (आश्रय) माना और सम्पूर्ण राज्य उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया ।। ३६ ।।

अथाब्रवीत् ततो द्रोणो दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःशासनं च कर्णं च सर्वानेव च भारतान् ।। ३७ ।।

उस समय द्रोणाचार्यने अमर्षशील दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण तथा अन्य सब भरतवंशियोंसे कहा— ।। ३७ ।।

अवध्यान् पाण्डवान् प्राहुर्देवपुत्रान् द्विजातयः ।
अहं वै शरणं प्राप्तान् वर्तमानो यथाबलम् ।। ३८ ।।
गन्ता सर्वात्मना भक्त्या धार्त्तराष्ट्रान् सराजकान् ।
नोत्सहेयं परित्यक्तुं दैवं हि बलवत्तरम् ।। ३९ ।।

'पाण्डव देवताओंके पुत्र हैं, अतः ब्राह्मणलोग उन्हें अवध्य बतलाते हैं। मैं यथाशक्ति सम्पूर्ण हृदयसे तुम्हारे अनुकूल प्रयत्न करता हुआ तुम्हारा साथ दूँगा। भक्तिपूर्वक अपनी शरणमें आये हुए इन राजाओंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका परित्याग करनेका साहस नहीं कर सकता। दैव ही सबसे प्रबल है ।। ३८-३९ ।।

धर्मतः पाण्डुपुत्रा वै वनं गच्छन्ति निर्जिताः ।
ते च द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ।। ४० ।।

'पाण्डव जूएमें पराजित होकर धर्मके अनुसार वनमें गये हैं। वे वहाँ बारह वर्षोंतक रहेंगे ।। ४० ।।

चरितब्रह्मचर्याश्च क्रोधामर्षवशानुगाः ।
वैरं निर्यातयिष्यन्ति महद् दुःखाय पाण्डवाः ।। ४१ ।।

'वनमें पूर्णरूपसे ब्रह्मचर्यका पालन करके जब वे क्रोध और अमर्षके वशीभूत हो यहाँ लौटेंगे, उस समय वैरका बदला अवश्य लेंगे। उनका वह प्रतीकार हमारे लिये महान् दुःखका कारण होगा ।। ४१ ।।

मया च भ्रंशितो राजन् द्रुपदः सखिविग्रहे ।
पुत्रार्थमयजद् राजा वधाय मम भारत ।। ४२ ।।

'राजन्! मैंने मैत्रीके विषयको लेकर कलह प्रारम्भ होनेपर राजा द्रुपदको उनके राज्यसे भ्रष्ट किया था; भारत! इससे दुःखी होकर उन्होंने मेरे वधके लिये पुत्र प्राप्त करनेकी इच्छासे एक यज्ञका आयोजन किया ।। ४२ ।।

याजोपयाजतपसा पुत्रं लेभे स पावकात् ।
धृष्टद्युम्नं द्रौपदीं च वेदीमध्यात् सुमध्यमाम् ।। ४३ ।।

'याज और उपयाजकी तपस्यासे उन्होंने अग्निसे धृष्टद्युम्न और वेदीके मध्यभागसे सुन्दरी द्रौपदीको प्राप्त किया ।।

धृष्टद्युम्नस्तु पार्थानां श्यालः सम्बन्धतो मतः ।

पाण्डवानां प्रियरतस्तस्मान्मां भयमाविशत् ।। ४४ ।।

‘धृष्टद्युम्न तो सम्बन्धकी दृष्टिसे कुन्तीपुत्रोंका साला ही है, अतः सदा उनका प्रिय करनेमें लगा रहता है, उसीसे मुझे भय है’ ।। ४४ ।।

ज्वालावर्णो देवदत्तो धनुष्मान् कवची शरी ।
मर्त्यधर्मतया तस्मादद्य मे साध्वसो महान् ।। ४५ ।।

‘उसके शरीरकी कान्ति अग्निकी ज्वालाके समान उद्भासित होती है। वह देवताका दिया हुआ पुत्र है और धनुष, बाण तथा कवचके साथ प्रकट हुआ है। मरणधर्मा मनुष्य होनेके कारण मुझे अब उससे महान् भय लगता है ।। ४५ ।।

गतो हि पक्षतां तेषां पार्षतः परवीरहा ।
रथातिरथसंख्यायां योऽग्रणीरर्जुनो युवा ।। ४६ ।।
सृष्टप्राणो भृशतरं तेन चेत् संगमो मम ।
किमन्यद् दुःखमधिकं परमं भुवि कौरवाः ।। ४७ ।।

‘शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न पाण्डवोंके पक्षका पोषक हो गया है। रथियों और अतिरथियोंकी गणनामें जिसका नाम सबसे पहले लिया जाता है, वह तरुण वीर अर्जुन धृष्टद्युम्नके लिये, यदि मेरे साथ उसका युद्ध हुआ तो, लड़कर प्राणतक देनेके लिये उद्यत हो जायगा। कौरवो! (अर्जुनके साथ मुझे लड़ना पड़े) इस पृथ्वीपर इससे बढ़कर महान् दुःख मेरे लिये और क्या हो सकता है? ।। ४६-४७ ।।

धृष्टद्युम्नो द्रोणमृत्युरिति विप्रथितं वचः ।
मद्वधाय श्रुतोऽप्येष लोके चाप्यतिविश्रुतः ।। ४८ ।।

‘धृष्टद्युम्न द्रोणकी मौत है, यह बात सर्वत्र फैल चुकी है। मेरे वधके लिये ही उसका जन्म हुआ है। यह भी सब लोगोंने सुन रखा है। धृष्टद्युम्न स्वयं भी संसारमें अपनी वीरताके लिये विख्यात है ।। ४८ ।।

सोऽयं नूनमनुप्राप्तस्त्वत्कृते काल उत्तमः ।
त्वरितं कुरुत श्रेयो नैतदेतावता कृतम् ।। ४९ ।।

‘तुम्हारे लिये यह निश्चय ही बहुत उत्तम अवसर प्राप्त हुआ है। शीघ्र ही अपने कल्याण-साधनमें लग जाओ। पाण्डवोंको वनवास दे देनेमात्रसे तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता ।। ४९ ।।

मुहूर्तं सुखमेवैतत् तालच्छायेव हैमनी ।
यजध्वं च महायज्ञैर्भोगानश्नीत दत्त च ।। ५० ।।
इतश्चतुर्दशे वर्षे महत् प्राप्यस्यथ वैशसम् ।

‘यह राज्य तुमलोगोंके लिये शीतकालमें होनेवाली ताड़के पेड़की छायाके समान दो ही घड़ीतक सुख देनेवाला है। अब तुम बड़े-बड़े यज्ञ करो, मनमाने भोग भोगो और इच्छानुसार दान कर लो। आजसे चौदहवें वर्षमें तुम्हें बहुत बड़ी मार-काटका सामना करना पड़ेगा’ ।। ५०½ ।।

द्रोणस्य वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ।। ५१ ।।

द्रोणाचार्यकी यह बात सुनकर धृतराष्ट्रने कहा— ।। ५१ ।।

सम्यगाह गुरुः क्षत्तरुपावर्तय पाण्डवान् ।
यदि ते न निवर्तन्ते सत्कृता यान्तु पाण्डवाः ।
सशस्त्ररथपादाता भोगवन्तश्च पुत्रकाः ।। ५२ ।।

‘विदुर! गुरु द्रोणाचार्यने ठीक कहा है। तुम पाण्डवोंको लौटा लाओ। यदि वे न लौटें तो वे अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त रथियों और पैदल सेनाओंसे सुरक्षित और भोग-सामग्रीसे सम्पन्न हो सत्कारपूर्वक वनमें भ्रमणके लिये जायँ; क्योंकि वे भी मेरे पुत्र ही हैं’ ।। ५२ ।।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि विदुरधृतराष्ट्रद्रोणवाक्ये अशीतितमोऽध्यायः ।। ८० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें विदुर, धृतराष्ट्र और द्रोणके वचनविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८० ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

एकाशीतितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रकी चिन्ता और उनका संजयके साथ वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

वनं गतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे ।
धृतराष्ट्रं महाराज तदा चिन्ता समाविशत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब पाण्डव जूएमें हारकर वनमें चले गये, तब राजा धृतराष्ट्रको बड़ी चिन्ता हुई ।। १ ।।

तं चिन्तयानमासीनं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
निःश्वसन्तमनेकाग्रमिति होवाच संजयः ।। २ ।।

महाराज धृतराष्ट्रको लंबी साँस खींचते और उद्विग्नचित्त होकर चिन्तामें डूबे हुए देख संजयने इस प्रकार कहा ।। २ ।।

संजय उवाच

अवाप्य वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिप ।
प्रव्राज्य पाण्डवान् राज्याद् राजन् किमनुशोचसि ।। ३ ।।

संजय बोले—पृथ्वीनाथ! यह धन-रत्नोंसे सम्पन्न वसुधाका राज्य पाकर और पाण्डवोंको अपने देशसे निकालकर अब आप क्यों शोकमग्न हो रहे हैं? ।। ३ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

अशोच्यत्वं कुतस्तेषां येषां वैरं भविष्यति ।
पाण्डवैर्युद्धशौण्डैर्हि बलवद्भिर्महारथैः ।। ४ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—जिन लोगोंका युद्धकुशल बलवान् महारथी पाण्डवोंसे वैर होगा, वे शोकमग्न हुए बिना कैसे रह सकते हैं? ।। ४ ।।

संजय उवाच

तवेदं स्वकृतं राजन् महद् वैरमुपस्थितम् ।
विनाशो येन लोकस्य सानुबन्धो भविष्यति ।। ५ ।।

संजय बोले—राजन्! यह आपकी अपनी ही की हुई करतूत है, जिससे यह महान् वैर उपस्थित हुआ है और इसीके कारण सम्पूर्ण जगत्का सगे-सम्बन्धियों-सहित विनाश हो जायगा ।। ५ ।।

वार्यमाणो हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां द्रौपदीं धर्मचारिणीम् ।। ६ ।।

प्राहिणोदानयेहेति पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
सूतपुत्रं सुमन्दात्मा निर्लज्जः प्रातिकामिनम् ।। ७ ।।

भीष्म, द्रोण और विदुरने बार-बार मना किया तो भी आपके मूढ़ और निर्लज्ज पुत्र दुर्योधनने सूतपुत्र प्रातिकामी-को यह आदेश देकर भेजा कि तुम पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी धर्मचारिणी द्रौपदीको सभामें ले आओ ।। ६-७ ।।

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ।। ८ ।।
बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे समुपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ।। ९ ।।

देवतालोग जिस पुरुषको पराजय देना चाहते हैं, उसकी बुद्धि ही पहले हर लेते हैं, इससे वह सब कुछ उलटा ही देखने लगता है। विनाशकाल उपस्थित होनेपर जब बुद्धि मलिन हो जाती है, उस समय अन्याय ही न्यायके समान जान पड़ता है और वह हृदयसे किसी प्रकार नहीं निकलता ।। ८-९ ।।

अनर्थाश्चार्थरूपेण अर्थाश्चानर्थरूपिणः ।
उत्तिष्ठन्ति विनाशाय नूनं तच्चास्य रोचते ।। १० ।।

उस समय उस पुरुषके विनाशके लिये अनर्थ ही अर्थरूपसे और अर्थ भी अनर्थरूपसे उसके सामने उपस्थित होते हैं और निश्चय ही अर्थरूपमें आया हुआ अनर्थ ही उसे अच्छा लगता है ।। १० ।।

न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित् ।
कालस्य बलमेतावद् विपरीतार्थदर्शनम् ।। ११ ।।

काल डंडा या तलवार लेकर किसीका सिर नहीं काटता। कालका बल इतना ही है कि वह प्रत्येक वस्तुके विषयमें मनुष्यकी विपरीत बुद्धि कर देता है ।। ११ ।।

आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
पाञ्चालीमपकर्षद्भिः सभामध्ये तपस्विनीम् ।। १२ ।।
अयोनिजां रूपवतीं कुले जातां विभावसोः ।
को नु तां सर्वधर्मज्ञां परिभूय यशस्विनीम् ।। १३ ।।
पर्यानयेत् सभामध्ये विना दुर्द्यूतदेविनम् ।
स्त्रीधर्मिणी वरारोहा शोणितेन परिप्लुता ।। १४ ।।
एकवस्त्राथ पाञ्चाली पाण्डवानभ्यवैक्षत ।
हतस्वान् हृतराज्यांश्च हृतवस्त्रान् हृतश्रियः ।। १५ ।।
विहीनान् सर्वकामेभ्यो दासभावमुपागतान् ।
धर्मपाशपरिक्षिप्तानशक्तानिव विक्रमे ।। १६ ।।

पांचालराजकुमारी द्रौपदी तपस्विनी है। उसका जन्म किसी मानवी स्त्रीके गर्भसे नहीं हुआ है, वह अग्निके कुलमें उत्पन्न हुई और अनुपम सुन्दरी है। वह सब धर्मोंको जाननेवाली तथा यशस्विनी है। उसे भरी सभामें खींचकर लानेवाले दुष्टोंने भयंकर तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाले घमासान युद्धकी सम्भावना उत्पन्न कर दी है। अधर्मपूर्वक जूआ खेलनेवाले दुर्योधनके सिवा कौन है, जो द्रौपदीको सभामें बुला सके। सुन्दर शरीरवाली पांचालराजकुमारी स्त्रीधर्मसे युक्त (रजस्वला) थी। उसका वस्त्र रक्तसे सना हुआ था। वह एक ही साड़ी पहने हुए थी। उसने सभामें आकर पाण्डवोंको देखा। उन पाण्डवोंके धन, राज्य, वस्त्र और लक्ष्मी सबका अपहरण हो चुका था। वे सम्पूर्ण मनोवांछित भोगोंसे वंचित हो दासभावको प्राप्त हो गये थे। धर्मके बन्धनमें बँधे रहनेके कारण वे पराक्रम दिखानेमें भी असमर्थ-से हो रहे थे ।। १२—१६ ।।

क्रुद्धां चानर्हतीं कृष्णां दुःखितां कुरुसंसदि ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च कटुकान्यभ्यभाषताम् ।। १७ ।।

उनकी यह दशा देखकर कृष्णा क्रोध और दुःखमें डूब गयी। वह तिरस्कारके योग्य कदापि न थी, तो भी कौरवोंकी सभामें दुर्योधन और कर्णने उसे कटु वचन सुनाये ।।

इति सर्वमिदं राजन्नाकुलं प्रतिभाति मे ।

राजन्! ये सारी बातें मुझे महान् दुःखको निमन्त्रण देनेवाली जान पड़ती हैं ।। १७½ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

तस्याः कृपणचक्षुर्भ्यां प्रदह्योतापि मेदिनी ।। १८ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—संजय! द्रौपदीके उन दीनतापूर्ण नेत्रोंद्वारा यह सारी पृथ्वी दग्ध हो सकती थी ।। १८ ।।

अपि शेषं भवेदद्य पुत्राणां मम संजय ।
भरतानां स्त्रियः सर्वा गान्धार्या सह संगताः ।। १९ ।।
प्राक्रोशन् भैरवं तत्र दृष्ट्वा कृष्णां सभागताम् ।
धर्मिष्ठां धर्मपत्नीं च रूपयौवनशालिनीम् ।। २० ।।

संजय! उसके अभिशापसे मेरे सभी पुत्रोंका आज ही संहार हो जाता, परंतु उसने सब कुछ चुपचाप सह लिया। जिस समय रूप और यौवनसे सुशोभित होनेवाली पाण्डवोंकी धर्मपरायणा धर्मपत्नी कृष्णा सभामें लायी गयी, उस समय वहाँ उसे देखकर भरतवंशकी सभी स्त्रियाँ गान्धारीके साथ मिलकर बड़े भयानक स्वरसे विलाप एवं चीत्कार करने लगीं ।। १९-२० ।।

प्रजाभिः सह संगम्य ह्यनुशोचन्ति नित्यशः ।
अग्निहोत्राणि सायाह्ने न चाहूयन्त सर्वशः ।। २१ ।।
ब्राह्मणाः कुपिताश्चासन् द्रौपद्याः परिकर्षणे ।

ये सारी स्त्रियाँ प्रजावर्गकी स्त्रियोंके साथ मिलकर रात-दिन सदा इसीके लिये शोक करती रहती हैं। उस दिन द्रौपदीका वस्त्र खींचे जानेके कारण सब ब्राह्मण कुपित हो उठे थे, अतः सायंकाल हमारे घरोंमें उन्होंने अग्निहोत्रतक नहीं किया ।। २१½ ।।

आसीन्निष्ठानको घोरो निर्घातश्च महानभूत् ।। २२ ।।

दिव उल्काश्चापतन्त राहुश्चार्कमुपाग्रसत् ।

अपर्वणि महाघोरं प्रजानां जनयन् भयम् ।। २३ ।।

उस समय प्रलयकालीन मेघोंकी भयानक गर्जनाके समान भारी आवाजके साथ बड़े जोरकी आँधी चलने लगी। वज्रपातका-सा अत्यन्त कर्कश शब्द होने लगा। आकाशसे उल्काएँ गिरने लगीं तथा राहुने बिना पर्वके ही सूर्यको ग्रस लिया और प्रजाके लिये अत्यन्त घोर भय उपस्थित कर दिया ।। २२-२३ ।।

तथैव रथशालासु प्रादुरासीद्धुताशनः ।

ध्वजाश्चापि व्यशीर्यन्त भरतानामभूतये ।। २४ ।।

इसी प्रकार हमारी रथशालाओंमें आग लग गयी और रथोंकी ध्वजाएँ जलकर खाक हो गयीं, जो भरत-वंशियोंके लिये अमंगलकी सूवना देनेवाली थीं ।। २४ ।।

दुर्योधनस्याग्निहोत्रे प्राक्रोशन् भैरवं शिवाः ।

तास्तदा प्रत्यभाषन्त रासभाः सर्वतो दिशः ।। २५ ।।

दुर्योधनके अग्निहोत्रगृहमें गीदड़ियाँ आकर भयंकर स्वरसे हुँआ-हुँआ करने लगीं। उनकी आवाज सुनते ही चारों दिशाओंमें गधे रेंकने लगे ।। २५ ।।

प्रातिष्ठत ततो भीष्मो द्रोणेन सह संजय ।

कृपश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकश्च महामनाः ।। २६ ।।

ततोऽहमब्रुवं तत्र विदुरेण प्रचोदितः ।

वरं ददानि कृष्णायै काङ्क्षितं यद् यदिच्छति ।। २७ ।।

संजय! यह सब देखकर द्रोणके साथ भीष्म, कृपाचार्य, सोमदत्त और महामना बाह्लीक वहाँसे उठकर चले गये। तब मैंने विदुरकी प्रेरणासे वहाँ यह बात कही—'मैं कृष्णाको मनोवांछित वर दूँगा। वह जो कुछ चाहे, माँग सकती है' ।। २६-२७ ।।

अवृणोत् तत्र पाञ्चाली पाण्डवानामदासताम् ।

सरथान् सधनुष्कांश्चाप्यनुज्ञासिषमप्यहम् ।। २८ ।।

तब वहाँ पांचालीने यह वर माँगा कि पाण्डवलोग दासभावसे मुक्त हो जायँ। मैंने भी रथ और धनुष आदिके सहित पाण्डवोंको उनकी समस्त सम्पत्तिके साथ इन्द्रप्रस्थ लौट जानेकी आज्ञा दे दी थी ।। २८ ।।

अथाब्रवीन्महाप्राज्ञो विदुरः सर्वधर्मवित् ।

एतदन्तास्तु भरता यद् वः कृष्णा सभां गता ।। २९ ।।

यैषा पाञ्चालराजस्य सुता सा श्रीरनुत्तमा ।

पाञ्चाली पाण्डवानेतान् दैवसृष्टोपसर्पति ।। ३० ।।

तदनन्तर सब धर्मोंके ज्ञाता परम बुद्धिमान् विदुरने कहा—'भरतवंशियो! यह कृष्णा जो तुम्हारी सभामें लायी गयी, यही तुम्हारे विनाशका कारण होगा। यह जो पांचालराजकी पुत्री है, वह परम उत्तम लक्ष्मी ही है। देवताओंकी आज्ञासे ही पांचाली इन पाण्डवोंकी सेवा करती है ।। २९-३० ।।

तस्याः पार्थाः परिक्लेशं न क्षंस्यन्ते ह्यमर्षणाः ।
वृष्णयो वा महेष्वासाः पाञ्चाला वा महारथाः ।। ३१ ।।
तेन सत्याभिसंधेन वासुदेवेन रक्षिताः ।
आगमिष्यति बीभत्सुः पाञ्चालैः परिवारितः ।। ३२ ।।

'कुन्तीके पुत्र अमर्षमें भरे हुए हैं। द्रौपदीको जो यहाँ इस प्रकार क्लेश दिया गया है, इसे वे कदापि सहन नहीं करेंगे। सत्यप्रतिज्ञ भगवान् श्रीकृष्णसे सुरक्षित महान् धनुर्धर वृष्णिवंशी अथवा महारथी पांचाल वीर भी इसे नहीं सहेंगे। अर्जुन पांचाल वीरोंसे घिरे हुए अवश्य आयेंगे ।। ३१-३२ ।।

तेषां मध्ये महेष्वासो भीमसेनो महाबलः ।
आगमिष्यति धुन्वानो गदां दण्डमिवान्तकः ।। ३३ ।।

'उनके बीचमें महाधनुर्धर महाबली भीमसेन होंगे, जो दण्डपाणि यमराजकी भाँति गदा घुमाते हुए युद्धके लिये आयेंगे ।। ३३ ।।

ततो गाण्डीवनिर्घोषं श्रुत्वा पार्थस्य धीमतः ।
गदावेगं च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः ।। ३४ ।।

'उस समय परम बुद्धिमान् अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी टंकार सुनकर और भीमसेनकी गदाका महान् वेग देखकर कोई भी राजा उनका सामना करनेमें समर्थ न हो सकेंगे ।। ३४ ।।

तत्र मे रोचते नित्यं पार्थैः साम न विग्रहः ।
कुरुभ्यो हि सदा मन्ये पाण्डवान् बलवत्तरान् ।। ३५ ।।

'अतः मुझे तो पाण्डवोंके साथ सदा शान्ति बनाये रखनेकी ही नीति अच्छी लगती है। उनके साथ युद्ध करना मुझे पसंद नहीं है। मैं पाण्डवोंको सदा ही कौरवोंसे अधिक बलवान् मानता हूँ ।। ३५ ।।

तथा हि बलवान् राजा जरासंधो महाद्युतिः ।
बाहुप्रहरणेनैव भीमेन निहतो युधि ।। ३६ ।।

'क्योंकि महान् तेजस्वी और बलवान् राजा जरासंधको भीमसेनने बाहुरूपी शस्त्रसे ही युद्धमें मार गिराया था ।।

तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं क्रियतामविशङ्कया ।। ३७ ।।

‘भरतवंशशिरोमणे! अतः पाण्डवोंके साथ आपको शान्ति ही बनाये रखनी चाहिये। दोनों पक्षोंके लिये यही उचित है। आप निःशंक होकर यही उपाय करें ।। ३७ ।।

एवं कृते महाराज परं श्रेयस्त्वमाप्स्यसि ।
एवं गावल्गणे क्षत्ता धर्मार्थसहितं वचः ।। ३८ ।।
उक्तवान् न गृहीतं वै मया पुत्रहितैषिणा ।। ३९ ।।

‘महाराज! ऐसा करनेपर आप परम कल्याणके भागी होंगे।’ संजय! इस प्रकार विदुरने मुझसे धर्म और अर्थयुक्त बातें कही थीं; किंतु पुत्रका हित चाहनेवाला होकर भी मैंने उनकी बात नहीं मानी ।। ३८-३९ ।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे एकाशीतितमोऽध्यायः ।। ८१ ।।

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारतनामक एक लाख श्लोकोंकी संहितामें सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८१ ।।

(सभापर्व सम्पूर्णम्)

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुलयोग
उत्तरभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	२५९५ ।।	(१५७)	२१७ ।।=	२८१३=
दक्षिणभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	१२४२	(१)	१ ।=	१२४३ ।=

सभापर्वकी पूर्ण श्लोकसंख्या—४०५६ ।।

निवेदन

'महाभारत मासिक पत्र' के इस पञ्चम अङ्कमें सभापर्व समाप्त होकर वनपर्वका आरम्भ हो रहा है। आदिपर्वकी भाँति सभापर्वमें भी दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी श्लोक लिये गये हैं। विशेषतः अड़तीसवें अध्यायमें भगवान्‌के अवतारोंका जो संक्षिप्त और श्रीकृष्णावतारका विशेष वर्णन दाक्षिणात्य प्रतियोंमें उपलब्ध होता है, उस प्रसङ्गमे एक ही स्थलपर ७६१ १/२ श्लोक लिये गये हैं। भगवान्‌के चरित्र-वर्णनके ये श्लोक अत्यन्त उपयोगी, आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण हैं। राजसूय यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजाके प्रसङ्गमें जब भीष्मजीने बहुतसे संत-महात्माओंके मुखसे सुनी हुई श्रीकृष्णकी महिमा बतायी, उस समय युधिष्ठिरके मनमें उनके लीला-चरित्रको सुननेकी अभिलाषा जाग्रत् हो उठी और उन्हींके पूछनेपर भीष्मजीने विस्तारपूर्वक भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन किया। इकतालीसवें अध्यायके शिशुपालके कथनपर ध्यान देनेसे भी उक्त प्रसङ्गकी अनिवार्य आवश्यकता सिद्ध होती है।

यदि भीष्मजीने भगवान्‌की पूतनावध, शकट-भंजन, तृणावर्त-उद्धार, यमलार्जुनभङ्ग, बकासुरवध, कालियदमन, केशी-अरिष्टासुर-वध और कंस-संहार आदि बाल-लीलाओंका वर्णन न किया होता तो शिशुपाल उनका नामोल्लेख कैसे कर सकता था; इससे सिद्ध है कि भीष्मजीने उस समय अवश्य ही विस्तारपूर्वक श्रीकृष्णचरित सुनाये थे।

वनपर्वके प्रसङ्ग भी बड़े ही मार्मिक और उपादेय हैं। पाण्डवोंकी कष्टसहिष्णुता, साहस, उत्साह, धैर्य और संकटकालमें भी धर्म-पालनकी दृढ़ता आदि बातें सदा ही पढ़ने, मनन करने और जीवनमें उतारने योग्य हैं। इस पर्वमें अनेकानेक राजर्षियों-महर्षियोंके त्याग एवं तपस्यामय जीवनकी झाँकी देखनेको मिलती है। इसमें तीर्थसेवन, दान, यज्ञ, परोपकार, धर्माचरण, सत्यपरायणता, त्याग, वैराग्य, पातिव्रत्य, तपस्या तथा सत्सङ्ग आदिके महत्त्वका बहुत सुन्दर निरूपण है। शान्तिपर्वकी भाँति यह पर्व भी समादरणीय सदुपदेशोंसे ही भरा है। नल-दमयन्ती सत्यवान्-सावित्री तथा रामायणकी कथा भी इसीमें आयी है। सभी दृष्टियोंमें यह पर्व पठनीय और माननीय है।

सम्पादक—**महाभारत**

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः ।।

महाभारत-सार

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे ।।

'मनुष्य इस जगत्‌में हजारों माता-पिताओं तथा सैकड़ों स्त्री-पुत्रोंके संयोग-वियोगका अनुभव कर चुके हैं, करते हैं और करते रहेंगे।'

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ।।

'अज्ञानी पुरुषको प्रतिदिन हर्षके हजारों और भयके सैकड़ों अवसर प्राप्त होते रहते हैं; किन्तु विद्वान् पुरुषके मनपर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।'

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।।

'मैं दोनों हाथ ऊपर उठाकर पुकार-पुकारकर कह रहा हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्मसे मोक्ष तो सिद्ध होता ही है; अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं तो भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते!'

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।।

'कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी धर्मका त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धनका हेतु अनित्य।'

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति ।।

'यह महाभारतका सारभूत उपदेश 'भारत-सावित्री' के नामसे प्रसिद्ध है। जो प्रतिदिन सबेरे उठकर इसका पाठ करता है, वह सम्पूर्ण महाभारतके अध्ययनका फल पाकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

—महाभारत, स्वर्गारोहण० ५।६०—६४

॥ श्रीहरिः ॥

33

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(द्वितीय खण्ड)

वनपर्व और विराटपर्व, सचित्र, सरल हिन्दी-अनुवादसहित

गीताप्रेस गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

गीताप्रेस, गोरखपुर

।। श्रीहरिः ।।

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(द्वितीय खण्ड)

[वनपर्व और विराटपर्व]

[सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ।।

अनुवादक—

साहित्याचार्य पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

।। श्रीहरिः ।।

विषय-सूची

वनपर्व

अध्याय **विषय**

(अरण्यपर्व)

(किर्मीरवधपर्व)

(अर्जुनाभिगमनपर्व)

(तीर्थयात्रापर्व)

(जटासुरवधपर्व)

(यक्षयुद्धपर्व)

(निवातकवचयुद्धपर्व)

(आजगरपर्व)

(मार्कण्डेयसमास्यापर्व)

(द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व)

(घोषयात्रापर्व)

(मृगस्वप्नोद्भवपर्व)

(व्रीहिद्रौणिकपर्व)

(पतिव्रतामाहात्म्यपर्व)

(कुण्डलाहरणपर्व)

(आरणेयपर्व)

विराटपर्व

(पाण्डवप्रवेशपर्व)

(समयपालनपर्व)

(कीचकवधपर्व)

(गोहरणपर्व)

(वैवाहिकपर्व)

चित्र-सूची

सादा

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः ।।

श्रीमहाभारतम्

वनपर्व

अरण्यपर्व

प्रथमोऽध्यायः

पाण्डवोंका वनगमन, पुरवासियोंद्वारा उनका अनुगमन और युधिष्ठिरके अनुरोध करनेपर उनमेंसे बहुतोंका लौटना तथा पाण्डवोंका प्रमाणकोटितीर्थमें रात्रिवास

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ।।

'अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्यसखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत)-का पाठ करना चाहिये।

जनमेजय उवाच

एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः ।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निकृत्या द्विजसत्तम ।। १ ।।
श्राविताः परुषा वाचः सृजद्भिर्वैरमुत्तमम् ।
किमकुर्वत कौरव्या मम पूर्वपितामहाः ।। २ ।।

जनमेजयने पूछा—विप्रवर! मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रके दुरात्मा पुत्रोंने जब इस प्रकार कपटपूर्वक कुन्तीकुमारोंको जूएमें हराकर कुपित कर दिया और घोर वैरकी नींव डालते हुए उन्हें अत्यन्त कठोर बातें सुनायीं, तब मेरे पूर्वपितामह युधिष्ठिर आदि कुरुवंशियोंने क्या किया? ।। १-२ ।।

कथं चैश्वर्यविभ्रष्टाः सहसा दुःखमेयुषः ।
वने विजह्रिरे पार्थाः शक्रप्रतिमतेजसः ।। ३ ।।

तथा जो सहसा ऐश्वर्यसे वंचित हो जानेके कारण महान् दुःखमें पड़ गये थे, उन इन्द्रके तुल्य तेजस्वी पाण्डवोंने वनमें किस प्रकार विचरण किया? ।। ३ ।।

के वै तानन्ववर्तन्त प्राप्तान् व्यसनमुत्तमम् ।
किमाचाराः किमाहाराः क्व च वासो महात्मनाम् ।। ४ ।।

उस भारी संकटमें पड़े हुए पाण्डवोंके साथ वनमें कौन-कौन गये थे? वनमें वे किस आचार-व्यवहारसे रहते थे? क्या खाते थे? और उन महात्माओंका निवास-स्थान कहाँ था? ।। ४ ।।

कथं च द्वादश समा वने तेषां महामुने ।
व्यतीयुर्ब्राह्मणश्रेष्ठ शूराणामरिघातिनाम् ।। ५ ।।

महामुने! ब्राह्मणश्रेष्ठ! शत्रुओंका संहार करनेवाले उन शूरवीर महारथियोंके बारह वर्ष वनमें किस प्रकार बीते? ।। ५ ।।

कथं च राजपुत्री सा प्रवरा सर्वयोषिताम् ।
पतिव्रता महाभागा सततं सत्यवादिनी ।। ६ ।।
वनवासमदुःखार्हा दारुणं प्रत्यपद्यत ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं विस्तरेण तपोधन ।। ७ ।।

तपोधन! संसारकी समस्त सुन्दरियोंमें श्रेष्ठ, पतिव्रता एवं सदा सत्य बोलनेवाली वह महाभागा राजकुमारी द्रौपदी, जो दुःख भोगनेके योग्य कदापि नहीं थी, वनवासके भयंकर कष्टको कैसे सह सकी? यह सब मुझे विस्तारपूर्वक बतलाइये ।। ६-७ ।।

श्रोतुमिच्छामि चरितं भूरिद्रविणतेजसाम् ।
कथ्यमानं त्वया विप्र परं कौतूहलं हि मे ।। ८ ।।

ब्रह्मन्! मैं आपके द्वारा कहे जाते हुए महान् पराक्रम और तेजसे सम्पन्न पाण्डवोंके चरित्रको सुनना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें अत्यन्त कौतूहल हो रहा है ।। ८ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः ।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निर्ययुर्गजसाह्वयात् ।। ९ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! इस प्रकार मन्त्रियोंसहित दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंद्वारा जूएमें पराजित करके क्रुद्ध किये हुए कुन्तीकुमार हस्तिनापुरसे बाहर निकले ।। ९ ।।

वर्धमानपुरद्वारादभिनिष्क्रम्य पाण्डवाः ।
उदङ्मुखाः शस्त्रभृतः प्रययुः सह कृष्णया ।। १० ।।

वर्धमानपुरकी दिशामें स्थित नगरद्वारसे निकलकर शस्त्रधारी पाण्डवोंने द्रौपदीके साथ उत्तराभिमुख होकर यात्रा आरम्भ की ।। १० ।।

इन्द्रसेनादयश्चैव भृत्याः परि चतुर्दश ।
रथैरनुययुः शीघ्रैः स्त्रिय आदाय सर्वशः ।। ११ ।।

इन्द्रसेन आदि चौदहसे अधिक सेवक सारी स्त्रियोंको शीघ्रगामी रथोंपर बिठाकर उनके पीछे-पीछे चले ।। ११ ।।

गतानेतान् विदित्वा तु पौराः शोकाभिपीडिताः ।
गर्हयन्तोऽसकृद् भीष्मविदुरद्रोणगौतमान् ।। १२ ।।
ऊचुर्विगतसंत्रासाः समागम्य परस्परम् ।

पाण्डव वनकी ओर गये हैं, यह जानकर हस्तिनापुरके निवासी शोकसे पीडित हो बिना किसी भयके भीष्म, विदुर, द्रोण और कृपाचार्यकी बारंबार निन्दा करते हुए एक-दूसरेसे मिलकर इस प्रकार कहने लगे ।। १२½ ।।

पौरा ऊचुः

नेदमस्ति कुलं सर्वं न वयं न च नो गृहाः ।। १३ ।।
यत्र दुर्योधनः पापः सौबलेनाभिपालितः ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च राज्यमेतच्चिकीर्षति ।। १४ ।।

पुरवासी बोले—अहो! हमारा यह समस्त कुल, हम तथा हमारे घर-द्वार अब सुरक्षित नहीं हैं; क्योंकि यहाँ पापात्मा दुर्योधन सुबलपुत्र शकुनिसे पालित हो कर्ण और दुःशासनकी सम्मतिसे इस राज्यका शासन करना चाहता है ।। १३-१४ ।।

न तत् कुलं न चाचारो न धर्मोऽर्थः कुतः सुखम् ।
यत्र पापसहायोऽयं पापो राज्यं चिकीर्षति ।। १५ ।।

जहाँ पापियोंकी ही सहायतासे यह पापाचारी राज्य करना चाहता है वहाँ हमलोगोंके कुल, आचार, धर्म और अर्थ भी नहीं रह सकते, फिर सुख तो रह ही कैसे सकता है? ।। १५ ।।

दुर्योधनो गुरुद्वेषी त्यक्ताचारसुहृज्जनः ।
अर्थलुब्धोऽभिमानी च नीचः प्रकृतिनिर्घृणः ।। १६ ।।

दुर्योधन गुरुजनोंसे द्वेष रखनेवाला है। उसने सदाचार और पाण्डवों-जैसे सुहृदोंको त्याग दिया है। वह अर्थलोलुप, अभिमानी, नीच और स्वभावतः ही निष्ठुर है ।। १६ ।।

नेयमस्ति मही कृत्स्ना यत्र दुर्योधनो नृपः ।
साधु गच्छामहे सर्वे यत्र गच्छन्ति पाण्डवाः ।। १७ ।।

जहाँ दुर्योधन राजा है, वहाँकी यह सारी पृथ्वी नहींके बराबर है, अतः यही ठीक होगा कि हम सब लोग वहीं चलें जहाँ पाण्डव जा रहे हैं ।। १७ ।।

सानुक्रोशा महात्मानो विजितेन्द्रियशत्रवः ।
ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च धर्माचारपरायणाः ।। १८ ।।

पाण्डवगण दयालु, महात्मा, जितेन्द्रिय, शत्रुविजयी, लज्जाशील, यशस्वी, धर्मात्मा तथा सदाचारपरायण हैं ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वानुजग्मुस्ते पाण्डवांस्तान् समेत्य च ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे कौन्तेयान् माद्रिनन्दनान् ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर वे पुरवासी पाण्डवोंके पास गये और उन कुन्तीकुमारों तथा माद्रीपुत्रोंसे मिलकर वे सब-के-सब हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले — ।। १९ ।।

क्व गमिष्यथ भद्रं वस्त्यक्त्वास्मान् दुःखभागिनः ।
वयमप्यनुयास्यामो यत्र यूयं गमिष्यथ ।। २० ।।

‘पाण्डवो! आपलोगोंका कल्याण हो। हम आपके वियोगसे बहुत दुःखी हैं। आपलोग हमें छोड़कर कहाँ जा रहे हैं? आप जहाँ जायँगे वहीं हम भी आपके साथ चलेंगे ।। २० ।।

अधर्मेण जितान् श्रुत्वा युष्मांस्त्यक्तघृणैः परैः ।
उद्विग्नाः स्मो भृशं सर्वे नास्मान् हातुमिहार्हथ ।। २१ ।।

भक्तानुरक्तान् सुहृदः सदा प्रियहिते रतान् ।
कुराजाधिष्ठिते राज्ये न विनश्येम सर्वशः ।। २२ ।।

'निर्दयी शत्रुओंने आपको अधर्मपूर्वक जूएमें हराया है, यह सुनकर हम सब लोग अत्यन्त उद्विग्न हो उठे हैं। आपलोग हमारा त्याग न करें; क्योंकि हम आपके सेवक हैं, प्रेमी हैं, सुहृद् हैं और सदा आपके प्रिय एवं हितमें संलग्न रहनेवाले हैं। आपके बिना इस दुष्ट राजाके राज्यमें रहकर हम नष्ट होना नहीं चाहते ।। २१-२२ ।।

श्रूयतां चाभिधास्यामो गुणदोषान् नरर्षभाः ।
शुभाशुभाधिवासेन संसर्गः कुरुते यथा ।। २३ ।।

'नरश्रेष्ठ पाण्डवो! शुभ और अशुभ आश्रयमें रहनेपर वहाँका संसर्ग मनुष्यमें जैसे गुण-दोषोंकी सृष्टि करता है, उनका हम वर्णन करते हैं, सुनिये ।। २३ ।।

वस्त्रमापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा ।
पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ।। २४ ।।

'जैसे फूलोंके संसर्गमें रहनेपर उनकी सुगन्ध वस्त्र, जल, तिल और भूमिको भी सुवासित कर देती है, उसी प्रकार संसर्गजनित गुण भी अपना प्रभाव डालते हैं ।। २४ ।।

मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः ।
अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः ।। २५ ।।

'मूढ मनुष्योंसे मिलना-जुलना मोहजालकी उत्पत्तिका कारण होता है। इसी प्रकार साधु-महात्माओंका रंग प्रतिदिन धर्मकी प्राप्ति करानेवाला है ।। २५ ।।

तस्मात् प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च सुस्वभावैस्तपस्विभिः ।
सद्भिश्च सह संसर्गः कार्यः शमपरायणैः ।। २६ ।।

'इसलिये विद्वानों, वृद्ध पुरुषों तथा उत्तम स्वभाववाले शान्तिपरायण तपस्वी सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये ।। २६ ।।

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च ।
ते सेव्यास्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी ।। २७ ।।
निरारम्भा ह्यपि वयं पुण्यशीलेषु साधुषु ।
पुण्यमेवाप्नुयामेह पापं पापोपसेवनात् ।। २८ ।।

'जिन पुरुषोंके विद्या, जाति और कर्म—ये तीनों उज्ज्वल हों, उनका सेवन करना चाहिये; क्योंकि उन महापुरुषोंके साथ बैठना शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी बढ़कर है। हमलोग अग्निहोत्र आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करते, तो भी पुण्यात्मा साधुपुरुषोंके समुदायमें रहनेसे हमें पुण्यकी ही प्राप्ति होगी। इसी प्रकार पापीजनोंके सेवनसे हम पापके ही भागी होंगे ।। २७-२८ ।।

असतां दर्शनात् स्पर्शात् संजल्पाच्च सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः ।। २९ ।।

‘दुष्ट मनुष्योंके दर्शन, स्पर्श, उनके साथ वार्तालाप अथवा उठने-बैठनेसे धार्मिक आचारोंकी हानि होती है। इसलिये वैसे मनुष्योंको कभी सिद्धि नहीं प्राप्त होती ।। २९ ।।

बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ।। ३० ।।

‘नीच पुरुषोंका साथ करनेसे मनुष्योंकी बुद्धि नष्ट होती है। मध्यम श्रेणीके मनुष्योंका साथ करनेसे मध्यम होती है और उत्तम पुरुषोंका संग करनेसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती है ।। ३० ।।

अनीचैर्नाप्यविषयैर्नाधर्मिष्ठैर्विशेषतः ।
ये गुणाः कीर्तिता लोके धर्मकामार्थसम्भवाः ।
लोकाचारेषु सम्भूता वेदोक्ताः शिष्टसम्मताः ।। ३१ ।।

‘उत्तम, प्रसिद्ध एवं विशेषतः धर्मिष्ठ मनुष्योंने लोकमें धर्म, अर्थ और कामकी उत्पत्तिके हेतुभूत जो वेदोक्त गुण (साधन) बताये हैं वे ही लोकाचारमें प्रकट होते हैं—लोगोंद्वारा काममें लाये जाते हैं और शिष्ट पुरुष उन्हींका आदर करते हैं ।। ३१ ।।

ते युष्मासु समस्ताश्च व्यस्ताश्चैवेह सद्गुणाः ।
इच्छामो गुणवन्मध्ये वस्तुं श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ।। ३२ ।।

‘वे सभी सद्‌गुण पृथक्-पृथक् और एक साथ आपलोगोंमें विद्यमान हैं, अतः हमलोग कल्याणकी इच्छासे आप-जैसे गुणवान् पुरुषोंके बीचमें रहना चाहते हैं’ ।। ३२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

धन्या वयं यदस्माकं स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः ।
असतोऽपि गुणानाहुर्ब्राह्मणप्रमुखाः प्रजाः ।। ३३ ।।

युधिष्ठिरने कहा—हमलोग धन्य हैं; क्योंकि ब्राह्मण आदि प्रजावर्गके लोग हमारे प्रति स्नेह और करुणाके पाशमें बँधकर जो गुण हमारे अंदर नहीं हैं, उन गुणोंको भी हममें बतला रहे हैं ।। ३३ ।।

तदहं भ्रातृसहितः सर्वान् विज्ञापयामि वः ।
नान्यथा तद्धि कर्तव्यमस्मत्स्नेहानुकम्पया ।। ३४ ।।

भाइयोंसहित मैं आप सब लोगोंसे कुछ निवेदन करता हूँ। आपलोग हमपर स्नेह और कृपा करके उसके पालनसे मुख न मोड़ें ।। ३४ ।।

भीष्मः पितामहो राजा विदुरो जननी च मे ।
सुहृज्जनश्च प्रायो मे नगरे नागसाह्वये ।। ३५ ।।

(आपलोगोंको मालूम होना चाहिये कि) हमारे पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, विदुरजी, मेरी माता तथा प्रायः अन्य सगे-सम्बन्धी भी हस्तिनापुरमें ही हैं ।। ३५ ।।

ते त्वस्मद्धितकामार्थं पालनीयाः प्रयत्नतः ।
युष्माभिः सहिताः सर्वे शोकसंतापविह्वलाः ।। ३६ ।।

वे सब लोग आपलोगोंके साथ ही शोक और संतापसे व्याकुल हैं, अतः आपलोग हमारे हितकी इच्छा रखकर उन सबका यत्नपूर्वक पालन करें ।। ३६ ।।

निवर्ततागता दूरं समागमनशापिताः ।
स्वजने न्यासभूते मे कार्या स्नेहान्विता मतिः ।। ३७ ।।

अच्छा, अब लौट जाइये, आपलोग बहुत दूर चले आये हैं। मैं अपनी शपथ दिलाकर अनुरोध करता हूँ कि आपलोग मेरे साथ न चलें। मेरे स्वजन आपके पास धरोहरके रूपमें हैं। उनके प्रति आपलोगोंके हृदयमें स्नेहभाव रहना चाहिये ।। ३७ ।।

एतद्धि मम कार्याणां परमं हृदि संस्थितम् ।
कृता तेन तु तुष्टिर्मे सत्कारश्च भविष्यति ।। ३८ ।।

मेरे हृदयमें स्थित सब कार्योंमें यही कार्य सबसे उत्तम है, आपके द्वारा इसके किये जानेपर मुझे महान् संतोष प्राप्त होगा और इसीसे मेरा सत्कार भी हो जायगा ।। ३८ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथानुमन्त्रितास्तेन धर्मराजेन ताः प्रजाः ।
चक्रुरार्तस्वरं घोरं हा राजन्निति संहताः ।। ३९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराजके द्वारा इस प्रकार विनयपूर्वक अनुरोध किये जानेपर उन समस्त प्रजाओंने 'हा! महाराज!' ऐसा कहकर एक ही साथ भयंकर आर्तनाद किया ।। ३९ ।।

गुणान् पार्थस्य संस्मृत्य दुःखार्ताः परमातुराः ।
अकामाः संन्यवर्तन्त समागम्याथ पाण्डवान् ।। ४० ।।

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके गुणोंका स्मरण करके प्रजावर्गके लोग दुःखसे पीडित और अत्यन्त आतुर हो गये। उनकी पाण्डवोंके साथ जानेकी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी। वे केवल उनसे मिलकर लौट आये ।। ४० ।।

निवृत्तेषु तु पौरेषु रथानास्थाय पाण्डवाः ।
आजग्मुर्जाह्नवीतीरे प्रमाणाख्यं महावटम् ।। ४१ ।।

पुरवासियोंके लौट जानेपर पाण्डवगण रथोंपर बैठकर गंगाजीके किनारे प्रमाणकोटि नामक महान् वटके समीप आये ।। ४१ ।।

ते तं दिवसशेषेण वटं गत्वा तु पाण्डवाः ।
ऊषुस्तां रजनीं वीराः संस्पृश्य सलिलं शुचि ।। ४२ ।।

संध्या होते-होते उस वटके निकट पहुँचकर शूरवीर पाण्डवोंने पवित्र जलका स्पर्श (आचमन और संध्यावन्दन आदि) करके वह रात वहीं व्यतीत की ।। ४२ ।।

उदकेनैव तां रात्रिमूषुस्ते दुःखकर्षिताः ।
अनुजग्मुश्च तत्रैतान् स्नेहात् केचिद् द्विजातयः ।। ४३ ।।

दुःखसे पीड़ित हुए वे पाँचों पाण्डुकुमार उस रातमें केवल जल पीकर ही रह गये। कुछ ब्राह्मण-लोग भी इन पाण्डवोंके साथ स्नेहवश वहाँतक चले आये थे ।। ४३ ।।

साग्नयोऽनग्नयश्चैव सशिष्यगणबान्धवाः ।
स तैः परिवृतो राजा शुशुभे ब्रह्मवादिभिः ।। ४४ ।।

उनमेंसे कुछ साग्नि (अग्निहोत्री) थे और कुछ निरग्नि। उन्होंने अपने शिष्यों तथा भाई-बन्धुओंको भी साथ ले लिया था। वेदोंका स्वाध्याय करनेवाले उन ब्राह्मणोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरकी बड़ी शोभा हो रही थी ।। ४४ ।।

तेषां प्रादुष्कृताग्नीनां मुहुर्ते रम्यदारुणे ।
ब्रह्मघोषपुरस्कारः संजल्पः समजायत ।। ४५ ।।

संध्याकालकी नैसर्गिक शोभासे रमणीय तथा राक्षस-पिशाचादिके संचरणका समय होनेसे अत्यन्त भयंकर प्रतीत होनेवाले उस मुहूर्तमें अग्नि प्रज्वलित करके वेद-मन्त्रोंके घोषपूर्वक अग्निहोत्र करनेके बाद उन ब्राह्मणोंमें परस्पर संवाद होने लगा ।। ४५ ।।

राजानं तु कुरुश्रेष्ठं ते हंसमधुरस्वराः ।
आश्वासयन्तो विप्राग्र्याः क्षपां सर्वां व्यनोदयन् ।। ४६ ।।

हंसके समान मधुर स्वरमें बोलनेवाले उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने कुरुकुलरत्न राजा युधिष्ठिरको आश्वासन देते हुए सारी रात उनका मनोरंजन किया ।। ४६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि पौरप्रत्यागमने प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें पुरवासियोंके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पहला अध्याय पूरा हुआ ।। १ ।।

द्वितीयोऽध्यायः

धनके दोष, अतिथिसत्कारकी महत्ता तथा कल्याणके उपायोंके विषयमें धर्मराज युधिष्ठिरसे ब्राह्मणों तथा शौनकजीकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

प्रभातायां तु शर्वर्यां तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
वनं यियासतां विप्रास्तस्थुर्भिक्षाभुजोऽग्रतः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब रात बीती और प्रभातका उदय हुआ तथा अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले पाण्डव वनकी ओर जानेके लिये उद्यत हुए, उस समय भिक्षान्नभोजी ब्राह्मण साथ चलनेके लिये उनके सामने खड़े हो गये ।। १ ।।

तानुवाच ततो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
वयं हि हृतसर्वस्वा हृतराज्या हृतश्रियः ।। २ ।।
फलमूलाशनाहारा वनं गच्छाम दुःखिताः ।
वनं च दोषबहुलं बहुव्यालसरीसृपम् ।। ३ ।।

तब कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने उनसे कहा—'ब्राह्मणो! हमारा राज्य, लक्ष्मी और सर्वस्व जूएमें हरण कर लिया गया है। हम फल, मूल तथा अन्नके आहार-पर रहनेका निश्चय करके दुःखी होकर वनमें जा रहे हैं। वनमें बहुत-से दोष हैं। वहाँ सर्प-बिच्छू आदि असंख्य भयंकर जन्तु हैं ।। २-३ ।।

परिक्लेशश्च वो मन्ये ध्रुवं तत्र भविष्यति ।
ब्राह्मणानां परिक्लेशो दैवतान्यपि सादयेत् ।
किं पुनर्मामितो विप्रा निवर्तध्वं यथेष्टतः ।। ४ ।।

'मैं समझता हूँ, वहाँ आपलोगोंको अवश्य ही महान् कष्टका सामना करना पड़ेगा। ब्राह्मणोंको दिया हुआ क्लेश तो देवताओंका भी विनाश कर सकता है, फिर मेरी तो बात ही क्या है? अतः ब्राह्मणो! आपलोग यहाँसे अपने अभीष्ट स्थानको लौट जायँ' ।। ४ ।।

ब्राह्मणा ऊचुः

गतिर्या भवतां राजंस्तां वयं गन्तुमुद्यताः ।
नार्हस्यस्मान् परित्यक्तुं भक्तान् सद्धर्मदर्शिनः ।। ५ ।।

ब्राह्मणोंने कहा—राजन्! आपकी जो गति होगी उसे भुगतनेके लिये हम भी उद्यत हैं। हम आपके भक्त तथा उत्तम धर्मपर दृष्टि रखनेवाले हैं। इसलिये आपको हमारा परित्याग नहीं करना चाहिये ।। ५ ।।

अनुकम्पां हि भक्तेषु देवता ह्यपि कुर्वते ।
विशेषतो ब्राह्मणेषु सदाचारावलम्बिषु ।। ६ ।।

देवता भी अपने भक्तोंपर विशेषतः सदाचारपरायण ब्राह्मणोंपर तो अवश्य ही दया करते हैं ।। ६ ।।

युधिष्ठिर उवाच

ममापि परमा भक्तिर्ब्राह्मणेषु सदा द्विजाः ।
सहायविपरिभ्रंशस्त्वयं सादयतीव माम् ।। ७ ।।
आहरेयुरिमे येऽपि फलमूलमधूनि च ।
त इमे शोकजैर्दुःखैर्भ्रातरो मे विमोहिताः ।। ८ ।।

युधिष्ठिर बोले—विप्रगण! मेरे मनमें भी ब्राह्मणोंके प्रति उत्तम भक्ति है, किंतु यह सब प्रकारके सहायक साधनोंका अभाव ही मुझे दुःखमग्न-सा किये देता है। जो फल-मूल एवं शहद आदि आहार जुटाकर ला सकते थे वे ही ये मेरे भाई शोकजनित दुःखसे मोहित हो रहे हैं ।। ७-८ ।।

द्रौपद्या विप्रकर्षेण राज्यापहरणेन च ।
दुःखार्दितानिमान् क्लेशैर्नाहं योक्तुमिहोत्सहे ।। ९ ।।

द्रौपदीके अपमान तथा राज्यके अपहरणके कारण ये दुःखसे पीडित हो रहे हैं, अतः मैं इन्हें (आहार जुटानेका आदेश देकर) अधिक क्लेशमें नहीं डालना चाहता ।। ९ ।।

ब्राह्मणा ऊचुः

अस्मत्पोषणजा चिन्ता मा भूत् ते हृदि पार्थिव ।
स्वयमाहृत्य चान्नानि त्वानुयास्यामहे वयम् ।। १० ।।

ब्राह्मण बोले—पृथ्वीनाथ! आपके हृदयमें हमारे पालन-पोषणकी चिन्ता नहीं होनी चाहिये। हम स्वयं ही अपने लिये अन्न आदिकी व्यवस्था करके आपके साथ चलेंगे ।। १० ।।

अनुध्यानेन जप्येन विधास्यामः शिवं तव ।
कथाभिश्चाभिरम्याभिः सह रंस्यामहे वयम् ।। ११ ।।

हम आपके अभीष्टचिन्तन और जपके द्वारा आपका कल्याण करेंगे तथा आपको सुन्दर-सुन्दर कथाएँ सुनाकर आपके साथ ही प्रसन्नतापूर्वक वनमें विचरेंगे ।। ११ ।।

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्न संदेहो रमेऽहं सततं द्विजैः ।
न्यूनभावात् तु पश्यामि प्रत्यादेशमिवात्मनः ।। १२ ।।

युधिष्ठिरने कहा—महात्माओ! आपका कहना ठीक है। इसमें संदेह नहीं कि मैं सदा ब्राह्मणोंके साथ रहनेमें ही प्रसन्नताका अनुभव करता हूँ, किंतु इस समय धन आदिसे हीन होनेके कारण मैं देख रहा हूँ कि मेरे लिये यह अपकीर्तिकी-सी बात है ।। १२ ।।

कथं द्रक्ष्यामि वः सर्वान् स्वयमाहृतभोजनान् ।
मद्भक्त्या क्लिश्यतोऽनर्हान् धिक् पापान् धृतराष्ट्रजान् ।। १३ ।।

आप सब लोग स्वयं ही आहार जुटाकर भोजन करें, यह मैं कैसे देख सकूँगा? आपलोग कष्ट भोगनेके योग्य नहीं हैं, तो भी मेरे प्रति स्नेह होनेके कारण इतना क्लेश उठा रहे हैं। धृतराष्ट्रके पापी पुत्रोंको धिक्कार है ।। १३ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा स नृपः शोचन् निषसाद महीतले ।
तमध्यात्मरतो विद्वान् शौनको नाम वै द्विजः ।। १४ ।।
योगे सांख्ये च कुशलो राजानमिदमब्रवीत् ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इतना कहकर धर्मराज युधिष्ठिर शोकमग्न हो चुपचाप पृथ्वीपर बैठ गये। उस समय अध्यात्मविषयमें रत अर्थात् परमात्म-चिन्तनमें तत्पर विद्वान् ब्राह्मण शौनकने, जो कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनों ही निष्ठाओंके विचारमें प्रवीण थे, राजासे इस प्रकार कहा— ।। १४—१५ ।।

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ।। १६ ।।

'शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं। वे मूढ़ मनुष्यपर प्रतिदिन अपना प्रभाव डालते हैं; परंतु ज्ञानी पुरुषपर वे प्रभाव नहीं डाल सकते ।। १६ ।।

न हि ज्ञानविरुद्धेषु बहुदोषेषु कर्मसु ।
श्रेयोघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ।। १७ ।।

'अनेक दोषोंसे युक्त, ज्ञानविरुद्ध एवं कल्याणनाशक कर्मोंमें आप-जैसे ज्ञानवान् पुरुष नहीं फँसते हैं ।। १७ ।।

अष्टाङ्गां बुद्धिमाहुर्यां सर्वाश्रेयोऽभिघातिनीम् ।
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तां राजन् सा त्वय्यवस्थिता ।। १८ ।।

'राजन्! योगके आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिसे सम्पन्न, समस्त अमंगलोंका नाश करनेवाली तथा श्रुतियों और स्मृतियोंके स्वाध्यायसे भलीभाँति दृढ़ की हुई जो उत्तम बुद्धि कही गयी है, वह आपमें स्थित है ।। १८ ।।

अर्थकृच्छ्रेषु दुर्गेषु व्यापत्सु स्वजनस्य च ।
शारीरमानसैर्दुःखैर्न सीदन्ति भवद्विधाः ।। १९ ।।

‘अर्थसंकट, दुस्तर दुःख तथा स्वजनोंपर आयी हुई विपत्तियोंमें आप-जैसे ज्ञानी शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे पीडित नहीं होते ।। १९ ।।

श्रूयतां चाभिधास्यामि जनकेन यथा पुरा ।
आत्मव्यवस्थानकरा गीताः श्लोका महात्मना ।। २० ।।

‘पूर्वकालमें महात्मा राजा जनकने अन्तःकरणको स्थिर करनेवाले कुछ श्लोकोंका गान किया था। मैं उन श्लोकोंका वर्णन करता हूँ, आप सुनिये— ।। २० ।।

मनोदेहसमुत्थाभ्यां दुःखाभ्यामर्दितं जगत् ।
तयोर्व्याससमासाभ्यां शमोपायमिमं शृणु ।। २१ ।।

‘सारा जगत् मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे पीडित है। उन दोनों प्रकारके दुःखोंकी शान्तिका यह उपाय संक्षेप और विस्तारसे सुनिये ।। २१ ।।

व्याधेरनिष्टसंस्पर्शाच्छ्रमादिष्टविवर्जनात् ।
दुःखं चतुर्भिः शारीरं कारणैः सम्प्रवर्तते ।। २२ ।।

‘रोग, अप्रिय घटनाओंकी प्राप्ति, अधिक परिश्रम तथा प्रिय वस्तुओंका वियोग—इन चार कारणोंसे शारीरिक दुःख प्राप्त होता है ।। २२ ।।

तदा तत्प्रतिकाराच्च सततं चाविचिन्तनात् ।
आधिव्याधिप्रशमनं क्रियायोगद्वयेन तु ।। २३ ।।

‘समयपर इन चारों कारणोंका प्रतीकार करना एवं कभी भी उसका चिन्तन न करना—ये दो क्रियायोग (दुःखनिवारक उपाय) हैं। इन्हींसे आधि-व्याधिकी शान्ति होती है ।। २३ ।।

मतिमन्तो ह्यतो वैद्याः शमं प्रागेव कुर्वते ।
मानसस्य प्रियाख्यानैः सम्भोगोपनयैर्नृणाम् ।। २४ ।।

‘अतः बुद्धिमान् तथा विद्वान् पुरुष प्रिय वचन बोलकर तथा हितकर भोगोंकी प्राप्ति कराकर पहले मनुष्योंके मानसिक दुःखोंका ही निवारण किया करते हैं ।। २४ ।।

मानसेन हि दुःखेन शरीरमुपतप्यते ।
अयःपिण्डेन तप्तेन कुम्भसंस्थमिवोदकम् ।। २५ ।।

‘क्योंकि मनमें दुःख होनेपर शरीर भी संतप्त होने लगता है; ठीक वैसे ही, जैसे तपाया हुआ लोहेका गोला डाल देनेपर घड़ेमें रखा हुआ शीतल जल भी गरम हो जाता है ।। २५ ।।

मानसं शमयेत् तस्माज्ज्ञानेनाग्निमिवाम्बुना ।
प्रशान्ते मानसे ह्यस्य शारीरमुपशाम्यति ।। २६ ।।

‘इसलिये जलसे अग्निको शान्त करनेकी भाँति ज्ञानके द्वारा मानसिक दुःखको शान्त करना चाहिये। मनका दुःख मिट जानेपर मनुष्यके शरीरका दुःख भी दूर हो जाता है ।। २६ ।।

मनसो दुःखमूलं तु स्नेह इत्युपलभ्यते ।
स्नेहात् तु सज्जते जन्तुर्दुःखयोगमुपैति च ।। २७ ।।

'मनके दुःखका मूल कारण क्या है? इसका पता लगानेपर 'स्नेह' (संसारमें आसक्ति)-की ही उपलब्धि होती है। इसी स्नेहके कारण ही जीव कहीं आसक्त होता और दुःख पाता है ।। २७ ।।

स्नेहमूलानि दुःखानि स्नेहजानि भयानि च ।
शोकहर्षौ तथाऽऽयासः सर्वं स्नेहात् प्रवर्तते ।। २८ ।।
स्नेहाद् भावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा ।
अश्रेयस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्र गुरुः स्मृतः ।। २९ ।।

'दुःखका मूल कारण है आसक्ति। आसक्तिसे ही भय होता है। शोक, हर्ष तथा क्लेश—इन सबकी प्राप्ति भी आसक्तिके कारण ही होती है। आसक्तिसे ही विषयोंमें भाव और अनुराग होते हैं। ये दोनों ही अमंगलकारी हैं। इनमें भी पहला अर्थात् विषयोंके प्रति भाव महान् अनर्थकारक माना गया है ।। २८-२९ ।।

कोटराग्निर्यथाशेषं समूलं पादपं दहेत् ।
धर्मार्थौ तु तथाल्पोऽपि रागदोषो विनाशयेत् ।। ३० ।।

'जैसे खोखलेमें लगी हुई आग सम्पूर्ण वृक्षको जड़-मूलसहित जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार विषयोंके प्रति थोड़ी-सी भी आसक्ति धर्म और अर्थ दोनोंका नाश कर देती है ।। ३० ।।

विप्रयोगे न तु त्यागी दोषदर्शी समागमे ।
विरागं भजते जन्तुर्निर्वैरो निरवग्रहः ।। ३१ ।।

'विषयोंके प्राप्त न होनेपर जो उनका त्याग करता है, वह त्यागी नहीं है; अपितु जो विषयोंके प्राप्त होनेपर भी उनमें दोष देखकर उनका परित्याग करता है, वस्तुतः वही त्यागी है—वही वैराग्यको प्राप्त होता है। उसके मनमें किसीके प्रति द्वेषभाव न होनेके कारण वह निर्वैर तथा बन्धनमुक्त होता है ।। ३१ ।।

तस्मात् स्नेहं न लिप्सेत मित्रेभ्यो धनसंचयात् ।
स्वशरीरसमुत्थं च ज्ञानेन विनिवर्तयेत् ।। ३२ ।।

'इसलिये मित्रों तथा धनराशिको पाकर इनके प्रति स्नेह (आसक्ति) न करे। अपने शरीरसे उत्पन्न हुई आसक्तिको ज्ञानसे निवृत्त करे ।। ३२ ।।

ज्ञानान्वितेषु युक्तेषु शास्त्रज्ञेषु कृतात्मसु ।
न तेषु सज्जते स्नेहः पद्मपत्रेष्विवोदकम् ।। ३३ ।।

'जो ज्ञानी, योगयुक्त, शास्त्रज्ञ तथा मनको वशमें रखनेवाले हैं, उनपर आसक्तिका प्रभाव उसी प्रकार नहीं पड़ता, जैसे कमलके पत्तेपर जल नहीं ठहरता ।। ३३ ।।

रागाभिभूतः पुरुषः कामेन परिकृष्यते ।

इच्छा संजायते तस्य ततस्तृष्णा विवर्धते ।। ३४ ।।

तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता ।

अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी ।। ३५ ।।

'रागके वशीभूत हुए पुरुषको काम अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। फिर उसके मनमें कामभोगकी इच्छा जाग उठती है। तत्पश्चात् तृष्णा बढ़ने लगती है। तृष्णा सबसे बढ़कर पापिष्ठ (पापमें प्रवृत्त करनेवाली) तथा नित्य उद्वेग करनेवाली बतायी गयी है। उसके द्वारा प्रायः अधर्म ही होता है। वह अत्यन्त भयंकर पापाबन्धनमें डालनेवाली है ।। ३४-३५ ।।

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।

योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ।। ३६ ।।

'खोटी बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसे त्यागना अत्यन्त कठिन है, जो शरीरके जरासे जीर्ण हो जानेपर भी स्वयं जीर्ण नहीं होती तथा जिसे प्राणनाशक रोग बताया गया है, उस तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीको सुख मिलता है ।। ३६ ।।

अनाद्यन्ता तु सा तृष्णा अन्तर्देहगता नृणाम् ।

विनाशयति भूतानि अयोनिज इवानलः ।। ३७ ।।

'यह तृष्णा यद्यपि मनुष्योंके शरीरके भीतर ही रहती है, तो भी इसका कहीं आदि-अन्त नहीं है। लोहेके पिण्डकी आगके समान यह तृष्णा प्राणियोंका विनाश कर देती है ।। ३७ ।।

यथैधः स्वसमुत्थेन वह्निना नाशमृच्छति ।

तथाकृतात्मा लोभेन सहजेन विनश्यति ।। ३८ ।।

'जैसे काष्ठ अपनेसे ही उत्पन्न हुई आगसे जलकर भस्म हो जाता है, उसी प्रकार जिसका मन वशमें नहीं है, वह मनुष्य अपने शरीरके साथ उत्पन्न हुए लोभके द्वारा स्वयं नष्ट हो जाता है ।। ३८ ।।

राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि ।

भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ।। ३९ ।।

'धनवान् मनुष्योंको राजा, जल, अग्नि, चोर तथा स्वजनोंसे भी सदा उसी प्रकार भय बना रहता है, जैसे सब प्राणियोंको मृत्युसे ।। ३९ ।।

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ।

भक्ष्यते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ।। ४० ।।

'जैसे मांसके टुकड़ेको आकाशमें पक्षी, पृथ्वीपर हिंस्र जन्तु तथा जलमें मछलियाँ खा जाती हैं, उसी प्रकार धनवान् पुरुषको सब लोग सर्वत्र नोचते रहते हैं ।। ४० ।।

अर्थ एव हि केषांचिदनर्थं भजते नृणाम् ।

अर्थश्रेयसि चासक्तो न श्रेयो विन्दते नरः ।। ४१ ।।

'कितने ही मनुष्योंके लिये अर्थ ही अनर्थका कारण बन जाता है; क्योंकि अर्थद्वारा सिद्ध होनेवाले श्रेय (सांसारिक भोग)-में आसक्त मनुष्य वास्तविक कल्याणको नहीं प्राप्त होता ।। ४१ ।।

तस्मादर्थागमाः सर्वे मनोमोहविवर्धनाः ।
कार्पण्यं दर्पमानौ च भयमुद्वेग एव च ।। ४२ ।।
अर्थजानि विदुः प्राज्ञाः दुःखान्येतानि देहिनाम् ।
अर्थस्योत्पादने चैव पालने च तथा क्षये ।। ४३ ।।
सहन्ति च महद् दुःखं घ्नन्ति चैवार्थकारणात् ।
अर्था दुःखं परित्यक्तुं पालिताश्चैव शत्रवः ।। ४४ ।।

'इसलिये धन-प्राप्तिके सभी उपाय मनमें मोह बढ़ानेवाले हैं। कृपणता, घमण्ड, अभिमान, भय और उद्वेग इन्हें विद्वानोंने देहधारियोंके लिये धनजनित दुःख माना है। धनके उपार्जन, संरक्षण तथा व्ययमें मनुष्य महान् दुःख सहन करते हैं और धनके ही कारण एक-दूसरेको मार डालते हैं। धनको त्यागनेमें भी महान् दुःख होता है और यदि उसकी रक्षा की जाय तो वह शत्रुका-सा काम करता है* ।। ४२—४४ ।।

दुःखेन चाधिगम्यन्ते तस्मान्नाशं न चिन्तयेत् ।
असंतोषपरा मूढाः संतोषं यान्ति पण्डिताः ।। ४५ ।।

'धनकी प्राप्ति भी दुःखसे ही होती है। इसलिये उसका चिन्तन न करे; क्योंकि धनकी चिन्ता करना अपना नाश करना है। मूर्ख मनुष्य सदा असंतुष्ट रहते हैं और विद्वान् पुरुष संतुष्ट ।। ४५ ।।

अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम् ।
तस्मात् संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः ।। ४६ ।।

'धनकी प्यास कभी बुझती नहीं है; अतः संतोष ही परम सुख है। इसीलिये ज्ञानीजन संतोषको ही सबसे उत्तम समझते हैं ।। ४६ ।।

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं रत्नसंचयः ।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ।। ४७ ।।

'यौवन, रूप, जीवन, रत्नोंका संग्रह, ऐश्वर्य तथा प्रियजनोंका एकत्र निवास—ये सभी अनित्य हैं; अतः विद्वान् पुरुष उनकी अभिलाषा न करे ।। ४७ ।।

त्यजेत संचयांस्तस्मात्तज्जान् क्लेशान् सहेत च ।
न हि संचयवान् कश्चिद् दृश्यते निरुपद्रवः ।
अतश्च धार्मिकैः पुंभिरनीहार्थः प्रशस्यते ।। ४८ ।।

'इसलिये धन-संग्रहका त्याग करे और उसके त्यागसे जो क्लेश हो, उसे धैर्यपूर्वक सह ले। जिनके पास धनका संग्रह है, ऐसा कोई भी मनुष्य उपद्रवरहित नहीं देखा जाता। अतः

धर्मात्मा पुरुष उसी धनकी प्रशंसा करते हैं जो दैवेच्छासे न्यायपूर्वक स्वतः प्राप्त हो गया हो ।। ४८ ।।

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य श्रेयो न स्पर्शनं नृणाम् ।। ४९ ।।

'जो धर्म करनेके लिये धनोपार्जनकी इच्छा करता है उसका धनकी इच्छा न करना ही अच्छा है। कीचड़ लगाकर धोनेकी अपेक्षा मनुष्योंके लिये उसका स्पर्श न करना ही श्रेष्ठ है ।। ४९ ।।

युधिष्ठिरैवं सर्वेषु न स्पृहां कर्तुमर्हसि ।

धर्मेण यदि ते कार्यं विमुक्तेच्छो भवार्थतः ।। ५० ।।

'युधिष्ठिर! इस प्रकार आपके लिये किसी भी वस्तुकी अभिलाषा करनी उचित नहीं है। यदि आपको धर्मसे ही प्रयोजन हो तो धनकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दें' ।। ५० ।।

युधिष्ठिर उवाच

नार्थोपभोगलिप्सार्थमियमर्थेप्सुता मम ।

भरणार्थं तु विप्राणां ब्रह्मन् काङ्क्षे न लोभतः ।। ५१ ।।

युधिष्ठिरने कहा—ब्रह्मन्! मैं जो धन चाहता हूँ वह इसलिये नहीं कि मुझे धनसम्बधी भोग भोगनेकी इच्छा है। मैं तो ब्राह्मणोंके भरण-पोषणके लिये ही धनकी इच्छा रखता हूँ, लोभवश नहीं ।। ५१ ।।

कथं ह्यस्मद्विधो ब्रह्मन् वर्तमानो गृहाश्रमे ।

भरणं पालनं चापि न कुर्यादनुयायिनाम् ।। ५२ ।।

विप्रवर! गृहस्थ-आश्रममें रहनेवाला मेरे-जैसा पुरुष अपने अनुयायियोंका भरण-पोषण भी न करे, यह कैसे उचित हो सकता है? ।। ५२ ।।

संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते ।

तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ।। ५३ ।।

गृहस्थके भोजनमें देवता, पितर, मनुष्य एवं समस्त प्राणियोंका हिस्सा देखा जाता है। गृहस्थका यह धर्म है कि वह अपने हाथसे भोजन न बनानेवाले संन्यासी आदिको अवश्य पका-पकाया अन्न दे ।। ५३ ।।

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।

सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ।। ५४ ।।

आसनके लिये तृण (कुश), बैठनेके लिये स्थान, जल और चौथी मधुर वाणी, सत्पुरुषोंके घरमें इन चार वस्तुओंका अभाव कभी नहीं होता ।। ५४ ।।

देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम् ।

तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ।। ५५ ।।

रोग आदिसे पीड़ित मनुष्यको सोनेके लिये शय्या, थके-माँदे हुएको बैठनेके लिये आसन, प्यासेको पानी और भूखेको भोजन तो देना ही चाहिये ।। ५५ ।।

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्यात् सुभाषिताम् ।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः ।
प्रत्युत्थायाभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम् ।। ५६ ।।

जो अपने घरपर आ जाय, उसे प्रेमभरी दृष्टिसे देखे, मनसे उसके प्रति उत्तम भाव रखे, उससे मीठे वचन बोले और उठकर उसके लिये आसन दे। यह गृहस्थका सनातन धर्म है। अतिथिको आते देख उठकर उसकी अगवानी और यथोचित रीतिसे उसका आदर-सत्कार करे ।। ५६ ।।

अग्निहोत्रमनड्वांश्च ज्ञातयोऽतिथिबान्धवाः ।
पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च निर्दहेयुरपूजिताः ।। ५७ ।।

यदि गृहस्थ मनुष्य अग्निहोत्र, साँड, जाति-भाई, अतिथि-अभ्यागत, बन्धु-बान्धव, स्त्री-पुत्र तथा भृत्यजनोंका आदर-सत्कार न करे तो वे अपनी क्रोधाग्निसे उसे जला सकते हैं ।। ५७ ।।

आत्मार्थं पाचयेन्नान्नं न वृथा घातयेत् पशून् ।
न च तत् स्वयमश्नीयाद् विधिवद् यन्न निर्वपेत् ।। ५८ ।।

केवल अपने लिये अन्न न पकावे (देवता-पितरों एवं अतिथियोंके उद्देश्यसे ही भोजन बनानेका विधान है), निकम्मे पशुओंकी भी हिंसा न करे और जिस वस्तुको विधिपूर्वक देवता आदिके लिये अर्पित न करे, उसे स्वयं भी न खाय ।। ५८ ।।

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद् भुवि ।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायं प्रातश्च दीयते ।। ५९ ।।

कुत्तों, चाण्डालों और कौवोंके लिये पृथ्वीपर अन्न डाल दे। यह वैश्वदेव नामक महान् यज्ञ है, जिसका अनुष्ठान प्रातःकाल और सायंकालमें भी किया जाता है ।। ५९ ।।

विघसाशी भवेत् तस्मान्नित्यं चामृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ।। ६० ।।

अतः गृहस्थ मनुष्य प्रतिदिन विघस एवं अमृत भोजन करे। घरके सब लोगोंके भोजन कर लेनेपर जो अन्न शेष रह जाय उसे 'विघस' कहते हैं तथा बलि-वैश्वदेवसे बचे हुए अन्नका नाम 'अमृत' है ।। ६० ।।

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ।। ६१ ।।

अतिथिको नेत्र दे (उसे प्रेमभरी दृष्टिसे देखे), मन दे (मनसे हित-चिन्तन करे) तथा मधुर वाणी प्रदान करे (सत्य, प्रिय, हितकी बात कहे)। जब वह जाने लगे तब कुछ दूरतक

उसके पीछे-पीछे जाय और जबतक वह घरपर रहे तबतक उसके पास बैठे (उसकी सेवामें लगा रहे)। यह पाँच प्रकारकी दक्षिणाओंसे युक्त अतिथि-यज्ञ है ।। ६१ ।।

योदद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।

श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ।। ६२ ।।

जो गृहस्थ अपरिचित थके-माँदे पथिकको प्रसन्नतापूर्वक भोजन देता है, उसे महान् पुण्यफलकी प्राप्ति होती है ।। ६२ ।।

एवं यो वर्तते वृत्तिं वर्तमानो गृहाश्रमे ।

तस्य धर्मं परं प्राहुः कथं वा विप्र मन्यसे ।। ६३ ।।

ब्रह्मन्! जो गृहस्थ इस वृत्तिसे रहता है, उसके लिये उत्तम धर्मकी प्राप्ति बतायी गयी है, अथवा इस विषयमें आपकी क्या सम्मति है? ।। ६३ ।।

शौनक उवाच

अहो बत महत् कष्टं विपरीतमिदं जगत् ।

येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति ।। ६४ ।।

शौनकजीने कहा—अहो! बहुत दुःखकी बात है, इस जगत्में विपरीत बातें दिखायी देती हैं। साधु पुरुष जिस कर्मसे लज्जित होते हैं, दुष्ट मनुष्योंको उसीसे प्रसन्नता प्राप्त होती है ।। ६४ ।।

शिश्नोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु ।

मोहरागवशाक्रान्त इन्द्रियार्थवशानुगः ।। ६५ ।।

अज्ञानी मनुष्य अपनी जननेन्द्रिय तथा उदरकी तृप्तिके लिये मोह एवं रागके वशीभूत हो विषयोंका अनुसरण करता हुआ नाना प्रकारकी विषय-सामग्रीको यज्ञावशेष मानकर उसका संग्रह करता है ।। ६५ ।।

ह्रियते बुध्यमानोऽपि नरो हारिभिरिन्द्रियैः ।

विमूढसंज्ञो दुष्टाश्वैरुद्भ्रान्तैरिव सारथिः ।। ६६ ।।

समझदार मनुष्य भी मनको हर लेनेवाली इन्द्रियोंद्वारा विषयोंकी ओर खींच लिया जाता है। उस समय उसकी विचारशक्ति मोहित हो जाती है। जैसे दुष्ट घोड़े वशमें न होनेपर सारथिको कुमार्गमें घसीट ले जाते हैं, यही दशा उस अजितेन्द्रिय पुरुषकी भी होती है ।। ६६ ।।

षडिन्द्रियाणि विषयं समागच्छन्ति वै यदा ।

तदा प्रादुर्भवत्येषां पूर्वसंकल्पजं मनः ।। ६७ ।।

जब मन और पाँचों इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं, उस समय प्राणियोंके पूर्वसंकल्पके अनुसार उसीकी वासनासे वासित मन विचलित हो उठता है ।। ६७ ।।

मनो यस्येन्द्रियस्येह विषयान् याति सेवितुम् ।

तस्यौत्सुक्यं सम्भवति प्रवृत्तिश्चोपजायते ।। ६८ ।।

मन जिस इन्द्रियके विषयोंका सेवन करने जाता है, उसीमें उस विषयके प्रति उत्सुकता भर जाती है और वह इन्द्रिय उस विषयके उपभोगमें प्रवृत्त हो जाती है ।। ६८ ।।

ततः संकल्पबीजेन कामेन विषयेषुभिः ।
विद्धः पतति लोभाग्नौ ज्योतिर्लोभात् पतङ्गवत् ।। ६९ ।।

तदनन्तर संकल्प ही जिसका बीज है, उस कामके द्वारा विषयरूपी बाणोंसे बिंधकर मनुष्य ज्योतिके लोभसे पतंगकी भाँति लोभकी आगमें गिर पड़ता है ।। ६९ ।।

ततो विहारैराहारैर्मोहितश्च यथेप्सया ।
महामोहे सुखे मग्नो नात्मानमवबुध्यते ।। ७० ।।

इसके बाद इच्छानुसार आहार-विहारसे मोहित हो महामोहमय सुखमें निमग्न रहकर वह मनुष्य अपने आत्माके ज्ञानसे वंचित हो जाता है ।। ७० ।।

एवं पतति संसारे तासु तास्विह योनिषु ।
अविद्याकर्मतृष्णाभिर्भ्राम्यमाणोऽथ चक्रवत् ।। ७१ ।।

इस प्रकार अविद्या, कर्म और तृष्णाद्वारा चक्रकी भाँति भ्रमण करता हुआ मनुष्य संसारकी विभिन्न योनियोंमें गिरता है ।। ७१ ।।

ब्रह्मादिषु तृणान्तेषु भूतेषु परिवर्तते ।
जले भुवि तथाऽऽकाशे जायमानः पुनः पुनः ।। ७२ ।।

फिर तो ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त सभी प्राणियोंमें तथा जल, भूमि और आकाशमें वह मनुष्य बारंबार जन्म लेकर चक्कर लगाता रहता है ।। ७२ ।।

अबुधानां गतिस्त्वेषा बुधानामपि मे शृणु ।
ये धर्मे श्रेयसि रता विमोक्षरतयो जनाः ।। ७३ ।।

यह अविवेकी पुरुषोंकी गति बतायी गयी है। अब आप मुझसे विवेकी पुरुषोंकी गतिका वर्णन सुनें। जो धर्म एवं कल्याणमार्गमें तत्पर हैं और मोक्षके विषयमें जिनका निरन्तर अनुराग है, वे विवेकी हैं ।। ७३ ।।

तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ।
तस्माद् धर्मानिमान् सर्वान् नाभिमानात् समाचरेत् ।। ७४ ।।

वेदकी यह आज्ञा है कि कर्म करो और कर्म छोड़ो; अतः आगे बताये जानेवाले इन सभी धर्मोंका अहंकारशून्य होकर अनुष्ठान करना चाहिये ।। ७४ ।।

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ।। ७५ ।।

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम तथा लोभका परित्याग—ये धर्मके आठ मार्ग हैं ।। ७५ ।।

अत्र पूर्वश्चतुर्वर्गः पितृयाणपथे स्थितः ।

कर्तव्यमिति यत् कार्यं नाभिमानात् समाचरेत् ।। ७६ ।।

इनमें पहले बताये हुए चार धर्म पितृयानके मार्गमें स्थित हैं; अर्थात् इन चारोंका सकामभावसे अनुष्ठान करनेपर ये पितृयानमार्गसे ले जाते हैं। अग्निहोत्र और संध्योपासनादि जो अवश्य करनेयोग्य कर्म हैं, उन्हें कर्तव्य-बुद्धिसे ही अभिमान छोड़कर करे ।। ७६ ।।

उत्तरो देवयानस्तु सद्भिराचरितः सदा ।
अष्टाङ्गेनैव मार्गेण विशुद्धात्मा समाचरेत् ।। ७७ ।।

अन्तिम चार धर्मोंको देवयानमार्गका स्वरूप बताया गया है। साधु पुरुष सदा उसी मार्गका आश्रय लेते हैं। आगे बताये जानेवाले आठ अंगोंसे युक्त मार्गद्वारा अपने अन्तःकरणको शुद्ध करके कर्तव्य-कर्मोंका कर्तृत्वके अभिमानसे रहित होकर पालन करे ।। ७७ ।।

सम्यक्संकल्पसंबन्धात् सम्यक् चेन्द्रियनिग्रहात् ।
सम्यग्व्रतविशेषाच्च सम्यक् च गुरुसेवनात् ।। ७८ ।।
सम्यगाहारयोगाच्च सम्यक् चाध्ययनागमात् ।
सम्यक्कर्मोपसंन्यासात् सम्यक् चित्तनिरोधनात् ।। ७९ ।।

पूर्णतया संकल्पोंको एक ध्येयमें लगा देनेसे, इन्द्रियोंको भली प्रकार वशमें कर लेनेसे, अहिंसादि व्रतोंका अच्छी प्रकार पालन करनेसे, भली प्रकार गुरुकी सेवा करनेसे, यथायोग्य योगसाधनोपयोगी आहार करनेसे, वेदादिका भली प्रकार अध्ययन करनेसे, कर्मोंको भलीभाँति भगवत्समर्पण करनेसे और चित्तका भली प्रकार निरोध करनेसे मनुष्य परम कल्याणको प्राप्त होता है ।। ७८-७९ ।।

एवं कर्माणि कुर्वन्ति संसारविजिगीषवः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता ऐश्वर्यं देवता गताः ।। ८० ।।

संसारको जीतनेकी इच्छावाले बुद्धिमान् पुरुष इसी प्रकार राग-द्वेषसे मुक्त होकर कर्म करते हैं। इन्हीं नियमोंके पालनसे देवतालोग ऐश्वर्यको प्राप्त हुए हैं ।। ८० ।।

रुद्राः साध्यास्तथाऽऽदित्या वसवोऽथ तथाश्विनौ ।
योगैश्वर्येण संयुक्ता धारयन्ति प्रजा इमाः ।। ८१ ।।

रुद्र, साध्य, आदित्य, वसु तथा दोनों अश्विनीकुमार योगजनित ऐश्वर्यसे युक्त होकर इन प्रजाजनोंका धारण-पोषण करते हैं ।। ८१ ।।

तथा त्वमपि कौन्तेय शममास्थाय पुष्कलम् ।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ योगसिद्धिं च भारत ।। ८२ ।।

कुन्तीनन्दन! इसी प्रकार आप भी मन और इन्द्रियोंको भलीभाँति वशमें करके तपस्याद्वारा सिद्धि तथा योगजनित ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी चेष्टा कीजिये ।। ८२ ।।

पितृमातृमयी सिद्धिः प्राप्ता कर्ममयी च ते ।

तपसा सिद्धिमन्विच्छ द्विजानां भरणाय वै ।। ८३ ।।

यज्ञ, युद्धादि कर्मोंसे प्राप्त होनेवाली सिद्धि पितृ-मातृमयी (परलोक और इहलोकमें भी लाभ पहुँचानेवाली) है, जो आपको प्राप्त हो चुकी है। अब तपस्याद्वारा वह योगसिद्धि प्राप्त करनेका प्रयत्न कीजिये जिससे ब्राह्मणोंका भरण-पोषण हो सके ।। ८३ ।।

सिद्धा हि यद् यदिच्छन्ति कुर्वते तदनुग्रहात् ।
तस्मात्तपः समास्थाय कुरुष्वात्ममनोरथम् ।। ८४ ।।

सिद्ध पुरुष जो-जो वस्तु चाहते हैं, उसे अपने तपके प्रभावसे प्राप्त कर लेते हैं। अतः आप तपस्याका आश्रय लेकर अपने मनोरथकी पूर्ति कीजिये ।। ८४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि पाण्डवानां प्रव्रजने द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें पाण्डवोंका प्रव्रजन (वनगमन)-विषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ।। २ ।।

---

* धनके लोभसे मनुष्य धनके रक्षककी हत्या कर डालते हैं।

तृतीयोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा अन्नके लिये भगवान् सूर्यकी उपासना और उनसे अक्षयपात्रकी प्राप्ति

वैशम्पायन उवाच

शौनकेनैवमुक्तस्तु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पुरोहितमुपागम्य भ्रातृमध्येऽब्रवीदिदम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शौनकके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने पुरोहितके पास आकर भाइयोंके बीचमें इस प्रकार बोले— ।। १ ।।

प्रस्थितं मानुयान्तीमे ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
न चास्मि पोषणे शक्तो बहुदुःखसमन्वितः ।। २ ।।

'विप्रवर! ये वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण मेरे साथ वनमें चल रहे हैं। परंतु मैं इनका पालन-पोषण करनेमें असमर्थ हूँ, यह सोचकर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है ।। २ ।।

परित्यक्तुं न शक्तोऽस्मि दानशक्तिश्च नास्ति मे ।
कथमत्र मया कार्यं तद् ब्रूहि भगवन् मम ।। ३ ।।

'भगवन्! मैं इन सबका त्याग नहीं कर सकता; परंतु इस समय मुझमें इन्हें अन्न देनेकी शक्ति नहीं है। ऐसी अवस्थामें मुझे क्या करना चाहिये? यह कृपा करके बताइये' ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

मुहूर्तमिव स ध्यात्वा धर्मेणान्विष्य तां गतिम् ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं धौम्यो धर्मभृतां वरः ।। ४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धौम्य मुनिने युधिष्ठिरका प्रश्न सुनकर दो घड़ीतक ध्यान-सा लगाया और धर्मपूर्वक उस उपायका अन्वेषण करनेके पश्चात् उनसे इस प्रकार कहा ।। ४ ।।

धौम्य उवाच

पुरा सृष्टानि भूतानि पीड्यन्ते क्षुधया भृशम् ।
ततोऽनुकम्पया तेषां सविता स्वपिता यथा ।। ५ ।।
गत्वोत्तरायणं तेजो रसानुद्धृत्य रश्मिभिः ।
दक्षिणायनमावृत्तो महीं निविशते रविः ।। ६ ।।

धौम्य बोले—राजन्! सृष्टिके प्रारम्भकालमें जब सभी प्राणी भूखसे अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे, तब भगवान् सूर्यने पिताकी भाँति उन सबपर दया करके उत्तरायणमें जाकर

अपनी किरणोंसे पृथ्वीका रस (जल) खींचा और दक्षिणायनमें लौटकर पृथ्वीको उस रससे आविष्ट किया ।। ५-६ ।।

क्षेत्रभूते ततस्तस्मिन्नोषधीरोषधीपतिः ।
दिवस्तेजः समुद्धृत्य जनयामास वारिणा ।। ७ ।।

इस प्रकार जब सारे भूमण्डलमें क्षेत्र तैयार हो गया, तब ओषधियोंके स्वामी चन्द्रमाने अन्तरिक्षमें मेघोंके रूपमें परिणत हुए सूर्यके तेजको प्रकट करके उसके द्वारा बरसाये हुए जलसे अन्न आदि ओषधियोंको उत्पन्न किया ।। ७ ।।

निषिक्तश्चन्द्रतेजोभिः स्वयोनौ निर्गते रविः ।
ओषध्यः षड्रसा मेध्यास्तदन्नं प्राणिनां भुवि ।। ८ ।।

चन्द्रमाकी किरणोंसे अभिषिक्त हुआ सूर्य जब अपनी प्रकृतिमें स्थित हो जाता है, तब छः प्रकारके रसोंसे युक्त पवित्र ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। वही पृथ्वीमें प्राणियोंके लिये अन्न होता है ।। ८ ।।

एवं भानुमयं ह्यन्नं भूतानां प्राणधारणम् ।
पितैष सर्वभूतानां तस्मात् तं शरणं व्रज ।। ९ ।।

इस प्रकार सभी जीवोंके प्राणोंकी रक्षा करनेवाला अन्न सूर्यरूप ही है। अतः भगवान् सूर्य ही समस्त प्राणियोंके पिता हैं, इसलिये तुम उन्हींकी शरणमें जाओ ।। ९ ।।

राजानो हि महात्मानो योनिकर्मविशोधिताः ।
उद्धरन्ति प्रजाः सर्वास्तप आस्थाय पुष्कलम् ।। १० ।।

जो जन्म और कर्म दोनों ही दृष्टियोंसे परम उज्ज्वल हैं, ऐसे महात्मा राजा भारी तपस्याका आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्रजाजनोंका संकटसे उद्धार करते हैं ।। १० ।।

भीमेन कार्तवीर्येण वैन्येन नहुषेण च ।
तपोयोगसमाधिस्थैरुद्धृता ह्यापदः प्रजाः ।। ११ ।।

भीम, कार्तवीर्य अर्जुन, वेनपुत्र पृथु तथा नहुष आदि नरेशोंने तपस्या, योग और समाधिमें स्थित होकर भारी आपत्तियोंसे प्रजाको उबारा है ।। ११ ।।

तथा त्वमपि धर्मात्मन् कर्मणा च विशोधितः ।
तप आस्थाय धर्मेण द्विजातीन् भर भारत ।। १२ ।।

धर्मात्मा भारत! इसी प्रकार तुम भी सत्कर्मसे शुद्ध होकर तपस्याका आश्रय ले धर्मानुसार द्विजातियोंका भरण-पोषण करो ।। १२ ।।

जनमेजय उवाच

कथं कुरूणामृषभः स तु राजा युधिष्ठिरः ।
विप्रार्थमाराधितवान् सूर्यमद्भुतदर्शनम् ।। १३ ।।

जनमेजयने पूछा—भगवन्! पुरुषश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंके भरण-पोषणके लिये, जिनका दर्शन अत्यन्त अद्‌भुत है, उन भगवान् सूर्यकी आराधना किस प्रकार की? ।। १३ ।।

वैशम्पायन उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
क्षणं च कुरु राजेन्द्र सम्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ।। १४ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजेन्द्र! मैं सब बातें बता रहा हूँ। तुम सावधान, पवित्र और एकाग्रचित्त होकर सुनो और धैर्य रखो ।। १४ ।।

धौम्येन तु यथा पूर्वं पार्थाय सुमहात्मने ।
नामाष्टशतमाख्यातं तच्छृणुष्व महामते ।। १५ ।।

महामते! धौम्यने जिस प्रकार महात्मा युधिष्ठिरको पहले भगवान् सूर्यके एक सौ आठ नाम बताये थे, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ।। १५ ।।

धौम्य उवाच

सूर्योऽर्यमा भगस्त्वष्टा पूषार्कः सविता रविः ।
गभस्तिमानजः कालो मृत्युर्धाता प्रभाकरः ।। १६ ।।
पृथिव्यापश्च तेजश्च खं वायुश्च परायणम् ।
सोमो बृहस्पतिः शूक्रो बुधोऽङ्गारक एव च ।। १७ ।।
इन्द्रो विवस्वान् दीप्तांशुः शुचिः शौरिः शनैश्चरः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कन्दो वै वरुणो यमः ।। १८ ।।
वैद्युतो जाठरश्चाग्निरैन्धनस्तेजसां पतिः ।
धर्मध्वजो वेदकर्ता वेदाङ्गो वेदवाहनः ।। १९ ।।
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिः सर्वमलाश्रयः ।
कला काष्ठा मुहूर्ताश्च क्षपा यामस्तथा क्षणः ।। २० ।।
संवत्सरकरोऽश्वत्थः कालचक्रो विभावसुः ।
पुरुषः शाश्वतो योगी व्यक्ताव्यक्तः सनातनः ।। २१ ।।
कालाध्यक्षः प्रजाध्यक्षो विश्वकर्मा तमोनुदः ।
वरुणः सागरोंऽशुश्च जीमूतो जीवनोऽरिहा ।। २२ ।।
भूताश्रयो भूतपतिः सर्वलोकनमस्कृतः ।
स्रष्टा संवर्तको वह्निः सर्वस्यादिरलोलुपः ।। २३ ।।
अनन्तः कपिलो भानुः कामदः सर्वतोमुखः ।
जयो विशालो वरदः सर्वधातुनिषेचिता ।। २४ ।।
मनःसुपर्णो भूतादिः शीघ्रगः प्राणधारकः ।

धन्वन्तरिर्धूमकेतुरादिदेवोऽदितेः सुतः ।। २५ ।।
द्वादशात्मारविन्दाक्षः पिता माता पितामहः ।
स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिविष्टपम् ।। २६ ।।
देहकर्ता प्रशान्तात्मा विश्वात्मा विश्वतोमुखः ।
चराचरात्मा सूक्ष्मात्मा मैत्रेयः करुणान्वितः ।। २७ ।।
एतद् वै कीर्तनीयस्य सूर्यस्यामिततेजसः ।
नामाष्टशतकं चेदं प्रोक्तमेतत् स्वयंभुवा ।। २८ ।।

धौम्य बोले—१ सूर्य, २ अर्यमा, ३ भग, ४ त्वष्टा, ५ पूषा, ६ अर्क, ७ सविता, ८ रवि, ९ गभस्तिमान्, १० अज, ११ काल, १२ मृत्यु, १३ धाता, १४ प्रभाकर, १५ पृथिवी, १६ आप, १७ तेज, १८ ख (आकाश), १९ वायु, २० परायण, २१ सोम, २२ बृहस्पति, २३ शुक्र, २४ बुध, २५ अंगारक (मंगल) २६ इन्द्र, २७ विवस्वान्, २८ दीप्तांशु, २९ शुचि, ३० शौरि, ३१ शनैश्चर, ३२ ब्रह्मा, ३३ विष्णु, ३४ रुद्र, ३५ स्कन्द, ३६ वरुण, ३७ यम, ३८ वैद्युताग्नि, ३९ जाठराग्नि, ४० ऐन्धनाग्नि, ४१ तेजःपति, ४२ धर्मध्वज, ४३ वेदकर्ता, ४४ वेदांग, ४५ वेदवाहन, ४६ कृत, ४७ त्रेता, ४८ द्वापर, ४९ सर्वमलाश्रय कलि, ५० कला-काष्ठा-मुहूर्तरूप समय, ५१ क्षपा (रात्रि), ५२ याम, ५३ क्षण, ५४ संवत्सरकर ५५ अश्वत्थ, ५६ कालचक्रप्रवर्तक विभावसु, ५७ शाश्वत पुरुष, ५८ योगी, ५९ व्यक्ताव्यक्त, ६० सनातन, ६१ कालाध्यक्ष, ६२ प्रजाध्यक्ष, ६३ विश्वकर्मा, ६४ तमोनुद, ६५ वरुण, ६६ सागर, ६७ अंशु, ६८ जीमूत, ६९ जीवन, ७० अरिहा, ७१ भूताश्रय, ७२ भूतपति, ७३ सर्वलोक-नमस्कृत, ७४ स्रष्टा, ७५ संवर्तक, ७६ वह्नि, ७७ सर्वादि, ७८ अलोलुप, ७९ अनन्त, ८० कपिल, ८१ भानु, ८२ कामद, ८३ सर्वतोमुख, ८४ जय, ८५ विशाल, ८६ वरद, ८७ सर्वधातुनिषेचिता, ८८ मनःसुपर्ण, ८९-भूतादि, ९० शीघ्रग, ९१ प्राणधारक, ९२ धन्वन्तरि, ९३ धूमकेतु, ९४ आदिदेव, ९५ अदितिसुत, ९६ द्वादशात्मा, ९७ अरविन्दाक्ष, ९८ पिता-माता-पितामह, ९९ स्वर्गद्वार-प्रजाद्वार, १०० मोक्षद्वार-त्रिविष्टप, १०१ देहकर्ता, १०२ प्रशान्तात्मा, १०३ विश्वात्मा, १०४ विश्वतोमुख, १०५ चराचरात्मा, १०६ सूक्ष्मात्मा, १०७ मैत्रेय तथा १०८ करुणान्वित—ये अमिततेजस्वी भगवान् सूर्यके कीर्तन करनेयोग्य एक सौ आठ नाम हैं, जिनका उपदेश साक्षात् ब्रह्माजीने किया है ।। १६—२८ ।।

सुरगणपितृयक्षसेवितं
ह्यसुरनिशाचरसिद्धवन्दितम् ।
वरकनकहुताशनप्रभं
प्रणिपतितोऽस्मि हिताय भास्करम् ।। २९ ।।

(इन नामोंका उच्चारण करके भगवान् सूर्यको इस प्रकार नमस्कार करना चाहिये।) समस्त देवता, पितर और यक्ष जिनकी सेवा करते हैं, असुर, राक्षस तथा सिद्ध जिनकी

वन्दना करते हैं तथा जो उत्तम सुवर्ण और अग्निके समान कान्तिमान् हैं, उन भगवान् भास्करको मैं अपने हितके लिये प्रणाम करता हूँ ।। २९ ।।

सूर्योदये यः सुसमाहितः पठेत्
स पुत्रदारान् धनरत्नसंचयान् ।
लभेत जातिस्मरतां नरः सदा
धृतिं च मेधां च स विन्दते पुमान् ।। ३० ।।

जो मनुष्य सूर्योदयके समय भलीभाँति एकाग्रचित्त हो इन नामोंका पाठ करता है वह स्त्री, पुत्र, धन, रत्नराशि, पूर्वजन्मकी स्मृति, धैर्य तथा उत्तम बुद्धि प्राप्त कर लेता है ।। ३० ।।

इमं स्तवं देववरस्य यो नरः
प्रकीर्तयेच्छुचिसुमनाः समाहितः ।
विमुच्यते शोकदवाग्निसागरा-
ल्लभेत कामान् मनसा यथेप्सितान् ।। ३१ ।।

जो मानव स्नान आदि करके पवित्र, शुद्धचित्त एवं एकाग्र हो देवेश्वर 'भगवान्' सूर्यके इस नामात्मक स्तोत्रका कीर्तन करता है वह शोकरूपी दावानलसे युक्त दुस्तर संसारसागरसे मुक्त हो मनचाही वस्तुओंको प्राप्त कर लेता है ।। ३१ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु धौम्येन तत्कालसदृशं वचः ।
विप्रत्यागसमाधिस्थः संयतात्मा दृढव्रतः ।। ३२ ।।
धर्मराजो विशुद्धात्मा तप आतिष्ठदुत्तमम् ।
पुष्पोपहारैर्बलिभिरर्चयित्वा दिवाकरम् ।। ३३ ।।
सोऽवगाह्य जलं राजा देवस्याभिमुखोऽभवत् ।
योगमास्थाय धर्मात्मा वायुभक्षो जितेन्द्रियः ।। ३४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पुरोहित धौम्यके इस प्रकार समयोचित बात कहनेपर ब्राह्मणोंको देनेके लिये अन्नकी प्राप्तिके उद्देश्यसे नियममें स्थित हो मनको वशमें रखकर दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए शुद्धचेता धर्मराज युधिष्ठिरने उत्तम तपस्याका अनुष्ठान आरम्भ किया। राजा युधिष्ठिरने गंगाजीके जलमें स्नान करके पुष्प और नैवेद्य आदि उपहारोंद्वारा भगवान् दिवाकरकी पूजा की और उनके सम्मुख मुँह करके खड़े हो गये। धर्मात्मा पाण्डुकुमार चित्तको एकाग्र करके इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए केवल वायु पीकर रहने लगे ।। ३२—३४ ।।

गाङ्गेयं वार्युपस्पृश्य प्राणायामेन तस्थिवान् ।
शुचिः प्रयतवाग् भूत्वा स्तोत्रमारब्धवांस्ततः ।। ३५ ।।

गंगाजलका आचमन करके पवित्र हो वाणीको वशमें रखकर तथा प्राणायामपूर्वक स्थित रहकर उन्होंने पूर्वोक्त अष्टोत्तरशतनामात्मक स्तोत्रका जप किया ।। ३५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम् ।
त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम् ।। ३६ ।।

युधिष्ठिर बोले—सूर्यदेव! आप सम्पूर्ण जगत्के नेत्र तथा समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं। आप ही सब जीवोंके उत्पत्तिस्थान और कर्मानुष्ठानमें लगे हुए पुरुषोंके सदाचार हैं ।। ३६ ।।

त्वं गतिः सर्वसांख्यानां योगिनां त्वं परायणम् ।
अनावृतार्गलद्वारं त्वं गतिस्त्वं मुमुक्षताम् ।। ३७ ।।

सम्पूर्ण सांख्ययोगियोंके प्राप्तव्य स्थान आप ही हैं। आप ही सब कर्मयोगियोंके आश्रय हैं। आप ही मोक्षके उन्मुक्त द्वार हैं और आप ही मुमुक्षुओंकी गति हैं ।। ३७ ।।

त्वया संधार्यते लोकस्त्वया लोकः प्रकाश्यते ।
त्वया पवित्रीक्रियते निर्व्याजं पाल्यते त्वया ।। ३८ ।।

आप ही सम्पूर्ण जगत्को धारण करते हैं। आपसे ही यह प्रकाशित होता है। आप ही इसे पवित्र करते हैं और आपके ही द्वारा निःस्वार्थभावसे इसका पालन किया जाता है ।। ३८ ।।

त्वामुपस्थाय काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
स्वशाखाविहितैर्मन्त्रैरर्चन्त्यृषिगणार्चितम् ।। ३९ ।।

सूर्यदेव! आप ऋषिगणोंद्वारा पूजित हैं। वेदके तत्त्वज्ञ ब्राह्मणलोग अपनी-अपनी वेदशाखाओंमें वर्णित मन्त्रोंद्वारा उचित समयपर उपस्थान करके आपका पूजन किया करते हैं ।। ३९ ।।

तव दिव्यं रथं यान्तमनुयान्ति वरार्थिनः ।
सिद्धचारणगन्धर्वा यक्षगुह्यकपन्नगाः ।। ४० ।।

सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, गुह्यक और नाग आपसे वर पानेकी अभिलाषासे आपके गतिशील दिव्य रथके पीछे-पीछे चलते हैं ।। ४० ।।

त्रयस्त्रिंशच्च वै देवास्तथा वैमानिका गणाः ।
सोपेन्द्राः समहेन्द्राश्च त्वामिष्ट्वा सिद्धिमागताः ।। ४१ ।।

तैंतीस[१] देवता एवं विमानचारी सिद्धगण भी उपेन्द्र तथा महेन्द्रसहित आपकी आराधना करके सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ।। ४१ ।।

उपयान्त्यर्चयित्वा तु त्वां वै प्राप्तमनोरथाः ।
दिव्यमन्दारमालाभिस्तूर्णं विद्याधरोत्तमाः ।। ४२ ।।

गुह्याः पितृगणाः सप्त ये दिव्या ये च मानुषाः ।
ते पूजयित्वा त्वामेव गच्छन्त्याशु प्रधानताम् ।। ४३ ।।
वसवो मरुतो रुद्रा ये च साध्या मरीचिपाः ।
वालखिल्यादयः सिद्धाः श्रेष्ठत्वं प्राणिनां गताः ।। ४४ ।।

श्रेष्ठ विद्याधरगण दिव्य मन्दार-कुसुमोंकी मालाओंसे आपकी पूजा करके सफलमनोरथ हो तुरंत आपके समीप पहुँच जाते हैं। गुह्यक, सात[२] प्रकारके पितृगण तथा दिव्य मानव (सनकादि) आपकी ही पूजा करके श्रेष्ठ पदको प्राप्त करते हैं। वसुगण, मरुद्‍गण, रुद्र, साध्य तथा आपकी किरणोंका पान करनेवाले वालखिल्य आदि सिद्ध महर्षि आपकी ही आराधनासे सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ हुए हैं ।। ४२-४४ ।।

सब्रह्मकेषु लोकेषु सप्तस्वप्यखिलेषु च ।
न तद्भूतमहं मन्ये यदर्कादतिरिच्यते ।। ४५ ।।
सन्ति चान्यानि सत्त्वानि वीर्यवन्ति महान्ति च ।
न तु तेषां तथा दीप्तिः प्रभावो वा यथा तव ।। ४६ ।।
ज्योतींषि त्वयि सर्वाणि त्वं सर्वज्योतिषां पतिः ।
त्वयि सत्यं च सत्त्वं च सर्वे भावाश्च सात्त्विकाः ।। ४७ ।।
त्वत्तेजसा कृतं चक्रं सुनाभं विश्वकर्मणा ।
देवारीणां मदो येन नाशितः शार्ङ्गधन्वना ।। ४८ ।।

ब्रह्मलोकसहित ऊपरके सातों लोकोंमें तथा अन्य सब लोकोंमें भी ऐसा कोई प्राणी नहीं दीखता जो आप भगवान् सूर्यसे बढ़कर हो। भगवन्! जगत्में और भी बहुत-से महान् शक्तिशाली प्राणी हैं; परंतु उनकी कान्ति और प्रभाव आपके समान नहीं हैं। सम्पूर्ण ज्योतिर्मय पदार्थ आपके ही अन्तर्गत हैं। आप ही समस्त ज्योतियोंके स्वामी हैं। सत्य, सत्त्व तथा समस्त सात्त्विक भाव आपमें ही प्रतिष्ठित हैं। 'शार्ङ्ग' नामक धनुष धारण करनेवाले भगवान् विष्णुने जिसके द्वारा दैत्योंका घमंड चूर्ण किया है उस सुदर्शन चक्रको विश्वकर्माने आपके ही तेजसे बनाया है ।। ४५—४८ ।।

त्वमादायांशुभिस्तेजो निदाघे सर्वदेहिनाम् ।
सर्वौषधिरसानां च पुनर्वर्षासु मुञ्चसि ।। ४९ ।।

आप ग्रीष्म-ऋतुमें अपनी किरणोंसे समस्त देहधारियोंके तेज और सम्पूर्ण ओषधियोंके रसका सार खींचकर पुनः वर्षाकालमें उसे बरसा देते हैं ।। ४९ ।।

तपन्त्यन्ये दहन्त्यन्ये गर्जन्त्यन्ये तथा घनाः ।
विद्योतन्ते प्रवर्षन्ति तव प्रावृषि रश्मयः ।। ५० ।।

वर्षा-ऋतुमें आपकी कुछ किरणें तपती हैं, कुछ जलाती हैं, कुछ मेघ बनकर गरजती, बिजली बनकर चमकती तथा वर्षा भी करती हैं ।। ५० ।।

न तथा सुखयत्यग्निर्न प्रावारा न कम्बलाः ।

शीतवातार्दितं लोकं यथा तव मरीचयः ।। ५१ ।।

शीतकालकी वायुसे पीड़ित जगत्को अग्नि, कम्बल और वस्त्र भी उतना सुख नहीं देते जितना आपकी किरणें देती हैं ।। ५१ ।।

त्रयोदशद्वीपवतीं गोभिर्भासयसे महीम् ।
त्रयाणामपि लोकानां हितायैकः प्रवर्तसे ।। ५२ ।।

आप अपनी किरणोंद्वारा तेरह* द्वीपोंसे युक्त सम्पूर्ण पृथ्वीको प्रकाशित करते हैं; और अकेले ही तीनों लोकोंके हितके लिये तत्पर रहते हैं ।। ५२ ।।

तव यद्युदयो न स्यादन्धं जगदिदं भवेत् ।
न च धर्मार्थकामेषु प्रवर्तेरन् मनीषिणः ।। ५३ ।।

यदि आपका उदय न हो तो यह सारा जगत् अंधा हो जाय और मनीषी पुरुष धर्म, अर्थ एवं कामसम्बन्धी कर्मोंमें प्रवृत्त ही न हों ।। ५३ ।।

आधानपशुबन्धेष्टिमन्त्रयज्ञतपःक्रियाः ।
त्वत्प्रसादादवाप्यन्ते ब्रह्मक्षत्रविशां गणैः ।। ५४ ।।

गर्भाधान या अग्निकी स्थापना, पशुओंको बाँधना, इष्टि (पूजा), मन्त्र, यज्ञानुष्ठान और तप आदि समस्त क्रियाएँ आपकी ही कृपासे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यगणों द्वारा सम्पन्न की जाती हैं ।। ५४ ।।

यदहर्ब्रह्मणः प्रोक्तं सहस्रयुगसम्मितम् ।
तस्य त्वमादिरन्तश्च कालज्ञैः परिकीर्तितः ।। ५५ ।।

ब्रह्माजीका जो एक सहस्र युगोंका दिन बताया गया है, कालमानके जाननेवाले विद्वानोंने उसका आदि और अन्त आपको ही बताया है ।। ५५ ।।

मनूनां मनुपुत्राणां जगतोऽमानवस्य च ।
मन्वन्तराणां सर्वेषामीश्वराणां त्वमीश्वरः ।। ५६ ।।

मनु और मनुपुत्रोंके, जगत्के, (ब्रह्मलोककी प्राप्ति करानेवाले) अमानव पुरुषके, समस्त मन्वन्तरोंके तथा ईश्वरोंके भी ईश्वर आप ही हैं ।। ५६ ।।

संहारकाले सम्प्राप्ते तव क्रोधविनिःसृतः ।
संवर्तकाग्निस्त्रैलोक्यं भस्मीकृत्यावतिष्ठते ।। ५७ ।।

प्रलयकाल आनेपर आपके ही क्रोधसे प्रकट हुई संवर्तक नामक अग्नि तीनों लोकोंको भस्म करके फिर आपमें ही स्थित हो जाती है ।। ५७ ।।

त्वद्दीधितिसमुत्पन्ना नानावर्णा महाघनाः ।
सैरावताः साशनयः कुर्वन्त्याभूतसम्प्लवम् ।। ५८ ।।

आपकी ही किरणोंसे उत्पन्न हुए रंग-बिरंगे ऐरावत आदि महामेघ और बिजलियाँ सम्पूर्ण भूतोंका संहार करती हैं ।। ५८ ।।

कृत्वा द्वादशधाऽऽत्मानं द्वादशादित्यतां गतः ।

संहृत्यैकार्णवं सर्वं त्वं शोषयसि रश्मिभिः ।। ५९ ।।

फिर आप ही अपनेको बारह स्वरूपोंमें विभक्त करके बारह सूर्योंके रूपमें उदित हो अपनी किरणोंद्वारा त्रिलोकीका संहार करते हुए एकार्णवके समस्त जलको सोख लेते हैं ।। ५९ ।।

त्वामिन्द्रमाहुस्त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वमग्निस्त्वं मनः सूक्ष्मं प्रभुस्त्वं ब्रह्म शाश्वतम् ।। ६० ।।

आपको ही इन्द्र कहते हैं। आप ही रुद्र, आप ही विष्णु और आप ही प्रजापति हैं। अग्नि, सूक्ष्म मन, प्रभु तथा सनातन ब्रह्म भी आप ही हैं ।। ६० ।।

त्वं हंसः सविता भानुरंशुमाली वृषाकपिः ।
विवस्वान् मिहिरः पूषा मित्रो धर्मस्तथैव च ।। ६१ ।।
सहस्ररश्मिरादित्यस्तपनस्त्वं गवाम्पतिः ।
मार्तण्डोऽर्को रविः सूर्यः शरण्यो दिनकृत् तथा ।। ६२ ।।
दिवाकरः सप्तसप्तिर्धामकेशी विरोचनः ।
आशुगामी तमोघ्नश्च हरिताश्वश्च कीर्त्यसे ।। ६३ ।।

आप ही हंस (शुद्धस्वरूप), सविता (जगत्की उत्पत्ति करनेवाले), भानु (प्रकाशमान), अंशुमाली (किरणसमूहसे सुशोभित), वृषाकपि (धर्मरक्षक), विवस्वान् (सर्वव्यापी), मिहिर (जलकी वृष्टि करनेवाले), पूषा (पोषक), मित्र (सबके सुहृद्), धर्म (धारण करनेवाले), सहस्ररश्मि (हजारों किरणोंवाले), आदित्य (अदितिपुत्र), तपन (तापकारी), गवाम्पति (किरणोंके स्वामी), मार्तण्ड, अर्क (अर्चनीय), रवि, सूर्य (उत्पादक), शरण्य (शरणागतकी रक्षा करनेवाले), दिनकृत् (दिनके कर्ता), दिवाकर (दिनको प्रकट करनेवाले), सप्तसप्ति (सात घोड़ोंवाले), धामकेशी (ज्योतिर्मय किरणोंवाले), विरोचन (देदीप्यमान), आशुगामी (शीघ्रगामी), तमोघ्न (अन्धकारनाशक) तथा हरिताश्व (हरे रंगके घोड़ोंवाले) कहे जाते हैं ।। ६१—६३ ।।

सप्तम्यामथवा षष्ठ्यां भक्त्या पूजां करोति यः ।
अनिर्विण्णोऽनहंकारी तं लक्ष्मीर्भजते नरम् ।। ६४ ।।

जो सप्तमी अथवा षष्ठीको खेद और अहंकारसे रहित हो भक्तिभावसे आपकी पूजा करता है, उस मनुष्यको लक्ष्मी प्राप्त होती है ।। ६४ ।।

न तेषामापदः सन्ति नाधयो व्याधयस्तथा ।
ये तवानन्यमनसः कुर्वन्त्यर्चनवन्दनम् ।। ६५ ।।

भगवन्! जो अनन्य चित्तसे आपकी अर्चना और वन्दना करते हैं, उनपर कभी आपत्ति नहीं आती। वे मानसिक चिन्ताओं तथा रोगोंसे भी ग्रस्त नहीं होते ।। ६५ ।।

सर्वरोगैर्विरहिताः सर्वपापविवर्जिताः ।
त्वद्भावभक्ताः सुखिनो भवन्ति चिरजीविनः ।। ६६ ।।

जो प्रेमपूर्वक आपके प्रति भक्ति रखते हैं वे समस्त रोगों तथा सम्पूर्ण पापोंसे रहित हो चिरंजीवी एवं सुखी होते हैं ।। ६६ ।।

त्वं ममापन्नकामस्य सर्वातिथ्यं चिकीर्षतः ।
अन्नमन्नपते दातुमभितः श्रद्धयार्हसि ।। ६७ ।।

अन्नपते! मैं श्रद्धापूर्वक सबका आतिथ्य करनेकी इच्छासे अन्न प्राप्त करना चाहता हूँ। आप मुझे अन्न देनेकी कृपा करें ।। ६७ ।।

ये च तेऽनुचराः सर्वे पादोपान्तं समाश्रिताः ।
माठरारुणदण्डाद्यास्तांस्तान् वन्देऽशनिक्षुभान् ।। ६८ ।।

आपके चरणोंके निकट रहनेवाले जो माठर, अरुण तथा दण्ड आदि अनुचर (गण) हैं, वे विद्युत्के प्रवर्तक हैं। मैं उन सबकी वन्दना करता हूँ ।। ६८ ।।

क्षुभया सहिता मैत्री याश्चान्या भूतमातरः ।
ताश्च सर्वा नमस्यामि पान्तु मां शरणागतम् ।। ६९ ।।

क्षुभाके साथ जो मैत्रीदेवी तथा गौरी, पद्मा आदि अन्य भूतमाताएँ हैं, उन सबको मैं नमस्कार करता हूँ। वे सभी मुझ शरणागतकी रक्षा करें ।। ६९ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं स्तुतो महाराज भास्करो लोकभावनः ।
ततो दिवाकरः प्रीतो दर्शयामास पाण्डवम् ।
दीप्यमानः स्ववपुषा ज्वलन्निव हुताशनः ।। ७० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! जब युधिष्ठिरने लोकभावन भगवान् भास्करका इस प्रकार स्तवन किया, तब दिवाकरने प्रसन्न होकर उन पाण्डुकुमारको दर्शन दिया। उस समय उनके श्रीअंग प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित हो रहे थे ।। ७० ।।

विवस्वानुवाच

यत् तेऽभिलषितं किंचित् तत् त्वं सर्वमवाप्स्यसि ।
अहमन्नं प्रदास्यामि सप्त पञ्च च ते समाः ।। ७१ ।।

भगवान् सूर्य बोले—धर्मराज! तुम जो कुछ चाहते हो, वह सब तुम्हें प्राप्त होगा। मैं बारह वर्षोंतक तुम्हें अन्न प्रदान करूँगा ।। ७१ ।।

पाण्डवोंका वनगमन

उर्वशीका अर्जुनको शाप देना

नलका अपने पूर्वरूपमें प्रकट होकर दमयन्तीसे मिलना

जमदग्निका परशुरामसे कार्तवीर्य-अर्जुनका अपराध बताना

महाप्रलयके समय भगवान् मत्स्यके सींगमें बँधी हुई मनु और सप्तर्षियोंसहित नौका

गीताप्रेस, गोरखपुर

मार्कण्डेय मुनिको अक्षयवटकी शाखापर बालमुकुन्दका दर्शन

इन्द्रके द्वारा देवसेनाका स्कन्दको समर्पण

कौरवोंद्वारा विराटकी गायोंका हरण

गृह्णीष्व पिठरं ताम्रं मया दत्त नराधिप ।

यावद् वर्त्स्यति पाञ्चाली पात्रेणानेन सुव्रत ।। ७२ ।।
फलमूलामिषं शाकं संस्कृतं यन्महानसे ।
चतुर्विधं तदन्नाद्यमक्षय्यं ते भविष्यति ।। ७३ ।।

राजन्! यह मेरी दी हुई ताँबेकी बटलोई लो। सुव्रत! तुम्हारे रसोईघरमें इस पात्रद्वारा फल, मूल, भोजन करनेके योग्य अन्य पदार्थ तथा साग आदि जो चार प्रकारकी भोजन-सामग्री तैयार होगी, वह तबतक अक्षय बनी रहेगी, जबतक द्रौपदी स्वयं भोजन न करके परोसती रहेगी ।। ७२-७३ ।।

इतश्चतुर्दशे वर्षे भूयो राज्यमवाप्स्यसि ।

आजसे चौदहवें वर्षमें तुम अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लोगे ।। ७३½ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ।। ७४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इतना कहकर भगवान् सूर्य वहीं अन्तर्धान हो गये ।। ७४ ।।

इमं स्तवं प्रयतमनाः समाधिना
पठेदिहान्योऽपि वरं समर्थयन् ।
तत् तस्य दद्याच्च रविर्मनीषितं
तदाप्नुयाद् यद्यपि तत् सुदुर्लभम् ।। ७५ ।।

जो कोई अन्य पुरुष भी मनको संयममें रखकर चित्तवृत्तियोंको एकाग्र करके इस स्तोत्रका पाठ करेगा, वह यदि कोई अत्यन्त दुर्लभ वर भी माँगे तो भगवान् सूर्य उसकी उस मनोवांछित वस्तुको दे सकते हैं ।। ७५ ।।

यश्चेदं धारयेन्नित्यं शृणुयाद् वाप्यभीक्ष्णशः ।
पुत्रार्थी लभते पुत्रं धनार्थी लभते धनम् ।
विद्यार्थी लभते विद्यां पुरुषोऽप्यथवा स्त्रियः ।। ७६ ।।

जो प्रतिदिन इस स्तोत्रको धारण करता अथवा बार-बार सुनता है, वह यदि पुत्रार्थी हो तो पुत्र पाता है, धन चाहता हो तो धन पाता है, विद्याकी अभिलाषा रखता हो तो उसे विद्या प्राप्त होती है और पत्नीकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको पत्नी सुलभ होती है ।। ७६ ।।

उभे संध्ये पठेन्नित्यं नारी वा पुरुषो यदि ।
आपदं प्राप्य मुच्येत बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।। ७७ ।।

स्त्री हो या पुरुष यदि दोनों संध्याओंके समय इस स्तोत्रका पाठ करता है तो आपत्तिमें पड़कर भी उससे मुक्त हो जाता है। बन्धनमें पड़ा हुआ मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो जाता है ।। ७७ ।।

एतद् ब्रह्मा ददौ पूर्वं शक्राय सुमहात्मने ।

शक्राच्च नारदः प्राप्तो धौम्यस्तु तदनन्तरम् ।
धौम्याद् युधिष्ठिरः प्राप्य सर्वान् कामानवाप्तवान् ।। ७८ ।।

यह स्तुति सबसे पहले ब्रह्माजीने महात्मा इन्द्रको दी, इन्द्रसे नारदजीने और नारदजीसे धौम्यने इसे प्राप्त किया। धौम्यसे इसका उपदेश पाकर राजा युधिष्ठिरने अपनी सब कामनाएँ प्राप्त कर लीं ।। ७८ ।।

संग्रामे च जयेन्नित्यं विपुलं चाप्नुयाद् वसु ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः सूर्यलोकं स गच्छति ।। ७९ ।।

जो इसका अनुष्ठान करता है वह सदा संग्राममें विजयी होता है, बहुत धन पाता है, सब पापोंसे मुक्त होता और अन्तमें सूर्यलोकको जाता है ।। ७९ ।।

वैशम्पायन उवाच

लब्ध्वा वरं तु कौन्तेयो जलादुत्तीर्य धर्मवित् ।
जग्राह पादौ धौम्यस्य भ्रातॄंश्च परिषस्वजे ।। ८० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पूर्वोक्त वर पाकर धर्मके ज्ञाता कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर गंगाजीके जलसे बाहर निकले। उन्होंने धौम्यजीके दोनों चरण पकड़े और भाइयोंको हृदयसे लगा लिया ।। ८० ।।

द्रौपद्या सह संगम्य वन्द्यमानस्तया प्रभुः ।
महानसे तदानीं तु साधयामास पाण्डवः ।। ८१ ।।

द्रौपदीने उन्हें प्रणाम किया और वे उससे प्रेमपूर्वक मिले। फिर उसी समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने चूल्हेपर बटलोई रखकर रसोई तैयार करायी ।। ८१ ।।

संस्कृतं प्रसवं याति स्वल्पमन्नं चतुर्विधम् ।
अक्षय्यं वर्धते चान्नं तेन भोजयते द्विजान् ।। ८२ ।।

उसमें तैयार की हुई चार प्रकारकी थोड़ी-सी भी रसोई उस पात्रके प्रभावसे बढ़ जाती और अक्षय हो जाती थी। उसीसे वे ब्राह्मणोंको भोजन कराने लगे ।। ८२ ।।

भुक्तवत्सु च विप्रेषु भोजयित्वानुजानपि ।
शेषं विघससंज्ञं तु पश्चाद् भुङ्क्ते युधिष्ठिरः ।। ८३ ।।

ब्राह्मणोंके भोजन कर लेनेपर अपने छोटे भाइयोंको भी भोजन करानेके पश्चात् ‘विघस’ संज्ञक अवशिष्ट अन्नको युधिष्ठिर सबसे पीछे खाते थे ।। ८३ ।।

युधिष्ठिरं भोजयित्वा शेषमश्नाति पार्षती ।
द्रौपद्यां भुज्यमानायां तदन्नं क्षयमेति च ।
एवं दिवाकरात् प्राप्य दिवाकरसमप्रभः ।। ८४ ।।
कामान् मनोऽभिलषितान् ब्राह्मणेभ्योऽददात् प्रभुः ।
पुरोहितपुरोगाश्च तिथिनक्षत्रपर्वसु ।

यज्ञियार्थाः प्रवर्तन्ते विधिमन्त्रप्रमाणतः ।। ८५ ।।

युधिष्ठिरको भोजन कराकर द्रौपदी शेष अन्न स्वयं खाती थी। द्रौपदीके भोजन कर लेनेपर उस पात्रका अन्न समाप्त हो जाता था। इस प्रकार सूर्यसे मनोवांछित वरोंको पाकर उन्हींके समान तेजस्वी प्रभावशाली राजा युधिष्ठिर ब्राह्मणोंको नियमपूर्वक अन्नदान करने लगे। पुरोहितोंको आगे करके उत्तम तिथि, नक्षत्र एवं पर्वोंपर विधि और मन्त्रके प्रमाणके अनुसार उनके यज्ञसम्बन्धी कार्य होने लगे ।। ८४-८५ ।।

ततः कृतस्वस्त्ययना धौम्येन सह पाण्डवाः ।
द्विजसङ्घैः परिवृताः प्रययुः काम्यकं वनम् ।। ८६ ।।

तदनन्तर स्वस्तिवाचन कराकर ब्राह्मणसमुदायसे घिरे हुए पाण्डव धौम्यजीके साथ काम्यकवनको चले गये ।। ८६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि काम्यकवनप्रवेशे तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें काम्यकवनप्रवेशविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ।। ३ ।।

---

१. बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, इन्द्र और प्रजापति—ये तैंतीस देवता हैं।

२. सभापर्वके ११ वें अध्याय श्लोक ४६, ४७ में सात पितरोंके नाम इस प्रकार बताये हैं—वैराज, अग्निष्वात्त, सोमपा, गार्हपत्य, एकशृंग, चतुर्वेद और कला।

* जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर—ये सात प्रधान द्वीप माने गये हैं। इनके सिवा, कई उपद्वीप हैं। उनको लेकर यहाँ १३ द्वीप बताये गये हैं।

चतुर्थोऽध्यायः

विदुरजीका धृतराष्ट्रको हितकी सलाह देना और धृतराष्ट्रका रुष्ट होकर महलमें चला जाना

वैशम्पायन उवाच

वनं प्रविष्टेष्वथ पाण्डवेषु
प्रज्ञाचक्षुस्तप्यमानोऽम्बिकेयः ।
धर्मात्मानं विदुरमगाधबुद्धिं
सुखासीनो वाक्यमुवाच राजा ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब पाण्डव वनमें चले गये, तब प्रज्ञाचक्षु अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र मन-ही-मन संतप्त हो उठे। उन्होंने अगाधबुद्धि धर्मात्मा विदुरको बुलाकर स्वयं सुखद आसनपर बैठे हुए उनसे इस प्रकार कहा ।। १ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

प्रज्ञा च ते भार्गवस्येव शुद्धा
धर्मं च त्वं परमं वेत्थ सूक्ष्मम् ।
समश्च त्वं सम्मतः कौरवाणां
पथ्यं चैषां मम चैव ब्रवीहि ।। २ ।।

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! तुम्हारी बुद्धि शुक्राचार्यके समान शुद्ध है। तुम सूक्ष्म-से-सूक्ष्म श्रेष्ठ धर्मको जानते हो। तुम्हारी सबके प्रति समान दृष्टि है और कौरव तथा पाण्डव सभी तुम्हारा सम्मान करते हैं। अतः मेरे तथा इन पाण्डवोंके लिये जो हितकर कार्य हो, वह मुझे बताओ ।। २ ।।

एवंगते विदुर यदद्य कार्यं
पौराश्च मे कथमस्मान् भजेरन् ।
ते चाप्यस्मान् नोद्धरेयुः समूलां-
स्तत्त्वं ब्रूयाः साधुकार्याणि वेत्सि ।। ३ ।।

विदुर! ऐसी दशामें अब हमारा जो कर्तव्य हो वह बताओ। ये पुरवासी कैसे हमलोगोंसे प्रेम करेंगे। तुम ऐसा कोई उपाय बताओ जिससे वे पाण्डव हमलोगोंको जड़-मूलसहित उखाड़ न फेंके। तुम अच्छे कार्योंको जानते हो। अतः हमें ठीक-ठीक कर्तव्यका निर्देश करो ।। ३ ।।

विदुर उवाच

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलो नरेन्द्र

राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति ।
धर्मे राजन् वर्तमानः स्वशक्त्या
पुत्रान् सर्वान् पाहि पाण्डोःसुतांश्च ।। ४ ।।

विदुरजीने कहा—नरेन्द्र! धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंकी प्राप्तिका मूल कारण धर्म ही है। धर्मात्मा पुरुष इस राज्यकी जड़ भी धर्मको ही बतलाते हैं, अतः महाराज! आप धर्मके मार्गपर स्थिर रहकर यथाशक्ति अपने तथा पाण्डुके सब पुत्रोंका पालन कीजिये ।। ४ ।।

स वै धर्मो विप्रलब्धः सभायां
पापात्मभिः सौबलेयप्रधानैः ।
आहूय कुन्तीसुतमक्षवत्यां
पराजैषीत् सत्यसंधं सुतस्ते ।। ५ ।।

शकुनि आदि पापात्माओंने द्यूतसभामें उस धर्मके साथ विश्वासघात किया; क्योंकि आपके पुत्रने सत्य-प्रतिज्ञ कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको बुलाकर उन्हें कपटपूर्वक पराजित किया है ।। ५ ।।

एतस्य ते दुष्प्रणीतस्य राजन्
शेषस्याहं परिपश्याम्युपायम् ।
यथा पुत्रस्तव कौरव्य पापा-
न्मुक्तो लोके प्रतितिष्ठेत साधु ।। ६ ।।

कुरुराज! दुरात्माओंद्वारा पाण्डवोंके प्रति किये हुए इस दुर्व्यवहारकी शान्तिका उपाय मैं जानता हूँ, जिससे आपका पुत्र दुर्योधन पापसे मुक्त हो लोकमें भलीभाँति प्रतिष्ठा प्राप्त करे ।। ६ ।।

तद् वै सर्वं पाण्डुपुत्रा लभन्तां
यत् तद् राजन्नभिसृष्टं त्वयाऽऽसीत् ।
एष धर्मः परमो यत् स्वकेन
राजा तुष्येन्न परस्वेषु गृध्येत् ।। ७ ।।

आपने पाण्डवोंको जो राज्य दिया था, वह सब उन्हें मिल जाना चाहिये। राजाके लिये यह सबसे बड़ा धर्म है कि वह अपने धनसे संतुष्ट रहे। दूसरेके धनपर लोभभरी दृष्टि न डाले ।। ७ ।।

यशो न नश्येज्ज्ञातिभेदश्च न स्याद्
धर्मो न स्यान्नैव चैवं कृते त्वाम् ।
एतत् कार्यं तव सर्वप्रधानं
तेषां तुष्टिः शकुनेश्चावमानः ।। ८ ।।

ऐसा कर लेनेपर आपके यशका नाश नहीं होगा, भाइयोंमें फूट नहीं होगी और आपको धर्मकी भी प्राप्ति होगी। आपके लिये सबसे प्रमुख कार्य यह है कि पाण्डवोंको संतुष्ट करें और शकुनिका तिरस्कार करें ।। ८ ।।

एवं शेषं यदि पुत्रेषु ते स्या-
देतद् राजंस्त्वरमाणः कुरुष्व ।
तथैतदेवं न करोषि राजन्
ध्रुवं कुरूणां भविता विनाशः ।। ९ ।।

राजन्! ऐसा करनेपर भी यदि आपके पुत्रोंका भाग्य शेष होगा तो उनका राज्य उनके पास रह जायगा; अतः आप शीघ्र ही यह काम कर डालिये। महाराज! यदि आप ऐसा न करेंगे तो कौरवकुलका निश्चय ही नाश हो जायगा ।। ९ ।।

न हि क्रुद्धो भीमसेनोऽर्जुनो वा
शेषं कुर्याच्छात्रवाणामनीके ।
येषां योद्धा सव्यसाची कृतास्त्रो
धनुर्येषां गाण्डिवं लोकसारम् ।। १० ।।
येषां भीमो बाहुशाली च योद्धा
तेषां लोके किं नु न प्राप्यमस्ति ।
उक्तं पूर्वं जातमात्रे सुते ते
मया यत् ते हितमासीत् तदानीम् ।। ११ ।।

क्रोधमें भरे हुए भीमसेन अथवा अर्जुन अपने शत्रुओंकी सेनामें किसीको जीवित नहीं छोड़ेंगे। अस्त्रविद्यामें निपुण सव्यसाची अर्जुन जिनके योद्धा हैं, सम्पूर्ण लोकोंका सारभूत गाण्डीव जिनका धनुष है तथा अपने बाहुबलसे सुशोभित होनेवाले भीमसेन जिनकी ओरसे युद्ध करनेवाले हैं, उन पाण्डवोंके लिये संसारमें ऐसी कौन-सी वस्तु है जो प्राप्त न हो सके। आपके पुत्र दुर्योधनके जन्म लेते ही मुझे उस समय जो हितकी बात जान पड़ी, वह मैंने पहले ही बता दी थी ।। १०-११ ।।

पुत्रं त्यजेममहितं कुलस्य
हितं परं न च तत् त्वं चकर्थ ।
इदं च राजन् हितमुक्तं न चेत् त्व-
मेवं कर्ता परितप्तासि पश्चात् ।। १२ ।।

मैंने साफ कह दिया था कि आपका यह पुत्र समस्त कुलका अहित करनेवाला है, अतः इसको त्याग दीजिये; परंतु आपने मेरी उत्तम और सात्त्विक सलाहके अनुसार कार्य नहीं किया। राजन्! इस समय भी मैंने जो यह आपके हितकी बात बतायी है यदि उसे आप नहीं करेंगे तो आपको बहुत पश्चात्ताप करना पड़ेगा ।। १२ ।।

यद्येतदेवमनुमन्ता सुतस्ते

सम्प्रीयमाणः पाण्डवैरेकराज्यम् ।
तापो न ते भविता प्रीतियोगा-
न्न चेन्निगृह्णीष्व सुतं सुखाय ।। १३ ।।

यदि आपका पुत्र दुर्योधन प्रसन्नतापूर्वक पाण्डवोंके साथ एक राज्य बनानेकी बात मान ले तो आपको पश्चात्ताप नहीं होगा, प्रसन्नता ही प्राप्त होगी। यदि दुर्योधन आपकी बात न माने तो समस्त कुलको सुख पहुँचानेके लिये आप अपने उस पुत्रपर नियन्त्रण कीजिये ।। १३ ।।

दुर्योधनं त्वहितं वै निगृह्य
पाण्डोः पुत्रं कुरुष्वाधिपत्ये ।
अजातशत्रुर्हि विमुक्तरागो
धर्मेणेमां पृथिवीं शास्तु राजन् ।। १४ ।।

इस प्रकार अहितकारक दुर्योधनको काबूमें करके आप पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको राज्यपर अभिषिक्त कर दीजिये; क्योंकि वे अजातशत्रु हैं। उनका किसीसे राग या द्वेष नहीं है। राजन्! वे ही इस पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन करेंगे ।। १४ ।।

ततो राजन् पार्थिवाः सर्व एव
वैश्या इवास्मानुपतिष्ठन्तु सद्यः ।
दुर्योधनः शकुनिः सूतपुत्रः
प्रीत्या राजन् पाण्डुपुत्रान् भजन्तु ।। १५ ।।

महाराज! यदि ऐसा हुआ तो भूमण्डलके समस्त राजा वैश्योंकी भाँति उपहार ले हम कौरवोंकी सेवामें शीघ्र उपस्थित होंगे। राजराजेश्वर! दुर्योधन, शकुनि तथा सूतपुत्र कर्ण प्रेमपूर्वक पाण्डवोंको अपनावें ।। १५ ।।

दुःशासनो याचतु भीमसेनं
सभामध्ये द्रुपदस्यात्मजां च ।
युधिष्ठिरं त्वं परिसान्त्वयस्व
राज्ये चैनं स्थापयस्वाभिपूज्य ।। १६ ।।

दुःशासन भरी सभामें भीमसेन तथा द्रौपदीसे क्षमा माँगे और आप युधिष्ठिरको भलीभाँति सान्त्वना दे सम्मानपूर्वक इस राज्यपर बिठा दीजिये ।। १६ ।।

त्वया पृष्टः किमहमन्यद् वदेय-
मेतत् कृत्वा कृतकृत्योऽसि राजन् ।। १७ ।।

कुरुराज! आपने हितकी बात पूछी है तो मैं इसके सिवा और क्या बताऊँ। यह सब कर लेनेपर आप कृतकृत्य हो जायँगे ।। १७ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

एतद् वाक्यं विदुर यत् ते सभाया-
मिह प्रोक्तं पाण्डवान् प्राप्य मां च ।
हितं तेषामहितं मामकाना-
मेतत् सर्वं मम नावैति चेतः ।। १८ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! तुमने यहाँ सभामें पाण्डवोंके तथा मेरे विषयमें जो बात कही है वह पाण्डवोंके लिये तो हितकर है, पर मेरे पुत्रोंके लिये अहितकारक है, अतः यह सब मेरा मन स्वीकार नहीं करता है ।। १८ ।।

इदं त्विदानीं गत एव निश्चितं
तेषामर्थे पाण्डवानां यदात्थ ।
तेनाद्य मन्ये नासि हितो ममेति
कथं हि पुत्रं पाण्डवार्थे त्यजेयम् ।। १९ ।।

इस समय तुम जो कुछ कह रहे हो इससे यह भलीभाँति निश्चय होता है कि तुम पाण्डवोंके हितके लिये ही यहाँ आये थे। तुम्हारे आजके ही व्यवहारसे मैं समझ गया कि तुम मेरे हितैषी नहीं हो। मैं पाण्डवोंके लिये अपने पुत्रोंको कैसे त्याग दूँ ।। १९ ।।

असंशयं तेऽपि ममैव पुत्रा
दुर्योधनस्तु मम देहात् प्रसूतः ।
स्वं वै देहं परहेतोस्त्यजेति
को नु ब्रूयात् समतामन्ववेक्ष्य ।। २० ।।

इसमें संदेह नहीं कि पाण्डव भी मेरे पुत्र हैं, पर दुर्योधन साक्षात् मेरे शरीरसे उत्पन्न हुआ है। समताकी ओर दृष्टि रखते हुए भी कौन किसको ऐसी बातें कहेगा कि तुम दूसरेके हितके लिये अपने शरीरका त्याग कर दो ।। २० ।।

स मां जिह्मं विदुर सर्वं ब्रवीषि
मानं च तेऽहमधिकं धारयामि ।
यथेच्छकं गच्छ वा तिष्ठ वा त्वं
सुसान्त्व्यमानाप्यसती स्त्री जहाति ।। २१ ।।

विदुर! मैं तुम्हारा अधिक सम्मान करता हूँ; किंतु तुम मुझे सब कुटिलतापूर्ण सलाह दे रहे हो। अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, चले जाओ या रहो। तुमसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। कुलटा स्त्रीको कितनी ही सान्त्वना दी जाय, वह स्वामीको त्याग ही देती है ।। २१ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा धृतराष्ट्रोऽन्वपद्य-
दन्तर्वेश्म सहसोत्थाय राजन् ।
नेदमस्तीत्यथ विदुरो भाषमाणः

सम्प्राद्रवद् यत्र पार्था बभूवुः ।। २२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्र सहसा उठकर महलके भीतर चले गये। तब विदुरने यह कहकर कि अब इस कुलका नाश अवश्यम्भावी है, जहाँ पाण्डव थे वहाँ चले गये ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि विदुरवाक्यप्रत्याख्याने चतुर्थोऽध्यायः ।। ४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें विदुरवाक्यप्रत्याख्यान-विषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ।। ४ ।।

पञ्चमोऽध्यायः

पाण्डवोंका काम्यकवनमें प्रवेश और विदुरजीका वहाँ जाकर उनसे मिलना और बातचीत करना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवास्तु वने वासमुद्दिश्य भरतर्षभाः ।
प्रययुर्जाह्नवीकूलात् कुरुक्षेत्रं सहानुगाः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भरतवंश-शिरोमणि पाण्डव वनवासके लिये गंगाजीके तटसे अपने साथियोंसहित कुरुक्षेत्रमें गये ।। १ ।।

सरस्वतीदृषद्वत्यौ यमुनां च निषेव्य ते ।
ययुर्वनेनैव वनं सततं पश्चिमां दिशम् ।। २ ।।

उन्होंने क्रमशः सरस्वती, दृषद्वती और यमुना नदीका सेवन करते हुए एक वनसे दूसरे वनमें प्रवेश किया। इस प्रकार वे निरन्तर पश्चिम दिशाकी ओर बढ़ते गये ।। २ ।।

ततः सरस्वतीकूले समेषु मरुधन्वसु ।
काम्यकं नाम ददृशुर्वनं मुनिजनप्रियम् ।। ३ ।।

तदनन्तर सरस्वती-तट तथा मरुभूमि एवं वन्य प्रदेशोंकी यात्रा करते हुए उन्होंने काम्यकवनका दर्शन किया, जो ऋषि-मुनियोंके समुदायको बहुत ही प्रिय था ।। ३ ।।

तत्र ते न्यवसन् वीरा वने बहुमृगद्विजे ।
अन्वास्यमाना मुनिभिः सान्त्व्यमानाश्च भारत ।। ४ ।।

भारत! उस वनमें बहुत-से पशु-पक्षी निवास करते थे। वहाँ मुनियोंने उन्हें बिठाया और बहुत सान्त्वना दी। फिर वे वीर पाण्डव वहीं रहने लगे ।। ४ ।।

विदुरस्त्वथ पाण्डूनां सदा दर्शनलालसः ।
जगामैकरथेनैव काम्यकं वनमृद्धिमत् ।। ५ ।।

इधर विदुरजी सदा पाण्डवोंको देखनेके लिये उत्सुक रहा करते थे। वे एकमात्र रथके द्वारा काम्यकवनमें गये, जो वनोचित सम्पत्तियोंसे भरा-पूरा था ।। ५ ।।

ततो गत्वा विदुरः काम्यकं त-
च्छीघ्रैरश्वैर्वाहिना स्यन्दनेन ।
ददर्शासीनं धर्मात्मानं विविक्ते
सार्धं द्रौपद्या भ्रातृभिर्ब्राह्मणैश्च ।। ६ ।।

शीघ्रगामी अश्वोंद्वारा खींचे जानेवाले रथसे काम्यक-वनमें पहुँचकर विदुरजीने देखा धर्मात्मा युधिष्ठिर एकान्त प्रदेशमें द्रौपदी, भाइयों तथा ब्राह्मणोंके साथ बैठे हैं ।। ६ ।।

ततोऽपश्यद् विदुरं तूर्णमारा-
दभ्यायान्तं सत्यसंधः स राजा ।
अथाब्रवीद् भ्रातरं भीमसेनं
किं नु क्षत्ता वक्ष्यति नः समेत्य ।। ७ ।।

सत्यप्रतिज्ञ राजा युधिष्ठिरने जब बड़ी उतावलीके साथ विदुरजीको अपने निकट आते देखा तब भाई भीमसेनसे कहा—'ये विदुरजी हमारे पास आकर न जाने क्या कहेंगे ।। ७ ।।

कच्चिन्नायं वचनात् सौबलस्य
समाह्वाता देवनायोपयातः ।
कच्चित् क्षुद्रः शकुनिर्नायुधानि
जेष्यत्यस्मान् पुनरेवाक्षवत्याम् ।। ८ ।।

'ये शकुनिके कहनेसे हमें फिर जूआ खेलनेके लिये बुलाने तो नहीं आ रहे हैं। कहीं नीच शकुनि हमें फिर द्यूत-सभामें बुलाकर हमारे आयुधोंको तो जीत नहीं लेगा ।। ८ ।।

समाहूतः केनचिदाद्रवेति
नाहं शक्तो भीमसेनापयातुम् ।
गाण्डीवे च संशयिते कथं नु
राज्यप्राप्तिः संशयिता भवेन्नः ।। ९ ।।

'भीमसेन! आओ, कहकर यदि कोई मुझे (युद्ध या द्यूतके लिये) बुलावे तो मैं पीछे नहीं हट सकता। ऐसी दशामें यदि हम गाण्डीव धनुष किसी तरह जूएमें हार गये तो हमारी राज्य-प्राप्ति संशयमें पड़ जायगी' ।। ९ ।।

वैशम्पायन उवाच

तत उत्थाय विदुरं पाण्डवेयाः
प्रत्यगृह्णन् नृपते सर्व एव ।
तैः सत्कृतः स च तानाजमीढो
यथोचितं पाण्डुपुत्रान् समेयात् ।। १० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सब पाण्डवोंने उठकर विदुरजीकी अगवानी की। उनके द्वारा किया हुआ यथोचित स्वागत-सत्कार ग्रहण करके अजमीढवंशी विदुर पाण्डवोंसे मिले ।। १० ।।

समाश्वस्तं विदुरं ते नरर्षभा-
स्ततोऽपृच्छन्नागमनाय हेतुम् ।

स चापि तेभ्यो विस्तरतः शशंस
यथावृत्तो धृतराष्ट्रोऽम्बिकेयः ।। ११ ।।

विदुरजीके आदर-सत्कार पानेपर नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने उनसे वनमें आनेका कारण पूछा। उनके पूछनेपर विदुरने भी अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने जैसा बर्ताव किया था, वह सब विस्तारपूर्वक कह सुनाया ।। ११ ।।

विदुर उवाच

अवोचन्मां धृतराष्ट्रोऽनुगुप्त-
मजातशत्रो परिगृह्याभिपूज्य ।
एवं गते समतामभ्युपेत्य
पथ्यं तेषां मम चैव ब्रवीहि ।। १२ ।।

विदुरजी बोले—अजातशत्रो! राजा धृतराष्ट्रने मुझे अपना रक्षक समझकर बुलाया और मेरा आदर करके कहा—'विदुर! आजकी परिस्थितिमें समभाव रखकर तुम ऐसा कोई उपाय बताओ जो मेरे और पाण्डवोंके लिये हितकर हो' ।। १२ ।।

मयाप्युक्तं यत् क्षेमं कौरवाणां
हितं पथ्यं धृतराष्ट्रस्य चैव ।

तद् वै तस्मै न रुचामभ्युपैति
ततश्चाहं क्षेममन्यन्न मन्ये ।। १३ ।।

तब मैंने भी ऐसी बातें बतायीं जो सर्वथा उचित तथा कौरववंश एवं धृतराष्ट्रके लिये भी हितकर और लाभदायक थीं। वह बात उनको नहीं रुची और मैं उसके सिवा दूसरी कोई बात उचित नहीं समझता था ।। १३ ।।

परं श्रेयः पाण्डवेया मयोक्तं
न मे तच्च श्रुतवानाम्बिकेयः ।
यथाऽऽतुरस्येव हि पथ्यमन्नं
न रोचते स्मास्य तदुच्यमानम् ।। १४ ।।

पाण्डवो! मैंने दोनों पक्षके लिये परम कल्याणकी बात बतायी थी, परंतु अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्रने मेरी वह बात नहीं सुनी। जैसे रोगीको हितकर भोजन अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार राजा धृतराष्ट्रको मेरी कही हुई हितकर बात भी पसंद नहीं आती ।। १४ ।।

न श्रेयसे नीयतेऽजातशत्रो
स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा ।
ध्रुवं न रोचेद् भरतर्षभस्य
पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ।। १५ ।।

अजातशत्रो! जैसे श्रोत्रियके घरकी दुष्टा स्त्री श्रेयके मार्गपर नहीं लायी जा सकती, उसी प्रकार राजा धृतराष्ट्रको कल्याणके मार्गपर लाना असम्भव है। जैसे कुमारी कन्याको साठ वर्षका बूढ़ा पति अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्रको मेरी कही हुई बात निश्चय ही नहीं रुचती ।। १५ ।।

ध्रुवं विनाशो नृप कौरवाणां
न वै श्रेयो धृतराष्ट्रः परैति ।
यथा च पर्णे पुष्करस्यावसिक्तं
जलं न तिष्ठेत् पथ्यमुक्तं तथास्मिन् ।। १६ ।।

राजन्! राजा धृतराष्ट्र कल्याणकारी उपाय नहीं ग्रहण करते हैं, अतः यह निश्चय जान पड़ता है कि कौरवकुलका विनाश अवश्यम्भावी है। जैसे कमलके पत्तेपर डाला हुआ जल नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार कही हुई हितकर बात राजा धृतराष्ट्रके मनमें स्थान नहीं पाती है ।। १६ ।।

ततः क्रुद्धो धृतराष्ट्रोऽब्रवीन्मां
यस्मिन् श्रद्धा भारत तत्र याहि ।
नाहं भूयः कामये त्वां सहायं
महीमिमां पालयितुं पुरं वा ।। १७ ।।

उस समय राजा धृतराष्ट्रने कुपित होकर मुझसे कहा—'भारत! जिसपर तुम्हारी श्रद्धा हो वहीं चले जाओ। अब मैं इस राज्य अथवा नगरका पालन करनेके लिये तुम्हारी सहायता नहीं चाहता' ।। १७ ।।

सोऽहं त्यक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
प्रशासितुं त्वामुपयातो नरेन्द्र ।
तद् वै सर्वं यन्मयोक्तं सभायां
तद् धार्यतां यत् प्रवक्ष्यामि भूयः ।। १८ ।।

नरेन्द्र! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रने मुझे त्याग दिया है; अतः मैं तुम्हें उपदेश देनेके लिये आया हूँ। मैंने सभामें जो कुछ कहा था और पुनः इस समय जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब तुम धारण करो ।। १८ ।।

क्लेशैस्तीव्रैर्युज्यमानः सपत्नैः
क्षमां कुर्वन् कालमुपासते यः ।
संवर्धयन् स्तोकमिवाग्निमात्मवान्
स वै भुङ्क्ते पृथिवीमेक एव ।। १९ ।।

जो शत्रुओंद्वारा दुःसह कष्ट दिये जानेपर भी क्षमा करते हुए अनुकूल अवसरकी प्रतीक्षा करता है; तथा जिस प्रकार थोड़ी-सी आगको भी लोग घास-फूसके द्वारा प्रज्वलित करके बढ़ा लेते हैं, वैसे ही जो मनको वशमें रखकर अपनी शक्ति और सहायकोंको बढ़ाता है, वह अकेला ही सारी पृथ्वीका उपभोग करता है ।। १९ ।।

यस्याविभक्तं वसु राजन् सहायै-
स्तस्य दुःखेऽप्यंशभाजः सहायाः ।
सहायानामेष संग्रहणेऽध्युपायः
सहायाप्तौ पृथिवीप्राप्तिमाहुः ।। २० ।।

राजन्! जिसका धन सहायकोंके लिये बँटा नहीं है; अर्थात् जिसके धनको सहायक भी अपना ही समझकर भोगते हैं, उसके दुःखमें भी वे सब लोग हिस्सा बँटाते हैं। सहायकोंके संग्रहका यही उपाय है। सहायकोंकी प्राप्ति हो जानेपर पृथ्वीकी ही प्राप्ति हो गयी, ऐसा कहा जाता है ।। २० ।।

सत्यं श्रेष्ठं पाण्डव विप्रलापं
तुल्यं चान्नं सह भोज्यं सहायैः ।
आत्मा चैषामग्रतो न स्म पूज्य
एवंवृत्तिर्वर्धते भूमिपालः ।। २१ ।।

पाण्डुनन्दन! व्यर्थकी बकवादसे रहित सत्य बोलना ही श्रेष्ठ है। अपने सहायक भाई-बन्धुओंके साथ बैठकर समान अन्नका भोजन करना चाहिये। उन सबके आगे अपनी मान-

बड़ाई तथा पूजाकी बातें नहीं करनी चाहिये। ऐसा बर्ताव करनेवाला भूपाल सदा उन्नतिशील होता है ।। २१ ।।

युधिष्ठिर उवाच

एवं करिष्यामि यथा ब्रवीषि
परां बुद्धिमुपगम्याप्रमत्तः ।
यच्चाप्यन्यद्देशकालोपपन्नं
तद् वै वाच्यं तत् करिष्यामि कृत्स्नम् ।। २२ ।।

युधिष्ठिर बोले—विदुरजी! मैं उत्तम बुद्धिका आश्रय ले सतत सावधान रहकर आप जैसा कहते हैं वैसा ही करूँगा। और भी देश-कालके अनुसार आप जो कर्तव्य उचित समझें, वह बतावें। मैं उसका पूर्णरूपसे पालन करूँगा ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि विदुरनिर्वासे पञ्चमोऽध्यायः ।। ५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें विदुरनिर्वासनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५ ।।

षष्ठोऽध्याय:

धृतराष्ट्रका संजयको भेजकर विदुरको वनसे बुलवाना और उनसे क्षमा-प्रार्थना

वैशम्पायन उवाच

गते तु विदुरे राजन्नाश्रमं पाण्डवान् प्रति ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः पर्यतप्यत भारत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब विदुरजी पाण्डवोंके आश्रमपर चले गये, तब महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको बड़ा पश्चात्ताप हुआ ।। १ ।।

विदुरस्य प्रभावं च संधिविग्रहकारितम् ।
विवृद्धिं च परां मत्वा पाण्डवानां भविष्यति ।। २ ।।

उन्होंने सोचा, विदुर संधि और विग्रह आदिकी नीतिको अच्छी तरह जानते हैं, जिसके कारण उनका बहुत बड़ा प्रभाव है। वे पाण्डवोंके पक्षमें हो गये तो भविष्यमें उनका महान् अभ्युदय होगा ।। २ ।।

स सभाद्वारमागम्य विदुरस्मारमोहितः ।
समक्षं पार्थिवेन्द्राणां पपाताविष्टचेतनः ।। ३ ।।

विदुरका स्मरण करके वे मोहित-से हो गये और सभाभवनके द्वारपर आकर सब राजाओंके देखते-देखते अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ।। ३ ।।

स तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां समुत्थाय महीतलात् ।
समीपोपस्थितं राजा संजयं वाक्यमब्रवीत् ।। ४ ।।

फिर होशमें आनेपर वे पृथ्वीसे उठ खड़े हुए और समीप आये हुए संजयसे इस प्रकार बोले— ।। ४ ।।

भ्राता मम सुहृच्चैव साक्षाद् धर्म इवापरः ।
तस्य स्मृत्याद्य सुभृशं हृदयं दीर्यतीव मे ।। ५ ।।

‘संजय! विदुर मेरे भाई और सुहृद् हैं। वे साक्षात् दूसरे धर्मके समान हैं। उनकी याद आनेसे आज मेरा हृदय अत्यन्त विदीर्ण-सा होने लगा है ।। ५ ।।

तमानयस्व धर्मज्ञं मम भ्रातरमाशु वै ।
इति ब्रुवन् स नृपतिः कृपणं पर्यदेवयत् ।। ६ ।।

‘तुम मेरे धर्मज्ञ भ्राता विदुरको शीघ्र यहाँ बुला लाओ।’ ऐसा कहते हुए राजा धृतराष्ट्र दीनभावसे फूट-फूटकर रोने लगे ।। ६ ।।

पश्चात्तापाभिसंतप्तो विदुरस्मारमोहितः ।

भ्रातृस्नेहादिदं राजा संजयं वाक्यमब्रवीत् ।। ७ ।।

महाराज धृतराष्ट्र विदुरकी याद आनेसे मोहित हो पश्चात्तापसे खिन्न हो उठे और भ्रातृस्नेहवश संजयसे पुनः इस प्रकार बोले— ।। ७ ।।

गच्छ संजय जानीहि भ्रातरं विदुरं मम ।
यदि जीवति रोषेण मया पापेन निर्धुतः ।। ८ ।।

संजय! जाओ, मेरे भाई विदुरका पता लगाओ। मुझ पापीने क्रोधवश उन्हें निकाल दिया। वे जीवित तो हैं न? ।। ८ ।।

न हि तेन मम भ्रात्रा सुसूक्ष्ममपि किंचन ।
व्यलीकं कृतपूर्वं वै प्राज्ञेनामितबुद्धिना ।। ९ ।।

'अपरिमित बुद्धिवाले मेरे उन विद्वान् भाईने पहले कभी कोई छोटा-सा भी अपराध नहीं किया है ।। ९ ।।

स व्यलीकं परं प्राप्तो मत्तः परमबुद्धिमान् ।
त्यक्ष्यामि जीवितं प्राज्ञ तं गच्छानय संजय ।। १० ।।

'बुद्धिमान् संजय! मुझसे परम मेधावी विदुरका बड़ा अपराध हुआ। तुम जाकर उन्हें ले आओ, नहीं तो मैं प्राण त्याग दूँगा' ।। १० ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राज्ञस्तमनुमान्य च ।
संजयो बाढमित्युक्त्वा प्राद्रवत् काम्यकं प्रति ।। ११ ।।
सोऽचिरेण समासाद्य तद् वनं यत्र पाण्डवाः ।
रौरवाजिनसंवीतं ददर्शाथ युधिष्ठिरम् ।। १२ ।।
विदुरेण सहासीनं ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ।
भ्रातृभिश्चाभिसंगुप्तं देवैरिव पुरंदरम् ।। १३ ।।

राजाका यह वचन सुनकर संजयने उनका आदर करते हुए 'बहुत अच्छा' कहकर काम्यकवनको प्रस्थान किया। जहाँ पाण्डव रहते थे, उस वनमें शीघ्र ही पहुँचकर संजयने देखा, राजा युधिष्ठिर मृगचर्म धारण करके विदुरजी तथा सहस्रों ब्राह्मणोंके साथ बैठे हुए हैं। और देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति अपने भाइयोंसे सुरक्षित हैं ।। ११—१३ ।।

युधिष्ठिरमुपागम्य पूजयामास संजयः ।
भीमार्जुनयमाश्चापि तद्युक्तं प्रतिपेदिरे ।। १४ ।।

युधिष्ठिरके पास पहुँचकर संजयने उनका सम्मान किया। फिर भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेवने संजयका यथोचित सत्कार किया ।। १४ ।।

राज्ञा पृष्टः स कुशलं सुखासीनश्च संजयः ।
शशंसागमने हेतुमिदं चैवाब्रवीद् वचः ।। १५ ।।

राजा युधिष्ठिरके कुशल-प्रश्न करनेके पश्चात् जब संजय सुखपूर्वक बैठ गया, तब अपने आनेका कारण बताते हुए उसने इस प्रकार कहा ।। १५ ।।

संजय उवाच

राजा स्मरति ते क्षत्तर्धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
तं पश्य गत्वा त्वं क्षिप्रं संजीवय च पार्थिवम् ।। १६ ।।

संजयने कहा—विदुरजी! अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्र आपको स्मरण करते हैं। आप जल्दी चलकर उनसे मिलिये और उन्हें जीवनदान दीजिये ।। १६ ।।

सोऽनुमान्य नरश्रेष्ठान् पाण्डवान् कुरुनन्दनान् ।
नियोगाद् राजसिंहस्य गन्तुमर्हसि सत्तम ।। १७ ।।

साधुशिरोमणे! आप कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले इन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंसे आदरपूर्वक विदा लेकर महाराजके आदेशसे शीघ्र उनके पास चलें ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु विदुरो धीमान् स्वजनवल्लभः ।
युधिष्ठिरस्यानुमते पुनरायाद् गजाह्वयम् ।। १८ ।।
तमब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि धर्मज्ञ दिष्ट्या स्मरसि मेऽनघ ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! स्वजनोंके परम प्रिय बुद्धिमान् विदुरजीसे जब संजयने इस प्रकार कहा, तब वे युधिष्ठिरकी अनुमति लेकर फिर हस्तिनापुरमें आये। वहाँ महातेजस्वी अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने उनसे कहा—‘धर्मज्ञ विदुर! तुम आ गये, यह मेरे बड़े सौभाग्यकी बात है। अनघ! यह भी मेरे सौभाग्यकी बात है कि तुम मुझे भूले नहीं ।। १८-१९ ।।

अद्य रात्रौ दिवा चाहं त्वत्कृते भरतर्षभ ।
प्रजागरे प्रपश्यामि विचित्रं देहमात्मनः ।। २० ।।

‘भरतकुलभूषण! मैं आज दिन-रात तुम्हारे लिये जागते रहनेके कारण अपने शरीरकी विचित्र दशा देख रहा हूँ’ ।। २० ।।

सोऽङ्कमानीय विदुरं मूर्धन्याघ्राय चैव ह ।
क्षम्यतामिति चोवाच यदुक्तोऽसि मयानघ ।। २१ ।।

ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्रने विदुरको अपने हृदयसे लगा लिया और उनका मस्तक सूँघते हुए कहा—‘निष्पाप विदुर! मैंने तुमसे जो अप्रिय बात कह दी है, उसके लिये मुझे क्षमा करो’ ।। २१ ।।

विदुर उवाच

क्षान्तमेव मया राजन् गुरुर्मे परमो भवान् ।

एषोऽहमागतः शीघ्रं त्वद्दर्शनपरायणः ।। २२ ।।

भवन्ति हि नरव्याघ्र पुरुषा धर्मचेतसः ।

दीनाभिपातिनो राजन् नात्र कार्या विचारणा ।। २३ ।।

विदुरने कहा—राजन्! मैंने तो सब क्षमा कर ही दिया है। आप मेरे परम गुरु हैं। मैं शीघ्रतापूर्वक आपके दर्शनके लिये आया हूँ। नरश्रेष्ठ! धर्मात्मा पुरुष दीन जनोंकी ओर अधिक झुकते हैं। आपको इसके लिये मनमें विचार नहीं करना चाहिये ।। २२-२३ ।।

पाण्डोः सुता यादृशा मे तादृशास्तव भारत ।

दीना इतीव मे बुद्धिरभिपन्नाद्य तान् प्रति ।। २४ ।।

भारत! मेरे लिये जैसे पाण्डुके पुत्र हैं, वैसे ही आपके भी। परंतु पाण्डव इन दिनों दीन दशामें हैं, अतः उनके प्रति मेरे हृदयका झुकाव हो गया ।। २४ ।।

वैशम्पायन उवाच

अन्योन्यमनुनीयैवं भ्रातरौ द्वौ महाद्युती ।

विदुरो धृतराष्ट्रश्च लेभाते परमां मुदम् ।। २५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वे दोनों महातेजस्वी भाई विदुर और धृतराष्ट्र एक-दूसरेसे अनुनय-विनय करके अत्यन्त प्रसन्न हो गये ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि विदुरप्रत्यागमने षष्ठोऽध्यायः ।। ६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें विदुरप्रत्यागमनविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ।। ६ ।।

सप्तमोऽध्यायः

दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि और कर्णकी सलाह, पाण्डवोंका वध करनेके लिये उनका वनमें जानेकी तैयारी तथा व्यासजीका आकर उनको रोकना

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा च विदुरं प्राप्तं राज्ञा च परिसान्त्वितम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा पर्यतप्यत दुर्मतिः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विदुर आ गये और राजा धृतराष्ट्रने उन्हें सान्त्वना देकर रख लिया, यह सुनकर दुष्ट बुद्धिवाला धृतराष्ट्रकुमार राजा दुर्योधन संतप्त हो उठा ।। १ ।।

स सौबलेयमानाय्य कर्णदुःशासनौ तथा ।
अब्रवीद् वचनं राजा प्रविश्याबुद्धिजं तमः ।। २ ।।

उसने शकुनि, कर्ण और दुःशासनको बुलाकर अज्ञानजनित मोहमें मग्न हो इस प्रकार कहा— ।। २ ।।

एष प्रत्यागतो मन्त्रो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
विदुरः पाण्डुपुत्राणां सुहृद् विद्वान् हिते रतः ।। ३ ।।

‘बुद्धिमान् पिताजीका यह मन्त्री विदुर फिर लौट आया। विदुर विद्वान् होनेके साथ ही पाण्डवोंका सुहृद् और उन्हींके हितसाधनमें संलग्न रहनेवाला है ।। ३ ।।

यावदस्य पुनर्बुद्धिं विदुरो नापकर्षति ।
पाण्डवानयने तावन्मन्त्रयध्वं हितं मम ।। ४ ।।

‘यह पिताजीके विचारको पुनः पाण्डवोंके लौटा लानेकी ओर जबतक नहीं खींचता, तभीतक मेरे हित-साधनके विषयमें तुमलोग कोई उत्तम सलाह दो ।। ४ ।।

अथ पश्याम्यहं पार्थान् प्राप्तानिह कथंचन ।
पुनः शोषं गमिष्यामि निरम्बुर्निरवग्रहः ।। ५ ।।

‘यदि मैं किसी प्रकार पाण्डवोंको यहाँ आया देख लूँगा तो जलका भी परित्याग करके स्वेच्छासे अपने शरीरको सुखा डालूँगा ।। ५ ।।

विषमुद्बन्धनं चैव शस्त्रमग्निप्रवेशनम् ।
करिष्ये न हि तानृद्धान् पुनर्द्रष्टुमिहोत्सहे ।। ६ ।।

‘मैं जहर खा लूँगा, फाँसी लगा लूँगा, अपने-आपको ही शस्त्रसे मार दूँगा अथवा जलती आगमें प्रवेश कर जाऊँगा; परंतु पाण्डवोंको फिर बढ़ते या फलते-फूलते नहीं देख

सकूँगा' ।। ६ ।।

शकुनिरुवाच

किं बालिशमतिं राजन्नास्थितोऽसि विशाम्पते ।
गतास्ते समयं कृत्वा नैतदेवं भविष्यति ।। ७ ।।

शकुनि बोला—राजन्! तुम भी क्या नादान बच्चोंके-से विचार रखते हो? पाण्डव प्रतिज्ञा करके वनमें गये हैं। वे उस प्रतिज्ञाको तोड़कर लौट आवें, ऐसा कभी नहीं होगा ।। ७ ।।

सत्यवाक्यस्थिताः सर्वे पाण्डवा भरतर्षभ ।
पितुस्ते वचनं तात न ग्रहीष्यन्ति कर्हिचित् ।। ८ ।।

भरतवंशशिरोमणे! सब पाण्डव सत्य वचनका पालन करनेमें संलग्न हैं। तात! वे तुम्हारे पिताकी बात कभी स्वीकार नहीं करेंगे ।। ८ ।।

अथवा ते ग्रहीष्यन्ति पुनरेष्यन्ति वा पुरम् ।
निरस्य समयं सर्वे पणोऽस्माकं भविष्यति ।। ९ ।।

अथवा यदि वे तुम्हारे पिताकी बात मान लेंगे और प्रतिज्ञा तोड़कर इस नगरमें आ जायँगे तो हमारा व्यवहार इस प्रकार होगा ।। ९ ।।

सर्वे भवामो मध्यस्था राज्ञश्छन्दानुवर्तिनः ।
छिद्रं बहु प्रपश्यन्तः पाण्डवानां सुसंवृताः ।। १० ।।

हम सब लोग राजाकी आज्ञाका पालन करते हुए मध्यस्थ हो जायँगे और छिपे-छिपे पाण्डवोंके बहुत-से छिद्र देखते रहेंगे ।। १० ।।

दुःशासन उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि मातुल ।
नित्यं हि मे कथयतस्तव बुद्धिर्विरोचते ।। ११ ।।

दुःशासनने कहा—महाबुद्धिमान् मामाजी! आप जैसा कहते हैं, वही मुझे भी ठीक जान पड़ता है। आपके मुखसे जो विचार प्रकट होता है, वह मुझे सदा अच्छा लगता है ।। ११ ।।

कर्ण उवाच

काममीक्षामहे सर्वे दुर्योधन तवेप्सितम् ।
ऐकमत्यं हि नो राजन् सर्वेषामेव लक्षये ।। १२ ।।

कर्ण बोला—दुर्योधन! हम सब लोग तुम्हारी अभिलषित कामनाकी पूर्तिके लिये सचेष्ट हैं। राजन्! इस विषयमें हम सभीका एक मत दिखायी देता है ।। १२ ।।

नागमिष्यन्ति ते धीरा अकृत्वा कालसंविदम् ।

आगमिष्यन्ति चेन्मोहात् पुनर्द्यूतेन तान् जय ।। १३ ।।

धीरबुद्धि पाण्डव निश्चित समयकी अवधिको पूर्ण किये बिना यहाँ नहीं आयँगे; और यदि वे मोहवश आ भी जायँ तो तुम पुनः जूएके द्वारा उन्हें जीत लेना ।। १३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।

नातिहृष्टमनाः क्षिप्रमभवत् स पराङ्मुखः ।। १४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णके ऐसा कहनेपर उस समय राजा दुर्योधनको अधिक प्रसन्नता नहीं हुई। उसने तुरंत ही अपना मुँह फेर लिया ।। १४ ।।

उपलभ्य ततः कर्णो विवृत्य नयने शुभे ।

रोषाद् दुःशासनं चैव सौबलं च तमेव च ।। १५ ।।

उवाच परमक्रुद्ध उद्यम्यात्मानमात्मना ।

अथो मम मतं यत् तु तन्निबोधत भूमिपाः ।। १६ ।।

तब उसके आशयको समझकर कर्णने रोषसे अपनी सुन्दर आँखें फाड़कर दुःशासन, शकुनि और दुर्योधनकी ओर देखते हुए स्वयं ही उत्साहमें भरकर अत्यन्त क्रोधपूर्वक कहा—‘भूमिपालो! इस विषयमें मेरा जो मत है, उसे सुन लो ।। १५-१६ ।।

प्रियं सर्वे करिष्यामो राज्ञः किङ्करपाणयः ।

न चास्य शक्नुमः स्थातुं प्रिये सर्वे ह्यतन्द्रिताः ।। १७ ।।

‘हम सब लोग राजा दुर्योधनके किंकर और भुजाएँ हैं; अतः हम सब मिलकर इनका प्रिय कार्य करेंगे; परंतु हम आलस्य छोड़कर इनके प्रियसाधनमें लग नहीं पाते ।। १७ ।।

वयं तु शस्त्राण्यादाय रथानास्थाय दंशिताः ।

गच्छामः सहिता हन्तुं पाण्डवान् वनगोचरान् ।। १८ ।।

‘मेरी राय यह है कि हम कवच पहनकर अपने-अपने रथपर आरूढ़ हो अस्त्र-शस्त्र लेकर वनवासी पाण्डवोंको मारनेके लिये एक साथ उनपर धावा करें ।। १८ ।।

तेषु सर्वेषु शान्तेषु गतेष्वविदितां गतिम् ।

निर्विवादा भविष्यन्ति धार्तराष्ट्रास्तथा वयम् ।। १९ ।।

‘जब वे सभी मरकर शान्त जो जायँ और अज्ञात गतिको अर्थात्र परलोकको पहुँच जायँ, तब धृतराष्ट्रके पुत्र तथा हम सब लोग सारे झगड़ोंसे दूर हो जायँगे ।। १९ ।।

यावदेव परिद्यूना यावच्छोकपरायणाः ।

यावन्मित्रविहीनाश्च तावच्छक्या मतं मम ।। २० ।।

‘वे जबतक क्लेशमें पड़े हैं, जबतक शोकमें डूबे हुए हैं और जबतक मित्रों एवं सहायकोंसे वंचित हैं, तभीतक युद्धमें जीते जा सकते हैं, मेरा तो यही मत है’ ।। २० ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा पूजयन्तः पुनः पुनः ।

बाढमित्येव ते सर्वे प्रत्यूचुः सूतजं तदा ।। २१ ।।

कर्णकी यह बात सुनकर सबने बार-बार उसकी सराहना की और कर्णकी बातके उत्तरमें सबके मुखसे यही निकला—'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' ।। २१ ।।

एवमुक्त्वा सुसंरब्धा रथैः सर्वे पृथक्पृथक् ।
निर्ययुः पाण्डवान् हन्तुं सहिताः कृतनिश्चयाः ।। २२ ।।

इस प्रकार आपसमें बातचीत करके रोष और जोशमें भरे हुए वे सब पृथक्-पृथक् रथोंपर बैठकर पाण्डवोंके वधका निश्चय करके एक साथ नगरसे बाहर निकले ।। २२ ।।

तान् प्रस्थितान् परिज्ञाय कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
आजगाम विशुद्धात्मा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ।। २३ ।।

उन्हें वनकी ओर प्रस्थान करते जान शक्तिशाली महर्षि शुद्धात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास दिव्य दृष्टिसे सब कुछ देखकर सहसा वहाँ आये ।। २३ ।।

प्रतिषिध्याथ तान् सर्वान् भगवाँल्लोकपूजितः ।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनमुवाचाभ्येत्य सत्वरम् ।। २४ ।।

उन लोकपूजित भगवान् व्यासने उन सबको रोका और सिंहासनपर बैठे हुए प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्रके पास शीघ्र आकर कहा ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि व्यासागमने सप्तमोऽध्यायः ।। ७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें व्यासजीके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७ ।।

अष्टमोऽध्यायः

व्यासजीका धृतराष्ट्रसे दुर्योधनके अन्यायको रोकनेके लिये अनुरोध

व्यास उवाच

धृतराष्ट्र महाप्राज्ञ निबोध वचनं मम ।
वक्ष्यामि त्वां कौरवाणां सर्वेषां हितमुत्तमम् ।। १ ।।

व्यासजीने कहा—महाप्राज्ञ धृतराष्ट्र! तुम मेरी बात सुनो, मैं तुम्हें समस्त कौरवोंके हितकी उत्तम बात बताता हूँ ।। १ ।।

न मे प्रियं महाबाहो यद् गताः पाण्डवा वनम् ।
निकृत्या निकृताश्चैव दुर्योधनपुरोगमैः ।। २ ।।

महाबाहो! पाण्डवलोग जो वनमें भेजे गये हैं, यह मुझे अच्छा नहीं लगा है। दुर्योधन आदिने उन्हें छलपूर्वक जूएमें हराया है ।। २ ।।

ते स्मरन्तः परिक्लेशान् वर्षे पूर्णे त्रयोदशे ।
विमोक्ष्यन्ति विषं क्रुद्धाः कौरवेयेषु भारत ।। ३ ।।

भारत! वे तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर अपनेको दिये हुए क्लेश याद करके कुपित हो कौरवोंपर विष उगलेंगे, अर्थात् विषके समान घातक अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करेंगे ।। ३ ।।

तदयं किं नु पापात्मा तव पुत्रः सुमन्दधीः ।
पाण्डवान् नित्यसंक्रुद्धो राज्यहेतोर्जिघांसति ।। ४ ।।

ऐसा जानते हुए भी तुम्हारा यह पापात्मा एवं मूर्ख पुत्र क्यों सदा रोषमें भरा रहकर राज्यके लिये पाण्डवोंका वध करना चाहता है ।। ४ ।।

वार्यतां साध्वयं मूढः शमं गच्छतु ते सुतः ।
वनस्थांस्तानयं हन्तुमिच्छन् प्राणान् विमोक्ष्यति ।। ५ ।।

तुम इस मूढ़को रोको। तुम्हारा यह पुत्र शान्त हो जाय। यदि इसने वनवासी पाण्डवोंको मार डालनेकी इच्छा की तो यह स्वयं ही अपने प्राणोंको खो बैठेगा ।। ५ ।।

यथा हि विदुरः प्राज्ञो यथा भीष्मो यथा वयम् ।
यथा कृपश्च द्रोणश्च तथा साधुर्भवानपि ।। ६ ।।

जैसे ज्ञानी विदुर, भीष्म, मैं, कृपाचार्य तथा द्रोणाचार्य हैं, वैसे ही साधुस्वभाव तुम भी हो ।। ६ ।।

विग्रहो हि महाप्राज्ञ स्वजनेन विगर्हितः ।
अधर्म्यमयशस्यं च मा राजन् प्रतिपद्यताम् ।। ७ ।।

महाप्राज्ञ! स्वजनोंके साथ कलह अत्यन्त निन्दित माना गया है। वह अधर्म एवं अयश बढ़ानेवाला है; अतः राजन्! तुम स्वजनोंके साथ कलहमें न पड़ो ।। ७ ।।

समीक्षा यादृशी ह्यस्य पाण्डवान् प्रति भारत ।
उपेक्ष्यमाणा सा राजन् महान्तमनयं स्पृशेत् ।। ८ ।।

भारत! पाण्डवोंके प्रति इस दुर्योधनका जैसा विचार है, यदि उसकी उपेक्षा की गयी—उसका शमन न किया गया तो उसका वह विचार महान् अत्याचारकी सृष्टि कर सकता है ।। ८ ।।

अथवायं सुमन्दात्मा वनं गच्छतु ते सुतः ।
पाण्डवैः सहितो राजन्नेक एवासहायवान् ।। ९ ।।

अथवा तुम्हारा यह मन्दबुद्धि पुत्र अकेला ही दूसरे किसी सहायकको लिये बिना पाण्डवोंके साथ वनमें जाय ।। ९ ।।

ततः संसर्गजः स्नेहः पुत्रस्य तव पाण्डवैः ।
यदि स्यात् कृतकार्योऽद्य भवेस्त्वं मनुजेश्वर ।। १० ।।

मनुजेश्वर! वहाँ पाण्डवोंके संसर्गमें रहनेसे तुम्हारे पुत्रके प्रति उनके हृदयमें स्नेह हो जाय, तो तुम आज ही कृतार्थ हो जाओगे ।। १० ।।

अथवा जायमानस्य यच्छीलमनुजायते ।
श्रूयते तन्महाराज नामृतस्यापसर्पति ।। ११ ।।
कथं वा मन्यते भीष्मो द्रोणोऽथ विदुरोऽपि वा।
भवान् वात्र क्षमं कार्यं पुरा वोऽर्थोऽभिवर्धते ।। १२ ।।

किंतु महाराज! जन्मके समय किसी वस्तुका जैसा स्वभाव बन जाता है वह दूर नहीं होता। भले ही वह वस्तु अमृत ही क्यों न हो? यह बात मेरे सुननेमें आयी है। अथवा इस विषयमें भीष्म, द्रोण, विदुर या तुम्हारी क्या सम्मति है? यहाँ जो उचित हो, वह कार्य पहले करना चाहिये, उसीसे तुम्हारे प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है ।। ११-१२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि व्यासवाक्ये अष्टमोऽध्यायः ।। ८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें व्यासवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८ ।।

नवमोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा सुरभि और इन्द्रके उपाख्यानका वर्णन तथा उनका पाण्डवोंके प्रति दया दिखलाना

धृतराष्ट्र उवाच

भगवन् नाहमप्येतद् रोचये द्यूतसम्भवम् ।
मन्ये तद्विधिनाऽऽकृष्य कारितोऽस्मीति वै मुने ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—भगवन्! यह जूएका खेल मुझे भी पसंद नहीं था। मुने! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि विधाताने मुझे बलपूर्वक खींचकर इस कार्यमें लगा दिया ।। १ ।।

नैतद् रोचयते भीष्मो न द्रोणो विदुरो न च ।
गान्धारी नेच्छति द्यूतं तत्र मोहात् प्रवर्तितम् ।। २ ।।

भीष्म, द्रोण और विदुरको भी यह द्यूतका आयोजन अच्छा नहीं लगता था। गान्धारी भी नहीं चाहती थी कि जूआ खेला जाय; परंतु मैंने मोहवश सबको जूएमें लगा दिया ।। २ ।।

परित्यक्तुं न शक्नोमि दुर्योधनमचेतनम् ।
पुत्रस्नेहेन भगवन् जानन्नपि प्रियव्रत ।। ३ ।।

भगवन्! प्रियव्रत! मैं यह जानता हूँ कि दुर्योधन अविवेकी है, तो भी पुत्रस्नेहके कारण मैं उसका त्याग नहीं कर सकता ।। ३ ।।

व्यास उवाच

वैचित्रवीर्य नृपते सत्यमाह यथा भवान् ।
दृढं विद्मः परं पुत्रं परं पुत्रान्न विद्यते ।। ४ ।।

व्यासजी बोले—राजन्! विचित्रवीर्यनन्दन! तुम ठीक कहते हो, हम अच्छी तरह जानते हैं कि पुत्र परम प्रिय वस्तु है। पुत्रसे बढ़कर संसारमें और कुछ नहीं है ।। ४ ।।

इन्द्रोऽप्यश्रुनिपातेन सुरभ्या प्रतिबोधितः ।
अन्यैः समृद्धैरप्यर्थैर्न सुतान्मन्यते परम् ।। ५ ।।

सुरभिने पुत्रके लिये आँसू बहाकर इन्द्रको भी यह बात समझायी थी, जिससे वे अन्य समृद्धिशाली पदार्थोंसे सम्पन्न होनेपर भी पुत्रसे बढ़कर दूसरी किसी वस्तुको नहीं मानते हैं ।। ५ ।।

अत्र ते कीर्तयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम् ।
सुरभ्याश्चैव संवादमिन्द्रस्य च विशाम्पते ।। ६ ।।

जनेश्वर! इस विषयमें मैं तुम्हें एक परम उत्तम इतिहास सुनाता हूँ; जो सुरभि तथा इन्द्रके संवादके रूपमें है ।। ६ ।।

त्रिविष्टपगता राजन् सुरभी प्रारुदत् किल ।
गवां माता पुरा तात तामिन्द्रोऽन्वकृपायत ।। ७ ।।

राजन्! पहलेकी बात है, गोमाता सुरभि स्वर्गलोकमें जाकर फूट-फूटकर रोने लगी। तात! उस समय इन्द्रको उसपर बड़ी दया आयी ।। ७ ।।

इन्द्र उवाच

किमिदं रोदिषि शुभे कच्चित् क्षेमं दिवौकसाम् ।
मानुषेष्वथ वा गोषु नैतदल्पं भविष्यति ।। ८ ।।

इन्द्रने पूछा—शुभे! तुम क्यों इस तरह रो रही हो? देवलोकवासियोंकी कुशल तो है न? मनुष्यों तथा गौओंमें तो सब लोग कुशलसे हैं न? तुम्हारा यह रोदन किसी अल्प कारणसे नहीं हो सकता? ।। ८ ।।

सुरभिरुवाच

विनिपातो न वः कश्चिद् दृश्यते त्रिदशाधिप ।
अहं तु पुत्रं शोचामि तेन रोदिमि कौशिक ।। ९ ।।

सुरभिने कहा—देवेश्वर! आपलोगोंकी अवनति नहीं दिखायी देती। इन्द्र! मुझे तो अपने पुत्रके लिये शोक हो रहा है, इसीसे रोती हूँ ।। ९ ।।

पश्यैनं कर्षकं क्षुद्रं दुर्बलं मम पुत्रकम् ।
प्रतोदेनाभिनिघ्नन्तं लाङ्गलेन च पीडितम् ।। १० ।।

देखो, इस नीच किसानको जो मेरे दुर्बल बेटेको बार-बार कोड़ेसे पीट रहा है और वह हलसे जुतकर अत्यन्त पीड़ित हो रहा है ।। १० ।।

निषीदमानं सोत्कण्ठं वध्यमानं सुराधिप ।
कृपाविष्टास्मि देवेन्द्र मनश्चोद्विजते मम ।
एकस्तत्र बलोपेतो धुरमुद्वहतेऽधिकाम् ।। ११ ।।
अपरोऽप्यबलप्राणः कृशो धमनिसंततः ।
कृच्छ्रादुद्वहते भारं तं वै शोचामि वासव ।। १२ ।।
वध्यमानः प्रतोदेन तुद्यमानः पुनः पुनः ।
नैव शक्नोति तं भारमुद्वोढुं पश्य वासव ।। १३ ।।

सुरेश्वर! वह तो विश्रामके लिये उत्सुक होकर बैठ रहा है और वह किसान उसे डंडे मारता है। देवेन्द्र! यह देखकर मुझे अपने बच्चेके प्रति बड़ी दया हो आयी है और मेरा मन उद्विग्न हो उठा है। वहाँ दो बैलोंमेंसे एक तो बलवान् है जो भारयुक्त जूएको खींच सकता है; परंतु दूसरा निर्बल है, प्राणशून्य-सा जान पड़ता है। वह इतना दुबला-पतला हो गया है

कि उसके सारे शरीरमें फैली हुई नाड़ियाँ दीख रही हैं। वह बड़े कष्टसे उस भारयुक्त जूएको खींच पाता हैं। वासव! मुझे उसीके लिये शोक हो रहा है। इन्द्र! देखो-देखो, चाबुकसे मार-मारकर उसे बार-बार पीड़ा दी जा रही है, तो भी उस जूएके भारको वहन करनेमें वह असमर्थ हो रहा है ।। ११—१३ ।।

ततोऽहं तस्य शोकार्ता विरौमि भृशदुःखिता ।
अश्रूण्यावर्तयन्ती च नेत्राभ्यां करुणायती ।। १४ ।।

यही देखकर मैं शोकसे पीड़ित हो अत्यन्त दुःखी हो गयी हूँ और करुणामग्न हो दोनों नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई रो रही हूँ ।। १४ ।।

शक्र उवाच

तव पुत्रसहस्रेषु पीड्यमानेषु शोभने ।
किं कृपायितवत्यत्र पुत्र एकत्र हन्यति ।। १५ ।।

इन्द्रने कहा—कल्याणी! तुम्हारे तो सहस्रों पुत्र इसी प्रकार पीड़ित हो रहे हैं, फिर तुमने एक ही पुत्रके मार खानेपर यहाँ इतनी करुणा क्यों दिखायी? ।। १५ ।।

सुरभिरुवाच

यदि पुत्रसहस्राणि सर्वत्र समतैव मे ।
दीनस्य तु सतः शक्र पुत्रस्याभ्यधिका कृपा ।। १६ ।।

सुरभि बोली—देवेन्द्र! यदि मेरे सहस्रों पुत्र हैं, तो मैं उन सबके प्रति समानभाव ही रखती हूँ; परंतु दीन-दुःखी पुत्रके प्रति अधिक दया उमड़ आती है ।। १६ ।।

व्यास उवाच

तदिन्द्रः सुरभीवाक्यं निशम्य भृशविस्मितः ।
जीवितेनापि कौरव्य मेनेऽभ्यधिकमात्मजम् ।। १७ ।।

व्यासजी कहते हैं—कुरुराज! सुरभिकी यह बात सुनकर इन्द्र बड़े विस्मित हो गये। तबसे वे पुत्रको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानने लगे ।। १७ ।।

प्रववर्ष च तत्रैव सहसा तोयमुल्बणम् ।
कर्षकस्याचरन् विघ्नं भगवान् पाकशासनः ।। १८ ।।

उस समय वहाँ पाकशासन भगवान् इन्द्रने किसानके कार्यमें विघ्न डालते हुए सहसा भयंकर वर्षा की ।। १८ ।।

तद् यथा सुरभिः प्राह समवेतास्तु ते तथा ।
सुतेषु राजन् सर्वेषु हीनेष्वभ्यधिका कृपा ।। १९ ।।

इस प्रसंगमें सुरभिने जैसा कहा है, वह ठीक है, कौरव और पाण्डव सभी मिलकर तुम्हारे ही पुत्र हैं। परंतु राजन्! सब पुत्रोंमें जो हीन हों, दयनीय दशामें पड़े हों, उन्हींपर

अधिक कृपा होनी चाहिये ।। १९ ।।

यादृशो मे सुतः पाण्डुस्तादृशो मेऽसि पुत्रक ।
विदुरश्च महाप्राज्ञः स्नेहादेतद् ब्रवीम्यहम् ।। २० ।।

वत्स! जैसे पाण्डु मेरे पुत्र हैं, वैसे ही तुम भी हो, उसी प्रकार महाज्ञानी विदुर भी हैं। मैंने स्नेहवश ही तुमसे ये बातें कही हैं ।। २० ।।

चिराय तव पुत्राणां शतमेकश्च भारत ।
पाण्डोः पञ्चैव लक्ष्यन्ते तेऽपि मन्दाः सुदुःखिताः ।। २१ ।।

भारत! दीर्घकालसे तुम्हारे एक सौ एक पुत्र हैं, किंतु पाण्डुके पाँच ही पुत्र देखे जाते हैं। वे भी भोले-भाले, छल-कपटसे रहित हैं और अत्यन्त दुःख उठा रहे हैं ।। २१ ।।

कथं जीवेयुरत्यन्तं कथं वर्धेयुरित्यपि ।
इति दीनेषु पार्थेषु मनो मे परितप्यते ।। २२ ।।

'वे कैसे जीवित रहेंगे और कैसे वृद्धिको प्राप्त होंगे?' इस प्रकार कुन्तीके उन दीन पुत्रोंके प्रति सोचते हुए मेरे मनमें बड़ा संताप होता है ।। २२ ।।

यदि पार्थिव कौरव्याञ्जीवमानानिहेच्छसि ।
दुर्योधनस्तव सुतः शमं गच्छतु पाण्डवैः ।। २३ ।।

राजन्! यदि तुम चाहते हो कि समस्त कौरव यहाँ जीवित रहें तो तुम्हारा पुत्र दुर्योधन पाण्डवोंसे मेल करके शान्तिपूर्वक रहे ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि सुरभ्युपाख्याने नवमोऽध्यायः ।। ९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें सुरभि-उपाख्यानविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९ ।।

दशमोऽध्यायः

व्यासजीका जाना, मैत्रेयजीका धृतराष्ट्र और दुर्योधनसे पाण्डवोंके प्रति सद्भावका अनुरोध तथा दुर्योधनके अशिष्ट व्यवहारसे रुष्ट होकर उसे शाप देना

धृतराष्ट्र उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि नो मुने ।
अहं चैव विजानामि सर्वे चेमे नराधिपाः ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—महाप्राज्ञ मुने! आप जैसा कहते हैं, यही ठीक है। मैं भी इसे ही ठीक मानता हूँ तथा ये सब राजालोग भी इसीका अनुमोदन करते हैं ।। १ ।।

भवांश्च मन्यते साधु यत् कुरूणां महोदयम् ।
तदेव विदुरोऽप्याह भीष्मो द्रोणश्च मां मुने ।। २ ।।

मुने! आप भी वही उत्तम मानते हैं जो कुरुवंशके महान् अभ्युदयका कारण है। मुने! यही बात विदुर, भीष्म और द्रोणाचार्यने भी मुझे कही है ।। २ ।।

यदि त्वहमनुग्राह्यः कौरव्येषु दया यदि ।
अन्वशाधि दुरात्मानं पुत्रं दुर्योधनं मम ।। ३ ।।

यदि आपका मुझपर अनुग्रह है और यदि कौरव-कुलपर आपकी दया है तो आप मेरे दुरात्मा पुत्र दुर्योधनको स्वयं ही शिक्षा दीजिये ।। ३ ।।

व्यास उवाच

अयमायाति वै राजन् मैत्रेयो भगवानृषिः ।
अन्विष्य पाण्डवान् भ्रातृनिहैत्यस्मद्दिदृक्षया ।। ४ ।।

व्यासजीने कहा—राजन्! ये महर्षि भगवान् मैत्रेय आ रहे हैं। पाँचों पाण्डवबन्धुओंसे मिलकर अब ये हमलोगोंसे मिलनेके लिये यहाँ आते हैं ।। ४ ।।

एष दुर्योधनं पुत्रं तव राजन् महानृषिः ।
अनुशास्ता यथान्यायं शमायास्य कुलस्य च ।। ५ ।।

महाराज! ये महर्षि ही इस कुलकी शान्तिके लिये तुम्हारे पुत्र दुर्योधनको यथायोग्य शिक्षा देंगे ।। ५ ।।

ब्रूयाद् यदेष कौरव्य तत् कार्यमविशङ्कया ।
अक्रियायां तु कार्यस्य पुत्रं ते शप्स्यते रुषा ।। ६ ।।

कुरुनन्दन! मैत्रेय जो कुछ कहें, उसे निःशंक होकर करना चाहिये। यदि उनके बताये हुए कार्यकी अवहेलना की गयी तो वे कुपित होकर तुम्हारे पुत्रको शाप दे देंगे ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ व्यासो मैत्रेयः प्रत्यदृश्यत ।

पूजया प्रतिजग्राह सपुत्रस्तं नराधिपः ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर व्यासजी चले गये और मैत्रेयजी आते हुए दिखायी दिये। राजा धृतराष्ट्रने पुत्रसहित उनकी अगवानी की और स्वागत-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया ।। ७ ।।

अर्घ्याद्याभिः क्रियाभिर्वै विश्रान्तं मुनिसत्तमम् ।

प्रश्रयेणाब्रवीद् राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।। ८ ।।

पाद्य, अर्घ्य आदि उपचारोंद्वारा पूजित हो जब मुनिश्रेष्ठ मैत्रेय विश्राम कर चुके, तब अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने नम्रतापूर्वक पूछा— ।। ८ ।।

सुखेनागमनं कच्चिद् भगवन् कुरुजाङ्गलान् ।

कच्चित् कुशलिनो वीरा भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।। ९ ।।

‘भगवन्! इस कुरुदेशमें आपका आगमन सुख-पूर्वक तो हुआ है न? वीर भ्राता पाँचों पाण्डव तो कुशलसे हैं न? ।। ९ ।।

समये स्थातुमिच्छन्ति कच्चिच्च भरतर्षभाः ।

कच्चित् कुरूणां सौभ्रात्रमव्युच्छिन्नं भविष्यति ।। १० ।।

‘क्या वे भरतश्रेष्ठ पाण्डव अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहना चाहते हैं? क्या कौरवोंमें उत्तम भ्रातृभाव अखण्ड बना रहेगा?’ ।। १० ।।

मैत्रेय उवाच

तीर्थयात्रामनुक्रामन् प्राप्तोऽस्मि कुरुजाङ्गलान् ।

यदृच्छया धर्मराजं दृष्टवान् काम्यके वने ।। ११ ।।

मैत्रेयजीने कहा—राजन्! मैं तीर्थयात्राके प्रसंगसे घूमता हुआ अकस्मात् कुरुजांगल देशमें चला आया हूँ। काम्यकवनमें धर्मराज युधिष्ठिरसे भी मेरी भेंट हुई थी ।। ११ ।।

तं जटाजिनसंवीतं तपोवननिवासिनम् ।

समाजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुं मुनिगणाः प्रभो ।। १२ ।।

प्रभो! जटा और मृगचर्म धारण करके तपोवनमें निवास करनेवाले उन महात्मा धर्मराजको देखनेके लिये वहाँ बहुत-से मुनि पधारे थे ।। १२ ।।

तत्राश्रौषं महाराज पुत्राणां तव विभ्रमम् ।

अनयं द्यूतरूपेण महाभयमुपस्थितम् ।। १३ ।।

महाराज! वहीं मैंने सुना कि तुम्हारे पुत्रोंकी बुद्धि भ्रान्त हो गयी है। वे द्यूतरूपी अनीतिमें प्रवृत्त हो गये और इस प्रकार जूएके रूपमें उनके ऊपर बड़ा भारी भय उपस्थित हो गया है ।। १३ ।।

ततोऽहं त्वामनुप्राप्तः कौरवाणामवेक्षया ।
सदा ह्यभ्यधिकः स्नेहः प्रीतिश्च त्वयि मे प्रभो ।। १४ ।।

यह सुनकर मैं कौरवोंकी दशा देखनेके लिये तुम्हारे पास आया हूँ। राजन्! तुम्हारे ऊपर सदासे ही मेरा स्नेह और प्रेम अधिक रहा है ।। १४ ।।

नैतदौपयिकं राजंस्त्वयि भीष्मे च जीवति ।
यदन्योन्येन ते पुत्रा विरुध्यन्ते कथंचन ।। १५ ।।

महाराज! तुम्हारे और भीष्मके जीते-जी यह उचित नहीं जान पड़ता कि तुम्हारे पुत्र किसी प्रकार आपसमें विरोध करें ।। १५ ।।

मेढीभूतः स्वयं राजन् निग्रहे प्रग्रहे भवान् ।
किमर्थमनयं घोरमुत्पद्यन्तमुपेक्षसे ।। १६ ।।

महाराज! तुम स्वयं इन सबको बाँधकर नियन्त्रणमें रखनेके लिये खंभेके समान हो; फिर पैदा होते हुए इस घोर अन्यायकी क्यों उपेक्षा कर रहे हो ।। १६ ।।

दस्यूनामिव यद् वृत्तं सभायां कुरुनन्दन ।
तेन न भ्राजसे राजंस्तापसानां समागमे ।। १७ ।।

कुरुनन्दन! तुम्हारी सभामें डाकुओंकी भाँति जो बर्ताव किया गया है, उसके कारण तुम तपस्वी मुनियोंके समुदायमें शोभा नहीं पा रहे हो ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यावृत्य राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा मैत्रेयो भगवानृषिः ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महर्षि भगवान् मैत्रेय अमर्षशील राजा दुर्योधनकी ओर मुड़कर उससे मधुर वाणीमें इस प्रकार बोले ।। १८ ।।

मैत्रेय उवाच

दुर्योधन महाबाहो निबोध वदतां वर ।
वचनं मे महाभाग ब्रुवतो यद्धितं तव ।। १९ ।।

मैत्रेयजीने कहा—महाबाहु दुर्योधन! तुम वक्ताओंमें श्रेष्ठ हो; मेरी एक बात सुनो। महाभाग! मैं तुम्हारे हितकी बात बता रहा हूँ ।। १९ ।।

मा द्रुहः पाण्डवान् राजन् कुरुष्व प्रियमात्मनः ।
पाण्डवानां कुरूणां च लोकस्य च नरर्षभ ।। २० ।।

राजन्! तुम पाण्डवोंसे द्रोह न करो। नरश्रेष्ठ! अपना, पाण्डवोंका, कुरुकुलका तथा सम्पूर्ण जगत्‌का प्रिय साधन करो ।। २० ।।

ते हि सर्वे नरव्याघ्राः शूरा विक्रान्तयोधिनः ।
सर्वे नागायुतप्राणा वज्रसंहनना दृढाः ।। २१ ।।

मनुष्योंमें श्रेष्ठ सब पाण्डव शूरवीर, पराक्रमी और युद्धकुशल हैं। उन सबमें दस हजार हाथियोंका बल है। उनका शरीर वज्रके समान दृढ़ है ।। २१ ।।

सत्यव्रतधराः सर्वे सर्वे पुरुषमानिनः ।
हन्तारो देवशत्रूणां रक्षसां कामरूपिणाम् ।। २२ ।।
हिडिम्बबकमुख्यानां किर्मीरस्य च रक्षसः ।

वे सब-के-सब सत्यव्रतधारी और अपने पौरुषपर अभिमान रखनेवाले हैं। इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले देवद्रोही हिडिम्ब आदि राक्षसोंका तथा राक्षसजातीय किर्मीरका वध भी उन्होंने ही किया है ।। २२½ ।।

इतः प्रद्रवतां रात्रौ यः स तेषां महात्मनाम् ।। २३ ।।
आवृत्य मार्गं रौद्रात्मा तस्थौ गिरिरिवाचलः ।
तं भीमः समरश्लाघी बलेन बलिनां वरः ।। २४ ।।
जघान पशुमारेण व्याघ्रः क्षुद्रमृगं यथा ।
पश्य दिग्विजये राजन् यथा भीमेन पातितः ।। २५ ।।
जरासंधो महेष्वासो नागायुतबलो युधि ।
सम्बन्धी वासुदेवश्च श्यालाः सर्वे च पार्षताः ।। २६ ।।

यहाँसे रातमें जब वे महात्मा पाण्डव चले जा रहे थे, उस समय उनका मार्ग रोककर भयंकर और पर्वतके समान विशालकाय किर्मीर उनके सामने खड़ा हो गया। युद्धकी श्लाघा रखनेवाले बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने उस राक्षसको बलपूर्वक पकड़कर पशुकी तरह वैसे ही मार डाला, जैसे व्याघ्र छोटे मृगको मार डालता है। राजन्! देखो, दिग्विजयके समय भीमसेनने उस महान् धनुर्धर राजा जरासंधको भी युद्धमें मार गिराया, जिसमें दस हजार हाथियोंका बल था। (यह भी स्मरण रखना चाहिये कि) वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण उनके सम्बन्धी हैं तथा द्रुपदके सभी पुत्र उनके साले हैं ।। २३—२६ ।।

कस्तान् युधि समासीत जरामरणवान् नरः ।
तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ ।। २७ ।।

जरा और मृत्युके वशमें रहनेवाला कौन मनुष्य युद्धमें उन पाण्डवोंका सामना कर सकता है। भरतकुल-भूषण! ऐसे महापराक्रमी पाण्डवोंके साथ तुम्हें शान्तिपूर्वक मिलकर ही रहना चाहिये ।। २७ ।।

कुरु मे वचनं राजन् मा मन्युवशमन्वगाः ।

राजन्! तुम मेरी बात मानो; क्रोधके वशमें न होओ ।। २७½ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं तु ब्रुवतस्तस्य मैत्रेयस्य विशाम्पते ।। २८ ।।
ऊरुं गजकराकारं करेणाभिजघान सः ।

दुर्योधनः स्मितं कृत्वा चरणेनोल्लिखन् महीम् ।। २९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! मैत्रेयजी जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय दुर्योधनने मुसकराकर हाथीके सूँड़के समान अपनी जाँघको हाथसे ठोंका और पैरसे पृथ्वीको कुरेदने लगा ।। २८-२९ ।।

न किंचिदुक्त्वा दुर्मेधास्तस्थौ किंचिदवाङ्मुखः ।
तमशुश्रूषमाणं तु विलिखन्तं वसुंधराम् ।। ३० ।।
दृष्ट्वा दुर्योधनं राजन् मैत्रेयं कोप आविशत् ।
स कोपवशमापन्नो मैत्रेयो मुनिसत्तमः ।। ३१ ।।

उस दुर्बुद्धिने मैत्रेयजीको कुछ भी उत्तर न दिया। वह अपने मुँहको कुछ नीचा किये चुपचाप खड़ा रहा। राजन्! मैत्रेयजीने देखा, दुर्योधन सुनना नहीं चाहता, वह पैरोंसे धरतीको कुरेद रहा है। यह देख उनके मनमें क्रोध जाग उठा। फिर तो वे मुनिश्रेष्ठ मैत्रेय कोपके वशीभूत हो गये ।। ३०-३१ ।।

विधिना सम्प्रणुदितः शापायास्य मनो दधे ।
ततः स वार्युपस्पृश्य कोपसंरक्तलोचनः ।
मैत्रेयो धार्तराष्ट्रं तमशपद् दुष्टचेतसम् ।। ३२ ।।

विधातासे प्रेरित होकर उन्होंने दुर्योधनको शाप देनेका विचार किया। तदनन्तर मैत्रेयने क्रोधसे लाल आँखें करके जलका आचमन किया और उस दुष्ट चित्तवाले धृतराष्ट्रपुत्रको इस प्रकार शाप दिया— ।। ३२ ।।

यस्मात् त्वं मामनादृत्य नेमां वाचं चिकीर्षसि ।
तस्मादस्याभिमानस्य सद्यः फलमवाप्नुहि ।। ३३ ।।

‘दुर्योधन! तू मेरा अनादर करके मेरी बात मानना नहीं चाहता; अतः तू इस अभिमानका तुरंत फल पा ले ।। ३३ ।।

त्वदभिद्रोहसंयुक्तं युद्धमुत्पत्स्यते महत् ।
तत्र भीमो गदाघातैस्तवोरुं भेत्स्यते बली ।। ३४ ।।

'तेरे द्रोहके कारण बड़ा भारी युद्ध छिड़ेगा, उसमें बलवान् भीमसेन अपनी गदाकी चोटसे तेरी जाँघ तोड़ डालेंगे' ।। ३४ ।।

इत्येवमुक्ते वचने धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
प्रसादयामास मुनिं नैतदेवं भवेदिति ।। ३५ ।।

उनके ऐसा कहनेपर महाराज धृतराष्ट्रने मुनिको प्रसन्न किया और कहा—'भगवन्! ऐसा न हो' ।। ३५ ।।

मैत्रेय उवाच

शमं यास्यति चेत् पुत्रस्तव राजन् यदा तदा ।
शापो न भविता तात विपरीते भविष्यति ।। ३६ ।।

मैत्रेयजीने कहा—राजन्! जब तुम्हारा पुत्र शान्ति धारण करेगा (पाण्डवोंसे वैर-विरोध न करके मेल-मिलाप कर लेगा), तब यह शाप इसपर लागू न होगा। तात! यदि इसने विपरीत बर्ताव किया तो यह शाप इसे अवश्य भोगना पड़ेगा ।। ३६ ।।

वैशम्पायन उवाच

विलक्षयंस्तु राजेन्द्रो दुर्योधनपिता तदा ।

मैत्रेयं प्राह किर्मीरः कथं भीमेन पातितः ।। ३७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब दुर्योधनके पिता महाराज धृतराष्ट्रने भीमसेनके बलका विशेष परिचय पानेके लिये मैत्रेयजीसे पूछा—'मुने! भीमने किर्मीरको कैसे मारा?' ।। ३७ ।।

मैत्रेय उवाच

नाहं वक्ष्यामि ते भूयो न ते शुश्रूषते सुतः ।
एष ते विदुरः सर्वमाख्यास्यति गते मयि ।। ३८ ।।

मैत्रेयजीने कहा—राजन्! तुम्हारा पुत्र मेरी बात सुनना नहीं चाहता, अतः मैं तुमसे इस समय फिर कुछ नहीं कहूँगा। ये विदुरजी मेरे चले जानेपर वह सारा प्रसंग तुम्हें बतायेंगे ।। ३८ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा मैत्रेयः प्रातिष्ठत यथाऽऽगतम् ।
किर्मीरवधसंविग्नो बहिर्दुर्योधनो ययौ ।। ३९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर मैत्रेयजी जैसे आये थे वैसे ही चले गये। किर्मीरवधका समाचार सुनकर उद्विग्न हो दुर्योधन भी बाहर निकल गया ।। ३९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि मैत्रेयशापे दशमोऽध्यायः ।। १० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अरण्यपर्वमें मैत्रेयशापविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १० ।।

(किर्मीरवधपर्व)

एकादशोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा किर्मीरके वधकी कथा

धृतराष्ट्र उवाच

किर्मीरस्य वधं क्षत्तः श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ।
रक्षसा भीमसेनस्य कथमासीत् समागमः ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—विदुर! मैं किर्मीरवधका वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ, कहो। उस राक्षसके साथ भीमसेनकी मुठभेड़ कैसे हुई? ।। १ ।।

विदुर उवाच

शृणु भीमस्य कर्मेदमतिमानुषकर्मणः ।
श्रुतपूर्वं मया तेषां कथान्तेषु पुनः पुनः ।। २ ।।

विदुरजीने कहा—राजन्! मानवशक्तिसे अतीत कर्म करनेवाले भीमसेनके इस भयानक कर्मको आप सुनिये, जिसे मैंने उन पाण्डवोंके कथाप्रसंगमें (ब्राह्मणोंसे) बार-बार सुना है ।। २ ।।

इतः प्रयाता राजेन्द्र पाण्डवा द्यूतनिर्जिताः ।
जग्मुस्त्रिभिरहोरात्रैः काम्यकं नाम तद् वनम् ।। ३ ।।

राजेन्द्र! पाण्डव जूएमें पराजित होकर जब यहाँसे गये, तब तीन दिन और तीन रातमें काम्यकवनमें जा पहुँचे ।। ३ ।।

रात्रौ निशीथे त्वाभीले गतेऽर्धसमये नृप ।
प्रचारे पुरुषादानां रक्षसां घोरकर्मणाम् ।। ४ ।।
तद् वनं तापसा नित्यं गोपाश्च वनचारिणः ।
दूरात् परिहरन्ति स्म पुरुषादभयात् किल ।। ५ ।।

आधी रातके भयंकर समयमें, जब कि भयानक कर्म करनेवाले नरभक्षी राक्षस विचरते रहते हैं, तपस्वी मुनि और वनचारी गोपगण भी उस राक्षसके भयसे उस वनको दूरसे ही त्याग देते थे ।। ४-५ ।।

तेषां प्रविशतां तत्र मार्गमावृत्य भारत ।
दीप्ताक्षं भीषणं रक्षः सोल्मुकं प्रत्यपद्यत ।। ६ ।।

भारत! उस वनमें प्रवेश करते ही वह राक्षस उनका मार्ग रोककर खड़ा हो गया। उसकी आँखें चमक रही थीं। वह भयानक राक्षस मशाल लिये आया था ।। ६ ।।

बाहू महान्तौ कृत्वा तु तथाऽऽस्यं च भयानकम् ।
स्थितमावृत्य पन्थानं येन यान्ति कुरूद्वहाः ।। ७ ।।

अपनी दोनों भुजाओंको बहुत बड़ी करके मुँहको भयानकरूपसे फैलाकर वह उसी मार्गको घेरकर खड़ा हो गया, जिससे वे कुरुवंशशिरोमणि पाण्डव यात्रा कर रहे थे ।। ७ ।।

स्पष्टाष्टदंष्ट्रं ताम्राक्षं प्रदीप्तोर्ध्वशिरोरुहम् ।
सार्करश्मितडिच्चक्रं सबलाकमिवाम्बुदम् ।। ८ ।।

उसकी आठ दाढ़ें स्पष्ट दिखायी देती थीं, आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं एवं सिरके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए और प्रज्वलित-से जान पड़ते थे। उसे देखकर ऐसा मालूम होता था, मानो सूर्यकी किरणों, विद्युन्मण्डल और बकपंक्तियोंके साथ मेघ शोभा पा रहा हो ।। ८ ।।

सृजन्तं राक्षसीं मायां महानादनिनादितम् ।
मुञ्चन्तं विपुलान् नादान् सतोयमिव तोयदम् ।। ९ ।।

वह भयंकर गर्जनाके साथ राक्षसी मायाकी सृष्टि कर रहा था। सजल जलधरके समान जोर-जोरसे सिंहनाद करता था ।। ९ ।।

तस्य नादेन संत्रस्ताः पक्षिणः सर्वतोदिशम् ।
विमुक्तनादाः सम्पेतुः स्थलजा जलजैः सह ।। १० ।।

उसकी गर्जनासे भयभीत हुए स्थलचर पक्षी जलचर पक्षियोंके साथ चीं-चीं करते हुए सब दिशाओंमें भाग चले ।। १० ।।

सम्प्रद्रुतमृगद्वीपिमहिषर्क्षसमाकुलम् ।
तद् वनं तस्य नादेन सम्प्रस्थितमिवाभवत् ।। ११ ।।

भागते हुए मृग, भेड़िये, भैंसे तथा रीछोंसे भरा हुआ वह वन उस राक्षसकी गर्जनासे ऐसा हो गया, मानो वह वन ही भाग रहा हो ।। ११ ।।

तस्योरुवाताभिहतास्ताम्रपल्लवबाहवः ।
विदूरजाताश्च लताः समाश्लिष्यन्ति पादपान् ।। १२ ।।

उसकी जाँघोंकी हवाके वेगसे आहत हो ताम्रवर्णके पल्लवरूपी बाँहोंद्वारा सुशोभित दूरकी लताएँ भी मानो वृक्षोंसे लिपटी जाती थीं ।। १२ ।।

तस्मिन् क्षणेऽथ प्रववौ मारुतो भृशदारुणः ।
रजसा संवृतं तेन नष्टज्योतिरभून्नभः ।। १३ ।।

इसी समय बड़ी प्रचण्ड वायु चलने लगी। उसकी उड़ायी हुई धूलसे आच्छादित हो आकाशके तारे भी अस्त हो गये-से जान पड़ते थे ।। १३ ।।

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणामविज्ञातो महारिपुः ।

पञ्चानामिन्द्रियाणां तु शोकावेश इवातुलः ।। १४ ।।

जैसे पाँचों इन्द्रियोंको अकस्मात् अतुलित शोकावेश प्राप्त हो जाय, उसी प्रकार पाँचों पाण्डवोंका वह तुलनारहित महान् शत्रु सहसा उनके पास आ पहुँचा; पर पाण्डवोंको उस राक्षसका पता नहीं था ।। १४ ।।

स दृष्ट्वा पाण्डवान् दूरात् कृष्णाजिनसमावृतान् ।
आवृणोत् तद्वनद्वारं मैनाक इव पर्वतः ।। १५ ।।

उसने दूरसे ही पाण्डवोंको कृष्ण-मृगचर्म धारण किये आते देख मैनाक पर्वतकी भाँति उस वनके प्रवेश-द्वारको घेर लिया ।। १५ ।।

तं समासाद्य वित्रस्ता कृष्णा कमललोचना ।
अदृष्टपूर्वं संत्रासान्न्यमीलयत लोचने ।। १६ ।।

उस अदृष्टपूर्व राक्षसके निकट पहुँचकर कमल-लोचना कृष्णाने भयभीत हो अपने दोनों नेत्र बंद कर लिये ।। १६ ।।

दुःशासनकरोत्सृष्टविप्रकीर्णशिरोरुहा ।
पञ्चपर्वतमध्यस्था नदीवाकुलतां गता ।। १७ ।।

दुःशासनके हाथोंसे खुले हुए उसके केश सब ओर बिखरे हुए थे। वह पाँच पर्वतोंके बीचमें पड़ी हुई नदीकी भाँति व्याकुल हो उठी ।। १७ ।।

मोमुह्यमानां तां तत्र जगृहुः पञ्च पाण्डवाः ।
इन्द्रियाणि प्रसक्तानि विषयेषु यथा रतिम् ।। १८ ।।

उसे मूर्छित होती हुई देख पाँचों पाण्डवोंने सहारा देकर उसी तरह थाम लिया, जैसे विषयोंमें आसक्त हुई इन्द्रियाँ तत्सम्बन्धी अनुरक्तिको धारण किये रहती हैं ।। १८ ।।

अथ तां राक्षसीं मायामुत्थितां घोरदर्शनाम् ।
रक्षोघ्नैर्विविधैर्मन्त्रैर्धौम्यः सम्यक्प्रयोजितैः ।। १९ ।।
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां नाशयामास वीर्यवान् ।
स नष्टमायोऽतिबलः क्रोधविस्फारितेक्षणः ।। २० ।।
काममूर्तिधरः क्रूरः कालकल्पो व्यदृश्यत ।
तमुवाच ततो राजा दीर्घप्रज्ञो युधिष्ठिरः ।। २१ ।।

तदनन्तर वहाँ प्रकट हुई अत्यन्त भयानक राक्षसी मायाको देख शक्तिशाली धौम्य मुनिने अच्छी तरह प्रयोगमें लाये हुए राक्षसविनाशक विविध मन्त्रोंद्वारा पाण्डवोंके देखते-देखते उस मायाका नाश कर दिया। माया नष्ट होते ही वह अत्यन्त बलवान् एवं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाला क्रूर राक्षस क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देखता हुआ कालके समान दिखायी देने लगा। उस समय परम बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने उससे पूछा— ।। १९—२१ ।।

को भवान् कस्य वा किं ते क्रियतां कार्यमुच्यताम् ।

प्रत्युवाचाथ तद् रक्षो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।। २२ ।।

'तुम कौन हो, किसके पुत्र हो अथवा तुम्हारा कौन-सा कार्य सम्पादन किया जाय? यह सब बताओ।' तब उस राक्षसने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा— ।। २२ ।।

अहं बकस्य वै भ्राता किर्मीर इति विश्रुतः ।
वनेऽस्मिन् काम्यके शून्ये निवसामि गतज्वरः ।। २३ ।।

'मैं बकका भाई हूँ, मेरा नाम किर्मीर है, इस निर्जन काम्यकवनमें निवास करता हूँ। यहाँ मुझे किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं है ।। २३ ।।

युधि निर्जित्य पुरुषानाहारं नित्यमाचरन् ।
के यूयमभिसम्प्राप्ता भक्ष्यभूता ममान्तिकम् ।
युधि निर्जित्य वः सर्वान् भक्षयिष्ये गतज्वरः ।। २४ ।।

'यहाँ आये हुए मनुष्योंको युद्धमें जीतकर सदा उन्हींको खाया करता हूँ। तुमलोग कौन हो? जो स्वयं ही मेरा आहार बननेके लिये मेरे निकट आ गये? मैं तुम सबको युद्धमें परास्त करके निश्चिन्त हो अपना आहार बनाऊँगा' ।। २४ ।।

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य दुरात्मनः ।
आचचक्षे ततः सर्वं गोत्रनामादि भारत ।। २५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! उस दुरात्माकी बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उसे गोत्र एवं नाम आदि सब बातोंका परिचय दिया ।। २५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

पाण्डवो धर्मराजोऽहं यदि ते श्रोत्रमागतः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्भीमसेनार्जुनादिभिः ।। २६ ।।
हृतराज्यो वने वासं वस्तुं कृतमतिस्ततः ।
वनमभ्यागतो घोरमिदं तव परिग्रहम् ।। २७ ।।

युधिष्ठिर बोले—मैं पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हूँ। सम्भव है, मेरा नाम तुम्हारे कानोंमें भी पड़ा हो। इस समय मेरा राज्य शत्रुओंने जूएमें हरण कर लिया है। अतः मैं भीमसेन, अर्जुन आदि सब भाइयोंके साथ वनमें रहनेका निश्चय करके तुम्हारे निवासस्थान इस घोर काम्यकवनमें आया हूँ ।। २६-२७ ।।

विदुर उवाच

किर्मीरस्त्वब्रवीदेनं दिष्ट्या देवैरिदं मम ।
उपपादितमद्येह चिरकालान्मनोगतम् ।। २८ ।।

विदुरजी कहते हैं—राजन्! तब किर्मीरने युधिष्ठिरसे कहा—‘आज सौभाग्यवश देवताओंने यहाँ मेरे बहुत दिनोंके मनोरथकी पूर्ति कर दी ।। २८ ।।

भीमसेनवधार्थं हि नित्यमभ्युद्यतायुधः ।
चरामि पृथिवीं कृत्स्नां नैनं चासादयाम्यहम् ।। २९ ।।

‘मैं प्रतिदिन हथियार उठाये भीमसेनका वध करनेके लिये सारी पृथ्वीपर विचरता था; किंतु यह मुझे मिल नहीं रहा था ।। २९ ।।

सोऽयमासादितो दिष्ट्या भ्रातृहा काङ्क्षितश्चिरम् ।
अनेन हि मम भ्राता बको विनिहतः प्रियः ।। ३० ।।
वैत्रकीयवने राजन् ब्राह्मणच्छद्मरूपिणा ।
विद्याबलमुपाश्रित्य न ह्यस्त्यस्यौरसं बलम् ।। ३१ ।।

‘आज सौभाग्यवश यह स्वयं मेरे यहाँ आ पहुँचा। भीम मेरे भाईका हत्यारा है, मैं बहुत दिनोंसे इसकी खोजमें था। राजन्! इसने (एकचक्रा नगरीके पास) वैत्रकीयवनमें ब्राह्मणका कपटवेष धारण करके वेदोक्त मन्त्ररूप विद्याबलका आश्रय ले मेरे प्यारे भाई बकासुरका वध किया था; वह इसका अपना बल नहीं था ।। ३०-३१ ।।

हिडिम्बश्च सखा मह्यं दयितो वनगोचरः ।
हतो दुरात्मनानेन स्वसा चास्य हृता पुरा ।। ३२ ।।

‘इसी प्रकार वनमें रहनेवाले मेरे प्रिय मित्र हिडिम्बको भी इस दुरात्माने मार डाला और उसकी बहिनका अपहरण कर लिया। ये सब बहुत पहलेकी बातें हैं ।। ३२ ।।

सोऽयमभ्यागतो मूढो ममेदं गहनं वनम् ।
प्रचारसमयेऽस्माकमर्धरात्रे स्थिते स मे ।। ३३ ।।

‘वही यह मूढ़ भीमसेन हमलोगोंके घूमने-फिरनेकी बेलामें आधी रातके समय मेरे इस गहन वनमें आ गया है ।। ३३ ।।

अद्यास्य यातयिष्यामि तद् वैरं चिरसम्भृतम् ।
तर्पयिष्यामि च बकं रुधिरेणास्य भूरिणा ।। ३४ ।।

‘आज इससे मैं उस पुराने वैरका बदला लूँगा और इसके प्रचुर रक्तसे बकासुरका तर्पण करूँगा ।। ३४ ।।

अद्याहमनृणो भूत्वा भ्रातुः सख्युस्तथैव च ।
शान्तिं लब्धास्मि परमां हत्वा राक्षसकण्टकम् ।। ३५ ।।

‘आज मैं राक्षसोंके लिये कण्टकरूप इस भीमसेनको मारकर अपने भाई तथा मित्रके ऋणसे उऋण हो परम शान्ति प्राप्त करूँगा ।। ३५ ।।

यदि तेन पुरा मुक्तो भीमसेनो बकेन वै ।
अद्यैनं भक्षयिष्यामि पश्यतस्ते युधिष्ठिर ।। ३६ ।।

'युधिष्ठिर! यदि पहले बकासुरने भीमसेनको छोड़ दिया, तो आज मैं तुम्हारे देखते-देखते इसे खा जाऊँगा ।। ३६ ।।

एनं हि विपुलप्राणमद्य हत्वा वृकोदरम् ।

सम्भक्ष्य जरयिष्यामि यथागस्त्यो महासुरम् ।। ३७ ।।

'जैसे महर्षि अगस्त्यने वातापि नामक महान् राक्षसको खाकर पचा लिया, उसी प्रकार मैं भी इस महाबली भीमको मारकर खा जाऊँगा और पचा लूँगा' ।। ३७ ।।

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा सत्यसंधो युधिष्ठिरः ।

नैतदस्तीति सक्रोधो भर्त्सयामास राक्षसम् ।। ३८ ।।

उसके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा एवं सत्यप्रतिज्ञ युधिष्ठिरने कुपित हो उस राक्षसको फटकारते हुए कहा—'ऐसा कभी नहीं हो सकता' ।। ३८ ।।

ततो भीमो महाबाहुरारुज्य तरसा द्रुमम् ।

दशव्याममथोद्विद्धं निष्पत्रमकरोत् तदा ।। ३९ ।।

तदनन्तर महाबाहु भीमसेनने बड़े वेगसे हिलाकर एक दस व्याम* लम्बे वृक्षको उखाड़ लिया और उसके पत्ते झाड़ दिये ।। ३९ ।।

चकार सज्यं गाण्डीवं वज्रनिष्पेषगौरवम् ।

निमेषान्तरमात्रेण तथैव विजयोऽर्जुनः ।। ४० ।।

इधर विजयी अर्जुनने भी पलक मारते-मारते अपने उस गाण्डीव धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ा दी, जिसे वज्रको भी पीस डालनेका गौरव प्राप्त था ।। ४० ।।

निवार्य भीमो जिष्णुं तं तद् रक्षो मेघनिःस्वनम् ।

अभिद्रुत्याब्रवीद् वाक्यं तिष्ठ तिष्ठेति भारत ।। ४१ ।।

भारत! भीमसेनने अर्जुनको रोक दिया और मेघके समान गर्जना करनेवाले उस राक्षसपर आक्रमण करते हुए कहा—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह' ।। ४१ ।।

इत्युक्त्वैनमतिक्रुद्धः कक्ष्यामुत्पीड्य पाण्डवः ।

निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टौष्ठपुटो बली ।। ४२ ।।

तमभ्यधावद् वेगेन भीमो वृक्षायुधस्तदा ।

यमदण्डप्रतीकाशं ततस्तं तस्य मूर्धनि ।। ४३ ।।

पातयामास वेगेन कुलिशं मघवानिव ।

असम्भ्रान्तं तु तद् रक्षः समरे प्रत्यदृश्यत ।। ४४ ।।

ऐसा कहकर अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए बलवान् पाण्डुनन्दन भीमने वस्त्रसे अच्छी तरह अपनी कमर कस ली और हाथ-से-हाथ रगड़कर दाँतोंसे ओंठ चबाते हुए वृक्षको ही आयुध बनाकर बड़े वेगसे उसकी तरफ दौड़े और जैसे इन्द्र वज्रका प्रहार करते हैं, उसी प्रकार यमदण्डके समान उस भयंकर वृक्षको राक्षसके मस्तकपर उन्होंने बड़े जोरसे दे मारा। तो भी वह निशाचर युद्धमें अविचलभावसे खड़ा दिखायी दिया ।। ४२—४४ ।।

चिक्षेप चोल्मुकं दीप्तमशनिं ज्वलितामिव ।
तदुदस्तमलातं तु भीमः प्रहरतां वरः ।। ४५ ।।
पदा सव्येन चिक्षेप तद् रक्षः पुनराव्रजत् ।
किर्मीरश्चापि सहसा वृक्षमुत्पाट्य पाण्डवम् ।। ४६ ।।
दण्डपाणिरिव क्रुद्धः समरे प्रत्यधावत ।
तद् वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ।। ४७ ।।
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोर्यथा स्त्रीकाङ्क्षिणोः पुरा ।

तत्पश्चात् उसने भी प्रज्वलित वज्रके समान जलता हुआ काठ भीमके ऊपर फेंका, परंतु योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमने उस जलते काठको अपने बाँयें पैरसे मारकर इस तरह फेंका कि वह पुनः उस राक्षसपर ही जा गिरा। फिर तो किर्मीरने भी सहसा एक वृक्ष उखाड़ लिया और क्रोधमें भरे हुए दण्डपाणि यमराजकी भाँति उस युद्धमें पाण्डुकुमार भीमपर आक्रमण किया। जैसे पूर्वकालमें स्त्रीकी अभिलाषा रखनेवाले वाली और सुग्रीव दोनों भाइयोंमें भारी युद्ध हुआ था, उसी प्रकार उन दोनोंका वह वृक्षयुद्ध वनके वृक्षोंका विनाशक था ।। ४५—४७½ ।।

शीर्षयोः पतिता वृक्षा बिभिदुर्नैकधा तयोः ।। ४८ ।।
यथैवौत्पलपत्राणि मत्तयोर्द्विपयोस्तथा ।

जैसे दो मतवाले गजराजोंके मस्तकपर पड़े हुए कमलपत्र क्षणभरमें छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाते हैं, वैसे ही उन दोनोंके मस्तकपर पड़े हुए वृक्षोंके अनेक टुकड़े हो जाते थे ।। ४८½ ।।

मुञ्जवज्जर्जरीभूता बहवस्तत्र पादपाः ।। ४९ ।।
चीराणीव व्युदस्तानि रेजुस्तत्र महावने ।
तद् वृक्षयुद्धमभवन्मुहूर्तं भरतर्षभ ।
राक्षसानां च मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च ।। ५० ।।

वहाँ उस महान् वनमें बहुत-से वृक्ष मूँजकी भाँति जर्जर हो गये थे। वे फटे चीथड़ोंकी तरह इधर-उधर फैले हुए सुशोभित होते थे। भरतश्रेष्ठ! राक्षसराज किर्मीर और मनुष्योंमें श्रेष्ठ भीमसेनका वह वृक्षयुद्ध दो घड़ीतक चलता रहा ।। ४९-५० ।।

ततः शिलां समुत्क्षिप्य भीमस्य युधि तिष्ठतः ।
प्राहिणोद् राक्षसः क्रुद्धो भीमश्च न चचाल ह ।। ५१ ।।

तदनन्तर राक्षसने कुपित हो एक पत्थरकी चट्टान लेकर युद्धमें खड़े हुए भीमसेनपर चलायी। भीम उसके प्रहारसे जडवत् हो गये ।। ५१ ।।

तं शिलाताडनजडं पर्यधावत राक्षसः ।
बाहुविक्षिप्तकिरणः स्वर्भानुरिव भास्करम् ।। ५२ ।।

वे शिलाके आघातसे जडवत् हो रहे थे। उस अवस्थामें वह राक्षस भीमसेनकी ओर उसी तरह दौड़ा जैसे राहु अपनी भुजाओंसे सूर्यकी किरणोंका निवारण करते हुए उनपर आक्रमण करता है ।। ५२ ।।

तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षन्तौ परस्परम् ।
उभावपि चकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविव ।। ५३ ।।

वे दोनों वीर परस्पर भिड़ गये और दोनों दोनोंको खींचने लगे। दो हृष्ट-पुष्ट साँड़ोंकी भाँति परस्पर भिड़े हुए उन दोनों योद्धाओंकी बड़ी शोभा हो रही थी ।। ५३ ।।

तयोरासीत् सुतुमुलः सम्प्रहारः सुदारुणः ।
नखदंष्ट्रायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः ।। ५४ ।।

नख और दाढ़ोंसे ही आयुधका काम लेनेवाले दो उन्मत्त व्याघ्रोंकी भाँति उन दोनोंमें अत्यन्त भयंकर एवं घमासान युद्ध छिड़ा हुआ था ।। ५४ ।।

दुर्योधननिकाराच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः ।
कृष्णानयनदृष्टश्च व्यवर्धत वृकोदरः ।। ५५ ।।

दुर्योधनके द्वारा प्राप्त हुए तिरस्कारसे तथा अपने बाहुबलसे भीमसेनका शौर्य एवं अभिमान जाग उठा था। इधर द्रौपदी भी प्रेमपूर्ण दृष्टिसे उनकी ओर देख रही थी; अतः वे उस युद्धमें उत्तरोत्तर उत्साहित हो रहे थे ।। ५५ ।।

अभिपद्य च बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः ।
मातङ्गमिव मातङ्गः प्रभिन्नकरटामुखम् ।। ५६ ।।

उन्होंने अमर्षमें भरकर सहसा आक्रमण करके दोनों भुजाओंसे उस राक्षसको उसी तरह पकड़ लिया, जैसे मतवाला गजराज गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले दूसरे हाथीसे भिड़ जाता है ।। ५६ ।।

स चाप्येनं ततो रक्षः प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।
तमाक्षिपद् भीमसेनो बलेन बलिनां वरः ।। ५७ ।।

उस बलवान् राक्षसने भी भीमसेनको दोनों भुजाओंसे पकड़ लिया; तब बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने उसे बलपूर्वक दूर फेंक दिया ।। ५७ ।।

तयोर्भुजविनिष्पेषादुभयोर्बलिनोस्तदा ।
शब्दः समभवद् घोरो वेणुस्फोटसमो युधि ।। ५८ ।।
अथैनमाक्षिप्य बलाद् गृह्य मध्ये वृकोदरः ।
धूनयामास वेगेन वायुश्चण्ड इव द्रुमम् ।। ५९ ।।

युद्धमें उन दोनों बलवानोंकी भुजाओंकी रगड़से बाँसके फटनेके समान भयंकर शब्द हो रहा था। जैसे प्रचण्ड वायु अपने वेगसे वृक्षको झकझोर देती है, उसी प्रकार भीमसेनने बलपूर्वक उछलकर उसकी कमर पकड़ ली और उस राक्षसको बड़े वेगसे घुमाना आरम्भ किया ।। ५८-५९ ।।

स भीमेन परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे ।
व्यस्पन्दत यथाप्राणं विचकर्ष च पाण्डवम् ।। ६० ।।

बलवान् भीमकी पकड़में आकर वह दुर्बल राक्षस अपनी शक्तिके अनुसार उनसे छूटनेकी चेष्टा करने लगा। उसने भी पाण्डुनन्दन भीमसेनको इधर-उधर खींचा ।। ६० ।।

तत एनं परिश्रान्तमुपलक्ष्य वृकोदरः ।
योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा ।। ६१ ।।

तदनन्तर उसे थका हुआ देख भीमसेनने अपनी दोनों भुजाओंसे उसे उसी तरह कस लिया, जैसे पशुको डोरीसे बाँध देते हैं ।। ६१ ।।

विनदन्तं महानादं भिन्नभेरीस्वनं बली ।
भ्रामयामास सुचिरं विस्फुरन्तमचेतसम् ।। ६२ ।।

राक्षस किर्मीर फूटे हुए नगारेकी-सी आवाजमें बड़े जोर-जोरसे चीत्कार करने और छटपटाने लगा। बलवान् भीम उसे देरतक घुमाते रहे, इससे वह मूर्छित हो गया ।। ६२ ।।

तं विषीदन्तमाज्ञाय राक्षसं पाण्डुनन्दनः ।
प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां पशुमारममारयत् ।। ६३ ।।

उस राक्षसको विषादमें डूबा हुआ जान पाण्डुनन्दन भीमने दोनों भुजाओंसे वेगपूर्वक दबाते हुए पशुकी तरह उसे मारना आरम्भ किया ।। ६३ ।।

आक्रम्य च कटीदेशे जानुना राक्षसाधमम् ।
पीडयामास पाणिभ्यां कण्ठं तस्य वृकोदरः ।। ६४ ।।

भीमने उस राक्षसके कटिप्रदेशको अपने घुटनेसे दबाकर दोनों हाथोंसे उसका गला मरोड़ दिया ।। ६४ ।।

अथ जर्जरसर्वाङ्गं व्यावृत्तनयनोल्बणम् ।
भूतले भ्रामयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ।। ६५ ।।

किर्मीरका सारा अंग जर्जर हो गया और उसकी आँखें घूमने लगीं, इससे वह और भी भयंकर प्रतीत होता था। भीमने उसी अवस्थामें उसे पृथ्वीपर घुमाया और यह बात कही — ।। ६५ ।।

हिडिम्बबकयोः पाप न त्वमश्रुप्रमार्जनम् ।
करिष्यसि गतश्चापि यमस्य सदनं प्रति ।। ६६ ।।

'ओ पापी! अब तू यमलोकमें जाकर भी हिडिम्ब और बकासुरके आँसू न पोंछ सकेगा' ।। ६६ ।।

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीर-
स्तं राक्षसं क्रोधपरीतचेताः ।
विस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरन्त-
मुद्भ्रान्तचित्तं व्यसुमुत्ससर्ज ।। ६७ ।।

ऐसा कहकर क्रोधसे भरे हृदयवाले नरवीर भीमने उस राक्षसको, जिसके वस्त्र और आभूषण खिसककर इधर-उधर गिर गये थे और चित्त भ्रान्त हो रहा था, प्राण निकल जानेपर छोड़ दिया ।। ६७ ।।

तस्मिन् हते तोयदतुल्यरूपे
कृष्णां पुरस्कृत्य नरेन्द्रपुत्राः ।
भीमं प्रशस्याथ गुणैरनेकै-
र्हृष्टास्ततो द्वैतवनाय जग्मुः ।। ६८ ।।

उस राक्षसका रूप-रंग मेघके समान काला था। उसके मारे जानेपर राजकुमार पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए और भीमसेनके अनेक गुणोंकी प्रशंसा करते हुए द्रौपदीको आगे करके वहाँसे द्वैतवनकी ओर चल दिये ।। ६८ ।।

विदुर उवाच

एवं विनिहतः संख्ये किर्मीरो मनुजाधिप ।
भीमेन वचनात् तस्य धर्मराजस्य कौरव ।। ६९ ।।

विदुरजी कहते हैं—नरेश्वर! इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे भीमसेनने किर्मीरको युद्धमें मार गिराया ।। ६९ ।।

ततो निष्कण्टकं कृत्वा वनं तदपराजितः ।
द्रौपद्या सह धर्मज्ञो वसतिं तामुवास ह ।। ७० ।।

तदनन्तर विजयी एवं धर्मज्ञ पाण्डुकुमार उस वनको निष्कण्टक (राक्षसरहित) बनाकर द्रौपदीके साथ वहाँ रहने लगे ।। ७० ।।

समाश्वास्य च ते सर्वे द्रौपद्रीं भरतर्षभाः ।
प्रहृष्टमनसः प्रीत्या प्रशशंसुर्वृकोदरम् ।। ७१ ।।

भरतकुलके भूषणरूप उन सभी वीरोंने द्रौपदीको आश्वासन देकर प्रसन्नचित्त हो प्रेमपूर्वक भीमसेनकी सराहना की ।। ७१ ।।

भीमबाहुबलोत्पिष्टे विनष्टे राक्षसे ततः ।
विविशुस्ते वनं वीराः क्षेमं निहतकण्टकम् ।। ७२ ।।

भीमसेनके बाहुबलसे पिसकर जब वह राक्षस नष्ट हो गया, तब उस अकण्टक एवं कल्याणमय वनमें उन सभी वीरोंने प्रवेश किया ।। ७२ ।।

स मया गच्छता मार्गे विनिकीर्णो भयावहः ।
वने महति दुष्टात्मा दृष्टो भीमबलाद्धतः ।। ७३ ।।

मैंने महान् वनमें जाते और आते समय रास्तेमें मरकर गिरे हुए उस भयानक एवं दुष्टात्मा राक्षसके शवको अपनी आँखों देखा था, जो भीमसेनके बलसे मारा गया था ।। ७३ ।।

तत्राश्रौषमहं चैतत् कर्म भीमस्य भारत ।
ब्राह्मणानां कथयतां ये तत्रासन् समागताः ।। ७४ ।।

भारत! मैंने वनमें उन ब्राह्मणोंके मुखसे, जो वहाँ आये हुए थे, भीमसेनके इस महान् कर्मका वर्णन सुना ।। ७४ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं विनिहतं संख्ये किर्मीरं रक्षसां वरम् ।
श्रुत्वा ध्यानपरो राजा निशश्वासार्तवत् तदा ।। ७५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार राक्षसप्रवर किर्मीरका युद्धमें मारा जाना सुनकर राजा धृतराष्ट्र किसी भारी चिन्तामें डूब गये और शोकातुर मनुष्यकी भाँति लंबी साँस खींचने लगे ।। ७५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि किर्मीरवधपर्वणि विदुरवाक्ये एकादशोऽध्यायः ।। ११ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत किर्मीरवधपर्वमें विदुरवाक्यसम्बन्धी ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११ ।।

---

* दोनों भुजाओंको दोनों ओर फैलानेपर एक हाथकी अँगुलियोंके सिरेसे दूसरे हाथकी अँगुलियोंके सिरेतक जितनी दूरी होती है, उसे ‘व्याम’ कहते हैं। यही पुरुषप्रमाण है। इसकी लम्बाई लगभग ३ $\frac{१}{२}$ हाथकी होती है।

(अर्जुनाभिगमनपर्व)

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन और द्रौपदीके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति, द्रौपदीका भगवान् श्रीकृष्णसे अपने प्रति किये गये अपमान और दुःखका वर्णन और भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन एवं धृष्टद्युम्नका उसे आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

भोजाः प्रव्रजिताञ्छ्रुत्वा वृष्णयश्चान्धकैः सह ।
पाण्डवान् दुःखसंतप्तान् समाजग्मुर्महावने ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके वीरोंने सुना कि पाण्डव अत्यन्त दुःखसे संतप्त हो राजधानीसे निकलकर चले गये, तब वे उनसे मिलनेके लिये महान् वनमें गये ।। १ ।।

पाञ्चालस्य च दायादो धृष्टकेतुश्च चेदिपः ।
केकयाश्च महावीर्या भ्रातरो लोकविश्रुताः ।। २ ।।
वने द्रष्टुं ययुः पार्थान् क्रोधामर्षसमन्विताः ।
गर्हयन्तो धार्तराष्ट्रान् किं कुर्म इति चाब्रुवन् ।। ३ ।।

पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्न, चेदिराज धृष्टकेतु तथा महापराक्रमी लोकविख्यात केकयराजकुमार सभी भाई क्रोध और अमर्षमें भरकर धृतराष्ट्रपुत्रोंकी निन्दा करते हुए कुन्तीकुमारोंसे मिलनेके लिये वनमें गये और आपसमें इस प्रकार कहने लगे, 'हमें क्या करना चाहिये' ।। २-३ ।।

वासुदेवं पुरस्कृत्य सर्वे ते क्षत्रियर्षभाः ।
परिवार्योपविविशुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
अभिवाद्य कुरुश्रेष्ठं विषण्णः केशवोऽब्रवीत् ।। ४ ।।

भगवान् श्रीकृष्णको आगे करके वे सभी क्षत्रियशिरोमणि धर्मराज युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर बैठे। उस समय भगवान् श्रीकृष्ण विषादग्रस्त हो कुरुप्रवर युधिष्ठिरको नमस्कार करके इस प्रकार बोले ।। ४ ।।

वासुदेव उवाच

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ।। ५ ।।

श्रीकृष्णने कहा—राजाओ! जान पड़ता है, यह पृथ्वी दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि और चौथे दुःशासन—इन सबके रक्तका पान करेगी ।। ५ ।।

एतान् निहत्य समरे ये च तस्य पदानुगाः ।
तांश्च सर्वान् विनिर्जित्य सहितान् सनराधिपान् ।। ६ ।।
ततः सर्वेऽभिषिञ्चामो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
निकृत्योपचरन् वध्य एष धर्मः सनातनः ।। ७ ।।

युद्धमें इनको और इनके सब सेवकोंको अन्य राजाओंसहित परास्त करके हम सब लोग धर्मराज युधिष्ठिरको पुनः चक्रवर्ती नरेशके पदपर अभिषिक्त करें। जो दूसरेके साथ छल-कपट अथवा धोखा करके सुख भोग रहा हो उसे मार डालना चाहिये, यह सनातन धर्म है ।। ६-७ ।।

वैशम्पायन उवाच

पार्थानामभिषङ्गेण तथा क्रुद्धं जनार्दनम् ।
अर्जुनः शमयामास दिधक्षन्तमिव प्रजाः ।। ८ ।।
संक्रुद्धं केशवं दृष्ट्वा पूर्वदेहेषु फाल्गुनः ।
कीर्तयामास कर्माणि सत्यकीर्तेर्महात्मनः ।। ९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीपुत्रोंके अपमानसे भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे कुपित हो उठे, मानो वे समस्त प्रजाको जलाकर भस्म कर देंगे। उन्हें इस प्रकार क्रोध करते देख अर्जुनने उन्हें शान्त किया और उन सत्यकीर्ति महात्माद्वारा पूर्व शरीरोंमें किये हुए कर्मोंका कीर्तन आरम्भ किया ।। ८-९ ।।

पुरुषस्याप्रमेयस्य सत्यस्यामिततेजसः ।
प्रजापतिपतेर्विष्णोर्लोकनाथस्य धीमतः ।। १० ।।

भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्यामी, अप्रमेय, सत्यस्वरूप, अमिततेजस्वी, प्रजापतियोंके भी पति, सम्पूर्ण लोकोंके रक्षक तथा परम बुद्धिमान् श्रीविष्णु ही हैं (अर्जुनने उनकी इस प्रकार स्तुति की) ।। १० ।।

अर्जुन उवाच

दश वर्षसहस्राणि यत्रसायंगृहो मुनिः ।
व्यचरस्त्वं पुरा कृष्ण पर्वते गन्धमादने ।। ११ ।।

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण! पूर्वकालमें गन्धमादन पर्वतपर आपने यत्रसायंगृह* मुनिके रूपमें दस हजार वर्षोंतक विचरण किया है; अर्थात् नारायण ऋषिके रूपमें निवास किया है ।। ११ ।।

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।

पुष्करेष्ववसः कृष्ण त्वमपो भक्षयन् पुरा ।। १२ ।।

सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! पूर्वकालमें कभी इस धराधाममें अवतीर्ण हो आपने ग्यारह हजार वर्षों-तक केवल जल पीकर रहते हुए पुष्करतीर्थमें निवास किया है ।। १२ ।।

ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां मधुसूदन ।

अतिष्ठ एकपादेन वायुभक्षः शतं समाः ।। १३ ।।

मधुसूदन! आप विशालापुरीके बदरिकाश्रममें दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये केवल वायुका आहार करते हुए सौ वर्षोंतक एक पैरसे खड़े रहे हैं ।। १३ ।।

अवकृष्टोत्तरासङ्गः कृशो धमनिसंततः ।

आसीः कृष्ण सरस्वत्यां सत्रे द्वादशवार्षिके ।। १४ ।।

कृष्ण! आप सरस्वती नदीके तटपर उत्तरीय वस्त्रतकका त्याग करके द्वादशवार्षिक यज्ञ करते समयतक शरीरसे अत्यन्त दुर्बल हो गये थे। आपके सारे शरीरमें फैली हुई नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं ।। १४ ।।

प्रभासमप्यथासाद्य तीर्थं पुण्यजनोचितम् ।

तथा कृष्ण महातेजा दिव्यं वर्षसहस्रकम् ।। १५ ।।

अतिष्ठस्त्वमथैकेन पादेन नियमस्थितः ।

लोकप्रवृत्तिहेतुस्त्वमिति व्यासो ममाब्रवीत् ।। १६ ।।

गोविन्द! आप पुण्यात्मा पुरुषोंके निवासयोग्य प्रभासतीर्थमें जाकर लोगोंको तपमें प्रवृत्त करनेके लिये शौच-संतोषादि नियमोंमें स्थित हो महातेजस्वी स्वरूपसे एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक एक ही पैरसे खड़े रहे। ये सब बातें मुझसे श्रीव्यासजीने बतायी हैं ।। १५-१६ ।।

क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामादिरन्तश्च केशव ।

निधानं तपसां कृष्ण यज्ञस्त्वं च सनातनः ।। १७ ।।

केशव! आप क्षेत्रज्ञ (सबके आत्मा), सम्पूर्ण भूतोंके आदि और अन्त, तपस्याके अधिष्ठान, यज्ञ और सनातन पुरुष हैं ।। १७ ।।

निहत्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले ।

प्रथमोत्पतितं कृष्ण मेध्यमश्वमवासृजः ।। १८ ।।

आप भूमिपुत्र नरकासुरको मारकर अदितिके दोनों मणिमय कुण्डलोंको ले आये थे; एवं आपने ही सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होनेवाले यज्ञके उपयुक्त घोड़ेकी रचना की थी ।। १८ ।।

कृत्वा तत् कर्म लोकानामृषभः सर्वलोकजित् ।

अवधीस्त्वं रणे सर्वान् समेतान् दैत्यदानवान् ।। १९ ।।

सम्पूर्ण लोकोंपर विजय पानेवाले आप लोकेश्वर प्रभुने वह कर्म करके सामना करनेके लिये आये हुए समस्त दैत्यों और दानवोंका युद्धस्थलमें वध किया ।। १९ ।।

ततः सर्वेश्वरत्वं च सम्प्रदाय शचीपतेः ।
मानुषेषु महाबाहो प्रादुर्भूतोऽसि केशव ।। २० ।।

महाबाहु केशव! तदनन्तर शचीपतिको सर्वेश्वर-पद प्रदान करके आप इस समय मनुष्योंमें प्रकट हुए हैं ।। २० ।।

स त्वं नारायणो भूत्वा हरिरासीः परंतप ।
ब्रह्मा सोमश्च सूर्यश्च धर्मो धाता यमोऽनलः ।। २१ ।।
वायुर्वैश्रवणो रुद्रः कालः खं पृथिवी दिशः ।
अजश्चराचरगुरुः स्रष्टा त्वं पुरुषोत्तम ।। २२ ।।

परंतप! पुरुषोत्तम! आप ही पहले नारायण होकर फिर हरिरूपमें प्रकट हुए। ब्रह्मा, सोम, सूर्य, धर्म, धाता, यम, अनल, वायु, कुबेर, रुद्र, काल, आकाश, पृथ्वी, दिशाएँ, चराचरगुरु तथा सृष्टिकर्ता एवं अजन्मा आप ही हैं ।। २१-२२ ।।

परायणं देवमूर्धा क्रतुभिर्मधुसूदन ।
अयजो भूरितेजा वै कृष्ण चैत्ररथे वने ।। २३ ।।

मधुसूदन श्रीकृष्ण! आपने चैत्ररथवनमें अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान किया है। आप सबके उत्तम आश्रय, देवशिरोमणि और महातेजस्वी हैं ।। २३ ।।

शतं शतसहस्राणि सुवर्णस्य जनार्दन ।
एकैकस्मिंस्तदा यज्ञे परिपूर्णानि भागशः ।। २४ ।।

जनार्दन! उस समय आपने प्रत्येक यज्ञमें पृथक्-पृथक् एक-एक करोड़ स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणाके रूपमें दीं ।। २४ ।।

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दन ।
त्वं विष्णुरिति विख्यात इन्द्रादवरजो विभुः ।। २५ ।।

यदुनन्दन! आप अदितिके पुत्र हो, इन्द्रके छोटे भाई होकर सर्वव्यापी विष्णुके नामसे विख्यात हैं ।। २५ ।।

शिशुर्भूत्वा दिवं खं च पृथिवीं च परंतप ।
त्रिभिर्विक्रमणैः कृष्ण क्रान्तवानसि तेजसा ।। २६ ।।

परंतप श्रीकृष्ण! आपने वामनावतारके समय छोटे-से बालक होकर भी अपने तेजसे तीन डगोंद्वारा द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूलोक—तीनोंको नाप लिया ।। २६ ।।

सम्प्राप्य दिवमाकाशमादित्यस्यन्दने स्थितः ।
अत्यरोचश्च भूतात्मन् भास्करं स्वेन तेजसा ।। २७ ।।

भूतात्मन्! आपने सूर्यके रथपर स्थित हो द्युलोक और आकाशमें व्याप्त होकर अपने तेजसे भगवान् भास्करको भी अत्यन्त प्रकाशित किया है ।। २७ ।।

प्रादुर्भावसहस्रेषु तेषु तेषु त्वया विभो ।
अधर्मरुचयः कृष्ण निहताः शतशोऽसुराः ।। २८ ।।

विभो! आपने सहस्रों अवतार धारण किये हैं और उन अवतारोंमें सैकड़ों असुरोंका, जो अधर्ममें रुचि रखनेवाले थे, वध किया है ।। २८ ।।

सादिता मौरवाः पाशा निसुन्दनरकौ हतौ ।
कृतः क्षेमः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ।। २९ ।।

आपने मुर दैत्यके लोहमय पाश काट दिये, निसुन्द और नरकासुरको मार डाला और पुनः प्राग्ज्योतिषपुरका मार्ग सकुशल यात्रा करनेयोग्य बना दिया ।। २९ ।।

जारूथ्यामाहुतिः क्राथः शिशुपालो जनैः सह ।
जरासंधश्च शैब्यश्च शतधन्वा च निर्जितः ।। ३० ।।

भगवन्! आपने जारूथी नगरीमें आहुति, क्राथ, साथियोंसहित शिशुपाल, जरासंध, शैब्य और शतधन्वाको परास्त किया ।। ३० ।।

तथा पर्जन्यघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
अवाप्सीर्महिषीं भोज्यां रणे निर्जित्य रुक्मिणम् ।। ३१ ।।

इसी प्रकार मेघके समान घर्घर शब्द करनेवाले सूर्यतुल्य तेजस्वी रथके द्वारा कुण्डिनपुरमें जाकर आपने रुक्मीको युद्धमें जीता और भोजवंशकी कन्या रुक्मिणीको अपनी पटरानीके रूपमें प्राप्त किया ।। ३१ ।।

इन्द्रद्युम्नो हतः कोपाद् यवनश्च कसेरुमान् ।
हतः सौभपतिः शाल्वस्त्वया सौभं च पातितम् ।। ३२ ।।

प्रभो! आपने क्रोधसे इन्द्रद्युम्नको मारा और यवनजातीय कसेरुमान् एवं सौभपति शाल्वको भी यमलोक पहुँचा दिया। साथ ही शाल्वके सौभ विमानको भी छिन्न-भिन्न करके धरतीपर गिरा दिया ।। ३२ ।।

एवमेते युधि हता भूयश्चान्याञ्छृणुष्व ह ।
इरावत्यां हतो भोजः कार्तवीर्यसमो युधि ।। ३३ ।।

इस प्रकार इन पूर्वोक्त राजाओंको आपने युद्धमें मारा है। अब आपके द्वारा मारे हुए औरोंके भी नाम सुनिये। इरावतीके तटपर आपने कार्तवीर्य अर्जुनके सदृश पराक्रमी भोजको युद्धमें मार गिराया ।। ३३ ।।

गोपतिस्तालकेतुश्च त्वया विनिहतावुभौ ।
तां च भोगवतीं पुण्यामृषिकान्तां जनार्दन ।। ३४ ।।
द्वारकामात्मसात् कृत्वा समुद्रं गमयिष्यसि ।

गोपति और तालकेतु—ये दोनों भी आपके ही हाथसे मारे गये। जनार्दन! भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न तथा ऋषि-मुनियोंकी प्रिय अपने अधीन की हुई पुण्यमयी द्वारका नगरीको आप अन्तमें समुद्रमें विलीन कर देंगे ।। ३४१/२ ।।

न क्रोधो न च मात्सर्यं नानृतं मधुसूदन ।
त्वयि तिष्ठति दाशार्ह न नृशंस्यं कुतोऽनृजु ।। ३५ ।।
आसीनं चैत्यमध्ये त्वां दीप्यमानं स्वतेजसा ।
आगम्य ऋषयः सर्वेऽयाचन्ताभयमच्युत ।। ३६ ।।

मधुसूदन! वास्तवमें आपमें न तो क्रोध है, न मात्सर्य है, न असत्य है, न निर्दयता ही है। दाशार्ह! फिर आपमें कठोरता तो हो ही कैसे सकती है? अच्युत! महलके मध्यभागमें बैठे और अपने तेजसे उद्भासित हुए आपके पास आकर सम्पूर्ण ऋषियोंने अभयकी याचना की ।। ३५-३६ ।।

युगान्ते सर्वभूतानि संक्षिप्य मधुसूदन ।
आत्मनैवात्मसात् कृत्वा जगदासीः परंतप ।। ३७ ।।

परंतप मधुसूदन! प्रलयकालमें समस्त भूतोंका संहार करके इस जगत्‌को स्वयं ही अपने भीतर रखकर आप अकेले ही रहते हैं ।। ३७ ।।

युगादौ तव वार्ष्णेय नाभिपद्मादजायत ।
ब्रह्मा चराचरगुरुर्यस्येदं सकलं जगत् ।। ३८ ।।

वार्ष्णेय! सृष्टिके प्रारम्भकालमें आपके नाभि-कमलसे चराचरगुरु ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिनका रचा हुआ यह सम्पूर्ण जगत् है ।। ३८ ।।

तं हन्तुमुद्यतौ घोरौ दानवौ मधुकैटभौ ।
तयोर्व्यतिक्रमं दृष्ट्वा क्रुद्धस्य भवतो हरेः ।। ३९ ।।
ललाटाज्जातवाञ्छम्भुः शूलपाणिस्त्रिलोचनः ।
इत्थं तावपि देवेशौ त्वच्छरीरसमुद्भवौ ।। ४० ।।

जब ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, उस समय दो भयंकर दानव मधु और कैटभ उनके प्राण लेनेको उद्यत हो गये। उनका यह अत्याचार देखकर क्रोधमें भरे हुए आप श्रीहरिके ललाटसे भगवान् शंकरका प्रादुर्भाव हुआ, जिनके हाथोंमें त्रिशूल शोभा पा रहा था। उनके तीन नेत्र थे। इस प्रकार वे दोनों देव ब्रह्मा और शिव आपके ही शरीरसे उत्पन्न हुए हैं ।। ३९-४० ।।

त्वन्नियोगकरावेताविति मे नारदोऽब्रवीत् ।
तथा नारायण पुरा क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।। ४१ ।।
इष्टवांस्त्वं महासत्रं कृष्ण चैत्ररथे वने ।
नैवं परे नापरे वा करिष्यन्ति कृतानि वा ।। ४२ ।।
यानि कर्माणि देव त्वं बाल एव महाबलः ।
कृतवान् पुण्डरीकाक्ष बलदेवसहायवान् ।
कैलासभवने चापि ब्राह्मणैर्न्यवसः सह ।। ४३ ।।

वे दोनों आपकी ही आज्ञाका पालन करनेवाले हैं, यह बात मुझे नारदजीने बतलायी थी। नारायण श्रीकृष्ण! इसी प्रकार पूर्वकालमें चैत्ररथवनके भीतर आपने प्रचुर

दक्षिणाओंसे सम्पन्न अनेक यज्ञों तथा महासत्रका अनुष्ठान किया था। भगवान् पुण्डरीकाक्ष! आप महान् बलवान् हैं। बलदेवजी आपके नित्य सहायक हैं। आपने बचपनमें ही जो-जो महान् कर्म किये हैं, उन्हें पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती पुरुषोंने न तो किया है और न करेंगे। आप ब्राह्मणोंके साथ कुछ कालतक कैलास पर्वतपर भी रहे हैं ।। ४१—४३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महात्मानमात्मा कृष्णस्य पाण्डवः ।
तूष्णीमासीत् ततः पार्थमित्युवाच जनार्दनः ।। ४४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्णके आत्मस्वरूप पाण्डुनन्दन अर्जुन उन महात्मासे ऐसा कहकर चुप हो गये। तब भगवान् जनार्दनने कुन्तीकुमारसे इस प्रकार कहा— ।। ४४ ।।

ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते ।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु ।। ४५ ।।

‘पार्थ! तुम मेरे ही हो, मैं तुम्हारा ही हूँ। जो मेरे हैं, वे तुम्हारे ही हैं। जो तुमसे द्वेष रखता है, वह मुझसे भी रखता है। जो तुम्हारे अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है ।। ४५ ।।

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् ।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ।। ४६ ।।

‘दुर्द्धर्ष वीर! तुम नर हो और मैं नारायण श्रीहरि हूँ। इस समय हम दोनों नर-नारायण ऋषि ही इस लोकमें आये हैं ।। ४६ ।।

अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च ।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ।। ४७ ।।

‘कुन्तीकुमार! तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे पृथक् नहीं हूँ। भरतश्रेष्ठ! हम दोनोंका भेद जाना नहीं जा सकता’ ।। ४७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु वचने केशवेन महात्मना ।
तस्मिन् वीरसमावाये संरब्धेष्वथ राजसु ।। ४८ ।।
धृष्टद्युम्नमुखैर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारिता ।
पाञ्चाली पुण्डरीकाक्षमासीनं भ्रातृभिः सह ।
अभिगम्याब्रवीत् क्रुद्धा शरण्यं शरणैषिणी ।। ४९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! रोषावेशसे भरे हुए राजाओंकी मण्डलीमें उस वीरसमुदायके मध्य महात्मा केशवके ऐसा कहनेपर धृष्टद्युम्न आदि भाइयोंसे घिरी और

कुपित हुई पांचालराजकुमारी द्रौपदी भाइयोंके साथ बैठे हुए शरणागतवत्सल श्रीकृष्णके पास जा उनकी शरणकी इच्छा रखती हुई उनसे बोली ।। ४८-४९ ।।

द्रौपद्युवाच

पूर्वे प्रजाभिसर्गे त्वामाहुरेकं प्रजापतिम् ।
स्रष्टारं सर्वलोकानामसितो देवलोऽब्रवीत् ।। ५० ।।

द्रौपदीने कहा—प्रभो! ऋषिलोग प्रजासृष्टिके प्रारम्भकालमें एकमात्र आपको ही सम्पूर्ण जगत्‌का स्रष्टा एवं प्रजापति कहते हैं। महर्षि असित-देवलका यही मत है ।। ५० ।।

विष्णुस्त्वमसि दुर्धर्ष त्वं यज्ञो मधुसूदन ।
यष्टा त्वमसि यष्टव्यो जामदग्न्यो यथाब्रवीत् ।। ५१ ।।

दुर्द्धर्ष मधुसूदन! आप ही विष्णु हैं, आप ही यज्ञ हैं, आप ही यजमान हैं और आप ही यजन करने योग्य श्रीहरि हैं, जैसा कि जमदग्निनन्दन परशुरामका कथन है ।। ५१ ।।

ऋषयस्त्वां क्षमामाहुः सत्यं च पुरुषोत्तम ।
सत्याद् यज्ञोऽसि सम्भूतः कश्यपस्त्वां यथाब्रवीत् ।। ५२ ।।

पुरुषोत्तम! कश्यपजीका कहना है कि महर्षिगण आपको क्षमा और सत्यका स्वरूप कहते हैं। सत्यसे प्रकट हुए यज्ञ भी आप ही हैं ।। ५२ ।।

साध्यानामपि देवानां शिवानामीश्वरेश्वर ।
भूतभावन भूतेश यथा त्वां नारदोऽब्रवीत् ।। ५३ ।।

भूतभावन भूतेश्वर! आप साध्य देवताओं तथा कल्याणकारी रुद्रोंके अधीश्वर हैं। नारदजीने आपके विषयमें यही विचार प्रकट किया है ।। ५३ ।।

ब्रह्मशंकरशक्राद्यैर्देववृन्दैः पुनः पुनः ।
क्रीडसे त्वं नरव्याघ्र बालः क्रीडनकैरिव ।। ५४ ।।

नरश्रेष्ठ! जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, उसी प्रकार आप ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र आदि देवताओंसे बारंबार क्रीडा करते रहते हैं ।। ५४ ।।

द्यौश्च ते शिरसा व्याप्ता पद्भ्यां च पृथिवी प्रभो ।
जठरं त इमे लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ।। ५५ ।।

प्रभो! स्वर्गलोक आपके मस्तकसे और पृथ्वी आपके चरणोंसे व्याप्त है। ये सब लोक आपके उदरस्वरूप हैं। आप सनातन पुरुष हैं ।। ५५ ।।

विद्यातपोऽभितप्तानां तपसा भावितात्मनाम् ।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणामसि सत्तमः ।। ५६ ।।

विद्या और तपस्यासे सम्पन्न तथा तपके द्वारा शोधित अन्तःकरणवाले आत्मज्ञानसे तृप्त महर्षियोंमें आप ही परम श्रेष्ठ हैं ।। ५६ ।।

राजर्षीणां पुण्यकृतामाहवेष्वनिवर्तिनाम् ।

सर्वधर्मोपपन्नानां त्वं गतिः पुरुषर्षभ ।
त्वं प्रभुस्त्वं विभुश्च त्वं भूतात्मा त्वं विचेष्टसे ।। ५७ ।।

पुरुषोत्तम! युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले, सब धर्मोंसे सम्पन्न पुण्यात्मा राजर्षियोंके आप ही आश्रय हैं। आप ही प्रभु (सबके स्वामी), आप ही विभु (सर्वव्यापी) और आप ही सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं। आप ही विविध प्राणियोंके रूपमें नाना प्रकारकी चेष्टाएँ कर रहे हैं ।। ५७ ।।

लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।। ५८ ।।

लोक, लोकपाल, नक्षत्र, दसों दिशाएँ, आकाश, चन्द्रमा और सूर्य सब आपमें प्रतिष्ठित हैं ।। ५८ ।।

मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिवौकसाम् ।
त्वयि सर्वं महाबाहो लोककार्यं प्रतिष्ठितम् ।। ५९ ।।

महाबाहो! भूलोकके प्राणियोंकी मृत्युपरवशता, देवताओंकी अमरता तथा सम्पूर्ण जगत्का कार्य सब कुछ आपमें ही प्रतिष्ठित है ।। ५९ ।।

सा तेऽहं दुःखमाख्यास्ये प्रणयान्मधुसूदन ।
ईशस्त्वं सर्वभूतानां ये दिव्या ये च मानुषाः ।। ६० ।।

मधुसूदन! मैं आपके प्रति प्रेम होनेके कारण आपसे अपना दुःख निवेदन करूँगी; क्योंकि दिव्य और मानव जगत्में जितने भी प्राणी हैं, उन सबके ईश्वर आप ही हैं ।। ६० ।।

कथं नु भार्या पार्थानां तव कृष्ण सखी विभो ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी सभां कृष्येत मादृशी ।। ६१ ।।

भगवन् कृष्ण! मेरे-जैसी स्त्री जो कुन्तीपुत्रोंकी पत्नी, आपकी सखी और धृष्टद्युम्न-जैसे वीरकी बहिन हो, क्या किसी तरह सभामें (केश पकड़कर) घसीटकर लायी जा सकती है? ।। ६१ ।।

स्त्रीधर्मिणी वेपमाना शोणितेन समुक्षिता ।
एकवस्त्रा विकृष्टास्मि दुःखिता कुरुसंसदि ।। ६२ ।।

मैं रजस्वला थी, मेरे कपड़ोंपर रक्तके छींटे लगे थे, शरीरपर एक ही वस्त्र था और लज्जा एवं भयसे मैं थरथर काँप रही थी। उस दशामें मुझ दुःखिनी अबलाको कौरवोंकी सभामें घसीटकर लाया गया था ।। ६२ ।।

राज्ञां मध्ये सभायां तु रजसातिपरिप्लुता ।
दृष्ट्वा च मां धार्तराष्ट्रा प्राहसन् पापचेतसः ।। ६३ ।।

भरी सभामें राजाओंकी मण्डलीके बीच अत्यन्त रजस्राव होनेके कारण मैं रक्तसे भींगी जा रही थी। उस अवस्थामें मुझे देखकर धृतराष्ट्रके पापात्मा पुत्रोंने जोर-जोरसे हँसकर मेरी हँसी उड़ायी ।। ६३ ।।

दासीभावेन मां भोक्तुमीषुस्ते मधुसूदन ।
जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पञ्चालेषु च वृष्णिषु ।। ६४ ।।

मधुसूदन! पाण्डवों, पांचालों और वृष्णिवंशी वीरोंके जीते-जी धृतराष्ट्रके पुत्रोंने दासीभावसे मेरा उपभोग करनेकी इच्छा प्रकट की ।। ६४ ।।

नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः ।
स्नुषा भवामि धर्मेण साहं दासीकृता बलात् ।। ६५ ।।

श्रीकृष्ण! मैं धर्मतः भीष्म और धृतराष्ट्र दोनोंकी पुत्रवधू हूँ, तो भी उनके सामने ही बलपूर्वक दासी बनायी गयी ।। ६५ ।।

गर्हये पाण्डवांस्त्वेव युधि श्रेष्ठान् महाबलान् ।
यत्क्लिश्यमानां प्रेक्षन्ते धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ।। ६६ ।।

मैं तो संग्राममें श्रेष्ठ इन महाबली पाण्डवोंकी ही निन्दा करती हूँ; जो अपनी यशस्विनी धर्मपत्नीको शत्रुओंद्वारा सतायी जाती हुई देख रहे थे ।। ६६ ।।

धिग् बलं भीमसेनस्य धिक् पार्थस्य च गाण्डिवम् ।
यौ मां विप्रकृतां क्षुद्रैर्मर्षयेतां जनार्दन ।। ६७ ।।

जनार्दन! भीमसेनके बलको धिक्कार है, अर्जुनके गाण्डीव धनुषको भी धिक्कार है, जो उन नराधमोंद्वारा मुझे अपमानित होती देखकर भी सहन करते रहे ।। ६७ ।।

शाश्वतोऽयं धर्मपथः सद्भिराचरितः सदा ।
यद् भार्यां परिरक्षन्ति भर्तारोऽल्पबला अपि ।। ६८ ।।

सत्पुरुषोंद्वारा सदा आचरणमें लाया हुआ यह धर्मका सनातन मार्ग है कि निर्बल पति भी अपनी पत्नीकी रक्षा करते हैं ।। ६८ ।।

भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ।
प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ।। ६९ ।।

पत्नीकी रक्षा करनेसे अपनी संतान सुरक्षित होती है और संतानकी रक्षा होनेपर अपने आत्माकी रक्षा होती है ।। ६९ ।।

आत्मा हि जायते तस्यां तस्माज्जाया भवत्युत ।
भर्ता च भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे ।। ७० ।।

अपना आत्मा ही स्त्रीके गर्भसे जन्म लेता है; इसीलिये वह जाया कहलाती है। पत्नीको भी अपने पतिकी रक्षा इसीलिये करनी चाहिये कि यह किसी प्रकार मेरे उदरसे जन्म ग्रहण करे ।। ७० ।।

नन्विमे शरणं प्राप्तं न त्यजन्ति कदाचन ।
ते मां शरणमापन्नां नान्वपद्यन्त पाण्डवाः ।। ७१ ।।

ये अपनी शरणमें आनेपर कभी किसीका भी त्याग नहीं करते; किंतु इन्हीं पाण्डवोंने मुझ शरणागत अबलापर तनिक भी दया नहीं की ।। ७१ ।।

पञ्चभिः पतिभिर्जाताः कुमारा मे महौजसः ।
एतेषामप्यवेक्षार्थं त्रातव्यास्मि जनार्दन ।। ७२ ।।

जनार्दन! इन पाँच पतियोंसे उत्पन्न हुए मेरे महाबली पाँच पुत्र हैं। उनकी देखभालके लिये भी मेरी रक्षा आवश्यक थी ।। ७२ ।।

प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात् सुतसोमो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिश्च शतानीकस्तु नाकुलिः ।। ७३ ।।
कनिष्ठाच्छ्रुतकर्मा च सर्वे सत्यपराक्रमाः ।
प्रद्युम्नो यादृशः कृष्ण तादृशास्ते महारथाः ।। ७४ ।।

युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक और छोटे पाण्डव सहदेवसे श्रुतकर्माका जन्म हुआ है। ये सभी कुमार सच्चे पराक्रमी हैं। श्रीकृष्ण! आपका पुत्र प्रद्युम्न जैसा शूरवीर है, वैसे ही वे मेरे महारथी पुत्र भी हैं ।। ७३-७४ ।।

नन्विमे धनुषि श्रेष्ठा अजेया युधि शात्रवैः ।
किमर्थं धार्तराष्ट्राणां सहन्ते दुर्बलीयसाम् ।। ७५ ।।

ये धनुर्विद्यामें श्रेष्ठ तथा शत्रुओंद्वारा युद्धमें अजेय हैं तो भी दुर्बल धृतराष्ट्र-पुत्रोंका अत्याचार कैसे सहन करते हैं? ।। ७५ ।।

अधर्मेण हृतं राज्यं सर्वे दासाः कृतास्तथा ।
सभायां परिकृष्टाहमेकवस्त्रा रजस्वला ।। ७६ ।।

अधर्मसे सारा राज्य हरण कर लिया गया, सब पाण्डव दास बना दिये गये और मैं एकवस्त्रधारिणी रजस्वला होनेपर भी सभामें घसीटकर लायी गयी ।। ७६ ।।

नाधिज्यमपि यच्छक्यं कर्तुमन्येन गाण्डिवम् ।
अन्यत्रार्जुनभीमाभ्यां त्वया वा मधुसूदन ।। ७७ ।।

मधुसूदन! अर्जुनके पास जो गाण्डीव धनुष है, उसपर अर्जुन, भीम अथवा आपके सिवा दूसरा कोई प्रत्यंचा भी नहीं चढ़ा सकता (तो भी ये मेरी रक्षा न कर सके) ।। ७७ ।।

धिग् बलं भीमसेनस्य धिक् पार्थस्य च पौरुषम् ।
यत्र दुर्योधनः कृष्ण मुहूर्तमपि जीवति ।। ७८ ।।

कृष्ण! भीमसेनके बलको धिक्कार है, अर्जुनके पुरुषार्थको भी धिक्कार है, जिसके होते हुए दुर्योधन इतना बड़ा अत्याचार करके दो घड़ी भी जीवित रह रहा है ।। ७८ ।।

य एतानाक्षिपद् राष्ट्रात् सह मात्राविहिंसकान् ।
अधीयानान् पुरा बालान् व्रतस्थान् मधुसूदन ।। ७९ ।।

मधुसूदन! पहले बाल्यावस्थामें, जब कि पाण्डव ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए अध्ययनमें लगे थे, किसीकी हिंसा नहीं करते थे, जिन दुष्टने इन्हें इनकी माताके साथ राज्यसे बाहर निकाल दिया था ।। ७९ ।।

भोजने भीमसेनस्य पापः प्राक्षेपयद् विषम् ।
कालकूटं नवं तीक्ष्णं सम्भूतं लोमहर्षणम् ।। ८० ।।

जिस पापीने भीमसेनके भोजनमें नूतन, तीक्ष्ण, परिमाणमें अधिक एवं रोमांचकारी कालकूट नामक विष डलवा दिया था ।। ८० ।।

तज्जीर्णमविकारेण सहान्नेन जनार्दन ।
सशेषत्वान्महाबाहो भीमस्य पुरुषोत्तम ।। ८१ ।।

महाबाहु नरश्रेष्ठ जनार्दन! भीमसेनकी आयु शेष थी, इसीलिये वह घातक विष अन्नके साथ ही पच गया और उसने कोई विकार नहीं उत्पन्न किया (इस प्रकार उस दुर्योधनके अत्याचारोंको कहाँतक गिनाया जाय) ।। ८१ ।।

प्रमाणकोट्यां विश्वस्तं तथा सुप्तं वृकोदरम् ।
बद्ध्वैनं कृष्ण गङ्गायां प्रक्षिप्य पुरमाव्रजत् ।। ८२ ।।

श्रीकृष्ण! प्रमाणकोटितीर्थमें, जब भीमसेन विश्वस्त होकर सो रहे थे, उस समय दुर्योधनने इन्हें बाँधकर गंगामें फेंक दिया और स्वयं चुपचाप राजधानीमें लौट आया ।। ८२ ।।

यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा संच्छिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ।। ८३ ।।

जब इनकी आँख खुली तो ये महाबली महाबाहु भीमसेन सारे बन्धनोंको तोड़कर जलसे ऊपर उठे ।। ८३ ।।

आशीविषैः कृष्णसर्पैर्भीमसेनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ।। ८४ ।।

इनके सारे अंगोंमें विषैले काले सर्पोंसे डँसवाया; परंतु शत्रुहन्ता भीमसेन मर न सके ।। ८४ ।।

प्रतिबुद्धस्तु कौन्तेयः सर्वान् सर्पानपोथयत् ।
सारथिं चास्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान् ।। ८५ ।।

जागनेपर कुन्तीनन्दन भीमने सब सर्पोंको उठा-उठाकर पटक दिया। दुर्योधनने भीमसेनके प्रिय सारथिको भी उलटे हाथसे मार डाला ।। ८५ ।।

पुनः सुप्तानुपाधाक्षीद् बालकान् वारणावते ।
शयानानार्यया सार्धं को नु तत् कर्तुमर्हति ।। ८६ ।।

इतना ही नहीं, वारणावतमें आर्या कुन्तीके साथमें ये बालक पाण्डव सो रहे थे, उस समय उसने घरमें आग लगवा दी। ऐसा दुष्कर्म दूसरा कौन कर सकता है? ।। ८६ ।।

यत्रार्या रुदती भीता पाण्डवानिदमब्रवीत् ।
महद् व्यसनमापन्ना शिखिना परिवारिता ।। ८७ ।।

उस समय वहाँ आर्या कुन्ती भयभीत हो रोती हुई पाण्डवोंसे इस प्रकार बोलीं—‘मैं बड़े भारी संकटमें पड़ी, आगसे घिर गयी ।। ८७ ।।

हा हतास्मि कुतो न्वद्य भवेच्छान्तिरिहानलात् ।
अनाथा विनशिष्यामि बालकैः पुत्रकैः सह ।। ८८ ।।

‘हाय! हाय! मैं मारी गयी, अब इस आगसे कैसे शान्ति प्राप्त होगी? मैं अनाथकी तरह अपने बालक पुत्रोंके साथ नष्ट हो जाऊँगी’ ।। ८८ ।।

तत्र भीमो महाबाहुर्वायुवेगपराक्रमः ।
आर्यामाश्वासयामास भ्रातृंश्चापि वृकोदरः ।। ८९ ।।
वैनतेयो यथा पक्षी गरुत्मान् पततां वरः ।
तथैवाभिपतिष्यामि भयं वो नेह विद्यते ।। ९० ।।

उस समय वहाँ वायुके समान वेग और पराक्रमवाले महाबाहु भीमसेनने आर्या कुन्ती तथा भाइयोंको आश्वासन देते हुए कहा—‘पक्षियोंमें श्रेष्ठ विनतानन्दन गरुड जैसे उड़ा करते हैं, उसी प्रकार मैं भी तुम सबको लेकर यहाँसे चल दूँगा। अतः तुम्हें यहाँ तनिक भी भय नहीं है’ ।। ८९-९० ।।

आर्यामङ्केन वामेन राजानं दक्षिणेन च ।
अंसयोश्च यमौ कृत्वा पृष्ठे बीभत्सुमेव च ।। ९१ ।।
सहसोत्पत्य वेगेन सर्वानादाय वीर्यवान् ।
भ्रातृनार्यां च बलवान् मोक्षयामास पावकात् ।। ९२ ।।

ऐसा कहकर पराक्रमी एवं बलवान् भीमने आर्या कुन्तीको बायें अंकमें, धर्मराजको दाहिने अंकमें, नकुल और सहदेवको दोनों कंधोंपर तथा अर्जुनको पीठपर चढ़ा लिया और सबको लिये-दिये सहसा वेगसे उछलकर इन्होंने उस भयंकर अग्निसे भाइयों तथा माताकी रक्षा की* ।। ९१-९२ ।।

ते रात्रौ प्रस्थिताः सर्वे सह मात्रा यशस्विनः ।
अभ्यगच्छन्महारण्ये हिडिम्बवनमन्तिकात् ।। ९३ ।।

फिर वे सब यशस्वी पाण्डव माताके साथ रातमें ही वहाँसे चल दिये और हिडिम्बवनके पास एक भारी वनमें जा पहुँचे ।। ९३ ।।

श्रान्ताः प्रसुप्तास्तत्रेमे मात्रा सह सुदुःखिताः ।
सुप्तांश्चैनानभ्यगच्छद्धिडिम्बा नाम राक्षसी ।। ९४ ।।

वहाँ मातासहित ये दुःखी पाण्डव थककर सो गये। सो जानेपर इनके निकट हिडिम्बा नामक राक्षसी आयी ।। ९४ ।।

सा दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सुप्तान् मात्रा सह क्षितौ ।
हृच्छयेनाभिभूतात्मा भीमसेनमकामयत् ।। ९५ ।।

मातासहित पाण्डवोंको वहाँ धरतीपर सोते देख कामसे पीड़ित हो उस राक्षसीने भीमसेनकी कामना की ।। ९५ ।।

भीमस्य पादौ कृत्वा तु स्व उत्सङ्गे ततोऽबला ।
पर्यमर्दत संहृष्टा कल्याणी मृदुपाणिना ।। ९६ ।।

भीमके पैरोंको अपनी गोदमें लेकर वह कल्याणमयी अबला अपने कोमल हाथोंसे प्रसन्नतापूर्वक दबाने लगी ।। ९६ ।।

तामबुध्यदमेयात्मा बलवान् सत्यविक्रमः ।
पर्यपृच्छत तां भीमः किमिहेच्छस्यनिन्दिते ।। ९७ ।।

उसका स्पर्श पाकर बलवान् सत्यपराक्रमी तथा अमेयात्मा भीमसेन जाग उठे। जागनेपर उन्होंने पूछा—'सुन्दरी! तुम यहाँ क्या चाहती हो?' ।। ९७ ।।

एवमुक्ता तु भीमेन राक्षसी कामरूपिणी ।
भीमसेनं महात्मानमाह चैवमनिन्दिता ।। ९८ ।।

इस प्रकार पूछनेपर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली उस अनिन्द्य सुन्दरी राक्षसकन्याने महात्मा भीमसे कहा— ।। ९८ ।।

पलायध्वमितः क्षिप्रं मम भ्रातैष वीर्यवान् ।
आगमिष्यति वो हन्तुं तस्माद् गच्छत मा चिरम् ।। ९९ ।।

'आपलोग यहाँसे जल्दी भाग जायँ, मेरा यह बलवान् भाई हिडिम्ब आपको मारनेके लिये आयेगा; अतः आपलोग जल्दी चले जाइये, देर न कीजिये' ।। ९९ ।।

अथ भीमोऽभ्युवाचैनां साभिमानमिदं वचः ।
नोद्विजेयमहं तस्मान्निहनिष्येऽहमागतम् ।। १०० ।।

यह सुनकर भीमने अभिमानपूर्वक कहा—'मैं उस राक्षससे नहीं डरता। यदि यहाँ आयेगा तो मैं ही उसे मार डालूँगा' ।। १०० ।।

तयोः श्रुत्वा तु संजल्पमागच्छद् राक्षसाधमः ।
भीमरूपो महानादान् विसृजन् भीमदर्शनः ।। १०१ ।।

उन दोनोंकी बातचीत सुनकर वह भीमरूपधारी भयंकर एवं नीच राक्षस बड़े जोरसे गर्जना करता हुआ वहाँ आ पहुँचा ।। १०१ ।।

राक्षस उवाच

केन सार्धं कथयसि आनयैनं ममान्तिकम् ।
हिडिम्बे भक्षयिष्यामो न चिरं कर्तुमर्हसि ।। १०२ ।।

राक्षस बोला—हिडिम्बे! 'तू किससे बात कर रही है? लाओ इसे मेरे पास। हमलोग खायँगे। अब तुम्हें देर नहीं करनी चाहिये ।। १०२ ।।

सा कृपासंगृहीतेन हृदयेन मनस्विनी ।

नैनमैच्छत् तदाख्यातुमनुक्रोशादनिन्दिता ।। १०३ ।।

मनस्विनी एवं अनिन्दिता हिडिम्बाने स्नेहयुक्त हृदयके कारण दयावश यह क्रूरतापूर्ण संदेश भीमसेनसे कहना उचित न समझा ।। १०३ ।।

स नादान् विनदन् घोरान् राक्षसः पुरुषादकः ।
अभ्यद्रवत वेगेन भीमसेनं तदा किल ।। १०४ ।।

इतनेहीमें वह नरभक्षी राक्षस घोर गर्जना करता हुआ बड़े वेगसे भीमसेनकी ओर दौड़ा ।। १०४ ।।

तमभिद्रुत्य संक्रुद्धो वेगेन महता बली ।
अगृह्णात् पाणिना पाणिं भीमसेनस्य राक्षसः ।। १०५ ।।
इन्द्राशनिसमस्पर्शं वज्रसंहननं दृढम् ।
संहत्य भीमसेनाय व्याक्षिपत् सहसा करम् ।। १०६ ।।

क्रोधमें भरे हुए उस बलवान् राक्षसने बड़े वेगसे निकट जाकर अपने हाथसे भीमसेनका हाथ पकड़ लिया। भीमसेनके हाथका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान था। उनका शरीर भी वैसा ही सुदृढ़ था। राक्षसने भीमसेनसे भिड़कर उनके हाथको सहसा झटक दिया ।। १०५-१०६ ।।

गृहीतं पाणिना पाणिं भीमसेनस्य रक्षसा ।
नामृष्यत महाबाहुस्तत्राक्रुध्यद् वृकोदरः ।। १०७ ।।

राक्षसने भीमसेनके हाथको अपने हाथसे पकड़ लिया; यह बात महाबाहु भीमसेन नहीं सह सके। वे वहीं कुपित हो गये ।। १०७ ।।

तदाऽऽसीत् तुमुलं युद्धं भीमसेनहिडिम्बयोः ।
सर्वास्त्रविदुषोर्घोरं वृत्रवासवयोरिव ।। १०८ ।।

उस समय सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता भीमसेन और हिडिम्बमें इन्द्र और वृत्रासुरके समान भयानक एवं घमासान युद्ध होने लगा ।। १०८ ।।

विक्रीड्य सुचिरं भीमो राक्षसेन सहानघ ।
निजघान महावीर्यस्तं तदा निर्बलं बली ।। १०९ ।।

निष्पाप श्रीकृष्ण! महापराक्रमी और बलवान् भीमसेनने उस राक्षसके साथ बहुत देरतक खिलवाड़ करके उसके निर्बल हो जानेपर उसे मार डाला ।। १०९ ।।

हत्वा हिडिम्बं भीमोऽथ प्रस्थितो भ्रातृभिः सह ।
हिडिम्बामग्रतः कृत्वा यस्यां जातो घटोत्कचः ।। ११० ।।

इस प्रकार हिडिम्बको मारकर हिडिम्बाको आगे किये भीमसेन अपने भाइयोंके साथ आगे बढ़े। उसी हिडिम्बासे घटोत्कचका जन्म हुआ ।। ११० ।।

ततः सम्प्राद्रवन् सर्वे सह मात्रा परंतपाः ।
एकचक्रामभिमुखाः संवृता ब्राह्मणव्रजैः ।। १११ ।।

तदनन्तर सब परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ आगे बढ़े। ब्राह्मणोंसे घिरे हुए ये लोग एकचक्रा नगरीकी ओर चल दिये ।। १११ ।।

प्रस्थाने व्यास एषां च मन्त्री प्रियहिते रतः ।
ततोऽगच्छन्नेकचक्रां पाण्डवाः संशितव्रताः ।। ११२ ।।

उस यात्रामें इनके प्रिय एवं हितमें लगे हुए व्यासजी ही इनके परामर्शदाता हुए। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पाण्डव उन्हींकी सम्मतिसे एकचक्रापुरीमें गये ।। ११२ ।।

तत्राप्यासादयामासुर्बकं नाम महाबलम् ।
पुरुषादं प्रतिभयं हिडिम्बेनैव सम्मितम् ।। ११३ ।।

वहाँ जानेपर भी इन्हें नरभक्षी राक्षस महाबली बकासुर मिला। वह भी हिडिम्बके ही समान भयंकर था ।। ११३ ।।

तं चापि विनिहत्योग्रं भीमः प्रहरतां वरः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैर्द्रुपदस्य पुरं ययौ ।। ११४ ।।

योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीम उस भयंकर राक्षसको मारकर अपने सब भाइयोंके साथ मेरे पिता द्रुपदकी राजधानीमें गये ।। ११४ ।।

लब्धाहमपि तत्रैव वसता सव्यसाचिना ।
यथा त्वया जिता कृष्ण रुक्मिणी भीष्मकात्मजा ।। ११५ ।।

श्रीकृष्ण! जैसे आपने भीष्मकनन्दिनी रुक्मिणीको जीता था, उसी प्रकार मेरे पिताकी राजधानीमें रहते समय सव्यसाची अर्जुनने मुझे जीता ।। ११५ ।।

एवं सुयुद्धे पार्थेन जिताहं मधुसूदन ।
स्वयंवरे महत् कर्म कृत्वा न सुकरं परैः ।। ११६ ।।

मधुसूदन! स्वयंवरमें, जो महान् कर्म दूसरोंके लिये दुष्कर था, वह करके भारी युद्धमें भी अर्जुनने मुझे जीत लिया था ।। ११६ ।।

एवं क्लेशैः सुबहुभिः क्लिश्यमाना सुदुःखिता ।
निवसाम्यार्यया हीना कृष्ण धौम्यपुरःसरा ।। ११७ ।।

परंतु आज मैं इन सबके होते हुए भी अनेक प्रकारके क्लेश भोगती और अत्यन्त दुःखमें डूबी रहकर अपनी सास कुन्तीसे अलग हो धौम्यजीको आगे रखकर वनमें निवास करती हूँ ।। ११७ ।।

त इमे सिंहविक्रान्ता वीर्येणाभ्यधिकाः परैः ।
विहीनैः परिक्लिश्यन्तीं समुपैक्षन्त मां कथम् ।। ११८ ।।

ये सिंहके समान पराक्रमी पाण्डव बल-वीर्यमें शत्रुओंसे बढ़े-चढ़े हैं, इनसे सर्वथा हीन कौरव मुझे भरी सभामें कष्ट दे रहे थे, तो भी इन्होंने क्यों मेरी उपेक्षा की? ।। ११८ ।।

एतादृशानि दुःखानि सहन्ती दुर्बलीयसाम् ।
दीर्घकालं प्रदीप्तास्मि पापानां पापकर्मणाम् ।। ११९ ।।

पापकर्मोंमें लगे हुए अत्यन्त दुर्बल पापी शत्रुओंके दिये हुए ऐसे-ऐसे दुःख मैं सह रही हूँ और दीर्घकालसे चिन्ताकी आगमें जल रही हूँ ।। ११९ ।।

कुले महति जातास्मि दिव्येन विधिना किल ।
पाण्डवानां प्रिया भार्या स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः ।। १२० ।।

यह प्रसिद्ध है कि मैं दिव्य विधिसे एक महान् कुलमें उत्पन्न हुई हूँ। पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी और महाराज पाण्डुकी पुत्रवधू हूँ ।। १२० ।।

कचग्रहमनुप्राप्ता सास्मि कृष्ण वरा सती ।
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां प्रेक्षतां मधुसूदन ।। १२१ ।।

मधुसूदन श्रीकृष्ण! मैं श्रेष्ठ और सती-साध्वी होती हुई भी इन पाँचों पाण्डवोंके देखते-देखते केश पकड़कर घसीटी गयी ।। १२१ ।।

इत्युक्त्वा प्रारुदत् कृष्णा मुखं प्रच्छाद्य पाणिना ।
पद्मकोशप्रकाशेन मृदुना मृदुभाषिणी ।। १२२ ।।

ऐसा कहकर मृदुभाषिणी द्रौपदी कमलकोशके समान कान्तिमान् एवं कोमल हाथसे अपना मुँह ढककर फूट-फूटकर रोने लगी ।। १२२ ।।

स्तनावपतितौ पीनौ सुजातौ शुभलक्षणौ ।
अभ्यवर्षत पाञ्चाली दुःखजैरश्रुबिन्दुभिः ।। १२३ ।।

पांचालराजकुमारी कृष्णा अपने कठोर, उभरे हुए, शुभलक्षण तथा सुन्दर स्तनोंपर दुःखजनित अश्रुबिन्दुओंकी वर्षा करने लगी ।। १२३ ।।

चक्षुषी परिमार्जन्ती निःश्वसन्ती पुनः पुनः ।
बाष्पपूर्णेन कण्ठेन क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ।। १२४ ।।

कुपित हुई द्रौपदी बार-बार सिसकती और आँसू पोंछती हुई आँसूभरे कण्ठसे बोली — ।। १२४ ।।

नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा न च बान्धवाः ।
न भ्रातरो न च पिता नैव त्वं मधुसूदन ।। १२५ ।।

'मधुसूदन! मेरे लिये न पति हैं, न पुत्र हैं, न बान्धव हैं, न भाई हैं, न पिता हैं और न आप ही हैं ।। १२५ ।।

ये मां विप्रकृतां क्षुद्रैरुपेक्षध्वं विशोकवत् ।
न च मे शाम्यते दुःखं कर्णो यत् प्राहसत् तदा ।। १२६ ।।

'क्योंकि आप सब लोग, नीच मनुष्योंद्वारा जो मेरा अपमान हुआ था, उसकी उपेक्षा कर रहे हैं, मानो इसके लिये आपके हृदयमें तनिक भी दुःख नहीं है। उस समय कर्णने जो मेरी हँसी उड़ायी थी, उससे उत्पन्न हुआ दुःख मेरे हृदयसे दूर नहीं होता है ।। १२६ ।।

चतुर्भिः कारणैः कृष्ण त्वया रक्ष्यास्मि नित्यशः ।
सम्बन्धाद् गौरवात् सख्यात् प्रभुत्वेनैव केशव ।। १२७ ।।

'श्रीकृष्ण! चार कारणोंसे आपको सदा मेरी रक्षा करनी चाहिये। एक तो आप मेरे सम्बन्धी हैं, दूसरे अग्निकुण्डमें उत्पन्न होनेके कारण मैं गौरवशालिनी हूँ, तीसरे आपकी सच्ची सखी हूँ और चौथे आप मेरी रक्षा करनेमें समर्थ हैं' ।। १२७ ।।

वैशम्पायन उवाच

अथ तामब्रवीत् कृष्णस्तस्मिन् वीरसमागमे ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने वीरोंके उस समुदायमें द्रौपदीसे इस प्रकार कहा ।। १२७½ ।।

वासुदेव उवाच

रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भाविनि ।
बीभत्सुशरसंच्छन्नाञ्छोणितौघपरिप्लुतान् ।। १२८ ।।
निहतान् वल्लभान् वीक्ष्य शयानान् वसुधातले ।
यत् समर्थं पाण्डवानां तत् करिष्यामि मा शुचः ।। १२९ ।।

श्रीकृष्ण बोले—भाविनि! तुम जिनपर क्रुद्ध हुई हो, उनकी स्त्रियाँ भी अपने प्राणप्यारे पतियोंको अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न और खूनसे लथपथ हो मरकर धरतीपर पड़ा देख इसी प्रकार रोयेंगी। पाण्डवोंके हितके लिये जो कुछ भी सम्भव है, वह सब करूँगा, शोक न करो ।। १२८-१२९ ।।

सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ।
पतेद् द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत् पृथिवी शकलीभवेत् ।। १३० ।।
शुष्येत् तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत् ।
तच्छ्रुत्वा द्रौपदी वाक्यं प्रतिवाक्यमथाच्युतात् ।। १३१ ।।
साचीकृतमवेक्षत् सा पाञ्चाली मध्यमं पतिम् ।
आबभाषे महाराज द्रौपदीमर्जुनस्तदा ।। १३२ ।।

मैं सत्य प्रतिज्ञापूर्वक कह रहा हूँ कि तुम राजरानी बनोगी। कृष्णे! आसमान फट पड़े, हिमालय पर्वत विदीर्ण हो जाय, पृथ्वीके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ और समुद्र सूख जाय, किंतु मेरी यह बात झूठी नहीं हो सकती। द्रौपदीने अपनी बातोंके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे ऐसी बातें सुनकर तिरछी चितवनसे अपने मझले पति अर्जुनकी ओर देखा। महाराज! तब अर्जुनने द्रौपदीसे कहा— ।। १३०—१३२ ।।

मा रोदीः शुभताम्राक्षि यदाह मधुसूदनः ।
तथा तद् भविता देवि नान्यथा वरवर्णिनि ।। १३३ ।।

'लालिमायुक्त सुन्दर नेत्रोंवाली देवि! वरवर्णिनि! रोओ मत। भगवान् मधुसूदन जो कुछ कह रहे हैं, वह अवश्य होकर रहेगा; टल नहीं सकता' ।। १३३ ।।

धृष्टद्युम्न उवाच

अहं द्रोणं हनिष्यामि शिखण्डी तु पितामहम् ।
दुर्योधनं भीमसेनः कर्णं हन्ता धनंजयः ।। १३४ ।।
रामकृष्णौ व्यपाश्रित्य अजेयाः स्म रणे स्वसः ।
अपि वृत्रहणा युद्धे किं पुनर्धृतराष्ट्रजे ।। १३५ ।।

धृष्टद्युम्नने कहा—बहिन! मैं द्रोणको मार डालूँगा, शिखण्डी भीष्मका वध करेंगे, भीमसेन दुर्योधनको मार गिरायेंगे और अर्जुन कर्णको यमलोक भेज देंगे। भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामका आश्रय पाकर हमलोग युद्धमें शत्रुओंके लिये अजेय हैं। इन्द्र भी हमें रणमें परास्त नहीं कर सकते। फिर धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी तो बात ही क्या है? ।। १३४-१३५ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तेऽभिमुखा वीरा वासुदेवमुपास्थिताः ।
तेषां मध्ये महाबाहुः केशवो वाक्यमब्रवीत् ।। १३६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धृष्टद्युम्नके ऐसा कहनेपर वहाँ बैठे हुए वीर भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखने लगे। उनके बीचमें बैठे हुए महाबाहु केशवने उनसे ऐसा कहा ।। १३६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपद्याश्वासने द्वादशोऽध्यायः ।। १२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदी-आश्वासनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२ ।।

---

* यत्रसायंगृह मुनि वे होते हैं, जो जहाँ सायंकाल हो जाता है वहीं घरकी तरह रातभर निवास करते हैं।

* आदिपर्वके १४७वें अध्यायके लाक्षागृहदाहप्रसंगमें बतलाया है कि ‘भीमसेनने माताको तो कंधेपर चढ़ा लिया और नकुल-सहदेवको गोदमें उठा लिया तथा शेष दोनों भाइयोंको दोनों हाथोंसे पकड़कर उन्हें सहारा देते हुए चलने लगे।’ इस कथनसे द्रौपदीके वचन भिन्न हैं; क्योंकि द्रौपदीका उस समय विवाह नहीं हुआ था, अतः द्रौपदी इस बातको ठीक-ठीक नहीं जानती थी, इसीसे वह लोगोंके मुखसे सुनी-सुनायी बात अनुमानसे कह रही है; अतः लाक्षागृहदाहके प्रसंगकी बात ही ठीक है।

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका जूएके दोष बताते हुए पाण्डवोंपर आयी हुई विपत्तिमें अपनी अनुपस्थितिको कारण मानना

वासुदेव उवाच

नैतत् कृच्छ्रमनुप्राप्तो भवान् स्याद् वसुधाधिप ।
यद्यहं द्वारकायां स्यां राजन् संनिहितः पुरा ।। १ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—राजन्! यदि मैं पहले द्वारकामें या उसके निकट होता तो आप इस भारी संकटमें नहीं पड़ते ।। १ ।।

आगच्छेयमहं द्यूतमनाहूतोऽपि कौरवैः ।
आम्बिकेयेन दुर्धर्ष राज्ञा दुर्योधनेन च ।
वारयेयमहं द्यूतं बहून् दोषान् प्रदर्शयन् ।। २ ।।

दुर्जय वीर! अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र, राजा दुर्योधन तथा अन्य कौरवोंके बिना बुलाये भी मैं उस द्यूतसभामें आता और जूएके अनेक दोष दिखाकर उसे रोकनेकी चेष्टा करता ।। २ ।।

भीष्मद्रोणौ समानाय्य कृपं बाह्लीकमेव च ।
वैचित्रवीर्यं राजानमलं द्यूतेन कौरव ।। ३ ।।
पुत्राणां तव राजेन्द्र त्वन्निमित्तमिति प्रभो ।
तत्राचक्षमहं दोषान् यैर्भवान् व्यतिरोपितः ।। ४ ।।

प्रभो! मैं आपके लिये भीष्म, द्रोण, कृप, बाह्लीक तथा राजा धृतराष्ट्रको बुलाकर कहता—'कुरुवंशके महाराज! आपके पुत्रोंको जूआ नहीं खेलना चाहिये।' राजन्! मैं द्यूतसभामें जूएके उन दोषोंको स्पष्टरूपसे बताता, जिनके कारण आपको अपने राज्यसे वंचित होना पड़ा है ।। ३-४ ।।

वीरसेनसुतो यैस्तु राज्यात् प्रभ्रंशितः पुरा ।
अतर्कितविनाशश्च देवनेन विशाम्पते ।। ५ ।।

तथा जिन दोषोंने पूर्वकालमें वीरसेनपुत्र महाराज नलको राजसिंहासनसे च्युत किया। नरेश्वर! जूआ खेलनेसे सहसा ऐसा सर्वनाश उपस्थित हो जाता है, जो कल्पनामें भी नहीं आ सकता ।। ५ ।।

सातत्यं च प्रसङ्गस्य वर्णयेयं यथातथम् ।। ६ ।।

इसके सिवा उससे सदा जूआ खेलनेकी आदत बन जाती है। यह सब बातें मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ ।। ६ ।।

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत् कामसमुत्थितम् ।
दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः ।। ७ ।।
तत्र सर्वत्र वक्तव्यं मन्यन्ते शास्त्रकोविदाः ।
विशेषतश्च वक्तव्यं द्यूते पश्यन्ति तद्विदः ।। ८ ।।

स्त्रियोंके प्रति आसक्ति, जूआ खेलना, शिकार खेलनेका शौक और मद्यपान—ये चार प्रकारके भोग कामनाजनित दुःख बताये गये हैं, जिनके कारण मनुष्य अपने धन-ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है। शास्त्रोंके निपुण विद्वान् सभी परिस्थितियोंमें इन चारोंको निन्दनीय मानते हैं; परंतु द्यूतक्रीडाको तो जूएके दोष जाननेवाले लोग विशेषरूपसे निन्दनीय समझते हैं ।। ७-८ ।।

एकाहाद् द्रव्यनाशोऽत्र ध्रुवं व्यसनमेव च ।
अभुक्तनाशश्चार्थानां वाक्पारुष्यं च केवलम् ।। ९ ।।
एतच्चान्यच्च कौरव्य प्रसङ्गिकटुकोदयम् ।
द्यूते ब्रूयां महाबाहो समासाद्याम्बिकासुतम् ।। १० ।।

जूएसे एक ही दिनमें सारे धनका नाश हो जाता है। साथ ही जूआ खेलनेसे उसके प्रति आसक्ति होनी निश्चित है। समस्त भोग-पदार्थोंका बिना भोगे ही नाश हो जाता है और बदलेमें केवल कटुवचन सुननेको मिलते हैं। कुरुनन्दन! ये तथा और भी बहुत-से दोष हैं, जो जूएके प्रसंगसे कटु परिणाम उत्पन्न करनेवाले हैं। महाबाहो! मैं धृतराष्ट्रसे मिलकर जूएके ये सभी दोष बतलाता ।। ९-१० ।।

एवमुक्तो यदि मया गृह्णीयाद् वचनं मम ।
अनामयं स्याद् धर्मश्च कुरूणां कुरुवर्धन ।। ११ ।।

कुरुवर्धन! मेरे इस प्रकार समझाने-बुझानेपर यदि वे मेरी बात मान लेते तो कौरवोंमें शान्ति बनी रहती और धर्मका भी पालन होता ।। ११ ।।

न चेत् स मम राजेन्द्र गृह्णीयान्मधुरं वचः ।
पथ्यं च भरतश्रेष्ठ निगृह्णीयां बलेन तम् ।। १२ ।।

राजेन्द्र! भरतश्रेष्ठ! यदि वे मेरे मधुर एवं हितकर वचनको सुनकर उसे न मानते तो मैं उन्हें बलपूर्वक रोक देता ।। १२ ।।

अथैनमपनीतेन सुहृदो नाम दुर्हृदः ।
सभासदोऽनुवर्तेरंस्तांश्च हन्यां दुरोदरान् ।। १३ ।।

यदि वहाँ सुहृद्नामधारी शत्रु अन्यायका आश्रय ले इस धृतराष्ट्रका साथ देते तो मैं उन सभासद जुआरियोंको मार डालता ।। १३ ।।

असांनिध्यं तु कौरव्य ममानर्तेष्वभूत् तदा ।
येनेदं व्यसनं प्राप्ता भवन्तो द्यूतकारितम् ।। १४ ।।

कुरुश्रेष्ठ! मैं उन दिनों आनर्तदेशमें ही नहीं था, इसीलिये आपलोगोंपर यह द्यूतजनित संकट आ गया ।। १४ ।।

सोऽहमेत्य कुरुश्रेष्ठ द्वारकां पाण्डुनन्दन ।
अश्रौषं त्वां व्यसनिनं युयुधानाद् यथातथम् ।। १५ ।।

कुरुप्रवर पाण्डुनन्दन! जब मैं द्वारकामें आया, तब सात्यकिसे आपके संकटमें पड़नेका यथावत् समाचार सुना ।। १५ ।।

श्रुत्वैव चाहं राजेन्द्र परमोद्विग्नमानसः ।
तूर्णमभ्यागतोऽस्मि त्वां द्रष्टुकामो विशाम्पते ।। १६ ।।

राजेन्द्र! वह सुनते ही मेरा मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और प्रजेश्वर! मैं तुरंत ही आपसे मिलनेके लिये चला आया ।। १६ ।।

अहो कृच्छ्रमनुप्राप्ताः सर्वे स्म भरतर्षभ ।
सोऽहं त्वां व्यसने मग्नं पश्यामि सह सोदरैः ।। १७ ।।

भरतकुलभूषण! अहो! आप सब लोग बड़ी कठिनाईमें पड़ गये हैं। मैं तो आपको सब भाइयोंसहित विपत्तिके समुद्रमें डूबा हुआ देख रहा हूँ ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि वासुदेववाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः ।। १३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें वासुदेववाक्यविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३ ।।

चतुर्दशोऽध्यायः

द्यूतके समय न पहुँचनेमें श्रीकृष्णके द्वारा शाल्वके साथ युद्ध करने और सौभविमानसहित उसे नष्ट करनेका संक्षिप्त वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

असांनिध्यं कथं कृष्ण तवासीद् वृष्णिनन्दन ।
क्व चासीद् विप्रवासस्ते किं चाकार्षीः प्रवासतः ।। १ ।।

युधिष्ठिरने कहा—वृष्णिकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीकृष्ण! जब यहाँ द्यूतक्रीडाका आयोजन हो रहा था, उस समय तुम द्वारकामें क्यों अनुपस्थित रहे? उन दिनों तुम्हारा निवास कहाँ था और उस प्रवासके द्वारा तुमने कौन-सा कार्य सिद्ध किया? ।। १ ।।

श्रीकृष्ण उवाच

शाल्वस्य नगरं सौभं गतोऽहं भरतर्षभ ।
निहन्तुं कौरवश्रेष्ठ तत्र मे शृणु कारणम् ।। २ ।।
महातेजा महाबाहुर्यः स राजा महायशाः ।
दमघोषात्मजो वीरः शिशुपालो मया हतः ।। ३ ।।
यज्ञे ते भरतश्रेष्ठ राजसूयेऽर्हणां प्रति ।
स रोषवशमापन्नो नामृष्यत दुरात्मवान् ।। ४ ।।
श्रुत्वा तं निहतं शाल्वस्तीव्ररोषसमन्वितः ।
उपायाद् द्वारकां शून्यामिहस्थे मयि भारत ।। ५ ।।

श्रीकृष्णने कहा—भरतवंशशिरोमणे! कुरुकुलभूषण! मैं उन दिनों शाल्वके सौभ नामक नगराकार विमानको नष्ट करनेके लिये गया हुआ था। इसका क्या कारण था, वह बतलाता हूँ, सुनिये। भरतश्रेष्ठ! आपके राजसूययज्ञमें अग्रपूजाके प्रश्नको लेकर जो क्रोधके वशीभूत हो इस कार्यको नहीं सह सका था और इसीलिये जिस दुरात्मा, महातेजस्वी, महाबाहु एवं महायशस्वी दमघोषनन्दन वीर राजा शिशुपालको मैंने मार डाला था; उसकी मृत्युका समाचार सुनकर शाल्व प्रचण्ड रोषसे भर गया। भारत! मैं तो यहाँ हस्तिनापुरमें था और वह हमलोगोंसे सूनी द्वारकापुरीमें जा पहुँचा ।। २—५ ।।

स तत्र योधितो राजन् कुमारैर्वृष्णिपुङ्गवैः ।
आगतः कामगं सौभमारुह्यैव नृशंसवत् ।। ६ ।।

राजन्! वहाँ वृष्णिवंशके श्रेष्ठ कुमारोंने उसके साथ युद्ध किया। वह इच्छानुसार चलनेवाले सौभ नामक विमानपर बैठकर आया और क्रूर मनुष्यकी भाँति यादवोंकी हत्या

करने लगा ।। ६ ।।

ततो वृष्णिप्रवीरांस्तान् बालान् हत्वा बहूंस्तदा ।
पुरोद्यानानि सर्वाणि भेदयामास दुर्मतिः ।। ७ ।।

उस खोटी बुद्धिवाले शाल्वने वृष्णिवंशके बहुतेरे बालकोंका वध करके नगरके सब बगीचोंको उजाड़ डाला ।। ७ ।।

उक्तवांश्च महाबाहो क्वासौ वृष्णिकुलाधमः ।
वासुदेवः स मन्दात्मा वसुदेवसुतो गतः ।। ८ ।।

महाबाहो! उसने यादवोंसे पूछा—'वह वृष्णिकुलका कलंक मन्दात्मा वसुदेवपुत्र वासुदेव कहाँ है? ।। ८ ।।

तस्य युद्धार्थिनो दर्पं युद्धे नाशयितास्म्यहम् ।
आनर्ताः सत्यमाख्यात तत्र गन्तास्मि यत्र सः ।। ९ ।।
तं हत्वा विनिवर्तिष्ये कंसकेशिनिषूदनम् ।
अहत्वा न निवर्तिष्ये सत्येनायुधमालभे ।। १० ।।

'उसे युद्धकी बड़ी इच्छा रहती है, आज उसके घमंडको मैं चूर कर दूँगा। आनर्तनिवासियो! सच-सच बतला दो। वह कहाँ है? जहाँ होगा, वहीं जाऊँगा और कंस तथा केशीका संहार करनेवाले उस कृष्णको मारकर ही लौटूँगा। मैं अपने अस्त्र-शस्त्रोंको छूकर सत्यकी सौगन्ध खाता हूँ कि अब कृष्णको मारे बिना नहीं लौटूँगा' ।। ९-१० ।।

क्वासौ क्वासाविति पुनस्तत्र तत्र प्रधावति ।
मया किल रणे योद्धुं काङ्क्षमाणः स सौभराट् ।। ११ ।।

सौभविमानका स्वामी शाल्व संग्रामभूमिमें मेरे साथ युद्धकी इच्छा रखकर चारों ओर दौड़ता और सबसे यही पूछता था कि 'वह कहाँ है, कहाँ है?' ।। ११ ।।

अद्य तं पापकर्माणं क्षुद्रं विश्वासघातिनम् ।
शिशुपालवधामर्षाद् गमयिष्ये यमक्षयम् ।। १२ ।।
मम पापस्वभावेन भ्राता येन निपातितः ।
शिशुपालो महीपालस्तं वधिष्ये महीपते ।। १३ ।।

राजन्! साथ ही वह यह भी कहता था कि 'आज उस नीच पापाचारी और विश्वासघाती कृष्णको शिशुपालवधके अमर्षके कारण मैं यमलोक भेज दूँगा। उस पापीने मेरे भाई राजा शिशुपालको मार गिराया है, अतः मैं भी उसका वध करूँगा ।। १२-१३ ।।

भ्राता बालश्च राजा च न च संग्राममूर्धनि ।
प्रमत्तश्च हतो वीरस्तं हनिष्ये जनार्दनम् ।। १४ ।।

'मेरा भाई शिशुपाल अभी छोटी अवस्थाका था, दूसरे वह राजा था, तीसरे युद्धके मुहानेपर खड़ा नहीं था, चौथे असावधान था, ऐसी दशामें उस वीरकी जिसने हत्या की है, उस जनार्दनको मैं अवश्य मारूँगा' ।। १४ ।।

एवमादि महाराज विलप्य दिवमास्थितः ।
कामगेन स सौभेन क्षिप्त्वा मां कुरुनन्दन ।। १५ ।।

कुरुनन्दन! महाराज! इस प्रकार शिशुपालके लिये विलाप करके मुझपर आक्षेप करता हुआ वह इच्छानुसार चलनेवाले सौभ विमानद्वारा आकाशमें ठहरा हुआ था ।। १५ ।।

तमश्रौषमहं गत्वा यथावृत्तः स दुर्मतिः ।
मयि कौरव्य दुष्टात्मा मार्तिकावतको नृपः ।। १६ ।।

कुरुश्रेष्ठ! यहाँसे द्वारका जानेपर मैंने, मार्तिकावतक देशके निवासी दुष्टात्मा एवं दुर्बुद्धि राजा शाल्वने मेरे प्रति जो दुष्टतापूर्ण बर्ताव किया था (आक्षेपपूर्ण बातें कही थीं), वह सब कुछ सुना ।। १६ ।।

ततोऽहमपि कौरव्य रोषव्याकुलमानसः ।
निश्चित्य मनसा राजन् वधायास्य मनो दधे ।। १७ ।।

कुरुनन्दन! तब मेरा मन भी रोषसे व्याकुल हो उठा। राजन्! फिर मन-ही-मन कुछ निश्चय करके मैंने शाल्वके वधका विचार किया ।। १७ ।।

आनर्तेषु विमर्दं च क्षेपं चात्मनि कौरव ।
प्रवृद्धमवलेपं च तस्य दुष्कृतकर्मणः ।। १८ ।।
ततः सौभवधायाहं प्रतस्थे पृथिवीपते ।
स मया सागरावर्ते दृष्ट आसीत् परीप्सता ।। १९ ।।

कुरुप्रवर! पृथ्वीपते! उसने आनर्त देशमें जो महान् संहार मचा रखा था, वह मुझपर जो आक्षेप करता था तथा उस पापाचारीका घमंड जो बहुत बढ़ गया था, वह सब सोचकर मैं सौभनगरका नाश करनेके लिये प्रस्थित हुआ। मैंने सब ओर उसकी खोज की तो वह मुझे समुद्रके एक द्वीपमें दिखायी दिया ।। १८-१९ ।।

ततः प्रध्माप्य जलजं पाञ्चजन्यमहं नृप ।
आहूय शाल्वं समरे युद्धाय समवस्थितः ।। २० ।।

नरेश्वर! तदनन्तर मैंने पाञ्चजन्य शंख बजाकर शाल्वको समरभूमिमें बुलाया और स्वयं भी युद्धके लिये उपस्थित हुआ ।। २० ।।

तन्मुहूर्तमभूद् युद्धं तत्र मे दानवैः सह ।
वशीभूताश्च मे सर्वे भूतले च निपातिताः ।। २१ ।।

वहाँ सौभनिवासी दानवोंके साथ दो घड़ीतक मेरा युद्ध हुआ और मैंने सबको वशमें करके पृथ्वीपर मार गिराया ।। २१ ।।

एतत् कार्यं महाबाहो येनाहं नागमं तदा ।
श्रुत्वैव हास्तिनपुरं द्यूतं चाविनयोत्थितम् ।
द्रुतमागतवान् युष्मान् द्रष्टुकामः सुदुःखितान् ।। २२ ।।

महाबाहो! यही कार्य उपस्थित हो गया था, जिससे मैं उस समय न आ सका। लौटनेपर ज्यों ही सुना कि हस्तिनापुरमें दुर्योधनकी उद्दण्डताके कारण जूआ खेला गया (और पाण्डव उसमें सब कुछ हारकर वनको चले गये); तब अत्यन्त दुःखमें पड़े हुए आपलोगोंको देखनेके लिये मैं तुरंत यहाँ चला आया ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ।। १४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४ ।।

पञ्चदशोऽध्यायः

सौभनाशकी विस्तृत कथाके प्रसंगमें द्वारकामें युद्धसम्बन्धी रक्षात्मक तैयारियोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

वासुदेव महाबाहो विस्तरेण महामते ।
सौभस्य वधमाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यतः ।। १ ।।

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहो! वसुदेवनन्दन! महामते! तुम सौभ-विमानके नष्ट होनेका समाचार विस्तारपूर्वक कहो। मैं तुम्हारे मुखसे इस प्रसंगको सुनते-सुनते तृप्त नहीं हो रहा हूँ ।। १ ।।

वासुदेव उवाच

हतं श्रुत्वा महाबाहो मया श्रौतश्रवं नृप ।
उपायाद् भरतश्रेष्ठ शाल्वो द्वारवतीं पुरीम् ।। २ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—महाबाहो! नरेश्वर! भरतश्रेष्ठ! श्रुतश्रवा* के पुत्र शिशुपालके मारे जानेका समाचार सुनकर शाल्वने द्वारकापुरीपर चढ़ाई की ।। २ ।।

अरुन्धत्तां सुदुष्टात्मा सर्वतः पाण्डुनन्दन ।
शाल्वो वैहायसं चापि तत् पुरं व्यूह्य विष्ठितः ।। ३ ।।

पाण्डुनन्दन! उस दुष्टात्मा शाल्वने सेनाद्वारा द्वारकापुरीको सब ओरसे घेर लिया था। वह स्वयं आकाशचारी विमान सौभपर व्यूहरचनापूर्वक विराजमान हो रहा था ।। ३ ।।

तत्रस्थोऽथ महीपालो योधयामास तां पुरीम् ।
अभिसारेण सर्वेण तत्र युद्धमवर्तत ।। ४ ।।

उसीपर रहकर राजा शाल्व द्वारकापुरीके लोगोंसे युद्ध करता था। वहाँ भारी युद्ध छिड़ा हुआ था और उसमें सभी दिशाओंसे अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहार हो रहे थे ।। ४ ।।

पुरी समन्ताद् विहिता सपताका सतोरणा ।
सचक्रा सहुडा चैव सयन्त्रखनका तथा ।। ५ ।।

द्वारकापुरीमें सब ओर पताकाएँ फहरा रही थीं। ऊँचे-ऊँचे गोपुर वहाँ चारों दिशाओंमें सुशोभित थे। जगह-जगह सैनिकोंके समुदाय युद्धके लिये प्रस्तुत थे। सैनिकोंके आत्मरक्षापूर्वक युद्धकी सुविधाके लिये स्थान-स्थानपर बुर्ज बने हुए थे। युद्धोपयोगी यन्त्र वहाँ बैठाये गये थे; तथा सुरंगद्वारा नये-नये मार्ग निकालनेके काममें भी बहुत-से लोग जुटे हुए थे ।। ५ ।।

सोपशल्यप्रतोलीका साट्टाट्टालकगोपुरा ।

सचक्रग्रहणी चैव सोल्कालातावपोथिका ।। ६ ।।

सड़कोंपर लोहेके विषाक्त काँटे अदृश्यरूपसे बिछाये गये थे। अट्टालिकाओं और गोपुरोंमें पर्याप्त अन्नका संग्रह किया गया था। शत्रुपक्षके प्रहारोंको रोकनेके लिये जगह-जगह मोर्चेबन्दी की गयी थी। शत्रुओंके चलाये हुए जलते गोले और अलात (प्रज्वलित लौहमय अस्त्र)-को भी विफल करके नीचे गिरा देनेवाली शक्तियाँ सुसज्जित थीं ।। ६ ।।

सोष्ट्रिका भरतश्रेष्ठ सभेरीपणवानका ।
सतोमराङ्कुशा राजन् सशतघ्नीकलाङ्गला ।। ७ ।।
सभुशुण्ड्यश्मगुडका सायुधा सपरश्वधा ।
लोहचर्मवती चापि साग्निः सगुडशृङ्गिका ।। ८ ।।

अस्त्रोंसे भरे हुए मिट्टी और चमड़ेके असंख्य पात्र रखे गये थे। भरतश्रेष्ठ! ढोल, नगारे और मृदंग आदि जुझाऊ बाजे भी बज रहे थे। राजन्! तोमर, अंकुश, शतघ्नी, लांगल, भुशुण्डी, पत्थरके गोले, अन्यान्य अस्त्र-शस्त्र, फरसे, बहुत-सी सुदृढ़ ढालें और गोला-बारूदसे भरी हुई तोपें यथास्थान तैयार रखी गयी थीं ।। ७-८ ।।

शास्त्रदृष्टेन विधिना सुयुक्ता भरतर्षभ ।
रथैरनेकैर्विविधैर्गदसाम्बोद्धवादिभिः ।। ९ ।।
पुरुषैः कुरुशार्दूल समर्थैः प्रतिवारणे ।

अतिख्यातकुलैर्वीरैर्दृष्टवीर्यैश्च संयुगे ॥ १० ॥
मध्यमेन च गुल्मेन रक्षिभिः सा सुरक्षिता ।
उत्क्षिप्तगुल्मैश्च तथा हयैश्च सपताकिभिः ॥ ११ ॥
आघोषितं च नगरे न पातव्या सुरेति वै ।
प्रमादं परिरक्षद्भिरुग्रसेनोद्धवादिभिः ॥ १२ ॥

भरतकुलभूषण! शास्त्रोक्त विधिसे द्वारकापुरीको रक्षाके सभी उत्तम उपायोंसे सम्पन्न किया गया था। कुरुश्रेष्ठ! शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ गद, साम्ब और उद्धव आदि अनेक वीर पुरुष नाना प्रकारके बहुसंख्यक रथोंद्वारा पुरीकी रक्षामें दत्तचित थे। जो अत्यन्त विख्यात कुलोंमें उत्पन्न थे तथा युद्धके अवसरोंपर जिनके बल-वीर्यका परिचय मिल चुका था, ऐसे वीर रक्षक मध्यम गुल्म (नगरके मध्यवर्ती दुर्ग)-में स्थित हो पुरीकी पूर्णतः रक्षा कर रहे थे। सबको प्रमादसे बचानेवाले उग्रसेन और उद्धव आदिने शत्रुओंके गुल्मोंको नष्ट करनेकी शक्ति रखनेवाले घुड़सवारोंके हाथमें झंडे देकर समूचे नगरमें यह घोषणा करा दी थी कि किसीको भी मद्यपान नहीं करना चाहिये ॥ ९—१२ ॥

प्रमत्तेष्वभिघातं हि कुर्याच्छाल्वो नराधिपः ।
इति कृत्वाप्रमत्तास्ते सर्वे वृष्ण्यन्धकाः स्थिताः ॥ १३ ॥

क्योंकि मदिरासे उन्मत्त हुए लोगोंपर राजा शाल्व घातक प्रहार कर सकता है। यह सोचकर वृष्णि और अन्धकवंशके सभी योद्धा पूरी सावधानीके साथ युद्धमें डटे हुए थे ॥ १३ ॥

आनर्ताश्च तथा सर्वे नटा नर्तकगायनाः ।
बहिर्निर्वासिताः क्षिप्रं रक्षद्भिर्वित्तसंचयम् ॥ १४ ॥

धनसंग्रहकी रक्षा करनेवाले यादवोंने आनर्तदेशीय नटों, नर्तकों तथा गायकोंको शीघ्र ही नगरसे बाहर कर दिया था ॥ १४ ॥

संक्रमा भेदिताः सर्वे नावश्च प्रतिषेधिताः ।
परिखाश्चापि कौरव्य कालैः सुनिचिताः कृताः ॥ १५ ॥

कुरुनन्दन! द्वारकापुरीमें आनेके लिये जो पुल मार्गमें पड़ते थे वे सब तोड़ दिये गये। नौकाएँ रोक दी गयी थीं और खाइयोंमें काँटे बिछा दिये गये थे ॥ १५ ॥

उदपानाः कुरुश्रेष्ठ तथैवाप्यम्बरीषकाः ।
समन्तात् क्रोशमात्रं च कारिता विषमा च भूः ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ! द्वारकापुरीके चारों ओर एक कोसतकके चारों ओरके कुएँ इस प्रकार जलशून्य कर दिये गये थे मानो भाड़ हों और उतनी दूरकी भूमि भी लौहकण्टक आदिसे व्याप्त कर दी गयी थी ॥ १६ ॥

प्रकृत्या विषमं दुर्गं प्रकृत्या च सुरक्षितम् ।
प्रकृत्या चायुधोपेतं विशेषेण तदानघ ॥ १७ ॥

निष्पाप नरेश! द्वारका एक तो स्वभावसे ही दुर्गम्य, सुरक्षित और अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न है, तथापि उस समय इसकी विशेष व्यवस्था कर दी गयी थी ।। १७ ।।

सुरक्षितं सुगुप्तं च सर्वायुधसमन्वितम् ।
तत् पुरं भरतश्रेष्ठ यथेन्द्रभवनं तथा ।। १८ ।।

भरतश्रेष्ठ! द्वारकानगर इन्द्रभवनकी भाँति ही सुरक्षित, सुगुप्त और सम्पूर्ण आयुधोंसे भरा-पूरा है ।। १८ ।।

न चामुद्रोऽभिनिर्याति न चामुद्रः प्रवेश्यते ।
वृष्ण्यन्धकपुरे राजंस्तदा सौभसमागमे ।। १९ ।।

राजन्! सौभनिवासियोंके साथ युद्ध होते समय वृष्णि और अन्धकवंशी वीरोंके उस नगरमें कोई भी राजमुद्रा (पास)-के बिना न तो बाहर निकल सकता था और न बाहरसे नगरके भीतर ही आ सकता था ।। १९ ।।

अनुरथ्यासु सर्वासु चत्वरेषु च कौरव ।
बलं बभूव राजेन्द्र प्रभूतगजवाजिमत् ।। २० ।।

कुरुनन्दन राजेन्द्र! वहाँ प्रत्येक सड़क और चौराहेपर बहुत-से हाथीसवार और घुड़सवारोंसे युक्त विशाल सेना उपस्थित रहती थी ।। २० ।।

दत्तवेतनभक्तं च दत्तायुधपरिच्छदम् ।
कृतोपधानं च तदा बलमासीन्महाभुज ।। २१ ।।

महाबाहो! उस समय सेनाके प्रत्येक सैनिकको पूरा-पूरा वेतन और भत्ता चुका दिया गया था। सबको नये-नये हथियार और पोशाकें दी गयी थीं और उन्हें विशेष पुरस्कार आदि देकर उनका प्रेम और विश्वास प्राप्त कर लिया गया था ।। २१ ।।

न कुप्यवेतनी कश्चिन्न चातिक्रान्तवेतनी ।
नानुग्रहभृतः कश्चिन्न चादृष्टपराक्रमः ।। २२ ।।

कोई भी सैनिक ऐसा नहीं था जिसे सोने-चाँदीके सिवा ताँबा आदि वेतनके रूपमें दिया जाता हो अथवा जिसे समयपर वेतन न प्राप्त हुआ हो। किसी भी सैनिकको दयावश सेनामें भर्ती नहीं किया गया था तथा कोई भी ऐसा न था जिसका पराक्रम बहुत दिनोंसे देखा न गया हो ।। २२ ।।

एवं सुविहिता राजन् द्वारका भूरिदक्षिणा ।
आहुकेन सुगुप्ता च राज्ञा राजीवलोचन ।। २३ ।।

कमलनयन राजन्! जिसमें बहुत-से दक्ष मनुष्य निवास करते थे उस द्वारकानगरीकी रक्षाके लिये इस प्रकारकी व्यवस्था की गयी थी। वह राजा उग्रसेनके द्वारा भलीभाँति सुरक्षित थी ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने पञ्चदशोऽध्यायः ।। १५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५ ।।

---

* श्रुतश्रवा शिशुपालकी माताका नाम है। यह वसुदेवजीकी बहिन थी।

षोडशोऽध्यायः

शाल्वकी विशाल सेनाके आक्रमणका यादवसेनाद्वारा प्रतिरोध, साम्बद्वारा क्षेमवृद्धिकी पराजय, वेगवान्‌का वध तथा चारुदेष्णद्वारा विविन्ध्य दैत्यका वध एवं प्रद्युम्नद्वारा सेनाको आश्वासन

वासुदेव उवाच

तां तूपयातो राजेन्द्र शाल्वः सौभपतिस्तदा ।
प्रभूतनरनागेन बलेनोपविवेश ह ।। १ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजेन्द्र! सौभ विमानका स्वामी राजा शाल्व अपनी बहुत बड़ी सेनाके साथ, जिसमें हाथीसवारों तथा पैदलोंकी संख्या अधिक थी, द्वारकापुरीपर चढ़ आया और उसके निकट आकर ठहरा ।। १ ।।

समे निविष्टा सा सेना प्रभूतसलिलाशये ।
चतुरङ्गबलोपेता शाल्वराजाभिपालिता ।। २ ।।

जहाँ अधिक जलसे भरा हुआ जलाशय था, वहीं समतल भूमिमें उसकी सेनाने पड़ाव डाला। उसमें हाथीसवार, घुड़सवार, रथी और पैदल चारों प्रकारके सैनिक थे। स्वयं राजा शाल्व उसका संरक्षक था ।। २ ।।

वर्जयित्वा श्मशानानि देवताऽऽयतनानि च ।
वल्मीकांश्चैत्यवृक्षांश्च तन्निविष्टमभूद् बलम् ।। ३ ।।

श्मशानभूमि, देवमन्दिर, बाँबी और चैत्यवृक्षको छोड़कर सभी स्थानोंमें उसकी सेना फैलकर ठहरी हुई थी ।। ३ ।।

अनीकानां विभागेन पन्थानः संवृताऽभवन् ।
प्रवणाय च नैवासञ्छाल्वस्य शिविरे नृप ।। ४ ।।

सेनाओंके विभागपूर्वक पड़ाव डालनेसे सारे रास्ते घिर गये थे। राजन्! शाल्वके शिविरमें प्रवेश करनेका कोई मार्ग नहीं रह गया था ।। ४ ।।

सर्वायुधसमोपेतं सर्वशस्त्रविशारदम् ।
रथनागाश्वकलिलं पदातिध्वजसंकुलम् ।। ५ ।।
तुष्टपुष्टबलोपेतं वीरलक्षणलक्षितम् ।
विचित्रध्वजसन्नाहं विचित्ररथकार्मुकम् ।। ६ ।।
संनिवेश्य च कौरव्य द्वारकायां नरर्षभ ।
अभिसारयामास तदा वेगेन पतगेन्द्रवत् ।। ७ ।।

नरश्रेष्ठ! राजा शाल्वकी वह सेना सब प्रकारके आयुधोंसे सम्पन्न, सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके संचालनमें निपुण, रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई तथा पैदल सिपाहियों और ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त थी। उसका प्रत्येक सैनिक हृष्ट-पुष्ट एवं बलवान् था। सबमें वीरोचित लक्षण दिखायी देते थे। उस सेनाके सिपाही विचित्र ध्वजा तथा कवच धारण करते थे। उनके रथ और धनुष भी विचित्र थे। कुरुनन्दन! द्वारकाके समीप उस सेनाको ठहराकर राजा शाल्वने उसे वेगपूर्वक द्वारकाकी ओर बढ़ाया; मानो पक्षिराज गरुड़ अपने लक्ष्यकी ओर उड़े जा रहे हों ।। ५—७ ।।

तदापतन्तं संदृश्य बलं शाल्वपतेस्तदा ।
निर्याय योधयामासुः कुमारा वृष्णिनन्दनाः ।। ८ ।।

शाल्वराजकी उस सेनाको आती देख उस समय वृष्णिकुलको आनन्दित करनेवाले कुमार नगरसे बाहर निकलकर युद्ध करने लगे ।। ८ ।।

असहन्तोऽभियानं तच्छाल्वराजस्य कौरव ।
चारुदेष्णश्च साम्बश्च प्रद्युम्नश्च महारथः ।। ९ ।।
ते रथैर्दंशिताः सर्वे विचित्राभरणध्वजाः ।
संसक्ताः शाल्वराजस्य बहुभिर्योधपुङ्गवैः ।। १० ।।

कुरुनन्दन! शाल्वराजके उस आक्रमणको वे सहन न कर सके। चारुदेष्ण, साम्ब और महारथी प्रद्युम्न—ये सब कवच, विचित्र आभूषण तथा ध्वजा धारण करके रथोंपर बैठकर शाल्वराजके अनेक श्रेष्ठ योद्धाओंके साथ भिड़ गये ।। ९-१० ।।

गृहीत्वा कार्मुकं साम्बः शाल्वस्य सचिवं रणे ।
योधयामास संहृष्टः क्षेमवृद्धिं चमूपतिम् ।। ११ ।।

हर्षमें भरे हुए साम्बने धनुष धारण करके शाल्वके मन्त्री तथा सेनापति क्षेमवृद्धिके साथ युद्ध किया ।। ११ ।।

तस्य बाणमयं वर्षं जाम्बवत्याः सुतो महत् ।
मुमोच भरतश्रेष्ठ यथा वर्षं सहस्रदृक् ।। १२ ।।
तद् बाणवर्षं तुमुलं विषेहे स चमूपतिः ।
क्षेमवृद्धिर्महाराज हिमवानिव निश्चलः ।। १३ ।।

भरतश्रेष्ठ! जाम्बवतीकुमारने उसके ऊपर भारी बाणवर्षा की, मानो इन्द्र जलकी वर्षा कर रहे हों। महाराज! सेनापति क्षेमवृद्धिने साम्बकी उस भयंकर बाणवर्षाको हिमालयकी भाँति अविचल रहकर सहन किया ।। १२-१३ ।।

ततः साम्बाय राजेन्द्र क्षेमवृद्धिरपि स्वयम् ।
मुमोच मायाविहितं शरजालं महत्तरम् ।। १४ ।।

राजेन्द्र! तदनन्तर क्षेमवृद्धिने स्वयं भी साम्बके ऊपर मायानिर्मित बाणोंकी भारी वर्षा प्रारम्भ की ।। १४ ।।

ततो मायामयं जालं माययैव विदीर्य सः ।
साम्बः शरसहस्रेण रथमस्याभ्यवर्षत ।। १५ ।।

साम्बने उस मायामय बाणजालको मायासे ही छिन्न-भिन्न करके क्षेमवृद्धिके रथपर सहस्रों बाणोंकी झड़ी लगा दी ।। १५ ।।

ततः स विद्धः साम्बेन क्षेमवृद्धिश्चमूपतिः ।
अपायाज्जवनैरश्वैः साम्बबाणप्रपीडितः ।। १६ ।।

साम्बने सेनापति क्षेमवृद्धिको अपने बाणोंसे घायल कर दिया। वह साम्बकी बाणवर्षासे पीड़ित हो शीघ्रगामी अश्वोंकी सहायतासे (लड़ाईका मैदान छोड़कर) भाग गया ।। १६ ।।

तस्मिन् विप्रद्रुते क्रूरे शाल्वस्याथ चमूपतौ ।

वेगवान् नाम दैतेयः सुतं मेऽभ्यद्रवद् बली ।। १७ ।।

शाल्वके क्रूर सेनापति क्षेमवृद्धिके भाग जाने-पर वेगवान् नामक बलवान् दैत्यने मेरे पुत्रपर आक्रमण किया ।। १७ ।।

अभिपन्नस्तु राजेन्द्र साम्बो वृष्णिकुलोद्वहः ।
वेगं वेगवतो राजंस्तस्थौ वीरो विधारयन् ।। १८ ।।

राजेन्द्र! वृष्णिवंशका भार वहन करनेवाला वीर साम्ब वेगवान्के वेगको सहन करते हुए धैर्यपूर्वक उसका सामना करने लगा ।। १८ ।।

स वेगवति कौन्तेय साम्बो वेगवतीं गदाम् ।
चिक्षेप तरसा वीरो व्याविद्धय सत्यविक्रमः ।। १९ ।।

कुन्तीनन्दन! सत्यपराक्रमी वीर साम्बने अपनी वेगशालिनी गदाको बड़े वेगसे घुमाकर वेगवान् दैत्यके सिरपर दे मारा ।। १९ ।।

तया त्वभिहतो राजन् वेगवान् न्यपतद् भुवि ।
वातरुग्ण इव क्षुण्णो जीर्णमूलो वनस्पतिः ।। २० ।।

राजन्! उस गदासे आहत होकर वेगवान् इस प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो जीर्ण हुई जड़वाला पुराना वृक्ष हवाके वेगसे टूटकर धराशायी हो गया हो ।। २० ।।

तस्मिन् विनिहते वीरे गदानुन्ने महासुरे ।
प्रविश्य महतीं सेनां योधयामास मे सुतः ।। २१ ।।

गदासे घायल हुए उस वीर महादैत्यके मारे जानेपर मेरा पुत्र साम्ब शाल्वकी विशाल सेनामें घुसकर युद्ध करने लगा ।। २१ ।।

चारुदेष्णेन संसक्तो विविन्ध्यो नाम दानवः ।
महारथः समाज्ञातो महाराज महाधनुः ।। २२ ।।

महाराज! चारुदेष्णके साथ महारथी एवं महान् धनुर्धर विविन्ध्य नामक दानव शाल्वकी आज्ञासे युद्ध कर रहा था ।। २२ ।।

ततः सुतुमुलं युद्धं चारुदेष्णविविन्ध्ययोः ।
वृत्रवासवयो राजन् यथा पूर्वं तथाभवत् ।। २३ ।।

राजन्! तदनन्तर चारुदेष्ण और विविन्ध्यमें वैसा ही भयंकर युद्ध होने लगा, जैसा पहले इन्द्र और वृत्रासुरमें हुआ था ।। २३ ।।

अन्योन्यस्याभिसंक्रुद्धावन्योन्यं जघ्नतुः शरैः ।
विनदन्तौ महारावान् सिंहाविव महाबलौ ।। २४ ।।

वे दोनों एक-दूसरेपर कुपित हो बाणोंसे परस्पर आघात कर रहे थे और महाबली सिंहोंकी भाँति जोर-जोरसे गर्जना करते थे ।। २४ ।।

रौक्मिणेयस्ततो बाणमग्न्यर्कोपमवर्चसम् ।
अभिमन्त्र्य महास्त्रेण संदधे शत्रुनाशनम् ।। २५ ।।

तदनन्तर रुक्मिणीनन्दन चारुदेष्णने अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी शत्रुनाशक बाणको महान् (दिव्य) अस्त्रसे अभिमन्त्रित करके अपने धनुषपर संधान किया ।। २५ ।।

स विविन्ध्याय सक्रोधः समाहूय महारथः ।
चिक्षेप मे सुतो राजन् स गतासुरथापतत् ।। २६ ।।

राजन्! तत्पश्चात् मेरे उस महारथी पुत्रने क्रोधमें भरकर विविन्ध्यपर वह बाण चलाया। उसके लगते ही विविन्ध्य प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। २६ ।।

विविन्ध्यं निहतं दृष्ट्वा तां च विक्षोभितां चमूम् ।
कामगेन स सौभेन शाल्वः पुनरुपागमत् ।। २७ ।।

विविन्ध्यको मारा गया और सेनाको तहस-नहस हुई देख शाल्व इच्छानुसार चलनेवाले सौभ विमानद्वारा फिर वहाँ आया ।। २७ ।।

ततो व्याकुलितं सर्वं द्वारकावासि तद् बलम् ।
दृष्ट्वा शाल्वं महाबाहो सौभस्थं नृपते तदा ।। २८ ।।

महाबाहु नरेश्वर! उस समय सौभ विमानपर बैठे हुए शाल्वको देखकर द्वारकाकी सारी सेना भयसे व्याकुल हो उठी ।। २८ ।।

ततो निर्याय कौरव्य अवस्थाप्य च तद् बलम् ।
आनर्तानां महाराज प्रद्युम्नो वाक्यमब्रवीत् ।। २९ ।।

महाराज कुरुनन्दन! तब प्रद्युम्नने निकलकर आनर्तवासियोंकी उस सेनाको धीरज बँधाया और इस प्रकार कहा— ।। २९ ।।

सर्वे भवन्तस्तिष्ठन्तु सर्वे पश्यन्तु मां युधि ।
निवारयन्तं संग्रामे बलात् सौभं सराजकम् ।। ३० ।।

‘यादवो! आप सब लोग (चुपचाप) खड़े रहें और मेरे पराक्रमको देखें; मैं किस प्रकार युद्धमें राजा शाल्वके सहित सौभ विमानकी गतिको रोक देता हूँ ।। ३० ।।

अहं सौभपतेः सेनामायसैर्भुजगैरिव ।
धनुर्भुजविनिर्मुक्तैर्नाशयाम्यद्य यादवाः ।। ३१ ।।

‘यदुवंशियो! मैं अपने धनुर्दण्डसे छूटे हुए लोहेके सर्पतुल्य बाणोंद्वारा सौभपति शाल्वकी सेनाको अभी नष्ट किये देता हूँ’ ।। ३१ ।।

आश्वसध्वं न भीः कार्या सौभराडद्य नश्यति ।
मयाभिपन्नो दुष्टात्मा ससौभो विनशिष्यति ।। ३२ ।।

‘आप धैर्य धारण करें, भयभीत न हों, सौभराज अभी नष्ट हो रहा है। दुष्टात्मा शाल्व मेरा सामना होते ही सौभ विमानसहित नष्ट हो जायगा’ ।। ३२ ।।

एवं ब्रुवति संहृष्टे प्रद्युम्ने पाण्डुनन्दन ।
विष्ठितं तद् बलं वीर युयुधे च यथासुखम् ।। ३३ ।।

वीर पाण्डुनन्दन! हर्षमें भरे हुए प्रद्युम्नके ऐसा कहने पर वह सारी सेना स्थिर हो पूर्ववत् प्रसन्नता और उत्साहके साथ युद्ध करने लगी ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने षोडशोऽध्यायः ।। १६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६ ।।

श्रीकृष्णके द्वारा द्रौपदीको आश्वासन

सप्तदशोऽध्यायः

प्रद्युम्न और शाल्वका घोर युद्ध

वासुदेव उवाच

एवमुक्त्वा रौक्मिणेयो यादवान् भरतर्षभ ।
दंशितैर्हरिभिर्युक्तं रथमास्थाय काञ्चनम् ।। १ ।।
उच्छ्रित्य मकरं केतुं व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
उत्पतद्भिरिवाकाशं तैर्हयैरन्वयात् परान् ।। २ ।।
विक्षिपन् नादयंश्चापि धनुः श्रेष्ठं महाबलः ।
तूणखड्गधरः शूरो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।। ३ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! यादवोंसे ऐसा कहकर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न एक सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हुए, जिसमें बख्तर पहनाये हुए घोड़े जुते थे। उन्होंने अपनी मकरचिह्नित ध्वजाको ऊँचा किया, जो मुँह बाये हुए कालके समान प्रतीत होती थी। उनके रथके घोड़े ऐसे चलते थे, मानो आकाशमें उड़े जा रहे हों। ऐसे अश्वोंसे जुते हुए रथके द्वारा महाबली प्रद्युम्नने शत्रुओंपर आक्रमण किया। वे अपने श्रेष्ठ धनुषको बारंबार खींचकर उसकी टंकार फैलाते हुए आगे बढ़े। उन्होंने पीठपर तरकस और कमरमें तलवार बाँध ली थी। उनमें शौर्य भरा था और उन्होंने गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने पहन रखे थे ।। १—३ ।।

स विद्युच्छुरितं चापं विहरन् वै तलात् तलम् ।
मोहयामास दैतेयान् सर्वान् सौभनिवासिनः ।। ४ ।।

वे अपने धनुषको एक हाथसे दूसरे हाथमें ले लिया करते थे। उस समय वह धनुष बिजलीके समान चमक रहा था। उन्होंने उस धनुषके द्वारा सौभ विमानमें रहनेवाले समस्त दैत्योंको मूर्च्छित कर दिया ।। ४ ।।

तस्य विक्षिपतश्चापं संदधानस्य चासकृत् ।
नान्तरं ददृशे कश्चिन्निघ्नतः शात्रवान् रणे ।। ५ ।।

वे बारंबार धनुषको खींचते, उसपर बाण रखते और उसके द्वारा शत्रुसैनिकोंको युद्धमें मार डालते थे। उनकी उक्त क्रियाओंमें किसीको थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं दिखायी देता था ।। ५ ।।

मुखस्य वर्णो न विकल्पतेऽस्य
चेलुश्च गात्राणि न चापि तस्य ।
सिंहोन्नतं चाप्यभिगर्जतोऽस्य
शुश्राव लोकोऽद्भुतवीर्यमग्रयम् ।। ६ ।।

उनके मुखका रंग तनिक भी नहीं बदलता था। उनके अंग भी विचलित नहीं होते थे। सब ओर गर्जना करते हुए प्रद्युम्नका उत्तम एवं अद्‌भुत बल-पराक्रमका सूचक सिंहनाद सब लोगोंको सुनायी देता था ।। ६ ।।

जलेचरः काञ्चनयष्टिसंस्थो
व्यात्ताननः सर्वतिमिप्रमाथी ।
वित्रासयन् राजति वाहमुख्ये
शाल्वस्य सेनाप्रमुखे ध्वजाग्रयः ।। ७ ।।

शाल्वकी सेनाके ठीक सामने प्रद्युम्नके श्रेष्ठ रथपर उनकी उत्तम ध्वजा फहराती हुई शोभा पा रही थी। उस ध्वजाके सुवर्णमय दण्डके ऊपर सब तिमि नामक जल-जन्तुओंका प्रमथन करनेवाले मुँह बाये एक मगरमच्छका चिह्न था। वह शत्रुसैनिकोंको अत्यन्त भयभीत कर रहा था ।। ७ ।।

ततस्तूर्णं विनिष्पत्य प्रद्युम्नः शत्रुकर्षणः ।
शाल्वमेवाभिदुद्राव विधित्सुः कलहं नृप ।। ८ ।।

नरेश्वर! तदनन्तर शत्रुहन्ता प्रद्युम्न तुरंत आगे बढ़कर राजा शाल्वके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे उसीकी ओर दौड़े ।। ८ ।।

अभियानं तु वीरेण प्रद्युम्नेन महारणे ।
नामर्षयत संक्रुद्धः शाल्वः कुरुकुलोद्वह ।। ९ ।।

कुरुकुलतिलक! उस महासंग्राममें वीर प्रद्युम्नके द्वारा किया हुआ वह आक्रमण क्रुद्ध हुआ राजा शाल्व न सह सका ।। ९ ।।

स रोषमदमत्तो वै कामगादवरुह्य च ।
प्रद्युम्नं योधयामास शाल्वः परपुरंजयः ।। १० ।।

शत्रुकी राजधानीपर विजय पानेवाले शाल्वने रोष एवं बलके मदसे उन्मत्त हो इच्छानुसार चलनेवाले विमानसे उतरकर प्रद्युम्नसे युद्ध आरम्भ किया ।। १० ।।

तयोः सुतुमुलं युद्धं शाल्ववृष्णिप्रवीरयोः ।
समेता ददृशुर्लोका बलिवासवयोरिव ।। ११ ।।

शाल्व तथा वृष्णिवंशी वीर प्रद्युम्नमें बलि और इन्द्रके समान घोर युद्ध होने लगा। उस समय सब लोग एकत्र होकर उन दोनोंका युद्ध देखने लगे ।। ११ ।।

तस्य मायामयो वीर रथो हेमपरिष्कृतः ।
सपताकः सध्वजश्च सानुकर्षः स तूणवान् ।। १२ ।।

वीर! शाल्वके पास सुवर्णभूषित मायामय रथ था। वह रथ ध्वजा, पताका, अनुकर्ष (हरसा)* और तरकससे युक्त था ।। १२ ।।

स तं रथवरं श्रीमान् समारुह्य किल प्रभो ।
मुमोच बाणान् कौरव्य प्रद्युम्नाय महाबलः ।। १३ ।।

प्रभो कुरुनन्दन! श्रीमान् महाबली शाल्वने उस श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो प्रद्युम्नपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ।। १३ ।।

ततो बाणमयं वर्षं व्यसृजत् तरसा रणे ।

प्रद्युम्नो भुजवेगेन शाल्वं सम्मोहयन्निव ।। १४ ।।

तब प्रद्युम्न भी युद्धभूमिमें अपनी भुजाओंके वेगसे शाल्वको मोहित करते हुए-से उसके ऊपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी बौछार करने लगे ।। १४ ।।

स तैरभिहतः संख्ये नामर्षयत सौभराट् ।

शरान् दीप्ताग्निसंकाशान् मुमोच तनये मम ।। १५ ।।

सौभ विमानका स्वामी राजा शाल्व युद्धमें प्रद्युम्नके बाणोंसे घायल होनेपर यह सहन नहीं कर सका—अमर्षमें भर गया और मेरे पुत्रपर प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी बाण छोड़ने लगा ।। १५ ।।

तमापतन्तं बाणौघं स चिच्छेद महाबलः ।

ततश्चान्याञ्छरान् दीप्तान् प्रचिक्षेप सुते मम ।। १६ ।।

महाबली प्रद्युम्नने उन बाणोंको आते ही काट गिराया। तत्पश्चात् शाल्वने मेरे पुत्रपर और भी बहुत-से प्रज्वलित बाण छोड़े ।। १६ ।।

स शाल्वबाणै राजेन्द्र विद्धो रुक्मिणिनन्दनः ।

मुमोच बाणं त्वरितो मर्मभेदिनमाहवे ।। १७ ।।

राजेन्द्र! शाल्वके बाणोंसे घायल होकर रुक्मिणी-नन्दन प्रद्युम्नने तुरंत ही उस युद्धभूमिमें शाल्वपर एक ऐसा बाण चलाया, जो मर्मस्थलको विदीर्ण कर देनेवाला था ।। १७ ।।

तस्य वर्म विभिद्याशु स बाणो मत्सुतेरितः ।

विव्याध हृदयं पत्री स मुमोह पपात च ।। १८ ।।

मेरे पुत्रके चलाये हुए उस बाणने शाल्वके कवचको छेदकर उसके हृदयको बींध डाला। इससे वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा ।। १८ ।।

तस्मिन् निपतिते वीरे शाल्वराजे विचेतसि ।

सम्प्राद्रवन् दानवेन्द्रा दारयन्तो वसुंधराम् ।। १९ ।।

वीर शाल्वराजके अचेत होकर गिर जानेपर उसकी सेनाके समस्त दानवराज पृथ्वीको विदीर्ण करके पातालमें पलायन कर गये ।। १९ ।।

हाहाकृतमभूत् सैन्यं शाल्वस्य पृथिवीपते ।

नष्टसंज्ञे निपतिते तदा सौभपतौ नृपे ।। २० ।।

पृथ्वीपते! उस समय सौभ विमानका स्वामी राजा शाल्व जब संज्ञाशून्य होकर धराशायी हो गया, तब उसकी समस्त सेनामें हाहाकार मच गया ।। २० ।।

तत उत्थाय कौरव्य प्रतिलभ्य च चेतनाम् ।

मुमोच बाणान् सहसा प्रद्युम्नाय महाबलः ।। २१ ।।

कुरुश्रेष्ठ! तत्पश्चात् जब चेत हुआ, तब महाबली शाल्व सहसा उठकर प्रद्युम्नपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ।। २१ ।।

तैः स विद्धो महाबाहुः प्रद्युम्नः समरे स्थितः ।
जत्रुदेशे भृशं वीरो व्यवासीदद् रथे तदा ।। २२ ।।

शाल्वके उन बाणोंद्वारा कण्ठके मूलभागमें गहरा आघात लगनेसे अत्यन्त घायल होकर समरमें स्थित महाबाहु वीर प्रद्युम्न उस समय रथपर मूर्च्छित हो गये ।। २२ ।।

तं स विद्ध्वा महाराज शाल्वो रुक्मिणिनन्दनम् ।
ननाद सिंहनादं वै नादेनापूरयन् महीम् ।। २३ ।।

महाराज! रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नको घायल करके शाल्व बड़े जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगा। उसकी आवाजसे वहाँकी सारी पृथ्वी गूँज उठी ।। २३ ।।

ततो मोहं समापन्ने तनये मम भारत ।
मुमोच बाणांस्त्वरितः पुनरन्यान् दुरासदान् ।। २४ ।।

भारत! मेरे पुत्रके मूर्च्छित हो जानेपर भी शाल्वने उनपर और भी बहुत-से दुर्धर्ष बाण शीघ्रतापूर्वक छोड़े ।। २४ ।।

स तैरभिहतो बाणैर्बहुभिस्तेन मोहितः ।
निश्चेष्टः कौरवश्रेष्ठ प्रद्युम्नोऽभूद् रणाजिरे ।। २५ ।।

कौरवश्रेष्ठ! इस प्रकार बहुत-से बाणोंसे आहत होनेके कारण प्रद्युम्न उस रणांगणमें मूर्च्छित एवं निश्चेष्ट हो गये ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने सप्तदशोऽध्यायः ।। १७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७ ।।

---

* रथके नीचे पहियेके ऊपर लगा रहनेवाला काष्ठ।

अष्टादशोऽध्यायः

मूर्च्छावस्थामें सारथिके द्वारा रणभूमिसे बाहर लाये जानेपर प्रद्युम्नका अनुताप और इसके लिये सारथिको उपालम्भ देना

वासुदेव उवाच

शाल्वबाणार्दिते तस्मिन् प्रद्युम्ने बलिनां वरे ।
वृष्णयो भग्नसंकल्पा विव्यथुः पृतनागताः ।। १ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—बलवानोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्न जब शाल्वके बाणोंसे पीड़ित हो (मूर्च्छित हो) गये, तब सेनामें आये हुए वृष्णिवंशी वीरोंका उत्साह भंग हो गया। उन सबको बड़ा दुःख हुआ ।। १ ।।

हाहाकृतमभूत् सर्वं वृष्ण्यन्धकबलं ततः ।
प्रद्युम्ने मोहिते राजन् परे च मुदिता भृशम् ।। २ ।।

राजन्! प्रद्युम्नके मोहित होनेपर वृष्णि और अन्धकवंशकी सारी सेनामें हाहाकार मच गया और शत्रुलोग अत्यन्त प्रसन्नतासे खिल उठे ।। २ ।।

तं तथा मोहितं दृष्ट्वा सारथिर्जवनैर्हयैः ।
रणादपाहरत् तूर्णं शिक्षितो दारुकिस्तदा ।। ३ ।।

दारुकका पुत्र प्रद्युम्नका सुशिक्षित सारथि था। वह प्रद्युम्नको इस प्रकार मूर्च्छित देख वेगशाली अश्वोंद्वारा उन्हें तुरंत रणभूमिसे बाहर ले गया ।। ३ ।।

नातिदूरापयाते तु रथे रथवरप्रणुत् ।
धनुर्गृहीत्वा यन्तारं लब्धसंज्ञोऽब्रवीदिदम् ।। ४ ।।

अभी वह रथ अधिक दूर नहीं जाने पाया था, तभी बड़े-बड़े रथियोंको परास्त करनेवाले प्रद्युम्न सचेत हो गये और हाथमें धनुष लेकर सारथिसे इस प्रकार बोले— ।। ४ ।।

सौते किं ते व्यवसितं कस्माद् यासि पराङ्मुखः ।
नैष वृष्णिप्रवीराणामाहवे धर्म उच्यते ।। ५ ।।

'सूतपुत्र! आज तूने क्या सोचा है? क्यों युद्धसे मुँह मोड़कर भागा जा रहा है? युद्धसे पलायन करना वृष्णिवंशी वीरोंका धर्म नहीं है ।। ५ ।।

कच्चित् सौते न ते मोहः शाल्वं दृष्ट्वा महाहवे ।
विषादो वा रणं दृष्ट्वा ब्रूहि मे त्वं यथातथम् ।। ६ ।।

'सूतनन्दन! इस महासंग्राममें राजा शाल्वको देखकर तुझे मोह तो नहीं हो गया है? अथवा युद्ध देखकर तुझे विषाद तो नहीं होता है? मुझसे ठीक-ठीक बता (तेरे इस प्रकार भागनेका क्या कारण है?)' ।। ६ ।।

सौतिरुवाच

जानार्दने न मे मोहो नापि मां भयमाविशत् ।
अतिभारं तु ते मन्ये शाल्वं केशवनन्दन ।। ७ ।।

सूतपुत्रने कहा—जनार्दनकुमार! न मुझे मोह हुआ है और न मेरे मनमें भय ही समाया है। केशवनन्दन! मुझे ऐसा मालूम होता है कि यह राजा शाल्व आपके लिये अत्यन्त भार-सा हो रहा है ।। ७ ।।

सोऽपयामि शनैर्वीर बलवानेष पापकृत् ।
मोहितश्च रणे शूरो रक्ष्यः सारथिना रथी ।। ८ ।।

वीरवर! मैं धीरे-धीरे रणभूमिसे दूर इसलिये जा रहा हूँ कि यह पापी शाल्व बड़ा बलवान् है। सारथिका यह धर्म है कि यदि शूरवीर रथी संग्राममें मूर्च्छित हो जाय तो वह किसी प्रकार उसके प्राणोंकी रक्षा करे ।। ८ ।।

आयुष्मंस्त्वं मया नित्यं रक्षितव्यस्त्वयाप्यहम् ।
रक्षितव्यो रथी नित्यमिति कृत्वापयाम्यहम् ।। ९ ।।

आयुष्मन्! मुझे आपकी और आपको मेरी सदा रक्षा करनी चाहिये। रथी सारथिके द्वारा सदा रक्षणीय है, इस कर्तव्यका विचार करके ही मैं रणभूमिसे लौट रहा हूँ ।। ९ ।।

एकश्चासि महाबाहो बहवश्चापि दानवाः ।
न समं रौक्मिणेयाहं रणे मत्वापयामि वै ।। १० ।।

महाबाहो! आप अकेले हैं और इन दानवोंकी संख्या बहुत है। रुक्मिणीनन्दन! इस युद्धमें इतने विपक्षियोंका सामना करना अकेले आपके लिये कठिन है; यह सोचकर ही मैं युद्धसे हट रहा हूँ ।। १० ।।

एवं ब्रुवति सूते तु तदा मकरकेतुमान् ।
उवाच सूतं कौरव्य निवर्तय रथं पुनः ।। ११ ।।
दारुकात्मज मैवं त्वं पुनः कार्षीः कथंचन ।
व्यपयानं रणात् सौते जीवतो मम कर्हिचित् ।। १२ ।।

कुरुनन्दन! सूतके ऐसा कहनेपर मकरध्वज प्रद्युम्नने उससे कहा—'दारुककुमार! तू रथको पुनः युद्धभूमिकी ओर लौटा ले चल। सूतपुत्र! आजसे फिर कभी किसी प्रकार भी मेरे जीते-जी रथको रणभूमिसे न लौटाना ।। ११-१२ ।।

न स वृष्णिकुले जातो यो वै त्यजति संगरम् ।
यो वा निपतितं हन्ति तवास्मीति च वादिनम् ।। १३ ।।

‘वृष्णिवंशमें ऐसा कोई (वीर पुरुष) नहीं पैदा हुआ है, जो युद्ध छोड़कर भाग जाय अथवा गिरे हुएको तथा ‘मैं आपका हूँ’ यह कहनेवालेको मारे ।। १३ ।।

तथा स्त्रियं च यो हन्ति बालं वृद्धं तथैव च ।
विरथं विप्रकीर्णं च भग्नशस्त्रायुधं तथा ।। १४ ।।

‘इसी प्रकार स्त्री, बालक, वृद्ध, रथहीन, अपने पक्षसे बिछुड़े हुए तथा जिसके अस्त्र-शस्त्र नष्ट हो गये हों, ऐसे लोगोंपर जो हथियार उठाता हो, ऐसा मनुष्य भी वृष्णिकुलमें नहीं उत्पन्न हुआ है ।। १४ ।।

त्वं च सूतकुले जातो विनीतः सूतकर्मणि ।
धर्मज्ञश्चासि वृष्णीनामाहवेष्वपि दारुके ।। १५ ।।

‘दारुककुमार! तू सूतकुलमें उत्पन्न होनेके साथ ही सूतकर्मकी अच्छी तरह शिक्षा पा चुका है। वृष्णिवंशी वीरोंका युद्धमें क्या धर्म है, यह भी भली-भाँति जानता है ।। १५ ।।

स जानंश्चरितं कृत्स्नं वृष्णीनां पृतनामुखे ।
अपयानं पुनः सौते मैवं कार्षीः कथंचन ।। १६ ।।

‘सूतनन्दन! युद्धके मुहानेपर डटे हुए वृष्णिकुलके वीरोंका सम्पूर्ण चरित्र तुझसे अज्ञात नहीं है; अतः तू फिर कभी किसी तरह भी युद्धसे न लौटना ।। १६ ।।

अपयातं हतं पृष्ठे भ्रान्तं रणपलायितम् ।
गदाग्रजो दुराधर्षः किं मां वक्ष्यति माधवः ।। १७ ।।

‘युद्धसे लौटने या भ्रान्तचित्त होकर भागनेपर जब मेरी पीठमें शत्रुके बाणोंका आघात लगा हो, उस समय किसीसे परास्त न होनेवाले मेरे पिता गदाग्रज भगवान् माधव मुझसे क्या कहेंगे? ।। १७ ।।

केशवस्याग्रजो वापि नीलवासा मदोत्कटः ।
किं वक्ष्यति महाबाहुर्बलदेवः समागतः ।। १८ ।।

‘अथवा पिताजीके बड़े भाई नीलाम्बरधारी मदोत्कट महाबाहु बलरामजी जब यहाँ पधारेंगे, तब वे मुझसे क्या कहेंगे? ।। १८ ।।

किं वक्ष्यति शिनेर्नप्ता नरसिंहो महाधनुः ।
अपयातं रणात् सूत साम्बश्च समितिंजयः ।। १९ ।।

‘सूत! युद्धसे भागनेपर मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी महाधनुर्धर सात्यकि तथा समरविजयी साम्ब मुझसे क्या कहेंगे? ।। १९ ।।

चारुदेष्णश्च दुर्धर्षस्तथैव गदसारणौ ।
अक्रूरश्च महाबाहुः किं मां वक्ष्यति सारथे ।। २० ।।

‘सारथे! दुर्धर्ष वीर चारुदेष्ण, गद, सारण और महाबाहु अक्रूर मुझसे क्या कहेंगे? ।। २० ।।

शूरं सम्भावितं शान्तं नित्यं पुरुषमानिनम् ।

स्त्रियश्च वृष्णिवीराणां किं मां वक्ष्यन्ति संहताः ।। २१ ।।

'मैं शूरवीर, सम्भावित (सम्मानित), शान्तस्वभाव तथा सदा अपनेको वीर पुरुष माननेवाला समझा जाता हूँ। (युद्धसे भागनेपर) मुझे देखकर झुंड-की-झुंड एकत्र हुई वृष्णिवीरोंकी स्त्रियाँ मुझे क्या कहेंगी? ।। २१ ।।

प्रद्युम्नोऽयमुपायाति भीतस्त्यक्त्वा महाहवम् ।
धिगेनमिति वक्ष्यन्ति न तु वक्ष्यन्ति साध्विति ।। २२ ।।

'सब लोग यही कहेंगे—'यह प्रद्युम्न भयभीत हो महान् संग्राम छोड़कर भागा आ रहा है; इसे धिक्कार है।' उस अवस्थामें किसीके मुखसे मेरे लिये अच्छे शब्द नहीं निकलेंगे ।। २२ ।।

धिग्वाचा परिहासोऽपि मम वा मद्विधस्य वा ।
मृत्युनाभ्यधिकः सौते स त्वं मा व्यपयाः पुनः ।। २३ ।।

'सूतकुमार! मेरे अथवा मेरे-जैसे किसी भी पुरुषके लिये धिक्कारयुक्त वाणीद्वारा कोई परिहास भी कर दे तो वह मृत्युसे भी अधिक कष्ट देनेवाला है; अतः तू फिर कभी युद्ध छोड़कर न भागना ।। २३ ।।

भारं हि मयि संन्यस्य यातो मधुनिहा हरिः ।
यज्ञं भारतसिंहस्य न हि शक्योऽद्य मर्षितुम् ।। २४ ।।

'मेरे पिता मधुसूदन भगवान् श्रीहरि यहाँकी रक्षाका सारा भार मुझपर रखकर भरतवंशशिरोमणि धर्मराज युधिष्ठिरके यज्ञमें गये हैं। (आज मुझसे जो अपराध हो गया है,) इसे वे कभी क्षमा नहीं कर सकेंगे ।। २४ ।।

कृतवर्मा मया वीरो निर्यास्यन्नेव वारितः ।
शाल्वं निवारयिष्येऽहं तिष्ठ त्वमिति सूतज ।। २५ ।।

'सूतपुत्र! वीर कृतवर्मा शाल्वका सामना करनेके लिये पुरीसे बाहर आ रहे थे; किंतु मैंने उन्हें रोक दिया और कहा—'आप यहीं रहिये। मैं शाल्वको परास्त करूँगा' ।। २५ ।।

स च सम्भावयन् मां वै निवृत्तो हृदिकात्मजः ।
तं समेत्य रणं त्यक्त्वा किं वक्ष्यामि महारथम् ।। २६ ।।

'कृतवर्मा मुझे इस कार्यके लिये समर्थ जानकर युद्धसे निवृत्त हो गये। आज युद्ध छोड़कर जब मैं उन महारथी वीरसे मिलूँगा, तब उन्हें क्या जवाब दूँगा? ।। २६ ।।

उपयान्तं दुराधर्षं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
पुरुषं पुण्डरीकाक्षं किं वक्ष्यामि महाभुजम् ।। २७ ।।

'शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले कमलनयन महाबाहु एवं अजेय वीर भगवान् पुरुषोत्तम जब यहाँ मेरे निकट पदार्पण करेंगे, उस समय मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा? ।। २७ ।।

सात्यकिं बलदेवं च ये चान्येऽन्धकवृष्णयः ।
मया स्पर्धन्ति सततं किं नु वक्ष्यामि तानहम् ।। २८ ।।

‘सात्यकिसे, बलरामजीसे तथा अन्धक और वृष्णिवंशके अन्य वीरोंसे, जो सदा मुझसे स्पर्धा रखते हैं, मैं क्या कहूँगा? ।। २८ ।।

त्यक्त्वा रणमिमं सौते पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ।
त्वयापनीतो विवशो न जीवेयं कथंचन ।। २९ ।।

‘सूतपुत्र! तेरे द्वारा रणसे दूर लाया हुआ मैं इस युद्धको छोड़कर और पीठपर बाणोंकी चोट खाकर विवशतापूर्ण जीवन किसी प्रकार भी नहीं धारण करूँगा ।। २९ ।।

स निवर्त रथेनाशु पुनर्दारुकनन्दन ।
न चैतदेवं कर्तव्यमथापत्सु कथंचन ।। ३० ।।

‘दारुकनन्दन! अतः तू शीघ्र ही रथके द्वारा पुनः संग्रामभूमिकी ओर लौट। आजसे मुझपर आपत्ति आनेपर भी तू किसी तरह ऐसा बर्ताव न करना ।। ३० ।।

न जीवितमहं सौते बहु मन्ये कथंचन ।
अपयातो रणाद् भीतः पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ।। ३१ ।।

‘सूतपुत्र! पीठपर बाणोंकी चोट खाकर भयभीत हो युद्धसे भागनेवालेके जीवनको मैं किसी प्रकार भी अधिक आदर नहीं देता ।। ३१ ।।

कदापि सूतपुत्र त्वं जानीषे मां भयार्दितम् ।
अपयातं रणं हित्वा यथा कापुरुषं तथा ।। ३२ ।।

‘सूतपुत्र! क्या तू मुझे कायरोंकी तरह भयसे पीड़ित और युद्ध छोड़कर भागा हुआ समझता है? ।। ३२ ।।

न युक्तं भवता त्यक्तुं संग्रामं दारुकात्मज ।
मयि युद्धार्थिनि भृशं स त्वं याहि यतो रणम् ।। ३३ ।।

‘दारुककुमार! तुझे संग्रामभूमिका परित्याग करना कदापि उचित नहीं था। विशेषतः उस अवस्थामें, जब कि मैं युद्धकी अभिलाषा रखता था। अतः जहाँ युद्ध हो रहा है, वहाँ चल’ ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने अष्टादशोऽध्यायः ।। १८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८ ।।

एकोनविंशोऽध्यायः

प्रद्युम्नके द्वारा शाल्वकी पराजय

वासुदेव उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेय सूतपुत्रस्ततोऽब्रवीत् ।
प्रद्युम्नं बलिनां श्रेष्ठं मधुरं श्लक्ष्णमञ्जसा ।। १ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—कुन्तीनन्दन! प्रद्युम्नके ऐसा कहनेपर सूतपुत्रने शीघ्र ही बलवानोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्नसे थोड़े शब्दोंमें मधुरतापूर्वक कहा— ।। १ ।।

न मे भयं रौक्मिणेय संग्रामे यच्छतो हयान् ।
युद्धज्ञोऽस्मि च वृष्णीनां नात्र किंचिदतोऽन्यथा ।। २ ।।

‘रुक्मिणीनन्दन! संग्रामभूमिमें घोड़ोंकी बागडोर सँभालते हुए मुझे तनिक भी भय नहीं होता। मैं वृष्णिवंशियोंके युद्धधर्मको भी जानता हूँ। आपने जो कुछ कहा है, उसमें कुछ भी अन्यथा नहीं है ।। २ ।।

आयुष्मन्नुपदेशस्तु सारथ्ये वर्ततां स्मृतः ।
सर्वार्थेषु रथी रक्ष्यस्त्वं चापि भृशपीडितः ।। ३ ।।

‘आयुष्मन्! मैंने तो सारथ्यमें तत्पर रहनेवाले लोगोंके इस उपदेशका स्मरण किया था कि सभी दशाओंमें रथीकी रक्षा करनी चाहिये। उस समय आप भी अधिक पीड़ित थे ।। ३ ।।

त्वं हि शाल्वप्रयुक्तेन शरेणाभिहतो भृशम् ।
कश्मलाभिहतो वीर ततोऽहमपयातवान् ।। ४ ।।

‘वीर! शाल्वके चलाये हुए बाणोंसे अधिक घायल होनेके कारण आपको मूर्च्छा आ गयी थी, इसीलिये मैं आपको लेकर रणभूमिसे हटा था ।। ४ ।।

स त्वं सात्वतमुख्याद्य लब्धसंज्ञो यदृच्छया ।
पश्य मे हयसंयाने शिक्षां केशवनन्दन ।। ५ ।।

‘सात्वतवीरोंमें प्रधान केशवनन्दन! अब दैवेच्छासे आप सचेत हो गये हैं, अतः घोड़े हाँकनेकी कलामें मुझे कैसी उत्तम शिक्षा मिली है, उसे देखिये ।। ५ ।।

दारुकेणाहमुत्पन्नो यथावच्चैव शिक्षितः ।
वीतभीः प्रविशाम्येतां शाल्वस्य प्रथितां चमूम् ।। ६ ।।

‘मैं दारुकका पुत्र हूँ और उन्होंने ही मुझे सारथ्यकर्मकी यथावत् शिक्षा दी है। देखिये! अब मैं निर्भय होकर राजा शाल्वकी इस विख्यात सेनामें प्रवेश करता हूँ’ ।। ६ ।।

वासुदेव उवाच

एवमुक्त्वा ततो वीर हयान् संचोद्य संगरे ।
रश्मिभिस्तु समुद्यम्य जवेनाभ्यपतत् तदा ।। ७ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—वीरवर! ऐसा कहकर उस सूतपुत्रने घोड़ोंकी बागडोर हाथमें लेकर उन्हें युद्धभूमिकी ओर हाँका और शीघ्रतापूर्वक वहाँ जा पहुँचा ।। ७ ।।

मण्डलानि विचित्राणि यमकानीतराणि च ।
सव्यानि च विचित्राणि दक्षिणानि च सर्वशः ।। ८ ।।

उसने समान-असमान और वाम-दक्षिण आदि सब प्रकारकी विचित्र मण्डलाकार गतिसे रथका संचालन किया ।। ८ ।।

प्रतोदेनाहता राजन् रश्मिभिश्च समुद्यताः ।
उत्पतन्त इवाकाशे व्यचरंस्ते हयोत्तमाः ।। ९ ।।

राजन्! वे श्रेष्ठ घोड़े चाबुककी मार खाकर बागडोर हिलानेसे तीव्र गतिसे दौड़ने लगे, मानो आकाशमें उड़ रहे हों ।। ९ ।।

ते हस्तलाघवोपेतं विज्ञाय नृप दारुकिम् ।
दह्यमाना इव तदा नास्पृशंश्चरणैर्महीम् ।। १० ।।

महाराज! दारुकपुत्रके हस्तलाघवको समझकर वे घोड़े प्रज्वलित अग्निकी भाँति दमकते हुए इस प्रकार जा रहे थे, मानो अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श भी न कर रहे हों ।। १० ।।

सोऽपसव्यां चमूं तस्य शाल्वस्य भरतर्षभ ।
चकार नातियत्नेन तदद्भुतमिवाभवत् ।। ११ ।।

भरतकुलभूषण! दारुकके पुत्रने अनायास ही शाल्वकी उस सेनाको अपसव्य (दाहिने) कर दिया। यह एक अद्भुत बात हुई ।। ११ ।।

अमृष्यमाणोऽपसव्यं प्रद्युम्नेन च सौभराट् ।
यन्तारमस्य सहसा त्रिभिर्बाणैः समार्दयत् ।। १२ ।।

सौभराज शाल्व प्रद्युम्नके द्वारा अपनी सेनाका अपसव्य किया जाना न सह सका। उसने सहसा तीन बाण चलाकर प्रद्युम्नके सारथिको घायल कर दिया ।। १२ ।।

दारुकस्य सुतस्तत्र बाणवेगमचिन्तयन् ।
भूय एव महाबाहो प्रययावपसव्यतः ।। १३ ।।
ततो बाणान् बहुविधान् पुनरेव स सौभराट् ।
मुमोच तनये वीर मम रुक्मिणिनन्दने ।। १४ ।।
तानप्राप्ताञ्छितैर्बाणैश्चिच्छेद परवीरहा ।
रौक्मिणेयः स्मितं कृत्वा दर्शयन् हस्तलाघवम् ।। १५ ।।
छिन्नान् दृष्ट्वा तु तान् बाणान् प्रद्युम्नेन च सौभराट् ।
आसुरीं दारुणीं मायामास्थाय व्यसृजच्छरान् ।। १६ ।।

महाबाहो! परंतु दारुककुमारने वहाँ बाणोंके वेगपूर्वक प्रहारकी कोई चिन्ता न करते हुए शाल्वकी सेनाको अपसव्य (दाहिने) करते हुए ही रथको आगे बढ़ाया। वीरवर! तब सौभराज शाल्वने पुनः मेरे पुत्र रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नपर अनेक प्रकारके बाण चलाये। शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए शाल्वके बाणोंको अपने पास आनेसे पहले ही तीक्ष्ण बाणोंसे मुसकराकर काट देते थे। प्रद्युम्नके द्वारा अपने बाणोंको छिन्न-भिन्न होते देख सौभराजने भयंकर आसुरी मायाका सहारा लेकर बहुत-से बाण बरसाये ।। १३—१६ ।।

प्रयुज्यमानमाज्ञाय दैतेयास्त्रं महाबलम् ।
ब्रह्मास्त्रेणान्तराच्छित्त्वा मुमोचान्यान् पतत्रिणः ।। १७ ।।

प्रद्युम्नने शाल्वको अति शक्तिशाली दैत्यास्त्रका प्रयोग करता जानकर ब्रह्मास्त्रके द्वारा उसे बीचमें ही काट डाला और अन्य बहुत-से बाण बरसाये ।। १७ ।।

ते तदस्त्रं विधूयाशु विव्यधू रुधिराशनाः ।
शिरस्युरसि वक्त्रे च स मुमोह पपात च ।। १८ ।।

वे सभी बाण शत्रुओंका रक्त पीनेवाले थे। उन बाणोंने शाल्वके अस्त्रोंका नाश करके उसके मस्तक, छाती और मुखको बींध डाला, जिससे वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा ।। १८ ।।

तस्मिन् निपतिते क्षुद्रे शाल्वे बाणप्रपीडिते ।
रौक्मिणेयो परं बाणं संदधे शत्रुनाशनम् ।। १९ ।।

क्षुद्र स्वभाववाले राजा शाल्वके बाणविद्ध होकर गिर जानेपर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नने अपने धनुषपर एक उत्तम बाणका संधान किया, जो शत्रुका नाश कर देनेवाला था ।। १९ ।।

तमर्चितं सर्वदशार्हपूगै-
राशीविषाग्निज्वलनप्रकाशम् ।
दृष्ट्वा शरं ज्यामभिनीयमानं
बभूव हाहाकृतमन्तरिक्षम् ।। २० ।।

वह बाण समस्त यादवसमुदायके द्वारा सम्मानित, विषैले सर्पके समान विषाक्त तथा प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशमान था। उस बाणको प्रत्यंचापर रखा जाता हुआ देख अन्तरिक्षलोकमें हाहाकार मच गया ।। २० ।।

ततो देवगणाः सर्वे सेन्द्राः सहधनेश्वराः ।
नारदं प्रेषयामासुः श्वसनं च मनोजवम् ।। २१ ।।

तब इन्द्र और कुबेरसहित सम्पूर्ण देवताओंने देवर्षि नारद तथा मनके समान वेगवाले वायुदेवको भेजा ।। २१ ।।

तौ रौक्मिणेयमागम्य वचोऽब्रूतां दिवौकसाम् ।

नैष वध्यस्त्वया वीर शाल्वराजः कथंचन ।। २२ ।।

उन दोनोंने रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नके पास आकर देवताओंका यह संदेश सुनाया—'वीरवर! यह राजा शाल्व युद्धमें कदापि तुम्हारा वध्य नहीं है' ।। २२ ।।

संहरस्व पुनर्बाणमवध्योऽयं त्वया रणे ।
एतस्य च शरस्याजौ नावध्योऽस्ति पुमान् क्वचित् ।। २३ ।।

'तुम अपने इस बाणको फिरसे लौटा लो; क्योंकि यह शाल्व तुम्हारे द्वारा अवध्य है। तुम्हारे इस बाणका प्रयोग होनेपर युद्धमें कोई भी पुरुष बिना मरे नहीं रह सकता ।। २३ ।।

मृत्युरस्य महाबाहो रणे देवकिनन्दनः ।
कृष्णः संकल्पितो धात्रा तन्मिथ्या न भवेदिति ।। २४ ।।

'महाबाहो! विधाताने युद्धमें देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके हाथसे ही इसकी मृत्यु निश्चित की है। उनका वह संकल्प मिथ्या नहीं होना चाहिये' ।। २४ ।।

ततः परमसंहृष्टः प्रद्युम्नः शरमुत्तमम् ।
संजहार धनुःश्रेष्ठात् तूणे चैव न्यवेशयत् ।। २५ ।।

यह सुनकर प्रद्युम्न बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने श्रेष्ठ धनुषसे उस उत्तम बाणको उतार लिया और पुनः तरकसमें रख दिया ।। २५ ।।

तत उत्थाय राजेन्द्र शाल्वः परमदुर्मनाः ।
व्यपायात् सबलस्तूर्णं प्रद्युम्नशरपीडितः ।। २६ ।।

राजेन्द्र! तदनन्तर शाल्व उठकर अत्यन्त दुःखितचित्त हो प्रद्युम्नके बाणोंसे पीड़ित होनेके कारण अपनी सेनाके साथ तुरंत भाग गया ।। २६ ।।

स द्वारकां परित्यज्य क्रूरो वृष्णिभिरार्दितः ।
सौभमास्थाय राजेन्द्र दिवमाचक्रमे तदा ।। २७ ।।

महाराज! उस समय वृष्णिवंशियोंसे पीड़ित हो क्रूर स्वभाववाला शाल्व द्वारकाको छोड़कर अपने सौभ नामक विमानका आश्रय ले आकाशमें जा पहुँचा ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने एकोनविंशोऽध्यायः ।। १९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९ ।।

विंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और शाल्वका भीषण युद्ध

वासुदेव उवाच

आनर्तनगरं मुक्तं ततोऽहमगमं तदा ।
महाक्रतौ राजसूये निवृत्ते नृपते तव ।। १ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! आपका राजसूय महायज्ञ समाप्त होनेपर मैं शाल्वसे विमुक्त आनर्तनगर (द्वारका)-में गया ।। १ ।।

अपश्यं द्वारकां चाहं महाराज हतत्विषम् ।
निःस्वाध्यायवषट्कारां निर्भूषणवरस्त्रियम् ।। २ ।।

महाराज! मैंने वहाँ पहुँचकर देखा, द्वारका श्रीहीन हो रही है। वहाँ न तो स्वाध्याय होता है, न वषट्कार। वह पुरी आभूषणोंसे रहित सुन्दरी नारीकी भाँति उदास लग रही थी ।। २ ।।

अनभिज्ञेयरूपाणि द्वारकोपवनानि च ।
दृष्ट्वा शङ्कोपपन्नोऽहमपृच्छं हृदिकात्मजम् ।। ३ ।।

द्वारकाके वन-उपवन तो ऐसे हो रहे थे, मानो पहचाने ही न जाते हों। यह सब देखकर मेरे मनमें बड़ी शंका हुई और मैंने कृतवर्मासे पूछा— ।। ३ ।।

अस्वस्थनरनारीकमिदं वृष्णिकुलं भृशम् ।
किमिदं नरशार्दूल श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।। ४ ।।

'नरश्रेष्ठ! इस वृष्णिवंशके प्रायः सभी स्त्री-पुरुष अस्वस्थ दिखायी देते हैं, इसका क्या कारण है? यह मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ' ।। ४ ।।

एवमुक्तः स तु मया विस्तरेणेदमब्रवीत् ।
रोधं मोक्षं च शाल्वेन हार्दिक्यो राजसत्तम ।। ५ ।।

नृपश्रेष्ठ! मेरे इस प्रकार पूछनेपर कृतवर्माने शाल्वके द्वारकापुरीपर घेरा डालने और फिर छोड़कर भाग जानेका सब समाचार विस्तारपूर्वक कह सुनाया ।। ५ ।।

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ श्रुत्वा सर्वमशेषतः ।
विनाशे शाल्वराजस्य तदैवाकरवं मतिम् ।। ६ ।।

भरतवंशशिरोमणे! यह सब वृत्तान्त पूर्णरूपसे सुनकर मैंने शाल्वराजके विनाशका पूर्ण निश्चय कर लिया ।। ६ ।।

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ समाश्वास्य पुरे जनम् ।
राजानमाहुकं चैव तथैवानकदुन्दुभिम् ।। ७ ।।
सर्वान् वृष्णिप्रवीरांश्च हर्षयन्नब्रुवं तदा ।

अप्रमादः सदा कार्यो नगरे यादवर्षभाः ।। ८ ।।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर मैं नगरनिवासियोंको आश्वासन देकर राजा उग्रसेन, पिता वसुदेव तथा सम्पूर्ण वृष्णिवंशियोंका हर्ष बढ़ाते हुए बोला—'यदुकुलके श्रेष्ठ पुरुषो! आपलोग नगरकी रक्षाके लिये सदा सावधान रहें ।। ७-८ ।।

शाल्वराजविनाशाय प्रयातं मां निबोधत ।

नाहत्वा तं निवर्तिष्ये पुरीं द्वारवतीं प्रति ।। ९ ।।

'मैं शाल्वराजका नाश करनेके लिये यहाँसे प्रस्थान करता हूँ। आप यह निश्चय जानें; मैं शाल्वका वध किये बिना द्वारकापुरीको नहीं लौटूँगा ।। ९ ।।

सशाल्वं सौभनगरं हत्वा द्रष्टास्मि वः पुनः ।

त्रिःसामा हन्यतामेषा दुन्दुभिः शत्रुभीषणा ।। १० ।।

'शाल्वसहित सौभनगरका नाश कर लेनेपर ही मैं पुनः आपलोगोंका दर्शन करूँगा। अब शत्रुओंको भयभीत करनेवाले इस नगाड़ेको तीन बार बजाइये' ।। १० ।।

ते मयाऽऽश्वासिता वीरा यथावद् भरतर्षभ ।

सर्वे मामब्रुवन् हृष्टाः प्रयाहि जहि शात्रवान् ।। ११ ।।

भरतकुलभूषण! मेरे इस प्रकार आश्वासन देनेपर सभी यदुवंशी वीरोंने प्रसन्न होकर मुझसे कहा—'जाइये और शत्रुओंका विनाश कीजिये' ।। ११ ।।

तैः प्रहृष्टात्मभिर्वीरैराशीर्भिरभिनन्दितः ।

वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान् प्रणम्य शिरसाभवम् ।। १२ ।।

शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनानादयन् दिशः ।

प्रध्माय शङ्खप्रवरं पाञ्चजन्यमहं नृप ।। १३ ।।

प्रयातोऽस्मि नरव्याघ्र बलेन महता वृतः ।

क्लृप्तेन चतुरङ्गेण यत्तेन जितकाशिना ।। १४ ।।

प्रसन्नचित्तवाले उन वीरोंके द्वारा आशीर्वादसे अभिनन्दित होकर मैंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया और मस्तक झुकाकर भगवान् शिवको प्रणाम किया। नरश्रेष्ठ! तदनन्तर शैब्य और सुग्रीव नामक घोड़ोंसे जुते हुए अपने रथके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए श्रेष्ठ शंख पांचजन्यको बजाकर मैंने विशाल सेनाके साथ रणके लिये प्रस्थान किया। मेरी उस व्यूहरचनासे युक्त और नियन्त्रित सेनामें हाथी, घोड़े, रथी और पैदल—चारों ही अंग मौजूद थे। उस समय वह सेना विजयसे सुशोभित हो रही थी ।। १२—१४ ।।

समतीत्य बहुन् देशान् गिरींश्च बहुपादपान् ।

सरांसि सरितश्चैव मार्तिकावतमासदम् ।। १५ ।।

तब मैं बहुत-से देशों और असंख्य वृक्षोंसे हरे-भरे पर्वतों, सरोवरों और सरिताओंको लाँघता हुआ मार्तिकावतमें जा पहुँचा ।। १५ ।।

तत्राश्रौषं नरव्याघ्र शाल्वं सागरमन्तिकात् ।
प्रयान्तं सौभमास्थाय तमहं पृष्ठतोऽन्वयाम् ।। १६ ।।

नरव्याघ्र! वहाँ मैंने सुना कि शाल्व सौभविमानपर बैठकर समुद्रके निकट जा रहा है। तब मैं उसीके पीछे लग गया ।। १६ ।।

ततः सागरमासाद्य कुक्षौ तस्य महोर्मिणः ।
समुद्रनाभ्यां शाल्वोऽभूत् सौभमास्थाय शत्रुहन् ।। १७ ।।

शत्रुनाशन! फिर समुद्रके निकट पहुँचकर उत्ताल तरंगोंवाले महासागरकी कुक्षिके अन्तर्गत उसके नाभिदेश (एक द्वीप)-में जाकर राजा शाल्व सौभविमानपर ठहरा हुआ था ।। १७ ।।

स समालोक्य दूरान्मां स्मयन्निव युधिष्ठिर ।
आह्वयामास दुष्टात्मा युद्धायैव मुहुर्मुहुः ।। १८ ।।

युधिष्ठिर! वह दुष्टात्मा दूरसे ही मुझे देखकर मुसकराता हुआ-सा बारंबार युद्धके लिये ललकारने लगा ।। १८ ।।

तस्य शार्ङ्गविनिर्मुक्तैर्बहुभिर्मर्मभेदिभिः ।
पुंर नासाद्यत शरैस्ततो मां रोष आविशत् ।। १९ ।।

मेरे शार्ङ्ग धनुषसे छूटे हुए बहुत-से मर्मभेदी बाण शाल्वके विमानतक नहीं पहुँच सके। इससे मैं रोषमें भर गया ।। १९ ।।

स चापि पापप्रकृतिर्दैतेयापसदो नृप ।
मय्यवर्षत दुर्धर्षः शरधाराः सहस्रशः ।। २० ।।

राजन्! नीच दैत्य दुर्धर्ष राजा शाल्व स्वभावसे ही पापाचारी था। उसने मेरे ऊपर सहस्रों बाणधाराएँ बरसायीं ।। २० ।।

सैनिकान् मम सूतं च हयांश्च समवाकिरत् ।
अचिन्तयन्तस्तु शरान् वयं युध्याम भारत ।। २१ ।।

मेरे सारथि, घोड़ों तथा सैनिकोंपर उसने भी बाणोंकी झड़ी लगा दी। भारत! उसके बाणोंकी बौछारको कुछ न समझकर मैं युद्धमें ही लगा रहा ।। २१ ।।

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।
चिक्षिपुः समरे वीरा मयि शाल्वपदानुगाः ।। २२ ।।

तदनन्तर शाल्वके अनुगामी वीरोंने युद्धमें मेरे ऊपर झुकी हुई गाँठवाले लाखों बाण बरसाये ।। २२ ।।

ते हयांश्च रथं चैव तदा दारुकमेव च ।
छादयामासुरसुरास्तैर्बाणैर्मर्मभेदिभिः ।। २३ ।।

उस समय उन असुरोंने अपने मर्मवेधी बाणोंद्वारा मेरे घोड़ोंको, रथको और दारुकको भी ढक दिया ।। २३ ।।

न हया न रथो वीर न यन्ता मम दारुकः ।
अदृश्यन्त शरैश्छन्नास्तथाहं सैनिकाश्च मे ।। २४ ।।

वीरवर! उस समय मेरे घोड़े, रथ, मेरा सारथि दारुक, मैं तथा मेरे सारे सैनिक—सभी बाणोंसे आच्छादित होकर अदृश्य हो गये ।। २४ ।।

ततोऽहमपि कौन्तेय शराणामयुतान् बहून् ।
आमन्त्रितानां धनुषा दिव्येन विधिनाक्षिपम् ।। २५ ।।

कुन्तीनन्दन! तब मैंने भी अपने धनुषद्वारा दिव्य विधिसे अभिमन्त्रित किये हुए कई हजार बाण बरसाये ।। २५ ।।

न तत्र विषयस्त्वासीन्मम सैन्यस्य भारत ।
खे विषक्तं हि तत् सौभं क्रोशमात्र इवाभवत् ।। २६ ।।

भारत! शाल्वका सौभविमान आकाशमें इस प्रकार प्रवेश कर गया था कि मेरे सैनिकोंकी दृष्टिमें आता ही नहीं था, मानो एक कोस दूर चला गया हो ।। २६ ।।

ततस्ते प्रेक्षकाः सर्वे रङ्गवाद इव स्थिताः ।
हर्षयामासुरुच्चैर्मां सिंहनादतलस्वनैः ।। २७ ।।

तब वे सैनिक रंगशालामें बैठे हुए दर्शकोंकी भाँति केवल मेरे युद्धका दृश्य देखते हुए जोर-जोरसे सिंहनाद और करतलध्वनि करके मेरा हर्ष बढ़ाने लगे ।। २७ ।।

मत्कराग्रविनिर्मुक्ता दानवानां शरास्तथा ।
अङ्गेषु रुचिरापाङ्गा विविशुः शलभा इव ।। २८ ।।

तब मेरे हाथोंसे छूटे हुए मनोहर पंखवाले बाण दानवोंके अंगोंमें शलभोंकी भाँति घुसने लगे ।। २८ ।।

ततो हलहलाशब्दः सौभमध्ये व्यवर्धत ।
वध्यतां विशिखैस्तीक्ष्णैः पततां च महार्णवे ।। २९ ।।

इससे सौभविमानमें मेरे तीखे बाणोंसे मरकर महासागरमें गिरनेवाले दानवोंका कोलाहल बढ़ने लगा ।। २९ ।।

ते निकृत्तभुजस्कन्धाः कबन्धाकृतिदर्शनाः ।
नदन्तो भैरवान् नादान् निपतन्ति स्म दानवाः ।। ३० ।।

कंधे और भुजाओंके कट जानेसे कबन्धकी आकृतिमें दिखायी देनेवाले वे दानव भयंकर नाद करते हुए समुद्रमें गिरने लगे ।। ३० ।।

पतितास्तेऽपि भक्ष्यन्ते समुद्राम्भोनिवासिभिः ।
ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभम् ।। ३१ ।।
जलजं पाञ्चजन्यं वै प्राणेनाहमपूरयम् ।
तान् दृष्ट्वा पतितांस्तत्र शाल्वः सौभपतिस्ततः ।। ३२ ।।
मायायुद्धेन महता योधयामास मां युधि ।

ततो गदा हलाः प्रासाः शूलशक्तिपरश्वधाः ।। ३३ ।।

असयः शक्तिकुलिशपाशर्ष्टिकनपाः शराः ।

पट्टिशाश्च भुशुण्ड्यश्च प्रपतन्त्यनिशं मयि ।। ३४ ।।

जो गिरते थे, उन्हें समुद्रमें रहनेवाले जीव-जन्तु निगल जाते थे। तत्पश्चात् मैंने गोदुग्ध, कुन्दपुष्प, चन्द्रमा, मृणाल तथा चाँदीकी-सी कान्तिवाले पांचजन्य नामक शंखको बड़े जोरसे फूँका। उन दानवोंको समुद्रमें गिरते देख सौभराज शाल्व महान् मायायुद्धके द्वारा मेरा सामना करने लगा। फिर तो मेरे ऊपर गदा, हल, प्रास, शूल, शक्ति, फरसे, खड्ग, शक्ति, वज्र, पाश, ऋष्टि, कनप, बाण, पट्टिश और भुशुण्डी आदि शस्त्रास्त्रोंकी निरन्तर वर्षा होने लगी ।। ३१—३४ ।।

तामहं माययैवाशु प्रतिगृह्य व्यनाशयम् ।

तस्यां हतायां मायायां गिरिशृङ्गैरयोधयत् ।। ३५ ।।

शाल्वकी उस मायाको मैंने मायाद्वारा ही नियन्त्रित करके नष्ट कर दिया। उस मायाका नाश होनेपर वह पर्वतके शिखरोंद्वारा युद्ध करने लगा ।। ३५ ।।

ततोऽभवत् तम इव प्रकाश इव चाभवत् ।

दुर्दिनं सुदिनं चैव शीतमुष्णं च भारत ।। ३६ ।।

अङ्गारपांशुवर्षं च शस्त्रवर्षं च भारत ।

एवं मायां प्रकुर्वाणो योधयामास मां रिपुः ।। ३७ ।।

तदनन्तर कभी अन्धकार-सा हो जाता, कभी प्रकाश-सा हो जाता, कभी मेघोंसे आकाश घिर जाता और कभी बादलोंके छिन्न-भिन्न होनेसे सुन्दर दिन प्रकट हो जाता था। कभी सर्दी और कभी गरमी पड़ने लगती थी। अंगार और धूलिकी वर्षाके साथ-साथ शस्त्रोंकी भी वृष्टि होने लगती। इस प्रकार शत्रुने मेरे साथ मायाका प्रयोग करते हुए युद्ध आरम्भ किया ।। ३६—३७ ।।

विज्ञाय तदहं सर्वं माययैव व्यनाशयम् ।

यथाकालं तु युद्धेन व्यधमं सर्वतः शरैः ।। ३८ ।।

वह सब जानकर मैंने मायाद्वारा ही उसकी मायाका नाश कर दिया। यथासमय युद्ध करते हुए मैंने बाणोंद्वारा शाल्वकी सेनाको सब ओरसे संतप्त कर दिया ।। ३८ ।।

ततो व्योम महाराज शतसूर्यमिवाभवत् ।

शतचन्द्रं च कौन्तेय सहस्रायुततारकम् ।। ३९ ।।

कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर! इसके बाद आकाश सौ सूर्योंसे उद्भासित-सा दिखायी देने लगा। उसमें सैकड़ों चन्द्रमा और करोड़ों तारे दिखायी देने लगे ।। ३९ ।।

ततो नाज्ञायत तदा दिवारात्रं तथा दिशः ।

ततोऽहं मोहमापन्नः प्रज्ञास्त्रं समयोजयम् ।। ४० ।।

उस समय यह नहीं जान पड़ता था कि यह दिन है या रात्रि! दिशाओंका भी ज्ञान नहीं होता था; इससे मोहित होकर मैंने प्रज्ञास्त्रका संधान किया ।। ४० ।।

ततस्तदस्त्रं कौन्तेय धूतं तूलमिवानिलैः ।
तथा तदभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
लब्धालोकस्तु राजेन्द्र पुनः शत्रुमयोधयम् ।। ४१ ।।

कुन्तीकुमार! तब उस अस्त्रने उस सारी मायाको उसी प्रकार उड़ा दिया, जैसे हवा रूईको उड़ा देती है। इसके बाद शाल्वके साथ हमलोगोंका अत्यन्त भयंकर तथा रोमांचकारी युद्ध होने लगा। राजेन्द्र! सब ओर प्रकाश हो जानेपर मैंने पुनः शत्रुसे युद्ध प्रारम्भ कर दिया ।। ४१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने विंशोऽध्यायः ।। २० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २० ।।

एकविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका शाल्वकी मायासे मोहित होकर पुनः सजग होना

वासुदेव उवाच

एवं स पुरुषव्याघ्र शाल्वराजो महारिपुः ।
युध्यमानो मया संख्ये वियदभ्यगमत् पुनः ।। १ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—पुरुषसिंह! इस प्रकार मेरे साथ युद्ध करनेवाला महाशत्रु शाल्वराज पुनः आकाशमें चला गया ।। १ ।।

ततः शतघ्नीश्च महागदाश्च
दीप्तांश्च शूलान् मुसलानसींश्च ।
चिक्षेप रोषान्मयि मन्दबुद्धिः
शाल्वो महाराज जयाभिकाङ्क्षी ।। २ ।।

महाराज! वहाँसे विजयकी इच्छा रखनेवाले मन्दबुद्धि शाल्वने क्रोधमें भरकर मेरे ऊपर शतघ्नियाँ, बड़ी-बड़ी गदाएँ, प्रज्वलित शूल, मुसल और खड्ग फेंके ।। २ ।।

तानाशुगैरापततोऽहमाशु
निवार्य हन्तुं खगमान् ख एव ।
द्विधा त्रिधा चाच्छिदमाशुमुक्तै-
स्ततोऽन्तरिक्षे निनदो बभूव ।। ३ ।।

उनके आते ही मैंने तुरंत शीघ्रगामी बाणोंद्वारा उन्हें रोककर उन गगनचारी शत्रुओंको आकाशमें ही मार डालनेका निश्चय किया और शीघ्र छोड़े हुए बाणोंद्वारा उन सबके दो-दो तीन-तीन टुकड़े कर डाले। इससे अन्तरिक्षमें बड़ा भारी आर्त्तनाद हुआ ।। ३ ।।

ततः शतसहस्रेण शराणां नतपर्वणाम् ।
दारुकं वाजिनश्चैव रथं च समवाकिरत् ।। ४ ।।

तदनन्तर शाल्वने झुकी हुई गाँठोंवाले लाखों बाणोंका प्रहार करके मेरे सारथि दारुक, घोड़ों तथा रथको आच्छादित कर दिया ।। ४ ।।

ततो मामब्रवीद् वीर दारुको विह्वलन्निव ।
स्थातव्यमिति तिष्ठामि शाल्वबाणप्रपीडितः ।
अवस्थातुं न शक्नोमि अङ्गं मे व्यवसीदति ।। ५ ।।

वीरवर! तब दारुक व्याकुल-सा होकर मुझसे बोला—'प्रभो! युद्धमें डटे रहना चाहिये' इस कर्तव्यका स्मरण करके ही मैं यहाँ ठहरा हुआ हूँ; किंतु शाल्वके बाणोंसे अत्यन्त

पीड़ित होनेके कारण मुझमें खड़े रहनेकी भी शक्ति नहीं रह गयी है। मेरा अंग शिथिल होता जा रहा है' ।। ५ ।।

इति तस्य निशम्याहं सारथेः करुणं वचः ।
अवेक्षमाणो यन्तारमपश्यं शरपीडितम् ।। ६ ।।

सारथिका यह करुण वचन सुनकर मैंने उसकी ओर देखा। उसे बाणोंद्वारा बड़ी पीड़ा हो रही थी ।। ६ ।।

न तस्योरसि नो मूर्ध्नि न काये न भुजद्वये ।
अन्तरं पाण्डवश्रेष्ठ पश्याम्यनिचितं शरैः ।। ७ ।।
स तु बाणवरोत्पीडाद् विस्रवत्यसृगुल्बणम् ।
अभिवृष्टे यथा मेघे गिरिर्गैरिकधातुमान् ।। ८ ।।

पाण्डवश्रेष्ठ! उसकी छातीमें, मस्तकपर, शरीरके अन्य अवयवोंमें तथा दोनों भुजाओंमें थोड़ा-सा भी ऐसा स्थान नहीं दिखायी देता था, जिसमें बाण न चुभे हुए हों। जैसे मेघके वर्षा करनेपर गेरू आदि धातुओंसे युक्त पर्वत लाल पानीकी धारा बहाने लगता है, वैसे ही वह बाणोंसे छिदे हुए अपने अंगोंसे भयंकर रक्तकी धारा बहा रहा था ।। ७-८ ।।

अभीषु हस्तं तं दृष्ट्वा सीदन्तं सारथिं रणे ।
अस्तम्भयं महाबाहो शाल्वबाणप्रपीडितम् ।। ९ ।।

महाबाहो! उस युद्धमें हाथमें बागडोर लिये सारथिको शाल्वके बाणोंसे पीड़ित होकर कष्ट पाते देख मैंने उसे ढाढ़स बँधाया ।। ९ ।।

अथ मां पुरुषः कश्चिद् द्वारकानिलयोऽब्रवीत् ।
त्वरितो रथमभ्येत्य सौहृदादिव भारत ।। १० ।।
आहुकस्य वचो वीर तस्यैव परिचारकः ।
विषण्णः सन्नकण्ठेन तन्निबोध युधिष्ठिर ।। ११ ।।

भरतवंशी वीरवर! इतनेमें ही कोई द्वारकावासी पुरुष आकर तुरंत मेरे रथपर चढ़ गया और सौहार्द दिखाता हुआ-सा बोला। वह राजा उग्रसेनका सेवक था और दुःखी होकर उसने गद्‌गदकण्ठसे उनका जो संदेश सुनाया, उसे बताता हूँ, सुनिये ।। १०-११ ।।

द्वारकाधिपतिर्वीर आह त्वामाहुको वचः ।
केशवैहि विजानीष्व यत् त्वां पितृसखोऽब्रवीत् ।। १२ ।।

(दूत बोला—) 'वीर! द्वारकानरेश उग्रसेनने आपको यह एक संदेश दिया है। केशव! वे आपके पिताके सखा हैं; उन्होंने आपसे कहा है कि यहाँ आ जाओ और जान लो ।। १२ ।।

उपायायाद्य शाल्वेन द्वारकां वृष्णिनन्दन ।
विषक्ते त्वयि दुर्धर्ष हतः शूरसुतो बलात् ।। १३ ।।

'दुर्धर्ष वृष्णिनन्दन! आपके युद्धमें आसक्त होनेपर शाल्वने अभी द्वारकापुरीमें आकर शूरनन्दन वसुदेवजीको बलपूर्वक मार डाला है ।। १३ ।।

तदलं साधु युद्धेन निवर्तस्व जनार्दन ।
द्वारकामेव रक्षस्व कार्यमेतन्महत् तव ।। १४ ।।

'जनार्दन! अब युद्ध करके क्या लेना है? लौट आओ। द्वारकाकी ही रक्षा करो। तुम्हारे लिये यही सबसे महान् कार्य है' ।। १४ ।।

इत्यहं तस्य वचनं श्रुत्वा परमदुर्मनाः ।
निश्चयं नाधिगच्छामि कर्तव्यस्येतरस्य च ।। १५ ।।

दूतका यह वचन सुनकर मेरा मन उदास हो गया। मैं कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें कोई निश्चय नहीं कर पाता था ।। १५ ।।

सात्यकिं बलदेवं च प्रद्युम्नं च महारथम् ।
जगर्हे मनसा वीर तच्छ्रुत्वा महदप्रियम् ।। १६ ।।

वीर युधिष्ठिर! वह महान् अप्रिय वृत्तान्त सुनकर मैं मन-ही-मन सात्यकि, बलरामजी तथा महारथी प्रद्युम्नकी निन्दा करने लगा ।। १६ ।।

अहं हि द्वारकायाश्च पितुश्च कुरुनन्दन ।
तेषु रक्षां समाधाय प्रयातः सौभपातने ।। १७ ।।

कुरुनन्दन! मैं द्वारका तथा पिताजीकी रक्षाका भार उन्हीं लोगोंपर रखकर सौभविमानका नाश करनेके लिये चला था ।। १७ ।।

बलदेवो महाबाहुः कच्चिज्जीवति शत्रुहा ।
सात्यकी रौक्मिणेयश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ।। १८ ।।
साम्बप्रभृतयश्चैवेत्यहमासं सुदुर्मनाः ।
एतेषु हि नरव्याघ्र जीवत्सु न कथंचन ।। १९ ।।
शक्यः शूरसुतो हन्तुमपि वज्रभृता स्वयम् ।
हतः शूरसुतो व्यक्तं व्यक्तं चैते परासवः ।। २० ।।
बलदेवमुखाः सर्व इति मे निश्चिता मतिः ।
सोऽहं सर्वविनाशं तं चिन्तयानो मुहुर्मुहुः ।
अविह्वलो महाराज पुनः शाल्वमयोधयम् ।। २१ ।।

क्या शत्रुहन्ता महाबली बलरामजी जीवित हैं? क्या सात्यकि, रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न, महाबली चारुदेष्ण तथा साम्ब आदि जीवन धारण करते हैं? इन बातोंका विचार करते-करते मेरा मन बहुत उदास हो गया। नरश्रेष्ठ! इन वीरोंके जीते-जी साक्षात् इन्द्र भी मेरे पिता वसुदेवजीको किसी प्रकार मार नहीं सकते थे। अवश्य ही शूरनन्दन वसुदेवजी मारे गये और यह भी स्पष्ट है कि बलरामजी आदि सभी प्रमुख वीर प्राणत्याग कर चुके हैं—यह मेरा

निश्चित विचार हो गया। महाराज! इस प्रकार सबके विनाशका बारंबार चिन्तन करके भी मैं व्याकुल न होकर राजा शाल्वसे पुनः युद्ध करने लगा ।। १८—२१ ।।

ततोऽपश्यं महाराज प्रपतन्तमहं तदा ।
सौभाच्छूरसुतं वीर ततो मां मोह आविशत् ।। २२ ।।

वीर महाराज! इसी समय मैंने देखा, सौभविमानसे मेरे पिता वसुदेवजी नीचे गिर रहे हैं। इससे शाल्वकी मायासे मुझे मूर्च्छा-सी आ गयी ।। २२ ।।

तस्य रूपं प्रपततः पितुर्मम नराधिप ।
ययातेः क्षीणपुण्यस्य स्वर्गादिव महीतलम् ।। २३ ।।

नरेश्वर! उस विमानसे गिरते हुए मेरे पिताका स्वरूप ऐसा जान पड़ता था, मानो पुण्यक्षय होनेपर स्वर्गसे पृथ्वीतलपर गिरनेवाले राजा ययातिका शरीर हो ।। २३ ।।

विशीर्णमलिनोष्णीषः प्रकीर्णाम्बरमूर्धजः ।
प्रपतन् दृश्यते ह स्म क्षीणपुण्य इव ग्रहः ।। २४ ।।

उनकी मलिन पगड़ी बिखर गयी थी, शरीरके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये थे और बाल बिखर गये थे। वे गिरते समय पुण्यहीन ग्रहकी भाँति दिखायी देते थे ।। २४ ।।

ततः शार्ङ्गं धनुःश्रेष्ठं करात् प्रपतितं मम ।
मोहापन्नश्च कौन्तेय रथोपस्थ उपाविशम् ।। २५ ।।

कुन्तीनन्दन! उनकी यह अवस्था देख धनुषोंमें श्रेष्ठ शार्ङ्ग मेरे हाथसे छूटकर गिर गया और मैं शाल्वकी मायासे मोहित-सा होकर रथके पिछले भागमें चुपचाप बैठ गया ।। २५ ।।

ततो हाहाकृतं सर्वं सैन्यं मे गतचेतनम् ।
मां दृष्ट्वा रथनीडस्थं गतासुमिव भारत ।। २६ ।।

भारत! फिर तो मुझे रथके पिछले भागमें प्राणरहितके समान पड़ा देख मेरी सारी सेना हाहाकार कर उठी। सबकी चेतना लुप्त-सी हो गयी ।। २६ ।।

प्रसार्य बाहू पततः प्रसार्य चरणावपि ।
रूपं पितुर्मे विबभौ शकुनेः पततो यथा ।। २७ ।।

हाथों और पैरोंको फैलाकर गिरते हुए मेरे पिताका शरीर मरकर गिरनेवाले पक्षीके समान जान पड़ता था ।। २७ ।।

तं पतन्तं महाबाहो शूलपट्टिशपाणयः ।
अभिघ्नन्तो भृशं वीर मम चेतो ह्यकम्पयन् ।। २८ ।।

वीरवर महाबाहो! गिरते समय शत्रु-सैनिक हाथोंमें शूल और पट्टिश लिये उनके ऊपर बारंबार प्रहार कर रहे थे। उनके इस क्रूर कृत्यने मेरे हृदयको कम्पित-सा कर दिया ।। २८ ।।

ततो मुहूर्तात् प्रतिलभ्य संज्ञा-
महं तदा वीर महाविमर्दे ।

न तत्र सौभं न रिपुं च शाल्वं

पश्यामि वृद्धं पितरं न चापि ।। २९ ।।

वीरवर! तदनन्तर दो घड़ीके बाद जब मैं सचेत होकर देखता हूँ, तब उस महासमरमें न तो सौभविमानका पता है, न मेरा शत्रु शाल्व ही दिखायी देता है और न मेरे बूढ़े पिता ही दृष्टिगोचर होते हैं ।। २९ ।।

ततो ममासीन्मनसि मायेयमिति निश्चितम् ।

प्रबुद्धोऽस्मि ततो भूयः शतशोऽवाकिरं शरान् ।। ३० ।।

तब मेरे मनमें यह निश्चय हो गया कि यह वास्तवमें माया ही थी। तब मैंने सजग होकर सैकड़ों बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने एकविंशोऽध्यायः ।। २१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१ ।।

द्वाविंशोऽध्यायः

शाल्ववधोपाख्यानकी समाप्ति और युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर श्रीकृष्ण, धृष्टद्युम्न तथा अन्य सब राजाओंका अपने-अपने नगरको प्रस्थान

वासुदेव उवाच

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ प्रगृह्य रुचिरं धनुः ।
शरैरपातयं सौभाच्छिरांसि विबुधद्विषाम् ।। १ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! तब मैं अपना सुन्दर धनुष उठाकर बाणोंद्वारा सौभविमानसे देवद्रोही दानवोंके मस्तक काट-काटकर गिराने लगा ।। १ ।।

शरांश्चाशीविषाकारानूर्ध्वगांस्तिग्मतेजसः ।
प्रैषयं शाल्वराजाय शार्ङ्गमुक्तान् सुवाससः ।। २ ।।

तत्पश्चात् शार्ङ्ग धनुषसे छूटे हुए विषैले सर्पोंके समान प्रतीत होनेवाले, सुन्दर पंखोंसे सुशोभित, प्रचण्ड तेजस्वी तथा अनेक ऊर्ध्वगामी बाण मैंने राजा शाल्वपर चलाये ।। २ ।।

ततो नादृश्यत तदा सौभं कुरुकुलोद्वह ।
अन्तर्हितं माययाभूत् ततोऽहं विस्मितोऽभवम् ।। ३ ।।

कुरुकुलशिरोमणे! परंतु उस समय सौभविमान मायासे अदृश्य हो गया, अतः किसी प्रकार दिखायी नहीं देता था। इससे मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ ।। ३ ।।

अथ दानवसङ्घास्ते विकृताननमूर्धजाः ।
उदक्रोशन् महाराज विष्ठिते मयि भारत ।। ४ ।।

भरतवंशी महराज! तदनन्तर जब मैं निर्भय और अचलभावसे स्थित हुआ तथा उनपर शस्त्रप्रहार करने लगा, तब विकृत मुख और केशवाले सौभनिवासी दानवगण जोर-जोरसे चिल्लाने लगे ।। ४ ।।

ततोऽस्त्रं शब्दसाहं वै त्वरमाणो महारणे ।
अयोजयं तद्वधाय ततः शब्द उपारमत् ।। ५ ।।

तब मैंने उनके वधके लिये उस महान् संग्राममें बड़ी उतावलीके साथ शब्दवेधी बाणका संधान किया। यह देख उनका कोलाहल शान्त हो गया ।। ५ ।।

हतास्ते दानवाः सर्वे यैः स शब्द उदीरितः ।
शरैरादित्यसंकाशैर्ज्वलितैः शब्दसाधनैः ।। ६ ।।

जिन दानवोंने पहले कोलाहल किया था, वे सब सूर्यके समान तेजस्वी शब्दवेधी बाणोंद्वारा मारे गये ।। ६ ।।

तस्मिन्नुपरते शब्दे पुनरेवान्यतोऽभवत् ।
शब्दोऽपरो महाराज तत्रापि प्राहरं शरैः ।। ७ ।।

महाराज! वह कोलाहल शान्त होनेपर फिर दूसरी ओर उनका शब्द सुनायी दिया। तब मैंने उधर भी बाणोंका प्रहार किया ।। ७ ।।

एवं दश दिशः सर्वास्तिर्यगूर्ध्वं च भारत ।
नादयामासुरसुरास्ते चापि निहता मया ।। ८ ।।

भारत! इस तरह वे असुर इधर-उधर ऊपर-नीचे दसों दिशाओंमें कोलाहल करते और मेरे हाथसे मारे जाते थे ।। ८ ।।

ततः प्राग्ज्योतिषं गत्वा पुनरेव व्यदृश्यत ।
सौभं कामगमं वीर मोहयन्मम चक्षुषी ।। ९ ।।

तदनन्तर इच्छानुसार चलनेवाला सौभविमान प्राग्ज्योतिषपुरके निकट जाकर मेरे नेत्रोंको भ्रममें डालता हुआ फिर दिखायी दिया ।। ९ ।।

ततो लोकान्तकरणो दानवो दारुणाकृतिः ।
शिलावर्षेण महता सहसा मां समावृणोत् ।। १० ।।

तत्पश्चात् लोकान्तकारी भयंकर आकृतिवाले दानवने आकर सहसा पत्थरोंकी भारी वर्षाके द्वारा मुझे आवृत कर दिया ।। १० ।।

सोऽहं पर्वतवर्षेण वध्यमानः पुनः पुनः ।
वल्मीक इव राजेन्द्र पर्वतोपचितोऽभवम् ।। ११ ।।

राजेन्द्र! शिलाखण्डोंकी उस निरन्तर वृष्टिसे बार-बार आहत होकर मैं पर्वतोंसे आच्छादित बाँबी-सा प्रतीत होने लगा ।। ११ ।।

ततोऽहं पर्वतचितः सहयः सहसारथिः ।
अप्रख्यातिमियां राजन् सर्वतः पर्वतैश्चितः ।। १२ ।।

राजन्! मेरे चारों ओर शिलाखण्ड जमा हो गये थे। मैं घोड़ों और सारथिसहित प्रस्तरखण्डोंसे चुना-सा गया था, जिससे दिखायी नहीं देता था ।। १२ ।।

ततो वृष्णिप्रवीरा ये ममासन् सैनिकास्तदा ।
ते भयार्ता दिशः सर्वे सहसा विप्रदुद्रुवुः ।। १३ ।।

यह देख वृष्णिकुलके श्रेष्ठ वीर जो मेरे सैनिक थे, भयसे आर्त हो सहसा चारों दिशाओंमें भाग चले ।। १३ ।।

ततो हाहाकृतमभूत् सर्वं किल विशाम्पते ।
द्यौश्च भूमिश्च खं चैवादृश्यमाने तथा मयि ।। १४ ।।

प्रजानाथ! मेरे अदृश्य हो जानेपर भूलोक, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोक—सभी स्थानोंमें हाहाकार मच गया ।। १४ ।।

ततो विषण्णमनसो मम राजन् सुहृज्जनाः ।

रुरुदुश्चुक्रुशुश्चैव दुःखशोकसमन्विताः ।। १५ ।।

राजन्! उस समय मेरे सभी सुहृद् खिन्नचित्त हो दुःख-शोकमें डूबकर रोने-चिल्लाने लगे ।। १५ ।।

द्विषतां च प्रहर्षोऽभूदार्तिश्चाद्विषतामपि ।
एवं विजितवान् वीर पश्चादश्रौषमच्युत ।। १६ ।।

शत्रुओंमें उल्लास छा गया और मित्रोंमें शोक। अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले वीर युधिष्ठिर! इस प्रकार राजा शाल्व एक बार मुझपर विजयी हो चुका था। यह बात मैंने सचेत होनेपर पीछे सारथिके मुँहसे सुनी थी ।। १६ ।।

ततोऽहमिन्द्रदयितं सर्वपाषाणभेदनम् ।
वज्रमुद्यम्य तान् सर्वान् पर्वतान् समशातयम् ।। १७ ।।

तब मैंने सब प्रकारके प्रस्तरोंको विदीर्ण करनेवाले इन्द्रके प्रिय आयुध वज्रका प्रहार करके उन समस्त शिलाखण्डोंको चूर-चूर कर दिया ।। १७ ।।

ततः पर्वतभारार्त्ता मन्दप्राणविचेष्टिताः ।
हया मम महाराज वेपमाना इवाभवन् ।। १८ ।।

महाराज! उस समय पर्वतखण्डोंके भारसे पीड़ित हुए मेरे घोड़े कम्पित-से हो रहे थे। उनकी बलसाध्य चेष्टाएँ बहुत कम हो गयी थीं ।। १८ ।।

मेघजालमिवाकाशे विदार्याभ्युदितं रविम् ।
दृष्ट्वा मां बान्धवाः सर्वे हर्षमाहारयन् पुनः ।। १९ ।।

जैसे आकाशमें बादलोंके समुदायको छिन्न-भिन्न करके सूर्य उदित होता है, उसी प्रकार शिलाखण्डोंको हटाकर मुझे प्रकट हुआ देख मेरे सभी बन्धु-बान्धब पुनः हर्षसे खिल उठे ।। १९ ।।

ततः पर्वतभारार्त्तान् मन्दप्राणविचेष्टितान् ।
हयान् संदृश्य मां सूतः प्राह तात्कालिकं वचः ।। २० ।।

तब प्रस्तरखण्डोंके भारसे पीड़ित तथा धीरे-धीरे प्राणसाध्य चेष्टा करनेवाले घोड़ोंको देखकर सारथिने मुझसे यह समयोचित बात कही— ।। २० ।।

साधु सम्पश्य वार्ष्णेय शाल्वं सौभपतिं स्थितम् ।
अलं कृष्णावमन्यैनं साधु यत्नं समाचर ।। २१ ।।

‘वार्ष्णेय! वह देखिये, सौभराज शाल्व वहाँ खड़ा है। श्रीकृष्ण! इसकी उपेक्षा करनेसे कोई लाभ नहीं। इसके वधका कोई उचित उपाय कीजिये ।। २१ ।।

मार्दवं सखितां चैव शाल्वादद्य व्यपाहर ।
जहि शाल्वं महाबाहो मैनं जीवय केशव ।। २२ ।।

‘महाबाहु केशव! अब शाल्वकी ओरसे कोमलता और मित्रभाव हटा लीजिये। इसे मार डालिये, जीवित न रहने दीजिये ।। २२ ।।

सर्वैः पराक्रमैर्वीर वध्यः शत्रुरमित्रहन् ।
न शत्रुरवमन्तव्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा ।। २३ ।।

'शत्रुहन्ता वीरवर! आपको सारा पराक्रम लगाकर इस शत्रुका वध कर डालना चाहिये। कोई कितना ही बलवान् क्यों न हो, उसे अपने दुर्बल शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये ।। २३ ।।

योऽपि स्यात् पीठगः कश्चित् किं पुनः समरे स्थितः ।
स त्वं पुरुषशार्दूल सर्वयत्नैरिमं प्रभो ।। २४ ।।
जहि वृष्णिकुलश्रेष्ठ मा त्वां कालोऽत्यगात् पुनः ।
नैष मार्दवसाध्यो वै मतो नापि सखा तव ।। २५ ।।
येन त्वं योधितो वीर द्वारका चावमर्दिता ।
एवमादि तु कौन्तेय श्रुत्वाहं सारथेर्वचः ।। २६ ।।
तत्त्वमेतदिति ज्ञात्वा युद्धे मतिमधारयम् ।
वधाय शाल्वराजस्य सौभस्य च निपातने ।। २७ ।।

'कोई शत्रु अपने घरमें आसनपर बैठा हो (युद्ध न करना चाहता हो), तो भी उसे नष्ट करनेमें नहीं चूकना चाहिये; फिर जो संग्राममें युद्ध करनेके लिये खड़ा हो, उसकी तो बात ही क्या है? अतः पुरुषसिंह! प्रभो! आप सभी उपायोंसे इस शत्रुको मार डालिये। वृष्णिवंशावतंस! इस कार्यमें आपको पुनः विलम्ब नहीं करना चाहिये। यह मृदुतापूर्ण उपायसे वशमें आनेवाला नहीं। वास्तवमें यह आपका मित्र भी नहीं है; क्योंकि वीर! इसने आपके साथ युद्ध किया और द्वारकापुरीको तहस-नहस कर दिया, अतः इसको शीघ्र मार डालना चाहिये।' कुन्तीनन्दन! सारथिके मुखसे इस तरहकी बातें सुनकर मैंने सोचा, यह ठीक ही तो कहता है। यह विचारकर मैंने शाल्वराजका वध करने और सौभविमानको मार गिरानेके लिये युद्धमें मन लगा दिया ।। २४—२७ ।।

दारुकं चाब्रुवं वीर मुहूर्तं स्थीयतामिति ।
ततोऽप्रतिहतं दिव्यमभेद्यमतिवीर्यवत् ।। २८ ।।
आग्नेयमस्त्रं दयितं सर्वसाहं महाप्रभम् ।
योजयं तत्र धनुषा दानवान्तकरं रणे ।। २९ ।।

वीर! तत्पश्चात् मैंने दारुकसे कहा—'सारथे! दो घड़ी और ठहरो (फिर तुम्हारी इच्छा पूरी हो जायगी)।' तदनन्तर मैंने कहीं भी कुण्ठित न होनेवाले दिव्य, अभेद्य, अत्यन्त शक्तिशाली, सब कुछ सहन करनेमें समर्थ, प्रिय तथा परम कान्तिमान् आग्नेयास्त्रका अपने धनुषपर संधान किया। वह अस्त्र युद्धमें दानवोंका अन्त करनेवाला था ।। २८-२९ ।।

यक्षाणां राक्षसानां च दानवानां च संयुगे ।
राज्ञां च प्रतिलोमानां भस्मान्तकरणं महत् ।। ३० ।।

इतना ही नहीं, वह यक्षों, राक्षसों, दानवों तथा विपक्षी राजाओंको भी भस्म कर डालनेवाला और महान् था ।। ३० ।।

क्षुरान्तममलं चक्रं कालान्तकयमोपमम् ।
अनुमन्त्र्याहमतुलं द्विषतां विनिबर्हणम् ।। ३१ ।।
जहि सौभं स्ववीर्येण ये चात्र रिपवो मम ।
इत्युक्त्वा भुजवीर्येण तस्मै प्राहिणवं रुषा ।। ३२ ।।

वह आग्नेयास्त्र (सुदर्शन) चक्रके रूपमें था। उसके परिधिभागमें सब ओर तीखे छुरे लगे हुए थे। वह उज्ज्वल अस्त्र काल, यम और अन्तकके समान भयंकर था। उस शत्रुनाशक अनुपम अस्त्रको अभिमन्त्रित करके मैंने कहा—‘तुम अपनी शक्तिसे सौभविमान और उसपर रहनेवाले मेरे शत्रुओंको मार डालो।’ ऐसा कहकर अपने बाहुबलसे रोषपूर्वक मैंने वह अस्त्र सौभ-विमानकी ओर चलाया ।। ३१-३२ ।।

रूपं सुदर्शनस्यासीदाकाशे पततस्तदा ।
द्वितीयस्येव सूर्यस्य युगान्ते प्रपतिष्यतः ।। ३३ ।।

आकाशमें जाते ही उस सुदर्शन चक्रका स्वरूप प्रलयकालमें उगनेवाले द्वितीय सूर्यके समान प्रकाशित हो उठा ।। ३३ ।।

तत् समासाद्य नगरं सौभं व्यपगतत्विषम् ।
मध्येन पाटयामास क्रकचो दार्विवोच्छ्रितम् ।। ३४ ।।

उस दिव्यास्त्रने सौभनगरमें पहुँचकर उसे श्रीहीन कर दिया और जैसे आरा ऊँचे काठको चीर डालता है, उसी प्रकार सौभविमानको बीचसे काट डाला ।। ३४ ।।

द्विधा कृतं ततः सौभं सुदर्शनबलाद्धतम् ।
महेश्वरशरोद्धूतं पपात त्रिपुरं यथा ।। ३५ ।।

सुदर्शन चक्रकी शक्तिसे कटकर दो टुकड़ोंमें बँटा हुआ सौभविमान महादेवजीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुए त्रिपुरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। ३५ ।।

तस्मिन् निपतिते सौभे चक्रमागात् करं मम ।
पुनश्चादाय वेगेन शाल्वायेत्यहमब्रुवम् ।। ३६ ।।

सौभविमानके गिरनेपर चक्र फिर मेरे हाथमें आ गया। मैंने फिर उसे लेकर वेगपूर्वक चलाया और कहा—‘अबकी बार शाल्वको मारनेके लिये तुम्हें छोड़ रहा हूँ’ ।। ३६ ।।

ततः शाल्वं गदां गुर्वीमाविध्यन्तं महाहवे ।
द्विधा चकार सहसा प्रजज्वाल च तेजसा ।। ३७ ।।

तब उस चक्रने महासमरमें बड़ी भारी गदा घुमानेवाले शाल्वके सहसा दो टुकड़े कर दिये और वह तेजसे प्रज्वलित हो उठा ।। ३७ ।।

तस्मिन् विनिहते वीरे दानवास्त्रस्तचेतसः ।
हाहाभूता दिशो जग्मुरर्दिता मम सायकैः ।। ३८ ।।

वीर शाल्वके मारे जानेपर दानवोंके मनमें भय समा गया। वे मेरे बाणोंसे पीड़ित हो हाहाकार करते हुए सब दिशाओंमें भाग गये ।। ३८ ।।

ततोऽहं समवस्थाप्य रथं सौभसमीपतः ।
शङ्खं प्रध्माप्य हर्षेण सुहृदः पर्यहर्षयम् ।। ३९ ।।

तब मैंने सौभविमानके समीप अपने रथको खड़ा करके प्रसन्नतापूर्वक शंख बजाकर सभी सुहृदोंको हर्षमें निमग्न कर दिया ।। ३९ ।।

तन्मेरुशिखराकारं विध्वस्ताट्टालगोपुरम् ।
दह्यमानमभिप्रेक्ष्य स्त्रियस्ताः सम्प्रदुद्रुवुः ।। ४० ।।

मेरुपर्वतके शिखरके समान आकृतिवाले सौभ-नगरकी अट्टालिका और गोपुर सभी नष्ट हो गये। उसे जलते देख उसपर रहनेवाली स्त्रियाँ इधर-उधर भाग गयीं ।। ४० ।।

एवं निहत्य समरे सौभं शाल्वं निपात्य च ।
आनर्तान् पुनरागम्य सुहृदां प्रीतिमावहम् ।। ४१ ।।

धर्मराज! इस प्रकार युद्धमें सौभविमान तथा राजा शाल्वको नष्ट करके मैं पुनः आनर्तनगर (द्वारका)-में लौट आया और सुहृदोंका हर्ष बढ़ाया ।। ४१ ।।

तदेतत् कारणं राजन् यदहं नागसाह्वयम् ।
नागमं परवीरघ्न न हि जीवेत् सुयोधनः ।। ४२ ।।
मय्यागतेऽथवा वीर द्यूतं न भविता तथा ।
अद्याहं किं करिष्यामि भिन्नसेतुरिवोदकम् ।। ४३ ।।

राजन्! यही कारण है, जिससे मैं उन दिनों हस्तिनापुरमें न आ सका। शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले धर्मराज! मेरे आनेपर या तो जूआ नहीं होता या दुर्योधन जीवित नहीं रह पाता। जैसे बाँध टूट जानेपर पानीको कोई नहीं रोक सकता, उसी प्रकार आज जबकि सब कुछ बिगड़ चुका है, तब मैं क्या कर सकूँगा ।। ४२-४३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुः कौरवं पुरुषोत्तमः ।
आमन्त्र्य प्रययौ श्रीमान् पाण्डवान् मधुसूदनः ।। ४४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाबाहु श्रीमान् मधुसूदन कुरुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर द्वारकाकी ओर चले ।। ४४ ।।

अभिवाद्य महाबाहुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातो भीमेन च महाभुजः ।। ४५ ।।

महाबाहु श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरको प्रणाम किया। राजा युधिष्ठिर तथा भीमने बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले श्रीकृष्णका सिर सूँघा ।। ४५ ।।

परिष्वक्तश्चार्जुनेन यमाभ्यां चाभिवादितः ।
सम्मानितश्च धौम्येन द्रौपद्या चार्चितोऽश्रुभिः ।। ४६ ।।

अर्जुनने उनको हृदयसे लगाया और नकुल-सहदेवने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। पुरोहित धौम्यजीने उनका सम्मान किया तथा द्रौपदीने अपने आँसुओंसे उनकी अर्चना की ।। ४६ ।।

सुभद्रामभिमन्युं च रथमारोप्य काञ्चनम् ।
आरुरोह रथं कृष्णः पाण्डवैरभिपूजितः ।। ४७ ।।

पाण्डवोंसे सम्मानित श्रीकृष्ण सुभद्रा और अभिमन्युको अपने सुवर्णमय रथपर बैठाकर स्वयं भी उसपर आरूढ़ हुए ।। ४७ ।।

शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेनादित्यवर्चसा ।
द्वारकां प्रययौ कृष्णः समाश्वास्य युधिष्ठिरम् ।। ४८ ।।

उस रथमें शैब्य और सुग्रीव नामक घोड़े जुते हुए थे और वह सूर्यके समान तेजस्वी प्रतीत होता था। युधिष्ठिरको आश्वासन देकर श्रीकृष्ण उसी रथके द्वारा द्वारकापुरीकी ओर

चल दिये ।। ४८ ।।

ततः प्रयाते दाशार्हे धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः ।

द्रौपदेयानुपादाय प्रययौ स्वपुरं तदा ।। ४९ ।।

श्रीकृष्णके चले जानेपर द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने भी द्रौपदीकुमारोंको साथ ले अपनी राजधानीको प्रस्थान किया ।। ४९ ।।

धृष्टकेतुः स्वसारं च समादायाथ चेदिराट् ।

जगाम पाण्डवान् दृष्ट्वा रम्यां शुक्तिमतीं पुरीम् ।। ५० ।।

चेदिराज धृष्टकेतु भी अपनी बहिन करेणुमतीको, जो नकुलकी भार्या थी, साथ ले पाण्डवोंसे मिल-जुलकर अपनी सुरम्य राजधानी शुक्तिमतीपुरीको चले गये ।। ५० ।।

केकयाश्चाप्यनुज्ञाताः कौन्तेयेनामितौजसा ।

आमन्त्र्य पाण्डवान् सर्वान् प्रययुस्तेऽपि भारत ।। ५१ ।।

भारत! केकयराजकुमार भी अमित तेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा पा समस्त पाण्डवोंसे विदा लेकर अपने नगरको चले गये ।। ५१ ।।

ब्राह्मणाश्च विशश्चैव तथा विषयवासिनः ।

विसृज्यमानाः सुभृशं न त्यजन्ति स्म पाण्डवान् ।। ५२ ।।

युधिष्ठिरके राज्यमें रहनेवाले ब्राह्मण तथा वैश्य बारंबार विदा करनेपर भी पाण्डवोंको छोड़कर जाना नहीं चाहते थे ।। ५२ ।।

समवायः स राजेन्द्र सुमहाद्भुतदर्शनः ।

आसीन्महात्मनां तेषां काम्यके भरतर्षभ ।। ५३ ।।

भरतवंशभूषण महाराज जनमेजय! उस समय काम्यकवनमें उन महात्माओंका बड़ा अद्भुत सम्मेलन जुटा था ।। ५३ ।।

युधिष्ठिरस्तु विप्रांस्ताननुमान्य महामनाः ।

शशास पुरुषान् काले रथान् योजयतेति वै ।। ५४ ।।

तदनन्तर महामना युधिष्ठिरने सब ब्राह्मणोंकी अनुमतिसे अपने सेवकोंको समयपर आज्ञा दी—‘रथोंको जोतकर तैयार करो’ ।। ५४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि सौभवधोपाख्याने द्वाविंशोऽध्यायः ।। २२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें सौभवधोपाख्यानविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२ ।।

त्रयोविंशोऽध्यायः

पाण्डवोंका द्वैतवनमें जानेके लिये उद्यत होना और प्रजावर्गकी व्याकुलता

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् दशार्हाधिपतौ प्रयाते
युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च ।
यमौ च कृष्णा च पुरोहितश्च
रथान् महार्हान् परमाश्वयुक्तान् ।। १ ।।
आस्थाय वीराः सहिता वनाय
प्रतस्थिरे भूतपतिप्रकाशाः ।
हिरण्यनिष्कान् वसनानि गाश्च
प्रदाय शिक्षाक्षरमन्त्रविद्भ्यः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यादवकुलके अधिपति भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी और पुरोहित धौम्य उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए बहुमूल्य रथोंपर बैठे। फिर भूतनाथ भगवान् शंकरके समान सुशोभित होनेवाले वे सभी वीर एक साथ दूसरे वनमें जानेके लिये उद्यत हुए। वेद-वेदांग और मन्त्रके जाननेवाले ब्राह्मणोंको सोनेकी मुद्राएँ, वस्त्र तथा गौएँ प्रदान करके उन्होंने यात्रा प्रारम्भ की ।। १-२ ।।

प्रेष्याः पुरो विंशतिरात्तशस्त्रा
धनूंषि शस्त्राणि शरांश्च दीप्तान् ।
मौर्वीश्च यन्त्राणि च सायकांश्च
सर्वे समादाय जघन्यमीयुः ।। ३ ।।

भगवान् श्रीकृष्णके साथ बीस सेवक अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो धनुष, तेजस्वी बाण, शस्त्र, डोरी, यन्त्र और अनेक प्रकारके सायक लेकर पहले ही पश्चिम दिशामें स्थित द्वारकापुरीकी ओर चले गये थे ।। ३ ।।

ततस्तु वासांसि च राजपुत्र्या
धात्र्यश्च दास्यश्च विभूषणं च ।
तदिन्द्रसेनस्त्वरितः प्रगृह्य
जघन्यमेवोपययौ रथेन ।। ४ ।।

तदनन्तर सारथि इन्द्रसेन राजकुमारी सुभद्राके वस्त्र, आभूषण, धायों तथा दासियोंको लेकर तुरंत ही रथके द्वारा द्वारकापुरीको चल दिया ।। ४ ।।

ततः कुरुश्रेष्ठमुपेत्य पौराः
प्रदक्षिणं चक्रुरदीनसत्त्वाः ।
तं ब्राह्मणाश्चाभ्यवदन् प्रसन्ना
मुख्याश्च सर्वे कुरुजाङ्गलानाम् ।। ५ ।।

इसके बाद उदार हृदयवाले पुरवासियोंने कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरके पास जा उनकी परिक्रमा की। कुरुजांगलदेशके ब्राह्मणों तथा सभी प्रमुख लोगोंने उनसे प्रसन्नतापूर्वक बातचीत की ।। ५ ।।

स चापि तानभ्यवदत् प्रसन्नः
सहैव तैर्भ्रातृभिर्धर्मराजः ।
तस्थौ च तत्राधिपतिर्महात्मा
दृष्ट्वा जनौघं कुरुजाङ्गलानाम् ।। ६ ।।

अपने भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरने भी प्रसन्न होकर उन सबसे वार्तालाप किया। कुरुजांगलदेशके उस जनसमुदायको देखकर महात्मा राजा युधिष्ठिर थोड़ी देरके लिये वहाँ ठहर गये ।। ६ ।।

पितेव पुत्रेषु स तेषु भावं
चक्रे कुरूणामृषभो महात्मा ।
ते चापि तस्मिन् भरतप्रबर्हे
तदा बभूवुः पितरीव पुत्राः ।। ७ ।।

जैसे पिताका अपने पुत्रोंपर वात्सल्यभाव होता है, उसी प्रकार कुरुश्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिरने उन सबके प्रति अपने आन्तरिक स्नेहका परिचय दिया। वे भी उन भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिरके प्रति वैसे ही अनुरक्त थे, जैसे पुत्र अपने पितापर ।। ७ ।।

ततस्तमासाद्य महाजनौघाः
कुरुप्रवीरं परिवार्य तस्थुः ।
हा नाथ हा धर्म इति ब्रुवाणा
भीताश्च सर्वेऽश्रुमुखाश्च राजन् ।। ८ ।।
वरः कुरूणामधिपः प्रजानां
पितेव पुत्रानपहाय चास्मान् ।
पौरानिमाञ्जानपदांश्च सर्वान्
हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ।। ९ ।।

उस महान् जनसमुदाय (प्रजा)-के लोग कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिरके पास जा उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। राजन्! उस समय उन सबके मुखपर आँसुओंकी

धारा बह रही थी और वे वियोगके भयसे भीत हो हा नाथ! हा धर्म! इस प्रकार पुकारते हुए कह रहे थे—'कुरुवंशके श्रेष्ठ अधिपति, प्रजाजनोंपर पिताका-सा स्नेह रखनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर हम सब पुत्रों, पुरवासियों तथा समस्त देशवासियोंको छोड़कर अब कहाँ चले जा रहे हैं? ।। ८-९ ।।

धिग् धार्तराष्ट्रं सुनृशंसबुद्धिं
धिक् सौबलं पापमतिं च कर्णम् ।
अनर्थमिच्छन्ति नरेन्द्र पापा
ये धर्मनित्यस्य सतस्तवैवम् ।। १० ।।

'क्रूरबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको धिक्कार है। सुबलपुत्र शकुनि तथा पापपूर्ण विचार रखनेवाले कर्णको भी धिक्कार है, जो पापी सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले आपका इस प्रकार अनर्थ करना चाहते हैं ।। १० ।।

स्वयं निवेश्याप्रतिमं महात्मा
पुरं महादेवपुरप्रकाशम् ।
शतक्रतुप्रस्थममेयकर्मा
हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ।। ११ ।।

'जिन महात्माने स्वयं ही पुरुषार्थ करके महादेवजीके नगर कैलासकी-सी सुषमावाले अनुपम इन्द्रप्रस्थ नामक नगरको बसाया था, वे अचिन्त्यकर्मा धर्मराज युधिष्ठिर अपनी उस पुरीको छोड़कर अब कहाँ जा रहे हैं? ।। ११ ।।

चकार यामप्रतिमां महात्मा
सभां मयो देवसभाप्रकाशाम् ।
तां देवगुप्तामिव देवमायां
हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ।। १२ ।।

'महामना मयदानवने देवताओंकी सभाके समान सुशोभित होनेवाली जिस अनुपम सभाका निर्माण किया था, देवताओंद्वारा रक्षित देवमायाके समान उस सभाका परित्याग करके धर्मराज युधिष्ठिर कहाँ चले जा रहे हैं?' ।। १२ ।।

तान् धर्मकामार्थविदुत्तमौजा
बीभत्सुरुच्चैः सहितानुवाच ।
आदास्यते वासमिमं निरुष्य
वनेषु राजा द्विषतां यशांसि ।। १३ ।।

धर्म, अर्थ और कामके ज्ञाता उत्तम पराक्रमी अर्जुनने उन सब प्रजाजनोंको सम्बोधित करके उच्च स्वरसे कहा—'राजा युधिष्ठिर इस वनवासकी अवधि पूर्ण करके शत्रुओंका यश छीन लेंगे ।। १३ ।।

द्विजातिमुख्याः सहिताः पृथक् च

भवद्भिरासाद्य तपस्विनश्च ।
प्रसाद्य धर्मार्थविदश्च वाच्या
यथार्थसिद्धिः परमा भवेन्नः ।। १४ ।।

'आपलोग एक साथ या अलग-अलग श्रेष्ठ ब्राह्मणों, तपस्वियों तथा धर्म-अर्थके ज्ञाता महापुरुषोंको प्रसन्न करके उन सबसे यह प्रार्थना करें, जिससे हमलोगोंके अभीष्ट मनोरथकी उत्तम सिद्धि हो' ।। १४ ।।

इत्येवमुक्ते वचनेऽर्जुनेन
ते ब्राह्मणाः सर्ववर्णाश्च राजन् ।
मुदाभ्यनन्दन् सहिताश्च चक्रुः
प्रदक्षिणं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।। १५ ।।

राजन्! अर्जुनके ऐसा कहनेपर ब्राह्मणों तथा अन्य सब वर्णके लोगोंने एक स्वरसे प्रसन्नतापूर्वक उनकी बातका अभिनन्दन किया तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरकी परिक्रमा की ।। १५ ।।

आमन्त्र्य पार्थं च वृकोदरं च
धनंजयं याज्ञसेनीं यमौ च ।
प्रतस्थिरे राष्ट्रमपेतहर्षा
युधिष्ठिरेणानुमता यथास्वम् ।। १६ ।।

तदनन्तर सब लोग कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, द्रौपदी तथा नकुल-सहदेवसे विदा ले एवं युधिष्ठिरकी अनुमति प्राप्त करके उदास होकर अपने राष्ट्रको प्रस्थित हुए ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे त्रयोविंशोऽध्यायः ।। २३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३ ।।

चतुर्विंशोऽध्यायः
पाण्डवोंका द्वैतवनमें जाना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तेषु प्रयातेषु कौन्तेयः सत्यसंगरः ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भ्रातॄन् सर्वान् युधिष्ठिरः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर प्रजाजनोंके चले जानेपर सत्यप्रतिज्ञ एवं धर्मात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे कहा— ।। १ ।।

द्वादशेमानि वर्षाणि वस्तव्यं निर्जने वने ।
समीक्षध्वं महारण्ये देशं बहुमृगद्विजम् ।। २ ।।

'हमलोगोंको इन आगामी बारह वर्षोंतक निर्जन वनमें निवास करना है, अतः इस महान् वनमें कोई ऐसा स्थान ढूँढ़ो, जहाँ बहुत-से पशु-पक्षी निवास करते हों ।। २ ।।

बहुपुष्पफलं रम्यं शिवं पुण्यजनावृतम् ।
यत्रेमाः शरदः सर्वाः सुखं प्रतिवसेमहि ।। ३ ।।

'जहाँ फल-फूलोंकी अधिकता हो, जो देखनेमें रमणीय एवं कल्याणकारी हो तथा जहाँ बहुत-से पुण्यात्मा पुरुष रहते हों। वह स्थान इस योग्य होना चाहिये, जहाँ हम सब लोग इन बारह वर्षोंतक सुखपूर्वक रह सकें' ।। ३ ।।

एवमुक्ते प्रत्युवाच धर्मराजं धनंजयः ।
गुरुवन्मानवगुरुं मानयित्वा मनस्विनम् ।। ४ ।।

धर्मराजके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उन मनस्वी मानवगुरु युधिष्ठिरका गुरुतुल्य सम्मान करके उनसे इस प्रकार कहा ।। ४ ।।

अर्जुन उवाच

भवानेव महर्षीणां वृद्धानां पर्युपासिता ।
अज्ञातं मानुषे लोके भवतो नास्ति किंचन ।। ५ ।।

अर्जुन बोले—आर्य! आप स्वयं ही बड़े-बड़े ऋषियों तथा वृद्ध पुरुषोंका संग करनेवाले हैं। इस मनुष्यलोकमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो ।। ५ ।।

त्वया ह्युपासिता नित्यं ब्राह्मणा भरतर्षभ ।
द्वैपायनप्रभृतयो नारदश्च महातपाः ।। ६ ।।

भरतश्रेष्ठ! आपने सदा द्वैपायन आदि बहुत-से ब्राह्मणों तथा महातपस्वी नारदजीकी उपासना की है ।। ६ ।।

यः सर्वलोकद्वाराणि नित्यं संचरते वशी ।

देवलोकाद् ब्रह्मलोकं गन्धर्वाप्सरसामपि ।। ७ ।।

जो मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर सदा सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते रहते हैं। देवलोकसे लेकर ब्रह्मलोक तथा गन्धर्वों और अप्सराओंके लोकोंमें भी उनकी पहुँच है ।। ७ ।।

अनुभावांश्च जानासि ब्राह्मणानां न संशयः ।
प्रभावांश्चैव वेत्थ त्वं सर्वेषामेव पार्थिव ।। ८ ।।

राजन्! आप सभी ब्राह्मणोंके अनुभाव और प्रभावको जानते हैं, इसमें संशय नहीं है ।। ८ ।।

त्वमेव राजन् जानासि श्रेयःकारणमेव च ।
यत्रेच्छसि महाराज निवासं तत्र कुर्महे ।। ९ ।।

राजन्! आप ही श्रेय (मोक्ष)-के कारणका ज्ञान रखते हैं। महाराज! आपकी जहाँ इच्छा हो वहीं हमलोग निवास करेंगे ।। ९ ।।

इदं द्वैतवनं नाम सरः पुण्यजलोचितम् ।
बहुपुष्पफलं रम्यं नानाद्विजनिषेवितम् ।। १० ।।

यह जो पवित्र जलसे भरा हुआ सरोवर है, इसका नाम द्वैतवन है। यहाँ फल और फूलोंकी बहुलता है। देखनेमें यह स्थान रमणीय तथा अनेक ब्राह्मणोंसे सेवित है ।। १० ।।

अत्रेमा द्वादश समा विहरेमेति रोचये ।
यदि तेऽनुमतं राजन् किमन्यन्मन्यते भवान् ।। ११ ।।

मेरी इच्छा है कि यहीं हमलोग इन बारह वर्षोंतक निवास करें। राजन्! यदि आपकी अनुमति हो तो द्वैतवनके समीप रहा जाय। अथवा आप दूसरे किस स्थानको उत्तम मानते हैं ।। ११ ।।

युधिष्ठिर उवाच

ममाप्येतन्मतं पार्थ त्वया यत् समुदाहृतम् ।
गच्छामः पुण्यविख्यातं महद् द्वैतवनं सरः ।। १२ ।।

युधिष्ठिरने कहा—पार्थ! तुमने जैसा बताया है, वही मेरा भी मत है। हमलोग पवित्र जलके कारण प्रसिद्ध द्वैतवन नामक विशाल सरोवरके समीप चलें ।। १२ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते प्रययुः सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः ।
ब्राह्मणैर्बहुभिः सार्धं पुण्यं द्वैतवनं सरः ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर वे सभी धर्मात्मा पाण्डव बहुत-से ब्राह्मणोंके साथ पवित्र द्वैतवन नामक सरोवरको चले गये ।। १३ ।।

ब्राह्मणाः साग्निहोत्राश्च तथैव च निरग्नयः ।

स्वाध्यायिनो भिक्षवश्च तथैव वनवासिनः ।। १४ ।।
बहवो ब्राह्मणास्तत्र परिवव्रुर्युधिष्ठिरम् ।
तपःसिद्धा महात्मानः शतशः संशितव्रताः ।। १५ ।।

वहाँ बहुत-से अग्निहोत्री ब्राह्मणों, निरग्निकों, स्वाध्यायपरायण ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थियों, संन्यासियों, सैकड़ों कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपःसिद्ध महात्माओं तथा अन्य अनेक ब्राह्मणोंने महाराज युधिष्ठिरको घेर लिया ।। १४-१५ ।।

ते यात्वा पाण्डवास्तत्र ब्राह्मणैर्बहुभिः सह ।
पुण्यं द्वैतवनं रम्यं विविशुर्भरतर्षभाः ।। १६ ।।

वहाँ पहुँचकर भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंने बहुत-से ब्राह्मणोंके साथ पवित्र एवं रमणीय द्वैतवनमें प्रवेश किया ।। १६ ।।

तमालतालाम्रमधूकनीप-
कदम्बसर्जार्जुनकर्णिकारैः ।
तपात्यये पुष्पधरैरुपेतं
महावनं राष्ट्रपतिर्ददर्श ।। १७ ।।

राष्ट्रपति युधिष्ठिरने देखा, वह महान् वन तमाल, ताल, आम, महुआ, नीप, कदम्ब, साल, अर्जुन और कनेर आदि वृक्षोंसे, जो ग्रीष्म-ऋतु बीतनेपर फूल धारण करते हैं, सम्पन्न है ।। १७ ।।

महाद्रुमाणां शिखरेषु तस्थु-
र्मनोरमां वाचमुदीरयन्तः ।
मयूरदात्यूहचकोरसङ्घा-
स्तस्मिन् वने बर्हिणकोकिलाश्च ।। १८ ।।

उस वनमें बड़े-बड़े वृक्षोंकी ऊँची शाखाओं-पर मयूर, चातक, चकोर, बर्हिण तथा कोकिल आदि पक्षी मनको भानेवाली मीठी बोली बोलते हुए बैठे थे ।। १८ ।।

करेणुयूथैः सह यूथपानां
मदोत्कटानामचलप्रभाणाम् ।
महान्ति यूथानि महाद्विपानां
तस्मिन् वने राष्ट्रपतिर्ददर्श ।। १९ ।।

राष्ट्रपति युधिष्ठिरको उस वनमें पर्वतोंके समान प्रतीत होनेवाले मदोन्मत्त गजराजोंके, जो एक-एक यूथके अधिपति थे, हथिनियोंके साथ विचरनेवाले कितने ही भारी-भारी झुंड दिखायी दिये ।। १९ ।।

मनोरमां भोगवतीमुपेत्य
पूतात्मनां चीरजटाधराणाम् ।
तस्मिन् वने धर्मभृतां निवासे

ददर्श सिद्धर्षिगणाननेकान् ।। २० ।।

मनोरम भोगवती (सरस्वती) नदीमें स्नान करके जिनके अन्तःकरण पवित्र हो गये हैं, जो वल्कल और जटा धारण करते हैं, ऐसे धर्मात्माओंके निवासभूत उस वनमें राजाने सिद्धमहर्षियोंके अनेक समुदाय देखे ।। २० ।।

ततः स यानादवरुह्य राजा
सभ्रातृकः सजनः काननं तत् ।
विवेश धर्मात्मवतां वरिष्ठ-
स्त्रिविष्टपं शक्र इवामितौजाः ।। २१ ।।

तदनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ एवं अमित तेजस्वी राजा युधिष्ठिरने अपने सेवकों और भाइयोंसहित रथसे उतरकर स्वर्गमें इन्द्रके समान उस वनमें प्रवेश किया ।। २१ ।।

तं सत्यसंधं सहसाभिपेतु-
र्दिदृक्षवश्चारणसिद्धसङ्घाः ।
वनौकसश्चापि नरेन्द्रसिंहं
मनस्विनं तं परिवार्य तस्थुः ।। २२ ।।

उस समय उन सत्यप्रतिज्ञ मनस्वी राजसिंह युधिष्ठिरको देखनेकी इच्छासे सहसा बहुत-से चारण, सिद्ध एवं वनवासी महर्षि आये और उन्हें घेरकर खड़े हो गये ।। २२ ।।

स तत्र सिद्धानभिवाद्य सर्वान्
प्रत्यर्चितो राजवद् देववच्च ।
विवेश सर्वैः सहितो द्विजाग्र्यैः
कृताञ्जलिर्धर्मभृतां वरिष्ठः ।। २३ ।।

वहाँ आये हुए समस्त सिद्धोंको प्रणाम करके धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर उनके द्वारा भी राजा तथा देवताके समान पूजित हुए एवं दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने उन समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ वनके भीतर पदार्पण किया ।। २३ ।।

स पुण्यशीलः पितृवन्महात्मा
तपस्विभिर्धर्मपरैरुपेत्य ।
प्रत्यर्चितः पुष्पधरस्य मूले
महाद्रुमस्योपविवेश राजा ।। २४ ।।

उस वनमें रहनेवाले धर्मपरायण तपस्वियोंने उन पुण्यशील महात्मा राजाके पास जाकर उनका पिताकी भाँति सम्मान किया। तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिर फूलोंसे लदे हुए एक महान् वृक्षके नीचे उसकी जड़के समीप बैठे ।। २४ ।।

भीमश्च कृष्णा च धनंजयश्च
यमौ च ते चानुचरा नरेन्द्रम् ।
विमुच्य वाहानवशाश्च सर्वे
तत्रोपतस्थुर्भरतप्रबर्हाः ।। २५ ।।

तदनन्तर पराधीन-दशामें पड़े हुए भीम, द्रौपदी, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा सेवकगण सवारी छोड़कर उतर गये। वे सभी भरतश्रेष्ठ वीर महाराज युधिष्ठिरके समीप जा बैठे ।। २५ ।।

लतावतानावनतः स पाण्डवै-
र्महाद्रुमः पञ्चभिरेव धन्विभिः ।
बभौ निवासोपगतैर्महात्मभि-
र्महागिरिर्वारणयूथपैरिव ।। २६ ।।

जैसे महान् पर्वत यूथपति गजराजोंसे सुशोभित होता है, उसी प्रकार, लतासमूहसे झुका हुआ वह महान् वृक्ष वहाँ निवासके लिये आये हुए पाँच धनुर्धर महात्मा पाण्डवोंद्वारा शोभा पाने लगा ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे चतुर्विंशोऽध्यायः ।। २४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४ ।।

पञ्चविंशोऽध्यायः

महर्षि मार्कण्डेयका पाण्डवोंको धर्मका आदेश देकर उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

तत् काननं प्राप्य नरेन्द्रपुत्राः
सुखोचिता वासमुपेत्य कृच्छ्रम् ।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमाः शिवेषु
सरस्वतीशालवनेषु तेषु ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सुख भोगनेके योग्य राजकुमार पाण्डव इन्द्रके समान तेजस्वी थे। वे वनवासके संकटमें पड़कर द्वैतवनमें प्रवेश करके वहाँ सरस्वतीतटवर्ती सुखद शालवनोंमें विहार करने लगे ।। १ ।।

यतींश्च राजा स मुनींश्च सर्वां-
स्तस्मिन् वने मूलफलैरुदग्रैः ।
द्विजातिमुख्यानृषभः कुरूणां
संतर्पयामास महानुभावः ।। २ ।।
इष्टीश्च पित्र्याणि तथा क्रियाश्च
महावने वसतां पाण्डवानाम् ।
पुरोहितस्तत्र समृद्धतेजा-
श्चकार धौम्यः पितृवन्नृपाणाम् ।। ३ ।।

कुरुश्रेष्ठ महानुभाव राजा युधिष्ठिरने उस वनमें रहनेवाले सम्पूर्ण यतियों, मुनियों और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उत्तम फल-मूलोंके द्वारा तृप्त किया। अत्यन्त तेजस्वी पुरोहित धौम्य पिताकी भाँति उस महावनमें रहनेवाले राजकुमार पाण्डवोंके यज्ञ-याग, पितृ-श्राद्ध तथा अन्य सत्कर्म करते-कराते रहते थे ।। २-३ ।।

अपेत्य राष्ट्राद् वसतां तु तेषा-
मृषिः पुराणोऽतिथिराजगाम ।
तमाश्रमं तीव्रसमृद्धतेजा
मार्कण्डेयः श्रीमतां पाण्डवानाम् ।। ४ ।।

राज्यसे दूर होकर वनमें निवास करनेवाले श्रीमान् पाण्डवोंके उस आश्रमपर उद्दीप्त तेजस्वी पुरातन महर्षि मार्कण्डेयजी अतिथिके रूपमें आये ।। ४ ।।

तमागतं ज्वलितहुताशनप्रभं

महामनाः कुरुवृषभो युधिष्ठिरः ।
अपूजयत् सुरऋषिमानवार्चितं
महामुनिं ह्यनुपमसत्त्ववीर्यवान् ।। ५ ।।

उनकी अंग-कान्ति प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित हो रही थी। देवताओं, ऋषियों तथा मनुष्योंद्वारा पूजित महामुनि मार्कण्डेयको आया देख अनुपम धैर्य और पराक्रमसे सम्पन्न महामनस्वी कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने उनकी यथावत् पूजा की ।। ५ ।।

स सर्वविद् द्रौपदीं वीक्ष्य कृष्णां
युधिष्ठिरं भीमसेनार्जुनौ च ।
संस्मृत्य रामं मनसा महात्मा
तपस्विमध्येऽस्मयतामितौजाः ।। ६ ।।

अमित तेजस्वी तथा सर्वज्ञ महात्मा मार्कण्डेयजी द्रुपदकुमारी कृष्णा, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन (और नकुल-सहदेव)-को देखकर मन-ही-मन श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करके तपस्वियोंके बीचमें मुसकराने लगे ।। ६ ।।

तं धर्मराजो विमना इवाब्रवीत्
सर्वे ह्रिया सन्ति तपस्विनोऽमी ।
भवानिदं किं स्मयतीव हृष्ट-
स्तपस्विनां पश्यतां मामुदीक्ष्य ।। ७ ।।

तब धर्मराज युधिष्ठिरने उदासीन-से होकर पूछा—‘मुने! ये सब तपस्वी तो मेरी अवस्था देखकर कुछ संकुचित-से हो रहे हैं, परंतु क्या कारण है कि आप इन सब महात्माओंके सामने मेरी ओर देखकर प्रसन्नतापूर्वक यों मुसकराते-से दिखायी देते हैं?’ ।। ७ ।।

मार्कण्डेय उवाच

न तात हृष्यामि न च स्मयामि
प्रहर्षजो मां भजते न दर्पः ।
तवापदं त्वद्य समीक्ष्य रामं
सत्यव्रतं दाशरथिं स्मरामि ।। ८ ।।

मार्कण्डेयजी बोले—तात! न तो मैं हर्षित होता हूँ और न मुसकराता ही हूँ। हर्षजनित अभिमान कभी मेरा स्पर्श नहीं कर सकता। आज तुम्हारी यह विपत्ति देखकर मुझे सत्यप्रतिज्ञ दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण हो आया ।। ८ ।।

स चापि राजा सह लक्ष्मणेन
वने निवासं पितुरेव शासनात् ।
धन्वी चरन् पार्थ मयैव दृष्टो

गिरेः पुरा ऋष्यमूकस्य सानौ ।। ९ ।।

कुन्तीनन्दन! प्राचीनकालकी बात है राजा रामचन्द्रजी भी अपने पिताकी आज्ञासे ही केवल धनुष हाथमें लिये लक्ष्मणके साथ वनमें निवास एवं भ्रमण करते थे। उस समय ऋष्यमूकपर्वतके शिखरपर मैंने ही उनका भी दर्शन किया था ।। ९ ।।

सहस्रनेत्रप्रतिमो महात्मा
यमस्य नेता नमुचेश्च हन्ता ।
पितुर्निदेशादनघः स्वधर्मं
वासं वने दाशरथिश्चकार ।। १० ।।

दशरथनन्दन श्रीराम सर्वथा निष्पाप थे। इन्द्र उनके दूसरे स्वरूप थे। वे यमराजके भी नियन्ता और नमुचि-जैसे दानवोंके नाशक थे, तो भी उन महात्माने पिताकी आज्ञासे अपना धर्म समझकर वनमें निवास किया ।। १० ।।

स चापि शक्रस्य समप्रभावो
महानुभावः समरेष्वजेयः ।
विहाय भोगानचरद् वनेषु
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ।। ११ ।।

जो इन्द्रके समान प्रभावशाली थे, जिनका अनुभव महान् था तथा जो युद्धमें सर्वदा अजेय थे, उन्होंने भी सम्पूर्ण भोगोंका परित्याग करके वनमें निवास किया था। इसलिये अपनेको बलका स्वामी समझकर अधर्म नहीं करना चाहिये ।। ११ ।।

भूपाश्च नाभागभगीरथादयो
महीमिमां सागरान्तां विजित्य ।
सत्येन तेऽप्यजयंस्तात लोकान्
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ।। १२ ।।

नाभाग और भगीरथ आदि राजाओंने भी समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको जीतकर सत्यके द्वारा उत्तम लोकोंपर विजय पायी। इसलिये तात! अपनेको बलका स्वामी मानकर अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ।। १२ ।।

अलर्कमाहुर्नरवर्य सन्तं
सत्यव्रतं काशिकरूषराजम् ।
विहाय राज्यानि वसूनि चैव
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ।। १३ ।।

नरश्रेष्ठ! काशी और करूषदेशके राजा अलर्कको सत्यप्रतिज्ञ संत बताया गया है। उन्होंने राज्य और धन त्यागकर धर्मका आश्रय लिया है। अतः अपनेको अधिक शक्तिशाली समझकर अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ।। १३ ।।

धात्रा विधिर्यो विहितः पुराणै-

स्तं पूजयन्तो नरवर्य सन्तः ।
सप्तर्षयः पार्थ दिवि प्रभान्ति
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ।। १४ ।।

मनुष्योंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार! विधाताने पुरातन वेदवाक्योंद्वारा जो अग्निहोत्र आदि कर्मोंका विधान किया है, उसका समादर करनेके कारण ही साधु सप्तर्षिगण देवलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं। अतः अपनेको शक्तिशाली मानकर कभी अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ।। १४ ।।

महाबलान् पर्वतकूटमात्रान्
विषाणिनः पश्य गजान् नरेन्द्र ।
स्थितान् निदेशे नरवर्य धातु-
र्नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ।। १५ ।।

कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर! पर्वतशिखरके समान ऊँचे और बड़े-बड़े दाँतोंवाले इन महाबली गजराजोंकी ओर तो देखो। ये भी विधाताके आदेशका पालन करनेमें लगे हैं। इसलिये मैं शक्तिका स्वामी हूँ ऐसा समझकर कभी अधर्माचरण न करे ।। १५ ।।

सर्वाणि भूतानि नरेन्द्र पश्य
तथा यथावद् विहितं विधात्रा ।
स्वयोनितः कर्म सदा चरन्ति
नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ।। १६ ।।

नरेन्द्र! देखो, ये समस्त प्राणी विधाताके विधानके अनुसार अपनी योनिके अनुरूप सदा कार्य करते रहते हैं, अतः अपनेको बलका स्वामी समझकर अधर्म न करे ।। १६ ।।

सत्येन धर्मेण यथार्हवृत्त्या
ह्रिया तथा सर्वभूतान्यतीत्य ।
यशश्च तेजश्च तवापि दीप्तं
विभावसोर्भास्करस्येव पार्थ ।। १७ ।।

कुन्तीनन्दन! तुम अपने सत्य, धर्म, यथायोग्य बर्ताव तथा लज्जा आदि सद्‌गुणोंके कारण समस्त प्राणियोंसे ऊँचे उठे हुए हो। तुम्हारा यश और तेज अग्नि तथा सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा है ।। १७ ।।

यथाप्रतिज्ञं च महानुभाव
कृच्छ्रं वने वासमिमं निरुष्य ।
ततः श्रियं तेजसा तेन दीप्ता-
मादास्यसे पार्थिव कौरवेभ्यः ।। १८ ।।

महानुभाव नरेश! तुम अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार इस कष्टसाध्य वनवासकी अवधि पूरी करके कौरवोंके हाथसे अपनी तेजस्विनी राजलक्ष्मीको प्राप्त कर लोगे ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

तमेवमुक्त्वा वचनं महर्षि-
स्तपस्विमध्ये सहितं सुहृद्भिः ।
आमन्त्र्य धौम्यं सहितांश्च पार्थां-
स्ततः प्रतस्थे दिशमुत्तरां सः ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तपस्वी महात्माओंके बीचमें अपने सुहृदोंके साथ बैठे हुए धर्मराज युधिष्ठिरसे पूर्वोक्त बातें कहकर महर्षि मार्कण्डेय धौम्य एवं समस्त पाण्डवोंसे विदा ले उत्तर दिशाकी ओर चल दिये ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे पञ्चविंशोऽध्यायः ।। २५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५ ।।

षड्विंशोऽध्यायः

दल्भपुत्र बकका युधिष्ठिरको ब्राह्मणोंका महत्त्व बतलाना

वैशम्पायन उवाच

वसत्सु वै द्वैतवने पाण्डवेषु महात्मसु ।
अनुकीर्णं महारण्यं ब्राह्मणैः समपद्यत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! द्वैतवनमें जब महात्मा पाण्डव निवास करने लगे, उस समय वह विशाल वन ब्राह्मणोंसे भर गया ।। १ ।।

ईर्यमाणेन सततं ब्रह्मघोषेण सर्वशः ।
ब्रह्मलोकसमं पुण्यमासीद् द्वैतवनं सरः ।। २ ।।

सरोवरसहित द्वैतवन सदा और सब ओर उच्चारित होनेवाले वेदमन्त्रोंके घोषसे ब्रह्मलोकके समान जान पड़ता था ।। २ ।।

यजुषामृचां साम्नां च गद्यानां चैव सर्वशः ।
आसीदुच्चार्यमाणानां निःस्वनो हृदयङ्गमः ।। ३ ।।

यजुर्वेद, ऋग्वेद और सामवेद तथा गद्य-भागके उच्चारणसे जो ध्वनि होती थी, वह हृदयको प्रिय जान पड़ती थी ।। ३ ।।

ज्याघोषश्चैव पार्थानां ब्रह्मघोषश्च धीमताम् ।
संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं भूय एव व्यरोचत ।। ४ ।।

कुन्तीपुत्रोंके धनुषकी प्रत्यंचाका टंकार-शब्द और बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके वेदमन्त्रोंका घोष दोनों मिलकर ऐसे प्रतीत होते थे, मानो ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्वका सुन्दर संयोग हो रहा था ।। ४ ।।

अथाब्रवीद् बको दाल्भ्यो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
संध्यां कौन्तेयमासीनमृषिभिः परिवारितम् ।। ५ ।।

एक दिन कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिर ऋषियोंसे घिरे हुए संध्योपासना कर रहे थे। उस समय दल्भके पुत्र बक नामक महर्षिने उनसे कहा— ।। ५ ।।

पश्य द्वैतवने पार्थ ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ।
होमवेलां कुरुश्रेष्ठ सम्प्रज्वलितपावकाम् ।। ६ ।।

'कुरुश्रेष्ठ कुन्तीकुमार! देखो, द्वैतवनमें तपस्वी ब्राह्मणोंकी होमवेलाका कैसा सुन्दर दृश्य है। सब ओर वेदियोंपर अग्नि प्रज्वलित हो रही है ।। ६ ।।

चरन्ति धर्मं पुण्येऽस्मिंस्त्वया गुप्ता धृतव्रताः ।
भृगवोऽङ्गिरसश्चैव वासिष्ठाः काश्यपैः सह ।। ७ ।।
आगस्त्याश्च महाभागा आत्रेयाश्चोत्तमव्रताः ।

सर्वस्य जगतः श्रेष्ठा ब्राह्मणाः संगतास्त्वया ।। ८ ।।

'आपके द्वारा सुरक्षित हो व्रत धारण करनेवाले ब्राह्मण इस पुण्य वनमें धर्मका अनुष्ठान कर रहे हैं। भार्गव, अंगिरस, वासिष्ठ, काश्यप, महान् सौभाग्यशाली अगस्त्य वंशी तथा श्रेष्ठ व्रतका पालन करनेवाले आत्रेय आदि सम्पूर्ण जगत्के श्रेष्ठ ब्राह्मण यहाँ आकर तुमसे मिले हैं ।। ७-८ ।।

इदं तु वचनं पार्थ शृणुष्व गदतो मम ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेय यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव ।। ९ ।।

'कुन्तीनन्दन! कुरुश्रेष्ठ! भाइयोंसहित तुमसे मैं जो एक बात कह रहा हूँ, इसे ध्यान देकर सुनो ।। ९ ।।

ब्रह्म क्षत्रेण संसृष्टं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह ।
उदीर्णे दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ ।। १० ।।

'जब ब्राह्मण क्षत्रियसे और क्षत्रिय ब्राह्मणसे मिल जाय तो दोनों प्रचण्ड शक्तिशाली होकर उसी प्रकार अपने शत्रुओंको भस्म कर देते हैं, जैसे अग्नि और वायु मिलकर सारे वनको जला देते हैं ।। १० ।।

नाब्राह्मणस्तात चिरं बुभूषे-
दिच्छन्निमं लोकममुं च जेतुम् ।
विनीतधर्मार्थमपेतमोहं
लब्ध्वा द्विजं नुदति नृपः सपत्नान् ।। ११ ।।

'तात! इहलोक और परलोकपर विजय पानेकी इच्छा रखनेवाला राजा किसी ब्राह्मणको साथ लिये बिना अधिक कालतक न रहे। जिसे धर्म और अर्थकी शिक्षा मिली हो तथा जिसका मोह दूर हो गया हो, ऐसे ब्राह्मणको पाकर राजा अपने शत्रुओंका नाश कर देता है ।। ११ ।।

चरन् नैःश्रेयसं धर्मं प्रजापालनकारितम् ।
नाध्यगच्छद् बलिर्लोके तीर्थमन्यत्र वै द्विजात् ।। १२ ।।

'राजा बलिको प्रजापालनजनित कल्याणकारी धर्मका आचरण करनेके लिये ब्राह्मणका आश्रय लेनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं जान पड़ा था ।। १२ ।।

अनूनमासीदसुरस्य कामै-
र्वैरोचनेः श्रीरपि चाक्षयाऽऽसीत् ।
लब्ध्वा महीं ब्राह्मणसम्प्रयोगात्
तेष्वाचरन् दुष्टमथो व्यनश्यत् ।। १३ ।।

'ब्राह्मणके सहयोगसे पृथ्वीका राज्य पाकर विरोचन-पुत्र बलि नामक असुरका जीवन सम्पूर्ण आवश्यक कामोपभोगकी सामग्रीसे सम्पन्न हो गया और अक्षय राज्यलक्ष्मी भी

प्राप्त हो गयी। परंतु वह उन ब्राह्मणोंके साथ दुर्व्यवहार करनेपर नष्ट हो गया—उसका राज्यलक्ष्मीसे वियोग हो गया* ।। १३ ।।

नाब्राह्मणं भूमिरियं सभूति-
र्वर्णं द्वितीयं भजते चिराय ।
समुद्रनेमिर्नमते तु तस्मै
यं ब्राह्मणः शास्ति नयैर्विनीतम् ।। १४ ।।

'जिसे ब्राह्मणका सहयोग नहीं प्राप्त है, ऐसे क्षत्रियके पास यह ऐश्वर्यपूर्ण भूमि दीर्घ कालतक नहीं रहती। जिस नीतिज्ञ राजाको श्रेष्ठ ब्राह्मणका उपदेश प्राप्त है, उसके सामने समुद्रपर्यन्त पृथिवी नतमस्तक होती है ।। १४ ।।

कुञ्जरस्येव संग्रामे परिगृह्याङ्कुशग्रहम् ।
ब्राह्मणैर्विप्रहीणस्य क्षत्रस्य क्षीयते बलम् ।। १५ ।।

'जैसे संग्राममें हाथीसे महावतको अलग कर देनेपर उसकी सारी शक्ति व्यर्थ हो जाती है, उसी प्रकार ब्राह्मणरहित क्षत्रियका सारा बल क्षीण हो जाता है ।। १५ ।।

ब्राह्मण्यनुपमा दृष्टिः क्षात्रमप्रतिमं बलम् ।
तौ यदा चरतः सार्धं तदा लोकः प्रसीदति ।। १६ ।।

'ब्राह्मणोंके पास अनुपम दृष्टि (विचारशक्ति) होती है और क्षत्रियके पास अनुपम बल होता है। ये दोनों जब साथ-साथ कार्य करते हैं, तब सारा जगत् सुखी होता है ।। १६ ।।

यथा हि सुमहानग्निः कक्षं दहति सानिलः ।
तथा दहति राजन्यो ब्राह्मणेन समं रिपुम् ।। १७ ।।

'जैसे प्रचण्ड अग्नि वायुका सहारा पाकर सूखे जंगलको जला डालती है, उसी प्रकार ब्राह्मणकी सहायतासे राजा अपने शत्रुको भस्म कर देता है ।। १७ ।।

ब्राह्मणेष्वेव मेधावी बुद्धिपर्येषणं चरेत् ।
अलब्धस्थ च लाभाय लब्धस्थ परिवृद्धये ।। १८ ।।

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी वृद्धिके लिये ब्राह्मणोंसे बुद्धि ग्रहण करे ।। १८ ।।

अलब्धलाभाय च लब्धवृद्धये
यथार्हतीर्थप्रतिपादनाय ।
यशस्विनं वेदविदं विपश्चितं
बहुश्रुतं ब्राह्मणमेव वासय ।। १९ ।।

'राजन्! अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी वृद्धिके लिये यथायोग्य उपाय बतानेके निमित्त तुम अपने यहाँ यशस्वी, बहुश्रुत एवं वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मणको बसाओ ।। १९ ।।

ब्राह्मणेषूत्तमा वृत्तिस्तव नित्यं युधिष्ठिर ।
तेन ते सर्वलोकेषु दीप्यते प्रथितं यशः ।। २० ।।

‘युधिष्ठिर! ब्राह्मणोंके प्रति तुम्हारे हृदयमें सदा उत्तम भाव है, इसीलिये सब लोकोंमें तुम्हारा यश विख्यात एवं प्रकाशित है’ ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे बकं दाल्भ्यमपूजयन् ।
युधिष्ठिरे स्तूयमाने भूयः सुमनसोऽभवन् ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर युधिष्ठिरकी बड़ाई करनेपर उन सब ब्राह्मणोंने बकका आदर-सत्कार किया और उन सब ब्राह्मणोंका चित्त प्रसन्न हो गया ।। २१ ।।

द्वैपायनो नारदश्च जामदग्न्यः पृथुश्रवाः ।
इन्द्रद्युम्नो भालुकिश्च कृतचेताः सहस्रपात् ।। २२ ।।
कर्णश्रवाश्च मुञ्जश्च लवणाश्वश्च काश्यपः ।
हारीतः स्थूणकर्णश्च अग्निवेश्योऽथ शौनकः ।। २३ ।।
कृतवाक् च सुवाक् चैव बृहदश्वो विभावसुः ।
ऊर्ध्व रेता वृषामित्रः सुहोत्रो होत्रवाहनः ।। २४ ।।
एते चान्ये च बहवो ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
अजातशत्रुमानर्चुः पुरंदरमिवर्षयः ।। २५ ।।

द्वैपायन व्यास, नारद, परशुराम, पृथुश्रवा, इन्द्रद्युम्न, भालुकि, कृतचेता, सहस्रपात्, कर्णश्रवा, मुंज, लवणाश्व, काश्यप, हारीत, स्थूणकर्ण, अग्निवेश्य, शौनक, कृतवाक्, सुवाक्, बृहदश्व, विभावसु, ऊर्ध्वरेता, वृषामित्र, सुहोत्र तथा होत्रवाहन—ये सब ब्रह्मर्षि तथा राजर्षिगण और दूसरे कठोर व्रतका पालन करनेवाले बहुत-से ब्राह्मण अजातशत्रु युधिष्ठिरका उसी प्रकार आदर करते थे, जैसे महर्षि लोग देवराज इन्द्रका ।। २२—२५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवनप्रवेशे षड्विंशोऽध्यायः ।। २६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वमें अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्वैतवनप्रवेशविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६ ।।

---

* बलिके द्वारा ब्राह्मणोंके साथ दुर्व्यवहार करनेपर उसका राज्यलक्ष्मीसे वियोग होनेका प्रसंग शान्तिपर्वके २२५ वें अध्यायमें आता है।

सप्तविंशोऽध्यायः

द्रौपदीका युधिष्ठिरसे उनके शत्रुविषयक क्रोधको उभाड़नेके लिये संतापपूर्ण वचन

वैशम्पायन उवाच

ततो वनगताः पार्थाः सायाह्ने सह कृष्णया ।
उपविष्टाः कथाश्चक्रुर्दुःखशोकपरायणाः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर वनमें गये हुए पाण्डव एक दिन सायंकालमें द्रौपदीके साथ बैठकर दुःख और शोकमें मग्न हो कुछ बातचीत करने लगे ।। १ ।।

प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता ।
अथ कृष्णा धर्मराजमिदं वचनमब्रवीत् ।। २ ।।

पतिव्रता द्रौपदी पाण्डवोंकी प्रिया, दर्शनीया और विदुषी थी। उसने धर्मराजसे इस प्रकार कहा ।। २ ।।

द्रौपद्युवाच

न नूनं तस्य पापस्य दुःखमस्मासु किंचन ।
विद्यते धार्तराष्ट्रस्य नृशंसस्य दुरात्मनः ।। ३ ।।

द्रौपदी बोली—राजन्! मैं समझती हूँ, उस क्रूर स्वभाववाले दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्र पापी दुर्योधनके मनमें हमलोगोंके लिये तनिक भी दुःख नहीं हुआ होगा ।। ३ ।।

यस्त्वां राजन् मया सार्धमजिनैः प्रतिवासितम् ।
वनं प्रस्थाप्य दुष्टात्मा नान्वतप्यत दुर्मतिः ।। ४ ।।

महाराज! उस नीच बुद्धिवाले दुष्टात्माने आपको भी मृगछाला पहनाकर मेरे साथ वनमें भेज दिया; किंतु इसके लिये उसे थोड़ा भी पश्चात्ताप नहीं हुआ ।। ४ ।।

आयसं हृदयं नूनं तस्य दुष्कृतकर्मणः ।
यस्त्वां धर्मपरं श्रेष्ठं रूक्षाण्यश्रावयत् तदा ।। ५ ।।

अवश्य ही उस कुकर्मीका हृदय लोहेका बना है, क्योंकि उसने आप-जैसे धर्मपरायण श्रेष्ठ पुरुषको भी उस समय कटु वचन सुनाये थे ।। ५ ।।

सुखोचितमदुःखार्हं दुरात्मा ससुहृद्गणः ।
ईदृशं दुःखमानीय मोदते पापपूरुषः ।। ६ ।।

आप सुख भोगनेके योग्य हैं। दुःखके योग्य कदापि नहीं हैं, तो भी आपको ऐसे दुःखमें डालकर वह पापाचारी दुरात्मा अपने मित्रोंके साथ आनन्दित हो रहा है ।। ६ ।।

चतुर्णामेव पापानामस्रं न पतितं तदा ।
त्वयि भारत निष्क्रान्ते वनायाजिनवाससि ।। ७ ।।

भारत! जब आप वल्कल-वस्त्र धारण करके वनमें जानेके लिये निकले, उस समय केवल चार ही पापात्माओंके नेत्रोंसे आँसू नहीं गिरा था ।। ७ ।।

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुर्भ्रातुस्तस्य चोग्रस्य राजन् दुःशासनस्य च ।। ८ ।।

दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि तथा उग्र स्वभाव-वाले दुष्ट भ्राता दुःशासन—इन्हींकी आँखोंमें आँसू नहीं थे ।। ८ ।।

इतरेषां तु सर्वेषां कुरूणां कुरुसत्तम ।
दुःखेनाभिपरीतानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ।। ९ ।।

कुरुश्रेष्ठ! अन्य सभी कुरुवंशी दुःखमें डूबे हुए थे और उनके नेत्रोंसे अश्रुवर्षा हो रही थी ।। ९ ।।

इदं च शयनं दृष्ट्वा यच्चासीत् ते पुरातनम् ।
शोचामि त्वां महाराज दुःखानर्हं सुखोचितम् ।। १० ।।

महाराज! आज आपकी यह शय्या देखकर मुझे पहलेकी राजोचित शय्याका स्मरण हो आता है और मैं आपके लिये शोकमें मग्न हो जाती हूँ; क्योंकि आप दुःखके अयोग्य और सुखके ही योग्य हैं ।। १० ।।

दान्तं यच्च सभामध्य आसनं रत्नभूषितम् ।
दृष्ट्वा कुशवृषीं चेमां शोको मां प्रदहत्ययम् ।। ११ ।।

सभाभवनमें जो रत्नजटित हाथीदाँतका सिंहासन है, उसका स्मरण करके जब मैं इस कुशकी चटाईको देखती हूँ, तब शोक मुझे दग्ध किये देता है ।। ११ ।।

यदपश्यं सभायां त्वां राजभिः परिवारितम् ।
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ।। १२ ।।

राजन्! मैं इन्द्रप्रस्थकी सभामें आपको राजाओंसे घिरा हुआ देख चुकी हूँ, अतः आज वैसी अवस्थामें आपको न देखकर मेरे हृदयको क्या शान्ति मिल सकती है? ।। १२ ।।

या त्वाहं चन्दनादिग्धमपश्यं सूर्यवर्चसम् ।
सा त्वां पङ्कमलादिग्धं दृष्ट्वा मुह्यामि भारत ।। १३ ।।

भारत! जो पहले आपको चन्दनचर्चित एवं सूर्यके समान तेजस्वी देखती रही हूँ, वही मैं आपको कीचड़ एवं मैलसे मलिन देखकर मोहके कारण दुःखित हो रही हूँ ।। १३ ।।

या त्वाहं कौशिकैर्वस्त्रैः शुभ्रैराच्छादितं पुरा ।
दृष्टवत्यस्मि राजेन्द्र सा त्वां पश्यामि चीरिणम् ।। १४ ।।

राजेन्द्र! जो मैं पहले आपको उज्ज्वल रेशमी वस्त्रोंसे आच्छादित देख चुकी हूँ, वही आज वल्कल-वस्त्र पहने देखती हूँ ।। १४ ।।

यच्च तद्रुक्मपात्रीभिर्ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ।
ह्रियते ते गृहादन्नं संस्कृतं सार्वकामिकम् ।। १५ ।।

एक दिन वह था कि आपके घरसे सहस्रों ब्राह्मणोंके लिये सोनेकी थालियोंमें सब प्रकारकी रुचिके अनुकूल तैयार किया हुआ सुन्दर भोजन परोसा जाता था ।। १५ ।।

यतीनामगृहाणां ते तथैव गृहमेधिनाम् ।
दीयते भोजनं राजन्नतीवगुणवत् प्रभो ।। १६ ।।

शक्तिशाली महाराज! उन दिनों प्रतिदिन यतियों, ब्रह्मचारियों और गृहस्थ ब्राह्मणोंको भी अत्यन्त गुणकारी भोजन अर्पित किया जाता था ।। १६ ।।

सत्कृतानि सहस्राणि सर्वकामैः पुरा गृहे ।
सर्वकामैः सुविहितैर्यदपूजयथा द्विजान् ।। १७ ।।

पहले आपके राजभवनमें सहस्रों (सुवर्णमय) पात्र थे, जो सम्पूर्ण इच्छानुकूल भोज्य पदार्थोंसे भरे-पूरे रहते थे और उनके द्वारा आप समस्त अभीष्ट मनोरथोंकी पूर्ति करते हुए प्रतिदिन ब्राह्मणोंका सत्कार करते थे ।। १७ ।।

तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ।
यत् ते भ्रातॄन् महाराज युवानो मृष्टकुण्डलाः ।। १८ ।।
अभोजयन्त मिष्टान्नैः सूदाः परमसंस्कृतैः ।
सर्वांस्तानद्य पश्यामि वने वन्येन जीविनः ।। १९ ।।

राजन्! आज वह सब न देखनेके कारण मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी? महाराज! आपके जिन भाइयोंको कानोंमें सुन्दर कुण्डल पहने हुए तरुण रसोइये अच्छे प्रकारसे बनाये हुए स्वादिष्ट अन्न परोसकर भोजन कराया करते थे, उन सबको आज वनमें जंगली फल-मूलसे जीवन-निर्वाह करते देख रही हूँ ।। १८-१९ ।।

अदुःखार्हान् मनुष्येन्द्र नोपशाम्यति मे मनः ।
भीमसेनमिमं चापि दुःखितं वनवासिनम् ।। २० ।।
ध्यायतः किं न मन्युस्ते प्राप्ते काले विवर्धते ।
भीमसेनं हि कर्माणि स्वयं कुर्वाणमच्युतम् ।। २१ ।।
सुखार्हं दुःखितं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

नरेन्द्र! आपके भाई दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं; आज इन्हें दुःखमें देखकर मेरा चित्त किसी प्रकार शान्त नहीं हो पाता है। महाराज! वनमें रहकर दुःख भोगते हुए इन अपने भाई भीमसेनका स्मरण करके समय आनेपर क्या शत्रुओंके प्रति आपका क्रोध नहीं बढ़ेगा? मैं पूछती हूँ—युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले और सुख भोगनेके योग्य भीमसेनको स्वयं अपने हाथोंसे सब काम करते और दुःख उठाते देखकर शत्रुओंपर आपका क्रोध क्यों नहीं भड़क उठता? ।। २०-२१ $\frac{१}{२}$ ।।

सत्कृतं विविधैर्यानैर्वस्त्रैरुच्चावचैस्तथा ।। २२ ।।

तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

विविध सवारियाँ और नाना प्रकारके वस्त्रोंसे जिनका सत्कार होता था, उन्हीं भीमसेनको वनमें कष्ट उठाते देख शत्रुओंके प्रति आपका क्रोध प्रज्वलित क्यों नहीं होता? ।। २२½ ।।

अयं कुरून् रणे सर्वान् हन्तुमुत्सहते प्रभुः ।। २३ ।।
त्वत्प्रतिज्ञां प्रतीक्षंस्तु सहतेऽयं वृकोदरः ।

ये शक्तिशाली भीमसेन युद्धमें समस्त कौरवोंको नष्ट कर देनेका उत्साह रखते हैं, परंतु आपकी प्रतिज्ञा-पूर्तिकी प्रतीक्षा करनेके कारण अबतक शत्रुओंके अपराधको सहन करते हैं ।। २३½ ।।

योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ।। २४ ।।
शरावमर्दे शीघ्रत्वात् कालान्तकयमोपमः ।
यस्य शस्त्रप्रतापेन प्रणताः सर्वपार्थिवाः ।। २५ ।।
यज्ञे तव महाराज ब्राह्मणानुपतस्थिरे ।
तमिमं पुरुषव्याघ्रं पूजितं देवदानवैः ।। २६ ।।
ध्यायन्तमर्जुनं दृष्ट्वा कस्माद् राजन् न कुप्यसि ।

राजन्! आपके जो भाई अर्जुन दो ही भुजाओंसे युक्त होनेपर भी सहस्र भुजाओंसे विभूषित कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी हैं, बाण चलानेमें अत्यन्त फुर्ती रखनेके कारण जो शत्रुओंके लिये काल, अन्तक और यमके समान भयंकर हैं; महाराज! जिनके शस्त्रोंके प्रतापसे समस्त भूपाल नतमस्तक हो आपके यज्ञमें ब्राह्मणोंकी सेवाके लिये उपस्थित हुए थे, उन्हीं इन देव-दानवपूजित पुरुषसिंह अर्जुनको चिन्तामग्न देखकर आप शत्रुओंपर क्रोध क्यों नहीं करते? ।। २४—२६½ ।।

दृष्ट्वा वनगतं पार्थमदुःखार्हं सुखोचितम् ।। २७ ।।
न च ते वर्धते मन्युस्तेन मुह्यामि भारत ।

भारत! दुःखके अयोग्य और सुख भोगनेके योग्य अर्जुनको वनमें दुःख भोगते देखकर भी जो शत्रुओंके प्रति आपका क्रोध नहीं उमड़ता, इससे मैं मोहित हो रही हूँ ।। २७½ ।।

यो देवांश्च मनुष्यांश्च सर्पांश्चैकरथोऽजयत् ।। २८ ।।
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

जिन्होंने एकमात्र रथकी सहायतासे देवताओं, मनुष्यों और नागोंपर विजय पायी है, उन्हीं अर्जुनको वनवासका दुःख भोगते देख आपका क्रोध क्यों नहीं बढ़ता? ।। २८½ ।।

यो यानैरद्भुताकारैर्हयैर्नागैश्च संवृतः ।। २९ ।।
प्रसह्य वित्तान्यादत्त पार्थिवेभ्यः परंतप ।
क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्चबाणशतानि यः ।। ३० ।।

तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

परंतप! जिन्होंने पराजित नरेशोंके दिये हुए अद्भुत आकारवाले रथों, घोड़ों और हाथियोंसे घिरे हुए कितने ही राजाओंसे बलपूर्वक धन लिये थे, जो एक ही वेगसे पाँच सौ बाणोंका प्रहार करते हैं, उन्हीं अर्जुनको वनवासका कष्ट भोगते देख शत्रुओंपर आपका क्रोध क्यों नहीं बढ़ता? ।। २९-३०½ ।।

श्यामं बृहन्तं तरुणं चर्मिणामुत्तमं रणे ।। ३१ ।।
नकुलं ते वने दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

जो युद्धमें ढाल और तलवारसे लड़नेवाले वीरोंमें सर्वश्रेष्ठ है, जिनकी कद ऊँची है तथा जो श्यामवर्णके तरुण हैं, उन्हीं नकुलको आज वनमें कष्ट उठाते देखकर आपको क्रोध क्यों नहीं होता? ।। ३१½ ।।

दर्शनीयं च शूरं च माद्रीपुत्रं युधिष्ठिर ।। ३२ ।।
सहदेवं वने दृष्ट्वा कस्मात् क्षमसि पार्थिव ।

महाराज युधिष्ठिर! माद्रीके परम सुन्दर पुत्र शूरवीर सहदेवको वनवासका दुःख भोगते देखकर आप शत्रुओंको क्षमा कैसे कर रहे हैं? ।। ३२½ ।।

नकुलं सहदेवं च दृष्ट्वा ते दुःखितावुभौ ।। ३३ ।।
अदुःखार्हौ मनुष्येन्द्र कस्मान्मन्युर्न वर्धते ।

नरेन्द्र! नकुल और सहदेव दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं। इन दोनोंको आज दुःखी देखकर आपका क्रोध क्यों नहीं बढ़ रहा है? ।। ३३½ ।।

द्रुपदस्य कुले जातां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ।। ३४ ।।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनीं वीरपत्नीमनुव्रताम् ।
मां वै वनगतां दृष्ट्वा कस्मात् क्षमसि पार्थिव ।। ३५ ।।

मैं द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हुई महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू, वीर धृष्टद्युम्नकी बहिन तथा वीरशिरोमणि पाण्डवोंकी पतिव्रता पत्नी हूँ। महाराज! मुझे इस प्रकार वनमें कष्ट उठाती देखकर भी आप शत्रुओंके प्रति क्षमाभाव कैसे धारण करते हैं? ।। ३४-३५ ।।

नूनं च तव वै नास्ति मन्युर्भरतसत्तम ।
यत् ते भ्रातॄंश्च मां चैव दृष्ट्वा न व्यथते मनः ।। ३६ ।।

भरतश्रेष्ठ! निश्चय ही आपके हृदयमें क्रोध नहीं है, क्योंकि मुझे और अपने भाइयोंको भी कष्टमें पड़ा देख आपके मनमें व्यथा नहीं होती है! ।। ३६ ।।

न निर्मन्युःक्षत्रियोऽस्ति लोके निर्वचनं स्मृतम् ।
तदद्य त्वयि पश्यामि क्षत्रिये विपरीतवत् ।। ३७ ।।

संसारमें कोई भी क्षत्रिय क्रोधरहित नहीं होता, क्षत्रिय शब्दकी व्युत्पत्ति ही ऐसी है, जिससे उसका सक्रोध होना सूचित होता है।* परंतु आज आप-जैसे क्षत्रियमें मुझे यह

क्रोधका अभाव क्षत्रियत्वके विपरीत-सा दिखायी देता है ।। ३७ ।।

यो न दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते ।
सर्वभूतानि तं पार्थ सदा परिभवन्त्युत ।। ३८ ।।

कुन्तीनन्दन! जो क्षत्रिय समय आनेपर अपने प्रभावको नहीं दिखाता, उसका सब प्राणी सदा तिरस्कार करते हैं ।। ३८ ।।

तत् त्वया न क्षमा कार्या शत्रून् प्रति कथंचन ।
तेजसैव हि ते शक्या निहन्तुं नात्र संशयः ।। ३९ ।।

महाराज! आपको शत्रुओंके प्रति किसी प्रकार भी क्षमाभाव नहीं धारण करना चाहिये। तेजसे ही उन सबका वध किया जा सकता है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ।। ३९ ।।

तथैव यः क्षमाकाले क्षत्रियो नोपशाम्यति ।
अप्रियः सर्वभूतानां सोऽमुत्रेह च नश्यति ।। ४० ।।

इसी प्रकार जो क्षत्रिय क्षमा करनेके योग्य समय आनेपर शान्त नहीं होता, वह सब प्राणियोंके लिये अप्रिय हो जाता है और इहलोक तथा परलोकमें भी उसका विनाश ही होता है ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीपरितापवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ।। २७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीके अनुतापपूर्णवचनविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७ ।।

---

[*] क्षरते इति क्षत्रम्—जो दुष्टोंका क्षरण—नाश करता है, वह क्षत्रिय है।

अष्टाविंशोऽध्यायः

द्रौपदीद्वारा प्रह्लाद-बलि-संवादका वर्णन—तेज और क्षमाके अवसर

द्रौपद्युवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च ।। १ ।।

द्रौपदी कहती है—महाराज! इस विषयमें प्रह्लाद तथा विरोचनपुत्र बलिके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ।। १ ।।

असुरेन्द्रं महाप्राज्ञं धर्माणामागतागमम् ।
बलिः पप्रच्छ दैत्येन्द्रं प्रह्लादं पितरं पितुः ।। २ ।।

असुरोंके स्वामी परम बुद्धिमान् दैत्यराज प्रह्लाद सभी धर्मोंके रहस्यको जाननेवाले थे। एक समय बलिने उन अपने पितामह प्रह्लादजीसे पूछा ।। २ ।।

बलिरुवाच

क्षमा स्विच्छ्रेयसी तात उताहो तेज इत्युत ।
एतन्मे संशयं तात यथावद् ब्रूहि पृच्छते ।। ३ ।।

बलिने पूछा—तात! क्षमा और तेजमेंसे क्षमा श्रेष्ठ है अथवा तेज? यह मेरा संशय है। मैं इसका समाधान पूछता हूँ। आप इस प्रश्नका यथार्थ निर्णय कीजिये ।। ३ ।।

श्रेयो यदत्र धर्मज्ञ ब्रूहि मे तदसंशयम् ।
करिष्यामि हि तत् सर्वं यथावदनुशासनम् ।। ४ ।।

धर्मज्ञ! इनमें जो श्रेष्ठ है, वह मुझे अवश्य बताइये, मैं आपके सब आदेशोंका यथावत् पालन करूँगा ।। ४ ।।

तस्मै प्रोवाच तत् सर्वमेवं पृष्टः पितामहः ।
सर्वनिश्चयवित् प्राज्ञः संशयं परिपृच्छते ।। ५ ।।

बलिके इस प्रकार पूछनेपर समस्त सिद्धान्तोंके ज्ञाता विद्वान् पितामह प्रह्लादने संदेह निवारण करनेके लिये पूछनेवाले पौत्रके प्रति इस प्रकार कहा ।। ५ ।।

प्रह्लाद उवाच

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा ।
इति तात विजानीहि द्वयमेतदसंशयम् ।। ६ ।।

प्रह्लाद बोले—तात! न तो तेज ही सदा श्रेष्ठ है और न क्षमा ही। इन दोनोंके विषयमें मेरा ऐसा ही निश्चय जानो, इसमें संशय नहीं है ।। ६ ।।

यो नित्यं क्षमते तात बहून् दोषान् स विन्दति ।
भृत्याः परिभवन्त्येनमुदासीनास्तथारयः ।। ७ ।।
सर्वभूतानि चाप्यस्य न नमन्ति कदाचन ।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपि वर्जिता ।। ८ ।।

वत्स! जो सदा क्षमा ही करता है, उसे अनेक दोष प्राप्त होते हैं। उसके भृत्य, शत्रु तथा उदासीन व्यक्ति सभी उसका तिरस्कार करते हैं। कोई भी प्राणी कभी उसके सामने विनयपूर्ण बर्ताव नहीं करते, अतः तात! सदा क्षमा करना विद्वानोंके लिये भी वर्जित है ।। ७-८ ।।

अवज्ञाय हि तं भृत्या भजन्ते बहुदोषताम् ।
आदातुं चास्य वित्तानि प्रार्थयन्तेऽल्पचेतसः ।। ९ ।।

सेवकगण उसकी अवहेलना करके बहुत-से अपराध करते रहते हैं। इतना ही नहीं, वे मूर्ख भृत्यगण उसके धनको भी हड़प लेनेका हौसला रखते हैं ।। ९ ।।

यानं वस्त्राण्यलंकाराञ्छयनान्यासनानि च ।
भोजनान्यथ पानानि सर्वोपकरणानि च ।। १० ।।
आददीरन्नधिकृता यथाकाममचेतसः ।
प्रदिष्टानि च देयानि न दद्युर्भर्तृशासनात् ।। ११ ।।

विभिन्न कार्योंमें नियुक्त किये हुए मूर्ख सेवक अपने इच्छानुसार क्षमाशील स्वामीके रथ, वस्त्र, अलंकार, शय्या, आसन, भोजन, पान तथा समस्त सामग्रियोंका उपयोग करते रहते हैं तथा स्वामीकी आज्ञा होनेपर भी किसीको देनेयोग्य वस्तुएँ नहीं देते हैं ।। १०-११ ।।

न चैनं भर्तृपूजाभिः पूजयन्ति कथंचन ।
अवज्ञानं हि लोकेऽस्मिन् मरणादपि गर्हितम् ।। १२ ।।

स्वामीका जितना आदर होना चाहिये, उतना आदर वे किसी प्रकार भी नहीं करते। इस संसारमें सेवकोंद्वारा अपमान तो मृत्युसे भी अधिक निन्दित है ।। १२ ।।

क्षमिणं तादृशं तात ब्रुवन्ति कटुकान्यपि ।
प्रेष्याः पुत्राश्च भृत्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ।। १३ ।।

तात! उपर्युक्त क्षमाशीलको अपने सेवक, पुत्र, भृत्य तथा उदासीनवृत्तिके लोग कटुवचन भी सुनाया करते हैं ।। १३ ।।

अथास्य दारानिच्छन्ति परिभूय क्षमावतः ।
दाराश्चास्य प्रवर्तन्ते यथाकाममचेतसः ।। १४ ।।

इतना ही नहीं, वे क्षमाशील स्वामीकी अवहेलना करके उसकी स्त्रियोंको भी हस्तगत करना चाहते हैं और वैसे पुरुषकी मूर्ख स्त्रियाँ भी स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त हो जाती हैं ।। १४ ।।

तथा च नित्यमुदिता यदि नाल्पमपीश्वरात् ।

दण्डमर्हन्ति दुष्यन्ति दुष्टाश्चाप्यपकुर्वते ।। १५ ।।

यदि उन्हें अपने स्वामीसे तनिक भी दण्ड नहीं मिलता तो वे सदा मौज उड़ाती हैं और आचारसे दूषित हो जाती हैं। दुष्टा होनेपर वे अपने स्वामीका अपकार भी कर बैठती हैं ।। १५ ।।

एते चान्ये च बहवो नित्यं दोषाः क्षमावताम् ।
अथ वैरोचने दोषानिमान् विद्ध्यक्षमावताम् ।। १६ ।।

सदा क्षमा करनेवाले पुरुषोंको ये तथा और भी बहुत-से दोष प्राप्त होते हैं। विरोचनकुमार! अब क्षमा न करनेवालोंके दोषोंको सुनो ।। १६ ।।

अस्थाने यदि वा स्थाने सततं रजसाऽऽवृतः ।
क्रुद्धो दण्डान् प्रणयति विविधान् स्वेन तेजसा ।। १७ ।।

क्रोधी मनुष्य रजोगुणसे आवृत होकर योग्य या अयोग्य अवसरका विचार किये बिना ही अपने उत्तेजित स्वभावसे लोगोंको नाना प्रकारके दण्ड देता रहता है ।। १७ ।।

मित्रैः सह विरोधं च प्राप्नुते तेजसाऽऽवृतः ।
आप्नोति द्वेष्यतां चैव लोकात् स्वजनतस्तथा ।। १८ ।।

तेज (उत्तेजना)-से व्याप्त मनुष्य मित्रोंसे विरोध पैदा कर लेता है तथा साधारण लोगों और स्वजनोंका द्वेषपात्र बन जाता है ।। १८ ।।

सोऽवमानादर्थहानिमुपालम्भमनादरम् ।
संतापद्वेषमोहांश्च शत्रूंश्च लभते नरः ।। १९ ।।

वह मनुष्य दूसरोंका अपमान करनेके कारण सदा धनकी हानि उठाता है। उपालम्भ सुनता और अनादर पाता है। इतना ही नहीं, वह संताप, द्वेष, मोह तथा नये-नये शत्रु पैदा कर लेता है ।। १९ ।।

क्रोधाद् दण्डान्मनुष्येषु विविधान् पुरुषोऽनयात् ।
भ्रश्यते शीघ्रमैश्वर्यात् प्राणेभ्यः स्वजनादपि ।। २० ।।

मनुष्य क्रोधवश अन्यायपूर्वक दूसरे लोगोंपर नाना प्रकारके दण्डका प्रयोग करके अपने ऐश्वर्य, प्राण और स्वजनोंसे भी हाथ धो बैठता है ।। २० ।।

योपकर्तॄंश्च हर्तॄंश्च तेजसैवोपगच्छति ।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव ।। २१ ।।

जो उपकारी मनुष्यों और चोरोंके साथ भी उत्तेजनायुक्त बर्ताव ही करता है, उससे सब लोग उसी प्रकार उद्विग्न होते हैं, जैसे घरमें रहनेवाले सर्पसे ।। २१ ।।

यस्मादुद्विजते लोकः कथं तस्य भवो भवेत् ।
अन्तरं तस्य दृष्ट्वैव लोको विकुरुते ध्रुवम् ।। २२ ।।

जिससे सब लोग उद्विग्न होते हैं, उसे ऐश्वर्यकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? उसका थोड़ा-सा भी छिद्र देखकर लोग निश्चय ही उसकी बुराई करने लगते हैं ।। २२ ।।

तस्मान्नात्युत्सृजेत् तेजो न च नित्यं मृदुर्भवेत् ।
काले काले तु सम्प्राप्ते मृदुस्तीक्ष्णोऽपि वा भवेत् ।। २३ ।।

इसलिये न तो सदा उत्तेजनाका ही प्रयोग करे और न सर्वदा कोमल ही बना रहे। समय-समयपर आवश्यकताके अनुसार कभी कोमल और कभी तेज स्वभाववाला बन जाय ।। २३ ।।

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
स वै सुखमवाप्नोति लोकेऽमुष्मिन्निहैव च ।। २४ ।।

जो मौका देखकर कोमल होता है और उपयुक्त अवसर आनेपर भयंकर भी बन जाता है, वही इहलोक और परलोकमें सुख पाता है ।। २४ ।।

क्षमाकालांस्तु वक्ष्यामि शृणु मे विस्तरेण तान् ।
ये ते नित्यमसंत्याज्या यथा प्राहुर्मनीषिणः ।। २५ ।।

अब मैं तुम्हें क्षमाके योग्य अवसर बताता हूँ, उन्हें विस्तारपूर्वक सुनो, जैसा कि मनीषी पुरुष कहते हैं, उन अवसरोंका तुम्हें कभी त्याग नहीं करना चाहिये ।। २५ ।।

पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसि ।
उपकारेण तत् तस्य क्षन्तव्यमपराधिनः ।। २६ ।।

जिसने पहले कभी तुम्हारा उपकार किया हो, उससे यदि कोई भारी अपराध हो जाय, तो भी पहलेके उपकारका स्मरण करके उस अपराधीके अपराधको तुम्हें क्षमा कर देना चाहिये ।। २६ ।।

अबुद्धिमाश्रितानां तु क्षन्तव्यमपराधिनाम् ।
न हि सर्वत्र पाण्डित्यं सुलभं पुरुषेण वै ।। २७ ।।

जिन्होंने अनजानमें अपराध कर डाला हो, उनका वह अपराध क्षमाके ही योग्य है; क्योंकि किसी भी पुरुषके लिये सर्वत्र विद्वत्ता (बुद्धिमानी) ही सुलभ हो, यह सम्भव नहीं है ।। २७ ।।

अथ चेद् बुद्धिजं कृत्वा ब्रूयुस्ते तदबुद्धिजम् ।
पापान् स्वल्पेऽपि तान् हन्यादपराधे तथानृजून् ।। २८ ।।

परंतु जो जान-बूझकर किये हुए अपराधको भी उसे कर लेनेके बाद अनजानमें किया हुआ बताते हों, उन उद्दण्ड पापियोंको थोड़े-से अपराधके लिये भी अवश्य दण्ड देना चाहिये ।। २८ ।।

सर्वस्यैकोऽपराधस्ते क्षन्तव्यः प्राणिनो भवेत् ।
द्वितीये सति वध्यस्तु स्वल्पेऽप्यपकृते भवेत् ।। २९ ।।

सभी प्राणियोंका एक अपराध तो तुम्हें क्षमा ही कर देना चाहिये। यदि उससे फिर दुबारा अपराध बन जाय तो थोड़े-से अपराधके लिये भी उसे दण्ड देना आवश्यक है ।। २९ ।।

अजानता भवेत् कश्चिदपराधः कृतो यदि ।
क्षन्तव्यमेव तस्याहुः सुपरीक्ष्य परीक्षया ।। ३० ।।

अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करनेपर यदि यह सिद्ध हो जाय कि अमुक अपराध अनजानमें ही हो गया है, तो उसे क्षमाके ही योग्य बताया गया है ।। ३० ।।

मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम् ।
नासाध्यं मृदुना किंचित् तस्मात् तीव्रतरं मृदु ।। ३१ ।।

मनुष्य कोमलभाव (सामनीति)-के द्वारा उग्र स्वभाव तथा शान्त स्वभावके शत्रुका भी नाश कर देता है; मृदुतासे कुछ भी असाध्य नहीं है। अतः मृदुतापूर्ण नीतिको तीव्रतर (उत्तम) समझे ।। ३१ ।।

देशकालौ तु सम्प्रेक्ष्य बलाबलमथात्मनः ।
नादेशकाले किंचित् स्याद् देशकालौ प्रतीक्षताम् ।
तथा लोकभयाच्चैव क्षन्तव्यमपराधिनः ।। ३२ ।।

देश, काल तथा अपने बलाबलका विचार करके ही मृदुता (सामनीति)-का प्रयोग करना चाहिये। अयोग्य देश अथवा अनुपयुक्त कालमें उसके प्रयोगसे कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता; अतः उपयुक्त देश, कालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। कहीं लोकके भयसे भी अपराधीको क्षमादान देनेकी आवश्यकता होती है ।। ३२ ।।

एत एवंविधाः कालाः क्षमायाः परिकीर्तिताः ।
अतोऽन्यथानुवर्तत्सु तेजसः काल उच्यते ।। ३३ ।।

इस प्रकार ये क्षमाके अवसर बताये गये हैं। इनके विपरीत बर्ताव करनेवालोंको राहपर लानेके लिये तेज (उत्तेजनापूर्ण बर्ताव)-का अवसर कहा गया है ।। ३३ ।।

तदहं तेजसः कालं तव मन्ये नराधिप ।
धार्तराष्ट्रेषु लुब्धेषु सततं चापकारिषु ।। ३४ ।।

(द्रौपदी कहती है—) नरेश्वर! धृतराष्ट्रके पुत्र लोभी तथा सदा आपका अपकार करनेवाले हैं; अतः उनके प्रति आपके तेजके प्रयोगका यह अवसर आया है, ऐसा मेरा मत है ।। ३४ ।।

न हि कश्चित् क्षमाकालो विद्यतेऽद्य कुरून् प्रति ।
तेजसश्चागते काले तेज उत्स्रष्टुमर्हसि ।। ३५ ।।

कौरवोंके प्रति अब क्षमाका कोई अवसर नहीं है। अब तेज प्रकट करनेका अवसर प्राप्त है; अतः उनपर आपको अपने तेजका ही प्रयोग करना चाहिये ।। ३५ ।।

मृदुर्भवत्यवज्ञातस्तीक्ष्णादुद्विजते जनः ।
काले प्राप्ते द्वयं चैतद् यो वेद स महीपतिः ।। ३६ ।।

कोमलतापूर्ण बर्ताव करनेवालेकी सब लोग अवहेलना करते हैं और तीक्ष्ण स्वभाववाले पुरुषसे सबको उद्वेग प्राप्त होता है। जो उचित अवसर आनेपर इन दोनोंका

प्रयोग करना जानता है, वही सफल भूपाल है ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्येऽष्टाविंशोऽध्यायः ।। २८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८ ।।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा क्रोधकी निन्दा और क्षमाभावकी विशेष प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

क्रोधो हन्ता मनुष्याणां क्रोधो भावयिता पुनः ।
इति विद्धि महाप्राज्ञे क्रोधमूलौ भवाभवौ ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—परम बुद्धिमती द्रौपदी! क्रोध ही मनुष्योंको मारनेवाला है और क्रोध ही यदि जीत लिया जाय तो अभ्युदय करनेवाला है। तुम यह जान लो कि उन्नति और अवनति दोनों क्रोधमूलक ही हैं (क्रोधको जीतनेसे उन्नति और उसके वशीभूत होनेसे अवनति होती है) ।। १ ।।

यो हि संहरते क्रोधं भवस्तस्य सुशोभने ।
यः पुनः पुरुषः क्रोधं नित्यं न सहते शुभे ।
तस्याभावाय भवति क्रोधः परमदारुणः ।। २ ।।

सुशोभने! जो क्रोधको रोक लेता है, उसकी उन्नति होती है और जो मनुष्य क्रोधके वेगको कभी सहन नहीं कर पाता, उसके लिये वह परम भयंकर क्रोध विनाशकारी बन जाता है ।। २ ।।

क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते ।
तत् कथं मादृशः क्रोधमुत्सृजेल्लोकनाशनम् ।। ३ ।।

इस जगत्में क्रोधके कारण लोगोंका नाश होता दिखायी देता है; इसलिये मेरे-जैसा मनुष्य लोकविनाशक क्रोधका उपयोग दूसरोंपर कैसे करेगा? ।। ३ ।।

क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि ।
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते ।। ४ ।।

क्रोधी मनुष्य पाप कर सकता है, क्रोधके वशीभूत मानव गुरुजनोंकी भी हत्या कर सकता है और क्रोधमें भरा हुआ पुरुष अपनी कठोर वाणीद्वारा श्रेष्ठ मनुष्योंका भी अपमान कर देता है ।। ४ ।।

वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित् ।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा ।। ५ ।।

क्रोधी मनुष्य कभी यह नहीं समझ पाता कि क्या कहना चाहिये और क्या नहीं। क्रोधीके लिये कुछ भी अकार्य अथवा अवाच्य नहीं है ।। ५ ।।

हिंस्यात् क्रोधादवध्यांस्तु वध्यान् सम्पूजयीत च ।

आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेद् यमसादनम् ।। ६ ।।

क्रोधवश वह अवध्य पुरुषोंकी भी हत्या कर सकता है और वधके योग्य मनुष्योंकी भी पूजामें तत्पर हो सकता है। इतना ही नहीं, क्रोधी मानव (आत्महत्याद्वारा) अपने-आपको भी यमलोकका अतिथि बना सकता है ।। ६ ।।

एतान् दोषान् प्रपश्यद्भिर्जितः क्रोधो मनीषिभिः ।
इच्छद्भिः परमं श्रेय इह चामुत्र चोत्तमम् ।। ७ ।।

इन दोषोंको देखनेवाले मनस्वी पुरुषोंने, जो इहलोक और परलोकमें भी परम उत्तम कल्याणकी इच्छा रखते हैं, क्रोधको जीत लिया है ।। ७ ।।

तं क्रोधं वर्जितं धीरैः कथमस्मद्विधश्चरेत् ।
एतद् द्रौपदि संधाय न मे मन्युः प्रवर्धते ।। ८ ।।

अतः धीर पुरुषोंने जिसका परित्याग कर दिया है। उस क्रोधको मेरे-जैसा मनुष्य कैसे उपयोगमें ला सकता है? द्रुपदकुमारी! यही सोचकर मेरा क्रोध कभी बढ़ता नहीं है ।। ८ ।।

आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात् ।
क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः ।। ९ ।।

क्रोध करनेवाले पुरुषके प्रति जो बदलेमें क्रोध नहीं करता, वह अपनेको और दूसरोंको भी महान् भयसे बचा लेता है। वह अपने और पराये दोनोंके दोषोंको दूर करनेके लिये चिकित्सक बन जाता है ।। ९ ।।

मूढो यदि क्लिश्यमानः क्रुध्यतेऽशक्तिमान् नरः ।
बलीयसां मनुष्याणां त्यजत्यात्मानमात्मना ।। १० ।।

यदि मूढ़ एवं असमर्थ मनुष्य दूसरोंके द्वारा क्लेश दिये जानेपर स्वयं भी बलिष्ठ मनुष्योंपर क्रोध करता है तो वह अपने ही द्वारा अपने-आपका विनाश कर देता है ।। १० ।।

तस्यात्मानं संत्यजतो लोका नश्यन्त्यनात्मनः ।
तस्माद् द्रौपद्यशक्तस्य मन्योर्नियमनं स्मृतम् ।। ११ ।।

अपने चित्तको वशमें न रखनेके कारण क्रोधवश देहत्याग करनेवाले उस मनुष्यके लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। अतः द्रुपदकुमारी! असमर्थके लिये अपने क्रोधको रोकना ही अच्छा माना गया है ।। ११ ।।

विद्वांस्तथैव यः शक्तः क्लिश्यमानो न कुप्यति ।
अनाशयित्वा क्लेष्टारं परलोके च नन्दति ।। १२ ।।

इसी प्रकार जो विद्वान् पुरुष शक्तिशाली होकर भी दूसरोंद्वारा क्लेश दिये जानेपर स्वयं क्रोध नहीं करता, वह क्लेश देनेवालेका नाश न करके परलोकमें भी आनन्दका भागी होता है ।। १२ ।।

तस्माद् बलवता चैव दुर्बलेन च नित्यदा ।

क्षन्तव्यं पुरुषेणाहुरापत्स्वपि विजानता ।। १३ ।।

इसलिये बलवान् या निर्बल सभी विज्ञ मनुष्योंको सदा आपत्तिकालमें भी क्षमाभावका ही आश्रय लेना चाहिये ।। १३ ।।

मन्योर्हि विजयं कृष्णे प्रशंसन्तीह साधवः ।
क्षमावतो जयो नित्यं साधोरिह सतां मतम् ।। १४ ।।

कृष्णे! साधु पुरुष क्रोधको जीतनेकी ही प्रशंसा करते हैं। संतोंका यह मत है कि इस जगत्में क्षमाशील साधु पुरुषकी सदा जय होती है ।। १४ ।।

सत्यं चानृततः श्रेयो नृशंस्याच्चानृशंसता ।
तमेवं बहुदोषं तु क्रोधं साधुविवर्जितम् ।। १५ ।।
मादृशः प्रसृजेत् कस्मात् सुयोधनवधादपि ।

झूठसे सत्य श्रेष्ठ है। क्रूरतासे दयालुता श्रेष्ठ है, अतः दुर्योधन मेरा वध कर डाले तो भी इस प्रकार अनेक दोषोंसे भरे हुए और सत्पुरुषोंद्वारा परित्यक्त क्रोधका मेरे-जैसा पुरुष कैसे उपयोग कर सकता है? ।। १५½ ।।

तेजस्वीति यमाहुर्वै पण्डिता दीर्घदर्शिनः ।। १६ ।।
न क्रोधोऽभ्यन्तरस्तस्य भवतीति विनिश्चितम् ।

दूरदर्शी विद्वान् जिसे तेजस्वी कहते हैं, उसके भीतर क्रोध नहीं होता; यह निश्चित बात है ।। १६½ ।।

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ।। १७ ।।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ।

जो उत्पन्न हुए क्रोधको अपनी बुद्धिसे दबा देता है, उसे तत्त्वदर्शी विद्वान् तेजस्वी मानते हैं ।। १७½ ।।

क्रुद्धो हि कार्यं सुश्रोणि न यथावत् प्रपश्यति ।
नाकार्यं न च मर्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति ।। १८ ।।

सुन्दरी! क्रोधी मनुष्य किसी कार्यको ठीक-ठीक नहीं समझ पाता। वह यह भी नहीं जानता कि मर्यादा क्या है (अर्थात् क्या करना चाहिये) और क्या नहीं करना चाहिये ।। १८ ।।

हन्त्यवध्यानपि क्रुद्धो गुरून् क्रुद्धस्तुदत्यपि ।
तस्मात् तेजसि कर्तव्यः क्रोधो दूरे प्रतिष्ठितः ।। १९ ।।

क्रोधी मनुष्य अवध्य पुरुषोंका वध कर देता है। क्रोधी मनुष्य गुरुजनोंको कटु वचनोंद्वारा पीड़ा पहुँचाता है। इसलिये जिसमें तेज हो, उस पुरुषको चाहिये कि वह क्रोधको अपनेसे दूर रखे ।। १९ ।।

दाक्ष्यं ह्यमर्षः शौर्यं च शीघ्रत्वमिति तेजसः ।
गुणा! क्रोधाभिभूतेन न शक्याः प्राप्तुमञ्जसा ।। २० ।।

दक्षता, अमर्ष, शौर्य और शीघ्रता—ये तेजके गुण हैं। जो मनुष्य क्रोधसे दबा हुआ है, वह इन गुणोंको सहजमें ही नहीं पा सकता ।। २० ।।

क्रोधं त्यक्त्वा तु पुरुषः सम्यक् तेजोऽभिपद्यते ।
कालयुक्तं महाप्राज्ञे क्रुद्धैस्तेजः सुदुःसहम् ।। २१ ।।

क्रोधका त्याग करके मनुष्य भलीभाँति तेज प्राप्त कर लेता है। महाप्राज्ञे! क्रोधी पुरुषोंके लिये समयके उपयुक्त तेज अत्यन्त दुःसह है ।। २१ ।।

क्रोधस्त्वपण्डितैः शश्वत् तेज इत्यभिनिश्चितम् ।
रजस्तु लोकनाशाय विहितं मानुषं प्रति ।। २२ ।।

मूर्खलोग क्रोधको ही सदा तेज मानते हैं। परन्तु रजोगुणजनित क्रोधका यदि मनुष्योंके प्रति प्रयोग हो तो वह लोगोंके नाशका कारण होता है ।। २२ ।।

तस्माच्छश्वत् त्यजेत् क्रोधं पुरुषः सम्यगाचरन् ।
श्रेयान् स्वधर्मानपगो न क्रुद्ध इति निश्चितम् ।। २३ ।।

अतः सदाचारी पुरुष सदा क्रोधका परित्याग करे। अपने वर्णधर्मके अनुसार न चलनेवाला मनुष्य (अपेक्षाकृत) अच्छा, किंतु क्रोधी नहीं अच्छा—यह निश्चय है ।। २३ ।।

यदि सर्वमबुद्धीनामतिक्रान्तमचेतसाम् ।
अतिक्रमो मद्विधस्य कथंस्वित् स्यादनिन्दिते ।। २४ ।।

साध्वी द्रौपदी! यदि मूर्ख और अविवेकी मनुष्य क्षमा आदि सद्‌गुणोंका उल्लंघन कर जाते हैं तो मेरे-जैसा विज्ञ पुरुष उनका अतिक्रमण कैसे कर सकता है? ।। २४ ।।

यदि न स्युर्मानुषेषु क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
न स्यात् संधिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रहः ।। २५ ।।

यदि मनुष्योंमें पृथ्वीके समान क्षमाशील पुरुष न हों तो मानवोंमें कभी सन्धि हो ही नहीं सकती; क्योंकि झगड़ेकी जड़ तो क्रोध ही है ।। २५ ।।

अभिषक्तो ह्यभिषजेदाहन्याद् गुरुणा हतः ।
एवं विनाशो भूतानामधर्मः प्रथितो भवेत् ।। २६ ।।

यदि कोई अपनेको सतावे तो स्वयं भी उसको सतावे। औरोंकी तो बात ही क्या है, यदि गुरुजन अपनेको मारें तो उन्हें भी मारे बिना न छोड़े; ऐसी धारणा रखनेके कारण सब प्राणियोंका ही विनाश हो जाता है और अधर्म बढ़ जाता है ।। २६ ।।

आक्रुष्टः पुरुषः सर्वं प्रत्याक्रोशेदनन्तरम् ।
प्रतिहन्याद्धतश्चैव तथा हिंस्याच्च हिंसितः ।। २७ ।।

यदि सभी क्रोधके वशीभूत हो जायँ तो एक मनुष्य दूसरेके द्वारा गाली खाकर स्वयं भी बदलेमें उसे गाली दे सकता है। मार खानेवाला मनुष्य बदलेमें मार सकता है। एकका अनिष्ट होनेपर वह दूसरेका भी अनिष्ट कर सकता है ।। २७ ।।

हन्युर्हि पितरः पुत्रान् पुत्राश्चापि तथा पितॄन् ।

हन्युश्च पतयो भार्याः पतीन् भार्यास्तथैव च ।। २८ ।।

पिता पुत्रोंको मारेंगे और पुत्र पिताको, पति पत्नियोंको मारेंगे और पत्नियाँ पतिको ।। २८ ।।

एवं संकुपिते लोके शमः कृष्णे न विद्यते ।
प्रजानां संधिमूलं हि शमं विद्धि शुभानने ।। २९ ।।

कृष्णे! इस प्रकार सम्पूर्ण जगत्के क्रोधका शिकार हो जानेपर तो कहीं शान्ति नहीं रहती। शुभानने! तुम यह जान लो कि सम्पूर्ण प्रजाकी शान्ति सन्धिमूलक ही है ।। २९ ।।

ताः क्षिपेरन् प्रजाः सर्वाः क्षिप्रं द्रौपदि तादृशे ।
तस्मान्मन्युर्विनाशाय प्रजानामभवाय च ।। ३० ।।

द्रौपदी! यदि राजा तुम्हारे कथनानुसार क्रोधी हो जाय तो सारी प्रजाओंका शीघ्र ही नाश हो जायगा। अतः यह समझ लो कि क्रोध प्रजावर्गके नाश और अवनतिका कारण है ।। ३० ।।

यस्मात् तु लोके दृश्यन्ते क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
तस्माज्जन्म च भूतानां भवश्च प्रतिपद्यते ।। ३१ ।।

इस जगत्में पृथ्वीके समान क्षमाशील पुरुष भी देखे जाते हैं, इसीलिये प्राणियोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती रहती है ।। ३१ ।।

क्षन्तव्यं पुरुषेणेह सर्वापत्सु सुशोभने ।
क्षमावतो हि भूतानां जन्म चैव प्रकीर्तितम् ।। ३२ ।।

सुशोभने! पुरुषको सभी आपत्तियोंमें क्षमाभाव रखना चाहिये। क्षमाशील पुरुषसे ही समस्त प्राणियोंका जीवन बताया गया है ।। ३२ ।।

आक्रुष्टस्ताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसा ।
यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तमपूरुषः ।। ३३ ।।

जो बलवान् पुरुषके गाली देने या कुपित होकर मारनेपर भी क्षमा कर जाता है तथा जो सदा अपने क्रोधको काबूमें रखता है, वही विद्वान् है और वही श्रेष्ठ पुरुष है ।। ३३ ।।

प्रभाववानपि नरस्तस्य लोकाः सनातनाः ।
क्रोधनस्त्वल्पविज्ञानः प्रेत्य चेह च नश्यति ।। ३४ ।।

वही मनुष्य प्रभावशाली कहा जाता है। उसीको सनातन लोक प्राप्त होते हैं। क्रोधी मनुष्य अल्पज्ञ होता है। वह इस लोक और परलोक दोनोंमें विनाशका ही भागी होता है ।। ३४ ।।

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा नित्यं क्षमावताम् ।
गीताः क्षमावता कृष्णे काश्यपेन महात्मना ।। ३५ ।।

इस विषयमें जानकार लोग क्षमावान् पुरुषोंकी गाथाका उदाहरण देते हैं। कृष्णे! क्षमावान् महात्मा काश्यपने इस गाथाका गान किया है ।। ३५ ।।

क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमाः श्रुतम् ।
य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ।। ३६ ।।

क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है और क्षमा शास्त्र है। जो इस प्रकार जानता है, वह सब कुछ क्षमा करनेके योग्य हो जाता है ।। ३६ ।।

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च ।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ।। ३७ ।।

क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा भूत है, क्षमा भविष्य है, क्षमा तप है और क्षमा शौच है। क्षमाने ही सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रखा है ।। ३७ ।।

अति यज्ञविदां लोकान् क्षमिणः प्राप्नुवन्ति च ।
अति ब्रह्मविदां लोकानति चापि तपस्विनाम् ।। ३८ ।।

क्षमाशील मनुष्य यज्ञवेत्ता, ब्रह्मवेत्ता और तपस्वी पुरुषोंसे भी ऊँचे लोक प्राप्त करते हैं ।। ३८ ।।

अन्ये वै यजुषां लोकाः कर्मिणामपरे तथा ।
क्षमावतां ब्रह्मलोके लोकाः परमपूजिताः ।। ३९ ।।

(सकामभावसे) यज्ञकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंके लोक दूसरे हैं एवं (सकामभावसे) वापी, कूप, तडाग और दान आदि कर्म करनेवाले मनुष्योंके लोक दूसरे हैं। परंतु क्षमावानोंके लोक ब्रह्मलोकके अन्तर्गत हैं; जो अत्यन्त पूजित हैं ।। ३९ ।।

क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ।। ४० ।।

क्षमा तेजस्वी पुरुषोंका तेज है, क्षमा तपस्वियोंका ब्रह्म है, क्षमा सत्यवादी पुरुषोंका सत्य है। क्षमा यज्ञ है और क्षमा शम (मनोनिग्रह) है ।। ४० ।।

तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत् ।
यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः ।। ४१ ।।

कृष्णे! जिसका महत्त्व ऐसा बताया गया है, जिसमें ब्रह्म, सत्य, यज्ञ और लोक सभी प्रतिष्ठित हैं, उस क्षमाको मेरे-जैसा मनुष्य कैसे छोड़ सकता है ।। ४१ ।।

क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता ।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।। ४२ ।।

विद्वान् पुरुषको सदा क्षमाका ही आश्रय लेना चाहिये। जब मनुष्य सब कुछ सहन कर लेता है, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ।। ४२ ।।

क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।
इह सम्मानमृच्छन्ति परत्र च शुभां गतिम् ।। ४३ ।।

क्षमावानोंके लिये ही यह लोक है। क्षमावानोंके लिये ही परलोक है। क्षमाशील पुरुष इस जगत्‌में सम्मान और परलोकमें उत्तम गति पाते हैं ।। ४३ ।।

येषां मन्युर्मनुष्याणां क्षमयाभिहतः सदा ।
तेषां परतरे लोकास्तस्मात् क्षान्तिः परा मता ।। ४४ ।।

जिन मनुष्योंका क्रोध सदा क्षमाभावसे दबा रहता है, उन्हें सर्वोत्तम लोक प्राप्त होते हैं। अतः क्षमा सबसे उत्कृष्ट मानी गयी है ।। ४४ ।।

इति गीताः काश्यपेन गाथा नित्यं क्षमावताम् ।
श्रुत्वा गाथाः क्षमायास्त्वं तुष्य द्रौपदि मा क्रुधः ।। ४५ ।।

इस प्रकार काश्यपजीने नित्य क्षमाशील पुरुषोंकी इस गाथाका गान किया है। द्रौपदी! क्षमाकी यह गाथा सुनकर संतुष्ट हो जाओ, क्रोध न करो ।। ४५ ।।

पितामहः शान्तनवः शमं सम्पूजयिष्यति ।
कृष्णश्च देवकीपुत्रः शमं सम्पूजयिष्यति ।। ४६ ।।

मेरे पितामह शान्तनुनन्दन भीष्म शान्तिभावका ही आदर करेंगे। देवकीनन्दन श्रीकृष्ण भी शान्तिभावका ही आदर करेंगे ।। ४६ ।।

आचार्यो विदुरः क्षत्ता शममेव वदिष्यतः ।
कृपश्च संजयश्चैव शममेव वदिष्यतः ।। ४७ ।।

आचार्य द्रोण और विदुर भी शान्तिको ही अच्छा कहेंगे। कृपाचार्य और संजय भी शान्त रहना ही अच्छा बतायेंगे ।। ४७ ।।

सोमदत्तो युयुत्सुश्च द्रोणपुत्रस्तथैव च ।
पितामहश्च नो व्यासः शमं वदति नित्यशः ।। ४८ ।।

सोमदत्त, युयुत्सु, अश्वत्थामा तथा हमारे पितामह व्यास भी सदा शान्तिका ही उपदेश देते हैं ।। ४८ ।।

एतैर्हि राजा नियतं चोद्यमानः शमं प्रति ।
राज्यं दातेति मे बुद्धिर्न चेल्लोभान्नशिष्यति ।। ४९ ।।

ये सब लोग यदि राजा धृतराष्ट्रको सदा शान्तिके लिये प्रेरित करते रहेंगे तो वे अवश्य मुझे राज्य दे देंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। यदि नहीं देंगे तो लोभके कारण नष्ट हो जायँगे ।। ४९ ।।

कालोऽयं दारुणः प्राप्तो भरतानामभूतये ।
निश्चितं मे सदैवैतत् पुरस्तादपि भाविनि ।। ५० ।।
सुयोधनो नार्हतीति क्षमामेवं न विन्दति ।
अर्हस्तत्राहमित्येवं तस्मान्मां विन्दते क्षमा ।। ५१ ।।

इस समय भरतवंशके विनाशके लिये यह बड़ा भयंकर समय आ गया है। भामिनि! मेरा पहलेसे ही ऐसा निश्चित मत है कि सुयोधन कभी भी इस प्रकार क्षमा-भावको नहीं अपना सकता, वह इसके योग्य नहीं है। मैं इसके योग्य हूँ, इसलिये क्षमा मेरा ही आश्रय लेती है ।।

एतदात्मवतां वृत्तमेष धर्मः सनातनः ।
क्षमा चैवानृशंस्यं च तत् कर्तास्म्यहमञ्जसा ।। ५२ ।।

क्षमा और दया यही जितात्मा पुरुषोंका सदाचार है और यही सनातनधर्म है, अतः मैं यथार्थ रूपसे क्षमा और दयाको ही अपनाऊँगा ।। ५२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीयुधिष्ठिरसंवादे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ।। २९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदी-युधिष्ठिरसंवादविषयक उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९ ।।

त्रिंशोऽध्यायः

दुःखसे मोहित द्रौपदीका युधिष्ठिरकी बुद्धि, धर्म एवं ईश्वरके न्यायपर आक्षेप

द्रौपद्युवाच

नमो धात्रे विधात्रे च यौ मोहं चक्रतुस्तव ।
पितृपैतामहे वृत्ते वोढव्ये तेऽन्यथा मतिः ।। १ ।।

द्रौपदीने कहा—राजन्! उस धाता (ईश्वर) और विधाता (प्रारब्ध)-को नमस्कार हैं, जिन्होंने आपकी बुद्धिमें मोह उत्पन्न कर दिया। पिता-पितामहोंके आचारका भार वहन करनेमें भी आपका विचार दिखायी देता है ।। १ ।।

कर्मभिश्चिन्तितो लोको गत्यां गत्यां पृथग्विधः ।
तस्मात् कर्माणि नित्यानि लोभान्मोक्षं यियासति ।। २ ।।
नेह धर्मानृशंस्याभ्यां न क्षान्त्या नार्जवेन च ।
पुरुषः श्रियमाप्नोति न घृणित्वेन कर्हिचित् ।। ३ ।।

कर्मोंके अनुसार उत्तम, मध्यम, अधम योनिमें भिन्न-भिन्न लोकोंकी प्राप्ति बतलायी गयी है, अतः कर्म नित्य हैं (भोगे बिना उन कर्मोंका क्षय नहीं होता)। मूर्ख लोग लोभसे ही मोक्ष पानेकी इच्छा रखते हैं। इस जगत्में धर्म, कोमलता, क्षमा, विनय और दयासे कोई भी मनुष्य कभी धन और ऐश्वर्यकी प्राप्ति नहीं कर सकता ।। २-३ ।।

द्रौपदी और भीमसेनका युधिष्ठिरसे संवाद

त्वां च व्यसनमभ्यागादिदं भारत दु:सहम् ।

यत् त्वं नार्हसि नापीमे भ्रातरस्ते महौजसः ।। ४ ।।

भारत! इसी कारण तो आपपर भी यह दुःसह संकट आ गया, जिसके योग्य न तो आप हैं और न आपके महातेजस्वी ये भाई ही हैं ।। ४ ।।

न हि तेऽध्यगमञ्जातु तदानीं नाद्य भारत ।
धर्मात् प्रियतरं किंचिदपि चेज्जीवितादिह ।। ५ ।।

भरतकुलतिलक! आपके भाइयोंने न तो पहले कभी और न आज ही धर्मसे अधिक प्रिय दूसरी किसी वस्तुको समझा है। अपितु धर्मको जीवनसे भी बढ़कर माना है ।। ५ ।।

धर्मार्थमेव ते राज्यं धर्मार्थं जीवितं च ते ।
ब्राह्मणा गुरवश्चैव जानन्त्यापि च देवताः ।। ६ ।।

आपका राज्य धर्मके लिये ही है, आपका जीवन भी धर्मके लिये ही है। ब्राह्मण, गुरुजन और देवता सभी इस बातको जानते हैं ।। ६ ।।

भीमसेनार्जुनौ चोभौ माद्रेयौ च मया सह ।
त्यजेस्त्वमिति मे बुद्धिर्न तु धर्मं परित्यजेः ।। ७ ।।

मुझे विश्वास है कि आप मेरेसहित भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेवको भी त्याग देंगे; किंतु धर्मका त्याग नहीं करेंगे ।। ७ ।।

राजानं धर्मगोप्तारं धर्मो रक्षति रक्षितः ।
इति मे श्रुतमार्याणां त्वां तु मन्ये न रक्षति ।। ८ ।।

मैंने आर्योंके मुँहसे सुना है कि यदि धर्मकी रक्षा की जाय तो वह धर्मरक्षक राजाकी स्वयं भी रक्षा करता है। किंतु मुझे मालूम होता है कि वह आपकी रक्षा नहीं कर रहा है ।। ८ ।।

अनन्या हि नरव्याघ्र नित्यदा धर्ममेव ते ।
बुद्धिः सततमन्वेति च्छायेव पुरुषं निजा ।। ९ ।।

नरश्रेष्ठ! जैसे अपनी छाया सदा मनुष्यके पीछे चलती है, उसी प्रकार आपकी बुद्धि सदा अनन्यभावसे धर्मका ही अनुसरण करती है ।। ९ ।।

नावमंस्था हि सदृशान् नावराञ्छ्रेयसः कुतः ।
अवाप्य पृथिवीं कृत्स्नां न ते शृङ्गमवर्धत ।। १० ।।

आपने अपने समान और अपनेसे छोटोंका भी कभी अपमान नहीं किया। फिर अपनेसे बड़ोंका तो करते ही कैसे? सारी पृथ्वीका राज्य पाकर भी आपका प्रभुताविषयक अहंकार कभी नहीं बढ़ा ।। १० ।।

स्वाहाकारैः स्वधाभिश्च पूजाभिरपि च द्विजान् ।
दैवतानि पितॄंश्चैव सततं पार्थ सेवसे ।। ११ ।।

कुन्तीनन्दन! आप स्वाहा, स्वधा और पूजाके द्वारा देवताओं, पितरों और ब्राह्मणोंकी सदा सेवा करते रहते हैं ।। ११ ।।

ब्राह्मणाः सर्वकामैस्ते सततं पार्थ तर्पिताः ।
यतयो मोक्षिणश्चैव गृहस्थाश्चैव भारत ।। १२ ।।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्यत्राहं परिचारिका ।
आरण्यकेभ्यो लौहानि भाजनानि प्रयच्छसि ।
नादेयं ब्राह्मणेभ्यस्ते गृहे किंचन विद्यते ।। १३ ।।

पार्थ! आपने ब्राह्मणोंकी समस्त कामनाएँ पूरी करके सदा उन्हें तृप्त किया है। भारत! आपके यहाँ मोक्षाभिलाषी संन्यासी तथा गृहस्थ ब्राह्मण सोनेके पात्रोंमें भोजन करते थे। जहाँ स्वयं मैं अपने हाथों उनकी सेवा-टहल करती थी। वानप्रस्थोंको भी आप सोनेके पात्र दिया करते थे। आपके घरमें कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जो ब्राह्मणोंके लिये अदेय हो ।। १२-१३ ।।

यदिदं वैश्वदेवं ते शान्तये क्रियते गृहे ।
तद् दत्त्वातिथिभूतेभ्यो राजञ्छिष्टेन जीवसि ।। १४ ।।

राजन्! आपके द्वारा शान्तिके लिये जो घरमें यह वैश्वदेव कर्म किया जाता है, उसमें अतिथियों और प्राणियोंके लिये अन्न देकर आप अवशिष्ट अन्नके द्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं ।। १४ ।।

इष्टयः पशुबन्धाश्च काम्यनैमित्तिकाश्च ये ।
वर्तन्ते पाकयज्ञाश्च यज्ञकर्म च नित्यदा ।। १५ ।।

इष्टि (पूजा), पशुबन्ध (पशुओंको बाँधना), काम्य याग, नैमित्तिक याग, पाकयज्ञ तथा नित्ययज्ञ—ये सब भी आपके यहाँ बराबर चलते रहते हैं ।। १५ ।।

अस्मिन्नपि महारण्ये विजने दस्युसेविते ।
राष्ट्रादपेत्य वसतो धर्मस्ते नावसीदति ।। १६ ।।

आप राज्यसे निकलकर लुटेरोंद्वारा सेवित इस निर्जन महावनमें निवास कर रहे हैं, तो भी आपका धर्मकार्य कभी शिथिल नहीं हुआ है ।। १६ ।।

अश्वमेधो राजसूयः पुण्डरीकोऽथ गोसवः ।
एतैरपि महायज्ञैरिष्टं ते भूरिदक्षिणैः ।। १७ ।।

अश्वमेध, राजसूय, पुण्डरीक तथा गोसव—इन सभी महायज्ञोंका आपने प्रचुर दक्षिणादानपूर्वक अनुष्ठान किया है ।। १७ ।।

राजन् परीतया बुद्ध्या विषमेऽक्षपराजये ।
राज्यं वसून्यायुधानि भ्रातॄन् मां चासि निर्जितः ।। १८ ।।

परंतु महाराज! उस कपट द्यूतजनित पराजयके समय आपकी बुद्धि विपरीत हो गयी, जिसके कारण आप राज्य, धन, आयुध तथा भाइयोंको और मुझे भी दावँपर रखकर हार गये ।। १८ ।।

ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्य ह्रीमतः सत्यवादिनः ।

कथमक्षव्यसनजा बुद्धिरापतिता तव ।। १९ ।।

आप सरल, कोमल, उदार, लज्जाशील और सत्यवादी हैं। न जाने कैसे आपकी बुद्धिमें जूआ खेलनेका व्यसन आ गया ।। १९ ।।

अतीव मोहमायाति मनश्च परिभूयते ।
निशाम्य ते दुःखमिदमिमां चापदमीदृशीम् ।। २० ।।

आपके इस दुःख और भयंकर विपत्तिको विचारकर मुझे अत्यन्त मोह प्राप्त हो रहा है और मेरा मन दुःखसे पीड़ित हो रहा है ।। २० ।।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ईश्वरस्य वशे लोकास्तिष्ठन्ते नात्मनो यथा ।। २१ ।।

इस विषयमें लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण देते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि सब लोग ईश्वरके वशमें हैं, कोई भी स्वाधीन नहीं है ।। २१ ।।

धातैव खलु भूतानां सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
दधाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन् ।। २२ ।।

विधाता ईश्वर ही सबके पूर्वकर्मोंके अनुसार प्राणियोंके लिये सुख-दुःख, प्रिय-अप्रियकी व्यवस्था करते हैं ।। २२ ।।

यथा दारुमयी योषा नरवीर समाहिता ।
ईरयत्यङ्गमङ्गानि तथा राजन्निमाः प्रजाः ।। २३ ।।

नरवीर नरेश! जैसे कठपुतली सूत्रधारसे प्रेरित हो अपने अंगोंका संचालन करती है, उसी प्रकार यह सारी प्रजा ईश्वरकी प्रेरणासे अपने हस्त-पाद आदि अंगोंद्वारा विविध चेष्टाएँ करती हैं ।। २३ ।।

आकाश इव भूतानि व्याप्य सर्वाणि भारत ।
ईश्वरो विदधातीह कल्याणं यच्च पापकम् ।। २४ ।।

भारत! ईश्वर आकाशके समान सम्पूर्ण प्राणियोंमें व्याप्त होकर उनके कर्मानुसार सुख-दुःखका विधान करते हैं ।। २४ ।।

शकुनिस्तन्तुबद्धो वा नियतोऽयमनीश्वरः ।
ईश्वरस्य वशे तिष्ठेन्नान्येषां नात्मनः प्रभुः ।। २५ ।।

जीव स्वतन्त्र नहीं है, वह डोरेमें बँधे हुए पक्षीकी भाँति कर्मके बन्धनमें बँधा होनेसे परतन्त्र है। वह ईश्वरके ही वशमें होता है। उसका न दूसरोंपर वश चलता है, न अपने ऊपर ।। २५ ।।

मणिः सूत्र इव प्रोतो नस्योत इव गोवृषः ।
स्रोतसो मध्यमापन्नः कूलाद् वृक्ष इव च्युतः ।। २६ ।।
धातुरादेशमन्वेति तन्मयो हि तदर्पणः ।
नात्माधीनो मनुष्योऽयं कालं भजति कंचन ।। २७ ।।

सूतमें पिरोयी हुई मणि, नाकमें नथे हुए बैल और किनारेसे टूटकर धाराके बीचमें गिरे हुए वृक्षकी भाँति यह जीव सदा ईश्वरके आदेशका ही अनुसरण करता है; क्योंकि वह उसीसे व्याप्त और उसीके अधीन है। यह मनुष्य स्वाधीन होकर समयको नहीं बिताता ।।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव च ।। २८ ।।

यह जीव अज्ञानी तथा अपने सुख-दुःखके विधानमें भी असमर्थ है। यह ईश्वरसे प्रेरित होकर ही स्वर्ग एवं नरकमें जाता है ।। २८ ।।

यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः ।
धातुरेवं वशं यान्ति सर्वभूतानि भारत ।। २९ ।।

भारत! जैसे क्षुद्र तिनके बलवान् वायुके वशमें हो उड़ते-फिरते हैं, उसी प्रकार समस्त प्राणी ईश्वरके अधीन हो आवागमन करते हैं ।। २९ ।।

आर्ये कर्मणि युञ्जानः पापे वा पुनरीश्वरः ।
व्याप्य भूतानि चरते न चायमिति लक्ष्यते ।। ३० ।।

कोई श्रेष्ठ कर्ममें लगा हुआ हो चाहे पापकर्ममें, ईश्वर सभी प्राणियोंमें व्याप्त होकर विचरते हैं; किंतु वे यही हैं इस प्रकार उनका लक्ष्य नहीं होता ।। ३० ।।

हेतुमात्रमिदं धातुः शरीरं क्षेत्रसंज्ञितम् ।
येन कारयते कर्म शुभाशुभफलं विभुः ।। ३१ ।।

यह क्षेत्रसंज्ञक शरीर ईश्वरका साधनमात्र है, जिसके द्वारा वे सर्वव्यापी परमेश्वर प्राणियोंसे स्वेच्छा-प्रारब्धरूप शुभाशुभ फल भुगतानेवाले कर्मोंका अनुष्ठान करवाते हैं ।। ३१ ।।

पश्य मायाप्रभावोऽयमीश्वरेण यथा कृतः ।
यो हन्ति भूतैर्भूतानि मोहयित्वाऽऽत्ममायया ।। ३२ ।।

ईश्वरने जिस प्रकार इस मायाके प्रभावका विस्तार किया है, उसे देखिये। वे अपनी मायाद्वारा मोहित करके प्राणियोंसे ही प्राणियोंका वध करवाते हैं ।। ३२ ।।

अन्यथा परिदृष्टानि मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
अन्यथा परिवर्तन्ते वेगा इव नभस्वतः ।। ३३ ।।

तत्त्वदर्शी मुनियोंने वस्तुओंके स्वरूप कुछ और प्रकारसे देखे हैं; किंतु अज्ञानियोंके सामने किसी और ही रूपमें भासित होते हैं। जैसे आकाशचारी सूर्यकी किरणें मरुभूमिमें पड़कर जलके रूपमें प्रतीत होने लगती हैं ।। ३३ ।।

अन्यथैव हि मन्यन्ते पुरुषास्तानि तानि च ।
अन्यथैव प्रभुस्तानि करोति विकरोति च ।। ३४ ।।

लोग भिन्न-भिन्न वस्तुओंको भिन्न-भिन्न रूपोंमें मानते हैं; परंतु शक्तिशाली परमेश्वर उन्हें और ही रूपमें बनाते और बिगाड़ते हैं ।। ३४ ।।

यथा काष्ठेन वा काष्ठमश्मानं चाश्मना पुनः ।
अयसा चाप्ययश्छिन्द्यान्निर्विचेष्टमचेतनम् ।। ३५ ।।
एवं स भगवान् देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः ।
हिनस्ति भूतैर्भूतानि च्छद्म कृत्वा युधिष्ठिर ।। ३६ ।।

महाराज युधिष्ठिर! जैसे अचेतन एवं चेष्टारहित काठ, पत्थर और लोहेको मनुष्य काठ, पत्थर और लोहेसे ही काट देता है, उसी प्रकार सबके प्रपितामह स्वयम्भू भगवान् श्रीहरि मायाकी आड़ लेकर प्राणियोंसे ही प्राणियोंका विनाश करते हैं ।। ३५-३६ ।।

सम्प्रयोज्य वियोज्यायं कामकारकरः प्रभुः ।
क्रीडते भगवान् भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ।। ३७ ।।

जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, उसी प्रकार स्वेच्छानुसार कर्म (भाँति-भाँतिकी लीलाएँ) करने-वाले शक्तिशाली भगवान् सब प्राणियोंके साथ उनका परस्पर संयोग-वियोग कराते हुए लीला करते रहते हैं ।। ३७ ।।

न मातृपितृवद् राजन् धाता भूतेषु वर्तते ।
रोषादिव प्रवृत्तोऽयं यथायमितरो जनः ।। ३८ ।।

राजन्! मैं समझती हूँ, ईश्वर समस्त प्राणियोंके प्रति माता-पिताके समान दया एवं स्नेहयुक्त बर्ताव नहीं कर रहे हैं, वे तो दूसरे लोगोंकी भाँति मानो रोषसे ही व्यवहार कर रहे हैं ।। ३८ ।।

आर्याञ्छीलवतो दृष्ट्वा ह्रीमतो वृत्तिकर्शितान् ।
अनार्यान् सुखिनश्चैव विह्वलामीव चिन्तया ।। ३९ ।।

क्योंकि जो लोग श्रेष्ठ, शीलवान् और संकोची हैं, वे तो जीविकाके लिये कष्ट पा रहे हैं; किंतु जो अनार्य (दुष्ट) हैं, वे सुख भोगते हैं; यह सब देखकर मेरी उक्त धारणा पुष्ट होती है और मैं चिन्तासे विह्वल-सी हो रही हूँ ।। ३९ ।।

तवेमामापदं दृष्ट्वा समृद्धिं च सुयोधने ।
धातारं गर्हये पार्थ विषमं योऽनुपश्यति ।। ४० ।।

कुन्तीनन्दन! आपकी इस आपत्तिको तथा दुर्योधनकी समृद्धिको देखकर मैं उस विधाताकी निन्दा करती हूँ, जो विषम दृष्टिसे देख रहा है अर्थात् सज्जनको दुःख और दुर्जनको सुख देकर उचित विचार नहीं कर रहा है ।। ४० ।।

आर्यशास्त्रातिगे क्रूरे लुब्धे धर्मापचायिनि ।
धार्तराष्ट्रे श्रियं दत्त्वा धाता किं फलमश्नुते ।। ४१ ।।

जो आर्यशास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लंघन करनेवाला, क्रूर, लोभी तथा धर्मकी हानि करनेवाला है, उस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको धन देकर विधाता क्या फल पाता है? ।। ४१ ।।

कर्म चेत् कृतमन्वेति कर्तारं नान्यमृच्छति ।
कर्मणा तेन पापेन लिप्यते नूनमीश्वरः ।। ४२ ।।

यदि किया हुआ कर्म कर्ताका ही पीछा करता है, दूसरेके पास नहीं जाता, तब तो ईश्वर भी उस पापकर्मसे अवश्य लिप्त होंगे ।। ४२ ।।

अथ कर्म कृतं पापं न चेत् कर्तारमृच्छति ।
कारणं बलमेवेह जनाञ्छोचामि दुर्बलान् ।। ४३ ।।

इसके विपरीत, यदि किया हुआ पाप-कर्म कर्ताको नहीं प्राप्त होता तो इसका कारण यहाँ बल ही है (ईश्वर शक्तिशाली हैं, इसीलिये उन्हें पापकर्मका फल नहीं मिलता होगा)। उस दशामें मुझे दुर्बल मनुष्योंके लिये शोक हो रहा है ।। ४३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये त्रिंशोऽध्यायः ।। ३० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३० ।।

एकत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा द्रौपदीके आक्षेपका समाधान तथा ईश्वर, धर्म और महापुरुषोंके आदरसे लाभ और अनादरसे हानि

युधिष्ठिर उवाच

वल्गु चित्रपदं श्लक्ष्णं याज्ञसेनि त्वया वचः ।
उक्तं तच्छ्रुतमस्माभिर्नास्तिक्यं तु प्रभाषसे ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—यज्ञसेनकुमारी! तुमने जो बात कही है, वह सुननेमें बड़ी मनोहर, विचित्र पदावलीसे सुशोभित तथा बहुत सुन्दर है, मैंने उसे बड़े ध्यानसे सुना है। परंतु इस समय तुम (अज्ञानसे) नास्तिक मतका प्रतिपादन कर रही हो ।। १ ।।

नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत ।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ।। २ ।।

राजकुमारी! मैं कर्मोंके फलकी इच्छा रखकर उनका अनुष्ठान नहीं करता; अपितु 'देना कर्तव्य है' यह समझकर दान देता हूँ और यज्ञको भी कर्तव्य मानकर ही उसका अनुष्ठान करता हूँ ।। २ ।।

अस्तु वात्र फलं मा वा कर्तव्यं पुरुषेण यत् ।
गृहे वा वसता कृष्णे यथाशक्ति करोमि तत् ।। ३ ।।

कृष्णे! यहाँ उस कर्मका फल हो या न हो, गृहस्थ-आश्रममें रहनेवाले पुरुषका जो कर्तव्य है, मैं उसीका यथाशक्ति कर्तव्यबुद्धिसे पालन करता हूँ ।। ३ ।।

धर्मं चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात् ।
आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च ।। ४ ।।
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम् ।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ।। ५ ।।

सुश्रोणि! मैं धर्मका फल पानेके लोभसे धर्मका आचरण नहीं करता, अपितु साधु पुरुषोंके आचार-व्यवहारको देखकर शास्त्रीय मर्यादाका उल्लंघन न करके स्वभावसे ही मेरा मन धर्मपालनमें लगा है। द्रौपदी! जो मनुष्य कुछ पानेकी इच्छासे धर्मका व्यापार करता है, वह धर्मवादी पुरुषोंकी दृष्टिमें हीन और निन्दनीय है ।। ४-५ ।।

न धर्मफलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति ।
यश्चैनं शङ्कते कृत्वा नास्तिक्यात् पापचेतनः ।। ६ ।।

जो पापात्मा मनुष्य नास्तिकतावश धर्मका अनुष्ठान करके उसके विषयमें शंका करता है अथवा धर्मको दुहना चाहता है अर्थात् धर्मके नामपर स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, उसे

धर्मका फल बिलकुल नहीं मिलता ।। ६ ।।

अतिवादाद् वदाम्येष मा धर्ममभिशङ्किथाः ।
धर्माभिशङ्की पुरुषस्तिर्यग्गतिपरायणः ।। ७ ।।

मैं सारे प्रमाणोंसे ऊपर उठकर केवल शास्त्रके आधारपर यह जोर देकर कह रहा हूँ कि तुम धर्मके विषयमें शंका न करो; क्योंकि धर्मपर संदेह करनेवाला मानव पशु-पक्षियोंकी योनिमें जन्म लेता है ।। ७ ।।

धर्मो यस्याभिशङ्क्यः स्यादार्षं वा दुर्बलात्मनः ।
वेदाच्छूद्र इवापेयात् स लोकादजरामरात् ।। ८ ।।

जो धर्मके विषयमें संदेह रखता है अथवा जो दुर्बलात्मा पुरुष वेदादि शास्त्रोंपर अविश्वास करता है, वह जरा-मृत्युरहित परमधामसे उसी प्रकार वंचित रहता है, जैसे शूद्र वेदोंके अध्ययनसे ।। ८ ।।

वेदाध्यायी धर्मपरः कुले जातो मनस्विनि ।
स्थविरेषु स योक्तव्यो राजर्षिर्धर्मचारिभिः ।। ९ ।।

मनस्विनि! जो वेदका अध्ययन करनेवाला, धर्मपरायण और कुलीन हो, उस राजर्षिकी गणना धर्मात्मा पुरुषोंको वृद्धोंमें करनी चाहिये (वह आयुमें छोटा हो तो भी उसका वृद्ध पुरुषके समान आदर करना चाहिये) ।। ९ ।।

पापीयान् स हि शूद्रेभ्यस्तस्करेभ्यो विशिष्यते ।
शास्त्रातिगो मन्दबुद्धिर्यो धर्ममभिशङ्कते ।। १० ।।

जो मन्दबुद्धि पुरुष शास्त्रोंकी मर्यादाका उल्लंघन करके धर्मके विषयमें आशंका करता है, वह शूद्रों और चोरोंसे भी बढ़कर पापी है ।। १० ।।

प्रत्यक्षं हि त्वया दृष्ट ऋषिर्गच्छन् महातपाः ।
मार्कण्डेयोऽप्रमेयात्मा धर्मेण चिरजीविता ।। ११ ।।

तुमने अमेयात्मा महातपस्वी मार्कण्डेयजीको जो अभी यहाँसे गये हैं, प्रत्यक्ष देखा है। उन्हें धर्मपालनसे ही चिरजीविता प्राप्त हुई है ।। ११ ।।

व्यासो वसिष्ठो मैत्रेयो नारदो लोमशः शुकः ।
अन्ये च ऋषयः सर्वे धर्मेणैव सुचेतसः ।। १२ ।।

व्यास, वसिष्ठ, मैत्रेय, नारद, लोमश, शुक तथा अन्य सब महर्षि धर्मके पालनसे ही शुद्ध हृदयवाले हुए हैं ।। १२ ।।

प्रत्यक्षं पश्यसि ह्येतान् दिव्ययोगसमन्वितान् ।
शापानुग्रहणे शक्तान् देवेभ्योऽपि गरीयसः ।। १३ ।।

तुम अपनी आँखों इन सबको देखती हो, ये दिव्य योगशक्तिसे सम्पन्न, शाप और अनुग्रहमें समर्थ तथा देवताओंसे भी अधिक गौरवशाली हैं ।। १३ ।।

एते हि धर्ममेवादौ वर्णयन्ति सदानघे ।

कर्तव्यममरप्रख्याः प्रत्यक्षागमबुद्धयः ।। १४ ।।

अनघे! ये अमरोंके समान विख्यात तथा वेदगम्य विषयको भी प्रत्यक्ष देखनेवाले महर्षि धर्मको ही सबसे प्रथम आचरणमें लानेयोग्य बताते हैं ।। १४ ।।

अतो नार्हसि कल्याणि धातारं धर्ममेव च ।
राज्ञि मूढेन मनसा क्षेप्तुं शङ्कितुमेव च ।। १५ ।।

अतः कल्याणमयी महारानी द्रौपदी! तुम्हें मूर्खतायुक्त मनके द्वारा ईश्वर और धर्मपर आक्षेप एवं आशंका नहीं करनी चाहिये ।। १५ ।।

उन्मत्तान् मन्यते बालः सर्वानागतनिश्चयान् ।
धर्माभिशङ्को नान्यस्मात् प्रमाणमधिगच्छति ।। १६ ।।

धर्मके विषयमें संशय रखनेवाला बालबुद्धि मानव जिन्हें धर्मके तत्त्वका निश्चय हो गया है, उन समस्त ज्ञानीजनोंको उन्मत्त समझता है; अतः वह बालबुद्धि दूसरे किसीसे कोई शास्त्र-प्रमाण नहीं ग्रहण करता ।। १६ ।।

आत्मप्रमाण उन्नद्धः श्रेयसो ह्यवमन्यकः ।
इन्द्रियप्रीतिसम्बद्धं यदिदं लोकसाक्षिकम् ।
एतावन्मन्यते बालो मोहमन्यत्र गच्छति ।। १७ ।।

केवल अपनी बुद्धिको ही प्रमाण माननेवाला उद्दण्ड मानव श्रेष्ठ पुरुषों एवं उत्तम धर्मकी अवहेलना करता है; क्योंकि वह मूढ़ इन्द्रियोंकी आसक्तिसे सम्बन्ध रखनेवाले इस लोक-प्रत्यक्ष दृश्य जगत्की ही सत्ता स्वीकार करता है। अप्रत्यक्ष वस्तुके विषयमें उसकी बुद्धि मोहमें पड़ जाती है ।। १७ ।।

प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति यो धर्ममभिशङ्कते ।
ध्यायन् स कृपणः पापो न लोकान् प्रतिपद्यते ।। १८ ।।

जो धर्मके प्रति संदेह करता है, उसकी शुद्धिके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है। वह धर्मविरोधी चिन्तन करनेवाला दीन पापात्मा पुरुष उत्तम लोकोंको नहीं पाता अर्थात् अधोगतिको प्राप्त होता है ।। १८ ।।

प्रमाणाद्धि निवृत्तो हि वेदशास्त्रार्थनिन्दकः ।
कामलोभातिगो मूढो नरकं प्रतिपद्यते ।। १९ ।।

जो मूर्ख प्रमाणोंकी ओरसे मुँह मोड़ लेता है, वेद और शास्त्रोंके सिद्धान्तकी निन्दा करता है तथा काम एवं लोभके अत्यन्त परायण है, वह नरकमें पड़ता है ।। १९ ।।

यस्तु नित्यं कृतमतिर्धर्ममेवाभिपद्यते ।
अशङ्कमानः कल्याणि सोऽमुत्रानन्त्यमश्नुते ।। २० ।।

कल्याणी! जो सदा धर्मके विषयमें पूर्ण निश्चय रखनेवाला है और सब प्रकारकी आशंकाएँ छोड़कर धर्मकी ही शरण लेता है, वह परलोकमें अक्षय अनन्त सुखका भागी होता है अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।। २० ।।

आर्षं प्रमाणमुत्क्रम्य धर्मं न प्रतिपालयन् ।
सर्वशास्त्रातिगो मूढः शं जन्मसु न विन्दति ।। २१ ।।

जो मूढ़ मानव आर्ष-ग्रन्थोंके प्रमाणकी अवहेलना करके समस्त शास्त्रोंके विपरीत आचरण करते हुए धर्मका पालन नहीं करता, वह जन्म-जन्मान्तरोंमें भी कभी कल्याणका भागी नहीं होता ।। २१ ।।

यस्य नार्षं प्रमाणं स्याच्छिष्टाचारश्च भाविनि ।
न वै तस्य परो लोको नायमस्तीति निश्चयः ।। २२ ।।

भाविनि! जिसकी दृष्टिमें ऋषियोंके वचन और शिष्ट पुरुषोंके आचार प्रमाणभूत नहीं हैं, उसके लिये न यह लोक है और न परलोक, यह तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंका निश्चय है ।। २२ ।।

शिष्टैराचरितं धर्मं कृष्णे मा स्माभिशङ्किथाः ।
पुराणमृषिभिः प्रोक्तं सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः ।। २३ ।।

कृष्णे! सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा महर्षियोंद्वारा प्रतिपादित तथा शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरित पुरातन धर्मपर शंका नहीं करनी चाहिये ।। २३ ।।

धर्म एव प्लवो नान्यः स्वर्गं द्रौपदि गच्छताम् ।
सैव नौः सागरस्येव वणिजः पारमिच्छतः ।। २४ ।।

द्रुपदकुमारी! जैसे समुद्रके पार जानेकी इच्छा-वाले वणिक्‌के लिये जहाजकी आवश्यकता है, वैसे ही स्वर्गमें जानेवालोंके लिये धर्माचरण ही जहाज है, दूसरा नहीं ।। २४ ।।

अफलो यदि धर्मः स्याच्चरितो धर्मचारिभिः ।
अप्रतिष्ठे तमस्येतज्जगन्मज्जेदनिन्दिते ।। २५ ।।

साध्वी द्रौपदी! यदि धर्मपरायण पुरुषोंद्वारा पालित धर्म निष्फल होता तो सम्पूर्ण जगत् असीम अन्धकारमें निमग्न हो जाता ।। २५ ।।

निर्वाणं नाधिगच्छेयुर्जीवेयुः पशुजीविकाम् ।
विद्यां ते नैव युज्येयुर्न चार्थं केचिदाप्नुयुः ।। २६ ।।

यदि धर्म निष्फल होता तो धर्मात्मा पुरुष मोक्ष नहीं पाते, कोई विद्याकी प्राप्तिमें नहीं लगते, कोई भी प्रयोजनसिद्धिके लिये प्रयत्न नहीं करते और सभी पशुओंका-सा जीवन व्यतीत करते ।। २६ ।।

तपश्च ब्रह्मचर्यं च यज्ञः स्वाध्याय एव च ।
दानमार्जवमेतानि यदि स्युरफलानि वै ।। २७ ।।
नाचरिष्यन् परे धर्मं परे परतरे च ये ।
विप्रलम्भोऽयमत्यन्तं यदि स्युरफलाः क्रियाः ।। २८ ।।
ऋषयश्चैव देवाश्च गन्धर्वासुरराक्षसाः ।

ईश्वराः कस्य हेतोस्ते चरेयुर्धर्ममादृताः ।। २९ ।।

यदि तप, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, स्वाध्याय, दान और सरलता आदि धर्म निष्फल होते तो पहले जो श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर पुरुष हुए हैं वे धर्मका आचरण नहीं करते। यदि धार्मिक क्रियाओंका कुछ फल नहीं होता, वे सब निरी ठगविद्या होतीं तो ऋषि, देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस प्रभावशाली होते हुए भी किसलिये आदरपूर्वक धर्मका आचरण करते ।। २७—२९ ।।

फलदं त्विह विज्ञाय धातारं श्रेयसि ध्रुवम् ।
धर्मं ते व्यचरन् कृष्णे तद्धि श्रेयः सनातनम् ।। ३० ।।

कृष्णे! यहाँ धर्मका फल देनेवाले ईश्वर अवश्य हैं, यह बात जानकर ही उन ऋषि आदिकोंने धर्मका आचरण किया है। धर्म ही सनातन श्रेय है ।। ३० ।।

स नायमफलो धर्मो नाधर्मोऽफलवानपि ।
दृश्यन्तेऽपि हि विद्यानां फलानि तपसां तथा ।। ३१ ।।
त्वमात्मनो विजानीहि जन्म कृष्णे यथा श्रुतम् ।
वेत्थ चापि यथा जातो धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।। ३२ ।।

धर्म निष्फल नहीं होता। अधर्म भी अपना फल दिये बिना नहीं रहता। विद्या और तपस्याके भी फल देखे जाते हैं। कृष्णे! तुम अपने जन्मके प्रसिद्ध वृत्तान्तको ही स्मरण करो। तुम्हारा प्रतापी भाई धृष्टद्युम्न जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है, यह भी तुम जानती हो ।। ३१-३२ ।।

एतावदेव पर्याप्तमुपमानं शुचिस्मिते ।
कर्मणां फलमाप्नोति धीरोऽल्पेनापि तुष्यति ।। ३३ ।।

पवित्र मुसकानवाली द्रौपदी! इतना ही दृष्टान्त देना पर्याप्त है। धीर पुरुष कर्मोंका फल पाता है और थोड़े-से फलसे भी संतुष्ट हो जाता है ।। ३३ ।।

बहुनापि ह्यविद्वांसो नैव तुष्यन्त्यबुद्धयः ।
तेषां न धर्मजं किंचित् प्रेत्य शर्मास्ति वा पुनः ।। ३४ ।।

परंतु बुद्धिहीन अज्ञानी मनुष्य बहुत पाकर भी संतुष्ट नहीं होते। उन्हें परलोकमें धर्मजनित थोड़ा-सा भी सुख नहीं मिलता ।। ३४ ।।

कर्मणां श्रुतपुण्यानां पापानां च फलोदयः ।
प्रभवश्चात्ययश्चैव देवगुह्यानि भाविनि ।। ३५ ।।

भामिनि! वेदोक्त पुण्य देनेवाले सत्कर्मों और अनिष्टकारी पापकर्मोंका फलोदय तथा उत्पत्ति और प्रलय—ये सब देवगुह्य हैं (देवता ही उन्हें जानते हैं) ।। ३५ ।।

नैतानि वेद यः कश्चिन्मुह्यन्तेऽत्र प्रजा इमाः ।
अपि कल्पसहस्रेण न स श्रेयोऽधिगच्छति ।। ३६ ।।

इन देवगुह्य विषयोंमें साधारण लोग मोहित हो जाते हैं। जो इन सबको तात्त्विकरूपसे नहीं जानता है, वह सहस्रों कल्पोंमें भी कल्याणका भागी नहीं हो सकता ।। ३६ ।।

रक्ष्याण्येतानि देवानां गूढमाया हि देवताः ।
कृताशाश्च व्रताशाश्च तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
प्रसादैर्मानसैर्युक्ताः पश्यन्त्येतानि वै द्विजाः ।। ३७ ।।

इन सब विषयोंको देवतालोग गुप्त रखते हैं। देवताओंकी माया भी गूढ़ (दुर्बोध) है। जो आशाका परित्याग करके सात्त्विक हितकर एवं पवित्र आहार करनेवाले हैं। तपस्यासे जिनके सारे पाप दग्ध हो गये हैं तथा जो मानसिक प्रसन्नतासे युक्त हैं, वे द्विज ही इन देवगुह्य विषयोंको देख पाते हैं ।। ३७ ।।

न फलादर्शनाद् धर्मः शङ्कितव्यो न देवताः ।
यष्टव्यं च प्रयत्नेन दातव्यं चानसूयता ।। ३८ ।।

धर्मका फल तुरंत दिखायी न दे तो इसके कारण धर्म एवं देवताओंपर आशंका नहीं करनी चाहिये। दोषदृष्टि न रखते हुए यत्नपूर्वक यज्ञ और दान करते रहना चाहिये ।। ३८ ।।

कर्मणां फलमस्तीह तथैतद् धर्मशासनम् ।
ब्रह्मा प्रोवाच पुत्राणां यदृषिर्वेद कश्यपः ।। ३९ ।।

कर्मोंका फल यहाँ अवश्य प्राप्त होता है, यह धर्मशास्त्रका विधान है। यह बात ब्रह्माजीने अपने पुत्रोंसे कही है, जिसे कश्यप ऋषि जानते हैं ।। ३९ ।।

तस्मात् ते संशयः कृष्णे नीहार इव नश्यतु ।
व्यवस्य सर्वमस्तीति नास्तिक्यं भावमुत्सृज ।। ४० ।।

इसलिये कृष्णे! सब कुछ सत्य है, ऐसा निश्चय करके तुम्हारा धर्मविषयक संदेह कुहरेकी भाँति नष्ट हो जाना चाहिये। तुम अपने इस नास्तिकतापूर्ण विचारको त्याग दो ।। ४० ।।

ईश्वरं चापि भूतानां धातारं मा च वै क्षिप ।
शिक्षस्वैनं नमस्वैनं मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ।। ४१ ।।

और समस्त प्राणियोंका भरण-पोषण करनेवाले ईश्वरपर आक्षेप बिलकुल न करो। तुम शास्त्र और गुरुजनोंके उपदेशानुसार ईश्वरको समझनेकी चेष्टा करो और उन्हींको नमस्कार करो। आज जैसी तुम्हारी बुद्धि है, वैसी नहीं रहनी चाहिये ।। ४१ ।।

यस्य प्रसादात् तद्भक्तो मर्त्यो गच्छत्यमर्त्यताम् ।
उत्तमां देवतां कृष्णे मावमंस्थाः कथंचन ।। ४२ ।।

कृष्णे! जिनके कृपाप्रसादसे उनके प्रति भक्तिभाव रखनेवाला मरणधर्मा मनुष्य अमरत्वको प्राप्त हो जाता है, उन परमदेव परमेश्वरकी तुमको किसी प्रकार अवहेलना नहीं करनी चाहिये ।। ४२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये एकत्रिंशोऽध्यायः ।। ३१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३१ ।।

द्वात्रिंशोऽध्यायः

द्रौपदीका पुरुषार्थको प्रधान मानकर पुरुषार्थ करनेके लिये जोर देना

द्रौपद्युवाच

नावमन्ये न गर्हे च धर्मं पार्थ कथंचन ।
ईश्वरं कुत एवाहमवमंस्ये प्रजापतिम् ।। १ ।।

द्रौपदी बोली—कुन्तीनन्दन! मैं धर्मकी अवहेलना तथा निन्दा किसी प्रकार नहीं कर सकती। फिर समस्त प्रजाओंका पालन करनेवाले परमेश्वरकी अवहेलना तो कर ही कैसे सकती हूँ ।। १ ।।

आर्ताहं प्रलपामीदमिति मां विद्धि भारत ।
भूयश्च विलपिष्यामि सुमनास्त्वं निबोध मे ।। २ ।।

भारत! आप ऐसा समझ लें कि मैं शोकसे आर्त होकर प्रलाप कर रही हूँ। मैं इतनेसे ही चुप नहीं रहूँगी और भी विलाप करूँगी। आप प्रसन्नचित्त होकर मेरी बात सुनिये ।। २ ।।

कर्म खल्विह कर्तव्यं जानतामित्रकर्शन ।
अकर्माणो हि जीवन्ति स्थावरा नेतरे जनाः ।। ३ ।।

शत्रुनाशन! ज्ञानी पुरुषको भी इस संसारमें कर्म अवश्य करना चाहिये। पर्वत और वृक्ष आदि स्थावर भूत ही बिना कर्म किये जी सकते हैं, दूसरे लोग नहीं ।। ३ ।।

यावद्गोस्तनपानाच्च यावच्छायोपसेवनात् ।
जन्तवः कर्मणा वृत्तिमाप्नुवन्ति युधिष्ठिर ।। ४ ।।

महाराज युधिष्ठिर! गौओंके बछड़े भी माताका दूध पीते और छायामें जाकर विश्राम करते हैं। इस प्रकार सभी जीव कर्म करके ही जीवन-निर्वाह करते हैं ।। ४ ।।

जङ्गमेषु विशेषेण मनुष्या भरतर्षभ ।
इच्छन्ति कर्मणा वृत्तिमवाप्तुं प्रेत्य चेह च ।। ५ ।।

भरतश्रेष्ठ! जंगम जीवोंमें विशेषरूपसे मनुष्य कर्मके द्वारा ही इहलोक और परलोकमें जीविका प्राप्त करना चाहते हैं ।। ५ ।।

उत्थानमभिजानन्ति सर्वभूतानि भारत ।
प्रत्यक्षं फलमश्नन्ति कर्मणां लोकसाक्षिकम् ।। ६ ।।

भारत! सभी प्राणी अपने उत्थानको समझते हैं और कर्मोंके प्रत्यक्ष फलका उपभोग करते हैं,जिसका साक्षी सारा जगत् है ।। ६ ।।

सर्वे हि स्वं समुत्थानमुपजीवन्ति जन्तवः ।

अपि धाता विधाता च यथायमुदके बकः ।। ७ ।।

यह जलके समीप जो बगुला बैठकर (मछलीके लिये) ध्यान लगा रहा है, उसीके समान ये सभी प्राणी अपने उद्योगका आश्रय लेकर जीवन धारण करते हैं। धाता और विधाता भी सदा सृष्टिपालनके उद्योगमें लगे रहते हैं ।। ७ ।।

अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न हि काचन ।
तदेवाभिप्रपद्येत न विहन्यात् कदाचन ।। ८ ।।

कर्म न करनेवाले प्राणियोंकी कोई जीविका भी सिद्ध नहीं होती। अतः (प्रारब्धका भरोसा करके) कभी कर्मका परित्याग न करे। सदा कर्मका ही आश्रय ले ।। ८ ।।

स्वकर्म कुरु मा ग्लासीः कर्मणा भव दंशितः ।
कृतं हि योऽभिजानाति सहस्रे सोऽस्ति नास्ति च ।। ९ ।।

अतः आप अपना कर्म करें। उसमें ग्लानि न करें, कर्मका कवच पहने रहें। जो कर्म करना अच्छी तरह जानता है, ऐसा मनुष्य हजारोंमें एक भी है या नहीं? यह बताना कठिन है ।। ९ ।।

तस्य चापि भवेत् कार्यं विवृद्धौ रक्षणे तथा ।
भक्ष्यमाणो ह्यनादानात् क्षीयेत हिमवानपि ।। १० ।।

धनकी वृद्धि और रक्षाके लिये भी कर्मकी आवश्यकता है। यदि धनका उपभोग (व्यय) होता रहे और आय न हो तो हिमालय-जैसी धनराशिका भी क्षय हो सकता है ।। १० ।।

उत्सीदेरन् प्रजाः सर्वा न कुर्युः कर्म चेद् भुवि ।
तथा ह्येता न वर्धेरन् कर्म चेदफलं भवेत् ।। ११ ।।

यदि समस्त प्रजा इस भूतलपर कर्म करना छोड़ दे तो सबका संहार हो जाय। यदि कर्मका कुछ फल न हो तो इन प्रजाओंकी वृद्धि ही न हो ।। ११ ।।

अपि चाप्यफलं कर्म पश्यामः कुर्वतो जनान् ।
नान्यथा ह्यपि गच्छन्ति वृत्तिं लोकाः कथंचन ।। १२ ।।

हम देखती हैं कि लोग व्यर्थ कर्ममें भी लगे रहते हैं, कर्म न करनेपर तो लोगोंकी किसी प्रकार जीविका ही नहीं चल सकती ।। १२ ।।

यश्च दिष्टपरो लोके यश्चापि हठवादिकः ।
उभावपि शठावेतौ कर्मबुद्धिः प्रशस्यते ।। १३ ।।

संसारमें जो केवल भाग्यके भरोसे कर्म नहीं करता अर्थात् जो ऐसा मानता है कि पहले जैसा किया है वैसा ही फल अपने-आप ही प्राप्त होगा तथा जो हठवादी है—बिना किसी युक्तिके हठपूर्वक यह मानता है कि कर्म करना अनावश्यक है, जो कुछ मिलना होगा, अपने-आप मिल जायगा, वे दोनों ही मूर्ख हैं। जिसकी बुद्धि कर्म (पुरुषार्थ)-में रुचि रखती है, वही प्रशंसाका पात्र है ।। १३ ।।

यो हि दिष्टमुपासीनो निर्विचेष्टःसुखं शयेत् ।

अवसीदेत् स दुर्बुद्धिरामो घट इवोदके ।। १४ ।।

जो खोटी बुद्धिवाला मनुष्य प्रारब्ध (भाग्य)-का भरोसा रखकर उद्योगसे मुँह मोड़ लेता और सुखसे सोता रहता है, उसका जलमें रखे हुए कच्चे घड़ेकी भाँति विनाश हो जाता है ।। १४ ।।

तथैव हठदुर्बुद्धिः शक्तः कर्मण्यकर्मकृत् ।
आसीत न चिरं जीवेदनाथ इव दुर्बलः ।। १५ ।।

इसी प्रकार जो हठी और दुर्बुद्धि मानव कर्म करनेमें समर्थ होकर भी कर्म नहीं करता, बैठा रहता है, वह दुर्बल एवं अनाथकी भाँति दीर्घजीवी नहीं होता ।। १५ ।।

अकस्मादिह यः कश्चिदर्थं प्राप्नोति पूरुषः ।
तं हठेनेति मन्यन्ते स हि यत्नो न कस्यचित् ।। १६ ।।

जो कोई पुरुष इस जगत्में अकस्मात् कहींसे धन पा लेता है, उसे लोग हठसे मिला हुआ मान लेते हैं; क्योंकि उसके लिये किसीके द्वारा प्रयत्न किया हुआ नहीं दीखता ।। १६ ।।

यच्चापि किंचित् पुरुषो दिष्टं नाम भजत्युत ।
दैवेन विधिना पार्थ तद् दैवमिति निश्चितम् ।। १७ ।।

कुन्तीनन्दन! मनुष्य जो कुछ भी देवाराधनकी विधिसे अपने भाग्यके अनुसार पाता है, उसे निश्चितरूपसे दैव (प्रारब्ध) कहा गया है ।। १७ ।।

यत् स्वयं कर्मणा किंचित् फलमाप्नोति पूरुषः ।
प्रत्यक्षमेतल्लोकेषु तत् पौरुषमिति श्रुतम् ।। १८ ।।

तथा मनुष्य स्वयं कर्म करके जो कुछ फल प्राप्त करता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। यह सब लोगोंको प्रत्यक्ष दिखायी देता है ।। १८ ।।

स्वभावतः प्रवृत्तो यः प्राप्नोत्यर्थं न कारणात् ।
तत् स्वभावात्मकं विद्धि फलं पुरुषसत्तम ।। १९ ।।

नरश्रेष्ठ! जो स्वभावसे ही कर्ममें प्रवृत्त होकर धन प्राप्त करता है, किसी कारणवश नहीं, उसके उस धनको स्वाभाविक फल समझना चाहिये ।। १९ ।।

एवं हठाच्च दैवाच्च स्वभावात् कर्मणस्तथा ।
यानि प्राप्नोति पुरुषस्तत् फलं पूर्वकर्मणाम् ।। २० ।।

इस प्रकार हठ, दैव, स्वभाव तथा कर्मसे मनुष्य जिन-जिन वस्तुओंको पाता है, वे सब उसके पूर्वकर्मोंके ही फल हैं ।। २० ।।

धातापि हि स्वकर्मैव तैस्तैर्हेतुभिरीश्वरः ।
विदधाति विभज्येह फलं पूर्वकृतं नृणाम् ।। २१ ।।

जगदाधार परमेश्वर भी उपर्युक्त हठ आदि हेतुओंसे जीवोंके अपने-अपने कर्मको ही विभक्त करके मनुष्योंको उनके पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मके फलरूपसे यहाँ प्राप्त कराता

है ।। २१ ।।

यद्ध्ययं पुरुषः किंचित् कुरुते वै शुभाशुभम् ।

तद् धातृविहितं विद्धि पूर्वकर्मफलोदयम् ।। २२ ।।

पुरुष यहाँ जो कुछ भी शुभ-अशुभ कर्म करता है, उसे ईश्वरद्वारा विहित उसके पूर्वकर्मोंके फलका उदय समझिये ।। २२ ।।

कारणं तस्य देहोऽयं धातुः कर्मणि वर्तते ।

स यथा प्रेरयत्येनं तथायं कुरुतेऽवशः ।। २३ ।।

यह मानव-शरीर जो कर्ममें प्रवृत्त होता है, वह ईश्वरके कर्मफलसम्पादन-कार्यका साधन है। वे इसे जैसी प्रेरणा देते हैं, यह विवश होकर (स्वेच्छा—प्रारब्धभोगके लिये) वैसा ही करता है ।। २३ ।।

तेषु तेषु हि कृत्येषु विनियोक्ता महेश्वरः ।

सर्वभूतानि कौन्तेय कारयत्यवशान्यपि ।। २४ ।।

कुन्तीनन्दन! परमेश्वर ही समस्त प्राणियोंको विभिन्न कार्योंमें लगाते और स्वभावके परवश हुए उन प्राणियोंसे कर्म कराते हैं ।। २४ ।।

मनसार्थान् विनिश्चित्य पश्चात् प्राप्नोति कर्मणा ।

बुद्धिपूर्वं स्वयं वीर पुरुषस्तत्र कारणम् ।। २५ ।।

किंतु वीर! मनसे अभीष्ट वस्तुओंका निश्चय करके फिर कर्मद्वारा मनुष्य स्वयं बुद्धिपूर्वक उन्हें प्राप्त करता है। अतः पुरुष ही उसमें कारण है ।। २५ ।।

संख्यातुं नैव शक्यानि कर्माणि पुरुषर्षभ ।

अगारनगराणां हि सिद्धिः पुरुषहैतुकी ।। २६ ।।

तिले तैलं गवि क्षीरं काष्ठे पावकमन्ततः ।

धिया धीरो विजानीयादुपायं चास्य सिद्धये ।। २७ ।।

नरश्रेष्ठ! कर्मोंकी गणना नहीं की जा सकती। गृह एवं नगर आदि सभीकी प्राप्तिमें पुरुष ही कारण है। विद्वान् पुरुष पहले बुद्धिद्वारा यह निश्चय करे कि तिलमें तेल है, गायके भीतर दूध है और काष्ठमें अग्नि है, तत्पश्चात् उसकी सिद्धिके उपायका निश्चय करे ।। २६-२७ ।।

ततः प्रवर्तते पश्चात् कारणैस्तस्य सिद्धये ।

तां सिद्धिमुपजीवन्ति कर्मजामिह जन्तवः ।। २८ ।।

तदनन्तर उन्हीं उपायोंद्वारा उस कार्यकी सिद्धिके लिये प्रवृत्त होना चाहिये। सभी प्राणी इस जगत्‌में उस कर्मजनित सिद्धिका सहारा लेते हैं ।। २८ ।।

कुशलेन कृतं कर्म कर्त्रा साधु स्वनुष्ठितम् ।

इदं त्वकुशलेनेति विशेषादुपलभ्यते ।। २९ ।।

योग्य कर्ताके द्वारा किया गया कर्म अच्छे ढंगसे सम्पादित होता है। यह कार्य किसी अयोग्य कर्ताके द्वारा किया गया है, यह बात कार्यकी विशेषतासे अर्थात् परिणामसे जानी जाती है ।। २९ ।।

इष्टापूर्तफलं न स्यान्न शिष्यो न गुरुर्भवेत् ।
पुरुषः कर्मसाध्येषु स्याच्चेदयमकारणम् ।। ३० ।।

यदि कर्मसाध्य फलोंमें पुरुष (एवं उसका प्रयत्न) कारण न होता अर्थात् वह कर्ता नहीं बनता तो किसीको यज्ञ और कूपनिर्माण आदि कर्मोंका फल नहीं मिलता। फिर तो न कोई किसीका शिष्य होता और न गुरु ही ।। ३० ।।

कर्तृत्वादेव पुरुषः कर्मसिद्धौ प्रशस्यते ।
असिद्धौ निन्द्यते चापि कर्मनाशात् कथं त्विह ।। ३१ ।।

कर्ता होनेके कारण ही कार्यकी सिद्धिमें पुरुषकी प्रशंसा की जाती है और जब कार्यकी सिद्धि नहीं होती, तब उसकी निन्दा की जाती है। यदि कर्मका सर्वथा नाश ही हो जाय, तो यहाँ कार्यकी सिद्धि ही कैसे हो ।। ३१ ।।

सर्वमेव हठेनैके दैवेनैके वदन्त्युत ।
पुंसः प्रयत्नजं केचित्त्रैधमेतन्निरुच्यते ।। ३२ ।।

कोई तो सब कार्योंको हठसे ही सिद्ध होनेवाला बतलाते हैं। कुछ लोग दैवसे कार्यकी सिद्धिका प्रतिपादन करते हैं तथा कुछ लोग पुरुषार्थको ही कार्यसिद्धिका कारण बताते हैं। इस तरह ये तीन प्रकारके कारण बताये जाते हैं ।। ३२ ।।

न चैवैतावता कार्यं मन्यन्त इति चापरे ।
अस्ति सर्वमदृश्यं तु दिष्टं चैव तथा हठः ।। ३३ ।।

दूसरे लोगोंकी मान्यता इस प्रकार है कि मनुष्यके प्रयत्नकी कोई आवश्यकता नहीं है। अदृश्य दैव (प्रारब्ध) तथा हठ—ये दो ही सब कार्योंके कारण हैं ।। ३३ ।।

दृश्यते हि हठाच्चैव दिष्टाच्चार्थस्य संततिः ।
किंचिद् दैवाद्धठात् किंचित् किंचिदेव स्वभावतः ।। ३४ ।।
पुरुषः फलमाप्नोति चतुर्थं नात्र कारणम् ।
कुशलाः प्रतिजानन्ति ये वै तत्त्वविदो जनाः ।। ३५ ।।

क्योंकि यह देखा जाता है कि हठ तथा दैवसे सब कार्योंकी धारावाहिक रूपसे सिद्धि हो रही है। जो लोग तत्त्वज्ञ एवं कुशल हैं, वे प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि मनुष्य कुछ फल दैवसे, कुछ हठसे और कुछ स्वभावसे प्राप्त करता है। इस विषयमें इन तीनोंके सिवा कोई चौथा कारण नहीं है ।। ३४-३५ ।।

तथैव धाता भूतानामिष्टानिष्टफलप्रदः ।
यदि न स्यान्न भूतानां कृपणो नाम कश्चन ।। ३६ ।।

क्योंकि यदि ईश्वर सब प्राणियोंको इष्ट-अनिष्टरूप फल नहीं देते तो उन प्राणियोंमेंसे कोई भी दीन नहीं होता ।। ३६ ।।

यं यमर्थमभिप्रेप्सुः कुरुते कर्म पूरुषः ।
तत्तत् सफलमेव स्याद् यदि न स्यात् पुरा कृतम् ।। ३७ ।।

यदि पूर्वकृत प्रारब्धकर्म प्रभाव डालनेवाला न होता तो मनुष्य जिस-जिस प्रयोजनके अभिप्रायसे कर्म करता, वह सब सफल ही हो जाता ।। ३७ ।।

त्रिद्वारामर्थसिद्धिं तु नानुपश्यन्ति ये नराः ।
तथैवानर्थसिद्धिं च यथा लोकास्तथैव ते ।। ३८ ।।

अतः जो लोग अर्थसिद्धि तथा अनर्थकी प्राप्तिमें दैव, हठ और स्वभाव—इन तीनोंको कारण नहीं समझते, वे वैसे ही हैं, जैसे कि साधारण अज्ञ लोग होते हैं ।। ३८ ।।

कर्तव्यमेव कर्मेति मनोरेष विनिश्चयः ।
एकान्तेन ह्यनीहोऽयं पराभवति पूरुषः ।। ३९ ।।

किंतु मनुका यह सिद्धान्त है कि कर्म करना ही चाहिये, जो बिलकुल कर्म छोड़कर निश्चेष्ट हो बैठ रहता है, वह पुरुष पराभवको प्राप्त होता है ।। ३९ ।।

कुर्वतो हि भवत्येव प्रायेणेह युधिष्ठिर ।
एकान्तफलसिद्धिं तु न विन्दत्यलसः क्वचित् ।। ४० ।।

(इसलिये मेरा तो कहना यह है कि) महाराज युधिष्ठिर! कर्म करनेवाले पुरुषको यहाँ प्रायः फलकी सिद्धि प्राप्त होती ही है। परंतु जो आलसी है, जिससे ठीक-ठीक कर्तव्यका पालन नहीं हो पाता, उसे कभी फलकी सिद्धि नहीं प्राप्त होती ।। ४० ।।

असम्भवे त्वस्य हेतुः प्रायश्चित्तं तु लक्षयेत् ।
कृते कर्मणि राजेन्द्र तथानृण्यमवाप्नुते ।। ४१ ।।

यदि कर्म करनेपर भी फलकी उत्पत्ति न हो तो कोई-न-कोई कारण है; ऐसा मानकर प्रायश्चित्त (उसके दोषके समाधान)-पर दृष्टि डाले। राजेन्द्र! कर्मको सांगोपांग कर लेनेपर कर्ता उऋण (निर्दोष) हो जाता है ।। ४१ ।।

अलक्ष्मीराविशत्येनं शयानमलसं नरम् ।
निःसंशयं फलं लब्ध्वा दक्षो भूतिमुपाश्नुते ।। ४२ ।।

जो मनुष्य आलस्यके वशमें पड़कर सोता रहता है, उसे दरिद्रता प्राप्त होती है और कार्यकुशल मानव निश्चय ही अभीष्ट फल पाकर ऐश्वर्यका उपभोग करता है ।। ४२ ।।

अनर्थाः संशयावस्थाः सिद्ध्यन्ते मुक्तसंशयाः ।
धीरा नराः कर्मरता ननु निःसंशयाः क्वचित् ।। ४३ ।।

कर्मका फल होगा या नहीं, इस संशयमें पड़े हुए मनुष्य अर्थसिद्धिसे वंचित रह जाते हैं और जो संशयरहित हैं, उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है। कर्मपरायण और संशयरहित धीर मनुष्य निश्चय ही कहीं बिरले देखे जाते हैं ।। ४३ ।।

एकान्तेन ह्यनर्थोऽयं वर्ततेऽस्मासु साम्प्रतम् ।
स तु निःसंशयं न स्यात् त्वयि कर्मण्यवस्थिते ।। ४४ ।।

इस समय हमलोगोंपर राज्यापहरणरूप भारी विपद् आ पड़ी है, यदि आप कर्म (पुरुषार्थ)–में तत्परतासे लग जायँ तो निश्चय ही यह आपत्ति टल सकती है ।। ४४ ।।

अथवा सिद्धिरेव स्यादभिमानं तदेव ते ।
वृकोदरस्य बीभत्सोर्भ्रात्रोश्च यमयोरपि ।। ४५ ।।

अथवा यदि कार्यकी सिद्धि ही हो जाय, तो वह आपके, भीमसेन और अर्जुनके तथा नकुल-सहदेवके लिये भी विशेष गौरवकी बात होगी ।। ४५ ।।

अन्येषां कर्म सफलमस्माकमपि वा पुनः ।
विप्रकर्षेण बुध्येत कृतकर्मा यथाफलम् ।। ४६ ।।

कर्मोंके कर लेनेपर अन्तमें कर्ताको जैसा फल मिलता है, उसके अनुसार ही यह जाना जा सकता है कि दूसरोंका कर्म सफल हुआ है या हमारा ।। ४६ ।।

पृथिवीं लाङ्गलेनेह भित्त्वा बीजं वपत्युत ।
आस्तेऽथ कर्षकस्तूष्णीं पर्जन्यस्तत्र कारणम् ।। ४७ ।।
वृष्टिश्चेन्नानुगृह्णीयादनेनास्तत्र कर्षकः ।
यदन्यः पुरुषः कुर्यात् तत् कृतं सफलं मया ।। ४८ ।।
तच्चेदं फलमस्माकमपराधो न मे क्वचित् ।
इति धीरोऽन्ववेक्ष्यैव नात्मानं तत्र गर्हयेत् ।। ४९ ।।

किसान हलसे पृथ्वीको चीरकर उसमें बीज बोता है और फिर चुपचाप बैठा रहता है; क्योंकि उसे सफल बनानेमें मेघ कारण हैं। यदि वृष्टिने अनुग्रह नहीं किया तो उसमें किसानका कोई दोष नहीं है। वह किसान मन-ही-मन यह सोचता है कि दूसरे लोग जोतने-बोनेका जो सफल कार्य जैसे करते हैं, वह सब मैंने भी किया है। उस दशामें यदि मुझे ऐसा प्रतिकूल फल मिला तो इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है—ऐसा विचार करके उस असफलताके लिये वह बुद्धिमान् किसान अपनी निन्दा नहीं करता ।। ४७—४९ ।।

कुर्वतो नार्थसिद्धिर्मे भवतीति ह भारत ।
निर्वेदो नात्र कर्तव्यो द्वावन्यौ ह्यत्र कारणम् ।। ५० ।।

भारत! पुरुषार्थ करनेपर भी यदि अपनेको सिद्धि न प्राप्त हो तो इस बातको लेकर मन-ही-मन खिन्न नहीं होना चाहिये; क्योंकि फलकी सिद्धिमें पुरुषार्थके सिवा दो और भी कारण हैं—प्रारब्ध और ईश्वरकृपा ।। ५० ।।

सिद्धिर्वाप्यथवासिद्धिरप्रवृत्तिरतोऽन्यथा ।
बहूनां समवाये हि भावानां कर्म सिद्ध्यति ।। ५१ ।।

महाराज! कार्यमें सिद्धि प्राप्त होगी या असिद्धि, ऐसा संदेह मनमें लेकर आप कर्ममें प्रवृत्त ही न हों, यह उचित नहीं है; क्योंकि बहुत-से कारण एकत्र होनेपर ही कर्ममें सफलता

मिलती है ।। ५१ ।।

गुणाभावे फलं न्यूनं भवत्यफलमेव च ।
अनारम्भे हि न फलं न गुणो दृश्यते क्वचित् ।। ५२ ।।

कर्मोंमें किसी अंगकी कमी रह जानेपर थोड़ा फल हो सकता है। यह भी सम्भव है कि फल हो ही नहीं। परंतु कर्मका आरम्भ ही न किया जाय तब तो न कहीं फल दिखायी देगा और न कर्ताका कोई गुण (शौर्य आदि) ही दृष्टिगोचर होगा ।। ५२ ।।

देशकालावुपायांश्च मङ्गलं स्वस्तिवृद्धये ।
युनक्ति मेधया धीरो यथाशक्ति यथाबलम् ।। ५३ ।।

धीर मनुष्य मंगलमय कल्याणकी वृद्धिके लिये अपनी बुद्धिके द्वारा शक्ति तथा बलका विचार करते हुए देश-कालके अनुसार साम-दाम आदि उपायोंका प्रयोग करे ।। ५३ ।।

अप्रमत्तेन तत् कार्यमुपदेष्टा पराक्रमः ।
भूयिष्ठं कर्मयोगेषु दृष्ट एव पराक्रमः ।। ५४ ।।

सावधान होकर देश-कालके अनुरूप कार्य करे। इसमें पराक्रम ही उपदेशक (प्रधान) है। कार्यकी समस्त युक्तियोंमें पराक्रम ही सबसे श्रेष्ठ समझा गया है ।। ५४ ।।

यत्र धीमानवेक्षेत श्रेयांसं बहुभिर्गुणैः ।
साम्नैवार्थं ततो लिप्सेत् कर्म चास्मै प्रयोजयेत् ।। ५५ ।।

जहाँ बुद्धिमान् पुरुष शत्रुको अनेक गुणोंसे श्रेष्ठ देखे, वहाँ सामनीतिसे ही काम बनानेकी इच्छा करे और उसके लिये जो सन्धि आदि आवश्यक कर्तव्य हो, करे ।। ५५ ।।

व्यसनं वास्य काङ्क्षेत विवासं वा युधिष्ठिर ।
अपि सिन्धोर्गिरेर्वापि किं पुनर्मर्त्यधर्मिणः ।। ५६ ।।

महाराज युधिष्ठिर! अथवा शत्रुपर कोई भारी संकट आने या देशसे उसके निकाले जानेकी प्रतीक्षा करे; क्योंकि अपना विरोधी यदि समुद्र अथवा पर्वत हो तो उसपर भी विपत्ति लानेकी इच्छा रखनी चाहिये, फिर जो मरणधर्मा मनुष्य है, उसके लिये तो कहना ही क्या है? ।। ५६ ।।

उत्थानयुक्तः सततं परेषामन्तरैषणे ।
आनृण्यमाप्नोति नरः परस्यात्मन एव च ।। ५७ ।।

शत्रुओंके छिद्रका अन्वेषण करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहे। ऐसा करनेसे वह अपनी और दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें भी निर्दोष होता है ।। ५७ ।।

न त्वेवात्मावमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन ।
न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना ।। ५८ ।।

मनुष्य कभी अपने-आपका अनादर न करे—अपने-आपको छोटा न समझे। जो स्वयं ही अपना अनादर करता है, उसे उत्तम ऐश्वर्यकी प्राप्ति नहीं होती ।। ५८ ।।

एवं संस्थितिका सिद्धिरियं लोकस्य भारत ।

तत्र सिद्धिर्गतिः प्रोक्ता कालावस्थाविभागतः ।। ५९ ।।

भारत! लोकको इसी प्रकार कार्यसिद्धि प्राप्त होती है—कार्यसिद्धिकी यही व्यवस्था है। काल और अवस्थाके विभागके अनुसार शत्रुकी दुर्बलताके अन्वेषणका प्रयत्न ही सिद्धिका मूल कारण है ।। ५९ ।।

ब्राह्मणं मे पिता पूर्वं वासयामास पण्डितम् ।
सोऽपि सर्वामिमां प्राह पित्रे मे भरतर्षभ ।। ६० ।।
नीतिं बृहस्पतिप्रोक्तां भ्रातॄन् मेऽग्राहयत् पुरा ।
तेषां सकाशादश्रौषमहमेतां तदा गृहे ।। ६१ ।।

भरतश्रेष्ठ! पूर्वकालमें मेरे पिताजीने अपने घरपर एक विद्वान् ब्राह्मणको ठहराया था। उन्होंने ही पिताजीसे बृहस्पतिजीकी बतायी हुई इस सम्पूर्ण नीतिका प्रतिपादन किया था और मेरे भाइयोंको भी इसीकी शिक्षा दी थी। उस समय अपने भाइयोंके निकट रहकर घरमें ही मैंने भी उस नीतिको सुना था ।। ६०-६१ ।।

स मां राजन् कर्मवतीमागतामाह सान्त्वयन् ।
शुश्रूषमाणामासीनां पितुरङ्के युधिष्ठिर ।। ६२ ।।

महाराज युधिष्ठिर! मैं उस समय किसी कार्यसे पिताके पास आयी थी और यह सब सुननेकी इच्छासे उनकी गोदमें बैठ गयी थी। तभी उन ब्राह्मण देवताने मुझे सान्त्वना देते हुए इस नीतिका उपदेश किया था ।। ६२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये द्वात्रिंशोऽध्यायः ।। ३२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२ ।।

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

भीमसेनका पुरुषार्थकी प्रशंसा करना और युधिष्ठिरको उत्तेजित करते हुए क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध छेड़नेका अनुरोध

वैशम्पायन उवाच

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा भीमसेनो ह्यमर्षणः ।
निःश्वसन्नुपसंगम्य क्रुद्धो राजानमब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! द्रुपदकुमारीका वचन सुनकर अमर्षमें भरे हुए भीमसेन क्रोधपूर्वक उच्छ्‌वास लेते हुए राजाके पास आये और इस प्रकार कहने लगे— ।। १ ।।

राज्यस्य पदवीं धर्म्यां व्रज सत्पुरुषोचिताम् ।
धर्मकामार्थहीनानां किं नो वस्तुं तपोवने ।। २ ।।

'महाराज! श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये उचित और धर्मके अनुकूल जो राज्य-प्राप्तिका मार्ग (उपाय) हो, उसका आश्रय लीजिये। धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंसे वंचित होकर इस तपोवनमें निवास करनेपर हमारा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ।। २ ।।

नैव धर्मेण तद् राज्यं नार्जवेन न चौजसा ।
अक्षकूटमधिष्ठाय हृतं दुर्योधनेन वै ।। ३ ।।

'दुर्योधनने धर्मसे, सरलतासे और बलसे भी हमारे राज्यको नहीं लिया है; उसने तो कपटपूर्ण जूएका आश्रय लेकर उसका हरण कर लिया है ।। ३ ।।

गोमायुनेव सिंहानां दुर्बलेन बलीयसाम् ।
आमिषं विघसाशेन तद्वद् राज्यं हि नो हृतम् ।। ४ ।।

'बचे हुए अन्नको खानेवाले दुर्बल गीदड़ जैसे अत्यन्त बलिष्ठ सिंहोंका भोजन हर लें, उसी प्रकार शत्रुओंने हमारे राज्यका अपहरण किया है ।। ४ ।।

धर्मलेशप्रतिच्छन्नः प्रभवं धर्मकामयोः ।
अर्थमुत्सृज्य किं राजन् दुःखेषु परितप्यसे ।। ५ ।।

'महाराज! धर्म और कामके उत्पादक राज्य और धनको खोकर लेशमात्र धर्मसे आवृत हुए अब आप क्यों दुःखसे संतप्त हो रहे हैं? ।। ५ ।।

भवतोऽनवधानेन राज्यं नः पश्यतां हृतम् ।
अहार्यमपि शक्रेण गुप्तं गाण्डीवधन्वना ।। ६ ।।

'गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा सुरक्षित हमारे राज्यको इन्द्र भी नहीं छीन सकते थे, परंतु आपकी असावधानीसे वह हमारे देखते-देखते छिन गया ।। ६ ।।

कुणीनामिव बिल्वानि पङ्गूनामिव धेनवः ।
हृतमैश्वर्यमस्माकं जीवतां भवतः कृते ।। ७ ।।

'जैसे लूलोंके पाससे उनके बेलफल और पंगुओंके निकटसे उनकी गायें छिन जाती हैं और वे जीवित रहकर भी कुछ कर नहीं पाते, उसी प्रकार आपके कारण जीते-जी हमारे राज्यका अपहरण कर लिया गया ।। ७ ।।

भवतः प्रियमित्येवं महद् व्यसनमीदृशम् ।
धर्मकामे प्रतीतस्य प्रतिपन्नाः स्म भारत ।। ८ ।।

भारत! आप धर्मकी इच्छा रखनेवाले हैं; इस रूपमें आपकी प्रसिद्धि है। अतः आपकी प्रिय अभिलाषा सिद्ध हो, इसीलिये हमलोग ऐसे महान् संकटमें पड़ गये हैं ।। ८ ।।

कर्शयामः स्वमित्राणि नन्दयामश्च शात्रवान् ।
आत्मानं भवतां शास्त्रैर्नियम्य भरतर्षभ ।। ९ ।।

'भरतकुलभूषण! आपके शासनसे अपने-आपको नियन्त्रणमें रखकर आज हमलोग अपने मित्रोंको दुःखी और शत्रुओंको सुखी बना रहे हैं ।। ९ ।।

यद् वयं न तदैवैतान् धार्तराष्ट्रान् निहन्महि ।
भवतः शास्त्रमादाय तन्नस्तपति दुष्कृतम् ।। १० ।।

'आपके शासनको मानकर जो हमलोगोंने उसी समय इन धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार नहीं डाला, वह दुष्कर्म हमें आज भी संताप दे रहा है ।। १० ।।

अथैनामन्ववेक्षस्व मृगचर्यामिवात्मनः ।
दुर्बलाचरितां राजन् न बलस्थैर्निषेविताम् ।। ११ ।।

'राजन्! मृगोंके समान अपनी इस वनचर्यापर ही दृष्टिपात कीजिये। दुर्बल मनुष्य ही इस प्रकार वनमें रहकर समय बिताते हैं। बलवान् मनुष्य वनवासका सेवन नहीं करते ।। ११ ।।

यां न कृष्णो न बीभत्सुर्नाभिमन्युर्न सृंजयाः ।
न चाहमभिनन्दामि न च माद्रीसुतावुभौ ।। १२ ।।

'श्रीकृष्ण, अर्जुन, अभिमन्यु, सृंजयवंशी वीर, मैं और ये नकुल-सहदेव—कोई भी इस वनचर्याको पसंद नहीं करते ।। १२ ।।

भवान् धर्मो धर्म इति सततं व्रतकर्शितः ।
कच्चिद् राजन् न निर्वेदादापन्नः क्लीबजीविकाम् ।। १३ ।।

'राजन्! आप 'यह धर्म है, यह धर्म है', ऐसा कहकर सदा व्रतोंका पालन करके कष्ट उठाते रहते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि आप वैराग्यके कारण साहसशून्य हो नपुंसकोंका-सा जीवन व्यतीत करने लगे हों? ।। १३ ।।

दुर्मनुष्या हि निर्वेदमफलं स्वार्थघातकम् ।
अशक्ताः श्रियमाहर्तुमात्मनः कुर्वते प्रियम् ।। १४ ।।

'अपनी खोयी हुई राज्यलक्ष्मीका उद्धार करनेमें असमर्थ दुर्बल मनुष्य ही निष्फल और स्वार्थनाशक वैराग्यका आश्रय लेते हैं और उसीको प्रिय मानते हैं ।। १४ ।।

स भवान् दृष्टिमाञ्छक्तः पश्यन्नस्मासु पौरुषम् ।
आनृशंस्यपरो राजन् नानर्थमवबुध्यसे ।। १५ ।।

'राजन्! आप समझदार, दूरदर्शी और शक्तिशाली हैं, हमारे पुरुषार्थको देख चुके हैं; तो भी इस प्रकार दयाको अपनाकर इससे होनेवाले अनर्थको नहीं समझ रहे हैं ।। १५ ।।

अस्मानमी धार्तराष्ट्राः क्षममाणानलं सतः ।
अशक्तानिव मन्यन्ते तद् दुःखं नाहवे वधः ।। १६ ।।

'हम शत्रुओंके अपराधको क्षमा करते जा रहे हैं, इसलिये समर्थ होते हुए भी हमें ये धृतराष्ट्रके पुत्र निर्बल-से मानने लगे हैं, यही हमारे लिये महान् दुःख है; युद्धमें मारा जाना कोई दुःख नहीं है ।। १६ ।।

तत्र चेद् युध्यमानानामजिह्ममनिवर्तिनाम् ।
सर्वशो हि वधः श्रेयान् प्रेत्य लोकान् लभेमहि ।। १७ ।।

'ऐसी दशामें यदि हम पीठ न दिखाकर युद्धमें निष्कपटभावसे लड़ते रहें और उसमें हमारा वध भी हो जाय तो वह कल्याणकारक है; क्योंकि युद्धमें मरनेसे हमें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होगी ।। १७ ।।

अथवा वयमेवैतान् निहत्य भरतर्षभ ।
आददीमहि गां सर्वां तथापि श्रेय एव नः ।। १८ ।।

'अथवा भरतश्रेष्ठ! यदि हम ही इन शत्रुओंको मारकर सारी पृथ्वी ले लें तो वही हमारे लिये कल्याणकर है ।। १८ ।।

सर्वथा कार्यमेतन्नः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
काङ्क्षतां विपुलां कीर्तिं वैरं प्रतिचिकीर्षताम् ।। १९ ।।

'हम अपने क्षत्रिय-धर्मके अनुष्ठानमें संलग्न हो वैरका बदला लेना चाहते हैं और संसारमें महान् यशका विस्तार करनेकी अभिलाषा रखते हैं, अतः हमारे लिये सब प्रकारसे युद्ध करना ही उचित है ।। १९ ।।

आत्मार्थं युध्यमानानां विदिते कृत्यलक्षणे ।
अन्यैरपि हृते राज्ये प्रशंसैव न गर्हणा ।। २० ।।

'शत्रुओंने हमारे राज्यको छीन लिया है, ऐसे अवसरपर यदि हम अपने कर्तव्यको समझकर अपने लाभके लिये ही युद्ध करें तो भी इसके लिये जगत्‌में हमारी प्रशंसा ही होगी, निन्दा नहीं होगी ।। २० ।।

कर्शनार्थो हि यो धर्मो मित्राणामात्मनस्तथा ।

व्यसनं नाम तद् राजन् न धर्मः स कुधर्म तत् ।। २१ ।।

'महाराज! जो धर्म अपने तथा मित्रोंके लिये क्लेश उत्पन्न करनेवाला हो, वह तो संकट ही है। वह धर्म नहीं, कुधर्म है ।। २१ ।।

सर्वथा धर्मनित्यं तु पुरुषं धर्मदुर्बलम् ।
त्यजतस्तात धर्मार्थौ प्रेतं दुःखसुखे यथा ।। २२ ।।

'तात! जैसे मुर्दोंको दुःख और सुख दोनों नहीं होते, उसी प्रकार जो सर्वथा और सर्वदा धर्ममें ही तत्पर रहकर उसके अनुष्ठानसे दुर्बल हो गया है, उसे धर्म और अर्थ दोनों त्याग देते हैं ।। २२ ।।

यस्य धर्मो हि धर्मार्थं क्लेशभाङ् न स पण्डितः ।
न स धर्मस्य वेदार्थं सूर्यस्यान्धः प्रभामिव ।। २३ ।।

जिसका धर्म केवल धर्मके लिये ही होता है, वह धर्मके नामपर केवल क्लेश उठानेवाला मानव बुद्धिमान् नहीं है। जैसे अन्धा सूर्यकी प्रभाको नहीं जानता, उसी प्रकार वह धर्मके अर्थको नहीं समझता है ।। २३ ।।

यस्य चार्थार्थमेवार्थः स च नार्थस्य कोविदः ।
रक्षेत भृतकोऽरण्ये यथा गास्तादृगेव सः ।। २४ ।।

'जिसका धन केवल धनके ही लिये है, दान आदिके लिये नहीं है, वह धनके तत्त्वको नहीं जानता। जैसे सेवक (ग्वालिया) वनमें गौओंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार वह भी उस धनका दूसरेके लिये रक्षकमात्र है ।। २४ ।।

अतिवेलं हि योऽर्थार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
स वध्यः सर्वभूतानां ब्रह्महेव जुगुप्सितः ।। २५ ।।

'जो केवल अर्थके ही संग्रहकी अत्यन्त इच्छा रखनेवाला है और धर्म एवं कामका अनुष्ठान नहीं करता है, वह ब्रह्महत्यारेके समान घृणाका पात्र है और सभी प्राणियोंके लिये वध्य है ।। २५ ।।

सततं यश्च कामार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
मित्राणि तस्य नश्यन्ति धर्मार्थाभ्यां च हीयते ।। २६ ।।

'इसी प्रकार जो निरन्तर कामकी ही अभिलाषा रखकर धर्म और अर्थका सम्पादन नहीं करता, उसके मित्र नष्ट हो जाते हैं (उसको त्यागकर चल देते हैं) और वह धर्म एवं अर्थ दोनोंसे वंचित ही रह जाता है ।। २६ ।।

तस्य धर्मार्थहीनस्य कामान्ते निधनं ध्रुवम् ।
कामतो रममाणस्य मीनस्येवाम्भसः क्षये ।। २७ ।।

'जैसे पानी सूख जानेपर उसमें रहनेवाली मछलीकी मृत्यु निश्चित है, उसी प्रकार जो धर्म-अर्थसे हीन होकर केवल काममें ही रमण करता है, उस काम (भोगसामग्री)-की समाप्ति होनेपर उसकी भी अवश्य मृत्यु हो जाती है ।। २७ ।।

तस्माद् धर्मार्थयोर्नित्यं न प्रमाद्यन्ति पण्डिताः ।
प्रकृतिः सा हि कामस्य पावकस्यारणिर्यथा ।। २८ ।।

‘इसलिये विद्वान् पुरुष कभी धर्म और अर्थके सम्पादनमें प्रमाद नहीं करते हैं। धर्म और अर्थ कामकी उत्पत्तिके स्थान हैं (अर्थात् धर्म और अर्थसे ही कामकी सिद्धि होती है) जैसे अरणि अग्निका उत्पत्तिस्थान है ।। २८ ।।

सर्वथा धर्ममूलोऽर्थो धर्मश्चार्थपरिग्रहः ।
इतरेतरयोर्नीतौ विद्धि मेघोदधी यथा ।। २९ ।।

‘अर्थका कारण है धर्म और धर्म सिद्ध होता है अर्थसंग्रहसे। जैसे मेघसे समुद्रकी पुष्टि होती है और समुद्रसे मेघकी पूर्ति। इस प्रकार धर्म और अर्थको एक-दूसरेके आश्रित समझना चाहिये ।। २९ ।।

द्रव्यार्थस्पर्शसंयोगे या प्रीतिरुपजायते ।
स कामश्चित्तसंकल्पः शरीरं नास्य दृश्यते ।। ३० ।।

‘स्त्री, माला, चन्दन आदि द्रव्योंके स्पर्श और सुवर्ण आदि धनके लाभसे जो प्रसन्नता होती है, उसके लिये जो चित्तमें संकल्प उठता है, उसीका नाम काम है। उस कामका शरीर नहीं देखा जाता (इसीलिये वह ‘अनंग’ कहलाता है) ।। ३० ।।

अर्थार्थी पुरुषो राजन् बृहन्तं धर्ममिच्छति ।
अर्थमिच्छति कामार्थी न कामादन्यमिच्छति ।। ३१ ।।

‘राजन्! धनकी इच्छा रखनेवाला पुरुष महान् धर्मकी अभिलाषा रखता है और कामार्थी मनुष्य धन चाहता है। जैसे धर्मसे धनकी और धनसे कामकी इच्छा करता है, उस प्रकार वह कामसे किसी दूसरी वस्तुकी इच्छा नहीं करता है ।। ३१ ।।

न हि कामेन कामोऽन्यः साध्यते फलमेव तत् ।
उपयोगात् फलस्यैव काष्ठाद् भस्मेव पण्डितैः ।। ३२ ।।

‘जैसे फल उपभोगमें आकर कृतार्थ हो जाता है, उससे दूसरा फल नहीं प्राप्त हो सकता तथा जिस प्रकार काष्ठसे भस्म बन सकता है, परंतु उस भस्मसे दूसरा कोई पदार्थ नहीं बन सकता; इसी तरह बुद्धिमान् पुरुष एक कामसे किसी दूसरे कामकी सिद्धि नहीं मानते, क्योंकि वह साधन नहीं, फल ही है ।। ३२ ।।

इमाञ्छकुनकान् राजन् हन्ति वैतंसिको यथा ।
एतद् रूपमधर्मस्य भूतेषु हि विहिंसता ।। ३३ ।।
कामाल्लोभाच्च धर्मस्य प्रकृतिं यो न पश्यति ।
स वध्यः सर्वभूतानां प्रेत्य चेह च दुर्मतिः ।। ३४ ।।

‘राजन्! जैसे पक्षियोंको मारनेवाला व्याध इन पक्षियोंको मारता है, यह विशेष प्रकारकी हिंसा ही अधर्मका स्वरूप है (अतः वह हिंसक सबके लिये वध्य है)। वैसे ही जो

खोटी बुद्धिवाला मनुष्य काम और लोभके वशीभूत होकर धर्मके स्वरूपको नहीं जानता, वह इहलोक और परलोकमें भी सब प्राणियोंका वध्य होता है ।। ३३-३४ ।।

व्यक्तं ते विदितो राजन्नर्थो द्रव्यपरिग्रहः ।
प्रकृतिं चापि वेत्थास्य विकृतिं चापि भूयसीम् ।। ३५ ।।

'राजन्! आपको यह अच्छी तरह ज्ञात है कि धनसे ही भोग्य-सामग्रीका संग्रह होता है। धनका जो कारण है, उससे भी आप परिचित हैं और धनके द्वारा जो बहुत-से कार्य सिद्ध होते हैं, उसे भी आप जानते हैं ।। ३५ ।।

तस्य नाशे विनाशे वा जरया मरणेन वा ।
अनर्थ इति मन्यन्ते सोऽयमस्मासु वर्तते ।। ३६ ।।

'उस धनका अभाव होनेपर अथवा प्राप्त हुए धनका नाश होनेपर अथवा स्त्री आदि धनके जरा-जीर्ण एवं मृत्युग्रस्त होनेपर मनुष्यकी जो दशा होती है, उसीको सब लोग अनर्थ मानते हैं। वही इस समय हमलोगोंको भी प्राप्त हुआ है ।। ३६ ।।

इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च ।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते ।। ३७ ।।
स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम् ।

'पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धिकी अपने विषयोंमें प्रवृत्त होनेके समय जो प्रीति होती है, वही मेरी समझमें काम है। वह कर्मोंका उत्तम फल है ।। ३७½ ।।

एवमेव पृथग् दृष्ट्वा धर्मार्थौ काममेव च ।। ३८ ।।
न धर्मपर एव स्यान्न चार्थपरमो नरः ।
न कामपरमो वा स्यात् सर्वान् सेवेत सर्वदा ।। ३९ ।।
धर्मं पूर्वे धनं मध्ये जघन्ये काममाचरेत् ।
अहन्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ।। ४० ।।

'इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम तीनोंको पृथक्-पृथक् समझकर मनुष्य केवल धर्म, केवल अर्थ अथवा केवल कामके ही सेवनमें तत्पर न रहे। उन सबका सदा इस प्रकार सेवन करे, जिससे इनमें विरोध न हो। इस विषयमें शास्त्रोंका यह विधान है कि दिनके पूर्वभागमें धर्मका, दूसरे भागमें अर्थका और अन्तिम भागमें कामका सेवन करे ।। ३८—४० ।।

कामं पूर्वे धनं मध्ये जघन्ये धर्ममाचरेत् ।
वयस्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ।। ४१ ।।

'इसी प्रकार अवस्था-क्रममें शास्त्रका विधान यह है कि आयुके पूर्वभागमें (युवावस्थामें) कामका, मध्यभाग (प्रौढ़ावस्था)-में धनका तथा अन्तिम भाग (वृद्धावस्था)-में धर्मका पालन करे ।। ४१ ।।

धर्मं चार्थं च कामं च यथावद् वदतां वर ।

विभज्य काले कालज्ञः सर्वान् सेवेत पण्डितः ।। ४२ ।।

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ! उचित कालका ज्ञान रखनेवाला विद्वान् पुरुष धर्म, अर्थ और काम तीनोंका यथावत् विभाग करके उपयुक्त समयपर उन सबका सेवन करे ।। ४२ ।।

मोक्षो वा परमं श्रेय एष राजन् सुखार्थिनाम् ।
प्राप्तिर्वा बुद्धिमास्थाय सोपायां कुरुनन्दन ।। ४३ ।।
तद् वाऽऽशु क्रियतां राजन् प्राप्तिर्वाप्यधिगम्यताम् ।
जीवितं ह्यातुरस्येव दुःखमन्तरवर्तिनः ।। ४४ ।।

'कुरुनन्दन! निरतिशय सुखकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओंके लिये यह मोक्ष ही परम कल्याणप्रद है। राजन्! इसी प्रकार लौकिक सुखकी इच्छावालोंके लिये धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गकी प्राप्ति ही परम श्रेय है। अतः महाराज! भक्ति और योगसहित ज्ञानका आश्रय लेकर आप शीघ्र ही या तो मोक्षकी प्राप्ति कर लीजिये अथवा धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गकी प्राप्तिके उपायका अवलम्बन कीजिये। जो इन दोनोंके बीचमें रहता है, उसका जीवन तो आर्त मनुष्यके समान दुःखमय ही है ।। ४३-४४ ।।

विदितश्चैव मे धर्मः सततं चरितश्च ते ।
जानन्तस्त्वयि शंसन्ति सुहृदः कर्मचोदनाम् ।। ४५ ।।

'मुझे मालूम है कि आपने सदा धर्मका ही आचरण किया है, इस बातको जानते हुए भी आपके हितैषी, सगे-सम्बन्धी आपको (धर्मयुक्त) कर्म एवं पुरुषार्थके लिये ही प्रेरित करते हैं ।। ४५ ।।

दानं यज्ञाः सतां पूजा वेदधारणमार्जवम् ।
एष धर्मः परो राजन् बलवान् प्रेत्य चेह च ।। ४६ ।।

'महाराज! इहलोक और परलोकमें भी दान, यज्ञ, संतोंका आदर, वेदोंका स्वाध्याय और सरलता आदि ही उत्तम एवं प्रबल धर्म माने गये हैं ।। ४६ ।।

एष नार्थविहीनेन शक्यो राजन् निषेवितुम् ।
अखिलाः पुरुषव्याघ्र गुणाः स्युर्यद्यपीतरे ।। ४७ ।।

'पुरुषसिंह राजन्! यद्यपि मनुष्यमें दूसरे सभी गुण मौजूद हों तो भी यह यज्ञ आदि रूप धर्म धनहीन पुरुषके द्वारा नहीं सम्पादित किया जा सकता ।। ४७ ।।

धर्ममूलं जगद् राजन् नान्यद् धर्माद् विशिष्यते ।
धर्मश्चार्थेन महता शक्यो राजन् निषेवितुम् ।। ४८ ।।

'महाराज! इस जगत्का मूल कारण धर्म ही है। इस जगत्में धर्मसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। उस धर्मका अनुष्ठान भी महान् धनसे ही हो सकता है ।। ४८ ।।

न चार्थो भैक्ष्यचर्येण नापि क्लैब्येन कर्हिचित् ।
वेत्तुं शक्यः सदा राजन् केवलं धर्मबुद्धिना ।। ४९ ।।

‘राजन्! भीख माँगनेसे, कायरता दिखानेसे अथवा केवल धर्ममें ही मन लगाये रहनेसे धनकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती ।। ४९ ।।

प्रतिषिद्धा हि ते याच्ञा यया सिद्ध्यति वै द्विजः ।
तेजसैवार्थलिप्सायां यतस्व पुरुषर्षभ ।। ५० ।।

‘नरश्रेष्ठ! ब्राह्मण जिस याचनाके द्वारा कार्यसिद्धि कर लेता है वह तो आप कर नहीं सकते, क्योंकि क्षत्रियके लिये उसका निषेध है। अतः आप अपने तेजके द्वारा ही धन पानेका प्रयत्न कीजिये ।। ५० ।।

भैक्ष्यचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका ।
क्षत्रियस्य विशेषेण धर्मस्तु बलमौरसम् ।। ५१ ।।

‘क्षत्रियके लिये न तो भीख माँगनेका विधान है और न वैश्य और शूद्रकी जीविका करनेका ही। उसके लिये तो बल और उत्साह ही विशेष धर्म हैं ।। ५१ ।।

स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व जहि शत्रून् समागतान् ।
धार्तराष्ट्रमवनं पार्थ मया पार्थेन नाशय ।। ५२ ।।

‘पार्थ! अपने धर्मका आश्रय लीजिये, प्राप्त हुए शत्रुओंका वध कीजिये। मेरे तथा अर्जुनके द्वारा धृतराष्ट्रपुत्ररूपी जंगलको कटवा डालिये ।। ५२ ।।

उदारमेव विद्वांसो धर्मं प्राहुर्मनीषिणः ।
उदारं प्रतिपद्यस्व नावरे स्थातुमर्हसि ।। ५३ ।।

‘मनीषी विद्वान् दानशीलताको ही धर्म कहते हैं, अतः आप उस दानशीलताको ही प्राप्त कीजिये। आपको इस दयनीय अवस्थामें नहीं रहना चाहिये ।। ५३ ।।

अनुबुध्यस्व राजेन्द्र वेत्थ धर्मान् सनातनात् ।
क्रूरकर्माभिजातोऽसि यस्मादुद्विजते जनः ।। ५४ ।।

‘महाराज! आप सनातनधर्मोंको जानते हैं, आप कठोर कर्म करनेवाले क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुए हैं, जिससे सब लोग भयभीत रहते हैं; अतः अपने स्वरूप और कर्तव्यकी ओर ध्यान दीजिये ।। ५४ ।।

प्रजापालनसम्भूतं फलं तव न गर्हितम् ।
एष ते विहितो राजन् धात्रा धर्मः सनातनः ।। ५५ ।।

‘जब आप राज्य प्राप्त कर लेंगे, उस समय प्रजापालनरूप धर्मसे आपको जिस पुण्यफलकी प्राप्ति होगी, वह आपके लिये गर्हित नहीं होगा। महाराज! विधाताने आप-जैसे क्षत्रियका यही सनातनधर्म नियत किया है ।। ५५ ।।

तस्मादपचितः पार्थ लोके हास्यं गमिष्यसि ।
स्वधर्माद्धि मनुष्याणां चलनं न प्रशस्यते ।। ५६ ।।

‘पार्थ! उस धर्मसे हीन होनेपर तो संसारमें आप उपहासके पात्र हो जायँगे। मनुष्योंका अपने धर्मसे भ्रष्ट होना कुछ प्रशंसाकी बात नहीं है ।। ५६ ।।

स क्षात्रं हृदयं कृत्वा त्यक्त्वेदं शिथिलं मनः ।
वीर्यमास्थाय कौरव्य धुरमुद्वह धुर्यवत् ।। ५७ ।।

'कुरुनन्दन! अपने हृदयको क्षत्रियोचित उत्साहसे भरकर मनकी इस शिथिलताको दूर करके पराक्रमका आश्रय ले आप एक धुरन्धर वीर पुरुषकी भाँति युद्धका भार वहन कीजिये ।। ५७ ।।

न हि केवलधर्मात्मा पृथिवीं जातु कश्चन ।
पार्थिवो व्यजयद् राजन् न भूतिं न पुनः श्रियम् ।। ५८ ।।

'महाराज! केवल धर्ममें ही लगे रहनेवाले किसी भी नरेशने आजतक न तो कभी पृथ्वीपर विजय पायी है और न ऐश्वर्य तथा लक्ष्मीको ही प्राप्त किया है ।। ५८ ।।

जिह्वां दत्त्वा बहूनां हि क्षुद्राणां लुब्धचेतसाम् ।
निकृत्या लभते राज्यमाहारमिव शल्यकः ।। ५९ ।।

'जैसे बहेलिया लुब्ध हृदयवाले छोटे-छोटे मृगोंको कुछ खानेकी वस्तुओंका लोभ देकर छलसे उन्हें पकड़ लेता है, उसी प्रकार नीतिज्ञ राजा शत्रुओंके प्रति कूटनीतिका प्रयोग करके उनसे राज्यको प्राप्त कर लेता है ।। ५९ ।।

भ्रातरः पूर्वजाताश्च सुसमृद्धाश्च सर्वशः ।
निकृत्या निर्जिता देवैरसुराः पार्थिवर्षभ ।। ६० ।।

'नृपश्रेष्ठ! आप जानते हैं कि असुरगण देवताओंके बड़े भाई हैं, उनसे पहले उत्पन्न हुए हैं और सब प्रकारसे समृद्धिशाली हैं तो भी देवताओंने छलसे उन्हें जीत लिया ।। ६० ।।

एवं बलवतः सर्वमिति बुद्ध्वा महीपते ।
जहि शत्रून् महाबाहो परां निकृतिमास्थितः ।। ६१ ।।

'महाराज! महाबाहो! इस प्रकार बलवान्‌का ही सबपर अधिकार होता है, यह समझकर आप भी कूटनीतिका आश्रय ले अपने शत्रुओंको मार डालिये ।। ६१ ।।

न ह्यर्जुनसमः कश्चिद् युधि योद्धा धनुर्धरः ।
भविता वा पुमान् कश्चिन्मत्समो वा गदाधरः ।। ६२ ।।

'युद्धमें अर्जुनके समान कोई धनुर्धर अथवा मेरे समान गदाधारी योद्धा न तो है और न आगे होनेकी ही सम्भावना है ।। ६२ ।।

सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन् सुबलवानपि ।
अप्रमादी महोत्साही सत्त्वस्थो भव पाण्डव ।। ६३ ।।

'पाण्डुनन्दन! अत्यन्त बलवान् पुरुष भी आत्मबलसे ही युद्ध करता है, इसलिये आप सावधानीपूर्वक महान् उत्साह और आत्मबलका आश्रय लीजिये ।। ६३ ।।

सत्त्वं हि मूलमर्थस्य वितथं यदतोऽन्यथा ।
न तु प्रसक्तं भवति वृक्षच्छायेव हैमनी ।। ६४ ।।

'आत्मबल ही धनका मूल है, इसके विपरीत जो कुछ है, वह मिथ्या है; क्योंकि हेमन्त-ऋतुमें वृक्षोंकी छायाके समान वह आत्माकी दुर्बलता किसी भी कामकी नहीं है ।। ६४ ।।

अर्थत्यागोऽपि कार्यः स्वादर्थं श्रेयांसमिच्छता ।
बीजौपम्येन कौन्तेय मा ते भूदत्र संशयः ।। ६५ ।।

'कुन्तीकुमार! जैसे किसान अधिक अन्नराशि उपजानेकी लालसासे धान्य आदिके अल्प बीजोंका भूमिमें परित्याग कर देता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ अर्थ पानेकी इच्छासे अल्प अर्थका त्याग किया जा सकता है। आपको इस विषयमें संशय नहीं करना चाहिये ।। ६५ ।।

अर्थेन तु समो नार्थो यत्र लभ्येत नोदयः ।
न तत्र विपणः कार्यः खरकण्डूयनं हि तत् ।। ६६ ।।

'जहाँ अर्थका उपयोग करनेपर उससे अधिक या समान अर्थकी प्राप्ति न हो वहाँ उस अर्थको नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि वह (परस्पर) गधोंके शरीरको खुजलानेके समान व्यर्थ है ।। ६६ ।।

एवमेव मनुष्येन्द्र धर्मं त्यक्त्वाल्पकं नरः ।
बृहन्तं धर्ममाप्नोति स बुद्ध इति निश्चितम् ।। ६७ ।।

'नरेश्वर! इसी प्रकार जो मनुष्य अल्प धर्मका परित्याग करके महान् धर्मकी प्राप्ति करता है, वह निश्चय ही बुद्धिमान् है ।। ६७ ।।

अमित्रं मित्रसम्पन्नं मित्रैर्भिन्दन्ति पण्डिताः ।
भिन्नैर्मित्रैः परित्यक्तं दुर्बलं कुर्वते वशम् ।। ६८ ।।

'मित्रोंसे सम्पन्न शत्रुको विद्वान् पुरुष अपने मित्रोंद्वारा भेदनीतिसे उसमें और उसके मित्रोंमें फूट डाल देते हैं, फिर भेदभाव होनेपर मित्र जब उसको त्याग देते हैं, तब वे उस दुर्बल शत्रुको अपने वशमें कर लेते हैं ।। ६८ ।।

सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन् सुबलवानपि ।
नोद्यमेन न होत्राभिः सर्वाः स्वीकुरुते प्रजाः ।। ६९ ।।

'राजन्! अत्यन्त बलवान् पुरुष भी आत्मबलसे ही युद्ध करता है, वह किसी अन्य प्रयत्नसे या प्रशंसाद्धारा सब प्रजाको अपने वशमें नहीं करता ।। ६९ ।।

सर्वथा संहतैरेव दुर्बलैर्बलवानपि ।
अमित्रः शक्यते हन्तुं मधुहा भ्रमरैरिव ।। ७० ।।

'जैसे मधुमक्खियाँ संगठित होकर मधु निकालने-वालेको मार डालती हैं, उसी प्रकार सर्वथा संगठित रहनेवाले दुर्बल मनुष्योंद्वारा बलवान् शत्रु भी मारा जा सकता है ।। ७० ।।

यथा राजन् प्रजाः सर्वाः सूर्यः पाति गभस्तिभिः ।
अत्ति चैव तथैव त्वं सदृशः सवितुर्भव ।। ७१ ।।

राजन्! जैसे भगवान् सूर्य पृथ्वीके रसको ग्रहण करते और अपनी किरणोंद्वारा वर्षा करके उन सबकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप भी प्रजाओंसे कर लेकर उनकी रक्षा करते हुए सूर्यके ही समान हो जाइये ।। ७१ ।।

एतच्चापि तपो राजन् पुराणमिति नः श्रुतम् ।
विधिना पालनं भूमेर्यत् कृतं नः पितामहैः ।। ७२ ।।

'राजेन्द्र! हमारे बाप-दादोंने जो किया है, वह धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन भी प्राचीनकालसे चला आनेवाला तप ही है; ऐसा हमने सुना है ।। ७२ ।।

न तथा तपसा राजँल्लोकान् प्राप्नोति क्षत्रियः ।
यथा सृष्टेन युद्धेन विजयेनेतरेण वा ।। ७३ ।।

'धर्मराज! क्षत्रिय तपस्याके द्वारा वैसे पुण्य-लोकोंको नहीं प्राप्त होता, जिन्हें वह अपने लिये विहित युद्धके द्वारा विजय अथवा मृत्युको अंगीकार करनेसे प्राप्त करता है ।। ७३ ।।

अपेयात् किल भाः सूर्याल्लक्ष्मीश्चन्द्रमसस्तथा ।
इति लोको व्यवसितो दृष्ट्वेमां भवतो व्यथाम् ।। ७४ ।।

'आपपर जो यह संकट आया है, इस असम्भव-सी घटनाको देखकर लोग यह निश्चयपूर्वक मानने लगे हैं कि सूर्यसे उसकी प्रभा और चन्द्रमासे उसकी चाँदनी भी दूर हो सकती है ।। ७४ ।।

भवतश्च प्रशंसाभिर्निन्दाभिरितरस्य च ।
कथायुक्ताः परिषदः पृथग् राजन् समागताः ।। ७५ ।।

'राजन्! साधारण लोग भिन्न-भिन्न सभाओंमें सम्मिलित होकर अथवा अलग-अलग समूह-के-समूह इकट्ठे होकर आपकी प्रशंसा और दुर्योधनकी निन्दासे ही सम्बन्ध रखनेवाली बातें करते हैं ।। ७५ ।।

इदमभ्यधिकं राजन् ब्राह्मणाः कुरवश्च ते ।
समेताः कथयन्तीह मुदिताः सत्यसंधताम् ।। ७६ ।।

'महाराज! इसके सिवा, यह भी सुननेमें आया है कि ब्राह्मण और कुरुवंशी एकत्र होकर बड़ी प्रसन्नताके साथ आपकी सत्यप्रतिज्ञताका वर्णन करते हैं ।। ७६ ।।

यन्न मोहान्न कार्पण्यान्न लोभान्न भयादपि ।
अनृतं किंचिदुक्तं ते न कामान्नार्थकारणात् ।। ७७ ।।

'उनका कहना है कि आपने कभी न तो मोहसे, न दीनतासे, न लोभसे, न भयसे, न कामनासे और न धनके ही कारणसे किंचिन्मात्र भी असत्य भाषण किया है ।। ७७ ।।

यदेनः कुरुते किंचिद् राजा भूमिमवाप्नुवन् ।
सर्वं तन्नुदते पश्चाद् यज्ञैर्विपुलदक्षिणैः ।। ७८ ।।

'राजा पृथ्वीको अपने अधिकारमें करते समय युद्धजनित हिंसा आदिके द्वारा जो कुछ पाप करता है, वह सब राज्यप्राप्तिके पश्चात् भारी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा नष्ट कर देता

है ।। ७८ ।।

ब्राह्मणेभ्यो ददद् ग्रामान् गाश्च राजन् सहस्रशः ।

मुच्यते सर्वपापेभ्यस्तमोभ्य इव चन्द्रमाः ।। ७९ ।।

'जनेश्वर! ब्राह्मणोंको बहुत-से गाँव और सहस्रों गौएँ दानमें देकर राजा अपने समस्त पापोंसे उसी प्रकार मुक्त हो जाता है, जैसे चन्द्रमा अन्धकारसे ।। ७९ ।।

पौरजानपदाः सर्वे प्रायशः कुरुनन्दन ।

सवृद्धबालसहिताः शंसन्ति त्वां युधिष्ठिर ।। ८० ।।

'कुरुनन्दन युधिष्ठिर! प्रायः नगर और जनपदमें निवास करनेवाले आबालवृद्ध सब लोग आपकी प्रशंसा करते हैं ।। ८० ।।

श्वदृतौ क्षीरमासक्तं ब्रह्म वा वृषले यथा ।

सत्यं स्तेने बलं नार्यां राज्यं दुर्योधने तथा ।। ८१ ।।

'कुत्तेके चमड़ेकी कुप्पीमें रखा हुआ दूध, शूद्रमें स्थित वेद, चोरमें सत्य और नारीमें स्थित बल जैसे अनुचित है, उसी प्रकार दुर्योधनमें स्थित राजत्व भी संगत नहीं है ।। ८१ ।।

इति लोके निर्वचनं पुरश्चरति भारत ।

अपि चैताः स्त्रियो बालाः स्वाध्यायमधिकुर्वते ।। ८२ ।।

'भारत! लोकमें यह उपर्युक्त सत्य प्रवाद पहलेसे चला आ रहा है । स्त्रियाँ और बच्चेतक इसे नित्य किये जानेवाले पाठकी तरह दुहराते रहते हैं ।। ८२ ।।

इमामवस्थां च गते सहास्माभिररिंदम ।

हन्त नष्टाः स्म सर्वे वै भवतोपद्रवे सति ।। ८३ ।।

'शत्रुदमन! बड़े दुःखकी बात है कि हमारे साथ ही आज आप इस दुरवस्थामें पहुँच गये हैं और आपहीके कारण ऐसा उपद्रव आया कि हम सब लोग नष्ट हो गये ।। ८३ ।।

स भवान् रथमास्थाय सर्वोपकरणान्वितम् ।

त्वरमाणोऽभिनिर्यातु विप्रेभ्योऽर्थविभावकः ।। ८४ ।।

'महाराज! आप विजयमें प्राप्त हुए धनका ब्राह्मणोंको दान करनेके लिये अस्त्र-शस्त्र आदि सभी आवश्यक सामग्रियोंसे सुसज्जित रथपर बैठकर शीघ्र यहाँसे युद्धके लिये निकलिये ।। ८४ ।।

वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठानद्यैव गजसाह्वयम् ।

अस्त्रविद्भिः परिवृतो भ्रातृभिर्दृढधन्विभिः ।। ८५ ।।

आशीविषसमैर्वीरैर्मरुद्भिरिव वृत्रहा ।

अमित्रांस्तेजसा मृद्नन्नसुरानिव वृत्रहा ।

श्रियमादत्स्व कौन्तेय धार्तराष्ट्रान् महाबल ।। ८६ ।।

'जैसे सर्पोंके समान भयंकर शूरवीर देवताओंसे घिरे हुए वृत्रनाशक इन्द्र असुरोंपर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार अस्त्र-विद्याके ज्ञाता और सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले हम

सब भाइयोंसे घिरे हुए आप श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर आज ही हस्तिनापुरपर चढ़ाई कीजिये। महाबली कुन्तीकुमार! जैसे इन्द्र अपने तेजसे दैत्योंको मिट्टीमें मिला देते हैं, उसी प्रकार आप अपने प्रभावसे शत्रुओंको मिट्टीमें मिलाकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे अपनी राजलक्ष्मीको ले लीजिये ।। ८५-८६ ।।

न हि गाण्डीवमुक्तानां शराणां गार्ध्रवाससाम् ।
स्पर्शमाशीविषाभानां मर्त्यः कश्चन संसहेत् ।। ८७ ।।

'मनुष्योंमें कोई ऐसा नहीं है, जो गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए विषैले सर्पोंके समान भयंकर गृध्रपंखयुक्त बाणोंका स्पर्श सह सके ।। ८७ ।।

न स वीरो न मातङ्गो न च सोऽश्वोऽस्ति भारत ।
यः सहेत गदावेगं मम क्रुद्धस्य संयुगे ।। ८८ ।।

'भारत! इसी प्रकार जगत्‌में ऐसा कोई अश्व या गजराज या कोई वीर पुरुष भी नहीं है, जो रणभूमिमें क्रोधपूर्वक विचरनेवाले मुझ भीमसेनकी गदाका वेग सह सके ।। ८८ ।।

सृञ्जयैः सह कैकेयैर्वृष्णीनां वृषभेण च ।
कथंस्विद् युधि कौन्तेय न राज्यं प्राप्नुयामहे ।। ८९ ।।

'कुन्तीनन्दन! संृजय और कैकयवंशी वीरों तथा वृष्णिवंशावतंस भगवान् श्रीकृष्णके साथ होकर हम संग्राममें अपना राज्य कैसे नहीं प्राप्त कर लेंगे? ।। ८९ ।।

शत्रुहस्तगतां राजन् कथंस्विन्नाहरेर्महीम् ।
इह यत्नमुपाहृत्य बलेन महतान्वितः ।। ९० ।।

'राजन्! आप विशाल सेनासे सम्पन्न हो यहाँ प्रयत्नपूर्वक युद्ध ठानकर शत्रुओंके हाथमें गयी हुई पृथ्वीको उनसे छीन क्यों नहीं लेते?' ।। ९० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि भीमवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें भीमवाक्यविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३३ ।।

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

धर्म और नीतिकी बात कहते हुए युधिष्ठिरकी अपनी प्रतिज्ञाके पालनरूप धर्मपर ही डटे रहनेकी घोषणा

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तस्तु महानुभावः
सत्यव्रतो भीमसेनेन राजा ।
अजातशत्रुस्तदनन्तरं वै
धैर्यान्वितो वाक्यमिदं बभाषे ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमसेन जब इस प्रकार अपनी बात पूरी कर चुके, तब महानुभाव, सत्यप्रतिज्ञ एवं अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने धैर्यपूर्वक उनसे यह बात कही— ।। १ ।।

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं भारत सत्यमेतद्
यन्मां तुदन् वाक्यशल्यैः क्षिणोषि ।
न त्वां विगर्हे प्रतिकूलमेव
ममानयाद्धि व्यसनं व आगात् ।। २ ।।

युधिष्ठिर बोले—भरतकुलनन्दन! तुम मुझे पीड़ा देते हुए अपने वाग्बाणोंद्वारा मेरे हृदयको जो विदीर्ण कर रहे हो, यह निःसंदेह ठीक ही है। मेरे प्रतिकूल होनेपर भी इन बातोंके लिये मैं तुम्हारी निन्दा नहीं करता; क्योंकि मेरे ही अन्यायसे तुमलोगोंपर यह विपत्ति आयी है ।। २ ।।

अहं ह्यक्षानन्वपद्यं जिहीर्षन्
राज्यं सराष्ट्रं धृतराष्ट्रस्य पुत्रात् ।
तन्मां शठः कितवः प्रत्यदेवीत्
सुयोधनार्थं सुबलस्य पुत्रः ।। ३ ।।

उन दिनों धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके हाथसे उसके राष्ट्र तथा राजपदका अपहरण करनेकी इच्छा रखकर ही मैं द्यूतक्रीड़ामें प्रवृत्त हुआ था; किंतु उस समय धूर्त जुआरी सुबलपुत्र शकुनि दुर्योधनके लिये उसकी ओरसे मेरे विपक्षमें आकर जूआ खेलने लगा ।। ३ ।।

महामायः शकुनिः पर्वतीयः
सभामध्ये प्रवपन्नक्षपूगान् ।
अमायिनं मायया प्रत्यजैषीत्

ततोऽपश्यं वृजिनं भीमसेन ।। ४ ।।

भीमसेन! पर्वतीय प्रदेशका निवासी शकुनि बड़ा मायावी है। उसने द्यूतसभामें पासे फेंककर अपनी मायाद्वारा मुझे जीत लिया; क्योंकि मैं माया नहीं जानता था; इसीलिये मुझे यह संकट देखना पड़ा है ।। ४ ।।

अक्षांश्च दृष्ट्वा शकुनेर्यथावत्
कामानुकूलानयुजो युजश्च ।
शक्यो नियन्तुमभविष्यदात्मा
मन्युस्तु हन्यात् पुरुषस्य धैर्यम् ।। ५ ।।

शकुनिके सम और विषम सभी पासोंको उसकी इच्छाके अनुसार ही ठीक-ठीक पड़ते देखकर यदि अपने मनको जूएकी ओरसे रोका जा सकता तो यह अनर्थ न होता, परंतु क्रोधावेश मनुष्यके धैर्यको नष्ट कर देता है (इसीलिये मैं जूएसे अलग न हो सका) ।। ५ ।।

यन्तुं नात्मा शक्यते पौरुषेण
मानेन वीर्येण च तात नद्धः ।
न ते वाचो भीमसेनाभ्यसूये
मन्ये तथा तद् भवितव्यमासीत् ।। ६ ।।

तात भीमसेन! किसी विषयमें आसक्त हुए चित्तको पुरुषार्थ, अभिमान अथवा पराक्रमसे नहीं रोका जा सकता (अर्थात्र उसे रोकना बहुत ही कठिन है), अतः मैं तुम्हारी बातोंके लिये बुरा नहीं मानता। मैं समझता हूँ, वैसी ही भवितव्यता थी ।। ६ ।।

स नो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
न्यपातयद् व्यसने राज्यमिच्छन् ।
दास्यं च नोऽगमयद् भीमसेन
यत्राभवच्छरणं द्रौपदी नः ।। ७ ।।

भीमसेन! धृतराष्ट्रके पुत्र राजा दुर्योधनने राज्य पानेकी इच्छासे हमलोगोंको विपत्तिमें डाल दिया। हमें दासतक बना लिया था, किंतु उस समय द्रौपदी हमलोगोंकी रक्षक हुई ।। ७ ।।

त्वं चापि तद् वेत्थ धनंजयश्च
पुनर्द्यूतायागतानां सभां नः ।
यन्माऽब्रवीद् धृतराष्ट्रस्य पुत्र
एकग्लहार्थं भरतानां समक्षम् ।। ८ ।।

तुम और अर्जुन दोनों इस बातको जानते हो कि जब हम पुनः द्यूतके लिये बुलाये जानेपर उस सभामें आये तो उस समय समस्त भरतवंशियोंके समक्ष धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने मुझसे एक ही दाँव लगानेके लिये इस प्रकार कहा— ।। ८ ।।

वने समा द्वादश राजपुत्र

यथाकामं विदितमजातशत्रो ।
अथापरं चाविदितं चरेथाः
सर्वैः सह भ्रातृभिश्छद्मगूढः ।। ९ ।।

'राजकुमार अजातशत्रो! (यदि आप हार जायँ तो) आपको बारह वर्षोंतक इच्छानुसार सबकी जानकारीमें और पुनः एक वर्षतक गुप्त वेषमें छिपे रहकर अपने भाइयोंके साथ वनमें निवास करना पड़ेगा ।। ९ ।।

त्वां चेच्छ्रुत्वा तात तथा चरन्त-
मवभोत्स्यन्ते भरतानां चराश्च ।
अन्यांश्चरेथास्तावतोऽब्दांस्तथा त्वं
निश्चित्य तत् प्रतिजानीहि पार्थ ।। १० ।।

'कुन्तीकुमार! यदि भरतवंशियोंके गुप्तचर आपके गुप्त निवासका समाचार सुनकर पता लगाने लगें और उन्हें यह मालूम हो जाय कि आपलोग अमुक जगह अमुक रूपमें रह रहे हैं, तब आपको पुनः उतने (बारह) ही वर्षोंतक वनमें रहना पड़ेगा। इस बातको निश्चय करके इसके विषयमें प्रतिज्ञा कीजिये ।। १० ।।

चरेश्चेन्नोऽविदितः कालमेतं
युक्तो राजन् मोहयित्वा मदीयान् ।
ब्रवीमि सत्यं कुरुसंसदीह
तवैव ता भारत पञ्च नद्यः ।। ११ ।।

'भरतवंशी नरेश! यदि आप सावधान रहकर इतने समयतक मेरे गुप्तचरोंको मोहित करके अज्ञात-भावसे ही विचरते रहें तो मैं यहाँ कौरवोंकी सभामें यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि उस सारे पंचनदप्रदेशपर फिर तुम्हारा ही अधिकार होगा ।। ११ ।।

वयं चैतद् भारत सर्व एव
त्वया जिताः कालमपास्य भोगान् ।
वसेम इत्याह पुरा स राजा
मध्ये कुरूणां स मयोक्तस्तथेति ।। १२ ।।

'भारत! यदि आपने ही हम सब लोगोंको जीत लिया तो हम भी उतने ही समयतक सारे भोगोंका परित्याग करके उसी प्रकार वास करेंगे।' राजा दुर्योधनने जब समस्त कौरवोंके बीच इस प्रकार कहा, तब मैंने भी 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली ।। १२ ।।

तत्र द्यूतमभवन्नो जघन्यं
तस्मिञ्जिताः प्रव्रजिताश्च सर्वे ।
इत्थं तु देशाननुसंचरामो
वनानि कृच्छ्राणि च कृच्छ्ररूपाः ।। १३ ।।

फिर वहाँ हमलोगोंका अन्तिम बार निन्दनीय जूआ हुआ। उसमें हम सब लोग हार गये और घर छोड़कर वनमें निकल आये। इस प्रकार हम कष्टप्रद वेष धारण करके कष्टदायक वनों और विभिन्न प्रदेशोंमें घूम रहे हैं ।। १३ ।।

सुयोधनश्चापि न शान्तिमिच्छन्
भूयः स मन्योर्वशमन्वगच्छत् ।
उद्योजयामास कुरूंश्च सर्वान्
ये चास्य केचिद् वशमन्वगच्छन् ।। १४ ।।

उधर दुर्योधन भी शान्तिकी इच्छा न रखकर और भी क्रोधके वशीभूत हो गया है। उसने हमें तो कष्टमें डाल दिया और दूसरे समस्त कौरवोंको जो उसके वशमें होकर उसीका अनुसरण करते रहे हैं, (देशशासक और दुर्गरक्षक आदि) ऊँचे पदोंपर प्रतिष्ठित कर दिया है ।। १४ ।।

तं संधिमास्थाय सतां सकाशे
को नाम जह्यादिह राज्यहेतोः ।
आर्यस्य मन्ये मरणाद् गरीयो
यद्धर्ममुत्क्रम्य महीं प्रशासेत् ।। १५ ।।

कौरव-सभामें साधु पुरुषोंके समीप वैसी सन्धिका आश्रय लेकर यानी प्रतिज्ञा करके अब यहाँ राज्यके लिये उसे कौन तोड़े? धर्मका उल्लंघन करके पृथ्वीका शासन करना तो किसी श्रेष्ठ पुरुषके लिये मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायक है—ऐसा मेरा मत है ।। १५ ।।

तदैव चेद् वीर कर्माकरिष्यो
यदा द्यूते परिघं पर्यमृक्षः ।
बाहू दिधक्षन् वारितः फाल्गुनेन
किं दुष्कृतं भीम तदाभविष्यत् ।। १६ ।।
प्रागेव चैवं समयक्रियायाः
किं नाब्रवीः पौरुषमाविदानः ।
प्राप्तं तु कालं त्वभिपद्य पश्चात्
किं मामिदानीमतिवेलमात्थ ।। १७ ।।

वीर भीमसेन! द्यूतके समय जब तुमने मेरी दोनों बाँहोंको जला देनेकी इच्छा प्रकट की और अर्जुनने तुम्हें रोका, उस समय तुम शत्रुओंपर आघात करनेके लिये अपनी गदापर हाथ फेरने लगे थे। यदि उसी समय तुमने शत्रुओंपर आघात कर दिया होता तो कितना अनर्थ हो जाता। तुम अपना पुरुषार्थ तो जानते ही थे। जब मैं पूर्वोक्त प्रकारकी प्रतिज्ञा करने लगा उससे पहले ही तुमने ऐसी बात क्यों नहीं कही? जब प्रतिज्ञाके अनुसार वनवासका समय स्वीकार कर लिया, तब पीछे चलकर इस समय क्यों मुझसे अत्यन्त कठोर बातें कहते हो? ।। १६-१७ ।।

भूयोऽपि दुःखं मम भीमसेन
दूये विषस्येव रसं हि पीत्वा ।
यद् याज्ञसेनीं परिक्लिश्यमानां
संदृश्य तत् क्षान्तमिति स्म भीम ।। १८ ।।

भीमसेन! मुझे इस बातका भी बड़ा दुःख है कि द्रौपदीको शत्रुओंद्वारा क्लेश दिया जा रहा था और हमने अपनी आँखों देखकर भी उसे चुपचाप सह लिया। जैसे कोई विष घोलकर पी ले और उसकी पीड़ासे कराहने लगे, वैसी ही वेदना इस समय मुझे हो रही है ।। १८ ।।

न त्वद्य शक्यं भरतप्रवीर
कृत्वा यदुक्तं कुरुवीरमध्ये ।
कालं प्रतीक्षस्व सुखोदयस्य
पक्तिं फलानामिव बीजवापः ।। १९ ।।

भरतवंशके प्रमुख वीर! कौरव वीरोंके बीच मैंने जो प्रतिज्ञा की है, उसे स्वीकार कर लेनेके बाद अब इस समय आक्रमण नहीं किया जा सकता। जैसे बीज बोनेवाला किसान अपनी खेतीके फलोंके पकनेकी बाट जोहता रहता है, उसी प्रकार तुम भी उस समयकी प्रतीक्षा करो, जो हमारे लिये सुखकी प्राप्ति करानेवाला है ।। १९ ।।

यदा हि पूर्वं निकृतो निकृन्तेद्
वैरं सपुष्पं सफलं विदित्वा ।
महागुणं हरति हि पौरुषेण
तदा वीरो जीवति जीवलोके ।। २० ।।

जब पहले शत्रुके द्वारा धोखा खाया हुआ वीर पुरुष उसे फूलता-फलता जानकर अपने पुरुषार्थके द्वारा उसका मूलोच्छेद कर डालता है, तभी उस शत्रुके महान् गुणोंका अपहरण कर लेता है और इस जगत्में सुखपूर्वक जीवित रहता है ।। २० ।।

श्रियं च लोके लभते समग्रां
मन्ये चास्मै शत्रवः संनमन्ते ।
मित्राणि चैनमचिराद् भजन्ते
देवा इवेन्द्रमुपजीवन्ति चैनम् ।। २१ ।।

वह वीर पुरुष लोकमें सम्पूर्ण लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है। मैं यह भी मानता हूँ कि सभी शत्रु उसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं। फिर थोड़े ही दिनोंमें उसके बहुत-से मित्र बन जाते हैं और जैसे देवता इन्द्रके सहारे जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार वे मित्रगण उस वीरकी छत्रछायामें रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं ।। २१ ।।

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां
वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च ।

राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च
सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति ।। २२ ।।

किंतु भीमसेन! मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा सुनो। मैं जीवन और अमरत्वकी अपेक्षा भी धर्मको ही बढ़कर समझता हूँ। राज्य, पुत्र, यश और धन—ये सब-के-सब सत्यधर्मकी सोलहवीं कलाको भी नहीं पा सकते ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३४ ।।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

दुःखित भीमसेनका युधिष्ठिरको युद्धके लिये उत्साहित करना

भीमसेन उवाच

संधिं कृत्वैव कालेन ह्यन्तकेन पतत्त्रिणा ।
अनन्तेनाप्रमेयेण स्रोतसा सर्वहारिणा ।। १ ।।
प्रत्यक्षं मन्यसे कालं मर्त्यः सन् कालबन्धनः ।
फेनधर्मा महाराज फलधर्मा तथैव च ।। २ ।।

भीमसेन बोले—महाराज! आप फेनके समान नश्वर, फलके समान पतनशील तथा कालके बन्धनमें बँधे हुए मरणधर्मा मनुष्य हैं तो भी आपने सबका अन्त और संहार करनेवाले, बाणके समान वेगवान्, अनन्त, अप्रमेय एवं जलस्रोतके समान प्रवाहशील लंबे कालको बीचमें देकर दुर्योधनके साथ सन्धि करके उस कालको अपनी आँखोंके सामने आया हुआ मानते हैं ।। १-२ ।।

निमेषादपि कौन्तेय यस्यायुरपचीयते ।
सूच्येवाञ्जनचूर्णस्य किमिति प्रतिपालयेत् ।। ३ ।।

किंतु कुन्तीकुमार! सलाईसे थोड़ा-थोड़ा करके उठाये जानेवाले अंजनचूर्ण (सुरमे)-की भाँति एक-एक निमेषमें जिसकी आयु क्षीण हो रही है, वह क्षणभंगुर मानव समयकी प्रतीक्षा क्या कर सकता है? ।। ३ ।।

यो नूनममितायुः स्वादथवापि प्रमाणवित् ।
स कालं वै प्रतीक्षेत सर्वप्रत्यक्षदर्शिवान् ।। ४ ।।

अवश्य ही जिसकी आयुकी कोई माप नहीं है अथवा जो आयुकी निश्चित संख्याको जानता है तथा जिसने सब कुछ प्रत्यक्ष देख लिया है। वही समयकी प्रतीक्षा कर सकता है ।। ४ ।।

प्रतीक्ष्यमाणः कालो नः समा राजंस्त्रयोदश ।
आयुषोऽपचयं कृत्वा मरणायोपनेष्यति ।। ५ ।।

राजन्! तेरह वर्षोंतक हमें जिसकी प्रतीक्षा करनी है, वह काल हमारी आयुको क्षीण करके हम सबको मृत्युके निकट पहुँचा देगा ।। ५ ।।

शरीरिणां हि मरणं शरीरे नित्यमाश्रितम् ।
प्रागेव मरणात् तस्माद् राज्यायैव घटामहे ।। ६ ।।

देहधारीकी मृत्यु सदा उसके शरीरमें ही निवास करती है, अतः मृत्युके पहले ही हमें राज्य-प्राप्तिके लिये चेष्टा करनी चाहिये ।। ६ ।।

यो न याति प्रसंख्यानमस्पष्टो भूमिवर्धनः ।
अयातयित्वा वैराणि सोऽवसीदति गौरिव ।। ७ ।।

जिसका प्रभाव छिपा हुआ है, वह भूमिके लिये भाररूप ही है, क्योंकि वह जनसाधारणमें ख्याति नहीं प्राप्त कर सकता। वह वैरका प्रतिशोध न लेनेके कारण बैलकी भाँति दुःख उठाता रहता है ।। ७ ।।

यो न यातयते वैरमल्पसत्त्वोद्यमः पुमान् ।
अफलं जन्म तस्याहं मन्ये दुर्जातजायिनः ।। ८ ।।

जिसका बल और उद्यम बहुत कम है, जो वैरका बदला नहीं ले सकता, उस पुरुषका जन्म अत्यन्त घृणित है। मैं तो उसके जन्मको निष्फल मानता हूँ ।। ८ ।।

हैरण्यौ भवतो बाहू श्रुतिर्भवति पार्थिवी ।
हत्वा द्विषन्तं संग्रामे भुङ्क्ष्व बाहुजितं वसु ।। ९ ।।

महाराज! आपकी दोनों भुजाएँ सुवर्णकी अधिकारिणी हैं। आपकी कीर्ति राजा पृथुके समान है। आप युद्धमें शत्रुका संहार करके अपने बाहुबलसे उपार्जित धनका उपभोग कीजिये ।। ९ ।।

हत्वा वै पुरुषो राजन् निकर्तारमरिंदम ।
अह्नाय नरकं गच्छेत् स्वर्गेणास्य स सम्मितः ।। १० ।।

शत्रुदमन नरेश! यदि मनुष्य अपनेको धोखा देनेवाले शत्रुका वध करके तुरंत ही नरकमें पड़ जाय तो उसके लिये वह नरक भी स्वर्गके तुल्य है ।। १० ।।

अमर्षजो हि संतापः पावकाद् दीप्तिमत्तरः ।
येनाहमभिसंतप्तो न नक्तं न दिवा शये ।। ११ ।।

अमर्षसे जो संताप होता है, वह आगसे भी बढ़कर जलानेवाला है। जिससे संतप्त होकर मुझे न तो रातमें नींद आती है और न दिनमें ।। ११ ।।

अयं च पार्थो बीभत्सुर्वरिष्ठो ज्याविकर्षणे ।
आस्ते परमसंतप्तो नूनं सिंह इवाशये ।। १२ ।।

ये हमारे भाई अर्जुन धनुषकी प्रत्यंचा खींचनेमें सबसे श्रेष्ठ हैं; परंतु ये भी निश्चय ही अपनी गुफामें दुःखी होकर बैठे हुए सिंहकी भाँति सदा अत्यन्त संतप्त होते रहते हैं ।। १२ ।।

योऽयमेकोऽभिमनुते सर्वान् लोके धनुर्भृतः ।
सोऽयमात्मजमूष्माणं महाहस्तीव यच्छति ।। १३ ।।

जो अकेले ही संसारके समस्त धनुर्धर वीरोंका सामना कर सकते हैं, वे ही अर्जुन महान् गजराजकी भाँति अपने मानसिक क्रोधजनित संतापको किसी प्रकार रोक रहे

हैं ।। १३ ।।

नकुलः सहदेवश्च वृद्धा माता च वीरसूः ।
तवैव प्रियमिच्छन्त आसते जडमूकवत् ।। १४ ।।

नकुल, सहदेव तथा वीरपुत्रोंको जन्म देनेवाली हमारी बूढ़ी माता कुन्ती—ये सब-के-सब आपका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर ही मूर्खों और गूँगोंकी भाँति चुप रहते हैं ।। १४ ।।

सर्वे ते प्रियमिच्छन्ति बान्धवाः सह सृञ्जयैः ।
अहमेकश्च संतप्तो माता च प्रतिविन्ध्यतः ।। १५ ।।

आपके सभी बन्धु-बान्धव और सृंजयवंशी योद्धा भी आपका प्रिय करना चाहते हैं। केवल हम दो व्यक्तियोंको ही विशेष कष्ट है। एक तो मैं संतप्त होता हूँ और दूसरी प्रतिविन्ध्यकी माता द्रौपदी ।। १५ ।।

प्रियमेव तु सर्वेषां यद् ब्रवीम्युत किंचन ।
सर्वे हि व्यसनं प्राप्ताः सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ।। १६ ।।

मैं जो कुछ कहता हूँ, वह सबको प्रिय है। हम सब लोग संकटमें पड़े हैं और सभी युद्धका अभिनन्दन करते हैं ।। १६ ।।

नातः पापीयसी काचिदापद् राजन् भविष्यति ।
यन्नो नीचैरल्पबलै राज्यमाच्छिद्य भुज्यते ।। १७ ।।

राजन्! इससे बढ़कर अत्यन्त दुःखदायिनी विपत्ति और क्या होगी कि नीच और दुर्बल शत्रु हम बलवानोंका राज्य छीनकर उसका उपभोग कर रहे हैं ।। १७ ।।

शीलदोषाद् घृणाविष्ट आनृशंस्यात् परंतप ।
क्लेशांस्तितिक्षसे राजन् नान्यः कश्चित् प्रशंसति ।। १८ ।।

परंतप युधिष्ठिर! आप शील-स्वभावके दोष और कोमलतासे एवं दयाभावसे युक्त होनेके कारण इतने क्लेश सह रहे हैं, परंतु महाराज! इसके लिये आपकी कोई प्रशंसा नहीं करता है ।। १८ ।।

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ।। १९ ।।

राजन्! आपकी बुद्धि अर्थज्ञानसे रहित वेदोंके अक्षरमात्रको रटनेवाले मन्दबुद्धि श्रोत्रियकी तरह केवल गुरुकी वाणीका अनुसरण करनेके कारण नष्ट हो गयी है। यह तात्त्विक अर्थको समझने या समझानेवाली नहीं है ।। १९ ।।

घृणी ब्राह्मणरूपोऽसि कथं क्षत्रेऽभ्यजायथाः ।
अस्यां हि योनौ जायन्ते प्रायशः क्रूरबुद्धयः ।। २० ।।

आप दयालु ब्राह्मणरूप हैं। पता नहीं, क्षत्रियकुलमें कैसे आपका जन्म हो गया; क्योंकि क्षत्रिय योनिमें तो प्रायः क्रूर बुद्धिके ही पुरुष उत्पन्न होते हैं ।। २० ।।

अश्रौषीस्त्वं राजधर्मान् यथा वै मनुरब्रवीत् ।

क्रूरान् निकृतिसम्पन्नान् विहितानशमात्मकान् ।। २१ ।।
धार्तराष्ट्रान् महाराज क्षमसे किं दुरात्मनः ।
कर्तव्ये पुरुषव्याघ्र किमास्से पीठसर्पवत् ।। २२ ।।
बुद्धया वीर्येण संयुक्तः श्रुतेनाभिजनेन च ।

महाराज! आपने राजधर्मका वर्णन तो सुना ही होगा, जैसा मनुजीने कहा है। फिर क्रूर, मायावी, हमारे हितके विपरीत आचरण करनेवाले तथा अशान्तचित्तवाले दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंका अपराध आप क्यों क्षमा करते हैं? पुरुषसिंह! आप बुद्धि, पराक्रम, शास्त्रज्ञान तथा उत्तम कुलसे सम्पन्न होकर भी जहाँ कुछ काम करना है, वहाँ अजगरकी भाँति चुपचाप क्यों बैठे हैं? ।। २१-२२½ ।।

तृणानां मुष्टिनैकेन हिमवन्तं च पर्वतम् ।। २३ ।।
छन्नमिच्छसि कौन्तेय योऽस्मात् संवर्तुमिच्छसि ।

कुन्तीनन्दन! आप अज्ञातवासके समय जो हम-लोगोंको छिपाकर रखना चाहते हैं, इससे जान पड़ता है कि आप एक मुट्ठी तिनकेसे हिमालय पर्वतको ढक देना चाहते हैं ।। २३½ ।।

अज्ञातचर्या गूढेन पृथिव्यां विश्रुतेन च ।। २४ ।।
दिवीव पार्थ सूर्येण न शक्याचरितुं त्वया ।

पार्थ! आप इस भूमण्डलमें विख्यात हैं, जैसे सूर्य आकाशमें छिपकर नहीं रह सकते, उसी प्रकार आप भी कहीं छिपे रहकर अज्ञातवासका नियम नहीं पूरा कर सकते ।। २४½ ।।

बृहच्छाल इवानूपे शाखापुष्पपलाशवान् ।। २५ ।।
हस्ती श्वेत इवाज्ञातः कथं जिष्णुश्चरिष्यति ।

जहाँ जलकी अधिकता हो, ऐसे प्रदेशमें शाखा, पुष्प और पत्तोंसे सुशोभित विशाल शालवृक्षके समान अथवा श्वेत गजराज ऐरावतके सदृश ये अर्जुन कहीं भी अज्ञात कैसे रह सकेंगे? ।। २५½ ।।

इमौ च सिंहसंकाशौ भ्रातरौ सहितौ शिशू ।। २६ ।।
नकुलः सहदेवश्च कथं पार्थ चरिष्यतः ।

कुन्तीकुमार! ये दोनों भाई बालक नकुल-सहदेव सिंहके समान पराक्रमी हैं। ये दोनों कैसे छिपकर विचर सकेंगे? ।। २६½ ।।

पुण्यकीर्ती राजपुत्री द्रौपदी वीरसूरियम् ।। २७ ।।
विश्रुता कथमज्ञाता कृष्णा पार्थ चरिष्यति ।

पार्थ! यह वीरजननी पवित्रकीर्ति राजकुमारी द्रौपदी सारे संसारमें विख्यात है। भला, यह अज्ञातवासके नियम कैसे निभा सकेगी ।। २७½ ।।

मां चापि राजञ्जानन्ति ह्याकुमारमिमाः प्रजाः ।। २८ ।।
नाज्ञातचर्यां पश्यामि मेरोरिव निगूहनम् ।

महाराज! मुझे भी प्रजावर्गके बच्चेतक पहचानते हैं, जैसे मेरुपर्वतको छिपाना असम्भव है, उसी प्रकार मुझे अपनी अज्ञातचर्या भी सम्भव नहीं दिखायी देती ।। २८ १/२ ।।

तथैव बहवोऽस्माभी राष्ट्रेभ्यो विप्रवासिताः ।। २९ ।।
राजानो राजपुत्राश्च धृतराष्ट्रमनुव्रताः ।
न हि तेऽप्युपशाम्यन्ति निकृता वा निराकृताः ।। ३० ।।

राजन्! इसके सिवा एक बात और है, हमलोगोंने भी बहुत-से राजाओं तथा राजकुमारोंको उनके राज्यसे निकाल दिया है। वे सब आकर राजा धृतराष्ट्रसे मिल गये होंगे, हमने जिनको राज्यसे वंचित किया अथवा निकाला है, वे कदापि हमारे प्रति शान्तभाव नहीं धारण कर सकते ।। २९-३० ।।

अवश्यं तैर्निकर्तव्यमस्माकं तत्प्रियैषिभिः ।
तेऽप्यस्मासु प्रयुञ्जीरन् प्रच्छन्नान् सुबहूंश्चरान् ।
आचक्षीरंश्च नो ज्ञात्वा ततः स्यात् सुमहत् भयम् ।। ३१ ।।

अवश्य ही दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर वे राजालोग भी हमलोगोंको धोखा देना उचित समझकर हमलोगोंकी खोज करनेके लिये बहुत-से छिपे हुए गुप्तचर नियुक्त करेंगे और पता लग जानेपर निश्चय ही दुर्योधनको सूचित कर देंगे। उस दशामें हमलोगोंपर बड़ा भारी भय उपस्थित हो जायगा ।। ३१ ।।

अस्माभिरुषिताः सम्यग्वने मासास्त्रयोदश ।
परिमाणेन तान् पश्य तावतः परिवत्सरान् ।। ३२ ।।

हमने अबतक वनमें ठीक-ठीक तेरह महीने व्यतीत कर लिये हैं, आप इन्हींको परिमाणमें तेरह वर्ष समझ लीजिये ।। ३२ ।।

अस्ति मासः प्रतिनिधिर्यथा प्राहुर्मनीषिणः ।
पूतिकामिव सोमस्य तथेदं क्रियतामिति ।। ३३ ।।

मनीषी पुरुषोंका कहना है कि मास संवत्सरका प्रतिनिधि है। जैसे पूतिका सोमलताके स्थानपर यज्ञमें काम देती है, उसी प्रकार आप इन तेरह मासोंको ही तेरह वर्षोंका प्रतिनिधि स्वीकार कर लीजिये ।। ३३ ।।

अथवानडुहे राजन् साधवे साधुवाहिने ।
सौहित्यदानादेतस्मादेनसः प्रतिमुच्यते ।। ३४ ।।

राजन्! अथवा अच्छी तरह बोझ ढोनेवाले उत्तम बैलको भरपेट भोजन दे देनेपर इस पापसे आपको छुटकारा मिल सकता है ।। ३४ ।।

तस्माच्छत्रुवधे राजन् क्रियतां निश्चयस्त्वया ।
क्षत्रियस्य हि सर्वस्य नान्यो धर्मोऽस्ति संयुगात् ।। ३५ ।।

अतः महाराज! आप शत्रुओंका वध करनेका निश्चय कीजिये; क्योंकि समस्त क्षत्रियोंके लिये युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि भीमवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ।। ३५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें भीमवाक्यविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३५ ।।

षट्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनको समझाना, व्यासजीका आगमन और युधिष्ठिरको प्रतिस्मृतिविद्याप्रदान तथा पाण्डवोंका पुनः काम्यकवनगमन

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनवचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
निःश्वस्य पुरुषव्याघ्रः सम्प्रदध्यौ परंतपः ।। १ ।।
श्रुता मे राजधर्माश्च वर्णानां च विनिश्चयाः ।
आयत्यां च तदात्वे च यः पश्यति स पश्यति ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमसेन-की बात सुनकर शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर लम्बी साँस लेकर मन-ही-मन विचार करने लगे—'मैंने राजाओंके धर्म एवं वर्णोंके सुनिश्चित सिद्धान्त भी सुने हैं, परंतु जो भविष्य और वर्तमान दोनोंपर दृष्टि रखता है, वही यथार्थदर्शी है ।। १-२ ।।

धर्मस्य जानमानोऽहं गतिमग्र्यां सुदुर्विदाम् ।
कथं बलात् करिष्यामि मेरोरिव विमर्दनम् ।। ३ ।।

'धर्मकी श्रेष्ठ गति अत्यन्त दुर्बोध है, उसे जानता हुआ भी मैं कैसे बलपूर्वक मेरु पर्वतके समान महान् उस धर्मका मर्दन करूँगा' ।। ३ ।।

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा विनिश्चित्येतिकृत्यताम् ।
भीमसेनमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ।। ४ ।।

इस प्रकार दो घड़ीतक विचार करनेके पश्चात् अपनेको क्या करना है, इसका निश्चय करके युधिष्ठिरने भीमसेनसे अविलम्ब यह बात कही ।। ४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
इदमन्यत् समादत्स्व वाच्यं मे वाक्यकोविद ।। ५ ।।

युधिष्ठिर बोले—महाबाहु भरतकुलतिलक वाक्यविशारद भीम! तुम जैसा कह रहे हो, वह ठीक है, तथापि मेरी यह दूसरी बात भी मानो ।। ५ ।।

महापापानि कर्माणि यानि केवलसाहसात् ।
आरभ्यन्ते भीमसेन व्यथन्ते तानि भारत ।। ६ ।।

भरतनन्दन भीमसेन! जो महान् पापमय कर्म केवल साहसके भरोसे आरम्भ किये जाते हैं, वे सभी कष्टदायक होते हैं ।। ६ ।।

सुमन्त्रिते सुविक्रान्ते सुकृते सुविचारिते ।
सिध्यन्त्यर्था महाबाहो दैवं चात्र प्रदक्षिणम् ।। ७ ।।

महाबाहो! अच्छी तरहसे सलाह और विचार करके पूरा पराक्रम प्रकट करते हुए सुन्दररूपसे जो कार्य किये जाते हैं, वे सफल होते हैं और उसमें दैव भी अनुकूल हो जाता है ।। ७ ।।

यत् तु केवलचापल्याद् बलदर्पोत्थितः स्वयम् ।
आरब्धव्यमिदं कार्यं मन्यसे शृणु तत्र मे ।। ८ ।।

तुम स्वयं बलके घमण्डसे उन्मत्त हो जो केवल चपलतावश स्वयं इस युद्धरूपी कार्यको अभी आरम्भ करनेके योग्य मान रहे हो, उसके विषयमें मेरी बात सुनो ।। ८ ।।

भूरिश्रवाः शलश्चैव जलसंधश्च वीर्यवान् ।
भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च द्रोणपुत्रश्च वीर्यवान् ।। ९ ।।
धार्तराष्ट्रा दुराधर्षा दुर्योधनपुरोगमाः ।
सर्व एव कृतास्त्राश्च सततं चाततायिनः ।। १० ।।
राजानः पार्थिवाश्चैव येऽस्माभिरुपतापिताः ।
संश्रिताः कौरवं पक्षं जातस्नेहाश्च तं प्रति ।। ११ ।।

भूरिश्रवा, शल, पराक्रमी जलसंध, भीष्म, द्रोण, कर्ण, बलवान् अश्वत्थामा तथा सदाके आततायी दुर्योधन आदि दुर्धर्ष धृतराष्ट्रपुत्र—ये सभी अस्त्र-विद्याके ज्ञाता हैं एवं हमने जिन राजाओं तथा भूमिपालोंको युद्धमें कष्ट पहुँचाया है, वे सभी कौरवपक्षमें मिल गये हैं और उधर ही उनका स्नेह हो गया है ।। ९—११ ।।

दुर्योधनहिते युक्ता न तथास्मासु भारत ।
पूर्णकोशा बलोपेताः प्रयतिष्यन्ति संगरे ।। १२ ।।

भारत! वे दुर्योधनके हितमें ही संलग्न होंगे; हमलोगोंके प्रति उनका वैसा सद्भाव नहीं हो सकता। उनका खजाना भरा-पूरा है और वे सैनिक-शक्तिसे भी सम्पन्न हैं, अतः वे युद्ध छिड़नेपर हमारे विरुद्ध ही प्रयत्न करेंगे ।। १२ ।।

सर्वे कौरवसैन्यस्य सपुत्रामात्यसैनिकाः ।
संविभक्ता हि मात्राभिर्भोगैरपि च सर्वशः ।। १३ ।।

मन्त्रियों और पुत्रोंके सहित कौरवसेनाके सभी सैनिकोंको दुर्योधनकी ओरसे पूरे वेतन और सब प्रकारकी उपभोग-सामग्रीका वितरण किया गया है ।। १३ ।।

दुर्योधनेन ते वीरा मानिताश्च विशेषतः ।
प्राणांस्त्यक्ष्यन्ति संग्रामे इति मे निश्चिता मतिः ।। १४ ।।

इतना ही नहीं, दुर्योधनने उन वीरोंका विशेष आदर-सत्कार भी किया है। अतः मेरा यह विश्वास है कि वे उसके लिये संग्राममें (हँसते-हँसते) प्राण दे देंगे ।। १४ ।।

समा यद्यपि भीष्मस्य वृत्तिरस्मासु तेषु च ।

द्रोणस्य च महाबाहो कृपस्य च महात्मनः ।। १५ ।।
अवश्यं राजपिण्डस्तैर्निर्वेश्य इति मे मतिः ।
तस्मात् त्यक्ष्यन्ति संग्रामे प्राणानपि सुदुस्त्यजान् ।। १६ ।।

महाबाहो! यद्यपि पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण तथा महामना कृपाचार्यका आन्तरिक स्नेह धृतराष्ट्रके पुत्रों तथा हमलोगोंपर एक-सा ही है, तथापि वे राजा दुर्योधनका दिया हुआ अन्न खाते हैं, अतः उसका ऋण अवश्य चुकायेंगे, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। युद्ध छिड़नेपर वे भी दुर्योधनके पक्षसे ही लड़कर अपने दुस्त्यज प्राणोंका भी परित्याग कर देंगे ।। १५-१६ ।।

सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ।
अजेयाश्चेति मे बुद्धिरपि देवैः सवासवैः ।। १७ ।।

वे सब-के-सब दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता और धर्मपरायण हैं। मेरी बुद्धिमें तो यहाँतक आता है कि इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते ।। १७ ।।

अमर्षी नित्यसंरब्धस्तत्र कर्णो महारथः ।
सर्वास्त्रविदनाधृष्यो ह्यभेद्यकवचावृतः ।। १८ ।।

उस पक्षमें महारथी कर्ण भी है, जो हमारे प्रति सदा अमर्ष और क्रोधसे भरा रहता है। वह सब अस्त्रोंका ज्ञाता, अजेय तथा अभेद्य कवचसे सुरक्षित है ।। १८ ।।

अनिर्जित्य रणे सर्वानेतान् पुरुषसत्तमान् ।
अशक्यो ह्यसहायेन हन्तुं दुर्योधनस्त्वया ।। १९ ।।

इन समस्त वीर पुरुषोंको युद्धमें परास्त किये बिना तुम अकेले दुर्योधनको नहीं मार सकते ।। १९ ।।

न निद्रामधिगच्छामि चिन्तयानो वृकोदर ।
अतिसर्वान् धनुर्ग्राहान् सूतपुत्रस्य लाघवम् ।। २० ।।

वृकोदर! सूतपुत्र कर्णके हाथोंकी फुर्ती समस्त धनुर्धरोंसे बढ़-चढ़कर है। उसका स्मरण करके मुझे अच्छी तरह नींद नहीं आती है ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

एतद् वचनमाज्ञाय भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
बभूव विमनास्त्रस्तो न चैवोवाच किंचन ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर अत्यन्त क्रोधी भीमसेन उदास और शंकायुक्त हो गये। फिर उनके मुँहसे कोई बात नहीं निकली ।। २१ ।।

तयोः संवदतोरेवं तदा पाण्डवयोर्द्वयोः ।
आजगाम महायोगी व्यासः सत्यवतीसुतः ।। २२ ।।

दोनों पाण्डवोंमें इस प्रकार बातचीत हो ही रही थी कि महायोगी सत्यवतीनन्दन व्यास वहाँ आ पहुँचे ।। २२ ।।

सोऽभिगम्य यथान्यायं पाण्डवैः प्रतिपूजितः ।
युधिष्ठिरमिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ।। २३ ।।

पाण्डवोंने उठकर उनकी अगवानी की और यथायोग्य पूजन किया। तत्पश्चात् वक्ताओंमें श्रेष्ठ व्यासजी युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले— ।। २३ ।।

व्यास उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो वेद्मि ते हृदयस्थितम् ।
मनीषया ततः क्षिप्रमागतोऽस्मि नरर्षभ ।। २४ ।।

व्यासजीने कहा—नरश्रेष्ठ महाबाहु युधिष्ठिर! मैं ध्यानके द्वारा तुम्हारे मनका भाव जान चुका हूँ। इसलिये शीघ्रतापूर्वक यहाँ आया हूँ ।। २४ ।।

भीष्माद् द्रोणात् कृपात् कर्णाद् द्रोणपुत्राच्च भारत ।
दुर्योधनान्नृपसुतात् तथा दुःशासनादपि ।। २५ ।।
यत् ते भयममित्रघ्न हृदि सम्परिवर्तते ।
तत् तेऽहं नाशयिष्यामि विधिदृष्टेन कर्मणा ।। २६ ।।

शत्रुहन्ता भारत! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन और दुःशासनसे भी जो तुम्हारे मनमें भय समा गया है, उसे मैं शास्त्रीय उपायसे नष्ट कर दूँगा ।। २५-२६ ।।

तच्छ्रुत्वा धृतिमास्थाय कर्मणा प्रतिपादय ।
प्रतिपाद्य तु राजेन्द्र ततः क्षिप्रं ज्वरं जहि ।। २७ ।।

राजेन्द्र! उस उपायको सुनकर धैर्यपूर्वक प्रयत्नद्वारा उसका अनुष्ठान करो। उसका अनुष्ठान करके शीघ्र ही अपनी मानसिक चिन्ताका परित्याग कर दो ।। २७ ।।

तत एकान्तमुन्नीय पाराशर्यो युधिष्ठिरम् ।
अब्रवीदुपपन्नार्थमिदं वाक्यविशारदः ।। २८ ।।

तदनन्तर प्रवचनकुशल पराशरनन्दन व्यासजी युधिष्ठिरको एकान्तमें ले गये और उनसे यह युक्तियुक्त वचन बोले— ।। २८ ।।

श्रेयसस्ते परः कालः प्राप्तो भरतसत्तम ।
येनाभिभविता शत्रून् रणे पार्थो धनुर्धरः ।। २९ ।।

'भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे कल्याणका सर्वश्रेष्ठ समय आया है, जिससे धनुर्धर अर्जुन युद्धमें शत्रुओंको पराजित कर देंगे ।। २९ ।।

गृहाणेमां मया प्रोक्तां सिद्धिं मूर्तिमतीमिव ।
विद्यां प्रतिस्मृतिं नाम प्रपन्नाय ब्रवीमि ते ।। ३० ।।

'मेरी दी हुई इस प्रतिस्मृति नामक विद्याको ग्रहण करो, जो मूर्तिमती सिद्धिके समान है। तुम मेरे शरणागत हो, इसलिये मैं तुम्हें इस विद्याका उपदेश करता हूँ ।। ३० ।।

यामवाप्य महाबाहुरर्जुनः साधयिष्यति ।
अस्त्रहेतोर्महेन्द्रं च रुद्रं चैवाभिगच्छतु ।। ३१ ।।
वरुणं च कुबेरं च धर्मराजं च पाण्डव ।
शक्तो ह्येष सुरान् द्रष्टुं तपसा विक्रमेण च ।। ३२ ।।

'जिसे तुमसे पाकर महाबाहु अर्जुन अपना सब कार्य सिद्ध करेंगे। पाण्डुनन्दन! ये अर्जुन दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये देवराज इन्द्र, रुद्र, वरुण, कुबेर तथा धर्मराजके पास जायँ। ये अपनी तपस्या और पराक्रमसे देवताओंको प्रत्यक्ष देखनेमें समर्थ होंगे ।। ३१-३२ ।।

ऋषिरेष महातेजा नारायणसहायवान् ।
पुराणः शाश्वतो देवस्त्वजेयो जिष्णुरच्युतः ।। ३३ ।।
अस्त्राणीन्द्राच्च रुद्राच्च लोकपालेभ्य एव च ।
समादाय महाबाहुर्महत् कर्म करिष्यति ।। ३४ ।।

'भगवान् नारायण जिनके सखा हैं, वे पुरातन महर्षि महातेजस्वी नर ही अर्जुन हैं। सनातन देव, अजेय, विजयशील तथा अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले हैं। महाबाहु अर्जुन इन्द्र, रुद्र तथा अन्य लोकपालोंसे दिव्यास्त्र प्राप्त करके महान् कार्य करेंगे ।। ३३-३४ ।।

वनादस्माच्च कौन्तेय वनमन्यद् विचिन्त्यताम् ।
निवासार्थाय यत् युक्तं भवेद् वः पृथिवीपते ।। ३५ ।।

'कुन्तीकुमार! पृथिवीपते! अब तुम अपने निवासके लिये इस वनसे किसी दूसरे वनमें, जो तुम्हारे लिये उपयोगी हो, जानेकी बात सोचो ।। ३५ ।।

एकत्र चिरवासो हि न प्रीतिजननो भवेत् ।
तापसानां च सर्वेषां भवेदुद्वेगकारकः ।। ३६ ।।

'एक ही स्थानपर अधिक दिनोंतक रहना प्रायः रुचिकर नहीं होता। इसके सिवा, यहाँ तुम्हारा चिरनिवास समस्त तपस्वी महात्माओंके लिये तपमें विघ्न पड़नेके कारण उद्वेगकारक होगा ।। ३६ ।।

मृगाणामुपयोगश्च वीरुदौषधिसंक्षयः ।
बिभर्षि च बहून् विप्रान् वेदवेदाङ्गपारगान् ।। ३७ ।।

'यहाँके हिंसक पशुओंके उपयोग—मारनेका काम हो चुका है तथा तुम बहुत-से वेद-वेदांगोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मणोंका भरण-पोषण करते हो (और हवन करते हो), इसलिये यहाँ लता-गुल्म और ओषधियोंका क्षय हो गया है' ।। ३७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा प्रपन्नाय शुचये भगवान् प्रभुः ।
प्रोवाच लोकतत्त्वज्ञो योगी विद्यामनुत्तमाम् ।। ३८ ।।
धर्मराजाय धीमान् स व्यासः सत्यवतीसुतः ।
अनुज्ञाय च कौन्तेयं तत्रैवान्तरधीयत ।। ३९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर लोकतत्त्वके ज्ञाता एवं शक्तिशाली योगी परम बुद्धिमान् सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यासजीने अपनी शरणमें आये हुए पवित्र धर्मराज युधिष्ठिरको उस अत्युत्तम विद्याका उपदेश किया और कुन्तीकुमारकी अनुमति लेकर फिर वहीं अन्तर्धान हो गये ।। ३८-३९ ।।

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा तद् ब्रह्म मनसा यतः ।
धारयामास मेधावी काले काले सदाभ्यसन् ।। ४० ।।

धर्मात्मा मेधावी संयतचित्त युधिष्ठिरने उस वेदोक्त मन्त्रको मनसे धारण किया और समय-समयपर सदा उसका अभ्यास करने लगे ।। ४० ।।

स व्यासवाक्यमुदितो वनाद् द्वैतवनात् ततः ।
ययौ सरस्वतीकूले काम्यकं नाम काननम् ।। ४१ ।।

तदनन्तर वे व्यासजीकी आज्ञासे प्रसन्नतापूर्वक द्वैतवनसे काम्यकवनमें चले गये, जो सरस्वतीके तटपर सुशोभित है ।। ४१ ।।

तमन्वयुर्महाराज शिक्षाक्षरविशारदाः ।
ब्राह्मणास्तपसा युक्ता देवेन्द्रमृषयो यथा ।। ४२ ।।

महाराज! जैसे महर्षिगण देवराज इन्द्रका अनुसरण करते हैं, वैसे ही वेदादि शास्त्रोंकी शिक्षा तथा अक्षर ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानमें निपुण बहुत-से तपस्वी ब्राह्मण राजा युधिष्ठिरके साथ उस वनमें गये ।। ४२ ।।

ततः काम्यकमासाद्य पुनस्ते भरतर्षभ ।
न्यविशन्त महात्मानः सामात्याः सपरिच्छदाः ।। ४३ ।।

भरतश्रेष्ठ! वहाँसे काम्यकवनमें आकर मन्त्रियों और सेवकोंसहित वे महात्मा पाण्डव पुनः वहीं बस गये ।। ४३ ।।

तत्र ते न्यवसन् राजन् किंचित् कालं मनस्विनः ।
धनुर्वेदपरा वीराः शृण्वन्तो वेदमुत्तमम् ।। ४४ ।।

राजन्! वहाँ धनुर्वेदके अभ्यासमें तत्पर हो उत्तम वेदमन्त्रोंका उद्घोष सुनते हुए उन मनस्वी पाण्डवोंने कुछ कालतक निवास किया ।। ४४ ।।

चरन्तो मृगयां नित्यं शुद्धैर्बाणैर्मृगार्थिनः ।
पितृदैवतविप्रेभ्यो निर्वपन्तो यथाविधि ।। ४५ ।।

वे प्रतिदिन हिंसक पशुओंको मारनेके लिये शुद्ध (शास्त्रानुकूल) बाणोंद्वारा शिकार खेलते थे एवं शास्त्रकी विधिके अनुसार नित्य पितरों तथा देवताओंको अपना-अपना भाग

देते थे अर्थात् नित्य श्राद्ध और नित्य होम करते थे ।। ४५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि काम्यकवनगमने षट्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें काम्यकवनगमनविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३६ ।।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनका सब भाई आदिसे मिलकर इन्द्रकील पर्वतपर जाना एवं इन्द्रका दर्शन करना

वैशम्पायन उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
संस्मृत्य मुनिसंदेशमिदं वचनमब्रवीत् ।। १ ।।
विविक्ते विदितप्रज्ञमर्जुनं पुरुषर्षभ ।
सान्त्वपूर्वं स्मितं कृत्वा पाणिना परिसंस्पृशन् ।। २ ।।
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा वनवासमरिंदमः ।
धनंजयं धर्मराजो रहसीदमुवाच ह ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय! कुछ कालके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरको व्यासजीके संदेशका स्मरण हो आया। तब उन्होंने परम बुद्धिमान् अर्जुनसे एकान्तमें वार्तालाप किया। शत्रुओंका दमन करनेवाले धर्मराज युधिष्ठिरने दो घड़ीतक वनवासके विषयमें चिन्तन करके किंचित् मुसकराते हुए अर्जुनके शरीरको हाथसे स्पर्श किया और एकान्तमें उन्हें सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा ।। १—३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे च भारत ।
धनुर्वेदश्चतुष्पाद एतेष्वद्य प्रतिष्ठितः ।। ४ ।।

युधिष्ठिरने कहा—भारत! आजकल पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण और अश्वत्थामा—इन सबमें चारों पादोंसे युक्त सम्पूर्ण धनुर्वेद प्रतिष्ठित है ।। ४ ।।

दैवं ब्राह्मं मानुषं च सयत्नं सचिकित्सितम् ।
सर्वास्त्राणां प्रयोगं च अभिजानन्ति कृत्स्नशः ।। ५ ।।

वे दैव, ब्राह्म और मानुष तीनों पद्धतियोंके अनुसार सम्पूर्ण अस्त्रोंके प्रयोगकी सारी कलाएँ जानते हैं। उन अस्त्रोंके ग्रहण और धारणरूप प्रयत्नसे तो वे परिचित हैं ही, शत्रुओंद्वारा प्रयुक्त हुए अस्त्रोंकी चिकित्सा (निवारणके उपाय)-को भी जानते हैं ।। ५ ।।

ते सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण परिसान्त्विताः ।
संविभक्ताश्च तुष्टाश्च गुरुवत् तेषु वर्तते ।। ६ ।।

उन सबको धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने बड़े आश्वासनके साथ रखा है और उपभोगकी सामग्री देकर संतुष्ट किया है। इतना ही नहीं, वह उनके प्रति गुरुजनोचित बर्ताव करता है ।। ६ ।।

सर्वयोधेषु चैवास्य सदा प्रीतिरनुत्तमा ।
आचार्या मानितास्तुष्टाः शान्तिं व्यवहरन्त्युत ।। ७ ।।

अन्य सम्पूर्ण योद्धाओंपर भी दुर्योधन सदा ही बहुत प्रेम रखता है। उसके द्वारा सम्मानित और संतुष्ट किये हुए आचार्यगण उसके लिये सदा शान्तिका प्रयत्न करते हैं ।। ७ ।।

शक्तिं न हापयिष्यन्ति ते काले प्रतिपूजिताः ।
अद्य चेयं मही कृत्स्ना दुर्योधनवशानुगा ।। ८ ।।
सग्रामनगरा पार्थ ससागरवनाकरा ।
भवानेव प्रियोऽस्माकं त्वयि भारः समाहितः ।। ९ ।।

जो लोग उसके द्वारा समय-समयपर समादृत हुए हैं, वे कभी उसकी शक्ति क्षीण नहीं होने देंगे । पार्थ! आज यह सारी पृथ्वी ग्राम, नगर, समुद्र, वन तथा खानोंसहित दुर्योधनके वशमें है। तुम्हीं हम सब लोगोंके अत्यन्त प्रिय हो। हमारे उद्धारका सारा भार तुमपर ही है ।। ८-९ ।।

अत्र कृत्यं प्रपश्यामि प्राप्तकालमरिंदम ।
कृष्णद्वैपायनात् तात गृहीतोपनिषन्मया ।। १० ।।

शत्रुदमन! अब इस समयके योग्य जो कर्तव्य मुझे उचित दिखायी देता है, उसे सुनो। तात! मैंने श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीसे एक रहस्यमयी विद्या प्राप्त की है ।। १० ।।

तया प्रयुक्तया सम्यग् जगत् सर्वं प्रकाशते ।
तेन त्वं ब्रह्मणा तात संयुक्तः सुसमाहितः ।। ११ ।।
देवतानां यथाकालं प्रसादं प्रतिपालय ।
तपसा योजयात्मानमुग्रेण भरतर्षभ ।। १२ ।।
धनुष्मात् कवची खड्गी मुनिः साधुव्रते स्थितः ।
न कस्यचित् ददन्मार्गं गच्छ तातोत्तरां दिशम् ।। १३ ।।

उसका विधिवत् प्रयोग करनेपर समस्त जगत् अच्छी प्रकारसे ज्यों-का-त्यों स्पष्ट दीखने लगता है। तात! उस मन्त्र-विद्यासे युक्त एवं एकाग्रचित्त होकर तुम यथासमय देवताओंकी प्रसन्नता प्राप्त करो। भरतश्रेष्ठ! अपने-आपको उग्र तपस्यामें लगाओ। धनुष, कवच और खड्ग धारण किये साधु-व्रतके पालनमें स्थित हो मौनावलम्बनपूर्वक किसीको आक्रमणका मार्ग न देते हुए उत्तर दिशाकी ओर जाओ ।। ११—१३ ।।

इन्द्रे ह्यस्त्राणि दिव्यानि समस्तानि धनंजय ।
वृत्राद् भीतैर्बलं देवैस्तदा शक्रे समर्पितम् ।। १४ ।।

धनंजय! इन्द्रको समस्त दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है। वृत्रासुरसे डरे हुए सम्पूर्ण देवताओंने उस समय अपनी सारी शक्ति इन्द्रको ही समर्पित कर दी थी ।। १४ ।।

तान्येकस्थानि सर्वाणि ततस्त्वं प्रतिपत्स्यसे ।

शक्रमेव प्रपद्यस्व स तेऽस्त्राणि प्रदास्यति ।। १५ ।।
दीक्षितोऽद्यैव गच्छ त्वं द्रष्टुं देव पुरंदरम् ।

वे सब दिव्यास्त्र एक ही स्थानमें हैं, तुम उन्हें वहींसे प्राप्त कर लोगे; अतः तुम इन्द्रकी ही शरण लो। वही तुम्हें सब अस्त्र प्रदान करेंगे। आज ही दीक्षा ग्रहण करके तुम देवराज इन्द्रके दर्शनकी इच्छासे यात्रा करो ।। १५½ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा धर्मराजस्तमध्यापयत प्रभुः ।। १६ ।।
दीक्षितं विधिनानेन धृतवाक्कायमानसम् ।
अनुजज्ञे तदा वीरं भ्राता भ्रातरमग्रजः ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर शक्तिशाली धर्मराज युधिष्ठिरने मन, वाणी और शरीरको संयममें रखकर दीक्षा ग्रहण करनेवाले अर्जुनको विधिपूर्वक पूर्वोक्त प्रतिस्मृति-विद्याका उपदेश किया। तदनन्तर बड़े भाई युधिष्ठिरने अपने वीर भाई अर्जुनको वहाँसे प्रस्थान करनेकी आज्ञा दी ।। १६-१७ ।।

निदेशाद् धर्मराजस्य द्रष्टुकामः पुरंदरम् ।
धनुर्गाण्डीवमादाय तथाक्षय्ये महेषुधी ।। १८ ।।
कवची सतलत्राणो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
हुत्वाग्निं ब्राह्मणान्निष्कैः स्वस्ति वाच्य महाभुजः ।। १९ ।।
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृहीतशरासनः ।
वधाय धार्तराष्ट्राणां निःश्वस्योर्ध्वमुदीक्ष्य च ।। २० ।।

धर्मराजकी आज्ञासे देवराज इन्द्रका दर्शन करनेकी इच्छा मनमें रखकर महाबाहु धनंजयने अग्निमें आहुति दी और स्वर्णमुद्राओंकी दक्षिणा देकर ब्राह्मणोंसे स्वस्ति-वाचन कराया तथा गाण्डीव धनुष और दो महान् अक्षय तूणीर साथ ले कवच, तलत्राण (जूते) तथा अंगुलियोंकी रक्षाके लिये गोहके चमड़ेका बना हुआ अंगुलित्र धारण किया। इसके बाद ऊपरकी ओर देख लंबी साँस खींचकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके वधके लिये महाबाहु अर्जुन धनुष हाथमें लिये वहाँसे प्रस्थित हुए ।। १८—२० ।।

तं दृष्ट्वा तत्र कौन्तेयं प्रगृहीतशरासनम् ।
अब्रुवन् ब्राह्मणाः सिद्धा भूतान्यन्तर्हितानि च ।। २१ ।।

कुन्तीनन्दन अर्जुनको वहाँ धनुष लिये जाते देख सिद्धों, ब्राह्मणों तथा अदृश्य भूतोंने कहा— ।। २१ ।।

क्षिप्रमाप्नुहि कौन्तेय मनसा यद् यदिच्छसि ।
अब्रुवन् ब्राह्मणाः पार्थमिति कृत्वा जयाशिषः ।। २२ ।।
संसाधयस्व कौन्तेय ध्रुवोऽस्तु विजयस्तव ।

'कुन्तीकुमार! तुम अपने मनमें जो-जो इच्छा रखते हो, वह सब तुम्हें शीघ्र प्राप्त हो।' इसके बाद ब्राह्मणोंने अर्जुनको विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए कहा—'कुन्तीपुत्र! तुम अपना अभीष्ट साधन करो, तुम्हें अवश्य विजय प्राप्त हो' ।। २२½ ।।

तं तथा प्रस्थितं वीरं शालस्कन्धोरुमर्जुनम् ।। २३ ।।
मनांस्यादाय सर्वेषां कृष्णा वचनमब्रवीत् ।

शालवृक्षके समान कंधे और जाँघोंसे सुशोभित वीर अर्जुनको इस प्रकार सबके चित्तको चुराकर प्रस्थान करते देख द्रौपदी इस प्रकार बोली ।। २३½ ।।

कृष्णोवाच

यत् ते कुन्ती महाबाहो जातस्यैच्छद् धनंजय ।। २४ ।।
तत् तेऽस्तु सर्वं कौन्तेय यथा च स्वयमिच्छसि ।

द्रौपदीने कहा—कुन्तीकुमार महाबाहु धनंजय! आपके जन्म लेनेके समय आर्या कुन्तीने अपने मनमें आपके लिये जो-जो इच्छाएँ की थीं तथा आप स्वयं भी अपने हृदयमें जो-जो मनोरथ रखते हों, वे सब आपको प्राप्त हों ।। २४½ ।।

मास्माकं क्षत्रियकुले जन्म कश्चिदवाप्नुयात् ।। २५ ।।
ब्राह्मणेभ्यो नमो नित्यं येषां भैक्ष्येण जीविका ।

हमलोगोंमेंसे कोई भी क्षत्रिय-कुलमें उत्पन्न न हो। उन ब्राह्मणोंको नमस्कार है, जिनका भिक्षासे ही निर्वाह हो जाता है ।। २५½ ।।

इदं मे परमं दुःखं यः स पापः सुयोधनः ।। २६ ।।
दृष्ट्वा मां गौरिति प्राह प्रहसन् राजसंसदि ।

नाथ! मुझे सबसे बढ़कर दुःख इस बातसे हुआ है कि उस पापी दुर्योधनने राजाओंसे भरी हुई सभामें मेरी ओर देखकर और मुझे 'गाय' (अनेक पुरुषोंके उपभोगमें आनेवाली) कहकर मेरा उपहास किया ।। २६½ ।।

तस्माद् दुःखादिदं दुःखं गरीय इति मे मतिः ।। २७ ।।
यत् तत् परिषदो मध्ये बह्वयुक्तमभाषत ।

उस दुःखसे भी बढ़कर महान् कष्ट मुझे इस बातसे हुआ कि उसने भरी सभामें मेरे प्रति बहुत-सी अनुचित बातें कहीं ।। २७½ ।।

नूनं ते भ्रातरः सर्वे त्वत्कथाभिः प्रजागरे ।। २८ ।।
रंस्यन्ते वीर कर्माणि कथयन्तः पुनः पुनः ।
नैव नः पार्थ भोगेषु न धने नोत जीविते ।। २९ ।।
तुष्टिर्बुद्धिर्भवित्री वा त्वयि दीर्घप्रवासिनि ।
त्वयि नः पार्थ सर्वेषां सुखदुःखे समाहिते ।। ३० ।।
जीवितं मरणं चैव राज्यमैश्वर्यमेव च ।

आपृष्टो मेऽसि कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ।। ३१ ।।

वीरवर! निश्चय ही आपके चले जानेके बाद आपके सभी भाई जागते समय आपहीके पराक्रमकी चर्चा बार-बार करते हुए अपना मन बहलायेंगे। पार्थ! दीर्घकालके लिये आपके प्रवासी हो जानेपर हमारा मन न तो भोगोंमें लगेगा और न धनमें ही। इस जीवनमें भी कोई रस नहीं रह जायगा। आपके बिना हम इन वस्तुओंसे संतोष नहीं पा सकेंगे। पार्थ! हम सबके सुख-दुःख, जीवन-मरण तथा राज्य-ऐश्वर्य आपपर ही निर्भर हैं। भरतकुलतिलक! कुन्तीकुमार! मैंने आपको विदा दी; आप कल्याणको प्राप्त हों ।। २८—३१ ।।

बलवद्भिर्विरुद्धं न कार्यमेतत् त्वयानघ ।
प्रयाह्यविघ्नेनैवाशु विजयाय महाबल ।
नमो धात्रे विधात्रे च स्वस्ति गच्छ ह्यनामयम् ।। ३२ ।।

निष्पाप महाबली आर्यपुत्र! आप बलवानोंसे विरोध न करें, यह मेरा अनुरोध है। विघ्न-बाधाओंसे रहित हो विजयप्राप्तिके लिये शीघ्र यात्रा कीजिये। धाता और विधाताको नमस्कार है। आप कुशल और स्वस्थतापूर्वक प्रस्थान कीजिये ।। ३२ ।।

ह्रीः श्रीः कीर्तिर्द्युतिः पुष्टिरुमा लक्ष्मीः सरस्वती ।
इमा वै तव पान्थस्य पालयन्तु धनंजय ।। ३३ ।।

धनंजय! ह्री, श्री, कीर्ति, द्युति, पुष्टि, उमा, लक्ष्मी और सरस्वती—ये सब देवियाँ मार्गमें जाते समय आपकी रक्षा करें ।। ३३ ।।

ज्येष्ठापचायी ज्येष्ठस्य भ्रातुर्वचनकारकः ।
प्रपद्येऽहं वसून् रुद्रानादित्यान् समरुद्गणान् ।। ३४ ।।
विश्वेदेवांस्तथा साध्याञ्छान्त्यर्थं भरतर्षभ ।
स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च भारत ।। ३५ ।।
दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यो ये चान्ये परिपन्थिनः ।

आप बड़े भाईका आदर करनेवाले हैं, उनकी आज्ञाके पालक हैं। भरतश्रेष्ठ! मैं आपकी शान्तिके लिये वसु, रुद्र, आदित्य, मरुद्गण, विश्वेदेव तथा साध्य देवताओंकी शरण लेती हूँ। भारत! भौम, आन्तरिक्ष तथा दिव्य भूतोंसे और दूसरे भी जो मार्गमें विघ्न डालनेवाले प्राणी हैं, उन सबसे आपका कल्याण हो ।। ३४-३५½ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वाऽऽशिषः कृष्णा विरराम यशस्विनी ।। ३६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसी मंगलकामना करके यशस्विनी द्रौपदी चुप हो गयी ।। ३६ ।।

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भ्रातॄन् धौम्यं च पाण्डवः ।
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृह्य रुचिरं धनुः ।। ३७ ।।

तदनन्तर पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुनने अपना सुन्दर धनुष हाथमें लेकर सभी भाइयों और धौम्य मुनिको दाहिने करके वहाँसे प्रस्थान किया ।। ३७ ।।

तस्य मार्गादपाक्रामन् सर्वभूतानि गच्छतः ।

युक्तस्यैन्द्रेण योगेन पराक्रान्तस्य शुष्मिणः ।। ३८ ।।

महान् पराक्रमी और महाबली अर्जुनके यात्रा करते समय उनके मार्गसे समस्त प्राणी दूर हट जाते थे; क्योंकि वे इन्द्रसे मिला देनेवाली प्रतिस्मृति नामक योगविद्यासे युक्त थे ।। ३८ ।।

सोऽगच्छत् पर्वतांस्तात तपोधननिषेवितान् ।

दिव्यं हैमवतं पुण्यं देवजुष्टं परंतपः ।। ३९ ।।

परंतप अर्जुन तपस्वी महात्माओंद्वारा सेवित पर्वतोंके मार्गसे होते हुए दिव्य, पवित्र तथा देवसेवित हिमालय पर्वतपर जा पहुँचे ।। ३९ ।।

अगच्छत् पर्वतं पुण्यमेकाह्नैव महामनाः ।

मनोजवगतिर्भूत्वा योगयुक्तो यथानिलः ।। ४० ।।

महामना अर्जुन योगयुक्त होनेके कारण मनके समान तीव्र वेगसे चलनेमें समर्थ हो गये थे, अतः वे वायुके समान एक ही दिनमें उस पुण्य पर्वतपर पहुँच गये ।। ४० ।।

हिमवन्तमतिक्रम्य गन्धमादनमेव च ।

अत्यक्रामत् स दुर्गाणि दिवारात्रमतन्द्रितः ।। ४१ ।।

हिमालय और गन्धमादन पर्वतको लाँघकर उन्होंने आलस्यरहित हो दिन-रात चलते हुए और भी बहुत-से दुर्गम स्थानोंको पार किया ।। ४१ ।।

इन्द्रकीलं समासाद्य ततोऽतिष्ठद् धनंजयः ।

अन्तरिक्षेऽतिशुश्राव तिष्ठेति स वचस्तदा ।। ४२ ।।

तदनन्तर इन्द्रकील पर्वतपर पहुँचकर अर्जुनने आकाशमें उच्च स्वरसे गूँजती हुई एक वाणी सुनी—'तिष्ठ' (यहीं ठहर जाओ)। तब वे वहीं ठहर गये ।। ४२ ।।

तच्छ्रुत्वा सर्वतो दृष्टिं चारयामास पाण्डवः ।

अथापश्यत् सव्यसाची वृक्षमूले तपस्विनम् ।। ४३ ।।

वह वाणी सुनकर पाण्डुनन्दन अर्जुनने चारों ओर दृष्टिपात किया। इतनेहीमें उन्हें वृक्षके मूलभागमें बैठे हुए एक तपस्वी महात्मा दिखायी दिये ।। ४३ ।।

ब्राह्मया श्रिया दीप्यमानं पिङ्गलं जटिलं कृशम् ।

सोऽब्रवीदर्जुनं तत्र स्थितं दृष्ट्वा महातपाः ।। ४४ ।।

वे अपने ब्रह्मतेजसे उद्भासित हो रहे थे। उनकी अंगकान्ति पिंगलवर्णकी थी। सिरपर जटा बढ़ी हुई थी और शरीर अत्यन्त कृश था। उन महातपस्वीने अर्जुनको वहाँ खड़े हुए देखकर पूछा— ।। ४४ ।।

कस्त्वं तातेह सम्प्राप्तो धनुष्मान् कवची शरी ।

निबद्धासितलत्राणः क्षत्रधर्ममनुव्रतः ।। ४५ ।।
नेह शस्त्रेण कर्तव्यं शान्तानामेष आलयः ।
विनीतक्रोधहर्षाणां ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ।। ४६ ।।

'तात! तुम कौन हो? जो धनुष-बाण, कवच, तलवार तथा दस्तानेसे सुसज्जित हो क्षत्रियधर्मका अनुगमन करते हुए यहाँ आये हो। यहाँ अस्त्र-शस्त्रकी आवश्यकता नहीं है। यह तो क्रोध और हर्षको जीते हुए तपस्यामें तत्पर शान्त ब्राह्मणोंका स्थान है ।। ४५-४६ ।।

नेहास्ति धनुषा कार्यं न संग्रामोऽत्र कर्हिचित् ।
निक्षिपैतद् धनुस्तात प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ।। ४७ ।।

'यहाँ कभी कोई युद्ध नहीं होता, इसलिये यहाँ तुम्हारे धनुषका कोई काम नहीं है। तात! यह धनुष यहीं फेंक दो, अब तुम उत्तम गतिको प्राप्त हो चुके हो ।। ४७ ।।

ओजसा तेजसा वीर यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ।
तथा हसन्निवाभीक्ष्णं ब्राह्मणोऽर्जुनमब्रवीत् ।
न चैनं चालयामास धैर्यात् सुधृतनिश्चयम् ।। ४८ ।।

'वीर! ओज और तेजमें तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई पुरुष नहीं है!' इस प्रकार उन ब्रह्मर्षिने हँसते हुए-से बार-बार अर्जुनसे धनुषको त्याग देनेकी बात कही। परंतु अर्जुन धनुष न त्यागनेका दृढ़ निश्चय कर चुके थे; अतः ब्रह्मर्षि उन्हें धैर्यसे विचलित नहीं कर सके ।।

तमुवाच ततः प्रीतः स द्विजः प्रहसन्निव ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते शक्रोऽहमरिसूदन ।। ४९ ।।

तब उन ब्राह्मण देवताने पुनः प्रसन्न होकर उनसे हँसते हुए-से कहा—'शत्रुसूदन! तुम्हारा भला हो, मैं साक्षात् इन्द्र हूँ, मुझसे कोई वर माँगो' ।। ४९ ।।

एवमुक्तः सहस्राक्षं प्रत्युवाच धनंजयः ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा शूरः कुरुकुलोद्वहः ।। ५० ।।

यह सुनकर कुरुकुलरत्न शूरवीर अर्जुनने सहस्र नेत्रधारी इन्द्रसे हाथ जोड़कर प्रणामपूर्वक कहा— ।। ५० ।।

ईप्सितो ह्येष वै कामो वरं चैनं प्रयच्छ मे ।
त्वत्तोऽद्य भगवन्तस्त्रं कृत्स्नमिच्छामि वेदितुम् ।। ५१ ।।

'भगवन्! मैं आपसे सम्पूर्ण अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ, यही मेरा अभीष्ट मनोरथ है; अतः मुझे यही वर दीजिये' ।। ५१ ।।

प्रत्युवाच महेन्द्रस्तं प्रीतात्मा प्रहसन्निव ।
इह प्राप्तस्य किं कार्यमस्त्रैस्तव धनंजय ।। ५२ ।।
कामान् वृणीष्य लोकांस्त्वं प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ।
एवमुक्तः प्रत्युवाच सहस्राक्षं धनंजयः ।। ५३ ।।

न लोभान्न पुनः कामान्न देवत्वं पुनः सुखम् ।
न च सर्वामरैश्वर्यं कामये त्रिदशाधिप ।। ५४ ।।
भ्रातॄंस्तान् विपिने त्यक्त्वा वैरमप्रतियात्य च ।
अकीर्तिं सर्वलोकेषु गच्छेयं शाश्वतीः समाः ।। ५५ ।।

तब महेन्द्रने प्रसन्नचित्त हो हँसते हुए-से कहा—'धनंजय! जब तुम यहाँतक आ पहुँचे, तब तुम्हें अस्त्रोंको लेकर क्या करना है? अब इच्छानुसार उत्तम लोक माँग लो; क्योंकि तुम्हें उत्तम गति प्राप्त हुई है।' यह सुनकर धनंजयने पुनः देवराजसे कहा—'देवेश्वर! मैं अपने भाइयोंको वनमें छोड़कर (शत्रुओंसे) वैरका बदला लिये बिना लोभ अथवा कामनाके वशीभूत हो न तो देवत्व चाहता हूँ, न सुख और न सम्पूर्ण देवताओंका ऐश्वर्य प्राप्त कर लेनेकी ही मेरी इच्छा है। यदि मैंने वैसा किया तो सदाके लिये सम्पूर्ण लोकोंमें मुझे महान् अपयश प्राप्त होगा' ।। ५२—५५ ।।

एवमुक्तः प्रत्युवाच वृत्रहा पाण्डुनन्दनम् ।
सान्त्वयञ्छ्लक्ष्णया वाचा सर्वलोकनमस्कृतः ।। ५६ ।।

अर्जुनके ऐसा कहनेपर विश्ववन्दित, वृत्र-विनाशक इन्द्रने मधुर वाणीमें अर्जुनको सान्त्वना देते हुए कहा— ।। ५६ ।।

यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं त्र्यक्षं शूलधरं शिवम् ।
तदा दातास्मि ते तात दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः ।। ५७ ।।

'तात! जब तुम्हें तीन नेत्रोंसे विभूषित त्रिशूलधारी भूतनाथ भगवान् शिवका दर्शन होगा, तब मैं तुम्हें सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्रदान करूँगा ।। ५७ ।।

क्रियतां दर्शने यत्नो देवस्य परमेष्ठिनः ।
दर्शनात् तस्य कौन्तेय संसिद्धः स्वर्गमेष्यसि ।। ५८ ।।

'कुन्तीकुमार! तुम उन परमेश्वर महादेवजीका दर्शन पानेके लिये प्रयत्न करो। उनके दर्शनसे पूर्णतः सिद्ध हो जानेपर तुम स्वर्गलोकमें पधारोगे' ।। ५८ ।।

इत्युक्त्वा फाल्गुनं शक्रो जगामादर्शनं पुनः ।
अर्जुनोऽप्यथ तत्रैव तस्थौ योगसमन्वितः ।। ५९ ।।

अर्जुनसे ऐसा कहकर इन्द्र पुनः अदृश्य हो गये। तत्पश्चात् अर्जुन योगयुक्त हुए वहीं रहने लगे ।। ५९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि इन्द्रदर्शने सप्तत्रिंशोऽध्यायः ।। ३७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्वमें इन्द्रदर्शनविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३७ ।।

(कैरातपर्व)

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनकी उग्र तपस्या और उसके विषयमें ऋषियोंका भगवान् शंकरके साथ वार्तालाप

जनमेजय उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पार्थस्याक्लिष्टकर्मणः ।
विस्तरेण कथामेतां यथास्त्राण्युपलब्धवान् ।। १ ।।

जनमेजय बोले—भगवन्! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनकी यह कथा मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ; उन्होंने किस प्रकार अस्त्र प्राप्त किये? ।। १ ।।

यथा च पुरुषव्याघ्रो दीर्घबाहुर्धनंजयः ।
वनं प्रविष्टस्तेजस्वी निर्मनुष्यमभीतवत् ।। २ ।।

पुरुषसिंह महाबाहु तेजस्वी धनंजय उस निर्जन वनमें निर्भयके समान कैसे चले गये थे? ।। २ ।।

किं च तेन कृतं तत्र वसता ब्रह्मवित्तम ।
कथं च भगवान् स्थाणुर्देवराजश्च तोषितः ।। ३ ।।

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! उस वनमें रहकर पार्थने क्या किया? भगवान् शंकर तथा देवराज इन्द्रको कैसे संतुष्ट किया? ।। ३ ।।

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्प्रसादाद् द्विजोत्तम ।
त्वं हि सर्वज्ञ दिव्यं च मानुषं चैव वेत्थ ह ।। ४ ।।

विप्रवर! मैं आपकी कृपासे ये सब बातें सुनना चाहता हूँ। सर्वज्ञ! आप दिव्य और मानुष सभी वृत्तान्तों-को जानते हैं ।। ४ ।।

अत्यद्भुततमं ब्रह्मन् रोमहर्षणमर्जुनः ।
भवेन सह संग्रामं चकाराप्रतिमं किल ।। ५ ।।
पुरा प्रहरतां श्रेष्ठः संग्रामेष्वपराजितः ।
यच्छ्रुत्वा नरसिंहाना दैन्यहर्षातिविस्मयात् ।। ६ ।।
शूराणामपि पार्थानां हृदयानि चकम्पिरे ।
यद् यच्च कृतवानन्यत् पार्थस्तदखिलं वद ।। ७ ।।

ब्रह्मन्! मैंने सुना है, कभी संग्राममें परास्त न होनेवाले, योद्धाओंमें श्रेष्ठ अर्जुनने पूर्वकालमें भगवान् शंकरके साथ अत्यन्त अद्भुत, अनुपम और रोमांचकारी युद्ध किया था, जिसे सुनकर मनुष्योंमें श्रेष्ठ शूरवीर कुन्तीपुत्रोंके हृदयोंमें भी दैन्य, हर्ष और विस्मयके कारण कँपकँपी छा गयी थी। अर्जुनने और भी जो-जो कार्य किये हों, वे सब भी मुझे बताइये ।। ५—७ ।।

न ह्यस्य निन्दितं जिष्णोः सुसूक्ष्ममपि लक्षये ।
चरितं तस्य शूरस्य तन्मे सर्वं प्रकीर्तय ।। ८ ।।

शूरवीर अर्जुनका अत्यन्त सूक्ष्म चरित्र भी ऐसा नहीं दिखायी देता है, जिसमें थोड़ी-सी भी निन्दाके लिये स्थान हो; अतः वह सब मुझसे कहिये ।। ८ ।।

वैशम्पायन उवाच

कथयिष्यामि ते तात कथामेतां महात्मनः ।
दिव्यां पौरवशार्दूल महतीमद्भुतोपमाम् ।। ९ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—तात! पौरवश्रेष्ठ! महात्मा अर्जुनकी यह कथा दिव्य, अद्‌भुत और महत्त्वपूर्ण है; इसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ ।। ९ ।।

गात्रसंस्पर्शसम्बद्धां त्र्यम्बकेण सहानघ ।
पार्थस्य देवदेवेन शृणु सम्यक् समागमम् ।। १० ।।

अनघ! देवदेव महादेवजीके साथ अर्जुनके शरीरका जो स्पर्श हुआ था, उससे सम्बन्ध रखनेवाली यह कथा है। तुम उन दोनोंके मिलनका यह वृत्तान्त भलीभाँति सुनो ।। १० ।।

युधिष्ठिरनियोगात् स जगामामितविक्रमः ।
शक्रं सुरेश्वरं द्रष्टुं देवदेवं च शंकरम् ।। ११ ।।
दिव्यं तद् धनुरादाय खड्गं च कनकत्सरुम् ।
महाबलो महाबाहुरर्जुनः कार्यसिद्धये ।। १२ ।।
दिशं ह्युदीचीं कौरव्यो हिमवच्छिखरं प्रति ।
ऐन्द्रिः स्थिरमना राजन् सर्वलोकमहारथः ।। १३ ।।

राजन्! अमित पराक्रमी, महाबली, महाबाहु, कुरुकुलभूषण, इन्द्रपुत्र अर्जुन, जो सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात महारथी और सुस्थिर चित्तवाले थे, युधिष्ठिरकी आज्ञासे देवराज इन्द्र तथा देवाधिदेव भगवान् शंकरका दर्शन करनेके लिये कार्यकी सिद्धिका उद्देश्य लेकर अपने उस दिव्य (गाण्डीव) धनुष और सोनेकी मूँठवाले खड्गको हाथमें लिये उत्तर दिशामें हिमालय पर्वतकी ओर चले ।। ११—१३ ।।

त्वरया परया युक्तस्तपसे धृतनिश्चयः ।
वनं कण्टकितं घोरमेक एवान्वपद्यत ।। १४ ।।

तपस्याके लिये दृढ़ निश्चय करके बड़ी उतावलीके साथ जाते हुए वे अकेले ही एक भयंकर कण्टकाकीर्ण वनमें पहुँचे ।। १४ ।।

नानापुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम् ।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम् ।। १५ ।।

जो नाना प्रकारके फल-फूलोंसे भरा था, भाँति-भाँतिके पक्षी जहाँ कलरव कर रहे थे, अनेक जातियोंके मृग उस वनमें सब ओर विचरते रहते थे तथा कितने ही सिद्ध और चारण निवास कर रहे थे ।। १५ ।।

ततः प्रयाते कौन्तेये वनं मानुषवर्जितम् ।
शङ्खानां पटहानां च शब्दः समभवद् दिवि ।। १६ ।।

तदनन्तर कुन्तीनन्दन अर्जुनके उस निर्जन वनमें पहुँचते ही आकाशमें शंखों और नगाड़ोंका गम्भीर घोष गूँज उठा ।। १६ ।।

पुष्पवर्षं च सुमहन्निपपात महीतले ।
मेघजालं च विततं छादयामास सर्वतः ।। १७ ।।
सोऽतीत्य वनदुर्गाणि संनिकर्षे महागिरेः ।
शुशुभे हिमवत्पृष्ठे वसमानोऽर्जुनस्तदा ।। १८ ।।

पृथ्वीपर फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी। मेघोंकी घटा घिरकर आकाशमें सब ओर छा गयी। उन दुर्गम वनस्थलियोंको लाँघकर अर्जुन हिमालयके पृष्ठभागमें एक महान् पर्वतके निकट निवास करते हुए शोभा पाने लगे ।। १७-१८ ।।

तत्रापश्यद् द्रुमान् फुल्लान् विहगैर्वल्गुनादितान् ।
नदीश्च विपुलावर्ता वैदूर्यविमलप्रभाः ।। १९ ।।

वहाँ उन्होंने फूलोंसे सुशोभित बहुत-से वृक्ष देखे, जो पक्षियोंके मधुर शब्दसे गुंजायमान हो रहे थे। उन्होंने वैदूर्यमणिके समान स्वच्छ जलसे भरी हुई शोभामयी कितनी ही नदियाँ देखीं, जिनमें बहुत-सी भँवरें उठ रही थीं ।। १९ ।।

हंसकारण्डवोद्‌गीताः सारसाभिरुतास्तथा ।
पुंस्कोकिलरुताश्चैव क्रौञ्चबर्हिणनादिताः ।। २० ।।

हंस, कारण्डव तथा सारस आदि पक्षी वहाँ मीठी बोली बोलते थे। तटवर्ती वृक्षोंपर कोयल मनोहर शब्द बोल रही थी। क्रौंचके कलरव और मयूरोंकी केकाध्वनि भी वहाँ सब ओर गूँजती रहती थी ।। २० ।।

मनोहरवनोपेतास्तस्मिन्नतिरथोऽर्जुनः ।
पुण्यशीतामलजलाः पश्यन् प्रीतमनाभवत् ।। २१ ।।

उन नदियोंके आस-पास मनोहर वनश्रेणी सुशोभित होती थी। हिमालयके उस शिखरपर पवित्र, शीतल और निर्मल जलसे भरी हुई उन सुन्दर सरिताओंका दर्शन करके अतिरथी अर्जुनका मन प्रसन्नतासे खिल उठा ।। २१ ।।

रमणीये वनोद्देशे रममाणोऽर्जुनस्तदा ।
तपस्युग्रे वर्तमान उग्रतेजा महामनाः ।। २२ ।।

उग्र तेजस्वी महामना अर्जुन वहाँ वनके रमणीय प्रदेशोंमें घूम-फिरकर बड़ी कठोर तपस्यामें संलग्न हो गये ।। २२ ।।

दर्भचीरं निवस्याथ दण्डाजिनविभूषितः ।
शीर्णं च पतितं भूमौ पर्णं समुपयुक्तवान् ।। २३ ।।

कुशाका ही चीर धारण किये तथा दण्ड और मृगचर्मसे विभूषित अर्जुन पृथ्वीपर गिरे हुए सूखे पत्तोंका ही भोजनके स्थानमें उपयोग करते थे ।। २३ ।।

पूर्णे पूर्णे त्रिरात्रे तु मासमेकं फलाशनः ।
द्विगुणेन हि कालेन द्वितीयं मासमत्ययात् ।। २४ ।।

एक मासतक वे तीन-तीन रातके बाद केवल फलाहार करके रहे। दूसरे मासको उन्होंने पहलेकी अपेक्षा दूने-दूने समयपर अर्थात् छः-छः रातके बाद फलाहार करके व्यतीत किया ।। २४ ।।

तृतीयमपि मासं स पक्षेणाहारमाचरन् ।
चतुर्थे त्वथ सम्प्राप्ते मासे भरतसत्तमः ।। २५ ।।
वायुभक्षो महाबाहुरभवत् पाण्डुनन्दनः ।
ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बः पादाङ्गुष्ठाग्रविष्ठितः ।। २६ ।।

तीसरा महीना पंद्रह-पंद्रह दिनमें भोजन करके बिताया। चौथा महीना आनेपर भरतश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुन केवल वायु पीकर रहने लगे। वे दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये बिना किसी सहारेके पैरके अंगूठेके अग्रभागके बलपर खड़े रहे ।। २५-२६ ।।

सदोपस्पर्शनाच्चास्य बभूवुरमितौजसः ।
विद्युदम्भोरुहनिभा जटास्तस्य महात्मनः ।। २७ ।।

अमित तेजस्वी महात्मा अर्जुनके सिरकी जटाएँ नित्य स्नान करनेके कारण विद्युत् और कमलोंके समान हो गयी थीं ।। २७ ।।

ततो महर्षयः सर्वे जग्मुर्देवं पिनाकिनम् ।
निवेदयिषवः पार्थं तपस्युग्रे समास्थितम् ।। २८ ।।

तदनन्तर भयंकर तपस्यामें लगे हुए अर्जुनके विषयमें कुछ निवेदन करनेकी इच्छासे वहाँ रहनेवाले सभी महर्षि पिनाकधारी महादेवजीकी सेवामें गये ।। २८ ।।

तं प्रणम्य महादेवं शशंसुः पार्थकर्म तत् ।
एष पार्थो महातेजा हिमवत्पृष्ठमास्थितः ।। २९ ।।
उग्रे तपसि दुष्पारे स्थितो धूमाययन् दिशः ।
तस्य देवेश न वयं विद्मः सर्वे चिकीर्षितम् ।। ३० ।।

उन्होंने महादेवजीको प्रणाम करके अर्जुनका वह तपरूप कर्म कह सुनाया। वे बोले—'भगवन्! ये महातेजस्वी कुन्तीपुत्र अर्जुन हिमालयके पृष्ठभागमें स्थित हो अपार एवं उग्र तपस्यामें संलग्न हैं और सम्पूर्ण दिशाओंको धूमाच्छादित कर रहे हैं। देवेश्वर! वे क्या करना चाहते हैं, इस विषयमें हमलोगोंमेंसे कोई कुछ नहीं जानता है ।। २९-३० ।।

संतापयति नः सर्वानसौ साधु निवार्यताम् ।
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा मुनीनां भावितात्मनाम् ।। ३१ ।।
उमापतिर्भूतपतिर्वाक्यमेतदुवाच ह ।

'वे अपनी तपस्याके संतापसे हम सब महर्षियोंको संतप्त कर रहे हैं। अतः आप उन्हें तपस्यासे सद्भावपूर्वक निवृत्त कीजिये।' पवित्र चित्तवाले उन महर्षियोंका यह वचन सुनकर भूतनाथ भगवान् शंकर इस प्रकार बोले— ।। ३१½ ।।

महादेव उवाच

न वो विषादः कर्तव्यः फाल्गुनं प्रति सर्वशः ।। ३२ ।।
शीघ्रं गच्छत संहृष्टा यथागतमतन्द्रिताः ।
अहमस्य विजानामि संकल्पं मनसि स्थितम् ।। ३३ ।।

महादेवजीने कहा—महर्षियो! तुम्हें अर्जुनके विषयमें किसी प्रकारका विषाद करनेकी आवश्यकता नहीं है। तुरन्त आलस्यरहित हो शीघ्र ही प्रसन्नतापूर्वक जैसे आये हो, वैसे ही लौट जाओ। अर्जुनके मनमें जो संकल्प है, मैं उसे भलीभाँति जानता हूँ ।। ३२-३३ ।।

नास्य स्वर्गस्पृहा काचिन्नैश्वर्यस्य तथाऽऽयुषः ।
यत् तस्य काङ्क्षितं सर्वं तत् करिष्येऽहमद्य वै ।। ३४ ।।

उन्हें स्वर्गलोककी कोई इच्छा नहीं है, वे ऐश्वर्य तथा आयु भी नहीं चाहते। वे जो कुछ पाना चाहते हैं, वह सब मैं आज ही पूर्ण करूँगा ।। ३४ ।।

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा शर्ववचनमृषयः सत्यवादिनः ।
प्रहृष्टमनसो जग्मुर्यथा स्वान् पुनरालयान् ।। ३५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भगवान् शंकरका यह वचन सुनकर वे सत्यवादी महर्षि प्रसन्नचित्त हो फिर अपने आश्रमोंको लौट गये ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि मुनिशङ्करसंवादे अष्टात्रिंशोऽध्यायः ।। ३८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें महर्षियों तथा भगवान् शंकरके संवादसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३८ ।।

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

भगवान् शंकर और अर्जुनका युद्ध, अर्जुनपर उनका प्रसन्न होना एवं अर्जुनके द्वारा भगवान् शंकरकी स्तुति

वैशम्पायन उवाच

गतेषु तेषु सर्वेषु तपस्विषु महात्मसु ।
पिनाकपाणिर्भगवान् सर्वपापहरो हरः ।। १ ।।
कैरातं वेषमास्थाय काञ्चनद्रुमसंनिभम् ।
विभ्राजमानो विपुलो गिरिर्मेरुरिवापरः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन सब तपस्वी महात्माओंके चले जानेपर सर्वपापहारी, पिनाक-पाणि, भगवान् शंकर किरातवेष धारण करके सुवर्णमय वृक्षके सदृश दिव्य कान्तिसे उद्भासित होने लगे। उनका शरीर दूसरे मेरुपर्वतके समान दीप्तिमान् और विशाल था ।। १-२ ।।

श्रीमद् धनुरुपादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।
निष्पपात महावेगो दहनो देहवानिव ।। ३ ।।

वे एक शोभायमान धनुष और सर्पोंके समान विषाक्त बाण लेकर बड़े वेगसे चले। मानो साक्षात् अग्निदेव ही देह धारण करके निकले हों ।। ३ ।।

देव्या सहोमया श्रीमान् समानव्रतवेषया ।
नानावेषधरैर्हृष्टैर्भूतैरनुगतस्तदा ।। ४ ।।
किरातवेषसंच्छन्नः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ।
अशोभत तदा राजन् स देशोऽतीव भारत ।। ५ ।।

उनके साथ भगवती उमा भी थीं, जिनका व्रत और वेष भी उन्हींके समान था। अनेक प्रकारके वेष धारण किये भूतगण भी प्रसन्नतापूर्वक उनके पीछे हो लिये थे। इस प्रकार किरातवेषमें छिपे हुए श्रीमान् शिव सहस्रों स्त्रियोंसे घिरकर बड़ी शोभा पा रहे थे। भरतवंशी राजन्! उस समय वह प्रदेश उन सबके चलने-फिरनेसे अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ।। ४-५ ।।

क्षणेन तद् वनं सर्वं निःशब्दमभवत् तदा ।
नादः प्रस्रवणानां च पक्षिणां चाप्युपारमत् ।। ६ ।।

एक ही क्षणमें वह सारा वन शब्दरहित हो गया। झरनों और पक्षियोंतककी आवाज बंद हो गयी ।। ६ ।।

स संनिकर्षमागम्य पार्थस्याक्लिष्टकर्मणः ।

मूकं नाम दनोः पुत्रं ददर्शाद्भुतदर्शनम् ।। ७ ।।
वाराहं रूपमास्थाय तर्कयन्तमिवार्जुनम् ।
हन्तुं परं दीप्यमानं तमुवाचाथ फाल्गुनः ।। ८ ।।
गाण्डीवं धनुरादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।
सज्यं धनुर्वरं कृत्वा ज्याघोषेण निनादयन् ।। ९ ।।

अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले कुन्तीपुत्र अर्जुनके निकट आकर भगवान् शंकरने अद्भुत दीखनेवाले मूक नामक अद्‌भुत दानवको देखा, जो सूअरका रूप धारण करके अत्यन्त तेजस्वी अर्जुनको मार डालनेका उपाय सोच रहा था; उस समय अर्जुनने गाण्डीव धनुष और विषैले सर्पोंके समान भयंकर बाण हाथमें ले धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ाकर उसकी टंकारसे दिशाओंको प्रतिध्वनित करके कहा— ।। ७—९ ।।

यन्मां प्रार्थयसे हन्तुमनागसमिहागतम् ।
तस्मात् त्वां पूर्वमेवाहं नेताद्य यमसादनम् ।। १० ।।

‘अरे! तू यहाँ आये हुए मुझ निरपराधको मारनेकी घातमें लगा है, इसीलिये मैं आज पहले ही तुझे यमलोक भेज दूँगा’ ।। १० ।।

दृष्ट्वा तं प्रहरिष्यन्तं फाल्गुनं दृढधन्विनम् ।
किरातरूपी सहसा वारयामास शङ्करः ।। ११ ।।

सुदृढ़ धनुषवाले अर्जुनको प्रहारके लिये उद्यत देख किरातरूपधारी भगवान् शंकरने उन्हें सहसा रोका ।। ११ ।।

मयैष प्रार्थितः पूर्वमिन्द्रकीलसमप्रभः ।
अनादृत्य च तद् वाक्यं प्रजहाराथ फाल्गुनः ।। १२ ।।

और कहा—‘इन्द्रकील पर्वतके समान कान्तिवाले इस सूअरको पहलेसे ही मैंने अपना लक्ष्य बना रखा है, अतः तुम न मारो।’ परंतु अर्जुनने किरातके वचनकी अवहेलना करके उसपर प्रहार कर ही दिया ।। १२ ।।

किरातश्च समं तस्मिन्नेकलक्ष्ये महाद्युतिः ।
प्रमुमोचाशनिप्रख्यं शरमग्निशिखोपमम् ।। १३ ।।

साथ ही महातेजस्वी किरातने भी उसी एकमात्र लक्ष्यपर बिजली और अग्निशिखाके समान तेजस्वी बाण छोड़ा ।। १३ ।।

तौ मुक्तौ सायकौ ताभ्यां समं तत्र निपेततुः ।
मूकस्य गात्रे विस्तीर्णे शैलसंहनने तदा ।। १४ ।।

उन दोनोंके छोड़े हुए वे दोनों बाण एक ही साथ मूक दानवके पर्वत-सदृश विशाल शरीरमें लगे ।। १४ ।।

यथाशनेर्विनिर्घोषो वज्रस्येव च पर्वते ।
तथा तयोः संनिपातः शरयोरभवत् तदा ।। १५ ।।

जैसे पर्वतपर बिजलीकी गड़गड़ाहट और वज्रपातका भयंकर शब्द होता है, उसी प्रकार उन दोनों बाणोंके आघातका शब्द हुआ ।। १५ ।।

स विद्धो बहुभिर्बाणैर्दीप्तास्यैः पन्नगैरिव ।
ममार राक्षसं रूपं भूयः कृत्वा विभीषणम् ।। १६ ।।

इस प्रकार प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंके समान अनेक बाणोंसे घायल होकर वह दानव फिर अपने भयानक राक्षसरूपको प्रकट करते हुए मर गया ।। १६ ।।

स ददर्श ततो जिष्णुः पुरुषं काञ्चनप्रभम् ।
किरातवेषसंच्छन्नं स्त्रीसहायममित्रहा ।। १७ ।।
तमब्रवीत् प्रीतमनाः कौन्तेयः प्रहसन्निव ।
को भवानटते शून्ये वने स्त्रीगणसंवृतः ।। १८ ।।

इसी समय शत्रुनाशक अर्जुनने सुवर्णके समान कान्तिमान् एक तेजस्वी पुरुषको देखा, जो स्त्रियोंके साथ आकर अपनेको किरातवेषमें छिपाये हुए थे। तब कुन्तीकुमारने प्रसन्नचित्त होकर हँसते हुए-से कहा—'आप कौन हैं जो इस सूने वनमें स्त्रियोंसे घिरे हुए घूम रहे हैं? ।। १७-१८ ।।

न त्वमस्मिन् वने घोरे बिभेषि कनकप्रभ ।
किमर्थं च त्वया विद्धो वराहो मत्परिग्रहः ।। १९ ।।

'सुवर्णके समान दीप्तिमान् पुरुष! क्या आपको इस भयानक वनमें भय नहीं लगता? यह सूअर तो मेरा लक्ष्य था, आपने क्यों उसपर बाण मारा? ।। १९ ।।

मयाभिपन्नः पूर्वं हि राक्षसोऽयमिहागतः ।
कामात् परिभवाद् वापि न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ।। २० ।।

'यह राक्षस पहले यहीं मेरे पास आया था और मैंने इसे काबूमें कर लिया था। आपने किसी कामनासे इस शूकरको मारा हो या मेरा तिरस्कार करनेके लिये। किसी दशामें भी मैं आपको जीवित नहीं छोड़ूँगा ।। २० ।।

न ह्येष मृगयाधर्मो यस्त्वयाद्य कृतो मयि ।
तेन त्वां भ्रंशयिष्यामि जीवितात् पर्वताश्रयम् ।। २१ ।।

'यह मृगयाका धर्म नहीं है, जो आज आपने मेरे साथ किया है। आप पर्वतके निवासी हैं तो भी उस अपराधके कारण मैं आपको जीवनसे वंचित कर दूँगा' ।। २१ ।।

इत्युक्तः पाण्डवेयेन किरातः प्रहसन्निव ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा पाण्डवं सव्यसाचिनम् ।। २२ ।।

पाण्डुनन्दन अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर किरात-वेषधारी भगवान् शंकर जोर-जोरसे हँस पड़े और सव्यसाची पाण्डवसे मधुर वाणीमें बोले— ।। २२ ।।

न मत्कृते त्वया वीर भीः कार्या वनमन्तिकात् ।
इयं भूमिः सदास्माकमुचिता वसतां वने ।। २३ ।।

'वीर! तुम हमारे लिये वनके निकट आनेके कारण भय न करो। हम तो वनवासी हैं, अतः हमारे लिये इस भूमिपर विचरना सदा उचित ही है ।। २३ ।।

त्वया तु दुष्करः कस्मादिह वासः प्ररोचितः ।
वयं तु बहुसत्त्वेऽस्मिन् निवसामस्तपोधन ।। २४ ।।

'किंतु तुमने यहाँका दुष्कर निवास कैसे पसंद किया? तपोधन! हम तो अनेक प्रकारके जीव-जन्तुओंसे भरे हुए इस वनमें सदा ही रहते हैं ।। २४ ।।

भवांस्तु कृष्णवर्त्माभः सुकुमारः सुखोचितः ।
कथं शून्यमिमं देशमेकाकी विचरिष्यति ।। २५ ।।

'तुम्हारे अंगोंकी प्रभा प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ती है। तुम सुकुमार हो और सुख भोगनेके योग्य प्रतीत होते हो। इस निर्जन प्रदेशमें किसलिये अकेले विचर रहे हो?' ।। २५ ।।

अर्जुन उवाच

गाण्डीवमाश्रयं कृत्वा नाराचांश्चाग्निसंनिभान् ।
निवसामि महारण्ये द्वितीय इव पावकिः ।। २६ ।।

अर्जुनने कहा—मैं गाण्डीव धनुष और अग्निके समान तेजस्वी बाणोंका आश्रय लेकर इस महान् वनमें द्वितीय कार्तिकेयकी भाँति (निर्भय) निवास करता हूँ ।। २६ ।।

एष चापि मया जन्तुर्मृगरूपं समाश्रितः ।
राक्षसो निहतो घोरो हन्तुं मामिह चागतः ।। २७ ।।

यह प्राणी हिंसक पशुका रूप धारण करके मुझे ही मारनेके लिये यहाँ आया था, अतः इस भयंकर राक्षसको मैंने मार गिराया है ।। २७ ।।

किरात उवाच

मयैष धन्वनिर्मुक्तैस्ताडितः पूर्वमेव हि ।
बाणैरभिहतः शेते नीतश्च यमसादनम् ।। २८ ।।

किरातरूपधारी शिव बोले—मैंने अपने धनुषद्वारा छोड़े हुए बाणोंसे पहले ही इसे घायल कर दिया था। मेरे ही बाणोंकी चोट खाकर यह सदाके लिये सो रहा है और यमलोकमें पहुँच गया ।। २८ ।।

ममैष लक्ष्यभूतो हि मम पूर्वपरिग्रहः ।
ममैव च प्रहारेण जीविताद् व्यपरोपितः ।। २९ ।।

मैंने ही पहले इसे अपने बाणोंका निशाना बनाया, अतः तुमसे पहले इसपर मेरा अधिकार स्थापित हो चुका था। मेरे ही तीव्र प्रहारसे इस दानवको अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा है ।। २९ ।।

दोषान् स्वान् नार्हसेऽन्यस्मै वक्तुं स्वबलदर्पितः ।

अवलिप्तोऽसि मन्दात्मन् न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ।। ३० ।।

मन्दबुद्धे! तुम अपने बलके घमंडमें आकर अपने दोष दूसरेपर नहीं मढ़ सकते। तुम्हें अपनी शक्तिपर बड़ा गर्व है; अतः अब तुम मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकते ।। ३० ।।

स्थिरो भवस्व मोक्ष्यामि सायकानशनीनिव ।
घटस्व परया शक्त्या मुञ्च त्वमपि सायकान् ।। ३१ ।।

धैर्यपूर्वक सामने खड़े रहो, मैं वज्रके समान भयानक बाण छोड़ूँगा। तुम भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर मुझे जीतनेका प्रयास करो। मेरे ऊपर अपने बाण छोड़ो ।। ३१ ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा किरातस्यार्जुनस्तदा ।
रोषमाहारयामास ताडयामास चेषुभिः ।। ३२ ।।

किरातकी वह बात सुनकर उस समय अर्जुनको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने बाणोंसे उसपर प्रहार आरम्भ किया ।। ३२ ।।

ततो हृष्टेन मनसा प्रतिजग्राह सायकान् ।
भूयो भूय इति प्राह मन्दमन्देत्युवाच ह ।। ३३ ।।
प्रहरस्व शरानेतान् नाराचान् मर्मभेदिनः ।

तब किरातने प्रसन्नचित्तसे अर्जुनके छोड़े हुए सभी बाणोंको पकड़ लिया और कहा —‘ओ मूर्ख! और बाण मार और बाण मार, इन मर्मभेदी नाराचोंका प्रहार कर’ ।। ३३½ ।।

इत्युक्तो बाणवर्षं स मुमोच सहसार्जुनः ।। ३४ ।।

उसके ऐसा कहनेपर अर्जुनने सहसा बाणोंकी झड़ी लगा दी ।। ३४ ।।

ततस्तौ तत्र संरब्धौ राजमानौ मुहुर्मुहुः ।
शरैराशीविषाकारैस्ततक्षाते परस्परम् ।। ३५ ।।

तदनन्तर वे दोनों क्रोधमें भरकर बारंबार सर्पाकार बाणोंद्वारा एक-दूसरेको घायल करने लगे। उस समय उन दोनोंकी बड़ी शोभा होने लगी ।। ३५ ।।

ततोऽर्जुनः शरवर्षं किराते समवासृजत् ।
तत् प्रसन्नेन मनसा प्रतिजग्राह शङ्करः ।। ३६ ।।

तत्पश्चात् अर्जुनने किरातपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की; परंतु भगवान् शंकरने प्रसन्नचित्तसे उन सब बाणोंको ग्रहण कर लिया ।। ३६ ।।

मुहूर्तं शरवर्षं तत् प्रतिगृह्य पिनाकधृक् ।
अक्षतेन शरीरेण तस्थौ गिरिरिवाचलः ।। ३७ ।।

पिनाकधारी शिव दो ही घड़ीमें सारी बाण-वर्षाको अपनेमें लीन करके पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे। उनके शरीरपर तनिक भी चोट या क्षति नहीं पहुँची थी ।। ३७ ।।

स दृष्ट्वा बाणवर्षं तु मोघीभूतं धनंजयः ।
परमं विस्मयं चक्रे साधु साध्विति चाब्रवीत् ।। ३८ ।।

अपनी की हुई सारी बाण-वर्षा व्यर्थ हुई देख धनंजयको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे किरातको साधुवाद देने लगे और बोले— ।। ३८ ।।

अहोऽयं सुकुमाराङ्गो हिमवच्छिखराश्रयः ।

गाण्डीवमुक्तान् नाराचान् प्रतिगृह्णात्यविह्वलः ।। ३९ ।।

'अहो! हिमालयके शिखरपर निवास करनेवाले इस किरातके अंग तो बड़े सुकुमार हैं, तो भी यह गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंको ग्रहण कर लेता है और तनिक भी व्याकुल नहीं होता ।। ३९ ।।

कोऽयं देवो भवेत् साक्षाद् रुद्रो यक्षः सुरोऽसुरः ।

विद्यते हि गिरिश्रेष्ठे त्रिदशानां समागमः ।। ४० ।।

'यह कौन है? साक्षात् भगवान् रुद्रदेव, यक्ष, देवता अथवा असुर तो नहीं है। इस श्रेष्ठ पर्वतपर देवताओंका आना-जाना होता रहता है ।। ४० ।।

न हि मद्बाणजालानामुत्सृष्टानां सहस्रशः ।

शक्तोऽन्यः सहितुं वेगमृते देवं पिनाकिनम् ।। ४१ ।।

'मैंने सहस्रों बार जिन बाण-समूहोंकी वृष्टि की है, उनका वेग पिनाकधारी भगवान् शंकरके सिवा दूसरा कोई नहीं सह सकता ।। ४१ ।।

देवो वा यदि वा यक्षो रुद्रादन्यो व्यवस्थितः ।

अहमेनं शरैस्तीक्ष्णैर्नयामि यमसादनम् ।। ४२ ।।

'यदि यह रुद्रदेवसे भिन्न व्यक्ति है तो यह देवता हो या यक्ष—मैं इसे तीखे बाणोंसे मारकर अभी यमलोक भेजता हूँ' ।। ४२ ।।

ततो हृष्टमना जिष्णुर्नाराचान् मर्मभेदिनः ।

व्यसृजच्छतधा राजन् मयूखानिव भास्करः ।। ४३ ।।

राजन्! यह सोचकर प्रसन्नचित्त अर्जुनने सहस्रों किरणोंको फैलानेवाले भगवान् भास्करकी भाँति सैकड़ों मर्मभेदी नाराचोंका प्रहार किया ।। ४३ ।।

तान् प्रसन्नेन मनसा भगवाँल्लोकभावनः ।

शूलपाणिः प्रत्यगृह्णाच्छिलावर्षमिवाचलः ।। ४४ ।।

परंतु त्रिशूलधारी भूतभावन भगवान् भवने हर्षभरे हृदयसे उन सब नाराचोंको उसी प्रकार आत्मसात् कर लिया, जैसे पर्वत पत्थरोंकी वर्षाको ।। ४४ ।।

अर्जुनकी तपस्या

अर्जुनका किरातवेषधारी भगवान् शिवपर बाण चलाना

क्षणेन क्षीणबाणोऽथ संवृत्तः फाल्गुनस्तदा ।
भीश्चैनमाविशत् तीव्रा तं दृष्ट्वा शरसंक्षयम् ।। ४५ ।।

उस समय एक ही क्षणमें अर्जुनके सारे बाण समाप्त हो चले। उन बाणोंका इस प्रकार विनाश देखकर उनके मनमें बड़ा भय समा गया ।। ४५ ।।

चिन्तयामास जिष्णुस्तु भगवन्तं हुताशनम् ।
पुरस्तादक्षयौ दत्तौ तूणौ येनास्य खाण्डवे ।। ४६ ।।

विजयी अर्जुनने उस समय भगवान् अग्निदेवका चिन्तन किया, जिन्होंने खाण्डववनमें प्रत्यक्ष दर्शन देकर उन्हें दो अक्षय तूणीर प्रदान किये थे ।। ४६ ।।

किं नु मोक्ष्यामि धनुषा यन्मे बाणाः क्षयं गताः ।
अयं च पुरुषः कोऽपि बाणान् ग्रसति सर्वशः ।। ४७ ।।
हत्वा चैनं धनुष्कोट्या शूलाग्रेणेव कुञ्जरम् ।
नयामि दण्डधारस्य यमस्य सदनं प्रति ।। ४८ ।।

वे मन-ही-मन सोचने लगे, ‘मेरे सारे बाण नष्ट हो गये, अब मैं धनुषसे क्या चलाऊँगा। यह कोई अद्भुत पुरुष है, जो मेरे सारे बाणोंको खाये जा रहा है। अच्छा, अब मैं शूलके अग्रभागसे घायल किये जानेवाले हाथीकी भाँति इसे धनुषकी कोटि (नोक)-से मारकर दण्डधारी यमराजके लोकमें पहुँचा देता हूँ’ ।। ४७-४८ ।।

प्रगृह्याथ धनुष्कोट्या ज्यापाशेनावकृष्य च ।
मुष्टिभिश्चापि हतवान् वज्रकल्पैर्महाद्युतिः ।। ४९ ।।

ऐसा विचारकर महातेजस्वी अर्जुनने किरातको अपने धनुषकी कोटिसे पकड़कर उसकी प्रत्यंचामें उसके शरीरको फँसाकर खींचा और वज्रके समान दुःसह मुष्टिप्रहारसे पीड़ित करना प्रारम्भ किया ।। ४९ ।।

सम्प्रयुद्धो धनुष्कोट्या कौन्तेयः परवीरहा ।
तदप्यस्य धनुर्दिव्यं जग्राह गिरिगोचरः ।। ५० ।।

शत्रु-वीरोंका संहार करनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुनने जब धनुषकी कोटिसे प्रहार किया, तब उस पर्वतीय किरातने अर्जुनके उस दिव्य धनुषको भी अपनेमें लीन कर लिया ।। ५० ।।

ततोऽर्जुनो ग्रस्तधनुः खड्गपाणिरतिष्ठत ।
युद्धस्यान्तमभीप्सन् वै वेगेनाभिजगाम तम् ।। ५१ ।।

तदनन्तर धनुषके ग्रस्त हो जानेपर अर्जुन हाथमें तलवार लेकर खड़े हो गये और युद्धका अन्त कर देनेकी इच्छासे वेगपूर्वक उसपर आक्रमण किया ।। ५१ ।।

तस्य मूर्ध्नि शितं खड्गमसक्तं पर्वतेष्वपि ।
मुमोच भुजवीर्येण विक्रम्य कुरुनन्दनः ।। ५२ ।।

उनकी वह तलवार पर्वतोंपर भी कुण्ठित नहीं होती थी। कुरुनन्दन अर्जुनने अपने भुजाओंकी पूरी शक्ति लगाकर किरातके मस्तकपर उस तीक्ष्ण धारवाली तलवारसे वार किया ।। ५२ ।।

तस्य मूर्धानमासाद्य पफालासिवरो हि सः ।
ततो वृक्षैः शिलाभिश्च योधयामास फाल्गुनः ।। ५३ ।।

परंतु उसके मस्तकसे टकराते ही वह उत्तम तलवार टूक-टूक हो गयी। तब अर्जुनने वृक्षों और शिलाओंसे युद्ध करना आरम्भ किया ।। ५३ ।।

तदा वृक्षान् महाकायः प्रत्यगृह्णादथो शिलाः ।
किरातरूपी भगवांस्ततः पार्थो महाबलः ।। ५४ ।।
मुष्टिभिर्वज्रसंकाशैर्धूममुत्पादयन् मुखे ।
प्रजहार दुराधर्षे किरातसमरूपिणि ।। ५५ ।।

तब विशालकाय किरातरूपी भगवान् शंकरने उन वृक्षों और शिलाओंको भी ग्रहण कर लिया। यह देखकर महाबली कुन्तीकुमार अपने वज्रतुल्य मुक्कोंसे दुर्धर्ष किरात-सदृश रूपवाले भगवान् शिवपर प्रहार करने लगे। उस समय क्रोधके आवेशसे अर्जुनके मुखसे धूम प्रकट हो रहा था ।। ५४-५५ ।।

ततः शक्राशनिसमैर्मुष्टिभिर्भृशदारुणैः ।
किरातरूपी भगवानर्दयामास फाल्गुनम् ।। ५६ ।।

तदनन्तर किरातरूपी भगवान् शिव भी अत्यन्त दारुण और इन्द्रके वज्रके समान दु:सह मुक्कोंसे मारकर अर्जुनको पीड़ा देने लगे ।। ५६ ।।

ततश्चटचटाशब्द: सुघोर: समपद्यत ।

पाण्डवस्य च मुष्टीनां किरातस्य च युध्यत: ।। ५७ ।।

फिर तो घमासान युद्धमें लगे हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन तथा किरातरूपी शिवके मुक्कोंका एक-दूसरेके शरीरपर प्रहार होनेसे बड़ा भयंकर 'चट-चट' शब्द होने लगा ।। ५७ ।।

सुमुहूर्तं तु तद् युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।

भुजप्रहारसंयुक्तं वृत्रवासवयोरिव ।। ५८ ।।

वृत्रासुर और इन्द्रके समान उन दोनोंका वह रोमांचकारी बाहुयुद्ध दो घड़ीतक चलता रहा ।। ५८ ।।

जघानाथ ततो जिष्णु: किरातमुरसा बली ।

पाण्डवं च विचेष्टं तं किरातोऽप्यहनद् बली ।। ५९ ।।

तत्पश्चात् बलवान् वीर अर्जुनने अपनी छातीसे किरातको बड़े जोरसे मारा, तब महाबली किरातने भी विपरीत चेष्टा करनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनपर आघात किया ।। ५९ ।।

तयोर्भुजविनिष्पेषात् संघर्षेणोरसोस्तथा ।

समजायत गात्रेषु पावकोऽङ्गारधूमवान् ।। ६० ।।

उन दोनोंकी भुजाओंके टकराने और वक्ष:स्थलोंके संघर्षसे उनके अंगोंमें धूम और चिनगारियोंके साथ आग प्रकट हो जाती थी ।। ६० ।।

तत एनं महादेव: पीड्य गात्रै: सुपीडितम् ।

तेजसा व्यक्रमद् रोषाच्चेतस्तस्य विमोहयन् ।। ६१ ।।

तदनन्तर! महादेवजीने अपने अंगोंसे दबाकर अर्जुनको अच्छी तरह पीड़ा दी और उनके चित्तको मूर्च्छित-सा करते हुए उन्होंने तेज तथा रोषसे उनके ऊपर अपना पराक्रम प्रकट किया ।। ६१ ।।

ततोऽभिपीडितैर्गात्रै: पिण्डीकृत इवाबभौ ।

फाल्गुनो गात्रसंरुद्धो देवदेवेन भारत ।। ६२ ।।

भारत! तदनन्तर देवाधिदेव महादेवजीके अंगोंसे अवरुद्ध हो अर्जुन अपने पीड़ित अवयवोंके साथ मिट्टीके लोंदे-से दिखायी देने लगे ।। ६२ ।।

निरुच्छ्वासोऽभवच्चैव संनिरुद्धो महात्मना ।

पपात भूम्यां निश्चेष्टो गतसत्त्व इवाभवत् ।। ६३ ।।

महात्मा भगवान् शंकरके द्वारा भलीभाँति नियन्त्रित हो जानेके कारण अर्जुनकी श्वासक्रिया बंद हो गयी। वे निष्प्राणकी भाँति चेष्टाहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ।। ६३ ।।

स मुहूर्तं तथा भूत्वा सचेताः पुनरुत्थितः ।
रुधिरेणाप्लुताङ्गस्तु पाण्डवो भृशदुःखितः ।। ६४ ।।

दो घड़ीतक उसी अवस्थामें पड़े रहनेके पश्चात् जब अर्जुनको चेत हुआ, तब वे उठकर खड़े हो गये। उस समय उनका सारा शरीर खूनसे लथपथ हो रहा था और वे बहुत दुःखी हो गये थे ।। ६४ ।।

शरण्यं शरणं गत्वा भगवन्तं पिनाकिनम् ।
मृण्मयं स्थण्डिलं कृत्वा माल्येनापूजयद् भवम् ।। ६५ ।।

तब वे शरणागतवत्सल पिनाकधारी भगवान् शिवकी शरणमें गये और मिट्टीकी वेदी बनाकर उसीपर पार्थिव शिवकी स्थापना करके पुष्पमालाके द्वारा उनका पूजन किया ।। ६५ ।।

तच्च माल्यं तदा पार्थः किरातशिरसि स्थितम् ।
अपश्यत् पाण्डवश्रेष्ठो हर्षेण प्रकृतिं गतः ।। ६६ ।।

कुन्तीकुमारने जो माला पार्थिव शिवपर चढ़ायी थी, वह उन्हें किरातके मस्तकपर पड़ी दिखायी दी। यह देखकर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन हर्षसे उल्लसित हो अपने आपेमें आ गये ।। ६६ ।।

पपात पादयोस्तस्य ततः प्रीतोऽभवद् भवः ।
उवाच चैनं वचसा मेघगम्भीरगीर्हरः ।
जातविस्मयमालोक्य तपःक्षीणाङ्गसंहतिम् ।। ६७ ।।

और किरातरूपी भगवान् शंकरके चरणोंमें गिर पड़े। उस समय तपस्याके कारण उनके समस्त अवयव क्षीण हो रहे थे और वे महान् आश्चर्यमें पड़ गये थे, उन्हें इस अवस्थामें देखकर सर्वपापहारी भगवान् भव उनपर बहुत प्रसन्न हुए और मेघके समान गम्भीर वाणीमें बोले ।। ६७ ।।

भव उवाच

भो भोः फाल्गुन तुष्टोऽस्मि कर्मणाप्रतिमेन ते ।
शौर्येणानेन धृत्या च क्षत्रियो नास्ति ते समः ।। ६८ ।।

भगवान् शिवने कहा—फाल्गुन! मैं तुम्हारे इस अनुपम पराक्रम, शौर्य और धैर्यसे बहुत संतुष्ट हूँ। तुम्हारे समान दूसरा कोई क्षत्रिय नहीं है ।। ६८ ।।

समं तेजश्च वीर्यं च ममाद्य तव चानघ ।
प्रीतस्तेऽहं महाबाहो पश्य मां भरतर्षभ ।। ६९ ।।

अनघ! तुम्हारा तेज और पराक्रम आज मेरे समान सिद्ध हुआ है। महाबाहु भरतश्रेष्ठ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। मेरी ओर देखो ।। ६९ ।।

ददामि ते विशालाक्ष चक्षुः पूर्वऋषिर्भवान् ।

विजेष्यसि रणे शत्रूनपि सर्वान् दिवौकसः ।। ७० ।।

विशाललोचन! मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ। तुम पहलेके 'नर' नामक ऋषि हो। तुम युद्धमें अपने शत्रुओंपर, वे चाहे सम्पूर्ण देवता ही क्यों न हों, विजय पाओगे ।। ७० ।।

प्रीत्या च तेऽहं दास्यामि यदस्त्रमनिवारितम् ।
त्वं हि शक्तो मदीयं तदस्त्रं धारयितुं क्षणात् ।। ७१ ।।

मैं तुम्हारे प्रेमवश तुम्हें अपना पाशुपतास्त्र दूँगा, जिसकी गतिको कोई रोक नहीं सकता। तुम क्षणभरमें मेरे उस अस्त्रको धारण करनेमें समर्थ हो जाओगे ।। ७१ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो देवं महादेवं गिरिशं शूलपाणिनम् ।
ददर्श फाल्गुनस्तत्र सह देव्या महाद्युतिम् ।। ७२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अर्जुनने शूलपाणि महातेजस्वी महादेवजीका देवी पार्वती-सहित दर्शन किया ।। ७२ ।।

स जानुभ्यां महीं गत्वा शिरसा प्रणिपत्य च ।
प्रसादयामास हरं पार्थः परपुरंजयः ।। ७३ ।।

शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले कुन्तीकुमारने उनके आगे पृथ्वीपर घुटने टेक दिये और सिरसे प्रणाम करके शिवजीको प्रसन्न किया ।। ७३ ।।

अर्जुन उवाच

कपर्दिन् सर्वदेवेश भगनेत्रनिपातन ।
देवदेव महादेव नीलग्रीव जटाधर ।। ७४ ।।

अर्जुन बोले—जटाजूटधारी सर्वदेवेश्वर देवदेव महादेव! आप भगदेवताके नेत्रोंका विनाश करनेवाले हैं। आपकी ग्रीवामें नील चिह्न शोभा पा रहा है। आप अपने मस्तकपर सुन्दर जटा धारण करते हैं ।। ७४ ।।

कारणानां च परमं जाने त्वां त्र्यम्बकं विभुम् ।
देवानां च गतिं देव त्वत्प्रसूतमिदं जगत् ।। ७५ ।।

प्रभो! मैं आपको समस्त कारणोंमें सर्वश्रेष्ठ कारण मानता हूँ। आप त्रिनेत्रधारी तथा सर्वव्यापी हैं। सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय हैं। देव! यह सम्पूर्ण जगत् आपसे ही उत्पन्न हुआ है ।। ७५ ।।

अजेयस्त्वं त्रिभिर्लोकैः सदेवासुरमानुषैः ।
शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे ।। ७६ ।।

देवता, असुर और मनुष्योंसहित तीनों लोक भी आपको पराजित नहीं कर सकते। आप ही विष्णुरूप शिव तथा शिवस्वरूप विष्णु हैं, आपको नमस्कार है ।। ७६ ।।

दक्षयज्ञविनाशाय हरिरुद्राय वै नमः ।

ललाटाक्षाय शर्वाय मीढुषे शूलपाणये ।। ७७ ।।

दक्षयज्ञका विनाश करनेवाले हरिहररूप आप भगवान्‌को नमस्कार है। आपके ललाटमें तृतीय नेत्र शोभा पाता है। आप जगत्‌का संहारक होनेके कारण शर्व कहलाते हैं। भक्तोंकी अभीष्ट कामनाओंकी वर्षा करनेके कारण आपका नाम मीढ्वान् (वर्षणशील) है। अपने हाथमें त्रिशूल धारण करनेवाले आपको नमस्कार है ।। ७७ ।।

पिनाकगोप्त्रे सूर्याय मंगल्याय च वेधसे ।
प्रसादये त्वां भगवन् सर्वभूतमहेश्वर ।। ७८ ।।

पिनाकरक्षक, सूर्यस्वरूप, मंगलकारक और सृष्टिकर्ता आप परमेश्वरको नमस्कार है। भगवन्! सर्वभूत-महेश्वर! मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ ।। ७८ ।।

गणेशं जगतः शम्भुं लोककारणकारणम् ।
प्रधानपुरुषातीतं परं सूक्ष्मतरं हरम् ।। ७९ ।।

आप भूतगणोंके स्वामी, सम्पूर्ण जगत्‌का कल्याण करनेवाले तथा जगत्‌के कारणके भी कारण हैं। प्रकृति और पुरुष दोनोंसे परे अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूप तथा भक्तोंके पापोंको हरनेवाले हैं ।। ७९ ।।

व्यतिक्रमं मे भगवन् क्षन्तुमर्हसि शंकर ।
भगवन् दर्शनाकाङ्क्षी प्राप्तोऽस्मीमं महागिरिम् ।। ८० ।।

कल्याणकारी भगवन्! मेरा अपराध क्षमा कीजिये। भगवन्! मैं आपहीके दर्शनकी इच्छा लेकर इस महान् पर्वतपर आया हूँ ।। ८० ।।

दयितं तव देवेश तापसालयमुत्तमम् ।
प्रसादये त्वां भगवन् सर्वलोकनमस्कृतम् ।। ८१ ।।

देवेश्वर! यह शैल-शिखर तपस्वियोंका उत्तम आश्रय तथा आपका प्रिय निवासस्थान है। प्रभो! सम्पूर्ण जगत् आपके चरणोंमें वन्दना करता है। मैं आपसे यह प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझपर प्रसन्न हों ।। ८१ ।।

न मे स्यादपराधोऽयं महादेवातिसाहसात् ।
कृतो मयायमज्ञानाद् विमर्दो यस्त्वया सह ।
शरणं प्रतिपन्नाय तत् क्षमस्वाद्य शंकर ।। ८२ ।।

महादेव! अत्यन्त साहसवश मैंने जो आपके साथ यह युद्ध किया है, इसमें मेरा अपराध नहीं है। यह अनजानमें मुझसे बन गया है। शंकर! मैं अब आपकी शरणमें आया हूँ। आप मेरी उस धृष्टताको क्षमा करें ।।

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच महातेजाः प्रहस्य वृषभध्वजः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुं क्षान्तमित्येव फाल्गुनम् ।। ८३ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! तब महातेजस्वी भगवान् वृषभध्वजने अर्जुनका सुन्दर हाथ पकड़कर उनसे हँसते हुए कहा—'मैंने तुम्हारा अपराध पहलेसे ही क्षमा कर दिया' ।। ८३ ।।

परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रीतात्मा भगवान् हरः ।
पुनः पार्थं सान्त्वपूर्वमुवाच वृषभध्वजः ।। ८४ ।।

फिर उन्हें दोनों भुजाओंसे खींचकर हृदयसे लगाया और प्रसन्नचित्त हो वृषके चिह्नसे अंकितध्वजा धारण करनेवाले भगवान् रुद्रने पुनः कुन्तीकुमारको सान्त्वना देते हुए कहा ।। ८४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि महादेवस्तवे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ३९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें महादेवजीकी स्तुतिसे सम्बन्ध रखनेवाला उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३९ ।।

चत्वारिंशोऽध्यायः

भगवान् शंकरका अर्जुनको वरदान देकर अपने धामको प्रस्थान

देवदेव उवाच

नरस्त्वं पूर्वदेहे वै नारायणसहायवान् ।
बदर्यां तप्तवानुग्रं तपो वर्षायुतान् बहून् ।। १ ।।

देवदेव महादेवजी बोले—अर्जुन! तुम पूर्व-शरीरमें 'नर' नामक सुप्रसिद्ध ऋषि थे। नारायण तुम्हारे सखा हैं। तुमने बदरिकाश्रममें अनेक सहस्र वर्षोंतक उग्र तपस्या की है ।। १ ।।

त्वयि वा परमं तेजो विष्णौ वा पुरुषोत्तमे ।
युवाभ्यां पुरुषाग्रयाभ्यां तेजसा धार्यते जगत् ।। २ ।।

तुममें अथवा पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुमें उत्कृष्ट तेज है। तुम दोनों पुरुषरत्नोंने अपने तेजसे इस सम्पूर्ण जगत्को धारण कर रखा है ।। २ ।।

शक्राभिषेके सुमहद्धनुर्जलदनिःस्वनम् ।
प्रगृह्य दानवाः शस्तास्त्वया कृष्णेन च प्रभो ।। ३ ।।

प्रभो! तुमने और श्रीकृष्णने इन्द्रके अभिषेकके समय मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले महान् धनुषको हाथमें लेकर बहुत-से दानवोंका वध किया था ।। ३ ।।

तदेतदेव गाण्डीवं तव पार्थ करोचितम् ।
मायामास्थाय यद् ग्रस्तं मया पुरुषसत्तम ।। ४ ।।

पुरुषप्रवर पार्थ! तुम्हारे हाथमें रहनेयोग्य यही वह गाण्डीव धनुष है, जिसे मैंने मायाका आश्रय लेकर अपनेमें विलीन कर लिया था ।। ४ ।।

तूणौ चाप्यक्षयौ भूयस्तव पार्थ यथोचितौ ।
भविष्यति शरीरं च नीरुजं कुरुनन्दन ।। ५ ।।

कुरुनन्दन! और ये रहे तुम्हारे दोनों अक्षय तूणीर, जो सर्वथा तुम्हारे ही योग्य हैं। कुन्तीकुमार! तुम्हारे शरीरमें जो चोट पहुँची है, वह सब दूर होकर तुम नीरोग हो जाओगे ।। ५ ।।

प्रीतिमानस्मि ते पार्थ भवान् सत्यपराक्रमः ।
गृहाण वरमस्मत्तः काङ्क्षितं पुरुषोत्तम ।। ६ ।।

पार्थ! तुम्हारा पराक्रम यथार्थ है, इसलिये मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। पुरुषोत्तम! तुम मुझसे मनोवांछित वर ग्रहण करो ।। ६ ।।

न त्वया पुरुषः कश्चित् पुमान् मर्त्येषु मानद ।
दिवि वा वर्तते क्षत्रं त्वत्प्रधानमरिंदम ।। ७ ।।

मानद! मर्त्यलोक अथवा स्वर्गलोकमें भी कोई पुरुष तुम्हारे समान नहीं है। शत्रुदमन! क्षत्रिय-जातिमें तुम्हीं सबसे श्रेष्ठ हो ।। ७ ।।

अर्जुन उवाच

भगवन् ददासि चेन्मह्यं कामं प्रीत्या वृषध्वज ।
कामये दिव्यमस्त्रं तद् घोरं पाशुपतं प्रभो ।। ८ ।।

अर्जुन बोले—भगवन्! वृषध्वज! यदि आप प्रसन्नतापूर्वक मुझे इच्छानुसार वर देते हैं तो प्रभो! मैं उस भयंकर दिव्यास्त्र पाशुपतको प्राप्त करना चाहता हूँ ।। ८ ।।

यत् तद् ब्रह्मशिरो नाम रौद्रं भीमपराक्रमम् ।
युगान्ते दारुणे प्राप्ते कृत्स्नं संहरते जगत् ।। ९ ।।

जिसका नाम ब्रह्मशिर है, आप भगवान् रुद्र ही जिसके देवता हैं, जो भयानक पराक्रम प्रकट करनेवाला तथा दारुण प्रलयकालमें सम्पूर्ण जगत्का संहारक है ।। ९ ।।

कर्णभीष्मकृपद्रोणैर्भविता तु महाहवः ।
त्वत्प्रसादान्महादेव जयेयं तान् यथा युधि ।। १० ।।

महादेव! कर्ण, भीष्म, कृप, द्रोणाचार्य आदिके साथ मेरा महान् युद्ध होनेवाला है, उस युद्धमें मैं आपकी कृपासे उन सबपर विजय पा सकूँ, इसीके लिये दिव्यास्त्र चाहता हूँ ।। १० ।।

दहेयं येन संग्रामे दानवान् राक्षसांस्तथा ।
भूतानि च पिशाचांश्च गन्धर्वानथ पन्नगान् ।। ११ ।।
यस्मिञ्छुलसहस्राणि गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।
शराश्चाशीविषाकाराः सम्भवन्त्यनुमन्त्रिते ।। १२ ।।

मुझे वह अस्त्र प्रदान कीजिये, जिससे संग्राममें दानवों, राक्षसों, भूतों, पिशाचों, गन्धर्वों तथा नागोंको भस्म कर सकूँ। जिस अस्त्रके अभिमन्त्रित करते ही सहस्रों शूल, देखनेमें भयंकर गदाएँ और विषैले सर्पोंके समान बाण प्रकट हों ।। ११-१२ ।।

युध्येयं येन भीष्मेण द्रोणेन च कृपेण च ।
सूतपुत्रेण च रणे नित्यं कटुकभाषिणा ।। १३ ।।

उस अस्त्रको पाकर मैं भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य तथा सदा कटु भाषण करनेवाले सूतपुत्र कर्णके साथ भी युद्धमें लड़ सकूँ ।। १३ ।।

एष मे प्रथमः कामो भगवन् भगनेत्रहन् ।
त्वत्प्रसादाद् विनिर्वृत्तः समर्थः स्यामहं यथा ।। १४ ।।

भगदेवताकी आँखें नष्ट करनेवाले भगवन्! आपके समक्ष यह मेरा सबसे पहला मनोरथ है, जो आपहीके कृपाप्रसादसे पूर्ण हो सकता है। आप ऐसा करें, जिससे मैं सर्वथा शत्रुओंको परास्त करनेमें समर्थ हो सकूँ ।। १४ ।।

भव उवाच

ददामि तेऽस्त्रं दयितमहं पाशुपतं विभो ।
समर्थो धारणे मोक्षे संहारे चासि पाण्डव ।। १५ ।।

महादेवजीने कहा—पराक्रमशाली पाण्डुकुमार! मैं अपना परम प्रिय पाशुपतास्त्र तुम्हें प्रदान करता हूँ। तुम इसके धारण, प्रयोग और उपसंहारमें समर्थ हो ।। १५ ।।

नैतद् वेद महेन्द्रोऽपि न यमो न च यक्षराट् ।
वरुणोऽप्यथवा वायुः कुतो वेत्स्यन्ति मानवाः ।। १६ ।।

इसे देवराज इन्द्र, यम, यक्षराज कुबेर, वरुण अथवा वायुदेवता भी नहीं जानते। फिर साधारण मानव तो जान ही कैसे सकेंगे? ।। १६ ।।

न त्वेतत् सहसा पार्थ मोक्तव्यं पुरुषे क्वचित् ।
जगद् विनाशयेत् सर्वमल्पतेजसि पातितम् ।। १७ ।।

परंतु कुन्तीकुमार! तुम सहसा किसी पुरुषपर इसका प्रयोग न करना। यदि किसी अल्पशक्ति योद्धापर इसका प्रयोग किया गया तो यह सम्पूर्ण जगत्का नाश कर डालेगा ।। १७ ।।

अवध्यो नाम नास्त्यत्र त्रैलोक्ये सचराचरे ।
मनसा चक्षुषा वाचा धनुषा च निपातयेत् ।। १८ ।।

चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीमें कोई ऐसा पुरुष नहीं है जो इस अस्त्रद्वारा मारा न जा सके। इसका प्रयोग करनेवाला पुरुष अपने मानसिक संकल्पसे, दृष्टिसे, वाणीसे तथा धनुष-बाणद्वारा भी शत्रुओंको नष्ट कर सकता है ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा त्वरितः पार्थः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
उपसंगम्य विश्वेशमधीष्वेत्यथ सोऽब्रवीत् ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुन तुरंत ही पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो शिष्यभावसे भगवान् विश्वेश्वरकी शरण गये और बोले—'भगवन्! मुझे इस पाशुपतास्त्रका उपदेश कीजिये' ।। १९ ।।

ततस्त्वध्यापयामास सरहस्यनिवर्तनम् ।
तदस्त्रं पाण्डवश्रेष्ठं मूर्तिमन्तमिवान्तकम् ।। २० ।।
उपतस्थे च तत् पार्थं यथा त्र्यक्षमुमापतिम् ।
प्रतिजग्राह तच्चापि प्रीतिमानर्जुनस्तदा ।। २१ ।।

तब भगवान् शिवने रहस्य और उपसंहारसहित पाशुपतास्त्रका उन्हें उपदेश दिया। उस समय वह अस्त्र जैसे पहले त्रिनेत्रधारी उमापति शिवकी सेवामें उपस्थित हुआ था, उसी प्रकार मूर्तिमान् यमराजतुल्य पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके पास आ गया। तब अर्जुनने बहुत प्रसन्न होकर उसे ग्रहण किया ।। २०-२१ ।।

ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा ।
ससागरवनोद्देशा सग्रामनगराकरा ।। २२ ।।

अर्जुनके पाशुपतास्त्र ग्रहण करते ही पर्वत, वन, वृक्ष, समुद्र, वनस्थली, ग्राम, नगर तथा आकरों (खानों) सहित सारी पृथ्वी काँप उठी ।। २२ ।।

शङ्खदुन्दुभिघोषाश्च भेरीणां च सहस्रशः ।
तस्मिन् मुहूर्ते सम्प्राप्ते निर्घातश्च महानभूत् ।। २३ ।।

उस शुभ मुहूर्त्तके आते ही शंख और दुन्दुभियोंके शब्द होने लगे। सहस्रों भेरियाँ बज उठीं। आकाशमें वायुके टकरानेका महान् शब्द होने लगा ।। २३ ।।

अथास्त्रं जाज्वलद् घोरं पाण्डवस्यामितौजसः ।
मूर्तिमद् वै स्थितं पार्श्वे ददृशुर्देवदानवाः ।। २४ ।।

तदनन्तर वह भयंकर अस्त्र मूर्तिमान् हो अग्निके समान प्रज्वलित तेजस्वीरूपसे अमित पराक्रमी पाण्डुनन्दन अर्जुनके पार्श्वभागमें खड़ा हो गया। यह बात देवताओं और दानवोंने प्रत्यक्ष देखी ।। २४ ।।

स्पृष्टस्य त्र्यम्बकेणाथ फाल्गुनस्यामितौजसः ।
यत् किंचिदशुभं देहे तत् सर्वं नाशमीयिवत् ।। २५ ।।

भगवान् शंकरके स्पर्श करनेसे अमित तेजस्वी अर्जुनके शरीरमें जो कुछ भी अशुभ था, वह नष्ट हो गया ।। २५ ।।

स्वर्गं गच्छेत्यनुज्ञातस्त्र्यम्बकेण तदार्जुनः ।
प्रणम्य शिरसा राजन् प्राञ्जलिर्देवमैक्षत ।। २६ ।।

उस समय भगवान् त्रिलोचनने अर्जुनको यह आज्ञा दी कि ‘तुम स्वर्गलोकको जाओ।’ राजन्! तब अर्जुनने भगवान्‌के चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनकी ओर देखने लगे ।। २६ ।।

ततः प्रभुस्त्रिदिवनिवासिनां वशी
महामतिर्गिरिश उमापतिः शिवः ।
धनुर्महद् दितिजपिशाचसूदनं
ददौ भवः पुरुषवराय गाण्डिवम् ।। २७ ।।

तत्पश्चात् देवताओंके स्वामी, जितेन्द्रिय एवं परम बुद्धिमान् कैलासवासी उमावल्लभ भगवान् शिवने पुरुषप्रवर अर्जुनको वह महान् गाण्डीवधनुष दे दिया, जो दैत्यों और पिशाचोंका संहार करनेवाला था ।। २७ ।।

ततः शुभं गिरिवरमीश्वरस्तदा
सहोमया सिततटसानुकन्दरम् ।
विहाय तं पतगमहर्षिसेवितं
जगाम खं पुरुषवरस्य पश्यतः ।। २८ ।।

जिसके तट, शिखर और कन्दराएँ हिमाच्छादित होनेके कारण श्वेत दिखायी देती हैं, पक्षी और महर्षिगण सदा जिसका सेवन करते हैं, उस मंगलमय गिरिश्रेष्ठ इन्द्रकीलको छोड़कर भगवान् शंकर भगवती उमादेवीके साथ अर्जुनके देखते-देखते आकाशमार्गसे चले गये ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि शिवप्रस्थाने चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें शिवप्रस्थानविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४० ।।

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनके पास दिक्पालोंका आगमन एवं उन्हें दिव्यास्त्र-प्रदान तथा इन्द्रका उन्हें स्वर्गमें चलनेका आदेश देना

वैशम्पायन उवाच

तस्य सम्पश्यतस्त्वेव पिनाकी वृषभध्वजः ।
जगामादर्शनं भानुर्लोकस्येवास्तमीयिवान् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनके देखते-देखते पिनाकधारी भगवान् वृषभध्वज अदृश्य हो गये, मानो भुवनभास्कर भगवान् सूर्य अस्त हो गये हों ।। १ ।।

ततोऽर्जुनः परं चक्रे विस्मयं परवीरहा ।
मया साक्षान्महादेवो दृष्ट इत्येव भारत ।। २ ।।

भारत! तदनन्तर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनको यह सोचकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आज मुझे महादेवजीका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हुआ है ।। २ ।।

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यन्मया त्र्यम्बको हरः ।
पिनाकी वरदो रूपी दृष्टः स्पृष्टश्च पाणिना ।। ३ ।।

मैं धन्य हूँ! भगवान्‌का मुझपर बड़ा अनुग्रह है कि त्रिनेत्रधारी, सर्वपापहारी एवं अभीष्ट वर देनेवाले पिनाक-पाणि भगवान् शंकरने मूर्तिमान् होकर मुझे दर्शन दिया और अपने करकमलोंसे मेरे अंगोंका स्पर्श किया ।। ३ ।।

कृतार्थं चावगच्छामि परमात्मानमाहवे ।
शत्रूंश्च विजितान् सर्वान् निर्वृत्तं च प्रयोजनम् ।। ४ ।।

आज मैं अपने-आपको परम कृतार्थ मानता हूँ, साथ ही यह विश्वास करता हूँ कि महासमरमें अपने समस्त शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूँगा। अब मेरा अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध हो गया ।। ४ ।।

इत्येवं चिन्तयानस्य पार्थस्यामिततेजसः ।
ततो वैदूर्यवर्णाभो भासयन् सर्वतो दिशः ।
यादोगणवृतः श्रीमानाजगाम जलेश्वरः ।। ५ ।।

इस प्रकार चिन्तन करते हुए अमित तेजस्वी कुन्तीकुमार अर्जुनके पास जलके स्वामी श्रीमान् वरुणदेव जल-जन्तुओंसे घिरे हुए आ पहुँचे। उनकी अंगकान्ति वैदूर्यमणिके समान थी और वे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे ।। ५ ।।

नागैर्नदैर्नदीभिश्च दैत्यैः साध्यैश्च दैवतैः ।
वरुणो यादसां भर्ता वशी तं देशमागमत् ।। ६ ।।

नागों, नद और नदियोंके देवताओं, दैत्यों तथा साध्यदेवताओंके साथ जल-जन्तुओंके स्वामी जितेन्द्रिय वरुणदेवने उस स्थानको अपने शुभागमनसे सुशोभित किया ।। ६ ।।

अथ जाम्बूनदवपुर्विमानेन महार्चिषा ।
कुबेरः समनुप्राप्तो यक्षैरनुगतः प्रभुः ।। ७ ।।

तदनन्तर स्वर्णके समान शरीरवाले भगवान् कुबेर महातेजस्वी विमानद्वारा वहाँ आये। उनके साथ बहुत-से यक्ष भी थे ।। ७ ।।

विद्योतयन्निवाकाशमद्भुतोपमदर्शनः ।
धनानामीश्वरः श्रीमानर्जुनं द्रष्टुमागतः ।। ८ ।।

वे अपने तेजसे आकाशमण्डलको प्रकाशित-से कर रहे थे। उनका दर्शन अद्भुत एवं अनुपम था। परम सुन्दर श्रीमान् धनाध्यक्ष कुबेर अर्जुनको देखनेके लिये वहाँ पधारे थे ।। ८ ।।

तथा लोकान्तकृच्छ्रीमान् यमः साक्षात् प्रतापवान् ।
मर्त्यमूर्तिधरैः सार्धं पितृभिर्लोकभावनैः ।। ९ ।।

इसी प्रकार समस्त जगत्का अन्त करनेवाले श्रीमान् प्रतापी यमराजने प्रत्यक्षरूपमें वहाँ दर्शन दिया। उनके साथ मानव-शरीरधारी विश्वभावन पितृगण भी थे ।। ९ ।।

दण्डपाणिरचिन्त्यात्मा सर्वभूतविनाशकृत् ।
वैवस्वतो धर्मराजो विमानेनावभासयन् ।। १० ।।
त्रींल्लोकान् गुह्यकांश्चैव गन्धर्वांश्च सपन्नगान् ।
द्वितीय इव मार्तण्डो युगान्ते समुपस्थिते ।। ११ ।।

उनके हाथमें दण्ड शोभा पा रहा था। सम्पूर्ण भूतोंका विनाश करनेवाले अचिन्त्यात्मा सूर्यपुत्र धर्मराज अपने (तेजस्वी) विमानसे तीनों लोकों, गुह्यकों, गन्धर्वों तथा नागोंको प्रकाशित कर रहे थे। प्रलयकाल उपस्थित होनेपर दिखायी देनेवाले द्वितीय सूर्यकी भाँति उनकी अद्भुत शोभा हो रही थी ।। १०-११ ।।

ते भानुमन्ति चित्राणि शिखराणि महागिरेः ।
समास्थायार्जुनं तत्र ददृशुस्तपसान्वितम् ।। १२ ।।

उन सब देवताओंने उस महापर्वतके विचित्र एवं तेजस्वी शिखरोंपर पहुँचकर वहाँ तपस्वी अर्जुनको देखा ।।

ततो मुहूर्ताद् भगवानैरावतशिरोगतः ।
आजगाम सहेन्द्राण्या शक्रः सुरगणैर्वृतः ।। १३ ।।

तत्पश्चात् दो ही घड़ीके बाद भगवान् इन्द्र इन्द्राणीके साथ ऐरावतकी पीठपर बैठकर वहाँ आये। देवताओंके समुदायने उन्हें सब ओरसे घेर रखा था ।।

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
शुशुभे तारकाराजः सितमभ्रमिव स्थितः ।। १४ ।।

संस्तूयमानो गन्धर्वैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ।
शृङ्गं गिरेः समासाद्य तस्थौ सूर्य इवोदितः ।। १५ ।।

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे वे शुभ्र वर्णके मेघखण्डसे आच्छादित चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे थे। बहुत-से तपस्वी-ऋषि तथा गन्धर्वगण उनकी स्तुति करते थे। वे उस पर्वतके शिखरपर आकर ठहर गये, मानो वहाँ सूर्य प्रकट हो गये हों ।। १४-१५ ।।

अथ मेघस्वनो धीमान् व्याजहार शुभां गिरम् ।
यमः परमधर्मज्ञो दक्षिणां दिशमास्थितः ।। १६ ।।

तदनन्तर मेघके समान गम्भीर स्वरवाले परम धर्मज्ञ एवं बुद्धिमान् यमराज दक्षिण दिशामें स्थित हो यह शुभ वचन बोले— ।। १६ ।।

अर्जुनार्जुन पश्यास्माँल्लोकपालान् समागतान् ।
दृष्टिं ते वितरामोऽद्य भवानर्हति दर्शनम् ।। १७ ।।
पूर्वर्षिरमितात्मा त्वं नरो नाम महाबलः ।
नियोगाद् ब्रह्मणस्तात मर्त्यतां समुपागतः ।। १८ ।।

अर्जुन! हम सब लोकपाल यहाँ आये हुए हैं। तुम हमें देखो। हम तुम्हें दिव्य दृष्टि देते हैं। तुम हमारे दर्शनके अधिकारी हो। तुम महामना एवं महाबली पुरातन महर्षि नर हो। तात! ब्रह्माजीकी आज्ञासे तुमने मानव-शरीर ग्रहण किया है ।। १७-१८ ।।

त्वया च वसुसम्भूतो महावीर्यः पितामहः ।
भीष्मः परमधर्मात्मा संसाध्यश्च रणेऽनघ ।। १९ ।।
क्षत्रं चाग्निसमस्पर्शं भारद्वाजेन रक्षितम् ।
दानवाश्च महावीर्या ये मनुष्यत्वमागताः ।। २० ।।
निवातकवचाश्चैव दानवाः कुरुनन्दन ।
पितुर्ममांशो देवस्य सर्वलोकप्रतापिनः ।। २१ ।।
कर्णश्च सुमहावीर्यस्त्वया वध्यो धनंजय ।

'अनघ! वसुओंके अंशसे उत्पन्न महापराक्रमी और परम धर्मात्मा पितामह भीष्मको तुम संग्राममें जीत लोगे। भरद्वाजपुत्र द्रोणाचार्यके द्वारा सुरक्षित क्षत्रिय-समुदाय भी, जिसका स्पर्श अग्निके समान भयंकर है, तुम्हारे द्वारा पराजित होगा। कुरुनन्दन! मानव-शरीरमें उत्पन्न हुए महाबली दानव तथा निवातकवच नामक दैत्य भी तुम्हारे हाथसे मारे जायँगे। धनंजय! सम्पूर्ण जगत्को उष्णता प्रदान करनेवाले मेरे पिता भगवान् सूर्यदेवके अंशसे उत्पन्न महापराक्रमी कर्ण भी तुम्हारा वध्य होगा ।। १९—२१ १/२ ।।

अंशाश्च क्षितिसम्प्राप्ता देवदानवरक्षसाम् ।। २२ ।।
त्वया निपातिता युद्धे स्वकर्मफलनिर्जिताम् ।
गतिं प्राप्स्यन्ति कौन्तेय यथास्वमरिकर्षण ।। २३ ।।

‘शत्रुओंका संहार करनेवाले कुन्तीकुमार! देवताओं, दानवों तथा राक्षसोंके जो अंश पृथ्वीपर उत्पन्न हुए हैं, वे युद्धमें तुम्हारे द्वारा मारे जाकर अपने कर्मफलके अनुसार यथोचित गति प्राप्त करेंगे ।। २२-२३ ।।

अक्षया तव कीर्तिश्च लोके स्थास्यति फाल्गुन ।
त्वया साक्षान्महादेवस्तोषितो हि महामृधे ।। २४ ।।

‘फाल्गुन! संसारमें तुम्हारी अक्षय कीर्ति स्थापित होगी। तुमने यहाँ महासमरमें साक्षात् महादेवजीको संतुष्ट किया है ।। २४ ।।

लघ्वी वसुमती चापि कर्तव्या विष्णुना सह ।
गृहाणास्त्रं महाबाहो दण्डमप्रतिवारणम् ।
अनेनास्त्रेण सुमहत् त्वं हि कर्म करिष्यसि ।। २५ ।।

‘महाबाहो! भगवान् श्रीकृष्णके साथ मिलकर तुम्हें इस पृथ्वीका भार भी हलका करना है, अतः यह मेरा दण्डास्त्र ग्रहण करो। इसका वेग कहीं भी कुण्ठित नहीं होता। इसी अस्त्रके द्वारा तुम बड़े-बड़े कार्य सिद्ध करोगे’ ।। २५ ।।

वैशम्पायन उवाच

प्रतिजग्राह तत् पार्थो विधिवत् कुरुनन्दनः ।
समन्त्रं सोपचारं च समोक्षविनिवर्तनम् ।। २६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुरुनन्दन कुन्तीकुमार अर्जुनने विधिपूर्वक मन्त्र, उपचार, प्रयोग और उपसंहारसहित उस अस्त्रको ग्रहण किया ।। २६ ।।

ततो जलधरश्यामो वरुणो यादसां पतिः ।
पश्चिमां दिशमास्थाय गिरमुच्चारयन् प्रभुः ।। २७ ।।

इसके बाद जल-जन्तुओंके स्वामी मेघके समान श्यामकान्तिवाले प्रभावशाली वरुण पश्चिम दिशामें खड़े हो इस प्रकार बोले— ।। २७ ।।

पार्थ क्षत्रियमुख्यस्त्वं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितः ।
पश्य मां पृथुताम्राक्ष वरुणोऽस्मि जलेश्वरः ।। २८ ।।

‘पार्थ! तुम क्षत्रियोंमें प्रधान एवं क्षत्रिय-धर्ममें स्थित हो। विशाल तथा लाल नेत्रोंवाले अर्जुन! मेरी ओर देखो। मैं जलका स्वामी वरुण हूँ ।। २८ ।।

मया समुद्यतान् पाशान् वारुणाननिवारितान् ।
प्रतिगृह्णीष्व कौन्तेय सरहस्यनिवर्तनम् ।। २९ ।।

‘कुन्तीकुमार! मेरे दिये हुए इन वरुण-पाशोंको रहस्य और उपसंहारसहित ग्रहण करो। इनके वेगको कोई भी रोक नहीं सकता ।। २९ ।।

एभिस्तदा मया वीर संग्रामे तारकामये ।
दैतेयानां सहस्राणि संयतानि महात्मनाम् ।। ३० ।।

'वीर! मैंने इन पाशोंद्वारा तारकामय संग्राममें सहस्रों महाकाय दैत्योंको बाँध लिया था ।। ३० ।।

तस्मादिमान् महासत्त्व मत्प्रसादसमुत्थितान् ।
गृहाण न हि ते मुच्येदन्तकोऽप्याततायिनः ।। ३१ ।।

'अतः महाबली पार्थ! मेरे कृपाप्रसादसे प्रकट हुए इन पाशोंको तुम ग्रहण करो। इनके द्वारा आक्रमण करनेपर मृत्यु भी तुम्हारे हाथसे नहीं छूट सकती ।। ३१ ।।

अनेन त्वं यदास्त्रेण संग्रामे विचरिष्यसि ।
तदा निःक्षत्रिया भूमिर्भविष्यति न संशयः ।। ३२ ।।

'इस अस्त्रके द्वारा जब तुम संग्रामभूमिमें विचरण करोगे, उस समय यह सारी वसुन्धरा क्षत्रियोंसे शून्य हो जायगी, इसमें संशय नहीं है' ।। ३२ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः कैलासनिलयो धनाध्यक्षोऽभ्यभाषत ।
दत्तेष्वस्त्रेषु दिव्येषु वरुणेन यमेन च ।। ३३ ।।
प्रीतोऽहमपि ते प्राज्ञ पाण्डवेय महाबल ।
त्वया सह समागम्य अजितेन तथैव च ।। ३४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वरुण और यमके दिव्यास्त्र प्रदान कर चुकनेपर कैलासनिवासी धनाध्यक्ष कुबेरने कहा—'महाबली बुद्धिमान् पाण्डुनन्दन! मैं भी तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम अपराजित वीर हो। तुमसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है' ।। ३३-३४ ।।

सव्यसाचिन् महाबाहो पूर्वदेव सनातन ।
सहास्माभिर्भवाञ्छ्रान्तः पुराकल्पेषु नित्यशः ।। ३५ ।।
दर्शनात् ते त्विदं दिव्यं प्रदिशामि नरर्षभ ।
अमनुष्यान् महाबाहो दुर्जयानपि जेष्यसि ।। ३६ ।।

'सव्यसाचिन्! महाबाहो! पुरातन देव! सनातनपुरुष! पूर्वकल्पोंमें मेरे साथ तुमने सदा तपके द्वारा परिश्रम उठाया है। नरश्रेष्ठ! आज तुम्हें देखकर यह दिव्यास्त्र प्रदान करता हूँ। महाबाहो! इसके द्वारा तुम दुर्जय मानवेतर प्राणियोंको भी जीत लोगे ।। ३५-३६ ।।

मत्तश्चैव भवानाशु गृह्णात्वस्त्रमनुत्तमम् ।
अनेन त्वमनीकानि धार्तराष्ट्रस्य धक्ष्यसि ।। ३७ ।।

'तुम मुझसे शीघ्र ही इस अत्युत्तम अस्त्रको ग्रहण कर लो। तुम इसके द्वारा दुर्योधनकी सारी सेनाओंको जलाकर भस्म कर डालोगे ।। ३७ ।।

तदिदं प्रतिगृह्णीष्व अन्तर्धानं प्रियं मम ।
ओजस्तेजोद्युतिकरं प्रस्वापनमरातिनुत् ।। ३८ ।।

'यह मेरा परम प्रिय अन्तर्धान नामक अस्त्र है। इसे ग्रहण करो। यह ओज, तेज और कान्ति प्रदान करनेवाला, शत्रुसेनाको सुला देनेवाला और समस्त वैरियोंका विनाश करनेवाला है ।। ३८ ।।

महात्मना शङ्करेण त्रिपुरं निहतं यदा ।
तदैतदस्त्रं निर्मुक्तं येन दग्धा महासुराः ।। ३९ ।।

'परमात्मा शंकरने जब त्रिपुरासुरके तीनों नगरोंका विनाश किया था, उस समय इस अस्त्रका उनके द्वारा प्रयोग किया गया था; जिससे बड़े-बड़े असुर दग्ध हो गये थे ।। ३९ ।।

त्वदर्थमुद्यतं चेदं मया सत्यपराक्रम ।
त्वमर्हो धारणे चास्य मेरुप्रतिमगौरव ।। ४० ।।

'सत्यपराक्रमी और मेरुके समान गौरवशाली पार्थ! तुम्हारे लिये यह अस्त्र मैंने उपस्थित किया है। तुम इसे धारण करनेके योग्य हो' ।। ४० ।।

ततोऽर्जुनो महाबाहुर्विधिवत् कुरुनन्दनः ।
कौबेरमधिजग्राह दिव्यमस्त्रं महाबलः ।। ४१ ।।

तब कुरुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले महाबाहु महाबली अर्जुनने कुबेरके उस 'अन्तर्धान' नामक दिव्य अस्त्रको ग्रहण किया ।। ४१ ।।

ततोऽब्रवीद् देवराजः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा मेघदुन्दुभिनिःस्वनः ।। ४२ ।।

तदनन्तर देवराज इन्द्रने अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुनको मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना देते हुए मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर स्वरसे कहा— ।। ४२ ।।

कुन्तीमातर्महाबाहो त्वमीशानः पुरातनः ।
परां सिद्धिमनुप्राप्तः साक्षाद् देवगतिं गतः ।। ४३ ।।

'महाबाहु कुन्तीकुमार! तुम पुरातन शासक हो। तुम्हें उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है। तुम साक्षात् देवगतिको प्राप्त हुए हो ।। ४३ ।।

देवकार्यं तु सुमहत् त्वया कार्यमरिंदम ।
आरोढव्यस्त्वया स्वर्गः सज्जीभव महाद्युते ।। ४४ ।।

'शत्रुदमन! तुम्हें देवताओंका बड़ा भारी कार्य सिद्ध करना है। महाद्युते! तैयार हो जाओ। तुम्हें स्वर्गलोकमें चलना है ।। ४४ ।।

रथो मातलिसंयुक्त आगन्ता त्वत्कृते महीम् ।
तत्र तेऽहं प्रदास्यामि दिव्यान्यस्त्राणि कौरव ।। ४५ ।।

'मातलिके द्वारा जोता हुआ दिव्य रथ तुम्हें लेनेके लिये पृथ्वीपर आनेवाला है। कुरुनन्दन! वहीं (स्वर्गमें) मैं तुम्हें दिव्यास्त्र प्रदान करूँगा' ।। ४५ ।।

तान् दृष्ट्वा लोकपालांस्तु समेतान् गिरिमूर्धनि ।
जगाम विस्मयं धीमान् कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।। ४६ ।।

उस पर्वतशिखरपर एकत्र हुए उन सभी लोक-पालोंका दर्शन करके परम बुद्धिमान् धनंजयको बड़ा विस्मय हुआ ।। ४६ ।।

ततोऽर्जुनो महातेजा लोकपालान् समागतान् ।
पूजयामास विधिवद् वाग्भिरद्भिः फलैरपि ।। ४७ ।।

तत्पश्चात् महातेजस्वी अर्जुनने वहाँ पधारे हुए लोकपालोंका मीठे वचन, जल और फलोंके द्वारा भी विधिपूर्वक पूजन किया ।। ४७ ।।

ततः प्रतिययुर्देवाः प्रतिमान्य धनंजयम् ।
यथागतेन विबुधाः सर्वे काममनोजवाः ।। ४८ ।।

इसके बाद इच्छानुसार मनके समान वेगवाले समस्त देवता अर्जुनके प्रति सम्मान प्रकट करके जैसे आये थे वैसे ही चले गये ।। ४८ ।।

ततोऽर्जुनो मुदं लेभे लब्धास्त्रः पुरुषर्षभः ।
कृतार्थमथ चात्मानं स मेने पूर्णमानसम् ।। ४९ ।।

तदनन्तर देवताओंसे दिव्यास्त्र प्राप्त करके पुरुषोत्तम अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई; उन्होंने अपने-आपको कृतार्थ एवं पूर्णमनोरथ माना ।। ४९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कैरातपर्वणि देवप्रस्थाने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कैरातपर्वमें देवप्रस्थानविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४१ ।।

(इन्द्रलोकाभिगमनपर्व)

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनका हिमालयसे विदा होकर मातलिके साथ स्वर्गलोकको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

गतेषु लोकपालेषु पार्थः शत्रुनिबर्हणः ।
चिन्तयामास राजेन्द्र देवराजरथं प्रति ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! लोकपालोंके चले जानेपर शत्रुसंहारक अर्जुनने देवराज इन्द्रके रथका चिन्तन किया ।। १ ।।

ततश्चिन्तयमानस्य गुडाकेशस्य धीमतः ।
रथो मातलिसंयुक्त आजगाम महाप्रभः ।। २ ।।

निद्राविजयी बुद्धिमान् पार्थके चिन्तन करते ही मातलिसहित महातेजस्वी रथ वहाँ आ गया ।। २ ।।

नभो वितिमिरं कुर्वञ्जलदान् पाटयन्निव ।
दिशः सम्पूरयन् नादैर्महामेघरवोपमैः ।। ३ ।।

वह रथ आकाशको अन्धकारशून्य मेघोंकी घटाको विदीर्ण और महान् मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर शब्दसे दिशाओंको परिपूर्ण-सा कर रहा था ।। ३ ।।

असयः शक्तयो भीमा गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।
दिव्यप्रभावाः प्रासाश्च विद्युतश्च महाप्रभाः ।। ४ ।।
तथैवाशनयश्चैव चक्रयुक्तास्तुलागुडाः ।
वायुस्फोटाः सनिर्घाता महामेघस्वनास्तथा ।। ५ ।।

उस रथमें तलवार, भयंकर शक्ति, उग्र गदा, दिव्य प्रभावशाली प्रास, अत्यन्त कान्तिमती विद्युत्, अशनि एवं चक्रयुक्त भारी वजनवाले प्रस्तरके गोले रखे हुए थे, जो चलाते समय हवामें सनसनाहट पैदा करते थे। तथा जिनसे वज्रगर्जन और महामेघोंकी गम्भीर ध्वनिके समान शब्द होते थे ।। ४-५ ।।

तत्र नागा महाकाया ज्वलितास्याः सुदारुणाः ।
सिताभ्रकूटप्रतिमाः संहताश्च तथोपलाः ।। ६ ।।

उस स्थानमें अत्यन्त भयंकर तथा प्रज्वलित मुखवाले विशालकाय सर्प मौजूद थे। श्वेत बादलोंके समूहकी भाँति ढेर-के-ढेर युद्धमें फेंकनेयोग्य पत्थर भी रखे हुए थे ।। ६ ।।

दशवाजिसहस्राणि हरीणां वातरंहसाम् ।

वहन्ति यं नेत्रमुषं दिव्यं मायामयं रथम् ।। ७ ।।

वायुके समान वेगशाली दस हजार श्वेत-पीत रंगवाले घोड़े नेत्रोंमें चकाचौंध पैदा करनेवाले उस दिव्य मायामय रथको वहन करते थे ।। ७ ।।

तत्रापश्यन्महानीलं वैजयन्तं महाप्रभम् ।

ध्वजमिन्दीवरश्यामं वंशं कनकभूषणम् ।। ८ ।।

अर्जुनने उस रथपर अत्यन्त नीलवर्णवाले महातेजस्वी 'वैजयन्त' नामक इन्द्रध्वजको फहराता देखा। उसकी श्याम सुषमा नील कमलकी शोभाको तिरस्कृत कर रही थी। उस ध्वजके दण्डमें सुवर्ण मढ़ा हुआ था ।। ८ ।।

तस्मिन् रथे स्थितं सूतं तप्तहेमविभूषितम् ।

दृष्ट्वा पार्थो महाबाहुर्देवमेवान्वतर्कयत् ।। ९ ।।

महाबाहु कुन्तीकुमारने उस रथपर बैठे हुए सारथिकी ओर देखा, जो तपाये हुए सुवर्णके आभूषणोंसे विभूषित था। उसे देखकर उन्होंने कोई देवता ही समझा ।। ९ ।।

तथा तर्कयतस्तस्य फाल्गुनस्याथ मातलिः ।

संनतः प्रस्थितो भूत्वा वाक्यमर्जुनमब्रवीत् ।। १० ।।

इस प्रकार विचार करते हुए अर्जुनके सम्मुख उपस्थित हो मातलिने विनीतभावसे कहा ।। १० ।।

मातलिरुवाच

भो भोः शक्रात्मज श्रीमाञ्छक्रस्त्वां द्रष्टुमिच्छति ।

आरोहतु भवाञ्छीघ्रं रथमिन्द्रस्य सम्मतम् ।। ११ ।।

मातलि बोला—इन्द्रकुमार! श्रीमान् देवराज इन्द्र आपको देखना चाहते हैं। यह उनका प्रिय रथ है। आप इसपर शीघ्र आरूढ़ होइये ।। ११ ।।

आह माममरश्रेष्ठः पिता तव शतक्रतुः ।

कुन्तीसुतमिह प्राप्तं पश्यन्तु त्रिदशालयाः ।। १२ ।।

एष शक्रः परिवृतो देवैर्ऋषिगणैस्तथा ।

गन्धर्वैरप्सरोभिश्च त्वां दिदृक्षुः प्रतीक्षते ।। १३ ।।

आपके पिता देवेश्वर शतक्रतुने मुझसे कहा है कि 'तुम कुन्तीनन्दन अर्जुनको यहाँ ले आओ, जिससे सब देवता उन्हें देखें।' देवताओं, महर्षियों, गन्धर्वों तथा अप्सराओंसे घिरे हुए इन्द्र आपको देखनेके लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं ।। १२-१३ ।।

अस्माल्लोकाद् देवलोकं पाकशासनशासनात् ।

आरोह त्वं मया सार्धं लब्धास्त्रः पुनरेष्यसि ।। १४ ।।

आप देवराजकी आज्ञासे इस लोकसे मेरे साथ देवलोकको चलिये। वहाँसे दिव्यास्त्र प्राप्त करके लौट आइयेगा ।। १४ ।।

अर्जुन उवाच

मातले गच्छ शीघ्रं त्वमारोहस्व रथोत्तमम् ।
राजसूयाश्वमेधानां शतैरपि सुदुर्लभम् ।। १५ ।।

अर्जुनने कहा—मातले! आप जल्दी चलिये। अपने इस उत्तम रथपर पहले आप चढ़िये। यह सैकड़ों राजसूय और अश्वमेधयज्ञोंद्वारा भी अत्यन्त दुर्लभ है ।।

पार्थिवैः सुमहाभागैर्यज्वभिर्भूरिदक्षिणैः ।
दैवतैर्वा समारोढुं दानवैर्वा रथोत्तमम् ।। १६ ।।

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले, महान् सौभाग्यशाली, यज्ञपरायण भूमिपालों, देवताओं अथवा दानवोंके लिये भी इस उत्तम रथपर आरूढ़ होना कठिन है ।। १६ ।।

नातप्ततपसा शक्य एष दिव्यो महारथः ।
द्रष्टुं वाप्यथवा स्प्रष्टुमारोढुं कुत एव च ।। १७ ।।

जिन्होंने तपस्या नहीं की है, वे इस महान् दिव्य रथका दर्शन या स्पर्श भी नहीं कर सकते, फिर इसपर आरूढ़ होनेकी तो बात ही क्या है? ।। १७ ।।

त्वयि प्रतिष्ठिते साधो रथस्थे स्थिरवाजिनि ।
पश्चादहमथारोक्ष्ये सुकृती सत्पथं यथा ।। १८ ।।

साधु सारथे! आप इस रथपर स्थिरतापूर्वक बैठकर जब घोड़ोंको काबूमें कर लें, तब जैसे पुण्यात्मा सन्मार्गपर आरूढ़ होता है, उसी प्रकार पीछे मैं भी इस रथपर आरूढ़ होऊँगा ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मातलिः शक्रसारथिः ।
आरुरोह रथं शीघ्रं हयान् येमे च रश्मिभिः ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनका यह वचन सुनकर इन्द्रसारथि मातलि शीघ्र ही रथपर जा बैठा और बागडोर खींचकर घोड़ोंको काबूमें किया ।। १९ ।।

ततोऽर्जुनो हृष्टमना गङ्गायामाप्लुतः शुचिः ।
जजाप जप्यं कौन्तेयो विधिवत् कुरुनन्दनः ।। २० ।।

तदनन्तर कुरुनन्दन कुन्तीकुमार अर्जुनने प्रसन्नमनसे गंगामें स्नान किया और पवित्र हो विधिपूर्वक जपने-योग्य मन्त्रका जप किया ।। २० ।।

ततः पितॄन् यथान्यायं तर्पयित्वा यथाविधि ।
मन्दरं शैलराजं तमाप्रष्टुमुपचक्रमे ।। २१ ।।

फिर विधिपूर्वक न्यायोचित रीतिसे पितरोंका तर्पण करके विस्तृत शैलराज हिमालयसे विदा लेनेका उपक्रम किया ।। २१ ।।

साधूनां पुण्यशीलानां मुनीनां पुण्यकर्मणाम् ।
त्वं सदा संश्रयः शैल स्वर्गमार्गाभिकाङ्क्षिणाम् ।। २२ ।।

'गिरिराज! तुम साधु-महात्माओं, पुण्यात्मा मुनियों तथा स्वर्गमार्गकी अभिलाषा रखनेवाले पुण्यकर्मा मनुष्योंके सदा शुभ आश्रय हो ।। २२ ।।

त्वत्प्रसादात् सदा शैल ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ।
स्वर्गं प्राप्ताश्चरन्ति स्म देवैः सह गतव्यथाः ।। २३ ।।

'गिरिराज! तुम्हारे कृपाप्रसादसे सदा कितने ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य स्वर्गमें जाकर व्यथारहित हो देवताओंके साथ विचरते हैं ।। २३ ।।

अद्रिराज महाशैल मुनिसंश्रय तीर्थवन् ।
गच्छाम्यामन्त्रयामि त्वां सुखमस्म्युषितस्त्वयि ।। २४ ।।

'अद्रिराज! महाशैल! मुनियोंके निवासस्थान! तीर्थोंसे विभूषित हिमालय! मैं तुम्हारे शिखरपर सुखपूर्वक रहा हूँ, अतः तुमसे आज्ञा माँगकर यहाँसे जा रहा हूँ ।। २४ ।।

तव सानूनि कुञ्जाश्च नद्यः प्रस्रवणानि च ।
तीर्थानि च सुपुण्यानि मया दृष्टान्यनेकशः ।। २५ ।।

'तुम्हारे शिखर, कुंजवन, नदियाँ, झरने और परम पुण्यमय तीर्थस्थान मैंने अनेक बार देखे हैं ।। २५ ।।

फलानि च सुगन्धीनि भक्षितानि ततस्ततः ।
सुसुगन्धाश्च वार्योघास्त्वच्छरीरविनिःसृताः ।। २६ ।।
अमृतास्वादनीया मे पीताः प्रस्रवणोदकाः ।

'यहाँके विभिन्न स्थानोंसे सुगन्धित फल लेकर भोजन किये हैं। तुम्हारे शरीरसे प्रकट हुए परम सुगन्धित प्रचुर जलका सेवन किया है। तुम्हारे झरनेका अमृतके समान स्वादिष्ट जल मैंने प्रतिदिन पान किया है ।। २६½ ।।

शिशुर्यथा पितुरङ्के सुसुखं वर्तते नग ।। २७ ।।
तथा तवाङ्के ललितं शैलराज मया प्रभो ।

'प्रभो नगराज! जैसे शिशु अपने पिताके अंकमें बड़े सुखसे रहता है, उसी प्रकार मैंने भी तुम्हारी गोदमें आमोदपूर्वक क्रीड़ाएँ की हैं ।। २७½ ।।

अप्सरोगणसंकीर्णे ब्रह्मघोषानुनादिते ।। २८ ।।
सुखमस्म्युषितः शैल तव सानुषु नित्यदा ।

'शैलराज! अप्सराओंसे व्याप्त और वैदिक मन्त्रोंके उच्चघोषसे प्रतिध्वनित तुम्हारे शिखरोंपर मैंने प्रतिदिन बड़े सुखसे निवास किया है' ।। २८½ ।।

एवमुक्त्वार्जुनः शैलमामन्त्र्य परवीरहा ।। २९ ।।

आरुरोह रथं दिव्यं द्योतयन्निव भास्करः ।

ऐसा कहकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुन शैलराजसे आज्ञा माँगकर उस दिव्य रथको देदीप्यमान करते हुए-से उसपर आरूढ़ हो गये, मानो सूर्य सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे हों ।। २९½ ।।

स तेनादित्यरूपेण दिव्येनाद्भुतकर्मणा ।। ३० ।।
ऊर्ध्वमाचक्रमे धीमान् प्रहृष्टः कुरुनन्दनः ।
सोऽदर्शनपथं यातो मर्त्यानां धर्मचारिणाम् ।। ३१ ।।

परम बुद्धिमान् कुरुनन्दन अर्जुन बड़े प्रसन्न होकर उस अद्‌भुत चालसे चलनेवाले सूर्यस्वरूप दिव्य रथके द्वारा ऊपरकी ओर जाने लगे। धीरे-धीरे धर्मात्मा मनुष्योंके दृष्टिपथसे दूर हो गये ।। ३०-३१ ।।

ददर्शाद्भुतरूपाणि विमानानि सहस्रशः ।
न तत्र सूर्यः सोमो वा द्योतते न च पावकः ।। ३२ ।।

ऊपर जाकर उन्होंने सहस्रों अद्‌भुत विमान देखे। वहाँ न सूर्य प्रकाशित होते हैं, न चन्द्रमा। अग्निकी प्रभा भी वहाँ काम नहीं देती है ।। ३२ ।।

स्वयैव प्रभया तत्र द्योतन्ते पुण्यलब्धया ।
तारारूपाणि यानीह दृश्यन्ते द्युतिमन्ति वै ।। ३३ ।।
दीपवद् विप्रकृष्टत्वात् तनूनि सुमहान्त्यपि ।

तानि तत्र प्रभास्वन्ति रूपवन्ति च पाण्डवः ।। ३४ ।।
ददर्श स्वेषु धिष्ण्येषु दीप्तिमन्तः स्वयार्चिषा ।
तत्र राजर्षयः सिद्धा वीराश्च निहता युधि ।। ३५ ।।

वहाँ स्वर्गके निवासी अपने पुण्यकर्मोंसे प्राप्त हुई अपनी ही प्रभासे प्रकाशित होते हैं। यहाँ प्रकाशमान तारोंके रूपमें जो दूर होनेके कारण दीपककी भाँति छोटे और बड़े प्रकाशपुंज दिखायी देते हैं, उन सभी प्रकाशमान स्वरूपोंको पाण्डुनन्दन अर्जुनने देखा। जो अपने-अपने अधिष्ठानोंमें अपनी ही ज्योतिसे देदीप्यमान हो रहे थे। उन लोकोंमें वे सिद्ध राजर्षि वीर निवास करते थे, जो युद्धमें प्राण देकर वहाँ पहुँचे थे ।। ३३—३५ ।।

तपसा च जितं स्वर्गं सम्पेतुः शतसङ्घशः ।
गन्धर्वाणां सहस्राणि सूर्यज्वलिततेजसाम् ।। ३६ ।।
गुह्यकानामृषीणां च तथैवाप्सरसां गणान् ।
लोकानात्मप्रभान् पश्यन् फाल्गुनो विस्मयान्वितः ।। ३७ ।।

सैकड़ों झुंड-के-झुंड तपस्वी पुरुष स्वर्गमें जा रहे थे, जिन्होंने तपस्याद्वारा उसपर विजय पायी थी। सूर्यके समान प्रकाशमान सहस्रों गन्धर्वों, गुह्यकों, ऋषियों तथा अप्सराओंके समूहोंको और उनके स्वतः प्रकाशित होनेवाले लोकोंको देखकर अर्जुनको बड़ा आश्चर्य होता था ।। ३६-३७ ।।

पप्रच्छ मातलिं प्रीत्या स चाप्येनमुवाच ह ।
एते सुकृतिनः पार्थ स्वेषु धिष्ण्येष्ववस्थिताः ।। ३८ ।।
तान् दृष्टवानसि विभो तारारूपाणि भूतले ।

अर्जुनने प्रसन्नतापूर्वक मातलिसे उनके विषयमें पूछा, तब मातलिने उनसे कहा —‘कुन्तीकुमार! ये वे ही पुण्यात्मा पुरुष हैं, जो अपने-अपने लोकोंमें निवास करते हैं। विभो! उन्हींको भूतलपर आपने तारोंके रूपमें चमकते देखा है’ ।। ३८½ ।।

ततोऽपश्यत् स्थितं द्वारि शुभं वैजयिनं गजम् ।। ३९ ।।
ऐरावतं चतुर्दन्तं कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
स सिद्धमार्गमाक्रम्य कुरुपाण्डवसत्तमः ।। ४० ।।
व्यरोचत यथापूर्वं मान्धाता पार्थिवोत्तमः ।
अभिचक्राम लोकान् स राज्ञां राजीवलोचनः ।। ४१ ।।

तदनन्तर अर्जुनने स्वर्गद्वारपर खड़े हुए सुन्दर विजयी गजराज ऐरावतको देखा, जिसके चार दाँत बाहर निकले हुए थे। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो अनेक शिखरोंसे सुशोभित कैलास पर्वत हो। कुरु-पाण्डव-शिरोमणि अर्जुन सिद्धोंके मार्गपर आकर वैसे ही शोभा पाने लगे, जैसे पूर्वकालमें भूपालशिरोमणि मान्धाता सुशोभित होते थे। कमलनयन अर्जुनने उन पुण्यात्मा राजाओंके लोकोंमें भ्रमण किया ।। ३९—४१ ।।

एवं स संक्रमंस्तत्र स्वर्गलोके महायशाः ।

ततो ददर्श शक्रस्य पुरीं साममरावतीम् ।। ४२ ।।

इस प्रकार महायशस्वी पार्थने स्वर्गलोकमें विचरते हुए आगे जाकर इन्द्रपुरी अमरावतीका दर्शन किया ।। ४२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४२ ।।

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा देवराज इन्द्रका दर्शन तथा इन्द्रसभामें उनका स्वागत

वैशम्पायन उवाच

ददर्श स पुरीं रम्यां सिद्धचारणसेविताम् ।
सर्वर्तुकुसुमैः पुण्यैः पादपैरुपशोभिताम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनने सिद्धों और चारणोंसे सेवित उस रम्य अमरावतीपुरीको देखा, जो सभी ऋतुओंके कुसुमोंसे विभूषित पुण्यमय वृक्षोंसे सुशोभित थी ।। १ ।।

तत्र सौगन्धिकानां च पुष्पाणां पुण्यगन्धिनाम् ।
उद्वीज्यमानो मिश्रेण वायुना पुण्यगन्धिना ।। २ ।।

वहाँ सुगन्धयुक्त कमल तथा पवित्र गन्धवाले अन्य पुष्पोंकी पवित्र गन्धसे मिली हुई वायु मानो व्यजन डुला रही थी ।। २ ।।

नन्दनं च वनं दिव्यमप्सरोगणसेवितम् ।
ददर्श दिव्यकुसुमैराह्वयद्भिरिव द्रुमैः ।। ३ ।।

अप्सराओंसे सेवित दिव्य नन्दनवनका भी उन्होंने दर्शन किया, जो दिव्य पुष्पोंसे भरे हुए वृक्षोंद्वारा मानो उन्हें अपने पास बुला रहा था ।। ३ ।।

नातप्ततपसा शक्यो द्रष्टुं नानाहिताग्निना ।
स लोकः पुण्यकर्तॄणां नापि युद्धे पराङ्मुखैः ।। ४ ।।

जिन्होंने तपस्या नहीं की है, जो अग्निहोत्रसे दूर रहे हैं तथा जिन्होंने युद्धमें पीठ दिखा दी है, वैसे लोग पुण्यात्माओंके उस लोकका दर्शन भी नहीं कर सकते ।। ४ ।।

नायज्वभिर्नाव्रतिकैर्न वेदश्रुतिवर्जितैः ।
नानाप्लुताङ्गैस्तीर्थेषु यज्ञदानबहिष्कृतैः ।। ५ ।।

जिन्होंने यज्ञ नहीं किया है, व्रतका पालन नहीं किया है, जो वेद और श्रुतियोंके स्वाध्यायसे दूर रहे हैं, जिन्होंने तीर्थोंमें स्नान नहीं किया है तथा जो यज्ञ और दान आदि सत्कर्मोंसे वंचित रहे हैं, ऐसे लोगोंको भी उस पुण्यलोकका दर्शन नहीं हो सकता ।। ५ ।।

नापि यज्ञहनैः क्षुद्रैर्द्रष्टुं शक्यः कथंचन ।
पानपैर्गुरुतल्पैश्च मांसादैर्वा दुरात्मभिः ।। ६ ।।

जो यज्ञोंमें विघ्न डालनेवाले नीच, शराबी, गुरुपत्नीगामी, मांसाहारी तथा दुरात्मा हैं, वे तो किसी भी प्रकार उस दिव्य लोकका दर्शन नहीं पा सकते ।। ६ ।।

स तद् दिव्यं वनं पश्यन् दिव्यगीतनिनादितम् ।
प्रविवेश महाबाहुः शक्रस्य दयितां पुरीम् ।। ७ ।।

जहाँ सब ओर दिव्य संगीत गूँज रहा था, उस दिव्य वनका दर्शन करते हुए महाबाहु अर्जुनने देवराज इन्द्रकी प्रिय नगरी अमरावतीमें प्रवेश किया ।। ७ ।।

तत्र देवविमानानि कामगानि सहस्रशः ।
संस्थितान्यभियातानि ददर्शायुतशस्तदा ।। ८ ।।
संस्तूयमानो गन्धर्वैरप्सरोभिश्च पाण्डवः ।
पुष्पगन्धवहैः पुण्यैर्वायुभिश्चानुवीजितः ।। ९ ।।

वहाँ स्वेच्छानुसार गमन करनेवाले देवताओंके सहस्रों विमान स्थिरभावसे खड़े थे और हजारों इधर-उधर आते-जाते थे। उन सबको पाण्डुनन्दन अर्जुनने देखा। उस समय गन्धर्व और अप्सराएँ उनकी स्तुति कर रही थीं। फूलोंकी सुगन्धका भार वहन करनेवाली पवित्र मन्द-मन्द वायु मानो उनके लिये चँवर डुला रही थी ।। ८-९ ।।

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
हृष्टाः सम्पूजयामासुः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ।। १० ।।

तदनन्तर देवताओं, गन्धर्वों, सिद्धों और महर्षियोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुनका स्वागत-सत्कार किया ।। १० ।।

आशीर्वादैः स्तूयमानो दिव्यवादित्रनिःस्वनैः ।
प्रतिपेदे महाबाहुः शङ्खदुन्दुभिनादितम् ।। ११ ।।
नक्षत्रमार्गं विपुलं सुरवीथीति विश्रुतम् ।
इन्द्राज्ञया ययौ पार्थः स्तूयमानः समन्ततः ।। १२ ।।

कहीं उन्हें आशीर्वाद मिलता और कहीं स्तुति-प्रशंसा प्राप्त होती थी। स्थान-स्थानपर दिव्य वाद्योंकी मधुर ध्वनिसे उनका स्वागत हो रहा था। इस प्रकार महाबाहु अर्जुन शंख और दुन्दुभियोंके गम्भीर नादसे गूँजते हुए 'सुरवीथी' नामसे प्रसिद्ध विस्तृत नक्षत्र-मार्गपर चलने लगे। इन्द्रकी आज्ञासे कुन्तीकुमारका सब ओर स्तवन हो रहा था और इस प्रकार वे गन्तव्य मार्गपर बढ़ते चले जा रहे थे ।। ११-१२ ।।

तत्र साध्यास्तथा विश्वे मरुतोऽथाश्विनौ तथा ।
आदित्या वसवो रुद्रास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।। १३ ।।
राजर्षयश्च बहवो दिलीपप्रमुखा नृपाः ।
तुम्बुरुर्नारदश्चैव गन्धर्वौ च हहाहुहूः ।। १४ ।।

वहाँ साध्य, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, आदित्य, वसु, रुद्र तथा विशुद्ध ब्रह्मर्षिगण और अनेक राजर्षिगण एवं दिलीप आदि बहुत-से राजा, तुम्बुरु, नारद, हाहा, हूहू आदि गन्धर्वगण विराजमान थे ।। १३-१४ ।।

तान् स सर्वान् समागम्य विधिवत् कुरुनन्दनः ।

ततोऽपश्यद् देवराजं शतक्रतुमरिंदमः ।। १५ ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले कुरुनन्दन अर्जुनने उन सबसे विधिपूर्वक मिलकर अन्तमें सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्रका दर्शन किया ।। १५ ।।

ततः पार्थो महाबाहुरवतीर्य रथोत्तमात् ।
ददर्श साक्षाद् देवेशं पितरं पाकशासनम् ।। १६ ।।

उन्हें देखते ही महाबाहु पार्थ उस उत्तम रथसे उतर पड़े और देवेश्वर पिता पाकशासन (इन्द्र)-को उन्होंने प्रत्यक्ष देखा ।। १६ ।।

पाण्डुरेणातपत्रेण हेमदण्डेन चारुणा ।
दिव्यगन्धाधिवासेन व्यजनेन विधूयता ।। १७ ।।

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिसमें मनोहर स्वर्णमय दण्ड शोभा पा रहा था। उनके उभय पार्श्वमें दिव्य सुगन्धसे वासित चँवर डुलाये जा रहे थे ।। १७ ।।

विश्वावसुप्रभृतिभिर्गन्धर्वैः स्तुतिवन्दनैः ।
स्तूयमानं द्विजाग्र्यैश्च ऋग्यजुःसामसम्भवैः ।। १८ ।।

विश्वावसु आदि गन्धर्व स्तुति और वन्दनापूर्वक उनके गुण गाते थे। श्रेष्ठ ब्रह्मर्षिगण ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके इन्द्रदेवतासम्बन्धी मन्त्रोंद्वारा उनका स्तवन कर रहे थे ।। १८ ।।

ततोऽभिगम्य कौन्तेयः शिरसाभ्यगमद् बली ।
स चैनं वृत्तपीनाभ्यां बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णत ।। १९ ।।

तदनन्तर बलवान् कुन्तीकुमारने निकट जाकर देवेन्द्रके चरणोंमें मस्तक रख दिया और उन्होंने अपनी गोल-गोल मोटी भुजाओंसे उठाकर अर्जुनको हृदयसे लगा लिया ।। १९ ।।

ततः शक्रासने पुण्ये देवर्षिगणसेविते ।
शक्रः पाणौ गृहीत्वैनमुपावेशयदन्तिके ।। २० ।।

तत्पश्चात् इन्द्रने अर्जुनका हाथ पकड़कर अपने देवर्षिगणसेवित पवित्र सिंहासनपर उन्हें पास ही बिठा लिया ।। २० ।।

मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय देवेन्द्रः परवीरहा ।
अङ्कमारोपयामास प्रश्रयावनतं तदा ।। २१ ।।

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले देवराजने विनीतभावसे आये हुए अर्जुनका मस्तक सूँघा और उन्हें अपनी गोदमें बिठा लिया ।। २१ ।।

सहस्राक्षनियोगात् स पार्थः शक्रासनं गतः ।
अध्यक्रामदमेयात्मा द्वितीय इव वासवः ।। २२ ।।

उस समय सहस्रनेत्रधारी देवेन्द्रके आदेशसे उनके सिंहासनपर बैठे हुए अपरिमित प्रभावशाली कुन्तीकुमार दूसरे इन्द्रकी भाँति शोभा पा रहे थे ।। २२ ।।

ततः प्रेम्णा वृत्रशत्रुरर्जुनस्य शुभं मुखम् ।
पस्पर्श पुण्यगन्धेन करेण परिसान्त्वयन् ।। २३ ।।

इसके बाद वृत्रासुरके शत्रु इन्द्रने पवित्र गन्धयुक्त हाथसे बड़े प्रेमके साथ अर्जुनको सब प्रकारसे आश्वासन देते हुए उनके सुन्दर मुखका स्पर्श किया ।। २३ ।।

प्रमार्जमानः शनकैर्बाहू चास्यायतौ शुभौ ।
ज्याशरक्षेपकठिनौ स्तम्भाविव हिरणमयौ ।। २४ ।।

अर्जुनकी सुन्दर विशाल भुजाएँ प्रत्यंचा खींचकर बाण चलानेकी रगड़से कठोर हो गयी थीं। वे देखनेमें सोनेके खंभे-जैसी जान पड़ती थीं। देवराज उन भुजाओंपर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगे ।। २४ ।।

वज्रग्रहणचिह्नेन करेण परिसान्त्वयन् ।
मुहुर्मुहुर्वज्रधरो बाहू चास्फोटयच्छनैः ।। २५ ।।

वज्रधारी इन्द्र वज्रधारणजनित चिह्नसे सुशोभित दाहिने हाथसे अर्जुनको बार-बार सान्त्वना देते हुए उनकी भुजाओंको धीरे-धीरे थपथपाने लगे ।। २५ ।।

स्मयन्निव गुडाकेशं प्रेक्षमाणः सहस्रदृक् ।
हर्षेणोत्फुल्लनयनो न चातृप्यत वृत्रहा ।। २६ ।।

सहस्र नयनोंसे सुशोभित वृत्रसूदन इन्द्र निद्राविजयी अर्जुनको मुसकराते हुए-से देख रहे थे। उस समय इन्द्रकी आँखें हर्षसे खिल उठी थीं। वे उन्हें देखनेसे तृप्त नहीं होते थे ।। २६ ।।

एकासनोपविष्टौ तौ शोभयांचक्रतुः सभाम् ।
सूर्याचन्द्रमसौ व्योम चतुर्दश्यामिवोदितौ ।। २७ ।।

जैसे कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको उदित हुए सूर्य और चन्द्रमा आकाशकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार एक सिंहासनपर बैठे हुए देवराज इन्द्र और कुन्तीकुमार अर्जुन देवसभाको सुशोभित कर रहे थे ।। २७ ।।

तत्र स्म गाथा गायन्ति साम्ना परमवल्गुना ।
गन्धर्वास्तुम्बुरुश्रेष्ठाः कुशला गीतसामसु ।। २८ ।।

उस समय वहाँ सामगानमें निपुण तुम्बुरु आदि श्रेष्ठ गन्धर्वगण सामगानके नियमानुसार अत्यन्त मधुर स्वरमें गाथागान करने लगे ।। २८ ।।

घृताची मेनका रम्भा पूर्वचित्तिः स्वयंप्रभा ।
उर्वशी मिश्रकेशी च दण्डगौरी वरूथिनी ।। २९ ।।
गोपाली सहजन्या च कुम्भयोनिः प्रजागरा ।
चित्रसेना चित्रलेखा सहा च मधुरस्वरा ।। ३० ।।
एताश्चान्याश्च ननृतुस्तत्र तत्र सहस्रशः ।
चित्तप्रसादने युक्ताः सिद्धानां पद्मलोचनाः ।। ३१ ।।
महाकटितटश्रोण्यः कम्पमानैः पयोधरैः ।
कटाक्षहावमाधुर्यैश्चेतोबुद्धिमनोहरैः ।। ३२ ।।

घृताची, मेनका, रम्भा, पूर्वचित्ति, स्वयंप्रभा, उर्वशी, मिश्रकेशी, दण्डगौरी, वरूथिनी, गोपाली, सहजन्या, कुम्भयोनि, प्रजागरा, चित्रसेना, चित्रलेखा, सहा और मधुरस्वरा—ये तथा और भी सहस्रों अप्सराएँ वहाँ इन्द्रसभामें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर नृत्य करने लगीं। वे कमललोचना अप्सराएँ सिद्ध पुरुषोंके भी चित्तको प्रसन्न करनेमें संलग्न थीं। उनके कटि-प्रदेश और नितम्ब विशाल थे। नृत्य करते समय उनके उन्नत स्तन कम्पमान हो रहे थे। उनके कटाक्ष, हाव-भाव तथा माधुर्य आदि मन, बुद्धि एवं चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका अपहरण कर लेते थे ।। २९—३२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि इन्द्रसभादर्शने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें इन्द्रसभादर्शनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४३ ।।

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनको अस्त्र और संगीतकी शिक्षा

वैशम्पायन उवाच

ततो देवाः सगन्धर्वाः समादायार्घ्यमुत्तमम् ।
शक्रस्य मतमाज्ञाय पार्थमानर्चुरञ्जसा ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर देवराज इन्द्रका अभिप्राय जानकर देवताओं और गन्धर्वोंने उत्तम अर्घ्य लेकर कुन्तीकुमार अर्जुनका यथोचित पूजन किया ।। १ ।।

पाद्यमाचमनीयं च प्रतिग्राह्य नृपात्मजम् ।
प्रवेशयामासुरथो पुरन्दरनिवेशनम् ।। २ ।।

राजकुमार अर्जुनको पाद्य, (अर्घ्य), आचमनीय आदि उपचार अर्पित करके देवताओंने उन्हें इन्द्रभवनमें पहुँचा दिया ।। २ ।।

एवं सम्पूजितो जिष्णुरुवास भवने पितुः ।
उपशिक्षन् महास्त्राणि ससंहाराणि पाण्डवः ।। ३ ।।

इस प्रकार देवसमुदायसे पूजित हो पाण्डुकुमार अर्जुन अपने पिताके घरमें रहने और उनसे उपसंहारसहित महान् अस्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण करने लगे ।। ३ ।।

शक्रस्य हस्ताद् दयितं वज्रमस्त्रं च दुःसहम् ।
अशनीश्च महानादा मेघबर्हिणलक्षणाः ।। ४ ।।

उन्होंने इन्द्रके हाथसे उनके प्रिय एवं दुःसह अस्त्र वज्र और भारी गड़गड़ाहट पैदा करनेवाली उन अशनियोंको ग्रहण किया, जिनका प्रयोग करनेपर जगत्में मेघोंकी घटा घिर आती और मयूर नृत्य करने लगते हैं ।। ४ ।।

गृहीतास्त्रस्तु कौन्तेयो भ्रातॄन् सस्मार पाण्डवः ।
पुरन्दरनियोगाच्च पञ्चाब्दानवसत् सुखी ।। ५ ।।

सब अस्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण कर लेनेपर पाण्डुपुत्र पार्थने अपने भाइयोंका स्मरण किया। परंतु पुरन्दरके विशेष अनुरोधसे वे (मानव-गणनाके अनुसार) पाँच वर्षोंतक वहाँ सुखपूर्वक ठहरे रहे ।। ५ ।।

ततः शक्रोऽब्रवीत् पार्थं कृतास्त्रं काल आगते ।
नृत्यं गीतं च कौन्तेय चित्रसेनादवाप्नुहि ।। ६ ।।

तदनन्तर इन्द्रने अस्त्रशिक्षामें निपुण कुन्ती-कुमारसे उपयुक्त अवसर आनेपर कहा—‘कुन्तीनन्दन! तुम चित्रसेनसे नृत्य और गीतकी शिक्षा ग्रहण कर लो’ ।। ६ ।।

वादित्रं देवविहितं नृलोके यन्न विद्यते ।

तदर्जयस्व कौन्तेय श्रेयो वै ते भविष्यति ।। ७ ।।

'कुन्तीनन्दन! मनुष्यलोकमें जो अबतक प्रचलित नहीं है, देवताओंकी उस वाद्यकलाका ज्ञान प्राप्त कर लो। इससे तुम्हारा भला होगा' ।। ७ ।।

सखायं प्रददौ चास्य चित्रसेनं पुरन्दरः ।
स तेन सह संगम्य रेमे पार्थो निरामयः ।। ८ ।।

पुरन्दरने अर्जुनको संगीतकी शिक्षा देनेके लिये उन्हींके मित्र चित्रसेनको नियुक्त कर दिया। मित्रसे मिलकर दुःख-शोकसे रहित अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए ।। ८ ।।

गीतवादित्रनृत्यानि भूय एवादिदेश ह ।
तथापि नालभच्छर्म तपस्वी द्यूतकारितम् ।। ९ ।।

चित्रसेनने उन्हें गीत, वाद्य और नृत्यकी बार-बार शिक्षा दी तो भी द्यूतजनित अपमानका स्मरण करके तपस्वी अर्जुनको तनिक भी शान्ति नहीं मिली ।। ९ ।।

दुःशासनवधामर्षी शकुनेः सौबलस्य च ।
ततस्तेनातुलां प्रीतिमुपागम्य क्वचित् क्वचित् ।
गान्धर्वमतुलं नृत्यं वादित्रं चोपलब्धवान् ।। १० ।।

उन्हें दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनिके वधके लिये मनमें बड़ा रोष होता था तथा चित्रसेनके सहवाससे कभी-कभी उन्हें अनुपम प्रसन्नता प्राप्त होती थी, जिससे उन्होंने गीत, नृत्य और वाद्यकी उस अनुपम कलाको (पूर्णरूपसे) उपलब्ध कर लिया ।। १० ।।

स शिक्षितो नृत्यगुणाननेकान्
वादित्रगीतार्थगुणांश्च सर्वान् ।
न शर्म लेभे परवीरहन्ता
भ्रातॄन् स्मरन् मातरं चैव कुन्तीम् ।। ११ ।।

शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले वीर अर्जुनने नृत्य-सम्बन्धी अनेक गुणोंकी शिक्षा पायी। वाद्य और गीत-विषयक सभी गुण सीख लिये। तथापि भाइयों और माता कुन्तीका स्मरण करके उन्हें कभी चैन नहीं पड़ता था ।। ११ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें अर्जुनकी अस्त्रादिशिक्षासे सम्बन्ध रखनेवाला चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४४ ।।

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

चित्रसेन और उर्वशीका वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

आदावेवाथ तं शक्रश्चित्रसेनं रहोऽब्रवीत् ।
पार्थस्य चक्षुरुर्वश्यां सक्तं विज्ञाय वासवः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक समय इन्द्रने अर्जुनके नेत्र उर्वशीके प्रति आसक्त जानकर चित्रसेन गन्धर्वको बुलाया और प्रथम ही एकान्तमें उनसे यह बात कही — ।। १ ।।

गन्धर्वराज गच्छाद्य प्रहितोऽप्सरसां वराम् ।
उर्वशीं पुरुषव्याघ्र सोपातिष्ठतु फाल्गुनम् ।। २ ।।

'गन्धर्वराज! तुम मेरे भेजनेसे आज अप्सराओंमें श्रेष्ठ उर्वशीके पास जाओ। पुरुषश्रेष्ठ! तुम्हें वहाँ भेजनेका उद्देश्य यह है कि उर्वशी अर्जुनकी सेवामें उपस्थित हो ।। २ ।।

यथार्चितो गृहीतास्त्रो विद्यया मन्नियोगतः ।
तथा त्वया विधातव्यं स्त्रीषु संगविशारदः ।। ३ ।।

‘जैसे अस्त्रविद्या सीख लेनेके पश्चात् अर्जुनको मेरी आज्ञासे तुमने संगीतविद्याद्वारा सम्मानित किया है, उसी प्रकार वे स्त्रीसंगविशारद हो सकें, ऐसा प्रयत्न करो’ ।। ३ ।।

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सोऽनुज्ञां प्राप्य वासवात् ।
गन्धर्वराजोऽप्सरसमभ्यगादुर्वशीं वराम् ।। ४ ।।

इन्द्रके इस प्रकार कहनेपर ‘तथास्तु’ कहकर उनसे आज्ञा ले गन्धर्वराज चित्रसेन सुन्दरी अप्सरा उर्वशीके पास गये ।। ४ ।।

तां दृष्ट्वा विदितो हृष्टः स्वागतेनार्चितस्तया ।
सुखासीनः सुखासीनां स्मितपूर्वं वचोऽब्रवीत् ।। ५ ।।

उससे मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उर्वशीने चित्रसेनको आया जान स्वागतपूर्वक उनका सत्कार किया। जब वे आरामसे बैठ गये, तब सुखपूर्वक सुन्दर आसनपर बैठी हुई उर्वशीसे मुसकराकर बोले— ।। ५ ।।

विदितं तेऽस्तु सुश्रोणि प्रहितोऽहमिहागतः ।
त्रिदिवस्यैकराजेन त्वत्प्रसादाभिनन्दिना ।। ६ ।।

‘सुश्रोणि! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि स्वर्गके एकमात्र सम्राट् इन्द्रने, जो तुम्हारे कृपाप्रसादका अभिनन्दन करते हैं, मुझे तुम्हारे पास भेजा है। उन्हींकी आज्ञासे मैं यहाँ आया हूँ ।। ६ ।।

यस्तु देवमनुष्येषु प्रख्यातः सहजैर्गुणैः ।
श्रिया शीलेन रूपेण व्रतेन च दमेन च ।
प्रख्यातो बलवीर्येण सम्मतः प्रतिभानवान् ।। ७ ।।
वर्चस्वी तेजसा युक्तः क्षमावान् वीतमत्सरः ।
साङ्गोपनिषदान् वेदांश्चतुराख्यानपञ्चमान् ।। ८ ।।
योऽधीते गुरुशुश्रूषां मेधां चाष्टगुणाश्रयाम् ।
ब्रह्मचर्येण दाक्ष्येण प्रसवैर्वयसापि च ।। ९ ।।
एको वै रक्षिता चैव त्रिदिवं मघवानिव ।
अकत्थनो मानयिता स्थूललक्ष्यः प्रियंवदः ।। १० ।।
सुहृदश्चान्नपानेन विविधेनाभिवर्षति ।
सत्यवाक् पूजितो वक्ता रूपवाननहंकृतः ।। ११ ।।
भक्तानुकम्पी कान्तश्च प्रियश्च स्थिरसंगरः ।
प्रार्थनीयैर्गुणगणैर्महेन्द्रवरुणोपमः ।। १२ ।।
विदितस्तेऽर्जुनो वीरः स स्वर्गफलमाप्नुयात् ।
त्वं तु शक्राभ्यनुज्ञाता तस्य पादान्तिकं व्रज ।
तदेवं कुरु कल्याणि प्रसन्नस्त्वां धनंजयः ।। १३ ।।

‘सुन्दरी! जो अपने स्वाभाविक सद्‌गुण, श्री, शील (स्वभाव), मनोहर रूप, उत्तम व्रत और इन्द्रियसंयमके कारण देवताओं तथा मनुष्योंमें विख्यात हैं। बल और पराक्रमके द्वारा जिनकी सर्वत्र प्रसिद्धि है; जो सबके प्रिय, प्रतिभाशाली, वर्चस्वी, तेजस्वी, क्षमाशील तथा ईर्ष्यारहित हैं, जिन्होंने छहों अंगोंसहित चारों वेदों, उपनिषदों और पंचम वेद (इतिहास-पुराण)-का अध्ययन किया है। जिन्हें गुरुशुश्रूषा तथा आठ गुणोंसे* युक्त मेधाशक्ति प्राप्त है, जो ब्रह्मचर्यपालन, कार्य-दक्षता, संतान तथा युवावस्थाके द्वारा अकेले ही देवराज इन्द्रकी भाँति स्वर्गलोककी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, जो अपने मुँहसे अपने गुणोंकी कभी प्रशंसा नहीं करते, दूसरोंको सम्मान देते, अत्यन्त सूक्ष्म विषयको भी स्थूलकी भाँति शीघ्र ही समझ लेते और सबसे प्रिय वचन बोलते हैं, जो अपने सुहृदोंके लिये नाना प्रकारके अन्न-पानकी वर्षा करते और सदा सत्य बोलते हैं, जिनका सर्वत्र आदर होता है, जो अच्छे वक्ता तथा मनोहर रूपवाले होकर भी अहंकारशून्य हैं, जिनके हृदयमें अपने प्रेमी भक्तोंके लिये अत्यन्त कृपा भरी हुई है, जो कान्तिमान्, प्रिय तथा प्रतिज्ञापालन एवं युद्धमें स्थिरतापूर्वक डटे रहनेवाले हैं, जिनके सद्‌गुणोंकी दूसरे लोग स्पृहा रखते हैं और उन्हीं गुणोंके कारण जो महेन्द्र और वरुणके समान आदरणीय माने जाते हैं, उन वीरवर अर्जुनको तुम अच्छी तरह जानती हो। उन्हें स्वर्गमें आनेका फल अवश्य मिलना चाहिये। तुम देवराजकी आज्ञाके अनुसार आज अर्जुनके चरणोंके समीप जाओ। कल्याणि! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे कुन्तीकुमार धनंजय तुमपर प्रसन्न हों’ ।।

एवमुक्ता स्मितं कृत्वा सम्मानं बहु मन्य च ।
प्रत्युवाचोर्वशी प्रीता चित्रसेनमनिन्दिता ।। १४ ।।

चित्रसेनके ऐसा कहनेपर उर्वशीके अधरोंपर मुसकान दौड़ गयी। उसने इस आदेशको अपने लिये बड़ा सम्मान समझा। अनिन्द्य सुन्दरी उर्वशी उस समय अत्यन्त प्रसन्न होकर चित्रसेनसे इस प्रकार बोली— ।। १४ ।।

यस्त्वस्य कथितः सत्यो गुणोद्देशस्त्वया मम ।
तं श्रुत्वाव्यथयं पुंसो वृणुयां किमतोऽर्जुनम् ।। १५ ।।

‘गन्धर्वराज! तुमने जो अर्जुनके लेशमात्र गुणोंका मेरे सामने वर्णन किया है, वह सब सत्य है। मैं दूसरे लोगोंके मुखसे भी उनकी प्रशंसा सुनकर उनके लिये व्यथित हो उठी हूँ। अतः इससे अधिक मैं अर्जुनका क्या वरण करूँ?’ ।। १५ ।।

महेन्द्रस्य नियोगेन त्वत्तः सम्प्रणयेन च ।
तस्य चाहं गुणौघेन फाल्गुने जातमन्मथा ।
गच्छ त्वं हि यथाकाममागमिष्याम्यहं सुखम् ।। १६ ।।

‘महेन्द्रकी आज्ञासे, तुम्हारे प्रेमपूर्ण बर्तावसे तथा अर्जुनके सद्‌गुणसमुदायसे मेरा उनके प्रति कामभाव हो गया है। अतः अब तुम जाओ। मैं इच्छानुसार सुखपूर्वक उनके स्थानपर यथासमय आऊँगी’ ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि चित्रसेनोर्वशीसंवादे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें चित्रसेन-उर्वशीसंवादविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४५ ।।

---

* शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, अर्थविज्ञान तथा तत्त्वविज्ञान—ये बुद्धिके आठ गुण हैं।

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

उर्वशीका कामपीड़ित होकर अर्जुनके पास जाना और उनके अस्वीकार करनेपर उन्हें शाप देकर लौट आना

वैशम्पायन उवाच

ततो विसृज्य गन्धर्वं कृतकृत्यं शुचिस्मिता ।
उर्वशी चाकरोत् स्नानं पार्थदर्शनलालसा ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर कृतकृत्य हुए गन्धर्वराज चित्रसेनको विदा करके पवित्र मुसकानवाली उर्वशीने अर्जुनसे मिलनेके लिये उत्सुक हो स्नान किया ।। १ ।।

स्नानालंकरणैर्हृद्यैर्गन्धमाल्यैश्च सुप्रभैः ।
धनंजयस्य रूपेण शरैर्मन्मथचोदितैः ।। २ ।।
अतिविद्धेन मनसा मन्मथेन प्रदीपिता ।
दिव्यास्तरणसंस्तीर्णे विस्तीर्णे शयनोत्तमे ।। ३ ।।
चित्तसंकल्पभावेन सुचित्तानन्यमानसा ।
मनोरथेन सम्प्राप्तं रमन्त्येनं हि फाल्गुनम् ।। ४ ।।

धनंजयके रूप-सौन्दर्यसे प्रभावित उसका हृदय कामदेवके बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल हो चुका था। वह मदनाग्निसे दग्ध हो रही थी। स्नानके पश्चात् उसने चमकीले और मनोभिराम आभूषण धारण किये। सुगन्धित दिव्य पुष्पोंके हारोंसे अपनेको अलंकृत किया। फिर उसने मन-ही-मन संकल्प किया—दिव्य बिछौनोंसे सजी हुई एक सुन्दर विशाल शय्या बिछी हुई है। उसका हृदय सुन्दर तथा प्रियतमके चिन्तनमें एकाग्र था। उसने मनकी भावनाद्वारा ही यह देखा कि कुन्तीकुमार अर्जुन उसके पास आ गये हैं और वह उनके साथ रमण कर रही है ।। २—४ ।।

निर्गम्य चन्द्रोदयने विगाढे रजनीमुखे ।
प्रस्थिता सा पृथुश्रोणी पार्थस्य भवनं प्रति ।। ५ ।।

संध्याको चन्द्रोदय होनेपर जब चारों ओर चाँदनी छिटक गयी, उस समय वह विशाल नितम्बोंवाली अप्सरा अपने भवनसे निकलकर अर्जुनके निवासस्थानकी ओर चली ।। ५ ।।

मृदुकुञ्चितदीर्घेण कुमुदोत्करधारिणा ।
केशहस्तेन ललना जगामाथ विराजती ।। ६ ।।

उसके कोमल, घुँघराले और लम्बे केशोंका समूह वेणीके रूपमें आबद्ध था। उनमें कुमुद-पुष्पोंके गुच्छे लगे हुए थे। इस प्रकार सुशोभित वह ललना अर्जुनके गृहकी ओर बढ़ी

जा रही थी ।। ६ ।।

भ्रूक्षेपालापमाधुर्यैः कान्त्या सौम्यतयापि च ।
शशिनं वक्त्रचन्द्रेण साऽऽह्वयन्तीव गच्छति ।। ७ ।।

भौंहोंकी भंगिमा, वार्तालापकी मधुरिमा, उज्ज्वल कान्ति और सौम्यभावसे सम्पन्न अपने मनोहर मुखचन्द्र-द्वारा वह चन्द्रमाको चुनौती-सी देती हुई इन्द्रभवनके पथपर चल रही थी ।। ७ ।।

दिव्याङ्गरागौ सुमुखौ दिव्यचन्दनरूषितौ ।
गच्छन्त्या हाररुचिरौ स्तनौ तस्या ववल्गतुः ।। ८ ।।

चलते समय सुन्दर हारोंसे विभूषित उर्वशीके उठे हुए स्तन जोर-जोरसे हिल रहे थे। उनपर दिव्य अंगराग लगाये गये थे। उनके अग्रभाग अत्यन्त मनोहर थे। वे दिव्य चन्दनसे चर्चित हो रहे थे ।। ८ ।।

स्तनोद्वहनसंक्षोभान्नम्यमाना पदे पदे ।
त्रिवलीदामचित्रेण मध्येनातीवशोभिना ।। ९ ।।

स्तनोंके भारी भारको वहन करनेके कारण थककर वह पग-पगपर झुकी जाती थी। उसका अत्यन्त सुन्दर मध्यभाग (उदर) त्रिवली रेखासे विचित्र शोभा धारण करता था ।। ९ ।।

अधो भूधरविस्तीर्णं नितम्बोन्नतपीवरम् ।
मन्मथायतनं शुभ्रं रसनादामभूषितम् ।। १० ।।
ऋषीणामपि दिव्यानां मनोव्याघातकारणम् ।
सूक्ष्मवस्त्रधरं रेजे जघनं निरवद्यवत् ।। ११ ।।

सुन्दर महीन वस्त्रोंसे आच्छादित उसका जघनप्रदेश अनिन्द्य सौन्दर्यसे सुशोभित हो रहा था। वह कामदेवका उज्ज्वल मन्दिर जान पड़ता था। नाभिके नीचेके भागमें पर्वतके समान विशाल नितम्ब ऊँचा और स्थूल प्रतीत होता था। कटिमें बँधी हुई करधनीकी लड़ियाँ उस जघनप्रदेशको सुशोभित कर रही थीं। वह मनोहर अंग (जघन) देवलोकवासी महर्षियोंके भी चित्तको क्षुब्ध कर देनेवाला था ।। १०-११ ।।

गूढगुल्फधरौ पादौ ताम्रायततलाङ्गुली ।
कूर्मपृष्ठोन्नतौ चापि शोभेते किङ्किणीकिणौ ।। १२ ।।

उसके दोनों चरणोंके गुल्फ (टखने) मांससे छिपे हुए थे। उसके विस्तृत तलवे और अँगुलियाँ लाल रंगकी थीं। वे दोनों पैर कछुएकी पीठके समान ऊँचे होनेके साथ ही घुँघुरुओंके चिह्नसे सुशोभित थे ।। १२ ।।

सीधुपानेन चाल्पेन तुष्ट्याथ मदनेन च ।
विलासनैश्च विविधैः प्रेक्षणीयतराभवत् ।। १३ ।।

वह अल्प सुरापानसे, संतोषसे, कामसे और नाना प्रकारकी विलासिताओंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त दर्शनीय हो रही थी ।। १३ ।।

सिद्धचारणगन्धर्वैः सा प्रयाता विलासिनी ।
बह्वाश्चर्येऽपि वै स्वर्गे दर्शनीयतमाकृतिः ।। १४ ।।
सुसूक्ष्मेणोत्तरीयेण मेघवर्णेन राजता ।
तनुरभ्रावृता व्योम्नि चन्द्रलेखेव गच्छति ।। १५ ।।

जाती हुई उस विलासिनी अप्सराकी आकृति अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए स्वर्गलोकमें भी सिद्ध, चारण और गन्धर्वोंके लिये देखनेके ही योग्य हो रही थी। अत्यन्त महीन मेघके समान श्याम रंगकी सुन्दर ओढ़नी ओढ़े तन्वंगी उर्वशी आकाशमें बादलोंसे ढकी हुई चन्द्रलेखा-सी चली जा रही थी ।। १४-१५ ।।

ततः प्राप्ता क्षणेनैव मनःपवनगामिनी ।
भवनं पाण्डुपुत्रस्य फाल्गुनस्य शुचिस्मिता ।। १६ ।।

मन और वायुके समान तीव्र वेगसे चलनेवाली वह पवित्र मुसकानसे सुशोभित अप्सरा क्षणभरमें पाण्डुकुमार अर्जुनके महलमें जा पहुँची ।। १६ ।।

तत्र द्वारमनुप्राप्ता द्वारस्थैश्च निवेदिता ।
अर्जुनस्य नरश्रेष्ठ उर्वशी शुभलोचना ।। १७ ।।
उपातिष्ठत तद् वेश्म निर्मलं सुमनोहरम् ।
सशङ्कितमना राजन् प्रत्युद्गच्छत तां निशि ।। १८ ।।

नरश्रेष्ठ जनमेजय! महलके द्वारपर पहुँचकर वह ठहर गयी। उस समय द्वारपालोंने अर्जुनको उसके आगमनकी सूचना दी। तब सुन्दर नेत्रोंवाली उर्वशी रात्रिमें अर्जुनके अत्यन्त मनोहर तथा उज्ज्वल भवनमें उपस्थित हुई। राजन्! अर्जुन सशंक हृदयसे उसके सामने गये ।। १७-१८ ।।

दृष्ट्वैव चोर्वशीं पार्थो लज्जासंवृतलोचनः ।
तदाभिवादनं कृत्वा गुरुपूजां प्रयुक्तवान् ।। १९ ।।

उर्वशीको आयी देख अर्जुनके नेत्र लज्जासे मुँद गये। उस समय उन्होंने उसके चरणोंमें प्रणाम करके उसका गुरुजनोचित सत्कार किया ।। १९ ।।

अर्जुन उवाच

अभिवादये त्वां शिरसा प्रवराप्सरसां वरे ।
किमाज्ञापयसे देवि प्रेष्यस्तेऽहमुपस्थितः ।। २० ।।

अर्जुन बोले—देवि! श्रेष्ठ अप्सराओंमें भी तुम्हारा सबसे ऊँचा स्थान है। मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करता हूँ। बताओ, मेरे लिये क्या आज्ञा है? मैं तुम्हारा सेवक हूँ और तुम्हारी आज्ञाका पालन करनेके लिये उपस्थित हूँ ।। २० ।।

फाल्गुनस्य वचः श्रुत्वा गतसंज्ञा तदोर्वशी ।
गन्धर्ववचनं सर्वं श्रावयामास तं तदा ।। २१ ।।

अर्जुनकी यह बात सुनकर उर्वशीके होश-हवास गुम हो गये, उस समय उसने गन्धर्वराज चित्रसेनकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं ।। २१ ।।

उर्वश्युवाच

यथा मे चित्रसेनेन कथितं मनुजोत्तम ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथा चाहमिहागता ।। २२ ।।

उर्वशीने कहा—पुरुषोत्तम! चित्रसेनने मुझे जैसा संदेश दिया है और उसके अनुसार जिस उद्देश्यको लेकर मैं यहाँ आयी हूँ, वह सब मैं तुम्हें बता रही हूँ ।। २२ ।।

उपस्थाने महेन्द्रस्य वर्तमाने मनोरमे ।
तवागमनतो वृत्ते स्वर्गस्य परमोत्सवे ।। २३ ।।
रुद्राणां चैव सांनिध्यमादित्यानां च सर्वशः ।
समागमेऽश्विनोश्चैव वसूनां च नरोत्तम ।। २४ ।।
महर्षीणां च संघेषु राजर्षिप्रवरेषु च ।
सिद्धचारणयक्षेषु महोरगगणेषु च ।। २५ ।।
उपविष्टेषु सर्वेषु स्थानमानप्रभावतः ।
ऋद्ध्या प्रज्वलमानेषु अग्निसोमार्कवर्ष्मसु ।। २६ ।।
वीणासु वाद्यमानासु गन्धर्वैः शक्रनन्दन ।
दिव्ये मनोरमे गेये प्रवृत्ते पृथुलोचन ।। २७ ।।
सर्वाप्सरःसु मुख्यासु प्रनृत्तासु कुरूद्वह ।
त्वं किलानिमिषः पार्थ मामेकां तत्र दृष्टवान् ।। २८ ।।

देवराज इन्द्रके इस मनोरम निवासस्थानमें तुम्हारे शुभागमनके उपलक्ष्यमें एक महान् उत्सव मनाया गया। यह उत्सव स्वर्गलोकका सबसे बड़ा उत्सव था। उसमें रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार और वसुगण—इन सबका सब ओरसे समागम हुआ था। नरश्रेष्ठ! महर्षिसमुदाय, राजर्षिप्रवर, सिद्ध, चारण, यक्ष तथा बड़े-बड़े नाग—ये सभी अपने पद, सम्मान और प्रभावके अनुसार योग्य आसनोंपर बैठे थे। इन सबके शरीर अग्नि, चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी थे और ये समस्त देवता अपनी अद्भुत समृद्धिसे प्रकाशित हो रहे थे। विशाल नेत्रोंवाले इन्द्रकुमार! उस समय गन्धर्वोंद्वारा अनेक वीणाएँ बजायी जा रही थीं। दिव्य मनोरम संगीत छिड़ा हुआ था और सभी प्रमुख अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं। कुरुकुलनन्दन पार्थ! उस समय तुम मेरी ओर निर्निमेष नयनोंसे निहार रहे थे ।। २३—२८ ।।

तत्र चावभृथे तस्मिन्नुपस्थाने दिवौकसाम् ।

तव पित्राभ्यनुज्ञाता गताः स्वं स्वं गृहं सुराः ।। २९ ।।

तथैवाप्सरसः सर्वा विशिष्टाः स्वगृहं गताः ।

अपि चान्याश्च शत्रुघ्न तव पित्रा विसर्जिताः ।। ३० ।।

देवसभामें जब उस महोत्सवकी समाप्ति हुई, तब तुम्हारे पिताकी आज्ञा लेकर सब देवता अपने-अपने भवनको चले गये। शत्रुदमन! इसी प्रकार आपके पितासे विदा लेकर सभी प्रमुख अप्सराएँ तथा दूसरी साधारण अप्सराएँ भी अपने-अपने घरको चली गयीं ।।

ततः शक्रेण संदिष्टश्चित्रसेनो ममान्तिकम् ।

प्राप्तः कमलपत्राक्ष स च मामब्रवीदथ ।। ३१ ।।

कमलनयन! तदनन्तर देवराज इन्द्रका संदेश लेकर गन्धर्वप्रवर चित्रसेन मेरे पास आये और इस प्रकार बोले— ।। ३१ ।।

त्वत्कृतेऽहं सुरेशेन प्रेषितो वरवर्णिनि ।

प्रियं कुरु महेन्द्रस्य मम चैवात्मनश्च ह ।। ३२ ।।

'वरवर्णिनि! देवेश्वर इन्द्रने तुम्हारे लिये एक संदेश देकर मुझे भेजा है। तुम उसे सुनकर महेन्द्रका, मेरा तथा मुझसे अपना भी प्रिय कार्य करो' ।। ३२ ।।

शक्रतुल्यं रणे शूरं सदौदार्यगुणान्वितम् ।

पार्थं प्रार्थय सुश्रोणि त्वमित्येवं तदाब्रवीत् ।। ३३ ।।

'सुश्रोणि! जो संग्राममें इन्द्रके समान पराक्रमी और उदारता आदि गुणोंसे सदा सम्पन्न हैं, उन कुन्तीनन्दन अर्जुनकी सेवा तुम स्वीकार करो।' इस प्रकार चित्रसेनने मुझसे कहा था ।। ३३ ।।

ततोऽहं समनुज्ञाता तेन पित्रा च तेऽनघ ।

तवान्तिकमनुप्राप्ता शुश्रूषितुमरिंदम ।। ३४ ।।

अनघ! शत्रुदमन! तदनन्तर चित्रसेन और तुम्हारे पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं तुम्हारी सेवाके लिये तुम्हारे पास आयी हूँ ।। ३४ ।।

त्वद्‌गुणाकृष्टचित्ताहमनङ्गवशमागता ।

चिराभिलषितो वीर ममाप्येष मनोरथः ।। ३५ ।।

तुम्हारे गुणोंने मेरे चित्तको अपनी ओर खींच लिया है। मैं कामदेवके वशमें हो गयी हूँ। वीर! मेरे हृदयमें भी चिरकालसे यह मनोरथ चला आ रहा था ।। ३५ ।।

वैशम्पायन उवाच

तां तथा ब्रुवतीं श्रुत्वा भृशं लज्जाऽऽवृतोऽर्जुनः ।

उवाच कर्णौ हस्ताभ्यां पिधाय त्रिदशालये ।। ३६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! स्वर्गलोकमें उर्वशीकी यह बात सुनकर अर्जुन अत्यन्त लज्जासे गड़ गये और हाथोंसे दोनों कान मूँदकर बोले— ।। ३६ ।।

दुःश्रुतं मेऽस्तु सुभगे यन्मां वदसि भाविनि ।
गुरुदारैः समाना मे निश्चयेन वरानने ।। ३७ ।।

'सौभाग्यशालिनि! भाविनि! तुम जैसी बात कह रही हो, उसे सुनना भी मेरे लिये बड़े दुःखकी बात है। वरानने! निश्चय ही तुम मेरी दृष्टिमें गुरुपत्नियोंके समान पूजनीया हो ।। ३७ ।।

यथा कुन्ती महाभागा यथेन्द्राणी शची मम ।
तथा त्वमपि कल्याणि नात्र कार्या विचारणा ।। ३८ ।।

'कल्याणि! मेरे लिये जैसी महाभागा कुन्ती और इन्द्राणी शची हैं, वैसी ही तुम भी हो। इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ।। ३८ ।।

यच्चेक्षितासि विस्पष्टं विशेषेण मया शुभे ।
तच्च कारणपूर्वं हि शृणु सत्यं शुचिस्मिते ।। ३९ ।।

'शुभे! पवित्र मुसकानवाली उर्वशी! मैंने जो उस समय सभामें तुम्हारी ओर एकटक दृष्टिसे देखा था, उसका एक विशेष कारण था, उसे सत्य बताता हूँ सुनो— ।। ३९ ।।

इयं पौरववंशस्य जननी मुदितेति ह ।
त्वामहं दृष्टवांस्तत्र विज्ञायोत्फुल्ललोचनः ।। ४० ।।
न मामर्हसि कल्याणि अन्यथा ध्यातुमप्सरः ।
गुरोर्गुरुतरा मे त्वं मम त्वं वंशवर्धिनी ।। ४१ ।।

'यह आनन्दमयी उर्वशी ही पूरुवंशकी जननी है, ऐसा समझकर मेरे नेत्र खिल उठे और इस पूज्य भावको लेकर ही मैंने तुम्हें वहाँ देखा था। कल्याणमयी अप्सरा! तुम मेरे विषयमें कोई अन्यथा भाव मनमें न लाओ। तुम मेरे वंशकी वृद्धि करनेवाली हो, अतः गुरुसे भी अधिक गौरवशालिनी हो' ।। ४०-४१ ।।

उर्वश्युवाच

अनावृताश्च सर्वाः स्म देवराजाभिनन्दन ।
गुरुस्थाने न मां वीर नियोक्तुं त्वमिहार्हसि ।। ४२ ।।

उर्वशीने कहा—वीर देवराजनन्दन! हम सब अप्सराएँ स्वर्गवासियोंके लिये अनावृत हैं—हमारा किसीके साथ कोई पर्दा नहीं है। अतः तुम मुझे गुरुजनके स्थानपर नियुक्त न करो ।। ४२ ।।

पूरोर्वंशे हि ये पुत्रा नप्तारो वा त्विहागताः ।
तपसा रमयन्त्यस्मान्न च तेषां व्यतिक्रमः ।। ४३ ।।
तद् प्रसीद न मामार्तां विसर्जयितुमर्हसि ।
हृच्छयेन च संतप्तां भक्तां च भज मानद ।। ४४ ।।

पूरुवंशके कितने ही पोते-नाती तपस्या करके यहाँ आते हैं और वे हम सब अप्सराओंके साथ रमण करते हैं। इसमें उनका कोई अपराध नहीं समझा जाता। मानद! मुझपर प्रसन्न होओ। मैं कामवेदनासे पीड़ित हूँ, मेरा त्याग न करो। मैं तुम्हारी भक्त हूँ और मदनाग्निसे दग्ध हो रही हूँ; अतः मुझे अंगीकार करो ।। ४३-४४ ।।

अर्जुन उवाच

शृणु सत्यं वरारोहे यत् त्वां वक्ष्याम्यनिन्दिते ।
शृण्वन्तु मे दिशश्चैव विदिशश्च सदेवताः ।। ४५ ।।

अर्जुनने कहा—वरारोहे! अनिन्दिते! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, मेरे उस सत्य वचनको सुनो। ये दिशा, विदिशा तथा उनकी अधिष्ठात्री देवियाँ भी सुन लें ।। ४५ ।।

यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ।। ४६ ।।

अनघे! मेरी दृष्टिमें कुन्ती, माद्री और शचीका जो स्थान है, वही तुम्हारा भी है। तुम पूरुवंशकी जननी होनेके कारण आज मेरे लिये परम गुरुस्वरूप हो ।। ४६ ।।

गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत् त्वया ।। ४७ ।।

वरवर्णिनि! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर तुम्हारी शरणमें आया हूँ। तुम लौट जाओ। मेरी दृष्टिमें तुम माताके समान पूजनीया हो और तुम्हें पुत्रके समान मानकर मेरी रक्षा करनी चाहिये ।। ४७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता तु पार्थेन उर्वशी क्रोधमूर्च्छिता ।
वेपन्ती भ्रुकुटीवक्रा शशापाथ धनंजयम् ।। ४८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीकुमार अर्जुनके ऐसा कहनेपर उर्वशी क्रोधसे व्याकुल हो उठी। उसका शरीर काँपने लगा और भौंहें टेढ़ी हो गयीं। उसने अर्जुनको शाप देते हुए कहा ।। ४८ ।।

उर्वश्युवाच

तव पित्राभ्यनुज्ञातां स्वयं च गृहमागताम् ।
यस्मान्मां नाभिनन्देथाः कामबाणवशंगताम् ।। ४९ ।।
तस्मात् त्वं नर्तनः पार्थ स्त्रीमध्ये मानवर्जितः ।
अपुमानिति विख्यातः षण्ढवद् विचरिष्यसि ।। ५० ।।

उर्वशी बोली—अर्जुन! तुम्हारे पिता इन्द्रके कहनेसे मैं स्वयं तुम्हारे घरपर आयी और कामबाणसे घायल हो रही हूँ, फिर भी तुम मेरा आदर नहीं करते। अतः तुम्हें स्त्रियोंके बीचमें सम्मानरहित होकर नर्तक बनकर रहना पड़ेगा। तुम नपुंसक कहलाओगे और तुम्हारा सारा आचार-व्यवहार हिजड़ोंके ही समान होगा ।। ४९-५० ।।

एवं दत्त्वार्जुने शापं स्फुरदोष्ठी श्वसन्त्यथ ।
पुनः प्रत्यागता क्षिप्रमुर्वशी गृहमात्मनः ।। ५१ ।।

फड़कते हुए ओठोंसे इस प्रकार शाप देकर उर्वशी लंबी साँसें खींचती हुई पुनः शीघ्र ही अपने घरको लौट गयी ।। ५१ ।।

ततोऽर्जुनस्त्वरमाणश्चित्रसेनमरिंदमः ।
सम्प्राप्य रजनीवृत्तं तदुर्वश्या यथातथम् ।। ५२ ।।
निवेदयामास तदा चित्रसेनाय पाण्डवः ।
तत्र चैवं यथावृत्तं शापं चैव पुनः पुनः ।। ५३ ।।

तदनन्तर शत्रुदमन पाण्डुकुमार अर्जुन बड़ी उतावलीके साथ चित्रसेनके समीप गये तथा रातमें उर्वशीके साथ जो घटना जिस प्रकार घटित हुई, वह सब उन्होंने उस समय चित्रसेनको ज्यों-की-त्यों कह सुनायी। साथ ही उसके शाप देनेकी बात भी उन्होंने बार-बार दुहरायी ।। ५२-५३ ।।

अवेदयच्च शक्रस्य चित्रसेनोऽपि सर्वशः ।
तत आनाय्य तनयं विविक्ते हरिवाहनः ।। ५४ ।।
सान्त्वयित्वा शुभैर्वाक्यैः स्मयमानोऽभ्यभाषत ।
सुपुत्राद्य पृथा तात त्वया पुत्रेण सत्तम ।। ५५ ।।

चित्रसेनने भी सारी घटना देवराज इन्द्रसे निवेदन की। तब इन्द्रने अपने पुत्र अर्जुनको बुलाकर एकान्तमें कल्याणमय वचनोंद्वारा सान्त्वना देते हुए मुसकराकर उनसे कहा —'तात! तुम सत्पुरुषोंके शिरोमणि हो, तुम-जैसे पुत्रको पाकर कुन्ती वास्तवमें श्रेष्ठ पुत्रवाली है' ।।

ऋषयोऽपि हि धैर्येण जिता वै ते महाभुज ।
यत् तु दत्तवती शापमुर्वशी तव मानद ।। ५६ ।।
स चापि तेऽर्थकृत् तात साधकश्च भविष्यति ।। ५७ ।।
अज्ञातवासो वस्तव्यो भवद्भिर्भूतलेऽनघ ।
वर्षे त्रयोदशे वीर तत्र त्वं क्षपयिष्यसि ।। ५८ ।।

'महाबाहो! तुमने अपने धैर्य (इन्द्रियसंयम)-के द्वारा ऋषियोंको भी पराजित कर दिया है। मानद! उर्वशीने जो तुम्हें शाप दिया है, वह तुम्हारे अभीष्ट अर्थका साधक होगा। अनघ! तुम्हें भूतलपर तेरहवें वर्षमें अज्ञातवास करना है। वीर! उर्वशीके दिये हुए शापको तुम उसी वर्षमें पूर्ण कर दोगे' ।। ५६—५८ ।।

तेन नर्तनवेषेण अपुंस्त्वेन तथैव च ।
वर्षमेकं विहृत्यैव ततः पुंस्त्वमवाप्स्यसि ।। ५९ ।।

'नर्तक वेष और नपुंसक भावसे एक वर्षतक इच्छानुसार विचरण करके तुम फिर अपना पुरुषत्व प्राप्त कर लोगे' ।। ५९ ।।

एवमुक्तस्तु शक्रेण फाल्गुनः परवीरहा ।
मुदं परमिकां लेभे न च शापं व्यचिन्तयत् ।। ६० ।।

इन्द्रके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर तो उन्हें शापकी चिन्ता छूट गयी ।। ६० ।।

चित्रसेनेन सहितो गन्धर्वेण यशस्विना ।
रेमे स स्वर्गभवने पाण्डुपुत्रो धनंजयः ।। ६१ ।।

पाण्डुपुत्र धनंजय महायशस्वी गन्धर्व चित्रसेनके साथ स्वर्गलोकमें सुखपूर्वक रहने लगे ।। ६१ ।।

इदं यः शृणुयाद् वृत्तं नित्यं पाण्डुसुतस्य वै ।
न तस्य कामः कामेषु पापकेषु प्रवर्तते ।। ६२ ।।

जो मनुष्य पाण्डुनन्दन अर्जुनके इस चरित्रको प्रतिदिन सुनता है, उसके मनमें पापपूर्ण विषयभोगोंकी इच्छा नहीं होती ।। ६२ ।।

इदममरवरात्मजस्य घोरं
शुचि चरितं विनिशम्य फाल्गुनस्य ।
व्यपगतमददम्भरागदोषा-
स्त्रिदिवगता विरमन्ति मानवेन्द्राः ।। ६३ ।।

देवराज इन्द्रके पुत्र अर्जुनके इस अत्यन्त दुष्कर पवित्र चरित्रको सुनकर मद, दम्भ तथा विषयासक्ति आदि दोषोंसे रहित श्रेष्ठ मानव स्वर्गलोकमें जाकर वहाँ सुखपूर्वक निवास करते हैं ।। ६३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि उर्वशीशापो नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें उर्वशीशाप नामक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४६ ।।

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

लोमश मुनिका स्वर्गमें इन्द्र और अर्जुनसे मिलकर उनका संदेश ले काम्यकवनमें आना

वैशम्पायन उवाच

कदाचिदटमानस्तु महर्षिरुत लोमशः ।
जगाम शक्रभवनं पुरन्दरदिदृक्षया ।। १ ।।
स समेत्य नमस्कृत्य देवराजं महामुनिः ।
ददर्शार्धासनगतं पाण्डवं वासवस्य हि ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक समयकी बात है, महर्षि लोमश इधर-उधर घूमते हुए इन्द्रसे मिलनेकी इच्छा लेकर स्वर्गलोकमें गये। उन महामुनिने देवराज इन्द्रसे मिलकर उन्हें नमस्कार किया और देखा, पाण्डुनन्दन अर्जुन इन्द्रके आधे सिंहासनपर बैठे हैं ।।

ततः शक्राभ्यनुज्ञात आसने विष्टरोत्तरे ।
निषसाद द्विजश्रेष्ठः पूज्यमानो महर्षिभिः ।। ३ ।।

तदनन्तर इन्द्रकी आज्ञासे एक उत्तम सिंहासनपर, जहाँ ऊपर कुशका आसन बिछा हुआ था, महर्षियोंसे पूजित द्विजवर लोमशजी बैठे ।। ३ ।।

तस्य दृष्ट्वाभवद् बुद्धिः पार्थमिन्द्रासने स्थितम् ।
कथं नु क्षत्रियः पार्थः शक्रासनमवाप्तवान् ।। ४ ।।

इन्द्रके सिंहासनपर बैठे हुए कुन्तीकुमार अर्जुनको देखकर लोमशजीके मनमें यह विचार हुआ कि 'क्षत्रिय होकर भी कुन्तीकुमारने इन्द्रका आसन कैसे प्राप्त कर लिया? ।। ४ ।।

किं त्वस्य सुकृतं कर्म के लोका वै विनिर्जिताः ।
स एवमनुसम्प्राप्तः स्थानं देवनमस्कृतम् ।। ५ ।।

'इनका पुण्य-कर्म क्या है? इन्होंने किन-किन लोकोंपर विजय पायी है? किस पुण्यके प्रभावसे इन्होंने यह देववन्दित स्थान प्राप्त किया है?' ।। ५ ।।

तस्य विज्ञाय संकल्पं शक्रो वृत्रनिषूदनः ।
लोमशं प्रहसन् वाक्यमिदमाह शचीपतिः ।। ६ ।।

लोमश मुनिके संकल्पको जानकर वृत्रहन्ता शचीपति इन्द्रने हँसते हुए उनसे कहा — ।। ६ ।।

ब्रह्मर्षे श्रूयतां यत् ते मनसैतद् विवक्षितम् ।

नायं केवलमर्त्यो वै मानुषत्वमुपागतः ।। ७ ।।

'ब्रह्मर्षे! आपके मनमें जो प्रश्न उठा है' उसका समाधान कर रहा हूँ, सुनिये। ये अर्जुन मानवयोनिमें उत्पन्न हुए केवल मरणधर्मा मनुष्य नहीं हैं ।। ७ ।।

महर्षे मम पुत्रोऽयं कुन्त्यां जातो महाभुजः ।
अस्त्रहेतोरिह प्राप्तः कस्माच्चित् कारणान्तरात् ।। ८ ।।
अहो नैनं भवान् वेत्ति पुराणमृषिसत्तमम् ।
शृणु मे वदतो ब्रह्मन् योऽयं यच्चास्य कारणम् ।। ९ ।।

'महर्षे! ये महाबाहु धनंजय कुन्तीके गर्भसे उत्पन्न हुए मेरे पुत्र हैं और कुछ कारणवश अस्त्रविद्या सीखनेके लिये यहाँ आये हैं। आश्चर्य है कि आप इन पुरातन ऋषिप्रवरको नहीं जानते हैं। ब्रह्मन्! इनका जो स्वरूप है और इनके अवतार-ग्रहणका जो कारण है, वह सब मैं बता रहा हूँ। आप मेरे मुँहसे यह सब सुनिये ।। ८-९ ।।

नरनारायणौ यौ तौ पुराणावृषिसत्तमौ ।
ताविमावनुजानीहि हृषीकेशधनंजयौ ।। १० ।।

'नर-नारायण नामसे प्रसिद्ध जो पुरातन मुनीश्वर हैं' वे ही श्रीकृष्ण और अर्जुनके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं, यह बात आप जान लें ।। १० ।।

विख्यातौ त्रिषु लोकेषु नरनारायणावृषी ।
कार्यार्थमवतीर्णौ तौ पृथ्वीं पुण्यप्रतिश्रयाम् ।। ११ ।।

'तीनों लोकोंमें विख्यात नर-नारायण ऋषि ही देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये पुण्यके आधाररूप भूतलपर अवतीर्ण हुए हैं ।। ११ ।।

यन्न शक्यं सुरैर्द्रष्टुमृषिभिर्वा महात्मभिः ।
तदाश्रमपदं पुण्यं बदरीनाम विश्रुतम् ।। १२ ।।
स निवासोऽभवद् विप्र विष्णोर्जिष्णोस्तथैव च ।
यतः प्रववृते गङ्गा सिद्धचारणसेविता ।। १३ ।।

'देवता अथवा महात्मा महर्षि भी जिसे देखनेमें समर्थ नहीं, वह बदरी नामसे विख्यात पुण्यतीर्थ इनका आश्रम है; वही पूर्वकालमें इन श्रीकृष्ण और अर्जुनका (नारायण और नरका) निवासस्थान था। जहाँसे सिद्ध-चारणसेवित गंगाका प्राकट्य हुआ है ।। १२-१३ ।।

तौ मन्नियोगाद् ब्रह्मर्षे क्षितौ जातौ महाद्युती ।
भूमेर्भारावतरणं महावीर्यौ करिष्यतः ।। १४ ।।

'ब्रह्मर्षे! ये दोनों महातेजस्वी नर और नारायण मेरे अनुरोधसे पृथ्वीपर उत्पन्न हुए हैं। इनकी शक्ति महान् है, ये दोनों इस पृथ्वीका भार उतारेंगे ।। १४ ।।

उद्वृत्ता ह्यसुराः केचिन्निवातकवचा इति ।
विप्रियेषु स्थितास्माकं वरदानेन मोहिताः ।। १५ ।।

'इन दिनों निवातकवच नामसे प्रसिद्ध कुछ असुरगण बड़े उद्दण्ड हो रहे हैं, वे वरदानसे मोहित होकर हमारा अनिष्ट करनेमें लगे हुए हैं ।। १५ ।।

तर्कयन्ते सुरान् हन्तुं बलदर्पसमन्विताः ।
देवान् न गणयन्त्येते तथा दत्तवरा हि ते ।। १६ ।।

'उनमें बल तो है ही, बली होनेका अभिमान भी है। वे देवताओंको मार डालनेका विचार करते हैं। देवताओंको तो वे लोग कुछ गिनते ही नहीं; क्योंकि उन्हें वैसा ही वरदान प्राप्त हो चुका है ।। १६ ।।

पातालवासिनो रौद्रा दनोः पुत्रा महाबलाः ।
सर्वदेवनिकाया हि नालं योधयितुं हि तान् ।। १७ ।।
योऽसौ भूमिगतः श्रीमान् विष्णुर्मधुनिषूदनः ।
कपिलो नाम देवोऽसौ भगवानजितो हरिः ।। १८ ।।

'वे महाबली भयंकर दानव पातालमें निवास करते हैं। सम्पूर्ण देवता मिलकर भी उनके साथ युद्ध नहीं कर सकते। इस समय भूतलपर जिनका अवतार हुआ है वे श्रीमान् मधुसूदन विष्णु ही कपिल नामसे प्रसिद्ध देवता हुए हैं। वे ही भगवान् अपराजित हरि हैं ।। १७-१८ ।।

येन पूर्वं महात्मानः खनमाना रसातलम् ।
दर्शनादेव निहताः सगरस्यात्मजा विभो ।। १९ ।।

'महर्षे! पूर्वकालमें रसातलको खोदनेवाले सगरके महामना पुत्र उन्हीं कपिलकी दृष्टिमात्र पड़नेसे भस्म हो गये थे ।। १९ ।।

तेन कार्यं महत् कार्यमस्माकं द्विजसत्तम ।
पार्थेन च महायुद्धे समेताभ्यां न संशयः ।। २० ।।

'द्विजश्रेष्ठ! वे भगवान् श्रीहरि हमारा महान् कार्य सिद्ध कर सकते हैं। कुन्तीकुमार अर्जुनसे भी हमारा कार्य सिद्ध हो सकता है। यदि श्रीकृष्ण और अर्जुन किसी महायुद्धमें एक-दूसरेसे मिल जायँ तो वे दोनों एक साथ होकर महान्-से-महान् कार्य सिद्ध कर सकते हैं' इसमें संशय नहीं है ।। २० ।।

सोऽसुरान् दर्शनादेव शक्तो हन्तुं सहानुगान् ।
निवातकवचान् सर्वान् नागानिव महाह्रदे ।। २१ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण तो दृष्टिनिक्षेपमात्रसे ही महान् कुण्डमें निवास करनेवाले नागोंकी भाँति समस्त 'निवातकवच' नामक दानवोंको उनके अनुयायियोंसहित मार डालनेमें समर्थ हैं ।। २१ ।।

किं तु नाल्पेन कार्येण प्रबोध्यो मधुसूदनः ।
तेजसः सुमहाराशिः प्रबुद्धः प्रदहेज्जगत् ।। २२ ।।

‘परंतु किसी छोटे कार्यके लिये भगवान् मधुसूदनको सूचना देनी उचित नहीं जान पड़ती। वे तेजके महान् राशि हैं; यदि प्रज्वलित हों तो सम्पूर्ण जगत्को भस्म कर सकते हैं ।। २२ ।।

अयं तेषां समस्तानां शक्तः प्रतिसमासने ।
तान् निहत्य रणे शूरः पुनर्यास्यति मानुषान् ।। २३ ।।

‘ये शूरवीर अर्जुन अकेले ही उन समस्त निवात-कवचोंका संहार करनेमें समर्थ हैं। उन सबको युद्धमें मारकर ये फिर मनुष्यलोकको लौट जायँगे ।। २३ ।।

भवानस्मन्नियोगेन यातु तावन्महीतलम् ।
काम्यके द्रक्ष्यसे वीरं निवसन्तं युधिष्ठिरम् ।। २४ ।।

‘मुने! आप मेरे अनुरोधसे कृपया भूलोकमें जाइये और काम्यकवनमें निवास करनेवाले युधिष्ठिरसे मिलिये ।। २४ ।।

स वाच्यो मम संदेशाद् धर्मात्मा सत्यसंगरः ।
नोत्कण्ठा फाल्गुने कार्या कृतास्त्रः शीघ्रमेष्यति ।। २५ ।।

‘वे बड़े धर्मात्मा और सत्यप्रतिज्ञ हैं। उनसे मेरा यह संदेश कहियेगा—‘राजन्! आप अर्जुनके वापस लौटनेके विषयमें उत्कण्ठित न हों। वे अस्त्रविद्या सीखकर शीघ्र ही लौट आयेंगे ।। २५ ।।

नाशुद्धबाहुवीर्येण नाकृतास्त्रेण वा रणे ।
भीष्मद्रोणादयो युद्धे शक्याः प्रतिसमासितुम् ।। २६ ।।

‘जिसका बाहुबल पूर्ण अस्त्रशिक्षाके अभावसे त्रुटिपूर्ण हो तथा जिसने अस्त्रविद्याका पूर्ण ज्ञान न प्राप्त किया हो, वह युद्धमें भीष्म-द्रोण आदिका सामना नहीं कर सकता ।। २६ ।।

गृहीतास्त्रो गुडाकेशो महाबाहुर्महामनाः ।
नृत्यवादित्रगीतानां दिव्यानां पारमीयिवान् ।। २७ ।।

‘महाबाहु महामना अर्जुन अस्त्रविद्याकी पूरी शिक्षा पा चुके हैं। वे दिव्य नृत्य, वाद्य एवं गीतकी कलामें भी पारंगत हो गये हैं ।। २७ ।।

भवानपि विविक्तानि तीर्थानि मनुजेश्वर ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैर्द्रष्टुमर्हत्यरिंदम ।। २८ ।।
तीर्थेष्वाप्लुत्य पुण्येषु विपाप्मा विगतज्वरः ।
राज्यं भोक्ष्यसि राजेन्द्र सुखी विगतकल्मषः ।। २९ ।।

‘मनुजेश्वर! शत्रुदमन! आप भी अपने सभी भाइयोंके साथ पवित्र तीर्थोंका दर्शन कीजिये। राजेन्द्र! पुण्यतीर्थोंमें स्नान करके पाप-तापसे रहित हो सुखी एवं निष्कलंक जीवन बिताते हुए आप राज्यभोग करेंगे’ ।।

भवांश्चैनं द्विजश्रेष्ठ पर्यटन्तं महीतलम् ।

त्रातुमर्हति विप्राग्र्य तपोबलसमन्वितः ।। ३० ।।

‘द्विजश्रेष्ठ! आप भी भूतलपर विचरनेवाले राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करते रहें; क्योंकि आप तपोबलसे सम्पन्न हैं ।। ३० ।।

गिरिदुर्गेषु च सदा देशेषु विषमेषु च ।
वसन्ति राक्षसा रौद्रास्तेभ्यो रक्षां विधास्यति ।। ३१ ।।

‘पर्वतोंके दुर्गम स्थानोंमें तथा ऊँची-नीची भूमियोंमें भयंकर राक्षस निवास करते हैं; उनसे आप भाइयोंसहित युधिष्ठिरकी रक्षा कीजियेगा’ ।। ३१ ।।

एवमुक्तो महेन्द्रेण बीभत्सुरपि लोमशम् ।
उवाच प्रयतो वाक्यं रक्षेथाः पाण्डुनन्दनम् ।। ३२ ।।

महेन्द्रके ऐसा कहनेपर अर्जुनने भी विनीत होकर लोमश मुनिसे कहा—‘मुने! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी भाइयोंसहित रक्षा कीजिये ।। ३२ ।।

यथा गुप्तस्त्वया राजा चरेत् तीर्थानि सत्तम ।
दानं दद्याद् यथा चैव तथा कुरु महामुने ।। ३३ ।।

‘साधुशिरोमणे! महामुने! आपसे सुरक्षित रहकर राजा युधिष्ठिर तीर्थोंमें भ्रमण करें और दान दें—ऐसी कृपा कीजिये’ ।। ३३ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथेति सम्प्रतिज्ञाय लोमशः सुमहातपाः ।
काम्यकं वनमुद्दिश्य समुपायान्महीतलम् ।। ३४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ‘बहुत अच्छा’ कहकर महातपस्वी लोमशजीने उनका अनुरोध मान लिया और काम्यकवनमें जानेके लिये भूलोककी ओर प्रस्थान किया ।। ३४ ।।

ददर्श तत्र कौन्तेयं धर्मराजमरिंदमम् ।
तापसैर्भ्रातृभिश्चैव सर्वतः परिवारितम् ।। ३५ ।।

वहाँ पहुँचकर उन्होंने शत्रुदमन कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिरको भाइयों तथा तपस्वी मुनियोंसे घिरा हुआ देखा ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि लोमशगमने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें लोमशगमनविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४७ ।।

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

दुःखित धृतराष्ट्रका संजयके सम्मुख अपने पुत्रोंके लिये चिन्ता करना

जनमेजय उवाच

अत्यद्भुतमिदं कर्म पार्थस्यामिततेजसः ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः श्रुत्वा विप्र किमब्रवीत् ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! अमित तेजस्वी कुन्तीकुमार अर्जुनका यह कर्म तो अत्यन्त अद्भुत है। परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने भी यह सब अवश्य सुना होगा। उसे सुनकर उन्होंने क्या कहा था? यह बतलाइये ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

शक्रलोकगतं पार्थं श्रुत्वा राजाम्बिकासुतः ।
द्वैपायनादृषिश्रेष्ठात् संजयं वाक्यमब्रवीत् ।। २ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने ऋषि द्वैपायन व्यासके मुखसे अर्जुनके इन्द्रलोकगमनका समाचार सुनकर संजयसे यह बात कही ।। २ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

श्रुतं मे सूत कात्स्न्र्येन कर्म पार्थस्य धीमतः ।
कच्चित् तवापि विदितं याथातथ्येन सारथे ।। ३ ।।

धृतराष्ट्र बोले—सूत! मैंने परम बुद्धिमान् कुन्तीकुमार अर्जुनका सारा वृत्तान्त सुना है। सारथे! क्या तुम्हें भी इस विषयमें यथार्थ बातें ज्ञात हुई हैं? ।। ३ ।।

प्रमत्तो ग्राम्यधर्मेषु मन्दात्मा पापनिश्चयः ।
मम पुत्रः सुदुर्बुद्धिः पृथिवीं घातयिष्यति ।। ४ ।।

मेरा मूढ़बुद्धि पुत्र तो विषयभोगोंमें फँसा हुआ है। उसका विचार सदा पापपूर्ण ही बना रहता है। प्रमादमें पड़ा हुआ वह अत्यन्त दुर्बुद्धि दुर्योधन एक दिन सारे भूमण्डलका नाश करा देगा ।। ४ ।।

यस्य नित्यमृता वाचः स्वैरेष्वपि महात्मनः ।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद् योद्धा यस्य धनंजयः ।। ५ ।।

जिन महात्माके मुखसे हँसीमें भी सदा सत्य ही बातें निकलती हैं और जिनकी ओरसे लड़नेवाले धनंजय-जैसे योद्धा हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरके लिये इस कौरव-राज्यको जीतनेकी तो बात ही क्या है, वे तीनों लोकोंपर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं ।। ५ ।।

अस्यतः कर्णिनाराचांस्तीक्ष्णाग्रांश्च शिलाशितान् ।
कोऽर्जुनस्याग्रतस्तिष्ठेदपि मृत्युर्जरातिगः ।। ६ ।।

जो पत्थरपर रगड़कर तेज किये गये हैं, जिनके अग्रभाग बड़े तीखे हैं, उन कर्णि नामक नाराचोंका प्रहार करनेवाले अर्जुनके आगे कौन योद्धा ठहर सकता है? जराविजयी मृत्यु भी उनका सामना नहीं कर सकती ।। ६ ।।

मम पुत्रा दुरात्मानः सर्वे मृत्युवशानुगाः ।
येषां युद्धं दुराधर्षैः पाण्डवैः प्रत्युपस्थितम् ।। ७ ।।

मेरे सभी दुरात्मा पुत्र मृत्युके वशमें हो गये हैं; क्योंकि उनके सामने दुर्धर्ष वीर पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेका अवसर उपस्थित हुआ है ।। ७ ।।

तथैव च न पश्यामि युधि गाण्डीवधन्वनः ।
अनिशं चिन्तयानोऽपि य एनमुदियाद् रथी ।। ८ ।।

मैं दिन-रात विचार करनेपर भी यह नहीं समझ पाता कि युद्धमें 'गाण्डीवधन्वा' अर्जुनका सामना कौन रथी कर सकता है? ।। ८ ।।

द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि भीष्मोऽपि वा रणे ।
महान् स्यात् संशयो लोके तत्र पश्यामि नो जयम् ।। ९ ।।

द्रोण और कर्ण उस अर्जुनका सामना कर सकते हैं। भीष्म भी युद्धमें उनसे लोहा ले सकते हैं; परंतु तो भी मेरे मनमें महान् संशय ही बना हुआ है। मुझे इस लोकमें अपने पक्षकी जीत नहीं दिखायी देती ।। ९ ।।

घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः ।
अमर्षी बलवान् पार्थः संरम्भी दृढविक्रमः ।। १० ।।
सम्भवेत् तुमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजितम् ।
सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद् यशः ।। ११ ।।

कर्ण दयालु और प्रमादी है। आचार्य द्रोण वृद्ध एवं गुरु हैं। उधर कुन्तीकुमार अर्जुन अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए और बलवान् हैं। उद्योगी और दृढ़ पराक्रमी हैं। सब ओरसे घमासान युद्ध छिड़नेकी सम्भावना हो गयी है। युद्धमें पाण्डवोंकी पराजय नहीं हो सकती; क्योंकि उनकी ओर सभी अस्त्रविद्याके विद्वान् शूरवीर और महान् यशस्वी हैं ।। १०-११ ।।

अपि सर्वेश्वरत्वं हि ते वाञ्छन्त्यपराजिताः ।
वधे नूनं भवेच्छान्तिरेतेषां फाल्गुनस्य वा ।। १२ ।।

और वे पराजित न होकर सर्वेश्वर सम्राट् बननेकी इच्छा रखते हैं। इन कर्ण आदि योद्धाओंका वध हो जाय अथवा अर्जुन ही मारे जायँ तो इस विवादकी शान्ति हो सकती है ।। १२ ।।

न तु हन्तार्जुनस्यास्ति जेता वास्य न विद्यते।
मन्युस्तस्य कथं शाम्येन्मन्दान् प्रति समुत्थितः ।। १३ ।।

परंतु अर्जुनको मारनेवाला या जीतनेवाला कोई नहीं है। मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंके प्रति उनका बढ़ा हुआ क्रोध कैसे शान्त हो सकता है? ।। १३ ।।

त्रिदशेशसमो वीरः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ।
जिगाय पार्थिवान् सर्वान् राजसूये महाक्रतौ ।। १४ ।।

अर्जुन इन्द्रके समान वीर हैं। उन्होंने खाण्डववनमें अग्निको तृप्त किया तथा राजसूय महायज्ञमें समस्त राजाओंपर विजय पायी ।। १४ ।।

शेषं कुर्याद् गिरेर्वज्रो निपतन् मूर्ध्नि संजय ।
न तु कुर्युः शराः शेषं क्षिप्तास्तात किरीटिना ।। १५ ।।

संजय! पर्वतके शिखरपर गिरनेवाला वज्र भले ही कुछ बाकी छोड़ दे; किंतु तात! किरीटधारी अर्जुनके चलाये हुए बाण कुछ भी शेष नहीं छोड़ेंगे ।। १५ ।।

यथा हि किरणा भानोस्तपन्तीह चराचरम् ।

तथा पार्थभुजोत्सृष्टाः शरास्तप्स्यन्ति मत्सुतान् ।। १६ ।।

जैसे सूर्यकी किरणें चराचर जगत्‌को संतप्त करती हैं, उसी प्रकार अर्जुनकी भुजाओंद्वारा चलाये गये बाण मेरे पुत्रोंको संतप्त कर देंगे ।। १६ ।।

अपि तद्रथघोषेण भयार्ता सव्यसाचिनः ।
प्रतिभाति विदीर्णेव सर्वतो भारती चमूः ।। १७ ।।

मुझे तो आज भी सव्यसाची अर्जुनके रथकी घरघराहटसे सारी कौरव-सेना भयातुर हो छिन्न-भिन्न-सी होती प्रतीत हो रही है ।। १७ ।।

यदोद्वहन् प्रवपंश्चैव बाणान्
स्थाताऽऽततायी समरे किरीटी ।
सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा
भवेद् यथा तद्वदपारणीयः ।। १८ ।।

जब किरीटधारी अर्जुन हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये (तूणीरसे) बाण निकालते और चलाते हुए समरभूमिमें खड़े होंगे, उस समय उनसे पार पाना असम्भव हो जायगा। वे ऐसे जान पड़ेंगे, मानो विधाताने किसी दूसरे सर्वसंहारकारी यमराजकी सृष्टि कर दी हो ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रविलापेऽष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें धृतराष्ट्रविलापविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४८ ।।

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयके द्वारा धृतराष्ट्रकी बातोंका अनुमोदन और धृतराष्ट्रका संताप

संजय उवाच

यदेतत् कथितं राजंस्त्वया दुर्योधनं प्रति ।
सर्वमेतद् यथातत्त्वं नैतन्मिथ्या महीपते ।। १ ।।

संजय बोला—राजन्! आपने दुर्योधनके विषयमें जो बातें कही हैं, वे सभी यथार्थ हैं। महीपते! आपका वचन मिथ्या नहीं है ।। १ ।।

मन्युना हि समाविष्टाः पाण्डवास्ते महौजसः ।
दृष्ट्वा कृष्णां सभां नीतां धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ।। २ ।।
दुःशासनस्य ता वाचः श्रुत्वा ते दारुणोदयाः ।
कर्णस्य च महाराज जुगुप्सन्तीति मे मतिः ।। ३ ।।

महातेजस्वी वे पाण्डव अपनी धर्मपत्नी यशस्विनी कृष्णाको सभामें लायी गयी देखकर क्रोधसे भरे हुए हैं और महाराज! दुःशासन तथा कर्णकी वे कठोर बातें सुनकर पाण्डव आपलोगोंकी निन्दा करते हैं, ऐसा मुझे विश्वास है ।। २-३ ।।

श्रुतं हि मे महाराज यथा पार्थेन संयुगे ।
एकादशतनुः स्थाणुर्धनुषा परितोषितः ।। ४ ।।

राजेन्द्र! मैंने यह भी सुना है कि कुन्तीकुमार अर्जुनने एकादश मूर्तिधारी भगवान् शंकरको भी अपने धनुष-बाणकी कलाद्वारा संतुष्ट किया है ।। ४ ।।

कैरातं वेषमास्थाय योधयामास फाल्गुनम् ।
जिज्ञासुः सर्वदेवेशः कपर्दी भगवान् स्वयम् ।। ५ ।।

जटाजूटधारी सर्वदेवेश्वर भगवान् शंकरने स्वयं ही अर्जुनके बलकी परीक्षा लेनेके लिये किरातवेष धारण करके उनके साथ युद्ध किया था ।। ५ ।।

तत्रैनं लोकपालास्ते दर्शयामासुरर्जुनम् ।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तं तपसा कौरवर्षभम् ।। ६ ।।

वहाँ अस्त्रप्राप्तिके लिये विशेष उद्योगशील कुरु-कुलरत्न अर्जुनको उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर उन लोकपालोंने भी दर्शन दिया था ।। ६ ।।

नैतदुत्सहते चान्यो लब्धुमन्यत्र फाल्गुनात् ।
साक्षाद् दर्शनमेतेषामीश्वराणां नरो भुवि ।। ७ ।।

इस संसारमें अर्जुनको छोड़कर दूसरा कोई मनुष्य ऐसा नहीं है, जो इन लोकेश्वरोंका साक्षात् दर्शन प्राप्त कर सके ।। ७ ।।

महेश्वरेण यो राजन् न जीर्णो ह्यष्टमूर्तिना ।
कस्तमुत्सहते वीरो युद्धे जरयितुं पुमान् ।। ८ ।।

राजन्! अष्टमूर्ति* भगवान् महेश्वर भी जिसे युद्धमें पराजित न कर सके, उन्हीं वीरवर अर्जुनको दूसरा कौन वीर पुरुष जीतनेका साहस कर सकता है ।। ८ ।।

आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
द्रौपदीं परिकर्षद्भिः कोपयद्भिश्च पाण्डवान् ।। ९ ।।

भरी सभामें द्रौपदीका वस्त्र खींचकर पाण्डवोंको कुपित करनेवाले आपके पुत्रोंने स्वयं ही इस रोमांचकारी, अत्यन्त भयंकर एवं घमासान युद्धको निमन्त्रित किया है ।। ९ ।।

यत् तु प्रस्फुरमाणौष्ठो भीमः प्राह वचोऽर्थवत् ।
दृष्ट्वा दुर्योधनेनोरू द्रौपद्या दर्शितावुभौ ।। १० ।।

जब दुर्योधनने द्रौपदीको अपनी दोनों जाँघें दिखायी थीं, उस समय यह देखकर भीमसेनने फड़कते हुए ओठोंसे जो बात कही थी, वह व्यर्थ नहीं हो सकती ।।

ऊरू भेत्स्यामि ते पाप गदया भीमवेगया ।
त्रयोदशानां वर्षाणामन्ते दुर्द्यूतदेविनः ।। ११ ।।

उन्होंने कहा था—‘पापी दुर्योधन! मैं तेरहवें वर्षके अन्तमें अपनी भयानक वेगवाली गदासे तुझ कपटी जुआरीकी दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा’ ।। ११ ।।

सर्वे प्रहरतां श्रेष्ठाः सर्वे चामिततेजसः ।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसो देवैरपि सुदुर्जयाः ।। १२ ।।

सभी पाण्डव प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं। सभी अपरिमित तेजसे सम्पन्न हैं तथा सबको सभी अस्त्रोंका परिज्ञान है, अतः वे देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्जय हैं ।। १२ ।।

मन्ये मन्युसमुद्धूताः पुत्राणां तव संयुगे ।
अन्तं पार्थाः करिष्यन्ति भार्यामर्षसमन्विताः ।। १३ ।।

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि अपनी पत्नीके अपमानजनित अमर्षसे युक्त और रोषसे उत्तेजित हो समस्त कुन्तीपुत्र संग्राममें आपके पुत्रोंका संहार कर डालेंगे ।। १३ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

किं कृतं सूत कर्णेन वदता परुषं वचः ।
पर्याप्तं वैरमेतावद् यत् कृष्णा सा सभां गता ।। १४ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—सूत! कर्णने कठोर बातें कहकर क्या किया, पूरा वैर तो इतनेसे ही बढ़ गया कि द्रौपदीको सभामें (केश पकड़कर) लाया गया ।। १४ ।।

अपीदानीं मम सुतास्तिष्ठेरन् मन्दचेतसः ।
येषां भ्राता गुरुर्ज्येष्ठो विनये नावतिष्ठते ।। १५ ।।

अब भी मेरे मूर्ख पुत्र चुपचाप बैठे हैं। उनका बड़ा भाई दुर्योधन विनय एवं नीतिके मार्गपर नहीं चलता ।। १५ ।।

ममापि वचनं सूत न शुश्रूषति मन्दभाक् ।
दृष्ट्वा मां चक्षुषा हीनं निर्विचेष्टमचेतसम् ।। १६ ।।

सूत! वह मन्दभागी दुर्योधन मुझे अन्धा, अकर्मण्य और अविवेकी समझकर मेरी बात भी नहीं सुनना चाहता ।। १६ ।।

ये चास्य सचिवा मन्दाः कर्णसौबलकादयः ।
ते तस्य भूयसो दोषान् वर्धयन्ति विचेतसः ।। १७ ।।

कर्ण और शकुनि आदि जो उसके मूर्ख मन्त्री हैं, वे भी विचारशून्य होकर उसके अधिक-से-अधिक दोष बढ़ानेकी ही चेष्टा करते हैं ।। १७ ।।

स्वैरमुक्ता ह्यपि शराः पार्थेनामिततेजसा ।
निर्दहेयुर्मम सुतान् किं पुनर्मन्युनेरिताः ।। १८ ।।

अमित तेजस्वी अर्जुनके द्वारा स्वेच्छापूर्वक छोड़े हुए बाण भी मेरे पुत्रोंको जलाकर भस्म कर सकते हैं, फिर क्रोधपूर्वक छोड़े हुए बाणोंके लिये तो कहना ही क्या है? ।। १८ ।।

पार्थबाहुबलोत्सृष्टा महाचापविनिःसृताः ।
दिव्यास्त्रमन्त्रमुदिताः सादयेयुः सुरानपि ।। १९ ।।

अर्जुनके बाहु-बलद्वारा चलाये और उनके महान् धनुषसे छूटे हुए दिव्यास्त्रमन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित बाण देवताओंका भी संहार कर सकते हैं ।। १९ ।।

यस्य मन्त्री च गोप्ता च सुहृच्चैव जनार्दनः ।
हरिस्त्रैलोक्यनाथः स किं नु तस्य न निर्जितम् ।। २० ।।

जिनके मन्त्री, संरक्षक और सुहृद् त्रिभुवननाथ, जनार्दन श्रीहरि हैं, वे किसे नहीं जीत सकते? ।। २० ।।

इदं हि सुमहच्चित्रमर्जुनस्येह संजय ।
महादेवेन बाहुभ्यां यत् समेत इति श्रुतिः ।। २१ ।।

संजय! अर्जुनका यह पराक्रम तो बड़े ही आश्चर्यका विषय है कि उन्होंने महादेवजीके साथ बाहुयुद्ध किया, यह मेरे सुननेमें आया है ।। २१ ।।

प्रत्यक्षं सर्वलोकस्य खाण्डवे यत् कृतं पुरा ।
फाल्गुनेन सहायार्थे वह्नेर्दामोदरेण च ।। २२ ।।

आजसे पहले खाण्डववनमें अग्निदेवकी सहायताके लिये श्रीकृष्ण और अर्जुनने जो कुछ किया है, वह तो सम्पूर्ण जगत्की आँखोंके सामने है ।। २२ ।।

सर्वथा न हि मे पुत्राः सहामात्याः ससौबलाः ।
क्रुद्धे पार्थे च भीमे च वासुदेवे च सात्वते ।। २३ ।।

जब कुन्तीपुत्र अर्जुन, भीमसेन और यदुकुलतिलक वासुदेव श्रीकृष्ण क्रोधमें भरे हुए हैं, तब मुझे यह विश्वास कर लेना चाहिये कि शकुनि तथा अन्य मन्त्रियोंसहित मेरे सभी पुत्र सर्वथा जीवित नहीं रह सकते ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रखेदे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ४९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें धृतराष्ट्रखेदविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४९ ।।

---

* सूर्य, जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु, आकाश, दीक्षित ब्राह्मण तथा चन्द्रमा—ये शिवजीकी आठ मूर्तियाँ हैं। (विष्णुपुराण १।८।८)

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

वनमें पाण्डवोंका आहार

जनमेजय उवाच

यदिदं शोचितं राज्ञा धृतराष्ट्रेण वै मुने ।
प्रव्राज्य पाण्डवान् वीरान् सर्वमेतन्निरर्थकम् ।। १ ।।

जनमेजय बोले—मुने! वीर पाण्डवोंको वनमें निर्वासित करके राजा धृतराष्ट्रने जो इतना शोक किया, यह सब व्यर्थ था ।। १ ।।

कथं च राजा पुत्रं तमुपेक्षेताल्पचेतसम् ।
दुर्योधनं पाण्डुपुत्रान् कोपयानं महारथान् ।। २ ।।

उस मन्दबुद्धि राजकुमार दुर्योधनको ही किसी तरह त्याग देना उनके लिये सर्वथा उचित था जो महारथी पाण्डवोंको अपने दुर्व्यवहारसे कुपित करता जा रहा था ।। २ ।।

किमासीत् पाण्डुपुत्राणां वने भोजनमुच्यताम् ।
वानेयमथवा कृष्टमेतदाख्यातु नो भवान् ।। ३ ।।

विप्रवर! बताइये, पाण्डवलोग वनमें क्या भोजन करते थे? जंगली फल-मूल या खेतीसे पैदा हुआ ग्रामीण अन्न? इसका आप स्पष्ट वर्णन कीजिये ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

वानेयांश्च मृगांश्चैव शुद्धैर्बाणैर्निपातितान् ।
ब्राह्मणानां निवेद्याग्रमभुञ्जन् पुरुषर्षभाः ।। ४ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव जंगली फल-मूल और खेतीसे पैदा हुए अन्नादि भी पहले ब्राह्मणोंको निवेदन करके फिर स्वयं खाते थे एवं सब लोगोंकी रक्षाके लिये केवल बाणोंके द्वारा ही हिंसक पशुओंको मारा करते थे ।। ४ ।।

तांस्तु शूरान् महेष्वासांस्तदा निवसतो वने ।
अन्वयुर्ब्राह्मणा राजन् साग्नयोऽनग्नयस्तथा ।। ५ ।।

राजन्! उन दिनों वनमें निवास करनेवाले महाधनुर्धर शूरवीर पाण्डवोंके साथ बहुत-से साग्निक (अग्निहोत्री) और निरग्निक (अग्निहोत्ररहित) ब्राह्मण भी रहते थे ।। ५ ।।

ब्राह्मणानां सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम् ।
दश मोक्षविदां तत्र यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ।। ६ ।।

राजा युधिष्ठिर जिनका पालन करते थे, वे महात्मा, स्नातक, मोक्षवेत्ता ब्राह्मण दस हजारकी संख्यामें थे ।। ६ ।।

रुरून् कृष्णमृगांश्चैव मेध्यांश्चान्यान् वनेचरान् ।

बाणैरुन्मथ्य विविधैर्ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयत् ।। ७ ।।

वे रुरुमृग, कृष्णमृग तथा अन्य जो मेध्य (पवित्र)* हिंसक वनजन्तु थे, उन सबको विविध बाणोंद्वारा मारकर उनके चर्म ब्राह्मणोंको आसनादि बनानेके लिये अर्पित कर देते थे ।। ७ ।।

न तत्र कश्चिद् दुर्वर्णो व्याधितो वापि दृश्यते ।
कृशो वा दुर्बलो वापि दीनो भीतोऽपि वा पुनः ।। ८ ।।

वहाँ उन ब्राह्मणोंमेंसे कोई भी ऐसा नहीं दिखायी देता था, जिसके शरीरका रंग दूषित हो अथवा जो किसी रोगसे ग्रस्त हो। उनमेंसे कोई कृशकाय, दुर्बल, दीन अथवा भयभीत भी नहीं जान पड़ता था ।। ८ ।।

पुत्रानिव प्रियान् भ्रातॄञ्ज्ञातीनिव सहोदरान् ।
पुपोष कौरवश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। ९ ।।

कुरुकुलतिलक धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयोंका प्रिय पुत्रोंकी भाँति तथा ज्ञातिजनोंका सहोदर भाइयोंके समान पालन-पोषण करते थे ।। ९ ।।

पतींश्च द्रौपदी सर्वान् द्विजातींश्च यशस्विनी ।
मातृवद् भोजयित्वाग्रे शिष्टमाहारयत् तदा ।। १० ।।

इसी प्रकार यशस्विनी द्रौपदी भी पतियों तथा समस्त द्विजातियोंको माताके समान पहले भोजन कराकर पीछे बचा-खुचा आप खाती थी ।। १० ।।

प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो
यमौ प्रतीचीमथ वाप्युदीचीम् ।
धनुर्धराणां सहितो मृगाणां
क्षयं चक्रुर्नित्यमेवोपगम्य ।। ११ ।।

राजा युधिष्ठिर पूर्व दिशामें, भीमसेन दक्षिण दिशामें तथा नकुल-सहदेव पश्चिम एवं उत्तर दिशामें और कभी सब मिलकर नित्य वनमें निकल जाते और धनुषधारी (डाकुओं) तथा हिंसक पशुओंका संहार किया करते थे ।। ११ ।।

तथा तेषां वसतां काम्यके वै
विहीनानामर्जुनेनोत्सुकानाम् ।
पञ्चैव वर्षाणि तथा व्यतीयु-
रधीयतां जपतां जुह्वतां च ।। १२ ।।

इस प्रकार काम्यकवनमें अर्जुनसे वियुक्त एवं उनके लिये उत्कण्ठित होकर निवास करनेवाले पाण्डवोंके पाँच वर्ष व्यतीत हो गये। इतने समयतक उनका स्वाध्याय, जप और होम सदा पूर्ववत् चलता रहा ।। १२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि पार्थाहारकथने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें पाण्डवोंके भोजनका वर्णनविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५० ।।

---

* सिंह-व्याघ्रादि हिंसक जानवरोंको मार देनेसे वे मारनेवालेको पवित्र करनेवाले हैं; इसलिये उनको पवित्र कहा गया है।

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रके प्रति श्रीकृष्णादिके द्वारा की हुई दुर्योधनादिके वधकी प्रतिज्ञाका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

तेषां तच्चरितं श्रुत्वा मनुष्यातीतमद्भुतम् ।
चिन्ताशोकपरीतात्मा मन्युनाभिपरिप्लुतः ।। १ ।।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
अब्रवीत् संजयं सूतमामन्त्र्य पुरुषर्षभ ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—पुरुषरत्न जनमेजय! पाण्डवोंका वह अद्भुत एवं अलौकिक चरित्र सुनकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रका मन चिन्ता और शोकमें डूब गया। वे अत्यन्त खिन्न हो उठे और लंबी एवं गरम साँसें खींचकर अपने सारथि संजयको निकट बुलाकर बोले— ।। १-२ ।।

न रात्रौ न दिवा सूत शान्तिं प्राप्नोमि वै क्षणम् ।
संचिन्त्य दुर्नयं घोरमतीतं द्यूतजं हि तत् ।। ३ ।।

'सूत! मैं बीते हुए द्यूतजनित घोर अन्यायका स्मरण करके दिन तथा रातमें क्षणभर भी शान्ति नहीं पाता ।।

तेषामसह्यवीर्याणां शौर्यं धैर्यं धृतिं पराम् ।
अन्योन्यमनुरागं च भ्रातॄणामतिमानुषम् ।। ४ ।।

'मैं देखता हूँ, पाण्डवोंके पराक्रम असह्य हैं। उनमें शौर्य, धैर्य तथा उत्तम धारणाशक्ति है। उन सब भाइयोंमें परस्पर अलौकिक प्रेम है ।। ४ ।।

देवपुत्रौ महाभागौ देवराजसमद्युती ।
नकुलः सहदेवश्च पाण्डवौ युद्धदुर्मदौ ।। ५ ।।

'देवपुत्र महाभाग नकुल-सहदेव देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। वे दोनों ही पाण्डव युद्धमें प्रचण्ड हैं ।। ५ ।।

दृढायुधौ दूरपातौ युद्धे च कृतनिश्चयौ ।
शीघ्रहस्तौ दृढक्रोधौ नित्ययुक्तौ तरस्विनौ ।। ६ ।।

'उनके आयुध दृढ़ हैं। वे दूरतक निशाना मारते हैं। युद्धके लिये उनका भी दृढ़ निश्चय है। वे दोनों ही बड़ी शीघ्रतासे हस्तसंचालन करते हैं। उनका क्रोध भी अत्यन्त दृढ़ है। वे सदा उद्योगशील और बड़े वेगवान् हैं ।। ६ ।।

भीमार्जुनौ पुरोधाय यदा तौ रणमूर्धनि ।

स्थास्येते सिंहविक्रान्तावश्विनाविव दुःसहौ ।। ७ ।।
न शेषमिह पश्यामि मम सैन्यस्य संजय ।
तौ ह्यप्रतिरथौ युद्धे देवपुत्रौ महारथौ ।। ८ ।।

'जिस समय भीमसेन और अर्जुनको आगे रखकर वे दोनों सिंहके समान पराक्रमी और अश्विनीकुमारोंके समान दुःसह वीर युद्धके मुहानेपर खड़े होंगे, उस समय मुझे अपनी सेनाका कोई वीर शेष रहता नहीं दिखायी देता है। संजय! देवपुत्र महारथी नकुल-सहदेव युद्धमें अनुपम हैं। कोई भी रथी उनका सामना नहीं कर सकता ।। ७-८ ।।

द्रौपद्यास्तं परिक्लेशं न क्षंस्येते त्वमर्षिणौ ।
वृष्णयोऽथ महेष्वासाः पञ्चाला वा महौजसः ।। ९ ।।
युधि सत्याभिसंधेन वासुदेवेन रक्षिताः ।
प्रधक्ष्यन्ति रणे पार्थाः पुत्राणां मम वाहिनीम् ।। १० ।।

'अमर्षमें भरे हुए माद्रीकुमार द्रौपदीको दिये गये उस कष्टको कभी क्षमा नहीं करेंगे। महान् धनुर्धर वृष्णिवंशी, महातेजस्वी पांचाल योद्धा और युद्धमें सत्यप्रतिज्ञ वासुदेव श्रीकृष्णसे सुरक्षित कुन्तीपुत्र निश्चय ही मेरे पुत्रोंकी सेनाको भस्म कर डालेंगे ।। ९-१० ।।

रामकृष्णप्रणीतानां वृष्णीनां सूतनन्दन ।
न शक्यः सहितुं वेगः सर्वैस्तैरपि संयुगे ।। ११ ।।

'सूतनन्दन! बलराम और श्रीकृष्णसे प्रेरित वृष्णि-वंशी योद्धाओंके वेगको युद्धमें समस्त कौरव मिलकर भी नहीं सह सकते ।। ११ ।।

तेषां मध्ये महेष्वासो भीमो भीमपराक्रमः ।
शैक्यया वीरघातिन्या गदया विचरिष्यति ।। १२ ।।
तथा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
गदावेगं च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः ।। १३ ।।

'उनके बीचमें जब भयानक पराक्रमी महान् धनुर्धर भीमसेन बड़े-बड़े वीरोंका संहार करनेवाली आकाशमें ऊपर उठी हुई गदा लिये विचरेंगे तब उन भीमकी गदाके वेगको तथा वज्रगर्जनके समान गाण्डीव धनुषकी टंकारको भी कोई नरेश नहीं सह सकता ।। १२-१३ ।।

ततोऽहं सुहृदां वाचो दुर्योधनवशानुगः ।
स्मरणीयाः स्मरिष्यामि मया या न कृताः पुरा ।। १४ ।।

'उस समय मैं दुर्योधनके वशमें होनेके कारण अपने हितैषी सुहृदोंकी उन याद रखनेयोग्य बातोंको याद करूँगा, जिनका पालन मैंने पहले नहीं किया' ।। १४ ।।

संजय उवाच

व्यतिक्रमोऽयं सुमहांस्त्वया राजन्नुपेक्षितः ।

समर्थेनापि यन्मोहात् पुत्रस्ते न निवारितः ।। १५ ।।

संजयने कहा—राजन्! आपके द्वारा यह बहुत बड़ा अन्याय हुआ है, जिसकी आपने जान-बूझकर उपेक्षा की है (उसे रोकनेकी चेष्टा नहीं की है); वह यह है कि आपने समर्थ होते हुए भी मोहवश अपने पुत्रको कभी रोका नहीं ।। १५ ।।

श्रुत्वा हि निर्जितान् द्यूते पाण्डवान् मधुसूदनः ।
त्वरितः काम्यके पार्थान् समभावयदच्युतः ।। १६ ।।

भगवान् मधुसूदनने ज्यों ही सुना कि पाण्डव द्यूतमें पराजित हो गये, त्यों ही वे काम्यकवनमें पहुँचकर कुन्तीपुत्रोंसे मिले और उन्हें आश्वासन दिया ।। १६ ।।

द्रुपदस्य तथा पुत्रा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।
विराटो धृष्टकेतुश्च केकयाश्च महारथाः ।। १७ ।।

इसी प्रकार द्रुपदके धृष्टद्युम्न आदि पुत्र, विराट, धृष्टकेतु और महारथी कैकय—इन सबने पाण्डवोंसे भेंट की ।। १७ ।।

तैश्च यत् कथितं राजन् दृष्ट्वा पार्थान् पराजितान् ।
चारेण विदितं सर्वं तन्मयाऽऽवेदितं च ते ।। १८ ।।

राजन्! पाण्डवोंको जूएमें पराजित देखकर उन सबने जो बातें कहीं, उन्हें गुप्तचरोंद्वारा जानकर मैंने आपकी सेवामें निवेदन कर दिया था ।। १८ ।।

समागम्य वृतस्तत्र पाण्डवैर्मधुसूदनः ।
सारथ्ये फाल्गुनस्याजौ तथेत्याह च तान् हरिः ।। १९ ।।

पाण्डवोंने मिलकर मधुसूदन श्रीकृष्णको युद्धमें अर्जुनका सारथि होनेके लिये वरण किया और श्रीहरिने 'तथास्तु' कहकर उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया ।। १९ ।।

अमर्षितो हि कृष्णोऽपि दृष्ट्वा पार्थांस्तथा गतान् ।
कृष्णाजिनोत्तरासंगानब्रवीच्च युधिष्ठिरम् ।। २० ।।

भगवान् श्रीकृष्ण भी कुन्तीपुत्रोंको उस अवस्थामें काला मृगचर्म ओढ़कर आये हुए देख उस समय अमर्षमें भर गये और युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले— ।। २० ।।

या सा समृद्धिः पार्थानामिन्द्रप्रस्थे बभूव ह ।
राजसूये मया दृष्टा नृपैरन्यैः सुदुर्लभा ।। २१ ।।

'इन्द्रप्रस्थमें कुन्तीकुमारोंके पास जो समृद्धि थी तथा राजसूययज्ञके समय जिसे मैंने अपनी आँखों देखा था, वह अन्य नरेशोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ थी ।। २१ ।।

यत्र सर्वान् महीपालाञ्छस्त्रतेजोभयार्दितान् ।
सवङ्गाङ्गान् सपौण्ड्रोड्रान् सचोलद्राविडान्ध्रकान् ।। २२ ।।
सागरानूपकांश्चैव ये च प्रान्ताभिवासिनः ।
सिंहलान् बर्बरान् म्लेच्छान् ये च लङ्कानिवासिनः ।। २३ ।।
पश्चिमानि च राष्ट्राणि शतशः सागरान्तिकान् ।

पह्लवान् दरदान् सर्वान् किरातान् यवनाञ्छकान् ।। २४ ।।
हारहूणांश्च चीनांश्च तुषारान् सैन्धवांस्तथा ।
जागुडान् रामठान् मुण्डान् स्त्रीराज्यमथ तङ्गणान् ।। २५ ।।
केकयान् मालवांश्चैव तथा काश्मीरकानपि ।
अद्राक्षमहमाहूतान् यज्ञे ते परिवेषकान् ।। २६ ।।

'उस समय सब भूमिपाल पाण्डवोंके शस्त्रोंके तेजसे भयभीत थे। अंग, वंग, पुण्ड्र, उड्र, चोल, द्राविड़, आन्ध्र, सागरतटवर्ती द्वीप तथा समुद्रके समीप निवास करनेवाले जो राजा थे, वे सभी राजसूययज्ञमें उपस्थित थे। सिंहल, बर्बर, म्लेच्छ, लंकानिवासी, पश्चिमके राष्ट्र, सागरके निकटवर्ती सैकड़ों प्रदेश, पह्लव, दरद, समस्त किरात, यवन, शक, हारहूण, चीन, तुषार, सैन्धव, जागुड़, रामठ, मुण्ड, स्त्रीराज्य, तंगण, केकय, मालव तथा काश्मीरदेशके नरेश भी राजसूययज्ञमें बुलाये गये थे और मैंने उन सबको आपके यज्ञमें रसोई परोसते देखा था ।। २२—२६ ।।

सा ते समृद्धिर्यैरात्ता चपला प्रतिसारिणी ।
आदाय जीवितं तेषामाहरिष्यामि तामहम् ।। २७ ।।

'सब ओर फैली हुई आपकी उस चंचल समृद्धिको जिन लोगोंने छलसे छीन लिया है, उनके प्राण लेकर भी मैं उसे पुनः वापस लाऊँगा ।। २७ ।।

रामेण सह कौरव्य भीमार्जुनयमैस्तथा ।
अक्रूरगदसाम्बैश्च प्रद्युम्नेनाहुकेन च ।। २८ ।।
धृष्टद्युम्नेन वीरेण शिशुपालात्मजेन च ।
दुर्योधनं रणे हत्वा सद्यः कर्णं च भारत ।। २९ ।।
दुःशासनं सौबलेयं यश्चान्यः प्रतियोत्स्यते ।
ततस्त्वं हास्तिनपुरे भ्रातृभिः सहितो वसन् ।। ३० ।।
धार्तराष्ट्रीं श्रियं प्राप्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ।

'कुरुनन्दन! भरतकुलतिलक! बलराम, भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, अक्रूर, गद, साम्ब, प्रद्युम्न, आहुक, वीर धृष्टद्युम्न और शिशुपालपुत्र धृष्टकेतुके साथ आक्रमण करके युद्धमें दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन एवं शकुनिको तथा और जो कोई योद्धा सामना करने आयेगा, उसे भी शीघ्र ही मारकर मैं आपकी सम्पत्ति लौटा लाऊँगा। तदनन्तर आप भाइयोंसहित हस्तिनापुरमें निवास करते हुए धृतराष्ट्रकी राज्यलक्ष्मीको पाकर इस सारी पृथ्वीका शासन कीजिये' ।। २८—३०½ ।।

अथैनमब्रवीद् राजा तस्मिन् वीरसमागमे ।। ३१ ।।
शृण्वत्स्वेतेषु वीरेषु धृष्टद्युम्नमुखेषु च ।

तब राजा युधिष्ठिरने उस वीरसमुदायमें इन धृष्टद्युम्न आदि शूरवीरोंके सुनते हुए श्रीकृष्णसे कहा ।। ३१½ ।।

युधिष्ठिर उवाच

प्रतिगृह्णामि ते वाचमिमां सत्यां जनार्दन ।। ३२ ।।

युधिष्ठिर बोले—जनार्दन! मैं आपकी सत्य वाणीको शिरोधार्य करता हूँ ।। ३२ ।।

अमित्रान् मे महाबाहो सानुबन्धान् हनिष्यसि ।

वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं सत्यं मां कुरु केशव ।। ३३ ।।

प्रतिज्ञातो वने वासो राजमध्ये मया ह्ययम् ।

महाबाहो! केशव! तेरहवें वर्षके बाद आप मेरे सम्पूर्ण शत्रुओंको उनके बन्धु-बान्धवोंसहित नष्ट कीजियेगा। ऐसा करके आप मेरे सत्य (वनवासके लिये की गयी प्रतिज्ञा)-की रक्षा कीजिये। मैंने राजाओंकी मण्डलीमें वनवासकी प्रतिज्ञा की है ।। ३३½ ।।

तद् धर्मराजवचनं प्रतिश्रुत्य सभासदः ।। ३४ ।।

धृष्टद्युम्नपुरोगास्ते शमयामासुरञ्जसा ।

केशवं मधुरैर्वाक्यैः कालयुक्तैरमर्षितम् ।। ३५ ।।

धर्मराजकी वह बात सुनकर धृष्टद्युम्न आदि सभासदोंने समयोचित मधुर वचनोंद्वारा अमर्षमें भरे हुए श्रीकृष्णको शीघ्र ही शान्त किया ।। ३४-३५ ।।

पाञ्चालीं प्राहुरक्लिष्टां वासुदेवस्य शृण्वतः ।

दुर्योधनस्तव क्रोधाद् देवि त्यक्ष्यति जीवितम् ।। ३६ ।।

तत्पश्चात् उन्होंने क्लेशरहित हुई द्रौपदीसे भगवान् श्रीकृष्णके सुनते हुए कहा—'देवि! दुर्योधन तुम्हारे क्रोधसे निश्चय ही प्राण त्याग देगा ।। ३६ ।।

प्रतिजानीमहे सत्यं मा शुचो वरवर्णिनि ।

ये स्म तेऽक्षजितां कृष्णे दृष्ट्वा त्वां प्राहसंस्तदा ।

मांसानि तेषां खादन्तो हरिष्यन्ति वृकद्विजाः ।। ३७ ।।

'वरवर्णिनि! हम यह सच्ची प्रतिज्ञा करते हैं, तुम शोक न करो। कृष्णे! उस समय तुम्हें जूएमें जीती हुई देखकर जिन लोगोंने हँसी उड़ायी है, उनके मांस भेड़िये और गीध खायँगे और नोच-नोचकर ले जायँगे ।। ३७ ।।

पास्यन्ति रुधिरं तेषां गृध्रा गोमायवस्तथा ।

उत्तमाङ्गानि कर्षन्तो यैः कृष्टासि सभातले ।। ३८ ।।

'इसी प्रकार जिन्होंने तुम्हें सभाभवनमें घसीटा है, उनके कटे हुए सिरोंको घसीटते हुए गीध और गीदड़ उनके रक्त पीयेंगे ।। ३८ ।।

तेषां द्रक्ष्यसि पाञ्चालि गात्राणि पृथिवीतले ।

क्रव्यादैः कृष्यमाणानि भक्ष्यमाणानि चासकृत् ।। ३९ ।।

'पांचालराजकुमारि! तुम देखोगी कि उन दुष्टोंके शरीर इस पृथ्वीपर मांसाहारी गीदड़-गीध आदि पशु-पक्षियोंद्वारा बार-बार घसीटे और खाये जा रहे हैं ।। ३९ ।।

परिक्लिष्टासि यैस्तत्र यैश्चासि समुपेक्षिता ।
तेषामुत्कृत्तशिरसां भूमिः पास्यति शोणितम् ।। ४० ।।

'जिन लोगोंने तुम्हें सभामें क्लेश पहुँचाया और जिन्होंने चुपचाप रहकर उस अन्यायकी उपेक्षा की है, उन सबके कटे हुए मस्तकोंका रक्त यह पृथ्वी पीयेगी' ।। ४० ।।

एवं बहुविधा वाचस्त ऊचुर्भरतर्षभ ।
सर्वे तेजस्विनः शूराः सर्वे चाहतलक्षणाः ।। ४१ ।।

भरतकुलतिलक! इस प्रकार उन वीरोंने अनेक प्रकारकी बातें कही थीं। वे सब-के-सब तेजस्वी और शूरवीर हैं। उनके शुभ लक्षण अमिट हैं ।। ४१ ।।

ते धर्मराजेन वृता वर्षादूर्ध्वं त्रयोदशात् ।
पुरस्कृत्योपयास्यन्ति वासुदेवं महारथाः ।। ४२ ।।

धर्मराजने तेरहवें वर्षके बाद युद्ध करनेके लिये उनका वरण किया है। वे महारथी वीर भगवान् श्रीकृष्णको आगे रखकर आक्रमण करेंगे ।। ४२ ।।

रामश्च कृष्णश्च धनंजयश्च
प्रद्युम्नसाम्बौ युयुधानभीमौ ।
माद्रीसुतौ केकयराजपुत्राः
पाञ्चालपुत्राः सह मत्स्यराज्ञा ।। ४३ ।।
एतान् सर्वान् लोकवीरानजेयान्
महात्मनः सानुबन्धान् ससैन्यान् ।
को जीवितार्थी समरेऽभ्युदीयात्
क्रुद्धान् सिंहान् केसरिणो यथैव ।। ४४ ।।

बलराम, श्रीकृष्ण, अर्जुन, प्रद्युम्न, साम्ब, सात्यकि, भीमसेन, नकुल, सहदेव, केकयराजकुमार, द्रुपद और उनके पुत्र तथा मत्स्यनरेश विराट—ये सब-के-सब विश्वविख्यात अजेय वीर हैं। ये महामना जब अपने सगे-सम्बन्धियों और सेनाके साथ धावा करेंगे, उस समय क्रोधमें भरे हुए केसरी सिंहोंके समान उन महावीरोंका समरमें जीवनकी इच्छा रखनेवाला कौन पुरुष सामना करेगा? ।। ४३-४४ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

यन्माब्रवीद् विदुरो द्यूतकाले
त्वं पाण्डवाञ्जेष्यसि चेन्नरेन्द्र ।
ध्रुवं कुरूणामयमन्तकालो
महाभयो भविता शोणितौघः ।। ४५ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! जब जूआ खेला जा रहा था, उस समय विदुरने मुझसे जो यह बात कही थी कि नरेन्द्र! यदि आप पाण्डवोंको जूएमें जीतेंगे तो निश्चय ही यह कौरवोंके

लिये खूनकी धारासे भरा हुआ अत्यन्त भयंकर विनाशकाल होगा ।। ४५ ।।

मन्ये तथा तद् भवितेति सूत
यथा क्षत्ता प्राह वचः पुरा माम् ।
असंशयं भविता युद्धमेतद्
गते काले पाण्डवानां यथोक्तम् ।। ४६ ।।

सूत! विदुरने पहले जो बात कही थी, वह अवश्य ही उसी प्रकार होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। वनवासका समय व्यतीत होनेपर पाण्डवोंके कथनानुसार यह घोर युद्ध होकर ही रहेगा, इसमें संशय नहीं ।। ४६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रविलापे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्वमें धृतराष्ट्रविलापविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५१ ।।

(नलोपाख्यानपर्व)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेन-युधिष्ठिर-संवाद, बृहदश्वका आगमन तथा युधिष्ठिरके पूछनेपर बृहदश्वके द्वारा नलोपाख्यानकी प्रस्तावना

जनमेजय उवाच

अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।

युधिष्ठिरप्रभृतयः किमकुर्वत पाण्डवाः ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! अस्त्रविद्याकी प्राप्तिके लिये महात्मा अर्जुनके इन्द्रलोक चले जानेपर युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने क्या किया? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।

आवसन् कृष्णया सार्धं काम्यके भरतर्षभाः ।। २ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! अस्त्रविद्याके लिये महात्मा अर्जुनके इन्द्रलोक जानेपर भरतकुलभूषण पाण्डव द्रौपदीके साथ काम्यकवनमें निवास करने लगे ।। २ ।।

ततः कदाचिदेकान्ते विविक्त इव शाद्वले ।

दुःखार्ता भरतश्रेष्ठा निषेदुः सह कृष्णया ।। ३ ।।

धनंजयं शोचमानाः साश्रुकण्ठाः सुदुःखिताः ।

तद्वियोगार्दितान् सर्वाञ्छोकः समभिपुप्लुवे ।। ४ ।।

तदनन्तर एक दिन एकान्त एवं पवित्र स्थानमें, जहाँ छोटी-छोटी हरी दूर्वा आदि घास उगी हुई थी, वे भरतवंशके श्रेष्ठ पुरुष दुःखसे पीड़ित हो द्रौपदीके साथ बैठे और धनंजय अर्जुनके लिये चिन्ता करते हुए अत्यन्त दुःखमें भरे अश्रुगद्गद कण्ठसे उन्हींकी बातें करने लगे। अर्जुनके वियोगसे पीड़ित उन समस्त पाण्डवोंको शोकसागरने अपनी लहरोंमें डुबो दिया ।। ३-४ ।।

धनंजयवियोगाच्च राज्यभ्रंशाच्च दुःखिताः ।

अथ भीमो महाबाहुर्युधिष्ठिरमभाषत ।। ५ ।।

पाण्डव राज्य छिन जानेसे तो दुःखी थे ही। अर्जुनके विरहसे वे और भी क्लेशमें पड़ गये थे। उस समय महाबाहु भीमने युधिष्ठिरसे कहा— ।। ५ ।।

निदेशात् ते महाराज गतोऽसौ भरतर्षभः ।
अर्जुनः पाण्डुपुत्राणां यस्मिन् प्राणाः प्रतिष्ठिताः ।। ६ ।।

'महाराज! आपकी आज्ञासे भरतवंशका रत्न अर्जुन तपस्याके लिये चला गया। हम सब पाण्डवोंके प्राण उसीमें बसते हैं ।। ६ ।।

यस्मिन् विनष्टे पाञ्चालाः सह पुत्रैस्तथा वयम् ।
सात्यकिर्वासुदेवश्च विनश्येयुर्न संशयः ।। ७ ।।

'यदि कहीं अर्जुनका नाश हुआ तो पुत्रोंसहित पांचाल, हम पाण्डव, सात्यकि और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण—ये सब-के-सब नष्ट हो जायँगे ।। ७ ।।

योऽसौ गच्छति धर्मात्मा बहून् क्लेशान् विचिन्तयन् ।
भवन्नियोगाद् बीभत्सुस्ततो दुःखतरं नु किम् ।। ८ ।।

'जो धर्मात्मा अर्जुन अनेक प्रकारके क्लेशोंका चिन्तन करते हुए आपकी आज्ञासे तपस्याके लिये गया, उससे बढ़कर दुःख और क्या होगा? ।। ८ ।।

यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ।
मन्यामहे जितानाजौ परान् प्राप्तां च मेदिनीम् ।। ९ ।।

'जिस महापराक्रमी अर्जुनके बाहुबलका आश्रय लेकर हम संग्राममें शत्रुओंको पराजित और इस पृथ्वीको अपने अधिकारमें आयी हुई समझते हैं ।। ९ ।।

यस्य प्रभावान्न मया सभामध्ये धनुष्मतः ।
नीता लोकममुं सर्वे धार्तराष्ट्राः ससौबलाः ।। १० ।।

'जिस धनुर्धर वीरके प्रभावसे प्रभावित होकर मैंने सभामें शकुनिसहित समस्त धृतराष्ट्रपुत्रोंको तुरंत ही यमलोक नहीं भेज दिया ।। १० ।।

ते वयं बाहुबलिनः क्रोधमुत्थितमात्मनः ।
सहामहे भवन्मूलं वासुदेवेन पालिताः ।। ११ ।।

'हम सब लोग बाहुबलसे सम्पन्न हैं और भगवान् वासुदेव हमारे रक्षक हैं तो भी हम आपके कारण अपने उठे हुए क्रोधको चुपचाप सह लेते हैं ।। ११ ।।

वयं हि सह कृष्णेन हत्वा कर्णमुखान् परान् ।
स्वबाहुविजितां कृत्स्नां प्रशासेम वसुन्धराम् ।। १२ ।।

'भगवान् श्रीकृष्णके साथ हमलोग कर्ण आदि शत्रुओंको मारकर अपने बाहुबलसे जीती हुई सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन कर सकते हैं ।। १२ ।।

भवतो द्यूतदोषेण सर्वे वयमुपप्लुताः ।
अहीनपौरुषा बाला बलिभिर्बलवत्तराः ।। १३ ।।

‘आपके जूएके दोषसे हमलोग पुरुषार्थयुक्त होकर भी दीन बन गये हैं और वे मूर्ख दुर्योधन आदि भेंटमें मिले हुए हमारे धनसे सम्पन्न हो इस समय अधिक बलशाली बन गये हैं ।। १३ ।।

क्षात्रं धर्मं महाराज त्वमवेक्षितुमर्हसि ।
न हि धर्मो महाराज क्षत्रियस्य वनाश्रयः ।। १४ ।।

‘महाराज! आप क्षत्रियधर्मकी ओर तो देखिये। इस प्रकार वनमें रहना कदापि क्षत्रियोंका धर्म नहीं है ।। १४ ।।

राज्यमेव परं धर्मं क्षत्रियस्य विदुर्बुधाः ।
स क्षत्रधर्मविद् राजा मा धर्म्यान्नीनशः पथः ।। १५ ।।

‘विद्वानोंने राज्यको ही क्षत्रियका सर्वोत्तम धर्म माना है। आप क्षत्रियधर्मके ज्ञाता नरेश हैं। धर्मके मार्गसे विचलित न होइये ।। १५ ।।

प्राग् द्वादशसमा राजन् धार्तराष्ट्रान् निहन्महि ।
निवर्त्य च वनात् पार्थमानाय्य च जनार्दनम् ।। १६ ।।

‘राजन्! हमलोग बारह वर्ष बीतनेके पहले ही अर्जुनको वनसे लौटाकर और भगवान् श्रीकृष्णको बुलाकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंका संहार कर सकते हैं ।। १६ ।।

व्यूढानीकान् महाराज जवेनैव महामते ।
धार्तराष्ट्रानमुं लोकं गमयामि विशाम्पते ।। १७ ।।
सर्वानहं हनिष्यामि धार्तराष्ट्रान् ससौबलान् ।
दुर्योधनं च कर्णं च यो वान्यः प्रतियोत्स्यते ।। १८ ।।

‘महाराज! महामते! धृतराष्ट्रके पुत्र कितनी ही सेनाओंकी मोर्चाबन्दी क्यों न कर लें, हम उन्हें शीघ्र यमलोकका पथिक बनाकर ही छोड़ेंगे। मैं स्वयं ही शकुनिसहित समस्त धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार डालूँगा। दुर्योधन, कर्ण अथवा दूसरा जो कोई योद्धा मेरा सामना करेगा, उसे भी अवश्य मारूँगा ।। १७-१८ ।।

मया प्रशमिते पश्चात् त्वमेष्यसि वनात् पुनः ।
एवं कृते न ते दोषा भविष्यन्ति विशाम्पते ।। १९ ।।

‘मेरे द्वारा शत्रुओंका संहार हो जानेपर आप फिर तेरह वर्षके बाद वनसे चले आइयेगा। प्रजानाथ! ऐसा करनेपर आपको दोष नहीं लगेगा ।। १९ ।।

यज्ञैश्च विविधैस्तात कृतं पापमरिंदम ।
अवधूय महाराज गच्छेम स्वर्गमुत्तमम् ।। २० ।।

‘तात! शत्रुदमन! महाराज! हम नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करके अपने किये हुए पापको धो-बहाकर उत्तम स्वर्गलोकमें चलेंगे ।। २० ।।

एवमेतद् भवेद् राजन् यदि राजा न बालिशः ।
अस्माकं दीर्घसूत्रः स्याद् भवान् धर्मपरायणः ।। २१ ।।

‘राजन्! यदि ऐसा हो तो आप हमारे धर्मपरायण राजा अविवेकी और दीर्घसूत्री नहीं समझे जायँगे ।। २१ ।।

निकृत्या निकृतिप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः ।
न हि नैकृतिकं हत्वा निकृत्या पापमुच्यते ।। २२ ।।

‘शठता करने या जाननेवाले शत्रुओंको शठताके द्वारा ही मारना चाहिये, यह एक सिद्धान्त है। जो स्वयं दूसरोंपर छल-कपटका प्रयोग करता है, उसे छलसे भी मार डालनेमें पाप नहीं बताया गया है ।। २२ ।।

तथा भारत धर्मेषु धर्मज्ञैरिह दृश्यते ।
अहोरात्रं महाराज तुल्यं संवत्सरेण ह ।। २३ ।।

‘भरतवंशी महाराज! धर्मशास्त्रमें इसी प्रकार धर्मपरायण धर्मज्ञ पुरुषोंद्वारा यहाँ एक दिन-रात एक संवत्सरके समान देखा जाता है ।। २३ ।।

तथैव वेदवचनं श्रूयते नित्यदा विभो ।
संवत्सरो महाराज पूर्णो भवति कृच्छ्रतः ।। २४ ।।

‘प्रभो! महाराज! इसी प्रकार सदा यह वैदिक वचन सुना जाता है कि कृच्छ्रव्रतके अनुष्ठानसे एक वर्षकी पूर्ति हो जाती है ।। २४ ।।

यदि वेदाः प्रमाणास्ते दिवसादूर्ध्वमच्युत ।
त्रयोदश समाः कालो ज्ञायतां परिनिष्ठितः ।। २५ ।।

‘अच्युत! यदि आप वेदको प्रमाण मानते हैं तो तेरहवें दिनके बाद ही तेरह वर्षोंका समय बीत गया, ऐसा समझ लीजिये ।। २५ ।।

कालो दुर्योधनं हन्तुं सानुबन्धमरिंदम ।
एकाग्रां पृथिवीं सर्वां पुरा राजन् करोति सः ।। २६ ।।

‘शत्रुदमन! यह दुर्योधनको उसके सगे-सम्बन्धियों-सहित मार डालनेका अवसर आया है। राजन्! वह सारी पृथ्वीको जबतक एक सूत्रमें बाँध ले, उसके पहले ही यह कार्य कर लेना चाहिये ।। २६ ।।

द्यूतप्रियेण राजेन्द्र तथा तद् भवता कृतम् ।
प्रायेणाज्ञातचर्यायां वयं सर्वे निपातिताः ।। २७ ।।

‘राजेन्द्र! जूएके खेलमें आसक्त होकर आपने ऐसा अनर्थ कर डाला कि प्रायः हम सब लोगोंको अज्ञातवासके संकटमें लाकर पटक दिया ।। २७ ।।

न तं देशं प्रपश्यामि यत्र सोऽस्मान् सुदुर्जनः ।
न विज्ञास्यति दुष्टात्मा चारैरिति सुयोधनः ।। २८ ।।
अधिगम्य च सर्वान् नो वनवासमिमं ततः ।
प्रव्राजयिष्यति पुनर्निकृत्याधमपूरुषः ।। २९ ।।

'मैं ऐसा कोई देश या स्थान नहीं देखता, जहाँ अत्यन्त दुष्टचित्त, दुरात्मा दुर्योधन अपने गुप्तचरोंद्वारा हमलोगोंका पता न लगा ले। वह नीच नराधम हम सब लोगोंका गुप्त निवास जान लेनेपर पुनः अपनी कपटपूर्ण नीतिद्वारा हमें इस वनवासमें ही डाल देगा ।। २८-२९ ।।

यद्यस्मानभिगच्छेत पापः स हि कथंचन ।
अज्ञातचर्यामुत्तीर्णान् दृष्ट्वा च पुनराह्वयेत् ।। ३० ।।

'यदि वह पापी किसी प्रकार यह समझ ले कि हम अज्ञातवासकी अवधि पार कर गये हैं, तो वह उस दशामें हमें देखकर पुनः आपको ही जूआ खेलनेके लिये बुलायेगा ।। ३० ।।

द्यूतेन ते महाराज पुनर्द्यूतमवर्तत ।
भवांश्च पुनराहूतो द्यूते नैवापनेष्यति ।। ३१ ।।

'महाराज! आप एक बार जूएके संकटसे बचकर दुबारा द्यूतक्रीडामें प्रवृत्त हो गये थे, अतः मैं समझता हूँ, यदि पुनः आपका द्यूतके लिये आवाहन हो तो आप उससे पीछे न हटेंगे ।। ३१ ।।

स तथाक्षेषु कुशलो निश्चितो गतचेतनः ।
चरिष्यसि महाराज वनेषु वसतीः पुनः ।। ३२ ।।

'नरेश्वर! वह विवेकशून्य शकुनि जूआ फेंकनेकी कलामें कितना कुशल है, यह आप अच्छी तरह जानते हैं, फिर तो उसमें हारकर आप पुनः वनवास ही भोगेंगे ।।

यद्यस्मान् सुमहाराज कृपणान् कर्तुमर्हसि ।
यावज्जीवमवेक्षस्व वेदधर्मांश्च कृत्स्नशः ।। ३३ ।।

'महाराज! यदि आप हमें दीन, हीन, कृपण ही बनाना चाहते हैं तो जबतक जीवन है, तबतक सम्पूर्ण वेदोक्त धर्मोंके पालनपर ही दृष्टि रखिये ।। ३३ ।।

निकृत्या निकृतिप्रज्ञो हन्तव्य इति निश्चयः ।
अनुज्ञातस्त्वया गत्वा यावच्छक्ति सुयोधनम् ।। ३४ ।।
यथैव कक्षमुत्सृष्टो दहेदनिलसारथिः ।
हनिष्यामि तथा मन्दमनुजानातु मे भवान् ।। ३५ ।।

'अपना निश्चय तो यही है कि कपटीको कपटसे ही मारना चाहिये। यदि आपकी आज्ञा हो तो जैसे तृणकी राशिमें डाली हुई आग हवाका सहारा पाकर उसे भस्म कर डालती है, वैसे ही मैं जाकर अपनी शक्तिके अनुसार उस मूढ़ दुर्योधनका वध कर डालूँ, अतः आप मुझे आज्ञा दीजिये ।। ३४-३५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणं भीमं तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच सान्त्वयन् राजा मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ।। ३६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराज राजा युधिष्ठिरने उपर्युक्त बातें कहनेवाले पाण्डुनन्दन भीमसेनका मस्तक सूँघकर उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा — ।। ३६ ।।

असंशयं महाबाहो हनिष्यसि सुयोधनम् ।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं सह गाण्डीवधन्वना ।। ३७ ।।

'महाबाहो! इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि तुम तेरहवें वर्षके बाद गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ जाकर युद्धमें सुयोधनको मार डालोगे ।। ३७ ।।

यत् त्वमाभाषसे पार्थ प्राप्तः काल इति प्रभो ।
अनृतं नोत्सहे वक्तुं न ह्येतन्मम विद्यते ।। ३८ ।।

'किंतु शक्तिशाली वीर कुन्तीकुमार! तुम जो यह कहते हो कि सुयोधनके वधका अवसर आ गया है, वह ठीक नहीं है। मैं झूठ नहीं बोल सकता, मुझमें यह आदत नहीं है ।। ३८ ।।

अन्तरेणापि कौन्तेय निकृतिं पापनिश्चयम् ।
हन्ता त्वमसि दुर्धर्ष सानुबन्धं सुयोधनम् ।। ३९ ।।

'कुन्तीनन्दन! तुम दुर्धर्ष वीर हो, छल-कपटका आश्रय लिये बिना भी पापपूर्ण विचार रखनेवाले सुयोधनको सगे-सम्बन्धियोंसहित नष्ट कर सकते हो' ।। ३९ ।।

एवं ब्रुवति भीमं तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
आजगाम महाभागो बृहदश्वो महानृषिः ।। ४० ।।

धर्मराज युधिष्ठिर जब भीमसेनसे ऐसी बातें कह रहे थे, उसी समय महाभाग महर्षि बृहदश्व वहाँ आ पहुँचे ।। ४० ।।

तमभिप्रेक्ष्य धर्मात्मा सम्प्राप्तं धर्मचारिणम् ।
शास्त्रवन्मधुपर्केण पूजयामास धर्मराट् ।। ४१ ।।

धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिरने धर्मानुष्ठान करनेवाले उन महात्माको आया देख शास्त्रीय विधिके अनुसार मधुपर्कद्वारा उनका पूजन किया ।। ४१ ।।

आश्वस्तं चैनमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः ।
अभिप्रेक्ष्य महाबाहुः कृपणं बह्वभाषत ।। ४२ ।।

जब वे आसनपर बैठकर थकावटसे निवृत्त हो चुके अर्थात् विश्राम कर चुके, तब महाबाहु युधिष्ठिर उनके पास ही बैठकर उन्हींकी ओर देखते हुए अत्यन्त दीनतापूर्ण वचन बोले— ।। ४२ ।।

अक्षद्यूते च भगवन् धनं राज्यं च मे हृतम् ।
आहूय निकृतिप्रज्ञैः कितवैरक्षकोविदैः ।। ४३ ।।

'भगवन्! पासे फेंककर खेले जानेवाले जूएके लिये मुझे बुलाकर छल-कपटमें कुशल तथा पासा डालनेकी कलामें निपुण धूर्त जुआरियोंने मेरे सारे धन तथा राज्यका अपहरण

कर लिया है ।। ४३ ।।

अनक्षज्ञस्य हि सतो निकृत्या पापनिश्चयैः ।
भार्या च मे सभां नीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।। ४४ ।।

'मैं जूएका मर्मज्ञ नहीं हूँ। फिर भी पापपूर्ण विचार रखनेवाले उन दुष्टोंके द्वारा मेरी प्राणोंसे भी अधिक गौरवशालिनी पत्नी द्रौपदी केश पकड़कर भरी सभामें लायी गयी ।। ४४ ।।

पुनर्द्यूतेन मां जित्वा वनवासं सुदारुणम् ।
प्राव्राजयन् महारण्यमजिनैः परिवारितम् ।। ४५ ।।

'एक बार जूएके संकटसे बच जानेपर पुनः द्यूतका आयोजन करके उन्होंने मुझे जीत लिया और मृगचर्म पहनाकर वनवासका अत्यन्त दारुण कष्ट भोगनेके लिये इस महान् वनमें निर्वासित कर दिया ।। ४५ ।।

अहं वने दुर्वसतीर्वसन् परमदुःखितः ।
अक्षद्यूताधिकारे च गिरः शृण्वन् सुदारुणाः ।। ४६ ।।
आर्तानां सुहृदां वाचो द्यूतप्रभृति शंसताम् ।
अहं हृदि श्रिताः स्मृत्वा सर्वरात्रीर्विचिन्तयन् ।। ४७ ।।

'मैं अत्यन्त दुःखी हो बड़ी कठिनाईसे वनमें निवास करता हूँ। जिस सभामें जूआ खेलनेका आयोजन किया गया था, वहाँ प्रतिपक्षी पुरुषोंके मुखसे मुझे अत्यन्त कठोर बातें सुननी पड़ी हैं। इसके सिवा द्यूत आदि कार्योंका उल्लेख करते हुए मेरे दुःखातुर सुहृदोंने जो संतापसूचक बातें कही हैं, वे सब मेरे हृदयमें स्थित हैं। मैं उन सब बातोंको याद करके सारी रात चिन्तामें निमग्न रहता हूँ ।। ४६-४७ ।।

यस्मिंश्चैव समस्तानां प्राणा गाण्डीवधन्वनि ।
विना महात्मना तेन गतसत्त्व इवाभवम् ।। ४८ ।।

'इधर जिस गाण्डीव धनुषधारी अर्जुनमें हम सबके प्राण बसते हैं, वह भी हमसे अलग है। महात्मा अर्जुनके बिना मैं निष्प्राण-सा हो गया हूँ ।। ४८ ।।

कदा द्रक्ष्यामि बीभत्सुं कृतास्त्रं पुनरागतम् ।
प्रियवादिनमक्षुद्रं दयायुक्तमतन्द्रितः ।। ४९ ।।

'मैं सदा निरालस्यभावसे यही सोचा करता हूँ कि श्रेष्ठ, दयालु और प्रियवादी अर्जुन कब अस्त्रविद्या सीखकर फिर यहाँ आयेगा और मैं उसे भर आँख देखूँगा ।। ४९ ।।

अस्ति राजा मया कश्चिदल्पभाग्यतरो भुवि ।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा क्वचित् ।
न मत्तो दुःखिततरः पुमानस्तीति मे मतिः ।। ५० ।।

'क्या मेरे-जैसा अत्यन्त भाग्यहीन राजा इस पृथ्वीपर कोई दूसरा भी है? अथवा आपने कहीं मेरे-जैसे किसी राजाको पहले कभी देखा या सुना है। मेरा तो यह विश्वास है कि

मुझसे बढ़कर अत्यन्त दुःखी मनुष्य दूसरा कोई नहीं है' ।। ५० ।।

बृहदश्व उवाच

यद् ब्रवीषि महाराज न मत्तो विद्यते क्वचित् ।
अल्पभाग्यतरः कश्चित् पुमानस्तीति पाण्डव ।। ५१ ।।
अत्र ते वर्णयिष्यामि यदि शुश्रूषसेऽनघ ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजाऽऽसीत् पृथिवीपते ।। ५२ ।।

बृहदश्व बोले—महाराज पाण्डुनन्दन! तुम जो यह कह रहे हो कि मुझसे बढ़कर अत्यन्त भाग्यहीन कोई पुरुष कहीं भी नहीं है, उसके विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा। अनघ! पृथ्वीपते! यदि तुम सुनना चाहो तो मैं उस व्यक्तिका परिचय दूँगा, जो इस पृथ्वीपर तुमसे भी अधिक दुःखी राजा था ।। ५१-५२ ।।

वैशम्पायन उवाच

अथैनमब्रवीद् राजा ब्रवीतु भगवानिति ।
इमामवस्थां सम्प्राप्तं श्रोतुमिच्छामि पार्थिवम् ।। ५३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब राजा युधिष्ठिरने मुनिसे कहा—'भगवन्! अवश्य कहिये। जो मेरी-जैसी संकटपूर्ण स्थितिमें पहुँचा हुआ हो, उस राजाका चरित्र मैं सुनना चाहता हूँ' ।। ५३ ।।

बृहदश्व उवाच

शृणू राजन्नवहितः सह भ्रातृभिरच्युत ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजाऽऽसीत् पृथिवीपते ।। ५४ ।।

बृहदश्वने कहा—राजन्! अपने धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले भूपाल! तुम भाइयोंसहित सावधान होकर सुनो। इस पृथ्वीपर जो तुमसे भी अधिक दुःखी राजा था, उसका परिचय देता हूँ ।। ५४ ।।

निषधेषु महीपालो वीरसेन इति श्रुतः ।
तस्य पुत्रोऽभवन्नाम्ना नलो धर्मार्थकोविदः ।। ५५ ।।

निषधदेशमें वीरसेन नामसे प्रसिद्ध एक भूपाल हो गये हैं। उन्हींके पुत्रका नाम नल था। जो धर्म और अर्थके तत्त्वज्ञ थे ।। ५५ ।।

स निकृत्या जितो राजा पुष्करेणेति नः श्रुतम् ।
वनवासं सुदुःखार्तो भार्यया न्यवसत् सह ।। ५६ ।।

हमने सुना है कि राजा नलको उनके भाई पुष्करने छलसे ही जूएके द्वारा जीत लिया था और वे अत्यन्त दुःखसे आतुर हो अपनी पत्नीके साथ वनवासका दुःख भोगने लगे थे ।। ५६ ।।

न तस्य दासा न रथो न भ्राता न च बान्धवाः ।
वने निवसतो राजञ्छिष्यन्ते स्म कदाचन ।। ५७ ।।

राजन्! उनके साथ न सेवक थे न रथ, न भाई थे न बान्धव। वनमें रहते समय उनके पास ये वस्तुएँ कदापि शेष नहीं थीं ।। ५७ ।।

भवान् हि संवृतो वीरैर्भ्रातृभिर्देवसम्मितैः ।
ब्रह्मकल्पैर्द्विजाग्र्यैश्च तस्मान्नार्हसि शोचितुम् ।। ५८ ।।

तुम तो देवतुल्य पराक्रमी वीर भाइयोंसे घिरे हुए हो। ब्रह्माजीके समान तेजस्वी श्रेष्ठ ब्राह्मण तुम्हारे चारों ओर बैठे हुए हैं। अतः तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ।।

युधिष्ठिर उवाच

विस्तरेणाहमिच्छामि नलस्य सुमहात्मनः ।
चरितं वदतां श्रेष्ठ तन्ममाख्यातुमर्हसि ।। ५९ ।।

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुने! मैं उत्तम महामना राजा नलका चरित्र विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ। आप मुझे बतानेकी कृपा करें ।। ५९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें बृहदश्वयुधिष्ठिरसंवादविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५२ ।।

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नल-दमयन्तीके गुणोंका वर्णन, उनका परस्पर अनुराग और हंसका दमयन्ती और नलको एक-दूसरेके संदेश सुनाना

बृहदश्व उवाच

आसीद् राजा नलो नाम वीरसेनसुतो बली ।
उपपन्नो गुणैरिष्टै रूपवानश्वकोविदः ।। १ ।।

बृहदश्वने कहा—धर्मराज! निषधदेशमें वीरसेनके पुत्र नल नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् राजा हो गये हैं। वे उत्तम गुणोंसे सम्पन्न, रूपवान् और अश्वसंचालनकी कलामें कुशल थे ।। १ ।।

अतिष्ठन्मनुजेन्द्राणां मूर्ध्नि देवपतिर्यथा ।
उपर्युपरि सर्वेषामादित्य इव तेजसा ।। २ ।।
ब्रह्मण्यो वेदविच्छूरो निषधेषु महीपतिः ।
अक्षप्रियः सत्यवादी महानक्षौहिणीपतिः ।। ३ ।।

जैसे देवराज इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंके शिरमौर हैं, उसी प्रकार राजा नलका स्थान समस्त राजाओंके ऊपर था। वे तेजमें भगवान् सूर्यके समान सर्वोपरि थे। निषधदेशके महाराज नल बड़े ब्राह्मणभक्त, वेदवेत्ता, शूरवीर, द्यूत-क्रीड़ाके प्रेमी, सत्यवादी, महान् और एक अक्षौहिणी सेनाके स्वामी थे ।। २-३ ।।

ईप्सितो वरनारीणामुदारः संयतेन्द्रियः ।
रक्षिता धन्विनां श्रेष्ठः साक्षादिव मनुः स्वयम् ।। ४ ।।

वे श्रेष्ठ स्त्रियोंको प्रिय थे और उदार, जितेन्द्रिय, प्रजाजनोंके रक्षक तथा साक्षात् मनुके समान धनुर्धरोंमें उत्तम थे ।। ४ ।।

तथैवासीद् विदर्भेषु भीमो भीमपराक्रमः ।
शूरः सर्वगुणैर्युक्तः प्रजाकामः स चाप्रजः ।। ५ ।।

इसी प्रकार उन दिनों विदर्भदेशमें भयानक पराक्रमी भीम नामक राजा राज्य करते थे। वे शूरवीर और सर्व-सद्‌गुणसम्पन्न थे। उन्हें कोई संतान नहीं थी। अतः संतानप्राप्तिकी कामना उनके हृदयमें सदा बनी रहती थी ।।

स प्रजार्थे परं यत्नमकरोत् सुसमाहितः ।
तमभ्यगच्छद् ब्रह्मर्षिर्दमनो नाम भारत ।। ६ ।।

भारत! राजा भीमने अत्यन्त एकाग्रचित्त होकर संतानप्राप्तिके लिये महान् प्रयत्न किया। उन्हीं दिनों उनके यहाँ दमन नामक ब्रह्मर्षि पधारे ।। ६ ।।

तं स भीमः प्रजाकामस्तोषयामास धर्मवित् ।
महिष्या सह राजेन्द्र सत्कारेण सुवर्चसम् ।। ७ ।।
तस्मै प्रसन्नो दमनः सभार्याय वरं ददौ ।
कन्यारत्नं कुमारांश्च त्रीनुदारान् महायशाः ।। ८ ।।

राजेन्द्र! धर्मज्ञ तथा संतानकी इच्छावाले उस भीमने अपनी रानीसहित उन महातेजस्वी मुनिको पूर्ण सत्कार करके संतुष्ट किया। महायशस्वी दमन मुनिने प्रसन्न होकर पत्नीसहित राजा भीमको एक कन्या और तीन उदार पुत्र प्रदान किये ।। ७-८ ।।

दमयन्तीं दमं दान्तं दमनं च सुवर्चसम् ।
उपपन्नान् गुणैः सर्वैर्भीमान् भीमपराक्रमान् ।। ९ ।।

कन्याका नाम था दमयन्ती और पुत्रोंके नाम थे—दम, दान्त तथा दमन। ये सभी बड़े तेजस्वी थे। राजाके तीनों पुत्र गुणसम्पन्न, भयंकर वीर और भयानक पराक्रमी थे ।। ९ ।।

दमयन्ती तु रूपेण तेजसा यशसा श्रिया ।
सौभाग्येन च लोकेषु यशः प्राप सुमध्यमा ।। १० ।।

सुन्दर कटिप्रदेशवाली दमयन्ती रूप, तेज, यश, श्री और सौभाग्यके द्वारा तीनों लोकोंमें विख्यात यशस्विनी हुई ।। १० ।।

अथ तां वयसि प्राप्ते दासीनां समलंकृताम् ।
शतं शतं सखीनां च पर्युपासच्छचीमिव ।। ११ ।।

जब उसने युवावस्थामें प्रवेश किया, उस समय सौ दासियाँ और सौ सखियाँ वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो सदा उसकी सेवामें उपस्थित रहती थीं। मानो देवांगनाएँ शचीकी उपासना करती हों ।। ११ ।।

तत्र स्म राजते भैमी सर्वाभरणभूषिता ।
सखीमध्येऽनवद्याङ्गी विद्युत्सौदामनी यथा ।। १२ ।।

अनिन्द्य सुन्दर अंगोंवाली भीमकुमारी दमयन्ती सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो सखियोंकी मण्डलीमें वैसी ही शोभा पाती थी, जैसे मेघमालाके बीच विद्युत् प्रकाशित हो रही हो ।। १२ ।।

अतीव रूपसम्पन्ना श्रीरिवायतलोचना ।
न देवेषु न यक्षेषु तादृग् रूपवती क्वचित् ।। १३ ।।

वह लक्ष्मीके समान अत्यन्त सुन्दर रूपसे सुशोभित थी। उसके नेत्र विशाल थे। देवताओं और यक्षोंमें भी वैसी सुन्दरी कन्या कहीं देखनेमें नहीं आती थी ।। १३ ।।

मानुषेष्वपि चान्येषु दृष्टपूर्वाथवा श्रुता ।
चित्तप्रसादनी बाला देवानामपि सुन्दरी ।। १४ ।।

मनुष्यों तथा अन्य वर्गके लोगोंमें भी वैसी सुन्दरी पहले न तो कभी देखी गयी थी और न सुननेमें ही आयी थी। उस बालाको देखते ही चित्त प्रसन्न हो जाता था। वह देववर्गमें भी श्रेष्ठ सुन्दरी समझी जाती थी ।। १४ ।।

नलश्च नरशार्दूलो लोकेष्वप्रतिमो भुवि ।
कन्दर्प इव रूपेण मूर्तिमानभवत् स्वयम् ।। १५ ।।

नरश्रेष्ठ नल भी इस भूतलके मनुष्योंमें अनुपम सुन्दर थे। उनका रूप देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो नलके आकारमें स्वयं मूर्तिमान् कामदेव ही उत्पन्न हुआ हो ।। १५ ।।

तस्याः समीपे तु नलं प्रशशंसुः कुतूहलात् ।
नैषधस्य समीपे तु दमयन्तीं पुनः पुनः ।। १६ ।।

लोग कौतूहलवश दमयन्तीके समीप नलकी प्रशंसा करते थे और निषधराज नलके निकट बार-बार दमयन्तीके सौन्दर्यकी सराहना किया करते थे ।। १६ ।।

तयोरदृष्टः कामोऽभूच्छृण्वतोः सततं गुणान् ।
अन्योन्यं प्रति कौन्तेय स व्यवर्धत हृच्छयः ।। १७ ।।

कुन्तीनन्दन! इस प्रकार निरन्तर एक-दूसरेके गुणोंको सुनते-सुनते उन दोनोंमें बिना देखे ही परस्पर काम (अनुराग) उत्पन्न हो गया। उनकी वह कामना दिन-दिन बढ़ती ही चली गयी ।। १७ ।।

अशक्नुवन् नलः कामं तदा धारयितुं हृदा ।
अन्तःपुरसमीपस्थे वन आस्ते रहोगतः ।। १८ ।।

जब राजा नल उस कामवेदनाको हृदयके भीतर छिपाये रखनेमें असमर्थ हो गये, तब वे अन्तःपुरके समीपवर्ती उपवनमें जाकर एकान्तमें बैठ गये ।। १८ ।।

स ददर्श ततो हंसान् जातरूपपरिष्कृतान् ।
वने विचरतां तेषामेकं जग्राह पक्षिणम् ।। १९ ।।

इतनेहीमें उनकी दृष्टि कुछ हंसोंपर पड़ी, जो सुवर्णमय पंखोंसे विभूषित थे। वे उसी उपवनमें विचर रहे थे। राजाने उनमेंसे एक हंसको पकड़ लिया ।। १९ ।।

ततोऽन्तरिक्षगो वाचं व्याजहार नलं तदा ।
हन्तव्योऽस्मि न ते राजन् करिष्यामि तव प्रियम् ।। २० ।।

तब आकाशचारी हंसने उस समय नलसे कहा—‘राजन्! आप मुझे न मारें। मैं आपका प्रिय कार्य करूँगा ।।

दमयन्तीसकाशे त्वां कथयिष्यामि नैषध ।
यथा त्वदन्यं पुरुषं न सा मंस्यति कर्हिचित् ।। २१ ।।

'निषधनरेश! मैं दमयन्तीके निकट आपकी ऐसी प्रशंसा करूँगा, जिससे वह आपके सिवा दूसरे किसी पुरुषको मनमें कभी स्थान न देगी' ।। २१ ।।

एवमुक्तस्ततो हंसमुत्ससर्ज महीपतिः ।
ते तु हंसाः समुत्पत्य विदर्भानगमंस्ततः ।। २२ ।।

हंसके ऐसा कहनेपर राजा नलने उसे छोड़ दिया। फिर वे हंस वहाँसे उड़कर विदर्भदेशमें गये ।। २२ ।।

विदर्भनगरीं गत्वा दमयन्त्यास्तदान्तिके ।
निपेतुस्ते गरुत्मन्तः सा ददर्श च तान् खगान् ।। २३ ।।

तब विदर्भनगरीमें जाकर वे सभी हंस दमयन्तीके निकट उतरे। दमयन्तीने भी उन अद्भुत पक्षियोंको देखा ।। २३ ।।

सा तानद्भुतरूपान् वै दृष्ट्वा सखिगणावृता ।
हृष्टा ग्रहीतुं खगमांस्त्वरमाणोपचक्रमे ।। २४ ।।

सखियोंसे घिरी हुई राजकुमारी दमयन्ती उन अपूर्व पक्षियोंको देखकर बहुत प्रसन्न हुई और तुरंत ही उन्हें पकड़नेकी चेष्टा करने लगी ।। २४ ।।

अथ हंसा विससृपुः सर्वतः प्रमदावने ।
एकैकशस्तदा कन्यास्तान् हंसान् समुपाद्रवन् ।। २५ ।।

तब हंस उस प्रमदावनमें सब ओर विचरण करने लगे। उस समय सभी राजकन्याओंने एक-एक करके उन सभी हंसोंका पीछा किया ।। २५ ।।

दमयन्ती तु यं हंसं समुपाधावदन्तिके ।
स मानुषीं गिरं कृत्वा दमयन्तीमथाब्रवीत् ।। २६ ।।

दमयन्ती जिस हंसके निकट दौड़ रही थी, उसने उससे मानवी वाणीमें कहा — ।। २६ ।।

दमयन्ति नलो नाम निषधेषु महीपतिः ।
अश्विनोः सदृशो रूपे न समास्तस्य मानुषाः ।। २७ ।।

‘राजकुमारी दमयन्ती! सुनो, निषधदेशमें नल नामसे प्रसिद्ध एक राजा हैं, जो अश्विनीकुमारोंके समान सुन्दर हैं। मनुष्योंमें तो कोई उनके समान है ही नहीं ।। २७ ।।

कन्दर्प इव रूपेण मूर्तिमानभवत् स्वयम् ।
तस्य वै यदि भार्या त्वं भवेथा वरवर्णिनि ।। २८ ।।
सफलं ते भवेज्जन्म रूपं चेदं सुमध्यमे ।
वयं हि देवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसान् ।। २९ ।।
दृष्टवन्तो न चास्माभिर्दृष्टपूर्वस्तथाविधः ।
त्वं चापि रत्नं नारीणां नरेषु च नलो वरः ।। ३० ।।
विशिष्टया विशिष्टेन संगमो गुणवान् भवेत् ।

‘सुन्दरि! रूपकी दृष्टिसे तो वे मानो स्वयं मूर्तिमान् कामदेव-से ही प्रतीत होते हैं। सुमध्यमे! यदि तुम उनकी पत्नी हो जाओ तो तुम्हारा जन्म और यह मनोहर रूप सफल हो जाय। हमलोगोंने देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नाग तथा राक्षसोंको भी देखा है; परंतु हमारी दृष्टिमें अबतक उनके-जैसा कोई भी पुरुष पहले कभी नहीं आया है। तुम रमणियोंमें रत्नस्वरूपा हो और नल पुरुषोंके मुकुटमणि हैं। यदि किसी विशिष्ट नारीका विशिष्ट पुरुषके साथ संयोग हो तो वह विशेष गुणकारी होता है’ ।। २८—३०½ ।।

एवमुक्ता तु हंसेन दमयन्ती विशाम्पते ।। ३१ ।।
अब्रवीत् तत्र तं हंसं त्वमप्येवं नले वद ।
तथेत्युक्त्वाण्डजः कन्यां विदर्भस्य विशाम्पते ।
पुनरागम्य निषधान् नले सर्वं न्यवेदयत् ।। ३२ ।।

राजन्! हंसके इस प्रकार कहनेपर दमयन्तीने उससे कहा—‘पक्षिराज! तुम नलके निकट भी ऐसी ही बातें कहना’। राजन्! विदर्भराजकुमारी दमयन्तीसे ‘तथास्तु’ कहकर वह हंस पुनः निषधदेशमें आया और उसने नलसे सब बातें निवेदन कीं ।। ३१-३२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि हंसदमयन्तीसंवादे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें हंसदमयन्तीसंवादविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५३ ।।

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्वर्गमें नारद और इन्द्रकी बातचीत, दमयन्तीके स्वयंवरके लिये राजाओं तथा लोकपालोंका प्रस्थान

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वचो हंसस्य भारत ।
ततः प्रभृति न स्वस्था नलं प्रति बभूव सा ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—भारत! दमयन्तीने जबसे हंसकी बातें सुनीं, तबसे राजा नलके प्रति अनुरक्त हो जानेके कारण वह अस्वस्थ रहने लगी ।। १ ।।

ततश्चिन्तापरा दीना विवर्णवदना कृशा ।
बभूव दमयन्ती तु निःश्वासपरमा तदा ।। २ ।।

तदनन्तर उसके मनमें सदा चिन्ता बनी रहती थी। स्वभावमें दैन्य आ गया। चेहरेका रंग फीका पड़ गया और दमयन्ती दिन-दिन दुबली होने लगी। उस समय वह प्रायः लंबी साँसें खींचती रहती थी ।। २ ।।

ऊर्ध्वदृष्टिर्ध्यानपरा बभूवोन्मत्तदर्शना ।
पाण्डुवर्णा क्षणेनाथ हृच्छयाविष्टचेतना ।। ३ ।।

ऊपरकी ओर निहारती हुई सदा नलके ध्यानमें परायण रहती थी। देखनेमें उन्मत्त-सी जान पड़ती थी। उसका शरीर पाण्डुवर्णका हो गया। कामवेदनाकी अधिकतासे उसकी चेतना क्षण-क्षणमें विलुप्त-सी हो जाती थी ।। ३ ।।

न शय्यासनभोगेषु रतिं विन्दति कर्हिचित् ।
न नक्तं न दिवा शेते हाहेति रुदती पुनः ।। ४ ।।

उसकी शय्या, आसन तथा भोग-सामग्रियोंमें कहीं भी प्रीति नहीं होती थी। वह न तो रातमें सोती और न दिनमें ही। बारंबार 'हाय-हाय' करके रोती ही रहती थी ।। ४ ।।

तामस्वस्थां तदाकारां सख्यस्ता जज्ञुरिङ्गितैः ।
ततो विदर्भपतये दमयन्त्याः सखीजनः ।। ५ ।।
न्यवेदयत् तामस्वस्थां दमयन्तीं नरेश्वरे ।
तच्छ्रुत्वा नृपतिर्भीमो दमयन्तीं सखीगणात् ।। ६ ।।
चिन्तयामास तत् कार्यं सुमहत् स्वां सुतां प्रति ।
किमर्थं दुहिता मेऽद्य नातिस्वस्थेव लक्ष्यते ।। ७ ।।

उसकी वैसी आकृति और अस्वस्थ-अवस्थाका क्या कारण है, यह सखियोंने संकेतसे जान लिया। तदनन्तर दमयन्तीकी सखियोंने विदर्भनरेशको उसकी उस अस्वस्थ-अवस्थाके

विषयमें सूचना दी। सखियोंके मुखसे दमयन्तीके विषयमें वैसी बात सुनकर राजा भीमने बहुत सोचा-विचारा, परंतु अपनी पुत्रीके लिये कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य उन्हें नहीं सूझ पड़ा। वे सोचने लगे कि ‘क्यों मेरी पुत्री आजकल स्वस्थ नहीं दिखायी देती है?’ ।। ५—७ ।।

स समीक्ष्य महीपालः स्वां सुतां प्राप्तयौवनाम् ।
अपश्यदात्मना कार्यं दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।। ८ ।।

राजाने बहुत सोचने-विचारनेके बाद यह निश्चय किया कि मेरी पुत्री अब युवावस्थामें प्रवेश कर चुकी, अतः दमयन्तीके लिये स्वयंवर रचाना ही उन्हें अपना विशेष कर्तव्य दिखायी दिया ।। ८ ।।

स संनिमन्त्रयामास महीपालान् विशाम्पतिः ।
एषोऽनुभूयतां वीराः स्वयंवर इति प्रभो ।। ९ ।।

राजन्! विदर्भनरेशने सब राजाओंको इस प्रकार निमन्त्रित किया—‘वीरो! मेरे यहाँ कन्याका स्वयंवर है। आपलोग पधारकर इस उत्सवका आनन्द लें’ ।। ९ ।।

श्रुत्वा तु पार्थिवाः सर्वे दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।
अभिजग्मुस्ततो भीमं राजानो भीमशासनात् ।। १० ।।
हस्त्यश्वरथघोषेण पूरयन्तो वसुन्धराम् ।
विचित्रमाल्याभरणैर्बलैर्दृश्यैः स्वलंकृतैः ।। ११ ।।

दमयन्तीका स्वयंवर होने जा रहा है, यह सुनकर सभी नरेश विदर्भराज भीमके आदेशसे हाथी, घोड़ों तथा रथोंकी तुमुल ध्वनिसे पृथ्वीको गुँजाते हुए उनकी राजधानीमें गये। उस समय उनके साथ विचित्र माला एवं आभूषणोंसे विभूषित बहुत-से सैनिक देखे जा रहे थे ।। १०-११ ।।

तेषां भीमो महाबाहुः पार्थिवानां महात्मनाम् ।
यथार्हमकरोत् पूजां तेऽवसंस्तत्र पूजिताः ।। १२ ।।

महाबाहु राजा भीमने वहाँ पधारे हुए उन महामना नरेशोंका यथायोग्य पूजन किया। तत्पश्चात् वे उनसे पूजित हो वहीं रहने लगे ।। १२ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु सुराणामृषिसत्तमौ ।
अटमानौ महात्मानाविन्द्रलोकमितो गतौ ।। १३ ।।
नारदः पर्वतश्चैव महाप्राज्ञौ महाव्रतौ ।
देवराजस्य भवनं विविशाते सुपूजितौ ।। १४ ।।

इसी समय देवर्षिप्रवर महान् व्रतधारी महाप्राज्ञ नारद और पर्वत दोनों महात्मा इधरसे घूमते हुए इन्द्रलोकमें गये। वहाँ उन्होंने देवराजके भवनमें प्रवेश किया। उस भवनमें उनका विशेष आदर-सत्कार एवं पूजन किया गया ।। १३-१४ ।।

तावर्चयित्वा मघवा ततः कुशलमव्ययम् ।

पप्रच्छानामयं चापि तयोः सर्वगतं विभुः ।। १५ ।।

उन दोनोंकी पूजा करके भगवान् इन्द्रने उनसे उन दोनोंके तथा सम्पूर्ण जगत्के कुशल-मंगल एवं स्वस्थताका समाचार पूछा ।। १५ ।।

नारद उवाच

आवयोः कुशलं देव सर्वत्रगतमीश्वर ।
लोके च मघवन् कृत्स्ने नृपाः कुशलिनो विभो ।। १६ ।।

तब नारदजीने कहा—प्रभो! देवेश्वर! हमलोगोंकी सर्वत्र कुशल है और समस्त लोकमें भी राजालोग सकुशल हैं ।। १६ ।।

बृहदश्व उवाच

नारदस्य वचः श्रुत्वा पप्रच्छ बलवृत्रहा ।
धर्मज्ञाः पृथिवीपालास्त्यक्तजीवितयोधिनः ।। १७ ।।
शस्त्रेण निधनं काले ये गच्छन्त्यपराङ्मुखाः ।
अयं लोकोऽक्षयस्तेषां यथैव मम कामधुक् ।। १८ ।।

बृहदश्व कहते हैं—राजन्! नारदकी बात सुनकर बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले इन्द्रने उनसे पूछा—'मुने! जो धर्मज्ञ भूपाल अपने प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध करते हैं और पीठ न दिखाकर लड़ते समय किसी शस्त्रके आघातसे मृत्युको प्राप्त होते हैं, उनके लिये हमारा यह स्वर्गलोक अक्षय हो जाता है और मेरी ही तरह उन्हें भी यह मनोवांछित भोग प्रदान करता है ।। १७-१८ ।।

क्व नु ते क्षत्रियाः शूरा न हि पश्यामि तानहम् ।
आगच्छतो महीपालान् दयितानतिथीन् मम ।। १९ ।।
एवमुक्तस्तु शक्रेण नारदः प्रत्यभाषत ।

'वे शूरवीर क्षत्रिय कहाँ हैं? अपने उन प्रिय अतिथियोंको आजकल मैं यहाँ आते नहीं देख रहा हूँ' इन्द्रके ऐसा पूछनेपर नारदजीने उत्तर दिया ।। १९½ ।।

नारद उवाच

शृणु मे मघवन् येन न दृश्यन्ते महीक्षितः ।। २० ।।
विदर्भराज्ञो दुहिता दमयन्तीति विश्रुता ।
रूपेण समतिक्रान्ता पृथिव्यां सर्वयोषितः ।। २१ ।।

नारदजी बोले—मघवन्! मैं वह कारण बताता हूँ, जिससे राजालोग आजकल यहाँ नहीं दिखायी देते, सुनिये। विदर्भनरेश भीमके यहाँ दमयन्ती नामसे प्रसिद्ध एक कन्या उत्पन्न हुई है, जो मनोहर रूप-सौन्दर्यमें पृथ्वीकी सम्पूर्ण युवतियोंको लाँघ गयी है ।। २०-२१ ।।

तस्याः स्वयंवरः शक्र भविता न चिरादिव ।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ।। २२ ।।

इन्द्र! अब शीघ्र ही उसका स्वयंवर होनेवाला है, उसीमें सब राजा तथा राजकुमार जा रहे हैं ।। २२ ।।

तां रत्नभूतां लोकस्य प्रार्थयन्तो महीक्षितः ।
काङ्क्षन्ति स्म विशेषेण बलवृत्रनिषूदन ।। २३ ।।

बल और वृत्रासुरके नाशक इन्द्र! दमयन्ती सम्पूर्ण जगत्का एक अद्भुत रत्न है। इसलिये सब राजा उसे पानेकी विशेष अभिलाषा रखते हैं ।। २३ ।।

एतस्मिन् कथ्यमाने तु लोकपालाश्च साग्निकाः ।
आजग्मुर्देवराजस्य समीपममरोत्तमाः ।। २४ ।।

यह बात हो ही रही थी कि देवश्रेष्ठ लोकपालगण अग्निसहित देवराजके समीप आये ।। २४ ।।

ततस्ते शुश्रुवुः सर्वे नारदस्य वचो महत् ।
श्रुत्वैव चाब्रुवन् हृष्टा गच्छामो वयमप्युत ।। २५ ।।

तदनन्तर उन सबने नारदजीकी ये विशिष्ट बातें सुनीं। सुनते ही वे सब-के-सब हर्षोल्लाससे परिपूर्ण हो बोले—'हमलोग भी उस स्वयंवरमें चलें' ।। २५ ।।

ततः सर्वे महाराज सगणाः सहवाहनाः ।
विदर्भानभिजग्मुस्ते यतः सर्वे महीक्षितः ।। २६ ।।

महाराज! तदनन्तर वे सब देवता अपने सेवकगणों और वाहनोंके साथ विदर्भदेशमें गये, जहाँ समस्त भूपाल एकत्र हुए थे ।। २६ ।।

नलोऽपि राजा कौन्तेय श्रुत्वा राज्ञां समागमम् ।
अभ्यगच्छददीनात्मा दमयन्तीमनुव्रतः ।। २७ ।।

कुन्तीनन्दन! उदारहृदय राजा नल भी विदर्भनगरमें समस्त राजाओंका समागम सुनकर दमयन्तीमें अनुरक्त हो वहाँ गये ।। २७ ।।

अथ देवाः पथि नलं ददृशुर्भूतले स्थितम् ।
साक्षादिव स्थितं मूर्त्या मन्मथं रूपसम्पदा ।। २८ ।।

उस समय देवताओंने पृथ्वीपर मार्गमें खड़े हुए राजा नलको देखा। रूप-सम्पत्तिकी दृष्टिसे वे साक्षात् मूर्तिमान् कामदेव-से जान पड़ते थे ।। २८ ।।

तं दृष्ट्वा लोकपालास्ते भ्राजमानं यथा रविम् ।
तस्थुर्विगतसंकल्पा विस्मिता रूपसम्पदा ।। २९ ।।

सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले महाराज नलको देखकर वे लोकपाल उनके रूप-वैभवसे चकित हो दमयन्तीको पानेका संकल्प छोड़ बैठे ।। २९ ।।

ततोऽन्तरिक्षे विष्टभ्य विमानानि दिवौकसः ।

अब्रुवन् नैषधं राजन्नवतीर्य नभस्तलात् ।। ३० ।।

राजन्! तब उन देवताओंने अपने विमानोंको आकाशमें रोक दिया और वहाँसे नीचे उतरकर निषधनरेशसे कहा— ।। ३० ।।

भो भो निषधराजेन्द्र नल सत्यव्रतो भवान् ।
अस्माकं कुरु साहाय्यं दूतो भव नरोत्तम ।। ३१ ।।

'निषधदेशके महाराज नरश्रेष्ठ नल! आप सत्य-व्रती हैं, हमलोगोंकी सहायता कीजिये। हमारे दूत बन जाइये' ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि इन्द्रनारदसंवादे चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें इन्द्रनारदसंवादविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५४ ।।

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नलका दूत बनकर राजमहलमें जाना और दमयन्तीको देवताओंका संदेश सुनाना

बृहदश्व उवाच

तेभ्यः प्रतिज्ञाय नलः करिष्य इति भारत ।
अथैतान् परिपप्रच्छ कृताञ्जलिरुपस्थितः ।। १ ।।
के वै भवन्तः कश्चासौ यस्याहं दूत ईप्सितः ।
किं च तद् वो मया कार्यं कथयध्वं यथातथम् ।। २ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—भारत! देवताओंसे उनकी सहायता करनेकी प्रतिज्ञा करके राजा नलने हाथ जोड़ पास जाकर उनसे पूछा—'आपलोग कौन हैं? और वह कौन व्यक्ति है, जिसके पास जानेके लिये आपने मुझे दूत बनानेकी इच्छा की है तथा आपलोगोंका वह कौन-सा कार्य है, जो मेरे द्वारा सम्पन्न होनेयोग्य है, यह ठीक-ठीक बताइये' ।। १-२ ।।

एवमुक्तो नैषधेन मघवानभ्यभाषत ।
अमरान् वै निबोधास्मान् दमयन्त्यर्थमागतान् ।। ३ ।।

निषधराज नलके इस प्रकार पूछनेपर इन्द्रने कहा—'भूपाल! तुम हमें देवता समझो, हम दमयन्तीको प्राप्त करनेके लिये यहाँ आये हैं' ।। ३ ।।

अहमिन्द्रोऽयमग्निश्च तथैवायमपां पतिः ।
शरीरान्तकरो नृणां यमोऽयमपि पार्थिव ।। ४ ।।
त्वं वै समागतानस्मान् दमयन्त्यै निवेदय ।
लोकपाला महेन्द्राद्याः समायान्ति दिदृक्षवः ।। ५ ।।

'मैं इन्द्र हूँ, ये अग्निदेव हैं, ये जलके स्वामी वरुण और ये प्राणियोंके शरीरका नाश करनेवाले साक्षात् यमराज हैं। आप दमयन्तीके पास जाकर उसे हमारे आगमनकी सूचना दे दीजिये और कहिये—महेन्द्र आदि लोकपाल तुम्हें देखनेके लिये आ रहे हैं ।। ४-५ ।।

प्राप्तुमिच्छन्ति देवास्त्वां शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ।
तेषामन्यतमं देवं पतित्वे वरयस्व ह ।। ६ ।।

'इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम—ये देवतालोग तुम्हें प्राप्त करना चाहते हैं। तुम उनमेंसे किसी एक देवताको पतिरूपमें चुन लो' ।। ६ ।।

एवमुक्तः स शक्रेण नलः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
एकार्थं समुपेतं मां न प्रेषयितुमर्हथ ।। ७ ।।

इन्द्रके ऐसा कहनेपर नल हाथ जोड़कर बोले—'देवताओ! मेरा भी एकमात्र यही प्रयोजन है, जो आपलोगोंका है; अतः एक ही प्रयोजनके लिये आये हुए मुझे दूत बनाकर न भेजिये' ।। ७ ।।

कथं तु जातसंकल्पः स्त्रियमुत्सृजते पुमान् ।
परार्थमीदृशं वक्तुं तत् क्षमन्तु महेश्वराः ।। ८ ।।

'देवेश्वरो! जिसके मनमें किसी स्त्रीको प्राप्त करनेका संकल्प हो गया है, वह पुरुष उसी स्त्रीको दूसरेके लिये कैसे छोड़ सकता है? अतः आपलोग ऐसी बात कहनेके लिये मुझे क्षमा करें' ।। ८ ।।

देवा ऊचुः

करिष्य इति संश्रुत्य पूर्वमस्मासु नैषध ।
न करिष्यसि कस्मात् त्वं व्रज नैषध मा चिरम् ।। ९ ।।

देवताओंने कहा—निषधनरेश! तुम पहले हमलोगोंसे हमारा कार्य सिद्ध करनेके लिये प्रतिज्ञा कर चुके हो, फिर तुम उस प्रतिज्ञाका पालन कैसे नहीं करोगे? इसलिये निषधराज! तुम शीघ्र जाओ; देर न करो ।। ९ ।।

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तः स देवैस्तैर्नैषधः पुनरब्रवीत् ।
सुरक्षितानि वेश्मानि प्रवेष्टुं कथमुत्सहे ।। १० ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! उन देवताओंके ऐसा कहनेपर निषधनरेशने पुनः उनसे पूछा—'विदर्भराजके सभी भवन (पहरेदारोंसे) सुरक्षित हैं। मैं उनमें कैसे प्रवेश कर सकता हूँ?' ।। १० ।।

प्रवेक्ष्यसीति तं शक्रः पुनरेवाभ्यभाषत ।
जगाम स तथेत्युक्त्वा दमयन्त्या निवेशनम् ।। ११ ।।

तब इन्द्रने पुनः उत्तर दिया—'तुम वहाँ प्रवेश कर सकोगे।' तत्पश्चात् राजा नल 'तथास्तु' कहकर दमयन्तीके महलमें गये ।। ११ ।।

ददर्श तत्र वैदर्भीं सखीगणसमावृताम् ।
देदीप्यमानां वपुषा श्रिया च वरवर्णिनीम् ।। १२ ।।

वहाँ उन्होंने देखा, सखियोंसे घिरी हुई परम सुन्दरी विदर्भराजकुमारी दमयन्ती अपने सुन्दर शरीर और दिव्य कान्तिसे अत्यन्त उद्भासित हो रही है ।। १२ ।।

अतीवसुकुमाराङ्गीं तनुमध्यां सुलोचनाम् ।
आक्षिपन्तीमिव प्रभां शशिनः स्वेन तेजसा ।। १३ ।।

उसके अंग परम सुकुमार हैं, कटिके ऊपरका भाग अत्यन्त पतला है और नेत्र बड़े सुन्दर हैं एवं वह अपने तेजसे चन्द्रमाकी प्रभाको भी तिरस्कृत-सी कर रही है ।। १३ ।।

तस्य दृष्ट्वैव ववृधे कामस्तां चारुहासिनीम् ।
सत्यं चिकीर्षमाणस्तु धारयामास हृच्छयम् ।। १४ ।।

उस मनोहर मुसकानवाली राजकुमारीको देखते ही नलके हृदयमें कामाग्नि प्रज्वलित हो उठी; तथापि अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करनेकी इच्छासे उन्होंने उस कामवेदनाको मनमें ही रोक लिया ।। १४ ।।

ततस्ता नैषधं दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः परमाङ्गनाः ।
आसनेभ्यः समुत्पेतुस्तेजसा तस्य धर्षिताः ।। १५ ।।

निषधराजको वहाँ आये देख अन्तःपुरकी सारी सुन्दरी स्त्रियाँ चकित हो गयीं और उनके तेजसे तिरस्कृत हो अपने आसनोंसे उठकर खड़ी हो गयीं ।। १५ ।।

प्रशशंसुश्च सुप्रीता नलं ता विस्मयान्विताः ।
न चैनमभ्यभाषन्त मनोभिस्त्वभ्यपूजयन् ।। १६ ।।

अत्यन्त प्रसन्न और आश्चर्यचकित होकर उन सबने राजा नलके सौन्दर्यकी प्रशंसा की। उन्होंने उनसे वार्तालाप नहीं किया; परंतु मन-ही-मन उनका बड़ा आदर किया ।। १६ ।।

अहो रूपमहो कान्तिरहो धैर्यं महात्मनः ।
कोऽयं देवोऽथवा यक्षो गन्धर्वो वा भविष्यति ।। १७ ।।

वे सोचने लगीं—'अहो! इनका रूप अद्भुत है, कान्ति बड़ी मनोहर है तथा इन महात्माका धैर्य भी अनूठा है। न जाने ये हैं कौन? सम्भव है, देवता, यक्ष अथवा गन्धर्व हों' ।। १७ ।।

न तास्तं शक्नुवन्ति स्म व्याहर्तुमपि किंचन ।
तेजसा धर्षितास्तस्य लज्जावत्यो वराङ्गना ।। १८ ।।

नलके तेजसे प्रतिहत हुई वे लजीली सुन्दरियाँ उनसे कुछ बोल भी न सकीं ।। १८ ।।

अथैनं स्मयमानं तु स्मितपूर्वाभिभाषिणी ।
दमयन्ती नलं वीरमभ्यभाषत विस्मिता ।। १९ ।।

तब मुसकराकर बातचीत करनेवाली दमयन्तीने विस्मित होकर मुसकराते हुए वीर नलसे इस प्रकार पूछा— ।। १९ ।।

कस्त्वं सर्वानवद्याङ्ग मम हृच्छयवर्धन ।
प्राप्तोऽस्यमरवद् वीर ज्ञातुमिच्छामि तेऽनघ ।। २० ।।
कथमागमनं चेह कथं चासि न लक्षितः ।
सुरक्षितं हि मे वेश्म राजा चैवोग्रशासनः ।। २१ ।।
एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह ।

'आप कौन हैं? आपके सम्पूर्ण अंग निर्दोष एवं परम सुन्दर हैं। आप मेरे हृदयकी कामाग्निको बढ़ा रहे हैं। निष्पाप वीर! आप देवताओंके समान यहाँ आ पहुँचे हैं। मैं आपका परिचय पाना चाहती हूँ। आपका इस रनिवासमें आना कैसे सम्भव हुआ? आपको किसीने देखा कैसे नहीं? मेरा यह महल अत्यन्त सुरक्षित है और यहाँके राजाका शासन बड़ा कठोर है—वे अपराधियोंको बड़ा कठोर दण्ड देते हैं।' विदर्भराजकुमारीके ऐसा पूछनेपर नलने इस प्रकार उत्तर दिया ।। २०-२१½ ।।

नल उवाच

नलं मां विद्धि कल्याणि देवदूतमिहागतम् ।। २२ ।।
देवास्त्वां प्राप्तुमिच्छन्ति शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ।
तेषामन्यतमं देवं पतिं वरय शोभने ।। २३ ।।

नलने कहा—कल्याणि! तुम मुझे नल समझो। मैं देवताओंका दूत बनकर यहाँ आया हूँ। इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम देवता तुम्हें प्राप्त करना चाहते हैं। शोभने! तुम उनमेंसे किसी एकको अपना पति चुन लो ।। २२-२३ ।।

तेषामेव प्रभावेण प्रविष्टोऽहमलक्षितः ।
प्रविशन्तं न मां कश्चिदपश्यन्नाप्यवारयत् ।। २४ ।।

उन्हीं देवताओंके प्रभावसे मैं इस महलके भीतर आया हूँ और मुझे कोई देख न सका है। भीतर प्रवेश करते समय न तो किसीने मुझे देखा है और न रोका ही है ।। २४ ।।

एतदर्थमहं भद्रे प्रेषितः सुरसत्तमैः ।
एतच्छ्रुत्वा शुभे बुद्धिं प्रकुरुष्व यथेच्छसि ।। २५ ।।

भद्रे! इसीलिये श्रेष्ठ देवताओंने मुझे यहाँ भेजा है। शुभे! इसे सुनकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा निश्चय करो ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलस्य देवदौत्ये पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलके देवदूत बनकर दमयन्तीके पास जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५५ ।।

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

नलका दमयन्तीसे वार्तालाप करना और लौटकर देवताओंको उसका संदेश सुनाना

बृहदश्व उवाच

सा नमस्कृत्य देवेभ्यः प्रहस्य नलमब्रवीत् ।
प्रणयस्व यथाश्रद्धं राजन् किं करवाणि ते ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! दमयन्तीने अपनी श्रद्धाके अनुसार देवताओंको नमस्कार करके नलसे हँसकर कहा—'महाराज! आप ही मेरा पाणिग्रहण कीजिये और बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ।। १ ।।

अहं चैव हि यच्चान्यन्ममास्ति वसु किंचन ।
तत् सर्वं तव विश्रब्धं कुरु प्रणयमीश्वर ।। २ ।।

'नरेश्वर! मैं तथा मेरा जो कुछ दूसरा धन है, वह सब आपका है। आप पूर्ण विश्वस्त होकर मेरे साथ विवाह कीजिये ।। २ ।।

हंसानां वचनं यत् तु तन्मां दहति पार्थिव ।
त्वत्कृते हि मया वीर राजानः संनिपातिताः ।। ३ ।।

'भूपाल! हंसोंकी जो बात मैंने सुनी' वह (मेरे हृदयमें कामाग्नि प्रज्वलित करके सदा) मुझे दग्ध करती रहती है। वीर! आपहीको पानेके लिये मैंने यहाँ समस्त राजाओंका सम्मेलन कराया है ।। ३ ।।

यदि त्वं भजमानां मां प्रत्याख्यास्यसि मानद ।
विषमग्निं जलं रज्जुमास्थास्ये तव कारणात् ।। ४ ।।

'मानद! आपके चरणोंमें भक्ति रखनेवाली मुझ दासीको यदि आप स्वीकार नहीं करेंगे तो मैं आपके ही कारण विष, अग्नि, जल अथवा फाँसीको निमित्त बनाकर अपना प्राण त्याग दूँगी' ।। ४ ।।

एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह ।
तिष्ठत्सु लोकपालेषु कथं मानुषमिच्छसि ।। ५ ।।

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर राजा नलने उससे पूछा—'(तुम्हें पानेके लिये उत्सुक) लोकपालोंके होते हुए तुम एक साधारण मनुष्यको कैसे पति बनाना चाहती हो? ।। ५ ।।

येषामहं लोककृतामीश्वराणां महात्मनाम् ।
न पादरजसा तुल्यो मनस्ते तेषु वर्तताम् ।। ६ ।।

'जिन लोकस्रष्टा महामना ईश्वरोंके चरणोंकी धूलके समान भी मैं नहीं हूँ, उन्हींकी ओर तुम्हें मन लगाना चाहिये ।। ६ ।।

विप्रियं ह्याचरन् मर्त्यो देवानां मृत्युमृच्छति ।
त्राहि मामनवद्याङ्गि वरयस्व सुरोत्तमान् ।। ७ ।।

'निर्दोष अंगोंवाली सुन्दरी! देवताओंके विरुद्ध चेष्टा करनेवाला मानव मृत्युको प्राप्त हो जाता है; अतः तुम मुझे बचाओ और उन श्रेष्ठ देवताओंका ही वरण करो ।।

विरजांसि च वासांसि दिव्याश्चित्राः स्रजस्तथा ।
भूषणानि तु मुख्यानि देवान् प्राप्य तु भुङ्क्ष्व वै ।। ८ ।।

'तथा देवताओंको ही पाकर निर्मल वस्त्र, दिव्य एवं विचित्र पुष्पहार तथा मुख्य-मुख्य आभूषणोंका सुख भोगो ।। ८ ।।

य इमां पृथिवीं कृत्स्नां संक्षिप्य ग्रसते पुनः ।
हुताशमीशं देवानां का तं न वरयेत् पतिम् ।। ९ ।।

'जो इस सारी पृथ्वीको संक्षिप्त करके पुनः अपना ग्रास बना लेते हैं, उन देवेश्वर अग्निको कौन नारी अपना पति न चुनेगी? ।। ९ ।।

यस्य दण्डभयात् सर्वे भूतग्रामाः समागताः ।
धर्ममेवानुरुध्यन्ति का तं न वरयेत् पतिम् ।। १० ।।

'जिनके दण्डके भयसे संसारमें आये हुए समस्त प्राणिसमुदाय धर्मका ही पालन करते हैं, उन यमराजको कौन अपना पति नहीं वरेगी? ।। १० ।।

धर्मात्मानं महात्मानं दैत्यदानवमर्दनम् ।
महेन्द्रं सर्वदेवानां का तं न वरयेत् पतिम् ।। ११ ।।

'दैत्यों और दानवोंका मर्दन करनेवाले धर्मात्मा महामना सर्वदेवेश्वर महेन्द्रका कौन नारी पतिरूपमें वरण न करेगी? ।। ११ ।।

क्रियतामविशङ्केन मनसा यदि मन्यसे ।
वरुणं लोकपालानां सुहृद्वाक्यमिदं शृणु ।। १२ ।।

'यदि तुम ठीक समझती हो तो लोकपालोंमें प्रसिद्ध वरुणको निःशंक होकर अपना पति बनाओ। यह एक हितैषी सुहृद्का वचन है, इसे सुनो' ।। १२ ।।

नैषधेनैवमुक्ता सा दमयन्ती वचोऽब्रवीत् ।
समाप्लुताभ्यां नेत्राभ्यां शोकजेनाथ वारिणा ।। १३ ।।

तदनन्तर निषधराज नलके ऐसा कहनेपर दमयन्ती शोकाश्रुओंसे भरे हुए नेत्रोंद्वारा देखती हुई इस प्रकार बोली— ।। १३ ।।

देवेभ्योऽहं नमस्कृत्य सर्वेभ्यः पृथिवीपते ।
वृणे त्वामेव भर्तारं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। १४ ।।

'पृथ्वीपते! मैं सम्पूर्ण देवताओंको नमस्कार करके आपहीको अपना पति चुनती हूँ। यह मैंने आपसे सच्ची बात कही है' ।। १४ ।।

तामुवाच ततो राजा वेपमानां कृताञ्जलिम् ।
दौत्येनागत्य कल्याणि तथा भद्रे विधीयताम् ।। १५ ।।

ऐसा कहकर दमयन्ती दोनों हाथ जोड़े थर-थर काँपने लगी। उस अवस्थामें राजा नलने उससे कहा—'कल्याणि! मैं इस समय दूतका कार्य करनेके लिये आया हूँ; अतः भद्रे! इस समय वही करो जो मेरे स्वरूपके अनुरूप हो ।। १५ ।।

कथं ह्यहं प्रतिश्रुत्य देवतानां विशेषतः ।
परार्थे यत्नमारभ्य कथं स्वार्थमिहोत्सहे ।। १६ ।।

'मैं देवताओंके सामने प्रतिज्ञा करके विशेषतः परोपकारके लिये प्रयत्न आरम्भ करके अब यहाँ स्वार्थ-साधनके लिये कैसे उत्साहित हो सकता हूँ? ।। १६ ।।

एष धर्मो यदि स्वार्थो ममापि भविता ततः ।
एवं स्वार्थं करिष्यामि तथा भद्रे विधीयताम् ।। १७ ।।

'यदि यह धर्म सुरक्षित रहे तो उससे मेरे स्वार्थकी भी सिद्धि हो सकती है। भद्रे! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे मैं इस प्रकार धर्मयुक्त स्वार्थकी सिद्धि करूँ' ।। १७ ।।

ततो बाष्पाकुलां वाचं दमयन्ती शुचिस्मिता ।
प्रत्याहरन्ती शनकैर्नलं राजानमब्रवीत् ।। १८ ।।
उपायोऽयं मया दृष्टो निरपायो नरेश्वर ।
येन दोषो न भविता तव राजन् कथंचन ।। १९ ।।

यह सुनकर पवित्र मुसकानवाली दमयन्ती राजा नलसे धीरे-धीरे अश्रुगद्‌गदवाणीमें बोली—'नरेश्वर! मैंने उस निर्दोष उपायको ढूँढ़ निकाला है, राजन्! जिससे आपको किसी प्रकार दोष नहीं लगेगा ।। १८-१९ ।।

त्वं चैव हि नरश्रेष्ठ देवाश्चेन्द्रपुरोगमाः ।
आयान्तु सहिताः सर्वे मम यत्र स्वयंवरः ।। २० ।।

'नरश्रेष्ठ! आप और इन्द्र आदि सब देवता एक ही साथ उस रंगमण्डपमें पधारें, जहाँ मेरा स्वयंवर होनेवाला है ।। २० ।।

ततोऽहं लोकपालानां संनिधौ त्वां नरेश्वर ।
वरयिष्ये नरव्याघ्र नैवं दोषो भविष्यति ।। २१ ।।

'नरेश्वर! नरव्याघ्र! तदनन्तर मैं उन लोकपालोंके समीप ही आपका वरण कर लूँगी। ऐसा करनेसे (आपको कोई) दोष नहीं लगेगा' ।। २१ ।।

एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलो राजा विशाम्पते ।
आजगाम पुनस्तत्र यत्र देवाः समागताः ।। २२ ।।

युधिष्ठिर! विदर्भराजकुमारीके ऐसा कहनेपर राजा नल पुनः वहीं लौट आये, जहाँ देवताओंसे उनकी भेंट हुई थी ।। २२ ।।

तमपश्यंस्तथाऽऽयान्तं लोकपाला महेश्वराः ।

दृष्ट्वा चैनं ततोऽपृच्छन् वृत्तान्तं सर्वमेव तम् ।। २३ ।।

महान् शक्तिशाली लोकपालोंने इस प्रकार राजा नलको लौटते देखा और उन्हें देखकर उनसे सारा वृत्तान्त पूछा— ।। २३ ।।

कच्चिद् दृष्टा त्वया राजन् दमयन्ती शुचिस्मिता ।

किमब्रवीच्च नः सर्वान् वद भूमिप तेऽनघ ।। २४ ।।

'राजन्! क्या तुमने पवित्र मुसकानवाली दमयन्तीको देखा है? पापरहित भूपाल! हम सब लोगोंको उसने क्या संदेश दिया, बताओ' ।। २४ ।।

नल उवाच

भवद्भिरहमादिष्टो दमयन्त्या निवेशनम् ।

प्रविष्टः सुमहाकक्षं दण्डिभिः स्थविरैर्वृतम् ।। २५ ।।

नलने कहा—देवताओ! आपकी आज्ञा पाकर मैं दमयन्तीके महलमें गया। उसकी ड्योढ़ी विशाल थी और दण्डधारी बूढ़े रक्षक उसे घेरकर पहरा दे रहे थे ।। २५ ।।

प्रविशन्तं च मां तत्र न कश्चिद् दृष्टवान् नरः ।

ऋते तां पार्थिवसुतां भवतामेव तेजसा ।। २६ ।।

आपलोगोंके प्रभावसे उसमें प्रवेश करते समय मुझे वहाँ उस राजकन्या दमयन्तीके सिवा दूसरे किसी मनुष्यने नहीं देखा ।। २६ ।।

सख्यश्चास्या मया दृष्टास्ताभिश्चाप्युपलक्षितः ।

विस्मिताश्चाभवन् सर्वा दृष्ट्वा मां विबुधेश्वराः ।। २७ ।।

दमयन्तीकी सखियोंको भी मैंने देखा और उन सखियोंने भी मुझे देखा। देवेश्वरो! वे सब मुझे देखकर आश्चर्यचकित हो गयीं ।। २७ ।।

वर्ण्यमानेषु च मया भवत्सु रुचिरानना ।

मामेव गतसंकल्पा वृणीते सा सुरोत्तमाः ।। २८ ।।

श्रेष्ठ देवताओ! जब मैं आपलोगोंके प्रभावका वर्णन करने लगा, उस समय सुमुखी दमयन्तीने मुझमें ही अपना मानसिक संकल्प रखकर मेरा ही वरण किया ।। २८ ।।

अब्रवीच्चैव मां बाला आयान्तु सहिताः सुराः ।

त्वया सह नरव्याघ्र मम यत्र स्वयंवरः ।। २९ ।।

उस बालाने मुझसे यह भी कहा कि 'नरव्याघ्र! सब देवता आपके साथ उस स्थानपर पधारें, जहाँ मेरा स्वयंवर होनेवाला है ।। २९ ।।

तेषामहं संनिधौ त्वां वरयिष्यामि नैषध ।

एवं तव महाबाहो दोषो न भवितेति ह ।। ३० ।।

‘निषधराज! मैं उन देवताओंके समीप ही आपका वरण कर लूँगी। महाबाहो! ऐसा होनेपर आपको दोष नहीं लगेगा’ ।। ३० ।।

एतावदेव विबुधा यथावृत्तमुपाहृतम् ।
मयाऽशेषे प्रमाणं तु भवन्तस्त्रिदशेश्वराः ।। ३१ ।।

देवताओ! दमयन्तीके महलका इतना ही वृत्तान्त है, जिसे मैंने ठीक-ठीक निवेदन कर दिया। देवेश्वरगण! अब इस सम्पूर्ण विषयमें आप सब देवतालोग ही प्रमाण हैं, अर्थात् आप ही साक्षी हैं ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकर्तृकदेवदौत्ये षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकर्तृक देवदौत्यविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५६ ।।

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

स्वयंवरमें दमयन्तीद्वारा नलका वरण, देवताओंका नलको वर देना, देवताओं और राजाओंका प्रस्थान, नल-दमयन्तीका विवाह एवं नलका यज्ञानुष्ठान और संतानोत्पादन

बृहदश्व उवाच

अथ काले शुभे प्राप्ते तिथौ पुण्ये क्षणे तथा ।
आजुहाव महीपालान् भीमो राजा स्वयंवरे ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! तदनन्तर शुभ समय, उत्तम तिथि तथा पुण्यदायक अवसर आनेपर राजा भीमने समस्त भूपालोंको स्वयंवरके लिये बुलाया ।। १ ।।

तच्छ्रुत्वा पृथिवीपालाः सर्वे हृच्छयपीडिताः ।
त्वरिताः समुपाजग्मुर्दमयन्तीमभीप्सवः ।। २ ।।

यह सुनकर सब भूपाल कामपीड़ित हो दमयन्तीको पानेकी इच्छासे तुरंत चल दिये ।। २ ।।

कनकस्तम्भरुचिरं तोरणेन विराजितम् ।
विविशुस्ते नृपा रङ्गं महासिंहा इवाचलम् ।। ३ ।।

रंगमण्डप सोनेके खम्भोंसे सुशोभित था। तोरणसे उसकी शोभा और बढ़ गयी थी। जैसे बड़े-बड़े सिंह पर्वतकी गुफामें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार उन नरेशोंने रंगमण्डपमें प्रवेश किया ।। ३ ।।

नलकी पहचानके लिये दमयन्तीकी लोकपालोंसे प्रार्थना

तत्रासनेषु विविधेष्वासीनाः पृथिवीक्षितः ।

सुरभिस्रग्धराः सर्वे प्रमृष्टमणिकुण्डलाः ।। ४ ।।

वहाँ सब भूपाल भिन्न-भिन्न आसनोंपर बैठ गये। सबने सुगन्धित फूलोंकी माला धारण कर रखी थी और सबके कानोंमें विशुद्ध मणिमय कुण्डल झिलमिला रहे थे ।। ४ ।।

तां राजसमितिं पुण्यां नागैर्भोगवतीमिव ।
सम्पूर्णां पुरुषव्याघ्रैर्व्याघ्रैर्गिरिगुहामिव ।। ५ ।।

व्याघ्रोंसे भरी हुई पर्वतकी गुफा तथा नागोंसे सुशोभित भोगवती पुरीकी भाँति वह पुण्यमयी राजसभा नरश्रेष्ठ भूपालोंसे भरी दिखायी देती थी ।। ५ ।।

तत्र स्म पीना दृश्यन्ते बाहवः परिघोपमाः ।
आकारवर्णसुश्लक्ष्णाः पञ्चशीर्षा इवोरगाः ।। ६ ।।

वहाँ भूमिपालोंकी (पाँच अँगुलियोंसे युक्त) परिघ-जैसी मोटी भुजाएँ आकार-प्रकार और रंगमें अत्यन्त सुन्दर तथा पाँच मस्तकवाले सर्पके समान दिखायी देती थीं ।। ६ ।।

सुकेशान्तानि चारूणि सुनासाक्षिभ्रुवाणि च ।
मुखानि राज्ञां शोभन्ते नक्षत्राणि यथा दिवि ।। ७ ।।

जैसे आकाशमें तारे प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार सुन्दर केशान्तभागसे विभूषित एवं रुचिर नासिका, नेत्र और भौंहोंसे युक्त राजाओंके मनोहर मुख सुशोभित हो रहे थे ।। ७ ।।

दमयन्ती ततो रङ्गं प्रविवेश शुभानना ।
मुष्णन्ती प्रभया राज्ञां चक्षूंषि च मनांसि च ।। ८ ।।

तदनन्तर अपनी प्रभासे राजाओंके नयनोंको लुभाती और चित्तको चुराती हुई सुन्दर मुखवाली दमयन्तीने रंगभूमिमें प्रवेश किया ।। ८ ।।

तस्या गात्रेषु पतिता तेषां दृष्टिर्महात्मनाम् ।
तत्र तत्रैव सक्ताऽभून्न चचाल च पश्यताम् ।। ९ ।।

वहाँ आते ही दमयन्तीके अंगोंपर उन महामना नरेशोंकी दृष्टि पड़ी। उसे देखनेवाले राजाओंमेंसे जिसकी दृष्टि दमयन्तीके जिस अंगपर पड़ी, वहीं लग गयी, वहाँसे हट न सकी ।। ९ ।।

ततः संकीर्त्यमानेषु राज्ञां नामसु भारत ।
ददर्श भैमी पुरुषान् पञ्चतुल्याकृतीनिह ।। १० ।।

भारत! तत्पश्चात् राजाओंके नाम, रूप, यश और पराक्रम आदिका परिचय दिया जाने लगा। भीमकुमारी दमयन्तीने आगे बढ़कर देखा, यहाँ तो एक जगह पाँच पुरुष एक ही आकृतिके बैठे हुए हैं ।। १० ।।

तान् समीक्ष्य ततः सर्वान् निर्विशेषाकृतीन् स्थितान् ।
संदेहादथ वैदर्भी नाभ्यजानान्नलं नृपम् ।। ११ ।।

उन सबके रूप-रंग आदिमें कोई अन्तर नहीं था। वे पाँचों नलके ही समान दिखायी देते थे। उन्हें एक जगह स्थित देखकर संदेह उत्पन्न हो जानेसे विदर्भराजकुमारी वास्तविक

राजा नलको पहचान न सकी ।। ११ ।।

यं यं हि ददृशे तेषां तं तं मेने नलं नृपम् ।
सा चिन्तयन्ती बुद्ध्याथ तर्कयामास भाविनी ।। १२ ।।

वह उनमेंसे जिस-जिस व्यक्तिपर दृष्टि डालती, उसी-उसीको राजा नल समझने लगती थी। वह भाविनी राजकन्या बुद्धिसे सोच-विचारकर मन-ही-मन तर्क करने लगी ।। १२ ।।

कथं हि देवाञ्जानीयां कथं विद्यां नलं नृपम् ।
एवं संचिन्तयन्ती सा वैदर्भी भृशदु:खिता ।। १३ ।।

अहो! मैं कैसे देवताओंको जानूँ और किस प्रकार राजा नलको पहिचानूँ।' इस चिन्तामें पड़कर विदर्भराजकुमारी दमयन्तीको बड़ा दुःख हुआ ।। १३ ।।

श्रुतानि देवलिङ्गानि तर्कयामास भारत ।
देवानां यानि लिङ्गानि स्थविरेभ्यः श्रुतानि मे ।। १४ ।।
तानीह तिष्ठतां भूमावेकस्यापि न लक्षये ।
सा विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः ।। १५ ।।
शरणं प्रति देवानां प्राप्तकालममन्यत ।

भारत! उसने अपने सुने हुए देवचिह्नोंपर भी विचार किया। वह मन-ही-मन कहने लगी 'मैंने बड़े-बूढ़े पुरुषोंसे देवताओंकी पहचान करानेवाले जो लक्षण या चिह्न सुन रखे हैं, उन्हें यहाँ भूमिपर बैठे हुए इन पाँच पुरुषोंमेंसे किसी एकमें भी नहीं देख पाती हूँ।' उसने अनेक प्रकारसे निश्चय और बार-बार विचार करके देवताओंकी शरणमें जाना ही समयोचित कर्तव्य समझा ।। १४-१५½ ।।

वाचा च मनसा चैव नमस्कारं प्रयुज्य सा ।। १६ ।।
देवेभ्यः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानेदमब्रवीत् ।
हंसानां वचनं श्रुत्वा यथा मे नैषधो वृतः ।
पतित्वे तेन सत्येन देवास्तं प्रदिशन्तु मे ।। १७ ।।

तत्पश्चात् मन एवं वाणीद्वारा देवताओंको नमस्कार करके दोनों हाथ जोड़कर काँपती हुई वह इस प्रकार बोली—'मैंने हंसोंकी बात सुनकर निषधनरेश नलका पतिरूपमें वरण कर लिया है। इस सत्यके प्रभावसे देवतालोग स्वयं ही मुझे राजा नलकी पहचान करा दें ।।

मनसा वचसा चैव यथा नाभिचराम्यहम् ।
तेन सत्येन विबुधास्तमेव प्रदिशन्तु मे ।। १८ ।।

'यदि मैं मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा कभी सदाचारसे च्युत नहीं हुई हूँ तो उस सत्यके प्रभावसे देवतालोग मुझे राजा नलकी ही प्राप्ति करावें ।। १८ ।।

यथा देवैः स मे भर्ता विहितो निषधाधिपः ।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ।। १९ ।।

‘यदि देवताओंने उन निषधनरेश नलको ही मेरा पति निश्चित किया हो तो उस सत्यके प्रभावसे देवता-लोग मुझे उन्हींको बतला दें ।। १९ ।।

यथेदं व्रतमारब्धं नलस्याराधने मया ।
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ।। २० ।।

‘यदि मैंने नलकी आराधनाके लिये ही यह व्रत आरम्भ किया हो तो उस सत्यके प्रभावसे देवता मुझे उन्हींको बतला दें ।। २० ।।

स्वं चैव रूपं कुर्वन्तु लोकपाला महेश्वराः ।
यथाहमभिजानीयां पुण्यश्लोकं नराधिपम् ।। २१ ।।

‘महेश्वर लोकपालगण अपना रूप प्रकट कर दें, जिससे मैं पुण्यश्लोक महाराज नलको पहचान सकूँ’ ।। २१ ।।

निशम्य दमयन्त्यास्तत् करुणं प्रतिदेवितम् ।
निश्चयं परमं तथ्यमनुरागं च नैषधे ।। २२ ।।
मनोविशुद्धिं बुद्धिं च भक्तिं रागं च नैषधे ।
यथोक्तं चक्रिरे देवाः सामर्थ्यं लिङ्गधारणे ।। २३ ।।

दमयन्तीका वह करुण विलाप सुनकर तथा उसके अन्तिम निश्चय, नलविषयक वास्तविक अनुराग, विशुद्ध हृदय, उत्तम बुद्धि तथा नलके प्रति भक्ति एवं प्रेम देखकर देवताओंने दमयन्तीके भीतर वह यथार्थ शक्ति उत्पन्न कर दी, जिससे उसे देवसूचक लक्षणोंका निश्चय हो सके ।। २२-२३ ।।

सापश्यद् विबुधान् सर्वानस्वेदान् स्तब्धलोचनान् ।
हृषितस्रग्रजोहीनान् स्थितानस्पृशतः क्षितिम् ।। २४ ।।

अब दमयन्तीने देखा—सम्पूर्ण देवता स्वेदरहित हैं—उनके किसी अंगमें पसीनेकी बूँद नहीं दिखायी देती, उनकी आँखोंकी पलकें नहीं गिरती हैं। उन्होंने जो पुष्पमालाएँ पहन रखी हैं, वे नूतन विकाससे युक्त हैं—कुम्हलाती नहीं हैं। उनपर धूल-कण नहीं पड़ रहे हैं। वे सिंहासनोंपर बैठे हैं, किंतु अपने पैरोंसे पृथ्वीतलका स्पर्श नहीं करते हैं और उनकी परछाईं नहीं पड़ती है ।। २४ ।।

छायाद्वितीयो म्लानस्रग्रजःस्वेदसमन्वितः ।
भूमिष्ठो नैषधश्चैव निमेषेण च सूचितः ।। २५ ।।

उन पाँचोंमें एक पुरुष ऐसे हैं, जिनकी परछाईं पड़ रही है। उनके गलेकी पुष्पमाला कुम्हला गयी है। उनके अंगोंमें धूल-कण और पसीनेकी बूँदें भी दिखायी पड़ती हैं। वे पृथ्वीका स्पर्श किये बैठे हैं और उनके नेत्रोंकी पलकें गिरती हैं। इन लक्षणोंसे दमयन्तीने निषधराज नलको पहचान लिया ।। २५ ।।

सा समीक्ष्य तु तान् देवान् पुण्यश्लोकं च भारत ।
नैषधं वरयामास भैमी धर्मेण पाण्डव ।। २६ ।।

भरतकुलभूषण पाण्डुनन्दन! राजकुमारी दमयन्तीने उन देवताओं तथा पुण्यश्लोक नलकी ओर पुनः दृष्टिपात करके धर्मके अनुसार निषधराज नलका ही वरण किया ।। २६ ।।

विलज्जमाना वस्त्रान्तं जग्राहायतलोचना ।
स्कन्ध देशेऽसृजत् तस्य स्रजं परमशोभनाम् ।। २७ ।।
वरयामास चैवैनं पतित्वे वरवर्णिनी ।

विशाल नेत्रोंवाली दमयन्तीने लजाते-लजाते नलके वस्त्रका छोर पकड़ लिया और उनके गलेमें परम सुन्दर फूलोंका हार डाल दिया। इस प्रकार वरवर्णिनी दमयन्तीने राजा नलका पतिरूपमें वरण कर लिया ।। २७½ ।।

ततो हाहेति सहसा मुक्तः शब्दो नराधिपैः ।। २८ ।।

फिर तो दूसरे राजाओंके मुखसे सहसा 'हाहाकार'-का शब्द निकल पड़ा ।। २८ ।।

देवैर्महर्षिभिस्तत्र साधु साध्विति भारत ।
विस्मितैरीरितः शब्दः प्रशंसद्भिर्नलं नृपम् ।। २९ ।।

भारत! देवता और महर्षि वहाँ साधुवाद देने लगे। सबने विस्मित होकर राजा नलकी प्रशंसा करते हुए इनके सौभाग्यको सराहा ।। २९ ।।

दमयन्तीं तु कौरव्य वीरसेनसुतो नृपः ।
आश्वासयद् वरारोहां प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।। ३० ।।

कुरुनन्दन! वीरसेनकुमार नलने उल्लसित हृदयसे सुन्दरी दमयन्तीको आश्वासन देते हुए कहा— ।। ३० ।।

यत् त्वं भजसि कल्याणि पुमांसं देवसंनिधौ ।
तस्मान्मां विद्धि भर्तारमेवं ते वचने रतम् ।। ३१ ।।

'कल्याणी! तुम देवताओंके समीप जो मुझ-जैसे पुरुषका वरण कर रही हो, इस अलौकिक अनुरागके कारण अपने इस पतिको तुम सदा अपनी प्रत्येक आज्ञाके पालनमें तत्पर समझो ।। ३१ ।।

यावच्च मे धरिष्यन्ति प्राणा देहे शुचिस्मिते ।
तावत् त्वयि भविष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। ३२ ।।

'पवित्र मुसकानवाली देवि! मेरे इस शरीरमें जबतक प्राण रहेंगे, तबतक तुममें मेरा अनन्य अनुराग बना रहेगा, यह मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ' ।। ३२ ।।

दमयन्ती तथा वाग्भिरभिनन्द्य कृताञ्जलिः ।
तौ परस्परतः प्रीतौ दृष्ट्वा त्वग्निपुरोगमान् ।। ३३ ।।
तानेव शरणं देवाञ्जग्मतुर्मनसा तदा ।

इसी प्रकार दमयन्तीने भी हाथ जोड़कर विनीत वचनोंद्वारा महाराज नलका अभिनन्दन किया। वे दोनों एक-दूसरेको पाकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सामने अग्नि आदि देवताओंको देखकर मन-ही-मन उनकी ही शरण ली ।। ३३½ ।।

वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः ।। ३४ ।।
प्रहृष्टमनसः सर्वे नलायाष्टौ वरान् ददुः ।

दमयन्तीने जब नलका वरण कर लिया, तब उन सब महातेजस्वी लोकपालोंने प्रसन्नचित्त होकर नलको आठ वरदान दिये ।। ३४½ ।।

प्रत्यक्षदर्शनं यज्ञे गतिं चानुत्तमां शुभाम् ।। ३५ ।।
नैषधाय ददौ शक्रः प्रीयमाणः शचीपतिः ।

शचीपति इन्द्रने प्रसन्न होकर निषधराज नलको यह वर दिया कि 'मैं यज्ञमें तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन दूँगा और अन्तमें सर्वोत्तम शुभ गति प्रदान करूँगा' ।। ३५½ ।।

अग्निरात्मभवं प्रादाद् यत्र वाञ्छति नैषधः ।। ३६ ।।

लोकानात्मप्रभांश्चैव ददौ तस्मै हुताशनः ।

हविष्यभोक्ता अग्निदेवने नलको अपने ही समान तेजस्वी लोक प्रदान किये और यह भी कहा कि 'राजा नल जहाँ चाहेंगे, वहीं मैं प्रकट हो जाऊँगा' ।। ३६½ ।।

यमस्त्वन्नरसं प्रादाद् धर्मे च परमां स्थितिम् ।। ३७ ।।

यमराजने यह कहा कि 'राजा नलकी बनायी हुई रसोईमें उत्तमोत्तम रस एवं स्वाद उपलब्ध होगा और धर्ममें इनकी दृढ़ निष्ठा बनी रहेगी' ।। ३७ ।।

अपां पतिरपां भावं यत्र वाञ्छति नैषधः ।

स्रजश्चोत्तमगन्धाढ्याः सर्वे च मिथुनं ददुः ।। ३८ ।।

जलके स्वामी वरुणने नलकी इच्छाके अनुसार जल प्रकट होनेका वर दिया और यह भी कहा कि 'तुम्हारी पुष्पमालाएँ सदा उत्तम गन्धसे सम्पन्न होंगी।' इस प्रकार सब देवताओंने दो-दो वर दिये ।। ३८ ।।

वरानेवं प्रदायास्य देवास्ते त्रिदिवं गताः ।

पार्थिवाश्चानुभूयास्य विवाहं विस्मयान्विताः ।। ३९ ।।

दमयन्त्याश्च मुदिताः प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।

इस प्रकार राजा नलको वरदान देकर वे देवता-लोग स्वर्गलोकको चले गये। स्वयंवरमें आये हुए राजा भी विस्मयविमुग्ध हो नल और दमयन्तीके विवाहोत्सवका-सा अनुभव करते हुए प्रसन्नतापूर्वक जैसे आये थे, वैसे लौट गये ।। ३९½ ।।

गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु भीमः प्रीतो महामनाः ।। ४० ।।
विवाहं कारयामास दमयन्त्या नलस्य च ।

सब नरेशोंके विदा हो जानेपर महामना भीमने बड़ी प्रसन्नताके साथ नल-दमयन्तीका शास्त्रविधिके अनुसार विवाह कराया ।। ४०½ ।।

उष्य तत्र यथाकामं नैषधो द्विपदां वरः ।। ४१ ।।
भीमेन समनुज्ञातो जगाम नगरं स्वकम् ।

मनुष्योंमें श्रेष्ठ निषधनरेश नल अपनी इच्छाके अनुसार कुछ दिनोंतक ससुरालमें रहे, फिर विदर्भनरेश भीमकी आज्ञा ले (दमयन्तीसहित) अपनी राजधानीको चले गये ।। ४१½ ।।

अवाप्य नारीरत्नं तु पुण्यश्लोकोऽपि पार्थिवः ।। ४२ ।।
रेमे सह तया राजञ्छच्येव बलवृत्रहा ।

राजन्! पुण्यश्लोक महाराज नलने भी उस रमणीरत्नको पाकर उसके साथ उसी प्रकार विहार किया, जैसे शचीके साथ इन्द्र करते हैं ।। ४२½ ।।

अतीव मुदितो राजा भ्राजमानोंऽशुमानिव ।। ४३ ।।
अरञ्जयत् प्रजा वीरो धर्मेण परिपालयन् ।

राजा नल सूर्यके समान प्रकाशित होते थे। वीरवर नल अत्यन्त प्रसन्न रहकर अपनी प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते हुए उसे प्रसन्न रखते थे ।। ४३½ ।।

ईजे चाप्यश्वमेधेन ययातिरिव नाहुषः ।। ४४ ।।
अन्यैश्च बहुभिर्धीमान् क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।

उन बुद्धिमान् नरेशने नहुषनन्दन ययातिकी भाँति अश्वमेध तथा पर्याप्त दक्षिणावाले दूसरे बहुत-से यज्ञोंका भी अनुष्ठान किया ।। ४४½ ।।

पुनश्च रमणीयेषु वनेषूपवनेषु च ।। ४५ ।।
दमयन्त्या सह नलो विजहारामरोपमः ।

तदनन्तर देवतुल्य राजा नलने दमयन्तीके साथ रमणीय वनों और उपवनोंमें विहार किया ।। ४५½ ।।

जनयामास च ततो दमयन्त्यां महामनाः ।
इन्द्रसेनं सुतं चापि इन्द्रसेनां च कन्यकाम् ।। ४६ ।।

महामना नलने दमयन्तीके गर्भसे इन्द्रसेन नामक एक पुत्र और इन्द्रसेना नामवाली एक कन्याको जन्म दिया ।। ४६ ।।

एवं स यजमानश्च विहरंश्च नराधिपः ।
ररक्ष वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिपः ।। ४७ ।।

इस प्रकार यज्ञोंका अनुष्ठान तथा सुखपूर्वक विहार करते हुए महाराज नलने धन-धान्यसे सम्पन्न वसुन्धराका पालन किया ।। ४७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीस्वयंवरे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत दमयन्ती-स्वयंवरविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५७ ।।

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

देवताओंके द्वारा नलके गुणोंका गान और उनके निषेध करनेपर भी नलके विरुद्ध कलियुगका कोप

बृहदश्व उवाच

वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः ।
यान्तो ददृशुरायान्तं द्वापरं कलिना सह ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! भीमकुमारी दमयन्तीद्वारा निषधनरेश नलका वरण हो जानेपर जब महातेजस्वी लोकपालगण स्वर्गलोकको जा रहे थे, उस समय मार्गमें उन्होंने देखा कि कलियुगके साथ द्वापर आ रहा है ।। १ ।।

अथाब्रवीत् कलिं शक्रः सम्प्रेक्ष्य बलवृत्रहा ।
द्वापरेण सहायेन कले ब्रूहि क्व यास्यसि ।। २ ।।

कलियुगको देखकर बल और वृत्रासुरका नाश करनेवाले इन्द्रने पूछा—'कले! बताओ तो सही द्वापरके साथ कहाँ जा रहे हो?' ।। २ ।।

ततोऽब्रवीत् कलिः शक्रं दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।
गत्वा हि वरयिष्ये तां मनो हि मम तां गतम् ।। ३ ।।

तब कलिने इन्द्रसे कहा—'देवराज! मैं दमयन्तीके स्वयंवरमें जाकर उसका वरण करूँगा; क्योंकि मेरा मन उसके प्रति आसक्त हो गया है' ।। ३ ।।

तमब्रवीत् प्रहस्येन्द्रो निर्वृत्तः स स्वयंवरः ।
वृतस्तया नलो राजा पतिरस्मत्समीपतः ।। ४ ।।

तब इन्द्रने हँसकर कहा—'वह स्वयंवर तो हो गया। हमारे समीप ही दमयन्तीने राजा नलको अपना पति चुन लिया ।। ४ ।।

एवमुक्तस्तु शक्रेण कलिः कोपसमन्वितः ।
देवानामन्त्र्य तान् सर्वानुवाचेदं वचस्तदा ।। ५ ।।

इन्द्रके ऐसा कहनेपर कलियुगको क्रोध चढ़ आया और उसी समय उसने उन सब देवताओंको सम्बोधित करके यह बात कही— ।। ५ ।।

देवानां मानुषं मध्ये यत् सा पतिमविन्दत ।
ततस्तस्या भवेन्न्याय्यं विपुलं दण्डधारणम् ।। ६ ।।

'दमयन्तीने देवताओंके बीचमें मनुष्यका पतिरूपमें वरण किया है। अतः उसे बड़ा भारी दण्ड देना उचित प्रतीत होता है' ।। ६ ।।

एवमुक्ते तु कलिना प्रत्यूचुस्ते दिवौकसः ।

अस्माभिः समनुज्ञाते दमयन्त्या नलो वृतः ।। ७ ।।

कलियुगके ऐसा कहनेपर देवताओंने उत्तर दिया—'दमयन्तीने हमारी आज्ञा लेकर नलका वरण किया है ।।

का च सर्वगुणोपेतं नाश्रयेत नलं नृपम् ।
यो वेद धर्मानखिलान् यथावच्चरितव्रतः ।। ८ ।।
योऽधीते चतुरो वेदान् सर्वानाख्यानपञ्चमान् ।
नित्यं तृप्ता गृहे यस्य देवा यज्ञेषु धर्मतः ।
अहिंसानिरतो यश्च सत्यवादी दृढव्रतः ।। ९ ।।
यस्मिन् दाक्ष्यं धृतिर्ज्ञानं तपः शौचं दमः शमः ।
ध्रुवाणि पुरुषव्याघ्रे लोकपालसमे नृपे ।। १० ।।
एवंरूपं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले ।
आत्मानं स शपेन्मूढो हन्यादात्मानमात्मना ।। ११ ।।

'राजा नल सर्वगुणसम्पन्न हैं। कौन स्त्री उनका वरण नहीं करेगी? जिन्होंने भलीभाँति ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करके चारों वेदों तथा पंचम वेद समस्त इतिहास-पुराणका भी अध्ययन किया है, जो सब धर्मोंको जानते हैं, जिनके घरपर पंचयज्ञोंमें धर्मके अनुसार सम्पूर्ण देवता नित्य तृप्त होते हैं, जो अहिंसा-परायण, सत्यवादी तथा दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले हैं, जिन नरश्रेष्ठ लोकपाल-सदृश तेजस्वी नलमें दक्षता, धैर्य, ज्ञान, तप, शौच, शम और दम आदि गुण नित्य निवास करते हैं। कले! ऐसे राजा नलको जो मूढ़ शाप देनेकी इच्छा रखता है, वह मानो अपनेको ही शाप देता है। अपने द्वारा अपना ही विनाश करता है ।। ८—११ ।।

एवंगुणं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले ।
कृच्छ्रे स नरके मज्जेदगाधे विपुले ह्रदे ।
एवमुक्त्वा कलिं देवा द्वापरं च दिवं ययुः ।। १२ ।।

'ऐसे सद्गुणसम्पन्न महाराज नलको जो शाप देनेकी कामना करेगा, वह कष्टसे भरे हुए अगाध एवं विशाल नरककुण्डमें निमग्न होगा।' कलियुग और द्वापरसे ऐसा कहकर देवतालोग स्वर्गमें चले गये ।। १२ ।।

ततो गतेषु देवेषु कलिर्द्वापरमब्रवीत् ।
संहर्तुं नोत्सहे कोपं नले वत्स्यामि द्वापर ।। १३ ।।
भ्रंशयिष्यामि तं राज्यान्न भैम्या सह रंस्यते ।
त्वमप्यक्षान् समाविश्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि ।। १४ ।।

तदनन्तर देवताओंके चले जानेपर कलियुगने द्वापरसे कहा—'द्वापर! मैं अपने क्रोधका उपसंहार नहीं कर सकता। नलके भीतर निवास करूँगा और उन्हें राज्यसे वंचित

कर दूँगा। जिससे वे दमयन्तीसे रमण नहीं कर सकेंगे। तुम्हें भी जूएके पासोंमें प्रवेश करके मेरी सहायता करनी चाहिये' ।। १३-१४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कलिदेवसंवादे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें कलि-देवता-संवादविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५८ ।।

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

नलमें कलियुगका प्रवेश एवं नल और पुष्करकी द्यूतक्रीडा, प्रजा और दमयन्तीके निवारण करनेपर भी राजाका द्यूतसे निवृत्त नहीं होना

बृहदश्व उवाच

एवं स समयं कृत्वा द्वापरेण कलिः सह ।
आजगाम ततस्तत्र यत्र राजा स नैषधः ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! इस प्रकार द्वापरके साथ संकेत करके कलियुग उस स्थानपर आया, जहाँ निषधराज नल रहते थे ।। १ ।।

स नित्यमन्तरप्रेप्सुर्निषधेष्ववसच्चिरम् ।
अथास्य द्वादशे वर्षे ददर्श कलिरन्तरम् ।। २ ।।

वह प्रतिदिन राजा नलका छिद्र देखता हुआ निषधदेशमें दीर्घकालतक टिका रहा। बारह वर्षोंके बाद एक दिन कलिको एक छिद्र दिखायी दिया ।। २ ।।

कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य संध्यामन्वास्त नैषधः ।
अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत् ।। ३ ।।

राजा नल उस दिन लघुशंका करके आये और हाथ-मुँह धोकर आचमन करनेके पश्चात् संध्योपासना करने बैठ गये; पैरोंको नहीं धोया। यह छिद्र देखकर कलियुग उनके भीतर प्रविष्ट हो गया ।। ३ ।।

स समाविश्य च नलं समीपं पुष्करस्य च ।
गत्वा पुष्करमाहेदमेहि दीव्य नलेन वै ।। ४ ।।

नलमें आविष्ट होकर कलियुगने दूसरा रूप धारण करके पुष्करके पास जाकर कहा—'चलो, राजा नलके साथ जूआ खेलो ।। ४ ।।

अक्षद्यूते नलं जेता भवान् हि सहितो मया ।
निषधान् प्रतिपद्यस्व जित्वा राज्यं नलं नृपम् ।। ५ ।।

मेरे साथ रहकर तुम जूएमें अवश्य राजा नलको जीत लोगे। इस प्रकार महाराज नलको उनके राज्यसहित जीतकर निषधदेशको अपने अधिकारमें कर लो' ।। ५ ।।

एवमुक्तस्तु कलिना पुष्करो नलमभ्ययात् ।
कलिश्चैव वृषो भूत्वा गवां पुष्करमभ्ययात् ।। ६ ।।

कलिके ऐसा कहनेपर पुष्कर राजा नलके पास गया। कलि भी साँड़ बनकर पुष्करके साथ हो लिया ।। ६ ।।

आसाद्य तु नलं वीरं पुष्करः परवीरहा ।
दीव्यावेत्यब्रवीद् भ्राता वृषेणेति मुहुर्मुहुः ।। ७ ।।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पुष्करने वीरवर नलके पास जाकर उनसे बार-बार कहा—'हम दोनों धर्मपूर्वक जूआ खेलें।' पुष्कर राजा नलका भाई लगता था ।। ७ ।।

न चक्षमे ततो राजा समाह्वानं महामनाः ।
वैदर्भ्याः प्रेक्षमाणायाः पणकालममन्यत ।। ८ ।।

महामना राजा नल द्यूतके लिये पुष्करके आह्वानको न सह सके। विदर्भराजकुमारी दमयन्तीके देखते-देखते उसी क्षण जूआ खेलनेका उपयुक्त अवसर समझ लिया ।। ८ ।।

हिरण्यस्य सुवर्णस्य यानयुग्यस्य वाससाम् ।
आविष्टः कलिना द्यूते जीयते स्म नलस्तदा ।। ९ ।।
तमक्षमदसम्मत्तं सुहृदां न तु कश्चन ।
निवारणेऽभवच्छक्तो दीव्यमानमरिंदमम् ।। १० ।।

तब कलियुगसे आविष्ट होकर राजा नल हिरण्य, सुवर्ण, रथ आदि वाहन और बहुमूल्य वस्त्र दाँवपर लगाते तथा हार जाते थे। सुहृदोंमें कोई भी ऐसा नहीं था, जो द्यूतक्रीडाके मदसे उन्मत्त शत्रुदमन नलको उस समय जूआ खेलनेसे रोक सके ।। ९-१० ।।

ततः पौरजनाः सर्वे मन्त्रिभिः सह भारत ।
राजानं द्रष्टुमागच्छन् निवारयितुमातुरम् ।। ११ ।।

भारत! तदनन्तर समस्त पुरवासी मनुष्य मन्त्रियोंके साथ राजासे मिलने तथा उन आतुर नरेशको द्यूतक्रीडासे रोकनेके लिये वहाँ आये ।। ११ ।।

ततः सूत उपागम्य दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
एष पौरजनो देवि द्वारि तिष्ठति कार्यवान् ।। १२ ।।

इसी समय सारथिने महलमें जाकर महारानी दमयन्तीसे निवेदन किया—'देवि! ये पुरवासीलोग कार्यवश राजद्वारपर खड़े हैं ।। १२ ।।

निवेद्यतां नैषधाय सर्वाः प्रकृतयः स्थिताः ।
अमृष्यमाणा व्यसनं राज्ञो धर्मार्थदर्शिनः ।। १३ ।।

'आप निषधराजसे निवेदन कर दें। धर्म-अर्थका तत्त्व जाननेवाले महाराजके भावी संकटको सहन न कर सकनेके कारण मन्त्रियोंसहित सारी प्रजा द्वारपर खड़ी है' ।। १३ ।।

ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्शिता ।
उवाच नैषधं भैमी शोकोपहतचेतना ।। १४ ।।

यह सुनकर दुःखसे दुर्बल हुई दमयन्तीने शोकसे अचेत-सी होकर आँसू बहाते हुए गद्‌गदवाणीमें निषध-नरेशसे कहा— ।। १४ ।।

राजन् पौरजनो द्वारि त्वां दिदृक्षुरवस्थितः ।
मन्त्रिभिः सहितः सर्वै राजभक्तिपुरस्कृतः ।। १५ ।।
तं द्रष्टुमर्हसीत्येवं पुनः पुनरभाषत ।
तं तथा रुचिरापाङ्गीं विलपन्तीं तथाविधाम् ।। १६ ।।
आविष्टः कलिना राजा नाभ्यभाषत किंचन ।
ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे ते चैव पुरवासिनः ।। १७ ।।
नायमस्तीति दुःखार्ता व्रीडिता जग्मुरालयान् ।
तथा तदभवद् द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च ।
युधिष्ठिर बहून् मासान् पुण्यश्लोकस्त्वजीयत ।। १८ ।।

'महाराज! पुरवासी प्रजा राजभक्तिपूर्वक आपसे मिलनेके लिये समस्त मन्त्रियोंके साथ द्वारपर खड़ी है। आप उन्हें दर्शन दें।' दमयन्तीने इन वाक्योंको बार-बार दुहराया। मनोहर नयनप्रान्तवाली विदर्भ-कुमारी इस प्रकार विलाप करती रह गयी, परंतु कलियुगसे आविष्ट हुए राजाने उससे कोई बाततक न की। तब वे सब मन्त्री और पुरवासी दुःखसे आतुर और लज्जित हो यह कहते हुए अपने-अपने घर चले गये कि 'यह राजा नल अब राज्यपर अधिक समयतक रहनेवाला नहीं है।' युधिष्ठिर! पुष्कर और नलकी वह द्यूतक्रीडा

कई महीनोंतक चलती रही। पुण्यश्लोक महाराज नल उसमें हारते ही जा रहे थे ।। १५—१८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलद्यूते एकोनषष्टितमोऽध्यायः ।। ५९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलद्यूतविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५९ ।।

षष्टितमोऽध्यायः

दुःखित दमयन्तीका वार्ष्णेयके द्वारा कुमार-कुमारीको कुण्डिनपुर भेजना

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती ततो दृष्ट्वा पुण्यश्लोकं नराधिपम् ।
उन्मत्तवदनुन्मत्ता देवने गतचेतसम् ।। १ ।।
भयशोकसमाविष्टा राजन् भीमसुता ततः ।
चिन्तयामास तत् कार्यं सुमहत् पार्थिवं प्रति ।। २ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! तदनन्तर दमयन्तीने देखा कि पुण्यश्लोक महाराज नल उन्मत्तकी भाँति द्यूतक्रीडामें आसक्त हैं। वह स्वयं सावधान थी। उनकी वैसी अवस्था देख भीमकुमारी भय और शोकसे व्याकुल हो गयी और महाराजके हितके लिये किसी महत्त्वपूर्ण कार्यका चिन्तन करने लगी ।। १-२ ।।

सा शङ्कमाना तत् पापं चिकीर्षन्ती च तत्प्रियम् ।
नलं च हृतसर्वस्वमुपलभ्येदमब्रवीत् ।। ३ ।।

उसके मनमें यह आशंका हो गयी कि राजापर बहुत बड़ा कष्ट आनेवाला है। वह उनका प्रिय एवं हित करना चाहती थी। अतः महाराजके सर्वस्वका अपहरण होता जान धायको बुलाकर (इस प्रकार बोली) ।। ३ ।।

बृहत्सेनामतियशां तां धात्रीं परिचारिकाम् ।
हितां सर्वार्थकुशलामनुरक्तां सुभाषिताम् ।। ४ ।।

उसकी धायका नाम बृहत्सेना था। वह अत्यन्त यशस्विनी और परिचर्याके कार्यमें निपुण थी। समस्त कार्योंके साधनमें कुशल, हितैषिणी, अनुरागिणी और मधुरभाषिणी थी ।। ४ ।।

बृहत्सेने व्रजामात्यानानाय्य नलशासनात् ।
आचक्ष्व यद्धृतं द्रव्यमवशिष्टं च यद् वसु ।। ५ ।।

(दमयन्तीने उससे कहा)—‘बृहत्सेने! तुम मन्त्रियोंके पास जाओ तथा राजा नलकी आज्ञासे उन्हें बुला लाओ। फिर उन्हें यह बताओ कि अमुक-अमुक द्रव्य हारा जा चुका है और अमुक धन अभी अवशिष्ट है’ ।। ५ ।।

ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे विज्ञाय नलशासनम् ।
अपि नो भागधेयं स्यादित्युक्त्वा नलमाव्रजन् ।। ६ ।।

तब वे सब मन्त्री राजा नलका आदेश जानकर 'हमारा अहोभाग्य है', ऐसा कहते हुए नलके पास आये ।।

तास्तु सर्वाः प्रकृतयो द्वितीयं समुपस्थिताः ।
न्यवेदयद् भीमसुता न च तत् प्रत्यनन्दत ।। ७ ।।

वे सारी (मन्त्री आदि) प्रकृतियाँ दूसरी बार राजद्वारपर उपस्थित हुईं। दमयन्तीने इसकी सूचना महाराज नलको दी, परन्तु उन्होंने इस बातका अभिनन्दन नहीं किया ।। ७ ।।

वाक्यमप्रतिनन्दन्तं भर्तारमभिवीक्ष्य सा ।
दमयन्ती पुनर्वेश्म व्रीडिता प्रविवेश ह ।। ८ ।।
निशम्य सततं चाक्षान् पुण्यश्लोकपराङ्मुखान् ।
नलं च हृतसर्वस्वं धात्रीं पुनरुवाच ह ।। ९ ।।
बृहत्सेने पुनर्गच्छ वार्ष्णेयं नलशासनात् ।
सूतमानय कल्याणि महत् कार्यमुपस्थितम् ।। १० ।।

पतिको अपनी बातका प्रसन्नतापूर्वक उत्तर देते न देख दमयन्ती लज्जित हो पुनः महलके भीतर चली गयी। वहाँ फिर उसने सुना कि सारे पासे लगातार पुण्यश्लोक राजा नलके विपरीत पड़ रहे हैं और उनका सर्वस्व अपहृत हो रहा है। तब उसने पुनः धायसे कहा—'बृहत्सेने! फिर राजा नलकी आज्ञासे जाओ और वार्ष्णेय सूतको बुला लाओ। कल्याणि! एक बहुत बड़ा कार्य उपस्थित हुआ है' ।। ८—१० ।।

बृहत्सेना तु सा श्रुत्वा दमयन्त्याः प्रभाषितम् ।
वार्ष्णेयमानयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ।। ११ ।।
वार्ष्णेयं तु ततो भैमी सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा ।
उवाच देशकालज्ञा प्राप्तकालमनिन्दिता ।। १२ ।।

बृहत्सेनाने दमयन्तीकी बात सुनकर विश्वसनीय पुरुषोंद्वारा वार्ष्णेयको बुलाया। तब अनिन्द्य स्वभाववाली और देश-कालको जाननेवाली भीमकुमारी दमयन्तीने वार्ष्णेयको मधुर वाणीमें सान्त्वना देते हुए यह समयोचित बात कही— ।। ११-१२ ।।

जानीषे त्वं यथा राजा सम्यग् वृत्तः सदा त्वयि ।
तस्य त्वं विषमस्थस्य साहाय्यं कर्तुमर्हसि ।। १३ ।।

'सूत! तुम जानते हो कि महाराज तुम्हारे प्रति कैसा अच्छा बर्ताव करते थे। आज वे विषम संकटमें पड़ गये हैं, अतः तुम्हें भी उनकी सहायता करनी चाहिये ।। १३ ।।

यथा यथा हि नृपतिः पुष्करेणैव जीयते ।
तथा तथास्य वै द्यूते रागो भूयोऽभिवर्धते ।। १४ ।।

'राजा जैसे-जैसे पुष्करसे पराजित हो रहे हैं, वैसे-ही-वैसे जूएमें उनकी आसक्ति बढ़ती जा रही है ।।

यथा च पुष्करस्याक्षाः पतन्ति वशवर्तिनः ।
तथा विपर्ययश्चापि नलस्याक्षेषु दृश्यते ।। १५ ।।

'जैसे पुष्करके पासे उसकी इच्छाके अनुसार पड़ रहे हैं, वैसे ही नलके पासे विपरीत पड़ते देखे जा रहे हैं ।। १५ ।।

सुहृत्स्वजनवाक्यानि यथावन्न शृणोति च ।
ममापि च तथा वाक्यं नाभिनन्दति मोहितः ।। १६ ।।
नूनं मन्ये न दोषोऽस्ति नैषधस्य महात्मनः ।
यत् तु मे वचनं राजा नाभिनन्दति मोहितः ।। १७ ।।

'वे सुहृदों और स्वजनोंके वचन अच्छी तरह नहीं सुनते हैं। जूएने उन्हें ऐसा मोहित कर रखा है कि इस समय वे मेरी बातका भी आदर नहीं कर रहे हैं। मैं इसमें महामना नैषधका निश्चय ही कोई दोष नहीं मानती। जूएसे मोहित होनेके कारण ही राजा मेरी बातका अभिनन्दन नहीं कर रहे हैं ।। १६-१७ ।।

शरणं त्वां प्रपन्नास्मि सारथे कुरु मद्वचः ।
न हि मे शुध्यते भावः कदाचित् विनशेदपि ।। १८ ।।

'सारथे! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ, मेरी बात मानो। मेरे मनमें अशुभ विचार आते हैं, इससे अनुमान होता है कि राजा नलका राज्यसे च्युत होना सम्भव है ।। १८ ।।

नलस्य दयितानश्वान् योजयित्वा मनोजवान् ।
इदमारोप्य मिथुनं कुण्डिनं यातुमर्हसि ।। १९ ।।

'तुम महाराजके प्रिय, मनके समान वेगशाली अश्वोंको रथमें जोतकर उसपर इन दोनों बच्चोंको बिठा लो और कुण्डिनपुरको चले जाओ' ।। १९ ।।

मम ज्ञातिषु निक्षिप्य दारकौ स्यन्दनं तथा ।
अश्वांश्चेमान् यथाकामं वस वान्यत्र गच्छ वा ।। २० ।।

'वहाँ इन दोनों बालकोंको, इस रथको और इन घोड़ोंको भी मेरे भाई-बन्धुओंकी देख-रेखमें सौंपकर तुम्हारी इच्छा हो तो वहीं रह जाना या अन्यत्र कहीं चले जाना' ।। २० ।।

दमयन्त्यास्तु तद् वाक्यं वार्ष्णेयो नलसारथिः ।
न्यवेदयदशेषेण नलामात्येषु मुख्यशः ।। २१ ।।

दमयन्तीकी यह बात सुनकर नलके सारथि वार्ष्णेयने नलके मुख्य-मुख्य मन्त्रियोंसे यह सारा वृत्तान्त निवेदित किया ।। २१ ।।

तैः समेत्य विनिश्चित्य सोऽनुज्ञातो महीपते ।
ययौ मिथुनमारोप्य विदर्भांस्तेन वाहिना ।। २२ ।।

राजन्! उनसे मिलकर इस विषयपर भलीभाँति विचार करके उन मन्त्रियोंकी आज्ञा ले सारथि वार्ष्णेयने दोनों बालकोंको रथपर बैठाकर विदर्भ देशको प्रस्थान किया ।। २२ ।।

हयांस्तत्र विनिक्षिप्य सूतो रथवरं च तम् ।

इन्द्रसेनां च तां कन्यामिन्द्रसेनं च बालकम् ।। २३ ।।
आमन्त्र्य भीमं राजानमार्तः शोचन् नलं नृपम् ।
अटमानस्ततोऽयोध्यां जगाम नगरीं तदा ।। २४ ।।

वहाँ पहुँचकर उसने घोड़ोंको, उस श्रेष्ठ रथ-को तथा उस बालिका इन्द्रसेनाको एवं राजकुमार इन्द्रसेनको वहीं रख दिया तथा राजा भीमसे विदा ले आर्तभावसे राजा नलकी दुर्दशाके लिये शोक करता हुआ घूमता-घामता अयोध्या नगरीमें चला गया ।। २३-२४ ।।

ऋतुपर्णं स राजानमुपतस्थे सुदुःखितः ।
भृतिं चोपययौ तस्य सारथ्येन महीपते ।। २५ ।।

युधिष्ठिर! वह अत्यन्त दुःखी हो राजा ऋतुपर्णकी सेवामें उपस्थित हुआ और उनका सारथि बनकर जीविका चलाने लगा ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कुण्डिनं प्रति कुमारयोः प्रस्थापने षष्टितमोऽध्यायः ।। ६० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकी कन्या और पुत्रको कुण्डिनपुर भेजनेसे सम्बन्ध रखनेवाला साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६० ।।

एकषष्टितमोऽध्यायः

नलका जूएमें हारकर दमयन्तीके साथ वनको जाना और पक्षियोंद्वारा आपद्ग्रस्त नलके वस्त्रका अपहरण

बृहदश्व उवाच

ततस्तु याते वार्ष्णेये पुण्यश्लोकस्य दीव्यतः ।
पुष्करेण हृतं राज्यं यच्चान्यद् वसु किंचन ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर वार्ष्णेयके चले जानेपर जूआ खेलनेवाले पुण्यश्लोक महाराज नलके सारे राज्य और जो कुछ धन था, उन सबका जूएमें पुष्करने अपहरण कर लिया ।। १ ।।

हृतराज्यं नलं राजन् प्रहसन् पुष्करोऽब्रवीत् ।
द्यूतं प्रवर्ततां भूयः प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव ।। २ ।।

राजन्! राज्य हार जानेपर नलसे पुष्करने हँसते हुए कहा कि ‘क्या फिर जूआ आरम्भ हो? अब तुम्हारे पास दाँवपर लगानेके लिये क्या है?’ ।। २ ।।

शिष्टा ते दमयन्त्येका सर्वमन्यज्जितं मया ।
दमयन्त्याः पणः साधु वर्ततां यदि मन्यसे ।। ३ ।।

‘तुम्हारे पास केवल दमयन्ती शेष रह गयी है और सब वस्तुएँ तो मैंने जीत ली हैं, यदि तुम्हारी राय हो तो दमयन्तीको दाँवपर रखकर एक बार फिर जूआ खेला जाय’ ।। ३ ।।

पुष्करेणैवमुक्तस्य पुण्यश्लोकस्य मन्युना ।
व्यदीर्यतेव हृदयं न चैनं किंचिदब्रवीत् ।। ४ ।।

पुष्करके ऐसा कहनेपर पुण्यश्लोक महाराज नलका हृदय शोकसे विदीर्ण-सा हो गया, परंतु उन्होंने उससे कुछ कहा नहीं ।। ४ ।।

ततः पुष्करमालोक्य नलः परममन्युमान् ।
उत्सृज्य सर्वगात्रेभ्यो भूषणानि महायशाः ।। ५ ।।
एकवासा ह्यसंवीतः सुहृच्छोकविवर्धनः ।
निश्चक्राम ततो राजा त्यक्त्वा सुविपुलां श्रियम् ।। ६ ।।

तदनन्तर महायशस्वी नलने अत्यन्त दुःखित हो पुष्करकी ओर देखकर अपने सब अंगोंके आभूषण उतार दिये और केवल एक अधोवस्त्र धारण करके चादर ओढ़े बिना ही अपनी विशाल सम्पत्तिको त्यागकर सुहृदोंका शोक बढ़ाते हुए वे राजभवनसे निकल पड़े ।। ५-६ ।।

दमयन्त्येकवस्त्राथ गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वगात् ।

स तया बाह्यतः सार्धं त्रिरात्रं नैषधोऽवसत् ।। ७ ।।

दमयन्तीके शरीरपर भी एक ही वस्त्र था। वह जाते हुए राजा नलके पीछे हो ली। वे उसके साथ नगरसे बाहर तीन राततक टिके रहे ।। ७ ।।

पुष्करस्तु महाराज घोषयामास वै पुरे ।
नले यः सम्यगातिष्ठेत् स गच्छेद् वध्यतां मम ।। ८ ।।

महाराज! पुष्करने उस नगरमें यह घोषणा करा दी—डुग्गी पिटवा दी कि 'जो नलके साथ अच्छा बर्ताव करेगा, वह मेरा वध्य होगा' ।। ८ ।।

पुष्करस्य तु वाक्येन तस्य विद्वेषणेन च ।
पौरा न तस्य सत्कारं कृतवन्तो युधिष्ठिर ।। ९ ।।

युधिष्ठिर! पुष्करके उस वचनसे और नलके प्रति पुष्करका द्वेष होनेसे पुरवासियोंने राजा नलका कोई सत्कार नहीं किया ।। ९ ।।

स तथा नगराभ्याशे सत्कारार्हो न सत्कृतः ।
त्रिरात्रमुषितो राजा जलमात्रेण वर्तयन् ।। १० ।।

इस प्रकार राजा नल अपने नगरके समीप तीन राततक केवल जलमात्रका आहार करके टिके रहे। वे सर्वथा सत्कारके योग्य थे तो भी उनका सत्कार नहीं किया गया ।। १० ।।

पीड्यमानः क्षुधा तत्र फलमूलानि कर्षयन् ।
प्रातिष्ठत ततो राजा दमयन्ती तमन्वगात् ।। ११ ।।

वहाँ भूखसे पीड़ित हो फल-मूल आदि जुटाते हुए राजा नल वहाँसे अन्यत्र चले गये। केवल दमयन्ती उनके पीछे-पीछे गयी ।। ११ ।।

क्षुधया पीड्यमानस्तु नलो बहुतिथेऽहनि ।
अपश्यच्छकुनान् कांश्चिद्धिरण्यसदृशच्छदान् ।। १२ ।।

इसी प्रकार नल बहुत दिनोंतक क्षुधासे पीड़ित रहे। एक दिन उन्होंने कुछ ऐसे पक्षी देखे, जिनकी पाँखें सोनेकी-सी थीं ।। १२ ।।

स चिन्तयामास तदा निषधाधिपतिर्बली ।
अस्ति भक्ष्यो ममाद्यायं वसु चेदं भविष्यति ।। १३ ।।

उन्हें देखकर (क्षुधातुर और आपत्तिग्रस्त होनेके कारण) बलवान् निषधनरेशके मनमें यह बात आयी कि 'यह पक्षियोंका समुदाय ही आज मेरा भक्ष्य हो सकता है और इनकी ये पाँखें मेरे लिये धन हो जायँगी' ।। १३ ।।

ततस्तान् परिधानेन वाससा स समावृणोत् ।
तस्य तद् वस्त्रमादाय सर्वे जग्मुर्विहायसा ।। १४ ।।

तदनन्तर उन्होंने अपने अधोवस्त्रसे उन पक्षियोंको ढँक दिया। किंतु वे सब पक्षी उनका वह वस्त्र लेकर आकाशमें उड़ गये ।। १४ ।।

उत्पतन्तः खगा वाक्यमेतदाहुस्ततो नलम् ।
दृष्ट्वा दिग्वाससं भूमौ स्थितं दीनमधोमुखम् ।। १५ ।।

उड़ते हुए उन पक्षियोंने राजा नलको दीनभावसे नीचे मुँह किये धरतीपर नग्न खड़ा देख उनसे कहा— ।।

वयमक्षाः सुदुर्बुद्धे तव वासो जिहीर्षवः ।
आगता न हि नः प्रीतिः सवाससि गते त्वयि ।। १६ ।।

'ओ खोटी बुद्धिवाले नरेश! हम (पक्षी नहीं,) पासे हैं और तुम्हारा वस्त्र अपहरण करनेकी इच्छासे ही यहाँ आये थे। तुम वस्त्र पहने हुए ही वहाँसे चले आये थे, इससे हमें प्रसन्नता नहीं हुई थी' ।। १६ ।।

तान् समीपगतानक्षानात्मानं च विवाससम् ।
पुण्यश्लोकस्तदा राजन् दमयन्तीमथाब्रवीत् ।। १७ ।।

येषां प्रकोपादैश्वर्यात् प्रच्युतोऽहमनिन्दिते ।
प्राणयात्रां न विन्देयं दुःखितः क्षुधयान्वितः ।। १८ ।।
येषां कृते न सत्कारमकुर्वन् मयि नैषधाः ।
इमे ते शकुना भूत्वा वासो भीरु हरन्ति मे ।। १९ ।।

राजन्! उन पासोंको नजदीकसे जाते देख और अपने-आपको नग्नावस्थामें पाकर पुण्यश्लोक नलने उस समय दमयन्तीसे कहा—'सती साध्वी रानी! जिनके क्रोधसे मेरा ऐश्वर्य छिन गया, मैं क्षुधापीड़ित एवं दुःखित होकर जीवन-निर्वाहके लिये अन्नतक नहीं पा रहा हूँ और जिनके कारण निषधदेशकी प्रजाने मेरा सत्कार नहीं किया, भीरु! वे ही ये पासे हैं, जो पक्षी होकर मेरा वस्त्र लिये जा रहे हैं ।। १७—१९ ।।

वैषम्यं परमं प्राप्तो दुःखितो गतचेतनः ।
भर्ता तेऽहं निबोधेदं वचनं हितमात्मनः ।। २० ।।

'मैं बड़ी विषम परिस्थितिमें पड़ गया हूँ। दुःखके मारे मेरी चेतना लुप्त-सी हो रही है। मैं तुम्हारा पति हूँ, अतः तुम्हारे हितकी बात बता रहा हूँ, इसे सुनो— ।। २० ।।

एते गच्छन्ति बहवः पन्थानो दक्षिणापथम् ।
अवन्तीमृक्षवन्तं च समतिक्रम्य पर्वतम् ।। २१ ।।

'ये बहुत-से मार्ग हैं, जो दक्षिण दिशाकी ओर जाते हैं। यह मार्ग ऋक्षवान् पर्वतको लाँघकर अवन्ती-देशको जाता है ।। २१ ।।

एष विन्ध्यो महाशैलः पयोष्णी च समुद्रगा ।
आश्रमाश्च महर्षीणां बहुमूलफलान्विताः ।। २२ ।।
एष पन्था विदर्भाणामसौ गच्छति कोसलान् ।
अतः परं च देशोऽयं दक्षिणे दक्षिणापथः ।। २३ ।।

'यह महान् पर्वत विन्ध्य दिखायी दे रहा है और यह समुद्रगामिनी पयोष्णी नदी है। यहाँ महर्षियोंके बहुत-से आश्रम हैं, जहाँ प्रचुर मात्रामें फल-मूल उपलब्ध हो सकते हैं। यह विदर्भदेशका मार्ग है और वह कोसलदेशको जाता है। दक्षिण दिशामें इसके बादका देश दक्षिणापथ कहलाता है' ।। २२-२३ ।।

एतद् वाक्यं नलो राजा दमयन्तीं समाहितः ।
उवाचासकृदार्तो हि भैमीमुद्दिश्य भारत ।। २४ ।।

भारत! राजा नलने एकाग्रचित्त होकर बड़ी आतुरताके साथ दमयन्तीसे उपर्युक्त बातें बार-बार कहीं ।। २४ ।।

ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्शिता ।
उवाच दमयन्ती तं नैषधं करुणं वचः ।। २५ ।।

तब दमयन्ती अत्यन्त दुःखसे दुर्बल हो नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई गद्गद वाणीमें राजा नलसे यह करुण वचन बोली— ।। २५ ।।

उद्वेजते मे हृदयं सीदन्त्यङ्गानि सर्वशः ।
तव पार्थिव संकल्पं चिन्तयन्त्याः पुनः पुनः ।। २६ ।।
हृतराज्यं हृतद्रव्यं विवस्त्रं क्षुच्छ्रमान्वितम् ।
कथमुत्सृज्य गच्छेयमहं त्वां निर्जने वने ।। २७ ।।

'महाराज! आपका मानसिक संकल्प क्या है, इसपर जब मैं बार-बार विचार करती हूँ, तब मेरा हृदय उद्विग्न हो उठता है और सारे अंग शिथिल हो उठते हैं। आपका राज्य छिन गया। धन नष्ट हो गया। आपके शरीरपर वस्त्रतक नहीं रह गया तथा आप भूख और परिश्रमसे कष्ट पा रहे हैं। ऐसी अवस्थामें इस निर्जन वनमें आपको असहाय छोड़कर मैं कैसे जा सकती हूँ? ।।

श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य चिन्तयानस्य तत् सुखम् ।
वने घोरे महाराज नाशयिष्याम्यहं क्लमम् ।। २८ ।।

'महाराज! जब आप भयंकर वनमें थके-माँदे भूखसे पीड़ित हो अपने पूर्व सुखका चिन्तन करते हुए अत्यन्त दुःखी होने लगेंगे, उस समय मैं सान्त्वनाद्वारा आपके संतापका निवारण करूँगी ।। २८ ।।

न च भार्यासमं किंचिद् विद्यते भिषजां मतम् ।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। २९ ।।

'चिकित्सकोंका मत है कि समस्त दुःखोंकी शान्तिके लिये पत्नीके समान दूसरी कोई औषध नहीं है; यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ' ।। २९ ।।

नल उवाच

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं दमयन्ति सुमध्यमे ।
नास्ति भार्यासमं मित्रं नरस्यार्तस्य भेषजम् ।। ३० ।।

नलने कहा—सुमध्यमा दमयन्ती! तुम जैसा कहती हो वह ठीक है। दुःखी मनुष्यके लिये पत्नीके समान दूसरा कोई मित्र या औषध नहीं है ।। ३० ।।

न चाहं त्यक्तुकामस्त्वां किमलं भीरु शङ्कसे ।
त्यजेयमहमात्मानं न चैव त्वामनिन्दिते ।। ३१ ।।

भीरु! मैं तुम्हें त्यागना नहीं चाहता, तुम इतनी अधिक शंका क्यों करती हो? अनिन्दिते! मैं अपने शरीरका त्याग कर सकता हूँ, पर तुम्हें नहीं छोड़ सकता ।। ३१ ।।

दमयन्त्युवाच

यदि मां त्वं महाराज न विहातुमिहेच्छसि ।
तत् किमर्थं विदर्भाणां पन्थाः समुपदिश्यते ।। ३२ ।।

दमयन्तीने कहा—महाराज! यदि आप मुझे त्यागना नहीं चाहते तो विदर्भदेशका मार्ग क्यों बता रहे हैं? ।। ३२ ।।

अवैमि चाहं नृपते न तु मां त्यक्तुमर्हसि ।
चेतसा त्वपकृष्टेन मां त्यजेथा महीपते ।। ३३ ।।

राजन्! मैं जानती हूँ कि आप स्वयं मुझे नहीं त्याग सकते, परंतु महीपते! इस घोर आपत्तिने आपके चित्तको आकर्षित कर लिया है, इस कारण आप मेरा त्याग भी कर सकते हैं ।। ३३ ।।

पन्थानं हि ममाभीक्ष्णमाख्यासि च नरोत्तम ।
अतो निमित्तं शोकं मे वर्धयस्यमरोपम ।। ३४ ।।

नरश्रेष्ठ! आप बार-बार जो मुझे विदर्भदेशका मार्ग बता रहे हैं। देवोपम आर्यपुत्र! इसके कारण आप मेरा शोक ही बढ़ा रहे हैं ।। ३४ ।।

यदि चायमभिप्रायस्तव ज्ञातीन् व्रजेदिति ।
सहितावेव गच्छावो विदर्भान् यदि मन्यसे ।। ३५ ।।

यदि आपका यह अभिप्राय हो कि दमयन्ती अपने बन्धु-बान्धवोंके यहाँ चली जाय तो आपकी सम्मति हो तो हम दोनों साथ ही विदर्भदेशको चलें ।। ३५ ।।

विदर्भराजस्तत्र त्वां पूजयिष्यति मानद ।
तेन त्वं पूजितो राजन् सुखं वत्स्यसि नो गृहे ।। ३६ ।।

मानद! वहाँ विदर्भनरेश आपका पूरा आदर-सत्कार करेंगे। राजन्! उनसे पूजित होकर आप हमारे घरमें सुखपूर्वक निवास कीजियेगा ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलवनयात्रायामेकषष्टितमोऽध्यायः ।। ६१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकी वनयात्राविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६१ ।।

द्विषष्टितमोऽध्यायः

राजा नलकी चिन्ता और दमयन्तीको अकेली सोती छोड़कर उनका अन्यत्र प्रस्थान

नल उवाच

यथा राज्यं तव पितुस्तथा मम न संशयः ।
न तु तत्र गमिष्यामि विषमस्थः कथंचन ।। १ ।।

नलने कहा—प्रिये! इसमें संदेह नहीं कि विदर्भराज्य जैसे तुम्हारे पिताका है, वैसे मेरा भी है, तथापि आपत्तिमें पड़ा हुआ मैं किसी तरह वहाँ नहीं जाऊँगा ।। १ ।।

कथं समृद्धो गत्वाहं तव हर्षविवर्धनः ।
परिच्युतो गमिष्यामि तव शोकविवर्धनः ।। २ ।।

एक दिन मैं भी समृद्धिशाली राजा था। उस अवस्थामें वहाँ जाकर मैंने तुम्हारे हर्षको बढ़ाया था और आज उस राज्यसे वंचित होकर केवल तुम्हारे शोककी वृद्धि कर रहा हूँ, ऐसी दशामें वहाँ कैसे जाऊँगा? ।। २ ।।

बृहदश्व उवाच

इति ब्रुवन् नलो राजा दमयन्तीं पुनः पुनः ।
सान्त्वयामास कल्याणीं वाससोऽर्धेन संवृताम् ।। ३ ।।
तावेकवस्त्रसंवीतावटमानावितस्ततः ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ सभां कांचिदुपेयतुः ।। ४ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! आधे वस्त्रसे ढकी हुई कल्याणमयी दमयन्तीसे बार-बार ऐसा कहकर राजा नलने उसे सान्त्वना दी; क्योंकि वे दोनों एक ही वस्त्रसे अपने अंगोंको ढककर इधर-उधर घूम रहे थे। भूख और प्याससे थके-माँदे वे दोनों दम्पति किसी सभाभवन (धर्मशाला)-में जा पहुँचे ।। ३-४ ।।

तां सभामुपसम्प्राप्य तदा स निषधाधिपः ।
वैदर्भ्या सहितो राजा निषसाद महीतले ।। ५ ।।

तब उस धर्मशालामें पहुँचकर निषधनरेश राजा नल वैदर्भीके साथ भूतलपर बैठे ।। ५ ।।

स वै विवस्त्रो विकटो मलिनः पांसुगुण्ठितः ।
दमयन्त्या सह श्रान्तः सुष्वाप धरणीतले ।। ६ ।।

वे वस्त्रहीन, चटाई आदिसे रहित, मलिन एवं धूलि-धूसरित हो रहे थे। दमयन्तीके साथ थककर भूमिपर ही सो गये ।। ६ ।।

दमयन्त्यपि कल्याणी निद्रयापहृता ततः ।
सहसा दुःखमासाद्य सुकुमारी तपस्विनी ।। ७ ।।

सुकुमारी तपस्विनी कल्याणमयी दमयन्ती भी सहसा दुःखमें पड़ गयी थी। वहाँ आनेपर उसे भी निद्राने घेर लिया ।। ७ ।।

सुप्तायां दमयन्त्यां तु नलो राजा विशाम्पते ।
शोकोन्मथितचित्तात्मा न स्म शेते तथा पुरा ।। ८ ।।

राजन्! राजा नलका चित्त शोकसे मथा जा रहा था। वे दमयन्तीके सो जानेपर भी स्वयं पहलेकी भाँति सो न सके ।। ८ ।।

स तद् राज्यापहरणं सुहृत्त्यागं च सर्वशः ।
वने च तं परिध्वंसं प्रेक्ष्य चिन्तामुपेयिवान् ।। ९ ।।

राज्यका अपहरण, सुहृदोंका त्याग और वनमें प्राप्त होनेवाले नाना प्रकारके क्लेशपर विचार करते हुए वे चिन्ताको प्राप्त हो गये ।। ९ ।।

किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः ।
किं नु मे मरणं श्रेयः परित्यागो जनस्य वा ।। १० ।।

वे सोचने लगे 'ऐसा करनेसे मेरा क्या होगा और यह कार्य न करनेसे भी क्या होगा। मेरा मर जाना अच्छा है कि अपनी आत्मीया दमयन्तीको त्याग देना ।। १० ।।

मामियं ह्यनुरक्तैवं दुःखमाप्नोति मत्कृते ।
मद्विहीना त्वियं गच्छेत् कदाचित् स्वजनं प्रति ।। ११ ।।

'यह मुझसे इस प्रकार अनुरक्त होकर मेरे ही लिये दुःख उठा रही है। यदि मुझसे अलग हो जाय तो यह कदाचित् अपने स्वजनोंके पास जा सकती है ।। ११ ।।

मयि निःसंशयं दुःखमियं प्राप्स्यत्यनुव्रता ।
उत्सर्गे संशयः स्यात् तु विन्देतापि सुखं क्वचित् ।। १२ ।।

'मेरे पास रहकर तो यह पतिव्रता नारी निश्चय ही केवल दुःख भोगेगी। यद्यपि इसे त्याग देनेपर एक संशय बना रहेगा तो भी यह सम्भव है कि इसे कभी सुख मिल जाय' ।। १२ ।।

स विनिश्चित्य बहुधा विचार्य च पुनः पुनः ।
उत्सर्गं मन्यते श्रेयो दमयन्त्या नराधिप ।। १३ ।।

राजन्! नल अनेक प्रकारसे बार-बार विचार करके एक निश्चयपर पहुँच गये और दमयन्तीका परित्याग कर देनेमें ही उसकी भलाई मानने लगे ।। १३ ।।

न चैषा तेजसा शक्या कैश्चिद् धर्षयितुं पथि ।
यशस्विनी महाभागा मद्भक्तेयं पतिव्रता ।। १४ ।।

'यह महाभागा यशस्विनी दमयन्ती मेरी भक्त और पतिव्रता है। पातिव्रत-तेजके कारण मार्गमें कोई इसका सतीत्व नष्ट नहीं कर सकता' ।। १४ ।।

एवं तस्य तदा बुद्धिर्दमयन्त्यां न्यवर्तत ।
कलिना दुष्टभावेन दमयन्त्या विसर्जने ।। १५ ।।

ऐसा सोचकर उनकी बुद्धि दमयन्तीको अपने साथ रखनेके विचारसे निवृत्त हो गयी। बल्कि दुष्ट स्वभाववाले कलियुगसे प्रभावित होनेके कारण दमयन्तीको त्याग देनेमें ही उनकी बुद्धि प्रवृत्त हुई ।। १५ ।।

सोऽवस्त्रतामात्मनश्च तस्याश्चाप्येकवस्त्रताम् ।
चिन्तयित्वाध्यगाद् राजा वस्त्रार्धस्यावकर्तनम् ।। १६ ।।

तदनन्तर राजाने अपनी वस्त्रहीनता और दमयन्तीकी एकवस्त्रताका विचार करके उसके आधे वस्त्रको फाड़ लेना ही उचित समझा ।। १६ ।।

कथं वासो विकर्तेयं न च बुध्येत मे प्रिया ।
विचिन्त्यैवं नलो राजा सभां पर्यचरत्तदा ।। १७ ।।

फिर यह सोचकर कि 'मैं कैसे वस्त्रको काटूँ, जिससे मेरी प्रियाकी नींद न टूटे।' राजा नल धर्मशालामें (नंगे ही) इधर-उधर घूमने लगे ।। १७ ।।

परिधावन्नथ नल इतश्चेतश्च भारत ।
आससाद सभोद्देशे विकोशं खड्गमुत्तमम् ।। १८ ।।

भारत! इधर-उधर दौड़-धूप करनेपर राजा नलको उस सभाभवनमें एक अच्छी-सी नंगी तलवार मिल गयी ।। १८ ।।

तेनार्धं वाससश्छित्त्वा निवस्य च परंतपः ।
सुप्तामुत्सृज्य वैदर्भीं प्राद्रवद् गतचेतनाम् ।। १९ ।।

उसीसे दमयन्तीका आधा वस्त्र काटकर परंतप नलने उसके द्वारा अपना शरीर ढँक लिया और अचेत सोती हुई विदर्भराजकुमारी दमयन्तीको वहीं छोड़कर वे शीघ्रतासे चले गये ।। १९ ।।

ततो निवृत्तहृदयः पुनरागम्य तां सभाम् ।
दमयन्तीं तदा दृष्ट्वा रुरोद निषधाधिपः ।। २० ।।

कुछ दूर जानेपर उनके हृदयका विचार पलट गया और वे पुनः उसी सभाभवनमें लौट आये। वहाँ उस समय दमयन्तीको देखकर निषधनरेश नल फूट-फूटकर रोने लगे ।। २० ।।

यां न वायुर्न चादित्यः पुरा पश्यति मे प्रियाम् ।
सेयमद्य सभामध्ये शेते भूमावनाथवत् ।। २१ ।।

(वे विलाप करते हुए कहने लगे—) 'पहले जिस मेरी प्रियतमा दमयन्तीको वायु तथा सूर्य देवता भी नहीं देख पाते थे, वही आज इस धर्मशालामें भूमिपर अनाथकी भाँति सो रही है ।। २१ ।।

इयं वस्त्रावकर्तेन संवीता चारुहासिनी ।
उन्मत्तेव वरारोहा कथं बुद्ध्वा भविष्यति ।। २२ ।।

'यह मनोहर हास्यवाली सुन्दरी वस्त्रके आधे टुकड़ेसे लिपटी हुई सो रही है। जब इसकी नींद खुलेगी, तब पगली-सी होकर न जाने यह कैसी दशाको पहुँच जायगी ।। २२ ।।

कथमेका सती भैमी मया विरहिता शुभा ।
चरिष्यति वने घोरे मृगव्यालनिषेविते ।। २३ ।।

'यह भयंकर वन हिंसक पशुओं और सर्पोंसे भरा है। मुझसे बिछुड़कर शुभलक्षणा सती दमयन्ती अकेली इस वनमें कैसे विचरण करेगी? ।। २३ ।।

आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ समरुद्गणौ ।
रक्षन्तु त्वां महाभागे धर्मेणासि समावृता ।। २४ ।।

'महाभागे! तुम धर्मसे आवृत हो, आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार और मरुद्गण—ये सब देवता तुम्हारी रक्षा करें' ।। २४ ।।

एवमुक्त्वा प्रियां भार्यां रूपेणाप्रतिमां भुवि ।
कलिनापहृतज्ञानो नलः प्रातिष्ठदुद्यतः ।। २५ ।।

इस भूतलपर रूप-सौन्दर्यमें जिसकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं थी, उसी अपनी प्यारी पत्नी दमयन्तीके प्रति इस प्रकार कहकर राजा नल वहाँसे उठे और चल दिये। उस समय कलिने इनकी विवेकशक्ति हर ली थी ।। २५ ।।

गत्वा गत्वा नलो राजा पुनरेति सभां मुहुः ।

आकृष्यमाणः कलिना सौहृदेनावकृष्यते ।। २६ ।।

राजा नलको एक ओर कलियुग खींच रहा था और दूसरी ओर दमयन्तीका सौहार्द। अतः वे बार-बार जाकर फिर उस धर्मशालामें ही लौट आते थे ।। २६ ।।

द्विधेव हृदयं तस्य दुःखितस्याभवत् तदा ।
दोलेव मुहुरायाति याति चैव सभां प्रति ।। २७ ।।

उस समय दुःखी राजा नलका हृदय मानो दुविधामें पड़ गया था। जैसे झूला बार-बार नीचे-ऊपर आता-जाता रहता है, उसी प्रकार उनका हृदय कभी बाहर जाता, कभी सभाभवनमें लौट आता था ।। २७ ।।

अवकृष्टस्तु कलिना मोहितः प्राद्रवन्नलः ।
सुप्तामुत्सृज्य तां भार्यां विलप्य करुणं बहु ।। २८ ।।

अन्तमें कलियुगने प्रबल आकर्षण किया, जिससे मोहित होकर राजा नल बहुत देरतक करुण विलाप करके अपनी सोती हुई पत्नीको छोड़कर शीघ्रतासे चले गये ।। २८ ।।

नष्टात्मा कलिना स्पृष्टस्तत् तद् विगणयन् नृपः ।
जगामैकां वने शून्ये भार्यामुत्सृज्य दुःखितः ।। २९ ।।

कलियुगके स्पर्शसे उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी थी; अतः वे अत्यन्त दुःखी हो विभिन्न बातोंका विचार करते हुए उस सूने वनमें अपनी पत्नीको अकेली छोड़कर चल दिये ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीपरित्यागे द्विषष्टितमोऽध्यायः ।। ६२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीपरित्यागविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६२ ।।

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

दमयन्तीका विलाप तथा अजगर एवं व्याधसे उसके प्राण एवं सतीत्वकी रक्षा तथा दमयन्तीके पातिव्रत्यधर्मके प्रभावसे व्याधका विनाश

बृहदश्व उवाच

अपक्रान्ते नले राजन् दमयन्ती गतक्लमा ।
अबुध्यत वरारोहा संत्रस्ता विजने वने ।। १ ।।
अपश्यमाना भर्तारं शोकदुःखसमन्विता ।
प्राक्रोशदुच्चैः संत्रस्ता महाराजेति नैषधम् ।। २ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! नलके चले जानेपर जब दमयन्तीकी थकावट दूर हो गयी, तब उसकी आँख खुली। उस निर्जन वनमें अपने स्वामीको न देखकर सुन्दरी दमयन्ती भयातुर और दुःख-शोकसे व्याकुल हो गयी। उसने भयभीत होकर निषधनरेश नलको 'महाराज! आप कहाँ हैं?' यह कहकर बड़े जोरसे पुकारा ।। १-२ ।।

हा नाथ हा महाराज हा स्वामिन् किं जहासि माम् ।
हा हतास्मि विनष्टास्मि भीतास्मि विजने वने ।। ३ ।।

'हा नाथ! हा महाराज! हा स्वामिन्! आप मुझे क्यों त्याग रहे हैं? हाय! मैं मारी गयी, नष्ट हो गयी, इस जनशून्य वनमें मुझे बड़ा भय लग रहा है ।। ३ ।।

ननु नाम महाराज धर्मज्ञः सत्यवागसि ।
कथमुक्त्वा तथा सत्यं सुप्तामुत्सृज्य कानने ।। ४ ।।

'महाराज! आप तो धर्मज्ञ और सत्यवादी हैं; फिर वैसी सच्ची प्रतिज्ञा करके आज आप इस जंगलमें मुझे सोती छोड़कर कैसे चले गये? ।। ४ ।।

कथमुत्सृज्य गन्तासि दक्षां भार्यामनुव्रताम् ।
विशेषतोऽनपकृते परेणापकृते सति ।। ५ ।।

'मैं आपकी सेवामें कुशल और अनुरक्त भार्या हूँ। विशेषतः मेरे द्वारा आपका कोई अपराध भी नहीं हुआ है। यदि कोई अपराध हुआ है, तो वह दूसरेके ही द्वारा, मुझसे नहीं; तो भी आप मुझे त्यागकर क्यों चले जा रहे हैं? ।। ५ ।।

शक्यसे ता गिरः सम्यक् कर्तुं मयि नरेश्वर ।
यास्तेषां लोकपालानां संनिधौ कथिताः पुरा ।। ६ ।।

'नरेश्वर! आपने पहले स्वयंवरसभामें उन लोकपालोंके निकट जो बातें कहीं थीं, क्या आप उन्हें आज मेरे प्रति सत्य सिद्ध कर सकेंगे? ।। ६ ।।

नाकाले विहितो मृत्युर्मर्त्यानां पुरुषर्षभ ।
तत्र कान्ता त्वयोत्सृष्टा मुहूर्तमपि जीवति ।। ७ ।।

'पुरुषशिरोमणे! मनुष्योंकी मृत्यु असमयमें नहीं होती, तभी तो आपकी यह प्रियतमा आपसे परित्यक्त होकर दो घड़ी भी जी रही है ।। ७ ।।

पर्याप्तः परिहासोऽयमेतावान् पुरुषर्षभ ।
भीताहमतिदुर्धर्ष दर्शयात्मानमीश्वर ।। ८ ।।

'पुरुषश्रेष्ठ! यहाँ इतना ही परिहास बहुत है। अत्यन्त दुर्धर्ष वीर! मैं बहुत डर गयी हूँ। प्राणेश्वर! अब मुझे अपना दर्शन दीजिये ।। ८ ।।

दृश्यसे दृश्यसे राजन्नेष दृष्टोऽसि नैषध ।
आवार्य गुल्मैरात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ।। ९ ।।

'राजन्! निषधनरेश! आप दीख रहे हैं, दीख रहे हैं, यह दिखायी दिये। लताओंद्वारा अपनेको छिपाकर आप मुझसे बात क्यों नहीं कर रहे हैं? ।। ९ ।।

नृशंसं बत राजेन्द्र यन्मामेवंगतामिह ।
विलपन्तीं समागम्य नाश्वासयसि पार्थिव ।। १० ।।

'राजेन्द्र! मैं इस प्रकार भय और चिन्तामें पड़कर यहाँ विलाप कर रही हूँ और आप आकर आश्वासन भी नहीं देते! भूपाल! यह तो आपकी बड़ी निर्दयता है ।। १० ।।

न शोचाम्यहमात्मानं न चान्यदपि किंचन ।
कथं नु भवितास्येक इति त्वां नृप शोचिमि ।। ११ ।।

'नरेश्वर! मैं अपने लिये शोक नहीं करती। मुझे दूसरी किसी बातका भी शोक नहीं है। मैं केवल आपके लिये शोक कर रही हूँ कि आप अकेले कैसी शोचनीय दशामें पड़ जायँगे! ।। ११ ।।

कथं नु राजंस्तृषितः क्षुधितः श्रमकर्षितः ।
सायाह्ने वृक्षमूलेषु मामपश्यन् भविष्यसि ।। १२ ।।

'राजन्! आप भूखे-प्यासे और परिश्रमसे थके-माँदे होकर जब सायंकाल किसी वृक्षके नीचे आकर विश्राम करेंगे, उस समय मुझे अपने पास न देखकर आपकी कैसी दशा हो जायगी?' ।। १२ ।।

ततः सा तीव्रशोकार्ता प्रदीप्तेव च मन्युना ।
इतश्चेतश्च रुदती पर्यधावत दुःखिता ।। १३ ।।

तदनन्तर प्रचण्ड शोकसे पीड़ित हो क्रोधाग्निसे दग्ध होती हुई-सी दमयन्ती अत्यन्त दुःखी हो रोने और इधर-उधर दौड़ने लगी ।। १३ ।।

मुहुरुत्पतते बाला मुहुः पतति विह्वला ।
मुहुरालीयते भीता मुहुः क्रोशति रोदिति ।। १४ ।।

दमयन्ती बार-बार उठती और बार-बार विह्वल होकर गिर पड़ती थी। वह कभी भयभीत होकर छिपती और कभी जोर-जोरसे रोने-चिल्लाने लगती थी ।। १४ ।।

अतीव शोकसंतप्ता मुहुर्निःश्वस्य विह्वला ।
उवाच भैमी निःश्वस्य रुदत्यथ पतिव्रता ।। १५ ।।

अत्यन्त शोकसंतप्त हो बार-बार लंबी साँसें खींचती हुई व्याकुल पतिव्रता दमयन्ती दीर्घ निःश्वास लेकर रोती हुई बोली— ।। १५ ।।

यस्याभिशापाद् दुःखार्तो दुःखं विन्दति नैषधः ।
तस्य भूतस्य नो दुःखाद् दुःखमप्यधिकं भवेत् ।। १६ ।।

'जिसके अभिशापसे निषधनरेश नल दुःखसे पीड़ित हो क्लेश-पर-क्लेश उठाते जा रहे हैं, उस प्राणीको हमलोगोंके दुःखसे भी अधिक दुःख प्राप्त हो ।। १६ ।।

अपापचेतसं पापो य एवं कृतवान् नलम् ।
तस्माद् दुःखतरं प्राप्य जीवत्वसुखजीविकाम् ।। १७ ।।

'जिस पापीने पुण्यात्मा राजा नलको इस दशामें पहुँचाया है, वह उनसे भी भारी दुःखमें पड़कर दुःखकी ही जिंदगी बितावे' ।। १७ ।।

एवं तु विलपन्ती सा राज्ञो भार्या महात्मनः ।
अन्वेषमाणा भर्तारं वने श्वापदसेविते ।। १८ ।।
उन्मत्तवद् भीमसुता विलपन्ती इतस्ततः ।
हा हा राजन्निति मुहुरितश्चेतश्च धावति ।। १९ ।।

इस प्रकार विलाप करती तथा हिंस्र जन्तुओंसे भरे हुए वनमें अपने पतिको ढूँढ़ती हुई महामना राजा नलकी पत्नी भीमकुमारी दमयन्ती उन्मत्त हुई रोती-बिलखती और 'हा राजन्! हा महाराज' ऐसा बार-बार कहती हुई इधर-उधर दौड़ने लगी ।। १८-१९ ।।

तां क्रन्दमानामत्यर्थं कुररीमिव वाशतीम् ।
करुणं बहु शोचन्तीं विलपन्तीं मुहुर्मुहुः ।। २० ।।
सहसाभ्यागतां भैमीमभ्याशपरिवर्तिनीम् ।
जग्राहाजगरो ग्राहो महाकायः क्षुधान्वितः ।। २१ ।।

वह कुररी पक्षीकी भाँति जोर-जोरसे करुण क्रन्दन कर रही थी और अत्यन्त शोक करती हुई बार-बार विलाप कर रही थी। वहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक विशालकाय भूखा अजगर बैठा था। उसने बार-बार चक्कर लगाती सहसा निकट आयी हुई भीमकुमारी दमयन्तीको (पैरोंकी ओरसे) निगलना आरम्भ कर दिया ।। २०-२१ ।।

सा ग्रस्यमाना ग्राहेण शोकेन च परिप्लुता ।
नात्मानं शोचति तथा यथा शोचति नैषधम् ।। २२ ।।

शोकमें डूबी हुई वैदर्भीको अजगर निगल रहा था, तो भी वह अपने लिये उतना शोक नहीं कर रही थी, जितना शोक उसे निषधनरेश नलके लिये था ।। २२ ।।

हा नाथ मामिह वने ग्रस्यमानामनाथवत् ।
ग्राहेणानेन विजने किमर्थं नानुधावसि ।। २३ ।।

(वह विलाप करती हुई कहने लगी—) 'हा नाथ! इस निर्जन वनमें यह अजगर सर्प मुझे अनाथकी भाँति निगल रहा है। आप मेरी रक्षाके लिये दौड़कर आते क्यों नहीं हैं? ।। २३ ।।

कथं भविष्यसि पुनर्मामनुस्मृत्य नैषध ।
कथं भवाञ्जगामाद्य मामुत्सृज्य वने प्रभो ।। २४ ।।

'निषधनरेश! यदि मैं मर गयी, तो मुझे बार-बार याद करके आपकी कैसी दशा हो जायगी? प्रभो! आज मुझे वनमें छोड़कर आप क्यों चले गये? ।। २४ ।।

पापान्मुक्तः पुनर्लब्ध्वा बुद्धिं चेतो धनानि च ।
श्रान्तस्य ते क्षुधार्तस्य परिग्लानस्य नैषध ।
कः श्रमं राजशार्दूल नाशयिष्यति तेऽनघ ।। २५ ।।

'निष्पाप निषधनरेश! इस संकटसे मुक्त होनेपर जब आपको पुनः शुद्ध बुद्धि, चेतना और धन आदिकी प्राप्ति होगी, उस समय मेरे बिना आपकी क्या दशा होगी? नृपप्रवर! जब आप भूखसे पीड़ित हो थके-माँदे एवं अत्यन्त खिन्न होंगे, उस समय आपकी उस थकावटको कौन दूर करेगा?' ।। २५ ।।

ततः कश्चिन्मृगव्याधो विचरन् गहने वने ।
आक्रन्दमानां संश्रुत्य जवेनाभिससार ह ।। २६ ।।

इसी समय कोई व्याध उस गहन वनमें विचर रहा था। वह दमयन्तीका करुण क्रन्दन सुनकर बड़े वेगसे उधर आया ।। २६ ।।

तां तु दृष्ट्वा तथा ग्रस्तामुरगेणायतेक्षणाम् ।
त्वरमाणो मृगव्याधः समभिक्रम्य वेगतः ।। २७ ।।
मुखतः पाटयामास शस्त्रेण निशितेन च ।
निर्विचेष्टं भुजङ्गं तं विशस्य मृगजीवनः ।। २८ ।।
मोक्षयित्वा स तां व्याधः प्रक्षाल्य सलिलेन ह ।
समाश्वास्य कृताहारामथ पप्रच्छ भारत ।। २९ ।।

उस विशाल नयनोंवाली युवतीको अजगरके द्वारा उस प्रकार निगली जाती हुई देख व्याधने बड़ी उतावलीके साथ वेगसे दौड़कर तीखे शस्त्रसे शीघ्र ही उस अजगरका मुख फाड़ दिया। वह अजगर छटपटाकर चेष्टारहित हो गया। मृगोंको मारकर जीविका चलानेवाले उस व्याधने सर्पके टुकड़े-टुकड़े करके दमयन्तीको छुड़ाया। फिर जलसे उसके सर्पग्रस्त शरीरको धोकर उसे आश्वासन दे उसके लिये भोजनकी व्यवस्था कर दी। भारत! जब वह भोजन कर चुकी, तब व्याधने उससे पूछा— ।। २७—२९ ।।

कस्य त्वं मृगशावाक्षि कथं चाभ्यागता वनम् ।
कथं चेदं महत् कृच्छ्रं प्राप्तवत्यसि भाविनि ।। ३० ।।

‘मृगलोचने! तुम किसकी स्त्री हो और कैसे वनमें चली आयी हो? भामिनि! किस प्रकार तुम्हें यह महान् कष्ट प्राप्त हुआ है?’ ।। ३० ।।

दमयन्ती तथा तेन पृच्छ्यमाना विशाम्पते ।

सर्वमेतद् यथावृत्तमाचचक्षेऽस्य भारत ।। ३१ ।।

भरतवंशी नरेश युधिष्ठिर! व्याधके पूछनेपर दमयन्तीने उसे सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे कह सुनाया ।। ३१ ।।

तामर्धवस्त्रसंवीतां पीनश्रोणिपयोधराम् ।
सुकुमारानवद्याङ्गीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।। ३२ ।।
अरालपक्ष्मनयनां तथा मधुरभाषिणीम् ।
लक्षयित्वा मृगव्याधः कामस्य वशमीयिवान् ।। ३३ ।।

स्थूल नितम्ब और स्तनोंवाली विदर्भकुमारीने आधे वस्त्रसे ही अपने अंगोंको ढँक रखा था। पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली दमयन्तीका एक-एक अंग सुकुमार एवं निर्दोष था। उसकी आँखें तिरछी बरौनियोंसे सुशोभित थीं और वह बड़े मधुर स्वरमें बोल रही थी। इन सब बातोंकी ओर लक्ष्य करके वह व्याध कामके अधीन हो गया ।। ३२-३३ ।।

तामेवं श्लक्ष्णया वाचा लुब्धको मृदुपूर्वया ।
सान्त्वयामास कामार्तस्तदबुध्यत भाविनी ।। ३४ ।।

वह मधुर एवं कोमल वाणीसे उसे अपने अनुकूल बनानेके लिये भाँति-भाँतिके आश्वासन देने लगा। वह व्याध उस समय कामवेदनासे पीड़ित हो रहा था। सती दमयन्तीने उसके दूषित मनोभावको समझ लिया ।। ३४ ।।

दमयन्त्यपि तं दुष्टमुपलभ्य पतिव्रता ।
तीव्ररोषसमाविष्टा प्रजज्वालेव मन्युना ।। ३५ ।।

पतिव्रता दमयन्ती भी उसकी दुष्टताको समझकर तीव्र क्रोधके वशीभूत हो मानो रोषाग्निसे प्रज्वलित हो उठी ।। ३५ ।।

सती दमयन्तीके तेजसे पापी व्याधका विनाश

स तु पापमतिः क्षुद्रः प्रधर्षयितुमातुरः ।

दुर्धर्षां तर्कयामास दीप्तामग्निशिखामिव ।। ३६ ।।

यद्यपि वह नीच पापात्मा व्याध उसपर बलात्कार करनेके लिये व्याकुल हो गया था, परंतु दमयन्ती अग्निशिखाकी भाँति उद्दीप्त हो रही थी; अतः उसका स्पर्श करना उसको अत्यन्त दुष्कर प्रतीत हुआ ।। ३६ ।।

दमयन्ती तु दुःखार्ता पतिराज्यविनाकृता ।
अतीतवाक्पथे काले शशापैनं रुषान्विता ।। ३७ ।।

पति तथा राज्य दोनोंसे वंचित होनेके कारण दमयन्ती अत्यन्त दुःखसे आतुर हो रही थी। इधर व्याधकी कुचेष्टा वाणीद्वारा रोकनेपर रुक सके, ऐसी प्रतीत नहीं होती थी। तब (उस व्याधपर अत्यन्त रुष्ट हो) उसने उसे शाप दे दिया— ।। ३७ ।।

यद्यहं नैषधादन्यं मनसापि न चिन्तये ।
तथायं पततां क्षुद्रो परासुर्मृगजीवनः ।। ३८ ।।

'यदि मैं निषधराज नलके सिवा दूसरे किसी पुरुषका मनसे भी चिन्तन नहीं करती होऊँ, तो इसके प्रभावसे यह तुच्छ व्याध प्राणशून्य होकर गिर पड़े' ।। ३८ ।।

उक्तमात्रे तु वचने तथा स मृगजीवनः ।
व्यसुः पपात मेदिन्यामग्निदग्ध इव द्रुमः ।। ३९ ।।

दमयन्तीके इतना कहते ही वह व्याध आगसे जले हुए वृक्षकी भाँति प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। ३९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि अजगरग्रस्तदमयन्तीमोचने त्रिषष्टितमोऽध्यायः ।। ६३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें अजगरग्रस्तदमयन्तीमोचनविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६३ ।।

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

दमयन्तीका विलाप और प्रलाप, तपस्वियोंद्वारा दमयन्तीको आश्वासन तथा उसकी व्यापारियोंके दलसे भेंट

बृहदश्व उवाच

सा निहत्य मृगव्याधं प्रतस्थे कमलेक्षणा ।
वनं प्रतिभयं शून्यं झिल्लिकागणनादितम् ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! व्याधका विनाश करके वह कमलनयनी राजकुमारी झिल्लियोंकी झंकारसे गूँजते हुए निर्जन एवं भयंकर वनमें आगे बढ़ी ।। १ ।।

सिंहद्वीपिरुरुव्याघ्रमहिषर्क्षगणैर्युतम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णं म्लेच्छतस्करसेवितम् ।। २ ।।

वह वन सिंह, चीतों, रुरुमृग, व्याघ्र, भैंसों तथा रीछ आदि पशुओंसे युक्त एवं भाँति-भाँतिके पक्षि-समुदायसे व्याप्त था। वहाँ म्लेच्छ और तस्करोंका निवास था ।। २ ।।

शालवेणुधवाश्वत्थतिन्दुकेङ्गुदकिंशुकैः ।
अर्जुनारिष्टसंछन्नं स्यन्दनैश्च सशाल्मलैः ।। ३ ।।
जम्ब्वाम्रलोध्रखदिरसालवेत्रसमाकुलम् ।
पद्मकामलकप्लक्षकदम्बोदुम्बरावृतम् ।। ४ ।।
बदरीबिल्वसंछन्नं न्यग्रोधैश्च समाकुलम् ।
प्रियालतालखर्जूरहरीतकबिभीतकैः ।। ५ ।।

शाल, वेणु, धव, पीपल, तिन्दुक, इंगुद, पलाश, अर्जुन, अरिष्ट, स्यन्दन (तिनिश), सेमल, जामुन, आम, लोध, खैर, साखू, बेंत, पद्मक, आँवला, पाकर, कदम्ब, गूलर, बेर, बेल, बरगद, प्रियाल, ताल, खजूर, हर्रे तथा बहेड़े आदि वृक्षोंसे वह विशाल वन परिपूर्ण हो रहा था ।।

नानाधातुशतैर्नद्धान् विविधानपि चाचलान् ।
निकुञ्जान् परिसंघुष्टान् दरीश्चाद्भुतदर्शनाः ।। ६ ।।

दमयन्तीने वहाँ सैकड़ों धातुओंसे संयुक्त नाना प्रकारके पर्वत, पक्षियोंके कलरवोंसे गुंजायमान कितने ही निकुंज और अद्भुत कन्दराएँ देखीं ।। ६ ।।

नदीः सरांसि वापीश्च विविधांश्च मृगद्विजान् ।
सा बहून् भीमरूपांश्च पिशाचोरगराक्षसान् ।। ७ ।।
पल्वलानि तडागानि गिरिकूटानि सर्वशः ।
सरितो निर्झराश्चैव ददर्शाद्भुतदर्शनान् ।। ८ ।।

कितनी ही नदियों, सरोवरों, बावलियों तथा नाना प्रकारके मृगों और पक्षियोंको देखा। उसने बहुत-से भयानक रूपवाले पिशाच, नाग तथा राक्षस देखे। कितने ही गड्ढों, पोखरों और पर्वतशिखरोंका अवलोकन किया। सरिताओं और अद्भुत झरनोंको देखा ।। ७-८ ।।

यूथशो ददृशे चात्र विदर्भाधिपनन्दिनी ।
महिषांश्च वराहांश्च ऋक्षांश्च वनपन्नगान् ।। ९ ।।
तेजसा यशसा लक्ष्म्या स्थित्या च परया युता ।
वैदर्भी विचरत्येका नलमन्वेषती तदा ।। १० ।।

विदर्भराजनन्दिनीने उस वनमें झुंड-के-झुंड भैंसे, सूअर, रीछ और जंगली साँप देखे। तेज, यश, शोभा और परम धैर्यसे युक्त विदर्भकुमारी उस समय अकेली विचरती और नलको ढूँढ़ती थी ।। ९-१० ।।

नाबिभ्यत् सा नृपसुता भैमी तत्राथ कस्यचित् ।
दारुणामटवीं प्राप्य भर्तृव्यसनपीडिता ।। ११ ।।

वह पतिके विरहरूपी संकटसे संतप्त थी। अतः राजकुमारी दमयन्ती उस भयंकर वनमें प्रवेश करके भी किसी जीव-जन्तुसे भयभीत नहीं हुई ।। ११ ।।

विदर्भतनया राजन् विललाप सुदुःखिता ।
भर्तृशोकपरीताङ्गी शिलातलमथाश्रिता ।। १२ ।।

राजन्! विदर्भकुमारी दमयन्तीके अंग-अंगमें पतिके वियोगका शोक व्याप्त हो गया था, इसलिये वह अत्यन्त दुःखित हो एक शिलाके नीचे भागमें बैठकर बहुत विलाप करने लगी— ।। १२ ।।

दमयन्त्युवाच

व्यूढोरस्क महाबाहो नैषधानां जनाधिप ।
क्व नु राजन् गतोऽस्यद्य विसृज्य विजने वने ।। १३ ।।
अश्वमेधादिभिर्वीर क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
कथमिष्ट्वा नरव्याघ्र मयि मिथ्या प्रवर्तसे ।। १४ ।।

दमयन्ती बोली—चौड़ी छातीवाले महाबाहु निषधनरेश महाराज! आज इस निर्जन वनमें (मुझ अकेलीको) छोड़कर आप कहाँ चले गये? नरश्रेष्ठ! वीरशिरोमणे! प्रचुर दक्षिणावाले अश्वमेध आदि यज्ञोंका अनुष्ठान करके भी आप मेरे साथ मिथ्या बर्ताव क्यों कर रहे हैं? ।। १३-१४ ।।

यत् त्वयोक्तं नरश्रेष्ठ तत् समक्षं महाद्युते ।
स्मर्तुमर्हसि कल्याण वचनं पार्थिवर्षभ ।। १५ ।।

महातेजस्वी कल्याणमय राजाओंमें उत्तम नरश्रेष्ठ! आपने मेरे सामने जो बात कही थी, अपनी उस बातका स्मरण करना उचित है ।। १५ ।।

यच्चोक्तं विहगैर्हंसैः समीपे तव भूमिप ।
मत्समक्षं यदुक्तं च तदवेक्षितुमर्हसि ।। १६ ।।

भूमिपाल! आकाशचारी हंसोंने आपके समीप तथा मेरे सामने जो बातें कही थीं, उनपर विचार कीजिये ।। १६ ।।

चत्वार एकतो वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः ।
स्वधीता मनुजव्याघ्र सत्यमेकं किलैकतः ।। १७ ।।

नरसिंह! एक ओर अंग और उपांगोंसहित विस्तारपूर्वक चारों वेदोंका स्वाध्याय हो और दूसरी ओर केवल सत्यभाषण हो तो वह निश्चय ही उससे बढ़कर है ।। १७ ।।

तस्मादर्हसि शत्रुघ्न सत्यं कर्तुं नरेश्वर ।
उक्तवानसि यद् वीर मत्सकाशे पुरा वचः ।। १८ ।।

अतः शत्रुहन्ता नरेश्वर! वीर! आपने पहले मेरे समीप जो बातें कही हैं, उन्हें सत्य करना चाहिये ।। १८ ।।

हा वीर नल नामाहं नष्टा किल तवानघ ।
अस्यामटव्यां घोरायां किं मां न प्रतिभाषसे ।। १९ ।।

हा निष्पाप वीर नल! आपकी मैं दमयन्ती इस भयंकर वनमें नष्ट हो रही हूँ, आप मेरी बातका उत्तर क्यों नहीं देते? ।। १९ ।।

कर्षयत्येष मां रौद्रो व्यात्तास्यो दारुणाकृतिः ।
अरण्यराट् क्षुधाविष्टः किं मां न त्रातुमर्हसि ।। २० ।।

यह भयानक आकृतिवाला क्रूर सिंह भूखसे पीड़ित हो मुँह बाये खड़ा है और मुझपर आक्रमण करना चाहता है, क्या आप मेरी रक्षा नहीं कर सकते? ।। २० ।।

न मे त्वदन्या काचिद्धि प्रियास्तीत्यब्रवीः सदा ।
तामृतां कुरु कल्याण पुरोक्तां भारतीं नृप ।। २१ ।।

कल्याणमय नरेश! आप पहले जो सदा यह कहते थे कि तुम्हारे सिवा दूसरी कोई भी स्त्री मुझे प्रिय नहीं है, अपनी उस बातको सत्य कीजिये ।। २१ ।।

उन्मत्तां विलपन्तीं मां भार्यामिष्टां नराधिप ।
ईप्सितामीप्सितोऽसि त्वं किं मां न प्रतिभाषसे ।। २२ ।।

महाराज! मैं आपकी प्रिय पत्नी हूँ और आप मेरे प्रियतम पति हैं, ऐसी दशामें भी मैं यहाँ उन्मत्त विलाप कर रही हूँ तो भी आप मेरी बातका उत्तर क्यों नहीं देते? ।। २२ ।।

कृशां दीनां विवर्णां च मलिनां वसुधाधिप ।
वस्त्रार्धप्रावृतामेकां विलपन्तीमनाथवत् ।। २३ ।।
यूथभ्रष्टामिवैकां मां हरिणीं पृथुलोचन ।
न मानयसि मामार्य रुदन्तीमरिकर्शन ।। २४ ।।

पृथ्वीनाथ! मैं दीन, दुर्बल, कान्तिहीन और मलिन होकर आधे वस्त्रसे अपने अंगोंको ढककर अकेली अनाथ-सी विलाप कर रही हूँ। विशाल नेत्रोंवाले शत्रुसूदन आर्य! मेरी दशा अपने झुंडसे बिछुड़ी हुई हरिणीकी-सी हो रही है। मैं यहाँ अकेली रो रही हूँ। परंतु आप मेरा मान नहीं रखते हैं ।। २३-२४ ।।

महाराज महारण्ये अहमेकाकिनी सती ।
दमयन्त्यभिभाषे त्वां किं मां न प्रतिभाषसे ।। २५ ।।

महाराज! इस महान् वनमें मैं सती दमयन्ती अकेली आपको पुकार रही हूँ, आप मुझे उत्तर क्यों नहीं देते? ।। २५ ।।

कुलशीलोपसम्पन्न चारुसर्वाङ्गशोभन ।
नाद्य त्वां प्रतिपश्यामि गिरावस्मिन् नरोत्तम ।। २६ ।।

नरश्रेष्ठ! आप उत्तम कुल और श्रेष्ठ शीलस्वभावसे सम्पन्न हैं। आप अपने सम्पूर्ण मनोहर अंगोंसे सुशोभित होते हैं। आज इस पर्वतशिखरपर मैं आपको नहीं देख पाती हूँ ।। २६ ।।

वने चास्मिन् महाघोरे सिंहव्याघ्रनिषेविते ।
शयानमुपविष्टं वा स्थितं वा निषधाधिप ।। २७ ।।

निषधनरेश! इस महाभयंकर वनमें, जहाँ सिंह-व्याघ्र रहते हैं, आप कहीं सोये हैं, बैठे हैं अथवा खड़े हैं? ।। २७ ।।

प्रस्थितं वा नरश्रेष्ठ मम शोकविवर्धन ।
कं नु पृच्छामि दुःखार्ता त्वदर्थे शोककर्शिता ।। २८ ।।

मेरे शोकको बढ़ानेवाले नरश्रेष्ठ! आप यहीं हैं या कहीं अन्यत्र चल दिये, यह मैं किससे पूछूँ? आपके लिये शोकसे दुर्बल होकर मैं अत्यन्त दुःखसे आतुर हो रही हूँ ।। २८ ।।

कच्चिद् दृष्टस्त्वयारण्ये संगत्येह नलो नृपः ।
को नु मे वाथ प्रष्टव्यो वनेऽस्मिन् प्रस्थितं नलम् ।। २९ ।।

‘क्या तुमने इस वनमें राजा नलसे मिलकर उन्हें देखा है?’ ऐसा प्रश्न अब मैं इस वनमें प्रस्थान करनेवाले नलके विषयमें किससे करूँ? ।। २९ ।।

अभिरूपं महात्मानं परव्यूहविनाशनम् ।
यमन्वेषसि राजानं नलं पद्मनिभेक्षणम् ।। ३० ।।
अयं स इति कस्याद्य श्रोष्यामि मधुरां गिरम्।

‘शत्रुओंके व्यूहका नाश करनेवाले जिन परम सुन्दर कमलनयन महात्मा राजा नलको तू खोज रही है, वे यही तो हैं, ऐसी मधुर वाणी आज मैं किसके मुखसे सुनूँगी?’ ।। ३०½ ।।

अरण्यराडयं श्रीमांश्चतुर्दंष्ट्रो महाहनुः ।। ३१ ।।
शार्दूलोऽभिमुखोऽभ्येति व्रजाम्येनमशङ्किता ।

भवान् मृगाणामधिपस्त्वमस्मिन् कानने प्रभुः ।। ३२ ।।

वह वनका राजा कान्तिमान् सिंह मेरे सामने चला आ रहा है, इसके चार दाढ़ें और विशाल ठोड़ी है। मैं निःशंक होकर इसके सामने जा रही हूँ और कहती हूँ, 'आप मृगोंके राजा और इस वनके स्वामी हैं ।। ३१-३२ ।।

विदर्भराजतनयां दमयन्तीति विद्धि माम् ।
निषधाधिपतेर्भार्यां नलस्यामित्रघातिनः ।। ३३ ।।

'मैं विदर्भराजकुमारी दमयन्ती हूँ। मुझे शत्रुघाती निषधनरेश नलकी पत्नी समझिये ।। ३३ ।।

पतिमन्वेषतीमेकां कृपणां शोककर्षिताम् ।
आश्वासय मृगेन्द्रेह यदि दृष्टस्त्वया नलः ।। ३४ ।।

'मृगेन्द्र! मैं इस वनमें अकेली पतिकी खोजमें भटक रही हूँ तथा शोकसे पीड़ित एवं दीन हो रही हूँ। यदि आपने नलको यहाँ कहीं देखा हो तो उनका कुशल-समाचार बताकर मुझे आश्वासन दीजिये ।। ३४ ।।

अथवा त्वं वनपते नलं यदि न शंससि ।
मां खादय मृगश्रेष्ठ दुःखादस्माद् विमोचय ।। ३५ ।।

'अथवा वनराज मृगश्रेष्ठ! यदि आप नलके विषयमें कुछ नहीं बताते हैं तो मुझे खा जायँ और इस दुःखसे छुटकारा दे दें' ।। ३५ ।।

श्रुत्वारण्ये विलपितं न मामाश्वासयत्ययम् ।
यात्येतां स्वादुसलिलामापगां सागरंगमाम् ।। ३६ ।।

अहो! इस घोर वनमें मेरा विलाप सुनकर भी यह सिंह मुझे सान्त्वना नहीं देता। यह तो स्वादिष्ट जलसे भरी हुई इस समुद्रगामिनी नदीकी ओर जा रहा है ।।

इमं शिलोच्चयं पुण्यं शृङ्गैर्बहुभिरुच्छ्रितैः ।
विराजद्भिरिवानेकैर्नैकवर्णैर्मनोरमैः ।। ३७ ।।

अच्छा, इस पवित्र पर्वतसे ही पूछती हूँ। यह बहुत-से ऊँचे-ऊँचे शोभाशाली बहुरंगे एवं मनोरम शिखरोंद्वारा सुशोभित है ।। ३७ ।।

नानाधातुसमाकीर्णं विविधोपलभूषितम् ।
अस्यारण्यस्य महतः केतुभूतमिवोत्थितम् ।। ३८ ।।

अनेक प्रकारके धातुओंसे व्याप्त और भाँति-भाँतिके शिला-खण्डोंसे विभूषित है। यह पर्वत इस महान् वनकी ऊपर उठी हुई पताकाके समान जान पड़ता है ।। ३८ ।।

सिंहशार्दूलमातङ्गवराहर्क्षमृगायुतम् ।
पतत्त्रिभिर्बहुविधैः समन्तादनुनादितम् ।। ३९ ।।

यह सिंह, व्याघ्र, हाथी, सूअर, रीछ और मृगोंसे परिपूर्ण है। इसके चारों ओर अनेक प्रकारके पक्षी कलरव कर रहे हैं ।। ३९ ।।

किंशुकाशोकबकुलपुन्नागैरुपशोभितम् ।
कर्णिकारधवप्लक्षैः सुपुष्पैरुपशोभितम् ।। ४० ।।

पलाश, अशोक, बकुल, पुन्नाग, कनेर, धव तथा प्लक्ष आदि सुन्दर फूलोंवाले वृक्षोंसे वह पर्वत सुशोभित हो रहा है ।। ४० ।।

सरिद्भिः सविहङ्गाभिः शिखरैश्च समाकुलम् ।
गिरिराजमिमं तावत् पृच्छामि नृपतिं प्रति ।। ४१ ।।

यह पर्वत अनेक सरिताओं, सुन्दर पक्षियों और शिखरोंसे परिपूर्ण है। अब मैं इसी गिरिराजसे महाराज नलका समाचार पूछती हूँ ।। ४१ ।।

भगवन्नचलश्रेष्ठ दिव्यदर्शन विश्रुत ।
शरण्य बहुकल्याण नमस्तेऽस्तु महीधर ।। ४२ ।।

'भगवन्! अचलप्रवर! दिव्य दृष्टिवाले! विख्यात! सबको शरण देनेवाले परम कल्याणमय महीधर! आपको नमस्कार है ।। ४२ ।।

प्रणमाम्यभिगम्याहं राजपुत्रीं निबोध माम् ।
राज्ञः स्नुषां राजभार्यां दमयन्तीति विश्रुताम् ।। ४३ ।।

'मैं निकट आकर आपके चरणोंमें प्रणाम करती हूँ। आप मेरा परिचय इस प्रकार जानें, मैं राजाकी पुत्री, राजाकी पुत्रवधू तथा राजाकी ही पत्नी हूँ। मेरी 'दमयन्ती' नामसे प्रसिद्धि है ।। ४३ ।।

राजा विदर्भाधिपतिः पिता मम महारथः ।
भीमो नाम क्षितिपतिश्चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ।। ४४ ।।

'विदर्भदेशके स्वामी महारथी भीम नामक राजा मेरे पिता हैं। वे पृथ्वीके पालक तथा चारों वर्णोंके रक्षक हैं ।। ४४ ।।

राजसूयाश्वमेधानां क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
आहर्ता पार्थिवश्रेष्ठः पृथुचार्वञ्चितेक्षणः ।। ४५ ।।

'उन्होंने (प्रचुर) दक्षिणावाले राजसूय तथा अश्वमेध नामक यज्ञोंका अनुष्ठान किया है। वे भूमिपालोंमें श्रेष्ठ हैं। उनके नेत्र बड़े, चंचल और सुन्दर हैं ।। ४५ ।।

ब्रह्मण्यः साधुवृत्तश्च सत्यवागनसूयकः ।
शीलवान् वीर्यसम्पन्नः पृथुश्रीर्धर्मविच्छुचिः ।। ४६ ।।

'वे ब्राह्मणभक्त, सदाचारी, सत्यवादी, किसीके दोषको न देखनेवाले, शीलवान्, पराक्रमी, प्रचुर सम्पत्तिके स्वामी, धर्मज्ञ तथा पवित्र हैं ।। ४६ ।।

सम्यग् गोप्ता विदर्भाणां निर्जितारिगणः प्रभुः ।
तस्य मां विद्धि तनयां भगवंस्त्वामुपस्थिताम् ।। ४७ ।।

'वे विदर्भदेशकी जनताका अच्छी तरह पालन करनेवाले हैं। उन्होंने समस्त शत्रुओंको जीत लिया है, वे बड़े शक्तिशाली हैं। भगवन्! मुझे उन्हींकी पुत्री जानिये। मैं आपकी सेवामें

(एक जिज्ञासा लेकर) उपस्थित हुई हूँ ।। ४७ ।।

निषधेषु महाराजः श्वशुरो मे नरोत्तमः ।
गृहीतनामा विख्यातो वीरसेन इति स्म ह ।। ४८ ।।

‘निषधदेशके महाराज मेरे श्वशुर थे, वे प्रातः-स्मरणीय नरश्रेष्ठ वीरसेनके नामसे विख्यात थे ।। ४८ ।।

तस्य राज्ञः सुतो वीरः श्रीमान् सत्यपराक्रमः ।
क्रमप्राप्तं पितुः स्वं यो राज्यं समनुशास्ति ह ।। ४९ ।।

‘उन्हीं महाराज वीरसेनके एक वीर पुत्र हैं, जो बड़े ही सुन्दर और सत्यपराक्रमी हैं। वे वंशपरम्परासे प्राप्त अपने पिताके राज्यका पालन करते हैं ।। ४९ ।।

नलो नामारिहा श्यामः पुण्यश्लोक इति श्रुतः ।
ब्रह्मण्यो वेदविद् वाग्मी पुण्यकृत् सोमपोऽग्निमान् ।। ५० ।।

‘उनका नाम नल है। शत्रुदमन, श्यामसुन्दर राजा नल पुण्यश्लोक कहे जाते हैं। वे बड़े ब्राह्मणभक्त, वेदवेत्ता, वक्ता, पुण्यात्मा, सोमपान करनेवाले और अग्निहोत्री हैं ।। ५० ।।

यष्टा दाता च योद्धा च सम्यक् चैव प्रशासिता ।
तस्य मामबलां श्रेष्ठां विद्धि भार्यामिहागताम् ।। ५१ ।।
त्यक्तश्रियं भर्तृहीनामनाथां व्यसनान्विताम् ।
अन्वेषमाणां भर्तारं त्वं मां पर्वतसत्तम ।। ५२ ।।

‘वे एक अच्छे यज्ञकर्ता, उत्तम दाता, शूरवीर योद्धा और श्रेष्ठ शासक हैं, आप मुझे उन्हींकी श्रेष्ठ पत्नी समझ लीजिये। मैं अबला नारी आपके निकट यहाँ उन्हींकी कुशल पूछनेके लिये आयी हूँ। गिरिराज! (मेरे स्वामी मुझे छोड़कर कहीं चले गये हैं।) मैं धन-सम्पत्तिसे वंचित, पतिदेवसे रहित, अनाथ और संकटोंकी मारी हुई हूँ। इस वनमें अपने पतिकी ही खोज कर रही हूँ ।। ५१-५२ ।।

समुल्लिखद्भिरेतैर्हि त्वया शृङ्गशतैर्नृपः ।
कच्चिद् दृष्टोऽचलश्रेष्ठ वनेऽस्मिन् दारुणे नलः ।। ५३ ।।

‘पर्वतश्रेष्ठ! क्या आपने इन सैकड़ों गगनचुम्बी शिखरोंद्वारा इस भयानक वनमें कहीं राजा नलको देखा है? ।। ५३ ।।

गजेन्द्रविक्रमो धीमान् दीर्घबाहुरमर्षणः ।
विक्रान्तः सत्त्ववान् वीरो भर्ता मम महायशाः ।। ५४ ।।
निषधानामधिपतिः कच्चिद् दृष्टस्त्वया नलः ।
विलपतीं किमेकां मां पर्वतश्रेष्ठ विह्वलाम् ।। ५५ ।।
गिरा नाश्वासयस्यद्य स्वां सुतामिव दुःखिताम् ।

'मेरे महायशस्वी स्वामी निषधराज नल गजराजकी-सी चालसे चलते हैं। वे बड़े बुद्धिमान्, महाबाहु, अमर्षशील (दुःखको न सह सकनेवाले), पराक्रमी, धैर्यवान् तथा वीर हैं। क्या आपने कहीं उन्हें देखा है? गिरिश्रेष्ठ! मैं आपकी पुत्रीके समान हूँ और (पतिके वियोगसे बहुत ही) दुःखी हूँ। क्या आप व्याकुल होकर अकेली विलाप करती हुई मुझ अबलाको आज अपनी वाणीद्वारा आश्वासन न देंगे?' ।। ५४-५५½ ।।

वीर विक्रान्त धर्मज्ञ सत्यसंध महीपते ।। ५६ ।।

यद्यस्यस्मिन् वने राजन् दर्शयात्मानमात्मना ।

वीर! धर्मज्ञ! सत्यप्रतिज्ञ और पराक्रमी महीपाल! यदि आप इसी वनमें हैं तो राजन्! अपने-आपको प्रकट करके मुझे दर्शन दीजिये ।। ५६½ ।।

कदा सुस्निग्धगम्भीरां जीमूतस्वनसंनिभाम् ।। ५७ ।।

श्रोष्यामि नैषधस्याहं वाचंताममृतोपमाम् ।

वैदर्भीत्येव विस्पष्टां शुभां राज्ञो महात्मनः ।। ५८ ।।

आम्नायसारिणीमृद्धां मम शोकविनाशिनीम् ।

मैं कब निषधराज नलकी मेघ-गर्जनाके समान स्निग्ध, गम्भीर, अमृतोपम वह मधुर वाणी सुनूँगी। उन महामना राजाके मुखसे 'वैदर्भि!' इस सम्बोधनसे युक्त शुभ, स्पष्ट, वेदके अनुकूल, सुन्दर पद और अर्थसे युक्त तथा मेरे शोकका विनाश करनेवाली वाणी मुझे कब सुनायी देगी ।। ५७-५८½ ।।

भीतामाश्वासयत मां नृपते धर्मवत्सल ।। ५९ ।।

धर्मवत्सल नरेश्वर! मुझ भयभीत अबलाको आश्वासन दीजिये ।। ५९ ।।

इति सा तं गिरिश्रेष्ठमुक्त्वा पार्थिवनन्दिनी ।

दमयन्ती ततो भूयो जगाम दिशमुत्तराम् ।। ६० ।।

इस प्रकार उस श्रेष्ठ पर्वतसे कहकर वह राजकुमारी दमयन्ती फिर वहाँसे उत्तर दिशाकी ओर चल दी ।। ६० ।।

सा गत्वा त्रीनहोरात्रान् ददर्श परमाङ्गना ।

तापसारण्यमतुलं दिव्यकाननशोभितम् ।। ६१ ।।

लगातार तीन दिन और तीन रात चलनेके पश्चात् उस श्रेष्ठ नारीने तपस्वियोंसे युक्त एक वन देखा, जो अनुपम तथा दिव्य वनसे सुशोभित था ।। ६१ ।।

वसिष्ठभृग्वत्रिसमैस्तापसैरुपशोभितम् ।

नियतैः संयताहारैर्दमशौचसमन्वितैः ।। ६२ ।।

तथा वसिष्ठ, भृगु और अत्रिके समान नियम-परायण, मिताहारी तथा (शम,) दम, शौच आदिसे सम्पन्न तपस्वियोंसे वह शोभायमान हो रहा था ।। ६२ ।।

अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च पत्राहारैस्तथैव च ।

जितेन्द्रियैर्महाभागैः स्वर्गमार्गदिदृक्षुभिः ।। ६३ ।।

वहाँ कुछ तपस्वीलोग केवल जल पीकर रहते थे और कुछ लोग वायु पीकर। कितने ही केवल पत्ते चबाकर रहते थे। वे जितेन्द्रिय महाभाग स्वर्गलोकके मार्गका दर्शन करना चाहते थे ।। ६३ ।।

वल्कलाजिनसंवीतैर्मुनिभिः संयतेन्द्रियैः ।
तापसाध्युषितं रम्यं ददर्शाश्रममण्डलम् ।। ६४ ।।

वल्कल और मृगचर्म धारण करनेवाले उन जितेन्द्रिय मुनियोंसे सेवित एक रमणीय आश्रममण्डल दिखायी दिया, जिसमें प्रायः तपस्वीलोग ही निवास करते थे ।। ६४ ।।

नानामृगगणैर्जुष्टं शाखामृगगणायुतम् ।
तापसैः समुपेतं च सा दृष्ट्वैव समाश्वसत् ।। ६५ ।।

उस आश्रममें नाना प्रकारके मृगों और वानरोंके समुदाय भी विचरते रहते थे। तपस्वी महात्माओंसे भरे हुए उस आश्रमको देखते ही दमयन्तीको बड़ी सान्त्वना मिली ।। ६५ ।।

सुभ्रूः सुकेशी सुश्रोणी सुकुचा सुद्विजानना ।
वर्चस्विनी सुप्रतिष्ठा स्वसितायतलोचना ।। ६६ ।।

उसकी भौंहें बड़ी सुन्दर थीं। केश मनोहर जान पड़ते थे। नितम्बभाग, स्तन, दन्तपंक्ति और मुख सभी सुन्दर थे। उसके मनोहर कजरारे नेत्र विशाल थे। वह तेजस्विनी और प्रतिष्ठित थी ।। ६६ ।।

सा विवेशाश्रमपदं वीरसेनसुतप्रिया ।
योषिद्रत्नं महाभागा दमयन्ती तपस्विनी ।। ६७ ।।

महाराज वीरसेनकी पुत्रवधू रमणीशिरोमणि महाभागा तपस्विनी उस दमयन्तीने आश्रमके भीतर प्रवेश किया ।। ६७ ।।

साभिवाद्य तपोवृद्धान् विनयावनता स्थिता ।
स्वागतं त इति प्रोक्ता तैः सर्वैस्तापसोत्तमैः ।। ६८ ।।

वहाँ तपोवृद्ध महात्माओंको प्रणाम करके वह उनके समीप विनीतभावसे खड़ी हो गयी। तब वहाँके सभी श्रेष्ठ तपस्वीजनोंने उससे कहा—‘देवि! तुम्हारा स्वागत है’ ।। ६८ ।।

पूजां चास्या यथान्यायं कृत्वा तत्र तपोधनाः ।
आस्यतामित्यथोचुस्ते ब्रूहि किं करवामहे ।। ६९ ।।

तदनन्तर वहाँ दमयन्तीका यथोचित आदर-सत्कार करके उन तपोधनोंने कहा—‘शुभे! बैठो, बताओ, हम तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करें’ ।। ६९ ।।

तानुवाच वरारोहा कच्चिद् भगवतामिह ।
तपःस्वग्निषु धर्मेषु मृगपक्षिषु चानघाः ।। ७० ।।
कुशलं वो महाभागाः स्वधर्माचरणेषु च ।
तैरुक्ता कुशलं भद्रे सर्वत्रेति यशस्विनि ।। ७१ ।।

उस समय सुन्दर अंगोंवाली दमयन्तीने उनसे कहा—'भगवन्! निष्पाप महाभागगण! यहाँ तप, अग्निहोत्र, धर्म, मृग और पक्षियोंके पालन तथा अपने धर्मके आचरण आदि विषयोंमें आपलोग सकुशल हैं न?' तब उन महात्माओंने कहा—'भद्रे! यशस्विनि! सर्वत्र कुशल है ।। ७०-७१ ।।

ब्रूहि सर्वानवद्याङ्गि का त्वं किं च चिकीर्षसि ।
दृष्ट्वैव ते परं रूपं द्युतिं च परमामिह ।। ७२ ।।
विस्मयो नः समुत्पन्नः समाश्वसिहि मा शुचः ।
अस्यारण्यस्य देवी त्वमुताहोऽस्य महीभृतः ।। ७३ ।।

'सर्वांगसुन्दरी! बताओ, तुम कौन हो और क्या करना चाहती हो? तुम्हारे उत्तम रूप और परम सुन्दर कान्तिको यहाँ देखकर हमें बड़ा विस्मय हो रहा है। धैर्य धारण करो, शोक न करो। तुम इस वनकी देवी हो या इस पर्वतकी अधिदेवता ।। ७२-७३ ।।

अस्याश्च नद्याः कल्याणि वद सत्यमनिन्दिते ।
साब्रवीत् तानृषीन् नाहमरण्यस्यास्य देवता ।। ७४ ।।
न चाप्यस्य गिरेर्विप्रा नैव नद्याश्च देवता ।
मानुषीं मां विजानीत यूयं सर्वे तपोधनाः ।। ७५ ।।

'अनिन्दिते! कल्याणि! अथवा तुम इस नदीकी अधिष्ठात्री देवी हो, सच-सच बताओ।' दमयन्तीने उन ऋषियोंसे कहा—'तपस्याके धनी ब्राह्मणो! न तो मैं इस वनकी देवी हूँ, न पर्वतकी अधिदेवता और न इस नदीकी ही देवी हूँ। आप सब लोग मुझे मानवी समझें ।। ७४-७५ ।।

विस्तरेणाभिधास्यामि तन्मे शृणुत सर्वशः ।
विदर्भेषु महीपालो भीमो नाम महीपतिः ।। ७६ ।।

'मैं विस्तारपूर्वक अपना परिचय दे रही हूँ, आपलोग सुनें। विदर्भदेशमें भीम नामसे प्रसिद्ध एक भूमिपाल हैं ।। ७६ ।।

तस्य मां तनयां सर्वे जानीत द्विजसत्तमाः ।
निषधाधिपतिर्धीमान् नलो नाम महायशाः ।। ७७ ।।
वीरः संग्रामजिद् विद्वान् मम भर्ता विशाम्पतिः ।
देवताभ्यर्चनपरो द्विजातिजनवत्सलः ।। ७८ ।।

'द्विजवरो! आप सब महात्मा जान लें, मैं उन्हीं महाराजकी पुत्री हूँ। निषधदेशके स्वामी, संग्रामविजयी, वीर, विद्वान्, बुद्धिमान्, प्रजापालक महायशस्वी राजा नल मेरे पति हैं। वे देवताओंके पूजनमें संलग्न रहते हैं और ब्राह्मणोंके प्रति उनके हृदयमें बड़ा स्नेह है ।। ७७-७८ ।।

गोप्ता निषधवंशस्य महातेजा महाबलः ।
सत्यवान् धर्मवित् प्राज्ञः सत्यसंधोऽरिमर्दनः ।। ७९ ।।

ब्रह्मण्यो दैवतपरः श्रीमान् परपुरंजयः ।
नलो नाम नृपश्रेष्ठो देवराजसमद्युतिः ।। ८० ।।
मम भर्ता विशालाक्षः पूर्णेन्दुवदनोऽरिहा ।
आहर्ता क्रतुमुख्यानां वेदवेदाङ्गपारगः ।। ८१ ।।

'वे निषधकुलके रक्षक, महातेजस्वी, महाबली, सत्यवादी, धर्मज्ञ, विद्वान्, सत्यप्रतिज्ञ, शत्रुमर्दन, ब्राह्मणभक्त, देवोपासक, शोभा और सम्पत्तिसे युक्त तथा शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले हैं। मेरे स्वामी नृपश्रेष्ठ नल देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। उनके नेत्र विशाल हैं, उनका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान सुन्दर है, वे शत्रुओंका संहार करनेवाले, बड़े-बड़े यज्ञोंके आयोजक और वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान् हैं ।। ७९—८१ ।।

सपत्नानां मृधे हन्ता रविसोमसमप्रभः ।
स कैश्चिन्निकृतिप्रज्ञैरनार्यैरकृतात्मभिः ।। ८२ ।।
आहूय पृथिवीपालः सत्यधर्मपरायणः ।
देवने कुशलैर्जिह्मैर्हृतं राज्यं वसूनि च ।। ८३ ।।

'युद्धमें उन्होंने कितने ही शत्रुओंका संहार किया है। वे सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी और कान्तिमान् हैं। एक दिन कुछ कपटकुशल, अजितेन्द्रिय, अनार्य, कुटिल तथा द्यूतनिपुण जुआरिओंने उन सत्य-धर्मपरायण महाराज नलको जूएके लिये आवाहन करके उनके सारे राज्य और धनका अपहरण कर लिया ।।

तस्य मामवगच्छध्वं भार्यां राजर्षभस्य वै ।
दमयन्तीति विख्यातां भर्तुर्दर्शनलालसाम् ।। ८४ ।।

'आप दमयन्ती नामसे विख्यात मुझे उन्हीं नृपश्रेष्ठ नलकी पत्नी जानें। मैं अपने स्वामीके दर्शनके लिये उत्सुक हो रही हूँ ।। ८४ ।।

सा वनानि गिरींश्चैव सरांसि सरितस्तथा ।
पल्वलानि च सर्वाणि तथारण्यानि सर्वशः ।। ८५ ।।
अन्वेषमाणा भर्तारं नलं रणविशारदम् ।
महात्मानं कृतास्त्रं च विचरामीह दुःखिता ।। ८६ ।।

'मेरे पति महामना नल युद्धकलामें कुशल और सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान् हैं। मैं उन्हींकी खोज करती हुई वन, पर्वत, सरोवर, नदी, गड्ढे और सभी जंगलोंमें दुःखी होकर घूमती हूँ ।। ८५-८६ ।।

कच्चिद् भगवतां रम्यं तपोवनमिदं नृपः ।
भवेत् प्राप्तो नलो नाम निषधानां जनाधिपः ।। ८७ ।।
यत्कृतेऽहमिदं ब्रह्मन् प्रपन्ना भृशदारुणम् ।
वनं प्रतिभयं घोरं शार्दूलमृगसेवितम् ।। ८८ ।।

‘भगवन्! क्या आपके इस रमणीय तपोवनमें निषधनरेश नल आये थे? ब्रह्मन्! जिनके लिये मैं व्याघ्र, सिंह आदि पशुओंसे सेवित अत्यन्त दारुण, भयंकर, घोर वनमें आयी हूँ ।। ८७-८८ ।।

यदि कैश्चिदहोरात्रैर्न द्रक्ष्यामि नलं नृपम् ।

आत्मानं श्रेयसा योक्ष्ये देहस्यास्य विमोचनात् ।। ८९ ।।

‘यदि कुछ ही दिन-रातमें मैं राजा नलको नहीं देखूँगी तो इस शरीरका परित्याग करके आत्माका कल्याण करूँगी ।। ८९ ।।

को नु मे जीवितेनार्थस्तमृते पुरुषर्षभम् ।

कथं भविष्याम्यद्याहं भर्तृशोकाभिपीडिता ।। ९० ।।

‘उन पुरुषरत्न नलके बिना जीवन धारण करनेसे मेरा क्या प्रयोजन है? अब मैं पतिशोकसे पीड़ित होकर न जाने कैसी हो जाऊँगी?’ ।। ९० ।।

तथा विलपतीमेकामरण्ये भीमनन्दिनीम् ।

दमयन्तीमथोचुस्ते तापसाः सत्यदर्शिनः ।। ९१ ।।

इस प्रकार वनमें अकेली विलाप करती हुई भीमनन्दिनी दमयन्तीसे सत्यका दर्शन करनेवाले उन तपस्वियोंने कहा— ।। ९१ ।।

उदर्कस्तव कल्याणि कल्याणो भविता शुभे ।

वयं पश्याम तपसा क्षिप्रं द्रक्ष्यसि नैषधम् ।। ९२ ।।

‘कल्याणि! शुभे! हम अपने तपोबलसे देख रहे हैं, तुम्हारा भविष्य परम कल्याणमय होगा। तुम शीघ्र ही निषधनरेश नलका दर्शन प्राप्त करोगी ।। ९२ ।।

निषधानामधिपतिं नलं रिपुनिपातिनम् ।

भैमि धर्मभृतां श्रेष्ठं द्रक्ष्यसे विगतज्वरम् ।। ९३ ।।

‘भीमकुमारी! तुम शत्रुओंका संहार करनेवाले निषधदेशके अधिपति और धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा नलको सब प्रकारकी चिन्ताओंसे रहित देखोगी ।। ९३ ।।

विमुक्तं सर्वपापेभ्यः सर्वरत्नसमन्वितम् ।

तदेव नगरं श्रेष्ठं प्रशासतमरिंदमम् ।। ९४ ।।

द्विषतां भयकर्तारं सुहृदां शोकनाशनम् ।

पतिं द्रक्ष्यसि कल्याणि कल्याणाभिजनं नृपम् ।। ९५ ।।

‘तुम्हारे पति सब प्रकारके पापजनित दुखोंसे मुक्त और सम्पूर्ण रत्नोंसे सम्पन्न होंगे। शत्रुदमन राजा नल फिर उसी श्रेष्ठ नगरका शासन करेंगे। वे शत्रुओंके लिये भयदायक और सुहृदोंके लिये शोकका नाश करनेवाले होंगे। कल्याणि! इस प्रकार सत्कुलमें उत्पन्न अपने पतिको तुम (नरेशके पदपर प्रतिष्ठित) देखोगी’ ।। ९४-९५ ।।

एवमुक्त्वा नलस्येष्टां महिषीं पार्थिवात्मजाम् ।

अन्तर्हितास्तापसास्ते साग्निहोत्राश्रमास्तथा ।। ९६ ।।

नलकी प्रियतमा महारानी राजकुमारी दमयन्तीसे ऐसा कहकर वे सभी तपस्वी अग्निहोत्र और आश्रमसहित अदृश्य हो गये ।। ९६ ।।

सा दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता ह्यभवत् तदा ।
दमयन्त्यनवद्याङ्गी वीरसेननृपस्नुषा ।। ९७ ।।

उस समय राजा वीरसेनकी पुत्रवधू सर्वांगसुन्दरी दमयन्ती वह महान् आश्चर्यकी बात देखकर बड़े विस्मयमें पड़ गयी ।। ९७ ।।

किं नु स्वप्नो मया दृष्टः कोऽयं विधिरिहाभवत् ।
क्व नु ते तापसाः सर्वे क्व तदाश्रममण्डलम् ।। ९८ ।।

(उसने सोचा—) 'क्या मैंने कोई स्वप्न देखा है? यहाँ यह कैसी अद्भुत घटना हो गयी? वे सब तपस्वी कहाँ चले गये और वह आश्रममण्डल कहाँ है?' ।। ९८ ।।

क्व सा पुण्यजला रम्या नदी द्विजनिषेविता ।
क्व नु ते ह नगा हृद्याः फलपुष्पोपशोभिताः ।। ९९ ।।

'वह पुण्यसलिला रमणीय नदी, जिसपर पक्षी निवास कर रहे थे, कहाँ चली गयी? फल और फूलोंसे सुशोभित वे मनोरम वृक्ष कहाँ विलीन हो गये!' ।। ९९ ।।

ध्यात्वा चिरं भीमसुता दमयन्ती शुचिस्मिता ।
भर्तृशोकपरा दीना विवर्णवदनाभवत् ।। १०० ।।

पवित्र मुसकानवाली भीमपुत्री दमयन्ती बहुत देरतक इन सब बातोंपर विचार करती रही। तत्पश्चात् वह पतिशोकपरायण और दीन हो गयी तथा उसके मुखपर उदासी छा गयी ।। १०० ।।

सा गत्वाथापरां भूमिं बाष्पसंदिग्धया गिरा ।
विललापाश्रुपूर्णाक्षी दृष्ट्वाशोकतरुं ततः ।। १०१ ।।
उपगम्य तरुश्रेष्ठमशोकं पुष्पितं वने ।
पल्लवापीडितं हृद्यं विहङ्गैरनुनादितम् ।। १०२ ।।

तदनन्तर वह दूसरे स्थानपर जाकर अश्रुगद्गद वाणीसे विलाप करने लगी। उसने आँसू भरे नेत्रोंसे देखा, वहाँसे कुछ ही दूरपर एक अशोकका वृक्ष था। दमयन्ती उसके पास गयी। वह तरुवर अशोक-फूलोंसे भरा था। उस वनमें पल्लवोंसे लदा हुआ और पक्षियोंके कलरवोंसे गुंजायमान वह वृक्ष बड़ा ही मनोरम जान पड़ता था ।। १०१-१०२ ।।

अहो बतायमगमः श्रीमानस्मिन् वनान्तरे ।
आपीडैर्बहुभिर्भाति श्रीमान् पर्वतराडिव ।। १०३ ।।

(उसे देखकर वह मन-ही-मन कहने लगी—) 'अहो! इस वनके भीतर यह अशोक बड़ा ही सुन्दर है। यह अनेक प्रकारके फल, फूल आदि अलंकारोंसे अलंकृत सुन्दर गिरिराजकी भाँति सुशोभित हो रहा है' ।। १०३ ।।

विशोकां कुरु मां क्षिप्रमशोक प्रियदर्शन ।

वीतशोकभयाबाधं कच्चित् त्वं दृष्टवान् नृपम् ।। १०४ ।।
नलं नामारिदमनं दमयन्त्याः प्रियं पतिम् ।
निषधानामधिपतिं दृष्टवानसि मे प्रियम् ।। १०५ ।।

(अब उसने अशोकसे कहा—) 'प्रियदर्शन अशोक! तुम शीघ्र ही मेरा शोक दूर कर दो। क्या तुमने शोक, भय और बाधासे रहित शत्रुदमन राजा नलको देखा है? क्या मेरे प्रियतम, दमयन्तीके प्राणवल्लभ, निषधनरेश नलपर तुम्हारी दृष्टि पड़ी है? ।। १०४-१०५ ।।

एकवस्त्रार्धसंवीतं सुकुमारतनुत्वचम् ।
व्यसनेनार्दितं वीरमरण्यमिदमागतम् ।। १०६ ।।

'उन्होंने एक साड़ीके आधे टुकड़ेसे अपने शरीरको ढँक रखा है, उनके अंगोंकी त्वचा बड़ी सुकुमार है। वे वीरवर नल भारी संकटसे पीड़ित होकर इस वनमें आये हैं ।। १०६ ।।

यथा विशोका गच्छेयमशोकनग तत् कुरु ।
सत्यनामा भवाशोक अशोकः शोकनाशनः ।। १०७ ।।

'अशोकवृक्ष! तुम ऐसा करो, जिससे मैं यहाँसे शोकरहित होकर जाऊँ। अशोक उसे कहते हैं, जो शोकका नाश करनेवाला हो, अतः अशोक! तुम अपने नामको सत्य एवं सार्थक करो' ।। १०७ ।।

एवं साशोकवृक्षं तमार्ता वै परिगम्य ह ।
जगाम दारुणतरं देशं भैमी वराङ्गना ।। १०८ ।।

इस प्रकार शोकार्त हुई सुन्दरी दमयन्ती उस अशोकवृक्षकी परिक्रमा करके वहाँसे अत्यन्त भयंकर स्थानकी ओर गयी ।। १०८ ।।

सा ददर्श नगान् नैकान् नैकाश्च सरितस्तथा ।
नैकांश्च पर्वतान् रम्यान् नैकांश्च मृगपक्षिणः ।। १०९ ।।
कन्दरांश्च नितम्बांश्च नदीश्चाद्भुतदर्शनाः ।
ददर्श तान् भीमसुता पतिमन्वेषती तदा ।। ११० ।।
गत्वा प्रकृष्टमध्वानं दमयन्ती शुचिस्मिता ।
ददर्शाथ महासार्थं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ।। १११ ।।
उत्तरन्तं नदीं रम्यां प्रसन्नसलिलां शुभाम् ।
सुशीततोयां विस्तीर्णां ह्रदिनीं वेतसैर्वृताम् ।। ११२ ।।

उसने अनेक प्रकारके वृक्ष, अनेकानेक सरिताओं, बहुसंख्यक रमणीय पर्वतों, अनेक मृग-पक्षियों, पर्वतकी कन्दराओं तथा उनके मध्यभागों और अद्भुत नदियोंको देखा। पतिका अन्वेषण करनेवाली दमयन्तीने उस समय पूर्वोक्त सभी वस्तुओंको देखा। इस तरह बहुत दूरतकका मार्ग तय कर लेनेके बाद पवित्र मुसकानवाली दमयन्तीने एक बहुत बड़े सार्थ (व्यापारियोंके दल)-को देखा, जो हाथी, घोड़े तथा रथसे व्याप्त था। वह व्यापारियोंका

समूह स्वच्छ जलसे सुशोभित एक सुन्दर रमणीय नदीको पार कर रहा था। नदीका जल बहुत ठंडा था। उसका पाट चौड़ा था। उसमें कई कुण्ड थे और वह किनारेपर उगे हुए बेंतके वृक्षोंसे आच्छादित हो रही थी ।। १०९—११२ ।।

प्रोद्‌घुष्टां क्रौञ्चकुररैश्चक्रवाकोपकूजिताम् ।
कूर्मग्राहझषाकीर्णां विपुलद्वीपशोभिताम् ।। ११३ ।।

उसके तटपर क्रौंच, कुरर और चक्रवाक आदि पक्षी कूज रहे थे। कछुए, मगर और मछलियोंसे भरी हुई वह नदी विस्तृत टापूसे सुशोभित हो रही थी ।। ११३ ।।

सा दृष्ट्वैव महासार्थं नलपत्नी यशस्विनी ।
उपसर्प्य वरारोहा जनमध्यं विवेश ह ।। ११४ ।।

उस बहुत बड़े समूहको देखते ही यशस्विनी नलपत्नी सुन्दरी दमयन्ती उसके पास पहुँच कर लोगोंकी भीड़में घुस गयी ।। ११४ ।।

उन्मत्तरूपा शोकार्ता तथा वस्त्रार्धसंवृता ।
कृशा विवर्णा मलिना पांसुध्वस्तशिरोरुहा ।। ११५ ।।

उसका रूप उन्मत्त स्त्रीका-सा जान पड़ता था, वह शोकसे पीड़ित, दुर्बल, उदास और मलिन हो रही थी। उसने आधे वस्त्रसे अपने शरीरको ढक रखा था और उसके केशोंपर धूल जम गयी थी ।। ११५ ।।

तां दृष्ट्वा तत्र मनुजाः केचिद् भीताः प्रदुद्रुवुः ।
केचिच्चिन्तापरा जग्मुः केचित् तत्र विचुक्रुशुः ।। ११६ ।।

वहाँ दमयन्तीको सहसा देखकर कितने ही मनुष्य भयसे भाग खड़े हुए। कोई-कोई भारी चिन्तामें पड़ गये और कुछ लोग तो चीखने-चिल्लाने लगे ।। ११६ ।।

प्रहसन्ति स्म तां केचिदभ्यसूयन्ति चापरे ।
अकुर्वत दयां केचित् पप्रच्छुश्चापि भारत ।। ११७ ।।

कुछ लोग उसकी हँसी उड़ाते थे और कुछ उसमें दोष देख रहे थे। भारत! उन्हींमें कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्हें उसपर दया आ गयी और उन्होंने उसका समाचार पूछा — ।। ११७ ।।

कासि कस्यासि कल्याणि किं वा मृगयसे वने ।
त्वां दृष्ट्वा व्यथिताः स्मेह कच्चित् त्वमसि मानुषी ।। ११८ ।।

'कल्याणि! तुम कौन हो? किसकी स्त्री हो और इस वनमें क्या खोज रही हो? तुम्हें देखकर हम बहुत दुःखी हैं। क्या तुम मानवी हो? ।। ११८ ।।

वद सत्यं वनस्यास्य पर्वतस्याथवा दिशः ।
देवता त्वं हि कल्याणि त्वां वयं शरणं गताः ।। ११९ ।।

'कल्याणि! सच बताओ, तुम इस वन, पर्वत अथवा दिशाकी अधिष्ठात्री देवी तो नहीं हो? हम सब लोग तुम्हारी शरणमें आये हैं ।। ११९ ।।

यक्षी वा राक्षसी वा त्वमुताहोऽसि वराङ्गना ।
सर्वथा कुरु नः स्वस्ति रक्ष वास्माननिन्दिते ।। १२० ।।
यथायं सर्वथा सार्थः क्षेमी शीघ्रमितो व्रजेत् ।
तथा विधत्स्व कल्याणि यथा श्रेयो हि नो भवेत् ।। १२१ ।।

'तुम यक्षी हो या राक्षसी अथवा कोई श्रेष्ठ देवांगना हो? अनिन्दिते! सर्वथा हमारा कल्याण एवं संरक्षण करो। कल्याणि! यह हमारा समूह शीघ्र कुशलपूर्वक यहाँसे चला जाय और हमलोगोंका सब प्रकारसे भला हो, ऐसी कृपा करो' ।। १२०-१२१ ।।

तथोक्ता तेन सार्थेन दमयन्ती नृपात्मजा ।
प्रत्युवाच ततः साध्वी भर्तृव्यसनपीडिता ।। १२२ ।।

उस यात्रीदलके द्वारा जब ऐसी बात कही गयी, तब पतिके वियोगजनित दुःखसे पीड़ित साध्वी राजकुमारी दमयन्तीने उन सबको इस प्रकार उत्तर दिया— ।। १२२ ।।

सार्थवाहं च सार्थं च जना ये चात्र केचन ।
युवस्थविरबालाश्च सार्थस्य च पुरोगमाः ।। १२३ ।।
मानुषीं मां विजानीत मनुजाधिपतेः सुताम् ।
नृपस्नुषां राजभार्यां भर्तृदर्शनलालसाम् ।। १२४ ।।

'इस जनसमुदायके जो सरदार हों, उनसे, इस जनसमूहसे तथा इसके (भीतर रहनेवाले और) आगे चलनेवाले जो बाल-वृद्ध और युवक मनुष्य हों, उन सबसे मेरा यह कहना है कि आप सब लोग मुझे मानवी समझें। मैं एक नरेशपुत्री, महाराजकी पुत्रवधू तथा राजपत्नी हूँ। अपने स्वामीके दर्शनकी इच्छासे इस वनमें भटक रही हूँ ।। १२३-१२४ ।।

विदर्भराण्मम पिता भर्ता राजा च नैषधः ।
नलो नाम महाभागस्तं मृग्याम्यपराजितम् ।। १२५ ।।

'विदर्भराज भीम मेरे पिता हैं, निषधनरेश महाभाग राजा नल मेरे पति हैं। मैं उन्हीं अपराजित वीर नलकी खोज कर रही हूँ ।। १२५ ।।

यदि जानीत नृपतिं क्षिप्रं शंसत मे प्रियम् ।
नलं पुरुषशार्दूलममित्रगणसूदनम् ।। १२६ ।।

'यदि आपलोग शत्रुसमूहका संहार करनेवाले मेरे प्रियतम पुरुषसिंह महाराज नलके विषयमें कुछ जानते हों तो शीघ्र बतावें' ।। १२६ ।।

तामुवाचानवद्याङ्गीं सार्थस्य महतः प्रभुः ।
सार्थवाहः शुचिर्नाम शृणु कल्याणि मद्वचः ।। १२७ ।।

उस महान् समूहका मालिक और समस्त यात्रीदलका संचालक (वणिक्) शुचिनामसे प्रसिद्ध था। उसने उस सुन्दरीसे कहा—'कल्याणि! मेरी बात सुनो'— ।। १२७ ।।

अहं सार्थस्य नेता वै सार्थवाहः शुचिस्मिते ।
मनुष्यं नलनामानं न पश्यामि यशस्विनि ।। १२८ ।।

‘शुचिस्मिते! मैं इस दलका नेता और संचालक हूँ। यशस्विनि! मैंने नल नामधारी किसी मनुष्यको इस वनमें नहीं देखा है ।। १२८ ।।

कुञ्जरद्वीपिमहिषशार्दूलर्क्षमृगानपि ।
पश्याम्यस्मिन् वने कृत्स्ने ह्यमनुष्यनिषेविते ।। १२९ ।।

‘यह सम्पूर्ण वन मनुष्येतर प्राणियोंसे भरा है। इसके भीतर हाथियों, चीतों, भैंसों, सिंहों, रीछों और मृगोंको ही मैं देखता आ रहा हूँ ।। १२९ ।।

ऋते त्वां मानुषीं मर्त्यं न पश्यामि महावने ।
तथा नो यक्षराडद्य मणिभद्रः प्रसीदतु ।। १३० ।।

‘तुम-जैसी मानव-कन्याके सिवा और किसी मनुष्यको मैं इस विशाल वनमें नहीं देख रहा हूँ। इसलिये यक्षराज मणिभद्र आज हमपर प्रसन्न हों’ ।। १३० ।।

साब्रवीद् वणिजः सर्वान् सार्थवाहं च तं ततः ।
क्व नु यास्यति सार्थोऽयमेतदाख्यातुमर्हसि ।। १३१ ।।

तब दमयन्तीने उन सब व्यापारियों तथा दलके संचालकसे कहा—‘आपका यह दल कहाँ जायगा? यह मुझे बताइये’ ।। १३१ ।।

सार्थवाह उवाच

सार्थोऽयं चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यदर्शिनः ।
क्षिप्रं जनपदं गन्ता लाभाय मनुजात्मजे ।। १३२ ।।

सार्थवाहने कहा—राजकुमारी! हमारा यह दल शीघ्र ही सत्यदर्शी चेदिराज सुबाहुके जनपद (नगर)-में विशेष लाभके उद्देश्यसे जायगा ।। १३२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीसार्थवाहसंगमे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ।। ६४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीकी सार्थवाहसे भेंटविषयक चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६४ ।।

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

जंगली हाथियोंद्वारा व्यापारियोंके दलका सर्वनाश तथा दुःखित दमयन्तीका चेदिराजके भवनमें सुखपूर्वक निवास

बृहदश्व उवाच

सा तच्छ्रुत्वानवद्याङ्गी सार्थवाहवचस्तदा ।
जगाम सह तेनैव सार्थेन पतिलालसा ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! दलके संचालककी वह बात सुनकर निर्दोष एवं सुन्दर अंगोंवाली दमयन्ती पतिदेवके दर्शनके लिये उत्सुक हो व्यापारियोंके उस दलके साथ ही यात्रा करने लगी ।। १ ।।

अथ काले बहुतिथे वने महति दारुणे ।
तडागं सर्वतोभद्रं पद्मसौगन्धिकं महत् ।। २ ।।
ददृशुर्वणिजो रम्यं प्रभूतयवसेन्धनम् ।
बहुपुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम् ।। ३ ।।

तदनन्तर बहुत समयके बाद एक भयंकर विशाल वनमें पहुँचकर उन व्यापारियोंने एक महान् सरोवर देखा, जिसका नाम था, पद्मसौगन्धिक। वह सब ओरसे कल्याणप्रद जान पड़ता था। उस रमणीय सरोवरके पास घास और ईंधनकी अधिकता थी, फूल और फल भी वहाँ प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होते थे। उस तालाबपर बहुत-से पक्षी निवास करते थे ।। २-३ ।।

निर्मलस्वादुसलिलं मनोहारि सुशीतलम् ।
सुपरिश्रान्तवाहास्ते निवेशाय मनो दधुः ।। ४ ।।

सरोवरका जल स्वच्छ और स्वादु था, वह देखनेमें बड़ा ही मनोहर और अत्यन्त शीतल था। व्यापारियोंके वाहन बहुत थक गये थे। इसलिये उन्होंने वहीं पड़ाव डालनेका निश्चय किया ।। ४ ।।

सम्मते सार्थवाहस्य विविशुर्वनमुत्तमम् ।
उवास सार्थः सुमहान् वेलामासाद्य पश्चिमाम् ।। ५ ।।

समूहके अधिपतिसे अनुमति लेकर सब लोगोंने उस उत्तम वनमें प्रवेश किया और वह महान् जनसमुदाय सरोवरके पश्चिम तटपर ठहर गया ।। ५ ।।

अथार्धरात्रसमये निःशब्दस्तिमिते तदा ।
सुप्ते सार्थे परिश्रान्ते हस्तियूथमुपागमत् ।। ६ ।।
पानीयार्थं गिरिनदीं मदप्रस्रवणाविलाम् ।

अथापश्यत सार्थं तं सार्थजान् सुबहून् गजान् ।। ७ ।।

तत्पश्चात् आधी रातके समय जब कहींसे भी कोई शब्द सुनायी नहीं देता था और उस दलके सभी लोग थककर सो गये थे, उस समय गजराजोंके मदकी धारासे मलिन जलवाली पहाड़ी नदीमें पानी पीनेके लिये (जंगली) हाथियोंका एक झुंड आ निकला। उस झुंडने व्यापारियोंके सोये हुए दलको और उसके साथ आये हुए बहुत-से हाथियोंको भी देखा ।। ६-७ ।।

ते तान् ग्राम्यगजान् दृष्ट्वा सर्वे वनगजास्तदा ।
समाद्रवन्त वेगेन जिघांसन्तो मदोत्कटाः ।। ८ ।।

तब वनमें रहनेवाले उन सभी मदोन्मत्त गजोंने उन ग्रामीण हाथियोंको देखकर उन्हें मार डालनेकी इच्छासे उनपर वेगपूर्वक आक्रमण किया ।। ८ ।।

तेषामापततां वेगः करिणां दुःसहोऽभवत् ।
नगाग्रादिव शीर्णानां शृङ्गणां पततां क्षितौ ।। ९ ।।

पर्वतकी चोटीसे टूटकर पृथ्वीपर गिरनेवाले बड़े-बड़े शिखरोंके समान उन आक्रमणकारी जंगली हाथियोंका वेग (उस यात्रीदलके लिये) अत्यन्त दुःसह था ।। ९ ।।

स्पन्दतामपि नागानां मार्गा नष्टा वनोद्भवाः ।
मार्गं संरुध्य संसुप्तं पद्मिन्याः सार्थमुत्तमम् ।। १० ।।

ग्रामीण हाथियोंपर आक्रमण करनेकी चेष्टावाले उन वनवासी गजराजोंके वन्य मार्ग अवरुद्ध हो गये थे। सरोवरके तटपर व्यापारियोंका महान् समुदाय उनका मार्ग रोककर सो रहा था ।। १० ।।

ते तं ममर्दुः सहसा चेष्टमानं महीतले ।
हाहाकारं प्रमुञ्चन्तः सार्थिकाः शरणार्थिनः ।। ११ ।।
वनगुल्मांश्च धावन्तो निद्रान्धा बहवोऽभवन् ।
केचिद् दन्तैः करैः केचित् केचित् पद्भ्यां हता गजैः ।। १२ ।।

उन हाथियोंने सहसा पहुँचकर समूचे दलको कुचल दिया। कितने ही मनुष्य धरतीपर पड़े-पड़े छटपटा रहे थे। उस दलके कितने ही पुरुष हाहाकार करते हुए बचावकी जगह खोजते हुए जंगलके पौधोंके समूहमें भाग गये। बहुत-से मनुष्य तो नींदके मारे अन्धे हो रहे थे। हाथियोंने किन्हींको दाँतोंसे, किन्हींको सूड़ोंसे और कितनोंको पैरोंसे घायल कर दिया ।। ११-१२ ।।

निहतोष्ट्राश्वबहुलाः पदातिजनसंकुलाः ।
भयादाधावमानाश्च परस्परहतास्तदा ।। १३ ।।
घोरान् नादान् विमुञ्चन्तो निपेतुर्धरणीतले ।
वृक्षेष्वारुह्य संरब्धाः पतिता विषमेषु च ।। १४ ।।

उनके बहुत-से ऊँट और घोड़े मारे गये और उस समुदायमें बहुत-से पैदल लोग भी थे। वे सब लोग उस समय भयसे चारों ओर भागते हुए एक-दूसरेसे टकराकर चोट खा जाते थे। घोर आर्तनाद करते हुए सभी लोग धरतीपर गिरने लगे। कुछ लोग बड़े वेगसे वृक्षोंपर चढ़ते हुए नीचेकी विषम भूमियोंपर गिर पड़ते थे ।। १३-१४ ।।

एवं प्रकारैर्बहुभिर्दैवेनाक्रम्य हस्तिभिः ।
राजन् विनिहतं सर्वं समृद्धं सार्थमण्डलम् ।। १५ ।।

राजन्! इस प्रकार दैववश बहुतेरे जंगली हाथियोंने आक्रमण करके (प्रायः) उस सम्पूर्ण समृद्धिशाली व्यापारियोंके समुदायको नष्ट कर दिया ।। १५ ।।

आरावः सुमहांश्चासीत् त्रैलोक्यभयकारकः ।
एषोऽग्निरुत्थितः कष्टस्त्रायध्वं धावताधुना ।। १६ ।।
रत्नराशिर्विशीर्णोऽयं गृह्णीध्वं किं प्रधावत ।

उस समय वहाँ तीनों लोकोंको भयमें डालनेवाला महान् आर्तनाद एवं चीत्कार हो रहा था। कोई कहता—'अरे! इधर बड़े जोरकी आग प्रज्वलित हो उठी है। यह भारी संकट आ गया (अब) दौड़ो और बचाओ।' दूसरा कहता—'अरे! ये ढेर-के-ढेर रत्न बिखरे पड़े हैं, इन्हें सँभालकर रखो। इधर-उधर भागते क्यों हो?' ।। १६½ ।।

सामान्यमेतद् द्रविणं न मिथ्यावचनं मम ।। १७ ।।

तीसरा कहता था—'भाई! इस धनपर सबका समान अधिकार है, मेरी यह बात झूठी नहीं है' ।। १७ ।।

एवमेवाभिभाषन्तो विद्रवन्ति भयात् तदा ।
पुनरेवाभिधास्यामि चिन्तयध्वं सुकातराः ।। १८ ।।

कोई कहता—'ऐ कायरो! मैं फिर तुमसे बात करूँगा, अभी अपनी रक्षाकी चिन्ता करो।' इस तरहकी बातें करते हुए सब लोग भयसे भाग रहे थे ।। १८ ।।

तस्मिंस्तथा वर्तमाने दारुणे जनसंक्षये ।
दमयन्ती च बुबुधे भयसंत्रस्तमानसा ।। १९ ।।

इस प्रकार जब वहाँ भयानक नरसंहार हो रहा था, उसी समय दमयन्ती भी जाग उठी। उसका हृदय भयसे संत्रस्त हो उठा ।। १९ ।।

अपश्यद् वैशसं तत्र सर्वलोकभयंकरम् ।
अदृष्टपूर्वं तद् दृष्ट्वा बाला पद्मनिभेक्षणा ।। २० ।।
संसक्तवदनाश्वासा उत्तस्थौ भयविह्वला ।
ये तु तत्र विनिर्मुक्ताः सार्थात् केचिदविक्षताः ।। २१ ।।
तेऽब्रुवन् सहिताः सर्वे कस्येदं कर्मणः फलम् ।
नूनं न पूजितोऽस्माभिर्मणिभद्रो महायशाः ।। २२ ।।
तथा यक्षाधिपः श्रीमान् न वै वैश्रवणः प्रभुः ।
न पूजा विघ्नकर्तॄणामथवा प्रथमं कृता ।। २३ ।।
शकुनानां फलं वाथ विपरीतमिदं ध्रुवम् ।
ग्रहा न विपरीतास्तु किमन्यदिदमागतम् ।। २४ ।।

वहाँ उसने वह महासंहार अपनी आँखों देखा, जो सब लोगोंके लिये भयंकर था। उसने ऐसी दुर्घटना पहले कभी नहीं देखी थी। यह सब देखकर वह कमलनयनी बाला भयसे व्याकुल हो उठी। उसको कहींसे कोई सान्त्वना नहीं मिल रही थी। वह इस प्रकार स्तब्ध हो रही थी, मानो धरतीसे सट गयी हो। तदनन्तर वह किसी प्रकार उठकर खड़ी हुई। दलके जो लोग उस संकटसे मुक्त हो आघातसे बचे हुए थे, वे सब एकत्र हो कहने लगे कि 'यह हमारे किस कर्मका फल है? निश्चय ही हमने महायशस्वी मणिभद्रका पूजन नहीं किया है। इसी प्रकार हमने श्रीमान् यक्षराज कुबेरकी भी पूजा नहीं की है अथवा विघ्नकर्ता विनायकोंकी भी पहले पूजा नहीं कर ली थी। अथवा हमने पहले जो-जो शकुन देखे थे, उसका यह

विपरीत फल है। यदि हमारे ग्रह विपरीत न होते तो और किस हेतुसे यह संकट हमारे ऊपर कैसे आ सकता था?' ।। २०—२४ ।।

अपरे त्वब्रुवन् दीना ज्ञातिद्रव्यविनाकृताः ।
यासावद्य महासार्थे नारी ह्युन्मत्तदर्शना ।। २५ ।।
प्रविष्टा विकृताकारा कृत्वा रूपममानुषम् ।
तयेयं विहिता पूर्वं माया परमदारुणा ।। २६ ।।

दूसरे लोग जो अपने कुटुम्बीजनों और धनके विनाशसे दीन हो रहे थे, वे इस प्रकार कहने लगे—'आज हमारे विशाल जनसमूहके साथ वह जो उन्मत्त-जैसी दिखायी देनेवाली नारी आ गयी थी, वह विकराल आकारवाली राक्षसी थी तो भी अलौकिक सुन्दर रूप धारण करके हमारे दलमें घुस गयी थी। उसीने पहलेसे ही यह अत्यन्त भयंकर माया फैला रखी थी ।। २५-२६ ।।

राक्षसी वा ध्रुवं यक्षी पिशाची वा भयंकरी ।
तस्याः सर्वमिदं पापं नात्र कार्या विचारणा ।। २७ ।।
पश्यामो यदि तां पापां सार्थघ्नीं नैकदुःखदाम् ।
लोष्टभिः पांसुभिश्चैव तृणैः काष्ठैश्च मुष्टिभिः ।। २८ ।।
अवश्यमेव हन्यामः सार्थस्य किल कृत्यकाम् ।

'निश्चय ही वह राक्षसी, यक्षी अथवा भयंकर पिशाची थी—इसमें विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि यह सारा पापपूर्ण कृत्य उसीका किया हुआ है। उसने हमें अनेक प्रकारका दुःख दिया और प्रायः सारे दलका विनाश कर डाला। वह पापिनी समूचे सार्थके लिये अवश्य ही कृत्या बनकर आयी थी। यदि हम उसे देख लेंगे तो ढेलोंसे, धूल और तिनकोंसे, लकड़ियों और मुक्कोंसे भी अवश्य मार डालेंगे ।। २७-२८½ ।।

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं तेषां सुदारुणम् ।। २९ ।।
ह्रीता भीता च संविग्ना प्राद्रवद् यत्र काननम् ।
आशङ्कमाना तत्पापमात्मानं पर्यदेवयत् ।। ३० ।।

'उनका वह अत्यन्त भयंकर वचन सुनकर दमयन्ती लज्जासे गड़ गयी और भयसे व्याकुल हो उठी। उनके पापपूर्ण संकल्पके संघटित होनेकी आशंका करके वह उसी ओर भाग गयी, जहाँ घना जंगल था। वहाँ जाकर अपनी इस परिस्थितिपर विचार करके वह विलाप करने लगी— ।। २९-३० ।।

अहो ममोपरि विधेः संरम्भो दारुणो महान् ।
नानुबध्नाति कुशलं कस्येदं कर्मणः फलम् ।। ३१ ।।

'अहो! मुझपर विधाताका अत्यन्त भयानक और महान् कोप है, जिससे मुझे कहीं भी कुशल-क्षेमकी प्राप्ति नहीं होती। न जाने, यह हमारे किस कर्मका फल है? ।। ३१ ।।

न स्मराम्यशुभं किंचित् कृतं कस्यचिदण्वपि ।

कर्मणा मनसा वाचा कस्येदं कर्मणः फलम् ।। ३२ ।।

'मैंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी किसीका थोड़ा-सा भी अमंगल किया हो, इसकी याद नहीं आती, फिर यह मेरे किस कर्मका फल मिल रहा है? ।। ३२ ।।

नूनं जन्मान्तरकृतं पापमापतितं महत् ।
अपश्चिमामिमां कष्टामापदं प्राप्तवत्यहम् ।। ३३ ।।

'निश्चय ही यह मेरे दूसरे जन्मोंके किये हुए पापका महान् फल प्राप्त हुआ है, जिससे मैं इस अनन्त कष्टमें पड़ गयी हूँ ।। ३३ ।।

भर्तृराज्यापहरणं स्वजनाच्च पराजयः ।
भर्त्रा सह वियोगश्च तनयाभ्यां च विच्युतिः ।। ३४ ।।

'मेरे स्वामीके राज्यका अपहरण हुआ, उन्हें आत्मीयजनसे ही पराजित होना पड़ा, मेरा अपने पतिदेवसे वियोग हुआ और अपनी संतानोंके दर्शनसे भी वंचित हो गयी हूँ ।। ३४ ।।

निर्नाथता वने वासो बहुव्यालनिषेविते ।

'इतना ही नहीं, असंख्य सर्प आदि जन्तुओंसे भरे हुए इस वनमें मुझे अनाथकी-सी दशामें रहना पड़ता है' ।।

अथापरेद्युः सम्प्राप्ते हतशिष्टा जनास्तदा ।। ३५ ।।
देशात् तस्माद् विनिष्क्रम्य शोचन्ते वैशसं कृतम् ।
भ्रातरं पितरं पुत्रं सखायं च नराधिप ।। ३६ ।।

तदनन्तर दूसरा दिन प्रारम्भ होनेपर मरनेसे बचे हुए लोग उस स्थानसे निकलकर उस विकट संहारके लिये शोक करने लगे। राजन्! कोई भाईके लिये दुःखी था, कोई पिताके लिये; किसीको पुत्रका शोक था और किसीको मित्रका ।। ३५-३६ ।।

अशोचत् तत्र वैदर्भी किं नु मे दुष्कृतं कृतम् ।
योऽपि मे निर्जनेऽरण्ये सम्प्राप्तोऽयं जनार्णवः ।। ३७ ।।
स हतो हस्तियूथेन मन्दभाग्यान्ममैव तत् ।
प्राप्तव्यं सुचिरं दुःखं नूनमद्यापि वै मया ।। ३८ ।।

विदर्भराजकुमारी दमयन्ती भी इसके लिये शोक करने लगी कि 'मैंने कौन-सा पाप किया है, जिससे इस निर्जन वनमें मुझे जो यह समुद्रके समान जनसमुदाय प्राप्त हो गया था, वह भी मेरे ही दुर्भाग्यसे हाथियोंके झुंडद्वारा मारा गया। निश्चय ही मुझे अभी दीर्घकालतक दुःख-ही-दुःख भोगना है ।। ३७-३८ ।।

नाप्राप्तकालो म्रियते श्रुतं वृद्धानुशासनम् ।
या नाहमद्य मृदिता हस्तियूथेन दुःखिता ।। ३९ ।।

'जिसकी मृत्युका समय नहीं आया है, वह इच्छा होते हुए भी मर नहीं सकता। वृद्ध पुरुषोंका यह जो उपदेश मैंने सुन रखा है, यह ठीक ही जान पड़ता है, तभी तो आज मैं

दुःखित होनेपर भी हाथियोंके झुंडसे कुचलकर मर न सकी ।। ३९ ।।

न ह्यदैवकृतं किंचिन्नराणामिह विद्यते ।
न च मे बालभावेऽपि किंचित् पापकृतं कृतम् ।। ४० ।।
कर्मणा मनसा वाचा यदिदं दुःखमागतम् ।

'मनुष्योंको इस जगत्में कोई भी सुख या दुःख ऐसा नहीं मिलता, जो विधाताका दिया हुआ न हो। मैंने बचपनमें भी मन, वाणी अथवा क्रियाद्वारा ऐसा पाप नहीं किया है, जिससे मुझे यह दुःख प्राप्त होता ।। ४०½ ।।

मन्ये स्वयंवरकृते लोकपालाः समागताः ।। ४१ ।।
प्रत्याख्याता मया तत्र नलस्यार्थाय देवताः ।
नूनं तेषां प्रभावेण वियोगं प्राप्तवत्यहम् ।। ४२ ।।
एवमादीनि दुःखार्ता सा विलप्य वराङ्गना ।
प्रलापानि तदा तानि दमयन्ती पतिव्रता ।। ४३ ।।

'मैं समझती हूँ, स्वयंवरके लिये जो लोकपाल देवगण पधारे थे, नलके कारण मैंने उनका तिरस्कार कर दिया था। अवश्य उन्हीं देवताओंके प्रभावसे आज मुझे वियोगका कष्ट प्राप्त हुआ है।' इस प्रकार दुःखसे आतुर हुई सुन्दरी पतिव्रता दमयन्तीने उस समय अनेक प्रकारसे विलाप एवं प्रलाप किये ।। ४१—४३ ।।

हतशेषैः सह तदा ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
अगच्छद् राजशार्दूल चन्द्रलेखेव शारदी ।। ४४ ।।
गच्छन्ती साचिराद् बाला पुरमासादयन्महत् ।
सायाह्ने चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यदर्शिनः ।। ४५ ।।

नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर मरनेसे बचे हुए वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ यात्रा करती हुई शरत्कालके चन्द्रमाकी कलाके समान वह सुन्दरी युवती थोड़े ही समयमें संध्या होते-होते सत्यदर्शी चेदिराज सुबाहुकी राजधानीमें जा पहुँची ।। ४४-४५ ।।

अथ वस्त्रार्धसंवीता प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
तं विह्वलां कृशां दीनां मुक्तकेशीममार्जिताम् ।। ४६ ।।

शरीरमें आधी साड़ीको लपेटे हुए ही उसने उस उत्तम नगरमें प्रवेश किया। वह विह्वल, दीन और दुर्बल हो रही थी। उसके सिरके बाल खुले हुए थे। उसने स्नान नहीं किया था ।। ४६ ।।

उन्मत्तामिव गच्छन्तीं ददृशुः पुरवासिनः ।
प्रविशन्तीं तु तां दृष्ट्वा चेदिराजपुरीं तदा ।। ४७ ।।
अनुजग्मुस्तत्र बाला ग्रामिपुत्राः कुतूहलात् ।
सा तैः परिवृतागच्छत् समीपं राजवेश्मनः ।। ४८ ।।

पुरवासियोंने उसे उन्मत्ताकी भाँति जाते देखा। चेदिनरेशकी राजधानीमें उसे प्रवेश करते देख उस समय बहुत-से ग्रामीण बालक कौतूहलवश उसके साथ हो लिये थे। उनसे घिरी हुई दमयन्ती राजमहलके समीप गयी ।। ४७-४८ ।।

तां प्रासादगतापश्यद् राजमाता जनैर्वृताम् ।
धात्रीमुवाच गच्छैनामानयेह ममान्तिकम् ।। ४९ ।।

उस समय राजमाताने उसे महलपरसे देखा। वह जनसाधारणसे घिरी हुई थी। राजमाताने धायसे कहा—'जाओ, इस युवतीको मेरे पास ले आओ ।। ४९ ।।

जनेन क्लिश्यते बाला दुःखिता शरणार्थिनी ।
तादृग् रूपं च पश्यामि विद्योतयति मे गृहम् ।। ५० ।।

'इसे लोग तंग कर रहे हैं। यह दुःखिनी युवती कोई आश्रय चाहती है। मुझे इसका रूप ऐसा दिखायी देता है, जो मेरे घरको प्रकाशित कर देगा ।। ५० ।।

उन्मत्तवेषा कल्याणी श्रीरिवायतलोचना ।
सा जनं वारयित्वा तं प्रासादतलमुत्तमम् ।। ५१ ।।
आरोप्य विस्मिता राजन् दमयन्तीमपृच्छत ।
एवमप्यसुखाविष्टा बिभर्षि परमं वपुः ।। ५२ ।।

'इसका वेष तो उन्मत्तके समान है, परंतु यह विशाल नेत्रोंवाली युवती कल्याणमयी लक्ष्मीके समान जान पड़ती है।' धाय उन सब लोगोंको हटाकर उसे उत्तम राजमहलकी अट्टालिकापर चढ़ा ले आयी। राजन्! तत्पश्चात् विस्मित होकर राजमाताने दमयन्तीसे पूछा—'अहो! तुम इस प्रकार दुःखसे दबी होनेपर भी इतना सुन्दर रूप कैसे धारण करती हो? ।। ५१-५२ ।।

भासि विद्युदिवाभ्रेषु शंस मे कासि कस्य वा ।
न हि ते मानुषं रूपं भूषणैरपि वर्जितम् ।। ५३ ।।
असहाया नरेभ्यश्च नोद्विजस्यमरप्रभे ।

'मेघमालामें प्रकाशित होनेवाली बिजलीकी भाँति तुम इस दुःखमें भी कैसी तेजस्विनी दिखायी देती हो। मुझसे बताओ, तुम कौन हो? किसकी स्त्री हो? यद्यपि तुम्हारे शरीरपर कोई आभूषण नहीं है तो भी तुम्हारा यह रूप मानव-जगत्‌का नहीं जान पड़ता। देवताकी-सी दिव्य कान्ति धारण करनेवाली वत्से! तुम असहाय-अवस्थामें होकर भी लोगोंसे डरती क्यों नहीं हो?' ।।

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्या भैमी वचनमब्रवीत् ।। ५४ ।।

उसकी वह बात सुनकर भीमकुमारीने कहा— ।। ५४ ।।

मानुषीं मां विजानीहि भर्तारं समनुव्रताम् ।
सैरन्ध्रीजातिसम्पन्नां भुजिष्यां कामवासिनीम् ।। ५५ ।।

'माताजी! आप मुझे मानव-कन्या ही समझिये। मैं अपने पतिके चरणोंमें अनुराग रखनेवाली एक नारी हूँ। मेरी अन्तःपुरमें काम करनेवाली सैरन्ध्री जाति है। मैं सेविका हूँ और जहाँ इच्छा होती है, वहीं रहती हूँ ।।

फलमूलाशनामेकां यत्रसायंप्रतिश्रयाम् ।
असंख्येयगुणो भर्ता मां च नित्यमनुव्रतः ।। ५६ ।।

'मैं अकेली हूँ, फल-मूल खाकर जीवन-निर्वाह करती हूँ और जहाँ साँझ होती है, वहीं टिक जाती हूँ। मेरे स्वामीमें असंख्य गुण हैं, उनका मेरे प्रति सदा अत्यन्त अनुराग है ॥ ५६ ॥

भक्ताहमपि तं वीरं छायेवानुगता पथि ।
तस्य दैवात् प्रसङ्गोऽभूदतिमात्रं सुदेवने ॥ ५७ ॥

'जैसे छाया राह चलनेवाले पथिकके पीछे-पीछे चलती है, उसी प्रकार मैं भी अपने वीर पतिदेवमें भक्तिभाव रखकर सदा उन्हींका अनुसरण करती हूँ। दुर्भाग्यवश एक दिन मेरे पतिदेव जूआ खेलनेमें अत्यन्त आसक्त हो गये ॥ ५७ ॥

द्यूते स निर्जितश्चैव वनमेक उपेयिवान् ।
तमेकवसनं वीरमुन्मत्तमिव विह्वलम् ॥ ५८ ॥
आश्वासयन्ती भर्तारमहमप्यगमं वनम् ।
स कदाचिद् वने वीरः कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ॥ ५९ ॥

'और उसीमें अपना सब कुछ हारकर वे अकेले ही वनकी ओर चल दिये। एक वस्त्र धारण किये उन्मत्त और विह्वल हुए अपने वीर स्वामीको सान्त्वना देती हुई मैं भी उनके साथ वनमें चली आयी। एक दिनकी बात है, मेरे वीर स्वामी किसी कारणवश वनमें गये ॥ ५८-५९ ॥

क्षुत्परीतस्तु विमनास्तदप्येकं व्यसर्जयत् ।
तमेकवसना नग्नमुन्मत्तवदचेतसम् ॥ ६० ॥
अनुव्रजन्ती बहुला न स्वपामि निशास्तदा ।
ततो बहुतिथे काले सुप्तामुत्सृज्य मां क्वचित् ॥ ६१ ॥
वाससोऽर्धं परिच्छिद्य त्यक्तवान् मामनागसम् ।
तं मार्गमाणा भर्तारं दह्यमाना दिवानिशम् ॥ ६२ ॥

'उस समय वे भूखसे पीड़ित और अनमने हो रहे थे। अतः उन्होंने अपने उस एक वस्त्रको भी कहीं वनमें ही छोड़ दिया। मेरे शरीरपर भी एक ही वस्त्र था। वे नग्न, उन्मत्त-जैसे और अचेत हो रहे थे। उसी दशामें सदा उनका अनुसरण करती हुई अनेक रात्रियोंतक कभी सो न सकी। तदनन्तर बहुत समयके पश्चात् एक दिन जब मैं सो गयी थी, उन्होंने मेरी आधी साड़ी फाड़ ली और मुझ निरपराधिनी पत्नीको वहीं छोड़कर वे कहीं चल दिये। मैं दिन-रात वियोगाग्निमें जलती हुई निरन्तर उन्हीं पतिदेवको ढूँढ़ती फिरती हूँ ॥ ६०—६२ ॥

साहं कमलगर्भाभमपश्यन्ती हृदि प्रियम् ।
न विन्दाम्यमरप्रख्यं प्रियं प्राणेश्वरं प्रभुम् ॥ ६३ ॥

'मेरे प्रियतमकी कान्ति कमलके भीतरी भागके समान है। वे देवताओंके समान तेजस्वी, मेरे प्राणोंके स्वामी और शक्तिशाली हैं। बहुत खोजनेपर भी मैं अपने प्रियको न तो

देख सकी हूँ और न उनका पता ही पा रही हूँ' ।। ६३ ।।

तामश्रुपरिपूर्णाक्षीं विलपन्तीं तथा बहु ।
राजमाताब्रवीदार्ता भैमीमार्तस्वरां स्वयम् ।। ६४ ।।
वसस्व मयि कल्याणि प्रीतिर्मे परमा त्वयि ।
मृगयिष्यन्ति ते भद्रे भर्तारं पुरुषा मम ।। ६५ ।।

भीमकुमारी दमयन्तीके नेत्रोंमें आँसू भरे हुए थे एवं वह आर्तस्वरसे बहुत विलाप कर रही थी। राजमाता स्वयं भी उसके दुःखसे दुःखी हो बोली—'कल्याणि! तुम मेरे पास रहो। तुमपर मेरा बहुत प्रेम है। भद्रे! मेरे सेवक तुम्हारे पतिकी खोज करेंगे ।। ६४-६५ ।।

अपि वा स्वयमागच्छेत् परिधावन्नितस्ततः ।
इहैव वसती भद्रे भर्तारमुपलप्स्यसे ।। ६६ ।।

'अथवा यह भी सम्भव है, वे इधर-उधर भटकते हुए स्वयं ही इधर आ निकलें। भद्रे! तुम यहीं रहकर अपने पतिको प्राप्त कर लोगी' ।। ६६ ।।

राजमातुर्वचः श्रुत्वा दमयन्ती वचोऽब्रवीत् ।
समयेनोत्सहे वस्तुं त्वयि वीरप्रजायिनि ।। ६७ ।।

राजमाताकी यह बात सुनकर दमयन्तीने कहा—'वीरमातः! मैं एक नियमके साथ आपके यहाँ रह सकती हूँ ।। ६७ ।।

उच्छिष्टं नैव भुञ्जीयां न कुर्यां पादधावनम् ।
न चाहं पुरुषानन्यान् प्रभाषेयं कथंचन ।। ६८ ।।

'मैं किसीका जूठा नहीं खाऊँगी, किसीके पैर नहीं धोऊँगी और किसी भी दूसरे पुरुषसे किसी तरह भी वार्तालाप नहीं करूँगी ।। ६८ ।।

प्रार्थयेद् यदि मां कश्चिद् दण्ड्यस्ते स पुमान् भवेत् ।
वध्यश्च तेऽसकृन्मन्द इति मे व्रतमाहितम् ।। ६९ ।।

'यदि कोई पुरुष मुझे प्राप्त करना चाहे तो वह आपके द्वारा दण्डनीय हो और बार-बार ऐसे अपराध करनेवाले मूढ़को आप प्राणदण्ड भी दें, यही मेरा निश्चित व्रत है ।। ६९ ।।

भर्तुरन्वेषणार्थं तु पश्येयं ब्राह्मणानहम् ।
यद्येवमिह वत्स्यामि त्वत्सकाशे न संशयः ।। ७० ।।

'मैं अपने पतिकी खोजके लिये केवल ब्राह्मणोंसे मिल सकती हूँ। यदि यहाँ ऐसी व्यवस्था हो सके तो निश्चय ही आपके निकट निवास करूँगी। इसमें संशय नहीं है ।।

अतोऽन्यथा न मे वासो वर्तते हृदये क्वचित् ।
तां प्रहृष्टेन मनसा राजमातेदमब्रवीत् ।। ७१ ।।

'यदि इसके विपरीत कोई बात हो तो कहीं भी रहनेका मेरे मनमें संकल्प नहीं हो सकता।' यह सुनकर राजमाता प्रसन्नचित्त होकर उससे बोली— ।। ७१ ।।

सर्वमेतत् करिष्यामि दिष्ट्या ते व्रतमीदृशम् ।

एवमुक्त्वा ततो भैमीं राजमाता विशाम्पते ।। ७२ ।।
उवाचेदं दुहितरं सुनन्दां नाम भारत ।
सैरन्ध्रीमभिजानीष्व सुनन्दे देवरूपिणीम् ।। ७३ ।।

'बेटी! मैं यह सब करूँगी। सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा व्रत ऐसा उत्तम है।' राजा युधिष्ठिर! दमयन्तीसे ऐसा कहकर राजमाता अपनी पुत्री सुनन्दासे बोली—'सुनन्दे! इस सैरन्ध्रीको तुम देवीस्वरूपा समझो ।। ७२-७३ ।।

वयसा तुल्यतां प्राप्ता सखी तव भवत्वियम् ।
एतया सह मोदस्व निरुद्विग्नमनाः सदा ।। ७४ ।।

'यह अवस्थामें तुम्हारे समान है, अतः तुम्हारी सखी होकर रहे। तुम इसके साथ सदा प्रसन्नचित्त एवं आनन्दमग्न रहो' ।। ७४ ।।

ततः परमसंहृष्टा सुनन्दा गृहमागमत् ।
दमयन्तीमुपादाय सखीभिः परिवारिता ।। ७५ ।।

तब सखियोंसे घिरी हुई सुनन्दा अत्यन्त हर्षोल्लासमें भरकर दमयन्तीको साथ ले अपने भवनमें आयी ।। ७५ ।।

स तत्र पूज्यमाना वै दमयन्ती व्यनन्दत ।
सर्वकामैः सुविहितैर्निरुद्वेगावसत् तदा ।। ७६ ।।

सुनन्दा दमयन्तीके इच्छानुसार सब प्रकारकी व्यवस्था करके उसे बड़े आदर-सत्कारके साथ रखने लगी। इससे दमयन्तीको बड़ी प्रसन्नता हुई और वह वहाँ उद्वेगरहित हो रहने लगी ।। ७६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीचेदिराजगृहवासे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ।। ६५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीका चेदिराजके भवनमें निवासविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६५ ।।

षट्षष्टितमोऽध्यायः

राजा नलके द्वारा दावानलसे कर्कोटक नागकी रक्षा तथा नागद्वारा नलको आश्वासन

बृहदश्व उवाच

उत्सृज्य दमयन्तीं तु नलो राजा विशाम्पते ।
ददर्श दावं दह्यन्तं, महान्तं गहने वने ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! दमयन्तीको छोड़कर जब राजा नल आगे बढ़ गये, तब एक गहन वनमें उन्होंने महान् दावानल प्रज्वलित होते देखा ।। १ ।।

तत्र शुश्राव शब्दं वै मध्ये भूतस्य कस्यचित् ।
अभिधाव नलेत्युच्चैः पुण्यश्लोकेति चासकृत् ।। २ ।।
मा भैरिति नलश्चोक्त्वा मध्यमग्नेः प्रविश्य तम् ।
ददर्श नागराजानं शयानं कुण्डलीकृतम् ।। ३ ।।

उसीके बीचमें उन्हें किसी प्राणीका यह शब्द सुनायी पड़ा—'पुण्यश्लोक महाराज नल! दौड़िये, मुझे बचाइये।' उच्च स्वरसे बार-बार दुहरायी गयी इस वाणीको सुनकर राजा नलने कहा—'डरो मत'। इतना कहकर वे आगके भीतर घुस गये। वहाँ उन्होंने देखा, एक नागराज कुण्डलाकार पड़ा हुआ सो रहा है ।। २-३ ।।

स नागः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानो नलं तदा ।
उवाच मां विद्धि राजन् नागं कर्कोटकं नृप ।। ४ ।।
मया प्रलब्धो ब्रह्मर्षिर्नारदः सुमहातपाः ।
तेन मन्युपरीतेन शप्तोऽस्मि मनुजाधिप ।। ५ ।।
तिष्ठ त्वं स्थावर इव यावदेव नलः क्वचित् ।
इतो नेता हि तत्र त्वं शापान्मोक्ष्यसि मत्कृतात् ।। ६ ।।

उस नागने हाथ जोड़कर काँपते हुए नलसे उस समय इस प्रकार कहा—'राजन्! मुझे कर्कोटक नाग समझिये। नरेश्वर! एक दिन मेरे द्वारा महातपस्वी ब्रह्मर्षि नारद ठगे गये, अतः मनुजेश्वर! उन्होंने क्रोधसे आविष्ट होकर मुझे शाप दे दिया—'तुम स्थावर वृक्षकी भाँति एक जगह पड़े रहो, जब कभी राजा नल आकर तुम्हें यहाँसे अन्यत्र ले जायँगे, तभी तुम मेरे शापसे छुटकारा पा सकोगे' ।।

तस्य शापान्न शक्तोऽस्मि पदाद् विचलितुं पदम् ।
उपदेक्ष्यामि ते श्रेयस्त्रातुमर्हति मां भवान् ।। ७ ।।

'राजन्! नारदजीके उस शापसे मैं एक पग भी चल नहीं सकता; आप मुझे बचाइये, मैं आपको कल्याणकारी उपदेश दूँगा ।। ७ ।।

सखा च ते भविष्यामि मत्समो नास्ति पन्नगः ।
लघुश्च ते भविष्यामि शीघ्रमादाय गच्छ माम् ।। ८ ।।

'साथ ही मैं आपका मित्र हो जाऊँगा। सर्पोंमें मेरे-जैसा प्रभावशाली दूसरा कोई नहीं है। मैं आपके लिये हलका हो जाऊँगा। आप शीघ्र मुझे लेकर यहाँसे चल दीजिये' ।। ८ ।।

एवमुक्त्वा स नागेन्द्रो बभूवाङ्गुष्ठमात्रकः ।
तं गृहीत्वा नलः प्रायाद् देशं दावविवर्जितम् ।। ९ ।।

इतना कहकर नागराज कर्कोटक अँगूठेके बराबर हो गया। उसे लेकर राजा नल वनके उस प्रदेशकी ओर चले गये, जहाँ दावानल नहीं था ।। ९ ।।

आकाशदेशमासाद्य विमुक्तं कृष्णवर्त्मना ।
उत्स्रष्टुकामं तं नागः पुनः कर्कोटकोऽब्रवीत् ।। १० ।।

अग्निके प्रभावसे रहित आकाश-देशमें पहुँचनेपर जब नलने उस नागको छोड़नेका विचार किया, उस समय कर्कोटकने फिर कहा— ।। १० ।।

पदानि गणयन् गच्छ स्वानि नैषध कानिचित् ।
तत्र तेऽहं महाबाहो श्रेयो धास्यामि यत् परम् ।। ११ ।।

'नैषध! आप अपने कुछ पग गिनते हुए चलिये। महाबाहो! ऐसा करनेपर मैं आपके लिये परम कल्याणका साधन करूँगा' ।। ११ ।।

ततः संख्यातुमारब्धमदशद् दशमे पदे ।
तस्य दष्टस्य तद् रूपं क्षिप्रमन्तरधीयत ।। १२ ।।

तब राजा नलने अपने पग गिनने आरम्भ किये। पग गिनते-गिनते जब राजा नलने 'दश' कहा, तब नागने उन्हें डँस लिया। उसके डँसते ही उनका पहला रूप तत्काल अन्तर्हित (होकर श्यामवर्ण) हो गया ।। १२ ।।

स दृष्ट्वा विस्मितस्तस्थावात्मानं विकृतं नलः ।
स्वरूपधारिणं नागं ददर्श स महीपतिः ।। १३ ।।

अपने रूपको इस प्रकार विकृत (गौरवर्णसे श्यामवर्ण) हुआ देख राजा नलको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने अपने पूर्वस्वरूपको धारण करके खड़े हुए कर्कोटक नागको देखा ।। १३ ।।

ततः कर्कोटको नागः सान्त्वयन् नलमब्रवीत् ।
मया तेऽन्तर्हितं रूपं न त्वां विद्युर्जना इति ।। १४ ।।

तब कर्कोटक नागने राजा नलको सान्त्वना देते हुए कहा—'राजन्! मैंने आपके पहले रूपको इसलिये अदृश्य कर दिया है कि लोग आपको पहचान न सकें ।। १४ ।।

यत्कृते चासि निकृतो दुःखेन महता नल ।

विषेण स मदीयेन त्वयि दुःखं निवत्स्यति ।। १५ ।।

'महाराज नल! जिस कलियुगके कपटसे आपको महान् दुःखका सामना करना पड़ा है, वह मेरे विषसे दग्ध होकर आपके भीतर बड़े कष्टसे निवास करेगा ।। १५ ।।

विषेण संवृतैर्गात्रैर्यावत् त्वां न विमोक्ष्यति ।
तावत् त्वयि महाराज दुःखं वै स निवत्स्यति ।। १६ ।।

'कलियुगके सारे अंग मेरे विषसे व्याप्त हो जायँगे। महाराज! वह जबतक आपको छोड़ नहीं देगा, तबतक आपके भीतर बड़े दुःखसे निवास करेगा ।। १६ ।।

अनागा येन निकृतस्त्वमनर्हो जनाधिप ।
क्रोधादसूययित्वा तं रक्षा मे भवतः कृता ।। १७ ।।

'नरेश्वर! आप छल-कपटद्वारा सताये जानेयोग्य नहीं थे, तो भी जिसने बिना किसी अपराधके आपके साथ कपटका व्यवहार किया है, उसीके प्रति क्रोधसे दोषदृष्टि रखकर मैंने आपकी रक्षा की है ।। १७ ।।

न ते भयं नरव्याघ्र दंष्ट्रिभ्यः शत्रुतोऽपि वा ।
ब्रह्मविद्भ्यश्च भविता मत्प्रसादान्नराधिप ।। १८ ।।

'नरव्याघ्र महाराज! मेरे प्रसादसे आपको दाढ़ोंवाले जन्तुओं और शत्रुओंसे तथा वेदवेत्ताओंके शाप आदिसे भी कभी भय नहीं होगा ।। १८ ।।

राजन् विषनिमित्ता च न ते पीडा भविष्यति ।
संग्रामेषु च राजेन्द्र शश्वज्जयमवाप्स्यसि ।। १९ ।।

'राजन्! आपको विषजनित पीड़ा कभी नहीं होगी। राजेन्द्र! आप युद्धमें भी सदा विजय प्राप्त करेंगे ।। १९ ।।

गच्छ राजन्नितः सूतो बाहुकोऽहमिति ब्रुवन् ।
समीपमृतुपर्णस्य स हि चैवाक्षनैपुणः ।। २० ।।

'राजन्! अब आप यहाँसे अपनेको बाहुक नामक सूत बताते हुए राजा ऋतुपर्णके समीप जाइये। वे द्यूतविद्यामें बड़े निपुण हैं ।। २० ।।

अयोध्यां नगरीं रम्यामद्य वै निषधेश्वर ।
स तेऽक्षहृदयं दाता राजाश्वहृदयेन वै ।। २१ ।।
इक्ष्वाकुकुलजः श्रीमान् मित्रं चैव भविष्यति ।
भविष्यसि यदाक्षज्ञः श्रेयसा योक्ष्यसे तदा ।। २२ ।।

'निषधेश्वर! आप आज ही रमणीय अयोध्यापुरीको चले जाइये। इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न श्रीमान् राजा ऋतुपर्ण आपसे अश्वविद्याका रहस्य सीखकर बदलेमें आपको द्यूतक्रीड़ाका रहस्य बतलायेंगे और आपके मित्र भी हो जायँगे। जब आप द्यूतविद्याके ज्ञाता होंगे, तब पुनः कल्याणभागी हो जायँगे ।। २१-२२ ।।

सममेष्यसि दारैस्त्वं मा स्म शोके मनः कृथाः ।
राज्येन तनयाभ्यां च सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। २३ ।।

'मैं सच कहता हूँ, आप एक ही साथ अपनी पत्नी, दोनों संतानों तथा राज्यको प्राप्त कर लेंगे; अतः अपने मनमें चिन्ता न कीजिये ।। २३ ।।

स्वं रूपं च यदा द्रष्टुमिच्छेथास्त्वं नराधिप ।
संस्मर्तव्यस्तदा तेऽहं वासश्चेदं निवासयेः ।। २४ ।।

'नरेश्वर! जब आप अपने (पहलेवाले) रूपको देखना चाहें, उस समय मेरा स्मरण करें और इस कपड़ेको ओढ़ लें ।। २४ ।।

अनेन वाससाच्छन्नः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यसे ।
इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै दिव्यं वासोयुगं तदा ।। २५ ।।

'इस वस्त्रसे आच्छादित होते ही आप अपना पहला रूप प्राप्त कर लेंगे।' ऐसा कहकर नागने उन्हें दो दिव्य वस्त्र प्रदान किये ।। २५ ।।

एवं नलं च संदिश्य वासो दत्त्वा च कौरव ।
नागराजस्ततो राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ।। २६ ।।

कुरुनन्दन युधिष्ठिर! इस प्रकार राजा नलको संदेश और वस्त्र देकर नागराज कर्कोटक वहीं अन्तर्धान हो गया ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकर्कोटकसंवादे षट्षष्टितमोऽध्यायः ।। ६६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकर्कोटकसंवादविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६६ ।।

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

राजा नलका ऋतुपर्णके यहाँ अश्वाध्यक्षके पदपर नियुक्त होना और वहाँ दमयन्तीके लिये निरन्तर चिन्तित रहना तथा उनकी जीवलसे बातचीत

बृहदश्व उवाच

तस्मिन्नन्तर्हिते नागे प्रययौ नैषधो नलः ।
ऋतुपर्णस्य नगरं प्राविशद् दशमेऽहनि ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—कर्कोटक नागके अन्तर्धान हो जानेपर निषधनरेश नलने दसवें दिन राजा ऋतुपर्णके नगरमें प्रवेश किया ।। १ ।।

स राजानमुपातिष्ठद् बाहुकोऽहमिति ब्रुवन् ।
अश्वानां वाहने युक्तः पृथिव्यां नास्ति मत्समः ।। २ ।।

वे बाहुक नामसे अपना परिचय देते हुए राजा ऋतुपर्णके यहाँ उपस्थित हुए और बोले—'घोड़ोंको हाँकनेकी कलामें इस पृथ्वीपर मेरे समान दूसरा कोई नहीं है ।। २ ।।

अर्थकृच्छ्रेषु चैवाहं प्रष्टव्यो नैपुणेषु च ।
अन्नसंस्कारमपि च जानाम्यन्यैर्विशेषतः ।। ३ ।।

'मैं इन दिनों अर्थसंकटमें हूँ। आपको किसी भी कलाकी निपुणताके विषयमें सलाह लेनी हो तो मुझसे पूछ सकते हैं। अन्न-संस्कार (भाँतिं-भाँतिकी रसोई बनानेका कार्य) भी मैं दूसरोंकी अपेक्षा विशेष जानता हूँ ।। ३ ।।

यानि शिल्पानि लोकेऽस्मिन् यच्चैवान्यत् सुदुष्करम् ।
सर्वं यतिष्ये तत् कर्तुमृतुपर्ण भरस्व माम् ।। ४ ।।

'इस जगत्‌में जितनी भी शिल्पकलाएँ हैं तथा दूसरे भी जो अत्यन्त कठिन कार्य हैं, मैं उन सबको अच्छी तरह करनेका प्रयत्न कर सकता हूँ। महाराज ऋतुपर्ण! आप मेरा भरण-पोषण कीजिये' ।। ४ ।।

ऋतुपर्ण उवाच

वस बाहुक भद्रं ते सर्वमेतत् करिष्यसि ।
शीघ्रयाने सदा बुद्धिर्ध्रियते मे विशेषतः ।। ५ ।।

ऋतुपर्णने कहा—बाहुक! तुम्हारा भला हो। तुम मेरे यहाँ निवास करो। ये सब कार्य तुम्हें करने होंगे। मेरे मनमें सदा यही विचार विशेषतः रहता है कि मैं शीघ्रतापूर्वक कहीं भी पहुँच सकूँ ।। ५ ।।

स त्वमातिष्ठ योगं तं येन शीघ्रा हया मम ।
भवेयुरश्वाध्यक्षोऽसि वेतनं ते शतं शतम् ।। ६ ।।

अतः तुम ऐसा उपाय करो, जिससे मेरे घोड़े शीघ्रगामी हो जायँ। आजसे तुम हमारे अश्वाध्यक्ष हो। दस हजार मुद्राएँ तुम्हारा वार्षिक वेतन है ।। ६ ।।

त्वामुपस्थास्यतश्चैव नित्यं वार्ष्णेयजीवलौ ।
एताभ्यां रंस्यसे सार्धं वस वै मयि बाहुक ।। ७ ।।

वार्ष्णेय और जीवल—ये दोनों सारथि तुम्हारी सेवामें रहेंगे। बाहुक! इन दोनोंके साथ तुम बड़े सुखसे रहोगे। तुम मेरे यहाँ रहो ।। ७ ।।

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तो नलस्तेन न्यवसत् तत्र पूजितः ।
ऋतुपर्णस्य नगरे सहवार्ष्णेयजीवलः ।। ८ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! राजाके ऐसा कहनेपर नल वार्ष्णेय और जीवलके साथ सम्मानपूर्वक ऋतुपर्णके नगरमें निवास करने लगे ।। ८ ।।

स वै तत्रावसद् राजा वैदर्भीमनुचिन्तयन् ।
सायं सायं सदा चेमं श्लोकमेकं जगाद ह ।। ९ ।।

वे दमयन्तीका निरन्तर चिन्तन करते हुए वहाँ रहने लगे। वे प्रतिदिन सायंकाल इस एक श्लोकको पढ़ा करते थे— ।। ९ ।।

क्व नु सा क्षुत्पिपासार्ता श्रान्ता शेते तपस्विनी ।
स्मरन्ती तस्य मन्दस्य कं वा साद्योपतिष्ठति ।। १० ।।

'भूख-प्याससे पीड़ित और थकी-माँदी वह तपस्विनी उस मन्दबुद्धि पुरुषका स्मरण करती हुई कहाँ सोती होगी तथा अब वह किसके समीप रहती होगी?' ।। १० ।।

एवं ब्रुवन्तं राजानं निशायां जीवलोऽब्रवीत् ।
कामेनां शोचसे नित्यं श्रोतुमिच्छामि बाहुक ।। ११ ।।

एक दिन रात्रिके समय जब राजा इस प्रकार बोल रहे थे 'जीवलने पूछा—बाहुक! तुम प्रतिदिन किस स्त्रीके लिये शोक करते हो, मैं सुनना चाहता हूँ ।। ११ ।।

आयुष्मन् कस्य वा नारी यामेवमनुशोचसि ।
तमुवाच नलो राजा मन्दप्रज्ञस्य कस्यचित् ।। १२ ।।
आसीद् बहुमता नारी तस्यादृढतरं वचः ।
स वै केनचिदर्थेन तया मन्दो व्ययुज्यत ।। १३ ।।

'आयुष्मन्! वह किसकी पत्नी है, जिसके लिये तुम इस प्रकार निरन्तर शोकमग्न रहते हो।' तब राजा नलने उससे कहा—'किसी अल्पबुद्धि पुरुषके एक स्त्री थी, जो उसके अत्यन्त आदरकी पात्र थी। किंतु उस पुरुषकी बात अत्यन्त दृढ़ नहीं थी। वह अपनी प्रतिज्ञासे फिसल गया। किसी विशेष प्रयोजनसे विवश होकर वह भाग्यहीन पुरुष अपनी पत्नीसे बिछुड़ गया ।। १२-१३ ।।

विप्रयुक्तः स मन्दात्मा भ्रमत्यसुखपीडितः ।
दह्यमानः स शोकेन दिवारात्रमतन्द्रितः ।। १४ ।।

'पत्नीसे विलग होकर वह मन्दबुद्धि मानव दिन-रात शोकाग्निसे दग्ध एवं दुःखसे पीड़ित होकर आलस्यसे रहित हो इधर-उधर भटकता रहता है ।। १४ ।।

निशाकाले स्मरंस्तस्याः श्लोकमेकं स्म गायति ।
स विभ्रमन् महीं सर्वां क्वचिदासाद्य किंचन ।। १५ ।।
वसत्यनर्हस्तद् दुःखं भूय एवानुसंस्मरन् ।

'रातमें उसीका स्मरण करके वह एक श्लोकको गाया करता है। सारी पृथ्वीका चक्कर लगाकर वह कभी किसी स्थानमें पहुँचा और वहीं निरन्तर उस प्रियतमाका स्मरण करके दुःख भोगता रहता है। यद्यपि वह उस दुःखको भोगनेके योग्य है नहीं ।। १५½ ।।

सा तु तं पुरुषं नारी कृच्छ्रेऽप्यनुगता वने ।। १६ ।।
त्यक्ता तेनाल्पपुण्येन दुष्करं यदि जीवति ।
एका बालानभिज्ञा च मार्गाणामतथोचिता ।। १७ ।।

'वह नारी इतनी पतिव्रता थी कि संकटकालमें भी उस पुरुषके पीछे-पीछे वनमें चली गयी; किंतु उस अल्प पुण्यवाले पुरुषने उसे वनमें ही त्याग दिया। अब तो यदि वह जीवित होगी तो बड़े कष्टसे उसके दिन बीतते होंगे। वह स्त्री अकेली थी। उसे मार्गका ज्ञान नहीं था। जिस संकटमें वह पड़ी थी, उसके योग्य वह कदापि नहीं थी ।। १६-१७ ।।

क्षुत्पिपासापरीताङ्गी दुष्करं यदि जीवति ।
श्वापदाचरिते नित्यं वने महति दारुणे ।। १८ ।।
त्यक्ता तेनाल्पभाग्येन मन्दप्रज्ञेन मारिष ।
इत्येवं नैषधो राजा दमयन्तीमनुस्मरन् ।।
अज्ञातवासं न्यवसद् राज्ञस्तस्य निवेशने ।। १९ ।।

'भूख और प्याससे उसके अंग व्याप्त हो रहे थे। उस दशामें परित्यक्त होकर वह यदि जीवित भी हो तो भी उसका जीवित रहना बहुत कठिन है। आर्य जीवल! अत्यन्त भयंकर विशाल वनमें जहाँ नित्य-निरन्तर हिंसक जन्तु विचरते रहते हैं, उस मन्दबुद्धि एवं मन्दभाग्य पुरुषने उसका त्याग कर दिया था।' इस प्रकार निषधनरेश राजा नल दमयन्तीका निरन्तर स्मरण करते हुए राजा ऋतुपर्णके यहाँ अज्ञातवास कर रहे थे ।। १८-१९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलविलापे सप्तषष्टितमोऽध्यायः ।। ६७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलविलापविषयक सड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६७ ।।

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

विदर्भराजका नल-दमयन्तीकी खोजके लिये ब्राह्मणोंको भेजना, सुदेव ब्राह्मणका चेदिराजके भवनमें जाकर मन-ही-मन दमयन्तीके गुणोंका चिन्तन और उससे भेंट करना

बृहदश्व उवाच

हृतराज्ये नले भीमः सभार्ये च वनं गते ।
द्विजान् प्रस्थापयामास नलदर्शनकाङ्क्षया ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! राज्यका अपहरण हो जानेपर जब राजा नल पत्नीसहित वनमें चले गये, तब विदर्भनरेश भीमने नलका पता लगानेके लिये बहुत-से ब्राह्मणोंको इधर-उधर भेजा ।। १ ।।

संदिदेश च तान् भीमो वसु दत्त्वा च पुष्कलम् ।
मृगयध्वं नलं चैव दमयन्तीं च मे सुताम् ।। २ ।।

राजा भीमने प्रचुर धन देकर ब्राह्मणोंको यह संदेश दिया—‘आपलोग राजा नल और मेरी पुत्री दमयन्तीकी खोज करें ।। २ ।।

अस्मिन् कर्मणि सम्पन्ने विज्ञाते निषधाधिपे ।
गवां सहस्रं दास्यामि यो वस्तावानयिष्यति ।। ३ ।।

‘निषधनरेश नलका पता लग जानेपर जब यह कार्य सम्पन्न हो जायगा, तब मैं आपलोगोंमेंसे जो भी नल-दमयन्तीको यहाँ ले आयेगा, उसे एक हजार गौएँ दूँगा ।। ३ ।।

अग्रहारांश्च दास्यामि ग्रामं नगरसम्मितम् ।
न चेच्छक्याविहानेतुं दमयन्ती नलोऽपि वा ।। ४ ।।
ज्ञातमात्रेऽपि दास्यामि गवां दशशतं धनम् ।

‘साथ ही जीविकाके लिये अग्रहार (करमुक्त भूमि) दूँगा और ऐसा गाँव दे दूँगा, जो आयमें नगरके समान होगा। यदि नल-दमयन्तीमेंसे किसी एकको या दोनोंको ही यहाँ ले आना सम्भव न हो सके तो केवल उनका पता लग जानेपर भी मैं एक हजार गोधन दान करूँगा’ ।। ४½ ।।

इत्युक्तास्ते ययुर्हृष्टा ब्राह्मणाः सर्वतो दिशम् ।। ५ ।।
पुरराष्ट्राणि चिन्वन्तो नैषधं सह भार्यया ।
नैव क्वापि प्रपश्यन्ति नलं वा भीमपुत्रिकाम् ।। ६ ।।
ततश्चेदिपुरीं रम्यां सुदेवो नाम वै द्विजः ।
विचिन्वानोऽथ वैदर्भीमपश्यद् राजवेश्मनि ।। ७ ।।

राजाके ऐसा कहनेपर वे सब ब्राह्मण बड़े प्रसन्न होकर सब दिशाओंमें चले गये और नगर तथा राष्ट्रोंमें पत्नीसहित निषधनरेश नलका अनुसंधान करने लगे; परंतु कहीं भी वे नल अथवा भीमकुमारी दमयन्तीको नहीं देख पाते थे। तदनन्तर सुदेव नामक ब्राह्मणने पता लगाते हुए रमणीय चेदिनगरीमें जाकर वहाँ राजमहलमें विदर्भकुमारी दमयन्तीको देखा ।। ५—७ ।।

पुण्याहवाचने राज्ञः सुनन्दासहितां स्थिताम् ।
मन्दं प्रख्यायमानेन रूपेणाप्रतिमेन ताम् ।। ८ ।।
निबद्धां धूमजालेन प्रभामिव विभावसोः ।
तां समीक्ष्य विशालाक्षीमधिकं मलिनां कृशाम् ।
तर्कयामास भैमीति कारणैरुपपादयन् ।। ९ ।।

वह राजाके पुण्याहवाचनके समय सुनन्दाके साथ खड़ी थी। उसका अनुपम रूप (मैलसे आवृत होनेके कारण) मन्द-मन्द प्रकाशित हो रहा था, मानो अग्निकी प्रभा धूमसमूहसे आवृत हो रही हो। विशाल नेत्रोंवाली उस राजकुमारीको अधिक मलिन और दुर्बल देख उपर्युक्त कारणोंसे उसकी पहचान करते हुए सुदेवने निश्चय किया कि यह भीमकुमारी दमयन्ती ही है ।। ८-९ ।।

सुदेव उवाच

यथेयं मे पुरा दृष्टा तथारूपेयमङ्गना ।
कृतार्थोऽस्म्यद्य दृष्ट्वेमां लोककान्तामिव श्रियम् ।। १० ।।

सुदेव मन-ही-मन बोले—मैंने पहले जिस रूपमें इस कल्याणमयी राजकन्याको देखा है, वैसी ही यह आज भी है। लोककमनीय लक्ष्मीकी भाँति इस भीमकुमारीको देखकर आज मैं कृतार्थ हो गया हूँ ।। १० ।।

पूर्णचन्द्रनिभां श्यामां चारुवृत्तपयोधराम् ।
कुर्वन्तीं प्रभया देवीं सर्वा वितिमिरा दिशः ।। ११ ।।

यह श्यामा युवती पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिमती है। इसके स्तन बड़े मनोहर हैं। यह देवी अपनी प्रभासे सम्पूर्ण दिशाओंको आलोकित कर रही है ।। ११ ।।

चारुपद्मविशालाक्षीं मन्मथस्य रतीमिव ।
इष्टां समस्तलोकस्य पूर्णचन्द्रप्रभामिव ।। १२ ।।

उसके बड़े-बड़े नेत्र मनोहर कमलोंकी शोभाको लज्जित कर रहे हैं। यह कामदेवकी रति-सी जान पड़ती है। पूर्णिमाके चन्द्रमाकी चाँदनीके समान यह सब लोगोंके लिये प्रिय है ।। १२ ।।

विदर्भसरसस्तस्माद् दैवदोषादिवोद्धृताम् ।
मलपङ्कानुलिप्ताङ्गीं मृणालीमिव चोद्धृताम् ।। १३ ।।

पौर्णमासीमिव निशां राहुग्रस्तनिशाकराम् ।
पतिशोकाकुलां दीनां शुष्कस्रोतां नदीमिव ।। १४ ।।

विदर्भरूपी सरोवरसे यह कमलिनी मानो प्रारब्धके दोषसे निकाल ली गयी है। इसके मलिन अंग कीचड़ लिपटी हुई नलिनीके समान प्रतीत होते हैं। यह उस पूर्णिमाकी रजनीके समान जान पड़ती है, जिसके चन्द्रमापर मानो राहुने ग्रहण लगा रखा हो। पति-शोकसे व्याकुल और दीन होनेके कारण यह सूखे जल-प्रवाहवाली सरिताके समान प्रतीत होती है ।। १३-१४ ।।

विध्वस्तपर्णकमलां वित्रासितविहंगमाम् ।
हस्तिहस्तपरामृष्टां व्याकुलामिव पद्मिनीम् ।। १५ ।।

इसकी दशा उस पुष्करिणीके समान दिखायी देती है, जिसे हाथियोंने अपने शुण्डदण्डसे मथ डाला हो तथा जो नष्ट हुए पत्तोंवाले कमलसे युक्त हो एवं जिसके भीतर निवास करनेवाले पक्षी अत्यन्त भयभीत हो रहे हों। यह दुःखसे अत्यन्त व्याकुल-सी प्रतीत हो रही है ।। १५ ।।

सुकुमारीं सुजाताङ्गीं रत्नगर्भगृहोचिताम् ।
दह्यमानामिवार्केण मृणालीमिव चोद्धृताम् ।। १६ ।।

मनोहर अंगोंवाली यह सुकुमारी राजकन्या उन महलोंमें रहनेयोग्य है, जिनका भीतरी भाग रत्नोंका बना हुआ है। (इस समय दुःखने इसे ऐसा दुर्बल कर दिया है कि) यह सरोवरसे निकाली और सूर्यकी किरणोंसे जलायी हुई कमलिनीके समान प्रतीत हो रही है ।। १६ ।।

रूपौदार्यगुणोपेतां मण्डनार्हाममण्डिताम् ।
चन्द्रलेखामिव नवां व्योम्नि नीलाभ्रसंवृताम् ।। १७ ।।

यह रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न है। शृंगार धारण करनेके योग्य होनेपर भी यह शृंगारशून्य है, मानो आकाशमें मेघोंकी काली घटासे आवृत नूतन चन्द्रकला हो ।। १७ ।।

कामभोगैः प्रियैर्हीनां हीनां बन्धुजनेन च ।
देहं संधारयन्तीं हि भर्तृदर्शनकाङ्क्षया ।। १८ ।।

यह राजकन्या प्रिय कामभोगोंसे वंचित है। अपने बन्धुजनोंसे बिछुड़ी हुई है और पतिके दर्शनकी इच्छासे अपने (दीन-दुर्बल) शरीरको धारण कर रही है ।। १८ ।।

भर्ता नाम परं नार्या भूषणं भूषणैर्विना ।
एषा हि रहिता तेन शोभमाना न शोभते ।। १९ ।।

वास्तवमें पति ही नारीका सबसे श्रेष्ठ आभूषण है। उसके होनेसे वह बिना आभूषणोंके सुशोभित होती है; परंतु यह पतिरूप आभूषणसे रहित होनेके कारण शोभामयी होकर भी सुशोभित नहीं हो रही है ।। १९ ।।

दुष्करं कुरुतेऽत्यन्तं हीनो यदनया नलः ।
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनापि सीदति ।। २० ।।

इससे विलग होकर राजा नल यदि अपने शरीरको धारण करते हैं और शोकसे शिथिल नहीं हो रहे हैं तो यह समझना चाहिये कि वे अत्यन्त दुष्कर कर्म कर रहे हैं ।। २० ।।

इमामसितकेशान्तां शतपत्रायतेक्षणाम् ।
सुखार्हां दुःखितां दृष्ट्वा ममापि व्यथते मनः ।। २१ ।।

काले-काले केशों और कमलके समान विशाल नेत्रोंसे सुशोभित इस राजकन्याको, जो सदा सुख भोगनेके ही योग्य है, दुःखित देखकर मेरे मनमें भी बड़ी व्यथा हो रही है ।। २१ ।।

कदा नु खलु दुःखस्य पारं यास्यति वै शुभा ।
भर्तुः समागमात् साध्वी रोहिणी शशिनो यथा ।। २२ ।।

जैसे रोहिणी चन्द्रमाके संयोगसे सुखी होती है, उसी प्रकार यह शुभलक्षणा साध्वी राजकुमारी अपने पतिके समागमसे (संतुष्ट हो) कब इस दुःखके समुद्रसे पार हो सकेगी ।। २२ ।।

अस्या नूनं पुनर्लाभान्नैषधः प्रीतिमेष्यति ।
राजा राज्यपरिभ्रष्टः पुनर्लब्ध्वा च मेदिनीम् ।। २३ ।।

जैसे कोई राजा एक बार अपने राज्यसे च्युत होकर फिर उसी राज्यभूमिको प्राप्त कर लेनेपर अत्यन्त आनन्दका अनुभव करता है, उसी प्रकार पुनः इसके मिल जानेपर निषधनरेश नलको निश्चय ही बड़ी प्रसन्नता होगी ।। २३ ।।

तुल्यशीलवयोयुक्तां तुल्याभिजनसंवृताम् ।
नैषधोऽर्हति वैदर्भीं तं चेयमसितेक्षणा ।। २४ ।।

विदर्भकुमारी दमयन्ती राजा नलके समान शील और अवस्थासे युक्त है, उन्हींके तुल्य उत्तम कुलसे सुशोभित है। निषधनरेश नल विदर्भकुमारीके योग्य हैं और यह कजरारे नेत्रोंवाली वैदर्भी नलके योग्य है ।। २४ ।।

युक्तं तस्याप्रमेयस्य वीर्यसत्त्ववतो मया ।
समाश्वासयितुं भार्यां पतिदर्शनलालसाम् ।। २५ ।।

राजा नलका पराक्रम और धैर्य असीम है। उनकी यह पत्नी पतिदर्शनके लिये लालायित और उत्कण्ठित है, अतः मुझे इससे मिलकर इसे आश्वासन देना चाहिये ।। २५ ।।

अहमाश्वासयाम्येनां पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
अदृष्टपूर्वां दुःखस्य दुःखार्तां ध्यानतत्पराम् ।। २६ ।।

इस पूर्णचन्द्रमुखी राजकुमारीने पहले कभी दुःखको नहीं देखा था। इस समय दुःखसे आतुर हो पतिके ध्यानमें परायण है, अतः मैं इसे आश्वासन देनेका विचार कर रहा

हूँ ।। २६ ।।

बृहदश्व उवाच

एवं विमृश्य विविधैः कारणैर्लक्षणैश्च ताम् ।
उपागम्य ततो भैमीं सुदेवो ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।। २७ ।।
अहं सुदेवो वैदर्भि भ्रातुस्ते दयितः सखा ।
भीमस्य वचनाद् राज्ञस्त्वामन्वेष्टुमिहागतः ।। २८ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार भाँति-भाँतिके कारणों और लक्षणोंसे दमयन्तीको पहचानकर और अपने कर्तव्यके विषयमें विचार करके सुदेव ब्राह्मण उसके समीप गये और इस प्रकार बोले—'विदर्भराजकुमारी! मैं तुम्हारे भाईका प्रिय सखा सुदेव हूँ। महाराज भीमकी आज्ञासे तुम्हारी खोज करनेके लिये यहाँ आया हूँ ।। २७-२८ ।।

कुशली ते पिता राज्ञि जननी भ्रातरश्च ते ।
आयुष्मन्तौ कुशलिनौ तत्रस्थौ दारकौ च तौ ।। २९ ।।

'निषधदेशकी महारानी! तुम्हारे पिता, माता और भाई सब सकुशल हैं और कुण्डिनपुरमें जो तुम्हारे बालक हैं, वे भी कुशलसे हैं ।। २९ ।।

त्वत्कृते बन्धुवर्गाश्च गतसत्त्वा इवासते ।
अन्वेष्टारो ब्राह्मणाश्च भ्रमन्ति शतशो महीम् ।। ३० ।।

‘तुम्हारे बन्धु-बान्धव तुम्हारी ही चिन्तासे मृतक-तुल्य हो रहे हैं। (तुम्हारी खोज करनेके लिये) सैकड़ों ब्राह्मण इस पृथ्वीपर घूम रहे हैं’ ।। ३० ।।

बृहदश्व उवाच

अभिज्ञाय सुदेवं तं दमयन्ती युधिष्ठिर ।
पर्यपृच्छत तान् सर्वान् क्रमेण सुहृदः स्वकान् ।। ३१ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! सुदेवको पहचानकर दमयन्तीने क्रमशः अपने सभी सगे-सम्बन्धियोंका कुशल समाचार पूछा ।। ३१ ।।

रुरोद च भृशं राजन् वैदर्भी शोककर्शिता ।
दृष्ट्वा सुदेवं सहसा भ्रातुरिष्टं द्विजोत्तमम् ।। ३२ ।।
रुदतीं तामथो दृष्ट्वा सुनन्दा शोककर्शिता ।
सुदेवेन सहैकान्ते कथयन्तीं च भारत ।। ३३ ।।

राजन्! अपने भाईके प्रिय मित्र द्विजश्रेष्ठ सुदेवको सहसा आया देख दमयन्ती शोकसे व्याकुल हो फूट-फूटकर रोने लगी। भारत! तदनन्तर उसे सुदेवके साथ एकान्तमें बात करती तथा रोती देख सुनन्दा शोकसे व्याकुल हो उठी ।। ३२-३३ ।।

जनित्र्यै कथयामास सैरन्ध्री रोदितीति च ।
ब्राह्मणेन सहागम्य तां वेद यदि मन्यसे ।। ३४ ।।

उसने अपनी मातासे जाकर कहा—‘माँ! सैरन्ध्री एक ब्राह्मणसे मिलकर बहुत रो रही है। यदि तुम ठीक समझो तो इसका कारण जाननेकी चेष्टा करो’ ।। ३४ ।।

अथ चेदिपतेर्माता राज्ञश्चान्तःपुरात् तदा ।
जगाम यत्र सा बाला ब्राह्मणेन सहाभवत् ।। ३५ ।।

तदनन्तर चेदिराजकी माता उस समय अन्तःपुरसे निकलकर उसी स्थानपर गयीं, जहाँ राजकन्या दमयन्ती ब्राह्मणके साथ खड़ी थी ।। ३५ ।।

ततः सुदेवमानाय्य राजमाता विशाम्पते ।
पप्रच्छ भार्या कस्येयं सुता वा कस्य भाविनी ।। ३६ ।।
कथं च नष्टा ज्ञातिभ्यो भर्तुर्वा वामलोचना ।
त्वया च विदिता विप्र कथमेवंगता सती ।। ३७ ।।

युधिष्ठिर! तब राजमाताने सुदेवको बुलाकर पूछा—'विप्रवर! जान पड़ता है, तुम इसे जानते हो। बताओ, यह सुन्दरी युवती किसकी पत्नी अथवा किसकी पुत्री है? यह सुन्दर नेत्रोंवाली सुन्दरी अपने भाई-बन्धुओं अथवा पतिसे किस प्रकार विलग हुई है? यह सती-साध्वी नारी ऐसी दुरवस्थामें क्यों पड़ गयी? ।। ३६-३७ ।।

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्तः सर्वमशेषतः ।
तत्त्वेन हि ममाचक्ष्व पृच्छन्त्या देवरूपिणीम् ।। ३८ ।।

'ब्रह्मन्! इस देवरूपिणी नारीके विषयमें यह सारा वृत्तान्त मैं पूर्णरूपसे सुनना चाहती हूँ। मैं जो कुछ पूछती हूँ, वह मुझे ठीक-ठीक बताओ' ।। ३८ ।।

एवमुक्तस्तया राजन् सुदेवो द्विजसत्तमः ।
सुखोपविष्ट आचष्ट दमयन्त्या यथातथम् ।। ३९ ।।

राजन्! राजमाताके इस प्रकार पूछनेपर वे द्विजश्रेष्ठ सुदेव सुखपूर्वक बैठकर दमयन्तीका यथार्थ वृत्तान्त बताने लगे ।। ३९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीसुदेवसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ।। ६८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्ती-सुदेव-संवादविषयक अरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६८ ।।

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

दमयन्तीका अपने पिताके यहाँ जाना और वहाँसे नलको ढूँढ़नेके लिये अपना संदेश देकर ब्राह्मणोंको भेजना

सुदेव उवाच

विदर्भराजो धर्मात्मा भीमो नाम महाद्युतिः ।
सुतेयं तस्य कल्याणी दमयन्तीति विश्रुता ।। १ ।।

सुदेवने कहा—देवि! विदर्भदेशके राजा महा-तेजस्वी भीम बड़े धर्मात्मा हैं। यह उन्हींकी पुत्री है। इस कल्याणस्वरूपा राजकन्याका नाम दमयन्ती है ।। १ ।।

राजा तु नैषधो नाम वीरसेनसुतो नलः ।
भार्येयं तस्य कल्याणी पुण्यश्लोकस्य धीमतः ।। २ ।।

वीरसेनपुत्र नल निषधदेशके सुप्रसिद्ध राजा हैं। उन्हीं (परम) बुद्धिमान् पुण्यश्लोक नलकी यह कल्याणमयी पत्नी है ।। २ ।।

स द्यूतेन जितो भ्रात्रा हृतराज्यो महीपतिः ।
दमयन्त्या गतः सार्धं न प्राज्ञायत कस्यचित् ।। ३ ।।

एक दिन राजा नल अपने भाईके द्वारा जूएमें हार गये। उसीमें उनका सारा राज्य चला गया। वे दमयन्तीके साथ वनमें चले गये। तबसे अबतक किसीको उनका पता नहीं लगा ।। ३ ।।

ते वयं दमयन्त्यर्थे चरामः पृथिवीमिमाम् ।
सेयमासादिता बाला तव पुत्रनिवेशने ।। ४ ।।

हम अनेक ब्राह्मण दमयन्तीको ढूँढ़नेके लिये इस पृथ्वीपर विचर रहे हैं। आज आपके पुत्रके महलमें मुझे यह राजकुमारी मिली है ।। ४ ।।

अस्या रूपेण सदृशी मानुषी न हि विद्यते ।
अस्या ह्येष भ्रुवोर्मध्ये सहजः पिप्लुरुत्तमः ।। ५ ।।

रूपमें इसकी समानता करनेवाली कोई भी मानवकन्या नहीं है। इसके दोनों भौंहोंके बीच एक जन्मजात उत्तम तिलका चिह्न है ।। ५ ।।

श्यामायाः पद्मसंकाशो लक्षितोऽन्तर्हितो मया ।
मलेन संवृतो ह्यस्याश्छन्नोऽभ्रेणेव चन्द्रमाः ।। ६ ।।

मैंने देखा है, इस श्यामा राजकुमारीके ललाटमें वह कमलके समान चिह्न छिपा हुआ है। मेघमालासे ढँके हुए चन्द्रमाकी भाँति उसका वह चिह्न मैलसे ढक गया है ।। ६ ।।

चिह्नभूतो विभूत्यर्थमयं धात्रा विनिर्मितः ।

प्रतिपत्कलुषस्येन्दोर्लेखा नातिविराजते ।। ७ ।।
न चास्या नश्यते रूपं वपुर्मलसमाचितम् ।
असंस्कृतमभिव्यक्तं भाति काञ्चनसंनिभम् ।। ८ ।।
अनेन वपुषा बाला पिप्लुनानेन सूचिता ।
लक्षितेयं मया देवी निभृतोऽग्निरिवोष्मणा ।। ९ ।।

विधाताके द्वारा निर्मित यह चिह्न इसके भावी ऐश्वर्यका सूचक है। इस समय यह प्रतिपदाकी मलिन चन्द्रकलाके समान अधिक शोभा नहीं पा रही है। इसका सुवर्ण-जैसा सुन्दर शरीर मैलसे व्याप्त और संस्कारशून्य (मार्जन आदिसे रहित) होनेपर भी स्पष्ट रूपसे उद्भासित हो रहा है। इसका रूप-सौन्दर्य नष्ट नहीं हुआ है। जैसे छिपी हुई आग अपनी गरमीसे पहचान ली जाती है, उसी प्रकार यद्यपि देवी दमयन्ती मलिन शरीरसे युक्त है तो भी इस ललाटवर्ती तिलके चिह्नसे ही मैंने इसे पहचान लिया है ।। ७—९ ।।

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सुदेवस्य विशाम्पते ।
सुनन्दा शोधयामास पिप्लुप्रच्छादनं मलम् ।। १० ।।

युधिष्ठिर! सुदेवका यह वचन सुनकर सुनन्दाने दमयन्तीके ललाटवर्ती चिह्नको ढँकनेवाली मैल धो दी ।। १० ।।

स मलेनापकृष्टेन पिप्लुस्तस्या व्यरोचत ।
दमयन्त्या यथा व्यभ्रे नभसीव निशाकरः ।। ११ ।।

मैल धुल जानेपर उसके ललाटका वह चिह्न उसी प्रकार चमक उठा, जैसे बादलरहित आकाशमें चन्द्रमा प्रकाशित होता है ।। ११ ।।

पिप्लुं दृष्ट्वा सुनन्दा च राजमाता च भारत ।
रुदत्यौ तां परिष्वज्य मुहूर्तमिव तस्थतुः ।। १२ ।।

भारत! उस चिह्नको देखकर सुनन्दा और राजमाता दोनों रोने लगीं और दमयन्तीको हृदयसे लगाये दो घड़ीतक स्तब्ध खड़ी रहीं ।। १२ ।।

उत्सृज्य बाष्पं शनकै राजमातेदमब्रवीत् ।
भगिन्या दुहिता मेऽसि पिप्लुनानेन सूचिता ।। १३ ।।

तत्पश्चात् राजमाताने आँसू बहाते हुए धीरेसे कहा—‘बेटी! तुम मेरी बहिनकी पुत्री हो। इस चिह्नके कारण मैंने भी तुम्हें पहचान लिया ।। १३ ।।

अहं च तव माता च राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
सुते दशार्णाधिपतेः सुदाम्नश्चारुदर्शने ।। १४ ।।

‘सुन्दरी! मैं और तुम्हारी माता दोनों दशार्णदेशके स्वामी महामना राजा सुदामाकी पुत्रियाँ हैं ।। १४ ।।

भीमस्य राज्ञः सा दत्ता वीरबाहोरहं पुनः ।
त्वं तु जाता मया दृष्टा दशार्णेषु पितुर्गृहे ।। १५ ।।

'तुम्हारी माँका ब्याह राजा भीमके साथ हुआ और मेरा चेदिराज वीरबाहुके साथ। तुम्हारा जन्म दशार्णदेशमें मेरे पिताके ही घरपर हुआ और मैंने अपनी आँखों देखा ।। १५ ।।

यथैव ते पितुर्गेहं तथैव मम भामिनि ।
यथैव च ममैश्वर्यं दमयन्ति तथा तव ।। १६ ।।

'भामिनि! तुम्हारे लिये जैसा पिताका घर है, वैसा ही मेरा घर है। दमयन्ती! यह सारा ऐश्वर्य जैसे मेरा है, उसी प्रकार तुम्हारा भी है' ।। १६ ।।

तां प्रहृष्टेन मनसा दमयन्ती विशाम्पते ।
प्रणम्य मातुर्भगिनीमिदं वचनमब्रवीत् ।। १७ ।।

युधिष्ठिर! तब दमयन्तीने प्रसन्न हृदयसे अपनी मौसीको प्रणाम करके कहा — ।। १७ ।।

अज्ञायमानापि सती सुखमस्म्युषिता त्वयि ।
सर्वकामैः सुविहिता रक्षयमाणा सदा त्वया ।। १८ ।।

'माँ! यद्यपि तुम मुझे पहचानती नहीं थी, तब भी मैं तुम्हारे यहाँ बड़े सुखसे रही हूँ। तुमने मेरी इच्छानुसार सारी सुविधाएँ कर दीं और सदा तुम्हारे द्वारा मेरी रक्षा होती रही ।। १८ ।।

सुखात् सुखतरो वासो भविष्यति न संशयः ।
चिरविप्रोषितां मातर्मामनुज्ञातुमर्हसि ।। १९ ।।

'अब यदि मैं यहाँ रहूँ तो यह मेरे लिये अधिक-से-अधिक सुखदायक होगा, इसमें संशय नहीं है, किंतु मैं बहुत दिनोंसे प्रवासमें भटक रही हूँ, अतः माताजी! मुझे विदर्भ जानेकी आज्ञा दीजिये ।। १९ ।।

दारकौ च हि मे नीतौ वसतस्तत्र बालकौ ।
पित्रा विहीनौ शोकार्तौ मया चैव कथं नु तौ ।। २० ।।

'मैंने अपने बच्चोंको पहले ही कुण्डिनपुर भेज दिया था। वे वहीं रहते हैं। पितासे तो उनका वियोग हो ही गया है; मुझसे भी वे बिछुड़ गये हैं, ऐसी दशामें वे शोकार्त बालक कैसे रहते होंगे? ।। २० ।।

यदि चापि प्रियं किंचिन्मयि कर्तुमिहेच्छसि ।
विदर्भान् यातुमिच्छामि शीघ्रं मे यानमादिश ।। २१ ।।
बाढमित्येव तामुक्त्वा हृष्टा मातृष्वसा नृप ।
गुप्तां बलेन महता पुत्रस्यानुमते ततः ।। २२ ।।
प्रास्थापयद् राजमाता श्रीमतीं नरवाहिना ।
यानेन भरतश्रेष्ठ स्वन्नपानपरिच्छदाम् ।। २३ ।।

‘माँ! यदि तुम मेरा कुछ भी प्रिय करना चाहती हो तो मेरे लिये शीघ्र किसी सवारीकी व्यवस्था कर दो। मैं विदर्भदेश जाना चाहती हूँ।’ राजन्! तब ‘बहुत अच्छा’ कहकर दमयन्तीकी मौसीने प्रसन्नतापूर्वक अपने पुत्रकी राय लेकर सुन्दरी दमयन्तीको पालकीपर बिठाकर विदा किया। उसकी रक्षाके लिये बहुत बड़ी सेना दे दी। भरतश्रेष्ठ! राजमाताने दमयन्तीके साथ खाने-पीनेकी तथा अन्य आवश्यक सामग्रियोंकी अच्छी व्यवस्था कर दी ।। २१—२३ ।।

ततः सा न चिरादेव विदर्भानगमत् पुनः ।
तां तु बन्धुजनः सर्वः प्रहृष्टः समपूजयत् ।। २४ ।।

तदनन्तर वहाँसे विदा हो वह थोड़े ही दिनोंमें विदर्भदेशकी राजधानीमें जा पहुँची। उसके आगमनसे माता-पिता आदि सभी बन्धु-बान्धव बड़े प्रसन्न हुए और सबने उसका स्वागत-सत्कार किया ।। २४ ।।

सर्वान् कुशलिनो दृष्ट्वा बान्धवान् दारकौ च तौ ।
मातरं पितरं चोभौ सर्वं चैव सखीजनम् ।। २५ ।।
देवताः पूजयामास ब्राह्मणांश्च यशस्विनी ।
परेण विधिना देवी दमयन्ती विशाम्पते ।। २६ ।।

राजन्! समस्त बन्धु-बान्धवों, दोनों बच्चों, माता-पिता और सम्पूर्ण सखियोंको सकुशल देखकर यशस्विनी देवी दमयन्तीने उत्तम विधिके साथ देवताओं और ब्राह्मणोंका पूजन किया ।। २५-२६ ।।

अतर्पयत् सुदेवं च गोसहस्रेण पार्थिवः ।
प्रीतो दृष्ट्वैव तनयां ग्रामेण द्रविणेन च ।। २७ ।।

राजा भीम अपनी पुत्रीको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने एक हजार गौ, एक गाँव तथा धन देकर सुदेव ब्राह्मणको संतुष्ट किया ।। २७ ।।

सा व्युष्टा रजनीं तत्र पितुर्वेश्मनि भाविनी ।
विश्रान्ता मातरं राजन्निदं वचनमब्रवीत् ।। २८ ।।

युधिष्ठिर! भाविनी दमयन्तीने उस रातमें पिताके घरमें विश्राम किया। सबेरा होनेपर उसने मातासे कहा— ।। २८ ।।

दमयन्त्युवाच

मां चेदिच्छसि जीवन्तीं मातः सत्यं ब्रवीमि ते ।
नलस्य नरवीरस्य यतस्वानयने पुनः ।। २९ ।।

दमयन्ती बोली—माँ! यदि मुझे जीवित देखना चाहती हो तो मैं तुमसे सच कहती हूँ, नरवीर महाराज नलकी खोज करानेका पुनः प्रयत्न करो ।। २९ ।।

दमयन्त्या तथोक्ता तु सा देवी भृशदुःखिता ।

बाष्पेणापिहिता राज्ञी नोत्तरं किंचिदब्रवीत् ।। ३० ।।

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर महारानीकी आँखें आँसुओंसे भर आयीं। वे अत्यन्त दुःखी हो गयीं और तत्काल उसे कोई उत्तर न दे सकीं ।। ३० ।।

तदवस्थां तु तां दृष्ट्वा सर्वमन्तःपुरं तदा ।
हाहाभूतमतीवासीद् भृशं च प्ररुरोद ह ।। ३१ ।।

तब महारानीकी यह दयनीय अवस्था देख उस समय सारे अन्तःपुरमें हाहाकार मच गया। सब-के-सब फूट-फूटकर रोने लगे ।। ३१ ।।

ततो भीमं महाराजं भार्या वचनमब्रवीत् ।
दमयन्ती तव सुता भर्तारमनुशोचति ।। ३२ ।।

तदनन्तर महाराज भीमसे उनकी पत्नीने कहा—'प्राणनाथ! आपकी पुत्री दमयन्ती अपने पतिके लिये निरन्तर शोकमें डूबी रहती है ।। ३२ ।।

अपकृष्य च लज्जां सा स्वयमुक्तवती नृप ।
प्रयतन्तां तव प्रेष्याः पुण्यश्लोकस्य मार्गणे ।। ३३ ।।

'नरेश्वर! उसने लाज छोड़कर स्वयं अपने मुँहसे कहा है, अतः आपके सेवक पुण्यश्लोक महाराज नलका पता लगानेका प्रयत्न करें' ।। ३३ ।।

तया प्रदेशितो राजा ब्राह्मणान् वशवर्तिनः ।
प्रास्थापयद् दिशः सर्वा यतध्वं नलमार्गणे ।। ३४ ।।

महारानीसे प्रेरित हो राजा भीमने अपने अधीनस्थ ब्राह्मणोंको यह कहकर सब दिशाओंमें भेजा कि 'आपलोग नलको ढूँढ़नेकी चेष्टा करें' ।। ३४ ।।

ततो विदर्भाधिपतेर्नियोगाद् ब्राह्मणास्तदा ।
दमयन्तीमथो सृत्वा प्रस्थिताःस्मेत्यथाब्रुवन् ।। ३५ ।।

तत्पश्चात् विदर्भनरेशकी आज्ञासे ब्राह्मणलोग प्रस्थित हो दमयन्तीके पास जाकर बोले —'राजकुमारी! हम सब नलका पता लगाने जा रहे हैं (क्या आपको कुछ कहना है?)' ।। ३५ ।।

अथ तानब्रवीद् भैमी सर्वराष्ट्रेष्विदं वचः ।
ब्रुवध्वं जनसंसत्सु तत्र तत्र पुनः पुनः ।। ३६ ।।

तब भीमकुमारीने उन ब्राह्मणोंसे कहा—'सब राष्ट्रोंमें घूम-घूमकर जनसमुदायमें आपलोग बार-बार मेरी यह बात बोलें— ।। ३६ ।।

क्व नु त्वं कितवच्छित्त्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम ।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ।। ३७ ।।

'ओ जुआरी प्रियतम! तुम वनमें सोयी हुई और अपने पतिमें अनुराग रखनेवाली मुझ प्यारी पत्नीको छोड़कर तथा मेरे आधे वस्त्रको फाड़कर कहाँ चल दिये? ।। ३७ ।।

सा वै यथा त्वया दृष्टा तथाऽऽस्ते त्वत्प्रतीक्षिणी ।
दह्यमाना भृशं बाला वस्त्रार्धेनाभिसंवृता ।। ३८ ।।

'उसे तुमने जिस अवस्थामें देखा था, उसी अवस्थामें वह आज भी है और तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षा कर रही है। आधे वस्त्रसे अपने शरीरको ढँककर वह युवती तुम्हारी विरहाग्निमें निरन्तर जल रही है ।। ३८ ।।

तस्या रुदत्याः सततं तेन शोकेन पार्थिव ।
प्रसादं कुरु वै वीर प्रतिवाक्यं ददस्व च ।। ३९ ।।

'वीर भूमिपाल! सदा तुम्हारे शोकसे रोती हुई अपनी उस प्यारी पत्नीपर पुनः कृपा करो और मुझे मेरी बातका उत्तर दो' ।। ३९ ।।

एवमन्यच्च वक्तव्यं कृपां कुर्याद् यथा मयि ।
वायुना धूयमानो हि वनं दहति पावकः ।। ४० ।।

'ब्राह्मणो! ये तथा और भी बहुत-सी ऐसी बातें आप कहें, जिससे वे मुझपर कृपा करें। वायुकी सहायतासे प्रज्वलित आग सारे वनको जला डालती है (इसी प्रकार विरहकी व्याकुलता मुझे जला रही है) ।। ४० ।।

भर्तव्या रक्षणीया च पत्नी पत्या हि सर्वदा ।
तन्नष्टमुभयं कस्माद् धर्मज्ञस्य सतस्तव ।। ४१ ।।

'प्राणनाथ! पतिको उचित है कि वह सदा अपनी पत्नीका भरण-पोषण एवं संरक्षण करे। आप धर्मज्ञ और साधु पुरुष हैं, आपके ये दोनों कर्तव्य सहसा नष्ट कैसे हो गये? ।। ४१ ।।

ख्यातः प्राज्ञः कुलीनश्च सानुक्रोशो भवान् सदा ।
संवृत्तो निरनुक्रोशः शङ्के मद्भाग्यसंक्षयात् ।। ४२ ।।

'आप विख्यात विद्वान्, कुलीन और सदा सबके प्रति दयाभाव रखनेवाले हैं, परंतु मेरे हृदयमें यह संदेह होने लगा है कि आप मेरा भाग्य नष्ट होनेके कारण मेरे प्रति निर्दय हो गये हैं ।। ४२ ।।

तत् कुरुष्व नरव्याघ्र दयां मयि नरर्षभ ।
आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव हि मे श्रुतः ।। ४३ ।।

'नरव्याघ्र! नरोत्तम! मुझपर दया करो। मैंने तुम्हारे ही मुखसे सुन रखा है कि दयालुता सबसे बड़ा धर्म है' ।। ४३ ।।

एवं ब्रुवाणान् यदि वः प्रतिब्रूयात् कथंचन ।
स नरः सर्वथा ज्ञेयः कश्चासौ क्व नु वर्तते ।। ४४ ।।

'ब्राह्मणो! यदि आपके ऐसी बातें कहनेपर कोई किसी प्रकार भी आपको उत्तर दे तो उस मनुष्यका सब प्रकारसे परिचय प्राप्त कीजियेगा कि वह कौन है और कहाँ रहता है, इत्यादि ।। ४४ ।।

यश्चैवं वचनं श्रुत्वा ब्रूयात् प्रतिवचो नरः ।
तदादाय वचस्तस्य ममावेद्यं द्विजोत्तमाः ।। ४५ ।।

'विप्रवरो! आपके इन वचनोंको सुनकर जो कोई मनुष्य जैसा भी उत्तर दे, उसकी वह बात याद रखकर आपलोग मुझे बतावें ।। ४५ ।।

यथा च वो न जानीयाद् ब्रुवतो मम शासनात् ।
पुनरागमनं चैव तथा कार्यमतन्द्रितैः ।। ४६ ।।

'किसीको भी यह नहीं मालूम होना चाहिये कि आपलोग मेरी आज्ञासे ये बातें कह रहे हैं। जब कोई उत्तर मिल जाय, तब आप आलस्य छोड़कर पुनः यहाँ तुरंत लौट आवें ।। ४६ ।।

यदि वासौ समृद्धः स्याद् यदि वाप्यधनो भवेत् ।
यदि वाप्यसमर्थः स्याज्ज्ञेयमस्य चिकीर्षितम् ।। ४७ ।।

'उत्तर देनेवाला पुरुष धनवान् हो या निर्धन, समर्थ हो या असमर्थ, वह क्या करना चाहता है, इस बातको जाननेका प्रयत्न कीजिये' ।। ४७ ।।

एवमुक्तास्त्वगच्छंस्ते ब्राह्मणाः सर्वतो दिशम् ।
नलं मृगयितुं राजंस्तदा व्यसनिनं तथा ।। ४८ ।।
ते पुराणि सराष्ट्राणि ग्रामान् घोषांस्तथाऽऽश्रमान् ।
अन्वेषन्तो नलं राजन् नाधिजग्मुर्द्विजातयः ।। ४९ ।।

राजन्! दमयन्तीके ऐसा कहनेपर वे ब्राह्मण संकटमें पड़े हुए राजा नलको ढूँढ़नेके लिये सब दिशाओंकी ओर चले गये। युधिष्ठिर! उन ब्राह्मणोंने नगरों, राष्ट्रों, गाँवों, गोष्ठों तथा आश्रमोंमें भी नलका अन्वेषण किया; किंतु उन्हें कहीं भी उनका पता न लगा ।। ४८-४९ ।।

तच्च वाक्यं तथा सर्वे तत्र तत्र विशाम्पते ।
श्रावयांचक्रिरे विप्रा दमयन्त्या यथेरितम् ।। ५० ।।

महाराज! दमयन्तीने जैसा बताया था, उस वाक्यको सभी ब्राह्मण भिन्न-भिन्न स्थानोंमें जाकर लोगोंको सुनाया करते थे ।। ५० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलान्वेषणे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ।। ६९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलकी खोजविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६९ ।।

सप्ततितमोऽध्यायः

पर्णादका दमयन्तीसे बाहुकरूपधारी नलका समाचार बताना और दमयन्तीका ऋतुपर्णके यहाँ सुदेव नामक ब्राह्मणको स्वयंवरका संदेश देकर भेजना

बृहदश्व उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य पर्णादो नाम वै द्विजः ।
प्रत्येत्य नगरं भैमीमिदं वचनमब्रवीत् ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—राजन्! तदनन्तर दीर्घ-कालके पश्चात् पर्णाद नामक ब्राह्मण विदर्भदेशकी राजधानीमें लौटकर आये और दमयन्तीसे इस प्रकार बोले— ।। १ ।।

नैषधं मृगयानेन दमयन्ति मया नलम् ।
अयोध्यां नगरीं गत्वा भाङ्गासुरिमुपस्थितः ।। २ ।।

'दमयन्ती! मैं निषधनरेश नलको ढूँढ़ता हुआ अयोध्या नगरीमें गया और वहाँ राजा ऋतुपर्णके दरबारमें उपस्थित हुआ ।। २ ।।

श्रावितश्च मया वाक्यं त्वदीयं स महाजने ।
ऋतुपर्णो महाभागो यथोक्तं वरवर्णिनि ।। ३ ।।
तच्छ्रुत्वा नाब्रवीत् किंचिदृतुपर्णो नराधिपः ।
न च पारिषदः कश्चिद् भाष्यमाणो मयासकृत् ।। ४ ।।

'वहाँ बहुत लोगोंकी भीड़में मैंने तुम्हारा वाक्य महाभाग ऋतुपर्णको सुनाया। वरवर्णिनि! उस बातको सुनकर राजा ऋतुपर्ण कुछ न बोले। मेरे बार-बार कहनेपर भी उनका कोई सभासद् भी इसका उत्तर न दे सका ।। ३-४ ।।

अनुज्ञातं तु मां राज्ञा विजने कश्चिदब्रवीत् ।
ऋतुपर्णस्य पुरुषो बाहुको नाम नामतः ।। ५ ।।

'परंतु ऋतुपर्णके यहाँ बाहुक नामधारी एक पुरुष है, उसने जब मैं राजासे विदा लेकर लौटने लगा, तब मुझसे एकान्तमें आकर तुम्हारी बातोंका उत्तर दिया ।। ५ ।।

सूतस्तस्य नरेन्द्रस्य विरूपो ह्रस्वबाहुकः ।
शीघ्रयानेषु कुशलो मृष्टकर्ता च भोजने ।। ६ ।।

'वह महाराज ऋतुपर्णका सारथि है। उसकी भुजाएँ छोटी हैं तथा वह देखनेमें कुरूप भी है। वह घोड़ोंको शीघ्र हाँकनेमें कुशल है और अपने बनाये हुए भोजनमें बड़ा मिठास उत्पन्न कर देता है ।। ६ ।।

स विनिःश्वस्य बहुशो रुदित्वा च पुनः पुनः ।

कुशलं चैव मां पृष्ट्वा पश्चादिदमभाषत ।। ७ ।।

'बाहुकने बार-बार लंबी साँसें खींचकर अनेक बार रोदन किया और मुझसे कुशल-समाचार पूछकर फिर वह इस प्रकार कहने लगा— ।। ७ ।।

वैषम्यमपि सम्प्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः ।। ८ ।।

'उत्तम कुलकी स्त्रियाँ बड़े भारी संकटमें पड़कर भी स्वयं अपनी रक्षा करती हैं। ऐसा करके वे सत्य और स्वर्ग दोनोंपर विजय पा लेती हैं, इसमें संशय नहीं है ।। ८ ।।

रहिता भर्तृभिश्चैव न कुप्यन्ति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्रकवचान् धारयन्ति वरस्त्रियः ।। ९ ।।

'श्रेष्ठ नारियाँ अपने पतियोंसे परित्यक्त होनेपर भी कभी क्रोध नहीं करतीं। वे सदाचाररूपी कवचसे आवृत प्राणोंको धारण करती हैं ।। ९ ।।

विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्टसुखेन च ।
यत् सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्‌धुमर्हति ।। १० ।।

'वह पुरुष बड़े संकटमें था, सुखके साधनोंसे वंचित होकर किंकर्तव्यविमूढ हो गया था। ऐसी दशामें यदि उसने अपनी पत्नीका परित्याग किया है तो इसके लिये पत्नीको उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये ।। १० ।।

प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः ।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्‌धुमर्हति ।। ११ ।।

'जीविका पानेके लिये चेष्टा करते समय पक्षियोंने जिसके वस्त्रका अपहरण कर लिया था और जो अनेक प्रकारकी मानसिक चिन्ताओंसे दग्ध हो रहा था, उस पुरुषपर श्यामाको क्रोध नहीं करना चाहिये ।। ११ ।।

सत्कृतासत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथागतम् ।
भ्रष्टराज्यं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ।। १२ ।।

'पतिने उसका सत्कार किया हो या असत्कार—उसे चाहिये कि पतिको वैसे संकटमें पड़ा देखकर उसे क्षमा कर दे; क्योंकि वह राज्य और लक्ष्मीसे वंचित हो भूखसे पीड़ित एवं विपत्तिके अथाह सागरमें डूबा हुआ था' ।। १२ ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा त्वरितोऽहमिहागतः ।
श्रुत्वा प्रमाणं भवती राज्ञश्चैव निवेदय ।। १३ ।।

'बाहुककी वह बात सुनकर मैं तुरंत यहाँ चला आया। यह सब सुनकर अब कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें तुम्हीं प्रमाण हो। (तुम्हारी इच्छा हो तो) महाराजको भी ये बातें सूचित कर दो' ।। १३ ।।

एतच्छ्रुत्वाश्रुपूर्णाक्षी पर्णादस्य विशाम्पते ।
दमयन्ती रहोऽभ्येत्य मातरं प्रत्यभाषत ।। १४ ।।

युधिष्ठिर! पर्णादका यह कथन सुनकर दमयन्तीके नेत्रोंमें आँसू भर आया। उसने एकान्तमें जाकर अपनी मातासे कहा— ।। १४ ।।

अयमर्थो न संवेद्यो भीमे मातः कदाचन ।
त्वत्संनिधौ नियोक्ष्येऽहं सुदेवं द्विजसत्तमम् ।। १५ ।।
यथा न नृपतिर्भीमः प्रतिपद्येत मे मतम् ।
तथा त्वया प्रकर्तव्यं मम चेत् प्रियमिच्छसि ।। १६ ।।

'माँ! पिताजीको यह बात कदापि मालूम न होनी चाहिये। मैं तुम्हारे ही सामने विप्रवर सुदेवको इस कार्यमें लगाऊँगी। तुम ऐसी चेष्टा करो, जिससे पिताजीको मेरा विचार ज्ञात न हो। यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहती हो तो तुम्हें इसके लिये सचेष्ट रहना होगा ।। १५-१६ ।।

यथा चाहं समानीता सुदेवेनाशु बान्धवान् ।
तेनैव मङ्गलेनाशु सुदेवो यातु मा चिरम् ।। १७ ।।
समानेतुं नलं मातरयोध्यां नगरीमितः ।

'जैसे सुदेवने मुझे यहाँ लाकर बन्धु-बान्धवोंसे शीघ्र मिला दिया, उसी मंगलमय उद्देश्यकी सिद्धिके लिये सुदेव ब्राह्मण फिर शीघ्र ही यहाँसे अयोध्या जायँ, देर न करें। माँ! वहाँ जानेका उद्देश्य है, महाराज नलको यहाँ ले आना' ।। १७½ ।।

विश्रान्तं तु ततः पश्चात् पर्णादं द्विजसत्तमम् ।। १८ ।।
अर्चयामास वैदर्भी धनेनातीव भाविनी ।
नले चेहागते तत्र भूयो दास्यामि ते वसु ।। १९ ।।

इतनेहीमें विप्रवर पर्णाद जब विश्राम कर चुके, तब विदर्भराजकुमारी दमयन्तीने बहुत धन देकर उनका सत्कार किया और यह भी कहा—'महाराज नलके यहाँ पधारनेपर मैं आपको और भी धन दूँगी ।। १८-१९ ।।

त्वया हि मे बहु कृतं यदन्यो न करिष्यति ।
यद् भर्त्राहं समेष्यामि शीघ्रमेव द्विजोत्तम ।। २० ।।

'विप्रवर! आपने मेरा बहुत बड़ा उपकार किया, जो दूसरा नहीं कर सकता; क्योंकि अब मैं अपने स्वामीसे शीघ्र ही मिल सकूँगी' ।। २० ।।

स एवमुक्तोऽथाश्वास्य आशीर्वादैः सुमङ्गलैः ।
गृहानुपययौ चापि कृतार्थः सुमहामनाः ।। २१ ।।

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर अत्यन्त उदार हृदयवाले पर्णाद अपने परम मंगलमय आशीर्वादोंद्वारा उसे आश्वासन दे कृतार्थ हो अपने घर चले गये ।। २१ ।।

ततः सुदेवमाभाष्य दमयन्ती युधिष्ठिर ।
अब्रवीत् संनिधौ मातुर्दुःखशोकसमन्विता ।। २२ ।।

युधिष्ठिर! तदनन्तर दमयन्तीने सुदेव ब्राह्मणको बुलाकर अपनी माताके समीप दुःख-शोकसे पीड़ित होकर कहा— ।। २२ ।।

गत्वा सुदेव नगरीमयोध्यावासिनं नृपम् ।
ऋतुपर्णं वचो ब्रूहि सम्पतन्निव कामगः ।। २३ ।।

‘सुदेवजी! आप इच्छानुसार चलनेवाले द्रुतगामी पक्षीकी भाँति शीघ्रतापूर्वक अयोध्या नगरीमें जाकर वहाँके निवासी राजा ऋतुपर्णसे कहिये— ।। २३ ।।

आस्थास्यति पुनर्भैमी दमयन्ती स्वयंवरम् ।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ।। २४ ।।

‘भीमकुमारी दमयन्ती पुनः स्वयंवर करेगी। वहाँ बहुत-से राजा और राजकुमार सब ओरसे जा रहे हैं ।। २४ ।।

तथा च गणितः कालः श्वोभूते स भविष्यति ।

यदि सम्भावनीयं ते गच्छ शीघ्रमरिंदम ।। २५ ।।

‘उसके लिये समय नियत हो चुका है। कल ही स्वयंवर होगा। शत्रुदमन! यदि आपका वहाँ पहुँचना सम्भव हो तो शीघ्र जाइये ।। २५ ।।

सूर्योदये द्वितीयं सा भर्तारं वरयिष्यति ।
न हि स ज्ञायते वीरो नलो जीवति वा न वा ।। २६ ।।

‘कल सूर्योदय होनेके बाद वह दूसरे पतिका वरण कर लेगी; क्योंकि वीरवर नल जीवित हैं या नहीं, इसका कुछ पता नहीं लगता है’ ।। २६ ।।

एवं तया यथोक्तो वै गत्वा राजानमब्रवीत् ।
ऋतुपर्णं महाराज सुदेवो ब्राह्मणस्तदा ।। २७ ।।

महाराज! दमयन्तीके इस प्रकार बतानेपर सुदेव ब्राह्मणने राजा ऋतुपर्णके पास जाकर वही बात कही ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीपुनःस्वयंवरकथने सप्ततितमोऽध्यायः ।। ७० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें दमयन्तीके पुनः स्वयंवरकी चर्चासे सम्बन्ध रखनेवाला सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७० ।।

एकसप्ततितमोऽध्यायः

राजा ऋतुपर्णका विदर्भदेशको प्रस्थान, राजा नलके विषयमें वार्ष्णेयका विचार और बाहुककी अद्भुत अश्वसंचालन-कलासे वार्ष्णेय और ऋतुपर्णका प्रभावित होना

बृहदश्व उवाच

श्रुत्वा वचः सुदेवस्य ऋतुपर्णो नराधिपः ।
सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा बाहुकं प्रत्यभाषत ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! सुदेवकी वह बात सुनकर राजा ऋतुपर्णने मधुर वाणीसे सान्त्वना देते हुए बाहुकसे कहा— ।। १ ।।

विदर्भान् यातुमिच्छामि दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।
एकाह्ना हयतत्त्वज्ञ मन्यसे यदि बाहुक ।। २ ।।

'बाहुक! तुम अश्वविद्याके तत्त्वज्ञ हो, यदि मेरी बात मानो तो मैं दमयन्तीके स्वयंवरमें सम्मिलित होनेके लिये एक ही दिनमें विदर्भदेशकी राजधानीमें पहुँचना चाहता हूँ' ।। २ ।।

एवमुक्तस्य कौन्तेय तेन राज्ञा नलस्य ह ।
व्यदीर्यत मनो दुःखात् प्रदध्यौ च महामनाः ।। ३ ।।

कुन्तीनन्दन! राजा ऋतुपर्णके ऐसा कहनेपर राजा नलका मन अत्यन्त दुःखसे विदीर्ण होने लगा। महामना नल बहुत देरतक किसी भारी चिन्तामें निमग्न हो गये ।। ३ ।।

दमयन्ती वदेदेतत् कुर्याद् दुःखेन मोहिता ।
अस्मदर्थे भवेद् वायमुपायश्चिन्तितो महान् ।। ४ ।।

वे सोचने लगे—'क्या दमयन्ती ऐसी बात कह सकती है? अथवा सम्भव है, दुःखसे मोहित होकर वह ऐसा कार्य कर ले। कहीं ऐसा तो नहीं है कि उसने मेरी प्राप्तिके लिये यह महान् उपाय सोच निकाला हो? ।। ४ ।।

नृशंसं बत वैदर्भी भर्तृकामा तपस्विनी ।
मया क्षुद्रेण निकृता कृपणा पापबुद्धिना ।। ५ ।।
स्त्रीस्वभावश्चलो लोके मम दोषश्च दारुणः ।
स्यादेवमपि कुर्यात् सा विवासाद् गतसौहृदा ।। ६ ।।

'तपस्विनी एवं दीन विदर्भराजकुमारीको मुझ नीच एवं पापबुद्धि पुरुषने धोखा दिया है, इसीलिये वह ऐसा निष्ठुर कार्य करनेको उद्यत हो गयी। संसारमें स्त्रीका चंचल स्वभाव

प्रसिद्ध है। मेरा अपराध भी भयंकर है। सम्भव है मेरे प्रवाससे उसका हार्दिक स्नेह कम हो गया हो, अतः वह ऐसा भी कर ले ।। ५-६ ।।

मम शोकेन संविग्ना नैराश्यात् तनुमध्यमा ।
नैवं सा कर्हिचित् कुर्यात् सापत्या च विशेषतः ।। ७ ।।

'क्योंकि पतली कमरवाली वह युवती मेरे शोकसे अत्यन्त उद्विग्न हो उठी होगी और मेरे मिलनेकी आशा न होनेके कारण उसने ऐसा विचार कर लिया होगा, परंतु मेरा हृदय कहता है कि वह कभी ऐसा नहीं कर सकती। विशेषतः वह संतानवती है। इसलिये भी उससे ऐसी आशा नहीं की जा सकती ।। ७ ।।

यदत्र सत्यं वासत्यं गत्वा वेत्स्यामि निश्चयम् ।
ऋतुपर्णस्य वै काममात्मार्थं च करोम्यहम् ।। ८ ।।

'इसमें कितना सत्य या असत्य है—इसे मैं वहाँ जाकर ही निश्चितरूपसे जान सकूँगा, अतः मैं अपने लिये ही ऋतुपर्णकी इस कामनाको पूर्ण करूँगा' ।। ८ ।।

इति निश्चित्य मनसा बाहुको दीनमानसः ।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृतुपर्णं जनाधिपम् ।। ९ ।।
प्रतिजानामि ते वाक्यं गमिष्यामि नराधिप ।
एकाह्ना पुरुषव्याघ्र विदर्भनगरीं नृप ।। १० ।।

मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके दीनहृदय बाहुकने दोनों हाथ जोड़कर राजा ऋतुपर्णसे इस प्रकार कहा—'नरेश्वर! पुरुषसिंह! मैंने आपकी आज्ञा सुनी है, मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मैं एक ही दिनमें विदर्भदेशकी राजधानीमें आपके साथ जा पहुँचूँगा' ।। ९-१० ।।

ततः परीक्षामश्वानां चक्रे राजन् स बाहुकः ।
अश्वशालामुपागम्य भाङ्गासुरिनृपाज्ञया ।। ११ ।।

युधिष्ठिर! तदनन्तर बाहुकने अश्वशालामें जाकर राजा ऋतुपर्णकी आज्ञासे अश्वोंकी परीक्षा की ।। ११ ।।

स त्वर्यमाणो बहुश ऋतुपर्णेन बाहुकः ।
अश्वाञ्जिज्ञासमानो वै विचार्य च पुनः पुनः ।
अध्यगच्छत् कृशानश्वान् समर्थानध्वनि क्षमान् ।। १२ ।।

ऋतुपर्ण बाहुकको बार-बार उत्तेजित करने लगे, अतः उसने अच्छी तरह विचार करके अश्वोंकी परीक्षा कर ली और ऐसे अश्वोंको चुना, जो देखनेमें दुबले होनेपर भी मार्ग तय करनेमें शक्तिशाली एवं समर्थ थे ।। १२ ।।

तेजोबलसमायुक्तान् कुलशीलसमन्वितान् ।
वर्जिताँल्लक्षणैर्हीनैः पृथुप्रोथान् महाहनून् ।। १३ ।।

वे तेज और बलसे युक्त थे। वे अच्छी जातिके और अच्छे स्वभावके थे। उनमें अशुभ लक्षणोंका सर्वथा अभाव था। उनकी नाक मोटी और थूथन (ठोड़ी) चौड़ी थी ।। १३ ।।

शूद्धान् दशभिरावर्तैः सिन्धुजान् वातरंहसः ।
दृष्ट्वा तानब्रवीद् राजा किंचित् कोपसमन्वितः ।। १४ ।।

वे वायुके समान वेगशाली सिन्धुदेशके घोड़े थे। वे दस आवर्त (भँवरियों)-के चिह्नोंसे युक्त होनेके कारण निर्दोष थे। उन्हें देखकर राजा ऋतुपर्णने कुछ कुपित होकर कहा — ।। १४ ।।

किमिदं प्रार्थितं कर्तुं प्रलब्धव्या न ते वयम् ।
कथमल्पबलप्राणा वक्ष्यन्तीमे हया मम ।
महदध्वानमपि च गन्तव्यं कथमीदृशैः ।। १५ ।।

'क्या तुमसे ऐसे ही घोड़े चुननेके लिये कहा था, तुम मुझे धोखा तो नहीं दे रहे हो। ये अल्प बल और शक्तिवाले घोड़े कैसे मेरा इतना बड़ा रास्ता तय कर सकेंगे? ऐसे घोड़ोंसे इतनी दूरतक रथ कैसे ले जाया जायगा?' ।। १५ ।।

बाहुक उवाच

एको ललाटे द्वौ मूर्ध्नि द्वौ द्वौ पार्श्वोपपार्श्वयोः ।
द्वौ द्वौ वक्षसि विज्ञेयौ प्रयाणे चैक एव तु ।। १६ ।।

बाहुकने कहा—राजन्! ललाटमें एक, मस्तकमें दो, पार्श्वभागमें दो, उपपार्श्वभागमें भी दो, छातीमें दोनों ओर दो दो और पीठमें एक—इस प्रकार कुल बारह भँवरियोंको पहचानकर घोड़े रथमें जोतने चाहिये ।। १६ ।।

एते हया गमिष्यन्ति विदर्भान् नात्र संशयः ।
यानन्यान् मन्यसे राजन् ब्रूहि तान् योजयामि ते ।। १७ ।।

ये मेरे चुने हुए घोड़े अवश्य विदर्भदेशकी राजधानीतक पहुँचेंगे, इसमें संशय नहीं है। महाराज! इन्हें छोड़कर आप जिनको ठीक समझें, उन्हींको मैं रथमें जोत दूँगा ।। १७ ।।

ऋतुपर्ण उवाच

त्वमेव हयतत्त्वज्ञः कुशलो ह्यसि बाहुक ।
यान् मन्यसे समर्थांस्त्वं क्षिप्रं तानेव योजय ।। १८ ।।

ऋतुपर्ण बोले—बाहुक! तुम अश्वविद्याके तत्त्वज्ञ और कुशल हो, अतः तुम जिन्हें इस कार्यमें समर्थ समझो, उन्हींको शीघ्र जोतो ।। १८ ।।

ततः सदश्वांश्चतुरः कुलशीलसमन्वितान् ।
योजयामास कुशलो जवयुक्तान् रथे नलः ।। १९ ।।

तब चतुर एवं कुशल राजा नलने अच्छी जाति और उत्तम स्वभावके चार वेगशाली घोड़ोंको रथमें जोता ।। १९ ।।

ततो युक्तं रथं राजा समारोहत् त्वरान्वितः ।
अथ पर्यपतन् भूमौ जानुभिस्ते हयोत्तमाः ।। २० ।।

जुते हुए रथपर राजा ऋतुपर्ण बड़ी उतावलीके साथ सवार हुए। इसलिये उनके चढ़ते ही वे उत्तम घोड़े घुटनोंके बल पृथ्वीपर गिर पड़े ।। २० ।।

ततो नरवरः श्रीमान् नलो राजा विशाम्पते ।
सान्त्वयामास तानश्वांस्तेजोबलसमन्वितान् ।। २१ ।।

युधिष्ठिर! तब नरश्रेष्ठ श्रीमान् राजा नलने तेज और बलसे सम्पन्न उन घोड़ोंको पुचकारा ।। २१ ।।

रश्मिभिश्च समुद्यम्य नलो यातुमियेष सः ।
सूतमारोप्य वार्ष्णेयं जवमास्थाय वै परम् ।। २२ ।।
ते चोद्यमाना विधिवद् बाहुकेन हयोत्तमाः ।
समुत्पेतुरथाकाशं रथिनं मोहयन्निव ।। २३ ।।

फिर अपने हाथमें बागडोर ले उन्हें काबूमें करके रथको आगे बढ़ानेकी इच्छा की। वार्ष्णेय सारथिको रथपर बैठाकर अत्यन्त वेगका आश्रय ले उन्होंने रथ हाँक दिया। बाहुकके द्वारा विधिपूर्वक हाँके जाते हुए वे उत्तम अश्व रथीको मोहित—से करते हुए इतने तीव्र वेगसे चले, मानो आकाशमें उड़ रहे हों ।। २२-२३ ।।

तथा तु दृष्ट्वा तानश्वान् वहतो वातरंहसः ।

अयोध्याधिपतिः श्रीमान् विस्मयं परमं ययौ ।। २४ ।।

उस प्रकार वायुके समान वेगसे रथका वहन करनेवाले उन अश्वोंको देखकर श्रीमान् अयोध्यानरेशको बड़ा विस्मय हुआ ।। २४ ।।

रथघोषं तु तं श्रुत्वा हयसंग्रहणं च तत् ।
वार्ष्णेयश्चिन्तयामास बाहुकस्य हयज्ञताम् ।। २५ ।।
किं नु स्यान्मातलिरयं देवराजस्य सारथिः ।
तथा तल्लक्षणं वीरे बाहुके दृश्यते महत् ।। २६ ।।

रथकी आवाज सुनकर और घोड़ोंको काबूमें करनेकी वह कला देखकर वार्ष्णेयने बाहुकके अश्व-विज्ञानपर सोचना आरम्भ किया। 'क्या यह देवराज इन्द्रका सारथि मातलि है? इस वीर बाहुकमें मातलिका-सा ही महान् लक्षण देखा जाता है ।। २५-२६ ।।

शालिहोत्रोऽथ किं नु स्याद्धयानां कुलतत्त्ववित् ।
मानुषं समनुप्राप्तो वपुः परमशोभनम् ।। २७ ।।

'अथवा घोड़ोंकी जाति और उनके विषयकी तात्त्विक बातें जाननेवाले ये आचार्य शालिहोत्र तो नहीं हैं, जो परम सुन्दर मानव शरीर धारण करके यहाँ आ पहुँचे हैं ।। २७ ।।

उताहोस्विद् भवेद् राजा नलः परपुरंजयः ।
सोऽयं नृपतिरायात इत्येवं समचिन्तयत् ।। २८ ।।

'अथवा शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले साक्षात् राजा नल ही तो इस रूपमें नहीं आ गये हैं? अवश्य वे ही हैं, इस प्रकार वार्ष्णेयने चिन्तन करना प्रारम्भ किया ।। २८ ।।

अथ चेह नलो विद्यां वेत्ति तामेव बाहुकः ।
तुल्यं हि लक्षये ज्ञानं बाहुकस्य नलस्य च ।। २९ ।।

'राजा नल इस जगत्‌में जिस विद्याको जानते हैं, उसीको बाहुक भी जानता है। बाहुक और नल दोनोंका ज्ञान मुझे एक-सा दिखायी देता है ।। २९ ।।

अपि चेदं वयस्तुल्यं बाहुकस्य नलस्य च ।
नायं नलो महावीर्यस्तद्विद्यश्च भविष्यति ।। ३० ।।

'इसी प्रकार बाहुक और नलकी अवस्था भी एक है। यह महापराक्रमी राजा नल नहीं है तो भी उनके ही समान विद्वान् कोई दूसरा महापुरुष होगा ।। ३० ।।

प्रच्छन्ना हि महात्मानश्चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।
दैवेन विधिना युक्ताः शास्त्रोक्तैश्च निरूपणैः ।। ३१ ।।

'बहुत-से महात्मा प्रच्छन्न रूप धारण करके देवोचित विधि तथा शास्त्रोक्त नियमोंसे युक्त होकर इस पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ।। ३१ ।।

भवेन्न मतिभेदो मे गात्रवैरूप्यतां प्रति ।
प्रमाणात् परिहीनस्तु भवेदिति मतिर्मम ।। ३२ ।।

‘इसके शरीरकी रूपहीनताको लक्ष्य करके मेरी बुद्धिमें यह भेद नहीं पैदा होता कि यह नल नहीं है, परंतु राजा नलकी जो मोटाई है, उससे यह कुछ दुबला-पतला है। उससे मेरे मनमें यह विचार होता है कि सम्भव है, यह नल न हो ।। ३२ ।।

वयःप्रमाणं तत्तुल्यं रूपेण तु विपर्ययः ।
नलं सर्वगुणैर्युक्तं मन्ये बाहुकमन्ततः ।। ३३ ।।

‘इसकी अवस्थाका प्रमाण तो उन्हींके समान है, परंतु रूपकी दृष्टिसे तो अन्तर पड़ता है। फिर भी अन्ततः मैं इसी निर्णयपर पहुँचता हूँ कि मेरी रायमें बाहुक सर्वगुणसम्पन्न राजा नल ही हैं’ ।। ३३ ।।

एवं विचार्य बहुशो वार्ष्णेयः पर्यचिन्तयत् ।
हृदयेन महाराज पुण्यश्लोकस्य सारथिः ।। ३४ ।।

महाराज युधिष्ठिर! इस प्रकार पुण्यश्लोक नलके सारथि वार्ष्णेयने बार-बार उपर्युक्त रूपसे विचार करते हुए मन-ही-मन उक्त धारणा बना ली ।। ३४ ।।

ऋतुपर्णश्च राजेन्द्रो बाहुकस्य हयज्ञताम् ।
चिन्तयन् मुमुदे राजा सहवार्ष्णेयसारथिः ।। ३५ ।।

महाराज ऋतुपर्ण भी बाहुकके अश्वसंचालन-विषयक ज्ञानपर विचार करके वार्ष्णेय सारथिके साथ बहुत प्रसन्न हुए ।। ३५ ।।

ऐकाग्रयं च तथोत्साहं हयसंग्रहणं च तत् ।
परं यत्नं च सम्प्रेक्ष्य परां मुदमवाप ह ।। ३६ ।।

उसकी वह एकाग्रता, वह उत्साह, घोड़ोंको काबूमें रखनेकी वह कला और वह उत्तम प्रयत्न देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णविदर्भगमने एकसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें ऋतुपर्णका विदर्भदेशमें गमनविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७१ ।।

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

ऋतुपर्णके उत्तरीय वस्त्र गिरने और बहेड़ेके वृक्षके फलोंको गिननेके विषयमें नलके साथ ऋतुपर्णकी बातचीत, ऋतुपर्णसे नलको द्यूतविद्याके रहस्यकी प्राप्ति और उनके शरीरसे कलियुगका निकलना

बृहदश्व उवाच

स नदीः पर्वतांश्चैव वनानि च सरांसि च ।
अचिरेणातिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! जैसे पक्षी आकाशमें उड़ता है, उसी प्रकार बाहुक (बड़े वेगसे) शीघ्रतापूर्वक कितनी ही नदियों, पर्वतों, वनों और सरोवरोंको लाँघता हुआ आगे बढ़ने लगा ।। १ ।।

तथा प्रयाते तु रथे तदा भाङ्गासुरिर्नृपः ।
उत्तरीयमधोऽपश्यद् भ्रष्टं परपुरंजयः ।। २ ।।

जब रथ इस प्रकार तीव्र गतिसे दौड़ रहा था, उसी समय शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले राजा ऋतुपर्णने देखा, उनका उत्तरीय वस्त्र नीचे गिर गया है ।। २ ।।

ततः स त्वरमाणस्तु पटे निपतिते तदा ।
ग्रहीष्यामीति तं राजा नलमाह महामनाः ।। ३ ।।
निगृह्णीष्व महाबुद्धे हयानेतान् महाजवान् ।
वार्ष्णेयो यावदेनं मे पटमानयतामिह ।। ४ ।।

उस समय वस्त्र गिर जानेपर उन महामना नरेशने बड़ी उतावलीके साथ नलसे कहा—'महामते! इस वेगशाली घोड़ोंको (थोड़ी देरके लिये) रोक लो। मैं अपनी गिरी हुई चादर लूँगा। जबतक यह वार्ष्णेय उतरकर मेरे उत्तरीय वस्त्रको ला दे, तबतक रथको रोके रहो' ।। ३-४ ।।

नलस्तं प्रत्युवाचाथ दूरे भ्रष्टः पटस्तव ।
योजनं समतिक्रान्तो नाहर्तुं शक्यते पुनः ।। ५ ।।

यह सुनकर नलने उसे उत्तर दिया—'महाराज! आपका वस्त्र बहुत दूर गिरा है। मैं उस स्थानसे चार कोस आगे आ गया हूँ। अब फिर वह नहीं लाया जा सकता' ।। ५ ।।

एवमुक्तो नलेनाथ तदा भाङ्गासुरिर्नृपः ।
आससाद वने राजन् फलवन्तं बिभीतकम् ।। ६ ।।

राजन्! नलके ऐसा कहनेपर राजा ऋतुपर्ण चुप हो गये। अब वे एक वनमें एक बहेड़ेके वृक्षके पास आ पहुँचे, जिसमें बहुत-से फल लगे थे ।। ६ ।।

तं दृष्ट्वा बाहुकं राजा त्वरमाणोऽभ्यभाषत ।
ममापि सूत पश्य त्वं संख्याने परमं बलम् ।। ७ ।।

उस वृक्षको देखकर राजा ऋतुपर्णने तुरंत ही बाहुकसे कहा—'सूत! तुम देखो, मुझमें भी गणना करने (हिसाब लगाने) की कितनी अद्भुत शक्ति है ।। ७ ।।

सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नास्ति कश्चन ।
नैकत्र परिनिष्ठास्ति ज्ञानस्य पुरुषे क्वचित् ।। ८ ।।

'सब लोग सभी बातें नहीं जानते। संसारमें कोई भी सर्वज्ञ नहीं है तथा एक ही पुरुषमें सम्पूर्ण ज्ञानकी प्रतिष्ठा नहीं है ।। ८ ।।

वृक्षेऽस्मिन् यानि पर्णानि फलान्यपि च बाहुक ।
पतितान्यपि यान्यत्र तत्रैकमधिकं शतम् ।। ९ ।।
एकपत्राधिकं चात्र फलमेकं च बाहुक ।
पञ्चकोट्योऽथ पत्राणां द्वयोरपि च शाखयोः ।। १० ।।
प्रचिनुह्यस्य शाखे द्वे याश्चाप्यन्याः प्रशाखिकाः ।
आभ्यां फलसहस्रे द्वे पञ्चोनं शतमेव च ।। ११ ।।

'बाहुक! इस वृक्षपर जितने पत्ते और फल हैं, उन सबको मैं बताता हूँ। पेड़के नीचे जो पत्ते और फल गिरे हुए हैं, उनकी संख्या एक सौ अधिक है, इसके सिवा एक पत्र तथा एक फल और भी अधिक है; अर्थात् नीचे गिरे हुए पत्तों और फलोंकी संख्या वृक्षमें लगे हुए पत्तों और फलोंसे एक सौ दो अधिक है। इस वृक्षकी दोनों शाखाओंमें पाँच करोड़ पत्ते हैं। तुम्हारी इच्छा हो तो इन दोनों शाखाओं तथा इसकी अन्य प्रशाखाओं (को काटकर उन)-के पत्ते गिन लो। इसी प्रकार इन शाखाओंमें दो हजार पंचानबे फल लगे हुए हैं ।।

ततो रथमवस्थाप्य राजानं बाहुकोऽब्रवीत् ।
परोक्षमिव मे राजन् कत्थसे शत्रुकर्शन ।। १२ ।।
प्रत्यक्षमेतत् कर्तास्मि शातयित्वा बिभीतकम् ।
अथात्र गणिते राजन् विद्यते न परोक्षता ।। १३ ।।
प्रत्यक्षं ते महाराज शातयिष्ये बिभीतकम् ।
अहं हि नाभिजानामि भवेदेवं न वेति वा ।। १४ ।।

यह सुनकर बाहुकने रथ खड़ा करके राजासे कहा—'शत्रुसूदन नरेश! आप जो कह रहे हैं, वह संख्या परोक्ष है। मैं इस बहेड़ेके वृक्षको काटकर उसके फलोंकी संख्याको प्रत्यक्ष करूँगा। महाराज! आपकी आँखोंके सामने इस बहेड़ेको काटूँगा। इस प्रकार गणना कर लेनेपर वह संख्या परोक्ष नहीं रह जायगी। बिना ऐसा किये मैं तो नहीं समझ सकता कि (फलोंकी) संख्या इतनी है या नहीं ।। १२—१४ ।।

संख्यास्यामि फलान्यस्य पश्यतस्ते जनाधिप ।
मुहूर्तमपि वार्ष्णेयो रश्मीन् यच्छतु वाजिनाम् ।। १५ ।।

'जनेश्वर! यदि वार्ष्णेय दो घड़ीतक भी इन घोड़ोंकी लगाम सँभाले तो मैं आपके देखते-देखते इसके फलोंको गिन लूँगा' ।। १५ ।।

तमब्रवीन्नृपः सूतं नायं कालो विलम्बितुम् ।
बाहुकस्त्वब्रवीदेनं परं यत्नं समास्थितः ।। १६ ।।
प्रतीक्षस्व मुहूर्तं त्वमथवा त्वरते भवान् ।
एष याति शिवः पन्था याहि वार्ष्णेयसारथिः ।। १७ ।।

तब राजाने सारथिसे कहा—'यह विलम्ब करनेका समय नहीं है।' बाहुक बोला—'मैं प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही गणना समाप्त कर दूँगा। आप दो ही घड़ीतक प्रतीक्षा कीजिये। अथवा यदि आपको बड़ी जल्दी हो तो यह विदर्भदेशका मंगलमय मार्ग है, वार्ष्णेयको सारथि बनाकर चले जाइये' ।। १६-१७ ।।

अब्रवीदृतुपर्णस्तु सान्त्वयन् कुरुनन्दन ।
त्वमेव यन्ता नान्योऽस्ति पृथिव्यामपि बाहुक ।। १८ ।।

कुरुनन्दन! तब ऋतुपर्णने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'बाहुक! तुम्हीं इन घोड़ोंको हाँक सकते हो। इस कलामें पृथ्वीपर तुम्हारे जैसा दूसरा कोई नहीं है ।। १८ ।।

त्वत्कृते यातुमिच्छामि विदर्भान् हयकोविद ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि न विघ्नं कर्तुमर्हसि ।। १९ ।।

'घोड़ोंके रहस्यको जाननेवाले बाहुक! तुम्हारे ही प्रयत्नसे मैं विदर्भदेशकी राजधानीमें पहुँचना चाहता हूँ। देखो, तुम्हारी शरणमें आया हूँ। इस कार्यमें विघ्न न डालो ।। १९ ।।

कामं च ते करिष्यामि यन्मां वक्ष्यसि बाहुक ।
विदर्भान् यदि यात्वाद्य सूर्यं दर्शयितासि मे ।। २० ।।

'बाहुक! यदि आज विदर्भदेशमें पहुँचकर तुम मुझे सूर्यका दर्शन करा सको तो तुम जो कहोगे, तुम्हारी वही इच्छा पूर्ण करूँगा' ।। २० ।।

अथाब्रवीद् बाहुकस्तं संख्याय च बिभीतकम् ।
ततो विदर्भान् यास्यामि कुरुष्वैवं वचो मम ।। २१ ।।

यह सुनकर बाहुकने कहा—'मैं बहेड़ेके फलोंको गिनकर विदर्भदेशको चलूँगा। आप मेरी यह बात मान लीजिये' ।। २१ ।।

अकाम इव तं राजा गणयस्वेत्युवाच ह ।
एकदेशं च शाखायाः समादिष्टं मयानघ ।। २२ ।।
गणयस्वाश्वतत्त्वज्ञ ततस्त्वं प्रीतिमावह ।
सोऽवतीर्य रथात् तूर्णं शातयामास तं द्रुमम् ।। २३ ।।

राजाने मानो अनिच्छासे कहा—'अच्छा, गिन लो। अश्वविद्याके तत्त्वको जाननेवाले निष्पाप बाहुक! मेरे बताये अनुसार तुम शाखाके एक ही भागको गिनो। इससे तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होगी'। बाहुकने रथसे उतरकर तुरंत ही उस वृक्षको काट डाला ।। २२-२३ ।।

ततः स विस्मयाविष्टो राजानमिदमब्रवीत् ।
गणयित्वा यथोक्तानि तावन्त्येव फलानि तु ।। २४ ।।

गिननेसे उसे उतने ही फल मिले। तब उसने विस्मित होकर राजा ऋतुपर्णसे कहा — ।। २४ ।।

अत्यद्भुतमिदं राजन् दृष्टवानस्मि ते बलम् ।
श्रोतुमिच्छामि तां विद्यां ययैतज्ज्ञायते नृप ।। २५ ।।
तमुवाच ततो राजा त्वरितो गमने नृप ।
विद्ध्यक्षहृदयज्ञं मां संख्याने च विशारदम् ।। २६ ।।

'राजन्! आपमें गणितकी यह अद्भुत शक्ति मैंने देखी है। नराधिप! जिस विद्यासे यह गिनती जान ली जाती है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ।' राजा तुरंत जानेके लिये उत्सुक थे, अतः उन्होंने बाहुकसे कहा—'तुम मुझे द्यूत-विद्याका मर्मज्ञ और गणितमें अत्यन्त निपुण समझो' ।। २५-२६ ।।

बाहुकस्तमुवाचाथ देहि विद्यामिमां मम ।
मत्तोऽपि चाश्वहृदयं गृहाण पुरुषर्षभ ।। २७ ।।

बाहुकने कहा—'पुरुषश्रेष्ठ! तुम यह विद्या मुझे बतला दो और बदलेमें मुझसे भी अश्व-विद्याका रहस्य ग्रहण कर लो' ।। २७ ।।

ऋतुपर्णस्ततो राजा बाहुकं कार्यगौरवात् ।
हयज्ञानस्य लोभाच्च तं तथेत्यब्रवीद् वचः ।। २८ ।।

तब राजा ऋतुपर्णने कार्यकी गुरुता और अश्व-विज्ञानके लोभसे बाहुकको आश्वासन देते हुए कहा—'तथास्तु' ।। २८ ।।

यथोक्तं त्वं गृहाणेदमक्षाणां हृदयं परम् ।
निक्षेपो मेऽश्वहृदयं त्वयि तिष्ठतु बाहुक ।
एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णो नलाय वै ।। २९ ।।

'बाहुक! तुम मुझसे द्यूत-विद्याका गूढ़ रहस्य ग्रहण करो और अश्वविज्ञानको मेरे लिये अपने ही पास धरोहरके रूपमें रहने दो।' ऐसा कहकर ऋतुपर्णने नलको अपनी विद्या दे दी ।। २९ ।।

तस्याक्षहृदयज्ञस्य शरीरान्निःसृतः कलिः ।
कर्कोटकविषं तीक्ष्णं मुखात् सततमुद्वमन् ।। ३० ।।
कलेस्तस्य तदार्तस्य शापाग्निः स विनिःसृतः ।
स तेन कर्शितो राजा दीर्घकालमनात्मवान् ।। ३१ ।।

द्यूत-विद्याका रहस्य जाननेके अनन्तर नलके शरीरसे कलियुग निकला। तब कर्कोटक नागके तीखे विषको अपने मुखसे बार-बार उगल रहा था। उस समय कष्टमें पड़े हुए कलियुगकी वह शापाग्नि भी दूर हो गयी। राजा नलको उसने दीर्घकालतक कष्ट दिया था और उसीके कारण वे किंकर्तव्यविमूढ हो रहे थे ।। ३०-३१ ।।

ततो विषविमुक्तात्मा स्वं रूपमकरोत् कलिः ।
तं शप्तुमैच्छत् कुपितो निषधाधिपतिर्नलः ।। ३२ ।।

तदनन्तर विषके प्रभावसे मुक्त होकर कलियुगने अपने स्वरूपको प्रकट किया। उस समय निषधनरेश नलने कुपित हो कलियुगको शाप देनेकी इच्छा की ।। ३२ ।।

तमुवाच कलिर्भीतो वेपमानः कृताञ्जलिः ।
कोपं संयच्छ नृपते कीर्तिं दास्यामि ते पराम् ।। ३३ ।।

तब कलियुग भयभीत हो काँपता हुआ हाथ जोड़कर उनसे बोला—'महाराज! अपने क्रोधको रोकिये। मैं आपको उत्तम कीर्ति प्रदान करूँगा ।। ३३ ।।

इन्द्रसेनस्य जननी कुपिता माशपत् पुरा ।
यदा त्वया परित्यक्ता ततोऽहं भृशपीडितः ।। ३४ ।।

'इन्द्रसेनकी माता दमयन्तीने, पहले जब उसे आपने वनमें त्याग दिया था, कुपित होकर मुझे शाप दे दिया। उससे मैं बड़ा कष्ट पाता रहा हूँ ।। ३४ ।।

अवसं त्वयि राजेन्द्र सुदुःखमपराजित ।
विषेण नागराजस्य दह्यमानो दिवानिशम् ।। ३५ ।।

'किसीसे पराजित न होनेवाले महाराज! मैं आपके शरीरमें अत्यन्त दुःखित होकर रहता था। नागराज कर्कोटकके विषसे मैं दिन-रात झुलसता जा रहा था (इस प्रकार मुझे अपने कियेका कठोर दण्ड मिल गया है) ।। ३५ ।।

शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि शृणु चेदं वचो मम ।
ये च त्वां मनुजा लोके कीर्तयिष्यन्त्यतन्द्रिताः ।
मत्प्रसूतं भयं तेषां न कदाचिद् भविष्यति ।। ३६ ।।
भयार्तं शरणं यातं यदि मां त्वं न शप्स्यसे ।
एवमुक्तो नलो राजा न्ययच्छत् कोपमात्मनः ।। ३७ ।।

'अब मैं आपकी शरणमें हूँ। आप मेरी यह बात सुनिये। यदि भयसे पीड़ित और शरणमें आये हुए मुझको आप शाप नहीं देंगे तो संसारमें जो मनुष्य आलस्यरहित हो आपकी कीर्ति-कथाका कीर्तन करेंगे, उन्हें मुझसे कभी भय नहीं होगा।' कलियुगके ऐसा कहनेपर राजा नलने अपने क्रोधको रोक लिया ।। ३६-३७ ।।

ततो भीतः कलिः क्षिप्रं प्रविवेश बिभीतकम् ।
कलिस्त्वन्यैस्तदादृश्यः कथयन् नैषधेन वै ।। ३८ ।।

तदनन्तर कलियुग भयभीत हो तुरंत ही बहेड़ेके वृक्षमें समा गया। वह जिस समय निषधराज नलके साथ बात कर रहा था, उस समय दूसरे लोग उसे नहीं देख पाते थे ।। ३८ ।।

ततो गतज्वरो राजा नैषधः परवीरहा ।

सम्प्रणष्टे कलौ राजा संख्यायास्य फलान्युत ।। ३९ ।।

मुदा परमया युक्तस्तेजसाथ परेण वै ।

रथमारुह्य तेजस्वी प्रययौ जवनैर्हयैः ।। ४० ।।

तदनन्तर कलियुगके अदृश्य हो जानेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले निषधनरेश राजा नल सारी चिन्ताओंसे मुक्त हो गये। बहेड़ेके फलोंको गिनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उत्तम तेजसे युत्ह तेजस्वी रूप धारण करके रथपर चढ़े और वेगशाली घोड़ोंको हाँकते हुए विदर्भदेशको चल दिये ।। ३९-४० ।।

बिभीतकश्चाप्रशस्तः संवृत्तः कलिसंश्रयात् ।

हयोत्तमानुत्पततो द्विजानिव पुनः पुनः ।। ४१ ।।

नलः संचोदयामास प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।

विदर्भाभिमुखो राजा प्रययौ स महायशाः ।। ४२ ।।

कलियुगके आश्रय लेनेसे बहेड़ेका वृक्ष निन्दित हो गया। तदनन्तर राजा नलने प्रसन्नचित्तसे पुनः घोड़ोंको हाँकना आरम्भ किया। वे उत्तम अश्व पक्षियोंकी तरह बार-बार उड़ते हुए-से प्रतीत हो रहे थे। अब महायशस्वी राजा नल विदर्भदेशकी ओर (बड़े वेगसे बढ़े) जा रहे थे ।। ४१-४२ ।।

नले तु समतिक्रान्ते कलिरप्यगमद् गृहम् ।

ततो गतज्वरो राजा नलोऽभूत् पृथिवीपतिः ।

विमुक्तः कलिना राजन् रूपमात्रवियोजितः ।। ४३ ।।

नलके चले जानेपर कलि अपने घर चले गये। राजन्! कलिसे मुक्त हो भूमिपाल राजा नल सारी चिन्ताओंसे छुटकारा पा गये; किंतु अभीतक उन्हें अपना पहला रूप नहीं प्राप्त हुआ था। उनमें केवल इतनी ही कमी रह गयी थी ।। ४३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कलिनिर्गमे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें कलियुगनिर्गमनविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७२ ।।

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

ऋतुपर्णका कुण्डिनपुरमें प्रवेश, दमयन्तीका विचार तथा भीमके द्वारा ऋतुपर्णका स्वागत

बृहदश्व उवाच

ततो विदर्भान् सम्प्राप्तं सायाह्ने सत्यविक्रमम् ।
ऋतुपर्णं जना राज्ञे भीमाय प्रत्यवेदयन् ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर शाम होते-होते सत्यपराक्रमी राजा ऋतुपर्ण विदर्भराज्यमें जा पहुँचे। लोगोंने राजा भीमको इस बातकी सूचना दी ।। १ ।।

स भीमवचनाद् राजा कुण्डिनं प्राविशत् पुरम् ।
नादयन् रथघोषेण सर्वाः स विदिशो दिशः ।। २ ।।

भीमके अनुरोधसे राजा ऋतुपर्णने अपने रथकी घर्घराहटद्वारा सम्पूर्ण दिशा-विदिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए कुण्डिनपुरमें प्रवेश किया ।। २ ।।

ततस्तं रथनिर्घोषं नलाश्वास्तत्र शुश्रुवुः ।
श्रुत्वा तु समहृष्यन्त पुरेव नलसंनिधौ ।। ३ ।।

नलके घोड़े वहीं रहते थे, उन्होंने रथका वह घोष सुना। सुनकर वे उतने ही प्रसन्न और उत्साहित हुए, जितने कि पहले नलके समीप रहा करते थे ।। ३ ।।

दमयन्ती तु शुश्राव रथघोषं नलस्य तम् ।
यथा मेघस्य नदतो गम्भीरं जलदागमे ।। ४ ।।

दमयन्तीने भी नलके रथकी वह घर्घराहट सुनी, मानो वर्षाकालमें गरजते हुए मेघोंका गम्भीर घोष सुनायी देता हो ।। ४ ।।

परं विस्मयमापन्ना श्रुत्वा नादं महास्वनम् ।
नलेन संगृहीतेषु पुरेव नलवाजिषु ।
सदृशं रथनिर्घोषं मेने भैमी तथा हयाः ।। ५ ।।

वह महाभयंकर रथनाद सुनकर उसे बड़ा विस्मय हुआ। पूर्वकालमें राजा नल जब घोड़ोंकी बाग सँभालते थे, उन दिनों उनके रथसे जैसी गम्भीर ध्वनि प्रकट होती थी, वैसी ही उस समयके रथकी घर्घराहट भी दमयन्ती और उसके घोड़ोंको जान पड़ी ।। ५ ।।

प्रासादस्थाश्च शिखिनः शालास्थाश्चैव वारणाः ।
हयाश्च शुश्रुवुस्तस्य रथघोषं महीपतेः ।। ६ ।।

महलपर बैठे हुए मयूरों, गजशालामें बँधे हुए गजराजों और अश्वशालाके अश्वोंने राजाके रथका वह अद्भुत घोष सुना ।। ६ ।।

तच्छ्रुत्वा रथनिर्घोषं वारणाः शिखिनस्तथा ।
प्रणेदुरुन्मुखा राजन् मेघनाद इवोत्सुकाः ।। ७ ।।

राजन्! रथकी उस आवाजको सुनकर हाथी और मयूर अपना मुँह ऊपर उठाकर उसी प्रकार उत्कण्ठापूर्वक अपनी बोली बोलने लगे, जैसे वे मेघोंकी गर्जना होनेपर बोला करते हैं ।। ७ ।।

दमयन्त्युवाच

यथासौ रथनिर्घोषः पूरयन्निव मेदिनीम् ।
ममाह्लादयते चेतो नल एष महीपतिः ।। ८ ।।

(उस समय) दमयन्तीने (मन-ही-मन) कहा—अहो! रथकी वह घर्घराहट इस पृथ्वीको गुँजाती हुई जिस प्रकार मेरे मनको आह्लाद प्रदान कर रही है, उससे जान पड़ता है, ये महाराज नल ही पधारे हैं ।। ८ ।।

अद्य चन्द्राभवक्त्रं तं न पश्यामि नलं यदि ।
असंख्येयगुणं वीरं विनङ्क्ष्यामि न संशयः ।। ९ ।।

आज यदि असंख्य गुणोंसे विभूषित तथा चन्द्रमाके समान मुखवाले वीरवर नलको न देखूँगी तो अपने इस जीवनका अन्त कर दूँगी, इसमें संशय नहीं है ।। ९ ।।

यदि वै तस्य वीरस्य बाह्वोर्नाद्याहमन्तरम् ।
प्रविशामि सुखस्पर्शं न भविष्याम्यसंशयम् ।। १० ।।

आज यदि मैं उन वीरशिरोमणि नलकी दोनों भुजाओंके मध्यभागमें, जिसका स्पर्श अत्यन्त सुखद है, प्रवेश न कर सकी तो अवश्य जीवित न रह सकूँगी ।। १० ।।

यदि मां मेघनिर्घोषो नोपगच्छति नैषधः ।
अद्य चामीकरप्रख्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।। ११ ।।

यदि रथद्वारा मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाले निषधदेशके स्वामी महाराज नल आज मेरे पास नहीं पधारेंगे तो मैं सुवर्णके समान देदीप्यमान दहकती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगी ।। ११ ।।

यदि मां सिंहविक्रान्तो मत्तवारणविक्रमः ।
नाभिगच्छति राजेन्द्रो विनङ्क्ष्यामि न संशयः ।। १२ ।।

यदि सिंहके समान पराक्रमी और मतवाले हाथीके समान मस्तानी चालसे चलनेवाले राजराजेश्वर नल मेरे पास नहीं आयेंगे तो आज अपने जीवनको नष्ट कर दूँगी, इसमें संशय नहीं है ।। १२ ।।

न स्मराम्यनृतं किंचिन्न स्मराम्यपकारताम् ।
न च पर्युषितं वाक्यं स्वैरेष्वपि कदाचन ।। १३ ।।

मुझे याद नहीं कि स्वेच्छापूर्वक अर्थात् हँसी-मजाकमें भी मैं कभी झूठ बोली हूँ, स्मरण नहीं कि कभी किसीका मेरेद्वारा अपकार हुआ हो तथा यह भी स्मरण नहीं कि मैंने प्रतिज्ञा की हुई बातका उल्लंघन किया हो ।। १३ ।।

प्रभुः क्षमावान् वीरश्च दाता चाप्यधिको नृपैः ।
रहोऽनीचानुवर्ती च क्लीबवन्मम नैषधः ।। १४ ।।

मेरे निषधराज नल शक्तिशाली, क्षमाशील, वीर, दाता, सब राजाओंसे श्रेष्ठ, एकान्तमें भी नीच कर्मसे दूर रहनेवाले तथा परायी स्त्रीके लिये नपुंसकतुल्य हैं ।।

गुणांस्तस्य स्मरन्त्या मे तत्पराया दिवानिशम् ।
हृदयं दीर्यत इदं शोकात् प्रियविनाकृतम् ।। १५ ।।

मैं (सदा) उन्हींके गुणोंका स्मरण करती और दिन-रात उन्हींके परायण रहती हूँ। प्रियतम नलके बिना मेरा यह हृदय उनके विरहशोकसे विदीर्ण-सा होता रहता है ।। १५ ।।

एवं विलपमाना सा नष्टसंज्ञेव भारत ।
आरुरोह महद् वेश्म पुण्यश्लोकदिदृक्षया ।। १६ ।।

भारत! इस प्रकार विलाप करती हुई दमयन्ती अचेत-सी हो गयी। वह पुण्यश्लोक नलके दर्शनकी इच्छासे ऊँचे महलकी छतपर जा चढ़ी ।। १६ ।।

ततो मध्यमकक्षायां ददर्श रथमास्थितम् ।
ऋतुपर्णं महीपालं सहवार्ष्णेयबाहुकम् ।। १७ ।।

वहाँसे उसने देखा, वार्ष्णेय और बाहुकके साथ रथपर बैठे हुए महाराज ऋतुपर्ण मध्यम कक्षा (परकोटे)-में पहुँच गये हैं ।। १७ ।।

ततोऽवतीर्य वार्ष्णेयो बाहुकश्च रथोत्तमात् ।
हयांस्तानवमुच्याथ स्थापयामास वै रथम् ।। १८ ।।

तदनन्तर वार्ष्णेय और बाहुकने उस उत्तम रथसे उतरकर घोड़े खोल दिये और रथको एक जगह खड़ा कर दिया ।। १८ ।।

सोऽवतीर्य रथोपस्थादृतुपर्णो नराधिपः ।
उपतस्थे महाराजं भीमं भीमपराक्रमम् ।। १९ ।।

इसके बाद राजा ऋतुपर्ण रथके पिछले भागसे उतरकर भयानक पराक्रमी महाराज भीमसे मिले ।। १९ ।।

तं भीमः प्रतिजग्राह पूजया परया ततः ।
स तेन पूजितो राज्ञा ऋतुपर्णो नराधिपः ।। २० ।।

तदनन्तर भीमने बड़े आदर-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया और राजा ऋतुपर्णका भलीभाँति आदर-सत्कार किया ।। २० ।।

स तत्र कुण्डिने रम्ये वसमानो महीपतिः ।
न च किंचित् तदापश्यत् प्रेक्षमाणो मुहुर्मुहुः ।

स तु राज्ञा समागम्य विदर्भपतिना तदा ।। २१ ।।
अकस्मात् सहसा प्राप्तं स्त्रीमन्त्रं न स्म विन्दति ।

भूपाल ऋतुपर्ण रमणीय कुण्डिनपुरमें ठहर गये। उन्हें बार-बार देखनेपर भी वहाँ (स्वयंवर-जैसी) कोई चीज नहीं दिखायी दी। वे विदर्भनरेशसे मिलकर सहसा इस बातको न जान सके कि यह स्त्रियोंकी अकस्मात् गुप्त मन्त्रणामात्र थी ।। २१½ ।।

किं कार्यं स्वागतं तेऽस्तु राज्ञा पृष्टः स भारत ।। २२ ।।

भरतनन्दन युधिष्ठिर! विदर्भराजने स्वागत-पूर्वक ऋतुपर्णसे पूछा—'आपके यहाँ पधारनेका क्या कारण है?' ।। २२ ।।

नाभिजज्ञे स नृपतिर्दुहित्रर्थे समागतम् ।
ऋतुपर्णोऽपि राजा स धीमान् सत्यपराक्रमः ।। २३ ।।

राजा भीम यह नहीं जानते थे कि दमयन्तीके लिये ही इनका शुभागमन हुआ है। राजा ऋतुपर्ण भी बड़े बुद्धिमान् और सत्यपराक्रमी थे ।। २३ ।।

राजानं राजपुत्रं वा न स्म पश्यति कंचन ।
नैव स्वयंवरकथां न च विप्रसमागमम् ।। २४ ।।
ततो व्यगणयद् राजा मनसा कोसलाधिपः ।
आगतोऽस्मीत्युवाचैनं भवन्तमभिवादकः ।। २५ ।।

उन्होंने वहाँ किसी भी राजा या राजकुमारको नहीं देखा। ब्राह्मणोंका भी वहाँ समागम नहीं हो रहा था। स्वयंवरकी तो कोई चर्चातक नहीं थी। तब कोशलनरेशने मन-ही-मन कुछ विचार किया और विदर्भराजसे कहा—'राजन्! मैं आपका अभिवादन करनेके लिये आया हूँ' ।। २४-२५ ।।

राजापि च स्मयन् भीमो मनसा समचिन्तयन् ।
अधिकं योजनशतं तस्यागमनकारणम् ।। २६ ।।
ग्रामान् बहूनतिक्रम्य नाध्यगच्छद् यथातथम् ।
अल्पकार्यं विनिर्दिष्टं तस्यागमनकारणम् ।। २७ ।।

यह सुनकर राजा भीम भी मुसकरा दिये और मन-ही-मन सोचने लगे—'ये बहुत-से गाँवोंको लाँघकर सौ योजनसे भी अधिक दूर चले आये हैं, किंतु कार्य इन्होंने बहुत साधारण बतलाया है। फिर इनके आगमनका क्या कारण है, इसे मैं ठीक-ठीक न जान सका ।। २६-२७ ।।

पश्चादुदर्के ज्ञास्यामि कारणं यद् भविष्यति ।
नैतदेवं स नृपतिस्तं सत्कृत्य व्यसर्जयत् ।। २८ ।।

'अच्छा, जो भी कारण होगा पीछे मालूम कर लूँगा। ये जो कारण बता रहे हैं, इतना ही इनके आगमनका हेतु नहीं है।' ऐसा विचारकर राजाने उन्हें सत्कारपूर्वक विश्रामके लिये विदा किया ।। २८ ।।

विश्राम्यतामित्युवाच क्लान्तोऽसीति पुनः पुनः ।
स सत्कृतः प्रहृष्टात्मा प्रीतः प्रीतेन पार्थिवः ।। २९ ।।

और कहा—'आप बहुत थक गये होंगे, अतः विश्राम कीजिये।' विदर्भनरेशके द्वारा प्रसन्नतापूर्वक आदर-सत्कार पाकर राजा ऋतुपर्णको बड़ी प्रसन्नता हुई ।। २९ ।।

राजप्रेष्यैरनुगतो दिष्टं वेश्म समाविशत् ।
ऋतुपर्णे गते राजन् वार्ष्णेयसहिते नृपे ।। ३० ।।
बाहुको रथमादाय रथशालामुपागमत् ।
स मोचयित्वा तानश्वानुपचर्य च शास्त्रतः ।। ३१ ।।
स्वयं चैतान् समाश्वास्य रथोपस्थ उपाविशत् ।

फिर वे राजसेवकोंके साथ गये और बताये हुए भवनमें विश्रामके लिये प्रवेश किया। राजन्! वार्ष्णेयसहित ऋतुपर्णके चले जानेपर बाहुक रथ लेकर रथशालामें गया। उसने उन घोड़ोंको खोल दिया और अश्वशास्त्रकी विधिके अनुसार उनकी परिचर्या करनेके बाद घोड़ोंको पुचकारकर उन्हें धीरज देनेके पश्चात् वह स्वयं भी रथके पिछले भागमें जा बैठा ।। ३०-३१ १/२ ।।

दमयन्त्यपि शोकार्ता दृष्ट्वा भाङ्गासुरिं नृपम् ।। ३२ ।।
सूतपुत्रं च वार्ष्णेयं बाहुकं च तथाविधम् ।
चिन्तयामास वैदर्भी कस्यैष रथनिःस्वनः ।। ३३ ।।

दमयन्ती भी शोकसे आतुर हो राजा ऋतुपर्ण, सूतपुत्र वार्ष्णेय तथा पूर्वोक्त बाहुकको देखकर सोचने लगी—'यह किसके रथकी घर्घराहट सुनायी पड़ती थी ।। ३२-३३ ।।

नलस्येव महानासीन्न च पश्यामि नैषधम् ।
वार्ष्णेयेन भवेन्नूनं विद्या सैवोपशिक्षिता ।। ३४ ।।
तेनाद्य रथनिर्घोषो नलस्येव महानभूत् ।
आहोस्विदृतुपर्णोऽपि यथा राजा नलस्तथा ।
यथायं रथनिर्घोषो नैषधस्येव लक्ष्यते ।। ३५ ।।

'वह गम्भीर घोष तो महाराज नलके रथ-जैसा था; परंतु इन आगन्तुकोंमें मुझे निषधराज नल नहीं दिखायी देते। वार्ष्णेयने भी नलके समान ही अश्वविद्या सीख ली हो, निश्चय ही यह सम्भावना की जा सकती है। तभी आज रथकी आवाज बड़े जोरसे सुनायी दे रही थी, जैसे नलके रथ हाँकते समय हुआ करती है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि राजा ऋतुपर्ण भी वैसे ही अश्वविद्यामें निपुण हों, जैसे राजा नल हैं; क्योंकि नलके ही समान इनके रथका भी गम्भीर घोष लक्षित होता है' ।। ३४-३५ ।।

एवं सा तर्कयित्वा तु दमयन्ती विशाम्पते ।
दूतीं प्रस्थापयामास नैषधान्वेषणे शुभा ।। ३६ ।।

युधिष्ठिर! इस प्रकार विचार करके शुभलक्षणा दमयन्तीने नलका पता लगानेके लिये अपनी दूतीको भेजा ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णस्य भीमपुरप्रवेशे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें ऋतुपर्णका राजा भीमके नगरमें प्रवेशविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७३ ।।

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

बाहुक-केशिनी-संवाद

दमयन्त्युवाच

गच्छ केशिनि जानीहि क एष रथवाहकः ।
उपविष्टो रथोपस्थे विकृतो ह्रस्वबाहुकः ।। १ ।।

दमयन्ती बोली—केशिनी! जाओ और पता लगाओ कि यह छोटी-छोटी बाँहोंवाला कुरूप रथवाहक, जो रथके पिछले भागमें बैठा है, कौन है? ।। १ ।।

अभ्येत्य कुशलं भद्रे मृदुपूर्वं समाहिता ।
पृच्छेथाः पुरुषं ह्येनं यथातत्त्वमनिन्दिते ।। २ ।।

भद्रे! इसके निकट जाकर सावधानीके साथ मधुर वाणीमें कुशल पूछना। अनिन्दिते! साथ ही इस पुरुषके विषयमें ठीक-ठीक बातें जाननेकी चेष्टा करना ।। २ ।।

अत्र मे महती शङ्का भवेदेष नलो नृपः ।
यथा च मनसस्तुष्टिर्हृदयस्य च निर्वृतिः ।। ३ ।।

इसके विषयमें मुझे बड़ी भारी शंका है। सम्भव है, इस वेषमें राजा नल ही हों। मेरे मनमें जैसा संतोष है और हृदयमें जैसी शान्ति है, इसे मेरी उक्त धारणा पुष्ट हो रही है ।। ३ ।।

ब्रूयाश्चैनं कथान्ते त्वं पर्णादवचनं यथा ।
प्रतिवाक्यं च सुश्रोणि बुद्ध्येथास्त्वमनिन्दिते ।। ४ ।।

सुश्रोणि! तुम बातचीतके सिलसिलेमें इसके सामने पर्णाद ब्राह्मणवाली बात कहना और अनिन्दिते! यह जो उत्तर दे, उसे अच्छी तरह समझना ।। ४ ।।

ततः समाहिता गत्वा दूती बाहुकमब्रवीत् ।
दमयन्त्यपि कल्याणी प्रासादस्था ह्युपैक्षत ।। ५ ।।

तब वह दूती बड़ी सावधानीसे वहाँ जाकर बाहुकसे वार्तालाप करने लगी और कल्याणी दमयन्ती भी महलमें उसके लौटनेकी प्रतीक्षामें बैठी रही ।। ५ ।।

केशिन्युवाच

स्वागतं ते मनुष्येन्द्र कुशलं ते ब्रवीम्यहम् ।
दमयन्त्या वचः साधु निबोध पुरुषर्षभ ।। ६ ।।

केशिनीने कहा—नरेन्द्र! आपका स्वागत है! मैं आपका कुशल समाचार पूछती हूँ। पुरुषश्रेष्ठ! दमयन्तीकी कही हुई ये उत्तम बातें सुनिये ।। ६ ।।

कदा वै प्रस्थिता यूयं किमर्थमिह चागताः ।

तत् त्वं ब्रूहि यथान्यायं वैदर्भी श्रोतुमिच्छति ।। ७ ।।

विदर्भराजकुमारी यह सुनना चाहती हैं कि आपलोग अयोध्यासे कब चले हैं और किस लिये यहाँ आये हैं? आप न्यायके अनुसार ठीक-ठीक बतायें ।। ७ ।।

बाहुक उवाच

श्रुतः स्वयंवसे राज्ञा कोसलेन महात्मना ।
द्वितीयो दमयन्त्या वै भविता श्व इति द्विजात् ।। ८ ।।

बाहुक बोला—महात्मा कोसलराजने एक ब्राह्मणके मुखसे सुना था कि कल दमयन्तीका द्वितीय स्वयंवर होनेवाला है ।। ८ ।।

श्रुत्वैतत् प्रस्थितो राजा शतयोजनयायिभिः ।
हयैर्वातजवैर्मुख्यैरहमस्य च सारथिः ।। ९ ।।

यह सुनकर राजा हवाके समान वेगवाले और सौ योजनतक दौड़नेवाले अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए रथपर सवार हो विदर्भदेशके लिये प्रस्थित हो गये। इस यात्रामें मैं ही इनका सारथि था ।। ९ ।।

केशिन्युवाच

अथ योऽसौ तृतीयो वः स कुतः कस्य वा पुनः ।
त्वं च कस्य कथं चेदं त्वयि कर्म समाहितम् ।। १० ।।

केशिनीने पूछा—आपलोगोंमेंसे जो तीसरा व्यक्ति है, वह कहाँसे आया है अथवा किसका सेवक है? ऐसे ही आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं और आपपर इस कार्यका भार कैसे आया है? ।। १० ।।

बाहुक उवाच

पुण्यश्लोकस्य वै सूतो वार्ष्णेय इति विश्रुतः ।
स नले विद्रुते भद्रे भाङ्गासुरिमुपस्थितः ।। ११ ।।

बाहुक बोला—भद्रे! उस तीसरे व्यक्तिका नाम वार्ष्णेय है। वह पुण्यश्लोक राजा नलका सारथि है। नलके वनमें निकल जानेपर वह ऋतुपर्णकी सेवामें चला गया है ।। ११ ।।

अहमप्यश्वकुशलः सूतत्वे च प्रतिष्ठितः ।
ऋतुपर्णेन सारथ्ये भोजने च वृतः स्वयम् ।। १२ ।।

मैं भी अश्वविद्यामें कुशल हूँ और सारथिके कार्यमें भी निपुण हूँ, इसलिये राजा ऋतुपर्णने स्वयं ही मुझे वेतन देकर सारथिके पदपर नियुक्त कर लिया ।। १२ ।।

केशिन्युवाच

अथ जानाति वार्ष्णेयः क्व नु राजा नलो गतः ।

कथं च त्वयि वा तेन कथितं स्यात् तु बाहुक ।। १३ ।।

केशिनीने पूछा—बाहुक! क्या वार्ष्णेय यह जानता है कि राजा नल कहाँ चले गये, उसने आपसे महाराजके सम्बन्धमें कैसी बात बतायी है? ।। १३ ।।

बाहुक उवाच

इहैव पुत्रौ निक्षिप्य नलस्य शुभकर्मणः ।
गतस्ततो यथाकामं नैष जानाति नैषधम् ।। १४ ।।

बाहुक बोला—भद्रे! पुण्यकर्मा नलके दोनों बालकोंको यहीं रखकर वार्ष्णेय अपनी रुचिके अनुसार अयोध्या चला गया था। यह नलके विषयमें कुछ नहीं जानता है ।। १४ ।।

न चान्यः पुरुषः कश्चिन्नलं वेत्ति यशस्विनि ।
गूढश्चरति लोकेऽस्मिन् नष्टरूपे महीपतिः ।। १५ ।।

यशस्विनि! दूसरा कोई पुरुष भी नलको नहीं जानता। राजा नलका पहला रूप अदृश्य हो गया है। वे इस जगत्में गूढ़भावसे विचरते हैं ।। १५ ।।

आत्मैव तु नलं वेद या चास्य तदनन्तरा ।
न हि वै स्वानि लिङ्गानि नलः शंसति कर्हिचित् ।। १६ ।।

परमात्मा ही नलको जानते हैं तथा उसकी जो अन्तरात्मा है, वह उन्हें जानती है, दूसरा कोई नहीं; क्योंकि राजा नल अपने लक्षणों या चिह्नोंको कभी दूसरोंके सामने नहीं

प्रकट करते हैं ।। १६ ।।

केशिन्युवाच

योऽसावयोध्यां प्रथमं गतोऽसौ ब्राह्मणस्तदा ।
इमानि नारीवाक्यानि कथयानः पुनः पुनः ।। १७ ।।

केशिनीने कहा—पहली बार अयोध्यामें जब वे ब्राह्मणदेवता गये थे, तब उन्होंने स्त्रियोंकी सिखायी हुई निम्नांकित बातें बार-बार कही थीं— ।। १७ ।।

क्व नु त्वं कितवच्छित्त्वा वस्त्रार्धं प्रस्थितो मम ।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ।। १८ ।।

'ओ जुआरी प्रियतम! तुम अपने प्रति अनुराग रखनेवाली वनमें सोयी हुई मुझ प्यारी पत्नीको छोड़कर तथा मेरे आधे वस्त्रको फाड़कर कहाँ चल दिये? ।। १८ ।।

सा वै यथा समादिष्टा तथाऽऽस्ते त्वत्प्रतीक्षिणी ।
दह्यमाना दिवा रात्रौ वस्त्रार्धेनाभिसंवृता ।। १९ ।।

'उसे तुमने जिस अवस्थामें देखा था, उसी अवस्थामें वह आज भी है और तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षा कर रही है। आधे वस्त्रसे अपने शरीरको ढककर वह युवती दिन-रात तुम्हारी विरहाग्निमें जल रही है ।। १९ ।।

तस्या रुदन्त्याः सततं तेन दुःखेन पार्थिव ।
प्रसादं कुरु मे वीर प्रतिवाक्यं वदस्व च ।। २० ।।

'वीर भूमिपाल! सदा तुम्हारे शोकसे रोती हुई अपनी उसी प्यारी पत्नीपर पुनः कृपा करो और मेरी बातका उत्तर दो' ।। २० ।।

तस्यास्तत् प्रियमाख्यानं प्रवदस्व महामते ।
तदेव वाक्यं वैदर्भी श्रोतुमिच्छत्यनिन्दिता ।। २१ ।।

'महामते! इसके उत्तरमें आप दमयन्तीको प्रिय लगनेवाली कोई बात कहिये। साध्वी विदर्भकुमारी आपकी उसी बातको पुनः सुनना चाहती हैं' ।। २१ ।।

एतच्छ्रुत्वा प्रतिवचस्तस्य दत्तं त्वया किल ।
यत् पुरा तत् पुनस्त्वत्तो वैदर्भी श्रोतुमिच्छति ।। २२ ।।

बाहुक! ब्राह्मणके मुखसे यह वचन सुनकर पहले आपने जो उत्तर दिया था, उसीको वैदर्भी आपके मुँहसे पुनः सुनना चाहती हैं ।। २२ ।।

बृहदश्व उवाच

एवमुक्तस्य केशिन्या नलस्य कुरुनन्दन ।
हृदयं व्यथितं चासीदश्रुपूर्णे च लोचने ।। २३ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! केशिनीके ऐसा कहनेपर राजा नलके हृदयमें बड़ी वेदना हुई। उनकी दोनों आँखें आँसुओंसे भर गयीं ।। २३ ।।

स निगृह्यात्मनो दुःखं दह्यमानो महीपतिः ।
वाष्पसंदिग्धया वाचा पुनरेवेदमब्रवीत् ।। २४ ।।

निषधनरेश शोकाग्निसे दग्ध हो रहे थे, तो भी उन्होंने अपने दुःखके वेगको रोककर अश्रुगद्गद वाणीमें पुनः यों कहना आरम्भ किया ।। २४ ।।

बाहुक उवाच

वैषम्यमपि सम्प्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः ।। २५ ।।

बाहुक बोला—उत्तम कुलकी स्त्रियाँ बड़े भारी संकटमें पड़कर भी स्वयं अपनी रक्षा करती हैं। ऐसा करके वे स्वर्ग और सत्य दोनोंपर विजय पा लेती हैं, इसमें संशय नहीं है ।। २५ ।।

रहिता भर्तृभिश्चापि न क्रुध्यन्ति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्रकवचान् धारयन्ति वरस्त्रियः ।। २६ ।।

श्रेष्ठ नारियाँ अपने पतियोंसे परित्यक्त होनेपर भी कभी क्रोध नहीं करतीं। वे सदा सदाचाररूपी कवचसे आवृत प्राणोंको धारण करती हैं ।। २६ ।।

विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्टसुखेन च ।
यत् सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ।। २७ ।।

वह पुरुष बड़े संकटमें था तथा सुखके साधनोंसे वञ्चित होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। ऐसी दशामें यदि उसने अपनी पत्नीका परित्याग किया है, तो इसके लिये पत्नीको उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये ।। २७ ।।

प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः ।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ।। २८ ।।

जीविका पानेके लिये चेष्टा करते समय पक्षियोंने जिसके वस्त्रका अपहरण कर लिया था और जो अनेक प्रकारकी मानसिक चिन्ताओंसे दग्ध हो रहा था, उस पुरुषपर श्यामाको क्रोध नहीं करना चाहिये ।। २८ ।।

सत्कृतासत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथाविधम् ।
राज्यभ्रष्टं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ।। २९ ।।

पतिने उसका सत्कार किया हो या असत्कार; उसे चाहिये कि पतिको वैसे संकटमें पड़ा देखकर उसे क्षमा कर दे; क्योंकि वह राज्य और लक्ष्मीसे वंचित हो भूखसे पीड़ित एवं विपत्तिके अथाह सागरमें डूबा हुआ था ।। २९ ।।

एवं ब्रुवाणस्तद् वाक्यं नलः परमदुर्मनाः ।
न वाष्पमशकत् सोढुं प्ररुरोद च भारत ।। ३० ।।

इस प्रकार पूर्वोक्त बातें कहते हुए नलका मन अत्यन्त उदास हो गया। भारत! वे अपने उमड़ते हुए आँसुओंको रोक न सके तथा रोने लगे ।। ३० ।।

ततः सा केशिनी गत्वा दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
तत् सर्वं कथितं चैव विकारं तस्य चैव तम् ।। ३१ ।।

तदनन्तर केशिनीने भीतर जाकर दमयन्तीसे यह सब निवेदन किया। उसने बाहुककी कही हुई सारी बातों और उसके मनोविकारोंको भी यथावत् कह सुनाया ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकेशिनीसंवादे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नल-केशिनीसंवादविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७४ ।।

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

दमयन्तीके आदेशसे केशिनीद्वारा बाहुककी परीक्षा तथा बाहुकका अपने लड़के-लड़कियोंको देखकर उनसे प्रेम करना

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा भृशं शोकपरायणा ।
शङ्कमाना नलं तं वै केशिनीमिदमब्रवीत् ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! यह सब सुनकर दमयन्ती अत्यन्त शोकमग्न हो गयी। उसके हृदयमें निश्चितरूपसे बाहुकके नल होनेका संदेह हो गया और वह केशिनीसे इस प्रकार बोली— ।। १ ।।

गच्छ केशिनि भूयस्त्वं परीक्षां कुरु बाहुके ।
अब्रुवाणा समीपस्था चरितान्यस्य लक्षय ।। २ ।।

'केशिनि! फिर जाओ और बाहुककी परीक्षा करो। अबकी बार तुम कुछ बोलना मत। निकट रहकर उसके चरित्रोंपर दृष्टि रखना ।। २ ।।

यदा च किंचित् कुर्यात् स कारणं तत्र भामिनि ।
तत्र संचेष्टमानस्य लक्षयन्ती विचेष्टितम् ।। ३ ।।

'भामिनि! जब वह कोई काम करे तो उस कार्यको करते समय उसकी प्रत्येक चेष्टा और उसके कारणपर लक्ष्य रखना ।। ३ ।।

न चास्य प्रतिबन्धेन देयोऽग्निरपि केशिनि ।
याचते न जलं देयं सर्वथा त्वरमाणया ।। ४ ।।

'केशिनि! वह आग्रह करे तो भी उसे आग न देना और माँगनेपर भी किसी प्रकार जल्दीमें आकर पानी भी न देना ।। ४ ।।

एतत् सर्वं समीक्ष्य त्वं चरितं मे निवेदय ।
निमित्तं यत् त्वया दृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ।। ५ ।।
यच्चान्यदपि पश्येथास्तच्चाख्येयं त्वया मम ।

'बाहुकके इन सब चरित्रोंकी समीक्षा करके फिर मुझे सब बात बताना। बाहुकमें यदि तुम्हें कोई दिव्य अथवा मानवोचित विशेषता दिखायी दे तथा और भी जो कोई विशेषता दृष्टिगोचर हो तो उसपर भी दृष्टि रखना और मुझे आकर बताना' ।। ५½ ।।

दमयन्त्यैवमुक्ता सा जगामाथ च केशिनी ।। ६ ।।
निशम्याथ हयज्ञस्य लिङ्गानि पुनरागमत् ।

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर केशिनी पुनः वहाँ गयी और अश्वविद्याविशारद बाहुकके लक्षणोंका अवलोकन करके वह फिर लौट आयी ।। ६½ ।।

सा तत् सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
निमित्तं यत् तया दृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ।। ७ ।।

उसने बाहुकमें जो दिव्य अथवा मानवोचित विशेषताएँ देखीं, उनका यथावत् समाचार पूर्णरूपसे दमयन्तीको बताया ।। ७ ।।

केशिन्युवाच

दृढं शुच्युपचारोऽसौ न मया मानुषः क्वचित् ।
दृष्टपूर्वः श्रुतो वापि दमयन्ति तथाविधः ।। ८ ।।

केशिनीने कहा—दमयन्ती! उसका प्रत्येक व्यवहार अत्यन्त पवित्र है। ऐसा मनुष्य तो मैंने कहीं भी पहले न तो देखा है और न सुना ही है ।। ८ ।।

ह्रस्वमासाद्य संचारं नासौ विनमते क्वचित् ।
तं तु दृष्ट्वा यथाऽसंगमुत्सर्पति यथासुखम् ।। ९ ।।

किसी छोटे-से-छोटे दरवाजेपर जाकर भी वह झुकता नहीं है। उसे देखकर बड़ी आसानीके साथ दरवाजा ही इस प्रकार ऊँचा हो जाता है कि जिससे मस्तकका उससे स्पर्श न हो ।। ९ ।।

संकटेऽप्यस्य सुमहान् विवरो जायतेऽधिकः ।
ऋतुपर्णस्य चार्थाय भोजनीयमनेकशः ।। १० ।।
प्रेषितं तत्र राज्ञा तु मांसं चैव प्रभूतवत् ।
तस्य प्रक्षालनार्थाय कुम्भास्तत्रोपकल्पिताः ।। ११ ।।

संकुचित स्थानमें भी उसके लिये बहुत बड़ा अवकाश बन जाता है। राजा भीमने ऋतुपर्णके लिये अनेक प्रकारके भोज्य पदार्थ भेजे थे। उसमें प्रचुर मात्रामें केला आदि फलोंका गूदा भी था,* उसको धोनेके लिये वहाँ खाली घड़े रख दिये थे ।। १०-११ ।।

ते तेनावेक्षिताः कुम्भाः पूर्णा एवाभवंस्ततः ।
ततः प्रक्षालनं कृत्वा समधिश्रित्य बाहुकः ।। १२ ।।
तृणमुष्टिं समादाय सवितुस्तं समादधत् ।
अथ प्रज्वलितस्तत्र सहसा हव्यवाहनः ।। १३ ।।

परंतु बाहुकके देखते ही वे सारे घड़े पानीसे भर गये। उससे खाद्य पदार्थोंको धोकर बाहुकने चूल्हेपर चढ़ा दिया। फिर एक मुट्ठी तिनका लेकर सूर्यकी किरणोंसे ही उसे उद्दीप्त किया। फिर तो देखते-ही-देखते सहसा उसमें आग प्रज्वलित हो गयी ।। १२-१३ ।।

तदद्भुततमं दृष्ट्वा विस्मिताहमिहागता ।
अन्यच्च तस्मिन् सुमहदाश्चर्यं लक्षितं मया ।। १४ ।।

यह अद्भुत बात देखकर मैं आश्चर्यचकित होकर यहाँ आयी हूँ। बाहुकमें एक और भी बड़े आश्चर्यकी बात देखी है ।। १४ ।।

यदग्निमपि संस्पृश्य नैवासौ दह्यते शुभे ।
छन्देन चोदकं तस्य वहत्यावर्जितं द्रुतम् ।। १५ ।।

शुभे! वह अग्निका स्पर्श करके भी जलता नहीं है। पात्रमें रखा हुआ थोड़ा-सा जल भी उसकी इच्छाके अनुसार तुरंत ही प्रवाहित हो जाता है ।। १५ ।।

अतीव चान्यत् सुमहदाश्चर्यं दृष्टवत्यहम् ।
यत् स पुष्पाण्युपादाय हस्ताभ्यां ममृदे शनैः ।। १६ ।।
मृद्यमानानि पाणिभ्यां तेन पुष्पाणि नान्यथा ।
भूय एव सुगन्धीनि हृषितानि भवन्ति हि ।
एतान्यद्भुतलिङ्गानि दृष्ट्वाहं द्रुतमागता ।। १७ ।।

एक और भी अत्यन्त आश्चर्यजनक बात मुझे उसमें दिखायी दी है। वह फूल लेकर उन्हें हाथोंसे धीरे-धीरे मसलता था। हाथोंसे मसलनेपर भी वे फूल विकृत नहीं होते थे अपितु और भी सुगन्धित और विकसित हो जाते थे। ये अद्भुत लक्षण देखकर मैं शीघ्रतापूर्वक यहाँ आयी हूँ ।। १६-१७ ।।

बृहदश्व उवाच

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा पुण्यश्लोकस्य चेष्टितम् ।
अमन्यत नलं प्राप्तं कर्मचेष्टाभिसूचितम् ।। १८ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! दमयन्तीने पुण्यश्लोक महाराज नलकी-सी बाहुककी सारी चेष्टाओंको सुनकर मन-ही-मन यह निश्चय कर लिया कि महाराज नल ही आये हैं। अपने कार्यों और चेष्टाओंद्वारा वे पहचान लिये गये हैं ।। १८ ।।

सा शङ्कमाना भर्तारं बाहुकं पुनरिङ्गितैः ।
केशिनीं श्लक्ष्णया वाचा रुदती पुनरब्रवीत् ।। १९ ।।
पुनर्गच्छ प्रमत्तस्य बाहुकस्योपसंस्कृतम् ।
महानसाद् द्रुतं मांसमानयस्वेह भाविनि ।। २० ।।
सा गत्वा बाहुकस्याग्रे तन्मांसमपकृष्य च ।
अत्युष्णमेव त्वरिता तत्क्षणात् प्रियकारिणी ।। २१ ।।

चेष्टाओंद्वारा उसके मनमें यह प्रबल आशंका जम गयी कि बाहुक मेरे पति ही हैं। फिर तो वह रोने लगी और मधुर वाणीमें केशिनीसे बोली—‘सखि! एक बार फिर जाओ और जब बाहुक असावधान हो तो उसके द्वारा विशेषविधिसे उबालकर तैयार किया गया फलोंका गूदा रसोई घरमेंसे शीघ्र उठा लाओ।’ केशिनी दमयन्तीकी प्रियकारिणी सखी थी।

वह तुरंत गयी और जब बाहुकका ध्यान दूसरी ओर गया तब उसके उबाले हुए गरम-गरम फलोंके गूदेमेंसे थोड़ा-सा निकालकर तत्काल ले आयी ।। १९—२१ ।।

दमयन्त्यै ततः प्रादात् केशिनी कुरुनन्दन ।
सो चिता नलसिद्धस्य मांसस्य बहुशः पुरा ।। २२ ।।

कुरुनन्दन! केशिनीने वह फलोंका गूदा दमयन्तीको दे दिया। उसे पहले अनेक बार नलके द्वारा उबाले हुए फलोंके गूदेके स्वादका अनुभव था ।। २२ ।।

प्राश्य मत्वा नलं सूंत प्राक्रोशद् भृशदुःखिता ।
वैक्लव्यं परमं गत्वा प्रक्षाल्य च मुखं ततः ।। २३ ।।
मिथुनं प्रेषयामास केशिन्या सह भारत ।
इन्द्रसेनां सह भ्रात्रा समभिज्ञाय बाहुकः ।। २४ ।।
अभिद्रुत्य ततो राजा परिष्वज्याङ्कमानयत् ।
बाहुकस्तु समासाद्य सुतौ सुरसुतोपमौ ।। २५ ।।
भृशं दुःखपरीतात्मा सुस्वरं प्ररुरोद ह ।
नैषधो दर्शयित्वा तु विकारमसकृत् तदा ।
उत्सृज्य सहसो पुत्रौ केशिनीमिदमब्रवीत् ।। २६ ।।

उसे खाकर वह पूर्णरूपसे इस निश्चयपर पहुँच गयी कि बाहुक सारथि वास्तवमें राजा नल हैं। फिर तो वह अत्यन्त दुखी होकर विलाप करने लगी। उस समय उसकी व्याकुलता बहुत बढ़ गयी। भारत! फिर उसने मुँह धोकर केशिनीके साथ अपने बच्चोंको बाहुकके पास भेजा। बाहुकरूपी राजा नलने इन्द्रसेना और उसके भाई इन्द्रसेनको पहचान लिया और दौड़कर दोनों बच्चोंको छातीसे लगाकर गोदमें ले लिया। देवकुमारोंके समान उन दोनों सुन्दर बालकोंको पाकर निषधराज नल अत्यन्त दुःखमग्न हो जोर-जोरसे रोने लगे। उन्होंने बार-बार अपने मनोविकार दिखाये और सहसा दोनों बच्चोंको छोड़कर केशिनीसे इस प्रकार कहा— ।। २३—२६ ।।

इदं च सदृशं भद्रे मिथुनं मम पुत्रयोः ।
अतो दृष्ट्वैव सहसा बाष्पमुत्सृष्टवानहम् ।। २७ ।।

'भद्रे! ये दोनों बालक मेरे पुत्र और पुत्रीके समान हैं, इसीलिये इन्हें देखकर सहसा मेरे नेत्रोंसे आँसू बहने लगे ।। २७ ।।

बहुशः सम्पतन्तीं त्वां जनः संकेतदोषतः ।
वयं च देशातिथयो गच्छ भद्रे यथासुखम् ।। २८ ।।

'भद्रे! तुम बार-बार आती-जाती हो, लोग किसी दोषकी आशंका कर लेंगे और हमलोग इस देशके अतिथि हैं; अतः तुम सुखपूर्वक महलमें चली जाओ' ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कन्यापुत्रदर्शने पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलका अपनी पुत्री और पुत्रके देखनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७५ ।।

---

* 'मांस' शब्दका अर्थ 'संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ' में फलका गूदा किया गया है।

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

दमयन्ती और बाहुककी बातचीत, नलका प्राकट्य और नल-दमयन्ती-मिलन

बृहदश्व उवाच

सर्वं विकारं दृष्ट्वा तु पुण्यश्लोकस्य धीमतः ।
आगत्य केशिनी सर्वं दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! परम बुद्धिमान् पुण्यश्लोक राजा नलके सम्पूर्ण विकारोंको देखकर केशिनीने दमयन्तीको आकर बताया ।। १ ।।

दमयन्ती ततो भूयः प्रेषयामास केशिनीम् ।
मानुः सकाशं दुःखार्ता नलदर्शनकाङ्क्षया ।। २ ।।

अब दमयन्ती नलके दर्शनकी अभिलाषासे दुःखातुर हो गयी। उसने केशिनीको पुनः अपनी माँके पास भेजा ।। २ ।।

परीक्षितो मे बहुशो बाहुको नलशङ्कया ।
रूपे मे संशयस्त्वेकः स्वयमिच्छामि वेदितुम् ।। ३ ।।

(और यह कहलाया—) 'माँ! मेरे मनमें बाहुकके ही नलके होनेका संदेह था, जिसकी मैंने बार-बार परीक्षा करा ली है और सब लक्षण तो मिल गये हैं। केवल नलके रूपमें संदेह रह गया है। इस संदेहका निवारण करनेके लिये मैं स्वयं पता लगाना चाहती हूँ ।। ३ ।।

स वा प्रवेश्यतां मातर्मां वानुज्ञातुमर्हसि ।
विदितं वाथवा ज्ञातं पितुर्मे संविधीयताम् ।। ४ ।।

'माताजी! या तो बाहुकको महलमें बुलाओ या मुझे ही बाहुकके निकट जानेकी आज्ञा दो। तुम अपनी रुचिके अनुसार पिताजीसे सूचित करके अथवा उन्हें इसकी सूचना दिये बिना इसकी व्यवस्था कर सकती हो' ।। ४ ।।

एवमुक्ता तु वैदर्भ्या सा देवी भीममब्रवीत् ।
दुहितुस्तमभिप्रायमन्वजानात् स पार्थिवः ।। ५ ।।

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर महारानीने विदर्भनरेश भीमसे अपनी पुत्रीका यह अभिप्राय बताया। सब बातें सुनकर महाराजने आज्ञा दे दी ।। ५ ।।

सा वै पित्राभ्यनुज्ञाता मात्रा च भरतर्षभ ।
नलं प्रवेशयामास यत्र तस्याः प्रतिश्रयः ।। ६ ।।
तां स्म दृष्ट्वैव सहसा दमयन्तीं नलो नृपः ।
आविष्टः शोकदुःखाभ्यां बभूवाश्रुपरिप्लुतः ।। ७ ।।

भरतकुलभूषण! पिता और माताकी आज्ञा ले दमयन्तीने नलको राजभवनके भीतर जहाँ वह स्वयं रहती थी, बुलवाया। दमयन्तीको सहसा सामने उपस्थित देख राजा नल शोक और दु:खसे व्याप्त हो नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ।। ६-७ ।।

तं तु दृष्ट्वा तथायुक्तं दमयन्ती नलं तदा ।
तीव्रशोकसमाविष्टा बभूव वरवर्णिनी ।। ८ ।।

उस समय नलको उस अवस्थामें देखकर सुन्दरी दमयन्ती भी तीव्र शोकसे व्याकुल हो गयी ।। ८ ।।

ततः काषायवसना जटिला मलपङ्किनी ।
दमयन्ती महाराज बाहुकं वाक्यमब्रवीत् ।। ९ ।।

महाराज! तदनन्तर मलिन वस्त्र पहने, जटा धारण किये, मैल और पंकसे मलिन दमयन्तीने बाहुकसे पूछा— ।। ९ ।।

पूर्वं दृष्टस्त्वया कश्चिद् धर्मज्ञो नाम बाहुक ।
सुप्तामुत्सृज्य विपिने गतो यः पुरुषः स्त्रियम् ।। १० ।।

'बाहुक! तुमने पहले किसी ऐसे धर्मज्ञ पुरुषको देखा है, जो अपनी सोयी हुई पत्नीको वनमें अकेली छोड़कर चले गये थे ।। १० ।।

अनागसं प्रियां भार्यां विजने श्रममोहिताम् ।
अपहाय तु को गच्छेत् पुण्यश्लोकमृते नलम् ।। ११ ।।

'पुण्यश्लोक महाराज नलके सिवा दूसरा कौन होगा, जो एकान्तमें थकावटके कारण अचेत सोयी हुई अपनी निर्दोष प्रियतमा पत्नीको छोड़कर जा सकता हो ।। ११ ।।

किमु तस्य मया बाल्यादपराद्धं महीपतेः ।
यो मामुत्सृज्य विपिने गतवान् निद्रयार्दिताम् ।। १२ ।।

'न जाने उन महाराजका मैंने बचपनसे ही क्या अपराध किया था, जो नींदकी मारी हुई मुझ असहाय अबलाको जंगलमें छोड़कर चल दिये ।। १२ ।।

साक्षाद् देवानपाहाय वृतो यः स पुरा मया ।
अनुव्रतां साभिकामां पुत्रिणीं त्यक्तवान् कथम् ।। १३ ।।

'पहले स्वयंवरके समय साक्षात् देवताओंको छोड़कर मैंने उनका वरण किया था। मैं उनकी अनुगत भक्त, निरन्तर उन्हें चाहनेवाली और पुत्रवती हूँ, तो भी उन्होंने कैसे मुझे त्याग दिया? ।। १३ ।।

अग्नौ पाणिं गृहीत्वा तु देवानामग्रतस्तथा ।
भविष्यामीति सत्यं तु प्रतिश्रुत्य क्व तद् गतम् ।। १४ ।।

'अग्निके समीप और देवताओंके समक्ष मेरा हाथ पकड़कर और 'मैं तेरा ही अनुगत होकर रहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके जिन्होंने मुझे अपनाया था, उनका वह सत्य कहाँ चला गया?' ।। १४ ।।

दमयन्त्या ब्रुवन्त्यास्तु सर्वमेतदरिंदम ।
शोकजं वारि नेत्राभ्यामसुखं प्रास्रवद् बहु ।। १५ ।।

शत्रुदमन युधिष्ठिर! दमयन्ती जब ये सब बातें कह रही थी, उस समय नलके नेत्रोंसे शोकजनित दुःखपूर्ण आँसुओंकी अजस्र धारा बहती जा रही थी ।। १५ ।।

अतीव कृष्णसाराभ्यां रक्तान्ताभ्यां जलं तु तत् ।
परिस्रवन् नलो दृष्ट्वा शोकार्तामिदमब्रवीत् ।। १६ ।।

उनकी आँखोंकी पुतलियाँ काली थीं और नेत्रके किनारे कुछ-कुछ लाल थे। उनसे निरन्तर अश्रुधारा बहाते हुए नलने दमयन्तीको शोकसे आतुर देख इस प्रकार कहा — ।। १६ ।।

मम राज्यं प्रणष्टं यन्नाहं तत् कृतवान् स्वयम् ।
कलिना तत् कृतं भीरु यच्च त्वामहमत्यजम् ।। १७ ।।

'भीरु! मेरा जो राज्य नष्ट हो गया और मैंने जो तुम्हें त्याग दिया, वह सब कलियुगकी करतूत थी। मैंने स्वयं कुछ नहीं किया था ।। १७ ।।

यत् त्वया धर्मकृच्छ्रे तु शापेनाभिहतः पुरा ।
वनस्थया दुःखितया शोचन्त्या मां दिवानिशम् ।। १८ ।।
स मच्छरीरे त्वच्छापाद् दह्यमानोऽवसत् कलिः ।
त्वच्छापदग्धः सततं सोऽग्नावग्निरिवाहितः ।। १९ ।।

'पहले जब तुम वनमें दुखी होकर दिन-रात मेरे लिये शोक करती थी और उस समय धर्मसंकटमें पड़नेपर तुमने जिसे शाप दे दिया था, वही कलियुग मेरे शरीरमें तुम्हारी शापग्निसे दग्ध होता हुआ निवास करता था, जैसे आगमें रखी हुई आग हो; उसी प्रकार वह कलि तुम्हारे शापसे दग्ध हो सदा मेरे भीतर रहता था ।। १८-१९ ।।

मम च व्यवसायेन तपसा चैव निर्जितः ।
दुःखस्यान्तेन चानेन भवितव्यं हि नौ शुभे ।। २० ।।

'शुभे! मेरे व्यवसाय (उद्योग) तथा तपस्यासे कलियुग परास्त हो चुका है। अतः अब हमारे दुःखोंका अन्त हो जाना चाहिये ।। २० ।।

विमुच्य मां गतः पापस्ततोऽहमिह चागतः ।
त्वदर्थं विपुलश्रोणि न हि मेऽन्यत् प्रयोजनम् ।। २१ ।।

'सुन्दरी! पापी कलियुग मुझे छोड़कर चला गया, इसीसे मैं तुम्हारी प्राप्तिका उद्देश्य लेकर यहाँ आया हूँ। इसके सिवा, मेरे आगमनका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है ।। २१ ।।

कथं नु नारी भर्तारमनुरक्तमनुव्रतम् ।
उत्सृज्य वरयेदन्यं यथा त्वं भीरु कर्हिचित् ।। २२ ।।

'भीरु! कोई भी स्त्री कभी अपने अनुरक्त एवं भक्त पतिको त्यागकर दूसरे पुरुषका वरण कैसे कर सकती है? जैसा कि तुम करने जा रही हो ।। २२ ।।

दूताश्चरन्ति पृथिवीं कृत्स्नां नृपतिशासनात् ।
भैमी किल स्म भर्तारं द्वितीयं वरयिष्यति ।। २३ ।।

‘विदर्भनरेशकी आज्ञासे सारी पृथ्वीपर दूत विचरते हैं और यह घोषणा कर रहे हैं कि दमयन्ती द्वितीय पतिका वरण करेगी ।। २३ ।।

स्वैरवृत्ता यथाकाममनुरूपमिवात्मनः ।
श्रुत्वैव चैवं त्वरितो भाङ्गासुरिरुपस्थितः ।। २४ ।।

‘दमयन्ती स्वेच्छाचारिणी है और अपनी रुचिके अनुसार किसी अनुरूप पतिका वरण कर सकती है’, यह सुनकर ही राजा ऋतुपर्ण बड़ी उतावलीके साथ यहाँ उपस्थित हुए हैं’ ।। २४ ।।

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा नलस्य परिदेवितम् ।
प्राञ्जलिर्वेपमाना च भीता वचनमब्रवीत् ।। २५ ।।

दमयन्ती नलका यह विलाप सुनकर काँप उठी और भयभीत हो हाथ जोड़कर यह वचन बोली ।। २५ ।।

दमयन्त्युवाच

न मामर्हसि कल्याण दोषेण परिशङ्कितुम् ।
मया हि देवानुत्सृज्य वृतस्त्वं निषधाधिप ।। २६ ।।

दमयन्तीने कहा—कल्याणमय निषधनरेश! आपको मुझपर दोषारोपण करते हुए मेरे चरित्रपर संदेह नहीं करना चाहिये। (आपके प्रति अनन्य प्रेमके कारण ही) मैंने देवताओंको छोड़कर आपका वरण किया है ।। २६ ।।

तवाभिगमनार्थं तु सर्वतो ब्राह्मणा गताः ।
वाक्यानि मम गाथाभिर्गायमाना दिशो दश ।। २७ ।।

आपका पता लगानेके लिये ही चारों ओर ब्राह्मणलोग भेजे गये और वे मेरी कही हुई बातोंको सब दिशाओंमें गाथाके रूपमें गाते फिरे ।। २७ ।।

ततस्त्वां ब्राह्मणो विद्वान् पर्णादो नाम पार्थिव ।
अभ्यगच्छत् कोसलायामृतुपर्णनिवेशने ।। २८ ।।

राजन्! इसी योजनाके अनुसार पर्णाद नामक विद्वान् ब्राह्मण अयोध्यापुरीमें ऋतुपर्णके राजभवनमें गये थे ।।

तेन वाक्ये कृते सम्यक् प्रतिवाक्ये तथाऽऽहृते ।
उपायोऽयं मया दृष्टो नैषधानयने तव ।। २९ ।।

उन्होंने वहाँ मेरी बात उपस्थित की और वहाँसे आपके द्वारा प्राप्त हुआ ठीक-ठीक उत्तर वे ले आये। निषधराज! इसके बाद आपको यहाँ बुलानेके लिये मुझे यह उपाय सूझा

(कि एक ही दिनके बाद होनेवाले स्वयंवरका समाचार देकर ऋतुपर्णको बुलाया जाय) ।। २९ ।।

त्वामृते न हि लोकेऽन्य एकाह्ना पृथिवीपते ।
समर्थो योजनशतं गन्तुमश्वैर्नराधिप ।। ३० ।।

नरेश्वर! पृथ्वीनाथ! मैं यह अच्छी तरह जानती हूँ कि इस जगत्‌में आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो एक ही दिनमें घोड़े जुते हुए रथकी सवारीसे सौ योजन दूरतक जानेमें समर्थ हो ।। ३० ।।

स्पृशेयं तेन सत्येन पादावेतौ महीपते ।
यथा नासत्कृतं किंचिन्मनसापि चराम्यहम् ।। ३१ ।।

महीपते! मैं मनसे भी कभी कोई असदाचरण नहीं करती हूँ और इसी सत्यकी शपथ खाकर आपके इन दोनों चरणोंका स्पर्श करती हूँ ।। ३१ ।।

अयं चरति लोकेऽस्मिन् भूतसाक्षी सदागतिः ।
एष मे मुञ्चतु प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ।। ३२ ।।

ये सदा गतिशील वायुदेवता इस जगत्‌में निरन्तर विचरते रहते हैं, अतः ये सम्पूर्ण भूतोंके साक्षी हैं। यदि मैंने पाप किया है तो ये मेरे प्राणोंका हरण कर लें ।। ३२ ।।

यथा चरति तिग्मांशुः परेण भुवनं सदा ।
स मुञ्चतु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ।। ३३ ।।

प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्यदेव समस्त भुवनोंके ऊपर विचरते हैं, (अतः वे भी सबके शुभाशुभ कर्म देखते रहते हैं।) यदि मैंने पाप किया है तो ये मेरे प्राणोंका हरण कर लें ।। ३३ ।।

चन्द्रमाः सर्वभूतानामन्तश्चरति साक्षिवत् ।
स मुञ्चतु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ।। ३४ ।।

चित्तके अभिमानी देवता चन्द्रमा समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें साक्षीरूपसे विचरते हैं। यदि मैंने पाप किया है तो वे मेरे प्राणोंका हरण कर लें ।। ३४ ।।

एते देवास्त्रयः कृत्स्नं त्रैलोक्यं धारयन्ति वै ।
विब्रुवन्तु यथा सत्यमेतद् देवास्त्यजन्तु माम् ।। ३५ ।।

ये पूर्वोक्त तीन देवता सम्पूर्ण त्रिलोकीको धारण करते हैं। मेरे कथनमें कितनी सचाई है, इसे देवतालोग स्वयं स्पष्ट करें। यदि मैं झूठ बोलती हूँ तो देवता मेरा त्याग कर दें ।। ३५ ।।

एवमुक्तस्तथा वायुरन्तरिक्षादभाषत ।
नैषा कृतवती पापं नल सत्यं ब्रवीमि ते ।। ३६ ।।

दमयन्तीके ऐसा कहनेपर अन्तरिक्षलोकसे वायु-देवताने कहा—'नल! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, इस दमयन्तीने कभी कोई पाप नहीं किया है ।। ३६ ।।

राजञ्छीलनिधिः स्फीतो दमयन्त्या सुरक्षितः ।
साक्षिणो रक्षिणश्चास्या वयं त्रीन् परिवत्सरान् ।। ३७ ।।

'राजन्! दमयन्तीने अपने शीलकी उज्ज्वल निधिको सदा सुरक्षित रखा है। हमलोग तीन वर्षोंतक निरन्तर इसके रक्षक और साक्षी रहे हैं ।। ३७ ।।

उपायो विहितश्चायं त्वदर्थमतुलोऽनया ।
न ह्येकाह्ना शतं गन्ता त्वामृतेऽन्यः पुमानिह ।। ३८ ।।

'तुम्हारी प्राप्तिके लिये दमयन्तीने यह अनुपम उपाय ढूँढ़ निकाला था; क्योंकि इस जगत्में तुम्हारे सिवा दूसरा कोई पुरुष नहीं है, जो एक दिनमें सौ योजन (रथद्वारा) जा सके ।। ३८ ।।

उपपन्ना त्वया भैमी त्वं च भैम्या महीपते ।
नात्र शङ्का त्वया कार्या संगच्छ सह भार्यया ।। ३९ ।।

'राजन्! भीमकुमारी दमयन्ती तुम्हारे योग्य है और तुम दमयन्तीके योग्य हो। तुम्हें इसके चरित्रके विषयमें कोई शंका नहीं करनी चाहिये। तुम अपनी पत्नीसे निःशंक होकर मिलो' ।। ३९ ।।

तथा ब्रुवति वायौ तु पुष्पवृष्टिः पपात ह ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ववौ च पवनः शिवः ।। ४० ।।

वायुदेवके ऐसा कहते समय आकाशसे फूलोंकी वर्षा हो रही थी, देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज रही थीं और मंगलमय पवन चलने लगा ।। ४० ।।

तदद्भुतमयं दृष्ट्वा नलो राजाथ भारत ।
दमयन्त्यां विशङ्कां तामुपाकर्षदरिंदमः ।। ४१ ।।

युधिष्ठिर! यह अद्भुत दृश्य देखकर शत्रुसूदन राजा नलने दमयन्तीके विरुद्ध होनेवाली शंकाको त्याग दिया ।। ४१ ।।

ततस्तद् वस्त्रमजरं प्रावृणोद् वसुधाधिपः ।
संस्मृत्य नागराजं तं ततो लेभे स्वकं वपुः ।। ४२ ।।

तदनन्तर उन भूपालने नागराज कर्कोटकका स्मरण करके उसके दिये हुए अजीर्ण वस्त्रको ओढ़ लिया। उससे उन्हें अपने पूर्वस्वरूपकी प्राप्ति हो गयी ।। ४२ ।।

स्वरूपिणं तु भर्तारं दृष्ट्वा भीमसुता तदा ।
प्राक्रोशदुच्चैरालिङ्ग्य पुण्यश्लोकमनिन्दिता ।। ४३ ।।

अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हुए अपने पतिदेव पुण्यश्लोक महाराज नलको देखकर सती साध्वी दमयन्ती उनके हृदयसे लगकर उच्च स्वरसे रोने लगी ।। ४३ ।।

भैमीमपि नलो राजा भ्राजमानो यथा पुरा ।
सस्वजे स्वसुतौ चापि यथावत् प्रत्यनन्दत ।। ४४ ।।

राजा नलका रूप पहलेकी ही भाँति ही प्रकाशित हो रहा था। उन्होंने भी दमयन्तीको छातीसे लगा लिया और अपने दोनों बालकोंको भी प्यार-दुलार करके प्रसन्न किया ।। ४४ ।।

ततः स्वोरसि विन्यस्य वक्त्रं तस्य शुभानना ।
परीता तेन दुःखेन निःशश्वासायतेक्षणा ।। ४५ ।।

तत्पश्चात् सुन्दर मुख और विशाल नेत्रोंवाली दमयन्ती नलके मुखको अपने वक्षःस्थलपर रखकर दुःखसे व्याकुल हो लंबी साँसे खींचने लगी ।। ४५ ।।

तथैव मलदिग्धाङ्गीं परिष्वज्य शुचिस्मिताम् ।
सुचिरं पुरुषव्याघ्रस्तस्थौ शोकपरिप्लुतः ।। ४६ ।।

इसी प्रकार पवित्र मुसकान तथा मैलसे भरे हुए अंगोंवाली दमयन्तीको हृदयसे लगाकर पुरुषसिंह नल बहुत देरतक शोकमग्न खड़े रहे ।। ४६ ।।

ततः सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्या नलस्य च ।
भीमायाकथयत् प्रीत्या वैदर्भ्या जननी नृप ।। ४७ ।।

'राजन्! तदनन्तर (दमयन्तीके द्वारा मालूम होनेपर) दमयन्तीकी माताने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक राजा भीमसे नल-दमयन्तीका सारा वृत्तान्त यथावत् कह सुनाया' ।। ४७ ।।

ततोऽब्रवीन्महाराजः कृतशौचमहं नलम् ।
दमयन्त्या सहोपेतं कल्ये द्रष्टा सुखोषितम् ।। ४८ ।।

तब महाराज भीमने कहा—'आज नलको सुखपूर्वक यहीं रहने दो। कल सबेरे स्नान आदिसे शुद्ध हुए दमयन्तीसहित नलसे मैं मिलूँगा' ।। ४८ ।।

ततस्तौ सहितौ रात्रिं कथयन्तौ पुरातनम् ।
वने विचरितं सर्वमूषतुर्मुदितौ नृप ।। ४९ ।।

राजन्! तत्पश्चात् वे दोनों दम्पति रातभर वनमें रहनेकी पुरानी घटनाओंको एक-दूसरेसे कहते हुए प्रसन्नतापूर्वक एक साथ रहे ।। ४९ ।।

गृहे भीमस्य नृपतेः परस्परसुखैषिणौ ।
वसेतां हृष्टसंकल्पौ वैदर्भी च नलश्च ह ।। ५० ।।

एक-दूसरेको सुख देनेकी इच्छा रखनेवाले दमयन्ती और नल राजा भीमके महलमें प्रसन्नचित्त होकर रहे ।। ५० ।।

स चतुर्थे ततो वर्षे संगम्य सह भार्यया ।
सर्वकामैः सुसिद्धार्थो लब्धवान् परमां मुदम् ।। ५१ ।।

चौथे वर्षमें अपनी प्यारी पत्नीसे मिलकर सम्पूर्ण कामनाओंसे सफलमनोरथ हो नल अत्यन्त आनन्दमें निमग्न हो गये ।। ५१ ।।

दमयन्त्यपि भर्तारमासाद्याप्यायिता भृशम् ।
अर्धसंजातसस्येव तोयं प्राप्य वसुंधरा ।। ५२ ।।

जैसे आधी जमी हुई खेतीसे भरी वसुधा वर्षाका जल पाकर उल्लसित हो उठती है, उसी प्रकार दमयन्ती भी अपने पतिको पाकर बहुत संतुष्ट हुई ।। ५२ ।।

सैवं समेत्य व्यपनीय तन्द्रां
शान्तज्वरा हर्षविवृद्धसत्त्वा ।
रराज भैमी समवाप्तकामा
शीतांशुना रात्रिरिवोदितेन ।। ५३ ।।

जैसे चन्द्रोदयसे रात्रिकी शोभा बढ़ जाती है, उसी प्रकार भीमकुमारी दमयन्ती पतिसे मिलकर आलस्यका त्याग करके निश्चिन्त और हर्षोल्लसित हृदयसे पूर्णकाम होकर अत्यन्त शोभा पाने लगी ।। ५३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलदमयन्तीसमागमे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ।। ७६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नलदमयन्तीसमागमविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७६ ।।

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

नलके प्रकट होनेपर विदर्भनगरमें महान् उत्सवका आयोजन, ऋतुपर्णके साथ नलका वार्तालाप और ऋतुपर्णका नलसे अश्वविद्या सीखकर अयोध्या जाना

बृहदश्व उवाच

अथ तां व्युषितो रात्रिं नलो राजा स्वलंकृतः ।
वैदर्भ्या सहितः काले ददर्श वसुधाधिपम् ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर वह रात बीतनेपर राजा नल वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो दमयन्तीके साथ यथासमय राजा भीमसे मिले ।। १ ।।

ततोऽभिवादयामास प्रयतः श्वशुरं नलः ।
ततोऽनु दमयन्ती च ववन्दे पितरं शुभा ।। २ ।।

स्नानादिसे पवित्र हुए राजा नलने विनीतभावसे श्वशुरको प्रणाम किया। तत्पश्चात् शुभलक्षणा दमयन्तीने भी पिताकी वन्दना की ।। २ ।।

तं भीमः प्रतिजग्राह पुत्रवत् परया मुदा ।
यथार्हं पूजयित्वा च समाश्वासयत प्रभुः ।। ३ ।।
नलेन सहितां तत्र दमयन्तीं पतिव्रताम् ।

राजा भीमने बड़ी प्रसन्नताके साथ नलको पुत्रकी भाँति अपनाया और नलसहित पतिव्रता दमयन्तीका यथायोग्य आदर-सत्कार करके उन्हें आश्वासन दिया ।। ३½ ।।

तामर्हणां नलो राजा प्रतिगृह्य यथाविधि ।। ४ ।।
परिचर्यां स्वकां तस्मै यथावत् प्रत्यवेदयत् ।
ततो बभूव नगरे सुमहान् हर्षजः स्वनः ।। ५ ।।
जनस्य सम्प्रहृष्टस्य नलं दृष्ट्वा तथाऽऽगतम् ।

राजा नलने उस पूजाको विधिपूर्वक स्वीकार करके अपनी ओरसे भी श्वशुरका सेवा-सत्कार किया। तदनन्तर विदर्भनगरमें राजा नलको इस प्रकार आया देख हर्षोल्लासमें भरी हुई जनताका महान् आनन्दजनित कोलाहल होने लगा ।। ४-५½ ।।

अशोभयच्च नगरं पताकाध्वजमालिनम् ।। ६ ।।
सिक्ताः सुमृष्टपुष्पाढ्या राजमार्गाः स्वलंकृताः ।
द्वारि द्वारि च पौराणां पुष्पभङ्गः प्रकल्पितः ।। ७ ।।

विदर्भनरेशने ध्वजा, पताकाओंकी पंक्तियोंसे कुण्डिनपुरको अद्भुत शोभासे सम्पन्न किया। सड़कोंको खूब झाड़-बुहारकर उनपर छिड़काव किया गया था। फूलोंसे उन्हें अच्छी

तरह सजाया गया था। पुरवासियोंके द्वार-द्वारपर सुगंध फैलानेके लिये राशि-राशि फूल बिखेरे गये थे ।। ६-७ ।।

अर्चितानि च सर्वाणि देवतायतनानि च ।
ऋतुपर्णोऽपि शुश्राव बाहुकच्छद्मिनं नलम् ।। ८ ।।
दमयन्त्या समायुक्तं जहृषे च नराधिपः ।

सम्पूर्ण देवमन्दिरोंकी सजावट और देवमूर्तियोंकी पूजा की गयी थी। राजा ऋतुपर्णने भी जब यह सुना कि बाहुकके वेषमें राजा नल ही थे और अब वे दमयन्तीसे मिले हैं, तब उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ।। ८½ ।।

तमानाय्य नलं राजा क्षमयामास पार्थिवम् ।। ९ ।।

उन्होंने राजा नलको बुलवाकर उनसे क्षमा माँगी ।। ९ ।।

स च तं क्षमयामास हेतुभिर्बुद्धिसम्मितः ।
स सत्कृतो महीपालो नैषधं विस्मिताननः ।। १० ।।
उवाच वाक्यं तत्त्वज्ञो नैषधं वदतां वरः ।

बुद्धिमान् नलने भी अनेक युक्तियोंद्वारा उनसे क्षमा-याचना की। नलसे आदर-सत्कार पाकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ एवं तत्त्वज्ञ राजा ऋतुपर्ण मुसकराते हुए मुखसे बोले— ।। १०½ ।।

दिष्ट्या समेतो दारैः स्वैर्भवानित्यभ्यनन्दत ।। ११ ।।

'निषधनरेश! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप अपनी बिछुड़ी हुई पत्नीसे मिले।' ऐसा कहकर उन्होंने नलका अभिनन्दन किया ।। ११ ।।

किंचित् तु नापराधं ते कृतवानस्मि नैषध ।
अज्ञातवासे वसतो मद्गृहे वसुधाधिप ।। १२ ।।

(और पुनः कहा—) 'नैषध! भूपालशिरोमणे! आप मेरे घरपर जब अज्ञातवासकी अवस्थामें रहते थे, उस समय मैंने आपका कोई अपराध तो नहीं किया है? ।। १२ ।।

यदि वाबुद्धिपूर्वाणि यदि बुद्ध्यापि कानिचित् ।
मया कृतान्यकार्याणि तानि त्वं क्षन्तुमर्हसि ।। १३ ।।

'उन दिनों यदि मैंने बिना जाने या जान-बूझकर आपके साथ अनुचित बर्ताव किये हों तो उन्हें आप क्षमा कर दें' ।। १३ ।।

नल उवाच

न मेऽपराधं कृतवांस्त्वं स्वल्पमपि पार्थिव ।
कृतेऽपि च न मे कोपः क्षन्तव्यं हि मया तव ।। १४ ।।

नलने कहा—'राजन्! आपने मेरा कभी थोड़ासा भी अपराध नहीं किया है और यदि किया भी हो तो उसके लिये मेरे हृदयमें क्रोध नहीं है। मुझे आपके प्रत्येक बर्तावको क्षमा ही करना चाहिये' ।। १४ ।।

पूर्वं ह्यपि सखा मेऽसि सम्बन्धी च जनाधिप ।
अत ऊर्ध्वं तु भूयस्त्वं प्रीतिमाहर्तुमर्हसि ।। १५ ।।

जनेश्वर! आप पहले भी मेरे सखा और सम्बन्धी थे और इसके बाद भी आपको मुझपर अधिक-से-अधिक प्रेम रखना चाहिये ।। १५ ।।

सर्वकामैः सुविहितैः सुखमस्म्युषितस्त्वयि ।
न तथा स्वगृहे राजन् यथा तव गृहे सदा ।। १६ ।।

राजन्! मेरी समस्त कामनाएँ वहाँ अच्छी तरह पूर्ण की गयीं और इसके कारण मैं सदा आपके यहाँ सुखी रहा। महाराज! आपके भवनमें मुझे जैसा आराम मिला, वैसा अपने घरमें भी नहीं मिला ।। १६ ।।

इदं चैव हयज्ञानं त्वदीयं मयि तिष्ठति ।
तदुपाकर्तुमिच्छामि मन्यसे यदि पार्थिव ।
एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णाय नैषधः ।। १७ ।।

आपका अश्वविज्ञान मेरे पास धरोहरके रूपमें पड़ा है। राजन्! यदि आप ठीक समझें तो मैं उसे आपको देनेकी इच्छा रखता हूँ। ऐसा कहकर निषधराज नलने ऋतुपर्णको अश्वविद्या प्रदान की ।। १७ ।।

स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
गृहीत्वा चाश्वहृदयं राजन् भाङ्गासुरिर्नृपः ।। १८ ।।

निषधाधिपतेश्चापि दत्त्वाक्षहृदयं नृपः ।
सूतमन्यमुपादाय ययौ स्वपुरमेव ह ।। १९ ।।

युधिष्ठिर! ऋतुपर्णने भी शास्त्रीय विधिके अनुसार उनसे अश्वविद्या ग्रहण की। अश्वोंका रहस्य ग्रहण करके और निषधनरेश नलको पुनः द्यूतविद्याका रहस्य समझाकर दूसरा सारथि साथ ले राजा ऋतुपर्ण अपने नगरको चले गये ।। १८-१९ ।।

ऋतुपर्णे गते राजन् नलो राजा विशाम्पते ।
नगरे कुण्डिने कालं नातिदीर्घमिवावसत् ।। २० ।।

राजन्! ऋतुपर्णके चले जानेपर राजा नल कुण्डिनपुरमें कुछ समयतक रहे। वह काल उन्हें थोड़े समयके समान ही प्रतीत हुआ ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णस्वदेशगमने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें ऋतुपर्णका स्वदेशगमनविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७७ ।।

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

राजा नलका पुष्करको जूएमें हराना और उसको राजधानीमें भेजकर अपने नगरमें प्रवेश करना

बृहदश्व उवाच

स मासमुष्य कौन्तेय भीममामन्त्र्य नैषधः ।
पुरादल्पपरीवारो जगाम निषधान् प्रति ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! निषध-नरेश एक मासतक कुण्डिनपुरमें रहकर राजा भीमकी आज्ञा ले थोड़े-से सेवकोंसहित वहाँसे निषधदेशकी ओर प्रस्थित हुए ।। १ ।।

रथेनैकेन शुभ्रेण दन्तिभिः परिषोडशैः ।
पञ्चाशद्भिर्हयैश्चैव षट्शतैश्च पदातिभिः ।। २ ।।

उनके साथ चारों ओरसे सोलह हाथियोंद्वारा घिरा हुआ एक सुन्दर रथ, पचास घोड़े और छः सौ पैदल सैनिक थे ।। २ ।।

स कम्पयन्निव महीं त्वरमाणो महीपतिः ।
प्रविवेशाथ संरब्धस्तरसैव महामनाः ।। ३ ।।

महामना राजा नलने इन सबके द्वारा पृथ्वीको कम्पित-सी करते हुए बड़ी उतावलीके साथ रोषावेशमें भरे वेगपूर्वक निषधदेशकी राजधानीमें प्रवेश किया ।। ३ ।।

ततः पुष्करमासाद्य वीरसेनसुतो नलः ।
उवाच दीव्याव पुनर्बहुवित्तं मयार्जितम् ।। ४ ।।
दमयन्ती च यच्चान्यन्मम किंचन विद्यते ।
एष वै मम संन्यासस्तव राज्यं तु पुष्कर ।। ५ ।।
पुनः प्रवर्ततां द्यूतमिति मे निश्चिता मतिः ।
एकपाणेन भद्रं ते प्राणयोश्च पणावहे ।। ६ ।।

तदनन्तर वीरसेनपुत्र नलने पुष्करके पास जाकर कहा—'अब हम दोनों फिरसे जूआ खेलें। मैंने बहुत धन प्राप्त किया है। दमयन्ती तथा अन्य जो कुछ भी मेरे पास है, यह सब मेरी ओरसे दाँवपर लगाया जायगा और पुष्कर! तुम्हारी ओरसे सारा राज्य ही दाँवपर रखा जायगा। इस एक पणके साथ हम दोनोंमें फिर जूएका खेल प्रारम्भ हो, यह मेरा निश्चित विचार है। तुम्हारा भला हो, यदि ऐसा न कर सको तो हम दोनों अपने प्राणोंकी बाजी लगावें ।। ४—६ ।।

जित्वा परस्वमाहृत्य राज्यं वा यदि वा वसु ।
प्रतिपाणः प्रदातव्यः परमो धर्म उच्यते ।। ७ ।।

‘जूएके दाँवमें दूसरेका राज्य या धन जीतकर रख लिया जाय तो उसे यदि वह पुनः खेलना चाहे तो प्रतिपण (बदलेका दाव) देना चाहिये, यह परम धर्म कहा गया है ।। ७ ।।

न चेद् वाञ्छसि त्वं द्यूतं युद्धद्यूतं प्रवर्तताम् ।
द्वैरथेनास्तु वै शान्तिस्तव वा मम वा नृप ।। ८ ।।

‘यदि तुम पासोंसे जूआ खेलना न चाहो तो बाणोंद्वारा युद्धका जूआ प्रारम्भ होना चाहिये। राजन्! द्वैरथयुद्धके द्वारा तुम्हारी अथवा मेरी शान्ति हो जाय ।। ८ ।।

वंशभोज्यमिदं राज्यमर्थितव्यं यथा तथा ।
येन केनाप्युपायेन वृद्धानामिति शासनम् ।। ९ ।।

‘यह राज्य हमारी वंशपरम्पराके उपभोगमें आनेवाला है। जिस-किसी उपायसे भी जैसे-तैसे इसका उद्धार करना चाहिये; ऐसा वृद्ध पुरुषोंका उपदेश है ।। ९ ।।

द्वयोरेकतरे बुद्धिः क्रियतामद्य पुष्कर ।
कैतवेनाक्षवत्यां तु युद्धे वा ना ताम्यतां धनुः ।। १० ।।

‘पुष्कर! आज तुम दोमेंसे एकमें मन लगाओ। छलपूर्वक जूआ खेलो अथवा युद्धके लिये धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाओ’ ।। १० ।।

नैषधेनैवमुक्तस्तु पुष्करः प्रहसन्निव ।
ध्रुवमात्मजयं मत्वा प्रत्याह पृथिवीपतिम् ।। ११ ।।

निषधराज नलके ऐसा कहनेपर पुष्करने अपनी विजयको अवश्यम्भावी मानकर हँसते हुए उनसे कहा— ।। ११ ।।

दिष्ट्या त्वयार्जितं वित्तं प्रतिपाणाय नैषध ।
दिष्ट्या च दुष्कृतं कर्म दमयन्त्याः क्षयं गतम् ।। १२ ।।

‘नैषध! सौभाग्यकी बात है कि तुमने दाँवपर लगानेके लिये धनका उपार्जन कर लिया है। यह भी आनन्दकी बात है कि दमयन्तीके दुष्कर्मोंका क्षय हो गया ।। १२ ।।

दिष्ट्या च ध्रियसे राजन् सदारोऽद्य महाभुज ।
धनेनानेन वै भैमी जितेन समलंकृता ।। १३ ।।
मामुपस्थास्यति व्यक्तं दिवि शक्रमिवाप्सराः ।
नित्यशो हि स्मरामि त्वां प्रतीक्षेऽपि च नैषध ।। १४ ।।

‘महाबाहु नरेश! सौभाग्यसे तुम पत्नीसहित अभी जीवित हो। इसी धनको जीत लेनेपर दमयन्ती शृंगार करके निश्चय ही मेरी सेवामें उपस्थित होगी, ठीक उसी तरह, जैसे स्वर्गलोककी अप्सरा देवराज इन्द्रकी सेवामें जाती है। नैषध! मैं प्रतिदिन तुम्हारी याद करता हूँ और तुम्हारी राह भी देखा करता हूँ ।। १३-१४ ।।

देवनेन मम प्रीतिर्न भवत्यसुहृद्गणैः ।
जित्वा त्वद्य वरारोहां दमयन्तीमनिन्दिताम् ।। १५ ।।
कृतकृत्यो भविष्यामि सा हि मे नित्यशो हृदि ।

‘शत्रुओंके साथ जूआ खेलनेसे मुझे कभी तृप्ति ही नहीं होती। आज श्रेष्ठ अंगोंवाली अनिन्द्य सुन्दरी दमयन्तीको जीतकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा; क्योंकि वह सदा मेरे हृदयमन्दिरमें निवास करती है’ ।। १५½ ।।

श्रुत्वा तु तस्य वा वाचो बह्वबद्धप्रलापिनः ।। १६ ।।
इयेष स शिरश्छेत्तुं खड्गेन कुपितो नलः ।
स्मयंस्तु रोषताम्राक्षस्तमुवाच नलो नृपः ।। १७ ।।

इस प्रकार बहुत-से असम्बद्ध प्रलाप करनेवाले पुष्करकी ये बातें सुनकर राजा नलको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने तलवारसे उसका सिर काट लेनेकी इच्छा की। रोषसे उनकी आँखें लाल हो गयीं तो भी राजा नलने हँसते हुए उससे कहा— ।। १६-१७ ।।

पणावः किं व्याहरसे जितो न व्याहरिष्यसि ।
ततः प्रावर्तत द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च ।। १८ ।।
एकपाणेन वीरेण नलेन स पराजितः ।
स रत्नकोशनिचयैः प्राणेन पणितोऽपि च ।। १९ ।।

‘अब हम दोनों जूआ प्रारम्भ करें, तुम अभी व्यर्थ बकवाद क्यों करते हो? हार जानेपर ऐसी बातें न कर सकोगे।’ तदनन्तर पुष्कर तथा राजा नलमें एक ही दाँव लगानेकी शर्त रखकर जूएका खेल प्रारम्भ हुआ। तब वीर नलने पुष्करको हरा दिया। पुष्करने रत्न, खजाना तथा प्राणोंतककी बाजी लगा दी थी ।। १८-१९ ।।

जित्वा च पुष्करं राजा प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
मम सर्वमिदं राज्यमव्यग्रं हतकण्टकम् ।। २० ।।
वैदर्भी न त्वया शक्या राजापसद वीक्षितुम् ।
तस्यास्त्वं सपरीवारो मूढ दासत्वमागतः ।। २१ ।।

पुष्करको परास्त करके राजा नलने हँसते हुए उससे कहा—‘नृपाधम! अब यह शान्त और अकण्टक सारा राज्य मेरे अधिकारमें आ गया। विदर्भकुमारी दमयन्तीकी ओर तू आँख उठाकर देख भी नहीं सकता। मूर्ख! आजसे तू परिवारसहित दमयन्तीका दास हो गया ।। २०-२१ ।।

न त्वया तत् कृतं कर्म येनाहं विजितः पुरा ।
कलिना तत् कृतं कर्म त्वं च मूढ न बुध्यसे ।। २२ ।।

‘पहले तेरे द्वारा जो मैं पराजित हो गया था, उसमें तेरा कोई पुरुषार्थ नहीं था। मूढ़! वह सब कलियुगकी करतूत थी, जिसे तू नहीं जानता है ।। २२ ।।

नाहं परकृतं दोषं त्वय्याधास्ये कथंचन ।
यथासुखं वै जीव त्वं प्राणानवसृजामि ते ।। २३ ।।

‘दूसरे (कलियुग)-के किये हुए अपराधको मैं किसी तरह तेरे मत्थे नहीं मढ़ूँगा। तू सुखपूर्वक जीवित रह। मैं तेरे प्राण तुझे वापस देता हूँ ।। २३ ।।

तथैव सर्वसम्भारं स्वमंशं वितरामि ते ।
तथैव च मम प्रीतिस्त्वयि वीर न संशयः ।। २४ ।।

'तेरा सारा सामान और तेरे हिस्सेका धन भी तुझे लौटाये देता हूँ। वीर! तेरे ऊपर मेरा पूर्ववत् प्रेम बना रहेगा, इसमें संशय नहीं है ।। २४ ।।

सौहार्दं चापि मे त्वत्तो न कदाचित् प्रहास्यति ।
पुष्कर त्वं हि मे भ्राता संजीव शरदः शतम् ।। २५ ।।

'तेरे प्रति जो मेरा सौहार्द रहा है, वह कभी मेरे हृदयसे दूर नहीं होगा। पुष्कर! तू मेरा भाई है, जा, सौ वर्षोंतक जीवित रह' ।। २५ ।।

एवं नलः सान्त्वयित्वा भ्रातरं सत्यविक्रमः ।
स्वपुरं प्रेषयामास परिष्वज्य पुनः पुनः ।। २६ ।।

इस प्रकार सत्यपराक्रमी राजा नलने अपने भाई पुष्करको सान्त्वना दे बार-बार हृदयसे लगाकर उसकी राजधानीको भेज दिया ।। २६ ।।

सान्त्वितो नैषधेनैवं पुष्करः प्रत्युवाच तम् ।
पुण्यश्लोकं तदा राजन्नभिवाद्य कृताञ्जलिः ।। २७ ।।
कीर्तिरस्तु तवाक्षय्या जीव वर्षशतं सुखी ।
यो मे वितरसि प्राणानधिष्ठानं च पार्थिव ।। २८ ।।

राजन्! निषधराजके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर पुष्करने पुण्यश्लोक नलको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'पृथ्वीनाथ! आप जो मुझे प्राण और निवासस्थान भी वापस दे रहे हैं, इससे आपकी अक्षय कीर्ति बनी रहे। आप सौ वर्षोंतक जीयें और सुखी रहें' ।। २७-२८ ।।

स तथा सत्कृतो राज्ञा मासमुष्य तदा नृप ।
प्रययौ पुष्करो हृष्टःस्वपुरं स्वजनावृतः ।। २९ ।।
महत्या सेनया सार्धं विनीतैः परिचारकैः ।
भ्राजमान इवादित्यो वपुषा पुरुषर्षभ ।। ३० ।।

नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर! राजा नलके द्वारा इस प्रकार सत्कार पाकर पुष्कर एक मासतक वहाँ टिका रहा और फिर आत्मीय जनोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक अपनी राजधानीको चला गया। उसके साथ विशाल सेना और विनयशील सेवक भी थे। वह शरीरसे सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा था ।। २९-३० ।।

प्रस्थाप्य पुष्करं राजा वित्तवन्तमनामयम् ।
प्रविवेश पुरं श्रीमानत्यर्थमुपशोभिताम् ।। ३१ ।।

पुष्करको धन—वित्तके साथ सकुशल घर भेजकर श्रीमान् राजा नलने अपने अत्यन्त शोभासम्पन्न नगरमें प्रवेश किया ।। ३१ ।।

प्रविश्य सान्त्वयामास पौरांश्च निषधाधिपः ।
पौरा जानपदाश्चापि सम्प्रहृष्टतनूरुहाः ।। ३२ ।।

प्रवेश करके निषधनरेशने पुरवासियोंको सान्त्वना दी। नगर और जनपदके लोग बड़े प्रसन्न हुए। उनके शरीरमें रोमांच हो आया ।। ३२ ।।

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे सामात्यप्रमुखा जनाः ।
अद्य स्म निर्वृता राजन् पुरे जनपदेऽपि च ।
उपासितुं पुनः प्राप्ता देवा इव शतक्रतुम् ।। ३३ ।।

मन्त्री आदि सब लोगोंने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! आज हम नगर और जनपदके निवासी संतोषसे साँस ले सके हैं। जैसे देवता देवराज इन्द्रकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार अब हमें पुनः आपकी उपासना करने—आपके पास बैठनेका शुभ अवसर प्राप्त हुआ है' ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि पुष्करपराभवपूर्वकं राज्यप्रत्यानयने अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें पुष्करको हराकर राजा नलके अपने नगरमें आनेसे सम्बन्ध रखनेवाला अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७८ ।।

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

राजा नलके आख्यानके कीर्तनका महत्त्व, बृहदश्व मुनिका युधिष्ठिरको आश्वासन देना तथा द्यूतविद्या और अश्वविद्याका रहस्य बताकर जाना

बृहदश्व उवाच

प्रशान्ते तु पुरे हृष्टे सम्प्रवृत्ते महोत्सवे ।
महत्या सेनया राजा दमयन्तीमुपानयत् ।। १ ।।

बृहदश्व मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! जब नगरमें शान्ति छा गयी और सब लोग प्रसन्न हो गये, सर्वत्र महान् उत्सव होने लगा, उस समय राजा नल विशाल सेनाके साथ जाकर दमयन्तीको विदर्भदेशसे बुला लाये ।। १ ।।

दमयन्तीमपि पिता सत्कृत्य परवीरहा ।
प्रास्थापयदमेयात्मा भीमो भीमपराक्रमः ।। २ ।।

दमयन्तीके पिता भयंकर पराक्रमी भीम अप्रमेय आत्मबलसे सम्पन्न थे, शत्रुपक्षके वीरोंका हनन करनेमें समर्थ थे। उन्होंने अपनी पुत्री दमयन्तीको बड़े सत्कारके साथ विदा किया ।। २ ।।

आगतायां तु वैदर्भ्यां सपुत्रायां नलो नृपः ।
वर्तयामास मुदितो देवराडिव नन्दने ।। ३ ।।
तथा प्रकाशतां यातो जम्बुद्वीपे स राजसु ।
पुनः शशास तद् राज्यं प्रत्याहृत्य महायशाः ।। ४ ।।

पुत्र और पुत्रीसहित दमयन्तीके आ जानेपर राजा नल सब बर्ताव-व्यवहार बड़े आनन्दसे सम्पन्न करने लगे। जैसे नन्दनवनमें देवराज इन्द्र शोभा पाते हैं, उसी प्रकार वे जम्बूद्वीपके समस्त राजाओंमें प्रकाशमान हो रहे थे। वे महायशस्वी नरेश अपने राज्यको पुनः वापस लेकर उसका न्यायपूर्वक शासन करने लगे ।। ३-४ ।।

ईजे च विविधैर्यज्ञैर्विधिवच्चाप्तदक्षिणैः ।
तथा त्वमपि राजेन्द्र ससुहृद् यक्ष्यसेऽचिरात् ।। ५ ।।

उन्होंने पर्याप्त दक्षिणासे युक्त विविध प्रकारके यज्ञोंद्वारा विधिपूर्वक भगवान्‌का यजन किया। राजेन्द्र! इसी प्रकार तुम भी पुनः अपना राज्य पाकर सुहृदोंसहित शीघ्र ही यज्ञका अनुष्ठान करोगे ।। ५ ।।

दुःखमेतादृशं प्राप्तो नलः परपुरंजयः ।
देवनेन नरश्रेष्ठ सभार्यो भरतर्षभ ।। ६ ।।

भरतश्रेष्ठ! पुरुषोत्तम! शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महाराज नल जूआ खेलनेके कारण अपनी पत्नीसहित इस प्रकारके महान् संकटमें पड़ गये थे ।। ६ ।।

एकाकिनैव सुमहन्नलेन पृथिवीपते ।
दुःखमासादितं घोरं प्राप्तश्चाभ्युदयः पुनः ।। ७ ।।

पृथ्वीपते! राजा नलने अकेले ही यह भयंकर और महान् दुःख प्राप्त किया था; उन्हें पुनः अभ्युदयकी प्राप्ति हुई ।। ७ ।।

त्वं पुनर्भ्रातृसहितः कृष्णया चैव पाण्डव ।
रमसेऽस्मिन् महारण्ये धर्ममेवानुचिन्तयन् ।। ८ ।।

पाण्डुनन्दन! तुम तो अपने सभी भाइयों और महारानी द्रौपदीके साथ इस महान् वनमें भ्रमण करते हो और निरन्तर धर्मके ही चिन्तनमें लगे रहते हो ।। ८ ।।

ब्राह्मणैश्च महाभागैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ।
नित्यमन्वास्यसे राजंस्तत्र का परिदेवना ।। ९ ।।

राजन्! महान् भाग्यशाली वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण सदा तुम्हारे साथ रहते हैं; फिर तुम्हारे लिये इस परिस्थितिमें शोककी क्या बात है? ।। ९ ।।

कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ।। १० ।।

कर्कोटक नाग, दमयन्ती, नल तथा राजर्षि ऋतुपर्णकी चर्चा कलियुगके दोषका नाश करनेवाली है ।। १० ।।

इतिहासमिमं चापि कलिनाशनमच्युत ।
शक्यमाश्वसितुं श्रुत्वा त्वद्विधेन विशाम्पते ।। ११ ।।

महाराज! तुम्हारे-जैसे लोगोंको यह कलिनाशक इतिहास सुनकर आश्वासन प्राप्त हो सकता है ।। ११ ।।

अस्थिरत्वं च संचिन्त्य पुरुषार्थस्य नित्यदा ।
तस्योदये व्यये चापि न चिन्तयितुमर्हसि ।। १२ ।।

पुरुषको प्राप्त होनेवाले सभी विषय सदा अस्थिर एवं विनाशशील हैं। यह सोचकर उनके मिलने या नष्ट होनेपर तुम्हें तनिक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये ।। १२ ।।

श्रुत्वेतिहासं नृपते समाश्वसिहि मा शुचः ।
व्यसने त्वं महाराज न विषीदितुमर्हसि ।। १३ ।।

नरेश! इस इतिहासको सुनकर तुम धैर्य धारण करो, शोक न करो, महाराज! तुम्हें संकटमें पड़नेपर विषादग्रस्त नहीं होना चाहिये ।। १३ ।।

विषमावस्थिते दैवे पौरुषेऽफलतां गते ।
विषादयन्ति नात्मानं सत्त्वोपाश्रयिणो नराः ।। १४ ।।

जब दैव (प्रारब्ध) प्रतिकूल हो और पुरुषार्थ निष्फल हो जाय, उस समय भी सत्त्वगुणका आश्रय लेनेवाले मनुष्य अपने मनमें विषाद नहीं लाते ।। १४ ।।

ये चेदं कथयिष्यन्ति नलस्य चरितं महत् ।

श्रोष्यन्ति चाप्यभीक्ष्णं वै नालक्ष्मीस्तान् भजिष्यति ।। १५ ।।

अर्थास्तस्योपपत्स्यन्ते धन्यतां च गमिष्यति ।

जो राजा नलके इस महान् चरित्रका वर्णन करेंगे अथवा निरन्तर सुनेंगे, उन्हें दरिद्रता नहीं प्राप्त होगी। उनके सभी मनोरथ सिद्ध होंगे और वे संसारमें धन्य हो जायँगे ।। १५½ ।।

इतिहासमिमं श्रुत्वा पुराणं शश्वदुत्तमम् ।। १६ ।।

पुत्रान् पौत्रान् पशूंश्चापि लभते नृषु चाग्र्यताम् ।

आरोग्यप्रीतिमांश्चैव भविष्यति न संशयः ।। १७ ।।

इस प्राचीन एवं उत्तम इतिहासका सदा ही श्रवण करके मनुष्य पुत्र, पौत्र, पशु तथा मानवोंमें श्रेष्ठता प्राप्त कर लेता है। साथ ही वह नीरोग और प्रसन्न होता है, इसमें संशय नहीं है ।। १६-१७ ।।

भयात् त्रस्यसि यच्च त्वमाह्वयिष्यति मां पुनः ।

अक्षज्ञ इति तत् तेऽहं नाशयिष्यामि पार्थिव ।। १८ ।।

राजन्! तुम जो इस भयसे डर रहे हो कि कोई द्यूतविद्याका ज्ञाता मनुष्य पुनः मुझे जूएके लिये बुलायेगा (उस दशामें पुनः पराजयका कष्ट देखना पड़ेगा)। तुम्हारे उस भयको मैं दूर कर दूँगा ।। १८ ।।

वेदाक्षहृदयं कृत्स्नमहं सत्यपराक्रम ।

उपपद्यस्व कौन्तेय प्रसन्नोऽहं ब्रवीमि ते ।। १९ ।।

सत्यपराक्रमी कुन्तीनन्दन! मैं द्यूतविद्याके सम्पूर्ण हृदय (रहस्य)-को जानता हूँ, तुम उसे ग्रहण कर लो। मैं प्रसन्न होकर तुम्हें बतलाता हूँ ।। १९ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो हृष्टमना राजा बृहदश्वमुवाच ह ।

भगवन्नक्षहृदयं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः ।। २० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने प्रसन्नचित्त हो बृहदश्वसे कहा—'भगवन्! मैं द्यूतविद्याके रहस्यको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ' ।। २० ।।

ततोऽक्षहृदयं प्रादात् पाण्डवाय महात्मने ।

दत्त्वा चाश्वशिरोऽगच्छदुपस्प्रष्टुं महातपाः ।। २१ ।।

तब महातपस्वी मुनिने महात्मा पाण्डुनन्दनको द्यूतविद्याका रहस्य बताया और उन्हें अश्वविद्याका भी उपदेश देकर वे स्नान आदि करनेके लिये चले गये ।।

बृहदश्वे गते पार्थमश्रौषीत् सव्यसाचिनम् ।
वर्तमानं तपस्युग्रे वायुभक्षं मनीषिणम् ।। २२ ।।
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यः सम्पतद्भ्यस्ततस्ततः ।
तीर्थशैलवनेभ्यश्च समेतेभ्यो दृढव्रतः ।। २३ ।।
इति पार्थो महाबाहुर्दुरापं तप आस्थितः ।
न तथा दुष्टपूर्वोऽन्यः कश्चिदुग्रतपा इति ।। २४ ।।

बृहदश्व मुनिके चले जानेपर दृढव्रती राजा युधिष्ठिरने इधर-उधरके तीर्थों, पर्वतों और वनोंसे आये हुए तपस्वी ब्राह्मणोंके मुखसे सव्यसाची अर्जुनका यह समाचार सुना कि 'मनीषी अर्जुन वायुका आहार करके कठोर तपस्यामें लगे हैं। महाबाहु कुन्तीकुमार बड़ी दुष्कर तपस्यामें स्थित हैं। ऐसा कठोर तपस्वी आजसे पहले दूसरा कोई नहीं देखा गया है ।। २२—२४ ।।

यथा धनंजयः पार्थस्तपस्वी नियतव्रतः ।
मुनिरेकचरः श्रीमान् धर्मो विग्रहवानिव ।। २५ ।।

'कुन्तीकुमार धनंजय जिस प्रकार नियम और व्रतका पालन करते हुए तपस्यामें संलग्न हैं, वह अद्भुत है। वे मौनभावसे रहते और अकेले ही विचरते हैं। श्रीमान् अर्जुन धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप जान पड़ते हैं' ।।

तं श्रुत्वा पाण्डवो राजंस्तप्यमानं महावने ।
अन्वशोचत कौन्तेयः प्रियं वै भ्रातरं जयम् ।। २६ ।।

राजन्! उस महान् वनमें अपने प्रिय भाई अर्जुनको तपस्या करते सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर उनके लिये बार-बार शोक करने लगे ।। २६ ।।

दह्यमानेन तु हृदा शरणार्थी महावने ।
ब्राह्मणान् विविधज्ञानान् पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ।। २७ ।।

अर्जुनके वियोगमें संतप्त हृदयवाले वे युधिष्ठिर निर्भय आश्रयकी इच्छा रखते हुए उस महान् वनमें रहते थे और अनेक प्रकारके ज्ञानसे सम्पन्न ब्राह्मणोंसे अपना मनोगत अभिप्राय पूछा करते थे ।। २७ ।।

(प्रतिगृह्याक्षहृदयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आसीद्धृष्टमना राजन् भीमसेनादिभिर्युतः ।।

राजन्! द्यूतविद्याका रहस्य जानकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर भीमसेन आदिके साथ मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ।।

स्वभ्रातॄन् सहितान् पश्यन् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अपश्यन्नर्जुनं तत्र बभूवाश्रुपरिप्लुतः ।

संतप्यमानः कौन्तेयो भीमसेनमुवाच ह ।।

उन्होंने एक साथ बैठे हुए सब भाइयोंकी ओर देखा, उस समय वहाँ अर्जुनको न देखकर उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वे अत्यन्त संतप्त हो भीमसेनसे बोले ।।

युधिष्ठिर उवाच

कदा द्रक्ष्यामि वै भीम पार्थमत्र तवानुजम् ।
मत्कृते हि कुरुश्रेष्ठस्तप्यते दुश्चरं तपः ।।

युधिष्ठिरने कहा—भीमसेन! मैं तुम्हारे छोटे भाई अर्जुनको कब देखूँगा? कुरुश्रेष्ठ अर्जुन मेरे ही लिये अत्यन्त कठोर तपस्या करते हैं ।।

तस्याक्षहृदयज्ञानमाख्यास्यामि कदा न्वहम् ।
स हि श्रुत्वाक्षहृदयं समुपात्तं मया विभो ।।
प्रहृष्टः पुरुषव्याघ्रो भविष्यति न संशयः ।)

मैं उन्हें अक्षहृदय (द्यूतविद्याके रहस्य)-का ज्ञान कब कराऊँगा। भीम! मेरे द्वारा ग्रहण किये हुए अक्षहृदयको सुनकर पुरुषसिंह अर्जुन बहुत प्रसन्न होंगे, इसमें संशय नहीं है।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि बृहदश्वगमने एकोनाशीतितमोऽध्यायः ।। ७९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें बृहदश्वगमनविषयक उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

(तीर्थयात्रापर्व)

अशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनके लिये द्रौपदीसहित पाण्डवोंकी चिन्ता

जनमेजय उवाच

भगवन् काम्यकात् पार्थे गते मे प्रपितामहे ।
वाण्डवाः किमकुर्वंस्ते तमृते सव्यसाचिनम् ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—भगवन्! मेरे प्रपितामह अर्जुनके काम्यकवनसे चले जानेपर उनसे अलग रहते हुए शेष पाण्डवोंने कौन-सा कार्य किया? ।। १ ।।

स हि तेषां महेष्वासो गतिरासीदनीकजित् ।
आदित्यानां यथा विष्णुस्तथैव प्रतिभाति मे ।। २ ।।

वे सैन्यविजयी, महान् धनुर्धर अर्जुन ही उन सबके आश्रय थे। जैसे आदित्योंमें विष्णु हैं, वैसे ही पाण्डवोंमें मुझे धनंजय जान पड़ते हैं ।। २ ।।

तेनेन्द्रसमवीर्येण संग्रामेष्वनिवर्तिना ।
विनाभूता वने वीराः कथमासन् पितामहाः ।। ३ ।।

वे संग्रामसे कभी पीछे न हटनेवाले और इन्द्रके समान पराक्रमी थे। उनके बिना मेरे अन्य वीर पितामह वनमें कैसे रहते थे? ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

गते तु पाण्डवे तात काम्यकात् सत्यविक्रमे ।
बभूवुः पाण्डवेयास्ते दुःखशोकपरायणाः ।। ४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तात! सत्यपराक्रमी पाण्डुकुमार अर्जुनके काम्यकवनसे चले जानेपर सभी पाण्डव उनके लिये दुःख और शोकमें मग्न रहने लगे ।। ४ ।।

आक्षिप्तसूत्रा मणयश्छिन्नपक्षा इव द्विजाः ।
अप्रीतमनसः सर्वे बभूवुरथ पाण्डवाः ।। ५ ।।

जैसे मणियोंकी मालाका सूत टूट जाय अथवा पक्षियोंके पंख कट जायँ, वैसी दशामें उन मणियों और पक्षियोंकी जो अवस्था होती है, वैसी ही अर्जुनके बिना पाण्डवोंकी थी। उन सबके मनमें तनिक भी प्रसन्नता नहीं थी ।। ५ ।।

वनं तु तदभूत् तेन हीनमक्लिष्टकर्मणा ।

कुबेरेण यथा हीनं वनं चैत्ररथं तथा ।। ६ ।।

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले अर्जुनके बिना वह वन उसी प्रकार शोभाशून्य-सा हो गया, जैसे कुबेरके बिना चैत्ररथ वन ।। ६ ।।

तमृते ते नरव्याघ्राः पाण्डवा जनमेजय ।
मुदमप्राप्नुवन्तो वै काम्यके न्यवसंस्तदा ।। ७ ।।

जनमेजय! अर्जुनके बिना वे नरश्रेष्ठ पाण्डव आनन्दशून्य हो काम्यकवनमें रह रहे थे ।। ७ ।।

ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ताः शुद्धैर्बाणैर्महारथाः ।
निघ्नन्तो भरतश्रेष्ठ मेध्यान् बहुविधान् मृगान् ।। ८ ।।

भरतश्रेष्ठ! वे महारथी वीर शुद्ध बाणोंद्वारा ब्राह्मणोंके (बाघम्बर आदिके) लिये पराक्रम करके नाना प्रकारके पवित्र* मृगोंको मारा करते थे ।। ८ ।।

नित्यं हि पुरुषव्याघ्रा वन्याहारमरिंदमाः ।
उपाकृत्य उपाहृत्य ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयन् ।। ९ ।।

वे नरश्रेष्ठ और शत्रुदमन पाण्डव प्रतिदिन ब्राह्मणोंके लिये जंगली फल-मूलका आहार संगृहीत करके उन्हें अर्पित करते थे ।। ९ ।।

सर्वे संन्यवसंस्तत्र सोत्कण्ठाः पुरुषर्षभाः ।
अहृष्टमनसः सर्वे गते राजन् धनंजये ।। १० ।।

राजन्! धनंजयके चले जानेपर वे सभी नरश्रेष्ठ वहाँ खिन्नचित्त हो उन्हींके लिये उत्कण्ठित होकर रहते थे ।। १० ।।

विशेषतस्तु पाञ्चाली स्मरन्ती मध्यमं पतिम् ।
उद्विग्नं पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ।। ११ ।।

विशेषतः पांचालराजकुमारी द्रौपदी अपने मझले पति अर्जुनका स्मरण करती हुई सदा उद्विग्न रहनेवाले पाण्डवशिरोमणि युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोली— ।। ११ ।।

योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ।
तमृते पाण्डवश्रेष्ठ वनं न प्रतिभाति मे ।। १२ ।।

'पाण्डवश्रेष्ठ! जो दो भुजावाले अर्जुन सहस्रबाहु अर्जुनके समान पराक्रमी हैं, उनके बिना यह वन मुझे अच्छा नहीं लगता ।। १२ ।।

शून्यामिव प्रपश्यामि तत्र तत्र महीमिमाम् ।
बह्वाश्चर्यमिदं चापि वनं कुसुमितद्रुमम् ।। १३ ।।
न तथा रमणीयं वै तमृते सव्यसाचिनम् ।
नीलाम्बुदसमप्रख्यं मत्तमातङ्गगामिनम् ।। १४ ।।
तमृते पुण्डरीकाक्षं काम्यकं नातिभाति मे ।
यस्य वा धनुषो घोषः श्रूयते चाशनिस्वनः ।

न लभे शर्म वै राजन् स्मरन्ती सव्यसाचिनम् ।। १५ ।।

'मैं यत्र-तत्र यहाँकी जिस-जिस भूमिपर दृष्टि डालती हूँ, सबको सूनी-सी ही पाती हूँ। यह अनेक आश्चर्यसे भरा हुआ और विकसित कुसुमोंसे अलंकृत वृक्षोंवाला काम्यकवन भी सव्यसाची अर्जुनके बिना पहले-जैसा रमणीय नहीं जान पड़ता है। नीलमेघके समान कान्ति और मतवाले गजराजकी-सी गतिवाले उन कमलनयन अर्जुनके बिना यह काम्यकवन मुझे तनिक भी नहीं भाता है। राजन्! जिनके धनुषकी टंकार बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान सुनायी देती है, उन सव्यसाचीकी याद करके मुझे तनिक भी चैन नहीं मिलता' ।। १३—१५ ।।

तथा लालप्यमानां तां निशम्य परवीरहा ।
भीमसेनो महाराज द्रौपदीमिदमब्रवीत् ।। १६ ।।

महाराज! इस प्रकार विलाप करती हुई द्रौपदीकी बात सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भीमसेनने उससे इस प्रकार कहा ।। १६ ।।

भीम उवाच

मनःप्रीतिकरं भद्रे यद् ब्रवीषि सुमध्यमे ।
तन्मे प्रीणाति हृदयममृतप्राशनोपमम् ।। १७ ।।

भीमसेन बोले—भद्रे! सुमध्यमे! तुम जो कुछ कहती हो, वह मेरे मनको प्रसन्न करनेवाला है। तुम्हारी बात मेरे हृदयको अमृतपानके तुल्य तृप्ति प्रदान करती है ।। १७ ।।

यस्य दीर्घौ समौ पीनौ भुजौ परिघसंनिभौ ।
मौर्वीकृतकिणौ वृत्तौ खड्गायुधधनुर्धरौ ।। १८ ।।
निष्काङ्गदकृतापीडौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ ।
तमृते पुरुषव्याघ्रं नष्टसूर्यमिवाम्बरम् ।। १९ ।।

जिनकी दोनों भुजाएँ लम्बी, मोटी, बराबर-बराबर तथा परिघके समान सुशोभित होनेवाली हैं, जिनपर प्रत्यञ्चाकी रगड़का चिह्न बन गया है, जो गोलाकार हैं और जिनमें खड्ग एवं धनुष सुशोभित होते हैं, सोनेके भुजबन्दोंसे विभूषित होकर जो पाँच-पाँच फनवाले दो सर्पोंके समान प्रतीत होती है उन पाँचों अंगुलियोंसे युक्त दोनों भुजाओंसे विभूषित नरश्रेष्ठ अर्जुनके बिना आज यह वन सूर्यहीन आकाशके समान श्रीहीन दिखलायी देता है ।। १८-१९ ।।

यमाश्रित्य महाबाहुं पाञ्चालाः कुरवस्तथा ।
सुराणामपि मत्तानां पृतनासु न बिभ्यति ।। २० ।।
यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ।
मन्यामहे जितानाजौ परान् प्राप्तां च मेदिनीम् ।। २१ ।।
तमृते फाल्गुनं वीरं न लभे काम्यके धृतिम् ।

पश्यामि च दिशः सर्वास्तिमिरेणावृता इव ।

जिन महाबाहु अर्जुनका आश्रय लेकर पाञ्चाल और कुरुवंशके वीर युद्धके लिये उद्यत देवताओंकी सेनाका सामना करनेसे भी भयभीत नहीं होते हैं, जिन महात्माके बाहुबलके भरोसे हम सब लोग युद्धमें अपने शत्रुओंको पराजित और इस पृथ्वीका राज्य अपने अधिकारमें आया हुआ मानते हैं, उन वीरवर अर्जुनके बिना हमें काम्यकवनमें धैर्य नहीं प्राप्त हो रहा है। मुझे सारी दिशाएँ अन्धकारसे आच्छन्न-सी दिखायी देती हैं ।। २०-२१ १/२ ।।

ततोऽब्रवीत् साश्रुकण्ठो नकुलः पाण्डुनन्दनः ।। २२ ।।

भीमसेनकी यह बात सुनकर पाण्डुनन्दन नकुल अश्रुगद्गदकण्ठसे बोले— ।। २२ ।।

नकुल उवाच

यस्मिन् दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति रणाजिरे ।
देवा अपि युधां श्रेष्ठं तमृते का रतिर्वने ।। २३ ।।

नकुलने कहा—जिन महावीर अर्जुनके विषयमें रणप्रांगणके भीतर देवताओंके द्वारा भी दिव्य कर्मोंका वर्णन किया जाता है, उन योद्धाओंमें श्रेष्ठ धनंजयके बिना अब इस वनमें हमें क्या प्रसन्नता है? ।। २३ ।।

उदीचीं यो दिशं गत्वा जित्वा युधि महाबलान् ।
गन्धर्वमुख्याञ्छतशो हयाँल्लेभे महाद्युतिः ।। २४ ।।

जिन महातेजस्वीने उत्तर दिशामें जाकर महाबली मुख्य-मुख्य गन्धर्वोंको युद्धमें परास्त करके उनसे सैकड़ों घोड़े प्राप्त किये ।। २४ ।।

राज्ञे तित्तिरिकल्माषाञ्छ्रीमतोऽनिलरंहसः ।
प्रादाद् भ्रात्रे प्रियः प्रेम्णा राजसूये महाक्रतौ ।। २५ ।।

जिन्होंने महायज्ञ राजसूयमें अपने प्यारे भाई धर्मराज युधिष्ठिरको प्रेमपूर्वक वायुके समान वेगशाली तित्तिरिकल्माष नामक सुन्दर घोड़े भेंट किये थे ।। २५ ।।

तमृते भीमधन्वानं भीमादवरजं वने ।
कामये काम्यके वासं नेदानीममरोपमम् ।। २६ ।।

भीमके छोटे भाई उन भयंकर धनुर्धर देवोपम अर्जुनके बिना इस समय मुझे इस काम्यकवनमें रहनेकी इच्छा नहीं होती ।। २६ ।।

सहदेव उवाच

यो धनानि च कन्याश्च युधि जित्वा महारथः ।
आजहार पुरा राज्ञे राजसूये महाक्रतौ ।। २७ ।।
यः समेतान् मृधे जित्वा यादवानमितद्युतिः ।
सुभद्रामाजहारैको वासुदेवस्य सम्मते ।। २८ ।।

सहदेवने कहा—जिन महारथी वीरने पहले राजसूय महायज्ञके अवसरपर युद्धमें जीतकर बहुत धन और कन्याएँ महाराज युधिष्ठिरको भेंट की थीं, जिन अनन्त तेजस्वी धनंजयने भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मतिसे युद्धके लिये एकत्र हुए समस्त यादवोंको अकेले ही जीतकर सुभद्राका हरण कर लिया था ।। २७-२८ ।।

तस्य जिष्णोर्बृसीं दृष्ट्वा शून्यामिव निवेशने ।
हृदयं मे महाराज न शाम्यति कदाचन ।। २९ ।।
वनादस्माद् विवासं तु रोचयेऽहमरिंदम ।
न हि नस्तमृते वीरं रमणीयमिदं वनम् ।। ३० ।।

महाराज! उन्हीं विजयी भ्राता धनंजयके आसनको अब अपनी कुटियामें सूना देखकर मेरे हृदयको कभी शान्ति नहीं मिलती। अतः शत्रुदमन! मैं इस वनसे अन्यत्र चलना पसंद करता हूँ। वीरवर अर्जुनके बिना अब यह वन रमणीय नहीं लगता ।। २९–३० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अर्जुनानुशोचने अशीतितमोऽध्यायः ।। ८० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें अर्जुनके लिये पाण्डवोंका अनुतापविषयक असीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८० ।।

---

* जिनके मारनेपर मारनेवाला पवित्र हो जाय, ऐसे हिंसक सिंह-व्याघ्रादि पशुओंको पवित्र मृग कहा जाता है।

एकाशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पास देवर्षि नारदका आगमन और तीर्थयात्राके फलके सम्बन्धमें पूछनेपर नारदजीद्वारा भीष्म-पुलस्त्य-संवादकी प्रस्तावना

वैशम्पायन उवाच

धनंजयोत्सुकानां तु भ्रातॄणां कृष्णया सह ।
श्रुत्वा वाक्यानि विमना धर्मराजोऽप्यजायत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धनंजयके लिये उत्सुक द्रौपदीसहित सब भाइयोंके पूर्वोक्त वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरका भी मन बहुत उदास हो गया ।। १ ।।

अथापश्यन्महात्मानं देवर्षिं तत्र नारदम् ।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्म्या हुतार्चिषमिवानलम् ।। २ ।।

इतनेमें ही उन्होंने देखा, महात्मा देवर्षि नारद वहाँ उपस्थित हैं, जो अपने ब्राह्म तेजसे देदीप्यमान हो घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान प्रकाशित हो रहे हैं ।। २ ।।

तमागतमभिप्रेक्ष्य भ्रातृभिः सह धर्मराट् ।
प्रत्युत्थाय यथान्यायं पूजां चक्रे महात्मने ।। ३ ।।

उन्हें आया देख भाइयोंसहित धर्मराजने उठकर उन महात्माका यथायोग्य सत्कार किया ।। ३ ।।

स तैः परिवृतः श्रीमान् भ्रातृभिः कुरुसत्तमः ।
विबभावतिदीप्तौजा देवैरिव शतक्रतुः ।। ४ ।।

अपने भाइयोंसे घिरे हुए अत्यन्त तेजस्वी कुरुश्रेष्ठ श्रीमान् युधिष्ठिर देवताओंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ।। ४ ।।

यथा च वेदान् सावित्री याज्ञसेनी तथा पतीन् ।
न जहौ धर्मतः पार्थान् मेरुमर्कप्रभा यथा ।। ५ ।।

जैसे गायत्री चारों वेदोंका और सूर्यकी प्रभा मेरु पर्वतका त्याग नहीं करती, उसी प्रकार याज्ञसेनी द्रौपदीने भी धर्मतः अपने पति कुन्तीकुमारोंका परित्याग नहीं किया ।। ५ ।।

प्रतिगृह्य च तां पूजां नारदो भगवानृषिः ।
आश्वासयद् धर्मसुतं युक्तरूपमिवानघ ।। ६ ।।

निष्पाप जनमेजय! उनकी वह पूजा ग्रहण करके देवर्षि भगवान् नारदने धर्मपुत्र युधिष्ठिरको उचित सान्त्वना दी ।। ६ ।।

उवाच च महात्मानं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।

ब्रूहि धर्मभृतां श्रेष्ठ केनार्थः किं ददानि ते ।। ७ ।।

तत्पश्चात् वे महात्मा धर्मराज युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश! बोलो, तुम्हें किस वस्तुकी आवश्यकता है? मैं तुम्हें क्या दूँ?' ।। ७ ।।

अथ धर्मसुतो राजा प्रणम्य भ्रातृभिः सह ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा नारदं देवसम्मितम् ।। ८ ।।

तब भाइयोंसहित धर्मनन्दन राजा युधिष्ठिरने देवतुल्य नारदजीको प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहा— ।। ८ ।।

त्वयि तुष्टे महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते ।
कृतमित्येव मन्येऽहं प्रसादात् तव सुव्रत ।। ९ ।।

'महाभाग! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! सम्पूर्ण विश्वके द्वारा पूजित आप महात्माके संतुष्ट होनेपर मैं ऐसा समझता हूँ कि आपकी कृपासे मेरा सब कार्य पूरा हो गया ।। ९ ।।

यदि त्वहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सहितोऽनघ ।
संदेहं मे मुनिश्रेष्ठ तत्त्वतश्छेत्तुमर्हसि ।। १० ।।

'निष्पाप मुनिश्रेष्ठ! यदि भाइयोंसहित मैं आपकी कृपाका पात्र होऊँ तो आप मेरे संदेहको सम्यक् प्रकारसे नष्ट कर दीजिये' ।। १० ।।

प्रदक्षिणां यः कुरुते पृथिवीं तीर्थतत्परः ।
किं फलं तस्य कात्स्न्र्येन तद्भवान् वक्तुमर्हति ।। ११ ।।

'जो मनुष्य तीर्थयात्रामें तत्पर होकर इस पृथ्वीकी परिक्रमा करता है, उसे क्या फल मिलता है? यह आप पूर्णरूपसे बतानेकी कृपा करें' ।। ११ ।।

नारद उवाच

शृणु राजन्नवहितो यथा भीष्मेण धीमता ।
पुलस्त्यस्य सकाशाद् वै सर्वमेतदुपश्रुतम् ।। १२ ।।

नारदजीने कहा—राजन्! सावधान होकर सुनो, बुद्धिमान् भीष्मजीने महर्षि पुलस्त्यके मुखसे ये सब बातें जिस प्रकार सुनी थीं, वह सब मैं तुम्हें बता रहा हूँ ।। १२ ।।

पुरा भागीरथीतीरे भीष्मो धर्मभृतां वरः ।
पित्र्यं व्रतं समास्थाय न्यवसन्मुनिभिः सह ।। १३ ।।
शुभे देशे तथा राजन् पुण्ये देवर्षिसेविते ।
गङ्गाद्वारे महाभाग देवगन्धर्वसेविते ।। १४ ।।

महाभाग! पहलेकी बात है, देवताओं और गन्धर्वोंसे सेवित गंगाद्वार (हरिद्वार)-तीर्थमें भागीरथीके पवित्र, शुभ एवं देवर्षिसेवित तट-प्रदेशमें श्रेष्ठ धर्मात्मा भीष्मजी पितृसम्बन्धी (श्राद्ध, तर्पण आदि) व्रतका आश्रय ले महर्षियोंके साथ रहते थे ।। १३-१४ ।।

स पितॄंस्तर्पयामास देवांश्च परमद्युतिः ।
ऋषींश्च तर्पयामास विधिदृष्टेन कर्मणा ।। १५ ।।

परम तेजस्वी भीष्मजीने वहाँ शास्त्रीय विधिके अनुसार देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण किया ।। १५ ।।

कस्यचित् त्वथ कालस्य जपन्नेव महायशाः ।
ददर्शाद्भुतसंकाशं पुलस्त्यमृषिसत्तमम् ।। १६ ।।

कुछ समयके बाद जब महायशस्वी भीष्मजी जपमें लगे हुए थे, अपने पास ही उन्होंने अद्भुत तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ पुलस्त्यजीको देखा ।। १६ ।।

स तं दृष्ट्वोग्रतपसं दीप्यमानमिव श्रिया ।
प्रहर्षमतुलं लेभे विस्मयं परमं ययौ ।। १७ ।।

वे उग्र तपस्वी महर्षि तेजसे देदीप्यमान हो रहे थे। उन्हें देखकर भीष्मजीको अनुपम प्रसन्नता प्राप्त हुई तथा वे बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ।। १७ ।।

उपस्थितं महाभागं पूजयामास भारत ।
भीष्मो धर्मभृतां श्रेष्ठो विधिदृष्टेन कर्मणा ।। १८ ।।

भारत! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्मने वहाँ उपस्थित हुए महाभाग महर्षिका शास्त्रोक्त विधिसे पूजन किया ।।

शिरसा चार्घ्यमादाय शुचिः प्रयतमानसः ।

नाम संकीर्तयामास तस्मिन् ब्रह्मर्षिसत्तमे ।। १९ ।।

उन्होंने पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर (पुलस्त्यजीके दिये हुए) अर्घ्यको सिरपर धारण करके उन ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ पुलस्त्यजीको अपने नामका इस प्रकार परिचय दिया— ।। १९ ।।

भीष्मोऽहमस्मि भद्रं ते दासोऽस्मि तव सुव्रत ।

तव संदर्शनादेव मुक्तोऽहं सर्वकिल्बिषैः ।। २० ।।

'सुव्रत! आपका भला हो, मैं आपका दास भीष्म हूँ। आपके दर्शनमात्रसे मैं सब पापोंसे मुक्त हो गया' ।।

एवमुक्त्वा महाराज भीष्मो धर्मभृतां वरः ।

वाग्यतः प्राञ्जलिर्भूत्वा तूष्णीमासीद् युधिष्ठिर ।। २१ ।।

महाराज युधिष्ठिर! धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ एवं वाणीको संयममें रखनेवाले भीष्म ऐसा कहकर हाथ जोड़े चुप हो गये ।। २१ ।।

तं दृष्ट्वा नियमेनाथ स्वाध्यायाम्नायकर्शितम् ।

भीष्मं कुरुकुलश्रेष्ठं मुनिः प्रीतमनाभवत् ।। २२ ।।

कुरुकुलशिरोमणि भीष्मको नियम, स्वाध्याय तथा वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानसे दुर्बल हुआ देख पुलस्त्य मुनि मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पार्थनारदसंवादे एकाशीतितमोऽध्यायः ।। ८१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें युधिष्ठिरनारदसंवादविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८१ ।।

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

भीष्मजीके पूछनेपर पुलस्त्यजीका उन्हें विभिन्न तीर्थोंकी यात्राका माहात्म्य बताना

पुलस्त्य उवाच

अनेन तव धर्मज्ञ प्रश्रयेण दमेन च ।
सत्येन च महाभाग तुष्टोऽस्मि तव सुव्रत ।। १ ।।

पुलस्त्यजीने कहा—धर्मज्ञ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महाभाग! तुम्हारे इस विनय, इन्द्रियसंयम और सत्यपालनसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ ।। १ ।।

यस्येदृशस्ते धर्मोऽयं पितृभक्त्याश्रितोऽनघ ।
तेन पश्यसि मां पुत्र प्रीतिश्च परमा त्वयि ।। २ ।।

निष्पाप वत्स! तुम्हारेद्वारा पितृभक्तिके आश्रित जो ऐसे उत्तम धर्मका पालन हो रहा है, इसीके प्रभावसे तुम मेरा दर्शन कर रहे हो और तुमपर मेरा बहुत प्रेम हो गया है ।। २ ।।

अमोघदर्शी भीष्माहं ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यद् वक्ष्यसि कुरुश्रेष्ठ तस्य दातास्मि तेऽनघ ।। ३ ।।

निष्पाप कुरुश्रेष्ठ भीष्म! मेरा दर्शन अमोघ है। बोलो, मैं तुम्हारे किस मनोरथकी पूर्ति करूँ? तुम जो माँगोगे, वही दूँगा ।। ३ ।।

भीष्म उवाच

प्रीते त्वयि महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते ।
कृतमेतावता मन्ये यदहं दृष्टवान् प्रभुम् ।। ४ ।।

भीष्मजीने कहा—महाभाग! आप सम्पूर्ण लोकों-द्वारा पूजित हैं। आपके प्रसन्न हो जानेपर मुझे क्या नहीं मिला? आप-जैसे शक्तिशाली महर्षिका मुझे दर्शन हुआ, इतनेहीसे मैं अपनेको कृतकृत्य मानता हूँ ।। ४ ।।

यदि त्वहमनुग्राह्यस्तव धर्मभृतां वर ।
संदेहं ते प्रवक्ष्यामि तन्मे त्वं छेत्तुमर्हसि ।। ५ ।।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महर्षे! यदि मैं आपकी कृपाका पात्र हूँ तो मैं आपके सामने अपना संशय रखता हूँ। आप उसका निवारण करें ।। ५ ।।

अस्ति मे हृदये कश्चित् तीर्थेभ्यो धर्मसंशयः ।
तमहं श्रोतुमिच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ।। ६ ।।

मेरे मनमें तीर्थोंसे होनेवाले धर्मके विषयमें कुछ संशय हो गया है, मैं उसीका समाधान सुनना चाहता हूँ; आप बतानेकी कृपा करें ।। ६ ।।

प्रदक्षिणां यः पृथिवीं करोत्यमरसंनिभ ।
किं फलं तस्य विप्रर्षे तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।। ७ ।।

देवतुल्य ब्रह्मर्षे! जो (तीर्थोंके उद्देश्यसे) सारी पृथ्वीकी परिक्रमा करता है, उसे क्या फल मिलता है? यह निश्चित करके मुझे बताइये ।। ७ ।।

पुलस्त्य उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यदृषीणां परायणम् ।
तदेकाग्रमनाः पुत्र शृणु तीर्थेषु यत् फलम् ।। ८ ।।

पुलस्त्यजीने कहा—वत्स! तीर्थयात्रा ऋषियोंके लिये बहुत बड़ा आश्रय है। मैं इसके विषयमें तुम्हें बताऊँगा। तीर्थोंके सेवनसे जो फल होता है, उसे एकाग्र होकर सुनो ।। ८ ।।

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ।। ९ ।।

जिसके हाथ, पैर और मन अपने काबूमें हों तथा जो विद्या, तप और कीर्तिसे सम्पन्न हो, वही तीर्थसेवनका फल पाता है ।। ९ ।।

प्रतिग्रहादपावृत्तः संतुष्टो येन केनचित् ।
अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ।। १० ।।

जो प्रतिग्रहसे दूर रहे तथा जो कुछ अपने पास हो, उसीसे संतुष्ट रहे और जिसमें अहंकारका अभाव हो, वही तीर्थका फल पाता है ।। १० ।।

अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्य स तीर्थफलमश्नुते ।। ११ ।।

जो दम्भ आदि दोषोंसे दूर, कर्तृत्वके अहंकारसे शून्य, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय हो, वह सब पापोंसे विमुक्त हो तीर्थके वास्तविक फलका भागी होता है ।। ११ ।।

अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः ।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ।। १२ ।।

राजन्! जिसमें क्रोध न हो, जो सत्यवादी और दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाला हो तथा जो सब प्राणियोंके प्रति आत्मभाव रखता हो, वही तीर्थके फलका भागी होता है ।। १२ ।।

ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विह यथाक्रमम् ।
फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ।। १३ ।।

ऋषियोंने देवताओंके उद्देश्यसे यथायोग्य यज्ञ बताये हैं और उन यज्ञोंका यथावत् फल भी बताया है, जो इहलोक और परलोकमें भी सर्वथा प्राप्त होता है ।। १३ ।।

न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं महीपते ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः ।। १४ ।।

परंतु भूपाल! दरिद्र मनुष्य उन यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं कर सकते; क्योंकि उनमें बहुत-सी सामग्रियोंकी आवश्यकता होती है। नाना प्रकारके साधनोंका संग्रह होनेसे उनमें विस्तार बहुत बढ़ जाता है ।। १४ ।।

प्राप्यन्ते पार्थिवैरेते समृद्धैर्वा नरैः क्वचित् ।
नार्थन्यूनैर्नावगणैरेकात्मभिरसाधनैः ।। १५ ।।

अतः राजालोग अथवा कहीं-कहीं कुछ समृद्धिशाली मनुष्य ही यज्ञोंका अनुष्ठान कर सकते हैं। जिनके पास धनकी कमी और सहायकोंका अभाव है, जो अकेले और साधनशून्य हैं, उनके द्वारा यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं हो सकता ।। १५ ।।

यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर ।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध युधां वर ।। १६ ।।

योद्धाओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर! जो सत्कर्म दरिद्रलोग भी कर सकें और जो अपने पुण्योद्वारा यज्ञोंके समान फलप्रद हो सके, उसे बताता हूँ, सुनो ।। १६ ।।

ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम ।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते ।। १७ ।।

भरतश्रेष्ठ! यह ऋषियोंका परम गोपनीय रहस्य है। तीर्थयात्रा बड़ा पवित्र सत्कर्म है। वह यज्ञोंसे भी बढ़कर है ।। १७ ।।

अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च ।
अदत्त्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते ।। १८ ।।

मनुष्य इसीलिये दरिद्र होता है कि वह (तीर्थोंमें) तीन राततक उपवास नहीं करता, तीर्थोंकी यात्रा नहीं करता और सुवर्णदान और गोदान नहीं करता ।। १८ ।।

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ।
न तत् फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् ।। १९ ।।

मनुष्य तीर्थयात्रासे जिस फलको पाता है, उसे प्रचुर दक्षिणावाले अग्निष्टोम आदि यज्ञोंद्वारा यजन करके भी नहीं पा सकता ।। १९ ।।

नृलोके देवदेवस्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
पुष्करं नाम विख्यातं महाभागः समाविशेत् ।। २० ।।

मनुष्यलोकमें देवाधिदेव ब्रह्माजीका त्रिलोक-विख्यात तीर्थ है, जो 'पुष्कर' नामसे प्रसिद्ध है। उसमें कोई बड़भागी मनुष्य ही प्रवेश कर पाता है ।। २० ।।

दशकोटिसहस्राणि तीर्थानां वै महामते ।
सांनिध्यं पुष्करे येषां त्रिसंध्यं कुरुनन्दन ।। २१ ।।

महामते कुरुनन्दन! पुष्करमें तीनों समय दस सहस्र कोटि (दस अरब) तीर्थोंका निवास रहता है ।।

आदित्या वसवो रुद्राः साध्याश्च समरुद्गणाः ।

गन्धर्वाप्सरसश्चैव नित्यं संनिहिता विभो ।। २२ ।।

विभो! वहाँ आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, मरुद्‌गण, गन्धर्व और अप्सराओंकी भी नित्य संनिधि रहती है ।।

यत्र देवास्तपस्तप्त्वा दैत्या ब्रह्मर्षयस्तथा ।
दिव्ययोगा महाराज पुण्येन महतान्विताः ।। २३ ।।

महाराज! वहाँ तप करके देवता, दैत्य और ब्रह्मर्षि महान् पुण्यसे सम्पन्न दिव्य योगसे युक्त होते हैं ।। २३ ।।

मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
पूयन्ते सर्वपापानि नाकपृष्ठे च पूज्यते ।। २४ ।।

जो मनस्वी पुरुष मनसे भी पुष्कर तीर्थमें जानेकी इच्छा करता है, उसके स्वर्गके प्रतिबन्धक सारे पाप मिट जाते हैं और वह स्वर्गलोकमें पूजित होता है ।।

तस्मिंस्तीर्थे महाराज नित्यमेव पितामहः ।
उवास परमप्रीतो भगवान् कमलासनः ।। २५ ।।

महाराज! उस तीर्थमें कमलासन भगवान् ब्रह्माजी नित्य ही बड़ी प्रसन्नताके साथ निवास करते हैं ।। २५ ।।

पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा ।

सिद्धिं समभिसम्प्राप्ताः पुण्येन महतान्विताः ।। २६ ।।

महाभाग! पुष्करमें पहले देवता तथा ऋषि महान् पुण्यसे सम्पन्न हो सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं ।। २६ ।।

तत्राभिषेकं यः कुर्यात् पितृदेवार्चने रतः ।
अश्वमेधाद् दशगुणं फलं प्राहुर्मनीषिणः ।। २७ ।।

जो वहाँ स्नान करता तथा देवताओं और पितरोंकी पूजामें संलग्न रहता है, उस पुरुषको अश्वमेधसे दस गुना फल प्राप्त होता है; ऐसा मनीषीगण कहते हैं ।।

अप्येकं भोजयेद् विप्रं पुष्करारण्यमाश्रितः ।
तेनासौ कर्मणा भीष्म प्रेत्य चेह च मोदते ।। २८ ।।

भीष्म! पुष्करमें जाकर कम-से-कम एक ब्राह्मणको अवश्य भोजन कराये। उस पुण्यकर्मसे मनुष्य इहलोक और परलोकमें भी आनन्दका भागी होता है ।। २८ ।।

शाकैर्मूलैः फलैर्वापि येन वर्तयते स्वयम् ।
तद् वै दद्याद् ब्राह्मणाय श्रद्धावाननसूयकः ।। २९ ।।

मनुष्य साग, फल तथा मूल जिसके द्वारा स्वयं प्राणयात्राका निर्वाह करता है, वही श्रद्धाभावसे दूसरोंके दोष न देखते हुए ब्राह्मणको दान करे ।। २९ ।।

तेनैव प्राप्नुयात् प्राज्ञो हयमेधफलं नरः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वा राजसत्तम ।। ३० ।।
न वै योनौ प्रजायते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ।

उसीसे विद्वान् पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता है। नृपश्रेष्ठ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र जो कोई भी महात्मा ब्रह्माजीके तीर्थमें स्नान कर लेते हैं, वे फिर किसी योनिमें जन्म नहीं लेते हैं ।। ३०½ ।।

कार्तिकीं तु विशेषण योऽभिगच्छति पुष्करम् ।। ३१ ।।
प्राप्नुयात् स नरो लोकान् ब्रह्मणः सदनेऽक्षयान् ।

विशेषतः कार्तिकमासकी पूर्णिमाको जो पुष्करतीर्थमें स्नानके लिये जाता है, वह मनुष्य ब्रह्मधाममें अक्षय लोकोंको प्राप्त होता है ।। ३१½ ।।

सायं प्रातः स्मरेद् यस्तु पुष्कराणि कृताञ्जलिः ।। ३२ ।।
उपस्पृष्टं भवेत् तेन सर्वतीर्थेषु भारत ।

भारत! जो सायंकाल और प्रातःकाल हाथ जोड़कर तीनों पुष्करोंका स्मरण करता है, उसने मानो सब तीर्थोंमें स्नान एवं आचमन कर लिया ।। ३२½ ।।

जन्मप्रभृति यत् पापं स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।। ३३ ।।
पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणश्यति ।

स्त्री अथवा पुरुषने जन्मसे लेकर वर्तमान अवस्थातक जितने भी पाप किये हैं, पुष्करतीर्थमें स्नान करनेमात्रसे वे सब पाप नष्ट हो जाते हैं ।। ३३½ ।।

यथा सुराणां सर्वेषामादिस्तु मधुसूदनः ।। ३४ ।।
तथैव पुष्करं राजंस्तीर्थानामादिरुच्यते ।

राजन्! जैसे भगवान् मधुसूदन (विष्णु) सब देवताओंके आदि हैं, वैसे ही पुष्कर सब तीर्थोंका आदि कहा जाता है ।। ३४½ ।।

उष्ट्वा द्वादश वर्षाणि पुष्करे नियतः शुचिः ।। ३५ ।।
क्रतून् सर्वानवाप्नोति ब्रह्मलोकं स गच्छति ।

पुष्करमें पवित्रतापूर्वक संयम-नियमके साथ बारह वर्षोंतक निवास करके मानव सम्पूर्ण यज्ञोंका फल पाता और ब्रह्मलोकको जाता है ।। ३५½ ।।

यस्तु वर्षशतं पूर्णमग्निहोत्रमुपासते ।। ३६ ।।
कार्तिकीं वा वसेदेकां पुष्करे सममेव तत् ।। ३७ ।।

जो पूरे सौ वर्षोंतक अग्निहोत्र करता है और जो कार्तिककी एक ही पूर्णिमाको पुष्करमें वास करता है, दोनोंका फल बराबर है ।। ३६-३७ ।।

त्रीणि शृङ्गाणि शुभ्राणि त्रीणि प्रस्रवणानि च ।
पुष्कराण्यादिसिद्धानि न विद्मस्तत्र कारणम् ।। ३८ ।।

तीन शुभ्र पर्वतशिखर, तीन सोते और तीन पुष्कर—ये आदिसिद्ध तीर्थ हैं। ये कब किस कारणसे तीर्थ माने गये? इसका हमें पता नहीं है ।। ३८ ।।

दुष्करं पुष्करे गन्तुं दुष्करं पुष्करे तपः ।
दुष्करं पुष्करे दानं वस्तुं चैव सुदुष्करम् ।। ३९ ।।

पुष्करमें जाना अत्यन्त दुर्लभ है, पुष्करमें तप अत्यन्त दुर्लभ है, पुष्करमें दान देनेका सुयोग तो और भी दुर्लभ है और उसमें निवासका सौभाग्य तो अत्यन्त ही दुष्कर है ।। ३९ ।।

उष्य द्वादशरात्रं तु नियतो नियताशनः ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य जम्बूमार्गं समाविशेत् ।। ४० ।।

वहाँ इन्द्रियसंयम और नियमित आहार करते हुए बारह रात रहकर तीर्थकी परिक्रमा करनेके पश्चात् जम्बूमार्गको जाय ।। ४० ।।

जम्बूमार्गं समाविश्य देवर्षिपितृसेवितम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति सर्वकामसमन्वितः ।। ४१ ।।

जम्बूमार्ग देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंसे सेवित तीर्थ है। उसमें जाकर मनुष्य समस्त मनोवांछित भोगोंसे सम्पन्न हो अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ।। ४१ ।।

तत्रोष्य रजनीः पञ्च पूतात्मा जायते नरः ।
न दुर्गतिमवाप्नोति सिद्धिं प्राप्नोति चोत्तमाम् ।। ४२ ।।

वहाँ पाँच रात निवास करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। उसे कभी दुर्गति नहीं प्राप्त होती, वह उत्तम सिद्धि पा लेता है ।। ४२ ।।

जम्बूमार्गादुपावृत्य गच्छेत् तन्दुलिकाश्रमम् ।
न दुर्गतिमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ।। ४३ ।।

जम्बूमार्गसे लौटकर मनुष्य तन्दुलिकाश्रमको जाय। इससे वह दुर्गतिमें नहीं पड़ता और अन्तमें ब्रह्मलोकको चला जाता है ।। ४३ ।।

आगस्त्यं सर आसाद्य पितृदेवार्चने रतः ।
त्रिरात्रोपोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ।। ४४ ।।

राजन्! जो अगस्त्यसरोवर जाकर देवताओं और पितरोंके पूजनमें तत्पर हो तीन रात उपवास करता है, वह अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ।। ४४ ।।

शाकवृत्तिः फलैर्वापि कौमारं विन्दते परम् ।
कण्वाश्रमं ततो गच्छेच्छ्रीजुष्टं लोकपूजितम् ।। ४५ ।।

जो शाकाहार या फलाहार करके वहाँ रहता है, वह परम उत्तम कुमारलोक (कार्तिकेयके लोक)-में जाता है। वहाँसे लोकपूजित कण्वके आश्रममें जाय, जो भगवती लक्ष्मीके द्वारा सेवित है ।। ४५ ।।

धर्मारण्यं हि तत् पुण्यमाद्यं च भरतर्षभ ।
यत्र प्रविष्टमात्रो वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ४६ ।।

भरतश्रेष्ठ! वह धर्मारण्य कहलाता है, उसे परम पवित्र एवं आदितीर्थ माना गया है। उसमें प्रवेश करनेमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ।।

अर्चयित्वा पितॄन् देवान् नियतो नियताशनः ।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते ।। ४७ ।।

जो वहाँ नियमपूर्वक मिताहारी होकर देवता और पितरोंकी पूजा करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न यज्ञका फल पाता है ।। ४७ ।।

प्रदक्षिणं ततः कृत्वा ययातिपतनं व्रजेत् ।
हयमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति तत्र वै ।। ४८ ।।

तदनन्तर उस तीर्थकी परिक्रमा करके वहाँसे ययातिपतन नामक तीर्थमें जाय। वहाँ जानेसे यात्रीको अवश्य ही अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ।। ४८ ।।

महाकालं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ।। ४९ ।।

वहाँसे महाकालतीर्थको जाय। वहाँ नियम-पूर्वक रहकर नियमित भोजन करे। वहाँ कोटितीर्थमें आचमन (एवं स्नान) करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ।। ४९ ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञः स्थाणोस्तीर्थमुमापतेः ।
नाम्ना भद्रवटं नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।। ५० ।।

वहाँसे धर्मज्ञ पुरुष उमावल्लभ भगवान् स्थाणु (शिव)-के उस तीर्थमें जाय, जो तीनों लोकोंमें ‘भद्रवट’ के नामसे प्रसिद्ध है ।। ५० ।।

तत्राभिगम्य चेशानं गोसहस्रफलं लभेत् ।
महादेवप्रसादाच्च गाणपत्यं च विन्दति ।। ५१ ।।
समृद्धमसपत्नं च श्रिया युक्तं नरोत्तमः ।

वहाँ भगवान् शिवका निकटसे दर्शन करके नरश्रेष्ठ यात्री एक हजार गोदानका फल पाता है और महादेवजीके प्रसादसे वह गणोंका आधिपत्य प्राप्त कर लेता है, जो आधिपत्य भारी समृद्धि और लक्ष्मीसे सम्पन्न तथा शत्रुजनित बाधासे रहित होता है ।। ५१½ ।।

नर्मदां तु समासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम् ।। ५२ ।।
तर्पयित्वा पितॄन् देवानग्निष्टोमफलं लभेत् ।

वहाँसे त्रिभुवनविख्यात नर्मदा नदीके तटपर जाकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे अग्निष्टोम-यज्ञका फल प्राप्त होता है ।। ५२½ ।।

दक्षिणं सिन्धुमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।। ५३ ।।
अग्निष्टोममवाप्नोति विमानं चाधिरोहति ।

इन्द्रियोंको काबूमें रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए दक्षिण समुद्रकी यात्रा करनेसे मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल और विमानपर बैठनेका सौभाग्य पाता है ।। ५३½ ।।

चर्मण्वतीं समासाद्य नियतो नियताशनः ।
रन्तिदेवाभ्यनुज्ञातमग्निष्टोमफलं लभेत् ।। ५४ ।।

इन्द्रियसंयम या शौच-संतोष आदिके पालनपूर्वक नियमित आहारका सेवन करते हुए चर्मण्वती (चंबल) नदीमें स्नान आदि करनेसे राजा रन्तिदेवद्वारा अनुमोदित अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ।। ५४ ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ हिमवत्सुतमर्बुदम् ।
पृथिव्यां यत्र वै छिद्रं पूर्वमासीद् युधिष्ठिर ।। ५५ ।।

धर्मज्ञ युधिष्ठिर*! वहाँसे आगे हिमालयपुत्र अर्बुद (आबू)-की यात्रा करे, जहाँ पहले पृथ्वीमें विवर था ।। ५५ ।।

तत्राश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ।। ५६ ।।

वहाँ महर्षि वसिष्ठका त्रिलोकविख्यात आश्रम है, जिसमें एक रात रहनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ।। ५६ ।।

पिङ्गतीर्थमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
कपिलानां नरश्रेष्ठ शतस्य फलमश्नुते ।। ५७ ।।

नरश्रेष्ठ! पिंगतीर्थमें स्नान एवं आचमन करके ब्रह्मचारी एवं जितेन्द्रिय मनुष्य सौ कपिलाओंके-दानका फल प्राप्त कर लेता है ।। ५७ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रभासं तीर्थमुत्तमम् ।

तत्र संनिहितो नित्यं स्वयमेव हुताशनः ।। ५८ ।।
देवतानां मुखं वीर ज्वलनोऽनिलसारथिः ।

राजेन्द्र! तदनन्तर उत्तम प्रभासतीर्थमें जाय। वीर! उस तीर्थमें देवताओंके मुखस्वरूप भगवान् अग्निदेव, जिनके सारथि वायु हैं, सदा निवास करते हैं ।। ५८½ ।।

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ।। ५९ ।।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति मानवः ।

उस तीर्थमें स्नान करके शुद्ध एवं संयत चित्त हो मानव अतिरात्र और अग्निष्टोम यज्ञोंका फल पाता है ।। ५९½ ।।

ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे ।। ६० ।।
गोसहस्रफलं तस्य स्वर्गलोकं च विन्दति ।
प्रभया दीप्यते नित्यमग्निवद् भरतर्षभ ।। ६१ ।।

तदनन्तर सरस्वती और समुद्रके संगममें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल और स्वर्गलोक पाता है। भरतश्रेष्ठ! वह पुण्यात्मा पुरुष अपने तेजसे सदा अग्निकी भाँति प्रकाशित होता है ।। ६०-६१ ।।

तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ।
त्रिरात्रमुषितः स्नातस्तर्पयेत् पितृदेवताः ।। ६२ ।।

मनुष्य शुद्धचित्त हो जलोंके स्वामी वरुणके तीर्थ (समुद्र)-में स्नान करके वहाँ तीन रात रहे और प्रतिदिन नहाकर देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करे ।। ६२ ।।

प्रभासते यथा सोमः सोऽश्वमेधं च विन्दति ।
वरदानं ततो गच्छेत् तीर्थं भरतसत्तम ।। ६३ ।।

ऐसा करनेवाला यात्री चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है। साथ ही उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है। भरतश्रेष्ठ! वहाँसे वरदानतीर्थमें जाय ।। ६३ ।।

विष्णोर्दुर्वाससा यत्र वरो दत्तो युधिष्ठिर ।
वरदाने नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।। ६४ ।।

युधिष्ठिर! यह वह स्थान है, जहाँ मुनिवर दुर्वासाने श्रीकृष्णको वरदान दिया था। वरदानतीर्थमें स्नान करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है ।।

ततो द्वारवतीं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
पिण्डारके नरः स्नात्वा लभेद् बहु सुवर्णकम् ।। ६५ ।।

वहाँसे तीर्थयात्रीको द्वारका जाना चाहिये। वह नियमसे रहे और नियमित भोजन करे। पिण्डारकतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको अधिकाधिक सुवर्णकी प्राप्ति होती है ।। ६५ ।।

तस्मिंस्तीर्थे महाभाग पद्मलक्षणलक्षिताः ।
अद्यापि मुद्रा दृश्यन्ते तदद्भुतमरिंदम ।। ६६ ।।

महाभाग! उस तीर्थमें आज भी कमलके चिह्नोंसे चिह्नित सुवर्णमुद्राएँ देखी जाती हैं। शत्रुदमन! यह एक अद्भुत बात है ।। ६६ ।।

त्रिशूलाङ्कानि पद्मानि दृश्यन्ते कुरुनन्दन ।
महादेवस्य सांनिध्यं तत्र वै पुरुषर्षभ ।। ६७ ।।

पुरुषरत्न कुरुनन्दन! जहाँ त्रिशूलसे अंकित कमल दृष्टिगोचर होते हैं। वहीं महादेवजीका निवास है ।। ६७ ।।

सागरस्य च सिन्धोश्च संगमं प्राप्य भारत ।
तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ।। ६८ ।।
तर्पयित्वा पितॄन् देवानृषींश्च भरतर्षभ ।
प्राप्नोति वारुणं लोकं दीप्यमानं स्वतेजसा ।। ६९ ।।

भारत! सतर और सिंधु नदीके संगममें जाकर वरुणतीर्थमें स्नान करके शुद्धचित्त हो देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण करे। भरतकुलतिलक! ऐसा करनेसे मनुष्य दिव्य दीप्तिसे देदीप्यमान वरुणलोकको प्राप्त होता है ।। ६८-६९ ।।

शङ्कुकर्णेश्वरं देवमर्चयित्वा युधिष्ठिर ।
अश्वमेधाद् दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ।। ७० ।।

युधिष्ठिर! वहाँ शंकुकर्णेश्वर शिवकी पूजा करनेसे मनीषी पुरुष अश्वमेधसे दस गुने पुण्यफलकी प्राप्ति बताते हैं ।। ७० ।।

प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ ।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।। ७१ ।।
दमीति नाम्ना विख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ।
तत्र ब्रह्मादयो देवा उपासन्ते महेश्वरम् ।। ७२ ।।

भरतवंशावतंस कुरुश्रेष्ठ! उनकी परिक्रमा करके त्रिभुवन-विख्यात ‘दमी’ नामक तीर्थमें जाय, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। वहाँ ब्रह्मा आदि देवता भगवान् महेश्वरकी उपासना करते हैं ।। ७१-७२ ।।

तत्र स्नात्वा च पीत्वा च रुद्रं देवगणैर्वृतम् ।
जन्मप्रभृति यत् पापं तत् स्नातस्य प्रणश्यति ।। ७३ ।।

वहाँ स्नान, जलपान और देवताओंसे घिरे हुए रुद्रदेवका दर्शन-पूजन करनेसे स्नानकर्ता पुरुषके जन्मसे लेकर वर्तमान समयतकके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ।।

दमी चात्र नरश्रेष्ठ सर्वदेवैरभिष्टुतः ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र हयमेधमवाप्नुयात् ।। ७४ ।।

नरश्रेष्ठ! भगवान् दमीका सभी देवता स्तवन करते हैं। पुरुषसिंह! वहाँ स्नान करनेसे अश्वमेधयज्ञके फलकी प्राप्ति होती है ।। ७४ ।।

गत्वा यत्र महाप्राज्ञ विष्णुना प्रभविष्णुना ।

पुरा शौचं कृतं राजन् हत्वा दैतेयदानवान् ।। ७५ ।।

महाप्राज्ञ नरेश! सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने पहले दैत्यों-दानवोंका वध करके इसी तीर्थमें जाकर (लोकसंग्रहके लिये) शुद्धि की थी ।। ७५ ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ वसोर्धारामभिष्टुताम् ।
गमनादेव तस्यां हि हयमेधफलं लभेत् ।। ७६ ।।

धर्मज्ञ! वहाँसे वसुधारातीर्थमें जाय, जो सबके द्वारा प्रशंसित है। वहाँ जानेमात्रसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ।। ७६ ।।

स्नात्वा कुरुवरश्रेष्ठ प्रयतात्मा समाहितः ।
तर्प्य देवान् पितॄंश्चैव विष्णुलोके महीयते ।। ७७ ।।

कुरुश्रेष्ठ! वहाँ स्नान करके शुद्ध और समाहितचित्त होकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्य विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है ।। ७७ ।।

तीर्थे चात्र सरः पुण्यं वसूनां भरतर्षभ ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च वसूनां सम्मतो भवेत् ।। ७८ ।।
सिन्धूत्तममिति ख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ लभेद् बहु सुवर्णकम् ।। ७९ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस तीर्थमें वसुओंका पवित्र सरोवर है। उसमें स्नान और जलपान करनेसे मनुष्य वसु देवताओंका प्रिय होता है। नरश्रेष्ठ! वहीं सिन्धूत्तम नामसे प्रसिद्ध तीर्थ है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। उसमें स्नान करनेसे प्रचुर स्वर्णराशिकी प्राप्ति होती है ।। ७८-७९ ।।

भद्रतुङ्गं समासाद्य शुचिः शीलसमन्वितः ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत् ।। ८० ।।

भद्रतुंगतीर्थमें जाकर पवित्र एवं सुशील पुरुष ब्रह्मलोकमें जाता और वहाँ उत्तम गति पाता है ।। ८० ।।

कुमारिकाणां शक्रस्य तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ।। ८१ ।।

शक्रकुमारिकातीर्थ सिद्ध पुरुषोंद्वारा सेवित है। वहाँ स्नान करके मनुष्य शीघ्र ही स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है ।। ८१ ।।

रेणुकायाश्च तत्रैव तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा भवेद् विप्रो निर्मलश्चन्द्रमा यथा ।। ८२ ।।

वहीं सिद्धसेवित रेणुकातीर्थ है, जिसमें स्नान करके ब्राह्मण चन्द्रमाके समान निर्मल होता है ।। ८२ ।।

अथ पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ।
पञ्चयज्ञानवाप्नोति क्रमशो येऽनुकीर्तिताः ।। ८३ ।।

तदनन्तर शौच-संतोष आदि नियमोंका पालन और नियमित भोजन करते हुए पंचनदतीर्थमें जाकर मनुष्य पंचमहायज्ञोंका फल पाता है जो कि शास्त्रोंमें क्रमशः बतलाये गये हैं ।। ८३ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र भीमायाः स्थानमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा तु योन्यां वै नरो भरतसत्तम ।। ८४ ।।
देव्याः पुत्रो भवेद् राजंस्तप्तकुण्डलविग्रहः ।
गवां शतसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।। ८५ ।।

राजेन्द्र! वहाँसे भीमाके उत्तम स्थानकी यात्रा करे! भरतश्रेष्ठ! वहाँ योनितीर्थमें स्नान करके मनुष्य देवीका पुत्र होता है। उसकी अंगकान्ति तपाये हुए सुवर्णकुण्डलके समान होती है। राजन्! उस तीर्थके सेवनसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ।। ८४-८५ ।।

श्रीकुण्डं तु समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
पितामहं नमस्कृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ।। ८६ ।।

त्रिभुवनविख्यात श्रीकुण्डमें जाकर ब्रह्माजीको नमस्कार करनेसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ विमलं तीर्थमुत्तमम् ।
अद्यापि यत्र दृश्यन्ते मत्स्याः सौवर्णराजताः ।। ८७ ।।

धर्मज्ञ! वहाँसे परम उत्तम विमलतीर्थकी यात्रा करे, जहाँ आज भी सोने और चाँदीके रंगकी मछलियाँ दिखायी देती हैं ।। ८७ ।।

तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं वासवं लोकमाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ।। ८८ ।।

उसमें स्नान करनेसे मनुष्य शीघ्र ही इन्द्रलोकको प्राप्त होता है और सब पापोंसे शुद्ध हो परमगति प्राप्त कर लेता है ।। ८८ ।।

वितस्तां च समासाद्य संतर्प्य पितृदेवताः ।
नरः फलमवाप्नोति वाजपेयस्य भारत ।। ८९ ।।

भारत! वितस्तातीर्थ (झेलम)-में जाकर वहाँ देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्यको वाजपेययज्ञका फल प्राप्त होता है ।। ८९ ।।

काश्मीरेष्वेव नागस्य भवनं तक्षकस्य च ।
वितस्ताख्यमिति ख्यातं सर्वपापप्रमोचनम् ।। ९० ।।

काश्मीरमें ही नागराज तक्षकका वितस्ता नामसे प्रसिद्ध भवन है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है ।। ९० ।।

तत्र स्नात्वा नरो नूनं वाजपेयमवाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेच्च परमां गतिम् ।। ९१ ।।

वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य निश्चय ही वाजपेययज्ञका फल प्राप्त करता है और सब पापोंसे शुद्ध हो उत्तम गतिका भागी होता है ।। ९१ ।।

ततो गच्छेत वडवां त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ।
पश्चिमायां तु संध्यायामुपस्पृश्य यथाविधि ।। ९२ ।।
चरुं सप्तार्चिषे राजन् यथाशक्ति निवेदयेत् ।
पितॄणामक्षयं दानं प्रवदन्ति मनीषिणः ।। ९३ ।।

वहाँसे त्रिभुवनविख्यात वडवातीर्थको जाय। वहाँ पश्चिम संध्याके समय विधिपूर्वक स्नान और आचमन करके अग्निदेवको यथाशक्ति चरु निवेदन करे। वहाँ पितरोंके लिये दिया हुआ दान अक्षय होता है; ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ।। ९२-९३ ।।

ऋषयः पितरो देवा गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
गुह्यकाः किन्नरा यक्षाः सिद्धा विद्याधरा नराः ।। ९४ ।।
राक्षसा दितिजा रुद्रा ब्रह्मा च मनुजाधिप ।
नियतः परमां दीक्षामास्थायाब्दसहस्रिकीम् ।। ९५ ।।
विष्णोः प्रसादनं कुर्वंश्चरुं च श्रपयंस्तथा ।
सप्तभिः सप्तभिश्चैव ऋग्भिस्तुष्टाव केशवम् ।। ९६ ।।

राजन्! वहाँ देवता, ऋषि, पितर, गन्धर्व, अप्सरा, गुह्यक, किन्नर, यक्ष, सिद्ध, विद्याधर, मनुष्य, राक्षस, दैत्य, रुद्र और ब्रह्मा—इन सबने नियमपूर्वक सहस्र वर्षोंके लिये उत्तम दीक्षा ग्रहण करके भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये चरु अर्पण किया। ऋग्वेदके सात-सात मन्त्रोंद्वारा सबने चरुकी सात-सात आहुतियाँ दीं और भगवान् केशवको प्रसन्न किया ।। ९४—९६ ।।

ददावष्टगुणैश्वर्यं तेषां तुष्टस्तु केशवः ।
यथाभिलषितानन्यान् कामान् दत्त्वा महीपते ।। ९७ ।।
तत्रैवान्तर्दधे देवो विद्युदभ्रेषु वै यथा ।
नाम्ना सप्तचरुं तेन ख्यातं लोकेषु भारत ।। ९८ ।।
गवां शतसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
अश्वमेधसहस्रेण श्रेयान् सप्तार्चिषे चरुः ।। ९९ ।।
ततो निवृत्तो राजेन्द्र रुद्रं पदमथाविशेत् ।
अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ।। १०० ।।

उनपर प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें अष्टगुण-ऐश्वर्य अर्थात् अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ प्रदान कीं। महाराज! तत्पश्चात् उनकी इच्छाके अनुसार अन्यान्य वर देकर भगवान् केशव वहाँसे उसी प्रकार अन्तर्धान हो गये, जैसे मेघोंकी घटामें बिजली तिरोहित हो जाती है। भारत! इसीलिये वह तीर्थ तीनों लोकोंमें सप्तचरुके नामसे विख्यात है। वहाँ अग्निके लिये दिया हुआ चरु एक लाख गोदान, सौ राजसूययज्ञ और सहस्र अश्वमेधयज्ञसे

भी अधिक कल्याणकारी है। राजेन्द्र! वहाँसे लौटकर रुद्रपद नामक तीर्थमें जाय। वहाँ महादेवजीकी पूजा करके तीर्थयात्री पुरुष अश्वमेधका फल पाता है ।। ९७—१०० ।।

मणिमन्तं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
एकरात्रोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ।। १०१ ।।

राजन्! एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक मणिमान् तीर्थमें जाय और वहाँ एक रात निवास करे। इससे अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ।। १०१ ।।

अथ गच्छेत राजेन्द्र देविकां लोकविश्रुताम् ।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ।। १०२ ।।

भरतवंशशिरोमणे! राजेन्द्र! वहाँसे लोकविख्यात देविकातीर्थकी यात्रा करे, जहाँ ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति सुनी जाती है ।। १०२ ।।

त्रिशूलपाणेः स्थानं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
देविकायां नरः स्नात्वा समभ्यर्च्य महेश्वरम् ।। १०३ ।।
यथाशक्ति चरुं तत्र निवेद्य भरतर्षभ ।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य लभते फलम् ।। १०४ ।।

वहाँ त्रिशूलपाणि भगवान् शिवका स्थान है, जिसकी तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि है। देविकामें स्नान करके भगवान् महेश्वरका पूजन और उन्हें यथाशक्ति चरु निवेदन करके सम्पूर्ण कामनाओंसे समृद्ध यज्ञके फलकी प्राप्ति होती है ।। १०३-१०४ ।।

कामाख्यं तत्र रुद्रस्य तीर्थं देवनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं सिद्धिं प्राप्नोति भारत ।। १०५ ।।

वहाँ भगवान् शंकरका देवसेवित कामतीर्थ है। भारत! उसमें स्नान करके मनुष्य शीघ्र मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।। १०५ ।।

यजनं याजनं चैव तथैव ब्रह्म बालुकाम् ।
पुष्पाम्भश्च उपस्पृश्य न शोचेन्मरणं गतः ।। १०६ ।।

वहाँ यजन, याजन तथा वेदोंका स्वाध्याय करके अथवा वहाँकी बालू, पुष्प एवं जलका स्पर्श करके मृत्युको प्राप्त हुआ पुरुष शोकसे पार हो जाता है ।। १०६ ।।

अर्धयोजनविस्तारा पञ्चयोजनमायता ।
एतावती वेदिका तु पुण्या देवर्षिसेविता ।। १०७ ।।

वहाँ पाँच योजन लंबी और आधा योजन चौड़ी पवित्र वेदिका है, जिसका देवता तथा ऋषि-मुनि भी सेवन करते हैं ।। १०७ ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ दीर्घसत्रं यथाक्रमम् ।
तत्र ब्रह्मादयो देवाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।। १०८ ।।

धर्मज्ञ! वहाँसे क्रमशः ‘दीर्घसत्र’ नामक तीर्थमें जाय। वहाँ ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध और महर्षि रहते हैं ।।

दीर्घसत्रमुपासन्ते दीक्षिता नियतव्रताः ।। १०९ ।।

वे नियमपूर्वक व्रतका पालन करते हुए दीक्षा लेकर दीर्घसत्रकी उपासना करते हैं ।। १०९ ।।

गमनादेव राजेन्द्र दीर्घसत्रमरिंदम ।

राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं प्राप्नोति भारत ।। ११० ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले भरतवंशी राजेन्द्र! वहाँकी यात्रा करने मात्रसे मनुष्य राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंके समान फल पाता है ।। ११० ।।

ततो विनशनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।

गच्छत्यन्तर्हिता यत्र मेरुपृष्ठे सरस्वती ।। १११ ।।

तदनन्तर शौच-संतोषादि नियमोंका पालन और नियमित आहार ग्रहण करते हुए विनशनतीर्थमें जाय, जहाँ मेरुपृष्ठपर रहनेवाली सरस्वती अदृश्य भावसे बहती है ।।

चमसेऽथ शिवोद्भेदे नागोद्भेदे च दृश्यते ।

स्नात्वा तु चमसोद्भेदे अग्निष्टोमफलं लभेत् ।। ११२ ।।

वहाँ चमसोद्भेद, शिवोद्भेद और नागोद्भेदतीर्थमें सरस्वतीका दर्शन होता है। चमसोद्भेदमें स्नान करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ।। ११२ ।।

शिवोद्भेदे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।

नागोद्भेदे नरः स्नात्वा नागलोकमवाप्नुयात् ।। ११३ ।।

शिवोद्भेदमें स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है। नागोद्भेदतीर्थमें स्नान करनेसे उसे नागलोककी प्राप्ति होती है ।। ११३ ।।

शशयानं च राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ।

शशरूपप्रतिच्छन्नाः पुष्करा यत्र भारत ।। ११४ ।।

सरस्वत्यां महाराज अनुसंवत्सरं च ते ।

दृश्यन्ते भरतश्रेष्ठ वृत्तां वै कार्तिकीं सदा ।। ११५ ।।

तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र द्योतते शशिवत् सदा ।

गोसहस्रफलं चैव प्राप्नुयाद् भरतर्षभ ।। ११६ ।।

राजेन्द्र! शशयान नामक तीर्थ अत्यन्त दुर्लभ है। उसमें जाकर स्नान करे। महाराज भारत! वहाँ सरस्वती नदीमें प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमाको शश (खरगोश)-के रूपमें छिपे हुए पुष्करतीर्थ देखे जाते हैं। भरतश्रेष्ठ! नरव्याघ्र! वहाँ स्नान करके मनुष्य सदा चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है। भरतकुलतिलक! उसे सहस्र गोदानका फल भी मिलता है ।। ११४—११६ ।।

कुमारकोटिमासाद्य नियतः कुरुनन्दन ।

तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।। ११७ ।।

कुरुनन्दन! वहाँसे कुमारकोटितीर्थमें जाकर वहाँ नियमपूर्वक स्नान करे और देवता तथा पितरोंके पूजनमें तत्पर रहे ।। ११७ ।।

गवामयुतमाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ रुद्रकोटिं समाहितः ।। ११८ ।।
पुरा यत्र महाराज मुनिकोटिः समागता ।
हर्षेण महताविष्टा रुद्रदर्शनकाङ्‌क्षया ।। ११९ ।।
अहं पूर्वमहं पूर्वं द्रक्ष्यामि वृषभध्वजम् ।
एवं सम्प्रस्थिता राजन्नृषयः किल भारत ।। १२० ।।

ऐसा करनेसे मनुष्य दस हजार गोदानका फल पाता है और अपने कुलका उद्धार कर देता है। धर्मज्ञ! वहाँसे एकाग्रचित्त हो रुद्रकोटितीर्थमें जाय। महाराज! रुद्रकोटि वह स्थान है, जहाँ पूर्वकालमें एक करोड़ मुनि बड़े हर्षमें भरकर भगवान् रुद्रके दर्शनकी अभिलाषासे आये थे। भारत! 'भगवान् वृषभध्वजका दर्शन पहले मैं करूँगा, मैं करूँगा' ऐसा संकल्प करके वे महर्षि वहाँके लिये प्रस्थित हुए थे ।। ११८—१२० ।।

ततो योगेश्वरेणापि योगमास्थाय भूपते ।
तेषां मन्युप्रणाशार्थमृषीणां भावितात्मनाम् ।। १२१ ।।
सृष्टा कोटीति रुद्राणामृषीणामग्रतः स्थिता ।
मया पूर्वतरं दृष्ट इति ते मेनिरे पृथक् ।। १२२ ।।
तेषां तुष्टो महादेवो मुनीनां भावितात्मनाम् ।
भक्त्या परमया राजन् वरं तेषां प्रदिष्टवान् ।। १२३ ।।

राजन्! तब योगेश्वर भगवान् शिवने भी योगका आश्रय ले, उन शुद्धात्मा महर्षियोंके शोककी शान्तिके लिये करोड़ों शिवलिंगोंकी सृष्टि कर दी, जो उन सभी ऋषियोंके आगे उपस्थित थे; इससे उन सबने अलग-अलग भगवान्‌का दर्शन किया। राजन्! उन शुद्धचेता मुनियोंकी उत्तम भक्तिसे संतुष्ट हो महादेवजीने उन्हें वर दिया ।। १२१—१२३ ।।

अद्य प्रभृति युष्माकं धर्मवृद्धिर्भविष्यति ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र रुद्रकोट्यां नरः शुचिः ।। १२४ ।।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

महर्षियो! आजसे तुम्हारे धर्मकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहेगी। नरश्रेष्ठ! उस रुद्रकोटिमें स्नान करके शुद्ध हुआ मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ।। १२४½ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र संगमं लोकविश्रुतम् ।। १२५ ।।
सरस्वत्या महापुण्यं केशवं समुपासते ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।। १२६ ।।

राजेन्द्र! तदनन्तर परम पुण्यमय लोकविख्यात सरस्वतीसंगमतीर्थमें जाय, जहाँ ब्रह्मा आदि देवता और तपस्याके धनी महर्षि भगवान् केशवकी उपासना करते हैं ।।

अभिगच्छन्ति राजेन्द्र चैत्रशुक्लचतुर्दशीम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विन्देद् बहुसुवर्णकम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं च गच्छति ।। १२७ ।।

राजेन्द्र! वहाँ लोग चैत्र शुक्ल चतुर्दशीको विशेषरूपसे जाते हैं। पुरुषसिंह! वहाँ स्नान करनेसे प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है और सब पापोंसे शुद्धचित्त होकर मनुष्य ब्रह्मलोकको जाता है ।। १२७ ।।

ऋषीणां यत्र सत्राणि समाप्तानि नराधिप ।
तत्रावसानमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ।। १२८ ।।

नरेश्वर! जहाँ ऋषियोंके सत्र समाप्त हुए हैं, वहाँ अवसानतीर्थमें जाकर मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ।। १२८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां द्व्यशीतितमोऽध्यायः ।। ८२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें पुलस्त्यकथिततीर्थयात्राविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८२ ।।

---

* यद्यपि यहाँ पुलस्त्यजी भीष्मजीको यह प्रसंग सुना रहे हैं, तथापि इस संवादको नारदजीने युधिष्ठिरके समक्ष उपस्थित किया है; अतः नारदजी युधिष्ठिरको सम्बोधित करें, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रकी सीमामें स्थित अनेक तीर्थोंकी महत्ताका वर्णन

पुलस्त्य उवाच

ततो गच्छेत राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभिष्टुतम् ।
पापेभ्यो यत्र मुच्यन्ते दर्शनात् सर्वजन्तवः ।। १ ।।

पुलस्त्यजी कहते हैं—राजेन्द्र! तदनन्तर ऋषियोंद्वारा प्रशंसित कुरुक्षेत्रकी यात्रा करे, जिसके दर्शनमात्रसे सब जीव पापोंसे मुक्त हो जाते हैं ।। १ ।।

कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ।
य एवं सततं ब्रूयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। २ ।।

'मैं कुरुक्षेत्रमें जाऊँगा, कुरुक्षेत्रमें निवास करूँगा।' इस प्रकार जो सदा कहा करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। २ ।।

पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः ।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ।। ३ ।।

वायुद्वारा उड़ाकर लायी हुई कुरुक्षेत्रकी धूल भी शरीरपर पड़ जाय, तो वह पापी मनुष्यको भी परमगतिकी प्राप्ति करा देती है ।। ३ ।।

दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च ।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ।। ४ ।।

जो सरस्वतीके दक्षिण और दृषद्वतीके उत्तर कुरुक्षेत्रमें वास करते हैं, वे मानो स्वर्गलोकमें ही रहते हैं ।। ४ ।।

तत्र मासं वसेद् धीरः सरस्वत्यां युधिष्ठिर ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयः सिद्धचारणाः ।। ५ ।।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः पन्नगाश्च महीपते ।
ब्रह्मक्षेत्रं महापुण्यमभिगच्छन्ति भारत ।। ६ ।।

(नारदजी कहते हैं—) युधिष्ठिर! वहाँ सरस्वतीके तटपर धीर पुरुष एक मासतक निवास करे; क्योंकि महाराज! ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष और नाग भी उस परम पुण्यमय ब्रह्मक्षेत्रको जाते हैं ।। ५-६ ।।

मनसाप्यभिकामस्य कुरुक्षेत्रं युधिष्ठिर ।
पापानि विप्रणश्यन्ति ब्रह्मलोकं च गच्छति ।। ७ ।।

युधिष्ठिर! जो मनसे भी कुरुक्षेत्रमें जानेकी इच्छा करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और वह ब्रह्मलोकको जाता है ।। ७ ।।

गत्वा हि श्रद्धया युक्तः कुरुक्षेत्रं कुरूद्वह ।

फलं प्राप्नोति च तदा राजसूयाश्वमेधयोः ।। ८ ।।

कुरुश्रेष्ठ! श्रद्धासे युक्त होकर कुरुक्षेत्रकी यात्रा करनेपर मनुष्य राजसूय और अश्वमेधयज्ञोंका फल पाता है ।। ८ ।।

ततो मचक्रुकं नाम द्वारपालं महाबलम् ।
यक्षं समभिवाद्यैव गोसहस्रफलं लभेत् ।। ९ ।।

तदनन्तर, वहाँ मचक्रुक नामवाले द्वारपाल महाबली यक्षको नमस्कार करनेमात्रसे सहस्र गोदानका फल मिल जाता है ।। ९ ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ।
सततं नाम राजेन्द्र यत्र संनिहितो हरिः ।। १० ।।

धर्मज्ञ राजेन्द्र! तत्पश्चात् भगवान् विष्णुके परम उत्तम सतत नामक तीर्थस्थानमें जाय, जहाँ श्रीहरि सदा निवास करते हैं ।। १० ।।

तत्र स्नात्वा च नत्वा च त्रिलोकप्रभवं हरिम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ।। ११ ।।
ततः पारिप्लवं गच्छेत् तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति भारत ।। १२ ।।

वहाँ स्नान और त्रिलोकभावन भगवान् श्रीहरिको नमस्कार करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। इसके बाद त्रिभुवनविख्यात पारिप्लव नामक तीर्थमें जाय। भारत! वहाँ स्नान करनेसे अग्निष्टोम और अतिरात्रयज्ञोंका फल प्राप्त होता है ।। ११-१२ ।।

पृथिवीतीर्थमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततः शालूकिनीं गत्वा तीर्थसेवी नराधिप ।। १३ ।।
दशाश्वमेधे स्नात्वा च तदेव फलमाप्नुयात् ।
सर्पदेवीं समासाद्य नागानां तीर्थमुत्तमम् ।। १४ ।।
अग्निष्टोममवाप्नोति नागलोकं च विन्दति ।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ द्वारपालं तरन्तुकम् ।। १५ ।।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततः पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ।। १६ ।।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ।
अश्विनोस्तीर्थमासाद्य रूपवानभिजायते ।। १७ ।।

महाराज! वहाँसे पृथिवीतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है। राजन्! वहाँसे तीर्थसेवी मनुष्य शालूकिनीमें जाकर दशाश्वमेधतीर्थमें स्नान करनेसे उसी फलका भागी होता है। सर्पदेवीमें जाकर उत्तम नागतीर्थका सेवन करनेसे मनुष्य अग्निष्टोमका फल पाता और नागलोकमें जाता है। धर्मज्ञ! वहाँसे तरन्तुक नामक

द्वारपालके पास जाय। वहाँ एक रात निवास करनेसे सहस्र गोदानका फल होता है। वहाँसे नियमपूर्वक नियमित भोजन करते हुए पंचनदतीर्थमें जाय और वहाँ कोटितीर्थमें स्नान करे। इससे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है। अश्विनीतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य रूपवान् होता है ।। १३—१७ ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ वाराहं तीर्थमुत्तमम् ।
विष्णुर्वाराहरूपेण पूर्वं यत्र स्थितोऽभवत् ।। १८ ।।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत् ।

धर्मज्ञ! वहाँसे परम उत्तम वाराहतीर्थको जाय, जहाँ भगवान् विष्णु पहले वाराहरूपसे स्थित हुए थे। नरश्रेष्ठ! वहाँ स्नान करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ।। १८½ ।।

ततो जयन्त्यां राजेन्द्र सोमतीर्थं समाविशेत् ।। १९ ।।
स्नात्वा फलमवाप्नोति राजसूयस्य मानवः ।

राजेन्द्र! तदनन्तर जयन्तीमें सोमतीर्थके निकट जाय, वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य राजसूययज्ञका फल पाता है ।। १९½ ।।

एकहंसे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।। २० ।।
कृतशौचं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप ।
पुण्डरीकमवाप्नोति कृतशौचो भवेच्च सः ।। २१ ।।

एकहंसतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है। नरेश्वर! कृतशौचतीर्थमें जाकर तीर्थसेवी मनुष्य पुण्डरीकयागका फल पाता और शुद्ध हो जाता है ।। २०-२१ ।।

ततो मुञ्जवटं नाम स्थाणोः स्थानं महात्मनः ।
उपोष्य रजनीमेकां गाणपत्यमवाप्नुयात् ।। २२ ।।

तदनन्तर महात्मा स्थाणुके मुञ्जवट नामक स्थानमें जाय। वहाँ एक रात रहनेसे मानव गणपतिपद प्राप्त करता है ।। २२ ।।

तत्रैव च महाराज यक्षिणीं लोकविश्रुताम् ।
स्नात्वाभिगम्य राजेन्द्र सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।। २३ ।।

महाराज! वहीं लोकविख्यात यक्षिणीतीर्थ है। राजेन्द्र! उसमें जानेसे और स्नान करनेसे सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति होती है ।। २३ ।।

कुरुक्षेत्रस्य तद् द्वारं विश्रुतं भरतर्षभ ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य तीर्थसेवी समाहितः ।। २४ ।।
सम्मितं पुष्कराणां च स्नात्वार्च्य पितृदेवताः ।
जामदग्न्येन रामेण कृतं तत् सुमहात्मना ।। २५ ।।
कृतकृत्यो भवेद् राजन्नश्वमेधं च विन्दति ।

भरतश्रेष्ठ! वह कुरुक्षेत्रका विख्यात द्वार है। उसकी परिक्रमा करके तीर्थयात्री मनुष्य एकाग्रचित्त हो पुष्करतीर्थके तुल्य उस तीर्थमें स्नान करके देवताओं और पितरोंकी पूजा करे। राजन्! इससे तीर्थयात्री कृतकृत्य होता और अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त करता है। उत्तम श्रेणीके महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामने उस तीर्थका निर्माण किया है ।। २४-२५ १/२ ।।

ततो रामह्रदान् गच्छेत् तीर्थसेवी समाहितः ।। २६ ।।

तदनन्तर तीर्थयात्री एकाग्रचित्त हो परशुराम-कुण्डोंपर जाय ।। २६ ।।

तत्र रामेण राजेन्द्र तरसा दीप्ततेजसा ।

क्षत्रमुत्साद्य वीरेण ह्रदाः पञ्च निवेशिताः ।। २७ ।।

राजेन्द्र! वहाँ उद्दीप्त तेजस्वी वीरवर परशुरामने सम्पूर्ण क्षत्रियकुलका वेगपूर्वक संहार करके पाँच कुण्ड स्थापित किये थे ।। २७ ।।

पूरयित्वा नरव्याघ्र रुधिरेणेति विश्रुतम् ।

पितरस्तर्पिताः सर्वे तथैव प्रपितामहाः ।। २८ ।।

पुरुषसिंह! उन कुण्डोंको उन्होंने रक्तसे भर दिया था, ऐसा सुना जाता है। उसी रक्तसे परशुरामजीने अपने पितरों और प्रपितामहोंका तर्पण किया ।। २८ ।।

ततस्ते पितरः प्रीता राममूचुर्नराधिप ।

राजन्! तब वे पितर अत्यन्त प्रसन्न हो परशुरामजीसे इस प्रकार बोले— ।। २८ १/२ ।।

पितर ऊचुः

राम राम महाभाग प्रीताः स्म तव भार्गव ।। २९ ।।

अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण च ते विभो ।

वरं वृणीष्व भद्रं ते किमिच्छसि महाद्युते ।। ३० ।।

पितरोंने कहा—महाभाग राम! परशुराम! भृगुनन्दन! विभो! हम तुम्हारी इस पितृभक्तिसे और तुम्हारे पराक्रमसे भी बहुत प्रसन्न हुए हैं। महाद्युते! तुम्हारा कल्याण हो। तुम कोई वर माँगो। बोलो, क्या चाहते हो? ।। २९-३० ।।

एवमुक्तः स राजेन्द्र रामः प्रहरतां वरः ।

अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं पितॄन् स गगने स्थितान् ।। ३१ ।।

भवन्तो यदि मे प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ।

पितृप्रसादमिच्छेयं तप आप्यायनं पुनः ।। ३२ ।।

राजेन्द्र! उनके ऐसा कहनेपर योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामने हाथ जोड़कर आकाशमें खड़े हुए उन पितरोंसे कहा—‘पितृगण! यदि आपलोग मुझपर प्रसन्न हैं और यदि मैं आपका अनुग्रहपात्र होऊँ तो मैं आपका कृपा-प्रसाद चाहता हूँ। पुनः मेरी तपस्या पूरी हो जाय ।। ३१-३२ ।।

यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ।
ततश्च पापान्मुच्येयं युष्माकं तेजसाप्यहम् ।। ३३ ।।
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः ।

'मैंने जो रोषके वशीभूत होकर सारे क्षत्रियकुलका संहार कर दिया है, आपके प्रभावसे मैं उस पापसे मुक्त हो जाऊँ तथा मेरे ये कुण्ड भूमण्डलमें विख्यात तीर्थस्वरूप हो जायँ ।। ३३½ ।।

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं रामस्य पितरस्तदा ।। ३४ ।।
प्रत्यूचुः परमप्रीता रामं हर्षसमन्विताः ।
तपस्ते वर्धतां भूयः पितृभक्त्या विशेषतः ।। ३५ ।।

परशुरामजीका यह शुभ वचन सुनकर उनके पितर बड़े प्रसन्न हुए और हर्षमें भरकर बोले—'वत्स! तुम्हारी तपस्या इस विशेष पितृभक्तिसे पुनः बढ़ जाय ।। ३४-३५ ।।

यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं त्वया ।
ततश्च पापान्मुक्तस्त्वं पतितास्ते स्वकर्मभिः ।। ३६ ।।

'तुमने जो रोषमें भरकर क्षत्रियकुलका संहार किया है, उस पापसे तुम मुक्त हो गये। वे क्षत्रिय अपने ही कर्मसे मरे हैं ।। ३६ ।।

ह्रदाश्च तव तीर्थत्वं गमिष्यन्ति न संशयः ।
ह्रदेषु तेषु यः स्नात्वा पितॄन् संतर्पयिष्यति ।। ३७ ।।
पितरस्तस्य वै प्रीता दास्यन्ति भुवि दुर्लभम् ।
ईप्सितं च मनःकामं स्वर्गलोकं च शाश्वतम् ।। ३८ ।।

'तुम्हारे बनाये हुए ये कुण्ड तीर्थस्वरूप होंगे, इसमें संशय नहीं है। जो इन कुण्डोंमें नहाकर पितरोंका तर्पण करेंगे, उन्हें तृप्त हुए पितर ऐसा वर देंगे, जो इस भूतलपर दुर्लभ है। वे उसके लिये मनोवाञ्छित कामना और सनातन स्वर्गलोक सुलभ कर देंगे' ।। ३७-३८ ।।

एवं दत्त्वा वरान् राजन् रामस्य पितरस्तदा ।
आमन्त्र्य भार्गवं प्रीत्या तत्रैवान्तर्हितास्ततः ।। ३९ ।।
एवं रामह्रदाः पुण्या भार्गवस्य महात्मनः ।
स्नात्वा ह्रदेषु रामस्य ब्रह्मचारी शुभव्रतः ।। ४० ।।
राममभ्यर्च्य राजेन्द्र लभेद् बहुसुवर्णकम् ।
वंशमूलकमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।। ४१ ।।
स्ववंशमुद्धरेद् राजन् स्नात्वा वै वंशमूलके ।
कायशोधनमासाद्य तीर्थं भरतसत्तम ।। ४२ ।।
शरीरशुद्धिः स्नातस्य तस्मिंस्तीर्थे न संशयः ।
शुद्धदेहश्च संयाति शुभाँल्लोकाननुत्तमान् ।। ४३ ।।

राजन्! इस प्रकार वर देकर परशुरामजीके पितर प्रसन्नतापूर्वक उनसे अनुमति ले वहीं अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार भृगुनन्दन महात्मा परशुरामके वे कुण्ड बड़े पुण्यमय माने गये हैं। राजन्! जो उत्तम व्रत एवं ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए परशुरामजीके उन कुण्डोंके जलमें स्नान करके उनकी पूजा करता है, उसे प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है। कुरुश्रेष्ठ! तदनन्तर तीर्थसेवी मनुष्य वंशमूलकतीर्थमें जाय। राजन्! वंशमूलकमें स्नान करके मनुष्य अपने कुलका उद्धार कर देता है। भरतश्रेष्ठ! कायशोधनतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे शरीरकी शुद्धि होती है, इसमें संशय नहीं। शरीर शुद्ध होनेपर मनुष्य परम उत्तम कल्याणमय लोकोंमें जाता है ।। ३९—४३ ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
लोका यत्रोद्धृताः पूर्वं विष्णुना प्रभविष्णुना ।। ४४ ।।
लोकोद्धारं समासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम् ।
स्नात्वा तीर्थवरे राजँल्लोकानुद्धरते स्वकान् ।। ४५ ।।

धर्मज्ञ! तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात लोकोद्धारतीर्थमें जाय, जो तीनों लोकोंमें पूजित है। वहाँ पूर्वकालमें सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने कितने ही लोकोंका उद्धार किया था। राजन्! लोकोद्धारमें जाकर उस उत्तम तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य आत्मीय जनोंका उद्धार करता है ।। ४४-४५ ।।

श्रीतीर्थं च समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ।
अर्चयित्वा पितॄन् देवान् विन्दते श्रियमुत्तमाम् ।। ४६ ।।

मनको वशमें करके श्रीतीर्थमें जाकर स्नान करके देवताओं और पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्य उत्तम सम्पत्ति प्राप्त करता है ।। ४६ ।।

कपिलातीर्थमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् स्वान् दैवतान्यपि ।। ४७ ।।
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः ।

कपिला-तीर्थमें जाकर ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो वहाँ स्नान और देवता-पितरोंका पूजन करके मानव सहस्र कपिला गौओंके दानका फल प्राप्त करता है ।। ४७½ ।।

सूर्यतीर्थं समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः ।। ४८ ।।
अर्चयित्वा पितॄन् देवानुपवासपरायणः ।
अग्निष्टोममवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ।। ४९ ।।

मनको वशमें करके सूर्यतीर्थमें जाकर स्नान और देवता-पितरोंका अर्चन करके उपवास करनेवाला मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और सूर्यलोकमें जाता है ।। ४८-४९ ।।

गवां भवनमासाद्य तीर्थसेवी यथाक्रमम् ।

तत्राभिषेकं कुर्वाणो गोसहस्रफलं लभेत् ।। ५० ।।

तदनन्तर तीर्थसेवी क्रमशः गोभवनतीर्थमें जाकर वहाँ स्नान करे। इससे उसको सहस्र गोदानका फल मिलता है ।। ५० ।।

शङ्खिनीतीर्थमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा लभते रूपमुत्तमम् ।। ५१ ।।

कुरुश्रेष्ठ! तीर्थयात्री पुरुष शंखिनीतीर्थमें जाकर वहाँ देवीतीर्थमें स्नान करनेसे उत्तम रूप प्राप्त करता है ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र द्वारपालमरन्तुकम् ।
तच्च तीर्थं सरस्वत्यां यक्षेन्द्रस्य महात्मनः ।। ५२ ।।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ।

राजेन्द्र! तदनन्तर अरन्तुक नामक द्वारपालके पास जाय। महात्मा यक्षराज कुबेरका वह तीर्थ सरस्वती नदीमें है। राजन्! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्यको अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त होता है ।। ५२½ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मावर्तं नरोत्तमः ।। ५३ ।।
ब्रह्मावर्ते नरः स्नात्वा ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ।

राजेन्द्र! तदनन्तर श्रेष्ठ मानव ब्रह्मावर्ततीर्थको जाय। ब्रह्मावर्तमें स्नान करके मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है ।। ५३½ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र सुतीर्थकमनुत्तमम् ।। ५४ ।।
तत्र संनिहिता नित्यं पितरो दैवतैः सह ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।। ५५ ।।
अश्वमेधमवाप्नोति पितृलोकं च गच्छति ।

राजेन्द्र! वहाँसे परम उत्तम सुतीर्थमें जाय। वहाँ देवतालोग पितरोंके साथ सदा विद्यमान रहते हैं। वहाँ पितरों और देवताओंके पूजनमें तत्पर हो स्नान करे। इससे तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता और पितृलोकमें जाता है ।। ५४-५५½ ।।

ततोऽम्बुमत्यां धर्मज्ञ सुतीर्थकमनुत्तमम् ।। ५६ ।।

धर्मज्ञ! वहाँसे अम्बुमतीमें, जो परम उत्तम तीर्थ है, जाय ।। ५६ ।।

काशीश्वरस्य तीर्थेषु स्नात्वा भरतसत्तम ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो ब्रह्मलोके महीयते ।। ५७ ।।

भरतश्रेष्ठ! काशीश्वरके तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य सब रोगोंसे मुक्त हो जाता और ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है ।। ५७ ।।

मातृतीर्थं च तत्रैव यत्र स्नातस्य भारत ।
प्रजा विवर्धते राजन्ननन्तां श्रियमश्नुते ।। ५८ ।।

भरतवंशी महाराज! वहीं मातृतीर्थ है, जिसमें स्नान करनेवाले पुरुषकी संतति बढती है और वह कभी क्षीण न होनेवाली सम्पत्तिका उपभोग करता है ।।

ततः सीतवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
तीर्थं तत्र महाराज महदन्यत्र दुर्लभम् ।। ५९ ।।

तदनन्तर नियमसे रहकर नियमित भोजन करते हुए सीतवनमें जाय। महाराज! वहाँ महान् तीर्थ है, जो अन्यत्र दुर्लभ है ।। ५९ ।।

पुनाति गमनादेव दृष्टमेकं नराधिप ।
केशानभ्युक्ष्य वै तस्मिन् पूतो भवति भारत ।। ६० ।।

नरेश्वर! वह तीर्थ एक बार जाने या दर्शन करनेसे ही पवित्र कर देता है। भारत! उसमें केशोंको धो लेने मात्रसे ही मनुष्य पवित्र हो जाता है ।। ६० ।।

तीर्थं तत्र महाराज श्वाविल्लोमापहं स्मृतम् ।
यत्र विप्रा नरव्याघ्र विद्वांसस्तीर्थतत्पराः ।। ६१ ।।
प्रीतिं गच्छन्ति परमां स्नात्वा भरतसत्तम ।
श्वाविल्लोमापनयने तीर्थे भरतसत्तम ।। ६२ ।।
प्राणायामैर्निर्हरन्ति स्वलोमानि द्विजोत्तमाः ।
पूतात्मानश्च राजेन्द्र प्रयान्ति परमां गतिम् ।। ६३ ।।

महाराज! वहाँ श्वाविल्लोमापह नामक तीर्थ है। नरव्याघ्र! उसमें तीर्थपरायण हुए विद्वान् ब्राह्मण स्नान करके बड़े प्रसन्न होते हैं। भरतसत्तम! श्वाविल्लोमापनयनतीर्थमें प्राणायाम (योगकी क्रिया) करनेसे श्रेष्ठ द्विज अपने रोएँ झाड़ देते हैं तथा राजेन्द्र! वे शुद्धचित्त होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं ।। ६१—६३ ।।

दशाश्वमेधिकं चैव तस्मिंस्तीर्थे महीपते ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र गच्छेत परमां गतिम् ।। ६४ ।।

भूपाल! वहीं दशाश्वमेधिकतीर्थ भी है। पुरुषसिंह! उसमें स्नान करके मनुष्य उत्तम गति प्राप्त करता है ।। ६४ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र मानुषं लोकविश्रुतम् ।
यत्र कृष्णमृगा राजन् व्याधेन शरपीडिताः ।। ६५ ।।
विगाह्य तस्मिन् सरसि मानुषत्वमुपागताः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ।। ६६ ।।
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते ।

राजेन्द्र! तदनन्तर लोकविख्यात मानुषतीर्थमें जाय। राजन्! वहाँ व्याधके बाणोंसे पीडित हुए कृष्णमृग उस सरोवरमें गोते लगाकर मनुष्य-शरीर पा गये थे, इसीलिये उसका नाम मानुषतीर्थ है। ब्रह्मचर्यपालन-पूर्वक एकाग्रचित्त हो उस तीर्थमें स्नान करनेवाला मानव सब पापोंसे मुक्त हो स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ।। ६५-६६½ ।।

मानुषस्य तु पूर्वेण क्रोशमात्रे महीपते ।। ६७ ।।
आपगा नाम विख्याता नदी सिद्धनिषेविता ।
श्यामाकं भोजने तत्र यः प्रयच्छति मानवः ।। ६८ ।।
देवान् पितॄन् समुद्दिश्य तस्य धर्मफलं महत् ।
एकस्मिन् भोजिते विप्रे कोटिर्भवति भोजिता ।। ६९ ।।

राजन्! मानुषतीर्थसे पूर्व एक कोसकी दूरीपर आपगा नामसे विख्यात एक नदी है, जो सिद्धपुरुषोंसे सेवित है। जो मनुष्य वहाँ देवताओं और पितरोंके उद्देश्यसे भोजन कराते समय श्यामाक (साँवा) नामक अन्न देता है, उसे महान् धर्मफलकी प्राप्ति होती है। वहाँ एक ब्राह्मणको भोजन करानेपर एक करोड़ ब्राह्मणोंको भोजन करानेका फल मिलता है ।। ६७—६९ ।।

तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् वै दैवतानि च ।
उषित्वा रजनीमेकामग्निष्टोमफलं लभेत् ।। ७० ।।

वहाँ स्नान करके देवताओं और पितरोंके पूजनपूर्वक एक रात निवास करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ।। ७० ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम् ।
ब्रह्मोदुम्बरमित्येव प्रकाशं भुवि भारत ।। ७१ ।।

भरतवंशी राजेन्द्र! तदनन्तर ब्रह्माजीके उत्तम स्थानमें जाय, जो इस पृथ्वीपर ब्रह्मोदुम्बरतीर्थके नामसे प्रसिद्ध है ।। ७१ ।।

तत्र सप्तर्षिकुण्डेषु स्नातस्य नरपुङ्गव ।
केदारे चैव राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः ।। ७२ ।।
ब्रह्माणमधिगम्याथ शुचिः प्रयतमानसः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ।। ७३ ।।
कपिलस्य च केदारं समासाद्य सुदुर्लभम् ।
अन्तर्धानमवाप्नोति तपसा दग्धकिल्बिषः ।। ७४ ।।

वहाँ सप्तर्षिकुण्ड है। नरश्रेष्ठ महाराज! उन कुण्डोंमें तथा महात्मा कपिलके केदारतीर्थमें स्नान करनेसे पुरुषको महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है। वह मनुष्य ब्रह्माजीके निकट जाकर उनका दर्शन करनेसे शुद्ध, पवित्रचित्त एवं सब पापोंसे रहित होकर ब्रह्मलोकमें जाता है। कपिलका केदार भी अत्यन्त दुर्लभ है। वहाँ जानेसे तपस्याद्वारा सब पाप नष्ट हो जानेके कारण मनुष्यको अन्तर्धानविद्याकी प्राप्ति हो जाती है ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र सरकं लोकविश्रुतम् ।
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यामभिगम्य वृषध्वजम् ।। ७५ ।।
लभेत सर्वकामान् हि स्वर्गलोकं च गच्छति ।

राजेन्द्र! तदनन्तर लोकविख्यात सरकतीर्थमें जाय। वहाँ कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको भगवान् शंकरका दर्शन करनेसे मनुष्य सब कामनाओंको प्राप्त कर लेता और स्वर्गलोकमें जाता है ।। ७५½ ।।

तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां सरके कुरुनन्दन ।। ७६ ।।

कुरुनन्दन! सरकमें तीन करोड़ तीर्थ हैं ।। ७६ ।।

रुद्रकोट्यां तथा कूपे ह्रदेषु च महीपते ।
इलास्पदं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।। ७७ ।।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च दैवतानि पितॄनथ ।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजपेयं च विन्दति ।। ७८ ।।

राजन्! ये सब तीर्थ रुद्रकोटिमें, कूपमें और कुण्डोंमें हैं। भरतशिरोमणे! वहीं इलास्पदतीर्थ है, जिसमें स्नान और देवता-पितरोंका पूजन करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और वाजपेययज्ञका फल पाता है ।। ७७-७८ ।।

किंदाने च नरः स्नात्वा किंजप्ये च महीपते ।
अप्रमेयमवाप्नोति दानं जप्यं च भारत ।। ७९ ।।

महीपते! वहाँ किंदान और किंजप्य नामक तीर्थ भी हैं। भारत! उनमें स्नान करनेसे मनुष्य दान और जपका असीम फल पाता है ।। ७९ ।।

कलश्यां वार्युपस्पृश्य श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।। ८० ।।

कलशीतीर्थमें जलका आचमन करके श्रद्धालु और जितेन्द्रिय मानव अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ।।

सरकस्य तु पूर्वेण नारदस्य महात्मनः ।
तीर्थं कुरुकुलश्रेष्ठ अम्बाजन्मेति विश्रुतम् ।। ८१ ।।

कुरुकुलश्रेष्ठ! सरकतीर्थके पूर्वमें महात्मा नारदका तीर्थ है, जो अम्बाजन्मके नामसे विख्यात है ।। ८१ ।।

तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा प्राणानुत्सृज्य भारत ।
नारदेनाभ्यनुज्ञातो लोकान् प्राप्नोत्यनुत्तमान् ।। ८२ ।।

भारत! उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य प्राणत्यागके पश्चात् नारदजीकी आज्ञाके अनुसार परम उत्तम लोकोंमें जाता है ।। ८२ ।।

शुक्लपक्षे दशम्यां च पुण्डरीकं समाविशेत् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् पुण्डरीकफलं लभेत् ।। ८३ ।।

शुक्लपक्षकी दशमी तिथिको पुण्डरीकतीर्थमें प्रवेश करे। राजन्! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्यको पुण्डरीकयागका फल प्राप्त होता है ।। ८३ ।।

ततस्त्रिविष्टपं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।

तत्र वैतरणी पुण्या नदी पापप्रणाशिनी ।। ८४ ।।

तदनन्तर तीनों लोकोंमें विख्यात त्रिविष्टपतीर्थमें जाय। वहाँ वैतरणी नामक पुण्यमयी पापनाशिनी नदी है ।।

तत्र स्नात्वार्चयित्वा च शूलपाणिं वृषध्वजम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ।। ८५ ।।

उसमें स्नान करके शूलपाणि भगवान् शंकरकी पूजा करनेसे मनुष्य सब पापोंसे शुद्धचित्त हो परम गतिको प्राप्त होता है ।। ८५ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र फलकीवनमुत्तमम् ।
तत्र देवाः सदा राजन् फलकीवनमाश्रिताः ।। ८६ ।।
तपश्चरन्ति विपुलं बहु वर्षसहस्रकम् ।
दृषद्वत्यां नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ।। ८७ ।।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ।
तीर्थे च सर्वदेवानां स्नात्वा भरतसत्तम ।। ८८ ।।
गोसहस्रस्य राजेन्द्र फलं विन्दति मानवः ।
पाणिखाते नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ।। ८९ ।।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ।
राजसूयमवाप्नोति ऋषिलोकं च विन्दति ।। ९० ।।

राजेन्द्र! वहाँसे फलकीवन नामक उत्तम तीर्थकी यात्रा करे। राजन्! देवतालोग फलकीवनमें सदा निवास करते हैं और अनेक सहस्र वर्षोंतक वहाँ भारी तपस्यामें लगे रहते हैं। भारत! दृषद्वतीमें स्नान करके देवता-पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञोंका फल पाता है। भरतसत्तम राजेन्द्र! सर्वदेवतीर्थमें स्नान करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है। भारत! पाणिखाततीर्थमें स्नान करके देवता-पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्रयज्ञोंसे मिलनेवाले फलको प्राप्त कर लेता है; साथ ही वह राजसूययज्ञका फल पाता एवं ऋषिलोकमें जाता है ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र मिश्रकं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र तीर्थानि राजेन्द्र मिश्रितानि महात्मना ।। ९१ ।।
व्यासेन नृपशार्दूल द्विजार्थमिति नः श्रुतम् ।
सर्वतीर्थेषु स स्नाति मिश्रके स्नाति यो नरः ।। ९२ ।।

राजेन्द्र! तत्पश्चात् परम उत्तम मिश्रकतीर्थमें जाय। महाराज! वहाँ महात्मा व्यासने द्विजोंके लिये सभी तीर्थोंका सम्मिश्रण किया है; यह बात मेरे सुननेमें आयी है। जो मनुष्य मिश्रकतीर्थमें स्नान करता है, उसका वह स्नान सभी तीर्थोंमें स्नान करनेके समान है ।। ९१-९२ ।।

ततो व्यासवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।

मनोजवे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।। ९३ ।।

तत्पश्चात् नियमपूर्वक रहते हुए मिताहारी होकर व्यासवनकी यात्रा करे। वहाँ मनोजवतीर्थमें स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ।। ९३ ।।

गत्वा मधुवटीं चैव देव्यास्तीर्थे नरः शुचिः ।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् देवांश्च पूरुषः ।। ९४ ।।
स देव्या समनुज्ञातो गोसहस्रफलं लभेत् ।

मधुवटीमें जाकर देवीतीर्थमें स्नान करके पवित्र हुआ मानव वहाँ देवता-पितरोंकी पूजा करके देवीकी आज्ञाके अनुसार सहस्र गोदानका फल पाता है ।। ९४ १/२ ।।

कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्याश्च भारत ।। ९५ ।।
स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

भारत! कौशिकी और दृषद्वतीके संगममें जो स्नान करता है तथा नियमपालनपूर्वक संयमित भोजन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। ९५ १/२ ।।

ततो व्यासस्थली नाम यत्र व्यासेन धीमता ।। ९६ ।।
पुत्रशोकाभितप्तेन देहत्यागे कृता मतिः ।
ततो देवैस्तु राजेन्द्र पुनरुत्थापितस्तदा ।। ९७ ।।
अभिगत्वा स्थलीं तस्य गोसहस्रफलं लभेत् ।

तत्पश्चात् व्यासस्थलीमें जाय, जहाँ परम बुद्धिमान् व्यासने पुत्रशोकसे संतप्त हो शरीर त्याग देनेका विचार किया था। राजेन्द्र! उस समय उन्हें देवताओंने पुनः उठाया था। उस स्थलमें जानेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ।। ९६-९७ १/२ ।।

किंदत्तं कूपमासाद्य तिलप्रस्थं प्रदाय च ।। ९८ ।।
गच्छेत परमां सिद्धिमृणैर्मुक्तः कुरूद्वह ।
वेदीतीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।। ९९ ।।

किंदत्त नामक कूपके समीप जाकर एक प्रस्थ अर्थात् सोलह मुट्ठी तिल दान करे। कुरुश्रेष्ठ! ऐसा करनेसे मनुष्य तीनों ऋणोंसे मुक्त हो परम सिद्धिको प्राप्त होता है। वेदीतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ।। ९८-९९ ।।

अहश्च सुदिनं चैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते ।
तयोः स्नात्वा नरव्याघ्र सूर्यलोकमवाप्नुयात् ।। १०० ।।

अहन् और सुदिन—ये दो लोकविख्यात तीर्थ हैं। नरश्रेष्ठ! उन दोनोंमें स्नान करके मनुष्य सूर्यलोकमें जाता है ।। १०० ।।

मृगधूमं ततो गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत गङ्गायां नृपसत्तम ।। १०१ ।।

नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर तीनों लोकोंमें विख्यात मृगधूम-तीर्थमें जाय और वहाँ गंगाजीमें स्नान करे ।। १०१ ।।

अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।। १०२ ।।

वहाँ महादेवजीकी पूजा करके मनुष्य अश्वमेध-यज्ञका फल पाता है। देवीतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ।। १०२ ।।

ततो वामनकं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम् ।। १०३ ।।
सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकं स गच्छति ।
कुलम्पुने नरः स्नात्वा पुनाति स्वकुलं ततः ।। १०४ ।।

तत्पश्चात् त्रिलोकविख्यात वामनतीर्थमें जाय। वहाँ विष्णुपदमें स्नान और वामनदेवताका पूजन करनेसे मनुष्य सब पापोंसे शुद्ध हो भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। कुलम्पुनतीर्थमें स्नान करके मानव अपने कुलको पवित्र कर देता है ।। १०३-१०४ ।।

पवनस्य ह्रदे स्नात्वा मरुतां तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विष्णुलोके महीयते ।। १०५ ।।

नरव्याघ्र! तदनन्तर पवनह्रदमें स्नान करे। वह मरुद्गणोंका उत्तम तीर्थ है। वहाँ स्नान करनेसे मानव विष्णुलोकमें प्रतिष्ठित होता है ।। १०५ ।।

अमराणां ह्रदे स्नात्वा समभ्यर्च्यामराधिपम् ।
अमराणां प्रभावेण स्वर्गलोके महीयते ।। १०६ ।।

अमरह्रदमें स्नान करके अमरेश्वर इन्द्रका पूजन करे। ऐसा करके मनुष्य अमरोंके प्रभावसे स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ।। १०६ ।।

शालिहोत्रस्य तीर्थे च शालिसूर्ये यथाविधि ।
स्नात्वा नरवरश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत् ।। १०७ ।।

नरश्रेष्ठ! शालिहोत्रके शालिसूर्य नामक तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ।। १०७ ।।

श्रीकुञ्जं च सरस्वत्यास्तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत् ।। १०८ ।।

भरतसत्तम नरश्रेष्ठ! श्रीकुंज नामक सरस्वतीतीर्थमें स्नान करनेसे मानव अग्निष्टोमयज्ञका फल प्राप्त कर लेता है ।। १०८ ।।

ततो नैमिषकुञ्जं च समासाद्य कुरूद्वह ।
ऋषयः किल राजेन्द्र नैमिषेयास्तपस्विनः ।। १०९ ।।
तीर्थयात्रां पुरस्कृत्य कुरुक्षेत्रं गताः पुरा ।
ततः कुञ्जः सरस्वत्याः कृतो भरतसत्तम ।। ११० ।।

कुरुश्रेष्ठ! तत्पश्चात् नैमिषकुञ्जकी यात्रा करे। राजेन्द्र! कहते हैं, नैमिषारण्यके निवासी तपस्वी ऋषि पहले कभी तीर्थयात्राके प्रसंगसे कुरुक्षेत्रमें गये थे। भरतश्रेष्ठ! उसी समय

उन्होंने सरस्वतीकुंजका निर्माण किया था (वही नैमिषकुंज कहलाता है) ।। १०९-११० ।।

ऋषीणामवकाशः स्याद् यथा तुष्टिकरो महान् ।
तस्मिन् कुञ्जे नरः स्नात्वा अग्निष्टोमफलं लभेत् ।। १११ ।।

वह ऋषियोंका स्थान है, जो उनके लिये महान् संतोषजनक है। उस कुंजमें स्नान करके मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ।। १११ ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ कन्यातीर्थमनुत्तमम् ।
कन्यातीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।। ११२ ।।

धर्मज्ञ! तदनन्तर परम उत्तम कन्यातीर्थकी यात्रा करे। कन्यातीर्थमें स्नान करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है ।। ११२ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र वर्णावरः स्नात्वा ब्राह्मण्यं लभते नरः ।। ११३ ।।
ब्राह्मणश्च विशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ।

राजेन्द्र! तदनन्तर परम उत्तम ब्रह्मतीर्थमें जाय। वहाँ स्नान करनेसे ब्राह्मणेतर वर्णका मनुष्य भी ब्राह्मणत्व लाभ करता है। ब्राह्मण होनेपर शुद्धचित्त हो वह परम गतिको प्राप्त कर लेता है ।। ११३½ ।।

ततो गच्छेन्नरश्रेष्ठ सोमतीर्थमनुत्तमम् ।। ११४ ।।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् सोमलोकमवाप्नुयात् ।

नरश्रेष्ठ! तत्पश्चात् उत्तम सोमतीर्थकी यात्रा करे। राजन्! वहाँ स्नान करनेसे मानव सोमलोकको जाता है ।। ११४½ ।।

सप्तसारस्वतं तीर्थं ततो गच्छेन्नराधिप ।। ११५ ।।
यत्र मङ्कणकः सिद्धो महर्षिर्लोकविश्रुतः ।
पुरा मङ्कणको राजन् कुशाग्रेणेति नः श्रुतम् ।। ११६ ।।
क्षतः किल करे राजंस्तस्य शाकरसोऽस्रवत् ।
स वै शाकरसं दृष्ट्वा हर्षाविष्टःप्रनृत्तवान् ।। ११७ ।।

नरेश्वर! इसके बाद सप्तसारस्वत नामक तीर्थकी यात्रा करे, जहाँ लोकविख्यात महर्षि मंकणकको सिद्धि प्राप्त हुई थी। राजन्! हमारे सुननेमें आया है कि पहले कभी महर्षि मंकणकके हाथमें कुशका अग्रभाग गड़ गया, जिससे उनके हाथमें घाव हो गया। महाराज! उस समय उस हाथसे शाकका रस चूने लगा। शाकका रस चूता देख महर्षि हर्षावेशसे मतवाले हो नृत्य करने लगे ।। ११५—११७ ।।

ततस्तस्मिन् प्रनृत्ते तु स्थावरं जंगमं च यत् ।
प्रनृत्तमुभयं वीर तेजसा तस्य मोहितम् ।। ११८ ।।

वीर! उनके नृत्य करते समय उनके तेजसे मोहित हो सारा चराचर जगत् नृत्य करने लगा ।। ११८ ।।

ब्रह्मादिभिः सुरै राजन्नृषिभिश्च तपोधनैः ।
विज्ञप्तो वै महादेव ऋषेरथ नराधिप ।। ११९ ।।

राजन्! नरेश्वर! उस समय ब्रह्मा आदि देवता तथा तपोधन महर्षिगण—सबने मंकणक मुनिके विषयमें महादेवजीसे निवेदन किया— ।। ११९ ।।

नायं नृत्येद् यथा देव तथा त्वं कर्तुमर्हसि ।
तं प्रनृत्तं समासाद्य हर्षाविष्टेन चेतसा ।
सुराणां हितकामार्थमृषिं देवोऽभ्यभाषत ।। १२० ।।

'देव! आप कोई ऐसा उपाय करें, जिससे इनका यह नृत्य बंद हो जाय।' महादेवजी देवताओंके हितकी इच्छासे हर्षावेशसे नाचते हुए मुनिके पास गये और इस प्रकार बोले — ।। १२० ।।

भो भो महर्षे धर्मज्ञ किमर्थं नृत्यते भवान् ।
हर्षस्थानं किमर्थं वा तवाद्य मुनिपुङ्गव ।। १२१ ।।

'धर्मज्ञ महर्षे! मुनिप्रवर! आप किसलिये नृत्य कर रहे हैं? आज आपके इस हर्षातिरेकका क्या कारण है?' ।।

ऋषिरुवाच

तपस्विनो धर्मपथे स्थितस्य द्विजसत्तम ।
किं न पश्यसि मे ब्रह्मन् कराच्छाकरसं स्रुतम् ।। १२२ ।।
यं दृष्ट्वा सम्प्रनृत्तोऽहं हर्षेण महतान्वितः ।

ऋषिने कहा—द्विजश्रेष्ठ! ब्रह्मन्! मैं धर्मके मार्गपर स्थिर रहनेवाला तपस्वी हूँ। मेरे हाथसे यह शाकका रस चू रहा है। क्या आप इसे नहीं देखते? इसीको देखकर मैं महान् हर्षसे नाच रहा हूँ ।। १२२½ ।।

तं प्रहस्याब्रवीद् देव ऋषिं रागेण मोहितम् ।। १२३ ।।

महर्षि रागसे मोहित हो रहे थे। महादेवजीने उनकी बात सुनकर हँसते हुए कहीं — ।। १२३ ।।

अहं तु विस्मयं विप्र न गच्छामीति पश्य माम् ।
एवमुक्त्वा नरश्रेष्ठ महादेवेन धीमता ।। १२४ ।।
अङ्गुल्यग्रेण राजेन्द्र स्वावङ्गुष्ठस्ताडितोऽनघ ।
ततो भस्म क्षताद् राजन् निर्गतं हिमसंनिभम् ।। १२५ ।।

'विप्रवर! मुझे तो यह देखकर कोई आश्चर्य नहीं हो रहा है। मेरी ओर देखिये।'

नरश्रेष्ठ! निष्पाप राजेन्द्र! ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् महादेवजीने अंगुलीके अग्रभागसे अपने अँगूठेको ठोंका। राजन्! उनके चोट करनेपर उस अँगूठेसे बर्फके समान सफेद भस्म गिरने लगा ।। १२४-१२५ ।।

तद् दृष्ट्वा व्रीडितो राजन् स मुनिः पादयोर्गतः ।
नान्यद् देवात् परं मेने रुद्रात् परतरं महत् ।। १२६ ।।

महाराज! यह अद्भुत बात देखकर मुनि लज्जित हो महादेवजीके चरणोंमें पड़ गये और उन्होंने दूसरे किसी देवताको महादेवजीसे बढ़कर नहीं माननेका निश्चय किया ।। १२६ ।।

सुरासुरस्य जगतो गतिस्त्वमसि शूलधृक् ।
त्वया सर्वमिदं सृष्टं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।। १२७ ।।

वे बोले—'भगवन्! देवता और असुरोंसहित सम्पूर्ण जगत्के आश्रय आप ही हैं। त्रिशूलधारी महेश्वर! आपने ही चराचर जीवोंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकीको उत्पन्न किया है ।। १२७ ।।

त्वमेव सर्वान् ग्रससि पुनरेव युगक्षये ।
देवैरपि न शक्यस्त्वं परिज्ञातुं कुतो मया ।। १२८ ।।

'फिर प्रलयकाल आनेपर आप ही सब जीवोंको अपना ग्रास बना लेते हैं। देवता भी आपके स्वरूपको नहीं जान सकते, फिर मेरी तो बात ही क्या? ।। १२८ ।।

त्वयि सर्वे प्रदृश्यन्ते सुरा ब्रह्मादयोऽनघ ।
सर्वस्त्वमसि लोकानां कर्ता कारयिता च ह ।। १२९ ।।

भगवान् शंकरका मंकणक मुनिको नृत्य करनेसे रोकना

‘अनघ! ब्रह्मा आदि सब देवता आपहीमें दिखायी देते हैं। इस जगत्‌के करने और करानेवाले सब कुछ आप ही हैं ।। १२९ ।।

त्वत्प्रसादात् सुराः सर्वे मोदन्तीहाकुतोभयाः ।
एवं स्तुत्वा महादेवमृषिर्वचनमब्रवीत् ।। १३० ।।

‘आपके प्रसादसे सब देवता यहाँ निर्भय और प्रसन्न रहते हैं।’ इस प्रकार स्तुति करके ऋषिने फिर महादेवजीसे कहा— ।। १३० ।।

त्वत्प्रसादान्महादेव तपो मे न क्षरेत वै ।
ततो देवः प्रहृष्टात्मा ब्रह्मर्षिमिदमब्रवीत् ।। १३१ ।।

‘महादेव! आपकी कृपासे मेरी तपस्या नष्ट न हो।’ तब महादेवजीने प्रसन्नचित्त हो महर्षिसे कहा— ।। १३१ ।।

तपस्ते वर्धतां विप्र मत्प्रसादात् सहस्रधा ।
आश्रमे चेह वत्स्यामि त्वया सह महामुने ।। १३२ ।।

‘ब्रह्मन्! मेरे प्रसादसे आपकी तपस्या हजारगुनी बढ़े। महामुने! मैं तुम्हारे साथ इस आश्रममें रहूँगा ।। १३२ ।।

सप्तसारस्वते स्नात्वा अर्चयिष्यन्ति ये तु माम् ।
न तेषां दुर्लभं किंचिदिहलोके परत्र च ।। १३३ ।।

‘जो सप्तसारस्वततीर्थमें स्नान करके मेरी पूजा करेंगे, उनके लिये इहलोक और परलोकमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं होगी ।। १३३ ।।

सारस्वतं च ते लोकं गमिष्यन्ति न संशयः ।
एवमुक्त्वा महादेवस्तत्रैवान्तरधीयत ।। १३४ ।।

‘इतना ही नहीं, वे सरस्वतीके लोकमें जायँगे, इसमें संशय नहीं है।’ ऐसा कहकर महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये ।। १३४ ।।

ततस्त्वौशनसं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।। १३५ ।।

तदनन्तर तीनों लोकोंमें विख्यात औशनसतीर्थकी यात्रा करे, जहाँ ब्रह्मा आदि देवता तथा तपस्वी ऋषि रहते हैं ।। १३५ ।।

कार्तिकेयश्च भगवांस्त्रिसंध्यं किल भारत ।
सांनिध्यमकरोन्नित्यं भार्गवप्रियकाम्यया ।। १३६ ।।

भारत! शुक्राचार्यजीका प्रिय करनेके लिये भगवान् कार्तिकेय भी वहाँ सदा तीनों संध्याओंके समय उपस्थित रहते हैं ।। १३६ ।।

कपालमोचनं तीर्थं सर्वपापप्रमोचनम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। १३७ ।।

कपालमोचनतीर्थ सब पापोंसे छुड़ानेवाला है! नरश्रेष्ठ! वहाँ स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। १३७ ।।

अग्नितीर्थं ततो गच्छेत् तत्र स्नात्वा नरर्षभ ।

अग्निलोकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।। १३८ ।।

नरश्रेष्ठ! वहाँसे अग्नितीर्थको जाय। उसमें स्नान करनेसे मनुष्य अग्निलोकमें जाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ।। १३८ ।।

विश्वामित्रस्य तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।

तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ ब्राह्मण्यमधिगच्छति ।। १३९ ।।

भरतसत्तम! वहीं विश्वामित्रतीर्थ है। नरश्रेष्ठ! वहाँ स्नान करनेसे ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होती है ।। १३९ ।।

ब्रह्मयोनिं समासाद्य शुचिः प्रयतमानसः ।

तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ।। १४० ।।

पुनात्यासप्तमं चैव कुलं नास्त्यत्र संशयः ।

नरश्रेष्ठ! बह्मयोनितीर्थमें जाकर पवित्र एवं जितात्मा पुरुष वहाँ स्नान करनेसे ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेता है। साथ ही अपने कुलकी सात पीढ़ियोंतकको पवित्र कर देता है, इसमें संशय नहीं है ।। १४० १/२ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।। १४१ ।।

पृथूदकमिति ख्यातं कार्तिकेयस्य वै नृप ।

तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।। १४२ ।।

राजेन्द्र! तदनन्तर कार्तिकेयके त्रिभुवनविख्यात पृथूदकतीर्थकी यात्रा करे और वहाँ स्नान करके देवताओं तथा पितरोंकी पूजामें संलग्न रहे ।। १४१-१४२ ।।

अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।

यत् किंचिदशुभं कर्म कृतं मानुषबुद्धिना ।। १४३ ।।

तत् सर्वं नश्यते तत्र स्नातमात्रस्य भारत ।

अश्वमेधफलं चास्य स्वर्गलोकं च गच्छति ।। १४४ ।।

भारत! स्त्री हो या पुरुष, उसने मानव-बुद्धिसे अनजानमें या जान-बूझकर जो कुछ भी पापकर्म किया है, वह सब पृथूदकतीर्थमें स्नान करनेमात्रसे नष्ट हो जाता है और तीर्थसेवी पुरुषको अश्वमेधयज्ञके फल एवं स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है ।। १४३-१४४ ।।

पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात् सरस्वती ।

सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम् ।। १४५ ।।

कुरुक्षेत्रतीर्थको सबसे पवित्र कहते हैं, कुरुक्षेत्रसे भी पवित्र है सरस्वती नदी, सरस्वतीसे भी पवित्र हैं उसके तीर्थ और उन तीर्थोंसे भी पवित्र हैं पृथूदक ।। १४५ ।।

उत्तमं सर्वतीर्थानां यस्त्यजेदात्मनस्तनुम् ।

पृथूदके जप्यपरो नैव श्वो मरणं तपेत् ।। १४६ ।।

वह सब तीर्थोंमें उत्तम है, जो पृथूदकतीर्थमें जपपरायण होकर अपने शरीरका त्याग करता है, उसे पुनर्मृत्युका भय नहीं होता ।। १४६ ।।

गीतं सनत्कुमारेण व्यासेन च महात्मना ।
एवं स नियतं राजन्नभिगच्छेत् पृथूदकम् ।। १४७ ।।

यह बात भगवान् सनत्कुमार तथा महात्मा व्यासने कही है। राजन्! इस प्रकार तीर्थयात्री नियमपूर्वक पृथूदकतीर्थकी यात्रा करे ।। १४७ ।।

पृथूदकात् तीर्थतमं नान्यत् तीर्थं कुरूद्वह ।
तन्मेध्यं तत् पवित्रं च पावनं च न संशयः ।। १४८ ।।

कुरुश्रेष्ठ! पृथूदकसे श्रेष्ठतम तीर्थ दूसरा कोई नहीं है। वही मेध्य, पवित्र और पावन है, इसमें संशय नहीं है ।। १४८ ।।

तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति येऽपि पापकृतो नराः ।
पृथूदके नरश्रेष्ठ एवमाहुर्मनीषिणः ।। १४९ ।।

नरश्रेष्ठ! पापी मनुष्य भी वहाँ पृथूदकतीर्थमें स्नान करनेसे स्वर्गलोकमें चले जाते हैं, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ।। १४९ ।।

मधुस्रवं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत् ।। १५० ।।

भरतश्रेष्ठ! वहीं मधुस्रव तीर्थ है। राजन्! उसमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ।। १५० ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं मेध्यं यथाक्रमम् ।
सरस्वत्यरुणायाश्च संगमं लोकविश्रुतम् ।। १५१ ।।

राजेन्द्र! तदनन्तर क्रमशः लोकविख्यात सरस्वती-अरुणासंगम नामक पवित्र तीर्थकी यात्रा करे ।। १५१ ।।

त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति मानवः ।। १५२ ।।
आसप्तमं कुलं चैव पुनाति भरतर्षभ ।

वहाँ स्नान करके तीन रात उपवास करनेसे ब्रह्महत्यासे छुटकारा मिल जाता है। इतना ही नहीं, वह मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्रयज्ञोंसे मिलनेवाले फलको भी पा लेता है। भरतश्रेष्ठ! वह अपने कुलकी सात पीढ़ियोंको पवित्र कर देता है ।। १५२ १/२ ।।

अर्धकीलं च तत्रैव तीर्थं कुरुकुलोद्वह ।। १५३ ।।
विप्राणामनुकम्पार्थं दर्भिणा निर्मितं पुरा ।
व्रतोपनयनाभ्यां चाप्युपवासेन वाप्युत ।। १५४ ।।
क्रियामन्त्रैश्च संयुक्तो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः ।

क्रियामन्त्रविहीनोऽपि तत्र स्नात्वा नरर्षभ ।

चीर्णव्रतो भवेद् विद्वान् दृष्टमेतत् पुरातनैः ।। १५५ ।।

कुरुकुलशिरोमणे! वहीं अर्धकील नामक तीर्थ है, जिसे पूर्वकालमें दर्भी मुनिने ब्राह्मणोंपर कृपा करनेके लिये प्रकट किया था। वहाँ व्रत, उपनयन और उपवास करनेसे मनुष्य कर्मकाण्ड और मन्त्रोंका ज्ञाता ब्राह्मण होता है, इसमें संशय नहीं है। नरश्रेष्ठ! क्रियाविहीन और मन्त्रहीन पुरुष भी उसमें स्नान करके व्रतका पालन करनेसे विद्वान् होता है, यह बात प्राचीन महर्षियोंने प्रत्यक्ष देखी है ।। १५३—१५५ ।।

समुद्राश्चापि चत्वारः समानीताश्च दर्भिणा ।

तेषु स्नातो नरश्रेष्ठ न दुर्गतिमवाप्नुयात् ।। १५६ ।।

फलानि गोसहस्राणां चतुर्णां विन्दते च सः ।

दर्भी मुनि वहाँ चार समुद्रोंको भी ले आये हैं। नरश्रेष्ठ! उनमें स्नान करनेवाला मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और उसे चार हजार गोदानका भी फल मिलता है ।। १५६ $\frac{1}{2}$ ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं शतसहस्रकम् ।। १५७ ।।

साहस्रकं च तत्रैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते ।

उभयोर्हि नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।। १५८ ।।

दानं वाप्युपवासो वा सहस्रगुणितं भवेत् ।

धर्मज्ञ! तदनन्तर वहाँसे शतसहस्र और साहस्रक-तीर्थोंकी यात्रा करे। वे दोनों लोकविख्यात तीर्थ हैं। उनमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है। वहाँ किये हुए दान अथवा उपवासका महत्त्व अन्यत्रसे सहस्रगुना अधिक है ।। १५७-१५८ $\frac{1}{2}$ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र रेणुकातीर्थमुत्तमम् ।। १५९ ।।

तीर्थाभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।

सर्वपापविशुद्धात्मा अग्निष्टोमफलं लभेत् ।। १६० ।।

राजेन्द्र! वहाँसे उत्तम रेणुकातीर्थकी यात्रा करे। पहले उस तीर्थमें स्नान करे; फिर देवताओं और पितरोंकी पूजामें तत्पर हो जाय। उससे तीर्थयात्री सब पापोंसे शुद्ध हो अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ।। १५९-१६० ।।

विमोचनमुपस्पृश्य जितमन्युर्जितेन्द्रियः ।

प्रतिग्रहकृतैर्दोषैः सर्वैः स परिमुच्यते ।। १६१ ।।

विमोचनतीर्थमें स्नान और आचमन करके क्रोध और इन्द्रियोंको काबूमें रखनेवाला मनुष्य प्रतिग्रहजनित सारे दोषोंसे मुक्त हो जाता है ।। १६१ ।।

ततः पञ्चवटीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।

पुण्येन महता युक्तः सतां लोके महीयते ।। १६२ ।।

तदनन्तर ब्रह्मचारी एवं जितेन्द्रिय पुरुष पंचवटी-तीर्थमें जाकर महान् पुण्यसे युक्त हो सत्पुरुषोंके लोकमें प्रतिष्ठित होता है ।। १६२ ।।

यत्र योगेश्वरः स्थाणुः स्वयमेव वृषध्वजः ।

तमर्चयित्वा देवेशं गमनादेव सिध्यति ।। १६३ ।।

वहाँ योगेश्वर एवं वृषभध्वज स्वयं भगवान् शिव निवास करते हैं। उन देवेश्वरकी पूजा करके मनुष्य वहाँ जानेमात्रसे सिद्ध हो जाता है ।। १६३ ।।

तैजसं वारुणं तीर्थं दीप्यमानं स्वतेजसा ।

यत्र ब्रह्मादिभिर्देवैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ।। १६४ ।।

सैनापत्येन देवानामभिषिक्तो गुहस्तदा ।

तैजसस्य तु पूर्वेण कुरुतीर्थं कुरूद्वह ।। १६५ ।।

वहीं तैजस नामक वरुणदेवतासम्बन्धी तीर्थ है, जो अपने तेजसे प्रकाशित होता है। जहाँ ब्रह्मा आदि देवताओं तथा तपस्वी ऋषियोंने कार्तिकेयको देवसेना-पतिके पदपर अभिषिक्त किया था। कुरुश्रेष्ठ! तैजसतीर्थके पूर्वभागमें कुरुतीर्थ है ।। १६४-१६५ ।।

कुरुतीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।

सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ।। १६६ ।।

जो मनुष्य ब्रह्मचर्यपालन और इन्द्रियसंयमपूर्वक कुरुतीर्थमें स्नान करता है, वह सब पापोंसे शुद्ध होकर ब्रह्मलोकमें जाता है ।। १६६ ।।

स्वर्गद्वारं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः ।

स्वर्गलोकमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ।। १६७ ।।

तदनन्तर नियमपरायण हो नियमित भोजन करते हुए स्वर्गद्वारको जाय। उस तीर्थके सेवनसे मनुष्य स्वर्गलोक पाता और ब्रह्मलोकमें जाता है ।। १६७ ।।

ततो गच्छेदनरकं तीर्थसेवी नराधिप ।

तत्र स्नात्वा नरो राजन् न दुर्गतिमवाप्नुयात् ।। १६८ ।।

तत्र ब्रह्मा स्वयं नित्यं देवैः सह महीपते ।

अन्वास्ते पुरुषव्याघ्र नारायणपुरोगमैः ।। १६९ ।।

नरेश्वर! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष अनरकतीर्थमें जाय। राजन्! उसमें स्नान करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। महीपते! पुरुषसिंह! वहाँ स्वयं ब्रह्मा नारायण आदि देवताओंके साथ नित्य निवास करते हैं ।।

सांनिध्यं तत्र राजेन्द्र रुद्रपत्न्याः कुरूद्वह ।

अभिगम्य च तां देवीं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ।। १७० ।।

कुरुश्रेष्ठ! महाराज! वहाँ रुद्रपत्नी दुर्गाजीका स्थान भी है। उस देवीके निकट जानेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता ।। १७० ।।

तत्रैव च महाराज विश्वेश्वरमुमापतिम् ।

अभिगम्य महादेवं मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ १७१ ॥

महाराज! वहीं विश्वनाथ उमावल्लभ महादेवजीका स्थान है। वहाँकी यात्रा करके मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है ॥ १७१ ॥

नारायणं चाभिगम्य पद्मनाभमरिंदम ।
राजमानो महाराज विष्णुलोकं च गच्छति ॥ १७२ ॥
तीर्थेषु सर्वदेवानां स्नातः स पुरुषर्षभ ।
सर्वदुःखैः परित्यक्तो द्योतते शशिवन्नरः ॥ १७३ ॥

शत्रुदमन महाराज! पद्मनाभ भगवान् नारायणके निकट जाकर (उनका दर्शन करके) मनुष्य तेजस्वी रूप धारण करके भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। पुरुषरत्न! सब देवताओंके तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य सब दुःखोंसे मुक्त हो चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है ॥ १७२-१७३ ॥

ततः स्वस्तिपुरं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥ १७४ ॥

नरेश्वर! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष स्वस्तिपुरमें जाय, उसकी परिक्रमा करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ॥ १७४ ॥

पावनं तीर्थमासाद्य तर्पयेत् पितृदेवताः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ॥ १७५ ॥

तत्पश्चात् पावनतीर्थमें जाकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करे। भारत! ऐसा करनेवाले पुरुषको अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ॥ १७५ ॥

गङ्गाह्रदश्च तत्रैव कूपश्च भरतर्षभ ।
तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां तस्मिन् कूपे महीपते ॥ १७६ ॥

भरतश्रेष्ठ! वहीं गंगाह्रद नामक कूप है। भूपाल! उस कूपमें तीन करोड़ तीर्थोंका वास है ॥ १७६ ॥

तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोकं प्रपद्यते ।
आपगायां नरः स्नात्वा अर्चयित्वा महेश्वरम् ॥ १७७ ॥
गाणपत्यमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

राजन्! उसमें स्नान करके मानव स्वर्गलोकमें जाता है। जो मनुष्य आपगामें स्नान करके महादेवजीकी पूजा करता है, वह गणपति-पद पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ॥ १७७½ ॥

ततः स्थाणुवटं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ १७८ ॥
तत्र स्नात्वा स्थितो रात्रिं रुद्रलोकमवाप्नुयात् ।

तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात स्थाणुवटतीर्थमें जाय, वहाँ स्नान करके रातभर निवास करनेवाला मनुष्य रुद्रलोकमें जाता है ॥ १७८½ ॥

बदरीपाचनं गच्छेद् वसिष्ठस्याश्रमं ततः ।। १७९ ।।
बदरीं भक्षयेत् तत्र त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
सम्यग् द्वादशवर्षाणि बदरीं भक्षयेत् तु यः ।। १८० ।।
त्रिरात्रोपोषितस्तेन भवेत् तुल्यो नराधिप ।
रुद्रमार्गं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप ।। १८१ ।।
अहोरात्रोपवासेन शक्रलोके महीयते ।

तदनन्तर बदरीपाचन नामसे प्रसिद्ध वसिष्ठके आश्रमपर जाय और वहाँ तीन रात उपवासपूर्वक रहकर बेरका फल खाय। जो मनुष्य वहाँ बारह वर्षोंतक भलीभाँति त्रिरात्रोपवासपूर्वक बेरका फल खाता है, वह उन्हीं वसिष्ठके समान होता है। राजन्! नरेश्वर! तीर्थसेवी मनुष्य रुद्रमार्गमें जाकर एक दिन-रात उपवास करे। इससे वह इन्द्रलोकमें प्रतिष्ठित होता है ।। १७९-१८१½ ।।

एकरात्रं समासाद्य एकरात्रोषितो नरः ।। १८२ ।।
नियतः सत्यवादी च ब्रह्मलोके महीयते ।

तदनन्तर एकरात्रतीर्थमें जाकर मनुष्य नियमपूर्वक और सत्यवादी होकर एक रात निवास करनेपर ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ।। १८२½ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।। १८३ ।।
आदित्यस्याश्रमो यत्र तेजोराशेर्महात्मनः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा पूजयित्वा विभावसुम् ।। १८४ ।।
आदित्यलोकं व्रजति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

राजेन्द्र! तत्पश्चात् उस त्रैलोक्यविख्यात तीर्थमें जाय, जहाँ तेजोराशि महात्मा सूर्यका आश्रम है। उसमें स्नान करके सूर्यदेवकी पूजा करनेसे मनुष्य सूर्यके लोकमें जाता और अपने कुलका उद्धार करता है ।। १८३-१८४½ ।।

सोमतीर्थे नरः स्नात्वा तीर्थसेवी नराधिप ।। १८५ ।।
सोमलोकमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः ।

नरेश्वर! सोमतीर्थमें स्नान करके तीर्थसेवी मानव सोमलोकको प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ।। १८५½ ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ दधीचस्य महात्मनः ।। १८६ ।।
तीर्थं पुण्यतमं राजन् पावनं लोकविश्रुतम् ।
यत्र सारस्वतो यातः सोऽङ्गिरास्तपसो निधिः ।। १८७ ।।

धर्मज्ञ राजन्! तदनन्तर महात्मा दधीचके लोक-विख्यात परम पुण्यमय, पावन तीर्थकी यात्रा करे। जहाँ तपस्याके भण्डार सरस्वतीपुत्र अंगिराका जन्म हुआ ।। १८६-१८७ ।।

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ।
सारस्वतीं गतिं चैव लभते नात्र संशयः ।। १८८ ।।

उस तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता है और सरस्वतीलोकको प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ।। १८८ ।।

ततः कन्याश्रमं गच्छेन्नियतो ब्रह्मचर्यवान् ।
त्रिरात्रोपोषितो राजन् नियतो नियताशनः ।। १८९ ।।
लभेत् कन्याशतं दिव्यं स्वर्गलोकं च गच्छति ।

तदनन्तर नियमपूर्वक रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए कन्याश्रमतीर्थमें जाय। राजन्! वहाँ तीन रात उपवास करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करनेसे सौ दिव्य कन्याओंकी प्राप्ति होती है और वह मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है ।। १८९½ ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं संनिहतीमपि ।। १९० ।।

धर्मज्ञ! तदनन्तर वहाँसे संनिहतीतीर्थकी यात्रा करे ।। १९० ।।

तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
मासि मासि समायान्ति पुण्येन महतान्विताः ।। १९१ ।।

उस तीर्थमें ब्रह्मा आदि देवता और तपोधन महर्षि प्रतिमास महान् पुण्यसे सम्पन्न होकर जाते हैं ।। १९१ ।।

संनिहत्यामुपस्पृश्य राहुग्रस्ते दिवाकरे ।
अश्वमेधशतं तेन तत्रेष्टं शाश्वतं भवेत् ।। १९२ ।।

सूर्यग्रहणके समय संनिहतीमें स्नान करनेसे सौ अश्वमेधयज्ञोंका अभीष्ट एवं शाश्वत फल प्राप्त होता है ।। १९२ ।।

पृथिव्यां यानि तीर्थानि अन्तरिक्षचराणि च ।
नद्यो ह्रदास्तडागाश्च सर्वप्रस्रवणानि च ।। १९३ ।।
उदपानानि वाप्यश्च तीर्थान्यायतनानि च ।
निःसंशयममावास्यां समेष्यन्ति नराधिप ।। १९४ ।।
मासि मासि नरव्याघ्र संनिहत्यां न संशयः ।
तीर्थसंनिहनादेव संनिहत्येति विश्रुता ।। १९५ ।।

पृथ्वीपर और आकाशमें जितने तीर्थ, नदी, ह्रद, तड़ाग, सम्पूर्ण झरने, उदपान, बावली, तीर्थ और मन्दिर हैं, वे प्रत्येक मासकी अमावस्याको संनिहतीमें अवश्य पधारेंगे। तीर्थोंका संघात या समूह होनेके कारण ही वह संनिहती नामसे विख्यात है ।। १९३—१९५ ।।

तत्र स्नात्वा च पीत्वा च स्वर्गलोके महीयते ।
अमावास्यां तु तत्रैव राहुग्रस्ते दिवाकरे ।। १९६ ।।
यः श्राद्धं कुरुते मर्त्यस्तस्य पुण्यफलं शृणु ।
अश्वमेधसहस्रस्य सम्यगिष्टस्य यत् फलम् ।। १९७ ।।
स्नात एव समाप्नोति कृत्वा श्राद्धं च मानवः ।
यत् किंचिद् दुष्कृतं कर्म स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।। १९८ ।।

स्नातमात्रस्य तत् सर्वं नश्यते नात्र संशयः ।
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ।। १९९ ।।

राजन्! उसमें स्नान और जलपान करके मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो सूर्यग्रहणके समय अमावास्याको वहाँ पितरोंका श्राद्ध करता है, उसके पुण्यफलका वर्णन सुनो—। भलीभाँति सम्पन्न किये हुए सहस्र अश्वमेध यज्ञोंका जो फल होता है, उसे मनुष्य उस तीर्थमें स्नानमात्र करके अथवा श्राद्ध करके पा लेता है। स्त्री या पुरुषने जो कुछ भी दुष्कर्म किया हो, वह सब वहाँ स्नान करनेमात्रसे नष्ट हो जाता है; इसमें संशय नहीं है। वह पुरुष कमलके समान रंगवाले विमानद्वारा ब्रह्मलोकमें जाता है ।। १९६—१९९ ।।

अभिवाद्य ततो यक्षं द्वारपालं मचक्रुकम् ।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य लभेद् बहुसुवर्णकम् ।। २०० ।।

तदनन्तर मचक्रुक नामक द्वारपाल यक्षको प्रणाम करके कोटितीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको प्रचुर सुवर्ण-राशिकी प्राप्ति होती है ।। २०० ।।

गङ्गाह्रदश्च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नायीत धर्मज्ञ ब्रह्मचारी समाहितः ।। २०१ ।।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः ।

धर्मज्ञ भरतश्रेष्ठ! वहीं गंगाह्रद नामक तीर्थ है, उसमें ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो स्नान करे, इससे मनुष्यको राजसूय और अश्वमेध यज्ञोंद्वारा मिलनेवाले फलकी प्राप्ति होती है ।। २०१$\frac{१}{२}$ ।।

पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम् ।। २०२ ।।
त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते ।
पांसवोऽपि कुरुक्षेत्राद् वायुना समुदीरिताः ।। २०३ ।।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ।
दक्षिणेन सरस्वत्या उत्तरेण दृषद्वतीम् ।। २०४ ।।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ।

भूमण्डलके निवासियोंके लिये नैमिष, अन्तरिक्ष-निवासियोंके लिये पुष्कर और तीनों लोकोंके निवासियोंके लिये कुरुक्षेत्र विशिष्ट तीर्थ हैं। कुरुक्षेत्रसे वायुद्वारा उड़ायी हुई धूल भी पापी-से-पापी मनुष्यपर भी पड़ जाय तो उसे परमगतिको पहुँचा देती है। सरस्वतीसे दक्षिण, दृषद्वतीसे उत्तर कुरुक्षेत्रमें जो लोग निवास करते हैं, वे मानो स्वर्गलोकमें बसते हैं ।। २०२—२०४$\frac{१}{२}$ ।।

कुरुक्षेत्रे गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ।। २०५ ।।
अप्येकां वाचमुत्सृज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

'मैं कुरुक्षेत्रमें जाऊँगा, कुरुक्षेत्रमें निवास करूँगा' ऐसी बात एक बार मुँहसे कह देनेपर भी मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। २०५$\frac{१}{२}$ ।।

ब्रह्मवेदी कुरुक्षेत्रं पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम् ।। २०६ ।।
तस्मिन् वसन्ति ये मर्त्या न ते शोच्याः कथंचन ।। २०७ ।।

कुरुक्षेत्र ब्रह्माजीकी वेदी है, इस पुण्यक्षेत्रका ब्रह्मर्षिगण सेवन करते हैं। जो मानव उसमें निवास करते हैं, वे किसी प्रकार शोकजनक अवस्थामें नहीं पड़ते ।। २०६-२०७ ।।

तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं
रामह्रदानां च मचक्रुकस्य च ।
एतत् कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं
पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते ।। २०८ ।।

तरन्तुक और अरन्तुकके तथा रामह्रद और मचक्रुकके बीचका जो भूभाग है, यही कुरुक्षेत्र एवं समन्तपञ्चक है। इसे ब्रह्माजीकी उत्तरवेदी कहते हैं ।। २०८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां त्र्यशीतितमोऽध्यायः ।। ८३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें पुलस्त्यतीर्थयात्राविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८३ ।।

चतुरशीतितमोऽध्यायः

नाना प्रकारके तीर्थोंकी महिमा

पुलस्त्य उवाच

ततो गच्छेन्महाराज धर्मतीर्थमनुत्तमम् ।
यत्र धर्मो महाभागस्तप्तवानुत्तमं तपः ।। १ ।।

पुलस्त्यजी कहते हैं—महाराज! तदनन्तर परम उत्तम धर्मतीर्थकी यात्रा करे, जहाँ महाभाग धर्मने उत्तम तपस्या की थी ।। १ ।।

तेन तीर्थं कृतं पुण्यं स्वेन नाम्ना च विश्रुतम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् धर्मशीलः समाहितः ।। २ ।।
आसप्तमं कुलं चैव पुनीते नात्र संशयः ।

राजन्! उन्होंने ही अपने नामसे विख्यात पुण्य तीर्थकी स्थापना की है। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य धर्मशील एवं एकाग्रचित्त होता है और अपने कुलकी सातवीं पीढ़ीतकके लोगोंको पवित्र कर देता है; इसमें संशय नहीं है ।। २½ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र ज्ञानपावनमुत्तमम् ।। ३ ।।
अग्निष्टोममवाप्नोति मुनिलोकं च गच्छति ।

राजेन्द्र! तदनन्तर उत्तम ज्ञानपावन तीर्थमें जाय। वहाँ जानेसे मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और मुनिलोकमें जाता है ।। ३½ ।।

सौगन्धिकवनं राजंस्ततो गच्छेत मानवः ।। ४ ।।

राजन्! तत्पश्चात् मानव सौगन्धिक वनमें जाय ।। ४ ।।

तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
सिद्धचारणगन्धर्वाः किंनराश्च महोरगाः ।। ५ ।।

वहाँ ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, किन्नर और बड़े-बड़े नाग निवास करते हैं ।।

तद् वनं प्रविशन्नेव सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
ततश्चापि सरिच्छ्रेष्ठा नदीनामुत्तमा नदी ।। ६ ।।
प्लक्षाद्देवी स्रुता राजन् महापुण्या सरस्वती ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत वल्मीकान्निःसृते जले ।। ७ ।।

उस वनमें प्रवेश करते ही मानव सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। उससे आगे सरिताओंमें श्रेष्ठ और नदियोंमें उत्तम नदी परम पुण्यमयी सरस्वतीदेवीका उद्गम स्थान है, जहाँ वे प्लक्ष (पकड़ी) नामक वृक्षकी जड़से टपक रही हैं। राजन्! वहाँ बाँबीसे निकले हुए जलमें स्नान करना चाहिये ।। ६-७ ।।

अर्चयित्वा पितॄन् देवानश्वमेधफलं लभेत् ।
ईशानाध्युषितं नाम तत्र तीर्थं सुदुर्लभम् ।। ८ ।।

वहाँ देवताओं तथा पितरोंकी पूजा करनेसे मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है। वहीं ईशानाध्युषित नामक परम दुर्लभ तीर्थ है ।। ८ ।।

षट्सु शम्यानिपातेषु वल्मीकादिति निश्चयः ।
कपिलानां सहस्रं च वाजिमेधं च विन्दति ।। ९ ।।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र दृष्टमेतत् पुरातनैः ।

जहाँ बाँबीका जल है, वहाँसे इसकी दूरी छः शम्यानिपात* है। यह निश्चित माप बताया गया है। नरश्रेष्ठ! उस तीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र कपिलादान और अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है; इसे प्राचीन ऋषियोंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है ।। ९½ ।।

सुगन्धां शतकुम्भां च पञ्चयज्ञां च भारत ।। १० ।।
अभिगम्य नरश्रेष्ठ स्वर्गलोके महीयते ।

भारत! पुरुषरत्न! सुगन्धा, शतकुम्भा तथा पंचयज्ञा तीर्थमें जाकर मानव स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ।। १०½ ।।

त्रिशूलखातं तत्रैव तीर्थमासाद्य भारत ।। ११ ।।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
गाणपत्यं च लभते देहं त्यक्त्वा न संशयः ।। १२ ।।

भरतकुलतिलक! वहीं त्रिशूलखात नामक तीर्थ है; वहाँ जाकर स्नान करे और देवताओं तथा पितरोंकी पूजामें लग जाय। ऐसा करनेवाला मनुष्य देहत्यागके अनन्तर गणपति-पद प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ।। ११-१२ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र देव्याः स्थानं सुदुर्लभम् ।
शाकम्भरीति विख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।। १३ ।।

राजेन्द्र! वहाँसे परमदुर्लभ देवीस्थानकी यात्रा करे, वह देवी तीनों लोकोंमें शाकम्भरीके नामसे विख्यात है ।। १३ ।।

दिव्यं वर्षसहस्रं हि शाकेन किल सुव्रता ।
आहारं सा कृतवती मासि मासि नराधिप ।। १४ ।।
ऋषयोऽभ्यागतास्तत्र देव्या भक्त्या तपोधनाः ।
आतिथ्यं च कृतं तेषां शाकेन किल भारत ।। १५ ।।

नरेश्वर! कहते हैं उत्तम व्रतका पालन करनेवाली उस देवीने एक हजार दिव्य वर्षोंतक एक-एक महीनेपर केवल शाकका आहार किया था। देवीकी भक्तिसे प्रभावित होकर बहुत-से तपोधन महर्षि वहाँ आये। भारत! उस देवीने उन महर्षियोंका आतिथ्य-सत्कार भी शाकके ही द्वारा किया ।। १४-१५ ।।

ततः शाकम्भरीत्येव नाम तस्याः प्रतिष्ठितम् ।
शाकम्भरीं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।। १६ ।।
त्रिरात्रमुषितः शाकं भक्षयित्वा नरः शुचिः ।
शाकाहारस्य यत् किंचिद् वर्षैर्द्वादशभिः कृतम् ।। १७ ।।
तत् फलं तस्य भवति देव्याश्छन्देन भारत ।

भारत! तबसे उस देवीका 'शाकम्भरी' ही नाम प्रसिद्ध हो गया। शाकम्भरीके समीप जाकर मनुष्य ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक एकाग्रचित्त और पवित्र हो वहाँ तीन राततक शाक खाकर रहे तो बारह वर्षोंतक शाकाहारी मनुष्यको जो पुण्य प्राप्त होता है, वह उसे देवीकी इच्छासे (तीन ही दिनोंमें) मिल जाता है ।। १६-१७½ ।।

ततो गच्छेत् सुवर्णाख्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।। १८ ।।
तत्र विष्णुः प्रसादार्थं रुद्रमाराधयत् पुरा ।
वरांश्च सुबहूँल्लेभे दैवतेषु सुदुर्लभान् ।। १९ ।।

तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात सुवर्णतीर्थकी यात्रा करे। वहाँ पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने रुद्रदेवकी प्रसन्नताके लिये उनकी आराधना की और उनसे अनेक देवदुर्लभ उत्तम वर प्राप्त किये ।। १८-१९ ।।

उक्तश्च त्रिपुरघ्नेन परितुष्टेन भारत ।
अपि च त्वं प्रियतरो लोके कृष्ण भविष्यसि ।। २० ।।
त्वन्मुखं च जगत् सर्वं भविष्यति न संशयः ।
तत्राभिगम्य राजेन्द्र पूजयित्वा वृषध्वजम् ।। २१ ।।
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति ।
धूमावतीं ततो गच्छेत् त्रिरात्रोपोषितो नरः ।। २२ ।।
मनसा प्रार्थितान् कामाँल्लभते नात्र संशयः ।

भारत! उस समय संतुष्टचित्त त्रिपुरारि शिवने श्रीविष्णुसे कहा—'श्रीकृष्ण! तुम मुझे लोकमें अत्यन्त प्रिय होओगे। संसारमें सर्वत्र तुम्हारी ही प्रधानता होगी, इसमें संशय नहीं है।' राजेन्द्र! उस तीर्थमें जाकर भगवान् शंकरकी पूजा करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और गणपतिपद प्राप्त कर लेता है। वहाँसे मनुष्य धूमावतीतीर्थको जार और तीन रात उपवास करे। इससे वह निःसंदेह मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ।। २०—२२½ ।।

देव्यास्तु दक्षिणार्धेन रथावर्तो नराधिप ।। २३ ।।
तत्रारोहेत धर्मज्ञ श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
महादेवप्रसादाद्धि गच्छेत परमां गतिम् ।। २४ ।।

नरेश्वर! देवीसे दक्षिणार्ध भागमें रथावर्त नामक तीर्थ है। धर्मज्ञ! जो श्रद्धालु एवं जितेन्द्रिय पुरुष उस तीर्थकी यात्रा करता है, वह महादेवजीके प्रसादसे परम गति प्राप्त कर

लेता है ।। २३-२४ ।।

प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ ।

धारां नाम महाप्राज्ञः सर्वपापप्रमोचनीम् ।। २५ ।।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर महाप्राज्ञ पुरुष उस तीर्थकी परिक्रमा करके धाराकी यात्रा करे, जो सब पापोंसे छुड़ानेवाली है ।। २५ ।।

तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र न शोचति नराधिप ।

नरव्याघ्र! नराधिप! वहाँ स्नान करके मनुष्य कभी शोकमें नहीं पड़ता ।। २५½ ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ नमस्कृत्य महागिरिम् ।। २६ ।।

स्वर्गद्वारेण यत् तुल्यं गङ्गाद्वारं न संशयः ।

तत्राभिषेकं कुर्वीत कोटितीर्थे समाहितः ।। २७ ।।

धर्मज्ञ! वहाँसे महापर्वत हिमालयको नमस्कार करके गंगाद्वार (हरिद्वार)-की यात्रा करे, जो स्वर्गद्वारके समान है; इसमें संशय नहीं है। वहाँ एकाग्रचित्त हो कोटितीर्थमें स्नान करे ।। २६-२७ ।।

पुण्डरीकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

उष्यैकां रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ।। २८ ।।

ऐसा करनेवाला मनुष्य पुण्डरीकयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है। वहाँ एक रात निवास करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ।। २८ ।।

सप्तगङ्गे त्रिगङ्गे च शक्रावर्ते च तर्पयन् ।

देवान् पितॄंश्च विधिवत् पुण्ये लोके महीयते ।। २९ ।।

सप्तगंग, त्रिगंग और शक्रावर्ततीर्थमें विधिपूर्वक देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करनेवाला मनुष्य पुण्य-लोकमें प्रतिष्ठित होता है ।। २९ ।।

ततः कनखले स्नात्वा त्रिरात्रोपोषितो नरः ।

अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ।। ३० ।।

तदनन्तर कनखलमें स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और स्वर्ग-लोकमें जाता है ।। ३० ।।

कपिलावटं ततो गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।

उपोष्य रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ।। ३१ ।।

नरेश्वर! उसके बाद तीर्थसेवी मनुष्य कपिलावट-तीर्थमें जाय। वहाँ रातभर उपवास करनेसे उसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ।। ३१ ।।

नागराजस्य राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः ।

तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ सर्वलोकेषु विश्रुतम् ।। ३२ ।।

राजेन्द्र! कुरुश्रेष्ठ! वहीं नागराज महात्मा कपिलका तीर्थ है, जो सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात है ।। ३२ ।।

तत्राभिषेकं कुर्वीत नागतीर्थे नराधिप ।
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः ।। ३३ ।।

महाराज! वहाँ नागतीर्थमें स्नान करना चाहिये। इससे मनुष्यको सहस्र कपिलादानका फल प्राप्त होता है ।। ३३ ।।

ततो ललितकं गच्छेच्छान्तनोस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् न दुर्गतिमवाप्नुयात् ।। ३४ ।।

तत्पश्चात् शान्तनुके उत्तम तीर्थ ललितकमें जाय। राजन्! वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता ।। ३४ ।।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये स्नाति यः संगमे नरः ।
दशाश्वमेधानाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।। ३५ ।।

जो मनुष्य गंगा-यमुनाके बीच संगम (प्रयाग)-में स्नान करता है, उसे दस अश्वमेधयज्ञोंका फल मिलता है और वह अपने कुलका उद्धार कर देता है ।। ३५ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र सुगन्धां लोकविश्रुताम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोके महीयते ।। ३६ ।।

राजेन्द्र! तदनन्तर लोकविख्यात सुगन्धातीर्थकी यात्रा करे। इससे सब पापोंसे विशुद्धचित्त हुआ मानव ब्रह्मलोकमें पूजित होता है ।। ३६ ।।

रुद्रावर्तं ततो गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोकं च गच्छति ।। ३७ ।।

नरेश्वर! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष रुद्रावर्ततीर्थमें जाय। राजन्! वहाँ स्नान करके मनुष्य स्वर्गलोकमें जाता है ।। ३७ ।।

गङ्गायाश्च नरश्रेष्ठ सरस्वत्याश्च संगमे ।
स्नात्वाश्वमेधं प्राप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ।। ३८ ।।

नरश्रेष्ठ! गंगा और सरस्वतीके संगममें स्नान करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और स्वर्ग-लोकमें जाता है ।। ३८ ।।

भद्रकर्णेश्वरं गत्वा देवमर्च्य यथाविधि ।
न दुर्गतिमवाप्नोति नाकपृष्ठे च पूज्यते ।। ३९ ।।

भगवान् भद्रकर्णेश्वरके समीप जाकर विधिपूर्वक उनकी पूजा करनेवाला पुरुष कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और स्वर्गलोकमें पूजित होता है ।। ३९ ।।

ततः कुब्जाम्रकं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।
गोसहस्रमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ।। ४० ।।

नरेन्द्र! तत्पश्चात् तीर्थसेवी मानव कुब्जाम्रक-तीर्थमें जाय। वहाँ उसे सहस्र गोदानका फल मिलता है और अन्तमें वह स्वर्गलोकको जाता है ।। ४० ।।

अरुन्धतीवटं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।

सामुद्रकमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी समाहितः ।। ४१ ।।
अश्वमेधमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
गोसहस्रफलं विद्यात् कुलं चैव समुद्धरेत् ।। ४२ ।।

नरपते! तत्पश्चात् तीर्थसेवी अरुन्धतीवटके समीप जाय और सामुद्रकतीर्थमें स्नान करके ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो तीन रात उपवास करे। इससे मनुष्य अश्वमेधयज्ञ और सहस्र गोदानका फल पाता तथा अपने कुलका उद्धार कर देता है ।। ४१-४२ ।।

ब्रह्मावर्तं ततो गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ।। ४३ ।।

तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक चित्तको एकाग्र करके ब्रह्मावर्ततीर्थमें जाय। इससे वह अश्वमेधयज्ञका फल पाता और सोमलोकको जाता है ।। ४३ ।।

यमुनाप्रभवं गत्वा समुपस्पृश्य यामुनम् ।
अश्वमेधफलं लब्ध्वा स्वर्गलोके महीयते ।। ४४ ।।

यमुनाप्रभव नामक तीर्थमें जाकर यमुनाजलमें स्नान करके अश्वमेधयज्ञका फल पाकर मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ।। ४४ ।।

दर्वीसंक्रमणं प्राप्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ।। ४५ ।।

दर्वीसंक्रमण नामक त्रिभुवनपूजित तीर्थमें जानेसे तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ।। ४५ ।।

सिन्धोश्च प्रभवं गत्वा सिद्धगन्धर्वसेवितम् ।
तत्रोष्य रजनीः पञ्च विन्देद् बहुसुवर्णकम् ।। ४६ ।।

सिंधुके उद्‌गमस्थानमें जो सिद्ध-गन्धर्वोंद्वारा सेवित है, जाकर पाँच रात उपवास करनेसे प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है ।। ४६ ।।

अथ वेदीं समासाद्य नरः परमदुर्गमाम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ।। ४७ ।।

तदनन्तर मनुष्य परम दुर्गम वेदीतीर्थमें जाकर अश्वमेधयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ।। ४७ ।।

ऋषिकुल्यां समासाद्य वासिष्ठं चैव भारत ।
वासिष्ठीं समतिक्रम्य सर्वे वर्णा द्विजातयः ।। ४८ ।।

भरतनन्दन! ऋषिकुल्या एवं वासिष्ठतीर्थमें जाकर स्नान आदि करके वासिष्ठीको लाँघकर जानेवाले क्षत्रिय आदि सभी वर्णोंके लोग द्विजाति हो जाते हैं ।। ४८ ।।

ऋषिकुल्यां समासाद्य नरः स्नात्वा विकल्मषः ।
देवान् पितॄंश्चार्चयित्वा ऋषिलोकं प्रपद्यते ।। ४९ ।।

ऋषिकुल्यामें जाकर स्नान करके पापरहित मानव देवताओं और पितरोंकी पूजा करके ऋषिलोकमें जाता है ।। ४९ ।।

यदि तत्र वसेन्मासं शाकाहारो नराधिप ।
भृगुतुङ्गं समासाद्य वाजिमेधफलं लभेत् ।। ५० ।।

नरेश्वर! यदि मनुष्य भृगुतुंगमें जाकर शाकाहारी हो वहाँ एक मासतक निवास करे तो उसे अश्वमेध-यज्ञका फल प्राप्त होता है ।। ५० ।।

गत्वा वीरप्रमोक्षं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
कृत्तिकामघयोश्चैव तीर्थमासाद्य भारत ।। ५१ ।।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलमाप्नोति मानवः ।
तत्र संध्यां समासाद्य विद्यातीर्थमनुत्तमम् ।। ५२ ।।
उपस्पृश्य च वै विद्यां यत्र तत्रोपपद्यते ।
महाश्रमे वसेद् रात्रिं सर्वपापप्रमोचने ।। ५३ ।।
एककालं निराहारो लोकानावसते शुभान् ।

वीरप्रमोक्षतीर्थमें जाकर मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है। भारत! कृत्तिका और मघाके तीर्थमें जाकर मानव अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञोंका फल पाता है। वहीं प्रातः-संध्याके समय परम उत्तम विद्यातीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य जहाँ-कहीं भी विद्या प्राप्त कर लेता है। जो सब पापोंसे छुड़ानेवाले महाश्रमतीर्थमें एक समय उपवास करके एक रात वहीं निवास करता है, उसे शुभ लोकोंकी प्राप्ति होती है ।। ५१-५३ १/२ ।।

षष्ठकालोपवासेन मासमुष्य महालये ।। ५४ ।।
सर्वपापविशुद्धात्मा विन्देद् बहुसुवर्णकम् ।
दशापरान् दश पूर्वान् नरानुद्धरते कुलम् ।। ५५ ।।

जो छठे समय उपवासपूर्वक एक मासतक महालयतीर्थमें निवास करता है, वह सब पापोंसे शुद्धचित्त हो प्रचुर सुवर्णराशि प्राप्त करता है। साथ ही दस पहलेकी और दस बादकी पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है ।।

अथ वेतसिकां गत्वा पितामहनिषेविताम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति गच्छेदौशनसीं गतिम् ।। ५६ ।।

तत्पश्चात् ब्रह्माजीके द्वारा सेवित वेतसिकातीर्थमें जाकर मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और शुक्राचार्यके लोकमें जाता है ।। ५६ ।।

अथ सुन्दरिकातीर्थं प्राप्य सिद्धनिषेवितम् ।
रूपस्य भागी भवति दृष्टमेतत् पुरातनैः ।। ५७ ।।

तदनन्तर सिद्धसेवित सुन्दरिकातीर्थमें जाकर मनुष्य रूपका भागी होता है, यह बात प्राचीन ऋषियोंने देखी है ।। ५७ ।।

ततो वै ब्राह्मणीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।

पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ।। ५८ ।।

इसके बाद इन्द्रियसंयम और ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक ब्राह्मणीतीर्थमें जानेसे मनुष्य कमलके समान कान्तिवाले विमानद्वारा ब्रह्मलोकमें जाता है ।। ५८ ।।

ततस्तु नैमिषं गच्छेत् पुण्यं सिद्धनिषेवितम् ।

तत्र नित्यं निवसति ब्रह्मा देवगणैः सह ।। ५९ ।।

तदनन्तर सिद्धसेवित पुण्यमय नैमिष (नैमिषारण्य)-तीर्थमें जाय। वहाँ देवताओंके साथ ब्रह्माजी नित्य निवास करते हैं ।। ५९ ।।

नैमिषं मृगयानस्य पापस्यार्धं प्रणश्यति ।

प्रविष्टमात्रस्तु नरः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ६० ।।

नैमिषकी खोज करनेवाले पुरुषका आधा पाप उसी समय नष्ट हो जाता है और उसमें प्रवेश करते ही वह सारे पापोंसे छुटकारा पा जाता है ।। ६० ।।

तत्र मासं वसेद् धीरो नैमिषे तीर्थतत्परः ।

पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि नैमिषे ।। ६१ ।।

धीर पुरुष तीर्थसेवनमें तत्पर हो एक मासतक नैमिषमें निवास करे। पृथ्वीमें जितने तीर्थ हैं, वे सभी नैमिषमें विद्यमान हैं ।। ६१ ।।

कृताभिषेकस्तत्रैव नियतो नियताशनः ।

गवां मेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ।। ६२ ।।

भारत! जो वहाँ स्नान करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करता है, वह गोमेधयज्ञका फल पाता है ।। ६२ ।।

पुनात्यासप्तमं चैव कुलं भरतसत्तम ।

यस्त्यजेन्नैमिषे प्राणानुपवासपरायणः ।। ६३ ।।

स मोदेत् सर्वलोकेषु एवमाहुर्मनीषिणः ।

नित्यं मेध्यं च पुण्यं च नैमिषं नृपसत्तम ।। ६४ ।।

भरतश्रेष्ठ! अपने कुलकी सात पीढ़ियोंका भी वह उद्धार कर देता है। जो नैमिषमें उपवासपूर्वक प्राणत्याग करता है, वह सब लोकोंमें आनन्दका अनुभव करता है; ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है। नृपश्रेष्ठ! नैमिषतीर्थ नित्य, पवित्र और पुण्यजनक है ।। ६३-६४ ।।

गङ्गोद्भेदं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।

वाजपेयमवाप्नोति ब्रह्मभूतो भवेत् सदा ।। ६५ ।।

गंगोद्भेदतीर्थमें जाकर तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता और सदाके लिये ब्रह्मीभूत हो जाता है ।। ६५ ।।

सरस्वतीं समासाद्य तर्पयेत् पितृदेवताः ।

सारस्वतेषु लोकेषु मोदते नात्र संशयः ।। ६६ ।।

सरस्वतीतीर्थमें जाकर देवता और पितरोंका तर्पण करे। इससे तीर्थयात्री सारस्वतलोकोंमें जाकर आनन्दका भागी होता है; इसमें संशय नहीं है ।। ६६ ।।

ततश्च बाहुदां गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते ।। ६७ ।।
देवसत्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति कौरव ।

तदनन्तर बाहुदातीर्थमें जाय और ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो वहाँ एक रात उपवास करे; इससे वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। कुरुनन्दन! उसे देवसत्रयज्ञका भी फल प्राप्त होता है ।। ६७½ ।।

ततः क्षीरवतीं गच्छेत् पुण्यां पुण्यतरैर्वृताम् ।। ६८ ।।
पितृदेवार्चनपरो वाजपेयमवाप्नुयात् ।

वहाँसे क्षीरवती नामक पुण्यतीर्थमें जाय, जो अत्यन्त पुण्यात्मा पुरुषोंसे भरी हुई है। वहाँ स्नान करके देवता और पितरोंके पूजनमें लगा हुआ मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता है ।। ६८½ ।।

विमलाशोकमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।। ६९ ।।
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते ।

वहीं विमलाशोक नामक उत्तम तीर्थ है, वहाँ जाकर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो एक रात निवास करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ।।

गोप्रतारं ततो गच्छेत् सरय्वास्तीर्थमुत्तमम् ।। ७० ।।
यत्र रामो गतः स्वर्गं सभृत्यबलवाहनः ।
स च वीरो महाराज तस्य तीर्थस्य तेजसा ।। ७१ ।।

वहाँसे सरयूके उत्तम तीर्थ गोप्रतारमें जाय। महाराज! वहाँ अपने सेवकों, सैनिकों और वाहनोंके साथ गोते लगाकर उस तीर्थके प्रभावसे वे वीर श्रीरामचन्द्रजी अपने नित्यधामको पधारे थे ।। ७०-७१ ।।

रामस्य च प्रसादेन व्यवसायाच्च भारत ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा गोप्रतारे नराधिप ।। ७२ ।।
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते ।

भरतनन्दन! नरेश्वर! उस सरयूके गोप्रतारतीर्थमें स्नान करके मनुष्य श्रीरामचन्द्रजीकी कृपा और उद्योगसे सब पापोंसे शुद्ध होकर स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है ।।

रामतीर्थे नरः स्नात्वा गोमत्यां कुरुनन्दन ।। ७३ ।।
अश्वमेधमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः ।

कुरुनन्दन! गोमतीके रामतीर्थमें स्नान करके मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलको पवित्र कर देता है ।। ७३½ ।।

शतसाहस्रकं तीर्थं तत्रैव भरतर्षभ ।। ७४ ।।

तत्रोपस्पर्शनं कृत्वा नियतो नियताशनः ।
गोसहस्रफलं पुण्यं प्राप्नोति भरतर्षभ ।। ७५ ।।

भरतकुलभूषण! वहीं शतसाहस्रकतीर्थ है। उसमें स्नान करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करते हुए मनुष्य सहस्र गोदानका पुण्यफल प्राप्त करता है ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र भर्तृस्थानमनुत्तमम् ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।। ७६ ।।

राजेन्द्र! वहाँसे परम उत्तम भर्तृस्थानको जाय। वहाँ जानेसे मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ।। ७६ ।।

कोटितीर्थे नरः स्नात्वा अर्चयित्वा गुहं नृप ।
गोसहस्रफलं विद्यात् तेजस्वी च भवेन्नरः ।। ७७ ।।

राजन्! मनुष्य कोटितीर्थमें स्नान करके कार्तिकेयजीका पूजन करनेसे सहस्र गोदानका फल पाता और तेजस्वी होता है ।। ७७ ।।

ततो वाराणसीं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम् ।
कपिलाह्रदे नरः स्नात्वा राजसूयमवाप्नुयात् ।। ७८ ।।

तदनन्तर वाराणसी (काशी)-तीर्थमें जाकर भगवान् शंकरकी पूजा करे और कपिलाह्रदमें गोता लगाये; इससे मनुष्यको राजसूययज्ञका फल प्राप्त होता है ।। ७८ ।।

अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
दर्शनाद् देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ।। ७९ ।।
प्राणानुत्सृज्य तत्रैव मोक्षं प्राप्नोति मानवः ।

कुरुश्रेष्ठ! अविमुक्त तीर्थमें जाकर तीर्थसेवी मनुष्य देवदेव महादेवजीका दर्शनमात्र करके ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है। वहीं प्राणोत्सर्ग करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।। ७९½ ।।

मार्कण्डेयस्य राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ।। ८० ।।
गोमतीगङ्गयोश्चैव संगमे लोकविश्रुते ।
अग्निष्टोममवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।। ८१ ।।

राजेन्द्र! गोमती और गंगाके लोकविख्यात संगमके समीप मार्कण्डेयजीका दुर्लभ तीर्थ है। उसमें जाकर मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ।। ८०-८१ ।।

ततो गयां समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।। ८२ ।।

तदनन्तर गयातीर्थमें जाकर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ।। ८२ ।।

तत्राक्षयवटो नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।

तत्र दत्तं पितृभ्यस्तु भवत्यक्षयमुच्यते ।। ८३ ।।

वहाँ तीनों लोकोंमें विख्यात अक्षयवट है। उनके समीप पितरोंके लिये दिया हुआ सब कुछ अक्षय बताया जाता है ।। ८३ ।।

महानद्यामुपस्पृश्य तर्पयेत् पितृदेवताः ।
अक्षयान् प्राप्नुयाल्लोकान् कुलं चैव समुद्धरेत् ।। ८४ ।।

महानदीमें स्नान करके जो देवताओं और पितरोंका तर्पण करता है, वह अक्षय लोकोंको प्राप्त होता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ।। ८४ ।।

ततो ब्रह्मसरो गत्वा धर्मारण्योपशोभितम् ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति प्रभातामेव शर्वरीम् ।। ८५ ।।

तदनन्तर धर्मारण्यसे सुशोभित ब्रह्मसरोवरकी यात्रा करके वहाँ एक रात प्रातःकालतक निवास करनेसे मनुष्य ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है ।। ८५ ।।

ब्रह्मणा तत्र सरसि यूपश्रेष्ठः समुच्छ्रितः ।
यूपं प्रदक्षिणं कृत्वा वाजपेयफलं लभेत् ।। ८६ ।।

ब्रह्माजीने उस सरोवरमें एक श्रेष्ठ यूपकी स्थापना की थी। उसकी परिक्रमा करनेसे मानव वाजपेययज्ञका फल पा लेता है ।। ८६ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र धेनुकं लोकविश्रुतम् ।
एकरात्रोषितो राजन् प्रयच्छेत् तिलधेनुकाम् ।। ८७ ।।
सर्वपापविशुद्धात्मा सोमलोकं व्रजेद् ध्रुवम् ।

राजेन्द्र! वहाँसे लोकविख्यात धेनुतीर्थमें जाय। महाराज! वहाँ एक रात रहकर तिलकी गौका दान करे।* इससे तीर्थयात्री पुरुष सब पापोंसे शुद्धचित्त हो निश्चय ही सोमलोकमें जाता है ।। ८७ १/२ ।।

तत्र चिह्नं महद् राजन्नद्यापि सुमहद् भृशम् ।। ८८ ।।
कपिलायाः सवत्सायाश्चरन्त्याः पर्वते कृतम् ।
सवत्सायाः पदानि स्म दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ।। ८९ ।।

राजन्! वहाँ एक पर्वतपर चरनेवाली बछड़ेसहित कपिला गौका विशाल चरणचिह्न आज भी अंकित है। भरतनन्दन! बछड़ेसहित उस गौके चरणचिह्न आज भी वहाँ देखे जाते हैं ।। ८८-८९ ।।

तेषूपस्पृश्य राजेन्द्र पदेषु नृपसत्तम ।
यत् किंचिदशुभं कर्म तत् प्रणश्यति भारत ।। ९० ।।

भारत! नृपश्रेष्ठ! राजेन्द्र! उन चरणचिह्नोंका स्पर्श करके मनुष्यका जो कुछ भी अशुभ कर्म शेष रहता है, वह सब नष्ट हो जाता है ।। ९० ।।

ततो गृध्रवटं गच्छेत् स्थानं देवस्य धीमतः ।

स्नायीत भस्मना तत्र अभिगम्य वृषध्वजम् ।। ९१ ।।

तदनन्तर परम बुद्धिमान् महादेवजीके गृध्रवट नामक स्थानकी यात्रा करे और वहाँ भगवान् शंकरके समीप जाकर भस्मसे स्नान करे (अपने शरीरमें भस्म लगाये) ।। ९१ ।।

ब्राह्मणेन भवेच्चीर्णं व्रतं द्वादशवार्षिकम् ।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वपापं प्रणश्यति ।। ९२ ।।

वहाँ यात्रा करनेसे ब्राह्मणको बारह वर्षोंतक व्रतके पालन करनेका फल प्राप्त होता है और अन्य वर्णके लोगोंके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ।। ९२ ।।

उद्यन्तं च ततो गच्छेत् पर्वतं गीतनादितम् ।
सावित्र्यास्तु पदं तत्र दृश्यते भरतर्षभ ।। ९३ ।।

भरतकुलभूषण! तदनन्तर संगीतकी ध्वनिसे गूँजते हुए उदयगिरिपर जाय। वहाँ सावित्रीका चरणचिह्न आज भी दिखायी देता है ।। ९३ ।।

तत्र संध्यामुपासीत ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
तेन ह्युपास्ता भवति संध्या द्वादशवार्षिकी ।। ९४ ।।

उत्तम व्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण वहाँ संध्योपासना करे। इससे उसके द्वारा बारह वर्षोंतककी संध्योपासना सम्पन्न हो जाती है ।। ९४ ।।

योनिद्वारं च तत्रैव विश्रुतं भरतर्षभ ।
तत्राभिगम्य मुच्येत पुरुषो योनिसंकटात् ।। ९५ ।।

भरतश्रेष्ठ! वहीं विख्यात योनिद्वारतीर्थ है, जहाँ जाकर मनुष्य योनिसंकटसे मुक्त हो जाता है—उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।। ९५ ।।

कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ गयायां यो वसेन्नरः ।
पुनात्यासप्तमं राजन् कुलं नास्त्यत्र संशयः ।। ९६ ।।

राजन्! जो मानव कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंमें गयातीर्थमें निवास करता है, वह अपने कुलकी सातवीं पीढ़ीतकको पवित्र कर देता है, इसमें संशय नहीं है ।।

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ।
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ।। ९७ ।।

बहुत-से पुत्रोंकी इच्छा करे। सम्भव है, उनमेंसे एक भी गयामें जाय या अश्वमेधयज्ञ करे अथवा नील वृषका उत्सर्ग ही करे ।। ९७ ।।

ततः फल्गुं व्रजेद् राजंस्तीर्थसेवी नराधिप ।
अश्वमेधमवाप्नोति सिद्धिं च महतीं व्रजेत् ।। ९८ ।।

राजन्! नरेश्वर! तदनन्तर तीर्थसेवी मानव फल्गुतीर्थमें जाय। वहाँ जानेसे उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है और बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त होती है ।। ९८ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र धर्मप्रस्थं समाहितः ।
तत्र धर्मो महाराज नित्यमास्ते युधिष्ठिर ।। ९९ ।।

महाराज! तदनन्तर एकाग्रचित्त हो मनुष्य धर्मप्रस्थकी यात्रा करे। युधिष्ठिर! वहाँ धर्मराजका नित्य निवास है ।। ९९ ।।

तत्र कूपोदकं कृत्वा तेन स्नातः शुचिस्तथा ।
पितॄन् देवांस्तु संतर्प्य मुक्तपापो दिवं व्रजेत् ।। १०० ।।

वहाँ कुएँका जल लेकर उससे स्नान करके पवित्र हो देवताओं और पितरोंका तर्पण करनेसे मनुष्यके सारे पाप छूट जाते हैं और वह स्वर्गलोकमें जाता है ।। १०० ।।

मतङ्गस्याश्रमस्तत्र महर्षेर्भावितात्मनः ।
तं प्रविश्याश्रमं श्रीमच्छ्रमशोकविनाशनम् ।। १०१ ।।
गवामयनयज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।
धर्मं तत्राभिसंस्पृश्य वाजिमेधमवाप्नुयात् ।। १०२ ।।

वहीं भावितात्मा महर्षि मतंगका आश्रम है। श्रम और शोकका विनाश करनेवाले उस सुन्दर आश्रममें प्रवेश करनेसे मनुष्य गवामयनयज्ञका फल पाता है। वहाँ धर्मके निकट जा उनके श्रीविग्रहका दर्शन और स्पर्श करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मस्थानमनुत्तमम् ।
तत्राभिगम्य राजेन्द्र ब्रह्माणं पुरुषर्षभ ।। १०३ ।।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः ।

राजेन्द्र! तदनन्तर परम उत्तम ब्रह्मस्थानको जाय। महाराज! पुरुषोत्तम! वहाँ ब्रह्माजीके समीप जाकर मनुष्य राजसूय और अश्वमेधयज्ञोंका फल पाता है ।। १०३½ ।।

ततो राजगृहं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप ।। १०४ ।।
उपस्पृश्य ततस्तत्र कक्षीवानिव मोदते ।
यक्षिण्या नैत्यकं तत्र प्राश्नीत पुरुषः शुचिः ।। १०५ ।।
यक्षिण्यास्तु प्रसादेन मुच्यते ब्रह्महत्यया ।

नरेश्वर! तदनन्तर तीर्थसेवी मनुष्य राजगृहको जाय। वहाँ स्नान करके वह कक्षीवान्‌के समान प्रसन्न होता है। उस तीर्थमें पवित्र होकर पुरुष यक्षिणीदेवीका नैवेद्य भक्षण करे। यक्षिणीके प्रसादसे वह ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है ।। १०४-१०५½ ।।

मणिनागं ततो गत्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।। १०६ ।।

तदनन्तर मणिनागतीर्थमें जाकर तीर्थयात्री सहस्र गोदानका फल प्राप्त करे ।। १०६ ।।

तैर्थिकं भुञ्जते यस्तु मणिनागस्य भारत ।
दष्टस्याशीविषेणापि न तस्य क्रमते विषम् ।। १०७ ।।
तत्रोष्य जननीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ।

भरतनन्दन! जो मणिनागका तीर्थप्रसाद (नैवेद्य, चरणामृत आदि)-का भक्षण करता है, उसे साँप काट ले तो भी उसपर विषका असर नहीं होता। वहाँ एक रात रहनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ।। १०७½ ।।

ततो गच्छेत ब्रह्मर्षेर्गौतमस्य वनं प्रियम् ।। १०८ ।।
अहल्याया ह्रदे स्नात्वा व्रजेत परमां गतिम् ।
अभिगम्याश्रमं राजन् विन्दते श्रियमात्मनः ।। १०९ ।।

तत्पश्चात् ब्रह्मर्षि गौतमके प्रिय वनकी यात्रा करे। वहाँ अहल्याकुण्डमें स्नान करनेसे मनुष्य परमगतिको प्राप्त होता है। राजन्! गौतमके आश्रममें जाकर मनुष्य अपने लिये लक्ष्मी प्राप्त कर लेता है ।। १०८-१०९ ।।

तत्रोदपानं धर्मज्ञ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु वाजिमेधमवाप्नुयात् ।। ११० ।।

धर्मज्ञ! वहाँ एक त्रिभुवनविख्यात कूप है, जिसमें स्नान करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ।। ११० ।।

जनकस्य तु राजर्षेः कूपस्त्रिदशपूजितः ।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु विष्णुलोकमवाप्नुयात् ।। १११ ।।

राजर्षि जनकका एक कूप है, जिसका देवता भी सम्मान करते हैं। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य विष्णुलोकमें जाता है ।। १११ ।।

ततो विनशनं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनम् ।
वाजपेयमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति ।। ११२ ।।

तत्पश्चात् सब पापोंसे छुड़ानेवाले विनशनतीर्थको जाय, जिससे मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता और सोमलोकको जाता है ।। ११२ ।।

गण्डकीं तु समासाद्य सर्वतीर्थजलोद्भवाम् ।
वाजपेयमवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति ।। ११३ ।।

गण्डकी नदी सब तीर्थोंके जलसे उत्पन्न हुई है। वहाँ जाकर तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता और सूर्यलोकमें जाता है ।। ११३ ।।

ततो विशल्यामासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम् ।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ।। ११४ ।।

तत्पश्चात् त्रिलोकीमें विख्यात विशल्या नदीके तटपर जाकर स्नान करे। इससे वह अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ।। ११४ ।।

ततोऽधिवङ्गं धर्मज्ञ समाविश्य तपोवनम् ।
गुह्यकेषु महाराज मोदते नात्र संशयः ।। ११५ ।।

धर्मज्ञ महाराज! तदनन्तर वंगदेशीय तपोवनमें प्रवेश करके तीर्थयात्री इस शरीरके अन्तमें गुह्यकलोकमें जाकर निःसंदेह आनन्दका भागी होता है ।। ११५ ।।

कम्पनां तु समासाद्य नदीं सिद्धनिषेविताम् ।
पुण्डरीकमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ।। ११६ ।।

तत्पश्चात् सिद्धसेवित कम्पना नदीमें पहुँचकर मनुष्य पुण्डरीकयज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ।। ११६ ।।

अथ माहेश्वरीं धारां समासाद्य धराधिप ।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।। ११७ ।।

राजन्! तत्पश्चात् माहेश्वरी धाराकी यात्रा करनेसे तीर्थयात्रीको अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है और वह अपने कुलका उद्धार कर देता है ।। ११७ ।।

दिवौकसां पुष्करिणीं समासाद्य नराधिप ।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजिमेधं च विन्दति ।। ११८ ।।

नरेश्वर! फिर देवपुष्करिणीमें जाकर मानव कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ।। ११८ ।।

अथ सोमपदं गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः ।
माहेश्वरपदे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ।। ११९ ।।

तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो सोमपदतीर्थमें जाय। वहाँ माहेश्वरपदमें स्नान करनेसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ।। ११९ ।।

तत्र कोटिस्तु तीर्थानां विश्रुता भरतर्षभ ।
कूर्मरूपेण राजेन्द्र ह्यसुरेण दुरात्मना ।। १२० ।।
ह्रियमाणा हृता राजन् विष्णुना प्रभविष्णुना ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत तीर्थकोट्यां युधिष्ठिर ।। १२१ ।।
पुण्डरीकमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ।

भरतकुलतिलक! वहाँ तीर्थोंकी विख्यात श्रेणीको एक दुरात्मा असुर कूर्मरूप धारण करके हरकर लिये जाता था। राजन्! यह देख सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णुने उस तीर्थश्रेणीका उद्धार किया। युधिष्ठिर! वहाँ उस तीर्थकोटिमें स्नान करना चाहिये। ऐसा करनेवाले यात्रीको पुण्डरीकयज्ञका फल मिलता है और वह विष्णुलोकको जाता है ।। १२०-१२१½ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र स्थानं नारायणस्य च ।। १२२ ।।
सदा संनिहितो यत्र विष्णुर्वसति भारत ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।। १२३ ।।
आदित्या वसवो रुद्रा जनार्दनमुपासते ।
शालग्राम इति ख्यातो विष्णुरद्भुतकर्मकः ।। १२४ ।।

राजेन्द्र! तदनन्तर नारायण-स्थानको जाय। भरतनन्दन! वहाँ भगवान् विष्णु सदा निवास करते हैं। ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन ऋषि, आदित्य, वसु तथा रुद्र भी वहाँ रहकर जनार्दनकी उपासना करते हैं। उस तीर्थमें अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णु शालग्रामके नामसे प्रसिद्ध हैं ।।

अभिगम्य त्रिलोकेशं वरदं विष्णुमव्ययम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ।। १२५ ।।

तीनों लोकोंके स्वामी उन वरदायक अविनाशी भगवान् विष्णुके समीप जाकर मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और विष्णुलोकमें जाता है ।। १२५ ।।

तत्रोदपानं धर्मज्ञ सर्वपापप्रमोचनम् ।
समुद्रास्तत्र चत्वारः कूपे संनिहिताः सदा ।। १२६ ।।

धर्मज्ञ! वहाँ एक कूप है, जो सब पापोंको दूर करनेवाला है। उसमें सदा चारों समुद्र निवास करते हैं ।।

तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र न दुर्गतिमवाप्नुयात् ।
अभिगम्य महादेवं वरदं रुद्रमव्ययम् ।। १२७ ।।
विराजति यथा सोमो मेघैर्मुक्तो नराधिप ।
जातिस्मरमुपस्पृश्य शुचिः प्रयतमानसः ।। १२८ ।।

राजेन्द्र! उसमें निवास करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। सबको वर देनेवाले अविनाशी महादेव रुद्रके समीप जाकर मनुष्य मेघोंके आवरणसे मुक्त हुए चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित होता है। नरेश्वर! वहीं जातिस्मरतीर्थ है; जिसमें स्नान करके मनुष्य पवित्र एवं शुद्धचित्त हो जाता है। अर्थात् उसके शरीर और मनकी शुद्धि हो जाती है ।। १२७-१२८ ।।

जातिस्मरत्वमाप्नोति स्नात्वा तत्र न संशयः ।
माहेश्वरपुरं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम् ।। १२९ ।।
ईप्सिताल्लँभते कामानुपवासान्न संशयः ।
ततस्तु वामनं गत्वा सर्वपापप्रमोचनम् ।। १३० ।।
अभिगम्य हरिं देवं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ।
कुशिकस्याश्रमं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनम् ।। १३१ ।।

उस तीर्थमें स्नान करनेसे पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है, इसमें संशय नहीं है। माहेश्वरपुरमें जाकर भगवान् शंकरकी पूजा और उपवास करनेसे मनुष्य सम्पूर्ण मनोवांछित कामनाओं-को प्राप्त कर लेता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। तत्पश्चात् सब पापोंको दूर करनेवाले वामनतीर्थकी यात्रा करके भगवान् श्रीहरिके निकट जाय। उनका दर्शन करनेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। इसके बाद सब पापोंसे छुड़ानेवाले कुशिकाश्रमकी यात्रा करे ।। १२९—१३१ ।।

कौशिकीं तत्र गच्छेत महापापप्रणाशिनीम् ।
राजसूयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।। १३२ ।।

वहीं बड़े-बड़े पापोंका नाश करनेवाली कौशिकी (कोशी) नदी है। उसके तटपर जाकर स्नान करे। ऐसा करनेवाला मानव राजसूययज्ञका फल पाता है ।। १३२ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र चम्पकारण्यमुत्तमम् ।

तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ।। १३३ ।।

राजेन्द्र! तदनन्तर उत्तम चम्पकारण्य (चम्पारन)-की यात्रा करे। वहाँ एक रात निवास करनेसे तीर्थयात्रीको सहस्र गोदानका फल मिलता है ।। १३३ ।।

अथ ज्येष्ठिलमासाद्य तीर्थं परमदुर्लभम् ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ।। १३४ ।।

तत्पश्चात् परम दुर्लभ ज्येष्ठिलतीर्थमें जाकर एक रात निवास करनेसे मानव सहस्र गोदानका फल पाता है ।। १३४ ।।

तत्र विश्वेश्वरं दृष्ट्वा देव्या सह महाद्युतिम् ।
मित्रावरुणयोर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ ।। १३५ ।।
त्रिरात्रोपोषितस्तत्र अग्निष्टोमफलं लभेत् ।

पुरुषरत्न! वहाँ पार्वतीदेवीके साथ महातेजस्वी भगवान् विश्वेश्वरका दर्शन करनेसे तीर्थयात्रीको मित्र और वरुण-देवताके लोकोंकी प्राप्ति होती है, वहाँ तीन रात उपवास करनेसे अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ।। १३५½ ।।

कन्यासंवेद्यमासाद्य नियतो नियताशनः ।। १३६ ।।
मनोः प्रजापतेर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ ।
कन्यायां ये प्रयच्छन्ति दानमण्वपि भारत ।। १३७ ।।
तदक्षय्यमिति प्राहुर्ऋषयः संशितव्रताः ।

पुरुषश्रेष्ठ! इसके बाद नियमपूर्वक नियमित भोजन करते हुए तीर्थयात्रीको कन्यासंवेद्य नामक तीर्थमें जाना चाहिये। इससे वह प्रजापति मनुके लोक प्राप्त कर लेता है। भरतनन्दन! जो लोग कन्यासंवेद्यतीर्थमें थोड़ा-सा भी दान देते हैं, उनके उस दानको उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि अक्षय बताते हैं ।।

निश्चीरां च समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ।। १३८ ।।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति ।
ये तु दानं प्रयच्छन्ति निश्चीरासंगमे नराः ।। १३९ ।।
ते यान्ति नरशार्दूल शक्रलोकमनामयम् ।
तत्राश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।। १४० ।।

तदनन्तर त्रिलोकविख्यात निश्चीरा नदीकी यात्रा करे। इससे अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है और तीर्थयात्री पुरुष भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है। नरश्रेष्ठ! जो मानव निश्चीरासंगममें दान देते हैं, वे रोग-शोकसे रहित इन्द्रलोकमें जाते हैं। वहीं तीनों लोकोंमें विख्यात वसिष्ठ-आश्रम है ।। १३८—१४० ।।

तत्राभिषेकं कुर्वाणो वाजपेयमवाप्नुयात् ।
देवकूटं समासाद्य ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ।। १४१ ।।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत् ।

वहाँ स्नान करनेवाला मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता है। तदनन्तर ब्रह्मर्षियोंसे सेवित देवकूट-तीर्थमें जाकर स्नान करे। ऐसा करनेवाला पुरुष अश्वमेध-यज्ञका फल पाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ।। १४१½ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र कौशिकस्य मुनेर्ह्रदम् ।। १४२ ।।

यत्र सिद्धिं परां प्राप्तो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ।

तत्र मासं वसेद् वीर कौशिक्यां भरतर्षभ ।। १४३ ।।

राजेन्द्र! तत्पश्चात् कौशिक मुनिके कुण्डमें स्नानके लिये जाय, जहाँ कुशिकनन्दन विश्वामित्रने उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी। वीर! भरतकुलभूषण! उस तीर्थमें कौशिकी नदीके तटपर एक मासतक निवास करे ।। १४२-१४३ ।।

अश्वमेधस्य यत् पुण्यं तन्मासेनाधिगच्छति ।

सर्वतीर्थवरे चैव यो वसेत महाह्रदे ।। १४४ ।।

न दुर्गतिमवाप्नोति विन्देद् बहु सुवर्णकम् ।

ऐसा करनेसे एक मासमें ही अश्वमेधयज्ञका पुण्यफल प्राप्त हो जाता है। जो सब तीर्थोंमें उत्तम महाह्रदमें स्नान करता है वह कभी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता और प्रचुर सुवर्णराशि प्राप्त कर लेता है ।। १४४½ ।।

कुमारमभिगम्याथ वीराश्रमनिवासिनम् ।। १४५ ।।

अश्वमेधमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः ।

तदनन्तर वीराश्रमनिवासी कुमार कार्तिकेयके निकट जाकर मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है ।। १४५½ ।।

अग्निधारां समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ।। १४६ ।।

तत्राभिषेकं कुर्वाणो ह्यग्निष्टोममवाप्नुयात् ।

अग्निधारातीर्थ तीनों लोकोंमें विख्यात है। वहाँ जाकर स्नान करनेवाला पुरुष अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ।। १४६½ ।।

अधिगम्य महादेवं वरदं विष्णुमव्ययम् ।। १४७ ।।

वहाँ वर देनेवाले महान् देवता अविनाशी भगवान् विष्णुके निकट जाकर उनका दर्शन और पूजन करे ।। १४७ ।।

पितामहसरो गत्वा शैलराजसमीपतः ।

तत्राभिषेकं कुर्वाणो ह्यग्निष्टोममवाप्नुयात् ।। १४८ ।।

गिरिराज हिमालयके निकट पितामहसरोवरमें जाकर स्नान करनेवाले पुरुषको अग्निष्टोमयज्ञका फल मिलता है ।। १४८ ।।

पितामहस्य सरसः प्रस्रुता लोकपावनी ।

कुमारधारा तत्रैव त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।। १४९ ।।

पितामहसरोवरसे सम्पूर्ण जगत्‌को पवित्र करनेवाली एक धारा प्रवाहित होती है, जो तीनों लोकोंमें कुमारधाराके नामसे विख्यात है ।। १४९ ।।

यत्र स्नात्वा कृतार्थोऽस्मीत्यात्मानमवगच्छति ।
षष्ठकालोपवासेन मुच्यते ब्रह्महत्यया ।। १५० ।।

उसमें स्नान करके मनुष्य अपने-आपको कृतार्थ मानने लगता है। वहाँ रहकर छठे समय उपवास करनेसे मनुष्य ब्रह्महत्यासे छुटकारा पा जाता है ।। १५० ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थसेवनतत्परः ।
शिखरं वै महादेव्या गौर्यास्त्रैलोक्यविश्रुतम् ।। १५१ ।।

धर्मज्ञ! तदनन्तर तीर्थसेवनमें तत्पर मानव महादेवी गौरीके शिखरपर जाय, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है ।। १५१ ।।

समारुह्य नरश्रेष्ठ स्तनकुण्डेषु संविशेत् ।
स्तनकुण्डमुपस्पृश्य वाजपेयफलं लभेत् ।। १५२ ।।

नरश्रेष्ठ! उस शिखरपर चढ़कर मानव स्तनकुण्डमें स्नान करे। स्तनकुण्डमें अवगाहन करनेसे वाजपेययज्ञका फल प्राप्त होता है ।। १५२ ।।

तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः ।
हयमेधमवाप्नोति शक्रलोकं च गच्छति ।। १५३ ।।

उस तीर्थमें स्नान करके देवताओं और पितरोंकी पूजा करनेवाला पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता और इन्द्रलोकमें पूजित होता है ।। १५३ ।।

ताम्रारुणं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति ।। १५४ ।।

तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो ताम्रारुणतीर्थकी यात्रा करनेसे मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और ब्रह्मलोकमें जाता है ।। १५४ ।।

नन्दिन्यां च समासाद्य कूपं देवनिषेवितम् ।
नरमेधस्य यत् पुण्यं तदाप्नोति नराधिप ।। १५५ ।।

नन्दिनीतीर्थमें देवताओंद्वारा सेवित एक कूप है। नरेश्वर! वहाँ जाकर स्नान करनेसे मानव नरमेधयज्ञका पुण्यफल प्राप्त करता है ।। १५५ ।।

कालिकासंगमे स्नात्वा कौशिक्यरुणयोर्गतः ।
त्रिरात्रोपोषितो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। १५६ ।।

राजन्! कौशिकी-अरुणा-संगम और कालिका-संगममें स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। १५६ ।।

उर्वशीतीर्थमासाद्य ततः सोमाश्रमं बुधः ।
कुम्भकर्णाश्रमं गत्वा पूज्यते भुवि मानवः ।। १५७ ।।

तदनन्तर उर्वशीतीर्थ, सोमाश्रम और कुम्भ-कर्णाश्रमकी यात्रा करके मनुष्य इस भूतलपर पूजित होता है ।। १५७ ।।

कोकामुखमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी यतव्रतः ।

जातिस्मरत्वमाप्नोति दृष्टमेतत् पुरातनैः ।। १५८ ।।

कोकामुखतीर्थमें स्नान करके ब्रह्मचर्य एवं संयम-नियमका पालन करनेवाला पुरुष पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। यह बात प्राचीन पुरुषोंने प्रत्यक्ष देखी है ।। १५८ ।।

प्राङ्नदीं च समासाद्य कृतात्मा भवति द्विजः ।

सर्वपापविशुद्धात्मा शक्रलोकं च गच्छति ।। १५९ ।।

प्राङ्नदीतीर्थमें जानेसे द्विज कृतार्थ हो जाता है। वह सब पापोंसे शुद्धचित्त होकर इन्द्रलोकमें जाता है ।।

ऋषभद्वीपमासाद्य मेध्यं क्रौञ्चनिषूदनम् ।

सरस्वत्यामुपस्पृश्य विमानस्थो विराजते ।। १६० ।।

तीर्थसेवी मनुष्य पवित्र ऋषभद्वीप और क्रौञ्चनिषूदनतीर्थमें जाकर सरस्वतीमें स्नान करनेसे विमानपर विराजमान होता है ।। १६० ।।

औद्दालकं महाराज तीर्थं मुनिनिषेवितम् ।

तत्राभिषेकं कृत्वा वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। १६१ ।।

महाराज! मुनियोंसे सेवित औद्दालकतीर्थमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। १६१ ।।

धर्मतीर्थं समासाद्य पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम् ।

वाजपेयमवाप्नोति विमानस्थश्च पूज्यते ।। १६२ ।।

परम पवित्र ब्रह्मर्षिसेवित धर्मतीर्थमें जाकर स्नान करनेवाला मनुष्य वाजपेययज्ञका फल पाता और विमानपर बैठकर पूजित होता है ।। १६२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां चतुरशीतितमोऽध्यायः ।। ८४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें पुलस्त्यकी तीर्थयात्रासे सम्बन्ध रखनेवाला चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८४ ।।

---

* शम्याका अर्थ है डंडा। कोई बलवान् पुरुष डंडेको खूब जोर लगाकर फेंके तो वह जहाँ गिरे, उतनी दूरके स्थानको एक शम्यानिपात कहते हैं। ऐसे ही छः शम्यानिपातकी दूरी समझ लेनी चाहिये।

* तिलोंसे गौकी आकृति बनाकर उसका दान करे।

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

गंगासागर, अयोध्या, चित्रकूट, प्रयाग आदि विभिन्न तीर्थोंकी महिमाका वर्णन और गंगाका माहात्म्य

पुलस्त्य उवाच

अथ संध्यां समासाद्य संवेद्यं तीर्थमुत्तमम् ।
उपस्पृश्य नरो विद्यां लभते नात्र संशयः ।। १ ।।

पुलस्त्यजी कहते हैं—भीष्म! तदनन्तर प्रातः-संध्याके समय उत्तम संवेद्यतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य विद्यालाभ करता है; इसमें संशय नहीं है ।। १ ।।

रामस्य च प्रभावेण तीर्थं राजन् कृतं पुरा ।
तल्लौहित्यं समासाद्य विन्द्याद् बहु सुवर्णकम् ।। २ ।।

राजन्! पूर्वकालमें श्रीरामके प्रभावसे जो तीर्थ प्रकट हुआ उसका नाम लौहित्यतीर्थ है। उसमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्यको बहुत-सी सुवर्णराशि प्राप्त होती है ।। २ ।।

करतोयां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति प्रजापतिकृतो विधिः ।। ३ ।।

करतोयामें जाकर स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता है। यह ब्रह्माजीद्वारा की हुई व्यवस्था है ।। ३ ।।

गङ्गायास्तत्र राजेन्द्र सागरस्य च संगमे ।
अश्वमेधं दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ।। ४ ।।

राजेन्द्र! वहाँ गंगासागरसंगममें स्नान करनेसे दस अश्वमेधयज्ञोंके फलकी प्राप्ति होती है, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ।। ४ ।।

गङ्गायास्त्वपरं पारं प्राप्य यः स्नाति मानवः ।
त्रिरात्रमुषितो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ५ ।।

राजन्! जो मानव गंगासागरसंगममें गंगाके दूसरे पार पहुँचकर स्नान करता है और तीन रात वहाँ निवास करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ।। ५ ।।

ततो वैतरणीं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनीम् ।
विरजं तीर्थमासाद्य विराजति यथा शशी ।। ६ ।।

तदनन्तर सब पापोंसे छुड़ानेवाली वैतरणीकी यात्रा करे। वहाँ विरजतीर्थमें जाकर स्नान करनेसे मनुष्य चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है ।। ६ ।।

प्रतरेच्च कुलं पुण्यं सर्वपापं व्यपोहति ।
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नरः ।। ७ ।।

उसका पुण्यमय कुल संसारसागरसे तर जाता है। वह अपने सब पापोंका नाश कर देता है और सहस्र गोदानका फल प्राप्त करके अपने कुलको पवित्र कर देता है ।। ७ ।।

शोणस्य ज्योतिरथ्यायाः संगमे नियतः शुचिः ।
तर्पयित्वा पितॄन् देवानग्निष्टोमफलं लभेत् ।। ८ ।।

शोण और ज्योतिरथ्याके संगममें स्नान करके जितेन्द्रिय एवं पवित्र पुरुष यदि देवताओं और पितरोंका तर्पण करे तो वह अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता है ।। ८ ।।

शोणस्य नर्मदायाश्च प्रभवे कुरुनन्दन ।
वंशगुल्म उपस्पृश्य वाजिमेधफलं लभेत् ।। ९ ।।

कुरुनन्दन! शोण और नर्मदाके उत्पत्तिस्थान वंशगुल्मतीर्थमें स्नान करके तीर्थयात्री अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ।। ९ ।।

ऋषभं तीर्थमासाद्य कोसलायां नराधिप ।
वाजपेयमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ।। १० ।।
गोसहस्रफलं विन्द्यात् कुलं चैव समुद्धरेत् ।

नरेश्वर! कोसला (अयोध्या)-में ऋषभतीर्थमें जाकर स्नानपूर्वक तीन रात उपवास करनेवाला मानव वाजपेययज्ञका फल पाता है। इतना ही नहीं, वह सहस्र गोदानका फल पाता और अपने कुलका भी उद्धार कर देता है ।। १०½ ।।

कोसलां तु समासाद्य कालतीर्थमुपस्पृशेत् ।। ११ ।।
वृषभैकादशफलं लभते नात्र संशयः ।
पुष्पवत्यामुपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।। १२ ।।
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नृप ।

कोसला नगरी (अयोध्या)-में जाकर कालतीर्थमें स्नान करे। ऐसा करनेसे ग्यारह वृषभ-दानका फल मिलता है, इसमें संशय नहीं है। पुष्पवतीमें स्नान करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता और अपने कुलको पवित्र कर देता है ।। ११-१२½ ।।

ततो बदरिकातीर्थं स्नात्वा भरतसत्तम ।। १३ ।।
दीर्घमायुरवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति ।

भरतकुलभूषण! तदनन्तर बदरिकातीर्थमें स्नान करके मनुष्य दीर्घायु पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ।।

अथ चम्पां समासाद्य भागीरथ्यां कृतोदकः ।। १४ ।।
दण्डाख्यमभिगम्यैव गोसहस्रफलं लभेत् ।

तत्पश्चात् चम्पामें जाकर भागीरथीमें तर्पण करे और दण्ड नामक तीर्थमें जाकर सहस्र गोदानका फल प्राप्त करे ।। १४½ ।।

लपेटिकां ततो गच्छेत् पुण्यां पुण्योपशोभिताम् ।। १५ ।।

वाजपेयमवाप्नोति देवैः सर्वैश्च पूज्यते ।

तदनन्तर पुण्यशोभिता पुण्यमयी लपेटिकामें जाकर स्नान करे। ऐसा करनेसे तीर्थयात्री वाजपेययज्ञका फल पाता और सम्पूर्ण देवताओंद्वारा पूजित होता है ।। १५½ ।।

ततो महेन्द्रमासाद्य जामदग्न्यनिषेवितम् ।। १६ ।।
रामतीर्थे नरः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत् ।

इसके बाद परशुरामसेवित महेन्द्रपर्वतपर जाकर वहाँके रामतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ।। १६½ ।।

मतङ्गस्य तु केदारस्तत्रैव कुरुनन्दन ।। १७ ।।
तत्र स्नात्वा कुरुश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत् ।

कुरुश्रेष्ठ कुरुनन्दन! वहीं मतंगका केदार है, उसमें स्नान करनेसे मनुष्यको सहस्र गोदानका फल मिलता है ।। १७½ ।।

श्रीपर्वतं समासाद्य नदीतीरमुपस्पृशेत् ।। १८ ।।
अश्वमेधमवाप्नोति पूजयित्वा वृषध्वजम् ।

श्रीपर्वतपर जाकर वहाँकी नदीके तटपर स्नान करे। वहाँ भगवान् शंकरकी पूजा करके मनुष्यको अश्वमेधयज्ञका फल प्राप्त होता है ।। १८½ ।।

श्रीपर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः ।। १९ ।।
न्यवसत् परमप्रीतो ब्रह्मा च त्रिदशैः सह ।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ।। २० ।।
अश्वमेधमवाप्नोति परां सिद्धिं च गच्छति ।
ऋषभं पर्वतं गत्वा पाण्ड्ये दैवतपूजितम् ।
वाजपेयमवाप्नोति नाकपृष्ठे च मोदते ।। २१ ।।

श्रीपर्वतपर देवी पार्वतीके साथ महातेजस्वी महादेवजी बड़ी प्रसन्नताके साथ निवास करते हैं। देवताओंके साथ ब्रह्माजी भी वहाँ रहते हैं। वहाँ देवकुण्डमें स्नान करके पवित्र हो जितात्मा पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता और परम सिद्धि लाभ करता है। पाड्यदेशमें देवपूजित ऋषभ पर्वतपर जाकर तीर्थयात्री वाजपेययज्ञका फल पाता और स्वर्गलोकमें आनन्दित होता है ।। १९—२१ ।।

ततो गच्छेत कावेरीं वृतामप्सरसां गणैः ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत् ।। २२ ।।

राजन्! तदनन्तर अप्सराओंसे आवृत कावेरी नदीकी यात्रा करे। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है ।। २२ ।।

ततस्तीरे समुद्रस्य कन्यातीर्थमुपस्पृशेत् ।
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। २३ ।।

राजेन्द्र! तत्पश्चात् समुद्रके तटपर विद्यमान कन्यातीर्थ (कन्याकुमारी)-में जाकर स्नान करे। उस तीर्थमें स्नान करते ही मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। २३ ।।

अथ गोकर्णमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
समुद्रमध्ये राजेन्द्र सर्वलोकनमस्कृतम् ।। २४ ।।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
भूतयक्षपिशाचाश्च किंनराः समहोरगाः ।। २५ ।।
सिद्धचारणगन्धर्वमानुषाः पन्नगास्तथा ।
सरितः सागराः शैला उपासन्त उमापतिम् ।। २६ ।।

महाराज! इसके बाद समुद्रके मध्यमें विद्यमान त्रिभुवनविख्यात अखिल लोकवन्दित गोकर्णतीर्थमें जाकर स्नान करे। जहाँ ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन महर्षि, भूत, यक्ष, पिशाच, किन्नर, महानाग, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मनुष्य, सर्प, नदी, समुद्र और पर्वत—ये सभी उमावल्लभ भगवान् शंकरकी उपासना करते हैं ।। २४—२६ ।।

तत्रेशानं समभ्यर्च्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति ।। २७ ।।

वहाँ भगवान् शिवकी पूजा करके तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य अश्वमेधयज्ञका फल पाता और गणपतिपद प्राप्त कर लेता है ।। २७ ।।

उष्य द्वादशरात्रं तु पूतात्मा च भवेन्नरः ।
तत एव च गायत्र्याः स्थानं त्रैलोक्यपूजितम् ।। २८ ।।

वहाँ बारह रात निवास करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। वहीं गायत्रीका त्रिलोक-पूजित स्थान है ।। २८ ।।

त्रिरात्रमुषितस्तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ।
निदर्शनं च प्रत्यक्षं ब्राह्मणानां नराधिप ।। २९ ।।

वहाँ तीन रात निवास करनेवाला पुरुष सहस्र गोदानका फल प्राप्त करता है। नरेश्वर! ब्राह्मणोंकी पहचानके लिये वहाँ प्रत्यक्ष उदाहरण है ।। २९ ।।

गायत्रीं पठते यस्तु योनिसंकरजस्तथा ।
गाथा च गाथिका चापि तस्य सम्पद्यते नृप ।। ३० ।।

राजन्! जो वर्णसंकर योनिमें उत्पन्न हुआ है, वह यदि गायत्रीमन्त्रका पाठ करता है तो उसके मुखसे वह गाथा या गीतकी तरह स्वर और वर्णोंके नियमसे रहित होकर निकलती है; अर्थात् वह गायत्रीका उच्चारण ठीक नहीं कर सकता ।। ३० ।।

अब्राह्मणस्य सावित्रीं पठतस्तु प्रणश्यति ।

जो सर्वथा ब्राह्मण नहीं है, ऐसा मनुष्य यदि वहाँ गायत्रीमन्त्रका पाठ करे तो वहाँ वह मन्त्र लुप्त हो जाता है; अर्थात् उसे भूल जाता है ।। ३०½ ।।

संवर्तस्य तु विप्रर्षेर्वापीमासाद्य दुर्लभाम् ।। ३१ ।।

रूपस्य भागी भवति सुभगश्च प्रजापते ।

राजन्! वहाँ ब्रह्मर्षि संवर्तकी दुर्लभ बावली है। उसमें स्नान करके मनुष्य सुन्दररूपका भागी और सौभाग्यशाली होता है ।। ३१½ ।।

ततो वेणां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।। ३२ ।।

मयूरहंससंयुक्तं विमानं लभते नरः ।

तदनन्तर वेणा नदीके तटपर जाकर तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य (मृत्युके पश्चात्) मोर और हंसोंसे जुता हुआ विमानको प्राप्त करता है ।। ३२½ ।।

ततो गोदावरीं प्राप्य नित्यं सिद्धनिषेविताम् ।। ३३ ।।

गवां मेधमवाप्नोति वासुकेर्लोकमुत्तमम् ।

वेणायाः संगमे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ।। ३४ ।।

तत्पश्चात् सदा सिद्ध पुरुषोंसे सेवित गोदावरीके तटपर जाकर स्नान करनेसे तीर्थयात्री गोमेधयज्ञका फल पाता और वासुकिके लोकमें जाता है । वेणासंगममें स्नान करके मनुष्य अश्वमेधयज्ञके फलका भागी होता है ।।

वरदासंगमे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।

ब्रह्मस्थानं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।। ३५ ।।

गोसहस्रफलं विन्द्यात् स्वर्गलोकं च गच्छति ।

वरदासंगमतीर्थमें स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है। ब्रह्मस्थानमें जाकर तीन रात उपवास करनेवाला मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता और स्वर्गलोकमें जाता है ।। ३५½ ।।

कुशप्लवनमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।। ३६ ।।

त्रिरात्रमुषितः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत् ।

कुशप्लवनतीर्थमें जाकर स्नान करके ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो तीन रात निवास करनेवाला पुरुष अश्वमेधयज्ञका फल पाता है ।। ३६½ ।।

ततो देवह्रदेऽरण्ये कृष्णवेणाजलोद्भवे ।। ३७ ।।

जातिस्मरह्रदे स्नात्वा भवेज्जातिस्मरो नरः ।

तदनन्तर कृष्णवेणाके जलसे उत्पन्न हुए रमणीय देवकुण्डमें, जिसे जातिस्मर ह्रद कहते हैं, स्नान करे। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य जातिस्मर (पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करनेकी शक्तिवाला) होता है ।। ३७½ ।।

यत्र क्रतुशतैरिष्ट्वा देवराजो दिवं गतः ।। ३८ ।।

अग्निष्टोमफलं विन्द्याद् गमनादेव भारत ।

सर्वदेवह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।। ३९ ।।

वहीं सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके देवराज इन्द्र स्वर्गके सिंहासनपर आसीन हुए थे। भरतनन्दन! वहाँ जानेमात्रसे यात्री अग्निष्टोमयज्ञका फल पा लेता है। तत्पश्चात् सर्वदेवह्रदमें स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ।। ३८-३९ ।।

ततो वापीं महापुण्यां पयोष्णीं सरितां वराम् ।
पितृदेवार्चनरतो गोसहस्रफलं लभेत् ।। ४० ।।

तदनन्तर परम पुण्यमयी वापी और सरिताओंमें श्रेष्ठ पयोष्णीमें जाकर स्नान करे और देवताओं तथा पितरोंके पूजनमें तत्पर रहे, ऐसा करनेसे तीर्थसेवीको सहस्र गोदानका फल मिलता है ।। ४० ।।

दण्डकारण्यमासाद्य पुण्यं राजन्नुपस्पृशेत् ।
गोसहस्रफलं तस्य स्नातमात्रस्य भारत ।। ४१ ।।

राजन्! भरतनन्दन! जो दण्डकारण्यमें जाकर स्नान करता है, उसे स्नान करनेमात्रसे सहस्र गोदानका फल प्राप्त होता है ।। ४१ ।।

शरभङ्गाश्रमं गत्वा शुकस्य च महात्मनः ।
न दुर्गतिमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः ।। ४२ ।।

शरभंग मुनि तथा महात्मा शुकके आश्रमपर जानेसे मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता और अपने कुलको पवित्र कर देता है ।। ४२ ।।

ततः शूर्पारकं गच्छेज्जामदग्न्यनिषेवितम् ।
रामतीर्थे नरः स्नात्वा विन्द्याद् बहुसुवर्णकम् ।। ४३ ।।

तदनन्तर परशुरामसेवित शूर्पारकतीर्थकी यात्रा करे। वहाँ रामतीर्थमें स्नान करनेसे मनुष्यको प्रचुर सुवर्णराशिकी प्राप्ति होती है ।। ४३ ।।

सप्तगोदावरे स्नात्वा नियतो नियताशनः ।
महत् पुण्यमवाप्नोति देवलोकं च गच्छति ।। ४४ ।।

सप्तगोदावरतीर्थमें स्नान करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करनेवाला पुरुष महान् पुण्यलाभ करता और देवलोकमें जाता है ।। ४४ ।।

ततो देवपथं गत्वा नियतो नियताशनः ।
देवसत्रस्य यत् पुण्यं तदेवाप्नोति मानवः ।। ४५ ।।

तत्पश्चात् नियमपालनके साथ-साथ नियमित आहार ग्रहण करनेवाला मानव देवपथमें जाकर देवसत्रका जो पुण्य है, उसे पा लेता है ।। ४५ ।।

तुङ्गकारण्यमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
वेदानध्यापयत् तत्र ऋषिः सारस्वतः पुरा ।। ४६ ।।

तुंगकारण्यमें जाकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए इन्द्रियोंको अपने वशमें रखे। प्राचीनकालमें वहाँ सारस्वत ऋषिने अन्य ऋषियोंको वेदोंका अध्ययन कराया था ।। ४६ ।।

तत्र वेदेषु नष्टेषु मुनेरङ्गिरसः सुतः ।

ऋषीणामुत्तरीयेषु सूपविष्टो यथासुखम् ।। ४७ ।।

एक समय उन ऋषियोंको सारा वेद भूल गया। इस प्रकार वेदोंके नष्ट होने (भूल जाने)-पर अंगिरा मुनिका पुत्र ऋषियोंके उत्तरीय वस्त्रों (चादरों)-में छिपकर सुखपूर्वक बैठ गया (और विधिपूर्वक ॐकारका उच्चारण करने लगा) ।। ४७ ।।

ओङ्कारेण यथान्यायं सम्यगुच्चारितेन ह ।
येन यत् पूर्वमभ्यस्तं तत् सर्वं समुपस्थितम् ।। ४८ ।।

नियमके अनुसार ॐकारका ठीक-ठीक उच्चारण होनेपर, जिसने पूर्वकालमें जिस वेदका अध्ययन एवं अभ्यास किया था, उसे वह सब स्मरण हो आया ।। ४८ ।।

ऋषयस्तत्र देवाश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ।
हरिर्नारायणस्तत्र महादेवस्तथैव च ।। ४९ ।।

उस समय वहाँ बहुत-से ऋषि, देवता, वरुण, अग्नि, प्रजापति, भगवान् नारायण और महादेवजी भी उपस्थित हुए ।। ४९ ।।

पितामहश्च भगवान् देवैः सह महाद्युतिः ।
भृगुं नियोजयामास याजनार्थे महाद्युतिम् ।। ५० ।।

महातेजस्वी भगवान् ब्रह्माने देवताओंके साथ जाकर परम कान्तिमान् भृगुको यज्ञ करानेके कामपर नियुक्त किया ।। ५० ।।

ततः स चक्रे भगवानृषीणां विधिवत् तदा ।
सर्वेषां पुनराधानं विधिदृष्टेन कर्मणा ।। ५१ ।।
आज्यभागेन तत्राग्निं तर्पयित्वा यथाविधि ।
देवाः स्वभवनं याता ऋषयश्च यथाक्रमम् ।। ५२ ।।

तदनन्तर भगवान् भृगुने वहाँ सब ऋषियोंके यहाँ शास्त्रीय विधिके अनुसार पुनः भलीभाँति अग्निस्थापन कराया। उस समय आज्यभागके द्वारा विधिपूर्वक अग्निको तृप्त करके सब देवता और ऋषि क्रमशः अपने-अपने स्थानको चले गये ।। ५१-५२ ।।

तदरण्यं प्रविष्टस्य तुङ्गकं राजसत्तम ।
पापं प्रणश्यत्यखिलं स्त्रियो वा पुरुषस्य वा ।। ५३ ।।

नृपश्रेष्ठ! उस तुंगकारण्यमें प्रवेश करते ही स्त्री या पुरुष सबके पाप नष्ट हो जाते हैं ।। ५३ ।।

तत्र मासं वसेद् धीरो नियतो नियताशनः ।
ब्रह्मलोकं व्रजेद् राजन् कुलं चैव समुद्धरेत् ।। ५४ ।।

धीर पुरुषको चाहिये कि वह नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करते हुए एक मासतक वहाँ रहे। राजन् ऐसा करनेवाला तीर्थयात्री ब्रह्मलोकमें जाता और अपने कुलका उद्धार कर देता है ।। ५४ ।।

मेधाविकं समासाद्य पितॄन् देवांश्च तर्पयेत् ।

अग्निष्टोममवाप्नोति स्मृतिं मेधां च विन्दति ।। ५५ ।।

तत्पश्चात् मेधाविकतीर्थमें जाकर देवताओं और पितरोंका तर्पण करे; ऐसा करनेवाला पुरुष अग्निष्टोमयज्ञका फल पाता और स्मृति एवं बुद्धिको प्राप्त कर लेता है ।।

अत्र कालञ्जरं नाम पर्वतं लोकविश्रुतम् ।

तत्र देवह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।। ५६ ।।

इस तीर्थमें कालंजर नामक लोकविख्यात पर्वत है, वहाँ देवह्रद नामक तीर्थमें स्नान करनेसे सहस्र गोदानका फल मिलता है ।। ५६ ।।

योः स्नातः साधयेत् तत्र गिरौ कालञ्जरे नृप ।

स्वर्गलोके महीयेत नरो नास्त्यत्र संशयः ।। ५७ ।।

राजन्! जो कालंजर पर्वतपर स्नान करके वहाँ साधन करता है, वह मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है; इसमें संशय नहीं है ।। ५७ ।।

ततो गिरिवरश्रेष्ठे चित्रकूटे विशाम्पते ।

मन्दाकिनीं समासाद्य सर्वपापप्रणाशिनीम् ।। ५८ ।।

तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः ।

अश्वमेधमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत् ।। ५९ ।।

राजन्! तदनन्तर पर्वतश्रेष्ठ चित्रकूटमें सब पापोंका नाश करनेवाली मन्दाकिनीके तटपर पहुँचकर उसमें स्नान करे और देवताओं तथा पितरोंकी पूजामें लग जाय। इससे वह अश्वमेधयज्ञका फल पाता और परम गतिको प्राप्त होता है ।। ५८-५९ ।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ भर्तृस्थानमनुत्तमम् ।

यत्र नित्यं महासेनो गुहः संनिहितो नृप ।। ६० ।।

तत्र गत्वा नृपश्रेष्ठ गमनादेव सिध्यति ।

धर्मज्ञ नरेश! तत्पश्चात् तीर्थयात्री परम उत्तम भर्तृस्थानकी यात्रा करे, जहाँ महासेन कार्तिकेयजी निवास करते हैं। नृपश्रेष्ठ! वहाँ जानेमात्रसे सिद्धि प्राप्त होती है ।। ६०½ ।।

कोटितीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।। ६१ ।।

प्रदक्षिणमुपावृत्य ज्येष्ठस्थानं व्रजेन्नरः ।

अभिगम्य महादेवं विराजति यथा शशी ।। ६२ ।।

कोटितीर्थमें स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदानका फल पाता है। उसकी परिक्रमा करके तीर्थयात्री मानव ज्येष्ठस्थानको जाय। वहाँ महादेवजीका दर्शन-पूजन करनेसे वह चन्द्रमाके समान प्रकाशित होता है ।।

तत्र कूपे महाराज विश्रुता भरतर्षभ ।

समुद्रास्तत्र चत्वारो निवसन्ति युधिष्ठिर ।। ६३ ।।

भरतकुलभूषण महाराज युधिष्ठिर! वहाँ एक कूप है जिसमें चारों समुद्र निवास करते हैं ।। ६३ ।।

तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र पितृदेवार्चने रतः ।
नियतात्मा नरः पूतो गच्छेत परमां गतिम् ।। ६४ ।।

राजेन्द्र! उसमें स्नान करके देवताओं और पितरोंके पूजनमें तत्पर रहनेवाला जितात्मा पुरुष पवित्र हो परमगतिको प्राप्त होता है ।। ६४ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र शृङ्गवेरपुरं महत् ।
यत्र तीर्णो महाराज रामो दाशरथिः पुरा ।। ६५ ।।

राजेन्द्र! वहाँसे महान् शृङ्गवेरपुरकी यात्रा करे। महाराज! पूर्वकालमें दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीने वहीं गंगा पार की थी ।। ६५ ।।

तस्मिंस्तीर्थे महाबाहो स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते ।
गङ्गायां तु नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ।। ६६ ।।
विधूतपाप्मा भवति वाजपेयं च विन्दति ।

महाबाहो! उस तीर्थमें स्नान करके मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्र हो गंगाजीमें स्नान करके मनुष्य पापरहित होता तथा वाजपेययज्ञका फल पाता है ।। ६६½ ।।

ततो मुञ्जवटं गच्छेत् स्थानं देवस्य धीमतः ।। ६७ ।।
अभिगम्य महादेवमभिवाद्य च भारत ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गाणपत्यमवाप्नुयात् ।। ६८ ।।
तस्मिंस्तीर्थे तु जाह्नव्यां स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते ।

तदनन्तर तीर्थयात्री परम बुद्धिमान् महादेवजीके मुंजवट नामक तीर्थको जाय। भरतनन्दन उस तीर्थमें महादेवजीके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके परिक्रमा करनेसे मनुष्य गणपतिपद प्राप्त कर लेता है। उक्त तीर्थमें जाकर गंगामें स्नान करनेसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ।। ६७-६८½ ।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रयागमृषिसंस्तुतम् ।। ६९ ।।
तत्र ब्रह्मादयो देवा दिशश्च सदिगीश्वराः ।
लोकपालाश्च साध्याश्च पितरो लोकसम्मताः ।। ७० ।।
सनत्कुमारप्रमुखास्तथैव परमर्षयः ।
अङ्गिरःप्रमुखाश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।। ७१ ।।
तथा नागाः सुपर्णाश्च सिद्धाश्चक्रचरास्तथा ।
सरितः सागराश्चैव गन्धर्वाप्सरसोऽपि च ।। ७२ ।।
हरिश्च भगवानास्ते प्रजापतिपुरस्कृतः ।
तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि येषां मध्येन जाह्नवी ।। ७३ ।।
वेगेन समतिक्रान्ता सर्वतीर्थपुरस्कृता ।
तपनस्य सुता देवी त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।। ७४ ।।

यमुना गङ्गया सार्धं संगता लोकपावनी ।
गङ्गायमुनयोर्मध्यं पृथिव्या जघनं स्मृतम् ।। ७५ ।।

राजेन्द्र! तत्पश्चात् महर्षियोंद्वारा प्रशंसित प्रयागतीर्थमें जाय। जहाँ ब्रह्मा आदि देवता, दिशा, दिक्पाल, लोकपाल, साध्य, लोकसम्मानित पितर, सनत्कुमार आदि महर्षि, अंगिरा आदि निर्मल ब्रह्मर्षि, नाग, सुपर्ण, सिद्ध, सूर्य, नदी, समुद्र, गन्धर्व, अप्सरा तथा ब्रह्माजीसहित भगवान् विष्णु निवास करते हैं। वहाँ तीन अग्निकुण्ड हैं जिनके बीचसे सब तीर्थोंसे सम्पन्न गंगा वेगपूर्वक बहती हैं। त्रिभुवनविख्यात सूर्यपुत्री लोकपावनी यमुनादेवी वहाँ गंगाजीके साथ मिली हैं। गंगा और यमुनाका मध्यभाग पृथ्वीका जघन माना गया है ।। ६९—७५ ।।

प्रयागं जघनस्थानमुपस्थमृषयो विदुः ।
प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरौ तथा ।। ७६ ।।
तीर्थं भोगवती चैव वेदिरेषा प्रजापतेः ।
तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तो युधिष्ठिर ।। ७७ ।।
प्रजापतिमुपासन्ते ऋषयश्च तपोधनाः ।
यजन्ते क्रतुभिर्देवास्तथा चक्रधरा नृपाः ।। ७८ ।।
ततः पुण्यतमं नाम त्रिषु लोकेषु भारत ।
प्रयागं सर्वतीर्थेभ्यः प्रवदन्त्यधिकं विभो ।। ७९ ।।
गमनात् तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि ।
मृत्युकालभयाच्चापि नरः पापात् प्रमुच्यते ।। ८० ।।

ऋषियोंने प्रयागको जघनस्थानीय उपस्थ बताया है। प्रतिष्ठानपुर (झूसी)-सहित प्रयाग, कम्बल और अश्वतर नाग तथा भोगवतीतीर्थ यह ब्रह्माजीकी वेदी है। युधिष्ठिर! उस तीर्थमें वेद और यज्ञ मूर्तिमान् होकर रहते हैं और प्रजापतिकी उपासना करते हैं। तपोधन ऋषि, देवता तथा चक्रधर नृपतिगण वहाँ यज्ञोंद्वारा भगवान्का यजन करते हैं। भरतनन्दन! इसीलिये तीनों लोकोंमें प्रयागको सब तीर्थोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ एवं पुण्यतम बताते हैं। उस तीर्थमें जानेसे अथवा उसका नाम लेनेमात्रसे भी मनुष्य मृत्युकालके भय और पापसे मुक्त हो जाता है ।। ७६—८० ।।

तत्राभिषेकं यः कुर्यात् संगमे लोकविश्रुते ।
पुण्यं स फलमाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ।। ८१ ।।

वहाँके विश्वविख्यात संगममें जो स्नान करता है वह राजसूय और अश्वमेधयज्ञोंका पुण्यफल प्राप्त कर लेता है ।। ८१ ।।

एषा यजनभूमिर्हि देवानामभिसंस्कृता ।
तत्र दत्तं सूक्ष्ममपि महद् भवति भारत ।। ८२ ।।

भरतनन्दन! यह देवताओंकी संस्कार की हुई यज्ञभूमि है। यहाँ दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान महान् होता है ।। ८२ ।।

न वेदवचनात् तात न लोकवचनादपि ।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति ।। ८३ ।।

तात! तुम्हें किसी वैदिक वचनसे या लौकिक वचनसे भी प्रयागमें मरनेका विचार नहीं त्यागना चाहिये ।। ८३ ।।

दश तीर्थसहस्राणि षष्टिः कोट्यस्तथापराः ।
येषां सांनिध्यमत्रैव कीर्तितं कुरुनन्दन ।। ८४ ।।
चतुर्विद्ये च यत् पुण्यं सत्यवादिषु चैव यत् ।
स्नात एव तदाप्नोति गङ्गायमुनसंगमे ।। ८५ ।।

कुरुनन्दन! साठ करोड़ दस हजार तीर्थोंका निवास केवल इस प्रयागमें ही बताया गया है। चारों विद्याओंके ज्ञानसे जो पुण्य होता है तथा सत्य बोलनेवाले व्यक्तियोंको जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है वह सब गंगा-यमुनाके संगममें स्नान करनेमात्रसे प्राप्त हो जाता है ।। ८४-८५ ।।

तत्र भोगवती नाम वासुकेस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्राभिषेकं यः कुर्यात् सोऽश्वमेधफलं लभेत् ।। ८६ ।।

प्रयागमें भोगवती नामसे प्रसिद्ध वासुकि नागका उत्तम तीर्थ है। जो वहाँ स्नान करता है, उसे अश्वमेधयज्ञका फल मिलता है ।। ८६ ।।

तत्र हंसप्रपतनं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
दशाश्वमेधिकं चैव गङ्गायां कुरुनन्दन ।। ८७ ।।

कुरुनन्दन! वहीं त्रिलोकविख्यात हंसप्रपतन नामक तीर्थ है और गंगाके तटपर दशाश्वमेधिक तीर्थ है ।। ८७ ।।

कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा यत्र तत्रावगाहिता ।
विशेषो वै कनखले प्रयागे परमं महत् ।। ८८ ।।

गंगामें जहाँ कहीं भी स्नान किया जाय वह कुरुक्षेत्रके समान पुण्यदायिनी है। कनखलमें गंगाका स्नान विशेष माहात्म्य रखता है और प्रयागमें गंगा-स्नानका माहात्म्य सबकी अपेक्षा बहुत अधिक है ।। ८८ ।।

यद्यकार्यशतं कृत्वा कृतं गङ्गाभिषेचनम् ।
सर्वं तत् तस्य गङ्गाम्भो दहत्यग्निरिवेन्धनम् ।। ८९ ।।
सर्वं कृतयुगे पुण्यं त्रेतायां पुष्करं स्मृतम् ।
द्वापरेऽपि कुरुक्षेत्रं गङ्गा कलियुगे स्मृता ।। ९० ।।
पुष्करे तु तपस्तप्येद् दानं दद्यान्महालये ।
मलये त्वग्निमारोहेद् भृगुतुङ्गे त्वनाशनम् ।। ९१ ।।

जैसे अग्नि ईंधनको जला देती है, उसी प्रकार सैकड़ों निषिद्ध कर्म करके भी यदि गंगास्नान किया जाय तो उसका जल उन सब पापोंको भस्म कर देता है। सत्ययुगमें सभी तीर्थ पुण्यदायक होते हैं। त्रेतामें पुष्करका महत्त्व है। द्वापरमें कुरुक्षेत्र विशेष पुण्यदायक है और कलियुगमें गंगाकी अधिक महिमा बतायी गयी है। पुष्करमें तप करे, महालयमें दान दे, मलय पर्वतमें अग्निपर आरूढ हो और भृगुतुंगमें उपवास करे ।। ८९—९१ ।।

पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गङ्गायां मध्यमेषु च ।
स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्तसप्तावरांस्तथा ।। ९२ ।।

पुष्कर, कुरुक्षेत्र, गंगा तथा प्रयाग आदि मध्यवर्ती तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य अपने आगे-पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है ।। ९२ ।।

पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति ।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम् ।। ९३ ।।

गंगाजीका नाम लिया जाय तो वह सारे पापोंको धो-बहाकर पवित्र कर देती है। दर्शन करनेपर कल्याण प्रदान करती है तथा स्नान और जलपान करनेपर वह मनुष्यकी सात पीढ़ियोंको पावन बना देती है ।। ९३ ।।

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम् ।
तावत् स पुरुषो राजन् स्वर्गलोके महीयते ।। ९४ ।।

राजन्! मनुष्यकी हड्डी जबतक गंगाजलका स्पर्श करती है, तबतक वह पुरुष स्वर्गलोकमें पूजित होता है ।। ९४ ।।

यथा पुण्यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
उपास्य पुण्यं लब्ध्वा च भवत्यमरलोकभाक् ।। ९५ ।।

जितने पुण्य तीर्थ हैं और जितने पुण्य मन्दिर हैं, उन सबकी उपासना (सेवन)-से पुण्यलाभ करके मनुष्य देवलोकका भागी होता है ।। ९५ ।।

न गङ्गासदृशं तीर्थं न देवः केशवात् परः ।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः ।। ९६ ।।

गंगाके समान कोई तीर्थ नहीं, भगवान् विष्णुसे बढ़कर कोई देवता नहीं और ब्राह्मणोंसे उत्तम कोई वर्ण नहीं है; ऐसा ब्रह्माजीका कथन है ।। ९६ ।।

यत्र गङ्गा महाराज स देशस्तत् तपोवनम् ।
सिद्धिक्षेत्रं च तज्ज्ञेयं गङ्गातीरसमाश्रितम् ।। ९७ ।।

महाराज! जहाँ गंगा बहती हैं वही उत्तम देश है; और वही तपोवन है। गंगाके तटवर्ती स्थानको सिद्धिक्षेत्र समझना चाहिये ।। ९७ ।।

इदं सत्यं द्विजातीनां साधूनामात्मजस्य च ।
सुहृदां च जपेत् कर्णे शिष्यस्यानुगतस्य च ।। ९८ ।।

इस सत्य सिद्धान्तको ब्राह्मण आदि द्विजों, साधु पुरुषों, पुत्र, सुहृदों, शिष्यवर्ग तथा अपने अनुगत मनुष्योंके कानमें कहना चाहिये ।। ९८ ।।

इदं धन्यमिदं मेध्यमिदं स्वर्ग्यमनुत्तमम् ।
इदं पुण्यमिदं रम्यं पावनं धर्म्यमुत्तमम् ।। ९९ ।।

यह गंगा-माहात्म्य धन्य, पवित्र, स्वर्गप्रद और परम उत्तम है। यह पुण्यदायक, रमणीय, पावन, उत्तम, धर्मसंगत और श्रेष्ठ है ।। ९९ ।।

महर्षीणामिदं गुह्यं सर्वपापप्रमोचनम् ।
अधीत्य द्विजमध्ये च निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ।। १०० ।।

यह महर्षियोंका गोपनीय रहस्य है। सब पापोंका नाश करनेवाला है। द्विजमण्डलीमें इस गंगा-माहात्म्यका पाठ करके मनुष्य निर्मल हो स्वर्गलोकमें पहुँच जाता है ।। १०० ।।

श्रीमत् स्वर्ग्यं तथा पुण्यं सपत्नशमनं शिवम् ।
मेधाजननमग्रयं वै तीर्थवंशानुकीर्तनम् ।। १०१ ।।

यह तीर्थसमूहोंकी महिमाका वर्णन परम उत्तम, सम्पत्तिदायक, स्वर्गप्रद, पुण्यकारक, शत्रुओंका निवारण करनेवाला, कल्याणकारक तथा मेधाशक्तिको उत्पन्न करनेवाला है ।। १०१ ।।

अपुत्रो लभते पुत्रमधनो धनमाप्नुयात् ।
महीं विजयते राजा वैश्यो धनमवाप्नुयात् ।। १०२ ।।

इस तीर्थ-माहात्म्यका पाठ करनेसे पुत्रहीनको पुत्र प्राप्त होता है, धनहीनको धन मिलता है, राजा इस पृथ्वीपर विजय पाता है और वैश्यको व्यापारमें धन मिलता है ।। १०२ ।।

शूद्रो यथेप्सितान् कामान् ब्राह्मणः पारगः पठन् ।
यश्चेदं शृणुयान्नित्यं तीर्थपुण्यं नरः शुचिः ।। १०३ ।।
जातीः स स्मरते बह्वीर्नाकपृष्ठे च मोदते ।
गम्यान्यपि च तीर्थानि कीर्तितान्यगमानि च ।। १०४ ।।

शूद्र मनोवांछित वस्तुएँ पाता है और ब्राह्मण इसका पाठ करे तो वह समस्त शास्त्रोंका पारंगत विद्वान होता है। जो मनुष्य तीर्थोंके इस पुण्य माहात्म्यको प्रतिदिन सुनता है वह पवित्र हो पहलेके अनेक जन्मोंकी बातें याद कर लेता है और देहत्यागके पश्चात् स्वर्गलोकमें आनन्दका अनुभव करता है। भीष्म! मैंने यहाँ गम्य और अगम्य सभी प्रकारके तीर्थोंका वर्णन किया है ।।

मनसा तानि गच्छेत सर्वतीर्थसमीक्षया ।
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ।। १०५ ।।
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च स्नातानि सुकृतैषिभिः ।
एवं त्वमपि कौरव्य विधिनानेन सुव्रत ।। १०६ ।।

व्रज तीर्थानि नियतः पुण्यं पुण्येन वर्धयन् ।
भावितैः करणैः पूर्वमास्तिक्याच्छ्रुतिदर्शनात् ।। १०७ ।।
प्राप्यन्ते तानि तीर्थानि सद्भिः शास्त्रानुदर्शिभिः ।
नाव्रती नाकृतात्मा च नाशुचिर्न च तस्करः ।। १०८ ।।
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ।
त्वया तु सम्यग्वृत्तेन नित्यं धर्मार्थदर्शिना ।। १०९ ।।
पिता पितामहश्चैव सर्वे च प्रपितामहाः ।
पितामहपुरोगाश्च देवाः सर्षिगणा नृप ।। ११० ।।
तव धर्मेण धर्मज्ञ नित्यमेवाभितोषिताः ।
अवाप्स्यसि त्वं लोकान् वै वसूनां वासवोपम ।
कीर्तिं च महतीं भीष्म प्राप्स्यसे भुवि शाश्वतीम् ।। १११ ।।

सम्पूर्ण तीर्थोंके दर्शनकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये मनुष्य जहाँ जाना सम्भव न हो उन अगम्य तीर्थोंमें मनसे यात्रा करे, अर्थात् मनसे उन तीर्थोंका चिन्तन करे। वसुगण, साध्यगण, आदित्यगण, मरुद्गण, दोनों अश्विनीकुमार तथा देवोपम महर्षियोंने भी पुण्य लाभकी इच्छासे उन तीर्थोंमें स्नान किया है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुरुनन्दन! इसी प्रकार तुम भी विधिपूर्वक शौच-संतोषादि नियमोंका पालन करते और पुण्यसे पुण्यको बढ़ाते हुए उन तीर्थोंकी यात्रा करो। आस्तिकता और वेदोंके अनुशीलनसे पहले अपने इन्द्रियोंको पवित्र करके शास्त्रज्ञ साधु पुरुष ही उन तीर्थोंको प्राप्त करते हैं। कुरुनन्दन! जो ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका पालन नहीं करता, जिसने अपने चित्तको वशमें नहीं किया, जो अपवित्र आचार-विचारवाला और चोर है, जिसकी बुद्धि वक्र है, ऐसा मनुष्य श्रद्धा न होनेके कारण तीर्थोंमें स्नान नहीं करता। तुम धर्म और अर्थके ज्ञाता तथा नित्य सदाचारमें तत्पर रहनेवाले हो। धर्मज्ञ! तुमने पिता-पितामह-प्रपितामह, ब्रह्मा आदि देवता तथा महर्षिगण इन सबको सदा स्वधर्मपालनसे संतुष्ट किया है, अतः इन्द्रके समान तेजस्वी नरेश! तुम वसुओंके लोकमें जाओगे। भीष्म! तुम्हें इस पृथ्वीपर विशाल एवं अक्षय कीर्ति प्राप्त होगी ।। १०५—१११ ।।

नारद उवाच

एवमुक्त्वाभ्यनुज्ञाय पुलस्त्यो भगवानृषिः ।
प्रीतः प्रीतेन मनसा तत्रैवान्तरधीयत ।। ११२ ।।

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर भीष्मजीकी अनुमति ले संतुष्ट हुए भगवान् पुलस्त्य मुनि प्रसन्नमनसे वहीं अन्तर्धान हो गये ।। ११२ ।।

भीष्मश्च कुरुशार्दूल शास्त्रतत्त्वार्थदर्शिवान् ।
पुलस्त्यवचनाच्चैव पृथिवीं परिचक्रमे ।। ११३ ।।

कुरुश्रेष्ठ! शास्त्रके तात्त्विक अर्थको जाननेवाले भीष्मने महर्षि पुलस्त्यके वचनसे (तीर्थयात्राके लिये) सारी पृथ्वीकी परिक्रमा की ।। ११३ ।।

एवमेषा महाभाग प्रतिष्ठाने प्रतिष्ठिता ।

तीर्थयात्रा महापुण्या सर्वपापप्रमोचनी ।। ११४ ।।

महाभाग! इस प्रकार यह सब पापोंको दूर करनेवाली महापुण्यमयी तीर्थयात्रा प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग)-में प्रतिष्ठित है ।। ११४ ।।

अनेन विधिना यस्तु पृथिवीं संचरिष्यति ।

अश्वमेधशतस्याग्र्यं फलं प्रेत्य स भोक्ष्यति ।। ११५ ।।

जो इस विधिसे (तीर्थयात्राके उद्देश्यसे) सारी पृथ्वीकी परिक्रमा करेगा, वह सौ अश्वमेधयज्ञोंसे भी उत्तम पुण्यफल पाकर देहत्यागके पश्चात् उसका उपभोग करेगा ।। ११५ ।।

ततश्चाष्टगुणं पार्थ प्राप्स्यसे धर्ममुत्तमम् ।

भीष्मः कुरूणां प्रवरो यथापूर्वमवाप्तवान् ।। ११६ ।।

कुन्तीनन्दन! कुरुप्रवर भीष्मने पहले जिस प्रकार तीर्थयात्राजनित पुण्य प्राप्त किया था, उससे भी आठगुने उत्तम धर्मकी उपलब्धि तुम्हें होगी ।। ११६ ।।

नेता च त्वमृषीन् यस्मात् तेन तेऽष्टगुणं फलम् ।

रक्षोगणविकीर्णानि तीर्थान्येतानि भारत ।

न गतानि मनुष्येन्द्रैस्त्वामृते कुरुनन्दन ।। ११७ ।।

तुम अपने साथ इन सब ऋषियोंको ले जाओगे, इसीलिये तुम्हें आठगुना पुण्यफल प्राप्त होगा। भरतकुल-भूषण कुरुनन्दन! इन सभी तीर्थोंमें राक्षसोंके समुदाय फैले हुए हैं। तुम्हारे सिवा, दूसरे नरेशोंने वहाँकी यात्रा नहीं की है ।। ११७ ।।

इदं देवर्षिचरितं सर्वतीर्थाभिसंवृतम् ।

यः पठेत् कल्यमुत्थाय सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ११८ ।।

जो मनुष्य सबेरे उठकर देवर्षि पुलस्त्यद्वारा वर्णित सम्पूर्ण तीर्थोंके माहात्म्यसे संयुक्त इस प्रसंगका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।।

ऋषिमुख्याः सदा यत्र वाल्मीकिस्त्वथ कश्यपः ।

आत्रेयः कुण्डजठरो विश्वामित्रोऽथ गौतमः ।। ११९ ।।

असितो देवलश्चैव मार्कण्डेयोऽथ गालवः ।

भरद्वाजो वसिष्ठश्च मुनिरुद्दालकस्तथा ।। १२० ।।

शौनकः सह पुत्रेण व्यासश्च तपतां वरः ।

दुर्वासाश्च मुनिश्रेष्ठो जाबालिश्च महातपाः ।। १२१ ।।

एते ऋषिवराः सर्वे त्वत्प्रतीक्षास्तपोधनाः ।

एभिः सह महाराज तीर्थान्येतान्यनुव्रज ।। १२२ ।।

महाराज! ऋषिप्रवर वाल्मीकि, कश्यप, आत्रेय, कुण्डजठर, विश्वामित्र, गौतम, असित, देवल, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, वसिष्ठ, उद्दालक मुनि, शौनक तथा पुत्रसहित तपोधनप्रवर व्यास, मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा और महातपस्वी जाबालि—ये सभी महर्षि जो तपस्याके धनी हैं, तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इन सबके साथ उक्त तीर्थोंमें जाओ ।। ११९—१२२ ।।

एष ते लोमशो नाम महर्षिरमितद्युतिः ।
समेष्यति महाराज तेन सार्धमनुव्रज ।। १२३ ।।

महाराज! ये अमिततेजस्वी महर्षि लोमश तुम्हारे पास आनेवाले हैं, उन्हें साथ लेकर यात्रा करो ।। १२३ ।।

मयापि सह धर्मज्ञ तीर्थान्येतान्यनुक्रमात् ।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं यथा राजा महाभिषः ।। १२४ ।।

धर्मज्ञ! इस यात्रामें मैं भी तुम्हारा साथ दूँगा। प्राचीन राजा महाभिषके समान तुम भी क्रमशः इन तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए महान् यश प्राप्त करोगे ।। १२४ ।।

यथा ययातिर्धर्मात्मा यथा राजा पुरूरवाः ।
तथा त्वं राजशार्दूल स्वेन धर्मेण शोभसे ।। १२५ ।।
यथा भगीरथो राजा यथा रामश्च विश्रुतः ।
तथा त्वं सर्वराजभ्यो भ्राजसे रश्मिवानिव ।। १२६ ।।

नृपश्रेष्ठ! जैसे धर्मात्मा ययाति तथा राजा पुरूरवा थे वैसे ही तुम भी अपने धर्मसे सुशोभित हो रहे हो। जैसे राजा भगीरथ तथा विख्यात महाराज श्रीराम हो गये हैं, उसी प्रकार तुम भी सूर्यकी भाँति सब राजाओंसे अधिक शोभा पा रहे हो ।। १२५-१२६ ।।

यथा मनुर्यथेक्ष्वाकुर्यथा पूरुर्महायशाः ।
यथा वैन्यो महाराज तथा त्वमपि विश्रुतः ।। १२७ ।।
यथा च वृत्रहा सर्वान् सपत्नान् निर्दहन् पुरा ।
त्रैलोक्यं पालयामास देवराड् विगतज्वरः ।। १२८ ।।
तथा शत्रुक्षयं कृत्वा त्वं प्रजाः पालयिष्यसि ।
स्वधर्मविजितामुर्वीं प्राप्य राजीवलोचन ।। १२९ ।।
ख्यातिं यास्यसि धर्मेण कार्तवीर्यार्जुनो यथा ।। १३० ।।

महाराज! जैसे मनु, जैसे इक्ष्वाकु, जैसे महायशस्वी पूरु और जैसे वेननन्दन पृथु हो गये हैं वैसी ही तुम्हारी भी ख्याति है। पूर्वकालमें वृत्रासुरविनाशक देवराज इन्द्रने जैसे सब शत्रुओंका संहार करते हुए निश्चिन्त होकर तीनों लोकोंका पालन किया था, उसी प्रकार तुम भी शत्रुओंका नाश करके प्रजाका पालन करोगे। कमलनयन नरेश! तुम अपने धर्मसे जीती हुई पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त करके स्वधर्मपालनद्वारा कार्तवीर्य अर्जुनके समान विख्यात होओगे ।। १२७—१३० ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वास्य राजानं नारदो भगवानृषिः ।

अनुज्ञाप्य महाराज तत्रैवान्तरधीयत ।। १३१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! देवर्षि नारद इस प्रकार राजा युधिष्ठिरको आश्वासन देकर उनकी आज्ञा ले वहीं अन्तर्धान हो गये ।। १३१ ।।

युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा तमेवार्थं विचिन्तयन् ।

तीर्थयात्राश्रितं पुण्यमृषीणां प्रत्यवेदयत् ।। १३२ ।।

धर्मात्मा युधिष्ठिरने भी इसी विषयका चिन्तन करते हुए अपने पास रहनेवाले महर्षियोंसे तीर्थयात्रासम्बन्धी महान् पुण्यके विषयमें निवेदन किया ।। १३२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां नारदवाक्ये पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ।। ८५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें महर्षि पुलस्त्यकी तीर्थयात्राके सम्बन्धमें नारदवाक्यविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८५ ।।

षडशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धौम्य मुनिसे पुण्य तपोवन, आश्रम एवं नदी आदिके विषयमें पूछना

वैशम्पायन उवाच

भ्रातॄणां मतमाज्ञाय नारदस्य च धीमतः ।
पितामहसमं धौम्यं प्राह राजा युधिष्ठिरः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने भाइयों तथा परम बुद्धिमान् देवर्षि नारदकी सम्मति जानकर राजा युधिष्ठिरने पितामहके समान प्रभावशाली पुरोहित धौम्यजीसे कहा— ।। १ ।।

मया स पुरुषव्याघ्रो जिष्णुः सत्यपराक्रमः ।
अस्त्रहेतोर्महाबाहुरमितात्मा विवासितः ।। २ ।।

'ब्रह्मन्! मैंने अस्त्रप्राप्तिके लिये विजयी सत्य-पराक्रमी, महामना एवं प्रतापी पुरुषसिंह महाबाहु अर्जुनको निर्वासित कर रखा है ।। २ ।।

स हि वीरोऽनुरक्तश्च समर्थश्च तपोधनः ।
कृती च भृशमप्यस्त्रे वासुदेव इव प्रभुः ।। ३ ।।

'वह वीर मुझमें अनुराग रखनेवाला, सामर्थ्यशाली, तपस्याका धनी, पुण्यात्मा और अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति प्रभावशाली है ।। ३ ।।

अहं ह्येतावुभौ ब्रह्मन् कृष्णावरिविघातिनौ ।
अभिजानामि विक्रान्तौ तथा व्यासः प्रतापवान् ।। ४ ।।

'विप्रवर! मैं इन दोनों कृष्णनामधारी वीरोंको शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ और महापराक्रमी समझता हूँ। महाप्रतापी वेदव्यासजीकी भी यही धारणा है ।। ४ ।।

त्रियुगौ पुण्डरीकाक्षौ वासुदेवधनंजयौ ।
नारदोऽपि तथा वेद योऽप्यशंसत् सदा मम ।। ५ ।।

'कमलके समान नेत्रोंवाले भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन तीन युगोंसे सदा साथ रहते आये हैं। नारदजी भी इन दोनोंको इसी रूपमें जानते हैं; और सदा मुझसे इस बातकी चर्चा करते रहते हैं ।। ५ ।।

तथाहमपि जानामि नरनारायणावृषी ।
शक्तोऽयमित्यतो मत्वा मया स प्रेषितोऽर्जुनः ।। ६ ।।
इन्द्रादनवरः शक्रं सुरसूनुः सुराधिपम् ।
द्रष्टुमस्त्राणि चादातुमिन्द्रादिति विवासितः ।। ७ ।।

भीष्मद्रोणावतिरथौ कृपो द्रौणिश्च दुर्जयः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण वृता युधि महारथाः ।। ८ ।।

'मैं भी ऐसा ही समझता हूँ कि श्रीकृष्ण और अर्जुन सुप्रसिद्ध नर-नारायण ऋषि हैं। अर्जुनको शक्तिशाली समझकर ही मैंने उसे दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये भेजा है। देवपुत्र अर्जुन इन्द्रसे कम नहीं हैं। यह जानकर ही मैंने उसे देवराज इन्द्रका दर्शन करने और उनसे दिव्यास्त्रोंको प्राप्त करनेके लिये भेजा है। भीष्म और द्रोण अतिरथी वीर हैं। कृपाचार्य तथा अश्वत्थामाको भी जीतना कठिन है। धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने इन सभी महारथियोंको युद्धके लिये वरण कर लिया है ।। ६—८ ।।

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वास्त्रविदुषस्तथा ।
योद्धुकामाश्च पार्थेन सततं ये महाबलाः ।
स च दिव्यास्त्रवित् कर्णः सूतपुत्रो महारथः ।। ९ ।।

'वे सब-के-सब वेदज्ञ, शूरवीर, सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता, महाबली और सदा अर्जुनके साथ युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं। वह सूतपुत्र महारथी कर्ण भी दिव्यास्त्रोंका ज्ञाता है ।। ९ ।।

योऽस्त्रवेगानिलबलः शरार्चिस्तलनिःस्वनः ।
रजोधूमोऽस्त्रसम्पातो धार्तराष्ट्रानिलोद्धतः ।। १० ।।
निसृष्ट इव कालेन युगान्ते ज्वलनो महान् ।
मम सैन्यमयं कक्षं प्रधक्ष्यति न संशयः ।। ११ ।।

'कालने उसे प्रलयकालीन संवर्तक नामक महान् अग्निके समान उत्पन्न किया है। अस्त्रोंका वेग ही उसका वायुतुल्य बल है। बाण ही उसकी ज्वाला हैं। हथेलीसे होनेवाली आवाज ही उस दाहक अग्निका शब्द है। युद्धमें उठनेवाली धूल ही उस कर्णरूपी अग्निका धूम है। अस्त्रोंकी वर्षा ही उसकी लपटोंका लगना है। धृतराष्ट्र-पुत्ररूपी वायुका सहारा पाकर वह और भी उद्धत एवं प्रज्वलित हो उठा है। इसमें संदेह नहीं कि वह मेरी सेनाको सूखे तिनकोंकी राशिके समान भस्म कर डालेगा ।। १०-११ ।।

तं स कृष्णानिलोद्धूतो दिव्यास्त्रज्वलनो महान् ।
श्वेतवाजिबलाकाभृद् गाण्डीवेन्द्रायुधोल्बणः ।। १२ ।।
संरब्धः शरधाराभिः सुदीप्तं कर्णपावकम् ।
अर्जुनोदीरितो मेघः शमयिष्यति संयुगे ।। १३ ।।
स साक्षादेव सर्वाणि शक्रात् परपुरंजयः ।
दिव्यान्यस्त्राणि बीभत्सुस्ततश्च प्रतिपत्स्यते ।। १४ ।।

'उस आगको युद्धमें अर्जुन नामक महामेघ ही बुझा सकेगा। श्रीकृष्णरूपी वायुका सहारा पाकर ही वह मेघ उठेगा। दिव्यास्त्रोंका प्रकाश ही उसमें बिजलीकी चमक होगी। रथके श्वेत घोड़े ही उसके निकट उड़नेवाली बकपंक्तियोंकी भाँति सुशोभित होंगे। गाण्डीव

धनुष ही इन्द्रधनुषके समान दुःसह दृश्य उपस्थित करनेवाला होगा। वह क्रोधमें भरकर बाणरूपी जलकी धारासे कर्णरूपी प्रज्वलित अग्निको निश्चय ही शान्त कर देगा। शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाला अर्जुन साक्षात् इन्द्रसे सारे दिव्यास्त्र प्राप्त करेगा ।। १२—१४ ।।

अलं स तेषां सर्वेषामिति मे धीयते मतिः ।
नास्ति त्वतिकृतार्थानां रणेऽरीणां प्रतिक्रिया ।। १५ ।।

‘धृतराष्ट्र-पक्षके उक्त सभी महारथियोंको जीतनेके लिये वह अकेला ही पर्याप्त होगा; ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। अन्यथा अत्यन्त कृतार्थताका अनुभव करनेवाले शत्रुओंको दबानेका और कोई उपाय नहीं है ।।

ते वयं पाण्डवं सर्वे गृहीतास्त्रमरिंदमम् ।
द्रष्टारो न हि बीभत्सुर्भारमुद्यम्य सीदति ।। १६ ।।

‘अतः हम शत्रुहन्ता पाण्डुनन्दन अर्जुनको अवश्य ही सब दिव्यास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके आया हुआ देखेंगे; क्योंकि वह वीर किसी कार्य-भारको उठाकर उसे पूर्ण किये बिना कभी श्रान्त नहीं होता ।। १६ ।।

वयं तु तमृते वीरं वनेऽस्मिन् द्विपदां वर ।
अवधानं न गच्छामः काम्यके सह कृष्णया ।। १७ ।।

‘नरश्रेष्ठ! इस काम्यकवनमें वीर अर्जुनके बिना द्रौपदीसहित हम सब पाण्डवोंका मन बिलकुल नहीं लग रहा है ।। १७ ।।

भवानन्यद् वनं साधु बह्वन्नं फलवच्छुचि ।
आख्यातु रमणीयं च सेवितं पुण्यकर्मभिः ।। १८ ।।

‘इसलिये आप हमें किसी ऐसे रमणीय वनका पता बतायें जो बहुत अच्छा, पवित्र, प्रचुर अन्न और फलसे सम्पन्न तथा पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा सेवित हो ।। १८ ।।

यत्र कंचिद् वयं कालं वसन्तः सत्यविक्रमम् ।
प्रतीक्षामोऽर्जुनं वीरं वृष्टिकामा इवाम्बुदम् ।। १९ ।।

‘यहाँ हमलोग कुछ काल रहकर सत्यपराक्रमी वीर अर्जुनके आगमनकी उसी प्रकार प्रतीक्षा करें, जैसे वृष्टिकी इच्छा रखनेवाले किसान बादलोंकी राह देखते हैं ।। १९ ।।

विविधानाश्रमान् कांश्चिद् द्विजातिभ्यः प्रतिश्रुतान् ।
सरांसि सरितश्चैव रमणीयांश्च पर्वतान् ।। २० ।।
आचक्ष्व न हि मे ब्रह्मन् रोचते तमृतेऽर्जुनम् ।
वनेऽस्मिन् काम्यके वासो गच्छामोऽन्यां दिशं प्रति ।। २१ ।।

‘ब्रह्मन्! आप दूसरे ब्राह्मणोंसे सुने हुए नाना प्रकारके कतिपय आश्रमों, सरोवरों, सरिताओं तथा रमणीय पर्वतोंका पता बताइये। अर्जुनके बिना अब काम्यकवनमें रहना हमें अच्छा नहीं लगता; इसलिये अब दूसरी दिशाको चलेंगे’ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां षडशीतितमोऽध्यायः ।। ८६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यकी तीर्थयात्राविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८६ ।।

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

धौम्यद्वारा पूर्वदिशाके तीर्थोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

तान् सर्वानुत्सुकान् दृष्ट्वा पाण्डवान् दीनचेतसः ।
आश्वासयंस्तथा धौम्यो बृहस्पतिसमोऽब्रवीत् ।। १ ।।
ब्राह्मणानुमतान् पुण्यानाश्रमान् भरतर्षभ ।
दिशस्तीर्थानि शैलांश्च शृणु मे वदतोऽनघ ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंका चित्त अर्जुनके लिये अत्यन्त दीन हो रहा था। वे सब-के-सब उनसे मिलनेको उत्सुक थे। उनकी ऐसी अवस्था देखकर बृहस्पतिके समान तेजस्वी महर्षि धौम्यने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'पापरहित भरतकुलभूषण! ब्राह्मणलोग जिन्हें आदर देते हैं, उन पुण्य आश्रमों, दिशाओं, तीर्थों और पर्वतोंका मैं वर्णन करता हूँ, सुनो ।।

याञ्छ्रुत्वा गदतो राजन् विशोको भवितासि ह ।
द्रौपद्या चानया सार्धं भ्रातृभिश्च नरेश्वर ।। ३ ।।

'नरेश्वर! राजन्! मेरे मुखसे उन सबका वर्णन सुनकर तुम द्रौपदी तथा भाइयोंके साथ शोकरहित हो जाओगे ।। ३ ।।

श्रवणाच्चैव तेषां त्वं पुण्यमाप्स्यसि पाण्डव ।
गत्वा शतगुणं चैव तेभ्य एव नरोत्तम ।। ४ ।।

'नरश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन! उनका श्रवण करनेमात्रसे तुम्हें उनके सेवनका पुण्य प्राप्त होगा; और वहाँ जानेसे सौगुने पुण्यकी प्राप्ति होगी ।। ४ ।।

पूर्वं प्राचीं दिशं राजन् राजर्षिगणसेविताम् ।
रम्यां ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर यथास्मृति ।। ५ ।।

'महाराज युधिष्ठिर! मैं अपनी स्मरणशक्तिके अनुसार सबसे पहले राजर्षिगणोंद्वारा सेवित रमणीय प्राची दिशाका वर्णन करूँगा ।। ५ ।।

तस्यां देवर्षिजुष्टायां नैमिषं नाम भारत ।
यत्र तीर्थानि देवानां पुण्यानि च पृथक् पृथक् ।। ६ ।।

'भरतनन्दन! देवर्षिसेवित प्राची दिशामें नैमिष नामक तीर्थ है, जहाँ भिन्न-भिन्न देवताओंके अलग-अलग पुण्यतीर्थ हैं ।। ६ ।।

यत्र सा गोमती पुण्या रम्या देवर्षिसेविता ।
यज्ञभूमिश्च देवानां शामित्रं च विवस्वतः ।। ७ ।।

‘जहाँ देवर्षिसेवित परम रमणीय पुण्यमयी गोमती नदी है। देवताओंकी यज्ञभूमि और सूर्यका यज्ञपात्र विद्यमान है ।। ७ ।।

तस्यां गिरिवरः पुण्यो गयो राजर्षिसत्कृतः ।
शिवं ब्रह्मसरो यत्र सेवितं त्रिदशर्षिभिः ।। ८ ।।

‘प्राची दिशामें ही पुण्य पर्वतश्रेष्ठ गय है जो राजर्षि गयके द्वारा सम्मानित हुआ है। वहाँ कल्याणमय ब्रह्मसरोवर है जिसका देवर्षिगण सेवन करते हैं ।। ८ ।।

यदर्थे पुरुषव्याघ्र कीर्तयन्ति पुरातनाः ।
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ।। ९ ।।
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ।
उत्तारयति संतत्या दशपूर्वान् दशावरान् ।। १० ।।

‘पुरुषसिंह! उस गयाके विषयमें ही प्राचीनलोग यह कहा करते हैं कि ‘बहुत-से पुत्रोंकी इच्छा करनी चाहिये; सम्भव है उनमेंसे एक भी गया जाय या अश्वमेधयज्ञ करे अथवा नीलवृषका* उत्सर्ग करे। ऐसा पुरुष अपनी संततिद्वारा दस पहलेकी और दस बादकी पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है’ ।। ९-१० ।।

महानदी च तत्रैव तथा गयशिरो नृप ।
यत्रासौ कीर्त्यते विप्रैरक्षय्यकरणो वटः ।। ११ ।।

‘राजन्! वहीं महानदी और गयशीर्षतीर्थ है, जहाँ ब्राह्मणोंने अक्षयवटकी स्थिति बतायी है जिसके जड़ और शाखा आदि उपकरण कभी नष्ट नहीं होते ।। ११ ।।

यत्र दत्तं पितृभ्योऽन्नमक्षय्यं भवति प्रभो ।
सा च पुण्यजला तत्र फल्गुर्नाम महानदी ।। १२ ।।
बहुमूलफला चापि कौशिकी भरतर्षभ ।
विश्वामित्रोऽध्यगाद् यत्र ब्राह्मणत्वं तपोधनः ।। १३ ।।

‘प्रभो! वहाँ पितरोंके लिये दिया हुआ अन्न अक्षय होता है। भरतश्रेष्ठ! वहीं फल्गु नामवाली पुण्यसलिला महानदी है और वहीं बहुत-से फल-मूलोंवाली कौशिकी नदी प्रवाहित होती है जहाँ तपोधन विश्वामित्र ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए थे ।। १२-१३ ।।

गङ्गा यत्र नदी पुण्या यस्यास्तीरे भगीरथः ।
अयजत् तत्र बहुभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।। १४ ।।

‘पूर्वदिशामें ही पुण्यनदी गङ्गा बहती है, जिसके तटपर राजा भगीरथने प्रचुर दक्षिणावाले बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ।। १४ ।।

पञ्चालेषु च कौरव्य कथयन्त्युत्पलावनम् ।

विश्वामित्रोऽयजद् यत्र पुत्रेण सह कौशिकः ।। १५ ।।

'कुरुनन्दन! पंचालदेशमें ऋषिलोग उत्पलावन बतलाते हैं, जहाँ कुशिकनन्दन विश्वामित्रने अपने पुत्रके साथ यज्ञ किया था ।। १५ ।।

यत्रानुवंशं भगवाञ्जामदग्न्यस्तथा जगौ ।
विश्वामित्रस्य तां दृष्ट्वा विभूतिमतिमानुषीम् ।। १६ ।।

'उसी यज्ञमें विश्वामित्रका अलौकिक वैभव देखकर जमदग्निनन्दन परशुरामने उनके वंशके अनुरूप यशका वर्णन किया था ।। १६ ।।

कान्यकुब्जेऽपिबत् सोममिन्द्रेण सह कौशिकः ।
ततः क्षत्रादपाक्रामद् ब्राह्मणोऽस्मीति चाब्रवीत् ।। १७ ।।

'विश्वामित्रजीने कान्यकुब्जदेशमें इन्द्रके साथ सोमपान किया; वहीं वे क्षत्रियत्वसे ऊपर उठ गये और 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह बात घोषित कर दी ।। १७ ।।

पवित्रमृषिभिर्जुष्टं पुण्यं पावनमुत्तमम् ।
गङ्गायमुनयोर्वीर संगमं लोकविश्रुतम् ।। १८ ।।

'वीरवर! गंगा और यमुनाका परम उत्तम पुण्यमय पवित्र संगम सम्पूर्ण जगत्में विख्यात है और बड़े-बड़े महर्षि उसका सेवन करते हैं ।। १८ ।।

यत्रायजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः ।
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद् भरतसत्तम ।। १९ ।।

'जहाँ समस्त प्राणियोंके आत्मा भगवान् ब्रह्माजीने पहले ही यज्ञ किया था। भरतकुलभूषण! ब्रह्माजीके उस प्रकृष्टयागसे ही उस स्थानका नाम 'प्रयाग' हो गया ।।

अगस्त्यस्य तु राजेन्द्र तत्राश्रमवरो नृप ।
तत् तथा तापसारण्यं तापसैरुपशोभितम् ।। २० ।।

'राजेन्द्र! वहाँ महर्षि अगस्त्यका श्रेष्ठ आश्रम है। इसी प्रकार तापसारण्य तपस्वीजनोंसे सुशोभित है ।। २० ।।

हिरण्यबिन्दुः कथितो गिरौ कालञ्जरे महान् ।
आगस्त्यपर्वतो रम्यः पुण्यो गिरिवरः शिवः ।। २१ ।।

'कालञ्जर पर्वतपर हिरण्यबिन्दु नामसे प्रसिद्ध महान् तीर्थ बताया गया है। आगस्त्यपर्वत बहुत ही रमणीय, पवित्र, श्रेष्ठ एवं कल्याणस्वरूप है ।। २१ ।।

महेन्द्रो नाम कौरव्य भार्गवस्य महात्मनः ।
अयजत् तत्र कौन्तेय पूर्वमेव पितामहः ।। २२ ।।

'कुरुनन्दन! महात्मा भार्गवका निवासस्थान महेन्द्र-पर्वत है। कुन्तीनन्दन! वहाँ ब्रह्माजीने पूर्वकालमें यज्ञ किया था ।। २२ ।।

यत्र भागीरथी पुण्या सरस्यासीद् युधिष्ठिर ।

यत्र सा ब्रह्मशालेति पुण्या ख्याता विशाम्पते ।। २३ ।।
धूतपाप्मभिराकीर्णा पुण्यं तस्याश्च दर्शनम् ।

‘युधिष्ठिर! जहाँ पुण्यसलिला भागीरथी गंगा सरोवरमें स्थित थी। महाराज! जहाँपर उन्हें ‘ब्रह्मशाला’ यह पवित्र नाम दिया गया है। वह पुण्यतीर्थ निष्पाप मनुष्योंसे व्याप्त है; उसका दर्शन पुण्यमय बताया गया है ।।

पवित्रो मङ्गलीयश्च ख्यातो लोके महात्मनः ।। २४ ।।
केदारश्च मतङ्गस्य महानाश्रम उत्तमः ।
कुण्डोदः पर्वतो रम्यो बहुमूलफलोदकः ।। २५ ।।
नैषधस्तृषितो यत्र जलं शर्म च लब्धवान् ।

‘वहीं महात्मा मतंगऋषिका महान् एवं उत्तम आश्रम केदारतीर्थ है। वह परम पवित्र, मंगलकारी और लोकमें विख्यात है। कुण्डोद नामक रमणीय पर्वत बहुत फल-मूल और जलसे सम्पन्न है, जहाँ प्यासे हुए निषधनरेशको जल और शान्तिकी उपलब्धि हुई थी ।।

यत्र देववनं पुण्यं तापसैरुपशोभितम् ।। २६ ।।
बाहुदा च नदी यत्र नन्दा च गिरिमूर्धनि ।

‘वहीं तपस्वीजनोंसे सुशोभित पवित्र देववन नामक पुण्यक्षेत्र है, जहाँ पर्वतके शिखरपर बाहुदा और नन्दा नदी बहती हैं ।। २६½ ।।

तीर्थानि सरितः शैलाः पुण्यान्यायतनानि च ।। २७ ।।
प्राच्यां दिशि महाराज कीर्तितानि मया तव ।
तिसृष्वन्यानि पुण्यानि दिक्षु तीर्थानि मे शृणु ।
सरितः पर्वतांश्चैव पुण्यान्यायतनानि च ।। २८ ।।

‘महाराज! पूर्वदिशामें जो बहुत-से तीर्थ, नदियाँ, पर्वत और पुण्य मन्दिर आदि हैं, उनका मैंने तुमसे (संक्षेपमें) वर्णन किया है। अब शेष तीन दिशाओंके सरिताओं, पर्वतों और पुण्यस्थानोंका वर्णन करता हूँ, सुनो’ ।। २७-२८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां सप्ताशीतितमोऽध्यायः ।। ८७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८७ ।।

---

* लोहितो यस्तु वर्णेन पुच्छाग्रेण तु पाण्डुरः । श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते ।।

जिसका रंग तो लाल हो पर पूँछका अग्रभाग सफेद हो एवं खुर और सींग भी सफेद हों, वह नील वृष कहा जाता है।

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

धौम्यमुनिके द्वारा दक्षिण दिशावर्ती तीर्थोंका वर्णन

धौम्य उवाच

दक्षिणस्यां तु पुण्यानि शृणु तीर्थानि भारत ।
विस्तरेण यथाबुद्धि कीर्त्यमानानि तानि वै ।। १ ।।

धौम्यजी कहते हैं—भरतवंशी युधिष्ठिर! अब मैं अपनी बुद्धिके अनुसार दक्षिणदिशावर्ती पुण्यतीर्थोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ, सुनो— ।। १ ।।

यस्यामाख्यायते पुण्या दिशि गोदावरी नदी ।
बह्वारामा बहुजला तापसाचरिता शिवा ।। २ ।।

दक्षिणमें पुण्यमयी गोदावरी नदी बहुत प्रसिद्ध है, जिसके तटपर अनेक बगीचे सुशोभित हैं। उसके भीतर अगाध जल भरा हुआ है। बहुत-से तपस्वी उसका सेवन करते हैं तथा वह सबके लिये कल्याण-स्वरूपा है ।। २ ।।

वेणा भीमरथी चैव नद्यौ पापभयापहे ।
मृगद्विजसमाकीर्णे तापसालयभूषिते ।। ३ ।।

वेणा और भीमरथी—ये दो नदियाँ भी दक्षिणमें ही हैं जो समस्त पापभयका नाश करनेवाली हैं। उसके दोनों तट अनेक प्रकारके पशु-पक्षियोंसे व्याप्त और तपस्वीजनोंके आश्रमोंसे विभूषित हैं ।। ३ ।।

राजर्षेस्तस्य च सरिन्नृगस्य भरतर्षभ ।
रम्यतीर्था बहुजला पयोष्णी द्विजसेविता ।। ४ ।।

भरतकुलभूषण! राजा नृगकी नदी पयोष्णी भी उधर ही है जो रमणीय तीर्थों और अगाध जलसे सुशोभित है। द्विज उसका सेवन करते हैं ।। ४ ।।

अपि चात्र महायोगी मार्कण्डेयो महायशाः ।
अनुवंश्यां जगौ गाथां नृगस्य धरणीपतेः ।। ५ ।।
नृगस्य यजमानस्य प्रत्यक्षमिति नः श्रुतम् ।
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।। ६ ।।
पयोष्ण्यां यजमानस्य वाराहे तीर्थ उत्तमे ।
उद्धृतं भूतलस्थं वा वायुना समुदीरितम् ।
पयोष्ण्या हरते तोयं पापमामरणान्तिकम् ।। ७ ।।

इस विषयमें हमारे सुननेमें आया है कि महायोगी एवं महायशस्वी मार्कण्डेयने यजमान राजा नृगके सामने उनके वंशके योग्य यशोगाथाका वर्णन इस प्रकार किया था —'पयोष्णीके तटपर उत्तम वाराहतीर्थमें यज्ञ करनेवाले राजा नृगके यज्ञमें इन्द्र सोमपान

करके मस्त हो गये थे और प्रचुर दक्षिणा पाकर ब्राह्मणलोग भी हर्षोल्लाससे पूर्ण हो गये थे।' पयोष्णीका जल हाथसे उठाया गया हो या धरतीपर पड़ा हो अथवा वायुके वेगसे उछलकर अपने ऊपर पड़ गया हो तो वह जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त किये हुए समस्त पापोंको हर लेता है ।। ५—७ ।।

स्वर्गादुत्तुङ्गममलं विषाणं यत्र शूलिनः ।
स्वमात्मविहितं दृष्ट्वा मर्त्यः शिवपुरं व्रजेत् ।। ८ ।।

जहाँ भगवान् शंकरका स्वयं ही अपने लिये बनाया हुआ शृंग नामक वाद्यविशेष स्वर्गसे भी ऊँचा और निर्मल है, उसका दर्शन करके मरणधर्मा मानव शिवधाममें चला जाता है ।। ८ ।।

एकतः सरितः सर्वा गङ्गाद्याः सलिलोच्चयाः ।
पयोष्णी चैकतः पुण्या तीर्थेभ्यो हि मता मम ।। ९ ।।

एक ओर अगाध जलराशिसे भरी हुई गंगा आदि सम्पूर्ण नदियाँ हों और दूसरी ओर केवल पुण्यसलिला पयोष्णी नदी हो तो वही अन्य सब नदियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; ऐसा मेरा विचार है ।। ९ ।।

माठरस्य वनं पुण्यं बहुमूलफलं शिवम् ।
यूपश्च भरतश्रेष्ठ वरुणस्रोतसे गिरौ ।। १० ।।

भरतश्रेष्ठ! दक्षिणमें पवित्र माठरवन है, जो प्रचुर फलमूलसे सम्पन्न और कल्याणस्वरूप है। वहाँ वरुण-स्रोतस नामक पर्वतपर माठर (सूर्यके पार्श्ववर्ती देवता) का विजय-स्तम्भ सुशोभित होता है ।। १० ।।

प्रवेण्युत्तरमार्गे तु पुण्ये कण्वाश्रमे तथा ।
तापसानामरण्यानि कीर्तितानि यथाश्रुति ।। ११ ।।

यह स्तम्भ प्रवेणी नदीके उत्तरवर्ती मार्गमें कण्वके पुण्यमय आश्रममें है। इस प्रकार जैसा कि मैंने सुन रखा था, तपस्वी महात्माओंके निवासयोग्य वनोंका वर्णन किया है ।। ११ ।।

वेदी शूर्पारके तात जमदग्नेर्महात्मनः ।
रम्या पाषाणतीर्था च पुनश्चन्द्रा च भारत ।। १२ ।।

तात! शूर्पारकक्षेत्रमें महात्मा जमदग्निकी वेदी है। भारत! वहीं रमणीय पाषाणतीर्था और पुनश्चन्द्रा नामक तीर्थ-विशेष हैं ।। १२ ।।

अशोकतीर्थं तत्रैव कौन्तेय बहुलाश्रमम् ।
अगस्त्यतीर्थं पाण्ड्येषु वारुणं च युधिष्ठिर ।। १३ ।।
कुमार्यः कथिताः पुण्याः पाण्ड्येष्वेव नरर्षभ ।
ताम्रपर्णीं तु कौन्तेय कीर्तयिष्यामि तां शृणु ।। १४ ।।

कुन्तीनन्दन! उसी क्षेत्रमें अशोकतीर्थ है, जहाँ महर्षियोंके बहुत-से आश्रम हैं। युधिष्ठिर! पाण्ड्यदेशमें अगस्त्यतीर्थ और वारुणतीर्थ है। नरश्रेष्ठ! पाण्ड्यदेशके भीतर पवित्र कुमारी कन्याएँ (कन्याकुमारी तीर्थ) कही गयी हैं। कुन्तीकुमार! अब मैं तुमसे ताम्रपर्णी नदीकी महिमाका वर्णन करूँगा, सुनो ।। १३-१४ ।।

यत्र देवैस्तपस्तप्तं महदिच्छद्भिराश्रमे ।
गोकर्ण इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु भारत ।। १५ ।।

भरतनन्दन! वहाँ मोक्ष पानेकी इच्छासे देवताओंने आश्रममें रहकर बड़ी भारी तपस्या की थी। वहाँका गोकर्णतीर्थ तीनों लोकोंमें विख्यात है ।। १५ ।।

शीततोयो बहुजलः पुण्यस्तात शिवः शुभः ।
ह्रदः परमदुष्प्रापो मानुषैरकृतात्मभिः ।। १६ ।।

तात! गोकर्णतीर्थमें शीतल जल भरा रहता है। उसकी जलराशि अनन्त है। वह पवित्र, कल्याणमय और शुभ है। जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, ऐसे मनुष्योंके लिये गोकर्णतीर्थ अत्यन्त दुर्लभ है ।। १६ ।।

तत्र वृक्षतृणाद्यैश्च सम्पन्नः फलमूलवान् ।
आश्रमोऽगस्त्यशिष्यस्य पुण्यो देवसमो गिरिः ।। १७ ।।

वहाँ अगस्त्यके शिष्यका पुण्यमय आश्रम है, जो वृक्षों और तृण आदिसे सम्पन्न एवं फल-मूलोंसे परिपूर्ण है। देवसम नामक पर्वत ही वह आश्रम है ।। १७ ।।

वैदूर्यपर्वतस्तत्र श्रीमान् मणिमयः शिवः ।
अगस्त्यस्याश्रमश्चैव बहुमूलफलोदकः ।। १८ ।।

वहाँ परम सुन्दर मणिमय वैदूर्यपर्वत है जो शिवस्वरूप है। उसीपर महर्षि अगस्त्यका आश्रम है जो प्रचुर फल-मूल और जलसे सम्पन्न है ।। १८ ।।

सुराष्ट्रेष्वपि वक्ष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ।
आश्रमान् सरितश्चैव सरांसि च नराधिप ।। १९ ।।

नरेश्वर! अब मैं सुराष्ट्र (सौराष्ट्र)-देशीय पुण्य-स्थानों, मन्दिरों, आश्रमों, सरिताओं और सरोवरोंका वर्णन करता हूँ ।। १९ ।।

चमसोद्भेदनं विप्रास्तत्रापि कथयन्त्युत ।
प्रभासं चोदधौ तीर्थं त्रिदशानां युधिष्ठिर ।। २० ।।

विप्रगण! वहीं चमसोद्भेदतीर्थकी चर्चा की जाती है। युधिष्ठिर! सुराष्ट्रमें ही समुद्रके तटपर प्रभासक्षेत्र है जो देवताओंका तीर्थ कहा गया है ।। २० ।।

तत्र पिण्डारकं नाम तापसाचरितं शिवम् ।
उज्जयन्तश्च शिखरी क्षिप्रं सिद्धिकरो महान् ।। २१ ।।

वहीं पिण्डारक नामक तीर्थ है जो तपस्वी जनोंद्वारा सेवित और कल्याणस्वरूप है। उधर ही उज्जयन्त नामक महान् पर्वत है जो शीघ्र सिद्धि प्रदान करनेवाला है ।। २१ ।।

तत्र देवर्षिवर्येण नारदेनानुकीर्तितः ।
पुराणः श्रूयते श्लोकस्तं निबोध युधिष्ठिर ।। २२ ।।

युधिष्ठिर! उसके विषयमें देवर्षिप्रवर श्रीनारदजीके द्वारा कहा हुआ एक प्राचीन श्लोक सुना जाता है, उसको मुझसे सुनो ।। २२ ।।

पुण्ये गिरौ सुराष्ट्रेषु मृगपक्षिनिषेविते ।
उज्जयन्ते स्म तप्ताङ्गो नाकपृष्ठे महीयते ।। २३ ।।

सुराष्ट्र देशमें मृगों और पक्षियोंसे सेवित उज्जयन्त नामक पुण्यपर्वतपर तपस्या करनेवाला पुरुष स्वर्गलोकमें पूजित होता है ।। २३ ।।

पुण्या द्वारवती तत्र यत्रासौ मधुसूदनः ।
साक्षाद् देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः ।। २४ ।।

उज्जयन्तके ही आस-पास पुण्यमयी द्वारकापुरी है जहाँ साक्षात् पुराणपुरुष भगवान् मधुसूदन निवास करते हैं। वे ही सनातन धर्मस्वरूप हैं ।। २४ ।।

ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः ।
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ।। २५ ।।

जो वेदवेत्ता और अध्यात्मशास्त्रके विद्वान् ब्राह्मण हैं, वे परमात्मा श्रीकृष्णको ही सनातन धर्मरूप बताते हैं ।। ५४ ।।

पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते ।
पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
त्रैलोक्ये पुण्डरीकाक्षो देवदेवः सनातनः ।। २६ ।।
अव्ययात्मा व्ययात्मा च क्षेत्रज्ञः परमेश्वरः ।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा तत्रैव मधुसूदनः ।। २७ ।।

भगवान् गोविन्द पवित्रोंको भी पावन करनेवाले परम पवित्र कहे जाते हैं। वे पुण्योंके भी पुण्य और मंगलोंके भी मंगल हैं। कमलनयन देवाधिदेव सनातन श्रीहरि अविनाशी परमात्मा, व्ययात्मा (क्षरपुरुष), क्षेत्रज्ञ और परमेश्वर हैं। वे अचिन्त्यस्वरूप भगवान् मधुसूदन वहीं द्वारकापुरीमें विराजमान हैं ।। २६-२७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
धौम्यतीर्थयात्रायामष्टाशीतितमोऽध्यायः ।। ८८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८८ ।।

एकोननवतितमोऽध्यायः

धौम्यद्वारा पश्चिम दिशाके तीर्थोंका वर्णन

धौम्य उवाच

आनर्तेषु प्रतीच्यां वै कीर्तयिष्यामि ते दिशि ।
यानि तत्र पवित्राणि पुण्यान्यायतनानि च ।। १ ।।

धौम्यजी कहते हैं—युधिष्ठिर! अब मैं पश्चिम दिशाके आनर्तदेशमें जो-जो पवित्र तीर्थ और पुण्यस्वरूप देवालय हैं, उन सबका वर्णन करूँगा ।। १ ।।

प्रियङ्ग्वाम्रवणोपेता वानीरफलमालिनी ।
प्रत्यक्स्रोता नदी पुण्या नर्मदा तत्र भारत ।। २ ।।

भरतनन्दन! पश्चिम दिशामें पुण्यमयी नर्मदा नदी प्रवाहित होती है, जिसकी धारा पूर्वसे पश्चिमकी ओर है। उसके तटपर प्रियंगु और आमके वृक्षोंका वन है। बेंत तथा फलवाले वृक्षोंकी श्रेणियाँ भी उसकी शोभा बढ़ाती हैं ।। २ ।।

त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
सरिद्वनानि शैलेन्द्रा देवाश्च सपितामहाः ।। ३ ।।
नर्मदायां कुरुश्रेष्ठ सह सिद्धर्षिचारणैः ।
स्नातुमायान्ति पुण्यौघैः सदा वारिषु भारत ।। ४ ।।

भरतनन्दन कुरुश्रेष्ठ! त्रिलोकीमें जो-जो पुण्यतीर्थ, मन्दिर, नदी, वन, पर्वत, ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध, ऋषि, चारण एवं पुण्यात्माओंके समूह हैं, वे सब सदा नर्मदाके जलमें स्नान करनेके लिये आया करते हैं ।। ३-४ ।।

निकेतः श्रूयते पुण्यो यत्र विश्रवसो मुनेः ।
जज्ञे धनपतिर्यत्र कुबेरो नरवाहनः ।। ५ ।।

वहीं मुनिवर विश्रवाका पवित्र आश्रम सुना जाता है, जहाँ नरवाहन धनाध्यक्ष कुबेरका जन्म हुआ था ।। ५ ।।

वैदूर्यशिखरो नाम पुण्यो गिरिवरः शिवः ।
नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ।। ६ ।।

वैदूर्यशिखर नामक मंगलमय पवित्र पर्वत भी नर्मदा-तटपर है, वहाँ हरे-हरे पत्तोंसे सुशोभित सदा फल और फूलोंके भारसे लदे हुए वृक्ष शोभा पाते हैं ।।

तस्य शैलस्य शिखरे सरः पुण्यं महीपते ।
फुल्लपद्मं महाराज देवगन्धर्वसेवितम् ।। ७ ।।

राजन्! उस पर्वतके शिखरपर एक पुण्य सरोवर है जिसमें सदा कमल खिले रहते हैं। महाराज! देवता और गन्धर्व भी उस पुण्यतीर्थका सेवन करते हैं ।। ७ ।।

बह्वाश्चर्यं महाराज दृश्यते तत्र पर्वते ।
पुण्ये स्वर्गोपमे चैव देवर्षिगणसेविते ।। ८ ।।

राजन्! देवर्षिगणोंसे सेवित वह पुण्यपर्वत स्वर्गके समान सुन्दर एवं सुखद है। वहाँ अनेक आश्चर्यकी बातें देखी जाती हैं ।। ८ ।।

ह्रदिनी पुण्यतीर्था च राजर्षेस्तत्र वै सरित् ।
विश्वामित्रनदी राजन् पुण्या परपुरंजय ।। ९ ।।
यस्यास्तीरे सतां मध्ये ययातिर्नहुषात्मजः ।
पपात स पुनर्लोकाँल्लेभे धर्मान् सनातनान् ।। १० ।।

शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले नरेश! वहाँ राजर्षि विश्वामित्रकी तपस्यासे प्रकट हुई एक पुण्यमयी नदी है, जो परम पवित्र तीर्थ मानी गयी है। उसीके तटपर नहुषनन्दन राजा ययाति स्वर्गसे साधु पुरुषोंके बीचमें गिरे थे और पुनः सनातन धर्ममय लोकोंमें चले गये थे ।। ९-१० ।।

तत्र पुण्यो ह्रदः ख्यातो मैनाकश्चैव पर्वतः ।
बहुमूलफलोपेतस्त्वसितो नाम पर्वतः ।। ११ ।।

वहाँ पुण्यसरोवर, विख्यात मैनाक पर्वत और प्रचुर फलमूलोंसे सम्पन्न असित नामक पर्वत है ।। ११ ।।

आश्रमः कक्षसेनस्य पुण्यस्तत्र युधिष्ठिर ।
च्यवनस्याश्रमश्चैव विख्यातस्तत्र पाण्डव ।। १२ ।।

युधिष्ठिर! उसी पर्वतपर कच्छसेनका पुण्यदायक आश्रम है। पाण्डुनन्दन! महर्षि च्यवनका सुविख्यात आश्रम भी वहीं है ।। १२ ।।

तत्राल्पेनैव सिध्यन्ति मानवास्तपसा विभो ।
जम्बूमार्गो महाराज ऋषीणां भावितात्मनाम् ।। १३ ।।
आश्रमः शाम्यतां श्रेष्ठ मृगद्विजनिषेवितः ।

प्रभो! वहाँ थोड़ी ही तपस्यासे मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। महाराज! पश्चिम दिशामें ही जम्बूमार्ग है, जहाँ शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका आश्रम है। शान्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! वह आश्रम पशु-पक्षियोंसे सेवित है ।। १३½ ।।

ततः पुण्यतमा राजन् सततं तापसैर्युता ।। १४ ।।
केतुमाला च मेध्या च गङ्गाद्वारं च भूमिप ।
ख्यातं च सैन्धवारण्यं पुण्यं द्विजनिषेवितम् ।। १५ ।।

राजन्! उधर ही सदा तपस्वीजनोंसे भरे हुए पुण्यतम तीर्थ—केतुमाला, मेध्या और गंगाद्वार (हरिद्वार) हैं। भूपाल! द्विजोंसे सेवित सुप्रसिद्ध सैन्धवारण्य भी उधर ही है ।।

पितामहसरः पुण्यं पुष्करं नाम नामतः ।
वैखानसानां सिद्धानामृषीणामाश्रमः प्रियः ।। १६ ।।

ब्रह्माजीका पुण्यदायक सरोवर पुष्कर भी पश्चिम दिशामें ही है, जो वानप्रस्थों, सिद्धों और महर्षियोंका प्रिय आश्रम है ।। १६ ।।

अप्यत्र संश्रयार्थाय प्रजापतिरथो जगौ ।
पुष्करेषु कुरुश्रेष्ठ गाथां सुकृतिनां वर ।। १७ ।।

पुण्यवानोंमें प्रधान कुरुश्रेष्ठ! पुष्करमें निवास करनेके लिये प्रजापति ब्रह्माजीने एक गाथा गायी है, जो इस प्रकार है ।। १७ ।।

मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
विप्रणश्यन्ति पापानि नाकपृष्ठे च मोदते ।। १८ ।।

'जो मनस्वी पुरुष मनसे भी पुष्करतीर्थमें निवास करनेकी इच्छा करता है, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और वह स्वर्गलोकमें आनन्द भोगता है' ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां एकोननवतितमोऽध्यायः ।। ८९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८९ ।।

नवतितमोऽध्यायः

धौम्यद्वारा उत्तर दिशाके तीर्थोंका वर्णन

धौम्य उवाच

उदीच्यां राजशार्दूल दिशि पुण्यानि यानि वै ।
तानि ते कीर्तयिष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ।। १ ।।
शृणुष्वावहितो भूत्वा मम मन्त्रयतः प्रभो ।
कथाप्रतिग्रहो वीर श्रद्धां जनयते शुभाम् ।। २ ।।

धौम्यजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! उत्तर दिशामें जो पुण्यप्रद तीर्थ और देवालय आदि हैं, उनका तुमसे वर्णन करता हूँ। प्रभो! तुम सावधान होकर वह सब मेरे मुखसे सुनो। वीरवर! तीर्थोंकी कथाका प्रसंग उनके प्रति मंगलमयी श्रद्धा उत्पन्न करता है ।। १-२ ।।

सरस्वती महापुण्या ह्रदिनी तीर्थमालिनी ।
समुद्रगा महावेगा यमुना यत्र पाण्डव ।। ३ ।।

तीर्थोंकी पंक्तिसे सुशोभित सरस्वती नदी बड़ी पुण्यदायिनी है। पाण्डुनन्दन! समुद्रमें मिलनेवाली महावेगशालिनी यमुना भी उत्तर दिशामें ही हैं ।। ३ ।।

यत्र पुण्यतरं तीर्थं प्लक्षावतरणं शुभम् ।
यत्र सारस्वतैरिष्ट्वा गच्छन्त्यवभृथैर्द्विजाः ।। ४ ।।

उधर ही अत्यन्त पुण्यमय प्लक्षावतरण नामक मंगलकारक तीर्थ है; जहाँ ब्राह्मणगण यज्ञ करके सरस्वतीके जलसे अवभृथस्नान करते और अपने स्थानको जाते हैं ।। ४ ।।

पुण्यं चाख्यायते दिव्यं शिवमग्निशिरोऽनघ ।
सहदेवोऽयजद् यत्र शम्याक्षेपेण भारत ।। ५ ।।

उधर ही अग्निशिर नामक दिव्य, कल्याणमय, पुण्यतीर्थ बताया जाता है। निष्पाप भरतनन्दन! उसी तीर्थमें सहदेवने शमीका डंडा फेंकवाकर, जितनी दूरीमें वह डंडा पड़ा था उतनी दूरीमें, मण्डप बनवाकर उसमें यज्ञ किया ।। ५ ।।

एतस्मिन्नेव चार्थेऽसाविन्द्रगीता युधिष्ठिर ।
गाथा चरति लोकेऽस्मिन् गीयमाना द्विजातिभिः ।। ६ ।।

युधिष्ठिर! इसी विषयमें इन्द्रकी गायी हुई एक गाथा लोकमें प्रचलित है, जिसे ब्राह्मण गाया करते हैं ।। ६ ।।

अग्नयः सहदेवेन सेविता यमुनामनु ।
ते तस्य कुरुशार्दूल सहस्रशतदक्षिणाः ।। ७ ।।

कुरुश्रेष्ठ! सहदेवने यमुना-तटपर लाख स्वर्ण-मुद्राओंकी दक्षिणा देकर अग्निकी उपासना की थी* ।। ७ ।।

तत्रैव भरतो राजा चक्रवर्ती महायशाः ।
विंशतिः सप्त चाष्टौ च हयमेधानुपाहरत् ।। ८ ।।

वहीं महायशस्वी चक्रवर्ती राजा भरतने पैंतीस अश्वमेधयज्ञोंका अनुष्ठान किया ।। ८ ।।

कामकृद् यो द्विजातीनां श्रुतस्तात यथा पुरा ।
अत्यन्तमाश्रमः पुण्यः शरभंगस्य विश्रुतः ।। ९ ।।

तात! प्राचीनकालमें राजा भरत ब्राह्मणोंकी मनोवाञ्छाको पूर्ण करनेवाला राजा सुना गया है। उत्तराखण्डमें ही महर्षि शरभङ्गका अत्यन्त पुण्यदायक आश्रम विख्यात है ।। ९ ।।

सरस्वती नदी सद्भिः सततं पार्थ पूजिता ।
बालखिल्यैर्महाराज यत्रेष्टमृषिभिः पुरा ।। १० ।।

कुन्तीनन्दन! साधु पुरुषोंने सरस्वती नदीकी सदा उपासना की है। महाराज! पूर्वकालमें बालखिल्य ऋषियोंने वहाँ यज्ञ किया था ।। १० ।।

दृषद्वती महापुण्या यत्र ख्याता युधिष्ठिर ।
न्यग्रोधाख्यस्तु पुण्याख्यः पाञ्चाल्यो द्विपदां वर ।। ११ ।।
दाल्भ्यघोषश्च दाल्भ्यश्च धरणीस्थो महात्मनः ।
कौन्तेयानन्तयशसः सुव्रतस्यामितौजसः ।। १२ ।।
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।

युधिष्ठिर! परम पुण्यमयी दृषद्वती नदी भी उधर ही बतायी गयी है। मनुष्योंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! वहीं न्यग्रोध, पुण्य, पाञ्चाल्य, दाल्भ्यघोष और दाल्भ्य—ये पाँच आश्रम हैं तथा अनन्तकीर्ति एवं अमिततेजस्वी महात्मा सुव्रतका पुण्य आश्रम भी उत्तराखण्डमें ही बताया जाता है, जो पृथ्वीपर रहकर भी तीनों लोकोंमें विख्यात है ।।

एतावर्णाववर्णौ च विश्रुतौ मनुजाधिप ।। १३ ।।

नरेश्वर! उत्तराखण्डमें ही विख्यात मुनि नर और नारायण हैं, जो एतावर्ण (श्यामवर्ण—साकार) होते हुए भी वास्तवमें अवर्ण (निराकार) ही हैं ।। १३ ।।

वेदज्ञौ वेदविद्वांसौ वेदविद्याविदावुभौ ।
ईजाते क्रतुभिर्मुख्यैः पुण्यैर्भरतसत्तम ।। १४ ।।

भरतश्रेष्ठ! ये दोनों मुनि वेदज्ञ, वेदके मर्मज्ञ तथा वेदविद्याके पूर्ण जानकार हैं। इन्होंने पुण्यदायक उत्तम यज्ञोंद्वारा शंकरका यजन किया है ।। १४ ।।

समेत्य बहुशो देवाः सेन्द्राः सवरुणाः पुरा ।
विशाखयूपेऽतप्यन्त तेन पुण्यतमश्च सः ।। १५ ।।

पूर्वकालमें इन्द्र, वरुण आदि बहुत-से देवताओंने मिलकर विशाखयूप नामक स्थानमें तप किया था, अतः वह अत्यन्त पुण्यप्रद स्थान है ।। १५ ।।

ऋषिर्महान् महाभागो जमदग्निर्महायशाः ।
पलाशकेषु पुण्येषु रम्येष्वयजत प्रभुः ।। १६ ।।

महाभाग, महायशस्वी और महाप्रभावशाली महर्षि जमदग्निने परम सुन्दर तथा पुण्यप्रद पलाशवनमें यज्ञ किया था ।। १६ ।।

यत्र सर्वाः सरिच्छ्रेष्ठाः साक्षात् तमृषिसत्तमम् ।
स्वं स्वं तोयमुपादाय परिवार्योपतस्थिरे ।। १७ ।।

जिसमें सब श्रेष्ठ नदियाँ मूर्तिमती हो अपना-अपना जल लेकर उन मुनिश्रेष्ठके पास आयीं और उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़ी हुई थीं ।। १७ ।।

अपि चात्र महाराज स्वयं विश्वावसुर्जगौ ।
इमं श्लोकं तदा वीर प्रेक्ष्य दीक्षां महात्मनः ।। १८ ।।

वीर महाराज! यहाँ महात्मा जमदग्निकी वह यज्ञदीक्षा देखकर स्वयं गन्धर्वराज विश्वावसुने इस श्लोकका गान किया था ।। १८ ।।

यजमानस्य वै देवाञ्जमदग्नेर्महात्मनः ।
आगम्य सरितो विप्रान् मधुना समतर्पयन् ।। १९ ।।

‘महात्मा जमदग्नि जब यज्ञद्वारा देवताओंका यजन कर रहे थे, उस समय उनके यज्ञमें सरिताओंने आकर मधुसे ब्राह्मणोंको तृप्त किया’ ।। १९ ।।

गन्धर्वयक्षरक्षोभिरप्सरोभिश्च सेवितम् ।
किरातकिन्नरावासं शैलं शिखरिणां वरम् ।। २० ।।
बिभेद तरसा गङ्गा गङ्गाद्वारं युधिष्ठिर ।
पुण्यं तत् ख्यायते राजन् ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ।। २१ ।।

युधिष्ठिर! गिरिश्रेष्ठ हिमालय किरातों और किन्नरोंका निवासस्थान है। गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और अप्सराएँ उसका सदा सेवन करती हैं। गंगाजी अपने वेगसे उस शैलराजको फोड़कर जहाँ प्रकट हुई हैं, वह पुण्यस्थान गंगाद्वार (हरिद्वार)-के नामसे विख्यात है। राजन्! उस तीर्थका ब्रह्मर्षिगण सदा सेवन करते हैं ।। २०-२१ ।।

सनत्कुमारः कौरव्य पुण्यं कनखलं तथा ।
पर्वतश्च पुरुर्नाम यत्र यातः पुरूरवाः ।। २२ ।।

कुरुनन्दन! पुण्यमय कनखलमें पहले सनत्कुमारने यात्रा की थी। वहीं पुरु नामसे प्रसिद्ध पर्वत है, जहाँ पूर्वकालमें पुरूरवाने यात्रा की थी ।। २२ ।।

भृगुर्यत्र तपस्तेपे महर्षिगणसेविते ।
राजन् स आश्रमः ख्यातो भृगुतुङ्गो महागिरिः ।। २३ ।।

राजन्! महर्षियोंसे सेवित जिस महान् पर्वतपर भृगुने तपस्या की थी वह भृगुतुंग आश्रमके नामसे विख्यात है ।। २३ ।।

यः स भूतं भविष्यच्च भवच्च भरतर्षभ ।

नारायणः प्रभुर्विष्णुः शाश्वतः पुरुषोत्तमः ।। २४ ।।
तस्यातियशसः पुण्यां विशालां बदरीमनु ।
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।। २५ ।।

भरतश्रेष्ठ! भूत, भविष्य और वर्तमान जिनका स्वरूप है, जो सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सनातन एवं पुरुषोत्तम नारायण हैं उन अत्यन्त यशस्वी श्रीहरिकी पुण्यमयी विशालापुरी बदरीवनके निकट है। वह नर-नारायणका आश्रम कहा गया है, वह पुण्यप्रद बदरिकाश्रम तीनों लोकोंमें विख्यात है ।। २४-२५ ।।

उष्णतोयवहा गङ्गा शीततोयवहा पुरा ।
सुवर्णसिकता राजन् विशालां बदरीमनु ।। २६ ।।

राजन्! पूर्वकालसे ही विशाला बदरीके समीप गंगा कहीं गरम जल तथा कहीं शीतल जल प्रवाहित करती हैं। उनकी बालू सुवर्णकी भाँति चमकती रहती है ।। २६ ।।

ऋषयो यत्र देवाश्च महाभागा महौजसः ।
प्राप्य नित्यं नमस्यन्ति देवं नारायणं प्रभुम् ।। २७ ।।
यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः ।
तत्र कृत्स्नं जगत् सर्वं तीर्थान्यायतनानि च ।। २८ ।।

वहाँ महाभाग एवं महातेजस्वी देवता तथा महर्षि प्रतिदिन जाकर अमित प्रभावशाली भगवान् नारायणको नमस्कार करते हैं। जहाँ सनातन परमात्मा भगवान् नारायण विराजमान हैं वहाँ सम्पूर्ण जगत् है और समस्त तीर्थ तथा देवालय हैं ।। २७-२८ ।।

तत् पुण्यं परमं ब्रह्म तत् तीर्थं तत् तपोवनम् ।
तत् परं परमं देवं भूतानां परमेश्वरम् ।। २९ ।।

वह बदरिकाश्रम पुण्यक्षेत्र और परब्रह्मस्वरूप है। वही तीर्थ है, वही तपोवन है, वही सम्पूर्ण भूतोंका परमदेव परमेश्वर है ।। २९ ।।

शाश्वतं परमं चैव धातारं परमं पदम् ।
यं विदित्वा न शोचन्ति विद्वांसः शास्त्रदृष्टयः ।। ३० ।।
तत्र देवर्षयः सिद्धाः सर्वे चैव तपोधनाः ।

वही सनातन परमधाता एवं परमपद है, जिसे जान लेनेपर शास्त्रदर्शी विद्वान् कभी शोक नहीं करते हैं। वहीं देवर्षि सिद्ध और समस्त तपोधन महात्मा निवास करते हैं ।। ३०½ ।।

आदिदेवो महायोगी यत्रास्ते मधुसूदनः ।। ३१ ।।
पुण्यानामपि तत् पुण्यमत्र ते संशयोऽस्तु मा ।
एतानि राजन् पुण्यानि पृथिव्यां पृथिवीपते ।। ३२ ।।
कीर्तितानि नरश्रेष्ठ तीर्थान्यायतनानि च ।
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ।। ३३ ।।

ऋषिभिर्देवकल्पैश्च सेवितानि महात्मभिः ।
चरन्नेतानि कौन्तेय सहितो ब्राह्मणर्षभैः ।
भ्रातृभिश्च महाभागैरुत्कण्ठां विहरिष्यसि ।। ३४ ।।

जहाँ महायोगी आदिदेव भगवान् मधुसूदन विराजमान हैं वह स्थान पुण्योंका भी पुण्य है। इस विषयमें तुम्हें संशय नहीं होना चाहिये। राजन्! पृथ्वीपते! नरश्रेष्ठ! ये भूमण्डलके पुण्यतीर्थ और आश्रम आदि कहे गये वसु, साध्य, आदित्य, मरुद्गण, अश्विनीकुमार तथा देवोपम महात्मा मुनि इन सब तीर्थोंका सेवन करते हैं। कुन्तीनन्दन! तुम श्रेष्ठ ब्राह्मणों और महान् सौभाग्यशाली भाइयोंके साथ इन तीर्थोंमें विचरते रहोगे तो अर्जुनके लिये तुम्हारी मिलनेकी उत्कट इच्छा अर्थात् विरहव्याकुलता शान्त हो जायगी ।। ३१—३४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां नवतितमोऽध्यायः ।। ९० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें धौम्यतीर्थयात्राविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९० ।।

---

* ये सहदेव सुप्रसिद्ध राजा सृंजयके पुत्र थे—‘सहदेवः सृंजयपुत्रः’ इति नीलकण्ठी।

एकनवतितमोऽध्यायः

महर्षि लोमशका आगमन और युधिष्ठिरसे अर्जुनके पाशुपत आदि दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिका वर्णन तथा इन्द्रका संदेश सुनाना

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाषमाणे तु धौम्ये कौरवनन्दन ।
लोमशः स महातेजा ऋषिस्तत्राजगाम ह ।। १ ।।
तं पाण्डवाग्रजो राजा सगणो ब्राह्मणाश्च ते ।
उपातिष्ठन्महाभागं दिवि शक्रमिवामराः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—कौरवनन्दन! जब धौम्य ऋषि इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय महातेजस्वी महर्षि लोमश वहाँ आये। जैसे स्वर्गमें इन्द्रके आनेपर समस्त देवता उठकर खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार ज्येष्ठ पाण्डव राजा युधिष्ठिर, उनके समुदायके अन्य लोग तथा वे ब्राह्मण भी उन महाभाग लोमशको आया देख उनके स्वागतके लिये उठकर खड़े हो गये ।। १-२ ।।

समभ्यर्च्य यथान्यायं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पप्रच्छागमने हेतुमटने च प्रयोजनम् ।। ३ ।।

धर्मनन्दन युधिष्ठिरने यथायोग्य उनका पूजन करके उन्हें आसनपर बिठाया और वहाँ आने तथा वनमें घूमनेका प्रयोजन पूछा ।। ३ ।।

स पृष्टः पाण्डुपुत्रेण प्रीयमाणो महामनाः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हर्षयन्निव पाण्डवान् ।। ४ ।।

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर महामना महर्षि लोमश बड़े प्रसन्न हुए और अपनी मधुर वाणीद्वारा पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाते हुए-से बोले— ।। ४ ।।

संचरन्नस्मि कौन्तेय सर्वाल्लोँकान् यदृच्छया ।
गतः शक्रस्य भवनं तत्रापश्यं सुरेश्वरम् ।। ५ ।।

'कुन्तीनन्दन! मैं यों ही इच्छानुसार सम्पूर्ण लोकोंमें विचरण करता हूँ। एक दिन मैं इन्द्रके भवनमें गया और वहाँ देवराज इन्द्रसे मिला ।। ५ ।।

तव च भ्रातरं वीरमपश्यं सव्यसाचिनम् ।
शक्रस्यार्धासनगतं तत्र मे विस्मयो महान् ।। ६ ।।

'वहाँ मैंने तुम्हारे वीर भ्राता सव्यसाची अर्जुनको भी देखा, जो इन्द्रके आधे सिंहासनपर बैठे हुए थे। वहाँ उन्हें इस दशामें देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ ।। ६ ।।

आसीत् पुरुषशार्दूल दृष्ट्वा पार्थं तथागतम् ।
आह मां तत्र देवेशो गच्छ पाण्डुसुतान् प्रति ।। ७ ।।

'पुरुषसिंह युधिष्ठिर! तुम्हारे भाई अर्जुनको इन्द्रके सिंहासनपर बैठा देख जब मैं आश्चर्यचकित हो रहा था, उसी समय देवराज इन्द्रने मुझसे कहा—'मुने! तुम पाण्डवोंके पास जाओ' ।। ७ ।।

सोऽहमभ्यागतः क्षिप्रं दिदृक्षुस्त्वां सहानुजम् ।
वचनात् पुरुहूतस्य पार्थस्य च महात्मनः ।। ८ ।।

'उन इन्द्रके आदेशसे मैं भाइयोंसहित तुम्हें देखनेके लिये शीघ्रतापूर्वक यहाँ आया हूँ। इसके लिये इन्द्रने तो मुझसे कहा ही था, महात्मा अर्जुनने भी अनुरोध किया था ।। ८ ।।

आख्यास्ये ते प्रियं तात महत् पाण्डवनन्दन ।
ऋषिभिः सहितो राजन् कृष्णया चैव तच्छृणु ।। ९ ।।
यत् त्वयोक्तो महाबाहुरस्त्रार्थं भरतर्षभ ।
तदस्त्रमाप्तं पार्थेन रुद्रादप्रतिमं विभो ।। १० ।।

'तात! पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर! मैं तुम्हें बड़ा प्रिय समाचार सुनाऊँगा। राजन्! तुम इन महर्षियों और द्रौपदीके साथ मेरी बात सुनो। भरतकुलभूषण विभो! तुमने महाबाहु अर्जुनको दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये जो आदेश दिया था, उसके

विषयमें यह निवेदन करना है कि अर्जुनने भगवान् शंकरसे उनका अनुपम अस्त्र (पाशुपत) प्राप्त कर लिया है ।। ९-१० ।।

यत् तद् ब्रह्मशिरो नाम तपसा रुद्रमागमत् ।
अमृतादुत्थितं रौद्रं तल्लब्धं सव्यसाचिना ।। ११ ।।

'जो ब्रह्मशिर नामक अस्त्र अमृतसे प्रकट होकर तपस्याके प्रभावसे भगवान् शंकरको मिला था, वही पाशुपतास्त्र सव्यसाची अर्जुनने प्राप्त कर लिया है ।। ११ ।।

तत् समन्त्रं ससंहारं सप्रायश्चित्तमङ्गलम् ।
वज्रमस्त्राणि चान्यानि दण्डादीनि युधिष्ठिर ।। १२ ।।

'युधिष्ठिर! रुद्र देवताका वह वज्रके समान दुर्भेद्य अस्त्र मन्त्र, उपसंहार, प्रायश्चित्त और मंगलसहित अर्जुनने पा लिया है। साथ ही, दण्ड आदि अन्य अस्त्र भी उन्होंने हस्तगत कर लिये हैं ।। १२ ।।

यमात् कुबेराद् वरुणादिन्द्राच्च कुरुनन्दन ।
अस्त्राण्यधीतवान् पार्थो दिव्यान्यमितविक्रमः ।। १३ ।।

'कुरुनन्दन! अमित पराक्रमी अर्जुनने यम, कुबेर, वरुण और इन्द्रसे दिव्यास्त्रोंका अध्ययन किया है ।। १३ ।।

विश्वावसोस्तु तनयाद् गीतं नृत्यं च साम च ।
वादित्रं च यथान्यायं प्रत्यविन्दद् यथाविधि ।। १४ ।।

'इतना ही नहीं, उन्होंने विश्वावसुके पुत्रसे नृत्य, गीत, सामगान और वाद्यकलाकी भी विधिपूर्वक यथोचित शिक्षा प्राप्त कर ली है ।। १४ ।।

एवं कृतास्त्रः कौन्तेयो गान्धर्वं वेदमाप्तवान् ।
सुखं वसति बीभत्सुरनुजस्यानुजस्तव ।। १५ ।।

'इस प्रकार अस्त्रविद्यामें निपुणता प्राप्त करके कुन्तीकुमारने गान्धर्ववेद (संगीतविद्या) को भी प्राप्त कर लिया है। अब तुम्हारे छोटे भाई भीमसेनके छोटे भाई अर्जुन वहाँ बड़े सुखसे रह रहे हैं ।। १५ ।।

यदर्थं मां सुरश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।
तच्च ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध मे ।। १६ ।।

'युधिष्ठिर! देवश्रेष्ठ इन्द्रने मुझसे तुम्हारे लिये जो संदेश कहा था, उसे अब तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो ।। १६ ।।

भवान् मनुष्यलोकेऽपि गमिष्यति न संशयः ।
ब्रूयाद् युधिष्ठिरं तत्र वचनान्मे द्विजोत्तम ।। १७ ।।
आगमिष्यति ते भ्राता कृतास्त्रः क्षिप्रमर्जुनः ।
सुरकार्यं महत् कृत्वा यदशक्यं दिवौकसाम् ।। १८ ।।
तपसापि त्वमात्मानं योजय भ्रातृभिः सह ।

तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ।। १९ ।।

'उन्होंने मुझसे कहा—द्विजोत्तम! इसमें संदेह नहीं कि आप घूमते-घामते मनुष्यलोकमें भी जायँगे; अतः मेरे अनुरोधसे आप राजा युधिष्ठिरके पास जाकर यह बात कह दीजियेगा —'राजन्! तुम्हारे भाई अर्जुन अस्त्र-विद्यामें निपुण हो चुके हैं। अब वे देवताओंका एक बहुत बड़ा कार्य, जिसे देवता स्वयं नहीं कर सकते, सिद्ध करके शीघ्र तुम्हारे पास आ जायँगे; तबतक तुम भी अपने भाइयोंके साथ स्वयंको तपस्यामें लगाओ; क्योंकि तपस्यासे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है। तपस्यासे महान् फलकी प्राप्ति होती है ।। १७—१९ ।।

अहं च कर्णं जानामि यथावद् भरतर्षभ ।

सत्यसंधं महोत्साहं महावीर्यं महाबलम् ।। २० ।।

"भरतश्रेष्ठ! मैं कर्णको अच्छी तरह जानता हूँ। वह सत्यप्रतिज्ञ, अत्यन्त उत्साही, महापराक्रमी और महाबली है ।। २० ।।

महाहवेष्वप्रतिमं महायुद्धविशारदम् ।

महाधनुर्धरं वीरं महास्त्रं वरवर्णिनम् ।। २१ ।।

महेश्वरसुतप्रख्यमादित्यतनयं प्रभुम् ।

तथार्जुनमतिस्कन्दं सहजोल्बणपौरुषम् ।। २२ ।।

न स पार्थस्य संग्रामे कलामर्हति षोडशीम् ।

यच्चापि ते भयं कर्णान्मनसिस्थमरिंदम ।। २३ ।।

तच्चाप्यपहरिष्यामि सव्यसाचिन्युपागते ।

यच्च ते मानसं वीर तीर्थयात्रामिमां प्रति ।

स महर्षिर्लोमशस्ते कथयिष्यत्यसंशयम् ।। २४ ।।

"बड़े-बड़े संग्रामोंमें उसकी समानता करनेवाला कोई नहीं है। वह महान् युद्धविशारद, महाधनुर्धर, अस्त्र-शस्त्रोंका महान् ज्ञाता, श्रेष्ठ, सुन्दर महेश्वरपुत्र कार्तिकेयके समान पराक्रमी, सूर्यदेवताका पुत्र और शक्तिशाली वीर है। इसी प्रकार मैं अर्जुनको भी जानता हूँ। वह कार्तिकेयसे भी बढ़कर है, उसमें स्वभावसे ही दुःसह पुरुषार्थ भरा हुआ है। युद्धमें कर्ण अर्जुनकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है। शत्रुदमन! तुम्हारे मनमें जिस बातको लेकर कर्णसे भय बना रहता है, मैं अर्जुनके लौटनेपर तुम्हारे उस भयको भी दूर कर दूँगा। वीरवर! तीर्थयात्राके विषयमें जो तुम्हारा मानसिक संकल्प है, उसके विषयमें महर्षि लोमश निश्चय ही तुमसे सब कुछ बतावेंगे ।।

यच्च किंचित् तपोयुक्तं फलं तीर्थेषु भारत ।

ब्रह्मर्षिरेष ब्रूयात् ते तच्छ्रद्धेयं न चान्यथा ।। २५ ।।

"भरतनन्दन! तीर्थोंमें जो कुछ तपस्यायुक्त फल प्राप्त होता है, वह सब ये ब्रह्मर्षि लोमश तुम्हें बतायेंगे, तुम्हें उसपर विश्वास करना चाहिये। उसमें अन्यथाबुद्धि नहीं करनी चाहिये" ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशसंवादे एकनवतितमोऽध्यायः ।। ९१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें युधिष्ठिरलोमश-संवादविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९१ ।।

द्विनवतितमोऽध्यायः

महर्षि लोमशके मुखसे इन्द्र और अर्जुनका संदेश सुनकर युधिष्ठिरका प्रसन्न होना और तीर्थयात्राके लिये उद्यत हो अपने अधिक साथियोंको विदा करना

लोमश उवाच

धनंजयेन चाप्युक्तं यत् तच्छृणु युधिष्ठिर ।
युधिष्ठिरं भ्रातरं मे योजयेर्धर्म्यया श्रिया ।। १ ।।
त्वं हि धर्मान् परान् वेत्थ तपांसि च तपोधन ।
श्रीमतां चापि जानासि धर्मं राज्ञां सनातनम् ।। २ ।।

लोमश मुनि कहते हैं—युधिष्ठिर! जब मैं आने लगा, तब अर्जुनने भी मुझसे जो बात कही थी, वह सुनो। वे बोले—'तपोधन! आप मेरे बड़े भैया युधिष्ठिरको धर्मानुकूल राजलक्ष्मीसे संयुक्त कीजिये। आप उत्कृष्ट धर्मों और तपस्याओंको जानते हैं। श्रीसम्पन्न राजाओंका जो सनातनधर्म है, उसका भी आपको पूर्ण ज्ञान है ।। १-२ ।।

स भवान् परमं वेद पावनं पुरुषं प्रति ।
तेन संयोजयेथास्त्वं तीर्थपुण्येन पाण्डवान् ।। ३ ।।

'पुरुषको पवित्र बनानेवाला जो उत्तम साधन है, उसे आप जानते हैं। अतः आप पाण्डवोंको तीर्थयात्रा-जनित पुण्यसे सम्पन्न कीजिये ।। ३ ।।

यथा तीर्थानि गच्छेत गाश्च दद्यात् स पार्थिवः ।
तथा सर्वात्मना कार्यमिति मामर्जुनोऽब्रवीत् ।। ४ ।।

'महाराज युधिष्ठिर जिस प्रकार तीर्थोंमें जायँ और वहाँ गोदान करें, वैसा सब प्रकारसे प्रयत्न कीजियेगा।' यह बात अर्जुनने मुझसे कही थी ।। ४ ।।

भवता चानुगुप्तोऽसौ चरेत् तीर्थानि सर्वशः ।
रक्षोभ्यो रक्षितव्यश्च दुर्गेषु विषमेषु च ।। ५ ।।

उन्होंने यह भी कहा—'महाराज युधिष्ठिर आपसे सुरक्षित रहकर सब तीर्थोंमें विचरण करें। दुर्गम स्थानों और विषम अवसरोंमें आप राक्षसोंसे उनकी रक्षा करें ।।

दधीच इव देवेन्द्रं यथा चाप्यङ्गिरा रविम् ।
तथा रक्षस्व कौन्तेयान् राक्षसेभ्यो द्विजोत्तम ।। ६ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! जैसे दधीचने देवराज इन्द्रकी और महर्षि अंगिराने सूर्यकी रक्षा की है, उसी प्रकार आप राक्षसोंसे कुन्तीकुमारोंकी रक्षा कीजिये' ।। ६ ।।

यातुधाना हि बहवो राक्षसाः पर्वतोपमाः ।

त्वयाभिगुप्तं कौन्तेयं न विवर्तेयुरन्तिकम् ।। ७ ।।

'बहुत-से पिशाच तथा राक्षस, जो पर्वतोंके समान विशालकाय हैं, आपसे सुरक्षित राजा युधिष्ठिरके पास नहीं आ सकेंगे' ।। ७ ।।

सोऽहमिन्द्रस्य वचनान्नियोगादर्जुनस्य च ।
रक्षमाणो भयेभ्यस्त्वां चरिष्यामि त्वया सह ।। ८ ।।

राजन्! इस प्रकार मैं इन्द्रके कथन और अर्जुनके अनुरोधसे सब प्रकारके भयसे तुम्हारी रक्षा करते हुए तुम्हारे साथ-साथ तीर्थोंमें विचरण करूँगा ।। ८ ।।

द्विस्तीर्थानि मया पूर्वं दृष्टानि कुरुनन्दन ।
इदं तृतीयं द्रक्ष्यामि तान्येव भवता सह ।। ९ ।।

कुरुनन्दन! पहले दो बार मैंने सब तीर्थोंके दर्शन कर लिये; अब तीसरी बार तुम्हारे साथ पुनः उनका दर्शन करूँगा ।। ९ ।।

इयं राजर्षिभिर्याता पुण्यकृद्भिर्युधिष्ठिर ।
मन्वादिभिर्महाराज तीर्थयात्रा भयापहा ।। १० ।।

महाराज युधिष्ठिर! यह तीर्थयात्रा सब प्रकारके भयका नाश करनेवाली है। मनु आदि पुण्यात्मा राजर्षियोंने इस तीर्थयात्रारूपी धर्मका पालन किया है ।। १० ।।

नानृजुर्नाकृतात्मा च नाविद्यो न च पापकृत् ।
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ।। ११ ।।

कुरुनन्दन! जो सरल नहीं है, जिसने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, जो विद्याहीन और पापात्मा है तथा जिसकी बुद्धि कुटिलतासे भरी हुई है, ऐसा मनुष्य (श्रद्धा न होनेके कारण) तीर्थोंमें स्नान नहीं करता ।। ११ ।।

त्वं तु धर्ममतिर्नित्यं धर्मज्ञः सत्यसंगरः ।
विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो भूय एव भविष्यसि ।। १२ ।।

तुम तो सदा धर्ममें मन लगाये रखनेवाले, धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और सब प्रकारकी आसक्तियोंसे शून्य हो और आगे भी तुममें अधिकाधिक इन गुणोंका विकास होगा ।।

यथा भगीरथो राजा राजानश्च गयादयः ।
यथा ययातिः कौन्तेय तथा त्वमपि पाण्डव ।। १३ ।।

कुन्तीकुमार पाण्डुनन्दन! जैसे राजा भगीरथ हो गये हैं, जैसे गय आदि राजर्षि हो चुके हैं तथा जैसे महाराज ययाति हुए हैं, वैसे ही तुम भी विख्यात हो ।।

युधिष्ठिर उवाच

न हर्षात् सम्प्रपश्यामि वाक्यस्यास्योत्तरं क्वचित् ।
स्मरेद्धि देवराजो यं को नामाभ्यधिकस्ततः ।। १४ ।।

युधिष्ठिर बोले—महर्षे! आपके दर्शन और आपकी बातोंके सुननेसे मुझे इतना अधिक हर्ष हुआ है कि मुझे इन वचनोंका कोई उत्तर नहीं सूझता। देवराज इन्द्र जिसका स्मरण करते हों उससे बढ़कर इस संसारमें कौन है? ।।

भवता संगमो यस्य भ्राता चैव धनंजयः ।
वासवः स्मरते यस्य को नामाभ्यधिकस्ततः ।। १५ ।।

जिसे आपका संग प्राप्त हो, जिसके अर्जुन-जैसा भाई हो और जिसे इन्द्र याद करते हों, उससे बढ़कर सौभाग्यशाली और कौन है? ।। १५ ।।

यच्च मां भगवानाह तीर्थानां दर्शनं प्रति ।
धौम्यस्य वचनादेषा बुद्धिः पूर्वं कृतैव मे ।। १६ ।।

भगवन्! आपने मुझे तीर्थोंके दर्शनके लिये जो उत्साह प्रदान किया है, वह ठीक है। मैंने पहलेसे ही धौम्यजीके आदेशसे तीर्थोंमें जानेका विचार कर रखा है ।।

तद् यदा मन्यसे ब्रह्मन् गमनं तीर्थदर्शने ।
तदैव गन्तास्मि तीर्थान्येष मे निश्चयः परः ।। १७ ।।

अतः ब्रह्मन्! आप जब ठीक समझें तभी मैं तीर्थोंके दर्शनके लिये चल दूँगा; यही मेरा अन्तिम निश्चय है ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

गमने कृतबुद्धिं तु पाण्डवं लोमशोऽब्रवीत् ।
लघुर्भव महाराज लघुः स्वैरं गमिष्यसि ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तीर्थयात्राके लिये जिन्होंने निश्चित विचार कर लिया था, उन पाण्डु-नन्दन युधिष्ठिरसे महर्षि लोमशने कहा—‘महाराज! लोकसमूहसे आप हलके हो जाइये—थोड़े ही लोगोंको साथ रखिये; क्योंकि थोड़े संगी-साथी होनेपर आप इच्छानुसार सर्वत्र जा सकेंगे ।। १८ ।।

युधिष्ठिर उवाच

भिक्षाभुजो निवर्तन्तां ब्राह्मणा यतयश्च ये ।
क्षुत्तृडध्वश्रमायासशीतार्तिमसहिष्णवः ।। १९ ।।

युधिष्ठिर बोले—जो भिक्षाभोजी ब्राह्मण और संन्यासी हैं तथा जो भूख-प्यास, परिश्रम-थकावट और सर्दीकी पीड़ा सहन न कर सकें, उन्हें लौट जाना चाहिये ।। १९ ।।

ते सर्वे विनिवर्तन्तां ये च मिष्टभुजो द्विजाः ।
पक्वान्नलेह्यपानानां मांसानां च विकल्पकाः ।। २० ।।

जो द्विज मिष्टान्नभोजी हैं वे भी लौट जायँ। जो पक्वान्न, चटनी, पेय पदार्थ और मांस आदि खानेवाले मनुष्य हों, वे भी लौट जायँ ।। २० ।।

तेऽपि सर्वे निवर्तन्तां ये च सूदानुयायिनः ।

मया यथोचिताजीव्यैः संविभक्ताश्च वृत्तिभिः ।। २१ ।।

जो लोग रसोइयोंकी अपेक्षा रखनेवाले हैं तथा जिन्हें मैंने अलग-अलग बाँटकर उचित-उचित आजीविकाकी व्यवस्था कर दी है, वे सब लोग घर लौट जायँ ।। २१ ।।

ये चाप्यनुरताः पौरा राजभक्तिपुरःसराः ।
धृतराष्ट्रं महाराजमभिगच्छन्तु ते च वै ।। २२ ।।
स दास्यति यथाकालमुचिता यस्य या भृतिः ।
स चेद् यथोचितां वृत्तिं न दद्यान्मनुजेश्वरः ।। २३ ।।
अस्मत्प्रियहितार्थाय पाञ्चाल्यो वः प्रदास्यति ।। २४ ।।

जो पुरवासी राजभक्तिवश मेरे पीछे-पीछे चले आये हैं, वे अब महाराज धृतराष्ट्रके पास चले जायँ। वे उनके लिये यथासमय समुचित आजीविका प्रदान करेंगे। यदि राजा धृतराष्ट्र उचित जीविकाकी व्यवस्था न करें तो पांचालनरेश द्रुपद हमारा प्रिय और हित करनेके लिये अवश्य आपलोगोंको जीविका देंगे ।। २२—२४ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो भूयिष्ठशः पौरा गुरुभारप्रपीडिताः ।
विप्राश्च यतयो मुख्या जग्मुर्नागपुरं प्रति ।। २५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब बहुत-से नागरिक, ब्राह्मण और यति मानसिक दुःखके भारी भारसे पीड़ित हो हस्तिनापुरको चले गये ।। २५ ।।

तान् सर्वान् धर्मराजस्य प्रेम्णा राजाम्बिकासुतः ।
प्रतिजग्राह विधिवद् धनैश्च समतर्पयत् ।। २६ ।।

अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने धर्मराज युधिष्ठिरके स्नेहवश उन सबको विधिपूर्वक अपनाया और उन्हें धन देकर तृप्त किया ।। २६ ।।

ततः कुन्तीसुतो राजा लघुभिर्ब्राह्मणैः सह ।
लोमशेन च सुप्रीतस्त्रिरात्रं काम्यकेऽवसत् ।। २७ ।।

तदनन्तर कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर थोड़े-से ब्राह्मणों और लोमशजीके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक तीन राततक काम्यक वनमें टिके रहे ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां द्विनवतितमोऽध्यायः ।। ९२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९२ ।।

त्रिनवतितमोऽध्यायः

ऋषियोंको नमस्कार करके पाण्डवोंका तीर्थयात्राके लिये विदा होना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयान्तं कौन्तेयं ब्राह्मणा वनवासिनः ।
अभिगम्य तदा राजन्निदं वचनमब्रुवन् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको तीर्थयात्राके लिये उद्यत जान काम्य-कवनके निवासी ब्राह्मण उनके निकट आकर इस प्रकार बोले— ।। १ ।।

राजंस्तीर्थानि गन्तासि पुण्यानि भ्रातृभिः सह ।
ऋषिणा चैव सहितो लोमशेन महात्मना ।। २ ।।

'महाराज! आप अपने भाइयों तथा महात्मा लोमश मुनिके साथ पुण्यतीर्थोंमें जानेवाले हैं ।। २ ।।

अस्मानपि महाराज नेतुमर्हसि पाण्डव ।
अस्माभिर्हि न शक्यानि त्वदृते तानि कौरव ।। ३ ।।

'कुरुकुलतिलक पाण्डुनन्दन! हमें भी अपने साथ ले चलें। महाराज! आपके बिना हमलोग उन तीर्थोंकी यात्रा नहीं कर सकते ।। ३ ।।

श्वापदैरुपसृष्टानि दुर्गाणि विषमाणि च ।
अगम्यानि नरैरल्पैस्तीर्थानि मनुजेश्वर ।। ४ ।।

'मनुजेश्वर! वे सभी तीर्थ हिंसक जन्तुओंसे भरे पड़े हैं। दुर्गम और विषम भी हैं। थोड़े-से मनुष्य वहाँकी यात्रा नहीं कर सकते ।। ४ ।।

भवतो भ्रातरः शूरा धनुर्धरवराः सदा ।
भवद्भिः पालिताः शूरैर्गच्छामो वयमप्युत ।। ५ ।।

'आपके भाई शूरवीर हैं और सदा श्रेष्ठ धनुष धारण किये रहते हैं। आप-जैसे शूरवीरोंसे सुरक्षित होकर हम भी उन तीर्थोंकी यात्रा पूरी कर लेंगे ।। ५ ।।

भवत्प्रसादाद्धि वयं प्राप्नुयाम सुखं फलम् ।
तीर्थानां पृथिवीपाल वनानां च विशाम्पते ।। ६ ।।

'भूपाल! प्रजानाथ! आपके प्रसादसे हमलोग भी उन तीर्थों और वनोंकी यात्राका फल अनायास ही पा लेंगे ।। ६ ।।

तव वीर्यपरित्राताः शुद्धास्तीर्थपरिप्लुताः ।
भवेम धूतपाप्मानस्तीर्थसंदर्शनान्नृप ।। ७ ।।

'नरेश्वर! आपके बल-पराक्रमसे सुरक्षित हो हम भी तीर्थोंमें स्नान करके शुद्ध हो जायँगे और उन तीर्थोंके दर्शनसे हमारे सब पाप धुल जायँगे ।। ७ ।।

भवानपि नरेन्द्रस्य कार्तवीर्यस्य भारत ।
अष्टकस्य च राजर्षेर्लोमपादस्य चैव ह ।। ८ ।।
भरतस्य च वीरस्य सार्वभौमस्य पार्थिव ।

ध्रुवं प्राप्स्यसि दुष्प्रापाँल्लोकांस्तीर्थपरिप्लुतः ।। ९ ।।

'भूपाल! भरतनन्दन! आप भी तीर्थोंमें नहाकर राजा कार्तवीर्य अर्जुन, राजर्षि अष्टक, लोमपाद और भूमण्डलमें सर्वत्र विदित सम्राट् वीरवर भरतको मिलनेवाले दुर्लभ लोकोंको अवश्य प्राप्त कर लेंगे ।। ८-९ ।।

प्रभासादीनि तीर्थानि महेन्द्रादींश्च पर्वतान् ।
गङ्गाद्याः सरितश्चैव प्लक्षादींश्च वनस्पतीन् ।। १० ।।
त्वया सह महीपाल द्रष्टुमिच्छामहे वयम् ।
यदि ते ब्राह्मणेष्वस्ति काचित् प्रीतिर्जनाधिप ।। ११ ।।
कुरु क्षिप्रं वचोऽस्माकं ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ।

'महीपाल! प्रभास आदि तीर्थों, महेन्द्र आदि पर्वतों, गंगा आदि नदियों तथा प्लक्ष आदि वृक्षोंका हम आपके साथ दर्शन करना चाहते हैं। जनेश्वर! यदि आपके मनमें ब्राह्मणोंके प्रति कुछ प्रेम है तो आप हमारी बात शीघ्र मान लीजिये; इससे आपका कल्याण होगा ।। १०-११½ ।।

तीर्थानि हि महाबाहो तपोविघ्नकरैः सदा ।। १२ ।।
अनुकीर्णानि रक्षोभिस्तेभ्यो नस्त्रातुमर्हसि ।

'महाबाहो! तपस्यामें विघ्न डालनेवाले बहुत-से राक्षस उन तीर्थोंमें भरे पड़े हैं, उनसे आप हमारी रक्षा करनेमें समर्थ हैं' ।। १२½ ।।

तीर्थान्युक्तानि धौम्येन नारदेन च धीमता ।। १३ ।।
यान्युवाच च देवर्षिर्लोमशः सुमहातपाः ।
विधिवत् तानि सर्वाणि पर्यटस्व नराधिप ।। १४ ।।
धूतपाप्मा सहास्माभिर्लोमशेनाभिपालितः ।

'नरेश्वर! आप पापरहित हैं, धौम्य मुनि, परम बुद्धिमान् नारदजी तथा महातपस्वी देवर्षि लोमशने जिन-जिन तीर्थोंका वर्णन किया है, उन सबमें आप महर्षि लोमशजीसे सुरक्षित हो हमारे साथ विधिपूर्वक भ्रमण करें' ।। १३-१४½ ।।

स राजा पूज्यमानस्तैर्हर्षादश्रुपरिप्लुतः ।। १५ ।।
भीमसेनादिभिर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारितः ।
बाढमित्यब्रवीत् सर्वांस्तानृषीन् पाण्डवर्षभः ।। १६ ।।
लोमशं समनुज्ञाप्य धौम्यं चैव पुरोहितम् ।

पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर अपने वीर भ्राता भीमसेन आदिसे घिरकर खड़े थे। उन ब्राह्मणोंद्वारा इस प्रकार सम्मानित होनेपर उनके नेत्रोंमें हर्षके आँसू भर आये। उन्होंने देवर्षि लोमश तथा पुरोहित धौम्यजीकी आज्ञा लेकर उन सब ऋषियोंसे 'बहुत अच्छा' कहकर उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया ।। १५-१६½ ।।

ततः स पाण्डवश्रेष्ठो भ्रातृभिः सहितो वशी ।। १७ ।।

द्रौपद्या चानवद्याङ्ग्या गमनाय मनो दधे ।

तदनन्तर मन-इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरने भाइयों तथा सुन्दर अंगोंवाली द्रौपदीके साथ यात्रा करनेका मन-ही-मन निश्चय किया ।। १७½ ।।

अथ व्यासो महाभागस्तथा पर्वतनारदौ ।। १८ ।।
काम्यके पाण्डवं द्रष्टुं समाजग्मुर्मनीषिणः ।
तेषां युधिष्ठिरो राजा पूजां चक्रे यथाविधि ।
सत्कृतास्ते महाभाग युधिष्ठिरमथाब्रुवन् ।। १९ ।।

इतनेहीमें महाभाग व्यास, पर्वत और नारद आदि मनीषीजन काम्यकवनमें पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे मिलनेके लिये आये। राजा युधिष्ठिरने उनकी विधिपूर्वक पूजा की। उनसे सत्कार पाकर वे महाभाग महर्षि महाराज युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले ।। १८-१९ ।।

ऋषय ऊचुः

युधिष्ठिर यमौ भीम मनसा कुरुतार्जवम् ।
मनसा कृतशौचा वै शुद्धास्तीर्थानि यास्यथ ।। २० ।।

ऋषियोंने कहा—युधिष्ठिर! भीमसेन! नकुल! और सहदेव! तुमलोग तीर्थोंके प्रति मनसे श्रद्धापूर्वक सरलभाव रखो। मनसे शुद्धिका सम्पादन करके शुद्धचित्त होकर तीर्थोंमें जाओ ।। २० ।।

शरीरनियमं प्राहुर्ब्राह्मणा मानुषं व्रतम् ।
मनोविशुद्धां बुद्धिं च दैवमाहुर्व्रतं द्विजाः ।। २१ ।।

ब्राह्मणलोग शरीर-शुद्धिके नियमको ‘मानुषव्रत’ बताते हैं और मनके द्वारा शुद्ध की हुई बुद्धिको ‘दैवव्रत’ कहते हैं ।। २१ ।।

मनो ह्यदुष्टं शौचाय पर्याप्तं वै नराधिप ।
मैत्रीं बुद्धिं समास्थाय शुद्धास्तीर्थानि द्रक्ष्यथ ।। २२ ।।

नरेश्वर! यदि मन राग-द्वेषसे दूषित न हो तो वह शुद्धिके लिये पर्याप्त माना गया है। सब प्राणियोंके प्रति मैत्री-बुद्धिका आश्रय ले शुद्धभावसे तीर्थोंका दर्शन करो ।। २२ ।।

ते यूयं मानसैः शुद्धाः शरीरनियमव्रतैः ।
दैवं व्रतं समास्थाय यथोक्तं फलमाप्स्यथ ।। २३ ।।

तुम मानसिक और शारीरिक नियमव्रतोंसे शुद्ध हो। दैवव्रतका आश्रय ले यात्रा करोगे तो तीर्थोंका तुम्हें यथावत् फल प्राप्त होगा ।। २३ ।।

ते तथेति प्रतिज्ञाय कृष्णया सह पाण्डवाः ।
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे मुनिभिर्दिव्यमानुषैः ।। २४ ।।

महर्षियोंके ऐसा कहनेपर द्रौपदीसहित पाण्डवोंने ‘बहुत अच्छा’ कहकर (उनकी आज्ञाएँ शिरोधार्य कीं और उनके बताये हुए नियमोंका पालन करनेकी) प्रतिज्ञा की।

तत्पश्चात् उन दिव्य और मानव महर्षियोंने उन सबके लिये स्वस्तिवाचन किया ।। २४ ।।

लोमशस्योपसंगृह्य पादौ द्वैपायनस्य च ।
नारदस्य च राजेन्द्र देवर्षेः पर्वतस्य च ।। २५ ।।
धौम्येन सहिता वीरास्तथा तैर्वनवासिभिः ।
मार्गशीर्ष्यामतीतायां पुष्येण प्रययुस्ततः ।। २६ ।।

राजेन्द्र! तदनन्तर महर्षि लोमश, द्वैपायन व्यास, देवर्षि नारद और पर्वतके चरणोंका स्पर्श करके वनवासी ब्राह्मणों, पुरोहित धौम्य और लोमश आदिके साथ वीर पाण्डव तीर्थयात्राके लिये निकले। मार्गशीर्षकी पूर्णिमा व्यतीत होनेपर जब पुष्य नक्षत्र आया तब उसी नक्षत्रमें उन्होंने यात्रा प्रारम्भ की ।। २५-२६ ।।

कठिनानि समादाय चीराजिनजटाधराः ।
अभेद्यैः कवचैर्युक्तास्तीर्थान्यन्वचरंस्ततः ।। २७ ।।

उन सबने शरीरपर फटे-पुराने वस्त्र या मृगचर्म धारण कर रखे थे। उनके मस्तकपर जटाएँ थीं। उनके अंग अभेद्य कवचोंसे ढके हुए थे। वे सूर्यप्रदत्त बटलोई आदि पात्र लेकर वहाँ तीर्थोंमें विचरण करने लगे ।। २७ ।।

इन्द्रसेनादिभिर्भृत्यै रथैः परिचतुर्दशैः ।
महानसव्यापृतैश्च तथान्यैः परिचारकैः ।। २८ ।।

उनके साथ इन्द्रसेन आदि चौदहसे अधिक सेवक रथ लिये पीछे-पीछे जा रहे थे। रसोईके काममें संलग्न रहनेवाले अन्यान्य सेवक भी उनके साथ थे ।। २८ ।।

सायुधा बद्धनिस्त्रिंशास्तूणवन्तः समार्गणाः ।
प्राङ्मुखाः प्रययुर्वीराः पाण्डवा जनमेजय ।। २९ ।।

जनमेजय! वीर पाण्डव आवश्यक अस्त्र-शस्त्र ले कमरमें तलवार बाँधकर पीठपर तरकस कसे हुए हाथोंमें बाण लिये पूर्वदिशाकी ओर मुँह करके वहाँसे प्रस्थित हुए ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां त्रिनवतितमोऽध्यायः ।। ९३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९३ ।।

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

देवताओं और धर्मात्मा राजाओंका उदाहरण देकर महर्षि लोमशका युधिष्ठिरको अधर्मसे हानि बताना और तीर्थयात्राजनित पुण्यकी महिमाका वर्णन करते हुए आश्वासन देना

युधिष्ठिर उवाच

न वै निर्गुणमात्मानं मन्ये देवर्षिसत्तम ।
तथास्मि दुःखसंतप्तो यथा नान्यो महीपतिः ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—देवर्षिप्रवर लोमश! मेरी समझसे मैं अपनेको सात्त्विक गुणोंसे हीन नहीं मानता तो भी दुःखोंसे इतना संतप्त होता रहता हूँ जितना दूसरा कोई राजा नहीं हुआ होगा ।। १ ।।

परांश्च निर्गुणान् मन्ये न च धर्मगतानपि ।
ते च लोमश लोकेऽस्मिन्नृध्यन्ते केन हेतुना ।। २ ।।

इसके सिवा, दुर्योधनादि शत्रुओंको सात्त्विक गुणोंसे रहित समझता हूँ। साथ ही यह भी जानता हूँ कि वे धर्म-परायण नहीं हैं तो भी वे इस लोकमें उत्तरोत्तर समृद्धिशाली होते जा रहे हैं, इसका क्या कारण है? ।। २ ।।

लोमश उवाच

नात्र दुःखं त्वया राजन् कार्यं पार्थ कथंचन ।
यदधर्मेण वर्धेयुरधर्मरुचयो जनाः ।। ३ ।।

लोमशजीने कहा—राजन्! कुन्तीनन्दन! अधर्ममें रुचि रखनेवाले लोग यदि उस अधर्मके द्वारा बढ़ रहे हों तो इसके लिये तुम्हें किसी प्रकार दुःख नहीं मानना चाहिये ।। ३ ।।

वर्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ।। ४ ।।

पहले अधर्मद्वारा मनुष्य बढ़ सकता है, फिर अपने मनोऽनुकूल सुख-सम्पत्तिरूप अभ्युदयको देख सकता है, तत्पश्चात् वह शत्रुओंपर विजय पा सकता है और अन्तमें जड़-मूलसहित नष्ट हो जाता है ।। ४ ।।

मया हि दृष्टा दैतेया दानवाश्च महीपते ।
वर्धमाना ह्यधर्मेण क्षयं चोपगताः पुनः ।। ५ ।।

महीपाल! मैंने दैत्यों और दानवोंको अधर्मके द्वारा बढ़ते और पुनः नष्ट होते भी देखा है ।। ५ ।।

पुरा देवयुगे चैव दृष्टं सर्वं मया विभो ।
अरोचयन् सुरा धर्मं धर्मं तत्यजिरेऽसुराः ।। ६ ।।

प्रभो! पहले देवयुगमें ही मैंने यह सब अपनी आँखों देखा है। देवताओंने धर्मके प्रति अनुराग किया और असुरोंने उसका परित्याग कर दिया ।। ६ ।।

तीर्थानि देवा विविशुर्नाविशन् भारतासुराः ।
तानधर्मकृतो दर्पः पूर्वमेव समाविशत् ।। ७ ।।

भरतनन्दन! देवताओंने स्नानके लिये तीर्थोंमें प्रवेश किया, परंतु असुर उनमें नहीं गये। अधर्मजनित दर्प असुरोंमें पहलेसे ही समा गया था ।। ७ ।।

दर्पान्मानः समभवन्मानात् क्रोधो व्यजायत ।
क्रोधादह्रीस्ततोऽलज्जा वृत्तं तेषां ततोऽनशत् ।। ८ ।।

दर्पसे मान हुआ और मानसे क्रोध उत्पन्न हुआ। क्रोधसे निर्लज्जता आयी और निर्लज्जताने उनके सदाचारको नष्ट कर दिया ।। ८ ।।

तानलज्जान् गतह्रीकान् हीनवृत्तान् वृथाव्रतान् ।
क्षमा लक्ष्मीः स्वधर्मश्च न चिरात् प्रजहुस्ततः ।। ९ ।।
लक्ष्मीस्तु देवानगमदलक्ष्मीरसुरान् नृप ।
तानलक्ष्मीसमाविष्टान् दर्पोपहतचेतसः ।। १० ।।
दैतेयान् दानवांश्चैव कलिरप्याविशत् ततः ।
तानलक्ष्मीसमाविष्टान् दानवान् कलिना हतान् ।। ११ ।।
दर्पाभिभूतान् कौन्तेय क्रियाहीनानचेतसः ।
मानाभिभूतानचिराद् विनाशः समपद्यत ।। १२ ।।

इस प्रकार लज्जा, संकोच और सदाचारसे हीन एवं निष्फल व्रतका आचरण करनेवाले उन असुरोंको क्षमा, लक्ष्मी और स्वधर्मने शीघ्र त्याग दिया। राजन्! लक्ष्मी देवताओंके पास चली गयी और अलक्ष्मी असुरोंके यहाँ। अलक्ष्मीके आवेशसे युक्त होनेपर उनका चित्त दर्प और अभिमानसे दूषित हो गया। उस दशामें उन दैत्यों और दानवोंमें कलिका भी प्रवेश हो गया। जब वे दानव अलक्ष्मीसे संयुक्त, कलिसे तिरस्कृत और अभिमानसे अभिभूत हो सत्कर्मोंसे शून्य, विवेकरहित और मानसे उन्मत्त हो गये, तब शीघ्र ही उनका विनाश हो गया ।। ९—१२ ।।

निर्यशस्कास्तथा दैत्याः कृत्स्नशो विलयं गताः ।
देवास्तु सागरांश्चैव सरितश्च सरांसि च ।। १३ ।।
अभ्यगच्छन् धर्मशीलाः पुण्यान्यायतनानि च ।
तपोभिः क्रतुभिर्दानैराशीर्वादैश्च पाण्डव ।। १४ ।।

प्रजहुः सर्वपापानि श्रेयश्च प्रतिपेदिरे ।
एवमादानवन्तश्च निरादानाश्च सर्वशः ।। १५ ।।
तीर्थान्यगच्छन् विबुधास्तेनापुर्भूतिमुत्तमाम् ।
(यत्र धर्मेण वर्तन्ते राजानो राजसत्तम ।
सर्वान् सपत्नान् बाधन्ते राज्यं चैषां विवर्धते ।।)
तथा त्वमपि राजेन्द्र स्नात्वा तीर्थेषु सानुजः ।। १६ ।।
पुनर्वेत्स्यसि तां लक्ष्मीमेष पन्थाः सनातनः ।

यशोहीन दैत्य पूर्णतः विनष्ट हो गये, किंतु धर्मशील देवताओंने पवित्र समुद्रों, सरिताओं, सरोवरों और पुण्यप्रद आश्रमोंकी यात्रा की। पाण्डुनन्दन! वहाँ तपस्या, यज्ञ और दान आदि करके महात्माओंके आशीर्वादसे वे सब पापोंसे मुक्त हो कल्याणके भागी हुए। इस प्रकार उत्तम नियम ग्रहण करके किसीसे भी कोई प्रतिग्रह न लेकर देवताओंने तीर्थोंमें विचरण किया; इससे उन्हें उत्तम ऐश्वर्यकी प्राप्ति हुई। नृपश्रेष्ठ! जहाँ राजा धर्मके अनुसार बर्ताव करते हैं वहाँ वे सब शत्रुओंको नष्ट कर देते हैं और उनका राज्य भी बढ़ता रहता है। राजेन्द्र! इसलिये तुम भी भाइयोंसहित तीर्थोंमें स्नान करके खोयी हुई राजलक्ष्मी प्राप्त कर लोगे। यही सनातन मार्ग है ।। १३—१६½ ।।

यथैव हि नृगो राजा शिबिरौशीनरो यथा ।। १७ ।।
भगीरथो वसुमना गयः पूरुः पुरूरवाः ।
चरमाणास्तपो नित्यं स्पर्शनादम्भसश्च ते ।। १८ ।।
तीर्थाभिगमनात् पूता दर्शनाच्च महात्मनाम् ।
अलभन्त यशः पुण्यं धनानि च विशाम्पते ।। १९ ।।
तथा त्वमपि राजेन्द्र लब्धासि विपुलां श्रियम् ।

जैसे राजा नृग, उशीनरपुत्र शिबि, भगीरथ, वसुमना, गय, पूरु तथा पुरूरवा आदि नरेशोंने सदा तपस्यापूर्वक तीर्थयात्रा करके वहाँके जलके स्पर्श और महात्माओंके दर्शनसे पावन यश और प्रचुर धन प्राप्त किये थे; उसी प्रकार तुम भी तीर्थयात्राके पुण्यसे विपुल सम्पत्ति प्राप्त कर लोगे ।। १७—१९½ ।।

यथा चेक्ष्वाकुरभवत् सपुत्रजनबान्धवः ।। २० ।।
मुचुकुन्दोऽथ मान्धाता मरुत्तश्च महीपतिः ।
कीर्तिं पुण्यामविन्दन्त यथा देवास्तपोबलात् ।। २१ ।।
देवर्षयश्च कार्त्स्न्येन तथा त्वमपि वेत्स्यसि ।
धार्तराष्ट्रास्त्वधर्मेण मोहेन च वशीकृताः ।
न चिराद् वै विनङ्क्ष्यन्ति दैत्या इव न संशयः ।। २२ ।।

जैसे पुत्र, सेवक तथा बन्धु-बान्धवोंसहित राजा इक्ष्वाकु, मुचुकुन्द, मान्धाता तथा महाराज मरुत्तने पुण्यकीर्ति प्राप्त की थी, जैसे देवताओं और देवर्षियोंने तपोबलसे यश

और ऐश्वर्य प्राप्त किया था; उसी प्रकार तुम भी पूर्णरूपसे यश और धन-सम्पत्ति प्राप्त करोगे। धृतराष्ट्रके पुत्र पाप और मोहके वशीभूत हैं; अतः वे दैत्योंकी भाँति शीघ्र नष्ट हो जायँगे; इसमें संशय नहीं है ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां चतुर्नवतितमोऽध्यायः ।। ९४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

पाण्डवोंका नैमिषारण्य आदि तीर्थोंमें जाकर प्रयाग तथा गयातीर्थमें जाना और गय राजाके महान् यज्ञोंकी महिमा सुनना

वैशम्पायन उवाच

ते तथा सहिता वीरा वसन्तस्तत्र तत्र ह ।
क्रमेण पृथिवीपाल नैमिषारण्यमागताः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार वे वीर पाण्डव विभिन्न स्थानोंमें निवास करते हुए क्रमशः नैमिषारण्यतीर्थमें आये ।। १ ।।

ततस्तीर्थेषु पुण्येषु गोमत्याः पाण्डवा नृप ।
कृताभिषेकाः प्रददुर्गाश्च वित्तं च भारत ।। २ ।।

भरतनन्दन! नरेश्वर! तदनन्तर गोमतीके पुण्य तीर्थोंमें स्नान करके पाण्डवोंने वहाँ गोदान और धनदान किया* ।। २ ।।

तत्र देवान् पितॄन् विप्रांस्तर्पयित्वा पुनः पुनः ।
कन्यातीर्थेऽश्वतीर्थे च गवां तीर्थे च भारत ।
कालकोट्यां वृषप्रस्थे गिरावुष्य च पाण्डवाः ।। ३ ।।
बाहुदायां महीपाल चक्रुः सर्वेऽभिषेचनम् ।
प्रयागे देवयजने देवानां पृथिवीपते ।। ४ ।।
ऊषुराप्लुत्य गात्राणि तपश्चातस्थुरुत्तमम् ।
गङ्गायमुनयोश्चैव संगमे सत्यसंगराः ।। ५ ।।

भारत! भूपाल! वहाँ देवताओं, पितरों तथा ब्राह्मणोंको बार-बार तृप्त करके कन्यातीर्थ, अश्वतीर्थ, गोतीर्थ, कालकोटि तथा वृषप्रस्थगिरिमें निवास करते हुए उन सब पाण्डवोंने बाहुदा नदीमें स्नान किया। पृथ्वीपते! तदनन्तर उन्होंने देवताओंकी यज्ञभूमि प्रयागमें पहुँचकर वहाँ गंगा-यमुनाके संगममें स्नान किया। सत्यप्रतिज्ञ पाण्डव वहाँ स्नान करके कुछ दिनोंतक उत्तम तपस्यामें लगे रहे ।। ३—५ ।।

विपाप्मानो महात्मानो विप्रेभ्यः प्रददुर्वसु ।
तपस्विजनजुष्टां च ततो वेदीं प्रजापतेः ।। ६ ।।
जग्मुः पाण्डुसुता राजन् ब्राह्मणैः सह भारत ।
तत्र ते न्यवसन् वीरास्तपश्चातस्थुरुत्तमम् ।। ७ ।।
संतर्पयन्तः सततं वन्येन हविषा द्विजान् ।

उन पापरहित महात्माओंने (त्रिवेणीतटपर) ब्राह्मणोंको धन दान किया। भरतनन्दन! तत्पश्चात् पाण्डव ब्राह्मणोंके साथ ब्रह्माजीकी वेदीपर गये, जो तपस्वीजनोंसे सेवित है। वहाँ उन वीरोंने उत्तम तपस्या करते हुए निवास किया। वे सदा कन्द-मूल-फल आदि वन्य हविष्यद्वारा ब्राह्मणोंको तृप्त करते रहते थे ।। ६-७½ ।।

ततो महीधरं जग्मुर्धर्मज्ञेनाभिसंस्कृतम् ।। ८ ।।

राजर्षिणा पुण्यकृता गयेनानुपमद्युते ।

अनुपम तेजस्वी जनमेजय! प्रयागसे चलकर पाण्डव पुण्यात्मा एवं धर्मज्ञ राजर्षि गयके द्वारा यज्ञ करके शुद्ध किये हुए उत्तम पर्वतसे उपलक्षित गयातीर्थमें गये ।। ८½ ।।

नगो गयशिरो यत्र पुण्या चैव महानदी ।। ९ ।।

वानीरमालिनी रम्या नदी पुलिनशोभिता ।

जहाँ गयशिर नामक पर्वत और बेंतकी पंक्तियोंसे घिरी हुई रमणीय महानदी है, जो अपने दोनों तटोंसे विशेष शोभा पाती है ।। ९½ ।।

दिव्यं पवित्रकूटं च पवित्रं धरणीधरम् ।। १० ।।

ऋषिजुष्टं सुपुण्यं तत् तीर्थं ब्रह्मसरोत्तमम् ।

अगस्त्यो भगवान् यत्र गतो वैवस्वतं प्रति ।। ११ ।।

वहाँ महर्षियोंसे सेवित, पावन शिखरोंवाला, दिव्य एवं पवित्र दूसरा पर्वत भी है जो अत्यन्त पुण्यदायक तीर्थ है। वहीं उत्तम ब्रह्मसरोवर है जहाँ भगवान् अगस्त्यमुनि वैवस्वत यमसे मिलनेके लिये पधारे थे ।। १०-११ ।।

उवास च स्वयं तत्र धर्मराजः सनातनः ।

सर्वासां सरितां चैव समुद्भेदो विशाम्पते ।। १२ ।।

क्योंकि सनातन धर्मराज वहाँ स्वयं निवास करते हैं। राजन्! वहाँ सम्पूर्ण नदियोंका प्राकट्य हुआ है ।।

यत्र संनिहितो नित्यं महादेवः पिनाकधृक् ।

तत्र ते पाण्डवा वीराश्चातुर्मास्यैस्तदेजिरे ।। १३ ।।

ऋषियज्ञेन महता यत्राक्षयवटो महान् ।

पिनाकपाणि भगवान् महादेव उस तीर्थमें नित्य निवास करते हैं। वहाँ वीर पाण्डवोंने उन दिनों चातुर्मास्यव्रत ग्रहण करके महान् ऋषियज्ञ अर्थात् वेदादि सत्शास्त्रोंके स्वाध्यायद्वारा भगवान्की आराधना की। वहीं महान् अक्षयवट है ।। १३½ ।।

अक्षये देवयजने अक्षयं यत्र वै फलम् ।। १४ ।।

देवताओंकी वह यज्ञभूमि अक्षय है और वहाँ किये हुए प्रत्येक सत्कर्मका फल अक्षय होता है ।। १४ ।।

ते तु तत्रोपवासांस्तु चक्रुर्निश्चितमानसाः ।

ब्राह्मणास्तत्र शतशः समाजग्मुस्तपोधनाः ।। १५ ।।

अविचल चित्तवाले पाण्डवोंने उस तीर्थमें कई उपवास किये। उस समय वहाँ सैकड़ों तपस्वी ब्राह्मण पधारे ।। १५ ।।

चातुर्मास्येनायजन्त आर्षेण विधिना तदा ।
तत्र विद्यातपोवृद्धा ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
कथां प्रचक्रिरे पुण्यां सदसिस्था महात्मनाम् ।। १६ ।।

उन्होंने शास्त्रोक्त विधिपूर्वक चातुर्मास्य यज्ञ किया। वहाँ आये हुए ब्राह्मण विद्या और तपस्यामें बढ़े-चढ़े तथा वेदोंके पारंगत विद्वान् थे। उन्होंने परस्पर मिलकर सभामें बैठकर महात्मा पुरुषोंकी पवित्र कथाएँ कहीं ।। १६ ।।

तत्र विद्याव्रतस्नातः कौमारं व्रतमास्थितः ।
शमठोऽकथयद् राजन्नामूर्तरयसं गयम् ।। १७ ।।

उनमें शमठ नामक एक विद्वान् ब्राह्मण थे जो विद्याध्ययनका व्रत समाप्त करके स्नातक हो चुके थे। उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्यपालनका व्रत ले रखा था। राजन्! शमठने वहाँ अमूर्तरयाके पुत्र महाराज गयकी कथा इस प्रकार कही ।। १७ ।।

शमठ उवाच

अमूर्तरयसः पुत्रो गयो राजर्षिसत्तमः ।
पुण्यानि यस्य कर्माणि तानि मे शृणु भारत ।। १८ ।।

शमठ बोले—भरतनन्दन युधिष्ठिर! अमूर्तरयाके पुत्र गय राजर्षियोंमें श्रेष्ठ थे। उनके कर्म बड़े ही पवित्र एवं पावन थे। मैं उनका वर्णन करता हूँ, सुनो— ।।

यस्य यज्ञो बभूवेह बह्वन्नो बहुदक्षिणः ।
यत्रान्नपर्वता राजन् शतशोऽथ सहस्रशः ।। १९ ।।
घृतकुल्याश्च दध्नश्च नद्यो बहुशतास्तथा ।
व्यञ्जनानां प्रवाहाश्च महार्हाणां सहस्रशः ।। २० ।।

राजन्! यहाँ राजा गयने बड़ा भारी यज्ञ किया था। उसमें बहुत अन्न खर्च हुआ था और असंख्य दक्षिणा बाँटी गयी थी। उस यज्ञमें अन्नके सैकड़ों और हजारों पर्वत लग गये थे। घीके कई सौ कुण्ड और दहीकी नदियाँ बहती थीं। सहस्रों प्रकारके उत्तमोत्तम व्यञ्जनोंकी बाढ़-सी आ गयी थी ।। १९-२० ।।

अहन्यहनि चाप्येवं याचतां सम्प्रदीयते ।
अन्ये च ब्राह्मणा राजन् भुञ्जतेऽन्नं सुसंस्कृतम् ।। २१ ।।

याचकोंको प्रतिदिन इसी प्रकार भोजन और दान दिया जाता था। राजन्! अन्यान्य ब्राह्मण भी वहाँ उत्तम रीतिसे तैयारकी हुई रसोई जीमते थे ।। २१ ।।

तत्र वै दक्षिणाकाले ब्रह्मघोषो दिवं गतः ।
न च प्रज्ञायते किंचिद् ब्रह्मशब्देन भारत ।। २२ ।।

भरतनन्दन! उस यज्ञमें दक्षिणा देते समय जो वेदमन्त्रोंकी ध्वनि होती थी वह स्वर्गलोकतक गूँज उठती थी। उस वेदध्वनिके सामने दूसरा कोई शब्द नहीं सुनायी पड़ता था ।। २२ ।।

पुण्येन चरता राजन् भूर्दिशः खं नभस्तथा ।
आपूर्णमासीच्छब्देन तदप्यासीन्महाद्भुतम् ।। २३ ।।
यत्र स्म गाथा गायन्ति मनुष्या भरतर्षभ ।
अन्नपानैः शुभैस्तृप्ता देशे देशे सुवर्चसः ।। २४ ।।

राजन्! वहाँ सब ओर फैले हुए पुण्यमय शब्दसे पृथ्वी, दिशाएँ, स्वर्ग और आकाश परिपूर्ण हो गये। यह बड़ी ही अद्भुत बात थी। भरतश्रेष्ठ! उस यज्ञमें सब मनुष्य यह गाथा गाते रहते थे कि 'इस यज्ञमें देश-देशके अत्यन्त तेजस्वी पुरुष उत्तम अन्नपानसे तृप्त हो रहे हैं' ।। २३-२४ ।।

गयस्य यज्ञे के त्वद्य प्राणिनो भोक्तुमीप्सवः ।
तत्र भोजनशिष्टस्य पर्वताः पञ्चविंशतिः ।। २५ ।।

'गयके यज्ञमें लोग यही पूछते फिरते थे कि 'कौन-कौन ऐसे प्राणी रह गये हैं जो अभी भोजन करना चाहते हैं?' वहाँ खानेसे बचे हुए अन्नके पचीस पर्वत शेष रह गये थे ।। २५ ।।

न तत् पूर्वे जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ।
गयो यदकरोद् यज्ञे राजर्षिरमितद्युतिः ।। २६ ।।

'अमिततेजस्वी राजर्षि गयने अपने यज्ञमें जो व्यय किया था, वह पहलेके राजाओंने भी नहीं किया था और भविष्यमें भी कोई दूसरे कर सकेंगे, ऐसा सम्भव नहीं है ।।

कथं तु देवा हविषा गयेन परितर्पिताः ।
पुनः शक्ष्यन्त्युपादातुमन्यैर्दत्तानि कानिचित् ।। २७ ।।

'गयने सम्पूर्ण देवताओंको हविष्यसे भलीभाँति तृप्त कर दिया है, अब वे दूसरोंके दिये हुए हविष्यको कैसे ग्रहण कर सकेंगे? ।। २७ ।।

सिकता वा यथा लोके यथा वा दिवि तारकाः ।
यथा वा वर्षतो धारा असंख्येयाः स्म केनचित् ।
तथा गणयितुं शक्या गययज्ञे न दक्षिणाः ।। २८ ।।

'जैसे लोकमें बालूके कण, आकाशके तारे और बरसते हुए बादलोंकी जलधाराएँ किसीके द्वारा भी गिनी नहीं जा सकतीं, उसी प्रकार गयके यज्ञमें दी हुई दक्षिणाओंकी भी कोई गणना नहीं कर सकता था ।। २८ ।।

एवंविधाः सुबहवस्तस्य यज्ञा महीपतेः ।
बभूवुरस्य सरसः समीपे कुरुनन्दन ।। २९ ।।

कुरुनन्दन! महाराज गयके ऐसे ही बहुत-से यज्ञ इस ब्रह्मसरोवरके समीप सम्पन्न हुए हैं ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गययज्ञकथने पञ्चनवतितमोऽध्यायः ।। ९५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमश-तीर्थयात्राके प्रसंगमें 'गयके यज्ञका वर्णन'-विषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९५ ।।

---

* यहाँ पाण्डवोंके द्वारा गोदान और धनदान करनेके विषयमें यह शंका होती है कि इनके पास ये सब कहाँसे आये पर ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वनपर्वके बारहवें अध्यायमें आता है कि काम्यकवनमें पाण्डवोंसे मिलनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण एवं भोजवंशी, वृष्णिवंशी और अन्धककुलके राजागण तथा द्रुपद, धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु एवं केकय राजकुमार आये थे। उनका पाण्डवोंसे मिलकर अपने-अपने राज्यमें लौट जानेका भी वर्णन वनपर्वके बाईसवें अध्यायमें आया है। इससे अनुमान होता है कि इन राजाओंने पाण्डवोंको भेंटमें प्रचुर धन दिया होगा।

षण्णवतितमोऽध्यायः

इल्वल और वातापिका वर्णन, महर्षि अगस्त्यका पितरोंके उद्धारके लिये विवाह करनेका विचार तथा विदर्भराजका महर्षि अगस्त्यसे एक कन्या पाना

वैशम्पायन उवाच

ततः सम्प्रस्थितो राजा कौन्तेयो भूरिदक्षिणः ।
अगस्त्याश्रममासाद्य दुर्जयायामुवास ह ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर प्रचुर दक्षिणा देनेवाले कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने गयासे प्रस्थान किया और अगस्त्याश्रममें जाकर दुर्जय मणिमती नगरीमें निवास किया ।। १ ।।

तत्रैव लोमशं राजा पप्रच्छ वदतां वरः ।
अगस्त्येनेह वातापिः किमर्थमुपशामितः ।। २ ।।

वहीं वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने महर्षि लोमशसे पूछा—‘ब्रह्मन्! अगस्त्यजीने यहाँ वातापिको किसलिये नष्ट किया? ।। २ ।।

आसीद्वा किं प्रभावश्च स दैत्यो मानवान्तकः ।
किमर्थं चोदितो मन्युरगस्त्यस्य महात्मनः ।। ३ ।।

‘मनुष्योंका विनाश करनेवाले उस दैत्यका प्रभाव कैसा था? और महात्मा अगस्त्यजीके मनमें क्रोधका उदय कैसे हुआ’? ।। ३ ।।

लोमश उवाच

इल्वलो नाम दैतेय आसीत् कौरवनन्दन ।
मणिमत्यां पुरि पुरा वातापिस्तस्य चानुजः ।। ४ ।।

लोमशजीने कहा—कौरवनन्दन! पूर्वकालकी बात है, इस मणिमती नगरीमें इल्वल नामक दैत्य रहता था। वातापि उसीका छोटा भाई था ।। ४ ।।

स ब्राह्मणं तपोयुक्तमुवाच दितिनन्दनः ।
पुत्रं मे भगवानेकमिन्द्रतुल्यं प्रयच्छतु ।। ५ ।।
तस्मै स ब्राह्मणो नादात् पुत्रं वासवसम्मितम् ।
चुक्रोध सोऽसुरस्तस्य ब्राह्मणस्य ततो भृशम् ।। ६ ।।
तदाप्रभृति राजेन्द्र इल्वलो ब्रह्महासुरः ।
मन्युमान् भ्रातरं छागं मायावी ह्यकरोत् ततः ।। ७ ।।
मेषरूपी च वातापिः कामरूप्यभवत् क्षणात् ।

संस्कृत्य च भोजयति ततो विप्रं जिघांसति ।। ८ ।।

एक दिन दितिनन्दन इल्वलने एक तपस्वी ब्राह्मणसे कहा—'भगवन्! आप मुझे ऐसा पुत्र दें, जो इन्द्रके समान पराक्रमी हो।' उन ब्राह्मणदेवताने इल्वलको इन्द्रके समान पुत्र नहीं दिया। इससे वह असुर उन ब्राह्मणदेवतापर बहुत कुपित हो उठा। राजन्! तभीसे इल्वल दैत्य क्रोधमें भरकर ब्राह्मणोंकी हत्या करने लगा। वह मायावी अपने भाई वातापिको मायासे बकरा बना देता था। वातापि भी इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ था! अतः वह क्षणभरमें भेड़ा और बकरा बन जाता था। फिर इल्वल उस भेड़ या बकरेको पकाकर उसका मांस राँधता और किसी ब्राह्मणको खिला देता था। इसके बाद वह ब्राह्मणको मारनेकी इच्छा करता था ।। ५—८ ।।

स चाह्वयति यं वाचा गतं वैवस्वतक्षयम् ।
स पुनर्देहमास्थाय जीवन् स्म प्रत्यदृश्यत ।। ९ ।।

इल्वलमें यह शक्ति थी कि वह जिस किसी भी यमलोकमें गये हुए प्राणीको उसका नाम लेकर बुलाता वह पुनः शरीर धारण करके जीवित दिखायी देने लगता था ।। ९ ।।

ततो वातापिमसुरं छागं कृत्वा सुसंस्कृतम् ।
तं ब्राह्मणं भोजयित्वा पुनरेव समाह्वयत् ।। १० ।।

उस दिन वातापि दैत्यको बकरा बनाकर इल्वल उसके मांसका संस्कार किया और उन ब्राह्मणदेवको वह मांस खिलाकर पुनः अपने भाईको पुकारा ।। १० ।।

तामिल्वलेन महता स्वरेण वाचमीरिताम् ।
श्रुत्वातिमायो बलवान् क्षिप्रं ब्राह्मणकण्टकः ।। ११ ।।
तस्य पार्श्वं विनिर्भिद्य ब्राह्मणस्य महासुरः ।
वातापिः प्रहसन् राजन् निश्चक्राम विशाम्पते ।। १२ ।।

राजन्! इल्वलके द्वारा उच्चस्वरसे बोली हुई वाणी सुनकर वह अत्यन्त मायावी ब्राह्मणशत्रु बलवान् महादैत्य वातापि उस ब्राह्मणकी पसलीको फाड़कर हँसता हुआ निकल आया ।। ११-१२ ।।

एवं स ब्राह्मणान् राजन् भोजयित्वा पुनः पुनः ।
हिंसयामास दैतेय इल्वलो दुष्टचेतनः ।। १३ ।।

राजन्! इस प्रकार दुष्टहृदय इल्वल दैत्य बार-बार ब्राह्मणोंको भोजन कराकर अपने भाईद्वारा उनकी हिंसा करा देता था (इसीलिये अगस्त्यमुनिने वातापिको नष्ट किया था) ।। १३ ।।

अगस्त्यश्चापि भगवानेतस्मिन् काल एव तु ।
पितॄन् ददर्श गर्ते वै लम्बमानानधोमुखान् ।। १४ ।।

इन्हीं दिनों भगवान् अगस्त्यमुनि कहीं चले जा रहे थे। उन्होंने एक जगह अपने पितरोंको देखा जो एक गड्ढेमें नीचे मुँह किये लटक रहे थे ।। १४ ।।

सोऽपृच्छल्लम्बमानांस्तान् भवन्त इव कम्पिताः ।
(किमर्थं वेह लम्बध्वं गर्ते यूयमधोमुखाः ।)
संतानहेतोरिति ते प्रत्यूचुर्ब्रह्मवादिनः ।। १५ ।।

तब उन लटकते हुए पितरोंसे अगस्त्यजीने पूछा—'आपलोग यहाँ किसलिये नीचे मुँह किये काँपते हुए-से लटक रहे हैं?' यह सुनकर उन वेदवादी पितरोंने उत्तर दिया—'संतानपरम्पराके लोपकी सम्भावनाके कारण हमारी यह दुर्दशा हो रही है' ।। १५ ।।

ते तस्मै कथयामासुर्वयं ते पितरः स्वकाः ।
गर्तमेतमनुप्राप्ता लम्बामः प्रसवार्थिनः ।। १६ ।।

उन्होंने अगस्त्यके पूछनेपर बताया कि 'हम तुम्हारे ही पितर हैं। संतानके इच्छुक होकर इस गड्ढेमें लटक रहे हैं' ।। १६ ।।

यदि नो जनयेथास्त्वमगस्त्यापत्यमुत्तमम् ।
स्यान्नोऽस्मान्निरयान्मोक्षस्त्वं च पुत्राप्नुया गतिम् ।। १७ ।।

'अगस्त्य! यदि तुम हमारे लिये उत्तम संतान उत्पन्न कर सको तो हम इस नरकसे छुटकारा पा सकते हैं और बेटा! तुम्हें भी सद्गति प्राप्त होगी' ।। १७ ।।

स तानुवाच तेजस्वी सत्यधर्मपरायणः ।

करिष्ये पितरः कामं व्येतु वो मानसो ज्वरः ।। १८ ।।

तब सत्यधर्मपरायण तेजस्वी अगस्त्यने उनसे कहा—'पितरो! मैं आपकी इच्छा पूर्ण करूँगा। आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये' ।। १८ ।।

ततः प्रसवसंतानं चिन्तयन् भगवानृषिः ।
आत्मनः प्रसवस्यार्थे नापश्यत् सदृशीं स्त्रियम् ।। १९ ।।

तब भगवान् महर्षि अगस्त्यने संतानोत्पादनकी चिन्ता करते हुए अपने अनुरूप संतानको गर्भमें धारण करनेके लिये योग्य पत्नीका अनुसंधान किया, परंतु उन्हें कोई योग्य स्त्री दिखायी नहीं दी ।। १९ ।।

स तस्य तस्य सत्त्वस्य तत् तदङ्गमनुत्तमम् ।
संगृह्य तत्समैरङ्गैर्निर्ममे स्त्रियमुत्तमाम् ।। २० ।।

तब उन्होंने एक-एक जन्तुके उत्तमोत्तम अंगोंका भावनाद्वारा संग्रह करके उन सबके द्वारा एक परम सुन्दर स्त्रीका निर्माण किया ।। २० ।।

स तां विदर्भराजस्य पुत्रार्थं तप्यतस्तपः ।
निर्मितामात्मनोऽर्थाय मुनिः प्रादान्महातपाः ।। २१ ।।

उन दिनों विदर्भराज पुत्रके लिये तपस्या कर रहे थे। महातपस्वी अगस्त्यमुनिने अपने लिये निर्मित की हुई वह स्त्री राजाको दे दी ।। २१ ।।

सा तत्र जज्ञे सुभगा विद्युत् सौदामनी यथा ।
विभ्राजमाना वपुषा व्यवर्धत शुभानना ।। २२ ।।

उस सुन्दरी कन्याका उस राजभवनमें बिजलीके समान प्रादुर्भाव हुआ। वह शरीरसे प्रकाशमान हो रही थी। उसका मुख बहुत सुन्दर था, वह राजकन्या वहाँ दिनोदिन बढ़ने लगी ।। २२ ।।

जातमात्रां च तां दृष्ट्वा वैदर्भः पृथिवीपतिः ।
प्रहर्षेण द्विजातिभ्यो न्यवेदयत भारत ।। २३ ।।

भरतनन्दन! राजा विदर्भने उस कन्याके उत्पन्न होते ही हर्षमें भरकर ब्राह्मणोंको यह शुभ संवाद सुनाया ।।

अभ्यनन्दन्त तां सर्वे ब्राह्मणा वसुधाधिप ।
लोपामुद्रेति तस्याश्च चक्रिरे नाम ते द्विजाः ।। २४ ।।

राजन्! उस समय सब ब्राह्मणोंने राजाका अभिनन्दन किया और उस कन्याका नाम 'लोपामुद्रा' रख दिया ।। २४ ।।

ववृधे सा महाराज बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।
अप्स्विवोत्पलिनी शीघ्रमग्नेरिव शिखा शुभा ।। २५ ।।

महाराज! उत्तम रूप धारण करनेवाली वह राजकुमारी जलमें कमलिनी तथा यज्ञवेदीपर प्रज्वलित शुभ्र अग्निशिखाकी भाँति शीघ्रतापूर्वक बढ़ने लगी ।। २५ ।।

तां यौवनस्थां राजेन्द्र शतं कन्याः स्वलंकृताः ।
दास्यः शतं च कल्याणीमुपातस्थुर्वशानुगाः ।। २६ ।।

राजेन्द्र! जब उसने युवावस्थामें पदार्पण किया, उस समय उस कल्याणी कन्याको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सौ सुन्दरी कन्याएँ और सौ दासियाँ उसकी आज्ञाके अधीन होकर घेरे रहतीं और उसकी सेवा किया करती थीं ।। २६ ।।

सा स्म दासीशतवृता मध्ये कन्याशतस्य च ।
आस्ते तेजस्विनी कन्या रोहिणीव दिवि प्रभा ।। २७ ।।

सौ दासियों और सौ कन्याओंके बीचमें वह तेजस्विनी कन्या आकाशमें सूर्यकी प्रभा तथा नक्षत्रोंमें रोहिणीके समान सुशोभित होती थी ।। २७ ।।

यौवनस्थामपि च तां शीलाचारसमन्विताम् ।
न वव्रे पुरुषः कश्चिद् भयात् तस्य महात्मनः ।। २८ ।।

यद्यपि वह युवती और शील एवं सदाचारसे सम्पन्न थी तो भी महात्मा अगस्त्यके भयसे किसी राजकुमारने उसका वरण नहीं किया ।। २८ ।।

सा तु सत्यवती कन्या रूपेणाप्सरसोऽप्यति ।
तोषयामास पितरं शीलेन स्वजनं तथा ।। २९ ।।

वह सत्यवती राजकुमारी रूपमें अप्सराओंसे भी बढ़कर थी। उसने अपने शील-स्वभावसे पिता तथा स्वजनोंको संतुष्ट कर दिया था ।। २९ ।।

वैदर्भीं तु तथायुक्तां युवतीं प्रेक्ष्य वै पिता ।
मनसा चिन्तयामास कस्मै दद्यामिमां सुताम् ।। ३० ।।

पिता विदर्भराजकुमारीको युवावस्थामें प्रविष्ट हुई देख मन-ही-मन यह विचार करने लगे कि ‘इस कन्याका किसके साथ विवाह करूँ’ ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां अगस्त्योपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः ।। ९६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९६ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३०½ श्लोक हैं]

सप्तनवतितमोऽध्यायः

महर्षि अगस्त्यका लोपामुद्रासे विवाह, गंगाद्वारमें तपस्या एवं पत्नीकी इच्छासे धनसंग्रहके लिये प्रस्थान

लोमश उवाच

यदा त्वमन्यतागस्त्यो गार्हस्थ्ये तां क्षमामिति ।
तदाभिगम्य प्रोवाच वैदर्भं पृथिवीपतिम् ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जब मुनिवर अगस्त्यजीको यह मालूम हो गया कि विदर्भराजकुमारी मेरी गृहस्थी चलानेके योग्य हो गयी है, तब वे विदर्भ-नरेशके पास जाकर बोले— ।। १ ।।

राजन् निवेशे बुद्धिर्मे वर्तते पुत्रकारणात् ।
वरये त्वां महीपाल लोपामुद्रां प्रयच्छ मे ।। २ ।।

'राजन्! पुत्रोत्पत्तिके लिये मेरा विवाह करनेका विचार है। अतः महीपाल! मैं आपकी कन्याका वरण करता हूँ। आप लोपामुद्राको मुझे दे दीजिये' ।। २ ।।

एवमुक्तः स मुनिना महीपालो विचेतनः ।
प्रत्याख्यानाय चाशक्तः प्रदातुं चैव नैच्छत ।। ३ ।।

मुनिवर अगस्त्यके ऐसा कहनेपर विदर्भराजके होश उड़ गये। वे न तो अस्वीकार कर सके और न उन्होंने अपनी कन्या देनेकी इच्छा ही की ।। ३ ।।

ततः स भार्यामभ्येत्य प्रोवाच पृथिवीपतिः ।
महर्षिर्वीर्यवानेष क्रुद्धः शापाग्निना दहेत् ।। ४ ।।

तब विदर्भनरेश अपनी पत्नीके पास जाकर बोले—'प्रिये! ये महर्षि अगस्त्य बड़े शक्तिशाली हैं। यदि कुपित हों तो हमें शापकी अग्निसे भस्म कर सकते हैं' ।। ४ ।।

तं तथा दुःखितं दृष्ट्वा सभार्यं पृथिवीपतिम् ।
लोपामुद्राभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ।। ५ ।।

रानीसहित महाराजको इस प्रकार दुःखी देख लोपामुद्रा उनके पास गयी और समयके अनुसार इस प्रकार बोली— ।। ५ ।।

न मत्कृते महीपाल पीडामभ्येतुमर्हसि ।
प्रयच्छ मामगस्त्याय त्राह्यात्मानं मया पितः ।। ६ ।।

'राजन्! आपको मेरे लिये दुःख नहीं मानना चाहिये। पिताजी! आप मुझे अगस्त्यजीकी सेवामें दे दें और मेरे द्वारा अपनी रक्षा करें' ।। ६ ।।

दुहितुर्वचनाद् राजा सोऽगस्त्याय महात्मने ।

लोपामुद्रां ततः प्रादाद् विधिपूर्वं विशाम्पते ।। ७ ।।

युधिष्ठिर! पुत्रीकी यह बात सुनकर राजाने महात्मा अगस्त्यमुनिको विधिपूर्वक अपनी कन्या लोपामुद्रा ब्याह दी ।। ७ ।।

प्राप्य भार्यामगस्त्यस्तु लोपामुद्रामभाषत ।
महार्हाण्युत्सृजैतानि वासांस्याभरणानि च ।। ८ ।।

लोपामुद्राको पत्नीरूपमें पाकर महर्षि अगस्त्यने उससे कहा—'ये तुम्हारे वस्त्र और आभूषण बहुमूल्य हैं। इन्हें उतार दो' ।। ८ ।।

ततः सा दर्शनीयानि महार्हाणि तनूनि च ।
समुत्ससर्ज रम्भोरुर्वसनान्यायतेक्षणा ।। ९ ।।
ततश्चीराणि जग्राह वल्कलान्यजिनानि च ।
समानव्रतचर्या च बभूवायतलोचना ।। १० ।।

तब कदलीके समान जाँघ तथा विशाल नेत्रोंवाली लोपामुद्राने अपने बहुमूल्य, महीन एवं दर्शनीय वस्त्र उतार दिये और फटे-पुराने वस्त्र तथा वल्कल और मृगचर्म धारण कर लिये। वह विशालनयनी बाला पतिके समान ही व्रत और आचारका पालन करनेवाली हो गयी ।। ९-१० ।।

गङ्गाद्वारमथागम्य भगवानृषिसत्तमः ।
उग्रमातिष्ठत तपः सह पत्न्यानुकूलया ।। ११ ।।

तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ भगवान् अगस्त्य अपनी अनुकूल पत्नीके साथ गंगाद्वार (हरिद्वार)-में आकर घोर तपस्यामें संलग्न हो गये ।। ११ ।।

सा प्रीता बहुमानाच्च पतिं पर्यचरत् तदा ।
अगस्त्यश्च परां प्रीतिं भार्यायामचरत् प्रभुः ।। १२ ।।

लोपामुद्रा बड़ी ही प्रसन्नता और विशेष आदरके साथ पतिदेवकी सेवा करने लगी। शक्तिशाली महर्षि अगस्त्यजी भी अपनी पत्नीपर बड़ा प्रेम रखते थे ।। १२ ।।

ततो बहुतिथे काले लोपामुद्रां विशाम्पते ।
तपसा द्योतितां स्नातां ददर्श भगवानृषिः ।। १३ ।।
स तस्याः परिचारेण शौचेन च दमेन च ।
श्रिया रूपेण च प्रीतो मैथुनायाजुहाव ताम् ।। १४ ।।

राजन्! जब इसी प्रकार बहुत समय व्यतीत हो गया, तब एक दिन भगवान् अगस्त्यमुनिने ऋतुस्नानसे निवृत्त हुई पत्नी लोपामुद्राको देखा। वह तपस्याके तेजसे प्रकाशित हो रही थी। महर्षिने अपनी पत्नीकी सेवा, पवित्रता, इन्द्रियसंयम, शोभा तथा रूप-सौन्दर्यसे प्रसन्न होकर उसे मैथुनके लिये पास बुलाया ।। १३-१४ ।।

ततः सा प्राञ्जलिर्भूत्वा लज्जमानेव भाविनी ।
तदा सप्रणयं वाक्यं भगवन्तमथाब्रवीत् ।। १५ ।।

तब अनुरागिणी लोपामुद्रा कुछ लज्जित-सी हो हाथ जोड़कर बड़े प्रेमसे भगवान् अगस्त्यसे बोली— ।। १५ ।।

असंशयं प्रजाहेतोर्भार्यां पतिरविन्दत ।
या तु त्वयि मम प्रीतिस्तामृषे कर्तुमर्हसि ।। १६ ।।

'महर्षे! इसमें संदेह नहीं कि पतिदेवने अपनी इस पत्नीको संतानके लिये ही ग्रहण किया है, परंतु आपके प्रति मेरे हृदयमें जो प्रीति है, वह भी आपको सफल करनी चाहिये ।। १६ ।।

यथा पितुर्गृहे विप्र प्रासादे शयनं मम ।
तथाविधे त्वं शयने मामुपैतुमिहार्हसि ।। १७ ।।

'ब्रह्मन्! मैं अपने पिताके घर उनके महलमें जैसी शय्यापर सोया करती थी, वैसी ही शय्यापर आप मेरे साथ समागम करें ।। १७ ।।

इच्छामि त्वां स्रग्विणं च भूषणैश्च विभूषितम् ।
उपसर्तुं यथाकामं दिव्याभरणभूषिता ।। १८ ।।

'मैं चाहती हूँ कि आप सुन्दर हार और आभूषणोंसे विभूषित हों और मैं भी दिव्य अलंकारोंसे अलंकृत हो इच्छानुसार आपके साथ समागम-सुखका अनुभव करूँ ।। १८ ।।

अन्यथा नोपतिष्ठेयं चरिकाषायवासिनी।
नैवापवित्रो विप्रर्षे भूषणोऽयं कथंचन ।। १९ ।।

'अन्यथा मैं यह जीर्ण-शीर्ण काषाय-वस्त्र पहनकर आपके साथ समागम नहीं करूँगी। ब्रह्मर्षे! तपस्वीजनोंका यह पवित्र आभूषण किसी प्रकार सम्भोग आदिके द्वारा अपवित्र नहीं होना चाहिये' ।। १९ ।।

अगस्त्य उवाच

न ते धनानि विद्यन्ते लोपामुद्रे तथा मम।
यथाविधानि कल्याणि पितुस्तव सुमध्यमे ।। २० ।।

अगस्त्यजीने कहा—सुन्दर कटिप्रदेशवाली कल्याणी लोपामुद्रे! तुम्हारे पिताके घरमें जैसे धन-वैभव हैं, वे न तो तुम्हारे पास हैं और न मेरे ही पास (फिर ऐसा कैसे हो सकता है?) ।। २० ।।

लोपामुद्रोवाच

ईशोऽसि तपसा सर्वं समाहर्तुं तपोधन।
क्षणेन जीवलोके यद् वसु किंचन विद्यते ।। २१ ।।

लोपामुद्रा बोली—तपोधन! इस जीव-जगत्‌में जो कुछ भी धन है, वह सब क्षणभरमें आप अपनी तपस्याके प्रभावसे जुटा लेनेमें समर्थ हैं ।। २१ ।।

अगस्त्य उवाच

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं तपोव्ययकरं तु तत्।
यथा तु मे न नश्येत तपस्तन्मां प्रचोदय ।। २२ ।।

अगस्त्यजीने कहा—प्रिये! तुम्हारा कथन ठीक है। परंतु ऐसा करनेसे तपस्याका क्षय होगा। मुझे ऐसा कोई उपाय बताओ, जिससे मेरी तपस्या क्षीण न हो ।। २२ ।।

लोपामुद्रोवाच

अल्पावशिष्टः कालोऽयमृतोर्मम तपोधन।
न चान्यथाहमिच्छामि त्वामुपैतुं कथंचन ।। २३ ।।

लोपामुद्रा बोली—तपोधन! मेरे ऋतुकालका थोड़ा ही समय शेष रह गया है। मैं जैसा बता चुकी हूँ, उसके सिवा और किसी तरह आपसे समागम नहीं करना चाहती ।। २३ ।।

न चापि धर्ममिच्छामि विलोप्तुं ते कथंचन।
एवं तु मे यथाकामं सम्पादयितुमर्हसि ।। २४ ।।

साथ ही मेरी यह भी इच्छा नहीं है कि किसी प्रकार आपके धर्मका लोप हो। इस प्रकार अपने तप एवं धर्मकी रक्षा करते हुए जिस तरह सम्भव हो उसी तरह आप मेरी इच्छा पूर्ण करें ।। २४ ।।

अगस्त्य उवाच

यद्येष कामः सुभगे तव बुद्ध्या विनिश्चितः ।
हर्तुं गच्छाम्यहं भद्रे चर काममिह स्थिता ।। २५ ।।

अगस्त्यजीने कहा—सुभगे! यदि तुमने अपनी बुद्धिसे यही मनोरथ पानेका निश्चय कर लिया है तो मैं धन लानेके लिये जाता हूँ, तुम यहीं रहकर इच्छानुसार धर्माचरण करो ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने सप्तनवतितमोऽध्यायः ।। ९७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९७ ।।

अष्टनवतितमोऽध्यायः

धन प्राप्त करनेके लिये अगस्त्यका श्रुतर्वा, ब्रध्नश्व और त्रसदस्यु आदिके पास जाना

लोमश उवाच

ततो जगाम कौरव्य सोऽगस्त्यो भिक्षितुं वसु ।
श्रुतर्वाणं महीपालं यं वेदाभ्यधिकं नृपैः ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—कुरुनन्दन! तदनन्तर अगस्त्यजी धन माँगनेके लिये महाराज श्रुतर्वाके पास गये, जिन्हें वे सब राजाओंसे अधिक वैभवसम्पन्न समझते थे ।। १ ।।

स विदित्वा तु नृपतिः कुम्भयोनिमुपागतम् ।
विषयान्ते सहामात्यः प्रत्यगृह्णात् सुसत्कृतम् ।। २ ।।

राजाको जब यह मालूम हुआ कि महर्षि अगस्त्य मेरे यहाँ आ रहे हैं, तब वे मन्त्रियोंके साथ अपने राज्यकी सीमापर चले आये और बड़े आदर-सत्कारसे उन्हें अपने साथ लिवा ले गये ।। २ ।।

तस्मै चार्घ्यं यथान्यायमानीय पृथिवीपतिः ।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा पप्रच्छागमनेऽर्थिताम् ।। ३ ।।

भूपाल श्रुतर्वाने उनके लिये यथायोग्य अर्घ्य निवेदन करके विनीतभावसे हाथ जोड़कर उनके पधारनेका प्रयोजन पूछा ।। ३ ।।

अगस्त्य उवाच

वित्तार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ मे ।। ४ ।।

तब अगस्त्यजीने कहा—पृथ्वीपते! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं धन माँगनेके लिये आपके यहाँ आया हूँ। दूसरे प्राणियोंको कष्ट न देते हुए यथाशक्ति अपने धनका जितना अंश मुझे दे सकें, दे दें ।। ४ ।।

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ तस्मै राजा न्यवेदयत् ।
अतो विद्वन्नुपादत्स्व यदत्र वसु मन्यसे ।। ५ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब राजा श्रुतर्वाने महर्षिके सामने अपने आय-व्ययका पूरा ब्योरा रख दिया और कहा—‘ज्ञानी महर्षे! इस धनमेंसे जो आप ठीक समझें, वह ले लें’ ।। ५ ।।

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।

सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ।। ६ ।।

ब्रह्मर्षि अगस्त्यकी बुद्धि सम थी। उन्होंने आय और व्यय दोनोंको बराबर देखकर यह विचार किया कि इसमेंसे थोड़ा-सा भी धन लेनेपर दूसरे प्राणियोंको सर्वथा कष्ट हो सकता है ।। ६ ।।

स श्रुतर्वाणमादाय ब्रध्नश्वमगमत् ततः ।
स च तौ विषयस्यान्ते प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ।। ७ ।।

तब वे श्रुतर्वाको साथ लेकर राजा ब्रध्नश्वके पास गये। उन्होंने भी अपने राज्यकी सीमापर आकर उन दोनों सम्माननीय अतिथियोंकी अगवानी की और विधिपूर्वक उन्हें अपनाया ।। ७ ।।

तयोरर्घ्यं च पाद्यं च ब्रध्नश्वः प्रत्यवेदयत् ।
अनुज्ञाप्य च पप्रच्छ प्रयोजनमुपक्रमे ।। ८ ।।

ब्रध्नश्वने उन दोनोंको अर्घ्य और पाद्य निवेदन किये, फिर उनकी आज्ञा ले अपने यहाँ पधारनेका प्रयोजन पूछा ।। ८ ।।

अगस्त्य उवाच

वित्तकामाविह प्राप्तौ विद्धयावां पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नौ ।। ९ ।।

अगस्त्यजीने कहा—पृथ्वीपते! आपको विदित हो कि हम दोनों आपके यहाँ धनकी इच्छासे आये हैं। दूसरे प्राणियोंको कष्ट न देते हुए जो धन आपके पास बचता हो, उसमेंसे यथाशक्ति कुछ भाग हमें भी दीजिये ।। ९ ।।

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ ताभ्यां राजा न्यवेदयत् ।
अतो ज्ञात्वा तु गृह्णीतं यदत्र व्यतिरिच्यते ।। १० ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब राजा ब्रध्नश्वने भी उन दोनोंके सामने आय और व्ययका पूरा विवरण रख दिया और कहा—‘आप दोनोंको इसमें जो धन अधिक जान पड़ता हो, वह ले लें’ ।। १० ।।

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ।। ११ ।।

तब समान बुद्धिवाले ब्रह्मर्षि अगस्त्यने उस विवरणमें आय और व्यय बराबर देखकर यह निश्चय किया कि इसमेंसे यदि थोड़ा-सा भी धन लिया जाय तो दूसरे प्राणियोंको सर्वथा कष्ट हो सकता है ।। ११ ।।

पौरुकुत्सं ततो जग्मुस्त्रसदस्युं महाधनम् ।
अगस्त्यश्च श्रुतर्वा च ब्रध्नश्वश्च महीपतिः ।। १२ ।।

तब अगस्त्य, श्रुतर्वा और ब्रध्नश्व—तीनों पुरुकुत्सनन्दन-महाधनी त्रसदस्युके पास गये ।। १२ ।।

त्रसदस्युस्तु तान् दृष्ट्वा प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ।
अभिगम्य महाराज विषयान्ते महामनाः ।। १३ ।।
अर्चयित्वा यथान्यायमिक्ष्वाकू राजसत्तमः ।
समस्तांश्च ततोऽपृच्छत् प्रयोजनमुपक्रमे ।। १४ ।।

महाराज! भूपालोंमें श्रेष्ठ इक्ष्वाकुवंशी महामना त्रसदस्युने उन्हें आते देख राज्यकी सीमापर पहुँचकर विधिपूर्वक उन सबका स्वागत-सत्कार किया और उन सबसे अपने यहाँ पधारनेका प्रयोजन पूछा ।। १३-१४ ।।

अगस्त्य उवाच

वित्तकामानिह प्राप्तान् विद्धि नः पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नः ।। १५ ।।

अगस्त्यने कहा—पृथ्वीपते! आपको विदित हो कि हम धनकी कामनासे यहाँ आये हैं। आप दूसरे प्राणियोंको पीड़ा न देते हुए यथाशक्ति अपने धनका कुछ भाग हम सबको दीजिये ।। १५ ।।

लोमश उवाच

तत आयव्ययौ पूर्णौ तेषां राजा न्यवेदयत् ।
एतज्ज्ञात्वा ह्युपादध्वं यदत्र व्यतिरिच्यते ।। १६ ।।
तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ।। १७ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब राजाने उन्हें अपने आय-व्ययका पूरा विवरण दे दिया और कहा—‘इसे समझकर जो धन शेष बचता हो, वह आपलोग ले लें।’ समबुद्धिवाले महर्षि अगस्त्यने वहाँ भी आय-व्ययका लेखा बराबर देखकर यही माना कि इसमेंसे धन लिया जाय तो दूसरे प्राणियोंको सर्वथा कष्ट हो सकता है ।। १६-१७ ।।

ततः सर्वे समेत्याथ ते नृपास्तं महामुनिम् ।
इदमूचुर्महाराज समवेक्ष्य परस्परम् ।। १८ ।।

महाराज! तब वे सब राजा परस्पर मिलकर एक-दूसरेकी ओर देखते हुए महामुनि अगस्त्यसे इस प्रकार बोले— ।। १८ ।।

अयं वै दानवो ब्रह्मन्निल्वलो वसुमान् भुवि ।
तमतिक्रम्य सर्वेऽद्य वयं चार्थामहे वसु ।। १९ ।।

‘ब्रह्मन्! यह इल्वल दानव इस पृथ्वीपर सबसे अधिक धनी है। हम सब लोग उसीके पास चलकर आज धन माँगें’ ।। १९ ।।

लोमश उवाच

तेषां तदासीदुचितमिल्वलस्यैव भिक्षणम् ।
ततस्ते सहिता राजन्निल्वलं समुपाद्रवन् ।। २० ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस समय उन सबको इल्वलके यहाँ याचना करना ही ठीक जान पड़ा, अतः वे एक साथ होकर इल्वलके यहाँ शीघ्रतापूर्वक गये ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने अष्टनवतितमोऽध्यायः ।। ९८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९८ ।।

एकोनशततमोऽध्यायः

अगस्त्यजीका इल्वलके यहाँ धनके लिये जाना, वातापि तथा इल्वलका वध, लोपामुद्राको पुत्रकी प्राप्ति तथा श्रीरामके द्वारा हरे हुए तेजकी परशुरामजीको तीर्थस्नानद्वारा पुनः प्राप्ति

लोमश उवाच

इल्वलस्तान् विदित्वा तु महर्षिसहितान् नृपान् ।
उपस्थितान् सहामात्यो विषयान्ते ह्यपूजयत् ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! इल्वलने महर्षिसहित उन राजाओंको आता जान मन्त्रियोंके साथ अपने राज्यकी सीमापर उपस्थित होकर उन सबका पूजन किया ।।

तेषां ततोऽसुरश्रेष्ठस्त्वातिथ्यमकरोत् तदा ।
सुसंस्कृतेन कौरव्य भ्रात्रा वातापिना यदा ।। २ ।।

कुरुनन्दन! उस समय असुरश्रेष्ठ इल्वलने अपने भाई वातापिका मांस राँधकर उसके द्वारा उन सबका आतिथ्य किया ।। २ ।।

ततो राजर्षयः सर्वे विषण्णा गतचेतसः ।
वातापिं संस्कृतं दृष्ट्वा मेषभूतं महासुरम् ।। ३ ।।

भेड़के रूपमें महान् दैत्य वातापिको ही राँधा गया देख उन सभी राजर्षियोंका मन खिन्न हो गया और वे अचेतसे हो गये ।। ३ ।।

अथाब्रवीदगस्त्यस्तान् राजर्षीनृषिसत्तमः ।
विषादो वो न कर्तव्यो ह्यहं भोक्ष्ये महासुरम् ।। ४ ।।
धुर्यासनमथासाद्य निषसाद महानृषिः ।
तं पर्यवेषद् दैत्येन्द्र इल्वलः प्रहसन्निव ।। ५ ।।

तब ऋषिश्रेष्ठ अगस्त्यने उन राजर्षियोंसे (आश्वासन देते हुए) कहा—‘तुमलोगोंको चिन्ता नहीं करनी चाहिये। मैं ही इस महादैत्यको खा जाऊँगा।’ ऐसा कहकर महर्षि अगस्त्य प्रधान आसनपर जा बैठे और दैत्यराज इल्वलने हँसते हुए-से उन्हें वह मांस परोस दिया ।। ४-५ ।।

अगस्त्य एव कृत्स्नं तु वातापिं बुभुजे ततः ।
भुक्तवत्यसुरोऽऽह्वानमकरोत् तस्य चेल्वलः ।। ६ ।।

अगस्त्यजी ही वातापिका सारा मांस खा गये; जब वे भोजन कर चुके, तब असुर इल्वलने वातापिका नाम लेकर पुकारा ।। ६ ।।

ततो वायुः प्रादुरभूदधस्तस्य महात्मनः ।
शब्देन महता तात गर्जन्निव यथा घनः ।। ७ ।।

तात! उस समय महात्मा अगस्त्यकी गुदासे गर्जते हुए मेघकी भाँति भारी आवाजके साथ अधोवायु निकली ।। ७ ।।

वातापे निष्क्रमस्वेति पुनः पुनरुवाच ह ।
तं प्रहस्याब्रवीद् राजन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ।। ८ ।।

इल्वल बार-बार कहने लगा—‘वातापे! निकलो-निकलो।’ राजन्! तब मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यने उससे हँसकर कहा— ।। ८ ।।

कुतो निष्क्रमितुं शक्तो मया जीर्णस्तु सोऽसुरः ।
इल्वलस्तु विषण्णोऽभूद् दृष्ट्वा जीर्णं महासुरम् ।। ९ ।।

‘अब वह कैसे निकल सकता है, मैंने (लोकहितके लिये) उस असुरको पचा लिया है।’ महादैत्य वातापिको पच गया देख इल्वलको बड़ा खेद हुआ ।। ९ ।।

प्राञ्जलिश्च सहामात्यैरिदं वचनमब्रवीत् ।
किमर्थमुपयाताः स्थ ब्रूत किं करवाणि वः ।। १० ।।

उसने मन्त्रियोंसहित हाथ जोड़कर उन अतिथियोंसे यह बात पूछी—‘आपलोग किस प्रयोजनसे यहाँ पधारे हैं, बताइये, मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ?’ ।। १० ।।

प्रत्युवाच ततोऽगस्त्यः प्रहसन्निल्वलं तदा ।
ईशं ह्यसुर विद्मस्त्वां वयं सर्वे धनेश्वरम् ।। ११ ।।

तब महर्षि अगस्त्यने हँसकर इल्वलसे कहा—‘असुर! हम सब लोग तुम्हें शक्तिशाली शासक एवं धनका स्वामी समझते हैं ।। ११ ।।

एते च नातिधनिनो धनार्थश्च महान् मम ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नः ।। १२ ।।

‘ये नरेश अधिक धनवान् नहीं हैं और मुझे बहुत धनकी आवश्यकता आ पड़ी है। अतः दूसरे जीवोंको कष्ट न देते हुए अपने धनमेंसे यथाशक्ति कुछ भाग हमें दो’ ।। १२ ।।

ततोऽभिवाद्य तमृषिमिल्वलो वाक्यमब्रवीत् ।
दित्सितं यदि वेत्सि त्वं ततो दास्यामि ते वसु ।। १३ ।।

तब इल्वलने महर्षिको प्रणाम करके कहा—‘मैं कितना धन देना चाहता हूँ? यह बात यदि आप जान लें तो मैं आपको धन दूँगा’ ।। १३ ।।

अगस्त्य उवाच

गवां दशसहस्राणि राज्ञामेकैकशोऽसुर ।
तावदेव सुवर्णस्य दित्सितं ते महासुर ।। १४ ।।

अगस्त्यजीने कहा—महान् असुर! तुम इनमेंसे एक-एक राजाको दस-दस हजार गौएँ तथा इतनी ही (दस-दस हजार) सुवर्णमुद्राएँ देना चाहते हो ।। १४ ।।

मह्यं ततो वै द्विगुणं रथश्चैव हिरण्मयः ।
मनोजवौ वाजिनौ च दित्सितं ते महासुर ।। १५ ।।

इन राजाओंकी अपेक्षा दूनी गौएँ और सुवर्ण-मुद्राएँ तुमने मेरे लिये देनेका विचार किया है। महादैत्य! इसके सिवा एक स्वर्णमय रथ, जिसमें मनके समान तीव्रगामी दो घोड़े जुते हों, तुम मुझे और देना चाहते हो ।। १५ ।।

(लोमश उवाच

इल्वलस्तु मुनिं प्राह सर्वमस्ति यथाऽऽत्थ माम् ।
रथं तु यमवोचो मां नैनं विद्मो हिरण्मयम् ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! इसपर इल्वलने अगस्त्य मुनिसे कहा कि 'आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वह सब सत्य है; किंतु आपने जो मुझसे रथकी बात कही है, उस रथको हमलोग सुवर्णमय नहीं समझते हैं'।

अगस्त्य उवाच

न मे वागनृता काचिदुक्तपूर्वा महासुर ।)
जिज्ञास्यतां रथः सद्यो व्यक्त एष हिरण्मयः ।

अगस्त्यजीने कहा—महादैत्य! मेरे मुँहसे पहले कभी कोई बात झूठी नहीं निकली है, अतः शीघ्र पता लगाओ, यह रथ निश्चय ही सोनेका है ।।

लोमश उवाच

जिज्ञास्यमानः स रथः कौन्तेयासीद्धिरण्मयः ।
ततः प्रव्यथितो दैत्यो ददावभ्यधिकं वसु ।। १६ ।।

लोमशजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! पता लगानेपर वह रथ सोनेका ही निकला, तब मनमें (भाईकी मृत्युसे) व्यथित हुए उस दैत्यने महर्षिको बहुत अधिक धन दिया ।। १६ ।।

विरावश्च सुरावश्च तस्मिन् युक्तौ रथे हयौ ।
ऊहतुः सवसूनाशु तावगस्त्याश्रमं प्रति ।। १७ ।।
सर्वान् राज्ञः सहागस्त्यान् निमेषादिव भारत ।
(इल्वलस्त्वनुगम्यैनमगस्त्यं हन्तुमैच्छत ।
भस्म चक्रे महातेजा हुंकारेण महासुरम् ।।
मुनेराश्रममश्वौ तौ निन्यतुर्वातरंहसौ ।)
अगस्त्येनाभ्यनुज्ञाता जग्मू राजर्षयस्तदा ।

कृतवांश्च मुनिः सर्वं लोपामुद्राचिकीर्षितम् ।। १८ ।।

उस रथमें विराव और सुराव नामक दो घोड़े जुते हुए थे। वे धनसहित राजाओं तथा अगस्त्य मुनिको शीघ्र ही मानो पलक मारते ही अगस्त्याश्रमकी ओर ले भागे। उस समय इल्वल असुरने अगस्त्य मुनिके पीछे जाकर उनको मारनेकी इच्छा की, परंतु महातेजस्वी अगस्त्यमुनिने उस महादैत्य इल्वलको हुंकारसे ही भस्म कर दिया। तदनन्तर उन वायुके समान वेगवाले घोड़ोंने उन सबको मुनिके आश्रमपर पहुँचा दिया। भरतनन्दन! फिर अगस्त्यजीकी आज्ञा ले वे राजर्षिगण अपनी-अपनी राजधानीको चले गये और महर्षिने लोपामुद्राकी सभी इच्छाएँ पूर्ण कीं ।। १७-१८ ।।

लोपामुद्रोवाच

कृतवानसि तत् सर्वं भगवन् मम काङ्क्षितम् ।
उत्पादय सकृन्मह्यमपत्यं वीर्यवत्तरम् ।। १९ ।।

लोपामुद्रा बोली—भगवन्! मेरी जो-जो अभिलाषा थी, वह सब आपने पूर्ण कर दी। अब मुझसे एक अत्यन्त शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न कीजिये ।। १९ ।।

अगस्त्य उवाच

तुष्टोऽहमस्मि कल्याणि तव वृत्तेन शोभने ।
विचारणामपत्ये तु तव वक्ष्यामि तां शृणु ।। २० ।।

अगस्त्यजीने कहा—शोभामयी कल्याणी! तुम्हारे सद्व्यवहारसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ। पुत्रके सम्बन्धमें तुम्हारे सामने एक विचार उपस्थित करता हूँ, सुनो ।। २० ।।

सहस्रं तेऽस्तु पुत्राणां शतं वा दशसम्मितम् ।
दश वा शततुल्याः स्युरेको वापि सहस्रजित् ।। २१ ।।

क्या तुम्हारे गर्भसे एक हजार या एक सौ पुत्र उत्पन्न हों, जो दसके ही समान हों? अथवा दस ही पुत्र हों, जो सौ पुत्रोंकी समानता करनेवाले हों? अथवा एक ही पुत्र हो, जो हजारोंको जीतनेवाला हो? ।। २१ ।।

लोपामुद्रोवाच

सहस्रसम्मितः पुत्र एकोऽप्यस्तु तपोधन ।

एको हि बहुभिः श्रेयान् विद्वान् साधुरसाधुभिः ।। २२ ।।

लोपामुद्रा बोली—तपोधन! मुझे सहस्रोंकी समानता करनेवाला एक ही श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त हो; क्योंकि बहुत-से दुष्ट पुत्रोंकी अपेक्षा एक ही विद्वान् एवं श्रेष्ठ पुत्र उत्तम माना गया है ।। २२ ।।

लोमश उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय तया समभवन्मुनिः ।

समये समशीलिन्या श्रद्धावाञ्छ्रद्दधानया ।। २३ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! तब 'तथास्तु' कहकर श्रद्धालु महात्मा अगस्त्यने समान शील-स्वभाववाली श्रद्धालु पत्नी लोपामुद्राके साथ यथासमय समागम किया ।। २३ ।।

तत आधाय गर्भं तमगमद् वनमेव सः ।

तस्मिन् वनगते गर्भो ववृधे सप्त शारदान् ।। २४ ।।

गर्भाधान करके अगस्त्यजी फिर वनमें ही चले गये। उनके वनमें चले जानेपर वह गर्भ सात वर्षोंतक माताके पेटमें ही पलता और बढ़ता रहा ।। २४ ।।

सप्तमेऽब्दे गते चापि प्राच्यवत् स महाकविः ।
ज्वलन्निव प्रभावेण दृढस्युर्नाम भारत ।। २५ ।।

भारत! सात वर्ष बीतनेपर अपने तेज और प्रभावसे प्रज्वलित होता हुआ वह गर्भ उदरसे बाहर निकला। वही महाविद्वान् दृढस्युके नामसे विख्यात हुआ ।। २५ ।।

साङ्गोपनिषदान् वेदाञ्जपन्निव महातपाः ।
तस्य पुत्रोऽभवदृषेः स तेजस्वी महाद्विजः ।। २६ ।।

महर्षिका वह महातपस्वी और तेजस्वी पुत्र जन्म-कालसे ही अंग और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका स्वाध्याय-सा करता जान पड़ा। दृढस्यु ब्राह्मणोंमें महान् माने गये ।। २६ ।।

स बाल एव तेजस्वी पितुस्तस्य निवेशने ।
इध्मानां भारमाजह्रे इध्मवाहस्ततोऽभवत् ।। २७ ।।

पिताके घरमें रहते हुए तेजस्वी दृढस्यु बाल्य-कालसे ही इध्म (समिधा)-का भार वहन करके लाने लगे; अतः ‘इध्मवाह’ नामसे विख्यात हो गये ।। २७ ।।

तथायुक्तं तु तं दृष्ट्वा मुमुदे स मुनिस्तदा ।
एवं स जनयामास भारतापत्यमुत्तमम् ।। २८ ।।

अपने पुत्रको स्वाध्याय और समिधानयनके कार्यमें संलग्न देख महर्षि अगस्त्य उस समय बहुत प्रसन्न हुए। भारत! इस प्रकार अगस्त्यजीने उत्तम संतान उत्पन्न की ।। २८ ।।

लेभिरे पितरश्चास्य लोकान् राजन् यथेप्सितान् ।
तत ऊर्ध्वमयं ख्यातस्त्वगस्त्यस्याश्रमो भुवि ।। २९ ।।

राजन्! तदनन्तर उनके पितरोंने मनोवांछित लोक प्राप्त कर लिये। उसके बादसे यह स्थान इस पृथ्वीपर अगस्त्याश्रमके नामसे विख्यात हो गया ।। २९ ।।

प्राह्लादिरेवं वातापिरगस्त्येनोपशामितः ।
तस्यायमाश्रमो राजन् रमणीयैर्गुणैर्युतः ।। ३० ।।

वातापि प्रह्लादके गोत्रमें उत्पन्न हुआ था, जिसे अगस्त्यजीने इस प्रकार शान्त कर दिया। राजन्! यह उन्हींका रमणीय गुणोंसे युक्त आश्रम है ।। ३० ।।

एषा भागीरथी पुण्या देवगन्धर्वसेविता ।
वातेरिता पताकेव विराजति नभस्तले ।। ३१ ।।

इसके-समीप यह वही देव-गन्धर्वसेवित पुण्यसलिला भागीरथी है, जो आकाशमें वायुकी प्रेरणासे फहरानेवाली श्वेत पताकाके समान सुशोभित हो रही है ।। ३१ ।।

प्रतार्यमाणा कूटेषु यथा निम्नेषु नित्यशः ।
शिलातलेषु संत्रस्ता पन्नगेन्द्रवधूरिव ।। ३२ ।।

यह क्रमशः नीचे-नीचेके शिखरोंपर गिरती हुई सदा तीव्रगतिसे बहती है और शिलाखण्डोंके नीचे इस प्रकार समायी जाती है, मानो भयभीत सर्पिणी बिलमें घुसी जा रही हो ।। ३२ ।।

दक्षिणां वै दिशं सर्वां प्लावयन्ती च मातृवत् ।
पूर्वं शम्भोर्जटाभ्रष्टा समुद्रमहिषी प्रिया ।
अस्यां नद्यां सुपुण्यायां यथेष्टमवगाह्यताम् ।। ३३ ।।

पहले भगवान् शंकरकी जटासे गिरकर प्रवाहित होनेवाली समुद्रकी प्रियतमा महारानी गंगा सम्पूर्ण दक्षिण दिशाको इस प्रकार आप्लावित कर रही है, मानो माता अपनी संतानको नहला रही हो। इस परम पवित्र नदीमें तुम इच्छानुसार स्नान करो ।। ३३ ।।

युधिष्ठिर निबोधेदं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
भृगोस्तीर्थं महाराज महर्षिगणसेवितम् ।। ३४ ।।

महाराज युधिष्ठिर! इधर ध्यान दो, यह महर्षि-गणसेवित भृगुतीर्थ है, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है ।।

यत्रोपस्पृष्टवान् रामो हृतं तेजस्तदाऽऽप्तवान् ।
अत्र त्वं भ्रातृभिः सार्धं कृष्णया चैव पाण्डव ।। ३५ ।।
दुर्योधनहृतं तेजः पुनरादातुमर्हसि ।
कृतवैरेण रामेण यथा चोपहृतं पुनः ।। ३६ ।।

जहाँ परशुरामजीने स्नान किया और उसी क्षण अपने खोये हुए तेजको पुनः प्राप्त कर लिया। पाण्डुनन्दन! तुम अपने भाइयों और द्रौपदीके साथ इसमें स्नान करके दुर्योधनद्वारा छीने हुए अपने तेजको पुनः प्राप्त कर सकते हो। जैसे दशरथनन्दन श्रीरामसे वैर करनेपर उनके द्वारा अपहृत हुए तेजको परशुरामने यहाँ स्नानके प्रभावसे पुनः पा लिया था ।। ३५-३६ ।।

वैशम्पायन उवाच

स तत्र भ्रातृभिश्चैव कृष्णया चैव पाण्डवः ।
स्नात्वा देवान् पितॄंश्चैव तर्पयामास भारत ।। ३७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब राजा युधिष्ठिरने अपने भाइयों और द्रौपदीके साथ उस तीर्थमें स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण किया ।। ३७ ।।

तस्य तीर्थस्य रूपं वै दीप्ताद् दीप्ततरं बभौ ।
अप्रधृष्यतरश्चासीच्छात्रवाणां नरर्षभ ।। ३८ ।।

नरश्रेष्ठ! उस तीर्थमें स्नान कर लेनेपर राजा युधिष्ठिरका रूप अत्यन्त तेजोयुक्त हो प्रकाशमान हो गया। अब वे शत्रुओंके लिये परम दुर्धर्ष हो गये ।। ३८ ।।

अपृच्छच्चैव राजेन्द्र लोमशं पाण्डुनन्दनः ।
भगवन् किमर्थं रामस्य हृतमासीद् वपुः प्रभो ।
कथं प्रत्याहृतं चैव एतदाचक्ष्व पृच्छतः ।। ३९ ।।

राजेन्द्र! उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने महर्षि लोमशसे पूछा—‘भगवन्! परशुरामजीके तेजका अपहरण किसलिये किया गया था और प्रभो! वह इन्हें पुनः किस प्रकार प्राप्त हो गया? यह मैं जानना चाहता हूँ। आप कृपा करके इस प्रसंगका वर्णन करें’ ।। ३९ ।।

लोमश उवाच

शृणु रामस्य राजेन्द्र भार्गवस्य च धीमतः ।
जातो दशरथस्यासीत् पुत्रो रामो महात्मनः ।। ४० ।।
विष्णुः स्वेन शरीरेण रावणस्य वधाय वै ।
पश्यामस्तमयोध्यायां जातं दाशरथिं ततः ।। ४१ ।।

लोमशजीने कहा—राजेन्द्र! तुम दशरथनन्दन श्रीराम तथा परम बुद्धिमान् भृगुनन्दन परशुरामजीका चरित्र सुनो। पूर्वकालमें महात्मा राजा दशरथके यहाँ साक्षात् भगवान् विष्णु अपने ही सच्चिदानन्दमय विग्रहसे श्रीरामरूपमें अवतीर्ण हुए थे। उनके अवतारका उद्देश्य था—पापी रावणका विनाश। अयोध्यामें प्रकट हुए दशरथनन्दन श्रीरामका हम लोग प्रायः दर्शन करते रहते थे ।। ४०-४१ ।।

ऋचीकनन्दनो रामो भार्गवो रेणकासुतः ।
तस्य दाशरथेः श्रुत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।। ४२ ।।
कौतूहलान्वितो रामस्त्वयोध्यामगमत् पुनः ।
धनुरादाय तद् दिव्यं क्षत्रियाणां निबर्हणम् ।। ४३ ।।

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले दशरथकुमार श्रीरामका भारी पराक्रम सुनकर भृगु तथा ऋचीकके वंशज रेणुकानन्दन परशुराम उन्हें देखनेके लिये उत्सुक हो क्षत्रियसंहारक दिव्य धनुष लिये अयोध्यामें आये ।। ४२-४३ ।।

जिज्ञासमानो रामस्य वीर्यं दाशरथेस्तदा ।
तं वै दशरथः श्रुत्वा विषयान्तमुपागतम् ।। ४४ ।।
प्रेषयामास रामस्य रामं पुत्रं पुरस्कृतम् ।
स तमभ्यागतं दृष्ट्वा उद्यतास्त्रमवस्थितम् ।। ४५ ।।
प्रहसन्निव कौन्तेय रामो वचनमब्रवीत् ।
कृतकालं हि राजेन्द्र धनुरेतन्मया विभो ।। ४६ ।।
समारोपय यत्नेन यदि शक्नोषि पार्थिव ।

उनके शुभागमनका उद्देश्य था दशरथनन्दन श्रीरामके बल-पराक्रमकी परीक्षा करना। महाराज दशरथने जब सुना कि परशुरामजी हमारे राज्यकी सीमापर आ गये हैं, तब उन्होंने मुनिकी अगवानीके लिये अपने पुत्र श्रीरामको भेजा। कुन्तीनन्दन! श्रीरामचन्द्रजी धनुष-बाण हाथमें लिये आकर खड़े हैं, यह देखकर परशुरामजीने हँसते हुए कहा—'राजेन्द्र! प्रभो! भूपाल! यदि तुममें शक्ति हो तो यत्नपूर्वक इस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाओ। यह वह धनुष है जिसके द्वारा मैंने क्षत्रियोंका संहार किया है' ।। ४४-४६½ ।।

इत्युक्तस्त्वाह भगवंस्त्वं नाधिक्षेप्तुमर्हसि ।। ४७ ।।

उनके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'भगवन्! आपको इस तरह आक्षेप नहीं करना चाहिये ।।

नाहमप्यधमो धर्मे क्षत्रियाणां द्विजातिषु ।
इक्ष्वाकूणां विशेषेण बाहुवीर्ये न कत्थनम् ।। ४८ ।।

'मैं भी समस्त द्विजातियोंमें क्षत्रियधर्मका पालन करनेमें अधम नहीं हूँ। विशेषतः इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय अपने बाहुबलकी प्रशंसा नहीं करते' ।। ४८ ।।

तमेवंवादिनं तत्र रामो वचनमब्रवीत् ।
अलं वै व्यपदेशेन धनुरायच्छ राघव ।। ४९ ।।

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर परशुरामजी बोले—'रघुनन्दन! बातें बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं। यह धनुष लो और इसपर प्रत्यञ्चा चढ़ाओ' ।। ४९ ।।

ततो जग्राह रोषेण क्षत्रियर्षभसूदनम् ।
रामो दाशरथिर्दिव्यं हस्ताद् रामस्य कार्मुकम् ।। ५० ।।
धनुरारोपयामास सलील इव भारत ।
ज्याशब्दमकरोच्चैव स्मयमानः स वीर्यवान् ।। ५१ ।।

तब दशरथनन्दन श्रीरामजीने रोषपूर्वक परशुरामका वह वीर क्षत्रियोंका संहारक दिव्य धनुष उनके हाथसे ले लिया। भारत! उन्होंने लीलापूर्वक प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। तत्पश्चात् पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीने मुसकराते हुए धनुषकी टंकार फैलायी ।। ५०-५१ ।।

तस्य शब्दस्य भूतानि वित्रसन्त्यशनेरिव ।
अथाब्रवीत् तदा रामो रामं दाशरथिस्तदा ।। ५२ ।।
इदमारोपितं ब्रह्मन् किमन्यत् करवाणि ते ।
तस्य रामो ददौ दिव्यं जामदग्न्यो महात्मनः ।
शरमाकर्णदेशान्तमयमाकृष्यतामिति ।। ५३ ।।

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान उस टंकार-ध्वनिको सुनकर सब प्राणी घबरा उठे। उस समय दशरथनन्दन श्रीरामने परशुरामजीसे कहा—'ब्रह्मन्! यह धनुष तो मैंने चढ़ा दिया अब और आपका कौन-सा कार्य करूँ?' तब जमदग्निनन्दन परशुरामने महात्मा

श्रीरामचन्द्रजीको एक दिव्य बाण दे दिया और कहा—'इसे धनुषपर रखकर अपने कानके पासतक खींचिये' ।।

लोमश उवाच

एतच्छ्रुत्वाब्रवीद् रामः प्रदीप्त इव मन्युना ।
श्रूयते क्षम्यते चैव दर्पपूर्णोऽसि भार्गव ।। ५४ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! इतना सुनते ही श्रीरामचन्द्रजी मानो क्रोधसे प्रज्वलित हो उठे और बोले—'भृगुनन्दन! तुम बड़े घमण्डी हो। मैं तुम्हारी कठोर बातें सुनता हूँ फिर क्षमा कर लेता हूँ ।। ५४ ।।

त्वया ह्यधिगतं तेजः क्षत्रियेभ्यो विशेषतः ।
पितामहप्रसादेन तेन मां क्षिपसि ध्रुवम् ।। ५५ ।।

'तुमने अपने पितामह ऋचीकके प्रभावसे क्षत्रियोंको जीतकर विशेष तेज प्राप्त किया है, निश्चय ही, इसीलिये मुझपर आक्षेप करते हो ।। ५५ ।।

पश्य मां स्वेन रूपेण चक्षुस्ते वितराम्यहम् ।
ततो रामशरीरे वै रामः पश्यति भार्गवः ।। ५६ ।।
आदित्यान् सवसून् रुद्रान् साध्यांश्च समरुद्गणान् ।
पितरो हुताशनश्चैव नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।। ५७ ।।
गन्धर्वा राक्षसा यक्षा नद्यस्तीर्थानि यानि च ।
ऋषयो बालखिल्याश्च ब्रह्मभूताः सनातनाः ।। ५८ ।।
देवर्षयश्च कात्स्न्र्येन समुद्राः पर्वतास्तथा ।
वेदाश्च सोपनिषदो वषट्करैः सहाध्वरैः ।। ५९ ।।
चेतोमन्ति च सामानि धनुर्वेदश्च भारत ।
मेघवृन्दानि वर्षाणि विद्युतश्च युधिष्ठिर ।। ६० ।।

'लो! मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि देता हूँ। उसके द्वारा मेरे यथार्थ स्वरूपका दर्शन करो।' तब भृगुवंशी परशुरामजीने श्रीरामचन्द्रजीके शरीरमें बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, साध्य देवता, उनचास मरुद्गण, पितृगण, अग्निदेव, नक्षत्र, ग्रह, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, नदियाँ, तीर्थ, सनातन ब्रह्मभूत बालखिल्य ऋषि, देवर्षि, सम्पूर्ण समुद्र, पर्वत, उपनिषदोंसहित वेद, वषट्कार, यज्ञ, साम और धनुर्वेद, इन सभीको चेतनरूप धारण किये हुए प्रत्यक्ष देखा। भरतनन्दन युधिष्ठिर! मेघोंके समूह, वर्षा और विद्युत्का भी उनके भीतर दर्शन हो रहा था ।। ५६—६० ।।

ततः स भगवान् विष्णुस्तं वै बाणं मुमोच ह ।
शुष्काशनिसमाकीर्णं महोल्काभिश्च भारत ।। ६१ ।।
पांसुवर्षेण महता मेघवर्षैश्च भूतलम् ।

भूमिकम्पैश्च निर्घातैर्नादैश्च विपुलैरपि ।। ६२ ।।

तदनन्तर भगवान् विष्णुरूप श्रीरामचन्द्रजीने उस बाणको छोड़ा। भारत! उस समय सारी पृथ्वी बिना बादलकी बिजली और बड़ी-बड़ी उल्काओंसे व्याप्त-सी हो उठी। बड़े जोरकी आँधी उठी और सब ओर धूलकी वर्षा होने लगी। फिर मेघोंकी घटा घिर आयी और भूतलपर मूसलाधार वर्षा होने लगी। बार-बार भूकम्प होने लगा। मेघगर्जन तथा अन्य भयानक उत्पातसूचक शब्द गूँजने लगे ।। ६१-६२ ।।

स रामं विह्वलं कृत्वा तेजश्चाक्षिप्य केवलम् ।
आगच्छज्ज्वलितो बाणो रामबाहुप्रचोदितः ।। ६३ ।।

श्रीरामचन्द्रजीकी भुजाओंसे प्रेरित हुआ वह प्रज्वलित बाण परशुरामजीको व्याकुल करके केवल उनके तेजको छीनकर पुनः लौट आया ।। ६३ ।।

स तु विह्वलतां गत्वा प्रतिलभ्य च चेतनाम् ।
रामः प्रत्यागतप्राणः प्राणमद् विष्णुतेजसम् ।। ६४ ।।
विष्णुना सोऽभ्यनुज्ञातो महेन्द्रमगमत् पुनः ।
भीतस्तु तत्र न्यवसद् व्रीडितस्तु महातपाः ।। ६५ ।।

परशुरामजी एक बार मूर्च्छित होकर जब पुनः होशमें आये तब मरकर जी उठे हुए मनुष्यकी भाँति उन्होंने विष्णुतेज धारण करनेवाले भगवान् श्रीरामको नमस्कार किया। तत्पश्चात् भगवान् विष्णु श्रीरामकी आज्ञा लेकर वे पुनः महेन्द्रपर्वतपर चले गये। वहाँ भयभीत और लज्जित हो महान् तपस्यामें संलग्न होकर रहने लगे ।। ६४-६५ ।।

ततः संवत्सरेऽतीते हृतौजसमवस्थितम् ।
निर्मदं दुःखितं दृष्ट्वा पितरो राममब्रुवन् ।। ६६ ।।

तदनन्तर एक वर्ष व्यतीत होनेपर तेजोहीन और अभिमानशून्य होकर रहनेवाले परशुरामको दुःखी देखकर उनके पितरोंने कहा ।। ६६ ।।

पितर ऊचुः

न वै सम्यगिदं पुत्र विष्णुमासाद्य वै कृतम् ।
स हि पूज्यश्च मान्यश्च त्रिषु लोकेषु सर्वदा ।। ६७ ।।

पितर बोले—तुमने भगवान् विष्णुके पास जाकर जो बर्ताव किया है वह ठीक नहीं था। वे तीनों लोकोंमें सर्वदा पूजनीय और माननीय हैं ।। ६७ ।।

गच्छ पुत्र नदीं पुण्यां वधूसरकृताह्वयाम् ।
तत्रोपस्पृश्य तीर्थेषु पुनर्वपुरवाप्स्यसि ।। ६८ ।।

बेटा! अब तुम वधूसर नामक पुण्यमयी नदीके तटपर जाओ। वहाँ तीर्थोंमें स्नान करके पूर्ववत् अपना तेजोमय शरीर पुनः प्राप्त कर लोगे ।। ६८ ।।

दीप्तोदं नाम तत् तीर्थं यत्र ते प्रपितामहः ।

भृगुर्देवयुगे राम तप्तवानुत्तमं तपः ।। ६९ ।।

राम! वह दीप्तोदक नामक तीर्थ है, जहाँ देवयुगमें तुम्हारे प्रपितामह भृगुने उत्तम तपस्या की थी ।। ६९ ।।

तत् तथा कृतवान् रामः कौन्तेय वचनात् पितुः ।
प्राप्तवांश्च पुनस्तेजस्तीर्थेऽस्मिन् पाण्डुनन्दन ।। ७० ।।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! पितरोंके कहनेसे परशुरामजीने वैसा ही किया। पाण्डुनन्दन! इस तीर्थमें नहाकर पुनः उन्होंने अपना तेज प्राप्त कर लिया ।। ७० ।।

एतदीदृशकं तात रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
प्राप्तमासीन्महाराज विष्णुमासाद्य वै पुरा ।। ७१ ।।

तात महाराज युधिष्ठिर! इस प्रकार पूर्वकालमें अनायास ही महान् कर्म करनेवाले परशुराम विष्णुस्वरूप श्रीरामचन्द्रजीसे भिड़कर इस दशाको प्राप्त हुए थे ।। ७१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जामदग्न्यतेजोहानिकथने एकोनशततमोऽध्यायः ।। ९९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें परशुरामके तेजकी हानिविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ७४ श्लोक हैं)

शततमोऽध्यायः

वृत्रासुरसे त्रस्त देवताओंको महर्षि दधीचका अस्थिदान एवं वज्रका निर्माण

युधिष्ठिर उवाच

भूय एवाहमिच्छामि महर्षेस्तस्य धीमतः ।
कर्मणां विस्तरं श्रोतुमगस्त्यस्य द्विजोत्तम ।। १ ।।

युधिष्ठिरने कहा—द्विजश्रेष्ठ! मैं पुनः बुद्धिमान् महर्षि अगस्त्यजीके चरित्रका विस्तारपूर्वक वर्णन सुनना चाहता हूँ ।। १ ।।

लोमश उवाच

शृणु राजन् कथां दिव्यामद्भुतामतिमानुषीम् ।
अगस्त्यस्य महाराज प्रभावममितौजसः ।। २ ।।

लोमशजीने कहा—महाराज! अमिततेजस्वी महर्षि अगस्त्यकी कथा दिव्य, अद्भुत और अलौकिक है। उनका प्रभाव महान् है। मैं उसका वर्णन करता हूँ, सुनो ।। २ ।।

आसन् कृतयुगे घोरा दानवा युद्धदुर्मदाः ।
कालकेया इति ख्याता गणाः परमदारुणाः ।। ३ ।।

सत्ययुगकी बात है, दैत्योंके बहुत-से भयंकर दल थे जो कालकेय नामसे विख्यात थे। उनका स्वभाव अत्यन्त निर्दय था। वे युद्धमें उन्मत्त होकर लड़ते थे ।। ३ ।।

ते तु वृत्रं समाश्रित्य नानाप्रहरणोद्यताः ।
समन्तात् पर्यधावन्त महेन्द्रप्रमुखान् सुरान् ।। ४ ।।

उन सबने एक दिन वृत्रासुरकी शरण ले उसकी अध्यक्षतामें नाना प्रकारके आयुधोंसे सुसज्जित हो महेन्द्र आदि देवताओंपर चारों ओरसे आक्रमण किया ।। ४ ।।

ततो वृत्रवधे यत्नमकुर्वंस्त्रिदशाः पुरा ।
पुरंदरं पुरस्कृत्य ब्रह्माणमुपतस्थिरे ।। ५ ।।

तब समस्त देवता वृत्रासुरके वधके प्रयत्नमें लग गये। वे देवराज इन्द्रको आगे करके ब्रह्माजीके पास गये ।। ५ ।।

कृताञ्जलींस्तु तान् सर्वान् परमेष्ठीत्युवाच ह ।
विदितं मे सुराः सर्वं यद् वः कार्यं चिकीर्षितम् ।। ६ ।।

वहाँ पहुँचकर सब देवता हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तब ब्रह्माजीने उनसे कहा—‘देवताओ! तुम जो कार्य सिद्ध करना चाहते हो वह सब मुझे मालूम है ।। ६ ।।

तमुपायं प्रवक्ष्यामि यथा वृत्रं वधिष्यथ ।

दधीच इति विख्यातो महानृषिरुदारधीः ।। ७ ।।
तं गत्वा सहिताः सर्वे वरं वै सम्प्रयाचत ।
स वो दास्यति धर्मात्मा सुप्रीतेनान्तरात्मना ।। ८ ।।

'मैं तुम्हें एक उपाय बता रहा हूँ, जिससे तुम वृत्रासुरका वध कर सकोगे। दधीच नामसे विख्यात जो उदारचेता महर्षि हैं, उनके पास जाकर तुम सब लोग एक साथ एक ही वर माँगो। वे बड़े धर्मात्मा हैं। अत्यन्त प्रसन्नमनसे तुम्हें मुँहमाँगी वस्तु देंगे ।। ७-८ ।।

स वाच्यः सहितैः सर्वैर्भवद्भिर्जयकाङ्क्षिभिः ।
स्वान्यस्थीनि प्रयच्छेति त्रैलोक्यस्य हिताय वै ।। ९ ।।

'जब वे वर देना स्वीकार कर लें तब विजयकी अभिलाषा रखनेवाले तुम सब लोग उनसे एक साथ यों कहना—'महात्मन्! आप तीनों लोकोंके हितके लिये अपने शरीरकी हड्डियाँ प्रदान करें' ।। ९ ।।

स शरीरं समुत्सृज्य स्वान्यस्थीनि प्रदास्यति ।
तस्यास्थिभिर्महाघोरं वज्रं संस्क्रियतां दृढम् ।। १० ।।

'तुम्हारे माँगनेपर वे शरीर त्यागकर अपनी हड्डियाँ दे देंगे। उनकी उन हड्डियोंद्वारा तुमलोग सुदृढ़ एवं अत्यन्त भयंकर वज्रका निर्माण करो ।। १० ।।

महच्छत्रुहणं घोरं षडश्रं भीमनिःस्वनम् ।
तेन वज्रेण वै वृत्रं वधिष्यति शतक्रतुः ।। ११ ।।

देवताओंद्वारा वृत्रासुरके वधके लिये दधीचिसे उनकी अस्थियोंकी याचना

देवराज इन्द्रका वज्रके प्रहारसे वृत्रासुरका वध करना

'उसकी आकृति षट्कोणके समान होगी। वह महान् एवं घोर शत्रुनाशक अस्त्र भयंकर गड़गड़ाहट पैदा करनेवाला होगा। उस वज्रके द्वारा इन्द्र निश्चय ही वृत्रासुरका वध कर डालेंगे ।। ११ ।।

एतद् वः सर्वमाख्यातं तस्माच्छीघ्रं विधीयताम् ।
एवमुक्तास्ततो देवा अनुज्ञाप्य पितामहम् ।। १२ ।।
नारायणं पुरस्कृत्य दधीचस्वाश्रमं ययुः ।
सरस्वत्याः परे पारे नानाद्रुमलतावृतम् ।। १३ ।।

'ये सब बातें मैंने तुम्हें बता दी हैं। अतः अब शीघ्रता करो।' ब्रह्माजीके ऐसा करनेपर सब देवता उनकी आज्ञा ले भगवान् नारायणको आगे करके दधीचके आश्रमपर गये। वह आश्रम सरस्वती नदीके उस पार था। अनेक प्रकारके वृक्ष और लताएँ उसे घेरे हुए थीं ।। १२-१३ ।।

षट्पदोद्गीतनिनदैर्विघुष्टं सामगैरिव ।
पुंस्कोकिलरवोन्मिश्रं जीवं जीवकनादितम् ।। १४ ।।

भ्रमरोंके गीतोंकी ध्वनिसे वह स्थान इस प्रकार गूँज रहा था, मानो सामगान करनेवाले ब्राह्मणोंद्वारा सामवेदका पाठ हो रहा हो। कोकिलके कलरवोंसे कूजित और दूसरे जन्तुओं (पशु-पक्षियों) के शब्दोंसे कोलाहलपूर्ण बना हुआ वह आश्रम सजीव-सा जान पड़ता था ।। १४ ।।

महिषैश्च वराहैश्च सृमरैश्चमरैरपि ।
तत्र तत्रानुचरितं शार्दूलभयवर्जितैः ।। १५ ।।

भैंसे, सूअर, बालमृग और चवँरी गायें बाघ-सिंहोंके भयसे रहित हो उस आश्रमके आस-पास विचर रही थीं ।। १५ ।।

करेणुभिर्वारणैश्च प्रभिन्नकरटामुखैः ।
सरोऽवगाढैः क्रीडद्भिः समन्तादनुनादितम् ।। १६ ।।

अपने कपोलोंसे मदकी धारा बहानेवाले हाथी और हथिनियाँ वहाँ सरोवरके जलमें गोते लगाकर क्रीड़ाएँ कर रहे थे, जिससे आश्रमके चारों ओर कोलाहल-सा हो रहा था ।। १६ ।।

सिंहव्याघ्रैर्महानादान्नदद्भिरनुनादितम् ।
अपरैश्चापि संलीनैर्गुहाकन्दरशायिभिः ।। १७ ।।

पर्वतोंकी गुफाओं तथा कन्दराओंमें लेटे, झाड़ियोंमें छिपे और वनमें विचरते हुए जोर-जोरसे दहाड़नेवाले सिंहों और व्याघ्रोंकी गर्जनासे वह स्थान गूँज रहा था ।।

तेषु तेष्ववकाशेषु शोभितं सुमनोरमम् ।
त्रिविष्टपसमप्रख्यं दधीचाश्रममागमन् ।। १८ ।।

विभिन्न स्थानोंमें अधिक शोभा पानेवाला महर्षि दधीचका वह मनोरम आश्रम स्वर्गके समान प्रतीत होता था। देवता लोग वहाँ आ पहुँचे ।। १८ ।।

तत्रापश्यन् दधीचं ते दिवाकरसमद्युतिम् ।
जाज्वल्यमानं वपुषा यथा लक्ष्म्या पितामहम् ।। १९ ।।

उन्होंने देखा, महर्षि दधीच भगवान् सूर्यके समान तेजसे प्रकाशित हो रहे हैं। अपने शरीरकी दिव्य कान्तिसे साक्षात् ब्रह्माजीके समान जान पड़ते हैं ।। १९ ।।

तस्य पादौ सुरा राजन्नभिवाद्य प्रणम्य च ।
अयाचन्त वरं सर्वे यथोक्तं परमेष्ठिना ।। २० ।।

राजन्! उस समय सब देवताओंने महर्षिके चरणोंमें अभिवादन एवं प्रणाम करके ब्रह्माजीने जैसे कहा था, उसी प्रकार उनसे वर माँगा ।। २० ।।

ततो दधीचः परमप्रतीतः
सुरोत्तमांस्तानिदमभ्युवाच ।
करोमि यद् वो हितमद्य देवाः
स्वं चापि देहं स्वयमुत्सृजामि ।। २१ ।।

तब महर्षि दधीचने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन श्रेष्ठ देवताओंसे इस प्रकार कहा—'देवगण! आज मैं वही करूँगा, जिससे आपलोगोंका हित हो। अपने इस शरीरको मैं

स्वयं ही त्याग देता हूँ' ।। २१ ।।

स एवमुक्त्वा द्विपदां वरिष्ठः
प्राणान् वशी स्वान् सहसोत्ससर्ज ।
ततः सुरास्ते जगृहुः परासो-
रस्थीनि तस्याथ यथोपदेशम् ।। २२ ।।

ऐसा कहकर मनुष्योंमें श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय महर्षि दधीचने सहसा अपने प्राणोंका त्याग कर दिया। तब देवताओंने ब्रह्माजीके उपदेशके अनुसार महर्षिके निर्जीव शरीरसे हड्डियाँ ले लीं ।। २२ ।।

प्रहृष्टरूपाश्च जयाय देवा-
स्त्वष्टारमागम्य तमर्थमूचुः ।
त्वष्टा तु तेषां वचनं निशम्य
प्रहृष्टरूपः प्रयतः प्रयत्नात् ।। २३ ।।
चकार वज्रं भृशमुग्ररूपं
कृत्वा च शक्रं स उवाच हृष्टः ।
अनेन वज्रप्रवरेण देव
भस्मीकुरुष्वाद्य सुरारिमुग्रम् ।। २४ ।।

इसके बाद वे हर्षोल्लाससे भरकर विजयकी आशा लिये त्वष्टा प्रजापतिके पास आये और उनसे अपना प्रयोजन बताया। देवताओंकी बात सुनकर त्वष्टा प्रजापति बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने एकाग्रचित्त हो प्रयत्नपूर्वक अत्यन्त भयंकर वज्रका निर्माण किया। तत्पश्चात् वे हर्षमें भरकर इन्द्रसे बोले—'देव! इस उत्तम वज्रसे आप आज ही भयंकर देवद्रोही वृत्रासुरको भस्म कर डालिये ।।

ततो हतारिः सगणः सुखं वै
प्रशाधि कृत्स्नं त्रिदिवं दिविष्ठः ।
त्वष्ट्रा तथोक्तस्तु पुरंदरस्तद्
वज्रं प्रहृष्टः प्रयतो ह्यगृह्णात् ।। २५ ।।

'इस प्रकार शत्रुके मारे जानेपर आप देवगणोंके साथ स्वर्गमें रहकर सुखपूर्वक सम्पूर्ण स्वर्गका शासन एवं पालन कीजिये।' त्वष्टा प्रजापतिके ऐसा कहनेपर इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने शुद्धचित्त होकर उनके हाथसे वह वज्र ले लिया ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां वज्रनिर्माणकथने शततमोऽध्यायः ।। १०० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें वज्रनिर्माणकथनविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०० ।।

एकाधिकशततमोऽध्यायः

वृत्रासुरका वध और असुरोंकी भयंकर मन्त्रणा

लोमश उवाच

ततः स वज्री बलिभिर्दैवतैरभिरक्षितः ।
आससाद ततो वृत्रं स्थितमावृत्य रोदसी ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वज्रधारी इन्द्र बलवान् देवताओंसे सुरक्षित हो वृत्रासुरके पास गये। वह असुर भूलोक और आकाशको घेरकर खड़ा था ।। १ ।।

कालकेयैर्महाकायैः समन्तादभिरक्षितम् ।
समुद्यतप्रहरणैः सशृङ्गैरिव पर्वतैः ।। २ ।।

कालकेय नामवाले विशालकाय दैत्य, जो हाथोंमें हथियार लिये होनेके कारण शृंगयुक्त पर्वतोंके समान जान पड़ते थे, चारों ओरसे उसकी रक्षा कर रहे थे ।।

ततो युद्धं समभवद् देवानां दानवैः सह ।
मुहूर्तं भरतश्रेष्ठ लोकत्रासकरं महत् ।। ३ ।।

भरतश्रेष्ठ! इन्द्रके आते ही देवताओंका दानवोंके साथ दो घड़ीतक बड़ा भीषण युद्ध हुआ जो तीनों लोकोंको त्रसा करनेवाला था ।। ३ ।।

उद्यतप्रतिपिष्टानां खड्गानां वीरबाहुभिः ।
आसीत् सुतुमुलः शब्दः शरीरेष्वभिपात्यताम् ।। ४ ।।

वीरोंकी भुजाओंके साथ उठे हुए खड्ग शत्रुके शरीरोंपर पड़ते और विपक्षी योद्धओंके घातक प्रहारोंसे टूटकर चूर-चूर हो जाते थे, उस समय उनका अत्यन्त भयंकर शब्द सुन पड़ता था ।। ४ ।।

शिरोभिः प्रपतद्भिश्चाप्यन्तरिक्षान्महीतलम् ।
तालैरिव महाराज वृन्ताद् भ्रष्टैरदृश्यत ।। ५ ।।

महाराज! अपने मूल स्थानसे टूटकर गिरे हुए ताल-फलोंके समान आकाशसे गिरते हुए योद्धाओंके मस्तकों-द्वारा वहाँकी भूमि आच्छादित दिखायी देती थी ।। ५ ।।

ते हेमकवचा भूत्वा कालेयाः परिघायुधाः ।
त्रिदशानभ्यवर्तन्त दावदग्धा इवाद्रयः ।। ६ ।।

कालकेयोंने सोनेके कवच धारण करके हाथोंमें परिघ लिये देवताओंपर धावा किया। उस समय वे दानव दावानलसे दग्ध हुए पर्वतोंकी भाँति दिखायी देते थे ।।

तेषां वेगवतां वेगं साभिमानं प्रधावताम् ।
न शेकुस्त्रिदशाः सोढुं ते भग्नाः प्राद्रवन् भयात् ।। ७ ।।

अभिमानपूर्वक आक्रमण करनेवाले उन वेगशाली दैत्योंका वेग देवताओंके लिये असह्य हो गया। वे अपने दलसे बिछुड़कर भयसे भागने लगे ।। ७ ।।

तान् दृष्ट्वा द्रवतो भीतान् सहस्राक्षः पुरंदरः ।
वृत्रे विवर्धमाने च कश्मलं महदाविशत् ।। ८ ।।

देवताओंको डरकर भागते देख वृत्रासुरकी प्रगतिका अनुमान करके सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्रपर महान् मोह छा गया ।। ८ ।।

कालेयभयसंत्रस्तो देवः साक्षात् पुरंदरः ।
जगाम शरणं शीघ्रं तं तु नारायणं प्रभुम् ।। ९ ।।

कालेयोंके भयसे त्रस्त हुए साक्षात् इन्द्रदेवने सर्व-शक्तिमान् भगवान् नारायणकी शीघ्रतापूर्वक शरण ली ।।

तं शक्रं कश्मलाविष्टं दृष्ट्वा विष्णुः सनातनः ।
स्वतेजो व्यदधाच्छक्रे बलमस्य विवर्धयन् ।। १० ।।

इन्द्रको इस प्रकार मोहाच्छन्न होते देख सनातन भगवान् विष्णुने उनका बल बढ़ाते हुए उनमें अपना तेज स्थापित कर दिया ।। १० ।।

विष्णुना गोपितं शक्रं दृष्ट्वा देवगणास्ततः ।
सर्वे तेजः समादध्युस्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।। ११ ।।

देवताओंने देखा इन्द्र भगवान् विष्णुके द्वारा सुरक्षित हो गये हैं, तब उन सबने तथा शुद्ध अन्तःकरणवाले ब्रह्मर्षियोंने भी देवराज इन्द्रमें अपना-अपना तेज भर दिया ।। ११ ।।

स समाप्यायितः शक्रो विष्णुना दैवतैः सह ।
ऋषिभिश्च महाभागैर्बलवान् समपद्यत ।। १२ ।।
ज्ञात्वा बलस्थं त्रिदशाधिपं तु
ननाद वृत्रो महतो निनादान् ।
तस्य प्रणादेन धरा दिशश्च
खं द्यौर्नगाश्चापि चचाल सर्वम् ।। १३ ।।

देवताओंसहित श्रीविष्णु तथा महाभाग महर्षियोंके तेजसे परिपूर्ण हो देवराज इन्द्र अत्यन्त बलशाली हो गये। देवेश्वर इन्द्रको बलसे सम्पन्न जान वृत्रासुरने बड़ी विकट गर्जना की। उसके सिंहनादसे भूलोक, सम्पूर्ण दिशाएँ, आकाश, स्वर्गलोक तथा पर्वत सब-के-सब काँप उठे ।। १२-१३ ।।

ततो महेन्द्रः परमाभितप्तः
श्रुत्वा रवं घोररूपं महान्तम् ।
भये निमग्नस्त्वरितो मुमोच
वज्रं महत् तस्य वधाय राजन् ।। १४ ।।

राजन्! उस समय उस अत्यन्त भयानक गर्जनाको सुनकर देवराज इन्द्र बहुत संतप्त हो उठे और भयभीत होकर उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ वृत्रासुरके वधके लिये अपने महान् वज्रका प्रहार किया ।। १४ ।।

स शक्रवज्राभिहतः पपात
महासुरः काञ्चनमाल्यधारी ।
यथा महाशैलवरः पुरस्तात्
स मन्दरो विष्णुकराद् विमुक्तः ।। १५ ।।

इन्द्रके वज्रसे आहत होकर सुवर्णमालाधारी वह महान् असुर पूर्वकालमें भगवान् विष्णुके हाथसे छूटे हुए महान् पर्वत मन्दरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। १५ ।।

तस्मिन् हते दैत्यवरे भयार्तः
शक्रः प्रदुद्राव सरः प्रवेष्टुम् ।
वज्रं स मेने न कराद् विमुक्तं
वृत्रं भयाच्चापि हतं न मेने ।। १६ ।।

महादैत्य वृत्रके मारे जानेपर भी इन्द्र भयसे पीड़ित हो (छिपनेकी इच्छासे) तालाबमें प्रवेश करने दौड़े। उन्हें भयके कारण यह विश्वास नहीं होता था कि वज्र मेरे हाथसे छूट चुका है और वृत्रासुर भी अवश्य मारा गया है ।। १६ ।।

सर्वे च देवा मुदिताः प्रहृष्टा
महर्षयश्चेन्द्रमभिष्टुवन्तः ।
सर्वांश्च दैत्यांस्त्वरिताः समेत्य
जघ्नुः सुरा वृत्रवधाभितप्तान् ।। १७ ।।

उस समय सब देवता बड़े प्रसन्न हुए। महर्षिगण भी हर्षोल्लासमें भरकर इन्द्रदेवकी स्तुति करने लगे। तत्पश्चात् सब देवताओंने मिलकर वृत्रासुरके वधसे संतप्त हुए समस्त दैत्योंको तुरंत मार भगाया ।। १७ ।।

तैस्त्रास्यमानास्त्रिदशैः समेतैः
समुद्रमेवाविविशुर्भयार्ताः ।
प्रविश्य चैवोदधिमप्रमेयं
झषाकुलं नक्रसमाकुलं च ।। १८ ।।
तदा स्म मन्त्रं सहिताः प्रचक्रु-
स्त्रैलोक्यनाशार्थमभिस्मयन्तः ।
तत्र स्म केचिन्मतिनिश्चयज्ञा-
स्तांस्तानुपायानुपवर्णयन्ति ।। १९ ।।

संगठित देवताओंद्वारा त्रास दिये जानेपर वे सब दैत्य भयसे आतुर हो समुद्रमें ही प्रवेश कर गये। मत्स्यों और मगरोंसे भरे हुए उस अपार महासागरमें प्रविष्ट हो वे सम्पूर्ण दानव

तीनों लोकोंका नाश करनेके लिये बड़े गर्वसे एक साथ मन्त्रणा करने लगे। उनमेंसे कुछ दैत्य जो अपनी बुद्धिके निश्चयको स्पष्टरूपसे जाननेवाले थे; (जगत्के विनाशके लिये) उपयोगी विभिन्न उपायोंका वर्णन करने लगे ।। १८-१९ ।।

तेषां तु तत्र क्रमकालयोगाद्
घोरा मतिश्चिन्तयतां बभूव ।
ये सन्ति विद्यातपसोपपन्ना-
स्तेषां विनाशः प्रथमं तु कार्यः ।। २० ।।
लोका हि सर्वे तपसा ध्रियन्ते
तस्मात् त्वरध्वं तपसः क्षयाय ।
ये सन्ति केचिच्च वसुंधरायां
तपस्विनो धर्मविदश्च तज्ज्ञाः ।। २१ ।।
तेषां वधः क्रियतां क्षिप्रमेव
तेषु प्रणष्टेषु जगत् प्रणष्टम् ।
एवं हि सर्वे गतबुद्धिभावा
जगद्विनाशे परमप्रहृष्टाः ।। २२ ।।
दुर्गं समाश्रित्य महोर्मिमन्तं
रत्नाकरं वरुणस्यालयं स्म ।। २३ ।।

वहाँ क्रमशः दीर्घकालतक उपायचिन्तनमें लगे हुए उन असुरोंने यह घोर निश्चय किया कि जो लोग विद्वान् और तपस्वी हों, सबसे पहले उन्हींका विनाश करना चाहिये। सम्पूर्ण लोग तपसे ही टिके हुए हैं। अतः तुम सब लोग तपस्याके विनाशके लिये शीघ्रतापूर्वक कार्य करो। भूमण्डलमें जो कोई भी तपस्वी, धर्मज्ञ एवं उन्हें जानने-माननेवाले लोग हों, उन सबका तुरंत वध कर डालो। उनके नष्ट होनेपर सारा जगत् नष्ट हो जायगा। इस प्रकार बुद्धि और विचारसे हीन वे समस्त दैत्य संसारके विनाशकी बात सोचकर अत्यन्त हर्षका अनुभव करने लगे। उत्ताल तरंगोंसे भरे हुए वरुणके निवासस्थान रत्नाकर समुद्ररूप दुर्गका आश्रय लेकर वे उसमें निर्भय होकर रहने लगे ।। २०—२३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां वृत्रवधोपाख्याने एकाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें वृत्रवधोपाख्यानविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०१ ।।

द्वयधिकशततमोऽध्यायः

कालेयोंद्वारा तपस्वियों, मुनियों और ब्रह्मचारियों आदिका संहार तथा देवताओंद्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति

लोमश उवाच

समुद्रं ते समाश्रित्य वारुणं निधिमम्भसः ।
कालेयाः सम्प्रवर्तन्त त्रैलोक्यस्य विनाशने ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! वरुणके निवासस्थान जलनिधि समुद्रका आश्रय लेकर कालेय नामक दैत्य तीनों लोकोंके विनाश-कार्यमें लग गये ।। १ ।।

ते रात्रौ समभिक्रुद्धा भक्षयन्ति सदा मुनीन् ।
आश्रमेषु च ये सन्ति पुण्येष्वायतनेषु च ।। २ ।।

वे सदा रातमें कुपित होकर आते और आश्रमों तथा पुण्य-स्थानोंमें जो निवास करते थे उन मुनियोंको खा जाते थे ।। २ ।।

वसिष्ठस्याश्रमे विप्रा भक्षितास्तैर्दुरात्मभिः ।
अशीतिः शतमष्टौ च नव चान्ये तपस्विनः ।। ३ ।।

उन दुरात्माओंने वसिष्ठके आश्रममें निवास करनेवाले एक सौ अट्ठासी ब्राह्मणों तथा नौ दूसरे तपस्वियोंको अपना आहार बना लिया ।। ३ ।।

च्यवनस्याश्रमं गत्वा पुण्यं द्विजनिषेवितम् ।
फलमूलाशनानां हि मुनीनां भक्षितं शतम् ।। ४ ।।

च्यवन मुनिके पवित्र आश्रममें, जहाँ बहुत-से द्विज निवास करते थे, जाकर उन दैत्योंने फल-मूलका आहार करनेवाले सौ मुनियोंका भक्षण कर लिया ।। ४ ।।

एवं रात्रौ स्म कुर्वन्ति विविशुश्चार्णवं दिवा ।
भरद्वाजाश्रमे चैव नियता ब्रह्मचारिणः ।। ५ ।।
वाय्वाहाराम्बुभक्षाश्च विंशतिः संनिषूदिताः ।
एवं क्रमेण सर्वांस्तानाश्रमान् दानवास्तदा ।। ६ ।।
निशायां परिबाधन्ते मत्ता भुजबलाश्रयात् ।
कालोपसृष्टाः कालेया घ्नन्तो द्विजगणान् बहून् ।। ७ ।।
न चैनानन्वबुध्यन्त मनुजा मनुजोत्तम ।
एवं प्रवृत्तान् दैत्यांस्तांस्तापसेषु तपस्विषु ।। ८ ।।

इस प्रकार वे रातमें तपस्वी मुनियोंका संहार करते और दिनमें समुद्रके जलमें प्रवेश कर जाते थे। भरद्वाज मुनिके आश्रममें वायु और जल पीकर संयम-नियमके साथ रहनेवाले

बीस ब्रह्मचारियोंको कालेयोंने कालके गालमें डाल दिया। इस तरह क्रमशः सभी आश्रमोंमें जाकर अपने बाहुबलके भरोसे उन्मत्त रहनेवाले दानव रातमें वहाँके निवासियोंको सर्वथा कष्ट पहुँचाया करते थे। नरश्रेष्ठ! कालेय दानव कालके अधीन हो रहे थे; इसीलिये वे असंख्य ब्राह्मणोंकी हत्या करते चले जा रहे थे। मनुष्योंको उनके इस षड्यन्त्रका पता नहीं लगता था। इस प्रकार वे तपस्याके धनी तापसोंके संहारमें प्रवृत्त हो रहे थे ।। ५—८ ।।

प्रभाते समदृश्यन्त नियताहारकर्शिताः ।
महीतलस्था मुनयः शरीरैर्गतजीवितैः ।। ९ ।।

प्रातःकाल आनेपर नियमित आहारसे दुर्बल मुनिगण अपने अस्थिमात्रावशिष्ट निष्प्राण शरीरोंसे पृथ्वीपर पड़े दिखायी देते थे ।। ९ ।।

क्षीणमांसैर्विरुधिरैर्विमज्जान्त्रैर्विसंधिभिः ।
आकीर्णैराबभौ भूमिः शङ्खानामिव राशिभिः ।। १० ।।

राक्षसोंके द्वारा भक्षण करनेके कारण उनके शरीरोंका मांस तथा रक्त क्षीण हो चुका था। वे मज्जा, आँतें और संधिस्थानों (घुटने आदि)-से रहित हो गये थे। इस तरह सब ओर फैली हुई सफेद हड्डियोंके कारण वहाँकी भूमि शंखराशिसे आच्छादित-सी प्रतीत होती थी ।। १० ।।

कलशैर्विप्रविद्धैश्च स्रुवैर्भग्नैस्तथैव च ।
विकीर्णैरग्निहोत्रैश्च भूर्बभूव समावृता ।। ११ ।।

उलटे-पुलटे पड़े हुए कलशों, टूटे-फूटे स्रुवों तथा बिखरी पड़ी हुई अग्निहोत्रकी सामग्रियोंसे उन आश्रमोंकी भूमि आच्छादित हो रही थी ।। ११ ।।

निःस्वाध्यायवषट्कारं नष्टयज्ञोत्सवक्रियम् ।
जगदासीन्निरुत्साहं कालेयभयपीडितम् ।। १२ ।।

स्वाध्याय और वषट्कार बंद हो गये। यज्ञोत्सव आदि कार्य नष्ट हो गये। कालेयोंके भयसे पीड़ित हुए सम्पूर्ण जगत्में कहीं कोई उत्साह नहीं रह गया था ।।

एवं संक्षीयमाणाश्च मानवा मनुजेश्वर ।
आत्मत्राणपराभीताः प्राद्रवन्त दिशो भयात् ।। १३ ।।

नरेश्वर! इस प्रकार दिन-दिन नष्ट होनेवाले मनुष्य भयभीत हो अपनी रक्षाके लिये चारों दिशाओंमें भाग गये ।। १३ ।।

केचिद् गुहाः प्रविविशुर्निर्झरांश्चापरे तथा ।
अपरे मरणोद्विग्ना भयात् प्राणान् समुत्सृजन् ।। १४ ।।

कुछ लोग गुफाओंमें जा छिपे। कितने ही मानव झरनोंके आस-पास रहने लगे और कितने ही मनुष्य मृत्युसे इतने घबरा गये कि भयसे ही उनके प्राण निकल गये ।। १४ ।।

केचिदत्र महेष्वासाः शूराः परमहर्षिताः ।
मार्गमाणाः परं यत्नं दानवानां प्रचक्रिरे ।। १५ ।।

इस भूतलपर कुछ महान् धनुर्धर शूरवीर भी थे, जो अत्यन्त हर्ष और उत्साहसे युक्त हो दानवोंके स्थानका पता लगाते हुए उनके दमनके लिये भारी प्रयत्न करने लगे ।। १५ ।।

न चैतानधिजग्मुस्ते समुद्रं समुपाश्रितान् ।
श्रमं जग्मुश्च परममाजग्मुः क्षयमेव च ।। १६ ।।

परंतु समुद्रमें छिपे हुए दानवोंको वे पकड़ नहीं पाते। उन्होंने बहुत परिश्रम किया और अन्तमें थककर वे पुनः अपने घरको ही लौट आये ।। १६ ।।

जगत्युपशमं याते नष्टयज्ञोत्सवक्रिये ।
आजग्मुः परमामार्तिं त्रिदशा मनुजेश्वर ।। १७ ।।

मनुजेश्वर! यज्ञोत्सव आदि कार्योंके नष्ट हो जानेपर जब जगत्का विनाश होने लगा, तब देवताओंको बड़ी पीड़ा हुई ।। १७ ।।

समेत्य समहेन्द्राश्च भयान्मन्त्रं प्रचक्रिरे ।
शरण्यं शरणं देवं नारायणमजं विभुम् ।। १८ ।।
तेऽभिगम्य नमस्कृत्य वैकुण्ठमपराजितम् ।
ततो देवाः समस्तास्ते तदोचुर्मधुसूदनम् ।। १९ ।।

इन्द्र आदि सब देवताओंने मिलकर भयसे मुक्त होनेके लिये मन्त्रणा की। फिर वे समस्त देवता सबको शरण देनेवाले, शरणागतवत्सल, अजन्मा एवं सर्वव्यापी, अपराजित वैकुण्ठनाथ भगवान् नारायणदेवकी शरणमें गये और नमस्कार करके उन मधुसूदनसे बोले — ।।

त्वं नः स्रष्टा च भर्ता च हर्ता च जगतः प्रभो ।
त्वया सृष्टमिदं विश्वं यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ।। २० ।।

‘प्रभो! आप ही हमारे स्रष्टा और पालक हैं। आप ही सम्पूर्ण जगत्का संहार करनेवाले हैं। इस स्थावर और जंगम सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि आपने ही की है ।।

त्वया भूमिः पुरा नष्टा समुद्रात् पुष्करेक्षण ।
वाराहं वपुराश्रित्य जगदर्थे समुद्धृता ।। २१ ।।

‘कमलनयन! पूर्वकालमें आपने वाराहरूप धारण करके सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये समुद्रके जलसे इस खोयी हुई पृथ्वीका उद्धार किया था ।। २१ ।।

आदिदैत्यो महावीर्यो हिरण्यकशिपुः पुरा ।
नारसिंहं वपुः कृत्वा सूदितः पुरुषोत्तम ।। २२ ।।

‘पुरुषोत्तम! प्राचीनकालमें आपने ही नृसिंह-शरीर धारण करके महापराक्रमी आदिदैत्य हिरण्यकशिपुका वध किया था ।। २२ ।।

अवध्यः सर्वभूतानां बलिश्चापि महासुरः ।
वामनं वपुराश्रित्य त्रैलोक्याद् भ्रंशितस्त्वया ।। २३ ।।

‘सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये अवध्य महादैत्य बलिको भी आपने ही वामनरूप धारण करके त्रिलोकीके राज्यसे वंचित किया ।। २३ ।।

असुरश्च महेष्वासो जम्भ इत्यभिविश्रुतः ।
यज्ञक्षोभकरः क्रूरस्त्वयैव विनिपातितः ।। २४ ।।

‘यज्ञोंका नाश करनेवाले क्रूरकर्मा महाधनुर्धर जम्भ नामसे विख्यात असुरको भी आपने ही मार गिराया था ।। २४ ।।

एवमादीनि कर्माणि येषां संख्या न विद्यते ।
अस्माकं भयभीतानां त्वं गतिर्मधुसूदन ।। २५ ।।

‘ऐसे-ऐसे आपके अनेक कर्म हैं, जिनकी कोई संख्या नहीं है। मधुसूदन! हम भयभीत देवताओंके एकमात्र आश्रय आप ही हैं ।। २५ ।।

तस्मात् त्वां देवदेवेश लोकार्थं ज्ञापयामहे ।
रक्ष लोकांश्च देवांश्च शक्रं च महतो भयात् ।। २६ ।।

‘देवदेवेश्वर! इसीलिये लोकहितके उद्देश्यसे हम यह निवेदन कर रहे हैं कि आप सम्पूर्ण जगत्के प्राणियों, देवताओं और इन्द्रकी भी महान् भयसे रक्षा कीजिये’ ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां विष्णुस्तवे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १०२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें विष्णुस्तुतिविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०२ ।।

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुके आदेशसे देवताओंका महर्षि अगस्त्यके आश्रमपर जाकर उनकी स्तुति करना

देवा ऊचुः

तव प्रसादाद् वर्धन्ते प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः ।
ता भाविता भावयन्ति हव्यकव्यैर्दिवौकसः ।। १ ।।

देवता कहते हैं—प्रभो! जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चार भेदोंवाली सम्पूर्ण प्रजा आपकी कृपासे ही वृद्धिको प्राप्त होती है। अभ्युदयशील होनेपर वे (मानव) प्रजाएँ ही हव्य और कव्योंद्वारा देवताओंका भरण-पोषण करती हैं ।। १ ।।

लोका ह्येवं विवर्धन्ते ह्यन्योन्यं समुपाश्रिताः ।
त्वत्प्रसादान्निरुद्विग्नास्त्वयैव परिरक्षिताः ।। २ ।।
इदं च समनुप्राप्तं लोकानां भयमुत्तमम् ।
न च जानीम केनेमे रात्रौ वध्यन्ति ब्राह्मणाः ।। ३ ।।

इसी प्रकार सब लोग एक-दूसरेके सहारे उन्नति करते हैं। आपकी ही कृपासे सब प्राणी उद्वेगरहित जीवन बिताते और आपके द्वारा ही सर्वथा सुरक्षित रहते हैं। भगवन्! मनुष्योंके समक्ष यह बड़ा भारी भय उपस्थित हुआ है। न जाने कौन रातमें आकर इन ब्राह्मणोंका वध कर रहा है ।। २-३ ।।

क्षीणेषु च ब्राह्मणेषु पृथिवी क्षयमेष्यति ।
ततः पृथिव्यां क्षीणायां त्रिदिवं क्षयमेष्यति ।। ४ ।।

ब्राह्मणोंके नष्ट होनेपर सारी पृथ्वी नष्ट हो जायगी और पृथ्वीका नाश होनेपर स्वर्ग भी नष्ट हो जायगा ।। ४ ।।

त्वत्प्रसादान्महाबाहो लोकाः सर्वे जगत्पते ।
विनाशं नाधिगच्छेयुस्त्वया वै परिरक्षिताः ।। ५ ।।

महाबाहो! जगत्पते! आप ऐसी कृपा करें, जिससे आपके द्वारा सुरक्षित होकर सब लोग विनाशको न प्राप्त हों ।। ५ ।।

विष्णुरुवाच

विदितं मे सुराः सर्वं प्रजानां क्षयकारणम् ।
भवतां चापि वक्ष्यामि शृणुध्वं विगतज्वराः ।। ६ ।।

भगवान् विष्णु बोले—देवताओ! प्रजाके विनाशका जो कारण उपस्थित हुआ है वह सब मुझे ज्ञात है। मैं तुमलोगोंको भी बता रहा हूँ; निश्चिन्त होकर सुनो ।। ६ ।।

कालेय इति विख्यातो गणः परमदारुणः ।
तैश्च वृत्रं समाश्रित्य जगत् सर्वं प्रमाथितम् ।। ७ ।।

दैत्योंका एक अत्यन्त भयंकर दल है जो कालेय नामसे विख्यात है। उन दैत्योंने वृत्रासुरका सहारा लेकर सारे संसारमें तहलका मचा दिया था ।। ७ ।।

ते वृत्रं निहतं दृष्ट्वा सहस्राक्षेण धीमता ।
जीवितं परिरक्षन्तः प्रविष्टा वरुणालयम् ।। ८ ।।

परम बुद्धिमान् इन्द्रके द्वारा वृत्रासुरको मारा गया देख वे अपने प्राण बचानेके लिये समुद्रमें जाकर छिप गये हैं ।। ८ ।।

ते प्रविश्योदधिं घोरं नक्रग्राहसमाकुलम् ।
उत्सादनार्थं लोकानां रात्रौ घ्नन्ति ऋषीनिह ।। ९ ।।

नाक और ग्राहोंसे भरे हुए भयंकर समुद्रमें घुसकर वे सम्पूर्ण जगत्का संहार करनेके लिये रातमें निकलते तथा यहाँ ऋषियोंकी हत्या करते हैं ।। ९ ।।

न तु शक्याः क्षयं नेतुं समुद्राश्रयगा हि ते ।
समुद्रस्य क्षये बुद्धिर्भवद्भिः सम्प्रधार्यताम् ।। १० ।।

उन दानवोंका संहार नहीं किया जा सकता; क्योंकि वे दुर्गम समुद्रके आश्रयमें रहते हैं। अतः तुम-लोगोंको समुद्रको सुखानेका विचार करना चाहिये ।। १० ।।

अगस्त्येन विना को हि शक्तोऽन्योऽर्णवशोषणे ।

अन्यथा हि न शक्यास्ते विना सागरशोषणम् ।। ११ ।।

महर्षि अगस्त्यके सिवा दूसरा कौन है जो समुद्रका शोषण करनेमें समर्थ हो। समुद्रको सुखाये बिना वे दानव काबूमें नहीं आ सकते ।। ११ ।।

एतच्छ्रुत्वा तदा देवा विष्णुना समुदाहृतम् ।
परमेष्ठिनमाज्ञाप्य अगस्त्यस्याश्रमं ययुः ।। १२ ।।

भगवान् विष्णुकी कही हुई यह बात सुनकर देवता ब्रह्माजीकी आज्ञा ले अगस्त्यके आश्रमपर गये ।।

तत्रापश्यन् महात्मानं वारुणिं दीप्ततेजसम् ।
उपास्यमानमृषिभिर्देवैरिव पितामहम् ।। १३ ।।

वहाँ उन्होंने मित्रावरुणके पुत्र महात्मा अगस्त्यजीको देखा। उनका तेज उद्भासित हो रहा था। जैसे देवतालोग ब्रह्माजीके पास बैठते हैं, उसी प्रकार बहुत-से ऋषि-मुनि उनके निकट बैठे थे ।। १३ ।।

तेऽभिगम्य महात्मानं मैत्रावरुणिमच्युतम् ।
आश्रमस्थं तपोराशिं कर्मभिः स्वैरभिष्टुवन् ।। १४ ।।

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले मित्रावरुण नन्दन तपोराशि महात्मा अगस्त्य आश्रममें ही विराजमान थे। देवताओंने समीप जाकर उनके अद्भुत कर्मोंका वर्णन करते हुए स्तुति प्रारम्भ की ।। १४ ।।

देवा ऊचुः

नहुषेणाभितप्तानां त्वं लोकानां गतिः पुरा ।
भ्रंशितश्च सुरैश्वर्यात् स्वर्लोकाल्लोककण्टकः ।। १५ ।।

देवता बोले—भगवन्! पूर्वकालमें राजा नहुषके अन्यायसे संतप्त हुए लोकोंकी आपने ही रक्षा की थी। आपने ही उस लोककण्टक नरेशको देवेन्द्रपद तथा स्वर्गसे नीचे गिरा दिया था ।। १५ ।।

क्रोधात् प्रवृद्धः सहसा भास्करस्य नगोत्तमः ।
वचस्तवानतिक्रामन् विन्ध्यः शैलो न वर्धते ।। १६ ।।

पर्वतोंमें श्रेष्ठ विन्ध्य सूर्यदेवपर क्रोध करके जब सहसा बढ़ने लगा तब आपने ही उसे रोका था। आपकी आज्ञाका उल्लंघन न करते हुए विन्ध्यगिरि आज भी बढ़ नहीं रहा है ।। १६ ।।

तमसा चावृते लोके मृत्युनाभ्यर्दिताः प्रजाः ।
त्वामेव नाथमासाद्य निर्वृतिं परमां गताः ।। १७ ।।

विन्ध्यगिरिके बढ़नेसे जब सारे जगत्में अन्धकार छा गया और सारी प्रजा मृत्युसे पीड़ित होने लगी। उस समय आपको ही अपना रक्षक पाकर सबने अत्यन्त हर्षका अनुभव

किया था ।। १७ ।।

अस्माकं भयभीतानां नित्यशो भगवान् गतिः ।
ततस्त्वार्ताः प्रयाचामो वरं त्वां वरदो ह्यसि ।। १८ ।।

सदा आप ही हम भयभीत देवताओंके लिये आश्रय होते आये हैं। अतः इस समय भी संकटमें पड़कर हम आपसे वर माँग रहे हैं; क्योंकि आप ही वर देनेके योग्य हैं ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १०३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्यमाहात्म्य-वर्णनविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०३ ।।

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

अगस्त्यजीका विन्ध्यपर्वतको बढ़नेसे रोकना और देवताओंके साथ सागर-तटपर जाना

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं सहसा विन्ध्यः प्रवृद्धः क्रोधमूर्च्छितः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामुने ।। १ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—महामुने! विन्ध्यपर्वत किसलिये क्रोधसे मूर्छित हो सहसा बढ़ने लगा था? मैं इस प्रसंगको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ।। १ ।।

लोमश उवाच

अद्रिराजं महाशैलं मेरुं कनकपर्वतम् ।
उदयास्तमने भानुः प्रदक्षिणमवर्तत ।। २ ।।

लोमशजीने कहा—राजन्! सूर्यदेव सुवर्णमय महान् पर्वत गिरिराज मेरुकी उदय और अस्तके समय परिक्रमा किया करते हैं ।। २ ।।

तं तु दृष्ट्वा तथा विन्ध्यः शैलः सूर्यमथाब्रवीत् ।
यथा हि मेरुर्भवता नित्यशः परिगम्यते ।। ३ ।।
प्रदक्षिणश्च क्रियते मामेवं कुरु भास्कर ।
एवमुक्तस्ततः सूर्यः शैलेन्द्रं प्रत्यभाषत ।। ४ ।।
नाहमात्मेच्छया शैलं करोम्येनं प्रदक्षिणम् ।
एष मार्गः प्रदिष्टो मे यैरिदं निर्मितं जगत् ।। ५ ।।

उन्हें ऐसा करते देख विन्ध्यगिरिने उनसे कहा—‘भास्कर! जैसे आप मेरुकी प्रतिदिन परिक्रमा करते हैं, उसी तरह मेरी भी कीजिये।’ यह सुनकर भगवान् सूर्यने गिरिराज विन्ध्यसे कहा—‘गिरिश्रेष्ठ! मैं अपनी इच्छासे मेरुगिरिकी परिक्रमा नहीं करता हूँ। जिन्होंने इस संसारकी सृष्टि की है, उन विधाताने मेरे लिये यही मार्ग निश्चित किया है’ ।। ३—५ ।।

एवमुक्तस्ततः क्रोधात् प्रवृद्धः सहसाचलः ।
सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं रोद्धुमिच्छन् परंतप ।। ६ ।।

परंतप युधिष्ठिर! सूर्यदेवके ऐसा कहनेपर विन्ध्य-पर्वत सहसा कुपित हो सूर्य और चन्द्रमाका मार्ग रोक लेनेकी इच्छासे बढ़ने लगा ।। ६ ।।

ततो देवाः सहिताः सर्व एव
विन्ध्यं समागम्य महाद्रिराजम् ।
निवारयामासुरुपायतस्तं

न च स्म तेषां वचनं चकार ।। ७ ।।

यह देख सब देवता एक साथ मिलकर महान् पर्वतराज विन्ध्यके पास गये और अनेक उपायोंद्वारा उसके क्रोधका निवारण करने लगे; परंतु उसने उनकी बात नहीं मानी ।। ७ ।।

अथाभिजग्मुर्मुनिमाश्रमस्थं
तपस्विनं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
अगस्त्यमत्यद्भुतवीर्यवन्तं
तं चार्थमूचुः सहिताः सुरास्ते ।। ८ ।।

तब वे सब देवता मिलकर अपने आश्रमपर विराजमान धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तपस्वी अगस्त्य मुनिके पास गये, जो अद्भुत प्रभावशाली थे। वहाँ जाकर उन्होंने अपना प्रयोजन कह सुनाया ।। ८ ।।

देवा ऊचुः

सूर्याचन्द्रमसोर्मार्गं नक्षत्राणां गतिं तथा ।
शैलराजो वृणोत्येष विन्ध्यः क्रोधवशानुगः ।। ९ ।।
तं निवारयितुं शक्तो नान्यः कश्चिद् द्विजोत्तम ।
ऋते त्वां हि महाभाग तस्मादेनं निवारय ।। १० ।।

देवता बोले—द्विजश्रेष्ठ! यह पर्वतराज विन्ध्य क्रोधके वशीभूत होकर सूर्य और चन्द्रमाके मार्ग तथा नक्षत्रोंकी गतिको रोक रहा है। महाभाग! आपके सिवा दूसरा कोई इसका निवारण नहीं कर सकता। अतः आप चलकर इसे रोकिये ।। ९-१० ।।

तच्छ्रुत्वा वचनं विप्रः सुराणां शैलमभ्यगात् ।
सोऽभिगम्याब्रवीद् विन्ध्यं सदारः समुपस्थितः ।। ११ ।।

देवताओंकी यह बात सुनकर विप्रवर अगस्त्य अपनी पत्नी लोपामुद्राके साथ विन्ध्यपर्वतके समीप गये और वहाँ उपस्थित हो उससे इस प्रकार बोले— ।। ११ ।।

मार्गमिच्छाम्यहं दत्तं भवता पर्वतोत्तम ।

दक्षिणामभिगन्तास्मि दिशं कार्येण केनचित् ।। १२ ।।

'पर्वतश्रेष्ठ! मैं किसी कार्यसे दक्षिण दिशाको जा रहा हूँ, मेरी इच्छा है, तुम मुझे मार्ग प्रदान करो ।। १२ ।।

यावदागमनं मह्यं तावत् त्वं प्रतिपालय ।

निवृत्ते मयि शैलेन्द्र ततो वर्धस्व कामतः ।। १३ ।।

'जबतक मैं पुनः लौटकर न आऊँ तबतक मेरी प्रतीक्षा करते रहो। शैलराज! मेरे लौट आनेपर तुम पुनः इच्छानुसार बढ़ते रहना' ।। १३ ।।

एवं स समयं कृत्वा विन्ध्येनामित्रकर्शन ।

अद्यापि दक्षिणाद्देशाद् वारुणिर्न निवर्तते ।। १४ ।।

शत्रुसूदन! विन्ध्यके साथ ऐसा नियम करके मित्रावरुणनन्दन अगस्त्यजी चले गये और आजतक दक्षिण प्रदेशसे नहीं लौटे ।। १४ ।।

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा विन्ध्यो न वर्धते ।

अगस्त्यस्य प्रभावेण यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।। १५ ।।

राजन्! तुम मुझसे जो बात पूछ रहे थे, वह सब प्रसंग मैंने कह दिया। महर्षि अगस्त्यके ही प्रभावसे विन्ध्यपर्वत बढ़ नहीं रहा है ।। १५ ।।

कालेयास्तु यथा राजन् सुरैः सर्वैर्निषूदिताः ।
अगस्त्याद् वरमासाद्य तन्मे निगदतः शृणु ।। १६ ।।

राजन्! सब देवताओंने अगस्त्यसे वर पाकर जिस प्रकार कालेय नामक दैत्योंका संहार किया, वह बता रहा हूँ, सुनो— ।। १६ ।।

त्रिदशानां वचः श्रुत्वा मैत्रावरुणिरब्रवीत् ।
किमर्थमभियाताः स्थ वरं मत्तः कमिच्छथ ।
एवमुक्तास्ततस्तेन देवता मुनिमब्रुवन् ।। १७ ।।
(सर्वे प्राञ्जलयो भूत्वा पुरन्दरपुरोगमाः ।)

देवताओंकी बात सुनकर मित्रावरुणनन्दन अगस्त्यने पूछा—‘देवताओ! आपलोग किसलिये यहाँ पधारे हैं और मुझसे कौन-सा वर चाहते हैं?’ उनके इस प्रकार पूछनेपर इन्द्रको आगे करके सब देवताओंने हाथ जोड़कर मुनिसे कहा— ।। १७ ।।

एवं त्वयेच्छाम कृतं हि कार्यं
महार्णवं पीयमानं महात्मन् ।
ततो वधिष्याम सहानुबन्धान्
कालेयसंज्ञान् सुरविद्विषस्तान् ।। १८ ।।

‘महात्मन्! हम आपके द्वारा यह कार्य सम्पन्न कराना चाहते हैं कि आप सारे महासागरके जलको पी जायँ। तदनन्तर हमलोग देवद्रोही कालेय नामक दानवोंका उनके बन्धु-बान्धवोंसहित वध कर डालेंगे’ ।। १८ ।।

त्रिदशानां वचः श्रुत्वा तथेति मुनिरब्रवीत् ।
करिष्ये भवतां कामं लोकानां च महत् सुखम् ।। १९ ।।

देवताओंका यह कथन सुनकर महर्षि अगस्त्यने कहा—‘बहुत अच्छा’ मैं आपलोगोंका मनोरथ पूर्ण करूँगा। इससे सम्पूर्ण लोकोंको महान् सुख प्राप्त होगा ।। १९ ।।

एवमुक्त्वा ततोऽगच्छत् समुद्रं सरितां पतिम् ।
ऋषिभिश्च तपःसिद्धैः सार्धं देवैश्च सुव्रत ।। २० ।।

सुव्रत! ऐसा कहकर अगस्त्यजी देवताओं तथा तपःसिद्ध ऋषियोंके साथ नदीपति समुद्रके तटपर गये ।।

मनुष्योरगगन्धर्वयक्षकिंपुरुषास्तथा ।
अनुजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुकामास्तदद्भुतम् ।। २१ ।।

उस समय मनुष्य, नाग, गन्धर्व, यक्ष और किन्नर सभी उस अद्भुत दृश्यको देखनेके लिये उन महात्माके पीछे चल दिये ।। २१ ।।

ततोऽभ्यगच्छन् सहिताः समुद्रं भीमनिःस्वनम् ।
नृत्यन्तमिव चोर्मीभिर्वल्गन्तमिव वायुना ।। २२ ।।

फिर वे सब लोग एक साथ भयंकर गर्जना करनेवाले समुद्रके समीप गये, जो अपने उत्ताल तरंगोंद्वारा मानो नृत्य कर रहा था; और वायुके द्वारा उछलता-कूदता-सा जान पड़ता था ।। २२ ।।

हसन्तमिव फेनौघैः स्खलन्तं कन्दरेषु च ।
नानाग्राहसमाकीर्णं नानाद्विजगणान्वितम् ।। २३ ।।

वह फेनोंके समुदायद्वारा मानो अपनी हास्यछटा बिखेर रहा था; और कन्दराओंसे टकराता-सा जान पड़ता था। उसमें नाना प्रकारके ग्राह आदि जलजन्तु भरे हुए थे, तथा बहुत-से पक्षी निवास करते थे ।। २३ ।।

अगस्त्यसहिता देवाः सगन्धर्वमहोरगाः ।
ऋषयश्च महाभागाः समासेदुर्महोदधिम् ।। २४ ।।

अगस्त्यजीके साथ देवता, गन्धर्व, बड़े-बड़े नाग और महाभाग ऋषिगण सभी महासागरके तटपर जा पहुँचे ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योदधिगमने चतुरधिकशततमोऽध्यायः ।। १०४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्यका समुद्रतटपर गमनविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २४½ श्लोक हैं)

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

अगस्त्यजीके द्वारा समुद्रपान और देवताओंका कालेय दैत्योंका वध करके ब्रह्माजीसे समुद्रको पुनः भरनेका उपाय पूछना

लोमश उवाच

समुद्रं स समासाद्य वारुणिर्भगवानृषिः ।
उवाच सहितान् देवानृषींश्चैव समागतान् ।। १ ।।
अहं लोकहितार्थं वै पिबामि वरुणालयम् ।
भवद्भिर्यदनुष्ठेयं तच्छीघ्रं संविधीयताम् ।। २ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! समुद्रके तटपर जाकर मित्रावरुण-नन्दन भगवान् अगस्त्यमुनि वहाँ एकत्र हुए देवताओं तथा समागत ऋषियोंसे बोले—'मैं लोकहितके लिये समुद्रका जल पी लेता हूँ। फिर आपलोगोंको जो कार्य करना हो उसे शीघ्र पूरा कर लें' ।। १-२ ।।

एतावदुक्त्वा वचनं मैत्रावरुणिरच्युतः ।
समुद्रमपिबत् क्रुद्धः सर्वलोकस्य पश्यतः ।। ३ ।।

अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले मित्रा-वरुण-कुमार अगस्त्यजी कुपित हो सब लोगोंके देखते-देखते समुद्रको पीने लगे ।। ३ ।।

पीयमानं समुद्रं तं दृष्ट्वा सेन्द्रास्तदामराः ।
विस्मयं परमं जग्मुः स्तुतिभिश्चाप्यपूजयन् ।। ४ ।।

उन्हें समुद्र-पान करते देख इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता बड़े विस्मित हुए और स्तुतियोंद्वारा उनका समादर करने लगे ।। ४ ।।

त्वं नस्त्राता विधाता च लोकानां लोकभावन ।
त्वत्प्रसादात् समुच्छेदं न गच्छेत् सामरं जगत् ।। ५ ।।

'लोकभावन महर्षे! आप हमारे रक्षक तथा सम्पूर्ण लोकोंके विधाता हैं। आपकी कृपासे अब देवताओंसहित सम्पूर्ण जगत् विनाशको नहीं प्राप्त होगा' ।। ५ ।।

स पूज्यमानस्त्रिदशैर्महात्मा
गन्धर्वतूर्येषु नदत्सु सर्वशः ।
दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्यमाणो
महार्णवं निःसलिलं चकार ।। ६ ।।

इस प्रकार जब देवता महात्मा अगस्त्यकी प्रशंसा कर रहे थे, सब ओर गन्धर्वोंके वाद्योंकी ध्वनि फैल रही थी और अगस्त्यजी पर दिव्य फूलोंकी बौछार हो रही थी, उसी समय अगस्त्यजीने सम्पूर्ण महासागरको जलशून्य कर दिया ।। ६ ।।

दृष्ट्वा कृतं निःसलिलं महार्णवं
सुराः समस्ताः परमप्रहृष्टाः ।
प्रगृह्य दिव्यानि वरायुधानि
तान् दानवाञ्जघ्नुरदीनसत्त्वाः ।। ७ ।।

उस महासमुद्रको निर्जल हुआ देख सब देवता बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने दिव्य एवं श्रेष्ठ आयुध लेकर अत्यन्त उत्साहसे सम्पन्न हो दानवोंपर आक्रमण किया ।। ७ ।।

ते वध्यमानास्त्रिदशैर्महात्मभि-
र्महाबलैर्वेगिभिरुन्नदद्भिः ।
न सेहिरे वेगवतां महात्मनां
वेगं तदा धारयितुं दिवौकसाम् ।। ८ ।।

महान् बलवान् वेगशाली और महाबुद्धिमान् देवता जब सिंहगर्जना करते हुए दैत्योंको मारने लगे उस समय वे उन वेगवान् महामना देवताओंका वेग न सह सके ।। ८ ।।

ते वध्यमानास्त्रिदशैर्दानवा भीमनिःस्वनाः ।
चक्रुः सुतुमुलं युद्धं मुहूर्तमिव भारत ।। ९ ।।

भरतनन्दन! देवताओंकी मार पड़नेपर दानवोंने भी भयंकर गर्जना करते हुए दो घड़ीतक उनके साथ घोर युद्ध किया ।। ९ ।।

ते पूर्वं तपसा दग्धा मुनिभिर्भावितात्मभिः ।
यतमानाः परं शक्त्या त्रिदशैर्विनिषूदिताः ।। १० ।।

उन दैत्योंको शुद्ध अन्तःकरणवाले मुनियोंने अपनी तपस्याद्वारा पहलेसे ही दग्ध-सा कर रखा था, अतः पूरी शक्ति लगाकर अधिक-से-अधिक प्रयास करनेपर भी देवताओंद्वारा वे मार डाले गये ।। १० ।।

ते हेमनिष्काभरणाः कुण्डलाङ्गदधारिणः ।
निहता बह्वशोभन्त पुष्पिता इव किंशुकाः ।। ११ ।।

सोनेकी मोहरोंकी मालाओंसे भूषित तथा कुण्डल एवं बाजूबंदधारी दैत्य वहाँ मारे जाकर खिले हुए पलाशके वृक्षोंकी भाँति अधिक शोभा पा रहे थे ।। ११ ।।

हतशेषास्ततः केचित् कालेया मनुजोत्तम ।
विदार्य वसुधां देवीं पातालतलमास्थिताः ।। १२ ।।

नरश्रेष्ठ! मरनेसे बचे हुए कुछ कालेय दैत्य वसुन्धरा देवीको विदीर्ण करके पातालमें चले गये ।। १२ ।।

निहतान् दानवान् दृष्ट्वा त्रिदशा मुनिपुङ्गवम् ।
तुष्टुवुर्विविधैर्वाक्यैरिदं वचनमब्रुवन् ।। १३ ।।

सब दानवोंको मारा गया देख देवताओंने नाना प्रकारके वचनोंद्वारा मुनिवर अगस्त्यजीका स्तवन किया और यह बात कही— ।। १३ ।।

त्वत्प्रसादान्महाभाग लोकैः प्राप्तं महत् सुखम् ।
त्वत्तेजसा च निहताः कालेयाः क्रूरविक्रमाः ।। १४ ।।

‘महाभाग! आपकी कृपासे समस्त लोकोंने महान् सुख प्राप्त किया है; क्योंकि क्रूरतापूर्ण पराक्रम दिखानेवाले कालेय दैत्य आपके तेजसे दग्ध हो गये ।। १४ ।।

पूरयस्व महाबाहो समुद्रं लोकभावन ।
यत् त्वया सलिलं पीतं तदस्मिन् पुनरुत्सृज ।। १५ ।।

'मुने! आपकी बाँहें बड़ी हैं। आप नूतन संसारकी सृष्टि करनेमें समर्थ हैं। अब आप समुद्रको फिर भर दीजिये। आपने जो इसका जल पी लिया है उसे फिर इसीमें छोड़ दीजिये' ।। १५ ।।

एवमुक्तः प्रत्युवाच भगवान् मुनिपुङ्गवः ।
(तांस्तदा सहितान् देवानगस्त्यः सपुरन्दरान् ।)
जीर्णं तद्धि मया तोयमुपायोऽन्यःप्रचिन्त्यताम् ।। १६ ।।
पूरणार्थं समुद्रस्य भवद्भिर्यत्नमास्थितैः ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं महर्षेर्भावितात्मनः ।। १७ ।।
विस्मिताश्च विषण्णाश्च बभूवुः सहिताः सुराः ।
परस्परमनुज्ञाप्य प्रणम्य मुनिपुङ्गवम् ।। १८ ।।

उनके ऐसा कहनेपर मुनिप्रवर भगवान् अगस्त्यने वहाँ एकत्र हुए इन्द्र आदि समस्त देवताओंसे उस समय यों कहा—'देवगण! वह जल तो मैंने पचा लिया, अतः समुद्रको भरनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहकर आपलोग कोई दूसरा ही उपाय सोचें।' शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षिका यह वचन सुनकर सब देवता बड़े विस्मित हो गये; उनके मनमें विषाद छा गया। वे आपसमें सलाह करके मुनिवर अगस्त्यजीको प्रणाम कर वहाँसे चल दिये ।। १६—१८ ।।

प्रजाः सर्वा महाराज विप्रजग्मुर्यथागतम् ।
त्रिदशा विष्णुना सार्धमुपजग्मुः पितामहम् ।। १९ ।।

महाराज! फिर सारी प्रजा जैसे आयी थी, वैसे ही लौट गयी। देवतालोग भगवान् विष्णुके साथ ब्रह्माजीके पास गये ।। १९ ।।

पूरणार्थं समुद्रस्य मन्त्रयित्वा पुनः पुनः ।
(ते धातारमुपागम्य त्रिदशाः सह विष्णुना ।)
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे सागरस्याभिपूरणम् ।। २० ।।

समुद्रको भरनेके उद्देश्यसे बार-बार आपसमें सलाह करके श्रीविष्णुसहित सब देवता ब्रह्माजीके निकट जा हाथ जोड़कर यह पूछने लगे कि 'समुद्रको पुनः भरनेके लिये क्या उपाय किया जाय' ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २१ श्लोक हैं)

षडधिकशततमोऽध्यायः

राजा सगरका संतानके लिये तपस्या करना और शिवजीके द्वारा वरदान पाना

लोमश उवाच

तानुवाच समेतांस्तु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
गच्छध्वं विबुधाः सर्वे यथाकामं यथेप्सितम् ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! तब लोकपितामह ब्रह्माजीने अपने पास आये हुए सब देवताओंसे कहा—'देवगण! इस समय तुम सब लोग इच्छानुसार अभीष्ट स्थानको चले जाओ ।। १ ।।

महता कालयोगेन प्रकृतिं यास्यतेऽर्णवः ।
ज्ञातींश्च कारणं कृत्वा महाराजो भगीरथः ।। २ ।।
पूरयिष्यति तोयौघैः समुद्रं निधिमम्भसाम् ।

'अब दीर्घकालके पश्चात् समुद्र फिर अपनी स्वाभाविक अवस्थामें आ जायगा। महाराज भगीरथ अपने कुटुम्बी जनों (प्रपितामहों)-के उद्धारका उद्देश्य लेकर जलनिधि समुद्रको पुनः अगाध जलराशिसे भर देंगे' ।। २½ ।।

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वे विबुधसत्तमाः ।
कालयोगं प्रतीक्षन्तो जग्मुश्चापि यथागतम् ।। ३ ।।

ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर सम्पूर्ण श्रेष्ठ देवता अवसरकी प्रतीक्षा करते हुए जैसे आये थे, वैसे ही चले गये ।। ३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै ज्ञातयो ब्रह्मन् कारणं चात्र किं मुने ।
कथं समुद्रः पूर्णश्च भगीरथप्रतिश्रयात् ।। ४ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—'ब्रह्मन्! भगीरथके कुटुम्बीजन समुद्रकी पूर्तिमें निमित्त क्योंकर बने? मुने! उनके निमित्त बननेका कारण क्या है? और भगीरथके आश्रयसे किस प्रकार समुद्रकी पूर्ति हुई? ।। ४ ।।

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
कथ्यमानं त्वया विप्र राज्ञां चरितमुत्तमम् ।। ५ ।।

तपोधन! विप्रवर! मैं यह प्रसंग, जिसमें राजाओंके उत्तम चरित्रका वर्णन है, आपके मुखसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु विप्रेन्द्रो धर्मराज्ञा महात्मना ।
कथयामास माहात्म्यं सगरस्य महात्मनः ।। ६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा धर्मराजके इस प्रकार पूछनेपर विप्रवर लोमशने महात्मा राजा सगरका माहात्म्य बतलाया ।। ६ ।।

लोमश उवाच

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सगरो नाम पार्थिवः ।
रूपसत्त्वबलोपेतः स चापुत्रः प्रतापवान् ।। ७ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! इक्ष्वाकुवंशमें सगर नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वे रूप, धैर्य और बलसे सम्पन्न तथा बड़े प्रतापी थे, परंतु उनके कोई पुत्र न था ।। ७ ।।

स हैहयान् समुत्साद्य तालजङ्घांश्च भारत ।
वशे च कृत्वा राजन्यान् स्वराज्यमन्वशासत ।। ८ ।।

भारत! उन्होंने हैहय तथा तालजंघ नामक क्षत्रियोंका संहार करके सब राजाओंको अपने वशमें कर लिया और अपने राज्यका शासन करने लगे ।। ८ ।।

तस्य भार्ये त्वभवतां रूपयौवनदर्पिते ।
वैदर्भी भरतश्रेष्ठ शैब्या च भरतर्षभ ।। ९ ।।

भरतश्रेष्ठ! राजा सगरके दो पत्नियाँ थीं, वैदर्भी और शैब्या। उन दोनोंको ही अपने रूप और यौवनका बड़ा अभिमान था ।। ९ ।।

स पुत्रकामो नृपतिस्तप्यते स्म महत्तपः ।
पत्नीभ्यां सह राजेन्द्र कैलासं गिरिमाश्रितः ।। १० ।।
स तप्यमानः सुमहत् तपो योगसमन्वितः ।
आससाद महात्मानं त्र्यक्षं त्रिपुरमर्दनम् ।। ११ ।।
शंकरं भवमीशानं शूलपाणिं पिनाकिनम् ।
त्र्यम्बकं शिवमुग्रेशं बहुरूपमुमापतिम् ।। १२ ।।

राजेन्द्र! राजा सगर अपनी दोनों पत्नियोंके साथ कैलास पर्वतपर जाकर पुत्रकी इच्छासे बड़ी भारी तपस्या करने लगे। योगयुक्त होकर महान् तपमें लगे हुए महाराज सगरको त्रिपुरनाशक, त्रिनेत्रधारी, शंकर, भव, ईशान, शूलपाणि, पिनाकी, त्र्यम्बक, उग्रेश, बहुरूप और उमापति आदि नामोंसे प्रसिद्ध महात्मा भगवान् शिवका दर्शन हुआ ।। १०—१२ ।।

स तं दृष्ट्वैव वरदं पत्नीभ्यां सहितो नृपः ।
प्रणिपत्य महाबाहुः पुत्रार्थे समयाचत ।। १३ ।।
तं प्रीतिमान् हरः प्राह सभार्यं नृपसत्तमम् ।
यस्मिन् वृतो मुहूर्तेऽहं त्वयेह नृपते वरम् ।। १४ ।।

वरदायक भगवान् शिवको देखते ही महाबाहु राजा सगरने दोनों पत्नियोंसहित प्रणाम किया और पुत्रके लिये याचना की। तब भगवान् शिवने प्रसन्न होकर पत्नीसहित नृपश्रेष्ठ सगरसे कहा—'राजन्! तुमने यहाँ जिस मुहूर्तमें वर माँगा है, उसका परिणाम यह होगा ।। १३-१४ ।।

षष्टिः पुत्रसहस्राणि शूराः परमदर्पिताः ।
एकस्यां सम्भविष्यन्ति पत्न्यां नरवरोत्तम ।। १५ ।।
ते चैव सर्वे सहिताः क्षयं यास्यन्ति पार्थिव ।
एको वंशधरः शूर एकस्यां सम्भविष्यति ।। १६ ।।

'नरश्रेष्ठ! तुम्हारी एक पत्नीके गर्भसे अत्यन्त अभिमानी साठ हजार शूरवीर पुत्र होंगे, परंतु वे सब-के-सब एक ही साथ नष्ट हो जायँगे। भूपाल! तुम्हारी जो दूसरी पत्नी है, उसके गर्भसे एक ही शूरवीर वंशधर पुत्र उत्पन्न होगा' ।। १५-१६ ।।

एवमुक्त्वा तु तं रुद्रस्तत्रैवान्तरधीयत ।
स चापि सगरो राजा जगाम स्वं निवेशनम् ।। १७ ।।
पत्नीभ्यां सहितस्तत्र सोऽतिहृष्टमनास्तदा ।

तस्य ते मनुजश्रेष्ठ भार्ये कमललोचने ।। १८ ।।
वैदर्भी चैव शैब्या च गर्भिण्यौ सम्बभूवतुः ।
ततः कालेन वैदर्भी गर्भालाबुं व्यजायत ।। १९ ।।
शैब्या च सुषुवे पुत्रं कुमारं देवरूपिणम् ।
तदालाबुं समुत्स्रष्टुं मनश्चक्रे स पार्थिवः ।। २० ।।

ऐसा कहकर भगवान् शंकर वहीं अन्तर्धान हो गये। राजा सगर भी अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो पत्नियोंसहित अपने निवासस्थानको चले गये। नरश्रेष्ठ! तदनन्तर उनकी वे दोनों कमलनयनी पत्नियाँ वैदर्भी और शैब्या गर्भवती हुईं। फिर समय आनेपर वैदर्भीने अपने गर्भसे एक तूँबी उत्पन्न की और शैब्याने देवताके समान सुन्दर रूपवाले एक पुत्रको जन्म दिया। राजा सगरने उस तूंबीको फेंक देनेका विचार किया ।। १७—२० ।।

अथान्तरिक्षाच्छुश्राव वाचं गम्भीरनिःस्वनाम् ।
राजन् मा साहसं कार्षीः पुत्रान् न त्यक्तुमर्हसि ।। २१ ।।
अलाबुमध्यान्निष्कृष्य बीजं यत्नेन गोप्यताम् ।
सोपस्वेदेषु पात्रेषु घृतपूर्णेषु भागशः ।। २२ ।।

इसी समय आकाशसे एक गम्भीर वाणी सुनायी दी—‘राजन्! ऐसा दुःसाहस न करो। अपने इन पुत्रोंका त्याग करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। इस तूँबीमें से एक-एक बीजको निकालकर घीसे भरे हुए गरम घड़ोंमें अलग-अलग रक्खो और यत्नपूर्वक इन सबकी रक्षा करो ।। २१-२२ ।।

ततः पुत्रसहस्राणि षष्टिं प्राप्स्यसि पार्थिव ।
महादेवेन दिष्टं ते पुत्रजन्म नराधिप ।
अनेन क्रमयोगेन मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ।। २३ ।।

‘पृथ्वीपते! ऐसा करनेसे तुम्हें साठ हजार पुत्र प्राप्त होंगे। नरश्रेष्ठ! महादेवजीने तुम्हारे लिये इसी क्रमसे पुत्रजन्म होनेका निर्देश किया है; अतः तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिये ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सगरसंततिकथने षडधिकशततमोऽध्यायः ।। १०६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सगरसंततिवर्णनविषयक एक सौ छठाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०६ ।।

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

सगरके पुत्रोंकी उत्पत्ति, साठ हजार सगरपुत्रोंका कपिलकी क्रोधाग्निसे भस्म होना, असमञ्जसका परित्याग, अंशुमान्‌के प्रयत्नसे सगरके यज्ञकी पूर्ति, अंशुमान्‌से दिलीपको और दिलीपसे भगीरथको राज्यकी प्राप्ति

लोमश उवाच

एतच्छ्रुत्वान्तरिक्षाच्च स राजा राजसत्तमः ।
यथोक्तं तच्चकाराथ श्रद्दधद् भरतर्षभ ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! यह आकाशवाणी सुनकर भूपालशिरोमणि राजा सगरने उसपर विश्वास करके उसके कथनानुसार सब कार्य किया ।। १ ।।

एकैकशस्ततः कृत्वा बीजं बीजं नराधिपः ।
घृतपूर्णेषु कुम्भेषु तान् भागान् विदधे ततः ।। २ ।।

नरेशने एक-एक बीजको अलग करके उन सबको घीसे भरे हुए घड़ोंमें रखा ।। २ ।।

धात्रीश्चैकैकशः प्रादात् पुत्ररक्षणतत्परः ।
ततः कालेन महता समुत्तस्थुर्महाबलाः ।। ३ ।।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तस्याप्रतिमतेजसः ।
रुद्रप्रसादाद् राजर्षेः समजायन्त पार्थिव ।। ४ ।।

फिर पुत्रोंकी रक्षाके लिये तत्पर हो सबके लिये पृथक्-पृथक् धायें नियुक्त कर दीं। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् उस अनुपम तेजस्वी नरेशके साठ हजार महाबली पुत्र उन घड़ोंमेंसे निकल आये। युधिष्ठिर! राजर्षि सगरके वे सभी पुत्र भगवान् शिवकी कृपासे ही उत्पन्न हुए थे ।। ३-४ ।।

ते घोराः क्रूरकर्माण आकाशपरिसर्पिणः ।
बहुत्वाच्चावजानन्तःसर्वाँल्लोकान् सहामरान् ।। ५ ।।

वे सब-के-सब भयंकर स्वभाववाले और क्रूरकर्मा थे। आकाशमें भी सब ओर घूम-फिर सकते थे। उनकी संख्या अधिक होनेके कारण वे देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंकी अवहेलना करते थे ।। ५ ।।

त्रिदशांश्चाप्यबाधन्त तथा गन्धर्वराक्षसान् ।
सर्वाणि चैव भूतानि शूराः समरशालिनः ।। ६ ।।

समरभूमिमें शोभा पानेवाले वे शूरवीर राजकुमार देवताओं, गन्धर्वों, राक्षसों तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको कष्ट दिया करते थे ।। ६ ।।

वध्यमानास्ततो लोकाः सागरैर्मन्दबुद्धिभिः ।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहिताः सर्वदैवतैः ।। ७ ।।

मन्दबुद्धि सगरपुत्रोंद्वारा सताये हुए सब लोग सम्पूर्ण देवताओंके साथ ब्रह्माजीकी शरणमें गये ।। ७ ।।

तानुवाच महाभागः सर्वलोकपितामहः ।
गच्छध्वं त्रिदशाः सर्वे लोकैः सार्धं यथागतम् ।। ८ ।।

उस समय सर्वलोकपितामह महाभाग ब्रह्माने उनसे कहा—'देवताओ! तुम सभी इन सब लोगोंके साथ जैसे आये हो, वैसे लौट जाओ ।। ८ ।।

नातिदीर्घेण कालेन सागराणां क्षयो महान् ।
भविष्यति महाघोरः स्वकृतैः कर्मभिः सुराः ।। ९ ।।

'अब थोड़े ही दिनोंमें अपने ही किये हुए अपराधोंद्वारा इन सगरपुत्रोंका अत्यन्त घोर और महान् संहार होगा' ।। ९ ।।

एवमुक्तास्तु ते देवा लोकाश्च मनुजेश्वर ।
पितामहमनुज्ञाप्य विप्रजग्मुर्यथागतम् ।। १० ।।

नरेश्वर! उनके ऐसा कहनेपर सब देवता तथा अन्य लोग ब्रह्माजीकी आज्ञा ले जैसे आये थे वैसे लौट गये ।। १० ।।

ततः काले बहुतिथे व्यतीते भरतर्षभ ।
दीक्षितः सगरो राजा हयमेधेन वीर्यवान् ।। ११ ।।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर बहुत समय बीत जानेपर पराक्रमी राजा सगरने अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ली ।। ११ ।।

तस्याश्वो व्यचरद् भूमिं पुत्रैः स परिरक्षितः ।
(सर्वैरेव महोत्साहैः स्वच्छन्दप्रचरो नृप ।)
समुद्रं स समासाद्य निस्तोयं भीमदर्शनम् ।। १२ ।।
रक्ष्यमाणः प्रयत्नेन तत्रैवान्तरधीयत ।
ततस्ते सागरास्तात हृतं मत्वा हयोत्तमम् ।। १३ ।।
आगम्य पितुराचख्युरदृश्यं तुरगं हृतम् ।
तेनोक्ता दिक्षु सर्वासु सर्वे मार्गत वाजिनम् ।। १४ ।।
(ससमुद्रवनद्वीपां विचरन्तो वसुन्धराम् ।)

राजन्! उनका यज्ञिय अश्व उनके अत्यन्त उत्साही सभी पुत्रोंद्वारा सुरक्षित हो स्वच्छन्दगतिसे पृथ्वीपर विचरने लगा। जब वह अश्व भयंकर दिखायी देनेवाले जलशून्य समुद्रके तटपर आया, तब प्रयत्नपूर्वक रक्षित होनेपर भी वहाँ सहसा अदृश्य हो गया। तात! तब उस उत्तम अश्वको अपहृत जानकर सगरपुत्रोंने पिताके पास आकर कहा—'हमारे यज्ञिय अश्वको किसीने चुरा लिया, अब वह दिखायी नहीं देता।' यह सुनकर राजा सगरने

कहा—‘तुम सब लोग समुद्र, वन और द्वीपोंसहित सारी पृथ्वीपर विचरते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें जाकर उस अश्वका पता लगाओ’ ।। १२—१४ ।।

ततस्ते पितुराज्ञाय दिक्षु सर्वासु तं हयम् ।
अमार्गन्त महाराज सर्वं च पृथिवीतलम् ।। १५ ।।
ततस्ते सागराः सर्वे समुपेत्य परस्परम् ।
नाध्यगच्छन्त तुरगमश्वहर्तारमेव च ।। १६ ।।

महाराज! तदनन्तर वे पिताकी आज्ञा ले इस सम्पूर्ण भूतलमें सभी दिशाओंमें अश्वकी खोज करने लगे। खोजते-खोजते सभी सगरपुत्र एक-दूसरेसे मिले, परंतु वे अश्व तथा अश्वहर्ताका पता न लगा सके ।। १५-१६ ।।

आगम्य पितरं चोचुस्ततः प्राञ्जलयोऽग्रतः ।
ससमुद्रवनद्वीपा सनदीनदकन्दरा ।। १७ ।।
सपर्वतवनोद्देशा निखिलेन मही नृप ।
अस्माभिर्विचिता राजञ्छासनात् तव पार्थिव ।। १८ ।।
न चाश्वमधिगच्छामो नाश्वहर्तारमेव च ।
श्रुत्वा तु वचनं तेषां स राजा क्रोधमूर्च्छितः ।। १९ ।।
उवाच वचनं सर्वांस्तदा दैववशान्नृप ।
अनागमाय गच्छध्वं भूयो मार्गत वाजिनम् ।। २० ।।
यज्ञियं तं विना ह्यश्वं नागन्तव्यं हि पुत्रकाः ।
प्रतिगृह्य तु संदेशं पितुस्ते सगरात्मजाः ।। २१ ।।
भूय एव महीं कृत्स्नां विचेतुमुपचक्रमुः ।
अथापश्यन्त ते वीराः पृथिवीमवदारिताम् ।। २२ ।।

तब वे पिताके पास आकर उनके आगे हाथ जोड़कर बोले—‘महाराज! हमने आपकी आज्ञासे समुद्र, वन, द्वीप, नदी, नद, कन्दरा, पर्वत और वन्य प्रदेशोंसहित सारी पृथ्वी खोज डाली, परंतु हमें न तो अश्व मिला न उसका चुरानेवाला ही।’ युधिष्ठिर! उनकी यह बात सुनकर राजा सगर क्रोधसे मूर्च्छित हो उठे और उस समय दैववश उन सबसे इस प्रकार बोले—‘जाओ, लौटकर न आना। पुनः घोड़ेका पता लगाओ। पुत्रो! उस यज्ञके अश्वको लिये बिना वापस न आना।’ पिताका वह संदेश शिरोधार्य करके सगरपुत्रोंने फिर सारी पृथ्वीपर अश्वको ढूँढ़ना आरम्भ किया। तदनन्तर उन वीरोंने एक स्थानपर पृथ्वीमें दरार पड़ी हुई देखी ।। १७—२२ ।।

समासाद्य बिलं तच्चाप्यखनन् सगरात्मजाः ।
कुद्दालैर्ह्रेषुकैश्चैव समुद्रं यत्नमास्थिताः ।। २३ ।।

उस बिलके पास पहुँचकर सगरपुत्रोंने कुदालों और फावड़ोंसे समुद्रको प्रयत्नपूर्वक खोदना आरम्भ किया ।।

स खन्यमानः सहितैः सागरैर्वरुणालयः ।
अगच्छत् परमामार्तिं दीर्यमाणः समन्ततः ।। २४ ।।
असुरोरगरक्षांसि सत्त्वानि विविधानि च ।
आर्तनादमकुर्वन्त वध्यमानानि सागरैः ।। २५ ।।

एक साथ लगे हुए सगरकुमारोंके खोदनेपर सब ओरसे विदीर्ण होनेवाले समुद्रको बड़ी पीड़ाका अनुभव होता था। सगरपुत्रोंके हाथों मारे जाते हुए असुर, नाग, राक्षस और नाना प्रकारके जन्तु बड़े जोरसे आर्तनाद करते थे ।। २४-२५ ।।

छिन्नशीर्षा विदेहाश्च भिन्नत्वगस्थिसंधयः ।
प्राणिनः समदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ।। २६ ।।

सैकड़ों और हजारों ऐसे प्राणी दिखायी देने लगे जिनके मस्तक कट गये थे, शरीर छिन्न-भिन्न हो गये थे, चमड़े छिल गये थे तथा हड्डियोंके जोड़ टूट गये थे ।। २६ ।।

एवं हि खनतां तेषां समुद्रं वरुणालयम् ।
व्यतीतः सुमहान् कालो न चाश्वः समदृश्यत ।। २७ ।।

इस प्रकार वरुणके निवासभूत समुद्रकी खुदाई करते-करते उनका बहुत समय बीत गया, परंतु वह अश्व कहीं दिखायी नहीं दिया ।। २७ ।।

ततः पूर्वोत्तरे देशे समुद्रस्य महीपते ।
विदार्य पातालमथ संक्रुद्धाः सगरात्मजाः ।। २८ ।।
अपश्यन्त हयं तत्र विचरन्तं महीतले ।
कपिलं च महात्मानं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
तेजसा दीप्यमानं तु ज्वालाभिरिव पावकम् ।। २९ ।।

राजन्! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए सगरपुत्रोंने समुद्रके पूर्वोत्तर प्रदेशमें पाताल फोड़कर प्रवेश किया और वहाँ उस यज्ञिय अश्वको पृथ्वीपर विचरते देखा। वहीं तेजकी परम उत्तम राशि महात्मा कपिल बैठे थे, जो अपने दिव्य तेजसे उसी प्रकार उद्भासित हो रहे थे, जैसे लपटोंसे अग्नि ।। २८-२९ ।।

ते तं दृष्ट्वा हयं राजन् सम्प्रहृष्टतनूरुहाः ।
अनादृत्य महात्मानं कपिलं कालचोदिताः ।। ३० ।।
संक्रुद्धाः सम्प्रधावन्त अश्वग्रहणकाङ्क्षिणः ।
ततः क्रुद्धो महाराज कपिलो मुनिसत्तमः ।। ३१ ।।

राजन्! उस अश्वको देखकर उनके शरीरमें हर्षजनित रोमाञ्च हो आया। वे कालसे प्रेरित हो क्रोधमें भरकर महात्मा कपिलका अनादर करके उस अश्वको पकड़नेके, लिये दौड़े। महाराज! तब मुनिश्रेष्ठ कपिल कुपित हो उठे ।। ३०-३१ ।।

महर्षि कपिलकी क्रोधाग्निमें सगरपुत्रोंका भस्म होना

महर्षि अगस्त्यका समुद्रपान

वासुदेवेति यं प्राहुः कपिलं मुनिपुङ्गवम् ।
स चक्षुर्विकृतं कृत्वा तेजस्तेषु समुत्सृजन् ।। ३२ ।।
ददाह सुमहातेजा मन्दबुद्धीन् स सागरान् ।

मुनिप्रवर कपिल वे ही भगवान् विष्णु हैं जिन्हें वासुदेव कहते हैं। उन महातेजस्वीने विकराल आँखें करके अपना तेज उनपर छोड़ दिया और मन्दबुद्धि सगरपुत्रोंको जला दिया ।। ३२½ ।।

तान् दृष्ट्वा भस्मसाद् भूतान् नारदः सुमहातपाः ।। ३३ ।।
सगरान्तिकमागच्छत् तच्च तस्मै न्यवेदयत् ।
स तच्छ्रुत्वा वचो घोरं राजा मुनिमुखोद्गतम् ।। ३४ ।।
मुहूर्तं विमना भूत्वा स्थाणोर्वाक्यमचिन्तयत् ।
(स पुत्रनिधनोद्भूतदुःखेन समभिप्लुतः ।
आत्मानमात्मनाऽऽश्वास्य हयमेवान्वचिन्तयत् ।।)
अंशुमन्तं समाहूय असमञ्जःसुतं तदा ।। ३५ ।।
पौत्रं भरतशार्दूल इदं वचनमब्रवीत् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि पुत्रणाममितौजसाम् ।। ३६ ।।

कापिलं तेज आसाद्य मत्कृते निधनं गताः ।
तव चापि पिता तात परित्यक्तो मयानघ ।
धर्मं संरक्षमाणेन पौरणां हितमिच्छता ।। ३७ ।।

उन्हें भस्म हुआ देख महातपस्वी नारदजी राजा सगरके समीप आये और उनसे सब समाचार निवेदित किया। मुनिके मुखसे निकले हुए इस घोर वचनको सुनकर राजा सगर दो घड़ीतक अनमने हो महादेवजीके कथनपर विचार करते रहे। पुत्रकी मृत्युजनित वेदनासे अत्यन्त दुखी हो स्वयं ही अपने-आपको सान्त्वना दे उन्होंने अश्वको ही ढूँढ़नेका विचार किया। भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर असमञ्जसके पुत्र अपने पौत्र अंशुमान्‌को बुलाकर यह बात कही—'तात! मेरे अमिततेजस्वी साठ हजार पुत्र मेरे ही लिये महर्षि कपिलकी क्रोधाग्निमें पड़कर नष्ट हो गये। अनघ! पुरवासियोंके हितकी रक्षा रखकर धर्मकी रक्षा करते हुए मैंने तुम्हारे पिताको भी त्याग दिया है' ।। ३३—३७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं राजशार्दूलः सगरः पुत्रमात्मजम् ।
त्यक्तवान् दुस्त्यजं वीरं तन्मे ब्रूहि तपोधन ।। ३८ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—तपोधन! नृपश्रेष्ठ सगरने किसलिये अपने दुस्त्यज वीर पुत्रका त्याग किया था, यह मुझे बताइये ।। ३८ ।।

लोमश उवाच

असमञ्जा इति ख्यातः सगरस्य सुतो ह्यभूत् ।
यं शैब्या जनयामास पौराणां स हि दारकान् ।। ३९ ।।
(क्रीडतः सहसाऽऽसाद्य तत्र तत्र महीपते ।)
गलेषु क्रोशतो गृह्य नद्यां चिक्षेप दुर्बलान् ।
ततः पौराः समाजग्मुर्भयशोकपरिप्लुताः ।। ४० ।।
सगरं चाभ्यभाषन्त सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ।
त्वं नस्त्राता महाराज परचक्रादिभिर्भयात् ।। ४१ ।।

लोमशजीने कहा—राजन्! सगरका वह पुत्र जिसे रानी शैब्याने उत्पन्न किया था, असमञ्जसके नामसे विख्यात हुआ। वह जहाँ-तहाँ खेल-कूदमें लगे हुए पुरवासियोंके दुर्बल बालकोंके समीप सहसा पहुँच जाता और चीखते-चिल्लाते रहनेपर भी उनका गला पकड़कर उन्हें नदीमें फेंक देता था। तब समस्त पुरवासी भय और शोकमें मग्न हो राजा सगरके पास आये और हाथ जोड़े खड़े हो इस प्रकार कहने लगे—'महाराज! आप शत्रुसेना आदिके भयसे हमारी रक्षा करनेवाले हैं ।। ३९—४१ ।।

असमञ्जोभयाद् घोरात् ततो नस्त्रातुमर्हसि ।
पौराणां वचनं श्रुत्वा घोरं नृपतिसत्तमः ।। ४२ ।।

मुहुर्तं विमना भूत्वा सचिवानिदमब्रवीत् ।
असमञ्जाः पुरादद्य सुतो मे विप्रवास्यताम् ।। ४३ ।।

'अतः असमंजसके घोर भयसे आप हमारी रक्षा करें!' पुरवासियोंका यह भयंकर वचन सुनकर नृपश्रेष्ठ सगर दो घड़ीतक अनमने होकर बैठे रहे। फिर मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले—'आज मेरे पुत्र असमंजसको मेरे घरसे बाहर निकाल दो' ।। ४२-४३ ।।

यदि वो मत्प्रियं कार्यमेतच्छीघ्रं विधीयताम् ।
एवमुक्ता नरेन्द्रेण सचिवास्ते नराधिप ।। ४४ ।।
यथोक्तं त्वरिताश्चक्रुर्यथाऽऽज्ञापितवान् नृपः ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा पुत्रो महात्मना ।। ४५ ।।
पौराणां हितकामेन सगरेण विवासितः ।
अंशुमांस्तु महेष्वासो यदुक्तः सगरेण हि ।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि कीर्त्यमानं निबोध मे ।। ४६ ।।

'यदि तुम्हें मेरा प्रिय कार्य करना है तो मेरी इस आज्ञाका शीघ्र पालन होना चाहिये।' राजन्! महाराज सगरके ऐसा कहनेपर मन्त्रियोंने शीघ्र वैसा ही किया, जैसा उनका आदेश था। युधिष्ठिर! पुरवासियोंके हित चाहनेवाले महात्मा सगरने जिस प्रकार अपने पुत्रको निर्वासित किया था, वह सब प्रसंग मैंने तुमसे कह सुनाया। अब महाधनुर्धर अंशुमान्से राजा सगरने जो कुछ कहा, वह सब तुम्हें बता रहा हूँ, मेरे मुखसे सुनो ।। ४४—४६ ।।

सगर उवाच

पितुश्च तेऽहं त्यागेन पुत्राणां निधनेन च ।
अलाभेन तथाश्वस्य परितप्यामि पुत्रक ।। ४७ ।।

सगर बोले—बेटा! तुम्हारे पिताको त्याग देनेसे, अन्य पुत्रोंकी मृत्यु हो जानेसे तथा यज्ञसम्बन्धी अश्वके न मिलनेसे मैं सर्वथा संतप्त हो रहा हूँ ।। ४७ ।।

तस्माद् दुःखाभिसंतप्तं यज्ञविघ्नाच्च मोहितम् ।
हयस्यानयनात् पौत्र नरकान्मां समुद्धर ।। ४८ ।।

अतः पौत्र! यज्ञमें विघ्न पड़ जानेसे मैं मोहित और दुःखसे संतप्त हूँ। तुम अश्वको ले आकर नरकसे मेरा उद्धार करो ।। ४८ ।।

अंशुमानेवमुक्तस्तु सगरेण महात्मना ।
जगाम दुःखात् तं देशं यत्र वै दारिता मही ।। ४९ ।।

महात्मा सगरके ऐसा कहनेपर अंशुमान् बड़े दुःखसे उस स्थानपर गये जहाँ पृथ्वी विदीर्ण की गयी थी ।। ४९ ।।

स तु तेनैव मार्गेण समुद्रं प्रविवेश ह ।
अपश्यच्च महात्मानं कपिलं तुरगं च तम् ।। ५० ।।

उन्होंने उसी मार्गसे समुद्रमें प्रवेश किया और महात्मा कपिल तथा यज्ञिय अश्वको देखा ।। ५० ।।

स दृष्ट्वा तेजसो राशिं पुराणमृषिसत्तमम् ।
प्रणम्य शिरसा भूमौ कार्यमस्मै न्यवेदयत् ।। ५१ ।।

तेजोराशि मुनिप्रवर पुराणपुरुष कपिलजीका दर्शन करके अंशुमान्‌ने धरतीपर माथा टेककर प्रणाम किया और उनसे अपना कार्य बताया ।। ५१ ।।

ततः प्रीतो महाराज कपिलोंऽशुमतोऽभवत् ।
उवाच चैनं धर्मात्मा वरदोऽस्मीति भारत ।। ५२ ।।

भरतवंशी महाराज! इससे धर्मात्मा कपिलजी अंशुमान्‌पर प्रसन्न हो गये और बोले—'मैं तुम्हें वर देनेको उद्यत हूँ' ।। ५२ ।।

स वव्रे तुरगं तत्र प्रथमं यज्ञकारणात् ।
द्वितीयं वरकं वव्रे पितॄणां पावनेच्छया ।। ५३ ।।

अंशुमान्‌ने पहले तो यज्ञकार्यकी सिद्धिके लिये वहाँ उस अश्वके लिये प्रार्थना की और दूसरा वर अपने पितरोंको पवित्र करनेकी इच्छासे माँगा ।। ५३ ।।

तमुवाच महातेजाः कपिलो मुनिपुङ्गवः ।
ददानि तव भद्रं ते यद् यत् प्रार्थयसेऽनघ ।। ५४ ।।
त्वयि क्षमा च धर्मश्च सत्यं चापि प्रतिष्ठितम् ।

त्वया कृतार्थः सगरः पुत्रवांश्च त्वया पिता ।। ५५ ।।

तब मुनिश्रेष्ठ महातेजस्वी कपिलने अंशुमान्‌से कहा—'अनघ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम जो कुछ माँगते हो वह सब तुम्हें दूँगा। तुममें क्षमा, धर्म और सत्य सब कुछ प्रतिष्ठित है। तुम-जैसे पौत्रको पाकर राजा सगर कृतार्थ हैं और तुम्हारे पिता तुम्हींसे वस्तुतः पुत्रवान् हैं ।। ५४-५५ ।।

तव चैव प्रभावेण स्वर्गं यास्यन्ति सागराः ।
(शलभत्वं गता ह्येते मम क्रोधहुताशने ।)
पौत्रश्च ते त्रिपथगां त्रिदिवादानयिष्यति ।। ५६ ।।
पावनार्थं सागराणां तोषयित्वा महेश्वरम् ।
हयं नयस्व भद्रं ते यज्ञियं नरपुङ्गव ।। ५७ ।।

'तुम्हारे ही प्रभावसे सगरके सारे पुत्र जो मेरी क्रोधाग्निमें शलभकी भाँति भस्म हो गये हैं, स्वर्गलोकमें चले जायँगे। तुम्हारा पौत्र भगवान् शंकरको संतुष्ट करके सगरपुत्रोंको पवित्र करनेके लिये स्वर्गलोकसे यहाँ गंगाजीको ले आयेगा। नरश्रेष्ठ! तुम्हारा भला हो। तुम इस यज्ञिय अश्वको ले जाओ ।। ५६-५७ ।।

यज्ञः समाप्यतां तात सगरस्य महात्मनः ।
अंशुमानेवमुक्तस्तु कपिलेन महात्मना ।। ५८ ।।
आजगाम हयं गृह्य यज्ञवाटं महात्मनः ।
सोऽभिवाद्य ततः पादौ सगरस्य महात्मनः ।। ५९ ।।
मूर्ध्नि तेनाप्युपाघ्रातस्तस्मै सर्वं न्यवेदयत् ।
यथा दृष्टं श्रुतं चापि सागराणां क्षयं तथा ।। ६० ।।
तं चास्मै हयमाचष्ट यज्ञवाटमुपागतम् ।
तच्छ्रुत्वा सगरो राजा पुत्रजं दुःखमत्यजत् ।। ६१ ।।

'तात! महात्मा सगरका यज्ञ पूर्ण करो।' महात्मा कपिलके ऐसा कहनेपर अंशुमान् उस अश्वको लेकर महामना सगरके यज्ञमण्डपमें आये और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे सब समाचार निवेदन किया। सगरने भी स्नेहसे अंशुमान्‌का मस्तक सूँघा। अंशुमान्‌ने सगर-पुत्रोंका विनाश जैसा देखा और सुना था, वह सब बताया, साथ ही यह भी कहा कि 'यज्ञिय अश्व यज्ञमण्डपमें आ गया है।' यह सुनकर राजा सगरने पुत्रोंके मरनेका दुःख त्याग दिया ।। ५८—६१ ।।

अंशुमन्तं च सम्पूज्य समापयत तं क्रतुम् ।
समाप्तयज्ञः सगरो देवैः सर्वैः सभाजितः ।। ६२ ।।

और अंशुमान्‌की प्रशंसा करते हुए अपने उस यज्ञको पूर्ण किया। यज्ञ पूर्ण हो जानेपर सब देवताओंने सगरका बड़ा सत्कार किया ।। ६२ ।।

पुत्रत्वे कल्पयामास समुद्रं वरुणालयम् ।

प्रशास्य सुचिरं कालं राज्यं राजीवलोचनः ।। ६३ ।।
पौत्रे भारं समावेश्य जगाम त्रिदिवं तदा ।
अंशुमानपि धर्मात्मा महीं सागरमेखलाम् ।। ६४ ।।
प्रशशास महाराज यथैवास्य पितामहः ।
तस्य पुत्रः समभवद् दिलीपो नाम धर्मवित् ।। ६५ ।।

कमलके समान नेत्रोंवाले सगरने वरुणालय समुद्रको अपना पुत्र माना और दीर्घकालतक राज्यशासन करके अन्तमें अपने पौत्र अंशुमान्‌पर राज्यका सारा भार रखकर वे स्वर्गलोकको चले गये। महाराज! धर्मात्मा अंशुमान् भी अपने पितामहसगरके समान ही समुद्रसे घिरी हुई इस वसुधाका पालन करते रहे। उनके एक पुत्र हुआ जिसका नाम दिलीप था। वह भी धर्मका ज्ञाता था ।। ६३—६५ ।।

तस्मै राज्यं समाधाय अंशुमानपि संस्थितः ।
दिलीपस्तु ततः श्रुत्वा पितॄणां निधनं महत् ।। ६६ ।।
पर्यतप्यत दुःखेन तेषां गतिमचिन्तयत् ।
गङ्गावतरणे यत्नं सुमहच्चाकरोन्नृपः ।। ६७ ।।

दिलीपको राज्य देकर अंशुमान् भी परलोक-वासी हुए। दिलीपने जब अपने पितरोंके महान् संहारका समाचार सुना, तब वे दुःखसे संतप्त हो उठे और उनकी सद्‌गतिका उपाय सोचने लगे। राजा दिलीपने गंगाजीको इस भूतलपर उतारनेके लिये महान् प्रयत्न किया ।। ६६-६७ ।।

न चावतारयामास चेष्टमानो यथाबलम् ।
तस्य पुत्रः समभवच्छ्रीमान् धर्मपरायणः ।। ६८ ।।
भगीरथ इति ख्यातः सत्यवागनसूयकः ।
अभिषिच्य तु तं राज्ये दिलीपो वनमाश्रितः ।। ६९ ।।
(भगीरथं महात्मानं सत्यधर्मपरायणम् ।)

यथाशक्ति चेष्टा करनेपर भी वे गंगाको पृथ्वीपर उतार न सके। दिलीपके भगीरथ नामसे विख्यात एक पुत्र हुआ जो परम कान्तिमान्, धर्मपरायण, सत्यवादी और अदोषदर्शी था। सत्यधर्मपरायण महात्मा भगीरथका राज्याभिषेक करके दिलीप वनमें चले गये ।। ६८-६९ ।।

तपःसिद्धिसमायोगात् स राजा भरतर्षभ ।
वनाज्जगाम त्रिदिवं कालयोगेन भारत ।। ७० ।।

भरतश्रेष्ठ! राजा दिलीप तपस्याजनक सिद्धिसे संयुक्त हो अन्तकाल आनेपर वनसे स्वर्गलोकको चले गये ।। ७० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्यमाहात्म्यवर्णनविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ १/२ श्लोक मिलाकर कुल ७३ १/२ श्लोक हैं)

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

भगीरथका हिमालयपर तपस्याद्वारा गंगा और महादेवजीको प्रसन्न करके उनसे वर प्राप्त करना

लोमश उवाच

स तु राजा महेष्वासश्चक्रवर्ती महारथः ।
बभूव सर्वलोकस्य मनोनयननन्दनः ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! महान् धनुर्धर महारथी राजा भगीरथ चक्रवर्ती नरेश थे। वे सब लोगोंके मन और नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले थे ।। १ ।।

स सुश्राव महाबाहुः कपिलेन महात्मना ।
पितॄणां निधनं घोरमप्राप्तिं त्रिदिवस्य च ।। २ ।।
स राज्यं सचिवे न्यस्य हृदयेन विदूयता ।
जगाम हिमवत्पार्श्वं तपस्तप्तुं नरेश्वर ।। ३ ।।

नरेश्वर! उन महाबाहुने जब यह सुना कि महात्मा कपिलद्वारा हमारे (साठ हजार) पितरोंकी भयंकर मृत्यु हुई है और वे स्वर्गप्राप्तिसे वंचित रह गये हैं तब उन्होंने व्यथित हृदयसे अपना राज्य मन्त्रीको सौंप दिया और स्वयं हिमालयके शिखरपर तपस्या करनेके लिये प्रस्थान किया ।। २-३ ।।

आरिराधयिषुर्गङ्गां तपसा दग्धकिल्बिषः ।
सोऽपश्यत नरश्रेष्ठ हिमवन्तं नगोत्तमम् ।। ४ ।।
शृङ्गैर्बहुविधाकारैर्धातुमद्भिरलंकृतम् ।
पवनालम्बिभिर्मेघैः परिषिक्तं समन्ततः ।। ५ ।।

नरेश्वर! तपस्यासे सारा पाप नष्ट करके वे गंगाजीकी आराधना करना चाहते थे। उन्होंने देखा कि गिरिराज हिमालय विविध धातुओंसे विभूषित नाना प्रकारके शिखरोंसे अलंकृत है। वायुके आधारपर उड़नेवाले मेघ चारों ओरसे उसका अभिषेक कर रहे हैं ।। ४-५ ।।

नदीकुञ्जनितम्बैश्च प्रासादैरुपशोभितम् ।
गुहाकन्दरसंलीनसिंहव्याघ्रनिषेवितम् ।। ६ ।।

अनेकानेक नदियों, निकुञ्जों, घाटियों और प्रासादों (मन्दिरों)-से इसकी बड़ी शोभा हो रही है। गुफाओं और कन्दराओंमें छिपे हुए सिंह तथा व्याघ्रोंसे यह पर्वत सदा सेवित होता है ।। ६ ।।

शकुनैश्च विचित्राङ्गैः कूजद्भिर्विविधा गिरः ।

भृङ्गराजैस्तथा हंसैर्दात्यूहैर्जलकुक्कुटैः ।। ७ ।।
मयूरैः शतपत्रैश्च जीवं जीवककोकिलैः ।
चकोरैरसितापाङ्गैस्तथा पुत्रप्रियैरपि ।। ८ ।।

भाँति-भाँतिके कलरव करते हुए विचित्र अंगोंवाले पक्षी, भृंगराज, हंस, चातक, जलमुर्ग, मोर, शतपत्र नामक पक्षी, चक्रवाक, कोकिल, चकोर, असितापांग और पुत्रप्रिय आदि इस पर्वतकी शोभा बढ़ाते हैं ।। ७-८ ।।

जलस्थानेषु रम्येषु पद्मिनीभिश्च संकुलम् ।
सारसानां च मधुरैर्व्याहृतैः समलंकृतम् ।। ९ ।।
किन्नरैरप्सरोभिश्च निषेवितशिलातलम् ।
दिग्वारणविषाणाग्रैः समन्ताद् धृष्टपादपम् ।। १० ।।
विद्याधरानुचरितं नानारत्नसमाकुलम् ।
विषोल्बणभुजंगैश्च दीप्तजिह्वैर्निषेवितम् ।। ११ ।।
क्वचित् कनकसंकाशं क्वचिद् रजतसंनिभम् ।
क्वचिदञ्जनपुञ्जाभं हिमवन्तमुपागमत् ।। १२ ।।
स तु तत्र नरश्रेष्ठस्तपो घोरं समाश्रितः ।
फलमूलाम्बुसम्भक्षः सहस्रपरिवत्सरान् ।। १३ ।।
संवत्सरसहस्रे तु गते दिव्ये महानदी ।
दर्शयामास तं गङ्गा तदा मूर्तिमती स्वयम् ।। १४ ।।

वहाँके रमणीय जलाशयोंमें पद्मसमूह भरे हुए हैं। सारसोंके मधुर कलरव उस पर्वतीय प्रदेशको सुशोभित कर रहे हैं। हिमालयकी शिलाओंपर किन्नर और अप्सराएँ बैठी हैं। वहाँके वृक्षोंपर चारों ओरसे दिग्गजोंके दाँतोंकी रगड़ दिखायी देती है। हिमालयके इन शिखरोंपर विद्याधरगण विचर रहे हैं। नाना प्रकारके रत्न सब ओर व्याप्त हैं। प्रज्वलित जिह्वावाले भयंकर विषधर सर्प इस गिरिप्रदेशका सेवन करते हैं। यह शैलराज कहीं तो सुवर्णके समान उद्भासित होता है, कहीं चाँदीके समान चमकता है और कहीं कज्जलराशिके समान काला दिखायी देता है। नरश्रेष्ठ भगीरथ उस हिमवान् पर्वतपर गये और घोर तपस्यामें लग गये। उन्होंने सहस्र वर्षोंतक फल, मूल और जलका आहार किया। एक हजार दिव्य वर्ष बीत जानेपर महानदी गंगाने स्वयं साकार होकर उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया ।। ९—१४ ।।

गङ्गोवाच

किमिच्छसि महाराज मत्तः किं च ददानि ते ।
तद् ब्रवीहि नरश्रेष्ठ करिष्यामि वचस्तव ।। १५ ।।

गंगाजीने कहा—महाराज! तुम मुझसे क्या चाहते हो, मैं तुम्हें क्या दूँ? नरश्रेष्ठ! बताओ, मैं तुम्हारी याचना पूर्ण करूँगी ।। १५ ।।

एवमुक्तः प्रत्युवाच राजा हैमवतीं तदा ।
(नदीं भगीरथो राजन् प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ।)
पितामहा मे वरदे कपिलेन महानदि ।। १६ ।।
अन्वेषमाणास्तुरगं नीता वैवस्वतक्षयम् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सागराणां महात्मनाम् ।। १७ ।।
कपिलं देवमासाद्य क्षणेन निधनं गताः ।
तेषामेवं विनष्टानां स्वर्गे वासो न विद्यते ।। १८ ।।
यावत् तानि शरीराणि त्वं जलैर्नाभिषिञ्चसि ।
तावत् तेषां गतिर्नास्ति सागराणां महानदि ।। १९ ।।
स्वर्गं नय महाभागे मत्पितॄन् सगरात्मजान् ।
तेषामर्थेन याचामि त्वामहं वै महानदि ।। २० ।।

राजन्! उनके ऐसा कहनेपर राजा भगीरथने हिमालयनन्दिनी गंगाको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—‘वरदायिनी महानदी! मेरे पितामह यज्ञसम्बन्धी अश्वका पता लगाते हुए कपिलके कोपसे यमलोकको जा पहुँचे हैं। वे सब महात्मा सगरके पुत्र थे और उनकी संख्या साठ हजार थी। भगवान् कपिलके निकट जाकर वे सब-के-सब क्षणभरमें भस्म हो गये। इस प्रकार दुर्मृत्युसे मरनेके कारण उन्हें स्वर्गमें निवास नहीं प्राप्त हुआ है। महानदी! जबतक तुम अपने जलसे उनके भस्म हुए शरीरोंको सींच न दोगी तबतक उन सगरपुत्रोंकी सद्गति नहीं हो सकती। महाभागे! मेरे पितामह सगरकुमारोंको स्वर्गमें पहुँचा दो। महानदी! मैं उन्हींके उद्धारके लिये तुमसे याचना करता हूँ’ ।। १६—२० ।।

लोमश उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञो गङ्गा लोकनमस्कृता ।
भगीरथमिदं वाक्यं सुप्रीता समभाषत ।। २१ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! राजा भगीरथकी यह बात सुनकर विश्ववन्दिता गंगा अत्यन्त प्रसन्न हुईं और उनसे इस प्रकार बोलीं— ।। २१ ।।

करिष्यामि महाराज वचस्ते नात्र संशयः ।
वेगं तु मम दुर्धार्यं पतन्त्या गगनाद् भुवम् ।। २२ ।।

'महाराज! मैं तुम्हारी बात मानूँगी, इसमें संशय नहीं है; परंतु आकाशसे पृथ्वीपर गिरते समय मेरे वेगको रोकना बहुत कठिन है ।। २२ ।।

न शक्तस्त्रिषु लोकेषु कश्चिद् धारयितुं नृप ।
अन्यत्र विबुधश्रेष्ठान्नीलकण्ठान्महेश्वरात् ।। २३ ।।

'राजन्! देवश्रेष्ठ महेश्वर नीलकण्ठको छोड़कर तीनों लोकोंमें कोई भी मेरा वेग धारण नहीं कर सकता ।। २३ ।।

तं तोषय महाबाहो तपसा वरदं हरम् ।
स तु मां प्रच्युतां देवः शिरसा धारयिष्यति ।। २४ ।।

'महाबाहो! तुम तपस्याद्वारा उन्हीं वरदायक भगवान् शिवको संतुष्ट करो। स्वर्गसे गिरते समय वे ही मुझे अपने मस्तकपर धारण करेंगे ।। २४ ।।

स करिष्यति ते कामं पितॄणां हितकाम्यया ।
(तपसाऽऽराधितः शम्भुर्भगवाँल्लोकभावनः ।)

'विश्वभावन भगवान् शंकर तपस्याद्वारा आराधना करनेपर तुम्हारे पितरोंके हितकी इच्छासे अवश्य तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेंगे' ।। २४½ ।।

एतच्छ्रुत्वा ततो राजन् महाराजो भगीरथः ।। २५ ।।
कैलासं पर्वतं गत्वा तोषयामास शंकरम् ।
तपस्तीव्रमुपागम्य कालयोगेन केनचित् ।। २६ ।।

राजन्! यह सुनकर महाराज भगीरथ कैलासपर्वतपर गये और वहाँ उन्होंने तीव्र तपस्या करके कुछ समयके बाद भगवान् शंकरको प्रसन्न किया ।। २५-२६ ।।

अगृह्णाच्च वरं तस्माद् गङ्गाया धारणे नृप ।
स्वर्गे वासं समुद्दिश्य पितॄणां स नरोत्तमः ।। २७ ।।

नरेश्वर! तत्पश्चात् गंगाजीकी प्रेरणाके अनुसार नरश्रेष्ठ भगीरथने अपने पितरोंको स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे महादेवजीसे गंगाजीके वेगको धारण करनेके लिये वरकी याचना की ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्योपाख्याने अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्योपाख्यानविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २८ श्लोक हैं)

नवाधिकशततमोऽध्यायः

पृथ्वीपर गंगाजीके उतरने और समुद्रको जलसे भरनेका विवरण तथा सगरपुत्रोंका उद्धार

लोमश उवाच

भगीरथवचः श्रुत्वा प्रियार्थं च दिवौकसाम् ।
एवमस्त्विति राजानं भगवान् प्रत्यभाषत ।। १ ।।
धारयिष्ये महाभाग गगनात् प्रच्युतां शिवाम् ।
दिव्यां देवनदीं पुण्यां त्वत्कृते नृपसत्तम ।। २ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! राजा भगीरथकी बात सुनकर देवताओंका प्रिय करनेके लिये भगवान् शिवने कहा—'एवमस्तु' महाभाग! मैं तुम्हारे लिये आकाशसे गिरती हुई कल्याणमयी पुण्यस्वरूपा दिव्य देवनदी गंगाको अवश्य धारण करूँगा' ।। १-२ ।।

एवमुक्त्वा महाबाहो हिमवन्तमुपागमत् ।
वृतः पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ।। ३ ।।

महाबाहो! ऐसा कहकर भगवान् शिव भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित अपने भयंकर पार्षदोंसे घिरे हुए हिमालयपर आये ।। ३ ।।

तत्र स्थित्वा नरश्रेष्ठं भगीरथमुवाच ह ।
प्रयाचस्व महाबाहो शैलराजसुतां नदीम् ।। ४ ।।
(पितॄणां पावनार्थं ते तामहं मनुजाधिप ।)
पतमानां सरिच्छ्रेष्ठां धारयिष्ये त्रिविष्टपात् ।

वहाँ ठहरकर उन्होंने नरश्रेष्ठ भगीरथसे कहा—'महाबाहो! गिरिराजनन्दिनी महानदी गंगासे भूतलपर उतरनेके लिये प्रार्थना करो। नरेश्वर! मैं तुम्हारे पितरोंको पवित्र करनेके लिये स्वर्गसे उतरती हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाको सिरपर धारण करूँगा' ।। ४½ ।।

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा शर्वेण समुदाहृतम् ।। ५ ।।
प्रयतः प्रणतो भूत्वा गङ्गां समनुचिन्तयत् ।
ततः पुण्यजला रम्या राज्ञा समनुचिन्तिता ।। ६ ।।
ईशानं च स्थितं दृष्ट्वा गगनात् सहसा च्युता ।
तां प्रच्युतामथो दृष्ट्वा देवाः सार्धं महर्षिभिः ।। ७ ।।
गन्धर्वोरगयक्षाश्च समाजग्मुर्दिदृक्षवः ।
ततः पपात गगनाद् गङ्गा हिमवतः सुता ।। ८ ।।

भगवान् शंकरकी कही हुई यह बात सुनकर राजा भगीरथने एकाग्रचित्त हो प्रणाम करके गंगाजीका चिन्तन किया। राजाके चिन्तन करनेपर भगवान् शंकरको खड़ा हुआ देख पुण्यसलिला रमणीय नदी गंगा सहसा आकाशसे नीचे गिरीं। उन्हें गिरती देख दर्शनके लिये उत्सुक हो महर्षियोंसहित देवता, गन्धर्व, नाग और यक्ष वहाँ आ गये। तदनन्तर हिमालयनन्दिनी गंगा आकाशसे वहाँ आ गिरीं ।। ५—८ ।।

समुद्धृतमहावर्ता मीनग्राहसमाकुला ।
तां दधार हरो राजन् गङ्गां गगनमेखलाम् ।। ९ ।।
ललाटदेशे पतितां मालां मुक्तामयीमिव ।

उस समय उनके जलमें बड़ी-बड़ी भँवरें और तरंगे उठ रही थीं। मत्स्य और ग्राह भरे हुए थे। राजन्! आकाशकी मेखलारूप गंगाको भगवान् शिवने अपने ललाटदेशमें पड़ी हुई मोतियोंकी मालाकी भाँति धारण कर लिया ।। ९½ ।।

सा बभूव विसर्पन्ती त्रिधा राजन् समुद्रगा ।। १० ।।
फेनपुञ्जाकुलजला हंसानामिव पङ्क्तयः ।
क्वचिदाभोगकुटिला प्रस्खलन्ती क्वचित् क्वचित् ।। ११ ।।
सा फेनपटसंवीता मत्तेव प्रमदाव्रजत् ।
क्वचित् सा तोयनिनदैर्नदन्ती नादमुत्तमम् ।। १२ ।।
एवंप्रकारान् सुबहून् कुर्वती गगनाच्च्युता ।
पृथिवीतलमासाद्य भगीरथमथाब्रवीत् ।। १३ ।।

महाराज! नीचे गिरती हुई फेनपुञ्जसे व्याप्त हुए जलवाली समुद्रगामिनी गंगा तीन धाराओंमें बँटकर हंसोंकी पंक्तियोंके समान सुशोभित होने लगी। वह मतवाली स्त्रीकी भाँति इस प्रकार आयी कि कहीं तो सर्प-शरीरकी भाँति कुटिल गतिसे बहती थी और कहीं-कहीं ऊँचेसे नीचे गिरकर चट्टानोंसे टकराती जाती थी एवं श्वेत वस्त्रोंके समान प्रतीत होनेवाले फेनपुंज उसे आच्छादित किये हुए थे। कहीं-कहीं वह जलके कल-कल नादसे उत्तम संगीत-सा गा रही थी। इस प्रकार अनेक रूप धारण करनेवाली गंगा आकाशसे गिरी और भूतलपर पहुँचकर राजा भगीरथसे बोली— ।। १०—१३ ।।

दर्शयस्व महाराज मार्गं केन व्रजाम्यहम् ।
त्वदर्थमवतीर्णास्मि पृथिवीं पृथिवीपते ।। १४ ।।

‘महाराज! रास्ता दिखाओ मैं किस मार्गसे चलूँ? पृथ्वीपते! तुम्हारे लिये ही मैं इस भूतलपर उतरी हूँ’ ।। १४ ।।

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा प्रातिष्ठत भगीरथः ।
यत्र तानि शरीराणि सागराणां महात्मनाम् ।। १५ ।।
प्लावनार्थं नरश्रेष्ठ पुण्येन सलिलेन च ।

यह सुनकर राजा भगीरथ जहाँ महात्मा सगरपुत्रोंके शरीर पड़े थे, वहाँ गंगाजीके पावन जलसे उन शरीरोंको प्लावित करनेके लिये उस स्थानसे प्रस्थित हुए ।। १५½ ।।

गङ्गाया धारणं कृत्वा हरो लोकनमस्कृतः ।। १६ ।।
कैलासं पर्वतश्रेष्ठं जगाम त्रिदशैः सह ।
समासाद्य समुद्रं च गङ्गया सहितो नृपः ।। १७ ।।
पूरयामास वेगेन समुद्रं वरुणालयम् ।
दुहितृत्वे च नृपतिर्गङ्गां समनुकल्पयत् ।। १८ ।।

विश्ववन्दित भगवान् शंकर गंगाजीको सिरपर धारण करके देवताओंके साथ पर्वतश्रेष्ठ कैलासको चले गये। राजा भगीरथने गंगाजीके साथ समुद्रतटपर जाकर वरुणालय समुद्रको बड़े वेगसे भर दिया और गंगाजीको अपनी पुत्री बना लिया ।। १६—१८ ।।

पितृणां चोदकं तत्र ददौ पूर्णमनोरथः ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं गङ्गा त्रिपथगा यथा ।। १९ ।।

तत्पश्चात् वहाँ उन्होंने पितरोंके लिये जलदान किया और पितरोंका उद्धार होनेसे वे सफल मनोरथ हो गये। युधिष्ठिर! जिस प्रकार गंगा त्रिपथगा (स्वर्ग, पाताल और पृथ्वीपर गमन करनेवाली) हुई, वह सब प्रसंग मैंने तुम्हें सुना दिया ।। १९ ।।

पूरणार्थं समुद्रस्य पृथिवीमवतारिता ।
(कालेयाश्च यथा राजंस्त्रिदशैर्विनिपातिताः)
समुद्रश्च यथा पीतः कारणार्थं महात्मना ।। २० ।।
वातापिश्च यथा नीतः क्षयं स ब्रह्महा प्रभो ।
अगस्त्येन महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।। २१ ।।

महाराज! समुद्रको भरनेके लिये ही गंगा पृथ्वीपर उतारी गयी थी। राजन्! देवताओंने कालेय नामक दैत्योंको जिस प्रकार मार गिराया और कारणवश महात्मा अगस्त्यने जिस प्रकार समुद्र पी लिया तथा उन्होंने ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले वातापि नामक दैत्यको जिस प्रकार नष्ट किया, वह सब प्रसंग, जिसके विषयमें तुमने पूछा था, मैंने बता दिया ।। २०-२१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
लोमशतीर्थयात्रायामगस्त्यमाहात्म्यकथने नवाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अगस्त्यमाहात्म्यकथनविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २२ श्लोक हैं)

दशाधिकशततमोऽध्यायः

नन्दा तथा कौशिकीका माहात्म्य, ऋष्यश्रृंग मुनिका उपाख्यान और उनको अपने राज्यमें लानेके लिये राजा लोमपादका प्रयत्न

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयातः कौन्तेयः क्रमेण भरतर्षभ ।
नन्दामपरनन्दां च नद्यौ पापभयापहे ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर क्रमशः आगे बढ़ने लगे। उन्होंने पाप और भयका निवारण करनेवाली नन्दा और अपरनन्दा—इन दो नदियोंकी यात्रा की ।। १ ।।

पर्वतं स समासाद्य हेमकूटमनामयम् ।
अचिन्त्यानद्भुतान् भावान् ददर्श सुबहून् नृपः ।। २ ।।

तत्पश्चात् रोग-शोकसे रहित हेमकूट पर्वतपर पहुँचकर राजा युधिष्ठिरने वहाँ बहुत-सी अचिन्त्य एवं अद्भुत बातें देखीं ।। २ ।।

वाताबद्धा भवन्मेघा उपलाश्च सहस्रशः ।
नाशक्नुवंस्तमारोढुं विषण्णमनसो जनाः ।। ३ ।।

वहाँ वायुका सहारा लिये बिना ही बादल उत्पन्न हो जाते और अपने-आप हजारों पत्थर (ओले) पड़ने लगते थे। जिनके मनमें खेद भरा होता था ऐसे मनुष्य उस पर्वतपर चढ़ नहीं सकते थे ।। ३ ।।

वायुर्नित्यं ववौ तत्र नित्यं देवश्च वर्षति ।
स्वाध्यायघोषश्च तथा श्रूयते न च दृश्यते ।। ४ ।।
सायं प्रातश्च भगवान् दृश्यते हव्यवाहनः ।
मक्षिकाश्चादशंस्तत्र तपसः प्रतिघातिकाः ।। ५ ।।
निर्वेदो जायते तत्र गृहाणि स्मरते जनः ।
एवं बहुविधान् भावानद्भुतान् वीक्ष्य पाण्डवः ।
लोमशं पुनरेवाथ पर्यपृच्छत् तदद्भुतम् ।। ६ ।।

वहाँ प्रतिदिन हवा चलती और रोज-रोज मेघ वर्षा करता था। वेदोंके स्वाध्यायकी ध्वनि तो सुनायी पड़ती; परंतु स्वाध्याय करनेवालेका दर्शन नहीं होता था। सायंकाल और प्रातःकाल भगवान् अग्निदेव प्रज्वलित दिखायी देते थे। तपस्यामें विघ्न डालनेवाली मक्खियाँ वहाँ लोगोंको डंक मारती रहती थीं, अतः वहाँ विरक्ति होती और लोग घरोंकी

याद करने लगते थे। इस प्रकार बहुत-सी अद्भुत बातें देखकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने लोमशजीसे पुनः इस अद्भुत अवस्थाके विषयमें पूछा ।।

(युधिष्ठिर उवाच

यदेतद् भगवंश्चित्रं पर्वतेऽस्मिन् महौजसि ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व विस्तरेण महाद्युते ।।)

युधिष्ठिरने कहा—महातेजस्वी भगवन्! इस परम तेजोमय पर्वतपर जो ये आश्चर्यजनक बातें होती हैं, इसका क्या रहस्य है? यह सब विस्तारपूर्वक मुझे बताइये।

लोमश उवाच

यथाश्रुतमिदं पूर्वमस्माभिररिकर्शन ।
तदेकाग्रमना राजन् निबोध गदतो मम ।। ७ ।।

तब लोमशजीने कहा—शत्रुसूदन! हमने पूर्वकालमें जैसा सुन रखा है वैसा बताया जाता है। तुम एकाग्रचित्त हो मेरे मुखसे इसका रहस्य सुनो ।। ७ ।।

अस्मिन्नृषभकूटेऽभूदृषभो नाम तापसः ।
अनेकशतवर्षायुस्तपस्वी कोपनो भृशम् ।। ८ ।।

पहलेकी बात है, इस ऋषभकूटपर ऋषभनामसे प्रसिद्ध एक तपस्वी रहते थे। उनकी आयु कई सौ वर्षोंकी थी। वे तपस्वी होनेके साथ ही बड़े क्रोधी थे ।।

स वै सम्भाष्यमाणोऽन्यैः कोपाद् गिरिमुवाच ह ।
य इह व्याहरेत् कश्चिदुपलानुत्सृजेस्तथा ।। ९ ।।
वातं चाहूय मा शब्दमित्युवाच स तापसः ।
व्याहरंश्चेह पुरुषो मेघशब्देन वार्यते ।। १० ।।
एवमेतानि कर्माणि राजंस्तेन महर्षिणा ।
कृतानि कानिचित् क्रोधात् प्रतिषिद्धानि कानिचित् ।। ११ ।।

उन्होंने दूसरोंके बुलानेपर कुपित होकर उस पर्वतसे कहा—‘जो कोई यहाँपर बातचीत करे उसपर तू ओले बरसा।’ इसी प्रकार वायुको भी बुलाकर उन तपस्वी मुनिने कहा—‘देखो, यहाँ किसी प्रकारका शब्द नहीं होना चाहिये।’ तबसे जो कोई पुरुष यहाँ बोलता है उसे मेघकी गर्जनाद्वारा रोका जाता है। राजन्! इस प्रकार उन महर्षिने ही ये अद्भुत कार्य किये हैं। उन्होंने क्रोधवश कुछ कार्योंका विधान और कुछ बातोंका निषेध कर दिया है ।। ९—११ ।।

नन्दां त्वभिगता देवाः पुरा राजन्निति श्रुतिः ।
अन्वपद्यन्त सहसा पुरुषा देवदर्शिनः ।। १२ ।।

राजन्! यह सुना जाता है कि प्राचीन कालमें देवतालोग नन्दाके तटपर आये थे, उस समय उनके दर्शनकी इच्छासे बहुतेरे मनुष्य सहसा वहाँ आ पहुँचे ।। १२ ।।

ते दर्शनं त्वनिच्छन्तो देवाः शक्रपुरोगमाः ।
दुर्गं चक्रुरिमं देशं गिरिं प्रत्यूहरूपकम् ।। १३ ।।

इन्द्र आदि देवता उन्हें दर्शन देना नहीं चाहते थे, अतः विघ्नस्वरूप इस पर्वतीय प्रदेशको उन्होंने जनसाधारणके लिये दुर्गम बना दिया ।। १३ ।।

तदाप्रभृति कौन्तेय नरा गिरिमिमं सदा ।
नाशक्नुवन्नभिद्रष्टुं कुत एवाधिरोहितुम् ।। १४ ।।

कुन्तीनन्दन! तभीसे साधारण मनुष्य इस पर्वतको देख भी नहीं सकते, चढ़ना तो दूरकी बात है ।। १४ ।।

नातप्ततपसा शक्यो द्रष्टुमेष महागिरिः ।
आरोढुं वापि कौन्तेय तस्मान्नियतवाग् भव ।। १५ ।।

कुन्तीकुमार! जिसने तपस्या नहीं की है वह मनुष्य इस महान् पर्वतको न तो देख सकता है और न चढ़ ही सकता है; अतः तुम मौन व्रत धारण करो ।। १५ ।।

इह देवास्तदा सर्वे यज्ञानाजह्रुरुत्तमान् ।
तेषामेतानि लिङ्गानि दृश्यन्तेद्यापि भारत ।। १६ ।।

उन दिनों सम्पूर्ण देवताओंने यहाँ आकर उत्तम यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। भारत! उनके ये चिह्न आज भी प्रत्यक्ष देखे जाते हैं ।। १६ ।।

कुशाकारेव दूर्वेयं संस्तीर्णेव च भूरियम् ।
यूपप्रकारा बहवो वृक्षाश्चेमे विशाम्पते ।। १७ ।।

यह दूर्वा कुशके आकारकी दिखायी देती है और यह भूमि ऐसी लगती है मानो इसपर कुश बिछाये गये हों। महाराज! ये वृक्ष भी यज्ञयूपके समान जान पड़ते हैं ।। १७ ।।

देवाश्च ऋषयश्चैव वसन्त्यद्यापि भारत ।
तेषां सायं तथा प्रातर्दृश्यते हव्यवाहनः ।। १८ ।।

भारत! आज भी यहाँ देवता तथा ऋषि निवास करते हैं। सायंकाल और प्रातःकाल यहाँ उनके द्वारा प्रज्वलित की हुई अग्निका दर्शन होता है ।। १८ ।।

इहाप्लुतानां कौन्तेय सद्यः पाप्माभिहन्यते ।
कुरुश्रेष्ठाभिषेकं वै तस्मात् कुरु सहानुजः ।। १९ ।।

कुन्तीनन्दन! इस तीर्थमें गोता लगानेवाले मानवोंका सारा पाप तत्काल नष्ट हो जाता है। अतः कुरुश्रेष्ठ! तुम अपने भाइयोंके साथ यहाँ स्नान करो ।। १९ ।।

ततो नन्दाप्लुताङ्गस्त्वं कौशिकीमभियास्यसि ।
विश्वामित्रेण यत्रोग्रं तपस्तप्तमनुत्तमम् ।। २० ।।

नन्दामें गोता लगानेके पश्चात् तुम्हें कौशिकीके तटपर चलना होगा जहाँ महर्षि विश्वामित्रजीने उत्तम एवं उग्र तपस्या की थी ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्र समाप्लुत्य गात्राणि सगणो नृपः ।
जगाम कौशिकीं पुण्यां रम्यां शीतजलां शुभाम् ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर राजा युधिष्ठिर अपने दल-बलके साथ नन्दामें गोता लगाकर रमणीय एवं शीतल जलवाली शुभ पुण्यमयी कौशिकीके तटपर गये ।।

लोमश उवाच

एषा देवनदी पुण्या कौशिकी भरतर्षभ ।
विश्वामित्राश्रमो रम्य एष चात्र प्रकाशते ।। २२ ।।

वहाँ लोमशजीने कहा—भरतश्रेष्ठ! यह देवताओंकी नदी पुण्यसलिला कौशिकी है और यह विश्वामित्रका रमणीय आश्रम है, जो यहाँ प्रकाशित हो रहा है ।। २२ ।।

आश्रमश्चैव पुण्याख्यः काश्यपस्य महात्मनः ।
ऋष्यशृङ्गः सुतो यस्य तपस्वी संयतेन्द्रियः ।। २३ ।।
तपसो यः प्रभावेण वर्षयामास वासवम् ।
अनावृष्ट्यां भयाद् यस्य ववर्ष बलवृत्रहा ।। २४ ।।

यहीं कश्यपगोत्रीय महात्मा विभाण्डकका 'पुण्य' नामक आश्रम है। इन्हींके तपस्वी एवं जितेन्द्रिय पुत्र महात्मा ऋष्यशृंग हैं, जिन्होंने अपनी तपस्याके प्रभावसे इन्द्रद्वारा वर्षा करवायी थी। उन दिनों देशमें घोर अनावृष्टि फैल रही थी, वैसे समयमें ऋष्यशृंग मुनिके भयसे बल और वृत्रासुरके विनाशक देवराज इन्द्रने उस देशमें वर्षा की थी ।। २३-२४ ।।

मृग्यां जातः स तेजस्वी काश्यपस्य सुतः प्रभुः ।
विषये लोमपादस्य यश्चकाराद्भुतं महत् ।। २५ ।।

वे तेजस्वी एवं शक्तिशाली मुनि मृगीके पेटसे पैदा हुए थे और कश्यपनन्दन विभाण्डकके पुत्र थे। उन्होंने राजा लोमपादके राज्यमें अत्यन्त अद्भुत कार्य किया था ।। २५ ।।

निर्वर्तितेषु सस्येषु यस्मै शान्तां ददौ नृपः ।
लोमपादो दुहितरं सावित्रीं सविता यथा ।। २६ ।।

जब वर्षासे खेती अच्छी तरह लहलहा उठी तब राजा लोमपादने अपनी पुत्री शान्ता ऋष्यशृंगको ब्याह दी; ठीक उसी तरह, जैसे सूर्यदेवने अपनी बेटी सावित्रीका ब्रह्माजीके साथ ब्याह किया था ।। २६ ।।

युधिष्ठिर उवाच

ऋष्यशृङ्गः कथं मृग्यामुत्पन्नः काश्यपात्मजः ।
विरुद्धे योनिसंसर्गे कथं च तपसा युतः ।। २७ ।।
किमर्थं च भयाच्छक्रस्तस्य बालस्य धीमतः ।
अनावृष्ट्यां प्रवृत्तायां ववर्ष बलवृत्रहा ।। २८ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! कश्यपनन्दन विभाण्डकके पुत्र ऋष्यशृंग मृगीके पेटसे कैसे उत्पन्न हुए? मनुष्यका पशुयोनिसे संसर्ग करना तो शास्त्र और व्यवहार दोनों ही दृष्टियोंसे विरुद्ध है। ऐसे विरुद्ध योनि-संसर्गसे उत्पन्न हुआ बालक तपस्वी कैसे हो सका? उस बुद्धिमान् बालकके भयसे बल और वृत्रासुरका विनाश करनेवाले देवराज इन्द्रने अनावृष्टिके समय वर्षा कैसे की? ।। २७-२८ ।।

कथंरूपा च सा शान्ता राजपुत्री यतव्रता ।
लोभयामास या चेतो मृगभूतस्य तस्य वै ।। २९ ।।
लोमपादश्च राजर्षिर्यदाश्रूयत धार्मिकः ।
कथं वै विषये तस्य नावर्षत् पाकशासनः ।। ३० ।।

नियम और व्रतका पालन करनेवाली राजकुमारी शान्ता भी कैसी थी, जिसने मृगस्वरूप मुनिका भी मन मोह लिया। राजर्षि लोमपाद तो बड़े धर्मात्मा सुने गये हैं, फिर उनके राज्यमें इन्द्र वर्षा क्यों नहीं करते थे? ।। २९-३० ।।

एतन्मे भगवन् सर्वं विस्तरेण यथातथम् ।
वक्तुमर्हसि शुश्रूषोर्ऋष्यशृङ्गस्य चेष्टितम् ।। ३१ ।।

भगवन्! ये सब बातें आप विस्तारपूर्वक यथार्थ-रूपसे बताइये। मैं महर्षि ऋष्यशृंगके चरित्रको सुनना चाहता हूँ ।। ३१ ।।

लोमश उवाच

विभाण्डकस्य विप्रर्षेस्तपसा भावितात्मनः ।
अमोघवीर्यस्य सतः प्रजापतिसमद्युतेः ।। ३२ ।।
शृणु पुत्रो यथा जात ऋष्यशृङ्ग प्रतापवान् ।
महार्हस्य महातेजा बालः स्थविरसम्मतः ।। ३३ ।।

लोमशजीने कहा—राजन्! ब्रह्मर्षि विभाण्डकका अन्तःकरण तपस्यासे पवित्र हो गया था। वे प्रजापतिके समान तेजस्वी और अमोघवीर्य महात्मा थे। उनके प्रतापी पुत्र ऋष्यशृंगका जन्म कैसे हुआ, यह बताता हूँ, सुनो। जैसे विभाण्डक मुनि परम पूजनीय थे, वैसे ही उनका पुत्र भी बड़ा तेजस्वी हुआ। वह बाल्यावस्थामें भी वृद्ध पुरुषोंद्वारा सम्मानित होता था ।। ३२-३३ ।।

महाह्रद समासाद्य काश्यपस्तपसि स्थितः ।
दीर्घकालं परिश्रान्त ऋषिः स देवसम्मितः ।। ३४ ।।

कश्यपगोत्रीय विभाण्डक मुनि देवताओंके समान सुन्दर थे। वे एक बहुत बड़े कुण्डमें प्रविष्ट होकर तपस्या करने लगे। उन्होंने दीर्घकालतक महान् क्लेश सहन किया ।। ३४ ।।

तस्य रेतः प्रचस्कन्द दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम् ।
अप्सूपस्पृशतो राजन् मृगी तच्चापिबत् तदा ।। ३५ ।।

सह तोयेन तृषिता गर्भिणी चाभवत् ततः ।
सा पुरोक्ता भगवता ब्रह्मणा लोककर्तृणा ।। ३६ ।।
देवकन्या मृगी भूत्वा मुनिं सूय विमोक्ष्यसे ।
अमोघत्वाद् विधेश्चैव भावित्वाद् दैवनिर्मितात् ।। ३७ ।।
तस्यां मृग्यां समभवत् तस्य पुत्रो महानृषिः ।
ऋष्यशृङ्गस्तपोनित्यो वन एवाभ्यवर्तत ।। ३८ ।।

राजन्! एक दिन जब वे जलमें स्नान कर रहे थे, उर्वशी अप्सराको देखकर उनका वीर्य स्खलित हो गया। उसी समय प्याससे व्याकुल हुई एक मृगी वहाँ आयी और पानीके साथ उस वीर्यको भी पी गयी। इससे उसके गर्भ रह गया। वह पूर्वजन्ममें एक देवकन्या थी। लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माने उसे यह वचन दिया था कि तू मृगी होकर एक मुनिको जन्म देनेके पश्चात् उस योनिसे मुक्त हो जायगी। ब्रह्माजीकी वाणी अमोघ है और दैवके विधानको कोई टाल नहीं सकता, इसलिये विभाण्डकके पुत्र महर्षि ऋष्यशृंगका जन्म मृगीके ही पेटसे हुआ। वे सदा तपस्यामें संलग्न रहकर वनमें ही निवास करते थे ।। ३५-३८ ।।

तस्यर्षेः शृङ्गं शिरसि राजन्नासीन्महात्मनः ।

तेनर्ष्यशृङ्ग इत्येवं तदा स प्रथितोऽभवत् ।। ३९ ।।

राजन्! उन महात्मा मुनिके सिरपर एक सींग था, इसलिये उस समय उनका ऋष्यशृंग नाम प्रसिद्ध हुआ ।। ३९ ।।

न तेन दृष्टपूर्वोऽन्यः पितुरन्यत्र मानुषः ।
तस्मात् तस्य मनो नित्यं ब्रह्मचर्येऽभवन्नृप ।। ४० ।।

नरेश्वर! उन्होंने अपने पिताके सिवा दूसरे किसी मनुष्यको पहले कभी नहीं देखा था, इसलिये उनका मन सदा स्वभावसे ही ब्रह्मचर्यमें संलग्न रहता था ।। ४० ।।

एतस्मिन्नेव काले तु सखा दशरथस्य वै ।
लोमपाद इति ख्यातो ह्यङ्गानामीश्वरोऽभवत् ।। ४१ ।।

इन्हीं दिनों राजा दशरथके मित्र लोमपाद अंगदेशके राजा हुए ।। ४१ ।।

तेन कामात् कृतं मिथ्या ब्राह्मणस्येति नः श्रुतिः ।
स ब्राह्मणैः परित्यक्तस्ततो वै जगतः पतिः ।। ४२ ।।
पुरोहितापचाराच्च तस्य राज्ञो यदृच्छया ।
न ववर्ष सहस्राक्षस्ततोऽपीड्यन्त वै प्रजाः ।। ४३ ।।

उन्होंने जान-बूझकर एक ब्राह्मणके साथ मिथ्या व्यवहार किया—यह बात हमारे सुननेमें आयी है। इसी अपराधके कारण ब्राह्मणोंने राजा लोमपादको त्याग दिया था। राजाने पुरोहितपर मनमाना दोषारोपण किया था, इसलिये इन्द्रने उनके राज्यमें वर्षा बंद कर दी। इस अनावृष्टिके कारण प्रजाको बड़ा कष्ट होने लगा ।। ४२-४३ ।।

स ब्राह्मणान् पर्यपृच्छत् तपोयुक्तान् मनीषिणः ।
प्रवर्षणे सुरेन्द्रस्य समर्थान् पृथिवीपते ।। ४४ ।।

युधिष्ठिर! तब राजाने तपस्वी, मेधावी और इन्द्रसे वर्षा करवानेमें समर्थ ब्राह्मणोंको बुलाकर इस संकटके निवारणका उपाय पूछा ।। ४४ ।।

कथं प्रवर्षेत् पर्जन्य उपायः परिदृश्यताम् ।
तमूचुश्चोदितास्ते तु स्वमतानि मनीषिणः ।। ४५ ।।

‘विप्रगण! मेघ कैसे वर्षा करे—यह उपाय सोचिये।’ उनके पूछनेपर मनीषी महात्माओंने अपना-अपना विचार बताया ।। ४५ ।।

तत्र त्वेको मुनिवरस्तं राजानमुवाच ह ।
कुपितास्तव राजेन्द्र ब्राह्मणा निष्कृतिं चर ।। ४६ ।।

उन्हीं ब्राह्मणोंमें एक श्रेष्ठ महर्षि भी थे। उन्होंने राजासे कहा—‘राजेन्द्र! तुम्हारे ऊपर ब्राह्मण कुपित हैं; इसके लिये तुम प्रायश्चित्त करो’ ।। ४६ ।।

ऋष्यशृङ्गं मुनिसुतमानयस्व च पार्थिव ।
वानेयमनभिज्ञं च नारीणामार्जवे रतम् ।। ४७ ।।
स चेदवतरेद् राजन् विषयं ते महातपाः ।

सद्यः प्रवर्षेत् पर्जन्य इति मे नात्र संशयः ॥ ४८ ॥

'भूपाल! साथ ही हम तुम्हें यह सलाह देते हैं कि अपने राज्यमें महर्षि विभाण्डकके पुत्र वनवासी ऋष्यशृंगको बुलाओ। वे स्त्रियोंसे सर्वथा अपरिचित हैं और सदा सरल व्यवहारमें ही तत्पर रहते हैं। महाराज! वे महातपस्वी ऋष्यशृङ्ग यदि आपके राज्यमें पदार्पण करें तो तत्काल ही मेघ वर्षा करेगा इस विषयमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है' ॥ ४७-४८ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजन् कृत्वा निष्कृतिमात्मनः ।
स गत्वा पुनरागच्छत् प्रसन्नेषु द्विजातिषु ॥ ४९ ॥

'राजन्! यह सुनकर राजा लोमपाद अपने अपराधका प्रायश्चित्त करके ब्राह्मणोंके पास गये और जब वे प्रसन्न हो गये तब पुनः अपनी राजधानीको लौट आये' ॥ ४९ ॥

राजानमागतं श्रुत्वा प्रतिसंजहृषुः प्रजाः ।
ततोऽङ्गपतिराहूय सचिवान् मन्त्रकोविदान् ॥ ५० ॥
ऋष्यशृङ्गागमे यत्नमकरोन्मन्त्रनिश्चये ।
सोऽध्यगच्छदुपायं तु तैरमात्यैः सहाच्युतः ॥ ५१ ॥
शास्त्रज्ञैरलमर्थज्ञैर्नीत्यां च परिनिष्ठितैः ।
ततश्चानाययामास वारमुख्या महीपतिः ॥ ५२ ॥
वेश्याः सर्वत्र निष्णातास्ता उवाच स पार्थिवः ।
ऋष्यशृङ्गमृषेः पुत्रमानयध्वमुपायतः ॥ ५३ ॥

राजाका आगमन सुनकर प्रजाजनोंको बड़ा हर्ष हुआ। तदनन्तर अंगराज मन्त्रकुशल मन्त्रियोंको बुलाकर उनसे सलाह करके एक निश्चयपर पहुँच जानेके बाद मुनिकुमार ऋष्यशृंगको अपने यहाँ ले आनेके प्रयत्नमें लग गये। राजाके मन्त्री शास्त्रज्ञ, अर्थशास्त्रके विद्वान् और नीतिनिपुण थे। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले नरेशने उन मन्त्रियोंके साथ विचार करके एक उपाय जान लिया। तत्पश्चात् भूपाल लोमपादने दूसरोंको लुभानेकी सब कलाओंमें कुशल प्रधान-प्रधान वेश्याओंको बुलाया और कहा—'तुमलोग कोई उपाय करके मुनिकुमार ऋष्यशृंगको यहाँ ले आओ ॥ ५०—५३ ॥

लोभयित्वाभिविश्वास्य विषयं मम शोभनाः ।
ता राजभयभीताश्च शापभीताश्च योषितः ॥ ५४ ॥
अशक्यमूचुस्तत् कार्यं विवर्णा गतचेतसः ।
तत्र त्वेका जरद्योषा राजानमिदमब्रवीत् ॥ ५५ ॥

'सुन्दरियो! तुम लुभाकर उन्हें सब प्रकारसे सुख-सुविधाका विश्वास दिलाकर मेरे राज्यमें ले आना।' महाराजकी यह बात सुनते ही वेश्याओंका रंग फीका पड़ गया। वे अचेत-सी हो गयीं। एक ओर तो उन्हें राजाका भय था और दूसरी ओर वे मुनिके शापसे

डरी हुई थीं; अतः उन्होंने इस कार्यको असम्भव बताया। उन सबमें एक बूढ़ी स्त्री थी। उसने राजासे इस प्रकार कहा— ।। ५४-५५ ।।

प्रयतिष्ये महाराज तमानेतुं तपोधनम् ।
अभिप्रेतांस्तु मे कामांस्त्वमनुज्ञातुमर्हसि ।। ५६ ।।
ततः शक्ष्याम्यानयितुमृष्यशृङ्गमृषेः सुतम् ।
तस्याः सर्वमभिप्रेतमन्वजानात् स पार्थिवः ।। ५७ ।।

'महाराज! मैं उन तपोधन मुनिकुमारको लानेका प्रयत्न करूँगी; परंतु आप यह आज्ञा दें कि मैं इसके लिये मनचाही व्यवस्था कर सकूँ। यदि मेरी इच्छा पूर्ण हुई तो मैं मुनिपुत्र ऋष्यशृंगको यहाँ लानेमें सफल हो सकूँगी।' राजाने उसकी इच्छाके अनुसार व्यवस्था करनेकी आज्ञा दे दी ।। ५६-५७ ।।

धनं च प्रददौ भूरि रत्नानि विविधानि च ।
ततो रूपेण सम्पन्ना वयसा च महीपते ।
स्त्रिय आदाय काश्चित् सा जगाम वनमञ्जसा ।। ५८ ।।

साथ ही उसे प्रचुर धन और नाना प्रकारके रत्न भी दिये। युधिष्ठिर! तदनन्तर वह वेश्या रूप और यौवनसे सम्पन्न कुछ सुन्दरी स्त्रियोंको साथ लेकर शीघ्रतापूर्वक वनकी ओर चल दी ।। ५८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यशृंगोपाख्याने दशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें ऋष्यशृंगोपाख्यानविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११० ।।

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

वेश्याका ऋष्यशृंगको लुभाना और विभाण्डक मुनिका आश्रमपर आकर अपने पुत्रकी चिन्ताका कारण पूछना

लोमश उवाच

सा तु नाव्याश्रमं चक्रे राजकार्यार्थसिद्धये ।
संदेशाच्चैव नृपतेः स्वबुद्ध्या चैव भारत ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—भरतनन्दन! उस वेश्याने राजाकी आज्ञाके अनुसार और अपनी बुद्धिसे भी उनका कार्य सिद्ध करनेके लिये नावपर एक सुन्दर आश्रम बनाया ।। १ ।।

नानापुष्पफलैर्वृक्षैः कृत्रिमैरुपशोभितैः ।
नानागुल्मलतोपेतैः स्वादुकामफलप्रदैः ।। २ ।।

वह आश्रम भाँति-भाँतिके पुष्प और फलोंसे सुशोभित कृत्रिम वृक्षोंसे घिरा हुआ था। उन वृक्षोंपर नाना प्रकारके गुल्म और लतासमूह फैले हुए थे और वे वृक्ष स्वादिष्ट एवं वांछनीय फल देनेवाले थे ।। २ ।।

अतीव रमणीयं तदतीव च मनोहरम् ।
चक्रे नाव्याश्रमं रम्यमद्भुतोपमदर्शनम् ।। ३ ।।

उन वृक्षोंके कारण वह आश्रम अत्यन्त रमणीय और परम मनोहर दिखायी देता था। वेश्याने उस नावपर जिस सुन्दर आश्रमका निर्माण किया था, वह देखनेमें अद्भुत-सा था ।। ३ ।।

ततो निबध्य तां नावमदूरे काश्यपाश्रमात् ।
चारयामास पुरुषैर्विहारं तस्य वै मुनेः ।। ४ ।।

तदनन्तर उसने अपनी उस नावको काश्यप गोत्रीय विभाण्डक मुनिके आश्रमसे थोड़ी ही दूरपर बाँध दिया और गुप्तचरोंको भेजकर यह पता लगा लिया कि इस समय विभाण्डक मुनि अपनी कुटियासे बाहर गये हैं ।। ४ ।।

ततो दुहितरं वेश्यां समाधायेतिकार्यताम् ।
दृष्ट्वान्तरं काश्यपस्य प्राहिणोद् बुद्धिसम्मताम् ।। ५ ।।

तदनन्तर विभाण्डक मुनिको दूर गया देख उस वेश्याने अपनी परम बुद्धिमती पुत्रीको जो उसीकी भाँति वेश्यावृति अपनाये हुए थी, कर्तव्यकी शिक्षा देकर मुनिके आश्रमपर भेजा ।। ५ ।।

सा तत्र गत्वा कुशला तपोनित्यस्य संनिधौ ।
आश्रमं तं समासाद्य ददर्श तमृषेः सुतम् ।। ६ ।।

वह भी कार्यसाधनमें कुशल थी। उसने वहाँ जाकर निरन्तर तपस्यामें लगे रहनेवाले ऋषिकुमार ऋष्यशृंगके समीप उस आश्रममें पहुँचकर उनको देखा ।। ६ ।।

वेश्योवाच

कच्चिन्मुने कुशलं तापसानां
कच्चिच्च वो मूलफलं प्रभूतम् ।
कच्चिद् भवान् रमते चाश्रमेऽस्मिं-
स्त्वां वै द्रष्टुं साम्प्रतमागतोऽस्मि ।। ७ ।।

'तत्पश्चात्' वेश्याने कहा—मुने! तपस्वीलोग कुशलसे तो हैं न? आपलोगोंको पर्याप्त फल-मूल तो मिल जाते हैं न? आप इस आश्रममें प्रसन्न तो हैं न? मैं इस समय आपके दर्शनके लिये ही यहाँ आयी हूँ ।। ७ ।।

कच्चित् तपो वर्धते तापसानां
पिता च ते कच्चिदहीनतेजाः ।
कच्चित् त्वया प्रीयते चैव विप्र
कच्चित् स्वाध्यायः क्रियते चर्ष्यशृङ्ग ।। ८ ।।

क्या तपस्वीलोगोंकी तपस्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है? आपके पिताका तेज क्षीण तो नहीं हो रहा है? ब्रह्मन्! आप मजेमें हैं न? ऋष्यशृंगजी! आपके स्वाध्यायका क्रम चल रहा है न? ।। ८ ।।

ऋष्यशृङ्ग उवाच

ऋद्धया भवाञ्ज्योतिरिव प्रकाशते
मन्ये चाहं त्वामभिवादनीयम् ।
पाद्यं वै ते सम्प्रदास्यामि कामाद्
यथाधर्मं फलमूलानि चैव ।। ९ ।।

ऋष्यशृंग बोले—ब्रह्मन्! आप अपनी समृद्धिसे ज्योतिकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं। मैं आपको अपने लिये वन्दनीय मानता हूँ और स्वेच्छासे धर्मके अनुसार आपके लिये पाद्य-अर्घ्य एवं फल-मूल अर्पण करता हूँ ।। ९ ।।

कौश्यां बृष्यामास्स्व यथोपजोषं
कृष्णाजिनेनावृतायां सुखायाम् ।
क्व चाश्रमस्तव किं नाम चेदं
व्रतं ब्रह्मंश्चरसि हि देववत् त्वम् ।। १० ।।

इस कुशासनपर आप सुखपूर्वक बैठें। इसपर काला मृगचर्म बिछाया गया है, इसलिये इसपर बैठनेमें आराम रहेगा। आपका आश्रम कहाँ है? और आपका नाम क्या है? ब्रह्मन्! आप देवताके समान यह किस व्रतका आचरण कर रहे हैं? ।। १० ।।

वेश्योवाच

ममाश्रमः काश्यपपुत्र रम्य-
स्त्रियोजनं शैलमिमं परेण ।
तत्र स्वधर्मो नाभिवादनं मे
न चोदकं पाद्यमुपस्पृशामि ।। ११ ।।

वेश्या बोली—काश्यपनन्दन! मेरा आश्रम बड़ा मनोहर है। वह इस पर्वतके उस पार तीन योजनकी दूरीपर स्थित है। वहाँ मेरा जो अपना धर्म है उसके अनुसार आपको मेरा अभिवादन (प्रणाम) नहीं करना चाहिये। मैं आपके दिये हुए अर्घ्य और पाद्यका स्पर्श नहीं करूँगी ।। ११ ।।

भवता नाभिवाद्योऽहमभिवाद्यो भवान् मया ।
व्रतमेतादृशं ब्रह्मन् परिष्वज्यो भवान् मया ।। १२ ।।

मैं आपके लिये वन्दनीय नहीं हूँ। आप ही मेरे वन्दनीय हैं। ब्रह्मन्! मेरा यह नियम है, जिसके अनुसार मुझे आपका आलिंगन करना चाहिये ।। १२ ।।

ऋष्यशृङ्ग उवाच

फलानि पक्वानि ददानि तेऽहं
भल्लातकान्यामलकानि चैव ।
करूषकाणीङ्गुदधन्वनानि
पिप्पलानां कामकारं कुरुष्व ।। १३ ।।

ऋष्यशृंगने कहा—ब्रह्मन्! मैं तुम्हें पके फल दे रहा हूँ। ये भिलावा, आँवले, करूषक (फालसा), इंगुद (हिंगोट), धन्वन (धामिन) और पीपलके फल प्रस्तुत हैं—इन सबका इच्छानुसार उपयोग कीजिये ।। १३ ।।

लोमश उवाच

सा तानि सर्वाणि विवर्जयित्वा
भक्ष्याण्यनर्हाणि ददौ ततोऽस्य ।
तान्यृष्यशृङ्गस्य महारसानि
भृशं सुरूपाणि रुचिं ददुर्हि ।। १४ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वेश्याने उन सब फलोंको छोड़कर स्वयं ऋष्यशृंगको अत्यन्त सुन्दर और अमूल्य भक्ष्य पदार्थ (फल आदि) दिये। उन परम सरस फलोंने उनकी रुचिको बढ़ाया ।। १४ ।।

ददौ च माल्यानि सुगन्धवन्ति
चित्राणि वासांसि च भानुमन्ति ।
पेयानि चाग्र्याणि ततो मुमोद

चिक्रीड चैव प्रजहास चैव ।। १५ ।।
सा कन्दुकेनारमतास्य मूले
विभज्यमाना फलिता लतेव ।
गात्रैश्च गात्राणि निषेवमाणा
समाश्लिषच्चासकृदृष्यशृङ्गम् ।। १६ ।।

साथ ही सुगन्धित मालाएँ तथा विचित्र एवं चमकीले वस्त्र प्रदान किये। इतना ही नहीं, उसने मुनिकुमारको अच्छी श्रेणीके पेय पिलाये जिससे वे बहुत प्रसन्न हुए। वे उसके साथ खेलने और जोर-जोरसे हँसने लगे। वेश्या ऋष्यशृंगके पास ही गेंद खेलने लगी। वह अपने अंगोंको मोड़ती हुई फलोंके भारसे लदी लताकी भाँति झुक जाती और ऋष्यशृंग मुनिको बार-बार अपने अंकमें भर लेती थी। साथ ही अपने अंगोंसे उनके अंगोंको इस प्रकार दबाती मानो उनके भीतर समा जायगी ।। १५-१६ ।।

सर्जानशोकांस्तिलकांश्च वृक्षान्
सुपुष्पितानवनाम्यावभज्य ।
विलज्जमानेव मदाभिभूता
प्रलोभयामास सुतं महर्षेः ।। १७ ।।

वहाँ शाल, अशोक और तिलकके वृक्ष खूब फूले हुए थे। उनकी डालियोंको झुकाकर वह मदोन्मत्त वेश्या लज्जाका नाट्य-सा करती हुई महर्षिके उस पुत्रको लुभाने लगी ।। १७ ।।

अथर्ष्यशृङ्गं विकृतं समीक्ष्य
पुनः पुनः पीड्य च कायमस्य ।
अवेक्ष्यमाणा शनकैर्जगाम
कृत्वाग्निहोत्रस्य तदापदेशम् ।। १८ ।।

ऋष्यशृंगकी आकृतिमें किंचित् विकार देखकर उसने बार-बार उनके शरीरको आलिंगनके द्वारा दबाया और अग्निहोत्रका बहाना बनाकर वह उनके द्वारा देखी जाती हुई धीरे-धीरे वहाँसे चली गयी ।। १८ ।।

तस्यां गतायां मदनेन मत्तो
विचेतनश्चाभवदृष्यशृङ्गः ।
तामेव भावेन गतेन शून्ये
विनिःश्वसन्नार्तरूपो बभूव ।। १९ ।।

उसके चले जानेपर उसके अनुरागसे उन्मत्त मुनिकुमार ऋष्यशृंग अचेत-से हो गये। उस निर्जन स्थानमें उनकी मनोवृति उसीकी ओर लगी रही और वे लंबी साँस खींचते हुए अत्यन्त व्यथित हो उठे ।। १९ ।।

ततो मुहूर्ताद्धरिपिङ्गलाक्षः
प्रवेष्टितो रोमभिरानखाग्रात् ।
स्वाध्यायवान् वृत्तसमाधियुक्तो
विभाण्डकः काश्यपः प्रादुरासीत् ।। २० ।।

तदनन्तर दो घड़ीके बाद हरे-पीले नेत्रोंवाले काश्यपनन्दन विभाण्डक मुनि वहाँ आ पहुँचे। वे सिरसे लेकर पैरोंके नखोंतक रोमावलियोंसे भरे हुए थे। महात्मा विभाण्डक स्वाध्यायशील, सदाचारी तथा समाधिनिष्ठ महर्षि थे ।। २० ।।

सोऽपश्यदासीनमुपेत्य पुत्रं
ध्यायन्तमेकं विपरीतचित्तम् ।
विनिःश्वसन्तं मुहुरूर्ध्वदृष्टिं
विभाण्डकः पुत्रमुवाच दीनम् ।। २१ ।।
न कल्प्यन्ते समिधः किं नु तात
कच्चिद्धुतं चाग्निहोत्रं त्वयाद्य ।
सुनिर्णिक्तं स्रुक्स्रुवं होमधेनुः
कच्चित् सवत्साद्य कृता त्वया च ।। २२ ।।
न वै यथापूर्वमिवासि पुत्र
चिन्तापरश्चासि विचेतनश्च ।
दीनोऽतिमात्रं त्वमिहाद्य किं नु
पृच्छामि त्वां क इहाद्यागतोऽभूत् ।। २३ ।।

निकट आनेपर उन्होंने अपने पुत्रको अकेला उदासीन भावसे चिन्तामग्न होकर बैठा देखा। उसके चित्तकी दशा विपरीत थी। वह बार-बार ऊपरकी ओर दृष्टि किये उच्छ्वास ले रहा था। इस दयनीय दशामें पुत्रको देखकर विभाण्डक मुनिने पूछा—'तात! आज तुम अग्निकुण्डमें समिधाएँ क्यों नहीं रख रहे हो! क्या तुमने अग्निहोत्र कर लिया? स्रुक् और स्रुवा आदि यज्ञपात्रोंको भलीभाँति शुद्ध करके रखा है न? कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि तुमने हवनके लिये दूध देनेवाली गायका बछड़ा खोल दिया हो जिससे वह सारा दूध पी गया हो। बेटा! आज तुम पहले-जैसे दिखायी नहीं देते। किसी भारी चिन्तामें निमग्न हो, अपनी सुध-बुध खो बैठे हो। क्या कारण है जो आज तुम अत्यन्त दीन हो रहे हो। मैं तुमसे पूछता हूँ, बताओ, आज यहाँ कौन आया था?' ।। २१—२३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यशृङ्गोपाख्याने एकादशाधिकशततमोऽध्यायय: ।। १११ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें ऋष्यशृंगोपाख्यानविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १११ ।।

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

ऋष्यशृंगका पिताको अपनी चिन्ताका कारण बताते हुए ब्रह्मचारीरूपधारी वेश्याके स्वरूप और आचरणका वर्णन

ऋष्यशृङ्ग उवाच

इहागतो जटिलो ब्रह्मचारी
न वै ह्रस्वो नातिदीर्घो मनस्वी ।
सुवर्णवर्णः कमलायताक्षः
स्वतः सुराणामिव शोभमानः ।। १ ।।

ऋष्यशृंगने कहा—पिताजी! यहाँ एक जटाधारी ब्रह्मचारी आया था। वह न तो छोटा था और न बहुत बड़ा ही। उसका हृदय बहुत उदार था। उसके शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान थी और बड़ी-बड़ी आँखें कमलोंके सदृश जान पड़ती थीं। वह स्वयं देवताओंके समान सुशोभित हो रहा था ।। १ ।।

समृद्धरूपः सवितेव दीप्तः
सुश्लक्ष्णकृष्णाक्षिरतीव गौरः ।
नीलः प्रसन्नाश्च जटाः सुगन्धा
हिरण्यरज्जुग्रथिताः सुदीर्घाः ।। २ ।।

उसका रूप बड़ा सुन्दर था। वह सूर्यदेवकी भाँति उद्भासित हो रहा था। उसके नेत्र स्वच्छ, चिकने एवं कजरारे थे। वह बड़ा गोरा दिखाई देता था। उसकी जटाएँ बहुत लम्बी, साफ-सुथरी और नीले रंगकी थीं। उनसे बड़ी मधुर गन्ध फैल रही थी। वे सारी जटाएँ एक सुनहरी रस्सीसे गुँथी हुई थीं ।। २ ।।

आश्चर्यरूपा पुनरस्य कण्ठे
विभ्राजते विद्युदिवान्तरिक्षे ।
द्वौ चास्य पिण्डावधरेण कण्ठा-
दजातरोमौ सुमनोहरौ च ।। ३ ।।

उसके गलेमें एक ऐसा आश्चर्यजनक आभूषण (कण्ठा) था, जो आकाशमें बिजलीकी भाँति चमक रहा था। उसके गलेसे नीचे (वक्षःस्थलपर) दो मांसपिण्ड थे, जिनपर रोएँ नहीं उगे थे। वे अत्यन्त मनोहर जान पड़ते थे ।। ३ ।।

विलग्नमध्यश्च स नाभिदेशे
कटिश्च तस्यातिकृतप्रमाणा ।
तथास्य चीरान्तरतः प्रभाति

हिरण्मयी मेखला मे यथेयम् ।। ४ ।।

उस ब्रह्मचारीके नाभिदेशके समीप जो शरीरका मध्य भाग था, वह बहुत पतला था और उसका नितम्बभाग अत्यन्त स्थूल था। जैसे मेरे कौपीनके नीचे यह मूँजकी मेखला बँधी है, इसी प्रकार उसके कटि-प्रदेशमें भी एक सोनेकी मेखला (करधनी) थी, जो उसके चीरके भीतरसे चमकती रहती थी ।। ४ ।।

अन्यच्च तस्याद्भुतदर्शनीयं
विकूजितं पादयोः सम्प्रभाति ।
पाण्योश्च तद्वत् स्वनवन्निबद्धौ
कलापकावक्षमाला यथेयम् ।। ५ ।।

उसकी अन्य सब बातें भी अद्भुत एवं दर्शनीय थीं। पैरोंमें (पायलकी) छम-छम ध्वनि बड़ी मधुर प्रतीत होती थी। इसी प्रकार हाथोंकी कलाइयोंमें मेरी इस रुद्राक्षकी मालाकी भाँति उसने दो कलापक (कंगन) बाँध रखे थे, उनसे भी बड़ी मधुर ध्वनि होती रहती थी ।। ५ ।।

विचेष्टमानस्य च तस्य तानि
कूजन्ति हंसाः सरसीव मत्ताः ।
चीराणि तस्याद्भुतदर्शनानि
नेमानि तद्वन्मम रूपवन्ति ।। ६ ।।

वह ब्रह्मचारी जब तनिक भी चलता-फिरता या हिलता-डुलता था, उस समय उसके आभूषण बड़ी मनोहर झनकार उत्पन्न करते थे, मानो सरोवरमें मतवाले हंस कलरव कर रहे हों। उसके चीर भी अद्भुत दिखायी देते थे। मेरी कौपीनके ये वल्कलवस्त्र वैसे सुन्दर नहीं हैं ।। ६ ।।

वक्त्रं च तस्याद्भुतदर्शनीयं
प्रव्याहृतं ह्लादयतीव चेतः ।
पुंस्कोकिलस्येव च तस्य वाणी
तां शृण्वतो मे व्यथितोऽन्तरात्मा ।। ७ ।।

उसका मुख भी देखने ही योग्य था। उसकी अद्भुत शोभा थी। ब्रह्मचारीकी एक-एक बात मनको आनन्द-सिन्धुमें निमग्न-सा कर देती थी। उसकी वाणी कोकिलके समान थी, जिसे एक बार सुन लेनेपर अब पुनः सुननेके लिये मेरी अन्तरात्मा व्यथित हो उठी है ।। ७ ।।

यथा वनं माधवमासि मध्ये
समीरितं श्वसनेनेव भाति ।
तथा स भात्युत्तमपुण्यगन्धी
निषेव्यमाणः पवनेन तात ।। ८ ।।

तात! जैसे माधवमास (वैशाख या वसंत ऋतु) में (सौरभयुक्त मलय-) समीरसे सेवित वन-उपवनकी शोभा होती है, उसी प्रकार पवनदेवसे सेवित वह ब्रह्मचारी उत्तम एवं पवित्र गन्धसे सुवासित और सुशोभित हो रहा था ।। ८ ।।

सुसंयताश्चापि जटा विषक्ता
द्वैधीकृता नातिसमा ललाटे ।
कर्णौ च चित्रैरिव चक्रवाकैः
समावृतौ तस्य सुरूपवद्भिः ।। ९ ।।

उसकी जटा सटी हुई और अच्छी प्रकार बँधी हुई थी, जो ललाटप्रदेशमें दो भागोंमें विभक्त थी; किंतु बराबर नहीं थी। उसके कुण्डलमण्डित कान सुन्दर एवं विचित्र चक्रवाकोंसे घिरे हुए-से जान पड़ते थे ।। ९ ।।

तथा फलं वृत्तमथो विचित्रं
समाहरत् पाणिना दक्षिणेन ।
तद् भूमिमासाद्य पुनः पुनश्च
समुत्पतत्यद्भुतरूपमुच्चैः ।। १० ।।

उसके पास एक विचित्र गोलाकार फल (गेंद) था, जिसपर वह अपने दाहिने हाथसे आघात करता था। वह फल (गेंद) पृथ्वीपर जाकर बार-बार ऊँचेकी ओर उछलता था; उस समय उसका रूप अद्भुत दिखायी देता था ।। १० ।।

तच्चाभिहत्य परिवर्ततेऽसौ
वातेरितो वृक्ष इवावघूर्णन् ।
तं प्रेक्षतः पुत्रमिवामराणां
प्रीतिः परा तात रतिश्च जाता ।। ११ ।।

उस फल (गेंद) को मारकर वह चारों ओर घूमने लगता था, मानो वृक्ष हवाका झोंका खाकर झूम रहा हो। तात! देवपुत्रके समान उस ब्रह्मचारीको देखते समय मेरे हृदयमें बड़ा प्रेम और आनन्द उमड़ रहा था और मेरी उसके प्रति आसक्ति हो गयी है ।। ११ ।।

स मे समाश्लिष्य पुनः शरीरं
जटासु गृह्याभ्यवनाम्य वक्त्रम् ।
वक्त्रेण वक्त्रं प्रणिधाय शब्दं
चकार तन्मेऽजनयत् प्रहर्षम् ।। १२ ।।

वह बार-बार मेरे शरीरका आलिंगन करके मेरी जटा पकड़ लेता और मेरे मुखको झुकाकर उसपर अपना मुख रख देता था, इस प्रकार मुख-से-मुख मिलाकर उससे एक ऐसा शब्द किया, जिसने मेरे हृदयमें अत्यन्त आनन्द उत्पन्न कर दिया ।। १२ ।।

न चापि पाद्यं बहु मन्यतेऽसौ
फलानि चेमानि मयाऽऽहृतानि ।

एवंव्रतोऽस्मीति च मामवोचत्
फलानि चान्यानि समाददन्मे ।। १३ ।।

मैंने जो पाद्य अर्पण किया, उसको उसने बहुत महत्त्व नहीं दिया। मेरे दिये हुए ये फल भी उसने स्वीकार नहीं किये और मुझसे कहा—'मेरा ऐसा ही नियम है।' साथ ही उसने मेरे लिये दूसरे-दूसरे फल दिये ।। १३ ।।

मयोपयुक्तानि फलानि यानि
नेमानि तुल्यानि रसेन तेषाम् ।
न चापि तेषां त्वगियं यथैषां
साराणि नैषामिव सन्ति तेषाम् ।। १४ ।।

मैंने उसके दिये हुए जिन फलोंका उपयोग किया है, उनके समान रस हमारे इन फलोंमें नहीं है। उन फलोंके छिलके भी ऐसे नहीं थे, जैसे इन जंगली फलोंके हैं। इन फलोंके गूदे जैसे हैं, वैसे उसके दिये हुए फलोंके नहीं थे (वे सर्वथा विलक्षण थे) ।। १४ ।।

तोयानि चैवातिरसानि मह्यं
प्रादात् स वै पातुमुदाररूपः ।
पीत्वैव यान्यभ्यधिकः प्रहर्षो
ममाभवद् भूश्चलितेव चासीत् ।। १५ ।।

उदारताके मूर्तिमान् स्वरूप उस ब्रह्मचारीने मुझे पीनेके लिये अत्यन्त स्वादिष्ट जल भी दिया था। उस जलको पीते ही मेरे हर्षकी सीमा न रही। मुझे यह धरती डोलती-सी जान पड़ने लगी ।। १५ ।।

इमानि चित्राणि च गन्धवन्ति
माल्यानि तस्योद्ग्रथितानि पट्टैः ।
यानि प्रकीर्येह गतः स्वमेव
स आश्रमं तपसा द्योतमानः ।। १६ ।।

ये विचित्र सुगन्धित मालाएँ उसीने रेशमी डोरोंसे गूँथकर बनायी थीं, जिन्हें यहाँ बिखेरकर तपस्यासे प्रकाशित होनेवाला वह ब्रह्मचारी अपने आश्रमको चला गया था ।। १६ ।।

गतेन तेनास्मि कृतो विचेता
गात्रं च मे सम्परिदह्यतीव ।
इच्छामि तस्यान्तिकमाशु गन्तुं
तं चेह नित्यं परिवर्तमानम् ।। १७ ।।

उसके चले जानेसे मैं अचेत हो गया हूँ। मेरा शरीर जलता-सा जान पड़ता है। मैं चाहता हूँ, शीघ्र उसके पास ही चला जाऊँ अथवा वही यहाँ नित्य मेरे पास रहे ।। १७ ।।

गच्छामि तस्यान्तिकमेव तात

का नाम सा ब्रह्मचर्या च तस्य ।
इच्छाम्यहं चरितुं तेन सार्धं
यथा तपः स चरत्यार्यधर्मा ।। १८ ।।

पिताजी! मैं उसीके पास जाता हूँ, देखूँ, उसकी ब्रह्मचर्यकी साधना कैसी है? वह आर्यधर्मका पालन करनेवाला ब्रह्मचारी जिस प्रकार तप करता है, उसके साथ रहकर मैं भी वैसी ही तपस्या करना चाहता हूँ ।। १८ ।।

चर्तुं तथेच्छा हृदये ममास्ति
दुनोति चित्तं यदि तं न पश्ये ।। १९ ।।

वैसा ही तप करनेकी इच्छा मेरे हृदयमें भी है। यदि उसे नहीं देखूँगा तो मेरा यह चित्त संतप्त होता रहेगा ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यशृङ्गोपाख्याने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें ऋष्यशृंगोपाख्यानविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११२ ।।

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

ऋष्यशृंगका अंगराज लोमपादके यहाँ जाना, राजाका उन्हें अपनी कन्या देना, राजाद्वारा विभाण्डक मुनिका सत्कार तथा उनपर मुनिका प्रसन्न होना

विभाण्डक उवाच

रक्षांसि चैतानि चरन्ति पुत्र
रूपेण तेनाद्भुतदर्शनेन ।
अतुल्यवीर्याण्यभिरूपवन्ति
विघ्नं सदा तपसश्चिन्तयन्ति ।। १ ।।

विभाण्डकने कहा—बेटा! इस प्रकार अद्भुत दर्शनीय रूप धारण करके तो राक्षस ही इस वनमें विचरा करते हैं। ये अनुपम पराक्रमी और मनोहर रूप धारण करनेवाले होते हैं, तथा ऋषि-मुनियोंकी तपस्यामें सदा विघ्न डालनेका ही उपाय सोचते रहते हैं ।। १ ।।

सुरूपरूपाणि च तानि तात
प्रलोभयन्ते विविधैरुपायैः ।
सुखाच्च लोकाच्च निपातयन्ति
तान्युग्ररूपाणि मुनीन् वनेषु ।। २ ।।

तात! वे मनोहर रूपधारी राक्षस नाना प्रकारके उपायोंद्वारा मुनिलोगोंको प्रलोभनमें डालते रहते हैं। फिर वे ही भयानक रूप धारण करके वनमें निवास करनेवाले मुनियोंको आनन्दमय लोकोंसे नीचे गिरा देते हैं ।। २ ।।

न तानि सेवेत मुनिर्यतात्मा
सतां लोकान् प्रार्थयानः कथंचित् ।
कृत्वा विघ्नं तापसानां रमन्ते
पापाचारास्तापसस्तान् न पश्येत् ।। ३ ।।

अतः जो साधु पुरुषोंको मिलनेवाले पुण्यलोकोंको पाना चाहता है, वह मुनि मनको संयममें रखकर उन राक्षसोंका (जो मोहक रूप बनाकर धोखा देनेके लिये आते हैं) किसी प्रकार सवेन न करे। वे पापाचारी निशाचर तपस्वी मुनियोंके तपमें विघ्न डालकर प्रसन्न होते हैं, अतः तपस्वीको चाहिये कि वह उनकी ओर आँख उठाकर देखे ही नहीं ।। ३ ।।

असज्जनेनाचरितानि पुत्र
पापान्यपेयानि मधूनि तानि ।
माल्यानि चैतानि न वै मुनीनां

स्मृतानि चित्रोज्ज्वलगन्धवन्ति ।। ४ ।।

वत्स! जिसे तुम जल समझते थे, वह मद्य था। वह पापजनक और अपेय है, उसे कभी नहीं पीना चाहिये। दुष्ट पुरुष उसका उपयोग करते हैं तथा ये विचित्र, उज्ज्वल और सुगन्धित पुष्पमालाएँ भी मुनियोंके योग्य नहीं बतायी गयी हैं ।। ४ ।।

रक्षांसि तानीति निवार्य पुत्रं
विभाण्डकस्तां मृगयाम्बभूव ।
नासादयामास यदा त्र्यहेण
तदा स पर्याववृतेऽऽश्रमाय ।। ५ ।।

'ऐसी वस्तुएँ लानेवाले राक्षस ही हैं।' ऐसा कहकर विभाण्डक मुनिने पुत्रको उससे मिलने-जुलनेसे मना कर दिया और स्वयं उस वेश्याकी खोज करने लगे। तीन दिनोंतक ढूँढ़नेपर भी जब वे उसका पता न लगा सके, तब आश्रमपर लौट आये ।। ५ ।।

यदा पुनः काश्यपो वै जगाम
फलान्याहर्तुं विधिनाऽऽश्रमात् सः ।
तदा पुनर्लोभयितुं जगाम
सा वेशयोषा मुनिमृष्यशृङ्गम् ।। ६ ।।

जब काश्यपनन्दन विभाण्डक मुनि आश्रमसे पुनः विधिके अनुसार फल लानेके लिये वनमें गये, तब वह वेश्या ऋष्यशृंग मुनिको लुभानेके लिये फिर उनके आश्रमपर आयी ।। ६ ।।

दृष्ट्वैव तामृष्यशृङ्गः प्रहृष्टः
सम्भ्रान्तरूपोऽभ्यपतत् तदानीम् ।
प्रोवाच चैनां भवतः श्रमाय
गच्छाव यावन्न पिता ममैति ।। ७ ।।

उसे देखते ही ऋष्यशृंग मुनि हर्ष-विभोर हो उठे और घबराकर तुरंत उसके पास दौड़ गये। निकट जाकर उन्होंने कहा—'ब्रह्मन्! मेरे पिताजी जबतक लौटकर नहीं आते, तभीतक मैं और आप—दोनों आपके आश्रमकी ओर चल दें' ।। ७ ।।

ततो राजन् काश्यपस्यैकपुत्रं
प्रवेश्य योगेन विमुच्य नावम् ।
प्रमोदयन्त्यो विविधैरुपायै-
राजग्मुरङ्गाधिपतेः समीपम् ।। ८ ।।

राजन्! तदनन्तर विभाण्डक मुनिके इकलौते पुत्रको युक्तिसे नावमें ले जाकर वेश्याने नाव खोल दी। फिर सभी युवतियाँ भाँति-भाँतिके उपायोंद्वारा उनका मनोरंजन करती हुई अंगराजके समीप आयीं ।। ८ ।।

संस्थाप्य तामाश्रमदर्शने तु

संतारितां नावमथातिशुभ्राम् ।
नीरादुपादाय तथैव चक्रे
नाव्याश्रमं नाम वनं विचित्रम् ।। ९ ।।

नाविकोंद्वारा संचालित उस अत्यन्त उज्ज्वल नौकाको जलसे बाहर निकालकर राजाने एक स्थानपर स्थापित कर दिया और जितनी दूरीसे वह नौकागत आश्रम दिखायी देता था, उतनी दूरीके विस्तृत मैदानमें उन्होंने ऋष्यशृंग मुनिके आश्रम-जैसे ही एक विचित्र वनका निर्माण करा दिया, जो 'नाव्याश्रम' के नामसे प्रसिद्ध हुआ ।। ९ ।।

अन्तःपुरे तं तु निवेश्य राजा
विभाण्डकस्यात्मजमेकपुत्रम् ।
ददर्श देवं सहसा प्रवृष्ट-
मापूर्यमाणं च जगज्जलेन ।। १० ।।

राजा लोमपादने विभाण्डक मुनिके इकलौते पुत्रको महलके भीतर रनिवासमें ठहरा दिया और देखा, सहसा उसी क्षण इन्द्रदेवने वर्षा आरम्भ कर दी तथा सारा जगत् जलसे परिपूर्ण हो गया ।। १० ।।

स लोमपादः परिपूर्णकामः
सुतां ददावृष्यशृङ्गाय शान्ताम् ।
क्रोधप्रतीकारकरं च चक्रे
गाश्चैव मार्गेषु च कर्षणानि ।। ११ ।।

लोमपादकी कामना पूरी हुई। उन्होंने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री शान्ता ऋष्यशृंग मुनिको ब्याह दी। फिर विभाण्डक मुनिके क्रोधके निवारणका भी उपाय कर दिया। जिस रास्तेसे महर्षि आनेवाले थे, उसमें स्थान-स्थानपर बहुत-से गाय-बैल रखवा दिये और किसानोंद्वारा खेतोंकी जुताई आरम्भ करा दी ।। ११ ।।

विभाण्डकस्याव्रजतः स राजा
पशून् प्रभूतान् पशुपांश्च वीरान् ।
समादिशत् पुत्रगृद्धी महर्षि-
र्विभाण्डकः परिपृच्छेद् यदा वः ।। १२ ।।
स वक्तव्यः प्राञ्जलिभिर्भवद्भिः
पुत्रस्य ते पशवः कर्षणं च ।
किं ते प्रियं वै क्रियतां महर्षे
दासाः स्म सर्वे तव वाचि बद्धाः ।। १३ ।।

राजाने विभाण्डक मुनिके आगमन-पथमें बहुत-से पशु तथा वीर पशुरक्षक भी नियुक्त कर दिये और सबको यह आदेश दे दिया था कि जब पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाले महर्षि विभाण्डक तुमसे पूछें तब हाथ जोड़कर उन्हें इस प्रकार उत्तर देना—'ये सब आपके पुत्रके

ही पशु हैं, ये खेत भी उन्हींके जोते जा रहे हैं। महर्षे! आज्ञा दें, हम आपका कौन-सा प्रिय कार्य करें। हम सब लोग आपके आज्ञापालक दास हैं' ।। १२-१३ ।।

अथोपायात् स मुनिश्चण्डकोपः
स्वमाश्रमं मूलफलं गृहीत्वा ।
अन्वेषमाणश्च न तत्र पुत्रं
ददर्श चुक्रोध ततो भृशं सः ।। १४ ।।

इधर प्रचण्ड कोपधारी महात्मा विभाण्डक फल-मूल लेकर अपने आश्रमपर आये। वहाँ बहुत खोज करनेपर भी जब अपना पुत्र उन्हें दिखायी न दिया, तब वे अत्यन्त क्रोधमें भर गये ।। १४ ।।

ततः स कोपेन विदीर्यमाण
आशङ्कमानो नृपतेर्विधानम् ।
जगाम चम्पां प्रति धक्ष्यमाण-
स्तमङ्गराजं सपुरं सराष्ट्रम् ।। १५ ।।

कोपसे उनका हृदय विदीर्ण-सा होने लगा। उनके मनमें यह संदेह हुआ कि कहीं राजा लोमपादकी तो यह करतूत नहीं है। तब वे चम्पानगरीकी ओर चल दिये, मानो अंगराजको उनके राष्ट्र और नगरसहित जला देना चाहते हों ।। १५ ।।

स वै श्रान्तः क्षुधितः काश्यपस्तान्
घोषान् समासादितवान् समृद्धान् ।
गोपैश्च तैर्विधिवत् पूज्यमानो
राजेव तां रात्रिमुवास तत्र ।। १६ ।।

थककर भूखसे पीड़ित होनेपर विभाण्डक मुनि सायंकालमें उन्हीं समृद्धिशाली गोष्ठोंमें गये। गोपगणोंने उनकी विधिपूर्वक पूजा की। वे राजाकी भाँति सुख-सुविधाके साथ वहीं रातभर रहे ।। १६ ।।

अवाप्य सत्कारमतीव तेभ्यः
प्रोवाच कस्य प्रथिताः स्थ गोपाः ।
ऊचुस्ततस्तेऽभ्युपगम्य सर्वे
धनं तवेदं विहितं सुतस्य ।। १७ ।।

गोपगणोंसे अत्यन्त सत्कार पाकर मुनिने पूछा—'तुम किसके गोपालक हो?' तब उन सबने निकट आकर कहा—'यह सारा धन आपके पुत्रका ही है' ।।

देशेषु देशेषु स पूज्यमान-
स्तांश्चैव शृण्वन् मधुरान् प्रलापान् ।
प्रशान्तभूयिष्ठरजाः प्रहृष्टः
समाससादाङ्गपतिं पुरस्थम् । १८ ।।

देश-देशमें सम्मानित हो वे ही मधुर वचन सुनते-सुनते मुनिका रजोगुणजनित अत्यधिक क्रोध बिलकुल शान्त हो गया। वे प्रसन्नतापूर्वक राजधानीमें जाकर अंगराजसे मिले ।। १८ ।।

स पूजितस्तेन नरर्षभेण
ददर्श पुत्रं दिवि देवं यथेन्द्रम् ।
शान्तां स्नुषां चैव ददर्श तत्र
सौदामनीमुच्चरन्तीं यथैव ।। १९ ।।

नरश्रेष्ठ लोमपादसे पूजित हो मुनिने अपने पुत्रको उसी प्रकार ऐश्वर्यसम्पन्न देखा, जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गलोकमें देखे जाते हैं। पुत्रके पास ही उन्होंने बहू शान्ताको भी देखा, जो विद्युत्के समान उद्भासित हो रही थी ।। १९ ।।

ग्रामांश्च घोषांश्च सुतस्य दृष्ट्वा
शान्तां च शान्तोऽस्य परः स कोपः ।
चकार तस्यैव परं प्रसादं
विभाण्डको भूमिपतेर्नरेन्द्र ।। २० ।।

अपने पुत्रके अधिकारमें आये हुए ग्राम, घोष और बहू शान्ताको देखकर उनका महान् कोप शान्त हो गया। युधिष्ठिर! उस समय विभाण्डक मुनिने राजा लोमपादपर बड़ी कृपा की ।। २० ।।

स तत्र निक्षिप्य सुतं महर्षि-
रुवाच सूर्याग्निसमप्रभावः ।
जाते च पुत्रे वनमेवाव्रजेथा
राज्ञः प्रियाण्यस्य सर्वाणि कृत्वा ।। २१ ।।

सूर्य और अग्निके समान प्रभावशाली महर्षिने अपने पुत्रको वहीं छोड़ दिया और कहा—'बेटा! पुत्र उत्पन्न हो जानेपर इन अंगराजके सारे प्रिय कार्य सिद्ध करके फिर वनमें ही आ जाना' ।। २१ ।।

स तद्वचः कृतवानृष्यशृङ्गो
ययौ च यत्रास्य पिता बभूव ।
शान्ता चैनं पर्यचरन्नरेन्द्र
खे रोहिणी सोममिवानुकूला ।। २२ ।।

ऋष्यशृंगने पिताकी आज्ञाका अक्षरशः पालन किया। अन्तमें वे पुनः उसी आश्रममें चले गये जहाँ उनके पिता रहते थे। नरेन्द्र! शान्ता उसी प्रकार अनुकूल रहकर उनकी सेवा करती थी जैसे आकाशमें रोहिणी चन्द्रमाकी सेवा करती है ।। २२ ।।

अरुन्धती वा सुभगा वसिष्ठं
लोपामुद्रा वा यथा ह्यगस्त्यम् ।
नलस्य वै दमयन्ती यथाभूद्
यथा शची वज्रधरस्य चैव ।। २३ ।।

अथवा जैसे सौभाग्यशालिनी अरुन्धती वसिष्ठजीकी, लोपामुद्रा अगस्त्यजीकी, दमयन्ती नलकी तथा शची वज्रधारी इन्द्रकी सेवा करती है ।। २३ ।।

नारायणी चेन्द्रसेना बभूव
वश्या नित्यं मुद्गलस्याजमीढ ।
(यथा सीता दाशरथेर्महात्मनो
यथा तव द्रौपदी पाण्डुपुत्र ।)
तथा शान्ता ऋष्यशृङ्गं वनस्थं
प्रीत्या युक्ता पर्यचरन्नरेन्द्र ।। २४ ।।

युधिष्ठिर! जैसे नारायणी इन्द्रसेना सदा महर्षि मुद्गलके अधीन रहती थी तथा पाण्डुनन्दन! जैसे सीता महात्मा दशरथनन्दन श्रीरामके अधीन रही हैं और द्रौपदी सदा तुम्हारे वशमें रहती आयी है, उसी प्रकार शान्ता भी सदा अधीन रहकर वनवासी ऋष्यशृंगकी प्रसन्नतापूर्वक सेवा करती थी ।। २४ ।।

तस्याश्रमः पुण्य एषोऽवभाति
महाह्रदं शोभयन् पुण्यकीर्तिः ।
अत्र स्नातः कृतकृत्यो विशुद्ध-
स्तीर्थान्यन्यान्यनुसंयाहि राजन् ।। २५ ।।

उनका यह पुण्यमय आश्रम, जो पवित्र कीर्तिसे युक्त है, इस महान् कुण्डकी शोभा बढ़ाता हुआ प्रकाशित हो रहा है, राजन्! यहाँ स्नान करके शुद्ध एवं कृतकृत्य होकर अन्य तीर्थोंकी यात्रा करो ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामृष्यशृङ्गोपाख्याने त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें ऋष्यशृंगोपाख्या0नविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका आधा श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका कौशिकी, गंगासागर एवं वैतरणी नदी होते हुए महेन्द्रपर्वतपर गमन

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयातः कौशिक्याः पाण्डवो जनमेजय ।
आनुपूर्व्येण सर्वाणि जगामायतनान्यथ ।। १ ।।
स सागरं समासाद्य गङ्गायाः संगमे नृप ।
नदीशतानां पञ्चानां मध्ये चक्रे समाप्लवम् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने कौशिकी नदीके तटवर्ती सभी तीर्थों और मन्दिरोंकी क्रमशः यात्रा की। राजन्! उन्होंने गंगा-सागरसंगमतीर्थमें समुद्रतटपर पहुँचकर पाँच सौ नदियोंके जलमें स्नान किया ।। १-२ ।।

ततः समुद्रतीरेण जगाम वसुधाधिपः ।
भ्रातृभिः सहितो वीरः कलिङ्गान् प्रति भारत ।। ३ ।।

भारत! तत्पश्चात् वीर भूपाल युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ कलिंगदेश (उड़ीसा) में गये ।। ३ ।।

लोमश उवाच

एते कलिङ्गाः कौन्तेय यत्र वैतरणी नदी ।
यत्रायजत धर्मोऽपि देवाञ्छरणमेत्य वै ।। ४ ।।

तब लोमशजीने कहा—कुन्तीकुमार! यह कलिंग देश है, जिसमें वैतरणी नदी बहती है। जहाँ धर्मने भी देवताओंकी शरणमें जाकर यज्ञ किया था ।। ४ ।।

ऋषिभिः समुपायुक्तं यज्ञियं गिरिशोभितम् ।
उत्तरं तीरमेतद्धि सततं द्विजसेवितम् ।। ५ ।।

यह पर्वतमालाओंसे सुशोभित वैतरणीका वही उत्तर तट है जहाँ यज्ञका आयोजन किया गया था। बहुत-से ऋषि तथा ब्राह्मणलोग सदा इस उत्तर तटका सेवन करते आये हैं ।। ५ ।।

समानं देवयानेन पथा स्वर्गमुपेयुषः ।
अत्र वै ऋषयोऽन्येऽपि पुरा क्रतुभिरीजिरे ।। ६ ।।

स्वर्गलोककी प्राप्ति करनेवाले पुण्यात्मा मनुष्यके लिये यह स्थान ‘देवयान’ मार्गके समान है। प्राचीन कालमें ऋषियों तथा अन्य लोगोंने भी यहाँ बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ।। ६ ।।

अत्रैव रुद्रो राजेन्द्र पशुमादत्तवान् मखे ।
पशुमादाय राजेन्द्र भागोऽयमिति चाब्रवीत् ।। ७ ।।

राजेन्द्र! यहीं रुद्रदेवने यज्ञमें पशुको ग्रहण कर लिया था। उस पशुको ग्रहण करके उन्होंने कहा—'यह तो मेरा हिस्सा है' ।। ७ ।।

हृते पशौ तदा देवास्तमूचुर्भरतर्षभ ।
मा परस्वमभिद्रोग्धा मा धर्मान् सकलान् वशीः ।। ८ ।।

भरतश्रेष्ठ! पशुका अपहरण हो जानेपर देवताओंने उनसे कहा—'आप दूसरोंके धनसे द्रोह न करें (दूसरोंके हिस्सेको न लें) धर्मके साधनभूत समस्त यज्ञभागोंको लेनेकी इच्छा न करें' ।। ८ ।।

ततः कल्याणरूपाभिर्वाग्भिस्ते रुद्रमस्तुवन् ।
इष्ट्या चैनं तर्पयित्वा मानयांचक्रिरे तदा ।। ९ ।।

यों कहकर उन्होंने कल्याणमय वचनोंद्वारा भगवान् रुद्रका स्तवन किया और इष्टिद्वारा उन्हें तृप्त करके उस समय उनका विशेष सम्मान किया ।। ९ ।।

ततः स पशुमुत्सृज्य देवयानेन जग्मिवान् ।
तत्रानुवंशो रुद्रस्य तं निबोध युधिष्ठिर ।। १० ।।

तब वे उस पशुको वहीं छोड़कर देवयान मार्गसे चले गये। युधिष्ठिर! यज्ञमें भगवान् रुद्रकी भागपरम्पराका बोधक एक श्लोक है, उसे बताता हूँ, सुनो— ।। १० ।।

अयातयामं सर्वेभ्यो भागेभ्यो भागमुत्तमम् ।
देवाः संकल्पयामासुर्भयाद् रुद्रस्य शाश्वतम् ।। ११ ।।

'देवताओंने रुद्रदेवके भयसे उनके लिये शीघ्र ही सब भागोंकी अपेक्षा उत्तम एवं सनातन भाग देनेका संकल्प किया' ।। ११ ।।

इमां गाथामत्र गायन्नपः स्पृशति यो नरः ।
देवयानोऽस्य पन्थाश्च चक्षुषाभिप्रकाशते ।। १२ ।।

जो मनुष्य यहाँ इस गाथाका गान करते हुए वैतरणीके जलका स्पर्श करता है उसकी दृष्टिमें देवयान मार्ग प्रकाशित हो जाता है ।। १२ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो वैतरणीं सर्वे पाण्डवा द्रौपदी तथा ।
अवतीर्य महाभागास्तर्पयांचक्रिरे पितॄन् ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर महान् भाग्यशाली समस्त पाण्डवों और द्रौपदीने वैतरणीके जलमें उतरकर अपने पितरोंका तर्पण किया ।। १३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

उपस्पृश्येह विधिवदस्यां नद्यां तपोबलात् ।

मानुषादस्मि विषयादपेतः पश्य लोमश ।। १४ ।।

उस समय युधिष्ठिर बोले—लोमशजी! देखिये, इस वैतरणी नदीमें विधिपूर्वक स्नान करनेसे मुझे तपोबल प्राप्त हुआ है, जिसके प्रभावसे मैं मानवीय विषयोंसे दूर हो गया हूँ ।। १४ ।।

सर्वाँल्लोकान् प्रपश्यामि प्रसादात् तव सुव्रत ।
वैखानसानां जपतामेष शब्दो महात्मनाम् ।। १५ ।।

सुव्रत! आपकी कृपासे इस समय मुझे सम्पूर्ण लोकोंका दर्शन हो रहा है। यह जप और स्वाध्यायमें लगे हुए महात्मा वैखानस ऋषियोंका शब्द है ।। १५ ।।

लोमश उवाच

त्रिशतं वै सहस्राणि योजनानां युधिष्ठिर ।
यत्र ध्वनिं शृणोष्येनं तूष्णीमास्स्व विशाम्पते ।। १६ ।।

लोमशजीने कहा—राजा युधिष्ठिर! जहाँसे आती हुई इस ध्वनिको तुम सुन रहे हो वह स्थान यहाँसे तीन लाख योजन दूर है; अतः अब चुप रहो ।। १६ ।।

एतत् स्वयम्भुवो राजन् वनं दिव्यं प्रकाशते ।
यत्रायजत राजेन्द्र विश्वकर्मा प्रतापवान् ।। १७ ।।

राजन्! यह ब्रह्माजीका दिव्य वन प्रकाशित हो रहा है; राजेन्द्र! यहीं प्रतापी विश्वकर्माने यज्ञ किया है ।। १७ ।।

यस्मिन् यज्ञे हि भूर्दत्ता कश्यपाय महात्मने ।
सपर्वतवनोद्देशा दक्षिणार्थे स्वयम्भुवा ।। १८ ।।

उस यज्ञमें ब्रह्माजीने पर्वत और वनप्रान्तसहित यह सारी पृथ्वी महात्मा कश्यपको दक्षिणारूपमें दे दी थी ।। १८ ।।

अवासीदच्च कौन्तेय दत्तमात्रा मही तदा ।
उवाच चापि कुपिता लोकेश्वरमिदं प्रभुम् ।। १९ ।।
न मां मर्त्याय भगवन् कस्मैचिद् दातुमर्हसि ।
प्रदानं मोघमेतत् ते यास्याम्येषा रसातलम् ।। २० ।।

कुन्तीकुमार! उनके द्वारा अपना दान होते ही पृथ्वी बहुत दुःखी हो गयी और कुपित हो लोकनाथ प्रभु ब्रह्मासे इस प्रकार बोली—'भगवन्! आप मुझे किसी मनुष्यको न सौंपें। यदि मुझे मनुष्यको सौंपेंगे तो वह व्यर्थ होगा, क्योंकि मैं अभी रसातलको चली जाऊँगी' ।। १९-२० ।।

विषीदन्तीं तु तां दृष्ट्वा कश्यपो भगवानृषिः ।
प्रसादयाम्बभूवाथ ततो भूमिं विशाम्पते ।। २१ ।।

राजन्! पृथ्वी देवीको विषाद करती देख महर्षि भगवान् कश्यपने प्रार्थनाद्वारा उन्हें प्रसन्न किया ।। २१ ।।

ततः प्रसन्ना पृथिवी तपसा तस्य पाण्डव ।
पुनरुन्नह्य सलिलाद् वेदीरूपा स्थिता बभौ ।। २२ ।।

पाण्डुनन्दन! उनकी तपस्यासे प्रसन्न हुई पृथ्वी पुनः जलसे ऊपर उठकर वेदीके रूपमें स्थित हो गयी ।।

सैषा प्रकाशते राजन् वेदी संस्थानलक्षणा ।
आरुह्यात्र महाराज वीर्यवान् वै भविष्यसि ।। २३ ।।

राजन्! वह पृथ्वी देवी ही यहाँ इस मिट्टीकी वेदीके रूपमें प्रकाशित हो रही है। महाराज! इसपर आरुढ़ होकर तुम बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो जाओगे ।। २३ ।।

सैषा सागरमासाद्य राजन् वेदी समाश्रिता ।
एतामारुह्य भद्रं ते त्वमेकस्तर सागरम् ।। २४ ।।

युधिष्ठिर! वही यह वेदीस्वरूपा पृथ्वी समुद्रका आश्रय लेकर स्थित है; तुम्हारा कल्याण हो। तुम अकेले ही इसपर चढ़कर समुद्रको पार करो ।। २४ ।।

अहं च ते स्वस्त्ययनं प्रयोक्ष्ये
यथा त्वमेनामधिरोहसेऽद्य ।
स्पृष्टा हि मर्त्येन ततः समुद्र-
मेषा वेदी प्रविशत्याजमीढ ।। २५ ।।

मैं तुम्हारे लिये स्वस्तिवाचन करूँगा, जिससे तुम आज इस वेदीपर चढ़ सको; अजमीढकुलनन्दन! नहीं तो मनुष्यके द्वारा स्पर्श हो जानेपर यह वेदी समुद्रमें प्रवेश कर जाती है ।। २५ ।।

ॐ नमो विश्वगुप्ताय नमो विश्वपराय ते ।
सांनिध्यं कुरु देवेश सागरे लवणाम्भसि ।। २६ ।।

(समुद्रमें स्नान करते समय उसकी प्रार्थनाके लिये निम्नांकित मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये—) जिनमें यह सम्पूर्ण विश्व लीन होता है तथा जो सबसे श्रेष्ठ हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है। देवेश्वर! आप खारे समुद्रमें निवास करें ।। २६ ।।

अग्निर्मित्रो योनिरापोऽथ देव्यो
विष्णो रेतस्त्वममृतस्य नाभिः ।
एवं ब्रुवन् पाण्डव सत्यवाक्यं
वेदीमिमां त्वं तरसाधिरोह ।। २७ ।।

‘हे समुद्र! अग्नि, मित्र (सूर्य) और दिव्य जल—ये सब तुम्हारी योनि (उत्पत्ति-कारण) हैं। तुम सर्वव्यापी परमात्माके रेतस् (वीर्य या शक्ति) हो और तुम्हीं अमृतकी उत्पत्तिके

स्थान हो।’ पाण्डुनन्दन! इस सत्य वाक्यका उच्चारण करते हुए तुम शीघ्रतापूर्वक इस वेदीपर आरूढ़ हो जाओ ।। २७ ।।

अग्निश्च ते योनिरिडा च देहो
रेतोधा विष्णोरमृतस्य नाभिः ।
एवं जपन् पाण्डव सत्यवाक्यं
ततोऽवगाहेत पतिं नदीनाम् ।। २८ ।।

‘हे महासागर! अग्नि तुम्हारी योनि (कारण) है और यज्ञ शरीर है, तुम भगवान् विष्णुकी शक्तिके आधार और मोक्षके साधन हो।’ पाण्डुपुत्र! इस सत्य वचनको बोलते हुए नदियोंके स्वामी समुद्रमें स्नान करना चाहिये ।। २८ ।।

अन्यथा हि कुरुश्रेष्ठ देवयोनिरपां पतिः ।
कुशाग्रेणापि कौन्तेय न स्प्रष्टव्यो महोदधिः ।। २९ ।।

कुरुश्रेष्ठ! जलका स्वामी समुद्र देवताओंका अधिष्ठान है। कुन्तीनन्दन! ऊपर बतायी हुई रीतिके सिवा दूसरे किसी प्रकारसे इस महासागरका कुशके अग्रभागद्वारा भी स्पर्श नहीं करना चाहिये ।। २९ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः कृतस्वस्त्ययनो महात्मा
युधिष्ठिरः सागरमभ्यगच्छत् ।
कृत्वा च तच्छासनमस्य सर्वं
महेन्द्रमासाद्य निशामुवास ।। ३० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर लोमशजीके स्वस्तिवाचन करनेके पश्चात् महात्मा राजा युधिष्ठिरने उनकी बतायी हुई सारी विधियोंका पालन करते हुए समुद्रमें स्नान करनेके लिये प्रवेश किया। इसके बाद महेन्द्रपर्वतपर जाकर रात्रि बितायी ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां महेन्द्राचलगमने चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें महेन्द्राचलगमनविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११४ ।।

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

अकृतव्रणके द्वारा युधिष्ठिरसे परशुरामजीके उपाख्यानके प्रसंगमें ऋचीक मुनिका गाधिकन्याके साथ विवाह और भृगुऋषिकी कृपासे जमदग्निकी उत्पत्तिका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

स तत्र तामुषित्वैकां रजनीं पृथिवीपतिः ।
तापसानां परं चक्रे सत्कारं भ्रातृभिः सह ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस पर्वतपर एक रात निवास करके भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरने तपस्वी मुनियोंका बहुत सत्कार किया ।। १ ।।

लोमशस्तस्य तान् सर्वानाचख्यौ तत्र तापसान् ।
भृगूनङ्गिरसश्चैव वसिष्ठानथ काश्यपान् ।। २ ।।

लोमशजीने युधिष्ठिरसे उन सभी तपस्वी महात्माओंका परिचय कराया। उनमें भृगु, अंगिरा, वसिष्ठ तथा कश्यपगोत्रके अनेक संत महात्मा थे ।। २ ।।

तान् समेत्य स राजर्षिरभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
रामस्यानुचरं वीरमपृच्छदकृतव्रणम् ।। ३ ।।
कदा तु रामो भगवांस्तापसान् दर्शयिष्यति ।
तेनैवाहं प्रसंगेन द्रष्टुमिच्छामि भार्गवम् ।। ४ ।।

उन सबसे मिलकर राजर्षि युधिष्ठिरने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और परशुरामजीके सेवक वीरवर अकृतव्रणसे पूछा—'भगवान् परशुरामजी इन तपस्वी महात्माओंको कब दर्शन देंगे? उसी निमित्तसे मैं भी उन भगवान् भार्गवका दर्शन करना चाहता हूँ' ।। ३-४ ।।

अकृतव्रण उवाच

आयानेवासि विदितो रामस्य विदितात्मनः ।
प्रीतिस्त्वयि च रामस्य क्षिप्रं त्वां दर्शयिष्यति ।। ५ ।।
चतुर्दशीमष्टमीं च रामं पश्यन्ति तापसाः ।
अस्यां रात्र्यां व्यतीतायां भवित्री श्वश्चतुर्दशी ।। ६ ।।

अकृतव्रणने कहा—राजन्! आत्मज्ञानी परशुरामजीको पहले ही यह ज्ञात हो गया था कि आप आ रहे हैं। आपपर उनका बहुत प्रेम है, अतः वे शीघ्र ही आपको दर्शन देंगे। ये तपस्वीलोग प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमीको परशुरामजीका दर्शन करते हैं। आजकी रात बीत जानेपर कल सबेरे चतुर्दशी हो जायगी ।। ५-६ ।।

युधिष्ठिर उवाच

भवाननुगतो रामं जामदग्न्यं महाबलम् ।
प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य पूर्ववृत्तस्य कर्मणः ।। ७ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—मुने! आप महाबली परशुरामजीके अनुगत भक्त हैं। उन्होंने पहले जो-जो कार्य किये हैं, उन सबको आपने प्रत्यक्ष देखा है ।। ७ ।।

स भवान् कथयत्वद्य यथा रामेण निर्जिताः ।
आहवे क्षत्रियाः सर्वे कथं केन च हेतुना ।। ८ ।।

अतः हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि परशुरामजीने किस प्रकार और किस कारणसे समस्त क्षत्रियोंको युद्धमें पराजित किया था। आप वह सब वृत्तान्त आज मुझे बताइये ।। ८ ।।

अकृतव्रण उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम् ।
भृगूणां राजशार्दूल वंशे जातस्य भारत ।। ९ ।।

अकृतव्रणने कहा—भरतकुलभूषण नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर! भृगुवंशी परशुरामजीकी कथा बहुत बड़ी और उत्तम है, मैं आपसे उसका वर्णन करूँगा ।। ९ ।।

रामस्य जामदग्न्यस्य चरितं देवसम्मितम् ।
हैहयाधिपतेश्चैव कार्तवीर्यस्य भारत ।। १० ।।

भारत! जमदग्निकुमार परशुराम तथा हैहयराज कार्तवीर्यका चरित्र देवताओंके तुल्य है ।। १० ।।

रामेण चार्जुनो नाम हैहयाधिपतिर्हतः ।
तस्य बाहुशतान्यासंस्त्रीणि सप्त च पाण्डव ।। ११ ।।

पाण्डुनन्दन! परशुरामजीने अर्जुन नामसे प्रसिद्ध जिस हैहयराज कार्तवीर्यका वध किया था, उसके एक हजार भुजाएँ थीं ।। ११ ।।

दत्तात्रेयप्रसादेन विमानं काञ्चनं तथा ।
ऐश्वर्यं सर्वभूतेषु पृथिव्यां पृथिवीपते ।। १२ ।।

पृथ्वीपते! श्रीदत्तात्रेयजीकी कृपासे उसे एक सोनेका विमान मिला था और भूतलके सभी प्राणियोंपर उसका प्रभुत्व था ।। १२ ।।

अव्याहतगतिश्चैव रथस्तस्य महात्मनः ।
रथेन तेन तु सदा वरदानेन वीर्यवान् ।। १३ ।।
ममर्द देवान् यक्षांश्च ऋषींश्चैव समन्ततः ।
भूतांश्चैव स सर्वांस्तु पीडयामास सर्वतः ।। १४ ।।

महामना कार्तवीर्यके रथकी गतिको कोई भी रोक नहीं सकता था। उस रथ और वरके प्रभावसे शक्तिसम्पन्न हुआ कार्तवीर्य अर्जुन सब ओर घूमकर सदा देवताओं, यक्षों तथा ऋषियोंको रौंदता फिरता था और सम्पूर्ण प्राणियोंको भी सब प्रकारसे पीड़ा देता था ।। १३-१४ ।।

ततो देवाः समेत्याहुर्ऋषयश्च महाव्रताः ।
देवदेवं सुरारिघ्नं विष्णुं सत्यपराक्रमम् ।। १५ ।।
भगवन् भूतरक्षार्थमर्जुनं जहि वै प्रभो ।
विमानेन च दिव्येन हैहयाधिपतिः प्रभुः ।। १६ ।।
शचीसहायं क्रीडन्तं धर्षयामास वासवम् ।
ततस्तु भगवान् देवः शक्रेण सहितस्तदा ।
कार्तवीर्यविनाशार्थं मन्त्रयामास भारत ।। १७ ।।

कार्तवीर्यका ऐसा अत्याचार देख देवता तथा महान् व्रतका पालन करनेवाले ऋषि मिलकर दैत्योंका विनाश करनेवाले सत्यपराक्रमी देवाधिदेव भगवान् विष्णुके पास जा इस प्रकार बोले—'भगवन्! आप समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये कृतवीर्यकुमार अर्जुनका वध कीजिये।' एक दिन शक्तिशाली हैहयराजने दिव्य विमानद्वारा शचीके साथ क्रीड़ा करते हुए देवराज इन्द्रपर आक्रमण किया। भारत! तब भगवान् विष्णुने कार्तवीर्य अर्जुनका नाश करनेके सम्बन्धमें इन्द्रके साथ विचार-विनिमय किया ।। १५-१७ ।।

यत् तद् भूतहितं कार्यं सुरेन्द्रेण निवेदितम् ।
सम्प्रतिश्रुत्य तत् सर्वं भगवाँल्लोकपूजितः ।। १८ ।।
जगाम बदरीं रम्यां स्वमेवाश्रममण्डलम् ।

समस्त प्राणियोंके हितके लिये जो कार्य करना आवश्यक था उसे देवेन्द्रने बताया। तत्पश्चात् विश्ववन्दित भगवान् विष्णुने वह सब कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके अत्यन्त रमणीय बदरीतीर्थकी यात्रा की, जहाँ उनका अपना ही विस्तृत आश्रम था ।। १८१/२ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु पृथिव्यां पृथिवीपतिः ।। १९ ।।
कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थिवः सुमहाबलः ।
गाधीति विश्रुतो लोके वनवासं जगाम ह ।। २० ।।
वने तु तस्य वसतः कन्या जज्ञेऽप्सरःसमा ।
ऋचीको भार्गवस्तां च वरयामास भारत ।। २१ ।।

इसी समय इस भूतलपर कान्यकुब्जदेशमें एक महाबली महाराज शासन करते थे जो गाधिके नामसे विख्यात थे। वे राजधानी छोड़कर वनमें गये और वहीं रहने लगे। उनके वनवासकालमें ही एक कन्या उत्पन्न हुई जो अप्सराके समान सुन्दरी थी। भारत! विवाहके योग्य होनेपर भृगुपुत्र ऋचीक मुनिने उसका वरण किया ।। १९—२१ ।।

तमुवाच ततो गाधिर्ब्राह्मणं संशितव्रतम् ।

उचितं नः कुले किंचित् पूर्वैर्यत् सम्प्रवर्तितम् ।। २२ ।।
एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ।
सहस्रं वाजिनां शुल्कमिति विद्धि द्विजोत्तम ।। २३ ।।

उस समय राजा गाधिने कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मर्षि ऋचीकसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ! हमारे कुलमें पूर्वजोंने जो कुछ शुल्क लेनेका नियम चला रखा है, उसका पालन करना हमलोगोंके लिये भी उचित है। अतः आप यह जान लें कि इस कन्याके लिये एक सहस्र वेगशाली अश्व शुल्करूपमें देने पड़ेंगे, जिनके शरीरका रंग तो सफेद और पीला मिला हुआ-सा और कान एक ओरसे काले रंगके हों ।। २२-२३ ।।

न चापि भगवान् वाच्यो दीयतामिति भार्गव ।
देया मे दुहिता चैव त्वद्विधाय महात्मने ।। २४ ।।

'भृगुनन्दन! आप कोई निन्दनीय तो हैं नहीं, यह शुल्क चुका दीजिये, फिर आप-जैसे महात्माको मैं अवश्य अपनी कन्या ब्याह दूँगा' ।। २४ ।।

ऋचीक उवाच

एकतः श्यामकर्णाना पाण्डुराणां तरस्विनाम् ।
दास्याम्यश्वसहस्रं ते मम भार्या सुतास्तु ते ।। २५ ।।

ऋचीक बोले—राजन्! मैं आपको एक ओरसे श्याम कर्णवाले पाण्डुरंगके वेगशाली अश्व एक हजारकी संख्यामें अर्पित करूँगा। आपकी पुत्री मेरी धर्मपत्नी बने ।। २५ ।।

अकृतव्रण उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय राजन् वरुणमब्रवीत् ।
एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ।। २६ ।।
सहस्रं वाजिनामेकं शुल्कार्थं मे प्रदीयताम् ।
तस्मै प्रादात् सहस्रं वै वाजिनां वरुणस्तदा ।। २७ ।।

अकृतव्रण कहते हैं—राजन्! इस प्रकार शुल्क देनेकी प्रतिज्ञा करके ऋचीक मुनिने वरुणके पास जाकर कहा—'देव! मुझे शुल्कमें देनेके लिये एक हजार ऐसे अश्व प्रदान करें, जिनके शरीरका रंग पाण्डुर और कान एक ओरसे श्याम हों। साथ ही वे सभी अश्व तीव्रगामी होने चाहिये।' उस समय वरुणने उनकी इच्छाके अनुसार एक हजार श्यामकर्ण घोड़े दे दिये ।।

तदश्वतीर्थं विख्यातमुत्थिता यत्र ते हयाः ।
गङ्गायां कान्यकुब्जे वै ददौ सत्यवतीं तदा ।। २८ ।।
ततो गाधिः सुतां चास्मै जन्याश्चासन् सुरास्तदा ।
लब्ध्वा हयसहस्रं तु तांश्च दृष्ट्वा दिवौकसः ।। २९ ।।

जहाँ वे श्यामकर्ण घोड़े प्रकट हुए थे, वह स्थान अश्वतीर्थके नामसे विख्यात हुआ। तत्पश्चात् राजा गाधिने शुल्करूपमें एक हजार श्यामकर्ण घोड़े प्राप्त करके गंगातटपर कान्यकुब्ज नगरमें ऋचीक मुनिको अपनी पुत्री सत्यवती ब्याह दी! उस समय देवता बराती बने थे। देवता उन सबको देखकर वहाँसे चले गये ।। २८-२९ ।।

धर्मेण लब्ध्वा तां भार्यामृचीको द्विजसत्तमः ।
यथाकामं यथाजोषं तया रेमे सुमध्यया ।। ३० ।।

विप्रवर ऋचीकने धर्मपूर्वक सत्यवतीको पत्नीरूपमें प्राप्त करके उस सुन्दरीके साथ अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक रमण किया ।। ३० ।।

तं विवाहे कृते राजन् सभार्यमवलोकक: ।
आजगाम भृगुः श्रेष्ठं पुत्रं दृष्ट्वा ननन्द ह ।। ३१ ।।

राजन्! विवाह करनेके पश्चात् पत्नीसहित ऋचीकको देखनेके लिये महर्षि भृगु उनके आश्रमपर आये और अपने श्रेष्ठ पुत्रको विवाहित देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए ।। ३१ ।।

भार्यापती तमासीनं गुरुं सुरगणार्चितम् ।
अर्चित्वा पर्युपासीनौ प्राञ्जली तस्थतुस्तदा ।। ३२ ।।

उन दोनों पति-पत्नीने पवित्र आसनपर विराजमान देववृन्दवन्दित गुरु (पिता एवं श्वशुर)-का पूजन किया और उनकी उपासनामें संलग्न हो वे हाथ जोड़े खड़े रहे ।। ३२ ।।

ततः स्नुषां स भगवान् प्रहृष्टो भृगुरब्रवीत् ।
वरं वृणीष्व सुभगे दाता ह्यस्मि तवेप्सितम् ।। ३३ ।।

भगवान् भृगुने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपनी पुत्रवधूसे कहा—'सौभाग्यवती बहू! कोई वर माँगो, मैं तुम्हारी इच्छाके अनुरूप वर प्रदान करूँगा' ।। ३३ ।।

सा वै प्रसादयामास तं गुरुं पुत्रकारणात् ।

आत्मनश्चैव मातुश्च प्रसादं च चकार सः ।। ३४ ।।

सत्यवतीने श्वशुरको अपने और अपनी माताके लिये पुत्र-प्राप्तिका उद्देश्य रखकर प्रसन्न किया। तब भृगुजीने उसपर कृपादृष्टि की ।। ३४ ।।

भृगुरुवाच

ऋतौ त्वं चैव माता च स्नाते पुंसवनाय वै ।

आलिङ्गेतां पृथग् वृक्षौ साश्वत्थं त्वमुदुम्बरम् ।। ३५ ।।

भृगुजी बोले—बहू! ऋतुकालमें स्नान करनेके पश्चात् तुम और तुम्हारी माता पुत्र-प्राप्तिके उद्देश्यसे दो भिन्न-भिन्न वृक्षोंका आलिंगन करो। तुम्हारी माता तो पीपलका और तुम गूलरका आलिंगन करना ।। ३५ ।।

चरुद्वयमिदं भद्रे जनन्याश्च तवैव च ।

विश्वमावर्तयित्वा तु मया यत्नेन साधितम् ।। ३६ ।।

भद्रे! मैंने विराट् पुरुष परमात्माका चिन्तन करके तुम्हारे और तुम्हारी माताके लिये यत्नपूर्वक दो चरु तैयार किये हैं ।। ३६ ।।

प्राशितव्यं प्रयत्नेन चेत्युक्त्वादर्शनं गतः ।

आलिङ्गने चरौ चैव चक्रतुस्ते विपर्ययम् ।। ३७ ।।

तुम दोनों प्रयत्नपूर्वक अपने-अपने चरुका भक्षण करना; ऐसा कहकर भृगुजी अन्तर्धान हो गये। इधर सत्यवती और उसकी माताने वृक्षोंके आलिंगन और चरु-भक्षणमें उलट-फेर कर दिया ।। ३७ ।।

ततः पुनः स भगवान् काले बहुतिथे गते ।
दिव्यज्ञानाद् विदित्वा तु भगवानागतः पुनः ।। ३८ ।।

तदनन्तर बहुत दिन बीतनेपर भगवान् भृगु अपनी दिव्य ज्ञानशक्तिसे सब बातें जानकर पुनः वहाँ आये ।। ३८ ।।

अथोवाच महातेजा भृगुः सत्यवतीं स्नुषाम् ।
उपयुक्तश्चरुर्भद्रे वृक्षे चालिङ्गनं कृतम् ।। ३९ ।।
विपरीतेन ते सुभ्रूर्मात्रा चैवासि वञ्चिता ।
ब्राह्मणः क्षत्रवृत्तिर्वै तव पुत्रो भविष्यति ।। ४० ।।

उस समय महातेजस्वी भृगु अपनी पुत्रवधू सत्यवतीसे बोले—'भद्रे! तुमने जो चरुभक्षण और वृक्षोंका आलिङ्गन किया है, उसमें उलट-फेर करके तुम्हारी माताने तुम्हें ठग लिया। सुभ्रू! इस भूलके कारण तुम्हारा पुत्र ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियोचित आचार-विचारवाला होगा' ।। ३९-४० ।।

क्षत्रियो ब्राह्मणाचारो मातुस्तव सुतो महान् ।
भविष्यति महावीर्यः साधूनां मार्गमास्थितः ।। ४१ ।।

'और तुम्हारी माताका पुत्र क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणोचित आचार-विचारका पालन करनेवाला होगा। वह महापराक्रमी बालक साधु-महात्माओंके मार्गका अवलम्बन करेगा' ।। ४१ ।।

ततः प्रसादयामास श्वशुरं सा पुनः पुनः ।
न मे पुत्रो भवेदीदृक् कामं पौत्रो भवेदिति ।। ४२ ।।

तब सत्यवतीने बारंबार प्रार्थना करके पुनः अपने श्वशुरको प्रसन्न किया और कहा—'भगवन्! मेरा पुत्र ऐसा न हो। भले ही, पौत्र क्षत्रियस्वभावका हो जाय' ।। ४२ ।।

एवमस्त्विति सा तेन पाण्डव प्रतिनन्दिता ।
जमदग्निं ततः पुत्रं जज्ञे सा काल आगते ।। ४३ ।।

पाण्डुनन्दन! तब 'एवमस्तु' कहकर भृगुजीने अपनी पुत्रवधूका अभिनन्दन किया। तत्पश्चात् प्रसवका समय आनेपर सत्यवतीने जमदग्निनामक पुत्रको जन्म दिया ।। ४३ ।।

तेजसा वर्चसा चैव युक्तं भार्गवनन्दनम् ।
स वर्धमानस्तेजस्वी वेदस्याध्ययनेन च ।। ४४ ।।
बहूनृषीन् महातेजाः पाण्डवेयात्यवर्तत ।

भार्गवनन्दन जमदग्नि तेज और ओज (बल) दोनोंसे सम्पन्न थे। युधिष्ठिर! बड़े होनेपर महातेजस्वी जमदग्नि मुनि वेदाध्ययनद्वारा अन्य बहुत-से ऋषियोंसे आगे बढ़ गये ।। ४४½ ।।

तं तु कृत्स्नो धनुर्वेदः प्रत्यभाद् भरतर्षभ ।
चतुर्विधानि चास्त्राणि भास्करोपमवर्चसम् ।। ४५ ।।

भरतश्रेष्ठ! सूर्यके समान तेजस्वी जमदग्निकी बुद्धिमें सम्पूर्ण धनुर्वेद और चारों प्रकारके अस्त्र स्वतः स्फुरित हो गये ।। ४५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें कार्तवीर्योपाख्यानविषयक एक सौ पन्द्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११५ ।।

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

पिताकी आज्ञासे परशुरामजीका अपनी माताका मस्तक काटना और उन्हींके वरदानसे पुनः जिलाना, परशुरामजीद्वारा कार्तवीर्य-अर्जुनका वध और उसके पुत्रोंद्वारा जमदग्नि मुनिकी हत्या

अकृतव्रण उवाच

स वेदाध्ययने युक्तो जमदग्निर्महातपाः ।
तपस्तेपे ततो देवान् नियमाद् वशमानयत् ।। १ ।।

अकृतव्रण कहते हैं—राजन्! महातपस्वी जमदग्निने वेदाध्ययनमें तत्पर होकर तपस्या आरम्भ की। तदनन्तर शौचसंतोषादि नियमोंका पालन करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण देवताओंको अपने वशमें कर लिया* ।। १ ।।

स प्रसेनजितं राजन्नधिगम्य नराधिपम् ।
रेणुकां वरयामास स च तस्मै ददौ नृपः ।। २ ।।

युधिष्ठिर! फिर राजा प्रसेनजित्‌के पास जाकर जमदग्नि मुनिने उनकी पुत्री रेणुकाके लिये याचना की और राजाने मुनिको अपनी कन्या ब्याह दी ।। २ ।।

रेणुकां त्वथ सम्प्राप्य भार्यां भार्गवनन्दनः ।
आश्रमस्थस्तया सार्धं तपस्तेपेऽनुकूलया ।। ३ ।।

भृगुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले जमदग्नि राजकुमारी रेणुकाको पत्नीरूपमें पाकर आश्रमपर ही रहते हुए उसके साथ तपस्या करने लगे। रेणुका सदा सब प्रकारसे पतिके अनुकूल चलनेवाली स्त्री थी ।। ३ ।।

तस्याः कुमाराश्चत्वारो जज्ञिरे रामपञ्चमाः ।
सर्वेषामजघन्यस्तु राम आसीज्जघन्यजः ।। ४ ।।

उसके गर्भसे क्रमशः चार पुत्र हुए, फिर पाँचवें पुत्र परशुरामजीका जन्म हुआ। अवस्थाकी दृष्टिसे भाइयोंमें छोटे होनेपर भी वे गुणोंमें उन सबसे बढ़े-चढ़े थे ।। ४ ।।

फलाहारेषु सर्वेषु गतेष्वथ सुतेषु वै ।
रेणुका स्नातुमगमत् कदाचिन्नियतव्रता ।। ५ ।।

एक दिन जब सब पुत्र फल लानेके लिये वनमें चले गये तब नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाली रेणुका स्नान करनेके लिये नदी-तटपर गयी ।। ५ ।।

सा तु चित्ररथं नाम मार्तिकावतकं नृपम् ।
ददर्श रेणुका राजन्नागच्छन्ती यदृच्छया ।। ६ ।।
क्रीडन्तं सलिले दृष्ट्वा सभार्यं पद्ममालिनम् ।
ऋद्धिमन्तं ततस्तस्य स्पृहयामास रेणुका ।। ७ ।।

राजन्! जब वह स्नान करके लौटने लगी उस समय अकस्मात् उसकी दृष्टि मार्तिकावत देशके राजा चित्ररथपर पड़ी, जो कमलोंकी माला धारण करके अपनी पत्नीके साथ जलमें क्रीड़ा कर रहा था। उस समृद्धिशाली नरेशको उस अवस्थामें देखकर रेणुकाने उसकी इच्छा की ।। ६-७ ।।

व्यभिचाराच्च तस्मात् सा क्लिन्नाम्भसि विचेतना ।
प्रविवेशाश्रमं त्रस्ता तां वै भर्तान्वबुध्यत ।। ८ ।।

उस समय इस मानसिक विकारसे द्रवित हुई रेणुका जलमें बेहोश-सी हो गयी। फिर त्रस्त होकर उसने आश्रमके भीतर प्रवेश किया। परंतु पतिदेव उसकी सब बातें जान गये ।। ८ ।।

स तां दृष्ट्वा च्युतां धैर्याद् ब्राह्मया लक्ष्म्या विवर्जिताम् ।
धिक्छब्देन महातेजा गर्हयामास वीर्यवान् ।। ९ ।।

उसे धैर्यसे च्युत और ब्रह्मतेजसे वंचित हुई देख उन महातेजस्वी शक्तिशाली महर्षिने धिक्कारपूर्ण वचनोंद्वारा उसकी निन्दा की ।। ९ ।।

ततो ज्येष्ठो जामदग्न्यो रुमण्वान् नाम नामतः ।
आजगाम सुषेणश्च वसुर्विश्वावसुस्तथा ।। १० ।।

इसी समय जमदग्निके ज्येष्ठ पुत्र रुमण्वान् वहाँ आ गये। फिर क्रमशः सुषेण, वसु और विश्वावसु भी आ पहुँचे ।। १० ।।

तानानुपूर्व्याद् भगवान् वधे मातुरचोदयत् ।
न च ते जातसंस्नेहाः किंचिदूचुर्विचेतसः ।। ११ ।।

भगवान् जमदग्निने बारी-बारीसे उन सभी पुत्रोंको यह आज्ञा दी कि तुम अपनी माताका वध कर डालो, परंतु मातृस्नेह उमड़ आनेसे वे कुछ भी बोल न सके—बेहोश-से खड़े रहे ।। ११ ।।

ततः शशाप तान् क्रोधात् ते शप्ताश्चेतनां जहुः ।
मृगपक्षिसधर्माणः क्षिप्रमासञ्जडोपमाः ।। १२ ।।

तब महर्षिने कुपित हो उन सब पुत्रोंको शाप दे दिया। शापग्रस्त होनेपर वे अपनी चेतना (विचार-शक्ति) खो बैठे और तुरंत मृग एवं पक्षियोंके समान जडबुद्धि हो गये ।। १२ ।।

ततो रामोऽभ्ययात् पश्चादाश्रमं परवीरहा ।
तमुवाच महाबाहुर्जमदग्निर्महातपाः ।। १३ ।।

तदनन्तर शत्रुपक्षके वीरोंका संहार करनेवाले परशुरामजी सबसे पीछे आश्रमपर आये। उस समय महातपस्वी महाबाहु जमदग्निने उनसे कहा — ।। १३ ।।

जहीमां मातरं पापां मा च पुत्र व्यथां कृथाः ।
तत आदाय परशुं रामो मातुः शिरोऽहरत् ।। १४ ।।

'बेटा! अपनी इस पापिनी माताको अभी मार डालो और इसके लिये मनमें किसी प्रकारका खेद न करो।' तब परशुरामजीने फरसा लेकर उसी क्षण माताका मस्तक काट डाला ।। १४ ।।

ततस्तस्य महाराज जमदग्नेर्महात्मनः ।
कोपोऽभ्यगच्छत् सहसा प्रसन्नश्चाब्रवीदिदम् ।। १५ ।।

महाराज! इससे महात्मा जमदग्निका कोप सहसा शान्त हो गया और उन्होंने प्रसन्न होकर कहा— ।। १५ ।।

ममेदं वचनात् तात कृतं ते कर्म दुष्करम् ।
वृणीष्व कामान् धर्मज्ञ यावतो वाञ्छसे हृदा ।। १६ ।।
स वव्रे मातुरुत्थानमस्मृतिं च वधस्य वै ।
पापेन तेन चास्पर्शं भ्रातॄणां प्रकृतिं तथा ।। १७ ।।
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे दीर्घमायुश्च भारत ।

ददौ च सर्वान् कामांस्ताञ्जमदग्निर्महातपाः ।। १८ ।।

'तात! तुमने मेरे कहनेसे यह कार्य किया है, जिसे करना दूसरोंके लिये बहुत कठिन है। तुम धर्मके ज्ञाता हो। तुम्हारे मनमें जो-जो कामनाएँ हों, उन सबको माँग लो।' तब परशुरामजीने कहा—'पिताजी! मेरी माता जीवित हो उठें, उन्हें मेरे द्वारा मारे जानेकी बात याद न रहे, वह मानस-पाप उनका स्पर्श न कर सके, मेरे चारों भाई स्वस्थ हो जायँ, युद्धमें मेरा सामना करनेवाला कोई न हो और मैं बड़ी आयु प्राप्त करूँ।' भारत! महातपस्वी जमदग्निने वरदान देकर उनकी वे सभी कामनाएँ पूर्ण कर दीं ।। १६—१८ ।।

कदाचित् तु तथैवास्य विनिष्क्रान्ताः सुताः प्रभो ।
अथानूपपतिर्वीरः कार्तवीर्योऽभ्यवर्तत ।। १९ ।।

युधिष्ठिर! एक दिन इसी तरह उनके सब पुत्र बाहर गये हुए थे। उसी समय अनूपदेशका वीर राजा कार्तवीर्य अर्जुन उधर आ निकला ।। १९ ।।

तमाश्रमपदं प्राप्तमृषेर्भार्या समार्चयत् ।
स युद्धमदसम्मत्तो नाभ्यनन्दत् तथार्चनम् ।। २० ।।
प्रमथ्य चाश्रमात् तस्माद्धोमधेनोस्तथा बलात् ।
जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान् ।। २१ ।।

आश्रममें आनेपर ऋषिपत्नी रेणुकाने उसका यथोचित आतिथ्य-सत्कार किया। कार्तवीर्य अर्जुन युद्धके मदसे उन्मत्त हो रहा था। उसने उस सत्कारको आदरपूर्वक ग्रहण नहीं किया। उलटे मुनिके आश्रमको तहस-नहस करके वहाँसे डकराती हुई होमधेनुके बछड़ेको बलपूर्वक हर लिया और आश्रमके बड़े-बड़े वृक्षोंको भी तोड़ डाला ।। २०-२१ ।।

आगताय च रामाय तदाचष्ट पिता स्वयम् ।
गां च रोरुदतीं दृष्ट्वा कोपो रामं समाविशत् ।। २२ ।।

जब परशुरामजी आश्रममें आये तब स्वयं जमदग्निने उनसे सारी बातें कहीं। बारंबार डकराती हुई होमकी धेनुपर भी उनकी दृष्टि पड़ी। इससे वे अत्यन्त कुपित हो उठे ।। २२ ।।

स मृत्युवशमापन्नं कार्तवीर्यमुपाद्रवत् ।
तस्याथ युधि विक्रम्य भार्गवः परवीरहा ।। २३ ।।
चिच्छेद निशितैर्भल्लैर्बाहून् परिघसंनिभान् ।
सहस्रसम्मितान् राजन् प्रगृह्य रुचिरं धनुः ।। २४ ।।

और कालके वशीभूत हुए कार्तवीर्य अर्जनपर धावा बोल दिया। शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भृगुनन्दन परशुरामजीने अपना सुन्दर धनुष ले युद्धमें महान् पराक्रम दिखाकर पैने बाणोंद्वारा उसकी परिघसदृश सहस्र भुजाओंको काट डाला ।। २३-२४ ।।

अभिभूतः स रामेण संयुक्तः कालधर्मणा ।
अर्जुनस्याथ दायादा रामेण कृतमन्यवः ।। २५ ।।

इस प्रकार परशुरामजीसे परास्त हो कार्तवीर्य अर्जुन कालके गालमें चला गया। पिताके मारे जानेसे अर्जनके पुत्र परशुरामजीपर कुपित हो उठे ।। २५ ।।

आश्रमस्थं विना रामं जमदग्निमुपाद्रवन् ।
ते तं जघ्नुर्महावीर्यमयुध्यन्तं तपस्विनम् ।। २६ ।।

और एक दिन परशुरामजीकी अनुपस्थितिमें जब आश्रमपर केवल जमदग्निजी ही रह गये थे, वे उन्हींपर चढ़ आये। यद्यपि जमदग्निजी महान् शक्तिशाली थे तो भी तपस्वी ब्राह्मण होनेके कारण युद्धमें प्रवृत्त नहीं हुए। इस दशामें भी कार्तवीर्यके पुत्र उनपर प्रहार करने लगे ।। २६ ।।

असकृद् रामरामेति विक्रोशन्तमनाथवत् ।
कार्तवीर्यस्य पुत्रास्तु जमदग्निं युधिष्ठिर ।। २७ ।।
पीडयित्वा शरैर्जग्मुर्यथागतमरिंदमाः ।
अपक्रान्तेषु वै तेषु जमदग्नौ तथा गते ।। २८ ।।
समित्पाणिरुपागच्छदाश्रमं भृगुनन्दनः ।
स दृष्ट्वा पितरं वीरस्तथा मृत्युवशं गतम् ।
अनर्हन्तं तथाभूतं विललाप सुदुःखितः ।। २९ ।।

युधिष्ठिर! वे महर्षि अनाथकी भाँति 'राम! राम!!' की रट लगा रहे थे, उसी अवस्थामें कार्तवीर्य अर्जुनके पुत्रोंने उन्हें बाणोंसे घायल करके मार डाला। इस प्रकार मुनिकी हत्या करके वे शत्रुसंहारक क्षत्रिय जैसे आये थे, उसी प्रकार लौट गये। जमदग्निके इस तरह मारे जानेके बाद जब वे कार्तवीर्य-पुत्र भाग गये, तब भृगुनन्दन परशुरामजी हाथोंमें समिधा लिये आश्रममें आये। वहाँ अपने पिताको इस प्रकार दुर्दशापूर्वक मरा देख उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उनके पिता इस प्रकार मारे जानेके योग्य कदापि नहीं थे, परशुरामजी उन्हें याद करके विलाप करने लगे ।। २७—२९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने जमदग्निवधे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें कार्तवीर्योपाख्यानमें जमदग्निवधविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११६ ।।

---

* यहाँ कुछ प्रतियोंमें 'देवान्' की जगह 'वेदान्' पाठ मिलता है। उस दशामें यह अर्थ होगा कि 'वेदोंको वशमें कर लिया।' परंतु वेदोंको वशमें करनेकी बात असंगत-सी लगती है। देवताओंको वशमें करना ही सुसंगत जान पड़ता है, इसलिये हमने 'देवान्' यही पाठ रखा है। काश्मीरकी देवनागरी लिपिवाली हस्तलिखित पुस्तकमें यहाँ तीन श्लोक अधिक मिलते हैं। उनसे भी 'देवान्' पाठका ही समर्थन होता है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

तं तप्यमानं ब्रह्मर्षिमूचुर्देवाः सबान्धवाः । किमर्थं तप्यसे ब्रह्मन् कः कामः प्रार्थितस्तव ।।
एवमुक्तः प्रत्युवाच देवान् ब्रह्मर्षिसत्तमः । स्वर्गहेतोस्तपस्तप्ये लोकाश्च स्युर्ममाक्षयाः ।।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य तदा देवास्तमूचिरे । नासंततेर्भवेल्लोकः कृत्वा धर्मशतान्यपि ।।
स श्रुत्वा वचनं तेषां त्रिदशानां कुरूद्वह ।।

इन श्लोकोंद्वारा देवताओंके प्रकट होकर वरदान देनेका प्रसंग सूचित होता है, अतः '.......ततो देवान् नियमाद् वशमानयत्' यही पाठ ठीक है।

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

परशुरामजीका पिताके लिये विलाप और पृथ्वीको इक्कीस बार निःक्षत्रिय करना एवं महाराज युधिष्ठिरके द्वारा परशुरामजीका पूजन

राम उवाच

ममापराधात् तैः क्षुद्रैर्हतस्त्वं तात बालिशैः ।
कार्तवीर्यस्य दायादैर्वने मृग इवेषुभिः ।। १ ।।

परशुरामजी बोले—हा तात! मेरे अपराधका बदला लेनेके लिये कार्तवीर्यके उन नीच और पामर पुत्रोंने वनमें बाणोंद्वारा मारे जानेवाले मृगकी भाँति आपकी हत्या की है ।। १ ।।

धर्मज्ञस्य कथं तात वर्तमानस्य सत्पथे ।
मृत्युरेवंविधो युक्तः सर्वभूतेष्वनागसः ।। २ ।।

पिताजी! आप तो धर्मज्ञ होनेके साथ ही सन्मार्गपर चलनेवाले थे, कभी किसी भी प्राणीके प्रति कोई अपराध नहीं करते थे, फिर आपकी ऐसी मृत्यु कैसे उचित हो सकती है? ।। २ ।।

किं नु तैर्न कृतं पापं यैर्भवांस्तपसि स्थितः ।
अयुध्यमानो वृद्धः सन् हतः शरशतैः शितैः ।। ३ ।।

आप तपस्यामें संलग्न, युद्धसे विरत और वृद्ध थे तो भी जिन्होंने सैकड़ों तीखे बाणोंद्वारा आपकी हत्या की है, उन्होंने कौन-सा पाप नहीं किया? ।। ३ ।।

किं नु ते तत्र वक्ष्यन्ति सचिवेषु सुहृत्सु च ।
अयुध्यमानं धर्मज्ञमेकं हत्वानपत्रपाः ।। ४ ।।

वे निर्लज्ज राजकुमार युद्धसे दूर रहनेवाले आप-जैसे धर्मज्ञ एवं असहाय पुरुषको मारकर अपने सुहृदों और मन्त्रियोंके सामने क्या कहेंगे? ।। ४ ।।

विलप्यैवं सकरुणं बहु नानाविधं नृप ।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि पितुश्चक्रे महातपाः ।। ५ ।।
ददाह पितरं चाग्नौ रामः परपुरंजयः ।
प्रतिजज्ञे वधं चापि सर्वक्षत्रस्य भारत ।। ६ ।।

राजन्! इस प्रकार भाँति-भाँतिसे अत्यन्त करुणा-जनक विलाप करके शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महातपस्वी परशुरामजीने अपने पिताके समस्त प्रेतकर्म किये। भारत! पहले तो उन्होंने विधिपूर्वक अग्निमें पिताका दाह-संस्कार किया, तत्पश्चात् सम्पूर्ण क्षत्रियोंके वधकी प्रतिज्ञा की ।। ५-६ ।।

संक्रुद्धोऽतिबलः संख्ये शस्त्रमादाय वीर्यवान् ।
जघ्निवान् कार्तवीर्यस्य सुतानेकोऽन्तकोपमः ।। ७ ।।

अत्यन्त बलवान् एवं पराक्रमी परशुरामजी क्रोधके आवेशमें साक्षात् यमराजके समान हो गये। उन्होंने युद्धमें शस्त्र लेकर अकेले ही कार्तवीर्यके सब पुत्रोंको मार डाला ।। ७ ।।

तेषां चानुगता ये च क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।
तांश्च सर्वानवामृद्नाद् रामः प्रहरतां वरः ।। ८ ।।

क्षत्रियशिरोमणे! उस समय जिन-जिन क्षत्रियोंने उनका साथ दिया, उन सबको भी योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने मिट्टीमें मिला दिया ।। ८ ।।

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान् ।। ९ ।।

इस प्रकार भगवान् परशुरामने इस पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे सूनी करके उनके रक्तसे समन्तपञ्चक क्षेत्रमें पाँच रुधिर-कुण्ड भर दिये ।। ९ ।।

स तेषु तर्पयामास भृगून् भृगुकुलोद्वहः ।
साक्षाद् ददर्श चर्चीकं स च रामं न्यवारयत् ।। १० ।।

भृगुकुलभूषण रामने उन कुण्डोंमें भृगुवंशी पितरोंका तर्पण किया और उस समय साक्षात् प्रकट हुए महर्षि ऋचीकको देखा। उन्होंने परशुरामको इस घोर कर्मसे रोका ।। १० ।।

ततो यज्ञेन महता जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
तर्पयामास देवेन्द्रमृत्विग्भ्यः प्रददौ महीम् ।। ११ ।।

तदनन्तर प्रतापी जमदग्निकुमारने एक महान् यज्ञ करके देवराज इन्द्रको तृप्त किया तथा ऋत्विजोंको दक्षिणारूपमें भूमि दी ।। ११ ।।

वेदीं चाप्यददद्धैमीं कश्यपाय महात्मने ।
दशव्यामायतां कृत्वा नवोत्सेधां विशाम्पते ।। १२ ।।

युधिष्ठिर! उन्होंने महात्मा कश्यपको एक सोनेकी वेदी प्रदान की, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई दस-दस व्याम (चालीस-चालीस हाथ)-की थी। ऊँचाईमें भी वह वेदी नौ व्याम (छत्तीस हाथ)-की थी ।। १२ ।।

तां कश्यपस्यानुमते ब्राह्मणाः खण्डशस्तदा ।
व्यभजंस्ते तदा राजन् प्रख्याताः खाण्डवायनाः ।। १३ ।।

राजन्! उस समय कश्यपजीकी आज्ञासे ब्राह्मणोंने उस स्वर्णवेदीको खण्ड-खण्ड करके बाँट लिया, अतः वे खाण्डवायन नामसे प्रसिद्ध हुए ।। १३ ।।

स प्रदाय महीं तस्मै कश्यपाय महात्मने ।
अस्मिन् महेन्द्रे शैलेन्द्रे वसत्यमितविक्रमः ।। १४ ।।

इस प्रकार सारी पृथ्वी महात्मा कश्यपको देकर अमित पराक्रमी परशुरामजी इस पर्वतराज महेन्द्रपर निवास करते हैं ।। १४ ।।

एवं वैरमभूत् तस्य क्षत्रियैर्लोकवासिभिः ।
पृथिवी चापि विजिता रामेणामिततेजसा ।। १५ ।।

इस तरह उनका सम्पूर्ण जगत्‌के क्षत्रियोंके साथ वैर हुआ था और उसी समय अमित तेजस्वी परशुरामजीने सारी पृथ्वी जीती थी ।। १५ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततश्चतुर्दशीं रामः समयेन महामनाः ।
दर्शयामास तान् विप्रान् धर्मराजं च सानुजम् ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर चतुर्दशी तिथिको निश्चित समयपर महामना परशुरामजीने उस पर्वतपर रहनेवाले उन ब्राह्मणों तथा भाइयोंसहित युधिष्ठिरको दर्शन दिया ।। १६ ।।

स तमानर्च राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितः प्रभुः ।
द्विजानां च परां पूजां चक्रे नृपतिसत्तमः ।। १७ ।।

राजेन्द्र! उस समय प्रभावशाली नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिरने भाइयोंके साथ श्रद्धापूर्वक भगवान् परशुरामजीकी पूजा की तथा अन्य ब्राह्मणोंका भी बहुत आदर-सत्कार किया ।। १७ ।।

अर्चित्वा जामदग्न्यं स पूजितस्तेन चोदितः ।
महेन्द्र उष्य तां रात्रिं प्रययौ दक्षिणामुखः ।। १८ ।।

जमदग्निनन्दन परशुरामजीकी पूजा करके स्वयं भी उनके द्वारा सम्मानित हो वे उन्हींकी आज्ञासे उस रातको महेन्द्रपर्वतपर ही रहे, फिर सबेरे उठकर दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कार्तवीर्योपाख्याने सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें कार्तवीर्योपाख्यानविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११७ ।।

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका विभिन्न तीर्थोंमें होते हुए प्रभासक्षेत्रमें पहुँचकर तपस्यामें प्रवृत्त होना और यादवोंका पाण्डवोंसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

गच्छन् स तीर्थानि महानुभावः
पुण्यानि रम्याणि ददर्श राजा ।
सर्वाणि विप्रैरुपशोभितानि
क्वचित् क्वचिद् भारत सागरस्य ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! आगे जाते हुए महानुभाव राजा युधिष्ठिरने समुद्रतटके समस्त पुण्य तीर्थोंका दर्शन किया। वे सभी तीर्थ परम मनोहर थे। उनमें कहीं-कहीं ब्राह्मणलोग निवास करते थे, जिससे उन तीर्थोंकी बड़ी शोभा होती थी ।। १ ।।

स वृत्तवांस्तेषु कृताभिषेकः
सहानुजः पार्थिवपुत्रपौत्रः ।
समुद्रगां पुण्यतमां प्रशस्तां
जगाम पारिक्षित पाण्डुपुत्रः ।। २ ।।

परीक्षितनन्दन! सदाचारी पाण्डुकुमार युधिष्ठिर कश्यपपुत्र सूर्यदेवके पौत्र थे (क्योंकि उनकी उत्पत्ति सूर्यकुमार धर्मसे हुई थी)। वे भाइयोंसहित उन तीर्थोंमें स्नान करके समुद्रगामिनी पुण्यमयी प्रशस्ता नदीके तटपर गये ।। २ ।।

तत्रापि चाप्लुत्य महानुभावः
संतर्पयामास पितॄन् सुरांश्च ।
द्विजातिमुख्येषु धनं विसृज्य
गोदावरीं सागरगामगच्छत् ।। ३ ।।

महानुभाव युधिष्ठिरने वहाँ भी स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण किया तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धन दान करके सागरगामिनी गोदावरी नदीकी ओर प्रस्थान किया ।। ३ ।।

ततो विपाप्मा द्रविडेषु राजन्
समुद्रमासाद्य च लोकपुण्यम् ।
अगस्त्यतीर्थं च महापवित्रं
नारीतीर्थान्यथ वीरो ददर्श ।। ४ ।।

जनमेजय! गोदावरीमें स्नान करके पवित्र हो वे वहाँसे द्रविड़देशमें घूमते हुए संसारके पुण्यमय तीर्थ समुद्रके तटपर गये। वहाँ स्नानादि करनेके पश्चात् वीर पाण्डुकुमारने आगे

बढ़कर परम पवित्र अगस्त्यतीर्थ तथा *नारीतीर्थोंका दर्शन किया ।। ४ ।।

तत्रार्जुनस्याग्रयधनुर्धरस्य
निशम्य तत् कर्म नरैरशक्यम् ।
सम्पूज्यमानः परमर्षिसङ्घैः
परां मुदं पाण्डुसुतः स लेभे ।। ५ ।।
स तेषु तीर्थेष्वभिषिक्तगात्रः
कृष्णासहायः सहितोऽनुजैश्च ।
सम्पूजयन् विक्रममर्जुनस्य
रेमे महीपाल पतिः पृथिव्याः ।। ६ ।।

वहाँ श्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुनके उस पराक्रमको, जो दूसरे मनुष्योंके लिये असम्भव था, सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई। उन तीर्थोंमें बड़े-बड़े ऋषिगण भी उनका सत्कार करते थे। जनमेजय! द्रौपदी तथा भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिरने उन पाँचों तीर्थोंमें स्नान करके अर्जुनके पराक्रमकी प्रशंसा करते हुए बड़े हर्षका अनुभव किया ।। ५-६ ।।

ततः सहस्राणि गवां प्रदाय
तीर्थेषु तेष्वम्बुधरोत्तमस्य ।
हृष्टः सह भ्रातृभिरर्जुनस्य
संकीर्तयामास गवां प्रदानम् ।। ७ ।।

तदनन्तर समुद्रतटवर्ती उन सभी तीर्थोंमें सहस्रों गोदान करके भाइयोंसहित युधिष्ठिरने प्रसन्नतापूर्वक अर्जुनके द्वारा किये हुए गोदानका बारंबार वर्णन किया ।। ७ ।।

स तानि तीर्थानि च सागरस्य
पुण्यानि चान्यानि बहूनि राजन् ।
क्रमेण गच्छन् परिपूर्णकामः
शूर्पारकं पुण्यतमं ददर्श ।। ८ ।।

राजन्! समुद्रसम्बन्धी तथा अन्य बहुत-से पुण्य तीर्थोंमें क्रमशः भ्रमण करते हुए पूर्णकाम राजा युधिष्ठिरने अत्यन्त पुण्यमय शूर्पारकतीर्थका दर्शन किया ।। ८ ।।

तत्रोदधेः कंचिदतीत्य देशं
ख्यातं पृथिव्यां वनमाससाद ।
तप्तं सुरैस्तत्र तपः पुरस्ता-
दिष्टं तथा पुण्यपरैर्नरेन्द्रैः ।। ९ ।।

वहाँ समुद्रके कुछ भागको लाँघकर वे एक ऐसे वनमें आये जो भूमण्डलमें सर्वत्र विख्यात था। वहाँ पूर्वकालमें देवताओंने तपस्या की थी और पुण्यात्मा नरेशोंने यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ।। ९ ।।

स तत्र तामग्र्यधनुर्धरस्य
वेदीं ददर्शायतपीनबाहुः ।
ऋचीकपुत्रस्य तपस्विसङ्घैः
समावृतां पुण्यकृदर्चनीयाम् ।। १० ।।

लम्बी और मोटी भुजाओंवाले युधिष्ठिरने उस वनमें धनुर्धरशिरोमणि ऋचीकवंशी परशुरामजीकी वेदी देखी, जो पुण्यात्मा पुरुषोंके लिये पूजनीय थी तथा तपस्वियोंके समुदाय उसे सदा घेरे रहते थे ।। १० ।।

ततो वसूनां वसुधाधिपः स
मरुद्गणानां च तथाश्विनोश्च ।
वैवस्वतादित्यधनेश्वराणा-
मिन्द्रस्य विष्णोः सवितुर्विभोश्च ।। ११ ।।
भवस्य चन्द्रस्य दिवाकरस्य
पतेरपां साध्यगणस्य चैव ।
धातुः पितृणां च तथा महात्मा
रुद्रस्य राजन् सगणस्य चैव ।। १२ ।।
सरस्वत्याः सिद्धगणस्य चैव
पुण्याश्च ये चाप्यमरास्तथान्ये ।
पुण्यानि चाप्यायतनानि तेषां
ददर्श राजा सुमनोहराणि ।। १३ ।।

राजन्! तत्पश्चात् उन महात्मा नरेशने वसु, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, यम, आदित्य, कुबेर, इन्द्र, विष्णु, भगवान् सविता, शिव, चन्द्रमा, सूर्य, वरुण, साध्यगण, धाता, पितृगण, अपने गणोंसहित रुद्र, सरस्वती, सिद्धसमुदाय तथा अन्य पुण्यमय देवताओंके परम पवित्र और मनोहर मन्दिरोंके दर्शन किये ।। ११—१३ ।।

तेषूपवासान् विबुधानुपोष्य
दत्त्वा च रत्नानि महान्ति राजा ।
तीर्थेषु सर्वेषु परिप्लुताङ्गः
पुनः स शूर्पारकमाजगाम ।। १४ ।।

उन तीर्थोंके निकट निवास करनेवाले विद्वान् ब्राह्मणोंको वस्त्राभूषणोंसे आच्छादित एवं विभूषित करके उन्हें बहुमूल्य रत्नोंकी भेंट दे वहाँके सभी तीर्थोंमें स्नान करके महाराज युधिष्ठिर पुनः शूर्पारक-क्षेत्रमें लौट आये ।। १४ ।।

स तेन तीर्थेन तु सागरस्य
पुनः प्रयातः सह सोदरीयैः ।
द्विजैः पृथिव्यां प्रथितं महद्भि-

स्तीर्थं प्रभासं समुपाजगाम ।। १५ ।।

वहाँसे प्रस्थित हो वे भाइयोंसहित सागरतटवर्ती तीर्थोंके मार्गसे होते हुए फिर प्रभासक्षेत्र आये जो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके कारण भूमण्डलमें अधिक प्रसिद्ध है ।। १५ ।।

तत्राभिषिक्तः पृथुलोहिताक्षः
सहानुजैर्देवगणान् पितॄंश्च ।
संतर्पयामास तथैव कृष्णा
ते चापि विप्राः सह लोमशेन ।। १६ ।।

वहाँ भाइयोंसहित स्नान करके विशाल एवं लाल नेत्रोंवाले राजा युधिष्ठिरने देवताओं और पितरोंका तर्पण किया। इसी प्रकार द्रौपदीने, साथ आये हुए उन ब्राह्मणोंने तथा महर्षि लोमशने भी वहाँ स्नान एवं तर्पण किये ।। १६ ।।

स द्वादशाहं जलवायुभक्षः
कुर्वन् क्षपाहःसु तदाभिषेकम् ।
समन्ततोऽग्नीनुपदीपयित्वा
तेपे तपो धर्मभृतां वरिष्ठः ।। १७ ।।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर वहाँ बारह दिनोंतक केवल जल और वायु पीकर रहते हुए दिनमें और रातमें भी स्नान करते तथा अपने चारों ओर आग जलाकर तपस्यामें लगे रहते थे ।। १७ ।।

तमुग्रमास्थाय तपश्चरन्तं
शुश्राव रामश्च जनार्दनश्च ।
तौ सर्ववृष्णिप्रवरौ ससैन्यौ
युधिष्ठिरं जग्मतुराजमीढम् ।। १८ ।।

इसी समय वृष्णिवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामने सुना कि महाराज युधिष्ठिर प्रभासक्षेत्रमें उग्र तपस्या कर रहे हैं; तब वे अपने सैनिकोंसहित अजमीढकुलभूषण युधिष्ठिरसे मिलनेके लिये गये ।। १८ ।।

ते वृष्णयः पाण्डुसुतान् समीक्ष्य
भूमौ शयानान् मलदिग्धगात्रान् ।
अनर्हतीं द्रौपदीं चापि दृष्ट्वा
सुदुःखिताश्चुक्रुशुरार्तनादम् ।। १९ ।।

वहाँ जाकर वृष्णिवंशियोंने देखा, पाण्डवलोग पृथ्वीपर सो रहे हैं, उनके सारे अंग धूलसे सने हुए हैं तथा कष्टसहनके अयोग्य द्रौपदी भी भारी दुर्दशा भोग रही है। यह सब देखकर वे बड़े दुःखी हुए और आर्त स्वरसे रोने लगे ।। १९ ।।

ततः स रामं च जनार्दनं च
कार्ष्णिं च साम्बं च शिनेश्च पौत्रम् ।

अन्यांश्च वृष्णीनुपगम्य पूजां

चक्रे यथाधर्ममहीनसत्त्वः ।। २० ।।

(उस महान् संकटमें भी) महाराज युधिष्ठिरने अपना धैर्य नहीं छोड़ा था। उन्होंने बलराम, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, साम्ब, सात्यकि तथा अन्यान्य वृष्णिवंशियोंके पास जा-जाकर धर्मानुसार उन सबका आदर-सत्कार किया ।। २० ।।

ते चापि सर्वान् प्रतिपूज्य पार्थां-

स्तैः सत्कृताः पाण्डुसुतैस्तथैव ।

युधिष्ठिरं सम्परिवार्य राज-

न्नुपाविशन् देवगणा यथेन्द्रम् ।। २१ ।।

राजन्! पाण्डुपुत्रोंद्वारा सत्कृत होकर यादवोंने भी उन सबका यथोचित सत्कार किया और फिर देवता जैसे इन्द्रके चारों ओर बैठ जाते हैं उसी प्रकार वे धर्मराज युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर बैठ गये ।। २१ ।।

तेषां स सर्वं चरितं परेषां

वने च वासं परमप्रतीतः ।

अस्त्रार्थमिन्द्रस्य गतं च पार्थं

निवेशनं हृष्टमनाः शशंस ।। २२ ।।

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने अत्यन्त विश्वस्त होकर यादवोंसे शत्रुओंकी सारी करतूतें कह सुनायीं और अपने वनवासका भी सब समाचार बताया। साथ ही बड़ी प्रसन्नताके साथ यह भी सूचित किया कि अर्जुन दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिके लिये इन्द्रलोकमें गये हैं ।। २२ ।।

श्रुत्वा तु ते तस्य वचः प्रतीता-

स्तांश्चापि दृष्ट्वा सुकृशानतीव ।

नेत्रोद्भवं सम्मुमुचुर्महार्हा

दुःखार्तिजं वारि महानुभावाः ।। २३ ।।

युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर उन्हें कुछ सान्त्वना मिली। परंतु पाण्डवोंको अत्यन्त दुर्बल देखकर वे परम पूजनीय महानुभाव यादव वीर दुःख और वेदनासे पीड़ित हो आँसू बहाने लगे ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां प्रभासे यादवपाण्डवसमागमे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें प्रभासक्षेत्रके भीतर यादव-पाण्डव-समागमविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११८ ।।

* पाँच अप्सराओंके तीर्थ।

भगवान् परशुरामद्वारा सहस्रार्जुनका वध

प्रभासक्षेत्रमें पाण्डवोंकी यादवोंसे भेंट

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रभासतीर्थमें बलरामजीके पाण्डवोंके प्रति सहानुभूतिसूचक दुःखपूर्ण उद्गार

जनमेजय उवाच

प्रभासतीर्थमासाद्य पाण्डवा वृष्णयस्तथा ।
किमकुर्वन् कथाश्चैषां कास्तत्रासंस्तपोधन ।। १ ।।
ते हि सर्वे महात्मानः सर्वशास्त्रविशारदाः ।
वृष्णयः पाण्डवाश्चैव सुहृदश्च परस्परम् ।। २ ।।

जनमेजयने पूछा—तपोधन! प्रभासतीर्थमें पहुँचकर पाण्डवों तथा वृष्णिवंशियोंने क्या किया? वहाँ उनमें कैसी बातचीत हुई? वे सब महात्मा यादव और पाण्डव सम्पूर्ण शास्त्रोंके विद्वान् और एक-दूसरेका हित चाहनेवाले थे, (अतः उनमें क्या बात हुई? यह मैं जानना चाहता हूँ) ।। १-२ ।।

वैशम्पायन उवाच

प्रभासतीर्थं सम्प्राप्य पुण्यं तीर्थं महोदधेः ।
वृष्णयः पाण्डवान् वीराः परिवार्योपतस्थिरे ।। ३ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! प्रभासक्षेत्र समुद्र-तटवर्ती एक पुण्यमय तीर्थ है। वहाँ जाकर वृष्णिवंशी वीर पाण्डवोंको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये ।। ३ ।।

ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभः ।
वनमाली हली रामो बभाषे पुष्करेक्षणम् ।। ४ ।।

तदनन्तर गोदुग्ध, कुन्दकुसुम, चन्द्रमा, मृणाल (कमलनाल) तथा चाँदीकी-सी कान्तिवाले वनमाला-विभूषित हलधर बलरामने कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णसे कहा ।। ४ ।।

बलदेव उवाच

न कृष्ण धर्मश्चरितो भवाय
जन्तोरधर्मश्च पराभवाय ।
युधिष्ठिरो यत्र जटी महात्मा
वनाश्रयः क्लिश्यति चीरवासाः ।। ५ ।।

बलदेवजी बोले—श्रीकृष्ण! जान पड़ता है आचरणमें लाया हुआ धर्म भी प्राणियोंके अभ्युदयका कारण नहीं होता; और उनका किया हुआ अधर्म भी पराजयकी प्राप्ति

करानेवाला नहीं होता, क्योंकि महात्मा युधिष्ठिरको (जो सदा धर्मका ही पालन करते हैं) जटाधारी होकर वल्कल वस्त्र पहने वनमें रहते हुए महान् क्लेश भोगना पड़ रहा है ।। ५ ।।

दुर्योधनश्चापि महीं प्रशास्ति
न चास्य भूमिर्विवरं ददाति ।
धर्मादधर्मश्चरितो वरीया-
नितीव मन्येत नरोऽल्पबुद्धिः ।। ६ ।।
दुर्योधने चापि विवर्धमाने
युधिष्ठिरे चासुखमात्तराज्ये ।
किं त्वत्र कर्तव्यमिति प्रजाभिः
शङ्का मिथः संजनिता नराणाम् ।। ७ ।।

उधर, दुर्योधन (अधर्मपरायण होनेपर भी) पृथ्वीका शासन कर रहा है। उसके लिये यह पृथ्वी भी नहीं फटती है। इससे तो मन्द बुद्धिवाले मनुष्य यही समझेंगे कि धर्माचरणकी अपेक्षा अधर्मका आचरण ही श्रेष्ठ है। दुर्योधन निरन्तर उन्नति कर रहा है और युधिष्ठिर छलसे राज्य छिन जानेके कारण दुःख उठा रहे हैं। (युधिष्ठिर और दुर्योधनके दृष्टान्तको

सामने रखकर) मनुष्योंमें परस्पर महान् संदेह खड़ा हो गया है। प्रजा यह सोचने लगी है कि हमें क्या करना चाहिये—हमें धर्मका आश्रय लेना चाहिये या अधर्मका? ।। ६-७ ।।

अयं स धर्मप्रभवो नरेन्द्रो
धर्मे धृतः सत्यधृतिः प्रदाता ।
चलेद्धि राज्याच्च सुखाच्च पार्थो
धर्मादपेतस्तु कथं विवर्धेत् ।। ८ ।।

ये राजा युधिष्ठिर साक्षात् धर्मके पुत्र हैं। धर्म ही इनका आधार है। ये सदा सत्यका आश्रय लेते और दान देते रहते हैं। कुन्तीकुमार युधिष्ठिर राज्य और सुख छोड़ सकते हैं, (परंतु धर्मका त्याग नहीं कर सकते) भला, धर्मसे दूर होकर कोई कैसे अभ्युदयका भागी हो सकता है? ।। ८ ।।

कथं नु भीष्मश्च कृपश्च विप्रो
द्रोणश्च राजा च कुलस्य वृद्धः ।
प्रव्राज्य पार्थान् सुखमाप्नुवन्ति
धिक् पापबुद्धीन् भरतप्रधानान् ।। ९ ।।

पितामह भीष्म, ब्राह्मण कृपाचार्य, द्रोण तथा कुलके बड़े-बूढ़े राजा धृतराष्ट्र—ये कुन्तीके पुत्रोंको राज्यसे निकालकर कैसे सुख पाते हैं? भरतकुलके इन प्रधान व्यक्तियोंको धिक्कार है! क्योंकि इनकी बुद्धि पापमें लगी हुई है ।। ९ ।।

किं नाम वक्ष्यत्यवनिप्रधानः
पितॄन् समागम्य परत्र पापः ।
पुत्रेषु सम्यक् चरितं मयेति
पुत्रानपापान् व्यपरोप्य राज्यात् ।। १० ।।

पापी राजा धृतराष्ट्र परलोकमें पितरोंसे मिलनेपर उनके सामने कैसे यह कह सकेगा कि 'मैंने अपने और भाई पाण्डुके पुत्रोंके साथ न्याययुक्त बर्ताव किया है।' जबकि उसने इन निर्दोष पुत्रोंको राज्यसे वञ्चित कर दिया है ।। १० ।।

नासौ धिया सम्प्रति पश्यति स्म
किं नाम कृत्वाहमचक्षुरेवम् ।
जातः पृथिव्यामिति पार्थिवेषु
प्रव्राज्य कौन्तेयमिति स्म राज्यात् ।। ११ ।।

वह अब भी अपने बुद्धिरूप नेत्रोंसे यह नहीं देख पाता कि कौन-सा पाप करनेके कारण मुझे इस प्रकार अन्धा होना पड़ा है और आगे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको राज्यसे निकालकर जब मैं भूतलके राजाओंमें फिरसे जन्म लूँगा, तब मेरी दशा कैसी होगी? ।। ११ ।।

नूनं समृद्धान् पितृलोकभूमौ

चामीकराभान् क्षितिजान् प्रफुल्लान् ।
विचित्रवीर्यस्य सुतः सपुत्रः
कृत्वा नृशंसं बत पश्यति स्म ।। १२ ।।

विचित्रवीर्यका पुत्र धृतराष्ट्र और उसके पुत्र दुर्योधन आदि यह क्रूर कर्म करके (स्वप्नमें) निश्चय ही पितृलोककी भूमिमें सुवर्णके समान चमकनेवाले समृद्धिशाली एवं पुष्पित वृक्षोंको देख रहे हैं* ।। १२ ।।

व्यूढोत्तरांसान् पृथुलोहिताक्षान्
नेमान् स्म पृच्छन् स शृणोति नूनम् ।
प्रास्थापयद् यत् सवनं सशङ्को
युधिष्ठिरं सानुजमात्तशस्त्रम् ।। १३ ।।

धृतराष्ट्र सुदृढ़ कंधे तथा विशाल एवं लाल नेत्रोंवाले इन भीष्म आदिसे कोई बात पूछता तो है, परंतु निश्चय ही उनकी बात सुनकर मानता नहीं है, तभी तो भाइयोंसहित शस्त्रधारी युधिष्ठिरके प्रति भी मनमें शंका रखकर इन्हें उसने वनमें भेज दिया है ।। १३ ।।

योऽयं परेषां पृतनां समृद्धां
निरायुधो दीर्घभुजो निहन्यात् ।
श्रुत्वैव शब्दं हि वृकोदरस्य
मुञ्चन्ति सैन्यानि शकृत् समूत्रम् ।। १४ ।।

(भला! वे कौरव इन पाण्डवोंका सामना कैसे कर सकते हैं?) ये बड़ी-बड़ी भुजाओंवाले भीमसेन बिना अस्त्र-शस्त्रोंके ही शत्रुओंकी शक्तिशाली सेनाका संहार कर सकते हैं। भीमका तो सिंहनाद सुनकर ही विरोधी दलके सैनिक मल-मूत्र करने लगते हैं ।। १४ ।।

स क्षुत्पिपासाध्वकृशस्तरस्वी
समेत्य नानायुधबाणपाणिः ।
वने स्मरन् वासमिमं सुघोरं
शेषं न कुर्यादिति निश्चितं मे ।। १५ ।।

वे ही वेगशाली भीम इन दिनों भूख-प्यास और रास्ता चलनेकी थकावटसे दुर्बल हो गये हैं। इस भयंकर वनवासका स्मरण करते हुए जब ये हाथोंमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं धनुष-बाण लिये शत्रुओंपर आक्रमण करेंगे, उस समय किसीको भी जीता न छोड़ेंगे—यह मेरा निश्चय है ।। १५ ।।

न ह्यस्य वीर्येण बलेन कश्चित्
समः पृथिव्यामपि विद्यतेऽन्यः ।
स शीतवातातपकर्शिताङ्गो
न शेषमाजावसुहृत्सु कुर्यात् ।। १६ ।।

इनके समान पराक्रमी और बलवान् वीर इस पृथ्वीपर कोई नहीं है। इस समय सर्दी-गरमी और वायुके कष्टसे यद्यपि इनका शरीर दुबला हो गया है तो भी समरमें शत्रुओंमेंसे किसीको भी ये शेष नहीं रहने देंगे ।। १६ ।।

प्राच्यां नृपानेकरथेन जित्वा
वृकोदरः सानुचरान् रणेषु ।
स्वस्त्यागमद् योऽतिरथस्तरस्वी
सोऽयं वने क्लिश्यति चीरवासाः ।। १७ ।।
यः सिन्धुकूले व्यजयन्नृदेवान्
समागतान् दाक्षिणात्यान् महीपान् ।
तं पश्यतेमं सहदेवमद्य
तरस्विनं तापसवेषरूपम् ।। १८ ।।

जो पूर्वदिशामें (दिग्विजयकी यात्राके समय) केवल एक रथ लेकर युद्धमें बहुत-से राजाओंको सेवकोंसहित परास्त करके सकुशल लौट आये थे, वे ही अतिरथी और वेगशाली वीर वृकोदर आज वनमें वल्कल वस्त्र पहनकर कष्ट भोग रहे हैं। जिसने समुद्र-तटपर सामना करनेके लिये आये हुए दक्षिण दिशाके सम्पूर्ण राजाओंपर विजय पायी थी, उसी वेगवान् वीर इस सहदेवको देखो—यह आज तपस्वीकी-सी वेषभूषा धारण किये हुए दुःख पा रहा है ।। १७-१८ ।।

यः पार्थिवानेकरथेन जिग्ये
दिशं प्रतीचीं प्रति युद्धशौण्डः ।
सोऽयं वने मूलफलेन जीव-
ञ्जटी चरत्यद्य मलाचिताङ्गः ।। १९ ।।

जिस युद्धकुशल नकुलने एकमात्र रथकी सहायतासे पश्चिम दिशाके समस्त भूपालोंको जीत लिया था, वही आज वनमें फल-मूलसे जीवन-निर्वाह करता हुआ सिरपर जटा धारण किये मलिन शरीरसे विचर रहा है ।। १९ ।।

सत्रे समृद्धेऽतिरथस्य राज्ञो
वेदीतलादुत्पतिता सुता या ।
सेयं वने वासमिमं सुदुःखं
कथं सहत्यद्य सती सुखार्हा ।। २० ।।

जो अतिरथी राजा द्रुपदके समृद्धिशाली यज्ञमें वेदीसे प्रकट हुई थी, वही यह सुख भोगनेके योग्य सती-साध्वी द्रौपदी वनवासके इस महान् दुःखको कैसे सहन करती है? ।। २० ।।

त्रिवर्गमुख्यस्य समीरणस्य
देवेश्वरस्याप्यथवाश्विनोश्च ।

एषां सुराणां तनयाः कथं नु
वनेऽचरन् ह्यस्तसुखाः सुखार्हाः ।। २१ ।।

धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारों-जैसे देवताओंके ये पुत्र सुख भोगनेके योग्य होते हुए भी आज सब प्रकारके सुखोंसे वञ्चित हो वनमें कैसे विचरण कर रहे हैं? ।। २१ ।।

जिते हि धर्मस्य सुते सभार्ये
सभ्रातृके सानुचरे निरस्ते ।
दुर्योधने चापि विवर्धमाने
कथं न सीदत्यवनिः सशैला ।। २२ ।।

पत्नीसहित धर्मराज युधिष्ठिर जूएमें हार गये और भाइयों एवं सेवकोंसहित राज्यसे बाहर कर दिये गये, उधर दुर्योधन (अनीतिपरायण होकर भी दिनोदिन) बढ़ रहा है, ऐसी दशामें पर्वतोंसहित यह पृथ्वी क्यों नहीं फट जाती? ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां बलरामवाक्ये एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। ११९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें बलरामवाक्यविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११९ ।।

---

* इस प्रकारके वृक्षोंको प्रत्यक्ष देखना मृत्युसूचक माना गया है।

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सात्यकिके शौर्यपूर्ण उद्गार तथा युधिष्ठिरद्वारा श्रीकृष्णके वचनोंका अनुमोदन एवं पाण्डवोंका पयोष्णी नदीके तटपर निवास

सात्यकिरुवाच

न राम कालः परिदेवनाय
यदुत्तरं त्वत्र तदेव सर्वे ।
समाचरामो ह्यनतीतकालं
युधिष्ठिरो यद्यपि नाह किंचित् ।। १ ।।

सात्यकिने कहा—बलरामजी! यह समय बैठकर विलाप करनेका नहीं है। अब आगे जो कुछ करना है उसीको हम सब लोग मिलकर करें। यद्यपि महाराज युधिष्ठिर हमसे कुछ नहीं कहते हैं तो भी हमें अब व्यर्थ समय न बिताकर कौरवोंको उचित उत्तर देना चाहिये ।।

ये नाथवन्तोऽद्य भवन्ति लोके
ते नात्मना कर्म समारभन्ते ।
तेषां तु कार्येषु भवन्ति नाथाः
शिब्यादयो राम यथा ययातेः ।। २ ।।

इस संसारमें जो लोग सनाथ हैं—जिनके बहुत-से सहायक हैं—वे स्वयं कोई कार्य आरम्भ नहीं करते हैं। उनके सभी कार्योंमें वे सहायक एवं सुहृद् ही सहयोगी होते हैं, जैसे ययातिके उद्धार-कार्यमें शिबि आदि उनके नातियोंने योगदान किया था ।। २ ।।

येषां तथा राम समारभन्ते
कार्याणि नाथाः स्वमतेन लोके ।
ते नाथवन्तः पुरुषप्रवीरा
नानाथवत् कृच्छ्रमवाप्नुवन्ति ।। ३ ।।

बलरामजी! जगत्‌में जिनके कार्य उनके सहायक अपने ही विचारसे प्रारम्भ करते हैं, वे पुरुषश्रेष्ठ सनाथ माने जाते हैं। वे अनाथकी भाँति कभी कष्टमें नहीं पड़ते ।। ३ ।।

कस्मादिमौ रामजनार्दनौ च
प्रद्युम्नसाम्बौ च मया समेतौ ।
वसन्त्यरण्ये सहसोदरीयै-
स्त्रैलोक्यनाथानभिगम्य पार्थाः ।। ४ ।।

आप दोनों भाई बलराम और श्रीकृष्ण, मेरेसहित ये प्रद्युम्न और साम्ब सब-के-सब मौजूद हैं। इन त्रिभुवनपतियोंसे मिलकर भी ये कुन्तीके पुत्र अभीतक अपने भाइयोंके साथ वनमें क्यों निवास करते हैं? ।। ४ ।।

निर्यातु साध्वद्य दशार्हसेना
प्रभूतनानायुधचित्रवर्मा ।
यमक्षयं गच्छतु धार्तराष्ट्रः
सबान्धवो वृष्णिबलाभिभूतः ।। ५ ।।
त्वं ह्येव कोपात् पृथिवीमपीमां
संवेष्टयेस्तिष्ठतु शार्ङ्गधन्वा ।
स धार्तराष्ट्रं जहि सानुबन्धं
वृत्रं यथा देवपतिर्महेन्द्रः ।। ६ ।।

उत्तम तो यह है कि आज ही यदुवंशियोंकी सेना नाना प्रकारके प्रचुर अस्त्र-शस्त्र और विचित्र कवच धारण करके युद्धके लिये प्रस्थान करे। धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन वृष्णिवंशियोंके पराक्रमसे पराजित हो बन्धु-बान्धवोंसहित यमलोक चला जाय। बलरामजी! भगवान् श्रीकृष्ण अलग खड़े रहें, केवल आप ही चाहें तो इस समूची पृथ्वीको भी अपनी क्रोधाग्निकी लपटोंमें लपेट सकते हैं। जैसे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था उसी प्रकार आप भी दुर्योधनको उसके सगे-सम्बन्धियों-सहित मार डालिये ।। ५-६ ।।

भ्राता च मे यः स सखा गुरुश्च
जनार्दनस्यात्मसमश्च पार्थः ।
यदर्थमैच्छन् मनुजाः सुपुत्रं
शिष्यं गुरुश्चाप्रतिकूलवादम् ।। ७ ।।

जो मेरे भाई, सखा और गुरु हैं, जो भगवान् श्रीकृष्णके आत्मतुल्य सुहृद् हैं, वे कुन्तीकुमार अर्जुन भी अलग रहें। मनुष्य जिस उद्देश्यसे अच्छे पुत्रकी और गुरु प्रतिकूल न बोलनेवाले शिष्यकी कामना करते हैं, उसे सफल करनेका समय आ गया है ।। ७ ।।

यदर्थमभ्युद्यतमुत्तमं तत्
करोति कर्माग्र्यमपारणीयम् ।
तस्यास्त्रवर्षाण्यहमुत्तमास्त्रै-
र्विहत्य सर्वाणि रणेऽभिभूय ।। ८ ।।

जिसके लिये सुयोग्य शिष्य या पुत्र उत्तम अस्त्र-शस्त्र उठाता है तथा युद्धमें श्रेष्ठ एवं अपार पराक्रम कर दिखाता है, उसकी पूर्तिका यही अवसर है। मैं संग्रामभूमिमें अपने उत्तम आयुधोंद्वारा शत्रुओंकी सारी अस्त्र-वर्षाको नष्ट करके उनके समस्त सैनिकोंको परास्त कर दूँगा ।। ८ ।।

कायाच्छिरः सर्पविषाग्निकल्पैः

शरोत्तमैरुन्मथितास्मि राम ।
खड्गेन चाहं निशितेन संख्ये
कायाच्छिरस्तस्य बलात् प्रमथ्य ।। ९ ।।

बलरामजी! सर्प, विष एवं अग्निके समान भयंकर उत्तम बाणोंद्वारा शत्रुके सिरको धड़से अलग कर दूँगा, साथ ही उस समरांगणमें शत्रुमण्डलीको मैं बलपूर्वक रौंदकर तीखी तलवारद्वारा उसका मस्तक उड़ा दूँगा ।। ९ ।।

ततोऽस्य सर्वाननुगान् हनिष्ये
दुर्योधनं चापि कुरूँश्च सर्वान् ।
आत्तायुधं मामिह रौहिणेय
पश्यन्तु भैमा युधि जातहर्षाः ।। १० ।।

तदनन्तर उसके समस्त सेवकोंसहित दुर्योधन और समस्त कौरवोंको भी मार डालूँगा। रोहिणीनन्दन! युद्धमें भयानक पराक्रम दिखानेवाले योद्धा हर्ष और उत्साहमें भरकर आज मुझे हाथमें अस्त्र लिये पूर्वोक्त पराक्रम करते हुए प्रत्यक्ष देखें ।। १० ।।

निघ्नन्तमेकं कुरुयोधमुख्या-
नग्निं महाकक्षमिवान्तकाले ।
प्रद्युम्नमुक्तान् निशितान् न शक्ताः
सोढुं कृपद्रोणविकर्णकर्णाः ।। ११ ।।

जैसे प्रलयकालीन अग्नि सूखे घासकी राशिको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार मैं अकेला ही कौरवदलके प्रधान वीरोंका संहार कर डालूँगा और ऐसा करते हुए सब लोग मुझे प्रत्यक्ष देखेंगे। प्रद्युम्नके छोड़े हुए तीखे बाणोंको सहन करनेकी शक्ति कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, विकर्ण और कर्ण—किसीमें नहीं है ।। ११ ।।

जानामि वीर्यं च जयात्मजस्य
कार्ष्णिर्भवत्येष यथा रणस्थः ।
साम्बः ससूतं सरथं भुजाभ्यां
दुःशासनं शास्तु बलात् प्रमथ्य ।। १२ ।।

मैं अर्जुनकुमार अभिमन्युके भी पराक्रमको जानता हूँ। वह समरभूमिमें खड़ा होनेपर साक्षात् श्रीकृष्णनन्दन प्रद्युम्नके ही समान जान पड़ता है। वीरवर साम्ब बलपूर्वक शत्रुसेनाको मथकर अपनी दोनों भुजाओंसे रथ और सारथिसहित दुःशासनका दमन करें ।। १२ ।।

न विद्यते जाम्बवतीसुतस्य
रणे विषह्यं हि रणोत्कटस्य ।
एतेन बालेन हि शम्बरस्य
दैत्यस्य सैन्यं सहसा प्रणुन्नम् ।। १३ ।।

जाम्बवतीनन्दन साम्ब रणभूमिमें बड़े प्रचण्ड पराक्रमशाली बन जाते हैं। उस समय इनके लिये कुछ भी असह्य नहीं है। इन्होंने बाल्यावस्थामें ही सहसा शम्बरासुरकी सेनाको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था ।। १३ ।।

वृत्तोरुरत्यायतपीनबाहु-
रेतेन संख्ये निहतोऽश्वचक्रः ।
को नाम साम्बस्य महारथस्य
रणे समक्षं रथमभ्युदीयात् ।। १४ ।।

इनकी जाँघें गोल हैं, भुजाएँ लंबी और मोटी हैं; इन्होंने युद्धमें अश्वारोहियोंकी कितनी ही सेनाओंका संहार किया है। भला, संग्राममभूमिमें महारथी साम्बके रथके सम्मुख कौन आ सकता है? ।। १४ ।।

यथा प्रविश्यान्तरमन्तकस्य
काले मनुष्यो न विनिष्क्रमेत ।
तथा प्रविश्यान्तरमस्य संख्ये
को नाम जीवन् पुनराव्रजेत ।। १५ ।।

जैसे अन्तकाल आनेपर यमराजकी भुजाओंमें पड़ा हुआ मनुष्य कदापि वहाँसे निकल नहीं सकता, उसी प्रकार रणक्षेत्रमें वीरवर साम्बके वशमें आया हुआ कौन ऐसा योद्धा होगा, जो पुनः जीवित लौट सके ।। १५ ।।

द्रोणं च भीष्मं च महारथौ तौ
सुतैर्वृतं चाप्यथ सोमदत्तम् ।
सर्वाणि सैन्यानि च वासुदेवः
प्रधक्ष्यते सायकवह्निजालैः ।। १६ ।।

वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण चाहें तो अपने बाणरूपी अग्निकी लपटोंसे द्रोण और भीष्म—इन दोनों प्रसिद्ध महारथियोंको, पुत्रोंसहित सोमदत्तको तथा सारी कौरवसेनाको भी भस्म कर डालेंगे ।। १६ ।।

किं नाम लोकेष्वविषह्यमस्ति
कृष्णस्य सर्वेषु सदेवकेषु ।
आत्तायुधस्योत्तमबाणपाणे-
श्चक्रायुधस्याप्रतिमस्य युद्धे ।। १७ ।।

देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो हाथोंमें हथियार, उत्तम बाण तथा चक्र धारण करके युद्धमें अनुपम पराक्रम प्रकट करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके लिये असह्य हो ।। १७ ।।

ततोऽनिरुद्धोऽप्यसिचर्मपाणि-
र्महीमिमां धार्तराष्ट्रैर्विसंज्ञैः ।

हृतोत्तमाङ्गैर्निहतैः करोतु
कीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरेषु ।। १८ ।।
गदोल्मुकौ बाहुकभानुनीथाः
शूरश्च संख्ये निशठः कुमारः ।
रणोत्कटौ सारणचारुदेष्णौ
कुलोचितं विप्रथयन्तु कर्म ।। १९ ।।

ढाल-तलवार लिये हुए वीरवर अनिरुद्ध भी, जैसे यज्ञोंमें कुशाओंद्वारा यज्ञकी वेदी ढक दी जाती है, उसी प्रकार युद्धमें सिर कटाकर मरे और अचेत पड़े हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंद्वारा इस भूमिको ढक दें। गद, उल्मुक, बाहुक, भानु, नीथ, युद्धमें शूरवीर कुमार निशठ तथा रणभूमिमें प्रचण्ड पराक्रमी सारण और चारुदेष्ण—ये सब लोग अपने कुलके अनुरूप पराक्रम प्रकट करें ।। १८-१९ ।।

सवृष्णिभोजान्धकयोधमुख्या
समागता सात्वतशूरसेना ।
हत्वा रणे तान् धृतराष्ट्रपुत्राँ-
ल्लोके यशः स्फीतमुपाकरोतु ।। २० ।।

यदुवंशियोंकी शौर्यपूर्ण सेना, जिसमें वृष्णि, भोज और अन्धकवंशी योद्धाओंकी प्रधानता है, आक्रमण करके युद्धमें धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार डाले और संसारमें अपने उज्ज्वल यशका विस्तार करे ।। २० ।।

ततोऽभिमन्युः पृथिवीं प्रशास्तु
यावद् व्रतं धर्मभृतां वरिष्ठः ।
युधिष्ठिरः पारयते महात्मा
द्यूते यथोक्तं कुरुसत्तमेन ।। २१ ।।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर जबतक अपने उस व्रतको, जिसे इन कुरुकुलभूषणने जूएके समय प्रतिज्ञापूर्वक स्वीकार किया था, पूर्ण न कर लें, तबतक अभिमन्यु इस पृथ्वीका शासन करे ।। २१ ।।

अस्मत्प्रमुक्तैर्विशिखैर्जितारि-
स्ततो महीं भोक्ष्यति धर्मराजः ।
निर्धार्तराष्ट्रां हतसूतपुत्रा-
मेतद्धि नः कृत्यतमं यशस्यम् ।। २२ ।।

तदनन्तर अपना व्रत समाप्त करके हमारे द्वारा छोड़े हुए बाणोंसे ही शत्रुओंपर विजय पाकर धर्मराज युधिष्ठिर इस पृथ्वीका राज्य भोगेंगे। उस समयतक यह पृथ्वी धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे रहित हो जायगी और सूतपुत्र कर्ण भी मर जायगा। यदि ऐसा हुआ तो यह हमारे लिये महान् यशोवर्धक कार्य होगा ।। २२ ।।

वासुदेव उवाच

असंशयं माधव सत्यमेतद्
गृह्णीम ते वाक्यमदीनसत्त्व ।
स्वाभ्यां भुजाभ्यामजितां तु भूमिं
नेच्छेत् कुरूणामृषभः कथंचित् ।। २३ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—उदारहृदय मधुकुलभूषण सात्यके! तुम्हारी यह बात सत्य है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। हम तुम्हारे इन वचनोंको स्वीकार करते हैं; परंतु ये कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर किसी भी ऐसी भूमिको किसी तरह लेना नहीं चाहेंगे, जिसे इन्होंने अपनी भुजाओंद्वारा न जीता हो ।। २३ ।।

न ह्येष कामान्न भयान्न लोभाद्
युधिष्ठिरो जातु जह्यात् स्वधर्मम् ।
भीमार्जुनौ चातिरथौ यमौ च
तथैव कृष्णा द्रुपदात्मजेयम् ।। २४ ।।

कामना, भय अथवा लोभ किसी भी कारणसे युधिष्ठिर अपना धर्म कदापि नहीं छोड़ सकते। उसी तरह अतिरथी वीर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा यह द्रुपदकुमारी कृष्णा भी अपना धर्म नहीं छोड़ सकती ।। २४ ।।

उभौ हि युद्धेऽप्रतिमौ पृथिव्यां
वृकोदरश्चैव धनंजयश्च ।
कस्मान्न कृत्स्नां पृथिवीं प्रशासे-
न्माद्रीसुताभ्यां च पुरस्कृतोऽयम् ।। २५ ।।

भीमसेन और अर्जन—ये दोनों वीर युद्धमें इस पृथ्वीपर अपना सानी नहीं रखते। इनसे और दोनों माद्रीकुमारोंसे संयुक्त होनेपर ये युधिष्ठिर सारी पृथ्वीका शासन कैसे नहीं कर सकते? ।। २५ ।।

यदा तु पञ्चालपतिर्महात्मा
सकेकयश्चेदिपतिर्वयं च ।
युध्येम विक्रम्य रणे समेता-
स्तदैव सर्वे रिपवो हि न स्युः ।। २६ ।।

जब महात्मा पांचालराज, केकय, चेदिराज और हम सब लोग एक साथ होकर रणमें पराक्रम दिखायेंगे, उसी समय हमारे सारे शत्रुओंका अस्तित्व मिट जायगा ।। २६ ।।

युधिष्ठिर उवाच

नेदं चित्रं माधव यद् ब्रवीषि
सत्यं तु मे रक्ष्यतमं न राज्यम् ।

कृष्णस्तु मां वेद यथावदेकः
कृष्णं च वेदाहमथो यथावत् ।। २७ ।।

युधिष्ठिरने कहा—सात्यके! तुम जो कुछ कह रहे हो वह तुम्हारे-जैसे वीरके लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, परंतु मेरे लिये सत्यकी रक्षा ही प्रधान है, राज्यकी प्राप्ति नहीं। केवल श्रीकृष्ण ही मुझे अच्छी तरह जानते हैं और मैं भी कृष्णके स्वरूपको यथार्थ-रूपसे जानता हूँ ।। २७ ।।

यदैव कालं पुरुषप्रवीरो
वेत्स्यत्ययं माधव विक्रमस्य ।
तदा रणे त्वं च शिनिप्रवीर
सुयोधनं जेष्यसि केशवश्च ।। २८ ।।

शिनिवंशके प्रधान वीर माधव! ये पुरुषरत्न श्रीकृष्ण जभी पराक्रम दिखानेका अवसर आया समझेंगे, तभी तुम और भगवान् केशव मिलकर युद्धमें दुर्योधनको जीत सकोगे ।। २८ ।।

प्रतिप्रयान्त्वद्य दशार्हवीरा
दृष्टोऽस्मि नाथैर्नरलोकनाथैः ।
धर्मेऽप्रमादं कुरुताप्रमेया
द्रष्टास्मि भूयः सुखिनः समेतान् ।। २९ ।।

अब ये यदुवंशी वीर द्वारकाको लौट जायँ। आपलोग मेरे नाथ या सहायक तो हैं ही, सम्पूर्ण मनुष्य-लोकके भी रक्षक हैं, आपलोगोंसे मिलना हो गया, यह बड़े आनन्दकी बात है। अनुपम शक्तिशाली वीरो! आपलोग धर्मपालनकी ओरसे सदा सावधानी रखें। मैं पुनः आप सभी सुखी मित्रोंको एकत्र हुआ देखूँगा ।। २९ ।।

तेऽन्योन्यमामन्त्र्य तथाभिवाद्य
वृद्धान् परिष्वज्य शिशूंश्च सर्वान् ।
यदुप्रवीराः स्वगृहाणि जग्मु-
स्ते चापि तीर्थान्यनुसंविचेरुः ।। ३० ।।

तत्पश्चात् वे यादव-पाण्डव वीर एक दूसरेकी अनुमति ले, वृद्धोंको प्रणाम करके, बालकोंको हृदयसे लगाकर तथा अन्य सबसे यथायोग्य मिलकर अपने अभीष्ट स्थानको चल दिये। यादववीर अपने घर गये और पाण्डवलोग पूर्ववत् तीर्थोंमें विचरने लगे ।। ३० ।।

विसृज्य कृष्णं त्वथ धर्मराजो
विदर्भराजोपचितां सुतीर्थाम् ।
जगाम पुण्यां सरितं पयोष्णीं
सभ्रातृभृत्यः सह लोमशेन ।। ३१ ।।

श्रीकृष्णको विदा करके धर्मराज युधिष्ठिर लोमशजी, भाइयों और सेवकोंके साथ विदर्भनरेशद्वारा पूजित, उत्तम तीर्थोंवाली पुण्य नदी पयोष्णीके तटपर गये ।। ३१ ।।

सुतेन सोमेन विमिश्रतोयां
पयः पयोष्णीं प्रति सोऽध्युवास ।
द्विजातिमुख्यैर्मुदितैर्महात्मा
संस्तूयमानः स्तुतिभिर्वराभिः ।। ३२ ।।

उसके जलमें यज्ञसम्बन्धी सोमरस मिला हुआ था। पयोष्णीके तटपर जा उन्होंने उसका जल पीकर वहाँ निवास किया। उस समय प्रसन्नतासे भरे हुए श्रेष्ठ द्विज उत्तम स्तुतियोंद्वारा उन महात्मा नरेशकी स्तुति कर रहे थे ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यादवगमने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राप्रसंगमें यादवगमनविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२० ।।

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा गयके यज्ञकी प्रशंसा, पयोष्णी, वैदूर्य पर्वत और नर्मदाके माहात्म्य तथा च्यवन-सुकन्याके चरित्रका आरम्भ

लोमश उवाच

नृगेण यजमानेन सोमेनेह पुरंदरः ।
तर्पितः श्रूयते राजन् स तृप्तो मुदमभ्यगात् ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! सुना जाता है कि इस पयोष्णी नदीके तटपर राजा नृगने यज्ञ करके सोमरसके द्वारा देवराज इन्द्रको तृप्त किया था। उस समय इन्द्र पूर्णतः तृप्त होकर आनन्दमग्न हो गये थे ।। १ ।।

इह देवैः सहेन्द्रैश्च प्रजापतिभिरेव च ।
इष्टं बहुविधैर्यज्ञैर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ।। २ ।।

यहीं इन्द्रसहित देवताओंने और प्रजापतियोंने भी प्रचुर दक्षिणासे युक्त अनेक प्रकारके बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा भगवान्का यजन किया है ।। २ ।।

आमूर्तरयसश्चेह राजा वज्रधरं प्रभुम् ।
तर्पयामास सोमेन हयमेधेषु सप्तसु ।। ३ ।।

अमूर्तरयाके पुत्र राजा गयने भी यहाँ सात अश्वमेधयज्ञोंका अनुष्ठान करके उनमें सोमरसके द्वारा वज्रधारी इन्द्रको संतुष्ट किया था ।। ३ ।।

तस्य सप्तसु यज्ञेषु सर्वमासीद्धिरण्मयम् ।
वानस्पत्यं च भौमं च यद् द्रव्यं नियतं मखे ।। ४ ।।

यज्ञमें जो वस्तुएँ नियमितरूपसे काष्ठ और मिट्टीकी बनी हुई होती हैं, ये सब-की सब राजा गयके उक्त सातों यज्ञोंमें सुवर्णसे बनायी गयी थीं ।। ४ ।।

चषालयूपचमसाः स्थाल्यः पात्र्यः स्रुचः स्रुवाः ।
तेष्वेव चास्य यज्ञेषु प्रयोगाः सप्त विश्रुताः ।। ५ ।।

प्रायः यज्ञोंमें [१]चषाल, [२]यूप, [३]चमस, [४]स्थाली, [५]पात्री, [६]स्रुक् और [७]स्रुवा—ये सात साधन उपयोगमें लाये जाते हैं। राजा गयके पूर्वोक्त सातों यज्ञोंमें ये सभी उपकरण सुवर्णके ही थे, ऐसा सुना जाता है ।। ५ ।।

सप्तैकैकस्य यूपस्य चषालाश्चोपरि स्थिताः ।
तस्य स्म यूपान् यज्ञेषु भ्राजमानान् हिरण्मयान् ।। ६ ।।
स्वयमुत्थापयामासुर्देवाः सेन्द्रा युधिष्ठिर ।
तेषु तस्य मखाग्र्येषु गयस्य पृथिवीपतेः ।। ७ ।।

अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।
प्रसंख्यानानसंख्येयान् प्रत्यगृह्णन् द्विजातयः ।। ८ ।।

सात यूपोंमेंसे प्रत्येकके ऊपर सात-सात चषाल थे। युधिष्ठिर! उन यज्ञोंमें जो चमकते हुए सुवर्णमय यूप थे, उन्हें इन्द्र आदि देवताओंने स्वयं खड़ा किया था। राजा गयके उन उत्तम यज्ञोंमें इन्द्र सोमपान करके और ब्राह्मण बहुत-सी दक्षिणा पाकर हर्षोन्मत्त हो गये थे। ब्राह्मणोंने दक्षिणामें जो बहुसंख्यक धनराशि प्राप्त की थी, उसकी गणना नहीं की जा सकती थी ।। ६—८ ।।

सिकता वा यथा लोके यथा वा दिवि तारकाः ।
यथा वा वर्षतो धारा असंख्येयाः स्म केनचित् ।। ९ ।।
तथैव तदसंख्येयं धनं यत् प्रददौ गयः ।
सदस्येभ्यो महाराज तेषु यज्ञेषु सप्तसु ।। १० ।।

महाराज! राजा गयने सातों यज्ञोंमें सदस्योंको, जो असंख्य धन प्रदान किया था, उसकी गणना उसी प्रकार नहीं हो सकती थी, जैसे इस जगत्‌में कोई बालूके कणों, आकाशके तारों और वर्षाकी धाराओंको नहीं गिन सकता ।। ९-१० ।।

भवेत् संख्येयमेतद्धि यदेतत् परिकीर्तितम् ।
न तस्य शक्याः संख्यातुं दक्षिणा दक्षिणावतः ।। ११ ।।

उपर्युक्त बालूके कण आदि कदाचित् गिने भी जा सकते हैं, परंतु दक्षिणा देनेवाले राजा गयकी दक्षिणाकी गणना करना सम्भव नहीं है ।। ११ ।।

हिरण्मयीभिर्गोभिश्च कृताभिर्विश्वकर्मणा ।
ब्राह्मणांस्तर्पयामास नानादिग्भ्यः समागतान् ।। १२ ।।
अल्पावशेषा पृथिवी चैत्यैरासीन्महात्मनः ।
गयस्य यजमानस्य तत्र तत्र विशाम्पते ।। १३ ।।

उन्होंने विश्वकर्माकी बनायी हुई सुवर्णमयी गौएँ देकर विभिन्न दिशाओंसे आये हुए ब्राह्मणोंको संतुष्ट किया था। युधिष्ठिर! भिन्न-भिन्न स्थानोंमें यज्ञ करनेवाले महामना राजा गयके राज्यकी थोड़ी ही भूमि ऐसी बच गयी थी जहाँ यज्ञके मण्डप न हों ।। १२-१३ ।।

स लोकान् प्राप्तवानैन्द्रान् कर्मणा तेन भारत ।
सलोकतां तस्य गच्छेत् पयोष्ण्यां य उपस्पृशेत् ।। १४ ।।

भारत! उस यज्ञकर्मके प्रभावसे गयने इन्द्रादि लोकोंको प्राप्त किया। जो इस पयोष्णी नदीमें स्नान करता है वह भी राजा गयके समान पुण्यलोकका भागी होता है ।। १४ ।।

तस्मात् त्वमत्र राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितोऽच्युत ।
उपस्पृश्य महीपाल धूतपाप्मा भविष्यसि ।। १५ ।।

अतः राजेन्द्र! तुम भाइयोंसहित इसमें स्नान करके सब पापोंसे मुक्त हो जाओगे ।। १५ ।।

वैशम्पायन उवाच

स पयोष्ण्यां नरश्रेष्ठः स्नात्वा वै भ्रातृभिः सह ।
वैदूर्यपर्वतं चैव नर्मदां च महानदीम् ।। १६ ।।
(उद्दिश्य पाण्डवश्रेष्ठः स प्रतस्थे महीपतिः ।)
समागमत तेजस्वी भ्रातृभिः सहितोऽनघ ।
तत्रास्य सर्वाण्याचख्यौ लोमशो भगवानृषिः ।। १७ ।।
तीर्थानि रमणीयानि पुण्यान्यायतनानि च ।
यथायोगं यथाप्रीति प्रययौ भ्रातृभिः सह ।
तत्र तत्राददाद् वित्तं ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—निष्पाप जनमेजय! पाण्डवप्रवर नरश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर भाइयोंसहित पयोष्णी नदीमें स्नान करके वैदूर्यपर्वत और महानदी नर्मदाके तटपर जानेका उद्देश्य लेकर वहाँसे चल दिये और वे तेजस्वी नरेश सब भाइयोंको साथ लिये यथासमय अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच गये। वहाँ भगवान् लोमश मुनिने उनसे समस्त रमणीय तीर्थों और पवित्र देवस्थानोंका परिचय कराया। तत्पश्चात् राजाने अपनी सुविधा और प्रसन्नताके अनुसार सहस्रों ब्राह्मणोंको धनका दान किया और भाइयोंसहित उन सब स्थानोंकी यात्रा की ।। १६—१८ ।।

लोमश उवाच

देवानामेति कौन्तेय तथा राज्ञां सलोकताम् ।
वैदूर्यपर्वतं दृष्ट्वा नर्मदामवतीर्य च ।। १९ ।।

लोमशजीने कहा—कुन्तीनन्दन! वैदूर्यपर्वतका दर्शन करके नर्मदामें उतरनेसे मनुष्य देवताओं तथा पुण्यात्मा राजाओंके समान पवित्र लोकोंको प्राप्त कर लेता है ।। १९ ।।

संधिरेष नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च ।
एनमासाद्य कौन्तेय सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। २० ।।

नरश्रेष्ठ! यह वैदूर्यपर्वत त्रेता और द्वापरकी सन्धिमें प्रकट हुआ है, इसके निकट जाकर मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। २० ।।

एष शर्यातियज्ञस्य देशस्तात प्रकाशते ।
साक्षाद् यत्रापिबत् सोममश्विभ्यां सह कौशिकः ।। २१ ।।

तात! यह राजा शर्यातिके यज्ञका स्थान प्रकाशित हो रहा है जहाँ साक्षात् इन्द्रने अश्विनीकुमारोंके साथ बैठकर सोमपान किया था ।। २१ ।।

चुकोप भार्गवश्चापि महेन्द्रस्य महातपाः ।
संस्तम्भयामास च तं वासवं च्यवनः प्रभुः ।
सुकन्यां चापि भार्यां स राजपुत्रीमवाप्तवान् ।। २२ ।।

(नासत्यौ च महाभाग कृतवान् सोमपीथिनौ ।)

महाभाग! यहीं महातपस्वी भृगुनन्दन भगवान् च्यवन देवराज इन्द्रपर कुपित हुए थे और यहीं उन्होंने इन्द्रको स्तम्भित भी कर दिया था। इतना ही नहीं, मुनिवर च्यवनने यहीं अश्विनीकुमारोंको यज्ञमें सोमपानका अधिकारी बनाया था। और इसी स्थानपर राजकुमारी सुकन्या उन्हें पत्नीरूपमें प्राप्त हुई थी ।। २२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कथं विष्टम्भितस्तेन भगवान् पाकशासनः ।
किमर्थं भार्गवश्चापि कोपं चक्रे महातपाः ।। २३ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—मुने! महातपस्वी भृगुपुत्र महर्षि च्यवनने भगवान् इन्द्रका स्तम्भन कैसे किया? उन्हें इन्द्रपर क्रोध किसलिये हुआ? ।। २३ ।।

नासत्यौ च कथं ब्रह्मन् कृतवान् सोमपीथिनौ ।
एतत् सर्वं यथावृत्तमाख्यातु भगवान् मम ।। २४ ।।

तथा ब्रह्मन्! उन्होंने अश्विनीकुमारोंको यज्ञमें सोमपानका अधिकारी किस प्रकार बनाया? ये सब बातें आप यथार्थरूपसे मुझे बतावें ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

---

१. यूपके ऊपरका गोलाकार काष्ठ। २. यूप—यज्ञस्तम्भ। ३. चमस—सोमपानका पात्र। ४. बटलोई। ५. पकी-पकायी रखनेका सामग्री-पात्र। ६. हविष्य अर्पण करनेका उपकरण। ७. घृत आदिकी आहुति डालनेका साधन।

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

महर्षि च्यवनको सुकन्याकी प्राप्ति

लोमश उवाच

भृगोर्महर्षेः पुत्रोऽभूच्च्यवनो नाम भारत ।
समीपे सरसस्तस्य तपस्तेपे महाद्युतिः ।। १ ।।
स्थाणुभूतो महातेजा वीरस्थानेन पाण्डव ।
अतिष्ठत चिरं कालमेकदेशे विशाम्पते ।। २ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! महर्षि भृगुके पुत्र च्यवन मुनि हुए, जो महान् तेजस्वी थे। उन्होंने उस सरोवरके समीप तपस्या आरम्भ की। पाण्डुनन्दन! परम तेजस्वी महात्मा च्यवन वीरासनसे बैठकर ठूँठे काठके समान जान पड़ते थे। राजन्! वे एक ही स्थानपर दीर्घकालतक अविचलभावसे बैठे रहे ।। १-२ ।।

स वल्मीकोऽभवदृषिर्लताभिरिव संवृतः ।
कालेन महता राजन् समाकीर्णः पिपीलिकैः ।। ३ ।।

धीरे-धीरे अधिक समय बीतनेपर उनका शरीर चींटियोंसे व्याप्त हो गया। वे महर्षि लताओंसे आच्छादित हो गये और बाँबीके समान प्रतीत होने लगे ।। ३ ।।

तथा स संवृतो धीमान् मृत्पिण्ड इव सर्वशः ।
तप्यते स्म तपो घोरं वल्मीकेन समावृतः ।। ४ ।।

इस प्रकार लता-वेलोंसे आच्छादित हो बुद्धिमान् च्यवन मुनि सब ओरसे केवल मिट्टीके लोंदेके समान जान पड़ने लगे। दीमकोंद्वारा जमा की हुई मिट्टीके ढेरसे ढके हुए वे बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे ।। ४ ।।

अथ दीर्घस्य कालस्य शर्यातिर्नाम पार्थिवः ।
आजगाम सरो रम्यं विहर्तुमिदमुत्तमम् ।। ५ ।।

इस प्रकार दीर्घकाल व्यतीत होनेपर राजा शर्याति इस उत्तम एवं रमणीय सरोवरके तटपर विहारके लिये आये ।। ५ ।।

तस्य स्त्रीणां सहस्राणि चत्वार्यासन् परिग्रहे ।
एकैव च सुता सुभ्रूः सुकन्या नाम भारत ।। ६ ।।

युधिष्ठिर! उनके अन्तःपुरमें चार हजार स्त्रियाँ थीं, परंतु संतानके नामपर केवल एक ही सुन्दरी पुत्री थी, जिसका नाम सुकन्या था ।। ६ ।।

सा सखीभिः परिवृता दिव्याभरणभूषिता ।
चंक्रम्यमाणा वल्मीकं भार्गवस्य समासदत् ।। ७ ।।

वह कन्या दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सखियोंसे घिरी हुई वनमें इधर-उधर घूमने लगी। घूमती-घामती वह भृगुनन्दन च्यवनकी बाँबीके पास जा पहुँची ।। ७ ।।

सा वै वसुमतीं तत्र पश्यन्ती सुमनोरमाम् ।

वनस्पतीन् विचिन्वन्ती विजहार सखीवृता ।। ८ ।।

वहाँकी भूमि उसे बड़ी मनोहर दिखायी दी। वह सखियोंके साथ वृक्षोंके फल-फूल तोड़ती हुई चारों ओर घूमने लगी ।। ८ ।।

रूपेण वयसा चैव मदनेन मदेन च ।

बभञ्ज वनवृक्षाणां शाखाः परमपुष्पिताः ।। ९ ।।

तां सखीरहितामेकामेकवस्त्रामलंकृताम् ।

ददर्श भार्गवो धीमांश्चरन्तीमिव विद्युतम् ।। १० ।।

सुन्दर रूप, नयी अवस्था, कामभावके उदय और यौवनके मदसे प्रेरित हो सुकन्याने उत्तम फूलोंसे भरी हुई वन-वृक्षोंकी बहुत-सी शाखाएँ तोड़ लीं। वह सखियोंका साथ छोड़कर अकेली टहलने लगी। उस समय उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था और वह भाँति-भाँतिके अलंकारोंसे अलंकृत थी। बुद्धिमान् च्यवन मुनिने उसे देखा। वह चमकती हुई विद्युत्के समान चारों ओर विचर रही थी ।। ९-१० ।।

तां पश्यमानो विजने स रेमे परमद्युतिः ।

क्षामकण्ठश्च विप्रर्षिस्तपोबलसमन्वितः ।। ११ ।।

उसे एकान्तमें देखकर परम कान्तिमान्, तपोबल-सम्पन्न एवं दुर्बल कण्ठवाले ब्रह्मर्षि च्यवनको बड़ी प्रसन्नता हुई ।। ११ ।।

तामाबभाषे कल्याणीं सा चास्य न शृणोति वै ।

ततः सुकन्या वल्मीके दृष्ट्वा भार्गवचक्षुषी ।। १२ ।।

कौतूहलात् कण्टकेन बुद्धिमोहबलात्कृता ।

किं नु खल्विदमित्युक्त्वा निर्बिभेदास्य लोचने ।। १३ ।।

अक्रुध्यत् स तया विद्धे नेत्रे परममन्युमान् ।

ततः शर्यातिसैन्यस्य शकृन्मूत्रे समावृणोत् ।। १४ ।।

ततो रुद्धे शकृन्मूत्रे सैन्यमानाहदुःखितम् ।

तथागतमभिप्रेक्ष्य पर्यपृच्छत् स पार्थिवः ।। १५ ।।

तपोनित्यस्य वृद्धस्य रोषणस्य विशेषतः ।

केनापकृतमद्येह भार्गवस्य महात्मनः ।। १६ ।।

ज्ञातं वा यदि वाज्ञातं तद् द्रुतं ब्रूत मा चिरम् ।

तमूचुः सैनिकाः सर्वे न विद्मोऽपकृतं वयम् ।। १७ ।।

उन्होंने उस कल्याणमयी राजकन्याको पुकारा; परंतु वह (ब्रह्मर्षिका कण्ठ दुर्बल होनेके कारण) उनकी आवाज नहीं सुनती थी। उस बाँबीमें मुनिवर च्यवनकी चमकती हुई

आँखोंको देखकर उसे बहुत कौतूहल हुआ। उसकी बुद्धिपर मोह छा गया और उसने विवश होकर यह कहती हुई कि 'देखूँ यह क्या है?' एक काँटेसे उन्हें छेद दिया। उसके द्वारा आँखें बिंध जानेके कारण परम क्रोधी ब्रह्मर्षि च्यवन अत्यन्त कुपित हो उठे। फिर तो उन्होंने शर्यातिकी सेनाके मल-मूत्र बंद कर दिये। मल-मूत्रका द्वार बंद हो जानेसे मलावरोधके कारण सारी सेनाको बहुत दुःख होने लगा। सैनिकोंकी ऐसी अवस्था देखकर राजाने सबसे पूछा—'यहाँ नित्य-निरन्तर तपस्यामें संलग्न रहनेवाले वयोवृद्ध महामना च्यवन रहते हैं। वे स्वभावतः बड़े क्रोधी हैं। उनका जानकर या बिना जाने आज किसने अपकार किया है? जिन लोगोंने भी ब्रह्मर्षिका अपराध किया हो, वे तुरंत सब कुछ बता दें, विलम्ब न करें।'

तब सम्पूर्ण सैनिकोंने उनसे कहा—'महाराज! हम नहीं जानते कि किसके द्वारा उनका अपराध हुआ है? ।। १२—१७ ।।

सर्वोपायैर्यथाकामं भवांस्तदधिगच्छतु ।
ततः स पृथिवीपालः साम्ना चोग्रेण च स्वयम् ।। १८ ।।
पर्यपृच्छत् सुहृद्वर्गं पर्यजानन्न चैव ते ।
आनाहार्तं ततो दृष्ट्वा तत्सैन्यमसुखार्दितम् ।। १९ ।।
पितरं दुःखितं दृष्ट्वा सुकन्येदमथाब्रवीत् ।
मयाटन्त्येह वल्मीके दृष्टं सत्त्वमभिज्वलत् ।। २० ।।

खद्योतवदभिज्ञातं तन्मया विद्धमन्तिकात् ।
एतच्छ्रुत्वा तु वल्मीकं शर्यातिस्तूर्णमभ्ययात् ।। २१ ।।
तत्रापश्यत् तपोवृद्धं वयोवृद्धं च भार्गवम् ।
अयाचदथ सैन्यार्थं प्राञ्जलिः पृथिवीपतिः ।। २२ ।।

'आप अपनी रुचिके अनुसार सभी उपायोंद्वारा इसका पता लगावें।' तब राजा शर्यातिने साम और उग्रनीतिके द्वारा सभी सुहृदोंसे पूछा; परंतु वे भी इसका पता न लगा सके। तदनन्तर सुकन्याने सारी सेनाको मलावरोधके कारण दुःखसे पीड़ित और पिताको भी चिन्तित देख इस प्रकार कहा—'तात! मैंने इस वनमें घूमते समय एक बाँबीके भीतर कोई चमकीली वस्तु देखी, जो जुगनूके समान जान पड़ती थी। उसके निकट जाकर मैंने उसे काँटेसे बींध दिया।' यह सुनकर शर्याति तुरंत ही बाँबीके पास गये। वहाँ उन्होंने तपस्यामें बढ़े-चढ़े वयोवृद्ध महात्मा च्यवनको देखा और हाथ जोड़कर अपने सैनिकोंका कष्ट निवारण करनेके लिये याचना की— ।। १८—२२ ।।

अज्ञानाद् बालया यत् ते कृतं तत् क्षन्तुमर्हसि ।
ततोऽब्रवीन्महीपालं च्यवनो भार्गवस्तदा ।। २३ ।।
अपमानादहं विद्धो ह्यनया दर्पपूर्णया ।
रूपौदार्यसमायुक्तां लोभमोहबलात्कृताम् ।। २४ ।।
तामेव प्रतिगृह्याहं राजन् दुहितरं तव ।
क्षंस्यामीति महीपाल सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। २५ ।।

'भगवन्! मेरी बालिकाने अज्ञानवश जो आपका अपराध किया है, उसे आप कृपापूर्वक क्षमा करें।' उनके ऐसा कहनेपर भृगुनन्दन च्यवनने राजासे कहा—'राजन्! तुम्हारी इस पुत्रीने अहंकारवश अपमानपूर्वक मेरी आँखें फोड़ी हैं, अतः रूप और उदारता आदि गुणोंसे युक्त तथा लोभ और मोहके वशीभूत हुई तुम्हारी इस कन्याको पत्नीरूपमें प्राप्त करके ही मैं इसका अपराध क्षमा कर सकता हूँ। भूपाल! यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ' ।। २३—२५ ।।

लोमश उवाच

ऋषेर्वचनमाज्ञाय शर्यातिरविचारयन् ।
ददौ दुहितरं तस्मै च्यवनाय महात्मने ।। २६ ।।

लोमशजी कहते हैं—च्यवन ऋषिका यह वचन सुनकर राजा शर्यातिने बिना कुछ विचार किये ही महात्मा च्यवनको अपनी पुत्री दे दी ।। २६ ।।

प्रतिगृह्य च तां कन्यां भगवान् प्रससाद ह ।
प्राप्तप्रसादो राजा वै ससैन्यः पुरमाव्रजत् ।। २७ ।।

उस राजकन्याको पाकर भगवान् च्यवन मुनि प्रसन्न हो गये। तत्पश्चात् उनका कृपाप्रसाद प्राप्त करके राजा शर्याति सेनासहित सकुशल अपनी राजधानीको लौट आये ।। २७ ।।

सुकन्यापि पतिं लब्ध्वा तपस्विनमनिन्दिता ।
नित्यं पर्यचरत् प्रीत्या तपसा नियमेन च ।। २८ ।।

सुकन्या भी तपस्वी च्यवनको पतिरूपमें पाकर प्रतिदिन प्रेमपूर्वक तप और नियमका पालन करती हुई उनकी परिचर्या करने लगी ।। २८ ।।

अग्नीनामतिथीनां च शुश्रूषुरनसूयिका ।
समाराधयत क्षिप्रं च्यवनं सा शुभानना ।। २९ ।।

सुमुखी सुकन्या किसीके गुणोंमें दोष नहीं देखती थी। वह त्रिविध अग्नियों और अतिथियोंकी सेवामें तत्पर हो शीघ्र ही महर्षि च्यवनकी आराधनामें लग गयी ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२२ ।।

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अश्विनीकुमारोंकी कृपासे महर्षि च्यवनको सुन्दर रूप और युवावस्थाकी प्राप्ति

लोमश उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य त्रिदशावश्विनौ नृप ।
कृताभिषेकां विवृतां सुकन्यां तामपश्यताम् ।। १ ।।
तां दृष्ट्वा दर्शनीयाङ्गीं देवराजसुतामिव ।
ऊचतुः समभिद्रुत्य नासत्यावश्विनाविदम् ।। २ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर कुछ कालके बाद जब एक समय सुकन्या स्नान कर चुकी थी, उस समय उसके सब अंग ढके हुए नहीं थे। इसी अवस्थामें दोनों अश्विनीकुमार देवताओंने उसे देखा। साक्षात् देवराज इन्द्रकी पुत्रीके समान दर्शनीय अंगोंवाली उस राजकन्याको देखकर नासत्यसंज्ञक अश्विनीकुमारोंने उसके पास जा यह बात कही— ।। १-२ ।।

कस्य त्वमसि वामोरु वनेऽस्मिन् किं करोषि च ।
इच्छाव भद्रे ज्ञातुं त्वां तत्त्वमाख्याहि शोभने ।। ३ ।।

'वामोरु! तुम किसकी पुत्री और किसकी पत्नी हो? इस वनमें क्या करती हो? भद्रे! हम तुम्हारा परिचय प्राप्त करना चाहते हैं। शोभने! तुम सब बातें ठीक-ठीक बताओ' ।। ३ ।।

ततः सुकन्या सव्रीडा तावुवाच सुरोत्तमौ ।
शर्यातितनयां वित्तं भार्यां मां च्यवनस्य च ।। ४ ।।

तब सुकन्याने लज्जित होकर उन दोनों श्रेष्ठ देवताओंसे कहा—'देवेश्वरो! आपको विदित होना चाहिये कि मैं राजा शर्यातिकी पुत्री और महर्षि च्यवनकी पत्नी हूँ ।। ४ ।।

(नाम्ना चाहं सुकन्यास्मि नृलोकेऽस्मिन् प्रतिष्ठिता ।
साहं सर्वात्मना नित्यं पतिं प्रति सुनिष्ठिता ।।)
अथाश्विनौ प्रहस्यैतामब्रूतां पुनरेव तु ।
कथं त्वमसि कल्याणि पित्रा दत्ता गताध्वने ।। ५ ।।
भ्राजसेऽस्मिन् वने भीरु विद्युत्सौदामनी यथा ।
न देवेष्वपि तुल्यां हि त्वया पश्याव भाविनि ।। ६ ।।

'मेरा नाम इस जगत्‌में सुकन्या प्रसिद्ध है। मैं सम्पूर्ण हृदयसे सदा अपने पतिदेवके प्रति निष्ठा रखती हूँ।' यह सुनकर अश्विनीकुमारोंने पुनः हँसते हुए कहा—'कल्याणि!

तुम्हारे पिताने इस अत्यन्त बूढ़े पुरुषके साथ तुम्हारा विवाह कैसे कर दिया? भीरु! इस वनमें तुम विद्युत्‌की भाँति प्रकाशित हो रही हो। भामिनि! देवताओंके यहाँ भी तुम-जैसी सुन्दरीको हम नहीं देख पाते हैं ।। ५-६ ।।

अनाभरणसम्पन्ना परमाम्बरवर्जिता ।
शोभयस्यधिकं भद्रे वनमप्यनलंकृता ।। ७ ।।

'भद्रे! तुम्हारे अंगोंपर आभूषण नहीं है। तुम उत्तम वस्त्रोंसे भी वञ्चित हो और तुमने कोई शृंगार भी नहीं धारण किया है तो भी इस वनकी अधिकाधिक शोभा बढ़ा रही हो ।। ७ ।।

सर्वाभरणसम्पन्ना परमाम्बरधारिणी ।
शोभसे त्वनवद्याङ्गि न त्वेवं मलपङ्किनी ।। ८ ।।

'निर्दोष अंगोंवाली सुन्दरी! यदि तुम समस्त भूषणोंसे भूषित हो जाओ और अच्छे-अच्छे वस्त्र पहन लो तो उस समय तुम्हारी जो शोभा होगी, वैसी इस मल और पंकसे युक्त मलिन वेशमें नहीं हो रही है ।। ८ ।।

कस्मादेवंविधा भूत्वा जराजर्जरितं पतिम् ।
त्वमुपास्से ह कल्याणि कामभोगबहिष्कृतम् ।। ९ ।।

'कल्याणि! तुम ऐसी अनुपम सुन्दरी होकर कामभोगसे शून्य इस जरा-जर्जर बूढ़े पतिकी उपासना कैसे करती हो? ।। ९ ।।

असमर्थं परित्राणे पोषणे तु शुचिस्मिते ।
सा त्वं च्यवनमुत्सृज्य वरयस्वैकमावयोः ।। १० ।।

'पवित्र मुसकानवाली देवि! वह बूढ़ा तो तुम्हारी रक्षा और पालन-पोषणमें भी समर्थ नहीं है। अतः तुम च्यवनको छोड़कर हम दोनोंमेंसे किसी एकको अपना पति चुन लो ।। १० ।।

पत्यर्थं देवगर्भाभे मा वृथा यौवनं कृथाः ।
एवमुक्ता सुकन्यापि सुरौ ताविदमब्रवीत् ।। ११ ।।

'देवकन्याके समान सुन्दरी राजकुमारी! बूढ़े पतिके लिये अपनी इस जवानीको व्यर्थ न गँवाओ।' उनके ऐसा कहनेपर सुकन्याने उन दोनों देवताओंसे कहा— ।। ११ ।।

रताहं च्यवने पत्यौ मैवं मां पर्यशङ्कतम् ।
तावब्रूतां पुनस्त्वेनामावां देवभिषग्वरौ ।। १२ ।।
युवानं रूपसम्पन्नं करिष्यावः पतिं तव ।
ततस्तस्यावयोश्चैव वृणीष्वान्यतमं पतिम् ।। १३ ।।
एतेन समयेनैनमामन्त्रय पतिं शुभे ।

'देवेश्वरो! मैं अपने पतिदेव च्यवनमुनिमें ही पूर्ण अनुराग रखती हूँ, अतः आप मेरे विषयमें इस प्रकारकी अनुचित आशंका न करें।' तब उन दोनोंने पुनः सुकन्यासे कहा—'शुभे! हम देवताओंके श्रेष्ठ वैद्य हैं। तुम्हारे पतिको तरुण और मनोहर रूपसे सम्पन्न बना देंगे। तब तुम हम तीनोंमेंसे किसी एकको अपना पति बना लेना। इस शर्तके साथ तुम चाहो तो अपने पतिको यहाँ बुला लो' ।। १२-१३½ ।।

सा तयोर्वचनाद् राजन्नुपसंगम्य भार्गवम् ।। १४ ।।
उवाच वाक्यं यत् ताभ्यामुक्तं भृगुसुतं प्रति ।
तच्छ्रुत्वा च्यवनो भार्यामुवाच क्रियतामिति ।। १५ ।।

राजन्! उन दोनोंकी यह बात सुनकर सुकन्या च्यवन मुनिके पास गयी और अश्विनीकुमारोंने जो कुछ कहा था, वह सब उन्हें कह सुनाया। यह सुनकर च्यवनने अपनी पत्नीसे कहा—'प्रिये! देववैद्योंने जैसा कहा है, वैसा करो' ।। १४-१५ ।।

(सा भर्त्रा समनुज्ञाता क्रियतामिति चाब्रवीत् ।
श्रुत्वा तदश्विनौ वाक्यं तस्यास्तत् क्रियतामिति ।।)
ऊचतू राजपुत्रीं तां पतिस्तव विशत्वपः ।
ततोऽम्भश्च्यवनः शीघ्रं रूपार्थी प्रविवेश ह ।। १६ ।।

पतिकी यह आज्ञा पाकर सुकन्याने अश्विनीकुमारोंसे कहा—'आप मेरे पतिको रूप और यौवनसे सम्पन्न बना दें।' उसका यह कथन सुनकर अश्विनीकुमारोंने राजकुमारी सुकन्यासे कहा—'तुम्हारे पतिदेव इस जलमें प्रवेश करें।' तब च्यवन मुनिने सुन्दर रूपकी अभिलाषा लेकर शीघ्रतापूर्वक उस सरोवरके जलमें प्रवेश किया ।। १६ ।।

अश्विनावपि तद् राजन् सरः प्राविशतां तदा ।
ततो मुहूर्तादुत्तीर्णाः सर्वे ते सरसस्तदा ।। १७ ।।
दिव्यरूपधराः सर्वे युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
तुल्यवेषधराश्चैव मनसः प्रीतिवर्धनाः ।। १८ ।।

राजन्! उनके साथ ही दोनों अश्विनीकुमार भी उस सरोवरमें प्रवेश कर गये। तदनन्तर दो घड़ीके पश्चात् वे सब-के-सब दिव्य रूप धारण करके सरोवरसे बाहर निकले। उन सबकी युवावस्था थी। उन्होंने कानोंमें चमकीले कुण्डल धारण कर रखे थे। वेष-भूषा भी उनकी एक-सी ही थी और वे सभी मनकी प्रीति बढ़ानेवाले थे ।। १७-१८ ।।

तेऽब्रुवन् सहिताः सर्वे वृणीष्वान्यतमं शुभे ।
अस्माकमीप्सितं भद्रे पतित्वे वरवर्णिनि ।। १९ ।।

सरोवरसे बाहर आकर उन सबने एक साथ कहा—'शुभे! भद्रे! वरवर्णिनि! हममेंसे किसी एकको जो तुम्हारी रुचिके अनुकूल हो, अपना पति बना लो ।। १९ ।।

यत्र वाप्यभिकामासि तं वृणीष्व सुशोभने ।
सा समीक्ष्य तु तान् सर्वांस्तुल्यरूपधरान् स्थितान् ।। २० ।।

निश्चित्य मनसा बुद्धया देवी वव्रे स्वकं पतिम् ।
लब्ध्वा तु च्यवनो भार्यां वयो रूपं च वाञ्छितम् ।। २१ ।।
हृष्टोऽब्रवीन्महातेजास्तौ नासत्याविदं वचः ।
यथाहं रूपसम्पन्नो वयसा च समन्वितः ।। २२ ।।
कृतो भवद्भ्यां वृद्धः सन् भार्यां च प्राप्तवानिमाम् ।
तस्माद् युवां करिष्यामि प्रीत्याहं सोमपीथिनौ ।
मिषतो देवराजस्य सत्यमेतद् ब्रवीमि वाम् ।। २३ ।।

'अथवा शोभने! जिसको भी तुम मनसे चाहती होओ, उसीको पति बनाओ।' देवी सुकन्याने उन सबको एक-जैसा रूप धारण किये खड़े देख मन और बुद्धिसे निश्चय करके अपने पतिको ही स्वीकार किया। महातेजस्वी च्यवन मुनिने अनुकूल पत्नी, तरुण अवस्था और मनोवाञ्छित रूप पाकर बड़े हर्षका अनुभव किया और दोनों अश्विनीकुमारोंसे कहा —'आप दोनोंने मुझ बूढ़ेको रूपवान् और तरुण बना दिया, साथ ही मुझे अपनी यह भार्या भी मिल गयी; इसलिये मैं प्रसन्न होकर आप दोनोंको यज्ञमें देवराज इन्द्रके सामने ही सोमपानका अधिकारी बना दूँगा। यह मैं आपलोगोंसे सत्य कहता हूँ' ।। २०—२३ ।।

तच्छ्रुत्वा हृष्टमनसौ दिवं तौ प्रतिजग्मतुः ।

च्यवनश्च सुकन्या च सुराविव विजह्रतुः ।। २४ ।।

यह सुनकर दोनों अश्विनीकुमार प्रसन्नचित्त हो देवलोकको लौट गये और च्यवन तथा सुकन्या देवदम्पतिकी भाँति विहार करने लगे ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राप्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

शर्यातिके यज्ञमें च्यवनका इन्द्रपर कोप करके वज्रको स्तम्भित करना और उसे मारनेके लिये मदासुरको उत्पन्न करना

लोमश उवाच

ततः शुश्राव शर्यातिर्वयस्थं च्यवनं कृतम् ।
सुहृष्टः सेनया सार्धमुपायाद् भार्गवाश्रमम् ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर राजा शर्यातिने सुना कि महर्षि च्यवन युवावस्थाको प्राप्त हो गये; इस समाचारसे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वे सेनाके साथ महर्षि च्यवनके आश्रमपर आये ।। १ ।।

च्यवनं च सुकन्यां च दृष्ट्वा देवसुताविव ।
रेमे सभार्यः शर्यातिः कृत्स्नां प्राप्य महीमिव ।। २ ।।
ऋषिणा सत्कृतस्तेन सभार्यः पृथिवीपतिः ।
उपोपविष्टः कल्याणीः कथाश्चक्रे मनोरमाः ।। ३ ।।

च्यवन और सुकन्याको देवकुमारोंके समान सुखी देखकर पत्नीसहित शर्यातिको महान् हर्ष हुआ, मानो उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य मिल गया हो। च्यवन ऋषिने रानियोंसहित राजाका बड़ा आदर-सत्कार किया और उनके पास बैठकर मनको प्रिय लगनेवाली कल्याणमयी कथाएँ सुनायीं ।। २-३ ।।

अथैनं भार्गवो राजन्नुवाच परिसान्त्वयन् ।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां सम्भारानवकल्पय ।। ४ ।।

युधिष्ठिर! तत्पश्चात् भृगुनन्दन च्यवनने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'राजन्! मैं आपसे यज्ञ कराऊँगा। आप सामग्री जुटाइये' ।। ४ ।।

ततः परमसंहृष्टः शर्यातिरवनीपतिः ।
च्यवनस्य महाराज तद् वाक्यं प्रत्यपूजयत् ।। ५ ।।

महाराज! यह सुनकर राजा शर्याति बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने च्यवन मुनिके उस वचनकी बड़ी सराहना की ।। ५ ।।

प्रशस्तेऽहनि यज्ञीये सर्वकामसमृद्धिमत् ।
कारयामास शर्यातिर्यज्ञायतनमुत्तमम् ।। ६ ।।

तदनन्तर यज्ञके लिये उपयोगी शुभ दिन आनेपर शर्यातिने एक उत्तम यज्ञमण्डप तैयार करवाया, जो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित समृद्धियोंसे सम्पन्न था ।। ६ ।।

तत्रैनं च्यवनो राजन् याजयामास भार्गवः ।
अद्भुतानि च तत्रासन् यानि तानि निबोध मे ।। ७ ।।

राजन्! भृगुपुत्र च्यवनने उस यज्ञमण्डपमें राजासे यज्ञ करवाया। उस यज्ञमें जो अद्भुत बातें हुई थीं, उन्हें मुझसे सुनो ।। ७ ।।

अगृह्णाच्च्यवनः सोममश्विनोर्देवयोस्तदा ।
तमिन्द्रो वारयामास गृह्णानं स तयोर्ग्रहम् ।। ८ ।।

महर्षि च्यवनने उस समय दोनों अश्विनीकुमारों-को देनेके लिये सोमरसका भाग हाथमें लिया। उन दोनोंके लिये सोमका भाग ग्रहण करते समय इन्द्रने मुनिको मना किया ।। ८ ।।

इन्द्र उवाच

उभावेतौ न सोमार्हौ नासत्याविति मे मतिः ।
भिषजौ दिवि देवानां कर्मणा तेन नार्हतः ।। ९ ।।

इन्द्र बोले—मुने! मेरा यह सिद्धान्त है कि ये दोनों अश्विनीकुमार यज्ञमें सोमपानके अधिकारी नहीं हैं; क्योंकि ये द्युलोकनिवासी देवताओंके वैद्य हैं और उस वैद्यवृत्तिके कारण ही इन्हें यज्ञमें सोमपानका अधिकार नहीं रह गया है ।। ९ ।।

च्यवन उवाच

महोत्साहौ महात्मानौ रूपद्रविणवत्तरौ ।
यौ चक्रतुर्मां मघवन् वृन्दारकमिवाजरम् ।। १० ।।
ऋते त्वां विबुधांश्चान्यान् कथं वै नार्हतः सवम् ।
अश्विनावपि देवेन्द्र देवौ विद्धि पुरंदर ।। ११ ।।

च्यवनने कहा—मघवन्! ये दोनों अश्विनीकुमार बड़े उत्साही और महान् बुद्धिमान् हैं। रूप-सम्पत्तिमें भी सबसे बढ़-चढ़कर हैं। इन्होंने ही मुझे देवताओंके समान दिव्य रूपसे युक्त और अजर बनाया है। देवराज! फिर तुम्हारे या अन्य देवताओंके सिवा इन्हें यज्ञमें सोमरसका भाग पानेका अधिकार क्यों नहीं है? पुरंदर! इन अश्विनीकुमारोंको भी देवता ही समझो ।। १०-११ ।।

इन्द्र उवाच

चिकित्सकौ कर्मकरौ कामरूपसमन्वितौ ।
लोके चरन्तौ मर्त्यानां कथं सोममिहार्हतः ।। १२ ।।

इन्द्र बोले—ये दोनों चिकित्सा-कार्य करते हैं और मनमाना रूप धारण करके मृत्युलोकमें भी विचरते रहते हैं, फिर इन्हें इस यज्ञमें सोमपानका अधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है? ।। १२ ।।

लोमश उवाच

एतदेव यदा वाक्यमाम्रेडयति देवराट् ।
अनादृत्य ततः शक्रं ग्रहं जग्राह भार्गवः ।। १३ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जब देवराज इन्द्र बार-बार यही बात दुहराने लगे तब भृगुनन्दन च्यवनने उनकी अवहेलना करके अश्विनीकुमारोंको देनेके लिये सोमरसका भाग ग्रहण किया ।। १३ ।।

ग्रहीष्यन्तं तु तं सोममश्विनोरुत्तमं तदा ।
समीक्ष्य बलभिद् देव इदं वचनमब्रवीत् ।। १४ ।।

उस समय देववैद्योंके लिये उत्तम सोमरस ग्रहण करते देख इन्द्रने च्यवन मुनिसे इस प्रकार कहा— ।।

आभ्यामर्थाय सोमं त्वं ग्रहीष्यसि यदि स्वयम् ।
वज्रं ते प्रहरिष्यामि घोररूपमनुत्तमम् ।। १५ ।।

ब्रह्मन्! यदि तुम इन दोनोंके लिये स्वयं सोमरस ग्रहण करोगे तो मैं तुमपर अपना परम उत्तम भयंकर वज्र छोड़ दूँगा ।। १५ ।।

एवमुक्तः स्मयन्निन्द्रमभिवीक्ष्य स भार्गवः ।
जग्राह विधिवत् सोममश्विभ्यामुत्तमं ग्रहम् ।। १६ ।।

उनके ऐसा कहनेपर च्यवन मुनिने मुसकराते हुए इन्द्रकी ओर देखकर अश्विनीकुमारोंके लिये विधिपूर्वक उत्तम सोमरस हाथमें लिया ।। १६ ।।

ततोऽस्मै प्राहरद् वज्रं घोररूपं शचीपतिः ।
तस्य प्रहरतो बाहुं स्तम्भयामास भार्गवः ।। १७ ।।

तब शचीपति इन्द्र उनके ऊपर भयंकर वज्र छोड़ने लगे, परंतु वे जैसे ही प्रहार करने लगे, भृगुनन्दन च्यवनने उनकी भुजाको स्तंभित कर दिया ।। १७ ।।

तं स्तम्भयित्वा च्यवनो जुहुवे मन्त्रतोऽनलम् ।
कृत्यार्थी सुमहातेजा देवं हिंसितुमुद्यतः ।। १८ ।।

इस प्रकार उनकी भुजा स्तंभित करके महातेजस्वी च्यवन ऋषिने मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्निमें आहुति दी। वे देवराज इन्द्रको मार डालनेके लिये उद्यत होकर कृत्या उत्पन्न करना चाहते थे ।। १८ ।।

ततः कृत्याथ संजज्ञे मुनेस्तस्य तपोबलात् ।
मदो नाम महावीर्यो बृहत्कायो महासुरः ।। १९ ।।
शरीरं यस्य निर्देष्टुमशक्यं तु सुरासुरैः ।
तस्यास्यमभवद् घोरं तीक्ष्णाग्रदशनं महत् ।। २० ।।
हनुरेका स्थिता त्वस्य भूमावेका दिवं गता ।
चतस्रश्चायता दंष्ट्रा योजनानां शतं शतम् ।। २१ ।।

च्यवन ऋषिके तपोबलसे वहाँ कृत्या प्रकट हो गयी। उस कृत्याके रूपमें महापराक्रमी विशालकाय महादैत्य मदका प्रादुर्भाव हुआ। जिसके शरीरका वर्णन देवता तथा असुर भी नहीं कर सकते। उस असुरका विशाल मुख बड़ा भयंकर था। उसके आगेके दाँत बड़े तीखे दिखायी देते थे। उसका ठोड़ीसहित नीचेका ओष्ठ धरतीपर टिका हुआ था और दूसरा स्वर्गलोकतक पहुँच गया था। उसकी चार दाढ़ें सौ-सौ योजनतक फैली हुई थीं ।। १९—२१ ।।

इतरे तस्य दशना बभूवुर्दशयोजनाः ।
प्रासादशिखराकाराः शूलाग्रसमदर्शनाः ।। २२ ।।

उस दैत्यके दूसरे दाँत भी दस-दस योजन लम्बे थे। उनकी आकृति महलोंके कँगूरोंके समान थी। उनका अग्रभाग शूलके समान तीखा दिखलायी देता था ।। २२ ।।

बाहू पर्वतसंकाशावायतावयुतं समौ ।
नेत्रे रविशशिप्रख्ये वक्त्रं कालाग्निसंनिभम् ।। २३ ।।
लेलिहज्जिह्वया वक्त्रं विद्युच्चपललोलया ।
व्यात्ताननो घोरदृष्टिर्ग्रसन्निव जगद् बलात् ।। २४ ।।
स भक्षयिष्यन् संक्रुद्धः शतक्रतुमुपाद्रवत् ।
महता घोररूपेण लोकाञ्छब्देन नादयन् ।। २५ ।।

दोनों भुजाएँ दो पर्वतोंके समान प्रतीत होती थीं। दोनोंकी लंबाई एक समान दस-दस हजार योजनकी थी। उसके दोनों नेत्र चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रज्वलित हो रहे थे।

उसका मुख प्रलयकालकी अग्निके समान जाज्वल्यमान जान पड़ता था। उसकी लपलपाती हुई चञ्चल जीभ विद्युत्के समान चमक रही थी और उसके द्वारा वह अपने जबड़ोंको चाट रहा था। उसका मुख खुला हुआ था और दृष्टि भयंकर थी; ऐसा जान पड़ता था, मानो वह सारे जगत्को बलपूर्वक निगल जायगा। वह दैत्य कुपित हो अपनी अत्यन्त भयंकर गर्जनासे सम्पूर्ण जगत्को गुँजाता हुआ इन्द्रको खा जानेके लिये उनकी ओर दौड़ा ।। २३—२५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२४ ।।

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अश्विनीकुमारोंका यज्ञमें भाग स्वीकार कर लेनेपर इन्द्रका संकट-मुक्त होना तथा लोमशजीके द्वारा अन्यान्य तीर्थोंके महत्त्वका वर्णन

लोमश उवाच

तं दृष्ट्वा घोरवदनं मदं देवः शतक्रतुः ।
आयान्तं भक्षयिष्यन्तं व्यात्ताननमिवान्तकम् ।। १ ।।
भयात् संस्तम्भितभुजः सृक्किणी लेलिहन् मुहुः ।
ततोऽब्रवीद् देवराजश्च्यवनं भयपीडितः ।। २ ।।
सोमार्हावश्विनावेतावद्यप्रभृति भार्गव ।
भविष्यतः सत्यमेतद् वचो विप्रः प्रसीद मे ।। ३ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! मुँह बाये हुए यमराजकी भाँति भयंकर मुखवाले उस मदासुरको निगलनेके लिये आते देख देवराज इन्द्र भयसे व्याकुल हो गये। जिनकी भुजाएँ स्तब्ध हो गयी थीं, वे इन्द्र मृत्युके डरसे घबराकर बार-बार ओष्ठप्रान्त चाटने लगे। उसी अवस्थामें उन्होंने महर्षि च्यवनसे कहा—'भृगुनन्दन! ये दोनों अश्विनीकुमार आजसे सोमपानके अधिकारी होंगे। मेरी यह बात सत्य है, अतः आप मुझपर प्रसन्न हों ।। १—३ ।।

न ते मिथ्या समारम्भो भवत्वेष परो विधिः ।
जानामि चाहं विप्रर्षे न मिथ्या त्वं करिष्यसि ।। ४ ।।
सोमार्हावश्विनावेतौ यथा वाद्य कृतौ त्वया ।
भूय एव तु ते वीर्यं प्रकाशेदिति भार्गव ।। ५ ।।
सुकन्यायाः पितुश्चास्य लोके कीर्तिः प्रथेदिति ।
अतो मयैतद् विहितं तव वीर्यप्रकाशनम् ।। ६ ।।
तस्मात् प्रसादं कुरु मे भवत्वेवं यथेच्छसि ।

'आपके द्वारा किया हुआ यह यज्ञका आयोजन मिथ्या न हो। आपने जो कर दिया वही उत्तम विधान हो। ब्रह्मर्षे! मैं जानता हूँ, आप अपना संकल्प कभी मिथ्या न होने देंगे। आज आपने इन अश्विनीकुमारोंको जैसे सोमपानका अधिकारी बनाया है उसी प्रकार मेरा भी कल्याण कीजिये। भृगुनन्दन! आपकी अधिक-से-अधिक शक्ति प्रकाशमें आवे तथा जगत्‌में सुकन्या और इसके पिताकी कीर्तिका विस्तार हो। इस उद्देश्यसे मैंने यह आपके बल-वीर्यको प्रकाशित करनेवाला कार्य किया है। अतः आप प्रसन्न होकर मेरे ऊपर कृपा करें। आप जैसा चाहते हैं, वैसा ही होगा' ।। ४—६½ ।।

एवमुक्तस्य शक्रेण भार्गवस्य महात्मनः ।। ७ ।।
स मन्युर्व्यगमच्छीघ्रं मुमोच च पुरंदरम् ।
मदं च व्यभजद् राजन् पाने स्त्रीषु च वीर्यवान् ।। ८ ।।
अक्षेषु मृगयायां च पूर्वसृष्टं पुनः पुनः ।
तदा मदं विनिक्षिप्य शक्रं संतर्प्य चेन्दुना ।। ९ ।।
अश्विभ्यां सहितान् देवान् याजयित्वा च तं नृपम् ।
विख्याप्य वीर्यं लोकेषु सर्वेषु वदतां वरः ।। १० ।।
सुकन्यया सहारण्ये विजहारानुकूलया ।
तस्यैतद् द्विजसंघुष्टं सरो राजन् प्रकाशते ।। ११ ।।

इन्द्रके ऐसा कहनेपर भृगुनन्दन महामना च्यवनका क्रोध शीघ्र शान्त हो गया और उन्होंने देवेन्द्रको (उसी क्षण) सम्पूर्ण दुःखोंसे, मुक्त कर दिया। राजन्! उन शक्तिशाली ऋषिने मदको, जिसे पहले उन्होंने ही उत्पन्न किया था, मद्यपान, स्त्री, जूआ और मृगया (शिकार)—इन चार स्थानोंमें पृथक्-पृथक् बाँट दिया। इस प्रकार मदको दूर हटाकर उन्होंने देवराज इन्द्र और अश्विनीकुमारोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको सोमरससे तृप्त किया तथा राजा शर्यातिका यज्ञ पूर्ण कराकर समस्त लोकोंमें अपनी अद्भुत शक्तिको विख्यात करके वक्ताओंमें श्रेष्ठ च्यवन ऋषि अपनी मनोनुकूल पत्नी सुकन्याके साथ वनमें विहार करने लगे। युधिष्ठिर! यह जो पक्षियोंके कलरवसे गूँजता हुआ सरोवर सुशोभित हो रहा है, महर्षि च्यवनका ही है ।। ७—११ ।।

अत्र त्वं सह सोदर्यैः पितॄन् देवांश्च तर्पय ।
एतद् दृष्ट्वा महीपाल सिकताक्षं च भारत ।। १२ ।।
सैन्धवारण्यमासाद्य कुल्यानां कुरु दर्शनम् ।
पुष्करेषु महाराज सर्वेषु च जलं स्पृश ।। १३ ।।
स्थाणोर्मन्त्राणि च जपन् सिद्धिं प्राप्स्यसि भारत ।
संधिर्द्वयोर्नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च ।। १४ ।।

तुम भाइयोंसहित इसमें स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण करो। भूपाल! भरतनन्दन! इस सरोवरका और सिकताक्षतीर्थका दर्शन करके सैन्धवारण्यमें पहुँचकर वहाँकी छोटी-छोटी नदियोंके दर्शन करना। महाराज! यहाँके सभी तालाबमें जाकर जलका स्पर्श करो। भारत! स्थाणु (शिव)-के मन्त्रोंका जप करते हुए उन तीर्थोंमें स्नान करनेसे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। नरश्रेष्ठ! यह त्रेता और द्वापरकी संधिके समय प्रकट हुआ तीर्थ है ।। १२—१४ ।।

अयं हि दृश्यते पार्थ सर्वपापप्रणाशनः ।
अत्रोपस्पृश्य चैव त्वं सर्वपापप्रणाशने ।। १५ ।।

युधिष्ठिर! यह सब पापोंका नाश करनेवाला तीर्थ दिखायी देता है। इस सर्वपापनाशन तीर्थमें स्नान करके तुम शुद्ध हो जाओगे ।। १५ ।।

आर्चीकपर्वतश्चैव निवासो वै मनीषिणाम् ।
सदाफलः सदास्रोतो मरुतां स्थानमुत्तमम् ।। १६ ।।

इसके आगे आर्चीक पर्वत है, जहाँ मनीषी पुरुष निवास करते हैं। वहाँ सदा फल लगे रहते हैं और निरन्तर पानीके झरने बहते हैं। इस पर्वतपर अनेक देवताओंके उत्तम स्थान हैं ।। १६ ।।

चैत्याश्चैते बहुविधास्त्रिदशानां युधिष्ठिर ।
एतच्चन्द्रमसस्तीर्थमृषयः पर्युपासते ।
वैखानसा बालखिल्याः पावका वायुभोजनाः ।। १७ ।।
शृङ्गाणि त्रीणि पुण्यानि त्रीणि प्रस्रवणानि च ।
सर्वाण्यनुपरिक्रम्य यथाकाममुपस्पृश ।। १८ ।।

युधिष्ठिर! ये देवताओंके अनेकानेक मन्दिर दिखायी देते हैं, जो नाना प्रकारके हैं। यह चन्द्रतीर्थ है, जिसकी बहुत-से ऋषिलोग उपासना करते हैं। यहाँ बालखिल्य नामक वैखानस महात्मा रहते हैं जो वायुका आहार करनेवाले और परम पावन हैं। यहाँ तीन पवित्र शिखर और तीन झरने हैं। इन सबकी इच्छानुसार परिक्रमा करके स्नान करो ।। १७-१८ ।।

शान्तनुश्चात्र राजेन्द्र शुनकश्च नराधिपः ।
नरनारायणौ चोभौ स्थानं प्राप्ताः सनातनम् ।। १९ ।।

राजेन्द्र! यहाँ राजा शान्तनु, शुनक और नर-नारायण—ये सभी नित्य धाममें गये हैं ।। १९ ।।

इह नित्यशया देवाः पितरश्च महर्षिभिः ।
आर्चीकपर्वते तेपुस्तान् यजस्व युधिष्ठिर ।। २० ।।

युधिष्ठिर! इस आर्चीक पर्वतपर नित्य निवास करते हुए महर्षियोंसहित जिन देवताओं और पितरोंने तपस्या की है, तुम उन सबकी पूजा करो ।। २० ।।

इह ते वै चरून् प्राश्नन्नृषयश्च विशाम्पते ।
यमुना चाक्षयस्रोता कृष्णश्चेह तपोरतः ।। २१ ।।
यमौ च भीमसेनश्च कृष्णा चामित्रकर्शन ।
सर्वे चात्र गमिष्यामस्त्वयैव सह पाण्डव ।। २२ ।।
एतत् प्रस्रवणं पुण्यमिन्द्रस्य मनुजेश्वर ।
यत्र धाता विधाता च वरुणश्चोर्ध्वमागताः ।। २३ ।।

राजन्! यहाँ देवताओं और ऋषियोंने चरुभोजन किया था। इसके पास ही अक्षय प्रवाहवाली यमुना नदी बहती है। यहीं भगवान् कृष्णने भी तपस्या की है। शत्रुदमन! नकुल,

सहदेव, भीमसेन, द्रौपदी और हम सब लोग तुम्हारे साथ इसी स्थानपर चलेंगे। पाण्डुनन्दन! यह इन्द्रका पवित्र झरना है। नरेश्वर! यह वही स्थान है जहाँ धाता, विधाता और वरुण ऊर्ध्वलोक गये हैं ।। २१—२३ ।।

इह तेऽप्यवसन् राजन् क्षान्ताः परमधर्मिणः ।
मैत्राणामृजुबुद्धीनामयं गिरिवरः शुभः ।। २४ ।।

राजन्! वे क्षमाशील और परम धर्मात्मा पुरुष यहीं रहते थे। सरल बुद्धि तथा सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाले सत्पुरुषोंके लिये यह श्रेष्ठ पर्वत शुभ आश्रय है ।। २४ ।।

एषा सा यमुना राजन् महर्षिगणसेविता ।
नानायज्ञचिता राजन् पुण्या पापभयापहा ।। २५ ।।
अत्र राजा महेष्वासो मान्धातायजत स्वयम् ।
साहदेविश्च कौन्तेय सोमको ददतां वरः ।। २६ ।।

राजन्! यही वह महर्षिगणसेवित पुण्यमयी यमुना है जिसके तटपर अनेक यज्ञ हो चुके हैं। यह पापके भयको दूर भगानेवाली है। कुन्तीनन्दन! यहीं महान् धनुर्धर राजा मान्धाताने स्वयं यज्ञ किया था। दानिशिरोमणि सहदेव-कुमार सोमकने भी इसीके तटपर यज्ञानुष्ठान किया ।। २५-२६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौकन्ये पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सुकन्योपाख्यानविषयक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२५ ।।

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा मान्धाताकी उत्पत्ति और संक्षिप्त चरित्र

युधिष्ठिर उवाच

मान्धाता राजशार्दूलस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
कथं जातो महाब्रह्मन् यौवनाश्वो नृपोत्तमः ।। १ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—ब्राह्मणश्रेष्ठ! युवनाश्वके पुत्र नृपश्रेष्ठ मान्धाता तीनों लोकोंमें विख्यात थे। उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई थी? ।। १ ।।

कथं चैनां परां काष्ठां प्राप्तवानमितद्युतिः ।
यस्य लोकास्त्रयो वश्या विष्णोरिव महात्मनः ।। २ ।।

अमित तेजस्वी मान्धाताने यह सर्वोच्च स्थिति कैसे प्राप्त कर ली थी? सुना है, परमात्मा विष्णुके समान महाराज मान्धाताके वशमें तीनों लोक थे ।। २ ।।

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं चरितं तस्य धीमतः ।
(सत्यकीर्तेर्हि मान्धातुः कथ्यमानं त्वयानघ ।)
यथा मान्धातृशब्दश्च तस्य शक्रसमद्युतेः ।
जन्म चाप्रतिवीर्यस्य कुशलो ह्यसि भाषितुम् ।। ३ ।।

निष्पाप महर्षे! मैं आपके मुखसे उन सत्यकीर्ति एवं बुद्धिमान् राजा मान्धाताका वह सब चरित्र सुनना चाहता हूँ। इन्द्रके समान तेजस्वी और अनुपम पराक्रमी उन नरेशका ‘मान्धाता’ नाम कैसे हुआ? और उनके जन्मका वृत्तान्त क्या है? बताइये; क्योंकि आप ये सब बातें बतानेमें कुशल हैं ।। ३ ।।

लोमश उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
यथा मान्धातृशब्दो वै लोकेषु परिगीयते ।। ४ ।।

लोमशजीने कहा—राजन्! लोकमें उन महामना नरेशका ‘मान्धाता’ नाम कैसे प्रचलित हुआ? यह बतलाता हूँ, ध्यान देकर सुनो ।। ४ ।।

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो युवनाश्वो महीपतिः ।
सोऽयजत् पृथिवीपालः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।। ५ ।।

इक्ष्वाकुवंशमें युवनाश्व नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। भूपाल युवनाश्वने प्रचुर दक्षिणावाले बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया ।। ५ ।।

अश्वमेधसहस्रं च प्राप्य धर्मभृतां वरः ।
अन्यैश्च क्रतुभिर्मुख्यैरयजत् स्वाप्तदक्षिणैः ।। ६ ।।

वे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने एक सहस्र अश्वमेधयज्ञ पूर्ण करके बहुत दक्षिणाके साथ दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा भी भगवान्‌की आराधना की ।। ६ ।।

अनपत्यस्तु राजर्षिः स महात्मा महाव्रतः ।
मन्त्रिष्वाधाय तद् राज्यं वननित्यो बभूव ह ।। ७ ।।
शास्त्रदृष्टेन विधिना संयोज्यात्मानमात्मवान् ।
स कदाचिन्नृपो राजन्नुपवासेन दुःखितः ।। ८ ।।
पिपासाशुष्कहृदयः प्रविवेशाश्रमं भृगोः ।
तामेव रात्रिं राजेन्द्र महात्मा भृगुनन्दनः ।। ९ ।।
इष्टिं चकार सौद्युम्नेर्महर्षिः पुत्रकारणात् ।
सम्भृतो मन्त्रपूतेन वारिणा कलशो महान् ।। १० ।।

वे महामना राजर्षि महान् व्रतका पालन करनेवाले थे तो भी उनके कोई संतान नहीं हुई। तब वे मनस्वी नरेश राज्यका भार मन्त्रियोंपर रखकर शास्त्रीय विधिके अनुसार अपने-आपको परमात्म-चिन्तनमें लगाकर सदा वनमें ही रहने लगे। एक दिनकी बात है, राजा युवनाश्व उपवासके कारण दुःखित हो गये। प्याससे उनका हृदय सूखने लगा। उन्होंने जल पीनेकी इच्छासे रातके समय महर्षि भृगुके आश्रममें प्रवेश किया। राजेन्द्र! उसी रातमें महात्मा भृगुनन्दन महर्षि च्यवनने सुद्युम्नकुमार युवनाश्वको पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये एक इष्टि की थी। उस इष्टिके समय महर्षिने मन्त्रपूत जलसे एक बहुत बड़े कलशको भरकर रख दिया था ।। ७—१० ।।

तत्रातिष्ठत राजेन्द्र पूर्वमेव समाहितः ।
यत् प्राश्य प्रसवेत् तस्य पत्नी शक्रसमं सुतम् ।। ११ ।।

महाराज! वह कलशका जल पहलेसे ही आश्रमके भीतर इस उद्देश्यसे रखा गया था कि उसे पीकर राजा युवनाश्वकी रानी इन्द्रके समान शक्तिशाली पुत्रको जन्म दे सके ।। ११ ।।

तं न्यस्य वेद्यां कलशं सुषुपुस्ते महर्षयः ।
रात्रिजागरणाच्छ्रान्तान् सौद्युम्निः समतीत्य तान् ।। १२ ।।

उस कलशको वेदीपर रखकर सभी महर्षि सो गये थे। रातमें देरतक जागनेके कारण वे सब-के-सब थके हुए थे। युवनाश्व उन्हें लाँघकर आगे बढ़ गये ।। १२ ।।

शुष्ककण्ठः पिपासार्तः पानीयार्थी भृशं नृपः ।
तं प्रविश्याश्रमं शान्तः पानीयं सोऽभ्ययाचत ।। १३ ।।

वे प्याससे पीड़ित थे। उनका कण्ठ सूख गया था। पानी पीनेकी अत्यन्त अभिलाषासे वे उस आश्रमके भीतर गये और शान्तभावसे जलके लिये याचना करने लगे ।। १३ ।।

तस्य श्रान्तस्य शुष्केण कण्ठेन क्रोशतस्तदा ।
नाश्रौषीत् कश्चन तदा शकुनेरिव वाशतः ।। १४ ।।

राजा थककर सूखे कण्ठसे पानीके लिये चिल्ला रहे थे, परंतु उस समय चें-चें करनेवाले पक्षीकी भाँति उनकी चीख-पुकार कोई भी न सुन सका ।। १४ ।।

ततस्तं कलशं दृष्ट्वा जलपूर्णं स पार्थिवः ।
अभ्यद्रवत वेगेन पीत्वा चाम्भो व्यवासृजत् ।। १५ ।।

तदनन्तर जलसे भरे हुए पूर्वोक्त कलशपर उनकी दृष्टि पड़ी। देखते ही वे बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े और (इच्छानुसार) पीकर उन्होंने बचे हुए जलको वहीं गिरा दिया ।। १५ ।।

स पीत्वा शीतलं तोयं पिपासार्तो महीपतिः ।
निर्वाणमगमद् धीमान् सुसुखी चाभवत् तदा ।। १६ ।।

राजा युवनाश्व प्याससे बड़ा कष्ट पा रहे थे। वह शीतल जल पीकर उन्हें बड़ी शान्ति मिली। वे बुद्धिमान् नरेश उस समय जल पीनेसे बहुत सुखी हुए ।। १६ ।।

ततस्ते प्रत्यबुध्यन्त मुनयः सतपोधनाः ।
निस्तोयं तं च कलशं ददृशुः सर्व एव ते ।। १७ ।।

तत्पश्चात् तपोधन च्यवन मुनिके सहित सब मुनि जाग उठे। उन सबने उस कलशको जलसे शून्य देखा ।।

कस्य कर्मेदमिति ते पर्यपृच्छन् समागताः ।
युवनाश्वो ममेत्येवं सत्यं समभिपद्यत ।। १८ ।।

फिर तो वे सब एकत्र हो गये और एक-दूसरेसे पूछने लगे—'यह किसका कर्म है?' युवनाश्वने सामने आकर कहा—'यह मेरा ही कर्म है।' इस प्रकार उन्होंने सत्यको स्वीकार कर लिया ।। १८ ।।

न युक्तमिति तं प्राह भगवान् भार्गवस्तदा ।
सुतार्थं स्थापिता ह्यापस्तपसा चैव सम्भृताः ।। १९ ।।
मया ह्यत्राहितं ब्रह्म तप आस्थाय दारुणम् ।
पुत्रार्थं तव राजर्षे महाबलपराक्रम ।। २० ।।

तब भगवान् च्यवनने कहा—'महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न राजर्षि युवनाश्व! यह तुमने ठीक नहीं किया। इस कलशमें मैंने तुम्हें ही पुत्र प्रदान करनेके लिये तपस्यासे संस्कारयुक्त किया हुआ जल रखा था और कठोर तपस्या करके उसमें ब्रह्मतेजकी स्थापना की थी ।। १९-२० ।।

महाबलो महावीर्यस्तपोबलसमन्वितः ।
यः शक्रमपि वीर्येण गमयेद् यमसादनम् ।। २१ ।।
अनेन विधिना राजन् मयैतदुपपादितम् ।
अब्भक्षणं त्वया राजन् न युक्तं कृतमद्य वै ।। २२ ।।

'राजन्! उक्त विधिसे इस जलको मैंने ऐसा शक्तिसम्पन्न कर दिया था कि इसको पीनेसे एक महाबली, महापराक्रमी और तपोबल सम्पन्न पुत्र उत्पन्न हो जो अपने बल-पराक्रमसे देवराज इन्द्रको भी यमलोक पहुँचा सके। उसी जलको तुमने आज पी लिया, यह अच्छा नहीं किया ।। २१-२२ ।।

न त्वद्य शक्यमस्माभिरेतत् कर्तुमतोऽन्यथा ।
नूनं दैवकृतं ह्येतद् यदेवं कृतवानसि ।। २३ ।।

'अब हमलोग इसके प्रभावको टालने या बदलनेमें असमर्थ हैं। तुमने जो ऐसा कार्य कर डाला है, इसमें निश्चय ही दैवकी प्रेरणा है ।। २३ ।।

पिपासितेन याः पीता विधिमन्त्रपुरस्कृताः ।
आपस्त्वया महाराज मत्तपोवीर्यसम्भृताः ।। २४ ।।
ताभ्यस्त्वमात्मना पुत्रमीदृशं जनयिष्यसि ।
विधास्यामो वयं तत्र तवेष्टिं परमाद्भुताम् ।। २५ ।।
यथा शक्रसमं पुत्रं जनयिष्यसि वीर्यवान् ।
गर्भधारणजं वापि न खेदं समवाप्स्यसि ।। २६ ।।

'महाराज! तुमने प्याससे व्याकुल होकर जो मेरे तपोबलसे संचित तथा विधिपूर्वक मन्त्रसे अभिमन्त्रित जलको पी लिया है, उसके कारण तुम अपने ही पेटसे तथाकथित इन्द्रविजयी पुत्रको जन्म दोगे। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये हम तुम्हारी इच्छाके अनुरूप अत्यन्त अद्भुत यज्ञ करायेंगे जिससे तुम स्वयं भी शक्तिशाली रहकर इन्द्रके समान पराक्रमी पुत्र उत्पन्न कर सकोगे और गर्भधारणजनित कष्टका भी तुम्हें अनुभव न होगा' ।। २४—२६ ।।

ततो वर्षशते पूर्णे तस्य राज्ञो महात्मनः ।
वामं पार्श्वं विनिर्भिद्य सुतः सूर्य इव स्थितः ।। २७ ।।
निश्चक्राम महातेजा न च तं मृत्युराविशत् ।
युवनाश्वं नरपतिं तदद्भुतमिवाभवत् ।। २८ ।।

तदनन्तर पूरे सौ वर्ष बीतनेपर उन महात्मा राजा युवनाश्वकी बायीं कोख फाड़कर एक सूर्यके समान महातेजस्वी बालक बाहर निकला तथा राजाकी मृत्यु भी नहीं हुई। यह एक अद्भुत-सी बात हुई ।। २७-२८ ।।

ततः शक्रो महातेजास्तं दिदृक्षुरुपागमत् ।
ततो देवा महेन्द्रं तमपृच्छन् धास्यतीति किम् ।। २९ ।।

तत्पश्चात् महातेजस्वी इन्द्र उस बालकको देखनेके लिये वहाँ आये। उस समय देवताओंने महेन्द्रसे पूछा—यह बालक क्या पीयेगा? ।। २९ ।।

प्रदेशिनीं ततोऽस्यास्ये शक्रः समभिसंदधे ।
मामयं धास्यतीत्येवं भाषिते चैव वज्रिणा ।। ३० ।।
मान्धातेति च नामास्य चक्रुः सेन्द्रा दिवौकसः ।। ३१ ।।
प्रदेशिनीं शक्रदत्तामास्वाद्य स शिशुस्तदा ।
अवर्धत महातेजाः किष्कून् राजंस्त्रयोदश ।। ३२ ।।

तब इन्द्रने अपनी तर्जनी अंगुली बालकके मुँहमें डाल दी और कहा—**'माम् अयं धाता ।'** 'अर्थात् यह मुझे ही पीयेगा' वज्रधारी इन्द्रके ऐसा कहनेपर इन्द्र आदि सब देवताओंने मिलकर उस बालकका नाम 'मान्धाता' रख दिया। राजन्! इन्द्रकी दी हुई प्रदेशिनी (तर्जनी) अंगुलिका रसास्वादन करके वह महातेजस्वी शिशु तेरह बित्ता बढ़ गया ।। ३०—३२ ।।

वेदास्तं सधनुर्वेदा दिव्यान्यस्त्राणि चेश्वरम् ।
उपतस्थुर्महाराज ध्यातमात्रस्य सर्वशः ।। ३३ ।।

महाराज! उस समय शक्तिशाली मान्धाताके चिन्तन करनेमात्रसे ही धनुर्वेदसहित सम्पूर्ण वेद और दिव्य अस्त्र (ईश्वरकी कृपासे) उपस्थित हो गये ।। ३३ ।।

आजगवं नाम धनुः शतः शृङ्गोद्भवाश्च ये ।
अभेद्यं कवचं चैव सद्यस्तमुपशिश्रियुः ।। ३४ ।।

आजगव नामक धनुष, सींगके बने हुए बाण और अभेद्य कवच—सभी तत्काल उनकी सेवामें आ गये ।।

सोऽभिषिक्तो मघवता स्वयं शक्रेण भारत ।
धर्मेण व्यजयल्लोकांस्त्रीन् विष्णुरिव विक्रमैः ।। ३५ ।।

भारत! साक्षात् देवराज इन्द्रने मान्धाताका राज्याभिषेक किया। भगवान् विष्णुने जैसे तीन पगोंद्वारा त्रिलोकीको नाप लिया था, उसी प्रकार मान्धाताने भी धर्मके द्वारा तीनों लोकोंको जीत लिया ।। ३५ ।।

तस्याप्रतिहतं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः ।
रत्नानि चैव राजर्षिं स्वयमेवोपतस्थिरे ।। ३६ ।।

उन महात्मा नरेशका शासनचक्र सर्वत्र बेरोक-टोक चलने लगा। सारे रत्न राजर्षि मान्धाताके यहाँ स्वयं उपस्थित हो जाते थे ।। ३६ ।।

तस्यैवं वसुसम्पूर्णा वसुधा वसुधाधिप ।
तेनेष्टं विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ।। ३७ ।।

युधिष्ठिर! इस प्रकार उनके लिये यह सारी पृथ्वी धन-रत्नोंसे परिपूर्ण थी। उन्होंने पर्याप्त दक्षिणावाले नाना प्रकारके बहुसंख्यक यज्ञोंद्वारा भगवान्‌की समाराधना की ।। ३७ ।।

चितचैत्यो महातेजा धर्मान् प्राप्य च पुष्कलान् ।
शक्रस्यार्धासनं राजँल्लब्धवानमितद्युतिः ।। ३८ ।।

राजन्! महातेजस्वी एवं परम कान्तिमान् राजा मान्धाताने यज्ञमण्डपोंका निर्माण करके पर्याप्त धर्मका सम्पादन किया और उसीके फलसे स्वर्गलोकमें इन्द्रका आधा सिंहासन प्राप्त कर लिया ।। ३८ ।।

एकाह्नात् पृथिवी तेन धर्मनित्येन धीमता ।
विजिता शासनादेव सरत्नाकरपत्तना ।। ३९ ।।

उन धर्मपरायण बुद्धिमान् नरेशने केवल शासनमात्रसे एक ही दिनमें समुद्र, खान और नगरोंसहित सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर ली ।। ३९ ।।

तस्य चैत्यैर्महाराज क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
चतुरन्ता मही व्याप्ता नासीत् किंचिदनावृतम् ।। ४० ।।

महाराज! उनके दक्षिणायुक्त यज्ञोंके चैत्यों (यज्ञमण्डपों)-से चारों ओरकी पृथ्वी भर गयी थी, कहीं कोई भी स्थान ऐसा नहीं था जो उनके यज्ञमण्डपोंसे घिरा न हो ।। ४० ।।

तेन पद्मसहस्राणि गवां दश महात्मना ।
ब्राह्मणानां महाराज दत्तानीति प्रचक्षते ।। ४१ ।।

महाराज! महात्मा राजा मान्धाताने दस हजार पद्म गौएँ ब्राह्मणोंको दानमें दी थीं, ऐसा जानकार-लोग कहते हैं ।। ४१ ।।

तेन द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां महात्मना ।
वृष्टं सस्यविवृद्ध्यर्थं मिषतो वज्रपाणिनः ।। ४२ ।।

उन महामना नरेशने बारह वर्षोंतक होनेवाली अनावृष्टिके समय वज्रधारी इन्द्रके देखते-देखते खेतीकी उन्नतिके लिये स्वयं पानीकी वर्षा की थी ।। ४२ ।।

तेन सोमकुलोत्पन्नो गान्धाराधिपतिर्महान् ।
गर्जन्निव महामेघः प्रमथ्य निहतः शरैः ।। ४३ ।।

उन्होंने महामेघके समान गर्जते हुए महापराक्रमी चन्द्रवंशी गान्धारराजको बाणोंसे घायल करके मार डाला था ।। ४३ ।।

प्रजाश्चतुर्विधास्तेन त्राता राजन् कृतात्मना ।
तेनात्मतपसा लोकास्तापिताश्चातितेजसा ।। ४४ ।।

युधिष्ठिर! वे अपने मनको वशमें रखते थे। उन्होंने अपने तपोबलसे देवता, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावर—चार प्रकारकी प्रजाकी रक्षा की थी; साथ ही अपने अत्यन्त तेजसे सम्पूर्ण लोकोंको संतप्त कर दिया था ।।

तस्यैतद् देवयजनं स्थानमादित्यवर्चसः ।
पश्य पुण्यतमे देशे कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः ।। ४५ ।।
(तथा त्वमपि राजेन्द्र मान्धातेव महीपतिः ।
धर्मं कृत्वा महीं रक्षन् स्वर्गलोकमवाप्स्यसि ।।)

सूर्यके समान तेजस्वी उन्हीं महाराज मान्धाताके देवयज्ञका यह स्थान है जो कुरुक्षेत्रकी सीमाके भीतर परम पवित्र प्रदेशमें स्थित है, इसका दर्शन करो। राजेन्द्र! महाराज मान्धाताकी भाँति तुम भी धर्मपूर्वक पृथ्वीकी रक्षा करते रहनेपर अक्षय स्वर्गलोक प्राप्त कर लोगे ।।

एतत् ते सर्वमाख्यातं मान्धातुश्चरितं महत् ।
जन्म चाग्र्यं महीपाल यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।। ४६ ।।

भूपाल! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रहे थे, वह मान्धाताका उत्तम जन्मवृत्तान्त और उनका महान् चरित्र सब कुछ तुम्हें सुना दिया ।। ४६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स कौन्तेयो लोमशेन महर्षिणा ।
पप्रच्छानन्तरं भूयः सोमकं प्रति भारत ।। ४७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! महर्षि लोमशके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने पुनः सोमकके विषयमें प्रश्न किया ।। ४७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां मान्धातोपाख्याने षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें मान्धातोपाख्यानविषयक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १ $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ४८ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं)

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सोमक और जन्तुका उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

कथं वीर्यः स राजाभूत् सोमको वदतां वर ।
कर्माण्यस्य प्रभावं च श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।। १ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! राजा सोमकका बल-पराक्रम कैसा था? मैं उनके कर्म और प्रभावका यथार्थ वर्णन सुनना चाहता हूँ ।। १ ।।

लोमश उवाच

युधिष्ठिरासीन्नृपतिः सोमको नाम धार्मिकः ।
तस्य भार्याशतं राजन् सदृशीनामभूत् तदा ।। २ ।।

लोमशजीने कहा—युधिष्ठिर! सोमक नामसे प्रसिद्ध एक धर्मात्मा राजा राज्य करते थे। उनकी सौ रानियाँ थीं। वे सभी रूप-अवस्था आदिमें प्रायः एक समान थीं ।। २ ।।

स वै यत्नेन महता तासु पुत्रं महीपतिः ।
कंचिन्नासादयामास कालेन महता ह्यपि ।। ३ ।।

परंतु दीर्घकालतक महान् प्रयत्न करते रहनेपर भी वे अपनी उन रानियोंके गर्भसे कोई पुत्र न प्राप्त कर सके ।। ३ ।।

कदाचित् तस्य वृद्धस्य घटमानस्य यत्नतः ।
जन्तुर्नाम सुतस्तस्मिन् स्त्रीशते समजायत ।। ४ ।।

राजा सोमक वृद्धावस्थामें भी इसके लिये निरन्तर यत्नशील थे; अतः किसी समय उनकी सौ स्त्रियोंमेंसे किसी एकके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम था जन्तु ।। ४ ।।

तं जातं मातरः सर्वाः परिवार्य समासत ।
सततं पृष्ठतः कृत्वा कामभोगान् विशाम्पते ।। ५ ।।

राजन्! उसके जन्म लेनेके पश्चात् सभी माताएँ काम-भोगकी ओरसे मुँह मोड़कर सदा उसी बच्चेके पास उसे सब ओरसे घेरकर बैठी रहती थीं ।। ५ ।।

ततः पिपीलिका जन्तुं कदाचिददशत् स्फिचि ।
स दष्टो व्यनदन्नादं तेन दुःखेन बालकः ।। ६ ।।

एक दिन एक चींटीने जन्तुके कटिभागमें डँस लिया। चींटीके काटनेपर उसकी पीड़ासे विकल हो जन्तु सहसा रोने लगा ।। ६ ।।

ततस्ता मातरः सर्वाः प्राक्रोशन् भृशदुःखिताः ।

प्रवार्य जन्तुं सहसा स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।। ७ ।।

इससे उसकी सब माताएँ भी सहसा जन्तुके शरीरसे चींटीको हटाकर अत्यन्त दुखी हो जोर-जोरसे रोने लगीं। उनके रोदनकी वह सम्मिलित ध्वनि बड़ी भयंकर प्रतीत हुई ।। ७ ।।

तमार्तनादं सहसा शुश्राव स महीपतिः ।

अमात्यपर्षदो मध्ये उपविष्टः सहर्त्विजा ।। ८ ।।

उस समय राजा सोमक पुरोहितके साथ मन्त्रियोंकी सभामें बैठे थे। उन्होंने अकस्मात् वह आर्तनाद सुना ।।

ततः प्रस्थापयामास किमेतदिति पार्थिवः ।

तस्मै क्षत्ता यथावृत्तमाचचक्षे सुतं प्रति ।। ९ ।।

सुनकर राजाने 'यह क्या हो गया?' इस बातका पता लगानेके लिये द्वारपालको भेजा। द्वारपालने लौटकर राजकुमारसे सम्बन्ध रखनेवाली पूर्वोक्त घटनाका यथावत् वृत्तान्त कह सुनाया ।। ९ ।।

त्वरमाणः स चोत्थाय सोमकः सह मन्त्रिभिः ।

प्रविश्यान्तःपुरं पुत्रमाश्वासयदरिंदमः ।। १० ।।

तब शत्रुदमन राजा सोमकने मन्त्रियोंसहित उठकर बड़ी उतावलीके साथ अन्तःपुरमें प्रवेश किया और पुत्रको आश्वासन दिया ।। १० ।।

सान्त्वयित्वा तु तं पुत्रं निष्क्रम्यान्तःपुरान्नृपः ।

ऋत्विजा सहितो राजन् सहामात्य उपाविशत् ।। ११ ।।

बेटेको सान्त्वना देकर राजा अन्तःपुरसे बाहर निकले और पुरोहित तथा मन्त्रियोंके साथ पुनः मन्त्रणा-गृहमें जा बैठे ।। ११ ।।

सोमक उवाच

धिगस्त्विहैकपुत्रत्वमपुत्रत्वं वरं भवेत् ।

नित्यातुरत्वाद् भूतानां शोक एवैकपुत्रता ।। १२ ।।

उस समय सोमकने कहा—इस संसारमें किसी पुरुषके एक ही पुत्रका होना धिक्कारका विषय है। एक पुत्र होनेकी अपेक्षा तो पुत्रहीन रह जाना ही अच्छा है। एक ही संतान हो तो सब प्राणी उसके लिये सदा आकुल-व्याकुल रहते हैं, अतः एक पुत्रका होना शोक ही है ।।

इदं भार्याशतं ब्रह्मन् परीक्ष्य सदृशं प्रभो ।

पुत्रार्थिना मया वोढं न तासां विद्यते प्रजा ।। १३ ।।

ब्रह्मन्! मैंने अच्छी तरह जाँच-बूझकर पुत्रकी इच्छासे अपने योग्य सौ स्त्रियोंके साथ विवाह किया, किंतु उनके कोई संतान नहीं हुई ।। १३ ।।

एकः कथंचिदुत्पन्नः पुत्रो जन्तुरयं मम ।

यतमानासु सर्वासु किं नु दुःखमतः परम् ।। १४ ।।

यद्यपि मेरी सभी रानियाँ संतानके लिये यत्नशील थीं, तथापि किसी तरह मेरे यही एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम जन्तु है। इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है? ।। १४ ।।

वयश्च समतीतं मे सभार्यस्य द्विजोत्तम ।
आसां प्राणाः समायत्ता मम चात्रैकपुत्रके ।। १५ ।।

द्विजश्रेष्ठ! मेरी तथा इन रानियोंकी अधिक अवस्था बीत गयी, किंतु अभीतक मेरे और उन पत्नियोंके प्राण केवल इस एक पुत्रमें ही बसते हैं ।। १५ ।।

स्यात्तु कर्म तथा युक्तं येन पुत्रशतं भवेत् ।
महता लघुना वापि कर्मणा दुष्करेण वा ।। १६ ।।

क्या कोई ऐसा उपयोगी कर्म हो सकता है जिससे मेरे सौ पुत्र हो जायँ। भले ही वह कर्म महान् हो, लघु हो अथवा अत्यन्त दुष्कर हो ।। १६ ।।

ऋत्विगुवाच

अस्ति चैतादृशं कर्म येन पुत्रशतं भवेत् ।
यदि शक्नोषि तत् कर्तुमथ वक्ष्यामि सोमक ।। १७ ।।

पुरोहितने कहा—सोमक! ऐसा कर्म है जिससे तुम्हें सौ पुत्र हो सकते हैं। यदि तुम उसे कर सको तो बताऊँगा ।। १७ ।।

सोमक उवाच

कार्यं वा यदि वाकार्यं येन पुत्रशतं भवेत् ।
कृतमेवेति तद् विद्धि भगवान् प्रब्रवीतु मे ।। १८ ।।

सोमकने कहा—भगवन्! आप वह कर्म मुझे बताइये जिससे सौ पुत्र हो सकते हैं। वह करनेयोग्य हो या न हो, मेरेद्वारा उसे किया हुआ ही जानिये ।। १८ ।।

ऋत्विगुवाच

यजस्व जन्तुना राजंस्त्वं मया वितते क्रतौ ।
ततः पुत्रशतं श्रीमद् भविष्यत्यचिरेण ते ।। १९ ।।

पुरोहितने कहा—राजन्! मैं एक यज्ञ आरम्भ करवाऊँगा, उसमें तुम अपने पुत्र जन्तुकी आहुति देकर यजन करो। इससे शीघ्र ही तुम्हें सौ परम सुन्दर पुत्र प्राप्त होंगे ।। १९ ।।

वपायां हूयमानायां धूममाघ्राय मातरः ।
ततस्ताः सुमहावीर्याञ्जनयिष्यन्ति ते सुतान् ।। २० ।।

जिस समय उसकी चर्बीकी आहुति दी जायगी उस समय उसके धूएँको सूँघ लेनेपर सब माताएँ (गर्भवती हो) आपके लिये अत्यन्त पराक्रमी पुत्रोंको जन्म देंगी ।। २० ।।

तस्यामेव तु ते जन्तुर्भविता पुनरात्मजः ।
उत्तरे चास्य सौवर्णं लक्ष्म पार्श्वे भविष्यति ।। २१ ।।

आपका पुत्र जन्तु पुनः अपनी माताके ही पेटसे उत्पन्न होगा। उस समय उसकी बायीं पसलीमें एक सुनहरा चिह्न होगा ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जन्तूपाख्याने सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें जन्तूपाख्यानविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२७ ।।

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सोमकको सौ पुत्रोंकी प्राप्ति तथा सोमक और पुरोहितका समानरूपसे नरक और पुण्यलोकोंका उपभोग करना

सोमक उवाच

ब्रह्मन् यद् यद् यथा कार्यं तत् कुरुष्व तथा तथा ।
पुत्रकामतया सर्वं करिष्यामि वचस्तव ।। १ ।।

सोमकने कहा—ब्रह्मन्! जो-जो कार्य जैसे-जैसे करना हो, वह उसी प्रकार कीजिये। मैं पुत्रकी कामनासे आपकी समस्त आज्ञाओंका पालन करूँगा ।। १ ।।

लोमश उवाच

ततः स याजयामास सोमकं तेन जन्तुना ।
मातरस्तु बलात् पुत्रमपाकर्षुः कृपान्विताः ।। २ ।।
हा हताः स्मेति वाशन्त्यस्तीव्रशोकसमाहताः ।
रुदन्त्यः करुणं वापि गृहीत्वा दक्षिणे करे ।। ३ ।।
सव्ये पाणौ गृहीत्वा तु याजकोऽपि स्म कर्षति ।
कुररीणामिवार्तानां समाकृष्य तु तं सुतम् ।। ४ ।।
विशस्य चैनं विधिवद् वपामस्य जुहाव सः ।
वपायां हूयमानायां गन्धमाघ्राय मातरः ।। ५ ।।
आर्ता निपेतुः सहसा पृथिव्यां कुरुनन्दन ।
सर्वाश्च गर्भानलभंस्ततस्ताः परमाङ्गनाः ।। ६ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब पुरोहितने राजा सोमकसे जन्तुकी बलि देकर किये जानेवाले यज्ञको प्रारम्भ करवाया। उस समय करुणामयी माताएँ अत्यन्त शोकसे व्याकुल हो 'हाय! हम मारी गयीं' ऐसा कहकर रोती हुई अपने पुत्र जन्तुको बलपूर्वक अपनी ओर खींच रही थीं। वे करुण स्वरमें रोती हुई बालकके दाहिने हाथको पकड़कर खींचती थीं और पुरोहितजी उसके बायें हाथको पकड़कर अपनी ओर खींच रहे थे। सब रानियाँ शोकसे आतुर हो कुररी पक्षीकी भाँति विलाप कर रही थीं और पुरोहितने उस बालकको छीनकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले तथा विधिपूर्वक उसकी चर्बियोंकी आहुति दी। कुरुनन्दन! चर्बीकी आहुतिके समय बालककी माताएँ धूमकी गन्ध सूँघकर सहसा शोकपीडित हो पृथ्वीपर गिर पड़ीं। तदनन्तर वे सब सुन्दरी रानियाँ गर्भवती हो गयीं ।। २—६ ।।

ततो दशसु मासेषु सोमकस्य विशाम्पते ।

जज्ञे पुत्रशतं पूर्णं तासु सर्वासु भारत ।। ७ ।।

युधिष्ठिर! तदनन्तर दस मास बीतनेपर उन सबके गर्भसे राजा सोमकके सौ पुत्र हुए ।। ७ ।।

जन्तुर्ज्येष्ठः समभवज्जनित्र्यामेव पार्थिव ।

स तासामिष्ट एवासीन्न तथा ते निजाः सुताः ।। ८ ।।

राजन्! सोमकका ज्येष्ठ पुत्र जन्तु अपनी माताके ही गर्भसे प्रकट हुआ, वही उन सब रानियोंको विशेष प्रिय था। उन्हें अपने पुत्र उतने प्यारे नहीं लगते थे ।। ८ ।।

तच्च लक्षणमस्यासीत् सौवर्णं पार्श्व उत्तरे ।

तस्मिन् पुत्रशते चाग्रयः स बभूव गुणैरपि ।। ९ ।।

उसकी दाहिनी पसलीमें पूर्वोक्त सुनहरा चिह्न स्पष्ट दिखायी देता था। राजाके सौ पुत्रोंमें अवस्था और गुणोंकी दृष्टिसे भी वही श्रेष्ठ था ।। ९ ।।

ततः स लोकमगमत् सोमकस्य गुरुः परम् ।

अथ काले व्यतीते तु सोमकोऽप्यगमत् परम् ।। १० ।।

अथ तं नरके घोरे पच्यमानं ददर्श सः ।

तमपृच्छत् किमर्थं त्वं नरके पच्यसे द्विज ।। ११ ।।

तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् सोमकके पुरोहित परलोकवासी हो गये। थोड़े दिनोंके बाद राजा सोमक भी परलोकवासी हो गये। यमलोकमें जानेपर सोमकने देखा, पुरोहितजी घोर नरककी आगमें पकाये जा रहे हैं। उन्हें उस अवस्थामें देखकर सोमकने पूछा—'ब्रह्मन्! आप नरककी आगमें कैसे पकाये जा रहे हैं?' ।।

तमब्रवीद् गुरुः सोऽथ पच्यमानोऽग्निना भृशम् ।

त्वं मया याजितो राजंस्तस्येदं कर्मणः फलम् ।। १२ ।।

एतच्छ्रुत्वा स राजर्षिर्धर्मराजमथाब्रवीत् ।

अहमत्र प्रवेक्ष्यामि मुच्यतां मम याजकः ।। १३ ।।

मत्कृते हि महाभागः पच्यते नरकाग्निना ।

(सोऽहमात्मानमाधास्ये नरकान्मुच्यतां गुरुः ।)

तब नरकाग्निसे अधिक संतप्त होते हुए पुरोहितने कहा—'राजन्! मैंने तुम्हें जो (तुम्हारे पुत्रकी आहुति देकर) यज्ञ करवाया था, उसी कर्मका यह फल है' यह सुनकर राजर्षि सोमकने धर्मराजसे कहा—'भगवन्! मैं इस नरकमें प्रवेश करूँगा। आप मेरे पुरोहितको छोड़ दीजिये। वे महाभाग मेरे ही कारण नरकाग्निमें पक रहे हैं। अतः मैं अपने-आपको नरकमें रखूँगा, परंतु मेरे गुरुजीको उससे छुटकारा मिल जाना चाहिये' ।। १२-१३ १/२ ।।

धर्म उवाच

नान्यः कर्तुः फलं राजन्नुपभुङ्क्ते कदाचन ।
इमानि तव दृश्यन्ते फलानि वदतां वर ।। १४ ।।

धर्मने कहा—राजन्! कर्ताके सिवा दूसरा कोई उसके किये हुए कर्मोंका फल कभी नहीं भोगता है। वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाराज! तुम्हें अपने पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप जो ये पुण्य लोक प्राप्त हुए हैं, प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं ।। १४ ।।

सोमक उवाच

पुण्यान्न कामये लोकानृतेऽहं ब्रह्मवादिनम् ।
इच्छाम्यहमनेनैव सह वस्तुं सुरालये ।। १५ ।।
नरके वा धर्मराज कर्मणास्य समो ह्यहम् ।
पुण्यापुण्यफलं देव सममस्त्वावयोरिदम् ।। १६ ।।

सोमक बोले—धर्मराज! मैं अपने वेदवेत्ता पुरोहितके बिना पुण्यलोकोंमें जानेकी इच्छा नहीं रखता। स्वर्गलोक हो या नरक—मैं कहीं भी इन्हींके साथ रहना चाहता हूँ। देव! मेरे पुण्यकर्मोंपर इनका मेरे समान ही अधिकार है। हम दोनोंको यह पुण्य और पापका फल समानरूपसे मिलना चाहिये ।। १५-१६ ।।

धर्मराज उवाच

यद्येवमीप्सितं राजन् भुङ्क्ष्वास्य सहितः फलम् ।
तुल्यकालं सहानेन पश्चात् प्राप्स्यसि सद्गतिम् ।। १७ ।।

धर्मराज बोले—राजन्! यदि तुम्हारी ऐसी इच्छा है तो इनके साथ रहकर उतने ही समयतक तुम भी पापकर्मोंका फल भोगो, इसके बाद तुम्हें उत्तम गति प्राप्त होगी ।। १७ ।।

लोमश उवाच

स चकार तथा सर्वं राजा राजीवलोचनः ।
क्षीणपापश्च तस्मात् स विमुक्तो गुरुणा सह ।। १८ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब कमलनयन राजा सोमकने धर्मराजके कथनानुसार सब कार्य किया और भोगद्वारा पाप नष्ट हो जानेपर वे पुरोहितके साथ ही नरकसे छूट गये ।। १८ ।।

लेभे कामाञ्शुभान् राजन् कर्मणा निर्जितान् स्वयम् ।
सह तेनैव विप्रेण गुरुणा स गुरुप्रियः ।। १९ ।।

तत्पश्चात् उन गुरुप्रेमी नरेशने अपने गुरुके साथ ही पुण्यकर्मोंद्वारा स्वयं प्राप्त किये हुए पुण्य-लोकके शुभ भोगोंका उपभोग किया ।। १९ ।।

एष तस्याश्रमः पुण्यो य एषोऽग्रे विराजते ।

क्षान्त उष्यात्र षड्रात्रं प्राप्नोति सुगतिं नरः ।। २० ।।

यह उन्हीं राजा सोमकका पवित्र आश्रम है जो सामने ही सुशोभित हो रहा है। यहाँ क्षमाशील होकर छः रात निवास करनेसे मनुष्य उत्तम गति प्राप्त कर लेता है ।।

एतस्मिन्नपि राजेन्द्र वत्स्यामो विगतज्वराः ।
षड्रात्रं नियतात्मानः सज्जीभव कुरूद्वह ।। २१ ।।

कुरुश्रेष्ठ! हम सब लोग इस आश्रममें छः राततक मन और इन्द्रियोंपर संयम रखते हुए निश्चिन्त होकर निवास करेंगे। तुम इसके लिये तैयार हो जाओ ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां जन्तूपाख्याने अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें जन्तूपाख्यानविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल २१$\frac{१}{२}$ श्लोक हैं)

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रके द्वारभूत प्लक्षप्रस्रवण नामक यमुनातीर्थ एवं सरस्वतीतीर्थकी महिमा

लोमश उवाच

अस्मिन् किल स्वयं राजन्निष्टवान् वै प्रजापतिः ।
सत्रमिष्टीकृतं नाम पुरा वर्षसहस्रिकम् ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पूर्वकालमें यहाँ साक्षात् प्रजापतिने इष्टीकृत नामक सत्रका एक सहस्र वर्षोंतक चालू रहनेवाला अनुष्ठान किया था ।। १ ।।

अम्बरीषश्च नाभाग इष्टवान् यमुनामनु ।
यत्रेष्ट्वा दश पद्मानि सदस्येभ्योऽभिसृष्टवान् ।। २ ।।
यज्ञैश्च तपसा चैव परां सिद्धिमवाप सः ।

यहीं यमुनाके तटपर नाभागपुत्र अम्बरीषने भी यज्ञ किया था और यज्ञ पूर्ण होनेके पश्चात् सदस्योंको दस पद्म मुद्राएँ दान की थीं तथा यज्ञों और तपस्याद्वारा परम सिद्धि प्राप्त कर ली थीं ।। २½ ।।

देशश्च नाहुषस्यायं यज्वनः पुण्यकर्मणः ।। ३ ।।
सार्वभौमस्य कौन्तेय ययातेरमितौजसः ।
स्पर्धमानस्य शक्रेण तस्येदं यज्ञवास्त्विह ।। ४ ।।

कुन्तीनन्दन! यह नहुषकुमार ययातिका देश है, जो पुण्यकर्मा, याज्ञिक, महातेजस्वी और सार्वभौम सम्राट् थे। वे सदा इन्द्रके साथ ईर्ष्या रखते थे। यहाँ यह उन्हींकी यज्ञभूमि है ।। ३-४ ।।

पश्य नानाविधाकारैरग्निभिर्निचितां महीम् ।
मज्जन्तीमिव चाक्रान्तां ययातेर्यज्ञकर्मभिः ।। ५ ।।

देखो, यहाँ अग्नियोंसे युक्त नाना प्रकारकी वेदियाँ हैं, जिनसे यह सारी भूमि व्याप्त हो रही है; मानो पृथ्वी ययातिके यज्ञकर्मोंसे आक्रान्त हो उनकी पुण्य-धारामें डूबी जा रही है ।। ५ ।।

एषा शम्येकपत्रा या सरकं चैतदुत्तमम् ।
पश्य रामह्रदानेतान् पश्य नारायणाश्रमम् ।। ६ ।।

यह एक पत्तेवाली शमीका अवशेष अंश है तथा यह उत्तम सरोवर है। देखो, ये परशुरामजीके कुण्ड हैं और यह नारायणाश्रम है ।। ६ ।।

एतच्चर्चीकपुत्रस्य योगैर्विचरतो महीम् ।

प्रसर्पणं महीपाल रौप्यायाममितौजसः ।। ७ ।।

महाराज! योगशक्तिसे सारी पृथ्वीपर विचरनेवाले महातेजस्वी ऋचीकनन्दन जमदग्निका प्रसर्पण (घूमने-फिरनेका स्थान) तीर्थ है जो रौप्या नामक नदीके समीप सुशोभित है ।। ७ ।।

अत्रानुवंशं पठतः शृणु मे कुरुनन्दन ।
उलूखलैराभरणैः पिशाची यदभाषत ।। ८ ।।

कुरुनन्दन! इस तीर्थके विषयमें एक परम्परा-प्राप्त कथाको सूचित करनेवाले कुछ श्लोक हैं जिन्हें मैं पढ़ता हूँ, तुम मेरे मुखसे सुनो—(प्राचीनकालकी बात है, कोई स्त्री अपने पुत्रके साथ इस तीर्थमें निवास करनेके लिये आयी थी, उससे) एक भयंकर पिशाचीने, जिसने ओखली-जैसे आभूषण पहन रखे थे, उन श्लोकोंको कहा था— ।। ८ ।।

युगन्धरे दधि प्राश्य उषित्वा चाच्युतस्थले ।
तद्वद् भूतलये स्नात्वा सपुत्रा वस्तुमर्हसि ।। ९ ।।

श्लोक (का भाव) इस प्रकार है—'अरी! तू युगन्धरमें दही खाकर[*] अच्युतस्थलमें निवास करके[१] और भूतलयमें नहाकर[२] यहाँ पुत्रसहित निवास करनेकी अधिकारिणी कैसे हो सकती है? ।। ९ ।।

एकरात्रमुषित्वेह द्वितीयं यदि वत्स्यसि ।
एतद् वै ते दिवावृत्तं रात्रौ वृत्तमतोऽन्यथा ।। १० ।।

'(अच्छा, आयी है तो एक रात रह ले,) यदि एक रात यहाँ रह लेनेके पश्चात् दूसरी रातमें भी रहेगी तो दिनमें तो तेरा यह हाल है (आज दिनमें तो तुमको यह कष्ट दिया गया है) और रातमें तेरे साथ अन्यथा बर्ताव होगा (विशेष कष्ट दिया जायगा)' ।। १० ।।

अद्य चात्र निवत्स्यामः क्षपां भरतसत्तम ।
द्वारमेतत् तु कौन्तेय कुरुक्षेत्रस्य भारत ।। ११ ।।

भरतश्रेष्ठ! (इस किंवदन्तीके अनुसार किसीको भी यहाँ एक ही रात रहना चाहिये) अतः हमलोग केवल आजकी रातमें ही यहाँ निवास करेंगे। युधिष्ठिर! यह तीर्थ कुरुक्षेत्रका द्वार बताया गया है ।। ११ ।।

अत्रैव नाहुषो राजा राजन् क्रतुभिरिष्टवान् ।
ययातिर्बहुरत्नौघैर्यत्रेन्द्रो मुदमभ्यगात् ।। १२ ।।

राजन्! नहुषनन्दन राजा ययातिने यहीं प्रचुर रत्नराशिकी दक्षिणासे युक्त अनेक यज्ञोंद्वारा भगवान्का यजन किया था। उन यज्ञोंमें इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई थी ।। १२ ।।

एतत् प्लक्षावतरणं यमुनातीर्थमुत्तमम् ।
एतद् वै नाकपृष्ठस्य द्वारमाहुर्मनीषिणः ।। १३ ।।

यह यमुनाजीका प्लक्षावतरण नामक उत्तम तीर्थ है। मनीषी पुरुष इसे स्वर्गलोकका द्वार बताते हैं ।। १३ ।।

अत्र सारस्वतैर्यज्ञैरीजानाः परमर्षयः ।
यूपोलूखलिकास्तात गच्छन्त्यवभृथप्लवम् ।। १४ ।।

यहीं यूप और ओखली आदि यज्ञ-साधनोंका संग्रह करनेवाले महर्षियोंने सारस्वत यज्ञोंका अनुष्ठान करके अवभृथ स्नान किया था ।। १४ ।।

अत्र वै भरतो राजा राजन् क्रतुभिरिष्टवान् ।
हयमेधेन यज्ञेन मेध्यमश्वमवासृजत् ।। १५ ।।
असकृत् कृष्णसारङ्गं धर्मेणाप्य च मेदिनीम् ।
अत्रैव पुरुषव्याघ्र मरुत्तः सत्रमुत्तमम् ।। १६ ।।
प्राप चैवर्षिमुख्येन संवर्तेनाभिपालितः ।
अत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वाल्लोँकान् प्रपश्यति ।
पूयते दुष्कृताच्चैव अत्रापि समुपस्पृश ।। १७ ।।

राजन्! राजा भरतने धर्मपूर्वक वसुधाका राज्य पाकर यहीं बहुत-से यज्ञ किये थे और यहीं अश्वमेधयज्ञके उद्देश्यसे उन्होंने अनेक बार कृष्णमृगके समान रंगवाले यज्ञसम्बन्धी श्यामकर्ण अश्वको भूतलपर भ्रमणके लिये छोड़ा था। नरश्रेष्ठ! इसी तीर्थमें ऋषिप्रवर संवर्तसे सुरक्षित हो महाराज मरुत्तने उत्तम यज्ञका अनुष्ठान किया। राजेन्द्र! यहाँ स्नान करके शुद्ध हुआ मनुष्य सम्पूर्ण लोकोंको प्रत्यक्ष देखता है और पापसे मुक्त हो पवित्र हो जाता है; अतः तुम इसमें भी स्नान करो ।। १५—१७ ।।

वैशम्पायन उवाच

तत्र सभ्रातृकः स्नात्वा स्तूयमानो महर्षिभिः ।
लोमशं पाण्डवश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भाइयोंसहित स्नान करके महर्षियोंद्वारा प्रशंसित हो पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरने लोमशजीसे इस प्रकार कहा— ।। १८ ।।

सर्वाल्लोँकान् प्रपश्यामि तपसा सत्यविक्रम ।
इहस्थः पाण्डवश्रेष्ठं पश्यामि श्वेतवाहनम् ।। १९ ।।

‘मुनीश्वर! तपोबलसे सम्पन्न होनेके कारण वस्तुतः आप ही यथार्थ पराक्रमी हैं। आपकी कृपासे आज मैं इस प्लक्षावतरणके जलमें स्थित होकर सब लोकोंको प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। यहींसे मुझे पाण्डवश्रेष्ठ श्वेतवाहन अर्जुन भी दिखायी देते हैं ।। १९ ।।

लोमश उवाच

एवमेतन्महाबाहो पश्यन्ति परमर्षयः ।
(इह स्नात्वा तपोयुक्तांस्त्रीँल्लोँकान् सचराचरान्)

सरस्वतीमिमां पुण्यां पुण्यैकशरणावृताम् ।। २० ।।

लोमशजीने कहा—महाबाहो! तुम ठीक कहते हो। यहाँ स्नान करके तपःशक्तिसम्पन्न श्रेष्ठ ऋषिगण इसी प्रकार चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंका दर्शन करते हैं। अब इस पुण्यसलिला सरस्वतीका दर्शन करो जो एकमात्र पुण्यका ही आश्रय लेनेवाले पुरुषोंसे घिरी हुई है ।। २० ।।

यत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ धूतपाप्मा भविष्यसि ।
इह सारस्वतैर्यज्ञैरिष्टवन्तः सुरर्षयः ।
ऋषयश्चैव कौन्तेय तथा राजर्षयोऽपि च ।। २१ ।।

नरश्रेष्ठ! इसमें स्नान करनेसे तुम्हारे सारे पाप धुल जायँगे। कुन्तीनन्दन! यहाँ अनेक देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा राजर्षियोंने सारस्वत यज्ञोंका अनुष्ठान किया है ।। २१ ।।

वेदी प्रजापतेरेषा समन्तात् पञ्चयोजना ।
कुरोर्वै यज्ञशीलस्य क्षेत्रमेतन्महात्मनः ।। २२ ।।

यह सब ओर पाँच योजन फैली हुई प्रजापतिकी यज्ञवेदी है। यही यज्ञपरायण महात्मा राजा कुरुका क्षेत्र है ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
लोमशतीर्थयात्रायामेकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १२९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राविषयक एक सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २२½ श्लोक हैं)

---

* युगन्धर एक पर्वत या प्रदेशका नाम है, जहाँके लोग ऊँटनी और गदहीतकके दूधका दही जमा लेते हैं। उस स्त्रीने कभी वहाँ जाकर दही खाया था। धर्मशास्त्रमें ऊँट और एक खुरवाले पशुओंके दूधको मदिराके तुल्य बताया गया है—‘औष्ट्रमेकशफं क्षीरं सुरातुल्यम् ।’ इति।

१. प्राचीनकालमें अच्युतस्थल नामक गाँव वर्णसंकरजातीय अन्त्यजों एवं चाण्डालोंका निवासस्थान था। उस स्त्रीने उस गाँवमें किसी समय निवास किया था। धर्म-शास्त्रके अनुसार वर्णसंकरोंके संसर्गमें आनेपर प्रायश्चित्तरूपसे प्राजापत्य व्रतका अनुष्ठान करना चाहिये—**‘संसृज्य संकरैः सार्धं प्राजापत्यं व्रतं चरेत् ।’** इति।

२. ‘भूतलय’ नामक गाँव चोरों और डाकुओंका अड्डा था। वहाँ एक नदी थी, जिसमें मुर्दे बहाये जाते थे। उस स्त्रीने उसी दूषित जलमें स्नान किया था। धर्मशास्त्रके अनुसार उस गाँवमें रहनेमात्रसे प्राजापत्य व्रत करनेकी आवश्यकता है—**‘प्रोष्य भूतलये विप्रः प्राजापत्यं व्रतं चरेत् ।’** इति ।। इन तीनों दोषोंसे युक्त होनेके कारण वह स्त्री तीर्थवासकी अधिकारिणी नहीं रह गयी थी।

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विभिन्न तीर्थोंकी महिमा और राजा उशीनरकी कथाका आरम्भ

लोमश उवाच

इह मर्त्यास्तनूस्त्यक्त्वा स्वर्गं गच्छन्ति भारत ।
मर्तुकामा नरा राजन्निहायान्ति सहस्रशः ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—भारत! यहाँ शरीर छूट जानेपर मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं; इसलिये हजारों इस तीर्थमें मरनेके लिये आकर निवास करते हैं ।। १ ।।

एवमाशीः प्रयुक्ता हि दक्षेण यजता पुरा ।
इह ये वै मरिष्यन्ति ते वै स्वर्गजितो नराः ।। २ ।।
एषा सरस्वती रम्या दिव्या चौघवती नदी ।
एतद् विनशनं नाम सरस्वत्या विशाम्पते ।। ३ ।।

प्राचीनकालमें प्रजापति दक्षने यज्ञ करते समय यह आशीर्वाद दिया था कि जो मनुष्य यहाँ मरेंगे वे स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त कर लेंगे। यह रमणीय, दिव्य और तीव्र प्रवाहवाली सरस्वती नदी है और यह सरस्वतीका विनशन नामक तीर्थ है ।। २-३ ।।

द्वारं निषादराष्ट्रस्य येषां दोषात् सरस्वती ।
प्रविष्टा पृथिवीं वीर मा निषादा हि मां विदुः ।। ४ ।।
एष वै चमसोद्भेदो यत्र दृश्या सरस्वती ।
यत्रैनामभ्यवर्तन्त सर्वाः पुण्याः समुद्रगाः ।। ५ ।।

यह निषादराजका द्वार है। वीर युधिष्ठिर! उन निषादोंके ही संसर्गदोषसे सरस्वती नदी यहाँ इसलिये पृथ्वीके भीतर प्रविष्ट हो गयी कि निषाद मुझे जान न सकें। यह चमसोद्भेदतीर्थ है; जहाँ सरस्वती पुनः प्रकट हो गयी है। यहाँ समुद्रमें मिलनेवाली सम्पूर्ण पवित्र नदियाँ इसके सम्मुख आयी हैं ।। ४-५ ।।

एतत् सिन्धोर्महत् तीर्थं यत्रागस्त्यमरिंदम ।
लोपामुद्रा समागम्य भर्तारमवृणीत वै ।। ६ ।।

शत्रुदमन! यह सिन्धुका महान् तीर्थ है; जहाँ जाकर लोपामुद्राने अपने पति अगस्त्यमुनिका वरण किया था ।। ६ ।।

एतत् प्रकाशते तीर्थं प्रभासं भास्करद्युते ।
इन्द्रस्य दयितं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम् ।। ७ ।।

सूर्यके समान तेजस्वी नरेश! यह प्रभासतीर्थ* प्रकाशित हो रहा है, जो इन्द्रको बहुत प्रिय है। यह पुण्यमय क्षेत्र सब पापोंका नाश करनेवाला और परम पवित्र है ।। ७ ।।

एतद् विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम् ।
एषा रम्या विपाशा च नदी परमपावनी ।। ८ ।।
अत्र वै पुत्रशोकेन वसिष्ठो भगवानृषिः ।
बद्ध्वाऽऽत्मानं निपतितो विपाशः पुनरुत्थितः ।। ९ ।।

यह विष्णुपद नामवाला उत्तम तीर्थ दिखायी देता है तथा यह परम पावन और मनोरम विपाशा (व्यास) नदी है। यहीं भगवान् वसिष्ठ मुनि पुत्रशोकसे पीड़ित हो अपने शरीरको पाशोंसे बाँधकर कूद पड़े थे, परंतु पुनः विपाश (पाशमुक्त) होकर जलसे बाहर निकल आये ।। ८-९ ।।

काश्मीरमण्डलं चैतत् सर्वपुण्यमरिंदम ।
महर्षिभिश्चाध्युषितं पश्येदं भ्रातृभिः सह ।। १० ।।
यत्रोत्तराणां सर्वेषामृषीणां नाहुषस्य च ।
अग्नेश्चैवात्र संवादः काश्यपस्य च भारत ।। ११ ।।

शत्रुदमन! यह पुण्यमय काश्मीरमण्डल है, जहाँ बहुत-से महर्षि निवास करते हैं। तुम भाइयोंसहित इसका दर्शन करो। भारत! यह वही स्थान है जहाँ उत्तरके समस्त ऋषि, नहुषकुमार ययाति, अग्नि और काश्यपका संवाद हुआ था ।। १०-११ ।।

एतद् द्वारं महाराज मानसस्य प्रकाशते ।
वर्षमस्य गिरेर्मध्ये रामेण श्रीमता कृतम् ।। १२ ।।

महाराज! यह मानससरोवरका द्वार प्रकाशित हो रहा है। इस पर्वतके मध्यभागमें परशुरामजीने अपना आश्रम बनाया था ।। १२ ।।

एष वातिकषण्डो वै प्रख्यातः सत्यविक्रमः ।
नात्यवर्तत यद्द्वारं विदेहादुत्तरं च यः ।। १३ ।।

युधिष्ठिर! परशुरामजी सर्वत्र विख्यात हैं। वे सत्यपराक्रमी हैं। उनके इस आश्रमका द्वार विदेह देशसे उत्तर है। यह बवंडर (वायुका तूफान) भी उनके इस द्वारका कभी उल्लंघन नहीं कर सकता है (फिर औरोंकी तो बात ही क्या है) ।। १३ ।।

इदमाश्चर्यमपरं देशेऽस्मिन् पुरुषर्षभ ।
क्षीणे युगे तु कौन्तेय शर्वस्य सह पार्षदैः ।। १४ ।।
सहोमया च भवति दर्शनं कामरूपिणः ।
अस्मिन् सरसि सत्रैर्वै चैत्रे मासि पिनाकिनम् ।। १५ ।।
यजन्ते याजकाः सम्यक् परिवारं शुभार्थिनः ।
अत्रोपस्पृश्य सरसि श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।। १६ ।।
क्षीणपापः शुभाल्लोँकान् प्राप्नुते नात्र संशयः ।

एष उज्जानको नाम पावकिर्यत्र शान्तवान् ।
अरुन्धतीसहायश्च वसिष्ठो भगवानृषिः ।। १७ ।।

नरश्रेष्ठ! इस देशमें दूसरी आश्चर्यकी बात यह है कि यहाँ निवास करनेवाले साधकको युगके अन्तमें पार्षदों तथा पार्वतीसहित इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले भगवान् शंकरका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। इस सरोवरके तटपर चैत्र मासमें कल्याणकामी याजक पुरुष अनेक प्रकारके यज्ञोंद्वारा परिवारसहित पिनाकधारी भगवान् शिवकी आराधना करते हैं। इस तालाबमें श्रद्धापूर्वक स्नान एवं आचमन करके पापमुक्त हुआ जितेन्द्रिय पुरुष शुभ लोकोंमें जाता है; इसमें संशय नहीं है। यह सरोवर उज्जानक नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ भगवान् स्कन्द तथा अरुन्धतीसहित महर्षि वसिष्ठने साधना करके सिद्धि एवं शान्ति प्राप्त की है ।। १४—१७ ।।

ह्रदश्च कुशवानेष यत्र पद्मं कुशेशयम् ।
आश्रमश्चैव रुक्मिण्या यत्राशाम्यदकोपना ।। १८ ।।

यह कुशवान् नामक ह्रद है, जिसमें कुशेशय नामवाले कमल खिले रहते हैं। यहीं रुक्मिणीदेवीका आश्रम है जहाँ उन्होंने क्रोधको जीतकर शान्तिका लाभ किया था ।।

समाधीनां समासस्तु पाण्डवेय श्रुतस्त्वया ।
तं द्रक्ष्यसि महाराज भृगुतुङ्गं महागिरिम् ।। १९ ।।

पाण्डुनन्दन! महाराज! तुमने जिसके विषयमें यह सुन रखा है कि वह योगसिद्धिका संक्षिप्त स्वरूप है—जिसके दर्शनमात्रसे समाधिरूप फलकी प्राप्ति हो जाती है, उस भृगुतुंग नामक महान् पर्वतका अब तुम दर्शन करोगे ।। १९ ।।

वितस्तां पश्य राजेन्द्र सर्वपापप्रमोचनीम् ।
महर्षिभिश्चाध्युषितां शीततोयां सुनिर्मलाम् ।। २० ।।

राजेन्द्र! वितस्ता (झेलम) नदीका दर्शन करो जो सब पापोंसे मुक्त करनेवाली है। इसका जल बहुत शीतल और अत्यन्त निर्मल है। इसके तटपर बहुत-से महर्षिगण निवास करते हैं ।। २० ।।

जलां चोपजलां चैव यमुनामभितो नदीम् ।
उशीनरो वै यत्रेष्ट्वा वासवादत्यरिच्यत ।। २१ ।।

यमुना नदीके दोनों पार्श्वमें जला और उपजला नामकी दो नदियोंका दर्शन करो, जहाँ राजा उशीनरने यज्ञ करके इन्द्रसे भी ऊँचा स्थान प्राप्त किया था ।। २१ ।।

तां देवसमितिं तस्य वासवश्च विशाम्पते ।
अभ्यागच्छन्नृपवरं ज्ञातुमग्निश्च भारत ।। २२ ।।

महाराज भरतनन्दन! नृपश्रेष्ठ उशीनरके महत्त्वको समझनेके लिये किसी समय इन्द्र और अग्नि उनकी राजसभामें गये ।। २२ ।।

जिज्ञासमानौ वरदौ महात्मानमुशीनरम् ।

इन्द्रः श्येनः कपोतोऽग्निर्भूत्वा यज्ञेऽभिजग्मतुः ।। २३ ।।

वे दोनों वरदायक महात्मा उस समय उशीनरकी परीक्षा लेना चाहते थे; अतः इन्द्रने बाज पक्षीका रूप धारण किया और अग्निने कबूतरका। इस प्रकार वे राजाके यज्ञमण्डपमें गये ।। २३ ।।

ऊरू राज्ञः समासाद्य कपोतः श्येनजाद् भयात् ।
शरणार्थी तदा राजन् निलिल्ये भयपीडितः ।। २४ ।।

अपनी रक्षाके लिये आश्रय चाहनेवाला कबूतर बाजके भयसे डरकर राजाकी गोदीमें जा छिपा ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां श्येनकपोतीये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें श्येनकपोतीयोपाख्यानविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३० ।।

---

* ‘प्रभास’ की जगह ‘हाटक’ पाठभेद भी मिलता है।

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

राजा उशीनरद्वारा बाजको अपने शरीरका मांस देकर शरणमें आये हुए कबूतरके प्राणोंकी रक्षा करना

श्येन उवाच

धर्मात्मानं त्वाहुरेकं सर्वे राजन् महीक्षितः ।
सर्वधर्मविरुद्धं त्वं कस्मात् कर्म चिकीर्षसि ।। १ ।।
विहितं भक्षणं राजन् पीड्यमानस्य मे क्षुधा ।
मा रक्षीर्धर्मलोभेन धर्ममुत्सृष्टवानसि ।। २ ।।

तब बाजने कहा—राजन्! समस्त भूपाल केवल आपको ही धर्मात्मा बताते हैं। फिर आप यह सम्पूर्ण धर्मोंसे विरुद्ध कर्म कैसे करना चाहते हैं। महाराज! मैं भूखसे कष्ट पा रहा हूँ और कबूतर मेरा आहार नियत किया गया है। आप धर्मके लोभसे इसकी रक्षा न करें। वास्तवमें इसे आश्रय देकर आपने धर्मका परित्याग ही किया है ।। १-२ ।।

राजोवाच

संत्रस्तरूपस्त्राणार्थी त्वत्तो भीतो महाद्विज ।
मत्सकाशमनुप्राप्तः प्राणगृध्नुरयं द्विजः ।। ३ ।।
एवमभ्यागतस्येह कपोतस्याभयार्थिनः ।
अप्रदाने परं धर्मं कथं श्येन न पश्यसि ।। ४ ।।

राजा बोले—पक्षिराज! यह कबूतर तुमसे डरकर घबराया हुआ है और अपने प्राण बचानेकी इच्छासे मेरे समीप आया है। यह अपनी रक्षा चाहता है। बाज! इस प्रकार अभय चाहनेवाले इस कबूतरको यदि मैं तुमको नहीं सौंप रहा हूँ, यह तो परम धर्म है। इसे तुम कैसे नहीं देख रहे हो? ।। ३-४ ।।

प्रस्पन्दमानः सम्भ्रान्तः कपोतः श्येन लक्ष्यते ।
मत्सकाशं जीवितार्थी तस्य त्यागो विगर्हितः ।। ५ ।।
यो हि कश्चिद् द्विजान् हन्याद् गां वा लोकस्य मातरम् ।
शरणागतं च त्यजते तुल्यं तेषां हि पातकम् ।। ६ ।।

बाज! देखो तो यह बेचारा कबूतर किस प्रकार भयसे व्याकुल हो थर-थर काँप रहा है। इसने अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये ही मेरी शरण ली है। ऐसी दशामें इसे त्याग देना बड़ी ही निन्दाकी बात है। जो मनुष्य ब्राह्मणोंकी हत्या करता है, जो जगन्माता गौका वध करता है तथा जो शरणमें आये हुए को त्याग देता है, इन तीनोंको समान पाप लगता है ।। ५-६ ।।

श्येन उवाच

आहारात् सर्वभूतानि सम्भवन्ति महीपते ।
आहारेण विवर्धन्ते तेन जीवन्ति जन्तवः ।। ७ ।।

बाजने कहा—महाराज! सब प्राणी आहारसे ही उत्पन्न होते हैं, आहारसे ही उनकी वृद्धि होती है और आहारसे ही जीवित रहते हैं ।। ७ ।।

शक्यते दुस्त्यजेऽप्यर्थे चिररात्राय जीवितुम् ।
न तु भोजनमुत्सृज्य शक्यं वर्तयितुं चिरम् ।। ८ ।।

जिसको त्यागना बहुत कठिन है, उस अर्थके बिना भी मनुष्य बहुत दिनोंतक जीवित रह सकता है, परंतु भोजन छोड़ देनेपर कोई भी अधिक समयतक जीवन धारण नहीं कर सकता ।। ८ ।।

भक्ष्याद् वियोजितस्याद्य मम प्राणा विशाम्पते ।
विसृज्य कायमेष्यन्ति पन्थानमकुतोभयम् ।। ९ ।।
प्रमृते मयि धर्मात्मन् पुत्रदारादि नङ्क्ष्यति ।
रक्षमाणः कपोतं त्वं बहून् प्राणान् न रक्षसि ।। १० ।।

प्रजानाथ! आज आपने मुझे भोजनसे वंचित कर दिया है, इसलिये मेरे प्राण इस शरीरको छोड़कर अकुतोभय-पथ (मृत्यु)-को प्राप्त हो जायँगे। धर्मात्मन्! इस प्रकार मेरी मृत्यु हो जानेपर मेरे स्त्री-पुत्र आदि भी (असहाय होनेके कारण) नष्ट हो जायँगे। इस तरह आप एक कबूतरकी रक्षा करके बहुत-से प्राणियोंकी रक्षा नहीं कर रहे हैं ।। ९-१० ।।

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत् ।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ।। ११ ।।

सत्यपराक्रमी नरेश! जो धर्म दूसरे धर्मका बाधक हो वह धर्म नहीं, कुधर्म है। जो दूसरे किसी धर्मका विरोध न करके प्रतिष्ठित होता है वही वास्तविक धर्म है ।।

विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम् ।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत् ।। १२ ।।

परस्परविरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मोंमें गौरव-लाघवका विचार करके, जिसमें दूसरोंके लिये बाधा न हो उसी धर्मका आचरण करना चाहिये ।। १२ ।।

गुरुलाघवमादाय धर्माधर्मविनिश्चये ।
यतो भूयांस्ततो राजन् कुरुष्व धर्मनिश्चयम् ।। १३ ।।

राजन्! धर्म और अधर्मका निर्णय करते समय पुण्य और पापके गौरव-लाघवपर ही दृष्टि रखकर विचार कीजिये तथा जिसमें अधिक पुण्य हो उसीको आचरणमें लाने योग्य धर्म ठहराइये ।। १३ ।।

राजोवाच

बहुकल्याणसंयुक्तं भाषसे विहगोत्तम ।

सुपर्णः पक्षिराट् किं त्वं धर्मज्ञश्चास्यसंशयम् ।। १४ ।।

राजाने कहा—पक्षिश्रेष्ठ! तुम्हारी बातें अत्यन्त कल्याणमय गुणोंसे युक्त हैं। तुम साक्षात् पक्षिराज गरुड़ तो नहीं हो? इसमें संदेह नहीं कि तुम धर्मके ज्ञाता हो ।। १४ ।।

तथा हि धर्मसंयुक्तं बहु चित्रं च भाषसे ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिदिति त्वां लक्षयाम्यहम् ।। १५ ।।

तुम जो बातें कह रहे हो वे बड़ी ही विचित्र और धर्मसंगत हैं। मुझे लक्षणोंसे ऐसा जान पड़ता है कि ऐसी कोई बात नहीं है जो तुम्हें ज्ञात न हो ।। १५ ।।

शरणैषिपरित्यागं कथं साध्विति मन्यसे ।
आहारार्थं समारम्भस्तव चायं विहंगम ।। १६ ।।

तो भी तुम शरणागतके त्यागको कैसे अच्छा मानते हो? यह मेरी समझमें नहीं आता। विहंगम! वास्तवमें तुम्हारा यह उद्योग केवल भोजन प्राप्त करनेके लिये है ।।

शक्यश्चाप्यन्यथा कर्तुमाहारोऽप्यधिकस्त्वया ।
गोवृषो वा वराहो वा मृगो वा महिषोऽपि वा ।
त्वदर्थमद्य क्रियतां यच्चान्यदिह काङ्क्षसि ।। १७ ।।

परंतु तुम्हारे लिये आहारका प्रबन्ध तो दूसरे प्रकारसे भी किया जा सकता है और वह इस कबूतरकी अपेक्षा अधिक हो सकता है। सूअर, हिरन, भैंसा या कोई उत्तम पशु अथवा अन्य जो कोई भी वस्तु तुम्हें अभीष्ट हो वह तुम्हारे लिये प्रस्तुत की जा सकती है ।। १७ ।।

श्येन उवाच

न वराहं न चोक्षाणं न मृगान् विविधांस्तथा ।
भक्षयामि महाराज किं ममान्येन केनचित् ।। १८ ।।

बाज बोला—महाराज! मैं न सूअर खाऊँगा, न कोई उत्तम पशु और न भाँति-भाँतिके मृगोंका ही आहार करूँगा। दूसरी किसी वस्तुसे भी मुझे क्या लेना है? ।।

यस्तु मे देवविहितो भक्षः क्षत्रियपुङ्गव ।
तमुत्सृज महीपाल कपोतमिममेव मे ।। १९ ।।

क्षत्रियशिरोमणे! विधाताने मेरे लिये जो भोजन नियत किया है वह तो यह कबूतर ही है; अतः भूपाल! इसीको मेरे लिये छोड़ दीजिये ।। १९ ।।

श्येनः कपोतानत्तीति स्थितिरेषा सनातनी ।
मा राजन् सारमज्ञात्वा कदलीस्कन्धमाश्रय ।। २० ।।

यह सनातन कालसे चला आ रहा है कि बाज कबूतरोंको खाता है। राजन्! धर्मके सारभूत तत्त्वको न जानकर आप केलेके खम्भे (-जैसे सारहीन धर्म) का आश्रय न लीजिये ।। २० ।।

राजोवाच

राष्ट्रं शिबीनामृद्धं वै ददानि तव खेचर ।
यं वा कामयसे कामं श्येन सर्वं ददानि ते ।। २१ ।।

राजाने कहा—विहंगम! मैं शिबिदेशका समृद्धिशाली राज्य तुम्हें सौंप दूँगा, और भी जिस वस्तुकी तुम्हें इच्छा होगी वह सब दे सकता हूँ ।। २१ ।।

विनेमं पक्षिणं श्येन शरणार्थिनमागतम् ।
येनेमं वर्जयेथास्त्वं कर्मणा पक्षिसत्तम ।
तदाचक्ष्व करिष्यामि न हि दास्ये कपोतकम् ।। २२ ।।

किंतु शरण लेनेकी इच्छासे आये हुए इस पक्षीको नहीं त्याग सकता। पक्षिश्रेष्ठ श्येन! जिस कामके करनेसे तुम इसे छोड़ सको, वह मुझे बताओ; मैं वही करूँगा, किंतु इस कबूतरको तो नहीं दूँगा ।। २२ ।।

श्येन उवाच

उशीनर कपोते ते यदि स्नेहो नराधिप ।
आत्मनो मांसमुत्कृत्य कपोततुलया धृतम् ।। २३ ।।
यदा समं कपोतेन तव मांसं नृपोत्तम ।
तदा देयं तु तन्मह्यं सा मे तुष्टिर्भविष्यति ।। २४ ।।

बाज बोला—महाराज उशीनर! यदि आपका इस कबूतरपर स्नेह है तो इसीके बराबर अपना मांस काटकर तराजूमें रखिये। नृपश्रेष्ठ! जब वह तौलमें इस कबूतरके बराबर हो जाय तब वही मुझे दे दीजियेगा, उससे मेरी तृप्ति हो जायगी ।। २३-२४ ।।

राजा शिबिका कबूतरकी रक्षाके लिये बाजको अपने शरीरका मांस काटकर देना

राजोवाच

अनुग्रहमिमं मन्ये श्येन यन्माभियाचसे ।
तस्मात् तेऽद्य प्रदास्यामि स्वमांसं तुलया धृतम् ।। २५ ।।

राजाने कहा—बाज! तुम जो मेरा मांस माँग रहे हो इसे मैं अपने ऊपर तुम्हारी बहुत बड़ी कृपा मानता हूँ, अतः मैं अभी अपना मांस तराजूपर रखकर तुम्हें दिये देता हूँ ।। २५ ।।

लोमश उवाच

उत्कृत्य स स्वयं मांसं राजा परमधर्मवित् ।
तोलयामास कौन्तेय कपोतेन समं विभो ।। २६ ।।

लोमशजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन! तत्पश्चात् परम धर्मज्ञ राजा उशीनरने स्वयं अपना मांस काटकर उस कबूतरके साथ तौलना आरम्भ किया ।। २६ ।।

ध्रियमाणः कपोतस्तु मांसेनात्यतिरिच्यते ।
पुनश्चोत्कृत्य मांसानि राजा प्रादादुशीनरः ।। २७ ।।
न विद्यते यदा मांसं कपोतेन समं धृतम् ।
तत उत्कृत्तमांसोऽसावारुरोह स्वयं तुलाम् ।। २८ ।।

किंतु दूसरे पलड़ेमें रखा हुआ कबूतर उस मांसकी अपेक्षा अधिक भारी निकला, तब महाराज उशीनरने पुनः अपना मांस काटकर चढ़ाया। इस प्रकार बार-बार करनेपर भी जब

वह मांस कबूतरके बराबर न हुआ, तब सारा मांस काट लेनेके पश्चात् वे स्वयं ही तराजूपर चढ़ गये ।। २७-२८ ।।

श्येन उवाच

इन्द्रोऽहमस्मि धर्मज्ञ कपोतो हव्यवाडयम् ।
जिज्ञासमानौ धर्मं त्वां यज्ञवाटमुपागतौ ।। २९ ।।

बाज बोला—धर्मज्ञ नरेश! मैं इन्द्र हूँ और यह कबूतर साक्षात् अग्निदेव हैं। हम दोनों आपके धर्मकी परीक्षा लेनेके लिये इस यज्ञशालामें आपके निकट आये थे ।।

यत् ते मांसानि गात्रेभ्य उत्कृत्तानि विशाम्पते ।
एषा ते भास्वती कीर्तिर्लोकानभिभविष्यति ।। ३० ।।

प्रजानाथ! आपने अपने अंगोंसे जो मांस काटकर चढ़ाये हैं, उससे फैली हुई आपकी प्रकाशमान कीर्ति सम्पूर्ण लोगोंसे बढ़कर होगी ।। ३० ।।

यावल्लोके मनुष्यास्त्वां कथयिष्यन्ति पार्थिव ।
तावत् कीर्तिश्च लोकाश्च स्थास्यन्ति तव शाश्वताः ।। ३१ ।।

राजन्! संसारके मनुष्य इस जगत्‌में जबतक आपकी चर्चा करेंगे, तबतक आपकी कीर्ति और सनातन लोक स्थिर रहेंगे ।। ३१ ।।

इत्येवमुक्त्वा राजानमारुरोह दिवं पुनः ।
उशीनरोऽपि धर्मात्मा धर्मेणावृत्य रोदसी ।। ३२ ।।
विभ्राजमानो वपुषाप्यारुरोह त्रिविष्टपम् ।
तदेतत् सदनं राजन् राज्ञस्तस्य महात्मनः ।। ३३ ।।
पश्यस्वैतन्मया सार्धं पुण्यं पापप्रमोचनम् ।
तत्र वै सततं देवा मुनयश्च सनातनाः ।
दृश्यन्ते ब्राह्मणै राजन् पुण्यवद्भिर्महात्मभिः ।। ३४ ।।

राजासे ऐसा कहकर इन्द्र फिर देवलोकमें चले गये तथा धर्मात्मा राजा उशीनर भी अपने धर्मसे पृथ्वी और आकाशको व्याप्त कर देदीप्यमान शरीर धारण करके स्वर्गलोकमें चले गये। राजन्! यही उन महात्मा राजा उशीनरका आश्रम है जो पुण्यजनक होनेके साथ ही समस्त पापोंसे छुटकारा दिलानेवाला है। तुम मेरे साथ इस पवित्र आश्रमका दर्शन करो। महाराज! वहाँ पुण्यात्मा महात्मा ब्राह्मणोंको सदा सनातन देवता तथा मुनियोंका दर्शन होता रहता है ।। ३२-३४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां श्येनकपोतीये एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें श्येनकपोतीयोपाख्यानविषयक एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३१ ।।

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अष्टावक्रके जन्मका वृत्तान्त और उनका राजा जनकके दरबारमें जाना

लोमश उवाच

यः कथ्यते मन्त्रविदग्धबुद्धि-
रौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम् ।
तस्याश्रमं पश्य नरेन्द्र पुण्यं
सदाफलैरुपपन्नं महीजैः ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उद्दालकके पुत्र श्वेतकेतु हो गये हैं, जो इस भूतलपर मन्त्र-शास्त्रमें अत्यन्त निपुण कहे जाते थे, देखो यह पवित्र आश्रम उन्हींका है। जो सदा फल देनेवाले वृक्षोंसे हरा-भरा दिखायी देता है ।। १ ।।

साक्षादत्र श्वेतकेतुर्ददर्श
सरस्वतीं मानुषदेहरूपाम् ।
वेत्स्यामि वाणीमिति सम्प्रवृत्तां
सरस्वतीं श्वेतकेतुर्बभाषे ।। २ ।।

इस आश्रममें श्वेतकेतुने मानवरूपधारिणी सरस्वती देवीका प्रत्यक्ष दर्शन किया था और अपने निकट आयी हुई उन सरस्वतीसे यह कहा था कि 'मैं वाणीस्वरूपा आपके तत्त्वको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ' ।। २ ।।

तस्मिन् युगे ब्रह्मकृतां वरिष्ठा-
वास्तां मुनी मातुलभागिनेयौ ।
अष्टावक्रश्चैव कहोडसूनु-
रौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम् ।। ३ ।।

उस युगमें कहोड मुनिके पुत्र अष्टावक्र और उद्दालकनन्दन श्वेतकेतु ये दोनों महर्षि समस्त भूमण्डलके वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे। वे आपसमें मामा और भानजा लगते थे (इनमें श्वेतकेतु ही मामा था) ।। ३ ।।

विदेहराजस्य महीपतेस्तौ
विप्रावुभौ मातुलभागिनेयौ ।
प्रविश्य यज्ञायतनं विवादे
बन्दिं निजग्राहतुरप्रमेयौ ।। ४ ।।

एक समय वे दोनों मामा-भानजे विदेहराजके यज्ञमण्डपमें गये। दोनों ही ब्राह्मण अनुपम विद्वान् थे। वहाँ शास्त्रार्थ होनेपर उन दोनोंने अपने (विपक्षी) बन्दीको जीत लिया ।। ४ ।।

उपास्स्व कौन्तेय सहानुजस्त्वं
तस्याश्रमं पुण्यतमं प्रविश्य ।
अष्टावक्रं यस्य दौहित्रमाहु-
र्योऽसौ बन्दिं जनकस्याथ यज्ञे ।। ५ ।।
वादी विप्राग्र्यो बाल एवाभिगम्य
वादे भङ्क्त्वा मज्जयामास नद्याम् ।। ६ ।।

कुन्तीनन्दन! विप्रशिरोमणि अष्टावक्र वाद-विवादमें बड़े निपुण थे। उन्होंने बाल्यावस्थामें ही महाराज जनकके यज्ञमण्डपमें पधारकर अपने प्रतिवादी बन्दीको पराजित करके नदीमें डलवा दिया था। वे अष्टावक्र मुनि जिन महात्मा उद्दालकके दौहित्र (नाती) बताये जाते हैं, उन्हींका यह परम पवित्र आश्रम है। तुम अपने भाइयोंसहित इसमें प्रवेश करके कुछ देरतक उपासना (भगवच्चिन्तन) करो ।। ५-६ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कथंप्रभावः स बभूव विप्र-
स्तथाभूतं यो निजग्राह बन्दिम् ।
अष्टावक्रः केन चासौ बभूव
तत् सर्वं मे लोमश शंस तत्त्वम् ।। ७ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—लोमशजी! उन ब्रह्मर्षिका कैसा प्रभाव था, जिन्होंने बन्दी-जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान्‌को भी जीत लिया। वे किस कारणसे अष्टावक्र (आठों अङ्गोंसे टेढ़े-मेढ़े) हो गये। ये सब बातें मुझे यथार्थरूपसे बताइये ।। ७ ।।

लोमश उवाच

उद्दालकस्य नियतः शिष्य एको
नाम्ना कहोड इति विश्रुतोऽभूत् ।
शुश्रूषुराचार्यवशानुवर्ती
दीर्घं कालं सोऽध्ययनं चकार ।। ८ ।।

लोमशजीने कहा—राजन्! महर्षि उद्दालकका कहोड नामसे विख्यात एक शिष्य था जो बड़े संयम-नियमसे रहकर आचार्यकी सेवा किया करता था। उसने गुरुकी आज्ञाके अंदर रहकर दीर्घकालतक अध्ययन किया ।। ८ ।।

तं वै विप्रः पर्यचरत् सशिष्य-

स्तां च ज्ञात्वा परिचर्यां गुरुः सः ।
तस्मै प्रादात् सद्य एव श्रुतं च
भार्यां च वै दुहितरं स्वां सुजाताम् ।। ९ ।।

विप्रवर 'कहोड' एक विनीत शिष्यकी भाँति उद्दालक मुनिकी परिचर्यामें संलग्न रहते थे। गुरुने शिष्यकी उस सेवाके महत्त्वको समझकर शीघ्र ही उन्हें सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंका ज्ञान करा दिया और अपनी पुत्री सुजाताको भी उन्हें पत्नीरूपसे समर्पित कर दिया ।। ९ ।।

तस्या गर्भः समभवदग्निकल्पः
सोऽधीयानं पितरं चाप्युवाच ।
सर्वां रात्रिमध्ययनं करोषि
नेदं पितः सम्यगिवोपवर्तते ।। १० ।।*

कुछ कालके बाद सुजाता गर्भवती हुई, उसका वह गर्भ अग्निके समान तेजस्वी था। एक दिन स्वाध्यायमें लगे हुए अपने पिता कहोड मुनिसे उस गर्भस्थ बालकने कहा, 'पिताजी! आप रातभर वेदपाठ करते हैं तो भी आपका वह अध्ययन अच्छी प्रकारसे शुद्ध उच्चारणपूर्वक नहीं हो पाता' ।। १० ।।

उपालब्धः शिष्यमध्ये महर्षिः
स तं कोपादुदरस्थं शशाप ।
यस्मात् कुक्षौ वर्तमानो ब्रवीषि
तस्माद् वक्रो भवितास्यष्टकृत्वः ।। ११ ।।

शिष्योंके बीचमें बैठे हुए महर्षि कहोड इस प्रकार उलाहना सुनकर अपमानका अनुभव करते हुए कुपित हो उठे और उस गर्भस्थ बालकको शाप देते हुए बोले, 'अरे! तू अभी पेटमें रहकर ऐसी टेढ़ी बातें बोलता है, अतः तू आठों अंगोंसे टेढ़ा हो जायगा' ।। ११ ।।

स वै तथा वक्र एवाभ्यजाय-
दष्टावक्रः प्रथितो वै महर्षिः ।
अस्यासीद् वै मातुलः श्वेतकेतुः
स तेन तुल्यो वयसा बभूव ।। १२ ।।

उस शापके अनुसार वे महर्षि आठों अंगोंसे टेढ़े होकर पैदा हुए। इसलिये अष्टावक्र नामसे उनकी प्रसिद्धि हुई। श्वेतकेतु उनके मामा थे, परंतु अवस्थामें उन्हींके बराबर थे ।। १२ ।।

सम्पीड्यमाना तु तदा सुजाता
सा वर्धमानेन सुतेन कुक्षौ ।
उवाच भर्तारमिदं रहोगता

प्रसाद्य हीनं वसुना धनार्थिनी ।। १३ ।।

जब पेटमें गर्भ बढ़ रहा था, उस समय सुजाताने उससे पीड़ित होकर एकान्तमें अपने निर्धन पतिसे धनकी इच्छा रखकर कहा— ।। १३ ।।

कथं करिष्याम्यधुना महर्षे
मासश्चायं दशमो वर्तते मे ।
नैवास्ति ते वसु किंचित् प्रजाता
येनाहमेतामापदं निस्तरेयम् ।। १४ ।।

'महर्षे! यह मेरे गर्भका दसवाँ महीना चल रहा है। मैं धनहीन नारी खर्चकी कैसे व्यवस्था करूँगी। आपके पास थोड़ा-सा भी धन नहीं है जिससे मैं प्रसवकालके इस संकटसे पार हो सकूँ' ।। १४ ।।

उक्तस्त्वेवं भार्यया वै कहोडो
वित्तस्यार्थे जनकमथाभ्यगच्छत् ।
स वै तदा वादविदा निगृह्य
निमज्जितो बन्दिनेहाप्सु विप्रः ।। १५ ।।

पत्नीके ऐसा कहनेपर कहोड मुनि धनके लिये राजा जनकके दरबारमें गये। उस समय शास्त्रार्थी पण्डित बन्दीने उन ब्रह्मर्षिको विवादमें हराकर जलमें डुबो दिया ।। १५ ।।

उद्दालकस्तं तु तदा निशम्य
सूतेन वादेऽप्सु निमज्जितं तथा ।
उवाच तां तत्र ततः सुजाता-
मष्टावक्रे गूहितव्योऽयमर्थः ।। १६ ।।

जब उद्दालकको यह समाचार मिला कि 'कहोड मुनि शास्त्रार्थमें पराजित होनेपर सूत (बन्दी)-के द्वारा जलमें डुबो दिये गये।' तब उन्होंने सुजातासे सब कुछ बता दिया और कहा, 'बेटी! अपने बच्चेसे इस वृत्तान्तको सदा ही गुप्त रखना' ।। १६ ।।

ररक्ष सा चापि तमस्य मन्त्रं
जातोऽप्यसौ नैव शुश्राव विप्रः ।
उद्दालकं पितृवच्चापि मेने
तथाष्टावक्रो भ्रातृवच्छ्वेतकेतुम् ।। १७ ।।

सुजाताने भी अपने पुत्रसे उस गोपनीय समाचारको गुप्त ही रखा। इसीसे जन्म लेनेके बाद भी उस ब्राह्मण-बालकको इसके विषयमें कुछ भी पता न लगा। अष्टावक्र अपने नाना उद्दालकको ही पिताके समान मानते थे और श्वेतकेतुको अपने भाईके समान समझते थे ।। १७ ।।

ततो वर्षे द्वादशे श्वेतकेतु-
रष्टावक्रं पितुरङ्के निषण्णम् ।
अपाकर्षद् गृह्य पाणौ रुदन्तं
नायं तवाङ्कः पितुरित्युक्तवांश्च ।। १८ ।।

तदनन्तर एक दिन, जब अष्टावक्रकी आयु बारह वर्षकी थी और वे पितृतुल्य उद्दालक मुनिकी गोदमें बैठे हुए थे, उसी समय श्वेतकेतु वहाँ आये और रोते हुए अष्टावक्रका हाथ पकड़कर उन्हें दूर खींच ले गये। इस प्रकार अष्टावक्रको दूर हटाकर श्वेतकेतुने कहा—'यह तेरे बापकी गोदी नहीं है' ।। १८ ।।

यत् तेनोक्तं दुरुक्तं तत् तदानीं
हृदि स्थितं तस्य सुदुःखमासीत् ।
गृहं गत्वा मातरं सोऽभिगम्य
पप्रच्छेदं क्व नु तातो ममेति ।। १९ ।।

श्वेतकेतुकी उस कटूक्तिने उस समय अष्टावक्रके हृदयमें गहरी चोट पहुँचायी। इससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने घरमें माताके पास जाकर पूछा—'माँ! मेरे पिताजी कहाँ हैं?' ।। १९ ।।

ततः सुजाता परमार्तरूपा
शापाद् भीता सर्वमेवाचचक्षे ।
तद् वै तत्त्वं सर्वमाज्ञाय रात्रा-
वित्यब्रवीच्छ्वेतकेतुं स विप्रः ।। २० ।।
गच्छाव यज्ञं जनकस्य राज्ञो
बह्वाश्चर्यः श्रूयते तस्य यज्ञः ।
श्रोष्यावोऽत्र ब्राह्मणानां विवाद-
मर्थं चाग्रयं तत्र भोक्ष्यावहे च ।। २१ ।।

बालकके इस प्रश्नसे सुजाताके मनमें बड़ी व्यथा हुई, उसने शापके भयसे घबराकर सब बात बता दी। यह सब रहस्य जानकर उन्होंने रातमें श्वेतकेतुसे इस प्रकार कहा—'हम दोनों राजा जनकके यज्ञमें चलें। सुना जाता है, उस यज्ञमें बड़े आश्चर्यकी बातें देखनेमें आती हैं। हम दोनों वहाँ विद्वान् ब्राह्मणोंका शास्त्रार्थ सुनेंगे और वहीं उत्तम पदार्थ भोजन करेंगे ।। २०-२१ ।।

विचक्षणत्वं च भविष्यते नौ
शिवश्च सौम्यश्च हि ब्रह्मघोषः ।। २२ ।।

'वहाँ जानेसे हमलोगोंकी प्रवचनशक्ति एवं जानकारी बढ़ेगी और हमें सुमधुर स्वरमें वेद-मन्त्रोंका कल्याणकारी घोष सुननेका अवसर

मिलेगा' ।। २२ ।।

तौ जग्मतुर्मातुलभागिनेयौ
यज्ञं समृद्धं जनकस्य राज्ञः ।
अष्टावक्रः पथि राज्ञा समेत्य
प्रोत्सार्यमाणो वाक्यमिदं जगाद ।। २३ ।।

ऐसा निश्चय करके वे दोनों मामा-भानजे राजा जनकके समृद्धिशाली यज्ञमें गये। अष्टावक्रकी यज्ञ-मण्डपके मार्गमें ही राजासे भेंट हो गयी। उस समय राजसेवक उन्हें रास्तेसे दूर हटाने लगे, तब वे इस प्रकार बोले ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अष्टावक्रीयोपाख्यानविषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३२ ।।

---

* किसी-किसी पुस्तकमें यहाँ एक श्लोक अधिक मिलता है, जो इस प्रकार है—
वेदान् साङ्गान् सर्वशास्त्रैरुपेतानधीतवानस्मि तव प्रसादात् ।
इहैव गर्भे तेन पितर्ब्रवीमि नेदं त्वत्तः सम्यगिवोपवर्तते ।।

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अष्टावक्रका द्वारपाल तथा राजा जनकसे वार्तालाप

अष्टावक्र उवाच

अन्धस्य पन्था बधिरस्य पन्थाः
स्त्रियः पन्था भारवाहस्य पन्थाः ।
राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनासमेत्य
समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः ।। १ ।।

अष्टावक्र बोले—राजन्! जबतक ब्राह्मणसे सामना न हो तबतक अंधेका मार्ग, बहरेका मार्ग, स्त्रीका मार्ग, बोझ ढोनेवालेका मार्ग तथा राजाका मार्ग उस-उसके जानेके लिये छोड़ देना चाहिये; परंतु यदि ब्राह्मण सामने मिल जाय तो सबसे पहले उसीको मार्ग देना चाहिये ।। १ ।।

राजोवाच

पन्था अयं तेऽद्य मयातिदिष्टो
येनेच्छसि तेन कामं व्रजस्व ।
न पावको विद्यते वै लघीया-
निन्द्रोऽपि नित्यं नमते ब्राह्मणानाम् ।। २ ।।

राजाने कहा—ब्राह्मणकुमार! लो मैंने तुम्हारे लिये आज यह मार्ग दे दिया है। तुम जिससे जाना चाहो उसी मार्गसे इच्छानुसार चले जाओ। आग कभी छोटी नहीं होती। देवराज इन्द्र भी सदा ब्राह्मणोंके आगे मस्तक झुकाते हैं ।। २ ।।

अष्टावक्र उवाच

प्राप्तौ स्व यज्ञं नृप संदिदृक्षू
कौतूहलं नौ बलवन्नरेन्द्र ।
प्राप्ताविहावामतिथी प्रवेशं
काङ्क्षावहे द्वारपतेस्तवाज्ञाम् ।। ३ ।।

अष्टावक्र बोले—राजन्! हम दोनों आपका यज्ञ देखनेके लिये आये हैं। नरेन्द्र! इसके लिये हम दोनोंके हृदयमें प्रबल उत्कण्ठा है। हम दोनों यहाँ अतिथिके रूपमें उपस्थित हैं और इस यज्ञमें प्रवेश करनेके लिये हम तुम्हारे द्वारपालकी आज्ञा चाहते हैं ।। ३ ।।

ऐन्द्रद्युम्ने यज्ञदृशाविहावां
विवक्षू वै जनकेन्द्रं दिदृक्षू ।
तौ वै क्रोधव्याधिना दह्यमाना-

वयं च नौ द्वारपालो रुणद्धि ।। ४ ।।

इन्द्रद्युम्नकुमार जनक! हम दोनों यहाँ यज्ञ देखनेके लिये आये हैं और आप जनकराजसे मिलना तथा बात करना चाहते हैं, परंतु यह द्वारपाल हमें रोकता है; अतः हम क्रोधरूप व्याधिसे दग्ध हो रहे हैं ।। ४ ।।

द्वारपाल उवाच

बन्देः समादेशकरा वयं स्म
निबोध वाक्यं च मयेर्यमाणम् ।
न वै बालाः प्रविशन्त्यत्र विप्रा
वृद्धा विदग्धाः प्रविशन्त्यत्र विप्राः ।। ५ ।।

द्वारपाल बोला—ब्राह्मणकुमार! सुनो, हम बंदीके आज्ञापालक हैं। आप हमारी कही हुई बात सुनिये। इस यज्ञशालामें बालक ब्राह्मण नहीं प्रवेश करने पाते हैं। जो बूढ़े और बुद्धिमान् ब्राह्मण हैं, उन्हींका यहाँ प्रवेश होता है ।।

अष्टावक्र उवाच

यद्यत्र वृद्धेषु कृतः प्रवेशो
युक्तं प्रवेष्टुं मम द्वारपाल ।
वयं हि वृद्धाश्चरितव्रताश्च
वेदप्रभावेण समन्विताश्च ।। ६ ।।

अष्टावक्र बोले—द्वारपाल! यदि यहाँ वृद्ध ब्राह्मणोंके लिये प्रवेशका द्वार खुला है, तब तो हमारा प्रवेश होना भी उचित ही है; क्योंकि हमलोग वृद्ध ही हैं, हमने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया है तथा हम वेदके प्रभावसे भी सम्पन्न हैं ।। ६ ।।

शुश्रूषवश्चापि जितेन्द्रियाश्च
ज्ञानागमे चापि गताः स्म निष्ठाम् ।
न बाल इत्यवमन्तव्यमाहु-
र्बालोऽप्यग्निर्दहति स्पृश्यमानः ।। ७ ।।

साथ ही, हम गुरुजनोंके सेवक, जितेन्द्रिय तथा ज्ञानशास्त्रमें परिनिष्ठित भी हैं। अवस्थामें बालक होनेके कारण ही किसी ब्राह्मणको अपमानित करना उचित नहीं बताया गया है; क्योंकि आगकी छोटी-सी चिनगारी भी यदि छू जाय तो वह जला डालती है ।। ७ ।।

द्वारपाल उवाच

सरस्वतीमीरय वेदजुष्टा-
मेकाक्षरां बहुरूपां विराजम् ।

अङ्गात्मानं समवेक्षस्व बालं
किं श्लाघसे दुर्लभो वै मनीषी ।। ८ ।।

द्वारपालने कहा—ब्राह्मणकुमार! तुम वेद-प्रतिपादित, एकाक्षरब्रह्मका बोध करानेवाली, अनेक रूपवाली, सुन्दर वाणीका उच्चारण करो और अपने-आपको बालक ही समझो, स्वयं ही अपनी प्रशंसा क्यों करते हो? इस जगत्में ज्ञानी दुर्लभ हैं ।। ८ ।।

अष्टावक्र उवाच

न ज्ञायते कायवृद्ध्या विवृद्धि-
र्यथाष्ठीला शाल्मलेः सम्प्रवृद्धा ।
ह्रस्वोऽल्पकायः फलितो विवृद्धो
यश्चाफलस्तस्य न वृद्धभावः ।। ९ ।।

अष्टावक्र बोले—द्वारपाल! केवल शरीर बढ़ जानेसे किसीकी बढ़ती नहीं समझी जाती है। जैसे सेमलके फलकी गाँठ बढ़नेपर भी सारहीन होनेके कारण वह व्यर्थ ही है। छोटा और दुबला-पतला वृक्ष भी यदि फलोंके भारसे लदा है तो उसे ही वृद्ध (बड़ा) जानना चाहिये। जिसमें फल नहीं लगते, उस वृक्षका बढ़ना भी नहीं के बराबर है ।। ९ ।।

द्वारपाल उवाच

वृद्धेभ्य एवेह मतिं स्म बाला
गृह्णन्ति कालेन भवन्ति वृद्धाः ।
न हि ज्ञानमल्पकालेन शक्यं
कस्माद् बालः स्थविर इव प्रभाषसे ।। १० ।।

द्वारपालने कहा—बालक बड़े-बूढ़ोंसे ही ज्ञान प्राप्त करते हैं और समयानुसार वे भी वृद्ध होते हैं। थोड़े समयमें ज्ञानकी प्राप्ति असम्भव है, अतः तुम बालक होकर भी क्यों वृद्धकी-सी बातें करते हो? ।। १० ।।

अष्टावक्र उवाच

न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
बालोऽपि यः प्रजानाति तं देवाः स्थविरं विदुः ।। ११ ।।

अष्टावक्र बोले—अमुक व्यक्तिके सिरके बाल पक गये हैं, इतने ही मात्रसे वह बूढ़ा नहीं होता है, अवस्थामें बालक होनेपर भी जो ज्ञानमें बढ़ा-चढ़ा है, उसीको देवगण वृद्ध मानते हैं ।। ११ ।।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ।। १२ ।।

अधिक वर्षोंकी अवस्था होनेसे, बाल पकनेसे, धन बढ़ जानेसे और अधिक भाई-बन्धु हो जानेसे भी कोई बड़ा हो नहीं सकता; ऋषियोंने ऐसा नियम बनाया है कि हम ब्राह्मणोंमें जो अंगोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका स्वाध्याय करनेवाला तथा वक्ता है, वही बड़ा है ।। १२ ।।

दिदृक्षुरस्मि सम्प्राप्तो बन्दिनं राजसंसदि ।
निवेदयस्व मां द्वाःस्थ राज्ञे पुष्करमालिने ।। १३ ।।

द्वारपाल! मैं राजसभामें बन्दीसे मिलनेके लिये आया हूँ। तुम कमलपुष्पकी माला धारण किये हुए महाराज जनकको मेरे आगमनकी सूचना दे दो ।। १३ ।।

द्रष्टास्यद्य वदतोऽस्मान् द्वारपाल मनीषिभिः ।
सह वादे विवृद्धे तु बन्दिनं चापि निर्जितम् ।। १४ ।।

द्वारपाल! आज तुम हमें विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करते देखोगे, साथ ही विवाद बढ़ जानेपर बंदीको परास्त हुआ पाओगे ।। १४ ।।

पश्यन्तु विप्राः परिपूर्णविद्याः
सहैव राज्ञा सपुरोधमुख्याः ।
उताहो वाप्युच्चतां नीचतां वा
तूष्णींभूतेष्वेव सर्वेष्वथाद्य ।। १५ ।।

आज सम्पूर्ण सभासद् चुपचाप बैठे रहें तथा राजा और उनके प्रधान पुरोहितोंके साथ पूर्णतः विद्वान् ब्राह्मण मेरी लघुता अथवा श्रेष्ठताको प्रत्यक्ष देखें ।। १५ ।।

द्वारपाल उवाच

कथं यज्ञं दशवर्षो विशेस्त्वं
विनीतानां विदुषां सम्प्रवेशम् ।
उपायतः प्रयतिष्ये तवाहं
प्रवेशने कुरु यत्नं यथावत् ।। १६ ।।

द्वारपालने कहा—जहाँ सुशिक्षित विद्वानोंका प्रवेश होता है; उस यज्ञमण्डपमें तुम-जैसे दस वर्षके बालकका प्रवेश होना कैसे सम्भव है। तथापि मैं किसी उपायसे तुम्हें उसके भीतर प्रवेश करानेका प्रयत्न करूँगा, तुम भी भीतर जानेके लिये यथोचित प्रयत्न करो ।। १६ ।।

(एष राजा संश्रवणे स्थितस्ते
स्तुह्येनं त्वं वचसा संस्कृतेन ।
स चानुज्ञां दास्यति प्रीतियुक्तः
प्रवेशने यच्च किंचित् तवेष्टम् ।।)

ये नरेश तुम्हारी बात सुन सकें, इतनी ही दूरीपर यज्ञमण्डपमें स्थित हैं, तुम अपने शुद्ध वचनोंद्वारा इनकी स्तुति करो। इससे ये प्रसन्न होकर तुम्हें प्रवेश करनेकी आज्ञा दे देंगे तथा

तुम्हारी और भी कोई कामना हो तो वे पूरी करेंगे ।।

अष्टावक्र उवाच

भो भो राजञ्जनकानां वरिष्ठ
त्वं वै सम्राट् त्वयि सर्वं समृद्धम् ।
त्वं वा कर्ता कर्मणां यज्ञियानां
ययातिरेको नृपतिर्वा पुरस्तात् ।। १७ ।।

अष्टावक्र बोले—राजन्! आप जनकवंशके श्रेष्ठ पुरुष हैं, सम्राट् हैं। आपके यहाँ सभी प्रकारके ऐश्वर्य परिपूर्ण हैं, वर्तमान समयमें केवल आप ही उत्तम यज्ञकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले हैं; अथवा पूर्वकालमें एकमात्र राजा ययाति ऐसे हो चुके हैं ।। १७ ।।

वृद्धान् बन्दी वादविदो निगृह्य
वादे भग्नानप्रतिशङ्कमानः ।
त्वयाभिसृष्टैः पुरुषैराप्तकृद्भि-
र्जले सर्वान् मज्जयतीति नः श्रुतम् ।। १८ ।।

हमने सुना है कि आपके यहाँ बन्दी नामसे प्रसिद्ध कोई विद्वान् हैं जो वाद-विवादके मर्मको जाननेवाले कितने ही वृद्ध ब्राह्मणोंको शास्त्रार्थमें हराकर वशमें कर लेते हैं और फिर आपके ही दिये हुए विश्वसनीय पुरुषोंद्वारा उन सबको निःशंक होकर पानीमें डुबवा देते हैं ।। १८ ।।

सोऽहं श्रुत्वा ब्राह्मणानां सकाशाद्
ब्रह्माद्वैतं कथयितुमागतोऽस्मि ।
क्वासौ बन्दी यावदेनं समेत्य
नक्षत्राणीव सविता नाशयामि ।। १९ ।।

मैं ब्राह्मणोंके समीप यह समाचार सुनकर अद्वैत ब्रह्मके विषयमें वर्णन करनेके लिये यहाँ आया हूँ। वे बन्दी कहाँ हैं? मैं उनसे मिलकर उनके तेजको उसी प्रकार शान्त कर दूँगा, जैसे सूर्य ताराओंकी ज्योतिको विलुप्त कर देते हैं ।। १९ ।।

राजोवाच

आशंससे बन्दिनं वै विजेतु-
मविज्ञाय त्वं वाक्यबलं परस्य ।
विज्ञातवीर्यैः शक्यमेवं प्रवक्तुं
दृष्टश्चासौ ब्राह्मणैर्वेदशीलैः ।। २० ।।

राजा बोले—ब्राह्मणकुमार! तुम अपने विपक्षीकी प्रवचन-शक्तिको जाने बिना ही बन्दीको जीतनेकी इच्छा रखते हो। जो प्रतिवादीके बलको जानते हों वे ही ऐसी बातें कह

सकते हैं। वेदोंका अनुशीलन करनेवाले बहुत-से ब्राह्मण बन्दीका प्रभाव देख चुके हैं ।। २० ।।

आशंससे त्वं बन्दिनं वै विजेतु-
मविज्ञाय तु बलं बन्दिनोऽस्य ।
समागता ब्राह्मणास्तेन पूर्वं
न शोभन्ते भास्करेणेव ताराः ।। २१ ।।

तुम्हें इस बन्दीकी शक्तिका कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसीलिये उसे जीतनेकी इच्छा कर रहे हो। आजसे पहले कितने ही विद्वान् ब्राह्मण बन्दीसे मिले हैं और जैसे सूर्यके सामने ताराओंका प्रकाश फीका पड़ जाता है उसी प्रकार वे बन्दीके सामने हतप्रभ हो गये हैं ।। २१ ।।

आशंसन्तो बन्दिनं जेतुकामा-
स्तस्यान्तिकं प्राप्य विलुप्तशोभाः ।
विज्ञानमत्ता निःसृताश्चैव तात
कथं सदस्यैर्वचनं विस्तरेयुः ।। २२ ।।

तात! कितने ही ज्ञानोन्मत्त ब्राह्मण बन्दीको जीतनेकी अभिलाषा रखकर शास्त्रार्थकी घोषणा करते हुए आये हैं; किंतु उनके निकट पहुँचते ही उनका प्रभाव नष्ट हो गया है।

इतना ही नहीं, वे पराजित एवं तिरस्कृत हो चुपचाप राजसभासे निकल गये हैं। फिर वे अन्य सदस्योंके साथ वार्तालाप ही कैसे कर सकते हैं ।। २२ ।।

अष्टावक्र उवाच

विवादितोऽसौ न हि मादृशैर्हि
सिंहीकृतस्तेन वदत्यभीतः ।
समेत्य मां निहतः शेष्यतेऽद्य
मार्गे भग्नं शकटमिवाचलाक्षम् ।। २३ ।।

अष्टावक्र बोले—महाराज! अभी बन्दीको हम-जैसोंके साथ शास्त्रार्थ करनेका अवसर नहीं मिला है, इसीलिये वह सिंह बना हुआ है और निडर होकर बातें करता है। आज मुझसे जब उसकी भेंट होगी, उस समय वह पराजित होकर मुर्देकी भाँति सो जायगा। ठीक उसी तरह, जैसे रास्तेमें टूटा हुआ छकड़ा जहाँ-का-तहाँ पड़ा रह जाता है—उसका पहिया एक पग भी आगे नहीं बढ़ता ।। २३ ।।

राजोवाच

त्रिंशकद्द्वादशांशस्य चतुर्विंशतिपर्वणः ।
यस्त्रिषष्टिशतारस्य वेदार्थं स परः कविः ।। २४ ।।

तब राजाने परीक्षा लेनेके लिये कहा—जो पुरुष तीस अवयव, बारह अंश, चौबीस पर्व और तीन सौ साठ अरोंवाले पदार्थको जानता है—उसके प्रयोजनको समझता है, वह उच्चकोटिका ज्ञानी है ।। २४ ।।

अष्टावक्र उवाच

चतुर्विंशतिपर्व त्वां षण्नाभि द्वादशप्रधि ।
तत् त्रिषष्टिशतारं वै चक्रं पातु सदागति ।। २५ ।।

अष्टावक्र बोले—राजन्! जिसमें बारह अमावास्या और बारह पूर्णिमारूपी चौबीस पर्व, ऋतुरूप छः नाभि, मासरूप बारह अंश और दिनरूप तीन सौ साठ अरे हैं, वह निरन्तर घूमनेवाला संवत्सररूप कालचक्र आपकी रक्षा करे ।। २५ ।।

राजोवाच

वडवे इव संयुक्ते श्येनपाते दिवौकसाम् ।
कस्तयोर्गर्भमाधत्ते गर्भं सुषुवतुश्च कम् ।। २६ ।।

राजाने पूछा—जो दो घोड़ियोंकी भाँति संयुक्त रहती हैं; एवं जो बाज पक्षीकी भाँति हठात् गिरनेवाली हैं उन दोनोंके गर्भको देवताओंमेंसे कौन धारण करता है तथा वे दोनों किस गर्भको उत्पन्न करती हैं? ।। २६ ।।

अष्टावक्र उवाच

मा स्म ते ते गृहे राजञ्छात्रवाणामपि ध्रुवम् ।
वातसारथिरागन्ता गर्भं सुषुवतुश्च तम् ।। २७ ।।

अष्टावक्र बोले—राजन्! वे दोनों तुम्हारे शत्रुओंके घरपर भी कभी न गिरें। वायु जिसका सारथि है वह मेघरूप देव ही इन दोनोंके गर्भको धारण करनेवाला है और ये दोनों उस मेघरूप गर्भको उत्पन्न करनेवाले हैं* ।। २७ ।।

राजोवाच

किंस्वित् सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति ।
कस्य स्विद्धृदयं नास्ति किं स्विद् वेगेन वर्धते ।। २८ ।।

राजाने पूछा—सोते समय कौन नेत्र नहीं मूँदता, जन्म लेनेके बाद किसमें गति नहीं होती, किसके हृदय नहीं होता और कौन वेगसे बढ़ता है? ।। २८ ।।

अष्टावक्र उवाच

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ।। २९ ।।

अष्टावक्र बोले—मछली सोते समय भी आँख नहीं मूँदती, अण्डा उत्पन्न होनेपर चेष्टा नहीं करता, पत्थरके हृदय नहीं होता और नदी वेगसे बढ़ती है ।। २९ ।।

राजोवाच

न त्वां मन्ये मानुषं देवसत्त्वं
न त्वं बालः स्थविरः सम्मतो मे ।
न ते तुल्यो विद्यते वाक्प्रलापे
तस्मात् द्वारं वितराम्येष बन्दी ।। ३० ।।

राजाने कहा—ब्रह्मन्! आपकी शक्ति तो देवताओंके समान है, मैं आपको मनुष्य नहीं मानता; आप बालक भी नहीं हैं। मैं तो आपको वृद्ध ही समझता हूँ। वाद-विवाद करनेमें आपके समान दूसरा कोई नहीं है, अतः आपको यज्ञ-मण्डपमें जानेके लिये द्वार प्रदान करता हूँ। यही बन्दी हैं (जिनसे आप मिलना चाहते थे) ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अष्टावक्रीयोपाख्यानविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३१ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

बन्दी और अष्टावक्रका शास्त्रार्थ, बन्दीकी पराजय तथा समङ्गामें स्नानसे अष्टावक्रके अंगोंका सीधा होना

अष्टावक्र उवाच

अत्रोग्रसेन समितेषु राजन्
समागतेष्वप्रतिमेषु राजसु ।
नावैमि बन्दिं वरमत्र वादिनां
महाजले हंसमिवाददामि ।। १ ।।

अष्टावक्र बोले—भयंकर सेनाओंसे युक्त महाराज जनक! इस सभामें सब ओरसे अप्रतिम प्रभावशाली राजा आकर एकत्र हुए हैं; परंतु मैं इन सबके बीचमें वादियोंमें प्रधान बन्दीको नहीं पहचान पाता हूँ। यदि पहचान लूँ तो अगाध जलमें हंसकी भाँति उन्हें अवश्य पकड़ लूँगा ।। १ ।।

न मेऽद्य वक्ष्यस्यतिवादिमानिन्
ग्लहं प्रपन्नः सरितामिवागमः ।
हुताशनस्येव समिद्धतेजसः
स्थिरो भवस्वेह ममाद्य बन्दिन् ।। २ ।।

अपनेको अतिवादी माननेवाले बन्दी! तुमने पराजित हुए पण्डितोंको पानीमें डुबवा देनेका नियम कर रखा है, किंतु आज मेरे सामने तुम्हारी बोली बंद हो जायगी। जैसे प्रलयकालके प्रज्वलित अग्निके समीप नदियोंका प्रवाह सूख जाता है, उसी प्रकार मेरे सामने आनेपर तुम भी सूख जाओगे—तुम्हारी वादशक्ति नष्ट हो जायगी। बन्दी! आज मेरे सामने स्थिर होकर बैठो ।। २ ।।

बन्द्युवाच

व्याघ्रं शयानं प्रति मा प्रबोधय
आशीविषं सृक्किणी लेलिहानम् ।
पदाहतस्येह शिरोऽभिहत्य
नादष्टो वै मोक्ष्यसे तन्निबोध ।। ३ ।।

बन्दीने कहा—मुझे सोता हुआ सिंह समझकर न जगाओ (न छेड़ो), अपने जबड़ोंको चाटता हुआ विषैला सर्प मानो। तुमने पैरोंसे ठोकर मारकर मेरे

मस्तकको कुचल दिया है। अब जबतक तुम डँस लिये नहीं जाते तबतक तुम्हें छुटकारा नहीं मिल सकता, इस बातको अच्छी तरह समझ लो ।। ३ ।।

यो वै दर्पात् संहननोपपन्नः
सुदुर्बलः पर्वतमाविहन्ति ।
तस्यैव पाणिः सनखो विदीर्यते
न चैव शैलस्य हि दृश्यते व्रणः ।। ४ ।।

जो देहधारी अत्यन्त दुर्बल होकर भी अहंकारवश अपने हाथसे पर्वतपर चोट करता है, उसीके हाथ और नख विदीर्ण हो जाते हैं। उस चोटसे पर्वतमें घाव होता नहीं देखा जाता है ।। ४ ।।

अष्टावक्र उवाच

सर्वे राज्ञो मैथिलस्य मैनाकस्येव पर्वताः ।
निकृष्टभूता राजानो वत्सा अनडुहो यथा ।। ५ ।।

अष्टावक्र बोले—जैसे सब पर्वत मैनाकसे छोटे हैं, सारे बछड़े बैलोंसे लघुतर हैं, उसी प्रकार भूमण्डलके समस्त राजा मिथिलानरेश महाराज जनककी अपेक्षा निम्न श्रेणीमें हैं ।। ५ ।।

यथा महेन्द्रः प्रवरः सुराणां
नदीषु गङ्गा प्रवरा यथैव ।
तथा नृपाणां प्रवरस्त्वमेको
बन्दिं समभ्यानय मत्सकाशम् ।। ६ ।।

राजन्! जैसे देवताओंमें महेन्द्र श्रेष्ठ हैं और नदियोंमें गंगा श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार सब राजाओंमें एकमात्र आप ही उत्तम हैं। अब बन्दीको मेरे निकट बुलवाइये ।। ६ ।।

लोमश उवाच

एवमष्टावक्रः समितौ हि गर्जन्-
जातक्रोधो बन्दिनमाह राजन् ।
उक्ते वाक्ये चोत्तरं मे ब्रवीहि
वाक्यस्य चाप्युत्तरं ते ब्रवीमि ।। ७ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! (बन्दीके सामने आ जानेपर) राजसभामें गर्जते हुए अष्टावक्रने बन्दीसे कुपित होकर इस प्रकार कहा—'मेरी पूछी हुई बातका उत्तर तुम दो और तुम्हारी बातका उत्तर मैं देता हूँ' ।। ७ ।।

बन्द्युवाच

एक एवाग्निर्बहुधा समिध्यते
एकः सूर्यः सर्वमिदं विभाति ।
एको वीरो देवराजोऽरिहन्ता
यमः पितॄणामीश्वरश्चैक एव ।। ८ ।।

तब बन्दीने कहा—अष्टावक्र! एक ही अग्नि अनेक प्रकारसे प्रकाशित होती है, एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है। शत्रुओंका नाश करनेवाला देवराज इन्द्र एक ही वीर है तथा पितरोंका स्वामी यमराज भी एक ही है ।। ८ ।।

अष्टावक्र उवाच

द्वाविन्द्राग्नी चरतो वै सखायौ
द्वौ देवर्षी नारदपर्वतौ च ।
द्वावश्विनौ द्वे रथस्यापि चक्रे
भार्यापती द्वौ विहितौ विधात्रा ।। ९ ।।

अष्टावक्र बोले—जो दो मित्रोंकी भाँति सदा साथ विचरते हैं, वे इन्द्र और अग्नि दो देवता हैं। परस्पर मित्रभाव रखनेवाले देवर्षि नारद और पर्वत भी दो ही हैं। अश्विनीकुमारोंकी भी संख्या दो ही है, रथके पहिये भी दो ही होते हैं तथा विधाताने (एक-दूसरेके जीवनसंगी) पति और पत्नी भी दो ही बनाये हैं ।। ९ ।।

बन्द्युवाच

त्रिः सूयते कर्मणा वै प्रजेयं
त्रयो युक्ता वाजपेयं वहन्ति ।
अध्वर्यवस्त्रिसवनानि तन्वते
त्रयो लोकास्त्रीणि ज्योतींषि चाहुः ।। १० ।।

बन्दीने कहा—यह सम्पूर्ण प्रजा कर्मवश देवता, मनुष्य और तिर्यक्रूप तीन प्रकारका जन्म धारण करती है, ऋक्, साम, और यजु—ये तीन वेद ही परस्पर संयुक्त हो बाजपेय आदि यज्ञ-कर्मोंका निर्वाह करते हैं। अध्वर्युलोग भी प्रातःसवन, मध्याह्नसवन और सायंसवनके भेदसे तीन सवनों (यज्ञों)-का ही अनुष्ठान करते हैं। (कर्मानुसार प्राप्त होनेवाले भोगोंके लिये) स्वर्ग, मृत्यु और नरक—ये लोक भी तीन ही बताये गये हैं और मुनियोंने सूर्य, चन्द्र और अग्निरूप तीन ही प्रकारकी ज्योतियाँ बतलायी हैं ।। १० ।।

अष्टावक्र उवाच

चतुष्टयं ब्राह्मणानां निकेतं
चत्वारो वर्णा यज्ञमिमं वहन्ति ।
दिशश्चतस्रो वर्णचतुष्टयं च
चतुष्पदा गौरपि शश्वदुक्ता ।। ११ ।।

अष्टावक्र बोले—ब्राह्मणोंके लिये आश्रम[१] चार हैं। वर्ण[२] भी चार ही हैं जो इस यज्ञका भार वहन करते हैं। मुख्य दिशाएँ[३] भी चार ही हैं। वर्ण[४] भी चार ही हैं तथा गो अर्थात् वाणी भी सदा चार ही चरणोंसे[५] युक्त बतायी गयी है ।। ११ ।।

बन्द्युवाच

पञ्चाग्नयः पञ्चपदा च पङ्क्ति-
र्यज्ञाः पञ्चैवाप्यथ पञ्चेन्द्रियाणि ।
दृष्टा वेदे पञ्चचूडाप्सराश्च
लोके ख्यातं पञ्चनदं च पुण्यम् ।। १२ ।।

बन्दीने कहा—यज्ञकी अग्नि गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्यके भेदसे पाँच प्रकारकी कही गयी है। पंक्ति[६] छन्द भी पाँच पादोंसे ही बनता है, यज्ञ भी पाँच ही हैं—देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ। इसी प्रकार इन्द्रियोंकी संख्या भी पाँच ही हैं[७]। वेदमें पाँच वेणीवाली

(पंचचूड़ा[८]) अप्सराका वर्णन देखा गया है तथा लोकमें पाँच[९] नदियोंसे विशिष्ट पुण्यमय पञ्चनद प्रदेश विख्यात है ।। १२ ।।

अष्टावक्र उवाच

षडाधाने दक्षिणामाहुरेके
षट् चैवेमे ऋतवः कालचक्रम् ।
षडिन्द्रियाण्युत षट् कृत्तिकाश्च
षट् साद्यस्काः सर्ववेदेषु दृष्टाः ।। १३ ।।

अष्टावक्र बोले—कुछ विद्वानोंका मत है कि अग्निकी स्थापनाके समय दक्षिणामें छः गौ ही देनी चाहिये। ये छः ऋतुएँ ही संवत्सररूप कालचक्रकी सिद्धि करती हैं। मनसहित ज्ञानेन्द्रियाँ भी छः ही हैं। कृत्तिकाओंकी संख्या छः ही है तथा सम्पूर्ण वेदोंमें साद्यस्क नामक यज्ञ भी छः ही देखे गये हैं ।। १३ ।।

बन्द्युवाच

सप्त ग्राम्याः पशवः सप्त वन्याः
सप्तच्छन्दांसि क्रतुमेकं वहन्ति ।
सप्तर्षयः सप्त चाप्यर्हणानि
सप्ततन्त्री प्रथिता चैव वीणा ।। १४ ।।

बन्दीने कहा—ग्राम्य पशु सात हैं (जिनके नाम इस प्रकार हैं)—गाय, भैंस, बकरी, भेंड़, घोड़ा, कुत्ता और गदहा। जंगली पशु भी सात हैं (यथा—सिंह, बाघ, भेड़िया, हाथी, वानर, भालू और मृग[१])। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती—ये सात ही छन्द एक-एक यज्ञका निर्वाह करते हैं। सप्तर्षि नामसे प्रसिद्ध ऋषियोंकी[२] संख्या भी सात ही है (यथा—मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, अंगिरा और वसिष्ठ), पूजनके संक्षिप्त उपचार भी सात हैं (यथा—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन और ताम्बूल) तथा वीणाके भी सात ही तार विख्यात हैं ।। १४ ।।

अष्टावक्र उवाच

अष्टौ शाणाः शतमानं वहन्ति
तथाष्टपादः शरभः सिंहघाती ।
अष्टौ वसूञ्शुश्रुम देवतासु
यूपश्चाष्टास्रिर्विहितः सर्वयज्ञे ।। १५ ।।

अष्टावक्र बोले—तराजूमें लगी हुई सनकी डोरियाँ भी आठ ही होती हैं, जो सैकड़ोंका मान (तौल) करती हैं। सिंहको भी मार गिरानेवाले शरभके आठ ही

पैर होते हैं। देवताओंमें वसुओंकी[३] संख्या भी आठ ही सुनी गयी है और सम्पूर्ण यज्ञोंमें आठ कोणके ही यूपका निर्माण किया जाता है ।। १५ ।।

बन्द्युवाच

नवैवोक्ताः सामिधेन्यः पितॄणां
तथा प्राहुर्नवयोगं विसर्गम् ।
नवाक्षरा बृहती सम्प्रदिष्टा
नवयोगो गणनामेति शश्वत् ।। १६ ।।

बन्दीने कहा—पितृयज्ञमें समिधा देकर अग्निको उद्दीप्त करनेके लिये जो मन्त्र पढ़े जाते हैं उन्हें सामिधेनी ऋचा कहते हैं, उनकी संख्या नौ ही बतायी गयी है। यह जो नाना प्रकारकी सृष्टि दिखायी देती है, इसमें प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा—इन नौ पदार्थोंका संयोग कारण है, ऐसा विज्ञ पुरुषोंका कथन है। बृहती-छन्दके प्रत्येक चरणमें नौ अक्षर बताये गये हैं और एकसे लेकर नौ अंकोंका योग ही सदा गणनाके उपयोगमें आता है ।। १६ ।।

अष्टावक्र उवाच

दिशो दशोक्ताः पुरुषस्य लोके
सहस्रमाहुर्दशपूर्णं शतानि ।
दशैव मासान् बिभ्रति गर्भवत्यो
दशैरका दश दाशा दशार्हाः ।। १७ ।।

अष्टावक्रने कहा—पुरुषके लिये संसारमें दस दिशाएँ बतायी गयी हैं। दस सौ मिलकर ही पूरा एक सहस्र कहा जाता है, गर्भवती स्त्रियाँ दस मासतक ही गर्भ धारण करती हैं, निन्दक भी दस[४] ही होते हैं, शरीरकी अवस्थाएँ भी दस[५] हैं तथा पूजनीय पुरुष भी दस[६] ही बताये गये हैं ।। १७ ।।

बन्द्युवाच

एकादशैकादशिनः पशूना-
मेकादशैवात्र भवन्ति यूपाः ।
एकादश प्राणभृतां विकारा
एकादशोक्ता दिवि देवेषु रुद्राः ।। १८ ।।

बन्दीने कहा—प्राणधारी पशुओं (जीवों)-के लिये ग्यारह विषय[१] हैं। उन्हें प्रकाशित करनेवाली इन्द्रियाँ भी ग्यारह ही हैं, यज्ञ, याग आदिमें यूप भी ग्यारह

ही होते हैं, प्राणियोंके विकार[२] भी ग्यारह हैं, तथा स्वर्गीय देवताओंमें जो रुद्र[३] कहलाते हैं; उनकी संख्या भी ग्यारह ही है ।। १८ ।।

अष्टावक्र उवाच

संवत्सरं द्वादशमासमाहु-
र्जगत्याः पादो द्वादशैवाक्षराणि ।
द्वादशाहः प्राकृतो यज्ञ उक्तो
द्वादशादित्यान् कथयन्तीह धीराः ।। १९ ।।

अष्टावक्र बोले—एक संवत्सरमें बारह महीने बताये गये हैं, जगती छन्दका प्रत्येक पाद बारह अक्षरोंका होता है, प्राकृत यज्ञ बारह दिनोंका माना गया है, ज्ञानी पुरुष यहाँ बारह[४] आदित्योंका वर्णन करते हैं ।। १९ ।।

बन्द्युवाच

त्रयोदशी तिथिरुक्ता प्रशस्ता
त्रयोदशद्वीपवती मही च ।

बन्दीने कहा—त्रयोदशी तिथि उत्तम बतायी गयी है तथा यह पृथ्वी तेरह द्वीपोंसे युक्त है।

लोमश उवाच

एतावदुक्त्वा विरराम बन्दी
श्लोकस्यार्धं व्याजहाराष्टवक्रः ।

लोमशजी कहते हैं—इतना कहकर बन्दी चुप हो गया। तब शेष आधे श्लोककी पूर्ति अष्टावक्रने इस प्रकार की।

अष्टावक्र उवाच

त्रयोदशाहानि ससार केशी
त्रयोदशादीन्यतिच्छन्दांसि चाहुः ।। २० ।।

अष्टावक्र बोले—केशी नामक दानवने भगवान् विष्णुके साथ तेरह[५] दिनोंतक युद्ध किया था। वेदमें जो अतिशब्द-विशिष्ट छन्द बताये गये हैं, उनका एक-एक पाद तेरह आदि अक्षरोंसे सम्पन्न होता है (अर्थात् अतिजगती छन्दका एक पाद तेरह अक्षरोंका, अतिशक्वरीका एक पाद पन्द्रह अक्षरोंका, अत्यष्टिका प्रत्येक पाद सत्रह अक्षरोंका तथा अतिधृतिका हर एक पाद उन्नीस अक्षरोंका होता है) ।। २० ।।

ततो महानुदतिष्ठन्निनाद-

स्तूष्णींभूतं सूतपुत्रं निशम्य ।
अधोमुखं ध्यानपरं तदानी-
मष्टावक्रं चाप्युदीर्यन्तमेव ।। २१ ।।

लोमशजी कहते हैं—इतना सुनते ही सूतपुत्र बन्दी चुप हो गया और मुँह नीचा किये किसी भारी सोच-विचारमें पड़ गया। इधर अष्टावक्र बोलते ही रहे, यह सब देख दर्शकों और श्रोताओंमें महान् कोलाहल मच गया ।। २१ ।।

तस्मिंस्तथा संकुले वर्तमाने
स्फीते यज्ञे जनकस्योत राज्ञः ।
अष्टावक्रं पूजयन्तोऽभ्युपेयु-
र्विप्राः सर्वे प्राञ्जलयः प्रतीताः ।। २२ ।।

महाराज जनकके उस समृद्धिशाली यज्ञमें जबकि चारों ओर कोलाहल व्याप्त हो रहा था, सब ब्राह्मण हाथ जोड़े हुए श्रद्धापूर्वक अष्टावक्रके समीप आये और उनका आदर-सत्कारपूर्वक पूजन किया ।। २२ ।।

अष्टावक्र उवाच

अनेनैव ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो
वादे जित्वा सलिले मज्जिताः प्राक् ।
तानेव धर्मानयमद्य बन्दी
प्राप्नोतु गृह्याप्सु निमज्जयैनम् ।। २३ ।।

तत्पश्चात् अष्टावक्रने कहा—महाराज! इस बन्दीने पहले बहुत-से शास्त्रज्ञ (विद्वान्) ब्राह्मणोंको शास्त्रार्थमें पराजित करके पानीमें डुबवाया है, अतः इसकी भी वही गति होनी चाहिये जो इसके द्वारा दूसरोंकी हुई। इसलिये इसे पकड़कर शीघ्र पानीमें डुबवा दीजिये ।। २३ ।।

बन्द्युवाच

अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञ-
स्तत्रास सत्रं द्वादशवार्षिकं वै ।
सत्रेण ते जनक तुल्यकालं
तदर्थं ते प्रहिता मे द्विजाग्र्याः ।। २४ ।।

बन्दी बोला—महाराज जनक! मैं राजा वरुणका पुत्र हूँ। मेरे पिताके यहाँ भी आपके इस यज्ञके समान ही बारह वर्षोंमें पूर्ण होनेवाला यज्ञ हो रहा था। उस यज्ञके अनुष्ठानके लिये ही (जलमें डुबानेके बहाने) कुछ चुने हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको मैंने वरुणलोकमें भेज दिया था ।। २४ ।।

ते तु सर्वे वरुणस्योत यज्ञं

द्रष्टुं गता इह आयान्ति भूयः ।
अष्टावक्रं पूजये पूजनीयं
यस्य हेतोर्जनितारं समेष्ये ।। २५ ।।

वे सब-के-सब वरुणका यज्ञ देखनेके लिये गये हैं और अब पुनः लौटकर आ रहे हैं। मैं पूजनीय ब्राह्मण अष्टावक्रजीका सत्कार करता हूँ; जिनके कारण मेरा अपने पिताजीसे मिलना होगा ।। २५ ।।

अष्टावक्र उवाच

विप्राः समुद्राम्भसि मज्जिता ये
वाचा जिता मेधया वा विदानाः ।
तां मेधया वाचमथोज्जहार
यथा वाचमवचिन्वन्ति सन्तः ।। २६ ।।

अष्टावक्र बोले—राजन्! बन्दीने अपनी जिस वाणी (प्रवचनपटुता अथवा मेधा—बुद्धिबल)-से विद्वान् ब्राह्मणोंको भी परास्त किया और समुद्रके जलमें डुबोया है, उसकी उस वाक्शक्तिको मैंने अपनी बुद्धिसे किस प्रकार उखाड़ फेंका है, यह सब इस सभामें बैठे हुए विद्वान् पुरुष मेरी बातें सुनकर ही जान गये होंगे ।। २६ ।।

अग्निर्दहञ्जातवेदाः सतां गृहान्
विसर्जयंस्तेजसा न स्म धाक्षीत् ।
बालेषु पुत्रेषु कृपणं वदत्सु
तथा वाचमवचिन्वन्ति सन्तः ।। २७ ।।

अग्नि स्वभावसे ही दहन करनेवाला है तो भी वह ज्ञेय विषयको तत्काल जाननेमें समर्थ है। इस कारण परीक्षाके समय जो सदाचारी और सत्यवादी होते हैं उनके घरोंको (शरीरोंको) छोड़ देता है, जलाता नहीं। वैसे ही संतलोग भी विनम्रभावसे बोलनेवाले बालक पुत्रोंके वचनोंमेंसे जो सत्य और हितकर बात होती है, उसे चुन लेते हैं—(उसे मान लेते हैं, उनकी अवहेलना नहीं करते)। भाव यह कि तुमको मेरे वचनोंका भाव समझकर उन्हें ग्रहण करना चाहिये ।। २७ ।।

श्लेष्मातकी क्षीणवर्चाः शृणोषि
उताहो त्वां स्तुतयो मादयन्ति ।
हस्तीव त्वं जनक विनुद्यमानो
न मामिकां वाचमिमां शृणोषि ।। २८ ।।

राजन्! जान पड़ता है, तुमने लसोड़ेके पत्तोंपर भोजन किया है या उसका फल खा लिया है, इसीसे तुम्हारा तेज क्षीण हो गया है; अतः तुम बन्दीकी बात सुन रहे हो, अथवा इस बन्दीद्वारा की गयी स्तुतियाँ तुम्हें उन्मत्त कर रही हैं। यही कारण है कि अंकुशकी मार खाकर भी न माननेवाले मतवाले हाथीकी भाँति तुम मेरी इन बातोंको नहीं सुन रहे हो ।। २८ ।।

जनक उवाच

शृणोमि वाचं तव दिव्यरूपा-
ममानुषीं दिव्यरूपोऽसि साक्षात् ।
अजैषीर्यद् बन्दिनं त्वं विवादे
निसृष्ट एष तव कामोऽद्य बन्दी ।। २९ ।।

जनकने कहा—ब्रह्मन्! मैं आपकी दिव्य एवं अलौकिक वाणी सुन रहा हूँ, आप साक्षात् दिव्यस्वरूप हैं, आपने शास्त्रार्थमें बन्दीको जीत लिया है। आपकी इच्छा अभी पूरी की जा रही है। देखिये यह है आपके द्वारा जीता हुआ बन्दी ।। २९ ।।

अष्टावक्र उवाच

नानेन जीवता कश्चिदर्थो मे बन्दिना नृप ।
पिता यद्यस्य वरुणो मज्जयैनं जलाशये ।। ३० ।।

अष्टावक्र बोले—महाराज! इस बन्दीके जीवित रहनेसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। यदि इसके पिता वरुणदेव हैं तो उनके पास जानेके लिये इसे निश्चय ही जलाशयमें डुबो दीजिये ।। ३० ।।

बन्द्युवाच

अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञो
न मे भयं विद्यते मज्जितस्य ।
इमं मुहूर्तं पितरं द्रक्ष्यतेऽय-
मष्टावक्रश्चिरनष्टं कहोडम् ।। ३१ ।।

बन्दीने कहा—राजन्! मैं वास्तवमें राजा वरुणका पुत्र हूँ, अतः जलमें डुबाये जानेका मुझे कोई भय नहीं है। ये अष्टावक्र दीर्घकालसे नष्ट हुए अपने पिता कहोडको इसी समय देखेंगे ।। ३१ ।।

लोमश उवाच

ततस्ते पूजिता विप्रा वरुणेन महात्मना ।
उदतिष्ठंस्ततः सर्वे जनकस्य समीपतः ।। ३२ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर महामना वरुणद्वारा पूजित हुए वे समस्त ब्राह्मण (जो बन्दीद्वारा जलमें डुबोये गये थे,) सहसा राजा जनकके समीप प्रकट हो गये ।। ३२ ।।

कहोड उवाच

इत्यर्थमिच्छन्ति सुताञ्जना जनक कर्मणा ।
यदहं नाशकं कर्तुं तत् पुत्रः कृतवान् मम ।। ३३ ।।

उस समय कहोडने कहा—जनकराज! लोग इसीलिये अच्छे कर्मोंद्वारा पुत्र पानेकी इच्छा रखते हैं, क्योंकि जो कार्य मैं नहीं कर सका, उसे मेरे पुत्रने कर दिखाया ।। ३३ ।।

उताबलस्य बलवानुत बालस्य पण्डितः ।
उत वाविदुषो विद्वान् पुत्रो जनक जायते ।। ३४ ।।

जनकराज! कभी-कभी निर्बलके भी बलवान्, मूर्खके भी पण्डित तथा अज्ञानीके भी ज्ञानी पुत्र उत्पन्न हो जाता है ।। ३४ ।।

शितेन ते परशुना स्वयमेवान्तको नृप ।
शिरांस्यपाहरत्वाजौ रिपूणां भद्रमस्तु ते ।। ३५ ।।

राजन्! आपका कल्याण हो, युद्धमें स्वयं ही यमराज तीखे फरसेसे आपके शत्रुओंके मस्तक काटते रहें ।। ३५ ।।

महदौक्थ्यं गीयते साम चाग्रयं
सम्यक् सोमः पीयते चात्र सत्रे ।
शुचीन् भगान् प्रतिजगृहुश्च हृष्टाः
साक्षाद् देवा जनकस्योत राज्ञः ।। ३६ ।।

महाराज जनकके इस यज्ञमें उत्तम एवं महत्त्वपूर्ण और औक्थ्य* सामका गान किया जाता है, विधिपूर्वक सोमरसका पान हो रहा है, देवगण प्रत्यक्ष दर्शन देकर बड़े हर्षके साथ अपने-अपने पवित्र भाग ग्रहण कर रहे हैं ।। ३६ ।।

लोमश उवाच

समुत्थितेष्वथ सर्वेषु राजन्
विप्रेषु तेष्वधिकं सुप्रभेषु ।
अनुज्ञातो जनकेनाथ राज्ञा
विवेश तोयं सागरस्योत बन्दी ।। ३७ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! बन्दीद्वारा जलमें डुबोये हुए वे सभी ब्राह्मण जब वहाँ अधिक तेजस्वी रूपसे प्रकट हो गये, तब राजाकी आज्ञा लेकर बन्दी स्वयं ही समुद्रके जलमें समा गया ।। ३७ ।।

अष्टावक्रः पितरं पूजयित्वा
सम्पूजितो ब्राह्मणैस्तैर्यथावत् ।
प्रत्याजगामाश्रममेव चाग्र्यं
जित्वा सौतिं सहितो मातुलेन ।। ३८ ।।

अष्टावक्र अपने पिताकी पूजा करके स्वयं भी दूसरे ब्राह्मणोंद्वारा यथोचितरूपसे सम्मानित हुए; और इस प्रकार बन्दीपर विजय पाकर पिता एवं मामाके साथ अपने श्रेष्ठ आश्रमपर ही लौट आये ।। ३८ ।।

ततोऽष्टावक्रमातुरथान्तिके पिता
नदीं समङ्गां शीघ्रमिमां विशस्व ।
प्रोवाच चैनं स तथा विवेश
समैरङ्गैश्चापि बभूव सद्यः ।। ३९ ।।

तदनन्तर पिता कहोडने अष्टावक्रकी माता सुजाताके निकट पुत्र अष्टावक्रसे कहा—'बेटा! तुम शीघ्र ही इस 'समंगा' नदीमें स्नानके लिये प्रवेश करो।' पिताकी आज्ञाके अनुसार उन्होंने उस नदीमें स्नानके लिये प्रवेश किया। उसके जलका स्पर्श होनेपर तत्काल ही उनके सब अंग सीधे हो गये ।। ३९ ।।

नदी समङ्गा च बभूव पुण्या
यस्यां स्नातो मुच्यते किल्बिषाद्धि ।
त्वमप्येनां स्नानपानावगाहैः
सभ्रातृकः सहभार्यो विशस्व ।। ४० ।।

युधिष्ठिर! इसीसे समंगा नदी पुण्यमयी हो गयी। इसमें स्नान करनेवाला मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। तुम भी स्नान, पान (आचमन) और अवगाहनके लिये अपनी पत्नी और भाइयोंके साथ इस नदीमें प्रवेश करो ।। ४० ।।

अत्र कौन्तेय सहितो भ्रातृभिस्त्वं
सुखोषितः सह विप्रैः प्रतीतः ।
पुण्यान्यन्यानि शुचिकर्मैकभक्ति-
र्मया सार्धं चरितस्याजमीढ ।। ४१ ।।

अजमीढकुलभूषण कुन्तीनन्दन! तुम विश्वासपूर्वक अपने भाइयों और ब्राह्मणोंके साथ यहाँ एक रात सुखसे रहकर कलसे पुनः मेरे साथ पवित्र कर्मोंमें अविचल श्रद्धा-भक्ति रखते हुए दूसरे-दूसरे पुण्यतीर्थोंकी यात्रा करना ।। ४१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें अष्टावक्रीयोपाख्यानविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३४ ।।

---

* यहाँ अष्टावक्रजीने परोक्षरूपमें ही प्रश्नका उत्तर दिया है। भाव यह है कि दो तत्त्व, जिनको वैदिक भाषामें रयि और प्राणके नामसे कहा है (देखिये प्रश्नोपनिषद् १।४) एवं अंग्रेजीमें जिनको पोजिटिव (अनुलोम) और निगेटिव (प्रतिलोम) कहते हैं, स्वभावसे ही संयुक्त रहनेवाले हैं। इनका ही व्यक्त रूप विद्युत्-शक्ति है। उसे गर्भकी भाँति मेघ धारण किये रहता है। संघर्षसे वह प्रकट होती है और आकर्षण होनेपर बाजकी भाँति गिरती है। जहाँ गिरती है वहाँ सबको भस्म कर देती है; इसलिये यह कहा गया कि वह कभी आपके शत्रुओंके घरपर भी न पड़े। इन दो तत्त्वोंकी संयुक्त शक्तिसे ही मेघकी उत्पत्ति होती है। इसलिये यह कहा गया कि उस मेघरूप गर्भको ये उत्पन्न करते हैं।

१- ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। २- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ३- पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर। ४- ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और हल्। ५- परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी—ये वाणीके चार पैर हैं। ६- आठ-आठ अक्षरके पाँच पादोंसे पंक्तिछन्दकी सिद्धि होती है। ७- त्वचा, श्रोत्र, नेत्र, रसना और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ८- पंचचूड़ा अप्सराका उल्लेख महाभारतके अनुशासनपर्वमें ३८वें अध्यायमें भी आया है। ९- विपाशा (व्यास), इरावती (रावी), वितस्ता (झेलम), चन्द्रभागा (चिनाव) और शतद्रू (शतलज) ये ही पञ्चनद प्रदेशकी पाँच नदियाँ हैं।

१- हिरन, शूकर, खरगोश, गीदड़ आदि जन्तुओंका ग्रहण मृग नामसे ही हो जाता है।

२- सप्तर्षि ये हैं—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ।।

(महा० शान्ति० ३४०।६९)

'(भगवान्‌ने स्वयं ब्रह्माजीसे कहा है कि) मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) द्वारा ही अपने मनसे रचे हुए हैं।'

३- **धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः । प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ।।**

(महा० आदि० ६६।१८)

'धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—ये आठ वसु कहे गये हैं।'

४- यथा रोगी, दरिद्र, शोकार्त्त, राजदण्डित, शठ, खल, वृत्तिसे वंचित, उन्मत्त, ईर्ष्यापरायण और कामी—ये दस निन्दक होते हैं। जैसा कि निम्नांकित श्लोकसे सिद्ध होता है—**'आमयी दुर्मतः शोकी दण्डितश्च शठः खलः । नष्टवृत्तिर्मदी चेर्ष्यी कामी च दश निन्दकाः ।। '** (इति नीतिशास्त्रोक्तिः) ५- उन दसों अवस्थाओंके नाम इस प्रकार हैं—गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगण्ड, कैशोर, यौवन, प्रौढ़, वार्द्धक्य तथा मृत्यु। ६- अध्यापक, पिता, ज्येष्ठ भ्राता, राजा, मामा, श्वशुर, नाना, दादा, अपनेसे बड़ी अवस्थावाले कुटुम्बी तथा पितृव्य (चाचा-ताऊ)—ये दस पूजनीय पुरुष माने गये हैं। जैसा कि कूर्मपुराणका वचन है—**उपाध्यायः पिता ज्येष्ठभ्राता चैव महीपतिः । मातुलः श्वशुरश्चैव मातामहपितामहौ ।। बन्धुर्जेष्ठः पितृव्यश्च पुंस्येते गुरवो मताः ।।**

१- वाक्य बोलना, ग्रहण करना, चलना-फिरना, मलत्याग करना और मैथुनजनित सुखका अनुभव करना—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय हैं और इन सबका मनन—मनका विषय है। इस प्रकार कुल मिलाकर ग्यारह विषय हैं।

२- काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, हर्ष-शोक, राग-द्वेष और अहंकार—ये ग्यारह विकार होते हैं।

३- एकादश रुद्र ये हैं—

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः । अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतपः ।।
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः । स्थाणुर्भवश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः ।।

(महाभारत आदि० ६६।२-३)

'मृगव्याध, सर्प, महायशस्वी निर्ऋति, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, शत्रु-संतापन पिनाकी, दहन, ईश्वर, परमकान्तिमान् कपाली, स्थाणु और भगवान् भव—ये ग्यारह रुद्र माने गये हैं।'

४- द्वादश आदित्य ये हैं—

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च । भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ।।
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते ।

(महा० आदि० ६५।१५-१६)

'धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, दसवें सविता, ग्यारहवें त्वष्टा और बारहवें विष्णु कहे गये हैं।'

५- नृसिंहपुराणमें यही बात कही गयी है—**'युयुधे विष्णुना सार्धं त्रयोदश दिनान्यसौ ।'**

* उक्थ नाम यज्ञविशेषमें गाये जानेयोग्य सामको औक्थ्य कहते हैं।

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्दमिलक्षेत्र आदि तीर्थोंकी महिमा, रैभ्य एवं भरद्वाजपुत्र यवक्रीत मुनिकी कथा तथा ऋषियोंका अनिष्ट करनेके कारण मेधावीकी मृत्यु

लोमश उवाच

एषा मधुविला राजन् समङ्गा सम्प्रकाशते ।
एतत् कर्दमिलं नाम भरतस्याभिषेचनम् ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! यह मधुविला नदी प्रकाशित हो रही है। इसीका दूसरा नाम समंगा है और यह कर्दमिल नामक क्षेत्र है, जहाँ राजा भरतका अभिषेक किया गया था ।। १ ।।

अलक्ष्म्या किल संयुक्तो वृत्रं हत्वा शचीपतिः ।
आप्लुतः सर्वपापेभ्यः समङ्गायां व्यमुच्यत ।। २ ।।

कहते हैं, वृत्रासुरका वध करके जब शचीपति इन्द्र श्रीहीन हो गये थे, उस समय उस समंगा नदीमें गोता लगाकर ही वे अपने सब पापोंसे छुटकारा पा सके थे ।। २ ।।

एतद् विनशनं कुक्षौ मैनाकस्य नरर्षभ ।
अदितिर्यत्र पुत्रार्थं तदन्नमपचत् पुरा ।। ३ ।।

नरश्रेष्ठ! मैनाक पर्वतके कुक्षिभागमें यह विनशन नामक तीर्थ है, जहाँ पूर्वकालमें अदिति देवीने पुत्र-प्राप्तिके लिये साध्य देवताओंके उद्देश्यसे अन्न* तैयार किया था ।। ३ ।।

एनं पर्वतराजानमारुह्य भरतर्षभाः ।
अयशस्यामसंशब्द्यामलक्ष्मीं व्यपनोत्स्यथ ।। ४ ।।

भरतवंशके श्रेष्ठ पुरुषो! इस पर्वतराज हिमालयपर आरूढ़ होकर तुम सब अयश फैलानेवाली और नाम लेनेके अयोग्य अपनी श्रीहीनताको शीघ्र ही दूर भगा दोगे ।। ४ ।।

एते कनखला राजन्नृषीणां दयिता नगाः ।
एषा प्रकाशते गङ्गा युधिष्ठिर महानदी ।। ५ ।।

युधिष्ठिर! ये कनखलकी पर्वत-मालाएँ हैं जो ऋषियोंको बहुत प्रिय लगती हैं। ये महानदी गंगा सुशोभित हो रही हैं ।। ५ ।।

सनत्कुमारो भगवानत्र सिद्धिमगात् पुरा ।
आजमीढावगाह्यैनां सर्वपापैः प्रमोक्ष्यसे ।। ६ ।।

यहीं पूर्वकालमें भगवान् सनत्कुमारने सिद्धि प्राप्त की थी। अजमीढनन्दन! इस गंगामें स्नान करके तुम सब पापोंसे छुटकारा पा जाओगे ।। ६ ।।

अपां ह्रदं च पुण्याख्यं भृगुतुङ्गं च पर्वतम् ।
उष्णीगङ्गे च कौन्तेय सामात्यः समुपस्पृश ।। ७ ।।

कुन्तीकुमार! जलके इस पुण्य सरोवर, भृगुतुंग पर्वतपर तथा 'उष्णीगंग' नामक तीर्थमें जाकर तुम अपने मन्त्रियोंसहित स्नान और आचमन करो ।। ७ ।।

आश्रमः स्थूलशिरसो रमणीयः प्रकाशते ।
अत्र मानं च कौन्तेय क्रोधं चैव विवर्जय ।। ८ ।।

यह स्थूलशिरा मुनिका रमणीय आश्रम शोभा पा रहा है। कुन्तीनन्दन! यहाँ अहंकार और क्रोधको त्याग दो ।। ८ ।।

एष रैभ्याश्रमः श्रीमान् पाण्डवेय प्रकाशते ।
भारद्वाजो यत्र कविर्यवक्रीतो व्यनश्यत ।। ९ ।।

पाण्डुनन्दन! यह रैभ्यका सुन्दर आश्रम प्रकाशित हो रहा है, जहाँ विद्वान् भरद्वाजपुत्र यवक्रीत नष्ट हो गये थे ।। ९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कथं युक्तोऽभवदृषिर्भरद्वाजः प्रतापवान् ।
किमर्थं च यवक्रीतः पुत्रोऽनश्यत वै मुनेः ।। १० ।।

युधिष्ठिरने पूछा—ब्रह्मन्! प्रतापी भरद्वाज मुनि कैसे योगयुक्त हुए थे और उनके पुत्र यवक्रीत किसलिये नष्ट हो गये थे? ।। १० ।।

एतत् सर्वं यथावृत्तं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
कर्मभिर्देवकल्पानां कीर्त्यमानैर्भृशं रमे ।। ११ ।।

ये सब बातें मैं यथार्थरूपसे ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ। उन देवोपम मुनियोंके चरित्रोंका वर्णन सुनकर मेरे मनको बड़ा सुख मिलता है ।। ११ ।।

लोमश उवाच

भरद्वाजश्च रैभ्यश्च सखायौ सम्बभूवतुः ।
तावूषतुरिहात्यन्तं प्रीयमाणावनन्तरम् ।। १२ ।।

लोमशजीने कहा—राजन्! भरद्वाज तथा रैभ्य दोनों एक-दूसरेके सखा थे और निरन्तर इसी आश्रममें बड़े प्रेमसे रहा करते थे ।। १२ ।।

रैभ्यस्य तु सुतावास्तामर्वावसुपरावसू ।
आसीद् यवक्रीः पुत्रस्तु भरद्वाजस्य भारत ।। १३ ।।

रैभ्यके दो पुत्र थे—अर्वावसु और परावसु। भारत! भरद्वाजके पुत्रका नाम 'यवक्री' अथवा 'यवक्रीत' था ।। १३ ।।

रैभ्यो विद्वान् सहापत्यस्तपस्वी चेतरोऽभवत् ।
तयोश्चाप्यतुला कीर्तिर्बाल्यात् प्रभृति भारत ।। १४ ।।

भारत! पुत्रोंसहित रैभ्य बड़े विद्वान् थे, परंतु भरद्वाज केवल तपस्यामें संलग्न रहते थे। युधिष्ठिर! बाल्यावस्थासे ही इन दोनों महात्माओंकी अनुपम कीर्ति सब ओर फैल रही थी ।। १४ ।।

यवक्रीः पितरं दृष्ट्वा तपस्विनमसत्कृतम् ।
दृष्ट्वा च सत्कृतं विप्रै रैभ्यं पुत्रैः सहानघ ।। १५ ।।

निष्पाप युधिष्ठिर! यवक्रीतने देखा, मेरे तपस्वी पिताका लोग सत्कार नहीं करते हैं; परंतु पुत्रोंसहित रैभ्यका ब्राह्मणोंद्वारा बड़ा आदर होता है ।। १५ ।।

पर्यतप्यत तेजस्वी मन्युनाभिपरिप्लुतः ।
तपस्तेपे ततो घोरं वेदज्ञानाय पाण्डव ।। १६ ।।

यह देख तेजस्वी यवक्रीतको बड़ा संताप हुआ। पाण्डुनन्दन! वे क्रोधसे आविष्ट हो वेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये घोर तपस्यामें लग गये ।। १६ ।।

स समिद्धे महत्यग्नौ शरीरमुपतापयन् ।
जनयामास संतापमिन्द्रस्य सुमहातपाः ।। १७ ।।

उन महातपस्वीने अत्यन्त प्रज्ज्वलित अग्निमें अपने शरीरको तपाते हुए इन्द्रके मनमें संताप उत्पन्न कर दिया ।।

तत इन्द्रो यवक्रीतमुपगम्य युधिष्ठिर ।
अब्रवीत् कस्य हेतोस्त्वमास्थितस्तप उत्तमम् ।। १८ ।।

युधिष्ठिर! तब इन्द्र यवक्रीतके पास आकर बोले—‘तुम किसलिये यह उच्चकोटिकी तपस्या कर रहे हो?’ ।। १८ ।।

यवक्रीत उवाच

द्विजानामनधीता वै वेदाः सुरगणार्चित ।
प्रतिभान्त्विति तप्येऽहमिदं परमकं तपः ।। १९ ।।

यवक्रीतने कहा—देववृन्दपूजित महेन्द्र! मैं यह उच्चकोटिकी तपस्या इसलिये करता हूँ कि द्विजातियोंको बिना पढ़े ही सब वेदोंका ज्ञान हो जाय ।। १९ ।।

स्वाध्यायार्थं समारम्भो ममायं पाकशासन ।
तपसा ज्ञातुमिच्छामि सर्वज्ञानानि कौशिक ।। २० ।।

पाकशासन! मेरा यह आयोजन स्वाध्यायके लिये ही है। कौशिक! मैं तपस्याद्वारा सब बातोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ ।। २० ।।

कालेन महता वेदाः शक्या गुरुमुखाद् विभो ।
प्राप्तुं तस्मादयं यत्नः परमो मे समास्थितः ।। २१ ।।

प्रभो! गुरुके मुखसे दीर्घकालके पश्चात् वेदोंका ज्ञान हो सकता है। अतः मेरा यह महान् प्रयत्न शीघ्र ही सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये है ।। २१ ।।

इन्द्र उवाच

अमार्ग एष विप्रर्षे येन त्वं यातुमिच्छसि ।
किं विघातेन ते विप्र गच्छाधीहि गुरोर्मुखात् ।। २२ ।।

इन्द्र बोले—विप्रर्षे! तुम जिस राहसे जाना चाहते हो, वह अध्ययनका मार्ग नहीं है। स्वाध्यायके समुचित मार्गको नष्ट करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा? अतः जाओ गुरुके मुखसे ही अध्ययन करो ।। २२ ।।

लोमश उवाच

एवमुक्त्वा गतः शक्रो यवक्रीरपि भारत ।
भूय एवाकरोद् यत्नं तपस्यमितविक्रमः ।। २३ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर इन्द्र चले गये; तब अत्यन्त पराक्रमी यवक्रीतने भी पुनः तपस्याके लिये ही घोर प्रयास आरम्भ कर दिया ।। २३ ।।

घोरेण तपसा राजंस्तप्यमानो महत् तपः ।
संतापयामास भृशं देवेन्द्रमिति नः श्रुतम् ।। २४ ।।

राजन्! उसने घोर तपस्याद्वारा महान् तपका संचय करते हुए देवराज इन्द्रको अत्यन्त संतप्त कर दिया; यह बात हमारे सुननेमें आयी है ।। २४ ।।

तं तथा तप्यमानं तु तपस्तीव्रं महामुनिम् ।
उपेत्य बलभिद् देवो वारयामास वै पुनः ।। २५ ।।
अशक्योऽर्थः समारब्धो नैतद् बुद्धिकृतं तव ।
प्रतिभास्यन्ति वै वेदास्तव चैव पितुश्च ते ।। २६ ।।

महामुनि यवक्रीतको इस प्रकार तपस्या करते देख इन्द्रने उनके पास जाकर पुनः मना किया और कहा—‘मुने! तुमने ऐसे कार्यका आरम्भ किया है जिसकी सिद्धि होनी असम्भव है। तुम्हारा यह (द्विजमात्रके लिये बिना पढ़े वेदका ज्ञान होनेका) आयोजन बुद्धि-संगत नहीं है; किंतु केवल तुमको और तुम्हारे पिताको ही वेदोंका ज्ञान होगा’ ।। २५-२६ ।।

यवक्रीत उवाच

न चैतदेवं क्रियते देवराज ममेप्सितम् ।
महता नियमेनाहं तप्स्ये घोरतरं तपः ।। २७ ।।

यवक्रीतने कहा—देवराज! यदि इस प्रकार आप मेरे इष्ट मनोरथकी सिद्धि नहीं करते हैं तो मैं और भी कठोर नियम लेकर अत्यन्त भयंकर तपस्यामें लग जाऊँगा ।। २७ ।।

समिद्धेऽग्नावुपकृत्याङ्गमङ्गं
होष्यामि वा मघवंस्तन्निबोध ।
यद्येतदेवं न करोषि कामं
ममेप्सितं देवराजेह सर्वम् ।। २८ ।।

देवराज इन्द्र! यदि आप यहाँ मेरी सारी मनोवांछित कामना पूरी नहीं करते हैं तो मैं प्रज्वलित अग्निमें अपने एक-एक अंगको होम दूँगा। इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें ।। २८ ।।

लोमश उवाच

निश्चयं तमभिज्ञाय मुनेस्तस्य महात्मनः ।
प्रतिवारणहेत्वर्थं बुद्ध्या संचिन्त्य बुद्धिमान् ।। २९ ।।
तत इन्द्रोऽकरोद् रूपं ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
अनेकशतवर्षस्य दुर्बलस्य सयक्ष्मणः ।। ३० ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उन महामुनिके उस निश्चयको जानकर बुद्धिमान् इन्द्रने उन्हें रोकनेके लिये बुद्धिपूर्वक कुछ विचार किया और एक ऐसे तपस्वी ब्राह्मणका रूप धारण कर लिया जिसकी उम्र कई सौ वर्षोंकी थी, तथा जो यक्ष्माका रोगी और दुर्बल दिखायी देता था ।। २९-३० ।।

यवक्रीतस्य यत् तीर्थमुचितं शौचकर्मणि ।
भागीरथ्यां तत्र सेतुं वालुकाभिश्चकार सः ।। ३१ ।।

गंगाके जिस तीर्थमें यवक्रीत मुनि स्नान आदि किया करते थे, उसीमें वे ब्राह्मण देवता बालूद्वारा पुल बनाने लगे ।। ३१ ।।

यदास्य वदतो वाक्यं न स चक्रे द्विजोत्तमः ।
वालुकाभिस्ततः शक्रो गङ्गां समभिपूरयन् ।। ३२ ।।

द्विजश्रेष्ठ यवक्रीतने जब इन्द्रका कहना नहीं माना, तब वे बालूसे गंगाजीको भरने लगे ।। ३२ ।।

वालुकामुष्टिमनिशं भागीरथ्यां व्यसर्जयत् ।
सेतुमभ्यारभच्छक्रो यवक्रीतं निदर्शयन् ।। ३३ ।।

वे निरन्तर एक-एक मुट्ठी बालू गंगाजीमें छोड़ते थे और इस प्रकार उन्होंने यवक्रीतको दिखाकर पुल बाँधनेका कार्य आरम्भ कर दिया ।। ३३ ।।

तं ददर्श यवक्रीतो यत्नवन्तं निबन्धने ।
प्रहसंश्चाब्रवीद् वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः ।। ३४ ।।

मुनिवर यवक्रीतने देखा, ब्राह्मण देवता पुल बाँधनेके लिये बड़े यत्नशील हैं, तब उन्होंने हँसते हुए इस प्रकार कहा— ।। ३४ ।।

किमिदं वर्तते ब्रह्मन् किं च ते ह चिकीर्षितम् ।
अतीव हि महान् यत्नः क्रियतेऽयं निरर्थकः ।। ३५ ।।

‘ब्रह्मन्! यह क्या है? आप क्या करना चाहते हैं? आप प्रयत्न तो महान् कर रहे हैं, परंतु यह व्यर्थ है’ ।।

इन्द्र उवाच

बन्धिष्ये सेतुना गङ्गां सुखः पन्था भविष्यति ।

क्लिश्यते हि जनस्तात तरमाणः पुनः पुनः ।। ३६ ।।

इन्द्र बोले—तात! मैं गंगाजीपर पुल बाँधूँगा। इससे पार जानेके लिये सुखद मार्ग बन जायगा; क्योंकि पुलके न होनेसे इधर आने-जानेवाले लोगोंको बार-बार तैरनेका कष्ट उठाना पड़ता है ।। ३६ ।।

यवक्रीत उवाच

नायं शक्यस्त्वया बद्धुं महानोघस्तपोधन ।

अशक्याद् विनिवर्तस्व शक्यमर्थं समारभ ।। ३७ ।।

यवक्रीतने कहा—तपोधन! यहाँ अगाध जलराशि भरी है; अतः तुम पुल बाँधनेमें सफल नहीं हो सकोगे। इसलिये इस असम्भव कार्यसे मुँह मोड़ लो और ऐसे कार्यमें हाथ डालो जो तुमसे हो सके ।। ३७ ।।

इन्द्र उवाच

यथैव भवता चेदं तपो वेदाथमुद्यतम् ।

अशक्यं तद्वदस्माभिरयं भारः समाहितः ।। ३८ ।।

इन्द्र बोले—मुने! जैसे आपने बिना पढ़े वेदोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये यह तपस्या प्रारम्भ की है जिसकी सफलता असम्भव है, उसी प्रकार मैंने भी यह पुल बाँधनेका भार उठाया है ।। ३८ ।।

यवक्रीत उवाच

यथा तव निरर्थोऽयमारम्भस्त्रिदशेश्वर ।

तथा यदि ममापीदं मन्यसे पाकशासन ।। ३९ ।।

क्रियतां यद् भवेच्छक्यं त्वया सुरगणेश्वर ।

वरांश्च मे प्रयच्छान्यान् यैरन्यान् भवितास्म्यति ।। ४० ।।

यवक्रीतने कहा—देवेश्वर पाकशासन! जैसे आपका यह पुल बाँधनेका आयोजन व्यर्थ है, उसी प्रकार यदि मेरी इस तपस्याको भी आप निरर्थक मानते हैं तो वही कार्य कीजिये जो सम्भव हो, मुझे ऐसे उत्तम वर प्रदान कीजिये, जिनके द्वारा मैं दूसरोंसे बढ़-चढ़कर प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकूँ ।। ३९-४० ।।

लोमश उवाच

तस्मै प्रादाद् वरानिन्द्र उक्तवान् यान् महातपाः ।

प्रतिभास्यन्ति ते वेदाः पित्रा सह यथेप्सिताः ।। ४१ ।।

यच्चान्यत् काङ्क्षसे कामं यवक्रीर्गम्यतामिति ।

स लब्धकामः पितरं समेत्याथेदमब्रवीत् ।। ४२ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! तब इन्द्रने महातपस्वी यवक्रीतके कथनानुसार उन्हें वर देते हुए कहा—'यवक्रीत! तुम्हारे पितासहित तुम्हें वेदोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त हो जायगा। साथ ही और भी जो तुम्हारी कामना हो, वह पूर्ण हो जायगी। अब तुम तपस्या छोड़कर अपने आश्रमको लौट जाओ।' इस प्रकार पूर्णकाम होकर, यवक्रीत अपने पिताके पास गये और इस प्रकार बोले ।। ४१-४२ ।।

यवक्रीत उवाच

प्रतिभास्यन्ति वै वेदा मम तातस्य चोभयोः ।
अति चान्यान् भविष्यावो वरा लब्धास्तदा मया ।। ४३ ।।

यवक्रीतने कहा—पिताजी! आपको और मुझे दोनोंको ही सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान हो जायगा। साथ ही हम दोनों दूसरोंसे ऊँची स्थितिमें हो जायँगे—ऐसा वर मैंने प्राप्त किया है ।। ४३ ।।

भरद्वाज उवाच

दर्पस्ते भविता तात वराँल्लब्ध्वा यथेप्सितान् ।
स दर्पपूर्णः कृपणः क्षिप्रमेव विनङ्क्ष्यसि ।। ४४ ।।

भरद्वाज बोले—तात! इस तरह मनोवाञ्छित वर प्राप्त करनेके कारण तुम्हारे मनमें अहंकार उत्पन्न हो जायगा और अहंकारसे युक्त होनेपर तुम कृपण होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे ।। ४४ ।।

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा देवैरुदाहृताः ।
मुनिरासीत् पुरा पुत्र बालधिर्नाम वीर्यवान् ।। ४५ ।।

इस विषयमें विज्ञजन देवताओंकी कही हुई यह गाथा सुनाया करते हैं—प्राचीनकालमें बालधि नामसे प्रसिद्ध एक शक्तिशाली मुनि थे ।। ४५ ।।

स पुत्रशोकादुद्विग्नस्तपस्तेपे सुदुष्करम् ।
भवेन्मम सुतोऽमर्त्य इति तं लब्धवांश्च सः ।। ४६ ।।

उन्होंने पुत्रशोकसे संतप्त होकर अत्यन्त कठोर तपस्या की। तपस्याका उद्देश्य यह था कि मुझे देवोपम पुत्र प्राप्त हो। अपनी उस अभिलाषाके अनुसार बालधिको एक पुत्र प्राप्त हुआ ।। ४६ ।।

तस्य प्रसादो वै देवैः कृतो न त्वमरैः समः ।
नामर्त्यो विद्यते मर्त्यो निमित्तायुर्भविष्यति ।। ४७ ।।

देवताओंने उनपर कृपा अवश्य की, परंतु उनके पुत्रको देवतुल्य नहीं बनाया और वरदान देते हुए यह कहा 'कि मरणधर्मा मनुष्य कभी देवताके समान अमर नहीं हो सकता। अतः उसकी आयु निमित्त (कारण)-के अधीन होगी' ।। ४७ ।।

बालधिरुवाच

यथेमे पर्वताः शश्वत् तिष्ठन्ति सुरसत्तमाः ।
अक्षयास्तन्निमित्तं मे सुतस्यायुर्भविष्यति ।। ४८ ।।

बालधि बोले—देववरो! जैसे ये पर्वत सदा अक्षयभावसे खड़े रहते हैं, वैसे ही मेरा पुत्र भी सदा अक्षय बना रहे। ये पर्वत ही उसकी आयुके निमित्त होंगे अर्थात् जबतक ये पर्वत यहाँ बने रहें तबतक मेरा पुत्र भी जीवित रहे ।। ४८ ।।

भरद्वाज उवाच

तस्य पुत्रस्तदा जज्ञे मेधावी क्रोधनस्तदा ।
स तच्छ्रुत्वाकरोद् दर्पमृषींश्चैवावमन्यत ।। ४९ ।।

भरद्वाज कहते हैं—यवक्रीत! तदनन्तर बालधिके पुत्रका जन्म हुआ, जो मेधायुक्त होनेके कारण मेधावी नामसे विख्यात था। वह स्वभावका बड़ा क्रोधी था। अपनी आयुके विषयमें देवताओंके वरदानकी बात सुनकर मेधावी घमण्डमें भर गया और ऋषियोंका अपमान करने लगा ।। ४९ ।।

विकुर्वाणो मुनीनां च व्यचरत् स महीमिमाम् ।
आससाद महावीर्यं धनुषाक्षं मनीषिणम् ।। ५० ।।

इतना ही नहीं, वह ऋषि-मुनियोंको सतानेके उद्देश्यसे ही इस पृथ्वीपर सब ओर विचरा करता था। एक दिन मेधावी महान् शक्तिशाली एवं मनीषी धनुषाक्षके पास जा पहुँचा ।। ५० ।।

तस्यापचक्रे मेधावी तं शशाप स वीर्यवान् ।
भव भस्मेति चोक्तः स न भस्म समपद्यत ।। ५१ ।।

और उनका तिरस्कार करने लगा। तब तपोबल-सम्पन्न ऋषि धनुषाक्षने उसे शाप देते हुए कहा—‘अरे, तू जलकर भस्म हो जा।’ परंतु उनके कहनेपर भी वह भस्म नहीं हुआ ।। ५१ ।।

धनुषाक्षस्तु तं दृष्ट्वा मेधाविनमनामयम् ।
निमित्तमस्य महिषैर्भेदयामास वीर्यवान् ।। ५२ ।।

शक्तिशाली धनुषाक्षने ध्यानमें देखा कि मेधावी रोग एवं मृत्युसे रहित है। तब उसकी आयुके निमित्तभूत पर्वतोंको उन्होंने भैंसोंद्वारा विदीर्ण करा दिया ।। ५२ ।।

स निमित्ते विनष्टे तु ममार सहसा शिशुः ।
तं मृतं पुत्रमादाय विललाप ततः पिता ।। ५३ ।।

निमित्तका नाश होते ही उस मुनिकुमारकी सहसा मृत्यु हो गयी। तदनन्तर पिता उस मरे हुए पुत्रको लेकर अत्यन्त विलाप करने लगे ।। ५३ ।।

लालप्यमानं तं दृष्ट्वा मुनयः परमार्तवत् ।

ऊचुर्वेदविदः सर्वे गाथां यां तां निबोध मे ।। ५४ ।।

अधिक पीड़ित मनुष्योंकी भाँति उन्हें विलाप करते देख वहाँके समस्त वेदवेत्ता मुनिगण एकत्र हो जिस गाथाको गाने लगे, उसे बताता हूँ, सुनो ।। ५४ ।।

न दिष्टमर्थमत्येतुमीशो मर्त्यः कथंचन ।
महिषैर्भेदयामास धनुषाक्षो महीधरान् ।। ५५ ।।

'मरणधर्मा मनुष्य किसी तरह दैवके विधानका उल्लंघन नहीं कर सकता, तभी तो धनुषाक्षने उस बालककी आयुके निमित्तभूत पर्वतोंका भैंसोंद्वारा भेदन करा दिया' ।। ५५ ।।

एवं लब्ध्वा वरान् बाला दर्पपूर्णास्तपस्विनः ।
क्षिप्रमेव विनश्यन्ति यथा न स्यात् तथा भवान् ।। ५६ ।।

इस प्रकार बालक तपस्वी वर पाकर घमण्डमें भर जाते हैं और (अपने दुर्व्यवहारोंके कारण) शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। तुम्हारी भी यही अवस्था न हो (इसलिये सावधान किये देता हूँ) ।। ५६ ।।

एष रैभ्यो महावीर्यः पुत्रौ चास्य तथाविधौ ।
तं यथा पुत्र नाभ्येषि तथा कुर्यास्त्वतन्द्रितः ।। ५७ ।।

ये रैभ्यमुनि महान् शक्तिशाली हैं। इनके दोनों पुत्र भी इन्हींके समान हैं। बेटा! तुम उन रैभ्यमुनिके पास कदापि न जाना और आलस्य छोड़कर इसके लिये सदा प्रयत्नशील रहना ।। ५७ ।।

स हि क्रुद्धः समर्थस्त्वां पुत्र पीडयितुं रुषा ।
रैभ्यश्चापि तपस्वी च कोपनश्च महानृषिः ।। ५८ ।।

बेटा! तुम्हें सावधान करनेका कारण यह है कि शक्तिशाली तपस्वी महर्षि रैभ्य बड़े क्रोधी हैं। वे कुपित होकर रोषसे तुम्हें पीड़ा दे सकते हैं ।। ५८ ।।

यवक्रीत उवाच

एवं करिष्ये मा तापं तात कार्षीः कथंचन ।
यथा हि मे भवान् मान्यस्तथा रैभ्यः पिता मम ।। ५९ ।।

यवक्रीत बोले—पिताजी! मैं ऐसा ही करूँगा, आप किसी तरह मनमें संताप न करें। जैसे आप मेरे माननीय हैं, वैसे रैभ्यमुनि मेरे लिये पिताके समान हैं ।। ५९ ।।

लोमश उवाच

उक्त्वा स पितरं श्लक्ष्णं यवक्रीरकुतोभयः ।
विप्रकुर्वनृषीनन्यानतुष्यत् परया मुदा ।। ६० ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पितासे यह मीठी बातें कहकर यवक्रीत निर्भय विचरने लगे। दूसरे ऋषियोंको सतानेमें उन्हें अधिक सुख मिलता था। वैसा करके वे बहुत

संतुष्ट रहते थे ।। ६० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३५ ।।

---

* इस अन्नको ब्रह्मौदन कहते हैं, जैसा कि श्रुतिका कथन है—**‘साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनमपचत्’** इति।

षट्‌त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

यवक्रीतका रैभ्यमुनिकी पुत्रवधूके साथ व्यभिचार और रैभ्यमुनिके क्रोधसे उत्पन्न राक्षसके द्वारा उसकी मृत्यु

लोमश उवाच

चङ्क्रम्यमाणः स तदा यवक्रीरकुतोभयः ।
जगाम माधवे मासि रैभ्याश्रमपदं प्रति ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उन दिनों यवक्रीत सर्वथा भयशून्य होकर चारों ओर चक्कर लगाता था। एक दिन वैशाखमासमें वह रैभ्यमुनिके आश्रममें गया ।। १ ।।

स ददर्शाश्रमे रम्ये पुष्पितद्रुमभूषिते ।
विचरन्तीं स्नुषां तस्य किन्नरीमिव भारत ।। २ ।।

भारत! वह आश्रम खिले हुए वृक्षोंकी श्रेणियोंसे सुशोभित हो अत्यन्त रमणीय प्रतीत होता था। उस आश्रममें रैभ्यमुनिकी पुत्रवधू किन्नरीके समान विचर रही थी। यवक्रीतने उसे देखा ।। २ ।।

यवक्रीस्तामुवाचेदमुपातिष्ठस्व मामिति ।
निर्लज्जो लज्जया युक्तां कामेन हृतचेतनः ।। ३ ।।

देखते ही वह कामदेवके वशीभूत हो अपनी विचारशक्ति खो बैठा और लजाती हुई उस मुनि-वधूसे निर्लज्ज होकर बोला—‘सुन्दरी! तू मेरी सेवामें उपस्थित हो’ ।। ३ ।।

सा तस्य शीलमाज्ञाय तस्माच्छापाच्च बिभ्यती ।
तेजस्वितां च रैभ्यस्य तथेत्युक्त्वाऽऽजगाम ह ।। ४ ।।

वह यवक्रीतके शील-स्वभावको जानकर भी उसके शापसे डरती थी। साथ ही उसे रैभ्यमुनिकी तेजस्विताका भी स्मरण था। अतः ‘बहुत अच्छा’ कहकर उसके पास चली आयी ।। ४ ।।

तत एकान्तमुन्नीय मज्जयामास भारत ।
आजगाम तदा रैभ्यः स्वमाश्रममरिंदम ।। ५ ।।

शत्रुविनाशन भारत! तब यवक्रीतने उसे एकान्तमें ले जाकर पापके समुद्रमें डुबो दिया। (उसके साथ रमण किया।) इतनेहीमें रैभ्यमुनि अपने आश्रममें आ गये ।। ५ ।।

रुदतीं च स्नुषां दृष्ट्वा भार्यामार्तां परावसोः ।
सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा पर्यपृच्छद् युधिष्ठिर ।। ६ ।।
सा तस्मै सर्वमाचष्ट यवक्रीभाषितं शुभा ।
प्रत्युक्तं च यवक्रीतं प्रेक्षापूर्वं तथाऽऽत्मना ।। ७ ।।

आकर उन्होंने देखा कि मेरी पुत्रवधू एवं परावसुकी पत्नी आर्तभावसे रो रही है। युधिष्ठिर! यह देखकर रैभ्यने मधुर वाणीद्वारा उसे सान्त्वना दी तथा रोनेका कारण पूछा। उस शुभलक्षणा बहूने यवक्रीतकी कही हुई सारी बातें श्वशुरके सामने कह सुनायीं एवं स्वयं उसने भलीभाँति सोच-विचारकर यवक्रीतकी बातें माननेसे जो अस्वीकार कर दिया था, वह सारा वृत्तान्त भी बता दिया ।। ६-७ ।।

शृण्वानस्यैव रैभ्यस्य यवक्रीत विचेष्टितम् ।
दहन्निव तदा चेतः क्रोधः समभवन्महान् ।। ८ ।।

यवक्रीतकी यह कुचेष्टा सुनते ही रैभ्यके हृदयमें क्रोधकी प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो उठी, जो उनके अन्तःकरणको मानो भस्म किये दे रही थी ।। ८ ।।

स तदा मन्युनाऽऽविष्टस्तपस्वी कोपनो भृशम् ।
अवलुच्य जटामेकां जुहावाग्नौ सुसंस्कृते ।। ९ ।।

तपस्वी रैभ्य स्वभावसे ही बड़े क्रोधी थे, तिसपर भी उस समय उनके ऊपर क्रोधका आवेश छा रहा था। अतः उन्होंने अपनी एक जटा उखाड़कर संस्कारपूर्वक स्थापित की हुई अग्निमें होम दी ।। ९ ।।

ततः समभवन्नारी तस्या रूपेण सम्मिता ।
अवलुच्यापरां चापि जुहावाग्नौ जटां पुनः ।। १० ।।

उससे एक नारीके रूपमें कृत्या प्रकट हुई, जो रूपमें उनकी पुत्रवधूके ही समान थी। तत्पश्चात् एक-दूसरी जटा उखाड़कर उन्होंने पुनः उसी अग्निमें डाल दी ।। १० ।।

ततः समभवद् रक्षो घोराक्षं भीमदर्शनम् ।
अब्रूतां तौ तदा रैभ्यं किं कार्यं करवावहै ।। ११ ।।

उससे एक राक्षस प्रकट हुआ, जिसकी आँखें बड़ी डरावनी थीं। वह देखनेमें बड़ा भयानक प्रतीत होता था। उस समय उन दोनोंने रैभ्य मुनिसे पूछा—‘हम आपकी किस आज्ञाका पालन करें?’ ।। ११ ।।

तावब्रवीदृषिः क्रुद्धो यवक्रीर्वध्यतामिति ।
जग्मतुस्तौ तथेत्युक्त्वा यवक्रीतजिघांसया ।। १२ ।।

तब क्रोधमें भरे हुए महर्षिने कहा—‘यवक्रीतको मार डालो।’ उस समय ‘बहुत अच्छा’ कहकर वे दोनों यवक्रीतके वधकी इच्छासे उसका पीछा करने लगे ।। १२ ।।

ततस्तं समुपास्थाय कृत्या सृष्टा महात्मना ।
कमण्डलुं जहारास्य मोहयित्वेव भारत ।। १३ ।।

भारत! महामना रैभ्यकी रची हुई कृत्यारूप सुन्दरी नारीने पहले यवक्रीतके पास उपस्थित हो उसे मोहमें डालकर उसका कमण्डलु हर लिया ।। १३ ।।

उच्छिष्टं तु यवक्रीतमपकृष्टकमण्डलुम् ।
तत उद्यतशूलः स राक्षसः समुपाद्रवत् ।। १४ ।।

कमण्डलु खो जानेसे यवक्रीतका शरीर उच्छिष्ट (जूठा या अपवित्र) रहने लगा। उस दशामें वह राक्षस हाथमें त्रिशूल उठाये यवक्रीतकी ओर दौड़ा ।। १४ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य शूलहस्तं जिघांसया ।
यवक्रीः सहसोत्थाय प्राद्रवद् येन वै सरः ।। १५ ।।

राक्षस शूल हाथमें लिये मुझे मार डालनेकी इच्छासे मेरी और दौड़ा आ रहा है, यह देखकर यवक्रीत सहसा उठे और उस मार्गसे भागे जो एक सरोवरकी ओर जाता था ।। १५ ।।

जलहीनं सरो दृष्ट्वा यवक्रीस्त्वरितः पुनः ।
जगाम सरितः सर्वास्ताश्चाप्यासन् विशोषिताः ।। १६ ।।

इसके जाते ही सरोवरका पानी सूख गया। सरोवरको जलहीन हुआ देख यवक्रीत फिर तुरंत ही समस्त सरिताओंके पास गया; परंतु इसके जानेपर वे सब भी सूख गयीं ।। १६ ।।

स काल्यमानो घोरेण शूलहस्तेन रक्षसा ।
अग्निहोत्रं पितुर्भीतः सहसा प्रविवेश ह ।। १७ ।।

तब हाथमें शूल लिये उस भयानक राक्षसके खदेड़नेपर यवक्रीत अत्यन्त भयभीत हो सहसा अपने पिताके अग्निहोत्रगृहमें घुसने लगा ।। १७ ।।

स वै प्रविशमानस्तु शूद्रेणान्धेन रक्षिणा ।
निगृहीतो बलाद् द्वारि सोऽवातिष्ठत पार्थिव ।। १८ ।।

राजन्! उस समय अग्निहोत्रगृहके अंदर एक शूद्र-जातीय रक्षक नियुक्त था, जिसकी दोनों आँखें अंधी थीं। उसने दरवाजेके भीतर घुसते ही यवक्रीतको बलपूर्वक पकड़ लिया और यवक्रीत वहीं खड़ा हो गया ।। १८ ।।

निगृहीतं तु शूद्रेण यवक्रीतं स राक्षसः ।
ताडयामास शूलेन स भिन्नहृदयोऽपतत् ।। १९ ।।

शूद्रके द्वारा पकड़े गये यवक्रीतपर उस राक्षसने शूलसे प्रहार किया। इससे उसकी छाती फट गयी और वह प्राणशून्य होकर वहीं गिर पड़ा ।। १९ ।।

यवक्रीतं स हत्वा तु राक्षसो रैभ्यमागमत् ।
अनुज्ञातस्तु रैभ्येण तया नार्या सहावसत् ।। २० ।।

इस प्रकार यवक्रीतको मारकर राक्षस रैभ्यके पास लौट आया और उनकी आज्ञा ले उस कृत्यास्वरूपा रमणीके साथ उनकी सेवामें रहने लगा ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३६ ।।

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भरद्वाजका पुत्रशोकसे विलाप करना, रैभ्यमुनिको शाप देना एवं स्वयं अग्निमें प्रवेश करना

लोमश उवाच

भरद्वाजस्तु कौन्तेय कृत्वा स्वाध्यायमाह्निकम् ।
समित्कलापमादाय प्रविवेश स्वमाश्रमम् ।। १ ।।
तं स्म दृष्ट्वा पुरा सर्वे प्रत्युत्तिष्ठन्ति पावकाः ।
न त्वेनमुपतिष्ठन्ति हतपुत्रं तदाग्नयः ।। २ ।।

लोमशजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन! भरद्वाज मुनि प्रतिदिनका स्वाध्याय पूरा करके बहुत-सी समिधाएँ लिये आश्रममें आये। उस दिनसे पहले सभी अग्नियाँ उनको देखते ही उठकर स्वागत करती थीं, परंतु उस समय उनका पुत्र मारा गया था, इसलिये अशौचयुक्त होनेके कारण उनका अग्नियोंने पूर्ववत् खड़े होकर स्वागत नहीं किया ।। १२ ।।

वैकृतं त्वग्निहोत्रे स लक्षयित्वा महातपाः ।
तमन्धं शूद्रमासीनं गृहपालमथाब्रवीत् ।। ३ ।।

अग्निहोत्रगृहमें यह विकृति देखकर उन महातपस्वी भरद्वाजने वहाँ बैठे हुए अन्धे गृहरक्षक शूद्रसे पूछा— ।।

किं नु मे नाग्नयः शूद्र प्रतिनन्दन्ति दर्शनम् ।
त्वं चापि न यथापूर्वं कच्चित् क्षेममिहाश्रमे ।। ४ ।।
कच्चिन्न रैभ्यं पुत्रो मे गतवानल्पचेतनः ।
एतदाचक्ष्व मे शीघ्रं न हि शुद्ध्यति मे मनः ।। ५ ।।

‘दास! क्या कारण है कि आज अग्नियाँ पूर्ववत् मेरा दर्शन करके प्रसन्नता नहीं प्रकट करती हैं। इधर तुम भी पहले-जैसे समादरका भाव नहीं दिखाते हो। इस आश्रममें कुशल तो है न? कहीं मेरा मन्दबुद्धि पुत्र रैभ्यके पास तो नहीं चला गया? यह बात मुझे शीघ्र बताओ; क्योंकि मेरा मन शान्त नहीं हो रहा है’ ।। ५ ।।

शूद्र उवाच

रैभ्यं यातो नूनमयं पुत्रस्ते मन्दचेतनः ।
तथा हि निहतः शेते राक्षसेन बलीयसा ।। ६ ।।

शूद्र बोला—भगवन्! अवश्य ही आपका यह मन्दमति पुत्र रैभ्यके यहाँ गया था। उसीका यह फल है कि एक महाबली राक्षसके द्वारा मारा जाकर पृथ्वीपर पड़ा है ।। ६ ।।

प्रकाल्यमानस्तेनायं शूलहस्तेन रक्षसा ।

अग्न्यागारं प्रति द्वारि मया दोर्भ्यां निवारितः ।। ७ ।।

राक्षस अपने हाथमें शूल लेकर इसका पीछा कर रहा था और यह अग्निशालामें घुसा जा रहा था। उस समय मैंने दोनों हाथोंसे पकड़कर इसे द्वारपर ही रोक लिया ।। ७ ।।

ततः स विहताशोऽत्र जलकामोऽशुचिर्ध्रुवम् ।
निहतः सोऽतिवेगेन शूलहस्तेन रक्षसा ।। ८ ।।

निश्चय ही अपवित्र होनेके कारण यह शुद्धिके लिये जल लेनेकी इच्छा रखकर यहाँ आया था, परंतु मेरे रोक देनेसे यह हताश हो गया। उस दशामें उस शूलधारी राक्षसने इसके ऊपर बड़े वेगसे प्रहार करके इसे मार डाला ।। ८ ।।

भरद्वाजस्तु तच्छ्रुत्वा शूद्रस्य विप्रियं महत् ।
गतासुं पुत्रमादाय विललाप सुदुःखितः ।। ९ ।।

शूद्रका कहा हुआ यह अत्यन्त अप्रिय वचन सुनकर भरद्वाज बड़े दुखी हो गये और अपने प्राणशून्य पुत्रको लेकर विलाप करने लगे ।। ९ ।।

भरद्वाज उवाच

ब्राह्मणानां किलार्थाय ननु त्वं तप्तवांस्तपः ।
द्विजानामनधीता वै वेदाः सम्प्रतिभान्त्विति ।। १० ।।

भरद्वाजने कहा—बेटा! तुमने ब्राह्मणोंके हितके लिये भारी तपस्या की थी। तुम्हारी तपस्याका यह उद्देश्य था कि द्विजोंको बिना पढ़े ही सब वेदोंका ज्ञान हो जाय ।। १० ।।

तथा कल्याणशीलस्त्वं ब्राह्मणेषु महात्मसु ।
अनागाः सर्वभूतेषु कर्कशत्वमुपेयिवान् ।। ११ ।।

इस प्रकार महात्मा ब्राह्मणोंके प्रति तुम्हारा स्वभाव अत्यन्त कल्याणकारी था। किसी भी प्राणीके प्रति तुम कोई अपराध नहीं करते थे। फिर भी तुम्हारा स्वभाव कुछ कठोर हो गया था ।। ११ ।।

प्रतिषिद्धो मया तात रैभ्यावसथदर्शनात् ।
गतवानेव तं द्रष्टुं कालान्तकयमोपमम् ।। १२ ।।
यः स जानन् महातेजा वृद्धस्यैकं ममात्मजम् ।
गतवानेव कोपस्य वशं परमदुर्मतिः ।। १३ ।।

तात! मैंने तुम्हें बार-बार मना किया था कि तुम रैभ्यके आश्रमकी ओर न देखना, परंतु तुम उसे देखने चले ही गये और वह तुम्हारे लिये काल, अन्तक एवं यमराजके समान हो गया। महान् तेजस्वी होनेपर भी उसकी बुद्धि बड़ी खोटी है। वह जानता था कि मुझ बूढ़ेके तुम एक ही पुत्र हो तो भी वह दुष्ट क्रोधके वशीभूत हो ही गया ।। १२-१३ ।।

पुत्रशोकमनुप्राप्त एष रैभ्यस्य कर्मणा ।
त्यक्ष्यामि त्वामृते पुत्र प्राणानिष्टतमान् भुवि ।। १४ ।।

बेटा! आज रैभ्यके इस कठोर कर्मसे मुझे पुत्रशोक प्राप्त हुआ है। तुम्हारे बिना मैं इस पृथ्वीपर अपने परम प्रिय प्राणोंका भी परित्याग कर दूँगा ।। १४ ।।

यथाहं पुत्रशोकेन देहं त्यक्ष्यामि किल्बिषी ।
तथा ज्येष्ठः सुतो रैभ्यं हिंस्याच्छीघ्रमनागसम् ।। १५ ।।

जैसे मैं पापी अपने पुत्रके शोकसे व्याकुल हो अपने शरीरका त्याग कर रहा हूँ, उसी प्रकार रैभ्यका ज्येष्ठ पुत्र अपने निरपराध पिताकी शीघ्र हत्या कर डालेगा ।। १५ ।।

सुखिनो वै नरा येषां जात्या पुत्रो न विद्यते ।
ते पुत्रशोकमप्राप्य विचरन्ति यथासुखम् ।। १६ ।।

संसारमें वे मनुष्य सुखी हैं, जिन्हें पुत्र पैदा ही नहीं हुआ है; क्योंकि वे पुत्रशोकका अनुभव न करके सदा सुखपूर्वक विचरते हैं ।। १६ ।।

ये तु पुत्रकृताच्छोकाद् भृशं व्याकुलचेतसः ।
शपन्तीष्टान् सखीनार्तास्तेभ्यः पापतरो नु कः ।। १७ ।।

जो पुत्रशोकसे मन-ही-मन व्याकुल हो गहरी व्यथाका अनुभव करते हुए अपने प्रिय मित्रोंको भी शाप दे डालते हैं, उनसे बढ़कर महापापी दूसरा कौन हो सकता है? ।। १७ ।।

परासुश्च सुतो दृष्टः शप्तश्चेष्टः सखा मया ।
ईदृशीमापदं कोऽत्र द्वितीयोऽनुभविष्यति ।। १८ ।।

मैंने अपने पुत्रकी मृत्यु देखी और प्रिय मित्रको शाप दे दिया। मेरे सिवा संसारमें दूसरा कौन-सा मनुष्य है जो ऐसी विपत्तिका अनुभव करेगा ।। १८ ।।

लोमश उवाच

विलप्यैवं बहुविधं भरद्वाजोऽदहत् सुतम् ।
सुसमिद्धं ततः पश्चात् प्रविवेश हुताशनम् ।। १९ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस तरह भाँति-भाँतिके विलाप करके भरद्वाजने अपने पुत्रका दाह-संस्कार किया। तत्पश्चात् स्वयं भी वे जलती आगमें प्रवेश कर गये ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३७ ।।

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अर्वावसुकी तपस्याके प्रभावसे परावसुका ब्रह्महत्यासे मुक्त होना और रैभ्य, भरद्वाज तथा यवक्रीत आदिका पुनर्जीवित होना

लोमश उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु बृहद्द्युम्नो महीपतिः ।
सत्रं तेने महाभागो रैभ्ययाज्यः प्रतापवान् ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इन्हीं दिनों महान् सौभाग्यशाली एवं प्रतापी नरेश बृहद्द्युम्नने एक यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया। वे रैभ्यके यजमान थे ।। १ ।।

तेन रैभ्यस्य वै पुत्रावर्वावसुपरावसू ।
वृतौ सहायौ सत्रार्थं बृहद्द्युम्नेन धीमता ।। २ ।।

बुद्धिमान् बृहद्द्युम्नने यज्ञकी पूर्तिके लिये रैभ्यके दोनों पुत्र अर्वावसु तथा परावसुको सहयोगी बनाया ।। २ ।।

तत्र तौ समनुज्ञातौ पित्रा कौन्तेय जग्मतुः ।
आश्रमे त्वभवद् रैभ्यो भार्या चैव परावसोः ।। ३ ।।
अथावलोककोऽगच्छद् गृहानेकः परावसुः ।
कृष्णाजिनेन संवीतं ददर्श पितरं वने ।। ४ ।।

कुन्तीनन्दन! पिताकी आज्ञा पाकर वे दोनों भाई राजाके यज्ञमें चले गये। आश्रममें केवल रैभ्य मुनि तथा उनके पुत्र परावसुकी पत्नी रह गयी। एक दिन घरकी देख-भाल करनेके लिये परावसु अकेले ही आश्रमपर आये। उस समय उन्होंने काले मृगचर्मसे ढके हुए अपने पिताको वनमें देखा ।। ३-४ ।।

जघन्यरात्रे निद्रान्धः सावशेषे तमस्यपि ।
चरन्तं गहनेऽरण्ये मेने स पितरं मृगम् ।। ५ ।।

रातका पिछला पहर बीत रहा था और अभी अन्धकार शेष था। परावसु नींदसे अन्धे हो रहे थे; अतः उन्होंने गहन वनमें विचरते हुए अपने पिताको हिंसक पशु ही समझा ।। ५ ।।

मृगं तु मन्यमानेन पिता वै तेन हिंसितः ।
अकामयानेन तदा शरीरत्राणमिच्छता ।। ६ ।।

और उसे हिंसक पशु समझकर धोखेसे ही उन्होंने अपने पिताकी हत्या कर डाली। यद्यपि वे ऐसा करना नहीं चाहते थे, तथापि हिंसक पशुसे अपने शरीरकी रक्षाके लिये

उनके द्वारा यह क्रूरतापूर्ण कार्य बन गया ।। ६ ।।

तस्य स प्रेतकार्याणि कृत्वा सर्वाणि भारत ।
पुनरागम्य तत् सत्रमब्रवीद् भ्रातरं वचः ।। ७ ।।
इदं कर्म न शक्तस्त्वं वोढुमेकः कथंचन ।
मया तु हिंसितस्तातो मन्यमानेन तं मृगम् ।। ८ ।।
सोऽस्मदर्थे व्रतं तात चर त्वं ब्रह्महिंसनम् ।
समर्थोऽप्यहमेकाकी कर्म कर्तुमिदं मुने ।। ९ ।।

भारत! उसने पिताके समस्त प्रेतकर्म करके पुनः यज्ञमण्डपमें आकर अपने भाई अर्वावसुसे कहा—'भैया! वह यज्ञकर्म तुम अकेले किसी प्रकार निभा नहीं सकते। इधर मैंने हिंसक पशु समझकर धोखेसे पिताजीकी हत्या कर डाली है; इसलिये तात! तुम तो मेरे लिये ब्रह्महत्यानिवारणके हेतु व्रत करो और मैं राजाका यज्ञ कराऊँगा। मुने! मैं अकेला भी इस कार्यका सम्पादन करनेमें समर्थ हूँ' ।। ७—९ ।।

अर्वावसुरुवाच

करोतु वै भवान् सत्रं बृहद्द्युम्नस्य धीमतः ।
ब्रह्मवध्यां चरिष्येऽहं त्वदर्थं नियतेन्द्रियः ।। १० ।।

अर्वावसु बोले—भाई! आप परम बुद्धिमान् राजा बृहद्द्युम्नका यज्ञकार्य सम्पन्न करें और मैं आपके लिये इन्द्रियसंयमपूर्वक ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करूँगा ।।

लोमश उवाच

स तस्य ब्रह्मवध्यायाः पारं गत्वा युधिष्ठिर ।
अर्वावसुस्तदा सत्रमाजगाम पुनर्मुनिः ।। ११ ।।
ततः परावसुर्दृष्ट्वा भ्रातरं समुपस्थितम् ।
बृहद्द्युम्नमुवाचेदं वचनं हर्षगद्गदम् ।। १२ ।।
एष ते ब्रह्महा यज्ञं मा द्रष्टुं प्रविशेदिति ।
ब्रह्महा प्रेक्षितेनापि पीडयेत् त्वामसंशयम् ।। १३ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! अर्वावसु मुनि भाईके लिये ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त पूरा करके पुनः उस यज्ञमें आये। परावसुने अपने भाईको वहाँ उपस्थित देखकर राजा बृहद्द्युम्नसे हर्षगद्गद वाणीमें कहा—'राजन्! यह ब्रह्महत्यारा है। अतः इसे आपका यज्ञ देखनेके लिये इस मण्डपमें प्रवेश नहीं करना चाहिये। ब्रह्मघाती मनुष्य अपनी दृष्टिमात्रसे भी आपको महान् कष्टमें डाल सकता है, इसमें संशय नहीं है' ।। ११—१३ ।।

लोमश उवाच

तच्छ्रुत्वैव तदा राजा प्रेष्यानाह स विट्पते ।

प्रेष्यैरुत्सार्यमाणस्तु राजन्नर्वावसुस्तदा ।। १४ ।।

न मया ब्रह्महत्येयं कृतेत्याह पुनः पुनः ।

उच्यमानोऽसकृत्प्रेष्यैर्ब्रह्महन्निति भारत ।। १५ ।।

लोमशजी कहते हैं—प्रजानाथ! परावसुकी यह बात सुनते ही राजाने अपने सेवकोंको यह आज्ञा दी कि 'अर्वावसुको भीतर न आने दो।' राजन्! उस समय सेवकोंद्वारा हटाये जानेपर अर्वावसुने बार-बार यह कहा कि 'मैंने ब्रह्महत्या नहीं की है।' भारत! तो भी राजाके सेवक उन्हें ब्रह्महत्यारा कहकर ही सम्बोधित करते थे ।। १४-१५ ।।

नैव स्म प्रतिजानाति ब्रह्मवध्यां स्वयंकृताम् ।

मम भ्रात्रा कृतमिदं मया स परिमोक्षितः ।। १६ ।।

अर्वावसु किसी तरह उस ब्रह्महत्याको अपनी की हुई स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने बार-बार यही बतानेकी चेष्टा की कि 'मेरे भाईने ब्रह्महत्या की है। मैंने तो प्रायश्चित्त करके उन्हें पापसे छुड़ाया है' ।। १६ ।।

स तथा प्रवदन् क्रोधात् तैश्च प्रेष्यैः प्रभाषितः ।

तूष्णीं जगाम ब्रह्मर्षिर्वनमेव महातपाः ।। १७ ।।

उनके ऐसा कहनेपर भी राजाके सेवकोंने उन्हें क्रोधपूर्वक फटकार दिया। तब वे महातपस्वी ब्रह्मर्षि चुपचाप वनको ही चले गये ।। १७ ।।

उग्रं तपः समास्थाय दिवाकरमथाश्रितः ।

रहस्यवेदं कृतवान् सूर्यस्य द्विजसत्तमः ।। १८ ।।

मूर्तिमांस्तं ददर्शाथ स्वयमग्रभुगव्ययः ।

वहाँ जाकर उन्होंने भगवान् सूर्यकी शरण ली और बड़ी उग्र तपस्या करके उन ब्राह्मणशिरोमणिने सूर्यसम्बन्धी रहस्यमय वैदिक मन्त्रका अनुष्ठान किया। तदनन्तर अग्रभोजी एवं अविनाशी साक्षात् भगवान् सूर्यने साकाररूपमें प्रकट हो अर्वावसुको दर्शन दिया ।। १८½ ।।

लोमश उवाच

प्रीतास्तस्याभवन् देवाः कर्मणार्वावसोर्नृप ।। १९ ।।

तं ते प्रवरयामासुर्निरासुश्च परावसुम् ।

ततो देवा वरं तस्मै ददुरग्निपुरोगमाः ।। २० ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! अर्वावसुके उस कार्यसे सूर्य आदि सब देवता उसपर प्रसन्न हो गये। उन्होंने अर्वावसुका यज्ञमें वरण कराया एवं परावसुको निकलवा दिया। तत्पश्चात् अग्नि-सूर्य आदि देवताओंने उन्हें वर देनेकी इच्छा प्रकट की ।। १९-२० ।।

स चापि वरयामास पितुरुत्थानमात्मनः ।

अनागस्त्वं ततो भ्रातुः पितुश्चास्मरणं वधे ।। २१ ।।

तब अर्वावसुने यह वर माँगा कि 'मेरे पिताजी जीवित हो जायँ। मेरे भाई निर्दोष हों और उन्हें पिताके वधकी बात भूल जाय' ।। २१ ।।

भरद्वाजस्य चोत्थानं यवक्रीतस्य चोभयोः ।
प्रतिष्ठां चापि वेदस्य सौरस्य द्विजसत्तमः ।
एवमस्त्विति तं देवाः प्रोचुश्चापि वरान् ददुः ।। २२ ।।

साथ ही उन्होंने यह भी माँगा कि 'भरद्वाज तथा यवक्रीत दोनों जी उठें और इस सूर्यदेवतासम्बन्धी रहस्यमय वेदमन्त्रकी प्रतिष्ठा हो।' द्विजश्रेष्ठ अर्वावसुके इस प्रकार वर माँगनेपर देवता बोले—'ऐसा ही हो।' इस प्रकार उन्होंने पूर्वोक्त सभी वर दे दिये ।। २२ ।।

ततः प्रादुर्बभूवुस्ते सर्व एव युधिष्ठिर ।
अथाब्रवीद् यवक्रीतो देवानग्निपुरोगमान् ।। २३ ।।
समधीतं मया ब्रह्म व्रतानि चरितानि च ।
कथं च रैभ्यः शक्तो मामधीयानं तपस्विनम् ।। २४ ।।
तथायुक्तेन विधिना निहन्तुममरोत्तमाः ।

युधिष्ठिर! इसके बाद पूर्वोक्त सभी मुनि जीवित हो गये। उस समय यवक्रीतने अग्नि आदि सम्पूर्ण देवताओंसे पूछा—'देवेश्वरो! मैंने वेदका अध्ययन किया है, वेदोक्त व्रतोंका अनुष्ठान भी किया है। मैं स्वाध्यायशील और तपस्वी भी हूँ, तो भी रैभ्यमुनि इस प्रकार अनुचित रीतिसे मेरा वध करनेमें कैसे समर्थ हो सके' ।। २३-२४½ ।।

देवा ऊचुः

मैवं कृथा यवक्रीत यथा वदसि वै मुने ।
ऋते गुरुमधीता हि सुखं वेदास्त्वया पुरा ।। २५ ।।
अनेन तु गुरून् दुःखात् तोषयित्वाऽऽत्मकर्मणा ।
कालेन महता क्लेशाद् ब्रह्माधिगतमुत्तमम् ।। २६ ।।

देवताओंने कहा—मुनि यवक्रीत! तुम जैसी बात कहते हो, वैसा न समझो। तुमने पूर्वकालमें बिना गुरुके ही सुखपूर्वक सब वेद पढ़े हैं और इन रैभ्यमुनिने बड़े क्लेश उठाकर अपने व्यवहारसे गुरुजनोंको संतुष्ट करके दीर्घकालतक कष्टसहनपूर्वक उत्तम वेदोंका ज्ञान प्राप्त किया है ।। २५-२६ ।।

लोमश उवाच

यवक्रीतमथोक्त्वैवं देवाः साग्निपुरोगमाः ।
संजीवयित्वा तान् सर्वान् पुनर्जग्मुस्त्रिविष्टपम् ।। २७ ।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! अग्नि आदि देवताओंने यवक्रीतसे ऐसा कहकर उन सबको नूतन जीवन प्रदान करके पुनः स्वर्गलोकको प्रस्थान किया ।। २७ ।।

आश्रमस्तस्य पुण्योऽयं सदापुष्पफलद्रुमः ।

अत्रोष्य राजशार्दूल सर्वं पापं प्रमोक्ष्यसि ।। २८ ।।

नृपश्रेष्ठ! यह उन्हीं रैभ्यमुनिका पवित्र आश्रम है। यहाँके वृक्ष सदा फूल और फलोंसे लदे रहते हैं। यहाँ एक रात निवास करके तुम सब पापोंसे छूट जाओगे ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां यवक्रीतोपाख्याने अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें यवक्रीतोपाख्यानविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३८ ।।

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी उत्तराखण्ड-यात्रा और लोमशजीद्वारा उसकी दुर्गमताका कथन

लोमश उवाच

उशीरबीजं मैनाकं गिरिं श्वेतं च भारत ।
समतीतोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पार्थिव ।। १ ।।

लोमशजी कहते हैं—भरतनन्दन युधिष्ठिर! अब तुम उशीरबीज, मैनाक, श्वेत और कालशैल नामक पहाड़ोंको लाँघकर आगे बढ़ आये ।। १ ।।

एषा गङ्गा सप्तविधा राजते भरतर्षभ ।
स्थानं विरजसं पुण्यं यत्राग्निर्नित्यमिध्यते ।। २ ।।

भरतश्रेष्ठ! यह देखो गंगाजी सात धाराओंसे सुशोभित हो रही हैं। यह रजोगुणरहित पुण्यतीर्थ है, जहाँ सदा अग्निदेव प्रज्वलित रहते हैं ।। २ ।।

एतद् वै मानुषेणाद्य न शक्यं द्रष्टुमद्भुतम् ।
समाधिं कुरुताव्यग्रास्तीर्थान्येतानि द्रक्ष्यथ ।। ३ ।।

यह अद्भुत तीर्थ कोई मनुष्य नहीं देख सकता, अतः तुम सब लोग एकाग्रचित्त हो जाओ। व्यग्रताशून्य हृदयसे तुम इन सब तीर्थोंका दर्शन कर सकोगे ।। ३ ।।

एतद् द्रक्ष्यसि देवानामाक्रीडं चरणाङ्कितम् ।
अतिक्रान्तोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पर्वतम् ।। ४ ।।
श्वेतं गिरिं प्रवेक्ष्यामो मन्दरं चैव पर्वतम् ।
यत्र माणिवरो यक्षः कुबेरश्चैव यक्षराट् ।। ५ ।।

यह देवताओंकी क्रीडास्थली है, जो उनके चरणचिह्नोंसे अंकित है। एकाग्रचित्त होनेपर तुम्हें इसका भी दर्शन होगा। कुन्तीकुमार! अब तुम कालशैल पर्वतको लाँघकर आगे बढ़ आये। इसके बाद हम श्वेतगिरि (कैलास) तथा मन्दराचल पर्वतमें प्रवेश करेंगे, जहाँ माणिवर यक्ष और यक्षराज कुबेर निवास करते हैं ।।

अष्टाशीतिसहस्राणि गन्धर्वाः शीघ्रगामिनः ।
तथा किंपुरुषा राजन् यक्षाश्चैव चतुर्गुणाः ।। ६ ।।
अनेकरूपसंस्थाना नानाप्रहरणाश्च ते ।
यक्षेन्द्रं मनुजश्रेष्ठ माणिभद्रमुपासते ।। ७ ।।

राजन्! वहाँ तीव्रगतिसे चलनेवाले अट्ठासी हजार गन्धर्व और उनसे चौगुने किन्नर तथा यक्ष रहते हैं। उनके रूप एवं आकृति अनेक प्रकारकी हैं। वे भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र

धारण करते हैं और यक्षराज माणिभद्रकी उपासनामें संलग्न रहते हैं ।। ६-७ ।।

तेषामृद्धिरतीवात्र गतौ वायुसमाश्च ते ।
स्थानात् प्रच्यावयेयुर्ये देवराजमपि ध्रुवम् ।। ८ ।।

यहाँ उनकी समृद्धि अतिशय बढ़ी हुई है। तीव्रगतिमें वे वायुकी समानता करते हैं। वे चाहें तो देवराज इन्द्रको भी निश्चय ही अपने स्थानसे हटा सकते हैं ।। ८ ।।

तैस्तात बलिभिर्गुप्ता यातुधानैश्च रक्षिताः ।
दुर्गमाः पर्वताः पार्थ समाधिं परमं कुरु ।। ९ ।।

तात युधिष्ठिर! उन बलवान् यक्ष और राक्षसोंसे सुरक्षित रहनेके कारण ये पर्वत बड़े दुर्गम हैं। अतः तुम विशेषरूपसे एकाग्रचित्त हो जाओ ।। ९ ।।

कुबेरसचिवाश्चान्ये रौद्रा मैत्राश्च राक्षसाः ।
तैः समेष्याम कौन्तेय संयतो विक्रमेण च ।। १० ।।

कुबेरके सचिवगण तथा अन्य रौद्र और मैत्र नामक राक्षसोंका हमें सामना करना पड़ेगा; अतः तुम पराक्रमके लिये तैयार रहो ।। १० ।।

कैलासः पर्वतो राजन् षड्योजनसमुच्छ्रितः ।
यत्र देवा समायान्ति विशाला यत्र भारत ।। ११ ।।

राजन्! उधर छः योजन ऊँचा कैलासपर्वत दिखायी देता है जहाँ देवता आया करते हैं। भारत! उसीके निकट विशालापुरी (बदरिकाश्रमतीर्थ) है ।। ११ ।।

असंख्येयास्तु कौन्तेय यक्षराक्षसकिन्नराः ।
नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः कुबेरसदनं प्रति ।। १२ ।।

कुन्तीनन्दन! कुबेरके भवनमें अनेक यक्ष, राक्षस, किन्नर, नाग, सुपर्ण तथा गन्धर्व निवास करते हैं ।। १२ ।।

तान् विगाहस्व पार्थाद्य तपसा च दमेन च ।
रक्ष्यमाणो मया राजन् भीमसेनबलेन च ।। १३ ।।

महाराज कुन्तीनन्दन! तुम भीमसेनके बल और मेरी तपस्यासे सुरक्षित हो तप एवं इन्द्रियसंयमपूर्वक रहते हुए आज उन तीर्थोंमें स्नान करो ।। १३ ।।

स्वस्ति ते वरुणो राजा यमश्च समितिंजयः ।
गङ्गा च यमुना चैव पर्वतश्च दधातु ते ।। १४ ।।

राजा वरुण, युद्धविजयी यमराज, गंगा-यमुना तथा यह पर्वत तुम्हें कल्याण प्रदान करें ।। १४ ।।

मरुतश्च सहाश्विभ्यां सरितश्च सरांसि च ।
स्वस्ति देवासुरेभ्यश्च वसुभ्यश्च महाद्युते ।। १५ ।।

महाद्युते! मरुद्गण, अश्विनीकुमार, सरिताएँ और सरोवर भी तुम्हारा मंगल करें। देवताओं, असुरों तथा वसुओंसे भी तुम्हें कल्याणकी प्राप्ति हो ।। १५ ।।

इन्द्रस्य जाम्बूनदपर्वताद् वै
शृणोमि घोषं तव देवि गङ्गे ।
गोपायैनं त्वं सुभगे गिरिभ्यः
सर्वाजमीढापचितं नरेन्द्रम् ।। १६ ।।

देवि गंगे! मैं इन्द्रके सुवर्णमय मेरुपर्वतसे तुम्हारा कलकलनाद सुन रहा हूँ। सौभाग्यशालिनि! ये राजा युधिष्ठिर अजमीढवंशी क्षत्रियोंके लिये आदरणीय हैं। तुम पर्वतोंसे इनकी रक्षा कराओ ।। १६ ।।

ददस्व शर्म प्रविविक्षतोऽस्य
शैलानिमाञ्छैलसुते नृपस्य ।
उक्त्वा तथा सागरगां स विप्रो
यत्तो भवस्वेति शशास पार्थम् ।। १७ ।।

'शैलपुत्रि! ये इन पर्वतमालाओंमें प्रवेश करना चाहते हैं। तुम इन्हें कल्याण प्रदान करो।' समुद्रगामिनी गंगानदीसे ऐसा कहकर विप्रवर लोमशने कुन्तीकुमार युधिष्ठिरको यह आदेश दिया कि 'अब तुम एकाग्रचित्त हो जाओ' ।। १७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अपूर्वोऽयं सम्भ्रमो लोमशस्य
कृष्णां च सर्वे रक्षत मा प्रमादम् ।
देशो ह्ययं दुर्गतमो मतोऽस्य
तस्मात् परं शौचमिहाचरध्वम् ।। १८ ।।

युधिष्ठिर बोले—बन्धुओ! आज महर्षि लोमशको बड़ी घबराहट हो रही है। यह एक अभूतपूर्व घटना है। अतः तुम सब लोग सावधान होकर द्रौपदीकी रक्षा करो। प्रमाद न करना। लोमशजीका मत है कि यह प्रदेश अत्यन्त दुर्गम है। अतः यहाँ अत्यन्त शुद्ध आचार-विचारसे रहो ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद् भीममुदारवीर्यं
कृष्णां यत्तः पालय भीमसेन ।
शून्येऽर्जुनेऽसंनिहिते च तात
त्वामेव कृष्णा भजते भयेषु ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिर महाबली भीमसे इस प्रकार बोले—'भैया भीमसेन! तुम सावधान रहकर द्रौपदीकी रक्षा करो। तात! किसी निर्जन प्रदेशमें जबकि अर्जुन हमारे समीप नहीं हैं भयका अवसर उपस्थित होनेपर द्रौपदी तुम्हारा ही आश्रय लेती है' ।। १९ ।।

ततो महात्मा स यमौ समेत्य
मूर्धन्युपाघ्राय विमृज्य गात्रे ।
उवाच तौ बाष्पकलं स राजा
मा भैष्टमागच्छतमप्रमत्तौ ।। २० ।।

तत्पश्चात् महात्मा राजा युधिष्ठिरने नकुल-सहदेवके पास जाकर उनका मस्तक सूँघा और शरीरपर हाथ फेरा। फिर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए कहा—‘भैया! तुम दोनों भय न करो और सावधान होकर आगे बढ़ो’ ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कैलासादिगिरिप्रवेशे एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें पाण्डवोंका कैलास आदि पर्वतमालाओंमें प्रवेशविषयक एक सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३९ ।।

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका उत्साह तथा पाण्डवोंका कुलिन्दराज सुबाहुके राज्यमें होते हुए गन्धमादन और हिमालय पर्वतको प्रस्थान

युधिष्ठिर उवाच

अन्तर्हितानि भूतानि बलवन्ति महान्ति च ।
अग्निना तपसा चैव शक्यं गन्तुं वृकोदर ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन! यहाँ बहुत-से बलवान् और विशालकाय राक्षस छिपे रहते हैं; अतः अग्निहोत्र एवं तपस्याके प्रभावसे ही हमलोग यहाँसे आगे बढ़ सकते हैं ।। १ ।।

संनिवर्तय कौन्तेय क्षुत्पिपासे बलाश्रयात् ।
ततो बलं च दाक्ष्यं च संश्रयस्व वृकोदर ।। २ ।।

वृकोदर! तुम बलका आश्रय लेकर अपनी भूख-प्यास मिटा दो। फिर शारीरिक शक्ति और चतुरताका सहारा लो ।। २ ।।

ऋषेस्त्वया श्रुतं वाक्यं कैलासं पर्वतं प्रति ।
बुद्ध्या प्रपश्य कौन्तेय कथं कृष्णा गमिष्यति ।। ३ ।।

भैया! कैलास पर्वतके विषयमें महर्षिने जो बात कही है, वह तुमने भी सुना ही है; अब स्वयं अपनी बुद्धिसे विचार करके देखो, द्रौपदी इस दुर्गम प्रदेशमें कैसे चल सकेगी? ।। ३ ।।

अथवा सहदेवेन धौम्येन च समं विभो ।
सूतैः पौरोगवैश्चैव सर्वैश्च परिचारकैः ।। ४ ।।
रथैरश्वैश्च ये चान्ये विप्राः क्लेशासहाः पथि ।
सर्वैस्त्वं सहितो भीम निवर्तस्वायतेक्षण ।। ५ ।।

अथवा विशालनेत्रोंवाले भीम! तुम सहदेव, धौम्य, सारथि, रसोइये, समस्त सेवकगण, रथ, घोड़े तथा मार्गके कष्टको सहन न कर सकनेवाले जो अन्य ब्राह्मण हैं, उन सबके साथ यहींसे लौट जाओ ।। ४-५ ।।

त्रयो वयं गमिष्यामो लघ्वाहारा यतव्रताः ।
अहं च नकुलश्चैव लोमशश्च महातपाः ।। ६ ।।
ममागमनमाकाङ्क्षन् गङ्गाद्वारे समाहितः ।
वसेह द्रौपदीं रक्षन् यावदागमनं मम ।। ७ ।।

केवल मैं, नकुल तथा महातपस्वी लोमशजी—ये तीन व्यक्ति ही संयम और व्रतका पालन करते हुए यहाँसे आगेकी यात्रा करेंगे। हम तीनों ही स्वल्पाहारसे जीवन-निर्वाह

करेंगे। तुम गंगाद्वार (हरिद्वार)-में एकाग्रचित्त हो मेरे आगमनकी प्रतीक्षा करो और जबतक मैं लौटकर न आऊँ, तबतक द्रौपदीकी रक्षा करते हुए वहीं निवास करो ।। ६-७ ।।

भीम उवाच

राजपुत्री श्रमेणार्ता दुःखार्ता चैव भारत ।
व्रजत्येव हि कल्याणी श्वेतवाहदिदृक्षया ।। ८ ।।

भीमसेनने कहा—भारत! राजकुमारी द्रौपदी यद्यपि रास्तेकी थकावटसे और मानसिक दुःखसे भी पीड़ित है; तो भी यह कल्याणमयी देवी अर्जुनको देखनेकी इच्छासे उत्साहपूर्वक हमारे साथ चल ही रही है ।। ८ ।।

तव चाप्यरतिस्तीव्रा वर्तते तमपश्यतः ।
गुडाकेशं महात्मानं संग्रामेष्वपलायिनम् ।। ९ ।।

संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले निद्राविजयी महात्मा अर्जुनको न देखनेके कारण आपके मनमें भी अत्यन्त खिन्नता हो रही है ।। ९ ।।

किं पुनः सहदेवं च मां च कृष्णां च भारत ।
द्विजाः कामं निवर्तन्तां सर्वे च परिचारकाः ।। १० ।।
सूताः पौरोगवाश्चैव यं च मन्येत नो भवान् ।
न ह्यहं हातुमिच्छामि भवन्तमिह कर्हिचित् ।। ११ ।।
शैलेऽस्मिन् राक्षसाकीर्णे दुर्गेषु विषमेषु च ।
इयं चापि महाभागा राजपुत्री पतिव्रता ।। १२ ।।
त्वामृते पुरुषव्याघ्र नोत्सहेद् विनिवर्तितुम् ।
तथैव सहदेवोऽयं सततं त्वामनुव्रतः ।। १३ ।।
न जातु विनिवर्तेत मनोज्ञो ह्यहमस्य वै ।
अपि चात्र महाराज सव्यसाचिदिदृक्षया ।। १४ ।।
सर्वे लालसभूताः स्म तस्माद् यास्यामहे सह ।
यद्यशक्यो रथैर्गन्तुं शैलोऽयं बहुकन्दरः ।। १५ ।।
पद्भिरेव गमिष्यामो मा राजन् विमना भव ।
अहं वहिष्ये पाञ्चालीं यत्र यत्र न शक्ष्यति ।। १६ ।।

फिर सहदेवके, मेरे तथा द्रौपदीके लिये तो कहना ही क्या है? भारत! ये ब्राह्मणलोग चाहें तो यहाँसे लौट सकते हैं। समस्त सेवक, सारथि, रसोइये तथा हममेंसे और जिस-जिसको आप लौटाना उचित समझें-वे सभी जा सकते हैं। राक्षसोंसे भरे हुए इस पर्वतपर तथा ऊँचे-नीचे दुर्गम प्रदेशोंमें मैं आपको कदापि अकेला छोड़ना नहीं चाहता। नरश्रेष्ठ! यह परम सौभाग्यवती पतिव्रता राजकुमारी कृष्णा भी आपको छोड़कर लौटनेको कभी तैयार न होंगी। इसी प्रकार यह सहदेव भी आपमें सदा अनुराग रखनेवाला है, आपको छोड़कर

कभी नहीं लौटेगा। मैं इसके मनकी बात जानता हूँ। महाराज! सव्यसाची अर्जुनको देखनेकी इच्छासे हम सभी लालायित हो रहे हैं; अतः सब साथ ही चलेंगे। राजन्! अनेक कन्दराओंसे युक्त इस पर्वतपर यदि रथोंके द्वारा यात्रा सम्भव न हो तो हम पैदल ही चलेंगे। आप इसके लिये उदास न हों। जहाँ-जहाँ द्रौपदी नहीं चल सकेगी वहाँ-वहाँ मैं स्वयं इसे कंधेपर चढ़ाकर ले जाऊँगा ।। १०—१६ ।।

इति मे वर्तते बुद्धिर्मा राजन् विमना भव ।
सुकुमारौ तथा वीरौ माद्रीनन्दिकरावुभौ ।
दुर्गे संतारयिष्यामि यत्राशक्तौ भविष्यतः ।। १७ ।।

राजन्! मेरा ऐसा ही विचार है, आप उदास न हों। वीर माद्रीकुमार नकुल और सहदेव दोनों सुकुमार हैं। जहाँ कहीं दुर्गम स्थानमें ये असमर्थ हो जायँगे वहाँ मैं इन्हें पार लगाऊँगा ।। १७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

एवं ते भाषमाणस्य बलं भीमाभिवर्धताम् ।
यत् त्वमुत्सहसे वोढुं पाञ्चालीं च यशस्विनीम् ।। १८ ।।
यमजौ चापि भद्रं ते नैतदन्यत्र विद्यते ।
बलं तव यशश्चैव धर्मः कीर्तिश्च वर्धताम् ।। १९ ।।
यत् त्वमुत्सहसे नेतुं भ्रातरौ सह कृष्णया ।
मा ते ग्लानिर्महाबाहो मा च तेऽस्तु पराभवः ।। २० ।।

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन! इस प्रकार (उत्साहपूर्ण) बातें करते हुए तुम्हारा बल बढ़े, क्योंकि तुम यशस्विनी द्रौपदी तथा नकुल-सहदेवको भी वहन करके ले चलनेका उत्साह रखते हो। तुम्हारा कल्याण हो। यह साहस तुम्हारे सिवा और किसीमें नहीं है। तुम्हारे बल, यश, धर्म और कीर्तिका विस्तार हो। महाबाहो! तुम द्रौपदीसहित दोनों भाई नकुल-सहदेवको भी स्वयं ही ले चलनेकी शक्ति रखते हो, इसलिये कभी तुम्हें ग्लानि न हो तथा किसीसे भी तुम्हें तिरस्कृत न होना पड़े ।। १८—२० ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः कृष्णाब्रवीद् वाक्यं प्रहसन्ती मनोरमा ।
गमिष्यामि न संतापः कार्यो मां प्रति भारत ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब सुन्दरी द्रौपदीने हँसते हुए कहा—‘भारत! मैं आपके साथ ही चलूँगी; आप मेरे लिये चिन्ता न करें’ ।। २१ ।।

लोमश उवाच

तपसा शक्यते गन्तुं पर्वतो गन्धमादनः ।

तपसा चैव कौन्तेय सर्वे योक्ष्यामहे वयम् ।। २२ ।।
नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पार्थिव ।
अहं च त्वं च कौन्तेय द्रक्ष्यामः श्वेतवाहनम् ।। २३ ।।

लोमशजीने कहा—कुन्तीनन्दन! गन्धमादन पर्वतपर तपस्याके बलसे ही जाया जा सकता है। हम सब लोगोंको तपःशक्तिका संचय करना होगा। महाराज! नकुल, सहदेव, भीमसेन, मैं और तुम सभी लोग तपोबलसे ही अर्जुनको देख सकेंगे ।। २२-२३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाषमाणास्ते सुबाहुविषयं महत् ।
ददृशुर्मुदिता राजन् प्रभूतगजवाजिमत् ।। २४ ।।
किराततङ्गणाकीर्णं पुलिन्दशतसंकुलम् ।
हिमवत्यमरैर्जुष्टं बह्वाश्चर्यसमाकुलम् ।
सुबाहुश्चापि तान् दृष्ट्वा पूजया प्रत्यगृह्णत ।। २५ ।।
विषयान्ते कुलिन्दानामीश्वरः प्रीतिपूर्वकम् ।
ततस्ते पूजितास्तेन सर्व एव सुखोषिताः ।। २६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार बातचीत करते हुए वे सब लोग आगे बढ़े। कुछ दूर जानेपर उन्हें कुलिन्दराज सुबाहुका विशाल राज्य दिखायी दिया, जहाँ हाथी-घोड़ोंकी बहुतायत थी, और सैकड़ों किरात, तंगण एवं कुलिन्द आदि जंगली जातियोंके लोग निवास करते थे। वह देवताओंसे सेवित देश हिमालयके अत्यन्त समीप था। वहाँ अनेक प्रकारकी आश्चर्यजनक वस्तुएँ दिखायी देती थीं। सुबाहुका वह राज्य देखकर उन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। कुलिन्दोंके राजा सुबाहुको जब यह पता लगा कि मेरे राज्यमें पाण्डव आये हैं, तब उसने राज्यकी सीमापर जाकर बड़े आदर-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया। उसके द्वारा प्रेमसे पूजित होकर वे सब लोग बड़े सुखसे वहाँ रहे ।। २४—२६ ।।

प्रतस्थुर्विमले सूर्ये हिमवन्तं गिरिं प्रति ।
इन्द्रसेनमुखांश्चापि भृत्यान् पौरोगवांस्तथा ।। २७ ।।
सूदांश्च पारिबर्हांश्च द्रौपद्याः सर्वशो नृप ।
राज्ञः कुलिन्दाधिपतेः परिदाय महारथाः ।। २८ ।।
पद्भिरेव महावीर्या ययुः कौरवनन्दनाः ।
ते शनैः प्राद्रवन् सर्वे कृष्णया सह पाण्डवाः ।
तस्माद् देशात् सुसंहृष्टा द्रष्टुकामा धनंजयम् ।। २९ ।।

दूसरे दिन निर्मल प्रभातकालमें सूर्योदय होनेपर उन सबने हिमालय पर्वतकी ओर प्रस्थान किया। जनमेजय! इन्द्रसेन आदि सेवकों, रसोइयों और पाक-शालाके अध्यक्षको तथा द्रौपदीके सारे सामानोंको कुलिन्दराज सुबाहुके यहाँ सौंपकर वे महापराक्रमी महारथी

कुरुकुलनन्दन पाण्डव द्रौपदीके साथ धीरे-धीरे पैदल ही चल दिये। उनके मनमें अर्जुनको देखनेकी बड़ी उत्कण्ठा थी। अतः वे बड़े हर्ष और उल्लासके साथ उस देशसे प्रस्थित हुए ।। २७—२९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४० ।।

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनसे अर्जुनको न देखनेके कारण मानसिक चिन्ता प्रकट करना एवं उनके गुणोंका स्मरण करते हुए गन्धमादन पर्वतपर जानेका दृढ़ निश्चय करना

युधिष्ठिर उवाच

भीमसेन यमौ चोभौ पाञ्चालि च निबोधत ।
नास्ति भूतस्य नाशो वै पश्यतास्मान् वनेचरान् ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन, नकुल-सहदेव और द्रौपदी! तुम सब लोग ध्यान देकर सुनो। यह निश्चय है कि पूर्वकृत कर्मोंका बिना भोगे कभी नाश नहीं होता। देखो, उन्हींके कारण आज हम राजकुमार होकर भी वन-वनमें भटक रहे हैं ।। १ ।।

दुर्बलाः क्लेशिताः स्मेति यद् ब्रुवामेतरेतरम् ।
अशक्येऽपि व्रजामो यद् धनंजयदिदृक्षया ।। २ ।।

यद्यपि हमलोग दुर्बल हैं, क्लेशमें पड़े हुए हैं, तथापि जो एक-दूसरेसे उत्साहपूर्वक बातें करते हैं और जहाँ जाना सम्भव नहीं उस मार्गपर भी आगे बढ़ते जा रहे हैं, उसमें एक ही कारण है, हम सबके हृदयमें अर्जुनको देखनेके लिये प्रबल उत्कण्ठा है ।। २ ।।

तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवानलः ।
यच्च वीरं न पश्यामि धनंजयमुपान्तिकात् ।। ३ ।।

इतना प्रयास करनेपर भी मैं वीर धनंजयको जो अबतक अपने समीप नहीं देख पा रहा हूँ, इसकी चिन्ता मेरे सम्पूर्ण अंगोंको उसी प्रकार दग्ध कर रही है, जैसे आग रूईके ढेरको जलाती रहती है ।। ३ ।।

तस्य दर्शनतृष्णं मां सानुजं वनमास्थितम् ।
याज्ञसेन्याः परामर्शः स च वीर दहत्युत ।। ४ ।।

उसीके दर्शनकी प्यास लेकर मैं भाइयोंसहित इस वनमें आया हूँ। वीर भीमसेन! दुःशासनने जो द्रौपदीके केश पकड़ लिये थे, वह घटना याद आकर मुझे और भी शोकसे दग्ध कर देती है ।। ४ ।।

नकुलात् पूर्वजं पार्थं न पश्याम्यमितौजसम् ।
अजेयमुग्रधन्वानं तेन तप्ये वृकोदर ।। ५ ।।

वृकोदर! भयंकर धनुष धारण करनेवाले अजेय वीर अमिततेजस्वी अर्जुनको जो नकुलसे पहले उत्पन्न हुआ है, मैं अबतक नहीं देख रहा हूँ, इसके कारण मुझे बड़ा संताप हो रहा है ।। ५ ।।

तीर्थानि चैव रम्याणि वनानि च सरांसि च ।
चरामि सह युष्माभिस्तस्य दर्शनकाङ्क्षया ।। ६ ।।

अर्जुनको देखनेकी ही अभिलाषासे मैं तुमलोगोंके साथ विभिन्न तीर्थोंमें, रमणीय वनोंमें और सुन्दर सरोवरोंके तटपर विचर रहा हूँ ।। ६ ।।

पञ्चवर्षाण्यहं वीरं सत्यसंधं धनंजयम् ।
यन्न पश्यामि बीभत्सुं तेन तप्ये वृकोदर ।। ७ ।।

भीमसेन! आज पाँच वर्ष हो गये, मैं अपने वीर भाई सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनके दर्शनसे वंचित हो गया हूँ। इसके कारण मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है ।। ७ ।।

तं वै श्यामं गुडाकेशं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
न पश्यामि महाबाहुं तेन तप्ये वृकोदर ।। ८ ।।

वृकोदर! सिंहके समान मस्तानी चालसे चलनेवाले, निद्राविजयी, श्यामवर्ण, महाबाहु अर्जुनको नहीं देख पा रहा हूँ, इसलिये मेरे मनमें बड़ा संताप हो रहा है ।। ८ ।।

कृतास्त्रं निपुणं युद्धेऽप्रतिमानं धनुष्मताम् ।
न पश्यामि कुरुश्रेष्ठ तेन तप्ये वृकोदर ।। ९ ।।

कुरुश्रेष्ठ भीमसेन! अस्त्रविद्यामें प्रवीण, युद्धकुशल और अनुपम धनुर्धर उस अर्जुनको नहीं देखता हूँ, इस कारण मुझे बड़ा कष्ट होता है ।। ९ ।।

चरन्तमरिसंघेषु काले क्रुद्धमिवान्तकम् ।
प्रभिन्नमिव मातङ्गं सिंहस्कन्धं धनंजयम् ।। १० ।।

जो युद्धके समय शत्रुओंके समूहमें कुपित यमराजकी भाँति विचरता है, जिसके कंधे सिंहके समान हैं तथा जो मदकी धारा बहानेवाले मत्त गजराजके समान शोभा पाता है, उस वीर धनंजयसे अबतक भेंट न हो सकी; इसका मुझे बड़ा दुःख है ।। १० ।।

यः स शक्रादनवरो वीर्येण द्रविणेन च ।
यमयोः पूर्वजः पार्थः श्वेताश्वोऽमितविक्रमः ।। ११ ।।
दुःखेन महताविष्टस्तं न पश्यामि फाल्गुनम् ।
अजेयमुग्रधन्वानं तेन तप्ये वृकोदर ।। १२ ।।

वृकोदर! जो पराक्रम और सम्पत्तिमें देवराज इन्द्रसे तनिक भी कम नहीं है, जिसके रथके घोड़े श्वेत रंगके हैं, जो नकुल-सहदेवसे अवस्थामें बड़ा है, जिसके पराक्रमकी कोई सीमा नहीं है तथा जो उग्र धनुर्धर एवं अजेय है, उस वीरवर अर्जुनके दर्शनसे मैं वंचित हूँ; इसके लिये मुझे महान कष्ट हो रहा है। मैं चिन्ताकी आगमें जला जा रहा हूँ ।। ११-१२ ।।

सततं यः क्षमाशीलः क्षिप्यमाणोऽप्यणीयसा ।
ऋजुमार्गप्रपन्नस्य शर्मदाताभयस्य च ।। १३ ।।
स तु जिह्मप्रवृत्तस्य माययाभिजिघांसतः ।
अपि वज्रधरस्यापि भवेत् कालविषोपमः ।। १४ ।।

जो छोटे लोगोंके आक्षेप करनेपर भी सदा क्षमाशील होनेके कारण उस आक्षेपको सह लेता है तथा सरल मार्गसे अपनी शरणमें आनेवाले लोगोंको सुख पहुँचाकर उन्हें अभयदान देता है, वही अर्जुन, जब कोई कुटिल मार्गका आश्रय ले छल-कपटसे उसपर आघात करना चाहता है तब वह वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, उसके लिये काल और विषके समान भयंकर हो जाता है ।। १३-१४ ।।

शत्रोरपि प्रपन्नस्य सोऽनृशंसः प्रतापवान् ।
दाताभयस्य बीभत्सुरमितात्मा महाबलः ।। १५ ।।
सर्वेषामाश्रयोऽस्माकं रणेऽरीणां प्रमर्दिता ।
आहर्ता सर्वरत्नानां सर्वेषां नः सुखावहः ।। १६ ।।

यदि शत्रु भी शरणमें आ जाय तो वह प्रतापी वीर उसके प्रति दयालु हो जाता और उसे निर्भय कर देता है। वह महाबली महामना अर्जुन ही हमलोगोंका सहारा है। वही समरांगणमें हमारे शत्रुओंको रौंद डालनेकी शक्ति रखता है। उसीने हमारे लिये सब प्रकारके रत्न लाकर सुलभ किये थे और वही हम सबको सदा सुख पहुँचानेवाला है ।। १५-१६ ।।

रत्नानि यस्य वीर्येण दिव्यान्यासन् पुरा मम ।
बहूनि बहुजातीनि यानि प्राप्तः सुयोधनः ।। १७ ।।

जिसके पराक्रमसे हमारे पास पहले अनेक प्रकारकी असंख्य रत्नराशि संचित हो गयी थी, जिसे सुयोधनने ले लिया ।। १७ ।।

यस्य बाहुबलाद् वीर सभा चासीत् पुरा मम ।
सर्वरत्नमयी ख्याता त्रिषु लोकेषु पाण्डव ।। १८ ।।

वीर भीमसेन! जिसके बाहुबलसे पहले मेरे अधिकारमें सम्पूर्ण रत्नोंकी बनी हुई त्रिभुवनविख्यात सभा थी ।। १८ ।।

वासुदेवसमं वीर्ये कार्तवीर्यसमं युधि ।
अजेयममितं युद्धे तं न पश्यामि फाल्गुनम् ।। १९ ।।

जो पराक्रममें भगवान् श्रीकृष्ण और युद्धमें कार्तवीर्य अर्जुनके समान है; तथा जो समरभूमिमें एक होकर भी असंख्य-सा प्रतीत होता है, उस अजेय वीर अर्जुनको मैं बहुत दिनोंसे नहीं देख पाता हूँ ।। १९ ।।

संकर्षणं महावीर्यं त्वां च भीमापराजितम् ।
अनुयातः स्ववीर्येण वासुदेवं च शत्रुहा ।। २० ।।

भीमसेन! शत्रुनाशक अर्जुन अपने पराक्रमसे महाबली बलरामकी, तुझ अपराजित वीरकी और वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी समानता कर सकता है ।। २० ।।

यस्य बाहुबले तुल्यः प्रभावे च पुरंदरः ।
जवे वायुर्मुखे सोमः क्रोधे मृत्युः सनातनः ।। २१ ।।
ते वयं तं नरव्याघ्रं सर्वे वीर दिदृक्षवः ।

प्रवेक्ष्यामो महाबाहो पर्वतं गन्धमादनम् ।। २२ ।।

महाबाहो! जो बाहुबल और प्रभावमें देवराज इन्द्रके समान है, जिसके वेगमें वायु, मुखमें चन्द्रमा और क्रोधमें सनातन मृत्युका निवास है, उसी नरश्रेष्ठ अर्जुनको देखनेके लिये उत्सुक होकर हम सब लोग आज गन्धमादन पर्वतकी घाटियोंमें प्रवेश करेंगे ।। २१-२२ ।।

विशाला बदरी यत्र नरनारायणाश्रमः ।
तं सदाध्युषितं यक्षैर्द्रक्ष्यामो गिरिमुत्तमम् ।। २३ ।।
कुबेरनलिनीं रम्यां राक्षसैरभिसेविताम् ।
पद्भिरेव गमिष्यामस्तप्यमाना महत् तपः ।। २४ ।।

गन्धमादन वही है, जहाँ विशाल बदरीका वृक्ष और भगवान् नर-नारायणका आश्रम है; उस उत्तम पर्वतपर सदा यक्षगण निवास करते हैं; हमलोग उसका दर्शन करेंगे। इसके सिवा, राक्षसोंद्वारा सेवित कुबेरकी सुरम्य पुष्करिणी भी है जहाँ हमलोग भारी तपस्या करते हुए पैदल ही चलेंगे ।। २३-२४ ।।

न च यानवता शक्यो गन्तुं देशो वृकोदर ।
न नृशंसेन लुब्धेन नाप्रशान्तेन भारत ।। २५ ।।

भरतनन्दन! वृकोदर! उस प्रदेशमें किसी सवारीसे नहीं जाया जा सकता तथा जो क्रूर, लोभी और अशान्त है, ऐसे मनुष्यके लिये श्रद्धाकी कमीके कारण उस स्थानपर जाना असम्भव है ।। २५ ।।

तत्र सर्वे गमिष्यामो भीमार्जुनगवेषिणः ।
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशाः सार्धं विप्रैर्महाव्रतैः ।। २६ ।।

भीमसेन! हम सब लोग अर्जुनकी खोज करते हुए तलवार बाँधकर अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो इन महान् व्रतधारी ब्राह्मणोंके साथ वहाँ चलेंगे ।। २६ ।।

मक्षिकादंशमशकान् सिंहान् व्याघ्रान् सरीसृपान् ।
प्राप्नोत्यनियतः पार्थ नियतस्तान् न पश्यति ।। २७ ।।

भीमसेन! जो अपने मन और इन्द्रियोंपर संयम नहीं रखता, ऐसे मनुष्यको वहाँ जानेपर मक्खी, डाँस, मच्छर, सिंह, व्याघ्र और सर्पोंका सामना करना पड़ता है, परंतु जो संयम-नियमसे रहनेवाला है, उसे उन जन्तुओंका दर्शनतक नहीं होता ।। २७ ।।

ते वयं नियतात्मानः पर्वतं गन्धमादनम् ।
प्रवेक्ष्यामो मिताहारा धनंजयदिदृक्षवः ।। २८ ।।

अतः हमलोग भी अर्जुनको देखनेकी इच्छासे अपने मनको संयममें रखकर स्वल्पाहार करते हुए गन्धमादनकी पर्वतमालाओंमें प्रवेश करेंगे ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ इकलीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४१ ।।

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंद्वारा गंगाजीकी वन्दना, लोमशजीका नरकासुरके वध और भगवान् वाराहद्वारा वसुधाके उद्धारकी कथा कहना

लोमश उवाच

द्रष्टारः पर्वताः सर्वे नद्यः सपुरकाननाः ।
तीर्थानि चैव श्रीमन्ति स्पृष्टं च सलिलं करैः ।। १ ।।

लोमशजीने कहा—तीर्थदर्शी पाण्डुकुमारो! तुमने सब पर्वतोंके दर्शन कर लिये। नगरों और वनोंसहित नदियोंका भी अवलोकन किया। शोभाशाली तीर्थोंके भी दर्शन किये और उन सबके जलका अपने हाथोंसे स्पर्श भी कर लिया ।। १ ।।

पर्वतं मन्दरं दिव्यमेष पन्थाः प्रयास्यति ।
समाहिता निरुद्विग्नाः सर्वे भवत पाण्डवाः ।। २ ।।
अयं देवनिवासो वै गन्तव्यो वो भविष्यति ।
ऋषीणां चैव दिव्यानां निवासः पुण्यकर्मणाम् ।। ३ ।।

पाण्डवो! यह मार्ग दिव्य मन्दराचलकी ओर जायगा। अब तुम सब लोग उद्वेगशून्य और एकाग्रचित्त हो जाओ। यह देवताओंका निवासस्थान है, जिसपर तुम्हें चलना होगा। यहाँ पुण्यकर्म करनेवाले दिव्य ऋषियोंका भी निवास है ।। २-३ ।।

एषा शिवजला पुण्या याति सौम्य महानदी ।
बदरीप्रभवा राजन् देवर्षिगणसेविता ।। ४ ।।

सौम्य स्वभाववाले नरेश! यह कल्याणमय जलसे भरी हुई पुण्यस्वरूपा महानदी अलकनन्दा (गंगा) प्रवाहित होती है, जो देवर्षियोंके समुदायसे सेवित है। इसका प्रादुर्भाव बदरिकाश्रमसे ही हुआ है ।। ४ ।।

एषा वैहायसैर्नित्यं बालखिल्यैर्महात्मभिः ।
अर्चिता चोपयाता च गन्धर्वैश्च महात्मभिः ।। ५ ।।

आकाशचारी महात्मा बालखिल्य तथा महामना गन्धर्वगण भी नित्य इसके तटपर आते-जाते हैं और इसकी पूजा करते हैं ।। ५ ।।

अत्र साम स्म गायन्ति सामगाः पुण्यनिःस्वनाः ।
मरीचिः पुलहश्चैव भृगुश्चैवाङ्गिरास्तथा ।। ६ ।।

सामगान करनेवाले विद्वान् वेदमन्त्रोंकी पुण्यमयी ध्वनि फैलाते हुए यहाँ सामवेदकी ऋचाओंका गान करते हैं। मरीचि, पुलह, भृगु तथा अंगिरा भी यहाँ जप एवं स्वाध्याय करते

हैं ।। ६ ।।

अत्राह्निकं सुरश्रेष्ठो जपते समरुद्गणः ।
साध्याश्चैवाश्विनौ चैव परिधावन्ति तं तदा ।। ७ ।।

देवश्रेष्ठ इन्द्र भी मरुद्गणोंके साथ यहाँ आकर प्रतिदिन नियमपूर्वक जप करते हैं। उस समय साध्य तथा अश्विनीकुमार भी उनकी परिचर्यामें रहते हैं ।। ७ ।।

चन्द्रमाः सह सूर्येण ज्योतींषि च ग्रहैः सह ।
अहोरात्रविभागेन नदीमेनामनुव्रजन् ।। ८ ।।

चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह और नक्षत्र भी दिन-रातके विभागपूर्वक इस पुण्य नदीकी यात्रा करते हैं ।। ८ ।।

एतस्याः सलिलं मूर्ध्नि वृषाङ्कः पर्यधारयत् ।
गङ्गाद्वारे महाभाग येन लोकस्थितिर्भवेत् ।। ९ ।।

महाभाग! गंगाद्वार (हरिद्वार)-में साक्षात् भगवान् शंकरने इसके पावन जलको अपने मस्तकपर धारण किया है, जिससे जगत्‌की रक्षा हो ।। ९ ।।

एतां भगवतीं देवीं भवन्तः सर्व एव हि ।
प्रयतेनात्मना तात प्रतिगम्याभिवादत ।। १० ।।

तात! तुम सब लोग मनको संयममें रखते हुए इस ऐश्वर्यशालिनी दिव्य नदीके तटपर चलकर इसे सादर प्रणाम करो ।। १० ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा लोमशस्य महात्मनः ।
आकाशगङ्गां प्रयताः पाण्डवास्तेऽभ्यवादयन् ।। ११ ।।

महात्मा लोमशका यह वचन सुनकर सब पाण्डवोंने संयतचित्तसे भगवती आकाशगंगा (अलकनन्दा) को प्रणाम किया ।। ११ ।।

अभिवाद्य च ते सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः ।
पुनः प्रयाताः संहृष्टाः सर्वैर्ऋषिगणैः सह ।। १२ ।।

प्रणाम करके धर्मका आचरण करनेवाले वे समस्त पाण्डव पुनः सम्पूर्ण ऋषि-मुनियोंके साथ हर्षपूर्वक आगे बढ़े ।। १२ ।।

ततो दूरात् प्रकाशन्तं पाण्डुरं मेरुसंनिभम् ।
ददृशुस्ते नरश्रेष्ठा विकीर्णं सर्वतोदिशम् ।। १३ ।।

तदनन्तर उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने एक श्वेत पर्वत-सा देखा जो मेरुगिरिके समान दूरसे ही प्रकाशित हो रहा था। वह सम्पूर्ण दिशाओंमें बिखरा जान पड़ता था ।। १३ ।।

तान् प्रष्टुकामान् विज्ञाय पाण्डवान् स तु लोमशः ।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शृणुध्वं पाण्डुनन्दनाः ।। १४ ।।

लोमशजी ताड़ गये कि पाण्डवलोग उस श्वेत पर्वताकार वस्तुके विषयमें कुछ पूछना चाहते हैं, तब प्रवचनकी कला जाननेवाले उन महर्षिने कहा—'पाण्डवो! सुनो ।। १४ ।।

एतद् विकीर्णं सुश्रीमत् कैलासशिखरोपमम् ।
यत् पश्यसि नरश्रेष्ठ पर्वतप्रतिमं स्थितम् ।। १५ ।।
एतान्यस्थीनि दैत्यस्य नरकस्य महात्मनः ।
पर्वतप्रतिमं भाति पर्वतप्रस्तराश्रितम् ।। १६ ।।

'नरश्रेष्ठ! यह जो सब ओर बिखरी हुई कैलासशिखरके समान सुन्दर प्रकाशयुक्त पर्वताकार वस्तु देख रहे हो, ये सब विशालकाय नरकासुरकी हड्डियाँ हैं। पर्वत और शिलाखण्डोंपर स्थित होनेके कारण ये भी पर्वतके समान ही प्रतीत होती हैं ।। १५-१६ ।।

पुरातनेन देवेन विष्णुना परमात्मना ।
दैत्यो विनिहतस्तेन सुरराजहितैषिणा ।। १७ ।।

'पुरातन परमात्मा श्रीविष्णुदेवने देवराज इन्द्रका हित करनेकी इच्छासे उस दैत्यका वध किया था ।। १७ ।।

दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्यन् महामनाः ।
ऐन्द्रं प्रार्थयते स्थानं तपःस्वाध्यायविक्रमात् ।। १८ ।।

'वह महामना दैत्य दस हजार वर्षोंतक कठोर तपस्या करके तप, स्वाध्याय और पराक्रमसे इन्द्रका स्थान लेना चाहता था ।। १८ ।।

तपोबलेन महता बाहुवेगबलेन च ।
नित्यमेव दुराधर्षो धर्षयन् स दितेः सुतः ।। १९ ।।

'अपने महान् तपोबल तथा वेगयुक्त बाहुबलसे वह देवताओंके लिये सदा अजेय बना रहता था और स्वयं सब देवताओंको सताया करता था ।। १९ ।।

स तु तस्य बलं ज्ञात्वा धर्मे च चरितव्रतम् ।
भयाभिभूतः संविग्नः शक्र आसीत् तदानघ ।। २० ।।

'निष्पाप युधिष्ठिर! नरकासुर बलवान् तो था ही, धर्मके लिये भी उसने कितने ही उत्तम व्रतोंका आचरण किया था, यह सब जानकर इन्द्रको बड़ा भय हुआ, वे घबरा उठे ।। २० ।।

तेन संचिन्तितो देवो मनसा विष्णुरव्ययः ।
सर्वत्रगः प्रभुः श्रीमानागतश्च स्थितो बभौ ।। २१ ।।

'तब उन्होंने मन-ही-मन अविनाशी भगवान् विष्णुका चिन्तन किया, उनके स्मरण करते ही सर्वव्यापी भगवान् श्रीपति वहाँ उपस्थित हो प्रकाशित हुए ।। २१ ।।

ऋषयश्चापि तं सर्वे तुष्टुवुश्च दिवौकसः ।
तं दृष्ट्वा ज्वलमानश्रीर्भगवान् हव्यवाहनः ।। २२ ।।
नष्टतेजाः समभवत् तस्य तेजोऽभिभर्त्सितः ।
तं दृष्ट्वा वरदं देवं विष्णुं देवगणेश्वरम् ।। २३ ।।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा नमस्कृत्य च वज्रभृत् ।
प्राह वाक्यं ततस्तत्त्वं यतस्तस्य भयं भवेत् ।। २४ ।।

'उस समय सभी देवताओं तथा ऋषियोंने उनकी स्तुति की। उन्हें देखते ही प्रज्वलित कान्तिसे सुशोभित भगवान् अग्निदेवका तेज नष्ट-सा हो गया। वे श्रीहरिके तेजसे तिरस्कृत हो गये। समस्त देवसमुदायके स्वामी एवं वरदायक भगवान् विष्णुका दर्शन करके वज्रधारी इन्द्रने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बार-बार मस्तक झुकाया। तदनन्तर वे सारी बातें भगवान्‌से कह सुनायीं, जिनके कारण उन्हें उस दैत्यसे भय हो रहा था' ।। २२—२४ ।।

विष्णुरुवाच

जानामि ते भयं शक्र दैत्येन्द्रान्नरकात् ततः ।
ऐन्द्रं प्रार्थयते स्थानं तपःसिद्धेन कर्मणा ।। २५ ।।

तब भगवान् विष्णुने कहा—इन्द्र! मैं जानता हूँ, तुम्हें दैत्यराज नरकासुरसे भय प्राप्त हुआ है। वह अपने तपःसिद्ध कर्मोंद्वारा इन्द्रपदको लेना चाहता है ।। २५ ।।

सोऽहमेनं तव प्रीत्या तपःसिद्धमपि ध्रुवम् ।
वियुनज्मि देहाद् देवेन्द्र मुहूर्तं प्रतिपालय ।। २६ ।।

देवेन्द्र! यद्यपि तपस्याद्वारा उसे सिद्धि प्राप्त हो चुकी है तो भी मैं तुम्हारे प्रेमवश निश्चय ही उस दैत्यको मार डालूँगा, तुम थोड़ी देर और प्रतीक्षा करो ।। २६ ।।

तस्य विष्णुर्महातेजाः पाणिना चेतनां हरत् ।
स पपात ततो भूमौ गिरिराज इवाहतः ।। २७ ।।

ऐसा कहकर महातेजस्वी भगवान् विष्णुने हाथसे मारकर उस दैत्यके प्राण हर लिये और वह वज्रके मारे हुए गिरिराजकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। २७ ।।

तस्यैतदस्थिसंघातं मायाविनिहतस्य वै ।
इदं द्वितीयमपरं विष्णोः कर्म प्रकाशते ।। २८ ।।

इस प्रकार मायाद्वारा मारे गये उस दैत्यकी हड्डियोंका यह समूह दिखायी देता है। अब मैं भगवान् विष्णुका यह दूसरा पराक्रम बता रहा हूँ, जो सर्वत्र प्रकाशमान है ।। २८ ।।

नष्टा वसुमती कृत्स्ना पाताले चैव मज्जिता ।
पुनरुद्धरिता तेन वाराहेणैकशृङ्गिणा ।। २९ ।।

एक समय सारी पृथ्वी एकार्णवके जलमें डूबकर अदृश्य हो गयी, पातालमें डूब गयी। उस समय भगवान् विष्णुने पर्वतशिखरके सदृश एक दाँतवाले वाराहका रूप धारण करके पुनः इसका उद्धार किया था ।। २९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् विस्तरेणेमां कथां कथय तत्त्वतः ।
कथं तेन सुरेशेन नष्टा वसुमती तदा ।। ३० ।।
योजनानां शतं ब्रह्मन् पुनरुद्धरिता तदा ।
केन चैव प्रकारेण जगतो धरणी ध्रुवा ।। ३१ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! देवेश्वर भगवान् विष्णुने पातालमें सैकड़ों योजन नीचे डूबी हुई इस पृथ्वीका पुनरुद्धार किस प्रकार किया? आप इस कथाको यथार्थरूपसे और विस्तारपूर्वक कहिये। जगत्का भार धारण करनेवाली इस अचला पृथ्वीका उद्धार करनेके लिये उन्होंने किस उपायका अवलम्बन किया? ।। ३०-३१ ।।

शिवा देवी महाभागा सर्वसस्यप्ररोहिणी ।
कस्य चैव प्रभावाद्धि योजनानां शतं गता ।। ३२ ।।

सम्पूर्ण शस्योंका उत्पादन करनेवाली यह कल्याणमयी महाभागा वसुधादेवी किसके प्रभावसे सैकड़ों योजन नीचे धँस गयी थी ।। ३२ ।।

केन तद् वीर्यसर्वस्वं दर्शितं परमात्मनः ।
एतत् सर्वं यथातत्त्वमिच्छामि द्विजसत्तम ।
श्रोतुं विस्तरशः सर्वं त्वं हि तस्य प्रतिश्रयः ।। ३३ ।।

परमात्माके उस अद्भुत पराक्रमका दर्शन (ज्ञान) किसने कराया था? द्विजश्रेष्ठ! यह सब मैं यथार्थरूपसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। आप इस वृत्तान्तके आश्रय (ज्ञाता) हैं ।। ३३ ।।

लोमश उवाच

यत् तेऽहं परिपृष्टोऽस्मि कथामेतां युधिष्ठिर ।

तत् सर्वमखिलेनेह श्रूयतां मम भाषतः ।। ३४ ।।

लोमशजीने कहा—युधिष्ठिर! तुमने जिसके विषयमें मुझसे प्रश्न किया है, वह कथा—वह सारा वृत्तान्त मैं बता रहा हूँ, सुनो ।। ३४ ।।

पुरा कृतयुगे तात वर्तमाने भयंकरे ।
यमत्वं कारयामास आदिदेवः पुरातनः ।। ३५ ।।

तात! इस कल्पके प्रथम सत्ययुगकी बात है, एक समय बड़ी भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी। उस समय आदिदेव पुरातन पुरुष भगवान् श्रीहरि ही यमराजका भी कार्य सम्पन्न करते थे ।। ३५ ।।

यमत्वं कुर्वतस्तस्य देवदेवस्य धीमतः ।
न तत्र म्रियते कश्चिज्जायते वा तथाप्युत ।। ३६ ।।

युधिष्ठिर! परम बुद्धिमान् देवदेव भगवान् श्रीहरिके यमराजका कार्य सँभालते समय किसी भी प्राणीकी मृत्यु नहीं होती थी; परंतु उत्पत्तिका कार्य पूर्ववत् चलता रहा ।।

वर्धन्ते पक्षिसंघाश्च तथा पशुगवेडकम् ।
गवाश्वं च मृगाश्चैव सर्वे ते पिशिताशनाः ।। ३७ ।।

फिर तो पक्षियोंके समूह बढ़ने लगे। गाय, बैल, भेड़-बकरे आदि पशु, घोड़े, मृग तथा मांसाहारी जीव सभी बढ़ने लगे ।। ३७ ।।

तथा पुरुषशार्दूल मानुषाश्च परंतप ।
सहस्रशो ह्ययुतशो वर्धन्ते सलिलं यथा ।। ३८ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरश्रेष्ठ! जैसे बरसातमें पानी बढ़ता है, उसी प्रकार मनुष्य भी हजार एवं दस हजार गुनी संख्यामें बढ़ने लगे ।। ३८ ।।

एतस्मिन् संकुले तात वर्तमाने भयंकरे ।
अतिभाराद् वसुमती योजनानां शतं गता ।। ३९ ।।

तात! इस प्रकार सब प्राणियोंकी वृद्धि होनेसे जब बड़ी भयंकर अवस्था आ गयी तब अत्यन्त भारसे दबकर यह पृथ्वी सैकड़ों योजन नीचे चली गयी ।। ३९ ।।

सा वै व्यथितसर्वाङ्गी भारेणाक्रान्तचेतना ।
नारायणं वरं देवं प्रपन्ना शरणं गता ।। ४० ।।

भारी भारके कारण पृथ्वी देवीके सम्पूर्ण अंगोंमें बड़ी पीड़ा हो रही थी। उसकी चेतना लुप्त होती जा रही थी। अतः वह सर्वश्रेष्ठ देवता भगवान् नारायणकी शरणमें गयी ।। ४० ।।

पृथिव्युवाच

भगवंस्त्वत्प्रसादाद्धि तिष्ठेयं सुचिरं त्विह ।
भारेणास्मि समाक्रान्ता न शक्नोमि स्म वर्तितुम् ।। ४१ ।।

पृथ्वी बोली—भगवन्! आप ऐसी कृपा करें जिससे मैं दीर्घ कालतक यहाँ स्थिर रह सकूँ। इस समय मैं भारसे इतनी दब गयी हूँ कि जीवन धारण नहीं कर सकती ।। ४१ ।।

ममेमं भगवन् भारं व्यपनेतुं त्वमर्हसि ।
शरणागतास्मि ते देव प्रसादं कुरु मे विभो ।। ४२ ।।

भगवन्! मेरे इस भारको आप दूर करनेकी कृपा करें। देव! मैं आपकी शरणमें आयी हूँ। विभो! मुझपर कृपाप्रसाद कीजिये ।। ४२ ।।

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा भगवानक्षरः प्रभुः ।
प्रोवाच वचनं हृष्टः श्रव्याक्षरसमीरितम् ।। ४३ ।।

पृथ्वीका यह वचन सुनकर अविनाशी भगवान् नारायणने प्रसन्न होकर श्रवणमधुर अक्षरोंसे युक्त मीठी वाणीमें कहा ।। ४३ ।।

विष्णुरुवाच

न ते महि भयं कार्यं भारार्ते वसुधारिणि ।
अहमेवं तथा कुर्मि यथा लघ्वी भविष्यसि ।। ४४ ।।

भगवान् विष्णु बोले—वसुधे! तू भारसे पीड़ित है; किंतु अब उसके लिये भय न कर। मैं अभी ऐसा उपाय करता हूँ जिससे तू हलकी हो जायगी ।। ४४ ।।

लोमश उवाच

स तां विसर्जयित्वा तु वसुधां शैलकुण्डलाम् ।
ततो वराहः संवृत्त एकशृङ्गो महाद्युतिः ।। ४५ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पर्वतरूपी कुण्डलोंसे विभूषित वसुधादेवीको विदा करके महातेजस्वी भगवान् विष्णुने वाराहका रूप धारण कर लिया। उस समय उनके एक ही दाँत था, जो पर्वत-शिखरके समान सुशोभित होता था ।। ४५ ।।

रक्ताभ्यां नयनाभ्यां तु भयमुत्पादयन्निव ।
धूमं च ज्वलयँल्लक्ष्म्या तत्र देशे व्यवर्धत ।। ४६ ।।

वे अपने लाल-लाल नेत्रोंसे मानो भय उत्पन्न कर रहे थे और अपनी अंगकान्तिसे धूम प्रकट करते हुए उस स्थानपर बढ़ने लगे ।। ४६ ।।

स गृहीत्वा वसुमतीं शृङ्गेणैकेन भास्वता ।
योजनानां शतं वीर समुद्धरति सोऽक्षरः ।। ४७ ।।

वीर युधिष्ठिर! अविनाशी भगवान् विष्णुने अपने एक ही तेजस्वी दाँतके द्वारा पृथ्वीको थामकर उसे सौ योजन ऊपर उठा दिया ।। ४७ ।।

तस्यां चोद्धार्यमाणायां संक्षोभः समजायत ।
देवाः संक्षुभिताः सर्वे ऋषयश्च तपोधनाः ।। ४८ ।।

पृथ्वीको उठाते समय सब ओर भारी हलचल मच गयी। सम्पूर्ण देवता तथा तपस्वी ऋषि क्षुब्ध हो उठे ।।

हाहाभूतमभूत् सर्वं त्रिदिवं व्योम भूस्तथा ।
न पर्यवस्थितः कश्चिद् देवो वा मानुषोऽपि वा ।। ४९ ।।
ततो ब्रह्माणमासीनं ज्वलमानमिव श्रिया ।
देवाः सर्षिगणाश्चैव उपतस्थुरनेकशः ।। ५० ।।

स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा भूलोक सबमें अत्यन्त हाहाकार मच गया। कोई भी देवता या मनुष्य स्थिर नहीं रह सका। तब अनेक देवता और ऋषि ब्रह्माजीके समीप गये। उस समय वे अपने आसनपर बैठकर दिव्य कान्तिसे प्रकाशित हो रहे थे ।। ४९-५० ।।

उपसर्प्य च देवेशं ब्रह्माणं लोकसाक्षिकम् ।
भूत्वा प्राञ्जलयः सर्वे वाक्यमुच्चारयंस्तदा ।। ५१ ।।

लोकसाक्षी देवेश्वर ब्रह्माके निकट पहुँचकर सबने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कहा— ।। ५१ ।।

लोकाः संक्षुभिताः सर्वे व्याकुलं च चराचरम् ।
समुद्राणां च संक्षोभस्त्रिदशेश प्रकाशते ।। ५२ ।।

'देवेश्वर! सम्पूर्ण लोकोंमें हलचल मच गयी है। चर और अचर सभी प्राणी व्याकुल हैं। समुद्रोंमें बड़ा भारी क्षोभ दिखायी दे रहा है ।। ५२ ।।

सैषा वसुमती कृत्स्ना योजनानां शतं गता ।
किमेतद् किं प्रभावेण येनेदं व्याकुलं जगत् ।
अख्यातु नो भवान् शीघ्रं विसंज्ञाः स्मेह सर्वशः ।। ५३ ।।

'यह सारी पृथ्वी सैकड़ों योजन नीचे चली गयी थी, अब यह किसके प्रभावसे कौन-सी अद्भुत घटना घटित हो रही है जिससे सारा संसार व्याकुल हो उठा है। आप शीघ्र हमें इसका कारण बताइये। हम सब लोग अचेत-से हो रहे हैं' ।। ५३ ।।

ब्रह्मोवाच

असुरेभ्यो भयं नास्ति युष्माकं कुत्रचित् क्वचित् ।
श्रूयतां यत्कृतेष्वेष संक्षोभो जायतेऽमराः ।। ५४ ।।
योऽसौ सर्वत्रगः श्रीमानक्षरात्मा व्यवस्थितः।
तस्य प्रभावात् संक्षोभस्त्रिदिवस्य प्रकाशते ।। ५५ ।।

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ! तुम्हें असुरोंसे कभी और कोई भय नहीं है। यह जो चारों ओर क्षोभ फैल रहा है, इसका क्या कारण है? वह सुनो। वे जो सर्वव्यापी अक्षरस्वरूप श्रीमान् भगवान् नारायण हैं, उन्हींके प्रभावसे यह स्वर्गलोकमें क्षोभ प्रकट हो रहा है ।। ५४-५५ ।।

यैषा वसुमती कृत्स्ना योजनानां शतं गता ।
समुद्धृता पुनस्तेन विष्णुना परमात्मना ।। ५६ ।।

यह सारी पृथ्वी, जो सैकड़ों योजन नीचे चली गयी थी, इसे परमात्मा श्रीविष्णुने पुनः ऊपर उठाया है ।। ५६ ।।

तस्यामुद्धार्यमाणायां संक्षोभः समजायत ।
एवं भवन्तो जानन्तु छिद्यतां संशयश्च वः ।। ५७ ।।

इस पृथ्वीका उद्धार करते समय ही सब ओर यह महान् क्षोभ प्रकट हुआ है। इस प्रकार तुम्हें इस विश्वव्यापी हलचलका यथार्थ कारण ज्ञात होना और तुम्हारा आन्तरिक संशय दूर हो जाना चाहिये ।। ५७ ।।

देवा ऊचुः

क्व तद् भूतं वसुमतीं समुद्धरति हृष्टवत् ।
तं देशं भगवन् ब्रूहि तत्र यास्यामहे वयम् ।। ५८ ।।

देवता बोले—भगवन्! वे वाराहरूपधारी भगवान् प्रसन्न-से होकर कहाँ पृथ्वीका उद्धार कर रहे हैं, उस प्रदेशका पता हमें बताइये; हम सब लोग वहाँ जायँगे ।। ५८ ।।

ब्रह्मोवाच

हन्त गच्छत भद्रं वो नन्दने पश्यत स्थितम् ।
एषोऽत्र भगवान् श्रीमान् सुपर्णः सम्प्रकाशते ।। ५९ ।।
वाराहेणैव रूपेण भगवाँल्लोकभावनः ।
कालानल इवाभाति पृथिवीतलमुद्धरन् ।। ६० ।।

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ! बड़े हर्षकी बात है, जाओ। तुम्हारा कल्याण हो। भगवान् नन्दनवनमें विराजमान हैं। वहीं उनका दर्शन करो। उस वनके निकट ये स्वर्णके समान सुन्दर रोमवाले परम कान्तिमान् विश्वभावन भगवान् श्रीविष्णु वाराहरूपसे प्रकाशित हो रहे हैं। भूतलका उद्धार करते हुए वे प्रलयकालीन अग्निके समान उद्भासित होते हैं ।। ५९-६० ।।

एतस्योरसि सुव्यक्तं श्रीवत्समभिराजते ।
पश्यध्वं विबुधाः सर्वे भूतमेतदनामयम् ।। ६१ ।।

इनके वक्षःस्थलमें स्पष्टरूपसे श्रीवत्सचिह्न प्रकाशित हो रहा है। देवताओ! ये रोग-शोकसे रहित साक्षात् भगवान् ही वाराहरूपसे प्रकट हुए हैं, तुम सब लोग इनका दर्शन करो ।। ६१ ।।

लोमश उवाच

ततो दृष्ट्वा महात्मानं श्रुत्वा चामन्त्र्य चामराः ।

पितामहं पुरस्कृत्य जग्मुर्देवा यथागतम् ।। ६२ ।।

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर देवताओंने जाकर वाराहरूपधारी परमात्मा श्रीविष्णुका दर्शन किया, उनकी महिमा सुनी और उनकी आज्ञा लेकर वे ब्रह्माजीको आगे करके जैसे आये थे वैसे लौट गये ।। ६२ ।।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु तां कथां सर्वे पाण्डवा जनमेजय ।
लोमशादेशितेनाशु पथा जग्मुः प्रहृष्टवत् ।। ६३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह कथा सुनकर सब पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए और लोमशजीके बताये हुए मार्गसे शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ गये ।। ६३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४२ ।।

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

गन्धमादनकी यात्राके समय पाण्डवोंका आँधी-पानीसे सामना

वैशम्पायन उवाच

ते शूरास्ततधन्वानस्तूणवन्तः समार्गणाः ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणाः खड्गवन्तोऽमितौजसः ।। १ ।।
परिगृह्य द्विजश्रेष्ठाञ्ज्येष्ठाः सर्वधनुष्मताम् ।
पाञ्चालीसहिता राजन् प्रययुर्गन्धमान्दनम् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें अग्रगणय वे अमिततेजस्वी शूरवीर पाण्डव धनुष, बाण, तरकश, ढाल और तलवार लिये, हाथोंमें गोहके चमड़ेके बने दस्ताने पहने और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको आगे किये द्रौपदीके साथ गन्धमादन पर्वतकी ओर प्रस्थित हुए ।। १-२ ।।

सरांसि सरितश्चैव पर्वतांश्च वनानि च ।
वृक्षांश्च बहुलच्छायान् ददृशुर्गिरिमूर्धनि ।। ३ ।।

पर्वतके शिखरपर उन्होंने बहुत-से सरोवर, सरिताएँ, पर्वत, वन तथा घनी छायावाले वृक्ष देखे ।। ३ ।।

नित्यपुष्पफलान् देशान् देवर्षिगणसेवितान् ।
आत्मन्यात्मानमाधाय वीरा मूलफलाशिनः ।। ४ ।।
चेरुरुच्चावचाकारान् देशान् विषमसंकटान् ।
पश्यन्तो मृगजातानि बहूनि विविधानि च ।। ५ ।।

उन्हें कितने ही ऐसे स्थान दृष्टिगोचर हुए जहाँ सदा फूल और फलोंकी बहुतायत रहती थी। उन प्रदेशोंमें देवर्षियोंके समुदाय निवास करते थे। वीर पाण्डव अपने मनको परमात्माके चिन्तनमें लगाकर फल-मूलका आहार करते हुए ऊँचे-नीचे विषम-संकटपूर्ण स्थानोंमें विचर रहे थे। मार्गमें उन्हें नाना प्रकारके मृगसमूह दिखायी देते थे जिनकी संख्या बहुत थी ।। ४-५ ।।

ऋषिसिद्धामरयुतं गन्धर्वाप्सरसां प्रियम् ।
विविशुस्ते महात्मानः किन्नराचरितं गिरिम् ।। ६ ।।

इस प्रकार उन महात्मा पाण्डवोंने गन्धर्वों और अप्सराओंकी प्रिय भूमि, किन्नरोंकी क्रीडास्थली तथा ऋषियों, सिद्धों और देवताओंके निवासस्थान गन्धमादन पर्वतकी घाटीमें प्रवेश किया ।। ६ ।।

प्रविशत्स्वथ वीरेषु पर्वतं गन्धमादनम् ।
चण्डवातं महद् वर्षं प्रादुरासीद् विशाम्पते ।। ७ ।।

राजन्! वीर पाण्डवोंके गन्धमादन पर्वतपर पदार्पण करते ही प्रचण्ड आँधीके साथ बड़े जोरकी वर्षा होने लगी ।। ७ ।।

ततो रेणुः समुद्भूतः सपत्रबहुलो महान् ।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव सहसाऽऽवृणोत् ।। ८ ।।

फिर धूल और पत्तोंसे भरा हुआ बड़ा भारी बवंडर (आँधी) उठा, जिसने पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गको भी सहसा आच्छादित कर दिया ।। ८ ।।

न स्म प्रज्ञायते किंचिदावृते व्योम्नि रेणुना ।
न चापि शेकुस्तत् कर्तुमन्योन्यस्याभिभाषणम् ।। ९ ।।
न चापश्यंस्ततोऽन्योन्यं तमसावृतचक्षुषः ।
आकृष्यमाणा वातेन साश्मचूर्णेन भारत ।। १० ।।

धूलसे आकाशके ढक जानेसे कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था; इसीलिये वे एक-दूसरेसे बातचीत भी नहीं कर पाते थे। अन्धकारने आँखोंपर पर्दा डाल दिया था; जिससे पाण्डवलोग एक-दूसरेके दर्शनसे भी वञ्चित हो गये थे। भारत! पत्थरोंका चूर्ण बिखेरती हुई वायु उन्हें कहीं-से-कहीं खींच लिये जाती थी ।। ९-१० ।।

द्रुमाणां वातभग्नानां पततां भूतलेऽनिशम् ।
अन्येषां च महीजानां शब्दः समभवन्महान् ।। ११ ।।

प्रचण्ड वायुके वेगसे टूटकर निरन्तर धरतीपर गिरनेवाले वृक्षों तथा अन्य झाड़ोंका भयंकर शब्द सुनायी पड़ता था ।। ११ ।।

द्यौः स्वित् पतति किं भूमिर्दीर्यते पर्वतो नु किम् ।
इति ते मेनिरे सर्वे पवनेनापि मोहिताः ।। १२ ।।

हवाके झोंकेसे मोहित होकर वे सब-के-सब मन-ही-मन सोचने लगे कि आकाश तो नहीं फट पड़ा है। पृथ्वी तो नहीं विदीर्ण हो रही है अथवा कोई पर्वत तो नहीं फटा जा रहा है ।। १२ ।।

ते पथानन्तरान् वृक्षान् वल्मीकान् विषमाणि च ।
पाणिभिः परिमार्गन्तो भीता वायोर्निलिल्यिरे ।। १३ ।।

तत्पश्चात् वे रास्तेके आस-पासके वृक्षों, मिट्टीके ढेरों और ऊँचे-नीचे स्थानोंको हाथोंसे टटोलते हुए हवासे डरकर यत्र-तत्र छिपने लगे ।। १३ ।।

ततः कार्मुकमादाय भीमसेनो महाबलः ।
कृष्णामादाय संगम्य तस्थावाश्रित्य पादपम् ।। १४ ।।

उस समय महाबली भीमसेन हाथमें धनुष लिये द्रौपदीको अपने साथ रखकर एक वृक्षके सहारे खड़े हो गये ।। १४ ।।

धर्मराजश्च धौम्यश्च निलिल्याते महावने ।
अग्निहोत्राण्युपादाय सहदेवस्तु पर्वते ।। १५ ।।

धर्मराज युधिष्ठिर और पुरोहित धौम्य अग्निहोत्रकी सामग्री लिये उस महान् वनमें कहीं जा छिपे। सहदेव पर्वतपर ही (कहीं सुरक्षित स्थानमें) छिप गये ।। १५ ।।

नकुलो ब्राह्मणाश्चान्ये लोमशश्च महातपाः ।
वृक्षानासाद्य संत्रस्तास्तत्र तत्र निलिल्यिरे ।। १६ ।।

नकुल, अन्यान्य ब्राह्मणलोग तथा महातपस्वी लोमशजी भी भयभीत होकर जहाँ-तहाँ वृक्षोंकी आड़ लेकर छिपे रहे ।। १६ ।।

मन्दीभूते तु पवने तस्मिन् रजसि शाम्यति ।
महद्भिर्जलधारौघैर्वर्षमभ्याजगाम ह ।। १७ ।।
भृशं चटचटाशब्दो वज्राणां क्षिप्यतामिव ।
ततस्ताश्चञ्चलाभासश्चेरुरभ्रेषु विद्युतः ।। १८ ।।

थोड़ी देरमें जब वायुका वेग कुछ कम हुआ और धूल उड़नी बंद हो गयी, उस समय बड़ी भारी जलधारा बरसने लगी। तदनन्तर वज्रपातके समान मेघोंकी गड़गड़ाहट होने लगी और मेघमालाओंमें चारों ओर चंचल चमकवाली बिजलियाँ संचरण करने लगीं ।। १७-१८ ।।

ततोऽश्मसहिता धाराः संवृण्वन्त्यः समन्ततः ।
प्रपेतुरनिशं तत्र शीघ्रवातसमीरिताः ।। १९ ।।

तत्पश्चात् तीव्र वायुसे प्रेरित हो समस्त दिशाओंको आच्छादित करती हुई ओलोंसहित जलकी धाराएँ अविराम गतिसे गिरने लगीं ।। १९ ।।

तत्र सागरगा ह्यापः कीर्यमाणाः समन्ततः ।
प्रादुरासन् सकलुषाः फेनवत्यो विशाम्पते ।। २० ।।

महाराज! वहाँ चारों ओर बिखरी हुई जलराशि समुद्रगामिनी नदियोंके रूपमें प्रकट हो गयी जो मिट्टी मिल जानेसे मलिन दीख पड़ती थी। उसमें झाग उठ रहे थे ।। २० ।।

वहन्त्यो वारि बहुलं फेनोडुपपरिप्लुतम् ।
परिसस्रुर्महाशब्दाः प्रकर्षन्त्यो महीरुहान् ।। २१ ।।

फेनरूपी नौकासे व्याप्त अगाध जलसमूहको बहाती हुई सरिताएँ टूटकर गिरे हुए वृक्षोंको अपनी लहरोंसे समेटकर जोर-जोरसे ‘हर-हर’ ध्वनि करती हुई बह रही थीं ।। २१ ।।

तस्मिन्नुपरते शब्दे वाते च समतां गते ।
गते ह्यम्भसि निम्नानि प्रादुर्भूते दिवाकरे ।। २२ ।।
निर्जग्मुस्ते शनैः सर्वे समाजग्मुश्च भारत ।
प्रतस्थिरे पुनर्वीराः पर्वतं गन्धमादनम् ।। २३ ।।

भारत! थोड़ी देर बाद जब तूफानका कोलाहल शान्त हुआ, वायुका वेग कम एवं सम हो गया, पर्वतका सारा जल बहकर नीचे चला गया और बादलोंका आवरण दूर हो जानेसे सूर्यदेव प्रकाशित हो उठे, उस समय वे समस्त वीर पाण्डव धीरे-धीरे अपने स्थानसे निकले और गन्धमादन पर्वतकी ओर प्रस्थित हो गये ।। २२-२३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४३ ।।

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रौपदीकी मूर्छा, पाण्डवोंके उपचारसे उसका सचेत होना तथा भीमसेनके स्मरण करनेपर घटोत्कचका आगमन

वैशम्पायन उवाच

क्रोशमात्रं प्रयातेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
पद्भ्यामनुचिता गन्तुं द्रौपदी समुपाविशत् ।। १ ।।
श्रान्ता दुःखपरीता च वातवर्षेण तेन च ।
सौकुमार्याच्च पाञ्चाली सम्मुमोह तपस्विनी ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा पाण्डव अभी कोसभर ही गये होंगे कि पांचालराजकुमारी तपस्विनी द्रौपदी सुकुमारताके कारण थककर बैठ गयी। वह पैदल चलनेयोग्य कदापि नहीं थी। उस भयानक वायु और वर्षासे पीड़ित हो दुःखमग्न होकर वह मूर्छित होने लगी थी ।। १-२ ।।

सा कम्पमाना मोहेन बाहुभ्यामसितेक्षणा ।
वृत्ताभ्यामनुरूपाभ्यामूरू समवलम्बत ।। ३ ।।

घबराहटसे काँपती हुई कजरारे नेत्रोंवाली कृष्णाने अपने गोल-गोल और सुन्दर हाथोंसे दोनों जाँघोंको थाम लिया ।। ३ ।।

आलम्बमाना सहितावूरू गजकरोपमौ ।
पपात सहसा भूमौ वेपन्ती कदली यथा ।। ४ ।।
तां पतन्तीं वरारोहां भज्यमानां लतामिव ।
नकुलः समभिद्रुत्य परिजग्राह वीर्यवान् ।। ५ ।।

हाथीकी सूँड़के समान चढ़ाव-उतारवाली परस्पर सटी हुई जाँघोंका सहारा ले केलेके वृक्षकी भाँति काँपती हुई वह सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी। सुन्दर अंगोंवाली द्रौपदीको टूटी हुई लताकी भाँति गिरती देख बलशाली नकुलने दौड़कर थाम लिया ।। ४-५ ।।

नकुल उवाच

राजन् पञ्चालराजस्य सुतेयमसितेक्षणा ।
श्रान्ता निपतिता भूमौ तामवेक्षस्व भारत ।। ६ ।।

तत्पश्चात् नकुलने कहा—भरतकुलभूषण महाराज! यह श्याम नेत्रवाली पांचालराजकुमारी द्रौपदी थककर धरतीपर गिर पड़ी है, आप आकर इसे देखिये ।। ६ ।।

अदुःखार्हा परं दुःखं प्राप्तेयं मृदुगामिनी ।
आश्वासय महाराज तामिमां श्रमकर्शिताम् ।। ७ ।।

राजन्! यह मन्दगतिसे चलनेवाली देवी दुःख सहन करनेके योग्य नहीं है; तो भी इसपर महान् दुःख आ पड़ा है। रास्तेके परिश्रमसे यह दुर्बल हो गयी है। आप आकर इसे सान्त्वना दें ।। ७ ।।

वैशम्पायन उवाच

राजा तु वचनात् तस्य भृशं दुःखसमन्वितः ।
भीमश्च सहदेवश्च सहसा समुपाद्रवन् ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! नकुलकी यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर अत्यन्त दुखी हो गये और भीम तथा सहदेवके साथ सहसा वहाँ दौड़े आये ।। ८ ।।

तामवेक्ष्य तु कौन्तेयो विवर्णवदनां कृशाम् ।
अङ्कमानीय धर्मात्मा पर्यदेवयदातुरः ।। ९ ।।

धर्मात्मा कुन्तीनन्दनने देखा—द्रौपदीके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी है और उसका शरीर कृश हो गया है। तब वे उसे अंकमें लेकर शोकातुर हो विलाप करने लगे ।। ९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कथं वेश्मसु गुप्तेषु स्वास्तीर्णशयनोचिता ।
भूमौ निपतिता शेते सुखार्हा वरवर्णिनी ।। १० ।।

युधिष्ठिर बोले—अहो! जो सुरक्षित सदनोंमें सुसज्जित सुकोमल शय्यापर शयन करनेयोग्य है, वह सुख भोगनेकी अधिकारिणी परम सुन्दरी कृष्णा आज पृथ्वीपर कैसे सो रही है? ।। १० ।।

सुकुमारौ कथं पादौ मुखं च कमलप्रभम् ।
मत्कृतेऽद्य वरार्हायाः श्यामतां समुपागतम् ।। ११ ।।

जो सुखके श्रेष्ठ साधनोंका उपभोग करनेयोग्य है, उसी द्रौपदीके ये दोनों सुकुमार चरण और कमलकी कान्तिसे सुशोभित मुख आज मेरे कारण कैसे काले पड़ गये हैं? ।। ११ ।।

किमिदं द्यूतकामेन मया कृतमबुद्धिना ।
आदाय कृष्णां चरता वने मृगगणायुते ।। १२ ।।

मुझ मूर्खने द्यूतक्रीड़ाकी कामनामें फँसकर यह क्या कर डाला? अहो! सहस्रों मृगसमूहोंसे भरे हुए इस भयानक वनमें द्रौपदीको साथ लेकर हमें विचरना पड़ा है ।। १२ ।।

सुखं प्राप्स्यसि कल्याणि पाण्डवान् प्राप्य वै पतीन् ।
इति द्रुपदराजेन पित्रा दत्ताऽऽयतेक्षणा ।। १३ ।।
तत् सर्वमनवाप्येयं श्रमशोकाध्वकर्शिता ।
शेते निपतिता भूमौ पापस्य मम कर्मभिः ।। १४ ।।

इसके पिता राजा द्रुपदने इस विशाललोचना द्रौपदीको यह कहकर हमें प्रदान किया था कि 'कल्याणि! तुम पाण्डवोंको पतिरूपमें पाकर सुखी होगी।' परंतु मुझ पापीकी

करतूतोंसे वह सब न पाकर यह परिश्रम, शोक और मार्गके कष्टसे कृश होकर आज पृथ्वीपर पड़ी सो रही है ।। १३-१४ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथा लालप्यमाने तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
धौम्यप्रभृतयः सर्वे तत्राजग्मुर्द्विजोत्तमाः ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराज युधिष्ठिर जब इस प्रकार विलाप कर रहे थे, उसी समय धौम्य आदि समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मण भी वहाँ आ पहुँचे ।। १५ ।।

ते समाश्वासयामासुराशीर्भिश्चाप्यपूजयन् ।
रक्षोघ्नांश्च तथा मन्त्राञ्जेपुश्चक्रुश्च ते क्रियाः ।। १६ ।।

उन्होंने महाराजको आश्वासन दिया और अनेक प्रकारके आशीर्वाद देकर उन्हें सम्मानित किया। तत्पश्चात् वे राक्षसोंका विनाश करनेवाले मन्त्रोंका जप तथा शान्तिकर्म करने लगे ।। १६ ।।

पठ्यमानेषु मन्त्रेषु शान्त्यर्थं परमर्षिभिः ।
स्पृश्यमाना करैः शीतैः पाण्डवैश्च मुहुर्मुहुः ।। १७ ।।

महर्षियोंद्वारा शान्तिके लिये मन्त्रपाठ होते समय पाण्डवोंने अपने शीतल हाथोंसे बार-बार द्रौपदीके अंगोंको सहलाया ।। १७ ।।

सेव्यमाना च शीतेन जलमिश्रेण वायुना ।
पाञ्चाली सुखमासाद्य लेभे चेतः शनैः शनैः ।। १८ ।।

जलका स्पर्श करके बहती हुई शीतल वायुने भी उसे सुख पहुँचाया। इस प्रकार कुछ आराम मिलनेपर पांचालराजकुमारी द्रौपदीको धीरे-धीरे चेत हुआ ।। १८ ।।

परिगृह्य च तां दीनां कृष्णामजिनसंस्तरे ।
पार्था विश्रामयामासुर्लब्धसंज्ञां तपस्विनीम् ।। १९ ।।
तस्या यमौ रक्ततलौ पादौ पूजितलक्षणौ ।
कराभ्यां किणजाताभ्यां शनकैः संववाहतुः ।। २० ।।

होशमें आनेपर दीनावस्थामें पड़ी हुई तपस्विनी द्रौपदीको पकड़कर पाण्डवोंने मृगचर्मके बिस्तरपर सुलाया और उसे विश्राम कराया। नकुल और सहदेवने धनुषकी रगड़के चिह्नसे सुशोभित दोनों हाथोंद्वारा उसके लाल तलवोंसे युक्त और उत्तम लक्षणोंसे अलंकृत दोनों चरणोंको धीरे-धीरे दबाया ।। १९-२० ।।

पर्याश्वासयदप्येनां धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच च कुरुश्रेष्ठो भीमसेनमिदं वचः ।। २१ ।।

फिर कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने भी द्रौपदीको बहुत आश्वासन दिया और भीमसेनसे इस प्रकार कहा— ।।

बहवः पर्वता भीम विषमा हिमदुर्गमाः ।
तेषु कृष्णा महाबाहो कथं नु विचरिष्यति ।। २२ ।।

'महाबाहु भीम! यहाँ बहुत-से ऊँचे-नीचे पर्वत हैं, जिनपर चलना बर्फके कारण अत्यन्त कठिन है। उनपर द्रौपदी कैसे जा सकेगी?' ।। २२ ।।

भीमसेन उवाच

त्वां राजन् राजपुत्रीं च यमौ च पुरुषर्षभ ।
स्वयं नेष्यामि राजेन्द्र मा विषादे मनः कृथाः ।। २३ ।।

भीमसेनने कहा—पुरुषरत्न! महाराज! आप मनमें खेद न करें। मैं स्वयं राजकुमारी द्रौपदी, नकुल-सहदेव और आपको भी ले चलूँगा ।। २३ ।।

हैडिम्बश्च महावीर्यो विहगो मद्बलोपमः ।
वहेदनघ सर्वान्नो वचनात् ते घटोत्कचः ।। २४ ।।

हिडिम्बाका पुत्र घटोत्कच भी महान् पराक्रमी है। वह मेरे ही समान बलवान् है और आकाशमें चल-फिर सकता है। अनघ! आपकी आज्ञा होनेपर वह हम सबको अपनी पीठपर बिठाकर ले चलेगा ।। २४ ।।

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातो धर्मराज्ञा पुत्रं सस्मार राक्षसम् ।
घटोत्कचस्तु धर्मात्मा स्मृतमात्रः पितुस्तदा ।। २५ ।।
कृताञ्जलिरुपातिष्ठदभिवाद्याथ पाण्डवान् ।
ब्राह्मणांश्च महाबाहुः स च तैरभिनन्दितः ।। २६ ।।
उवाच भीमसेनं स पितरं भीमविक्रमम् ।
स्मृतोऽस्मि भवता शीघ्रं शुश्रूषुरहमागतः ।। २७ ।।
आज्ञापय महाबाहो सर्वं कर्तास्म्यसंशयम् ।
तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्तु राक्षसं परिषस्वजे ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर धर्मराजकी आज्ञा पाकर भीमसेनने अपने राक्षसपुत्रका स्मरण किया। पिताके स्मरण करते ही धर्मात्मा घटोत्कच हाथ जोड़े हुए वहाँ उपस्थित हुआ। उस महाबाहु वीरने पाण्डवों तथा ब्राह्मणोंको प्रणाम करके उनके द्वारा सम्मानित हो अपने भयंकर पराक्रमी पिता भीमसेनसे कहा—'महाबाहो! आपने मेरा स्मरण किया है और मैं शीघ्र ही सेवाकी भावनासे आया हूँ, आज्ञा कीजिये; मैं आपका सब कार्य अवश्य ही पूर्ण करूँगा।' यह सुनकर भीमसेनने राक्षस घटोत्कचको हृदयसे लगा लिया ।। २५—२८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४४ ।।

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

घटोत्कच और उसके साथियोंकी सहायतासे पाण्डवोंका गन्धमादन पर्वत एवं बदरिकाश्रममें प्रवेश तथा बदरीवृक्ष, नर-नारायणाश्रम और गंगाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

धर्मज्ञो बलवान् शूरः सत्यो राक्षसपुङ्गवः ।
भक्तोऽस्मानौरसः पुत्रो भीम गृह्णातु मा चिरम् ।। १ ।।
तव भीम सुतेनाहमतिभीमपराक्रम ।
अक्षतः सह पाञ्चाल्या गच्छेयं गन्धमादनम् ।। २ ।।

युधिष्ठिर बोले—अत्यन्त भयानक पराक्रम दिखानेवाले भीम! तुम्हारा औरस पुत्र राक्षसश्रेष्ठ घटोत्कच धर्मज्ञ, बलवान्, शूरवीर, सत्यवादी तथा हमलोगोंका भक्त है। यह हमें शीघ्र उठा ले चले। जिससे भीमसेन! तुम्हारे पुत्र घटोत्कचद्वारा शरीरसे किसी प्रकारकी क्षति उठाये बिना ही मैं द्रौपदीसहित गन्धमादन पर्वतपर पहुँच जाऊँ ।। १-२ ।।

वैशम्पायन उवाच

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय भीमसेनो घटोत्कचम् ।
आदिदेश नरव्याघ्रस्तनयं शत्रुकर्शनम् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भाईकी इस आज्ञाको शिरोधार्य करके नरश्रेष्ठ भीमसेनने अपने पुत्र शत्रुसूदन घटोत्कचको इस प्रकार आज्ञा दी ।। ३ ।।

भीमसेन उवाच

हैडिम्बेय परिश्रान्ता तव मातापराजित ।
त्वं च कामगमस्तात बलवान् वह तां खग ।। ४ ।।

भीमसेन बोले—अपराजित और आकाशचारी हिडिम्बानन्दन! तुम्हारी माता द्रौपदी बहुत थक गयी है। तुम बलवान् एवं इच्छानुसार सर्वत्र जानेमें समर्थ हो; अतः इसे (आकाशमार्गसे) ले चलो ।। ४ ।।

स्कन्धमारोप्य भद्रं ते मध्येऽस्माकं विहायसा ।
गच्छ नीचिकया गत्या यथा चैनां न पीडयेः ।। ५ ।।

बेटा! तुम्हारा कल्याण हो। इसे कंधेपर बैठाकर हम लोगोंके बीच रहते हुए आकाशमार्गसे इस प्रकार धीरे-धीरे ले चलो, जिससे इसे तनिक भी कष्ट न हो ।। ५ ।।

घटोत्कच उवाच

धर्मराजं च धौम्यं च कृष्णां च यमजौ तथा ।
एकोऽप्यहमलं वोढुं किमुताद्य सहायवान् ।। ६ ।।
अन्ये च शतशः शूरा विहङ्गाः कामरूपिणः ।
सर्वान् वो ब्राह्मणैः सार्धं वक्ष्यन्ति सहितानघ ।। ७ ।।

घटोत्कच बोला—अनघ! मैं अकेला रहूँ तो भी धर्मराज युधिष्ठिर, पुरोहित धौम्य, माता द्रौपदी और चाचा नकुल-सहदेवको भी वहन कर सकता हूँ; फिर आज तो मेरे और भी बहुत-से संगी-साथी मौजूद हैं। इस दशामें आप लोगोंको ले चलना कौन बड़ी बात है? मेरे सिवा दूसरे भी सैकड़ों शूरवीर, आकाशचारी और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षस मेरे साथ हैं। वे ब्राह्मणोंसहित आप सब लोगोंको एक साथ वहन करेंगे ।। ६-७ ।।

एवमुक्त्वा ततः कृष्णामुवाह स घटोत्कचः ।
पाण्डूनां मध्यगो वीरः पाण्डवानपि चापरे ।। ८ ।।

ऐसा कहकर वीर घटोत्कच तो द्रौपदीको लेकर पाण्डवोंके बीचमें चलने लगा और दूसरे राक्षस पाण्डवोंको भी (अपने-अपने कंधेपर बिठाकर) ले चले ।। ८ ।।

लोमशः सिद्धमार्गेण जगामानुपमद्युतिः ।
स्वेनैव स प्रभावेण द्वितीय इव भास्करः ।। ९ ।।

अनुपम तेजस्वी महर्षि लोमश अपने ही प्रभावसे दूसरे सूर्यकी भाँति सिद्धमार्ग अर्थात् आकाशमार्गसे चलने लगे ।। ९ ।।

ब्राह्मणांश्चापि तान् सर्वान् समुपादाय राक्षसाः ।
नियोगाद् राक्षसेन्द्रस्य जग्मुर्भीमपराक्रमाः ।। १० ।।

राक्षसराज घटोत्कचकी आज्ञासे अन्य सब ब्राह्मणोंको भी अपने-अपने कंधेपर चढ़ाकर वे भयंकर पराक्रमी राक्षस साथ-साथ चलने लगे ।। १० ।।

एवं सुरमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
आलोकयन्तस्ते जग्मुर्विशालां बदरीं प्रति ।। ११ ।।

इस प्रकार अत्यन्त रमणीय वन और उपवनोंका अवलोकन करते हुए वे सब लोग विशाला बदरी (बदरिकाश्रम तीर्थ)-की ओर प्रस्थित हुए ।। ११ ।।

ते त्वाशुगतिभिर्वीरा राक्षसैस्तैर्महाजवैः ।
उह्यमाना ययुः शीघ्रं दीर्घमध्वानमल्पवत् ।। १२ ।।

उन महावेगशाली और तीव्र गतिसे चलनेवाले राक्षसोंपर सवार हो वीर पाण्डवोंने उस विशाल मार्गको इतनी शीघ्रतासे तय कर लिया मानो वह बहुत छोटा हो ।। १२ ।।

देशान् म्लेच्छजनाकीर्णान् नानारत्नाकरायुतान् ।
ददृशुर्गिरिपादांश्च नानाधातुसमाचितान् ।। १३ ।।
विद्याधरसमाकीर्णान् युतान् वानरकिन्नरैः ।
तथा किंपुरुषैश्चैव गन्धर्वैश्च समन्ततः ।। १४ ।।

उस यात्रामें उन्होंने म्लेच्छोंसे भरे हुए बहुत-से ऐसे देश देखे जो नाना प्रकारकी रत्नोंकी खानोंसे युक्त थे। वहाँ उन्हें नाना प्रकारके धातुओंसे व्याप्त कितने ही शाखापर्वत दृष्टिगोचर हुए। उन पर्वतीय शिखरोंपर बहुत-से विद्याधर, वानर, किन्नर, किम्पुरुष और गन्धर्व चारों ओर निवास करते थे ।। १३-१४ ।।

मयूरैश्चमरैश्चैव वानरै रुरुभिस्तथा ।
वराहैर्गवयैश्चैव महिषैश्च समावृतान् ।। १५ ।।

मोर, चमरी गाय, बंदर, रुरुमृग, सूअर, गवय* और भैंस आदि पशु वहाँ विचर रहे थे ।। १५ ।।

नदीजालसमाकीर्णान् नानापक्षियुतान् बहून् ।
नानाविधमृगैर्जुष्टान् वानरैश्चोपशोभितान् ।। १६ ।।

वहाँ सब ओर बहुत-सी नदियाँ बह रही थीं। अनेक प्रकारके असंख्य पक्षी विचर रहे थे। वह स्थान नाना प्रकारके मृगोंसे सेवित और वानरोंसे सुशोभित था ।। १६ ।।

समदैश्चापि विहगैः पादपैरन्वितास्तथा ।
तेऽवतीर्य बहुन् देशानुत्तमर्च्छिसमन्वितान् ।। १७ ।।
ददृशुर्विविधाश्चर्यं कैलासं पर्वतोत्तमम् ।

तस्याभ्याशे तु ददृशुर्नरनारायणाश्रमम् ।। १८ ।।
उपेतं पादपैर्दिव्यैः सदापुष्पफलोपगैः ।
ददृशुस्तां च बदरीं वृत्तस्कन्धां मनोरमाम् ।। १९ ।।
स्निग्धामविरलच्छायां श्रिया परमया युताम् ।
पत्रैः स्निग्धैरविरलैरुपेतां मृदुभिः शुभाम् ।। २० ।।

वह पर्वतीय प्रदेश मतवाले विहंगों और अगणित वृक्षोंसे युक्त था। पाण्डवोंने उत्तम समृद्धिसे सम्पन्न बहुत-से देशोंको लाँघकर भाँति-भाँतिके आश्चर्यजनक दृश्योंसे सुशोभित पर्वतश्रेष्ठ कैलासका दर्शन किया। उसीके निकट उन्हें भगवान् नर-नारायणका आश्रम दिखायी दिया, जो नित्य फल-फूल देनेवाले दिव्य वृक्षोंसे अलंकृत था। वहीं वह विशाल एवं मनोरम बदरी भी दिखायी दी, जिसका स्कन्ध (तना) गोल था। वह वृक्ष बहुत ही चिकना, घनी छायासे युक्त और उत्तम शोभासे सम्पन्न था। उस शुभ वृक्षके सघन कोमल पत्ते भी बहुत चिकने थे ।। १७—२० ।।

विशालशाखां विस्तीर्णामतिद्युतिसमन्विताम् ।
फलैरुपचितैर्दिव्यैराचितां स्वादुभिर्भृशम् ।। २१ ।।
मधुस्रवैः सदा दिव्यां महर्षिगणसेविताम् ।
मदप्रमुदितैर्नित्यं नानाद्विजगणैर्युताम् ।। २२ ।।

उसकी डालियाँ बहुत बड़ी और बहुत दूरतक फैली हुई थीं। वह वृक्ष अत्यन्त कान्तिसे सम्पन्न था। उसमें अत्यन्त स्वादिष्ट दिव्य फल अधिक मात्रामें लगे हुए थे। उन फलोंसे मधुकी धारा बहती रहती थी। उस दिव्य वृक्षके नीचे महर्षियोंका समुदाय निवास करता था। वह वृक्ष सदा मदोन्मत्त एवं आनन्दविभोर पक्षियोंसे परिपूर्ण रहता था ।। २१-२२ ।।

अदंशमशके देशे बहुमूलफलोदके ।
नीलशाद्वलसंच्छन्ने देवगन्धर्वसेविते ।। २३ ।।
सुसमीकृतभूभागे स्वभावविहिते शुभे ।
जातां हिममृदुस्पर्शे देशेऽपहतकण्टके ।। २४ ।।

उस प्रदेशमें डाँस और मच्छरोंका नाम नहीं था। फल-मूल और जलकी बहुतायत थी। वहाँकी भूमि हरी-हरी घाससे ढकी हुई थी। देवता और गन्धर्व वहाँ वास करते थे। उस प्रदेशका भूभाग स्वभावतः समतल और मंगलमय था। उस हिमाच्छादित भूमिका स्पर्श अत्यन्त मृदु था। उस देशमें काँटोंका कहीं नाम नहीं था। ऐसे पावन प्रदेशमें वह विशाल बदरी वृक्ष उत्पन्न हुआ था ।। २३-२४ ।।

तामुपेत्य महात्मानः सह तैर्ब्राह्मणर्षभैः ।
अवतेरुस्ततः सर्वे राक्षसस्कन्धतः शनैः ।। २५ ।।

उसके पास पहुँचकर ये सब महात्मा पाण्डव उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ राक्षसोंके कंधोंसे धीरे-धीरे उतरे ।। २५ ।।

ततस्तमाश्रमं रम्यं नरनारायणाश्रितम् ।
ददृशुः पाण्डवा राजन् सहिता द्विजपुङ्गवैः ।। २६ ।।

राजन्! तदनन्तर ब्राह्मणोंसहित पाण्डवोंने एक साथ भगवान् नर-नारायणके उस रमणीय स्थानका दर्शन किया ।। २६ ।।

तमसा रहितं पुण्यमनामृष्टं रवेः करैः ।
क्षुत्तृट्शीतोष्णदोषैश्च वर्जितं शोकनाशनम् ।। २७ ।।

जो अन्धकार एवं तमोगुणसे रहित तथा पुण्यमय था। (वृक्षोंकी सघनताके कारण) सूर्यकी किरणें उसका स्पर्श नहीं कर पाती थीं। वह आश्रम भूख, प्यास, सर्दी और गरमी आदि दोषोंसे रहित और सम्पूर्ण शोकोंका नाश करनेवाला था ।। २७ ।।

महर्षिगणसम्बाधं ब्राह्मया लक्ष्म्या समन्वितम् ।
दुष्प्रवेशं महाराज नरैर्धर्मबहिष्कृतैः ।। २८ ।।

महाराज! वह पावन तीर्थ महर्षियोंके समुदायसे भरा हुआ और ब्राह्मी श्रीसे सुशोभित था। धर्महीन मनुष्योंका वहाँ प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन था ।। २८ ।।

बलिहोमार्चितं दिव्यं सुसम्मृष्टानुलेपनम् ।
दिव्यपुष्पोपहारैश्च सर्वतोऽभिविराजितम् ।। २९ ।।

वह दिव्य आश्रम देव-पूजा और होमसे अर्चित था। उसे झाड़-बुहारकर अच्छी तरह लीपा गया था। दिव्य पुष्पोंके उपहार सब ओरसे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ।। २९ ।।

विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैराचितं शुभैः ।
महद्भिस्तोयकलशैः कठिनैश्चोपशोभितम् ।। ३० ।।

विशाल अग्निहोत्रगृहों और स्रुक्, स्रुवा आदि सुन्दर यज्ञपात्रोंसे व्याप्त वह पावन आश्रम जलसे भरे हुए बड़े-बड़े कलशों और बर्तनोंसे सुशोभित था ।। ३० ।।

शरण्यं सर्वभूतानां ब्रह्मघोषनिनादितम् ।
दिव्यमाश्रयणीयं तमाश्रमं श्रमनाशनम् ।। ३१ ।।

वह सब प्राणियोंके शरण लेनेयोग्य था। वहाँ वेदमन्त्रोंकी ध्वनि गूँजती रहती थी। वह दिव्य आश्रम सबके रहनेयोग्य और थकावटको दूर करनेवाला था ।।

श्रिया युतमनिर्देश्यं देवचर्योपशोभितम् ।
फलमूलाशनैर्दान्तैश्चारुकृष्णाजिनाम्बरैः ।। ३२ ।।
सूर्यवैश्वानरसमैस्तपसा भावितात्मभिः ।
महर्षिभिर्मोक्षपरैर्यतिभिर्नियतेन्द्रियैः ।। ३३ ।।
ब्रह्मभूतैर्महाभागैरुपेतं ब्रह्मवादिभिः ।
सोऽभ्यगच्छन्महातेजास्तानृषीन् प्रयतः शुचिः ।। ३४ ।।
भ्रातृभिः सहितो धीमान् धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते दृष्ट्वा प्राप्तं युधिष्ठिरम् ।। ३५ ।।

अभ्यगच्छन्त सुप्रीताः सर्व एव महर्षयः ।
आशीर्वादान् प्रयुञ्जानाः स्वाध्यायनिरता भृशम् ।। ३६ ।।
प्रीतास्ते तस्य सत्कारं विधिना पावकोपमाः ।
उपाजह्रुश्च सलिलं पुष्पमूलफलं शुचि ।। ३७ ।।

वह शोभासम्पन्न आश्रम अवर्णनीय था। देवोचित कार्योंका अनुष्ठान उसकी शोभा बढ़ाता था। उस आश्रममें फल-मूल खाकर रहनेवाले, कृष्णमृगचर्मधारी, जितेन्द्रिय, अग्नि तथा सूर्यके समान तेजस्वी और तपःपूत अन्तःकरणवाले महर्षि, मोक्षपरायण, इन्द्रिय-संयमी संन्यासी तथा महान् सौभाग्यशाली ब्रह्मवादी ब्रह्मभूत महात्मा निवास करते थे। महातेजस्वी, बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिर पवित्र और एकाग्रचित्त होकर भाइयोंके साथ उन आश्रमवासी महर्षियोंके पास गये। युधिष्ठिरको आश्रममें आया देख वे दिव्यज्ञानसम्पन्न सब महर्षि अत्यन्त प्रसन्न होकर उनसे मिले और उन्हें अनेक प्रकारके आशीर्वाद देने लगे। सदा वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले उन अग्नितुल्य तेजस्वी महात्माओंने प्रसन्न होकर युधिष्ठिरका विधिपूर्वक सत्कार किया और उनके लिये पवित्र फल-मूल, पुष्प और जल आदि सामग्री प्रस्तुत की ।। ३२—३७ ।।

स तैः प्रीत्याथ सत्कारमुपनीतं महर्षिभिः ।
प्रयतः प्रतिगृह्याथ धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। ३८ ।।

महर्षियोंद्वारा प्रेमपूर्वक प्रस्तुत किये हुए उस आतिथ्य-सत्कारको शुद्ध हृदयसे ग्रहण करके धर्मराज युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए ।। ३८ ।।

तं शक्रसदनप्रख्यं दिव्यगन्धं मनोरमम् ।
प्रीतः स्वर्गोपमं पुण्यं पाण्डवः सह कृष्णया ।। ३९ ।।
विवेश शोभया युक्तं भ्रातृभिश्च सहानघ ।
ब्राह्मणैर्वेदवेदाङ्गपारगैश्च सहस्रशः ।। ४० ।।

उन्होंने भाइयों तथा द्रौपदीके साथ इन्द्रभवनके समान मनोरम और दिव्य सुगन्धसे परिपूर्ण उस स्वर्ग-सदृश शोभाशाली पुण्यमय नर-नारायण आश्रममें प्रवेश किया। अनघ! उनके साथ ही वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान् सहस्रों ब्राह्मण भी प्रविष्ट हुए ।। ३९-४० ।।

तत्रापश्यत धर्मात्मा देवदेवर्षिपूजितम् ।
नरनारायणस्थानं भागीरथ्योपशोभितम् ।। ४१ ।।

धर्मात्मा युधिष्ठिरने वहाँ भगवान् नर-नारायणका स्थान देखा, जो देवताओं और देवर्षियोंसे पूजित तथा भागीरथी* गंगासे सुशोभित था ।। ४१ ।।

पश्यन्तस्ते नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः ।
मधुस्रवफलं दिव्यं ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ।। ४२ ।।
तदुपेत्य महात्मानस्तेऽवसन् ब्राह्मणैः सह ।
मुदा युक्ता महात्मानो रेमिरे तत्र ते तदा ।। ४३ ।।

नरश्रेष्ठ पाण्डव उस स्थानका दर्शन करते हुए वहाँ सब ओर सुखपूर्वक घूमने-फिरने लगे। ब्रह्मर्षियों-द्वारा सेवित जो अपने फलोंसे मधुकी धारा बहानेवाला दिव्य वृक्ष था, उसके निकट जाकर महात्मा पाण्डव ब्राह्मणोंके साथ वहाँ निवास करने लगे। उस समय वे सब महात्मा बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे ।। ४२-४३ ।।

आलोकयन्तो मैनाकं नानाद्विजगणायुतम् ।
हिरण्यशिखरं चैव तच्च बिन्दुसरः शिवम् ।। ४४ ।।
तस्मिन् विहरमाणाश्च पाण्डवाः सह कृष्णया ।
मनोज्ञे काननवरे सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वले ।। ४५ ।।

वहाँ सुवर्णमय शिखरोंसे सुशोभित और अनेक प्रकारके पक्षियोंसे युक्त मैनाक पर्वत था। वहीं शीतल जलसे सुशोभित बिन्दुसर नामक तालाब था। वह सब देखते हुए पाण्डव द्रौपदीके साथ उस मनोहर उत्तम वनमें विचरने लगे, जो सभी ऋतुओंके फूलोंसे सुशोभित हो रहा था ।। ४४-४५ ।।

पादपैः पुष्पविकचैः फलभारावनामिभिः ।
शोभिते सर्वतो रम्यैः पुंस्कोकिलगणायुतैः ।। ४६ ।।

उस वनमें सब ओर सुरम्य वृक्ष दिखायी देते थे, जो विकसित फूलोंसे युक्त थे। उनकी शाखाएँ फलोंके बोझसे झुकी हुई थीं। कोकिल पक्षियोंसे युक्त बहुसंख्यक वृक्षोंके कारण उस वनकी बड़ी शोभा होती थी ।। ४६ ।।

स्निग्धपत्रैरविरलैः शीतच्छायैर्मनोरमैः ।
सरांसि च विचित्राणि प्रसन्नसलिलानि च ।। ४७ ।।

उपर्युक्त वृक्षोंके पत्ते चिकने और सघन थे। उनकी छाया शीतल थी। वे मनको बड़े ही रमणीय लगते थे। उस वनमें कितने ही विचित्र सरोवर भी थे, जो स्वच्छ जलसे भरे हुए थे ।। ४७ ।।

कमलैः सोत्पलैश्चैव भ्राजमानानि सर्वशः ।
पश्यन्तश्चारुरूपाणि रेमिरे तत्र पाण्डवाः ।। ४८ ।।

खिले हुए उत्पल और कमल सब ओरसे उनकी शोभाका विस्तार करते थे। उन मनोहर सरोवरोंका दर्शन करते हुए पाण्डव वहाँ सानन्द विचरने लगे ।। ४८ ।।

पुण्यगन्धःसुखस्पर्शो ववौ तत्र समीरणः ।
ह्लादयन् पाण्डवान् सर्वान् द्रौपद्या सहितान् प्रभो ।। ४९ ।।

जनमेजय! गन्धमादन पर्वतपर पवित्र सुगन्धसे वासित सुखदायिनी वायु चल रही थी, जो द्रौपदीसहित पाण्डवोंको आनन्द-निमग्न किये देती थी ।। ४९ ।।

भागीरथीं सुतीर्थां च शीतां विमलपङ्कजाम् ।
मणिप्रवालप्रस्तारां पादपैरुपशोभिताम् ।। ५० ।।
दिव्यपुष्पसमाकीर्णां मनःप्रीतिविवर्धिनीम् ।

वीक्षमाणा महात्मानो विशालां बदरीमनु ।। ५१ ।।
तस्मिन् देवर्षिचरिते देशे परमदुर्गमे ।
भागीरथीपुण्यजले तर्पयांचक्रिरे तदा ।। ५२ ।।
देवानृषींश्च कौन्तेयाः परमं शौचमास्थिताः ।
तत्र ते तर्पयन्तश्च जपन्तश्च कुरूद्वहाः ।। ५३ ।।
ब्राह्मणैः सहिता वीरा ह्यवसन् पुरुषर्षभाः ।
कृष्णायास्तत्र पश्यन्तः क्रीडितान्यमरप्रभाः ।
विचित्राणि नरव्याघ्रा रेमिरे तत्र पाण्डवाः ।। ५४ ।।

पूर्वोक्त विशाल बदरीवृक्षके समीप उत्तम तीर्थोंसे सुशोभित शीतल जलवाली भागीरथी गंगा बह रही थी, उसमें सुन्दर कमल खिले हुए थे। उसके घाट मणियों और मूँगोंसे आबद्ध थे। अनेक प्रकारके वृक्ष उसके तटप्रान्तकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह दिव्य पुष्पोंसे आच्छादित हो हृदयके हर्षोल्लासकी वृद्धि कर रही थी। उसका दर्शन करके महात्मा पाण्डवोंने उस अत्यन्त दुर्गम देवर्षिसेवित प्रदेशमें भागीरथीके पवित्र जलमें स्थित हो परम पवित्रताके साथ देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण किया। इस प्रकार प्रतिदिन तर्पण और जप आदि करते हुए वे पुरुषश्रेष्ठ कुरुकुल-शिरोमणि वीर पाण्डव वहाँ ब्राह्मणोंके साथ रहने लगे। देवताओंके समान कान्तिमान् नरश्रेष्ठ पाण्डव वहाँ द्रौपदीकी विचित्र क्रीड़ाएँ देखते हुए सुखपूर्वक रमण करने लगे ।। ५०—५४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४५ ।।

---

* गौके समान एक प्रकारका जंगली पशु, जिसके गलकंबल नहीं होता।

* हिमालयपर गिरनेके बाद भागीरथी गंगा अनेक धाराओंमें विभक्त होकर बहने लगीं। उनकी सीधी धारा तो गंगोत्तरीसे देवप्रयाग होती हुई हरिद्वार आयी है और अन्य धाराएँ अन्य मार्गोंसे प्रवाहित होकर पुनः गंगामें ही मिल गयी हैं। उन्हींकी जो धारा कैलास और बदरिकाश्रमके मार्गसे बहती आयी है, उसका नाम अलकनन्दा है। वह देवप्रयागमें आकर सीधी धारामें मिल गयी है। इस प्रकार यद्यपि नर-नारायणका स्थान अलकनन्दाके ही तटपर है, तथापि वह मूलतः भागीरथीसे अभिन्न ही है; इसीलिये यहाँ मूलमें 'भागीरथी' नामसे ही उसका उल्लेख किया गया है।

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका सौगन्धिक कमल लानेके लिये जाना और कदलीवनमें उनकी हनुमान्‌जीसे भेंट

वैशम्पायन उवाच

तत्र ते पुरुषव्याघ्राः परमं शौचमास्थिताः ।
षड्रात्रमवसन् वीरा धनंजयदिदृक्षवः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वे पुरुषसिंह वीर पाण्डव अर्जुनके दर्शनके लिये उत्सुक हो वहाँ परम पवित्रताके साथ छः रात रहे ।। १ ।।

द्रौपदीका भीमसेनको सौगन्धिक पुष्प भेंट करके वैसे ही और पुष्प लानेका आग्रह

ततः पूर्वोत्तरे वायुः प्लवमानो यदृच्छया ।

सहस्रपत्रमर्काभं दिव्यं पद्ममुपाहरत् ।। २ ।।

तदनन्तर ईशानकोणकी ओरसे अकस्मात् वायु चली। उसने सूर्यके समान तेजस्वी एक दिव्य सहस्रदल कमल लाकर वहाँ डाल दिया ।। २ ।।

तदवैक्षत पाञ्चाली दिव्यगन्धं मनोरमम् ।
अनिलेनाहृतं भूमौ पतितं जलजं शुचि ।। ३ ।।
तच्छुभा शुभमासाद्य सौगन्धिकमनुत्तमम् ।
अतीव मुदिता राजन् भीमसेनमथाब्रवीत् ।। ४ ।।

जनमेजय! वह कमल बड़ा मनोरम था, उससे दिव्य सुगन्ध फैल रही थी। शुभलक्षणा द्रौपदीने उसे देखा और वायुके द्वारा लाकर पृथ्वीपर डाले हुए उस पवित्र, शुभ एवं परम उत्तम सौगन्धिक कमलके पास पहुँचकर अत्यन्त प्रसन्न हो भीमसेनसे इस प्रकार कहा — ।। ३-४ ।।

पश्य दिव्यं सुरुचिरं भीम पुष्पमनुत्तमम् ।
गन्धसंस्थानसम्पन्नं मनसो मम नन्दनम् ।। ५ ।।
इदं च धर्मराजाय प्रदास्यामि परंतप ।
हरेदं मम कामाय काम्यके पुनराश्रमे ।। ६ ।।

'भीम! देखो तो, यह दिव्य पुष्प कितना अच्छा और कैसा सुन्दर है! मानो सुगन्ध ही इसका स्वरूप है। यह मेरे मनको आनन्द प्रदान कर रहा है। परंतप! मैं इसे धर्मराजको भेंट करूँगी। तुम मेरी इच्छाकी पूर्तिके लिये काम्यकवनके आश्रममें इसे ले चलो' ।। ५-६ ।।

यदि तेऽहं प्रिया पार्थ बहूनीमान्युपाहर ।
तान्यहं नेतुमिच्छामि काम्यकं पुनराश्रमम् ।। ७ ।।

'कुन्तीनन्दन! यदि मेरे ऊपर तुम्हारा (विशेष) प्रेम है, तो मेरे लिये ऐसे ही बहुत-से फूल ले आओ। मैं इन्हें काम्यक वनमें अपने आश्रमपर ले चलना चाहती हूँ' ।। ७ ।।

एवमुक्त्वा शुभापाङ्गी भीमसेनमनिन्दिता ।
जगाम पुष्पमादाय धर्मराजाय तत् तदा ।। ८ ।।

उस समय मनोहर नेत्रप्रान्तवाली अनिन्द्य सुन्दरी (सती-साध्वी) द्रौपदी भीमसेनसे ऐसा कहकर और वह पुष्प लेकर धर्मराज युधिष्ठिरको देनेके लिये चली गयी ।। ८ ।।

अभिप्रायं तु विज्ञाय महिष्याः पुरुषर्षभः ।
प्रियायाः प्रियकामः स प्रायाद् भीमो महाबलः ।। ९ ।।

पुरुषशिरोमणि महाबली भीम अपनी प्यारी रानीके मनोभावको जानकर उसका प्रिय करनेकी इच्छासे वहाँसे चल दिये ।। ९ ।।

वातं तमेवाभिमुखो यतस्तत् पुष्पमागतम् ।
आजिहीर्षुर्जगामाशु स पुष्पाण्यपराण्यपि ।। १० ।।

वे उसी तरहके और भी फूल ले आनेकी अभिलाषासे तुरंत पूर्वोक्त वायुकी ओर मुख करके उसी ईशान कोणमें आगे बढ़े, जिधरसे वह फूल आया था ।। १० ।।

रुक्मपृष्ठं धनुर्गृह्य शरांश्चाशीविषोपमान् ।
मृगराडिव संक्रुद्धः प्रभिन्न इव कुञ्जरः ।। ११ ।।

उन्होंने हाथमें वह अपना धनुष ले लिया जिसके पृष्ठभागमें सुवर्ण जड़ा हुआ था। साथ ही विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाण भी तरकसमें रख लिये। फिर क्रोधमें भरे हुए सिंह तथा मदकी धारा बहानेवाले मतवाले गजराजकी भाँति निर्भय होकर आगे बढ़े ।। ११ ।।

ददृशुः सर्वभूतानि महाबाणधनुर्धरम् ।
न ग्लानिर्न च वैक्लव्यं न भयं न च सम्भ्रमः ।। १२ ।।
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः ।

महान् धनुष-बाण लेकर जाते हुए भीमसेनको उस समय सब प्राणियोंने देखा। उन वायुपुत्र कुन्ती-कुमारको कभी ग्लानि, विकलता, भय अथवा घबराहट नहीं होती थी ।। १२ ।।

द्रौपद्याः प्रियमन्विच्छन् स बाहुबलमाश्रितः ।। १३ ।।
व्यपेतभयसम्मोहः शैलमभ्यपतद् बली ।

स ते द्रुमलतागुल्मच्छन्नं नीलशिलातलम् ।। १४ ।।
गिरिं चचारारिहरः किन्नराचरितं शुभम् ।
नानावर्णधरैश्चित्रं धातुद्रुममृगाण्डजैः ।। १५ ।।

द्रौपदीका प्रिय करनेकी इच्छासे अपने बाहुबलका भरोसा करके भय और मोहसे रहित बलवान् भीमसेन सामनेके शैल-शिखरपर चढ़ गये। वह पर्वत वृक्षों, लताओं और झाड़ियोंसे आच्छादित था। उसकी शिलाएँ नीले रंगकी थीं। वहाँ किन्नरलोग भ्रमण करते थे। शत्रुसंहारी भीमसेन उस सुन्दर पर्वतपर विचरने लगे। बहुरंगे धातुओं, वृक्षों, मृगों और पक्षियोंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी ।। १३—१५ ।।

सर्वभूषणसम्पूर्णं भूमेर्भुजमिवोच्छ्रितम् ।
सर्वत्र रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु ।। १६ ।।
सक्तचक्षुरभिप्रायान् हृदयेनानुचिन्तयन् ।
पुंस्कोकिलनिनादेषु षट्पदाचरितेषु च ।। १७ ।।
बद्धश्रोत्रमनश्चक्षुर्जगामामितविक्रमः ।

वह देखनेमें ऐसा जान पड़ता था मानो पृथिवीके समस्त आभूषणोंसे विभूषित ऊँचे उठी हुई भुजा हो। गन्धमादनके शिखर सब ओरसे रमणीय थे। वहाँ कोयल पक्षियोंकी शब्दध्वनि हो रही थी और झुंड-के-झुंड भौंरे मड़रा रहे थे। भीमसेन उन्हींमें आँखें गड़ाये मन-ही-मन अभिलषित कार्यका चिन्तन करते जाते थे। अमितपराक्रमी भीमके कान, नेत्र और मन उन्हीं शिखरोंमें अटके रहे अर्थात् उनके कान वहाँके विचित्र शब्दोंको सुननेमें लग गये; आँखें वहाँके अद्भुत दृश्योंको निहारने लगीं और मन वहाँकी अलौकिक विशेषताके विषयमें सोचने लगा और वे अपने गन्तव्य स्थानकी ओर अग्रसर होते चले गये ।। १६-१७ ½ ।।

आजिघ्रन् स महातेजाः सर्वर्तुकुसुमोद्भवम् ।। १८ ।।
गन्धमुद्धतमुद्दामो वने मत्त इव द्विपः ।
वीज्यमानः सुपुण्येन नानाकुसुमगन्धिना ।। १९ ।।
पितुः संस्पर्शशीतेन गन्धमादनवायुना ।
ह्रियमाणश्रमः पित्रा सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।। २० ।।

वे महातेजस्वी कुन्तीकुमार सभी ऋतुओंके फूलोंके उत्कट सुगन्धका आस्वादन करते हुए वनमें उद्दामगतिसे विचरनेवाले मदोन्मत्त गजराजकी भाँति चले जा रहे थे। नाना प्रकारके कुसुमोंसे सुवासित गन्धमादनकी परम पवित्र वायु उन्हें पंखा झल रही थी। जैसे पिताको पुत्रका स्पर्श शीतल एवं सुखद जान पड़ता है, वैसा ही सुख भीमसेनको उस पर्वतीय वायुके स्पर्शसे मिल रहा था। उनके पिता पवनदेव उनकी सारी थकावट हर लेते थे। उस समय हर्षातिरेकसे भीमके शरीरमें रोमांच हो रहा था ।। १८—२० ।।

स यक्षगन्धर्वसुरब्रह्मर्षिगणसेवितम् ।

विलोकयामास तदा पुष्पहेतोररिंदमः ।। २१ ।।

शत्रुदमन भीमसेनने उस समय (पूर्वोक्त पुष्पकी प्राप्तिके लिये एक बार) यक्ष, गन्धर्व, देवता और ब्रह्मर्षियोंसे सेवित उस विशाल पर्वतपर (सब ओर) दृष्टिपात किया ।। २१ ।।

विषमच्छदैरचितैरनुलिप्त इवाङ्‌गुलैः ।
वलिभिर्धातुविच्छेदैः काञ्चनाञ्जनराजतैः ।
सपक्षमिव नृत्यन्तं पार्श्वलग्नैः पयोधरैः ।। २२ ।।

उस समय अनेक धातुओंसे रँगे हुए सप्तपर्ण (छितवन) के पत्तोंद्वारा उनके ललाटमें विभिन्न धातुओंके काले, पीले और सफेद रंग लग गये थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो अँगुलियोंद्वारा त्रिपुण्ड्र चन्दन लगाया गया हो। उस पर्वत-शिखरके उभय पार्श्वमें लगे हुए मेघोंसे उसकी ऐसी शोभा हो रही थी मानो वह पुनः पंखधारी होकर नृत्य कर रहा है ।। २२ ।।

मुक्ताहारैरिव चितं च्युतैः प्रस्रवणोदकैः ।
अभिरामदरीकुञ्जनिर्झरोदककन्दरम् ।। २३ ।।

निरन्तर झरनेवाले झरनोंके जल उस पहाड़के कण्ठदेशमें अवलम्बित मोतियोंके हार-से प्रतीत हो रहे थे। उस पर्वतकी गुफा, कुंज, निर्झर, सलिल और कन्दराएँ सभी मनोहर थे ।। २३ ।।

अप्सरोनूपुररवैः प्रनृत्तवरबर्हिणम् ।
दिग्वारणविषाणाग्रैर्घृष्टोपलशिलातलम् ।। २४ ।।

वहाँ अप्सराओंके नूपुरोंकी मधुर ध्वनिके साथ सुन्दर मोर नाच रहे थे। उस पर्वतके एक-एक रत्न और शिलाखण्डपर दिग्गजोंके दाँतोंकी रगड़का चिह्न अंकित था ।। २४ ।।

स्रस्तांशुकमिवाक्षोभ्यैर्निम्नगा निःसृतैर्जलैः ।
सशष्पकवलैः स्वस्थैरदूरपरिवर्तिभिः ।। २५ ।।
भयानभिज्ञैर्हरिणैः कौतूहलनिरीक्षितः ।
चालयन्नुरुवेगेन लताजालान्यनेकशः ।। २६ ।।
आक्रीडमानो हृष्टात्मा श्रीमान् वायुसुतो ययौ ।
प्रियामनोरथं कर्तुमुद्यतश्चारुलोचनः ।। २७ ।।

निम्नगामिनी नदियोंसे निकला हुआ क्षोभरहित जल नीचेकी ओर इस प्रकार बह रहा था, मानो उस पर्वतका वस्त्र खिसककर गिरा जाता हो। भयसे अपरिचित और स्वस्थ हरिण मुँहमें हरे घासका कौर लिये पास ही खड़े होकर भीमसेनकी ओर कौतूहलभरी दृष्टिसे देख रहे थे। उस समय मनोहर नेत्रोंवाले शोभाशाली वायुपुत्र भीम अपने महान् वेगसे अनेक लतासमूहोंको विचलित करते हुए हर्षपूर्ण हृदयसे खेल-सा करते जा रहे थे। वे अपनी प्रिया द्रौपदीका प्रिय मनोरथ पूर्ण करनेको सर्वथा उद्यत थे ।। २५—२७ ।।

प्रांशुः कनकवर्णाभः सिंहसंहननो युवा ।

मत्तवारणविक्रान्तो मत्तवारणवेगवान् ।। २८ ।।

उनकी कद बहुत ऊँची थी। शरीरका रंग स्वर्ण-सा दमक रहा था। उनके सम्पूर्ण अंग सिंहके समान सुदृढ़ थे। उन्होंने युवावस्थामें पदार्पण किया था। वे मतवाले हाथीके समान मस्तानी चालसे चलते थे। उनका वेग मदोन्मत्त गजराजके समान था ।। २८ ।।

मत्तवारणताम्राक्षो मत्तवारणवारणः ।
प्रियपार्श्वोपविष्टाभिर्व्यावृत्ताभिर्विचेष्टितैः ।। २९ ।।
यक्षगन्धर्वयोषाभिरदृश्याभिर्निरीक्षितः ।
नवावतारो रूपस्य विक्रीडन्निव पाण्डवः ।। ३० ।।
चचार रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु ।
संस्मरन् विविधान् क्लेशान् दुर्योधनकृतान् बहून् ।। ३१ ।।
द्रौपद्या वनवासिन्याः प्रियं कर्तुं समुद्यतः ।
सोऽचिन्तयद् गते स्वर्गमर्जुने मयि चागते ।। ३२ ।।
पुष्पहेतोः कथं त्वार्यः करिष्यति युधिष्ठिरः ।
स्नेहान्नरवरो नूनमविश्वासाद् बलस्य च ।। ३३ ।।
नकुलं सहदेवं च न मोक्ष्यति युधिष्ठिरः ।
कथं तु कुसुमावाप्तिः स्याच्छीघ्रमिति चिन्तयन् ।। ३४ ।।
प्रतस्थे नरशार्दूलः पक्षिराडिव वेगितः ।
सज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु ।। ३५ ।।

मतवाले हाथीके समान ही उनकी लाल-लाल आँखें थीं। वे समरभूमिमें मदोन्मत्त हाथियोंको भी पीछे हटानेमें समर्थ थे। अपने प्रियतमके पार्श्वभागमें बैठी हुई यक्ष और गन्धर्वोंकी युवतियाँ सब प्रकारकी चेष्टाओंसे निवृत्त हो स्वयं अलक्षित रहकर भीमसेनकी ओर देख रही थीं। वे उन्हें सौन्दर्यके नूतन अवतार-से प्रतीत होते थे। इस प्रकार पाण्डुनन्दन भीम गन्धमादनके रमणीय शिखरोंपर खेल-सा करते हुए विचरने लगे। वे दुर्योधनद्वारा दिये गये नाना प्रकारके असंख्य क्लेशोंका स्मरण करते हुए वनवासिनी द्रौपदीका प्रिय करनेके लिये उद्यत हुए थे। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—'अर्जुन स्वर्गलोकमें चले गये हैं और मैं फूल लेनेके लिये इधर चला आया हूँ। ऐसी दशामें आर्य युधिष्ठिर कोई कार्य कैसे करेंगे? नरश्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर नकुल और सहदेवपर अत्यन्त स्नेह रखते हैं। उन दोनोंके बलपर उन्हें विश्वास नहीं है। अतः वे निश्चय ही उन्हें नहीं छोड़ेंगे, अर्थात् कहीं नहीं भेजेंगे। अब कैसे मुझे शीघ्र वह फूल प्राप्त हो जाय—यह चिन्ता करते हुए नरश्रेष्ठ भीम पक्षिराज गरुड़के समान वेगसे आगे बढ़े। उनके मन और नेत्र फूलोंसे भरे हुए पर्वतीय शिखरोंपर लगे हुए थे ।। २९—३५ ।।

द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ ।
कम्पयन् मेदिनीं पद्भ्यां निर्घात इव पर्वसु ।। ३६ ।।

त्रासयन् गजयूथानि वातरंहा वृकोदरः ।
सिंहव्याघ्रमृगांश्चैव मर्दयानो महाबलः ।। ३७ ।।
उन्मूलयन् महावृक्षान् पोथयंस्तरसा बली ।
लतावल्लीश्च वेगेन विकर्षन् पाण्डुनन्दनः ।
उपर्युपरि शैलाग्रमारुरुक्षुरिव द्विपः ।। ३८ ।।

द्रौपदीका अनुरोधपूर्ण वचन ही उनका पाथेय (मार्गका कलेवा) था, वे उसीको लेकर शीघ्रतापूर्वक चले जा रहे थे। वायुके समान वेगशाली वृकोदर पर्वकालमें होनेवाले उत्पात (भूकम्प और बिजली गिरने)-के समान अपने पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको कम्पित और हाथियोंके समूहोंको आतंकित करते हुए चलने लगे। वे महाबली कुन्तीकुमार सिंहों, व्याघ्रों और मृगोंको कुचलते तथा अपने वेगसे बड़े-बड़े वृक्षोंको जड़से उखाड़ते और विनाश करते हुए आगे बढ़ने लगे। पाण्डुनन्दन भीम अपने वेगसे लताओं और बल्लरियोंको खींचे लिये जाते थे। वे ऊपर-ऊपर जाते हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानो कोई गजराज पर्वतकी सबसे ऊँची चोटीपर चढ़ना चाहता हो ।। ३६—३८ ।।

विनर्दमानोऽतिभृशं सविद्युदिव तोयदः ।
तेन शब्देन महता भीमस्य प्रतिबोधिताः ।। ३९ ।।
गुहां संतत्यजुर्व्याघ्रा निलिल्युर्वनवासिनः ।
समुत्पेतुः खगास्त्रस्ता मृगयूथानि दुद्रुवुः ।। ४० ।।

वे बिजलियोंसे सुशोभित मेघकी भाँति बड़े जोरसे गर्जना करने लगे। भीमसेनकी उस भयंकर गर्जनासे जगे हुए व्याघ्र अपनी गुफा छोड़कर भाग गये, वनवासी प्राणी वनमें ही छिप गये, डरे हुए पक्षी आकाशमें उड़ गये और मृगोंके झुंड दूरतक भागते चले गये ।। ३९-४० ।।

ऋक्षाश्चोत्ससृजुर्वृक्षांस्तत्यजुर्हरयो गुहाम् ।
व्यजृम्भन्त महासिंहा महिषाश्चावलोकयन् ।। ४१ ।।

रीछोंने वृक्षोंका आश्रय छोड़ दिया, सिंहोंने गुफाएँ त्याग दीं, बड़े-बड़े सिंह जँभाई लेने लगे और जंगली भैंसे दूरसे ही उनकी ओर देखने लगे ।। ४१ ।।

तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः ।
तद् वनं स परित्यज्य जग्मुरन्यन्महावनम् ।। ४२ ।।

भीमसेनकी उस गर्जनासे डरे हुए हाथी उस वनको छोड़कर हथिनियोंसे घिरे हुए दूसरे विशाल वनमें चले गये ।। ४२ ।।

वराहमृगसंघाश्च महिषाश्च वनेचराः ।
व्याघ्रगोमायुसंघाश्च प्रणेदुर्गवयैः सह ।। ४३ ।।
रथाङ्गसाह्वदात्यूहा हंसकारण्डवप्लवाः ।
शुकाः पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः ।। ४४ ।।

सूअर, मृगसमूह, जंगली भैंसे, बाघों तथा गीदड़ोंके समुदाय और गवय—ये सब-के-सब एक साथ चीत्कार करने लगे। चक्रवाक, चातक, हंस, कारण्डव, प्लव, शुक, कोकिल और क्रौंच आदि पक्षियोंने अचेत होकर भिन्न-भिन्न दिशाओंकी शरण ली ।। ४३-४४ ।।

तथान्ये दर्पिता नागाः करेणुशरपीडिताः ।
सिंहव्याघ्राश्च संक्रुद्धा भीमसेनमथाद्रवन् ।। ४५ ।।
शकृन्मूत्रं च मुञ्चाना भयविभ्रान्तमानसाः ।
व्यादितास्या महारौद्रा व्यनदन् भीषणान् रवान् ।। ४६ ।।

तथा हथिनियोंके कटाक्ष-बाणसे पीड़ित हुए दूसरे बलोन्मत्त गजराज, सिंह और व्याघ्र क्रोधमें भरकर भीमसेनपर टूट पड़े। वे मल-मूत्र छोड़ते हुए मन-ही-मन भयसे घबरा रहे थे और मुँह बाये हुए अत्यन्त भयानक रूपसे भैरव-गर्जना कर रहे थे ।। ४५-४६ ।।

ततो वायुसुतः क्रोधात् स्वबाहुबलमाश्रितः ।
गजेनान्यान् गजाञ्छ्रीमान् सिंहं सिंहेन वा विभुः ।। ४७ ।।
तलप्रहारैरन्यांश्च व्यहनत् पाण्डवो बली ।
ते वध्यमाना भीमेन सिंहव्याघ्रतरक्षवः ।। ४८ ।।
भयाद् विससृजुर्भीमं शकृन्मूत्रं च सुस्रुवुः ।
प्रविवेश ततः क्षिप्रं तानपास्य महाबलः ।। ४९ ।।
वनं पाण्डुसुतः श्रीमाञ्छब्देनापूरयन् दिशः ।

तब अपने बाहु-बलका भरोसा रखनेवाले श्रीमान् वायुपुत्र भीमने कुपित हो एक हाथीसे दूसरे हाथियोंको और एक सिंहसे दूसरे सिंहोंको मार भगाया तथा उन महाबली पाण्डुकुमारने कितनोंको तमाचोंके प्रहारसे मार डाला। भीमसेनकी मार खाकर सिंह, व्याघ्र और चीते (बघेरे) भयसे उन्हें छोड़कर भाग चले तथा घबराकर मल-मूत्र करने लगे। तदनन्तर महान् शक्तिशाली पाण्डुनन्दन भीमसेनने शीघ्र उन सबको छोड़कर अपनी गर्जनासे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए एक वनमें प्रवेश किया ।। ४७—४९ १/२ ।।

अथापश्यन्महाबाहुर्गन्धमादनसानुषु ।। ५० ।।
सुरम्यं कदलीषण्डं बहुयोजनविस्तृतम् ।
तमभ्यगच्छद् वेगेन क्षोभयिष्यन् महाबलः ।। ५१ ।।
महागज इवास्रावी प्रभञ्जन् विविधान् द्रुमान् ।
उत्पाट्य कदलीस्तम्भान् बहुतालसमुच्छ्रयान् ।। ५२ ।।
चिक्षेप तरसा भीमः समन्ताद् बलिनां वरः ।
विनदन् सुमहातेजा नृसिंह इव दर्पितः ।। ५३ ।।
ततः सत्त्वान्युपाक्रामद् बहूनि सुमहान्ति च ।
रुरुवानरसिंहांश्च महिषांश्च जलाशयान् ।। ५४ ।।
तेन शब्देन चैवाथ भीमसेनरवेण च ।

वनान्तरगताश्चापि वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ।। ५५ ।।

इसी समय गन्धमादनके शिखरोंपर महाबाहु भीमने एक परम सुन्दर केलेका बगीचा देखा, जो कई योजन दूरतक फैला हुआ था। मदकी धारा बहानेवाले महाबली गजराजकी भाँति उस कदलीवनमें हलचल मचाते और भाँति-भाँतिके वृक्षोंको तोड़ते हुए वे बड़े वेगसे वहाँ गये। वहाँके केलेके वृक्ष खम्भोंके समान मोटे थे। उनकी ऊँचाई कई ताड़ोंके बराबर थी। बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमने बड़े वेगसे उन्हें उखाड़-उखाड़कर सब ओर फेंकना आरम्भ किया। वे महान् तेजस्वी तो थे ही, अपने बल और पराक्रमपर गर्व भी रखते थे; अतः भगवान् नृसिंहकी भाँति विकट गर्जना करने लगे। तत्पश्चात् और भी बहुत-से बड़े-बड़े जन्तुओंपर आक्रमण किया। रुरु, वानर, सिंह, भैंसे तथा जल-जन्तुओंपर भी धावा किया। उन पशु-पक्षियोंके एवं भीमसेनके उस भयंकर शब्दसे दूसरे वनमें रहनेवाले मृग और पक्षी भी थर्रा उठे ।। ५०—५५ ।।

तं शब्दं सहसा श्रुत्वा मृगपक्षिसमीरितम् ।
जलार्द्रपक्षा विहगाः समुत्पेतुः सहस्रशः ।। ५६ ।।

मृगों और पक्षियोंके उस भयसूचक शब्दको सहसा सुनकर सहस्रों पक्षी आकाशमें उड़ने लगे। उन सबकी पाँखें जलसे भीगी हुई थीं ।। ५६ ।।

तानौदकान् पक्षिगणान् निरीक्ष्य भरतर्षभः ।
तानेवानुसरन् रम्यं ददर्श सुमहत् सरः ।। ५७ ।।

भरतश्रेष्ठ भीमने यह देखकर कि ये तो जलके पक्षी हैं, उन्हींके पीछे चलने लगे और आगे जानेपर एक अत्यन्त रमणीय विशाल सरोवर देखा ।। ५७ ।।

काञ्चनैः कदलीषण्डैर्मन्दमारुतकम्पितैः ।
वीज्यमानमिवाक्षोभ्यं तीरात् तीरविसर्पिभिः ।। ५८ ।।

उस सरोवरके एक तीरसे लेकर दूसरे तीरतक फैले हुए सुवर्णमय केलेके वृक्ष मन्द वायुसे विकम्पित होकर मानो उस अगाध जलाशयको पंखा झल रहे थे ।। ५८ ।।

तत् सरोऽथावतीर्याशु प्रभूतनलिनोत्पलम् ।
महागज इवोद्दामश्चिक्रीड बलवद् बली ।। ५९ ।।

उसमें प्रचुर कमल और उत्पल खिले हुए थे। बन्धनरहित महान् गजके समान बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन सहसा उस सरोवरमें उतरकर जल-क्रीड़ा करने लगे ।। ५९ ।।

विक्रीड्य तस्मिन् सुचिरमुत्ततारामितद्युतिः ।
ततोऽध्यगन्तुं वेगेन तद् वनं बहुपादपम् ।। ६० ।।

दीर्घ कालतक उस सरोवरमें क्रीड़ा करनेके पश्चात् अमित तेजस्वी भीम जलसे बाहर निकले और असंख्य वृक्षोंसे सुशोभित उस कदलीवनमें वेगपूर्वक जानेको उद्यत हुए ।। ६० ।।

दध्मौ च शङ्खं स्वनवत् सर्वप्राणेन पाण्डवः ।

आस्फोटयच्च बलवान् भीमः संनादयन् दिशः ।। ६१ ।।
तस्य शङ्खस्य शब्देन भीमसेनरवेण च ।
बाहुशब्देन चोग्रेण नदन्तीव गिरेर्गुहाः ।। ६२ ।।

उस समय बलवान् पाण्डुनन्दन भीमने अपनी सारी शक्ति लगाकर बड़े जोरसे शंख बजाया और सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए ताल ठोंका। उस शंखकी ध्वनि, भीमसेनकी गर्जना और उनके ताल ठोंकनेके भयंकर शब्दसे मानो पर्वतोंकी कन्दराएँ गूँज उठीं ।। ६१-६२ ।।

तं वज्रनिष्पेषसममास्फोटितमहारवम् ।
श्रुत्वा शैलगुहासुप्तैः सिंहैर्मुक्तो महास्वनः ।। ६३ ।।

पर्वतोंपर वज्रपात होनेके कारण उस ताल ठोंकनेके भयानक शब्दको सुनकर गुफाओंमें सोये हुए सिंहोंने भी जोर-जोरसे दहाड़ना आरम्भ किया ।। ६३ ।।

सिंहनादभयत्रस्तैः कुञ्जरैरपि भारत ।
मुक्तो विरावः सुमहान् पर्वतो येन पूरितः ।। ६४ ।।

भारत! उन सिंहोंका दहाड़ना सुनकर भयसे डरे हुए हाथी भी चीत्कार करने लगे, जिससे वह विशाल पर्वत शब्दायमान हो उठा ।। ६४ ।।

तं तु नादं ततः श्रुत्वा मुक्तं वारणपुङ्गवैः ।
भ्रातरं भीमसेनं तु विज्ञाय हनुमान् कपिः ।। ६५ ।।

बड़े-बड़े गजराजोंका वह चीत्कार सुनकर कपिप्रवर हनुमान्‌जी, जो उस समय कदलीवनमें ही रहते थे, यह समझ गये कि मेरे भाई भीमसेन इधर आये हैं ।। ६५ ।।

दिवंगमं रुरोधाथ मार्गं भीमस्य कारणात् ।
अनेन हि पथा मा वै गच्छेदिति विचार्य सः ।। ६६ ।।
आस्त एकायने मार्गे कदलीषण्डमण्डिते ।
भ्रातुर्भीमस्य रक्षार्थं तं मार्गमवरुध्य वै ।। ६७ ।।

तब उन्होंने भीमसेनके हितके लिये स्वर्गकी ओर जानेवाला मार्ग रोक दिया। हनुमान्‌जीने यह सोचकर कि भीमसेन इसी मार्गसे स्वर्गलोककी ओर न चले जायँ, एक मनुष्यके आने-जाने योग्य उस संकुचित मार्गपर बैठ गये। वह मार्ग केलेके वृक्षोंसे घिरा होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहा था। उन्होंने अपने भाई भीमकी रक्षाके लिये ही यह राह रोकी थी ।। ६६-६७ ।।

मात्र प्राप्स्यति शापं वा धर्षणां वेति पाण्डवः ।
कदलीषण्डमध्यस्थो ह्येवं संचिन्त्य वानरः ।। ६८ ।।
प्राजृम्भत महाकायो हनूमान् नाम वानरः ।
कदलीषण्डमध्यस्थो निद्रावशगतस्तदा ।। ६९ ।।
जृम्भमाणः सुविपुलं शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम् ।

आस्फोटयच्च लाङ्गूलमिन्द्राशनिसमस्वनम् ।। ७० ।।

कदलीवनमें आय हुए पाण्डुनन्दन भीमसेनको इस मार्गपर आनेके कारण किसीसे शाप या तिरस्कार न प्राप्त हो जाय, यह विचारकर ही कपिप्रवर हनुमान्जी उस वनके भीतर स्वर्गका रास्ता रोककर सो गये। उस समय उन्होंने अपने शरीरको बड़ा कर लिया था। निद्राके वशीभूत होकर जब वे जँभाई लेते और इन्द्रकी ध्वजाके समान ऊँचे तथा विशाल लंगूरको फटकारते, उस समय वज्रकी गड़गड़ाहटके समान आवाज होती थी ।। ६८—७० ।।

तस्य लाङ्गूलनिनदं पर्वतः सुगुहामुखैः ।
उद्गारमिव गौर्नर्दन्नुत्ससर्ज समन्ततः ।। ७१ ।।

वह पर्वत उनकी पूँछकी फटकारके उस महान् शब्दको सुन्दर कन्दरारूपी मुखोंद्वारा सब ओर प्रतिध्वनिके रूपमें दुहराता था, मानो कोई साँड़ जोर-जोरसे गर्जना कर रहा हो ।। ७१ ।।

लाङ्गूलास्फोटशब्दाच्च चलितः स महागिरिः ।
विघूर्णमानशिखरः समन्तात् पर्यशीर्यत ।। ७२ ।।
स लाङ्गूलरवस्तस्य मत्तवारणनिःस्वनम् ।
अन्तर्धाय विचित्रेषु चचार गिरिसानुषु ।। ७३ ।।

पूँछके फटकारनेकी आवाजसे वह महान् पर्वत हिल उठा। उसके शिखर झूमते-से जान पड़े और वह सब ओरसे टूट-फूटकर बिखरने लगा। वह शब्द मतवाले हाथीके चिग्घाड़नेकी आवाजको भी दबाकर विचित्र पर्वत-शिखरोंपर चारों ओर फैल गया ।। ७२-७३ ।।

स भीमसेनस्तच्छ्रुत्वा सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
शब्दप्रभवमन्विच्छंश्चचार कदलीवनम् ।। ७४ ।।

उसे सुनकर भीमसेनके रोंगटे खड़े हो गये और उसके कारणको ढूँढ़नेके लिये वे उस केलेके बगीचेमें घूमने लगे ।। ७४ ।।

कदलीवनमध्यस्थमथ पीने शिलातले ।
ददर्श सुमहाबाहुर्वानराधिपतिं तदा ।। ७५ ।।

उस समय विशाल भुजाओंवाले भीमसेनने कदलीवनके भीतर ही एक मोटे शिलाखण्डपर लेटे हुए वानरराज हनुमान्जीको देखा ।। ७५ ।।

विद्युत्सम्पातदुष्प्रेक्षं विद्युत्सम्पातपिङ्गलम् ।
विद्युत्सम्पातनिनदं विद्युत्सम्पातचञ्चलम् ।। ७६ ।।

विद्युत्पातके समान चकाचौंध पैदा करनेके कारण उनकी ओर देखना अत्यन्त कठिन हो रहा था। उनकी अंगकान्ति गिरती हुई बिजलीके समान पिंगल-वर्णकी थी। उनका

गर्जन-तर्जन वज्रपातकी गड़गड़ाहटके समान था। वे विद्युत्पातके सदृश चञ्चल प्रतीत होते थे ।। ७६ ।।

बाहुस्वस्तिकविन्यस्तपीनह्रस्वशिरोधरम् ।
स्कन्धभूयिष्ठकायत्वात् तनुमध्यकटीतटम् ।। ७७ ।।
किंचिच्चाभुग्नशीर्षेण दीर्घरोमाञ्चितेन च ।
लाङ्गूलेनोर्ध्वगतिना ध्वजेनेव विराजितम् ।। ७८ ।।

उनक कंधे चौड़े और पुष्ट थे। अतः उन्होंने बाँहके मूलभागको तकिया बनाकर उसीपर अपनी मोटी और छोटी ग्रीवाको रख छोड़ा था और उनके शरीरका मध्यभाग एवं कटिप्रदेश पतला था। उनकी लंबी पूँछका अग्रभाग कुछ मुड़ा हुआ था। उसकी रोमावलि घनी थी तथा वह पूँछ ऊपरकी ओर उठकर फहराती हुई ध्वजा-सी सुशोभित होती थी ।। ७७-७८ ।।

ह्रस्वौष्ठं ताम्रजिह्वास्यं रक्तकर्णं चलद्भ्रुवम् ।
विवृत्तदंष्ट्रादशनं शुक्लतीक्ष्णाग्रशोभितम् ।। ७९ ।।
अपश्यद् वदनं तस्य रश्मिवन्तमिवोडुपम् ।
वदनाभ्यन्तरगतैः शुक्लैर्दन्तैरलंकृतम् ।। ८० ।।

उनके ओठ छोटे थे। जीभ और मुखका रंग ताँबेके समान था। कान भी लाल रंगके ही थे और भौंहें चञ्चल हो रही थीं। उनके खुले हुए मुखमें श्वेत चमकते हुए दाँत और दाढ़ें अपने सफेद और तीखे अग्रभागके द्वारा अत्यन्त शोभा पा रही थीं। इन सबके कारण उनका मुख किरणोंसे प्रकाशित चन्द्रमाके समान दिखायी देता था। मुखके भीतरकी श्वेत दन्तावलि उसकी शोभा बढ़ानेके लिये आभूषणका काम दे रही थी ।। ७९-८० ।।

केसरोत्करसम्मिश्रमशोकानामिवोत्करम् ।
हिरण्मयीनां मध्यस्थं कदलीनां महाद्युतिम् ।। ८१ ।।

सुवर्णमय कदली-वृक्षोंके बीच विराजमान महातेजस्वी हनुमान्‌जी ऐसे जान पड़ते थे मानो केसरोंकी क्यारीमें अशोकपुष्पोंका गुच्छ रख दिया गया हो ।। ८१ ।।

दीप्यमानेन वपुषा स्वर्चिष्मन्तमिवानलम् ।
निरीक्षन्तममित्रघ्नं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ।। ८२ ।।

वे शत्रुसूदन वानरवीर अपने कान्तिमान् शरीरसे प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ते थे और अपनी मधुके समान पीली आँखोंसे इधर-उधर देख रहे थे ।।

तं वानरवरं धीमानतिकायं महाबलम् ।
स्वर्गपन्थानमावृत्य हिमवन्तमिव स्थितम् ।। ८३ ।।
दृष्ट्वा चैनं महाबाहुरेकं तस्मिन् महावने ।
अथोपसृत्य तरसा विभीर्भीमस्ततो बली ।। ८४ ।।
सिंहनादं चकारोग्रं वज्राशनिसमं बली ।
तेन शब्देन भीमस्य वित्रेसुर्मृगपक्षिणः ।। ८५ ।।

परम बुद्धिमान् बलवान् महाबाहु भीमसेन उस महान् वनमें विशालकाय महाबली वानरराज हनुमान्‌जीको अकेले ही स्वर्गका मार्ग रोककर हिमालयके समान स्थित देख निर्भय होकर वेगपूर्वक उनके पास गये और वज्र-गर्जनाके समान भयंकर सिंहनाद करने लगे। भीमसेनके उस सिंहनादसे वहाँके मृग और पक्षी थर्रा उठे ।। ८३—८५ ।।

हनूमांश्च महासत्त्व ईषदुन्मील्य लोचने ।
दृष्ट्वा तमथ सावज्ञं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः ।
स्मितेन चैनमासाद्य हनूमानिदमब्रवीत् ।। ८६ ।।

तब महान् धैर्यशाली हनुमान्‌जीने आँखें कुछ खोलकर अपने मधुपिंगल नेत्रोंद्वारा अवहेलनापूर्वक उनकी ओर देखा और उन्हें निकट पाकर उनसे मुसकराते हुए इस प्रकार कहा ।। ८६ ।।

हनूमानुवाच

किमर्थं सरुजस्तेऽहं सुखसुप्तः प्रबोधितः ।

ननु नाम त्वया कार्या दया भूतेषु जानता ।। ८७ ।।

हनुमान्‌जी बोले—भाई! मैं तो रोगी हूँ और यहाँ सुखसे सो रहा था। तुमने क्यों मुझे जगा दिया? तुम समझदार हो। तुम्हें सब प्राणियोंपर दया करनी चाहिये ।। ८७ ।।

वयं धर्मं न जानीमस्तिर्यग्योनिमुपाश्रिताः ।

नरास्तु बुद्धिसम्पन्ना दयां कुर्वन्ति जन्तुषु ।। ८८ ।।

हमलोग तो पशुयोनिके प्राणी हैं, अतः धर्मकी बात नहीं जानते; परंतु मनुष्य बुद्धिमान् होते हैं, अतः वे सब जीवोंपर दया करते हैं ।। ८८ ।।

क्रूरेषु कर्मसु कथं देहवाक्चित्तदूषिषु ।

धर्मघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ।। ८९ ।।

किंतु पता नहीं, तुम्हारे-जैसे बुद्धिमान्‌लोग धर्मका नाश करनेवाले तथा मन, वाणी और शरीरको भी दूषित कर देनेवाले क्रूर कर्मोंमें कैसे प्रवृत्त होते हैं? ।। ८९ ।।

न त्वं धर्मं विजानासि बुधा नोपासितास्त्वया ।

अल्पबुद्धितया बाल्यादुत्सादयसि यन्मृगान् ।। ९० ।।

तुम्हें धर्मका बिलकुल ज्ञान नहीं है। मालूम होता है, तुमने विद्वानोंकी सेवा नहीं की है। मन्दबुद्धि होनेके कारण अज्ञानवश तुम यहाँके मृगोंको कष्ट पहुँचाते हो ।। ९० ।।

ब्रूहि कस्त्वं किमर्थं वा किमिदं वनमागतः ।

वर्जितं मानुषैर्भावैस्तथैव पुरुषैरपि ।। ९१ ।।

बोलो तो, तुम कौन हो? इस वनमें तुम क्यों और किसलिये आये हो? यहाँ तो न कोई मानवीय भाव हैं और न मनुष्योंका ही प्रवेश है ।। ९१ ।।

क्व च त्वयाद्य गन्तव्यं प्रब्रूहि पुरुषर्षभ ।

अतः परमगम्योऽयं पर्वतः सुदुरारुहः ।। ९२ ।।

पुरुषश्रेष्ठ! ठीक-ठीक बतलाओ, तुम्हें आज इधर कहाँतक जाना है? यहाँसे आगे तो यह पर्वत अगम्य है। इसपर चढ़ना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है ।। ९२ ।।

विना सिद्धगतिं वीर गतिरत्र न विद्यते ।

देवलोकस्य मार्गोऽयमगम्यो मानुषैः सदा ।। ९३ ।।

वीर! सिद्ध पुरुषोंके सिवा और किसीकी यहाँ गति नहीं है। यह देवलोकका मार्ग है, जो मनुष्योंके लिये सदा अगम्य है ।। ९३ ।।

कारुण्यात् त्वामहं वीर वारयामि निबोध मे ।

नातः परं त्वया शक्यं गन्तुमाश्वसिहि प्रभो ।। ९४ ।।

वीरवर! मैं दयावश ही तुम्हें आगे जानेसे रोकता हूँ। मेरी बात सुनो। प्रभो! यहाँसे आगे तुम किसी प्रकार जा नहीं सकते। इसपर विश्वास करो ।। ९४ ।।

स्वागतं सर्वथैवेह तवाद्य मनुजर्षभ ।
इमान्यमृतकल्पानि मूलानि च फलानि च ।। ९५ ।।
भक्षयित्वा निवर्तस्व मा वृथा प्राप्स्यसे वधम् ।
ग्राह्यं यदि वचो मह्यं हितं मनुजपुङ्गव ।। ९६ ।।

मानवशिरोमणे! आज यहाँ सब प्रकारसे तुम्हारा स्वागत है। ये अमृतके समान मीठे फल-मूल खाकर यहींसे लौट जाओ, अन्यथा व्यर्थ ही तुम्हारे प्राण संकटमें पड़ जायँगे। नरपुंगव! यदि मेरा कथन हितकर जान पड़े तो इसे अवश्य मानो ।। ९५-९६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां भीमकदलीषण्डप्रवेशे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें भीमसेनका कदलीवनमें प्रवेशविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४६ ।।

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीहनुमान् और भीमसेनका संवाद

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य वानरेन्द्रस्य धीमतः ।
भीमसेनस्तदा वीरः प्रोवाचामित्रकर्षणः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय परम बुद्धिमान् वानरराज हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर शत्रुसूदन वीरवर भीमसेनने इस प्रकार कहा ।। १ ।।

भीम उवाच

को भवान् किं निमित्तं वा वानरं वपुरास्थितः ।
ब्राह्मणानन्तरो वर्णः क्षत्रियस्त्वां तु पृच्छति ।। २ ।।

भीमसेनने पूछा—आप कौन हैं? और किसलिये वानरका रूप धारण कर रखा है? मैं ब्राह्मणके बादका वर्ण—क्षत्रिय हूँ, और मैं आपसे आपका परिचय पूछता हूँ ।। २ ।।

कौरवः सोमवंशीयः कुन्त्या गर्भेण धारितः ।
पाण्डवो वायुतनयो भीमसेन इति श्रुतः ।। ३ ।।

मेरा परिचय इस प्रकार है—मैं चन्द्रवंशी क्षत्रिय हूँ। मेरा जन्म कुरुकुलमें हुआ है। माता कुन्तीने मुझे गर्भमें धारण किया था। मैं वायुपुत्र पाण्डव हूँ। मेरा नाम भीमसेन है ।। ३ ।।

स वाक्यं कुरुवीरस्य स्मितेन प्रतिगृह्य तत् ।
हनूमान् वायुतनयो वायुपुत्रमभाषत ।। ४ ।।

कुरुवीर भीमसेनका वह वचन मन्द मुसकानके साथ सुनकर वायुपुत्र हनुमान्‌जीने वायुके ही पुत्र भीमसेनसे इस प्रकार कहा ।। ४ ।।

हनूमानुवाच

वानरोऽहं न ते मार्गं प्रदास्यामि यथेप्सितम् ।
साधु गच्छ निवर्तस्व मा त्वं प्राप्स्यसि वैशसम् ।। ५ ।।

हनुमान्‌जी बोले—भैया! मैं वानर हूँ। तुम्हें तुम्हारी इच्छाके अनुसार मार्ग नहीं दूँगा। अच्छा तो यह होगा कि तुम यहींसे लौट जाओ, नहीं तो तुम्हारे प्राण संकटमें पड़ जायँगे ।। ५ ।।

भीमसेन उवाच

वैशसं वास्तु यद्वान्यन्न त्वां पृच्छामि वानर ।
प्रयच्छ मार्गमुत्तिष्ठ मा मत्तः प्राप्स्यसे व्यथाम् ।। ६ ।।

भीमसेनने कहा—वानर! मेरे प्राण संकटमें पड़े या और कोई दुष्परिणाम भोगना पड़े, इसके विषयमें तुमसे कुछ नहीं पूछता हूँ। उठो और मुझे आगे जानेके लिये रास्ता दो। ऐसा होनेपर तुमको मेरे हाथोंसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा ।। ६ ।।

हनूमानुवाच

नास्ति शक्तिर्ममोत्थातुं व्याधिना क्लेशितो ह्यहम् ।
यद्यवश्यं प्रयातव्यं लङ्घयित्वा प्रयाहि माम् ।। ७ ।।

हनुमान्‌जी बोले—भाई! मैं रोगसे कष्ट पा रहा हूँ। मुझमें उठनेकी शक्ति नहीं है। यदि तुम्हें जाना अवश्य है तो मुझे लाँघकर चले जाओ ।। ७ ।।

भीम उवाच

निर्गुणः परमात्मा तु देहं व्याप्यावतिष्ठते ।
तमहं ज्ञानविज्ञेयं नावमन्ये न लङ्घये ।। ८ ।।

भीमसेनने कहा—निर्गुण परमात्मा समस्त प्राणियोंके शरीरमें व्याप्त होकर स्थित हैं। वे ज्ञानसे ही जाननेमें आते हैं। मैं उनका अपमान या उल्लंघन नहीं करूँगा ।। ८ ।।

यद्यागमैर्न विद्यां च तमहं भूतभावनम् ।
क्रमेयं त्वां गिरिं चैव हनूमानिव सागरम् ।। ९ ।।

यदि शास्त्रोंके द्वारा मुझे उन भूतभावन भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान न होता तो मैं तुम्हींको क्या इस पर्वतको भी उसी प्रकार लाँघ जाता, जैसे हनुमान्‌जी समुद्रको लाँघ गये थे ।। ९ ।।

हनूमानुवाच

क एष हनुमान् नाम सागरो येन लङ्घितः ।
पृच्छामि त्वां नरश्रेष्ठ कथ्यतां यदि शक्यते ।। १० ।।

हनुमान्‌जी बोले—नरश्रेष्ठ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ, वह हनुमान् कौन था जो समुद्रको लाँघ गया था? उसके विषयमें यदि तुम कुछ कह सको तो कहो ।। १० ।।

भीम उवाच

भ्राता मम गुणश्लाघ्यो बुद्धिसत्त्वबलान्वितः ।
रामायणेऽतिविख्यातः श्रीमान् वानरपुङ्गवः ।। ११ ।।

भीमसेनने कहा—वानरप्रवर श्रीहनुमान्‌जी मेरे बड़े भाई हैं। वे अपने सद्‌गुणोंके कारण सबके लिये प्रशंसनीय हैं। वे बुद्धि, बल, धैर्य एवं उत्साहसे युक्त हैं। रामायणमें उनकी बड़ी ख्याति है ।। ११ ।।

रामपत्नीकृते येन शतयोजनविस्तृतः ।
सागरः प्लवगेन्द्रेण क्रमेणैकेन लङ्घितः ।। १२ ।।

वे वानरश्रेष्ठ हनुमान् श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नी सीताजीकी खोज करनेके लिये सौ योजन विस्तृत समुद्रको एक ही छलाँगमें लाँघ गये थे ।। १२ ।।

स मे भ्राता महावीर्यस्तुल्योऽहं तस्य तेजसा ।
बले पराक्रमे युद्धे शक्तोऽहं तव निग्रहे ।। १३ ।।

वे महापराक्रमी वानरवीर मेरे भाई लगते हैं। मैं भी उन्हींके समान तेजस्वी, बलवान् और पराक्रमी हूँ तथा युद्धमें तुम्हें परास्त कर सकता हूँ ।। १३ ।।

उत्तिष्ठ देहि मे मार्गं पश्य मे चाद्य पौरुषम् ।
मच्छासनमकुर्वाणं त्वां वा नेष्ये यमक्षयम् ।। १४ ।।

उठो और मुझे रास्ता दो तथा आज मेरा पराक्रम अपनी आँखों देख लो। यदि मेरी आज्ञा नहीं मानोगे तो तुम्हें यमलोक भेज दूँगा ।। १४ ।।

वैशम्पायन उवाच

विज्ञाय तं बलोन्मत्तं बाहुवीर्येण दर्पितम् ।
हृदयेनावहस्यैनं हनूमान् वाक्यमब्रवीत् ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमसेनको बलके अभिमानसे उन्मत्त तथा अपनी भुजाओंके पराक्रमसे घमंडमें भरा हुआ जान हनुमान्‌जीने मन-ही-मन उनका उपहास करते हुए उनसे इस प्रकार कहा ।। १५ ।।

हनूमानुवाच

प्रसीद नास्ति मे शक्तिरुत्थातुं जरयानघ ।
ममानुकम्पया त्वेतत् पुच्छमुत्सार्य गम्यताम् ।। १६ ।।

हनुमान्‌जी बोले—अनघ! मुझपर कृपा करो। बुढ़ापेके कारण मुझमें उठनेकी शक्ति नहीं रह गयी है। इसलिये मेरे ऊपर दया करके इस पूँछको हटा दो और निकल जाओ ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते हनुमता हीनवीर्यपराक्रमम् ।
मनसाचिन्तयद् भीमः स्वबाहुबलदर्पितः ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर अपने बाहुबलका घमंड रखनेवाले भीमने मन-ही-मन उन्हें बल और पराक्रमसे हीन समझा ।। १७ ।।

पुच्छे प्रगृह्य तरसा हीनवीर्यपराक्रमम् ।
सालोक्यमन्तकस्यैनं नयाम्यद्येह वानरम् ।। १८ ।।

और भीतर-ही-भीतर यह संकल्प किया कि 'आज मैं इस बल और पराक्रमसे शून्य वानरको वेगपूर्वक इसकी पूँछ पकड़कर यमराजके लोकमें भेज देता हूँ' ।। १८ ।।

सावज्ञमथ वामेन स्मयञ्जग्राह पाणिना ।
न चाशकच्चालयितुं भीमः पुच्छं महाकपेः ।। १९ ।।

ऐसा सोचकर उन्होंने बड़ी लापरवाही दिखाते और मुसकराते हुए अपने बायें हाथसे उस महाकपिकी पूँछ पकड़ी, किंतु वे उसे हिला-डुला भी न सके ।। १९ ।।

उच्चिक्षेप पुनर्दोर्भ्यामिन्द्रायुधमिवोच्छ्रितम् ।
नोद्धर्तुमशकद् भीमो दोर्भ्यामपि महाबलः ।। २० ।।

तब महाबली भीमसेनने उनकी इन्द्रधनुषके समान ऊँची पूँछको दोनों हाथोंसे उठानेका पुनः प्रयत्न किया, परंतु दोनों हाथ लगा देनेपर भी वे उसे उठा न सके ।।

उत्क्षिप्तभ्रूर्विवृत्ताक्षः संहतभ्रुकुटीमुखः ।
स्विन्नगात्रोऽभवद् भीमो न चोद्धर्तुं शशाक तम् ।। २१ ।।

फिर तो उनकी भौंहें तन गयीं, आँखें फटी-सी रह गयीं, मुखमण्डलमें भ्रुकुटी स्पष्ट दिखायी देने लगी और उनके सारे अंग पसीनेसे तर हो गये। फिर भी भीमसेन हनुमान्‌जीकी पूँछको किंचित् भी हिला न सके ।। २१ ।।

यत्नवानपि तु श्रीमाँल्लाङ्गूलोद्धरणोद्धुरः ।
कपेः पार्श्वगतो भीमस्तस्थौ व्रीडानताननः ।। २२ ।।
प्रणिपत्य च कौन्तेयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
प्रसीद कपिशार्दूल दुरुक्तं क्षम्यतां मम ।। २३ ।।

यद्यपि श्रीमान् भीमसेन उस पूँछको उठानेमें सर्वथा समर्थ थे और उसके लिये उन्होंने बहुत प्रयत्न भी किया, तथापि सफल न हो सके। इससे उनका मुँह लज्जासे झुक गया और वे कुन्तीकुमार भीम हनुमान्‌जीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए खड़े होकर बोले—‘कपिप्रवर! मैंने जो कठोर बातें कही हों, उन्हें क्षमा कीजिये और मुझपर प्रसन्न होइये ।।

सिद्धो वा यदि वा देवो गन्धर्वो वाथ गुह्यकः ।
पृष्टः सन् काम्यया ब्रूहि कस्त्वं वानररूपधृक् ।। २४ ।।

‘आप कोई सिद्ध हैं या देवता? गन्धर्व हैं या गुह्यक? मैं परिचय जाननेकी इच्छासे पूछ रहा हूँ। बतलाइये, इस प्रकार वानरका रूप धारण करनेवाले आप कौन हैं? ।। २४ ।।

न चेद् गुह्यं महाबाहो श्रोतव्यं चेद् भवेन्मम ।
शिष्यवत् त्वां तु पृच्छामि उपपन्नोऽस्मि तेऽनघ ।। २५ ।।

‘महाबाहो! यदि कोई गुप्त बात न हो और वह मेरे सुननेयोग्य हो, तो बताइये। अनघ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ और शिष्यभावसे पूछता हूँ। अतः अवश्य बतानेकी कृपा करें’ ।। २५ ।।

हनूमानुवाच

यत् ते मम परिज्ञाने कौतूहलमरिंदम ।
तत् सर्वमखिलेन त्वं शृणु पाण्डवनन्दन ।। २६ ।।

हनुमान्‌जी बोले—शत्रुदमन पाण्डुनन्दन! तुम्हारे मनमें मेरा परिचय प्राप्त करनेके लिये जो कौतूहल हो रहा है उसकी शान्तिके लिये सब बातें विस्तारपूर्वक सुनो ।।

अहं केसरिणः क्षेत्रे वायुना जगदायुषा ।
जातः कमलपत्राक्ष हनूमान् नाम वानरः ।। २७ ।।

कमलनयन भीम! मैं वानरश्रेष्ठ केसरीके क्षेत्रमें जगत्‌के प्राणस्वरूप वायुदेवसे उत्पन्न हुआ हूँ। मेरा नाम हनुमान् वानर है ।। २७ ।।

सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम् ।
सर्वे वानरराजानस्तथा वानरयूथपाः ।। २८ ।।
उपतस्थुर्महावीर्या मम चामित्रकर्षण ।
सुग्रीवेणाभवत् प्रीतिरनिलस्याग्निना यथा ।। २९ ।।

पूर्वकालमें सभी वानरराज और वानरयूथपति, जो महान् पराक्रमी थे, सूर्यनन्दन सुग्रीव तथा इन्द्रकुमार वालीकी सेवामें उपस्थित रहते थे। शत्रुसूदन भीम! उन दिनों सुग्रीवके साथ मेरी वैसी ही प्रेमपूर्ण मित्रता थी, जैसी वायुकी अग्निके साथ मानी गयी है ।। २८-२९ ।।

निकृतः स ततो भ्रात्रा कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ।
ऋष्यमूके मया सार्धं सुग्रीवो न्यवसच्चिरम् ।। ३० ।।

किसी कारणान्तरसे वालीने अपने भाई सुग्रीवको घरसे निकाल दिया, तब बहुत दिनोंतक वे मेरे साथ ऋष्यमूक पर्वतपर रहे ।। ३० ।।

अथ दाशरथिर्वीरो रामो नाम महाबलः ।
विष्णुर्मानुषरूपेण चचार वसुधातलम् ।। ३१ ।।

उस समय महाबली वीर दशरथनन्दन श्रीराम, जो साक्षात् भगवान् विष्णु ही थे, मनुष्यरूप धारण करके इस भूतलपर विचर रहे थे ।। ३१ ।।

स पितुः प्रियमन्विच्छन् सहभार्यः सहानुजः ।
सधनुर्धन्विनां श्रेष्ठो दण्डकारण्यमाश्रितः ।। ३२ ।।

वे अपने पिताकी आज्ञा पालन करनेके लिये पत्नी सीता और छोटे भाई लक्ष्मणके साथ दण्डकारण्यमें चले आये। धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ रघुनाथजी सदा धनुष-बाण लिये रहते थे ।। ३२ ।।

तस्य भार्या जनस्थानाच्छलेनापहृता बलात् ।
राक्षसेन्द्रेण बलिना रावणेन दुरात्मना ।। ३३ ।।
सुवर्णरत्नचित्रेण मृगरूपेण रक्षसा ।
वञ्चयित्वा नरव्याघ्रं मारीचेन तदानघ ।। ३४ ।।

अनघ! दण्डकारण्यमें आकर वे जनस्थानमें रहा करते थे। एक दिन अत्यन्त बलवान् दुरात्मा राक्षसराज रावण मायासे सुवर्ण-रत्नमय विचित्र मृगका रूप धारण करनेवाले मारीच नामक राक्षसके द्वारा नरश्रेष्ठ श्रीरामको धोखेमें डालकर उनकी पत्नी सीताको छल-बलपूर्वक हर ले गया ।। ३३-३४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसंवादे सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें हनुमान्‌जी और भीमसेनका संवादविषयक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४७ ।।

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

हनुमान्‌जीका भीमसेनको संक्षेपसे श्रीरामका चरित्र सुनाना

हनूमानुवाच

हृतदारः सह भ्रात्रा पत्नीं मार्गन् स राघवः ।
दृष्टवान् शैलशिखरे सुग्रीवं वानरर्षभम् ।। १ ।।

हनुमान्‌जी कहते हैं—भीमसेन! इस प्रकार स्त्रीका अपहरण हो जानेपर अपने भाईके साथ उसकी खोज करते हुए श्रीरघुनाथजी जनस्थानसे आगे बढ़े। उन्होंने ऋष्यमूकपर्वतके शिखरपर रहनेवाले वानरराज सुग्रीवसे भेंट की ।। १ ।।

तेन तस्याभवत् सख्यं राघवस्य महात्मनः ।
स हत्वा वालिनं राज्ये सुग्रीवमभिषिक्तवान् ।। २ ।।

वहाँ सुग्रीवके साथ महात्मा श्रीरघुनाथजीकी मित्रता हो गयी। तब उन्होंने वालीको मारकर किष्किन्धाके राज्यपर सुग्रीवका अभिषेक कर दिया ।। २ ।।

स राज्यं प्राप्य सुग्रीवः सीतायाः परिमार्गणे ।
वानरान् प्रेषयामास शतशोऽथ सहस्रशः ।। ३ ।।

राज्य पाकर सुग्रीवने सीताजीकी खोजके लिये सौ-सौ तथा हजार-हजार वानरोंकी टोली इधर-उधर भेजी ।। ३ ।।

ततो वानरकोटीभिः सहितोऽहं नरर्षभ ।
सीतां मार्गन् महाबाहो प्रयातो दक्षिणां दिशम् ।। ४ ।।

नरश्रेष्ठ! महाबाहो! उस समय करोड़ों वानरोंके साथ मैं भी सीताजीका पता लगाता हुआ दक्षिण दिशाकी ओर गया ।। ४ ।।

ततः प्रवृत्तिः सीताया गृध्रेण सुमहात्मना ।
सम्पातिना समाख्याता रावणस्य निवेशने ।। ५ ।।

तदनन्तर गृध्रजातीय महाबुद्धिमान् सम्पातिने सीताजीके सम्बन्धमें यह समाचार दिया कि वे रावणके नगरमें विद्यमान हैं ।। ५ ।।

ततोऽहं कार्यसिद्ध्यर्थं रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
शतयोजनविस्तीर्णमर्णवं सहसाऽऽप्लुतः ।। ६ ।।

तब मैं अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरघुनाथजीकी कार्यसिद्धिके लिये सहसा सौ योजन विस्तृत समुद्रको लाँघ गया ।। ६ ।।

अहं स्ववीर्यादुत्तीर्य सागरं मकरालयम् ।
सुतां जनकराजस्य सीतां सुरसुतोपमाम् ।। ७ ।।
दृष्टवान् भरतश्रेष्ठ रावणस्य निवेशने ।

समेत्य तामहं देवीं वैदेहीं राघवप्रियाम् ।। ८ ।।
दग्ध्वा लङ्कामशेषेण साट्टप्राकारतोरणाम् ।
प्रत्यागतश्चास्य पुनर्नाम तत्र प्रकाश्य वै ।। ९ ।।

भरतश्रेष्ठ! मगर और ग्राह आदिसे भरे हुए उस समुद्रको अपने पराक्रमसे पार करके मैं रावणके नगरमें देवकन्याके समान तेजस्विनी जनकराजनन्दिनी सीतासे मिला। रघुनाथजीकी प्रियतमा विदेहराजकुमारी सीता-देवीसे भेंट करके अट्टालिका, चहारदिवारी और नगर-द्वारसहित समूची लंकापुरीको जलाकर वहाँ श्रीराम-नामकी घोषणा करके मैं पुनः लौट आया ।। ७—९ ।।

मद्वाक्यं चावधार्याशु रामो राजीवलोचनः ।
स बुद्धिपूर्वं सैन्यस्य बद्ध्वा सेतुं महोदधौ ।। १० ।।
वृतो वानरकोटीभिः समुत्तीर्णो महार्णवम् ।
ततो रामेण वीरेण हत्वा तान् सर्वराक्षसान् ।। ११ ।।
रणे तु राक्षसगणं रावणं लोकरावणम् ।
निशाचरेन्द्रं हत्वा तु सभ्रातृसुतबान्धवम् ।। १२ ।।

मेरी बात मानकर कमलनयन भगवान् श्रीरामने बुद्धिपूर्वक विचार करके सैनिकोंकी सलाहसे महासागर-पर पुल बँधवाया और करोड़ों वानरोंसे घिरे हुए वे महासमुद्रको पार करके लंकापर जा चढ़े। तदनन्तर वीरवर श्रीरामने उन समस्त राक्षसोंको मारकर युद्धमें समस्त लोकोंको रुलानेवाले राक्षसराज रावणको भी भाई, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित मार डाला ।। १०—१२ ।।

राज्येऽभिषिच्य लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ।
धार्मिकं भक्तिमन्तं च भक्तानुगतवत्सलम् ।। १३ ।।
ततः प्रत्याहृता भार्या नष्टा वेदश्रुतिर्यथा ।
तयैव सहितः साध्व्या पत्न्या रामो महायशाः ।। १४ ।।
गत्वा ततोऽतित्वरितः स्वां पुरीं रघुनन्दनः ।
अध्यावसत् ततोऽयोध्यामयोध्यां द्विषतां प्रभुः ।। १५ ।।
ततः प्रतिष्ठितो राज्ये रामो नृपतिसत्तमः ।
वरं मया याचितोऽसौ रामो राजीवलोचनः ।। १६ ।।
यावद् राम कथेयं ते भवेल्लोकेषु शत्रुहन् ।
तावज्जीवेयमित्येवं तथास्त्विति च सोऽब्रवीत् ।। १७ ।।

तत्पश्चात् धर्मात्मा, भक्तिमान् तथा भक्तों और सेवकोंपर स्नेह रखनेवाले राक्षसराज विभीषणको लंकाके राज्यपर अभिषिक्त किया और खोयी हुई वैदिकी श्रुतिकी भाँति अपनी पत्नीका वहाँसे उद्धार करके महायशस्वी रघुनन्दन श्रीराम अपनी उस साध्वी पत्नीके साथ ही बड़ी उतावलीके साथ अपनी अयोध्यापुरीमें लौट आये। इसके बाद

शत्रुओंको भी वशमें करनेवाले नृपश्रेष्ठ भगवान् श्रीराम अवधके राज्यसिंहासनपर आसीन हो उस अजेय अयोध्यापुरीमें रहने लगे। उस समय मैंने कमलनयन श्रीरामसे यह वर माँगा कि ‘शत्रुसूदन! जबतक आपकी यह कथा संसारमें प्रचलित रहे तबतक मैं अवश्य जीवित रहूँ’। भगवान्‌ने ‘तथास्तु’ कहकर मेरी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली ।। १३—१७ ।।

सीताप्रसादाच्च सदा मामिहस्थमरिंदम ।
उपतिष्ठन्ति दिव्या हि भोगा भीम यथेप्सिताः ।। १८ ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले भीमसेन! श्रीसीताजीकी कृपासे यहाँ रहते हुए ही मुझे इच्छानुसार सदा दिव्य भोग प्राप्त हो जाते हैं ।। १८ ।।

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
राज्यं कारितवान् रामस्ततः स्वभवनं गतः ।। १९ ।।

श्रीरामजीने ग्यारह हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीपर राज्य किया, फिर वे अपने परमधामको चले गये ।। १९ ।।

तदिहाप्सरसस्तात गन्धर्वाश्च सदानघ ।
तस्य वीरस्य चरितं गायन्तो रमयन्ति माम् ।। २० ।।

निष्पाप भीम! इस स्थानपर गन्धर्व और अप्सराएँ वीरवर रघुनाथजीके चरित्रोंको गाकर मुझे आनन्दित करते रहते हैं ।। २० ।।

अयं च मार्गो मर्त्यानामगम्यः कुरुनन्दन ।
ततोऽहं रुद्धवान् मार्गं तवेमं देवसेवितम् ।। २१ ।।
धर्षयेद् वा शपेद् वापि मा कश्चिदिति भारत ।
दिव्यो देवपथो ह्येष नात्र गच्छन्ति मानुषाः ।
यदर्थमागतश्चासि अत एव सरश्च तत् ।। २२ ।।

कुरुनन्दन! यह मार्ग मनुष्योंके लिये अगम्य है। अतः इस देवसेवित पथको मैंने इसीलिये तुम्हारे लिये रोक दिया था कि इस मार्गसे जानेपर कोई तुम्हारा तिरस्कार न कर दे या शाप न दे दे; क्योंकि यह दिव्य देवमार्ग है। इसपर मनुष्य नहीं जाते हैं। भारत! तुम जहाँ जानेके लिये आये हो वह सरोवर तो यहीं है ।। २१-२२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसंवादे अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें हनुमान्‌जी और भीमसेनका संवाद नामक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४८ ।।

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हनुमान्‌जीके द्वारा चारों युगोंके धर्मोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो महाबाहुर्भीमसेनः प्रतापवान् ।
प्रणिपत्य ततः प्रीत्या भ्रातरं हृष्टमानसः ।। १ ।।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हनूमन्तं कपीश्वरम् ।
मया धन्यतरो नास्ति यदार्यं दृष्टवानहम् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हनुमान्‌जीके ऐसा कहनेपर प्रतापी वीर महाबाहु भीमसेनके मनमें बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने बड़े प्रेमसे अपने भाई वानरराज हनुमान्‌को प्रणाम करके मधुर वाणीमें कहा—‘अहा! आज मेरे समान बड़भागी दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि आज मुझे अपने ज्येष्ठ भ्राताका दर्शन हुआ है ।। १-२ ।।

अनुग्रहो मे सुमहांस्तृप्तिश्च तव दर्शनात् ।
एकं तु कृतमिच्छामि त्वयाद्य प्रियमात्मनः ।। ३ ।।

‘आर्य! आपने मुझपर बड़ी कृपा की है। आपके दर्शनसे मुझे बड़ा सुख मिला है। अब मैं पुनः आपके द्वारा अपना एक और प्रिय कार्य पूर्ण करना चाहता हूँ ।।

यत् ते तदाऽऽसीत् प्लवतः सागरं मकरालयम् ।
रूपमप्रतिमं वीर तदिच्छामि निरीक्षितुम् ।। ४ ।।
एवं तुष्टो भविष्यामि श्रद्धास्यामि च ते वचः ।
एवमुक्तः स तेजस्वी प्रहस्य हरिरब्रवीत् ।। ५ ।।

‘वीरवर! मकरालय समुद्रको लाँघते समय आपने जो अनुपम रूप धारण किया था, उसका दर्शन करनेकी मुझे बड़ी इच्छा हो रही है। उसे देखनेसे मुझे संतोष तो होगा ही, आपकी बातपर श्रद्धा भी हो जायगी।’ भीमसेनके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी हनुमान्‌जीने हँसकर कहा— ।। ४-५ ।।

न तच्छक्यं त्वया द्रष्टुं रूपं नान्येन केनचित् ।
कालावस्था तदा ह्यन्या वर्तते सा न साम्प्रतम् ।। ६ ।।

‘भैया! तुम उस स्वरूपको नहीं देख सकते, कोई दूसरा मनुष्य भी उसे नहीं देख सकता। उस समयकी अवस्था कुछ और ही थी, अब वह नहीं है ।। ६ ।।

अन्यः कृतयुगे कालस्त्रेतायां द्वापरे परः ।
अयं प्रध्वंसनः कालो नाद्य तद् रूपमस्ति मे ।। ७ ।।
भूमिर्नद्यो नगाः शैलाः सिद्धा देवा महर्षयः ।
कालं समनुवर्तन्ते यथा भावा युगे युगे ।। ८ ।।

बलवर्ष्मप्रभावा हि प्रहीयन्त्युद्भवन्ति च ।
तदलं बत तद् रूपं द्रष्टुं कुरुकुलोद्वह ।
युगं समनुवर्तामि कालो हि दुरतिक्रमः ।। ९ ।।

'सत्ययुगका समय दूसरा था तथा त्रेता और द्वापरका दूसरा ही है। यह काल सभी वस्तुओंको नष्ट करनेवाला है। अब मेरा वह रूप है ही नहीं। पृथ्वी, नदी, वृक्ष, पर्वत, सिद्ध, देवता और महर्षि—ये सभी कालका अनुसरण करते हैं। प्रत्येक युगके अनुसार सभी वस्तुओंके शरीर, बल और प्रभावमें न्यूनाधिकता होती रहती है। अतः कुरुश्रेष्ठ! तुम उस स्वरूपको देखनेका आग्रह न करो। मैं भी युगका अनुसरण करता हूँ; क्योंकि कालका उल्लंघन करना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है' ।। ७—९ ।।

भीम उवाच

युगसंख्यां समाचक्ष्व आचारं च युगे युगे ।
धर्मकामार्थभावांश्च कर्मवीर्ये भवाभवौ ।। १० ।।

भीमसेनने कहा—कपिप्रवर! आप मुझे युगोंकी संख्या बताइये और प्रत्येक युगमें जो आचार, धर्म, अर्थ एवं कामके तत्त्व, शुभाशुभ कर्म, उन कर्मोंकी शक्ति तथा उत्पत्ति और विनाशादि भाव होते हैं, उनका भी वर्णन कीजिये ।। १० ।।

हनूमानुवाच

कृतं नाम युगं तात यत्र धर्मः सनातनः ।
कृतमेव न कर्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे ।। ११ ।।

हनुमान्‌जी बोले—तात! सबसे पहला कृतयुग है। उसमें सनातनधर्मकी पूर्ण स्थिति रहती है। उसका कृतयुग नाम इसलिये पड़ा है कि उस उत्तम युगके लोग अपना सब कर्तव्यकर्म सम्पन्न ही कर लेते थे। उनके लिये कुछ करना शेष नहीं रहता था (अतः **'कृतम् एव सर्वं शुभं यस्मिन् युगे'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह 'कृतयुग' कहलाया) ।। ११ ।।

न तत्र धर्माः सीदन्ति क्षीयन्ते न च वै प्रजाः ।
ततः कृतयुगं नाम कालेन गुणतां गतम् ।। १२ ।।

उस समय धर्मका ह्रास नहीं होता था। प्रजाका अर्थात् (माता-पिताके रहते हुए) संतानका नाश नहीं होता था। तदनन्तर कालक्रमसे उसमें गौणता आ गयी ।। १२ ।।

देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः ।
नासन् कृतयुगे तात तदा न क्रयविक्रयः ।। १३ ।।

तात! कृतयुगमें देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग नहीं थे, अर्थात् ये परस्पर भेद-भाव नहीं रखते थे। उस समय क्रय-विक्रयका व्यवहार भी नहीं था ।। १३ ।।

न सामऋग्यजुर्वर्णाः क्रिया नासीच्च मानवी ।
अभिध्याय फलं तत्र धर्मः संन्यास एव च ।। १४ ।।

ऋक्, साम और यजुर्वेदके मन्त्रवर्णोंका पृथक्-पृथक् विभाग नहीं था। कोई मानवी क्रिया (कृषि आदि) भी नहीं होती थी। उस समय चिन्तन करनेमात्रसे सबको अभीष्ट फलकी प्राप्ति हो जाती थी। सत्ययुगमें एक ही धर्म था, स्वार्थका त्याग ।। १४ ।।

न तस्मिन् युगसंसर्गे व्याधयो नेन्द्रियक्षयः ।
नासूया नापि रुदितं न दर्पो नापि वैकृतम् ।। १५ ।।

उस युगमें बीमारी नहीं होती थी। इन्द्रियोंमें भी क्षीणता नहीं आने पाती थी। कोई किसीके गुणोंमें दोष-दर्शन नहीं करता था। किसीको दुःखसे रोना नहीं पड़ता था और न किसीमें घमंड था; तथा न कोई अन्य विकार ही होता था ।। १५ ।।

न विग्रहः कुतस्तन्द्री न द्वेषो न च पैशुनम् ।
न भयं नापि संतापो न चेर्ष्या न च मत्सरः ।। १६ ।।

कहीं लड़ाई-झगड़ा नहीं था, आलसी भी नहीं थे। द्वेष, चुगली, भय, संताप, ईर्ष्या और मात्सर्य भी नहीं था* ।। १६ ।।

ततः परमकं ब्रह्म सा गतिर्योगिनां परा ।
आत्मा च सर्वभूतानां शुक्लो नारायणस्तदा ।। १७ ।।

उस समय योगियोंके परम आश्रय और सम्पूर्ण भूतोंकी अन्तरात्मा परब्रह्मस्वरूप भगवान् नारायणका वर्ण शुक्ल था ।। १७ ।।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च कृतलक्षणाः ।
कृते युगे समभवन् स्वकर्मनिरताः प्रजाः ।। १८ ।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी शम-दम आदि स्वभावसिद्ध शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न थे। सत्ययुगमें समस्त प्रजा अपने-अपने कर्तव्यकर्मोंमें तत्पर रहती थी ।। १८ ।।

समाश्रयं समाचारं समज्ञानं च केवलम् ।
तदा हि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप्नुवन् ।। १९ ।।

उस समय परब्रह्म परमात्मा ही सबके एकमात्र आश्रय थे। उन्हींकी प्राप्तिके लिये सदाचारका पालन किया जाता था। सब लोग एक परमात्माका ही ज्ञान प्राप्त करते थे। सभी वर्णोंके मनुष्य परब्रह्म परमात्माके उद्देश्यसे ही समस्त सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते थे और इस प्रकार उन्हें उत्तम धर्म-फलकी प्राप्ति होती थी ।। १९ ।।

एकदेवसदायुक्ता एकमन्त्रविधिक्रियाः ।
पृथग्धर्मास्त्वेकवेदा धर्ममेकमनुव्रताः ।। २० ।।

सब लोग सदा एक परमात्मदेवमें ही चित्त लगाये रहते थे। सब लोग एक परमात्माके ही नामका जप और उन्हींकी सेवा-पूजा किया करते थे। सबके वर्णाश्रमानुसार पृथक्-पृथक् धर्म होनेपर भी वे एकमात्र वेदको ही माननेवाले थे और एक ही सनातनधर्मके अनुयायी थे ।।

चातुराश्रम्ययुक्तेन कर्मणा कालयोगिना ।

अकामफलसंयोगात् प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ।। २१ ।।

सत्ययुगके लोग समय-समयपर किये जानेवाले चार आश्रमसम्बन्धी सत्कर्मोंका अनुष्ठान करके कर्म-फलकी कामना और आसक्ति न होनेके कारण परम गति प्राप्त कर लेते थे ।। २१ ।।

आत्मयोगसमायुक्तो धर्मोऽयं कृतलक्षणः ।
कृते युगे चतुष्पादश्चातुर्वर्ण्यस्य शाश्वतः ।। २२ ।।

चित्तवृत्तियोंको परमात्मामें स्थापित करके उनके साथ एकताकी प्राप्ति करानेवाला यह योग नामक धर्म सत्ययुगका सूचक है। सत्ययुगमें चारों वर्णोंका यह सनातन धर्म चारों चरणोंसे सम्पन्न—सम्पूर्ण रूपसे विद्यमान था ।। २२ ।।

एतत् कृतयुगं नाम त्रैगुण्यपरिवर्जितम्
त्रेतामपि निबोध त्वं यस्मिन् सत्रं प्रवर्तते ।। २३ ।।

यह तीनों गुणोंसे रहित सत्ययुगका वर्णन हुआ। अब त्रेताका वर्णन सुनो, जिसमें यज्ञ-कर्मका आरम्भ होता है ।।

पादेन ह्रसते धर्मो रक्ततां याति चाच्युतः ।
सत्यप्रवृत्ताश्च नराः क्रियाधर्मपरायणाः ।। २४ ।।

उस समय धर्मके एक चरणका ह्रास हो जाता है और भगवान् अच्युतका स्वरूप लाल वर्णका हो जाता है। लोग सत्यमें तत्पर रहते हैं। शास्त्रोक्त यज्ञक्रिया तथा धर्मके पालनमें परायण रहते हैं ।। २४ ।।

ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते धर्माश्च विविधाः क्रियाः ।
त्रेतायां भावसंकल्पाः क्रियादानफलोपगाः ।। २५ ।।

त्रेतायुगमें ही यज्ञ, धर्म तथा नाना प्रकारके सत्कर्म आरम्भ होते हैं। लोगोंको अपनी भावना तथा संकल्पके अनुसार वेदोक्त कर्म तथा दान आदिके द्वारा अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है ।। २५ ।।

प्रचलन्ति न वै धर्मात् तपोदानपरायणाः ।
स्वधर्मस्थाः क्रियावन्तो नरास्त्रेतायुगेऽभवन् ।। २६ ।।

त्रेतायुगके मनुष्य तप और दानमें तत्पर रहकर अपने धर्मसे कभी विचलित नहीं होते थे। सभी स्वधर्मपरायण तथा क्रियावान् थे ।। २६ ।।

द्वापरे च युगे धर्मो द्विभागोनः प्रवर्तते ।
विष्णुर्वै पीततां याति चतुर्धा वेद एव च ।। २७ ।।

द्वापरमें हमारे धर्मके दो ही चरण रह जाते हैं, उस समय भगवान् विष्णुका स्वरूप पीले वर्णका हो जाता है और वेद (ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन) चार भागोंमें बँट जाता है ।। २७ ।।

ततोऽन्ये च चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथापरे ।

द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्च तथापरे ।। २८ ।।

उस समय कुछ द्विज चार वेदोंके ज्ञाता, कुछ तीन वेदोंके विद्वान्, कुछ दो ही वेदोंके जानकार, कुछ एक ही वेदके पण्डित और कुछ वेदकी ऋचाओंके ज्ञानसे सर्वथा शून्य होते हैं ।। २८ ।।

एवं शास्त्रेषु भिन्नेषु बहुधा नीयते क्रिया ।
तपोदानप्रवृत्ता च राजसी भवति प्रजा ।। २९ ।।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रोंके होनेसे उनके बताये हुए कर्मोंमें भी अनेक भेद हो जाते हैं तथा प्रजा तप और दान—इन दो ही धर्मोंमें प्रवृत होकर राजसी हो जाती है ।। २९ ।।

एकवेदस्य चाज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः ।
सत्त्वस्य चेह विभ्रंशात् सत्ये कश्चिदवस्थितः ।। ३० ।।

द्वापरमें सम्पूर्ण एक वेदका भी ज्ञान न होनेसे वेदके बहुत-से विभाग कर लिये गये हैं। इस युगमें सात्त्विक बुद्धिका क्षय होनेसे कोई विरला ही सत्यमें स्थित होता है ।। ३० ।।

सत्यात् प्रच्यवमानानां व्याधयो बहवोऽभवन् ।
कामाश्चोपद्रवाश्चैव तदा वै दैवकारिताः ।। ३१ ।।

सत्यसे भ्रष्ट होनेके कारण द्वापरके लोगोंमें अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उनके मनमें अनेक प्रकारकी कामनाएँ पैदा होती हैं और वे बहुत-से दैवी उपद्रवोंसे भी पीड़ित हो जाते हैं ।। ३१ ।।

यैरर्द्यमानाः सुभृशं तपस्तप्यन्ति मानवाः ।
कामकामाः स्वर्गकामा यज्ञांस्तन्वन्ति चापरे ।। ३२ ।।

उन सबसे अत्यन्त पीड़ित होकर लोग तप करने लगते हैं। कुछ लोग भोग और स्वर्गकी कामनासे यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं ।। ३२ ।।

एवं द्वापरमासाद्य प्रजाः क्षीयन्त्यधर्मतः ।
पादेनैकेन कौन्तेय धर्मः कलियुगे स्थितः ।। ३३ ।।

इस प्रकार द्वापरयुगके आनेपर अधर्मके कारण प्रजा क्षीण होने लगती है। (तत्पश्चात् कलियुगका आगमन होता है।) कुन्तीनन्दन! कलियुगमें धर्म एक ही चरणसे स्थित होता है ।। ३३ ।।

तामसं युगमासाद्य कृष्णो भवति केशवः ।
वेदाचाराः प्रशाम्यन्ति धर्मयज्ञक्रियास्तथा ।। ३४ ।।

इस तमोगुणी युगको पाकर भगवान् विष्णुके श्रीविग्रहका रंग काला हो जाता है। वैदिक सदाचार, धर्म तथा यज्ञ-कर्म नष्ट हो जाते हैं ।। ३४ ।।

ईतयो व्याधयस्तन्द्री दोषाः क्रोधादयस्तथा ।
उपद्रवाः प्रवर्तन्ते आधयः क्षुद्भयं तथा ।। ३५ ।।

ईति, व्याधि, आलस्य, क्रोध आदि दोष, मानसिक रोग तथा भूख-प्यासका भय—ये सभी उपद्रव बढ़ जाते हैं ।। ३५ ।।

युगेष्वावर्तमानेषु धर्मो व्यावर्तते पुनः ।
धर्मे व्यावर्तमाने तु लोको व्यावर्तते पुनः ।। ३६ ।।

युगोंके परिवर्तन होनेपर आनेवाले युगोंके अनुसार धर्मका भी ह्रास होता जाता है। इस प्रकार धर्मके क्षीण होनेसे लोक (की सुख-सुविधा)-का भी क्षय होने लगता है ।। ३६ ।।

लोके क्षीणे क्षयं यान्ति भावा लोकप्रवर्तकाः ।
युगक्षयकृता धर्माः प्रार्थनानि विकुर्वते ।। ३७ ।।

लोकके क्षीण होनेपर उसके प्रवर्तक भावोंका भी क्षय हो जाता है। युग-क्षयजनित धर्म मनुष्यकी अभीष्ट कामनाओंके विपरीत फल देते हैं ।। ३७ ।।

एतत् कलियुगं नाम अचिराद् यत् प्रवर्तते ।
युगानुवर्तनं त्वेतत् कुर्वन्ति चिरजीविनः ।। ३८ ।।

यह कलियुगका वर्णन किया गया, जो शीघ्र ही आनेवाला है। चिरजीवीलोग भी इस प्रकार युगका अनुसरण करते हैं ।। ३८ ।।

यच्च ते मत्परिज्ञाने कौतूहलमरिंदम ।
अनर्थकेषु को भावः पुरुषस्य विजानतः ।। ३९ ।।

शत्रुदमन! तुम्हें मेरे पुरातन स्वरूपको देखने या जाननेके लिये जो कौतूहल हुआ है, वह ठीक नहीं है। किसी भी समझदार मनुष्यका निरर्थक विषयोंके लिये आग्रह क्यों होना चाहिये? ।। ३९ ।।

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
युगसंख्यां महाबाहो स्वस्ति प्राप्नुहि गम्यताम् ।। ४० ।।

महाबाहो! तुमने युगोंकी संख्याके विषयमें मुझसे जो प्रश्न किया है, उसके उत्तरमें मैंने यह सब बातें बतायी हैं। तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम लौट जाओ ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कदलीषण्डे हनुमद्भीमसंवादे एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें कदलीवनके भीतर हनुमान्‌जी और भीमसेनका संवादविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४९ ।।

---

* सत्ययुगके मनुष्य आदि प्राणियोंमें दोषोंका अभाव बतलाया है, उसका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि अधिकांशमें उनमें इन दोषोंका अभाव था।

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा भीमसेनको अपने विशाल रूपका प्रदर्शन और चारों वर्णोंके धर्मोंका प्रतिपादन

भीमसेन उवाच

पूर्वरूपमदृष्ट्वा ते न यास्यामि कथंचन ।
यदि तेऽहमनुग्राह्यो दर्शयात्मानमात्मना ।। १ ।।

भीमसेनने कहा—कपिप्रवर! मैं आपका वह पूर्वरूप देखे बिना किसी प्रकार नहीं जाऊँगा। यदि मैं आपका कृपापात्र होऊँ, तो आप स्वयं ही अपने-आपको मेरे सामने प्रकट कर दीजिये ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीमेन स्मितं कृत्वा प्लवंगमः ।
तद् रूपं दर्शयामास यद् वै सागरलङ्घने ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमसेनके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जीने मुसकराकर उन्हें अपना वह रूप दिखाया, जो उन्होंने समुद्र-लंघनके समय धारण किया था ।। २ ।।

भ्रातुः प्रियमभीप्सन् वै चकार सुमहद् वपुः ।
देहस्तस्य ततोऽतीव वर्धत्यायामविस्तरैः ।। ३ ।।
सद्रुमं कदलीषण्डं छादयन्नमितद्युतिः ।
गिरेश्चोच्छ्रयमाक्रम्य तस्थौ तत्र च वानरः ।। ४ ।।

उन्होंने अपने भाईका प्रिय करनेकी इच्छासे अत्यन्त विशाल शरीर धारण किया। उनका शरीर लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाईमें बहुत बड़ा हो गया। वे अमित तेजस्वी वानरवीर वृक्षोंसहित समूचे कदलीवनको आच्छादित करते हुए गन्धमादन पर्वतकी ऊँचाईको भी लाँघकर वहाँ खड़े हो गये ।। ३-४ ।।

समुच्छ्रितमहाकायो द्वितीय इव पर्वतः ।
ताम्रेक्षणस्तीक्ष्णदंष्ट्रो भृकुटीकुटिलाननः ।। ५ ।।

उनका वह उन्नत विशाल शरीर दूसरे पर्वतके समान प्रतीत होता था। लाल आँखों, तीखी दाढ़ों और टेढ़ी भौंहोंसे युक्त उनका मुख था ।। ५ ।।

दीर्घलाङ्गूलमाविध्य दिशो व्याप्य स्थितः कपिः ।
तद् रूपं महदालक्ष्य भ्रातुः कौरवनन्दनः ।। ६ ।।
विसिष्मिये तदा भीमो जहृषे च पुनः पुनः ।
तमर्कमिव तेजोभिः सौवर्णमिव पर्वतम् ।। ७ ।।
प्रदीप्तमिव चाकाशं दृष्ट्वा भीमो न्यमीलयत् ।
आबभाषे च हनुमान् भीमसेनं स्मयन्निव ।। ८ ।।

वे वानरवीर अपनी विशाल पूँछको हिलाते हुए सम्पूर्ण दिशाओंको घेरकर खड़े थे। भाईके उस विराट् रूपको देखकर कौरवनन्दन भीमको बड़ा आश्चर्य हुआ। उनके शरीरमें बार-बार हर्षसे रोमांच होने लगा। हनुमान्जी तेजमें सूर्यके समान दिखायी देते थे। उनका शरीर सुवर्णमय मेरुपर्वतके समान था और उनकी प्रभासे सारा आकाशमण्डल प्रज्वलित-सा जान पड़ता था। उनकी ओर देखकर भीमसेनने दोनों आँखें बंद कर लीं। तब हनुमान्जी उनसे मुसकराते हुए-से बोले— ।। ६—८ ।।

एतावदिह शक्तस्त्वं द्रष्टुं रूपं ममानघ ।
वर्धेऽहं चाप्यतो भूयो यावन्मे मनसि स्थितम् ।
भीमशत्रुषु चात्यर्थं वर्धते मूर्तिरोजसा ।। ९ ।।

'अनघ! तुम यहाँ मेरे इतने ही बड़े रूपको देख सकते हो, परंतु मैं इससे भी बड़ा हो सकता हूँ। मेरे मनमें जितने बड़े स्वरूपकी भावना होती है, उतना ही मैं बढ़ सकता हूँ।

भयानक शत्रुओंके समीप मेरी मूर्ति अत्यन्त ओजके साथ बढ़ती है' ।। ९ ।।

वैशम्पायन उवाच

तदद्भुतं महारौद्रं विन्ध्यपर्वतसंनिभम् ।
दृष्ट्वा हनूमतो वर्ष्म सम्भ्रान्तः पवनात्मजः ।। १० ।।
प्रत्युवाच ततो भीमः सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
कृताञ्जलिरदीनात्मा हनूमन्तमवस्थितम् ।। ११ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हनुमान्‌जीका वह विन्ध्य पर्वतके समान अत्यन्त भयंकर और अद्भुत शरीर देखकर वायुपुत्र भीमसेन घबरा गये। उनके शरीरमें रोंगटे खड़े होने लगे। उस समय उदार-हृदय भीमने हाथ जोड़कर अपने सामने खड़े हुए हनुमान्‌जीसे कहा— ।। १०-११ ।।

दृष्टं प्रमाणं विपुलं शरीरस्यास्य ते विभो ।
संहरस्व महावीर्य स्वयमात्मानमात्मना ।। १२ ।।

'प्रभो! आपके इस शरीरका विशाल प्रमाण प्रत्यक्ष देख लिया। महापराक्रमी वीर! अब आप स्वयं ही अपने शरीरको समेट लीजिये ।। १२ ।।

न हि शक्नोमि त्वां द्रष्टुं दिवाकरमिवोदितम् ।
अप्रमेयमनाधृष्यं मैनाकमिव पर्वतम् ।। १३ ।।

'आप तो सूर्यके समान उदित हो रहे हैं। मैं आपकी ओर देख नहीं सकता। आप अप्रमेय तथा दुर्धर्ष मैनाक पर्वतके समान खड़े हैं ।। १३ ।।

विस्मयश्चैव मे वीर सुमहान् मनसोऽद्य वै ।
यद् रामस्त्वयि पार्श्वस्थे स्वयं रावणमभ्यगात् ।। १४ ।।

'वीर! आज मेरे मनमें इस बातको लेकर बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि आपके निकट रहते हुए भी भगवान् श्रीरामने स्वयं ही रावणका सामना किया ।। १४ ।।

त्वमेव शक्तस्तां लङ्कां सयोधां सहवाहनाम् ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य विनाशयितुमञ्जसा ।। १५ ।।

'आप तो अकेले ही अपने बाहुबलका आश्रय लेकर योद्धाओं और वाहनोंसहित समूची लंकाको अनायास नष्ट कर सकते थे ।। १५ ।।

न हि ते किंचिदप्राप्यं मारुतात्मज विद्यते ।
तव नैकस्य पर्याप्तो रावणः सगणो युधि ।। १६ ।।

'मारुतनन्दन! आपके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। समरभूमिमें अपने सैनिकोंसहित रावण अकेले आपका ही सामना करनेमें समर्थ नहीं था' ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीमेन हनूमान् प्लवगोत्तमः ।

प्रत्युवाच ततो वाक्यं स्निग्धगम्भीरया गिरा ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमके ऐसा कहनेपर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीने स्नेहयुक्त गम्भीर वाणीमें इस प्रकार उत्तर दिया— ।। १७ ।।

हनूमानुवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
भीमसेन न पर्याप्तो ममासौ राक्षसाधमः ।। १८ ।।

हनुमान्‌जी बोले—भारत! महाबाहु भीमसेन! तुम जैसा कहते हो, ठीक ही है। वह अधम राक्षस वास्तवमें मेरा सामना नहीं कर सकता था ।। १८ ।।

मया तु निहते तस्मिन् रावणे लोककण्टके ।
कीर्तिर्नश्येद् राघवस्य तत एतदुपेक्षितम् ।। १९ ।।

किंतु सम्पूर्ण लोकोंको काँटेके समान कष्ट देनेवाला रावण यदि मेरे ही हाथों मारा जाता, तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी कीर्ति नष्ट हो जाती। इसीलिये मैंने उसकी उपेक्षा कर दी ।। १९ ।।

तेन वीरेण तं हत्वा सगणं राक्षसाधमम् ।
आनीता स्वपुरं सीता कीर्तिश्चाख्यापिता नृषु ।। २० ।।

वीरवर श्रीरामचन्द्रजी सेनासहित उस अधम राक्षसका वध करके सीताजीको अपनी अयोध्यापुरीमें ले आये। इससे मनुष्योंमें उनकी कीर्तिका भी विस्तार हुआ ।।

तद् गच्छ विपुलप्रज्ञ भ्रातुः प्रियहिते रतः ।
अरिष्टं क्षेममध्वानं वायुना परिरक्षितः ।। २१ ।।

अच्छा, महाप्राज्ञ! अब तुम अपने भाईके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहकर वायुदेवतासे सुरक्षित हो क्लेशरहित मार्गसे कुशलपूर्वक जाओ ।। २१ ।।

एष पन्थाः कुरुश्रेष्ठ सौगन्धिकवनाय ते ।
द्रक्ष्यसे धनदोद्यानं रक्षितं यक्षराक्षसैः ।। २२ ।।

कुरुश्रेष्ठ! यह मार्ग सौगन्धिक वनको जाता है। इससे जानेपर तुम्हें कुबेरका बगीचा दिखायी देगा, जो यक्षों तथा राक्षसोंसे सुरक्षित है ।। २२ ।।

न च ते तरसा कार्यः कुसुमावचयः स्वयम् ।
दैवतानि हि मान्यानि पुरुषेण विशेषतः ।। २३ ।।

वहाँ जाकर तुम जल्दीसे स्वयं ही उसके फूल न तोड़ने लगना। मनुष्योंको तो विशेषरूपसे देवताओंका सम्मान ही करना चाहिये ।। २३ ।।

बलिहोमनमस्कारैर्मन्त्रैश्च भरतर्षभ ।
दैवतानि प्रसादं हि भक्त्या कुर्वन्ति भारत ।। २४ ।।

भरतश्रेष्ठ! पूजा, होम, नमस्कार, मन्त्रजप तथा भक्तिभावसे देवता प्रसन्न होकर कृपा करते हैं ।। २४ ।।

मा तात साहसं कार्षीः स्वधर्मं परिपालय ।
स्वधर्मस्थः परं धर्मं बुध्यस्व गमयस्व च ।। २५ ।।

तात! तुम दुःसाहस न कर बैठना, अपने धर्मका पालन करना, स्वधर्ममें स्थित रहकर तुम श्रेष्ठ धर्मको समझो और उसका पालन करो ।। २५ ।।

न हि धर्ममविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य च ।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ।। २६ ।।

क्योंकि धर्मको जाने बिना और वृद्ध पुरुषोंकी सेवा किये बिना बृहस्पति-जैसे विद्वानोंके लिये भी धर्म और अर्थके तत्त्वको समझना सम्भव नहीं है ।। २६ ।।

अधर्मो यत्र धर्माख्यो धर्मश्चाधर्मसंज्ञितः ।
स विज्ञेयो विभागेन यत्र मुह्यन्त्यबुद्धयः ।। २७ ।।

कहीं अधर्म ही धर्म कहलाता है और कहीं धर्म भी अधर्म कहा जाता है। अतः धर्म और अधर्मके स्वरूपका पृथक्-पृथक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। बुद्धिहीनलोग इसमें मोहित हो जाते हैं ।। २७ ।।

आचारसम्भवो धर्मो धर्मे वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
वेदैर्यज्ञाः समुत्पन्ना यज्ञैर्देवाः प्रतिष्ठिताः ।। २८ ।।

आचारसे धर्मकी उत्पत्ति होती है। धर्ममें वेदोंकी प्रतिष्ठा है। वेदोंसे यज्ञ प्रकट हुए हैं और यज्ञोंसे देवताओंकी स्थिति है ।। २८ ।।

वेदाचारविधानोक्तैर्यज्ञैर्धार्यन्ति देवताः ।
बृहस्पत्युशनःप्रोक्तैर्नयैर्धार्यन्ति मानवाः ।। २९ ।।

वेदोक्त आचारके विधानसे बतलाये हुए यज्ञोंद्वारा देवताओंकी आजीविका चलती है और बृहस्पति तथा शुक्राचार्यकी कही हुई नीतियाँ मनुष्योंके जीवन-निर्वाहकी आधारभूमि हैं ।। २९ ।।

पण्याकरवणिज्याभिः कृष्यागोजाविपोषणैः ।
विद्यया धार्यते सर्वं धर्मैरेतैर्द्विजातिभिः ।। ३० ।।

हाट-बाजार करना, कर (लगान या टैक्स) लेना, व्यापार, खेती, गोपालन, भेड़ और बकरोंका पोषण तथा विद्या पढ़ना-पढ़ाना—इन धर्मानुकूल वृत्तियोंद्वारा द्विजगण सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करते हैं ।। ३० ।।

त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तिस्रो विद्या विजानताम् ।
ताभिः सम्यक् प्रयुक्ताभिर्लोकयात्रा विधीयते ।। ३१ ।।

वेदत्रयी, वार्ता (कृषि-वाणिज्य आदि) और दण्डनीति—ये तीन विद्याएँ हैं (इनमें वेदाध्ययन ब्राह्मणकी, वार्ता वैश्यकी और दण्डनीति क्षत्रियकी जीविकावृत्ति है)। विज्ञ

पुरुषोंद्वारा इन वृत्तियोंका ठीक-ठीक प्रयोग होनेसे लोकयात्राका निर्वाह होता है ।। ३१ ।।

सा चेद् धर्मकृता न स्यात् त्रयीधर्ममृते भुवि ।
दण्डनीतिमृते चापि निर्मर्यादमिदं भवेत् ।। ३२ ।।

यदि लोकयात्रा धर्मपूर्वक न चलायी जाय, इस पृथ्वीपर वेदोक्त धर्मका पालन न हो और दण्डनीति भी उठा दी जाय तो यह सारा जगत् मर्यादाहीन हो जाय ।। ३२ ।।

वार्ताधर्मे ह्यवर्तिन्यो विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
सुप्रवृत्तैस्त्रिभिर्ह्येतैर्धर्मं सूयन्ति वै प्रजाः ।। ३३ ।।

यदि यह प्रजा वार्ता-धर्म (कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य) में प्रवृत्त न हो तो नष्ट हो जायगी। इन तीनोंकी सम्यक् प्रवृत्ति होनेसे प्रजा धर्मका सम्पादन करती है ।। ३३ ।।

द्विजातीनामृतं धर्मो ह्येकश्चैवैकलक्षणः ।
यज्ञाध्ययनदानानि त्रयः साधारणाः स्मृताः ।। ३४ ।।

द्विजातियोंका मुख्य धर्म है सत्य (सत्य-भाषण, सत्य-व्यवहार, सद्भाव)। यह धर्मका एक प्रधान लक्षण है। यज्ञ, स्वाध्याय और दान—ये तीन धर्म द्विजमात्रके सामान्य धर्म माने गये हैं ।। ३४ ।।

याजनाध्यापनं विप्रे धर्मश्चैव प्रतिग्रहः ।
पालनं क्षत्रियाणां वै वैश्यधर्मश्च पोषणम् ।। ३५ ।।

यज्ञ कराना, वेद और शास्त्रोंको पढ़ाना तथा दान ग्रहण करना—यह ब्राह्मणका ही आजीविकाप्रधान धर्म है। प्रजा-पालन क्षत्रियोंका और पशु-पालन वैश्योंका धर्म है ।। ३५ ।।

शुश्रूषा च द्विजातीनां शूद्राणां धर्म उच्यते ।
भैक्ष्यहोमव्रतैर्हीनास्तथैव गुरुवासिताः ।। ३६ ।।

ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रोंका धर्म बताया गया है। तीनों वर्णोंकी सेवामें रहनेवाले शूद्रोंके लिये भिक्षा, होम और व्रत मना है ।। ३६ ।।

क्षत्रधर्मोऽत्र कौन्तेय तव धर्मोऽत्र रक्षणम् ।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व विनीतो नियतेन्द्रियः ।। ३७ ।।

कुन्तीनन्दन! सबकी रक्षा करना क्षत्रियका धर्म है, अतः तुम्हारा धर्म भी यही है। अपने धर्मका पालन करो। विनयशील बने रहो और इन्द्रियोंको वशमें रखो ।। ३७ ।।

वृद्धैः सम्मन्त्र्य सद्भिश्च बुद्धिमद्भिः श्रुतान्वितैः ।
आस्थितः शास्ति दण्डेन व्यसनी परिभूयते ।। ३८ ।।

वेद-शास्त्रोंके विद्वान्, बुद्धिमान् तथा बड़े-बूढ़े श्रेष्ठ पुरुषोंसे सलाह करके उनका कृपापात्र बना हुआ राजा ही दण्डनीतिके द्वारा शासन कर सकता है। जो राजा दुर्व्यसनोंमें आसक्त होता है, उसका पराभव हो जाता है ।। ३८ ।।

निग्रहानुग्रहैः सम्यग् यदा राजा प्रवर्तते ।

तदा भवन्ति लोकस्य मर्यादाः सुव्यवस्थिताः ।। ३९ ।।

जब राजा निग्रह और अनुग्रहके द्वारा प्रजावर्गके साथ यथोचित बर्ताव करता है, तभी लोककी सम्पूर्ण मर्यादाएँ सुरक्षित होती हैं ।। ३९ ।।

तस्माद् देशे च दुर्गे च शत्रुमित्रबलेषु च ।
नित्यं चारेण बोद्धव्यं स्थानं वृद्धिः क्षयस्तथा ।। ४० ।।

इसलिये राजाको उचित है कि वह देश और दुर्गमें अपने शत्रु और मित्रोंके सैनिकोंकी स्थिति, वृद्धि और क्षयका गुप्तचरोंद्वारा सदा पता लगाता रहे ।। ४० ।।

राज्ञामुपायश्चारश्च बुद्धिमन्त्रपराक्रमाः ।
निग्रहप्रग्रहौ चैव दाक्ष्यं वै कार्यसाधकम् ।। ४१ ।।

साम, दान, दण्ड, भेद—ये चार उपाय, गुप्तचर, उत्तम बुद्धि, सुरक्षित मन्त्रणा, पराक्रम, निग्रह, अनुग्रह और चतुरता—ये राजाओंके लिये कार्य-सिद्धिके साधन हैं ।।

साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनोपेक्षणेन च ।
साधनीयानि कर्माणि समासव्यासयोगतः ।। ४२ ।।

साम, दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा—इन नीतियोंमेंसे एक-दोके द्वारा या सबके एक साथ प्रयोगद्वारा राजाओंको अपने कार्य सिद्ध करने चाहिये ।। ४२ ।।

मन्त्रमूला नयाः सर्वे चाराश्च भरतर्षभ ।
सुमन्त्रितेन या सिद्धिस्तां द्विजैः सह मन्त्रयेत् ।। ४३ ।।

भरतश्रेष्ठ! सारी नीतियों और गुप्तचरोंका मूल आधार है मन्त्रणाको गुप्त रखना। उत्तम मन्त्रणा या विचारसे जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसके लिये द्विजोंके साथ गुप्त परामर्श करना चाहिये ।। ४३ ।।

स्त्रिया मूढेन बालेन लुब्धेन लघुनापि वा ।
न मन्त्रयीत गुह्यानि येषु चोन्मादलक्षणम् ।। ४४ ।।

स्त्री, मूर्ख, बालक, लोभी और नीच पुरुषोंके साथ तथा जिसमें उन्मादका लक्षण दिखायी दे, उसके साथ भी गुप्त परामर्श न करे ।। ४४ ।।

मन्त्रयेत् सह विद्वद्भिः शक्तैः कर्माणि कारयेत् ।
स्निग्धैश्च नीतिविन्यासान् मूर्खान् सर्वत्र वर्जयेत् ।। ४५ ।।

विद्वानोंके साथ ही गुप्त मन्त्रणा करनी चाहिये। जो शक्तिशाली हों, उन्हींसे कार्य कराने चाहिये। जो स्नेही (सुहृद्) हों उन्हींके द्वारा नीतिके प्रयोगका काम कराना चाहिये। मूर्खोंको तो सभी कार्योंसे अलग रखना चाहिये ।। ४५ ।।

धार्मिकान् धर्मकार्येषु अर्थकार्येषु पण्डितान् ।
स्त्रीषु क्लीबान् नियुञ्जीत क्रूरान् क्रूरेषु कर्मसु ।। ४६ ।।

राजाको चाहिये कि वह धर्मके कार्योंमें धार्मिक पुरुषोंको, अर्थसम्बन्धी कार्योंमें अर्थशास्त्रके पण्डितोंको, स्त्रियोंकी देख-भालके लिये नपुंसकोंको और कठोर कार्योंमें क्रूर

स्वभावके मनुष्योंको लगावे ।। ४६ ।।

स्वेभ्यश्चैव परेभ्यश्च कार्याकार्यसमुद्भवा ।

बुद्धिः कर्मसु विज्ञेया रिपूणां च बलाबलम् ।। ४७ ।।

बहुत-से कार्योंको आरम्भ करते समय अपने तथा शत्रुपक्षके लोगोंसे भी यह सलाह लेनी चाहिये कि अमुक काम करनेयोग्य है या नहीं। साथ ही, शत्रुकी प्रबलता और दुर्बलताको भी जाननेका प्रयत्न करना चाहिये ।। ४७ ।।

बुद्ध्या स्वप्रतिपन्नेषु कुर्यात् साधुष्वनुग्रहम् ।

निग्रहं चाप्यशिष्टेषु निर्मर्यादेषु कारयेत् ।। ४८ ।।

बुद्धिसे सोच-विचारकर अपनी शरणमें आये हुए श्रेष्ठ कर्म करनेवाले पुरुषोंपर अनुग्रह करना चाहिये और मर्यादा भंग करनेवाले दुष्ट पुरुषोंको दण्ड देना चाहिये ।। ४८ ।।

निग्रहे प्रग्रहे सम्यग् यदा राजा प्रवर्तते ।

तदा भवति लोकस्य मर्यादा सुव्यवस्थिता ।। ४९ ।।

जब राजा निग्रह और अनुग्रहमें ठीक तौरसे प्रवृत्त होता है, तभी लोककी मर्यादा सुरक्षित रहती है ।। ४९ ।।

एष तेऽभिहितः पार्थ घोरो धर्मो दुरन्वयः ।

तं स्वधर्मविभागेन विनयस्थोऽनुपालय ।। ५० ।।

कुन्तीनन्दन! यह मैंने तुम्हें कठोर राज्य-धर्मका उपदेश दिया है। इसके मर्मको समझना अत्यन्त कठिन है। तुम अपने धर्मके विभागानुसार विनीतभावसे इसका पालन करो ।। ५० ।।

तपोधर्मदमेज्याभिर्विप्रा यान्ति यथा दिवम् ।

दानातिथ्यक्रियाधर्मैर्यान्ति वैश्याश्च सद्‌गतिम् ।। ५१ ।।

क्षत्रं याति तथा स्वर्गं भुवि निग्रहपालनैः ।

सम्यक् प्रणीतदण्डा हि कामद्वेषविवर्जिताः ।

अलुब्धा विगतक्रोधाः सतां यान्ति सलोकताम् ।। ५२ ।।

जैसे तपस्या, धर्म, इन्द्रिय-संयम और यज्ञानुष्ठानके द्वारा ब्राह्मण उत्तम लोकमें जाते हैं तथा जिस प्रकार वैश्य दान और आतिथ्यरूप धर्मोंसे उत्तम गति प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार इस लोकमें निग्रह और अनुग्रहके यथोचित प्रयोगसे क्षत्रिय स्वर्गलोकमें जाता है। जिनके द्वारा दण्डनीतिका उचित रीतिसे प्रयोग किया जाता है, जो राग-द्वेषसे रहित, लोभशून्य तथा क्रोधहीन हैं; वे क्षत्रिय सत्पुरुषोंको प्राप्त होनेवाले लोकोंमें जाते हैं ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसेनसंवादे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें हनुमान्‌जी और भीमसेनका संवादविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५० ।।

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीहनुमान्‌जीका भीमसेनको आश्वासन और विदा देकर अन्तर्धान होना

वैशम्पायन उवाच

ततः संहृत्य विपुलं तद् वपुः कामतः कृतम् ।
भीमसेनं पुनर्दोर्भ्यां पर्यष्वजत वानरः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अपनी इच्छासे बढ़ाये हुए उस विशाल शरीरका उपसंहार कर वानरराज हनुमान्‌जीने अपनी दोनों भुजाओंद्वारा भीमसेनको हृदयसे लगा लिया ।। १ ।।

परिष्वक्तस्य तस्याशु भ्रात्रा भीमस्य भारत ।
श्रमो नाशमुपागच्छत् सर्वं चासीत् प्रदक्षिणम् ।। २ ।।

भारत! भाईका आलिंगन प्राप्त होनेपर भीमसेनकी सारी थकावट तत्काल नष्ट हो गयी और सब कुछ उन्हें अनुकूल प्रतीत होने लगा ।। २ ।।

बलं चातिबलो मेने न मेऽस्ति सदृशो महान् ।
ततः पुनरथोवाच पर्यश्रुनयनो हरिः ।। ३ ।।
भीममाभाष्य सौहार्दाद् बाष्पगद्गदया गिरा ।
गच्छ वीर स्वमावासं स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे ।। ४ ।।

अत्यन्त बलशाली भीमसेनको यह अनुभव हुआ कि मेरा बल बहुत बढ़ गया। अब मेरे समान दूसरा कोई महान् नहीं है। फिर हनुमान्‌जीने अपने नेत्रोंमें आँसू भरकर सौहार्दसे गद्‌गदवाणीद्वारा भीमसेनको सम्बोधित करके कहा—‘वीर! अब तुम अपने निवास-स्थानपर जाओ। बातचीतके प्रसंगमें कभी मेरा भी स्मरण करते रहना ।। ३-४ ।।

इहस्थश्च कुरुश्रेष्ठ न निवेद्योऽस्मि कर्हिचित् ।
धनदस्यालयाच्चापि विसृष्टानां महाबल ।। ५ ।।
देशकाल इहायातुं देवगन्धर्वयोषिताम् ।
ममापि सफलं चक्षुः स्मारितश्चास्मि राघवम् ।। ६ ।।
रामाभिधानं विष्णुं हि जगद्धृदयनन्दनम् ।
सीतावक्त्रारविन्दर्कं दशास्यध्वान्तभास्करम् ।। ७ ।।
मानुषं गात्रसंस्पर्शं गत्वा भीम त्वया सह ।
तदस्मद्दर्शनं वीर कौन्तेयामोघमस्तु ते ।। ८ ।।

‘कुरुश्रेष्ठ! मैं इस स्थानपर रहता हूँ, यह बात कभी किसीसे न कहना। महाबली वीर! अब कुबेरके भवनसे भेजी हुई देवांगनाओं तथा गन्धर्व-सुन्दरियोंके यहाँ आनेका समय हो गया है। भीम! तुम्हें देखकर मेरी भी आँखें सफल हो गयीं। तुम्हारे साथ मिलकर तुम्हारे मानवशरीरका स्पर्श करके मुझे उन भगवान् रामचन्द्रजीका स्मरण हो आया है, जो श्रीराम-नामसे प्रसिद्ध साक्षात् विष्णु हैं। जगत्के हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाले, मिथिलेशनन्दिनी सीताके मुखारविन्दको विकसित करनेके लिये सूर्यके समान तेजस्वी तथा दशमुख रावणरूपी अन्धकारराशिको नष्ट करनेके लिये साक्षात् भुवन-भास्कररूप हैं। वीर कुन्तीकुमार! तुमने जो मेरा दर्शन किया है, वह व्यर्थ नहीं जाना चाहिये ।। ५—८ ।।

भ्रातृत्वं त्वं पुरस्कृत्य वरं वरय भारत ।
यदि तावन्मया क्षुद्रा गत्वा वारणसाह्वयम् ।। ९ ।।
धार्तराष्ट्रा निहन्तव्या यावदेतत् करोम्यहम् ।
शिलया नगरं वापि मर्दितव्यं मया यदि ।। १० ।।
बद्ध्वा दुर्योधनं चाद्य आनयामि तवान्तिकम् ।
यावदेतत् करोम्यद्य कामं तव महाबल ।। ११ ।।

'भारत! तुम मुझे अपना बड़ा भाई समझकर कोई वर माँगो। यदि तुम्हारी इच्छा हो कि मैं हस्तिनापुरमें जाकर तुच्छ धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मार डालूँ तो मैं यह भी कर सकता हूँ अथवा यदि तुम चाहो कि मैं पत्थरोंकी वर्षासे सारे नगरको रौंदकर धूलमें मिला दूँ अथवा दुर्योधनको बाँधकर अभी तुम्हारे पास ला दूँ तो यह भी कर सकता हूँ। महाबली वीर! तुम्हारी जो इच्छा हो, वही पूर्ण कर दूँगा' ।। ९—११ ।।

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्तु तद् वाक्यं श्रुत्वा तस्य महात्मनः ।
प्रत्युवाच हनूमन्तं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।। १२ ।।
कृतमेव त्वया सर्वं मम वानरपुङ्गव ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाबाहो कामये त्वां प्रसीद मे ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा हनुमान्‌जीका यह वचन सुनकर भीमसेनने हर्षोल्लासपूर्ण हृदयसे हनुमान्‌जीको इस प्रकार उत्तर दिया—'वानरशिरोमणे! आपने मेरा यह सब कार्य कर दिया। आपका कल्याण हो। महाबाहो! अब आपसे मेरी इतनी ही कामना है कि आप मुझपर प्रसन्न रहिये—मुझपर आपकी कृपा बनी रहे ।। १२-१३ ।।

सनाथाः पाण्डवाः सर्वे त्वया नाथेन वीर्यवन् ।
तवैव तेजसा सर्वान् विजेष्यामो वयं परान् ।। १४ ।।

'शक्तिशाली वीर! आप-जैसे नाथ (संरक्षक) को पाकर सब पाण्डव सनाथ हो गये। आपके ही प्रभावसे हमलोग अपने सब शत्रुओंको जीत लेंगे' ।। १४ ।।

एवमुक्तस्तु हनुमान् भीमसेनमभाषत ।
भ्रातृत्वात् सौहृदाच्चैव करिष्यामि प्रियं तव ।। १५ ।।

भीमसेनके ऐसा कहनेपर हनुमान्‌जीने उनसे कहा—'तुम मेरे भाई और सुहृद् हो, इसलिये मैं तुम्हारा प्रिय अवश्य करूँगा' ।। १५ ।।

चमूं विगाह्य शत्रूणां शरशक्तिसमाकुलाम् ।
यदा सिंहरवं वीर करिष्यसि महाबल ।। १६ ।।
तदाहं बृंहयिष्यामि स्वरवेण रवं तव ।

विजयस्य ध्वजस्थश्च नादान् मोक्ष्यामि दारुणान् ।। १७ ।।
शत्रूणां ये प्राणहराः सुखं येन हनिष्यथ ।
एवमाभाष्य हनुमांस्तदा पाण्डवनन्दनम् ।। १८ ।।
मार्गमाख्याय भीमाय तत्रैवान्तरधीयत ।। १९ ।।

'महाबली वीर! जब तुम बाण और शक्तिके आघातसे व्याकुल हुई शत्रुओंकी सेनामें घुसकर सिंहनाद करोगे, उस समय मैं अपनी गर्जनासे तुम्हारे उस सिंहनादको और बढ़ा दूँगा। उसके सिवा अर्जुनकी ध्वजापर बैठकर मैं ऐसी भीषण गर्जना करूँगा, जो शत्रुओंके प्राणोंको हरनेवाली होगी, जिससे तुमलोग उन्हें सुगमतासे मार सकोगे।' पाण्डवोंका आनन्द बढ़ानेवाले भीमसेनसे ऐसा कहकर हनुमान्‌जीने उन्हें जानेके लिये मार्ग बता दिया और स्वयं वहीं अन्तर्धान हो गये ।। १६—१९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे हनुमद्भीमसंवादे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें गन्धमादन पर्वतपर हनुमान्‌जी और भीमसेनका संवादविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५१ ।।

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका सौगन्धिक वनमें पहुँचना

वैशम्पायन उवाच

गते तस्मिन् हरिवरे भीमोऽपि बलिनां वरः ।
तेन मार्गेण विपुलं व्यचरद् गन्धमादनम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन कपिप्रवर हनुमान्‌जीके चले जानेपर बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन भी उनके बताये हुए मार्गसे विशाल गन्धमादन पर्वतपर विचरने लगे ।। १ ।।

अनुस्मरन् वपुस्तस्य श्रियं चाप्रतिमां भुवि ।
माहात्म्यमनुभावं च स्मरन् दाशरथेर्ययौ ।। २ ।।

मार्गमें वे हनुमान्‌जीके उस अद्भुत विशाल विग्रह और अनुपम शोभाका तथा दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीके अलौकिक माहात्म्य एवं प्रभावका बारंबार स्मरण करते जाते थे ।। २ ।।

स तानि रमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
विलोकयामास तदा सौगन्धिकवनेप्सया ।। ३ ।।
फुल्लद्रुमविचित्राणि सरांसि सरितस्तथा ।
नानाकुसुमचित्राणि पुष्पितानि वनानि च ।। ४ ।।

सौगन्धिक वनको प्राप्त करनेकी इच्छासे उन्होंने उस समय वहाँके सभी रमणीय वनों और उपवनोंका अवलोकन किया। विकसित वृक्षोंके कारण विचित्र शोभा धारण करनेवाले कितने ही सरोवर और सरिताओंपर दृष्टिपात किया तथा अनेक प्रकारके कुसुमोंसे अद्भुत प्रतीत होनेवाले खिले फूलोंसे युक्त काननोंका भी निरीक्षण किया ।। ३-४ ।।

मत्तवारणयूथानि पङ्कक्लिन्नानि भारत ।
वर्षतामिव मेघानां वृन्दानि ददृशे तदा ।। ५ ।।

भारत! उस समय बहते हुए मदके पंकसे भीगे मतवाले गजराजोंके अनेकानेक यूथ वर्षा करनेवाले मेघोंके समूहके समान दिखलायी देते थे ।। ५ ।।

हरिणैश्चपलापाङ्गैर्हरिणीसहितैर्वनम् ।
सशष्पकवलैः श्रीमान् पथि दृष्ट्वा द्रुतं ययौ ।। ६ ।।

शोभाशाली भीमसेन मुँहमें हरी घासका कौर लिये हुए चंचल नेत्रोंवाले हरिणों और हरिणियोंसे युक्त उस वनकी शोभा देखते हुए बड़े वेगसे चले जा रहे थे ।। ६ ।।

महिषैश्च वराहैश्च शार्दूलैश्च निषेवितम् ।
व्यपेतभीर्गिरिं शौर्याद् भीमसेनो व्यगाहत ।। ७ ।।

उन्होंने अपनी अद्भुत शूरतासे निर्भय होकर भैंसों, वराहों और सिंहोंसे सेवित गहन वनमें प्रवेश किया ।। ७ ।।

कुसुमानन्तगन्धैश्च ताम्रपल्लवकोमलैः ।
याच्यमान इवारण्ये द्रुमैर्मारुतकम्पितैः ।। ८ ।।

फूलोंकी अनन्त सुगन्धसे वासित तथा लाल-लाल पल्लवोंके कारण कोमल प्रतीत होनेवाले वृक्ष हवाके वेगसे हिल-हिलकर मानो उस वनमें भीमसेनसे याचना कर रहे थे ।। ८ ।।

कृतपद्माञ्जलिपुटा मत्तषट्पदसेविताः ।
प्रियतीर्थवना मार्गे पद्मिनीः समतिक्रमन् ।। ९ ।।

मार्गमें उन्हें अनेक ऐसी पुष्करिणियोंको लाँघना पड़ा, जिनके घाट और वन देखनेमें बहुत प्रिय लगते थे। मतवाले भ्रमर उनका सेवन करते थे तथा वे सम्पुटित कमलकोषोंसे अलंकृत हो ऐसी जान पड़ती थीं, मानो उन्होंने कमलोंकी अंजलि बाँध रखी थी ।। ९ ।।

मज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु ।
द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ ।। १० ।।

भीमसेनका मन और उनके नेत्र कुसुमोंसे अलंकृत पर्वतीय शिखरोंपर लगे थे। द्रौपदीका अनुरोधपूर्ण वचन ही उनके लिये पाथेय था और इस अवस्थामें वे अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चले जा रहे थे ।। १० ।।

परिवृत्तेऽहनि ततः प्रकीर्णहरिणे वने ।
काञ्चनैर्विमलैः पद्मैर्ददर्श विपुलां नदीम् ।। ११ ।।

दिन बीतते-बीतते भीमसेनने एक वनमें जहाँ चारों ओर बहुत-से हरिण विचर रहे थे, सुन्दर सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित विशाल नदी देखी ।। ११ ।।

हंसकारण्डवयुतां चक्रवाकोपशोभिताम् ।
रचितामिव तस्याद्रेर्मालां विमलपङ्कजाम् ।। १२ ।।

उसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी निवास करते थे। चक्रवाक उसकी शोभा बढ़ाते थे। वह नदी क्या थी उस पर्वतके लिये स्वच्छ सुन्दर कमलोंकी माला-सी रची गयी थी ।। १२ ।।

तस्यां नद्यां महासत्त्वः सौगन्धिकवनं महत् ।
अपश्यत् प्रीतिजननं बालार्कसदृशद्युति ।। १३ ।।

महान् धैर्य और उत्साहसे सम्पन्न वीरवर भीमसेनने उसी नदीमें विशाल सौगन्धिक वन देखा, जो उनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाला था। उस वनमें प्रभातकालीन सूर्यकी भाँति प्रभा फैल रही थी ।। १३ ।।

तद् दृष्ट्वा लब्धकामः स मनसा पाण्डुनन्दनः ।
वनवासपरिक्लिष्टां जगाम मनसा प्रियाम् ।। १४ ।।

उस वनको देखकर पाण्डुनन्दन भीमने मन-ही-मन यह अनुभव किया कि मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया। फिर उन्हें वनवासके क्लेशोंसे पीड़ित अपनी प्रियतमा द्रौपदीकी याद आ गयी ।। १४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सौगन्धिक कमलको लानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५२ ।।

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

क्रोधवश नामक राक्षसोंका भीमसेनसे सरोवरके निकट आनेका कारण पूछना

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा नलिनीं रम्यां राक्षसैरभिरक्षिताम् ।
कैलासशिखराभ्याशे ददर्श शुभकाननाम् ।। १ ।।
कुबेरभवनाभ्याशे जातां पर्वतनिर्झरैः ।
सुरम्यां विपुलच्छायां नानाद्रुमलताकुलाम् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार आगे बढ़नेपर भीमसेनने कैलास पर्वतके निकट कुबेरभवनके समीप एक रमणीय सरोवर देखा, जिसके आस-पास सुन्दर वनस्थली शोभा पा रही थी। बहुत-से राक्षस उसकी रक्षाके लिये नियुक्त थे। वह सरोवर पर्वतीय झरनोंके जलसे भरा था। वह देखनेमें बहुत ही सुन्दर, घनी छायासे सुशोभित तथा अनेक प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त था ।। १-२ ।।

हरिताम्बुजसंच्छन्नां दिव्यां कनकपुष्कराम् ।
नानापक्षिजनाकीर्णां सूपतीर्थामकर्दमाम् ।। ३ ।।

हरे रंगके कमलोंसे वह दिव्य सरोवर ढका हुआ था। उसमें सुवर्णमय कमल खिले थे। वह नाना प्रकारके पक्षियोंसे युक्त था। उसका किनारा बहुत सुन्दर था और उसमें कीचड़ नहीं था। ।। ३ ।।

अतीवरम्यां सुजलां जातां पर्वतसानुषु ।
विचित्रभूतां लोकस्य शुभामद्भुतदर्शनाम् ।। ४ ।।

वह सरोवर अत्यन्त रमणीय, सुन्दर जलसे परिपूर्ण, पर्वतीय शिखरोंके झरनोंसे उत्पन्न, देखनेमें विचित्र, लोकके लिये मंगलकारक तथा अद्‌भुत दृश्यसे सुशोभित था ।। ४ ।।

तत्रामृतरसं शीतं लघु कुन्तीसुतः शुभम् ।
ददर्श विमलं तोयं पिबंश्च बहु पाण्डवः ।। ५ ।।

उस सरोवरमें कुन्तीकुमार पाण्डुपुत्र भीमने अमृतके समान स्वादिष्ट, शीतल, हलका, शुभकारक और निर्मल जल देखा तथा उसे भरपेट पीया ।। ५ ।।

तां तु पुष्करिणीं रम्यां दिव्यसौगन्धिकावृताम् ।
जातरूपमयैः पद्मैश्छन्नां परमगन्धिभिः ।। ६ ।।
वैदूर्यवरनालैश्च बहुचित्रैर्मनोरमैः ।
हंसकारण्डवोद्धूतैः सृजद्भिरमलं रजः ।। ७ ।।

वह सरोवर दिव्य सौगन्धिक कमलोंसे आवृत तथा रमणीय था। परम सुगन्धित सुवर्णमय कमल उसे ढँके हुए थे। उन कमलोंकी नाल उत्तम वैदूर्यमणिमय थी। वे कमल देखनेमें अत्यन्त विचित्र और मनोरम थे। हंस और कारण्डव आदि पक्षी उन कमलोंको हिलाते रहते थे, जिससे वे निर्मल पराग प्रकट किया करते थे ।। ६-७ ।।

आक्रीडं राजराजस्य कुबेरस्य महात्मनः ।

गन्धर्वैरप्सरोभिश्च देवैश्च परमार्चिताम् ।। ८ ।।

वह सरोवर राजाधिराज महाबुद्धिमान् कुबेरका क्रीडास्थल था। गन्धर्व, अप्सरा और देवता भी उसकी बड़ी प्रशंसा करते थे ।। ८ ।।

सेवितामृषिभिर्दिव्यैर्यक्षैः किम्पुरुषैस्तथा ।

राक्षसैः किन्नरैश्चापि गुप्तां वैश्रवणेन च ।। ९ ।।

दिव्य ऋषि-मुनि, यक्ष, किम्पुरुष, राक्षस और किन्नर उसका सेवन करते थे तथा साक्षात् कुबेरके द्वारा उसके संरक्षणकी व्यवस्था की जाती थी ।। ९ ।।

तां च दृष्ट्वैव कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः ।

बभूव परमप्रीतो दिव्यं सम्प्रेक्ष्य तत् सरः ।। १० ।।

कुन्तीनन्दन महाबली भीमसेन उस दिव्य सरोवरको देखते ही अत्यन्त प्रसन्न हो गये ।। १० ।।

तच्च क्रोधवशा नाम राक्षसा राजशासनात् ।

रक्षन्ति शतसाहस्राश्चित्रायुधपरिच्छदाः ।। ११ ।।

महाराज कुबेरके आदेशसे क्रोधवश नामक राक्षस, जिनकी संख्या एक लाख थी, विचित्र आयुध और वेशभूषासे सुसज्जित हो उसकी रक्षा करते थे ।। ११ ।।

ते तु दृष्ट्वैव कौन्तेयमजिनैः प्रतिवासितम् ।

रुक्माङ्गदधरं वीरं भीमं भीमपराक्रमम् ।। १२ ।।

सायुधं बद्धनिस्त्रिंशमशङ्कितमरिंदमम् ।

पुष्करेप्सुमुपायान्तमन्योन्यमभिचुक्रुशुः ।। १३ ।।

उस समय भयानक पराक्रमी कुन्तीकुमार वीरवर भीम अपने अंगोंमें मृगचर्म लपेटे हुए थे। भुजाओंमें सोनेके अंगद (बाजूबंद) पहन रखे थे। वे धनुष और गदा आदि आयुधोंसे युक्त थे। उन्होंने कमरमें तलवार बाँध रखी थी। वे शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ और निर्भीक थे। उन्हें कमल लेनेकी इच्छासे वहाँ आते देख वे पहरा देनेवाले राक्षस आपसमें कोलाहल करने लगे ।।

अयं पुरुषशार्दूलः सायुधोऽजिनसंवृतः ।

यच्चिकीर्षुरिह प्राप्तस्तत् सम्प्रष्टुमिहार्हथ ।। १४ ।।

उनमें परस्पर इस प्रकार बातचीत हुई—‘देखो, यह नरश्रेष्ठ मृगचर्मसे आच्छादित होनेपर भी हाथमें आयुध लिये हुए है। यह यहाँ जिस कार्यके लिये आया है, उसे

पूछो' ।। १४ ।।

ततः सर्वे महाबाहुं समासाद्य वृकोदरम् ।

तेजोयुक्तमपृच्छन्त कस्त्वमाख्यातुमर्हसि ।। १५ ।।

तब वे सब राक्षस परम तेजस्वी महाबाहु भीमसेनके पास आकर पूछने लगे—'तुम कौन हो?' यह बताओ ।।

मुनिवेषधरश्चैव सायुधश्चैव लक्ष्यसे ।

यदर्थमभिसम्प्राप्तस्तदाचक्ष्व महामते ।। १६ ।।

'महामते! तुमने वेष तो मुनियोंका-सा धारण कर रखा है; परंतु आयुधोंसे सम्पन्न दिखायी देते हो। तुम किसलिये यहाँ आये हो?' बताओ ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सौगन्धिकाहरणविषयक एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५३ ।।

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा क्रोधवश नामक राक्षसोंकी पराजय और द्रौपदीके लिये सौगन्धिक कमलोंका संग्रह करना

भीम उवाच

पाण्डवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनन्तरः ।
विशालां बदरीं प्राप्तो भ्रातृभिः सह राक्षसाः ।। १ ।।
अपश्यत् तत्र पाञ्चाली सौगन्धिकमनुत्तमम् ।
अनिलोढमितो नूनं सा बहूनि परीप्सति ।। २ ।।

भीमसेन बोले—राक्षसो! मैं धर्मराज युधिष्ठिरका छोटा भाई पाण्डुपुत्र भीमसेन हूँ और भाइयोंके विशाला बदरी नामक तीर्थमें आकर ठहरा हूँ। वहाँ पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीने सौगन्धिक नामक एक परम उत्तम कमल देखा। उसे देखकर वह उसी तरहके और भी बहुत-से पुष्प प्राप्त करना चाहती है, जो निश्चय ही यहींसे हवामें उड़कर वहाँ पहुँचा होगा ।। १-२ ।।

तस्या मामनवद्याङ्ग्या धर्मपत्न्याः प्रिये स्थितम् ।
पुष्पाहारमिह प्राप्तं निबोधत निशाचराः ।। ३ ।।

निशाचरो! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि मैं उसी अनिन्द्य सुन्दरी धर्मपत्नीका प्रिय मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उद्यत हो बहुत-से सौगन्धिक पुष्पोंका अपहरण करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ ।। ३ ।।

राक्षसा ऊचुः

आक्रीडोऽयं कुबेरस्य दयितः पुरुषर्षभ ।
नेह शक्यं मनुष्येण विहर्तुं मर्त्यधर्मणा ।। ४ ।।

राक्षसोंने कहा—नरश्रेष्ठ! यह सरोवर कुबेरकी परम प्रिय क्रीड़ास्थली है। इसमें मरणधर्मा मनुष्य विहार नहीं कर सकता ।। ४ ।।

देवर्षयस्तथा यक्षा देवाश्चात्र वृकोदर ।
आमन्त्र्य यक्षप्रवरं पिबन्ति रमयन्ति च ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव विहरन्त्यत्र पाण्डव ।। ५ ।।

वृकोदर! देवर्षि, यक्ष तथा देवता भी यक्षराज कुबेरकी अनुमति लेकर ही यहाँका जल पीते और इसमें विहार करते हैं। पाण्डुनन्दन! गन्धर्व और अप्सराएँ भी इसी नियमके अनुसार यहाँ विहार करती हैं ।। ५ ।।

अन्यायेनेह यः कश्चिदवमान्य धनेश्वरम् ।

विहर्तुमिच्छेद् दुर्वृत्तः स विनश्येन्न संशयः ।। ६ ।।

जो कोई दुराचारी पुरुष धनाध्यक्ष कुबेरकी अवहेलना करके अन्यायपूर्वक यहाँ विहार करना चाहेगा, वह नष्ट हो जायगा, इसमें संशय नहीं है ।। ६ ।।

तमनादृत्य पद्मानि जिहीर्षसि बलादृतः ।
धर्मराजस्य चात्मानं ब्रवीषि भ्रातरं कथम् ।। ७ ।।

भीमसेन! तुम अपने बलके घमंडमें आकर कुबेरकी अवहेलना करके यहाँसे कमलपुष्पोंका अपहरण करना चाहते हो। ऐसी दशामें अपने-आपको धर्मराजका भाई कैसे बता रहे हो? ।। ७ ।।

आमन्त्र्य यक्षराजं वै ततः पिब हरस्व च ।
नातोऽन्यथा त्वया शक्यं किंचित् पुष्करमीक्षितुम् ।। ८ ।।

पहले यक्षराजकी आज्ञा ले लो, उसके बाद इस सरोवरका जल पीओ और यहाँसे कमलके फूल ले जाओ। ऐसा किये बिना तुम यहाँके किसी कमलकी ओर देख भी नहीं सकते ।। ८ ।।

भीमसेन उवाच

राक्षसास्तं न पश्यामि धनेश्वरमिहान्तिके ।
दृष्ट्वापि च महाराजं नाहं याचितुमुत्सहे ।। ९ ।।
न हि याचन्ति राजान एष धर्मः सनातनः ।
न चाहं हातुमिच्छामि क्षात्रधर्मं कथंचन ।। १० ।।

भीमसेन बोले—राक्षसो! प्रथम तो मैं यहाँ आस-पास कहीं भी धनाध्यक्ष कुबेरको देख नहीं रहा हूँ, दूसरे यदि मैं उन महाराजको देख भी लूँ तो भी उनसे याचना नहीं कर सकता, क्योंकि क्षत्रिय किसीसे कुछ माँगते नहीं हैं, यही उनका सनातन धर्म है। मैं किसी तरह क्षात्र-धर्मको छोड़ना नहीं चाहता ।। ९-१० ।।

इयं च नलिनी रम्या जाता पर्वतनिर्झरे ।
नेयं भवनमासाद्य कुबेरस्य महात्मनः ।। ११ ।।

यह रमणीय सरोवर पर्वतीय झरनोंसे प्रकट हुआ है, यह महामना कुबेरके घरमें नहीं है ।। ११ ।।

तुल्या हि सर्वभूतानामियं वैश्रवणस्य च ।
एवं गतेषु द्रव्येषु कः कं याचितुमर्हति ।। १२ ।।

अतः इसपर अन्य सब प्राणियोंका और कुबेरका भी समान अधिकार है। ऐसी सार्वजनिक वस्तुओंके लिये कौन किससे याचना करेगा? ।। १२ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा राक्षसान् सर्वान् भीमसेनो ह्यमर्षणः ।

व्यगाहत महाबाहुर्नलिनीं तां महाबलः ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सभी राक्षसोंसे ऐसा कहकर अमर्षमें भरे हुए महाबली महाबाहु भीमसेन उस सरोवरमें प्रवेश करने लगे ।। १३ ।।

ततः स राक्षसैर्वाचा प्रतिषिद्धः प्रतापवान् ।
मा मैवमिति सक्रोधैर्भर्त्सयद्भिः समन्ततः ।। १४ ।।

उस समय क्रोधमें भरे राक्षस चारों ओरसे प्रतापी भीमको फटकारते हुए वाणीद्वारा रोकने लगे—'नहीं-नहीं, ऐसा न करो' ।। १४ ।।

कदर्थीकृत्य तु स तान् राक्षसान् भीमविक्रमः ।
व्यगाहत महातेजास्ते तं सर्वे न्यवारयन् ।। १५ ।।

परंतु भयंकर पराक्रमी महातेजस्वी भीम उन सब राक्षसोंकी अवहेलना करके उस जलाशयमें उतर ही गये। यह देख सब राक्षस उन्हें रोकनेकी चेष्टा करते हुए चिल्ला उठे — ।। १५ ।।

गृह्णीत बध्नीत विकर्ततेमं
पचाम खादाम च भीमसेनम् ।
क्रुद्धा ब्रुवन्तोऽभिययुर्द्रुतं ते
शस्त्राणि चोद्यम्य विवृत्तनेत्राः ।। १६ ।।

'अरे! इसे पकड़ो, बाँध लो, काट डालो, हम सब लोग इस भीमको पकायेंगे और खा जायँगे।' क्रोधपूर्वक उपर्युक्त बातें कहते और आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए वे सभी राक्षस शस्त्र उठाकर तुरंत उनकी ओर दौड़े ।। १६ ।।

ततः स गुर्वीं यमदण्डकल्पां
महागदां काञ्चनपट्टनद्धाम् ।
प्रगृह्य तानभ्यपतत् तरस्वी
ततोऽब्रवीत् तिष्ठत तिष्ठतेति ।। १७ ।।

तब भीमसेनने यमदण्डके समान विशाल और भारी गदा उठा ली, जिसपर सोनेका पत्र मढ़ा हुआ था। उसे लेकर वे बड़े वेगसे उन राक्षसोंपर टूट पड़े और ललकारते हुए बोले—'खड़े रहो, खड़े रहो' ।। १७ ।।

ते तं तदा तोमरपट्टिशाद्यै-
र्व्याविद्धशस्त्रैः सहसा निपेतुः ।
जिघांसवः क्रोधवशाः सुभीमा
भीमं समन्तात् परिवव्रुरुग्राः ।। १८ ।।
वातेन कुन्त्यां बलवान् सुजातः
शूरस्तरस्वी द्विषतां निहन्ता ।
सत्ये च धर्मे च रतः सदैव
पराक्रमे शत्रुभिरप्रधृष्यः ।। १९ ।।

यह देख वे भयंकर क्रोधवश नामक राक्षस भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे शत्रुओंके शस्त्रोंको नष्ट कर देनेवाले तोमर, पट्टिश आदि आयुधोंको लेकर सहसा उनकी ओर दौड़े और उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। वे सब-के-सब बड़े उग्र स्वभावके थे। इधर भीमसेन कुन्तीदेवीके गर्भसे वायु देवताके द्वारा उत्पन्न होनेके कारण बड़े बलवान्, शूरवीर, वेगशाली एवं शत्रुओंका वध करनेमें समर्थ थे। वे सदा ही सत्य एवं धर्ममें रत थे। पराक्रमी तो वे ऐसे थे कि अनेक शत्रु मिलकर भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते थे ।। १८-१९ ।।

तेषां स मार्गान् विविधान् महात्मा
विहत्य शस्त्राणि च शात्रवाणाम् ।

यथा प्रवीरान् निजघान भीमः
परं शतं पुष्करिणीसमीपे ।। २० ।।

महामना भीमने शत्रुओंके भाँति-भाँतिके पैंतरों तथा अस्त्र-शस्त्रोंको विफल करके उनके सौसे भी अधिक प्रमुख वीरोंको उस सरोवरके समीप मार गिराया ।। २० ।।

ते तस्य वीर्यं च बलं च दृष्ट्वा
विद्याबलं बाहुबलं तथैव ।
अशक्नुवन्तः सहितं समन्ताद्
द्रुतं प्रवीराः सहसा निवृत्ताः ।। २१ ।।

भीमसेनका पराक्रम, शारीरिक बल, विद्याबल और बाहुबल देखकर वे वीर राक्षस एक साथ संगठित होकर भी उनका वेग सहनेमें असमर्थ हो गये और सहसा सब ओरसे युद्ध छोड़कर निवृत्त हो गये ।। २१ ।।

विदीर्यमाणास्तत एव तूर्ण-
माकाशमास्थाय विमूढसंज्ञाः ।
कैलासशृङ्गाण्यभिदुद्रुवुस्ते
भीमार्दिताः क्रोधवशाः प्रभग्नाः ।। २२ ।।

भीमसेनकी मारसे क्षत-विक्षत एवं पीड़ित हो वे क्रोधवश नामक राक्षस अपनी सुध-बुध खो बैठे थे। अतः उनके पाँव उखड़ गये और वे तुरंत वहाँसे आकाशमें उड़कर कैलासके शिखरोंपर भाग गये ।। २२ ।।

स शक्रवद् दानवदैत्यसङ्घान्
विक्रम्य जित्वा च रणेऽरिसङ्घान् ।
विगाह्य तां पुष्करिणीं जितारिः
कामाय जग्राह ततोऽम्बुजानि ।। २३ ।।

शत्रुविजयी भीम इन्द्रकी भाँति पराक्रम करके दानव और दैत्योंके दलको युद्धमें हराकर उस सरोवरमें प्रविष्ट हो इच्छानुसार कमलोंका संग्रह करने लगे ।। २३ ।।

ततः स पीत्वामृतकल्पमम्भो
भूयो बभूवोत्तमवीर्यतेजाः ।
उत्पाट्य जग्राह च सोऽम्बुजानि
सौगन्धिकान्युत्तमगन्धवन्ति ।। २४ ।।

तदनन्तर उस सरोवरका अमृतके समान मधुर जल पीकर वे पुनः उत्तम बल और तेजसे सम्पन्न हो गये और श्रेष्ठ सुगन्धसे युक्त सौगन्धिक कमलोंको उखाड़-उखाड़कर संगृहीत करने लगे ।। २४ ।।

ततस्तु ते क्रोधवशाः समेत्य
धनेश्वरं भीमबलप्रणुन्नाः ।

भीमस्य वीर्यं च बलं च संख्ये
यथावदाचख्युरतीव भीताः ।। २५ ।।

तब भीमसेनके बलसे पीड़ित और अत्यन्त भयभीत हुए क्रोधवशोंने धनाध्यक्ष कुबेरके पास जाकर युद्धमें भीमके बल और पराक्रमका यथावत् वृत्तान्त कह सुनाया ।। २५ ।।

तेषां वचस्तत् तु निशम्य देवः
प्रहस्य रक्षांसि ततोऽभ्युवाच ।
गृह्णातु भीमो जलजानि कामात्
कृष्णानिमित्तं विदितं ममैतत् ।। २६ ।।

उनकी बातें सुनकर देवप्रवर कुबेरने हँसकर उन राक्षसोंसे कहा—'मुझे यह मालूम है। भीमसेनको द्रौपदीके लिये इच्छानुसार कमल ले लेने दो' ।। २६ ।।

ततोऽभ्यनुज्ञाप्य धनेश्वरं ते
जग्मुः कुरूणां प्रवरं विरोषाः ।
भीमं च तस्यां ददृशुर्नलिन्यां
यथोपजोषं विहरन्तमेकम् ।। २७ ।।

तब धनाध्यक्षकी आज्ञा पाकर वे राक्षस रोषरहित हो कुरुप्रवर भीमके पास गये और उन्हें अकेले ही उस सरोवरमें इच्छानुसार विहार करते देखा ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सौगन्धिकाहरणविषयक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५४ ।।

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

भयंकर उत्पात देखकर युधिष्ठिर आदिकी चिन्ता और सबका गन्धमादन-पर्वतपर सौगन्धिकवनमें भीमसेनके पास पहुँचना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तानि महार्हाणि दिव्यानि भरतर्षभ ।
बहूनि बहुरूपाणि विरजांसि समाददे ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ, तदनन्तर भीमसेनने अनेक प्रकारके बहुमूल्य, दिव्य और निर्मल बहुत-से सौगन्धिक कमल संगृहीत कर लिये ।। १ ।।

ततो वायुर्महान् शीघ्रो नीचैः शर्करकर्षणः ।
प्रादुरासीत् खरस्पर्शः संग्राममभिचोदयन् ।। २ ।।

इसी समय गन्धमादन पर्वतपर तीव्र वेगसे बड़े जोरकी आँधी उठी, जो नीचे कंकड़-बालूकी वर्षा करनेवाली थी। उसका स्पर्श तीक्ष्ण था। वह किसी भारी संग्रामकी सूचना देनेवाली थी ।। २ ।।

पपात महती चोल्का सनिर्घाता महाभया ।
निष्प्रभश्चाभवत् सूर्यश्छन्नरश्मिस्तमोवृतः ।। ३ ।।

वज्रकी गड़गड़ाहटके साथ अत्यन्त भयदायक भारी उल्कापात होने लगा। सूर्य अन्धकारसे आवृत हो प्रभाशून्य हो गये। उनकी किरणें आच्छादित हो गयीं ।। ३ ।।

निर्घातश्चाभवद् भीमो भीमे विक्रममास्थिते ।
चचाल पृथिवी चापि पांसुवर्षं पपात च ।। ४ ।।

जिस समय भीम राक्षसोंके साथ युद्धमें भारी पराक्रम दिखा रहे थे, उस समय पृथ्वी हिलने लगी, आकाशमें भीषण गर्जना होने लगी और धूलकी वर्षा आरम्भ हो गयी ।। ४ ।।

सलोहिता दिशश्चासन् खरवाचो मृगद्विजाः ।
तमोवृतमभूत् सर्वं न प्राज्ञायत किंचन ।। ५ ।।

सम्पूर्ण दिशाएँ लाल हो गयी, मृग और पक्षी कठोर शब्द करने लगे, सारा जगत् अन्धकारसे आच्छन्न हो गया और किसीको कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ।। ५ ।।

अन्ये च बहवो भीमा उत्पातास्तत्र जज्ञिरे ।
तदद्भुतमभिप्रेक्ष्य धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।। ६ ।।
उवाच वदतां श्रेष्ठः कोऽस्मानभिभविष्यति ।
सज्जीभवत भद्रं वः पाण्डवा युद्धदुर्मदाः ।। ७ ।।

यथारूपाणि पश्यामि स्वभ्यग्रो नः पराक्रमः ।
एवमुक्त्वा ततो राजा वीक्षाञ्चक्रे समन्ततः ।। ८ ।।

इसके सिवा और भी बहुत-से भयानक उत्पात वहाँ प्रकट होने लगे। यह अद्भुत घटना देखकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ धर्मपुत्र युधिष्ठिरने कहा—'कौन हम लोगोंको पराजित कर सकेगा? रणोन्मत्त पाण्डवो! तुम्हारा भला हो, तुम युद्धके लिये तैयार हो जाओ। मैं जैसे लक्षण देख रहा हूँ, उससे पता लगता है कि हमारे लिये पराक्रम दिखानेका समय अत्यन्त निकट आ गया है।' ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिरने चारों ओर दृष्टिपात किया ।। ६—८ ।।

अपश्यमानो भीमं तु धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ततः कृष्णां यमौ चापि समीपस्थावरिंदमः ।। ९ ।।
पप्रच्छ भ्रातरं भीमं भीमकर्माणमाहवे ।
कच्चित् क्व भीमः पाञ्चालि किंचित् कृत्यं चिकीर्षति ।। १० ।।

जब भीम नहीं दिखायी दिये, तब शत्रुदमन धर्मनन्दन युधिष्ठिरने द्रौपदी तथा पास ही बैठे हुए नकुल-सहदेवसे अपने भाई भीमके सम्बन्धमें, जो रणभूमिमें भयानक कर्म करनेवाले थे, पूछा—'पांचाल-राजकुमारी! भीमसेन कहाँ है? क्या वे कोई काम करना चाहते हैं? ।। ९-१० ।।

कृतवानपि वा वीरः साहसं साहसप्रियः ।
इमे ह्यकस्मादुत्पाता महासमरदर्शनाः ।। ११ ।।

'अथवा साहसप्रेमी वीरवर भीमने कोई साहसका कार्य तो नहीं कर डाला? यह अकस्मात् प्रकट हुए उत्पात महान् युद्धके सूचक हैं ।। ११ ।।

दर्शयन्तो भयं तीव्रं प्रादुर्भूताः समन्ततः ।
तं तथावादिनं कृष्णा प्रत्युवाच मनस्विनी ।
प्रिया प्रियं चिकीर्षन्ती महिषी चारुहासिनी ।। १२ ।।

'ये चारों ओर तीव्र भयका प्रदर्शन करते हुए प्रकट हो रहे हैं।' धर्मराज युधिष्ठिरको ऐसी बातें करते देख मनोहर मुसकानवाली मनस्विनी महारानी पतिप्रिया द्रौपदीने उनका प्रिय करनेकी इच्छासे इस प्रकार उत्तर दिया ।।

द्रौपद्युवाच

यत् तत् सौगन्धिकं राजन्नाहृतं मातरिश्वना ।
तन्मया भीमसेनस्य प्रीतयाद्योपपादितम् ।। १३ ।।
अपि चोक्तो मया वीरो यदि पश्येर्बहून्यपि ।
तानि सर्वाण्युपादाय शीघ्रमागम्यतामिति ।। १४ ।।

द्रौपदी बोली—राजन्! आज जो सौगन्धिक पुष्प वायु उड़ा लायी थी, उसे मैंने प्रसन्नतापूर्वक भीमसेनको दिया और उन वीरशिरोमणिसे यह भी कहा कि 'यदि इसी

तरहके बहुत-से पुष्प तुम्हें दिखायी दें, तो उन सबको लेकर शीघ्र यहाँ लौट आना' ।। १३-१४ ।।

स तु नूनं महाबाहुः प्रियार्थं मम पाण्डवः ।
प्रागुदीचीं दिशं राजंस्तान्याहर्तुमितो गतः ।। १५ ।।

महाराज! मालूम होता है कि वे महाबाहु पाण्डुकुमार निश्चय ही मेरा प्रिय करनेके लिये उन्हीं फूलोंको लानेके निमित्त यहाँसे पूर्वोत्तर दिशाको गये हैं ।। १५ ।।

उक्तस्त्वेवं तया राजा यमाविदमथाब्रवीत् ।
गच्छाम सहितास्तूर्णं येन यातो वृकोदरः ।। १६ ।।

द्रौपदीके ऐसा कहनेपर राजा युधिष्ठिरने नकुल-सहदेवसे इस प्रकार कहा—'अब हम लोग भी एक साथ शीघ्र ही उस मार्गपर चलें' जिससे भीमसेन गये हैं ।। १६ ।।

वहन्तु राक्षसा विप्रान् यथाश्रान्तान् यथाकृशान् ।
त्वमप्यमरसंकाश वह कृष्णां घटोत्कच ।। १७ ।।

'देवताओंके समान तेजस्वी घटोत्कच! तुम्हारे साथी राक्षस लोग इन ब्राह्मणोंको, जो जैसे थके और दुर्बल हों, उसके अनुसार कंधेपर बिठाकर ले चलें और तुम भी द्रौपदीको ले चलो ।। १७ ।।

व्यक्तं दूरमितो भीमः प्रविष्ट इति मे मतिः ।
चिरं च तस्य कालोऽयं स च वायुसमो जवे ।। १८ ।।
तरस्वी वैनतेयस्य सदृशो भुवि लंघने ।
उत्पतेदपि चाकाशं निपतेच्च यथेच्छकम् ।। १९ ।।

'यह स्पष्ट जान पड़ता है कि भीमसेन यहाँसे बहुत दूर चले गये हैं, मेरा यही विश्वास है। क्योंकि उनको गये बहुत समय हो गया है तथा वे वेगमें वायुके समान हैं और इस पृथ्वीको लाँघनेमें गरुड़के समान शीघ्रगामी हैं। वे आकाशमें छलाँग मार सकते हैं और इच्छानुसार कहीं भी कूद सकते हैं ।। १८-१९ ।।

तमन्वियाम भवतां प्रभावाद् रजनीचराः ।
पुरा स नापराध्नोति सिद्धानां ब्रह्मवादिनाम् ।। २० ।।

'निशाचरो! भीमसेन ब्रह्मवादी सिद्धोंका कुछ अपराध न कर पावें, इसके पहले ही तुम्हारे प्रभावसे हम उन्हें ढूँढ़ निकालें' ।। २० ।।

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे हैडिम्बप्रमुखास्तदा ।
उद्देशज्ञाः कुबेरस्य नलिन्या भरतर्षभ ।। २१ ।।
आदाय पाण्डवांश्चैव तांश्च विप्राननेकशः ।
लोमशेनैव सहिताः प्रययुः प्रीतमानसाः ।। २२ ।।

जनमेजय! तब कुबेरके उस सरोवरका पता जाननेवाले उन घटोत्कच आदि सब राक्षसोंने 'तथास्तु' कहकर पाण्डवों तथा उन अनेकानेक ब्राह्मणोंको कंधेपर बैठाकर

लोमशजीके साथ वहाँसे प्रसन्नतापूर्वक प्रस्थान किया ।। २१-२२ ।।

ते सर्वे त्वरिता गत्वा ददृशुः शुभकाननाम् ।
पद्मसौगन्धिकवतीं नलिनीं सुमनोरमाम् ।। २३ ।।

उन सबने शीघ्रतापूर्वक जाकर सुन्दर वनस्थलीसे सुशोभित वह अत्यन्त मनोरम सरोवर देखा, जिसमें सौगन्धिक कमल थे ।। २३ ।।

तं च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे मनस्विनम् ।
ददृशुर्निहतांश्चैव यक्षांश्च विपुलेक्षणान् ।। २४ ।।
भिन्नकायाक्षिबाहूरून् संचूर्णितशिरोधरान् ।
तं च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे व्यवस्थितम् ।। २५ ।।

उसके तटपर मनस्वी महामना भीमको तथा उनके द्वारा मारे गये बड़े-बड़े नेत्रोंवाले यक्षोंको भी देखा—जिनके शरीर, नेत्र, भुजाएँ और जाँघें छिन्न-भिन्न हो गयी थीं, गर्दन कुचल दी गयी थी, महात्मा भीम उस सरोवरके तटपर खड़े थे ।। २४-२५ ।।

सक्रोधं स्तब्धनयनं संदष्टदशनच्छदम् ।
उद्यम्य च गदां दोर्भ्यां नदीतीरेष्ववस्थितम् ।। २६ ।।

उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ था। उनकी आँखें स्तब्ध हो रही थीं। वे दोनों हाथोंसे गदा उठाये और दाँतोंसे ओठ दबाये नदीके तटपर खड़े थे ।। २६ ।।

प्रजासंक्षेपसमये दण्डहस्तमिवान्तकम् ।
तं दृष्ट्वा धर्मराजस्तु परिष्वज्य पुनः पुनः ।। २७ ।।

उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो प्रजाके संहारकालमें दण्ड हाथमें लिये यमराज खड़े हों। भीमसेनको उस अवस्थामें देखकर धर्मराजने उन्हें बार-बार हृदयसे लगाया ।। २७ ।।

उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेय किमिदं कृतम् ।
साहसं बत भद्रं ते देवानामथ चाप्रियम् ।। २८ ।।

और मधुर वाणीमें कहा—‘कुन्तीनन्दन! यह तुमने क्या कर डाला? तुम्हारा कल्याण हो। खेदके साथ कहना पड़ता है कि तुम्हारा यह कार्य साहसपूर्ण है और देवताओंके लिये अप्रिय है ।। २८ ।।

पुनरेवं न कर्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम् ।
अनुशिष्य तु कौन्तेयं पद्मानि परिगृह्य च ।। २९ ।।
तस्यामेव नलिन्यां तु विजह्रुरमरोपमाः ।
एतस्मिन्नेव काले तु प्रगृहीतशिलायुधाः ।। ३० ।।
प्रादुरासन् महाकायास्तस्योद्यानस्य रक्षिणः ।
ते दृष्ट्वा धर्मराजानं महर्षिं चापि लोमशम् ।। ३१ ।।
नकुलं सहदेवं च तथान्यान् ब्राह्मणर्षभान् ।

विनयेन नताः सर्वे प्रणिपत्य च भारत ।। ३२ ।।
सान्त्विता धर्मराजेन प्रसेदुः क्षणदाचराः ।
विदिताश्च कुबेरस्य तत्र ते कुरुपुङ्गवाः ।। ३३ ।।
ऊषुर्नातिचिरं कालं रममाणाः कुरूद्वहाः ।
प्रतीक्षमाणा बीभत्सुं गन्धमादनसानुषु ।। ३४ ।।

'यदि मेरा प्रिय करना चाहते हो तो फिर ऐसा काम न करना।' भीमसेनको ऐसा उपदेश देकर उन्होंने पूर्वोक्त सौगन्धिक कमल ले लिये और वे देवोपम पाण्डव उसी सरोवरके तटपर इधर-उधर भ्रमण करने लगे। इसी समय शिलाओंको आयुधरूपमें ग्रहण किये, बहुत-से विशालकाय उद्यानरक्षक वहाँ प्रकट हो गये। भारत! उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिर, महर्षि लोमश, नकुल-सहदेव तथा अन्यान्य श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको विनयपूर्वक नतमस्तक होकर प्रणाम किया। फिर धर्मराज युधिष्ठिरने उन्हें सान्त्वना दी। इससे वे निशाचर (राक्षस) प्रसन्न हो गये। तदनन्तर वे कुरुप्रवर पाण्डव धनाध्यक्ष कुबेरकी जानकारीमें कुछ कालतक वहाँ आनन्दपूर्वक टिके रहे और गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर अर्जुनके आगमनकी प्रतीक्षा करते रहे ।। २९—३४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां सौगन्धिकाहरणे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें सौगन्धिकाहरणविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५५ ।।

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका आकाशवाणीके आदेशसे पुनः नर-नारायणाश्रममें लौटना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् निवसमानोऽथ धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कृष्णया सहितान् भ्रातॄनित्युवाच सहद्विजान् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस सौगन्धिक सरोवरके तटपर निवास करते हुए धर्मराज युधिष्ठिरने एक दिन ब्राह्मणों तथा द्रौपदीसहित अपने भाइयोंसे इस प्रकार कहा— ।। १ ।।

दृष्टानि तीर्थान्यस्माभिः पुण्यानि च शिवानि च ।
मनसो ह्लादनीयानि वनानि च पृथक् पृथक् ।। २ ।।

'हम लोगोंने अनेक पुण्यदायक एवं कल्याण-स्वरूप तीर्थोंके दर्शन किये। मनको आह्लाद प्रदान करनेवाले भिन्न-भिन्न वनोंका भी अवलोकन किया ।। २ ।।

देवैः पूर्वं विचीर्णानि मुनिभिश्च महात्मभिः ।
यथाक्रमविशेषेण द्विजैः सम्पूजितानि च ।। ३ ।।

'वे तीर्थ और वन ऐसे थे, जहाँ पूर्वकालमें देवता और महात्मा, मुनि विचरण कर चुके हैं तथा क्रमशः अनेक द्विजोंने उनका समादर किया है ।। ३ ।।

ऋषीणां पूर्वचरितं तथा कर्म विचेष्टितम् ।
राजर्षीणां च चरितं कथाश्च विविधाः शुभाः ।। ४ ।।
शृण्वानास्तत्र तत्र स्म आश्रमेषु शिवेषु च ।
अभिषेकं द्विजैः सार्धं कृतवन्तो विशेषतः ।। ५ ।।

'हमने ऋषियोंके पूर्वचरित्र, कर्म और चेष्टाओंकी कथा सुनी है। राजर्षियोंके भी चरित्र और भाँति-भाँतिकी शुभ कथाएँ सुनते हुए मंगलमय आश्रमोंमें विशेषतः ब्राह्मणोंके साथ तीर्थस्नान किया है ।। ४-५ ।।

अर्चिताः सततं देवाः पुष्पैरद्भिः सदा च वः ।
यथालब्धैर्मूलफलैः पितरश्चापि तर्पिताः ।। ६ ।।

'हमने सदा फूल और जलसे देवताओंकी पूजा की है और यथाप्राप्त फल-मूलसे पितरोंको भी तृप्त किया है ।। ६ ।।

पर्वतेषु च रम्येषु सर्वेषु च सरस्सु च ।
उदधौ च महापुण्ये सूपस्पृष्टं महात्मभिः ।। ७ ।।

‘रमणीय पर्वतों और समस्त सरोवरोंमें विशेषतः परम पुण्यमय समुद्रके जलमें इन महात्माओंके साथ भलीभाँति स्नान एवं आचमन किया है ।। ७ ।।

इला सरस्वती सिन्धुर्यमुना नर्मदा तथा ।
नानातीर्थेषु रम्येषु सूपस्पृष्टं सह द्विजैः ।। ८ ।।

‘इला, सरस्वती, सिंधु, यमुना तथा नर्मदा आदि नाना रमणीय तीर्थोंमें भी ब्राह्मणोंके साथ विधिवत् स्नान और आचमन किया है ।। ८ ।।

गङ्गाद्वारमतिक्रम्य बहवः पर्वताः शुभाः ।
हिमवान् पर्वतश्चैव नानाद्विजगणायुतः ।। ९ ।।

‘गंगाद्वार (हरिद्वार)-को लाँघकर बहुत-से मंगलमय पर्वत देखे तथा बहुसंख्यक ब्राह्मणोंसे युक्त हिमालय पर्वतका भी दर्शन किया ।। ९ ।।

विशाला बदरी दृष्टा नरनारायणाश्रमः ।
दिव्या पुष्करिणी दृष्टा सिद्धदेवर्षिपूजिता ।। १० ।।

‘विशाल बदरीतीर्थ, भगवान् नर-नारायणके आश्रम तथा सिद्धों और देवर्षियोंसे पूजित इस दिव्य सरोवरका भी दर्शन किया ।। १० ।।

यथाक्रमविशेषेण सर्वाण्यायतनानि च ।
दर्शितानि द्विजश्रेष्ठा लोमशेन महात्मना ।। ११ ।।

‘विप्रवरो! महात्मा लोमशजीने हमें सभी पुण्य-स्थानोंके क्रमशः दर्शन कराये हैं ।। ११ ।।

इमं वैश्रवणावासं पुण्यं सिद्धनिषेवितम् ।
कथं भीम गमिष्यामो गतिरन्तरधीयताम् ।। १२ ।।

‘भीमसेन! यह सिद्धसेवित पुण्यप्रदेश कुबेरका निवासस्थान है। अब हम कुबेरके भवनमें कैसे प्रवेश करेंगे? इसका उपाय सोचो’ ।। १२ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति राजेन्द्रे वागुवाचाशरीरिणी ।
न शक्यो दुर्गमो गन्तुमितो वैश्रवणाश्रमात् ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज युधिष्ठिरके ऐसा कहते ही आकाशवाणी बोल उठी—‘कुबेरके इस आश्रमसे आगे जाना सम्भव नहीं है। यह मार्ग अत्यन्त दुर्गम है ।। १३ ।।

अनेनैव पथा राजन् प्रतिगच्छ यथागतम् ।
नरनारायणस्थानं बदरीत्यभिविश्रुतम् ।। १४ ।।

‘राजन्! जिससे तुम आये हो, उसी मार्गसे विशाला बदरीके नामसे विख्यात भगवान् नर-नारायणके स्थानको लौट जाओ ।। १४ ।।

तस्माद् यास्यसि कौन्तेय सिद्धचारणसेवितम् ।

बहुपुष्पफलं रम्यमाश्रमं वृषपर्वणः ।। १५ ।।

‘कुन्तीकुमार! वहाँसे तुम प्रचुर फल-फूलसे सम्पन्न वृषपर्वाके रमणीय आश्रमपर जाओ, जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं ।। १५ ।।

अतिक्रम्य च तं पार्थ त्वार्ष्टिषेणाश्रमे वसेः ।
ततो द्रक्ष्यसि कौन्तेय निवेशं धनदस्य च ।। १६ ।।

‘उस आश्रमको भी लाँघकर आर्ष्टिषेणके आश्रमपर जाना और वहीं निवास करना। तदनन्तर तुम्हें धनदाता कुबेरके निवासस्थानका दर्शन होगा’ ।। १६ ।।

एतस्मिन्नन्तरे वायुर्दिव्यगन्धवहः शुचिः ।
सुखप्रह्लादनः शीतः पुष्पवर्षं ववर्ष च ।। १७ ।।

इसी समय दिव्य सुगन्धसे परिपूर्ण पवित्र वायु चलने लगी, जो शीतल तथा सुख और आह्लाद देनेवाली थी। साथ ही वहाँ फूलोंकी वर्षा होने लगी ।। १७ ।।

श्रुत्वा तु दिव्यामाकाशाद् वाचं सर्वे विसिस्मियुः ।
ऋषीणां ब्राह्मणानां च पार्थिवानां विशेषतः ।। १८ ।।

वह दिव्य आकाशवाणी सुनकर सबको बड़ा विस्मय हुआ। ऋषियों, ब्राह्मणों और विशेषतः राजर्षियोंको अधिक आश्चर्य हुआ ।। १८ ।।

श्रुत्वा तन्महदाश्चर्यं द्विजो धौम्योऽब्रवीत् तदा ।
न शक्यमुत्तरं वक्तुमेवं भवतु भारत ।। १९ ।।

वह महान् आश्चर्यजनक बात सुनकर विप्रर्षि धौम्यने कहा—‘भारत! इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। ऐसा ही होना चाहिये’ ।। १९ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रतिजग्राह तद् वचः ।
प्रत्यागम्य पुनस्तं तु नरनारायणाश्रमम् ।। २० ।।
भीमसेनादिभिः सर्वैर्भ्रातृभिः परिवारितः ।
पाञ्चाल्या ब्राह्मणाश्चैव न्यवसन्त सुखं तदा ।। २१ ।।

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने वह आकाशवाणी स्वीकार कर ली और पुनः नर-नारायणके आश्रममें लौटकर भीमसेन आदि सब भाइयों और द्रौपदीके साथ वहीं रहने लगे। उस समय साथ आये हुए ब्राह्मण लोग भी वहीं सुखपूर्वक निवास करने लगे ।। २०-२१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां पुनर्नरनारायणाश्रमागमने षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें लोमशतीर्थयात्राके प्रसंगमें पाण्डवोंका पुनः नर-नारायणके आश्रममें आगमनविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५६ ।।

(जटासुरवधपर्व)

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

जटासुरके द्वारा द्रौपदीसहित युधिष्ठिर, नकुल, सहदेवका हरण तथा भीमसेनद्वारा जटासुरका वध

वैशम्पायन उवाच

ततस्तान् परिविश्वस्तान् वसतस्तत्र पाण्डवान् ।
पर्वतेन्द्रे द्विजैः सार्धं पार्थागमनकाङ्क्षया ।। १ ।।
गतेषु तेषु रक्षःसु भीमसेनात्मजेऽपि च ।
रहितान् भीमसेनेन कदाचित् तान् यदृच्छया ।। २ ।।
जहार धर्मराजानं यमौ कृष्णां च राक्षसः ।
ब्राह्मणो मन्त्रकुशलः सर्वशास्त्रविदुत्तमः ।। ३ ।।
इति ब्रुवन् पाण्डवेयान् पर्युपास्ते स्म नित्यदा ।
परीप्समानः पार्थानां कलापानि धनूंषि च ।। ४ ।।
अन्तरं सम्परिप्रेप्सुर्द्रौपद्या हरणं प्रति ।
दुष्टात्मा पापबुद्धिः स नाम्ना ख्यातो जटासुरः ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पर्वतराज गन्धमादनपर सब पाण्डव अर्जुनके आनेकी प्रतीक्षा करते हुए ब्राह्मणोंके साथ निःशंक रहने लगे। उन्हें पहुँचानेके लिये आये हुए राक्षस चले गये। भीमसेनका पुत्र घटोत्कच भी विदा हो गया। तत्पश्चात् एक दिनकी बात है, भीमसेनकी अनुपस्थितिमें अकस्मात् एक राक्षसने धर्मराज युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदीको हर लिया। वह ब्राह्मणके वेषमें प्रतिदिन उन्हींके साथ रहता था और सब पाण्डवोंसे कहता था कि 'मैं सम्पूर्ण शास्त्रोंमें श्रेष्ठ और मन्त्र-कुशल ब्राह्मण हूँ।' वह कुन्तीकुमारोंके तरकस और धनुषको भी हर लेना चाहता था और द्रौपदीका अपहरण करनेके लिये सदा अवसर ढूँढ़ता रहता था। उस दुष्टात्मा एवं पापबुद्धि राक्षसका नाम जटासुर था ।।

पोषणं तस्य राजेन्द्र चक्रे पाण्डवनन्दनः ।
बुबुधे न च तं पापं भस्मच्छन्नमिवानलम् ।। ६ ।।

जनमेजय! पाण्डवोंको आनन्द प्रदान करनेवाले युधिष्ठिर अन्य ब्राह्मणोंकी तरह उसका भी पालन-पोषण करते थे। परंतु राखमें छिपी हुई आगकी भाँति उस पापीके

असली स्वरूपको वे नहीं जानते थे ।। ६ ।।

स भीमसेने निष्क्रान्ते मृगयार्थमरिन्दम ।
घटोत्कचं सानुचरं दृष्ट्वा विप्रद्रुतं दिशः ।। ७ ।।
लोमशप्रभृतींस्तांस्तु महर्षींश्च समाहितान् ।
स्नातुं विनिर्गतान् दृष्ट्वा पुष्पार्थं च तपोधनान् ।। ८ ।।
रूपमन्यत् समास्थाय विकृतं भैरवं महत् ।
गृहीत्वा सर्वशस्त्राणि द्रौपदीं परिगृह्य च ।। ९ ।।
प्रातिष्ठत स दुष्टात्मा त्रीन् गृहीत्वा च पाण्डवान् ।
सहदेवस्तु यत्नेन ततोऽपक्रम्य पाण्डवः ।। १० ।।
विक्रम्य कौशिकं खड्गं मोक्षयित्वा ग्रहं रिपोः ।
आक्रन्दद् भीमसेनं वै येन यातो महाबलः ।। ११ ।।

शत्रुसूदन! हिंसक पशुओंको मारनेके लिये भीमसेनके आश्रमसे बाहर चले जानेपर उस राक्षसने देखा कि घटोत्कच अपने सेवकोंसहित किसी अज्ञात दिशाको चला गया, लोमश आदि महर्षि ध्यान लगाये बैठे हैं तथा दूसरे तपोधन स्नान करने और फूल लानेके लिये कुटियासे बाहर निकल गये हैं, तब उस दुष्टात्माने विशाल, विकराल एवं भयंकर दूसरा रूप धारण करके पाण्डवोंके सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र, द्रौपदी तथा तीनों पाण्डवोंको भी लेकर वहाँसे प्रस्थान कर दिया। उस समय पाण्डु-कुमार सहदेव प्रयत्न करके उस राक्षसकी पकड़से छूट गये और पराक्रम करके म्यानसे निकली हुई अपनी तलवारको भी उससे छुड़ा लिया। फिर वे महाबली भीमसेन जिस मार्गसे गये थे, उधर ही जाकर उन्हें जोर-जोरसे पुकारने लगे ।। ७—११ ।।

तमब्रवीद् धर्मराजो ह्रियमाणो युधिष्ठिरः ।
धर्मस्ते हीयते मूढ न तत्त्वं समवेक्षसे ।। १२ ।।

इधर जिन्हें वह जटासुर हरकर लिये जा रहा था 'वे धर्मराज युधिष्ठिर उससे इस प्रकार बोले—'अरे मूर्ख! इस प्रकार (विश्वासघात करनेसे) तो तेरे धर्मका ही नाश हो रहा है। किंतु उधर तेरी दृष्टि नहीं जाती है ।।

येऽन्ये क्वचिन्मनुष्येषु तिर्यग्योनिगताश्च ये ।
धर्मं ते समवेक्षन्ते रक्षांसि च विशेषतः ।। १३ ।।

'दूसरे भी जहाँ कहीं मनुष्य अथवा पशु-पक्षीकी योनिमें स्थित प्राणी हैं, वे सभी धर्मपर दृष्टि रखते हैं। राक्षस तो (पशु-पक्षीकी अपेक्षा भी) विशेषरूपसे धर्मका विचार करते हैं ।। १३ ।।

धर्मस्य राक्षसा मूलं धर्मं ते विदुरुत्तमम् ।
एतत् परीक्ष्य सर्वं त्वं समीपे स्थातुमर्हसि ।। १४ ।।
देवाश्च ऋषयः सिद्धाः पितरश्चापि राक्षस ।
गन्धर्वोरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ।। १५ ।।
तिर्यग्योनिगताश्चैव अपि कीटपिपीलिकाः ।
मनुष्यानुपजीवन्ति ततस्त्वमपि जीवसि ।। १६ ।।

'राक्षस धर्मके मूल हैं। वे उत्तम धर्मका ज्ञान रखते हैं। इन सब बातोंका विचार करके तुझे हमलोगोंके समीप ही रहना चाहिये। राक्षस! देवता, ऋषि, सिद्ध, पितर, गन्धर्व, नाग, राक्षस, पशु, तिर्यग्योनिके सभी प्राणी और कीड़े-मकोड़े, चींटी आदि भी मनुष्योंके आश्रित हो जीवन-निर्वाह करते हैं। इस दृष्टिसे तू भी मनुष्योंसे ही जीविका चलाता है ।। १४—१६ ।।

समृद्धया ह्यस्य लोकस्य लोको युष्माकमृध्यति ।
इमं च लोकं शोचन्तमनुशोचन्ति देवताः ।। १७ ।।

'इस मनुष्यलोककी समृद्धिसे ही तुम सब लोगोंका लोक समृद्धिशाली होता है। यदि इस लोककी दशा शोचनीय हो तो देवता भी शोकमें पड़ जाते हैं ।। १७ ।।

पूज्यमानाश्च वर्धन्ते हव्यकव्यैर्यथाविधि ।
वयं राष्ट्रस्य गोप्तारो रक्षितारश्च राक्षस ।। १८ ।।

'क्योंकि मनुष्यद्वारा हव्य और कव्यसे विधिपूर्वक पूजित होनेपर उनकी वृद्धि होती है। राक्षस! हमलोग राष्ट्रके पालक और संरक्षक हैं ।। १८ ।।

राष्ट्रस्यारक्ष्यमाणस्य कुतो भूतिः कुतः सुखम् ।
न च राजावमन्तव्यो रक्षसा जात्वनागसि ।। १९ ।।

'हमारे द्वारा रक्षित न होनेपर राष्ट्रको कैसे समृद्धि प्राप्त होगी और कैसे उसे सुख मिलेगा? राक्षसको भी उचित है कि वह बिना अपराधके कभी किसी राजाका अपमान न करे ।। १९ ।।

अणुरप्यपचारश्च नास्त्यस्माकं नराशन ।
विघसाशान् यथाशक्त्या कुर्महे देवतादिषु ।। २० ।।

'नरभक्षी निशाचर! तेरे प्रति हमलोगोंकी ओरसे थोड़ा-सा भी अपराध नहीं हुआ है। हम देवता आदिको समर्पित करके बचे हुए प्रसादस्वरूप अन्नका यथाशक्ति गुरुजनों और ब्राह्मणोंको भोजन कराते हैं ।। २० ।।

गुरूंश्च ब्राह्मणांश्चैव प्रणामप्रवणाः सदा ।
द्रोग्धव्यं न च मित्रेषु न विश्वस्तेषु कर्हिचित् ।। २१ ।।

'गुरुजनों तथा ब्राह्मणोंके सम्मुख हमारा मस्तक सदा झुका रहता है। किसी भी पुरुषको कभी अपने मित्रों और विश्वासी पुरुषोंके साथ द्रोह नहीं करना चाहिये ।। २१ ।।

येषां चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात् प्रतिश्रयः ।
स त्वं प्रतिश्रयेऽस्माकं पूज्यमानः सुखोषितः ।। २२ ।।

'जिनका अन्न खाये और जहाँ अपनेको आश्रय मिला हो, उनके साथ भी द्रोह या विश्वासघात करना उचित नहीं है। तू हमारे आश्रयमें हमलोगोंसे सम्मानित होकर सुखपूर्वक रहा है ।। २२ ।।

भुक्त्वा चान्नानि दुष्प्रज्ञ कथमस्मान् जिहीर्षसि ।

एवमेव वृथाचारो वृथावृद्धो वृथामतिः ।। २३ ।।

'खोटी बुद्धिवाले राक्षस! तू हमारा अन्न खाकर हमें ही हर ले जानेकी इच्छा कैसे करता है? इस प्रकार तो अबतक तूने ब्राह्मणरूपसे जो आचार दिखाया था, वह सब व्यर्थ ही था। तेरा बढ़ना या वृद्ध होना भी व्यर्थ ही है। तेरी बुद्धि भी व्यर्थ है ।। २३ ।।

वृथामरणमर्हश्च वृथाद्य न भविष्यसि ।
अथ चेद् दुष्टबुद्धिस्त्वं सर्वैर्धर्मैर्विवर्जितः ।। २४ ।।
प्रदाय शस्त्राण्यस्माकं युद्धेन द्रौपदीं हर ।
अथ चेत् त्वमविज्ञानादिदं कर्म करिष्यसि ।। २५ ।।
अधर्मं चाप्यकीर्तिं च लोके प्राप्स्यसि केवलम् ।
एतामद्य परामृश्य स्त्रियं राक्षस मानुषीम् ।। २६ ।।
विषमेतत् समालोड्य कुम्भेन प्राशितं त्वया ।
ततो युधिष्ठिरस्तस्य गुरुकः समपद्यत ।। २७ ।।

'ऐसी दशामें तू व्यर्थ मृत्युका ही अधिकारी है और आज व्यर्थ ही तुम्हारे प्राण नष्ट हो जायँगे। यदि तेरी बुद्धि दुष्टतापर ही उतर आयी है और तू सम्पूर्ण धर्मोंको भी छोड़ बैठा है, तो हमें हमारे अस्त्र देकर युद्ध कर तथा उसमें विजयी होनेपर द्रौपदीको ले जा। यदि तू अज्ञानवश यह विश्वासघात या अपहरण कर्म करेगा, तो संसारमें तुझे केवल अधर्म और अकीर्ति ही प्राप्त होगी। निशाचर! आज तूने इस मानवजातिकी स्त्रीका स्पर्श करके जो पाप किया है, यह भयंकर विष है, जिसे तूने घड़ेमें घोलकर पी लिया है।' इतना कहकर युधिष्ठिर उसके लिये बहुत भारी हो गये ।। २४—२७ ।।

स तु भाराभिभूतात्मा न तथा शीघ्रगोऽभवत् ।
अथाब्रवीद् द्रौपदीं च नकुलं च युधिष्ठिरः ।। २८ ।।

भारसे उसका शरीर दबने लगा, इसलिये अब वह पहलेकी तरह शीघ्रतापूर्वक न चल सका। तब युधिष्ठिरने नकुल और द्रौपदीसे कहा— ।। २८ ।।

मा भैष्ट राक्षसान्मूढाद् गतिरस्य मया हृता ।
नातिदूरे महाबाहुर्भविता पवनात्मजः ।। २९ ।।

'तुमलोग इस मूढ़ राक्षससे डरना मत। मैंने इसकी गति कुण्ठित कर दी है। वायुपुत्र महाबाहु भीमसेन यहाँसे अधिक दूर नहीं होंगे ।। २९ ।।

अस्मिन् मुहुर्ते सम्प्राप्ते न भविष्यति राक्षसः ।
सहदेवस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं मूढचेतनम् ।। ३० ।।
उवाच वचनं राजन् कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
राजन् किंनाम सत्कृत्यं क्षत्रियस्यास्त्यतोऽधिकम् ।। ३१ ।।
यद् युद्धेऽभिमुखः प्राणांस्त्यजेच्छत्रुं जयेत वा ।
एष चास्मान् वयं चैनं युद्धयमानाः परंतप ।। ३२ ।।

सूदयेम महाबाहो देशकालो ह्ययं नृप ।
क्षत्रधर्मस्य सम्प्राप्तः कालः सत्यपराक्रमः ।। ३३ ।।

'इस आगामी मुहूर्तके आते ही इस राक्षसके प्राण नहीं रहेंगे।' इधर सहदेवने उस मूढ़ राक्षसकी ओर देखते हुए कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! क्षत्रियके लिये इससे अधिक सत्कर्म क्या होगा कि वह युद्धमें शत्रुका सामना करते हुए प्राणोंका त्याग कर दे अथवा शत्रुको ही जीत ले। राजन्! इस प्रकार यह हमें अथवा हम इसे युद्ध करते हुए मार डालें। परंतप महाबाहु नरेश! यह क्षत्रिय धर्मके अनुकूल देश-काल प्राप्त हुआ है। यह समय यथार्थ पराक्रम प्रकट करनेके लिये है ।। ३०—३३ ।।

जयन्तो हन्यमाना वा प्राप्तुमर्हाम सद्गतिम् ।
राक्षसे जीवमानेऽद्य रविरस्तमियाद् यदि ।। ३४ ।।
नाहं ब्रूयां पुनर्जातु क्षत्रियोऽस्मीति भारत ।
भो भो राक्षस तिष्ठस्व सहदेवोऽस्मि पाण्डवः ।। ३५ ।।
हत्वा वा मां नयस्वैनां हतो वाद्येह स्वप्स्यसि ।
तदा ब्रुवति माद्रेये भीमसेनो यदृच्छया ।। ३६ ।।
प्रत्यदृश्यद् गदाहस्तः सवज्र इव वासवः ।
सोऽपश्यद् भ्रातरौ तत्र द्रौपदीं च यशस्विनीम् ।। ३७ ।।

'भारत! हम विजयी हों या मारे जायँ, सभी दशाओंमें उत्तम गति प्राप्त कर सकते हैं। यदि इस राक्षसके जीते-जी सूर्य डूब गये, तो मैं फिर कभी अपनेको क्षत्रिय नहीं कहूँगा। अरे ओ निशाचर! खड़ा रह, मैं पाण्डुकुमार सहदेव हूँ, या तो तू मुझे मारकर द्रौपदीको ले जा या स्वयं मेरे हाथों मारा जाकर आज यहीं सदाके लिये सो जा।' माद्रीनन्दन सहदेव जब ऐसी बात कह रहे थे, उसी समय अकस्मात् गदा हाथमें लिये भीमसेन दिखायी दिये, मानो वज्रधारी इन्द्र आ पहुँचे हों। उन्होंने वहाँ (राक्षसके अधिकारमें पड़े हुए) अपने दोनों भाइयों तथा यशस्विनी द्रौपदीको देखा ।। ३४—३७ ।।

क्षितिस्थं सहदेवं च क्षिपन्तं राक्षसं तदा ।
मार्गाच्च राक्षसं मूढं कालोपहतचेतसम् ।। ३८ ।।
भ्रमन्तं तत्र तत्रैव देवेन विनिवारितम् ।
भ्रातॄंस्तान् ह्रियतो दृष्ट्वा द्रौपदीं च महाबलः ।। ३९ ।।
क्रोधमाहारयद् भीमो राक्षसं चेदमब्रवीत् ।
विज्ञातोऽसि मया पूर्वं पाप शस्त्रपरीक्षणे ।। ४० ।।

उस समय सहदेव धरतीपर खड़े होकर राक्षसपर आक्षेप कर रहे थे और वह मूढ़ राक्षस मार्गसे भ्रष्ट होकर वहीं चक्कर काट रहा था। कालसे उसकी बुद्धि मारी गयी थी। दैवने ही उसे वहाँ रोक रखा था। भाइयों और द्रौपदीका अपहरण होता देख महाबली

भीमसेन कुपित हो उठे और जटासुरसे बोले—'ओ पापी! पहले जब तू शस्त्रोंकी परीक्षा कर रहा था, तभी मैंने तुझे पहचान लिया था ।। ३८—४० ।।

आस्था तु त्वयि मे नास्ति यतोऽसि न हतस्तदा ।
ब्रह्मरूपप्रतिच्छन्नो न नो वदसि चाप्रियम् ।। ४१ ।।

'तुझपर मेरा विश्वास नहीं रह गया था, तो भी तू ब्राह्मणके रूपमें अपने असली स्वरूपको छिपाये हुए था और हमलोगोंसे कोई अप्रिय बात नहीं कहता था। इसीलिये मैंने तुम्हें तत्काल नहीं मार डाला ।। ४१ ।।

प्रियेषु रममाणं त्वां न चैवाप्रियकारिणम् ।
अतिथिं ब्रह्मरूपं च कथं हन्यामनागसम् ।। ४२ ।।
राक्षसं जानमानोऽपि यो हन्यान्नरकं व्रजेत् ।
अपक्वस्य च कालेन वधस्तव न विद्यते ।। ४३ ।।

'तू हमारे प्रिय कार्योंमें मन लगाता था। जो हमें प्रिय न लगे, ऐसा काम नहीं करता था। ब्राह्मण अतिथिके रूपमें आया था और कभी कोई अपराध नहीं किया था। ऐसी दशामें मैं तुझे कैसे मारता? जो राक्षसको राक्षस जानते हुए भी बिना किसी अपराधके उसका वध करता है, वह नरकमें जाता है। अभी तेरा समय पूरा नहीं हुआ था, इसलिये भी आजसे पहले तेरा वध नहीं किया जा सकता था ।। ४२-४३ ।।

नूनमद्यासि सम्पक्वो यथा ते मतिरीदृशी ।
दत्ता कृष्णापहरणे कालेनाद्भुतकर्मणा ।। ४४ ।।

'आज निश्चय ही तेरी आयु पूरी हो चुकी है, तभी तो अद्भुत कर्म करनेवाले कालने तुझे इस प्रकार द्रौपदीके अपहरणकी बुद्धि दी है ।। ४४ ।।

बडिशोऽयं त्वया ग्रस्तः कालसूत्रेण लम्बितः ।
मत्स्योऽम्भसीव स्यूतास्यः कथमद्य भविष्यसि ।। ४५ ।।

'कालरूपी डोरेसे लटकाया हुआ बंसीका काँटा तूने निगल लिया है। तेरा मुँह जलकी मछलीके समान उस काँटेमें गुँथ गया है, अतः अब तू कैसे जीवन धारण करेगा? ।। ४५ ।।

यं चासि प्रस्थितो देशं मनः पूर्वं गतं च ते ।
न तं गन्तासि गन्तासि मार्गं बकहिडिम्बयोः ।। ४६ ।।

'जिस देशकी ओर तू प्रस्थित हुआ है और जहाँ तेरा मन पहलेसे ही जा पहुँचा है, वहाँ अब तू न जा सकेगा। तुझे तो बक और हिडिम्बके मार्गपर जाना है, ।। ४६ ।।

एवमुक्तस्तु भीमेन राक्षसः कालचोदितः ।
भीत उत्सृज्य तान् सर्वान् युद्धाय समुपस्थितः ।। ४७ ।।

भीमसेनके ऐसा कहनेपर वह राक्षस भयभीत हो उन सबको छोड़कर कालकी प्रेरणासे युद्धके लिये उद्यत हो गया ।। ४७ ।।

अब्रवीच्च पुनर्भीमं रोषात् प्रस्फुरिताधरः ।

न मे मूढा दिशः पाप त्वदर्थं मे विलम्बितम् ।। ४८ ।।

उस समय रोषसे उसके ओठ फड़क रहे थे। उसने भीमसेनको उत्तर देते हुए कहा—'ओ पापी! मुझे दिग्भ्रम नहीं हुआ था। मैंने तेरे ही लिये विलम्ब किया था ।। ४८ ।।

श्रुता मे राक्षसा ये ये त्वया विनिहता रणे ।
तेषामद्य करिष्यामि तवास्रेणोदकक्रियाम् ।। ४९ ।।

'तूने जिन-जिन राक्षसोंको युद्धमें मारा है, उन सबके नाम मैंने सुने हैं। आज तेरे रक्तसे ही मैं उनका तर्पण करूँगा, ।। ४९ ।।

एवमुक्तस्ततो भीमः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
स्मयमान इव क्रोधात् साक्षात् कालान्तकोपमः ।। ५० ।।
(ब्रुवन् वै तिष्ठ तिष्ठेति क्रोधसंरक्तलोचनः ।)
बाहुसंरम्भमेवैक्षन्नभिदुद्राव राक्षसम् ।
राक्षसोऽपि तदा भीमं युद्धार्थिनमवस्थितम् ।। ५१ ।।
मुहुर्मुहुर्व्याददानः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
अभिदुद्राव संरब्धो बलिर्वज्रधरं यथा ।। ५२ ।।

राक्षसके ऐसा कहनेपर भीमसेन अपने मुखके दोनों कोने चाटते हुए कुछ मुसकराते-से प्रतीत हुए फिर क्रोधसे साक्षात् काल और यमराजके समान जान पड़ने लगे। रोषसे उनकी आँखें लाल हो गयी थीं 'खड़ा रह,' खड़ा रह कहते हुए ताल ठोंककर राक्षसकी ओर दृष्टि गड़ाये उसपर टूट पड़े। राक्षस भी उस समय भीमसेनको युद्धके लिये उपस्थित देख बार-बार मुँह फैलाकर मुँहके दोनों कोने चाटने लगा और जैसे बलिराजा वज्रधारी इन्द्रपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार कुपित हो उसने भीमसेनपर धावा किया ।। ५०—५२ ।।

(भीमसेनोऽप्यवष्टब्धो नियुद्धायाभवत् स्थितः ।
राक्षसोऽपि च विस्रब्धो बाहुयुद्धमकाङ्क्षत ।।
वर्तमाने तदा ताभ्यां बाहुयुद्धे सुदारुणे ।
माद्रीपुत्रावतिक्रुद्धावुभावप्यभ्यधावताम् ।। ५३ ।।

भीमसेन भी स्थिर होकर उससे युद्धके लिये खड़े हो गये और वह राक्षस भी निश्चिन्त हो उनके साथ बाहुयुद्धकी इच्छा करने लगा। उस समय उन दोनोंमें बड़ा भयंकर बाहुयुद्ध होने लगा। यह देख माद्रीपुत्र नकुल और सहदेव अत्यन्त क्रोधमें भरकर उसकी ओर दौड़े ।। ५३ ।।

न्यवारयत् तौ प्रहसन् कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।
शक्तोऽहं राक्षसस्येति प्रेक्षध्वमिति चाब्रवीत् ।। ५४ ।।

परंतु कुन्तीकुमार भीमसेनने हँसकर उन दोनोंको रोक दिया और कहा—'मैं अकेला ही इस राक्षसके लिये पर्याप्त हूँ। तुमलोग चुप-चाप देखते रहो' ।। ५४ ।।

आत्मना भ्रातृभिश्चैव धर्मेण सुकृतेन च ।

इष्टेन च शपे राजन् सूदयिष्यामि राक्षसम् ।। ५५ ।।

फिर वे युधिष्ठिरसे बोले—'महाराज! मैं अपनी, सब भाइयोंकी, धर्मकी, पुण्य कर्मोंकी तथा यज्ञकी शपथ खाकर कहता हूँ, इस राक्षसको अवश्य मार डालूँगा ।। ५५ ।।

इत्येवमुक्त्वा तौ वीरौ स्पर्धमानौ परस्परम् ।
बाहुभ्यां समसज्जेतामुभौ रक्षोवृकोदरौ ।। ५६ ।।

ऐसा कहकर वे दोनों वीर राक्षस और भीम एक-दूसरेसे स्पर्धा रखते हुए बाँहोंसे बाँहें मिलाकर गुथ गये ।। ५६ ।।

तयोरासीत् सम्प्रहारः क्रुद्धयोर्भीमरक्षसोः ।
अमृष्यमाणयोः सङ्ख्ये देवदानवयोरिव ।। ५७ ।।

भीमसेन तथा राक्षस दोनोंमें देवताओं और दानवोंके समान युद्ध होने लगा। दोनों ही रोष और अमर्षमें भरकर एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे ।। ५७ ।।

आरुज्यारुज्य तौ वृक्षानन्योन्यमभिजघ्नतुः ।
जीमूताविव गर्जन्तौ निनदन्तौ महाबलौ ।। ५८ ।।

दोनोंका बल महान् था। वे गर्जते हुए दो मेघोंकी भाँति सिंहनाद करके वृक्षोंको तोड़-तोड़कर परस्पर चोट करते थे ।। ५८ ।।

बभञ्जतुर्महावृक्षानूरुभिर्बलिनां वरौ ।
अन्योन्येनाभिसंरब्धौ परस्परवधैषिणौ ।। ५९ ।।

बलवानोंमें श्रेष्ठ वे दोनों वीर अपनी जाँघोंके धक्केसे बड़े-बड़े वृक्षोंको तोड़ डालते थे और परस्पर कुपित हो एक-दूसरेको मार डालनेकी इच्छा रखते थे ।। ५९ ।।

तद् वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ।
बालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरा स्त्रीकाङ्क्षिणोर्यथा ।। ६० ।।

जैसे पूर्वकालमें स्त्रीकी इच्छावाले दो भाई बालि और सुग्रीवमें भयंकर संग्राम हुआ था, उसी प्रकार भीमसेन और राक्षसमें होने लगा। उन दोनोंका वह वृक्षयुद्ध उस वनके वृक्षसमूहोंके लिये महान् विनाशकारी सिद्ध हुआ ।। ६० ।।

आविध्याविध्य तौ वृक्षान् मुहूर्तमितरेतरम् ।
ताडयामासतुरुभौ विनदन्तौ मुहुर्मुहुः ।। ६१ ।।

वे दोनों बड़े-बड़े वृक्षोंको हिला-हिलाकर बार-बार विकट गर्जना करते हुए दो घड़ीतक एक-दूसरेपर प्रहार करते रहे ।। ६१ ।।

तस्मिन् देशे यदा वृक्षाः सर्व एव निपातिताः ।
पुञ्जीकृताश्च शतशः परस्परवधेप्सया ।। ६२ ।।
ततः शिलाः समादाय मुहूर्तमिव भारत ।
महाभ्रैरिव शैलेन्द्रौ युयुधाते महाबलौ ।। ६३ ।।
शिलाभिरुग्ररूपाभिर्बृहतीभिः परस्परम् ।

वज्रैरिव महावेगैराजघ्नतुरमर्षणौ ।। ६४ ।।

भारत! जब उस प्रदेशके सारे वृक्ष गिरा दिये गये, तब एक-दूसरेका वध करनेकी इच्छासे उन महाबली वीरोंने वहाँ ढेर-की-ढेर पड़ी हुई सैकड़ों शिलाएँ लेकर दो घड़ीतक इस प्रकार युद्ध किया, मानो दो पर्वतराज बड़े-बड़े मेघखण्डोंद्वारा परस्पर युद्ध कर रहे हों। वहाँकी शिलाएँ विशाल और अत्यन्त भयंकर थीं। वे देखनेमें महान् वेगशाली वज्रोंके समान जान पड़ती थीं। अमर्षमें भरे हुए वे दोनों योद्धा उन्हीं शिलाओंद्वारा एक-दूसरेको मारने लगे ।। ६२—६४ ।।

अभिद्रुत्य च भूयस्तावन्योन्यं बलदर्पितौ ।

भुजाभ्यां परिगृह्याथ चकर्षाते गजाविव ।। ६५ ।।

तत्पश्चात् अपने-अपने बलके घमंडमें भरे हुए वे दोनों वीर एक दूसरेकी ओर झपटकर पुनः अपनी भुजाओंसे कसते हुए विपक्षीको उसी प्रकार खींचने लगे, जैसे दो गजराज परस्पर भिड़कर एक-दूसरेको खींच रहे हों ।। ६५ ।।

मुष्टिभिश्च महाघोरैरन्योन्यमभिजघ्नतुः ।

ततः कटकटाशब्दो बभूव सुमहात्मनोः ।। ६६ ।।

अपने अत्यन्त भयानक मुक्कोंद्वारा वे परस्पर चोट करने लगे। तब उन दोनों महाकाय वीरोंमें जोर-जोरसे कटकटानेकी आवाज होने लगी ।। ६६ ।।

ततः संहृत्य मुष्टिं तु पञ्चशीर्षमिवोरगम् ।

वेगेनाभ्यहनद् भीमो राक्षसस्य शिरोधराम् ।। ६७ ।।

तदनन्तर भीमसेनने पाँच सिरवाले सर्पकी भाँति अपने पाँच अंगुलियोंसे युक्त हाथकी मुट्ठी बाँधकर उसे राक्षसकी गर्दनपर बड़े वेगसे दे मारा ।। ६७ ।।

ततः श्रान्तं तु तद् रक्षो भीमसेनभुजाहतम् ।

सुपरिश्रान्तमालक्ष्य भीमसेनोऽभ्यवर्तत ।। ६८ ।।

भीमसेनकी भुजाओंके आघातसे वह राक्षस थक गया था। तदनन्तर उसे अधिक थका हुआ देख भीमसेन आगे बढ़ते गये ।। ६८ ।।

तत एनं महाबाहुर्बाहुभ्याममरोपमः ।

समुत्क्षिप्य बलाद् भीमो विनिष्पिष्य महीतले ।। ६९ ।।

तत्पश्चात् देवताओंके समान तेजस्वी महाबाहु भीमसेनने उस राक्षसको दोनों भुजाओंसे बलपूर्वक उठा लिया और उसे पृथ्वीपर पटककर पीस डाला ।। ६९ ।।

तस्य गात्राणि सर्वाणि चूर्णयामास पाण्डवः ।

अरत्निना चाभिहत्य शिरः कायादपाहरत् ।। ७० ।।

उस समय पाण्डुनन्दन भीमने उसके सारे अंगोंको दबाकर चूर-चूर कर दिया और थप्पड़ मारकर उसके सिरको धड़से अलग कर दिया ।। ७० ।।

संदष्टौष्ठं विवृत्ताक्षं फलं वृक्षादिव च्युतम् ।

जटासुरस्य तु शिरो भीमसेनबलाद्धृतम् ।। ७१ ।।

भीमसेनके बलसे कटकर अलग हुआ जटासुरका वह सिर वृक्षसे टूटकर गिरे हुए फलके समान जान पड़ता था। उसका ओठ दाँतोंसे दबा हुआ था और आँखें बहुत फैली हुई थीं ।। ७१ ।।

पपात रुधिरादिग्धं संदष्टदशनच्छदम् ।
तं निहत्य महेष्वासो युधिष्ठिरमुपागमत् ।
स्तूयमानो द्विजाग्र्यैस्तु मरुद्भिरिव वासवः ।। ७२ ।।

दाँतोंसे दबे हुए ओठवाला वह मस्तक खूनसे लथपथ होकर गिर पड़ा था। इस प्रकार जटासुरको मारकर महान् धनुर्धर भीमसेन युधिष्ठिरके पास आये। उस समय श्रेष्ठ द्विज उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे, मानो मरुद्गण देवराज इन्द्रके गुण गा रहे हों ।। ७२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि जटासुरवधपर्वणि सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत जटासुरवधपर्वमें एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५७ ।।

।। समाप्तं जटासुरवधपर्व ।।

(यक्षयुद्धपर्व)

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

नर-नारायण-आश्रमसे वृषपर्वाके यहाँ होते हुए राजर्षि आर्ष्टिषेणके आश्रमपर जाना

वैशम्पायन उवाच

निहते राक्षसे तस्मिन् पुनर्नारायणाश्रमम् ।
अभ्येत्य राजा कौन्तेयो निवासमकरोत् प्रभुः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—उस राक्षसके मारे जानेपर कुन्तीकुमार शक्तिशाली राजा युधिष्ठिर पुनः नर-नारायण-आश्रममें आकर रहने लगे ।। १ ।।

स समानीय तान् सर्वान् भ्रातॄनित्यब्रवीद् वचः ।
द्रौपद्या सहितान् काले संस्मरन् भ्रातरं जयम् ।। २ ।।

एक दिन उन्होंने द्रौपदीसहित सब भाइयोंको एकत्र करके अपने प्रियबन्धु अर्जुनका स्मरण करते हुए कहा— ।। २ ।।

समाश्चतस्रोऽभिगताः शिवेन चरतां वने ।
कृतोद्देशः स बीभत्सुः पञ्चमीमभितः समाम् ।। ३ ।।

'हमलोगोंको कुशलपूर्वक वनमें विचरते हुए चार वर्ष हो गये। अर्जुनने यह संकेत किया था कि मैं पाँचवें वर्षमें लौट आऊँगा ।। ३ ।।

प्राप्य पर्वतराजानं श्वेतं शिखरिणां वरम् ।
पुष्पितैर्द्रुमषण्डैश्च मत्तकोकिलषट्पदैः ।। ४ ।।
मयूरैश्चातकैश्चापि नित्योत्सवविभूषितम् ।
व्याघ्रैर्वराहैर्महिषैर्गवयैर्हरिणैस्तथा ।। ५ ।।
श्वापदैर्व्यालरूपैश्च रुरुभिश्च निषेवितम् ।
फुल्लैः सहस्रपत्रैश्च शतपत्रैस्तथोत्पलैः ।। ६ ।।
प्रफुल्लैः कमलैश्चैव तथा नीलोत्पलैरपि ।
महापुण्यं पवित्रं च सुरासुरनिषेवितम् ।। ७ ।।

'पर्वतोंमें श्रेष्ठ गिरिराज कैलासपर आकर अर्जुनसे मिलनेके शुभ अवसरकी प्रतीक्षामें हमने यहाँ डेरा डाला है। (क्योंकि वहीं मिलनेका उनकी ओरसे संकेत प्राप्त हुआ था।) वह श्वेत कैलास-शिखर पुष्पित वृक्षावलियोंसे सुशोभित है। वहाँ मतवाले कोकिलोंकी काकली,

भ्रमरोंके गुंजारव तथा मोर और पपीहोंकी मीठी वाणीसे नित्य उत्सव-सा होता रहता है, जो उस पर्वतकी शोभाको बढ़ा देता है। वहाँ व्याघ्र, वराह, महिष, गवय, हरिण, हिंसक जन्तु, सर्प तथा रुरुमृग निवास करते हैं। खिले हुए सहस्रदल, शतदल, उत्पल, प्रफुल्ल कमल तथा नीलोत्पल आदिसे उस पर्वतकी रमणीयता और भी बढ़ गयी है। वह परम पुण्यमय और पवित्र है। देवता और असुर दोनों ही उसका सेवन करते हैं ।। ४—७ ।।

तत्रापि च कृतोद्देशः समागमदिदृक्षुभिः ।
कृतश्च समयस्तेन पार्थेनामिततेजसा ।। ८ ।।
पञ्चवर्षाणि वत्स्यामि विद्यार्थीति पुरा मयि ।

'अमिततेजस्वी अर्जुनने वहाँ भी अपना आगमन देखनेके लिये उत्सुक हुए हमलोगोंके साथ संकेतपूर्वक यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं अस्त्रविद्याका अध्ययन करनेके लिये पाँच वर्षोंतक देवलोकमें निवास करूँगा ।।

अत्र गाण्डीवधन्वानमवाप्तास्त्रमरिन्दमम् ।। ९ ।।
देवलोकादिमं लोकं द्रक्ष्यामः पुनरागतम् ।
इत्युक्त्वा ब्राह्मणान् सर्वानामन्त्रयत पाण्डवः ।। १० ।।

'शत्रुओंका दमन करनेवाले गाण्डीवधारी अर्जुन अस्त्रविद्या प्राप्त करके पुनः देवलोकसे इस मनुष्यलोकमें आनेवाले हैं। हमलोग शीघ्र ही उनसे मिलेंगे' ऐसा कहकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने सब ब्राह्मणोंको आमन्त्रित किया ।। ९-१० ।।

कारणं चैव तत् तेषामाचचक्षे तपस्विनाम् ।
तानुग्रतपसः प्रीतान् कृत्वा पार्थाः प्रदक्षिणाम् ।। ११ ।।

और उन तपस्वियोंके सामने उन्हें बुला भेजनेका कारण बताया। उन कठोर तपस्वियोंको प्रसन्न करके कुन्तीकुमारोंने उनकी परिक्रमा की ।। ११ ।।

ब्राह्मणास्तेऽन्वमोदन्त शिवेन कुशलेन च ।
सुखोदर्कमिमं क्लेशमचिराद् भरतर्षभ ।। १२ ।।

तब उन ब्राह्मणोंने कुशल-मंगलके साथ उन सबके अभीष्ट मनोरथकी पूर्तिका अनुमोदन किया और कहा—'भरतश्रेष्ठ! आजका यह क्लेश शीघ्र ही सुखद भविष्यके रूपमें परिणत हो जायगा ।। १२ ।।

क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ तीर्त्वा गां पालयिष्यसि ।
तत् तु राजा वचस्तेषां प्रतिगृह्य तपस्विनाम् ।। १३ ।।
प्रतस्थे सह विप्रैस्तैर्भ्रातृभिश्च परन्तपः ।
राक्षसैरनुयातो वै लोमशेनाभिरक्षितः ।। १४ ।।

'धर्मज्ञ! तुम क्षत्रियधर्मके अनुसार इस संकटसे पार होकर सारी पृथ्वीका पालन करोगे।' राजा युधिष्ठिरने उन तपस्वी ब्राह्मणोंका यह आशीर्वाद शिरोधार्य किया और वे परंतप नरेश उन ब्राह्मणों तथा भाइयोंके साथ वहाँसे प्रस्थित हुए। घटोत्कच आदि राक्षस

भी उनकी सेवाके लिये पीछे-पीछे चले। राजा युधिष्ठिर महर्षि लोमशके द्वारा सर्वथा सुरक्षित थे ।। १३-१४ ।।

क्वचित् पद्भ्यां ततोऽगच्छद् राक्षसैरुह्यते क्वचित् ।
तत्र तत्र महातेजा भ्रातृभिः सह सुव्रतः ।। १५ ।।

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे महातेजस्वी भूपाल कहीं तो भाइयोंसहित पैदल चलते और कहीं राक्षसलोग उन्हें पीठपर बैठाकर ले जाते थे। इस प्रकार वे अनेक स्थानोंमें गये ।। १५ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा बहून् क्लेशान् विचिन्तयन् ।
सिंहव्याघ्रगजाकीर्णामुदीचीं प्रययौ दिशम् ।। १६ ।।

तदनन्तर राजा युधिष्ठिर अनेक क्लेशोंका चिन्तन करते हुए सिंह, व्याघ्र और हाथियोंसे भरी हुई उत्तर-दिशाकी ओर चल दिये ।। १६ ।।

अवेक्षमाणः कैलासं मैनाकं चैव पर्वतम् ।
गन्धमादनपादांश्च श्वेतं चापि शिलोच्चयम् ।। १७ ।।
उपर्युपरि शैलस्य बह्वीश्च सरितः शिवाः ।
पृष्ठं हिमवतः पुण्यं ययौ सप्तदशेऽहनि ।। १८ ।।

कैलास, मैनाकपर्वत, गन्धमादनकी घाटियों और श्वेत (हिमालय) पर्वतका दर्शन करते हुए उन्होंने पर्वतमालाओंके ऊपर-ऊपर बहुत-सी कल्याणमयी सरिताएँ देखीं तथा सत्रहवें दिन वे हिमालयके एक पावन पृष्ठभागपर जा पहुँचे ।। १७-१८ ।।

ददृशुः पाण्डवा राजन् गन्धमादनमन्तिकात् ।
पृष्ठे हिमवतः पुण्ये नानाद्रुमलतावृते ।। १९ ।।
सलिलावर्तसंजातैः पुष्पितैश्च महीरुहैः ।
समावृतं पुण्यतममाश्रमं वृषपर्वणः ।। २० ।।
तमुपागम्य राजर्षिं धर्मात्मानमरिन्दमाः ।
पाण्डवा वृषपर्वाणमवन्दन्त गतक्लमाः ।। २१ ।।

राजन्! वहाँ पाण्डवोंने गन्धमादन पर्वतका निकटसे दर्शन किया। हिमालयका वह पावन पृष्ठभाग नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे आवृत था। वहाँ जलके आवर्तोंसे सींचकर उत्पन्न हुए फूलवाले वृक्षोंसे घिरा हुआ वृषपर्वाका परम पवित्र आश्रम था। शत्रुदमन पाण्डवोंने उन धर्मात्मा राजर्षि वृषपर्वाके पास जाकर क्लेशरहित हो उन्हें प्रणाम किया ।। १९—२१ ।।

अभ्यनन्दत् स राजर्षिः पुत्रवद् भरतर्षभान् ।
पूजिताश्चावसंस्तत्र सप्तरात्रमरिन्दमाः ।। २२ ।।

उन राजर्षिने भरतकुलभूषण पाण्डवोंका पुत्रके समान अभिनन्दन किया और उनसे सम्मानित होकर वे शत्रुदमन पाण्डव वहाँ सात रात ठहरे रहे ।। २२ ।।

अष्टमेऽहनि सम्प्राप्ते तमृषिं लोकविश्रुतम् ।
आमन्त्र्य वृषपर्वाणं प्रस्थानं प्रत्यरोचयन् ।। २३ ।।

आठवें दिन उन विश्वविख्यात राजर्षि वृषपर्वाकी आज्ञा ले उन्होंने वहाँसे प्रस्थान करनेका विचार किया ।। २३ ।।

एकैकशश्च तान् विप्रान् निवेद्य वृषपर्वणि ।
न्यासभूतान् यथाकालं बन्धूनिव सुसत्कृतान् ।। २४ ।।
पारिबर्हं च तं शेषं परिदाय महात्मने ।
ततस्ते यज्ञपात्राणि रत्नान्याभरणानि च ।। २५ ।।
न्यदधुः पाण्डवा राजन्नाश्रमे वृषपर्वणः ।

अपने साथ आये हुए ब्राह्मणोंको उन्होंने एक-एक करके वृषपर्वाके यहाँ धरोहरकी भाँति सौंपा। उन सबका पाण्डवोंने समय-समयपर सगे बन्धुकी भाँति सत्कार किया था। ब्राह्मणोंको सौंपनेके पश्चात् पाण्डवोंने अपनी शेष सामग्री भी उन्हीं महामनाको दे दी। तदनन्तर पाण्डुपुत्रोंने वृषपर्वाके ही आश्रममें अपने यज्ञपात्र तथा रत्नमय आभूषण भी रख दिये ।। २४-२५½ ।।

अतीतानागते विद्वान् कुशलः सर्वधर्मवित् ।। २६ ।।
अन्वशासत् स धर्मज्ञः पुत्रवद् भरतर्षभान् ।

तेऽनुज्ञाता महात्मानः प्रययुर्दिशमुत्तराम् ।। २७ ।।

वृषपर्वा भूत और भविष्यके ज्ञाता, कार्यकुशल और सम्पूर्ण धर्मोंके मर्मज्ञ थे। उन धर्मज्ञ नरेशने भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंको पुत्रकी भाँति उपदेश दिया। उनकी आज्ञा पाकर महामना पाण्डव उत्तरदिशाकी ओर चले ।। २६-२७ ।।

तान् प्रस्थितानभ्यगच्छद् वृषपर्वा महीपतिः ।
उपन्यस्य महातेजा विप्रेभ्यः पाण्डवांस्तदा ।। २८ ।।
अनुसंसार्य कौन्तेयानाशीर्भिरभिनन्द्य च ।
वृषपर्वा निववृते पन्थानमुपदिश्य च ।। २९ ।।

उस समय उनके प्रस्थान करनेपर महातेजस्वी राजर्षि वृषपर्वाने पाण्डवोंको (उस देशके जानकार अन्य) ब्राह्मणोंके सुपुर्द कर दिया और कुछ दूर पीछे-पीछे जाकर उन कुन्तीकुमारोंको आशीर्वाद देकर प्रसन्न किया। तत्पश्चात् उन्हें रास्ता बताकर वृषपर्वा लौट आये ।। २८-२९ ।।

नानामृगगणैर्जुष्टं कौन्तेयः सत्यविक्रमः ।
पदातिर्भ्रातृभिः सार्धं प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ।। ३० ।।

फिर सत्यपराक्रमी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ पैदल ही (वृषपर्वाके बताये हुए मार्गपर) चले, जो अनेक जातिके मृगोंके झुंडोंसे भरा हुआ था ।। ३० ।।

नानाद्रुमनिरोधेषु वसन्तः शैलसानुषु ।
पर्वतं विविशुः श्वेतं चतुर्थेऽहनि पाण्डवाः ।। ३१ ।।
महाभ्रघनसंकाशं सलिलोपहितं शुभम् ।
मणिकाञ्चनरूप्यस्य शिलानां च समुच्चयम् ।। ३२ ।।
(रूपं हिमवतः प्रस्थं बहुकन्दरनिर्झरम् ।
शिलाविभङ्गविकटं लतापादपसंकुलम् ।।)
ते समासाद्य पन्थानं यथोक्तं वृषपर्वणा ।
अनुसस्रुर्यथोद्देशं पश्यन्तो विविधान्नगान् ।। ३३ ।।

वे सभी पाण्डव नाना प्रकारके वृक्षोंसे हरे-भरे पर्वतीय शिखरोंपर डेरा डालते हुए चौथे दिन श्वेत (हिमालय) पर्वतपर जा पहुँचे, जो महामेघके समान शोभा पाता था। वह सुन्दर शैल शीतल सलिलराशिसे सम्पन्न था और मणि सुवर्ण, रजत तथा शिलाखण्डोंका समुदायरूप था। हिमालयका वह रमणीय प्रदेश अनेकानेक कन्दराओं और निर्झरोंसे सुशोभित शिलाखण्डोंके कारण दुर्गम तथा लताओं और वृक्षोंसे व्याप्त था। पाण्डव वृषपर्वाके बताये हुए मार्गका आश्रय ले नाना प्रकारके वृक्षोंका अवलोकन करते हुए अपने अभीष्ट स्थानकी ओर अग्रसर हो रहे थे ।। ३१—३३ ।।

उपर्युपरि शैलस्य गुहाः परमदुर्गमाः ।
सुदुर्गमांस्ते सुबहून् सुखेनैवाभिचक्रमुः ।। ३४ ।।

धौम्यः कृष्णा च पार्थाश्च लोमशश्च महानृषिः ।
अगच्छन् सहितास्तत्र न कश्चिदवहीयते ।। ३५ ।।

उस पर्वतके ऊपर बहुत-सी अत्यन्त दुर्गम गुफाएँ थीं और अनेक दुर्गम्य प्रदेश थे। पाण्डव उन सबको सुखपूर्वक लाँघकर आगे बढ़ गये। पुरोहित धौम्य, द्रौपदी, चारों पाण्डव तथा महर्षि लोमश—ये सब लोग एक साथ चल रहे थे। कोई पीछे नहीं छूटता था ।।

ते मृगद्विजसंघुष्टं नानाद्रुमलतायुतम् ।
शाखामृगगणैश्चैव सेवितं सुमनोरमम् ।। ३६ ।।
पुण्यं पद्मसरोयुक्तं सपल्वलमहावनम् ।
उपतस्थुर्महाभागा माल्यवन्तं महागिरिम् ।। ३७ ।।

आगे बढ़ते हुए वे महाभाग पाण्डव पुण्यमय माल्यवान् नामक महान् पर्वतपर जा पहुँचे, जो अनेक प्रकारके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित तथा अत्यन्त मनोरम था। वहाँ मृगोंके झुंड विचरते और भाँति-भाँतिके पक्षी कलरव कर रहे थे। बहुत-से वानर भी उस पर्वतका सेवन करते थे। उसके शिखरपर कमलमण्डित सरोवर, छोटे-छोटे जलकुण्ड और विशाल वन थे ।। ३६-३७ ।।

ततः किम्पुरुषावासं सिद्धचारणसेवितम् ।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पर्वतं गन्धमादनम् ।। ३८ ।।

वहाँसे उन्हें गन्धमादन पर्वत दिखायी दिया, जो किम्पुरुषोंका निवासस्थान है। सिद्ध और चारण उसका सेवन करते हैं। उसे देखकर पाण्डवोंका रोम-रोम हर्षसे खिल उठा ।। ३८ ।।

विद्याधरानुचरितं किन्नरीभिस्तथैव च ।
गजसङ्घमावासं सिंहव्याघ्रगणायुतम् ।। ३९ ।।

उस पर्वतपर विद्याधर विहार करते थे। किन्नरियाँ क्रीड़ा करती थीं। झुंड-के-झुंड हाथी, सिंह और व्याघ्र निवास करते थे ।। ३९ ।।

शरभोन्नादसंघुष्टं नानामृगनिषेवितम् ।
ते गन्धमादनवनं तन्नन्दनवनोपमम् ।। ४० ।।
मुदिताः पाण्डुतनया मनोहृदयनन्दनम् ।
विविशुः क्रमशो वीराः शरण्यं शुभकाननम् ।। ४१ ।।

शरभोंके सिंहनादसे वह पर्वत गूँजता रहता था। नाना प्रकारके मृग वहाँ निवास करते थे। गन्धमादन पर्वतका वह वन नन्दनवनके समान मन और हृदयको आनन्द देनेवाला था। वे वीर पाण्डुकुमार बड़े प्रसन्न होकर क्रमशः उस सुन्दर काननमें प्रविष्ट हुए, जो सबको शरण देनेवाला था ।। ४०-४१ ।।

द्रौपदीसहिता वीरास्तैश्च विप्रैर्महात्मभिः ।
शृण्वन्तः प्रीतिजननान् वल्गून् मदकलाञ्छुभान् ।। ४२ ।।

श्रोत्ररम्यान् सुमधुराञ्छब्दान् खगमुखेरितान् ।
सर्वर्तुफलभाराढ्यान् सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वलान् ।। ४३ ।।
पश्यन्तः पादपांश्चापि फलभारावनामितान् ।
आम्रानाम्रातकान् भव्यान् नारिकेलान् सतिन्दुकान् ।। ४४ ।।
मुञ्जातकांस्तथाञ्जीरान् दाडिमान् बीजपूरकान् ।
पनसाँल्लकुचान् मोचान् खर्जूरानम्लवेतसान् ।। ४५ ।।
पारावतांस्तथा क्षौद्रान् नीपांश्चापि मनोरमान् ।
बिल्वान् कपित्थाञ्जम्बूंश्च काश्मरीर्बदरीस्तथा ।। ४६ ।।
प्लक्षानुदुम्बरबटानश्वत्थान् क्षीरिकांस्तथा ।
भल्लातकानामलकीर्हरीतकबिभीतकान् ।। ४७ ।।
इङ्गुदान् करमर्दांश्च तिन्दुकांश्च महाफलान् ।
एतानन्यांश्च विविधान् गन्धमादनसानुषु ।। ४८ ।।
फलैरमृतकल्पैस्तानाचितान् स्वादुभिस्तरून् ।
तथैव चम्पकाशोकान् केतकान् बकुलांस्तथा ।। ४९ ।।
पुन्नागान् सप्तपर्णांश्च कर्णिकारान् सकेतकान् ।
पाटलान् कुटजान् रम्यान् मन्दारेन्दीवरांस्तथा ।। ५० ।।
पारिजातान् कोविदारान् देवदारुद्रुमांस्तथा ।
शालांस्तालांस्तमालांश्च पिप्पलान् हिङ्गुकांस्तथा ।। ५१ ।।
शाल्मलीः किंशुकाशोकाञ्छिंशपाः सरलांस्तथा ।

उनके साथ द्रौपदी तथा पूर्वोक्त महामना ब्राह्मण भी थे। वे सब लोग विहंगोंके मुखसे निकले हुए अत्यन्त मधुर सुन्दर, श्रवण-सुखद मादक एवं मोदजनक शुभ शब्द सुनते हुए तथा सभी ऋतुओंके पुष्पों और फलोंसे सुशोभित एवं उनके भारसे झुके वृक्षोंको देखते हुए आगे बढ़ रहे थे। आम, आमड़ा, भव्य नारियल, तेंदू, मुंजातक, अंजीर, अनार, नीबू, कटहल, लकुच (बड़हर), मोच (केला), खजूर, अम्लवेंत, पारावत, क्षौद्र, सुन्दर कदम्ब, बेल, कैथ, जामुन, गम्भारी, बेर, पाकड़, गूलर, बरगद, पीपल, पिंड खजूर, भिलावा, आँवला, हर्रे, बहेड़ा, इंगुद, करौंदा तथा बड़े-बड़े फलवाले तिंदुक—ये और दूसरे भी नाना प्रकारके वृक्ष गन्धमादनके शिखरोंपर लहलहा रहे थे, जो अमृतके समान स्वादिष्ट फलोंसे लदे हुए थे। (इन सबको देखते हुए पाण्डवलोग आगे बढ़ने लगे।) इसी प्रकार चम्पा, अशोक, केतकी, बकुल (मौलशिरी), पुन्नाग (सुल्ताना चंपा), सप्तपर्ण (छितवन), कनेर, केवड़ा, पाटल (पाड़रि या गुलाब), कुटज, सुन्दर मन्दार, इन्दीवर (नीलकमल), पारिजात, कोविदार, देवदारु, शाल, ताल, तमाल, पिप्पल, हिंगुक (हींगका वृक्ष), सेमल, पलाश, अशोक, शीशम तथा सरल आदि वृक्षोंको देखते हुए पाण्डवलोग अग्रसर हो रहे थे ।। ४२—५२½ ।।

चकोरैः शतपत्रैश्च भृङ्गराजैस्तथा शुकैः ।। ५२ ।।
कोकिलैः कलविङ्कैश्च हारितैर्जीवजीविकैः ।
प्रियकैश्चातकैश्चैव तथान्यैर्विविधैः खगैः ।। ५३ ।।
श्रोत्ररम्यं सुमधुरं कूजद्भिश्चात्यधिष्ठितान् ।
सरांसि च मनोज्ञानि समन्ताज्जलचारिभिः ।। ५४ ।।
कुमुदैः पुण्डरीकैश्च तथा कोकनदोत्पलैः ।
कह्लारैः कमलैश्चैव आचितानि समन्ततः ।। ५५ ।।
कादम्बैश्चक्रवाकैश्च कुररैर्जलकुक्कुटैः ।
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैर्बकैर्मद्गुभिरेव च ।। ५६ ।।
एतैश्चान्यैश्च कीर्णानि समन्ताज्जलचारिभिः ।
हृष्टैस्तथा तामरसरसासवमदालसैः ।। ५७ ।।

इन वृक्षोंपर निवास करनेवाले चकोर, मोर, भृंगराज, तोते, कोयल, कलविंक (गौरैया-चिड़िया), हारीत (हारिल), चकवा, प्रियक, चातक तथा दूसरे नाना प्रकारके पक्षी, श्रवणसुखद मधुर शब्द बोल रहे थे। वहाँ चारों ओर जलचर जन्तुओंसे भरे हुए मनोहर सरोवर दृष्टिगोचर होते थे। जिनमें कुमुद, पुण्डरीक, कोकनद, उत्पल, कह्लार और कमल सब ओर व्याप्त थे। कादम्ब, चक्रवाक, कुरर, जलकुक्कुट, कारण्डव, प्लव, हंस, बक, मद्गु तथा अन्य कितने ही जलचर पक्षी कमलोंके मकरन्दका पान करके मदसे मतवाले और हर्षसे मुग्ध हुए उन सरोवरोंमें सब ओर फैले थे ।। ५२—५७ ।।

पद्मोदरच्युतरजःकिंजल्कारुणरञ्जितैः ।
मञ्जुस्वरैर्मधुकरैर्विरुतान् कमलाकरान् ।। ५८ ।।

कमलोंसे भरे हुए तालाबोंमें मीठे स्वरसे बोलनेवाले भ्रमरोंके शब्द गूँज रहे थे। वे भ्रमर कमलके भीतरसे निकली हुई रज तथा केसरोंसे लाल रंगमें रँगे-से जान पड़ते थे ।। ५८ ।।

अपश्यंस्ते नरव्याघ्रा गन्धमादनसानुषु ।
तथैव पद्मषण्डैश्च मण्डितांश्च समन्ततः ।। ५९ ।।

इस प्रकार वे नरश्रेष्ठ गन्धमादनके शिखरोंपर पद्मषण्डमण्डित तालाबोंको सब ओर देखते हुए आगे बढ़ रहे थे ।। ५९ ।।

शिखण्डिनीभिः सहिताँल्लतामण्डलकेषु च ।
मेघतूर्यरवोद्दाममदनाकुलितान् भृशम् ।। ६० ।।
कृत्वैव केकामधुरं संगीतं मधुरस्वरम् ।
चित्रान् कलापान् विस्तीर्य सविलासान् मदालसान् ।। ६१ ।।
मयूरान् ददृशुर्हृष्टान् नृत्यतो वनलालसान् ।
कांश्चित् प्रियाभिःसहितान् रममाणान् कलापिनः ।। ६२ ।।
वल्लीलतासंकटेषु कुटजेषु स्थितांस्तथा ।

काँश्चिच्च कुटजानां तु विटपेषूत्कटानिव ।। ६३ ।।
कलापरुचिराटोपनिचितान् मुकुटानिव ।
विवरेषु तरूणां च रुचिरान् ददृशुश्च ते ।। ६४ ।।

वहाँ लता-मण्डपोंमें मोरिनियोंके साथ नाचते हुए मोर दिखायी देते थे। जो मेघोंकी मृदंगतुल्य गम्भीर गर्जना सुनकर उद्दाम कामसे अत्यन्त उन्मत्त हो रहे थे। वे अपनी मधुर केकाध्वनिका विस्तार करके मीठे स्वरमें संगीतकी रचना करते थे और अपनी विचित्र पाँखें फैलाकर विलासयुक्त मदालसभावसे वनविहारके लिये उत्सुक हो प्रसन्नताके साथ नाच रहे थे। कुछ मोर लतावल्लरियोंसे व्याप्त कुटजवृक्षोंके कुञ्जोंमें स्थित हो अपनी प्यारी मोरिनियोंके साथ रमण करते थे और कुछ कुटजोंकी डालियोंपर मदमत्त होकर बैठे थे तथा अपनी सुन्दर पाँखोंके घटाटोपसे युक्त हो मुकुटके समान जान पड़ते थे। कितने ही सुन्दर मोर वृक्षोंके कोटरोंमें बैठे थे। पाण्डवोंने उन सबको देखा ।। ६०—६४ ।।

सिन्धुवारांस्तथोदारान् मन्मथस्येव तोमरान् ।
सुवर्णवर्णकुसुमान् गिरीणां शिखरेषु च ।। ६५ ।।

पर्वतोंके शिखरोंपर अधिकाधिक संख्यामें सुनहरे कुसुमोंसे सुशोभित सुन्दर शेफालिकाके* ‘पौधे दिखायी देते थे, जो कामदेवके तोमर नामक बाण-से प्रतीत होते थे ।। ६५ ।।

कर्णिकारान् विकसितान् कर्णपूरानिवोत्तमान् ।
तथापश्यन् कुरबकान् वनराजिषु पुष्पितान् ।। ६६ ।।
कामवश्यौत्सुक्यकतन् कामस्येव शरोत्करान् ।
तथैव वनराजीनामुदारान् रचितानिव ।। ६७ ।।
विराजमानांस्तेऽपश्यंस्तिलकांस्तिलकानिव ।
तथानङ्गशराकारान् सहकारान् मनोरमान् ।। ६८ ।।
अपश्यन् भ्रमरारावान् मञ्जरीभिर्विराजितान् ।
हिरण्यसदृशैः पुष्पैर्दावाग्निसदृशैरपि ।। ६९ ।।
लोहितैरञ्जनाभैश्च वैदूर्यसदृशैरपि ।
अतीव वृक्षा राजन्ते पुष्पिताः शैलसानुषु ।। ७० ।।

खिले हुए कनेरके फूल उत्तम कर्णपूरके समान प्रतीत होते थे। इसी प्रकार वन-श्रेणियोंमें विकसित कुरबक नामक वृक्ष भी उन्होंने देखे, जो कामासक्त पुरुषोंको उत्कण्ठित करनेवाले कामदेवके बाणसमूहोंके समान जान पड़ते थे। इसी प्रकार उन्हें तिलकके वृक्ष दृष्टिगोचर हुए, जो वनश्रेणियोंके ललाटमें रचित सुन्दर तिलकके समान शोभा पा रहे थे। कहीं मनोहर मंजरियोंसे विभूषित मनोरम आम्रवृक्ष दीख पड़ते थे, जो कामदेवके बाणोंकी-सी आकृति धारण करते थे। उनकी डालियोंपर भौंरोंकी भीड़ गूँजती रहती थी। उन पर्वतोंके शिखरोंपर कितने ही ऐसे वृक्ष थे, जिनमें सुवर्णके समान सुन्दर

पुष्प खिले थे। कुछ वृक्षोंके पुष्प देखनेमें दावानलका भ्रम उत्पन्न करते थे। किन्हीं वृक्षोंके फूल लाल, काले तथा वैदूर्यमणिके सदृश धूमिल थे। इस प्रकार पर्वतीय शिखरोंपर विभिन्न प्रकारके पुष्पोंसे विभूषित वृक्ष बड़ी शोभा पा रहे थे ।। ६६—७० ।।

तथा शालांस्तमालांश्च पाटलान् बकुलानपि ।
माला इव समासक्ताः शैलानां शिखरेषु च ।। ७१ ।।

इसी तरह शाल, तमाल, पाटल और बकुल आदि वृक्ष उन शैलशिखरोंपर धारण की हुई मालाकी भाँति शोभा पा रहे थे ।। ७१ ।।

विमलस्फाटिकाभानि पाण्डुरच्छदनैर्द्विजैः ।
कलहंसैरुपेतानि सारसाभिरुतानि च ।। ७२ ।।
सरांसि बहुशः पार्थाः पश्यन्तः शैलसानुषु ।
पद्मोत्पलविमिश्राणि सुखशीतजलानि च ।। ७३ ।।

पाण्डवोंने पर्वतीय शिखरोंपर बहुत-से ऐसे सरोवर देखे, जो निर्मल स्फटिकमणिके समान सुशोभित थे। उनमें सफेद पाँखवाले पक्षी कलहंस आदि विचरते तथा सारस कलरव करते थे। कमल और उत्पल-पुष्पोंसे संयुक्त उन सरोवरोंमें सुखद एवं शीतल जल भरा था ।। ७२-७३ ।।

एवं क्रमेण ते वीरा वीक्षमाणाः समन्ततः ।
गन्धवन्त्यथ माल्यानि रसवन्ति फलानि च ।। ७४ ।।
सरांसि च मनोज्ञानि वृक्षांश्चातिमनोरमान् ।
विविशुः पाण्डवाः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।। ७५ ।।

इस प्रकार वे वीर पाण्डव चारों ओर सुगन्धित पुष्पमालाएँ, सरस फल, मनोहर सरोवर और मनोरम वृक्षावलियोंको क्रमशः देखते हुए गन्धमादन पर्वतके वनमें प्रविष्ट हुए। वहाँ पहुँचनेपर उन सबकी आँखें आश्चर्यसे खिल उठीं ।। ७४-७५ ।।

कमलोत्पलकह्लारपुण्डरीकसुगन्धिना ।
सेव्यमाना वने तस्मिन् सुखस्पर्शेन वायुना ।। ७६ ।।

उस समय कमल, उत्पल, कह्लार और पुण्डरीककी सुन्दर गन्ध लिये मन्द मधुर वायु उस वनमें मानो उन्हें व्यजन डुलाती थी ।। ७६ ।।

ततो युधिष्ठिरो भीममाहेदं प्रीतिमद् वचः ।
अहो श्रीमदिदं भीम गन्धमादनकाननम् ।। ७७ ।।

तदनन्तर युधिष्ठिरने भीमसेनसे प्रसन्नतापूर्ण यह बात कही—‘भीम! यह गन्धमादन-कानन कितना सुन्दर और कैसा अद्भुत है? ।। ७७ ।।

वने ह्यस्मिन् मनोरम्ये दिव्याः काननजा द्रुमाः ।
लताश्च विविधाकाराः पत्रपुष्पफलोपगाः ।। ७८ ।।

'इस मनोरम वनके वृक्ष और नाना प्रकारकी लताएँ दिव्य हैं। इन सबमें पत्र, पुष्प और फलोंकी बहुतायत है ।। ७८ ।।

भान्त्येते पुष्पविकचाः पुंस्कोकिलकुलाकुलाः ।
नात्र कण्टकिनः केचिन्न च विद्यन्त्यपुष्पिताः ।। ७९ ।।

'ये सभी वृक्ष फूलोंसे लदे हैं। कोकिल-कुलसे अलंकृत हैं। इस वनमें कोई भी वृक्ष ऐसे नहीं हैं, जिनमें काँटे हों और जो खिले न हों ।। ७९ ।।

स्निग्धपत्रफला वृक्षा गन्धमादनसानुषु ।
भ्रमरारावमधुरा नलिनीः फुल्लपङ्कजाः ।। ८० ।।

गन्धमादनके शिखरोंपर जितने वृक्ष हैं, उन सबके पत्र और फल चिकने हैं। सभी भ्रमरोंके मधुर गुंजारवसे मनोहर जान पड़ते हैं। यहाँके सरोवरोंमें कमल खिले हुए हैं ।। ८० ।।

विलोड्यमानाः पश्येमाः करिभिः सकरेणुभिः ।
पश्येमां नलिनीं चान्यां कमलोत्पलमालिनीम् ।। ८१ ।।
स्रग्धरां विग्रहवतीं साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ।
नानाकुसुमगन्धाढ्यास्तस्येमाः काननोत्तमे ।। ८२ ।।
उपगीयमाना भ्रमरै राजन्ते वनराजयः ।
पश्य भीम शुभान् देशान् देवाक्रीडान् समन्ततः ।। ८३ ।।

'देखो, हथिनियोंसहित हाथी इन तालाबोंमें घुसकर इन्हें मथे डालते हैं और इस दूसरी पुष्करिणीपर दृष्टिपात करो, जो कमल और उत्पलकी मालाओंसे अलंकृत है। यह कमलमालाधारिणी साक्षात् दूसरी लक्ष्मीके समान मानो साकार विग्रह धारण करके प्रकट हुई है। गन्धमादनके इस उत्तम वनमें नाना प्रकारके कुसुमोंकी सुगन्धसे सुवासित ये छोटी-छोटी वनश्रेणियाँ भ्रमरोंके गीतोंसे मुखरित हो कैसी शोभा पा रही हैं? भीमसेन! देखो, यहाँके सुन्दर प्रदेशोंमें चारों ओर देवताओंकी क्रीडास्थली है ।। ८१—८३ ।।

अमानुषगतिं प्राप्ताः संसिद्धाः स्म वृकोदर ।
लताभिः पुष्पिताग्राभिः पुष्पिताः पादपोत्तमाः ।। ८४ ।।
संश्लिष्टाः पार्थ शोभन्ते गन्धमादनसानुषु ।

'वृकोदर! हमलोग ऐसे स्थानपर आ गये हैं, जो मानवोंके लिये अगम्य है। जान पड़ता है हम सिद्ध हो गये हैं। कुन्तीनन्दन! गन्धमादनके शिखरोंपर ये फूलोंसे भरे हुए उत्तम वृक्ष इन पुष्पित लताओंसे अलंकृत होकर कैसी शोभा पा रहे हैं? ।। ८४½ ।।

शिखण्डिनीभिश्चरतां सहितानां शिखण्डिनाम् ।। ८५ ।।
नदतां शृणु निर्घोषं भीम पर्वतसानुषु ।

'भीम! इन पर्वतशिखरोंपर मोरिनियोंके साथ विचरते बोलते हुए मोरोंका यह मधुर केकारव तो सुनो ।। ८५½ ।।

चकोराः शतपत्राश्च मत्तकोकिलसारिकाः ।। ८६ ।।

पत्रिणः पुष्पितानेतान् संपतन्ति महाद्रुमान् ।

‘ये चकोर, शतपत्र, मदोन्मत्त कोकिल और सारिका आदि पक्षी इन पुष्पमण्डित विशाल वृक्षोंकी ओर कैसे उड़े जा रहे हैं? ।। ८६½ ।।

रक्तपीतारुणाः पार्थ पादपाग्रगताः खगाः ।। ८७ ।।

परस्परमुदीक्षन्ते बहवो जीवजीवकाः ।

‘पार्थ! वृक्षोंकी ऊँची शिखाओंपर बैठे हुए लाल, गुलाबी और पीले रंगके चकोर पक्षी एक-दूसरेकी ओर देख रहे हैं ।। ८७½ ।।

हरितारुणवर्णानां शाद्वलानां समीपतः ।। ८८ ।।

सारसाः प्रतिदृश्यन्ते शैलप्रस्रवणेष्वपि ।

उधर हरी और लाल घासोंके समीप पर्वतीय झरनोंके पास सारस दिखायी देते हैं ।। ८८½ ।।

वदन्ति मधुरा वाचः सर्वभूतमनोरमाः ।। ८९ ।।

भृङ्गराजोपचक्राश्च लोहपृष्ठाः पतत्त्रिणः ।

‘भृंगराज, उपचक्र (चक्रवाक) और लोहपृष्ठ (कंक) नामक पक्षी ऐसी मीठी बोली बोलते हैं, जो समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेती है ।। ८९½ ।।

चतुर्विषाणाः पद्माभाः कुञ्जराः सकरेणवः ।। ९० ।।

एते वैदूर्यवर्णाभं क्षोभयन्ति महत् सरः ।

‘इधर देखो, ये कमलके समान कान्तिवाले गजराज, जिनके चार दाँत शोभा पा रहे हैं, हथिनियोंके साथ आकर वैदूर्यमणिके समान सुशोभित इस महान् सरोवरको मथे डालते हैं ।। ९०½ ।।

बहुतालसमुत्सेधाः शैलशृङ्गपरिच्युताः ।। ९१ ।।

नानाप्रस्रवणेभ्यश्च वारिधाराः पतन्ति च ।

‘अनेक झरनोंसे जलकी धाराएँ गिर रही हैं। जिनकी ऊँचाई कई ताड़के बराबर है और ये पर्वतके सर्वोच्च शिखरसे नीचे गिरती हैं ।। ९१½ ।।

भास्कराभाः प्रभाभिश्च शारदाभ्रघनोपमाः ।। ९२ ।।

शोभयन्ति महाशैलं नानारजतधातवः ।

क्वचिदञ्जनवर्णाभाः क्वचित् काञ्चनसन्निभाः ।। ९३ ।।

‘नाना प्रकारके रजतमय धातु इस महान् पर्वतकी शोभा बढ़ा रहे हैं। इनमेंसे कुछ तो अपनी प्रभाओंसे भगवान् भास्करके समान प्रकाशित होते हैं और कुछ शरद्-ऋतुके श्वेत बादलोंके समान सुशोभित हो रहे हैं। कहीं काजलके समान काले और सुवर्णके समान पीले रंगके धातु दीख पड़ते हैं ।। ९२-९३ ।।

धातवो हरितालस्य क्वचिद्धिङ्गुलकस्य च ।
मनःशिलागुहाश्चैव सन्ध्याभ्रनिकरोपमाः ।। ९४ ।।

‘कहीं हरितालसम्बन्धी धातु हैं और कहीं हिंगुलसम्बन्धी। कहीं मैनसिलकी गुफाएँ हैं, जो संध्याकालीन लाल बादलोंके समान जान पड़ती हैं ।। ९४ ।।

शशलोहितवर्णाभाः क्वचिद्गैरिकधातवः ।
सितासिताभ्रप्रतिमा बालसूर्यसमप्रभाः ।। ९५ ।।

‘कहीं गेरु नामक धातु हैं, जिनकी कान्ति लाल खरगोशके समान दिखायी देती है। कोई धातु श्वेत बादलोंके समान हैं, तो कोई काले मेघोंके समान। कोई प्रातःकालके सूर्यकी भाँति लाल रंगके हैं ।। ९५ ।।

एते बहुविधाः शैलं शोभयन्ति महाप्रभाः ।
गन्धर्वाः सह कान्ताभिर्यथोक्तं वृषपर्वणा ।। ९६ ।।
दृश्यन्ते शैलशृङ्गेषु पार्थ किम्पुरुषैः सह ।

‘ये नाना प्रकारकी परम कान्तिमान् धातु समूचे शैलकी शोभा बढाती हैं। पार्थ! जिस प्रकार वृषपर्वाने कहा था उसी प्रकार इन पर्वतीय शिखरोंपर अपनी प्रेयसी अप्सराओं तथा किम्पुरुषोंके साथ गन्धर्व दृष्टिगोचर होते हैं ।। ९६½ ।।

गीतानां समतालानां तथा साम्नां च निःस्वनः ।। ९७ ।।
श्रूयते बहुधा भीम सर्वभूतमनोहरः ।
महागङ्गामुदीक्षस्व पुण्यां देवनदीं शुभाम् ।। ९८ ।।

‘भीमसेन! यहाँ सम तालसे गाते हुए गीतों तथा साममन्त्रोंका विविध स्वर सुनायी पड़ता है, जो सम्पूर्ण भूतोंके चित्तको आकर्षित करनेवाला है। यह परम पवित्र एवं कल्याणमयी देवनदी महागंगा हैं, इनका दर्शन करो ।।

कलहंसगणैर्जुष्टामृषिकिन्नरसेविताम् ।
धातुभिश्च सरिद्भिश्च किन्नरैर्मृगपक्षिभिः ।। ९९ ।।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च काननैश्च मनोरमैः ।
व्यालैश्च विविधाकारैः शतशीर्षैः समन्ततः ।। १०० ।।
उपेतं पश्य कौन्तेय शैलराजमरिन्दम ।

‘यहाँ हंसोंके समुदाय निवास करते हैं तथा ऋषि एवं किन्नरगण सदा इन (गंगाजी)-का सेवन करते हैं। शत्रुदमन भीम! भाँति-भाँतिके धातुओं, नदियों, किन्नरों, मृगों, पक्षियों, गन्धर्वों, अप्सराओं, मनोरम काननों तथा सौ मस्तकवाले भाँति-भाँतिके सर्पोंसे सम्पन्न इस पर्वतराजका दर्शन करो’ ।। ९९-१००½ ।।

वैशम्पायन उवाच

ते प्रीतमनसः शूराः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ।। १०१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार वे शूरवीर पाण्डव हर्षपूर्ण हृदयसे अपने परम उत्तम लक्ष्य स्थानको पहुँच गये ।। १०१ ।।

नातृप्यन् पर्वतेन्द्रस्य दर्शनेन परन्तपाः ।
उपेतमथ माल्यैश्च फलवद्भिश्च पादपैः ।। १०२ ।।
आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेराश्रमं ददृशुस्तदा ।

गिरिराज गन्धमादनका दर्शन करनेसे उन्हें तृप्ति नहीं होती थी। तदनन्तर परंतप पाण्डवोंने पुष्पमालाओं तथा फलवान् वृक्षोंसे सम्पन्न राजर्षि आर्ष्टिषेणका आश्रम देखा ।। १०२½ ।।

ततस्ते तिग्मतपसं कृशं धमनिसंततम् ।
पारगं सर्वधर्माणामार्ष्टिषेणमुपागमन् ।। १०३ ।।

फिर वे कठोर तपस्वी दुर्बलकाय तथा नस-नाड़ियोंसे ही व्याप्त राजर्षि आर्ष्टिषेणके समीप गये, जो सम्पूर्ण धर्मोंके पारंगत विद्वान् थे ।। १०३ ।।

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि गन्धमादनप्रवेशे अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें गन्धमादनप्रवेशविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५८ ।।

---

[*] सिन्धुवार शब्दका अर्थ आचार्य नीलकण्ठने कमल माना है। आधुनिक कोषकारोंने ‘सिन्धुवार’को शेफालिका या निर्गुण्डीका पर्याय माना है। उसके फूल मंजरीके आकारमें केसरिया रंगके होते हैं, अतः तोमरसे उनकी उपमा ठीक बैठती है। इसीलिये यहाँ शेफालिका अर्थ लिया गया।

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रश्नके रूपमें आर्ष्टिषेणका युधिष्ठिरके प्रति उपदेश

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तमासाद्य तपसा दग्धकिल्बिषम् ।
अभ्यवादयत प्रीतः शिरसा नाम कीर्तयन् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजर्षि आर्ष्टिषेणने तपस्याद्वारा अपने सारे पाप दग्ध कर दिये थे। राजा युधिष्ठिरने उनके पास जाकर बड़ी प्रसन्नताके साथ अपना नाम बताते हुए उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया ।। १ ।।

ततः कृष्णा च भीमश्च यमौ च सुतपस्विनौ ।
शिरोभिः प्राप्य राजर्षिं परिवार्योपतस्थिरे ।। २ ।।

तदनन्तर द्रौपदी, भीमसेन और परम तपस्वी नकुल-सहदेव—ये सभी मस्तक झुकाकर उन राजर्षिको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ।। २ ।।

तथैव धौम्यो धर्मज्ञः पाण्डवानां पुरोहितः ।
यथान्यायमुपाक्रान्तस्तमृषिं संशितव्रतम् ।। ३ ।।

उसी प्रकार पाण्डवोंके पुरोहित धर्मज्ञ धौम्यजी कठोर व्रतका पालन करनेवाले राजर्षि आर्ष्टिषेणके पास यथोचित शिष्टाचारके साथ उपस्थित हुए ।। ३ ।।

अन्वजानात् स धर्मज्ञो मुनिर्दिव्येन चक्षुषा ।
पाण्डोः पुत्रान् कुरुश्रेष्ठानास्यतामिति चाब्रवीत् ।। ४ ।।

उन धर्मज्ञ मुनि आर्ष्टिषेणने अपनी दिव्यदृष्टिसे कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंको जान लिया और कहा, 'आप सब लोग बैठें' ।। ४ ।।

कुरूणामृषभं पार्थं पूजयित्वा महातपाः ।
सह भ्रातृभिरासीनं पर्यपृच्छदनामयम् ।। ५ ।।

महातपस्वी आर्ष्टिषेणने भाइयोंसहित कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरका यथोचित आदर-सत्कार किया और जब वे बैठ गये, तब उनसे कुशल-समाचार पूछा— ।। ५ ।।

नानृते कुरुषे भावं कच्चिद् धर्मे प्रवर्तसे ।
मातापित्रोश्च ते वृत्तिः कच्चित् पार्थ न सीदति ।। ६ ।।

'कुन्तीनन्दन! कभी झूठकी ओर तो तुम्हारा मन नहीं जाता? तुम धर्ममें लगे रहते हो न? माता-पिताके प्रति जो तुम्हारी सेवावृत्ति होनी चाहिये, वह है न? उसमें शिथिलता तो नहीं आयी है? ।। ६ ।।

कच्चित् ते गुरवः सर्वे वृद्धा वैद्याश्च पूजिताः ।
कच्चिन्न कुरुषे भावं पार्थ पापेषु कर्मसु ।। ७ ।।

'क्या तुमने समस्त गुरुजनों, बड़े-बूढ़ों और विद्वानोंका सदा समादर किया है? पार्थ! कभी पापकर्मोंमें तो तुम्हारी रुचि नहीं होती? ।। ७ ।।

सुकृतं प्रतिकर्तुं च कच्चिद्धातुं च दुष्कृतम् ।
यथान्यायं कुरुश्रेष्ठ जानासि न विकत्थसे ।। ८ ।।

'कुरुश्रेष्ठ! क्या तुम अपने उपकारीको उसके उपकारका यथोचित बदला देना जानते हो? क्या तुम्हें अपना अपकार करनेवाले मनुष्यकी उपेक्षा कर देनेकी कला का ज्ञान है? तुम अपनी बड़ाई तो नहीं करते? ।। ८ ।।

यथार्हं मानिताः कच्चित् त्वया नन्दन्ति साधवः ।
वनेष्वपि वसन् कच्चिद् धर्ममेवानुवर्तसे ।। ९ ।।

'क्या तुमसे यथायोग्य सम्मानित होकर साधु पुरुष तुमपर प्रसन्न रहते हैं? क्या तुम वनमें रहते हुए भी सदा धर्मका ही अनुसरण करते हो? ।। ९ ।।

कच्चिद् धौम्यस्त्वदाचारैर्न पार्थ परितप्यते ।
दानधर्मतपःशौचैरार्जवेन तितिक्षया ।। १० ।।
पितृपैतामहं वृत्तं कच्चित् पार्थानुवर्तसे ।
कच्चिद् राजर्षियातेन पथा गच्छसि पाण्डव ।। ११ ।।

'पार्थ! तुम्हारे आचार-व्यवहारसे पुरोहित धौम्यजीको क्लेश तो नहीं पहुँचता है? कुन्तीनन्दन! क्या तुम दान, धर्म, तप, शौच, सरलता और क्षमा आदिके द्वारा अपने बाप-दादोंके आचार-व्यवहारका अनुसरण करते हो? पाण्डुनन्दन! प्राचीन राजर्षि जिस मार्गसे गये हैं, उसीपर तुम भी चलते हो न? ।। १०-११ ।।

स्वे स्वे किल कुले जाते पुत्रे नप्तरि वा पुनः ।
पितरः पितृलोकस्थाः शोचन्ति च हसन्ति च ।। १२ ।।
किं तस्य दुष्कृतेऽस्माभिः सम्प्राप्तव्यं भविष्यति ।
किं चास्य सुकृतेऽस्माभिः प्राप्तव्यमिति शोभनम् ।। १३ ।।

'कहते हैं, जब-जब अपने-अपने कुलमें पुत्र अथवा नातीका जन्म होता है, तब-तब पितृलोकमें रहनेवाले पितर शोकमग्न होते हैं और हँसते भी हैं। शोक तो उन्हें यह सोचकर होता है कि 'क्या हमें इसके पापमें हिस्सा बँटाना पड़ेगा?' और हँसते इसलिये हैं कि 'क्या हमें इसके पुण्यका कुछ भाग मिलेगा? यदि ऐसा हो तो बड़ी अच्छी बात है' ।। १२-१३ ।।

पिता माता तथैवाग्निर्गुरुरात्मा च पञ्चमः ।
यस्यैते पूजिताः पार्थ तस्या लोकावुभौ जितौ ।। १४ ।।

'पार्थ! जिसके द्वारा पिता, माता, अग्नि, गुरु और आत्मा—इन पाँचोंका आदर होता है, वह यह लोक और परलोक दोनोंको जीत लेता है' ।। १४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

भगवन्नार्य माहैतद् यथावद् धर्मनिश्चयम् ।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियते विधिवन्मया ।। १५ ।।

युधिष्ठिरने कहा—भगवन्! आर्यचरण! आपने मुझे यह धर्मका निचोड़ बताया है। मैं अपनी शक्तिके अनुसार यथोचित रीतिसे विधिपूर्वक इसका पालन करता हूँ ।। १५ ।।

आर्ष्टिषेण उवाच

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च प्लवमाना विहायसा ।
जुषन्ते पर्वतश्रेष्ठमृषयः पर्वसंधिषु ।। १६ ।।

आर्ष्टिषेण बोले—पार्थ! पर्वोंकी संधिवेलामें (पूर्णिमा तथा प्रतिपदाकी संधिमें) बहुत-से ऋषिगण आकाशमार्गसे उड़ते हुए आते हैं और इस श्रेष्ठ पर्वतका सेवन करते हैं। उनमेंसे कितने तो केवल जल पीकर जीवन-निर्वाह करते हैं और कितने केवल वायु पीकर रहते हैं ।। १६ ।।

कामिनः सह कान्ताभिः परस्परमनुव्रताः ।
दृश्यन्ते शैलशृङ्गस्था यथा किम्पुरुषा नृप ।। १७ ।।

राजन्! कितने ही किम्पुरुष-जातिके कामी अपनी कामिनियोंके साथ परस्पर अनुरक्तभावसे यहाँ क्रीडाके लिये आते हैं और पर्वतके शिखरोंपर घूमते दिखायी देते हैं ।। १७ ।।

अरजांसि च वासांसि वसानाः कौशिकानि च ।
दृश्यन्ते बहवः पार्थ गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।। १८ ।।

कुन्तीकुमार! गन्धर्वों और अप्सराओंके बहुत-से गण यहाँ देखनेमें आते हैं, उनमेंसे कितने ही स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं और कितने ही रेशमी वस्त्रोंसे सुशोभित होते हैं ।। १८ ।।

विद्याधरगणाश्चैव स्रग्विणः प्रियदर्शनाः ।
महोरगगणांश्चैव सुपर्णाश्चोरगादयः ।। १९ ।।

विद्याधरोंके गण भी सुन्दर फूलोंके हार पहने अत्यन्त मनोहर दिखायी देते हैं। इनके सिवा बड़े-बड़े नागगण, सुपर्णजातीय पक्षी तथा सर्प आदि भी दृष्टिगोचर होते हैं ।। १९ ।।

अस्य चोपरि शैलस्य श्रूयते पर्वसंधिषु ।
भेरीपणवशङ्खानां मृदङ्गानां च निःस्वनः ।। २० ।।

पर्वोंकी संधि-बेलामें इस पर्वतके ऊपर भेरी, पणव, शंख और मृदंगोंकी ध्वनि सुनायी देती है ।। २० ।।

इहस्थैरेव तत् सर्वं श्रोतव्यं भरतर्षभाः ।
न कार्या वः कथंचित् स्यात् तत्राभिगमने मतिः ।। २१ ।।

भरतकुलभूषण पाण्डवो! तुम्हें यहीं रहकर वह सब कुछ देखना या सुनना चाहिये। वहाँ पर्वतके ऊपर जानेका विचार तुम्हें किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिये ।। २१ ।।

न चाप्यतः परं शक्यं गन्तुं भरतसत्तमाः ।
विहारो ह्यत्र देवानाममानुषगतिस्तु सा ।। २२ ।।

भरतश्रेष्ठ! इससे आगे जाना असम्भव है। वहाँ देवताओंकी विहारस्थली है। वहाँ मनुष्योंकी गति नहीं हो सकती ।। २२ ।।

ईषच्चपलकर्माणं मनुष्यमिह भारत ।
द्विषन्ति सर्वभूतानि ताडयन्ति च राक्षसाः ।। २३ ।।

भारत! यहाँ थोड़ी-सी भी चपलता करनेवाले मनुष्यसे सब प्राणी द्वेष करते हैं तथा राक्षसलोग उसपर प्रहार कर बैठते हैं ।। २३ ।।

अस्यातिक्रम्य शिखरं कैलासस्य युधिष्ठिर ।
गतिः परमसिद्धानां देवर्षीणां प्रकाशते ।। २४ ।।

युधिष्ठिर! इस कैलासके शिखरको लाँघ जानेपर परम सिद्ध देवर्षियोंकी गति प्रकाशित होती है ।। २४ ।।

चापलादिह गच्छन्तं पार्थ यानमितः परम् ।
अयःशूलादिभिर्घ्नन्ति राक्षसाः शत्रुसूदन ।। २५ ।।

शत्रुसूदन पार्थ! चपलतावश इससे आगेके मार्गपर जानेवाले मनुष्यको राक्षसगण लोहेके शूल आदिसे मारते हैं ।। २५ ।।

अप्सरोभिः परिवृतः समृद्ध्या नरवाहनः ।
इह वैश्रवणस्तात पर्वसंधिषु दृश्यते ।। २६ ।।

तात! पर्वोंकी संधिके समय यहाँ मनुष्योंपर सवार होनेवाले कुबेर अप्सराओंसे घिरकर अपने अतुल वैभवके साथ दिखायी देते हैं ।। २६ ।।

शिखरस्थं समासीनमधिपं यक्षरक्षसाम् ।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि भानुमन्तमिवोदितम् ।। २७ ।।

यक्षों तथा राक्षसोंके अधिपति कुबेर जब इस कैलाशशिखरपर विराजमान होते हैं, उस समय उदित हुए सूर्यकी भाँति शोभा पाते हैं। उस अवसरपर सब प्राणी उनका दर्शन करते हैं ।। २७ ।।

देवदानवसिद्धानां तथा वैश्रवणस्य च ।
गिरेः शिखरमुद्यानमिदं भरतसत्तम ।। २८ ।।

भरतश्रेष्ठ! पर्वतका यह शिखर देवताओं, दानवों, सिद्धों तथा कुबेरका क्रीड़ा-कानन है ।। २८ ।।

उपासीनस्य धनदं तुम्बुरोः पर्वसंधिषु ।
गीतसामस्वनस्तात श्रूयते गन्धमादने ।। २९ ।।

तात! पर्वसंधिके समय गन्धमादन पर्वतपर कुबेरकी सेवामें उपस्थित हुए तुम्बुरु गन्धर्वके साम-गानका स्वर स्पष्ट सुनायी पड़ता है ।। २९ ।।

एतदेवंविधं चित्रमिह तात युधिष्ठिर ।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि बहुशः पर्वसंधिषु ।। ३० ।।

तात युधिष्ठिर! इस प्रकार पर्वसंधिकालमें सब प्राणी यहाँ अनेक बार ऐसे-ऐसे अद्भुत दृश्योंका दर्शन करते हैं ।।

भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवन्ति फलानि च ।
वसध्वं पाण्डवश्रेष्ठा यावदर्जुनदर्शनात् ।। ३१ ।।

श्रेष्ठ पाण्डवो! जबतक तुम्हारी अर्जुनसे भेंट न हो, तबतक मुनियोंके भोजन करनेयोग्य सरस फलोंका उपभोग करते हुए तुम सब लोग यहाँ (सानन्द) निवास करो ।। ३१ ।।

न तात चपलैर्भाव्यमिह प्राप्तैः कथंचन ।
उषित्वेह यथाकामं यथाश्रद्धं विहृत्य च ।
ततः शस्त्रजितां तात पृथिवीं पालयिष्यसि ।। ३२ ।।

तात! यहाँ आनेवाले लोगोंको किसी प्रकार चपल नहीं होना चाहिये। तुम यहाँ अपनी इच्छाके अनुसार रहकर और श्रद्धाके अनुसार घूम-फिरकर लौट जाओगे और शस्त्रोंद्वारा जीती हुई पृथ्वीका पालन करोगे ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि आर्ष्टिषेणयुधिष्ठिरसंवादे एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय ।। १५९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें आर्ष्टिषेण-युधिष्ठिरसंवादविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५९ ।।

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका आर्ष्टिषेणके आश्रमपर निवास, द्रौपदीके अनुरोधसे भीमसेनका पर्वतके शिखरपर जाना और यक्षों तथा राक्षसोंसे युद्ध करके मणिमान्‌का वध करना

जनमेजय उवाच

आर्ष्टिषेणाश्रमे तस्मिन् मम पूर्वपितामहाः ।
पाण्डोः पुत्रा महात्मानः सर्वे दिव्यपराक्रमाः ।। १ ।।
कियन्तं कालमवसन् पर्वते गन्धमादने ।
किं च चक्रुर्महावीर्याः सर्वेऽतिबलपौरुषाः ।। २ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! गन्धमादन पर्वतपर आर्ष्टिषेणके आश्रममें मेरे समस्त पूर्वपितामह दिव्य पराक्रमी महामना पाण्डव कितने समयतक रहे? वे सभी महान् पराक्रमी और अत्यन्त बल-पौरुषसे सम्पन्न थे। वहाँ रहकर उन्होंने क्या किया? ।। १-२ ।।

कानि चाभ्यवहार्याणि तत्र तेषां महात्मनाम् ।
वसतां लोकवीराणामासंस्तद् ब्रूहि सत्तम ।। ३ ।।

साधुशिरोमणे! वहाँ निवास करते समय विश्वविख्यात वीर महामना पाण्डवोंके भोज्य पदार्थ क्या थे? यह बतानेकी कृपा करें ।। ३ ।।

विस्तरेण च मे शंस भीमसेनपराक्रमम् ।
यत् यच्चक्रे महाबाहुस्तस्मिन् हैमवते गिरौ ।। ४ ।।

आप मुझसे भीमसेनका पराक्रम विस्तारपूर्वक बतावें। उन महाबाहुने हिमालय पर्वतके शिखरपर रहते समय कौन-कौन-सा कार्य किया था? ।। ४ ।।

न खल्वासीत् पुनर्युद्धं तस्य यक्षैर्द्विजोत्तम ।
कच्चित् समागमस्तेषामासीद् वैश्रवणस्य च ।। ५ ।।

द्विजश्रेष्ठ! उनका यक्षोंके साथ फिर कोई युद्ध हुआ था या नहीं। क्या कुबेरके साथ कभी उनकी भेंट हुई थी? ।। ५ ।।

तत्र ह्यायाति धनद आर्ष्टिषेणो यथाब्रवीत् ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।। ६ ।।
न हि मे शृण्वतस्तृप्तिरस्ति तेषां विचेष्टितम् ।

क्योंकि आर्ष्टिषेणने जैसा बताया था, उसके अनुसार वहाँ कुबेर अवश्य आते रहे होंगे। तपोधन! मैं यह सब विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ; क्योंकि पाण्डवोंका चरित्र सुननेसे मुझे तृप्ति नहीं होती ।। ६½ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतदात्महितं श्रुत्वा तस्याप्रतिमतेजसः ।। ७ ।।
शासनं सततं चक्रुस्तथैव भरतर्षभाः ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! अप्रतिम तेजस्वी आर्ष्टिषेणका यह अपने लिये हितकर वचन सुनकर भरतकुल-भूषण पाण्डवोंने सदा उनके आदेशका उसी प्रकार पालन किया ।। ७½ ।।

भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवन्ति फलानि च ।। ८ ।।
मेध्यानि हिमवत्पृष्ठे मधूनि विविधानि च ।
एवं ते न्यवसंस्तत्र पाण्डवा भरतर्षभाः ।। ९ ।।

वे हिमालयके शिखरपर निवास करते हुए मुनियोंके खानेयोग्य सरस फलोंका और नाना प्रकारके पवित्र (बिना हिंसाके प्राप्त) मधुका भी भोजन करते थे। इस प्रकार भरतश्रेष्ठ पाण्डव वहाँ निवास करते थे ।। ८-९ ।।

तथा निवसतां तेषां पञ्चमं वर्षमभ्यगात् ।
शृण्वतां लोमशोक्तानि वाक्यानि विविधान्युत ।। १० ।।

वहाँ निवास करते हुए उनका पाँचवाँ वर्ष बीत गया। उन दिनों वे लोमशजीकी कही हुई नाना प्रकारकी कथाएँ सुना करते थे ।। १० ।।

कृत्यकाल उपस्थास्य इति चोक्त्वा घटोत्कचः ।
राक्षसैः सह सर्वैश्च पूर्वमेव गतः प्रभो ।। ११ ।।

राजन्! घटोत्कच यह कहकर कि 'मैं आवश्यकताके समय स्वयं उपस्थित हो जाऊँगा' सब राक्षसोंके साथ पहले ही चला गया था ।। ११ ।।

आर्ष्टिषेणाश्रमे तेषां वसतां वै महात्मनाम् ।
अगच्छन् बहवो मासाः पश्यतां महदद्भुतम् ।। १२ ।।

आर्ष्टिषेणके आश्रममें रहकर अत्यन्त अद्भुत दृश्योंका अवलोकन करते हुए महामना पाण्डवोंके अनेक मास व्यतीत हो गये ।। १२ ।।

तैस्तत्र विहरद्भिश्च रममाणैश्च पाण्डवैः ।
प्रीतिमन्तो महाभागा मुनयश्चारणास्तथा ।। १३ ।।

वहाँ रहकर क्रीडा-विहार करते हुए उन पाण्डवोंसे महाभाग मुनि और चारण बहुत प्रसन्न थे ।। १३ ।।

आजग्मुः पाण्डवान् द्रष्टुं शुद्धात्मानो यतव्रताः ।
ते तैः सह कथां चक्रुर्दिव्यां भरतसत्तमाः ।। १४ ।।

उनका अन्तःकरण शुद्ध था और वे संयम-नियमके साथ उत्तम व्रतका पालन करनेवाले थे। एक दिन वे सभी पाण्डवोंसे मिलनेके लिये आये। भरतशिरोमणि पाण्डवोंने

उनके साथ दिव्य चर्चाएँ कीं ।। १४ ।।

ततः कतिपयाहस्य महाह्रदनिवासिनम् ।

ऋद्धिमन्तं महानागं सुपर्णः सहसाऽऽहरत् ।। १५ ।।

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद एक महान् जलाशयमें निवास करनेवाले महानाग ऋद्धिमान्‌को गरुडने सहसा झपाटा मारकर पकड़ लिया ।। १५ ।।

प्राकम्पत महाशैलः प्रामृद्यन्त महाद्रुमाः ।

ददृशुः सर्वभूतानि पाण्डवाश्च तदद्भुतम् ।। १६ ।।

उस समय वह महान् पर्वत हिलने लगा। बड़े-बड़े वृक्ष मिट्टीमें मिल गये। वहाँके समस्त प्राणियों तथा पाण्डवोंने उस अद्भुत घटनाको प्रत्यक्ष देखा ।। १६ ।।

ततः शैलोत्तमस्याग्रात् पाण्डवान् प्रति मारुतः ।

अवहत् सर्वमाल्यानि गन्धवन्ति शुभानि च ।। १७ ।।

तत्पश्चात् उस उत्तम पर्वतके शिखरसे पाण्डवोंकी ओर हवाका एक झोंका आया, जिसने वहाँ सब प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी बनी हुई बहुत-सी सुन्दर मालाएँ लाकर बिखेर दीं ।। १७ ।।

तत्र पुष्पाणि दिव्यानि सुहृद्भिः सह पाण्डवाः ।

ददृशुः पञ्चवर्णानि द्रौपदी च यशस्विनी ।। १८ ।।

पाण्डवोंने अपने सुहृदोंके साथ जाकर उन मालाओंमें गूँथे हुए दिव्य पुष्प देखे, जो पाँच रंगके थे। यशस्विनी द्रौपदीने भी उन फूलोंको देखा था ।। १८ ।।

भीमसेनं ततः कृष्णा काले वचनमब्रवीत् ।

विविक्ते पर्वतोद्देशे सुखासीनं महाभुजम् ।। १९ ।।

तदनन्तर उसने समय पाकर पर्वतके एकान्त प्रदेशमें सुखपूर्वक बैठे हुए महाबाहु भीमसेनसे कहाप— ।। १९ ।।

सुपर्णानिलवेगेन श्वसनेन महाचलात् ।

पञ्चवर्णानि पात्यन्ते पुष्पाणि भरतर्षभ ।। २० ।।

प्रत्यक्षं सर्वभूतानां नदीमश्वरथां प्रति ।

खाण्डवे सत्यसंधेन भ्रात्रा तव महात्मना ।। २१ ।।

गन्धर्वोरगरक्षांसि वासवश्च निवारितः ।

हता मायाविनश्चोग्रा धनुः प्राप्तं च गाण्डिवम् ।। २२ ।।

'भरतश्रेष्ठ! गरुडके पंखसे उठी हुई वायुके वेगसे उस दिन उस महान् पर्वतसे जो पाँच रंगके फूल अश्वरथा नदीके तटपर गिराये गये थे, उन्हें सब प्राणियोंने प्रत्यक्ष देखा। मुझे याद है, खाण्डव वनमें तुम्हारे महामना भाई सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनने गन्धर्वों, नागों, राक्षसों तथा देवराज इन्द्रको भी युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया था। बहुत-से भयंकर मायावी राक्षस उनके हाथों मारे गये और उन्होंने गाण्डीव नामक धनुष भी प्राप्त कर लिया ।। २०-२२ ।।

तवापि सुमहत् तेजो महद् बाहुबलं च ते ।
अविषह्यमनाधृष्यं शक्रतुल्यपराक्रम ।। २३ ।।

'आर्यपुत्र! तुम्हारा पराक्रम भी इन्द्रके ही समान है। तुम्हारा तेज और बाहुबल भी महान् है। वह दूसरोंके लिये दुःसह एवं दुर्धर्ष है ।। २३ ।।

त्वद्बाहुबलवेगेन त्रासिताः सर्वराक्षसाः ।
हित्वा शैलं प्रपद्यन्तां भीमसेन दिशो दश ।। २४ ।।

'भीमसेन! मैं चाहती हूँ कि तुम्हारे बाहुबलके वेगसे थर्राकर सम्पूर्ण राक्षस इस पर्वतको छोड़ दें और दसों दिशाओंकी शरण लें ।। २४ ।।

ततः शैलोत्तमस्याग्रं चित्रमाल्यधरं शिवम् ।
व्यपेतभयसम्मोहाः पश्यन्तु सुहृदस्तव ।। २५ ।।
एवं प्रणिहितं भीम चिरात् प्रभृति मे मनः ।
द्रष्टुमिच्छामि शैलाग्रं त्वद्बाहुबलपालिता ।। २६ ।।

'तत्पश्चात् विचित्र मालाधारी एवं शिवस्वरूप इस उत्तम शैल-शिखरको तुम्हारे सब सुहृद् भय और मोहसे रहित होकर देखें। भीम! दीर्धकालसे मैं अपने मनमें यही सोच ही रही हूँ। मैं तुम्हारे बाहुबलसे सुरक्षित हो इस शैल-शिखरका दर्शन करना चाहती हूँ' ।। २५-२६ ।।

ततः क्षिप्तमिवात्मानं द्रौपद्या स परंतपः ।
नामृष्यत महाबाहुः प्रहारमिव सद्गवः ।। २७ ।।

द्रौपदीकी यह बात सुनकर परंतप महाबाहु भीमसेनने इसे अपने ऊपर आक्षेप हुआ—सा समझा। जैसे अच्छा बैल अपने ऊपर चाबुककी मार नहीं सह सकता, उसी प्रकार यह आक्षेप उनसे नहीं सहा गया ।।

सिंहर्षभगतिः श्रीमानुदारः कनकप्रभः ।
मनस्वी बलवान् दृप्तो मानी शूरश्च पाण्डवः ।। २८ ।।

उनकी चाल श्रेष्ठ सिंहके समान थी। वे सुन्दर, उदार और कनकके समान कान्तिमान् थे। पाण्डुनन्दन भीम मनस्वी, बलवान्, अभिमानी, मानी और शूरवीर थे ।। २८ ।।

लोहिताक्षः पृथुव्यंसो मत्तवारणविक्रमः ।
सिंहदंष्ट्रो बृहत्स्कन्धः शालपोत इवोद्गतः ।। २९ ।।

उनकी आँखें लाल थीं। दोनों कंधे हृष्ट-पुष्ट थे। उनका पराक्रम मतवाले गजराजके समान था। दाँत सिंहकी दाढ़ोंकी समानता करते थे। कंधे विशाल थे। वे शालवृक्षकी भाँति ऊँचे जान पड़ते थे ।। २९ ।।

महात्मा चारुसर्वाङ्गः कम्बुग्रीवो महाभुजः ।
रुक्मपृष्ठं धनुः खड्गं तूर्णाश्चापि परामृशत् ।। ३० ।।

उनका हृदय महान् था, सभी अंग मनोहर जान पड़ते थे, ग्रीवा शंखके समान थी और भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं। वे सुवर्णकी पीठवाले धुनष, खड्ग तथा तरकसपर बार-बार हाथ फेरते थे ।। ३० ।।

स केसरीव चोत्सिक्तः प्रभिन्न इव वारणः ।
व्यपेतभयसम्मोहः शैलमभ्यपतद् बली ।। ३१ ।।

बलवान् भीमसेन मदोन्मत्त सिंह और मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति भय और मोहसे रहित हो उस पर्वतपर चढ़ने लगे ।। ३१ ।।

तं मृगेन्द्रमिवायान्तं प्रभिन्नमिव वारणम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि बाणकार्मुकधारिणम् ।। ३२ ।।

मदवर्षी कुंजर और मृगराजकी भाँति आते हुए धनुष-बाणधारी भीमसेनको उस समय सब भूतोंने देखा ।। ३२ ।।

द्रौपद्या वर्धयन् हर्षं गदामादाय पाण्डवः ।
व्यपेतभयसम्मोहः शैलराजं समाश्रितः ।। ३३ ।।

पाण्डुनन्दन भीम गदा हाथमें लेकर द्रौपदीका हर्ष बढ़ाते हुए भय और घबराहट छोड़कर उस पर्वतराजपर चढ़ गये ।। ३३ ।।

न ग्लानिर्न च कातर्यं न वैक्लव्यं न मत्सरः ।
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः ।। ३४ ।।

वायु-पुत्र कुन्तीकुमार भीमसेनको कभी ग्लानि, कातरता, व्याकुलता और मत्सरता आदि भाव नहीं छूते थे ।। ३४ ।।

तदेकायनमासाद्य विषमं भीमदर्शनम् ।
बहुतालोच्छ्र्यं शृङ्गमारुरोह महाबलः ।। ३५ ।।

वह पर्वत ऊँची-नीची भूमियोंसे युक्त और देखनेमें भयंकर था। उसकी ऊँचाई कई ताड़ोंके बराबर थी और उसपर चढ़नेके लिये एक ही मार्ग था, तो भी महाबली भीमसेन उसके शिखरपर चढ़ गये ।। ३५ ।।

सकिन्नरमहानागमुनिगन्धर्वराक्षसान् ।
हर्षयन् पर्वतस्याग्रमारुह्य स महाबलः ।। ३६ ।।

पर्वतके शिखरपर आरूढ़ हो महाबली भीम किन्नर, महानाग, मुनि, गन्धर्व तथा राक्षसोंका हर्ष बढ़ाने लगे ।। ३६ ।।

ततो वैश्रवणावासं ददर्श भरतर्षभः ।
काञ्चनैः स्फाटिकैश्चैव वेश्मभिः समलंकृतम् ।। ३७ ।।

तदनन्तर भरतश्रेष्ठ भीमसेनने कुबेरका निवासस्थान देखा, जो सुवर्ण और स्फटिकमणिके बने हुए भवनोंसे विभूषित था ।। ३७ ।।

प्राकारेण परिक्षिप्तं सौवर्णेन समन्ततः ।

सर्वरत्नद्युतिमता सर्वोद्यानवता तथा ।। ३८ ।।
शैलादभ्युच्छ्रयवता चयाट्टालकशोभिना ।
द्वारतोरणनिर्व्यूहध्वजसंवाहशोभिना ।। ३९ ।।

उसके चारों ओर सोनेकी चहारदीवारी बनी थी। उसमें सब प्रकारके रत्न जड़े होनेसे उनकी प्रभा फैलती रहती थी। चहारदीवारीके सब ओर सुन्दर बगीचे थे। उस चहारदीवारीकी ऊँचाई पर्वतसे भी अधिक थी। बहुतसे भवनों और अट्टालिकाओंसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी। द्वार, तोरण (गोपुर), बुर्ज और ध्वजसमुदाय उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ।। ३८-३९ ।।

विलासिनीभिरत्यर्थं नृत्यन्तीभिः समन्ततः ।
वायुना धूयमानाभिः पताकाभिरलंकृतम् ।। ४० ।।

उस भवनमें सब ओर कितनी ही विलासिनी अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं और हवासे फहराती हुई पताकाएँ उस भवनका अलंकार बनी हुई थीं ।। ४० ।।

धनुष्कोटिमवष्टभ्य वक्रभावेन बाहुना ।
पश्यमानः स खेदेन द्रविणाधिपतेः पुरम् ।। ४१ ।।

अपनी तिरछी की हुई बाहुसे धनुषकी नोकको स्थिर करके भीमसेन उस धनाध्यक्ष कुबेरके नगरको बड़े खेदके साथ देख रहे थे ।। ४१ ।।

मोदयन् सर्वभूतानि गन्धमादनसम्भवः ।
सर्वगन्धवहस्तत्र मारुतः सुसुखो ववौ ।। ४२ ।।

गन्धमादनसे उठी हुई वायु सम्पूर्ण सुगन्धकी राशि लेकर समस्त प्राणियोंको आनन्दित करती हुई सुखद मन्द गतिसे बह रही थी ।। ४२ ।।

चित्रा विविधवर्णाभाश्चित्रमञ्जरिधारिणः ।
अचिन्त्या विविधास्तत्र द्रुमाः परमशोभिनः ।। ४३ ।।
रत्नजालपरिक्षिप्तं चित्रमाल्यविभूषितम् ।
राक्षसाधिपतेः स्थानं ददृशे भरतर्षभः ।। ४४ ।।

वहाँके अत्यन्त शोभाशाली विविध वृक्ष नाना प्रकारकी कान्तिसे प्रकाशित हो रहे थे। उनकी मञ्जरियाँ विचित्र दिखायी देती थीं। वे सब-के-सब अद्भुत और अकथनीय जान पड़ते थे। भरतश्रेष्ठ भीमने राक्षसराज कुबेरके उस स्थानको रत्नोंके समुदायसे सुशोभित तथा विचित्र मालाओंसे विभूषित देखा ।। ४३-४४ ।।

गदाखड्गधनुष्पाणिः समभित्यक्तजीवितः ।
भीमसेनो महाबाहुस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ।। ४५ ।।
ततः शङ्खमुपाध्मासीद् द्विषतां लोमहर्षणम् ।
ज्याघोषतलशब्दं च कृत्वा भूतान्यमोहयत् ।। ४६ ।।

उनके हाथमें गदा, खड्ग और धनुष शोभा पा रहे थे। उन्होंने अपने जीवनका मोह सर्वथा छोड़ दिया था। वे माहबाहु भीमसेन वहाँ पर्वतकी भाँति अविचल-भावसे कुछ देर खड़े रहे। तत्पश्चात् उन्होंने बड़े जोरसे शंख बजाया, जिसकी आवाज शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी। फिर धनुषकी टंकार करके समस्त प्राणियोंको मोहित कर दिया ।। ४५-४६ ।।

ततः प्रहृष्टरोमाणस्तं शब्दमभिदुद्रुवुः ।
यक्षराक्षसगन्धर्वाः पाण्डवस्य समीपतः ।। ४७ ।।

तब यक्ष, राक्षस और गन्धर्व रोमाञ्चित होकर उस शब्दको लक्ष्य करके पाण्डुनन्दन भीमसेनके समीप दौड़े आये ।। ४७ ।।

गदापरिघनिस्त्रिंशशूलशक्तिपरश्वधाः ।
प्रगृहीता व्यरोचन्त यक्षराक्षसबाहुभिः ।। ४८ ।।

उस समय गदा, परिघ, खड्ग, शूल, शक्ति और फरसे आदि अस्त्र-शस्त्र उन यक्षों तथा राक्षसोंके हाथोंमें आकर बड़ी चमक पैदा कर रहे थे ।। ४८ ।।

ततः प्रववृते युद्धं तेषां तस्य च भारत ।
तैः प्रयुक्तान् महामायैः शूलशक्तिपरश्वधान् ।। ४९ ।।
भल्लैर्भीमः प्रचिच्छेद भीमवेगतरैस्ततः ।
अन्तरिक्षगतानां च भूमिष्टानां च गर्जताम् ।। ५० ।।
शरैर्विव्याध गात्राणि राक्षसानां महाबलः ।
सा लोहितमहावृष्टिरभ्यवर्षन्महाबलम् ।। ५१ ।।
गदापरिघपाणीनां रक्षसां कायसम्भवाः ।
कायेभ्यः प्रच्युता धारा राक्षसानां समन्ततः ।। ५२ ।।

भारत! तदनन्तर उन यक्षों और गन्धर्वोंका भीमसेनके साथ युद्ध प्रारम्भ हो गया। वे यक्ष और राक्षस बड़े मायावी थे। उनके चलाये हुए शूल, शक्ति और फरसोंको भीमसेनने भयानक वेगशाली भल्ल नामक बाणोंद्वारा काट गिराया। वे राक्षस आकाशमें उड़कर तथा भूतलपर खड़े होकर जोर-जोरसे गर्जना कर रहे थे। महाबली भीमने बाणोंकी झड़ी लगाकर उनके शरीरोंको अच्छी प्रकार छेद डाला। गदा और परिघ हाथमें लिये हुए राक्षसोंके शरीरसे महाबली भीमपर खूनकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी तथा चारों ओर राक्षसोंके शरीरसे रक्तकी कितनी ही धाराएँ बह चलीं ।। ४९—५२ ।।

भीमबाहुबलोत्सृष्टैरायुधैर्यक्षरक्षसाम् ।
विनिकृत्तानि दृश्यन्ते शरीराणि शिरांसि च ।। ५३ ।।

भीमके बाहुबलसे छूटे हुए अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा यक्षों तथा राक्षसोंके शरीर और सिर कटे दिखायी दे रहे थे ।।

प्रच्छाद्यमानं रक्षोभिः पाण्डवं प्रियदर्शनम् ।

ददृशुः सर्वभूतानि सूर्यमभ्रगणैरिव ।। ५४ ।।

जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार प्रियदर्शन पाण्डुपुत्र भीमको राक्षस ढक लेते हैं, यह सब प्राणियोंने प्रत्यक्ष देखा ।। ५४ ।।

स रश्मिभिरिवादित्यः शरैररिनिघातिभिः ।
सर्वानाच्र्छन्महाबाहुर्बलवान् सत्यविक्रमः ।। ५५ ।।

तब सत्यपराक्रमी बलवान् महाबाहु भीमसेनने अपने शत्रुनाशक बाणोंद्वारा समस्त शत्रुओंको उसी प्रकार ढक लिया, जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे संसारको ढक लेते हैं ।। ५५ ।।

अभितर्जयमानाश्च रुवन्तश्च महारवान् ।
न मोहं भीमसेनस्य ददृशुः सर्वराक्षसाः ।। ५६ ।।

सब ओरसे गर्जन-तर्जन करते हुए तथा बड़ी भयानक आवाजसे चिग्घाड़ते हुए सब राक्षसोंने भीमसेनके चित्तमें तनिक भी घबराहट नहीं देखी ।। ५६ ।।

यक्षा विकृतसर्वाङ्गा भीमसेनभयार्दिताः ।
भीममार्तस्वरं चक्रुर्विप्रकीर्णमहायुधाः ।। ५७ ।।

जिनके सारे अंग विकृत एवं विकराल थे, वे यक्ष भीमसेनके भयसे पीड़ित हो अपने बड़े-बड़े आयुधोंको इधर-उधर फेंककर भयंकर आर्तनाद करने लगे ।। ५७ ।।

उत्सृज्य ते गदाशूलानसिशक्तिपरश्वधान् ।
दक्षिणां दिशमाजग्मुस्त्रसिता दृढधन्वना ।। ५८ ।।

सुदृढ़ धनुषवाले भीमसेनसे आतंकित हो वे यक्ष-राक्षस आदि योद्धा गदा, शूल, खड्ग, शक्ति तथा परशु आदि अस्त्रोंको वहीं छोड़कर दक्षिणदिशाकी ओर भाग गये ।। ५८ ।।

तत्र शूलगदापाणिर्व्यूढोरस्को महाभुजः ।
सखा वैश्रवणस्यासीन्मणिमान्नाम राक्षसः ।। ५९ ।।

वहाँ कुबेरके सखा राक्षसप्रवर मणिमान् भी मौजूद थे। उनके हाथोंमें त्रिशूल और गदा शोभा पा रही थी उनकी छाती चौड़ी और बाँहें विशाल थीं ।। ५९ ।।

अदर्शयदधीकारं पौरुषं च महाबलः ।
स तान् दृष्ट्वा परावृत्तान् स्मयमान इवाब्रवीत् ।। ६० ।।

उन महाबली वीरने वहाँ अपने अधिकार और पौरुष दोनोंको प्रकट किया। उस समय अपने सैनिकोंको रणसे विमुख होते देख वे मुसकराते हुए उनसे बोले— ।। ६० ।।

एकेन बहवः सङ्ख्ये मानुषेण पराजिताः ।
प्राप्य वैश्रवणावासं किं वक्ष्यथ धनेश्वरम् ।। ६१ ।।

'अरे! तुम बहुत बड़ी संख्यामें होकर भी आज एक मनुष्यद्वारा युद्धमें पराजित हो गये।' कुबेरभवनमें धनाध्यक्षके पास जाकर क्या कहोगे?' ।। ६१ ।।

एवमाभाष्य तान् सर्वानभ्यवर्तत राक्षसः ।

शक्तिशूलगदापाणिरभ्यधावत् स पाण्डवम् ।। ६२ ।।

ऐसा कहकर राक्षस मणिमान्‌ने उन सबको लौटाया और हाथोंमें शक्ति, शूल तथा गदा लेकर भीमसेनपर धावा किया ।। ६२ ।।

तमापतन्तं वेगेन प्रभिन्नमिव वारणम् ।
वत्सदन्तैस्त्रिभिः पार्श्वे भीमसेनः समार्दयत् ।। ६३ ।।

मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति मणिमान्‌को बड़े वेगसे आता देख भीमसेनने वत्सदन्त नामक तीन बाणोंद्वारा उनकी पसलीमें प्रहार किया ।। ६३ ।।

मणिमानपि संक्रुद्धः प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
प्राहिणोद् भीमसेनाय परिगृह्य महाबलः ।। ६४ ।।

यह देख महाबली मणिमान् भी रोषसे आगबबूला हो उठे और बहुत बड़ी गदा लेकर उन्होंने भीमसेनपर चलायी ।। ६४ ।।

विद्युद्रूपां महाघोरामाकाशे महतीं गदाम् ।
शरैर्बहुभिरभ्याच्छेद् भीमसेनः शिलाशितैः ।। ६५ ।।

वह विशाल एवं महा भयंकर गदा आकाशमें विद्युत्‌की भाँति चमक उठी। यह देख भीमसेनने पत्थर पर रगड़कर तेज किये हुए बहुत-से बाणोंद्वारा उसपर आघात किया ।। ६५ ।।

प्रत्यहन्यन्त ते सर्वे गदामासाद्य सायकाः ।
न वेगं धारयामासुर्गदावेगस्य वेगिताः ।। ६६ ।।

परंतु वे सभी बाण मणिमान्‌की गदासे टकराकर नष्ट हो गये। यद्यपि वे बड़े वेगसे छूटे थे, तथापि गदा चलानेके अभ्यासी मणिमान्‌की गदाके वेगको न सह सके ।। ६६ ।।

गदायुद्धसमाचारं बुद्ध्यमानः स वीर्यवान् ।
व्यंसयामास तं तस्य प्रहारं भीमविक्रमः ।। ६७ ।।

भयंकर पराक्रमी महाबली भीमसेन गदायुद्धकी कलको जानते थे। अतः उन्होंने शत्रुके उस प्रहारको व्यर्थ कर दिया ।। ६७ ।।

ततः शक्तिं महाघोरां रुक्मदण्डामयस्मयीम् ।
तस्मिन्नेवान्तरे धीमान् प्रजहाराथ राक्षसः ।। ६८ ।।

तदनन्तर बुद्धिमान् राक्षसने उसी समय स्वर्णमय दण्डसे विभूषित एवं लोहेकी बनी हुई बड़ी भयानक शक्तिका प्रहार किया ।। ६८ ।।

सा भुजं भीमनिर्ह्रादा भित्वा भीमस्य दक्षिणम् ।
साग्निज्वाला महारौद्रा पपात सहसा भुवि ।। ६९ ।।

वह अग्निकी ज्वालाके समान अत्यन्त भयंकर शक्ति भयानक गड़गड़ाहटके साथ भीमकी दाहिनी भुजाको छेदकर सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी ।। ६९ ।।

सोऽतिविद्धो महेष्वासः शक्त्यामितपराक्रमः ।

गदां जग्राह कौन्तेयः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।। ७० ।।
रुक्मपट्टपिनद्धां तां शत्रूणां भयवर्धिनीम् ।
प्रगृह्याथ नदन् भीमः शैक्यां सर्वायसीं गदाम् ।। ७१ ।।
तरसा चाभिदुद्राव मणिमन्तं महाबलम् ।

शक्तिकी गहरी चोट लगनेसे महान् धनुर्धर एवं अत्यन्त पराक्रमी कुन्तीकुमार भीमके नेत्र क्रोधसे व्याकुल हो उठे और उन्होंने एक ऐसी गदा हाथमें ली जो शत्रुओंका भय बढ़ानेवाली थी। उसके ऊपर सोनेके पत्र जड़े थे। वह सारी-की-सारी लोहेकी बनी हुई और शत्रुओंको नष्ट करनेमें समर्थ थी। उसे लेकर भीमसेन विकट गर्जना करते हुए बड़े वेगसे महाबली मणिमान्की ओर दौड़े ।। ७०-७१½ ।।

दीप्यमानं महाशूलं प्रगृह्य मणिमानपि ।। ७२ ।।
प्राहिणोद् भीमसेनाय वेगेन महता नदन् ।

उधर मणिमान्ने भी सिंहनाद करते हुए एक चमचमाता हुआ महान् त्रिशूल हाथमें लिया और बड़े वेगसे भीमसेनपर चलाया ।। ७२½ ।।

भङ्क्त्वा शूलं गदाग्रेण गदायुद्धविशारदः ।। ७३ ।।
अभिदुद्राव तं हन्तुं गरुत्मानिव पन्नगम् ।

परंतु गदा-युद्धमें कुशल भीमने गदाके अग्रभागसे उस त्रिशूलके टुकड़े-टुकड़े करके मणिमान्को मारनेके लिये उसी प्रकार धावा किया, जैसे किसी सर्पके प्राण लेनेके लिये गरुड उसपर टूट पड़ते हैं ।। ७३½ ।।

सोऽन्तरिक्षमवप्लुत्य विधूय सहसा गदाम् ।। ७४ ।।
प्रचिक्षेप महाबाहुर्विनद्य रणमूर्धनि ।
सेन्द्राशनिरिवेन्द्रेण विसृष्टा वातरंहसा ।। ७५ ।।

महाबाहु भीमने युद्धके मुहानेपर गर्जना करते हुए सहसा आकाशमें उछलकर गदा घुमायी और उसे वायुके समान वेगसे मणिमान्पर दे मारा, मानो देवराज इन्द्रने किसी दैत्यपर वज्रका प्रहार किया हो ।। ७४-७५ ।।

हत्वा रक्षः क्षितिं प्राप्य कृत्येव निपपात ह ।
तं राक्षसं भीमबलं भीमसेनेन पातितम् ।। ७६ ।।
ददृशुः सर्वभूतानि सिंहेनेव गवां पतिम् ।
तं प्रेक्ष्य निहतं भूमौ हतशेषा निशाचराः ।
भीममार्तस्वरं कृत्वा जग्मुः प्राचीं दिशं प्रति ।। ७७ ।।

वह गदा उस राक्षसके प्राण लेकर भूमिपर मूर्तिमती कृत्याके समान गिर पड़ी। भीमसेनके द्वारा मारे गये उस भयानक शक्तिशाली राक्षसको सब प्राणियोंने प्रत्यक्ष देखा, मानो सिंहने किसी साँड़को मार गिराया हो। उसे मरकर पृथ्वीपर गिरा देख मरनेसे बचे हुए निशाचर भयंकर आर्तनाद करते हुए पूर्व दिशाकी ओर भाग चले ।। ७६-७७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि मणिमद्वधे षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें मणिमान्‌-वधसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६० ।।

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुबेरका गन्धमादन पर्वतपर आगमन और युधिष्ठिरसे उनकी भेंट

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा बहुविधैः शब्दैर्नाद्यमानां गिरेर्गुहाम् ।
अजातशत्रुः कौन्तेयो माद्रीपुत्रावुभावपि ।। १ ।।
धौम्यः कृष्णा च विप्राश्च सर्वे च सुहृदस्तथा ।
भीमसेनमपश्यन्तः सर्वे विमनसोऽभवन् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय उस पर्वतकी गुफा नाना प्रकारके शब्दोंसे प्रतिध्वनित हो रही थी। वह प्रतिध्वनि सुनकर अजातशत्रु कुन्तीकुमार युधिष्ठिर, दोनों माद्री-पुत्र नकुल-सहदेव, पुरोहित धौम्य, द्रौपदी और समस्त ब्राह्मण तथा सुहृद्—ये सभी भीमसेनको न देखनेके कारण बहुत उदास हो गये ।। १-२ ।।

द्रौपदीमार्ष्टिषेणाय सम्प्रधार्य महारथाः ।
सहिताः सायुधाः शूराः शैलमारुरुहुस्तदा ।। ३ ।।

तब वे महारथी शूर-वीर द्रौपदीको आर्ष्टिषेणकी देख-रेखमें सौंपकर हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये एक साथ पर्वतपर चढ़ गये ।। ३ ।।

ततः सम्प्राप्य शैलाग्रं वीक्षमाणा महारथाः ।
ददृशुस्ते महेष्वासा भीमसेनमरिंदमाः ।। ४ ।।

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे महाधनुर्धर एवं महारथी वीर उस पर्वतके शिखरपर पहुँचकर जब इधर-उधर दृष्टिपात करने लगे, तब उन्हें भीमसेन दिखायी दिये ।। ४ ।।

स्फुरतश्च महाकायान् गतसत्त्वांश्च राक्षसान् ।
महाबलान् महासत्त्वान् भीमसेनेन पातितान् ।। ५ ।।

साथ ही उन्होंने भीमसेनके द्वारा मार गिराये हुए महान् शक्तिशाली तथा परम उत्साही विशालकाय राक्षस भी देखे, जिनमेंसे कुछ छटपटा रहे थे और कुछ मरे पड़े थे ।। ५ ।।

शुशुभे स महाबाहुर्गदाखड्गधनुर्धरः ।
निहत्य समरे सर्वान् दानवान् मघवानिव ।। ६ ।।

उस समय गदा, खड्ग और धनुष धारण किये महाबाहु भीमसेन समरभूमिमें सम्पूर्ण दानवोंका संहार करके खड़े हुए देवराज इन्द्रके समान शोभा पा रहे थे ।। ६ ।।

ततस्ते भ्रातरं दृष्ट्वा परिष्वज्य महारथाः ।
तत्रोपविविशुः पार्थाः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ।। ७ ।।

तब वे उत्तम आश्रयको प्राप्त हुए महारथी पाण्डव भाई भीमसेनको हृदयसे लगाकर उनके पास ही बैठ गये ।। ७ ।।

तैश्चतुर्भिर्महेष्वासैर्गिरिशृङ्गमशोभत ।
लोकपालैर्महाभागैर्दिवं देववरैरिव ।। ८ ।।

जैसे महान् भाग्यशाली देवश्रेष्ठ इन्द्र आदि लोकपालोंके द्वारा स्वर्गलोककी शोभा होती है, उसी प्रकार उन चार महाधनुर्धर बन्धुओंसे उस समय वह पर्वत-शिखर सुशोभित हो रहा था ।। ८ ।।

कुबेरसदनं दृष्ट्वा राक्षसांश्च निपातितान् ।
भ्राता भ्रातरमासीनमब्रवीत् पृथिवीपतिः ।। ९ ।।

राजा युधिष्ठिरने कुबेरका भवन देखकर और मारे गये राक्षसोंकी ओर दृष्टिपात करके अपने पास बैठे हुए भाई भीमसेनसे कहा ।। ९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

साहसाद् यदि वा मोहाद् भीम पापमिदं कृतम् ।
नैतत् ते सदृशं वीर मुनेरिव मृषा वधः ।। १० ।।

युधिष्ठिर बोले—वीर भीमसेन! तुमने दुःसाहसवश अथवा मोहके कारण जो यह पापकर्म किया है, वह मुनिवृत्तिसे रहनेवाले तुम्हारे अनुरूप नहीं है। राक्षसोंका यह संहार व्यर्थ ही किया गया है ।। १० ।।

राजद्विष्टं न कर्तव्यमिति धर्मविदो विदुः ।
त्रिदशानामिदं द्विष्टं भीमसेन त्वया कृतम् ।। ११ ।।

भीमसेन! धर्मज्ञ पुरुष यह जानते और मानते हैं कि राजद्रोहका कार्य नहीं करना चाहिये; परन्तु तुमने तो न केवल राजद्रोहका अपितु देवताओंके भी द्रोहका कार्य किया है ।। ११ ।।

अर्थधर्मावनादृत्य यः पापे कुरुते मनः ।
कर्मणां पार्थ पापानां स फलं विन्दते ध्रुवम् ।
पुनरेवं न कर्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम् ।। १२ ।।

पार्थ! जो अर्थ और धर्मका अनादर करके पापमें मन लगाता है उसे पापकर्मोंका फल अवश्य प्राप्त होता है। यदि तुम वही कार्य करना चाहते हो जो मुझे प्रिय लगे तो आजसे फिर कभी ऐसा काम तुम्हें नहीं करना चाहिये ।। १२ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्राता भ्रातरमच्युतम् ।
अर्थतत्त्वविभागज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।। १३ ।।
विरराम महातेजास्तमेवार्थं विचिन्तयन् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मात्मा भाई महातेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अर्थतत्त्वके विभागको ठीक-ठीक जाननेवाले थे। वे धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले अपने भाई भीमसेनसे उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गये और उसी विषयपर बार-बार विचार करने लगे ।। १३½ ।।

ततस्ते हतशिष्टा ये भीमसेनेन राक्षसाः ।। १४ ।।
सहिताः प्रत्यपद्यन्त कुबेरसदनं प्रति ।

उधर भीमसेनकी मारसे बचे हुए राक्षस एक साथ हो कुबेरके भवनमें गये ।। १४½ ।।

ते जवेन महावेगाः प्राप्य वैश्रवणालयम् ।। १५ ।।
भीममार्तस्वरं चक्रुर्भीमसेनभयार्दिताः ।
न्यस्तशस्त्रायुधाः क्लान्ताः शोणिताक्ततनुच्छदाः ।। १६ ।।

वे महान् वेगशाली तो थे ही, तीव्र गतिसे धनाध्यक्षके महलमें पहुँचकर भयंकर आर्तनाद करने लगे। भीमसेनका भय उस समय भी उन्हें पीड़ा दे रहा था। वे अपने अस्त्र-शस्त्र छोड़ चुके थे एवं थके हुए थे। उनके कवच खूनसे लथपथ हो गये थे ।। १५-१६ ।।

प्रकीर्णमूर्धजा राजन् यक्षाधिपतिमब्रुवन् ।
गदापरिघनिस्त्रिंशतोमरप्रासयोधिनः ।। १७ ।।
राक्षसा निहताः सर्वे तव देव पुरःसराः ।

राजन्! अपने सिरके बाल बिखेरे हुए वे राक्षस यक्षराज कुबेरसे इस प्रकार बोले—'देव! आपके भी सभी राक्षस, जो युद्धमें सदा आगे रहते और गदा, परिघ, खड्ग, तोमर तथा प्रास आदिके युद्धमें कुशल थे, मार डाले गये ।। १७½ ।।

प्रमृद्य तरसा शैलं मानुषेण धनेश्वर ।। १८ ।।
एकेन सहिताः सङ्ख्ये रणे क्रोधवशा गणाः ।

'धनेश्वर! एक मनुष्यने बलपूर्वक इस पर्वतको रौंद डाला है और युद्धमें क्रोधवश नामक राक्षसगणोंको मार भगाया है ।। १८½ ।।

प्रवरा राक्षसेन्द्राणां यक्षाणां च नराधिप ।। १९ ।।
शेरते निहता देव गतसत्त्वाः परासवः ।
लब्धशेषा वयं मुक्ता मणिमांस्ते सखा हतः ।। २० ।।

'नरेश्वर! राक्षसों और यक्षोंमें जो प्रमुख वीर थे, वे आज उत्साहशून्य तथा निष्प्राण होकर रणभूमिमें सो रहे हैं। हमलोग उसके कृपा-प्रसादसे छूट गये हैं; परंतु आपके सखा राक्षस मणिमान् मार डाले गये हैं ।। १९-२० ।।

मानुषेण कृतं कर्म विधत्स्व यदनन्तरम् ।
स तच्छ्रुत्वा तु संक्रुद्धः सर्वयक्षगणाधिपः ।। २१ ।।
कोपसंरक्तनयनः कथमित्यब्रवीद् वचः ।

'यह सब कार्य एक मनुष्यने किया है। इसके बाद जो करना उचित हो, वह कीजिये।' राक्षसोंकी यह बात सुनकर समस्त यक्षगणोंके स्वामी कुबेर कुपित हो उठे, क्रोधसे उनकी आँखें लाल हो गयीं। वे सहसा बोल उठे। 'यह कैसे सम्भव हुआ?' ।। २१½ ।।

द्वितीयमपराध्यन्तं भीमं श्रुत्वा धनेश्वरः ।। २२ ।।
चुक्रोध यक्षाधिपतिर्युज्यतामिति चाब्रवीत् ।

भीमने यह दूसरा अपराध किया है, यह सुनकर धनाध्यक्ष यक्षराजके क्रोधकी सीमा न रही। उन्होंने तुरंत आज्ञा दी, 'रथ जोतकर ले आओ' ।। २२½ ।।

अथाभ्रघनसंकाशं गिरिशृङ्गमिवोच्छ्रितम् ।। २३ ।।
रथं संयोजयामासुर्गन्धर्वैर्हेममालिभिः ।
तस्य सर्वगुणोपेता विमलाक्षा हयोत्तमाः ।। २४ ।।
तेजोबलगुणोपेता नानारत्नविभूषिताः ।
शोभमाना रथे युक्तास्तरिष्यन्त इवाशुगाः ।। २५ ।।

फिर तो सेवकोंने सुनहरे बादलोंकी घटाके सदृश विशाल पर्वतशिखरके समान ऊँचा रथ जोतकर तैयार किया। उसमें सुवर्णमालाओंसे विभूषित गन्धर्वदेशीय घोड़े जुते हुए थे। वे सर्वगुणसम्पन्न उत्तम अश्व तेजस्वी, बलवान् और अश्वोचित गुणोंसे युक्त थे। उनकी आँखें निर्मल थीं और उन्हें नाना प्रकारके रत्नमय आभूषण पहनाये गये थे। रथमें जुते हुए वे शोभाशाली अश्व शीघ्रगामी थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो वे अभी सब कुछ लाँघ जायँगे ।। २३—२५ ।।

ह्रेषयामासुरन्योन्यं ह्रेषितैर्विजयावहैः ।
स तमास्थाय भगवान् राजराजो महारथम् ।। २६ ।।
प्रययौ देवगन्धर्वैः स्तूयमानो महाद्युतिः ।

उन अश्वोंके हिनहिनानेकी आवाज विजयकी सूचना देनेवाली थी। उनमेंसे प्रत्येक अश्व स्वयं हिनहिनाकर दूसरेको भी इसके लिये प्रेरणा देता था। उस विशाल रथपर आरूढ़ हो महातेजस्वी राजाधिराज भगवान् कुबेर देवताओं और गन्धर्वोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए चले ।। २६½ ।।

तं प्रयान्तं महात्मानं सर्वे यक्षा धनाधिपम् ।। २७ ।।

धनाध्यक्ष महामना कुबेरके प्रस्थान करनेपर समस्त यक्ष भी उनके साथ चले ।। २७ ।।

रक्ताक्षा हेमसंकाशा महाकाया महाबलाः ।
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशा यक्षा दशशतावराः ।। २८ ।।

उन सबके नेत्र लाल थे। शरीरकी कान्ति सुवर्णके समान थी। वे सभी महाकाय और महाबली थे। वे सब तलवार बाँधे अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित थे। उनकी संख्या एक हजारसे कम नहीं थी ।। २८ ।।

ते जवेन महावेगाः प्लवमाना विहायसा ।
गन्धमादनमाजग्मुः प्रकर्षन्त इवाम्बरम् ।। २९ ।।

वे महान् वेगशाली यक्ष आकाशमें उड़ते हुए गन्धमादन पर्वतपर आये, मानो समूचे आकाशमण्डल-को खींचे ले रहे हों ।। २९ ।।

तत् केसरिमहाजालं धनाधिपतिपालितम् ।
कुबेरं च महात्मानं यक्षरक्षोगणावृतम् ।। ३० ।।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पाण्डवाः प्रियदर्शनम् ।
कुबेरस्तु महासत्त्वान् पाण्डोः पुत्रान् महारथान् ।। ३१ ।।
आत्तकार्मुकनिस्त्रिंशान् दृष्ट्वा प्रीतोऽभवत् तदा ।
देवकार्यं चिकीर्षन् स हृदयेन तुतोष ह ।। ३२ ।।

धनाध्यक्ष कुबेरके द्वारा पालित घोड़ोंके उस महा समुदायको तथा यक्ष-राक्षसोंसे घिरे हुए प्रियदर्शन महामना कुबेरको भी पाण्डवोंने देखा। देखकर उनके अंगोंमें रोमाञ्च हो आया। इधर कुबेर भी धनुष और तलवार लिये शक्तिशाली महारथी पाण्डुपुत्रोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। कुबेर देवताओंका कार्य सिद्ध करना चाहते थे, इसलिये मन-ही-मन पाण्डवोंसे बहुत संतुष्ट हुए ।। ३०—३२ ।।

ते पक्षिण इवापेतुर्गिरिशृङ्गं महाजवाः ।
तस्थुस्तेषां समभ्याशे धनेश्वरपुरःसराः ।। ३३ ।।

वे कुबेर आदि तीव्र वेगशाली यक्ष-राक्षस पक्षीकी तरह उड़कर गन्धमादन पर्वतके शिखरपर आये और पाण्डवोंके समीप खड़े हो गये ।। ३३ ।।

ततस्तं हृष्टमनसं पाण्डवान् प्रति भारत ।
समीक्ष्य यक्षगन्धर्वा निर्विकारमवस्थिताः ।। ३४ ।।

जनमेजय! पाण्डवोंके प्रति कुबेरका मन प्रसन्न देखकर यक्ष और गन्धर्व निर्विकारभावसे खड़े रहे ।। ३४ ।।

पाण्डवाश्च महात्मानः प्रणम्य धनदं प्रभुम् ।
नकुलः सहदेवश्च धर्मपुत्रश्च धर्मवित् ।। ३५ ।।
अपराद्धमिवात्मानं मन्यमाना महारथाः ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे परिवार्य धनेश्वरम् ।। ३६ ।।

धर्मज्ञ धर्मपुत्र युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव—ये महारथी महामना पाण्डव भगवान् कुबेरको प्रणाम करके अपनेको अपराधी-सा मानते हुए उन्हें सब ओरसे घेरकर हाथ जोड़े खड़े रहे ।। ३५-३६ ।।

स ह्यासनवरं श्रीमत् पुष्पकं विश्वकर्मणा ।
विहितं चित्रपर्यन्तमातिष्ठत धनाधिपः ।। ३७ ।।

धनाध्यक्ष कुबेर विश्वकर्माके बनाये हुए सुन्दर एवं श्रेष्ठ विमान पुष्पकपर विराजमान थे। वह विमान विचित्र निर्माणकौशलकी पराकाष्ठा था ।। ३७ ।।

तमासीनं महाकायाः शङ्कुकर्णा महाजवाः ।
उपोपविविशुर्यक्षा राक्षसाश्च सहस्रशः ।। ३८ ।।
शतशश्चापि गन्धर्वास्तथैवाप्सरसां गणाः ।
परिवार्योपतिष्ठन्त यथा देवाः शतक्रतुम् ।। ३९ ।।

विमानपर बैठे हुए कुबेरके पास कील-जैसी कानवाले तीव्र वेगशाली विशालकाय सहस्रों यक्ष-राक्षस भी बैठे थे। जैसे देवता इन्द्रको घेरकर खड़े होते हैं, उसी प्रकार सैकड़ों गन्धर्व और अप्सराओंके गण कुबेरको सब ओरसे घेरकर खड़े थे ।। ३८-३९ ।।

काञ्चनीं शिरसा बिभ्रद् भीमसेनः स्रजं शुभाम् ।
पाशखड्गधनुष्पाणिरुदैक्षत धनाधिपम् ।। ४० ।।

अपने मस्तकपर सुवर्णकी सुन्दर माला धारण किये और हाथोंमें खड्ग, पाश तथा धनुष लिये भीमसेन धनाध्यक्ष कुबेरकी ओर देख रहे थे ।। ४० ।।

भीमसेनस्य न ग्लानिर्विक्षतस्यापि राक्षसैः ।
आसीत् तस्यामवस्थायां कुबेरमपि पश्यतः ।। ४१ ।।

भीमसेनको राक्षसोंने बहुत घायल कर दिया था। उस अवस्थामें भी कुबेरको देखकर उनके मनमें तनिक भी ग्लानि नहीं होती थी ।। ४१ ।।

आददानं शितान् बाणान् योद्धुकाममवस्थितम् ।
दृष्ट्वा भीमं धर्मसुतमब्रवीन्नरवाहनः ।। ४२ ।।

भीमसेन हाथोंमें तीखे बाण लिये उस समय भी युद्धके लिये तैयार खड़े थे। यह देख नरवाहन कुबेरने धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे कहा— ।। ४२ ।।

विदुस्त्वां सर्वभूतानि पार्थ भूतहिते रतम् ।
निर्भयश्चापि शैलाग्रे वस त्वं भ्रातृभिः सह ।। ४३ ।।

‘कुन्तीनन्दन! तुम सदा सब प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हो, यह बात सब प्राणी जानते हैं। अतः तुम अपने भाइयोंके साथ इस शैल-शिखरपर निर्भय होकर रहो ।। ४३ ।।

न च मन्युस्त्वया कार्यो भीमसेनस्य पाण्डव ।
कालेनैते हताः पूर्वं निमित्तमनुजस्तव ।। ४४ ।।

‘पाण्डुनन्दन! तुम्हें भीमसेनपर क्रोध नहीं करना चाहिये। ये यक्ष और राक्षस कालके द्वारा पहले ही मारे गये थे। तुम्हारे भाई तो इसमें निमित्तमात्र हुए हैं ।। ४४ ।।

व्रीडा चात्र न कर्तव्या साहसं यदिदं कृतम् ।
दृष्टश्चापि सुरैः पूर्वं विनाशो यक्षरक्षसाम् ।। ४५ ।।

‘भीमसेनने जो यह दुःसाहसका कार्य किया है, इसके लिये तुम्हें लज्जित नहीं होना चाहिए; क्योंकि यक्ष तथा राक्षसोंका यह विनाश देवताओंको पहले ही प्रत्यक्ष हो चुका था ।। ४५ ।।

न भीमसेने कोपो मे प्रीतोऽस्मि भरतर्षभ ।
कर्मणाः भीमसेनस्य मम तुष्टिरभूत् पुरा ।। ४६ ।।

‘भरतश्रेष्ठ! भीमसेनपर मेरा क्रोध नहीं है। मैं इनपर प्रसन्न हूँ। भीमसेनके कार्यसे मुझे पहले भी प्रसन्नता प्राप्त हो चुकी है’ ।। ४६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु राजानं भीमसेनमभाषत ।
नैतन्मनसि मे तात वर्तते कुरुसत्तम ।। ४७ ।।
यदिदं साहसं भीम कृष्णार्थे कृतवानसि ।
मामनादृत्य देवांश्च विनाशं यक्षरक्षसाम् ।। ४८ ।।
स्वबाहुबलमाश्रित्य तेनाहं प्रीतिमांस्त्वयि ।
शापादद्य विनिर्मुक्तो घोरादस्मि वृकोदर ।। ४९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर कुबेरने भीमसेनसे कहा—‘तात! कुरुश्रेष्ठ भीम! तुमने द्रौपदीके लिये जो यह साहसपूर्ण कार्य किया है, इसके लिये मेरे मनमें कोई विचार नहीं है। तुमने मेरी तथा देवताओंकी अवहेलना करके अपने बाहुबलके भरोसे यक्षों तथा राक्षसोंका विनाश किया है, इससे तुमपर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। वृकोदर! आज मैं एक भयंकर शापसे छूट गया हूँ ।। ४७—४९ ।।

अहं पूर्वमगस्त्येन क्रुद्धेन परमर्षिणा ।
शप्तोऽपराधे कस्मिंश्चित् तस्यैषा निष्कृतिः कृता ।। ५० ।।
दृष्टो हि मम संक्लेशः पुरा पाण्डवनन्दन ।
न तवात्रापराधोऽस्ति कथंचिदपि पाण्डव ।। ५१ ।।

‘पूर्वकालकी बात है, महर्षि अगस्त्यने किसी अपराधपर कुपित हो मुझे शाप दे दिया था; उसका तुम्हारे द्वारा निराकरण हुआ। पाण्डव-नन्दन! मुझे पूर्वकालसे ही यह दुःख देखना बदा था। इसमें तुम्हारा किसी तरह भी कोई अपराध नहीं है’ ।। ५०-५१ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कथं शप्तोऽसि भगवन्नगस्त्येन महात्मना ।

श्रोतुमिच्छाम्यहं देव तवैतच्छापकारणम् ।। ५२ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! महात्मा अगस्त्यने आपको कैसे शाप दे दिया? देव! आपको शाप मिलनेका क्या कारण है? यह मैं सुनना चाहता हूँ ।। ५२ ।।

इदं चाश्चर्यभूतं मे यत् क्रोधात् तस्य धीमतः ।
तदैव त्वं न निर्दग्धः सबलः सपदानुगः ।। ५३ ।।

मुझे इस बातके लिये बड़ा आश्चर्य होता है कि उन बुद्धिमान् महर्षिके क्रोधसे आप उसी समय अपने सेवकों और सैनिकोंसहित जलकर भस्म क्यों नहीं हो गये? ।। ५३ ।।

धनेश्वर उवाच

देवतानामभून्मन्त्रः कुशवत्यां नरेश्वर ।
वृतस्तत्राहमगमं महापद्मशतैस्त्रिभिः ।। ५४ ।।

कुबेर बोले—नरेश्वर! प्राचीन कालमें कुशवतीमें देवताओंकी मन्त्रणा-सभा बैठी थी। उसमें मुझे भी बुलाया गया था। मैं तीन सौ महापद्म यक्षोंके साथ वहाँ गया ।। ५४ ।।

यक्षाणां घोररूपाणां विविधायुधधारिणाम् ।
अध्वन्यहमथापश्यमगस्त्यमृषिसत्तमम् ।। ५५ ।।
उग्रं तपस्तप्यमानं यमुनातीरमाश्रितम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णं पुष्पितद्रुमशोभितम् ।। ५६ ।।

वे भयानक यक्ष नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये हुए थे। रास्तेमें मुझे मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी दिखायी दिये, जो यमुनाके तटपर कठोर तपस्या कर रहे थे। वह प्रदेश भाँति-भाँतिके पक्षियोंसे व्याप्त और विकसित वृक्षावलियोंसे सुशोभित था ।। ५५-५६ ।।

तमूर्ध्वबाहुं दृष्ट्वैव सूर्यस्याभिमुखे स्थितम् ।
तेजोराशिं दीप्यमानं हुताशनमिवैधितम् ।। ५७ ।।

महर्षि अगस्त्य अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाये सूर्यकी ओर मुँह करके खड़े थे। वे तेजोराशि महात्मा प्रज्वलित अग्निके समान उद्दीप्त हो रहे थे ।। ५७ ।।

राक्षसाधिपतिः श्रीमान् मणिमान्नाम मे सखा ।
मौर्ख्यादज्ञानभावाच्च दर्पान्मोहाच्च पार्थिव ।। ५८ ।।
न्यष्ठीवदाकाशगतो महर्षेस्तस्य मूर्धनि ।
स कोपान्मामुवाचेदं दिशः सर्वा दहन्निव ।। ५९ ।।

राजन्! उन्हें देखकर ही मेरे एक मित्र राक्षसराज श्रीमणिमान्‌ने मूर्खता, अज्ञान, अभिमान एवं मोहके कारण आकाशसे उन महर्षिके मस्तकपर थूक दिया। तब वे क्रोधसे मानो सारी दिशाओंको दग्ध करते हुए मुझसे इस प्रकार बोले— ।। ५८—५९ ।।

मामवज्ञाय दुष्टात्मा यस्मादेष सखा तव ।
धर्षणां कृतवानेतां पश्यतस्ते धनेश्वर ।। ६० ।।

तस्मात् सहैभिः सैन्यैस्ते वधं प्राप्स्यति मानुषात् ।
त्वं चाप्येभिर्हतैः सैन्यैः क्लेशं प्राप्येह दुर्मतिः ।
तमेव मानुषं दृष्ट्वा किल्बिषाद् विप्रमोक्ष्यसे ।। ६१ ।।

'धनेश्वर! तुम्हारे इस दुष्टात्मा सखाने मेरी अवहेलना करके तुम्हारे देखते-देखते जो मेरा इस प्रकार तिरस्कार किया है, उसके फलस्वरूप इन समस्त सैनिकोंके साथ यह एक मनुष्यके हाथसे मारा जायगा। तुम्हारी बुद्धि खोटी हो गयी है, अतः इन सब सैनिकोंके मारे जानेपर उनके लिये दुःख उठानेके पश्चात् तुम फिर उसी मनुष्यका दर्शन करके मेरे शाप एवं पापसे छुटकारा पा सकोगे ।।

सैन्यानां तु तवैतेषां पुत्रपौत्रबलान्वितम् ।
न शापं प्राप्स्यते घोरं तत् तवाज्ञां करिष्यति ।। ६२ ।।

'इन सैनिकोंमेंसे जो तुम्हारी आज्ञाका पालन करेगा, वह पुत्र, पौत्र तथा सेनापर लागू होनेवाले इस भयंकर शापके प्रभावसे अलग रहेगा' ।। ६२ ।।

एष शापो मया प्राप्तः प्राक् तस्मादृषिसत्तमात् ।
स भीमेन महाराज भ्रात्रा तव विमोक्षितः ।। ६३ ।।

महाराज युधिष्ठिर! पूर्व कालमें उन मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यसे यही शाप मुझे प्राप्त हुआ था, जिससे तुम्हारे भाई भीमसेनने छुटकारा दिलाया है ।। ६३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि कुबेरदर्शने एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें कुबेरदर्शनविषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६१ ।।

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुबेरका युधिष्ठिर आदिको उपदेश और सान्त्वना देकर अपने भवनको प्रस्थान

धनद उवाच

युधिष्ठिर धृतिर्दाक्ष्यं देशकालपराक्रमाः ।
लोकतन्त्रविधानानामेष पञ्चविधो विधिः ।। १ ।।

कुबेर बोले—युधिष्ठिर! धैर्य, दक्षता, देश, काल और पराक्रम—ये पाँच लौकिक कार्योंकी सिद्धिके हेतु हैं ।। १ ।।

धृतिमन्तश्च दक्षाश्च स्वे स्वे कर्मणि भारत ।
पराक्रमविधानज्ञा नरा कृतयुगेऽभवन् ।। २ ।।

भारत! सत्ययुगमें सब मनुष्य धैर्यवान्, अपने-अपने कार्यमें कुशल तथा पराक्रमविधिके ज्ञाता थे ।। २ ।।

धृतिमान् देशकालज्ञः सर्वधर्मविधानवित् ।
क्षत्रियः क्षत्रियश्रेष्ठ प्रशास्ति पृथिवीं चिरम् ।। ३ ।।

क्षत्रियश्रेष्ठ! जो क्षत्रिय धैर्यवान्, देश-कालको समझनेवाला तथा सम्पूर्ण धर्मोंके विधानका ज्ञाता है, वह दीर्घकालतक इस पृथ्वीका शासन कर सकता है ।। ३ ।।

य एवं वर्तते पार्थ पुरुषः सर्वकर्मसु ।
स लोके लभते वीर यशः प्रेत्य च सद्गतिम् ।। ४ ।।
देशकालान्तरप्रेप्सुः कृत्वा शक्रः पराक्रमम् ।
सम्प्राप्तस्त्रिदिवे राज्यं वृत्रहा वसुभिः सह ।। ५ ।।

वीर पार्थ! जो पुरुष इसी प्रकार सब कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, वह लोकमें सुयश और परलोकमें उत्तम गति पाता है। देश-कालके अन्तरपर दृष्टि रखनेवाले वृत्रासुर-विनाशक इन्द्रने वसुओंसहित पराक्रम करके स्वर्गका राज्य प्राप्त किया है ।। ४-५ ।।

यस्तु केवलसंरम्भात् प्रपातं न निरीक्षते ।
पापात्मा पापबुद्धिर्यः पापमेवानुवर्तते ।। ६ ।।

जो केवल क्रोधके वशीभूत हो अपने पतनको नहीं देखता है, वह पापबुद्धि पापात्मा पुरुष पापका ही अनुसरण करता है ।। ६ ।।

कर्मणामविभागज्ञः प्रेत्य चेह विनश्यति ।
अकालज्ञः सुदुर्मेधाः कार्याणामविशेषवित् ।। ७ ।।

जो कर्मोंके विभागको नहीं जानता, समयको नहीं पहचानता और कार्योंके वैशिष्ट्यको नहीं समझता है, वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्य इहलोक तथा परलोकमें भी नष्ट ही होता है ।। ७ ।।

वृथाऽऽचारसमारम्भः प्रेत्य चेह विनश्यति ।
साहसे वर्तमानानां निकृतीनां दुरात्मनाम् ।। ८ ।।

साहसके कार्योंमें लगे हुए ठग एवं दुरात्मा पुरुषोंके उत्तम कर्मोंका अनुष्ठान इस लोक और परलोकमें भी व्यर्थ नष्टप्राय ही है ।। ८ ।।

सर्वसामर्थ्यलिप्सूनां पापो भवति निश्चयः ।
अधर्मज्ञोऽवलिप्तश्च बालबुद्धिरमर्षणः ।। ९ ।।
निर्भयो भीमसेनोऽयं तं शाधि पुरुषर्षभ ।

सब प्रकारकी (सांसारिक) सामर्थ्यके इच्छुक मनुष्योंका निश्चय पापपूर्ण होता है। पुरुषरत्न युधिष्ठिर! ये भीमसेन धर्मको नहीं जानते, इन्हें अपने बलका बड़ा अभिमान है, इनकी बुद्धि अभी बालकोंकी-सी है तथा ये अत्यन्त क्रोधी और निर्भय हैं, अतः तुम इन्हें उपदेश देकर काबूमें रखो ।। ९½ ।।

आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेः प्राप्य भूयस्त्वमाश्रमम् ।। १० ।।
तामिस्रं प्रथमं पक्षं वीतशोकभयो वस ।

नरेश्वर! अब पुनः तुम यहाँसे राजर्षि आर्ष्टिषेणके आश्रमपर जाकर कृष्णपक्षभर शोक और भयसे रहित होकर रहो ।। १०½ ।।

अलकाः सह गन्धर्वैर्यक्षाश्च सह किन्नरैः ।। ११ ।।
मन्नियुक्ता मनुष्येन्द्र सर्वे च गिरिवासिनः ।
रक्षिष्यन्ति महाबाहो सहितं द्विजसत्तमैः ।। १२ ।।

महाबाहु नरश्रेष्ठ! वहाँ अलकानिवासी यक्ष तथा इस पर्वतपर रहनेवाले सभी प्राणी मेरी आज्ञाके अनुसार गन्धर्वों और किन्नरोंके साथ सदा इन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसहित तुम्हारी रक्षा करेंगे ।। ११-१२ ।।

साहसादनुसम्प्राप्तः प्रतिबुध्यः वृकोदरः ।
वार्यतां साध्वयं राजंस्त्वया धर्मभृतां वर ।। १३ ।।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश! भीमसेन यहाँ दुःसाहस-पूर्वक आये हैं, यह बात समझाकर इन्हें अच्छी तरह मना कर दो (जिससे ये पुनः कोई अपराध न कर बैठें) ।। १३ ।।

अतः परं च वो राजन् द्रक्ष्यन्ति वनगोचराः ।
उपस्थास्यन्ति वो राजन् रक्षिष्यन्ते च वः सदा ।। १४ ।।

राजन्! अबसे इस वनमें रहनेवाले सब यक्ष तुमलोगोंकी देख-भाल करेंगे, तुम्हारी सेवामें उपस्थित होंगे और सदा तुम सब लोगोंके संरक्षणमें तत्पर रहेंगे ।। १४ ।।

तथैव चान्नपानानि स्वादूनि च बहूनि च ।

आहरिष्यन्ति मत्प्रेष्याः सदा वः पुरुषर्षभाः ।। १५ ।।

पुरुषरत्न पाण्डवो! इसी प्रकार हमारे सेवक तुम्हारे लिये वहाँ सदा स्वादिष्ट अन्न-पान प्रचुर मात्रामें प्रस्तुत करते रहेंगे ।। १५ ।।

यथा जिष्णुर्महेन्द्रस्य यथा वायोर्वृकोदरः ।
धर्मस्य त्वं यथा तात योगोत्पन्नो निजः सुतः ।। १६ ।।
आत्मजावात्मसम्पन्नौ यमौ चोभौ यथाश्विनोः ।
रक्ष्यास्तद्वन्ममापीह यूयं सर्वे युधिष्ठिर ।। १७ ।।

तात युधिष्ठिर! जैसे अर्जुन देवराज इन्द्रके, भीमसेन वायुदेवके और तुम धर्मराजके योगबलसे उत्पन्न किये हुए निजी पुत्र होनेके कारण उनके द्वारा रक्षणीय हो तथा ये दोनों आत्मबलसम्पन्न नकुल-सहदेव जैसे दोनों अश्विनीकुमारोंसे उत्पन्न होनेके कारण उनके पालनीय हैं, उसी प्रकार यहाँ मेरे लिये भी तुम सब लोग रक्षणीय हो ।। १६-१७ ।।

अर्थतत्त्वविधानज्ञः सर्वधर्मविधानवित् ।
भीमसेनादवरजः फाल्गुनः कुशली दिवि ।। १८ ।।

अर्थतत्त्वकी विधिके ज्ञाता और सम्पूर्ण धर्मोंके विधानमें कुशल अर्जुन, जो भीमसेनसे छोटे हैं, इस समय कुशलपूर्वक स्वर्गलोकमें विराज रहे हैं ।। १८ ।।

याः काश्चन मता लोके स्वर्ग्याः परमसम्पदः ।
जन्मप्रभृति ताः सर्वाः स्थितास्तात धनंजये ।। १९ ।।

तात! संसारमें जो कोई भी स्वर्गीय श्रेष्ठ सम्पत्तियाँ मानी गयी हैं, वे सब अर्जुनमें जन्मकालसे ही स्थित हैं ।। १९ ।।

दमो दानं बलं बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम् ।
एतान्यपि महासत्त्वे स्थितान्यमिततेजसि ।। २० ।।

अमित तेजस्वी और महान् सत्त्वशाली अर्जुनमें दम (इन्द्रिय-संयम), दान, बल, बुद्धि, लज्जा, धैर्य तथा उत्तम तेज—ये सभी सद्‌गुण विद्यमान हैं ।। २० ।।

न मोहात् कुरुते जिष्णुः कर्म पाण्डव गर्हितम् ।
न पार्थस्य मृषोक्तानि कथयन्ति नरा नृषु ।। २१ ।।

पाण्डुनन्दन! तुम्हारे भाई अर्जुन कभी मोहवश निन्दित कर्म नहीं करते। मनुष्य आपसमें कभी अर्जुनके मिथ्याभाषणकी चर्चा नहीं करते हैं ।। २१ ।।

स देवपितृगन्धर्वैः कुरूणां कीर्तिवर्धनः ।
मानितः कुरुतेऽस्त्राणि शक्रसद्मनि भारत ।। २२ ।।

भारत! कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले अर्जुन इन्द्रभवनमें देवताओं, पितरों तथा गन्धर्वोंसे सम्मानित हो अस्त्रविद्याका अभ्यास करते हैं ।। २२ ।।

योऽसौ सर्वान् महीपालान् धर्मेण वशमानयत् ।
स शान्तनुर्महातेजाः पितुस्तव पितामहः ।। २३ ।।

प्रीयते पार्थ पार्थेन दिवि गाण्डीवधन्वना ।
सम्यक् चासौ महावीर्यः कुलधुर्येण पार्थिवः ।। २४ ।।

पार्थ! जिन्होंने सब राजाओंको धर्मपूर्वक अपने अधीन कर लिया था, वे महातेजस्वी, महापराक्रमी तथा सदाचारपरायण महाराज शान्तनु, जो तुम्हारे पिताके पितामह थे, स्वर्गलोकमें कुरुकुलधुरीण गाण्डीवधारी अर्जुनसे बहुत प्रसन्न रहते हैं ।। २३-२४ ।।

पितॄन् देवानृषीन् विप्रान् पूजयित्वा महातपाः ।
सप्त मुख्यान् महामेधानाहरद् यमुनां प्रति ।। २५ ।।
अधिराजः स राजंस्त्वां शान्तनुः प्रपितामहः ।
स्वर्गजिच्छक्रलोकस्थः कुशलं परिपृच्छति ।। २६ ।।

महातपस्वी शान्तनुने देवताओं, पितरों, ऋषियों तथा ब्राह्मणोंकी पूजा करके यमुना-तटपर सात बड़े-बड़े अश्वमेधयज्ञोंका अनुष्ठान किया था। राजन्! वे तुम्हारे प्रपितामह राजाधिराज शान्तनु स्वर्गलोकको जीतकर उसीमें निवास करते हैं। उन्होंने मुझसे तुम्हारी कुशल पूछी थी ।। २५-२६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं धनदेन प्रभाषितम् ।
पाण्डवाश्च ततस्तेन वभूवुः सम्प्रहर्षिताः ।। २७ ।।
ततः शक्तिं गदां खड्गं धनुश्च भरतर्षभः ।
प्राध्वं कृत्वा नमश्चक्रे कुबेराय वृकोदरः ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुबेरकी कही हुई ये बातें सुनकर पाण्डवोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। तदनन्तर भरतकुल-भूषण भीमसेनने उठायी हुई शक्ति गदा, खड्ग और धनुषको नीचे करके कुबेरको नमस्कार किया ।।

ततोऽब्रवीद् धनाध्यक्षः शरण्यः शरणागतम् ।
मानहा भव शत्रूणां सुहृदां नन्दिवर्धनः ।। २९ ।।

तब शरण देनेवाले धनाध्यक्ष कुबेरने अपनी शरणमें आये हुए भीमसेनसे कहा—‘पाण्डुनन्दन! तुम शत्रुओंका मान मर्दन और सुहृदोंका आनन्द वर्धन करनेवाले बनो ।। २९ ।।

स्वेषु वेश्मसु रम्येषु वसतामित्रतापनाः ।
कामान्न परिहास्यन्ति यक्षा वो भरतर्षभाः ।। ३० ।।

'शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतकुलभूषण पाण्डवो! तुम सब लोग अपने रमणीय आश्रमोंमें निवास करो। यक्षलोग तुम्हारी अभीष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिमें बाधा नहीं डालेंगे ।। ३० ।।

शीघ्रमेव गुडाकेशः कृतास्त्रः पुनरेष्यति ।
साक्षान्मघवता सृष्टः सम्प्राप्स्यति धनंजयः ।। ३१ ।।

'निद्राविजयी अर्जुन अस्त्रविद्या सीखकर साक्षात् इन्द्रके भेजनेपर शीघ्र ही यहाँ आवेंगे और तुम सब लोगोंसे मिलेंगे' ।। ३१ ।।

एवमुत्तमकर्माणमनुशिष्य युधिष्ठिरम् ।
श्वेतं गिरिवरश्रेष्ठं प्रययौ गुह्यकाधिपः ।। ३२ ।।

इस प्रकार उत्तम कर्म करनेवाले युधिष्ठिरको उपदेश देकर यक्षराज कुबेर गिरिश्रेष्ठ कैलासको चले गये ।। ३२ ।।

तं परिस्तोमसंकीर्णैर्नानारत्नविभूषितैः ।
यानैरनुययुर्यक्षा राक्षसाश्च सहस्रशः ।। ३३ ।।

उनके पीछे सहस्रों यक्ष और राक्षस भी अपने-अपने वाहनोंपर आरूढ़ हो चल दिये। उनके वे वाहन नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित थे और उनकी पीठपर बहुरंगे कम्बल आदि कसे हुए थे ।। ३३ ।।

पक्षिणामिव निर्घोषः कुबेरसदनं प्रति ।

बभूव परमाश्वानामैरावतपथे यथा ।। ३४ ।।

जैसे इन्द्रपुरीके मार्गपर चलनेवाले विविध वाहनोंका कोलाहल सुनायी पड़ता है, उसी प्रकार कुबेरभवनके प्रति यात्रा करनेवाले उत्तम अश्वोंका शब्द ऐसा जान पड़ता था, मानो पक्षी उड़ रहे हों ।। ३४ ।।

ते जग्मुस्तूर्णमाकाशं धनाधिपतिवाजिनः ।

प्रकर्षन्त इवाभ्राणि पिबन्त इव मारुतम् ।। ३५ ।।

धनाध्यक्ष कुबेरके वे घोड़े अपने साथ बादलोंको खींचते और वायुको पीते हुए-से तीव्र गतिसे आकाशमें उड़ चले ।। ३५ ।।

ततस्तानि शरीराणि गतसत्त्वानि रक्षसाम् ।

अपाकृष्यन्त शैलाग्राद् धनाधिपतिशासनात् ।। ३६ ।।

तदनन्तर कुबेरकी आज्ञासे राक्षसोंके वे निर्जीव शरीर उस पर्वतशिखरसे दूर हटा दिये गये ।। ३६ ।।

तेषां हि शापकालः स कृतोऽगस्त्येन धीमता ।

समरे निहतास्तस्माच्छापस्यान्तोऽभवत् तदा ।। ३७ ।।

पाण्डवाश्च महात्मानस्तेषु वेश्मसु तां क्षपाम् ।

सुखमूषुर्गतोद्वेगाः पूजिताः सर्वराक्षसैः ।। ३८ ।।

बुद्धिमान् अगस्त्यने यक्षोंके लिये शापकी वही अवधि निश्चित की थी। जब वे युद्धमें मारे गये तब उनके शापका अन्त हो गया। महामना पाण्डव अपने उन आश्रमोंमें सम्पूर्ण राक्षसोंसे पूजित एवं उद्वेगशून्य होकर सुखसे रात्रि व्यतीत करने लगे ।। ३७-३८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि कुबेरवाक्ये द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें कुबेरवाक्यविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६२ ।।

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

धौम्यका युधिष्ठिरको मेरु पर्वत तथा उसके शिखरोंपर स्थित ब्रह्मा, विष्णु आदिके स्थानोंका लक्ष्य कराना और सूर्य-चन्द्रमाकी गति एवं प्रभावका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः सूर्योदये धौम्यः कृत्वाऽऽह्निकमरिंदम ।
आर्ष्टिषेणेन सहितः पाण्डवानभ्यवर्तत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन नरेश! तदनन्तर सूर्योदय होनेपर आर्ष्टिषेणसहित धौम्यजी नित्यकर्म पूरा करके पाण्डवोंके पास आये ।। १ ।।

तेऽभिवाद्यार्ष्टिषेणस्य पादौ धौम्यस्य चैव ह ।
ततः प्राञ्जलयः सर्वे ब्राह्मणांस्तानपूजयन् ।। २ ।।

तब समस्त पाण्डवोंने आर्ष्टिषेण तथा धौम्यके चरणोंमें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर सब ब्राह्मणोंका पूजन किया ।। २ ।।

ततो युधिष्ठिरं धौम्यो गृहीत्वा दक्षिणे करे ।
प्राचीं दिशमभिप्रेक्ष्य महर्षिरिदमब्रवीत् ।। ३ ।।

तदनन्तर महर्षि धौम्यने युधिष्ठिरका दाहिना हाथ पकड़कर पूर्व दिशाकी ओर देखते हुए कहा— ।। ३ ।।

असौ सागरपर्यन्तां भूमिमावृत्य तिष्ठति ।
शैलराजो महाराज मन्दरोऽति विराजते ।। ४ ।।

‘महाराज! वह पर्वतराज मन्दराचल प्रकाशित हो रहा है, जो समुद्रतककी भूमिको घेरकर खड़ा है ।। ४ ।।

इन्द्रवैश्रवणावेतां दिशं पाण्डव रक्षतः ।
पर्वतैश्च वनान्तैश्च काननैश्चैव शोभिताम् ।। ५ ।।

‘पाण्डुनन्दन! पर्वतों, वनान्त प्रदेशों और काननोंसे सुशोभित इस पूर्व दिशाकी रक्षा इन्द्र और कुबेर करते हैं ।।

एतदाहुर्महेन्द्रस्य राज्ञो वैश्रवणस्य च ।
ऋषयः सर्वधर्मज्ञाः सद्म तात मनीषिणः ।। ६ ।।
अतश्चोद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठन्ति वै प्रजाः ।
ऋषयश्चापि धर्मज्ञाः सिद्धाः साध्याश्च देवताः ।। ७ ।।

‘तात! सब धर्मोंके ज्ञाता मनीषी महर्षि इस दिशाको देवराज इन्द्र तथा कुबेरका निवासस्थान कहते हैं। इधरसे ही उदित होनेवाले सूर्यदेवकी समस्त प्रजा, धर्मज्ञ ऋषि, सिद्ध महात्मा तथा साध्य देवता उपासना करते हैं ।। ६-७ ।।

यमस्तु राजा धर्मज्ञः सर्वप्राणभृतां प्रभुः ।
प्रेतसत्त्वगतिं ह्येनां दक्षिणामाश्रितो दिशम् ।। ८ ।।

‘समस्त प्राणियोंके ऊपर प्रभुत्व रखनेवाले धर्मज्ञ राजा यम इस दक्षिण दिशाका आश्रय लेकर रहते हैं। इसमें मरे हुए प्राणी ही जा सकते हैं ।। ८ ।।

एतत् संयमनं पुण्यमतीवाद्भुतदर्शनम् ।
प्रेतराजस्य भवनमृद्ध्या परमया युतम् ।। ९ ।।

‘प्रेतराजका यह निवासस्थान अत्यन्त समृद्धिशाली परम पवित्र तथा देखनेमें अद्भुत है। राजन्! इसका नाम संयमन (या संयमनीपुरी) है ।। ९ ।।

यं प्राप्य सविता राजन् सत्येन प्रतितिष्ठति ।
अस्तं पर्वतराजानमेतमाहुर्मनीषिणः ।। १० ।।
एतं पर्वतराजानं समुद्रं च महोदधिम् ।
आवसन् वरुणो राजा भूतानि परिरक्षति ।। ११ ।।

‘राजन्! जहाँ जाकर भगवान् सूर्य सत्यसे प्रतिष्ठित होते हैं, उस पर्वतराजको मनीषी पुरुष अस्ताचल कहते हैं। गिरिराज अस्ताचल और महान् जलराशिसे भरे हुए समुद्रमें रहकर राजा वरुण समस्त प्राणियोंकी रक्षा करते हैं ।। १०-११ ।।

उदीचीं दीपयन्नेष दिशं तिष्ठति वीर्यवान् ।
महामेरुर्महाभाग शिवो ब्रह्मविदां गतिः ।। १२ ।।

‘महाभाग!’ यह अत्यन्त प्रकाशमान महामेरु पर्वत दिखायी देता है, जो उत्तर दिशाको उद्भासित करता हुआ खड़ा है। इस कल्याणकारी पर्वतपर ब्रह्मवेत्ताओंकी ही पहुँच हो सकती है ।। १२ ।।

यस्मिन् ब्रह्मसदश्चैव भूतात्मा चावतिष्ठते ।
प्रजापतिः सृजन् सर्वं यत् किञ्चिज्जङ्गमागमम् ।। १३ ।।

‘इसीपर ब्रह्माजीकी सभा है, जहाँ समस्त प्राणियोंके आत्मा ब्रह्मा स्थावर-जंगम समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करते हुए नित्य निवास करते हैं ।। १३ ।।

यानाहुर्ब्रह्मणः पुत्रान् मानसात् दक्षसप्तमान् ।
तेषामपि महामेरुः शिवं स्थानमनामयम् ।। १४ ।।

‘जिन्हें ब्रह्माजीका मानसपुत्र बताया जाता है और जिनमें दक्षप्रजापतिका स्थान सातवाँ है। उन समस्त प्रजापतियोंका भी यह महामेरु पर्वत ही रोग-शोकसे रहित सुखद स्थान है ।। १४ ।।

अत्रैव प्रतितिष्ठन्ति पुनरेवोदयन्ति च ।

सप्त देवर्षयस्तात वसिष्ठप्रमुखाः सदा ।। १५ ।।

'तात! वसिष्ठ आदि सात देवर्षि इन्हीं प्रजापतिमें लीन होते और पुनः इन्हींसे प्रकट होते हैं ।। १५ ।।

देशं विरजसं पश्य मेरोः शिखरमुत्तमम् ।
यत्रात्मतृप्तैरध्यास्ते देवैः सह पितामहः ।। १६ ।।

'युधिष्ठिर! मेरुका वह उत्तम शिखर देखो, जो रजोगुण रहित प्रदेश है, वहाँ अपने-आपमें तृप्त रहनेवाले देवताओंके साथ पितामह ब्रह्मा निवास करते हैं ।। १६ ।।

यमाहुः सर्वभूतानां प्रकृतेः प्रकृतिं ध्रुवम् ।
अनादिनिधनं देवं प्रभुं नारायणं परम् ।। १७ ।।
ब्रह्मणः सदनात् तस्य परं स्थानं प्रकाशते ।
देवा अपि न पश्यन्ति सर्वतेजोमयं शुभम् ।। १८ ।।
अत्यर्कानलदीप्तं तत् स्थानं विष्णोर्महात्मनः ।
स्वयैव प्रभया राजन् दुष्प्रेक्ष्यं देवदानवैः ।। १९ ।।

'जो समस्त प्राणियोंकी पञ्चभूतमयी प्रकृतिके अक्षय उपादान हैं, जिन्हें ज्ञानी पुरुष अनादि अनन्त दिव्य-स्वरूप परम प्रभु नारायण कहते हैं, उनका उत्तम स्थान उस ब्रह्मलोकसे भी ऊपर प्रकाशित हो रहा है। देवता भी उन सर्वतेजोमय शुभस्वरूप भगवान्‌का सहज ही दर्शन नहीं कर पाते। राजन्! परमात्मा विष्णुका वह स्थान सूर्य और अग्निसे भी अधिक तेजस्वी है और अपनी ही प्रभासे प्रकाशित होता है। देवताओं और दानवोंके लिये उसका दर्शन अत्यन्त कठिन है ।। १७—१९ ।।

प्राच्यां नारायणस्थानं मेरावतिविराजते ।
यत्र भूतेश्वरस्तात सर्वप्रकृतिरात्मभूः ।। २० ।।
भासयन् सर्वभूतानि सुश्रियाभिविराजते ।
नात्र ब्रह्मर्षयस्तात कुत एव महर्षयः ।। २१ ।।
प्राप्नुवन्ति गतिं ह्येतां यतीनां भावितात्मनाम् ।
न तं ज्योतींषि सर्वाणि प्राप्य भासन्ति पाण्डव ।। २२ ।।

'तात! पूर्व दिशामें मेरुपर ही भगवान् नारायणका स्थान सुशोभित हो रहा है, जहाँ सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी तथा सबके उपादान कारण स्वयंभू भगवान् विष्णु अपने उत्कृष्ट तेजसे सम्पूर्ण भूतोंको प्रकाशित करते हुए विराजमान होते हैं। वहाँ यत्नशील ज्ञानी महात्माओंकी ही पहुँच हो सकती है। उस नारायणधाममें ब्रह्मर्षियोंकी भी गति नहीं है। फिर महर्षि तो वहाँ जा ही कैसे सकते हैं। पाण्डुनन्दन! सम्पूर्ण ज्योतिर्मय पदार्थ भगवान्‌के निकट जाकर अपना तेज खो बैठते हैं—उनमें पूर्ववत् प्रकाश नहीं रह जाता ।। २०—२२ ।।

स्वयं प्रभुरचिन्त्यात्मा तत्र ह्यतिविराजते ।

यतयस्तत्र गच्छन्ति भक्त्या नारायणं हरिम् ।। २३ ।।

'साक्षात् अचिन्त्यस्वरूप भगवान् विष्णु ही वहाँ विराजित होते हैं। यत्नशील महात्मा भक्तिके प्रभावसे वहाँ भगवान् नारायणको प्राप्त होते हैं ।। २३ ।।

परेण तपसा युक्ता भाविताः कर्मभिः शुभैः ।
योगसिद्धा महात्मानस्तमोमोहविवर्जिताः ।। २४ ।।
तत्र गत्वा पुनर्नेमं लोकमायान्ति भारत ।
स्वयम्भुवं महात्मानं देवदेवं सनातनम् ।। २५ ।।

'भारत! जो उत्तम तपस्यासे युक्त हैं और पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे पवित्र हो गये हैं, वे अज्ञान और मोहसे रहित योगसिद्ध महात्मा उस नारायण-धाममें जाकर फिर इस संसारमें नहीं लौटते हैं। अपितु स्वयंभू एवं सनातन परमात्मा देवदेव विष्णुमें लीन हो जाते हैं ।। २४-२५ ।।

स्थानमेतन्महाभाग ध्रुवमक्षयमव्ययम् ।
ईश्वरस्य सदा ह्येतत् प्रणमात्र युधिष्ठिर ।। २६ ।।

'महाभाग युधिष्ठिर! यह परमेश्वरका नित्य, अविनाशी और अविकारी स्थान है। तुम यहींसे इसको प्रणाम करो ।। २६ ।।

एनं त्वहरहर्मेरुं सूर्याचन्द्रमसौ ध्रुवम् ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य कुरुतः कुरुनन्दन ।। २७ ।।
ज्योतींषि चाप्यशेषेण सर्वाण्यनघ सर्वतः ।
परियान्ति महाराज गिरिराजं प्रदक्षिणम् ।। २८ ।।

'कुरुनन्दन! सूर्य और चन्द्रमा प्रतिदिन इस निश्चल मेरुगिरिकी प्रदक्षिणा करते रहते हैं। पापशून्य महाराज! सम्पूर्ण नक्षत्र भी गिरिराज मेरुकी सर्वतोभावेन परिक्रमा करते हैं ।। २७-२८ ।।

एतं ज्योतींषि सर्वाणि प्रकर्षन् भगवानपि ।
कुरुते वितमस्कर्मा आदित्योऽभिप्रदक्षिणम् ।। २९ ।।

'अन्धकारका निवारण करना ही जिनका मुख्य कर्म है, वे भगवान् सूर्य भी सम्पूर्ण ज्योतियोंको अपनी ओर खींचते हुए इस मेरुगिरिकी प्रदक्षिणा करते हैं ।। २९ ।।

अस्तं प्राप्य ततः संध्यामतिक्रम्य दिवाकरः ।
उदीचीं भजते काष्ठां दिशमेष विभावसुः ।। ३० ।।
स मेरुमनुवृत्तः सन् पुनर्गच्छति पाण्डव ।
प्राङ्मुखः सविता देवः सर्वभूतहिते रतः ।। ३१ ।।

'तदनन्तर अस्ताचलको पहुँचकर संध्याकालकी सीमाको लाँघकर ये भगवान् सूर्य उत्तर दिशाका आश्रय लेते हैं। पाण्डुनन्दन! मेरु पर्वतका अनुसरण करके उत्तर दिशाकी

सीमातक पहुँचकर ये समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले भगवान् सूर्य पुनः पूर्वाभिमुख होकर चलते हैं ।। ३०-३१ ।।

स मासान् विभजन् काले बहुधा पर्वसंधिषु ।
तथैव भगवान् सोमो नक्षत्रैः सह गच्छति ।। ३२ ।।

'उसी प्रकार भगवान् चन्द्रमा भी नक्षत्रोंके साथ मेरु पर्वतकी परिक्रमा करते हैं और पर्वसंधिके समय विभिन्न मासोंका विभाग करते रहते हैं ।। ३२ ।।

एवमेतं त्वतिक्रम्य महामेरुमतन्द्रितः ।
भावयन् सर्वभूतानि पुनर्गच्छति मन्दरम् ।। ३३ ।।
तथा तमिस्रहा देवो मयूखैर्भावयञ्जगत् ।
मार्गमेतदसम्बाधमादित्यः परिवर्तते ।। ३४ ।।

'इस तरह आलस्यरहित हो इस महामेरुका उल्लंघन करके समस्त प्राणियोंका पोषण करते हुए वे पुनः मन्दराचलको चले जाते हैं। उसी प्रकार अन्धकारनाशक भगवान् सूर्य अपनी किरणोंसे सम्पूर्ण जगत्का पालन करते हुए इस बाधारहित मार्गपर सदा चक्कर लगाते रहते हैं ।। ३३-३४ ।।

सिसृक्षुः शिशिराण्येव दक्षिणां भजते दिशम् ।
ततः सर्वाणि भूतानि कालोऽभ्यर्च्छति शैशिरः ।। ३५ ।।
स्थावराणां च भूतानां जङ्गमानां च तेजसा ।
तेजांसि समुपादत्ते निवृत्तः स विभावसुः ।। ३६ ।।
ततः स्वेदक्लमौ तन्द्री ग्लानिश्च भजते नरान् ।
प्राणिभिः सततं स्वप्नो ह्यभीक्ष्णं च निषेव्यते ।। ३७ ।।
एवमेतदनिर्देश्यं मार्गमावृत्य भानुमान् ।
पुनः सृजति वर्षाणि भगवान् भावयन् प्रजाः ।। ३८ ।।

'शीतकी सृष्टि करनेकी इच्छासे ही सूर्यदेव दक्षिण दिशाका आश्रय लेते हैं, इसलिये समस्त प्राणियोंपर शीतकालका प्रभाव पड़ने लगता है। दक्षिणायनसे निवृत्त होनेपर वे भगवान् सूर्य स्थावर-जंगम सभी प्राणियोंका तेज अपने तेजसे हर लेते हैं, यही कारण है कि मनुष्योंको पसीना, थकावट, आलस्य और ग्लानिका अनुभव होता है तथा प्राणी सदा निद्राका ही बार-बार सेवन करते हैं। इस प्रकार इस अन्तरिक्ष मार्गको आवृत करके समस्त प्रजाकी पुष्टि करते हुए भगवान् सूर्य पुनः वर्षाकी सृष्टि करते हैं ।। ३५—३८ ।।

वृष्टिमारुतसंतापैः सुखैः स्थावरजङ्गमान् ।
वर्धयन् सुमहातेजाः पुनः प्रतिनिवर्तते ।। ३९ ।।

'महातेजस्वी सूर्यदेव वृष्टि, वायु और तापद्वारा सुखपूर्वक चराचर जीवोंकी पुष्टि करते हुए पुनः अपने स्थानपर लौट आते हैं ।। ३९ ।।

एवमेष चरन् पार्थ कालचक्रमतन्द्रितः ।

प्रकर्षन् सर्वभूतानि सविता परिवर्तते ।। ४० ।।

'कुन्तीनन्दन! इस प्रकार ये भगवान् सूर्य सावधान हो समस्त प्राणियोंका आकर्षण और पोषण करते हुए विचरते और कालचक्रका संचालन करते हैं ।। ४० ।।

संतता गतिरेतस्य नैष तिष्ठति पाण्डव ।

आदायैव तु भूतानां तेजो विसृजते पुनः ।। ४१ ।।

विभजन् सर्वभूतानामायुः कर्म च भारत ।

अहोरात्रं कलाः काष्ठाः सृजत्येष सदा विभुः ।। ४२ ।।

'युधिष्ठिर! यह सूर्यदेवकी निरन्तर चलनेवाली गति है। सूर्य कभी एक क्षणके लिये भी रुकते नहीं हैं। वे सम्पूर्ण भूतोंके रसमय तेजको ग्रहण करके पुनः उसे वर्षाकालमें बरसा देते हैं। भारत! ये भगवान् सविता सम्पूर्ण भूतोंकी आयु और कर्मका विभाग करते हुए दिन-रात, कला-काष्ठा आदि समयकी निरन्तर सृष्टि करते रहते हैं' ।। ४१-४२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि मेरुदर्शने त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें मेरुदर्शनविषयक एक सौ तिरसठसाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६३ ।।

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी अर्जुनके लिये उत्कण्ठा और अर्जुनका आगमन

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् नगेन्द्रे वसतां तु तेषां
महात्मनां सद्व्रतमास्थितानाम् ।
रतिः प्रमोदश्च बभूव तेषा-
माकाङ्क्षतां दर्शनमर्जुनस्य ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस पर्वतराज गन्धमादनपर उत्तम व्रतका आश्रय ले निवास करते हुए अर्जुनके दर्शनकी इच्छा रखनेवाले महामना पाण्डवोंके मनमें अत्यन्त प्रेम और आनन्दका प्रादुर्भाव हुआ ।। १ ।।

तान् वीर्ययुक्तान् सुविशुद्धकामां-
स्तेजस्विनः सत्यधृतिप्रधानान् ।
सम्प्रीयमाणा बहवोऽभिजग्मु-
र्गन्धर्वसङ्घाश्च महर्षयश्च ।। २ ।।

वे सब-के-सब बड़े पराक्रमी थे। उनकी कामनाएँ अत्यन्त विशुद्ध थीं। वे तेजस्वी तो थे ही, सत्य और धैर्य उनके प्रधान गुण थे; अतः बहुतसे गन्धर्व तथा महर्षिगण उनसे प्रेमपूर्वक मिलने-जुलनेके लिये आने लगे ।। २ ।।

तं पादपैः पुष्पधरैरुपेतं
नगोत्तमं प्राप्य महारथानाम् ।
मनःप्रसादः परमो बभूव
यथा दिवं प्राप्य मरुद्गणानाम् ।। ३ ।।

वह श्रेष्ठ पर्वत विकसित वृक्षावलियोंसे विभूषित था। वहाँ पहुँच जानेसे महारथी पाण्डवोंके मनमें बड़ी प्रसन्नता रहने लगी। ठीक उसी तरह, जैसे मरुद्गणोंको स्वर्गलोकमें पहुँचनेपर प्रसन्नता होती है ।। ३ ।।

मयूरहंसस्वननादितानि
पुष्पोपकीर्णानि महाचलस्य ।
शृङ्गाणि सानूनि च पश्यमाना
गिरेः परं हर्षमवाप्य तस्थुः ।। ४ ।।

उस महान् पर्वतके शिखर मयूरों और हंसोंके कलनादसे गूँजते रहते थे। वहाँ सब ओर सुन्दर पुष्प व्याप्त हो रहे थे। उन मनोहर शिखरोंको देखते हुए पाण्डवलोग बड़े हर्षके साथ वहाँ रहने लगे ।। ४ ।।

साक्षात् कुबेरेण कृताश्च तस्मिन्
नगोत्तमे संवृतकूलरोधसः ।
कादम्बकारण्डवहंसजुष्टाः
पद्माकुलाः पुष्करिणीरपश्यन् ।। ५ ।।

उस श्रेष्ठ शैलपर साक्षात् भगवान् कुबेरने अनेक सुन्दर सरोवर बनवाये थे, जो कमल-समूहसे आच्छादित रहते थे। उनके जल शैवाल आदिसे ढके होते थे और उन सबमें हंस, कारण्डव आदि पक्षी सानन्द निवास करते थे। पाण्डवोंने उन सरोवरोंको देखा ।। ५ ।।

क्रीडाप्रदेशांश्च समृद्धरूपान्
सुचित्रमाल्यावृतजातशोभान् ।
मणिप्रकीर्णांश्च मनोरमांश्च
यथा भवेयुर्धनदस्य राज्ञः ।। ६ ।।

धनाध्यक्ष राजा कुबेरके लिये जैसे होने चाहिये, वैसे ही समृद्धिशाली क्रीडा-प्रदेश वहाँ बने हुए थे। विचित्र मालाओंसे समावृत होनेके कारण उनकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी। उनको मणि तथा रत्नोंसे अलंकृत किया गया था, जिससे वे क्रीड़ा-स्थल मनको मोहे लेते थे ।।

अनेकवर्णैश्च सुगन्धिभिश्च
महाद्रुमैः संततमभ्रजालैः ।
तपःप्रधानाः सततं चरन्तः
शृङ्गं गिरेश्चिन्तयितुं न शेकुः ।। ७ ।।

अनेक वर्णवाले विशाल सुगन्धित वृक्षों तथा मेघसमूहोंसे व्याप्त उस पर्वतशिखरपर विचरते हुए सदा तपस्यामें ही संलग्न रहनेवाले पाण्डव उस पर्वतकी महत्ताका चिन्तन नहीं कर पाते थे ।। ७ ।।

स्वतेजसा तस्य नगोत्तमस्य
महौषधीनां च तथा प्रभावात् ।
विभक्तभावो न बभूव कश्चि-
दहोनिशानां पुरुषप्रवीर ।। ८ ।।

वीरवर जनमेजय! पर्वतराज गन्धमादनके अपने तेजसे तथा वहाँकी तेजस्विनी महौषधियोंके प्रभावसे वहाँ सदा प्रकाश व्याप्त रहनेके कारण दिन-रातका कोई विभाग नहीं हो पाता था ।। ८ ।।

यमास्थितः स्थावरजङ्गमानि

विभावसुर्भावयतेऽमितौजाः ।

तस्योदयं चास्तमनं च वीरा-

स्तत्र स्थितास्ते ददृशुर्नृसिंहाः ।। ९ ।।

जिन भगवान् सूर्यका आश्रय लेकर अमित तेजस्वी अग्निदेव सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणियोंका पोषण करते हैं, उनके उदय और अस्तकी लीलाको पुरुषसिंह वीर पाण्डव वहाँ रहकर स्पष्ट देखते थे ।। ९ ।।

रवेस्तमिस्रागमनिर्गमांस्ते

तथोदयं चास्तमनं च वीराः ।

समावृताः प्रेक्ष्य तमोनुदस्य

गभस्तिजालैः प्रदिशो दिशश्च ।। १० ।।

स्वाध्यायवन्तः सततक्रियाश्च

धर्मप्रधानाश्च शुचिव्रताश्च ।

सत्ये स्थितास्तस्य महारथस्य

सत्यव्रतस्यागमनप्रतीक्षाः ।। ११ ।।

वे वीर पाण्डव वहाँसे अन्धकारके आगमन और निर्गमनको अन्धकारविनाशक भगवान् सूर्यके उदय और अस्तकी लीलाको तथा उनके किरणसमूहोंसे व्याप्त हुई सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंको देखकर स्वाध्यायमें संलग्न रहते थे। सदा शुभकर्मोंके अनुष्ठानमें तत्पर रहकर प्रधानरूपसे धर्मका ही आश्रय लेते थे। उनका आचार-व्यवहार अत्यन्त पवित्र था। वे सत्यमें स्थित होकर सत्यव्रतपरायण महारथी अर्जुनके आगमनकी प्रतीक्षा करते थे ।। १०-११ ।।

इहैव हर्षोऽस्तु समागतानां

क्षिप्रं कृतास्त्रेण धनंजयेन ।

इति ब्रुवन्तः परमाशिषस्ते

पार्थास्तपोयोगपरा बभूवुः ।। १२ ।।

‘इस पर्वतपर आये हुए हम सब लोगोंको यहीं अस्त्रविद्या सीखकर पधारे हुए अर्जुनके दर्शनसे शीघ्र ही अत्यन्त हर्षकी प्राप्ति हो;’ इस प्रकार परस्पर शुभ-कामना प्रकट करते हुए वे सभी कुन्तीपुत्र तप और योगके साधनमें संलग्न रहते थे ।। १२ ।।

दृष्ट्वा विचित्राणि गिरौ वनानि

किरीटिनं चिन्तयतामभीक्ष्णम् ।

बभूव रात्रिर्दिवसश्च तेषां

संवत्सरेणैव समानरूपः ।। १३ ।।

उस पर्वतपर विचित्र वन-कुंजोंकी शोभा देखते और निरन्तर अर्जुनका चिन्तन करते हुए पाण्डवोंको एक दिन-रातका समय एक वर्षके समान प्रतीत होता था ।। १३ ।।

यदैव धौम्यानुमते महात्मा
कृत्वा जटां प्रव्रजितः स जिष्णुः ।
तदैव तेषां न बभूव हर्षः
कुतो रतिस्तद्गतमानसानाम् ।। १४ ।।

जबसे धौम्य मुनिकी आज्ञा लेकर महामना अर्जुन सिरपर जटा धारण करके तपस्याके लिये प्रस्थित हुए थे, तभीसे उन पाण्डवोंके मनमें रंचमात्र भी हर्ष नहीं रह गया था। उनका मन निरन्तर अर्जुनमें ही लगा रहता था। ऐसी दशामें उन्हें सुख कैसे प्राप्त हो सकता था? ।। १४ ।।

भ्रातुर्नियोगात् तु युधिष्ठिरस्य
वनादसौ वारणमत्तगामी ।
यत् काम्यकात् प्रव्रजितः स जिष्णु-
स्तदैव ते शोकहता बभूवुः ।। १५ ।।

गजराजके समान मस्तानी चालसे चलनेवाले वे अर्जुन जब बड़े भाई युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर काम्यक वनसे प्रस्थित हुए थे, तभी समस्त पाण्डव शोकसे पीड़ित हो गये थे ।। १५ ।।

तथैव तं चिन्तयतां सिताश्व-
मस्त्रार्थिनं वासवमभ्युपेतम् ।
मासोऽथ कृच्छ्रेण तदा व्यतीत-
स्तस्मिन् नगे भारत भारतानाम् ।। १६ ।।

जनमेजय! अस्त्रविद्याकी अभिलाषासे देवराज इन्द्रके समीप गये हुए श्वेतवाहन अर्जुनका चिन्तन करनेवाले पाण्डवोंका एक मास उस पर्वतपर बड़ी कठिनाईसे व्यतीत हुआ ।। १६ ।।

उषित्वा पञ्च वर्षाणि सहस्राक्षनिवेशने ।
अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि विबुधेश्वरात् ।। १७ ।।
आग्नेयं वारुणं सौम्यं वायव्यमथ वैष्णवम् ।
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं पारमेष्ठ्यं प्रजापतेः ।। १८ ।।
यमस्य धातुः सवितुस्त्वष्टुर्वैश्रवणस्य च ।
तानि प्राप्य सहस्राक्षादभिवाद्य शतक्रतुम् ।। १९ ।।
अनुज्ञातस्तदा तेन कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
आगच्छदर्जुनः प्रीतः प्रहृष्टो गन्धमादनम् ।। २० ।।

इधर अर्जुनने इन्द्र-भवनमें पाँच वर्ष रहकर देवेश्वर इन्द्रसे सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये। इस प्रकार अग्नि, वरुण, सोम, वायु, विष्णु, इन्द्र, पशुपति, ब्रह्मा, परमेष्ठी, प्रजापति, यम, धाता, सविता, त्वष्टा तथा कुबेरसम्बन्धी अस्त्रोंको भी देवेन्द्रसे ही प्राप्त करके उन्हें

प्रणाम किया। तदनन्तर उनसे अपने भाइयोंके पास लौटनेकी आज्ञा पाकर उनकी परिक्रमा करके अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए और हर्षोल्लासमें भरकर गन्धमादनपर आये ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वण्यर्जुनाभिगमने चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत यक्षयुद्धपर्वमें अर्जुनाभिगमनविषयक एक सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६४ ।।

(निवातकवचयुद्धपर्व)

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका गन्धमादन पर्वतपर आकर अपने भाइयोंसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

ततः कदाचिद्धरिसम्प्रयुक्तं
महेन्द्रवाहं सहसोपयातम् ।
विद्युत्प्रभं प्रेक्ष्य महारथानां
हर्षोऽर्जुनं चिन्तयतां बभूव ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर किसी समय हरे रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ देवराज इन्द्रका रथ सहसा आकाशमें प्रकट हुआ, मानो बिजली चमक उठी हो। उसे देखकर अर्जुनका चिन्तन करते हुए महारथी पाण्डवोंको बड़ा हर्ष हुआ ।। १ ।।

स दीप्यमानः सहसान्तरिक्षं
प्रकाशयन् मातलिसंगृहीतः ।
बभौ महोल्केव घनान्तरस्था
शिखेव चाग्नेर्ज्वलिता विधूमा ।। २ ।।

उस रथका संचालन मातलि कर रहे थे। वह दीप्तिमान् रथ सहसा अन्तरिक्षलोकको प्रकाशित करता हुआ इस प्रकार सुशोभित होने लगा, मानो बादलोंके भीतर बड़ी भारी उल्का प्रकट हुई हो अथवा अग्निकी धूमरहित ज्वाला प्रज्वलित हो उठी हो ।। २ ।।

तमास्थितः संददृशे किरीटी
स्रग्वी नवान्याभरणानि बिभ्रत् ।
धनंजयो वज्रधरप्रभावः
श्रिया ज्वलन् पर्वतमाजगाम ।। ३ ।।

उस दिव्य रथपर बैठे हुए किरीटधारी अर्जुन स्पष्ट दिखायी देने लगे। उनके कण्ठमें दिव्य हार शोभा पा रहा था और उन्होंने स्वर्गलोकके नूतन आभूषण धारण कर रखे थे। उस समय धनंजयका प्रभाव वज्रधारी इन्द्रके समान जान पड़ता था। वे अपनी दिव्य कान्तिसे प्रकाशित होते हुए गन्धमादन पर्वतपर आ पहुँचे ।। ३ ।।

स शैलमासाद्य किरीटमाली

महेन्द्रवाहादवरुह्य तस्मात् ।
धौम्यस्य पादावभिवाद्य धीमा-
नजातशत्रोस्तदनन्तरं च ।। ४ ।।
वृकोदरस्यापि च वन्द्यपादौ
माद्रीसुताभ्यामभिवादितश्च ।
समेत्य कृष्णां परिसान्त्व्य चैनां
प्रह्वोऽभवद् भ्रातुरुपह्वरे सः ।। ५ ।।

पर्वतपर पहुँचकर बुद्धिमान् किरीटधारी अर्जुन देवराज इन्द्रके उस दिव्य रथसे उतर पड़े। उस समय सबसे पहले उन्होंने महर्षि धौम्यके दोनों चरणोंमें मस्तक झुकाया। तदनन्तर अजातशत्रु युधिष्ठिर तथा भीमसेनके चरणोंमें प्रणाम किया। इसके बाद नकुल और सहदेवने आकर अर्जुनको प्रणाम किया तत्पश्चात् द्रौपदीसे मिलकर अर्जुनने उसे बहुत आश्वासन दिया और अपने भाई युधिष्ठिरके समीप आकर वे विनीत भावसे खड़े हो गये ।। ४-५ ।।

स्वर्गसे लौटकर अर्जुन धर्मराजको प्रणाम कर रहे हैं

बभूव तेषां परमः प्रहर्ष-

स्तेनाप्रमेयेण समागतानाम् ।
स चापि तान् प्रेक्ष्य किरीटमाली
ननन्द राजानमभिप्रशंसन् ।। ६ ।।

अप्रमेय वीर अर्जुनसे मिलकर सब पाण्डवोंको बड़ा हर्ष हुआ। अर्जुन भी उन सबसे मिलकर बड़े प्रसन्न हुए तथा राजा युधिष्ठिरकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ।। ६ ।।

यमास्थितः सप्त जघान पूगान्
दितेः सुतानां नमुचेर्निहन्ता ।
तमिन्द्रवाहं समुपेत्य पार्थाः
प्रदक्षिणं चक्रुरदीनसत्त्वाः ।। ७ ।।

नमुचिनाशक इन्द्रने जिसपर बैठकर दैत्योंके सात यूथोंका संहार किया था, उस इन्द्ररथके समीप जाकर उदार हृदयवाले कुन्तीपुत्रोंने उसकी परिक्रमा की ।। ७ ।।

ते मातलेश्चक्रुरतीव हृष्टाः
सत्कारमग्र्यं सुरराजतुल्यम् ।
सर्वान् यथावच्च दिवौकसस्ते
पप्रच्छुरेनं कुरुराजपुत्राः ।। ८ ।।

साथ ही, उन्होंने अत्यन्त हर्षमें भरकर मातलिका देवराज इन्द्रके समान सर्वोत्तम विधिसे सत्कार किया। इसके बाद उन पाण्डवोंने मातलिसे सम्पूर्ण देवताओंका यथावत् कुशल-समाचार पूछा ।। ८ ।।

तानप्यसौ मातलिरभ्यनन्दत्
पितेव पुत्राननुशिष्य पार्थान् ।
ययौ रथेनाप्रतिमप्रभेण
पुनः सकाशं त्रिदिवेश्वरस्य ।। ९ ।।

मातलिने भी पाण्डवोंका अभिनन्दन किया और जैसे पिता पुत्रको उपदेश देता है, उसी प्रकार पाण्डवोंको कर्तव्यकी शिक्षा देकर वे पुनः अपने अनुपम कान्तिशाली रथके द्वारा र्स्वगलोकके स्वामी इन्द्रके समीप चले गये ।।

गते तु तस्मिन् नरदेववर्यः
शक्रात्मजः शक्ररिपुप्रमाथी ।
(साक्षात् सहस्राक्ष इव प्रतीतः
श्रीमान् स्वदेहादवमुच्य जिष्णुः ।)
शक्रेण दत्तानि ददौ महात्मा
महाधनान्युत्तमरूपवन्ति ।। १० ।।
दिवाकराभाणि विभूषणानि
प्रियः प्रियायै सुतसोममात्रे ।

मातलिके चले जानेपर इन्द्रशत्रुओंका संहार करनेवाले देवेन्द्रकुमार नृपश्रेष्ठ महात्मा श्रीमान् अर्जुनने, जो साक्षात् सहस्रलोचन इन्द्रके समान प्रतीत होते थे, अपने शरीरसे उतारकर इन्द्रके दिये हुए बहुमूल्य, उत्तम तथा सूर्यके समान देदीप्यमान दिव्य आभूषण अपनी प्रियतमा सुतसोमकी माता द्रौपदीको समर्पित कर दिये ।।

ततः स तेषां कुरुपुङ्गवानां
तेषां च सूर्याग्निसमप्रभाणाम् ।। ११ ।।
विप्रर्षभाणामुपविश्य मध्ये
सर्वं यथावत् कथयांबभूव ।
एवं मयास्त्राण्युपशिक्षितानि
शक्राच्च वाताच्च शिवाच्च साक्षात् ।। १२ ।।

तदनन्तर उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवों तथा सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षियोंके बीचमें बैठकर अर्जुनने अपना सब समाचार यथावत् रूपसे कह सुनाया। 'मैंने अमुक प्रकारसे इन्द्र, वायु और साक्षात् शिवसे दिव्यास्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है ।। ११-१२ ।।

तथैव शीलेन समाधिनाथ
प्रीताः सुरा मे सहिताः सहेन्द्राः ।
संक्षेपतो वै स विशुद्धकर्मा
तेभ्यः समाख्याय दिवि प्रवासम् ।। १३ ।।
माद्रीसुताभ्यां सहितः किरीटी
सुष्वाप तामावसतिं प्रतीतः ।। १४ ।।

'मेरे शील-स्वभाव तथा चित्तकी एकाग्रतासे इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता मुझपर बहुत प्रसन्न रहते थे। निर्दोष कर्म करनेवाले अर्जुनने अपने स्वर्गीय प्रवासका सब समाचार उन सबको संक्षेपसे बताकर नकुल-सहदेवके साथ निश्चिन्त होकर उस आश्रममें शयन किया ।। १३-१४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वण्यर्जुनसमागमे पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें अर्जुनसमागमविषयक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर १४½ श्लोक हैं)

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्रका पाण्डवोंके पास आना और युधिष्ठिरको सान्त्वना देकर स्वर्गको लौटना

वैशम्पायन उवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरवन्दत धनंजयः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर रात बीतनेपर प्रातःकाल उठकर समस्त भाइयोंसहित अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरको प्रणाम किया ।। १ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु सर्ववादित्रनिःस्वनः ।
बभूव तुमुलः शब्दस्त्वन्तरिक्षे दिवौकसाम् ।। २ ।।

इसी समय अन्तरिक्षमें देवताओंके सम्पूर्ण वाद्योंकी तुमुल ध्वनि गूँज उठी ।। २ ।।

रथनेमिस्वनश्चैव घण्टाशब्दश्च भारत ।
पृथग् व्यालमृगाणां च पक्षिणामिव सर्वशः ।। ३ ।।

भारत! रथके पहियोंकी घर्घराहट, घंटानाद तथा सर्प, मृग एवं पक्षियोंके कोलाहल सब ओर पृथक्-पृथक् सुनायी दे रहे थे ।। ३ ।।

(रवोन्मुखास्ते ददृशुः प्रीयमाणाः कुरूद्वहाः ।
मरुद्भिरन्वितं शक्रमापतन्तं विहायसा ।।)
ते समन्तादनुययुर्गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
विमानैः सूर्यसंकाशैर्देवराजमरिंदमम् ।। ४ ।।

पाण्डवोंने प्रसन्नतापूर्वक उस ध्वनिकी ओर आँख उठाकर देखा, तो उन्हें देवराज इन्द्र दृष्टिगोचर हुए जो सम्पूर्ण मरुद्गण आदि देवताओंके साथ आकाशमार्गसे आ रहे थे। गन्धर्वों और अप्सराओंके समूह सूर्यके समान तेजस्वी विमानोंद्वारा शत्रुदमन देवराजको चारों ओरसे घेरकर उन्हींके पथका अनुसरण कर रहे थे ।। ४ ।।

ततः स हरिभिर्युक्तं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
मेघनादिनमारुह्य श्रिया परमया ज्वलन् ।। ५ ।।
पार्थानभ्याजगामाथ देवराजः पुरंदरः ।

थोड़ी ही देरमें हरे रंगके घोड़ोंसे जुते हुए, मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर घोष करनेवाले, जाम्बूनद नामक सुवर्णसे अलंकृत रथपर आरूढ़ देवराज इन्द्र पाण्डवोंके पास आ पहुँचे। उस समय वे अपनी उत्कृष्ट प्रभासे अत्यन्त उद्भासित हो रहे थे ।। ५½ ।।

आगत्य च सहस्राक्षो रथादवरुरोह वै ।। ६ ।।

तं दृष्ट्वैव महात्मानं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् देवराजमुपागमत् ।। ७ ।।

निकट आनेपर सहस्रलोचन इन्द्र रथसे उतर गये। उन महामना देवराजको देखते ही भाइयोंसहित श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर उनके पास गये ।। ६-७ ।।

पूजयामास चैवाथ विधिवद् भूरिदक्षिणः ।
यथार्हममितात्मानं विधिदृष्टेन कर्मणा ।। ८ ।।

यज्ञोंमें प्रचुर दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिर शास्त्रवर्णित पद्धतिसे अमितबुद्धि इन्द्रका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया ।। ८ ।।

धनंजयश्च तेजस्वी प्रणिपत्य पुरंदरम् ।
भृत्यवत् प्रणतस्तस्थौ देवराजसमीपतः ।। ९ ।।

तेजस्वी अर्जुन भी इन्द्रको प्रणाम करके उनके समीप सेवककी भाँति विनीतभावसे खड़े हो गये ।। ९ ।।

आप्यायत महातेजाः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धनंजयमभिप्रेक्ष्य विनीतं स्थितमन्तिके ।। १० ।।
जटिलं देवराजस्य तपोयुक्तमकल्मषम् ।
हर्षेण महताऽऽविष्टः फाल्गुनस्याथ दर्शनात् ।। ११ ।।

महातेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अर्जुनको देवराजके समीप विनीतभावसे स्थित देख बड़े प्रसन्न हुए। अर्जुनके सिरपर जटा बँध गयी थी। वे देवराजके आदेशके अनुसार तपस्यामें लगे रहते थे; अतः सर्वथा निष्पाप हो गये थे। अर्जुनको देखनेसे उन्हें महान् हर्ष हुआ था ।। १०-११ ।।

वभूव परमप्रीतो देवराजं च पूजयन् ।
तं तथादीनमनसं राजानं हर्षसम्प्लुतम् ।। १२ ।।
उवाच वचनं धीमान् देवराजः पुरंदरः ।
त्वमिमां पृथिवीं राजन् प्रशासिष्यसि पाण्डव ।
स्वस्ति प्राप्नुहि कौन्तेय काम्यकं पुनराश्रमम् ।। १३ ।।

अतः देवराजका पूजन करके वे बड़े प्रसन्न हुए। उदारचित्त राजा युधिष्ठिरको इस प्रकार हर्षमें मग्न देखकर परम बुद्धिमान् देवराज इन्द्रने कहा—पाण्डुनन्दन! तुम इस पृथ्वीका शासन करोगे। कुन्तीकुमार! अब तुम पुनः काम्यक वनके कल्याणकारी आश्रममें चले जाओ ।। १२-१३ ।।

अस्त्राणि लब्धानि च पाण्डवेन
सर्वाणि मत्तः प्रयतेन राजन् ।
कृतप्रियश्चास्मि धनंजयेन
जेतुं न शक्यस्त्रिभिरेष लोकैः ।। १४ ।।

'राजन्! पाण्डुनन्दन अर्जुनने एकाग्रचित्त होकर मुझसे सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये हैं। साथ ही इन्होंने मेरा बड़ा प्रिय कार्य सम्पन्न किया है। तीनों लोकोंके समस्त प्राणी इन्हें युद्धमें परास्त नहीं कर सकते' ।। १४ ।।

एकमुक्त्वा सहस्राक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टः स्तूयमानो महर्षिभिः ।। १५ ।।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर इन्द्र महर्षियोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए सानन्द स्वर्गलोकको चले गये ।। १५ ।।

धनेश्वरगृहस्थानां पाण्डवानां समागमम् ।
शक्रेण य इदं विद्वानधीयीत समाहितः ।। १६ ।।
संवत्सरं ब्रह्मचारी नियतः संशितव्रतः ।
स जीवेद्धि निराबाधः स सुखी शरदां शतम् ।। १७ ।।

धनाध्यक्ष कुबेरके घरमें टिके हुए पाण्डवोंका जो इन्द्रके साथ समागम हुआ था, उस प्रसंगको जो विद्वान् एकाग्रचित्त होकर प्रतिदिन पढ़ता है और संयम-नियमसे रहकर कठोर व्रतका आश्रय ले एक वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह सब प्रकारकी बाधाओंसे रहित हो सौ वर्षोंतक सुखपूर्वक जीवन धारण करता है ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकचवयुद्धपर्वणि इन्द्रागमने षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें इन्द्रागमनविषयक एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा अपनी तपस्या-यात्राके वृत्तान्तका वर्णन, भगवान् शिवके साथ संग्राम और पाशुपतास्त्र-प्राप्तिकी कथा

वैशम्पायन उवाच

यथागतं गते शक्रे भ्रातृभिः सह सङ्गतः ।
कृष्णया चैव बीभत्सुर्धर्मपुत्रमपूजयत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवराज इन्द्रके चले जानेपर भाइयों तथा द्रौपदीके साथ मिलकर अर्जुनने धर्मपुत्र युधिष्ठिरको प्रणाम किया ।। १ ।।

अभिवादयमानं तं मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ।
हर्षगद्गदया वाचा प्रहृष्टोऽर्जुनमब्रवीत् ।। २ ।।

पाण्डुनन्दन अर्जुनको प्रणाम करते देख युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए एवं उनका मस्तक सूँघकर हर्षगद्गद-वाणीमें इस प्रकार बोले— ।। २ ।।

कथमर्जुन कालोऽयं स्वर्गे व्यतिगतस्तव ।
कथं चास्त्राण्यवाप्तानि देवराजश्च तोषितः ।। ३ ।।

'अर्जुन! स्वर्गमें तुम्हारा यह समय किस प्रकार बीता? कैसे तुमने दिव्यास्त्र प्राप्त किये और कैसे देवराज इन्द्रको संतुष्ट किया? ।। ३ ।।

सम्यग् वा ते गृहीतानि कच्चिदस्त्राणि पाण्डव ।
कच्चित् सुराधिपः प्रीतो रुद्रो वास्त्राण्यदात् तव ।। ४ ।।

'पाण्डुनन्दन! क्या तुमने सभी अस्त्र अच्छी तरह सीख लिये? क्या देवराज इन्द्र अथवा भगवान् रुद्रने प्रसन्न होकर तुम्हें अस्त्र प्रदान किये हैं? ।। ४ ।।

यथा दृष्टश्च ते शक्रो भगवान् वा पिनाकधृक् ।
यथैवास्त्राण्यवाप्तानि यथैवाराधितश्च ते ।। ५ ।।
यथोक्तवांस्त्वां भगवान् शतक्रतुररिंदम ।
कृतप्रियस्त्वयास्मीति तस्य ते किं प्रियं कृतम् ।। ६ ।।

'शत्रुदमन! तुमने जिस प्रकार देवराज इन्द्रका दर्शन किया है अथवा जैसे पिनाकधारी भगवान् शिवको देखा है, जिस प्रकार तुमने सब अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है और जैसे तुम्हारेद्वारा देवाराधनका कार्य सम्पादित हुआ है, वह सब बताओ। भगवान् इन्द्रने अभी-अभी कहा था कि 'अर्जुनने मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य सम्पन्न किया है' सो वह उनका कौन-सा प्रिय कार्य था, जिसे तुमने सम्पन्न किया है ।। ५-६ ।।

एतदिच्छाम्यहं श्रीतुं विस्तरेण महाद्युते ।
यथा तुष्टो महादेवो देवराजस्तथानघ ।। ७ ।।
यच्चापि वज्रपाणेस्तु प्रियं कृतमरिंदम ।
एतदाख्याहि मे सर्वमखिलेन धनंजय ।। ८ ।।

'महातेजस्वी वीर! मैं ये सब बातें विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। शत्रुओंका दमन करनेवाले निष्पाप अर्जुन! जिस प्रकार तुम्हारे ऊपर महादेवजी तथा देवराज इन्द्र संतुष्ट हुए और वज्रधारी इन्द्रका जो प्रिय कार्य तुमने सम्पन्न किया है, वह सब पूर्णरूपसे बताओ' ।। ७-८ ।।

अर्जुन उवाच

शृणु हन्त महाराज विधिना येन दृष्टवान् ।
शतक्रतुमहं देवं भगवन्तं च शङ्करम् ।। ९ ।।
विद्यामधीत्य तां राजंस्त्वयोक्तामरिमर्दन ।
भवता च समादिष्टस्तपसे प्रस्थितो वनम् ।। १० ।।

अर्जुन बोले—महाराज! मैंने जिस विधिसे देवराज इन्द्र तथा भगवान् शंकरका दर्शन किया था, वह सब बतलाता हूँ, सुनिये! शत्रुओंका मर्दन करनेवाले नरेश! आपकी बतायी हुई विद्याको ग्रहण करके आपहीके आदेशसे मैं तपस्या करनेके लिये वनकी ओर प्रस्थित हुआ ।। ९-१० ।।

भृगुतुङ्गमथो गत्वा काम्यकादास्थितस्तपः ।
एकरात्रोषितः कञ्चिदपश्यं ब्राह्मणं पथि ।। ११ ।।

काम्यक वनसे चलकर तपस्यामें पूरी आशा रखकर मैं भृगुतुंग पर्वतपर पहुँचा और वहाँ एक रात रहकर जब आगे बढ़ा, तब मार्गमें किसी ब्राह्मणदेवताका मुझे दर्शन हुआ ।। ११ ।।

स मामपृच्छत् कौन्तेय क्वासि गन्ता ब्रवीहि मे ।
तस्मा अवितथं सर्वमब्रुवं कुरुनन्दन ।। १२ ।।

उन्होंने मुझसे कहा—'कुन्तीनन्दन! कहाँ जाते हो? मुझे ठीक-ठीक बताओ।' तब मैंने उनसे सब कुछ सच-सच बता दिया ।। १२ ।।

स तथ्यं मम तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणो राजसत्तम ।
अपूजयत मां राजन् प्रीतिमांश्चाभवन्मयि ।। १३ ।।

नृपश्रेष्ठ! ब्राह्मणदेवताने मेरी यथार्थ बातें सुनकर मेरी प्रशंसा की और मुझपर बड़े प्रसन्न हुए ।। १३ ।।

ततो मामब्रवीत् प्रीतस्तप आतिष्ठ भारत ।
तपस्वी नचिरेण त्वं द्रक्ष्यसे विबुधाधिपम् ।। १४ ।।

तत्पश्चात् उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक कहा—'भारत! तुम तपस्याका आश्रय लो! तपमें प्रवृत्त होनेपर तुम्हें शीघ्र ही देवराज इन्द्रका दर्शन होगा' ।। १४ ।।

ततोऽहं वचनात् तस्य गिरिमारुह्य शैशिरम् ।
तपोऽतप्यं महाराज मासं मूलफलाशनः ।। १५ ।।

महाराज! उनके इस आदेशको मानकर मैं हिमालय पर्वतपर आरूढ़ हो तपस्यामें संलग्न हो गया और एक मासतक केवल फल-फूल खाकर रहा ।। १५ ।।

द्वितीयश्चापि मे मासो जलं भक्षयतो गतः ।
निराहारस्तृतीयेऽथ मासे पाण्डवनन्दन ।। १६ ।।
ऊर्ध्वबाहुश्चतुर्थं तु मासमस्मि स्थितस्तदा ।
न च मे हीयते प्राणस्तदद्भुतमिवाभवत् ।। १७ ।।

इसी प्रकार मैंने दूसरा महीना भी केवल जल पीकर बिताया। पाण्डवनन्दन! तीसरे महीनेमें मैं पूर्णतः निराहार रहा। चौथे महीनेमें मैं ऊपरको हाथ उठाये खड़ा रहा। इतनेपर भी मेरा बल क्षीण नहीं हुआ, यह एक आश्चर्यकी-सी बात हुई ।। १६-१७ ।।

पञ्चमे त्वथ सम्प्राप्ते प्रथमे दिवसे गते ।
वराहसंस्थितं भूतं मत्समीपं समागमत् ।। १८ ।।

पाँचवाँ महीना प्रारम्भ होनेपर जब एक दिन बीत गया तब दूसरे दिन एक शूकररूपधारी जीव मेरे निकट आया ।। १८ ।।

निघ्नन् प्रोथेन पृथिवीं विलिखंश्चरणैरपि ।
सम्मार्जञ्जठरेणोर्वीं विवर्तंश्च मुहुर्मुहुः ।। १९ ।।

वह अपनी थूथुनसे पृथ्वीपर चोट करता और पैरोंसे धरती खोदता था। बार-बार लेटकर वह अपने पेटसे वहाँकी भूमिको ऐसा स्वच्छ कर देता था, मानो उसपर झाड़ दिया गया हो ।। १९ ।।

अनु तस्यापरं भूतं महत् कैरातसंस्थितम् ।
धनुर्बाणासिमत् प्राप्तं स्त्रीगणानुगतं तदा ।। २० ।।

उसके पीछे किरात-जैसी आकृतिमें एक महान् पुरुषका दर्शन हुआ। उसने धनुष-बाण और खड्ग ले रखे थे। उसके साथ स्त्रियोंका एक समुदाय भी था ।। २० ।।

ततोऽहं धनुरादाय तथाक्षय्ये महेषुधी ।
अताडयं शरेणाथ तद् भूतं लोमहर्षणम् ।। २१ ।।

तब मैंने धनुष तथा अक्षय तरकस लेकर एक बाणके द्वारा उस रोमांचकारी सूकरपर आघात किया ।।

युगपत् तं किरातस्तु विकृष्य बलवद् धनुः ।
अभ्याजघ्ने दृढतरं कम्पयन्निव मे मनः ।। २२ ।।

साथ ही किरातने भी अपने सुदृढ़ धनुषको खींचकर उसपर गहरी चोटकी, जिससे मेरा हृदय कम्पित-सा हो उठा ।। २२ ।।

स तु मामब्रवीद् राजन् मम पूर्वपरिग्रहः ।
मृगयाधर्ममुत्सृज्य किमर्थं ताडितस्त्वया ।। २३ ।।

राजन्! फिर वह किरात मुझसे बोला—'यह सूअर तो पहले मेरा निशाना बन चुका था, फिर तुमने आखेटके नियमको छोड़कर उसपर प्रहार क्यों किया?' ।। २३ ।।

एष ते निशितैर्बाणैर्दर्पं हन्मि स्थिरो भव ।
स धनुष्मान् महाकायस्ततो मामभ्यभाषत ।। २४ ।।

इतना ही नहीं उस विशालकाय एवं धनुर्धर किरातने उस समय मुझसे यह भी कहा—'अच्छा, ठहर जाओ। मैं अपने पैने बाणोंसे अभी तुम्हारा घमंड चूर-चूर किये देता हूँ' ।। २४ ।।

ततो गिरिमिवात्यर्थमावृणोन्मां महाशरैः ।
तं चाहं शरवर्षेण महता समवाकिरम् ।। २५ ।।

ऐसा कहकर उस भीलने जैसे पर्वतपर वर्षा हो, उस प्रकार महान् बाणोंकी बौछार करके मुझे सब ओरसे ढक दिया; तब मैंने भी भारी बाणवर्षा करके उसे सब ओरसे आच्छादित कर दिया ।। २५ ।।

ततः शरैर्दीप्तमुखैर्यन्त्रितैरनुमन्त्रितैः ।
प्रत्यविध्यमहं तं तु वज्रैरिव शिलोच्चयम् ।। २६ ।।

तदनन्तर जैसे वज्रसे पर्वतपर आघात किया जाय, उसी प्रकार प्रज्वलित मुखवाले अभिमन्त्रित और खूब खींचकर छोड़े हुए बाणोंद्वारा मैंने उसे बार-बार घायल किया ।। २६ ।।

तस्य तच्छतधा रूपमभवच्च सहस्रधा ।
तानि चास्य शरीराणि शरैरहमताडयम् ।। २७ ।।

उस समय उसके सैकड़ों और सहस्रों रूप प्रकट हुए और मैंने उसके सभी शरीरोंपर बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी ।। २७ ।।

पुनस्तानि शरीराणि एकीभूतानि भारत ।
अदृश्यन्त महाराज तान्यहं व्यधमं पुनः ।। २८ ।।

भारत! फिर उसके वे सारे शरीर एकरूप दिखायी दिये। महाराज! उस एकरूपमें भी मैंने उसे पुनः अच्छी तरह घायल किया ।। २८ ।।

अणुर्बृहच्छिरा भूत्वा बृहच्चाणुशिराः पुनः ।
एकीभूतस्तदा राजन् सोऽभ्यवर्तत मां युधि ।। २९ ।।
यदाभिभवितुं बाणैर्न च शक्नोमि तं रणे ।
ततो महास्त्रमातिष्ठं वायव्यं भरतर्षभ ।। ३० ।।

कभी उसका शरीर तो बहुत छोटा हो जाता, परंतु मस्तक बहुत बड़ा दिखायी देता था। फिर वह विशाल शरीर धारण कर लेता और मस्तक बहुत छोटा बना लेता था। राजन्! अन्तमें वह एक ही रूपमें प्रकट होकर युद्धमें मेरा सामना करने लगा। भरतर्षभ! जब मैं बाणोंकी वर्षा करके भी युद्धमें उसे परास्त न कर सका, तब मैंने महान् वायव्यास्त्रका प्रयोग किया ।। २९-३० ।।

न चैनमशकं हन्तुं तदद्भुतमिवाभवत् ।
तस्मिन् प्रतिहते चास्त्रे विस्मयो मे महानभूत् ।। ३१ ।।

किंतु उससे भी उसका वध न कर सका। यह एक अद्भुत-सी घटना हुई। वायव्यास्त्रके निष्फल हो जानेपर मुझे महान् आश्चर्य हुआ ।। ३१ ।।

भूय एव महाराज सविशेषमहं ततः ।
अस्त्रपूगेन महता रणे भूतमवाकिरम् ।। ३२ ।।

महाराज! तब मैंने पुनः विशेष प्रयत्न करके रणभूमिमें किरातरूपधारी उस अद्भुत पुरुषपर महान् अस्त्रसमूहकी वर्षा की ।। ३२ ।।

स्थूणाकर्णमथो जालं शरवर्षमथोल्बणम् ।
शलभास्त्रमश्मवर्षं समास्थायाहमभ्ययाम् ।। ३३ ।।

स्थूणाकर्ण[१], वारुणास्त्र[२], भयंकर शरवर्षास्त्र[३], शलभास्त्र[४] तथा अश्मवर्ष[५] इन अस्त्रोंका सहारा ले मैं उस किरातपर टूट पड़ा ।। ३३ ।।

जग्रास प्रसभं तानि सर्वाण्यस्त्राणि मे नृप ।
तेषु सर्वेषु जग्धेषु ब्रह्मास्त्रं महदादिशम् ।। ३४ ।।

राजन्! उसने मेरे उन सभी अस्त्रोंको बलपूर्वक अपना ग्रास बना लिया। उन सबके भक्षण कर लिये जानेपर मैंने महान् ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया ।। ३४ ।।

ततः प्रज्वलितैर्बाणैः सर्वतः सोपचीयते ।
उपचीयमानश्च मया महास्त्रेण व्यवर्धत ।। ३५ ।।

तब प्रज्वलित बाणोंद्वारा वह अस्त्र सब ओर बढ़ने लगा। मेरे महान् अस्त्रसे बढ़नेकी प्रेरणा पाकर वह ब्रह्मास्त्र अधिक वेगसे बढ़ चला ।। ३५ ।।

ततः संतापिता लोका मत्प्रसूतेन तेजसा ।
क्षणेन हि दिशः खं च सर्वतो हि विदीपितम् ।। ३६ ।।

तदनन्तर मेरे द्वारा प्रकट किये हुए ब्रह्मास्त्रके तेजसे वहाँके सब लोग संतप्त हो उठे। एक ही क्षणमें सम्पूर्ण दिशाएँ और आकाश सब ओरसे आगकी लपटोंसे उद्दीप्त हो उठे ।। ३६ ।।

तदप्यस्त्रं महातेजाः क्षणेनैव व्यशातयत् ।
ब्रह्मास्त्रे तु हते राजन् भयं मां महदाविशत् ।। ३७ ।।

परंतु उस महान् तेजस्वी वीरने क्षणभरमें ही मेरे उस ब्रह्मास्त्रको भी शान्त कर दिया। राजन्! उस ब्रह्मास्त्रके नष्ट होनेपर मेरे मनमें महान् भय समा गया ।।

ततोऽहं धनुरादाय तथाक्षय्ये महेषुधी ।

सहसाभ्यहनं भूतं तान्यप्यस्त्राण्यभक्षयत् ।। ३८ ।।

तब मैं धनुष और दोनों अक्षय तरकस लेकर सहसा उस दिव्य पुरुषपर आघात करने लगा, किंतु उसने उन सबको भी अपना आहार बना लिया ।। ३८ ।।

हतेष्वस्त्रेषु सर्वेषु भक्षितेष्वायुधेषु च ।

मम तस्य च भूतस्य बाहुयुद्धमवर्तत ।। ३९ ।।

जब मेरे सारे अस्त्र-शस्त्र नष्ट होकर उसके आहार बन गये, तब मेरा उस अलौकिक प्राणीके साथ मल्लयुद्ध प्रारम्भ हो गया ।। ३९ ।।

व्यायामं मुष्टिभिः कृत्वा तलैरपि समागतैः ।

अपारयंश्च तद् भूतं निश्चेष्टमगमं महीम् ।। ४० ।।

ततः प्रहस्य तद् भूतं तत्रैवान्तरधीयत ।

सह स्त्रीभिर्महाराज पश्यतो मेऽद्भुतोपमम् ।। ४१ ।।

पहले मुक्कों और थप्पड़ोंसे मैंने उससे टक्कर लेनेकी चेष्टाकी, परंतु उसपर मेरा कोई वश नहीं चला और मैं निश्चेष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। महाराज! तब वह अलौकिक प्राणी हँसकर मेरे देखते-देखते स्त्रियोंसहित वहीं अन्तर्धान हो गया ।। ४०-४१ ।।

एवं कृत्वा स भगवांस्ततोऽन्यद् रूपमास्थितः ।

दिव्यमेव महाराज वसानोऽद्भुतमम्बरम् ।। ४२ ।।

हित्वा किरातरूपं च भगवांस्त्रिदशेश्वरः ।

स्वरूपं दिव्यमास्थाय तस्थौ तत्र महेश्वरः ।। ४३ ।।

राजन्! वास्तवमें वे भगवान् शंकर थे। उन्होंने पूर्वोक्त बर्ताव करके दूसरा रूप धारण कर लिया। देवताओंके स्वामी भगवान् महेश्वर किरातरूप छोड़कर दिव्य स्वरूपका आश्रय ले अलौकिक एवं अद्भुत वस्त्र धारण किये वहाँ खड़े हो गये ।। ४२-४३ ।।

अदृश्यत ततः साक्षाद् भगवान् गोवृषध्वजः ।

उमासहायो व्यालधृग् बहुरूपः पिनाकधृक् ।। ४४ ।।

स मामभ्येत्य समरे तथैवाभिमुखं स्थितम् ।

शूलपाणिरथोवाच तुष्टोऽस्मीति परंतप ।। ४५ ।।

इस प्रकार उमासहित साक्षात् भगवान् वृषभ-ध्वजका दर्शन हुआ। उन्होंने अपने अंगोंमें सर्प और हाथमें पिनाक धारण कर रखे थे। अनेक रूपधारी भगवान् शूलपाणि उस रणभूमिमें मेरे निकट आकर पूर्ववत् सामने खड़े हो गये और बोले—‘परंतप! मैं तुमपर संतुष्ट हूँ’ ।। ४४-४५ ।।

ततस्तद् धनुरादाय तूणौ चाक्षय्यसायकौ ।

प्रादान्ममैव भगवान् धारयस्वेति चाब्रवीत् ।। ४६ ।।
तुष्टोऽस्मि तव कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यत् ते मनोगतं वीर तद् ब्रूहि वितराम्यहम् ।। ४७ ।।
अमरत्वमपाहाय ब्रूहि यत् ते मनोगतम् ।

तदनन्तर मेरे धनुष और अक्षय बाणोंसे भरे हुए दोनों तरकस लेकर भगवान् शिवने मुझे ही दे दिये और कहा—'परंतप! ये अपने अस्त्र ग्रहण करो।' कुन्तीकुमार! मैं तुमसे संतुष्ट हूँ। बोलो, तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ? वीर! तुम्हारे मनमें जो कामना हो, बताओ। मैं उसे पूर्ण कर दूँगा। अमरत्वको छोड़कर और तुम्हारे मनमें जो भी कामना हो, बताओ' ।। ४६-४७½ ।।

ततः प्राञ्जलिरेवाहमस्त्रेषु गतमानसः ।। ४८ ।।
प्रणम्य मनसा शर्वं ततो वचनमाददे ।
भगवान् मे प्रसन्नश्चेदीप्सितोऽयं वरो मम ।। ४९ ।।
अस्त्राणीच्छाम्यहं ज्ञातुं यानि देवेषु कानिचित् ।
ददानीत्येव भगवानब्रवीत् त्र्यम्बकश्च माम् ।। ५० ।।

मेरा मन तो अस्त्र-शस्त्रोंमें लगा हुआ था। उस समय मैंने हाथ जोड़कर मन-ही-मन भगवान् शंकरको प्रणाम किया और यह बात कही—'यदि मुझपर भगवान् प्रसन्न हैं, तो मेरा मनोवांछित वर इस प्रकार है—देवताओंके पास जो कोई भी दिव्यास्त्र हैं, उन्हें मैं जानना चाहता हूँ।' यह सुनकर भगवान् शंकरने मुझसे कहा—'पाण्डुनन्दन! मैं तुम्हें सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंकी प्राप्तिका वर देता हूँ ।। ४८—५० ।।

रौद्रमस्त्रं मदीयं त्वामुपस्थास्यति पाण्डव ।
प्रददौ च मम प्रीतः सोऽस्त्रं पाशुपतं महत् ।। ५१ ।।

'पाण्डुकुमार! मेरा रौद्रास्त्र स्वयं तुम्हें प्राप्त हो जायगा।' यह कहकर भगवान् पशुपतिने बड़ी प्रसन्नताके साथ मुझे अपना महान् पाशुपतास्त्र प्रदान किया ।। ५१ ।।

उवाच च महादेवो दत्त्वा मेऽस्त्रं सनातनम् ।
न प्रयोज्यं भवेदेतन्मानुषेषु कथञ्चन ।। ५२ ।।

अपना सनातन अस्त्र मुझे देकर महादेवजी फिर बोले—'तुम्हें मनुष्योंपर किसी प्रकार इस अस्त्रका प्रयोग नहीं करना चाहिये ।। ५२ ।।

जगद् विनिर्दहेदेवमल्पतेजसि पातितम् ।
पीड्यमानेन बलवत् प्रयोज्यं स्याद् धनंजय ।। ५३ ।।
अस्त्राणां प्रतिघाते च सर्वथैव प्रयोजयेत् ।

'अपनेसे अल्पशक्तिवाले विपक्षी पर यदि इसका प्रहार किया जाय तो यह सम्पूर्ण विश्वको दग्ध कर देगा। धनंजय! जब शत्रुके द्वारा अपनेको बहुत पीड़ा प्राप्त होने लगे, उस दशामें आत्मरक्षाके लिये इसका प्रयोग करना चाहिये। शत्रुके अस्त्रोंका विनाश करनेके लिये सर्वथा इसका प्रयोग उचित है' ।। ५३½ ।।

तदप्रतिहतं दिव्यं सर्वास्त्रप्रतिषेधनम् ।। ५४ ।।
मूर्तिमन्मे स्थितं पार्श्वे प्रसन्ने गोवृषध्वजे ।

इस प्रकार भगवान् वृषभध्वजके प्रसन्न होनेपर सम्पूर्ण अस्त्रोंका निवारण करनेवाला और कहीं भी कुण्ठित न होनेवाला दिव्य पाशुपतास्त्र मूर्तिमान् हो मेरे पास आकर खड़ा हो गया ।। ५४½ ।।

उत्सादनममित्राणां परसेनानिकर्तनम् ।। ५५ ।।
दुरासदं दुष्प्रसहं सुरदानवराक्षसैः ।
अनुज्ञातस्त्वहं तेन तत्रैव समुपाविशम् ।। ५६ ।।
प्रेक्षतश्चैव मे देवस्तत्रैवान्तरधीयत ।। ५७ ।।

वह शत्रुओंका संहारक और विपक्षियोंकी सेनाका विध्वंसक है। उसकी प्राप्ति बहुत कठिन है। देवता, दानव तथा राक्षस किसीके लिये भी उसका वेग सहन करना अत्यन्त कठिन है। फिर भगवान् शिवकी आज्ञा होनेपर मैं वहीं बैठ गया और वे मेरे देखते-देखते अन्तर्धान हो गये ।। ५५—५७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि गन्धमादनवासे युधिष्ठिरार्जुनसंवादे सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें गन्धमादननिवासकालिक युधिष्ठिर-अर्जुन-संवादविषयक एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६७ ।।

---

१. आचार्य नीलकण्ठके मतसे स्थूणाकर्ण नाम है शंकुकर्णका, जो भगवान् रुद्रके एक अवतार हैं। वे जिस अस्त्रके देवता है, उसका नाम भी स्थूणाकर्ण है।

२. मूलमें जाल शब्द आया है, जिसका अर्थ है, जालसम्बन्धी। यह जलवर्षक अस्त्रकी ही वारुणास्त्र है।

३. जैसे बादल पानीकी वर्षा करता है, उसी प्रकार निरन्तर बाणवर्षा करनेवाला अस्त्र शरवर्ष कहलाता है।

४. जैसे असंख्य टिड्डियाँ आकाशमें मँडराती और पौधोंपर टूट पड़ती हैं, उसी प्रकार जिस अस्त्रसे असंख्य बाण आकाशको आच्छादित करते और शत्रुको अपना लक्ष्य बनाते हैं, उसीका नाम शलभास्त्र है।

५. पत्थरोंकी वर्षा करनेवाले अस्त्रको अश्मवर्ष कहते हैं।

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा स्वर्गलोकमें अपनी अस्त्रशिक्षा और निवातकवच दानवोंके साथ युद्धकी तैयारीका कथन

अर्जुन उवाच

ततस्तामवसं प्रीतो रजनीं तत्र भारत ।
प्रसादाद् देवदेवस्य त्र्यम्बकस्य महात्मनः ।। १ ।।

अर्जुन कहते हैं—भारत! देवाधिदेव परमात्मा भगवान् त्रिलोचनके कृपाप्रसादसे मैंने प्रसन्नतापूर्वक वह रात वहीं व्यतीत की ।। १ ।।

व्युषितो रजनीं चाहं कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः ।
अपश्यं तं द्विजश्रेष्ठं दृष्टवानस्मि यं पुरा ।। २ ।।

सबेरा होनेपर पूर्वाह्णकालकी क्रिया पूरी करके मैंने पुनः उन्हीं श्रेष्ठ ब्राह्मणको अपने समक्ष पाया, जिनका दर्शन मुझे पहले भी हो चुका था ।। २ ।।

तस्मै चाहं यथावृत्तं सर्वमेव न्यवेदयम् ।
भगवन्तं महादेवं समेतोऽस्मीति भारत ।। ३ ।।

भरतकुलभूषण! उनसे मैंने अपना सारा वृत्तान्त यथावत् कह सुनाया और बताया कि 'मैं भगवान् महादेवजीसे मिल चुका हूँ' ।। ३ ।।

स मामुवाच राजेन्द्र प्रीयमाणो द्विजोत्तमः ।
दृष्टस्त्वया महादेवो यथा नान्येन केनचित् ।। ४ ।।

राजेन्द्र! तब वे विप्रवर बड़े प्रसन्न होकर मुझसे बोले—'कुन्तीकुमार! जिस प्रकार तुमने महादेवजीका दर्शन किया है, वैसा दर्शन और किसीने नहीं किया है ।। ४ ।।

समेत्य लोकपालैस्तु सर्वैर्वैवस्वतादिभिः ।
द्रष्टास्यनघ देवेन्द्रं स च तेऽस्त्राणि दास्यति ।। ५ ।।

'अनघ! अब तुम यम आदि लोकपालोंके साथ देवराज इन्द्रका दर्शन करोगे और वे भी तुम्हें अस्त्र प्रदान करेंगे' ।। ५ ।।

एवमुक्त्वा स मां राजन्नाश्लिष्य च पुनः पुनः ।
अगच्छत् स यथाकामं ब्राह्मणः सूर्यसंनिभः ।। ६ ।।

राजन्! ऐसा कहकर सूर्यके समान तेजस्वी ब्राह्मण देवताने मुझे बार-बार हृदयसे लगाया और फिर वे इच्छानुसार अपने अभीष्ट स्थानको चले गये ।। ६ ।।

अथापराह्णे तस्याह्नः प्रावात् पुण्यः समीरणः ।
पुनर्नवमिमं लोकं कुर्वन्निव सपत्नहन् ।। ७ ।।

दिव्यानि चैव माल्यानि सुगन्धीनि नवानि च ।
शैशिरस्य गिरेः पादे प्रादुरासन् समीपतः ।। ८ ।।

शत्रुविजयी नरेश! तदनन्तर जब वह दिन ढलने लगा, तब पुनः इस जगत्‌में नूतन जीवनका संचार-सा करती हुई पवित्र वायु चलने लगी और उस हिमालयके पार्श्ववर्ती प्रदेशमें दिव्य, नवीन और सुगन्धित पुष्पोंकी वर्षा होने लगी ।। ७-८ ।।

वादित्राणि च दिव्यानि सुघोराणि समन्ततः ।
स्तुतयश्चेन्द्रसंयुक्ता अश्रूयन्त मनोहराः ।। ९ ।।

चारों ओर अत्यन्त भयंकर प्रतीत होनेवाले दिव्य वाद्यों और इन्द्रसम्बन्धी स्तोत्रोंके मनोहर शब्द सुनायी देने लगे ।। ९ ।।

गणाश्चाप्सरसां तत्र गन्धर्वाणां तथैव च ।
पुरस्ताद् देवदेवस्य जगुर्गीतानि सर्वशः ।। १० ।।

सब गन्धर्वों और अप्सराओंके समूह वहाँ देवराज इन्द्रके आगे रहकर गीत गा रहे थे ।। १० ।।

मरुतां च गणास्तत्र देवयानैरुपागमन् ।
महेन्द्रानुचरा ये च ये च सद्मनिवासिनः ।। ११ ।।

देवताओंके अनेक गण भी दिव्य विमानोंपर बैठकर वहाँ आये थे। जो महेन्द्रके सेवक थे और जो इन्द्रभवनमें ही निवास करते थे, वे भी वहाँ पधारे ।। ११ ।।

ततो मरुत्वान् हरिभिर्युक्तैर्वाहैः स्वलङ्कृतैः ।
शचीसहायस्तत्रायात् सह सर्वैस्तदामरैः ।। १२ ।।

तदनन्तर थोड़ी ही देरमें विविध आभूषणोंसे विभूषित हरे रंगके घोड़ोंसे जुते हुए एक सुन्दर रथके द्वारा शचीसहित इन्द्रने सम्पूर्ण देवताओंके साथ वहाँ पदार्पण किया ।। १२ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु कुबेरो नरवाहनः ।
दर्शयामास मां राजँल्लक्ष्म्या परमया युतः ।। १३ ।।

राजन्! इसी समय सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य—लक्ष्मीसे सम्पन्न नरवाहन कुबेरने भी मुझे दर्शन दिया ।। १३ ।।

दक्षिणस्यां दिशि यमं प्रत्यपश्यं व्यवस्थितम् ।
वरुणं देवराजं च यथास्थानमवस्थितम् ।। १४ ।।

दक्षिण दिशाकी ओर दृष्टिपात करनेपर मुझे साक्षात् यमराज खड़े दिखायी दिये। वरुण और देवराज इन्द्र भी क्रमशः पश्चिम और पूर्व दिशामें यथास्थान खड़े हो गये ।। १४ ।।

ते मामूचुर्महाराज सान्त्वयित्वा नरर्षभ ।
सव्यसाचिन् निरीक्षास्माँल्लोकपालानवस्थितान् ।। १५ ।।

महाराज! नरश्रेष्ठ! उन सब लोकपालोंने मुझे सान्त्वना देकर कहा—‘सव्यसाची अर्जुन! देखो, हम सब लोकपाल यहाँ खड़े हैं ।। १५ ।।

सुरकार्यार्थसिद्ध्यर्थं दृष्टवानसि शङ्करम् ।
अस्मत्तोऽपि गृहाण त्वमस्त्राणीति समन्ततः ।। १६ ।।

'देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये ही तुम्हें भगवान् शंकरका दर्शन प्राप्त हुआ था। अब तुम चारों ओर घूमकर हमलोगोंसे भी दिव्यास्त्र ग्रहण करो' ।। १६ ।।

ततोऽहं प्रयतो भूत्वा प्रणिपत्य सुरर्षभान् ।
प्रत्यगृह्णं तदास्त्राणि महान्ति विधिवद् विभो ।। १७ ।।

प्रभो! तब मैंने एकाग्रचित्त हो उन उत्तम देवताओंको प्रणाम करके उन सबसे विधिपूर्वक महान् दिव्यास्त्र प्राप्त किये ।। १७ ।।

गृहीतास्त्रस्ततो देवैरनुज्ञातोऽस्मि भारत ।
अथ देवा ययुः सर्वे यथागतमरिंदम ।। १८ ।।

भारत! जब मैं अस्त्र ग्रहण कर चुका तब देवताओंने मुझे जानेकी आज्ञा दी। शत्रुदमन! तदनन्तर सब देवता जैसे आये थे, वैसे अपने-अपने स्थानको चले गये ।। १८ ।।

मघवानपि देवेशो रथमारुह्य सुप्रभम् ।
उवाच भगवान् स्वर्गं गन्तव्यं फाल्गुन त्वया ।। १९ ।।

देवेश्वर भगवान् इन्द्रने भी अपने अत्यन्त प्रकाशपूर्ण रथपर आरूढ़ हो मुझसे कहा —'अर्जुन! तुम्हें स्वर्गलोककी यात्रा करनी होगी ।। १९ ।।

पुरैवागमनादस्माद् वेदाहं त्वां धनंजय ।
अतः परं त्वहं वै त्वां दर्शये भरतर्षभ ।। २० ।।

'भरतश्रेष्ठ धनंजय! यहाँ आनेसे पहले ही मुझे तुम्हारे विषयमें सब कुछ ज्ञात हो गया था। इसके बाद मैंने तुम्हें दर्शन दिया है ।। २० ।।

त्वया हि तीर्थेषु पुरा समाप्लावः कृतोऽसकृत् ।
तपश्चेदं महत् तप्तं स्वर्गं गन्तासि पाण्डव ।। २१ ।।

'पाण्डुनन्दन! तुमने पहले अनेक बार बहुत-से तीर्थोंमें स्नान किया है और इस समय इस महान् तपका भी अनुष्ठान कर लिया है, अतः तुम स्वर्गलोकमें सशरीर जानेके अधिकारी हो गये हो ।। २१ ।।

भूयश्चैव च तप्तव्यं तपश्चरणमुत्तमम् ।
स्वर्गं त्ववश्यं गन्तव्यं त्वया शत्रुनिषूदन ।। २२ ।।

'शत्रुसूदन! अभी तुम्हें और भी उत्तम तपस्या करनी है और स्वर्गलोकमें अवश्य पदार्पण करना है ।। २२ ।।

मातलिर्मन्नियोगात् त्वां त्रिदिवं प्रापयिष्यति ।
विदितस्त्वं हि देवानां मुनीनां च महात्मनाम् ।। २३ ।।
इहस्थः पाण्डवश्रेष्ठ तपः कुर्वन् सुदुष्करम् ।

'मेरी आज्ञासे मातलि तुम्हें स्वर्गमें पहुँचा देगा। पाण्डवश्रेष्ठ! यहाँ रहकर जो तुम अत्यन्त दुष्कर तप कर रहे हो, इसके कारण देवताओं तथा महात्मा मुनियोंमें तुम्हारी ख्याति बहुत बढ़ गयी है' ।। २३½ ।।

ततोऽहमब्रुवं शक्रं प्रसीद भगवन् मम ।
आचार्यं वरयेयं त्वामस्त्रार्थं त्रिदशेश्वर ।। २४ ।।

तब मैंने देवराज इन्द्रसे कहा—'भगवन्! आप मुझपर प्रसन्न होइये। देवेश्वर! मैं अस्त्रविद्याकी प्राप्तिके लिये आपको अपना आचार्य बनाता हूँ' ।। २४ ।।

इन्द्र उवाच

क्रूरकर्मास्त्रवित् तात भविष्यसि परंतप ।
यदर्थमस्त्राणीप्सुस्त्वं तं कामं पाण्डवाप्नुहि ।। २५ ।।

इन्द्रने कहा—परंतप तात अर्जुन! दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर तुम भयंकर कर्म करने लगोगे। अतः पाण्डुनन्दन! मेरी इच्छा है कि तुम जिसके लिये अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त करना चाहते हो, तुम्हारा वह उद्देश्य पूर्ण हो ।। २५ ।।

ततोऽहमब्रुवं नाहं दिव्यान्यस्त्राणि शत्रुहन् ।
मानुषेषु प्रयोक्ष्यामि विनास्त्रप्रतिघातनात् ।। २६ ।।

यह सुनकर मैंने उत्तर दिया—'शत्रुघाती देवेश्वर! मैं शत्रुओंद्वारा प्रयुक्त दिव्यास्त्रोंका निवारण करनेके सिवा अन्य किसी अवसरपर मनुष्योंके ऊपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग नहीं करूँगा ।। २६ ।।

तानि दिव्यानि मेऽस्त्राणि प्रयच्छ विबुधाधिप ।
लोकांश्चास्त्रजितान् पश्चाल्लभेयं सुरपुङ्गव ।। २७ ।।

'देवराज! सुरश्रेष्ठ! आप मुझे वे दिव्य अस्त्र प्रदान करें। अस्त्रविद्या सीखनेके पश्चात् मैं उन्हीं अस्त्रोंके द्वारा जीते हुए लोकोंपर अधिकार प्राप्त करना चाहता हूँ' ।। २७ ।।

इन्द्र उवाच

परीक्षार्थं मयैतत् ते वाक्यमुक्तं धनंजय ।
ममात्मजस्य वचनं सूपपन्नमिदं तव ।। २८ ।।

इन्द्र बोले—धनंजय! मैंने तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये उपर्युक्त बात कही थी। तुमने जो अस्त्रविद्याके प्रति अत्यन्त उत्सुकता प्रकट की है, वह तुम्हारे जैसे मेरे पुत्रके अनुरूप ही है ।। २८ ।।

शिक्ष मे भवनं गत्वा सर्वाण्यस्त्राणि भारत ।
वायोरग्नेर्वसुभ्योऽपि वरुणात् समरुद्गणात् ।। २९ ।।
साध्यं पैतामहं चैव गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
वैष्णवानि च सर्वाणि नैर्ऋतानि तथैव च ।। ३० ।।

मद्गतानि च जानीहि सर्वास्त्राणि कुरूद्वह ।
एवमुक्त्वा तु मां शक्रस्तत्रैवान्तरधीयत ।। ३१ ।।

भारत! तुम मेरे भवनमें चलकर सम्पूर्ण अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त करो। कुरुश्रेष्ठ! वायु, अग्नि, वसु, वरुण, मरुद्गण, साध्यगण, ब्रह्मा, गन्धर्वगण, नाग, राक्षस, विष्णु तथा निर्ऋतिके और स्वयं मेरे भी सम्पूर्ण अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करो, मुझसे ऐसा कहकर इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये ।।

अथापश्यं हरियुजं रथमैन्द्रमुपस्थितम् ।
दिव्यं मायामयं पुण्यं यत्तं मातलिना नृप ।। ३२ ।।

तदनन्तर थोड़ी ही देरमें मुझे हरे रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ देवराज इन्द्रका रथ वहाँ उपस्थित दिखायी दिया। राजन्! वह दिव्य मायामय पवित्र रथ मातलिके द्वारा नियन्त्रित था ।। ३२ ।।

लोकपालेषु यातेषु मामुवाचाथ मातलिः ।
द्रष्टुमिच्छति शक्रस्त्वां देवराजो महाद्युते ।। ३३ ।।

जब सभी लोकपाल चले गये, तब मातलिने मुझसे कहा—'महातेजस्वी वीर! देवराज इन्द्र तुमसे मिलना चाहते हैं ।। ३३ ।।

संसिद्ध्यस्व महाबाहो कुरु कार्यमनन्तरम् ।
पश्य पुण्यकृताँल्लोकान् सशरीरो दिवं व्रज ।। ३४ ।।

'महाबाहो! तुम उनसे मिलकर कृतार्थ होओ और अब आवश्यक कार्य करो। इसी शरीरसे देवलोकमें चलो तथा पुण्यात्मा पुरुषोंके लोकोंका दर्शन करो ।। ३४ ।।

देवराजः सहस्राक्षस्त्वां दिदृक्षति भारत ।
इत्युक्तोऽहं मातलिना गिरिमामन्त्र्य शैशिरम् ।। ३५ ।।
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारोहं रथोत्तमम् ।

'भरतनन्दन! सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्र तुम्हें देखना चाहते हैं।' मातलिके ऐसा कहनेपर मैं हिमालयसे आज्ञा ले रथकी परिक्रमा करके उस श्रेष्ठ रथमें सवार हुआ ।। ३५½ ।।

चोदयामास स हयान् मनोमारुतरंहसः ।। ३६ ।।

मातलिर्हयतत्त्वज्ञो यथावद् भूरिदक्षिणः ।

मातलि अश्वसंचालनकी कलाके मर्मज्ञ थे। सारथिके कार्यमें अत्यन्त कुशल थे। उन्होंने मन तथा वायुके समान वेगशाली अश्वोंको यथोचित रीतिसे आगे बढ़ाया ।। ३६½ ।।

अवैक्षत च मे वक्त्रं स्थितस्याथ स सारथिः ।। ३७ ।।

तथा भ्रान्ते रथे राजन् विस्मितश्चेदमब्रवीत् ।

राजन्! उस समय देवसारथि मातलिने आकाशमें चक्कर लगाते हुए रथपर स्थिरतापूर्वक बैठे हुए मेरे मुखकी ओर दृष्टिपात किया और आश्चर्यचकित होकर कहा — ।। ३७½ ।।

अत्यद्भुतमिदं त्वद्य विचित्रं प्रतिभाति मे ।। ३८ ।।

यदास्थितो रथं दिव्यं पदान्न चलितः पदम् ।

'भरतश्रेष्ठ! आज मुझे यह बड़ी विचित्र और अद्भुत बात दिखायी दे रही है कि इस दिव्य रथपर बैठकर तुम अपने स्थानसे तनिक भी हिल-डुल नहीं रहे हो ।। ३८½ ।।

देवराजोऽपि हि मया नित्यमत्रोपलक्षितः ।। ३९ ।।

विचलन् प्रथमोत्पाते हयानां भरतर्षभ ।

त्वं पुनः स्थित एवात्र रथे भ्रान्ते कुरूद्वह ।। ४० ।।

'कुरुकुलभूषण भरतश्रेष्ठ! जब घोड़े पहली बार उड़ान भरते हैं' उस समय मैंने सदा यह देखा है कि देवराज इन्द्र भी विचलित हुए बिना नहीं रह पाते, परंतु तुम चक्कर काटते हुए रथपर भी स्थिरभावसे बैठे हो ।। ३९-४० ।।

अतिशक्रमिदं सर्वं तवेति प्रतिभाति मे ।
इत्युक्त्वाऽऽकाशमाविश्य मातलिर्विबुधालयान् ।। ४१ ।।
दर्शयामास मे राजन् विमानानि च भारत ।
स रथो हरिभिर्युक्तो ह्यूर्ध्वमाचक्रमे ततः ।। ४२ ।।

'कुरुश्रेष्ठ! तुम्हारी ये सब बातें मुझे इन्द्रसे भी बढ़कर प्रतीत हो रही हैं।' भरतकुलभूषण नरेश! ऐसा कहकर मातलिने अन्तरिक्षलोकमें प्रविष्ट होकर मुझे देवताओंके घरों और विमानोंका दर्शन कराया, फिर हरे रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ वह रथ वहाँसे भी ऊपरकी ओर बढ़ चला ।। ४१-४२ ।।

ऋषयो देवताश्चैव पूजयन्ति नरोत्तम ।
ततः कामगमाँल्लोकानपश्यं वै सुरर्षिणाम् ।। ४३ ।।

नरश्रेष्ठ! ऋषि और देवता भी उस रथका समादर करते थे। तदनन्तर मैंने देवर्षियोंके अनेक समुदायोंका दर्शन किया, जो अपनी इच्छाके अनुसार सर्वत्र जानेकी शक्ति रखते हैं ।। ४३ ।।

गन्धर्वाप्सरसां चैव प्रभावममितौजसाम् ।
नन्दनादीनि देवानां वनान्युपवनानि च ।। ४४ ।।
दर्शयामास मे शीघ्रं मातलिः शक्रसारथिः ।
ततः शक्रस्य भवनमपश्यममरावतीम् ।। ४५ ।।
दिव्यैः कामफलैर्वृक्षै रत्नैश्च समलङ्कृताम् ।
न तत्र सूर्यस्तपति न शीतोष्णे न च क्लमः ।। ४६ ।।

अमित तेजस्वी गन्धर्वों और अप्सराओंका प्रभाव भी मुझे प्रत्यक्ष दिखायी दिया। फिर इन्द्रसारथि मातलिने मुझे शीघ्र ही देवताओंके नन्दन आदि वन और उपवन दिखाये। तत्पश्चात् मैंने अमरावतीपुरी तथा इन्द्रभवनका दर्शन किया। वह पुरी इच्छानुसार फल देनेवाले दिव्य वृक्षों तथा रत्नोंसे सुशोभित थी। वहाँ सूर्यका ताप नहीं होता, सर्दी या गर्मीका कष्ट नहीं रहता और न किसी-को थकावट ही होती है ।। ४४—४६ ।।

न बाधते तत्र रजस्तत्रास्ति न जरा नृप ।
न तत्र शोको दैन्यं वा दौर्बल्यं चोपलक्ष्यते ।। ४७ ।।

नरेश्वर! वहाँ रजोगुणजनित विकार नहीं सताते, बुढ़ापा नहीं आता; शोक, दीनता और दुर्बलताका दर्शन नहीं होता ।। ४७ ।।

दिवौकसां महाराज न ग्लानिररिमर्दन ।
न क्रोधलोभौ तत्रास्तां सुरादीनां विशाम्पते ।। ४८ ।।

महाराज! शत्रुसूदन! स्वर्गवासी देवताओंको कभी ग्लानि नहीं होती। उनमें क्रोध और लोभका भी अभाव होता है ।। ४८ ।।

नित्यतुष्टाश्च ते राजन् प्राणिनः सुरवेश्मनि ।
नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ।। ४९ ।।

राजन्! स्वर्गमें निवास करनेवाले प्राणी सदा संतुष्ट रहते हैं। वहाँके वृक्ष सर्वदा फल-फूलसे सम्पन्न और हरे पत्तोंसे सुशोभित रहते हैं ।। ४९ ।।

पुष्करिण्यश्च विविधाः पद्मसौगन्धिकायुताः ।
शीतस्तत्र ववौ वायुः सुगन्धी जीवनः शुचिः ।। ५० ।।

वहाँ सहस्रों सौगन्धिक कमलोंसे अलंकृत नाना प्रकारके सरोवर शोभा पाते हैं और शीतल, पवित्र, सुगन्धित एवं नवजीवनदायक वायु सदा बहती रहती है ।। ५० ।।

सर्वरत्नविचित्रा च भूमिः पुष्पविभूषिता ।
मृगद्विजाश्च बहवो रुचिरा मधुरस्वराः ।। ५१ ।।
विमानगामिनश्चात्र दृश्यन्ते बहवोऽम्बरे ।
ततोऽपश्यं वसून् रुद्रान् साध्यांश्च समरुद्गणान् ।। ५२ ।।
आदित्यानश्विनौ चैव तान् सर्वान् प्रत्यपूजयम् ।
ते मां वीर्येण यशसा तेजसा च बलेन च ।। ५३ ।।
अस्त्रैश्चाप्यन्वजानन्त संग्रामे विजयेन च ।

वहाँकी भूमि सब प्रकारके रत्नोंसे विचित्र शोभा धारण करती है और (सब ओर बिखरे हुए) पुष्प उस भूमिके लिये आभूषणका काम देते हैं। स्वर्गलोकमें बहुत-से मनोहर पशु और पक्षी देखे जाते हैं, जिनकी बोली बड़ी मधुर प्रतीत होती है। वहाँ अनेक देवता आकाशमें विमानोंपर विचरते दिखायी देते हैं। तदनन्तर मुझे वसु, रुद्र, साध्य, मरुद्गण, आदित्य और अश्विनीकुमारोंके दर्शन हुए। मैंने उन सबके आगे मस्तक झुकाकर उनका सम्मान किया। उन सबने मुझे पराक्रमी, यशस्वी, तेजस्वी, बलवान्, अस्त्रवेत्ता और संग्राम-विजयी होनेका आशीर्वाद दिया ।। ५१—५३½ ।।

प्रविश्य तां पुरीं दिव्यां देवगन्धर्वपूजिताम् ।। ५४ ।।
देवराजं सहस्राक्षमुपातिष्ठं कृताञ्जलिः ।
ददावर्धासनं प्रीतः शक्रो मे ददतां वरः ।। ५५ ।।

तत्पश्चात् देव-गन्धर्वपूजित दिव्य अमरावतीपुरीमें प्रवेश करके मैंने हाथ जोड़कर सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्रको प्रणाम किया। दाताओंमें श्रेष्ठ देवराज इन्द्रने प्रसन्न होकर मुझे अपने आधे सिंहासनपर स्थान दिया ।। ५४-५५ ।।

बहुमानाच्च गात्राणि पस्पर्श मम वासवः ।
तत्राहं देवगन्धर्वैः सहितो भूरिदक्षिण ।। ५६ ।।
अस्त्रार्थमवसं स्वर्गे शिक्षाणोऽस्त्राणि भारत ।

विश्वावसोश्च वै पुत्रश्चित्रसेनोऽभवत् सखा ।। ५७ ।।

इतना ही नहीं, उन्होंने बड़े आदरके साथ मेरे अंगोंपर हाथ फेरा। यज्ञोंमें पूरी दक्षिणा देनेवाले भरतश्रेष्ठ! उस स्वर्गलोकमें देवताओं और गन्धर्वोंके साथ अस्त्रविद्याकी प्राप्तिके लिये रहने लगा और प्रतिदिन अस्त्रोंका अभ्यास करने लगा। उस समय गन्धर्वराज विश्वावसुके पुत्र चित्रसेनके साथ मेरी मैत्री हो गयी थी ।। ५६-५७ ।।

स च गान्धर्वमखिलं ग्राहयामास मां नृप ।

तत्राहमवसं राजन् गृहीतास्त्रः सुपूजितः ।। ५८ ।।

सुखं शक्रस्य भवने सर्वकामसमन्वितः ।

शृण्वन् वै गीतशब्दं च तूर्यशब्दं च पुष्कलम् ।

पश्यंश्चाप्सरसः श्रेष्ठा नृत्यन्तीर्भरतर्षभ ।। ५९ ।।

नरेश्वर! उन्होंने मुझे सम्पूर्ण गान्धर्ववेद (संगीत-विद्या)-का अध्ययन कराया। राजन्! वहाँ इन्द्रभवनमें अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण करते हुए मैं बड़े सम्मान और सुखसे रहने लगा। वहाँ सभी मनोवांछित पदार्थ मेरे लिये सुलभ थे। भरतश्रेष्ठ! मैं वहाँ कभी मनोहर गीत सुनता, कभी पर्याप्तरूपसे दिव्य वाद्योंका आनन्द लेता और कभी-कभी श्रेष्ठ अप्सराओंका नृत्य भी देख लेता था ।।

तत् सर्वमनवज्ञाय तथ्यं विज्ञाय भारत ।

अत्यर्थं प्रतिगृह्याहमस्त्रेष्वेव व्यवस्थितः ।। ६० ।।

भारत! इन समस्त सुख-सुविधाओंकी अवहेलना न करते हुए उन्हें स्वीकार करके भी मैं इनके असली रूपको जानकर—इनकी निःसारताको भलीभाँति समझकर अधिकतर अस्त्रोंके अभ्यासमें ही संलग्न रहता था। (गीत आदिमें कभी आसक्त नहीं हुआ) ।। ६० ।।

ततोऽतुष्यत् सहस्राक्षस्तेन कामेन मे विभुः ।

एवं मे वसतो राजन्नेष कालोऽत्यगाद् दिवि ।। ६१ ।।

अस्त्रविद्याकी ओर मेरी ऐसी अभिरुचि होनेसे सहस्रनेत्रधारी भगवान् इन्द्र मुझपर बहुत संतुष्ट रहते थे। राजन्! इस प्रकार स्वर्गमें रहकर मेरा यह समय सुखपूर्वक बीतने लगा ।। ६१ ।।

कृतास्त्रमतिविश्वस्तमथ मां हरिवाहनः ।

संस्पृश्य मूर्ध्नि पाणिभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ।। ६२ ।।

धीरे-धीरे मैं अस्त्रविद्यामें निपुण हो गया। मेरी विज्ञतापर सबको अधिक विश्वास था। एक दिन भगवान् इन्द्रने अपने दोनों हाथोंसे मेरे मस्तकका स्पर्श करते हुए मुझसे इस प्रकार कहा— ।। ६२ ।।

न त्वमद्य युधा जेतुं शक्यः सुरगणैरपि ।

किं पुनर्मानुषे लोके मानुषैरकृतात्मभिः ।। ६३ ।।

'अर्जुन! अब तुम्हें युद्धमें देवता भी परास्त नहीं कर सकते। फिर मर्त्यलोकमें रहनेवाले बेचारे असंयमी मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? ।। ६३ ।।

अप्रमेयोऽप्रधृष्यश्च युद्धेष्वप्रतिमस्तथा ।
अजेयस्त्वं हि संग्रामे सर्वैरपि सुरासुरैः ।
अथाब्रवीत् पुनर्देवः सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।। ६४ ।।

'तुम युद्धमें अप्रमेय, अजेय और अनुपम हो। संग्रामभूमिमें सम्पूर्ण देवता और असुर भी तुम्हें पराजित नहीं कर सकते।' इतना कहते-कहते देवराजके शरीरमें रोमांच हो आया। तदनन्तर वे फिर बोले— ।। ६४ ।।

अस्त्रयुद्धे समो वीर न ते कश्चिद् भविष्यति ।
अप्रमत्तः सदा दक्षः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।। ६५ ।।
ब्रह्मण्यश्चास्त्रविच्चासि शूरश्चासि कुरूद्वह ।
अस्त्राणि समवाप्तानि त्वया दश च पञ्च च ।। ६६ ।।
पञ्चभिर्विधिभिः पार्थ विद्यते न त्वया समः ।
प्रयोगमुपसंहारमावृत्तिं च धनंजय ।। ६७ ।।
प्रायश्चित्तं च वेत्थ त्वं प्रतीघातं च सर्वशः ।
ततो गुर्वर्थकालोऽयं समुत्पन्नः परंतप ।। ६८ ।।

'वीर! अस्त्र-युद्धमें तुम्हारा सामना कर सके, ऐसा कोई योद्धा नहीं होगा। कुरुश्रेष्ठ! तुम सर्वदा सावधान रहते हो, प्रत्येक कार्यमें कुशल हो, जितेन्द्रिय, सत्यवादी और ब्राह्मणभक्त हो; तुम्हें अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान है और तुम अद्भुत शौर्यसे सम्पन्न हो। पार्थ! तुमने पाँच विधियोंसहित पंद्रह अस्त्र प्राप्त किये हैं, अतः इस भूतलपर तुम्हारे-जैसा शूर दूसरा कोई नहीं है। परंतप धनंजय! प्रयोग, उपसंहार, आवृत्ति, प्रायश्चित्त[१] और प्रतिघात[२]—ये अस्त्रोंकी पाँच विधियाँ हैं; तुम इन सबका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुके हो। अतः अब गुरुदक्षिणा देनेका समय आ गया है ।। ६५—६८ ।।

प्रतिजानीष्व तं कर्तुं ततो वेत्स्याम्यहं परम् ।
ततोऽहमब्रुवं राजन् देवराजमिदं वचः ।। ६९ ।।
विषह्यं यन्मया कर्तुं कृतमेव निबोध तत् ।
ततो मामब्रवीद् राजन् प्रहसन् बलवृत्रहा ।। ७० ।।

'तुम उसे देनेकी प्रतिज्ञा करो, तब मैं अपने महान् कार्यको तुम्हें बताऊँगा।' राजन्! यह सुनकर मैंने देवराजसे कहा—'भगवन्! जो कुछ मैं कर सकता हूँ, उसे किया हुआ ही समझिये।' नरेश्वर! तब बल और वृत्रासुरके शत्रु इन्द्रने मुझसे हँसते हुए कहा— ।। ६९-७० ।।

नाविषह्यं तवाद्यास्ति त्रिषु लोकेषु किंचन ।
निवातकवचा नाम दानवा मम शत्रवः ।। ७१ ।।

'वीरवर! तीनों लोकोंमें ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो तुम्हारे लिये असाध्य हो। निवातकवच नामक दानव मेरे शत्रु हैं ।। ७१ ।।

समुद्रकुक्षिमाश्रित्य दुर्गे प्रतिवसन्त्युत ।
तिस्रः कोट्यः समाख्यातास्तुल्यरूपबलप्रभाः ।। ७२ ।।
तांस्तत्र जहि कौन्तेय गुर्वर्थस्ते भविष्यति ।
ततो मातलिसंयुक्तं मयूरसमरोमभिः ।। ७३ ।।
हयैरुपेतं प्रादान्मे रथं दिव्यं महाप्रभम् ।
बबन्ध चैव मे मूर्ध्नि किरीटमिदमुत्तमम् ।। ७४ ।।

'वे समुद्रके भीतर दुर्गम स्थानका आश्रय लेकर रहते हैं। उनकी संख्या तीन करोड़ बतायी जाती है और उन सभीके रूप, बल और तेज एक समान हैं। कुन्तीनन्दन! तुम उन दानवोंका संहार कर डालो। इतने से ही तुम्हारी गुरु-दक्षिणा पूरी हो जायगी।' ऐसा कहकर इन्द्रने मुझे एक अत्यन्त कान्तिमान् दिव्य रथ प्रदान किया, जिसे मातलि जोतकर लाये थे। उसमें मयूरोंके समान रोमवाले घोड़े जुते हुए थे। रथ आ जानेपर देवराजने यह उत्तम किरीट मेरे मस्तकपर बाँध दिया ।। ७२—७४ ।।

स्वरूपसदृशं चैव प्रादादङ्गविभूषणम् ।
अभेद्यं कवचं चेदं स्पर्शरूपवदुत्तमम् ।। ७५ ।।

फिर उन्होंने मेरे स्वरूपके अनुरूप प्रत्येक अंगमें आभूषण पहना दिये। इसके बाद यह अभेद्य उत्तम कवच धारण कराया, जिसका स्पर्श तथा रूप मनोहर है ।।

अजरां ज्यामिमां चापि गाण्डीवे समयोजयत् ।
ततः प्रायामहं तेन स्यन्दनेन विराजता ।। ७६ ।।
येनाजयद् देवपतिर्बलिं वैरोचनिं पुरा ।
ततो देवाः सर्व एव तेन घोषेण बोधिताः ।। ७७ ।।
मन्वाना देवराजं मां समाजग्मुर्विशाम्पते ।
दृष्ट्वा च मामपृच्छन्त किं करिष्यसि फाल्गुन ।। ७८ ।।

तत्पश्चात् मेरे गाण्डीव धनुषमें उन्होंने यह अटूट प्रत्यञ्चा जोड़ दी। इस प्रकार युद्धकी सामग्रियोंसे सम्पन्न होकर उस तेजस्वी रथके द्वारा मैं संग्रामके लिये प्रस्थित हुआ, जिसपर आरूढ़ होकर पूर्वकालमें देवराजने विरोचनकुमार बलिको परास्त किया था। महाराज! तब उस रथकी घर्घराहटसे सजग हो सब देवता मुझे देवराज समझकर मेरे पास आये और मुझे देखकर पूछने लगे—'अर्जुन! तुम क्या करनेकी तैयारीमें हो?' ।। ७६—७८ ।।

तानब्रुवं यथाभूतमिदं कर्तास्मि संयुगे ।
निवातकवचानां तु प्रस्थितं मां वधैषिणम् ।। ७९ ।।
निबोधत महाभागाः शिवं चाशास्त मेऽनघाः ।
ततो वाग्भिः प्रशस्ताभिस्त्रिदशाः पृथिवीपते ।
तुष्टुबुर्मां प्रसन्नास्ते यथा देवं पुरंदरम् ।। ८० ।।

तब मैंने उनसे सब बातें बताकर कहा—'मैं युद्धमें यही करने जा रहा हूँ। आपको यह ज्ञात होना चाहिये कि मैं निवातकवच नामक दानवोंके वधकी इच्छासे प्रस्थित हुआ हूँ। अतः निष्पाप एवं महाभाग देवताओ! आप मुझे ऐसा आशीर्वाद दें, जिससे मेरा मंगल हो।' राजन्! तब वे देवतालोग प्रसन्न हो देवराज इन्द्रकी भाँति श्रेष्ठ एवं मधुर वाणीद्वारा मेरी स्तुति करते हुए बोले— ।। ७९-८० ।।

रथेनानेन मघवा जितवान् शम्बरं युधि ।
नमुचिं बलवृत्रौ च प्रह्लादनरकावपि ।। ८१ ।।

इस रथके द्वारा इन्द्रने युद्धमें शम्बरासुरपर विजय पायी है। नमुचि, बल, वृत्र, प्रह्लाद और नरकासुरको परास्त किया है ।। ८१ ।।

बहूनि च सहस्राणि प्रयतान्यर्बुदान्यपि ।
रथेनानेन दैत्यानां जितवान् मघवा युधि ।। ८२ ।।

‘इनके सिवा अन्य बहुत-से दैत्योंको भी इस रथके द्वारा पराजित किया है, जिनकी संख्या सहस्रों, लाखों और अरबोंतक पुहँच गयी है ।। ८२ ।।

त्वमप्यनेन कौन्तेय निवातकवचान् रणे ।
विजेता युधि विक्रम्य पुरेव मघवा वशी ।। ८३ ।।

‘कुन्तीनन्दन! जैसे पूर्वकालमें सबको वशमें करनेवाले इन्द्रने असुरोंपर विजय पायी थी, उसी प्रकार तुम भी इस रथके द्वारा युद्धमें पराक्रम करके निवातकवचोंको परास्त करोगे ।। ८३ ।।

अयं च शंखप्रवरो येन जेतासि दानवान् ।
अनेन विजिता लोकाः शक्रेणापि महात्मना ।। ८४ ।।

‘यह श्रेष्ठ शंख है, जिसे बजानेसे तुम्हें दानवोंपर विजय प्राप्त हो सकती है। महामना इन्द्रने भी इसके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंपर विजय पायी है’ ।। ८४ ।।

प्रदीयमानं देवैस्तं देवदत्तं जलोद्भवम् ।
प्रत्यगृह्णं जयायैनं स्तूयमानस्तदामरैः ।। ८५ ।।
स शङ्खी कवची बाणी प्रगृहीतशरासनः ।
दानवालयमत्युग्रं प्रयातोऽस्मि युयुत्सया ।। ८६ ।।

वही यह शंख है, जिसे मैंने अपनी विजयके लिये ग्रहण किया था। देवताओंने उसे दिया था, इसलिये इसका नाम देवदत्त है। शंख लेकर देवताओंके मुखसे अपनी स्तुति सुनता हुआ मैं कवच, बाण तथा धनुषसे सज्जित हो युद्धकी इच्छासे अत्यन्त भयंकर दानवोंके नगरकी ओर चल दिया ।। ८५-८६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वण्यर्जुनवाक्ये अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवाक्यविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६८ ।।

---

१. निर्दोष प्राणीका वध हो जाय, तो उसे पुनः संजीवित करनेकी विद्याको प्रायश्चित्त कहते हैं।
२. शत्रुके अस्त्रसे पराभवको प्राप्त हुए अपने अस्त्रको पुनः शक्तिशाली बनाना प्रतिघात कहलाता है।

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका पातालमें प्रवेश और निवातकवचोंके साथ युद्धारम्भ

अर्जुन उवाच

ततोऽहं स्तूयमानस्तु तत्र तत्र महर्षिभिः ।
अपश्यमुदधिं भीममपां पतिमथाव्ययम् ।। १ ।।
फेनवत्यः प्रकीर्णाश्च संहताश्च समुत्थिताः ।
ऊर्मयश्चात्र दृश्यन्ते वल्गन्त इव पर्वताः ।। २ ।।

अर्जुन बोले—राजन्! तदनन्तर मार्गमें जहाँ-तहाँ महर्षियोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए मैंने जलके स्वामी समुद्रके पास पहुँचकर उसका निरीक्षण किया। वह देखनेमें अत्यन्त भयंकर था। उसका पानी कभी घटता-बढ़ता नहीं है। उसमें फेनसे मिली हुई पहाड़ोंके समान ऊँची-ऊँची लहरें उठकर नृत्य करती-सी दिखायी दे रही थीं। वे कभी इधर-उधर फैल जाती और कभी आपसमें टकरा जाती थीं ।। १-२ ।।

नावः सहस्रशस्तत्र रत्नपूर्णाः समन्ततः ।
नभसीव विमानानि विचरन्त्यो विरेजिरे ।
तिमिङ्गिलाः कच्छपाश्च तथा तिमितिमिङ्गिलाः ।। ३ ।।
मकराश्चात्र दृश्यन्ते जले मग्ना इवाद्रयः ।
शङ्खानां च सहस्राणि मग्नान्यप्सु समन्ततः ।। ४ ।।

वहाँ सब ओर रत्नोंसे भरी हुई हजारों नावें चल रही थीं, जो आकाशमें विचरते हुए विमानोंकी-सी शोभा पाती थीं तथा तिमिंगिल[१], तिमितिमिंगिल[२], कछुए और मगर पानीमें डूबे हुए पर्वतोंके समान दृष्टिगोचर होते थे। सहस्रों शंख सब ओर जलमें निमग्न थे ।। ३-४ ।।

दृश्यन्ते स्म यथा रात्रौ तारास्तन्वभ्रसंवृताः ।
तथा सहस्रशस्तत्र रत्नसङ्घाः प्लवन्त्युत ।। ५ ।।

जैसे रातमें झीने बादलोंके आवरणसे सहस्रों तारे चमकते दिखायी देते हैं, उसी प्रकार समुद्रके जलमें स्थित हजारों रत्नसमूह तैरते हुए-से प्रतीत हो रहे थे ।। ५ ।।

वायुश्च घूर्णते भीमस्तदद्भुतमिवाभवत् ।
तमुदीक्ष्य महावेगं सर्वाम्भोनिधिमुत्तमम् ।। ६ ।।
अपश्यं दानवाकीर्णं तद् दैत्यपुरमन्तिकात् ।
तत्रैव मातलिस्तूर्णं निपत्य पृथिवीतले ।। ७ ।।

रथं तं तु समाश्लिष्य[3] प्राद्रवद् रथयोगवित् ।
त्रासयन् रथघोषेण तत् पुरं समुपाद्रवत् ।। ८ ।।

औरोंकी तो बात ही क्या है, वहाँ भयानक वायु भी पथ-भ्रान्तकी भाँति भटकने लगती है। वायुका वह चक्कर काटना अद्भुत-सा प्रतीत हो रहा था। इस प्रकार अत्यन्त वेगशाली जलराशि महासागरको देखकर उसके पास ही मैंने दानवोंसे भरा हुआ वह दैत्यनगर भी देखा। रथ-संचालनमें कुशल सारथि मातलि तुरंत वहाँ पहुँचकर पातालमें उतरे तथा रथपर सावधानीसे बैठकर आगे बढ़े। उन्होंने रथकी घर्घराहटसे सबको भयभीत करते हुए उस दैत्यपुरकी ओर धावा किया ।। ६-८ ।।

रथघोषं तु तं श्रुत्वा स्तनयित्नोरिवाम्बरे ।
मन्वाना देवराजं मामाविग्ना दानवाभवन् ।। ९ ।।

आकाशमें होनेवाली मेघ-गर्जनाके समान उस रथका शब्द सुनकर दानवलोग मुझे देवराज इन्द्र समझकर भयसे अत्यन्त व्याकुल हो उठे ।। ९ ।।

सर्वे सम्भ्रान्तमनसः शरचापधराः स्थिताः ।
तथासिशूलपरशुगदामुसलपाणयः ।। १० ।।

सभी मन-ही-मन घबरा गये। सभी अपने हाथोंमें धनुष-बाण, तलवार, शूल, फरसा, गदा और मुसल आदि अस्त्र-शस्त्र लेकर खड़े हो गये ।। १० ।।

ततो द्वाराणि पिदधुर्दानवास्त्रस्तचेतसः ।
संविधाय पुरे रक्षां न स्म कश्चन दृश्यते ।। ११ ।।

दानवोंके मनमें आतंक छा गया था। इसलिये उन्होंने नगरकी रक्षाका प्रबन्ध करके सारे दरवाजे बंद कर लिये। नगरके बाहर कोई भी दिखायी नहीं देता था ।। ११ ।।

ततः शङ्खमुपादाय देवदत्तं महास्वनम् ।
परमां मुदमाश्रित्य प्राधमं तं शनैरहम् ।। १२ ।।

तब मैंने बड़ी भयंकर ध्वनि करनेवाले देवदत्त नामक शंखको हाथमें लेकर अत्यन्त प्रसन्न हो धीरे-धीरे उसे बजाया ।। १२ ।।

स तु शब्दो दिवं स्तब्ध्वा प्रतिशब्दमजीजनत् ।
वित्रेसुश्च निलिल्युश्च भूतानि सुमहान्त्यपि ।। १३ ।।

वह शंखनाद स्वर्गलोकसे टकराकर प्रतिध्वनि उत्पन्न करने लगा। उसकी आवाज सुनकर बड़े-बड़े प्राणी भी भयभीत हो इधर-उधर छिप गये ।। १३ ।।

ततो निवातकवचाः सर्व एव स्वलंकृताः ।
दंशिता विविधैस्त्राणैर्विचित्रायुधपाणयः ।। १४ ।।
आयसैश्च महाशूलैर्गदाभिर्मुसलैरपि ।
पट्टिशैः करवालैश्च रथचक्रैश्च भारत ।। १५ ।।
शतघ्नीभिर्भुशुण्डीभिः खड्गैश्चित्रैः स्वलंकृतैः ।

प्रगृहीतैर्दितेः पुत्राः प्रादुरासन् सहस्रशः ।। १६ ।।

भारत! तदनन्तर निवातकवचनामक सभी दैत्य आभूषणोंसे विभूषित हो भाँति-भाँतिके कवच धारण किये, हाथोंमें विचित्र आयुध लिये, लोहेके बने हुए बड़े-बड़े शूल, गदा, मुसल, पट्टिश, करवाल, रथ-चक्र, शतघ्नी (तोप), भुशुण्डि (बंदूक) तथा रत्नजटित विचित्र खड्ग आदि लेकर सहस्रोंकी संख्यामें नगरसे बाहर आये ।। १४—१६ ।।

ततो विचार्य बहुशो रथमार्गेषु तान् हयान् ।
प्राचोदयत् समे देशो मातलिर्भरतर्षभ ।। १७ ।।
तेन तेषां प्रणुन्नानामाशुत्वाच्छीघ्रगामिनाम् ।
नान्वपश्यं तदा किंचित् तन्मेऽद्भुतमिवाभवत् ।। १८ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समय मातलिने बहुत सोच-विचारकर समतल प्रदेशमें रथ जानेयोग्य मार्गोंपर अपने उन घोड़ोंको हाँका। उसके हाँकनेपर उन शीघ्रगामी अश्वोंकी चाल इतनी तेज हो गयी कि मुझे उस समय कुछ भी दिखायी नहीं देता था। यह एक अद्भुत बात थी ।।

ततस्ते दानवास्तत्र वादित्राणि सहस्रशः ।
विकृतस्वररूपाणि भृशं सर्वाण्यनादयन् ।। १९ ।।

तदनन्तर उन दानवोंने वहाँ भीषण स्वर और विकराल आकृतिवाले विभिन्न प्रकारके सहस्रों बाजे जोर-जोरसे बजाने आरम्भ किये ।। १९ ।।

तेन शब्देन सहसा समुद्रे पर्वतोपमाः ।
आप्लवन्त गतैः सत्त्वैर्मत्स्याः शतसहस्रशः ।। २० ।।

वाद्योंकी उस तुमुल-ध्वनिसे सहसा समुद्रके लाखों बड़े-बड़े पर्वताकार मत्स्य मर गये और उनकी लाशें पानीके ऊपर तैरने लगीं ।। २० ।।

ततो वेगेन महता दानवा मामुपाद्रवन् ।
विमुञ्चन्तः शितान् बाणान् शतशोऽथ सहस्रशः ।। २१ ।।

तत्पश्चात् उन सब दानवोंने सैकड़ों और हजारों तीखे बाणोंकी वर्षा करते हुए बड़े वेगसे मुझपर आक्रमण किया ।। २१ ।।

स सम्प्रहारस्तुमुलस्तेषां च मम भारत ।
अवर्तत महाघोरो निवातकवचान्तकः ।। २२ ।।

भारत! तब उन दानवोंका और मेरा महाभयंकर तुमुल संग्राम आरम्भ हो गया, जो निवातकवचोंके लिये विनाशकारी सिद्ध हुआ ।। २२ ।।

ततो देवर्षयश्चैव तथान्ये च महर्षयः ।
ब्रह्मर्षयश्च सिद्धाश्च समाजग्मुर्महामृधे ।। २३ ।।
ते वै मामनुरूपाभिर्मधुराभिर्जयैषिणः ।
अस्तुवन् मुनयो वाग्भिर्यथेन्द्रं तारकामये ।। २४ ।।

उस समय बहुत-से देवर्षि तथा अन्य महर्षि एवं ब्रह्मर्षि और सिद्धगण उस महायुद्धमें (देखनेके लिये) आये। वे सब-के-सब मेरी विजय चाहते थे। अतः उन्होंने जैसे तारकामय संग्रामके अवसरपर इन्द्रकी स्तुति की थी, उसी प्रकार अनुकूल एवं मधुर वचनोंद्वारा मेरा भी स्तवन किया ।। २३-२४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि युद्धारम्भे एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें युद्धारम्भविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६९ ।।

---

१. एक विशेष प्रकारके मत्स्यका नाम 'तिमि' है, जो उसे निगल जाता है, उस महामत्स्यको 'तिमिंगिल' कहते हैं।

२. जो तिमिंगलको भी निगल जाता है, उस महामहामत्स्यका नाम 'तिमितिमिंगिल' है।

३. नीलकण्ठी टीकामें लिखा है कि पृथ्वीमें उतरकर निम्नस्थलमें गये हुए रथके चक्केको दृढ़तापूर्वक पकड़कर ऊँचा किया।

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुन और निवातकवचोंका युद्ध

अर्जुन उवाच

ततो निवातकवचाः सर्वे वेगेन भारत ।
अभ्यद्रवन् मां सहिताः प्रगृहीतायुधा रणे ।। १ ।।

अर्जुन बोले—भारत! तदनन्तर सारे निवातकवच संगठित हो हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये युद्धभूमिमें वेगपूर्वक मेरे ऊपर टूट पड़े ।। १ ।।

आच्छाद्य रथपन्थानमुत्क्रोशन्तो महारथाः ।
आवृत्य सर्वतस्ते मां शरवर्षैरवाकिरन् ।। २ ।।
ततोऽपरे महावीर्याः शूलपट्टिशपाणयः ।
शूलानि च भुशुण्डीश्च मुमुचुर्दानवा मयि ।। ३ ।।

उन महारथी दानवोंने मेरे रथका मार्ग रोककर भीषण गर्जना करते हुए मुझे सब ओरसे घेर लिया और मुझपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी। फिर कुछ अन्य महापराक्रमी दानव शूल और पट्टिश आदि हाथोंमें लिये मेरे सामने आये और मुझपर शूल तथा भुशुण्डियोंका प्रहार करने लगे ।। २-३ ।।

तच्छूलवर्षं सुमहद् गदाशक्तिसमाकुलम् ।
अनिशं सृज्यमानं तैरपतन्मद्रथोपरि ।। ४ ।।
अन्ये मामभ्यधावन्त निवातकवचा युधि ।
शितशस्त्रायुधा रौद्राः कालरूपाः प्रहारिणः ।। ५ ।।

दानवोंद्वारा की गयी वह शूलोंकी बड़ी भारी वर्षा निरन्तर मेरे रथपर होने लगी। उसके साथ ही गदा और शक्तियोंका भी प्रहार हो रहा था। कुछ दूसरे निवातकवच हाथोंमें तीखे अस्त्र-शस्त्र लिये उस युद्धके मैदानमें मेरी ओर दौड़े। वे प्रहार करनेमें कुशल थे। उनकी आकृति बड़ी भयंकर थी और देखनेमें वे कालरूप जान पड़ते थे ।। ४-५ ।।

तानहं विविधैर्बाणैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
गाण्डीवमुक्तैरभ्यघ्नमेकैकं दशभिर्मृधे ।। ६ ।।

तब मैंने उनमेंसे एक-एकको युद्धमें गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए सीधे जानेवाले विविध प्रकारके दस-दस वेगवान् वाणोंद्वारा बींध डाला ।। ६ ।।

ते कृता विमुखाः सर्वे मत्प्रयुक्तैः शिलाशितैः ।
ततो मातलिना तूर्णं हयास्ते सम्प्रचोदिताः ।। ७ ।।

मेरे छोड़े हुए बाण पत्थरपर तेज किये हुए थे। उनकी मार खाकर सभी दानव युद्धभूमिसे भाग चले। तब मातलि उस रथके घोड़ोंको तुरंत ही तीव्र वेगसे हाँका ।। ७ ।।

मार्गान् बहुविधांस्तत्र विचेरुर्वातरंहसः ।
सुसंयता मातलिना प्रामथ्नन्त दितेः सुतान् ।। ८ ।।

सारथिसे प्रेरित होकर वे अश्व नाना प्रकारकी चालें दिखाते हुए वायुके समान वेगसे चलने लगे। मातलिने उन्हें अच्छी तरह काबूमें कर रखा था। उन सबने वहाँ दितिके पुत्रोंको रौंद डाला ।। ८ ।।

शतं शतास्ते हरयस्तस्मिन् युक्ता महारथे ।
शान्ता मातलिना यत्ता व्यचरन्नल्पका इव ।। ९ ।।

अर्जुनके उस विशाल रथमें दस हजार घोड़े जुते हुए थे, तो भी मातलिने उन्हें इस प्रकार वशमें कर रखा था कि वे अल्पसंख्यक अश्वोंकी भाँति शान्तभावसे विचरते थे ।। ९ ।।

तेषां चरणपातेन रथनेमिस्वनेन च ।
मम बाणनिपातैश्च हतास्ते शतशोऽसुराः ।। १० ।।

उन घोड़ोंके पैरोंकी मार पड़नेसे, रथके पहियेकी घर्घराहट होनेसे तथा मेरे बाणोंकी चोट खानेसे सैकड़ों दैत्य मर गये ।। १० ।।

गतासवस्तथैवान्ये प्रगृहीतशरासनाः ।
हतसारथयस्तत्र व्यकृष्यन्त तुरंगमैः ।। ११ ।।

इसी प्रकार वहाँ दूसरे बहुत-से असुर हाथमें धनुष-बाण लिये प्राणरहित हो गये थे और उनके सारथि भी मारे गये थे, उस दशामें सारथिशून्य घोड़े उनके निर्जीव शरीरको खींचे लिये जाते थे ।। ११ ।।

ते दिशो विदिशः सर्वे प्रतिरुध्य प्रहारिणः ।
अभ्यघ्नन् विविधैः शस्त्रैस्ततो मे व्यथितं मनः ।। १२ ।।

तब वे समस्त दानव सारी दिशाओं और विदिशाओंको रोककर भाँति-भाँतिके अस्त्र-शास्त्रोंद्वारा मुझपर घातक प्रहार करने लगे। इससे मेरे मनमें बड़ी व्यथा हुई ।। १२ ।।

ततोऽहं मातलेर्वीर्यमपश्यं परमाद्भुतम् ।
अश्वांस्तथा वेगवतो यदयत्नादधारयत् ।। १३ ।।

उस समय मैंने मातलिकी अत्यन्त अद्भुत शक्ति देखी। उन्होंने वैसे वेगशाली अश्वोंको बिना किसी प्रयासके ही काबूमें कर लिया ।। १३ ।।

ततोऽहं लघुभिश्चित्रैरस्त्रैस्तानसुरान् रणे ।
चिच्छेद सायुधान् राजन् शतशोऽथ सहस्रशः ।। १४ ।।
एवं मे चरतस्तत्र सर्वयत्नेन शत्रुहन् ।
प्रीतिमानभवद् वीरो मातलिः शक्रसारथिः ।। १५ ।।

राजन्! तब मैंने उस रणभूमिने अस्त्र-शस्त्रधारी सैकड़ों तथा सहस्रों असुरोंको विचित्र एवं शीघ्रगामी बाणोंद्वारा मार गिराया। शत्रुदमन नरेश! इस प्रकार पूर्ण प्रयत्नपूर्वक युद्धमें

विचरते हुए मेरे ऊपर इन्द्रसारथि वीरवर मातलि बड़े प्रसन्न हुए ।। १४-१५ ।।

बध्यमानास्ततस्तैस्तु हयैस्तेन रथेन च ।
अगमन् प्रक्षयं केचिन्न्यवर्तन्त तथा परे ।। १६ ।।

मेरे उन घोड़ों तथा उस दिव्य रथसे कुचल जानेके कारण भी कितने ही दानव मारे गये और बहुत-से युद्ध छोड़कर भाग गये ।। १६ ।।

स्पर्धमाना इवास्माभिर्निवातकवचा रणे ।
शरवर्षैः शरार्तं मां महद्भिः प्रत्यवारयन् ।। १७ ।।
ततोऽहं लघुभिश्चित्रैर्ब्रह्मास्त्रपरिमन्त्रितैः ।
व्यधमं सायकैराशु शतशोऽथ सहस्रशः ।। १८ ।।

निवातकवचोंने संग्राममें हमलोगोंसे होड़-सी लगा रखी थी। मैं बाणोंके आघातसे पीड़ित था, तो भी उन्होंने बड़ी भारी बाणवर्षा करके मेरी प्रगतिको रोकने-की चेष्टा की। तब मैंने अद्भुत और शीघ्रगामी बाणोंको ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित करके चलाया और उनके द्वारा शीघ्र ही सैकड़ों तथा हजारों दानवोंका संहार करने लगा ।। १७-१८ ।।

ततः सम्पीड्यनास्ते क्रोधाविष्टा महारथाः ।
अपीडयन् मां सहिताः शरशूलासिवृष्टिभिः ।। १९ ।।

तदनन्तर मेरे बाणोंसे पीड़ित होकर वे महारथी दैत्य क्रोधसे आग-बबूला हो उठे और एक साथ संगठित हो खड्ग, शूल तथा बाणोंकी वर्षाद्वारा मुझे घायल करने लगे ।। १९ ।।

ततोऽहमस्त्रमातिष्ठं परमं तिग्मतैजसम् ।
दयितं देवराजस्य माधवं नाम भारत ।। २० ।।

भारत! यह देख मैंने देवराज इन्द्रके परम प्रिय माधव नामक प्रचण्ड तेजस्वी अस्त्रका आश्रय लिया ।। २० ।।

ततः खड्गांस्त्रिशूलांश्च तोमरांश्च सहस्रशः ।
अस्त्रवीर्येण शतधा तैर्मुक्तानहमच्छिदम् ।। २१ ।।

तब उस अस्त्रके प्रभावसे मैंने दैत्योंके चलाये हुए सहस्रों खड्ग, त्रिशूल और तोमरोंके सौ-सौ टुकड़े कर डाले ।। २१ ।।

छित्त्वा प्रहरणान्येषां ततस्तानपि सर्वशः ।
प्रत्यविध्यमहं रोषाद् दशभिर्दशभिः शरैः ।। २२ ।।

तत्पश्चात् दानवोंके समस्त अस्त्र-शस्त्रोंका उच्छेद करके मैंने रोषवश उन सबको भी दस-दस बाणोंसे घायल करके बदला चुकाया ।। २२ ।।

गाण्डीवाद्धि तदा संख्ये यथा भ्रमरपङ्क्तयः ।
निष्पतन्ति महाबाणास्तन्मातलिरपूजयत् ।। २३ ।।

उस समय मेरे गाण्डीव धनुषसे बड़े-बड़े बाण उस युद्ध-भूमिमें इस प्रकार छूटते थे, मानो वृक्षसे झुंड-के-झुंड भौंरे उड़ रहे हों। मातलिने मेरे इस कार्यकी बड़ी प्रशंसा

की ।। २३ ।।

तेषामपि तु बाणास्ते तन्मातलिरपूजयत् ।
अवाकिरन् मां बलवत् तानहं व्यधमं शरैः ।। २४ ।।

तदनन्तर उन दानवोंके भी बाण मेरे ऊपर जोर-जोरसे गिरने लगे। मातलिने उनकी उस बाण-वर्षाकी भी सराहना की। फिर मैंने अपने बाणोंद्वारा शत्रुओंके उन सब बाणोंको छिन्न-भिन्न कर डाला ।। २४ ।।

वध्यमानास्ततस्ते तु निवातकवचाः पुनः ।
शरवर्षैर्महद्भिर्मां समन्तात् पर्यवारयन् ।। २५ ।।

इस प्रकार मार खाते और मरते रहनेपर भी निवातकवचोंने पुनः भारी बाण-वर्षाके द्वारा मुझे सब ओरसे घेर लिया ।। २५ ।।

शरवेगान्निहत्याहमस्त्रैरस्त्रविघातिभिः ।
ज्वलद्भिः परमैः शीघ्रैस्तानविध्यं सहस्रशः ।। २६ ।।

तब मैंने अस्त्र-विनाशक अस्त्रोंद्वारा उनकी बाणवर्षाके वेगको शान्त करके अत्यन्त शीघ्रगामी एवं प्रज्वलित बाणोंद्वारा सहस्रों दैत्योंको घायल कर दिया ।। २६ ।।

तेषां छिन्नानि गात्राणि विसृजन्ति स्म शोणितम् ।
प्रावृषीवाभिवृष्टानि शृङ्गाण्यथ धराभृताम् ।। २७ ।।

उनके कटे हुए अंग उसी प्रकार रक्तकी धारा बहाते थे, जैसे वर्षा-ऋतुमें वृष्टिके जलसे भीगे हुए पर्वतोंके शिखर (गेरू आदि धातुओंसे मिश्रित) जलकी धारा बहाते हैं ।। २७ ।।

इन्द्राशनिसमस्पर्शैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
मद्बाणैर्वध्यमानास्ते समुद्विग्नाः स्म दानवाः ।। २८ ।।

मेरे बाणोंका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान था। वे बड़े वेगसे छूटते और सीधे जाकर शत्रुको अपना निशाना बनाते थे। उनकी चोट खाकर वे समस्त दानव भयसे व्याकुल हो उठे ।। २८ ।।

शतधा भिन्नदेहास्ते क्षीणप्रहरणौजसः ।
ततो निवातकवचा मामयुध्यन्त मायया ।। २९ ।।

उन दैत्योंके शरीरके सौ-सौ टुकड़े हो गये थे। उनके अस्त्र-शस्त्र कट गये और उत्साह नष्ट हो गया था। ऐसी अवस्थामें निवातकवचोंने मेरे साथ माया-युद्ध आरम्भ कर दिया ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७० ।।

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

दानवोंके मायामय युद्धका वर्णन

अर्जुन उवाच

ततोऽश्मवर्षं सुमहत् प्रादुरासीत् समन्ततः ।
नगमात्रैः शिलाखण्डैस्तन्मां दृढमपीडयत् ।। १ ।।

अर्जुन बोले—महाराज! तदनन्तर चारों ओरसे पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा आरम्भ हो गयी। वृक्षोंके बराबर ऊँचे शिलाखण्ड रणभूमिमें गिरने लगे, इससे मुझे बड़ी पीड़ा हुई ।। १ ।।

तदहं वज्रसंकाशैर्महेन्द्रास्त्रप्रचोदितैः ।
अचूर्णयं वेगवद्भिः शरजालैर्महाहवे ।। २ ।।

तब मैंने महेन्द्रास्त्रसे अभिमन्त्रित वज्रतुल्य वेगवान् बाणोंद्वारा उस महासमरमें गिरनेवाले समस्त शिला-खण्डोंको चूर-चूर कर दिया ।। २ ।।

चूर्ण्यमानेऽश्मवर्षे तु पावकः समजायत ।
तत्राश्मचूर्णान्यपतन् पावकप्रकरा इव ।। ३ ।।

पत्थरोंकी वर्षाके चूर्ण होते ही सब ओर आग प्रकट हो गयी। फिर तो वहाँ आगकी चिनगारियोंके समूहकी भाँति पत्थरका चूर्ण पड़ने लगा ।। ३ ।।

ततोऽश्मवर्षे विहते जलवर्षं महत्तरम् ।
धाराभिरक्षमात्राभिः प्रादुरासीन्ममान्तिके ।। ४ ।।

तदनन्तर मेरे बाणोंसे वह पत्थरोंकी वर्षा शान्त होनेपर महत्तर जल-वृष्टि आरम्भ हो गयी। मेरे पासही सर्पोंके* समान मोटी जलधाराएँ गिरने लगीं ।। ४ ।।

नभसः प्रच्युता धारास्तिग्मवीर्याः सहस्रशः ।
आवृण्वन् सर्वतो व्योम दिशश्चोपदिशस्तथा ।। ५ ।।

आकाशसे प्रचण्ड शक्तिशालिनी सहस्रों धाराएँ बरसने लगीं, जिन्होंने न केवल आकाशको ही, अपितु सम्पूर्ण दिशाओं और उपदिशाओंको भी सब ओरसे ढक लिया ।। ५ ।।

धाराणां च निपातेन वायोर्विस्फूर्जितेन च ।
गर्जितेन च दैत्यानां न प्राज्ञायत किंचन ।। ६ ।।

धाराओंकी वर्षा, हवाके झकोरों और दैत्योंकी गर्जनासे कुछ भी जान नहीं पड़ता था ।। ६ ।।

धारा दिवि च सम्बद्धा वसुधायां च सर्वशः ।
व्यामोहयन्त मां तत्र निपतन्त्योऽनिशं भुवि ।। ७ ।।

स्वर्गसे लेकर पृथ्वीतक एक सूत्रमें आबद्ध-सी होकर पृथ्वीपर सब ओर जलकी धाराएँ लगातार गिर रही थीं, जिन्होंने वहाँ मुझे मोहमें डाल दिया था ।। ७ ।।

तत्रोपदिष्टमिन्द्रेण दिव्यमस्त्रं विशोषणम् ।
दीप्तं प्राहिणवं घोरमशुष्यत् तेन तज्जलम् ।। ८ ।।

तब मैंने वहाँ देवराज इन्द्रके द्वारा प्राप्त हुए दिव्य विशोषणास्त्रका प्रयोग किया, जो अत्यन्त तेजस्वी और भयंकर था। उससे वर्षाका वह सारा जल सूख गया ।। ८ ।।

हतेऽश्मवर्षे च मया जलवर्षे च शोषिते ।
मुमुचुर्दानवा मायामग्निं वायुं च भारत ।। ९ ।।

भारत! जब मैंने पत्थरोंकी वर्षा शान्त कर दी और पानीकी वर्षाको भी सोख लिया, तब दानवलोग मुझपर मायामय अग्नि और वायुका प्रयोग करने लगे ।। ९ ।।

ततोऽहमग्निं व्यधमं सलिलास्त्रेण सर्वशः ।
शैलेन च महास्त्रेण वायोर्वेगमधारयम् ।। १० ।।

फिर तो मैंने वारुणास्त्रसे वह सारी आग बुझा दी और महान् शैलास्त्रका प्रयोग करके मायामय वायुका वेग कुण्ठित कर दिया ।। १० ।।

तस्यां प्रतिहतायां ते दानवा युद्धदुर्मदाः ।
प्राकुर्वन् विविधां मायां यौगपद्येन भारत ।। ११ ।।

भारत! उस मायाका निवारण हो जानेपर वे रणोन्मत्त दानव एक ही समय अनेक प्रकारकी मायाका प्रयोग करने लगे ।। ११ ।।

ततो वर्षं प्रादुरभूत् सुमहल्लोमहर्षणम् ।
अस्त्राणां घोररूपाणामग्नेर्वायोस्तथाश्मनाम् ।। १२ ।।

फिर तो भयानक अस्त्रोंकी तथा अग्नि, वायु और पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी जो रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी ।। १२ ।।

सा तु मायामयी वृष्टिः पीडयामास मां युधि ।
अथ घोरं तमस्तीव्रं प्रादुरासीत् समन्ततः ।। १३ ।।

उस मायामयी वर्षाने युद्धमें मुझे बड़ी पीड़ा दी। तदनन्तर चारों ओर महाभयानक अन्धकार छा गया ।। १३ ।।

तमसा संवृते लोके घोरेण परुषेण च ।
हरयो विमुखाश्चासन् प्रास्खलच्चापि मातलिः ।। १४ ।।

घोर एवं दुःसह तिमिरराशिसे सम्पूर्ण लोकोंके आच्छादित हो जानेपर मेरे रथके घोड़े युद्धसे विमुख हो गये और मातलि भी लड़खड़ाने लगे ।। १४ ।।

हस्ताद्धि रश्मयश्चास्य प्रतोदः प्रापतद् भुवि ।
असकृच्चाह मां भीतः क्वासीति भरतर्षभ ।। १५ ।।

उनके हाथसे घोड़ोंके लगाम और चाबुक पृथ्वीपर गिर पड़े और वे भयभीत होकर बार-बार मुझसे पूछने लगे—‘भरतश्रेष्ठ अर्जुन! तुम कहाँ हो?’ ।। १५ ।।

मां च भीराविशत् तीव्रा तस्मिन् विगतचेतसि ।
स च मां विगतज्ञानः संत्रस्तमिदमब्रवीत् ।। १६ ।।

मातलिके बेसुध होनेपर मेरे मनमें भी अत्यन्त भय समा गया। तब सुध-बुध खोये हुए मातलिने मुझ भयभीत योद्धासे इस प्रकार कहा— ।। १६ ।।

सुराणामसुराणां च संग्रामः सुमहानभूत् ।
अमृतार्थं पुरा पार्थ स च दृष्टो मयानघ ।। १७ ।।

‘निष्पाप कुन्तीकुमार! प्राचीन कालमें अमृतकी प्राप्तिके लिये देवताओं और दैत्योंमें अत्यन्त घोर संग्राम हुआ था, जिसे मैंने अपनी आँखों देखा है ।। १७ ।।

शम्बरस्य वधे घोरः संग्रामः सुमहानभूत् ।
सारथ्यं देवराजस्य तत्रापि कृतवानहम् ।। १८ ।।

‘शम्बरासुरके वधके समय भी अत्यन्त भयानक युद्ध हुआ था। उसमें भी मैंने देवराज इन्द्रके सारथिका कार्य सँभाला था ।। १८ ।।

तथैव वृत्रस्य वधे संगृहीता हया मया ।
वैरोचनेर्महायुद्धं दृष्टं चापि सुदारुणम् ।। १९ ।।

‘इसी प्रकार वृत्रासुरके वधके समय भी मैंने ही घोड़ोंकी बागडोर हाथमें ली थी। विरोचनकुमार बलिका अत्यन्त भयंकर महासंग्राम भी मेरा देखा हुआ है ।। १९ ।।

एते मया महाघोराः संग्रामाः पर्युपासिताः ।
न चापि विगतज्ञानोऽभूतपूर्वोऽस्मि पाण्डव ।। २० ।।

‘ये बड़े-बड़े भयानक युद्ध मैंने देखे हैं, उनमें भाग लिया है, परंतु पाण्डुनन्दन! आजसे पहले कभी भी मैं इस प्रकार अचेत नहीं हुआ था ।। २० ।।

पितामहेन संहारः प्रजानां विहितो ध्रुवम् ।
न हि युद्धमिदं युक्तमन्यत्र जगतः क्षयात् ।। २१ ।।

‘जान पड़ता है, विधाताने आज समस्त प्रजाका संहार निश्चित किया है, अवश्य ऐसी ही बात है। जगत्के संहारके अतिरिक्त अन्य समयमें ऐसे भयानक युद्धका होना सम्भव नहीं है’ ।। २१ ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
मोहयिष्यन् दानवानामहं मायाबलं महत् ।। २२ ।।
अब्रुवं मातलिं भीतं पश्य मे भुजयोर्बलम् ।
अस्त्राणां च प्रभावं वै धनुषो गाण्डिवस्य च ।। २३ ।।
अद्यास्त्रमाययैतेषां मायामेतां सुदारुणाम् ।
विनिहन्मि तमश्चोग्रं मा भैः सूत स्थिरो भव ।। २४ ।।

मातलिका यह वचन सुनकर मैंने स्वयं ही अपने-आपको सँभाला और दानवोंके उस महान् मायाबलका निवारण करते हुए भयभीत मातलिसे कहा—'सूत! आप डरें मत। स्थिरतापूर्वक रथपर बैठे रहें और देखें, मेरी इन भुजाओंमें कितना बल है? मेरे गाण्डीव धनुष तथा अस्त्रोंका कैसा प्रभाव है? आज मैं अपने अस्त्रोंकी मायासे इन दानवोंकी इस भयंकर माया तथा घोर अन्धकारका विनाश किये देता हूँ' ।। २२—२४ ।।

एवमुक्त्वाहमसृजमस्त्रमायां नराधिप ।
मोहनीं सर्वभूतानां हिताय त्रिदिवौकसाम् ।। २५ ।।

नरेश्वर! ऐसा कहकर मैंने देवताओंके हितके लिये अस्त्रसम्बन्धिनी मायाकी सृष्टि की, जो समस्त प्राणियोंको मोहमें डालनेवाली थी ।। २५ ।।

पीड्यमानासु मायासु तासु तास्वसुरोत्तमाः ।
पुनर्बहुविधा मायाः प्राकुर्वन्नमितौजसः ।। २६ ।।

उससे असुरोंकी वे सारी मायाएँ नष्ट हो गयीं। तब उन अमित तेजस्वी दानवराजाओंने पुनः नाना प्रकारकी मायाएँ प्रकट कीं ।। २६ ।।

पुनः प्रकाशमभवत् तमसा ग्रस्यते पुनः ।
भवत्यदर्शनो लोकः पुनरप्सु निमज्जति ।। २७ ।।

इससे कभी तो प्रकाश छा जाता था और कभी सब कुछ अन्धकारमें विलीन हो जाता था। कभी सम्पूर्ण जगत् अदृश्य हो जाता और कभी जलमें डूब जाता था ।। २७ ।।

सुसंगृहीतैर्हरिभिः प्रकाशे सति मातलिः ।
व्यचरत् स्वन्दनाग्र्येण संग्रामे लोमहर्षणो ।। २८ ।।

तदनन्तर प्रकाश होनेपर मातलिने घोड़ोंको काबूमें करके अपने श्रेष्ठ रथके द्वारा उस रोमांचकारी संग्राममें विचरना प्रारम्भ किया ।। २८ ।।

ततः पर्यपतन्नुग्रा निवातकवचा मयि ।
तानहं विवरं दृष्ट्वा प्राहिण्यं यमसादनम् ।। २९ ।।

तब भयानक निवातकवच चारों ओरसे मेरे ऊपर टूट पड़े। उस समय मैंने अवसर देख-देखकर उन सबको यमलोक भेज दिया ।। २९ ।।

वर्तमाने तथा युद्धे निवातकवचान्तके ।
नापश्यं सहसा सर्वान् दानवान् माययाऽऽवृतान् ।। ३० ।।

वह युद्ध निवातकवचोंके लिये विनाशकारी था। अभी युद्ध हो ही रहा था कि सहसा सारे दानव अन्तर्धानी मायासे छिप गये। अतः मैं किसीको भी देख न सका ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि मायायुद्धे एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें मायायुद्धविषयक एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७१ ।।

---

* कोसोंमें ‘अक्ष’ शब्दका अर्थ ‘सर्प’ भी मिलता है।

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्याय:

निवातकवचोंका संहार

अर्जुन उवाच

अदृश्यमानास्ते दैत्या योधयन्ति स्म मायया ।
अदृश्येनास्त्रवीर्येण तानप्यहमयोधयम् ।। १ ।।

अर्जुन बोले—राजन्! इस प्रकार अदृश्य रहकर ही वे दैत्य मायाद्वारा युद्ध करने लगे तथा मैं भी अपने अस्त्रोंकी अदृश्य शक्तिके द्वारा ही उनका सामना करने लगा ।। १ ।।

गाण्डीवमुक्ता विशिखाः सम्यगस्त्रप्रचोदिताः ।
अच्छिन्दन्नुत्तमाङ्गानि यत्र यत्र स्म तेऽभवन् ।। २ ।।

मेरे गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाण विधिवत् प्रयुक्त दिव्यास्त्रोंसे प्रेरित हो जहाँ-जहाँ वे दैत्य थे, वहीं जाकर उनके सिर काटने लगे ।। २ ।।

ततो निवातकवचा वध्यमाना मया युधि ।
संहृत्य मायां सहसा प्राविशन् पुरमात्मनः ।। ३ ।।

जब मैं इस प्रकार युद्धक्षेत्रमें उनका संहार करने लगा, तब वे निवातकवच दानव अपनी मायाको समेटकर सहसा नगरमें घुस गये ।। ३ ।।

व्यपयातेषु दैत्येषु प्रादुर्भूते च दर्शने ।
अपश्यं दानवांस्तत्र हतान् शतसहस्रशः ।। ४ ।।

दैत्योंके भाग जानेसे जब वहाँ सब कुछ स्पष्ट दिखायी देने लगा, तब मैंने देखा, लाखों दानव वहाँ मरे पड़े थे ।। ४ ।।

विनिष्पिष्टानि तत्रैषां शस्त्राण्याभरणानि च ।
शतशः स्म प्रदृश्यन्ते गात्राणि कवचानि च ।। ५ ।।
हयानां नान्तरं ह्यासीत् पदाद् विचलितुं पदम् ।
उत्पत्य सहसा तस्थुरन्तरिक्षगमास्ततः ।। ६ ।।

उनके अस्त्र-शस्त्र और आभूषण भी पिसकर चूर्ण हो गये थे। दानवोंके शरीरों और कवचोंके सौ-सौ टुकड़े दिखायी देते थे। वहाँ दैत्योंकी इतनी लाशें पड़ी थी कि घोड़ोंके लिये एकके बाद दूसरा पैर रखनेके लिये कोई स्थान नहीं रह गया था। अतः वे अन्तरिक्षचारी अश्व वहाँसे सहसा उछलकर आकाशमें खड़े हो गये ।। ५-६ ।।

ततो निवातकवचा व्योम संछाद्य केवलम् ।
अदृश्या ह्यत्यवर्तन्त विसृजन्तः शिलोच्चयान् ।। ७ ।।

तदनन्तर निवातकवचोंने अदृश्यरूपसे ही आक्रमण किया और केवल आकाशको आच्छादित करके पत्थरोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। ७ ।।

अन्तर्भूमिगताश्चान्ये हयानां चरणान्यथ ।
व्यगृह्णन् दानवा घोरा रथचक्रे च भारत ।। ८ ।।

भरतनन्दन! कुछ भयंकर दानवोंने, जो पृथ्वीके भीतर घुसे हुए थे, मेरे घोड़ोंके पैर तथा रथके पहिये पकड़ लिये ।। ८ ।।

विनिगृह्य हरीनश्वान् रथं च मम युध्यतः ।
सर्वतो मामविध्यन्त सरथं धरणीधरैः ।। ९ ।।

इस प्रकार युद्ध करते समय मेरे हरे रंगके घोड़ों तथा रथको पकड़कर उन दानवोंने रथसहित मेरे ऊपर सब ओरसे शिलाखण्डोंद्वारा प्रहार आरम्भ किया ।। ९ ।।

पर्वतैरुपचीयद्भिः पतमानैस्तथापरैः ।
स देशो यत्र वर्ताम गुहेव समपद्यत ।। १० ।।

नीचे पर्वतोंके ढेर लग रहे थे और ऊपरसे नयी-नयी चट्टानें पड़ रही थीं। इससे वह प्रदेश जहाँ हमलोग मौजूद थे, एक गुफाके समान बन गया ।। १० ।।

पर्वतैश्छाद्यमानोऽहं निगृहीतैश्च वाजिभिः ।
अगच्छं परमामार्तिं मातलिस्तदलक्षयत् ।। ११ ।।

एक ओर तो मैं शिलाखण्डोंसे आच्छादित हो रहा था, दूसरी ओर मेरे घोड़े पकड़ लिये जानेसे रथकी गति कुण्ठित हो गयी थी। इस विवशताकी दशामें मुझे बड़ी पीड़ा होने लगी, जिसे मातलिने जान लिया ।। ११ ।।

लक्षयित्वा च मां भीतमिदं वचनमब्रवीत् ।
अर्जुनार्जुन मा भैस्त्वं वज्रमस्त्रमुदीरय ।। १२ ।।

इस प्रकार मुझे भयभीत हुआ देख मातलिने कहा—‘अर्जुन! अर्जुन! तुम डरो मत। इस समय वज्रास्त्रका प्रयोग करो’ ।। १२ ।।

ततोऽहं तस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा वज्रमुदीरयम् ।
देवराजस्य दयितं भीममस्त्रं नराधिप ।। १३ ।।

महाराज! मातलिका वह वचन सुनकर मैंने देवराजके परम प्रिय तथा भयंकर अस्त्र वज्रका प्रयोग किया ।। १३ ।।

अचलं स्थानमासाद्य गाण्डीवमनुमन्त्र्य च ।
अमुञ्चं वज्रसंस्पर्शानायसान् निशितान् शरान् ।। १४ ।।

अविचल स्थानका आश्रय ले गाण्डीव धनुषको वज्रास्त्रसे अभिमन्त्रित करके मैंने लोहेके तीखे बाण छोड़े, जिनका स्पर्श वज्रके समान कठोर था ।। १४ ।।

ततो मायाश्च ताः सर्वा निवातकवचांश्च तान् ।
ते वज्रचोदिता बाणा वज्रभूताः समाविशन् ।। १५ ।।

तदनन्तर वज्रास्त्रसे प्रेरित हुए वे वज्रस्वरूप बाण पूर्वोक्त सारी मायाओं तथा निवातकवच दानवोंके भीतर घुस गये ।। १५ ।।

ते वज्रवेगविहता दानवाः पर्वतोपमाः ।
इतरेतरमाश्लिष्य न्यपतन् पृथिवीतले ।। १६ ।।

फिर तो वज्रके वेगसे मारे गये वे पर्वताकार दानव एक-दूसरेका आलिंगन करते हुए धराशायी हो गये ।। १६ ।।

अन्तर्भूमौ च येऽगृह्णन् दानवा रथवाजिनः ।
अनुप्रविश्य तान् बाणाः प्राहिण्वन् यमसादनम् ।। १७ ।।

पृथ्वीके भीतर घुसकर जिन दानवोंने मेरे रथके घोड़ोंको पकड़ रखा था, उनके शरीरमें भी घुसकर मेरे बाणोंने उन सबको यमलोक भेज दिया ।। १७ ।।

हतैर्निवातकवचैर्निरस्तैः पर्वतोपमैः ।
समाच्छाद्यत देशः स विकीर्णैरिव पर्वतैः ।। १८ ।।

वहाँ मरकर गिरे हुए पर्वताकार निवातकवच इधर-उधर बिखरे हुए पर्वतोंके समान जान पड़ते थे। वहाँका सारा प्रदेश उनकी लाशोंसे पट गया था ।। १८ ।।

न हयानां क्षतिः काचिन्न रथस्य न मातलेः ।
मम चादृश्यत तदा तदद्भुतमिवाभवत् ।। १९ ।।

उस समयके युद्धमें न तो घोड़ोंको कोई हानि पहुँची, न रथका ही कोई सामान टूटा, न मातलिको ही चोट लगी और न मेरे ही शरीरमें कोई आघात दिखायी दिया, यह एक अद्भुत-सी बात थी ।। १९ ।।

ततो मां प्रहसन् राजन् मातलिः प्रत्यभाषत ।
नैतदर्जुन देवेषु त्वयि वीर्यं यदीक्ष्यते ।। २० ।।

तब मातलिने हँसते हुए मुझसे कहा—'अर्जुन! तुममें जो पराक्रम दिखायी देता है, वह देवताओंमें भी नहीं है' ।। २० ।।

हतेष्वसुरसंघेषु दारास्तेषां तु सर्वशः ।
प्राक्रोशन् नगरे तस्मिन् यथा शरदि सारसाः ।। २१ ।।

उन असुरसमूहोंके मारे जानेपर उनकी सारी स्त्रियाँ उस नगरमें जोर-जोरसे करुण क्रन्दन करने लगीं, मानो शरत्कालमें सारस पक्षी बोल रहे हों ।। २१ ।।

ततो मातलिना सार्धमहं तत् पुरमभ्ययाम् ।
त्रासयन् रथघोषेण निवातकवचस्त्रियः ।। २२ ।।

तब मैं मातलिके साथ रथकी घर्घराहटसे निवातकवचोंकी स्त्रियोंको भयभीत करता हुआ उस दैत्य-नगरमें गया ।। २२ ।।

तान् दृष्ट्वा दशसाहस्रान् मयूरसदृशान् हयान् ।
रथं च रविसंकाशं प्राद्रवन् गणशः स्त्रियः ।। २३ ।।

मोरके समान सुन्दर उन दस हजार घोड़ोंको तथा सूर्यके समान तेजस्वी उस दिव्य रथको देखते ही झुंड-की-झुंड दानवस्त्रियाँ इधर-उधर भाग चलीं ।। २३ ।।

ताभिराभरणैः शब्दस्त्रासिताभिः समीरितः ।
शिलानामिव शैलेषु पतन्तीनामभूत् तदा ।। २४ ।।

उन डरी हुई निशाचरियोंके आभूषणोंके द्वारा उत्पन्न हुआ शब्द पर्वतोंपर पड़ती हुई शिलाओंके समान जान पड़ता था ।। २४ ।।

वित्रस्ता दैत्यनार्यस्ताः स्वानि वेश्मान्यथाविशन् ।
बहुरत्नविचित्राणि शातकुम्भमयानि च ।। २५ ।।

तत्पश्चात् वे भयभीत हुई दैत्यनारियाँ अपने-अपने घरोंमें घुस गयीं। उनके महल सोनेके बने हुए थे और अनेक प्रकारके रत्नोंसे उनकी विचित्र शोभा होती थी ।। २५ ।।

तदद्भुताकारमहं दृष्ट्वा नगरमुत्तमम् ।
विशिष्टं देवनगरादपृच्छं मातलिं ततः ।। २६ ।।

वह उत्तम एवं अद्भुत नगर देवपुरीसे भी श्रेष्ठ दिखायी देता था। तब उसे देखकर मैंने मातलिसे पूछा— ।। २६ ।।

इदमेवंविधं कस्माद् देवा नावासयन्त्युत ।
पुरंदरपुराद्धीदं विशिष्टमिति लक्षये ।। २७ ।।

'सारथे! देवतालोग ऐसा नगर क्यों नहीं बसाते हैं? यह नगर तो मुझे इन्द्रपुरीसे भी बढ़कर दिखायी देता है' ।। २७ ।।

मातलिरुवाच

आसीदिदं पुरा पार्थ देवराजस्य नः पुरम्
ततो निवातकवचैरितः प्रच्याविताः सुराः ।। २८ ।।

मातलि बोले—पार्थ! पूर्वकालमें यह नगर हमारे देवराजके ही अधिकारमें था। फिर निवातकवचोंने आकर देवताओंको यहाँसे निकाल दिया ।। २८ ।।

तपस्तप्त्वा महत् तीव्रं प्रसाद्य च पितामहम्
इदं वृतं निवासाय देवेभ्यश्चाभयं युधि ।। २९ ।।

उन्होंने अत्यन्त तीव्र तपस्या करके पितामह ब्रह्माजीको प्रसन्न किया और उनसे अपने रहनेके लिये यही नगर माँग लिया। साथ ही यह भी माँगा कि 'हमें युद्धमें देवताओंसे भय न हो' ।। २९ ।।

ततः शक्रेण भगवान् स्वयंभूरिति चोदितः
विधत्तां भगवानन्तमात्मनो हितकाम्यया ।। ३० ।।

तब इन्द्रने भगवान् ब्रह्माजीसे इस प्रकार निवेदन किया—'प्रभो! अपने (और हमारे) हितके लिये आप ही इन दानवोंका अन्त कीजिये' ।। ३० ।।

तत उक्तो भगवता दिष्टमत्रेति भारत
भवितान्तस्त्वमप्येषां देहेनान्येन शत्रुहन् ।। ३१ ।।

भरतनन्दन! उनके ऐसा कहनेपर भगवान् ब्रह्माने कहा—'शत्रुदमन देवराज! इसमें दैवका यही विधान है कि तुम्हीं दूसरा शरीर धारण करके इन दानवोंका अन्त कर सकोगे' ।। ३१ ।।

तत एषां वधार्थाय शक्रोऽस्त्राणि ददौ तव
न हि शक्याः सुरैर्हन्तुं य एते निहतास्त्वया ।। ३२ ।।

(अर्जुन! तुम्हीं इन्द्रके दूसरे स्वरूप हो।) इन दैत्योंके वधके लिये ही इन्द्रने तुम्हें दिव्यास्त्र प्रदान किये हैं। आज जो ये दानव तुम्हारे हाथों मारे गये हैं, इन्हें देवता नहीं मार सकते थे ।। ३२ ।।

कालस्य परिणामेन ततस्त्वमिह भारत
एषामन्तकरः प्राप्तस्तत् त्वया च कृतं तथा ।। ३३ ।।

भारत! समयके फेरसे ही तुम इनका विनाश करनेके लिये यहाँ आ पहुँचे हो और तुमने जैसा दैवका विधान था, उसके अनुसार इनका संहार कर डाला है ।। ३३ ।।

दानवानां विनाशाय अस्त्राणां परमं बलम्
ग्राहितस्त्वं महेन्द्रेण पुरुषेन्द्र तदुत्तमम् ।। ३४ ।।

पुरुषोत्तम! देवराज इन्द्रने इन दानवोंके विनाशके उद्देश्यसे ही तुम्हें परम उत्तम अस्त्रबलकी प्राप्ति करायी है ।। ३४ ।।

अर्जुन उवाच

ततः प्रशाम्य नगरं दानवांश्च निहत्य तान्
पुनर्मातलिना सार्धमगच्छं देवसद्म तत् ।। ३५ ।।

अर्जुन कहते हैं—महाराज! इस प्रकार उन दानवोंका संहार करके नगरमें शान्ति स्थापित करनेके पश्चात् मैं मातलिके साथ पुनः उस देवलोकको लौट आया ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि निवातकवचयुद्धे द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें निवातकवचयुद्धविषयक एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७२ ।।

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा हिरण्यपुरवासी पौलोम तथा कालकेयोंका वध और इन्द्रद्वारा अर्जुनका अभिनन्दन

अर्जुन उवाच

निवर्तमानेन मया महद् दृष्टं ततोऽपरम्
पुरं कामचरं दिव्यं पावकार्कसमप्रभम् ।। १ ।।

अर्जुन बोले—राजन्! तत्पश्चात् लौटते समय मार्गमें मैंने एक दूसरा दिव्य एवं विशाल नगर देखा, जो अग्नि और सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था। वह अपने निवासियोंकी इच्छाके अनुसार सर्वत्र आ-जा सकता था ।। १ ।।

रत्नद्रुममयैश्चित्रैः सुस्वरैश्च पतत्त्रिभिः
पौलोमैः कालकञ्जैश्च नित्यहृष्टै रधिष्ठितम् ।। २ ।।

विचित्र रत्नमय वृक्ष और मधुर स्वरमें बोलनेवाले पक्षी उस नगरकी शोभा बढ़ाते थे। पौलोम और कालकञ्ज नामक दानव सदा प्रसन्नतापूर्वक वहाँ निवास करते थे ।। २ ।।

गोपुराट्टालकोपेतं चतुर्द्वारं दुरासदम्
सर्वरत्नमयं दिव्यमद्भुतोपमदर्शनम् ।। ३ ।।

उस नगरमें ऊँचे-ऊँचे गोपुरोंसहित सुन्दर अट्टालिकायें सुशोभित थीं। उसमें चारों दिशाओंमें एक-एक करके चार फाटक लगे थे। शत्रुओंके लिये उस नगरमें प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन था। सब प्रकारके रत्नोंसे निर्मित वह दिव्य नगर अद्भुत दिखायी देता था ।। ३ ।।

द्रुमैः पुष्पफलोपेतैः सर्वरत्नमयैर्वृतम्
तथा पतत्त्रिभिर्दिव्यैरुपेतं सुमनोहरैः ।। ४ ।।

फल और फूलोंसे भरे हुए सर्वरत्नमय वृक्ष नगरको सब ओरसे घेरे हुए थे तथा वह नगर दिव्य एवं अत्यन्त मनोहर पक्षियोंसे युक्त था ।। ४ ।।

असुरैर्नित्यमुदितैः शूलर्ष्टिमुसलायुधैः
चापमुद्गरहस्तैश्च स्रग्विभिः सर्वतो वृतम् ।। ५ ।।

सदा प्रसन्न रहनेवाले बहुत-से असुर गलेमें सुन्दर माला धारण किये और हाथोंमें शूल, ऋष्टि, मुसल, धनुष तथा मुद्गर आदि अस्त्र-शस्त्र लिये सब ओरसे घेरकर उस नगरकी रक्षा करते थे ।। ५ ।।

तदहं प्रेक्ष्य दैत्यानां पुरमद्भुतदर्शनम्
अपृच्छं मातलिं राजन् किमिदं वर्ततेऽद्भुतम् ।। ६ ।।

राजन्! दैत्योंके उस अद्भुत दिखायी देनेवाले नगरको देखकर मैंने मातलिसे पूछा—'सारथे! यह कौन-सा अद्भुत नगर है?' ।। ६ ।।

मातलिरुवाच

पुलोमा नाम दैतेयी कालका च महासुरी
दिव्यं वर्षसहस्रं ते चेरतुः परमं तपः ।। ७ ।।
तपसोऽन्ते ततस्ताभ्यां स्वयम्भूरदद् वरम्
अगृह्णीतां वरं ते तु सुतानामल्पदुःखताम् ।। ८ ।।

मातलिने कहा—पार्थ! दैत्यकुलकी कन्या पुलोमा तथा महान् असुरवंशकी कन्या कालका—उन दोनोंने एक हजार दिव्य वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की। तदनन्तर तपस्या पूर्ण होनेपर भगवान् ब्रह्माजीने उन दोनोंको वर दिया। उन्होंने यही वर माँगा कि 'हमारे पुत्रोंका दुःख दूर हो जाय' ।। ७-८ ।।

अवध्यतां च राजेन्द्र सुरराक्षसपन्नगैः
पुरं सुरमणीयं च खचरं सुमहाप्रभम् ।। ९ ।।
सर्वरत्नैः समुदितं दुर्धर्षममरैरपि
महर्षियक्षगन्धर्वपन्नगासुरराक्षसैः ।। १० ।।
सर्वकामगुणोपेतं वीतशोकमनामयम्
ब्रह्मणा भरतश्रेष्ठ कालकेयकृते कृतम् ।। ११ ।।
तदेतत् खपुरं दिव्यं चरत्यमरवर्जितम्
पौलोमाध्युषितं वीर कालकञ्जैश्च दानवैः ।। १२ ।।

राजेन्द्र! उन दोनोंने यह भी प्रार्थना की कि 'हमारे पुत्र देवता, राक्षस तथा नागोंके लिये भी अवध्य हों। इनके रहनेके लिये एक सुन्दर नगर होना चाहिये, जो अपने महान् प्रभा-पुञ्जसे जगमगा रहा हो। वह नगर विमानकी भाँति आकाशमें विचरनेवाला होना चाहिये, उसमें सब प्रकारके रत्नोंका संचय रहना चाहिये, देवता, महर्षि, यक्ष, गन्धर्व, नाग, असुर तथा राक्षस कोई भी उसका विध्वंस न कर सके। वह नगर समस्त मनोवाञ्छित गुणोंसे सम्पन्न, शोकशून्य तथा रोग आदिसे रहित होना चाहिये।' भरतश्रेष्ठ! ब्रह्माजीने कालकेयोंके लिये वैसे ही नगरका निर्माण किया था। यह वही आकाशचारी दिव्य नगर है, जो सर्वत्र विचरता है। इसमें देवताओंका प्रवेश नहीं है। वीरवर! इसमें पौलोम और कालकंज नामक दानव ही निवास करते हैं ।। ९—१२ ।।

हिरण्यपुरमित्येवं ख्यायते नगरं महत्
रक्षितं कालकेयैश्च पौलोमैश्च महासुरैः ।। १३ ।।

यह विशाल नगर हिरण्यपुरके नामसे विख्यात है। कालकेय तथा पौलोम नामक महान् असुर इसकी रक्षा करते हैं ।। १३ ।।

त एते मुदिता राजन्नवध्याः सर्वदैवतैः
निवसन्त्यत्र राजेन्द्र गतोद्वेगा निरुत्सुकाः ।। १४ ।।

राजन्! ये वे ही दानव हैं, जो सम्पूर्ण देवताओंसे अवध्य रहकर उद्वेग तथा उत्कण्ठासे रहित हो यहाँ प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं ।। १४ ।।

मानुषान्मृत्युरेतेषां निर्दिष्टो ब्रह्मणा पुरा
एतानपि रणे पार्थ कालकञ्जान् दुरासदान्
वज्रास्त्रेण नयस्वाशु विनाशं सुमहाबलान् ।। १५ ।।

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने मनुष्यके हाथसे इनकी मृत्यु निश्चित की थी। कुन्तीकुमार! ये कालकंज और पौलोम अत्यन्त बलवान् तथा दुर्धर्ष हैं। तुम युद्धमें वज्रास्त्रके द्वारा इनका भी शीघ्र ही संहार कर डालो ।। १५ ।।

अर्जुन उवाच

सुरासुरैरवध्यं तदहं ज्ञात्वा विशाम्पते
अब्रुवं मातलिं हृष्टो याह्येतत् पुरमञ्जसा ।। १६ ।।

अर्जुन बोले—राजन्! उस हिरण्यपुरको देवताओं और असुरोंके लिये अवध्य जानकर मैंने मातलिसे प्रसन्नतापूर्वक कहा—‘आप यथाशीघ्र इस नगरमें अपना रथ ले चलिये’ ।। १६ ।।

त्रिदशेशद्विषो यावत् क्षयमस्त्रैर्नयाम्यहम्
न कथञ्चिद्धि मे पापा न वध्या ये सुरद्विषः ।। १७ ।।

‘जिससे देवराजके द्रोहियोंको मैं अपने अस्त्रोंद्वारा नष्ट कर डालूँ। जो देवताओंसे द्वेष रखते हैं, उन पापियोंको मैं किसी प्रकार मारे बिना नहीं छोड़ सकता’ ।। १७ ।।

उवाह मां ततः शीघ्रं हिरण्यपुरमन्तिकात्
रथेन तेन दिव्येन हरियुक्तेन मातलिः ।। १८ ।।

मेरे ऐसा कहनेपर मातलिने घोड़ोंसे युक्त उस दिव्य रथके द्वारा मुझे शीघ्र ही हिरण्यपुरके निकट पहुँचा दिया ।। १८ ।।

ते मामालक्ष्य दैतेया विचित्राभरणाम्बराः
समुत्पेतुर्महावेगा रथानास्थाय दंशिताः ।। १९ ।।

मुझे देखते ही विचित्र वस्त्राभूषणोंसे विभूषित वे दैत्य कवच पहनकर अपने रथोंपर जा बैठे और बड़े वेगसे मेरे ऊपर टूट पड़े ।। १९ ।।

ततो नालीकनाराचैर्भल्लैः शक्त्यृष्टितोमरैः
प्रत्यघ्नन् दानवेन्द्रा मां क्रुद्धास्तीव्रपराक्रमाः ।। २० ।।

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए उन प्रचण्ड पराक्रमी दानवेन्द्रोंने नालीक, नाराच, भल्ल, शक्ति, ऋष्टि तथा तोमर आदि अस्त्रोंद्वारा मुझे मारना आरम्भ किया ।। २० ।।

तदहं शरवर्षेण महता प्रत्यवारयम्
शस्त्रवर्षं महद् राजन् विद्याबलमुपाश्रितः ।। २१ ।।
व्यामोहयं च तान् सर्वान् रथमार्गैश्चरन् रणे
तेऽन्योन्यमभिसम्मूढाः पातयन्ति स्म दानवान् ।। २२ ।।

राजन्! उस समय मैंने विद्या-बलका आश्रय लेकर महती बाण-वर्षाके द्वारा उनके अस्त्र-शस्त्रोंकी भारी बौछारको रोका और युद्ध-भूमिमें रथके विभिन्न पैंतरे बदलकर विचरते हुए उन सबको मोहमें डाल दिया। वे ऐसे किंकर्तव्यविमूढ हो रहे थे कि आपसमें ही लड़कर एक-दूसरे दानवोंको धराशायी करने लगे ।। २१-२२ ।।

तेषामेवं विमूढानामन्योन्यमभिधावताम्
शिरांसि विशिखैर्दीप्तैर्न्यहनं शतसङ्घशः ।। २३ ।।

इस प्रकार मूढ़चित्त हो आपसमें ही एक-दूसरेपर धावा करनेवाले उन दानवोंके सौ-सौ मस्तकोंको मैं अपने प्रज्वलित बाणोंद्वारा काट-काटकर गिराने लगा ।।

ते वध्यमाना दैतेयाः पुरमास्थाय तत् पुनः
खमुत्पेतुः सनगरा मायामास्थाय दानवीम् ।। २४ ।।

वे दैत्य जब इस प्रकार मारे जाने लगे, तब पुनः अपने उस नगरमें ही घुस गये और दानवी मायाका सहारा ले नगर सहित आकाशमें ऊँचे उड़ गये ।। २४ ।।

ततोऽहं शरवर्षेण महता कुरुनन्दन
मार्गमावृत्य दैत्यानां गतिं चैषामवारयम् ।। २५ ।।

कुरुनन्दन! तब मैं बाणोंकी भारी बौछार करके दैत्योंका मार्ग रोक लिया और उनकी गति कुण्ठित कर दी ।। २५ ।।

तत् पुरं खचरं दिव्यं कामगं सूर्यसप्रभम्
दैतेयैर्वरदानेन धार्यते स्म यथासुखम् ।। २६ ।।

सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाला दैत्योंका वह आकाशचारी दिव्य नगर उनकी इच्छाके अनुसार चलनेवाला था और दैत्यलोग वरदानके प्रभावसे उसे सुखपूर्वक आकाशमें धारण करते थे ।। २६ ।।

अन्तर्भूमौ निपतति पुनरूर्ध्वं प्रतिष्ठते
पुनस्तिर्यक् प्रयात्याशु पुनरप्सु निमज्जति ।। २७ ।।

वह दिव्य पुर कभी पृथ्वीपर अथवा पातालमें चला जाता, कभी ऊपर उड़ जाता, कभी तिरछी दिशाओंमें चलता और कभी शीघ्र ही जलमें डूब जाता था ।। २७ ।।

अमरावतिसंकाशं तत् पुरं कामगं महत्
अहमस्त्रैर्बहुविधैः प्रत्यगृह्णं परंतप ।। २८ ।।

परंतप! इच्छानुसार विचरनेवाला वह विशाल नगर अमरावतीके ही तुल्य था; परंतु मैंने नाना प्रकारके अस्त्रों द्वारा उसे सब ओरसे रोक लिया ।। २८ ।।

ततोऽहं शरजालेन दिव्यास्त्रनुदितेन च
व्यगृह्णं सह दैतेयैस्तत् पुरं पुरुषर्षभ ।। २९ ।।

नरश्रेष्ठ! फिर दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणसमूहोंकी वृष्टि करते हुए मैंने दैत्योंसहित उस नगरको क्षत-विक्षत करना आरम्भ किया ।। २९ ।।

विक्षतं चायसैर्बाणैर्मत्प्रयुक्तैरजिह्मगैः
महीमभ्यपतद् राजन् प्रभग्नं पुरमासुरम् ।। ३० ।।

राजन्! मेरे चलाये हुए लोहनिर्मित बाण सीधे लक्ष्यतक पहुँचनेवाले थे। उनसे क्षतिग्रस्त हुआ वह दैत्य-नगर तहस-नहस होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। ३० ।।

ते वध्यमाना मद्बाणैर्वज्रवेगैरयस्मयैः
पर्यभ्रमन्त वै राजन्नसुराः कालचोदिताः ।। ३१ ।।

महाराज! लोहेके बने हुए मेरे बाणोंका वेग वज्रके समान था। उनकी मार खाकर वे कालप्रेरित असुर चारों ओर चक्कर काटने लगते थे ।। ३१ ।।

ततो मातलिरारुह्य पुरस्तान्निपतन्निव
महीमवातरत् क्षिप्रं रथेनादित्यवर्चसा ।। ३२ ।।

तदनन्तर मातलि आकाशमें ऊँचे चढ़कर सूर्यके समान तेजस्वी रथद्वारा उन राक्षसोंके सामने गिरते हुए-से शीघ्र ही पृथ्वीपर उतरे ।। ३२ ।।

ततो रथसहस्राणि षष्टिस्तेषाममर्षिणाम्
युयुत्सूनां मया सार्धं पर्यवर्तन्त भारत
तान्यहं निशितैर्बाणैर्व्यधमं गार्ध्रराजितैः ।। ३३ ।।

भरतनन्दन! उस समय युद्धकी इच्छासे अमर्षमें भरे हुए उन दानवोंके साठ हजार रथ मेरे साथ लड़नेके लिये डट गये। यह देख मैंने गृद्धपंखसे सुशोभित तीखे बाणोंद्वारा उन सबको घायल करना आरम्भ किया ।। ३३ ।।

ते युद्धे सन्न्यवर्तन्त समुद्रस्य यथोर्मयः
नेमे शक्या मानुषेण युद्धेनेति प्रचिन्त्य तत् ।। ३४ ।।
ततोऽहमानुपूर्व्येण दिव्यान्यस्त्राण्ययोजयम्

परंतु वे दानव युद्धके लिये इस प्रकार मेरी ओर चढ़े आ रहे थे, मानो समुद्रकी लहरें उठ रही हों। तब मैंने यह सोचकर कि मानवोचित युद्धके द्वारा इनपर विजय नहीं पायी जा सकती, क्रमशः दिव्यास्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया ।। ३४ $\frac{1}{2}$ ।।

ततस्तानि सहस्राणि रथिनां चित्रयोधिनाम् ।। ३५ ।।
अस्त्राणि मम दिव्यानि प्रत्यघ्नन् शनकैरिव

परंतु विचित्र युद्ध करनेवाले वे सहस्रों रथारूढ़ दानव धीरे-धीरे मेरे दिव्यास्त्रोंका भी निवारण करने लगे ।।

रथमार्गान् विचित्रांस्ते विचरन्तो महाबलाः ।। ३६ ।।

प्रत्यदृश्यन्त संग्रामे शतशोऽथ सहस्रशः

वे महान् बलवान् तो थे ही, रथके विचित्र पैंतरे बदलकर रणभूमिमें विचर रहे थे। उस युद्धके मैदानमें उनके सौ-सौ और हजार-हजारके झुंड दिखायी देते थे ।। ३६½ ।।

विचित्रमुकुटापीडा विचित्रकवचध्वजाः ।। ३७ ।।

विचित्राभरणाश्चैव नन्दयन्तीव मे मनः

उनके मस्तकोंपर विचित्र मुकुट और पगड़ी देखी जाती थी। उनके कवच और ध्वज भी विचित्र ही थे। वे अद्भुत आभूषणोंसे विभूषित हो मेरे लिये मनोरंजनकी-सी वस्तु बन गये थे ।। ३७½ ।।

अहं तु शरवर्षैस्तानस्त्रप्रचुदितै रणे ।। ३८ ।।

नाशक्नुवं पीडयितुं ते तु मां प्रत्यपीडयन्

उस युद्धमें दिव्यास्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित बाणोंकी वर्षा करके भी मैं उन्हें पीड़ित न कर सका; परंतु वे मुझे बहुत पीड़ा देने लगे ।। ३८½ ।।

तैः पीड्यमानो बहुभिः कृतास्त्रैः कुशलैर्युधि ।। ३९ ।।

व्यथितोऽस्मि महायुद्धे भयं चागान्महन्मम

वे अस्त्रोंके ज्ञाता तथा युद्धकुशल थे, उनकी संख्या भी बहुत थी। उस महान् संग्राममें उन दानवोंसे पीड़ित होनेपर मेरे मनमें महान् भय समा गया ।। ३९½ ।।

ततोऽहं देवदेवाय रुद्राय प्रयतो रणे ।। ४० ।।

(प्रयतः प्रणतो भूत्वा नमस्कृत्य महात्मने ।)

स्वस्ति भूतेभ्य इत्युक्त्वा महास्त्रं समचोदयम्

तब मैंने एकाग्रचित्त हो मस्तक झुकाकर देवाधिदेव महात्मा रुद्रको प्रणाम किया और 'समस्त भूतोंका कल्याण हो' ऐसा कहकर उनके महान् पाशुपतास्त्रका प्रयोग किया ।। ४० ½ ।।

यत् तद् रौद्रमिति ख्यातं सर्वामित्रविनाशनम् ।। ४१ ।।

(महत् पाशुपतं दिव्यं सर्वलोकनमस्कृतम् ।)

ततोऽपश्यं त्रिशिरसं पुरुषं नवलोचनम्

त्रिमुखं षड्भुजं दीप्तमर्कज्वलनमूर्धजम् ।। ४२ ।।

उसीको 'रौद्रास्त्र' भी कहते हैं। वह समस्त शत्रुओंका विनाश करनेवाला है। वह महान् एवं दिव्य पाशुपतास्त्र सम्पूर्ण विश्वके लिये वन्दनीय है। उसका प्रयोग करते ही मुझे एक दिव्य पुरुषका दर्शन हुआ, जिनके तीन मस्तक, तीन मुख, नौ नेत्र तथा छः भुजाएँ थीं। उनका स्वरूप बड़ा तेजस्वी था। उनके मस्तकके बाल सूर्यके समान प्रज्वलित हो रहे थे ।। ४१-४२ ।।

लेलिहानैर्महानागैः कृतचीरममित्रहन्

(भक्तानुकम्पिनं देवं नागयज्ञोपवीतिनम् ।)
विभीस्ततस्तदस्त्रं तु घोरं रौद्रं सनातनम् ।। ४३ ।।
दृष्ट्वा गाण्डीवसंयोगमानीय भरतर्षभ
नमस्कृत्वा त्रिनेत्राय शर्वायामिततेजसे ।। ४४ ।।
मुक्तवान् दानवेन्द्राणां पराभावाय भारत
मुक्तमात्रे ततस्तस्मिन् रूपाण्यासन् सहस्रशः ।। ४५ ।।

शत्रुदमन नरेश! लपलपाती जीभवाले बड़े-बड़े नाग उन दिव्य पुरुषके लिये चीर (वस्त्र) बने हुए थे। भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले उन महादेवजीने सर्पोंका ही यज्ञोपवीत धारण कर रखा था। उनके दर्शनसे मेरा सारा भय जाता रहा। भरतश्रेष्ठ! फिर तो मैंने उस भयंकर एवं सनातन पाशुपतास्त्रको गाण्डीव धनुषपर संयोजित करके अमित तेजस्वी त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकरको नमस्कार किया और उन दानवेन्द्रोंके विनाशके लिये उनपर चला दिया। उस अस्त्रके छूटते ही उससे सहस्रों रूप प्रकट हो गये ।। ४३—४५ ।।

मृगाणामथ सिंहानां व्याघ्राणां च विशाम्पते
ऋक्षाणां महिषाणां च पन्नगानां तथा गवाम् ।। ४६ ।।
शरभाणां गजानां च वानराणां च सङ्घशः
ऋषभाणां वराहाणां मार्जाराणां तथैव च ।। ४७ ।।
शालावृकाणां प्रेतानां भुरुण्डानां च सर्वशः
गृध्राणां गरुडानां च चमराणां तथैव च ।। ४८ ।।
देवानां च ऋषीणां च गन्धर्वाणां च सर्वशः
पिशाचानां सयक्षाणां तथैव च सुरद्विषाम् ।। ४९ ।।
गुह्यकानां च संग्रामे नैर्ऋतानां तथैव च
झषाणां गजवक्त्राणामुलूकानां तथैव च ।। ५० ।।
मीनवाजिसरूपाणां नानाशस्त्रासिपाणिनाम्
तथैव यातुधानानां गदामुद्गरधारिणाम् ।। ५१ ।।

महाराज! मृग, सिंह, व्याघ्र, रीछ, भैंस, नाग, गौ, शरभ, हाथी, वानर, बैल, सूअर, बिलाव, भेड़िये, प्रेत, मुरुण्ड, गिद्ध, गरुड, चमरी गाय, देवता, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, देवद्रोही राक्षस, गुह्यक, निशाचर, मत्स्य, गजमुख, उल्लू, मीन तथा अश्व-जैसे रूपवाले नाना प्रकारके जीवोंका प्रादुर्भाव हुआ। उन सबके हाथमें भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र एवं खड्ग थे। इसी प्रकार गदा और मुद्गर धारण किये बहुत-से यातुधान भी प्रकट हुए ।। ४६—५१ ।।

एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्नानारूपधरैस्तथा
सर्वमासीज्जगद् व्याप्तं तस्मिन्नस्त्रे विसर्जिते ।। ५२ ।।
त्रिशिरोभिश्चतुर्दंष्ट्रैश्चतुरास्यैश्चतुर्भुजैः

अनेकरूपसंयुक्तैर्मांसमेदोवसास्थिभिः ।। ५३ ।।

इन सबके साथ दूसरे भी बहुत-से जीवोंका प्राकट्य हुआ, जिन्होंने नाना प्रकारके रूप धारण कर रखे थे। उन सबके द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त-सा हो गया था। पाशुपतास्त्रका प्रयोग होते ही कोई तीन मस्तक, कोई चार दाढ़ें, कोई चार मुख और कोई चार भुजावाले अनेक रूपधारी प्राणी प्रकट हुए, जो मांस, मेदा, वसा और हड्डियोंसे संयुक्त थे ।। ५२-५३ ।।

अभीक्ष्णं वध्यमानास्ते दानवा नाशमागताः
अर्कज्वलनतेजोभिर्वज्राशनिसमप्रभैः ।। ५४ ।।
अद्रिसारमयैश्चान्यैर्बाणैरपि निबर्हणैः
न्यहनं दानवान् सर्वान् मुहूर्तेनैव भारत ।। ५५ ।।

उन सबके द्वारा गहरी मार पड़नेसे वे सारे दानव नष्ट हो गये। भारत! उस समय सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी तथा वज्र और अशनिके समान प्रकाशित होनेवाले शत्रुविनाशक लोहमय बाणोंद्वारा भी मैंने दो ही घड़ीमें सम्पूर्ण दानवोंका संहार कर डाला ।। ५४-५५ ।।

गाण्डीवास्त्रप्रणुन्नांस्तान् गतासून् नभसश्च्युतान्
दृष्ट्वाहं प्राणमं भूयस्त्रिपुरघ्नाय वेधसे ।। ५६ ।।

गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए अस्त्रोंद्वारा क्षत-विक्षत हो समस्त दानव प्राण त्यागकर आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़े हैं। यह देखकर मैंने पुनः त्रिपुरनाशक भगवान् शंकरको प्रणाम किया ।। ५६ ।।

तथा रौद्रास्त्रनिष्पिष्टान् दिव्याभरणभूषितान्
निशम्य परमं हर्षमगमद् देवसारथिः ।। ५७ ।।

दिव्य आभूषणोंसे विभूषित दानव पाशुपतास्त्रसे पिस गये हैं, यह देखकर देवसारथि मातलिको बड़ा हर्ष हुआ ।। ५७ ।।

तदसह्यं कृतं कर्म देवैरपि दुरासदम्
दृष्ट्वा मां पूजयामास मातलिः शक्रसारथिः ।। ५८ ।।

जो कार्य देवताओंके लिये भी दुष्कर और असह्य था, वह मेरेद्वारा पूरा हुआ देख इन्द्रसारथि मातलिने मेरा बड़ा सम्मान किया ।। ५८ ।।

उवाच वचनं चेदं प्रीयमाणः कृताञ्जलिः
सुरासुरैरसह्यं हि कर्म यत् साधितं त्वया ।। ५९ ।।

और अत्यन्त प्रसन्न हो हाथ जोड़कर कहा—‘अर्जुन! आज तुमने वह कार्य कर दिखाया है जो देवताओं और असुरोंके लिये भी असाध्य था ।। ५९ ।।

न ह्येतत् संयुगे कर्तुमपि शक्तः सुरेश्वरः
(ध्रुवं धनंजय प्रीतस्त्वयि शक्रः पुरार्दन ।)

सुरासुरैरवध्यं हि पुरमेतत् खगं महत् ।। ६० ।।
त्वया विमथितं वीर स्ववीर्यतपसो बलात्

‘साक्षात् देवराज इन्द्र भी युद्धमें यह सब कार्य करनेकी शक्ति नहीं रखते हैं। हिरण्यपुरका विनाश करनेवाले वीरवर धनंजय! निश्चय ही देवराज इन्द्र आज तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न होंगे। वीर! तुमने अपने पराक्रम और तपस्याके बलसे इस आकाशचारी विशाल नगरको तहस-नहस कर डाला, जिसे सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी नष्ट नहीं कर सकते थे’ ।। ६० १/२ ।।

विध्वस्ते खपुरे तस्मिन् दानवेषु हतेषु च ।। ६१ ।।
विनदन्त्यः स्त्रियः सर्वा निष्पेतुर्नगराद् बहिः
प्रकीर्णकेश्यो व्यथिताः कुरर्य इव दुखिताः ।। ६२ ।।

उस आकाशवर्ती नगरका विध्वंस और दानवोंका संहार हो जानेपर वहाँकी सारी स्त्रियाँ विलाप करती हुई नगरसे बाहर निकल आयीं। उनके केश बिखरे हुए थे। वे दुःख और व्यथामें डूबी हुई कुररीकी भाँति करुण-क्रन्दन करती थीं ।। ६१-६२ ।।

पेतुः पुत्रान् पितॄन् भ्रातॄन् शोचमाना महीतले
रुदत्यो दीनकण्ठ्यस्तु निनदन्त्यो हतेश्वराः ।। ६३ ।।
उरांसि परिनिघ्नन्त्यो विस्रस्तस्रग्विभूषणाः

अपने पुत्र, पिता और भाइयोंके लिये शोक करती हुई वे सब-की-सब पृथ्वीपर गिर पड़ीं। जिनके पति मारे गये थे, वे अनाथ अबलाएँ दीनतापूर्ण कष्टसे रोती-चिल्लाती हुई छाती पीट रही थीं। उनके हार और आभूषण इधर-उधर गिर पड़े थे ।। ६३ १/२ ।।

तच्छोकयुक्तमश्रीकं दुःखदैन्यसमाहतम् ।। ६४ ।।
न बभौ दानवपुरं हतत्विट्कं हतेश्वरम्
गन्धर्वनगराकारं हतनागमिव ह्रदम् ।। ६५ ।।
शुष्कवृक्षमिवारण्यमदृश्यमभवत् पुरम्

दानवोंका वह नगर शोकमग्न हो अपनी सारी शोभा खो चुका था। वहाँ दुःख और दीनता व्याप्त हो रही थी। अपने प्रभुओंके मारे जानेसे वह दानव-नगर निष्प्रभ और अशोभनीय हो गया था। गन्धर्व-नगरकी भाँति उसका अस्तित्व अयथार्थ जान पड़ता था। जिसका हाथी मर गया हो, उस सरोवर और जहाँके वृक्ष सूख गये हों, उस वनके समान वह नगर अदर्शनीय हो गया था ।। ६४-६५ १/२ ।।

मां तु संहृष्टमनसं क्षिप्रं मातलिरानयत् ।। ६६ ।।
देवराजस्य भवनं कृतकर्माणमाहवात्

मेरे मनमें तो हर्ष और उत्साह भरा हुआ था। मैंने देवताओंका कार्य पूरा कर दिया था। अतः मातलि उस रणभूमिसे मुझे शीघ्र ही देवराज इन्द्रके भवनमें ले आये ।। ६६ १/२ ।।

हिरण्यपुरमुत्सृज्य निहत्य च महासुरान् ।। ६७ ।।

निवातकवचांश्चैव ततोऽहं शक्रमागमम्

इस प्रकार मैं निवातकवच नामक महादानवोंको (तथा पौलोम और कालकेयोंको) मारकर तथा उजड़े हुए हिरण्यपुरको उसी अवस्थामें छोड़कर वहाँसे इन्द्रके पास आया ।। ६७½ ।।

मम कर्म च देवेन्द्रं मातलिर्विस्तरेण तत् ।। ६८ ।।

सर्वं विश्रावयामास यथाभूतं महाद्युते

महाद्युते! मातलिने मेरा सारा कार्य, जो कुछ जैसे हुआ था, देवराज इन्द्रसे विस्तारपूर्वक कह सुनाया ।।

हिरण्यपुरघातं च मायानां च निवारणम् ।। ६९ ।।

निवातकवचानां च वधं संख्ये महौजसाम्

तच्छ्रुत्वा भगवान् प्रीतः सहस्राक्षः पुरंदरः ।। ७० ।।

मरुद्भिः सहितः श्रीमान् साधु साध्वित्यथाब्रवीत्

(परिष्वज्य च मां प्रेम्णा मूर्ध्नि चाघ्राय सस्मितम् ।)

ततो मां देवराजो वै समाश्वास्य पुनः पुनः ।। ७१ ।।

अब्रवीद् विबुधैः सार्धमिदं स मधुरं वचः

अतिदेवासुरं कर्म कृतमेव त्वया रणे ।। ७२ ।।

हिरण्यपुरका विध्वंस, दानवी मायाका निवारण तथा महाबलवान् निवातकवचोंका युद्धमें वध सुनकर मरुत् आदि देवताओंसहित भगवान् सहस्रलोचन इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हो मुझे साधुवाद देने लगे और मुझे प्रेम पूर्वक हृदयसे लगाकर मुसकराते हुए मेरा मस्तक सूँघा। तत्पश्चात् देवराजने बार-बार मुझे सान्त्वना देते हुए देवताओंके साथ यह मधुर वचन कहा—'पार्थ! तुमने युद्धमें वह कार्य किया है, जो देवताओं और असुरोंके लिये भी असम्भव है ।। ६९—७२ ।।

गुर्वर्थश्च कृतः पार्थ महाशत्रून् घ्नता मम

एवमेव सदा भाव्यं स्थिरेणाजौ धनंजय ।। ७३ ।।

असम्मूढेन चास्त्राणां कर्तव्यं प्रतिपादनम्

अविषह्यो रणे हि त्वं देवदानवराक्षसैः ।। ७४ ।।

'आज तुमने मेरे महान् शत्रुओंका संहार करके गुरुदक्षिणा चुका दी है। धनंजय! इसी प्रकार तुम्हें सदा युद्धभूमिमें अविचल रहना चाहिये और मोहशून्य होकर अस्त्रोंका प्रयोग करना चाहिये। देवता, दानव तथा राक्षस कोई भी युद्धमें तुम्हारा सामना नहीं कर सकता ।। ७३-७४ ।।

सयक्षासुरगन्धर्वैः सपक्षिगणपन्नगैः

वसुधां चापि कौन्तेय त्वद्बाहुबलनिर्जिताम्

पालयिष्यति धर्मात्मा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।। ७५ ।।

'यक्ष, असुर, गन्धर्व, पक्षी तथा नाग भी तुम्हारे सामने नहीं टिक सकते। कुन्तीकुमार! धर्मात्मा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर तुम्हारे बाहुबलसे जीती हुई पृथ्वीका पालन करेंगे ।। ७५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि हिरण्यपुरदैत्यवधे त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें हिरण्यपुरवासी दैत्योंके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका २½ श्लोक मिलाकर कुल ७७½ श्लोक हैं)

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके मुखसे यात्राका वृत्तान्त सुनकर युधिष्ठिरद्वारा उनका अभिनन्दन और दिव्यास्त्रदर्शनकी इच्छा प्रकट करना

अर्जुन उवाच

ततो मामतिविश्वस्तं संरूढशरविक्षतम्
देवराजो विगृह्येदं काले वचनमब्रवीत् ।। १ ।।

अर्जुन कहते हैं—राजन्! तदनन्तर मैं देवराजका अत्यन्त विश्वासपात्र बन गया। धीरे-धीरे मेरे शरीरके सब घाव भर गये। तब एक दिन देवराज इन्द्रने मेरा हाथ पकड़कर कहा— ।। १ ।।

दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि त्वयि तिष्ठन्ति भारत
न त्वाभिभवितुं शक्तो मानुषो भुवि कश्चन ।। २ ।।

'भरतनन्दन! तुममें सब दिव्यास्त्र विद्यमान हैं। भूमण्डलका कोई भी मनुष्य तुम्हें पराजित नहीं कर सकता ।। २ ।।

भीष्मो द्रोणः कृपः कर्णः शकुनिः सह राजभिः
संग्रामस्थस्य ते पुत्र कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।। ३ ।।

'बेटा! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण तथा राजाओंसहित शकुनि—ये सब-के-सब संग्राममें खड़े होनेपर तुम्हारी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते' ।। ३ ।।

इदं च मे तनुत्राणं प्रायच्छन्मघवान् प्रभुः
अभेद्यं कवचं दिव्यं स्रजं चैव हिरण्मयीम् ।। ४ ।।

महाराज! उन देवेश्वर इन्द्रने स्वयं मेरे शरीरकी रक्षा करनेवाला यह अभेद्य दिव्य कवच और यह सुवर्णमयी माला मुझे दी ।। ४ ।।

देवदत्तं च मे शङ्खं पुनः प्रादान्महारवम्
दिव्यं चेदं किरीटं मे स्वयमिन्द्रो युयोज ह ।। ५ ।।

फिर उन्होंने बड़े जोरकी आवाज करनेवाला यह देवदत्त नामक शंख प्रदान किया। स्वयं देवराज इन्द्रने ही यह दिव्य किरीट मेरे मस्तकपर रखा था ।। ५ ।।

ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च
प्रादाच्छक्रो ममैतानि रुचिराणि बृहन्ति च ।। ६ ।।

तत्पश्चात् देवराजने मुझे ये मनोहर एवं विशाल दिव्य वस्त्र तथा दिव्य आभूषण दिये ।। ६ ।।

एवं सम्पूजितस्तत्र सुखमस्म्युषितो नृप
इन्द्रस्य भवने पुण्ये गन्धर्वशिशुभिः सह ।। ७ ।।

महाराज! इस प्रकार सम्मानित होकर मैं उस पवित्र इन्द्रभवनमें गन्धर्वकुमारोंके साथ सुखपूर्वक रहने लगा ।।

ततो मामब्रवीच्छक्रः प्रीतिमानमरैः सह
समयोऽर्जुन गन्तुं ते भ्रातरो हि स्मरन्ति ते ।। ८ ।।

तदनन्तर देवताओंसहित इन्द्रने प्रसन्न होकर मुझसे कहा—'अर्जुन! अब तुम्हारे जानेका समय आ गया है; क्योंकि तुम्हारे भाई तुम्हें बहुत याद करते हैं' ।। ८ ।।

एवमिन्द्रस्य भवने पञ्च वर्षाणि भारत
उषितानि मया राजन् स्मरता द्यूतजं कलिम् ।। ९ ।।

भारत! इस प्रकार द्यूतजनित कलहका स्मरण करते हुए मैंने इन्द्रभवनमें पाँच वर्ष व्यतीत किये हैं ।। ९ ।।

ततो भवन्तमद्राक्षं भ्रातृभिः परिवारितम्
गन्धमादनपादस्य पर्वतस्यास्य मूर्धनि ।। १० ।।

इसके बाद इस गन्धमादनकी शाखाभूत इस पर्वतके शिखरपर भाइयोंसहित आपका दर्शन किया है ।। १० ।।

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या धनंजयास्त्राणि त्वया प्राप्तानि भारत
दिष्ट्या चाराधितो राजा देवानामीश्वरः प्रभुः ।। ११ ।।
दिष्ट्या च भगवान् स्थाणुर्देव्या सह परंतप
साक्षाद् दृष्टः स्वयुद्धेन तोषितश्च त्वयानघ ।। १२ ।।

युधिष्ठिर बोले—धनंजय! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुमने दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये। भारत! यह भी भाग्यकी ही बात है कि तुमने देवताओंके स्वामी राजराजेश्वर इन्द्रको आराधनाद्वारा प्रसन्न कर लिया। निष्पाप परंतप! सबसे बड़ी सौभाग्यकी बात तो यह है कि तुमने देवी पार्वतीके साथ साक्षात् भगवान् शंकरका दर्शन किया और उन्हें अपनी युद्धकलासे संतुष्ट कर लिया ।। ११-१२ ।।

दिष्ट्या च लोकपालैस्त्वं समेतो भरतर्षभ
दिष्ट्या वर्धामहे पार्थ दिष्ट्यासि पुनरागतः ।। १३ ।।

भरतश्रेष्ठ! समस्त लोकपालोंके साथ तुम्हारी भेंट हुई, यह भी हमारे लिये सौभाग्यका सूचक है। हमारा अहोभाग्य है कि हम उन्नतिके पथपर अग्रसर हो रहे हैं। अर्जुन! हमारे भाग्यसे ही तुम पुनः हमारे पास लौट आये ।। १३ ।।

अद्य कृत्स्नां महीं देवीं विजितां पुरमालिनीम्

मन्ये च धृतराष्ट्रस्य पुत्रानपि वशीकृतान् ।। १४ ।।

आज मुझे यह विश्वास हो गया कि हम नगरोंसे सुशोभित समूची वसुधादेवीको जीत लेंगे। अब हम धृतराष्ट्रके पुत्रोंको भी अपने वशमें पड़ा हुआ ही मानते हैं ।। १४ ।।

इच्छामि तानि चास्त्राणि द्रष्टुं दिव्यानि भारत
यैस्तथा वीर्यवन्तस्ते निवीतकवचा हतः ।। १५ ।।

भारत! अब मेरी इच्छा उन दिव्यास्त्रोंको देखनेकी हो रही है, जिनके द्वारा तुमने उस प्रकारके उन महापराक्रमी निवातकवचोंका विनाश किया है ।। १५ ।।

अर्जुन उवाच

श्वः प्रभाते भवान् द्रष्टा दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः
निवातकवचा घोरा यैर्मया विनिपातिताः ।। १६ ।।

अर्जुन बोले—महाराज! कल सबेरे आप उन सब दिव्यास्त्रोंको देखियेगा जिनके द्वारा मैंने भयानक निवातकवचोंको मार गिराया है ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमागमनं तत्र कथयित्वा धनंजयः
भ्रातृभिः सहितः सर्वै रजनीं तामुवास ह ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार अपने आगमनका वृत्तान्त सुनाकर सब भाइयोंसहित अर्जुनने वहाँ वह रात व्यतीत की ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि अस्त्रदर्शनसंकेते चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें अस्त्रदर्शनके लिये संकेतविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७४ ।।

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

नारद आदिका अर्जुनको दिव्यास्त्रोंके प्रदर्शनसे रोकना

वैशम्पायन उवाच

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां धर्मराजो युधिष्ठिरः
उत्थायावश्यकार्याणि कृतवान् भ्रातृभिः सह ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब वह रात बीत गयी तब धर्मराज युधिष्ठिरने भाइयोंसहित उठकर आवश्यक नित्यकर्म पूरे किये ।। १ ।।

ततः संचोदयामास सोऽर्जुनं भ्रातृनन्दनम्
दर्शयास्त्राणि कौन्तेय यैर्जिता दानवास्त्वया ।। २ ।।

तत्पश्चात् उन्होंने भाइयोंको सुख पहुँचानेवाले अर्जुनको आज्ञा दी—'कुन्तीनन्दन! अब तुम उन दिव्यास्त्रोंका दर्शन कराओ जिनसे तुमने दानवोंपर विजय पायी है' ।। २ ।।

ततो धनंजयो राजन् देवैर्दत्तानि पाण्डवः
अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शयामास भारत ।। ३ ।।

राजन्! तब पाण्डुनन्दन अर्जुनने देवताओंके दिये हुए उन दिव्य अस्त्रोंको दिखानेका आयोजन किया ।। ३ ।।

यथान्यायं महातेजाः शौचं परममास्थितः
(नमस्कृत्य त्रिनेत्राय वासवाय च पाण्डवः ।)
गिरिकूबरपादाक्षं शुभवेणु त्रिवेणुमत् ।। ४ ।।
पार्थिवं रथमास्थाय शोभमानो धनंजयः
दिव्येन संवृतस्तेन कवचेन सुवर्चसा ।। ५ ।।
धनुरादाय गाण्डीवं देवदत्तं स वारिजम्
शोशुभ्यमानः कौन्तेय आनुपूर्व्यान्महाभूजः ।। ६ ।।
अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शनायोपचक्रमे
अथ प्रयोक्ष्यमाणेषु दिव्येष्वस्त्रेषु तेषु वै ।। ७ ।।
समाक्रान्ता मही पद्भ्यां समकम्पत सद्रुमा
क्षुभिताः सरितश्चैव तथैव च महोदधिः ।। ८ ।।

महातेजस्वी अर्जुन पहले तो विधिपूर्वक स्नान करके शुद्ध हुए। फिर त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकर और इन्द्रको नमस्कार करके उन्होंने वह अत्यन्त तेजस्वी दिव्य कवच धारण किया। तत्पश्चात् वे पृथ्वीरूपी रथपर आरूढ़ हो बड़ी शोभा पाने लगे। पर्वत ही उस रथका कूबर था, दोनों पैर ही पहिये थे और सुन्दर बाँसोंका वन ही त्रिवेणु (रथके अंगविशेष)-का काम देता था। तदनन्तर महाबाहु कुन्तीनन्दन अर्जुनने एक हाथमें गाण्डीव धनुष और

दूसरेमें देवदत्त शंख ले लिया। इस प्रकार वीरोचित वेशसे सुशोभित हो उन्होंने क्रमशः उन दिव्यास्त्रोंको दिखाना आरम्भ किया। जिस समय उन दिव्यास्त्रोंका प्रयोग प्रारम्भ होने जा रहा था, उसी समय अर्जुनके पैरोंसे दबी हुई पृथ्वी वृक्षोंसहित काँपने लगी। नदियों और समुद्रोंमें उफान आ गया ।। ४—८ ।।

शैलाश्चापि व्यदीर्यन्त न ववौ च समीरणः
न बभासे सहस्रांशुर्न जज्वाल च पावकः ।। ९ ।।

पर्वत विदीर्ण होने लगे और हवाकी गति रुक गयी। सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी और आगका जलना बंद हो गया ।। ९ ।।

न वेदाः प्रतिभान्ति स्म द्विजातीनां कथंचन
अन्तर्भूमिगता ये च प्राणिनो जनमेजय ।। १० ।।
पीड्यमानाः समुत्थाय पाण्डवं पर्यवारयन्
वेपमानाः प्राञ्जलयस्ते सर्वे विकृताननाः ।। ११ ।।
दह्यमानास्तदास्त्रैस्ते याचन्ति स्म धनंजयम्
ततो ब्रह्मर्षयश्चैव सिद्धा ये च महर्षयः ।। १२ ।।
जङ्गमानि च भूतानि सर्वाण्येवावतस्थिरे
देवर्षयश्च प्रवरास्तथैव च दिवौकसः ।। १३ ।।
यक्षराक्षसगन्धर्वास्तथैव च पतत्त्रिणः
खेचराणि च भूतानि सर्वाण्येवावतस्थिरे ।। १४ ।।

द्विजातियोंको किसी प्रकार भी वेदोंका भान नहीं हो पाता था। जनमेजय! भूमिके भीतर जो प्राणी निवास करते थे, वे भी पीड़ित हो उठे और अर्जुनको सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये। उन सबके मुखपर विकृति आ गयी थी। वे हाथ जोड़े हुए थर-थर काँप रहे थे और अस्त्रोंके तेजसे संतप्त हो धनंजयसे प्राणोंकी भिक्षा माँग रहे थे। इसी समय ब्रह्मर्षि, सिद्ध महर्षि, समस्त जंगम प्राणी, श्रेष्ठ देवर्षि, देवता, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पक्षी तथा आकाशचारी प्राणी सभी वहाँ आकर उपस्थित हो गये ।। १०—१४ ।।

ततः पितामहश्चैव लोकपालाश्च सर्वशः
भगवांश्च महादेवः सगणोऽभ्याययौ तदा ।। १५ ।।

इसके बाद ब्रह्माजी, समस्त लोकपाल तथा भगवान् महादेव अपने गणोंसहित वहाँ आये ।। १५ ।।

ततो वायुर्महाराज दिव्यैर्माल्यैः सुगन्धिभिः
अभितः पाण्डवं चित्रैरवचक्रे समन्ततः ।। १६ ।।

महाराज! तदनन्तर वायुदेव पाण्डुनन्दन अर्जुनपर सब ओरसे विचित्र सुगन्धित दिव्य मालाओंकी वृष्टि करने लगे ।। १६ ।।

जगुश्च गाथा विविधा गन्धर्वाः सुरचोदिताः

ननृतुः सङ्घशश्चैव राजन्नप्सरसां गणाः ।। १७ ।।

राजन्! देवप्रेरित गन्धर्व नाना प्रकारकी गाथाएँ गाने लगे और झुंड-की-झुंड अप्सराएँ नृत्य करने लगीं ।। १७ ।।

तस्मिंश्च तादृशे काले नारदश्चोदितः सुरैः
आगम्याह वचः पार्थं श्रवणीयमिदं नृप ।। १८ ।।
अर्जुनार्जुन मा युङ्क्ष्व दिव्यान्यस्त्राणि भारत
नैतानि निरधिष्ठाने प्रयुज्यन्ते कथंचन ।। १९ ।।

नराधिप! उस समय देवताओंके कहनेसे देवर्षि नारद अर्जुनके पास आये और उनसे यह सुननेयोग्य बात कहने लगे—‘अर्जुन! अर्जुन! इस समय दिव्यास्त्रोंका प्रयोग न करो। भारत! ये दिव्य अस्त्र किसी लक्ष्यके बिना कदापि नहीं छोड़े जाते ।। १८-१९ ।।

अधिष्ठाने न वाऽनार्तः प्रयुञ्जीत कदाचन
प्रयोगेषु महान् दोषो ह्यस्त्राणां कुरुनन्दन ।। २० ।।

‘कोई लक्ष्य मिल जाय तो भी ऐसा मनुष्य कभी इनका प्रयोग न करे, जो स्वयं संकटमें न पड़ा हो। कुरुनन्दन! इन दिव्यास्त्रोंका अनुचितरूपमें प्रयोग करनेपर महान् दोष प्राप्त होता है ।। २० ।।

एतानि रक्ष्यमाणानि धनंजय यथागमम्

बलवन्ति सुखार्हाणि भविष्यन्ति न संशयः ।। २१ ।।

‘धनंजय! शास्त्रके अनुसार सुरक्षित रखे जानेपर ही ये अस्त्र सबल और सुखदायक होते हैं, इसमें संशय नहीं है ।। २१ ।।

अरक्ष्यमाणान्येतानि त्रैलोक्यस्यापि पाण्डव
भवन्ति स्म विनाशाय मैवं भूयः कृथाः क्वचित् ।। २२ ।।
अजातशत्रो त्वं चैव द्रक्ष्यसे तानि संयुगे
योज्यमानानि पार्थेन द्विषतामवमर्दने ।। २३ ।।

‘पाण्डुपुत्र! इनकी समुचित रक्षा न होनेपर ये दिव्यास्त्र तीनों लोकोंके विनाशके कारण बन जाते हैं। अतः फिर कभी इस तरह इनके प्रदर्शनका साहस न करना। अजातशत्रु युधिष्ठिर! (आप भी इस समय इन्हें देखनेका आग्रह छोड़ दें।) जब रणक्षेत्रमें शत्रुओंके संहारका अवसर आयगा, उस समय अर्जुनके द्वारा प्रयोगमें लाये जानेपर इन दिव्यास्त्रोंका दर्शन कीजियेगा’ ।। २२-२३ ।।

वैशम्पायन उवाच

निवार्याथ ततः पार्थं सर्वे देवा यथागतम्
जग्मुरन्ये च ये तत्र समाजग्मुर्नरर्षभ ।। २४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ! इस प्रकार अर्जुनको दिव्यास्त्रोंके प्रदर्शनसे रोककर सम्पूर्ण देवता तथा अन्य सभी प्राणी जैसे आये थे वैसे लौट गये ।।

तेषु सर्वेषु कौरव्य प्रतियातेषु पाण्डवाः
तस्मिन्नेव वने हृकास्त ऊषुः सह कृष्णया ।। २५ ।।

कुरुनन्दन! उन सबके चले जानेपर सब पाण्डव द्रौपदीके साथ बड़े हर्षपूर्वक उसी वनमें रहने लगे ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि निवातकवचयुद्धपर्वणि अस्त्रदर्शने पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत निवातकवचयुद्धपर्वमें अस्त्रदर्शनविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७५ ।।

(आजगरपर्व)

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनकी युधिष्ठिरसे बातचीत और पाण्डवोंका गन्धमादनसे प्रस्थान

जनमेजय उवाच

तस्मिन् कृतास्त्रे रथिनां प्रवीरे
प्रत्यागते भवनाद् वृत्रहन्तुः
अतः परं किमकुर्वन्त पार्थाः
समेत्य शूरेण धनंजयेन ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—भगवन्! रथियोंमें श्रेष्ठ महावीर अर्जुन जब इन्द्रभवनसे दिव्यास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके लौट आये, तब उनसे मिलकर कुन्तीकुमारोंने पुनः कौन-सा कार्य किया? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

वनेषु तेष्वेव तु ते नरेन्द्राः
सहार्जुनेनेन्द्रसमेन वीराः
तस्मिंश्च शैलप्रवरे सुरम्ये
धनेश्वराक्रीडगता विजह्रुः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! वे नरश्रेष्ठ वीर पाण्डव इन्द्रतुल्य पराक्रमी अर्जुनके साथ उस परम रमणीय शैलशिखरपर कुबेरकी क्रीड़ाभूमिके अन्तर्गत उन्हीं वनोंमें सुखसे विहार करने लगे ।। २ ।।

वेश्मानि तान्यप्रतिमानि पश्यन्
क्रीडाश्च नानाद्रुमसंनिबद्धाः
चचार धन्वी बहुधा नरेन्द्रः
सोऽस्त्रेषु यत्तः सततं किरीटी ।। ३ ।।

वहाँ कुबेरके अनुपम भवन बने हुए थे। नाना प्रकारके वृक्षोंके निकट अनेक प्रकारके खेल होते रहते थे। उन सबको देखते हुए किरीटधारी अर्जुन बहुधा वहाँ विचरा करते और हाथमें धनुष लेकर सदा अस्त्रोंके अभ्यासमें संलग्न रहते थे ।। ३ ।।

अवाप्य वासं नरदेवपुत्राः
प्रसादजं वैश्रवणस्य राज्ञः
न प्राणिनां ते स्पृहयन्ति राजन्
शिवश्च कालः स बभूव तेषाम् ।। ४ ।।

राजन्! राजकुमार पाण्डवोंको राजाधिराज कुबेरकी कृपासे वहाँका निवास प्राप्त हुआ था। वे वहाँ रहकर भूतलके अन्य प्राणियोंके ऐश्वर्य-सुखकी अभिलाषा नहीं रखते थे। उनका वह समय बड़े सुखसे बीत रहा था ।।

समेत्य पार्थेन यथैकरात्र-
मूषुः समास्तत्र तदा चतस्रः
पूर्वाश्च षट् ता दश पाण्डवानां
शिवा बभूवुर्वसतां वनेषु ।। ५ ।।

वे अर्जुनके साथ वहाँ चार वर्षोंतक रहे, परंतु उनको वह समय एक रातके समान ही प्रतीत हुआ। पहलेके छः वर्ष तथा वहाँके चार वर्ष इस प्रकार सब मिलाकर पाण्डवोंके वनवासके दस वर्ष आनन्दपूर्वक बीत गये ।। ५ ।।

ततोऽब्रवीद् वायुसुतस्तरस्वी
जिष्णुश्च राजानमुपोपविश्य
यमौ च वीरौ सुरराजकल्पा-
वेकान्तमास्थाय हितं प्रियं च ।। ६ ।।

तदनन्तर एक दिन अर्जुन तथा वीरवर नकुल-सहदेव, जो देवराजके समान पराक्रमी थे, एकान्तमें राजा युधिष्ठिरके पास बैठे थे। उस समय वेगशाली वायुपुत्र भीमसेन यह हितकर एवं प्रिय वचन बोले— ।। ६ ।।

तव प्रतिज्ञां कुरुराज सत्यां
चिकीर्षमाणास्तदनु प्रियं च
ततो न गच्छाम वनान्यपास्य
सुयोधनं सानुचरं निहन्तुम् ।। ७ ।।

'कुरुराज! आपकी प्रतिज्ञाको सत्य करनेकी इच्छासे और आपका प्रिय करनेकी अभिलाषा रखनेके कारण हमलोग यह वनवास छोड़कर दुर्योधनका अनुचरोंसहित वध करने नहीं जा रहे हैं ।। ७ ।।

एकादशं वर्षमिदं वसामः
सुयोधनेनात्तसुखाः सुखार्हाः
तं वञ्चयित्वाधमबुद्धिशील-
मज्ञातवासं सुखमाप्नुयाम ।। ८ ।।

'अब हमारे निवासका यह ग्यारहवाँ वर्ष चल रहा है। हमलोग सुख भोगनेके अधिकारी थे, परन्तु दुर्योधनने हमारा सुख छीन लिया। उसकी बुद्धि तथा स्वभाव अत्यन्त अधम है। उस दुष्टको धोखा देकर हम अपने अज्ञातवासका समय भी सुखपूर्वक बिता लेंगे ।। ८ ।।

तवाज्ञया पार्थिव निर्विशङ्का
विहाय मानं विचरन् वनानि
समीपवासेन विलोभितास्ते
ज्ञास्यन्ति नास्मानपकृष्टदेशान् ।। ९ ।।

'भूपशिरोमणे! आपकी आज्ञासे हम मानापमानका विचार छोड़कर निःशंक हो वनमें विचरते रहेंगे। पहले किसी निकटवर्ती स्थानमें रहकर दुर्योधन आदिके मनमें वहीं खोज करनेका लोभ उत्पन्न करेंगे और फिर वहाँसे दूर देशमें चले जायँगे, जिससे उन्हें हमारा पता न लग सकेगा ।। ९ ।।

संवत्सरं तत्र विहृत्य गूढं
नराधमं तं सुखमुद्धरेम
निर्यात्य वैरं सफलं सपुष्पं
तस्मै नरेन्द्राधमपूरुषाय ।। १० ।।
सुयोधनायानुचरैर्वृताय
ततो महीमावस धर्मराज
स्वर्गोपमं देशमिमं चरद्भिः
शक्यो विहन्तुं नरदेव शोकः ।। ११ ।।

'वहाँ एक वर्षतक गुप्तरूपसे निवास करके जब हम लौटेंगे, तब अनायास ही उस नराधम दुर्योधनकी जड़ उखाड़ देंगे। नरेन्द्र! नीच दुर्योधन आज अपने अनुचरोंसे घिरकर सुखी हो रहा है। उसने जो वैरका वृक्ष लगा रखा है, उसे हम फल-फूलसहित उखाड़ फेकेंगे और उससे वैरका बदला लेंगे। अतः धर्मराज! आप यहाँसे चलकर पृथ्वीपर निवास करें। नरदेव! इसमें संदेह नहीं कि हमलोग इस स्वर्गतुल्य प्रदेशमें विचरते रहनेपर भी अपना सारा शोक अनायास ही निवृत्त कर सकते हैं ।। १०-११ ।।

कीर्तिस्तु ते भारत पुण्यगन्धा
नश्येद्धि लोकेषु चराचरेषु
तत् प्राप्य राज्यं कुरुपुङ्गवानां
शक्यं महत् प्राप्तुमथ क्रियाश्च ।। १२ ।।
इदं तु शक्यं सततं नरेन्द्र
प्राप्तुं त्वया यल्लभसे कुबेरात्
कुरुष्व बुद्धिं द्विषतां वधाय
कृतागसां भारत निग्रहे च ।। १३ ।।

‘परंतु ऐसा होनेपर चराचर जगत्‌में आपकी पुण्यमयी कीर्ति नष्ट हो जायगी। इसलिये कुरुवंश-शिरोमणि अपने पूर्वजोंके उस महान् राज्यको प्राप्त करके ही हम और कोई सत्कर्म करनेयोग्य हो सकते हैं। भरतकुलभूषण महाराज! आप कुबेरसे जो सम्मान या अनुग्रह प्राप्त कर रहे हैं, इसे तो सदा ही प्राप्त कर सकते हैं। इस समय तो अपराधी शत्रुओंको मारने और दण्ड देनेका निश्चय कीजिये ।। १२-१३ ।।

तेजस्तवोग्रं न सहेत राजन्
समेत्य साक्षादपि वज्रपाणिः
न हि व्यथां जातु करिष्यतस्तौ
समेत्य देवैरपि धर्मराज ।। १४ ।।
तवार्थसिद्ध्यर्थमपि प्रवृत्तौ
सुपर्णकेतुश्च शिनेश्च नप्ता
तथैव कृष्णोऽप्रतिमो बलेन
तथैव चाहं नरदेववर्य ।। १५ ।।
तवार्थसिद्ध्यर्थमभिप्रपन्नो
यथैव कृष्णः सह यादवैस्तैः
तथैव चाहं नरदेववर्य
यमौ च वीरौ कृतिनौ प्रयोगे ।। १६ ।।

‘राजन्! साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी आपसे भिड़कर आपके भयंकर तेजको नहीं सह सकते। धर्मराज! आपका कार्य सिद्ध करनेके लिये दो वीर सदा प्रयत्न करते हैं! गरुडध्वज भगवान् श्रीकृष्ण और शिनिके नाती वीरवर सात्यकि। ये दोनों आपके लिये देवताओंसे भी युद्ध करनेमें कभी कष्टका अनुभव नहीं करेंगे। नरदेवशिरोमणे! इन्हीं दोनोंके समान अर्जुन भी बल और पराक्रममें अपना सानी नहीं रखते। इसी प्रकार मैं भी बलमें किसीसे कम नहीं हूँ। जैसे भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण यादवोंके साथ आपके प्रत्येक कार्यकी सिद्धिके लिये उद्यत रहते हैं, उसी प्रकार मैं, अर्जुन तथा अस्त्रोंके प्रयोगमें कुशल वीर नकुल-सहदेव भी आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा संनद्ध रहा करते हैं ।। १४—१६ ।।

त्वदर्थयोगप्रभवप्रधानाः
शमं करिष्याम परान् समेत्य ।। १६½ ।।

आपको धनकी प्राप्ति हो और आपका ऐश्वर्य बढ़े, यही हमारा प्रधान लक्ष्य है। अतः हमलोग शत्रुओंसे भिड़कर वैरकी शान्ति करेंगे ।। १६½ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा
तेषां च धर्मस्य सुतो वरिष्ठः ।। १७ ।।

प्रदक्षिणं वैश्रवणाधिवासं
चकार धर्मार्थविदुत्तमौजाः
आमन्त्र्य वेश्मानि नदीः सरांसि
सर्वाणि रक्षांसि च धर्मराजः ।। १८ ।।
यथागतं मार्गमवेक्षमाणः
पुनर्गिरिं चैव निरीक्षमाणः
ततो महात्मा स विशुद्धबुद्धिः
सम्प्रार्थयामास नगेन्द्रवर्यम् ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले उत्तम ओजसे सम्पन्न श्रेष्ठ महात्मा धर्मपुत्र युधिष्ठिरने उस समय उन सबके अभिप्रायको जानकर कुबेरके निवासस्थान उस गन्धमादन पर्वतकी प्रदक्षिणा की। फिर उन्होंने वहाँके भवनों, नदियों, सरोवरों तथा समस्त राक्षसोंसे विदा ली। इसके बाद वे जिस मार्गसे आये थे, उसकी ओर देखने लगे। तदनन्तर उन विशुद्धबुद्धि महात्मा युधिष्ठिरने पुनः गन्धमादन पर्वतकी ओर देखते हुए उस श्रेष्ठ गिरिराजसे इस प्रकार प्रार्थना की ।। १७—१९ ।।

समाप्तकर्मा सहितः सुहृद्भि-
र्जित्वा सपत्नान् प्रतिलभ्य राज्यम्
शैलेन्द्र भूयस्तपसे जितात्मा
द्रष्टा तवास्मीति मतिं चकार ।। २० ।।

'शैलेन्द्र! अब अपने मन और बुद्धिको संयममें रखनेवाला मैं शत्रुओंको जीतकर अपना खोया हुआ राज्य पानेके बाद सुहृदोंके साथ अपना सब कार्य सम्पन्न करके पुनः तपस्याके लिये लौटनेपर आपका दर्शन करूँगा'। इस प्रकार युधिष्ठिरने निश्चय किया ।। २० ।।

वृतश्च सर्वैरनुजैर्द्विजैश्च
तेनैव मार्गेण पतिः कुरूणाम्
उवाह चैतान् गणशस्तथैव
घटोत्कचः पर्वतनिर्झरेषु ।। २१ ।।

तत्पश्चात् समस्त भाइयों और ब्रह्माणोंसे घिरे हुए कुरुराज युधिष्ठिर उसी मार्गसे नीचे उतरने लगे जहाँ दुर्गम पर्वत और झरने पड़ते थे, वहाँ घटोत्कच अपने गणोंसहित आकर पहलेकी तरह इन सबको पीठपर बिठा वहाँसे पार कर देता था ।। २१ ।।

तान् प्रस्थितान् प्रीतमना महर्षिः
पितेव पुत्राननुशिष्य सर्वान्
स लोमशः प्रीतमना जगाम
दिवौकसां पुण्यतमं निवासम् ।। २२ ।।

महर्षि लोमशने जब पाण्डवोंको वहाँसे प्रस्थान करते देखा, तब जिस प्रकार दयालु पिता अपने पुत्रोंको उपदेश देता है वैसे ही उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर सबको उत्तम उपदेश दिया। फिर मन-ही-मन प्रसन्नताका अनुभव करते हुए वे देवताओंके परम पवित्र स्थानको चले गये ।। २२ ।।

तेनार्ष्टिषेणेन तथानुशिष्टा-
स्तीर्थानि रम्याणि तपोवनानि
महान्ति चान्यानि सरांसि पार्थाः
सम्पश्यमानाः प्रययुर्नराग्रयाः ।। २३ ।।

इसी प्रकार राजर्षि आर्ष्टिषेणने भी उन सबको उपदेश दिया। तत्पश्चात् वे नरश्रेष्ठ पाण्डव पवित्र तीर्थों, मनोहर तपोवनों और अन्य बड़े-बड़े सरोवरोंका दर्शन करते हुए आगे बढ़े ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि गन्धमादनप्रस्थाने षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें गन्धमादनसे प्रस्थानविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७६ ।।

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका गन्धमादनसे बदरिकाश्रम, सुबाहुनगर और विशाखयूप वनमें होते हुए सरस्वती-तटवर्ती द्वैतवनमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

नगोत्तमं प्रस्रवणैरुपेतं
दिशां गजैः किन्नरपक्षिभिश्च
सुखं निवासं जहतां हि तेषां
न प्रीतिरासीद् भरतर्षभाणाम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पर्वतश्रेष्ठ गन्धमादन अनेकानेक निर्झरोंसे सुशोभित तथा दिग्गजों, किन्नरों और पक्षियोंसे सुसेवित होनेके कारण भरतवंशियों-में श्रेष्ठ पाण्डवोंके लिये एक सुखदायक निवास था, उसे छोड़ते समय उनका मन प्रसन्न नहीं था ।। १ ।।

ततस्तु तेषां पुनरेव हर्षः
कैलासमालोक्य महान् बभूव
कुबेरकान्तं भरतर्षभाणां
महीधरं वारिधरप्रकाशम् ।। २ ।।

तत्पश्चात् कुबेरके प्रिय भूधर कैलाशको, जो श्वेत बादलोंके समान प्रकाशित हो रहा था, देखकर भरतकुलभूषण पाण्डुपुत्रोंको पुनः महान् हर्ष प्राप्त हुआ ।।

समुच्छ्रयान् पर्वतसंनिरोधान्
गोष्ठान् हरीणां गिरिसेतुमालाः
बहून् प्रपातांश्च समीक्ष्य वीराः
स्थलानि निम्नानि च तत्र तत्र ।। ३ ।।

तथैव चान्यानि महावनानि
मृगद्विजानेकपसेवितानि
आलोकयन्तोऽभिययुः प्रतीता-
स्ते धन्विनः खड्गधरा नराग्रयाः ।। ४ ।।

नरश्रेष्ठ पाण्डव अपने हाथोंमें खड्ग और धनुष लिये हुए थे। वे ऊँचाई, पर्वतोंके सकरे स्थान, सिंहोंकी मादें, पर्वतीय नदियोंको पार करनेके लिये बने हुए पुल, बहुत-से झरने और नीची भूमियोंको जहाँ-तहाँ देखते हुए तथा मृग, पक्षी एवं हाथियोंसे सेवित दूसरे-दूसरे विशाल वनोंका अवलोकन करते हुए विश्वासपूर्वक आगे बढ़ने लगे ।। ३-४ ।।

वनानि रम्याणि नदीः सरांसि
गुहा गिरीणां गिरिगह्वराणि
एते निवासाः सततं बभूवु-
र्दिवानिशं प्राप्य नरर्षभाणाम् ।। ५ ।।

पुरुषरत्न पाण्डव कभी रमणीय वनोंमें, कभी सरोवरोंके किनारे, कभी नदियोंके तटपर और कभी पर्वतोंकी छोटी-बड़ी गुफाओंमें दिन या रातके समय ठहरते जाते थे। सदा ऐसे ही स्थानोंमें उनका निवास होता था ।। ५ ।।

ते दुर्गवासं बहुधा निरुष्य
व्यतीत्य कैलासमचिन्त्यरूपम्
आसेदुरत्यर्थमनोरमं ते
तमाश्रमाग्र्यं वृषपर्वणस्तु ।। ६ ।।

अनेक बार दुर्गम स्थानोंमें निवास करके अचिन्त्यरूप कैलासपर्वतको पीछे छोड़कर वे पुनः वृषपर्वाके अत्यन्त मनोरम उस श्रेष्ठ आश्रममें आ पहुँचे ।। ६ ।।

समेत्य राज्ञा वृषपर्वणा ते
प्रत्यर्चितास्तेन च वीतमोहाः
शशंसिरे विस्तरशः प्रवासं
गिरौ यथावद् वृषपर्वणस्ते ।। ७ ।।

वहाँ राजा वृषपर्वासे मिलकर और उनसे भलीभाँति पूजित होकर उन सबका शोक-मोह दूर हो गया। फिर उन्होंने वृषपर्वासे गन्धमादन पर्वतपर अपने रहनेके वृत्तान्तका यथार्थरूपसे एवं विस्तारपूर्वक वर्णन किया ।।

सुखोषितास्तस्य त एकरात्रं
पुण्याश्रमे देवमहर्षिजुष्टे
अभ्याययुस्ते बदरीं विशालां
सुखेन वीराः पुनरेव वासम् ।। ८ ।।

उस पवित्र आश्रममें देवता और महर्षि निवास किया करते थे। वहाँ एक रात सुखपूर्वक रहकर वे वीर पाण्डव फिर विशालापुरीके बदरिकाश्रमतीर्थमें चले आये और वहाँ बड़े आनन्दसे रहे ।। ८ ।।

ऊषुस्ततस्तत्र महानुभावा
नारायणस्थानगताः समग्राः
कुबेरकान्तां नलिनीं विशोकाः
सम्पश्यमानाः सुरसिद्धजुष्टाम् ।। ९ ।।

तत्पश्चात् वहाँ भगवान् नर-नारायणके क्षेत्रमें आकर सभी महानुभाव पाण्डवोंने सुखपूर्वक निवास किया और शोकरहित हो कुबेरकी उस प्रिय पुष्करिणीका दर्शन किया,

जिसका सेवन देवता और सिद्ध पुरुष किया करते हैं ।।

तां चाथ दृष्ट्वा नलिनीं विशोकाः
पाण्डोः सुताः सर्वनरप्रधानाः
ते रेमिरे नन्दनवासमेत्य
द्विजर्षयो वीतमला यथैव ।। १० ।।

सम्पूर्ण मनुष्योंमें श्रेष्ठ वे पाण्डुपुत्र उस पुष्करिणीका दर्शन करके शोकरहित हो वहाँ इस प्रकार आनन्दका अनुभव करने लगे, मानो निर्मल ब्रह्मर्षिगण इन्द्रके नन्दनवनमें सानन्द विचर रहे हों ।। १० ।।

ततः क्रमेणोपययुर्नृवीरा
यथागतेनैव पथा समग्राः
विहृत्य मासं सुखिनो बदर्यां
किरातराज्ञो विषयं सुबाहोः ।। ११ ।।

इसके बाद वे सारे नरवीर जिस मार्गसे आये थे, क्रमशः उसी मार्गसे चल दिये। बदरिकाश्रममें एक मासतक सुखपूर्वक विहार करके उन्होंने किरातनरेश सुबाहुके राज्यकी ओर प्रस्थान किया ।। ११ ।।

पीनांस्तुषारान् दरदांश्च सर्वान्
देशान् कुलिन्दस्य च भूमिरत्नान्
अतीत्य दुर्गं हिमवत्प्रदेशं
पुरं सुबाहोर्ददृशुर्नृवीराः ।। १२ ।।

कुलिन्दके तुषार, दरद आदि धन-धान्यसे युक्त और प्रचुर रत्नोंसे सम्पन्न देशोंको लाँघते हुए हिमालयके दुर्गम स्थानोंको पार करके उन नरवीरोंने राजा सुबाहुका नगर देखा ।। १२ ।।

श्रुत्वा च तान् पार्थिवपुत्रपौत्रान्
प्राप्तान् सुबाहुर्विषये समग्रान्
प्रत्युद्ययौ प्रीतियुतः स राजा
तं चाभ्यनन्दन् वृषभाः कुरूणाम् ।। १३ ।।

राजा सुबाहुने जब सुना कि मेरे राज्यमें राजपुत्र पाण्डवगण पधारे हुए हैं, तब बहुत प्रसन्न होकर नगरसे बाहर आ उसने उन सबकी अगवानी की। फिर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदिने भी उनका बड़ा समादर किया ।। १३ ।।

समेत्य राज्ञा तु सुबाहुना ते
सूतैर्विशोकप्रमुखैश्च सर्वे
सहेन्द्रसेनैः परिचारिकैश्च
पौरोगवैर्ये च महानसस्थाः ।। १४ ।।

राजा सुबाहुसे मिलकर वे विशोक आदि अपने सारथियों, इन्द्रसेन आदि परिचारकों, अग्रगामी सेवकों तथा रसोइयोंसे भी मिले ।। १४ ।।

सुखोषितास्तत्र त एकरात्रं
सूतान् समादाय रथांश्च सर्वान्
घटोत्कचं सानुचरं विसृज्य
ततोऽभ्ययुर्यामुनमद्रिराजम् ।। १५ ।।

वहाँ उन सबने एक रात बड़े सुखसे निवास किया। पाण्डवोंने अपने सारे सारथियों तथा रथोंको साथ ले लिया और अनुचरोंसहित घटोत्कचको विदा करके वहाँसे पर्वतराजको प्रस्थान किया जहाँ यमुनाका उद्‌गम-स्थान है ।। १५ ।।

तस्मिन् गिरौ प्रस्रवणोपपन्न-
हिमोत्तरीयारुणपाण्डुसानौ
विशाखयूपं समुपेत्य चक्रु-
स्तदा निवासं पुरुषप्रवीराः ।। १६ ।।

झरनोंसे युक्त हिमराशि उस पर्वतरूपी पुरुषके लिये उत्तरीयका काम करती थी और उसका अरुण एवं श्वेत रंगका शिखर बालसूर्यकी किरणें पड़नेसे सफेद एवं लाल पगड़ीके समान शोभा पाता था। उसके ऊपर विशाखयूप नामक वनमें पहुँचकर नरवीर पाण्डवोंने उस समय निवास किया ।। १६ ।।

वराहनानामृगपक्षिजुष्टं
महावनं चैत्ररथप्रकाशम्
शिवेन पार्था मृगयाप्रधानाः
संवत्सरं तत्र वने विजह्रुः ।। १७ ।।

वह विशाल वन चैत्ररथ वनके समान शोभायमान था। वहाँ सूअर, नाना प्रकारके मृग तथा पक्षी निवास करते थे। उन दिनों पाण्डवोंका वहाँ हिंस्र जीवोंको मारना ही प्रधान काम था। वहाँ वे एक वर्षतक बड़े सुखसे विचरते रहे ।। १७ ।।

तत्राससादातिबलं भुजङ्गं
क्षुधार्दितं मृत्युमिवोग्ररूपम्
वृकोदरः पर्वतकन्दरायां
विषादमोहव्यथितान्तरात्मा ।। १८ ।।

उसी यात्रामें भीमसेन एक दिन पर्वतकी कन्दरामें भूखसे पीड़ित एक अजगरके पास जा पहुँचे, जो अत्यन्त बलवान् होनेके साथ ही मृत्युके समान भयानक था। उस समय उनकी अन्तरात्मा विषाद एवं मोहसे व्यथित हो उठी ।। १८ ।।

द्वीपोऽभवद् यत्र वृकोदरस्य
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः

अमोक्षयद् यस्तमनन्ततेजा
ग्राहेण संवेष्टितसर्वगात्रम् ।। १९ ।।

उस अवसरपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ अत्यन्त तेजस्वी युधिष्ठिर भीमसेनके लिये द्वीपकी भाँति अवलम्ब हो गये। अजगरने भीमसेनके सम्पूर्ण शरीरको लपेट लिया था, परंतु युधिष्ठिरने (अजगरको उसके प्रश्नोंके उत्तरद्वारा संतुष्ट करके) उन्हें छुड़ा दिया ।। १९ ।।

ते द्वादशं वर्षमुपोपयातं
वने विहर्तुं कुरवः प्रतीताः
तस्माद् वनाच्चैत्ररथप्रकाशात्
श्रिया ज्वलन्तस्तपसा च युक्ताः ।। २० ।।
ततश्च यात्वा मरुधन्वपार्श्वं
सदा धनुर्वेदरतिप्रधानाः
सरस्वतीमेत्य निवासकामाः
सरस्ततो द्वैतवनं प्रतीयुः ।। २१ ।।

अब इन पाण्डवोंके वनवासका बारहवाँ वर्ष आ पहुँचा था। उसे भी वनमें सानन्द व्यतीत करनेके लिये उनके मनमें बड़ा उत्साह था। अपनी अद्भुत कान्तिसे प्रकाशित होते हुए तपस्वी पाण्डव चैत्ररथ वनके समान शोभा पानेवाले उस वनसे निकलकर मरुभूमिके पास सरस्वतीके तटपर गये और वहीं निवास करनेकी इच्छासे द्वैतवनके द्वैत सरोवरके समीप गये। उस समय पाण्डवोंका विशेष प्रेम सदा धनुर्वेदमें ही लक्षित होता था ।।

समीक्ष्य तान् द्वैतवने निविष्टान्
निवासिनस्तत्र ततोऽभिजग्मुः
तपोदमाचारसमाधियुक्ता-
स्तृणोदपात्रावरणाश्मकुट्टाः ।। २२ ।।

उन्हें द्वैतवनमें आया देख वहाँके निवासी उनके दर्शनके लिये निकट आये। वे सब-के-सब तपस्या, इन्द्रिय-संयम, सदाचार और समाधिमें तत्पर रहनेवाले थे। तिनकेकी चटाई, जलपात्र, ओढ़नेका कपड़ा और सिल-लोढ़े—यही उनके पास सामग्री थी ।। २२ ।।

प्लक्षाक्षरौहीतकवेतसाश्च
तथा बदर्यः खदिराः शिरीषाः
बिल्वेङ्गुदाः पीलुशमीकरीराः
सरस्वतीतीररुहा बभूवुः ।। २३ ।।
तां यक्षगन्धर्वमहर्षिकान्ता-
मागारभूतामिव देवतानाम्
सरस्वतीं प्रीतियुताश्चरन्तः
सुखं विजह्रुर्नरदेवपुत्राः ।। २४ ।।

सरस्वतीके तटपर पाकड़, बहेड़ा, रोहितक, बेंत, बेर, खैर, सिरस, बेल, इंगुदी, पीलु, शमी और करीर आदिके वृक्ष खड़े थे। वह नदी यक्ष, गन्धर्व और महर्षियोंको प्रिय थी। देवताओंकी तो वह मानो बस्ती ही थी। राजपुत्र पाण्डव बड़ी प्रसन्नता और सुखसे वहाँ विचरने और निवास करने लगे ।। २३-२४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि पुनर्द्वैतवनप्रवेशे सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें पाण्डवोंका पुनः द्वैतवनमें प्रवेशविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७७ ।।

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

महाबली भीमसेनका हिंसक पशुओंको मारना और अजगरद्वारा पकड़ा जाना

जनमेजय उवाच

कथं नागायुतप्राणो भीमो भीमपराक्रमः
भयमाहारयत् तीव्रं तस्मादजगरान्मुने ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—मुने! भयानक पराक्रमी भीमसेनमें ते दस हजार हाथियोंका बल थ। फिर उन्हें उस अजगरसे इतना तीव्र भय कैसे प्राप्त हुअ? ।। १ ।।

पौलस्त्यं धनदं युद्धे य आह्वयति दर्पितः
नलिन्यां कदनं कृत्वा निहन्ता यक्षरक्षसाम् ।। २ ।।
तं शंससि भयाविष्टमापन्नमरिसूदनम्
एतदिच्छाम्यहं श्रीतुं परं कौतूहलं हि मे ।। ३ ।।

जो बलके घमंडमें आकर पुलस्त्यनन्दन कुबेरको भी युद्धके लिये ललकारते थे, जिन्होंने कुबेरकी पुष्करिणीके तटपर कितने ही यक्षों तथा राक्षसोंका संहार कर डाला था, उन्हीं शत्रुसूदन भीमसेनको आप भयभीत (और विपत्तिग्रस्त) बताते हैं। अतः मैं इस प्रसंगको विस्तारसे सुनना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है ।। २-३ ।।

वैशम्पायन उवाच

बह्वाश्चर्ये वने तेषां वसतामुग्रधन्विनाम्
प्राप्तानामाश्रमाद् राजन् राजर्षेर्वृषपर्वणः ।। ४ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! राजर्षि वृषपर्वाके आश्रमसे आकर उग्र धनुर्धर पाण्डव अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए उस द्वैतवनमें निवास करते थे ।। ४ ।।

यदृच्छया धनुष्पाणिर्बद्धखड्गो वृकोदरः
ददर्श तद् वनं रम्यं देवगन्धर्वसेवितम् ।। ५ ।।

भीमसेन तलवार बाँधकर हाथमें धनुष लिये अकस्मात् घूमने निकल जाते और देवताओं तथा गन्धर्वोंसे सेवित उस रमणीय वनकी शोभा निहारते थे ।। ५ ।।

स ददर्श शुभान् देशान् गिरेर्हिमवतस्तदा
देवर्षिसिद्धचरितानप्सरोगणसेवितान् ।। ६ ।।

उन्होंने हिमालय पर्वतके उन शुभ प्रदेशोंका अवलोकन किया जहाँ देवर्षि और सिद्ध पुरुष विचरण करते थे तथा अप्सराएँ जिनका सदा सेवन करती थीं ।। ६ ।।

चकोरैरुपचक्रैश्च पक्षिभिर्जीवजीवकैः
कोकिलैर्भृङ्गराजैश्च तत्र तत्र निनादितान् ।। ७ ।।

वहाँ भिन्न-भिन्न स्थानोंमें चकोर, उपचक्र, जीव-जीवक, कोकिल और भृंगराज आदि पक्षी कलरव करते थे ।। ७ ।।

नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्हिमसंस्पर्शकोमलैः
उपेतान् बहुलच्छायैर्मनोनयननन्दनैः ।। ८ ।।

वहाँके वृक्ष सदा फूल और फल देते थे। हिमके स्पर्शसे उनमें कोमलता आ गयी थी। उनकी छाया बहुत घनी थी और वे दर्शनमात्रसे मन एवं नेत्रोंको आनन्द प्रदान करते थे ।। ८ ।।

स सम्पश्यन् गिरिनदीर्वैदूर्यमणिसंनिभैः
सलिलैर्हिमसंकाशैर्हंसकारण्डवायुतैः ।। ९ ।।

उन वृक्षोंसे सुशोभित प्रदेशों तथा वैदूर्यमणिके समान रंगवाले, हिमसदृश स्वच्छ, शीतल सलिल-समूहसे संयुक्त पर्वतीय नदियोंकी शोभा निहारते हुए वे सब ओर घूमते थे। नदियोंकी उस जलराशिमें हंस और कारण्डव आदि सहस्रों पक्षी किलोलें करते थे ।।

वनानि देवदारूणां मेघानामिव वागुराः
हरिचन्दनमिश्राणि तुङ्गकालीयकान्यपि ।। १० ।।

हरिचन्दन, तुंग और कालीयक आदि वृक्षोंसे युक्त ऊँचे-ऊँचे देवदारुके वन ऐसे जान पड़ते थे मानो बादलोंको फँसानेके लिये फंदे हों ।। १० ।।

मृगयां परिधावन् स समेषु मरुधन्वसु
विध्यन् मृगान् शरैः शुद्धैश्चचार स महाबलः ।। ११ ।।

महाबली भीम सारे मरु प्रदेशमें शिकारके लिये दौड़ते और केवल बाणोंद्वारा हिंसक पशुओंको घायल करते हुए विचरा करते थे ।। ११ ।।

भीमसेनस्तु विख्यातो महान्तं दंष्ट्रिणं बलात्
निघ्नन् नागशतप्राणो वने तस्मिन् महाबलः ।। १२ ।।

भीमसेन अपने महान् बलके लिये विख्यात थे। उनमें सैकड़ों हाथियोंकी शक्ति थी। वे उस वनमें विकराल दाढ़ोंवाले बड़े-से-बड़े सिंहको भी पछाड़ देते थे ।। १२ ।।

मृगाणां स वराहाणां महिषाणां महाभुजः
विनिघ्नंस्तत्र तत्रैव भीमो भीमपराक्रमः ।। १३ ।।

भीमसेनका पराक्रम भी उनके नामके अनुसार ही भयानक था। उनकी भुजाएँ विशाल थीं। वे मृगयामें प्रवृत्त होकर जहाँ-तहाँ हिंसक पशुओं, वराहों और भैंसोंको भी मारा करते थे ।। १३ ।।

स मातङ्गशतप्राणो मनुष्यशतवारणः
सिंहशार्दूलविक्रान्तो वने तस्मिन् महाबलः ।। १४ ।।

वृक्षानुत्पाटयामास तरसा वै बभञ्ज च
पृथिव्याश्च प्रदेशान् वै नादयंस्तु वनानि च ।। १५ ।।

उनमें सैकड़ों मतवाले गजराजोंके समान बल था। वे एक साथ सौ-सौ मनुष्योंका वेग रोक सकते थे। उनका पराक्रम सिंह और शार्दूलके समान था महाबली भीम उस वनमें वृक्षोंको उखाड़ते और उन्हें वेगपूर्वक पुनः तोड़ डालते थे। वे अपनी गर्जनासे उस वन्य भूमिके प्रदेशों तथा समूचे वनको गुँजाते रहते थे ।। १४-१५ ।।

पर्वताग्राणि वै मृद्नन् नादयानश्च विज्वरः
प्रक्षिपन् पादपांश्चापि नादेनापूरयन् महीम् ।। १६ ।।

वे पर्वतशिखरोंको रौंदते, वृक्षोंको तोड़कर इधर-उधर बिखेरते और निश्चिन्त होकर अपने सिंहनादसे भूमण्डलको प्रतिध्वनित किया करते थे ।। १६ ।।

वेगेन न्यपतद् भीमो निर्भयश्च पुनः पुनः
आस्फोटयन् क्ष्वेडयंश्च तलतालांश्च वादयन् ।। १७ ।।

वे निर्भय होकर बार-बार वेगपूर्वक कूदते-फाँदते, ताल ठोंकते, सिंहनाद करते और तालियाँ बजाते थे ।। १७ ।।

चिरसम्बद्धदर्पस्तु भीमसेनो वने तदा
गजेन्द्राश्च महासत्त्वा मृगेन्द्राश्च महाबलाः ।। १८ ।।
भीमसेनस्य नादेन व्यमुञ्जन्त गुहा भयात्

वनमें घूमते हुए भीमसेनका बलाभिमान दीर्घकालसे बहुत बढ़ा हुआ था। उस समय उनकी सिंह-गर्जनासे महान् बलशाली गजराज और मृगराज भी भयसे अपना स्थान छोड़कर भाग गये ।। १८½ ।।

क्वचित् प्रधावंस्तिष्ठंश्च क्वचिच्चोपविशंस्तथा ।। १९ ।।
मृगप्रेप्सुर्महारौद्रे वने चरति निर्भयः
स तत्र मनुजव्याघ्रो वने वनचरोपमः ।। २० ।।
पद्भ्यामभिसमापेदे भीमसेनो महाबलः
स प्रविष्टो महारण्ये नादान् नदति चाद्भुतान् ।। २१ ।।
त्रासयन् सर्वभूतानि महासत्त्वपराक्रमः

वे कहीं दौड़ते, कहीं खड़े होते और कहीं बैठते हुए शिकार पानेकी अभिलाषासे उस महाभयंकर वनमें निर्भय विचरते रहते थे। वे नरश्रेष्ठ महाबली भीम उस वनमें वनचर भीलोंकी भाँति पैदल ही चलते थे, उनका साहस और पराक्रम महान् था। वे गहन वनमें प्रवेश करके समस्त प्राणियोंको डराते हुए अद्भुत गर्जना करते थे ।। १९—२१½ ।।

ततो भीमस्य शब्देन भीताः सर्पा गुहाशयाः ।। २२ ।।
अतिक्रान्तास्तु वेगेन जगामानुसृतः शनैः
ततोऽमरवरप्रख्यो भीमसेनो महाबलः ।। २३ ।।

स ददर्श महाकायं भुजङ्गं लोमहर्षणम्
गिरिदुर्गे समापन्नं कायेनावृत्य कन्दरम् ।। २४ ।।

तदनन्तर एक दिनकी बात है, भीमसेनके सिंहनादसे भयभीत हो गुफाओंमें रहनेवाले सारे सर्प बड़े वेगसे भागने लगे और भीमसेन धीरे-धीरे उन्हींका पीछा करने लगे। श्रेष्ठ देवताओंके समान कान्तिमान् महाबली भीमसेनने आगे जाकर एक विशालकाय अजगर देखा, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। वह अपने शरीरसे एक (विशाल) कन्दराको घेरकर पर्वतके एक दुर्गम स्थानमें रहता था ।। २२—२४ ।।

पर्वताभोगवर्ष्माणमतिकायं महाबलम्
चित्राङ्गमङ्गजैश्चित्रैर्हरिद्रासदृशच्छविम् ।। २५ ।।
गुहाकारेण वक्त्रेण चतुर्दंष्ट्रेण राजता
दीप्ताक्षेणातिताम्रेण लिहानं सृक्विणी मुहुः ।। २६ ।।
त्रासनं सर्वभूतानां कालान्तकयमोपमम्
निःश्वासक्ष्वेडनादेन भर्त्सयन्तमिव स्थितम् ।। २७ ।।

उसका शरीर पर्वतके समान विशाल था। वह महाकाय होनेके साथ ही अत्यन्त बलवान् भी था। उसका प्रत्येक अंग शारीरिक विचित्र चिह्नोंसे चिह्नित होनेके कारण विचित्र दिखायी देता था। उसका रंग हल्दीके समान पीला था। प्रकाशमान चारों दाढ़ोंसे युक्त उसका मुख गुफा-सा जान पड़ता था। उसकी आँखें अत्यन्त लाल और आग उगलती-सी प्रतीत होती थीं। वह बार-बार अपने दोनों गलफरोंको चाट रहा था। कालान्तक तथा यमके समान समस्त प्राणियोंको भयभीत करनेवाला वह भयानक भुजंग अपने उच्छ्वास और सिंहनादसे दूसरोंकी भर्त्सना करता-सा प्रतीत होता था ।। २५—२७ ।।

स भीमं सहसाभ्येत्य पृदाकुः कुपितो भृशम्
जग्राहाजगरो ग्राहो भुजयोरुभयोर्बलात् ।। २८ ।।

वह अजगर अत्यन्त क्रोधमें भरा हुआ था। (मनुष्योंको) जकड़नेवाले उस सर्पने सहसा भीमसेनके निकट पहुँचकर उनकी दोनों बाँहोंको बलपूर्वक जकड़ लिया ।। २८ ।।

तेन संस्पृष्टगात्रस्य भीमसेनस्य वै तदा
संज्ञा मुमोह सहसा वरदानेन तस्य हि ।। २९ ।।

उस समय भीमसेनके शरीरका उससे स्पर्श होते ही वे भीमसेन सहसा अचेत हो गये। ऐसा इसलिये हुआ कि उस सर्पको वैसा ही वरदान मिला था ।। २९ ।।

दशनागसहस्राणि धारयन्ति हि यद् बलम्
तद् बलं भीमसेनस्य भुजयोरसमं परैः ।। ३० ।।

दस हजार गजराज जितना बल धारण करते हैं, उतना ही बल भीमसेनकी भुजाओंमें विद्यमान था। उनके बलकी और कहीं समता नहीं थी ।। ३० ।।

स तेजस्वी तथा तेन भुजगेन वशीकृतः
विस्फुरन् शनकैर्भीमो न शशाक विचेष्टितुम् ।। ३१ ।।

ऐसे तेजस्वी भीम भी उस अजगरके वशमें पड़ गये। वे धीरे-धीरे छटपटाते रहे, परंतु छूटनेकी अधिक चेष्टा करनेमें सफल न हो सके ।। ३१ ।।

नागायुतसमप्राणः सिंहस्कन्धो महाभुजः
गृहीतो व्यजहात् सत्त्वं वरदानविमोहितः ।। ३२ ।।

उनकी प्राणशक्ति दस सहस्र हाथियोंके समान थी। दोनों कंधे सिंहके कंधोंके समान थे और भुजाएँ बहुत बड़ी थीं। फिर भी सर्पको मिले हुए वरदानके प्रभावसे मोहित हो जानेके कारण सर्पकी पकड़में आकर वे अपना साहस खो बैठे ।। ३२ ।।

स हि प्रयत्नमकरोत् तीव्रमात्मविमोक्षणे
न चैनमशकद् वीरः कथंचित् प्रतिबाधितुम् ।। ३३ ।।

उन्होंने अपनेको छुड़ानेके लिये घोर प्रयत्न किया, किंतु वीरवर भीमसेन किसी प्रकार भी उस सर्पको पराजित करनेमें सफलता नहीं प्राप्त कर सके ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि अजगरग्रहणे अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें भीमसेनका अजगरद्वारा ग्रहणसम्बन्धी एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७८ ।।

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन और सर्परूपधारी नहुषकी बातचीत, भीमसेनकी चिन्ता तथा युधिष्ठिरद्वारा भीमकी खोज

वैशम्पायन उवाच

स भीमसेनस्तेजस्वी तथा सर्पवशं गतः
चिन्तयामास सर्पस्य वीर्यमत्यद्भुतं महत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार सर्पके वशमें पड़े हुए वे तेजस्वी भीमसेन उस अजगरकी अत्यन्त अद्भुत शक्तिके विषयमें विचार करने लग गये ।। १ ।।

उवाच च महासर्पं कामया ब्रूहि पन्नग
कस्त्वं भो भुजगश्रेष्ठ किं मया च करिष्यसि ।। २ ।।
पाण्डवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनन्तरः
नागायुतसमप्राणस्त्वया नीतः कथं वशम् ।। ३ ।।
सिंहाः केसरिणो व्याघ्रा महिषा वारणास्तथा
समागताश्च शतशो निहताश्च मया युधि ।। ४ ।।
राक्षसाश्च पिशाचाश्च पन्नगाश्च महाबलाः
भुजवेगमशक्ता मे सोढुं पन्नगसत्तम ।। ५ ।।
किं नु विद्याबलं किं नु वरदानमथो तव
उद्योगमपि कुर्वाणो वशगोऽस्मि कृतस्त्वया ।। ६ ।।
असत्यो विक्रमो नृणामिति मे धीयते मतिः
यथेदं मे त्वया नाग बलं प्रतिहतं महत् ।। ७ ।।

फिर उन्होंने उस महान् सर्पसे कहा—‘भुजंगप्रवर! आप स्वेच्छापूर्वक बताइये। आप कौन हैं? और मुझे पकड़कर क्या करेंगे? मैं धर्मराज युधिष्ठिरका छोटा भाई पाण्डुपुत्र भीमसेन हूँ। मुझमें दस हजार हाथियोंका बल है, फिर भी न जाने कैसे आपने मुझे अपने वशमें कर लिया? मेरे सामने सैकड़ों केसरी, सिंह, व्याघ्र, महिष और गजराज आये, किंतु मैंने सबको युद्धमें मार गिराया। पन्नगश्रेष्ठ! राक्षस, पिशाच और महाबली नाग भी मेरी (इन) भुजाओंका वेग नहीं सह सकते थे। परंतु छूटनेके लिये मेरे उद्योग करनेपर भी आपने मुझे वशमें कर लिया, इसका क्या कारण है? क्या आपमें किसी विद्याका बल है अथवा आपको कोई अद्भुत वरदान मिला है? नागराज! आज मेरी बुद्धिमें यही सिद्धान्त स्थिर हो रहा है कि मनुष्योंका पराक्रम झूठा है। जैसा कि इस समय आपने मेरे इस महान् बलको कुण्ठित कर दिया है’ ।। २—७ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवंवादिनं वीर भीममक्लिष्टकारिणम्
भोगेन महता गृह्य समन्तात् पर्यवेष्टयत् ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसी बातें करनेवाले वीरवर भीमसेनको, जो अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले थे, उस अजगरने अपने विशाल शरीरसे जकड़कर चारों ओरसे लपेट लिया ।। ८ ।।

निगृह्यैनं महाबाहुं ततः स भुजगस्तदा
विमुच्यास्य भुजौ पीनाविदं वचनमब्रवीत् ।। ९ ।।

तब इस प्रकार महाबाहु भीमसेनको अपने वशमें करके उस भुजंगमने उनकी दोनों मोटी-मोटी भुजाओंको छोड़ दिया और इस प्रकार कहा— ।। ९ ।।

दिष्टस्त्वं क्षुधितस्याद्य देवैर्भक्षो महाभुज
दिष्ट्या कालस्य महतः प्रियाः प्राणा हि देहिनाम् ।। १० ।।

'महाबाहो! मैं दीर्घकालसे भूखा बैठा था, आज सौभाग्यवश देवताओंने तुम्हें ही मेरे लिये भोजनके रूपमें भेज दिया है। सभी देहधारियोंको अपने-अपने प्राण प्रिय होते हैं ।। १० ।।

यथा त्विदं मया प्राप्तं सर्परूपमरिंदम
तथावश्यं मया ख्याप्यं तवाद्य शृणु सत्तम ।। ११ ।।

'शत्रुदमन! जिस प्रकार मुझे यह सर्पका शरीर प्राप्त हुआ है, वह आज अवश्य तुमसे बतलाना है। सज्जनशिरोमणे! तुम ध्यान देकर सुनो ।। ११ ।।

इमामवस्थां सम्प्राप्तो ह्यहं कोपान्मनीषिणाम्
शापस्यान्तं परिप्रेप्सुः सर्वं तत् कथयामि ते ।। १२ ।।

'मैं मनीषी महात्माओंके कोपसे इस दुर्दशाको प्राप्त हुआ हूँ और इस शापके निवारणकी प्रतीक्षा करते हुए यहाँ रहता हूँ। शापका क्या कारण है? यह सब तुमसे कहता हूँ, सुनो ।। १२ ।।

नहुषो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः
तवैव पूर्वः पूर्वेषामायोर्वंशधरः सुतः ।। १३ ।।

'मैं राजर्षि नहुष हूँ, अवश्य ही यह मेरा नाम तुम्हारे कानोंमें पड़ा होगा। मैं तुम्हारे पूर्वजोंका भी पूर्वज हूँ। महाराज आयुका वंशप्रवर्तक पुत्र हूँ ।। १३ ।।

सोऽहं शापादगस्त्यस्य ब्राह्मणानवमन्य च
इमामवस्थामापन्नः पश्य दैवमिदं मम ।। १४ ।।

'मैं ब्राह्मणोंका अनादर करके महर्षि अगस्त्यके शापसे इस अवस्थाको प्राप्त हुआ हूँ। मेरे इस दुर्भाग्यको अपने आँखों देख लो ।। १४ ।।

त्वां चेदवध्यं दायादमतीव प्रियदर्शनम्

अहमद्योपयोक्ष्यामि विधानं पश्य यादृशम् ।। १५ ।।

'तुम यद्यपि अवध्य हो; क्योंकि मेरे ही वंशज हो। देखनेमें अत्यन्त प्रिय लगते हो तथापि आज तुम्हें अपना आहार बनाऊँगा। देखो, विधाताका कैसा विधान है? ।। १५ ।।

न हि मे मुच्यते कश्चित् कथंचित् प्रग्रहं गतः

गजो वा महिषो वापि षष्ठे काले नरोत्तम ।। १६ ।।

'नरश्रेष्ठ! दिनके छठे भागमें कोई भैंसा अथवा हाथी ही क्यों न हो, मेरी पकड़में आ जानेपर किसी तरह छूट नहीं सकता ।। १६ ।।

नासि केवलसर्पेण तिर्यग्योनिषु वर्तता

गृहीतः कौरवश्रेष्ठ वरदानमिदं मम ।। १७ ।।

'कौरवश्रेष्ठ! तुम तिर्यग् योनिमें पड़े हुए किसी साधारण सर्पकी पकड़में नहीं आये हो। किंतु मुझे ऐसा ही वरदान मिला है (इसीलिये मैं तुम्हें पकड़ सका हूँ) ।।

पतता हि विमानाग्रयान्मया शक्रासनाद् द्रुतम्

कुरु शापान्तमित्युक्तो भगवान् मुनिसत्तमः ।। १८ ।।

'जब मैं इन्द्रके सिंहासनसे भ्रष्ट हो शीघ्रतापूर्वक श्रेष्ठ विमानसे नीचे गिरने लगा, उस समय मैंने मुनिश्रेष्ठ भगवान् अगस्त्यसे प्रार्थना की कि प्रभो! मेरे शापका अन्त नियत कर दीजिये ।। १८ ।।

स मामुवाच तेजस्वी कृपयाभिपरिप्लुतः

मोक्षस्ते भविता राजन् कस्माच्चित् कालपर्ययात् ।। १९ ।।

'उस समय उन तेजस्वी महर्षिने दयासे द्रवित होकर मुझसे कहा—'राजन्! कुछ कालके पश्चात् तुम इस शापसे मुक्त हो जाओगे' ।। १९ ।।

ततोऽस्मि पतितो भूमौ न च मामजहात् स्मृतिः

स्मार्तमस्ति पुराणं मे यथैवाधिगतं तथा ।। २० ।।

'उनके इतना कहते ही मैं पृथ्वीपर गिर पड़ा। परंतु आज भी वह पुरानी स्मरण-शक्ति मुझे छोड़ नहीं सकी है। यद्यपि यह वृत्तान्त बहुत पुराना हो चुका है तथापि जो कुछ जैसे हुआ था; वह सब मुझे ज्यों-का-त्यों स्मरण है ।। २० ।।

यस्तु ते व्याहृतान् प्रश्नान् प्रतिब्रूयाद् विभागवित्।

स त्वां मोक्षयिता शापादिति मामब्रवीदृषिः ।। २१ ।।

'महर्षिने मुझसे कहा था कि 'जो तुम्हारे पूछे हुए प्रश्नोंका विभागपूर्वक उत्तर दे दे, वही तुम्हें शापसे छुड़ा सकता है ।। २१ ।।

गृहीतस्य त्वया राजन् प्राणिनोऽपि बलीयसः

सत्त्वभ्रंशोऽधिकस्यापि सर्वस्याशु भविष्यति ।। २२ ।।

'राजन्! जिसे तुम पकड़ लोगे, वह बलवान्-से-बलवान् प्राणी क्यों न हो, उसका भी धैर्य छूट जायगा। एवं तुमसे अधिक शक्तिशाली पुरुष क्यों न हो, सबका साहस शीघ्र ही

खो जायगा' ।। २२ ।।

इति चाप्यहमश्रौषं वचस्तेषां दयावताम्
मयि संजातहार्दानामथ तेऽन्तर्हिता द्विजाः ।। २३ ।।

इस प्रकार मेरे प्रति हार्दिक दयाभाव उत्पन्न हो जानेके कारण उन दयालु महर्षियोंने जो बात कही थी, वह भी मैंने स्पष्ट सुनी। तत्पश्चात् वे सारे ब्रह्मर्षि अन्तर्धान हो गये ।। २३ ।।

सोऽहं परमदुष्कर्मा वसामि निरयेऽशुचौ
सर्पयोनिमिमां प्राप्य कालाकाङ्क्षी महाद्युते ।। २४ ।।

महाद्युते! इस प्रकार मैं अत्यन्त दुष्कर्मी होनेके कारण इस अपवित्र नरकमें निवास करता हूँ। इस सर्पयोनिमें पड़कर इससे छूटनेके अवसरकी प्रतीक्षा करता हूँ' ।। २४ ।।

तमुवाच महाबाहुर्भीमसेनो भुजङ्गमम्
न च कुप्ये महासर्प न चात्मानं विगर्हये ।। २५ ।।

तब महाबाहु भीमने उस अजगरसे कहा—'महासर्प! न तो मैं आपपर क्रोध करता हूँ और न अपनी ही निन्दा करता हूँ ।। २५ ।।

यस्मादभावी भावी वा मनुष्यः सुखदुःखयोः
आगमे यदि वापाये न तत्र ग्लपयेन्मनः ।। २६ ।।

'क्योंकि मनुष्य सुख-दुःखकी प्राप्ति अथवा निवृतिमें कभी असमर्थ होता है और कभी समर्थ। अतः किसी भी दशामें अपने मनमें ग्लानि नहीं आने देनी चाहिये ।। २६ ।।

दैवं पुरुषकारेण को वञ्चयितुमर्हति
दैवमेव परं मन्ये पुरुषार्थो निरर्थकः ।। २७ ।।

'कौन ऐसा मनुष्य है, जो पुरुषार्थके बलसे दैवको वंचित कर सके। मैं तो दैवको ही बड़ा मानता हूँ, पुरुषार्थ व्यर्थ है ।। २७ ।।

पश्य दैवोपघाताद्धि भुजवीर्यव्यपाश्रयम्
इमामवस्थां सम्प्राप्तमनिमित्तमिहाद्य माम् ।। २८ ।।

'देखिये, दैवके आघातसे आज मैं अकारण ही यहाँ इस दशाको प्राप्त हो गया हूँ। नहीं तो मुझे अपने बाहुबलका बड़ा भरोसा था ।। २८ ।।

किंतु नाद्यानुशोचामि तथाऽऽत्मानं विनाशितम्
यथा तु विपिने न्यस्तान् भ्रातॄन् राज्यपरिच्युतान् ।। २९ ।।

'परंतु आज मैं अपनी मृत्युके लिये उतना शोक नहीं करता हूँ, जितना कि राज्यसे वंचित हो वनमें पड़े हुए अपने भाइयोंके लिये मुझे शोक हो रहा है ।। २९ ।।

हिमवांश्च सुदुर्गोऽयं यक्षराक्षससंकुलः
मां समुद्वीक्षमाणास्ते प्रपतिष्यन्ति विह्वलाः ।। ३० ।।

‘यक्षों तथा राक्षसोंसे भरा हुआ यह हिमालय अत्यन्त दुर्गम है, मेरे भाई व्याकुल होकर जब मुझे खोजेंगे, तब अवश्य कहीं खंदकमें गिर पड़ेंगे ।। ३० ।।

विनष्टमथ मां श्रुत्व भविष्यन्ति निरुद्यमाः
धर्मशीला मया ते हि बाध्यन्ते राज्यगृद्धिना ।। ३१ ।।

‘मेरी मृत्यु हुई सुनकर वे राज्य-प्राप्तिका सारा उद्योग छोड़ बैठेंगे। मेरे सभी भाई स्वभावतः धर्मात्मा हैं। मैं ही राज्यके लोभसे उन्हें युद्धके लिये बाध्य करता रहता हूँ ।। ३१ ।।

अथवा नार्जुनो धीमान् विषादमुपयास्यति
सर्वास्त्रविदनाधृष्यो देवगन्धर्वराक्षसैः ।। ३२ ।।

‘अथवा बुद्धिमान् अर्जुन विषादमें नहीं पड़ेंगे; क्योंकि वे सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता हैं। देवता, गन्धर्व तथा राक्षस भी उन्हें पराजित नहीं कर सकते ।। ३२ ।।

समर्थः स महाबाहुरेकोऽपि सुमहाबलः
देवराजमपि स्थानात् प्रच्यावयितुमञ्जसा ।। ३३ ।।

‘महाबली महाबाहु अर्जुन अकेले ही देवराज इन्द्रको भी अनायास ही अपने स्थानसे हटा देनेमें समर्थ हैं ।। ३३ ।।

किं पुनर्धृतराष्ट्रस्य पुत्रं दुर्द्यूतदेविनम्
विद्विष्टं सर्वलोकस्य दम्भमोहपरायणम् ।। ३४ ।।

‘फिर उस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको जीतना उनके लिये कौन बड़ी बात है, जो कपटद्यूतका सेवन करनेवाला, लोकद्रोही, दम्भी तथा मोहमें डूबा हुआ है ।।

मातरं चैव शोचामि कृपणां पुत्रगृद्धिनीम्
यास्माकं नित्यमाशास्ते महत्त्वमधिकं परैः ।। ३५ ।।

‘मैं पुत्रोंके प्रति स्नेह रखनेवाली अपनी उस दीन माताके लिये शोक करता हूँ, जो सदा यह आशा रखती है कि हम सभी भाइयोंका महत्त्व शत्रुओंसे बढ़-चढ़कर हो ।। ३५ ।।

तस्याः कथं त्वनाथाया मद्विनाशाद् भुजङ्गम
सफलास्ते भविष्यन्ति मयि सर्वे मनोरथाः ।। ३६ ।।

‘भुजंगम! मेरे मरनेसे मेरी अनाथ माताके वे सभी मनोरथ जो मुझपर अवलम्बित थे, कैसे सफल हो सकेंगे? ।। ३६ ।।

नकुलः सहदेवश्च यमौ च गुरुवर्तिनौ
मद्बाहुबलसंगुप्तौ नित्यं पुरुषमानिनौ ।। ३७ ।।

‘एक साथ जन्म लेनेवाले नकुल और सहदेव सदा गुरुजनोंकी आज्ञाके पालनमें लगे रहते हैं। मेरे बाहुबलसे सुरक्षित हो वे दोनों भाई सर्वदा अपने पौरुषपर अभिमान रखते हैं ।। ३७ ।।

भविष्यतो निरुत्साहौ भ्रष्टवीर्यपराक्रमौ

मद्विनाशात् परिद्यूनाविति मे वर्तते मतिः ।। ३८ ।।

‘वे मेरे विनाशसे उत्साहशून्य हो जायँगे, अपने बल और पराक्रम खो बैठेंगे और सर्वथा शक्तिहीन हो जायँगे, ऐसा मेरा विश्वास है’ ।। ३८ ।।

एवंविधं बहु तदा विललाप वृकोदरः
भुजङ्गभोगसंरुद्धो नाशकच्च विचेष्टितुम् ।। ३९ ।।

जनमेजय! उस समय भीमसेनने इस तरहकी बहुत-सी बातें कहकर देरतक विलाप किया। वे सर्पके शरीरसे इस प्रकार जकड़ गये थे कि हिल-डुल भी नहीं सकते थे ।। ३९ ।।

युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो बभूवास्वस्थचेतनः ।
अनिष्टदर्शनान् घोरानुत्पातान् परिचिन्तयन् ।। ४० ।।

उधर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अनिष्टसूचक भयंकर उत्पातोंको देखकर बड़ी चिन्तामें पड़े। वे व्याकुल हो गये ।। ४० ।।

दारुणं ह्यशिवं नादं शिवा दक्षिणतः स्थिता ।
दीप्तायां दिशि वित्रस्ता रौति तस्याश्रमस्य ह ।। ४१ ।।

उनके आश्रमसे दक्षिण दिशामें, जहाँ आग लगी हुई थी, एक डरी हुई सियारिन खड़ी हो दारुण अमंगलसूचक आर्तनाद करने लगी ।। ४१ ।।

एकपक्षाक्षिचरणा वर्तिका घोरदर्शना ।
रक्तं वमन्ती ददृशे प्रत्यादित्यमभासुरा ।। ४२ ।।

एक पाँख, एक आँख तथा एक पैरवाली भयंकर और मलिन वर्तिका (बटेर चिड़िया) सूर्यकी ओर रक्त उगलती हुई दिखायी दी ।। ४२ ।।

प्रववौ चानिलो रूक्षश्चण्डः शर्करकर्षणः ।
अपसव्यानि सर्वाणि मृगपक्षिरुतानि च ।। ४३ ।।

उस समय कंकड़ बरसानेवाली रूखी और प्रचण्ड वायु बह रही थी और पशु-पक्षियोंके सम्पूर्ण शब्द दाहिनी ओर हो रहे थे ।। ४३ ।।

पृष्ठतो वायसः कृष्णो याहि याहीति शंसति ।
मुहुर्मुहुः स्फुरति च दक्षिणोऽस्य भुजस्तथा ।। ४४ ।।

पीछेकी ओरसे काला कौवा ‘जाओ-जाओ’ की रट लगा रहा था और उनकी दाहिनी बाँह बार-बार फड़क उठती थी ।। ४४ ।।

हृदयं चरणश्चापि वामोऽस्य परितप्यति ।
सव्यस्याक्ष्णो विकारश्चाप्यनिष्टः समपद्यत ।। ४५ ।।

उनके हृदय तथा बायें पैरमें पीड़ा होने लगी। बायीं आँखमें अनिष्टसूचक विकार उत्पन्न हो गया ।। ४५ ।।

धर्मराजोऽपि मेधावी मन्यमानो महद् भयम् ।
द्रौपदीं परिपप्रच्छ क्व भीम इति भारत ।। ४६ ।।

भारत! परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरने भी अपने मनमें महान् भय मानते हुए द्रौपदीसे पूछा—'भीमसेन कहाँ है?' ।। ४६ ।।

शशंस तस्मै पाञ्चाली चिरयातं वृकोदरम् ।
स प्रतस्थे महाबाहुर्धौम्येन सहितो नृपः ।। ४७ ।।

द्रौपदीने उत्तर दिया—'उनको यहाँसे गये बहुत देर हो गयी'—यह सुनकर महाबाहु महाराज युधिष्ठिर महर्षि धौम्यके साथ उनकी खोजके लिये चल दिये ।। ४७ ।।

द्रौपद्या रक्षणं कार्यमित्युवाच धनंजयम् ।
नकुलं सहदेवं च व्यादिदेश द्विजान् प्रति ।। ४८ ।।

जाते समय उन्होंने अर्जुनसे कहा—'द्रौपदीकी रक्षा करना।' फिर उन्होंने नकुल और सहदेवको ब्राह्मणोंकी रक्षा एवं सेवाके लिये आज्ञा दी ।। ४८ ।।

स तस्य पदमुन्नीय तस्मादेवाश्रमात् प्रभुः ।
मृगयामास कौन्तेयो भीमसेनं महावने ।। ४९ ।।

शक्तिशाली कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने उस महान् वनमें भीमसेनके पदचिह्न देखते हुए उस आश्रमसे निकलकर सब ओर खोजा ।। ४९ ।।

स प्राचीं दिशमास्थाय महतो गजयूथपान् ।
ददर्श पृथिवीं चिह्नैर्भीमस्य परिचिह्निताम् ।। ५० ।।

पहले पूर्व दिशामें जाकर हाथियोंके बड़े-बड़े यूथपतियोंको देखा। वहाँकी भूमि भीमसेनके पद-चिह्नोंसे चिह्नित थी ।। ५० ।।

ततो मृगसहस्राणि मृगेन्द्राणां शतानि च ।
पतितानि वने दृष्ट्वा मार्गं तस्याविशन्नृपः ।। ५१ ।।

वहाँसे आगे बढ़नेपर उन्होंने वनमें सैकड़ों सिंह और हजारों अन्य हिंसक पशु पृथ्वीपर पड़े देखे। देखकर भीमसेनके मार्गका अनुसरण करते हुए राजाने उसी वनमें प्रवेश किया ।। ५१ ।।

धावतस्तस्य वीरस्य मृगार्थं वातरंहसः ।
ऊरुवातविनिर्भग्ना द्रुमा व्यावर्जिताः पथि ।। ५२ ।।

वायुके समान वेगशाली वीरवर भीमसेनके शिकारके लिये दौड़नेपर मार्गमें उनकी जाँघोंके आघातसे टूटकर पड़े हुए बहुत-से वृक्ष दिखायी दिये ।। ५२ ।।

स गत्वा तैस्तदा चिह्नैर्ददर्श गिरिगह्वरे ।
रूक्षमारुतभूयिष्ठे निष्पत्रद्रुमसंकुले ।। ५३ ।।
ईरिणे निर्जले देशे कण्टकिद्रुमसंकुले ।
अश्मस्थाणुक्षुपाकीर्णे सुदुर्गे विषमोत्कटे ।
गृहीतं भुजगेन्द्रेण निश्चेष्टमनुजं तदा ।। ५४ ।।

तब उन्हीं पद-चिह्नोंके सहारे जाकर उन्होंने पर्वतकी कन्दरामें अपने भाई भीमसेनको देखा, जो अजगरकी पकड़में आकर चेष्टाशून्य हो गये थे। उक्त पर्वतकी कन्दरामें विशेष रूपसे रूक्ष वायु चलती थी। वह गुफा ऐसे वृक्षोंसे ढकी थी, जिनमें नाममात्रके लिये भी पत्ते नहीं थे। इतना ही नहीं, वह स्थान ऊसर, निर्जल, काँटेदार वृक्षोंसे भरा हुआ, पत्थर, ठूँठ और छोटे वृक्षोंसे व्याप्त, अत्यन्त दुर्गम और ऊँचा-नीचा था ।। ५३-५४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि युधिष्ठिरभीमदर्शने एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें युधिष्ठिरको भीमसेनके दर्शनसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७९ ।।

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनके पास पहुँचना और सर्परूपधारी नहुषके प्रश्नोंका उत्तर देना

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तमासाद्य सर्पभोगेन वेष्टितम् ।
दयितं भ्रातरं धीमानिदं वचनमब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सर्पके शरीरसे बँधे हुए अपने प्रिय भाई भीमसेनके पास पहुँचकर परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने इस प्रकार पूछा— ।। १ ।।

कुन्तीमातः कथमिमामापदं त्वमवाप्तवान् ।
कश्चायं पर्वताभोगप्रतिमः पन्नगोत्तमः ।। २ ।।
स धर्मराजमालक्ष्य भ्राता भ्रातरमग्रजम् ।
कथयामास तत् सर्वं ग्रहणादि विचेष्टितम् ।। ३ ।।

‘कुन्तीनन्दन! तुम कैसे इस विपत्तिमें फँस गये? और यह पर्वतके समान लम्बा-चौड़ा श्रेष्ठ नाग कौन है?’ अपने बड़े भ्राता धर्मराज युधिष्ठिरको वहाँ उपस्थित देख भाई भीमसेनने अपने पकड़े जाने आदिकी सारी चेष्टाएँ कह सुनायीं ।। २-३ ।।

भीम उवाच

अयमार्य महासत्वो भक्षार्थं मां गृहीतवान् ।
नहुषो नाम राजर्षिः प्राणवानिव संस्थितः ।। ४ ।।

भीम बोले—आर्य! ये वायुभक्षी सर्पके रूपमें बैठे हुए महान् शक्तिशाली साक्षात् राजर्षि नहुष हैं, इन्होंने मुझे अपना आहार बनानेके लिये पकड़ रखा है ।। ४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

मुच्यतामयमायुष्मन् भ्राता मेऽमितविक्रमः ।
वयमाहारमन्यं ते दास्यामः क्षुन्निवारणम् ।। ५ ।।

तब युधिष्ठिरने सर्पसे कहा—आयुष्मन्! आप मेरे इस अनन्त पराक्रमी भाईको छोड़ दें। हमलोग आपकी भूख मिटानेके लिये दूसरा भोजन देंगे ।। ५ ।।

सर्प उवाच

आहाते राजपुत्रोऽयं मया प्राप्तो मुखागतः ।
गम्यतां नेह स्थातव्यं श्वो भवानपि मे भवेत् ।। ६ ।।

सर्प बोला—राजन्! यह राजकुमार मेरे मुखके पास स्वयं आकर मुझे आहाररूपमें प्राप्त हुआ है। तुम जाओ, यहाँ ठहरना उचित नहीं है; अन्यथा कलतक तुम भी मेरे आहार बन जाओगे ।। ६ ।।

व्रतमेतन्महाबाहो विषयं मम यो व्रजेत् ।
स मे भक्षो भवेत् तात त्वं चापि विषये मम ।। ७ ।।

महाबाहो! मेरा यह नियम है कि मेरी अधिकृत भूमिके भीतर जो भी आ जायगा, वह मेरा भक्ष्य बन जायगा। तात! इस समय तुम भी मेरे अधिकारकी सीमामें ही आ गये हो ।। ७ ।।

चिरेणाद्य मयाऽऽहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव ।
नाहमेनं विमोक्ष्यामि न चान्यमभिकाङ्क्षये ।। ८ ।।

दीर्घकालतक उपवास करनेके बाद आज यह तुम्हारा छोटा भाई मुझे आहाररूपमें प्राप्त हुआ है, अतः न तो मैं इसे छोड़ूँगा और न इसके बदलेमें दूसरा आहार ही लेना चाहता हूँ ।। ८ ।।

युधिष्ठिर उवाच

देवो वा यदि वा दैत्य उरगो वा भवान् यदि ।

सत्यं सर्प वचो ब्रूहि पृच्छति त्वां युधिष्ठिरः ।
किमर्थं च त्वया ग्रस्तो भीमसेनो भुजङ्गम ।। ९ ।।

युधिष्ठिरने कहा—सर्प! तुम कोई देवता हो या दैत्य अथवा वास्तवमें सर्प ही हो? सच बताओ, तुमसे युधिष्ठिर प्रश्न कर रहा है। भुजंगम! किस लिये तुमने भीमसेनको ही अपना ग्रास बनाया है? ।। ९ ।।

किमाहृत्य विदित्वा वा प्रीतिस्ते स्याद् भुजङ्गम् ।
किमाहारं प्रयच्छामि कथं मुञ्चेद् भवानिमम् ।। १० ।।

बोलो, तुम्हारे लिये क्या ला दिया जाय? अथवा तुम्हें किस बातका ज्ञान करा दिया जाय? जिससे तुम प्रसन्न होओगे। मैं कौन-सा आहार दे दूँ अथवा किस उपायका अवलम्बन करूँ, जिससे तुम इन्हें छोड़ सकते हो? ।। १० ।।

सर्प उवाच

नहुषो नाम राजाहमासं पूर्वस्तवानघ ।
प्रथितः पञ्चमः सोमादायोः पुत्रो नराधिप ।। ११ ।।

सर्प बोला—निष्पाप नरेश! मैं पूर्वजन्ममें तुम्हारा विख्यात पूर्वज नहुष नामका राजा था। चन्द्रमासे पाँचवीं पीढ़ीमें जो आयु नामक राजा हुए थे, उन्हींका मैं पुत्र हूँ ।। ११ ।।

क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च ।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च ।। १२ ।।

मैंने अनेक यज्ञ किये, तपस्या की, स्वाध्याय किया तथा अपने मन और इन्द्रियोंके संयमरूप योगका अभ्यास किया। इन सत्कर्मोंसे तथा अपने पराक्रमसे भी मुझे तीनों लोकोंका निष्कण्टक साम्राज्य प्राप्त हुआ था ।। १२ ।।

तदैश्वर्यं समासाद्य दर्पो मामगमत् तदा ।
सहस्रं हि द्विजातीनामुवाह शिबिकां मम ।। १३ ।।
ऐश्वर्यमदमत्तोऽहमवमन्य ततो द्विजान् ।
इमामगस्त्येन दशामानीतः पृथिवीपते ।। १४ ।।
न तु मामजहात् प्रज्ञा यावदद्योति पाण्डव ।
तस्यैवानुग्रहाद् राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः ।। १५ ।।

तब उस ऐश्वर्यको पाकर मेरा अहंकार बढ़ गया। मैंने सहस्रों ब्राह्मणोंसे अपनी पालकी ढुलवायी। तदनन्तर ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो मैंने बहुत-से ब्राह्मणोंका अपमान किया। पृथ्वीपते! इससे कुपित हुए महर्षि अगस्त्यने मुझे इस अवस्थाको पहुँचा दिया। पाण्डुनन्दन नरेश! उन्हीं महात्मा अगस्त्यकी कृपासे आजतक मेरी स्मरणशक्ति मुझे छोड़ नहीं सकी है। (मेरी स्मृति ज्यों-की-त्यों बनी हुई है) ।। १३—१५ ।।

षष्ठे काले मयाऽऽहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव ।

नाहमेनं विमोक्ष्यामि न चान्यदपि कामये ।। १६ ।।

महर्षिके शापके अनुसार दिनके छठे भागमें तुम्हारा यह छोटा भाई मुझे भोजनके रूपमें प्राप्त हुआ है। अतः मैं न तो इसे छोड़ूँगा और न इसके बदले दूसरा आहार लेना चाहता हूँ ।। १६ ।।

प्रश्नानुच्चारितानद्य व्याहरिष्यसि चेन्मम ।
अथ पश्चाद् विमोक्ष्यामि भ्रातरं ते वृकोदरम् ।। १७ ।।

परंतु एक बात है, यदि तुम मेरे पूछे हुए कुछ प्रश्नोंका अभी उत्तर दे दोगे, तो उसके बाद मैं तुम्हारे भाई भीमसेनको छोड़ दूँगा ।। १७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

ब्रूहि सर्प यथाकामं प्रतिवक्ष्यामि ते वचः ।
अपि चेच्छक्नुयां प्रीतिमाहर्तुं ते भुजङ्गम ।। १८ ।।

युधिष्ठिरने कहा—सर्प! तुम इच्छानुसार प्रश्न करो। मैं तुम्हारी बातका उत्तर दूँगा। भुजंगम! यदि हो सका, तो तुम्हें प्रसन्न करनेका प्रयत्न करूँगा ।। १८ ।।

वेद्यं च ब्राह्मणेनेह तद् भवान् वेत्ति केवलम् ।
सर्पराज ततः श्रुत्वा प्रतिवक्ष्यामि ते वचः ।। १९ ।।

सर्पराज! ब्राह्मणको इस जीवनमें जो कुछ जानना चाहिये, वह केवल तत्त्व तुम जानते हो या नहीं। यह सुनकर मैं तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दूँगा ।। १९ ।।

सर्प उवाच

ब्राह्मणः को भवेद् राजन् वेद्यं किं च युधिष्ठिर ।
ब्रवीह्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे ।। २० ।।

सर्प बोला—राजा युधिष्ठिर! यह बताओ कि ब्राह्मण कौन है और उसके लिये जाननेयोग्य तत्त्व क्या है? तुम्हारी बातें सुननेसे मुझे ऐसा अनुमान होता है कि तुम अतिशय बुद्धिमान् हो ।। २० ।।

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ।। २१ ।।

युधिष्ठिरने कहा—नागराज! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरताका अभाव, तपस्या और दया—से सद्‌गुण दिखायी देते हों, वही ब्राह्मण कहा गया है ।। २१ ।।

वेद्यं सर्प परं ब्रह्म निर्दुःखमसुखं च यत् ।
यत्र गत्वा न शोचन्ति भवतः किं विवक्षितम् ।। २२ ।।

सर्प! जाननेयोग्य तत्त्व तो परम ब्रह्म ही है, जो दु:ख और सुखसे परे है तथा जहाँ पहुँचकर अथवा जिसे जानकर मनुष्य शोकके पार हो जाता है। बताओ, तुम्हें अब इस विषयमें क्या कहना है? ।। २२ ।।

सर्प उवाच

चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि ।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च ।
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर ।। २३ ।।

सर्प बोला—युधिष्ठिर! सत्य एवं प्रमाणभूत ब्रह्म तो चारों वर्णोंके लिये हितकर है। सत्य, दान, अक्रोध, क्रूरताका अभाव, अहिंसा और दया आदि सद्‌गुण तो शूद्रोंमें भी रहते हैं ।। २३ ।।

वेद्यं यच्चात्र निर्दु:खमसुखं च नराधिप ।
ताभ्यां हीनं पदं चान्यन्न तदस्तीति लक्षये ।। २४ ।।

नरेश्वर! तुमने यहाँ जो जाननेयोग्य तत्त्वको दु:ख और सुखसे परे बताया है, सो दु:ख और सुखसे रहित किसी दूसरी वस्तुकी सत्ता ही मैं नहीं देखता हूँ ।। २४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मण: ।। २५ ।।
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मण: स्मृत: ।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ।। २६ ।।

युधिष्ठिरने कहा—यदि शूद्रमें सत्य आदि उपर्युक्त लक्षण हैं और ब्राह्मणमें नहीं हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है। सर्प! जिसमें ये सत्य आदि लक्षण मौजूद हों, वह ब्राह्मण माना गया है और जिसमें इन लक्षणोंका अभाव हो, उसे शूद्र कहना चाहिये ।। २५-२६ ।।

यत् पुनर्भवता प्रोक्तं न वेद्यं विद्यतीति च ।
ताभ्यां हीनमतोऽन्यत्र पदमस्तीति चेदपि ।। २७ ।।
एवमेतन्मतं सर्प ताभ्यां हीनं न विद्यते ।
यथा शीतोष्णयोर्मध्ये भवेन्नोष्णं न शीतता ।। २८ ।।
एवं वै सुखदु:खाभ्यां हीनमस्ति पदं क्वचित् ।
एषा मम मति: सर्प यथा वा मन्यते भवान् ।। २९ ।।

अब तुमने जो यह कहा कि सुख-दु:खसे रहित कोई दूसरा वेद्य तत्त्व है ही नहीं, सो तुम्हारा यह मत ठीक है। सुख-दु:खसे शून्य कोई पदार्थ नहीं है। किंतु एक ऐसा पद है भी। जिस प्रकार बर्फमें उष्णता और अग्निमें शीतलता कहीं नहीं रहती, उसी प्रकार जो वेद्य-पद

है, वह वास्तवमें सुख-दुःखसे रहित ही है। नागराज! मेरा तो यही विचार है, फिर आप जैसा मानें ।। २७—२९ ।।

सर्प उवाच

यदि ते वृत्ततो राजन् ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः ।
वृथा जातिस्तदाऽऽयुष्मन् कृतिर्यावन्न विद्यते ।। ३० ।।

सर्प बोला—आयुष्मन् नरेश! यदि आचारसे ही ब्राह्मणकी परीक्षा की जाय, तब तो जबतक उसके अनुसार कर्म न हो जाति व्यर्थ ही है ।। ३० ।।

युधिष्ठिर उवाच

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते ।
संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ।। ३१ ।।

युधिष्ठिरने कहा—महासर्प! महामते! मनुष्योंमें जातिकी परीक्षा करना बहुत ही कठिन है; क्योंकि इस समय सभी वर्णोंका परस्पर संकर (सम्मिश्रण) हो रहा है, ऐसा मेरा विचार है ।। ३१ ।।

सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः ।
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम् ।। ३२ ।।
इदमार्षं प्रमाणं च ये यजामह इत्यपि ।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः ।। ३३ ।।

सभी मनुष्य सदा सब जातियोंकी स्त्रियोंसे संतान उत्पन्न कर रहे हैं। वाणी, मैथुन तथा जन्म और मरण—ये सब मनुष्योंमें एक-से देखे जाते हैं। इस विषयमें यह आर्षप्रमाण भी मिलता है—‘ये यजामहे’ यह श्रुति जातिका निश्चय न होनेके कारण ही जो हमलोग यज्ञ कर रहे हैं, ऐसा सामान्यरूपसे निर्देश करती है। इसलिये जो तत्त्वदर्शी विद्वान् हैं, वे शीलको ही प्रधानता देते हैं और उसे ही अभीष्ट मानते हैं ।। ३२-३३ ।।

प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ।। ३४ ।।

जब बालकका जन्म होता है, तब नालच्छेदनके पूर्व उसका जातकर्म-संस्कार किया जाता है। उसमें उसकी माता सावित्री कहलाती है और पिता आचार्य ।।

तावच्छूद्रसमो ह्येष यावद् वेदे न जायते ।
तस्मिन्नेवं मतिद्वैधे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।। ३५ ।।
कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न विद्यते ।
संकरस्त्वत्र नागेन्द्र बलवान् प्रसमीक्षितः ।। ३६ ।।

जबतक बालकका संस्कार करके उसे वेदका स्वाध्याय न कराया जाय, तबतक वह शूद्रहीके समान है। जातिविषयक संदेह होनेपर स्वायम्भुव मनुने यही निर्णय दिया है।

नागराज! यदि वैदिक संस्कार करके वेदाध्ययन करनेपर भी ब्राह्मणादि वर्णोंमें अपेक्षित शील और सदाचारका उदय नहीं हुआ तो उसमें प्रबल वर्णसंकरता है, ऐसा विचारपूर्वक निश्चय किया गया है ।।

यत्रेदानीं महासर्प संस्कृतं वृत्तमिष्यते ।
तं ब्राह्मणमहं पूर्वमुक्तवान् भुजगोत्तम ।। ३७ ।।

महासर्प! भुजंगमप्रवर! इस समय जिसमें संस्कारके साथ-साथ सदाचारकी उपलब्धि हो, वही ब्राह्मण है। यह बात मैं पहले ही बता चुका हूँ ।। ३७ ।।

सर्प उवाच

श्रुतं विदितवेद्यस्य तव वाक्यं युधिष्ठिर ।
भक्षयेयमहं कस्माद् भ्रातरं ते वृकोदरम् ।। ३८ ।।

सर्प बोला—युधिष्ठिर! तुम जाननेयोग्य सभी बातें जानते हो। मैंने तुम्हारी बात अच्छी तरह सुन ली। अब मैं तुम्हारे भाई भीमसेनको कैसे खा सकता हूँ? ।। ३८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि युधिष्ठिरसर्पसंवादे अशीत्यधिकशततमोऽयायः ।। १८० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें युधिष्ठिरसर्पसंवादविषयक एक सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८० ।।

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा अपने प्रश्नोंका उचित उत्तर पाकर संतुष्ट हुए सर्परूपधारी नहुषका भीमसेनको छोड़ देना तथा युधिष्ठिरके साथ वार्तालाप करनेके प्रभावसे सर्पयोनिसे मुक्त होकर स्वर्ग जाना

युधिष्ठिर उवाच

भवानेतादृशो लोके वेदवेदाङ्गपारगः ।
ब्रूहि किं कुर्वतः कर्म भवेद् गतिरनुत्तमा ।। १ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—तुम सम्पूर्ण वेद-वेदांगोंके पारगामी हो। लोकमें तुम्हारी ऐसी ही ख्याति है। बताओ, किस कर्मके आचरणसे सर्वोत्तम गति प्राप्त हो सकती है? ।। १ ।।

सर्प उवाच

पात्रे दत्त्वा प्रियाण्युक्त्वा सत्यमुक्त्वा च भारत ।
अहिंसानिरतः स्वर्गं गच्छेदिति मतिर्मम ।। २ ।।

सर्पने कहा—भारत! इस विषयमें मेरा विचार यह है कि मनुष्य सत्पात्रको दान देनेसे, सत्य और प्रिय वचन बोलनेसे तथा अहिंसा-धर्ममें तत्पर रहनेसे स्वर्ग (उत्तम गति) पा सकता है ।। २ ।।

युधिष्ठिर उवाच

दानाद् वा सर्प सत्याद् वा किमतो गुरु दृश्यते ।
अहिंसाप्रिययोश्चैव गुरुलाघवमुच्यताम् ।। ३ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—नागराज! दान और सत्यमें किसका पलड़ा भारी देखा जाता है? अहिंसा और प्रियभाषण—इनमेंसे किसका महत्त्व अधिक है और किसका कम? यह बताओ ।। ३ ।।

सर्प उवाच

दानं च सत्यं तत्त्वं वा अहिंसा प्रियमेव च ।
एषां कार्यगरीयस्त्वाद् दृश्यते गुरुलाघवम् ।। ४ ।।

सर्पने कहा—महाराज! दान, सत्य-तत्त्व, अहिंसा और प्रियभाषण—इनकी गुरुता और लघुता कार्यकी महत्ताके अनुसार देखी जाती है ।। ४ ।।

कस्माच्चिद् दानयोगाद्धि सत्यमेव विशिष्यते ।
सत्यवाक्याच्च राजेन्द्र किंचिद् दानं विशिष्यते ।। ५ ।।

राजेन्द्र! किसी दानसे सत्यका ही महत्त्व बढ़ जाता है और कोई-कोई दान ही सत्यभाषणसे अधिक महत्त्व रखता है ।। ५ ।।

एवमेव महेष्वास प्रियवाक्यान्महीपते ।
अहिंसा दृश्यते गुर्वी ततश्च प्रियमिष्यते ।। ६ ।।

महान् धनुर्धर भूपाल! इसी प्रकार कहीं तो प्रिय वचनकी अपेक्षा अहिंसाका गौरव अधिक देखा जाता है और कहीं अहिंसासे भी बढ़कर प्रियभाषणका महत्त्व दृष्टिगोचर होता है ।। ६ ।।

एवमेतद् भवेद् राजन् कार्यापेक्षमनन्तरम् ।
यदभिप्रेतमन्यत् ते ब्रूहि यावद् ब्रवीम्यहम् ।। ७ ।।

राजन्! इस प्रकार इनके गौरव-लाघवका निश्चय कार्यकी अपेक्षासे ही होता है। अब और जो कुछ भी प्रश्न तुम्हें अभीष्ट हो, वह पूछो । मैं यथासाध्य उत्तर देता हूँ ।। ७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कथं स्वर्गे गतिः सर्प कर्मणां च फलं ध्रुवम् ।
अशरीरस्य दृश्येत प्रब्रूहि विषयांश्च मे ।। ८ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—सर्प! मनुष्यको स्वर्गकी प्राप्ति और कर्मोंका निश्चयरूपसे मिलनेवाला फल किस प्रकार देखनेमें आता है एवं देहाभिमानसे रहित पुरुषकी गति किस प्रकार होती है? इन विषयोंको मुझसे भलीभाँति कहिये ।। ८ ।।

सर्प उवाच

तिस्रो वै गतयो राजन् परिदृष्टाः स्वकर्मभिः ।
मानुषं स्वर्गवासश्च तिर्यग्योनिश्च तत् त्रिधा ।। ९ ।।

सर्पने कहा—राजन्! अपने-अपने कर्मोंके अनुसार जीवोंकी तीन प्रकारकी गतियाँ देखी जाती हैं—स्वर्गलोककी प्राप्ति, मनुष्ययोनिमें जन्म लेना और पशु-पक्षी आदि योनियोंमें (तथा नरकोंमें) उत्पन्न होना।* बस, ये ही तीन योनियाँ हैं ।। ९ ।।

तत्र वै मानुषाल्लोकाद् दानादिभिरतन्द्रितः ।
अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते ।। १० ।।

इनमेंसे जो जीव मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होता है, पर यदि आलस्य और प्रमादका त्याग करके अहिंसाका पालन करते हुए दान आदि शुभ कर्म करता है, तो उसे इन पुण्य कर्मोंके कारण स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है ।। १० ।।

विपरीतैश्च राजेन्द्र कारणैर्मानुषो भवेत् ।
तिर्यग्योनिस्तथा तात विशेषश्चात्र वक्ष्यते ।। ११ ।।
कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः ।
मनुष्यत्वात् परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रसूयते ।। १२ ।।

राजेन्द्र! इसके विपरीत कारण उपस्थित होनेपर मनुष्ययोनिमें तथा पशु-पक्षी आदि योनिमें जन्म लेना पड़ता है। तात! पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जन्म लेनेका जो विशेष कारण है, उसे भी यहाँ बतलाया जाता है। जो काम, क्रोध, लोभ और हिंसामें तत्पर होकर मानवतासे भ्रष्ट हो जाता है, अपनी मनुष्य होनेकी योग्यताको भी खो देता है, वही पशु-पक्षी आदि योनिमें जन्म पाता है ।। ११-१२ ।।

तिर्यग्योन्याः पृथग्भावो मनुष्यार्थे विधीयते ।
गवादिभ्यस्तथाश्वेभ्यो देवत्वमपि दृश्यते ।। १३ ।।

फिर मनुष्य-जन्मकी प्राप्तिके लिये उसका तिर्यक्-योनिसे उद्धार होता है। गौओं तथा अश्वोंको भी उस योनिसे छुटकारा मिलकर देवत्वकी प्राप्ति होती है, यह बात देखी जाती है ।। १३ ।।

सोऽयमेता गतीस्तात जन्तुश्चरति कार्यवान् ।
नित्ये महति चात्मानमवस्थापयते द्विजः ।। १४ ।।
जातो जातश्च बलवद् भुङ्क्ते चात्मा स देहवान् ।
फलार्थस्तात निष्पृक्तः प्रजापालनभावनः ।। १५ ।।

तात! प्रयोजनवश वही यह जीव इन्हीं तीन गतियोंमें भटकता रहता है। कर्मफलको चाहनेवाला देहाभिमानी जीव परवशतासे बार-बार जन्म लेता और दुःख-सुखका उपभोग करता है। किंतु तात! जो कर्मफलमें आसक्त नहीं है, वह प्रजाजनोंके पालनकी भावनावाला द्विज अपने आत्माको नित्य परब्रह्म परमात्मामें भलीभाँति स्थित कर देता है ।। १४-१५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

शब्दे स्पर्शे च रूपे च तथैव रसगन्धयोः ।
तस्याधिष्ठानमव्यग्रो ब्रूहि सर्प यथातथम् ।। १६ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—सर्प! शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इनका आधार क्या है? आप शान्तचित्त होकर इसे यथार्थरूपसे बताइये ।। १६ ।।

किं न गृह्णाति विषयान् युगपच्च महामते ।
एतावदुच्यतां चोक्तं सर्वं पन्नगसत्तम ।। १७ ।।

महामते! पन्नगश्रेष्ठ! मन विषयोंका एक ही साथ ग्रहण क्यों नहीं करता? इन उपर्युक्त सब बातोंको बताइये ।।

सर्प उवाच

यदात्मद्रव्यमायुष्मन् देहसंश्रयणान्वितम् ।
करणाधिष्ठितं भोगानुपभुङ्क्ते यथाविधि ।। १८ ।।

सर्पने कहा—आयुष्मन्! स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंका आश्रय लेनेवाला और इन्द्रियोंसे युक्त जो आत्मा नामक द्रव्य है, वही विधिपूर्वक नाना प्रकारके भोगोंको भोगता है ।। १८ ।।

ज्ञानं चैवात्र बुद्धिश्च मनश्च भरतर्षभ ।
तस्य भोगाधिकरणे करणानि निबोध मे ।। १९ ।।

भरतश्रेष्ठ! ज्ञान, बुद्धि और मन—ये ही शरीरमें उसके करण समझो ।। १९ ।।

मनसा तात पर्येति क्रमशो विषयानिमान् ।
विषयायतनस्थो हि भूतात्मा क्षेत्रमास्थितः ।। २० ।।

तात! पाँचों विषयोंके आधारभूत पंचभूतोंसे बने हुए शरीरमें स्थित जीवात्मा इस शरीरमें स्थित हुआ ही मनके द्वारा क्रमशः इन पाँचों विषयोंका उपभोग करता है ।। २० ।।

तत्र चापि नरव्याघ्र मनो जन्तोर्विधीयते ।
तस्माद् युगपदत्रास्य ग्रहणं नोपपद्यते ।। २१ ।।

नरश्रेष्ठ! विषयोंके उपभोगके समय (बुद्धिके द्वारा) इस जीवात्माका मन किसी एक ही विषयमें नियन्त्रित कर दिया जाता है। इसीलिये उसके द्वारा एक ही साथ अनेक विषयोंका ग्रहण सम्भव नहीं हो पाता है ।। २१ ।।

स आत्मा पुरुषव्याघ्र भ्रुवोरन्तरमाश्रितः ।
बुद्धिं द्रव्येषु सृजति विविधेषु परावराम् ।। २२ ।।

पुरुषसिंह! वही आत्मा दोनों भौंहोंके बीच स्थित होकर उत्तम-अधम बुद्धिको भिन्न-भिन्न द्रव्योंकी ओर प्रेरित करता है ।। २२ ।।

बुद्धेरुत्तरकाला च वेदना दृश्यते बुधैः ।
एष वै राजशार्दूल विधिः क्षेत्रज्ञभावनः ।। २३ ।।

बुद्धिकी क्रियाके उत्तरकालमें भी विद्वान् पुरुषोंको एक अनुभूति दिखायी देती है। नृपश्रेष्ठ! यही क्षेत्रज्ञ आत्माको प्रकाशित करनेवाली विधि है ।। २३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

मनसश्चापि बुद्धेश्च ब्रूहि मे लक्षणं परम् ।
एतदध्यात्मविदुषां परं कार्यं विधीयते ।। २४ ।।

युधिष्ठिरने कहा—सर्प! मुझे मन और बुद्धिका उत्तम लक्षण बतलाओ। अध्यात्मशास्त्रके विद्वानोंके लिये इनको जानना परम कर्तव्य कहा गया है ।। २४ ।।

सर्प उवाच

बुद्धिरात्मानुगा तात उत्पातेन विधीयते ।
तदाश्रिता हि संज्ञैषा बुद्धिस्तस्यैषिणी भवेत् ।। २५ ।।
बुद्धिरुत्पद्यते कार्यान्मनस्तूत्पन्नमेव हि ।

बुद्धेर्गुणविधानेन मनस्तद्गुणवद् भवेत् ।। २६ ।।

सर्पने कहा—तात! आत्माके भोग और मोक्षका सम्पादन करना ही बुद्धिका प्रयोजन है तथा आत्माका आश्रय लेकर ही बुद्धि विषयोंकी ओर जाती है। इस कारण वह आत्माका अनुसरण करनेवाली मानी जाती है। वह भी आत्माकी चेतनशक्तिके सम्बन्धसे ही है तथा बुद्धिके गुणविधानसे अर्थात् उसकी ज्ञानशक्तिके प्रभावसे ही मन उस गुणसे सम्पन्न होता है यानी इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाता है। अतः बुद्धि तो कार्यके आरम्भसे प्रकट होती है और मन सदैव प्रकट रहता है। (कार्यको देखकर ही कारणकी सत्ता व्यक्त होती है—यह न्याय है) ।। २५-२६ ।।

एतद् विशेषणं तात मनोबुद्ध्योर्यदन्तरम् ।
त्वमप्यत्राभिसम्बुद्धः कथं वा मन्यते भवान् ।। २७ ।।

तात! मन और बुद्धिकी यह विशेषता ही उन दोनोंका अन्तर है। तुम भी तो इस विषयके अच्छे ज्ञाता हो, अतः बताओ, तुम्हारी कैसी मान्यता है? ।। २७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अहो बुद्धिमतां श्रेष्ठ शुभा बुद्धिरियं तव ।
विदितं वेदितव्यं ते कस्मात् समनुपृच्छसि ।। २८ ।।

युधिष्ठिर बोले—बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ! तुम्हारी यह बुद्धि बड़ी उत्तम है। तुम तो जानने योग्य वस्तुको जान चुके हो, फिर मुझसे क्यों पूछते हो? ।। २८ ।।

सर्वज्ञं त्वां कथं मोह आविशत् स्वर्गवासिनम् ।
एवमद्भुतकर्माणमिति मे संशयो महान् ।। २९ ।।

तुम तो सर्वज्ञ तथा स्वर्गके निवासी थे। तुमने बड़े अद्भुत कर्म किये थे। भला, तुम्हें कैसे मोह हो गया? (अर्थात् ब्राह्मणोंका अपमान कैसे कर बैठे?) इस बातको लेकर मेरे मनमें बड़ा संशय हो रहा है ।। २९ ।।

सर्प उवाच

सुप्रज्ञमपि चेच्छूरमृद्धिर्मोहयते नरम् ।
वर्तमानः सुखे सर्वो मुह्यतीति मतिर्मम ।। ३० ।।

सर्पने कहा—राजन्! यह धन-सम्पत्ति बड़े-बड़े बुद्धिमान् और शूरवीर मनुष्यको भी मोहमें डाल देती है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि सुख-विलासमें डूबे हुए सभी लोग मोहित हो जाते हैं ।। ३० ।।

सोऽहमैश्वर्यमोहेन मदाविष्टो युधिष्ठिर ।
पतितः प्रतिसम्बुद्धस्त्वां तु सम्बोधयाम्यहम् ।। ३१ ।।

युधिष्ठिर! इसी तरह मैं भी ऐश्वर्यके मोहसे मदोन्मत्त हो गया और मुझे उस समय चेत हुआ, जब कि मेरा अधःपतन हो चुका। अतः अब तुम्हें सचेत कर रहा हूँ ।। ३१ ।।

कृतं कार्यं महाराज त्वया मम परंतप ।
क्षीणःशापः सुकृच्छ्रो मे त्वया सम्भाष्य साधुना ।। ३२ ।।

परंतप महाराज! आज तुमने मेरा बहुत बड़ा कार्य किया। इस समय तुम-जैसे श्रेष्ठ पुरुषसे वार्तालाप करनेके कारण मेरा वह अत्यन्त कष्टदायक शाप निवृत्त हो गया ।। ३२ ।।

अहं हि दिवि दिव्येन विमानेन चरन् पुरा ।
अभिमानेन मत्तः सन् कंचिन्नान्यमचिन्तयम् ।। ३३ ।।

पूर्वकालमें (जब मैं स्वर्गका राजा था,) दिव्य विमानपर चढ़कर आकाशमें विचरता रहता था। उस समय अभिमानसे मत्त होकर मैं दूसरे किसीको कुछ नहीं समझता था ।। ३३ ।।

ब्रह्मर्षिदेवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः ।
करान् मम प्रयच्छन्ति सर्वे त्रैलोक्यवासिनः ।। ३४ ।।

ब्रह्मर्षि, देवता गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग आदि जो भी इस त्रिलोकीमें निवास करनेवाले प्राणी थे, वे सब मुझे कर देते थे ।। ३४ ।।

चक्षुषा यं प्रपश्यामि प्राणिनं पृथिवीपते ।
तस्य तेजो हराम्याशु तद्धि-दृष्टेर्बलं मम ।। ३५ ।।

राजन्! उन दिनों मैं जिस प्राणीकी ओर आँख उठाकर देखता था, उसका तेज तत्काल हर लेता था। यह थी मेरी दृष्टिकी शक्ति ।। ३५ ।।

ब्रह्मर्षीणां सहस्रं हि उवाह शिबिकां मम ।
स मामपनयो राजन् भ्रंशयामास वै श्रियः ।। ३६ ।।

हजारों ही ब्रह्मर्षि मेरी पालकी ढोते थे। महाराज! मेरे इसी अत्याचारने मुझे स्वर्गकी राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट कर दिया ।। ३६ ।।

तत्र ह्यगस्त्यः पादेन वहन् स्पृष्टो मया मुनिः ।
अगस्त्येन ततोऽस्म्युक्तः सर्पस्त्वं च भवेति ह ।। ३७ ।।

स्वर्गमें मुनिवर अगस्त्य जब मेरी पालकी ढो रहे थे, तब मैंने उन्हें लात मारी, इसलिये उन्होंने मुझे ऐसा कहा कि ‘तू निश्चय ही सर्प हो जा’ ।। ३७ ।।

ततस्तस्माद् विमानाग्र्यात् प्रच्युतश्च्युतलक्षणः ।
प्रपतन् बुबुधेऽऽत्मानं व्यालीभूतमधोमुखम् ।
आयाचं तमहं विप्रं शापस्यान्तो भवेदिति ।। ३८ ।।

उनके इतना कहते ही मेरे सभी राजचिह्न लुप्त हो गये। मैं (सर्प होकर) उस उत्तम विमानसे नीचे गिरा। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि मैं सर्प होकर नीचे मुँह किये गिर रहा हूँ; तब मैंने शापका अन्त होनेके उद्देश्यसे उन ब्रह्मर्षिसे याचना करते हुए कहा ।। ३८ ।।

सर्प उवाच

प्रमादात् सम्प्रमूढस्य भगवन् क्षन्तुमर्हसि ।
ततः स मामुवाचेदं प्रपतन्तं कृपान्वितः ।। ३९ ।।

सर्पने कहा—भगवन्! मैं प्रमादवश विवेकशून्य हो गया था। इसीलिये मुझसे यह घोर अपराध हुआ है। आप कृपया क्षमा करें। तब मुझे गिरते देख वे महर्षि दयासे द्रवित होकर बोले— ।। ३९ ।।

युधिष्ठिरो धर्मराजः शापात् त्वां मोक्षयिष्यति ।
अभिमानस्य घोरस्य पापस्य च नराधिप ।। ४० ।।
फले क्षीणे महाराज फलं पुण्यमवाप्स्यसि ।
ततो मे विस्मयो जातस्तद् दृष्ट्वा तपसो बलम् ।। ४१ ।।

'राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हें इस शापसे मुक्त करेंगे। महाराज! जब तुम्हारे इस अभिमान और घोर पापका फल क्षीण हो जायगा, तब तुम्हें फिर तुम्हारे पुण्योंका फल प्राप्त होगा'। उस समय मुझे उनकी तपस्याका महान् बल देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ ।। ४०-४१ ।।

ब्रह्म च ब्राह्मणत्वं च येन त्वाहमचूचुदम् ।
सत्यं दमस्तपो दानमहिंसा धर्मनित्यता ।। ४२ ।।
साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप ।
अरिष्ट एष ते भ्राता भीमसेनो महाबलः ।
स्वस्ति तेऽस्तु महाराज गमिष्यामि दिवं पुनः ।। ४३ ।।

राजन्! उनका ब्रह्म-ज्ञान और ब्राह्मणत्व देखकर भी मुझे बड़ा विस्मय हुआ। इसीलिये इस विषयमें मैंने तुमसे पहले प्रश्न किया था। राजन्! सत्य, इन्द्रियसंयम, तपस्या, दान, अहिंसा और धर्मपरायणता—ये सद्‌गुण ही सदा मनुष्योंको सिद्धिकी प्राप्ति करानेवाले हैं, जाति और कुल नहीं। ये रहे तुम्हारे भाई महाबली भीमसेन, जो सर्वथा सकुशल हैं। महाराज! तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं पुनः स्वर्गलोकको जाऊँगा ।। ४२-४३ ।।

(स चायं पुरुषव्याघ्र कालः पुण्य उपागतः ।
तदस्मात् कारणात् पार्थ कार्यं मम महत् कृतम् ।।)

पुरुषसिंह! पार्थ! तुम्हारे शुभागमनसे ही यह पुण्यकाल प्राप्त हुआ है, इस कारण तुमने मेरा बहुत बड़ा कार्य सिद्ध कर दिया।

वैशम्पायन उवाच

(ततस्तस्मिन् मुहूर्ते तु विमानं कामगामि वै ।
अवपातेन महता तत्रावाप तदुत्तमम् ।।)
इत्युक्त्वाऽऽजगरं देहं मुक्त्वा स नहुषो नृपः ।
दिव्यं वपुः समास्थाय गतस्त्रिदिवमेव ह ।। ४४ ।।

वैशम्पायनजी कहते है—जनमेजय! तदनन्तर उसी मुहूर्तमें एक इच्छानुसार चलनेवाला उत्तम विमान बड़े जोरकी उड़ानके, साथ वहाँ आ पहुँचा। युधिष्ठिरसे पूर्वोक्त बातें कहकर राजा नहुषने अजगरका शरीर त्याग दिया और दिव्य शरीर धारण करके वे पुनः स्वर्गलोकको चले गये ।। ४४ ।।

युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रात्रा भीमेन संगतः ।
धौम्येन सहितः श्रीमानाश्रमं पुनरागमत् ।। ४५ ।।

धर्मात्मा युधिष्ठिर भी भाई भीमसेनसे मिलकर उनके और धौम्य मुनिके साथ फिर अपने आश्रमपर लौट आये ।। ४५ ।।

ततो द्विजेभ्यः सर्वेभ्यः समेतेभ्यो यथातथम् ।
कथयामास तत् सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। ४६ ।।

तब धर्मराज युधिष्ठिरने वहाँ एकत्र हुए सब ब्राह्मणोंको भीमसेनके सर्पके चंगुलसे छूटनेका वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया ।। ४६ ।।

तच्छ्रुत्वा ते द्विजाः सर्वे भ्रातरश्चास्य ते त्रयः ।
आसन् सुव्रीडिता राजन् द्रौपदी च यशस्विनी ।। ४७ ।।

राजन्! यह सुनकर सब ब्राह्मण, उनके तीनों भाई और यशस्विनी द्रौपदी सब-के-सब बड़े लज्जित हुए ।। ४७ ।।

ते तु सर्वे द्विजश्रेष्ठाःपाण्डवानां हितेप्सया ।
मैवमित्यब्रुवन् भीमं गर्हयन्तोऽस्य साहसम् ।। ४८ ।।

तब पाण्डवोंके हितकी इच्छासे वे सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण भीमसेनको उनके दुःसाहसकी निन्दा करते हुए बोले—‘अब कभी ऐसा न करना’ ।। ४८ ।।

पाण्डवास्तु भयान्मुक्तं प्रेक्ष्य भीमं महाबलम् ।
हर्षमाहारयांचक्रुर्विजह्रुश्च मुदा युताः ।। ४९ ।।

पाण्डवलोग महाबली भीमसेनको भयसे मुक्त हुआ देख हर्षसे उल्लसित हो उठे और प्रसन्नतापूर्वक वहाँ विचरने लगे ।। ४९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आजगरपर्वणि भीममोचने एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आजगरपर्वमें भीमसेनके सर्पके भयसे छूटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५१ श्लोक हैं।)

---

* ये ही क्रमशः ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगतिके नामसे प्रसिद्ध हैं।

(मार्कण्डेयसमास्यापर्व)

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

वर्षा और शरद्-ऋतुका वर्णन एवं युधिष्ठिर आदिका पुनः द्वैतवनसे काम्यकवनमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

निदाघान्तकरः कालः सर्वभूतसुखावहः ।
तत्रैव वसतां तेषां प्रावृट् समभिपद्यत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर ग्रीष्म-ऋतुकी समाप्ति सूचित करनेवाला वर्षाकाल आया, जो समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचानेवाला था। पाण्डव अभी द्वैतवनमें ही थे, उसी समय वर्षा-ऋतु आ गयी ।। १ ।।

छादयन्तो महाघोषाः खं दिशश्च बलाहकाः ।
प्रववर्षुर्दिवारात्रमसिताः सततं तदा ।। २ ।।

तब काले-काले मेघ जोर-जोरसे गर्जना करते हुए आकाश और दिशाओंमें छा गये और दिन-रात निरन्तर जलकी वर्षा करने लगे ।। २ ।।

तपात्ययनिकेताश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।
अपेतार्कप्रभाजालाः सविद्युद्विमलप्रभाः ।। ३ ।।

वे वर्षामें तम्बूके समान जान पड़ते थे। उनकी संख्या सैकड़ों और हजारोंतक पहुँच गयी थी। उन्होंने सूर्यके प्रभापुञ्जको तो ढँक दिया था और विद्युत्की निर्मल प्रभा धारण कर ली थी ।। ३ ।।

विरूढशष्पा धरणी मत्तदंशसरीसृपा ।
बभूव पयसा सिक्ता शान्ता सर्वमनोरमा ।। ४ ।।

धरतीपर घास जम गयी। मतवाले डाँस और सर्प आदि विचरने लगे। पृथ्वी जलसे अभिषिक्त होकर शान्त और सबके लिये मनोरम हो गयी ।। ४ ।।

न स्म प्रज्ञायते किंचिदम्भसा समवस्तृते ।
समं वा विषमं वापि नद्यो वा स्थावराणि च ।। ५ ।।

सब ओर इतना पानी भर गया कि ऊँचा-नीचा, समतल, नदी अथवा पेड़-पौधे आदिका पता नहीं चलता था ।। ५ ।।

क्षुब्धतोया महावेगाः श्वसमाना इवाशुगाः ।

सिन्धवः शोभयांचक्रुः काननानि तपात्यये ।। ६ ।।

वर्षा-ऋतुकी नदियाँ बड़े वेगसे छूटनेवाले शीघ्र-गामी बाणोंकी भाँति सनसनाती हुई चलती थीं। उनके जलमें हिलोरें उठती रहती थीं और वे कितने ही काननोंकी शोभा बढ़ाती थीं ।। ६ ।।

नदतां काननान्तेषु श्रूयन्ते विविधाः स्वनाः ।
वृष्टिभिश्छाद्यमानानां वराहमृगपक्षिणाम् ।। ७ ।।

वनके भीतर वर्षाकी बौछारोंसे भीगते और बोलते हुए वराह, मृग और पक्षियोंकी भाँति-भाँतिकी बोलियाँ सुनायी देती थीं ।। ७ ।।

स्तोककाः शिखिनश्चैव पुंस्कोकिलगणैः सह ।
मत्ताः परिपतन्ति स्म दर्दुराश्चैव दर्पिताः ।। ८ ।।

पपीहा और मोर नर-कोकिलोंके साथ आनन्दोन्मत्त होकर इधर-उधर उड़ने लगे और मेढक भी घमण्डमें आकर इधर-उधर कूदते और टर्र-टर्र करते थे ।। ८ ।।

तथा बहुविधाकारा प्रावृण्मेघानुनादिता ।
अभ्यतीता शिवा तेषां चरतां मरुधन्वसु ।। ९ ।।

पाण्डव अभी मरुप्रदेशमें ही विचरते थे, तभी मेघोंकी गर्जनासे गूँजती तथा अनेक प्रकारके रूप-रंग लिये प्रकट हुई मंगलमयी वर्षा-ऋतु भी बीत गयी ।। ९ ।।

क्रौञ्चहंससमाकीर्णा शरत् प्रमुदिताभवत् ।
रूढकक्षवनप्रस्था प्रसन्नजलनिम्नगा ।। १० ।।
विमलाकाशनक्षत्रा शरत् तेषां शिवाभवत् ।
मृगद्विजसमाकीर्णा पाण्डवानां महात्मनाम् ।। ११ ।।

तत्पश्चात् आनन्दमयी शरद्-ऋतुका शुभागमन हुआ। क्रौञ्च और हंस आदि पक्षी चारों ओर विचरने लगे। वनोंमें और पर्वतीय शिखरोंपर कास, कुश आदि बहुत बढ़ गये थे। नदियोंका जल स्वच्छ हो गया। आकाश निर्मल होनेसे नक्षत्रोंका आलोक और उज्ज्वल हो उठा। सब ओर मृग और पक्षी किलोल करने लगे। महात्मा पाण्डवोंके लिये यह शरद्-ऋतु अत्यन्त सुखदायिनी थी ।। १०-११ ।।

दृश्यन्ते शान्तरजसः क्षपा जलदशीतलाः ।
ग्रहनक्षत्रसङ्घैश्च सोमेन च विराजिताः ।। १२ ।।

उस समयकी रातें धूलरहित एवं निर्मल दिखायी देती थीं। बादलोंके समान उनमें शीतलता थी। ग्रहों और नक्षत्रोंके समुदाय तथा चन्द्रमा उनकी शोभा बढ़ाते थे ।। १२ ।।

कुमुदैः पुण्डरीकैश्च शीतवारिधराः शिवाः ।
नदीः पुष्करिणीश्चैव ददृशुः समलंकृताः ।। १३ ।।

पाण्डवोंने देखा, नदियाँ और पोखरियाँ कुमुदों तथा कमल-पुष्पोंसे अलंकृत हैं। उनमें शीतल जल भरा हुआ है और वे सबके लिये सुखदायिनी प्रतीत होती हैं ।। १३ ।।

आकाशनीकाशतटां तीरवानीरसंकुलाम् ।
बभूव चरतां हर्षः पुण्यतीर्थां सरस्वतीम् ।। १४ ।।

पावन तीर्थोंसे विभूषित सरस्वती नदीका तट आकाशके समान निर्मल दिखायी देता था। उसके दोनों किनारे बेंतकी लहलहाती हुई लताओंसे आच्छादित थे। वहाँ विचरते हुए पाण्डवोंको बड़ा आनन्द मिलता था ।। १४ ।।

ते वै मुमुदिरे वीराः प्रसन्नसलिलां शिवाम् ।
पश्यन्तो दृढधन्वानः परिपूर्णां सरस्वतीम् ।। १५ ।।

वीर पाण्डव सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले थे। उन्होंने स्वच्छ जलसे भरी हुई कल्याणमयी सरस्वतीका दर्शन करके बड़े आनन्दका अनुभव किया ।। १५ ।।

तेषां पुण्यतमा रात्रिः पर्वसंधौ स्म शारदी ।
तत्रैव वसतामासीत् कार्तिकी जनमेजय ।। १६ ।।

जनमेजय! उनके वहीं रहते समय पर्वकी संधि-वेलामें कार्तिककी शरत्पूर्णिमाकी परम पुण्यमयी रात्रि आयी ।। १६ ।।

पुण्यकृद्भिर्महासत्त्वैस्तापसैः सह पाण्डवाः ।
तत् सर्वे भरतश्रेष्ठाः समूहुर्योगमुत्तमम् ।। १७ ।।

उस समय भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंने महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न, पुण्यात्मा, तपस्वी मुनियोंके साथ स्नान-दानादिके द्वारा उस उत्तम योगको पूर्णतः सफल बनाया ।। १७ ।।

तमिस्राभ्युदये तस्मिन् धौम्येन सह पाण्डवाः ।
सूतैः पौरोगवैश्चैव काम्यकं प्रययुर्वनम् ।। १८ ।।

फिर कृष्ण-पक्षका उदय होनेपर पाण्डवलोग धौम्य मुनि, सारथिगण तथा पाकशालाध्यक्षके साथ काम्यक-वनकी ओर चल दिये ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि काम्यकवनप्रवेशे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें काम्यकवनगमनविषयक एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८२ ।।

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

काम्यकवनमें पाण्डवोंके पास भगवान् श्रीकृष्ण, मुनिवर मार्कण्डेय तथा नारदजीका आगमन एवं युधिष्ठिरके पूछनेपर मार्कण्डेयजीके द्वारा कर्मफल-भोगका विवेचन

वैशम्पायन उवाच

काम्यकं प्राप्य कौरव्य युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
कृतातिथ्या मुनिगणैर्निषेदुः सह कृष्णया ।। १ ।।
ततस्तान् परिविश्वस्तान् वसतः पाण्डुनन्दनान् ।
ब्राह्मणा बहवस्तत्र समन्तात् पर्यवारयन् ।। २ ।।
अथाब्रवीद् द्विजः कश्चिदर्जुनस्य प्रियः सखा ।
स एष्यति महाबाहुर्वशी शौरिरुदारधीः ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन जनमेजय! काम्यकवनमें पहुँचनेपर वहाँके मुनियोंने युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंका यथोचित आदर-सत्कार किया। फिर वे द्रौपदीके साथ वहाँ रहने लगे। जब वे विश्वासपात्र पाण्डव वहाँ निवास करने लगे, तब बहुत-से ब्राह्मणोंने आकर सब ओरसे उन्हें घेर लिया (और उन्हींके साथ रहने लगे)। तदनन्तर एक दिन एक ब्राह्मण आया। उसने यह सूचना दी कि सबको वशमें रखनेवाले उदारबुद्धि महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण, जो अर्जुनके प्रिय सखा हैं, अभी यहाँ पधारेंगे ।। १—३ ।।

विदिता हि हरेर्यूयमिहायाताः कुरूद्वहाः ।
सदा हि दर्शनाकाङ्क्षी श्रेयोऽन्वेषी च वो हरिः ।। ४ ।।

कुरुश्रेष्ठ पाण्डवो! आपलोगोंका यहाँ आना भगवान् श्रीकृष्णको ज्ञात हो चुका है। वे सदा आपलोगोंको देखनेके लिये उत्सुक रहते हैं और आपके कल्याणकी बात सोचते रहते हैं ।। ४ ।।

बहुवत्सरजीवी च मार्कण्डेयो महातपाः ।
स्वाध्यायतपसा युक्तः क्षिप्रं युष्मान् समेष्यति ।। ५ ।।

एक शुभ समाचार और है, चिरंजीवी महातपस्वी मार्कण्डेय मुनि, जो स्वाध्याय और तपस्यामें संलग्न रहा करते हैं, शीघ्र ही आपलोगोंसे मिलेंगे ।। ५ ।।

तथैव ब्रुवतस्तस्य प्रत्यदृश्यत केशवः ।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेन रथिनां वरः ।। ६ ।।
मघवानिव पौलोम्या सहितः सत्यभामया ।
उपायाद् देवकीपुत्रो दिदृक्षुः कुरुसत्तमान् ।। ७ ।।

ब्राह्मण इस प्रकारकी बातें कह ही रहा था कि शैब्य और सुग्रीव नामक अश्वोंसे जुते हुए रथद्वारा रथियोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण आते हुए दिखायी दिये। जैसे शचीके साथ इन्द्र आये हों, उसी प्रकार सत्यभामाके साथ देवकीनन्दन श्रीहरि उन कुरुकुलशिरोमणि पाण्डवोंसे मिलने वहाँ आये ।। ६-७ ।।

अवतीर्य रथात् कृष्णो धर्मराजं यथाविधि ।
ववन्दे मुदितो धीमान् भीमं च बलिनां वरम् ।। ८ ।।

परम बुद्धिमान् श्रीकृष्णने रथसे उतरकर बड़ी प्रसन्नताके साथ धर्मराज युधिष्ठिर तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमको विधिपूर्वक प्रणाम किया ।। ८ ।।

पूजयामास धौम्यं च यमाभ्यामभिवादितः ।
परिष्वज्य गुडाकेशं द्रौपदीं पर्यसान्त्वयत् ।। ९ ।।
स दृष्ट्वा फाल्गुनं वीरं चिरस्य प्रियमागतम् ।
पर्यष्वजत दाशार्हः पुनः पुनररिंदमः ।। १० ।।

फिर धौम्य मुनिका पूजन किया। तत्पश्चात् नकुल-सहदेवने आकर उनके चरणोंमें मस्तक झुकाये। इसके बाद निद्राविजयी अर्जुनको हृदयसे लगाकर श्रीकृष्णने द्रौपदीको भलीभाँति सान्त्वना दी। परमप्रिय वीरवर अर्जुनको दीर्घकालके बाद आया देख शत्रुदमन श्रीकृष्णने उन्हें बार-बार हृदयसे लगाया ।। ९-१० ।।

तथैव सत्यभामापि द्रौपदीं परिषस्वजे ।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां कृष्णस्य महिषी प्रिया ।। ११ ।।

इसी प्रकार श्रीकृष्णकी प्यारी रानी सत्यभामाने भी पाण्डवोंकी प्रिय पत्नी पांचालीका आलिंगन किया ।। ११ ।।

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सभार्याः सपुरोहिताः ।
आनर्चुः पुण्डरीकाक्षं परिवव्रुश्च सर्वशः ।। १२ ।।

तदनन्तर पत्नी और पुरोहितसहित समस्त पाण्डवोंने कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णका पूजन किया और सब-के-सब उन्हें घेरकर बैठ गये ।। १२ ।।

कृष्णस्तु पार्थेन समेत्य विद्वान्
धनंजयेनासुरतर्जनेन ।
बभौ यथा भूतपतिर्महात्मा
समेत्य साक्षाद् भगवान् गुहेन ।। १३ ।।

सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण असुरोंको भयभीत करनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनसे मिलकर उसी प्रकार सुशोभित हुए, जैसे परम महात्मा साक्षात् भगवान् भूतनाथ शंकर कार्तिकेयसे मिलकर शोभा पाते हैं ।। १३ ।।

ततः समस्तानि किरीटमाली
वनेषु वृत्तानि गदाग्रजाय ।
उक्त्वा यथावत् पुनरन्वपृच्छत्
कथं सुभद्रा च स चाभिमन्युः ।। १४ ।।

तदनन्तर किरीटधारी अर्जुनने गदके बड़े भाई भगवान् श्रीकृष्णको वनवासके सारे वृत्तान्त यथार्थरूपसे बताकर पुनः उनसे पूछा—'सुभद्रा और अभिमन्यु कैसे हैं?' ।। १४ ।।

स पूजयित्वा मधुहा यथावत्
पार्थं च कृष्णां च पुरोहितं च ।
उवाच राजानमभिप्रशंसन्
युधिष्ठिरं तत्र सहोपविश्य ।। १५ ।।

भगवान् मधुसूदनने अर्जुन, द्रौपदी तथा पुरोहित धौम्यका सम्मान करके सबके साथ बैठकर राजा युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए कहा— ।। १५ ।।

धर्मः परः पाण्डव राज्यलाभात्
तस्यार्थमाहुस्तप एव राजन् ।
सत्यार्जवाभ्यां चरता स्वधर्मं
जितस्त्वयायं च परश्च लोकः ।। १६ ।।

'राजन्! पाण्डुनन्दन! राज्यलाभकी अपेक्षा धर्म महान् है। धर्मकी वृद्धिके लिये तपको ही प्रधान साधन बताया गया है। आप सत्य और सरलता आदि सद्गुणोंके साथ-साथ स्वधर्मका पालन करते हैं, अतः आपने इस लोक और परलोक दोनोंको जीत लिया है ।। १६ ।।

अधीतमग्रे चरता व्रतानि
सम्यग् धनुर्वेदमवाप्यकृत्स्नम् ।
क्षात्रेण धर्मेण वसूनि लब्ध्वा
सर्वे ह्यवाप्ताः क्रतवः पुराणाः ।। १७ ।।
न ग्राम्यधर्मेषु रतिस्तवास्ति
कामान्न किंचित् कुरुषे नरेन्द्र ।
न चार्थलोभात् प्रजहासि धर्मं
तस्मात् प्रभावादसि धर्मराजः ।। १८ ।।

'आपने सबसे पहले ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन किया है। तत्पश्चात् सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की है। इसके बाद क्षत्रिय-धर्मके अनुसार धनका उपार्जन करके समस्त प्राचीन यज्ञोंका अनुष्ठान किया है। नरेश्वर! जिसमें गँवारोंकी आसक्ति हुआ करती है, उस स्त्री-सम्बन्धी भोगमें आपका अनुराग नहीं है। आप कामनासे प्रेरित होकर कुछ नहीं करते हैं और धनके लोभसे धर्मका त्याग नहीं करते हैं। इसी प्रभावसे धर्मराज कहलाते हैं ।। १७-१८ ।।

दानं च सत्यं च तपश्च राजन्
श्रद्धा च बुद्धिश्च क्षमा धृतिश्च ।
अवाप्य राष्ट्राणि वसूनि भोगा-
नेषा परा पार्थ सदा रतिस्ते ।। १९ ।।

'राजन्! आपने राज्य, धन और भोगोंको पाकर भी सदा दान, सत्य, तप, श्रद्धा, बुद्धि, क्षमा तथा धृति—इन सद्‌गुणोंसे ही प्रेम किया है ।। १९ ।।

वनमें पाण्डवोंसे श्रीकृष्ण-सत्यभामाका मिलना

यदा जनौघः कुरुजाङ्गलानां

कृष्णां सभायामवशामपश्यत् ।
अपेतधर्मव्यवहारवृत्तं
सहेत तत् पाण्डव कस्त्वदन्यः ।। २० ।।

'पाण्डुनन्दन! कुरुजांगलदेशकी जनताने द्यूतसभामें द्रौपदीको जिस विवश-अवस्थामें देखा था और उस समय उसके साथ जो पापपूर्ण बर्ताव किया गया था, उसे आपके सिवा दूसरा कौन सह सकता था? ।। २० ।।

असंशयं सर्वसमृद्धकामः
क्षिप्रं प्रजाः पालयितासि सम्यक् ।
इमे वयं निग्रहणे कुरूणां
यदि प्रतिज्ञा भवतः समाप्ता ।। २१ ।।

'धर्मराज! अब शीघ्र ही आपके सारे मनोरथ पूर्ण होंगे और आप राजसिंहासनपर आरूढ़ होकर न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करेंगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। यदि आपकी वनवासविषयक प्रतिज्ञा पूरी हो जाय, तो हम सब लोग आपके विरोधी कौरवोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत हैं' ।। २१ ।।

धौम्यं च भीमं च युधिष्ठिरं च
यमौ च कृष्णां च दशार्हसिंहः ।
उवाच दिष्ट्या भवतां शिवेन
प्राप्तः किरीटी मुदितः कृतास्त्रः ।। २२ ।।

तदनन्तर युदुकुलसिंह भगवान् श्रीकृष्णने धौम्य, युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल, सहदेव और द्रौपदीकी ओर देखते हुए कहा—'सौभाग्यकी बात है कि आपलोगोंद्वारा की हुई मंगलकामनासे किरीटधारी अर्जुन अस्त्रविद्याके पारंगत विद्वान् होकर सानन्द लौट आये हैं' ।। २२ ।।

प्रोवाच कृष्णामपि याज्ञसेनीं
दशार्हभर्ता सहितः सुहृद्भिः ।
दिष्ट्या समग्रासि धनंजयेन
समागतेत्येवमुवाच कृष्णः ।। २३ ।।
कृष्णे धनुर्वेदरतिप्रधाना-
स्तवात्मजास्ते शिशवः सुशीलाः ।
सद्भिः सदैवाचरितं सुहृद्भि-
श्चरन्ति पुत्रास्तव याज्ञसेनि ।। २४ ।।

इसके बाद दशार्हकुलके स्वामी श्रीकृष्ण, जो अपने सुहृदोंसे घिरे हुए थे, यज्ञसेनकुमारी द्रौपदीसे बोले—'कृष्णे! अर्जुनसे मिलकर तेरी सारी कामना सफल हो गयी, यह बड़े

आनन्दकी बात है। तेरे पुत्र बड़े सुशील हैं। धनुर्वेदमें उनका विशेष अनुराग है। वे अपने सुहृदोंसहित सत्पुरुषोंद्वारा आचरित सदाचार और धर्मका पालन करते हैं ।। २३-२४ ।।

राज्येन राष्ट्रैश्च निमन्त्र्यमाणाः
पित्रा च कृष्णे तव सोदरैश्च ।
न यज्ञसेनस्य न मातुलानां
गृहेषु बाला रतिमाप्नुवन्ति ।। २५ ।।

'कृष्णे! तुम्हारे पिता और भाइयोंने राज्य तथा राजकीय उपकरणों—यान-वाहन आदिकी सुविधा दिखाकर अनेक बार आमन्त्रित किया, तो भी तुम्हारे बच्चे अपने नाना यज्ञसेन और मामा धृष्टद्युम्न आदिके घरोंमें रहना पसंद नहीं करते हैं—वहाँ उनका मन नहीं लगता है ।। २५ ।।

आनर्तमेवाभिमुखाः शिवेन
गत्वा धनुर्वेदरतिप्रधानाः ।
तवात्मजा वृष्णिपुरं प्रविश्य
न दैवतेभ्यः स्पृहयन्ति कृष्णे ।। २६ ।।

'कृष्णे! उनका धनुर्वेदमें विशेष प्रेम है। वे आनर्त देशमें ही कुशलपूर्वक जाकर वृष्णिपुरी द्वारकामें रहते हैं। वहाँ रहकर उन्हें देवताओंके लोकमें भी जानेकी इच्छा नहीं होती ।। २६ ।।

यथा त्वमेवार्हसि तेषु वृत्तं
प्रयोक्तुमार्या च तथैव कुन्ती ।
तेष्वप्रमादेन तथा करोति
तथैव भूयश्च तथा सुभद्रा ।। २७ ।।

'उन बालकोंको तुम सदाचारकी जैसी शिक्षा दे सकती हो, आर्या कुन्ती भी उन्हें जैसा सदाचार सिखा सकती हैं, वैसी शिक्षा देनेकी योग्यता सुभद्रामें भी है। वह बड़ी सावधानीके साथ वैसी ही शिक्षा देकर उन सब बालकोंको सदाचारमें प्रतिष्ठित करती है ।। २७ ।।

यथानिरुद्धस्य यथाभिमन्यो-
र्यथा सुनीथस्य यथैव भानोः ।
तथा विनेता च गतिश्च कृष्णे
तवात्मजानामपि रौक्मिणेयः ।। २८ ।।

'कृष्णे। रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न जिस प्रकार अनिरुद्ध, अभिमन्यु, सुनीथ और भानुको धनुर्वेदकी शिक्षा देते हैं, उसी प्रकार वे तुम्हारे पुत्रोंके भी शिक्षक और संरक्षक हैं ।। २८ ।।

गदासिचर्मग्रहणेषु शूरा-
नस्त्रेषु शिक्षासु रथाश्वयाने ।
सम्यग् विनेता विनयत्यतन्द्र-

स्तांश्चाभिमन्युः सततं कुमारः ।। २९ ।।

'शिक्षा देनेमें निपुण और आलस्यरहित कुमार अभिमन्यु तुम्हारे शूर-वीर पुत्रोंको गदा और ढाल-तलवारके दाँव-पेंच सिखाते हैं। अन्यान्य अस्त्रोंकी भी शिक्षा देते हैं। साथ ही रथ चलाने और घोड़े हाँकनेकी कला भी सिखाते हैं। वे सदा उनकी शिक्षा-दीक्षामें संलग्न रहते हैं ।। २९ ।।

स चापि सम्यक् प्रणिधाय शिक्षां
शस्त्राणि चैषां विधिवत् प्रदाय ।
तवात्मजानां च तथाभिमन्योः
पराक्रमैस्तुष्यति रौक्मिणेयः ।। ३० ।।

'अस्त्र-शस्त्रोंके प्रयोगकी उत्तम शिक्षा दे उनके लिये उन्होंने विधिपूर्वक नाना प्रकारके शस्त्र भी दे रक्खे हैं। तुम्हारे पुत्रों और अभिमन्युके पराक्रम देखकर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न बहुत संतुष्ट रहते हैं ।। ३० ।।

यदा विहारं प्रसमीक्षमाणाः
प्रयान्ति पुत्रास्तव याज्ञसेनि ।
एकैकमेषामनुयान्ति तत्र
रथाश्च यानानि च दन्तिनश्च ।। ३१ ।।

'याज्ञसेनी! तुम्हारे पुत्र जब नगरकी शोभा देखनेके लिये घूमने निकलते हैं, उस समय उनमेंसे प्रत्येकके लिये रथ, घोड़े, हाथी और पालकी आदि सवारियाँ पीछे-पीछे जाती हैं' ।। ३१ ।।

अथाब्रवीद् धर्मराजं तु कृष्णो
दशार्हयोधाः कुकुरान्धकाश्च ।
एते निदेशं तव पालयन्त-
स्तिष्ठन्तु यत्रेच्छसि तत्र राजन् ।। ३२ ।।

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! दशार्ह, कुकुर और अंधकवंशके योद्धा जहाँ आप चाहें, वहीं आपकी आज्ञाका पालन करते हुए खड़े रह सकते हैं ।। ३२ ।।

आवर्ततां कार्मुकवेगवाता
हलायुधप्रग्रहणा मधूनाम् ।
सेना तवार्थेषु नरेन्द्र यत्ता
ससादिपत्त्यश्वरथा सनागा ।। ३३ ।।

'नरेन्द्र! जिसके धनुषका वेग वायुवेगके समान हैं, हल धारण करनेवाले बलरामजी जिसके सेनापति हैं, वह सवारोंसहित हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंसे भरी हुई मथुरा-

प्रान्तवासी गोपोंकी चतुरंगिणी सेना सदा युद्धके लिये संनद्ध हो आपकी अभीष्ट-सिद्धिके लिये निरन्तर तत्पर रहती है ।। ३३ ।।

प्रस्थाप्यतां पाण्डव धार्तराष्ट्रः
सुयोधनः पापकृतां वरिष्ठः ।
स सानुबन्धः ससुहृद्गणश्च
भौमस्य सौभाधिपतेश्च मार्गम् ।। ३४ ।।

पाण्डुनन्दन! अब आप पापात्माओंके शिरोमणि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको उसके सुहृदों और सम्बन्धियों-सहित उसी मार्गपर भेज दीजिये, जहाँ भौमासुर और शाल्व गये हैं ।। ३४ ।।

कामं तथा तिष्ठ नरेन्द्र तस्मिन्
यथा कृतस्ते समयः सभायाम् ।
दाशार्हयोधैस्तु हतारियोधं
प्रतीक्षतां नागपुरं भवन्तम् ।। ३५ ।।

'महाराज! आप चाहें तो सभामें जो प्रतिज्ञा आपने की है, उसीके पालनमें लगे रहें। यदि आपकी आज्ञा हो तो यदुवंशी योद्धा आपके समस्त शत्रुओंको मार डालें और हस्तिनापुर नगर आपके शुभागमनकी प्रतीक्षा करता रहे ।। ३५ ।।

व्यपेतमन्युर्व्यपनीतपाप्मा
विहृत्य यत्रेच्छसि तत्र कामम् ।
ततः प्रसिद्धं प्रथमं विशोकः
प्रपत्स्यसे नागपुरं सुराष्ट्रम् ।। ३६ ।।

'राजन्! आप क्रोध, दीनता और दुःखसे दूर रहकर जहाँ-जहाँ आपकी इच्छा हो वहाँ-वहाँ घूम लीजिये। तत्पश्चात् शोकरहित हो अपनी प्रसिद्ध और उत्तम राजधानी हस्तिनापुरमें प्रवेश कीजियेगा' ।। ३६ ।।

ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा
यथावदुक्तं पुरुषोत्तमेन ।
प्रशस्य विप्रेक्ष्य च धर्मराजः
कृताञ्जलिः केशवमित्युवाच ।। ३७ ।।

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने अपना मत अच्छी तरह व्यक्त कर दिया था। उसे जानकर महात्मा धर्मराजने भगवान् केशवकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और हाथ जोड़कर उनकी ओर देखते हुए कहा— ।। ३७ ।।

असंशयं केशव पाण्डवानां
भवान् गतिस्त्वच्छरणा हि पार्थाः ।
कालोदये तच्च ततश्च भूयः

कर्ता भवान् कर्म न संशयोऽस्ति ।। ३८ ।।

'केशव! इसमें संदेह नहीं कि आप ही पाण्डवोंके अवलम्ब हैं। कुन्तीके हम सभी पुत्र आपकी ही शरणमें हैं। जब समय आयेगा, तब आप पुनः अपने इस कथनके अनुसार सब कार्य करेंगे, इसमें संदेह नहीं है ।। ३८ ।।

यथाप्रतिज्ञं विहृतश्च कालः
सर्वाः समा द्वादश निर्जनेषु ।
अज्ञातचर्यां विधिवत् समाप्य
भवद्गताः केशव पाण्डवेयाः ।। ३९ ।।
एषैव बुद्धिर्जुषतां सदा त्वां
सत्ये स्थिताः केशव पाण्डवेयाः ।
सदानधर्माः सजनाः सदाराः
सबान्धवास्त्वच्छरणा हि पार्थाः ।। ४० ।।

'भगवन्! हमने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार बारह वर्षोंका सारा समय निर्जन वनोंमें घूमकर बिता दिया है। अब अज्ञातवासकी अवधि भी विधिपूर्वक पूर्ण कर लेनेपर हम समस्त पाण्डव आपकी आज्ञाके अधीन हो जायँगे। नाथ! आपकी भी बुद्धि सदा ऐसी ही बनी रहे। ये पाण्डव सदा सत्यके पालनमें संलग्न रहे हैं। प्रभो! दान-धर्मसे युक्त हम सभी कुन्तीपुत्र सेवक, परिजन, स्त्री, पुत्र तथा बन्धु-बान्धवोंसहित केवल आपकी ही शरणमें हैं' ।। ३९-४० ।।

वैशम्पायन उवाच

तथा वदति वार्ष्णेये धर्मराजे च भारत ।
अथ पश्चात् तपोवृद्धो बहुवर्षसहस्रधृक् ।। ४१ ।।
प्रत्यदृश्यत धर्मात्मा मार्कण्डेयो महातपाः ।
अजरश्चामरश्चैव रूपौदार्यगुणान्वितः ।। ४२ ।।
व्यदृश्यत तथा युक्तो यथा स्यात् पञ्चविंशकः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! भगवान् श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिर जब इस प्रकार बातें कर रहे थे, उसी समय अनेक सहस्र वर्षोंकी अवस्थावाले तपोवृद्ध धर्मात्मा महातपस्वी मार्कण्डेय मुनि आते दिखायी दिये। वे रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न तथा अजर-अमर थे। वैसे बड़े-बूढ़े होनेपर भी वे ऐसे दिखायी दे रहे थे, मानो पच्चीस वर्षकी अवस्थाके तरुण हों ।।

तमागतमृषिं वृद्धं बहुवर्षसहस्रिणम् ।। ४३ ।।
आनर्चुर्ब्राह्मणाः सर्वे कृष्णश्च सह पाण्डवैः ।
तमर्चितं सुविश्वस्तमासीनमृषिसत्तमम् ।

ब्राह्मणानां मतेनाह पाण्डवानां च केशवः ।। ४४ ।।

हजारों वर्षोंकी अवस्थावाले उन वृद्ध महर्षिके पधारनेपर पाण्डवोंसहित भगवान् श्रीकृष्ण तथा समस्त ब्राह्मणोंने उनका पूजन किया। पूजित होनेपर जब वे अत्यन्त विश्वास करनेयोग्य मुनिश्रेष्ठ आसनपर विराजमान हो गये, तब वहाँ आये हुए ब्राह्मणों और पाण्डवोंकी सम्मतिसे भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा ।।

श्रीकृष्ण उवाच

शुश्रूषवः पाण्डवास्ते ब्राह्मणाश्च समागताः ।
द्रौपदी सत्यभामा च तथाहं परमं वचः ।। ४५ ।।
पुरावृत्ताः कथाः पुण्याः सदाचारान् सनातनान् ।
राज्ञां स्त्रीणामृषीणां च मार्कण्डेय विचक्ष्व नः ।। ४६ ।।

श्रीकृष्ण बोले—मार्कण्डेयजी! आपके उपदेश सुननेकी इच्छासे यहाँ पाण्डवोंके साथ-साथ बहुत-से ब्राह्मण भी पधारे हुए हैं। द्रौपदी, सत्यभामा तथा मैं, सब लोग आपकी उत्तम वाणीका रसास्वादन करना चाहते हैं। आप प्राचीनकालके नरेशों, नारियों तथा महर्षियोंकी पुरातन पुण्य कथाएँ सुनाइये और हमलोगोंसे सनातन सदाचारका वर्णन कीजिये ।। ४५-४६ ।।

वैशम्पायन उवाच

तेषु तत्रोपविष्टेषु देवर्षिरपि नारदः ।
आजगाम विशुद्धात्मा पाण्डवानवलोककः ।। ४७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वे सब लोग वहाँ बैठे ही थे कि विशुद्ध अन्तःकरणवाले देवर्षि नारद भी पाण्डवोंसे मिलनेके लिये वहाँ आये ।। ४७ ।।

तमप्यथ महात्मानं सर्वे ते पुरुषर्षभाः ।
पाद्यार्घ्याभ्यां यथान्यायमुपतस्थुर्मनीषिणः ।। ४८ ।।

तब उन सभी श्रेष्ठ मनीषी पुरुषोंने उन महात्मा नारदजीको भी पाद्य आदि देकर उनका यथायोग्य सत्कार किया ।। ४८ ।।

नारदस्त्वथ देवर्षिर्ज्ञात्वा तांस्तु कृतक्षणान् ।
मार्कण्डेयस्य वदतस्तां कथामन्वमोदत ।। ४९ ।।

तब देवर्षि नारदने उन सबको कथा सुननेके लिये अवसर निकालकर तैयार हुआ जान वक्ता मार्कण्डेय मुनिकी उस कथा सुननेके विचारका अनुमोदन किया ।। ४९ ।।

उवाच चैनं कालज्ञः स्मयन्निव सनातनः ।
ब्रह्मर्षे कथ्यतां यत् ते पाण्डवेषु विवक्षितम् ।। ५० ।।

उस समय उपर्युक्त अवसरके ज्ञाता सनातन भगवान् श्रीकृष्णने मार्कण्डेयजीसे मुसकराते हुए कहा—'महर्षे! आप पाण्डवोंसे जो कुछ कहना चाहते थे, वह कहिये' ।। ५० ।।

एवमुक्तः प्रत्युवाच मार्कण्डेयो महातपाः ।
क्षणं कुरुध्वं विपुलमाख्यातव्यं भविष्यति ।। ५१ ।।

उनके ऐसा कहनेपर महातपस्वी मार्कण्डेय मुनिने कहा—'पाण्डवो! तुम सब लोग क्षणभरके लिये चुप हो जाओ; क्योंकि मुझे तुमसे बहुत कुछ कहना है' ।। ५१ ।।

एवमुक्ताः क्षणं चक्रुः पाण्डवाः सह तैर्द्विजैः ।
मध्यन्दिने यथाऽऽदित्यं प्रेक्षन्तस्ते महामुनिम् ।। ५२ ।।

उनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर उन ब्राह्मणोंसहित पाण्डव मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति तेजस्वी उन महामुनिको देखते हुए उनके वक्तव्यको सुननेके लिये चुप हो गये ।। ५२ ।।

वैशम्पायन उवाच

तं विवक्षन्तमालक्ष्य कुरुराजो महामुनिम् ।
कथासंजननार्थाय चोदयामास पाण्डवः ।। ५३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महामुनि मार्कण्डेयजीको बोलनेके लिये उद्यत देख कुरुराज पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने कथा प्रारम्भ करनेके लिये इस प्रकार प्रेरित किया — ।। ५३ ।।

भवान् दैवतदैत्यानामृषीणां च महात्मनाम् ।
राजर्षीणां च सर्वेषां चरितज्ञः पुरातनः ।। ५४ ।।

'महामुने! आप देवताओं, दैत्यों, ऋषियों, महात्माओं तथा समस्त राजर्षियोंके चरित्रोंको जाननेवाले प्राचीन महर्षि हैं ।। ५४ ।।

सेव्यश्चोपासितव्यश्च मतो नः कङ्क्षितश्चिरम् ।
अयं च देवकीपुत्रः प्राप्तोऽस्मानवलोककः ।। ५५ ।।

'हमारे मनमें दीर्घकालसे यह इच्छा थी कि हमें आपकी ये सेवा और सत्संगका शुभ अवसर मिले। ये देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण भी हमसे मिलनेके लिये यहाँ पधारे हैं ।। ५५ ।।

भवत्येव हि मे बुद्धिर्दृष्ट्वाऽऽत्मानं सुखाच्च्युतम् ।
धार्तराष्ट्रांश्च दुर्वृत्तानृध्यतः प्रेक्ष्य सर्वशः ।। ५६ ।।

'ब्रह्मन्! जब मैं अपनेको सुखसे वञ्चित पाता हूँ और दुराचारी धृतराष्ट्रपुत्रोंको सब प्रकारसे समृद्धिशाली होते देखता हूँ, तब स्वभावतः ही मेरे मनमें एक विचार उठता है ।। ५६ ।।

कर्मणः पुरुषः कर्ता शुभस्याप्यशुभस्य वा ।
स फलं तदुपाश्नाति कथं कर्ता स्विदीश्वरः ।। ५७ ।।
कुतो वा सुखदुःखेषु नृणां ब्रह्मविदां वर ।
इह वा कृतमन्वेति परदेहेऽथ वा पुनः ।। ५८ ।।

'मैं सोचता हूँ, शुभ और अशुभ कर्म करनेवाला जो पुरुष है, वह अपने उन कर्मोंका फल कैसे भोगता है तथा ईश्वर उन कर्मफलोंका रचयिता कैसे होता है? ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ मुनीश्वर! सुख और दुःखकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंमें मनुष्योंकी प्रवृत्ति कैसे होती है? मनुष्यका किया कर्म इस लोकमें ही उसका अनुसरण करता है अथवा पारलौकिक शरीरमें भी ।। ५७-५८ ।।

देही च देहं संत्यज्य मृग्यमाणः शुभाशुभैः ।

कथं संयुज्यते प्रेत्य इह वा द्विजसत्तम ।। ५९ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! देहधारी जीव अपने शरीरका त्याग करके जब परलोकमें चला जाता है, तब उसके शुभ और अशुभ कर्म उसको कैसे प्राप्त करते हैं और इहलोक और परलोकमें जीवका उन कर्मोंके फलसे किस प्रकार संयोग होता है? ।। ५९ ।।

ऐहलौकिकमेवेह उताहो पारलौकिकम् ।
क्व च कर्माणि तिष्ठन्ति जन्तोः प्रेतस्य भार्गव ।। ६० ।।

'भृगुनन्दन! कर्मोंका फल इसी लोकमें प्राप्त होता है या परलोकमें? प्राणीकी मृत्यु हो जानेपर उसके कर्म कहाँ रहते हैं?' ।। ६० ।।

मार्कण्डेय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो यथावद् वदतां वर ।
विदितं वेदितव्यं ते स्थित्यर्थं त्वं तु पृच्छसि ।। ६१ ।।

मार्कण्डेयजी बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! तुम्हारा यह प्रश्न यथार्थ और युक्तिसंगत है। तुम्हें जाननेयोग्य सभी बातोंका ज्ञान है, तो भी तुम केवल लोक-मर्यादाकी रक्षाके लिये यह प्रश्न उपस्थित करते हो ।। ६१ ।।

अत्र ते कथयिष्यामि तदिहैकमनाः शृणु ।
यथेहामुत्र च नरः सुखदुःखमुपाश्नुते ।। ६२ ।।

मनुष्य इहलोक या परलोकमें जिस प्रकार सुख और दुःख भोगता है, इसके विषयमें तुम्हें अपना विचार बताऊँगा। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ।। ६२ ।।

निर्मलानि शरीराणि विशुद्धानि शरीरिणाम् ।
ससर्ज धर्मतन्त्राणि पूर्वोत्पन्नः प्रजापतिः ।। ६३ ।।

सर्वप्रथम प्रजापति ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। उन्होंने जीवोंके लिये निर्मल तथा विशुद्ध शरीर बनाये। साथ ही धर्मका ज्ञान करानेवाले धर्मशास्त्रोंको प्रकट किया ।।

अमोघफलसंकल्पाः सुव्रताः सत्यवादिनः ।
ब्रह्मभूता नराः पुण्याः पुराणाः कुरुसत्तम ।। ६४ ।।

उस समयके सब मनुष्य उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तथा सत्यवादी थे। उनका अभीष्ट फलविषयक संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता था। कुरुश्रेष्ठ! वे सभी मनुष्य ब्रह्मस्वरूप, पुण्यात्मा और चिरजीवी थे ।। ६४ ।।

सर्वे देवैः समायान्ति स्वच्छन्देन नभस्तलम् ।
ततश्च पुनरायान्ति सर्वे स्वच्छन्दचारिणः ।। ६५ ।।
स्वच्छन्दमरणाश्चासन् नराः स्वच्छन्दचारिणः ।
अल्पबाधा निरातङ्काः सिद्धार्था निरुपद्रवाः ।। ६६ ।।

सभी स्वच्छन्दतापूर्वक आकाशमार्गसे उड़कर देवताओंसे मिलने जाते और स्वच्छन्दचारी होनेके कारण इच्छा होते ही पुनः वहाँसे लौट आते थे। वे अपनी इच्छा होनेपर ही मरते और इच्छाके अनुसार ही जीवित रहते थे। स्वतन्त्रतापूर्वक सर्वत्र विचरण करते थे। उनके मार्गमें बाधाएँ बहुत कम आती थीं। उन्हें कोई भय नहीं होता था। वे उपद्रवशून्य तथा पूर्णकाम थे ।। ६५-६६ ।।

द्रष्टारो देवसङ्घानामृषीणां च महात्मनाम् ।

प्रत्यक्षाः सर्वधर्माणां दान्ता विगतमत्सराः ।। ६७ ।।

देवताओं तथा महात्मा ऋषियोंके समुदायका उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन होता था। वे सभी धर्मोंको प्रत्यक्ष करनेवाले, जितेन्द्रिय तथा ईर्ष्यासे रहित होते थे ।। ६७ ।।

आसन् वर्षसहस्रीयास्तथा पुत्रसहस्रिणः ।

उनकी आयु हजारों वर्षोंकी होती थी और वे हजार-हजार पुत्र उत्पन्न करते थे ।। ६७½ ।।

ततः कालान्तरेऽन्यस्मिन् पृथिवीतलचारिणः ।। ६८ ।।

कामक्रोधाभिभूतास्ते मायाव्याजोपजीविनः ।

लोभमोहाभिभूताश्च त्यक्ता देहैस्ततो नराः ।। ६९ ।।

तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् भूतलपर विचरनेवाले मनुष्य काम और क्रोधके वशीभूत हो गये। वे छल-कपट और दम्भसे जीविका चलाने लगे। उनके मनको लोभ और मोहने दबा लिया। इन दोषोंके कारण उन्हें इच्छा न होते हुए भी अपना शरीर त्यागनेके लिये विवश होना पड़ा ।। ६८-६९ ।।

अशुभैः कर्मभिः पापास्तिर्यङ्निरयगामिनः ।

संसारेषु विचित्रेषु पच्यमानाः पुनःपुनः ।। ७० ।।

वे पापपरायण हो अपने अशुभ कर्मोंके फलस्वरूप पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें जाने और नरकमें गिरने लगे। विचित्र सांसारिक योनियोंमें बारंबार जन्म लेकर दुःखसे संतप्त होने लगे ।। ७० ।।

मोघेष्टा मोघसंकल्पा मोघज्ञाना विचेतसः ।

सर्वाभिशङ्किनश्चैव संवृत्ताः क्लेशदायिनः ।। ७१ ।।

उनकी कामनाएँ, उनके संकल्प और उनके ज्ञान सभी निष्फल थे। उनकी स्मरण-शक्ति क्षीण हो गयी थी। वे सभी परस्पर संदेह करते हुए एक-दूसरेके लिये क्लेशदायक बन गये ।। ७१ ।।

अशुभैः कर्मभिश्चापि प्रायशः परिचिह्निताः ।

दौष्कुल्या व्याधिबहुला दुरात्मानोऽप्रतापिनः ।। ७२ ।।

उनके शरीरमें प्रायः उनके अशुभ कर्मोंके चिह्न (कोढ़ आदि) प्रकट होने लगे। कोई अधम कुलमें जन्म लेते, कोई बहुत-से रोगोंके शिकार बने रहते और कोई दुष्ट स्वभावके हो

जाते थे। उनमेंसे कोई भी प्रतापी नहीं होता था ।। ७२ ।।

भवन्त्यल्पायुषः पापा रौद्रकर्मफलोदयाः ।
नाथन्तः सर्वकामानां नास्तिका भिन्नचेतसः ।। ७३ ।।

इस प्रकार पापकर्मोंमें प्रवृत्त होनेवाले पापियोंकी आयु उनके कर्मानुसार बहुत कम हो गयी। उनके पापकर्मोंके भयंकर फल प्रकट होने लगे। वे अपनी सभी अभीष्ट वस्तुओंके लिये दूसरोंके सामने हाथ फैलाकर याचना करने लगे। कितने ही नास्तिक और विचलितचित्त हो गये ।। ७३ ।।

जन्तोः प्रेतस्य कौन्तेय गतिः स्वैरिह कर्मभिः ।
प्राज्ञस्य हीनबुद्धेश्च कर्मकोशः क्व तिष्ठति ।। ७४ ।।
क्वस्थस्तत् समुपाश्नाति सुकृतं यदि वेतरत् ।
इति ते दर्शनं यच्च तत्राप्यनुनयं शृणु ।। ७५ ।।

कुन्तीनन्दन! इस संसारमें मृत्युके पश्चात् जीवकी गति उनके अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही होती है। परंतु मरनेके बाद ज्ञानी और अज्ञानीकी कर्मराशि कहाँ रहती है? कहाँ रहकर वह पुण्य अथवा पापका फल भोगता है? इस दृष्टिसे जो तुमने प्रश्न किया है, उसके उत्तरमें मैं सिद्धान्त बता रहा हूँ, सुनो ।। ७४-७५ ।।

अयमादिशरीरेण देवसृष्टेन मानवः ।
शुभानामशुभानां च कुरुते संचयं महत् ।। ७६ ।।
आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम् ।
सम्भवत्येव युगपद् योनौ नास्त्यन्तराभवः ।। ७७ ।।

यह मनुष्य ईश्वरके रचे हुए पूर्वशरीरके द्वारा (अन्तःकरणमें) शुभ और अशुभ कर्मोंकी बहुत बड़ी राशि संचित कर लेता है। फिर आयु पूरी होनेपर वह इस जरा-जर्जर स्थूल शरीरका त्याग करके उसी क्षण किसी दूसरी योनि (शरीर)-में प्रकट होता है। एक शरीरको छोड़ने और दूसरेको ग्रहण करनेके बीचमें क्षणभरके लिये भी वह असंसारी नहीं होता ।। ७६-७७ ।।

तत्रास्य स्वकृतं कर्म छायेवानुगतं सदा ।
फलत्यथ सुखार्हो वा दुःखार्हो वाथ जायते ।। ७८ ।।
कृतान्तविधिसंयुक्तः स जन्तुर्लक्षणैः शुभैः ।
अशुभैर्वा निरादानो लक्ष्यते ज्ञानदृष्टिभिः ।। ७९ ।।

वहाँ दूसरे स्थूल शरीरमें उसके पूर्वजन्मका किया हुआ कर्म छायाकी भाँति सदा उसके पीछे लगा रहता और यथासमय अपना फल देता है। इसलिये जीव सुख अथवा दुःख भोगनेके योग्य होकर जन्म लेता है। यमराजके विधान (पुण्य और पापके फल-भोग)-में नियुक्त हुआ जीव अपने शुभ अथवा अशुभ लक्षणोंद्वारा अपनेको मिले हुए सुख अथवा

दुःखका निवारण करनेमें असमर्थ है। यह बात ज्ञान-दृष्टिवाले महात्मा पुरुषोंद्वारा देखी जाती है ।। ७८-७९ ।।

एषा तावदबुद्धीनां गतिरुक्ता युधिष्ठिर ।
अतः परं ज्ञानवतां निबोध गतिमुत्तमाम् ।। ८० ।।

युधिष्ठिर! यह तत्त्वज्ञानशून्य मूढ़ मनुष्योंकी स्वर्ग-नरकरूप गति बतायी गयी है। अब इसके बाद विवेकी पुरुषोंको प्राप्त होनेवाली उत्तम गतिका वर्णन सुनो ।। ८० ।।

मनुष्यास्तप्ततपसः सर्वागमपरायणाः ।
स्थिरव्रताः सत्यपरा गुरुशुश्रूषणे रताः ।। ८१ ।।
सुशीलाः शुक्लजातीयाः क्षान्ता दान्ताः सुतेजसः ।
शुचियोन्यन्तरगताः प्रायशः शुभलक्षणाः ।। ८२ ।।

ज्ञानी मनुष्य तपस्वी, सम्पूर्ण शास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर, स्थिरतापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले, सत्यपरायण, गुरुसेवामें संलग्न, सुशील, शुक्काजातीय (सात्त्विक), क्षमाशील, जितेन्द्रिय और अत्यन्त तेजस्वी होते हैं। वे शुद्ध योनिमें जन्म लेते और प्रायः शुभ लक्षणोंसे सुशोभित होते हैं ।। ८१-८२ ।।

जितेन्द्रियत्वाद् वशिनः शुक्लत्वान्मन्दरोगिणः ।
अल्पाबाधपरित्रासाद् भवन्ति निरुपद्रवाः ।। ८३ ।।
च्यवन्तं जायमानं च गर्भस्थं चैव सर्वशः ।
स्वमात्मानं परं चैव बुध्यन्ते ज्ञानचक्षुषा ।। ८४ ।।

जितेन्द्रिय होनेके कारण वे मनको वशमें रखते हैं और सात्त्विक अन्तःकरणके होनेके कारण नीरोग होते हैं। दुःख और त्रासके क्षीण होनेके कारण वे उपद्रवरहित होते हैं। विवेकी पुरुष गर्भसे गिरते, जन्म लेते अथवा गर्भमें ही रहते समय भी ज्ञानदृष्टिसे अपने-आपका और परमात्माका सर्वथा यथार्थ अनुभव करते हैं ।। ८३-८४ ।।

ऋषयस्ते महात्मानः प्रत्यक्षागमबुद्धयः ।
कर्मभूमिमिमां प्राप्य पुनर्यान्ति सुरालयम् ।। ८५ ।।

लौकिक तथा शास्त्रीय ज्ञानको प्रत्यक्ष करनेवाले वे महामना ऋषि इस कर्मभूमिमें आकर फिर देवलोकमें चले जाते हैं ।। ८५ ।।

किंचिद् दैवाद्धठात् किंचित् किंचिदेव स्वकर्मभिः ।
प्राप्नुवन्ति नरा राजन् मा तेऽस्त्वन्या विचारणा ।। ८६ ।।

राजन्! विवेकी मनुष्य कर्मोंका कुछ फल प्रारब्धवश प्राप्त करते हैं, कुछ कर्मोंका फल हठात् प्राप्त होता है और कुछ कर्मोंका फल अपने उद्योगसे ही प्राप्त होता है। इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ।। ८६ ।।

इमामत्रोपमां चापि निबोध वदतां वर ।
मनुष्यलोके यच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर ।। ८७ ।।

इह वैकस्य नामुत्र अमुत्रैकस्य नो इह ।
इह वामुत्र चैकस्य नामुत्रैकस्य नो इह ।। ८८ ।।

वक्ताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! मनुष्यलोकमें मैं जिसे परम कल्याणकी बात समझता हूँ, उसके विषयमें यह उदाहरण सुनो। कोई मनुष्य इस लोकमें ही परम सुख पाता है, परलोकमें नहीं। किसीको परलोकमें ही परम कल्याणकी प्राप्ति होती है, इस लोकमें नहीं। किसीको इहलोक और परलोक दोनोंमें परम श्रेयकी प्राप्ति होती है; तथा किसीको न तो परलोकमें उत्तम सुख मिलता है और न इस लोकमें ही ।। ८७-८८ ।।

धनानि येषां विपुलानि सन्ति
नित्यं रमन्ते सुविभूषिताङ्गाः ।
तेषामयं शत्रुवरघ्न लोको
नासौ सदा देहसुखे रतानाम् ।। ८९ ।।

जिनके पास बहुत धन होता है, वे अपने शरीरको हर तरहसे सजाकर नित्य विषयोंमें रमण करते अर्थात् विषय-सुख भोगते हैं। शुत्रुसूदन! सदा अपने शरीरके ही सुखमें आसक्त हुए उन मनुष्योंको केवल इसी लोकमें सुख मिलता है, परलोकमें उनके लिये सुखका सर्वथा अभाव है ।। ८९ ।।

ये योगयुक्तास्तपसि प्रसक्ताः
स्वाध्यायशीला जरयन्ति देहान् ।
जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्ता-
स्तेषामसौ नायमरिघ्न लोकः ।। ९० ।।

शत्रुसूदन! जो लोग इस लोकमें योगसाधन करते हैं, तपस्यामें संलग्न होते हैं और स्वाध्यायमें तत्पर रहते हैं तथा इस प्रकार प्राणियोंकी हिंसासे दूर रहकर इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए (तपस्याद्वारा) अपने शरीरको दुर्बल कर देते हैं, उनके लिये इस लोकमें सुख नहीं है। वे परलोकमें ही परम कल्याणके भागी होते हैं ।। ९० ।।

ये धर्ममेव प्रथमं चरन्ति
धर्मेण लब्ध्वा च धनानि काले ।
दारानवाप्य क्रतुभिर्यजन्ते
तेषामयं चैव परश्च लोकः ।। ९१ ।।

जो लोग कर्तव्य-बुद्धिसे पहले धर्मका ही आचरण करते हैं और उस धर्मसे ही (न्याययुक्त) धनका उपार्जन कर यथासमय स्त्रीसे विवाह करके उसके साथ यज्ञ-याग और ईश्वरभक्ति आदिका अनुष्ठान करते हैं, उनके लिये इहलोक और परलोक दोनों ही सुखद हैं ।। ९१ ।।

ये नैव विद्यां न तपो न दानं
न चापि मूढाः प्रजने यतन्ति ।

न चानुगच्छन्ति सुखानि भोगां-
स्तेषामयं नैव परश्च लोकः ।। ९२ ।।

जो मूढ़ न विद्याके लिये, न तपके लिये और न दानके लिये ही प्रयत्न करते हैं एवं न धर्मपूर्वक संतानोत्पादनके लिये ही यत्नशील होते हैं, वे न तो सुख पाते हैं और न भोग ही भोगते हैं। उनके लिये न तो इस लोकमें सुख है और न परलोकमें ।। ९२ ।।

सर्वे भवन्तस्त्वतिवीर्यसत्त्वा
दिव्यौजसः संहननोपपन्नाः ।
लोकादमुष्मादवनिं प्रपन्नाः
स्वधीतविद्याः सुरकार्यहेतोः ।। ९३ ।।

राजा युधिष्ठिर! तुम सब लोग बड़े पराक्रमी और धैर्यवान् हो। तुममें अलौकिक ओज भरा है। तुम सुदृढ़ शरीरसे सम्पन्न हो और देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये परलोकसे इस पृथिवीपर अवतीर्ण हुए हो। यही कारण है कि तुमने सभी उत्तम विद्याएँ सीख ली हैं ।। ९३ ।।

कृत्वैव कर्माणि महान्ति शूरा-
स्तपोदमाचारविहारशीलाः ।
देवानृषीन् प्रेतगणांश्च सर्वान्
संतर्पयित्वा विधिना परेण ।। ९४ ।।
स्वर्गं परं पुण्यकृतो निवासं
क्रमेण सम्प्राप्स्यथ कर्मभिः स्वैः ।
मा भूद् विशङ्का तव कौरवेन्द्र
दृष्ट्वाऽऽत्मनः क्लेशमिमं सुखार्हम् ।। ९५ ।।

तुम सभी शूर-वीर तथा तपस्या, इन्द्रियसंयम और उत्तम आचार-व्यवहारमें सदा ही तत्पर रहनेवाले हो। अतः (इस संसारमें बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य करके) देवताओं, ऋषियों और समस्त पितरोंको उत्तम विधिसे तृप्त करोगे। तत्पश्चात् अपने सत्कर्मोंके फलस्वरूप तुम सब लोग क्रमसे पुण्यात्माओंके निवास स्थान परम स्वर्गलोकको चले जाओगे। इसीलिये कौरवराज! तुम (अपने वर्तमान कष्टको देखकर) मनमें किसी प्रकारकी शंकाको स्थान न दो। यह क्लेश तो तुम्हारे भावी सुखका ही सूचक है ।। ९४-९५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८३ ।।

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

तपस्वी तथा स्वधर्मपरायण ब्राह्मणोंका माहात्म्य

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयं महात्मानमूचुः पाण्डुसुतास्तदा ।
माहात्म्यं द्विजमुख्यानां श्रोतुमिच्छाम कथ्यताम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय पाण्डुपुत्रोंने महात्मा मार्कण्डेयजीसे कहा—'मुने! हम श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका माहात्म्य सुनना चाहते हैं, आप उसका वर्णन कीजिये' ।। १ ।।

एवमुक्तः स भगवान् मार्कण्डेयो महातपाः ।
उवाच सुमहातेजाः सर्वशास्त्रविशारदः ।। २ ।।

उनके ऐसा कहनेपर महातपस्वी, महान् तेजस्वी और सम्पूर्ण शास्त्रोंके निपुण विद्वान् भगवान् मार्कण्डेयने इस प्रकार कहा ।। २ ।।

मार्कण्डेय उवाच

हैहयानां कुलकरो राजा परपुरंजयः ।
कुमारो रूपसम्पन्नो मृगयां व्यचरद् बली ।। ३ ।।

मार्कण्डेयजी बोले—हैहयवंशी क्षत्रियोंकी वंशपरम्पराको बढ़ानेवाला राजा परपुरंजय, जो अभी कुमारावस्थामें था, बड़ा ही सुन्दर और बलवान् था, एक दिन वनमें हिंसक पशुओंको मारनेके लिये गया ।। ३ ।।

चरमाणस्तु सोऽरण्ये तृणवीरुत्समावृते ।
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गं ददर्श मुनिमन्तिके ।। ४ ।।

तृण और लताओंसे भरे हुए उस वनमें घूमते-घूमते उस राजकुमारने एक मुनिको देखा, जो काले हिंसक पशुके चर्मकी ओढ़नी ओढ़े थोड़ी ही दूरपर बैठे थे ।। ४ ।।

स तेन निहतोऽरण्ये मन्यमानेन वै मृगम् ।
व्यथितः कर्म तत् कृत्वा शोकोपहतचेतनः ।। ५ ।।

राजकुमारने उन्हें हिंसक पशु ही समझा और उस वनमें अपने बाणोंसे उन्हें मार डाला। अज्ञानवश यह पापकर्म करके वह राजकुमार व्यथित हो शोकसे मूर्च्छित हो गया ।। ५ ।।

जगाम हैहयानां वै सकाशं प्रथितात्मनाम् ।
राज्ञां राजीवनेत्रोऽसौ कुमारः पृथिवीपतिः ।
तेषां च तद् यथावृत्तं कथयामास वै तदा ।। ६ ।।

तत्पश्चात् होशमें आकर वह सुविख्यात हैहयवंशी राजाओंके पास गया। वहाँ पृथ्वीका पालन करनेवाले उस कमलनयन राजकुमारने उन सबके सामने इस दुर्घटनाका यथावत् समाचार कहा ।। ६ ।।

तं चापि हिंसितं तात मुनिं मूलफलाशिनम् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा च ते तत्र बभूवुर्दीनमानसाः ।। ७ ।।

तात! फल-मूलका आहार करनेवाले एक मुनिकी हिंसा हो गयी, यह सुनकर और देखकर वे सभी क्षत्रिय मन-ही-मन बहुत दुःखी हुए ।। ७ ।।

कस्यायमिति ते सर्वे मार्गमाणास्ततस्ततः ।
जग्मुश्चारिष्टनेम्नोऽथ तार्क्ष्यस्याश्रममञ्जसा ।। ८ ।।

फिर वे सब-के-सब जहाँ-तहाँ यह पता लगाते हुए कि ये मुनि किसके पुत्र हैं, शीघ्र ही कश्यप-नन्दन अरिष्टनेमिके आश्रमपर गये ।। ८ ।।

तेऽभिवाद्य महात्मानं तं मुनिं नियतव्रतम् ।
तस्थुः सर्वे स तु मुनिस्तेषां पूजामथाहरत् ।। ९ ।।

वहाँ नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले उन महात्मा मुनिको प्रणाम करके वे सब खड़े हो गये। तब मुनिने उनके लिये अर्घ्य आदि पूजन-सामग्री अर्पित की ।। ९ ।।

ते तमूचुर्महात्मानं न वयं सत्क्रियां मुने ।
त्वत्तोऽर्हाः कर्मदोषेण ब्राह्मणो हिंसितो हि नः ।। १० ।।

यह देखकर उन्होंने उन महात्मासे कहा—‘मुने! हम अपने दूषित कर्मके कारण आपसे सत्कार पानेयोग्य नहीं रह गये हैं। हमसे एक ब्राह्मणकी हत्या हो गयी है’ ।। १० ।।

तानब्रवीत् स विप्रर्षिः कथं वो ब्राह्मणो हतः ।
क्व चासौ ब्रूत सहिताः पश्यध्वं मे तपोबलम् ।। ११ ।।

यह सुनकर उन ब्रह्मर्षिने कहा—‘आपलोगोंसे ब्राह्मणकी हत्या कैसे हुई? और वह मरा हुआ ब्राह्मण कहाँ है? बताइये। फिर सब लोग एक साथ मेरी तपस्याका बल देखियेगा’ ।। ११ ।।

ते तु तत् सर्वमखिलमाख्यायास्मै यथातथम् ।
नापश्यंस्तमृषिं तत्र गतासुं ते समागताः ।। १२ ।।

उनके इस प्रकार पूछनेपर क्षत्रियोंने मुनिके वधका सारा समाचार उनसे ठीक-ठीक कह सुनाया और उन्हें साथ लेकर सभी उस स्थानपर आये जहाँ मुनिकी हत्या हुई थी। किंतु उन्होंने वहाँ मरे हुए मुनिकी लाश नहीं देखी ।। १२ ।।

अन्वेषमाणाः सव्रीडाः स्वप्नवद्गतचेतनाः ।
तानब्रवीत् तत्र मुनिस्तार्क्ष्यः परपुरंजय ।। १३ ।।
स्यादयं ब्राह्मणः सोऽथ युष्माभिर्यो विनाशितः ।
पुत्रो ह्ययं मम नृपास्तपोबलसमन्वितः ।। १४ ।।

फिर तो वे लज्जित होकर इधर-उधर उसकी खोज करने लगे। स्वप्नकी भाँति उनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी। तब मुनिवर अरिष्टनेमिने उनसे कहा—'परपुरंजय! तुम लोगोंने जिसे मार डाला था, वह यही ब्राह्मण तो नहीं है? राजाओ! यह मेरा तपोबलसम्पन्न पुत्र है' ।। १३-१४ ।।

ते च दृष्ट्वैव तमृषिं विस्मयं परमं गताः ।
महदाश्चर्यमिति वै ते ब्रुवाणा महीपते ।। १५ ।।

राजन्! उन महर्षिको जीवित हुआ देख वे सभी क्षत्रिय बड़े विस्मित हुए और कहने लगे 'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है' ।। १५ ।।

मृतो ह्ययमुपानीतः कथं जीवितमाप्तवान् ।
किमेतत् तपसो वीर्यं येनायं जीवितः पुनः ।। १६ ।।

'ये मरे हुए मुनि यहाँ कैसे लाये गये और किस प्रकार इन्हें जीवन मिला? क्या यह तपस्याकी ही शक्ति है, जिससे फिर ये जीवित हो गये? ।। १६ ।।

श्रोतुमिच्छामहे विप्र यदि श्रोतव्यमित्युत ।
स तानुवाच नास्माकं मृत्युः प्रभवते नृपाः ।। १७ ।।

'ब्रह्मन्! हम यह सब रहस्य सुनना चाहते हैं। यदि सुननेयोग्य हो तो कहिये'। तब महर्षिने उन क्षत्रियोंसे कहा—'राजाओ! हम लोगोंपर मृत्युका वश नहीं चलता' ।। १७ ।।

कारणं वः प्रवक्ष्यामि हेतुयोगसमासतः ।
(मृत्युः प्रभवने येन नास्माकं नृपसत्तमाः ।
शुद्धाचारा अनलसाः संध्योपासनतत्पराः ।।
शुद्धान्नाः शुद्धसुधना ब्रह्मचर्यव्रतान्विताः ।)
सत्यमेवाभिजानीमो नानृते कुर्महे मनः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठामस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ।। १८ ।।

'इसका क्या कारण है? यह मैं तर्क और युक्तिके साथ संक्षेपसे बता रहा हूँ। श्रेष्ठ नृपतिगण! हमलोगोंपर मृत्युका प्रभाव क्यों नहीं पड़ता—यह बताते हैं, सुनिये—हम शुद्ध आचार-विचारसे रहते हैं, आलस्यसे रहित हैं, प्रतिदिन संध्योपासनके परायण रहते हैं, शुद्ध अन्न खाते हैं और शुद्ध रीतिसे न्यायपूर्वक धनोपार्जन करते हैं; यही नहीं हमलोग सदा ब्रह्मचर्यव्रतके पालनमें लगे रहते हैं। हमलोग केवल सत्यको ही जानते हैं। कभी झूठमें मन नहीं लगाते और सदा अपने धर्मका पालन करते रहते हैं। इसलिये हमें मृत्युसे भय नहीं है ।। १८ ।।

यद् ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां कथयामहे ।
नैषां दुश्चरितं ब्रूमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ।। १९ ।।
अतिथीनन्नपानेन भृत्यानत्यशनेन च ।
सम्भोज्य शेषमश्नीमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः ।। २० ।।

'ब्राह्मणोंके जो शुभ कर्म हैं, उन्हींकी हम चर्चा करते हैं। उनके दोषोंका बखान नहीं करते हैं। इसलिये हमें मृत्युसे भय नहीं है। हम अतिथियोंको अन्न और जलसे तृप्त करते हैं। हमारे ऊपर जिनके भरण-पोषणका भार है, उन्हें हम पूरा भोजन देते हैं और उन्हें भोजन करानेसे बचा हुआ अन्न हम स्वयं भोजन करते हैं, अतः हमें मृत्युसे भय नहीं है ।। १९-२० ।।

शान्ता दान्ताः क्षमाशीलास्तीर्थदानपरायणाः ।
पुण्यदेशनिवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः ।
तेजस्विदेशवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः ।। २१ ।।

'हम सदा शम, दम, क्षमा, तीर्थ-सेवन और दानमें तत्पर रहनेवाले हैं तथा पवित्र देशमें निवास करते हैं। इसलिये भी हमें मृत्युसे भय नहीं है। इतना ही नहीं हमलोग तेजस्वी पुरुषोंके देशमें निवास करते हैं अर्थात् सत्पुरुषोंके समीप रहा करते हैं। इस कारणसे भी हमें मृत्युसे भय नहीं होता है ।। २१ ।।

एतद् वै लेशमात्रं वः समाख्यातं विमत्सराः ।
गच्छध्वं सहिताः सर्वे न पापाद् भयमस्ति वः ।। २२ ।।

‘ईर्ष्यारहित राजाओ! ये सब बातें मैंने तुम्हें संक्षेपसे सुनायी हैं। अब तुम सब लोग एक साथ यहाँसे जाओ, तुम्हें ब्रह्महत्याके पापसे भय नहीं रहा’ ।। २२ ।।

एवमस्त्विति ते सर्वे प्रतिपूज्य महामुनिम् ।
स्वदेशमगमन् हृष्टा राजानो भरतर्षभ ।। २३ ।।

भरतश्रेष्ठ! यह सुनकर उन हैहयवंशी क्षत्रियोंने ‘एवमस्तु’ कहकर महामुनि अरिष्टनेमिका सम्मान एवं पूजन किया और प्रसन्न होकर अपने स्थानको चले गये ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्यकथने चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणमाहात्म्यवर्णनविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल २४½ श्लोक हैं)

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणकी महिमाके विषयमें अत्रिमुनि तथा राजा पृथुकी प्रशंसा

मार्कण्डेय उवाच

भूय एव महाभाग्यं ब्राह्मणानां निबोध मे ।
वैन्यो नामेह राजर्षिरश्वमेधाय दीक्षितः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मणोंका और भी माहात्म्य मुझसे सुनो। पूर्वकालमें वेनके पुत्र राजर्षि पृथुने, जो यहाँ वैन्यके नामसे प्रसिद्ध थे, किसी समय अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ली ।। १ ।।

तमत्रिर्गन्तुमारेभे वित्तार्थमिति नः श्रुतम् ।
भूयोऽर्थं नानुरुध्यत् स धर्मव्यक्तिनिदर्शनात् ।। २ ।।

उन दिनों महात्मा अत्रिने धन माँगनेकी इच्छासे उनके पास जानेका विचार किया, यह बात हमारे सुननेमें आयी है; परंतु ऐसा करनेसे उनको अपना धर्मात्मापन प्रकट करना पड़ता। इसलिये फिर उन्होंने धनके लिये अनुरोध नहीं किया ।। २ ।।

स विचिन्त्य महातेजा वनमेवान्वरोचयत् ।
धर्मपत्नीं समाहूय पुत्रांश्चेदमुवाच ह ।। ३ ।।

महातेजस्वी अत्रिने मन-ही-मन कुछ सोच-विचारकर (तपस्याके लिये) वनमें ही जानेका निश्चय किया और अपनी धर्मपत्नी तथा पुत्रोंको बुलाकर इस प्रकार कहा— ।। ३ ।।

प्राप्स्यामः फलमत्यन्तं बहुलं निरुपद्रवम् ।
अरण्यगमनं क्षिप्रं रोचतां वो गुणाधिकम् ।। ४ ।।

‘हमलोग वनमें रहकर (तपद्वारा) धर्मका बहुत अधिक उपद्रवशून्य फल पा सकते हैं। अतः शीघ्र वनमें चलनेका विचार तुम सब लोगोंको रुचिकर होना चाहिये; क्योंकि ग्राम्य-जीवनकी अपेक्षा वनमें रहना अधिक लाभप्रद है’ ।। ४ ।।

तं भार्या प्रत्युवाचाथ धर्ममेवानुतन्वती ।
वैन्यं गत्वा महात्मानमर्थयस्व धनं बहु ।। ५ ।।

अत्रिकी पत्नी भी धर्मका ही अनुसरण करनेवाली थी। उसने यज्ञ-यागादिके रूपमें धर्मके ही विस्तारपर दृष्टि रखकर पतिको उत्तर दिया—‘प्राणनाथ! आप धर्मात्मा राजा वैन्यके पास जाकर अधिक धनकी याचना कीजिये ।। ५ ।।

स ते दास्यति राजर्षिर्यजमानोऽर्थितो धनम् ।

तत आदाय विप्रर्षे प्रतिगृह्य धनं बहु ।। ६ ।।
भृत्यान् सुतान् संविभज्य ततो व्रज यथेप्सितम् ।
एष वै परमो धर्मो धर्मविद्भिरुदाहृतः ।। ७ ।।

'वे राजर्षि इन दिनों यज्ञ कर रहे हैं, अतः इस अवसरपर यदि आप उनसे माँगेंगे तो वे आपको अधिक धन देंगे। ब्रह्मर्षे! वहाँसे प्रचुर धन लाकर भरण-पोषण करनेयोग्य इन पुत्रोंको बाँट दीजिये; फिर इच्छानुसार वनको चलिये। धर्मज्ञ महात्माओंने यही परम धर्म बताया है' ।। ६-७ ।।

अत्रिरुवाच

कथितो मे महाभागे गौतमेन महात्मना ।
वैन्यो धर्मार्थसंयुक्तः सत्यव्रतसमन्वितः ।। ८ ।।

अत्रि बोले—महाभागे! महात्मा गौतमने मुझसे कहा है कि 'वेनपुत्र राजा पृथु धर्म और अर्थके साधनमें संलग्न रहते हैं। वे सत्यव्रती हैं' ।। ८ ।।

द्वेष्टारः किंतु नः सन्ति वसन्तस्तत्र वै द्विजाः ।
यथा मे गौतमः प्राह ततो न व्यवसाम्यहम् ।। ९ ।।

परंतु एक बात विचारणीय है। वहाँ उनके यज्ञमें जितने ब्राह्मण रहते हैं, वे सभी मुझसे द्वेष रखते हैं, यही बात गौतमने भी कही है। इसीलिये मैं वहाँ जानेका विचार नहीं कर रहा हूँ ।। ९ ।।

तत्र स्म वाचं कल्याणीं धर्मकामार्थसंहिताम् ।
मयोक्तामन्यथा ब्रूयुस्ततस्ते वै निरर्थिकाम् ।। १० ।।

यदि मैं वहाँ जाकर धर्म, अर्थ और कामसे युता कल्याणमयी वाणी भी बोलूँगा तो वे उसे धर्म और अर्थके विपरीत ही बतायेंगे; निरर्थक सिद्ध करेंगे ।। १० ।।

गमिष्यामि महाप्राज्ञे रोचते मे वचस्तव ।
गाश्च मे दास्यते वैन्यः प्रभूतं चार्थसंचयम् ।। ११ ।।

तथापि महाप्राज्ञे! मैं वहाँ अवश्य जाऊँगा, मुझे तुम्हारी बात ठीक जँचती है। राजा पृथु मुझे बहुत-सी गौएँ तो देंगे ही, पर्याप्त धन भी देंगे ।। ११ ।।

एवमुक्त्वा जगामाशु वैन्ययज्ञं महातपाः ।
गत्वा च यज्ञायतनमत्रिस्तुष्टाव तं नृपम् ।। १२ ।।
वाक्यैर्मङ्गलसंयुक्तैः पूजयानोऽब्रवीद् वचः ।

ऐसा कहकर महातपस्वी अत्रि शीघ्र ही राजा पृथुके यज्ञमें गये। यज्ञमण्डपमें पहुँचकर उन्होंने उस राजाका मांगलिक वचनोंद्वारा स्तवन किया और उनका समादर करते हुए इस प्रकार कहा ।। १२½ ।।

अत्रिरुवाच

राजन् धन्यस्त्वमीशश्च भुवि त्वं प्रथमो नृपः ।। १३ ।।

अत्रि बोले—राजन्! तुम इस भूतलके सर्वप्रथम राजा हो; अतः धन्य हो, सब प्रकारके ऐश्वर्यसे सम्पन्न हो ।। १३ ।।

स्तुवन्ति त्वां मुनिगणास्त्वदन्यो नास्ति धर्मवित् ।
तमब्रवीदृषिः क्रुद्धो वचनं वै महातपाः ।। १४ ।।

महर्षिगण तुम्हारी स्तुति करते हैं। तुम्हारे सिवा दूसरा कोई नरेश धर्मका ज्ञाता नहीं है। उनकी यह बात सुनकर महातपस्वी गौतम मुनिने कुपित होकर कहा ।। १४ ।।

गौतम उवाच

मैवमत्रे पुनर्ब्रूया न ते प्रज्ञा समाहिता ।
अत्र नः प्रथमं स्थाता महेन्द्रो वै प्रजापतिः ।। १५ ।।

गौतम बोलें—अत्रे! फिर कभी ऐसी बात मुँहसे न निकालना। तुम्हारी बुद्धि एकाग्र नहीं है। यहाँ हमारे प्रथम प्रजापतिके रूपमें साक्षात् इन्द्र उपस्थित हैं ।। १५ ।।

अथात्रिरपि राजेन्द्र गौतमं प्रत्यभाषत ।
अयमेव विधाता हि यथैवेन्द्रः प्रजापतिः ।
त्वमेव मुह्यसे मोहान्न प्रज्ञानं तवास्ति ह ।। १६ ।।

राजेन्द्र! तब अत्रिने भी गौतमको उत्तर देते हुए कहा—'मुने! ये पृथु ही विधाता हैं, ये ही प्रजापति इन्द्रके समान हैं। तुम्हीं मोहसे मोहित हो रहे हो; तुम्हें उत्तम बुद्धि नहीं प्राप्त है' ।। १६ ।।

गौतम उवाच

जानामि नाहं मुह्यामि त्वमेवात्र विमुह्यते ।
स्तौषि त्वं दर्शनप्रेप्सू राजानं जनसंसदि ।। १७ ।।

गौतम बोले—मैं नहीं मोहमें पड़ा हूँ, तुम्हीं यहाँ आकर मोहित हो रहे हो। मैं खूब समझता हूँ, तुम राजासे मिलनेकी इच्छा लेकर ही भरी सभामें स्वार्थवश उनकी स्तुति कर रहे हो ।। १७ ।।

न वेत्थ परमं धर्मं न चावैषि प्रयोजनम् ।
बालस्त्वमसि मूढश्च वृद्धः केनापि हेतुना ।। १८ ।।

उत्तम धर्मका तुम्हें बिलकुल ज्ञान नहीं है। तुम धर्मका प्रयोजन भी नहीं समझते हो। मेरी दृष्टिमें तुम मूढ हो, बालक हो; किसी विशेष कारणसे बूढ़े बने हुए हो अर्थात् केवल अवस्थासे बूढ़े हो ।। १८ ।।

विवदन्तौ तथा तौ तु मुनीनां दर्शने स्थितौ ।
ये तस्य यज्ञे संवृत्तास्तेऽपृच्छन्त कथं त्विमौ ।। १९ ।।

मुनियोंके सामने खड़े होकर जब वे दोनों इस प्रकार विवाद कर रहे थे, उस समय उन्हें देखकर जिनका यज्ञमें पहलेसे वरण हो चुका था, वे ब्राह्मण पूछने लगे—'ये दोनों कैसे लड़ रहे हैं? ।। १९ ।।

प्रवेशः केन दत्तोऽयमुभयोर्वैन्यसंसदि ।
उच्चैः समभिभाषन्तौ केन कार्येण धिष्ठितौ ।। २० ।।
ततः परमधर्मात्मा काश्यपः सर्वधर्मवित् ।
विवादिनावनुप्राप्तौ तावुभौ प्रत्यवेदयत् ।। २१ ।।

'किसने इन दोनोंको महाराज पृथुके यज्ञमण्डपमें घुसने दिया है? ये दोनों जोर-जोरसे बातें करते और झगड़ते यहाँ किस कामसे खड़े हैं?' उस समय परम धर्मात्मा एवं सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता कणादने सब सदस्योंको बताया कि ये दोनों किसी विषयको लेकर परस्पर विवाद कर रहे हैं और उसीके निर्णयके लिये यहाँ आये हैं' ।।

अथाब्रवीत् सदस्यांस्तु गौतमो मुनिसत्तमान् ।
आवयोर्व्याहृतं प्रश्नं शृणुत द्विजसत्तमाः ।। २२ ।।
वैन्यं विधातेत्याहात्रिरत्र नौ संशयो महान् ।
श्रुत्वैव तु महात्मानो मुनयोऽभ्यद्रवन् द्रुतम् ।। २३ ।।
सनत्कुमारं धर्मज्ञं संशयच्छेदनाय वै ।
स च तेषां वचः श्रुत्वा यथातत्त्वं महातपाः ।
प्रत्युवाचाथ तानेवं धर्मार्थसहितं वचः ।। २४ ।।

तब गौतमने सदस्यरूपसे बैठे हुए उन श्रेष्ठ मुनियोंसे कहा—'श्रेष्ठ ब्राह्मणो! हम दोनोंके प्रश्नको आपलोग सुनें। अत्रिने राजा पृथुको विधाता कहा है। इस बातको लेकर हम दोनोंमें महान् संशय एवं विवाद उपस्थित हो गया है।' यह सुनकर वे महात्मा मुनि उक्त संशयका निवारण करनेके लिये तुरंत ही धर्मज्ञ सनत्कुमारजीके पास दौड़े गये। उन महातपस्वीने इनकी सब बातें यथार्थरूपसे सुनकर उनसे यह धर्म एवं अर्थयुक्त वचन कहा — ।। २२—२४ ।।

सनत्कुमार उवाच

ब्रह्म क्षत्रेण सहितं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह ।
संयुक्तौ दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ ।। २५ ।।
राजा वै प्रथितो धर्मः प्रजानां पतिरेव च ।
स एव शक्रः शुक्रश्च स धाता च बृहस्पतिः ।। २६ ।।

सनत्कुमार बोले—ब्राह्मण क्षत्रियसे और क्षत्रिय ब्राह्मणसे संयुक्त हो जायँ तो वे दोनों मिलकर शत्रुओंको उसी प्रकार दग्ध कर डालते हैं, जैसे अग्नि और वायु परस्पर सहयोगी

होकर कितने ही वनोंको भस्म कर डालते हैं। राजा धर्मरूपसे विख्यात है। वही प्रजापति, इन्द्र, शुक्राचार्य, धाता और बृहस्पति भी है ।। २५-२६ ।।

प्रजापतिर्विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः ।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ।। २७ ।।
पुरायोनिर्युधाजिच्च अभिया मुदितो भवः ।
स्वर्णेता सहजिद् बभ्रुरिति राजाभिधीयते ।। २८ ।।
सत्ययोनिः पुराविच्च सत्यधर्मप्रवर्तकः ।
अधर्मादृषयो भीता बलं क्षत्रे समादधन् ।। २९ ।।

जिस राजाकी प्रजापति, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति, नृप आदि शब्दोंद्वारा स्तुति की जाती है, उसकी पूजा कौन नहीं करेगा? पुरायोनि (प्रथम कारण), युधाजित् (संग्रामविजयी), अभिया (रक्षाके लिये सर्वत्र गमन करनेवाला), मुदित (प्रसन्न), भव (ईश्वर), स्वर्णेता (स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला), सहजित् (तत्काल विजय करनेवाला) तथा बभ्रु (विष्णु)—इन नामोंद्वारा राजाका वर्णन किया जाता है। राजा सत्यका कारण, प्राचीन बातोंको जाननेवाला तथा सत्यधर्ममें प्रवृत्ति करानेवाला है। अधर्मसे डरे हुए ऋषियोंने अपना ब्राह्मबल भी क्षत्रियोंमें स्थापित कर दिया था ।। २७—२९ ।।

आदित्यो दिवि देवेषु तमो नुदति तेजसा ।
तथैव नृपतिर्भूमावधर्मान्नुदते भृशम् ।। ३० ।।

जैसे देवलोकमें सूर्य अपने तेजसे सम्पूर्ण अन्धकारका नाश करता है, उसी प्रकार राजा इस पृथ्वीपर रहकर अधर्मोंको सर्वथा हटा देता है ।। ३० ।।

ततो राज्ञः प्रधानत्वं शास्त्रप्रामाण्यदर्शनात् ।
उत्तरः सिद्ध्यते पक्षो येन राजेति भाषितम् ।। ३१ ।।

अतः शास्त्र-प्रमाणपर दृष्टिपात करनेसे राजाकी प्रधानता सूचित होती है। इसलिये जिसने राजाको प्रजापति बतलाया है, उसीका पक्ष उत्कृष्ट सिद्ध होता है ।। ३१ ।।

मार्कण्डेय उवाच

ततः स राजा संहृष्टः सिद्धे पक्षे महामनाः ।
तमत्रिमब्रवीत् प्रीतः पूर्वं येनाभिसंस्तुतः ।। ३२ ।।
यस्मात् पूर्वं मनुष्येषु ज्यायांसं मामिहाब्रवीः ।
सर्वदेवैश्च विप्रर्षे सम्मितं श्रेष्ठमेव च ।। ३३ ।।
तस्मात् तेऽहं प्रदास्यामि विविधं वसु भूरि च ।
दासीसहस्रं श्यामानां सुवस्त्राणामलंकृतम् ।। ३४ ।।
दशकोटीर्हिरण्यस्य रुक्मभारांस्तथा दश ।
एतद् ददामि विप्रर्षे सर्वज्ञस्त्वं मतो हि मे ।। ३५ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तदनन्तर एक पक्षकी उत्कृष्टता सिद्ध हो जानेपर महामना राजा पृथु बड़े प्रसन्न हुए और जिन्होंने उनकी पहले स्तुति की थी, उन अत्रिमुनिसे इस प्रकार बोले—'ब्रह्मर्षे! आपने यहाँ मुझे मनुष्योंमें प्रथम (भूपाल), श्रेष्ठ, ज्येष्ठ तथा सम्पूर्ण देवताओंके समान बताया है, इसलिये मैं आपको प्रचुरमात्रामें नाना प्रकारके रत्न और धन दूँगा, सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सहस्रों युवती दासियाँ अर्पित करूँगा तथा दस करोड़ स्वर्णमुद्रा और दस भार सोना भी दूँगा। विप्रर्षे! ये सब वस्तुएँ आपको अभी दे रहा हूँ, मैं समझता हूँ, आप सर्वज्ञ हैं' ।। ३२—३५ ।।

तदत्रिर्न्यायतः सर्वं प्रतिगृह्याभिसत्कृतः ।
प्रत्युज्जगाम तेजस्वी गृहानेव माहतपाः ।। ३६ ।।

तब महान् तपस्वी और तेजस्वी अत्रि मुनि राजासे समादृत हो न्यायपूर्वक मिले हुए उस सम्पूर्ण धनको लेकर अपने घरको चले गये ।। ३६ ।।

प्रदाय च धनं प्रीतः पुत्रेभ्यः प्रयतात्मवान् ।
तपः समभिसंधाय वनमेवान्वपद्यत ।। ३७ ।।

फिर मनपर संयम रखनेवाले वे महामुनि पुत्रोंको प्रसन्नतापूर्वक वह सारा धन बाँटकर तपस्याका शुभ संकल्प मनमें लेकर वनमें ही चले गये ।। ३७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्ये पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणमाहात्म्यविषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८५ ।।

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

ताक्ष्र्यमुनि और सरस्वतीका संवाद

मार्कण्डेय उवाच

अत्रैव च सरस्वत्या गीतं परपुरंजय ।
पृष्टया मुनिना वीर शृणु ताक्ष्र्येण धीमता ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—शत्रुओंकी राजधानी-पर विजय पानेवाले पाण्डुनन्दन! इसी विषयमें परम बुद्धिमान् ताक्ष्र्य मुनिने सरस्वतीदेवीसे कुछ प्रश्न किया था, उसके उत्तरमें सरस्वतीदेवीने जो कुछ कहा था, वह तुम्हें सुनाता हूँ, सुनो ।। १ ।।

ताक्ष्र्य उवाच

किं नु श्रेयः पुरुषस्येह भद्रे
कथं कुर्वन् न च्यवते स्वधर्मात् ।
आचक्ष्व मे चारुसर्वाङ्गि कुर्यां
त्वया शिष्टो न च्यवेयं स्वधर्मात् ।। २ ।।

ताक्ष्र्यने पूछा—भद्रे! इस संसारमें मनुष्यका कल्याण करनेवाली वस्तु क्या है? किस प्रकार आचरण करनेवाला पुरुष अपने धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता है? सर्वांगसुन्दरी देवि! तुम मुझसे इसका वर्णन करो। मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा। मुझे विश्वास है कि तुमसे उपदेश ग्रहण करके मैं अपने धर्मसे गिर नहीं सकता ।। २ ।।

कथं वाग्निं जुहुयां पूजये वा
कस्मिन् काले केन धर्मो न नश्येत् ।
एतत् सर्वं सुभगे प्रब्रवीहि
यथा लोकान् विरजाः संचरेयम् ।। ३ ।।

मैं कैसे और किस समय अग्निमें हवन अथवा उसका पूजन करूँ? क्या करनेसे धर्मका नाश नहीं होता है? सुभगे! तुम ये सारी बातें मुझसे बताओ। जिससे मैं रजोगुणरहित होकर सम्पूर्ण लोकोंमें विचरण करूँ ।। ३ ।।

मार्कण्डेय उवाच

एवं पृष्टा प्रीतियुक्तेन तेन
शुश्रूषुमीक्ष्योत्तमबुद्धियुक्तम् ।
ताक्ष्र्यं विप्रं धर्मयुक्तं हितं च
सरस्वती वाक्यमिदं बभाषे ।। ४ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! उनके इस प्रकार प्रेमपूर्वक पूछनेपर सरस्वतीदेवीने ब्रह्मर्षि तार्क्ष्यको धर्मात्मा, उत्तम बुद्धिसे युक्त एवं श्रवणके लिये उत्सुक देखकर उनसे यह हितकर वचन कहा— ।। ४ ।।

सरस्वत्युवाच

यो ब्रह्म जानाति यथाप्रदेशं
स्वाध्यायनित्यः शुचिरप्रमत्तः ।
स वै पारं देवलोकस्य गन्ता
सहामरैः प्राप्नुयात् प्रीतियोगम् ।। ५ ।।

सरस्वती बोली—मुने! जो प्रमाद छोड़कर पवित्र भावसे नित्य स्वाध्याय करता है और अर्चि आदि मार्गोंसे प्राप्त होनेयोग्य सगुण ब्रह्मको जान लेता है, वह देवलोकसे उठकर ब्रह्मलोकमें जाता है और देवताओंके साथ प्रेमसम्बन्ध स्थापित कर लेता है ।। ५ ।।

तत्र स्म रम्या विपुला विशोकाः
सुपुष्पिताः पुष्करिण्यः सुपुण्याः ।
अकर्दमा मीनवत्यः सुतीर्था
हिरण्मयैरावृताः पुण्डरीकैः ।। ६ ।।

वहाँ सुन्दर, विशाल, शोकरहित, अत्यन्त पवित्र तथा सुन्दर पुष्पोंसे सुशोभित छोटे-छोटे सरोवर हैं। उनमें कीचड़का नाम नहीं है। उनमें मछलियाँ निवास करती हैं। उन सरोवरोंमें उतरनेके लिये मनोहर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं और वे सभी सरोवर सुवर्णमय कमल-पुष्पोंसे आच्छादित रहते हैं ।। ६ ।।

तासां तीरेष्वासते पुण्यभाजो
महीयमानाः पृथगप्सरोभिः ।
सुपुण्यगन्धाभिरलंकृताभि-
र्हिरण्यवर्णाभिरतीव हृष्टाः ।। ७ ।।

उनके तटोंपर पूजनीय पुण्यात्मा पुरुष पृथक्-पृथक् अप्सराओंके साथ सानन्द प्रतिष्ठित होते हैं। वे अप्सराएँ अत्यन्त पवित्र सुगन्धसे सुवासित, विविध आभूषणोंसे विभूषित तथा स्वर्णकी-सी कान्तिसे प्रकाशित होती हैं ।। ७ ।।

परं लोकं गोप्रदास्त्वाप्नुवन्ति
दत्त्वानड्वाहं सूर्यलोकं व्रजन्ति ।
वासो दत्त्वा चान्द्रमसं तु लोकं
दत्त्वा हिरण्यममरत्वमेति ।। ८ ।।

गोदान करनेवाले मनुष्य उत्तम लोकमें जाते हैं। छकड़े ढोनेवाले बलवान् बैलोंका दान करनेसे दाताओंको सूर्यलोककी प्राप्ति होती है। वस्त्रदानसे चन्द्रलोक और सुवर्णदानसे

अमरत्वकी प्राप्ति होती है ।। ८ ।।

धेनुं दत्त्वा सुप्रभां सुप्रदोहां
कल्याणवत्सामपलायिनीं च ।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्या-
स्तावद् वर्षाण्यासते देवलोके ।। ९ ।।

जो अच्छे रंगकी हो, सुगमतासे दूध दुहा लेती हो, सुन्दर बछड़े देनेवाली हो और बन्धन तुड़ाकर भागनेवाली न हो, ऐसी गौका जो लोग दान करते हैं, वे गौके शरीरमें जितने रोएँ हों, उतने वर्षतक देवलोकमें निवास करते हैं ।। ९ ।।

अनड्वाहं सुव्रतं यो ददाति
हलस्य वोढारमनन्तवीर्यम् ।
धुरन्धरं बलवन्तं युवानं
प्राप्नोति लोकान् दश धेनुदस्य ।। १० ।।

जो मनुष्य अच्छे स्वभाववाले, अत्यन्त शक्तिशाली, हल खींचनेवाले, गाड़ीका बोझ ढोनेमें समर्थ, बलवान् और तरुण अवस्थावाले बैलका दान करता है, वह धेनुदान करनेवाले पुरुषसे दसगुने पुण्यलोक प्राप्त करता है ।। १० ।।

ददाति यो वै कपिलां सचैलां
कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः ।
तैस्तैर्गुणैः कामदुहाथ भूत्वा
नरं प्रदातारमुपैति सा गौः ।। ११ ।।

जो काँसेकी दोहनी, वस्त्र, उत्तरकालिक दक्षिणाद्रव्यके साथ कपिला गौका दान करता है, उसकी दी हुई वह गौ उन-उन गुणोंके साथ कामधेनु बनकर परलोकमें दाताके पास पहुँच जाती है ।। ११ ।।

यावन्ति रोमाणि भवन्ति धेन्वा-
स्तावत् फलं भवति गोप्रदाने ।
पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्व-
मासप्तमं तारयते परत्र ।। १२ ।।

उस धेनुके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षोंतक दाता गोदानके पुण्य-फलका उपभोग करता है। साथ ही वह गौ परलोकमें दाताके पुत्रों, पौत्रों एवं सात पीढ़ीतकके समूचे कुलका उद्धार करती है ।। १२ ।।

सदक्षिणां काञ्चनचारुशृङ्गीं
कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः ।
धेनुं तिलानां ददतो द्विजाय
लोका वसूनां सुलभा भवन्ति ।। १३ ।।

स्वकर्मभिर्दानवसंनिरुद्धे
तीव्रान्धकारे नरके सम्पतन्तम् ।
महार्णवे नौरिव वातयुक्ता
दानं गवां तारयते परत्र ।। १४ ।।

जो सोनेके बने हुए सुन्दर सींग, काँसके दुग्धपात्र, द्रव्य तथा ओढ़नेके वस्त्र और दक्षिणासहित तिलकी धेनुका ब्राह्मणको दान करता है, उसके लिये वसुओंके लोक सुलभ हो जाते हैं। जैसे महासागरमें डूबते हुए मनुष्यको अनुकूल वायुके सहयोगसे चलनेवाली नाव बचा लेती है, उसी प्रकार जो अपने कर्मोंद्वारा काम, क्रोध आदि दानवोंसे घिरे हुए घोर अज्ञानान्धकारसे परिपूर्ण नरकमें गिर रहा है, उसे गोदानजनित पुण्य परलोकमें उबार लेता है ।। १३-१४ ।।

यो ब्राह्मदेयां तु ददाति कन्यां
भूमिप्रदानं च करोति विप्रे ।
ददाति दानं विधिना च यश्च
स लोकमाप्नोति पुरंदरस्य ।। १५ ।।

जो ब्राह्म विवाहकी विधिसे दान करनेयोग्य कन्याका (श्रेष्ठ वरको) दान करता है, ब्राह्मणको भूदान देता है और विधिपूर्वक अन्यान्य वस्तुओंका दान सम्पन्न करता है, वह इन्द्रलोकमें जाता है ।। १५ ।।

यः सप्त वर्षाणि जुहोति तार्क्ष्य
हव्यं त्वग्नौ नियतः साधुशीलः ।
सप्तावरान् सप्त पूर्वान् पुनाति
पितामहानात्मना कर्मभिः स्वैः ।। १६ ।।

तार्क्ष्य! जो सदाचारी पुरुष संयम—नियमका पालन करते हुए सात वर्षोंतक अग्निमें आहुति देता है, वह अपने सत्कर्मोंद्वारा अपने साथ ही सात पीढ़ीतककी भावी संतानोंको और सात पीढ़ी पूर्वतकके पितामहोंको भी पवित्र कर देता है ।। १६ ।।

तार्क्ष्य उवाच

किमग्निहोत्रस्य व्रतं पुराण-
माचक्ष्व मे पृच्छतश्चानुरूपे ।
त्वयानुशिष्टोऽहमिहाद्य विद्यां
यदग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणम् ।। १७ ।।

तार्क्ष्यने पूछा—मनोहर रूपवाली देवि! मैं पूछता हूँ कि अग्निहोत्रका प्राचीन नियम क्या है? यह बताओ। तुम्हारे उपदेश करनेपर आज मुझे यहाँ अग्निहोत्रके प्राचीन नियमका ज्ञान हो जाय ।। १७ ।।

सरस्वत्युवाच

न चाशुचिर्नाप्यनिर्णिक्तपाणि-
र्नाब्रह्मविज्जुहुयान्नाविपश्चित् ।
बुभुत्सवः शुचिकामा हि देवा
नाश्रद्दधानाद्धि हविर्जुषन्ति ।। १८ ।।

सरस्वतीने कहा—मुने! जो अपवित्र है, जिसने हाथ-पैर (भी) नहीं धोये हैं, जो वेदके ज्ञानसे वञ्चित है, जिसे वेदार्थका कोई अनुभव नहीं है, ऐसे पुरुषको अग्निमें आहुति नहीं देनी चाहिये। देवता दूसरोंके मनोभावको जाननेकी इच्छा रखते हैं, वे पवित्रता चाहते हैं, अतः श्रद्धाहीन मनुष्यके दिये हुए हविष्यको ग्रहण नहीं करते हैं ।। १८ ।।

नाश्रोत्रियं देवहव्ये नियुञ्ज्या-
न्मोघं पुरा सिञ्चति तादृशो हि ।
अपूर्वमश्रोत्रियमाह तार्क्ष्य
न वै तादृग् जुहुयादग्निहोत्रम् ।। १९ ।।

वेद-मन्त्रोंका ज्ञान न रखनेवाले पुरुषको देवताओंके लिये हविष्य प्रदान करनेके कार्यमें नियुक्त न करे; क्योंकि वैसा मनुष्य जो हवन करता है, वह व्यर्थ हो जाता है। तार्क्ष्य!

अश्रोत्रिय पुरुषको वेदमें अपूर्व (कुलशीलसे अपरिचित) कहा गया है*। अतः वैसा पुरुष अग्निहोत्रका अधिकारी नहीं है ।। १९ ।।

कृशाश्च ये जुह्वति श्रद्दधानाः
सत्यव्रता हुतशिष्टाशिनश्च ।
गवां लोकं प्राप्य ते पुण्यगन्धं
पश्यन्ति देवं परमं चापि सत्यम् ।। २० ।।

जो तपसे कृश हो सत्य व्रतका पालन करते हुए प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक हवन करते हैं और हवनसे बचे हुए अन्नका भोजन करते हैं, वे पवित्र सुगन्धसे भरे हुए गौओंके लोकमें जाते हैं और वहाँ परम सत्य परमात्माका दर्शन करते हैं ।। २० ।।

तार्क्ष्य उवाच

क्षेत्रज्ञभूतां परलोकभावे
कर्मोदये बुद्धिमतिप्रविष्टाम् ।
प्रज्ञां च देवीं सुभगे विमृश्य
पृच्छामि त्वां का ह्यसि चारुरूपे ।। २१ ।।

तार्क्ष्यने पूछा—सुन्दर रूपवाली सौभाग्यशालिनी देवि! तुम आत्मस्वरूपा हो तथा परलोकके विषयमें एवं कर्म-फलके विचारमें प्रविष्ट हुई अत्यन्त उत्कृष्ट बुद्धि हो। प्रज्ञा देवी भी तुम्हीं हो। तुम्हींको इन दोनों रूपोंमें जानकर मैं पूछता हूँ, बताओ, वास्तवमें तुम क्या हो? ।।

सरस्वत्युवाच

अग्निहोत्रादहमभ्यागतास्मि
विप्रर्षभाणां संशयच्छेदनाय ।
त्वत्संयोगादहमेतमब्रुवं
भावे स्थिता तथ्यमर्थं यथावत् ।। २२ ।।

सरस्वती बोली—मुने! मैं [विद्यारूपा सरस्वती हूँ और] श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके अग्निहोत्रसे यहाँ तुम्हारे संशयका निवारण करनेके लिये आयी हूँ। (तुम श्रद्धालु हो) तुम्हारा सांनिध्य पाकर ही मैंने यहाँ ये पूर्वोक्त सत्य बातें यथार्थरूपसे बतायी हैं; क्योंकि आन्तरिक श्रद्धाभावमें ही मेरी स्थिति है ।। २२ ।।

तार्क्ष्य उवाच

न हि त्वया सदृशी काचिदस्ति
विभ्राजसे ह्यतिमात्रं यथा श्रीः ।
रूपं च ते दिव्यमनन्तकान्ति

प्रज्ञां च देवीं सुभगे बिभर्षि ।। २३ ।।

ताक्ष्‍र्यने पूछा—सुभगे! तुम्हारी-जैसी दूसरी कोई नारी नहीं है। तुम साक्षात् लक्ष्मीजीकी भाँति अत्यन्त प्रकाशमान दिखायी देती हो। तुम्हारा यह परम कान्तिमान् स्वरूप अत्यन्त दिव्य है। साथ ही तुम दिव्य प्रज्ञा भी धारण करती हो (इसका क्या कारण है?) ।। २३ ।।

सरस्वत्युवाच

श्रेष्ठानि यानि द्विपदां वरिष्ठ
यज्ञेषु विद्वन्नुपपादयन्ति ।
तैरेव चाहं सम्प्रवृद्धा भवामि
चाप्यायिता रूपवती च विप्र ।। २४ ।।

सरस्वती बोली—नरश्रेष्ठ! विद्वन्! याज्ञिकलोग यज्ञोंमें जो श्रेष्ठ कार्य करते हैं अथवा श्रेष्ठ वस्तुओंका संकलन करते हैं, उन्हींसे मेरी पुष्टि तथा तृप्ति होती है और विप्रवर! उन्हींसे मैं रूपवती होती हूँ ।। २४ ।।

यच्चापि द्रव्यमुपयुज्यते ह
वानस्पत्यमायसं पार्थिवं वा ।
दिव्येन रूपेण च प्रज्ञया च
तेनैव सिद्धिरिति विद्धि विद्वन् ।। २५ ।।

विद्वन्! उन यज्ञोंमें जो समिधा-स्रुवा आदि वृक्षसे उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ, सुवर्ण आदि तैजस वस्तुएँ तथा व्रीहि आदि पार्थिव वस्तुएँ उपयोगमें लायी जाती हैं, उन्हींके द्वारा दिव्य रूप तथा प्रज्ञासे सम्पन्न मेरे स्वरूपकी पुष्टि होती है, यह बात तुम अच्छी तरह समझ लो ।। २५ ।।

ताक्ष्‍र्य उवाच

इदं श्रेयः परमं मन्यमाना
व्यायच्छन्ते मुनयः सम्प्रतीताः ।
आचक्ष्व मे तं परमं विशोकं
मोक्षं परं यं प्रविशन्ति धीराः ।
सांख्या योगा परमं यं विदन्ति
परं पुराणं तमहं न वेद्मि ।। २६ ।।

ताक्ष्‍र्यने पूछा—देवि! जिसे परम कल्याणस्वरूप मानते हुए मुनिजन अत्यन्त विश्वासपूर्वक इन्द्रियों आदिका निग्रह करते हैं तथा जिस परम मोक्ष-स्वरूपमें धीर पुरुष प्रवेश करते हैं, उस शोकरहित परम मोक्षपदका वर्णन करो; क्योंकि जिस परम मोक्षपदको सांख्ययोगी और कर्मयोगी जानते हैं, उस सनातन मोक्ष-तत्त्वको मैं नही जानता ।। २६ ।।

सरस्वत्युवाच

तं वै परं वेदविदः प्रपन्नाः
परं परेभ्यः प्रथितं पुराणम्।
स्वाध्यायवन्तो व्रतपुण्ययोगै-
स्तपोधना वीतशोका विमुक्ताः ।। २७ ।।

सरस्वती बोली—स्वाध्यायरूप योगमें लगे हुए तथा तपको ही धन माननेवाले योगी व्रत-पुण्य और योगके साधनोंसे जिस प्रख्यात, परात्पर एवं पुरातन पदको प्राप्तकर शोकरहित तथा मुक्त हो जाते हैं, वही सनातन ब्रह्मपद है। वेदवेत्ता उसी परमपदका आश्रय लेते हैं ।। २७ ।।

तस्याथ मध्ये वेतसः पुण्यगन्धः
सहस्रशाखो विपुलो विभाति।
तस्य मूलात् सरितः प्रस्रवन्ति
मधूदकप्रस्रवणाः सुपुण्याः ।। २८ ।।

उस परब्रह्ममें ब्रह्माण्डरूपी एक विशाल बेंतका वृक्ष है, जो भोग-स्थानरूपी अनन्त शाखाओंसे युक्त तथा शब्दादि विषयरूपी पवित्र सुगन्धसे सम्पन्न है। (उस ब्रह्माण्डरूपी वृक्षका मूल अविद्या है।) उस अविद्यारूपी मूलसे भोगवासनामयी निरन्तर बहनेवाली अनन्त नदियाँ उत्पन्न होती हैं। वे नदियाँ ऊपरसे तो रमणीय और पवित्र सुवाससे युक्त प्रतीत होती हैं तथा मधुके समान मधुर एवं जलके समान तृप्तिकारक विषयोंको बहाया करती हैं ।। २८ ।।

शाखां शाखां महानद्यः संयान्ति सिकताशयाः।
धानापूपा मांसशाकाः सदा पायसकर्दमाः ।। २९ ।।

परंतु वास्तवमें वे सब भूने हुए जौके समान फल देनेमें असमर्थ, पूओंके समान अनेक छिद्रोंवाली, हिंसासे मिल सकनेवाली अर्थात् मांसके समान अपवित्र, सूखे शाकके समान सारशून्य और खीरके समान रुचिकर लगनेवाली होनेपर भी कीचड़के समान चित्तमें मलिनता उत्पन्न करनेवाली हैं। बालूके कणोंके समान परस्पर विलग एवं ब्रह्माण्डरूपी बेंतके वृक्षकी शाखाओंमें बहनेवाली हैं ।। २९ ।।

यस्मिन्नग्निमुखा देवाः सेन्द्राः सहमरुद्गणाः।
ईजिरे क्रतुभिः श्रेष्ठैस्तत् पदं परमं मम ।। ३० ।।

मुने! इन्द्र, अग्नि और पवन आदि मरुद्‌गणोंके साथ देवतालोग जिस ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा उसका पूजन करते हैं, वह मेरा परमपद है ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि सरस्वतीतार्क्ष्यसंवादे षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें सरस्वती-तार्क्ष्यसंवादविषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८६ ।।

---

[*] जैसे मनुष्य अपरिचित पुरुषका दिया हुआ अन्न नहीं खाता, उसी प्रकार अश्रोत्रियका दिया हुआ हविष्य देवता नहीं स्वीकार करते हैं।

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

वैवस्वत मनुका चरित्र तथा मत्स्यावतारकी कथा

वैशम्पायन उवाच

ततः स पाण्डवो विप्रं मार्कण्डेयमुवाच ह ।
कथयस्वेति चरितं मनोर्वैवस्वतस्य च ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसके बाद पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने मार्कण्डेयजीसे कहा—'अब आप हमसे वैवस्वत मनुके चरित्र कहिये' ।। १ ।।

मार्कण्डेय उवाच

विवस्वतः सुतो राजन् महर्षिः सुप्रतापवान् ।
बभूव नरशार्दूल प्रजापतिसमद्युतिः ।। २ ।।

मार्कण्डेयजी बोले—नरश्रेष्ठ नरेश! विवस्वान् (सूर्य)-के एक अत्यन्त प्रतापी पुत्र हुआ, जो प्रजापतिके समान कान्तिमान् और महान् ऋषि था ।। २ ।।

ओजसा तेजसा लक्ष्म्या तपसा च विशेषतः ।
अतिचक्राम पितरं मनुः स्वं च पितामहम् ।। ३ ।।

वह बालक मनु ओज, तेज, कान्ति और विशेषतः तपस्याद्वारा अपने पिता भगवान् सूर्य तथा पितामह महर्षि कश्यपसे भी आगे बढ़ गया ।। ३ ।।

ऊर्ध्वबाहुर्विशालायं बदर्यां स नराधिप ।
एकपादस्थितस्तीव्रं चकार सुमहत् तपः ।। ४ ।।
अवाक्शिरास्तथा चापि नेत्रैरनिमिषैर्दृढम् ।
सोऽतप्यत तपो घोरं वर्षाणामयुतं तदा ।। ५ ।।

महाराज! उसने बदरिकाश्रममें जाकर दोनों बाँहें ऊपर उठाये एक पैरसे खड़ा हो दस हजार वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की। उस समय उसका सिर नीचेकी ओर झुका हुआ था और वह एकटक नेत्रोंसे निरन्तर देखता रहता था। इस प्रकार बड़ी दृढ़ताके साथ उस बालकने घोर तप किया ।। ४-५ ।।

तं कदाचित् तपस्यन्तमार्द्रचीरजटाधरम् ।
चीरिणीतीरमागम्य मत्स्यो वचनमब्रवीत् ।। ६ ।।

(वही बालक वैवस्वत मनुके नामसे प्रसिद्ध हुआ।) एक दिनकी बात है, मनु भीगे चीर और जटा धारण किये चीरिणी नदीके तटपर तपस्या कर रहे थे। उस समय एक मत्स्य आकर इस प्रकार बोला— ।। ६ ।।

भगवन् क्षुद्रमत्स्योऽस्मि बलवद्भ्यो भयं मम ।

मत्स्येभ्यो हि ततो मां त्वं त्रातुमर्हसि सुव्रत ।। ७ ।।

‘भगवन्! मैं एक छोटा-सा मत्स्य हूँ। मुझे (अपनी जातिके) बलवान् मत्स्योंसे बराबर भय बना रहता है। अतः उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सहर्षे! आप उनसे मेरी रक्षा करें ।। ७ ।।

दुर्बलं बलवन्तो हि मत्स्या मत्स्यं विशेषतः ।
आस्वदन्ति सदा वृत्तिर्विहिता नः सनातनी ।। ८ ।।

‘बलवान् मत्स्य विशेषतः दुर्बल मत्स्यको अपना आहार बना लेते हैं, यह सदासे हमारी मत्स्य-जातिकी नियत—वृत्ति है ।। ८ ।।

तस्माद् भयौघान्महतो मज्जन्तं मां विशेषतः ।
त्रातुमर्हसि कर्तास्मि कृते प्रतिकृतं तव ।। ९ ।।

‘इसलिये भयके महान् समुद्रमें मैं डूब रहा हूँ। आप विशेष प्रयत्न करके मुझे बचानेका कष्ट करें। आपके इस उपकारके बदले मैं भी प्रत्युपकार करूँगा’ ।। ९ ।।

स मत्स्यवचनं श्रुत्वा कृपयाभिपरिप्लुतः ।
मनुर्वैवस्वतोऽगृह्णात् तं मत्स्यं पाणिना स्वयम् ।। १० ।।
उदकान्तमुपानीय मत्स्यं वैवस्वतो मनुः ।
अलिञ्जरे प्राक्षिपत् तं चन्द्रांशुसदृशप्रभम् ।। ११ ।।

मत्स्यकी यह बात सुनकर वैवस्वत मनुको बड़ी दया आयी। उन्होंने स्वयं अपने हाथसे चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेत रंगवाले उस मत्स्यको उठा लिया और पानीके बाहर लाकर मटकेमें डाल दिया ।।

स तत्र ववृधे राजन् मत्स्यः परमसत्कृतः ।
पुत्रवत् स्वीकरोत् तस्मै मनुर्भावं विशेषतः ।। १२ ।।
अथ कालेन महता स मत्स्यः सुमहानभूत् ।
अलिञ्जरे यथा चैव नासौ समभवत् किल ।। १३ ।।

राजन्! वहाँ उन्होंने बड़े आदरके साथ उसका पालन-पोषण किया और वह दिन-दिन बढ़ने लगा। मनुने उसके प्रति पुत्रके समान विशेष वात्सल्य भाव प्रकट किया। तदनन्तर दीर्घकाल बीतनेपर वह मत्स्य इतना बड़ा हो गया कि मटकेमें उसका रहना असम्भव हो गया ।। १२-१३ ।।

अथ मत्स्यो मनुं दृष्ट्वा पुनरेवाभ्यभाषत ।
भगवन् साधु मेऽद्यान्यत् स्थानं सम्प्रतिपादय ।। १४ ।।

तब एक दिन मत्स्यने मनुको देखकर फिर कहा—'भगवन्! अब आप मेरे लिये इससे अच्छा कोई दूसरा स्थान दीजिये' ।। १४ ।।

उद्धृत्यालिञ्जरात् तस्मात् ततः स भगवान् मनुः ।
तं मत्स्यमनयद् वापीं महतीं स मनुस्तदा ।। १५ ।।

तब वे भगवान् मनु उस मत्स्यको उस मटकेसे निकालकर एक बहुत बड़ी बावलीके पास ले गये ।। १५ ।।

तत्र तं प्राक्षिपच्चापि मनुः परपुरंजय ।
अथावर्धत मत्स्यः स पुनर्वर्षगणान् बहून् ।। १६ ।।

शत्रुविजयी युधिष्ठिर! मनुने उसे वहीं डाल दिया। अब वह मत्स्य अनेक वर्षोंतक उसीमें क्रमशः बढ़ता रहा ।। १६ ।।

द्वियोजनायता वापी विस्तृता चापि योजनम् ।
तस्यां नासौ समभवन्मत्स्यो राजीवलोचन ।। १७ ।।

कमलनयन! उस बावलीकी लम्बाई दो योजन और चौड़ाई एक योजनकी थी; परंतु उसमें भी उस मत्स्यका रहना कठिन हो गया ।। १७ ।।

विचेष्टितुं च कौन्तेय मत्स्यो वाप्यां विशाम्पते ।
मनुं मत्स्यस्ततो दृष्ट्वा पुनरेवाभ्यभाषत ।। १८ ।।

नराधिप कुन्तीनन्दन! वह उस बावलीमें हिल-डुल भी नहीं पाता था। अतः मनुको देखकर वह पुनः बोला— ।। १८ ।।

नय मां भगवन् साधो समुद्रमहिषीं प्रियाम् ।
गङ्गां तत्र निवत्स्यामि यथा वा तात मन्यसे ।। १९ ।।
निदेशे हि मया तुभ्यं स्थातव्यमनसूयता ।
वृद्धिर्हि परमा प्राप्ता त्वत्कृते हि मयानघ ।। २० ।।

'भगवन्! साधुबाबा! अब आप मुझे समुद्रकी प्यारी पटरानी गंगाजीमें ले चलिये। मैं वहीं निवास करूँगा। अथवा तात! आप जहाँ उचित समझें, ले चलें। अनघ! मुझे दोषदृष्टिका परित्याग करके सदा आपके आज्ञापालनमें स्थिर रहना है; क्योंकि आपके कारण ही मैं भलीभाँति पुष्ट होकर इतना बड़ा हुआ हूँ' ।। १९-२० ।।

एवमुक्तो मनुर्मत्स्यमनयद् भगवान् वशी ।
नदीं गङ्गां तत्र चैनं स्वयं प्राक्षिपदच्युतः ।। २१ ।।

मत्स्यके ऐसा कहनेपर जितेन्द्रिय, अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले भगवान् मनुने उसे स्वयं ले जाकर गंगामें डाल दिया ।। २१ ।।

स तत्र ववृधे मत्स्यः किंचित्कालमरिंदम ।
ततः पुनर्मनुं दृष्ट्वा मत्स्यो वचनमब्रवीत् ।। २२ ।।
गङ्गायां हि न शक्नोमि बृहत्त्वाच्चेष्टितुं प्रभो ।
समुद्रं नय मामाशु प्रसीद भगवन्निति ।। २३ ।।
उद्धृत्य गङ्गासलिलात् ततो मत्स्यं मनुः स्वयम् ।
समुद्रमनयत् पार्थ तत्र चैनमवासृजत् ।। २४ ।।

शत्रुदमन! फिर वह मत्स्य वहाँ कुछ कालतक बढ़ता रहा। फिर एक दिन मनुको देखकर उसने कहा—'प्रभो! मेरा शरीर अब इतना बड़ा हो गया है कि मैं गंगाजीमें हिल-डुल नहीं सकता। अतः मुझे शीघ्र ही समुद्रमें ले चलिये। भगवन्! आप प्रसन्न होकर मुझपर

इतनी कृपा अवश्य कीजिये।' कुन्तीनन्दन! तब मनुने स्वयं उस मत्स्यको गंगाजीके जलसे निकालकर समुद्रतक पहुँचाया और उसमें छोड़ दिया ।। २२—२४ ।।

सुमहानपि मत्स्यस्तु स मनोर्नयतस्तदा ।
आसीद् यथेष्टहार्यश्च स्पर्शगन्धसुखस्य वै ।। २५ ।।

राजन्! यद्यपि वह मत्स्य बहुत विशाल था, तो भी जब मनु उसे ले जाने लगे, तब वह ऐसा बन गया, जिससे आसानीसे ले जाया जा सके। उसका स्पर्श और गन्ध दोनों मनुके लिये बड़े सुखकर थे ।। २५ ।।

यदा समुद्रे प्रक्षिप्तः स मत्स्यो मनुना तदा ।
तत एनमिदं वाक्यं स्मयमान इवाब्रवीत् ।। २६ ।।

जब मनुने उस मत्स्यको समुद्रमें डाल दिया, तब इसने उनसे मुसकराते हुए-से कहा — ।। २६ ।।

भगवन् हि कृता रक्षा त्वया सर्वा विशेषतः ।
प्राप्तकालं तु यत् कार्यं त्वया तच्छ्रूयतां मम ।। २७ ।।

'भगवन्! आपने विशेष मनोयोगके साथ सब प्रकारसे मेरी रक्षा की है, अब आपके लिये जिस कार्यका अवसर प्राप्त हुआ है, वह बताता हूँ, सुनिये— ।। २७ ।।

अचिराद् भगवन् भौममिदं स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वमेव महाभाग प्रलयं वै गमिष्यति ।। २८ ।।

'भगवन्! यह सारा-का-सारा चराचर पार्थिव जगत् शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है। महाभाग! सम्पूर्ण जगत्‌का प्रलय हो जायगा ।। २८ ।।

सम्प्रक्षालनकालोऽयं लोकानां समुपस्थितः ।
तस्मात् त्वां बोधयाम्यद्य यत् ते हितमनुत्तमम् ।। २९ ।।

'यह सब लोकोंके सम्प्रक्षालन (एकार्णवके जलसे धुलकर नष्ट होने)-का समय आ गया है। इसलिये मैं आपको सचेत करता हूँ और आपके लिये जो परम उत्तम हितकी बात है, उसे बताता हूँ ।। २९ ।।

त्रसानां स्थावराणां च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ।
तस्य सर्वस्य सम्प्राप्तः कालः परमदारुणः ।। ३० ।।

'सम्पूर्ण जंगमों तथा स्थावर पदार्थोंमें जो हिल-डुल सकते हैं और जो हिलने-डुलनेवाले नहीं हैं, उन सबके लिये अत्यन्त भयंकर समय आ पहुँचा है ।। ३० ।।

नौश्च कारयितव्या ते दृढा युक्तवटारका ।
तत्र सप्तर्षिभिः सार्धमारुहेथा महामुने ।। ३१ ।।

'आपको एक मजबूत नाव बनवानी चाहिये, जिसमें (मजबूत) रस्सी जुटी हो। महामुने! फिर आप सप्तर्षियोंके साथ उस नावपर बैठ जाइये ।। ३१ ।।

बीजानि चैव सर्वाणि यथोक्तानि द्विजैः पुरा ।

तस्यामारोहयेर्नावि सुसंगुप्तानि भागशः ।। ३२ ।।

'पूर्वकालमें ब्राह्मणोंने जो सब प्रकारके बीज बताये हैं, उनका पृथक्-पृथक् संग्रह करके उन्हें सुरक्षितरूपसे उस नावपर रख लें ।। ३२ ।।

नौस्थश्च मां प्रतीक्षेथास्ततो मुनिजनप्रिय ।
आगमिष्याम्यहं शृङ्गी विज्ञेयस्तेन तापस ।। ३३ ।।
एवमेतत् त्वया कार्यमापृष्टोऽसि व्रजाम्यहम् ।
ता न शक्या महत्यो वै आपस्तर्तुं मया विना ।। ३४ ।।

'मुनिजनोंके प्रेमी तपस्वी नरेश! उस नावमें बैठे रहकर आप मेरी प्रतीक्षा कीजियेगा। मैं आपके पास अपने मस्तकमें सींग धारण किये आऊँगा। उसीसे आप मुझे पहचान लेंगे। इस प्रकार यह सब कार्य आपको करना है। अब मैं आपसे आज्ञा चाहता हूँ और यहाँसे जाता हूँ। उस महान् जलराशिको आपलोग मेरी सहायताके बिना पार नहीं कर सकेंगे ।। ३३-३४ ।।

नाभिशङ्क्यमिदं चापि वचनं मे त्वया विभो ।
एवं करिष्य इति तं स मत्स्यं प्रत्यभाषत ।। ३५ ।।

'प्रभो! आप मेरी इस बातमें तनिक भी संदेह न करें।' तब राजाने उस मत्स्यसे कहा—'बहुत अच्छा! मैं ऐसा ही करूँगा' ।। ३५ ।।

जग्मतुश्च यथाकाममनुज्ञाप्य परस्परम् ।
ततो मनुर्महाराज यथोक्तं मत्स्यकेन ह ।। ३६ ।।
बीजान्यादाय सर्वाणि सागरं पुप्लुवे तदा ।
नौकया शुभया वीर महोर्मिणमरिंदम ।। ३७ ।।

शत्रुदमन! वे दोनों एक-दूसरेसे विदा लेकर इच्छानुसार वहाँसे चले गये। महाराज! तदनन्तर मनु मत्स्यभगवान्‌के कथनानुसार सम्पूर्ण बीज लेकर एक सुन्दर नौकाद्वारा उत्ताल तरंगोंसे भरे हुए महासागरमें तैरने लगे ।। ३६-३७ ।।

चिन्तयामास च मनुस्तं मत्स्यं पृथिवीपते ।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा मत्स्यः परपुरंजय ।। ३८ ।।
शृङ्गी तत्राजगामाशु तदा भरतसत्तम ।
तं दृष्ट्वा मनुजव्याघ्र मनुर्मत्स्यं जलार्णवे ।। ३९ ।।
शृङ्गिणं तं यथोक्तेन रूपेणाद्रिमिवोच्छ्रितम् ।
वटारकमयं पाशमथ मत्स्यस्य मूर्धनि ।। ४० ।।

शत्रुनगरविजयी नरेश्वर! तदनन्तर मनुने भगवान् मत्स्यका चिन्तन किया। यह जानकर शृंगधारी भगवान् मत्स्य वहाँ शीघ्र आ पहुँचे। नरश्रेष्ठ भरतकुलशिरोमणे! समुद्रमें अपने पूर्वकथित रूपसे ऊँचे पर्वतकी भाँति शृंगधारी मत्स्य भगवान्‌को आया देख उनके मस्तकवर्ती सींगमें उन्होंने बँटी हुई रस्सी बाँध दी ।। ३८—४० ।।

मनुर्मनुजशार्दूल तस्मिन् शृङ्गे न्यवेशयत् ।
संयतस्तेन पाशेन मत्स्यः परपुरंजय ।। ४१ ।।
वेगेन महता नावं प्राकर्षल्लवणाम्भसि ।
स च तांस्तारयन् नावा समुद्रं मनुजेश्वर ।। ४२ ।।
नृत्यमानमिवोर्मीभिर्गर्जमानमिवाम्भसा ।
क्षोभ्यमाणा महावातैः सा नौस्तस्मिन् महोदधौ ।। ४३ ।।
घूर्णते चपलेव स्त्री मत्ता परपुरंजय ।
नैव भूमिर्न च दिशः प्रदिशो वा चकाशिरे ।। ४४ ।।

शत्रुकी राजधानीपर विजय पानेवाले पुरुषसिंह! मनुने वह नाव उस सींगमें अटका दी। रस्सीसे बँधे हुए मत्स्यभगवान् उन सबको नौकाद्वारा पार उतारनेके लिये उस खारे पानीके समुद्रमें बड़े वेगसे नाव खींचने लगे। मनुजेश्वर! उस समय समुद्र अपनी लहरोंसे नृत्य करता-सा जान पड़ता था। पानीके हिलोरोंसे भयंकर गर्जना-सी कर रहा था। शत्रुविजयी नरेश्वर! उस महासागरमें प्रचण्ड वायुके झोंकोंसे विक्षुब्ध होकर हिलती-डुलती हुई वह नौका चंचल-चित्तवाली मतवाली स्त्रीके समान झूम रही थी। उस समय न तो भूमिका पता लगता था और न दिशाओं तथा विदिशाओंका ही भान होता था ।।

सर्वमाम्भसमेवासीत् खं द्यौश्च नरपुङ्गव ।
एवंभूते तदा लोके संकुले भरतर्षभ ।। ४५ ।।

अदृश्यन्तर्षयः सप्त मनुर्मत्स्यस्तथैव च ।
एवं बहून् वर्षगणांस्तां नावं सोऽथ मत्स्यकः ।। ४६ ।।
चकर्षातन्द्रितो राजंस्तस्मिन् सलिलसंचये ।
ततो हिमवतः शृङ्गं यत् परं भरतर्षभ ।। ४७ ।।
तत्राकर्षत् ततो नावं स मत्स्यः कुरुनन्दन ।
अथाब्रवीत् तदा मत्स्यस्तानृषीन् प्रहसन् शनैः ।। ४८ ।।
अस्मिन् हिमवतः शृङ्गे नावं बध्नीत मा चिरम् ।
सा बद्धा तत्र तैस्तूर्णमृषिभिर्भरतर्षभ ।। ४९ ।।
नौर्मत्स्यस्य वचः श्रुत्वा शृङ्गे हिमवतस्तदा ।
तच्च नौबन्धनं नाम शृङ्गं हिमवतः परम् ।। ५० ।।

भरतकुलभूषण नरेश्वर! आकाश और द्युलोक सब कुछ जलमय ही प्रतीत होता था। इस प्रकार जब सारा विश्व एकार्णवके जलमें डूबा हुआ था, उस समय केवल सप्तर्षि, मनु और मत्स्य भगवान्—ये ही नौ व्यक्ति दृष्टिगोचर होते थे। राजन्! इस तरह बहुत वर्षोंतक भगवान् मत्स्य आलस्यरहित होकर उस अगाध जलराशिमें उस नौकाको खींचते रहे। भरतकुलतिलक! तदनन्तर हिमालयका जो सर्वोच्च शिखर था, वहाँ मत्स्यभगवान् उस नावको खींचकर ले गये। कुरुनन्दन! तब वे धीरे-धीरे हँसते हुए उन समस्त ऋषियोंसे बोले—‘आपलोग हिमालयके इस शिखरमें इस नावको शीघ्र बाँध दें।’ भरतश्रेष्ठ! मत्स्यका वह वचन सुनकर उन महर्षियोंने तुरंत वहाँ हिमालयके शिखरमें वह नौका बाँध दी। तभीसे हिमालयका वह उत्तम शिखर ‘नौका-बन्धन’ के नामसे विख्यात हुआ ।। ४५—५० ।।

ख्यातमद्यापि कौन्तेय तद् विद्धि भरतर्षभ ।
अथाब्रवीदनिमिषस्तानृषीन् सहितस्तदा ।। ५१ ।।

भरतश्रेष्ठ कुन्तीनन्दन! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि वह शिखर आज भी उसी नामसे प्रसिद्ध है। तदनन्तर एकटक दृष्टिवाले भगवान् मत्स्य एक साथ उन सब ऋषियोंसे बोले— ।। ५१ ।।

अहं प्रजापतिर्ब्रह्मा मत्परं नाधिगम्यते ।
मत्स्यरूपेण यूयं च मयास्मान्मोक्षिता भयात् ।। ५२ ।।
मनुना च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः ।
स्रष्टव्याः सर्वलोकाश्च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति ।। ५३ ।।

‘मैं प्रजापति ब्रह्मा हूँ। मुझसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं उपलब्ध होती। मैंने ही मत्स्यरूप धारण करके इस महान् भयसे तुमलोगोंकी रक्षा की है। अब मनुको चाहिये कि ये देवता, असुर और मनुष्य आदि समस्त प्रजाकी, सब लोकोंकी और सम्पूर्ण चराचरकी सृष्टि करें ।।

तपसा चापि तीव्रेण प्रतिभास्य भविष्यति ।

मत्प्रसादात् प्रजासर्गे न च मोहं गमिष्यति ।। ५४ ।।

'इन्हें तीव्र तपस्याके द्वारा जगत्की सृष्टि करनेकी प्रतिभा प्राप्त हो जायगी। मेरी कृपासे प्रजाकी सृष्टि करते समय इन्हें मोह नहीं होगा ।। ५४ ।।

इत्युक्त्वा वचनं मत्स्यः क्षणेनादर्शनं गतः ।
स्रष्टुकामः प्रजाश्चापि मनुर्वैवस्वतः स्वयम् ।। ५५ ।।
प्रमूढोऽभूत् प्रजासर्गे तपस्तेपे महत् ततः ।
तपसा महता युक्तः सोऽथ स्रष्टुं प्रचक्रमे ।। ५६ ।।

ऐसा कहकर भगवान् मत्स्य क्षणभरमें अदृश्य हो गये। तदनन्तर स्वयं वैवस्वत मनुको प्रजाओंकी सृष्टि करनेकी इच्छा हुई, किंतु प्रजाकी सृष्टि करनेमें उनकी बुद्धि मोहाच्छन्न हो गयी थी। तब उन्होंने बड़ी भारी तपस्या की और महान् तपोबलसे सम्पन्न होकर उन्होंने सृष्टिका कार्य प्रारम्भ किया ।। ५५-५६ ।।

सर्वाः प्रजा मनुः साक्षाद् यथावद् भरतर्षभ ।
इत्येतन्मात्स्यकं नाम पुराणं परिकीर्तितम् ।। ५७ ।।

भरतकुलभूषण! फिर वे पूर्वकल्पके अनुसार सारी प्रजाकी यथावत् सृष्टि करने लगे। इस प्रकार यह संक्षेपसे मत्स्य पुराणका वृत्तान्त बताया गया है ।। ५७ ।।

आख्यानमिदमाख्यातं सर्वपापहरं मया ।
य इदं शृणुयान्नित्यं मनोश्चरितमादितः ।
स सुखी सर्वपूर्णार्थः सर्वलोकमियान्नरः ।। ५८ ।।

मेरे द्वारा वर्णित यह उपाख्यान सब पापोंको नष्ट करनेवाला है। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रारम्भसे ही मनुके इस चरित्रको सुनता है, वह सुखी हो सम्पूर्ण मनोरथोंको पा लेता और सब लोकोंमें जा सकता है ।। ५८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मत्स्योपाख्याने सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें मत्स्योपाख्यानविषयक एक सौ सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८७ ।।

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

चारों युगोंकी वर्ष-संख्या एवं कलियुगके प्रभावका वर्णन, प्रलयकालका दृश्य और मार्कण्डेयजीको बालमुकुन्दजीके दर्शन, मार्कण्डेयजीका भगवान्‌के उदरमें प्रवेश कर ब्रह्माण्डदर्शन करना और फिर बाहर निकलकर उनसे वार्तालाप करना

वैशम्पायन उवाच

ततः स पुनरेवाथ मार्कण्डेयं यशस्विनम् ।
पप्रच्छ विनयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर विनयशील धर्मराज युधिष्ठिरने यशस्वी मार्कण्डेय मुनिसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया— ।। १ ।।

नैके युगसहस्रान्तास्त्वया दृष्टा महामुने ।
न चापीह समः कश्चिदायुष्मान् दृश्यते तव ।। २ ।।

‘महामुने! आपने हजार-हजार युगोंके अन्तमें होनेवाले अनेक महाप्रलयके दृश्य देखे हैं। इस संसारमें आपके समान बड़ी आयुवाला दूसरा कोई पुरुष नहीं दिखायी देता ।। २ ।।

वर्जयित्वा महात्मानं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।
न तेऽस्ति सदृशः कश्चिदायुषा ब्रह्मवित्तम ।। ३ ।।

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! परमेष्ठी महात्मा ब्रह्माजीको छोड़कर दूसरा कोई आपके समान दीर्घायु नहीं है ।। ३ ।।

अनन्तरिक्षे लोकेऽस्मिन् देवदानववर्जिते ।
त्वमेव प्रलये विप्र ब्रह्माणमुपतिष्ठसे ।। ४ ।।

ब्रह्मन्! जब यह संसार देवता, दानव तथा अन्तरिक्ष आदि लोकोंसे शून्य हो जाता है उस प्रलयकालमें केवल आप ही ब्रह्माजीके पास रहकर उनकी उपासना करते हैं ।। ४ ।।

प्रलये चापि निर्वृत्ते प्रबुद्धे च पितामहे ।
त्वमेकः सृज्यमानानि भूतानीह प्रपश्यसि ।। ५ ।।
चतुर्विधानि विप्रर्षे यथावत् परमेष्ठिना ।
वायुभूता दिशः कृत्वा विक्षिप्यापस्ततस्ततः ।। ६ ।।

ब्रह्मर्षे! फिर प्रलयकाल व्यतीत होनेपर जब पितामह ब्रह्मा जागते हैं, तब सम्पूर्ण दिशाओंमें वायुको फैलाकर उसके द्वारा समस्त जलराशिको इधर-उधर छितराकर (सूखे

स्थानोंमें) ब्रह्माजीके द्वारा जो जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज नामक चार प्रकारके प्राणी रचे जाते हैं, उन्हें एकमात्र आप ही (सबसे पहले) अच्छी तरह देख पाते हैं ।। ५-६ ।।

त्वया लोकगुरुः साक्षात् सर्वलोकपितामहः ।
आराधितो द्विजश्रेष्ठ तत्परेण समाधिना ।। ७ ।।
स्वप्रमाणमथो विप्र त्वया कृतमनेकशः ।
घोरेणाविश्य तपसा वेधसो निर्जितास्त्वया ।। ८ ।।

द्विजश्रेष्ठ! आपने तत्परतापूर्वक चित्तवृत्तियोंका निरोध करके सम्पूर्ण लोकोंके पितामह साक्षात् लोकगुरु ब्रह्माजीकी आराधना की है। विप्रवर! आपने अनेक बार इस जगत्‌की प्रारम्भिक सृष्टिको प्रत्यक्ष किया है और घोर तपस्याद्वारा (मरीचि आदि) प्रजापतियोंको भी जीत लिया है ।। ७-८ ।।

नारायणाङ्कप्रख्यस्त्वं साम्परायेऽतिपठ्यसे ।
भगवाननेकशः कृत्वा त्वया विष्णोश्च विश्वकृत् ।। ९ ।।
कर्णिकोद्धरणं दिव्यं ब्रह्मणः कामरूपिणः ।
रत्नालंकारयोगाभ्यां दृग्भ्यां दुष्टस्त्वया पुरा ।। १० ।।

आप भगवान् नारायणके समीप रहनेवाले भक्तोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। परलोकमें आपकी महिमाका सर्वत्र गान होता है। आपने पहले स्वेच्छासे प्रकट होनेवाले सर्वव्यापक ब्रह्मकी उपलब्धिके स्थानभूत हृदयकमलकी कर्णिकाका (योगकी कलासे) अलौकिक उद्‌घाटन कर वैराग्य और अभ्याससे प्राप्त हुई दिव्य दृष्टिद्वारा विश्वरचयिता भगवान्‌का अनेक बार साक्षात्कार किया है ।। ९-१० ।।

तस्मात् तवान्तको मृत्युर्जरा वा देहनाशिनी ।
न त्वां विशति विप्रर्षे प्रसादात् परमेष्ठिनः ।। ११ ।।

इसीलिये सबको मारनेवाली मृत्यु तथा शरीरको जर्जर बना देनेवाली जरा आपका स्पर्श नहीं करती है। ब्रह्मर्षे! इसमें भगवान् परमेष्ठीका कृपाप्रसाद ही कारण है ।। ११ ।।

यदा नैवं रविर्नाग्निर्न वायुर्न च चन्द्रमाः ।
नैवान्तरिक्षं नैवोर्वी शेषं भवति किंचन ।। १२ ।।
तस्मिन्नेकार्णवे लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टे देवासुरगणे समुत्सन्नमहोरगे ।। १३ ।।
शयानममितात्मानं पद्मोत्पलनिकेतनम् ।
त्वमेकः सर्वभूतेशं ब्रह्माणमुपतिष्ठसि ।। १४ ।।

(महाप्रलयके समय) जब सूर्य, अग्नि, वायु, चन्द्रमा, अन्तरिक्ष और पृथ्वी आदिमेंसे कोई भी शेष नहीं रह जाता, समस्त चराचर जगत् उस एकार्णवके जलमें डूबकर अदृश्य हो जाता है, देवता और असुर नष्ट हो जाते हैं तथा बड़े-बड़े नागोंका संहार हो जाता है, उस

समय कमल और उत्पलमें निवास तथा शयन करनेवाले सर्वभूतेश्वर अमितात्मा ब्रह्माजीके पास रहकर केवल आप ही उनकी उपासना करते हैं ।। १२—१४ ।।

एतत् प्रत्यक्षतः सर्वं पूर्वं वृत्तं द्विजोत्तम ।
तस्मादिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वहेत्वात्मिकां कथाम् ।। १५ ।।

द्विजोत्तम! यह सारा पुरातन इतिहास आपका प्रत्यक्ष देखा हुआ है। इसलिये मैं आपके मुखसे सबके हेतुभूत कालका निरूपण करनेवाली कथा सुनना चाहता हूँ ।। १५ ।।

अनुभूतं हि बहुशस्त्वयैकेन द्विजोत्तम ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित् सर्वलोकेषु नित्यदा ।। १६ ।।

विप्रवर! केवल आपने ही अनेक कल्पोंकी श्रेष्ठ रचनाका बहुत बार अनुभव किया है। सम्पूर्ण लोकोंमें कभी कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो' ।। १६ ।।

मार्कण्डेय उवाच

हन्त ते वर्णयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयम्भुवे ।
पुरुषाय पुराणाय शाश्वतायाव्ययाय च ।। १७ ।।
अव्यक्ताय सुसूक्ष्माय निर्गुणाय गुणात्मने ।
स एष पुरुषव्याघ्र पीतवासा जनार्दनः ।। १८ ।।
एष कर्ता विकर्ता च भूतात्मा भूतकृत् प्रभुः ।
अचिन्त्यं महदाश्चर्यं पवित्रमिति चोच्यते ।। १९ ।।

मार्कण्डेयजी बोले—राजन्! मैं स्वयं प्रकट होनेवाले सनातन, अविनाशी, अव्यक्त, सूक्ष्म, निर्गुण एवं गुणस्वरूप पुराणपुरुषको नमस्कार करके तुम्हें वह कथा अभी सुनाता हूँ। पुरुषसिंह! ये जो हमलोगोंके पास बैठे हुए पीताम्बरधारी भगवान् जनार्दन हैं, ये ही संसारकी सृष्टि और संहार करनेवाले हैं। ये ही भगवान् समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी आत्मा और उनके रचयिता हैं। ये पवित्र, अचिन्त्य एवं महान् आश्चर्यमय तत्त्व कहे जाते हैं ।। १७—१९ ।।

अनादिनिधनं भूतं विश्वमव्ययमक्षयम् ।
एष कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे ।। २० ।।

इनका न आदि है, न अन्त। ये सर्वभूतस्वरूप, अव्यय और अक्षय हैं। ये ही सबके कर्ता हैं, इनका कोई कर्ता नहीं है। पुरुषार्थकी प्राप्तिमें भी ये ही कारण हैं ।। २० ।।

यद्योष पुरुषो वेद वेदा अपि न तं विदुः ।
सर्वमाश्चर्यमेवैतन्निवृत्तं राजसत्तम ।। २१ ।।
आदितो मनुजव्याघ्र कृत्स्नस्य जगतः क्षये ।

ये अन्तर्यामी आत्मा होनेसे सबको जानते हैं, परंतु इन्हें वेद भी नहीं जानते। नृपशिरोमणे! नरश्रेष्ठ! सम्पूर्ण जगत्‌का प्रलय होनेके पश्चात् इन आदिभूत परमेश्वरसे ही यह सम्पूर्ण आश्चर्यमय जगत् पुनः उत्पन्न हो जाता है ।। २१$\frac{1}{2}$ ।।

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत् कृतं युगम् ।। २२ ।।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ।

चार हजार दिव्य वर्षोंका एक सत्ययुग बताया गया है, उतने ही सौ वर्ष उसकी संध्या और संध्यांशके होते हैं (इस प्रकार कुल अड़तालीस सौ दिव्य वर्ष सत्ययुगके हैं) ।। २२$\frac{1}{2}$ ।।

त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगमिहोच्यते ।। २३ ।।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च ततः परम् ।

तीन हजार दिव्य वर्षोंका त्रेतायुग बताया जाता है, उसकी संध्या और संध्यांशके भी उतने ही (तीन-तीन) सौ दिव्य वर्ष होते हैं (इस तरह यह युग छत्तीस सौ दिव्य वर्षोंका होता है) ।। २३$\frac{1}{2}$ ।।

तथा वर्षसहस्रे द्वे द्वापरं परिमाणतः ।। २४ ।।
तस्यापि द्विशती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ।

द्वापरका मान दो हजार दिव्य वर्ष है तथा उतने ही सौ दिव्य वर्ष उसकी संध्या और संध्यांशके हैं (अतः सब मिलकर चौबीस सौ दिव्य वर्ष द्वापरके हैं) ।। २४$\frac{1}{2}$ ।।

सहस्रमेकं वर्षाणां ततः कलियुगं स्मृतम् ।। २५ ।।
तस्य वर्षशतं संधिः संध्यांशश्च ततः परम् ।
संधिसंध्यांशयोस्तुल्यं प्रमाणमुपधारय ।। २६ ।।

तदनन्तर एक हजार दिव्य वर्ष कलियुगका मान कहा गया है, सौ वर्ष उसकी संध्याके और सौ वर्ष संध्यांशके बताये गये हैं (इस प्रकार कलियुग बारह सौ दिव्य वर्षोंका होता है)। संध्या और संध्यांशका मान बराबर-बराबर ही समझो ।। २५-२६ ।।

क्षीणे कलियुगे चैव प्रवर्तेत कृतं युगम् ।
एषा द्वादशसाहस्री युगाख्या परिकीर्त्तिता ।। २७ ।।

कलियुगके क्षीण हो जानेपर पुनः सत्ययुगका आरम्भ होता है। इस तरह बारह हजार दिव्य वर्षोंकी एक चतुर्युगी बतायी गयी है ।। २७ ।।

एतत् सहस्रपर्यन्तमहो ब्राह्ममुदाहृतम् ।
विश्वं हि ब्रह्मभवने सर्वतः परिवर्त्तते ।। २८ ।।
लोकानां मनुजव्याघ्र प्रलयं तं विदुर्बुधाः ।

नरश्रेष्ठ! एक हजार चतुर्युग बीतनेपर ब्रह्माजीका एक दिन होता है। यह सारा जगत् ब्रह्माके दिनभर ही रहता है (और वह दिन समाप्त होते ही नष्ट हो जाता है।) इसीको विद्वान् पुरुष लोकोंका प्रलय मानते हैं ।। २८½ ।।

अल्पावशिष्टे तु तदा युगान्ते भरतर्षभ ।। २९ ।।
सहस्रान्ते नराः सर्वे प्रायशोऽनृतवादिनः ।
यज्ञप्रतिनिधिः पार्थ दानप्रतिनिधिस्तथा ।। ३० ।।
व्रतप्रतिनिधिश्चैव तस्मिन् काले प्रवर्तते ।

भरतश्रेष्ठ! सहस्र युगकी समाप्तिमें जब थोड़ा-सा ही समय शेष रह जाता है, उस समय कलियुगके अन्तिम भागमें प्रायः सभी मनुष्य मिथ्यावादी हो जाते हैं। पार्थ! उस समय यज्ञ, दान और व्रतके प्रतिनिधि कर्म चालू हो जाते हैं अर्थात् यज्ञ, दान, तप मुख्य विधिसे न होकर गौण विधिसे नाममात्र होने लगते हैं ।। २९-३०½ ।।

ब्राह्मणाः शूद्रकर्माणस्तथा शूद्रा धनार्जकाः ।। ३१ ।।
क्षत्रधर्मेण वाप्यत्र वर्तयन्ति गते युगे ।

युगकी समाप्तिके समय ब्राह्मण शूद्रोंके कर्म करते हैं और शूद्र वैश्योंकी भाँति धनोपार्जन करने लगते हैं अथवा क्षत्रियोंके कर्मसे जीविका चलाने लगते हैं ।। ३१½ ।।

निवृत्तयज्ञस्वाध्याया दण्डाजिनविवर्जिताः ।। ३२ ।।
ब्राह्मणाः सर्वभक्षाश्च भविष्यन्ति कलौ युगे ।
अजपा ब्राह्मणास्तात शूद्रा जपपरायणाः ।। ३३ ।।

(सहस्र चतुर्युगके अन्तिम) कलियुगके अन्तिम भागमें ब्राह्मण यज्ञ, स्वाध्याय, दण्ड और मृगचर्मका त्याग कर देंगे और (भक्ष्याभक्ष्यका विचार छोड़कर) सब कुछ खाने-पीनेवाले हो जायँगे। तात! ब्राह्मण तो जपसे दूर भागेंगे और शूद्र वैदिक मन्त्रोंके जपमें संलग्न होंगे ।। ३२-३३ ।।

विपरीते तदा लोके पूर्वरूपं क्षयस्य तत् ।
बहवो म्लेच्छराजानः पृथिव्यां मनुजाधिप ।। ३४ ।।

नरेश्वर! इस प्रकार जब लोगोंके विचार और व्यवहार विपरीत हो जाते हैं, तब प्रलयका पूर्वरूप आरम्भ हो जाता है। उस समय इस पृथ्वीपर बहुत-से म्लेच्छ राजा राज्य करने लगते हैं ।। ३४ ।।

मृषानुशासिनः पापा मृषावादपरायणाः ।
आन्ध्राः शकाः पुलिन्दाश्च यवनाश्च नराधिपाः ।। ३५ ।।
काम्बोजा बाह्लिकाः शूरास्तथाऽऽभीरा नरोत्तम ।
न तदा ब्राह्मणः कश्चित् स्वधर्ममुपजीवति ।। ३६ ।।

छलसे शासन करनेवाले, पापी और असत्यवादी आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज, बाह्लीक तथा शौर्यसम्पन्न आभीर इस देशके राजा होंगे। नरश्रेष्ठ! उस समय कोई

ब्राह्मण अपने धर्मके अनुसार जीविका चलानेवाला न होगा ।। ३५-३६ ।।

क्षत्रियाश्चापि वैश्याश्च विकर्मस्था नराधिप ।
अल्पायुषः स्वल्पबलाः स्वल्पवीर्यपराक्रमाः ।। ३७ ।।

नरेश्वर! क्षत्रिय और वैश्य भी अपना-अपना धर्म छोड़कर दूसरे वर्णोंके कर्म करने लगेंगे। सबकी आयु कम होगी, सबके बल, वीर्य और पराक्रम घट जायँगे ।। ३७ ।।

अल्पसाराल्पदेहाश्च तथा सत्याल्पभाषिणः ।
बहुशून्या जनपदा मृगव्यालावृता दिशः ।। ३८ ।।
युगान्ते समनुप्राप्ते वृथा च ब्रह्मवादिनः ।
भोवादिनस्तथा शूद्रा ब्राह्मणाश्चार्यवादिनः ।। ३९ ।।

मनुष्य नाटे कदके होंगे। उनकी शरीरिक शक्ति बहुत कम हो जायगी और उनकी बातोंमें सत्यका अंश बहुत कम होगा। बहुधा सारे जनपद जनशून्य होंगे। सम्पूर्ण दिशाएँ पशुओं और सर्पोंसे भरी होंगी। युगान्तकाल उपस्थित होनेपर अधिकांश मनुष्य (अनुभव न होते हुए भी) वृथा ही ब्रह्मज्ञानकी बातें कहेंगे। शूद्र द्विजातियोंको भो (ऐ) कहकर पुकारेंगे और ब्राह्मणलोग शूद्रोंको आर्य अर्थात् आप कहकर सम्बोधन करेंगे ।। ३८-३९ ।।

युगान्ते मनुजव्याघ्र भवन्ति बहुजन्तवः ।
न तथा घ्राणयुक्ताश्च सर्वगन्धा विशाम्पते ।। ४० ।।

पुरुषसिंह राजन्! युगान्तकालमें बहुतसे जीव-जन्तु उत्पन्न हो जायँगे। सब प्रकारके सुगन्धित पदार्थ नासिकाको उतने गन्धयुक्त नहीं प्रतीत होंगे ।। ४० ।।

रसाश्च मनुजव्याघ्र न तथा स्वादुयोगिनः ।
बहुप्रजा ह्रस्वदेहाः शीलाचारविवर्जिताः ।
मुखे भगाः स्त्रियो राजन् भविष्यन्ति युगक्षये ।। ४१ ।।
अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः ।
केशशूलाः स्त्रियो राजन् भविष्यन्ति युगक्षये ।। ४२ ।।

नरव्याघ्र! इसी प्रकार रसीले पदार्थभी जैसे चाहिये वैसे स्वादिष्ट नहीं होंगे। राजन्! उस समयकी स्त्रियाँ नाटे कदकी और बहुत संतान (बच्चा) पैदा करनेवाली होंगी। उनमें शील और सदाचारका अभाव होगा। युगान्तकालमें स्त्रियाँ मुखसे भगसम्बन्धी यानी व्यभिचारकी ही बातें करनेवाली होंगी। राजन्! युगान्त-कालमें हर देशके लोग अन्न बेचनेवाले होंगे। ब्राह्मण वेद बेचनेवाले तथा (प्रायः) स्त्रियाँ वेश्यावृत्तिको अपनानेवाली होंगी* ।। ४१-४२ ।।

अल्पक्षीरास्तथा गावो भविष्यन्ति जनाधिप ।
अल्पपुष्पफलाश्चापि पादपा बहुवायसाः ।। ४३ ।।
ब्रह्मवध्यानुलिप्तानां तथा मिथ्याभिशंसिनाम् ।
नृपाणां पृथिवीपाल प्रतिगृह्णन्ति वै द्विजाः ।। ४४ ।।

जनेश्वर! युगान्तकालमें गायोंके थनोंमें बहुत कम दूध होगा। वृक्षपर फल और फूल बहुत कम होंगे और उनपर (अच्छे पक्षियोंकी अपेक्षा) कौए ही अधिक बसेरे लेंगे। भूपाल! ब्राह्मणलोग (लोभवश) ब्रह्महत्या-जैसे पापोंसे लिप्त और मिथ्यावादी नरेशोंसे ही दान-दक्षिणा लेंगे ।। ४३-४४ ।।

लोभमोहपरीताश्च मिथ्याधर्मध्वजावृताः ।
भिक्षार्थं पृथिवीपाल चञ्चूर्यन्ते द्विजैर्दिशः ।। ४५ ।।

राजन्! वे ब्राह्मण लोभ और मोहमें फँसकर झूठे धर्मका ढोंग रचनेवाले होंगे, इतना ही नहीं, वे भिक्षाके लिये सारी दिशाओंके लोगोंको पीड़ित करते रहेंगे ।। ४५ ।।

करभारभयाद् भीता गृहस्थाः परिमोषकाः ।
मुनिच्छद्माकृतिच्छन्ना वाणिज्यमुपजीविनः ।। ४६ ।।
मिथ्या च नखरोमाणि धारयन्ति तदा द्विजाः ।

गृहस्थलोग करके भारसे डरकर लुटेरे बन जायँगे। ब्राह्मण मुनियों-जैसी कपटपूर्ण आकृति धारण किये वैश्यवृत्तिसे जीविका चलायेंगे और झूठे दिखावेके लिये नख तथा दाढ़ी-मूछ धारण करेंगे ।। ४६½ ।।

अर्थलोभान्नरव्याघ्र तथा च ब्रह्मचारिणः ।। ४७ ।।
आश्रमेषु वृथाचाराः पानपा गुरुतल्पगाः ।
इह लौकिकमीहन्ते मांसशोणितवर्धनम् ।। ४८ ।।

नरश्रेष्ठ! धनके लोभसे ब्रह्मचारी भी आश्रमोंमें दम्भपूर्ण आचारको अपनायेंगे और मद्यपान करके गुरुपत्नीगमन करेंगे। लोग अपने शरीरके मांस और रक्त बढ़ानेवाले इहलौकिक कर्मोंमें ही लगे रहेंगे ।।

बहुपाषण्डसंकीर्णाः परान्नगुणवादिनः ।
आश्रमा मनुजव्याघ्र भविष्यन्ति युगक्षये ।। ४९ ।।

नरश्रेष्ठ! युगान्तकालमें सभी आश्रम अनेक प्रकारके पाखण्डोंसे व्याप्त और दूसरोंसे मिले हुए भोजनका ही गुणगान करनेवाले होंगे ।। ४९ ।।

यथर्तुवर्षी भगवान् न तथा पाकशासनः ।
न चापि सर्वबीजानि सम्यग् रोहन्ति भारत ।। ५० ।।

भगवान् इन्द्र भी ठीक वर्षाऋतुके समय जलकी वर्षा नहीं करेंगे। भारत! भूमिमें बोये हुए सभी बीज ठीकसे नहीं जमेंगे ।। ५० ।।

हिंसाभिरामश्च जनस्तथा सम्पद्यतेऽशुचिः ।
अधर्मफलमत्यर्थं तदा भवति चानघ ।। ५१ ।।

कलियुगमें सब लोग हिंसामें ही सुख माननेवाले तथा अपवित्र रहेंगे। निष्पाप! उस समय अधर्मका फल बहुत अधिक मात्रामें मिलेगा ।। ५१ ।।

तदा च पृथिवीपाल यो भवेद् धर्मसंयुतः ।

अल्पायुः स हि मन्तव्यो न हि धर्मोऽस्ति कश्चन ॥ ५२ ॥

भूपाल! उस समय जो भी धर्ममें तत्पर रहेगा, उसकी आयु बहुत थोड़ी देखनेमें आयेगी; क्योंकि उस समय कोई भी धर्म टिक नहीं सकेगा ॥ ५२ ॥

भूयिष्ठं कूटमानैश्च पण्यं विक्रीणते जनाः ।
वणिजश्च नरव्याघ्र बहुमाया भवन्त्युत ॥ ५३ ॥

लोग बाजारमें झूठे माप-तौल बनाकर बहुत-सा माल बेचते रहेंगे। नरश्रेष्ठ! उस समयके बनिये भी बहुत माया जाननेवाले (धूर्त) होंगे ॥ ५३ ॥

धर्मिष्ठाः परिहीयन्ते पापीयान् वर्धते जनः ।
धर्मस्य बलहानिः स्यादधर्मश्च बली तथा ॥ ५४ ॥

धर्मात्मा पुरुष हानि उठाते दीखेंगे और बड़े-बड़े पापी लौकिक दृष्टिसे उन्नतिशील होंगे। धर्मका बल घटेगा और अधर्म बलवान् होगा ॥ ५४ ॥

अल्पायुषो दरिद्राश्च धर्मिष्ठा मानवास्तथा ।
दीर्घायुषः समृद्धाश्च विधर्माणो युगक्षये ॥ ५५ ॥

युगान्तकालमें धर्मिष्ठ मानव अल्पायु तथा दरिद्र देखे जायँगे और अधर्मी मनुष्य दीर्घायु तथा समृद्धिशाली देखे जायँगे ॥ ५५ ॥

नगराणां विहारेषु विधर्माणो युगक्षये ।
अधर्मिष्ठैरुपायैश्च प्रजा व्यवहरन्त्युत ॥ ५६ ॥

युगान्तके समय नगरोंके उद्यानोंमें पापी पुरुष अड्डा जमायेंगे और पापपूर्ण उपायोंद्वारा प्रजाके साथ दुर्व्यवहार करेंगे ॥ ५६ ॥

संचयेन तथाल्पेन भवन्त्याढ्यमदान्विताः ।
धनं विश्वासतो न्यस्तं मिथो भूयिष्ठशो नराः ॥ ५७ ॥
हर्तुं व्यवसिता राजन् पापाचारसमन्विताः ।
नैतदस्तीति मनुजा वर्तन्ते निरपत्रपाः ॥ ५८ ॥

राजन्! थोड़ेसे धनका संग्रह हो जानेपर लोग धनाढ्यताके मदसे उन्मत्त हो उठेंगे। यदि किसीने विश्वास करके अपने धनको धरोहरके रूपमें रख दिया तो अधिकांश पापाचारी और निर्लज मनुष्य उस धरोहरको हड़प लेनेकी चेष्टा करेंगे और उससे साफ कह देंगे कि हमारे यहाँ तुम्हारा कुछ भी नहीं है ॥ ५७-५८ ॥

पुरुषादानि सत्त्वानि पक्षिणोऽथ मृगास्तथा ।
नगराणां विहारेषु चैत्येष्वपि च शेरते ॥ ५९ ॥

मनुष्यका मांस खानेवाले हिंसक जीव तथा पशु-पक्षी नागरिकोंके बगीचों और देवालयोंमें भी शयन करेंगे ॥ ५९ ॥

सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च स्त्रियो गर्भधरा नृप ।
दशद्वादशवर्षाणां पुंसां पुत्रः प्रजायते ॥ ६० ॥

राजन्! युगान्तकालमें सात-आठ वर्षकी स्त्रियाँ गर्भ धारण करेंगी और दस-बारह वर्षकी अवस्थावाले पुरुषोंके भी पुत्र होंगे ।। ६० ।।

भवन्ति षोडशे वर्षे नराः पलितिनस्तथा ।

आयुःक्षयो मनुष्याणां क्षिप्रमेव प्रपद्यते ।। ६१ ।।

सोलहवें वर्षमें मनुष्योंके बाल पक जायँगे और उनकी आयु शीघ्र ही समाप्त हो जायगी ।। ६१ ।।

क्षीणायुषो महाराज तरुणा वृद्धशीलिनः ।

तरुणानां च यच्छीलं तद् वृद्धेषु प्रजायते ।। ६२ ।।

महाराज! उस समयके तरुणोंकी आयु क्षीण होगी और उनका शील-स्वभाव बूढ़ोंका-सा हो जायगा और तरुणोंका जो शील-स्वभाव होना चाहिये, वह बूढ़ोंमें प्रकट होगा ।। ६२ ।।

विपरीतास्तदा नार्यो वञ्चयित्वार्हतः पतीन् ।

व्युच्चरन्त्यपि दुःशीला दासैः पशुभिरेव च ।। ६३ ।।

उस समयकी विपरीत स्वभाववाली स्त्रियाँ अपने योग्य पतियोंको भी धोखा देकर बुरे शील-स्वभावकी हो जायँगी और सेवकों तथा पशुओंके साथ भी व्यभिचार करेंगी ।। ६३ ।।

वीरपत्न्यस्तथा नार्यः संश्रयन्ति नरान् नृप ।

भर्तारमपि जीवन्तमन्यान् व्यभिचरन्त्युत ।। ६४ ।।

राजन्! वीर पुरुषोंकी पत्नियाँ भी परपुरुषोंका आश्रय लेंगी और पतिके जीते हुए भी दूसरोंसे व्यभिचार करेंगी ।। ६४ ।।

तस्मिन् युगसहस्रान्ते सम्प्राप्ते चायुषः क्षये ।

अनावृष्टिर्महाराज जायते बहुवार्षिकी ।। ६५ ।।

महाराज! इस प्रकार आयुको क्षीण करनेवाले सहस्र युगोंके अन्तिम भागकी समाप्ति होनेपर बहुत वर्षोंतक वृष्टि बंद हो जाती है ।। ६५ ।।

ततस्तान्यल्पसाराणि सत्त्वानि क्षुधितानि वै ।

प्रलयं यान्ति भूयिष्ठं पृथिव्यां पृथिवीपते ।। ६६ ।।

पृथ्वीपते! इससे भूतलके थोड़ी शक्तिवाले अधिकांश प्राणी भूखसे व्याकुल होकर मर जाते हैं ।। ६६ ।।

ततो दिनकरैर्दीप्तैः सप्तभिर्मनुजाधिप ।

पीयते सलिलं सर्वं समुद्रेषु सरित्सु च ।। ६७ ।।

नरेश्वर! तदनन्तर प्रचण्ड तेजवाले सात सूर्य उदित होकर सरिताओं और समुद्रोंका सारा जल सोख लेते हैं ।। ६७ ।।

यच्च काष्ठं तृणं चापि शुष्कं चार्द्रं च भारत ।

सर्वं तद् भस्मसाद् भूतं दृश्यते भरतर्षभ ।। ६८ ।।

भरतकुलभूषण! उस समय जो भी तृण-काष्ठ अथवा सूखे-गीले पदार्थ होते हैं, वे सभी भस्मीभूत दिखायी देने लगते हैं ।। ६८ ।।

ततः संवर्तको वह्निर्वायुना सह भारत ।
लोकमाविशते पूर्वमादित्यैरुपशोषितम् ।। ६९ ।।

भारत! इसके बाद 'संवर्तक' नामकी प्रलयकालीन अग्नि वायुके साथ उन सम्पूर्ण लोकोंमें फैल जाती है, जहाँका जल पहले सात सूर्योंद्वारा सोख लिया गया है ।। ६९ ।।

ततः स पृथिवीं भित्त्वा प्रविश्य च रसातलम् ।
देवदानवयक्षाणां भयं जनयते महत् ।। ७० ।।

तत्पश्चात् पृथ्वीका भेदन कर वह अग्नि रसातलतक पहुँच जाती है तथा देवता, दानव और यक्षोंके लिये महान् भय उपस्थित कर देती है ।। ७० ।।

निर्दहन् नागलोकं च यच्च किञ्चित् क्षिताविह ।
अधस्तात् पृथिवीपाल सर्वं नाशयते क्षणात् ।। ७१ ।।

राजन्! वह नागलोकको जलाती हुई इस पृथ्वीके नीचे जो कुछ भी है, उस सबको क्षणभरमें नष्ट कर देती है ।। ७१ ।।

ततो योजनविंशानां सहस्राणि शतानि च ।
निर्दहत्यशिवो वायुः स च संवर्तकोऽनलः ।। ७२ ।।

इसके बाद वह अमंगलकारी प्रचण्ड वायु और वह संवर्तक अग्नि बाईस हजार योजन तकके लोगोंको भस्म कर डालती है ।। ७२ ।।

सदेवासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् ।
ततो दहति दीप्तः स सर्वमेव जगद् विभुः ।। ७३ ।।

इस प्रकार सर्वत्र फैली हुई वह प्रज्वलित अग्नि देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण विश्वको भस्म कर डालती है ।। ७३ ।।

ततो गजकुलप्रख्यास्तडिन्मालाविभूषिताः ।
उत्तिष्ठन्ति महामेघा नभस्यद्भुतदर्शनाः ।। ७४ ।।

इसके बाद आकाशमें महान् मेघोंकी घोर घटा घिर आती है, जो अद्भुत दिखायी देता है। उनमेंसे प्रत्येक मेघ-समूह हाथियोंके झुंडकी भाँति विशालकाय और श्यामवर्ण तथा बिजलीकी मालाओंसे विभूषित होता है ।। ७४ ।।

केचिन्नीलोत्पलश्यामाः केचित् कुमुदसंनिभाः ।
केचित् किञ्जल्कसंकाशाः केचित् पीताः पयोधराः ।। ७५ ।।
केचिद्धारिद्रसंकाशाः कारण्डवनिभास्तथा ।
केचित् कमलपत्राभाः केचिद्धिङ्गुलसप्रभाः ।। ७६ ।।

कुछ बादल नील कमलक समान श्याम और कुछ कुमुद-कुसुमके समान सफेद होते हैं। कुछ जलधरोंकी कान्ति केसरोंके समान दिखायी देती है। कुछ मेघ हल्दीके सदृश पीले

और कुछ कारण्डव पक्षीके समान दृष्टिगोचर होते हैं। कोई-कोई कमलदलके समान और कुछ हिंगुल-जैसे जान पड़ते हैं ।। ७५-७६ ।।

केचित् पुरवराकाराः केचिद् गजकुलोपमाः ।
केचिदञ्जनसंकाशाः केचिन्मकरसंनिभाः ।। ७७ ।।

कुछ श्रेष्ठ नगरोंके समान, कुछ हाथियोंके झुंड-जैसे, कुछ काजलके रंगवाले और कुछ मगरोंकी-सी आकृतिवाले होते हैं ।। ७७ ।।

विद्युन्मालापिनद्धाङ्गाः समुत्तिष्ठन्ति वै घनाः ।
घोररूपा महाराज घोरस्वननिनादिताः ।
ततो जलधराः सर्वे व्याप्नुवन्ति नभस्तलम् ।। ७८ ।।

वे सभी बादल विद्युन्मालाओंसे अलंकृत होकर घिर आते हैं। महाराज! भयंकर गर्जना करनेके कारण उनका स्वरूप बड़ा भयानक जान पड़ता है। धीरे-धीरे वे सभी जलधर समूचे आकाशमण्डलको ढक लेते हैं ।। ७८ ।।

तैरियं पृथिवी सर्वा सपर्वतवनाकरा ।
आपूर्यते महाराज सलिलौघपरिप्लुता ।। ७९ ।।

महाराज! उनके वर्षा करनेपर पर्वत, वन और खानोंसहित यह सारी पृथ्वी अगाध जलराशिमें डूबकर सब ओरसे भर जाती है ।। ७९ ।।

ततस्ते जलदा घोरा राविणः पुरुषर्षभ ।
सर्वतः प्लावयन्त्याशु चोदिताः परमेष्ठिना ।। ८० ।।

पुरुषरत्न! तदनन्तर विधातासे प्रेरित हो गर्जन-तर्जन करनेवाले वे भयंकर मेघ शीघ्र सब ओर वर्षा करके सबको जलसे आप्लावित कर देते हैं ।। ८० ।।

वर्षमाणा महत् तोयं पूरयन्तो वसुंधराम् ।
सुघोरमशिवं रौद्रं नाशयन्ति च पावकम् ।। ८१ ।।

महान् जल-समूहकी वर्षा करके वसुन्धराको जलमें डुबोनेवाले वे समस्त मेघ उस अत्यन्त घोर, अमंगलकारी और भयानक अग्निको बुझा देते हैं ।। ८१ ।।

ततो द्वादशवर्षाणि पयोदास्त उपप्लवे ।
धाराभिः पूरयन्तो वै चोद्यमाना महात्मना ।। ८२ ।।

तदनन्तर प्रलयकालके वे पयोधर महात्मा ब्रह्माजीकी प्रेरणा पाकर पृथ्वीको परिपूर्ण करनेके लिये बारह वर्षोंतक धारावाहिक वृष्टि करते हैं ।। ८२ ।।

ततः समुद्रः स्वां वेलामतिक्रामति भारत ।
पर्वताश्च विदीर्यन्ते मही चाप्सु निमज्जति ।। ८३ ।।

भारत! तदनन्तर समुद्र अपनी सीमाको लाँघ जाता है, पर्वत फट जाते और पृथ्वी पानीमें डूब जाती है ।। ८३ ।।

सर्वतः सहसा भ्रान्तास्ते पयोदा नभस्तलम् ।

संवेष्टयित्वा नश्यन्ति वायुवेगपराहताः ।। ८४ ।।

तत्पश्चात् समस्त आकाशको घेरकर सब ओर फैले हुए वे मेघ वायुके प्रचण्ड वेगसे छिन्न-भिन्न होकर सहसा अदृश्य हो जाते हैं ।। ८४ ।।

ततस्तं मारुतं घोरं स्वयम्भूर्मनुजाधिप ।
आदिः पद्मालयो देवः पीत्वा स्वपिति भारत ।। ८५ ।।

नरेश्वर! इसके बाद कमलमें निवास करनेवाले आदिदेव स्वयं ब्रह्माजी उस भयंकर वायुको पीकर सो जाते हैं ।। ८५ ।।

तस्मिन्नेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टे देवासुरगणे यक्षराक्षसवर्जिते ।। ८६ ।।
निर्मनुष्ये महीपाल निःश्वापदमहीरुहे ।
अनन्तरिक्षे लोकेऽस्मिन् भ्रमाम्येकोऽहमाहतः ।। ८७ ।।

इस प्रकार चराचर प्राणियों, देवताओं तथा असुर आदिके नष्ट हो जानेपर यक्ष, राक्षस, मनुष्य, हिंसक जीव, वृक्ष तथा अन्तरिक्षसे शून्य उस घोर एकार्णवमय जगत्में मैं अकेला ही इधर-उधर मारा-मारा फिरता हूँ ।। ८६-८७ ।।

एकार्णवे जले घोरे विचरन् पार्थिवोत्तम ।
अपश्यन् सर्वभूतानि वैक्लव्यमगमं ततः ।। ८८ ।।

नृपश्रेष्ठ! एकार्णवके उस भयंकर जलमें विचरते हुए जब मैंने किसी भी प्राणीको नहीं देखा, तब मुझे बड़ी व्याकुलता हुई ।। ८८ ।।

ततः सुदीर्घं गत्वाहं प्लवमानो नराधिप ।
श्रान्तः क्वचिन्न शरणं लभाम्यहमतन्द्रितः ।। ८९ ।।

नरेश्वर! उस समय आलस्यशून्य होकर सुदीर्घकाल-तक तैरता हुआ मैं दूर जाकर बहुत थक गया। परंतु कहीं भी मुझे कोई आश्रय नहीं मिला ।। ८९ ।।

ततः कदाचित् पश्यामि तस्मिन् सलिलसंचये ।
न्यग्रोधं सुमहान्तं वै विशालं पृथिवीपते ।। ९० ।।

राजन्! तदनन्तर एक दिन एकार्णवकी उस अगाध जलराशिमें मैंने एक बहुत विशाल बरगदका वृक्ष देखा ।। ९० ।।

शाखायां तस्य वृक्षस्य विस्तीर्णायां नराधिप ।
पर्यङ्के पृथिवीपाल दिव्यास्तरणसंस्तृते ।। ९१ ।।
उपविष्टं महाराज पद्मेन्दुसदृशाननम् ।
फुल्लपद्मविशालाक्षं बालं पश्यामि भारत ।। ९२ ।।

नराधिप! उस वृक्षकी चौड़ी शाखापर एक पलंग था, जिसके ऊपर दिव्य बिछौने बिछे हुए थे। महाराज! उस पलंगपर एक सुन्दर बालक बैठा दिखायी दिया, जिसका मुख

कमलके समान कमनीय शोभा धारण करनेवाला तथा चन्द्रमाके समान नेत्रोंको आनन्द देनेवाला था। उसके नेत्र प्रफुल्ल पद्मदलके समान विशाल थे ।। ९१-९२ ।।

ततो मे पृथिवीपाल विस्मयः सुमहानभूत् ।
कथं त्वयं शिशुः शेते लोके नाशमुपागते ।। ९३ ।।

पृथ्वीनाथ! उसे देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ। मैं सोचने लगा—‘सारे संसारके नष्ट हो जानेपर भी यह बालक यहाँ कैसे सो रहा है?’ ।। ९३ ।।

तपसा चिन्तयंश्चापि तं शिशुं नोपलक्षये ।
भूतं भव्यं भविष्यं च जानन्नपि नराधिप ।। ९४ ।।

नरेश्वर! मैं भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंका ज्ञाता होनेपर भी तपस्यासे भलीभाँति चिन्तन करता (ध्यान लगाता) रहा, तो भी उस शिशुके विषयमें कुछ न जान सका ।। ९४ ।।

अतसीपुष्पवर्णाभः श्रीवत्सकृतभूषणः ।
साक्षाल्लक्ष्म्या इवावासः स तदा प्रतिभाति मे ।। ९५ ।।

उसकी अंगकान्ति अलसीके फूलकी भाँति श्याम थी। उसका वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित था। वह उस समय मुझे साक्षात् लक्ष्मीका निवासस्थान-सा प्रतीत होता था ।। ९५ ।।

ततो मामब्रवीद् बालः स पद्मनिभलोचनः ।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान् वाक्यं श्रुतिसुखावहम् ।। ९६ ।।
जानामि त्वां परिश्रान्तं ततो विश्रामकाङ्क्षिणम् ।
मार्कण्डेय इहास्स्व त्वं यावदिच्छसि भार्गव ।। ९७ ।।

मुझे विस्मयमें पड़ा देख कमलके समान नेत्रवाले उस श्रीवत्सधारी कान्तिमान् बालकने मुझसे इस प्रकार श्रवणसुखद वचन कहा—‘भृगुवंशी मार्कण्डेय! मैं तुम्हें जानता हूँ। तुम बहुत थक गये हो और विश्राम चाहते हो। तुम्हारी जबतक इच्छा हो यहाँ बैठो ।।

अभ्यन्तरं शरीरे मे प्रविश्य मुनिसत्तम ।
आस्स्व भो विहितो वासः प्रसादस्ते कृतो मया ।। ९८ ।।

'मुनिश्रेष्ठ! मैंने तुमपर कृपा की है। तुम मेरे शरीरके भीतर प्रवेश करके विश्राम करो। वहाँ तुम्हारे रहनेके लिये व्यवस्था की गयी है' ।। ९८ ।।

ततो बालेन तेनैवमुक्तस्यासीत् तदा मम ।
निर्वेदो जीविते दीर्घे मनुष्यत्वे च भारत ।। ९९ ।।

उस बालकके ऐसा कहनेपर उस समय मुझे अपने दीर्घ-जीवन और मानव-शरीरपर बड़ा खेद और वैराग्य हुआ ।। ९९ ।।

ततो बालेन तेनास्यं सहसा विवृतं कृतम् ।
तस्याहमवशो वक्त्रे दैवयोगात् प्रवेशितः ।। १०० ।।

तदनन्तर उस बालकने सहसा अपना मुख खोला और मैं दैवयोगसे परवशकी भाँति उसमें प्रवेश कर गया ।। १०० ।।

ततः प्रविष्टस्तत्कुक्षिं सहसा मनुजाधिप ।
सराष्ट्रनगराकीर्णां कृत्स्नां पश्यामि मेदिनीम् ।। १०१ ।।

राजन्! उसमें प्रवेश करते ही मैं सहसा उस बालकके उदरमें जा पहुँचा। वहाँ मुझे समस्त राष्ट्रों और नगरोंसे भरी हुई यह सारी पृथ्वी दिखायी दी ।। १०१ ।।

गङ्गां शतद्रुं सीतां च यमुनामथ कौशिकीम् ।

चर्मण्वतीं वेत्रवतीं चन्द्रभागां सरस्वतीम् ।। १०२ ।।
सिन्धुं चैव विपाशां च नदीं गोदावरीमपि ।
वस्वोकसारां नलिनीं नर्मदां चैव भारत ।। १०३ ।।
नदीं ताम्रां च वेणां च पुण्यतोयां शुभावहाम् ।
सुवेणां कृष्णवेणां च इरामां च महानदीम् ।। १०४ ।।
वितस्तां च महाराज कावेरीं च महानदीम् ।
शोणं च पुरुषव्याघ्र विशल्यां किम्पुनामपि ।। १०५ ।।
एताश्चान्याश्च नद्योऽहं पृथिव्यां या नरोत्तम ।
परिक्रामन् प्रपश्यामि तस्य कुक्षौ महात्मनः ।। १०६ ।।

नरश्रेष्ठ! फिर तो मैं उस महात्मा बालकके उदरमें घूमने लगा। घूमते हुए मैंने वहाँ गंगा, सतलज, सीता, यमुना, कोसी, चम्बल, वेत्रवती, चिनाव, सरस्वती, सिन्धु, व्यास, गोदावरी, वस्वोकसारा, नलिनी, नर्मदा, ताम्रपर्णी, वेणा, शुभदायिनी पुण्यतोया, सुवेणा, कृष्णवेणा, महानदी इरामा, वितस्ता (झेलम), महानदी कावेरी, शोणभद्र, विशल्या तथा किम्पुना—इन सबको तथा इस पृथ्वीपर जो अन्य नदियाँ हैं, उनको भी देखा ।। १०२—१०६ ।।

ततः समुद्रं पश्यामि यादोगणनिषेवितम् ।
रत्नाकरममित्रघ्न पयसो निधिमुत्तमम् ।। १०७ ।।

शत्रुसूदन! इसके बाद जलजन्तुओंसे भरे हुए अगाध जलके भण्डार परम उत्तम रत्नाकर समुद्रको भी देखा ।। १०७ ।।

तत्र पश्यामि गगनं चन्द्रसूर्यविराजितम् ।
जाज्वल्यमानं तेजोभिः पावकार्कसमप्रभम् ।। १०८ ।।

वहाँ मुझे चन्द्रमा और सूर्यसे सुशोभित आकाशमण्डल दिखायी दिया, जो अनन्त तेजसे प्रज्वलित तथा अग्नि एवं सूर्यके समान देदीप्यमान था ।। १०८ ।।

पश्यामि च महीं राजन् काननैरुपशोभिताम् ।
(सपर्वतवनद्वीपां निमग्नाशतसङ्कुलाम् ।)
यजन्ते हि तदा राजन् ब्राह्मणा बहुभिर्मखैः ।। १०९ ।।

राजन्! वहाँकी भूमि विविध काननोंसे सुशोभित, पर्वत, वन और द्वीपोंसे उपलक्षित तथा सैकड़ों सरिताओंसे संयुक्त दिखायी देती थी। ब्राह्मणलोग नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करते थे ।। १०९ ।।

क्षत्रियाश्च प्रवर्तन्ते सर्ववर्णानुरंजनैः ।
वैश्याः कृषिं यथान्यायं कारयन्ति नराधिप ।। ११० ।।

नरेश्वर! क्षत्रिय राजा सब वर्णोंकी प्रजाका अनुरंजन करते—सबको सुखी और प्रसन्न रखते थे। वैश्य न्यायपूर्वक खेतीका काम और व्यापार करते थे ।। ११० ।।

शुश्रूषायां च निरता द्विजानां वृषलास्तदा ।

ततः परिपतन् राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ।। १११ ।।
हिमवन्तं च पश्यामि हेमकूटं च पर्वतम् ।
निषधं चापि पश्यामि श्वेतं च रजतान्वितम् ।। ११२ ।।
पश्यामि च महीपाल पर्वतं गन्धमादनम् ।
मन्दरं मनुजव्याघ्र नीलं चापि महागिरिम् ।। ११३ ।।
पश्यामि च महाराज मेरुं कनकपर्वतम् ।
महेन्द्रं चैव पश्यामि विन्ध्यं च गिरिमुत्तमम् ।। ११४ ।।
मलयं चापि पश्यामि पारियात्रं च पर्वतम् ।
एते चान्ये च बहवो यावन्तः पृथिवीधराः ।। ११५ ।।
तस्योदरे मया दृष्टाः सर्वे रत्नविभूषिताः ।
सिंहान् व्याघ्रान् वराहांश्च पश्यामि मनुजाधिप ।। ११६ ।।

शूद्र तीनों द्विजातियोंकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते थे। राजन्! यह सब देखते हुए जब मैं उस महात्मा बालकके उदरमें भ्रमण करता आगे बढ़ा, तब हिमवान्, हेमकूट, निषध, रजतयुक्त श्वेतगिरि, गन्धमादन, मन्दराचल, महागिरि नील, सुवर्णमय पर्वत मेरु, महेन्द्र, उत्तम विन्ध्यगिरि, मलय तथा पारियात्र पर्वत देखे। ये तथा और भी बहुत-से पर्वत मुझे उस बालकके उदरमें दिखायी दिये। वे सब-के-सब नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित थे। राजन्! वहाँ घूमते हुए मैंने सिंह, व्याघ्र और वाराह आदि पशु भी देखे ।। १११—११६ ।।

पृथिव्यां यानि चान्यानि सत्त्वानि जगतीपते ।
तानि सर्वाण्यहं तत्र पश्यन् पर्यचरं तदा ।। ११७ ।।

पृथ्वीपते! भूमण्डलमें जितने प्राणी हैं, उन सबको देखते हुए मैं उस समय उस बालकके उदरमें विचरता रहा ।। ११७ ।।

कुक्षौ तस्य नरव्याघ्र प्रविष्टः संचरन् दिशः ।
शक्रादींश्चापि पश्यामि कृत्स्नान् देवगणानहम् ।। ११८ ।।

नरश्रेष्ठ! उस शिशुके उदरमें प्रविष्ट हो सम्पूर्ण दिशाओंमें भ्रमण करते हुए इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंके भी दर्शन हुए ।। ११८ ।।

साध्यान् रुद्रांस्तथाऽऽदित्यान् गुह्यकान् पितरस्तदा ।
सर्पान् नागान् सुपर्णांश्च वसूनप्यश्विनावपि ।। ११९ ।।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षानृषींश्चैव महीपते ।
दैत्यदानवसङ्घांश्च नागांश्च मनुजाधिप ।। १२० ।।
सिंहिकातनयांश्चापि ये चान्ये सुरशत्रवः ।
यच्च किंचिन्मया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम् ।। १२१ ।।
सर्वं पश्याम्यहं राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः ।
चरमाणः फलाहारः कृत्स्नं जगदिदं विभो ।। १२२ ।।

पृथ्वीपते! साध्य, रुद्र, आदित्य, गुह्यक, पितर, सर्प, नाग, सुपर्ण, वसु, अश्विनीकुमार, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष तथा ऋषियोंका भी मैंने दर्शन किया। दैत्य-दानवसमूह, नाग, सिंहिकाके पुत्र (राहु आदि) तथा अन्य देवशत्रुओंको भी देखा। राजन्! इस लोकमें मैंने जो कुछ भी स्थावर-जंगम पदार्थ देखे थे, वे सब मुझे उस महात्माकी कुक्षिमें दृष्टिगोचर हुए। महाराज! मैं प्रतिदिन फलाहार करता और इस सम्पूर्ण जगत्में घूमता रहता ।। ११९-१२२ ।।

अन्तःशरीरे तस्याहं वर्षाणामधिकं शतम् ।

न च पश्यामि तस्याहं देहस्यान्तं कदाचन ।। १२३ ।।

उस बालकके शरीरके भीतर मैं सौ वर्षसे अधिक कालतक घूमता रहा, तो भी कभी उसके शरीरका अन्त नहीं दिखायी दिया ।। १२३ ।।

सततं धावमानश्च चिन्तयानो विशाम्पते ।

(भ्रमंस्तत्र महीपाल यदा वर्षगणान् बहून् ।)

आसादयामि नैवान्तं तस्य राजन् महात्मनः ।। १२४ ।।

ततस्तमेव शरणं गतोऽस्मि विधिवत् तदा ।

वरेण्यं वरदं देवं मनसा कर्मणैव च ।। १२५ ।।

युधिष्ठिर! मैं निरन्तर दौड़ लगाता और चिन्तामें पड़ा रहता था। महाराज! जब बहुत वर्षोंतक भ्रमण करनेपर भी उस महात्माके शरीरका अन्त नहीं मिला, तब मैंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा उन वरदायक एवं वरेण्य देवताकी ही विधिपूर्वक शरण ली ।। १२४-१२५ ।।

ततोऽहं सहसा राजन् वायुवेगेन निःसृतः ।

महात्मनो मुखात् तस्य विवृतात् पुरुषोत्तम ।। १२६ ।।

पुरुषरत्न युधिष्ठिर! उनकी शरण लेते ही मैं वायुके समान वेगसे उक्त महात्मा बालकके खुले हुए मुखकी राहसे सहसा बाहर निकल आया ।। १२६ ।।

ततस्तस्यैव शाखायां न्यग्रोधस्य विशाम्पते ।

आस्ते मनुजशार्दूल कृत्स्नमादाय वै जगत् ।। १२७ ।।

तेनैव बालवेषेण श्रीवत्सकृतलक्षणम् ।

आसीनं तं नरव्याघ्र पश्याम्यमिततेजसम् ।। १२८ ।।

नरश्रेष्ठ राजन्! बाहर आकर देखा तो उसी बरगदकी शाखापर उसी बाल-वेषसे सम्पूर्ण जगत्को अपने उदरमें लेकर श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित वह अमिततेजस्वी बालक पूर्ववत् बैठा हुआ है ।। १२७-१२८ ।।

ततो मामब्रवीद् बालः स प्रीतः प्रहसन्निव ।

श्रीवत्सधारी द्युतिमान् पीतवासा महाद्युतिः ।। १२९ ।।

तब महातेजस्वी पीताम्बरधारी श्रीवत्सभूषित कान्तिमान् उस बालकने प्रसन्न होकर हँसते हुए-से मुझसे कहा— ।। १२९ ।।

अपीदानीं शरीरेऽस्मिन् मामके मुनिसत्तम ।
उषितस्त्वं सुविश्रान्तो मार्कण्डेय ब्रवीहि मे ।। १३० ।।

'मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय! क्या तुम मेरे इस शरीरमें रहकर विश्राम कर चुके? मुझे बताओ' ।। १३० ।।

मुहूर्तादथ मे दृष्टिः प्रादुर्भूता पुनर्नवा ।
यया निर्मुक्तमात्मानमपश्यं लब्धचेतसम् ।। १३१ ।।

फिर दो ही घड़ीमें मुझे एक नवीन दृष्टि प्राप्त हुई, जिससे मैं अपने-आपको मायासे मुक्त और सचेत अनुभव करने लगा ।। १३१ ।।

तस्य ताम्रतलौ तात चरणौ सुप्रतिष्ठितौ ।
सुजातौ मृदुरक्ताभिरङ्गुलीभिर्विराजितौ ।। १३२ ।।
प्रयत्नेन मया मूर्ध्ना गृहीत्वा ह्यभिवन्दितौ ।

तात! तदनन्तर मैंने कोमल और लाल रंगकी अँगुलियोंसे सुशोभित लाल-लाल तलवेवाले उस बालकके सुन्दर एवं सुप्रतिष्ठित चरणोंको प्रयत्नपूर्वक पकड़कर उन्हें अपने मस्तकसे प्रणाम किया ।। १३२½ ।।

दृष्ट्वा परिमितं तस्य प्रभावममितौजसः ।। १३३ ।।
विनयेनाञ्जलिं कृत्वा प्रयत्नेनोपगम्य ह ।
दृष्टो मया स भूतात्मा देवः कमललोचनः ।। १३४ ।।

उस अमित तेजस्वी शिशुका अनन्त प्रभाव देखकर मैं यत्नपूर्वक उसके समीप गया और विनीतभावसे हाथ जोड़कर सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा उस कमलनयन देवताका दर्शन किया ।। १३३-१३४ ।।

तमहं प्राञ्जलिर्भूत्वा नमस्कृत्येदमब्रुवम् ।
ज्ञातुमिच्छामि देव त्वां मायां चैतां तवोत्तमाम् ।। १३५ ।।

फिर हाथ जोड़े नमस्कार करके मैंने उससे इस प्रकार कहा—देव! मैं आपको और आपकी इस उत्तम मायाको जानना चाहता हूँ ।। १३५ ।।

आस्येनानुप्रविष्टोऽहं शरीरे भगवंस्तव ।
दृष्टवानखिलान् सर्वान् समस्तान् जठरे हि ते ।। १३६ ।।

'भगवन्! मैंने आपके मुखकी राहसे शरीरमें प्रवेश करके आपके उदरमें समस्त सांसारिक पदार्थोंका अवलोकन किया है ।। १३६ ।।

तव देव शरीरस्था देवदानवराक्षसाः ।
यक्षगन्धर्वनागाश्च जगत् स्थावरजङ्गमम् ।। १३७ ।।

'देव! आपके शरीरमें देवता, दानव, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, नाग तथा समस्त स्थावर-जंगमरूप जगत् विद्यमान है ।।

त्वत्प्रसादाच्च मे देव स्मृतिर्न परिहीयते ।
द्रुतमन्तःशरीरे ते सततं परिवर्तिनः ।। १३८ ।।

'प्रभो! आपकी कृपासे आपके शरीरके भीतर निरन्तर शीघ्र गतिसे घूमते रहनेपर भी मेरी स्मरणशक्ति नष्ट नहीं हुई है ।। १३८ ।।

निर्गतोऽहमकामस्तु इच्छया ते महाप्रभो ।
इच्छामि पुण्डरीकाक्ष ज्ञातुं त्वाहमनिन्दितम् ।। १३९ ।।

'महाप्रभो! मैं अपनी अभिलाषा न रहनेपर भी केवल आपकी इच्छासे बाहर निकल आया हूँ। कमलनयन! आप सर्वोत्कृष्ट देवताको मैं जानना चाहता हूँ ।। १३९ ।।

इह भूत्वा शिशुः साक्षात् किं भवानवतिष्ठते ।
पीत्वा जगदिदं सर्वमेतदाख्यातुमर्हसि ।। १४० ।।

'आप इस सम्पूर्ण जगत्को पी करके यहाँ साक्षात् बालकवेषमें क्यों विराजमान हैं? यह सब बतानेकी कृपा करें ।। १४० ।।

किमर्थं च जगत् सर्वं शरीरस्थं तवानघ ।
कियन्तं च त्वया कालमिह स्थेयमरिंदम ।। १४१ ।।

'अनघ! यह सारा संसार आपके शरीरमें किसलिये स्थित है? शत्रुदमन! आप कितने समयतक यहाँ इस रूपमें रहेंगे? ।। १४१ ।।

एतदिच्छामि देवेश श्रोतुं ब्राह्मणकाम्यया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष विस्तरेण यथातथम् ।। १४२ ।।

'देवेश्वर! कमलनयन! ब्राह्मणमें जो सहज जिज्ञासा होती है, उससे प्रेरित होकर मैं आपसे यह सब बातें यथाविधि विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ।। १४२ ।।

महद्ध्येतदचिन्त्यं च यदहं दृष्टवान् प्रभो ।
इत्युक्तः स मया श्रीमान् देवदेवो महाद्युतिः ।
सान्त्वयन् मामिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ।। १४३ ।।

'प्रभो! मैंने जो कुछ देखा है, यह अगाध और अचिन्त्य है।' मेरे इस प्रकार पूछनेपर वे वक्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी देवाधिदेव श्रीभगवान् मुझे सान्त्वना देते हुए इस प्रकार बोले ।। १४३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १४४ श्लोक हैं)

---

* अट्टमन्नं शिवो वेदो ब्राह्मणाश्च चतुष्पथाः । केशो भगं समाख्यातं शूलं तद् विक्रयं विदुः ।। (नीलकण्ठकृत टीका)

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् बालमुकुन्दका मार्कण्डेयको अपने स्वरूपका परिचय देना तथा मार्कण्डेयद्वारा श्रीकृष्णकी महिमाका प्रतिपादन और पाण्डवोंका श्रीकृष्णकी शरणमें जाना

देव उवाच

कामं देवा अपि न मां विप्र जानन्ति तत्त्वतः ।
त्वत्प्रीत्या तु प्रवक्ष्यामि यथेदं विसृजाम्यहम् ।। १ ।।

भगवान् बोले—विप्रवर! देवता भी मेरे स्वरूपको यथेष्ट और यथार्थरूपसे नहीं जानते। मैं जिस प्रकार इस जगत्‌की रचना करता हूँ, वह तुम्हारे प्रेमके कारण तुम्हें बताऊँगा ।। १ ।।

पितृभक्तोऽसि विप्रर्षे मां चैव शरणं गतः ।
ततो दृष्टोऽस्मि ते साक्षाद् ब्रह्मचर्यं च ते महत् ।। २ ।।

ब्रह्मर्षे! तुम पितृभक्त हो, मेरी शरणमें आये हो और तुमने महान् ब्रह्मचर्यका पालन किया है। इन्हीं सब कारणोंसे तुम्हें मेरे साक्षात् स्वरूपका दर्शन हुआ ।। २ ।।

अपां नारा इति पुरा संज्ञाकर्म कृतं मया ।
तेन नारायणोऽप्युक्तो मम तत् त्वयनं सदा ।। ३ ।।

पूर्वकालमें मैंने ही जलका ‘नारा’ नाम रखा था। वह ‘नारा’ मेरा सदा अयन (वासस्थान) है, इसलिये मैं ‘नारायण’ नामसे विख्यात हूँ ।। ३ ।।

अहं नारायणो नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः ।
विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तम ।। ४ ।।
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाहं सुराधिपः ।
अहं वैश्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा ।। ५ ।।

मैं नारायण ही सबकी उत्पत्तिका कारण, सनातन और अविनाशी हूँ। द्विजश्रेष्ठ! सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि और संहार करनेवाला भी मैं ही हूँ। मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही ब्रह्मा हूँ, मैं ही देवराज इन्द्र हूँ और मैं ही राजा कुबेर तथा प्रेतराज यम हूँ ।। ४-५ ।।

अहं शिवश्च सोमश्च कश्यपोऽथ प्रजापतिः ।
अहं धाता विधाता च यज्ञश्चाहं द्विजोत्तम ।। ६ ।।

विप्रवर! मैं ही शिव, चन्द्रमा, प्रजापति कश्यप, धाता, विधाता और यज्ञ हूँ ।। ६ ।।

अग्निरास्यं क्षितिः पादौ चन्द्रादित्यौ च लोचने ।
द्यौर्मूर्धा खं दिशः श्रोत्रे तथाऽपः स्वेदसम्भवाः ।। ७ ।।

सदिशं च नभः कायो वायुर्मनसि मे स्थितः ।
मया क्रतुशतैरिष्टं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ।। ८ ।।

अग्नि मेरा मुख है, पृथ्वी चरण है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं। द्युलोक मेरा मस्तक है। आकाश और दिशाएँ मेरे कान हैं तथा जल मेरे शरीरके पसीनेसे प्रकट हुआ है। दिशाओंसहित आकाश मेरा शरीर है। वायु मेरे मनमें स्थित है। मैंने पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त अनेक शत यज्ञोंद्वारा यजन किया है ।। ७-८ ।।

यजन्ते वेदविदुषो मां देवयजने स्थितम् ।
पृथिव्यां क्षत्रियेन्द्राश्च पार्थिवाः स्वर्गकाङ्क्षिणः ।। ९ ।।
यजन्ते मां तथा वैश्याः स्वर्गलोकजिगीषया ।
चतुःसमुद्रपर्यन्तां मेरुमन्दरभूषणाम् ।। १० ।।
शेषो भूत्वाहमेवैतां धारयामि वसुन्धराम् ।

वेदवेत्ता ब्राह्मण देवयज्ञमें स्थित मुझ यज्ञपुरुषका यजन करते हैं। पृथ्वीका पालन करनेवाले क्षत्रियनरेश स्वर्गप्राप्तिकी अभिलाषासे इस भूतलपर यज्ञोंद्वारा मेरा यजन करते हैं। इसी प्रकार वैश्य भी स्वर्गलोकपर विजय पानेकी इच्छासे मेरी सेवा-पूजा करते हैं। मैं ही शेषनाग होकर मेरुमन्दरसे विभूषित तथा चारों समुद्रोंसे घिरी हुई इस वसुन्धराको अपने सिरपर धारण करता हूँ ।। ९-१०½ ।।

वाराहं रूपमास्थाय मयेयं जगती पुरा ।। ११ ।।
मज्जमाना जले विप्र वीर्येणासीत् समुद्धृता ।
अग्निश्च वडवावक्त्रो भूत्वाहं द्विजसत्तम ।। १२ ।।
पिबाम्यपः सदा विद्वंस्ताश्चैवं विसृजाम्यहम् ।
ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रमूरू मे संस्थिता विशः ।। १३ ।।

विप्रवर! पूर्वकालमें जब यह पृथ्वी जलमें डूब गयी थी, उस समय मैंने ही वाराहरूप धारण करके इसे बलपूर्वक जलसे बाहर निकाला था। विद्वन्! मैं ही बडवामुख अग्नि होकर सदा समुद्रके जलको पीता हूँ और फिर उस जलको बरसा देता हूँ। ब्राह्मण मेरा मुख है, क्षत्रिय दोनों भुजाएँ हैं और वैश्य मेरी दोनों जाँघोंके रूपमें स्थित हैं ।। ११—१३ ।।

पादौ शूद्रा भवन्तीमे विक्रमेण क्रमेण च ।
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणः ।। १४ ।।
मत्तः प्रादुर्भवन्त्येते मामेव प्रविशन्ति च ।

ये शूद्र मेरे दोनों चरण हैं। मेरी शक्तिसे क्रमशः इनका प्रादुर्भाव हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये मुझसे ही प्रकट होते और मुझमें ही लीन हो जाते हैं ।। १४½ ।।

यतयः शान्तिपरमा यतात्मानो बुभुत्सवः ।। १५ ।।
कामक्रोधद्वेषमुक्ता निःसंगा वीतकल्मषाः ।

सत्त्वस्था निरहङ्कारा नित्यमध्यात्मकोविदाः ।। १६ ।।
मामेव सततं विप्राश्चिन्तयन्त उपासते ।

शान्तिपरायण, संयमी, जिज्ञासु, काम-क्रोध-द्वेषरहित आसक्तिशून्य, निष्पाप, सात्त्विक, नित्य अहंकारशून्य तथा अध्यात्मज्ञानकुशल यति एवं ब्राह्मण सदा मेरा ही चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं ।। १५-१६½ ।।

अहं संवर्तको वह्निरहं संवर्तकोऽनलः ।। १७ ।।
अहं संवर्तकः सूर्यस्त्वहं संवर्तकोऽनिलः ।
तारारूपाणि दृश्यन्ते यान्येतानि नभस्तले ।। १८ ।।
मम वै रोमकूपाणि विद्धि त्वं द्विजसत्तम ।
रत्नाकराः समुद्राश्च सर्व एव चतुर्दिशम् ।। १९ ।।
वसनं शयनं चैव विलयं चैव विद्धि मे ।
मयैव सुविभक्तास्ते देवकार्यार्थसिद्धये ।। २० ।।

मैं ही संवर्तक (प्रलयका कारण) वह्नि हूँ। मैं ही संवर्तक अनल हूँ। मैं ही संवर्तक सूर्य हूँ और मैं ही संवर्तक वायु हूँ। द्विजश्रेष्ठ! आकाशमें जो ये तारे दिखायी देते हैं उन सबको मेरे ही रोमकूप समझो। रत्नाकर समुद्र और चारों दिशाओंको मेरे वस्त्र, शय्या और निवासस्थान जानो। मैंने ही देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये इनकी पृथक्-पृथक् रचना की है ।। १७—२० ।।

कामं क्रोधं च हर्षं च भयं मोहं तथैव च ।
ममैव विद्धि रोमाणि सर्वाण्येतानि सत्तम ।। २१ ।।

साधुशिरोमणे! काम, क्रोध, हर्ष, भय और मोह—इन सभी विकारोंको मेरी ही रोमावली समझो ।। २१ ।।

प्राप्नुवन्ति नरा विप्र यत् कृत्वा कर्म शोभनम् ।
सत्यं दानं तपश्चोग्रमहिंसा चैव जन्तुषु ।। २२ ।।
मद्विधानेन विहिता मम देहविहारिणः ।
मयाऽऽविर्भूतविज्ञाना विचेष्टन्ते न कामतः ।। २३ ।।

ब्रह्मन्! जिस शुभ कर्मोंके आचरणसे मनुष्यको कल्याणकी प्राप्ति होती है, वे सत्य, दान, उग्र तपस्या और किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनेका स्वभाव—ये सब मेरे ही विधानसे निर्मित हुए हैं और मेरे ही शरीरमें विहार करते हैं। मैं समस्त प्राणियोंके ज्ञानको जब प्रकट कर देता हूँ, तभी वे चेष्टाशील होते हैं, अन्यथा अपनी इच्छासे वे कुछ नहीं कर सकते ।। २२-२३ ।।

सम्यग् वेदमधीयाना यजन्ते विविधैर्मखैः ।
शान्तात्मानो जितक्रोधाः प्राप्नुवन्ति द्विजातयः ।। २४ ।।

जो द्विजाति अच्छी तरह वेदोंका अध्ययन करके शान्तचित्त और क्रोधशून्य होकर नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा मेरी आराधना करते हैं, उन्हें ही मेरी प्राप्ति होती है ।। २४ ।।

प्राप्तुं न शक्यो यो विद्वन् नरैर्दुष्कृतकर्मभिः ।
लोभाभिभूतैः कृपणैरनार्यैरकृतात्मभिः ।। २५ ।।
तं मां महाफलं विद्धि नराणां भावितात्मनाम् ।
सुदुष्प्रापं विमूढानां मार्गं योगैर्निषेवितम् ।। २६ ।।

विद्वन्! पापकर्मा, लोभी, कृपण, अनार्य और अजितात्मा मनुष्य जिसे कभी नहीं पा सकते वह महान् फल मुझे ही समझो। मैं ही शुद्ध अन्तःकरणवाले मानवोंको सुलभ होनेवाला योगसेवित मार्ग हूँ। मूढ़ मनुष्योंके लिये मैं सर्वथा दुर्लभ हूँ ।। २५-२६ ।।

यदा यदा च धर्मस्य ग्लानिर्भवति सत्तम ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।। २७ ।।
दैत्या हिंसानुरक्ताश्च अवध्याः सुरसत्तमैः ।
राक्षसाश्चापि लोकेऽस्मिन् यदोत्पत्स्यन्ति दारुणाः ।। २८ ।।
तदाहं सम्प्रसूयामि गृहेषु शुभकर्मणाम् ।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् ।। २९ ।।

महर्षे! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मका उत्थान होता है, तब-तब मैं अपने-आपको प्रकट करता हूँ। जब हिंसाप्रेमी दैत्य श्रेष्ठ देवताओंके लिये अवध्य हो जाते हैं तथा भयानक राक्षस जब इस संसारमें उत्पन्न हो अत्याचार करने लगते हैं तब मैं पुण्यात्मा पुरुषोंके घरोंपर मानवशरीरमें प्रविष्ट होकर प्रकट होता हूँ और उन दैत्यों एवं राक्षसोंका सारा उपद्रव शान्त कर देता हूँ ।। २७—२९ ।।

सृष्ट्वा देवमनुष्यांस्तु गन्धर्वोरगराक्षसान् ।
स्थावराणि च भूतानि संहराम्यात्ममायया ।। ३० ।।

मैं ही अपनी मायासे देवता, मनुष्य, गन्धर्व, नाग, राक्षस तथा स्थावर प्राणियोंकी सृष्टि करके समय आनेपर पुनः उनका संहार कर डालता हूँ ।। ३० ।।

कर्मकाले पुनर्देहमविचिन्त्यं सृजाम्यहम् ।
आविश्य मानुषं देहं मर्यादाबन्धकारणात् ।। ३१ ।।

फिर सृष्टि-रचनाके समय मैं अचिन्त्यस्वरूप धारण करता हूँ; तथा मर्यादाकी स्थापना एवं रक्षाके लिये मानव-शरीरसे अवतार लेता हूँ ।। ३१ ।।

श्वेतः कृतयुगे वर्णः पीतस्त्रेतायुगे मम ।
रक्तो द्वापरमासाद्य कृष्णः कलियुगे तथा ।। ३२ ।।

सत्ययुगमें मेरे शरीरका रंग श्वेत, त्रेतामें पीला, द्वापरमें लाल और कलियुगमें काला होता है ।। ३२ ।।

त्रयो भागा ह्यधर्मस्य तस्मिन् काले भवन्ति च ।

अन्तकाले च सन्प्राप्ते कालो भूत्वातिदारुणः ।। ३३ ।।
त्रैलोक्यं नाशयाम्येकः कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ।

उस कलिकालमें तीन हिस्सा अधर्म और एक ही हिस्सा धर्म रहता है। प्रलयकाल आनेपर मैं ही अत्यन्त दारुण कालरूप होकर अकेला ही सम्पूर्ण चराचर त्रिलोकीका नाश करता हूँ ।। ३३½ ।।

अहं त्रिवर्त्मा विश्वात्मा सर्वलोकसुखावहः ।। ३४ ।।
आविर्भूः सर्वगोऽनन्तो हृषीकेश उरुक्रमः ।
कालचक्रं नयाम्येको ब्रह्मन्नहमरूपकम् ।। ३५ ।।
शमनं सर्वभूतानां सर्वलोककृतोद्यमम् ।
एवं प्रणिहितः सम्यङ् ममात्मा मुनिसत्तम ।
सर्वभूतेषु विप्रेन्द्र न च मां वेत्ति कश्चन ।। ३६ ।।

मैं तीनों लोकोंमें व्याप्त, सम्पूर्ण विश्वका आत्मा, सब लोगोंको सुख पहुँचानेवाला, सबकी उत्पत्तिका कारण, सर्वव्यापी, अनन्त, इन्द्रियोंका नियन्ता और महान् विक्रमशाली हूँ। ब्रह्मन्! यह जो सम्पूर्ण भूतोंका संहार करनेवाला और सबको उद्योगशील बनानेवाला अव्यक्त कालचक्र है, इसका संचालन केवल मैं ही करता हूँ। मुनिश्रेष्ठ! इस प्रकार मेरा स्वरूपभूत आत्मा ही सर्वत्र सब प्राणियोंके भीतर भलीभाँति स्थित है। विप्रवर! इतनेपर भी मुझे कोई जानता नहीं है ।। ३४-३६ ।।

सर्वलोके च मां भक्ताः पूजयन्ति च सर्वशः ।
यच्च किंचित् त्वया प्राप्तं मयि क्लेशात्मकं द्विज ।। ३७ ।।
सुखोदयाय तत् सर्वं श्रेयसे च तवानघ ।
यच्च किंचित् त्वया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम् ।। ३८ ।।
विहितः सर्वथैवासी ममात्मा भूतभावनः ।
अर्धं मम शरीरस्य सर्वलोकपितामहः ।। ३९ ।।

समस्त जगत्‌में भक्त पुरुष सब प्रकारसे मेरी आराधना करते हैं। तुमने मेरे निकट आकर जो कुछ भी क्लेश उठाया है, ब्रह्मन्! वह सब तुम्हारे भावी कल्याण और सुखका साधक है। अनघ! लोकमें तुमने जो कोई भी स्थावर-जंगम पदार्थ देखा है, उसके रूपमें सर्वथा मेरा भूत-भावन आत्मा ही प्रकट हुआ है। सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्मा मेरा आधा अंग हैं ।। ३७—३९ ।।

अहं नारायणो नाम शङ्खचक्रगदाधरः ।
यावद्युगानां विप्रर्षे सहस्रपरिवर्तनात् ।। ४० ।।
तावत् स्वपिमि विश्वात्मा सर्वभूतानि मोहयन् ।
एवं सर्वमहं कालमिहास्से मुनिसत्तम ।। ४१ ।।
अशिशुः शिशुरूपेण यावद्ब्रह्मा न बुध्यते ।

ब्रह्मर्षे! मैं शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाला विश्वात्मा नारायण हूँ, सहस्र युगके अन्तमें जो प्रलय होता है वह जबतक रहता है, तबतक सब प्राणियोंको (महानिद्रारूप मायासे) मोहित करके मैं (जलमें) शयन करता हूँ। मुनिश्रेष्ठ! यद्यपि मैं बालक नहीं हूँ, तो भी जबतक ब्रह्मा नहीं जागते, तबतक सदा इसी प्रकार बालकरूप धारण करके यहाँ रहता हूँ ।। ४०-४१½ ।।

मया च दत्तो विप्राग्रय वरस्ते ब्रह्मरूपिणा ।। ४२ ।।
असकृत् परितुष्टेन विप्रर्षिगणपूजित ।
सर्वमेकार्णवं दृष्ट्वा नष्टं स्थावरजङ्गमम् ।। ४३ ।।
विक्लवोऽसि मया ज्ञातस्ततस्ते दर्शितं जगत् ।
अभ्यन्तरं शरीरस्य प्रविष्टोऽसि यदा मम ।। ४४ ।।
दृष्ट्वा लोकं समस्तं च विस्मितो नावबुध्यसे ।
ततोऽसि वक्त्राद् विप्रर्षे द्रुतं निःसारितो मया ।। ४५ ।।

विप्रशिरोमणे! तुम ब्रह्मर्षियोंद्वारा पूजित हो। मैंने ही ब्रह्मारूपसे तुम्हारे ऊपर बार-बार संतुष्ट हो तुम्हें अभीष्ट वर प्रदान किया है। मैंने समझ लिया था कि तुम सम्पूर्ण चराचर जगत्को नष्ट तथा एकार्णवमें निमग्न हुआ देखकर व्याकुल हो रहे हो। इसीलिये तुम्हें पुनः जगत्का दर्शन कराया है। ब्रह्मर्षे! जब तुम मेरे शरीरके भीतर प्रविष्ट हुए थे और समस्त संसारको देखकर विस्मय-विमुग्ध हो फिर सचेत नहीं हो पा रहे थे, तब मैंने तुरंत तुम्हें मुखसे बाहर निकाल दिया था ।। ४२—४५ ।।

आख्यातस्ते मया चात्मा दुर्ज्ञेयो हि सुरासुरैः ।। ४६ ।।
यावत् स भगवान् ब्रह्मा न बुध्येत महातपाः ।
तावत् त्वमिह विप्रर्षे विश्रब्धश्चर वै सुखम् ।। ४७ ।।

ब्रह्मर्षे! इस प्रकार मैंने तुम्हें अपने स्वरूपका उपदेश किया है, जिसका जानना देवता और असुरोंके लिये भी कठिन है। जबतक महातपस्वी भगवान् ब्रह्माका जागरण न हो, तबतक तुम श्रद्धा और विश्वासपूर्वक सुखसे विचरते रहो ।। ४६-४७ ।।

ततो विबुद्धे तस्मिंस्तु सर्वलोकपितामहे ।
एकीभूतो हि स्रक्ष्यामि शरीराणि द्विजोत्तम ।। ४८ ।।

द्विजश्रेष्ठ! सर्वलोकपितामह ब्रह्माके जागनेपर मैं उनसे एकीभूत हो समस्त शरीरोंकी सृष्टि करूँगा ।। ४८ ।।

आकाशं पृथिवीं ज्योतिर्वायुं सलिलमेव च ।
लोके यच्च भवेच्छेषमिह स्थावरजङ्गमम् ।। ४९ ।।

आकाश, पृथ्वी, अग्नि, वायु और जलका तथा इस संसारमें जो अन्य चराचर वस्तुएँ अवशिष्ट हैं, उन सबका निर्माण करूँगा ।। ४९ ।।

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वान्तर्हितस्तात स देवः परमाद्भुतः ।
प्रजाश्चेमाः प्रपश्यामि विचित्रा विविधाः कृताः ।। ५० ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तात युधिष्ठिर! ऐसा कहकर वे परम अद्भुत देवता भगवान् बालमुकुन्द अन्तर्धान हो गये। उनके अन्तर्धान होते ही मैंने देखा कि यह नाना प्रकारकी विचित्र प्रजा ज्यों-की-त्यों उत्पन्न हो गयी है ।। ५० ।।

एवं दृष्टं मया राजंस्तस्मिन् प्राप्ते युगक्षये ।
आश्चर्यं भरतश्रेष्ठ सर्वधर्मभृतां वर ।। ५१ ।।

सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भरतकुल-तिलक युधिष्ठिर! इस प्रकार उस प्रलयकालके आनेपर मुझे यह आश्चर्यजनक अनुभव हुआ था ।। ५१ ।।

यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः ।
स एष पुरुषव्याघ्र सम्बन्धी ते जनार्दनः ।। ५२ ।।

नरश्रेष्ठ! पुरातन प्रलयके समय मुझे जिन कमल-दललोचन देवता भगवान् बालमुकुन्दका दर्शन हुआ था, तुम्हारे सम्बन्धी ये भगवान् श्रीकृष्ण वे ही हैं ।। ५२ ।।

अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम् ।
दीर्घमायुश्च कौन्तेय स्वच्छन्दमरणं मम ।। ५३ ।।

कुन्तीनन्दन! इन्हींके वरदानसे मुझे पूर्वजन्मकी स्मृति भूलती नहीं है। मेरी दीर्घकालीन आयु और स्वच्छन्द मृत्यु भी इन्हींकी कृपाका प्रसाद है ।। ५३ ।।

स एष कृष्णो वार्ष्णेयः पुराणपुरुषो विभुः ।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः ।। ५४ ।।

ये वृष्णिकुल-भूषण महाबाहु श्रीकृष्ण ही वे सर्वव्यापी, अचिन्त्यस्वरूप, पुराण-पुरुष श्रीहरि हैं जो पहले बालरूपमें मुझे दिखायी दिये थे। वे ही यहाँ अवतीर्ण हो भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते हुए-से दीख रहे हैं ।। ५४ ।।

एष धाता विधाता च संहर्ता चैव शाश्वतः ।
श्रीवत्सवक्षा गोविन्दः प्रजापतिपतिः प्रभुः ।। ५५ ।।

श्रीवत्सचिह्न जिनके वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ाता है, वे भगवान् गोविन्द ही इस विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले, सनातन प्रभु और प्रजापतियोंके भी पति हैं ।। ५५ ।।

दृष्ट्वेमं वृष्णिप्रवरं स्मृतिर्मामियमागता ।
आदिदेवमयं जिष्णुं पुरुषं पीतवाससम् ।। ५६ ।।

इन आदिदेवस्वरूप, विजयशील, पीताम्बरधारी पुरुष वृष्णिकुल-भूषण श्रीकृष्णको देखकर मुझे इस पुरातन घटनाकी स्मृति हो आयी है ।। ५६ ।।

सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः ।
गच्छध्यमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः ।। ५७ ।।

कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवो! ये माधव ही समस्त प्राणियोंके पिता और माता हैं। ये ही सबको शरण देनेवाले हैं। अतः तुम सब लोग इन्हींकी शरणमें जाओ ।। ५७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ताश्च ते पार्था यमौ च पुरुषर्षभौ ।
द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम् ।। ५८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मार्कण्डेय मुनिके ऐसा कहनेपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा पुरुषरत्न नकुल-सहदेव—इन सबने द्रौपदीसहित उठकर भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रणाम किया ।। ५८ ।।

स चैतान् पुरुषव्याघ्र साम्ना परमवल्गुना ।
सान्त्वयामास मानार्हो मन्यमानो यथाविधि ।। ५९ ।।

नरश्रेष्ठ! फिर सम्माननीय श्रीकृष्णने भी इन सबका विधिपूर्वक समादर करते हुए परम मधुर सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा इन्हें सब प्रकारसे आश्वासन दिया ।। ५९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि भविष्यकथने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें भविष्यकथनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८९ ।।

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

युगान्तकालिक कलियुगके समयके बर्तावका तथा कल्कि-अवतारका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो मार्कण्डेयं महामुनिम् ।
पुनः पप्रच्छ साम्राज्ये भविष्यां जगतो गतिम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने महामुनि मार्कण्डेयसे अपने साम्राज्यमें जगत्‌की भावी गतिविधिके विषयमें पुनः इस प्रकार प्रश्न किया ।। १ ।।

युधिष्ठिर उवाच

आश्चर्यभूतं भवतः श्रुतं नो वदतां वर ।
मुने भार्गव यद् वृत्तं युगादौ प्रभवात्ययम् ।। २ ।।

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ! भृगुवंशविभूषण महर्षे! हमने आपके मुखसे युगके आदिमें संघटित हुई उत्पत्ति और प्रलयके सम्बन्धमें बड़े आश्चर्यकी बातें सुनी हैं ।। २ ।।

अस्मिन् कलियुगे त्वस्ति पुनः कौतूहलं मम ।
समाकुलेषु धर्मेषु किं नु शेषं भविष्यति ।। ३ ।।

अब मुझे इस कलियुगके विषयमें पुनः विशेषरूपसे सुननेका कुतूहल हो रहा है। जब सारे धर्मोंका उच्छेद हो जायगा, उस समय क्या शेष रह जायगा? ।। ३ ।।

किंवीर्या मानवास्तत्र किमाहारविहारिणः ।
किमायुषः किंवसना भविष्यन्ति युगक्षये ।। ४ ।।

युगान्तकालमें कलियुगके मनुष्योंका बल-पराक्रम कैसा होगा? उनके आहार-विहार कैसे होंगे? उनकी आयु कितनी होगी और उनके परिधान—वस्त्राभूषण कैसे होंगे ।। ४ ।।

कां च काष्ठां समासाद्य पुनः सम्पत्स्यते कृतम् ।
विस्तरेण मुने ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे ।। ५ ।।

कलियुगके किस सीमातक पहुँच जानेपर पुनः सत्ययुग आरम्भ हो जायगा? मुने! इन सब बातोंका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये; क्योंकि आपकी कथा बड़ी विचित्र होती है ।। ५ ।।

इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठः पुनरेवाभ्यभाषत ।
रमयन् वृष्णिशार्दूलं पाण्डवांश्च महानृषिः ।। ६ ।।

युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर मुनिश्रेष्ठ महर्षि मार्कण्डेयने वृष्णिप्रवर श्रीकृष्ण तथा पाण्डवोंको आनन्दित करते हुए पुनः इस प्रकार कहा— ।। ६ ।।

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन् मया दृष्टं यत् पुरा श्रुतमेव च ।
अनुभूतं च राजेन्द्र देवदेवप्रसादजम् ।। ७ ।।
भविष्यं सर्वलोकस्य वृत्तान्तं भरतर्षभ ।
कलुषं कालमासाद्य कथ्यमानं निबोध मे ।। ८ ।।

मार्कण्डेय बोले—भरतश्रेष्ठ राजन्! मैंने देवाधिदेव भगवान् बालमुकुन्दकी कृपासे पूर्वकालमें, निकृष्ट कलिकालके प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण लोकोंके भावी वृत्तान्तके विषयमें जो कुछ देखा-सुना या अनुभव किया है, वह बताता हूँ, सुनो और समझो ।। ७-८ ।।

कृते चतुष्पात् सकलो निर्व्याजोपाधिवर्जितः ।
वृषः प्रतिष्ठितो धर्मो मनुष्ये भरतर्षभ ।। ९ ।।

भरतश्रेष्ठ! सत्ययुगमें मनुष्योंके भीतर वृषरूप धर्म अपने चारों पादोंसे युक्त होनेके कारण सम्पूर्ण रूपमें प्रतिष्ठित होता है। उसमें छल-कपट या दम्भ नहीं होता ।। ९ ।।

अधर्मपादविद्धस्तु त्रिभिरंशैः प्रतिष्ठितः ।
त्रेतायां द्वापरेऽर्धेन व्यामिश्रो धर्म उच्यते ।। १० ।।

किंतु त्रेतामें वह धर्म अधर्मके एक पादसे अभिभूत होकर अपने तीन अंशोंसे ही प्रतिष्ठित होता है। द्वापरमें धर्म आधा ही रह जाता है। आधेमें अधर्म आकर मिल जाता है ।। १० ।।

त्रिभिरंशैरधर्मस्तु लोकानाक्रम्य तिष्ठति ।
तामसं युगमासाद्य तदा भरतसत्तम ।। ११ ।।
चतुर्थांशेन धर्मस्तु मनुष्यानुपतिष्ठति ।
आयुर्वीर्यमथो बुद्धिर्बलं तेजश्च पाण्डव ।। १२ ।।
मनुष्याणामनुयुगं ह्रसतीति निबोध मे ।
राजानो ब्राह्मणा वैश्याः शूद्राश्चैव युधिष्ठिर ।। १३ ।।
व्याजैर्धर्मं चरिष्यन्ति धर्मवैतंसिका नराः ।
सत्यं संक्षेप्स्यते लोके नरैः पण्डितमानिभिः ।। १४ ।।

परंतु भरतश्रेष्ठ! कलियुग आनेपर अधर्म अपने तीन अंशोंद्वारा सम्पूर्ण लोकोंको आक्रान्त करके स्थित होता है और धर्म केवल एक पादसे मनुष्योंमें प्रतिष्ठित होता है। पाण्डुनन्दन! प्रत्येक युगमें मनुष्योंकी आयु, वीर्य, बुद्धि, बल तथा तेज क्रमशः घटते जाते हैं। युधिष्ठिर! अब कलियुगके समयका वर्णन सुनो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी जातियोंके लोग कपटपूर्वक धर्मका आचरण करेंगे और धर्मका जाल बिछाकर दूसरे

लोगोंको ठगते रहेंगे। अपनेको पण्डित माननेवाले लोग सत्यका त्याग कर देंगे ।। ११—१४ ।।

सत्यहान्या ततस्तेषामायुरल्पं भविष्यति ।
आयुषः प्रक्षयाद् विद्यां न शक्ष्यन्त्युपजीवितुम् ।। १५ ।।

सत्यकी हानि होनेसे उनकी आयु थोड़ी हो जायगी और आयुकी कमी होनेके कारण वे अपने जीवन-निर्वाहके योग्य विद्या प्राप्त नहीं कर सकेंगे ।। १५ ।।

विद्याहीनानविज्ञानाल्लोभोऽप्यभिभविष्यति ।
लोभक्रोधपरा मूढाः कामासक्ताश्च मानवाः ।। १६ ।।
वैरबद्धा भविष्यन्ति परस्परवधैषिणः ।

विद्याके बिना ज्ञान न होनेसे उन सबको लोभ दबा लेगा। फिर लोभ और क्रोधके वशीभूत हुए मूढ़ मनुष्य कामनाओंमें फँसकर आपसमें वैर बाँध लेंगे और एक-दूसरेके प्राण लेनेकी घातमें लगे रहेंगे ।। १६½ ।।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः संकीर्यन्तः परस्परम् ।। १७ ।।
शूद्रतुल्या भविष्यन्ति तपःसत्यविवर्जिताः ।
अन्त्या मध्या भविष्यन्ति मध्याश्चान्त्या न संशयः ।। १८ ।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—से आपसमें संतानोत्पादन करके वर्णसंकर हो जायँगे। वे सभी तपस्या और सत्यसे रहित हो शूद्रोंके समान हो जायँगे। अन्त्यज (चाण्डाल आदि) क्षत्रिय-वैश्य आदिके कर्म करेंगे और क्षत्रिय-वैश्य आदि चाण्डालोंके कर्म अपना लेंगे, इसमें संशय नहीं है ।। १७-१८ ।।

ईदृशो भविता लोको युगान्ते पर्युपस्थिते ।
वस्त्राणां प्रवरा शाणी धान्यानां कोरदूषकाः ।। १९ ।।

युगान्तकाल आनेपर लोगोंकी ऐसी ही दशा होगी। वस्त्रोंमें सनके बने हुए वस्त्र अच्छे समझे जायँगे। धानोंमें कोदोका आदर होगा ।। १९ ।।

भार्यामित्राश्च पुरुषा भविष्यन्ति युगक्षये ।
मत्स्यामिषेण जीवन्तो दुहन्तश्चाप्यजैडकम् ।। २० ।।
गोषु नष्टासु पुरुषा येऽपि नित्यं धृतव्रताः ।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भविष्यन्ति युगक्षये ।। २१ ।।

उस युगक्षयके समय पुरुष केवल स्त्रियोंसे ही मित्रता करनेवाले होंगे। कितने ही लोग मछलीके मांससे जीविका चलायेंगे। गायोंके नष्ट हो जानेके कारण मनुष्य भेड़ और बकरीका भी दूध दुहकर पीयेंगे। जो लोग सदा व्रत धारण करके रहनेवाले हैं, वे भी युगान्त कालमें लोभी हो जायँगे ।। २०-२१ ।।

अन्योन्यं परिमुष्णन्तो हिंसयन्तश्च मानवाः ।
अजपा नास्तिकाः स्तेना भविष्यन्ति युगक्षये ।। २२ ।।

लोग एक-दूसरेको लूटेंगे और मारेंगे। युगान्तकालके मनुष्य जपरहित, नास्तिक और चोरी करनेवाले होंगे ।। २२ ।।

सरित्तीरेषु कुद्दालैर्वापयिष्यन्ति चौषधीः ।
ताश्चाप्यल्पफलास्तेषां भविष्यन्ति युगक्षये ।। २३ ।।

नदियोंके किनारेकी भूमिको कुदालोंसे खोदकर लोग वहाँ अनाज बोयेंगे। उन अनाजोंमें भी युगान्तकालके प्रभावसे बहुत कम फल लगेंगे ।। २३ ।।

श्राद्धे दैवे च पुरुषा येऽपि नित्यं धृतव्रताः ।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भोक्ष्यन्तीह परस्परम् ।। २४ ।।

जो सदा (परान्नका त्याग करके) व्रतका पालन करनेवाले लोग हैं, वे भी उस समय लोभवश देवयज्ञ तथा श्राद्धमें एक-दूसरेके यहाँ भोजन करेंगे ।। २४ ।।

पिता पुत्रस्य भोक्ता च पितुः पुत्रस्तथैव च ।
अतिक्रान्तानि भोज्यानि भविष्यन्ति युगक्षये ।। २५ ।।

कलियुगके अन्तिम भागमें पिता पुत्रकी और पुत्र पिताकी शय्या आदिका उपभोग करने लगेंगे। उस समय त्याज्य (अभक्ष्य) पदार्थ भी भोजनके योग्य समझे जायँगे ।। २५ ।।

न व्रतानि चरिष्यन्ति ब्राह्मणा वेदनिन्दकाः ।
न यक्ष्यन्ति न होष्यन्ति हेतुवादविमोहिताः ।
निम्नेष्वीहां करिष्यन्ति हेतुवादविमोहिताः ।। २६ ।।

ब्राह्मणलोग व्रत और नियमोंका पालन तो करेंगे नहीं, उलटे वेदोंकी निन्दा करने लग जायँगे। कोरे तर्कवादसे मोहित होकर वे यज्ञ और होम छोड़ बैठेंगे। वे केवल तर्कवादसे मोहित होकर नीच-से-नीच कर्म करनेके लिये प्रयत्नशील रहेंगे ।। २६ ।।

निम्ने कृषिं करिष्यन्ति योक्ष्यन्ति धुरि धेनुकाः ।
एकहायनवत्सांश्च योजयिष्यन्ति मानवाः ।। २७ ।।

मनुष्य नीची भूमिमें (अर्थात् गायोंके जल पीने और चरनेकी जगहमें) खेती करेंगे। दूध देनेवाली गायोंको भी बोझ ढोनेके काममें लगा देंगे और सालभरके बछड़ोंको भी हलमें जोतेंगे ।। २७ ।।

पुत्रःपितृवधं कृत्वा पिता पुत्रवधं तथा ।
निरुद्वेगो बृहद्वादी न निन्दामुपलप्स्यते ।। २८ ।।

पुत्र पिताका और पिता पुत्रका वध करके भी उद्विग्न नहीं होंगे। अपनी प्रशंसाके लिये लोग बड़ी-बड़ी बातें बनायेंगे, किंतु समाजमें उनकी निन्दा नहीं होगी ।। २८ ।।

म्लेच्छभूतं जगत् सर्वं निष्क्रियं यज्ञवर्जितम् ।
भविष्यति निरानन्दमनुत्सवमथो तथा ।। २९ ।।

सारा संसार म्लेच्छोंकी भाँति शुभ कर्म और यज्ञ-यागादि छोड़ देगा तथा आनन्दशून्य और उत्सवरहित हो जायगा ।। २९ ।।

प्रायशः कृपणानां हि तथाबन्धुमतामपि ।
विधवानां च वित्तानि हरिष्यन्तीह मानवाः ।। ३० ।।
लोग प्रायः दीनों, असहायों तथा विधवाओंका भी धन हड़प लेंगे ।। ३० ।।
स्वल्पवीर्यबलाः स्तब्धा लोभमोहपरायणाः ।
तत्कथादानसंतुष्टा दुष्टानामपि मानवाः ।। ३१ ।।
परिग्रहं करिष्यन्ति मायाचारपरिग्रहाः ।
समाह्वयन्तः कौन्तेय राजानः पापबुद्धयः ।। ३२ ।।
परस्परवधोद्युक्ता मूर्खाः पण्डितमानिनः ।
भविष्यन्ति युगस्यान्ते क्षत्रिया लोककण्टकाः ।। ३३ ।।
उनके शारीरिक बल और पराक्रम क्षीण हो जायँगे। वे उद्दण्ड होकर लोभ और मोहमें डूबे रहेंगे। वैसे ही लोगोंकी चर्चा करने और उनसे दान लेनेमें प्रसन्नताका अनुभव करेंगे। कपटपूर्ण आचारको अपनाकर वे दुष्टोंके दिये हुए दानको भी ग्रहण कर लेंगे। कुन्तीनन्दन! पापबुद्धि राजा एक-दूसरेको युद्धके लिये ललकारते हुए परस्पर एक-दूसरेके प्राण लेनेको उतारू रहेंगे और मूर्ख होते हुए अपनेको पण्डित मानेंगे। इस प्रकार युगान्तकालके सभी क्षत्रिय जगत्‌के लिये काँटे बन जायँगे ।। ३१—३३ ।।
अरक्षितारो लुब्धाश्च मानाहङ्कारदर्पिताः ।
केवलं दण्डरुचयो भविष्यन्ति युगक्षये ।। ३४ ।।
कलियुगकी समाप्तिके समय वे प्रजाकी रक्षा तो करेंगे नहीं, उनसे रुपये ऐंठनेके लिये लोभ अधिक रखेंगे। सदा मान और अहंकारके मदमें चूर रहेंगे। वे केवल प्रजाको दण्ड देनेके कार्यमें ही रुचि रखेंगे ।। ३४ ।।
आक्रम्याक्रम्य साधूनां दारांश्चापि धनानि च ।
भोक्ष्यन्ते निरनुक्रोशा रुदतामपि भारत ।। ३५ ।।
भारत! लोग इतने निर्दयी हो जायँगे कि सज्जन पुरुषोंपर भी बार-बार आक्रमण करके उनके धन और स्त्रियोंका बलपूर्वक उपभोग करेंगे तथा उनके रोने-बिलखनेपर भी दया नहीं करेंगे ।। ३५ ।।
न कन्यां याचते कश्चिन्नापि कन्या प्रदीयते ।
स्वयंग्राहा भविष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते ।। ३६ ।।
कलियुगका अन्त आनेपर न तो कोई किसीसे कन्याकी याचना करेगा और न कोई कन्यादान ही करेगा। उस समयके वर-कन्या स्वयं ही एक-दूसरेको चुन लेंगे ।।
राजानश्चाप्यसंतुष्टाः परार्थान् मूढचेतसः ।
सर्वोपायैर्हरिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ।। ३७ ।।
कलियुगकी समाप्तिके समय असंतोषी तथा मूढ़चित्त राजा भी सब तरहके उपायोंसे दूसरोंके धनका अपहरण करेंगे ।। ३७ ।।

म्लेच्छीभूतं जगत् सर्वं भविष्यति न संशयः ।
हस्तो हस्तं परिमुषेद् युगान्ते समुपस्थिते ।। ३८ ।।

उस समय सारा जगत् म्लेच्छ हो जायगा—इसमें संशय नहीं। एक हाथ दूसरे हाथको लूटेगा—सगा भाई भी भाईके धनको हड़प लेगा ।। ३८ ।।

सत्यं संक्षिप्यते लोके नरैः पण्डितमानिभिः ।
स्थविरा बालमतयो बालाः स्थविरबुद्धयः ।। ३९ ।।

अपनेको पण्डित माननेवाले मुनष्य संसारमें सत्यको मिटा देंगे। बूढ़ोंकी बुद्धि बालकों-जैसी होगी और बालकोंकी बूढ़ों-जैसी ।। ३९ ।।

भीरुस्तथा शूरमानी शूरा भीरुविषादिनः ।
न विश्वसन्ति चान्योन्यं युगान्ते पर्युपस्थिते ।। ४० ।।

युगान्तकाल उपस्थित होनेपर कायर अपनेको शूर-वीर मानेंगे और शूर-वीर कायरोंकी भाँति विषादमें डूबे रहेंगे। कोई एक-दूसरेका विश्वास नहीं करेंगे ।। ४० ।।

एकाहार्यं युगं सर्वं लोभमोहव्यवस्थितम् ।
अधर्मो वर्द्धते तत्र न तु धर्मः प्रवर्तते ।। ४१ ।।

युगके सब लोग लोभ और मोहमें फँसकर भक्ष्याभक्ष्यका विचार किये बिना ही एक साथ सम्मिलित होकर भोजन करने लगेंगे। अधर्म बढ़ेगा और धर्म विदा हो जायगा ।। ४१ ।।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या न शिष्यन्ति जनाधिप ।
एकवर्णस्तदा लोको भविष्यति युगक्षये ।। ४२ ।।

नरेश्वर! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका नाम भी नहीं रह जायगा। युगान्तकालमें सारा विश्व एक वर्ण, एक जातिका हो जायगा ।। ४२ ।।

न क्षंस्यति पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ।
भार्याश्च पतिशुश्रूषां न करिष्यन्ति संक्षये ।। ४३ ।।

युगक्षय-कालमें पिता पुत्रके अपराधको क्षमा नहीं करेंगे और पुत्र भी पिताकी बात नहीं सहेगा। स्त्रियाँ अपने पतियोंकी सेवा छोड़ देंगी ।। ४३ ।।

ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च ।
तान् देशान् संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ।। ४४ ।।

युगान्तकाल आनेपर (लोग) उन प्रदेशोंमें चले जायँगे जहाँ जौ और गेहूँ आदि अनाज अधिक पैदा होते हैं (चाहे वह देश निषिद्ध ही क्यों न हो) ।। ४४ ।।

स्वैराचाराश्च पुरुषा योषितश्च विशाम्पते ।
अन्योन्यं न सहिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ।। ४५ ।।

महाराज! युगान्तकाल आनेपर पुरुष और स्त्रियाँ स्वेच्छाचारी होकर एक-दूसरेके कार्य और विचारको नहीं सहेंगे ।। ४५ ।।

म्लेच्छभूतं जगत् सर्वं भविष्यति युधिष्ठिर ।
न श्राद्धैस्तर्पयिष्यन्ति दैवतानीह मानवाः ।। ४६ ।।

युधिष्ठिर! उस समय सारा जगत् म्लेच्छ हो जायगा। मनुष्य श्राद्ध और यज्ञ-कर्मोंद्वारा पितरों और देवताओंको संतुष्ट नहीं करेंगे ।। ४६ ।।

न कश्चित् कस्यचिच्छ्रोता न कश्चित् कस्यचिद् गुरुः ।
तमोग्रस्तस्तदा लोको भविष्यति जनाधिप ।। ४७ ।।

राजन्! उस समय कोई किसीका उपदेश नहीं सुनेगा और न कोई किसीका गुरु ही होगा। सारा जगत् अज्ञानमय अन्धकारसे आच्छादित हो जायगा ।। ४७ ।।

परमायुश्च भविता तदा वर्षाणि षोडश ।
ततः प्राणान् विमोक्ष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते ।। ४८ ।।
पञ्चमे वाथ षष्ठे वा वर्षे कन्या प्रसूयते ।
सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च प्रजास्यन्ति नरास्तदा ।। ४९ ।।

उस समय युगान्तकाल उपस्थित होनेपर लोगोंकी आयु अधिक-से-अधिक सोलह वर्षकी होगी, उसके बाद वे प्राणत्याग कर देंगे। पाँचवें या छठे वर्षमें स्त्रियाँ बच्चे पैदा करने लगेंगी और सात-आठ वर्षके पुरुष संतानोत्पादनमें प्रवृत्त हो जायँगे ।। ४८-४९ ।।

पत्यौ स्त्री तु तदा राजन् पुरुषो वा स्त्रियं प्रति ।
युगान्ते राजशार्दूल न तोषमुपयास्यति ।। ५० ।।

नृपश्रेष्ठ! युगान्तकाल आनेपर स्त्री अपने पतिसे और पति अपनी स्त्रीसे संतुष्ट नहीं होंगे ।। ५० ।।

अल्पद्रव्या वृथालिङ्गा हिंसा च प्रभविष्यति ।
न कश्चित् कस्यचिद् दाता भविष्यति युगक्षये ।। ५१ ।।

कलियुगके अन्तभागमें लोगोंके पास धन थोड़ा रहेगा और लोग दिखावेके लिये साधुवेष धारण करेंगे। हिंसाका जोर बढ़ेगा और कोई किसीको कुछ देनेवाला नहीं रहेगा ।। ५१ ।।

अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः ।
केशशूलाः स्त्रियश्चापि भविष्यन्ति युगक्षये ।। ५२ ।।

युगक्षयकालमें सभी देशोंके लोग अन्न बेचेंगे। ब्राह्मण वेदविक्रय करेंगे और स्त्रियाँ वेश्या वृत्ति अपना लेंगी ।। ५२ ।।

म्लेच्छाचाराः सर्वभक्षा दारुणाः सर्वकर्मसु ।
भाविनः पश्चिमे काले मनुष्या नात्र संशयः ।। ५३ ।।

युगान्तकालके मनुष्य म्लेच्छों-जैसे आचारवाले और सर्वभक्षी यानी अभक्ष्यका भी भक्षण करनेवाले हो जायँगे। वे प्रत्येक कर्ममें अपनी क्रूरताका परिचय देंगे, इसमें संशय नहीं है ।। ५३ ।।

क्रयविक्रयकाले च सर्वः सर्वस्य वञ्चनम् ।
युगान्ते भरतश्रेष्ठ वित्तलोभात् करिष्यति ।। ५४ ।।

भरतश्रेष्ठ! युगान्तकालमें धनके लोभसे क्रय-विक्रयके समय सभी सबको ठगेंगे ।। ५४ ।।

ज्ञानानि चाप्यविज्ञाय करिष्यन्ति क्रियास्तथा ।
आत्मच्छन्देन वर्तन्ते युगान्ते समुपस्थिते ।। ५५ ।।

क्रियाके तत्त्वको न जानकर भी लोग उसे करनेमें प्रवृत्त होंगे। युगान्तकालके सभी मानव स्वेच्छाचारी हो जायँगे ।। ५५ ।।

स्वभावात् क्रूरकर्माणश्चान्योन्यमभिशंसिनः ।
भवितारो जनाः सर्वे सम्प्राप्ते तु युगक्षये ।। ५६ ।।
आरामांश्चैव वृक्षांश्च नाशयिष्यन्ति निर्व्यथाः ।
भविता संशयो लोके जीवितस्य हि देहिनाम् ।। ५७ ।।

सभी स्वभावतः क्रूर और एक-दूसरेपर मिथ्या कलंक लगानेवाले होंगे। युगान्तकाल उपस्थित होनेपर सब लोग बगीचों और वृक्षोंको कटवा देंगे और ऐसा करते समय उनके मनमें पीड़ा नहीं होगी। प्रत्येक मनुष्यके जीवनधारणमें भी शंका हो जायगी। अर्थात् प्रत्येक मनुष्यका जीवन धारण करना कठिन हो जायगा ।। ५६-५७ ।।

तथा लोभाभिभूताश्च भविष्यन्ति नरा नृप ।
ब्राह्मणांश्च हनिष्यन्ति ब्राह्मणस्वोपभोगिनः ।। ५८ ।।

राजन्! सब लोग लोभके वशीभूत होंगे और ब्राह्मणोंका धन उपभोग करनेका जिनका स्वभाव पड़ गया है, वे धनके लिये ब्राह्मणोंको मार भी डालेंगे ।।

हाहाकृता द्विजाश्चैव भयार्ता वृषलार्दिताः ।
त्रातारमलभन्तो वै भ्रमिष्यन्ति महीमिमाम् ।। ५९ ।।

शूद्रोंके सताये हुए ब्राह्मण भयसे पीड़ित हो हाहाकार करने लगेंगे और अपने लिये कोई रक्षक न मिलनेके कारण सारी पृथ्वीपर निश्चय ही भटकते फिरेंगे ।। ५९ ।।

जीवितान्तकराः क्रूरा रौद्राः प्राणिविहिंसकाः ।
यदा भविष्यन्ति नरास्तदा संक्षेप्स्यते युगम् ।। ६० ।।

जब दूसरोंके जीवनका विनाश करनेवाले क्रूर, भयंकर तथा जीवहिंसक मनुष्य पैदा होने लगें, तब समझ लेना चाहिये कि युगान्तकाल उपस्थित हो गया ।।

आश्रयिष्यन्ति च नदीः पर्वतान् विषमाणि च ।
प्रधावमाना वित्रस्ता द्विजाः कुरुकुलोद्वह ।। ६१ ।।

कुरुकुलतिलक युधिष्ठिर! अत्याचारियोंसे डरे हुए ब्राह्मण इधर-उधर भागकर नदियों, पर्वतों तथा दुर्गम स्थानोंका आश्रय लेंगे ।। ६१ ।।

दस्युभिः पीडिता राजन् काका इव द्विजोत्तमाः ।

कुराजभिश्च सततं करभारप्रपीडिताः ।। ६२ ।।
धैर्यं त्यक्त्वा महीपाल दारुणे युगसंक्षये ।
विकर्माणि करिष्यन्ति शूद्राणां परिचारकाः ।। ६३ ।।

राजन्! श्रेष्ठ ब्राह्मण भी लुटेरोंसे पीड़ित होकर कौओंकी तरह काँव-काँव करते फिरेंगे। दुष्ट राजाओंके लगाये हुए करोंके भारसे सदा पीड़ित होनेके कारण वे धैर्य छोड़कर चल देंगे और शूद्रोंकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहकर धर्मविरुद्ध कार्य करेंगे। भूपाल! भयंकर कलियुगके अन्तमें जगत्‌की यही दशा होगी ।। ६२-६३ ।।

शूद्रा धर्मं प्रवक्ष्यन्ति ब्राह्मणाः पर्युपासकाः ।
श्रोतारश्च भविष्यन्ति प्रामाण्येन व्यवस्थिताः ।। ६४ ।।
विपरीतश्च लोकोऽयं भविष्यत्यधरोत्तरः ।
एडूकान् पूजयिष्यन्ति वर्जयिष्यन्ति देवताः ।। ६५ ।।

शूद्र धर्मोपदेश करेंगे और ब्राह्मणलोग उनकी सेवामें रहकर उसे सुनेंगे तथा उसीको प्रामाणिक मानकर उसका पालन करेंगे। समस्त लोकका व्यवहार विपरीत और उलट-पुलट हो जायगा। ऊँच नीच और नीच ऊँच हो जायँगे। लोग हड्डी जड़ी हुई दीवारोंकी तो पूजा करेंगे और देवविग्रहोंको त्याग देंगे ।। ६४-६५ ।।

शूद्राः परिचरिष्यन्ति न द्विजान् युगसंक्षये ।
आश्रमेषु महर्षीणां ब्राह्मणावसथेषु च ।। ६६ ।।
देवस्थानेषु चैत्येषु नागानामालयेषु च ।
एडूकचिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता ।। ६७ ।।

युगान्तकालमें शूद्र द्विजातियोंकी सेवा नहीं करेंगे। वह समय आनेपर महर्षियोंके आश्रमोंमें, ब्राह्मणोंके घरोंमें, देवस्थानोंमें, चैत्यवृक्षोंके आस-पास और नागालयोंमें जो भूमि होगी, उसपर हड्डी जड़ी हुई दीवारोंका चिह्न तो उपलब्ध होगा; परंतु देवमन्दिर उस भूमिकी शोभा नहीं बढ़ायेंगे ।। ६६-६७ ।।

भविष्यति युगे क्षीणे तद् युगान्तस्य लक्षणम् ।
यदा रौद्रा धर्महीना मांसादाः पानपास्तथा ।। ६८ ।।
भविष्यन्ति नरा नित्यं तदा संक्षेप्स्यते युगम् ।

यह सब युगान्तका लक्षण समझना चाहिये। जब सब मानव सदा भयंकर स्वभाववाले, धर्महीन, मांसखोर और शराबी हो जायँगे, उस समय युगका संहार होगा ।।

पुष्पं पुष्पे यदा राजन् फले वा फलमाश्रितम् ।। ६९ ।।
प्रजास्यति महाराज तदा संक्षेप्स्यते युगम् ।
अकालवर्षी पर्जन्यो भविष्यति गते युगे ।। ७० ।।

महाराज! जब फूलमें फूल, फलमें फल लगने लगेगा, उस समय युगका संहार होगा। युगान्तकालमें मेघ असमयमें ही वर्षा करेंगे ।। ६९-७० ।।

अक्रमेण मनुष्याणां भविष्यन्ति तदा क्रियाः ।
विरोधमथ यास्यन्ति वृषला ब्राह्मणैः सह ।। ७१ ।।

मनुष्योंकी सारी क्रियाएँ क्रमसे विपरीत होंगी। शूद्र ब्राह्मणोंके साथ विरोध करेंगे ।। ७१ ।।

मही म्लेच्छजनाकीर्णा भविष्यति ततोऽचिरात् ।
करभारभयाद् विप्रा भजिष्यन्ति दिशो दश ।। ७२ ।।

सारी पृथ्वी थोड़े ही समयमें म्लेच्छोंसे भर जायगी। ब्राह्मणलोग करोंके भारसे भयभीत होकर दसों दिशाओंकी शरण लेंगे ।। ७२ ।।

निर्विशेषा जनपदास्तथा विष्टिकरार्दिताः ।
आश्रमानुपलप्स्यन्ति फलमूलोपजीविनः ।। ७३ ।।

सारे जनपद एक-जैसे आचार और वेशभूषा बना लेंगे। लोग बेगार लेनेवालों और कर लेनेवालोंसे पीड़ित हो एकान्त आश्रमोंमें चले जायँगे और फल-मूल खाकर जीवन-निर्वाह करेंगे ।। ७३ ।।

एवं पर्याकुले लोके मर्यादा न भविष्यति ।
न स्थास्यन्त्युपदेशे च शिष्या विप्रियकारिणः ।। ७४ ।।

इस तरह उथल-पुथल मच जानेपर संसारमें कोई मर्यादा नहीं रह जायगी। शिष्य गुरुके उपदेशपर नहीं चलेंगे। वे उलटे उनका अहित करेंगे ।। ७४ ।।

आचार्योऽपनिधिश्चैव भर्त्स्यते तदनन्तरम् ।
अर्थयुक्त्या प्रवत्स्यन्ति मित्रसम्बन्धिबान्धवाः ।। ७५ ।।

अपने कुलका आचार्य भी यदि निर्धन हो तो उसे निरन्तर शिष्योंकी डाँट-फटकार सुननी पड़ेगी। मित्र, सम्बन्धी या भाई-बन्धु धनके लालचसे ही अपने पास रहेंगे ।।

अभावः सर्वभूतानां युगान्ते सम्भविष्यति ।
दिशः प्रज्वलिताः सर्वा नक्षत्राण्यप्रभाणि च ।। ७६ ।।

युगान्तकाल आनेपर समस्त प्राणियोंका अभाव हो जायगा। सारी दिशाएँ प्रज्वलित हो उठेंगी और नक्षत्रोंकी प्रभा विलुप्त हो जायगी ।। ७६ ।।

ज्योतींषि प्रतिकूलानि वाताः पर्याकुलास्तथा ।
उल्कापाताश्च बहवो महाभयनिदर्शकाः ।। ७७ ।।

ग्रह उलटी गतिसे चलने लगेंगे। हवा इतनी जोरसे चलेगी कि लोग व्याकुल हो उठेंगे। महान् भयकी सूचना देनेवाले उल्कापात बार-बार होते रहेंगे ।। ७७ ।।

षड्भिरन्यैश्च सहितो भास्करः प्रतपिष्यति ।
तुमुलाश्चापि निर्ह्रादा दिग्दाहाश्चापि सर्वशः ।। ७८ ।।

एक सूर्य तो है ही, छः और उदय होंगे और सातों एक साथ तपेंगे। सब ओर बिजलीकी भयानक गड़गड़ाहट होगी, सब दिशाओंमें आग लगेगी ।। ७८ ।।

कबन्धान्तर्हितो भानुरुदयास्तमने तदा ।
अकालवर्षी भगवान् भविष्यति सहस्रदृक् ।। ७९ ।।

उदय और अस्तके समय सूर्य राहुसे ग्रस्त दिखायी देगा। भगवान् इन्द्र समयपर वर्षा नहीं करेंगे ।।

सस्यानि च न रोक्ष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ।
अभीक्ष्णं क्रूरवादिन्यः परुषा रुदितप्रियाः ।। ८० ।।

युगान्तकाल उपस्थित होनेपर बोयी हुई खेती उगेगी ही नहीं; स्त्रियाँ कठोर स्वभाववाली और सदा कटुवादिनी होंगी। उन्हें रोना ही अधिक पसंद होगा ।। ८० ।।

भर्तॄणां वचने चैव न स्थास्यन्ति ततः स्त्रियः ।
पुत्राश्च मातापितरौ हनिष्यन्ति युगक्षये ।। ८१ ।।

वे पतिकी आज्ञामें नहीं रहेंगी। युगान्तकालमें पुत्र माता-पिताकी हत्या करेंगे ।। ८१ ।।

सूदयिष्यन्ति च पतीन् स्त्रियः पुत्रानपाश्रिताः ।
अपर्वणि महाराज सूर्यं राहुरुपैष्यति ।। ८२ ।।

नारियाँ अपने बेटोंसे मिलकर पतिकी हत्या करा देंगी। महाराज! अमावस्याके बिना ही राहु सूर्यपर ग्रहण लगायेगा ।। ८२ ।।

युगान्ते हुतभुक् चापि सर्वतः प्रज्वलिष्यति ।
पानीयं भोजनं चापि याचमानास्तदाध्वगाः ।। ८३ ।।
न लप्स्यन्ते निवासं च निरस्ताः पथि शेरते ।

युगान्तकाल आनेपर सब ओर आग भी जल उठेगी। उस समय पथिकोंको माँगनेपर कहीं अन्न, जल या ठहरनेके लिये स्थान नहीं मिलेगा। वे सब ओरसे कोरा जवाब पाकर निराश हो सड़कोंपर ही सो रहेंगे ।।

निर्घातवायसा नागाः शकुनाः समृगद्विजाः ।। ८४ ।।
रूक्षा वाचो विमोक्ष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ।
मित्रसम्बन्धिनश्चापि संत्यक्ष्यन्ति नरास्तदा ।। ८५ ।।
जनं परिजनं चापि युगान्ते पर्युपस्थिते ।

युगान्तकाल उपस्थित होनेपर बिजलीकी कड़कके समान कड़वी बोली बोलनेवाले कौवे, हाथी, शकुन, पशु और पक्षी आदि बड़ी कठोर वाणी बोलेंगे। उस समयके मनुष्य अपने मित्रों, सम्बन्धियों, सेवकों तथा कुटुम्बीजनोंको भी अकारण त्याग देंगे ।। ८४-८५½ ।।

अथ देशान् दिशश्चापि पत्तनानि पुराणि च ।। ८६ ।।
क्रमशः संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ।
हा तात हा सुतेत्येवं तदा वाचः सुदारुणाः ।। ८७ ।।
विक्रोशमानश्चान्योन्यं जनो गां पर्यटिष्यति ।

ततस्तुमुलसङ्घाते वर्तमाने युगक्षये ।। ८८ ।।

प्रायः लोग स्वदेश छोड़कर दूसरे देशों, दिशाओं, नगरों और गाँवोंका आश्रय लेंगे और हा तात! हा पुत्र! इत्यादि रूपसे अत्यन्त दुःखद वाणीमें एक-दूसरेको पुकारते हुए इस पृथ्वीपर विचरेंगे। युगान्तकालमें संसारकी यही दशा होगी। उस समय एक ही साथ समस्त लोकोंका भयंकर संहार होगा ।। ८६—८८ ।।

द्विजातिपूर्वको लोकः क्रमेण प्रभविष्यति ।
ततः कालान्तरेऽन्यस्मिन् पुनर्लोकविवृद्धये ।। ८९ ।।
भविष्यति पुनर्दैवमनुकूलं यदृच्छया ।
यदा सूर्यश्च चन्द्रश्च तथा तिष्यबृहस्पती ।। ९० ।।
एकराशौ समेष्यन्ति प्रपत्स्यति तदा कृतम् ।
कालवर्षी च पर्जन्यो नक्षत्राणि शुभानि च ।। ९१ ।।

तदनन्तर कालान्तरमें सत्ययुगका आरम्भ होगा और फिर क्रमशः ब्राह्मण आदि वर्ण प्रकट होकर अपने प्रभावका विस्तार करेंगे। उस समय लोकके अभ्युदयके लिये पुनः अनायास दैव अनुकूल होगा। जब सूर्य, चन्द्रमा और बृहस्पति एक साथ पुष्य नक्षत्र एवं तदनुरूप एक राशि कर्कमें पदार्पण करेंगे, तब सत्ययुगका प्रारम्भ होगा। उस समय मेघ समयपर वर्षा करेगा। नक्षत्र शुभ एवं तेजस्वी हो जायँगे ।। ८९—९१ ।।

प्रदक्षिणा ग्रहाश्चापि भविष्यन्त्यनुलोमगाः ।
क्षेमं सुभिक्षमारोग्यं भविष्यति निरामयम् ।। ९२ ।।

ग्रह प्रदक्षिणाभावसे अनुकूल गतिका आश्रय ले अपने पथपर अग्रसर होंगे। उस समय सबका मंगल होगा। देशमें सुकाल आ जायगा। आरोग्यका विस्तार होगा। तथा रोग-व्याधिका नाम भी नहीं रहेगा ।। ९२ ।।

कल्की विष्णुयशा नाम द्विजः कालप्रचोदितः ।
उत्पत्स्यते महावीर्यो महाबुद्धिपराक्रमः ।। ९३ ।।
सम्भूतः सम्भलग्रामे ब्राह्मणावसथे शुभे ।
(महात्मा वृत्तसम्पन्नः प्रजानां हितकृन्नृप ।)

राजन्! युगान्तके समय कालकी प्रेरणासे सम्भल नामक ग्राममें किसी ब्राह्मणके मंगलमय गृहमें एक महान् शक्तिशाली बालक प्रकट होगा, जिसका नाम होगा विष्णुयशा कल्की। वह महान् बुद्धि एवं पराक्रमसे सम्पन्न महात्मा, सदाचारी तथा प्रजावर्गका हितैषी होगा। (वह बालक ही भगवान्का कल्की अवतार कहलायेगा) ।। ९३ ।।

मनसा तस्य सर्वाणि वाहनान्यायुधानि च ।। ९४ ।।
उपस्थास्यन्ति योधाश्च शस्त्राणि कवचानि च ।
स धर्मविजयी राजा चक्रवर्ती भविष्यति ।। ९५ ।।

मनके द्वारा चिन्तन करते ही उसके पास इच्छानुसार वाहन, अस्त्र-शस्त्र, योद्धा और कवच उपस्थित हो जायँगे। वह धर्मविजयी चक्रवर्ती राजा होगा ।। ९४-९५ ।।

स चेमं संकुलं लोकं प्रसादमुपनेष्यति ।

उत्थितो ब्राह्मणो दीप्तः क्षयान्तकृदुदारधीः ।। ९६ ।।

वह उदारबुद्धि, तेजस्वी ब्राह्मण, दुःखसे व्याप्त हुए इस जगत्को आनन्द प्रदान करेगा। कलियुगका अन्त करनेके लिये ही उसका प्रादुर्भाव होगा ।। ९६ ।।

संक्षेपको हि सर्वस्य युगस्य परिवर्तकः ।

स सर्वत्र गतान् क्षुद्रान् ब्राह्मणैः परिवारितः ।

उत्सादयिष्यति तदा सर्वम्लेच्छगणान् द्विजः ।। ९७ ।।

वही सम्पूर्ण कलियुगका संहार करके नूतन सत्ययुगका प्रवर्तक होगा। वह ब्राह्मणोंसे घिरा हुआ सर्वत्र विचरेगा और भूमण्डलमें सर्वत्र फैले हुए नीच स्वभाववाले सम्पूर्ण म्लेच्छोंका संहार कर डालेगा ।। ९७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि भविष्यकथने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें भविष्यवर्णनविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९० ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ९७½ श्लोक हैं)

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् कल्कीके द्वारा सत्ययुगकी स्थापना और मार्कण्डेयजीका युधिष्ठिरके लिये धर्मोपदेश

मार्कण्डेय उवाच

ततश्चोरक्षयं कृत्वा द्विजेभ्यः पृथिवीमिमाम् ।
वाजिमेधे महायज्ञे विधिवत् कल्पयिष्यति ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस समय चोर-डाकुओं एवं म्लेच्छोंका विनाश करके भगवान् कल्की अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान करेंगे और उसमें यह सारी पृथ्वी विधिपूर्वक ब्राह्मणको दे डालेंगे ।। १ ।।

स्थापयित्वा च मर्यादाः स्वयम्भुविहिताः शुभाः ।
वनं पुण्ययशःकर्मा रमणीयं प्रवेक्ष्यति ।। २ ।।

उनका यश तथा कर्म सभी परम पावन होंगे। वे ब्रह्माजीकी चलायी हुई मंगलमयी मर्यादाओंकी स्थापना करके (तपस्याके लिये) रमणीय वनमें प्रवेश करेंगे ।। २ ।।

तच्छीलमनुवर्त्स्यन्ति मनुष्या लोकवासिनः ।
विप्रैश्चोरक्षये चैव कृते क्षेमं भविष्यति ।। ३ ।।

फिर इस जगत्के निवासी मनुष्य उनके शील-स्वभावका अनुकरण करेंगे। इस प्रकार सत्ययुगमें ब्राह्मणोंद्वारा दस्युदलका विनाश हो जानेपर संसारका मंगल होगा ।। ३ ।।

कृष्णाजिनानि शक्तीश्च त्रिशूलान्यायुधानि च ।
स्थापयन् द्विजशार्दूलो देशेषु विजितेषु च ।। ४ ।।
संस्तूयमानो विप्रेन्द्रैर्मानयानो द्विजोत्तमान् ।
कल्की चरिष्यति महीं सदा दस्युवधे रतः ।। ५ ।।

द्विजश्रेष्ठ कल्की सदा दस्युवधमें तत्पर रहकर समस्त भूतलपर विचरते रहेंगे और अपने द्वारा जीते हुए देशोंमें काले मृगचर्म, शक्ति, त्रिशूल तथा अन्य अस्त्र-शस्त्रोंकी स्थापना करते हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा अपनी स्तुति सुनेंगे और स्वयं भी उन ब्राह्मणशिरोमणियोंको यथोचित सम्मान देंगे ।। ४-५ ।।

हा मातस्तात पुत्रेति तास्ता वाचः सुदारुणाः ।
विक्रोशमानान् सुभृशं दस्यून् नेष्यति संक्षयम् ।। ६ ।।
ततोऽधर्मविनाशो वै धर्मवृद्धिश्च भारत ।
भविष्यति कृते प्राप्ते क्रियावांश्च जनस्तथा ।। ७ ।।

उस समय चोर और लुटेरे दर्दभरी वाणीमें 'हाय मैया', 'हाय बप्पा' और 'हाय बेटा' इत्यादि कहकर जोर-जोरसे चीत्कार करेंगे और उन सबका भगवान् कल्की विनाश कर डालेंगे। भारत! दस्युओंके नष्ट हो जानेपर अधर्मका भी नाश हो जायगा और धर्मकी वृद्धि होने लगेगी। इस प्रकार सत्ययुग आ जानेपर सब मनुष्य सत्यकर्मपरायण होंगे ।। ६-७ ।।

आरामाश्चैव चैत्याश्च तटाकावसथास्तथा ।
पुष्करिण्यश्च विविधा देवतायतनानि च ।। ८ ।।
यज्ञक्रियाश्च विविधा भविष्यन्ति कृते युगे ।
ब्राह्मणाः साधवश्चैव मुनयश्च तपस्विनः ।। ९ ।।

उस युगमें नये-नये बगीचे लगाये जायँगे। चैत्यवृक्षोंकी स्थापना होगी। पोखरों और धर्मशालाओंका निर्माण होगा। भाँति-भाँतिकी पोखरियाँ तैयार होंगी। कितने ही देवमन्दिर बनेंगे और नाना प्रकारके यज्ञकर्मोंका अनुष्ठान होगा। ब्राह्मण साधु-स्वभावके होंगे। मुनिलोग तपस्यामें तत्पर रहेंगे ।। ८-९ ।।

आश्रमा हतपाखण्डाः स्थिताः सत्यरताः प्रजाः ।
जनिष्यन्ते च बीजानि रोप्यमाणानि चैव ह ।। १० ।।

आश्रम पाखण्डियोंसे रहित होंगे और सारी प्रजा सत्यपरायण होगी। खेतोंमें बोये जानेवाले सब प्रकारके बीज अच्छी तरह उगेंगे ।। १० ।।

सर्वेष्वृतुषु राजेन्द्र सर्वं सस्यं भविष्यति ।
नरा दानेषु निरता व्रतेषु नियमेषु च ।। ११ ।।

राजेन्द्र! सभी ऋतुओंमें सभी प्रकारके अनाज पैदा होंगे। सब लोग दान, व्रत और नियमोंमें लगे रहेंगे ।। ११ ।।

जपयज्ञपरा विप्रा धर्मकामा मुदा युताः ।
पालयिष्यन्ति राजानो धर्मेणेमां वसुन्धराम् ।। १२ ।।

ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक जपयज्ञमें तत्पर रहेंगे और धर्ममें ही उनकी रुचि होगी। क्षत्रियनरेश धर्मपूर्वक इस पृथ्वीका पालन करेंगे ।। १२ ।।

व्यवहाररता वैश्या भविष्यन्ति कृते युगे ।
षट्कर्मनिरता विप्राः क्षत्रिया विक्रमे रताः ।। १३ ।।
शुश्रूषायां रताः शूद्रास्तथा वर्णत्रयस्य च ।

सत्ययुगके वैश्य सदा न्यायपूर्वक व्यापार करनेवाले होंगे। ब्राह्मण यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंमें तत्पर रहेंगे। क्षत्रिय बल-पराक्रममें अनुराग रखेंगे तथा शूद्र ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंकी सेवामें लगे रहेंगे ।। १३ 1/2 ।।

एष धर्मः कृतयुगे त्रेतायां द्वापरे तथा ।। १४ ।।
पश्चिमे युगकाले च यः स ते सम्प्रकीर्तितः ।
सर्वलोकस्य विदिता युगसंख्या च पाण्डव ।। १५ ।।

धर्मका यह स्वरूप सत्ययुगमें अक्षुण्ण रहेगा। त्रेता, द्वापर तथा कलियुगमें धर्मकी जैसी स्थिति रहेगी, उसका वर्णन तुमसे किया जा चुका है। पाण्डुनन्दन! तुम्हें सम्पूर्ण लोककी युग-संख्याका ज्ञान भी हो चुका है ।। १४-१५ ।।

एतत् ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा ।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम् ।। १६ ।।

राजन्! ऋषियोंद्वारा प्रशंसित तथा वायुदेवद्वारा वर्णित पुराणकी बातोंका स्मरण करके मैंने तुमसे यह भूत-भविष्यका सारा वृत्तान्त बताया है ।। १६ ।।

एवं संसारमार्गा मे बहुशश्चिरजीविना ।
दृष्टाश्चैवानुभूताश्च तांस्ते कथितवानहम् ।। १७ ।।

इस प्रकार चिरजीवी होनेके कारण मैंने संसारके मार्गोंका अनेक बार दर्शन और अनुभव किया है, जिनका तुम्हारे समक्ष वर्णन कर दिया है ।। १७ ।।

इदं चैवापरं भूयः सह भ्रातृभिरच्युत ।
धर्मसंशयमोक्षार्थं निबोध वचनं मम ।। १८ ।।

धर्ममर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले युधिष्ठिर! तुम अपने भाइयोंसहित यह मेरी एक बात और सुनो। धर्मविषयक संदेहका निवारण करनेके लिये मेरे वचनको ध्यान देकर सुनो ।। १८ ।।

धर्मे त्वयाऽऽत्मा संयोज्यो नित्यं धर्मभृतां वर ।
धर्मात्मा हि सुखं राजन् प्रेत्य चेह च नन्दति ।। १९ ।।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाराज! तुम्हें अपने-आपको सदा धर्ममें ही लगाये रखना चाहिये; क्योंकि धर्मात्मा मनुष्य इस लोक और परलोकमें भी बड़े सुखसे रहता है ।। १९ ।।

निबोध च शुभां वाणीं यां प्रवक्ष्यामि तेऽनघ ।
न ब्राह्मणे परिभवः कर्तव्यस्ते कदाचन ।। २० ।।
ब्राह्मणः कुपितो हन्यादपि लोकान् प्रतिज्ञया ।

निष्पाप नरेश! मेरी इस कल्याणमयी वाणीको समझो, जिसे मैं अभी तुम्हें सुना रहा हूँ। युधिष्ठिर! तुम्हें कभी किसी ब्राह्मणका तिरस्कार नहीं करना चाहिए; क्योंकि यदि ब्राह्मण कुपित हो जाय और किसी बातकी प्रतिज्ञा कर ले, तो वह उस प्रतिज्ञाके अनुसार सम्पूर्ण लोकोंका विनाश कर सकता है ।। २०½ ।।

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयवचः श्रुत्वा कुरूणां प्रवरो नृपः ।। २१ ।।
उवाच वचनं धीमान् परमं परमद्युतिः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मार्कण्डेयजीकी यह बात सुनकर परम तेजस्वी और बुद्धिमान् कुरुकुलरत्न राजा युधिष्ठिरने यह उत्तम वचन कहा— ।। २१½ ।।

कस्मिन् धर्मे मया स्थेयं प्रजाः संरक्षता मुने ।। २२ ।।
कथं च वर्तमानो वै न च्यवेयं स्वधर्मतः ।

'मुने! प्रजाकी रक्षा करते हुए किस धर्ममें स्थित रहना चाहिये। मेरा व्यवहार और बर्ताव कैसा हो, जिससे मैं स्वधर्मसे कभी च्युत न होऊँ?' ।। २२½ ।।

मार्कण्डेय उवाच

दयावान् सर्वभूतेषु हितो रक्तोऽनसूयकः ।। २३ ।।
सत्यवादी मृदुर्दान्तः प्रजानां रक्षणे रतः ।
चर धर्मं त्यजाधर्मं पितॄन् देवांश्च पूजय ।। २४ ।।

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! तुम सब प्राणियोंपर दया करो। सबके हितैषी बने रहो। सबपर प्रेमभाव रखो और किसीमें दोषदृष्टि मत करो। सत्यवादी, कोमलस्वभाव, जितेन्द्रिय और प्रजापालनमें तत्पर रहकर धर्मका आचरण करो। अधर्मको दूरसे ही त्याग दो तथा देवता और पितरोंकी आराधना करते रहो ।। २३-२४ ।।

प्रमादाद् यत् कृतं तेऽभूत् सम्यग् दानेन तज्जय ।
अलं ते मानमाश्रित्य सततं परवान् भव ।। २५ ।।

यदि प्रमादवश तुम्हारेद्वारा किसीके प्रति कोई अनुचित व्यवहार हो गया हो तो उसे अच्छी प्रकार दानसे संतुष्ट करके वशमें करो। मैं सबका स्वामी हूँ, ऐसे अहंकारको कभी पासमें न आने दो। तुम अपनेको सदा पराधीन समझते रहो ।। २५ ।।

विजित्य पृथिवीं सर्वां मोदमानः सुखी भव ।
एष भूतो भविष्यश्च धर्मस्ते समुदीरितः ।। २६ ।।
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिदतीतानागतं भुवि ।
तस्मादिमं परिक्लेशं त्वं तात हृदि मा कृथाः ।। २७ ।।

सारी पृथ्वीको जीतकर सदा सानन्द और सुखी रहो। तात युधिष्ठिर! मैंने तुम्हें जो यह धर्म बताया है, इसका पालन भूतकालमें भी हुआ है और भविष्यकालमें भी इसका पालन होना चाहिए। भूत और भविष्यकी ऐसी कोई बात नहीं है, जो तुम्हें ज्ञात न हो; अतः इस समय जो यह क्लेश तुम्हें प्राप्त हुआ है, इसके लिये हृदयमें कोई विचार न करो ।। २६-२७ ।।

प्राज्ञास्तात न मुह्यन्ति कालेनापि प्रपीडिताः ।
एष कालो महाबाहो अपि सर्वदिवौकसाम् ।। २८ ।।

तात! विद्वान् पुरुष कालसे पीड़ित होनेपर भी कभी मोहमें नहीं पड़ते। महाबाहो! यह काल सम्पूर्ण देवताओंपर भी अपना प्रभाव डालता है ।। २८ ।।

मुह्यन्ति हि प्रजास्तात कालेनापि प्रचोदिताः ।
मा च तत्र विशङ्काभूद् यन्मयोक्तं तवानघ ।। २९ ।।

युधिष्ठिर! कालसे प्रेरित होकर ही यह सारी प्रजा मोहग्रस्त होती है। अनघ! मैंने तुम्हारे सामने जो कुछ भी कहा है, उसमें तुम्हें किसी प्रकारकी शंका नहीं होनी चाहिये ।। २९ ।।

आशङ्कय मद्वचो ह्येतद् धर्मलोपो भवेत् तव ।
जातोऽसि प्रथिते वंशे कुरूणां भरतर्षभ ।। ३० ।।
कर्मणा मनसा वाचा सर्वमेतत् समाचर ।

मेरे इस वचनमें संदेह करनेपर तुम्हारे धर्मका लोप होगा। भरतकुलभूषण। तुम कौरवोंके प्रख्यात कुलमें उत्पन्न हुए हो; अतः मन, वाणी और क्रियाद्वारा इन सब बातोंका पालन करो ।। ३०½ ।।

युधिष्ठिर उवाच

यत् त्वयोक्तं द्विजश्रेष्ठ वाक्यं श्रुतिमनोहरम् ।। ३१ ।।
तथा करिष्ये यत्नेन भवतः शासनं विभो ।
न मे लोभोऽस्ति विप्रेन्द्र न भयं न च मत्सरः ।। ३२ ।।
करिष्यामि हि तत् सर्वमुक्तं यत् ते मयि प्रभो ।

युधिष्ठिरने कहा—द्विजश्रेष्ठ! आपने मुझे जो उपदेश दिया है, वह मेरे कानोंको मधुर एवं मनको प्रिय लगा है। विभो! मैं आपकी आज्ञाका यत्नपूर्वक पालन करूँगा। ब्राह्मणश्रेष्ठ! मेरे मनमें लोभ, भय और ईर्ष्या नहीं है। प्रभो! आपने मेरे लिये जो कहा है, इसका अवश्य पालन करूँगा ।। ३१-३२½ ।।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु वचनं तस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः ।। ३३ ।।
संहृष्टाः पाण्डवा राजन् सहिताः शार्ङ्गधन्वना ।
विप्रर्षभाश्च ते सर्वे ये तत्रासन् समागताः ।। ३४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उन परम बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीका वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णसहित पाँचों पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए। साथ ही जो श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँ पधारे थे, उन सबको भी बड़ी प्रसन्नता हुई ।। ३३-३४ ।।

तथा कथां शुभां श्रुत्वा मार्कण्डेयस्य धीमतः ।
विस्मिताः समपद्यन्त पुराणस्य निवेदनात् ।। ३५ ।।

बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीके मुखसे वह मंगलमयी कथा सुनकर पुराणोक्त बातोंका ज्ञान हो जानेसे सब लोग बड़े ही विस्मित और प्रसन्न हुए ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि युधिष्ठिरानुशासने एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें युधिष्ठिरके लिये उपदेशविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९१ ।।

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

इक्ष्वाकुवंशी परीक्षित्‌का मण्डूकराजकी कन्यासे विवाह, शल और दलके चरित्र तथा वामदेव मुनिकी महत्ता

वैशम्पायन उवाच

भूय एव ब्राह्मणमहाभाग्यं वक्तुमर्हसीत्यब्रवीत् पाण्डवेयो मार्कण्डेयम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने मुनिवर मार्कण्डेयसे कहा—‘ब्रह्मन्! पुनः ब्राह्मणोंकी महिमाका वर्णन कीजिये’ ।। १ ।।

अथाचष्ट मार्कण्डेयोऽपूर्वमिदं श्रूयतां ब्राह्मणानां चरितम् ।। २ ।।

तब मार्कण्डेयजीने कहा—‘राजन्! ब्राह्मणोंके इस अद्भुत चरित्रका श्रवण करो ।। २ ।।

‘अयोध्यायामिक्ष्वाकुकुलोद्वहः पार्थिवः परिक्षिन्नाम मृगयामगमत् ।। ३ ।।

‘अयोध्यापुरीमें इक्ष्वाकुकुलके धुरंधर वीर राजा परीक्षित् रहते थे। वे एक दिन शिकार खेलनेके लिये गये ।। ३ ।।

तमेकाश्वेन मृगमनुसरन्तं मृगो दूरमपाहरत् ।। ४ ।।

‘उन्होंने एकमात्र अश्वकी सहायतासे एक हिंसक पशुका पीछा किया। वह पशु उन्हें बहुत दूर हटा ले गया ।। ४ ।।

अध्वनि जातश्रमः क्षुत्तृष्णाभिभूतश्चैकस्मिन् देशे नीलं गहनं वनखण्डमपश्यत् ।। ५ ।।

‘मार्गमें उन्हें बड़ी थकावट हुई और वे भूख-प्याससे व्याकुल हो गये। उसी समय उन्हें एक ओर नीले रंगका एक दूसरा वन दिखायी दिया, जो और भी घना था ।। ५ ।।

तच्च विवेश ततस्तस्य वनखण्डस्य मध्येऽतीव रमणीयं सरो दृष्ट्वा साश्व एव व्यगाहत ।। ६ ।।

‘तत्पश्चात् राजाने उसके भीतर प्रवेश किया। उस वनस्थलीके मध्यभागमें एक अत्यन्त रमणीय सरोवर था। उसे देखकर राजा घोड़ेसहित सरोवरके जलमें घुस गये ।। ६ ।।

अथाश्वस्तः स बिसमृणालमश्वायाग्रतो निक्षिप्य पुष्करिणीतीरे संविवेश । ततः शयानो मधुरं गीतमशृणोत् ।। ७ ।।

‘जल पीकर जब वे कुछ आश्वस्त हुए, तब घोड़ेके आगे कुछ कमलकी नालें डालकर स्वयं उस सरोवरके तटपर लेट गये। लेटे-ही-लेटे उनके कानोंमें कहींसे मधुर गीतकी ध्वनि सुनायी पड़ी ।। ७ ।।

स श्रुत्वाचिन्तयन्नेह मनुष्यगतिं पश्यामि कस्य खल्वयं गीतशब्द इति ।। ८ ।।

‘उसे सुनकर राजा सोचने लगे कि ‘यहाँ मनुष्योंकी गति तो नहीं दिखायी देती। फिर यह किसके गीतका शब्द सुनायी देता है’ ।। ८ ।।

अथापश्यत् कन्यां परमरूपदर्शनीयां पुष्पाण्यवचिन्वन्तीं गायन्तीं च । अथ सा राज्ञः समीपे पर्यक्रामत् ।। ९ ।।

‘इतनेहीमें उनकी दृष्टि एक कन्यापर पड़ी, जो अपने परम सुन्दर रूपके कारण देखने ही योग्य थी। वह वनके फूल चुनती हुई गीत गा रही थी। धीरे-धीरे भ्रमण करती हुई वह राजाके समीप आ गयी ।। ९ ।।

तामब्रवीद् राजा कस्यासि भद्रे का वा त्वमिति । सा प्रत्युवाच कन्याऽस्मीति तां राजोवाचार्थी त्वयाहमिति ।। १० ।।

‘तब राजाने उससे पूछा—‘कल्याणी! तुम कौन और किसकी हो?’ उसने उत्तर दिया—‘मैं कन्या हूँ—अभी मेरा विवाह नहीं हुआ है।’ तब राजाने उससे कहा—‘भद्रे! मैं तुझे चाहता हूँ’ ।। १० ।।

अथोवाच कन्या समयेनाहं शक्या त्वया लब्धुं नान्यथेति राजा तां समयमपृच्छत् । कन्योवाच नोदकं मे दर्शयितव्यमिति ।। ११ ।।

‘कन्या बोली’ तुम मुझे एक शर्तके साथ पा सकते हो अन्यथा नहीं।’ राजाने उससे वह शर्त पूछी। कन्याने कहा—‘मुझे कभी जलका दर्शन न कराना’ ।। ११ ।।

स राजा तां बाढमित्युक्त्वा तामुपयेमे कृतोद्वाहश्च राजा परीक्षित् क्रीडमानो मुदा परमया युक्तस्तूष्णीं सङ्गम्य तया सहास्ते ।। १२ ।।

‘तब राजाने उससे ‘बहुत अच्छा’ कहकर उससे (गान्धर्व) विवाह किया। विवाहके पश्चात् राजा परीक्षित् अत्यन्त आनन्दपूर्वक उसके साथ क्रीड़ा-विहार करने लगे और एकान्तमें मिलकर उसके साथ चुपचाप बैठे रहे ।। १२ ।।

ततस्तत्रैवासीने राजनि सेनान्वगच्छत् ।। १३ ।।

‘राजा अभी वहीं बैठे थे, इतनेहीमें उनकी सेना आ पहुँची ।। १३ ।।

सा सेनोपविष्टं राजानं परिवार्यातिष्ठत् । पर्याश्वस्तश्च राजा तयैव सह शिबिकया प्रायादव-घोटितया स स्वं नगरमनुप्राप्य रहसि तया सहास्ते ।। १४ ।।

‘वह सेना अपने बैठे हुए राजाको चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयी। अच्छी तरह सुस्ता लेनेके पश्चात् राजा एक साफ-सुथरी चिकनी पालकीमें उसीके साथ बैठकर अपने नगरको चल दिये और वहाँ पहुँचकर उस नवविवाहिता सुन्दरीके साथ एकान्तवास करने लगे ।। १४ ।।

तत्राभ्याशस्थोऽपि कश्चिन्नापश्यदथ प्रधानामा-त्योऽभ्याशचरास्तस्य स्त्रियोऽपृच्छत् ।। १५ ।।

‘वहाँ निकट होते हुए भी कोई उनका दर्शन नहीं कर पाता था। तब एक दिन प्रधान मन्त्रीने राजाके पास रहनेवाली स्त्रियोंसे पूछा— ।। १५ ।।

किमत्र प्रयोजनं वर्तते इत्यथाब्रुवंस्ताः स्त्रियः ।। १६ ।।

'यहाँ तुम्हारा क्या काम है?' उनके ऐसा पूछनेपर उन स्त्रियोंने कहा— ।। १६ ।।

अपूर्वमिव पश्याम उदकं नात्र नीयत इत्यथामात्योऽनुदकं वनं कारयित्वोदारवृक्षं बहुपुष्प-फलमूलं तस्य मध्ये मुक्ताजालमयीं पार्श्वे वापीं गूढां सुधासलिललिप्तां स रहस्युपगम्य राजान-मब्रवीत् ।। १७ ।।

'हमें यहाँ एक अद्भुत-सी बात दिखायी देती है। महाराजके अन्तःपुरमें पानी नहीं जाने पाता है। (हमलोग इसीकी चौकसी करती हैं।)' उनकी यह बात सुनकर प्रधान मन्त्रीने एक बाग लगवाया, जिसमें प्रत्यक्षरूपसे कोई जलाशय नहीं था। उसमें बड़े सुन्दर और ऊँचे-ऊँचे वृक्ष लगवाये गये थे। वहाँ फल-फूल और कन्द-मूलकी भी बहुतायत थी। उस उपवनके मध्यभागमें एक किनारेकी ओर सुधाके समान स्वच्छ जलसे भरी हुई एक बावली भी बनवायी थी, जो मोतियोंके जालसे निर्मित थी। उस बावलीको (लताओंद्वारा) बाहरसे ढक दिया गया था। उस उद्यानके तैयार हो जानेपर मन्त्रीने किसी दिन राजासे मिलकर कहा— ।। १७ ।।

वनमिदमुदारकं साध्वत्र रम्यतामिति ।। १८ ।।

'महाराज! यह वन बहुत सुन्दर है, आप इसमें भलीभाँति विहार करें' ।। १८ ।।

स तस्य वचनात् तयैव सह देव्या तद् वनं प्राविशत् । स कदाचित् तस्मिन् कानने रम्ये तयैव सह व्यवाहरदथ क्षुत्तृष्णार्दितः श्रान्तोऽतिमुक्त-कागारमपश्यत् ।। १९ ।।

'मन्त्रीके कहनेसे राजाने उसी नवविवाहिता रानीके साथ उस वनमें प्रवेश किया। एक दिन महाराज परीक्षित् उस रमणीय उद्यानमें अपनी उसी प्रियतमाके साथ विहार कर रहे थे। विहार करते-करते जब वे थक गये और भूख-प्याससे बहुत पीड़ित हो गये, तब उन्हें वासन्ती लताद्वारा निर्मित एक मनोहर मण्डप दिखायी दिया ।। १९ ।।

तत् प्रविश्य राजा सह प्रियया सुधाकृतां विमलां सलिलपूर्णां वापीमपश्यत् ।। २० ।।

'उस मण्डपमें प्रियासहित प्रवेश करके राजाने सुधाके समान स्वच्छ जलसे परिपूर्ण वह बावली देखी ।। २० ।।

दृष्ट्वैव च तां तस्याश्च तीरे सहैव तया देव्याऽवातिष्ठत् ।। २१ ।।

'उसे देखकर वे अपनी रानीके साथ उसीके तटपर खड़े हुए ।। २१ ।।

अथ तां देवीं स राजाब्रवीत् साध्ववतर वापीसलिलमिति । सा तद्वचः श्रुत्वावतीर्य वापीं न्यमज्जन्न पुनरुदमज्जत् ।। २२ ।।

'उस समय राजाने उस रानीसे कहा—'देवि! सावधानीके साथ इस बावलीके जलमें उतरो।' राजाकी यह बात सुनकर उसने बावलीमें घुसकर गोता लगाया और फिर बाहर नहीं निकली ।। २२ ।।

तां स मृगयमाणो राजा नापश्यद् वापीमथ निःस्राव्य मण्डूकं श्वभ्रमुखे दृष्ट्वा क्रुद्ध आज्ञापयामास स राजा ।। २३ ।।

सर्वत्र मण्डूकवधः क्रियतामिति यो मयार्थी स मां मृतमण्डूकोपायनमादायोपतिष्ठेदिति ।। २४ ।।

'राजाने उस वापीमें रानीकी बहुत खोज की, परंतु वह कहीं दिखायी न दी। तब उन्होंने बावलीका सारा जल निकलवा दिया। इसके बाद एक बिलके मुँहपर कोई मेढक दीख पड़ा। इससे राजाको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने आज्ञा दे दी कि 'सर्वत्र मेढकोंका वध किया जाय। जो मुझसे मिलना चाहे, वह मरे हुए मेढकका ही उपहार लेकर मेरे पास आवे' ।। २३-२४ ।।

अथ मण्डूकवधे घोरे क्रियमाणे दिक्षु सर्वासु मण्डूकान् भयमाविवेश । ते भीता मण्डूकराज्ञे यथावृत्तं न्यवेदयन् ।। २५ ।।

'इस आज्ञाके अनुसार चारों ओर मेढकोंका भयंकर संहार आरम्भ हो गया। इससे सब दिशाओंके मेढकोंके मनमें भय समा गया। वे डरकर मण्डूकराजके पास गये और उनसे सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया ।। २५ ।।

ततो मण्डूकराट् तापसवेषधारी राजानमभ्य-गच्छदुपेत्य चैनमुवाच ।। २६ ।।

'तब मण्डूकराज तपस्वीका वेष धारण करके राजाके पास गया और निकट पहुँचकर उससे इस प्रकार बोला— ।। २६ ।।

मा राजन् क्रोधवशं गमः प्रसादं कुरु नार्हसि मण्डूकानामनपराधिनां वधं कर्तुमिति । श्लोकौ चात्र भवतः— ।। २७ ।।

'राजन्! आप क्रोधके वशीभूत न हों। हमपर कृपा करें। निरपराध मेढकोंका वध न करावें।' इस विषयमें ये दो श्लोक भी प्रसिद्ध हैं— ।। २७ ।।

मा मण्डूकान् जिघांस त्वं
कोपं संधारयाच्युत ।
प्रक्षीयते धनोद्रेको
जनानामविजानताम् ।। २८ ।।

अच्युत! आप मेढकोंको मारनेकी इच्छा न करें। अपने क्रोधको रोकें; क्योंकि अविवेकसे काम लेनेवाले मनुष्योंके धनकी वृद्धि नष्ट हो जाती है ।। २८ ।।

प्रतिजानीहि नैतांस्त्वं
प्राप्य क्रोधं विमोक्ष्यसि ।
अंल कृत्वा तवाधर्मं
मण्डूकैः किं हतैर्हि ते ।। २९ ।।

'प्रतिज्ञा करें कि इन मेढकोंको पाकर आप क्रोध नहीं करेंगे; यह अधर्म करनेसे आपको क्या लाभ है? मण्डूकोंकी हत्यासे आपको क्या मिलेगा?' ।। २९ ।।

तमेवंवादिनमिष्टजनशोकपरीतात्मा राजा-थोवाच ।। ३० ।।

राजाका हृदय अपनी प्यारी रानीके विनाशके शोकसे दग्ध हो रहा था। उन्होंने उपर्युक्त बातें कहनेवाले मण्डूकराजसे कहा— ।। ३० ।।

न हि क्षम्यते तन्मया हनिष्याम्येतानेतैर्दुरात्मभिः प्रिया मे भक्षिता सर्वथैव मे वध्या मण्डूका नार्हसि विद्वन् मामुपरोद्धुमिति ।। ३१ ।।

'मैं क्षमा नहीं कर सकता। इन मेढकोंको अवश्य मारूँगा। इन दुरात्माओंने मेरी प्रियतमाको खा लिया है। अतः ये मेढक मेरे लिये सर्वथा वध्य ही हैं। विद्वन्! आप मुझे उनके वधसे न रोकें' ।। ३१ ।।

स तद् वाक्यमुपलभ्य व्यथितेन्द्रियमनाः प्रोवाच प्रसीद राजन्नहमायुर्नाम मण्डूकराजो मम सा दुहिता सुशोभना नाम । तस्या हि दौःशील्यमेतद् बहवस्तया राजानो विप्रलब्धाः पूर्वा इति ।। ३२ ।।

'राजाकी बात सुनकर मण्डूकराजका मन और इन्द्रियाँ व्यथित हो उठीं। वह बोला —'महाराज! प्रसन्न होइये। मेरा नाम आयु है। मैं मेढकोंका राजा हूँ। जिसे आप अपनी प्रियतमा कहते हैं, वह मेरी ही पुत्री है। उसका नाम सुशोभना है। वह आपको छोड़कर चली गयी, यह उसकी दुष्टता है। उसने पहले भी बहुत-से राजाओंको धोखा दिया है' ।। ३२ ।।

तमब्रवीद् राजा तया समर्थी सा मे दीयतामिति ।। ३३ ।।

तब राजाने मण्डूकराजसे कहा—'मैं तुम्हारी उस पुत्रीको चाहता हूँ, उसे मुझे समर्पित कर दो' ।। ३३ ।।

अथैनां राजे पितादादब्रवीच्चैनामेनं राजानं शुश्रूषस्वेति ।। ३४ ।।

स एवमुक्त्वा दुहितरं क्रुद्धः शशाप यस्मात् त्वया राजानो विप्रलब्धा बहवस्तस्मादब्रह्मण्यानि तवापत्यानि भविष्यन्त्यानृतिकत्वात् तवेति ।। ३५ ।।

तपस्वीके वेशमें मण्डूकराजका राजाको आश्वासन

ययातिसे ब्राह्मणकी याचना

‘तब पिता मण्डूकराजने अपनी पुत्री सुशोभना महाराज परीक्षित्‌को समर्पित कर दी और उससे कहा—‘बेटी! सदा राजाकी सेवा करती रहना।’ ऐसा कहकर मण्डूकराजने जब अपनी पुत्रीके अपराधको याद किया, तब उसे क्रोध हो आया और उसने उसे शाप देते हुए कहा—‘अरी! तूने बहुत-से राजाओंको धोखा दिया है, इसलिये तेरी संतानें ब्राह्मणविरोधी होंगी; क्योंकि तू बड़ी झूठी है’ ।। ३४-३५ ।।

स च राजा तामुपलभ्य तस्यां सुरतगुण-निबद्धहृदयो लोकत्रयैश्वर्यमिवोपलभ्य हर्षेण बाष्प-कलया वाचा प्रणिपत्याभिपूज्य मण्डूकराजमब्रवीद-नुगृहीतोऽस्मीति ।। ३६ ।।

‘सुशोभनाके रतिकलासम्बन्धी गुणोंने राजाके मनको बाँध लिया था। वे उसे पाकर ऐसे प्रसन्न हुए, मानो उन्हें तीनों लोकोंका राज्य मिल गया हो। उन्होंने आनन्दके आँसू बहाते हुए मण्डूकराजको प्रणाम किया और उसका यथोचित सत्कार करते हुए हर्षगद्‌गद वाणीमें कहा—‘मण्डूकराज! तुमने मुझपर बड़ी कृपा की है’ ।।

स च मण्डूकराजो दुहितरमनुज्ञाप्य यथागतमगच्छत् ।। ३७ ।।

‘तत्पश्चात् कन्यासे विदा लेकर मण्डूकराज जैसे आया था, वैसे ही अपने स्थानको चला गया ।। ३७ ।।

अथ कस्यचित् कालस्य तस्यां कुमारास्त्रय-स्तस्य राज्ञः सम्बभूवुः शलो दलो बलश्चेति । तत-स्तेषां ज्येष्ठं शलं समये पिता राज्येऽभिषिच्य तपसि धृतात्मा वनं जगाम ।। ३८ ।।

‘कुछ कालके पश्चात् सुशोभनाके गर्भसे राजा परीक्षित्‌के तीन पुत्र हुए—शल, दल और बल। इनमें शल सबसे बड़ा था। समय आनेपर पिताने शलका राज्याभिषेक करके स्वयं तपस्यामें मन लगाये तपोवनको प्रस्थान किया ।। ३८ ।।

अथ कदाचिच्छलो मृगयामनुचरन् मृगमासाद्य रथेनान्वधावत् ।। ३९ ।।

सूतं चोवाच शीघ्रं मां वहस्वेति स तथोक्तः सूतो राजानमब्रवीत् ।। ४० ।।

न क्रियतामनुबन्धो नैष शक्यस्त्वया मृगोऽयं ग्रहीतुं यद्यपि ते रथे युक्तौ वाम्यौ स्यातामिति । ततोऽब्रवीद् राजा सूतमाचक्ष्व मे वाम्यौ हन्मि च त्वामिति । स एवमुक्तो राजभयभीतः सूतो वामदेव-शापभीतश्च सन् नाचख्यौ राज्ञे । ततः पुनः स राजा खड्‌गमुद्यम्य शीघ्रं कथयस्वेति तमाह हनिष्ये त्वामिति । स तदाऽऽह राजभयभीतः सूतो वामदेवस्याश्वौ वाम्यौ मनोजवाविति ।। ४१ ।।

‘तदनन्तर एक दिन महाराज शल शिकार खेलनेके लिये वनको गये। वहाँ उन्होंने एक हिंसक पशुको सामने पाकर रथके द्वारा ही उसका पीछा किया और सारथिसे कहा—‘शीघ्र मुझे मृगके निकट पहुँचाओ’। उनके ऐसा कहनेपर सारथि बोला—‘महाराज! आप इस पशुको पकड़नेका आग्रह न करें। यह आपकी पकड़में नहीं आ सकता। यदि आपके रथमें दोनों वाम्य घोड़े जुते होते, तब आप इसे पकड़ लेते।’ यह सुनकर राजाने सूतसे पूछा

—‘सारथे! बताओ, वाम्य घोड़े कौन हैं, अन्यथा मैं तुम्हें अभी मार डालूँगा।’ राजाके ऐसा कहनेपर सारथि भयसे काँप उठा। उधर घोड़ोंका परिचय देनेपर उसे वामदेव ऋषिके शापका भी डर था। अतः उसने राजासे कुछ नहीं कहा। तब राजाने पुनः तलवार उठाकर कहा—‘अरे! शीघ्र बता, नहीं तो तुझे अभी मार डालूँगा।’ तब उसने राजाके भयसे त्रस्त होकर कहा—‘महाराज! वामदेव मुनिके पास दो घोड़े हैं जिन्हें ‘वाम्य’ कहते हैं। वे मनके समान वेगशाली हैं’ ।। ३९—४१ ।।

अथैनमेवं ब्रुवाणमब्रवीद् राजा वामदेवाश्रमं प्रयाहीति स गत्वा वामदेवाश्रमं तमृषिमब्रवीत् ।। ४२ ।।

‘सारथिके ऐसा कहनेपर राजाने उसे आज्ञा दी, ‘चलो वामदेवके आश्रमपर।’ वामदेवके आश्रमपर पहुँचकर राजाने उन महर्षिसे कहा— ।। ४२ ।।

भगवन् मृगो मे विद्धः पलायते सम्भावयितुमर्हसि वाम्यौ दातुमिति । तमब्रवीदृषिर्ददानि ते वाम्यौ कृतकार्येण भवता ममैव वाम्यौ निर्यात्यौ क्षिप्रमिति । स च तावश्वौ प्रतिगृह्यानुज्ञाप्य ऋषिं प्रायाद् वामीप्रयुक्तेन रथेन मृगं प्रतिगच्छंश्चाब्रवीत् सूतमश्वरत्नाविमावयोग्यौ ब्राह्मणानां नैतौ प्रतिदेयौ वामदेवायेत्युक्त्वा मृगमवाप्य स्वनगरमेत्याश्वावन्तःपुरेऽस्थापयत् ।। ४३ ।।

‘भगवन्! मेरे बाणोंसे घायल हुआ हिंसक पशु भागा जा रहा है। आप अपने वाम्य अश्व मुझे देनेकी कृपा करें।’ तब महर्षिने कहा—‘मैं तुम्हें वाम्य अश्व दिये देता हूँ। परंतु जब तुम्हारा कार्य सिद्ध हो जाय, तब तुम शीघ्र ही ये दोनों अश्व मुझे ही लौटा देना।’ राजाने दोनों अश्व पाकर ऋषिकी आज्ञा ले वहाँसे प्रस्थान किया। वामी घोड़ोंसे जुते हुए रथके द्वारा हिंसक पशुका पीछा करते हुए वे सारथिसे बोले—‘सूत! ये दोनों अश्वरत्न ब्राह्मणोंके पास रहने योग्य नहीं। अतः इन्हें वामदेवके पास लौटानेकी आवश्यकता नहीं है।’ ऐसा कहकर राजा हिंसक पशुको साथ ले अपनी राजधानीको चल दिये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने उन दोनों अश्वोंको अन्तःपुरमें बाँध दिया ।। ४३ ।।

अथर्षिश्चिन्तयामास तरुणो राजपुत्रः कल्याणं पत्रमासाद्य रमते न प्रतिनिर्यातयत्यहो कष्टमिति ।। ४४ ।।

उधर वामदेव मुनि मन-ही-मन इस प्रकार चिन्ता करने लगे—‘अहो! वह तरुण राजकुमार मेरे अच्छे घोड़ोंको लेकर मौज कर रहा है, उन्हें लौटानेका नाम ही नहीं लेता है। यह तो बड़े कष्टकी बात है!’ ।। ४४ ।।

स मनसा विचिन्त्य मासि पूर्णे शिष्यमब्रवीत् ।। ४५ ।।

गच्छात्रेय राजानं ब्रूहि यदि पर्याप्तं निर्यातयो-पाध्यायवाम्याविति । स गत्वैवं तं राजानमब्रवीत् तं राजा प्रत्युवाच राज्ञामेतद्वाहनमनर्हा ब्राह्मणा रत्नानामेवंविधानां किं ब्राह्मणानामश्वैः कार्यं साधु गम्यताम् ।। ४६ ।।

'मन-ही-मन सोच-विचार करते हुए जब एक मास पूरा हो गया, तब वे अपने शिष्यसे बोले—'आत्रेय! जाकर राजासे कहो कि यदि काम पूरा हो गया हो तो गुरुजीके दोनों वाम्य अश्व लौटा दीजिये।' शिष्यने जाकर राजासे यही बात दुहरायी। तब राजाने उसे उत्तर देते हुए कहा—'यह सवारी राजाओंके योग्य है। ब्राह्मणोंको ऐसे रत्न रखनेका अधिकार नहीं है। भला, ब्राह्मणोंको घोड़े लेकर क्या करना है? अब आप सकुशल पधारिये' ।। ४५-४६ ।।

स गत्वैतदुपाध्यायायाचष्ट तच्छ्रुत्वा वचनमप्रियं वामदेवः क्रोधपरीतात्मा स्वयमेव राजानभिगम्या-श्वार्थमचोदयन्न चाददद् राजा ।। ४७ ।।

'शिष्यने लौटकर ये सारी बातें उपाध्यायसे कहीं। वह अप्रिय वचन सुनकर वामदेव मन-ही-मन क्रोधसे जल उठे और स्वयं ही उस राजाके पास जाकर उन्हें घोड़े लौटा देनेके लिये कहा। परंतु राजाने वे घोड़े नहीं दिये' ।। ४७ ।।

वामदेव उवाच

प्रयच्छ वाम्यौ मम पार्थिव त्वं
कृतं हि ते कार्यमाभ्यामशक्यम् ।
मा त्वा वधीद् वरुणो घोरपाशै-
र्ब्रह्मक्षत्रस्यान्तरे वर्तमानम् ।। ४८ ।।

तब वामदेवने कहा—राजन्! मेरे वाम्य अश्वोंको अब मुझे लौटा दो। निश्चय ही उन घोड़ोंद्वारा तुम्हारा असाध्य कार्य पूरा हो गया है। इस समय तुम ब्राह्मण और क्षत्रियके बीचमें विद्यमान हो। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारी असत्यवादिताके कारण राजा वरुण तुम्हें अपने भयंकर पाशोंसे बाँध लें ।। ४८ ।।

राजोवाच

अनड्वाहौ सुव्रतौ साधु दान्ता-
वेतद् विप्राणां वाहनं वामदेव ।
ताभ्यां याहि त्वं तत्र कामो महर्षे
छन्दांसि वै त्वादृशं संवहन्ति ।। ४९ ।।

राजा बोले—वामदेवजी! ये दो अच्छे स्वभावके सीखे-सिखाये हृष्ट-पुष्ट बैल हैं, जो गाड़ी खींच सकते हैं; ये ही ब्राह्मणोंके लिये उचित वाहन हो सकते हैं। अतः महर्षे! इन्हींको गाड़ीमें जोतकर आप जहाँ चाहें जायँ। आप-जैसे महात्माका भार तो वेदमन्त्र ही वहन करते हैं ।। ४९ ।।

वामदेव उवाच

छन्दांसि वै मादृशं संवहन्ति

लोकेऽमुष्मिन् पार्थिव यानि सन्ति ।
अस्मिंस्तु लोके मम यानमेत-
दस्मद्विधानामपरेषां च राजन् ।। ५० ।।

वामदेवने कहा—राजन्! इसमें संदेह नहीं कि हम-जैसे लोगोंके लिये वेदके मन्त्र ही वाहनका काम देते हैं। परंतु वे परलोकमें ही उपलब्ध होते हैं। इस लोकमें तो हम-जैसे लोगोंके तथा दूसरोंके लिये भी ये अश्व ही वाहन होते हैं ।। ५० ।।

राजोवाच

चत्वारस्त्वां वा गर्दभाः संवहन्तु
श्रेष्ठाश्वतर्यो हरयो वातरंहाः ।
तैस्त्वं याहि क्षत्रियस्यैष वाहो
ममैव वाम्यौ न तवैतौ हि विद्धि ।। ५१ ।।

राजाने कहा—ब्रह्मन्! तब चार गधे, अच्छी जातिकी खच्चरियाँ या वायुके समान वेगशाली दूसरे घोड़े आपकी सवारीके लिये प्रस्तुत हो सकते हैं। इन्हीं वाहनोंद्वारा आप यात्रा करें। यह वाहन, जिसे आप माँगने आये हैं, क्षत्रिय नरेशके ही योग्य हैं। इसलिये आप यह समझ लें कि ये वाम्य अश्व मेरे ही हैं, आपके नहीं ।। ५१ ।।

वामदेव उवाच

घोरं व्रतं ब्राह्मणस्यैतदाहु-
रेतद् राजन् यदिहाजीवमानः ।
अयस्मया घोररूपा महान्त-
श्चत्वारो वा यातुधानाः सुरौद्राः ।
मया प्रयुक्तास्त्वद्वधमीप्समाना
वहन्तु त्वां शितशूलाश्चतुर्धा ।। ५२ ।।

वामदेव बोले—राजन्! तुम ब्राह्मणोंके इस धनको हड़पकर जो अपने उपयोगमें लाना चाहते हो, यह बड़ा भयंकर कर्म कहा गया है। यदि मेरे घोड़े वापस न दोगे तो मेरी आज्ञा पाकर विकराल रूपधारी तथा लौह-शरीरवाले अत्यन्त भयंकर चार बड़े-बड़े राक्षस हाथोंमें तीखे त्रिशूल लिये तुम्हारे वधकी इच्छासे टूट पड़ेंगे और तुम्हारे शरीरके चार टुकड़े करके उठा ले जायँगे ।। ५२ ।।

राजोवाच

ये त्वां विदुर्ब्राह्मणं वामदेव
वाचा हन्तुं मनसा कर्मणा वा ।
ते त्वां सशिष्यमिह पातयन्तु

मद्वाक्यनुन्नाःशितशूलासिहस्ताः ।। ५३ ।।

राजाने कहा—वामदेवजी! आप ब्राह्मण हैं तो भी मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा मुझे मारनेको उद्यत हैं, इसका पता हमारे जिन सेवकोंको चल गया है, वे मेरी आज्ञा पाते ही हाथोंमें तीखे त्रिशूल तथा तलवार लेकर शिष्योंसहित आपको पहले ही यहाँ मार गिरावेंगे ।। ५३ ।।

वामदेव उवाच

ममैतौ वाम्यौ प्रतिगृह्य राजन्
पुनर्ददानीति प्रपद्य मे त्वम् ।
प्रयच्छ शीघ्रं मम वाम्यौ त्वमश्वौ
यद्यात्मानं जीवितुं ते क्षमं स्यात् ।। ५४ ।।

वामदेव बोले—राजन्! तुमने जब ये मेरे दोनों घोड़े लिये थे, उस समय यह प्रतिज्ञा की थी मैं इन्हें पुनः लौटा दूँगा। ऐसी दशामें यदि अपने-आपको तुम जीवित रखना चाहते हो तो मेरे दोनों वाम्यसंज्ञक घोड़े वापस दे दो ।। ५४ ।।

राजोवाच

न ब्राह्मणेभ्यो मृगया प्रसूता
न त्वानुशास्म्यद्यप्रभृति ह्यसत्यम् ।
तवैवाज्ञां सम्प्रणिधाय सर्वां
तथा ब्रह्मन् पुण्यलोकं लभेयम् ।। ५५ ।।

राजा बोले—ब्रह्मन्! (ये घोड़े शिकारके उपयोग में आने योग्य हैं और) ब्राह्मणोंके लिये शिकार खेलनेकी विधि नहीं है। यद्यपि आप मिथ्यावादी हैं, तो भी मैं आपको दण्ड नहीं दूँगा और आजसे आपके सारे आदेशोंका पालन करूँगा, जिससे मुझे पुण्यलोककी प्राप्ति हो (परन्तु ये घोड़े आपको नहीं मिल सकते) ।। ५५ ।।

वामदेव उवाच

नानुयोगा ब्राह्मणानां भवन्ति
वाचा राजन् मनसा कर्मणा वा ।
यस्त्वेवं ब्रह्म तपसान्वेति विद्वां-
स्तेन श्रेष्ठो भवति हि जीवमानः ।। ५६ ।।

वामदेवने कहा—राजन्! मन, वाणी अथवा क्रियाद्वारा कोई भी अनुशासन या दण्ड ब्राह्मणोंपर लागू नहीं हो सकता। जो इस प्रकार जानकर कष्टसहनपूर्वक ब्राह्मणकी सेवा करता है; वह उस ब्राह्मणसेवारूप कर्मसे ही श्रेष्ठ होता और जीवित रहता है ।। ५६ ।।

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्ते वामदेवेन राजन्
समुत्तस्थू राक्षसा घोररूपाः ।
तैः शूलहस्तैर्वध्यमानः स राजा
प्रोवाचेदं वाक्यमुच्चैस्तदानीम् ।। ५७ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! वामदेवकी यह बात पूर्ण होते ही विकराल रूपधारी चार राक्षस वहाँ प्रकट हो गये। उनके हाथमें त्रिशूल थे। जब वे राजापर चोट करने लगे, तब राजाने उच्च स्वरसे यह बात कही— ।। ५७ ।।

इक्ष्वाकवो यदि वा मां त्यजेयु-
र्विधेया मे यदि चेमे विशोऽपि ।
नोत्स्रक्ष्येऽहं वामदेवस्य वाम्यौ
नैवंविधा धर्मशीला भवन्ति ।। ५८ ।।

'यदि ये इक्ष्वाकुवंशके लोग तथा मेरे आज्ञापालक प्रजावर्गके मनुष्य भी मेरा त्याग कर दें, तो भी मैं वामदेवके इन वाम्य संज्ञक घोड़ोंको कदापि नहीं दूँगा; क्योंकि इनके-जैसे लोग धर्मात्मा नहीं होते हैं' ।। ५८ ।।

एवं ब्रुवन्नेव स यातुधानै-
र्हतो जगामाशु महीं क्षितीशः ।
ततो विदित्वा नृपतिं निपातित-
मिक्ष्वाकवो वै दलमभ्यषिञ्चन् ।। ५९ ।।

ऐसा कहते ही राजा शल उन राक्षसोंसे मारे जाकर तुरंत धराशायी हो गये। इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियोंको जब यह मालूम हुआ कि राजा मार गिराये गये, तब उन्होंने उनके छोटे भाई दलका राज्याभिषेक कर दिया ।। ५९ ।।

राज्ये तदा तत्र गत्वा स विप्रः
प्रोवाचेदं वचनं वामदेवः ।
दलं राजानं ब्राह्मणानां हि देय-
मेवं राजन् सर्वधर्मेषु दृष्टम् ।। ६० ।।

तब पुनः उस राज्यमें जाकर विप्रवर वामदेवने राजा दलसे यह बात कही—'महाराज! ब्राह्मणोंकी वस्तु उन्हें दे दी जाय, यह बात सभी धर्मोंमें देखी गयी है ।। ६० ।।

बिभेषि चेत् त्वमधर्मान्नरेन्द्र
प्रयच्छ मे शीघ्रमेवाद्य वाम्यौ ।
एतच्छ्रुत्वा वामदेवस्य वाक्यं
स पार्थिवः सूतमुवाच रोषात् ।। ६१ ।।

'नरेन्द्र! यदि तुम अधर्मसे डरते हो तो मुझे अभी शीघ्रतापूर्वक मेरे वाम्य अश्वोंको लौटा दो।' वामदेवकी यह बात सुनकर राजाने रोषपूर्वक अपने सारथिसे कहा— ।। ६१ ।।

एकं हि मे सायकं चित्ररूपं
दिग्धं विषेणाहर संगृहीतम् ।
येन विद्धो वामदेवः शयीत
संदश्यमानः श्वभिरार्तरूपः ।। ६२ ।।

'सूत! एक अद्भुत बाण ले आओ, जो विषमें बुझाकर रखा गया हो, जिससे घायल होकर यह वामदेव धरतीपर लोट जाय। इसे कुत्ते नोच-नोचकर खायँ और यह पृथ्वीपर पड़ा-पड़ा पीड़ासे छटपटाता रहे' ।। ६२ ।।

वामदेव उवाच

जानामि पुत्रं दशवर्षं तवाहं
जातं माहिष्यां श्येनजितं नरेन्द्र ।
तं जहि त्वं मद्वचनात् प्रणुन्न-
स्तूर्णं प्रियं सायकैर्घोररूपैः ।। ६३ ।।

वामदेवने कहा—नरेन्द्र! मैं जानता हूँ, तुम्हारी रानीके गर्भसे श्येनजित् नामक एक पुत्र पैदा हुआ है, जो तुम्हें बहुत प्रिय है और जिसकी अवस्था दस वर्षकी हो गयी है। तुम मेरी आज्ञासे प्रेरित होकर इन भयंकर बाणोंद्वारा अपने उसी पुत्रका शीघ्र वध करोगे ।। ६३ ।।

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तो वामदेवेन राज-
न्नन्तःपुरे राजपुत्रं जघान ।
स सायकस्तिग्मतेजा विसृष्टः
श्रुत्वा दलस्तत्र वाक्यं बभाषे ।। ६४ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! वामदेवके ऐसा कहते ही उस प्रचण्ड तेजस्वी बाणने धनुषसे छूटकर रनवासके भीतर जा राजकुमारका वध कर डाला। यह समाचार सुनकर दलने वहाँ पुनः इस प्रकार कहा— ।। ६४ ।।

राजोवाच

इक्ष्वाकवो हन्त चरामि वः प्रियं
निहन्मीमं विप्रमद्य प्रमथ्य ।
आनीयतामपरस्तिग्मतेजाः
पश्यध्वं मे वीर्यमद्य क्षितीशाः ।। ६५ ।।

राजाने कहा—इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियो! मैं अभी तुम्हारा प्रिय करता हूँ। आज इस ब्राह्मणको रौंदकर मार डालूँगा। एक-दूसरा तेजस्वी बाण ले आओ और आज मेरा पराक्रम

देखो ।। ६५ ।।

वामदेव उवाच

यत् त्वमेनं सायकं घोररूपं
विषेण दिग्धं मम संदधासि ।
न त्वेतं त्वं शरवर्षं विमोक्तुं
संधातुं वा शक्यसे मानवेन्द्र ।। ६६ ।।

वामदेवजीने कहा—नरेश्वर! तुम विषके बुझाये हुए इस विकराल बाणको मुझे मारनेके लिये धनुषपर चढ़ा रहे हो, परंतु मैं कहे देता हूँ 'इस बाणको न तो तुम धनुषपर रख सकोगे और न छोड़ ही सकोगे' ।। ६६ ।।

राजोवाच

इक्ष्वाकवः पश्यत मां गृहीतं
न वै शक्नोम्येष शरं विमोक्तुम् ।
न चास्य कर्तुं नाशमभ्युत्सहामि
आयुष्मान् वै जीवतु वामदेवः ।। ६७ ।।

राजा बोले—इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियो! देखो, मैं फँस गया। अब यह बाण नहीं छोड़ सकूँगा। इसलिये वामदेवको नष्ट करनेका उत्साह जाता रहा। अतः यह महर्षि दीर्घायु होकर जीवित रहे ।। ६७ ।।

वामदेव उवाच

संस्पृश्यैनां महिषीं सायकेन
ततस्तस्मादेनसो मोक्ष्यसे त्वम् ।
ततस्तथा कृतवान् पार्थिवस्तु
ततो मुनिं राजपुत्री बभाषे ।। ६८ ।।

वामदेवजीने कहा—राजन्! तुम इस बाणसे अपनी रानीका स्पर्श कर लेनेपर ब्रह्महत्याके पापसे छूट जाओगे। तब राजाने ऐसा ही किया। तदनन्तर राजपुत्रीने मुनिसे कहा ।। ६८ ।।

राजपुत्र्युवाच

यथा युक्ता वामदेवाहमेनं
दिने दिने संदिशन्ती नृशंसम् ।
ब्राह्मणेभ्यो मृगयती सूनृतानि
तथा ब्रह्मन् पुण्यलोकं लभेयम् ।। ६९ ।।

राजपुत्री बोली—वामदेवजी! मैं इन कठोर स्वभाववाले अपने स्वामीको प्रतिदिन सावधान रहकर मीठे वचन बोलनेकी सलाह देती रहती हूँ और स्वयं ब्राह्मणोंकी सेवाका अवसर ढूँढ़ती हूँ। ब्रह्मन्! इन सत्कर्मोंके कारण मुझे पुण्यलोककी प्राप्ति हो ।। ६९ ।।

वामदेव उवाच

त्वया त्रातं राजकुलं शुभेक्षणे
वरं वृणीष्वाप्रतिमं ददानि ते ।
प्रशाधीमं स्वजनं राजपुत्रि
इक्ष्वाकुराज्यं सुमहच्चाप्यनिन्द्ये ।। ७० ।।

वामदेवने कहा—शुभ दृष्टिवाली अनिन्द्य राजकुमारी! तुमने इस राजकुलको ब्राह्मणके कोपसे बचा लिया। इसके लिये कोई अनुपम वर माँगो। मैं तुम्हें अवश्य दूँगा। तुम इन स्वजनोंके हृदय और विशाल इक्ष्वाकु-राज्यपर शासन करो ।। ७० ।।

राजपुत्र्युवाच

वरं वृणे भगवंस्त्वेवमेष
विमुच्यतां किल्बिषादद्य भर्ता ।
शिवेन चाध्याहि सपुत्रबान्धवं
वरो वृतो ह्येष मया द्विजाग्रय ।। ७१ ।।

राजकुमारी बोली—भगवन्! मैं यही चाहती हूँ कि मेरे ये पति आज सब पापोंसे छुटकारा पा जायँ। आप यह आशीर्वाद दें कि ये पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित सुखसे रहें। विप्रवर! मैंने आपसे यही वर माँगा है ।। ७१ ।।

मार्कण्डेय उवाच

श्रुत्वा वचः स मुनी राजपुत्र्या-
स्तथास्त्विति प्राह कुरुप्रवीर ।
ततः स राजा मुदितो बभूव
वाम्यौ चास्मै प्रददौ सम्प्रणम्य ।। ७२ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिर! राजपुत्रीकी यह बात सुनकर वामदेव मुनिने कहा—'ऐसा ही होगा।' तब राजा दल बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने महर्षिको प्रणाम करके वे दोनों वाम्य अश्व उन्हें लौटा दिये ।। ७२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मण्डूकोपाख्याने द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें मण्डूकोपाख्यानविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९२ ।।

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्र और बक मुनिका संवाद

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयमृषयो ब्राह्मणा युधिष्ठिरश्च पर्यपृच्छन्नृषिः केन दीर्घायुरासीद् बको मार्कण्डेयस्तु तान् सर्वानुवाच ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक दिन ऋषियों, ब्राह्मणों तथा युधिष्ठिरने मार्कण्डेय मुनिसे पूछा—‘ब्रह्मन्! महर्षि बक कैसे दीर्घायु हुए थे?’ तब मार्कण्डेयजीने उन सबसे कहा— ।। १ ।।

महातपा दीर्घायुश्च बको राजन् नात्र कार्या विचारणा ।। २ ।।

‘राजन्! बक महान् तपस्वी होनेके कारण दीर्घायु हुए थे। इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये’ ।। २ ।।

एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयो भ्रातृभिः सह भारत ।
मार्कण्डेयं पर्यपृच्छद् धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। ३ ।।

भरतनन्दन जनमेजय! मार्कण्डेयजीका यह कथन सुनकर भाइयोंसहित कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिरने मार्कण्डेयजीसे पुनः पूछा— ।। ३ ।।

श्रूयते हि महाभाग बको दाल्भ्यो महातपाः ।
प्रियः सखा च शक्रस्य चिरजीवी च सत्तम ।। ४ ।।

महाभाग मुनिश्रेष्ठ! दल्भके पुत्र महातपस्वी बक ऋषि चिरजीवी तथा देवराज इन्द्रके प्रिय मित्र सुने जाते हैं ।। ४ ।।

एतदिच्छामि भगवन् बकशक्रसमागमम् ।
सुखदुःखसमायुक्तं तत्त्वेन कथयस्व मे ।। ५ ।।

‘भगवन्! बक और इन्द्रका यह समागम (चिरजीवी पुरुषोंके) सुख और दुःखकी वार्तासे युक्त कहा गया है। मैं इसे सुनना चाहता हूँ; आप यथार्थरूपसे इसका वर्णन करें’ ।। ५ ।।

मार्कण्डेय उवाच

वृत्ते देवासुरे राजन् संग्रामे लोमहर्षणे ।
त्रयाणामपि लोकानामिन्द्रो लोकाधिपोऽभवत् ।। ६ ।।

मार्कण्डेयजी बोले—राजन्! जब रोंगटे खड़े कर देनेवाला देवासुर-संग्राम समाप्त हो गया, उस समय लोकपाल इन्द्र तीनों लोकोंके अधिपति बना दिये गये ।। ६ ।।

सम्यग् वर्षति पर्जन्ये सस्यसम्पद उत्तमाः ।

निरामयाः सुधर्मिष्ठाः प्रजा धर्मपरायणाः ।। ७ ।।

इन्द्रके शासनकालमें मेघ ठीक समयपर अच्छी वर्षा करते और खेतीकी उपज अच्छी होती थी। सारी प्रजा रोग-व्याधिसे रहित, धर्ममें स्थित तथा धर्मको ही अपना परम आश्रय माननेवाली थी ।। ७ ।।

मुदितश्च जनः सर्वः स्वधर्मेषु व्यवस्थितः ।
ताः प्रजा मुदिताः सर्वा दृष्ट्वा बलनिषूदनः ।। ८ ।।
ततस्तु मुदितो राजन् देवराजः शतक्रतुः ।
ऐरावतं समास्थाय ताः पश्यन् मुदिताः प्रजाः ।। ९ ।।

सब लोग बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने-अपने धर्मोंमें स्थित रहते थे। अपनी उन सारी प्रजाको आनन्दित देखकर बलासुरके शत्रु देवराज इन्द्र बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करते थे। एक दिनकी बात है, इन्द्र ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हो चैनसे दिन बिताती हुई अपनी प्रजाको देखनेके लिये भ्रमण करने लगे ।। ८-९ ।।

आश्रमांश्च विचित्रांश्च नदीश्च विविधाः शुभाः ।
नगराणि समृद्धानि खेटान् जनपदांस्तथा ।। १० ।।
प्रजापालनदक्षांश्च नरेन्द्रान् धर्मचारिणः ।
उदपानं प्रपा वापी तडागानि सरांसि च ।। ११ ।।
नाना ब्रह्मसमाचारैः सेवितानि द्विजोत्तमैः ।
ततोऽवतीर्य रम्यायां पृथ्व्यां राजञ्छतक्रतुः ।। १२ ।।

राजन्! विचित्र आश्रमों, नाना प्रकारकी कल्याण-कारिणी नदियों, समृद्धिशाली नगरों, गाँवों, जनपदों, प्रजापालन-कुशल धर्मात्मा नरेशों, कुओं, पौसलों, बावलियों, तालाबों तथा ब्रह्मचर्यपरायण श्रेष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा सेवित अनेकानेक सरोवरोंका अवलोकन करते हुए शतक्रतु इन्द्र एक रमणीय भूभागमें उतरे ।। १०—१२ ।।

तत्र रम्ये शिवे देशे बहुवृक्षसमाकुले ।
पूर्वस्यां दिशि रम्यायां समुद्राभ्याशतो नृप ।। १३ ।।
तत्राश्रमपदं रम्यं मृगद्विजनिषेवितम् ।
तत्राश्रमपदे रम्ये बकं पश्यति देवराट् ।। १४ ।।

राजन्! परम सुन्दर पूर्वदिशामें समुद्रके निकट एक मनोहर एवं सुखद स्थानमें, जो बहुत-से वृक्षोंसे घिरा हुआ था, एक रमणीय आश्रम दिखायी दिया, जहाँ बहुत-से पशु और पक्षी निवास करते थे। देवराज इन्द्रने उस रमणीय आश्रममें जाकर बक मुनिका दर्शन किया ।।

बकस्तु दृष्ट्वा देवेन्द्रं दृढं प्रीतमनाभवत् ।
पाद्यासनार्घ्यदानेन फलमूलैरथार्चयत् ।। १५ ।।

देवराज इन्द्रको उपस्थित देख बकके हृदयमें दृढ़ प्रेम उत्पन्न हुआ। उन्होंने पाद्य, आसन, अर्घ्य और फल-मूलादि देकर देवराजका पूजन किया ।। १५ ।।

सुखोपविष्टो वरदस्ततस्तु बलसूदनः ।
ततः प्रश्नं बकं देव उवाच त्रिदशेश्वरः ।। १६ ।।

सबको वर देनेवाले बलनिषूदन देवेश्वर इन्द्र जब सुखपूर्वक आसनपर बैठ गये, तब वे मुनिवर बकसे इस प्रकार बोले— ।। १६ ।।

शतं वर्षसहस्राणि मुने जातस्य तेऽनघ ।
समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं दुःखं चिरजीविनाम् ।। १७ ।।

'निष्पाप मुने! आपकी अवस्था एक लाख वर्षकी हो गयी। ब्रह्मन्! आप अपने अनुभवके आधारपर यह बताइये कि चिरजीवी मनुष्योंको क्या दुःख होता है'? ।।

बक उवाच

अप्रियैः सह संवासः प्रियैश्चापि विनाभवः ।
असद्भिः सम्प्रयोगश्च तद् दुःखं चिरजीविनाम् ।। १८ ।।

बकने कहा—देवेश्वर! अप्रिय मनुष्योंके साथ रहना पड़ता है। प्रियजनोंकी मृत्यु हो जानेसे उनके वियोगका दुःख सहते हुए जीवन व्यतीत करना पड़ता है और दुष्ट मनुष्योंका

संग प्राप्त होता है। चिरजीवी मनुष्योंके लिये यही महान् दुःख है ।। १८ ।।

पुत्रदारविनाशोऽत्र ज्ञातीनां सुहृदामपि ।
परेष्वायत्तताकृच्छ्रं किं नु दुःखतरं ततः ।। १९ ।।

अपनी आँखोंके सामने स्त्री और पुत्रोंकी मृत्यु होती है। भाई-बन्धु आदि जातिके लोगों और सुहृदोंका सदाके लिये वियोग हो जाता है तथा जीवन-निर्वाहके लिये दूसरोंके अधीन रहकर उनके तिरस्कारका कष्ट भोगना पड़ता है। इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या हो सकता है? ।। १९ ।।

नान्यद् दुःखतरं किञ्चिल्लोकेषु प्रतिभाति मे ।
अर्थैर्विहीनः पुरुषः परैः सम्परिभूयते ।। २० ।।

निर्धन मनुष्यको जो दूसरोंसे तिरस्कृत होना पड़ता है, इससे बढ़कर महान् कष्टकी बात संसारमें मुझे और कोई नहीं जान पड़ती है ।। २० ।।

अकुलानां कुले भावं कुलीनानां कुलक्षयम् ।
संयोगं विप्रयोगं च पश्यन्ति चिरजीविनः ।। २१ ।।

चिरजीवी मनुष्य अकुलीनोंके कुलकी उन्नति, कुलीनोंके कुलका संहार तथा संयोग और वियोग देखते रहते हैं ।। २१ ।।

अपि प्रत्यक्षमेवैतत् तव देव शतक्रतो ।
अकुलानां समृद्धानां कथं कुलविपर्ययः ।। २२ ।।

देव शतक्रतो! आप भी तो यह प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं कि किस प्रकार समृद्धिशाली अकुलीन मनुष्योंके कुलमें उलट-फेर हो जाता है ।। २२ ।।

देवदानवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसाः ।
प्राप्नुवन्ति विपर्यासं किं नु दुःखतरं ततः ।। २३ ।।

देवता, दानव, गन्धर्व, मनुष्य, नाग तथा राक्षस—ये सभी विपरीत अवस्थामें पहुँचकर क्यासे क्या हो जाते हैं? इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा? ।। २३ ।।

कुले जाताश्च क्लिश्यन्ते दौष्कुलेयवशानुगाः ।
आढ्यैर्दरिद्राश्चाक्रान्ताः किं नु दुःखतरं ततः ।। २४ ।।

कुलीन मनुष्य भी नीच कुलके लोगोंके वशमें पड़कर क्लेश उठा रहे हैं और धनीलोग दरिद्रोंको सताते हैं। इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है? ।। २४ ।।

लोके वैधर्म्यमेतत् तु दृश्यते बहुविस्तरम् ।
हीनज्ञानाश्च हृष्यन्ते क्लिश्यन्ते प्राज्ञकोविदाः ।। २५ ।।
बहुदुःखपरिक्लेशं मानुष्यमिह दृश्यते ।

लोकमें यह विपरीत अवस्था बहुत अधिक दिखायी देती है। ज्ञानहीन मूढ़ मनुष्य तो मौज करते हैं और श्रेष्ठ ज्ञानी मनुष्य क्लेश भोग रहे हैं। यहाँ मानवयोनिमें दुःख और क्लेशकी अधिकता ही दृष्टिगोचर होती है ।। २५½ ।।

इन्द्र उवाच

पुनरेव महाभाग देवर्षिगणसेवित ।। २६ ।।

समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं सुखं चिरजीविनाम् ।

इन्द्रने पूछा—महाभाग! देवता तथा ऋषियोंके समुदाय आपकी सेवामें उपस्थित रहते हैं। ब्रह्मन्! अब मुझसे फिर यह बताइये कि चिरजीवी मनुष्योंको क्या सुख मिलता है? ।। २६½ ।।

बक उवाच

अष्टमे द्वादशे वापि शाकं यः पचते गृहे ।। २७ ।।

कुमित्राण्यनपाश्रित्य किं वै सुखतरं ततः ।

यत्राहानि न गण्यन्ते नैनमाहुर्महाशनम् ।। २८ ।।

बकने कहा—जो दिनके आठवें या बारहवें भागमें अपने घरपर भोजनके लिये केवल शाक पका लेता है परंतु कुमित्रोंकी शरणमें नहीं जाता, उस पुरुषको जो सुख प्राप्त है, उससे बढ़कर सुख और क्या हो सकता है? जहाँ दिन नहीं गिने जाते—जहाँ प्रतिदिन अन्नकी प्राप्तिके लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ती; वही सुखी है। उसे लोग अधिक खानेवाला अथवा पेटू नहीं कहते हैं ।। २७-२८ ।।

अपि शाकं पचानस्य सुखं वै मघवन् गृहे ।

अर्जितं स्वेन वीर्येण नाप्यपाश्रित्य कञ्चन ।। २९ ।।

इन्द्र! जो अपने पराक्रमसे उपार्जन करके घरमें केवल शाक बनाकर खाता है, परंतु दूसरे किसीका सहारा नहीं लेता, उसे ही सुख है ।। २९ ।।

फलशाकमपि श्रेयो भोक्तुं ह्यकृपणं गृहे ।

परस्य तु गृहे भोक्तुः परिभूतस्य नित्यशः ।। ३० ।।

सुमृष्टमपि न श्रेयो विकल्पोऽयमतः सताम् ।

श्ववत् कीलालपो यस्तु परान्नं भोक्तुमिच्छति ।। ३१ ।।

धिगस्तु तस्य तद् भुक्तं कृपणस्य दुरात्मनः ।

दूसरेके सामने दीनता न दिखाकर अपने घरमें फल और शाक खाकर रहना अच्छा है। परंतु दूसरेके घरमें सदा तिरस्कार सहकर मीठे पकवान खाना भी अच्छा नहीं है; अतः दूसरेके आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करनेके सम्बन्धमें साधु पुरुषोंका सदासे ही विरोध रहा है। जो पराया अन्न खाना चाहता है, वह कुत्तेकी भाँति खून चाटता है। उस दुरात्मा और कृपणके वैसे भोजनको धिक्कार है ।। ३०-३१½ ।।

यो दत्त्वातिथिभूतेभ्यः पितृभ्यश्च द्विजोत्तमः ।। ३२ ।।

शिष्टान्यन्नानि यो भुङ्क्ते किं वै सुखतरं ततः ।

अतो मृष्टतरं नान्यत् पूतं किञ्चिच्छतक्रतो ।। ३३ ।।

जो श्रेष्ठ द्विज सदा अतिथियों, भूत-प्राणियों तथा पितरोंको अर्पण करके अर्थात् बलिवैश्वदेव करके शेष अन्न स्वयं भोजन करता है, उससे बढ़कर महान् सुख और क्या हो सकता है? देवेन्द्र! इस यज्ञशेष अन्नसे बढ़कर अत्यन्त मधुर और पवित्र दूसरा कोई भोजन नहीं है ।।

दत्त्वा यस्त्वतिथिभ्यो वै भुङ्क्ते तेनैव नित्यशः ।
यावतो ह्यन्धसः पिण्डानश्नाति सततं द्विजः ।। ३४ ।।
तावतां गोसहस्राणां फलं प्राप्नोति दायकः ।
यदेनो यौवनकृतं तत् सर्वं नश्यते ध्रुवम् ।। ३५ ।।

जो प्रतिदिन अतिथियोंको देकर शेष अन्नसे ही भोजनका काम चलाता है, उसके अन्नके जितने ग्रास अतिथि ब्राह्मण नित्य भोजन करता है, उतने ही हजार गौओंके दानका पुण्य उस दाताको प्राप्त होता है, तथा उसके द्वारा युवावस्थामें जो पाप हुए होते हैं, वे सब निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं ।। ३४-३५ ।।

सदक्षिणस्य भुक्तस्य द्विजस्य तु करे गतम् ।
यद् वारि वारिणा सिञ्चेत् तद्ध्येनस्तरते क्षणात् ।। ३६ ।।

ब्राह्मणके भोजन कर लेनेपर जो उसे दक्षिणा दी जाती है, उस समय उसके हाथमें जो प्रतिग्रहका जल रहता है, उसे दाता पुनः उत्सर्गके जलसे सींचे। ऐसा करनेसे वह तत्काल सब पापोंसे छूट जाता है ।। ३६ ।।

एताश्चान्याश्च वै बह्वीः कथयित्वा कथाः शुभाः ।
बकेन सह देवेन्द्र आपृच्छय त्रिदिवं गतः ।। ३७ ।।

इस प्रकार देवराज इन्द्र बकके साथ ये तथा और बहुत-सी उत्तम कथा-वार्ताएँ करके उनसे आज्ञा लेकर स्वर्गलोकको चले गये ।। ३७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमहाभाग्ये बकशक्रसंवादे त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्यापर्वमें ब्राह्मणोंके माहात्म्यके सम्बन्धमें बक-इन्द्रसंवादविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९३ ।।

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

क्षत्रिय राजाओंका महत्त्व—सुहोत्र और शिबिकी प्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

ततः पाण्डवाः पुनर्मार्कण्डेयमूचुः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पाण्डवोंने पुनः मार्कण्डेयजीसे प्रश्न किया ।। १ ।।

कथितं ब्राह्मणमहाभाग्यं राजन्यमहाभाग्यमिदानीं शुश्रूषामह इति तानुवाच मार्कण्डेयो महर्षिः श्रूयता-मिति इदानीं राजन्यानां महाभाग्यमिति । कुरूणामन्य-तमः सुहोत्रो नाम राजा महर्षीनभिगम्य निवृत्य रथस्थमेव राजानमौशीनरं शिबिं ददर्शाभिमुखं तौ समेत्य परस्परेण यथावयः पूजां प्रयुज्य गुणसाम्येन परस्परेण तुल्यात्मानौ विदित्वान्योन्यस्य पन्थानं न ददतुस्तत्र नारदः प्रादुरासीत् किमिदं भवन्तौ परस्परस्य पन्थानमावृत्य तिष्ठत इति ।। २ ।।

'मुनिवर! आपने ब्राह्मणोंके माहात्म्यका तो वर्णन किया, अब हम क्षत्रियोंकी महत्ताके विषयमें इस समय कुछ सुनना चाहते हैं।' यह बात सुनकर महर्षि मार्कण्डेयने कहा—'अच्छा सुनो। अब मैं क्षत्रियोंके माहात्म्यका वर्णन करता हूँ। कुरुवंशी क्षत्रियोंमें सुहोत्र नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। एक दिन वे महर्षियोंका सत्संग करके जब वहाँसे लौट रहे थे, उस समय उन्होंने अपने सामने ही रथपर बैठे हुए उशीनरपुत्र राजा शिबिको देखा। निकट आनेपर उन दोनोंने अवस्थाके अनुसार एक-दूसरेका सम्मान किया। परंतु गुणमें अपनेको बराबर समझकर एकने दूसरेके लिये राह नहीं दी। इतनेहीमें वहाँ देवर्षि नारदजी प्रकट हो गये और पूछ बैठे 'यह क्या बात है' जो कि तुम दोनों इस तरह एक-दूसरेका मार्ग रोककर खड़े हो?' ।। २ ।।

तावूचतुर्नारदं नैतद् भगवन् पूर्वकर्मकर्त्रादिभि-र्विशिष्टस्य पन्था उपदिश्यते समर्थाय वा आवां च सख्यं परस्परेणोपगतौ तच्चावधानतोऽत्युत्कृष्टमधरो-त्तरं परिभ्रष्टं नारदस्त्वेवमुक्तः श्लोकत्रयमपठत्— ।।

'तब उन दोनोंने नारदजीसे कहा—'भगवन्! ऐसे बात नहीं है। पहलेके कर्म-कर्ताओं (धर्म-व्यवस्थापकों)-ने यह उपदेश दिया है कि जो अपनेसे सभी बातोंमें बढ़ा-चढ़ा हो या अधिक शक्तिशाली हो, उसीको मार्ग देना चाहिए। हम दोनों एक-दूसरेसे मित्रभाव रखकर मिले हैं। विचार करनेपर हम यह निर्णय नहीं कर पाते कि हम दोनोंमेंसे कौन अत्यन्त श्रेष्ठ है और कौन उसकी अपेक्षा अधिक छोटा?' उनके ऐसा कहनेपर नारदजीने तीन श्लोक पढ़े ।। ३ ।।

क्रूरः कौरव्य मृदवे
मृदुः क्रूरे च कौरव ।
साधुश्चासाधवे साधुः
साधवे नाप्नुयात् कथम् ।। ४ ।।

'उनका सारांश इस प्रकार है—कौरव! अपने साथ कोमलताका बर्ताव करनेवालेके लिये क्रूर मनुष्य भी कोमल बन जाता है। क्रूरतापूर्ण बर्ताव तो वह क्रूर मनुष्योंके प्रति ही

करता है, परंतु साधु पुरुष दुष्टोंके प्रति भी साधुताका ही बर्ताव करता है। फिर वह साधु पुरुषोंके साथ साधुताका बर्ताव कैसे नहीं अपनायेगा? ।।

कृतं शतगुणं कुर्या-
न्नास्ति देवेषु निर्णयः ।
औशीनरः साधुशीलो
भवतो वै महीपतिः ।। ५ ।।

'मनुष्य भी चाहे तो वह अपने ऊपर किये हुए उपकारका बदला सौगुना करके चुका सकता है। देवताओंमें ही यह प्रत्युपकारका भाव होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। सुहोत्र! उशीनरपुत्र शिबिका शील-स्वभाव तुमसे कहीं अच्छा है ।। ५ ।।

जयेत् कदर्यं दानेन
सत्येनानृतवादिनम् ।
क्षमया क्रूरकर्माण-
मसाधुं साधुना जयेत् ।। ६ ।।

'नीच प्रकृतिवाले मनुष्यको दान देकर वशमें करे। असत्यवादीको सत्य भाषणसे जीते। क्रूरको क्षमासे और दुष्टको उत्तम व्यवहारसे अपने वशमें करे ।। ६ ।।

तदुभावेव भवन्तावुदारौ व इदानीं भवद्द्वयामन्य-तमः सोऽपसर्पतु एतद् वै निदर्शनमित्युक्त्वा तूष्णीं नारदो बभूव । एतच्छ्रुत्वा तु कौरव्यः शिबिं प्रदक्षिणं कृत्वा पन्थानं दत्त्वा बहुकर्मभिः प्रशस्य प्रययौ ।। ७ ।।

'अतः तुम दोनों ही उदार हो; इस समय तुम दोनोंमें से एक, जो अधिक उदार हो, वह मार्ग छोड़कर हट जाय; यही उदारताका आदर्श है।' ऐसा कहकर नारदजी चुप हो गये। यह सुनकर कुरुवंशी राजा सुहोत्रने शिबिको अपनी दायीं ओर करके मार्ग दे दिया और उनके अनेक सत्कर्मोंका उल्लेख करके उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए वे अपनी राजधानीको चले गये ।। ७ ।।

तदेतद् राज्ञो महाभाग्यमप्युक्तवान् नारदः ।। ८ ।।

'इस प्रकार साक्षात् नारदजीने राजा शिबिकी महत्ताका अपने मुखसे वर्णन किया' ।। ८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि शिबिचरिते चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें शिबिचरितविषयक एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९४ ।।

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा ययातिद्वारा ब्राह्मणको सहस्र गौओंका दान

मार्कण्डेय उवाच

इदमन्यच्छ्रूयतां ययातिर्नाहुषो राजा राज्यस्थः पौरजनावृत आसांचक्रे गुर्वर्थी ब्राह्मण उपेत्याब्रवीद् भो राजन् गुर्वर्थं भिक्षेयं समयादिति ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! अब एक-दूसरे क्षत्रिय नरेशका महत्त्व सुनो—नहुषके पुत्र राजा ययाति जब पुरवासी मनुष्योंसे घिरे हुए राजसिंहासन-पर विराजमान थे, उन्हीं दिनोंकी बात है, एक ब्राह्मण गुरु-दक्षिणा देनेके लिये भिक्षा माँगनेकी इच्छासे उनके पास आकर बोला—'राजन्! मैं गुरु-दक्षिणा देनेके लिये भिक्षा चाहता हूँ, किंतु उसके साथ एक शर्त है' ।। १ ।।

राजोवाच

ब्रवीतु भगवान् समयमिति ।। २ ।।

राजाने कहा—भगवन्! आप अपनी शर्त बताइये ।। २ ।।

ब्राह्मण उवाच

विद्वेषणं परमं जीवलोके
कुर्यान्नरः पार्थिव याच्यमानः ।
तं त्वां पृच्छामि कथं तु राजन्
दद्याद् भवान् दयितं च मेऽद्य ।। ३ ।।

ब्राह्मण बोला—भूपाल! इस संसारमें प्रायः देखा जाता है कि जब किसी मनुष्यसे कोई वस्तु माँगी जाती है, तब वह उस माँगनेवालेसे अत्यन्त द्वेष करने लगता है। अतः राजन्! मैं आपसे पूछता हूँ कि आज आप मुझे मेरी प्रिय वस्तु कैसे दे सकते हैं? ।। ३ ।।

राजोवाच

न चानुकीर्तयेदद्य दत्त्वा
अयाच्यमर्थं न च संशृणोमि ।
प्राप्यमर्थं च संश्रुत्य
तं चापि दत्त्वा सुसुखी भवामि ।। ४ ।।

राजाने कहा—दान लेनेके अधिकारी ब्राह्मणदेव! मैं कोई वस्तु देकर उसकी बार-बार चर्चा नहीं करता और यह प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो

आपके माँगने योग्य न हो। जो वस्तु प्राप्त हो सकती है, उसे देनेकी प्रतिज्ञा कर लेनेपर मैं उसे देकर ही अधिक सुखी होता हूँ ।। ४ ।।

ददामि ते रोहिणीनां सहस्रं
प्रियो हि मे ब्राह्मणो याचमानः ।
न मे मनः कुप्यति याचमाने
दत्तं न शोचामि कदाचिदर्थम् ।। ५ ।।

मैं आपको लाल रंगकी एक हजार गौएँ देता हूँ; क्योंकि न्याययुक्त याचना करनेवाला ब्राह्मण मुझे बहुत प्रिय है। मेरे मनमें याचकपर कभी क्रोध नहीं आता है और न मैं कभी दिये हुए धनके लिये पश्चात्ताप ही करता हूँ ।। ५ ।।

इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय राजा गोसहस्रं ददौ ।
प्राप्तवांश्च गवां सहस्रं ब्राह्मण इति ।। ६ ।।

ऐसा कहकर राजाने ब्राह्मणको एक हजार गौएँ दे दीं और ब्राह्मणने उन सहस्रों गौओंको ग्रहण कर लिया ।। ६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि नाहुषचरिते पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ययातिचरितविषयक एक सौ पञ्चानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९५ ।।

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

सेदुक और वृषदर्भका चरित्र

वैशम्पायन उवाच

भूय एव महाभाग्यं कथ्यतामित्यब्रवीत् पाण्डवः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने मार्कण्डेयजीसे पुनः यह अनुरोध किया—'भगवन्! फिर मुझे क्षत्रियोंका माहात्म्य सुनाइये' ।। १ ।।

अथाचष्ट मार्कण्डेयो महाराज वृषदर्भसेदुकनामानौ राजानौ नीतिमार्गरतावस्त्रोपास्त्रकृतिनौ ।। २ ।।

तब मार्कण्डेयजीने कहा—'महाराज! पूर्वकालमें वृषदर्भ और सेदुक ये दो राजा थे। दोनोंही नीतिके मार्गपर चलनेवाले और अस्त्र तथा उपास्त्रोंकी विद्यामें निपुण थे ।। २ ।।

सेदुको वृषदर्भस्य बालस्यैव उपांशुव्रतमभ्यजानात् कुप्यमदेयं ब्राह्मणस्य ।। ३ ।।

'वृषदर्भने बचपनसे ही एक गुप्त व्रत ले रखा था कि 'ब्राह्मणको सोना-चाँदीके सिवा और कुछ नहीं देना चाहिये (तात्पर्य यह कि उसे सुवर्ण तथा रजत ही प्रदान करना चाहिये)'। उनके इस व्रतको सेदुक जानते थे ।। ३ ।।

अथ तं सेदिकं ब्राह्मणः कश्चिद् वेदाध्ययनसम्पन्न आशिषं दत्त्वा गुर्वर्थी भिक्षितवान् ।। ४ ।।

अश्वसहस्रं मे भवान् ददात्विति तं सेदुको ब्राह्मणमब्रवीत् ।। ५ ।।

नास्ति सम्भवो गुर्वर्थं दातुमिति ।। ६ ।।

'एक दिन कोई वेदाध्ययनसम्पन्न ब्राह्मण राजा सेदुकके पास आया और उन्हें आशीर्वाद देकर गुरु-दक्षिणाके लिये भिक्षा माँगता हुआ बोला—'राजन्! आप मुझे एक हजार घोड़े दीजिये।' तब सेदुकने उस ब्राह्मण-से कहा—'ब्रह्मन्! आपकी अभीष्ट गुरु-दक्षिणा देना मेरे लिये सम्भव नहीं है ।। ४-६ ।।

स त्वं गच्छ वृषदर्भसकाशम् । राजा परम-धर्मज्ञो ब्राह्मण तं भिक्षस्व । स ते दास्यति तस्यैतदुपांशुव्रतमिति ।। ७ ।।

'अतः आप वृषदर्भके पास चले जाइये। ब्राह्मण! राजा वृषदर्भ बड़े धर्मज्ञ हैं। आप उन्हींसे याचना कीजिये। वे आपकी अभीष्ट वस्तु अवश्य दे देंगे। यह उनका गुप्त नियम है' ।। ७ ।।

अथ ब्राह्मणो वृषदर्भसकाशं गत्वा अश्वसहस्रमयाचत् । स राजा तं कशेनाताडयत् ।। ८ ।।

'तब ब्राह्मण देवताने वृषदर्भके पास जाकर एक हजार घोड़े माँगे। यह सुनकर राजा उन्हें कोड़ेसे पीटने लगे' ।। ८ ।।

तं ब्राह्मणोऽब्रवीत् । किं हिंस्यनागसं मामिति ।। ९ ।।

'यह देख ब्राह्मणने उनसे पूछा—'राजन्! मुझ निरपराधको आप क्यों मार रहे हैं' ।। ९ ।।

एवमुक्त्वा तं शपन्तं राजाऽऽह । विप्र किं यो न ददाति तुभ्यमुताहोस्विद् ब्राह्मण्यमेतत् ।। १० ।।

'ऐसा कहकर ब्राह्मण देवता शाप देनेको उद्यत हो गये। तब राजाने उनसे कहा—'विप्रवर! क्या जो आपको अपना धन न दे, उसको शाप देना ही उचित है? अथवा यही ब्राह्मणोचित कर्म है?' ।। १० ।।

ब्राह्मण उवाच

राजाधिराज तव समीपं सेदुकेन प्रेषितो भिक्षितु-मागतः । तेनानुशिष्टेन मया त्वं भिक्षितोऽसि ।। ११ ।।

ब्राह्मणने कहा—'राजाधिराज! आपके पास राजा सेदुकने मुझे भेजा है, तभी आपसे गुरु-दक्षिणा माँगने आया हूँ। उनके उपदेशके अनुसार ही मैंने आपसे याचना की है' ।। ११ ।।

राजोवाच

पूर्वाह्णे ते दास्यामि यो मेऽद्य बलिरागमिष्यति । यो हन्यते कशया कथं मोघं क्षेपणं तस्य स्यात् ।। १२ ।।

राजा बोले—ब्रह्मन्! आज जो भी राजकीय कर मेरे पास आयेगा, उसे कल पूर्वाह्णमें ही आपको दे दूँगा। जिसे कोड़ेसे पीटा जाय, उसे खाली हाथ कैसे लौटाया जा सकता है? ।। १२ ।।

इत्युक्त्वा ब्राह्मणाय दैवसिकामुत्पत्तिं प्रादात् ।
अधिकस्याश्वसहस्रस्य मूल्यमेवादादिति ।। १३ ।।

ऐसा कहकर राजाने ब्राह्मणको एक दिनकी आय दे दी। इस प्रकार उन्होंने एक हजारसे अधिक घोड़ोंका मूल्य ही दिया* ।। १३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि सेदुकवृषदर्भचरिते षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें सेदुकवृषदर्भचरितविषयक एक सौ छियानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९६ ।।

सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्र और अग्निद्वारा राजा शिबिकी परीक्षा

मार्कण्डेय उवाच

देवानां कथा संजाता महीतलं गत्वा महीपतिं शिबिमौशीनरं साध्वेनं शिबिं जिज्ञास्याम इति। एवं भो इत्युक्त्वा अग्नीन्द्रावुपतिष्ठेताम् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! एक समय देवताओंमें परस्पर यह बातचीत हुई कि ‘पृथ्वीपर चलकर हम उशीनरके पुत्र राजा शिबिकी श्रेष्ठताकी परीक्षा करें।’ ‘ऐसा ही हो’ यह कहकर अग्नि और इन्द्र वहाँ जानेके लिये उद्यत हुए ।। १ ।।

अग्निः कपोतरूपेण तमभ्यधावदामिषार्थमिन्द्रः श्येनरूपेण ।। २ ।।

अग्निदेव कबूतरका रूप धारण करके मानो अपने प्राण बचानेके लिये राजाके पास भागते हुए गये और इन्द्रने बाज पक्षीका रूप धारण कर मांसके लिये उस कबूतरका पीछा किया ।। २ ।।

अथ कपोतो राज्ञो दिव्यासनासीनस्योत्सङ्गं न्यपतत् ।। ३ ।।

राजा शिबि अपने दिव्य सिंहासनपर बैठे हुए थे। कबूतर उनकी गोदमें जा गिरा ।। ३ ।।

अथ पुरोहितो राजानमब्रवीत् । प्राणरक्षार्थं श्येनाद् भीतो भवन्तं प्राणार्थी प्रपद्यते ।। ४ ।।

यह देखकर पुरोहितने राजासे कहा—‘महाराज! यह कबूतर बाजके डरसे अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये आपकी शरणमें आया है। किसी तरह प्राण बच जायँ—यही इसका प्रयोजन है ।। ४ ।।

वसु ददातु अन्तवान् पार्थिवोऽस्य निष्कृतिं कुर्याद् घोरं कपोतस्य निपातमाहुः ।। ५ ।।

‘परंतु विद्वान् पुरुष कहते हैं कि ‘इस तरह कबूतरका आकर गिरना भयंकर अनिष्टका सूचक है।’ आपकी मृत्यु निकट जान पड़ती है; अतः आपको इस उत्पातकी शान्ति करनी चाहिये। आप धन दान करें’ ।। ५ ।।

अथ कपोतो राजानमब्रवीत् । प्राणरक्षार्थं श्येनाद् भीतो भवन्तं प्राणार्थी प्रपद्ये अङ्गैरङ्गानि प्राप्यार्थी मुनिर्भूत्वा प्राणांस्त्वां प्रपद्ये ।। ६ ।।

तदनन्तर कबूतरने राजासे कहा—'महाराज! मैं बाजके डरसे प्राण बचानेके लिये प्राणार्थी होकर आपकी शरणमें आया हूँ। मैं वास्तवमें कबूतर नहीं ऋषि हूँ। मैंने स्वेच्छासे पूर्व शरीरसे यह शरीर बदल लिया है। प्राणरक्षक होनेके कारण आप ही मेरे प्राण हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ, मुझे बचाइये ।। ६ ।।

स्वाध्यायेन कर्शितं ब्रह्मचारिणं मां विद्धि । तपसा दमेन युक्तमाचार्यस्याप्रतिकूलभाषिणम् । एवं युक्तमपापं मां विद्धि ।। ७ ।।

'मुझे ब्रह्मचारी समझिये। मैंने वेदोंका स्वाध्याय करते हुए अपने शरीरको दुर्बल किया है। मैं तपस्वी और जितेन्द्रिय हूँ। आचार्यके प्रतिकूल कभी कोई बात नहीं करता। इस प्रकार मुझे योगयुक्त और निष्पाप जानिये ।। ७ ।।

गदामि वेदान् विचिनोमि छन्दः
सर्वे वेदा अक्षरशो मे अधीताः ।
न साधु दानं श्रोत्रियस्य प्रदानं
मा प्रादाः श्येनाय न कपोतोऽस्मि ।। ८ ।।

'मैं वेदोंका प्रवचन और छन्दोंका संग्रह करता हूँ। मैंने सम्पूर्ण वेदोंके एक-एक अक्षरका अध्ययन किया है। मैं श्रोत्रिय विद्वान् हूँ। मुझ-जैसे व्यक्तिको किसी भूखे प्राणीकी

भूख बुझानेके लिये उसके हवाले कर देना उत्तम दान नहीं है। अतः आप मुझे बाजको न सौंपिये। मैं कबूतर नहीं हूँ' ।। ८ ।।

अथ श्येनो राजनमब्रवीत् ।। ९ ।।

पर्यायेण वसतिर्वा भवेषु
सर्गे ज्ञातः पूर्वमस्मात् कपोतात् ।
त्वमाददानोऽथ कपोतमेनं
मा त्वं राजन् विघ्नकर्ता भवेथाः ।। १० ।।

तदनन्तर बाजने राजासे कहा—'महाराज! प्रायः सभी जीवोंको बारी-बारीसे विभिन्न योनियोंमें जन्म लेकर रहना पड़ता है। मालूम होता है, आप इस सृष्टि-परम्परामें पहले कभी इस कबूतरसे जन्म ग्रहण कर चुके हैं; तभी तो इसे अपने आश्रयमें ले रहे हैं! राजन्! मैं आग्रहपर्वूक कहता हूँ, आप इस कबूतरको लेकर मेरे भोजनके कार्यमें विघ्न न डालें' ।। ९-१० ।।

राजोवाच

केनेदृशी जातु परा हि दृष्टा
वागुच्यमाना शकुनेन संस्कृता ।
यां वै कपोतो वदते यां च श्येन
उभौ विदित्वा कथमस्तु साधु ।। ११ ।।

राजा बोले—अहो! आजसे पहले किसने कभी भी किसी पक्षीके मुखसे ऐसी उत्तम संस्कृत भाषाका उच्चारण देखा या सुना है, जैसी कि ये कबूतर और बाज बोल रहे हैं? किस प्रकार इन दोनोंका स्वरूप जानकर इनके प्रति न्यायोचित बर्ताव किया जा सकता है? ।। ११ ।।

नास्य वर्षं वर्षति वर्षकाले
नास्य बीजं रोहति काल उप्तम् ।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे
न त्राणं लभेत् त्राणमिच्छन् स काले ।। १२ ।।

जो राजा अपनी शरणमें आये हुए भयभीत प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसके देशमें समयपर वर्षा नहीं होती। उसके बोये हुए बीज भी समयपर नहीं उगते हैं। वह कभी संकटके समय जब अपनी रक्षा चाहता है, तब उसे कोई रक्षक नहीं मिलता ।। १२ ।।

जाता ह्रस्वा प्रजा प्रमीयते
सदा न वासं पितरोऽस्य कुर्वते ।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे
नास्य देवाः प्रतिगृह्णन्ति हव्यम् ।। १३ ।।

जो राजा अपनी शरणमें आये हुए भयभीत प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसकी पैदा हुई संतान छोटी अवस्थामें ही मर जाती है। उसके पितरोंको कभी पितृलोकमें रहनेके लिये स्थान नहीं मिलता और देवता उसका दिया हुआ हविष्य नहीं ग्रहण करते हैं ।। १३ ।।

मोघमन्नं विन्दति चाप्रचेताः
स्वर्गाल्लोकाद् भ्रश्यति शीघ्रमेव ।
भीतं प्रपन्नं यो हि ददाति शत्रवे
सेन्द्रा देवाः प्रहरन्त्यस्य वज्रम् ।। १४ ।।

जो राजा शरणमें आये हुए भयभीत प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसका खाना-पीना निष्फल है। वह अनुदार हृदयका मनुष्य शीघ्र ही स्वर्गलोकसे भ्रष्ट हो जाता है और इन्द्र आदि देवता उसके ऊपर वज्रका प्रहार करते हैं ।। १४ ।।

उक्षाणं पक्त्वा सह ओदनेन
अस्मात् कपोतात् प्रति ते नयन्तु ।
यस्मिन् देशे रमसेऽतीव श्येन
तत्र मांसं शिबयस्ते वहन्तु ।। १५ ।।

‘अतः बाज! इस कबूतरके बदले मेरे सेवक ले जायँ तुम्हारी पुष्टिके लिये भातके साथ ऋषभकन्द पकाकर दूँगा। तुम जिस स्थानपर प्रसन्नतापूर्वक रह सको, वहीं चलकर रहो। ये शिबिवंशी क्षत्रिय वहीं तुम्हारे लिये भात और ऋषभकन्दका गूदा पहुँचा दें ।। १५ ।।

श्येन उवाच

नोक्षाणं राजन् प्रार्थयेयं न चान्य-
दस्मान्मांसमधिकं वा कपोतात् ।
देवैर्दत्तः सोऽद्य ममैष भक्ष-
स्तन्मे ददस्व शकुनानामभावात् ।। १६ ।।

बाज बोला—राजन्! मैं आपसे ऋषभकन्द नहीं माँगता और न मुझे इस कबूतरसे अधिक कोई दूसरा मांस ही चाहिये। आज दूसरे पक्षियोंके अभावमें यह कबूतर ही मेरे लिये देवताओंका दिया हुआ भोजन है। अतः यही मेरा आहार होगा। इसे ही मुझे दे दीजिये ।। १६ ।।

राजोवाच

उक्षाणं वेहतमनूनं नयन्तु
ते पश्यन्तु पुरुषा ममैव ।
भयाहितस्य दायं ममान्तिकात् त्वां
प्रत्याम्नायं तु त्वं ह्येनं मा हिंसीः ।। १७ ।।

राजाने कहा—बाज! उक्षा (ऋषभकन्द) अथवा वेहत नामक ओषधियाँ बड़ी पुष्टिकारक होती हैं। मेरे सेवक जाकर उनकी खोज करें और पर्याप्त मात्रामें भातके साथ उन्हें पकाकर तुम्हारे पास पहुँचा दें। भयभीत कपोतके बदलेमें मेरे पाससे मिलनेवाला यह उचित मूल्य होगा। इसे ले लो, किंतु इस कबूतरको न मारो ।। १७ ।।

त्यजे प्राणान् नैव दद्यां कपोतं
सौम्यो ह्ययं किं न जानासि श्येन ।
यथा क्लेशं मा कुरुष्वेह सौम्य
नाहं कपोतमर्पयिष्ये कथंचित् ।। १८ ।।

मैं अपने प्राण दे दूँगा, किंतु इस कबूतरको नहीं दूँगा। बाज! क्या तुम नहीं जानते, यह कितना सुन्दर स्वयं कैसा भोला-भाला है? सौम्य! अब तुम यहाँ व्यर्थ कष्ट न उठाओ। मैं इस कबूतरको किसी तरह तुम्हारे हाथमें नहीं दूँगा ।। १८ ।।

यथा मां वै साधुवादैः प्रसन्नाः
प्रशंसेयुः शिबयः कर्मणा तु ।
यथा श्येन प्रियमेव कुर्यां
प्रशाधि मां यद् वदेस्तत् करोमि ।। १९ ।।

बाज! जिस कर्मसे शिबिदेशके लोग प्रसन्न होकर मुझे साधुवाद देते हुए मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा करें और जिससे मेरेद्वारा तुम्हारा भी प्रिय कार्य बन सके, वह बताओ। उसीके लिये मुझे आज्ञा दो। मैं वही करूँगा ।। १९ ।।

श्येन उवाच

ऊरोर्दक्षिणादुत्कृत्य स्वपिशितं तावद् राजन् यावन्मांसं कपोतेन समम् । तथा तस्मात् साधु त्रातः कपोतः प्रशंसेयुश्च शिबयः कृतं च प्रियं स्यान्ममेति ।। २० ।।

बाज बोला—राजन्! अपनी दायीं जाँघसे उतना ही मांस काटकर दो, जितना इस कबूतरके बराबर हो सके। ऐसा करनेसे कबूतरकी भलीभाँति रक्षा हो सकती है। इसीसे शिबिदेशकी प्रजा आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा करेगी और मेरा भी प्रिय कार्य सम्पन्न हो जायगा ।। २० ।।

अथ स दक्षिणादूरोरुत्कृत्य स्वमांसपेशीं तुलयाऽऽधारयत् । गुरुतर एव कपोत आसीत् ।। २१ ।।

तब राजाने अपनी दायीं जाँघसे मांस काटकर उसे तराजूके एक पलड़ेपर रखा, किंतु कबूतरके साथ तौलनेपर वही अधिक भारी निकला ।। २१ ।।

पुनरन्यमुञ्चकर्त गुरुतर एव कपोतः । एवं सर्वं समधिकृत्य शरीरं तुलायामारोपयामास । तत् तथापि गुरुतर एव कपोत आसीत् ।। २२ ।।

राजाने फिर दूसरी बार अपने शरीरका मांस काटकर रखा, तो भी कबूतरका ही पलड़ा भारी रहा। इस प्रकार क्रमशः उन्होंने अपने सभी अंगोंका मांस काट-काटकर तराजूपर चढ़ाया तो भी कबूतर ही भारी रहा ।। २२ ।।

अथ राजा स्वयमेव तुलामारुरोह । न च व्यलीकमासीद् राज्ञ एतद् वृत्तान्तं दृष्ट्वा त्रात इत्युक्त्वा प्रालीयत श्येनोऽथ राजा अब्रवीत् ।। २३ ।।

तब राजा स्वयं ही तराजूपर चढ़ गये। ऐसा करते समय उनके मनमें क्लेश नहीं हुआ। यह घटना देखकर बाज बोल उठा—'हो गयी कबूतरकी प्राणरक्षा।' ऐसा कहकर वह वहीं अन्तर्धान हो गया। अब राजा शिबि कबूतरसे बोले— ।। २३ ।।

कपोतं विद्युः शिबयस्त्वां कपोत
पृच्छामि ते शकुने को नु श्येनः ।
नानीश्वर ईदृशं जातु कुर्या-
देतं प्रश्नं भगवन् मे विचक्ष्व ।। २४ ।।

'कपोत! ये शिबिलोग तो तुम्हें कबूतर ही समझते थे। पक्षिप्रवर! मैं तुमसे पूछता हूँ, बताओ, यह बाज कौन था? ईश्वरके सिवा दूसरा कोई कभी ऐसा चमत्कारपूर्ण कार्य नहीं कर सकता। भगवन्! मेरे इस प्रश्नका यथावत् उत्तर दो' ।। २४ ।।

कपोत उवाच

वैश्वानरोऽहं ज्वलनो धूमकेतु-
रथैव श्येनो वज्रहस्तः शचीपतिः ।
साधु ज्ञातुं त्वामृषभं सौरथेय
नौ जिज्ञासया त्वत्सकाशं प्रपन्नौ ।। २५ ।।

कबूतर बोला—राजन्! मैं धूममयी ध्वजासे विभूषित वैश्वानर अग्नि हूँ और उस बाजके रूपमें साक्षात् वज्रधारी शचीपति इन्द्र थे। सुरथानन्दन! तुम एक श्रेष्ठ पुरुष हो। हम दोनों तुम्हारी श्रेष्ठताकी परीक्षाके लिये यहाँ आये थे ।। २५ ।।

यामेतां पेशीं मम निष्क्रयाय
प्रादाद् भवानसिनोत्कृत्य राजन् ।
एतद् वो लक्ष्म शिवं करोमि
हिरण्यवर्णं रुचिरं पुण्यगन्धम् ।। २६ ।।

राजन्! तुमने मेरी रक्षाके लिये जो तलवारसे काटकर अपना यह मांस दिया है, इसके घावको मैं अभी अच्छा कर देता हूँ। यहाँकी चमड़ीका रंग सुन्दर और सुनहला हो जायगा तथा इससे बड़ी पवित्र सुगन्ध फैलती रहेगी, यह तुम्हारा राजचिह्न होगा ।। २६ ।।

एतासां प्रजानां पालयिता यशस्वी
सुरर्षीणामथ सम्मतो भृशम् ।

एतस्मात् पार्श्वात् पुरुषो जनिष्यति
कपोतरोमेति च तस्य नाम ।। २७ ।।

तुम्हारे इस दक्षिण पार्श्वसे एक पुत्र उत्पन्न होगा, जो इन प्रजाओंका पालक और यशस्वी होनेके साथ ही देवर्षियोंके अत्यन्त आदरका पात्र होगा। उसका नाम होगा, ‘कपोतरोमा’ ।। २७ ।।

कपोतरोमाणं शिबिनौद्भिदं पुत्रं प्राप्स्यसि नृप वृषसंहननं यशोदीप्यमानं द्रष्टासि शूरमृषभं सौरथानाम् ।। २८ ।।

राजन्! तुम्हारे द्वारा उत्पन्न किया हुआ वह पुत्र, जिसे तुम भविष्यमें प्राप्त करोगे, तुम्हारी जाँघका भेदन करके प्रकट होगा; इसीलिये औद्भिद कहलायेगा। उसके शरीरके रोएँ कबूतरके समान होंगे। उसका शरीर साँड़के समान हृष्ट-पुष्ट होगा। तुम देखोगे कि वह सुयशसे प्रकाशित हो रहा है। सुरथाके वंशजोंमें वह सर्वश्रेष्ठ शूरवीर होगा ।।

(इतना कहकर अग्निदेव अन्तर्धान हो गये।)

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि शिबिचरिते सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें शिबिचरित्रविषयक एक सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९७ ।।

---

* राजाका यह कठोर नियम था कि वे सोना-चाँदीके सिवा और कुछ ब्राह्मणको नहीं देते थे, जो उनसे ये ही वस्तुएँ माँगता, उसे प्रसन्नतापूर्वक देते थे। जो दूसरी कोई चीज माँगता, उसे यह समझकर कि यह मेरा नियम भंग करना चाहता है, दण्ड देते थे। ब्राह्मण देवता दूसरेके भेजनेसे आये थे, इसलिये राजाने एक हजार अश्वोंके मूल्यसे अधिक सोना-चाँदी उन्हें दिया।

अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

देवर्षि नारदद्वारा शिबिकी महत्ताका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

भूय एव महाभाग्यं कथ्यतामित्यब्रवीत् पाण्डवो मार्कण्डेयम् । अथाचष्ट मार्कण्डेयः । अष्टकस्य वैश्वामित्रेरश्वमेधे सर्वे राजानः प्रागच्छन् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने मार्कण्डेयजीसे पुनः प्रार्थना की—'मुने! क्षत्रिय नरेशोंके माहात्म्यका पुनः वर्णन कीजिये।' तब मार्कण्डेयजीने कहा—'धर्मराज! विश्वामित्रके पुत्र अष्टकके अश्वमेधयज्ञमें सब राजा पधारे थे ।। १ ।।

भ्रातरश्चास्य प्रतर्दनो वसुमनाः शिबिरौशीनर इति । स च समाप्तयज्ञो भ्रातृभिः सह रथेन प्रायात् । ते च नारदमागच्छन्तमभिवाद्यारोहतु भवान् रथमित्यब्रुवन् ।। २ ।।

'अष्टकके तीन भाई प्रतर्दन, वसुमना तथा उशीनर-पुत्र शिबि भी उस यज्ञमें आये थे। यज्ञ समाप्त होनेपर एक दिन अष्टक अपने भाइयोंके साथ रथपर आरूढ़ हो (स्वर्गकी ओर) जा रहे थे। इसी समय रास्तेमें देवर्षि नारदजी आते दिखायी दिये। तब उन तीनोंने उन्हें प्रणाम करके कहा—'भगवन् आप भी रथपर आ जाइये' ।। २ ।।

तांस्तथेत्युक्त्वा रथमारुरोह । अथ तेषामेकः सुरर्षिं नारदमब्रवीत् । प्रसाद्य भगवन्तं किञ्चिदिच्छेयं प्रष्टुमिति ।। ३ ।।

'तब नारदजी 'तथास्तु' कहकर उस रथपर बैठ गये। तदनन्तर उनमेंसे एकने देवर्षि नारदसे कहा—'भगवन्! मैं आपको प्रसन्न करके कुछ पूछना चाहता हूँ' ।। ३ ।।

पृच्छेत्यब्रवीदृषिः । सोऽब्रवीदायुष्मन्तः सर्वगुणप्रमुदिताः । अथायुष्मन्तं स्वर्गस्थानं चतुर्भि-र्यातव्यं स्यात् कोऽवतरेत् । अयमष्टकोऽवतरे-दित्यब्रवीदृषिः ।। ४ ।।

'देवर्षिने कहा—'पूछो' तब उसने इस प्रकार कहा—'भगवन्! हम सब लोग दीर्घायु तथा सर्वगुणसम्पन्न होनेके कारण सदा प्रसन्न रहते हैं। हम चारोंको दीर्घकालतक उपभोगमें आनेवाले स्वर्ग-लोकमें जाना है, किंतु वहाँसे सर्वप्रथम कौन इस भूतलपर उतर आयेगा?' देवर्षिने कहा—'सबसे पहले अष्टक उतरेगा' ।। ४ ।।

किं कारणमित्यपृच्छत् । अथाचष्टाष्टकस्य गृहे मया उषितं स मां रथेनानुप्रावहदथापश्यमनेकानि गोसहस्राणि वर्णशो विविक्तानि तमहमपृच्छं कस्येमा गाव इति सोऽब्रवीत् । मया निसृष्टा इत्येतास्तेनैव स्वयं श्लाघति कथितेन । एषोऽवतरेदथ त्रिभिर्यातव्यं साम्प्रतं कोऽवतरेत् ।। ५ ।।

‘फिर उसने पूछा—‘क्या कारण है कि अष्टक ही उतरेगा?’ तब नारदजीने कहा—एक दिन मैं अष्टकके घर ही ठहरा था। उस दिन अष्टक मुझे रथपर बिठाकर भ्रमणके लिये ले जा रहे थे। मैंने रास्तेमें देखा, भिन्न-भिन्न रंगकी कई हजार गौएँ पृथक्-पृथक् चर रही हैं। उन्हें देखकर मैंने अष्टकसे पूछा—‘ये किसकी गौएँ हैं।’ इन्होंने उत्तर दिया—‘ये मेरी दान की हुई गौएँ हैं।’ इस प्रकार ये स्वयं अपने किये हुए दानका बखान करके आत्मश्लाघा करते हैं। इसीलिये इन्हें स्वर्गसे पहले उतरना पड़ेगा।’ तत्पश्चात् उन लोगोंने पुनः प्रश्न किया—‘यदि हम शेष तीनों भाई स्वर्गमें जायँ, तो सबसे पहले किसको उतरना पड़ेगा?’ ।। ५ ।।

प्रतर्दन इत्यब्रवीदृषिः । तत्र किं कारणं प्रतर्दनस्यापि गृहे मयोषितं स मां रथेनानुप्रावहत् ।। ६ ।।

अथैनं ब्राह्मणोऽभिक्षेताश्वं मे ददातु भवान् निवृत्तो दास्यामीत्यब्रवीद् ब्राह्मणं त्वरितमेव दीयता-मित्यब्रवीद् ब्राह्मणस्त्वरितमेव स ब्राह्मणस्यैवमुक्त्वा दक्षिणं पार्श्वमददत् ।। ७ ।।

‘देवर्षिने उत्तर दिया—‘प्रतर्दनको।’ ‘इसमें क्या कारण है?’ ऐसा प्रश्न होनेपर देवर्षिने उत्तर दिया—‘एक दिन मैं प्रतर्दनके घर भी ठहरा था। ये मुझे रथसे ले जा रहे थे। उस समय एक ब्राह्मणने आकर इनसे याचना की—‘आप मुझे एक अश्व दे दीजिये।’ तब उन्होंने ब्राह्मणको उत्तर दिया—‘लौटनेपर दे दूँगा।’ ब्राह्मणने कहा—‘नहीं, तुरंत दे दीजिये।’ ‘अच्छा तो तुरंत ही लीजिये’ यों कहकर इन्होंने रथके दाहिने पार्श्वका घोड़ा खोलकर उसे दे दिया’ ।। ६-७ ।।

अथान्योऽप्यश्वार्थी ब्राह्मण आगच्छत् । तथैव चैनमुक्त्वा वामपार्ष्णिमभ्यदादथ प्रायात् पुनरपि चान्योऽप्यश्वार्थी ब्राह्मण आगच्छत् त्वरितोऽथ तस्मै अपनह्य वामं धुर्यमददत् ।। ८ ।।

‘इतनेहीमें एक-दूसरा ब्राह्मण आया। उसे भी घोड़ेकी ही आवश्यकता थी। जब उसने याचना की, तब राजाने पूर्ववत् उससे भी यही कहा—‘लौटनेपर दूँगा।’ परंतु उसके आग्रह करनेपर उन्होंने रथके वाम पार्श्वका एक घोड़ा दिया। फिर वे आगे बढ़ गये। तदनन्तर एक घोड़ा माँगनेवाला दूसरा ब्राह्मण आया। उसने भी जल्दी ही माँगा। तब राजाने उसे बायें धुरेका बोझ ढोनेवाला अश्व खोल करके दे दिया ।। ८ ।।

अथ प्रायात् पुनरन्य आगच्छदश्वार्थी ब्राह्मणस्तमब्रवीदतियातो दास्यामि त्वरितमेव मे दीयतामित्यब्रवीद् ब्राह्मणस्तस्मै दत्त्वाश्वं रथधुरं गृह्णता व्याहृतं ब्राह्मणानां साम्प्रतं नास्ति किंचिदिति ।। ९ ।।

‘तत्पश्चात् जब वे आगे बढ़े, तब फिर एक अश्वका इच्छुक ब्राह्मण आ पहुँचा। उसके माँगनेपर राजाने कहा—‘मैं शीघ्र ही अपने लक्ष्यतक पहुँचकर घोड़ा दे दूँगा।’ ब्राह्मण बोला—‘मुझे तुरंत दीजिये।’ तब उन्होंने ब्राह्मणको अश्व देकर स्वयं रथका धुरा पकड़ लिया और कहा—‘ब्राह्मणोंके लिये ऐसा करना सर्वथा उचित नहीं है’ ।। ९ ।।

य एष ददाति चासूयति च तेन व्याहृतेन तथावतरेत् । अथ द्वाभ्यां यातव्यमिति कोऽवतरेत् ।। १० ।।

'ये प्रतर्दन दान देते हैं और ब्राह्मणकी निन्दा भी करते हैं, अतः वह निन्दायुक्त वचन बोलनेके कारण पहले इन्हींको स्वर्गसे उतरना पड़ेगा। तब पुनः प्रश्न किया गया, 'हम शेष दो भाई जा रहे हैं, उनमेंसे कौन पहले स्वर्गसे नीचे उतरेगा?' ।। १० ।।

वसुमना अवतरेदित्यब्रवीदृषिः ।। ११ ।।

'देवर्षिने उत्तर दिया—'वसुमना पहले उतरेंगे' ।।

किं कारणमित्यपृच्छदथाचष्ट नारदः । अहं परिभ्रमन् वसुमनसो गृहमुपस्थितः ।। १२ ।।

'तब उन्होंने पूछा—'इसका क्या कारण है?' नारदजी बोले—'एक दिन मैं घूमता-घामता वसुमनाके घरपर जा पहुँचा ।। १२ ।।

स्वस्तिवचनमासीत् पुष्परथस्य प्रयोजनेन तमहमन्वगच्छं स्वस्तिवाचितेषु ब्राह्मणेषु रथो ब्राह्मणानां दर्शितः ।। १३ ।।

'उस दिन उनके यहाँ स्वस्तिवाचन हो रहा था। राजाके यहाँ एक ऐसा रथ था, जो पर्वत, आकाश और समुद्र आदि दुर्गम स्थानोंपर भी सुगमतासे आ-जा सकता था। उसका नाम था 'पुष्परथ'। मैं उसीके प्रयोजनसे राजाके यहाँ गया था। जब ब्राह्मणलोग स्वस्तिवाचन कर चुके, तब राजाने ब्राह्मणोंको अपना वह रथ दिखाया ।। १३ ।।

तमहं रथं प्राशंसमथ राजाब्रवीद् भगवता रथः प्रशस्तः । एष भगवतो रथ इति ।। १४ ।।

'उस समय मैंने उस रथकी बड़ी प्रशंसा की।' राजा बोले—'भगवन्! आपने इस रथकी प्रशंसा की है। अतः यह रथ आपहीका है' ।। १४ ।।

अथ कदाचित् पुनरप्यहमुपस्थितः पुनरेव च रथप्रयोजनमासीत् । सम्यगयमेष भगवत इत्येवं राजाब्रवीदिति पुनरेव तृतीयं स्वस्तिवाचनं समभावयमथ राजा ब्राह्मणानां दर्शयन् मामभिप्रेक्ष्याब्रवीत् । अथो भगवता पुष्परथस्य स्वस्तिवाचनानि सुष्ठु सम्भावितानि एतेन द्रोहवचने नावतरेत् ।। १५ ।।

'तदनन्तर एक दिन और मैं राजाके यहाँ उपस्थित हुआ। पुनः मेरे जानेका उद्देश्य पुष्परथको प्राप्त करना ही था। उस दिन भी राजाने बड़ी आवभगतके साथ कहा—'भगवन्! यह रथ आपका ही है।' फिर तीसरी बार मैंने उनके यहाँ जाकर स्वस्तिवाचनका कार्य सम्पन्न किया। राजाने ब्राह्मणोंको उस रथका दर्शन कराते हुए मेरी ओर देखकर कहा—'भगवन्! आपने पुष्परथके लिये अच्छे स्वस्तिवाचन किये।' (ऐसा कहकर भी उन्होंने रथ नहीं दिया।) इस (छलयुक्त) वचनसे वसुमना ही पहले स्वर्गसे पृथ्वीपर उतरेंगे' ।। १५ ।।

अथैकेन यातव्यं स्यात् कोऽवतरेत् पुनर्नारद आह शिबिर्यायादहमवतरेयमत्र किं कारणमित्यब्रवीत् । असावहं शिबिना समो नास्मि यतो ब्राह्मणः कश्चिदेनमब्रवीत् ।। १६ ।।

शिबे अन्नार्थ्यस्मीति तमब्रवीच्छिबिः किं क्रियतामाज्ञापयतु भवानिति ।। १७ ।।

'यदि आपके साथ हममेंसे एकमात्र शिबिको ही स्वर्गलोकमें जाना हो तो वहाँसे पहले कौन उतरेगा?' ऐसा प्रश्न होनेपर नारदजीने फिर कहा—'शिबि जायँगे और मैं उतरूँगा। 'इसमें क्या कारण है?' यह पूछे जानेपर देवर्षि नारदने कहा—'मैं राजा शिबिके समान नहीं हूँ, क्योंकि एक दिन एक ब्राह्मणने शिबिसे कहा—'शिबे! मैं भोजन करना चाहता हूँ।' राजाने पूछा—'आपके लिये क्या रसोई बनायी जाय, आज्ञा कीजिये' ।। १६-१७ ।।

अथैनं ब्राह्मणोऽब्रवीद् य एष ते पुत्रो बृहद्गर्भो नाम एष प्रमातव्य इति तमेनं संस्कुरु अन्नं चोपपादय ततोऽहं प्रतीक्ष्य इति । ततः पुत्रं प्रमाथ्य संस्कृत्य विधिना साधयित्वा पात्र्यामर्पयित्वा शिरसा प्रतिगृह्य ब्राह्मणममृगयत् ।। १८ ।।

'तब इनसे ब्राह्मणने कहा—'यह जो तुम्हारा पुत्र बृहद्गर्भ है, इसे मार डालो।' फिर उसका दाह-संस्कार करो। तत्पश्चात् अन्न तैयार करो और मेरी प्रतीक्षा करो।' तब राजाने पुत्रको मारकर उसका दाह-संस्कार कर दिया और फिर विधिपूर्वक अन्न तैयार करके उसे बटलोईमें डालकर (और ढक्कनसे ढककर) अपने सिरपर रख लिया, फिर वे उस ब्राह्मणकी खोज करने लगे ।। १८ ।।

अथास्य मृगयमाणस्य कश्चिदाचष्ट एष ते ब्राह्मणो नगरं प्रविश्य दहति ते गृहं कोशागारमायुधागारं स्त्र्यगारमश्वशालां हस्तिशालां च क्रुद्ध इति ।। १९ ।।

'खोज करते समय किसी मनुष्यने उनके पास आकर कहा—राजन्! आपका ब्राह्मण इधर है। यह नगरमें प्रवेश करके आपके भवन, कोषागार, शस्त्रागार, अन्तःपुर, अश्वशाला और गजशाला सबमें कुपित होकर आग लगा रहा है' ।। १९ ।।

अथ शिबिस्तथैवाविकृतमुखवर्णो नगरं प्रविश्य ब्राह्मणं तमब्रवीत् सिद्धं भगवन्नन्नमिति ब्राह्मणो न किंचिद् व्याजहार विस्मयादधोमुखश्चासीत् ।। २० ।।

'यह सब सुनकर भी राजा शिबिके मुखकी कान्ति पूर्ववत् बनी रही। उसमें तनिक भी विकार न आया। वे नगरमें घुसकर ब्राह्मणसे बोले—'भगवन्! आपका भोजन तैयार है।' ब्राह्मण कुछ न बोला। वह आश्चर्यसे मुँह नीचा किये देखता रहा ।। २० ।।

ततः प्रासादयद् ब्राह्मणं भगवन् भुज्यतामिति । मुहूर्तादुद्वीक्ष्य शिबिमब्रवीत् ।। २१ ।।

'तब राजाने ब्राह्मणको मनाते हुए कहा—'भगवन्! भोजन कर लीजिये।' ब्राह्मणने दो घड़ीतक ऊपरकी ओर देखनेके पश्चात् शिबिसे कहा— ।। २१ ।।

त्वमेवैतदशानेति तत्राह तथेति शिबिस्तथैवाविमना महित्वा कपालमभ्युद्धार्य भोक्तुमैच्छत् ।। २२ ।।

‘तुम्हीं यह सब खा जाओ।’ शिबिने उसी प्रकार मनको प्रसन्न रखते हुए ‘बहुत अच्छा’ कहकर ब्राह्मणकी आज्ञा स्वीकार की और उनका पूजन करके (सिरपर रखे हुए) ढक्कनको उघाड़कर वह सब खानेकी इच्छा की ।। २२ ।।

अथास्य ब्राह्मणो हस्तमगृह्णात् । अब्रवीच्चैनं जितक्रोधोऽसि न ते किञ्चिदपरित्याज्यं ब्राह्मणार्थे ब्राह्मणोऽपि तं महाभागं सभाजयत् ।। २३ ।।

‘तब ब्राह्मणने उनका हाथ पकड़ लिया और कहा—‘राजन्! तुमने क्रोधको जीत लिया है। तुम्हारे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे तुम ब्राह्मणके लिये न दे सको।’ ऐसा कहकर ब्राह्मणने भी उन महाभाग नरेशका समादर किया ।। २३ ।।

स ह्युद्वीक्षमाणः पुत्रमपश्यदग्रे तिष्ठन्तं देवकुमारमिव पुण्यगन्धान्वितमलङ्कृतं सर्वं च तमर्थं विधाय ब्राह्मणोऽन्तरधीयत ।। २४ ।।

‘राजाने जब आँख उठाकर देखा, तब उनका पुत्र आगे खड़ा था। वह देवकुमारकी भाँति दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित था। उसके शरीरसे पवित्र सुगन्ध निकल रही थी। ब्राह्मण-देवता सब वस्तुओंको पूर्ववत् ठीक करके अन्तर्धान हो गये ।। २४ ।।

तस्य राजर्षेर्विधाता तेनैव वेषेण परीक्षार्थमागत इति तस्मिन्नन्तर्हिते अमात्या राजानमूचुः । किं प्रेप्सुना भवता इदमेवं जानता कृतमिति ।। २५ ।।

साक्षात् विधाता ब्राह्मणके वेशमें राजर्षि शिबिकी परीक्षा लेने आये थे। उनके अन्तर्धान हो जानेपर राजाके मन्त्रियोंने उनसे पूछा—‘महाराज! आप क्या चाहते हैं? जिसके लिये सब कुछ जानते हुए भी ऐसा दुःसाहसपूर्ण कार्य किया है?’ ।। २५ ।।

शिबिरुवाच

नैवाहमेतद् यशसे ददानि
न चार्थहेतोर्न च भोगतृष्णया ।
पापैरनासेवित एष मार्ग
इत्येवमेतत् सकलं करोमि ।। २६ ।।

शिबि बोले—मैं यशके लिये यह दान नहीं देता। धनके लिये अथवा भोगकी लिप्सासे भी दान नहीं करता। यह धर्मात्माओंका मार्ग है। पापी मनुष्य इसपर नहीं चल सकते। ऐसा समझकर ही मैं यह सब कुछ करता रहता हूँ ।। २६ ।।

सद्भिः सदाध्यासितं तु प्रशस्तं
तस्मात् प्रशस्तं श्रयते मतिर्मे ।
एतन्महाभाग्यवरं शिबेस्तु
तस्मादहं वेद यथावदेतत् ।। २७ ।।

श्रेष्ठ पुरुष सदा जिस मार्गसे चले हैं, वही उत्तम मार्ग है। इसीलिये मेरी बुद्धि सदा उस उत्तम पथका ही आश्रय लेती है। यह है राजा शिबिकी सर्वश्रेष्ठ महिमा, जिसे मैं (अच्छी

तरह) जानता हूँ। इसीलिये इन सब बातोंका यथावत् वर्णन किया है ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि राजन्यमहाभाग्ये शिबिचरिते अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें क्षत्रियमाहात्म्यके प्रकरणमें शिबिचरित्रविषयक एक सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९८ ।।

नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा इन्द्रद्युम्न तथा अन्य चिरजीवी प्राणियोंकी कथा

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयमृषयः पाण्डवाः पर्यपृच्छन्नस्ति कश्चिद् भवतश्चिरजाततर इति ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऋषियों तथा पाण्डवोंने मार्कण्डेयजीसे पूछा—'भगवन्! कोई आपसे भी पहलेका उत्पन्न चिरजीवी इस जगत्‌में है या नहीं? ।।

स तानुवाचास्ति खलु राजर्षिरिन्द्रद्युम्नो नाम क्षीणपुण्यस्त्रिदिवात् प्रच्युतः कीर्तिस्ते व्युच्छिन्नेति स मामुपातिष्ठदथ प्रत्यभिजानाति मां भवानिति ।। २ ।।

मार्कण्डेयजीने कहा—'है क्यों नहीं, सुनो। एक समय राजर्षि इन्द्रद्युम्न अपना पुण्य क्षीण हो जानेके कारण यह कहकर स्वर्गलोकसे नीचे गिरा दिये गये थे कि 'जगत्‌में तुम्हारी कीर्ति नष्ट हो गयी है।' स्वर्गसे गिरनेपर वे मेरे पास आये और बोले—'क्या आप मुझे पहचानते हैं?' ।। २ ।।

तमहमब्रुवं कार्यचेष्टाकुलत्वान्न वयं वासायनिका ग्रामैकरात्रवासिनो न प्रत्यभिजानीमोऽ-प्यात्मनोऽर्थानामनुष्ठानं न शरीरोपतापेनात्मनः समारभामोऽर्थानामनुष्ठानम् ।। ३ ।।

'मैंने उनसे कहा—'हमलोग तीर्थयात्रा आदि भिन्न-भिन्न पुण्य कार्योंकी चेष्टाओंमें व्यग्र रहते हैं, अतः किसी एक स्थानपर सदा नहीं रहते। एक गाँवमें केवल एक रात निवास करते हैं। अपने कार्योंका अनुष्ठान भी हमें भूल जाता है। व्रत-उपवास आदिमें लगे रहनेसे अपने शरीरको सदा कष्ट पहुँचानेके कारण आवश्यक कार्योंका आरम्भ भी हमसे नहीं हो पाता है, ऐसी दशामें हम आपको कैसे जान सकते हैं?' ।। ३ ।।

(एवमुक्तो राजर्षिरिन्द्रद्युम्नः पुनर्मामब्रवीद् अथास्ति कश्चित् त्वत्तश्चिरं जाततर इति ।।)

'मेरे ऐसा कहनेपर राजर्षि इन्द्रद्युम्नने पुनः मुझसे पूछा—'क्या आपसे भी पहलेका पैदा हुआ कोई पुरातन प्राणी है?' ।।

(तं पुनः प्रत्यब्रवम्) अस्ति खलु हिमवति प्रावारकर्णो नामोलूकः प्रतिवसति । स मत्तश्चिरजातो भवन्तं यदि जानीयादितः प्रकृष्टे चाध्वनि हिमवांस्तत्रासौ प्रतिवसतीति ।। ४ ।।

'तब मैंने उन्हें पुनः उत्तर दिया—'हिमालय पर्वतपर प्रावारकर्ण नामसे प्रसिद्ध एक उलूक निवास करता है। वह मुझसे भी पहलेका उत्पन्न हुआ है। सम्भव है, वह आपको जानता हो। यहाँसे बहुत दूरकी यात्रा करनेपर हिमालय पर्वत मिलेगा। वहीं वह रहता है' ।। ४ ।।

ततः स मामश्वो भूत्वा तत्रावहद् यत्र बभूवोलूकः । अथैनं स राजा पप्रच्छ प्रतिजानाति मां भवानिति ।। ५ ।।

'तब इन्द्रद्युम्न अश्व बनकर मुझे वहाँतक ले गये, जहाँ उलूक रहता था। वहाँ जाकर राजाने उससे पूछा—'क्या आप मुझे जानते हैं?' ।। ५ ।।

स मुहूर्तमिव ध्यात्वाब्रवीदेनं नाभिजानामि भवन्तमिति स एवमुक्त इन्द्रद्युम्नः पुनस्तमुलूक-मब्रवीद् राजर्षिः ।। ६ ।।

'उसने दो घड़ीतक सोच-विचारकर उनसे कहा—'मैं आपको नहीं जानता हूँ।' उलूकके ऐसा कहनेपर राजर्षि इन्द्रद्युम्नने पुनः उससे पूछा— ।। ६ ।।

अथास्ति कश्चिद् भवतः सकाशाच्चिरजात इति स एवमुक्तोऽब्रवीदस्ति खल्विन्द्रद्युम्नं नाम सरस्तस्मिन् नाडीजङ्घो नाम बकः प्रतिवसति सोऽस्मत्तश्चिरजाततरस्तं पृच्छेति तत इन्द्रद्युम्नो मां चोलूकमादाय तत् सरोऽगच्छद् यत्रासौ नाडीजङ्घो नाम बको बभूव ।। ७ ।।

'क्या आपसे भी पहलेका उत्पन्न हुआ कोई चिरजीवी प्राणी है?' उनके ऐसा पूछनेपर उलूकने कहा—'इन्द्रद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक सरोवर है। वहाँ नाडीजंघ नामसे प्रसिद्ध एक बक निवास करता है। वह हमसे बहुत पहलेका उत्पन्न हुआ है। उससे पूछिये।' तब इन्द्रद्युम्न मुझको और उलूकको भी साथ लेकर उस सरोवरपर गये जहाँ नाडीजंघ बक निवास करता था ।। ७ ।।

सोऽस्माभिः पृष्टो भवानिममिन्द्रद्युम्नं राजान-मभिजानातीति स एवं मुहुर्तं ध्यात्वाब्रवीन्ना-भिजानाम्यहमिद्रद्युम्नं राजानमिति । ततः सोऽस्माभिः पृष्टः कश्चिद् भवतोऽन्यश्चिरजाततरोऽस्तीति । स नोऽब्रवीदस्ति खल्वस्मिन्नेव सरस्यकूपारो नाम कच्छपः प्रतिवसति । स मत्तश्चिरजाततरः । स यदि कथंचिदभिजानीयादिमं राजानं तमकूपारं पृच्छध्वमिति ।। ८ ।।

'हमलोगोंने उस बकसे पूछा—'क्या आप—राजा इन्द्रद्युम्नको जानते हैं?' उसने दो घड़ीतक सोचकर उत्तर दिया—'मैं राजा इन्द्रद्युम्नको नहीं जानता हूँ।' तब हमलोगोंने उनसे पूछा—'क्या दूसरा कोई प्राणी ऐसा है? जिसका जन्म आपसे भी पहले हुआ हो?' उसने हमसे कहा—'है; इसी सरोवरमें अकूपार नामक एक कछुआ रहता है। वह मुझसे भी पहले उत्पन्न हुआ है। आपलोग उस अकूपारसे ही पूछिये। सम्भव है, वह इन राजर्षिको किसी तरह जानता हो' ।। ८ ।।

ततः स बकस्तमकूपारं कच्छपं विज्ञापयामास । अस्माकमभिप्रेतं भवन्तं किञ्चिदर्थमभिप्रष्टुं साध्वागम्यतां तावदिति तच्छ्रुत्वा कच्छपस्तस्मात् सरस उत्थायाभ्यगच्छद् यत्र तिष्ठामो वयं तस्य सरसस्तीरे आगतं चैनं वयमपृच्छाम भवानिन्द्रद्युम्नं राजानमभिजानातीति ।। ९ ।।

'तब उस बकने अकूपार नामक कछुएको यह सूचना दी कि 'हमलोग आपसे कुछ अभीष्ट प्रश्न पूछना चाहते हैं। कृपया आइये।' यह संदेश सुनकर वह कछुआ उस सरोवरसे निकलकर वहीं आया, जहाँ हमलोग तटपर खड़े थे। आनेपर उससे हमलोगोंने पूछा—'क्या आप राजा इन्द्रद्युम्नको जानते हैं?' ।। ९ ।।

स मुहूर्तं ध्यात्वा बाष्पसम्पूर्णनयन उद्विग्न-हृदयो वेपमानो विसंज्ञकल्पः प्राञ्जलिरब्रवीत् । किमहमेनं न प्रत्यभिज्ञास्यामीह ह्यनेन सहस्र-कृत्वश्चितिषु यूपा आहिताः ।। १० ।।

'उसने दो घड़ीतक ध्यान करके नेत्रोंमें आँसू भरकर उद्विग्न हृदयसे काँपते हुए अचेतकी-सी दशामें हाथ जोड़कर कहा—'मैं इन्हें क्यों नहीं पहचानूँगा। इन्होंने एक हजार बार अग्निस्थापनके समय यज्ञ-यूपोंकी स्थापना की है ।। १० ।।

सरश्चेदमस्य दक्षिणाभिर्दत्ताभिर्गोभिरति-क्रममाणाभिः कृतम् । अत्र चाहं प्रतिवसामीति ।। ११ ।।

'इनके द्वारा दक्षिणामें दी हुई गौओंके आने-जानेसे यह सरोवर बन गया है, जिसमें मैं निवास कर रहा हूँ' ।। ११ ।।

अथैतत् सकलं कच्छपेनोदाहृतं श्रुत्वा तदनन्तरं देवलोकाद् देवरथः प्रादुरासीद् वाचश्चाश्रूयन्तेन्द्रद्युम्नं प्रति प्रस्तुतस्ते स्वर्गो यथोचितं स्थानं प्रतिपद्यस्व कीर्तिमानस्यव्यग्रो याहीति ।। १२ ।।

'कच्छपके मुँहसे ये सारी बातें सुन लेनेके पश्चात् देवलोकसे एक दिव्य रथ आकर प्रकट हुआ और उसमेंसे इन्द्रद्युम्नके प्रति कही हुई कुछ बातें सुनायी देने लगीं—'राजन्! आपके लिये स्वर्गलोक प्रस्तुत है। वहाँ चलकर यथोचित स्थान ग्रहण करें। आप कीर्तिमान् हैं। अतः निश्चिन्त होकर स्वर्गलोककी यात्रा करें' ।। १२ ।।

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

दिवं स्पृशति भूमिं च
शब्दः पुण्यस्य कर्मणः ।
यावत् स शब्दो भवति
तावत् पुरुष उच्यते ।। १३ ।।

'इस विषयमें ये श्लोक हैं—'जबतक मनुष्यके पुण्यकर्मका शब्द भूलोक और देवलोकका स्पर्श करता है, जबतक दोनों लोकोंमें उसकी कीर्ति बनी रहती है, तभीतक वह पुरुष स्वर्गलोकका निवासी बताया जाता है ।। १३ ।।

अकीर्तिः कीर्त्यते लोके
यस्य भूतस्य कस्यचित् ।
स पतत्यधमाँल्लोकान्
यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते ।। १४ ।।

‘संसारमें जिस किसी प्राणीकी अपकीर्ति कही जाती है—जबतक उसके अपयशका शब्द गूँजता रहता है, तबतकके लिये वह नीचेके लोकोंमें गिर जाता है ।। १४ ।।

तस्मात् कल्याणवृत्तः स्या-
दनन्ताय नरः सदा ।
विहाय चित्तं पापिष्ठं
धर्ममेव समाश्रयेत् ।। १५ ।।

‘इसलिये मनुष्यको सदा कल्याणकारी सत्कर्मोंमें ही लगे रहना चाहिये। इससे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है। पापपूर्ण चित्त (चिन्तन या विचार)-का परित्याग करके सदा धर्मका ही आश्रय लेना चाहिये’ ।। १५ ।।

इत्येतच्छ्रुत्वा स राजाब्रवीत् तिष्ठ तावद् यावदिमौ वृद्धौ यथास्थानं प्रतिपादयामीति ।। १६ ।।

‘देवदूतकी यह बात सुनकर राजाने कहा—‘जबतक इन दोनों वृद्धोंको इनके स्थानपर पहुँचा न दूँ तबतक ठहरे रहो’ ।। १६ ।।

स मां प्रावारकर्णं चोलूकं यथोचिते स्थाने प्रतिपाद्य तेनैव यानेन संस्थितो यथोचितं स्थानं प्रतिपेदे । तन्मयानुभूतं चिरजीविनेदृशमिति पाण्डवानुवाच मार्कण्डेयः ।। १७ ।।

‘यह कहकर राजाने मुझे तथा प्रावारकर्ण नामक उलूकको यथोचित स्थानपर पहुँचा दिया और उसी रथसे स्वर्गकी ओर प्रस्थान करके वहाँ यथोचित स्थान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार मैंने चिरजीवी होकर अनुभव किया है’—यह बात पाण्डवोंसे मार्कण्डेयजीने कही ।।

पाण्डवाश्चोचुः साधु शोभनं भवता कृतं राजानमिन्द्रद्युम्नं स्वर्गलोकाच्च्युतं स्वे स्थाने प्रतिपादयतेत्यथैतानब्रवीदसौ ननु देवकीपुत्रेणापि कृष्णेन नरके मज्जमानो राजर्षिर्नृगस्तस्मात् कृच्छ्रात् पुनः समुद्धृत्य स्वर्गं प्रापित इति ।। १८ ।।

पाण्डव बोले—‘आपने यह बहुत अच्छा किया कि स्वर्गलोकसे भ्रष्ट हुए राजा इन्द्रद्युम्नको पुनः अपने स्थानकी प्राप्ति करवा दी।’ तब इनसे मार्कण्डेयजीने कहा—‘देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने भी नरकमें डूबते हुए राजर्षि नृगको उस भारी संकटसे छुड़ाकर फिर स्वर्गमें पहुँचा दिया’ ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि इन्द्रद्युम्नोपाख्याने नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें इन्द्रद्युम्नोपाख्यानविषयक एक सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९९ ।।

द्विशततमोऽध्यायः

निन्दित दान, निन्दित जन्म, योग्य दानपात्र, श्राद्धमें ग्राह्य और अग्राह्य ब्राह्मण, दानपात्रके लक्षण, अतिथि-सत्कार, विविध दानोंका महत्त्व, वाणीकी शुद्धि, गायत्रीजप, चित्तशुद्धि तथा इन्द्रिय-निग्रह आदि विविध विषयोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा स राजा राजर्षेरिन्द्रद्युम्नस्य तत् तदा ।
मार्कण्डेयान्महाभागात् स्वर्गस्य प्रतिपादनम् ।। १ ।।
युधिष्ठिरो महाराज पुनः पप्रच्छ तं मुनिम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महाभाग मार्कण्डेयजीके मुखसे राजर्षि इन्द्रद्युम्नको पुनः स्वर्गकी प्राप्तिका वृत्तान्त सुनकर राजा युधिष्ठिरने उन मुनीश्वरसे फिर प्रश्न किया ।। १½ ।।

कीदृशीषु ह्यवस्थासु दत्त्वा दानं महामुने ।। २ ।।
इन्द्रलोकं त्वनुभवेत् पुरुषस्तद् ब्रवीहि मे ।

'महामुने! किन अवस्थाओंमें दान देकर मनुष्य इन्द्रलोकका सुख भोगता है? यह मुझे बतानेकी कृपा करें' ।। २½ ।।

गार्हस्थ्येऽप्यथवा बाल्ये यौवने स्थविरेऽपि वा ।
यथा फलं समश्नाति तथा त्वं कथयस्व मे ।। ३ ।।

'मनुष्य बाल्यावस्था या गृहस्थाश्रममें, जवानीमें अथवा बुढ़ापेमें दान देनेसे जैसा फल पाता है, उसका मुझसे वर्णन कीजिये' ।। ३ ।।

मार्कण्डेय उवाच

वृथा जन्मानि चत्वारि वृथा दानानि षोडश ।
वृथा जन्म ह्यपुत्रस्य ये च धर्मबहिष्कृताः ।। ४ ।।
परपाकेषु येऽश्नन्ति आत्मार्थं च पचेत् तु यः ।
पर्यश्नन्ति वृथा ये च तदसत्यं प्रकीर्त्यते ।। ५ ।।

मार्कण्डेयजीने कहा—(नीचे लिखे अनुसार) चार प्रकारके जीवन व्यर्थ हैं और सोलह प्रकारके दान व्यर्थ हैं। जो पुत्र-हीन हैं, जो धर्मसे बहिष्कृत (भ्रष्ट) हैं, जो सदा दूसरोंकी ही रसोईमें भोजन किया करते हैं तथा जो केवल अपने लिये ही भोजन बनाते एवं

देवता और अतिथियोंको न देकर अकेले ही भोजन कर लेते हैं, उनका वह भोजन असत् कहा गया है। अतः उनका जन्म वृथा है (इस प्रकार इन चार प्रकारके मनुष्योंका जन्म व्यर्थ है) ।। ४-५ ।।

आरूढपतिते दत्तमन्यायोपहृतं च यत् ।
व्यर्थं तु पतिते दानं ब्राह्मणे तस्करे तथा ।। ६ ।।

जो वानप्रस्थ या संन्यास-आश्रमसे पुनः गृहस्थ-आश्रममें लौट आया हो, उसे ‘आरूढ़-पतित’ कहते हैं। उसको दिया हुआ दान व्यर्थ होता है। अन्यायसे कमाये हुए धनका दान भी व्यर्थ ही है। पतित ब्राह्मण तथा चोरको दिया हुआ दान भी व्यर्थ होता है ।। ६ ।।

गुरौ चानृतिके पापे कृतघ्ने ग्रामयाजके ।
वेदविक्रयिणे दत्तं तथा वृषलयाजके ।। ७ ।।
ब्रह्मबन्धुषु यद् दत्तं यद् दत्तं वृषलीपतौ ।
स्त्रीजनेषु च यद् दत्तं व्यालग्राहे तथैव च ।। ८ ।।
परिचारकेषु यद् दत्तं वृथा दानानि षोडश ।

पिता आदि गुरुजन, मिथ्यावादी, पापी, कृतघ्न, ग्रामपुरोहित, वेदविक्रय करनेवाले, शूद्रसे यज्ञ करानेवाले, नीच ब्राह्मण, शूद्राके पति ब्राह्मण, साँपको पकड़कर व्यवसाय करनेवाले तथा सेवकों और स्त्री-समूहको दिया हुआ दान व्यर्थ है*। इस प्रकार ये सोलह दान निष्फल बताये गये हैं ।। ७-८½ ।।

तमोवृतस्तु यो दद्याद् भयात् क्रोधात् तथैव च ।। ९ ।।
भुङ्क्ते च दानं तत् सर्वं गर्भस्थस्तु नरः सदा ।
ददद् दानं द्विजातिभ्यो वृद्धभावेन मानवः ।। १० ।।

जो तमोगुणसे आवृत हो भय और क्रोधपूर्वक दान देता है, वह मनुष्य वैसे सब प्रकारके दानोंका फल भावी जन्ममें गर्भावस्थामें भोगता है, अर्थात् तामसी दान करनेके कारण वह उसका फल दुःखके रूपमें भोगता है तथा (श्रेष्ठ) ब्राह्मणोंको दान देनेवाला मानव उस दानका फल बड़ा होनेपर (कामनाके अनुसार) भोगता है ।। ९-१० ।।

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु सर्वदानानि पार्थिव ।
दातव्यानि द्विजातिभ्यः स्वर्गमार्गजिगीषया ।। ११ ।।

राजन्! इसीलिये मनुष्यको चाहिये कि वह स्वर्ग-मार्गपर अधिकार पानेकी इच्छासे सभी अवस्थाओंमें (श्रेष्ठ) ब्राह्मणोंको ही सब प्रकारके दान दे ।। ११ ।।

युधिष्ठिर उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य सर्वस्य वर्तमानाः प्रतिग्रहे ।
केन विप्रा विशेषेण तारयन्ति तरन्ति च ।। १२ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—महामुने! जो ब्राह्मण चारों वर्णोंमेंसे सभीके दान ग्रहण करते हैं, वे किस विशेष धर्मका पालन करनेसे दूसरोंको तारते और स्वयं भी तरते हैं ।। १२ ।।

मार्कण्डेय उवाच

जपैर्मन्त्रैश्च होमैश्च स्वाध्यायाध्ययनेन च ।
नावं वेदमयीं कृत्वा तारयन्ति तरन्ति च ।। १३ ।।

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! ब्राह्मण जप, मन्त्र (पाठ), होम, स्वाध्याय और वेदाध्ययनके द्वारा वेदमयी नौकाका निर्माण करके दूसरोंको भी तारते हैं और स्वयं भी तर जाते हैं ।। १३ ।।

ब्राह्मणांस्तोषयेद् यस्तु तुष्यन्ते तस्य देवताः ।
वचनाच्चापि विप्राणां स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ।। १४ ।।

जो ब्राह्मणोंको संतुष्ट करता है, उसपर सब देवता संतुष्ट रहते हैं। ब्राह्मणोंके वचनसे अर्थात् आशीर्वादसे भी मनुष्य स्वर्गलोक पा सकता है ।। १४ ।।

पितृदैवतपूजाभिर्ब्राह्मणाभ्यर्चनेन च ।
अनन्तं पुण्यलोकं तु गन्तासि त्वं न संशयः ।। १५ ।।

राजन्! तुम पितरों और देवताओंकी पूजासे तथा ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करनेसे अक्षय पुण्यलोकमें जाओगे, इसमें संशय नहीं है ।। १५ ।।

श्लेष्मादिभिर्व्याप्ततनुर्म्रियमाणो विचेतनः ।
ब्राह्मणा एव सम्पूज्याः पुण्यं स्वर्गमभीप्सता ।। १६ ।।

जिसका शरीर कफ आदिसे भर गया हो, जो मर रहा हो और अचेत हो गया हो, उसे पुण्यमय स्वर्गलोककी प्राप्ति अभीष्ट हो तो ब्राह्मणोंकी पूजा भी करनी चाहिये ।। १६ ।।

श्राद्धकाले तु यत्नेन भोक्तव्या ह्यजुगुप्सिताः ।
दुर्वर्णः कुनखी कुष्ठी मायावी कुण्डगोलकी ।। १७ ।।
वर्जनीयाः प्रयत्नेन काण्डपृष्ठाश्च देहिनः ।
जुगुप्सितं हि यच्छ्राद्धं दहत्यग्निरिवेन्धनम् ।। १८ ।।

श्राद्धकालमें प्रयत्न करके उत्तम ब्राह्मणोंको ही भोजन कराना चाहिये। जिनके शरीरका रंग घृणाजनक हो, नख काले पड़ गये हों, जो कोढ़ी और धूर्त हो, पिताकी जीवित-अवस्थामें ही माताके व्यभिचारसे जिनका जन्म हुआ हो अथवा जो विधवा माताके पेटसे पैदा हुए हों और जो पीठपर तरकस बाँधे क्षत्रियवृत्तिसे जीविका चलाते हों, ऐसे ब्राह्मणोंको श्राद्धमें प्रयत्नपूर्वक त्याग दे; क्योंकि उनको भोजन करानेसे श्राद्ध निन्दित हो जाता है और निन्दित श्राद्ध यजमानको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे अग्नि काष्ठको जला डालती है ।। १७-१८ ।।

ये ये श्राद्धे न युज्यन्ते मूकान्धबधिरादयः ।

तेऽपि सर्वे नियोक्तव्या मिश्रिता वेदपारगैः ।। १९ ।।

किंतु अंधे, गूँगे, बहरे आदि जिन-जिन ब्राह्मणोंको श्राद्धमें वर्जित बताया गया है, उन सबको वेदपारंगत ब्राह्मणोंके साथ श्राद्धमें सम्मिलित किया जा सकता है ।। १९ ।।

प्रतिग्रहश्च वै देयः शृणु यस्य युधिष्ठिर ।
प्रदातारं तथाऽऽत्मानं यस्तारयति शक्तिमान् ।। २० ।।

युधिष्ठिर! अब मैं तुम्हें यह बताता हूँ कि कैसे व्यक्तिको दान देना चाहिये। जो दाताको और अपने-आपको भी तारनेकी शक्ति रखता हो ।। २० ।।

तस्मिन् देयं द्विजे दानं सर्वागमविजानता ।
प्रदातारं यथाऽऽत्मानं तारयेद् यः स शक्तिमान् ।। २१ ।।

सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञाता मानव उसी ब्राह्मणको दान दे, जो दाताका तथा अपना भी संसारसागरसे उद्धार कर सके। वही शक्तिशाली ब्राह्मण है ।। २१ ।।

न तथा हविषो होमैर्न पुष्पैर्नानुलेपनैः ।
अग्नयः पार्थ तुष्यन्ति यथा ह्यतिथिभोजने ।। २२ ।।

कुन्तीनन्दन! अतिथियोंको भोजन करानेसे अग्निदेव जितने संतुष्ट होते हैं, उतना संतोष उन्हें हविष्यका हवन करने तथा पुष्प और चन्दन चढ़ानेसे भी नहीं होता ।। २२ ।।

तस्मात् त्वं सर्वयत्नेन यतस्वातिथिभोजने ।
पादोदकं पादघृतं दीपमन्नं प्रतिश्रयम् ।। २३ ।।
प्रयच्छन्ति तु ये राजन् नोपसर्पन्ति ते समम् ।

इसलिये तुम सभी उपायोंसे अतिथियोंको भोजन देनेका प्रयत्न करो। राजन्! जो लोग अतिथिको चरण धोनेके लिये जल, पैरमें मलनेके लिये तेल, उजालेके लिये दीपक, भोजनके लिये अन्न तथा रहनेके लिये स्थान देते हैं, वे कभी यमराजके यहाँ नहीं जाते ।। २३½ ।।

देवमाल्यापनयनं द्विजोच्छिष्टावमार्जनम् ।। २४ ।।
आकल्पः परिचर्या च गात्रसंवाहनानि च ।
अत्रैकैकं नृपश्रेष्ठ गोदानाद्व्यतिरिच्यते ।। २५ ।।

नृपश्रेष्ठ! देवविग्रहोंपर चढ़े हुए चन्दन-पुष्प आदिको यथासमय उतारना, ब्राह्मणोंकी जूठन साफ करना, उन्हें चन्दन-माला आदिसे अलंकृत करना, उनकी सेवा-पूजा करना और उनके पैर आदि अंगोंको दबाना, इनमेंसे एक-एक कार्य गोदानसे भी अधिक महत्त्व रखता है ।। २४-२५ ।।

कपिलायाः प्रदानात् तु मुच्यते नात्र संशयः ।
तस्मादलंकृतां दद्यात् कपिलां तु द्विजातये ।। २६ ।।

कपिला गौका दान करनेसे मनुष्य निःसंदेह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। इसलिये कपिला गौको अलंकृत करके ब्राह्मणको दान करना चाहिये ।। २६ ।।

श्रोत्रियाय दरिद्राय गृहस्थायाग्निहोत्रिणे ।
पुत्रदाराभिभूताय तथा ह्यनुपकारिणे ।। २७ ।।

दान लेनेवाला ब्राह्मण श्रोत्रिय हो, निर्धन हो, गृहस्थ हो, नित्य अग्निहोत्र करता हो, दरिद्रताके कारण जिसे स्त्री और पुत्रोंके तिरस्कार सहने पड़ते हों तथा दाताने न तो जिससे प्रत्युपकार प्राप्त किया हो और न आगे प्रत्युपकार प्राप्त होनेकी सम्भावना ही हो ।। २७ ।।

एवंविधेषु दातव्या न समृद्धेषु भारत ।
को गुणो भरतश्रेष्ठ समृद्धेष्वभिवर्जितम् ।। २८ ।।

भारत! ऐसे ही लोगोंको गोदान करना चाहिये, धनवानोंको नहीं। भरतश्रेष्ठ! धनवानोंको देनेसे क्या लाभ है? ।। २८ ।।

एकस्यैका प्रदातव्या न बहूनां कदाचन ।
सा गौर्विक्रयमापन्ना हन्यात् त्रिपुरुषं कुलम् ।। २९ ।।
न तारयति दातारं ब्राह्मणं नैव नैव तु ।

एक गौ एक ही ब्राह्मणको देनी चाहिये; बहुतोंको कभी नहीं (क्योंकि एक ही गौ यदि बहुतोंको दी गयी, तो वे उसे बेचकर उसकी कीमत बाँट लेंगे)। दान की हुई गौ यदि बेच दी गयी, तो वह दाताकी तीन पीढ़ियोंको हानि पहुँचाती है। वह न तो दाताको ही पार उतारती है न ब्राह्मणको ही ।। २९ १/२ ।।

सुवर्णस्य विशुद्धस्य सुवर्णं यः प्रयच्छति ।। ३० ।।
सुवर्णानां शतं तेन दत्तं भवति शाश्वतम् ।

जो उत्तम वर्णवाले विशुद्ध ब्राह्मणको सुवर्ण-दान करता है उसे निरन्तर सौ स्वर्णमुद्राओंके दानका फल प्राप्त होता है ।। ३० १/२ ।।

अनड्वाहं तु यो दद्याद् बलवन्तं धुरंधरम् ।। ३१ ।।
स निस्तरति दुर्गाणि स्वर्गलोकं च गच्छति ।

जो लोग कंधेपर जुआ उठानेमें समर्थ बलवान् बैल ब्राह्मणोंको दान करते हैं, वे दुःख और संकटोंसे पार होकर स्वर्गलोकमें जाते हैं ।। ३१ १/२ ।।

वसुन्धरां तु यो दद्याद् द्विजाय विदुरात्मने ।। ३२ ।।
दातारं ह्यनुगच्छन्ति सर्वे कामाभिवाञ्छिताः ।

जो विद्वान् ब्राह्मणको भूमिदान करता है, उस दाताके पास सभी मनोवाञ्छित भोग स्वतः आ जाते हैं ।। ३२ १/२ ।।

पृच्छन्ति चात्र दातारं वदन्ति पुरुषा भुवि ।। ३३ ।।
अध्वनि क्षीणगात्राश्च पांसुपादावगुण्ठिताः ।
तेषामेव श्रमार्तानां यो ह्यन्नं कथयेद् बुधः ।। ३४ ।।
अन्नदातृसमः सोऽपि कीर्त्यते नात्र संशयः ।

यदि कोई रास्तेके थके-माँदे, दुबले-पतले पथिक धूलभरे पैरोंसे भूखे-प्यासे आ जायँ और पूछें कि क्या यहाँ कोई भोजन देनेवाला है? उस समय उन्हें जो विद्वान् अन्न मिलनेका पता बता देता है, वह भी अन्नदाताके समान ही कहा जाता है, इसमें संशय नहीं है ।। ३३-३४½ ।।

तस्मात् त्वं सर्वदानानि हित्वान्नं सम्प्रयच्छ ह ।। ३५ ।।
न हीदृशं पुण्यफलं विचित्रमिह विद्यते ।

अतः युधिष्ठिर! तुम सारे दानोंको छोड़कर केवल अन्नदान करते रहो। इस संसारमें अन्नदानके समान विचित्र एवं पुण्यदायक दूसरा कोई दान नहीं है ।। ३५½ ।।

यथाशक्ति च यो दद्यादन्नं विप्रेषु संस्कृतम् ।। ३६ ।।
स तेन कर्मणाऽऽप्नोति प्रजापतिसलोकताम् ।

जो अपनी शक्तिके अनुसार अच्छे ढंगसे तैयार किया हुआ भोजन ब्राह्मणोंको अर्पित करता है वह उस पुण्यकर्मके प्रभावसे प्रजापतिके लोकमें जाता है ।। ३६½ ।।

अन्नमेव विशिष्टं हि तस्मात् परतरं न च ।। ३७ ।।
अन्नं प्रजापतिश्चोक्तः स च संवत्सरो मतः ।
संवत्सरस्तु यज्ञोऽसौ सर्वं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।। ३८ ।।

अतः अन्न ही सबसे महत्त्वकी वस्तु है। उससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। वेदोंमें अन्नको प्रजापति कहा गया है। प्रजापति संवत्सर माना गया है। संवत्सर यज्ञरूप है और यज्ञमें सबकी स्थिति है ।। ३७-३८ ।।

तस्मात् सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
तस्मादन्नं विशिष्टं हि सर्वेभ्य इति विश्रुतम् ।। ३९ ।।

यज्ञसे समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। अतः अन्न ही सब पदार्थोंसे श्रेष्ठ है। यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है ।। ३९ ।।

येषां तटाकानि महोदकानि
वाप्यश्च कूपाश्च प्रतिश्रयाश्च ।
अन्नस्य दानं मधुरा च वाणी
यमस्य ते निर्वचना भवन्ति ।। ४० ।।

जो लोग अगाध जलसे भरे हुए तालाब और पोखरे खुदवाते हैं, बावली, कुएँ तथा धर्मशालाएँ तैयार कराते हैं, अन्नका दान करते और मीठी बातें बोलते हैं, उन्हें यमराजकी बात भी नहीं सुननी पड़ती है अर्थात् यमराज उसे वचनमात्रसे भी दण्ड नहीं दे सकते ।। ४० ।।

धान्यं श्रमेणार्जितवित्तसंचितं
विप्रे सुशीले च प्रयच्छते यः ।
वसुन्धरा तस्य भवेत् सुतुष्टा

धारां वसूनां प्रतिमुञ्चतीव ।। ४१ ।।

जो अपने परिश्रमसे उपार्जित और संचित किया हुआ धन-धान्य सुशील ब्राह्मणको दान करता है, उसके ऊपर वसुधादेवी अत्यन्त संतुष्ट होती और उसके लिये धनकी धारा-सी बहाती हैं ।। ४१ ।।

अन्नदाः प्रथमं यान्ति सत्यवाक् तदनन्तरम् ।
अयाचितप्रदाता च समं यान्ति त्रयो जनाः ।। ४२ ।।

अन्न-दान करनेवाले पुरुष पहले स्वर्गमें प्रवेश करते हैं। उसके बाद सत्यवादी जाता है। फिर बिना माँगे ही दान करनेवाला पुरुष जाता है। इस प्रकार ये तीनों पुण्यात्मा मानव समान गतिको प्राप्त होते हैं ।। ४२ ।।

वैशम्पायन उवाच

कौतूहलसमुत्पन्नः पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ।
मार्कण्डेयं महात्मानं पुनरेव सहानुजः ।। ४३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरके मनमें बड़ा कौतूहल हुआ और उन्होंने महात्मा मार्कण्डेयजीसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया — ।। ४३ ।।

यमलोकस्य चाध्वानमन्तरं मानुषस्य च ।
कीदृशं किम्प्रमाणं वा कथं वा तन्महामुने ।
तरन्ति पुरुषाश्चैव केनोपायेन शंस मे ।। ४४ ।।

‘महामुने! इस मनुष्यलोकसे यमलोक कितनी दूर है, कैसा है, कितना बड़ा है? और किस उपायसे मनुष्य वहाँके संकटोंसे पार हो सकते हैं? ये मुझे बतलाइये’ ।। ४४ ।।

मार्कण्डेय उवाच

सर्वगुह्यतमं प्रश्नं पवित्रमृषिसंस्तुतम् ।
कथयिष्यामि ते राजन् धर्म्यं धर्मभृतां वर ।। ४५ ।।

मार्कण्डेयजीने कहा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! तुमने ऐसे विषयके लिये प्रश्न किया है, जो सबसे अधिक गोपनीय, पवित्र, धर्मसम्मत तथा ऋषियोंके लिये भी आदरणीय है। सुनो, मैं इस विषयका वर्णन करता हूँ ।। ४५ ।।

षडशीतिसहस्राणि योजनानां नराधिप ।
यमलोकस्य चाध्वानमन्तरं मानुषस्य च ।। ४६ ।।

महाराज! मनुष्यलोक और यमलोकके मार्गमें छियासी हजार योजनोंका अन्तर है ।। ४६ ।।

आकाशं तदपानीयं घोरं कान्तारदर्शनम् ।
न तत्र वृक्षच्छाया वा पानीयं केतनानि च ।। ४७ ।।

विश्रमेद् यत्र वै श्रान्तः पुरुषोऽध्वनि कर्शितः ।

उसके मार्गमें जलरहित शून्य आकाशमात्र है। वह देखनेमें बड़ा भयानक और दुर्गम है। वहाँ न तो वृक्षोंकी छाया है, न पानी है और न कोई ऐसा स्थान ही है जहाँ रास्तेका थका-माँदा जीव क्षणभर भी विश्राम कर सके ।। ४७½ ।।

नीयते यमदूतैस्तु यमस्याज्ञाकरैर्बलात् ।। ४८ ।।
नराः स्त्रियस्तथैवान्ये पृथिव्यां जीवसंज्ञिताः ।

यमराजकी आज्ञाका पालन करनेवाले यमदूत इस पृथ्वीपर आकर यहाँके पुरुषों, स्त्रियों तथा अन्य जीवोंको बलपूर्वक पकड़ ले जाते हैं ।। ४८½ ।।

ब्राह्मणेभ्यः प्रदानानि नानारूपाणि पार्थिव ।। ४९ ।।
हयादीनां प्रकृष्टानि तेऽध्वानं यान्ति वै नराः ।
संनिवार्यातपं यान्ति छत्रेणैव हि छत्रदाः ।। ५० ।।

राजन्! जिनके द्वारा यहाँ ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके अश्व आदि वाहनोंका उत्कृष्ट दान किया गया है, वे उस मार्गपर (उन्हीं वाहनोंद्वारा सुखसे) यात्रा करते हैं। छत्र-दान करनेवाले मनुष्य वहाँ प्राप्त हुए छत्रके द्वारा ही धूपका निवारण करते हुए चलते हैं ।। ४९-५० ।।

तृप्ताश्चैवान्नदातारो ह्यतृप्ताश्चाप्यनन्नदाः ।
वस्त्रिणो वस्त्रदा यान्ति अवस्त्रा यान्त्यवस्त्रदाः ।। ५१ ।।

अन्न-दान करनेवाले जीव वहाँ भोजनसे तृप्त होकर यात्रा करते हैं; किंतु जिन्होंने अन्नदान नहीं किया है वे भूखका कष्ट सहते हुए चलते हैं। वस्त्र देनेवाले लोग कपड़े पहनकर जाते हैं और जिन्होंने वस्त्रदान नहीं किया है, उन्हें नंगे होकर जाना पड़ता है ।। ५१ ।।

हिरण्यदाः सुखं यान्ति पुरुषास्त्वभ्यलंकृताः ।
भूमिदास्तु सुखं यान्ति सर्वैः कामैः सुतर्पिताः ।। ५२ ।।

सुवर्णका दान करनेवाले मनुष्य उस मार्गपर नाना प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो बड़े सुखसे यात्रा करते हैं। भूमिका दान करनेवाले दाता सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे तृप्त हो वहाँ बड़े आनन्दसे जाते हैं ।। ५२ ।।

यान्ति चैवापरिक्लिष्टा नराः सस्यप्रदायकाः ।
नराः सुखतरं यान्ति विमानेषु गृहप्रदाः ।। ५३ ।।

खेतमें लगी हुई खेती दान करनेवाले मनुष्य बिना किसी कष्टके जाते हैं। गृहदान करनेवाले मानव विमानोंपर बैठकर अत्यन्त सुख-सुविधाके साथ जाते हैं ।। ५३ ।।

पानीयदा ह्यतृषिताः प्रहृष्टमनसो नराः ।
पन्थानं द्योतयन्तश्च यान्ति दीपप्रदाः सुखम् ।। ५४ ।।

जिन्होंने जल-दान किया है, उन्हें प्यासका कष्ट नहीं भोगना पड़ता, वे लोग प्रसन्नचित्त होकर वहाँ जाते हैं। दीपदान करनेवाले मनुष्य उस मार्गको प्रकाशित करते हुए सुखसे

यात्रा करते हैं ।। ५४ ।।

गोप्रदास्तु सुखं यान्ति निर्मुक्ताः सर्वपातकैः ।

विमानैर्हंससंयुक्तैर्यान्ति मासोपवासिनः ।। ५५ ।।

गोदान करनेवाले मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो सुखपूर्वक जाते हैं। एक मासतक उपवास-व्रत करनेवाले लोग हंसजुते हुए विमानोंद्वारा यात्रा करते हैं ।। ५५ ।।

तथा बर्हिप्रयुक्तैश्च षष्ठरात्रोपवासिनः ।

त्रिरात्रं क्षपते यस्तु एकभक्तेन पाण्डव ।। ५६ ।।

अन्तरा चैव नाश्नाति तस्य लोका ह्यनामयाः ।

जो लोग छठी राततक उपवास करते हैं, वे मोर जुते हुए विमानोंद्वारा जाते हैं। पाण्डुनन्दन! जो लोग एक बार भोजन करके उसीपर तीन रात काट ले जाते हैं और बीचमें भोजन नहीं करते, उन्हें रोग-शोकसे रहित पुण्यलोक प्राप्त होते हैं ।। ५६½ ।।

पानीयस्य गुणा दिव्याः प्रेतलोकसुखावहाः ।। ५७ ।।

तत्र पुष्पोदका नाम नदी तेषां विधीयते ।

शीतलं सलिलं तत्र पिबन्ति ह्यमृतोपमम् ।। ५८ ।।

जलदान करनेका प्रभाव अत्यन्त अलौकिक है। वह परलोकमें सुख पहुँचानेवाला है। जो जलदान करते हैं उन पुण्यात्माओंके लिये उस मार्गमें पुष्पोदका नामवाली नदी प्राप्त होती है। वे उसका शीतल और अमृतके समान मधुर जल पीते हैं ।। ५७-५८ ।।

ये च दुष्कृतकर्माणः पूयं तेषां विधीयते ।

एवं नदी महाराज सर्वकामप्रदा हि सा ।। ५९ ।।

महाराज! इस प्रकार वह नदी सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाली है; किंतु जो पापी जीव हैं उनके लिये उस नदीका जल पीब बन जाता है ।। ५९ ।।

तस्मात् त्वमपि राजेन्द्र पूजयैनान् यथाविधि ।

अध्वनि क्षीणगात्रश्च पथि पांसुसमन्वितः ।। ६० ।।

पृच्छते ह्यन्नदातारं गृहमायाति चाशया ।

तं पूजयाथ यत्नेन सोऽतिथिर्ब्राह्मणश्च सः ।। ६१ ।।

अतः राजेन्द्र! तुम भी इन ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन करो। जो रास्ता चलनेसे थककर दुबला हो गया है, जिसका शरीर धूलसे भरा है और जो अन्नदाताका पता पूछता हुआ भोजनकी आशासे घरपर आ जाता है, उसका तुम यत्नपूर्वक सत्कार करो; क्योंकि वह अतिथि है, इसलिये ब्राह्मण ही है। अर्थात् ब्राह्मणके ही तुल्य है ।।

तं यान्तमनुगच्छन्ति देवाः सर्वे सवासवाः ।

तस्मिन् सम्पूजिते प्रीता निराशा यान्त्यपूजिते ।। ६२ ।।

ऐसा अतिथि जब किसीके घरपर जाता है तब उसके पीछे इन्द्रादि सम्पूर्ण देवता भी वहाँतक जाते हैं। यदि वहाँ उस अतिथिका आदर होता है तो वे देवता भी प्रसन्न होते हैं

और यदि आदर नहीं होता, तो वे देवगण भी निराश लौट जाते हैं ।। ६२ ।।

तस्मात् त्वमपि राजेन्द्र पूजयैनं यथाविधि ।
एतत् ते शतशः प्रोक्तं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।। ६३ ।।

अतः राजेन्द्र! तुम भी अतिथिका विधिपूर्वक सत्कार करते रहो। यह बात मैं तुमसे कई बार कह चुका हूँ, अब और क्या सुनना चाहते हो! ।। ६३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

पुनः पुनरहं श्रीतुं कथां धर्मसमाश्रयाम् ।
पुण्यामिच्छामि धर्मज्ञ कथ्यमानां त्वया विभो ।। ६४ ।।

युधिष्ठिरने कहा—धर्मज्ञ विभो! आपके द्वारा कही हुई पुण्यमय धर्मकी चर्चा मैं बारंबार सुनना चाहता हूँ ।। ६४ ।।

मार्कण्डेय उवाच

धर्मान्तरं प्रति कथां कथ्यमानां मया नृप ।
सर्वपापहरां नित्यं शृणुष्वावहितो मम ।। ६५ ।।

मार्कण्डेयजी बोले—राजन्! अब मैं धर्मसम्बन्धी दूसरी बातें बता रहा हूँ, जो सदा सब पापोंका नाश करनेवाली हैं। तुम सावधान होकर सुनो ।। ६५ ।।

कपिलायां तु दत्तायां यत् फलं ज्येष्ठपुष्करे ।
तत् फलं भरतश्रेष्ठ विप्राणां पादधावने ।। ६६ ।।

भरतश्रेष्ठ! ज्येष्ठपुष्करतीर्थमें कपिला गौ दान करनेसे जो फल मिलता है वही ब्राह्मणोंका चरण धोनेसे प्राप्त होता है ।। ६६ ।।

द्विजपादोदकक्लिन्ना यावत् तिष्ठति मेदिनी ।
तावत् पुष्करपर्णेन पिबन्ति पितरो जलम् ।। ६७ ।।

ब्राह्मणोंके चरण पखारनेके जलसे जबतक पृथ्वी भीगी रहती है, तबतक पितरलोग कमलके पत्तेसे जल पीते हैं ।। ६७ ।।

स्वागतेनाग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः ।
पितरः पादशौचेन अन्नाद्येन प्रजापतिः ।। ६८ ।।

ब्राह्मणका स्वागत करनेसे अग्नि, उसे आसन देनेसे इन्द्र, उसके पैर धोनेसे पितर और उसको भोजनके योग्य अन्न प्रदान करनेसे ब्रह्माजी तृप्त होते हैं ।। ६८ ।।

यावद् वत्सस्य वै पादौ शिरश्चैव प्रदृश्यते ।
तस्मिन् काले प्रदातव्या प्रयत्नेनान्तरात्मना ।। ६९ ।।

गर्भिणी गौ जिस समय बच्चा दे रही हो और उस बछड़ेका केवल मुख तथा दो पैर ही बाहर निकले दिखायी देते हों, उसी समय पवित्रभावसे प्रयत्नपूर्वक उस गौका दान कर देना चाहिये ।। ६९ ।।

अन्तरिक्षगतो वत्सो यावद् योन्यां प्रदृश्यते ।
तावत् गौ पृथिवी ज्ञेया यावद् गर्भं न मुञ्चति ।। ७० ।।

जबतक बछड़ा योनिसे निकलते समय आकाशमें ही लटकता दिखायी दे, जबतक गाय अपने बछड़ेको पूर्णतःयोनिसे अलग न कर दे, तबतक उस गौको पृथ्वीरूप ही समझना चाहिये ।। ७० ।।

यावन्ति तस्या रोमाणि वत्सस्य च युधिष्ठिर ।
तावद् युगसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ।। ७१ ।।

युधिष्ठिर! उसका दान करनेसे उस गौ तथा बछड़ेके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं उतने हजार युगोंतक दाता स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ।। ७१ ।।

सुवर्णनासां यः कृत्वा सुखुरां कृष्णधेनुकाम् ।
तिलैः प्रच्छादितां दद्यात् सर्वरत्नैरलंकृताम् ।। ७२ ।।
प्रतिग्रहं गृहीत्वा यः पुनर्ददति साधवे ।
फलानां फलमश्नाति तदा दत्त्वा च भारत ।। ७३ ।।

भारत! जो सोनेकी नाक और सुन्दर चाँदीके खुरोंसे विभूषित, सब प्रकारके रत्नोंसे अलंकृत, काली गौको तिलोंसे प्रच्छादित करके उसका दान करता है और जो उस दानको लेकर पुनः किसी दूसरे श्रेष्ठ पुरुषको अर्पित कर देता है, वह सर्वोत्तम फलका भागी होता है ।। ७२-७३ ।।

ससमुद्रगुहा तेन सशैलवनकानना ।
चतुरन्ता भवेद् दत्ता पृथिवी नात्र संशयः ।। ७४ ।।

उस गौके दानसे समुद्र, गुफा, पर्वत, वन और काननोंसहित चारों दिशाओंकी भूमिके दानका पुण्य प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है ।। ७४ ।।

अन्तर्जानुशयो यस्तु भुङ्क्ते संसक्तभाजनः ।
यो द्विजः शब्दरहितं स क्षमस्तारणाय वै ।। ७५ ।।

जो द्विज अपने हाथोंको घुटनोंके भीतर किये मौनभावसे पात्रमें एक हाथ लगाये रखकर भोजन करता है, वह अपनेको और दूसरोंको तारनेमें समर्थ होता है ।। ७५ ।।

अपानपा न गदितास्तथान्ये ये द्विजातयः ।
जपन्ति संहितां सम्यक् ते नित्यं तारणक्षमाः ।। ७६ ।।

जो मदिरा नहीं पीते, जिनपर किसी प्रकारका दोष नहीं लगाया गया है तथा जो अन्य द्विज विधिपूर्वक वेदोंकी संहिताका पाठ करते हैं, वे सदा दूसरोंको तारनेमें समर्थ होते हैं ।। ७६ ।।

हव्यं कव्यं च यत् किंचित् सर्वं तच्छ्रोत्रियोऽर्हति ।
दत्तं हि श्रोत्रिये साधौ ज्वलितेऽग्नौ यथा हुतम् ।। ७७ ।।

हव्य (यज्ञ) और कव्य (श्राद्ध)-की जितनी भी वस्तुएँ हैं, श्रोत्रिय ब्राह्मण उन सबको पानेका अधिकारी है। श्रेष्ठ श्रोत्रियको दिया हुआ दान उतना ही सफल होता है, जैसे प्रज्वलित अग्निमें दी हुई आहुति ।। ७७ ।।

मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रयोधिनः ।
निहन्युर्मन्युना विप्रा वज्रपाणिरिवासुरान् ।। ७८ ।।

ब्राह्मणोंका क्रोध ही अस्त्र-शस्त्र है। ब्राह्मण लोहेके हथियारोंसे नहीं लड़ा करते हैं। जैसे हाथमें वज्र लिये हुए इन्द्र असुरोंका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण क्रोधसे ही अपराधीको नष्ट कर देते हैं ।। ७८ ।।

धर्माश्रितेयं तु कथा कथितेयं तवानघ ।
या श्रुत्वा मुनयः प्रीता नैमिषारण्यवासिनः ।। ७९ ।।

निष्पाप युधिष्ठिर! यह मैंने धर्मयुक्त कथा कही है। इसे सुनकर नैमिषारण्यनिवासी मुनि बड़े प्रसन्न हुए थे ।। ७९ ।।

वीतशोकभयक्रोधा विपाप्मानस्तथैव च ।
श्रुत्वेमां तु कथां राजन् न भवन्तीह मानवाः ।। ८० ।।

राजन्! इस कथाको सुनकर मनुष्य शोक, भय, क्रोध और पापसे रहित हो फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेते हैं ।। ८० ।।

युधिष्ठिर उवाच

किं तच्छौचं भवेद् येन विप्रः शुद्धः सदा भवेद् ।
तदिच्छामि महाप्राज्ञ श्रोतुं धर्मभृतां वर ।। ८१ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाप्राज्ञ महर्षे! वह शौच क्या है जिससे ब्राह्मण सदा शुद्ध बना रहता है? मैं उसे सुनना चाहता हूँ ।। ८१ ।।

मार्कण्डेय उवाच

वाक्शौचं कर्मशौचं च यच्च शौचं जलात्मकम् ।
त्रिभिः शौचैरुपेतो यः स स्वर्गी नात्र संशयः ।। ८२ ।।

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! शौच तीन प्रकारका होता है—वाक्शौच (वाणीकी पवित्रता), कर्मशौच (क्रियाकी पवित्रता) तथा जलशौच (जलसे शरीरकी शुद्धि)। जो इस तीन प्रकारके शौचसे सम्पन्न है, वह स्वर्गलोकका अधिकारी है, इसमें संशय नहीं ।। ८२ ।।

सायं प्रातश्च संध्यां यो ब्राह्मणोऽभ्युपसेवते ।
प्रजपन् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् ।। ८३ ।।
स तया पावितो देव्या ब्राह्मणो नष्टकिल्बिषः ।
न सीदेत् प्रतिगृह्णानो महीमपि ससागराम् ।। ८४ ।।

जो ब्राह्मण प्रातः और सायं—इन दोनों समयकी संध्या और सबको पवित्र करनेवाली वेदमाता गायत्री देवीके मन्त्रका जप करता है; वह ब्राह्मण उन्हीं गायत्री देवीकी कृपासे परम पवित्र और निष्पाप हो जाता है। वह समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका भी दान ग्रहण कर ले, तो भी किसी संकटमें नहीं पड़ता ।। ८३-८४ ।।

ये चास्य दारुणाः केचिद् ग्रहाः सूर्यादयो दिवि ।
ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवाः शिवतराः सदा ।। ८५ ।।

इतना ही नहीं, आकाशके सूर्य आदि ग्रहोंमेंसे जो कोई भी उसके लिये भयंकर होते हैं, वे उपर्युक्त गायत्री-झपके प्रभावसे उसके लिये सदा सौम्य, सुखद एवं परम मंगलकारी हो जाते हैं ।। ८५ ।।

सर्वे नानुगतं चैनं दारुणाः पिशिताशनाः ।
घोररूपा महाकाया धर्षयन्ति द्विजोत्तमम् ।। ८६ ।।

भयंकर रूप और विशाल शरीरवाले, समस्त क्रूरकर्मा, मांसभक्षी राक्षस भी गायत्रीजपपरायण उस श्रेष्ठ द्विजपर आक्रमण नहीं कर सकते ।। ८६ ।।

नाध्यापनाद् याजनाद् वा अन्यस्माद् वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलिताग्निसमा द्विजाः ।। ८७ ।।

वे संध्योपासक ब्राह्मण प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी होते हैं। पढ़ाने, यज्ञ कराने अथवा दूसरेसे दान लेनेके कारण भी उन्हें दोष नहीं छू सकता (क्योंकि वे उनकी जीविकाके कर्म हैं) ।। ८७ ।।

दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृताः संस्कृतास्तथा ।
ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नयः ।। ८८ ।।

ब्राह्मण अच्छी तरह वेद पढ़े हों या न पढ़े हों, उत्तम संस्कारोंसे युक्त हों या प्राकृत मनुष्योंकी भाँति संस्कारशून्य हों, उनका अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे राखमें छिपी हुई अताके समान हैं ।। ८८ ।।

यथा श्मशाने दीप्तौजाः पावको नैव दुष्यति ।
एवं विद्वानविद्वान् वा ब्राह्मणो दैवतं महत् ।। ८९ ।।

जैसे प्रज्वलित अग्नि श्मशानमें भी दूषित नहीं होती, उसी प्रकार ब्राह्मण विद्वान् हो या अविद्वान्, उसे महान् देवता ही मानना चाहिये ।। ८९ ।।

प्राकारैश्च पुरद्वारैः प्रासादैश्च पृथग्विधैः ।
नगराणि न शोभन्ते हीनानि ब्राह्मणोत्तमैः ।। ९० ।।

चहारदीवारियों, नगरद्वारों और भिन्न-भिन्न महलोंसे भी नगरोंकी तबतक शोभा नहीं होती जबतक वहाँ श्रेष्ठ ब्राह्मण न रहें ।। ९० ।।

वेदाढ्या वृत्तसम्पन्ना ज्ञानवन्तस्तपस्विनः ।
यत्र तिष्ठन्ति वै विप्रास्तन्नाम नगरं नृप ।। ९१ ।।

राजन्! वेदज्ञ, सदाचारी, ज्ञानी और तपस्वी ब्राह्मण जहाँ निवास करते हों, उसीका नाम नगर है ।। ९१ ।।

व्रजे वाप्यथवारण्ये यत्र सन्ति बहुश्रुताः ।
तत् तन्नगरमित्याहुः पार्थ तीर्थं च तद् भवेत् ।। ९२ ।।

कुन्तीनन्दन! व्रज (गौओंके रहनेका स्थान) हो या वन, जहाँ बहुश्रुत विद्वान् रहते हों, उसे ‘नगर’ कहा गया है, वह तीर्थ भी माना गया है ।। ९२ ।।

रक्षितारं च राजानं ब्राह्मणं च तपस्विनम् ।
अभिगम्याभिपूज्याथ सद्यः पापात् प्रमुच्यते ।। ९३ ।।

प्रजाकी रक्षा करनेवाले राजा और तपस्वी ब्राह्मणके पास जाकर उनकी सेवा-पूजा करके मनुष्य तत्काल सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। ९३ ।।

पुण्यतीर्थाभिषेकं च पवित्राणां च कीर्तनम् ।
सद्भिः सम्भाषणं चैव प्रशस्तं कीर्त्यते बुधैः ।। ९४ ।।

पुण्यतीर्थोंमें स्नान, पवित्र मन्त्रोंका कीर्तन और श्रेष्ठ पुरुषोंसे वार्तालाप—इन सबको विद्वान् पुरुषोंने उत्तम बताया है ।। ९४ ।।

साधुसङ्गमपूतेन वाक्सुभाषितवारिणा ।
पवित्रीकृतमात्मानं सन्तो मन्यन्ति नित्यशः ।। ९५ ।।

सत्संगसे पवित्र किये हुए वाणीके सुन्दर सम्भाषणरूप जलसे अभिषिक्त श्रेष्ठ पुरुष अपनेको सदा पवित्र हुआ मानते हैं ।। ९५ ।।

त्रिदण्डधारणं मौनं जटाभारोऽथ मुण्डनम् ।
वल्कलाजिनसंवेष्टं व्रतचर्याभिषेचनम् ।। ९६ ।।
अग्निहोत्रं वने वासः शरीरपरिशोषणम् ।
सर्वाण्येतानि मिथ्या स्युर्यदि भावो न निर्मलः ।। ९७ ।।

त्रिदण्ड धारण करना, मौन रहना, सिरपर जटाका बोझ ढोना, मूँड़ मुँड़ाना, शरीरमें वल्कल और मृगचर्म लपेटे रहना, व्रतका आचरण करना, नहाना, अग्निहोत्र करना, वनमें रहना और शरीरको सुखा देना—ये सभी यदि भाव शुद्ध न हो तो व्यर्थ हैं ।। ९६-९७ ।।

न दुष्करमनाशित्वं सुकरं ह्यशनं विना ।
विशुद्धिं चक्षुरादीनां षण्णामिन्द्रियगामिनाम् ।। ९८ ।।
विकारि तेषां राजेन्द्र सुदुष्करकरं मनः ।

राजेन्द्र! चक्षु आदि इन्द्रियोंके आहारको छोड़ देना कठिन नहीं है; क्योंकि इन्द्रियोंके छहों विषयोंका उपभोग न करनेसे वह अपने-आप सुगमतासे हो जाता है, परंतु उनमेंसे मन बड़ा विकारी है, इस कारण भावकी शुद्धिके बिना उसको वशमें करना अत्यन्त दुष्कर है ।। ९८½ ।।

ये पापानि न कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मबुद्धिभिः ।

ते तपन्ति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम् ।। ९९ ।।

जो मन, वाणी, क्रिया और बुद्धिके द्वारा कभी पाप नहीं करते हैं, वे ही महात्मा तपस्वी हैं। शरीरको सुखा देना ही तपस्या नहीं है ।। ९९ ।।

न ज्ञातिभ्यो दया यस्य शुक्लदेहोऽविकल्मषः ।
हिंसा सा तपसस्तस्य नानाशित्वं तपः स्मृतम् ।। १०० ।।

जिसने व्रत, उपवास आदिके द्वारा शरीरको तो शुद्ध कर लिया और जो नाना प्रकारके पापकर्म भी नहीं करता, किंतु जिसके मनमें अपने कुटुम्बी जनोंके प्रति दया नहीं आती, उसकी वह निर्दयता उसके तपका नाश करनेवाली है; केवल भोजन छोड़ देनेका ही नाम तपस्या नहीं है ।। १०० ।।

तिष्ठन् गृहे चैव मुनिर्नित्यं शुचिरलंकृतः ।
यावज्जीवं दयावांश्च सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। १०१ ।।

जो निरन्तर घरपर रहकर भी पवित्रभावसे रहता है, सद्‌गुणोंसे विभूषित होता है और जीवनभर सब प्राणियोंपर दया रखता है, उसे मुनि ही समझना चाहिये; वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। १०१ ।।

न हि पापानि कर्माणि शुद्ध्यबन्त्यनशनादिभिः ।
सीदत्यनशनादेव मांसशोणितलेपनः ।। १०२ ।।

भोजन छोड़ने आदिसे पापकर्मोंका शोधन हो जाता हो, ऐसी बात नहीं है। हाँ, भोजन त्याग देनेसे यह रक्त-मांससे लिपा हुआ शरीर अवश्य क्षीण हो जाता है ।।

अज्ञातं कर्म कृत्वा च क्लेशो नान्यत् प्रहीयते ।
नाग्निर्दहति कर्माणि भावशून्यस्य देहिनः ।। १०३ ।।

शास्त्रोंद्वारा जिनका विधान नहीं किया गया है, ऐसे कार्य करनेसे केवल क्लेश ही हाथ लगता है, उनसे पाप नष्ट नहीं किये जा सकते। अग्निहोत्र आदि शुभ कर्म भावशून्य अर्थात् श्रद्धारहित मनुष्यके पापकर्मोंको दग्ध नहीं कर सकते ।। १०३ ।।

पुण्यादेव प्रव्रजन्ति शुद्ध्यन्त्यनशनानि च ।
न मूलफलभक्षित्वान्न मौनान्नानिलाशनात् ।। १०४ ।।
शिरसो मुण्डनाद् वापि न स्थानकुटिकासनात् ।
न जटाधारणाद् वापि न तु स्थण्डिलशय्यया ।। १०५ ।।
नित्यं ह्यनशनाद् वापि नाग्निशुश्रूषणादपि ।
न चोदकप्रवेशेन न च क्ष्माशयनादपि ।। १०६ ।।

मनुष्य पुण्यके प्रभावसे ही उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं। उपवास भी पुण्यसे अर्थात् निष्कामभावसे ही शुद्धिका कारण होता है। (बिना शुद्धभावके) केवल फल-मूल खाने, मौन रहने, हवा पीने, सिर मुँड़ाने, एक स्थानपर कुटी बनाकर रहने, सिरपर जटा रखाने, वेदीपर

सोने, नित्य उपवास, अग्निसेवन, जलप्रवेश तथा भूमिशयन करनेसे भी शुद्धि नहीं होती है ।। १०४—१०६ ।।

ज्ञानेन कर्मणा वापि जरामरणमेव च ।
व्याधयश्च प्रहीयन्ते प्राप्यते चोत्तमं पदम् ।। १०७ ।।

तत्त्वज्ञान या सत्कर्मसे ही जरा, मृत्यु तथा रोगोंका नाश होता है और उत्तम पद (मुक्ति)-की प्राप्ति होती है ।। १०७ ।।

बीजानि ह्यग्निदग्धानि न रोहन्ति पुनर्यथा ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संयुज्यते पुनः ।। १०८ ।।

जैसे आगमें जले हुए बीज फिर नहीं उगते हैं, उसी प्रकार ज्ञानके द्वारा अविद्या आदि क्लेशोंके नष्ट हो जानेपर आत्माका पुनः उनसे संयोग नहीं होता ।। १०८ ।।

आत्मना विप्रहीणानि काष्ठकुड्योपमानि च ।
विनश्यन्ति न संदेहः फेनानीव महार्णवे ।। १०९ ।।

जीवात्मासे परित्यक्त होनेपर सारे शरीर काठ और दीवारकी भाँति जडवत् होकर महासागरमें उठे हुए फेनोंकी तरह नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है ।।

आत्मानं विन्दते येन सर्वभूतगुहाशयम् ।
श्लोकेन यदि वार्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम् ।। ११० ।।

एक या आधे श्लोकसे भी यदि सम्पूर्ण भूतोंके हृदयदेशमें शयन करनेवाले परमात्माका ज्ञान हो जाय, तो उसके लिये सम्पूर्ण शास्त्रोंके अध्ययनका प्रयोजन समाप्त हो जाता है ।। ११० ।।

द्वयक्षरादभिसंधाय केचिच्छ्लोकपदाङ्कितैः ।
शतैरन्यैः सहस्रैश्च प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ।। १११ ।।

कोई ‘तत्त्वम्’ अथवा राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि दो अक्षरोंसे ही परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। कोई श्लोक और पदोंसे अंकित अन्य सैकड़ों तथा सहस्रों शास्त्रवाक्योंसे परमात्माके स्वरूपको जानते हैं। जैसे भी हो, बोध ही मोक्षका लक्षण है ।। १११ ।।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।
ऊचुर्ज्ञानविदो वृद्धाः प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ।। ११२ ।।

जिसके मनमें संशय भरा हुआ है, उसके लिये न यह लोक है न परलोक है और न सुख ही है। ‘ज्ञान ही मोक्षका लक्षण है’—यह वृद्ध, ज्ञानी पुरुषोंका कथन है ।। ११२ ।।

विदितार्थस्तु वेदानां परिवेद प्रयोजनम् ।
उद्विजेत् स तु वेदेभ्यो दावाग्नेरिव मानवः ।। ११३ ।।

जब मनुष्य वेदोंके वास्तविक प्रयोजनको जान जाता है, तब वह वेदवेत्ता मानव (कर्मविधायक) समस्त वेदोंसे उसी प्रकार उपरत हो जाता है, जैसे मनुष्य दावानलसे हट

जाते हैं ।। ११३ ।।

शुष्कं तर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिं स्मृतिम् ।
एकाक्षराभिसम्बद्धं तत्त्वं हेतुभिरिच्छसि ।
बुद्धिर्न तस्य सिद्ध्येत साधनस्य विपर्ययात् ।। ११४ ।।

प्रणवसे सम्बन्ध रखनेवाले परमात्मतत्त्वको यदि तुम युक्तिपूर्वक अर्थात् निःसंदेहभावसे समझना चाहते हो तो कोरा तर्कवाद छोड़कर श्रुति तथा स्मृतिके वचनोंका आश्रय लो। क्योंकि जो उपर्युक्त साधनका आश्रय नहीं लेता उसकी बुद्धि तत्त्वका निश्चय करनेमें समर्थ नहीं हो सकती ।। ११४ ।।

वेदपूर्वं वेदितव्यं प्रयत्नात्
तत् वै वेदस्तस्य वेदः शरीरम् ।
वेदस्तत्त्वं तत्समासोपलब्धौ
क्लीबस्त्वात्मा तत् स वेद्यस्य वेद्यम् ।। ११५ ।।

इसलिये जाननेयोग्य परमात्मतत्त्वका ज्ञान वेदोंके द्वारा ही यत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि वह परमात्मतत्त्व वेदस्वरूप है। वेद उसका शरीर है। उस परमात्मतत्त्वको सहजभावसे प्राप्त करानेमें वेद हेतु है। यह जीवात्मा स्वयं समर्थ नहीं है; क्योंकि वह तत्त्व वेद्यका भी वेद्य है, अर्थात् जाननेमें बड़ा ही गहन है ।।

वेदोक्तमायुर्देवानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ।
फलत्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ।। ११६ ।।

देवताओंकी आयु और कर्मोंका शुभाशुभ फल आदि बातें वेदमें कही गयी हैं। उसके अनुसार ही देहधारियोंका प्रभाव संसारमें प्रत्येक युगमें फलित होता है ।। ११६ ।।

इन्द्रियाणां प्रसादेन तदेतत् परिवर्जयेत् ।
तस्मादनशनं दिव्यं निरुद्धेन्द्रियगोचरम् ।। ११७ ।।

अतः मनुष्यको इन्द्रियोंकी शुद्धिके द्वारा इन विषयभोगोंको त्याग देना चाहिये। यह इन्द्रियोंकी निर्मलता और निरोधसे होनेवाला अनशन (विषयोंका अग्रहण) दिव्य होता है ।। ११७ ।।

तपसा स्वर्गगमनं भोगो दानेन जायते ।
ज्ञानेन मोक्षो विज्ञेयस्तीर्थस्नानादघक्षयः ।। ११८ ।।

तपसे स्वर्गलोकमें जानेका सौभाग्य प्राप्त होता है। दानसे भोगोंकी प्राप्ति होती है। ज्ञानसे मोक्ष मिलता है, यह जानना चाहिये तथा तीर्थस्नानसे पापोंका क्षय हो जाता है ।। ११८ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र प्रत्युवाच महायशाः ।

भगवन् श्रोतुमिच्छामि प्रधानविधिमुत्तमम् ।। ११९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मार्कण्डेयजीके ऐसा कहनेपर महायशस्वी युधिष्ठिर बोले—'भगवन्! अब मैं (दानकी) उत्तम एवं प्रधान विधि सुनना चाहता हूँ' ।। ११९ ।।

मार्कण्डेय उवाच

यत् त्वमिच्छसि राजेन्द्र दानधर्मं युधिष्ठिर ।
इष्टं चेदं सदा मह्यं राजन् गौरवतस्तथा ।। १२० ।।

मार्कण्डेयजीने कहा—महाराज युधिष्ठिर! तुम मुझसे जिस दान-धर्मको सुनना चाहते हो वह गौरवयुक्त होनेके कारण मुझे सदा ही प्रिय है ।। १२० ।।

शृणु दानरहस्यानि श्रुतिस्मृत्युदितानि च ।
छायायां करिणः श्राद्धं तत् कर्णपरिवीजिते ।
दश कल्पायुतानीह न क्षीयेत युधिष्ठिर ।। १२१ ।।

श्रुतियों और स्मृतियोंमें जो दानके रहस्य बताये गये हैं, उनका वर्णन सुनो—युधिष्ठिर! गुरुवारको अमावस्याके योगमें पीपलके वृक्षकी छायाको गजच्छाया-पर्व कहते हैं। गजच्छायामें जहाँ पीपलके पत्तोंकी हवा लगती हो, उस प्रदेशमें जलके समीप जो श्राद्ध किया जाता है, वह एक लाख कल्पों तक नष्ट नहीं होता ।। १२१ ।।

जीवनाय समाक्लिन्नं वसु दत्त्वा महीयते ।
वैश्यं तु वासयेद् यस्तु सर्वयज्ञैः स इष्टवान् ।। १२२ ।।

जो जीविकाके लिये राँधा हुआ अन्नका दान करता है, वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। जो आश्रयकी खोज करनेवाले राहगीर-अतिथिको ठहरनेके लिये जगह दे वह सम्पूर्ण यज्ञोंका अनुष्ठान पूर्ण कर लेता है ।।

प्रतिस्रोतश्चित्रवाहाः पर्जन्योऽन्नानुसंचरन् ।
महाधुरि यथा नावा महापापैः प्रमुच्यते ।। १२३ ।।
विप्लवे विप्रदत्तानि दधिमस्त्वक्षयाणि च ।

पूर्वकी ओर बहनेवाली नदीका प्रवाह जहाँ पश्चिमकी ओर मुड़ गया हो, वह प्रतिस्रोत तीर्थ कहलाता है, उसमें किया हुआ उत्तम अश्वोंका दान अक्षय पुण्यको देनेवाला होता है। अन्नके लिये विचरनेवाले अतिथिरूपी इन्द्रको यदि भोजनसे संतुष्ट किया जाय तो वह भी अक्षयपुण्यका जनक होता है। नदियोंके महान् प्रवाहमें ग्रहणके समय ब्राह्मणोंको दिये हुए दधिमण्ड तथा पूर्वोक्त पदार्थ भी अक्षय पुण्यकी प्राप्ति करानेवाले होते हैं। इसी प्रकार नदियोंके महान् प्रवाहमें स्नान करनेवाला पुरुष बड़े-बड़े पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। १२३½ ।।

पर्वसु द्विगुणं दानमृतौ दशगुणं भवेत् ।। १२४ ।।

अयने विषुवे चैव षडशीतिमुखेषु च ।
चन्द्रसूर्योपरागे च दत्तमक्षयमुच्यते ।। १२५ ।।

पर्वके अवसरपर दिया हुआ दान दुगुना तथा ऋतु आरम्भ होनेके समय दिया हुआ दान दस गुना पुण्यदायक होता है। उत्तरायण या दक्षिणायन आरम्भ होनेके दिन, विषुव-योग (तुला और मेषकी संक्रान्ति)-में, मिथुन, कन्या, धनु और मीनकी संक्रान्तियोंमें तथा चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके अवसरपर दिया हुआ दान अक्षय बताया गया है ।। १२४-१२५ ।।

ऋतुषु दशगुणं वदन्ति दत्तं
शतगुणमृत्वयनादिषु ध्रुवम् ।
भवति सहस्रगुणं दिनस्य राहो-
र्विषुवति चाक्षयमश्नुते फलम् ।। १२६ ।।

विद्वान् पुरुष ऋतु प्रारम्भ होनेके दिन दिये हुए दानको दस गुना तथा अयन आदिके दिन सौ गुना बताते हैं। इसी प्रकार ग्रहणके दिन दिये हुए दानका फल सहस्रगुना होता है और विषुवयोगमें दान करनेसे मनुष्य उसके अक्षय पुण्य-फलका उपभोग करता है ।। १२६ ।।

नाभूमिदो भूमिमश्नाति राजन्
नायानदो यानमारुह्य याति ।
यान् यान् कामान् ब्राह्मणेभ्यो ददाति
तांस्तान् कामान् जायमानः स भुङ्क्ते ।। १२७ ।।

राजन्! जिसने भूमिदान नहीं किया है, वह परलोकमें पृथ्वीका उपभोग नहीं कर सकता। जिसने सवारीका दान नहीं किया है, वह सवारीपर चढ़कर नहीं जा सकता। इस जन्ममें मनुष्य जिन-जिन पदार्थोंका ब्राह्मणोंको दान करता है, भावी जन्ममें वह उन-उन पदार्थोंको उपभोगके लिये पाता है ।। १२७ ।।

अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णं
भूर्वैष्णवी सूर्यसुताश्च गावः ।
लोकास्त्रयस्तेन भवन्ति दत्ता
यः काञ्चनं गाश्च महीं च दद्यात् ।। १२८ ।।

सुवर्ण अग्निकी प्रथम संतान है। भूमि भगवान् विष्णुकी पत्नी है तथा गौएँ भगवान् सूर्यकी कन्याएँ हैं, अतः जो कोई सुवर्ण, गौ और पृथ्वीका दान करता है, उसके द्वारा तीनों लोकोंका दान सम्पन्न हो जाता है ।।

परं हि दानान्न बभूव शाश्वतं
भव्यं त्रिलोके भवते कुतः पुनः ।
तस्मात् प्रधानं परमं हि दानं

वदन्ति लोकेषु विशिष्टबुद्धयः ।। १२९ ।।

त्रिलोकीमें दानसे बढ़कर शाश्वत पुण्यदायक कर्म दूसरा पहले कभी नहीं हुआ, अब कैसे हो सकता है? इसीलिये उत्तम बुद्धिवाले पुरुष संसारमें दानको ही सर्वोत्कृष्ट पुण्यकर्म बताते हैं ।। १२९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि दानमाहात्म्ये द्विशततमोऽध्यायः ।। २०० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें दानमाहात्म्यविषयक दो सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०० ।।

---

* यहाँ जो पिता आदि गुरुजन, सेवक और स्त्रियोंको दिया दान व्यर्थ कहा है, इसका अभिप्राय यह है कि माता-पिता आदि गुरुजनोंकी सेवा करना तथा स्त्री और नौकरोंका पालन-पोषण करना तो मनुष्यका कर्तव्य ही है। अतः उनको देना तो अपने कर्तव्यका ही पालन है, इसलिये वह उनको देना दानकी श्रेणीमें नहीं है।

एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः

उत्तङ्ककी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌का उन्हें वरदान देना तथा इक्ष्वाकुवंशी राजा कुवलाश्वका धुन्धुमार नाम पड़नेका कारण बताना

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु राजा राजर्षेरिन्द्रद्युम्नस्य तत् तथा ।
मार्कण्डेयान्महाभागात् स्वर्गस्य प्रतिपादनम् ।। १ ।।
युधिष्ठिरो महाराज पप्रच्छ भरतर्षभ ।
मार्कण्डेयं तपोवृद्धं दीर्घायुषमकल्मषम् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ महाराज जनमेजय! महाभाग मार्कण्डेय मुनिके मुखसे राजर्षि इन्द्रद्युम्नको पुनः स्वर्गप्राप्ति होनेका वृत्तान्त (तथा दानमाहात्म्य) सुनकर राजा युधिष्ठिरने पापरहित, दीर्घायु तथा तपोवृद्ध महात्मा मार्कण्डेयसे इस प्रकार पूछा— ।। १-२ ।।

विदितास्तव धर्मज्ञ देवदानवराक्षसाः ।
राजवंशाश्च विविधा ऋषिवंशाश्च शाश्वताः ।। ३ ।।

'धर्मज्ञ मुने! आप देवता, दानव तथा राक्षसोंको भी अच्छी तरह जानते हैं। आपको नाना प्रकारके राजवंशों तथा ऋषियोंकी सनातन वंशपरम्पराका भी ज्ञान है ।। ३ ।।

न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिदस्मिँल्लोके द्विजोत्तम ।
कथां वेत्सि मुने दिव्यां मनुष्योरगरक्षसाम् ।। ४ ।।
देवगन्धर्वयक्षाणां किन्नराप्सरसां तथा ।

'द्विजश्रेष्ठ! इस लोकमें कोई ऐसी वस्तु नहीं जो आपसे अज्ञात हो। मुने! आप मनुष्य, नाग, राक्षस, देवता, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर तथा अप्सराओंकी भी दिव्य कथाएँ जानते हैं ।। ४ ½ ।।

इदमिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन द्विजसत्तम ।। ५ ।।
कुवलाश्व इति ख्यात इक्ष्वाकुरपराजितः ।
कथं नामविपर्यासाद् धुन्धुमारत्वमागतः ।। ६ ।।

'विप्रवर! अब मैं यथार्थरूपसे यह सुनना चाहता हूँ कि इक्ष्वाकुवंशमें जो कुवलाश्व नामसे विख्यात विजयी राजा हो गये हैं, वे क्यों नाम बदलकर 'धुन्धुमार' कहलाने लगे? ।। ५-६ ।।

एतदिच्छामि तत्त्वेन ज्ञातुं भार्गवसत्तम ।

विपर्यस्तं यथा नाम कुवलाश्वस्य धीमतः ।। ७ ।।

'भृगुश्रेष्ठ! बुद्धिमान् राजा कुवलाश्वके इस नाम-परिवर्तनका यथार्थ कारण मैं जानना चाहता हूँ ।। ७ ।।

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरेणैवमुक्तो मार्कण्डेयो महामुनिः ।
धौन्धुमारमुपाख्यानं कथयामास भारत ।। ८ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—भारत! धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर महामुनि मार्कण्डेयने धुन्धुमारकी कथा प्रारम्भ की ।। ८ ।।

मार्कण्डेय उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु राजन् युधिष्ठिर ।
धर्मिष्ठमिदमाख्यानं धुन्धुमारस्य तच्छृणु ।। ९ ।।

मार्कण्डेयजी बोले—राजा युधिष्ठिर! सुनो। धुन्धुमारका आख्यान धर्ममय है। अब इसका वर्णन करता हूँ, ध्यान देकर सुनो ।। ९ ।।

यथा स राजा इक्ष्वाकुः कुवलाश्वो महीपतिः ।
धुन्धुमारत्वमगमत् तच्छृणुष्व महीपते ।। १० ।।

महाराज! इक्ष्वाकुवंशी राजा कुवलाश्व जिस प्रकार धुन्धुमार नामसे विख्यात हुए, वह सब श्रवण करो ।। १० ।।

महर्षिर्विश्रुतस्तात उत्तङ्क इति भारत ।
मरुधन्वसु रम्येषु आश्रमस्तस्य कौरव ।। ११ ।।

भरतनन्दन! कुरुकुलरत्न! महर्षि उत्तङ्कका नाम बहुत प्रसिद्ध है। तात! मरुके रमणीय प्रदेशमें उनका आश्रम है ।। ११ ।।

उत्तङ्कस्तु महाराज तपोऽतप्यत् सुदुश्चरम् ।
आरिराधयिषुर्विष्णुं बहून् वर्षगणान् विभुः ।। १२ ।।

महाराज! प्रभावशाली उत्तङ्कने भगवान् विष्णुकी आराधनाकी इच्छासे बहुत वर्षोंतक अत्यन्त दुष्कर तपस्या की थी ।। १२ ।।

तस्य प्रीतः स भगवान् साक्षाद् दर्शनमेयिवान् ।
दृष्ट्वैव चर्षिः प्रह्वस्तं तुष्टाव विविधैः स्तवैः ।। १३ ।।

उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। उनका दर्शन पाते ही महर्षि नम्रतासे झुक गये और नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करने लगे ।। १३ ।।

उत्तङ्क उवाच

त्वया देव प्रजाः सर्वाः ससुरासुरमानवाः ।

स्थावराणि च भूतानि जङ्गमानि तथैव च ।। १४ ।।

उत्तङ्क बोले—देव! देवता, असुर, मनुष्य आदि सारी प्रजा आपसे ही उत्पन्न हुई है। समस्त स्थावर-जंगम प्राणियोंकी सृष्टि भी आपने ही की है ।। १४ ।।

ब्रह्म वेदाश्च वेद्यं च त्वया सृष्टं महाद्युते ।

शिरस्ते गगनं देव नेत्रे शशिदिवाकरौ ।। १५ ।।

निःश्वासः पवनश्चापि तेजोऽग्निश्च तवाच्युत ।

बाहवस्ते दिशः सर्वाः कुक्षिश्चापि महार्णवः ।। १६ ।।

ऊरू ते पर्वता देव खं नाभिर्मधुसूदन ।

पादौ ते पृथिवी देवी रोमाण्योषधयस्तथा ।। १७ ।।

महातेजस्वी परमेश्वर! ब्रह्मा, वेद और जाननेयोग्य सभी वस्तुएँ आपने ही उत्पन्न की हैं। देव! आकाश आपका मस्तक है। चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं। वायु श्वास है तथा अग्नि आपका तेज है। अच्युत! सम्पूर्ण दिशाएँ आपकी भुजाएँ और महासागर आपका कुक्षिस्थान है। देव! मधुसूदन! पर्वत आपके ऊरु और अन्तरिक्ष-लोक आपकी नाभि है। पृथ्वीदेवी आपके चरण तथा ओषधियाँ रोएँ हैं ।। १५—१७ ।।

इन्द्रसोमाग्निवरुणा देवासुरमहोरगाः ।

प्रह्वास्त्वामुपतिष्ठन्ति स्तुवन्तो विविधैः स्तवैः ।। १८ ।।

भगवन्! इन्द्र, सोम, अग्नि, वरुण देवता, असुर और बड़े-बड़े नाग—ये सब आपके सामने नतमस्तक हो नाना प्रकारके स्तोत्र पढ़कर आपकी स्तुति करते हुए आपको हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं ।। १८ ।।

त्वया व्याप्तानि सर्वाणि भूतानि भुवनेश्वर ।
योगिनः सुमहावीर्याः स्तुवन्ति त्वां महर्षयः ।। १९ ।।

भुवनेश्वर! आपने सम्पूर्ण भूतोंको व्याप्त कर रखा है। महान् शक्तिशाली योगी और महर्षि आपका स्तवन करते हैं ।। १९ ।।

त्वयि तुष्टे जगत् स्वास्थ्यं त्वयि क्रुद्धे महद् भयम् ।
भयानामपनेतासि त्वमेकः पुरुषोत्तम ।। २० ।।

पुरुषोत्तम! आपके संतुष्ट होनेपर ही संसार स्वस्थ एवं सुखी होता है और आपके कुपित होनेपर इसे महान् भयका सामना करना पड़ता है। एकमात्र आप ही सम्पूर्ण भयका निवारण करनेवाले हैं ।। २० ।।

देवानां मानुषाणां च सर्वभूतसुखावहः ।
त्रिभिर्विक्रमणैर्देव त्रयो लोकास्त्वया हृताः ।। २१ ।।

देव! आप देवताओं, मनुष्यों तथा सम्पूर्ण भूतोंको सुख पहुँचानेवाले हैं। आपने तीन पगोंद्वारा ही (बलिके हाथसे) तीनों लोक (दानद्वारा) हरण कर लिये थे ।। २१ ।।

असुराणां समृद्धानां विनाशश्च त्वया कृतः ।
तव विक्रमणैर्देवा निर्वाणमगमन् परम् ।। २२ ।।

आपने समृद्धिशाली असुरोंका संहार किया है। आपके ही पराक्रमसे देवता परम सुख-शान्तिके भागी हुए हैं ।। २२ ।।

पराभूताश्च दैत्येन्द्रास्त्वयि क्रुद्धे महाद्युते ।
त्वं हि कर्ता विकर्ता च भूतानामिह सर्वशः ।। २३ ।।
आराधयित्वा त्वां देवाः सुखमेधन्ति सर्वशः ।

महाद्युते! आपके रुष्ट होनेसे ही दैत्यराज देवताओंके सामने पराजित हो जाते हैं। आप इस जगत्के सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि तथा संहार करनेवाले हैं। प्रभो! आपकी आराधना करके ही सम्पूर्ण देवता सुख एवं समृद्धि-लाभ करते हैं ।। २३½ ।।

एवं स्तुतो हृषीकेश उत्तङ्केन महात्मना ।। २४ ।।
उत्तङ्कमब्रवीद् विष्णुः प्रीतस्तेऽहं वरं वृणु ।

महात्मा उत्तङ्कके इस प्रकार स्तुति करनेपर सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रेरक भगवान् विष्णुने उनसे कहा—‘सहर्ष! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम कोई वर माँगो’ ।। २४½ ।।

उत्तङ्क उवाच

पर्याप्तो मे वरो ह्येष यदहं दृष्टवान् हरिम् ।। २५ ।।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यं स्रष्टारं जगतः प्रभुम् ।

उत्तङ्कने कहा—भगवन्! समस्त संसारकी सृष्टि करनेवाले दिव्य सनातन पुरुष आप सर्वशक्तिमान् श्रीहरिका जो मुझे दर्शन मिला, यही मेरे लिये सबसे महान् वर है ।। २५½ ।।

विष्णुरुवाच

प्रीतस्तेऽहमलौल्येन भक्त्या तव च सत्तम ।। २६ ।।

अवश्यं हि त्वया ब्रह्मन् मत्तो ग्राह्यो वरो द्विज ।

भगवान् विष्णु बोले—सज्जनशिरोमणे! मैं तुम्हारी लोभशून्यता एवं उत्तम भक्तिसे तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। ब्रह्मन्! तुम्हें मुझसे कोई वर अवश्य लेना चाहिये ।। २६½ ।।

मार्कण्डेय उवाच

एवं स छन्द्यमानस्तु वरेण हरिणा तदा ।। २७ ।।

उत्तङ्कः प्राञ्जलिर्वव्रे वरं भरतसत्तम ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार भगवान् विष्णुके द्वारा वर लेनेके लिये आग्रह होनेपर उत्तङ्कने हाथ जोड़कर इस प्रकार वर माँगा ।। २७½ ।।

यदि मे भगवन् प्रीतः पुण्डरीकनिभेक्षण ।। २८ ।।

धर्मे सत्ये दमे चैव बुद्धिर्भवतु मे सदा ।

अभ्यासश्च भवेद् भक्त्या त्वयि नित्यं ममेश्वर ।। २९ ।।

'भगवन्! कमलनयन! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मेरी बुद्धि सदा धर्म, सत्य और इन्द्रियनिग्रहमें लगी रहे। मेरे स्वामी! आपके भजनका मेरा अभ्यास सदा बना रहे' ।। २८-२९ ।।

श्रीभगवानुवाच

सर्वमेतद्धि भविता मत्प्रसादात् तव द्विज ।

प्रतिभास्यति योगश्च येन युक्तो दिवौकसाम् ।। ३० ।।

त्रयाणामपि लोकानां महत् कार्यं करिष्यसि ।

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन्! मेरी कृपासे यह सब कुछ तुम्हें प्राप्त हो जायगा। इसके सिवा तुम्हारे हृदयमें उस योगविद्याका प्रकाश होगा जिससे युक्त होकर तुम देवताओं तथा तीनों लोकोंका महान् कार्य सिद्ध कर सकोगे ।। ३०½ ।।

उत्सादनार्थं लोकानां धुन्धुर्नाम महासुरः ।। ३१ ।।

तपस्यति तपो घोरं शृणु यस्तं हनिष्यति ।

विप्रवर! धुन्धु नामसे प्रसिद्ध एक महान् असुर है, जो तीनों लोकोंका संहार करनेके लिये घोर तपस्या कर रहा है। जो वीर उस महान् असुरका वध करेगा, उसका परिचय देता हूँ, सुनो ।। ३१½ ।।

राजा हि वीर्यवांस्तात इक्ष्वाकुरपराजितः ।। ३२ ।।
बृहदश्व इति ख्यातो भविष्यति महीपतिः ।
तस्य पुत्रः शुचिर्दान्तः कुवलाश्व इति श्रुतः ।। ३३ ।।

तात! इक्ष्वाकुकुलमें बृहदश्व नामसे प्रसिद्ध एक महापराक्रमी और किसीसे पराजित न होनेवाले राजा उत्पन्न होंगे। उनका पवित्र और जितेन्द्रिय पुत्र कुवलाश्वके नामसे विख्यात होगा ।। ३२-३३ ।।

स योगबलमास्थाय मामकं पार्थिवोत्तमः ।
शासनात् तव विप्रर्षे धुन्धुमारो भविष्यति ।
एवमुक्त्वा तु तं विप्रं विष्णुरन्तरधीयत ।। ३४ ।।

ब्रह्मर्षे! तुम्हारे आदेशसे वे नृपश्रेष्ठ कुवलाश्व ही मेरे योगबलका आश्रय लेकर धुन्धु राक्षसका वध करेंगे और लोकमें धुन्धुमार नामसे विख्यात होंगे। उत्तङ्कसे ऐसा कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें धुन्धुमारोपाख्यानविषयक दो सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०१ ।।

द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

उत्तङ्कका राजा बृहदश्वसे धुन्धुका वध करनेके लिये आग्रह

मार्कण्डेय उवाच

इक्ष्वाकौ संस्थिते राजन् शशादः पृथिवीमिमाम् ।
प्राप्तः परमधर्मात्मा सोऽयोध्यायां नृपोऽभवत् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! महाराज इक्ष्वाकुके देहावसानके पश्चात् उनके परम धर्मात्मा पुत्र शशाद इस पृथ्वीपर राज्य करने लगे। वे अयोध्यामें रहते थे ।। १ ।।

शशादस्य तु दायादः ककुत्स्थो नाम वीर्यवान् ।
अनेनाश्चापि काकुत्स्थः पृथुश्चानेनसः सुतः ।। २ ।।

शशादके पुत्र पराक्रमी ककुत्स्थ हुए। ककुत्स्थके पुत्र अनेना और अनेनाके पृथु हुए ।। २ ।।

विष्वगश्वः पृथोः पुत्रस्तस्मादद्रिश्च जज्ञिवान् ।
अद्रेश्च युवनाश्वस्तु श्रावस्तस्यात्मजोऽभवत् ।। ३ ।।

पृथुके विष्वगश्व और उनके पुत्र अद्रि हुए। अद्रिके पुत्रका नाम युवनाश्व था। युवनाश्वका पुत्र श्राव नामसे विख्यात हुआ ।। ३ ।।

तस्य श्रावस्तको ज्ञेयः श्रावस्ती येन निर्मिता ।
श्रावस्तकस्य दायादो बृहदश्वो महाबलः ।। ४ ।।

श्रावका पुत्र श्रावस्त हुआ, जिसने श्रावस्तीपुरी बसायी थी। श्रावस्तके ही पुत्र महाबली बृहदश्व थे ।। ४ ।।

बृहदश्वस्य दायादः कुवलाश्व इति स्मृतः ।
कुवलाश्वस्य पुत्राणां सहस्राण्येकविंशतिः ।। ५ ।।

बृहदश्वके ही पुत्रका नाम कुवलाश्व था। कुवलाश्वके इक्कीस हजार पुत्र हुए ।। ५ ।।

सर्वे विद्यासु निष्णाता बलवन्तो दुरासदाः ।
कुवलाश्वश्च पितृतो गुणैरभ्यधिकोऽभवत् ।। ६ ।।

वे सब-के-सब सम्पूर्ण विद्याओंमें पारंगत, बलवान् और दुर्धर्ष वीर थे। कुवलाश्व उत्तम गुणोंमें अपने पितासे बढ़कर निकले ।। ६ ।।

समये तं पिता राज्ये बृहदश्वोऽभ्यषेचयत् ।
कुवलाश्वं महाराज शूरमुत्तमधार्मिकम् ।। ७ ।।

महाराज! राजा बृहदश्वने यथासमय अपने उत्तम धर्मात्मा शूरवीर पुत्र कुवलाश्वको राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ।। ७ ।।

पुत्रसंक्रामितश्रीस्तु बृहदश्वो महीपतिः ।
जगाम तपसे धीमांस्तपोवनममित्रहा ।। ८ ।।

शत्रुओंका संहार करनेवाले बुद्धिमान् राजा बृहदश्व राजलक्ष्मीका भार पुत्रपर छोड़कर स्वयं तपस्याके लिये तपोवनमें चले गये ।। ८ ।।

अथ शुश्राव राजर्षिं तमुत्तङ्को नराधिप ।
वनं सम्प्रस्थितं राजन् बृहदश्वं द्विजोत्तमः ।। ९ ।।

राजन्! तदनन्तर द्विजश्रेष्ठ उत्तङ्कने यह सुना कि राजर्षि बृहदश्व वनको चले जा रहे हैं ।। ९ ।।

तमुत्तङ्को महातेजाः सर्वास्त्रविदुषां वरम् ।
न्यवारयदमेयात्मा समासाद्य नरोत्तमम् ।। १० ।।

वे नरश्रेष्ठ नरेश सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वानोंमें सर्वोत्तम थे। विशाल हृदयवाले महातेजस्वी उत्तङ्कने उनके पास जाकर उन्हें वनमें जानेसे रोका और इस प्रकार कहा ।। १० ।।

उत्तङ्क उवाच

भवता रक्षणं कार्यं तत् तावत् कर्तुमर्हसि ।
निरुद्विग्ना वयं राजंस्त्वत्प्रसादाद् भवेमहि ।। ११ ।।

उत्तङ्क बोले—महाराज! प्रजाकी रक्षा करना आपका कर्तव्य है। अतः पहले वही आपको करना चाहिये जिससे आपके कृपाप्रसादसे हमलोग निर्भय हो जायँ ।। ११ ।।

त्वया हि पृथिवी राजन् रक्ष्यमाणा महात्मना ।
भविष्यति निरुद्विग्ना नारण्यं गन्तुमर्हसि ।। १२ ।।

राजन्! आप-जैसे महात्मा राजासे सुरक्षित होकर ही यह पृथ्वी सर्वथा भयशून्य हो जायगी। अतः आप वनमें न जाइये ।। १२ ।।

पालने हि महान् धर्मः प्रजानामिह दृश्यते ।
न तथा दृश्यतेऽरण्ये माभूत् ते बुद्धिरीदृशी ।। १३ ।।

क्योंकि आपके लिये यहाँ रहकर प्रजाओंका पालन करनेमें जो महान् धर्म देखा जाता है, वैसा वनमें रहकर तपस्या करनेमें नहीं दिखायी देता। अतः आपकी ऐसी समझ नहीं होनी चाहिये ।। १३ ।।

ईदृशो न हि राजेन्द्र धर्मः क्वचन दृश्यते ।
प्रजानां पालने यो वै पुरा राजर्षिभिः कृतः ।। १४ ।।

राजेन्द्र! पूर्वकालके राजर्षियोंने जिस धर्मका पालन किया है, वह प्रजाजनोंके पालनमें ही सुलभ है। ऐसा धर्म और किसी कार्यमें नहीं दिखायी देता ।। १४ ।।

रक्षितव्याः प्रजा राज्ञा तास्त्वं रक्षितुमर्हसि ।
निरुद्विग्नस्तपश्चर्तुं न हि शक्नोमि पार्थिव ।। १५ ।।

राजाके लिये प्रजाजनोंका पालन करना ही धर्म है। अतः आपको प्रजावर्गकी रक्षा ही करनी चाहिये। भूपाल! मैं शान्तिपूर्वक तपस्या नहीं कर पा रहा हूँ ।।

ममाश्रमसमीपे वै समेषु मरुधन्वसु ।
समुद्रो बालुकापूर्ण उज्जालक इति स्मृतः ।। १६ ।।

मेरे आश्रमके समीप समस्त मरुप्रदेशमें एक बालूसे पूर्ण अर्थात् बालुकामय समुद्र है, उसका नाम है उज्जालक ।। १६ ।।

बहुयोजनविस्तीर्णो बहुयोजनमायतः ।
तत्र रौद्रो दानवेन्द्रो महावीर्यपराक्रमः ।। १७ ।।
मधुकैटभयोः पुत्रो धुन्धुर्नाम सुदारुणः ।
अन्तर्भूमिगतो राजन् वसत्यमितविक्रमः ।। १८ ।।

उसकी लंबाई-चौड़ाई कई योजनकी है। वहाँ महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न एक भयंकर दानवराज रहता है, जो मधु और कैटभका पुत्र है। वह क्रूर स्वभाववाला राक्षस धुन्धु नामसे प्रसिद्ध है। राजन्! वह अमित पराक्रमी दानव धरतीके भीतर छिपकर रहा करता है ।। १७-१८ ।।

तं निहत्य महाराज वनं त्वं गन्तुमर्हसि ।
शेते लोकविनाशाय तप आस्थाय दारुणम् ।। १९ ।।
त्रिदशानां विनाशाय लोकानां चापि पार्थिव ।

महाराज! उसका नाश करके ही आपको वनमें जाना चाहिये। भूपाल! वह सम्पूर्ण लोकों और देवताओंके विनाशके लिये कठोर तपस्याका आश्रय लेकर (पृथ्वीमें) शयन करता है ।। १९½ ।।

अवध्यो दैवतानां हि दैत्यानामथ रक्षसाम् ।। २० ।।
नागानामथ यक्षाणां गन्धर्वाणां च सर्वशः ।
अवाप्य स वरं राजन् सर्वलोकपितामहात् ।। २१ ।।

राजन्! वह सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीसे वर पाकर देवताओं, दैत्यों, राक्षसों, नागों, यक्षों और समस्त गन्धर्वोंके लिये अवध्य हो गया है ।। २०-२१ ।।

तं विनाशय भद्रं ते मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं शाश्वतीमव्ययां ध्रुवाम् ।। २२ ।।

महाराज! आपका कल्याण हो। आप उस दैत्यका विनाश कीजिये। इसके विपरीत आपको कोई विचार नहीं करना चाहिये। उसका वध करके आप सदा बनी रहनेवाली अक्षय एवं महान् कीर्ति प्राप्त करेंगे ।। २२ ।।

क्रूरस्य तस्य स्वपतो बालुकान्तर्हितस्य च ।
संवत्सरस्य पर्यन्ते निःश्वासः सम्प्रवर्तते ।। २३ ।।

बालूके भीतर छिपकर रहनेवाला वह क्रूर राक्षस एक वर्षमें एक ही बार साँस लेता है ।। २३ ।।

यदा तदा भूश्चलति सशैलवनकानना ।

तस्य निःश्वासवातेन रज उद्धूयते महत् ।। २४ ।।
आदित्यपथमाश्रित्य सप्ताहं भूमिकम्पनम् ।
सविस्फुलिङ्गं सज्वालं धूममिश्रं सुदारुणम् ।। २५ ।।

जिस समय वह साँस लेता है, उस समय पर्वत, वन और काननोंसहित यह सारी पृथ्वी डोलने लगती है। उसके साँसकी आँधीसे धूलका इतना ऊँचा बवंडर उठता है कि वह सूर्यके मार्गको भी ढक लेता है और सात दिनोंतक वहाँ भूकम्प होता रहता है। आगकी चिनगारियाँ, ज्वालाएँ और धूआँ उठकर अत्यन्त भयंकर दृश्य उपस्थित करते हैं ।। २४-२५ ।।

तेन राजन् न शक्नोमि तस्मिन् स्थातुं स्व आश्रमे ।
तं विनाशय राजेन्द्र लोकानां हितकाम्यया ।। २६ ।।

राजन्! इस कारण मेरा अपने आश्रममें रहना कठिन हो गया है। महाराज! सब लोगोंके हितके लिये आप उस राक्षसको नष्ट कीजिये ।। २६ ।।

लोकाः स्वस्था भविष्यन्ति तस्मिन् विनिहतेऽसुरे ।
त्वं हि तस्य विनाशाय पर्याप्त इति मे मतिः ।। २७ ।।

उस असुरके मारे जानेपर सब लोग स्वस्थ एवं सुखी हो जायँगे। मेरा विश्वास है कि आप अकेले ही उसका नाश करनेके लिये पर्याप्त हैं ।। २७ ।।

तेजसा तव तेजश्च विष्णुराप्याययिष्यति ।
विष्णुना च वरो दत्तः पूर्वं मम महीपते ।। २८ ।।
यस्तं महासुरं रौद्रं वधिष्यति महीपतिः ।
तेजस्तं वैष्णवमिति प्रवेक्ष्यति दुरासदम् ।। २९ ।।

भूपाल! भगवान् विष्णु अपने तेजसे आपके तेजको बढ़ायेंगे। उन्होंने पूर्वकालमें मुझे यह वर दिया था कि जो राजा उस भयानक एवं महान् असुरका वध करनेको उद्यत होगा, उस दुर्धर्ष वीरके भीतर मेरा वैष्णव तेज प्रवेश करेगा ।। २८-२९ ।।

तत् तेजस्त्वं समाधाय राजेन्द्र भुवि दुःसहम् ।
तं निषूदय राजेन्द्र दैत्यं रौद्रपराक्रमम् ।। ३० ।।

महाराज! अतः आप भगवान्का दुःसह तेज धारण करके पृथ्वीपर रहनेवाले उस भयानक पराक्रमी दैत्यको नष्ट कीजिये ।। ३० ।।

न हि धुन्धुर्महातेजास्तेजसाल्पेन शक्यते ।
निर्दग्धुं पृथिवीपाल स हि वर्षशतैरपि ।। ३१ ।।

राजन्! धुन्धु महातेजस्वी असुर है। साधारण तेजसे सौ वर्षोंमें भी कोई उसे नष्ट नहीं कर सकता ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें धुन्धुमारोपाख्यानविषयक दो सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०२ ।।

त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी उत्पत्ति और भगवान् विष्णुके द्वारा मधु-कैटभका वध

मार्कण्डेय उवाच

स एवमुक्तो राजर्षिरुत्तङ्केनापराजितः ।
उत्तङ्कं कौरवश्रेष्ठ कृताञ्जलिरथाब्रवीत् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—कौरवश्रेष्ठ! उत्तङ्कके इस प्रकार आग्रह करनेपर अपराजित वीर राजर्षि बृहदश्वने उनसे हाथ जोड़कर कहा— ।। १ ।।

न तेऽभिगमनं ब्रह्मन् मोघमेतद् भविष्यति ।
पुत्रो ममायं भगवन् कुवलाश्व इति स्मृतः ।। २ ।।
धृतिमान् क्षिप्रकारी च वीर्येणाप्रतिमो भुवि ।

'ब्रह्मन्! आपका यह आगमन निष्फल नहीं होगा। भगवन्! मेरा यह पुत्र कुवलाश्व भूमण्डलमें अनुपम वीर है। यह धैर्यवान् और फुर्तीला है ।। २½ ।।

प्रियं च ते सर्वमेतत् करिष्यति न संशयः ।। ३ ।।
पुत्रैः परिवृतः सर्वैः शूरैः परिघबाहुभिः ।
विसर्जयस्व मां ब्रह्मन् न्यस्तशस्त्रोऽस्मि साम्प्रतम् ।। ४ ।।

परिघ-जैसी मोटी भुजाओंवाले अपने समस्त शूरवीर पुत्रोंके साथ जाकर यह आपका सारा अभीष्ट कार्य सिद्ध करेगा, इसमें संशय नहीं है। ब्रह्मन्! आप मुझे छोड़ दीजिये। मैंने अब अस्त्र-शस्त्रोंको त्याग दिया है' ।।

तथास्त्विति च तेनोक्तो मुनिनामिततेजसा ।
स तमादिश्य तनयमुत्तङ्काय महात्मने ।। ५ ।।
क्रियतामिति राजर्षिर्जगाम वनमुत्तमम् ।

तब अमित तेजस्वी उत्तङ्क मुनिने 'तथास्तु' कहकर राजाको वनमें जानेकी आज्ञा दे दी। तत्पश्चात् राजर्षि बृहदश्वने महात्मा उत्तङ्कको अपना वह पुत्र सौंप दिया और धुन्धुका वध करनेकी आज्ञा दे उत्तम तपोवनकी ओर प्रस्थान किया ।। ५½ ।।

युधिष्ठिर उवाच

क एष भगवन् दैत्यो महावीर्यस्तपोधन ।। ६ ।।
कस्य पुत्रोऽथ नप्ता वा एतदिच्छामि वेदितुम् ।

युधिष्ठिरने पूछा—तपोधन! भगवन्! यह पराक्रमी दैत्य कौन था? किसका पुत्र और नाती था? मैं यह सब जानना चाहता हूँ ।। ६½ ।।

एवं महाबलो दैत्यो न श्रुतो मे तपोधन ।। ७ ।।
एतदिच्छामि भगवन् याथातथ्येन वेदितुम् ।
सर्वमेव महाप्राज्ञ विस्तरेण तपोधन ।। ८ ।।

तपस्याके धनी मुनीश्वर! ऐसा महाबली दैत्य तो मैंने कभी नहीं सुना था, अतः भगवन्! मैं इसके विषयमें यथार्थ बातें जानना चाहता हूँ। महामते! आप यह सारी कथा विस्तारपूर्वक बताइये ।। ७-८ ।।

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन्निदं सर्वं यथावृत्तं नराधिप ।
कथ्यमानं महाप्राज्ञ विस्तरेण यथातथम् ।। ९ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तुम बड़े बुद्धिमान् हो। यह सारा वृतान्त मैं यथार्थरूपसे विस्तारपूर्वक कह रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ।। ९ ।।

एकार्णवे तदा लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
प्रणष्टेषु च भूतेषु सर्वेषु भरतर्षभ ।। १० ।।

भरतश्रेष्ठ! बात उस समयकी है जब सम्पूर्ण चराचर जगत् एकार्णवके जलमें डूबकर नष्ट हो चुका था। समस्त प्राणी कालके गालमें चले गये थे ।। १० ।।

प्रभवं लोककर्तारं विष्णुं शाश्वतमव्ययम् ।
यमाहुर्मुनयः सिद्धाः सर्वलोकमहेश्वरम् ।। ११ ।।
सुष्वाप भगवान् विष्णुरप्सु योगत एव सः ।
नागस्य भोगे महति शेषस्यामिततेजसः ।। १२ ।।

उस समय वे भगवान् विष्णु एकार्णवके जलमें अमित तेजस्वी शेषनागके विशाल शरीरकी शय्यापर योगनिद्राका आश्रय लेकर शयन करते थे। उन्हीं भगवान्‌को सिद्ध, मुनिगण सबकी उत्पत्तिका कारण, लोकस्रष्टा, सर्वव्यापी, सनातन, अविनाशी तथा सर्वलोकमहेश्वर कहते हैं ।। ११-१२ ।।

लोककर्ता महाभाग भगवानच्युतो हरिः ।
नागभोगेन महता परिरभ्य महीमिमाम् ।। १३ ।।
स्वपतस्तस्य देवस्य पद्मं सूर्यसमप्रभम् ।
नाभ्यां विनिःसृतं दिव्यं तत्रोत्पन्नः पितामहः ।। १४ ।।
साक्षाल्लोकगुरुर्ब्रह्मा पद्मे सूर्यसमप्रभः ।

महाभाग! अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले लोककर्ता भगवान् श्रीहरि नागके विशाल फणके द्वारा धारण की हुई इस पृथ्वीका सहारा लेकर (शेषनागपर) सो रहे थे, उस समय उन दिव्यस्वरूप नारायणकी नाभिसे एक दिव्य कमल प्रकट हुआ, जो सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था। उसीमें सम्पूर्ण लोकोंके गुरु साक्षात् पितामह ब्रह्माजी प्रकट हुए, जो सूर्यके समान तेजस्वी थे ।। १३-१४½ ।।

चतुर्वेदश्चतुर्मूर्तिस्तथैव च चतुर्मुखः ।। १५ ।।
स्वप्रभावाद् दुराधर्षो महाबलपराक्रमः ।

वे चारों वेदोंके विद्वान् हैं। जरायुज आदि चतुर्विध जीव उन्हींके स्वरूप हैं। उनके चार मुख हैं। उनके बल और पराक्रम महान् हैं। वे अपने प्रभावसे दुर्धर्ष हैं ।। १५½ ।।

कस्यचित् त्वथ कालस्य दानवौ वीर्यवत्तमौ ।। १६ ।।
मधुश्च कैटभश्चैव दृष्टवन्तौ हरिं प्रभुम् ।

ब्रह्माजीके प्रकट होनेके कुछ काल बाद मधु और कैटभ नामक दो पराक्रमी दानवोंने सर्वसामर्थ्यवान् भगवान् श्रीहरिको देखा ।। १६½ ।।

शयानं शयने दिव्ये नागभोगे महाद्युतिम् ।। १७ ।।
बहुयोजनविस्तीर्णे बहुयोजनमायते ।
किरीटकौस्तुभधरं पीतकौशेयवाससम् ।। १८ ।।

वे शेषनागके शरीरकी दिव्य शय्यापर शयन किये हुए थे। उनका तेज महान् है। वे जिस शय्यापर शयन करते हैं, उसकी लंबाई-चौड़ाई कई योजनोंकी है। भगवान्के मस्तकपर किरीट और कण्ठमें कौस्तुभमणिकी शोभा हो रही थी। उन्होंने रेशमी पीताम्बर धारण कर रखा था ।। १७-१८ ।।

दीप्यमानं श्रिया राजंस्तेजसा वपुषा तथा ।
सहस्रसूर्यप्रतिममद्भुतोपमदर्शनम् ।। १९ ।।

राजन्! वे अपनी कान्ति और तेजसे उद्दीप्त हो रहे थे। शरीरसे वे सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशित होते थे। उनकी झाँकी अद्भुत और अनुपम थी ।। १९ ।।

विस्मयः सुमहानासीन्मधुकैटभयोस्तथा ।
दृष्ट्वा पितामहं चापि पद्मे पद्मनिभेक्षणम् ।। २० ।।
वित्रासयेतामथ तौ ब्रह्माणममितौजसम् ।
वित्रस्यमानो बहुशो ब्रह्मा ताभ्यां महायशाः ।। २१ ।।
अकम्पयत् पद्मनालं ततोऽबुध्यत केशवः ।
अथापश्यत गोविन्दो दानवौ वीर्यवत्तरौ ।। २२ ।।

भगवान्को देखकर मधु और कैटभ दोनोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। तत्पश्चात् उनकी दृष्टि कमलमें बैठे हुए कमलनयन पितामह ब्रह्माजीपर पड़ी। उन्हें देखकर वे दोनों दैत्य उन अमित तेजस्वी ब्रह्माजीको डराने लगे। उन दोनोंके द्वारा बार-बार डराये जानेपर

महायशस्वी ब्रह्माजीने उस कमलकी नालको हिलाया। इससे भगवान् गोविन्द जाग उठे। जागनेपर उन्होंने उन दोनों महापराक्रमी दानवोंको देखा ।। २०—२२ ।।

दृष्ट्वा तावब्रवीद् देवः स्वागतं वां महाबलौ ।
ददामि वां वरं श्रेष्ठं प्रीतिर्हि मम जायते ।। २३ ।।

उन महाबली दानवोंको देखकर भगवान् विष्णुने कहा—‘तुम दोनों बड़े बलवान् हो। तुम्हारा स्वागत है। मैं तुम दोनोंको उत्तम वर दे रहा हूँ; क्योंकि तुम्हें देखकर मुझे प्रसन्नता होती है’ ।। २३ ।।

तौ प्रहस्य हृषीकेशं महादर्पौ महाबलौ ।
प्रत्यब्रूतां महाराज सहितौ मधुसूदनम् ।। २४ ।।

महाराज! वे दोनों महाबली दानव बड़े अभिमानी थे। उन्होंने हँसकर इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् मधुसूदनसे एक साथ कहा— ।। २४ ।।

भगवान् विष्णुके द्वारा मधुकैटभका जाँघोंपर वध

आवां वरय देव त्वं वरदौ स्वः सुरोत्तम ।

दातारौ स्वो वरं तुभ्यं तद् ब्रवीह्यविचारयन् ।। २५ ।।

'सुरश्रेष्ठ! हम दोनों तुम्हें वर देते हैं। देव! तुम्हीं हमलोगोंसे वर माँगो। हम दोनों तुम्हें तुम्हारी इच्छाके अनुसार वर देंगे। तुम बिना सोचे-विचारे जो चाहो, माँग लो' ।। २५ ।।

श्रीभगवानुवाच

प्रतिगृह्णे वरं वीरावीप्सितश्च वरो मम ।
युवां हि वीर्यसम्पन्नौ न वामस्ति समः पुमान् ।। २६ ।।

श्रीभगवान् बोले—वीरो! मैं तुमसे अवश्य वर लूँगा। मुझे तुमसे वर प्राप्त करना अभीष्ट है; क्योंकि तुम दोनों बड़े पराक्रमी हो। तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई पुरुष नहीं है ।। २६ ।।

वध्यत्वमुपगच्छेतां मम सत्यपराक्रमौ ।
एतदिच्छाम्यहं कामं प्राप्तुं लोकहिताय वै ।। २७ ।।

सत्यपराक्रमी वीरो! तुम दोनों मेरे हाथसे मारे जाओ। मैं सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये तुमसे यही मनोरथ प्राप्त करना चाहता हूँ ।। २७ ।।

मधुकैटभावूचतुः

अनृतं नोक्तपूर्वं नौ स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।
सत्ये धर्मे च निरतौ विद्धयावां पुरुषोत्तम ।। २८ ।।

मधु और कैटभने कहा—पुरुषोत्तम! हमलोगोंने पहले कभी स्वच्छन्द (मर्यादारहित) बर्तावमें भी झूठ नहीं कहा है, फिर और समयमें तो हम झूठ बोल ही कैसे सकते हैं? आप हम दोनोंको सत्य और धर्ममें अनुरक्त मानिये ।। २८ ।।

बले रूपे च शौर्ये च न शमे च समोऽस्ति नौ ।
धर्मे तपसि दाने च शीलसत्त्वदमेषु च ।। २९ ।।

बल, रूप, शौर्य और मनोनिग्रहमें हमारी समता करनेवाला कोई नहीं है। धर्म, तपस्या, दान, शील, सत्त्व तथा इन्द्रियसंयममें भी हमारी कहीं तुलना नहीं है ।। २९ ।।

उपप्लवो महानस्मानुपावर्तत केशव ।
उक्तं प्रतिकुरुष्व त्वं कालो हि दुरतिक्रमः ।। ३० ।।

किंतु केशव! हमलोगोंपर यह महान् संकट आ पहुँचा है। अब आप भी अपनी कही हुई बात पूर्ण कीजिये। कालका उल्लंघन करना बहुत ही कठिन है ।।

आवामिच्छावहे देव कृतमेकं त्वया विभो ।
अनावृतेऽस्मिन्नाकाशे वधं सुरवरोत्तम ।। ३१ ।।

देव! सुरश्रेष्ठ! विभो! हम दोनों आपके द्वारा एक ही सुविधा चाहते हैं। वह यह है कि आप इस खुले आकाशमें ही हमारा वध कीजिये ।। ३१ ।।

पुत्रत्वमधिगच्छाव तव चापि सुलोचन ।

वर एष वृतो देव तद् विद्धि सुरसत्तम ।। ३२ ।।

अनृतं मा भवेद् देव यद्धि नौ संश्रुतं तदा ।

सुन्दर नेत्रोंवाले देवेश्वर! हम दोनों आपके पुत्र हों। हमने आपसे यही वर माँगा है। आप इसे अच्छी तरह समझ लें। सुरश्रेष्ठ देव! हमने जो प्रतिज्ञा की है, वह असत्य नहीं होनी चाहिये ।। ३२½ ।।

श्रीभगवानुवाच

बाढमेवं करिष्यामि सर्वमेतद् भविष्यति ।। ३३ ।।

श्रीभगवान् बोले—बहुत अच्छा, मैं ऐसा ही करूँगा। यह सब कुछ (तुम्हारी इच्छाके अनुसार) होगा ।। ३३ ।।

स विचिन्त्याथ गोविन्दो नापश्यद् यदनावृतम् ।

अवकाशं पृथिव्यां वा दिवि वा मधुसूदनः ।। ३४ ।।

स्वकावनावृतावूरू दृष्ट्वा देववरस्तदा ।

मधुकैटभयो राजन् शिरसी मधुसूदनः ।

चक्रेण शितधारेण न्यकृन्तत महायशाः ।। ३५ ।।

भगवान् विष्णुने बहुत सोचनेपर जब कहीं खुला आकाश न देखा और स्वर्ग अथवा पृथ्वीपर भी जब उन्हें कोई खुली जगह न दिखायी दी, तब महायशस्वी देवेश्वर मधुसूदनने अपनी दोनों जाँघोंको अनावृत (वस्त्ररहित) देखकर मधु और कैटभके मस्तकोंको उन्हींपर रखकर तीखी धारवाले चक्रसे काट डाला ।। ३४-३५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें धुन्धुमारोपाख्यानविषयक दो सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०३ ।।

चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः

धुन्धुकी तपस्या और वरप्राप्ति, कुवलाश्वद्वारा धुन्धुका वध और देवताओंका कुवलाश्वको वर देना

मार्कण्डेय उवाच

धुन्धुर्नाम महाराज तयोः पुत्रो महाद्युतिः ।
स तपोऽतप्यत महन्महावीर्यपराक्रमः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—महाराज! उन्हीं दोनों मधु और कैटभका पुत्र धुन्धु है जो बड़ा तेजस्वी और महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न है। उसने बड़ी भारी तपस्या की ।। १ ।।

अतिष्ठदेकपादेन कृशो धमनिसंततः ।
तस्मै ब्रह्मा ददौ प्रीतो वरं वव्रे स च प्रभुम् ।। २ ।।

वह दीर्घकालतक एक पैरसे खड़ा रहा। उसका शरीर इतना दुर्बल हो गया कि नस-नाड़ियोंका जाल दिखायी देने लगा। ब्रह्माजीने उसकी तपस्यासे संतुष्ट होकर उसे वर दिया। धुन्धुने भगवान् ब्रह्मासे इस प्रकार वर माँगा— ।। २ ।।

देवदानवयक्षाणां सर्पगन्धर्वरक्षसाम् ।
अवध्योऽहं भवेयं वै वर एष वृतो मया ।। ३ ।।

'भगवन्! मैं देवता, दानव, यक्ष, सर्प, गन्धर्व और राक्षस किसीके हाथसे न मारा जाऊँ। मैंने आपसे यही वर माँगा है' ।। ३ ।।

एवं भवतु गच्छेति तमुवाच पितामहः ।
स एवमुक्तस्तत्पादौ मूर्ध्ना स्पृश्य जगाम ह ।। ४ ।।

तब ब्रह्माजीने उससे कहा—'ऐसा ही होगा। जाओ।' उनके ऐसा कहनेपर धुन्धुने मस्तक झुकाकर उनके चरणोंका स्पर्श किया और वहाँसे चला गया ।। ४ ।।

स तु धुन्धुर्वरं लब्ध्वा महावीर्यपराक्रमः ।
अनुस्मरन् पितृवधं द्रुतं विष्णुमुपागमत् ।। ५ ।।

जब धुन्धु वर पाकर महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न हो गया, तब उसे अपने पिता मधु और कैटभके वधका स्मरण हो आया और वह शीघ्रतापूर्वक भगवान् विष्णुके पास गया ।। ५ ।।

स तु देवान् सगन्धर्वान् जित्वा धुन्धुरमर्षणः ।
बबाध सर्वानसकृद् विष्णुं देवांश्च वै भृशम् ।। ६ ।।

धुन्धु अमर्षमें भरा हुआ था। उसने गन्धर्व-सहित सम्पूर्ण देवताओंको जीतकर भगवान् विष्णु तथा अन्य देवताओंको बार-बार महान् कष्ट देना प्रारम्भ किया ।। ६ ।।

समुद्रे बालुकापूर्णे उज्जालक इति स्मृते ।
आगम्य च स दुष्टात्मा तं देशं भरतर्षभ ।। ७ ।।
बाधते स्म परं शक्त्या तमुत्तङ्काश्रमं विभो ।
अन्तर्भूमिगतस्तत्र बालुकान्तर्हितस्तथा ।। ८ ।।

भरतश्रेष्ठ! वह दुष्टात्मा बालुकामय प्रसिद्ध उच्चालक समुद्रमें आकर रहने और उस देशके निवासियोंको सताने लगा। राजन्! वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर धरतीके भीतर बालूमें छिपकर वहाँ उत्तंकके आश्रममें भी उपद्रव करने लगा ।। ७-८ ।।

मधुकैटभयोः पुत्रो धुन्धुर्भीमपराक्रमः ।
शेते लोकविनाशाय तपोबलमुपाश्रितः ।। ९ ।।
उत्तङ्कस्याश्रमाभ्याशे निःश्वसन् पावकार्चिषः ।

मधु और कैटभका वह भयंकर पराक्रमी पुत्र धुन्धु तपोबलका आश्रय ले सम्पूर्ण लोकोंका विनाश करनेके लिये वहाँ मरुप्रदेशमें शयन करता था। उत्तङ्कके आश्रमके पास साँस ले-लेकर वह आगकी चिनगारियाँ फैलाता था ।। ९½ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु राजा सबलवाहनः ।। १० ।।
उत्तङ्कविप्रसहितः कुवलाश्वो महीपतिः ।
पुत्रैः सह महीपालः प्रययौ भरतर्षभ ।। ११ ।।

भरतश्रेष्ठ! इसी समय राजा कुवलाश्वने अपनी सेना, सवारी तथा पुत्रोंके साथ प्रस्थान किया। उनके साथ विप्रवर उत्तंक भी थे ।। १०-११ ।।

सहस्रैरेकविंशत्या पुत्राणामरिमर्दनः ।
कुवलाश्वो नरपतिरन्वितो बलशालिनाम् ।। १२ ।।

शत्रुमर्दन महाराज कुवलाश्व अपने इक्कीस हजार बलवान् पुत्रोंको साथ लेकर (सेनासहित) चले थे ।। १२ ।।

तमाविशत् ततो विष्णुर्भगवांस्तेजसा प्रभुः ।
उत्तङ्कस्य नियोगेन लोकानां हितकाम्यया ।। १३ ।।

तदनन्तर उत्तंकके अनुरोधसे सम्पूर्ण जगत्का हित करनेके लिये सर्वसमर्थ भगवान् विष्णुने अपने तेजोमय स्वरूपसे कुवलाश्वमें प्रवेश किया ।। १३ ।।

तस्मिन् प्रयाते दुर्धर्षे दिवि शब्दो महानभूत् ।
एष श्रीमानवध्योऽद्य धुन्धुमारो भविष्यति ।। १४ ।।

उन दुर्धर्षवीर कुवलाश्वके यात्रा करनेपर देवलोकमें अत्यन्त हर्षपूर्ण कोलाहल होने लगा। देवता कहने लगे—'ये श्रीमान् नरेश अवध्य हैं, आज धुन्धुको मारकर ये' 'धुन्धुमार' नाम धारण करेंगे ।। १४ ।।

दिव्यैश्च पुष्पैस्तं देवाः समन्तात् पर्यवारयन् ।
देवदुन्दुभयश्चापि नेदुः स्वयमनीरिताः ।। १५ ।।

देवतालोग चारों ओरसे उनपर दिव्य फूलोंकी वर्षा करने लगे। देवताओंकी दुन्दुभियाँ स्वयं बिना किसी प्रेरणाके बज उठीं ।। १५ ।।

शीतश्च वायुः प्रववौ प्रयाणे तस्य धीमतः ।
विपांसुलां महीं कुर्वन् ववर्ष च सुरेश्वरः ।। १६ ।।

उन बुद्धिमान् राजा कुवलाश्वके यात्राकालमें शीतल वायु चलने लगी। देवराज इन्द्र धरतीकी धूल शान्त करनेके लिये वर्षा करने लगे ।। १६ ।।

अन्तरिक्षे विमानादि देवतानां युधिष्ठिर ।
तत्रैव समदृश्यन्त धुन्धुर्यत्र महासुरः ।। १७ ।।

युधिष्ठिर! जहाँ महान् असुर 'धुन्धु' रहता था, वहीं आकाशमें देवताओंके विमान आदि दिखायी देने लगे ।।

कुवलाश्वस्य धुन्धोश्च युद्धकौतूहलान्विताः ।
देवगन्धर्वसहिताः समवैक्षन् महर्षयः ।। १८ ।।

कुवलाश्व और धुन्धुका युद्ध देखनेके लिये उत्सुक हो देवताओं और गन्धर्वोंके साथ महर्षि भी आकर डट गये और वहाँकी सारी बातोंपर दृष्टिपात करने लगे ।। १८ ।।

नारायणेन कौरव्य तेजसाऽऽप्यायितस्तदा ।

स गतो नृपतिः क्षिप्रं पुत्रैस्तैः सर्वतो दिशम् ।। १९ ।।

अर्णवं खानयामास कुवलाश्वो महीपतिः ।

कुरुनन्दन! उस समय भगवान् नारायणके तेजसे परिपुष्ट हो राजा कुवलाश्व अपने उन पुत्रोंके साथ वहाँ जा पहुँचे और शीघ्र ही चारों ओरसे उस बालुकामय समुद्रको खुदवाने लगे ।। १९½ ।।

कुवलाश्वस्य पुत्रैश्च तस्मिन् वै बालुकार्णवे ।। २० ।।

सप्तभिर्दिवसैः खात्वा दृष्टो धुन्धुर्महाबलः ।

कुवलाश्वके पुत्रोंने सात दिनोंतक खुदाई करनेके बाद उस बालुकामय समुद्रमें (छिपे हुए) महाबली धुन्धुको देखा ।। २०½ ।।

आसीद् घोरं वपुस्तस्य बालुकान्तर्हितं महत् ।। २१ ।।

दीप्यमानं यथा सूर्यस्तेजसा भरतर्षभ ।

बालूके भीतर छिपा हुआ उसका शरीर विशाल एवं भयंकर था। भरतश्रेष्ठ! वह अपने तेजसे सूर्यके समान उद्दीप्त हो रहा था ।। २१½ ।।

ततो धुन्धुर्महाराज दिशमावृत्य पश्चिमाम् ।। २२ ।।

सुप्तोऽभूद् राजशार्दूल कालानलसमद्युतिः ।

महाराज! तदनन्तर धुन्धु पश्चिम दिशाको घेरकर सो गया। नृपश्रेष्ठ! उसकी कान्ति प्रलयकालीन अग्निके समान जान पड़ती थी ।। २२½ ।।

कुवलाश्वस्य पुत्रैस्तु सर्वतः परिवारितः ।। २३ ।।

अभिद्रुतः शरैस्तीक्ष्णैर्गदाभिर्मुसलैरपि ।

पट्टिशैः परिघैः प्रासैः खड्गैश्च विमलैः शितैः ।। २४ ।।

स वध्यमानः संक्रुद्धः समुत्तस्थौ महाबलः ।

क्रुद्धश्चाभक्षयत् तेषां शस्त्राणि विविधानि च ।। २५ ।।

उस समय राजा कुवलाश्वके पुत्रोंने सब ओरसे घेरकर उसपर आक्रमण किया। तीखे बाण, गदा, मुसल, पट्टिश, परिघ, प्रास और चमचमाते हुए तेज धारवाले खड्ग—इन सबके द्वारा चोट खाकर महाबली धुन्धु क्रोधित हो गया और उनके चलाये हुए नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको वह क्रोधी असुर खा गया ।। २३—२५ ।।

आस्याद् वमन् पावकं स संवर्तकसमं तदा ।

तान् सर्वान् नृपतेः पुत्रानदहत् स्वेन तेजसा ।। २६ ।।

तत्पश्चात् उसने अपने मुँहसे प्रलयकालीन अग्निके समान आगकी चिनगारियाँ उगलना आरम्भ किया और उन समस्त राजकुमारोंको अपने तेजसे जलाकर भस्म कर

दिया ।। २६ ।।

मुखजेनाग्निना क्रुद्धो लोकानुद्वर्तयन्निव ।
क्षणेन राजशार्दूल पुरेव कपिलः प्रभुः ।। २७ ।।
सगरस्यात्मजान् क्रुद्धस्तदद्भुतमिवाभवत् ।

नृपश्रेष्ठ! जैसे पूर्वकालमें भगवान् कपिलने कुपित होकर राजा सगरके सभी पुत्रोंको क्षणभरमें दग्ध कर दिया था, उसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए धुन्धुने, मानो वह सम्पूर्ण लोकोंको नष्ट कर देना चाहता हो, अपने मुखसे आग प्रकट करके कुवलाश्वके पुत्रोंको जला दिया। यह एक अद्भुत-सी घटना घटित हुई ।। २७½ ।।

तेषु क्रोधाग्निदग्धेषु तदा भरतसत्तम ।। २८ ।।
तं प्रबुद्धं महात्मानं कुम्भकर्णमिवापरम् ।
आससाद महातेजाः कुवलाश्वो महीपतिः ।। २९ ।।

भरतश्रेष्ठ! जब सभी राजकुमार धुन्धुकी क्रोधाग्निसे दग्ध हो गये, तब महातेजस्वी राजा कुवलाश्वने दूसरे कुम्भकर्णके* समान जगे हुए उस महाकाय दानवपर आक्रमण किया ।। २८-२९ ।।

तस्य वारि महाराज सुस्राव बहु देहतः ।
तदापीय ततस्तेजो राजा वारिमयं नृप ।। ३० ।।
योगी योगेन वह्निं च शमयामास वारिणा ।

महाराज! उस समय धुन्धुके शरीरसे बहुत-सा जल प्रवाहित होने लगा, किंतु राजा कुवलाश्वने योगी होनेके कारण योगबलसे उस जलमय तेजको पी लिया और जल प्रकट करके धुन्धुकी मुखाग्निको बुझा दिया ।। ३०½ ।।

ब्रह्मास्त्रेण च राजेन्द्र दैत्यं क्रूरपराक्रमम् ।। ३१ ।।
ददाह भरतश्रेष्ठ सर्वलोकभवाय वै ।
सोऽस्त्रेण दग्ध्वा राजर्षिः कुवलाश्वो महासुरम् ।। ३२ ।।
सुरशत्रुममित्रघ्नं त्रैलोक्येश इवापरः ।

राजेन्द्र! भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् सम्पूर्ण लोकोंके कल्याणके लिये राजर्षि कुवलाश्वने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करके उस क्रूर पराक्रमी दैत्य धुन्धुको दग्ध कर दिया। इस प्रकार ब्रह्मास्त्रद्वारा शत्रुनाशक, देववैरी महान् असुर धुन्धुको दग्ध करके राजा कुवलाश्व दूसरे इन्द्रकी भाँति शोभा पाने लगे ।। ३१-३२½ ।।

धुन्धोर्वधात् तदा राजा कुवलाश्वो महामनाः ।। ३३ ।।
धुन्धुमार इति ख्यातो नाम्नाप्रतिरथोऽभवत् ।

उस समय महामना राजा कुवलाश्व धुन्धुको मारनेके कारण 'धुन्धुमार' नामसे विख्यात हो गये। उनका सामना करनेवाला वीर कोई नहीं रह गया था ।। ३३½ ।।

प्रीतैश्च त्रिदशैः सर्वैर्महर्षिसहितैस्तदा ।। ३४ ।।

वरं वृणीष्वेत्युक्तः स प्राञ्जलिः प्रणतस्तदा ।

अतीव मुदितो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ।। ३५ ।।

तदनन्तर महर्षियोंसहित सम्पूर्ण देवता प्रसन्न होकर वहाँ आये और राजासे वर माँगनेका अनुरोध करने लगे। राजन्! उनकी बात सुनकर कुवलाश्व अत्यन्त प्रसन्न हुए और हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर इस प्रकार बोले— ।। ३४-३५ ।।

दद्यां वित्तं द्विजाग्र्येभ्यः शत्रूणां चापि दुर्जयः ।

सख्यं च विष्णुना मे स्याद् भूतेष्वद्रोह एव च ।। ३६ ।।

'देवताओं! मैं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धन दान करूँ, शत्रुओंके लिये दुर्जय बना रहूँ, भगवान् विष्णुके साथ सख्य भावसे मेरा प्रेम हो और किसी भी प्राणीके प्रति मेरे मनमें द्रोह न रह जाय ।। ३६ ।।

धर्मे रतिश्च सततं स्वर्गे वासस्तथाक्षयः ।

तथास्त्विति ततो देवैः प्रीतैरुक्तः स पार्थिवः ।। ३७ ।।

'धर्ममें मेरा सदा अनुराग हो और अन्तमें मेरा स्वर्गलोकमें नित्य निवास हो।' यह सुनकर देवताओंने बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा कुवलाश्वसे कहा—'महाराज! ऐसा ही होगा' ।। ३७ ।।

ऋषिभिश्च सगन्धर्वैरुत्तङ्केन च धीमता ।

सम्भाष्य चैनं विविधैराशीर्वादैस्ततो नृप ।। ३८ ।।

राजन्! तदनन्तर ऋषियों, गन्धर्वों और बुद्धिमान् महर्षि उत्तंकने भी नाना प्रकारके आशीर्वाद देते हुए राजासे वार्तालाप किया ।। ३८ ।।

देवा महर्षयश्चापि स्वानि स्थानानि भेजिरे ।

तस्य पुत्रास्त्रयः शिष्टा युधिष्ठिर तदाभवन् ।। ३९ ।।

युधिष्ठिर! इसके बाद देवता और महर्षि अपने-अपने स्थानको चले गये। उस युद्धमें राजा कुवलाश्वके तीन ही पुत्र शेष रह गये थे ।। ३९ ।।

दृढाश्वः कपिलाश्वश्च चन्द्राश्वश्चैव भारत ।

तेभ्यः परम्परा राजन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ।। ४० ।।

वंशस्य सुमहाभाग राज्ञाममिततेजसाम् ।

भारत! उनके नाम थे—दृढाश्व, कपिलाश्व और चन्द्राश्व। राजन्! महाभाग! उन्हींसे अमित तेजस्वी इक्ष्वाकुवंशी महामना नरेशोंकी वंश-परम्परा चालू हुई ।।

एवं स निहतस्तेन कुवलाश्वेन सत्तम ।। ४१ ।।

धुन्धुर्नाम महादैत्यो मधुकैटभयोः सुतः ।

कुवलाश्वश्च नृपतिर्धुन्धुमार इति स्मृतः ।। ४२ ।।

सज्जनशिरोमणे! इस प्रकार मधुकैटभ-कुमार महादैत्य धुन्धु कुवलाश्वके हाथसे मारा गया और राजा कुवलाश्वकी धुन्धुमार नामसे प्रसिद्धि हुई ।। ४१-४२ ।।

नाम्ना च गुणसंयुक्तस्तदाप्रभृति सोऽभवत् ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।। ४३ ।।
धौन्धुमारमुपाख्यानं प्रथितं यस्य कर्मणा ।

तभीसे वे नरेश अपने नामके अनुसार वीरता आदि गुणोंसे युक्त हो भूमण्डलमें विख्यात हो गये। युधिष्ठिर! तुमने मुझसे जो पूछा था, वह सारा धुन्धुमारोपाख्यान मैंने तुमसे कह सुनाया। जिनके पराक्रमसे इस उपाख्यानकी प्रसिद्धि हुई है उन नरेशका भी परिचय दे दिया ।। ४३½ ।।

इदं तु पुण्यमाख्यानं विष्णोः समनुकीर्तनम् ।। ४४ ।।
शृणुयाद् यः स धर्मात्मा पुत्रवांश्च भवेन्नरः ।
आयुष्मान् भूतिमांश्चैव श्रुत्वा भवति पर्वसु ।
न च व्याधिभयं किंचित् प्राप्नोति विगतज्वरः ।। ४५ ।।

जो मनुष्य भगवान् विष्णुके कीर्तनरूप इस पवित्र उपाख्यानको सुनता है वह धर्मात्मा और पुत्रवान् होता है। जो पर्वोंपर इस कथाको सुनता है वह दीर्घायु तथा ऐश्वर्यशाली होता है। उसे रोग आदिका कुछ भी भय नहीं होता। उसकी सारी चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें धुन्धुमारोपाख्यानविषयक दो सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०४ ।।

---

* यह मार्कण्डेयजीका युधिष्ठिरके प्रति द्वापरके समय कहा हुआ वचन है। उन्होंने त्रेतामें हुए कुम्भकर्णकी उपमा दी है।

पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः

पतिव्रता स्त्री तथा पिता-माताकी सेवाका माहात्म्य

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा मार्कण्डेयं महाद्युतिम् ।
पप्रच्छ भरतश्रेष्ठ धर्मप्रश्नं सुदुर्विदम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने महातेजस्वी मार्कण्डेय मुनिसे धर्मविषयक प्रश्न किया, जो समझनेमें अत्यन्त कठिन था ।। १ ।।

श्रोतुमिच्छामि भगवन् स्त्रीणां माहात्म्यमुत्तमम् ।
कथ्यमानं त्वया विप्र सूक्ष्मं धर्म्यं च तत्त्वतः ।। २ ।।

वे बोले—'भगवन्! मैं आपके मुखसे (पतिव्रता) स्त्रियोंके सूक्ष्म, धर्मसम्मत एवं उत्तम माहात्म्यका यथार्थ वर्णन सुनना चाहता हूँ ।। २ ।।

प्रत्यक्षमिह विप्रर्षे देवा दृश्यन्ति सत्तम ।
सूर्याचन्द्रमसौ वायुः पृथिवी वह्निरेव च ।। ३ ।।
पिता माता च भगवन् गुरुरेव च सत्तम ।
यच्चान्यद् देवविहितं तच्चापि भृगुनन्दन ।। ४ ।।

'भगवन्! श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे! इस जगत्में सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पृथिवी, अग्नि, पिता, माता और गुरु—ये प्रत्यक्ष देवता दिखायी देते हैं। भृगुनन्दन! इसके सिवा अन्य जो देवतारूपसे स्थापित देवविग्रह हैं, वे भी प्रत्यक्ष देवताओंकी ही कोटिमें हैं' ।। ३-४ ।।

मान्या हि गुरवः सर्वे एकपत्न्यस्तथा स्त्रियः ।
पतिव्रतानां शश्रूषा दुष्करा प्रतिभाति मे ।। ५ ।।

'समस्त गुरुजन और पतिव्रता नारियाँ भी समादरके योग्य हैं। पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पतिकी जैसी सेवा-शुश्रूषा करती हैं; वह दूसरे किसीके लिये मुझे अत्यन्त कठिन प्रतीत होती है ।। ५ ।।

पतिव्रतानां माहात्म्यं वक्तुमर्हसि नः प्रभो ।
निरुद्धय चेन्द्रियग्रामं मनः संरुध्य चानघ ।। ६ ।।
पतिं दैवतवच्चापि चिन्तयन्त्यः स्थिता हि याः ।
भगवन् दुष्करं त्वेतत् प्रतिभाति मम प्रभो ।। ७ ।।

'प्रभो! आप अब हमें पतिव्रता स्त्रियोंकी महिमा सुनावें। निष्पाप सहर्ष! जो अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखती हुई मनको वशमें करके अपने पतिका देवताके समान ही चिन्तन करती रहती हैं, वे नारियाँ धन्य हैं। प्रभो! भगवन्! उनका वह त्याग और सेवाभाव मुझे तो अत्यन्त कठिन जान पड़ता है ।। ६-७ ।।

मातापित्रोश्च शुश्रूषा स्त्रीणां भर्तरि च द्विज ।
स्त्रीणां धर्मात् सुघोराद्धि नान्यं पश्यामि दुष्करम् ।। ८ ।।

'ब्रह्मन्! पुत्रोंद्वारा माता-पिताकी सेवा तथा स्त्रियोंद्वारा की हुई पतिकी सेवा बहुत कठिन है। स्त्रियोंके इस कठोर धर्मसे बढ़कर और कोई दुष्कर कार्य मुझे नहीं दिखायी देता है ।। ८ ।।

साध्वाचाराः स्त्रियो ब्रह्मन् यत् कुर्वन्ति सदाऽऽदृताः ।
दुष्करं खलु कुर्वन्ति पितरं मातरं च वै ।। ९ ।।
एकपत्न्यश्च या नार्यो याश्च सत्यं वदन्त्युत ।

'ब्रह्मन्! समाजमें सदा आदर पानेवाली सदाचारिणी स्त्रियाँ जो महान् कार्य करती हैं वह अत्यन्त कठिन है। जो लोग पिता-माताकी सेवा करते हैं उनका कर्म भी बहुत कठिन है। पतिव्रता तथा सत्यवादिनी स्त्रियाँ अत्यन्त कठोर धर्मका पालन करती हैं ।। ९$\frac{१}{२}$ ।।

कुक्षिणा दश मासांश्च गर्भं संधारयन्ति याः ।। १० ।।
नार्यः कालेन सम्भूय किमद्भुततरं ततः ।

'स्त्रियाँ अपने उदरमें दस महीनेतक जो गर्भ धारण करती हैं और यथासमय उसको जन्म देती हैं, इससे अद्‌भुत कार्य और कौन होगा? ।। १०$\frac{१}{२}$ ।।

संशयं परमं प्राप्य वेदनामतुलामपि ।। ११ ।।
प्रजायते सुतान् नार्यो दुःखेन महता विभो ।
पुष्णन्ति चापि महता स्नेहेन द्विजपुङ्गव ।। १२ ।।

'भगवन्! अपनेको भारी प्राणसंकटमें डालकर और अतुल वेदनाको सहकर नारियाँ बड़े कष्टसे संतान उत्पन्न करती हैं! विप्रवर! फिर बड़े स्नेहसे उनका पालन भी करती हैं ।। ११-१२ ।।

याश्च क्रूरेषु सत्त्वेषु वर्तमाना जुगुप्सिताः ।
स्वकर्म कुर्वन्ति सदा दुष्करं तच्च मे मतम् ।। १३ ।।

'जो सती-साध्वी स्त्रियाँ क्रूर स्वभावके पतियोंकी सेवामें रहकर उनके तिरस्कारका पात्र बनकर भी सदा अपने सती-धर्मका पालन करती रहती हैं, वह तो मुझे और भी अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है ।। १३ ।।

क्षत्रधर्मसमाचारतत्त्वं व्याख्याहि मे द्विज ।
धर्मः सुदुर्लभो विप्र नृशंसेन महात्मनाम् ।। १४ ।।

'ब्रह्मन्! आप मुझे क्षत्रियोंके धर्म और आचारका तत्त्व भी विस्तारपूर्वक बताइये। विप्रवर! जो क्रूर स्वभावके मनुष्य हैं, उनके लिये महात्माओंका धर्म अत्यन्त दुर्लभ है ।। १४ ।।

एतदिच्छामि भगवन् प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
श्रोतुं भृगुकुलश्रेष्ठ शुश्रूषे तव सुव्रत ।। १५ ।।

भगवन्! भृगुकुलशिरोमणे! आप उत्तम व्रतके पालक और प्रश्नका समाधान करनेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ हैं। मैंने जो प्रश्न आपके सम्मुख उपस्थित किया है, उसीका उत्तर मैं आपसे सुनना चाहता हूँ' ।। १५ ।।

मार्कण्डेय उवाच

हन्त तेऽहं समाख्यास्ये प्रश्नमेतं सुदुर्वचम् ।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ गदतस्तन्निबोध मे ।। १६ ।।

मार्कण्डेयजी बोले—भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे इस प्रश्नका विवेचन करना यद्यपि बहुत कठिन है, तो भी मैं अब इसका यथावत् समाधान करूँगा। तुम मेरे मुखसे सुनो ।। १६ ।।

मातॄस्तु गौरवादन्ये पितॄनन्ये तु मेनिरे ।
दुष्करं कुरुते माता विवर्धयति या प्रजाः ।। १७ ।।

कुछ लोग माताओंको गौरवकी दृष्टिसे बड़ी मानते हैं। दूसरे लोग पिताको महत्त्व देते हैं। परंतु माता जो अपनी संतानोंको पाल-पोसकर बड़ा बनाती है, वह उसका कठिन कार्य है ।। १७ ।।

तपसा देवतेज्याभिवन्दनेन तितिक्षया ।
सुप्रशस्तैरुपायैश्चापीहन्ते पितरः सुतान् ।। १८ ।।

माता-पिता तपस्या, देवपूजा, वन्दना, तितिक्षा तथा अन्य श्रेष्ठ उपायोंद्वारा भी पुत्रोंको प्राप्त करना चाहते हैं ।। १८ ।।

एवं कृच्छ्रेण महता पुत्रं प्राप्य सुदुर्लभम् ।
चिन्तयन्ति सदा वीर कीदृशोऽयं भविष्यति ।। १९ ।।

वीर! इस प्रकार बड़ी कठिनाईसे परम दुर्लभ पुत्रको पाकर लोग सदा इस चिन्तामें डूबे रहते हैं कि न जाने यह किस तरहका होगा ।। १९ ।।

आशंसते हि पुत्रेषु पिता माता च भारत ।
यशः कीर्तिमथैश्वर्यं प्रजा धर्मं तथैव च ।। २० ।।

भारत! पिता और माता अपने पुत्रोंके लिये यश, कीर्ति और ऐश्वर्य, संतान तथा धर्मकी शुभकामना करते हैं ।। २० ।।

तयोराशां तु सफलां यः करोति स धर्मवित् ।
पिता माता च राजेन्द्र तुष्यतो यस्य नित्यशः ।। २१ ।।
इह प्रेत्य च तस्याथ कीर्तिर्धर्मश्च शाश्वतः ।

राजेन्द्र! जो उन दोनोंकी आशाको सफल करता है, वही पुत्र धर्मज्ञ है। जिसके माता-पिता उससे सदा संतुष्ट रहते हैं, उसे इहलोक और परलोकमें भी अक्षय कीर्ति और शाश्वत धर्मकी प्राप्ति होती है ।। २१½ ।।

नैव यज्ञक्रियाः काश्चिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ।। २२ ।।

या तु भर्तरि शुश्रूषा तया स्वर्गं जयत्युत ।

नारीके लिये किसी यज्ञकर्म, श्राद्ध और उपवासकी आवश्यकता नहीं है। वह जो पतिकी सेवा करती है, उसीके द्वारा स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त कर लेती है ।।

एतत् प्रकरणं राजन्नधिकृत्य युधिष्ठिर ।। २३ ।।

पतिव्रतानां नियतं धर्मं चावहितः शृणु ।। २४ ।।

राजा युधिष्ठिर! इसी प्रकरणमें पतिव्रताओंके नियत धर्मका वर्णन किया जायगा। तुम सावधान होकर सुनो ।। २३-२४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें पतिव्रतोपाख्यानविषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०५ ।।

षडधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौशिक ब्राह्मण और पतिव्रताके उपाख्यानके अन्तर्गत ब्राह्मणोंके धर्मका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

कश्चिद् द्विजातिप्रवरो वेदाध्यायी तपोधनः ।
तपस्वी धर्मशीलश्च कौशिको नाम भारत ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतनन्दन! कौशिक नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण था, जो वेदका अध्ययन करनेवाला, तपस्याका धनी और धर्मात्मा था। वह तपस्वी ब्राह्मण सम्पूर्ण द्विजातियोंमें श्रेष्ठ समझा जाता था ।। १ ।।

साङ्गोपनिषदो वेदानधीते द्विजसत्तमः ।
स वृक्षमूले कस्मिंश्चिद् वेदानुच्चारयन् स्थितः ।। २ ।।

द्विजश्रेष्ठ कौशिकने सम्पूर्ण अंगोंसहित वेदों और उपनिषदोंका अध्ययन किया था। एक दिनकी बात है, वह किसी वृक्षके नीचे बैठकर वेदपाठ कर रहा था ।। २ ।।

उपरिष्टाच्च वृक्षस्य बलाका संन्यलीयत ।
तया पुरीषमुत्सृष्टं ब्राह्मणस्य तदोपरि ।। ३ ।।

उस समय उस वृक्षके ऊपर एक बगुली छिपी बैठी थी। उसने ब्राह्मण देवताके ऊपर बीट कर दी ।। ३ ।।

तामवेक्ष्य ततः क्रुद्धः समपध्यायत द्विजः ।
भृशं क्रोधाभिभूतेन बलाका सा निरीक्षिता ।। ४ ।।
अपध्याता च विप्रेण न्यपतद् धरणीतले ।

यह देख ब्राह्मण क्रोधित हो गया और उस पक्षीकी ओर दृष्टि डालकर उसका अनिष्टचिन्तन करने लगा। उसने अत्यन्त कुपित होकर उस बगुलीको देखा और उसका अनिष्टचिन्तन किया था, अतः वह पृथ्वीपर गिर पड़ी ।। ४½ ।।

बलाकां पतितां दृष्ट्वा गतसत्त्वामचेतनाम् ।। ५ ।।
कारुण्यादभिसंतप्तः पर्यशोचत तां द्विजः ।
अकार्यं कृतवानस्मि रोषरागबलात्कृतः ।। ६ ।।

उस बगुलीको अचेत एवं निष्प्राण होकर पड़ी देख ब्राह्मणका हृदय दयासे द्रवित हो उठा। उसे अपने इस कुकृत्यपर पश्चात्ताप हुआ। वह इस प्रकार शोक प्रकट करता हुआ बोला—‘ओह! आज क्रोध और आसक्तिके वशीभूत होकर मैंने यह अनुचित कार्य कर डाला’ ।। ५-६ ।।

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वा बहुशो विद्वान् ग्रामं भैक्ष्याय संश्रितः ।
ग्रामे शुचीनि प्रचरन् कुलानि भरतर्षभ ।। ७ ।।
प्रविष्टस्तत् कुलं यत्र पूर्वं चरितवांस्तु सः ।
देहीति याचमानोऽसौ तिष्ठेत्युक्तः स्त्रिया ततः ।। ८ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार बार-बार पछताकर वह विद्वान् ब्राह्मण गाँवमें भिक्षाके लिये गया। उस गाँवमें जो लोग शुद्ध और पवित्र आचरणवाले थे, उन्हींके घरोंपर भिक्षा माँगता हुआ वह एक ऐसे घरपर जा पहुँचा, जहाँ पहले भी कभी भिक्षा प्राप्त कर चुका था। दरवाजेपर पहुँचकर ब्राह्मण बोला—'भिक्षा दें!' भीतरसे किसी स्त्रीने उत्तर दिया—'ठहरो! (अभी लाती हूँ)' ।। ७-८ ।।

शौचं तु यावत् कुरुते भाजनस्य कुटुम्बिनी ।
एतस्मिन्नन्तरे राजन् क्षुधासम्पीडितो भृशम् ।। ९ ।।
भर्ता प्रविष्टः सहसा तस्या भरतसत्तम ।

राजन्! वह घरकी मालकिन थी, जो जूँठे बर्तन माँज रही थी। ज्यों ही वह बर्तन साफ करके उधरसे निवृत्त हुई, त्यों ही उसके पतिदेव सहसा घरपर आ गये। भरतश्रेष्ठ! वे भूखसे अत्यन्त पीड़ित थे ।। ९½ ।।

सा तु दृष्ट्वा पतिं साध्वी ब्राह्मणं व्यवहाय तम् ।। १० ।।
पाद्यमाचमनीयं वै ददौ भर्तुस्तथाऽऽसनम् ।
प्रह्वा पर्यचरच्चापि भर्तारमसितेक्षणा ।। ११ ।।

पतिको आया देख उस श्याम नेत्रोंवाली पतिव्रताने ब्राह्मणको तो उसी दशामें छोड़ दिया और अत्यन्त विनीतभावसे वह पतिकी सेवामें लग गयी। पानी लाकर उसने पतिके पैर धोये, हाथ-मुँह धुलाये और बैठनेको आसन दिया ।। १०-११ ।।

आहारेणाथ भक्ष्यैश्च भोज्यैः सुमधुरैस्तथा ।
उच्छिष्टं भाविता भर्तुर्भुङ्क्ते नित्यं युधिष्ठिर ।। १२ ।।

फिर सुन्दर स्वादिष्ट भक्ष्य-भोज्य पदार्थ परोसकर वह पतिको भोजन कराने लगी। युधिष्ठिर! वह सती स्त्री प्रतिदिन पतिको भोजन कराकर उनके उच्छिष्टको प्रसाद मानकर बड़े आदर और प्रेमसे भोजन करती थी ।।

दैवतं च पतिं मेने भर्तुश्चित्तानुसारिणी ।
कर्मणा मनसा वाचा नान्यचित्ताभ्यगात् पतिम् ।। १३ ।।

वह पतिको देवता मानती और उनके विचारके अनुकूल ही चलती थी। उसका मन कभी पर पुरुषकी ओर नहीं जाता था। वह मन, वाणी और क्रियासे पतिपरायणा थी ।। १३ ।।

तं सर्वभावोपगता पतिशुश्रूषणे रता ।
साध्वाचारा शचिर्दक्षा कुटुम्बस्य हितैषिणी ।। १४ ।।

अपने हृदयकी समस्त भावनाएँ, सम्पूर्ण प्रेम पतिके चरणोंमें चढ़ाकर वह अनन्यभावसे उन्हींकी सेवामें लगी रहती थी। सदाचारका पालन करती, बाहर-भीतरसे शुद्ध—पवित्र रहती, घरके काम-काजको कुशलतापूर्वक करती और कुटुम्बके सभी लोगोंका हित चाहती थी ।।

भर्तुश्चापि हितं यत् तत् सततं सानुवर्तते ।
देवतातिथिभृत्यानां श्वश्रूश्वशुरयोस्तथा ।। १५ ।।
शुश्रूषणपरा नित्यं सततं संयतेन्द्रिया ।

पतिके लिये जो हितकर कार्य जान पड़ता उसमें भी वह सदा संलग्न रहती थी। देवताओंकी पूजा, अतिथियोंके सत्कार, भृत्योंके भरण-पोषण और सास-ससुरकी सेवामें भी वह सर्वदा तत्पर रहती थी। अपने मन और इन्द्रियोंपर वह निरन्तर पूर्ण संयम रखती थी ।।

सा ब्राह्मणं तदा दृष्ट्वा संस्थितं भैक्ष्यकाङ्क्षिणम् ।
कुर्वती पतिशुश्रूषां सस्माराथ शुभेक्षणा ।। १६ ।।

पतिकी सेवा करते-करते उस मंगलमयी दृष्टिवाली देवीको भिक्षाके लिये खड़े हुए ब्राह्मणकी याद आयी ।।

व्रीडिता साभवत् साध्वी तदा भरतसत्तम ।
भिक्षामादाय विप्राय निर्जगाम यशस्विनी ।। १७ ।।

भरतवंशविभूषण! अपनी भूलके कारण वह यशस्विनी साध्वी स्त्री बहुत लज्जित हुई और ब्राह्मणके लिये भिक्षा लेकर घरसे बाहर निकली ।। १७ ।।

ब्राह्मण उवाच

किमिदं भवति त्वं मां तिष्ठेत्युक्त्वा वराङ्गने ।
उपरोधं कृतवती न विसर्जितवत्यसि ।। १८ ।।

उसे देखकर ब्राह्मणने कहा—सुन्दरी! तुम्हारा यह कैसा बर्ताव है? देख! तुम्हें इतना विलम्ब करना था तो 'ठहरो' कहकर मुझे रोक क्यों लिया? मुझे जाने क्यों नहीं दिया? ।। १८ ।।

मार्कण्डेय उवाच

ब्राह्मणं क्रोधसंतप्तं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
दृष्ट्वा साध्वी मनुष्येन्द्र सान्त्वपूर्वं वचोऽब्रवीत् ।। १९ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मण क्रोधसे संतप्त हो अपने तेजसे जलता-सा प्रतीत होता था। उसे देखकर उस पतिव्रता देवीने बड़ी शान्तिसे उत्तर दिया ।।

स्त्र्युवाच

क्षन्तुमर्हसि मे विद्वन् भर्ता मे दैवतं महत् ।
स चापि क्षुधितः श्रान्तः प्राप्तः शुश्रूषितो मया ।। २० ।।

स्त्री बोली—विद्वत्! क्षमा करें। मेरे लिये सबसे बड़े देवता पति हैं। वे भूखे और थके हुए घरपर आये थे। (उन्हें छोड़कर कैसे आती?) उन्हींकी सेवामें लग गयी ।।

ब्राह्मण उवाच

ब्राह्मणा न गरीयांसो गरीयांस्ते पतिः कृतः ।
गृहस्थधर्मे वर्तन्ती ब्राह्मणानवमन्यसे ।। २१ ।।

तब ब्राह्मण बोला—क्या ब्राह्मण बड़े नहीं हैं; तुमने पतिको ही सबसे बड़ा बना दिया? गृहस्थधर्ममें रहकर भी तुम ब्राह्मणोंका अपमान करती हो? ।। २१ ।।

इन्द्रोऽप्येषां प्रणमते किं पुनर्मानवो भुवि ।
अवलिप्ते न जानीषे वृद्धानां न श्रुतं त्वया ।। २२ ।।
ब्राह्मणा ह्यग्निसदृशा दहेयुः पृथिवीमपि ।

अरी! (स्वर्गलोकके स्वामी) इन्द्र भी इन ब्राह्मणोंके आगे सिर झुकाते हैं, फिर भूतलके मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? धमंडमें भरी हुई स्त्री! क्या तुम ब्राह्मणोंका प्रभाव नहीं जानती? कभी बड़े-बूढ़ोंके मुखसे भी नहीं सुना? अरी! ब्राह्मण अग्निके समान तेजस्वी होते हैं। वे चाहें तो इस पृथ्वीको भी जलाकर भस्म कर सकते हैं ।। २२½ ।।

स्त्र्युवाच

नाहं बलाका विप्रर्षे त्यज क्रोधं तपोधन ।। २३ ।।
अनया क्रुद्धया दृष्ट्या क्रुद्धः किं मां करिष्यसि ।
नावजानाम्यहं विप्रान् देवैस्तुल्यान् मनस्विनः ।। २४ ।।

स्त्री बोली—तपोधन! क्रोध न करो। ब्रह्मर्षे! मैं बगुली नहीं हूँ जो तुम्हारी इस क्रोधभरी दृष्टिसे जल जाऊँगी। तुम इस तरह कुपित होकर मेरा क्या करोगे? मैं ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करती। मनस्वी ब्राह्मण तो देवताके समान होते हैं ।। २३-२४ ।।

अपराधमिमं विप्र क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ ।
जानामि तेजो विप्राणां महाभाग्यं च धीमताम् ।। २५ ।।

निष्पाप ब्राह्मण! तुम मेरे इस अपराधको क्षमा करो। मैं बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके तेज और महत्त्वको जानती हूँ ।।

अपेयः सागरः क्रोधात् कृतो हि लवणोदकः ।
तथैव दीप्ततपसां मुनीनां भावितात्मनाम् ।। २६ ।।
येषां क्रोधाग्निरद्यापि दण्डके नोपशाम्यति ।

ब्राह्मणोंके ही क्रोधका फल है कि समुद्रका पानी खारा एवं पीनेके अयोग्य बना दिया गया। इसी प्रकार जिनकी तपस्या बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और जिनका अन्तःकरण परम पवित्र हो चुका था ऐसे मुनियोंने भी जो क्रोधकी आग प्रज्वलित की थी, वह आज भी दण्डकारण्यमें बुझ नहीं पा रही है ।। २६½ ।।

ब्राह्मणानां परिभवाद् वातापिः सुदुरात्मवान् ।। २७ ।।
अगस्त्यमृषिमासाद्य जीर्णः क्रूरो महासुरः ।

ब्राह्मणोंका तिरस्कार करनेसे ही क्रूर स्वभाववाला महान् असुर अत्यन्त दुरात्मा वातापि अगस्त्य मुनिके पेटमें जाकर पच गया ।। २७½ ।।

बहुप्रभावाः श्रूयन्ते ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।। २८ ।।
क्रोधः सुविपुलो ब्रह्मन् प्रसादश्च महात्मनाम् ।
अस्मिंस्त्वतिक्रमे ब्रह्मन् क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ ।। २९ ।।

ब्रह्मन्! महात्मा ब्राह्मणोंके प्रभावको बतानेवाले बहुत-से चरित्र सुने जाते हैं। उन महात्माओंका क्रोध और कृपा दोनों ही महान् होते हैं। निष्पाप ब्रह्मन्! मेरेद्वारा जो तुम्हारा अपराध बन गया है, उसे क्षमा करो ।। २८-२९ ।।

पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज ।
दैवतेष्वपि सर्वेषु भर्ता मे दैवतं परम् ।। ३० ।।

विप्रवर! मुझे तो पतिकी सेवासे जो धर्म प्राप्त होता है, वही अधिक पसंद है। सम्पूर्ण देवताओंमें भी पति ही मेरे सबसे बड़े देवता हैं ।। ३० ।।

अविशेषेण तस्याहं कुर्यां धर्मं द्विजोत्तम ।
शुश्रूषायाः फलं पश्य पत्युर्ब्राह्मण यादृशम् ।। ३१ ।।

द्विजश्रेष्ठ! मैं साधारणरूपसे ही पतिसेवारूप धर्मका पालन करती हूँ। ब्राह्मणदेवता! इस पतिसेवाका जैसा फल है, उसे प्रत्यक्ष देख लो ।। ३१ ।।

बलाका हि त्वया दग्धा रोषात् तद् विदितं मया ।
क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम ।। ३२ ।।

तुमने क्रोध करके जो एक बगुलीको जला दिया था वह बात मुझे मालूम हो गयी। द्विजश्रेष्ठ! मनुष्योंका एक बहुत बड़ा शत्रु है, वह उनके शरीरमें ही रहता है। उसका नाम है ‘क्रोध’ ।। ३२ ।।

यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।
यो वदेदिह सत्यानि गुरुं संतोषयेत च ।। ३३ ।।
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जो क्रोध और मोहको त्याग देता है, उसीको देवतागण ब्राह्मण मानते हैं। जो यहाँ सत्य बोले, गुरुको संतुष्ट रखे, किसीके द्वारा मार खाकर भी बदलेमें उसे न मारे, उसको देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ।। ३३½ ।।

जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ।। ३४ ।।
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जो जितेन्द्रिय, धर्मपरायण, स्वाध्यायतत्पर और पवित्र है तथा काम और क्रोध जिसके वशमें है, उसे देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ।। ३४½ ।।

यस्य चात्मसमो लोको धर्मज्ञस्य मनस्विनः ।। ३५ ।।
सर्वधर्मेषु च रतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जिस धर्मज्ञ एवं मनस्वी पुरुषका सम्पूर्ण जगत्‌के प्रति आत्मभाव है तथा सभी धर्मोंपर जिसका समान अनुराग है, उसे देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ।। ३५½ ।।

योऽध्यापयेदधीयीत यजेद् वा याजयीत वा ।। ३६ ।।
दद्याद् वापि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जो पढ़े और पढ़ाये, यज्ञ करे और कराये तथा यथाशक्ति दान दे, उसे देवतालोग ब्राह्मण कहते हैं ।।

ब्रह्मचारी वदान्यो योऽधीयीत द्विजपुङ्गवः ।। ३७ ।।
स्वाध्यायवानमत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।

जो द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मचर्यका पालन करे, उदार बने, वेदोंका अध्ययन करे और सतत सावधान रहकर स्वाध्यायमें ही लगा रहे, उसे देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं ।। ३७½ ।।

यद् ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां परिकीर्तयेत् ।। ३८ ।।
सत्यं तथा व्याहरतां नानृते रमते मनः ।

ब्राह्मणके लिये जो हितकर कर्म हो, उसीका उनके सामने वर्णन करना चाहिये। सत्य बोलनेवाले लोगोंका मन कभी असत्यमें नहीं लगता ।। ३८½ ।।

धर्मं तु ब्राह्मणस्याहुः स्वाध्यायं दममार्जवम् ।। ३९ ।।
इन्द्रियाणां निग्रहं च शाश्वतं द्विजसत्तम ।

द्विजश्रेष्ठ! स्वाध्याय, मनोनिग्रह, सरलता और इन्द्रियनिग्रह—ये ब्राह्मणके लिये सनातनधर्म कहे गये हैं ।। ३९½ ।।

सत्यार्जवे धर्ममाहुः परं धर्मविदो जनाः ।। ४० ।।
दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ।
श्रुतिप्रमाणो धर्मः स्यादिति वृद्धानुशासनम् ।। ४१ ।।

धर्मज्ञ पुरुष सत्य और सरलताको सर्वोत्तम धर्म बताते हैं। सनातनधर्मके स्वरूपको जानना तो अत्यन्त कठिन है, परंतु वह सत्यमें प्रतिष्ठित है। जो वेदोंके द्वारा प्रमाणित हो, वही धर्म है—यह वृद्ध पुरुषोंका उपदेश है ।। ४०-४१ ।।

बहुधा दृश्यते धर्मः सूक्ष्म एव द्विजोत्तम ।
भवानपि च धर्मज्ञः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ।। ४२ ।।

द्विजश्रेष्ठ! बहुधा धर्मका स्वरूप सूक्ष्म ही देखा जाता है। तुम भी धर्मज्ञ, स्वाध्यायपरायण और पवित्र हो ।। ४२ ।।

न तु तत्त्वेन भगवन् धर्मं वेत्सीति मे मतिः ।
यदि विप्र न जानीषे धर्मं परमकं द्विज ।। ४३ ।।
धर्मव्याधं ततः पृच्छ गत्वा तु मिथिलां पुरीम् ।

भगवन्! तो भी मेरा विचार यह है कि तुम्हें धर्मका यथार्थ ज्ञान नहीं है। विप्रवर! यदि तुम परम धर्म क्या है, यह नहीं जानते तो मिथिलापुरीमें धर्मव्याधके पास जाकर पूछो ।। ४३½ ।।

मातापितृभ्यां शुश्रूषुः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।। ४४ ।।
मिथिलायां वसेद् व्याधः स ते धर्मान् प्रवक्ष्यति ।
तत्र गच्छस्व भद्रं ते यथाकामं द्विजोत्तम ।। ४५ ।।

मिथिलामें एक व्याध रहता है, जो माता-पिताका सेवक, सत्यवादी और जितेन्द्रिय है, वह तुम्हें धर्मका उपदेश करेगा। द्विजश्रेष्ठ! तुम अपनी रुचिके अनुसार वहीं जाओ, तुम्हारा मंगल हो ।। ४४-४५ ।।

अत्युक्तमपि मे सर्वं क्षन्तुमर्हस्यनिन्दित ।
स्त्रियो ह्यवध्याः सर्वेषां ये च धर्मविदो जनाः ।। ४६ ।।

अनिन्दनीय ब्राह्मण! यदि मेरे मुखसे कोई अनुचित बातें निकल गयी हों तो उन सबके लिये मुझे क्षमा करें; क्योंकि जो धर्मज्ञ पुरुष हैं, उन सबकी दृष्टिमें स्त्रियाँ अदण्डनीय हैं ।। ४६ ।।

ब्राह्मण उवाच

प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते गतः क्रोधश्च शोभने ।
उपालम्भस्त्वयात्युक्तो मम निःश्रेयसं परम् ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधयिष्यामि शोभने ।। ४७ ।।
(धन्या त्वमसि कल्याणि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम् ।)

ब्राह्मण बोला—शुभे! तुम्हारा भला हो। मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। मेरा सारा क्रोध दूर हो गया। तुमने जो उलाहना दिया है, वह अनुचित वचन नहीं, मेरे लिये परम कल्याणकारी है। शोभने! तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं जाऊँगा और अपना कार्यसाधन करूँगा। कल्याणि! तुम धन्य हो, जिसका सदाचार इतनी उच्चकोटिका है ।। ४७ ।।

मार्कण्डेय उवाच

तया विसृष्टो निर्गम्य स्वमेव भवनं ययौ ।
विनिन्दन् स स्वमात्मानं कौशिको द्विजसत्तमः ।। ४८ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस साध्वी स्त्रीसे विदा लेकर वह द्विजश्रेष्ठ कौशिक अपने आत्माकी निन्दा करता हुआ अपने घरको लौट गया ।। ४८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें पतिव्रतोपाख्यानविषयक दो सौ छठाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ४८$\frac{१}{२}$ श्लोक हैं)

सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौशिकका धर्मव्याधके पास जाना, धर्मव्याधके द्वारा पतिव्रतासे प्रेषित जान लेनेपर कौशिकको आश्चर्य होना, धर्मव्याधके द्वारा वर्णधर्मका वर्णन, जनकराज्यकी प्रशंसा और शिष्टाचारका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

चिन्तयित्वा तदाश्चर्यं स्त्रिया प्रोक्तमशेषतः ।
विनिन्दन् स स्वमात्मानमागस्कृत इवाबभौ ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस पतिव्रता देवीकी कही हुई सारी बातोंपर विचार करके कौशिक ब्राह्मणको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह अपने-आपको धिक्कारता हुआ अपराधी-सा जान पड़ने लगा ।। १ ।।

चिन्तयानः स्वधर्मस्य सूक्ष्मां गतिमथाब्रवीत् ।
श्रद्दधानेन वै भाव्यं गच्छामि मिथिलामहम् ।। २ ।।

फिर अपने धर्मकी सूक्ष्म गतिपर विचार करके वह मन-ही-मन बोला—'मुझे (उस सतीके कथनपर) श्रद्धा और विश्वास करना चाहिये; अतः मैं अवश्य मिथिला जाऊँगा ।। २ ।।

कृतात्मा धर्मवित् तस्यां व्याधो निवसते किल ।
तं गच्छाम्यहमद्यैव धर्मं प्रष्टुं तपोधनम् ।। ३ ।।

'कहते हैं, वहाँ एक पुण्यात्मा धर्मज्ञ व्याध निवास करता है। मैं उस तपोधन व्याधसे धर्मकी बात पूछनेके लिये आज ही उसके पास जाऊँगा' ।। ३ ।।

इति संचित्य मनसा श्रद्दधानः स्त्रिया वचः ।
बलाकाप्रत्ययेनासौ धर्म्यैश्च वचनैः शुभैः ।। ४ ।।
सम्प्रतस्थे स मिथिलां कौतूहलसमन्वितः ।

मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके वह कौतूहलवश मिथिलापुरीकी ओर चल दिया। पतिव्रता स्त्री बगुली पक्षीवाली घटना स्वयं जान गयी थी और उसने धर्मानुकूल शुभ वचनोंद्वारा उपदेश दिया था, इन कारणोंसे उसकी बातोंपर कौशिक ब्राह्मणकी बड़ी श्रद्धा हो गयी थी ।। ४½ ।।

अतिक्रामन्तरण्यानि ग्रामांश्च नगराणि च ।। ५ ।।
ततो जगाम मिथिलां जनकेन सुरक्षिताम् ।
धर्मसेतुसमाकीर्णां यज्ञोत्सववतीं शुभाम् ।। ६ ।।

वह अनेकानेक जंगलों, गाँवों तथा नगरोंको पार करता हुआ राजा जनकके द्वारा सुरक्षित, धर्मकी मर्यादासे व्याप्त तथा यज्ञसम्बन्धी उत्सवोंसे सुशोभित सुन्दर मिथिलापुरीमें जा पहुँचा ।। ५-६ ।।

गोपुराट्टालकवतीं हर्म्यप्राकारशोभनाम् ।
प्रविश्य नगरीं रम्यां विमानैर्बहुभिर्युताम् ।। ७ ।।
पण्यैश्च बहुभिर्युक्तां सुविभक्तमहापथाम् ।
अश्वै रथैस्तथा नागैर्योधैश्च बहुभिर्युताम् ।। ८ ।।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णां नित्योत्सवसमाकुलाम् ।
सोऽपश्यद् बहुवृत्तान्तां ब्राह्मणः समतिक्रमन् ।। ९ ।।

बहुत-से गोपुर, अट्टालिकाएँ, महल और चहारदीवारियाँ उस नगरकी शोभा बढ़ा रही थीं। वह रमणीय पुरी बहुत-से विमानोंसे युक्त थी तथा बहुत-सी दुकानें उस पुरीका सौन्दर्य बढ़ाती थीं। सुन्दर ढंगसे बनायी हुई बड़ी-बड़ी सड़कें शोभा पा रही थीं। बहुसंख्यक घोड़े, रथ, हाथी और सैनिकोंसे संयुक्त मिथिलापुरी हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरी हुई थी। वहाँ नित्य नाना प्रकारके उत्सव होते रहते थे और अनेक प्रकारकी घटनाएँ घटित होती थीं। ब्राह्मणने उस पुरीमें प्रवेश करके सब ओर घूम-घामकर उसे अच्छी तरह देखा ।।

धर्मव्याधमपृच्छच्च स चास्य कथितो द्विजैः ।
अपश्यत् तत्र गत्वा तं सूनामध्ये व्यवस्थितम् ।। १० ।।
मार्गमाहिषमांसानि विक्रीणन्तं तपस्विनम् ।
आकुलत्वाच्च क्रेतॄणामेकान्ते संस्थितो द्विजः ।। ११ ।।

वहाँ उसने लोगोंसे धर्मव्याधका पता पूछा और ब्राह्मणोंने उसे उसका स्थान बता दिया। कौशिकने वहाँ जाकर देखा कि तपस्वी धर्मव्याध कसाईखानेमें बैठकर सूअर, भैंसे आदि पशुओंका मांस बेच रहा है। वहाँ ग्राहकोंकी भीड़ लगी हुई थी, इसलिये कौशिक एकान्तमें जाकर खड़ा हो गया ।। १०-११ ।।

स तु ज्ञात्वा द्विजं प्राप्तं सहसा सम्भ्रमोत्थितः ।
आजगाम यतो विप्रः स्थित एकान्तदर्शने ।। १२ ।।

ब्राह्मणको आया हुआ जानकर व्याध सहसा शीघ्रतापूर्वक उठ खड़ा हुआ और उस स्थानपर आ गया जहाँ ब्राह्मण एकान्त स्थानमें खड़ा था ।। १२ ।।

व्याध उवाच

अभिवादये त्वां भगवन् स्वागतं ते द्विजोत्तम ।
अहं व्याधो हि भद्रं ते किं करोमि प्रशाधि माम् ।। १३ ।।

व्याध बोला—भगवन्! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। द्विजश्रेष्ठ! आपका स्वागत है। मैं ही वह व्याध हूँ (जिसकी खोजमें आपने यहाँतक आनेका कष्ट किया है)।

आपका भला हो, आज्ञा दीजिये, मैं क्या सेवा करूँ? ।। १३ ।।

एकपत्न्या यदुक्तोऽसि गच्छ त्वं मिथिलामिति ।
जानाम्येतदहं सर्वं यदर्थं त्वमिहागतः ।। १४ ।।

उस पतिव्रता देवीने जो आपसे यह कहकर भेजा है कि 'तुम मिथिलापुरीको जाओ।' वह सब मैं जानता हूँ। आप जिस उद्देश्यसे यहाँ पधारे हैं, वह भी मुझे मालूम है ।। १४ ।।

श्रुत्वा च तस्य तद् वाक्यं स विप्रो भृशविस्मितः ।
द्वितीयमिदमाश्चर्यमित्यचिन्तयत द्विजः ।। १५ ।।

व्याधकी वह बात सुनकर ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ। वह मन-ही-मन सोचने लगा—'यह दूसरा आश्चर्य दृष्टिगोचर हुआ है' ।। १५ ।।

अदेशस्थं हि ते स्थानमिति व्याधोऽब्रवीदिदम् ।
गृहं गच्छाव भगवन् यदि ते रोचतेऽनघ ।। १६ ।।

इसके बाद व्याधने कहा—'भगवन्! यह स्थान आपके ठहरनेयोग्य नहीं है। अनघ! यदि आपकी रुचि हो तो हम दोनों हमारे घरपर चलें' ।। १६ ।।

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तं विप्रो हृष्टो वचनमब्रवीत् ।
अग्रतस्तु द्विजं कृत्वा स जगाम गृहं प्रति ।। १७ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! यह सुनकर ब्राह्मणको बड़ा हर्ष हुआ। उसने व्याधसे कहा—'बहुत अच्छा, ऐसा ही करो।' तब व्याध ब्राह्मणको आगे करके घरकी ओर चला ।। १७ ।।

प्रविश्य च गृहं रम्यमासनेनाभिपूजितः ।
अर्घ्येण च स वै तेन व्याधेन द्विजसत्तमः ।। १८ ।।

व्याधका घर बहुत सुन्दर था। वहाँ पहुँचकर उस व्याधने ब्राह्मणको बैठनेके लिये आसन दिया और अर्घ्य देकर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणकी आदरसहित पूजा की ।। १८ ।।

ततः सुखोपविष्टस्तं व्याधं वचनमब्रवीत् ।
कर्मैतद् वै न सदृशं भवतः प्रतिभाति मे ।
अनुतप्ये भृशं तात तव घोरेण कर्मणा ।। १९ ।।

सुखपूर्वक बैठ जानेपर ब्राह्मणने व्याधसे कहा—'तात! यह मांस बेचनेका काम निश्चय ही तुम्हारे योग्य नहीं है। मुझे तो तुम्हारे इस घोर कर्मसे बहुत संताप हो रहा है' ।। १९ ।।

व्याध उवाच

कुलोचितमिदं कर्म पितृपैतामहं परम् ।
वर्तमानस्य मे धर्मे स्वे मन्युं मा कृथा द्विज ।। २० ।।

व्याध बोला—ब्रह्मन्! यह काम मेरे बाप-दादोंके समयसे होता चला आ रहा है। मेरे कुलके लिये जो उचित है वही धंधा मैंने भी अपनाया है। मैं अपने धर्मका ही पालन कर रहा हूँ; अतः आप मुझपर क्रोध न करें ।। २० ।।

विधात्रा विहितं पूर्वं कर्म स्वमनुपालयन् ।
प्रयत्नाच्च गुरू वृद्धौ शुश्रूषेऽहं द्विजोत्तम ।। २१ ।।

द्विजश्रेष्ठ! विधाताने इस कुलमें जन्म देकर मेरे लिये जो कार्य प्रस्तुत किया है, उसका पालन करता हुआ मैं अपने बूढ़े माता-पिताकी बड़े यत्नसे सेवा करता रहता हूँ ।। २१ ।।

सत्यं वदे नाभ्यसूये यथाशक्ति ददामि च ।
देवतातिथिभृत्यानामवशिष्टेन वर्तये ।। २२ ।।

सत्य बोलता हूँ। किसीकी निन्दा नहीं करता और अपनी शक्तिके अनुसार दान भी करता हूँ। देवताओं, अतिथियों और भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजनों तथा सेवकोंको भोजन देकर जो बचता है उसीसे शरीरका निर्वाह करता हूँ ।। २२ ।।

न कुत्सयाम्यहं किंचिन्न गर्हे बलवत्तरम् ।
कृतमन्वेति कर्तारं पुरा कर्म द्विजोत्तम ।। २३ ।।

द्विजश्रेष्ठ! किसीके दोषोंकी चर्चा नहीं करता और अपनेसे बलिष्ठ पुरुषकी निन्दा नहीं करता, क्योंकि पहलेके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम स्वयं कर्ताको ही भोगना पड़ता है ।। २३ ।।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमिह लोकस्य जीवनम् ।
दण्डनीतिस्त्रयी विद्या तेन लोको भवत्युत ।। २४ ।।

कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, दण्डनीति और त्रयीविद्या—ऋक्, यजु, सामके अनुसार यज्ञादिका अनुष्ठान करना और कराना ये लोगोंकी जीविकाके साधन हैं। इनसे ही लौकिक और पारलौकिक उन्नति सम्भव होती है ।। २४ ।।

कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये संग्रामः क्षत्रिये स्मृतः ।
ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं च ब्राह्मणे सदा ।। २५ ।।

शूद्रका कर्तव्य है सेवा-कर्म, वैश्यका कार्य है खेती और युद्ध करना क्षत्रियका कर्म माना गया है। ब्रह्मचर्य, तपस्या, मन्त्र-जप, वेदाध्ययन तथा सत्यभाषण—ये सदा ब्राह्मणके पालन करनेयोग्य धर्म हैं ।। २५ ।।

राजा प्रशास्ति धर्मेण स्वकर्मनिरताः प्रजाः ।
विकर्माणश्च ये केचित् तान् युनक्ति स्वकर्मसु ।। २६ ।।

राजा अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्ममें लगी हुई प्रजाका धर्मपूर्वक शासन करता है और जो कोई अपने कर्मोंसे गिरकर विपरीत दिशामें जा रहे हों उन्हें पुनः अपने कर्तव्यके पालनमें लगाता है ।। २६ ।।

भेतव्यं हि सदा राज्ञः प्रजानामधिपा हि ते ।
वारयन्ति विकर्मस्थं तृपा मृगमिवेषुभिः ।। २७ ।।

इसलिये राजाओंसे सदा डरते रहना चाहिये; क्योंकि वे प्रजाके स्वामी हैं। जो लोग धर्मके विपरीत कार्य करते हैं, उन्हें राजा दण्डद्वारा उसी प्रकार पापसे रोकते हैं, जैसे बाणोंद्वारा वे हिंसक पशुओंको हिंसासे रोकते हैं ।।

जनकस्येह विप्रर्षे विकर्मस्थो न विद्यते ।
स्वकर्मनिरता वर्णाश्चत्वारोऽपि द्विजोत्तम ।। २८ ।।

ब्रह्मर्षे! यह राजा जनकका नगर है, यहाँ कोई भी ऐसा नहीं है जो वर्ण-धर्मके विरुद्ध आचरण करे। द्विजश्रेष्ठ! यहाँ चारों वर्णोंके लोग अपना-अपना कर्म करते हैं ।। २८ ।।

स एष जनको राजा दुर्वृत्तमपि चेत् सुतम् ।
दण्ड्यं दण्डे निक्षिपति तथा न ग्लाति धार्मिकम् ।। २९ ।।

ये राजा जनक दुराचारीको, वह अपना पुत्र ही क्यों न हो, दण्डनीय मानकर दण्ड देते ही हैं तथा किसी भी धर्मात्माको कष्ट नहीं पहुँचने देते हैं ।। २९ ।।

सुयुक्तचारो नृपतिः सर्वं धर्मेण पश्यति ।
श्रीश्च राज्यं च दण्डश्च क्षत्रियाणां द्विजोत्तम ।। ३० ।।

विप्रवर! राजा जनकने सब ओर गुप्तचर लगा रखे हैं, अतः उनके द्वारा वे धर्मानुसार सबपर दृष्टि रखते हैं। सम्पत्तिका उपार्जन, राज्यकी रक्षा तथा अपराधियोंको दण्ड देना—ये क्षत्रियोंके कर्तव्य हैं ।। ३० ।।

राजानो हि स्वधर्मेण श्रियमिच्छन्ति भूयसीम् ।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता राजा भवत्युत ।। ३१ ।।

राजालोग अपने धर्मका पालन करते हुए ही प्रचुर सम्पत्ति पानेकी इच्छा रखते हैं और राजा सभी वर्णोंका रक्षक होता है ।। ३१ ।।

परेण हि हतान् ब्रह्मन् वराहमहिषानहम् ।
न स्वयं हन्मि विप्रर्षे विक्रीणामि सदा त्वहम् ।। ३२ ।।

ब्रह्मन्! मैं स्वयं किसी जीवकी हिंसा नहीं करता। सदा दूसरोंके मारे हुए सूअर और भैसोंका मांस बेचता हूँ ।। ३२ ।।

न भक्षयामि मांसानि ऋतुगामी तथा ह्यहम् ।
सदोपवासी च तथा नक्तभोजी सदा द्विज ।। ३३ ।।

मैं स्वयं मांस कभी नहीं खाता। ऋतुकाल प्राप्त होनेपर ही पत्नी-समागम करता हूँ। द्विजप्रवर। मैं दिनमें सदा ही उपवास और रातमें भोजन करता हूँ ।। ३३ ।।

अशीलश्चापि पुरुषो भूत्वा भवति शीलवान् ।
प्राणिहिंसारतश्चापि भवते धार्मिकः पुनः ।। ३४ ।।

शीलसे रहित पुरुष भी कभी शीलवान् हो जाता है। प्राणियोंकी हिंसामें अनुरक्त मनुष्य भी फिर धर्मात्मा हो जाता है ।। ३४ ।।

व्यभिचारान्नरेन्द्राणां धर्मः संकीर्यते महान् ।
अधर्मो वर्धते चापि संकीर्यन्ते ततः प्रजाः ।। ३५ ।।

राजाओंके व्यभिचार-दोषसे धर्म अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है और अधर्म बढ़ जाता है, इससे प्रजामें वर्णसंकरता आ जाती है ।। ३५ ।।

भेरुण्डा वामनाः कुब्जाः स्थूलशीर्षास्तथैव च ।
क्लीबाश्चान्धाश्च बधिरा जायन्तेऽत्युच्चलोचनाः ।। ३६ ।।

उस दशामें भयंकर आकृतिवाले, बौने, कुबड़े, मोटे मस्तकवाले, नपुंसक, अंधे, बहरे और अधिक ऊँचे नेत्रोंवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं ।। ३६ ।।

पार्थिवानामधर्मत्वात् प्रजानामभवः सदा ।
स एष राजा जनकः प्रजा धर्मेण पश्यति ।। ३७ ।।

राजाओंके अधर्मपरायण होनेसे प्रजाकी सदा अवनति होती है। हमारे ये राजा जनक समस्त प्रजाको धर्मपूर्ण दृष्टिसे ही देखते हैं ।। ३७ ।।

अनुगृह्णत् प्रजाः सर्वा स्वधर्मनिरताः सदा ।
(पात्येव राजा जनकः पितृवज्जनसत्तम ।)
ये चैव मां प्रशंसन्ति ये च निन्दन्ति मानवाः ।। ३८ ।।
सर्वान् सुपरिणीतेन कर्मणा तोषयाम्यहम् ।

नरश्रेष्ठ! राजा जनक सदा स्वधर्ममें तत्पर रहनेवाली सम्पूर्ण प्रजापर अनुग्रह रखते हुए उसका पिताकी भाँति सदा पालन करते हैं। जो लोग मेरी प्रशंसा करते हैं और जो निन्दा करते हैं, उन सबको अपने सद्‌व्यवहारसे संतुष्ट रखता हूँ ।। ३८ ।।

ये जीवन्ति स्वधर्मेण संयुञ्जन्ति च पार्थिवाः ।। ३९ ।।
न किंचिदुपजीवन्ति दान्ता उत्थानशीलिनः ।

जो राजा अपने धर्मका पालन करते हुए जीवन-निर्वाह करते हैं, धर्ममें ही संयुक्त रहते हैं, किसी दूसरेकी कोई वस्तु अपने उपयोगमें नहीं लाते तथा सदा अपनी इन्द्रियोंपर संयम रखते हैं, वे ही उन्नतिशील होते हैं ।। ३९½ ।।

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षा धर्मनित्यता ।। ४० ।।
यथार्हं प्रति पूजा च सर्वभूतेषु वै सदा ।
त्यागान्नान्यत्र मर्त्यानां गणास्तिष्ठन्ति पूरुषे ।। ४१ ।।

अपनी शक्तिके अनुसार सदा दूसरोंको अन्न देना, दूसरोंके अपराध तथा शीत-उष्ण आदि द्वन्दोंको सहन करना, सदा धर्ममें दृढ़तापूर्वक लगे रहना तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें सभी पूजनीय पुरुषोंका यथायोग्य पूजन करना—ये मनुष्योंके सद्‌गुण पुरुषमें स्वार्थत्यागके बिना नहीं रह पाते हैं ।। ४०-४१ ।।

मृषा वादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः ।
न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद् धर्ममुत्सृजेत् ।। ४२ ।।

झूठ बोलना छोड़ दे, बिना कहे ही दूसरोंका प्रिय करे, काम, क्रोध तथा द्वेषसे भी कभी धर्मका परित्याग न करे ।। ४२ ।।

प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत् ।
न मुह्येदर्थकृच्छ्रेषु न च धर्मं परित्यजेत् ।। ४३ ।।

प्रिय वस्तुकी प्राप्ति होनेपर हर्षसे फूल न उठे, अपने मनके विपरीत कोई बात हो जाय तो दुःख न माने—चिन्तित न हो, अर्थसंकट आ जाय तो भी मोहके वशीभूत हो घबराये नहीं और किसीभी अवस्थामें अपना धर्म न छोड़े ।। ४३ ।।

कर्म चेत्किंचिदन्यत् स्यादितरन्न तदाचरेत् ।
यत् कल्याणमभिध्यायेत् तत्रात्मानं नियोजयेत् ।। ४४ ।।

यदि भूलसे कभी कोई निन्दित कर्म बन जाय तो फिर दुबारा वैसा काम न करे। अपने मन और बुद्धिसे विचार करनेपर जो कल्याणकारी प्रतीत हो, उसी कार्यमें अपनेको लगावे ।। ४४ ।।

न पापे प्रतिपापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत् ।
आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति ।। ४५ ।।

यदि कोई अपने साथ बुरा बर्ताव करे तो स्वयं भी बदलेमें उसके साथ बुराई न करे। सबके साथ सदा सद्‌व्यवहार ही करे। जो पापी दूसरोंका अहित करना चाहता है वह स्वयं

ही नष्ट हो जाता है ।। ४५ ।।

कर्म चैतदसाधूनां वृजिनानामसाधुवत् ।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानाः शुचीनवहसन्ति ये ।। ४६ ।।
अश्रद्दधाना धर्मस्य ते नश्यन्ति न संशयः ।
महादृतिरिवाध्मातः पापो भवति नित्यदा ।। ४७ ।।

यह (दूसरोंका अहित करना) तो दुराचारीकी भाँति दुर्व्यसनोंमें आसक्त हुए पापी पुरुषोंका ही कार्य है। 'धर्म कोई चीज नहीं है' ऐसा मानकर जो शुद्ध आचार-विचारवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी हँसी उड़ाते हैं, वे धर्मपर अश्रद्धा रखनेवाले मनुष्य निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं। पापी मनुष्य लुहारकी बड़ी धौंकनीके समान सदा ऊपरसे फूले दिखायी देते हैं (परंतु वास्तवमें सारहीन होते हैं) ।। ४६-४७ ।।

(साधुः सन्नतिमानेव सर्वत्र द्विजसत्तम ।)
मूढानामवलिप्तानामसारं भावितं भवेत् ।
दर्शयत्यन्तरात्मा तं दिवा रूपमिवांशुमान् ।। ४८ ।।

द्विजश्रेष्ठ! उत्तम पुरुष सर्वत्र विनयशील ही होता है। अहंकारी मूढ़ मनुष्योंकी सोची हुई प्रत्येक बात निःसार होती है। जैसे सूर्य दिनके रूपको प्रकट कर देता है, उसी प्रकार मूर्खोंकी अन्तरात्मा ही उनके यथार्थ स्वरूपका दर्शन करा देती है ।। ४८ ।।

न लोके राजते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया ।
अपि चेह श्रिया हीनः कृतविद्यः प्रकाशते ।। ४९ ।।

मूर्ख मनुष्य केवल अपनी प्रशंसाके बलसे जगत्-में प्रतिष्ठा नहीं पाता है, विद्वान् पुरुष कान्तिहीन हो तो भी संसारमें उसकी ख्याति बढ़ जाती है ।। ४९ ।।

अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन् ।
न कश्चिद् गुणसम्पन्नः प्रकाशो भुवि दृश्यते ।। ५० ।।

किसी दूसरेकी निन्दा न करे, अपनी मान-प्रतिष्ठाकी प्रशंसा न करे, कोई भी गुणवान् पुरुष पर निन्दा और आत्मप्रशंसाका त्याग किये बिना इस भूमण्डलमें सम्मानित हुआ हो, यह नहीं देखा जाता है ।। ५० ।।

विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते ।
न तत् कुर्यां पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते ।। ५१ ।।

जो मनुष्य पापकर्म बन जानेपर सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करता है, वह उस पापसे छूट जाता है तथा 'फिर कभी ऐसा कर्म नहीं करूँगा' ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेनेपर वह भविष्यमें होनेवाले दूसरे पापसे भी बच जाता है ।। ५१ ।।

कर्मणा येन तेनेह पापाद् द्विजवरोत्तम ।
एवं श्रुतिरियं ब्रह्मन् धर्मेषु प्रतिदृश्यते ।। ५२ ।।

विप्रवर! शास्त्रविहित (जप, तप, यज्ञ, दान आदि) किसी भी कर्मका निष्कामभावसे आचरण करनेपर पापसे छुटकारा मिल सकता है। ब्रह्मन्! धर्मके विषयमें ऐसी श्रुति देखी जाती है ।। ५२ ।।

पापान्यबुद्ध्वेह पुरा कृतानि
प्राग् धर्मशीलोऽपि विहन्ति पश्चात् ।
धर्मो राजन् नुदते पूरुषाणां
यत् कुर्वते पापमिह प्रमादात् ।। ५३ ।।

पहलेका धर्मशील पुरुष भी यदि अनजानमें यहाँ कोई पाप कर बैठे तो वह पीछे (निष्काम पुण्यकर्मद्वारा) उस पापको नष्ट कर देता है। राजन्! मनुष्योंका धर्म ही यहाँ प्रमादवश किये हुए उनके पापोंको दूर कर देता है ।। ५३ ।।

पापं कृत्वा हि मन्येत नाहमस्मीति पूरुषः ।
तं तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ।। ५४ ।।

जो मनुष्य पाप करके भी यह मानता है कि 'मैं पापी नहीं हूँ।' वह भूल करता है; क्योंकि देवता उसे और उसके पापको देखते हैं तथा उसीके भीतर बैठा हुआ परमात्मा भी देखता ही है ।। ५४ ।।

चिकीर्षेदेव कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः ।
वसनस्येव छिद्राणि साधूनां विवृणोति यः ।। ५५ ।।
(अपश्यन्नात्मनो दोषान् स पापः प्रेत्य नश्यति ।।)

श्रद्धालु मनुष्य दूसरोंके दोष देखना छोड़कर सदा सबके हितकी ही इच्छा करे। जो पापी अपने दोषोंकी ओरसे आँखें बंद करके सदा दूसरे श्रेष्ठ पुरुषोंके दोषोंको ही कपड़ेके छेदोंकी भाँति अधिकाधिक प्रकट करता और बढ़ाता है, वह मृत्युके पश्चात् नष्ट हो जाता है—परलोकमें उसे कोई सुख नहीं मिलता है ।। ५५ ।।

पापं चेत् पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महाभ्रेणेव चन्द्रमाः ।। ५६ ।।

यदि मनुष्य पाप करके भी कल्याणकारी कर्ममें लग जाता है, तो वह महामेघसे मुत्ह हुए चन्द्रमाकी भाँति सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। ५६ ।।

यथाऽऽदित्यः समुद्यन् वै तमः पूर्वं व्यपोहति ।
एवं कल्याणमातिष्ठन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ५७ ।।

जैसे सूर्य उदय होनेपर पहलेके अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार कल्याणकारी शुभ कर्मका निष्कामभावसे अनुष्ठान करनेवाला पुरुष सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ।। ५७ ।।

पापानां विद्ध्यधिष्ठानं लोभमेव द्विजोत्तम ।
लुब्धाः पापं व्यवस्यन्ति नरा नातिबहुश्रुताः ।। ५८ ।।

विप्रवर! लोभको ही पापोंका घर समझो। जिन्होंने अधिकतर शास्त्रोंका श्रवण नहीं किया है, वे लोभी मनुष्य ही पाप करनेका विचार रखते हैं ।। ५८ ।।

अधर्मा धर्मरूपेण तृणैः कूपा इवावृताः ।
तेषां दमः पवित्राणि प्रलापा धर्मसंश्रिताः ।
सर्वं हि विद्यते तेषु शिष्टाचारः सुदुर्लभः ।। ५९ ।।

तिनकेसे ढके हुए कुओंकी भाँति धर्मकी आड़में कितने ही अधर्म चल रहे हैं। धर्मात्माके वेशमें रहनेवाले इन अधार्मिक मनुष्योंमें इन्द्रिय-संयम, पवित्रता और धर्मसम्बन्धी चर्चा आदि सभी गुण तो होते हैं, परंतु उनमें शिष्टाचार (श्रेष्ठ पुरुषोंका-सा आचार-व्यवहार) अत्यन्त दुर्लभ है ।। ५९ ।।

मार्कण्डेय उवाच

स तु विप्रो महाप्राज्ञो धर्मव्याधमपृच्छत ।
शिष्टाचारं कथमहं विद्यामिति नरोत्तम ।। ६० ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर परम बुद्धिमान् कौशिकने धर्मव्याधसे पूछा—'नरश्रेष्ठ! मुझे शिष्टाचारका ज्ञान कैसे हो? ।। ६० ।।

एतदिच्छामि भद्रं ते श्रोतुं धर्मभृतां वर ।
त्वत्तो महामते व्याध तद् ब्रवीहि यथातथम् ।। ६१ ।।

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महामते व्याध! तुम्हारा भला हो, मैं ये सब बातें तुमसे सुनना चाहता हूँ। अतः यथार्थ रूपसे इनका वर्णन करो' ।। ६१ ।।

व्याध उवाच

यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम ।
पञ्चैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु सर्वदा ।। ६२ ।।

व्याधने कहा—द्विजश्रेष्ठ! यज्ञ, दान, तपस्या, वेदोंका स्वाध्याय और सत्यभाषण—ये पाँच पवित्र वस्तुएँ शिष्ट पुरुषोंके आचार-व्यवहारमें सदा देखी गयी हैं ।। ६२ ।।

कामक्रोधौ वशे कृत्वा दम्भं लोभमनार्जवम् ।
धर्ममित्येव संतुष्टास्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ।। ६३ ।।

जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और कुटिलताको वशमें करके केवल धर्मको ही अपनाकर संतुष्ट रहते हैं, वे शिष्ट कहलाते हैं और उन्हींका शिष्ट पुरुष आदर करते हैं ।। ६३ ।।

न तेषां विद्यतेऽवृत्तं यज्ञस्वाध्यायशीलिनाम् ।
आचारपालनं चैव द्वितीयं शिष्टलक्षणम् ।। ६४ ।।

वे निरन्तर यज्ञ और स्वाध्यायमें लगे रहते हैं। उनमें स्वेच्छाचार नहीं होता। सदाचारका पालन शिष्ट पुरुषोंका दूसरा लक्षण है ।। ६४ ।।

गुरुशुश्रूषणं सत्यमक्रोधो दानमेव च ।

एतच्चतुष्टयं ब्रह्मन् शिष्टाचारेषु नित्यदा ।। ६५ ।।

ब्रह्मन्! शिष्टाचारी पुरुषोंमें गुरुकी सेवा, सत्य-भाषण, क्रोधका अभाव तथा दान—ये चार सद्गुण सदा रहते हैं ।। ६५ ।।

शिष्टाचारे मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः ।
यामयं लभते वृत्तिं सा न शक्या ह्यतोऽन्यथा ।। ६६ ।।

मनुष्य शिष्ट पुरुषोंके उपर्युक्त आचारमें मनको सब प्रकारसे स्थापित करके जिस उत्तम स्थितिको प्राप्त करता है उसकी उपलब्धि और किसी प्रकारसे नहीं हो सकती ।। ६६ ।।

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषत् त्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा ।। ६७ ।।

वेदका सार है सत्य, सत्यका सार है इन्द्रिय-संयम और इन्द्रिय-सयंमका सार है त्याग। यह त्याग शिष्ट पुरुषोंके आचारमें सदा विद्यमान रहता है ।। ६७ ।।

ये तु धर्मानसूयन्ते बुद्धिमोहान्विता नराः ।
अपथा गच्छतां तेषामनुयाता च पीड्यते ।। ६८ ।।

जो मनुष्य बुद्धिमोहसे युक्त होकर धर्ममें दोष देखते हैं वे स्वयं तो कुमार्गगामी होते ही हैं, उनके पीछे चलनेवाला मनुष्य भी कष्ट पाता है ।। ६८ ।।

ये तु शिष्टाः सुनियताः श्रुतित्यागपरायणाः ।
धर्मपन्थानमारूढाः सत्यधर्मपरायणाः ।। ६९ ।।

जो शिष्ट हैं वे सदा ही नियमित जीवन व्यतीत करते हैं, वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर और त्यागी होते हैं। धर्मके मार्गपर ही चलते हैं और सत्यधर्मको ही अपना परम आश्रय मानते हैं ।। ६९ ।।

नियच्छन्ति परां बुद्धिं शिष्टाचारान्विता जनाः ।
उपाध्यायमते युक्ताः स्थित्या धर्मार्थदर्शिनः ।। ७० ।।

शिष्टाचारपरायण मनुष्य अपनी उत्तम बुद्धिको भी संयममें रखते हैं, गुरुके सिद्धान्तके अनुसार चलते हैं और मर्यादामें स्थित होकर धर्म और अर्थपर दृष्टि रखते हैं ।।

नास्तिकान् भिन्नमर्यादान् क्रूरान् पापमतौ स्थितान् ।
त्यज तान् ज्ञानमाश्रित्य धार्मिकानुपसेव्य च ।। ७१ ।।

इसलिये तुम नास्तिक, धर्मकी मर्यादा भंग करनेवाले, क्रूर तथा पापपूर्ण विचार रखनेवाले पुरुषोंका साथ छोड़ दो और ज्ञानका आश्रय लेकर धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवामें रहो ।। ७१ ।।

कामलोभग्रहाकीर्णां पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ।। ७२ ।।

यह शरीर एक नदी है। पाँच इन्द्रियाँ इसमें जल हैं। काम और लोभरूपी मगर इसके भीतर भरे पड़े हैं। जन्म और मृत्युके दुर्गम प्रदेशमें यह नदी बह रही है। तुम धैर्यकी नावपर

बैठो और इसके दुर्गम स्थानों—जन्म आदि क्लेशोंको पार कर जाओ ।। ७२ ।।

क्रमेण संचितो धर्मो बुद्धियोगमयो महान् ।
शिष्टाचारे भवेत् साधू रागः शूक्लेव वाससि ।। ७३ ।।

जैसे कोई भी रंग सफेद कपड़ेपर ही अच्छी तरह खिलता है, उसी प्रकार शिष्टाचारका पालन करनेवाले पुरुषमें ही क्रमशः संचित किया हुआ बुद्धियोगमय महान् धर्म भलीभाँति प्रकाशित होता है ।। ७३ ।।

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम् ।
अहिंसा परमो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ।
सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठां तु प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः ।। ७४ ।।

अहिंसा और सत्यभाषण—ये समस्त प्राणियोंके लिये अत्यन्त हितकर हैं। अहिंसा सबसे महान् धर्म है, परंतु वह सत्यमें ही प्रतिष्ठित है। सत्यके ही आधारपर श्रेष्ठ पुरुषोंके सभी कार्य आरम्भ होते हैं ।। ७४ ।।

सत्यमेव गरीयस्तु शिष्टाचारनिषेवितम् ।
आचारश्च सतां धर्मः संतश्चाचारलक्षणाः ।। ७५ ।।

अतः शिष्ट पुरुषोंके आचारमें गृहीत सत्य ही सबसे अधिक गौरवकी वस्तु है। सदाचार ही श्रेष्ठ पुरुषोंका धर्म है। सदाचारसे ही संतोंकी पहचान होती है ।। ७५ ।।

यो यथाप्रकृतिर्जन्तुः स स्वां प्रकृतिमश्नुते ।
पापात्मा क्रोधकामादीन् दोषानाप्नोत्यनात्मवान् ।। ७६ ।।

जिस जीवकी जैसी प्रकृति होती है, वह अपनी प्रकृतिका ही अनुसरण करता है। अपने मनको वशमें न रखनेवाला पापात्मा पुरुष ही काम, क्रोध आदि दोषोंको प्राप्त होता है ।। ७६ ।।

आरम्भोन्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः ।
अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम् ।। ७७ ।।

‘जो आरम्भ न्याययुक्त हो, वही धर्म कहा गया है। इसके विपरीत जो अनाचार है, वह अधर्म है’—ऐसा शिष्ट पुरुषोंका कथन है ।। ७७ ।।

अक्रुद्ध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहङ्कारमत्सराः ।
ऋजवः शमसम्पनाः शिष्टाचारा भवन्ति ते ।। ७८ ।।

जिनमें क्रोधका अभाव है, जो दूसरोंके दोष नहीं देखते, जिनमें अहंकार और ईर्ष्याका अभाव है, जो सरल तथा मनोनिग्रहसे सम्पन्न हैं, वे शिष्टाचारी कहलाते हैं ।। ७८ ।।

त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो मनस्विनः ।
गुरुशुश्रूषवो दान्ताः शिष्टाचारा भवन्त्युत ।। ७९ ।।

‘जो तीनों वेदोंके विद्वानोंमें श्रेष्ठ, पवित्र, सदाचारी, मनस्वी, गुरुसेवक और जितेन्द्रिय हैं, वे शिष्टाचारी कहे जाते हैं ।। ७९ ।।

तेषामहीनसत्त्वानां दुष्कराचारकर्मणाम् ।
स्वैः कर्मभिः सत्कृतानां घोरत्वं सम्प्रणश्यति ।। ८० ।।

जो सत्त्वगुणसे सम्पन्न हैं, जिनके आचार और कर्म पापियोंके लिये कठिन हैं तथा जो संसारमें अपने सत्कर्मोंके द्वारा सत्कृत हैं, उनके हिंसा आदि दोष स्वतः नष्ट हो जाते हैं ।। ८० ।।

तं सदाचारमाश्चर्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ।
धर्मं धर्मेण पश्यन्तः स्वर्ग यान्ति मनीषिणः ।। ८१ ।।

जिसका श्रेष्ठ पुरुषोंने पालन किया है, जो अनादि, सनातन और नित्य है, उस धर्मको धर्मदृष्टिसे ही देखनेवाले मनीषी पुरुष स्वर्गलोकमें जाते हैं ।। ८१ ।।

आस्तिका मानहीनाश्च द्विजातिजनपूजकाः ।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नाः सन्तः स्वर्गनिवासिनः ।। ८२ ।।

जो आस्तिक, अहंकारशून्य, ब्राह्मणोंका समादर करनेवाले, विद्वान् और सदाचारसे सम्पन्न हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष स्वर्गमें निवास करते हैं ।। ८२ ।।

वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः ।
शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम् ।

जिसका वेदोंमें वर्णन है, वह धर्मका पहला लक्षण है। धर्मशास्त्रोंमें जिसका प्रतिपादन किया गया है, वह धर्मका दूसरा लक्षण है और शिष्टाचार धर्मका तीसरा लक्षण है। इस प्रकार शिष्ट पुरुषोंने धर्मके तीन लक्षण स्वीकार किये हैं ।। ८२½ ।।

धारणं चापि विद्यानां तीर्थानामवगाहनम् ।। ८३ ।।
क्षमा सत्यार्जवं शौचं सतामाचारदर्शनम् ।

सब विद्याओंका अध्ययन, सब तीर्थोंमें स्नान, क्षमा, सत्य, सरलता और शौच (पवित्रता)—ये श्रेष्ठ पुरुषोंके आचारको लक्षित करानेवाले हैं ।। ८३½ ।।

सर्वभूतदयावन्तो अहिंसानिरताः सदा ।। ८४ ।।
परुषं च न भाषन्ते सदा सन्तो द्विजप्रियाः ।

जो समस्त प्राणियोंपर दया करते, सदा अहिंसा-धर्मके पालनमें तत्पर रहते और कभी किसीसे कटु वचन नहीं बोलते, ऐसे संत सदा समस्त द्विजोंके प्रिय होते हैं ।। ८४½ ।।

शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसंचये ।। ८५ ।।
विपाकमभिजानन्ति ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ।

जो शुभ और अशुभ कर्मोंके फलसंचयसे सम्बन्ध रखनेवाले परिणामको जानते हैं, वे शिष्ट कहे गये है और शिष्ट पुरुषोंमें उनका समादर होता है ।। ८५½ ।।

न्यायोपेता गुणोपेताः सर्वलोकहितैषिणः ।। ८६ ।।
सन्तः स्वर्गजितः शुक्लाः संनिविष्टाश्च सत्पथे ।

जो न्यायपरायण, सद्‌गुणसम्पन्न, सब लोगोंका हित चाहनेवाले, हिंसारहित और सन्मार्गपर चलनेवाले हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष स्वर्गलोकपर विजय पाते हैं ।। ८६½ ।।

दातारः संविभक्तारो दीनानुग्रहकारिणः ।। ८७ ।।
सर्वपूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः ।
सर्वभूतदयावन्तस्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ।। ८८ ।।

जो सबको दान देनेवाले, अपने कुटुम्बीजनोंमें प्रत्येक वस्तुको समानरूपसे बाँटकर उसका उपयोग करनेवाले, दीनजनोंपर कृपाभाव बनाये रखनेवाले, शास्त्रज्ञानके धनी, सबके लिये समादरणीय, तपस्वी और समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु हैं, वे श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सम्मानित शिष्ट कहे गये हैं ।। ८७-८८ ।।

दानशिष्टाः सुखाँल्लोकानाप्नुवन्तीह च श्रियम् ।
पीडया च कलत्रस्य भृत्यानां च समाहिताः ।। ८९ ।।
अतिशक्त्या प्रयच्छन्ति सन्तः सद्भिः समागताः ।
लोकयात्रां च पश्यन्तो धर्ममात्महितानि च ।। ९० ।।

जो दानसे अवशिष्ट वस्तुका उपयोग करनेवाले हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष इस लोकमें सम्पत्ति और परलोकमें सुखमय लोक प्राप्त करते हैं। शिष्ट पुरुषोंके पास जब उत्तम पुरुष कुछ माँगनेके लिये पधारते हैं, उस समय वे अपनी स्त्री तथा कुटुम्बी जनोंको कष्ट देकर सभी मनोयोगपूर्वक अपनी शक्तिसे अधिक दान देते हैं। न्यायपूर्वक लोकयात्राका निर्वाह कैसे हो? धर्मकी रक्षा और आत्माका कल्याण किस प्रकार हो? इन्हीं बातोंकी ओर उनकी दृष्टि रहती है ।। ८९-९० ।।

एवं सन्तो वर्तमानास्त्वेधन्ते शाश्वतीः समाः ।
अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यमथार्जवम् ।। ९१ ।।
अद्रोहो नाभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ।
धीमन्तो धृतिमन्तश्च भूतानामनुकम्पकाः ।। ९२ ।।
अकामद्वेषसंयुक्तास्ते सन्तो लोकसाक्षिणः ।

ऐसा बर्ताव करनेवाले संत पुरुष अनन्त कालतक उन्नतिकी ओर अग्रसर होते रहते हैं। जो अहिंसा, सत्यभाषण, कोमलता, सरलता, अद्रोह, अहंकारका त्याग, लज्जा, क्षमा, शम, दम—इन गुणोंसे युक्त बुद्धिमान, धैर्यवान् समस्त प्राणियोंपर अनुग्रह करनेवाले तथा राग-द्वेषसे रहित हैं, वे संत सम्पूर्ण लोकोंके लिये प्रमाणभूत हैं ।।

त्रीण्येव तु पदान्याहुः सतां व्रतमनुत्तमम् ।। ९३ ।।
न चैव द्रुह्येद् दद्याच्च सत्यं चैव सदा वदेत् ।

श्रेष्ठ पुरुष तीन ही पद बताते हैं—किसीसे द्रोह न करे, दान करे और सदा सत्य ही बोले। यह श्रेष्ठ पुरुषोंका सर्वोत्तम व्रत है ।। ९३½ ।।

सर्वत्र च दयावन्तः सन्तः करुणवेदिनः ।। ९४ ।।

गच्छन्तीह सुसंतुष्टा धर्मपन्थानमुत्तमम् ।

शिष्टाचारा महात्मानो येषां धर्मः सुनिश्चितः ।। ९५ ।।

जो सर्वत्र दया करते हैं, जिनके हृदयमें करुणाकी अनुभूति होती है, वे श्रेष्ठ पुरुष इस लोकमें अत्यन्त संतुष्ट रहकर धर्मके उत्तम पथपर चलते हैं। जिन्होंने धर्मको अपनाये रखनेका दृढ़ निश्चय कर लिया है, वे ही महात्मा सदाचारी हैं ।। ९४-९५ ।।

अनसूया क्षमा शान्तिः संतोषः प्रियवादिता ।

कामक्रोधपरित्यागः शिष्टाचारनिषेवणम् ।। ९६ ।।

कर्म च श्रुतसम्पन्नं सतां मार्गमनुत्तमम् ।

दोषदृष्टिका अभाव, क्षमा, शान्ति, संतोष, प्रियभाषण और काम-क्रोधका त्याग, शिष्टाचारका सेवन और शास्त्रके अनुकूल कर्म करना—यह श्रेष्ठ पुरुषोंका अति उत्तम मार्ग है ।। ९६½ ।।

शिष्टाचारं निषेवन्ते नित्यं धर्ममनुव्रताः ।। ९७ ।।

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य मुच्यन्ते महतो भयात् ।

प्रेक्षन्तो लोकवृत्तानि विविधानि द्विजोत्तम ।। ९८ ।।

अतिपुण्यानि पापानि तानि द्विजवरोत्तम ।

द्विजश्रेष्ठ! जो धर्मात्मा पुरुष सदा शिष्टाचारका सेवन करते हैं और प्रज्ञारूपी प्रासादपर आरूढ़ हो भाँति-भाँतिके लोकचरित्रोंका निरीक्षण तथा अत्यन्त पुण्य एवं पापकर्मोंकी समीक्षा करते हैं, वे महान् भयसे मुक्त हो जाते हैं ।। ९७-९८½ ।।

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।

शिष्टाचारगुणं ब्रह्मन् पुरस्कृत्य द्विजर्षभ ।। ९९ ।।

ब्रह्मन्! विप्रवर! इस प्रकार शिष्टाचारके गुणोंके सम्बन्धमें मैंने जैसा जाना और सुना है, वह सब आपसे कह सुनाया है ।। ९९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणव्याधसंवादविषयक दो सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १००½ श्लोक हैं)

अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्मव्याधद्वारा हिंसा और अहिंसाका विवेचन

मार्कण्डेय उवाच

स तु विप्रमथोवाच धर्मव्याधो युधिष्ठिर ।
यदहमाचरे कर्म घोरमेतदसंशयम् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर धर्मव्याधने कौशिक ब्राह्मणसे कहा—'मैं जो यह मांस बेचनेका व्यवसाय कर रहा हूँ, वास्तवमें यह अत्यन्त घोर कर्म है, इसमें संशय नहीं है ।। १ ।।

विधिस्तु बलवान् ब्रह्मन् दुस्तरं हि पुरा कृतम् ।
पुरा कृतस्य पापस्य कर्मदोषो भवत्ययम् ।। २ ।।
दोषस्यैतस्य वै ब्रह्मन् विघाते यत्नवानहम् ।

'किंतु ब्रह्मन्! दैव बलवान् है। पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मका ही नाम दैव है। उससे पार पाना बहुत कठिन है। यह जो कर्मदोषजनित व्याधके घर जन्म हुआ है, यह मेरे पूर्वजन्ममें किये हुए पापका ही फल है। ब्रह्मन्! मैं इस दोषके निवारणके लिये प्रयत्नशील हूँ ।। २½ ।।

विधिना हि हते पूर्वं निमित्तं घातको भवेत् ।। ३ ।।

'क्योंकि विधाताके द्वारा पहलेसे ही जीवकी मृत्यु निश्चित की जाती है; किंतु घातक (कसाई अथवा व्याध) उसमें निमित्त बन जाता है अर्थात् जो स्वेच्छासे ज्ञानपूर्वक जीवहिंसा करता है, वह घातक व्यर्थ ही निमित्त बनकर दोषका भागी होता है ।। ३ ।।

निमित्तभूता हि वयं कर्मणोऽस्य द्विजोत्तम ।
येषां हतानां मांसानि विक्रीणामीह वै द्विज ।। ४ ।।
तेषामपि भवेद् धर्म उपयोगे न भक्षणे ।
देवतातिथिभृत्यानां पितॄणां चापि पूजनम् ।। ५ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! इस कार्यमें हम निमित्तमात्र हैं। ब्रह्मन्! मैं जिन मारे गये प्राणियोंका मांस बेचता हूँ, उनके जीते-जी यदि उनका सदुपयोग किया जाता तो बड़ा धर्म होता। मांस-भक्षणमें तो धर्मका नाम भी नहीं है (उलटे महान् अधर्म होता है)। देवता, अतिथि, भरणीय कुटुम्बीजन और पितरोंका पूजन (आदर-सत्कार) अवश्य धर्म है ।। ४-५ ।।

ओषध्यो वीरुधश्चैव पशवो मृगपक्षिणः ।
अनादिभूता भूतानामित्यपि श्रूयते श्रुतिः ।। ६ ।।

ओषधियाँ, अन्न, तृण, लता, पशु, मृग और पक्षी आदि सभी वस्तुएँ सम्पूर्ण प्राणियोंके अनादि-कालसे उपयोगमें आती रहती हैं—ऐसी श्रुति भी सुनी जाती है ।। ६ ।।

आत्ममांसप्रसादेन शिबिरौशीनरो नृपः ।
स्वर्गं सुदुर्गमं प्राप्तः क्षमावान् द्विजसत्तम ।। ७ ।।

द्विजश्रेष्ठ! उशीनरके पुत्र क्षमाशील (और दयालु) राजा शिबिने (एक भूखे बाजको कबूतरके बदले) अपने शरीरका मांस अर्पित कर दिया था और उसीके प्रसादसे उन्हें परम दुर्लभ स्वर्गलोककी प्राप्ति हुई थी ।। ७ ।।

स्वधर्म इति कृत्वा तु न त्यजामि द्विजोत्तम ।
पुरा कृतमिति ज्ञात्वा जीवाम्येतेन कर्मणा ।। ८ ।।

'विप्रवर! मैं अपना स्वधर्म समझकर यह धंधा नहीं छोड़ रहा हूँ। पहलेसे मेरे पूर्वज यही करते आये हैं, ऐसा समझकर मैं इसी कर्मसे जीवन-निर्वाह करता हूँ ।। ८ ।।

स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते ।
स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चयः ।। ९ ।।

'ब्रह्मन्! अपने कर्मका परित्याग करनेवालेको यहाँ अधर्मकी प्राप्ति देखी जाती है। जो अपने कर्ममें तत्पर है, उसीका बर्ताव धर्मपूर्ण है, ऐसा सिद्धान्त है ।। ९ ।।

पूर्वं हि विहितं कर्म देहिनं न विमुञ्चति ।
धात्रा विधिरयं दृष्टो बहुधा कर्मनिर्णये ।। १० ।।

'पहलेका किया हुआ कर्म देहधारी मनुष्यको नहीं छोड़ता है। बहुधा कर्मका निर्णय करते समय विधाताने इसी विधिको अपने सामने रखा है ।। १० ।।

द्रष्टव्या तु भवेत् प्रज्ञा क्रूरे कर्मणि वर्तता ।
कथं कर्म शुभं कुर्यां कथं मुच्ये पराभवात् ।। ११ ।।

'जो क्रूर कर्ममें लगा हुआ है, उसे सदा यह सोचते रहना चाहिये कि 'मैं कैसे शुभ कर्म करूँ और किस प्रकार इस निन्दित कर्मसे छुटकारा पाऊँ' ।। ११ ।।

कर्मणस्तस्य घोरस्य बहुधा निर्णयो भवेत् ।
दाने च सत्यवाक्ये च गुरुशुश्रूषणे तथा ।। १२ ।।
द्विजातिपूजने चाहं धर्मे च निरतः सदा ।
अभिमानातिवादाभ्यां निवृत्तोऽस्मि द्विजोत्तम ।। १३ ।।

'बार-बार ऐसा करनेसे उस घोर कर्मसे छूटनेके विषयमें कोई निश्चित उपाय प्राप्त हो जाता है। द्विजश्रेष्ठ! मैं दान, सत्यभाषण, गुरुसेवा, ब्राह्मणपूजन तथा धर्मपालनमें सदा तत्पर रहकर अभिमान और अतिवादसे दूर रहता हूँ ।। १२-१३ ।।

कृषिं साध्विति मन्यन्ते तत्र हिंसा परा स्मृता ।
कर्षन्तो लाङ्गलैः पुंसो घ्नन्ति भूमिशयान् बहून् ।
जीवानन्यांश्च बहुशस्तत्र किं प्रतिभाति ते ।। १४ ।।

कुछ लोग खेतीको उत्तम मानते हैं, परंतु उसमें भी बहुत बड़ी हिंसा होती है। हल चलानेवाले मनुष्य धरतीके भीतर शयन करनेवाले बहुत-से प्राणियोंकी हत्या कर डालते हैं।

इनके सिवा और भी बहुत-से जीवोंका वध वे करते रहते हैं। इस विषयमें आप क्या समझते हैं? ।।

धान्यबीजानि यान्याहुर्व्रीह्यादीनि द्विजोत्तम ।
सर्वाण्येतानि जीवानि तत्र किं प्रतिभाति ते ।। १५ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! धान आदि जितने अन्नके बीज हैं, वे सब-के-सब जीव ही हैं; अतः इस विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। १५ ।।

अध्याक्रम्य पशूंश्चापि घ्नन्ति वै भक्षयन्ति च ।
वृक्षांस्तथौषधीश्चापि छिन्दन्ति पुरुषा द्विज ।। १६ ।।
जीवा हि बहवो ब्रह्मन् वृक्षेषु च फलेषु च ।
उदके बहवश्चापि तत्र किं प्रतिभाति ते ।। १७ ।।

'विप्रवर! कितने ही मनुष्य पशुओंपर आक्रमण करके उन्हे मारते और खाते हैं। वृक्षों तथा ओषधियों (अन्तके पौधों)-को काटते हैं। वृक्षों और फलोंमें भी बहुत-से जीव रहते हैं। जलमें भी नाना प्रकारके जीव रहते हैं। ब्रह्मन्! उनके विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। १६-१७ ।।

सर्वं व्याप्तमिदं ब्रह्मन् प्राणिभिः प्राणिजीवनैः ।
मत्स्यान् ग्रसन्ते मत्स्याश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ।। १८ ।।

'जीवोंसे ही जीवन-निर्वाह करनेवाले जीवोंद्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है। मत्स्य मत्स्योंतकको अपना ग्रास बना लेते हैं। उनके विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। १८ ।।

सत्त्वैः सत्त्वानि जीवन्ति बहुधा द्विजसत्तम ।
प्राणिनोऽन्योन्यभक्षाश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ।। १९ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! बहुधा जीव जीवोंसे ही जीवन धारण करते हैं और प्राणी स्वयं ही एक-दूसरेको अपना आहार बना लेते हैं। उनके विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। १९ ।।

चङ्क्रम्यमाणा जीवांश्च धरणीसंश्रितान् बहून् ।
पद्भ्यां घ्नन्ति नरा विप्र तत्र किं प्रतिभाति ते ।। २० ।।

'मनुष्य चलते-फिरते समय धरतीके बहुत-से जीव-जन्तुओंको (असावधानीपूर्वक) पैरोंसे मार देते हैं। ब्रह्मन्! उनके विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। २० ।।

उपविष्टाः शयानाश्च घ्नन्ति जीवाननेकशः ।
ज्ञानविज्ञानवन्तश्च तत्र किं प्रतिभाति ते ।। २१ ।।

'ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न पुरुष भी (अनजानमें) बैठते-सोते समय अनेक जीवोंकी हिंसा कर बैठते हैं। उनके विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। २१ ।।

जीवैर्ग्रस्तमिदं सर्वमाकाशं पृथिवी तथा ।
अविज्ञानाच्च हिंसन्ति तत्र किं प्रतिभाति ते ।। २२ ।।

‘आकाशसे लेकर पृथ्वीतक यह सारा जगत् जीवोंसे भरा हुआ है। कितने ही मनुष्य अनजानमें भी जीवहिंसा करते हैं। इस विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। २२ ।।

अहिंसेति यदुक्तं हि पुरुषैर्विस्मितैः पुरा ।
के न हिंसन्ति जीवान् वै लोकेऽस्मिन् द्विजसत्तम ।
बहु संचित्य इति वै नास्ति कश्चिदहिंसकः ।। २३ ।।

‘पूर्वकालके अभिमानशून्य श्रेष्ठ पुरुषोंने जो अहिंसाका उपदेश किया है (उसका तत्त्व समझना चाहिये; क्योंकि) द्विजश्रेष्ठ! (स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो) इस संसारमें कौन जीवहिंसा नहीं करते हैं? बहुत सोच-विचारकर मैं इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि कोई भी (क्रियाशील मनुष्य) अहिंसक नहीं है ।। २३ ।।

अहिंसायां तु निरता यतयो द्विजसत्तम ।
कुर्वन्त्येव हि हिंसां ते यत्नादल्पतरा भवेत् ।। २४ ।।

‘द्विजश्रेष्ठ! यतिलोग अहिंसा-धर्मके पालनमें तत्पर होते हैं, परंतु वे भी हिंसा कर ही डालते हैं (अर्थात् उनके द्वारा भी हिंसा हो ही जाती है)। अवश्य ही यत्नपूर्वक चेष्टा करनेसे हिंसाकी मात्रा बहुत कम हो सकती है ।। २४ ।।

आलक्ष्याश्चैव पुरुषाः कुले जाता महागुणाः ।
महाघोराणि कर्माणि कृत्वा लज्जन्ति वै द्विज ।। २५ ।।

‘ब्रह्मन्! उत्तम कुलमें उत्पन्न, परम सद्‌गुणसम्पन्न और श्रेष्ठ माने जानेवाले पुरुष भी अत्यन्त भयानक कर्म करके लज्जाका अनुभव करते ही हैं ।। २५ ।।

सुहृदः सुहृदोऽन्यांश्च दुर्हृदश्चापि दुर्हृदः ।
सम्यक् प्रवृत्तान् पुरुषान् न सम्यगनुपश्यतः ।। २६ ।।

‘मित्र दूसरे मित्रोंको और शत्रु अपने शत्रुओंको, वे अच्छे कर्ममें लगे हुए हों तो भी अच्छी दृष्टिसे नहीं देखते ।। २६ ।।

समृद्धैश्च न नन्दन्ति बान्धवा बान्धवैरपि ।
गुरूंश्चैव विनिन्दन्ति मूढाः पण्डितमानिनः ।। २७ ।।

‘बन्धु-बान्धव अपने समृद्धिशाली बान्धवोंसे भी प्रसन्न नहीं रहते। अपनेको पण्डित माननेवाले मूढ़ मनुष्य गुरुजनोंकी भी निन्दा करते हैं ।। २७ ।।

बहु लोके विपर्यस्तं दृश्यते द्विजसत्तम ।
धर्मयुक्तमधर्मं च तत्र किं प्रतिभाति ते ।। २८ ।।

‘द्विजश्रेष्ठ! इस प्रकार जगत्‌में अनेक उलटी बातें दिखायी देती हैं। अधर्म भी धर्मसे युक्त प्रतीत होता है। इस विषयमें आप क्या समझते हैं? ।। २८ ।।

वक्तुं बहुविधं शक्यं धर्माधर्मेषु कर्मसु ।
स्वकर्मनिरतो यो हि स यशः प्राप्नुयान्महत् ।। २९ ।।

‘धर्म और अधर्मसम्बन्धी कार्योंके विषयमें और भी बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं। अतएव जो अपने कुलोचित कर्ममें लगा हुआ है, वही महान् यशका भागी होता है’ ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने ब्राह्मणव्याधसंवादे अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें पतिव्रतोपाख्यानके प्रसंगमें ब्राह्मणव्याधसंवादविषयक दो सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०८ ।।

नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्मकी सूक्ष्मता, शुभाशुभ कर्म और उनके फल तथा ब्रह्मकी प्राप्तिके उपायोंका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

धर्मव्याधस्तु निपुणं पुनरेव युधिष्ठिर ।
विप्रर्षभमुवाचेदं सर्वधर्मभृतां वर ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! तदनन्तर धर्मव्याधने विप्रवर कौशिकसे पुनः कुशलतापूर्वक कहना आरम्भ किया ।। १ ।।

व्याध उवाच

श्रुतिप्रमाणो धर्मोऽयमिति वृद्धानुशासनम् ।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका ।। २ ।।

व्याध बोला—वृद्ध पुरुषोंका कहना है कि 'धर्मके विषयमें केवल वेद ही प्रमाण है।' यह ठीक है, तो भी धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है। उसके अनन्त भेद और अनेक शाखाएँ हैं ।। २ ।।

प्राणान्तिके विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
अनृतेन भवेत् सत्यं सत्येनैवानृतं भवेत् ।। ३ ।।

(वेदके अनुसार सत्य धर्म और असत्य अधर्म हैं, परंतु) यदि किसीके प्राणोंपर संकट आ जाय अथवा कन्या आदिका विवाह तै करना हो तो ऐसे अवसरोंपर प्राणरक्षा आदिके लिये झूठ बोलनेकी आवश्यकता पड़ जाय तो वहाँ असत्यसे ही सत्यका फल मिलता है। इसके विपरीत (यदि सत्यभाषणसे किसीके प्राणोंपर संकट आ गया, तो वहाँ) सत्यसे ही असत्यका फल प्राप्त होता है ।। ३ ।।

यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा ।
विपर्ययकृतोऽधर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम् ।। ४ ।।

जिससे परिणाममें प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो, वह वास्तवमें सत्य है। इसके विपरीत जिससे किसीका अहित होता हो या दूसरोंके प्राण जाते हों, वह देखनेमें सत्य होनेपर भी वास्तवमें असत्य एवं अधर्म है*। इस प्रकार विचार करके देखिये, धर्मकी गति कितनी सूक्ष्म है ।। ४ ।।

यत् करोत्यशुभं कर्म शुभं वा यदि सत्तम ।
अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र संशयः ।। ५ ।।

सज्जनशिरोमणे! मनुष्य जो शुभ या अशुभ कार्य करता है, उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है ।। ५ ।।

विषमां च दशां प्राप्तो देवान् गर्हति वै भृशम् ।
आत्मनः कर्मदोषाणि न विजानात्यपण्डितः ।। ६ ।।

मूर्ख मानव संकटकी दशामें पड़नेपर देवताओंको बहुत कोसता है, उनकी भरपेट निन्दा करता है; किंतु वह यह नहीं समझता कि यह अपने ही कर्मोंका दोषावह परिणाम है ।। ६ ।।

मूढो नैकृतिकश्चापि चपलश्च द्विजोत्तम ।
सुखदुःखविपर्यासान् सदा समुपपद्यते ।। ७ ।।
नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नैव पौरुषम् ।

द्विजश्रेष्ठ! मूर्ख, शठ और चंचल चित्तवाला मनुष्य सदा ही भ्रमवश सुखमें दुःख और दुःखमें सुखबुद्धि कर लेता है। उस समय बुद्धि, उत्तम नीति (शिक्षा) तथा पुरुषार्थ भी उसकी रक्षा नहीं कर पाते ।। ७½ ।।

योऽयमिच्छेद् यथा कामं तं तं कामं स आप्नुयात् ।। ८ ।।
यदि स्यादपराधीनं पौरुषस्य क्रियाफलम् ।

यदि पुरुषार्थजनित कर्मका फल पराधीन न होता तो जिसकी जो इच्छा होती, उसीको वह प्राप्त कर लेता ।। ८½ ।।

संयताश्चापि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः ।। ९ ।।
दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः ।

किंतु बड़े-बड़े संयमी, कार्यकुशल और बुद्धिमान् मनुष्य भी अपना काम करते-करते थक जाते हैं तो भी वे इच्छानुसार फलकी प्राप्तिसे वंचित ही देखे जाते हैं ।। ९½ ।।

भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः ।। १० ।।
वञ्चनायां च लोकस्य स सुखी जीवते सदा ।

तथा दूसरा मनुष्य, जो निरन्तर जीवोंकी हिंसाके लिये उद्यत रहता है और सदा लोगोंको ठगनेमें ही लगा रहता है, वह सुखपूर्वक जीवन बिताता देखा जाता है ।। १०½ ।।

अचेष्टमपि चासीनं श्रीः कंचिदुपतिष्ठति ।। ११ ।।
कश्चित् कर्माणि कुर्वन् हि न प्राप्यमधिगच्छति ।

कोई बिना उद्योग किये चुपचाप बैठा रहता है और लक्ष्मी उसकी सेवामें उपस्थित हो जाती है और कोई सदा काम करते रहनेपर भी अपने उचित वेतनसे भी वञ्चित रह जाता है (ऐसा देखा जाता है) ।। ११½ ।।

देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ।। १२ ।।
दशमासधृता गर्भे जायन्ते कुलपांसनाः ।

कितने ही दीन मनुष्य पुत्रकी कामना रखकर देवताओंको पूजते और कठिन तपस्या करते हैं, तो भी उनके द्वारा गर्भमें स्थापित तथा दस मासतक माताके उदरमें पालित होकर जो पुत्र पैदा होते हैं वे कुलांगार निकल जाते हैं* ।। १२½ ।।

अपरे धनधान्यैश्च भोगैश्च पितृसंचितैः ।। १३ ।।
विपुलैरभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः ।

और दूसरे बहुत-से ऐसे भी हैं जो अपने पिताके द्वारा जोड़कर रखे हुए धन-धान्य तथा भोग-विलासके प्रचुर साधनोंके साथ पैदा होते हैं और उनकी प्राप्ति भी उन्हीं मांगलिक कृत्योंके अनुष्ठानसे होती है ।। १३½ ।।

कर्मजा हि मनुष्याणां रोगा नास्त्यत्र संशयः ।। १४ ।।
आधिभिश्चैव बाध्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव ।

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्योंके जो रोग होते हैं, वे उनके कर्मोंके ही फल हैं। जैसे बहेलिये छोटे मृगोंको पीड़ा देते हैं, उसी प्रकार वे रोग और आधि-व्याधियाँ जीवोंको पीड़ा देती रहती हैं ।। १४½ ।।

ते चापि कुशलैर्वैद्यैर्निपुणैः सम्भृतौषधैः ।। १५ ।।
व्याधयो विनिवार्यन्ते मृगा व्याधैरिव द्विज ।

ब्रह्मन्! (उनका भोग पूरा होनेपर) ओषधियोंका संग्रह करनेवाले चिकित्साकुशल चतुर चिकित्सक उन रोगव्याधियोंका उसी प्रकार निवारण कर देते हैं, जैसे व्याध मृगोंको भगा देते हैं ।। १५½ ।।

येषामस्ति च भोक्तव्यं ग्रहणीदोषपीडिताः ।। १६ ।।
न शक्नुवन्ति ते भोक्तुं पश्य धर्मभृतां वर ।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कौशिक! देखो, जिनके यहाँ भोजनका भण्डार भरा पड़ा है, उन्हें प्रायः संग्रहणी सता रही है, वे उसका उपभोग नहीं कर पाते ।। १६½ ।।

अपरे बाहुबलिनः क्लिश्यन्ते बहवो जनाः ।। १७ ।।
दुःखेन चाधिगच्छन्ति भोजनं द्विजसत्तम ।

विप्रवर! दूसरे बहुत-से ऐसे मनुष्य हैं, जिनकी भुजाओंमें बल है—जो स्वस्थ और अन्नको पचानेमें समर्थ हैं, परंतु उन्हें बड़ी कठिनाईसे भोजन मिल पाता है—वे सदा ही अन्नका कष्ट भोगते रहते हैं ।। १७½ ।।

इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम् ।। १८ ।।
स्रोतसासकृदाक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा ।

इस प्रकार यह संसार असहाय तथा मोह, शोकमें डूबा हुआ है। कर्मोंके अत्यन्त प्रबल प्रवाहमें पड़कर बार-बार उसकी आधि-व्याधिरूपी तरंगोंके थपेड़े सहता और विवश होकर इधर-से-उधर बहता रहता है ।। १८½ ।।

न म्रियेयुर्न जीर्येयुः सर्वे स्युः सार्वकामिकाः ।। १९ ।।

नाप्रियं प्रतिपश्येयुर्वशित्वं यदि वै भवेत् ।

यदि जीव अपने वशमें होते तो वे न मरते और न बूढ़े ही होते। सभी सब तरहकी मनचाही वस्तुओंको प्राप्त कर लेते। किसीको अप्रिय घटना नहीं देखनी पड़ती ।। १९१/२ ।।

उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते ।

यतते च यथाशक्ति न च तद् वर्तते तथा ।। २० ।।

सब लोग सारे जगत्के ऊपर-ऊपर जानेकी इच्छा रखते हैं—सभी सबसे ऊँचा होना चाहते हैं और उसके लिये वे यथाशक्ति प्रयत्न भी करते हैं परंतु (सभी जगह) वैसा होता नहीं है ।। २० ।।

बहवः सम्प्रदृश्यन्ते तुल्यनक्षत्रमङ्गलाः ।

महच्च फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंधिषु ।। २१ ।।

बहुत-से ऐसे मनुष्य देखे जाते हैं, जिनका जन्म एक ही नक्षत्रमें हुआ है और जिनके लिये मंगल कृत्य भी समानरूपसे ही किये गये हैं, परंतु विभिन्न प्रकारके कर्मोंका संग्रह होनेके कारण उन्हें प्राप्त होनेवाले फलमें महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है ।। २१ ।।

न केचिदीशते ब्रह्मन् स्वयंग्राह्यस्य सत्तम ।

कर्मणा प्राक् कृतानां वै इह सिद्धिः प्रदृश्यते ।। २२ ।।

ब्रह्मन्! साधुशिरोमणे! कोई अपने हाथमें आयी हुई वस्तुका भी उपयोग करनेमें समर्थ नहीं है। इस जगत्में पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके ही फलकी प्राप्ति देखी जाती है ।। २२ ।।

यथाश्रुतिरियं ब्रह्मन् जीवः किल सनातनः ।

शरीरमध्रुवं लोके सर्वेषां प्राणिनामिह ।। २३ ।।

विप्रवर! श्रुतिके अनुसार यह जीवात्मा निश्चय ही सनातन है और इस संसारमें समस्त प्राणियोंका शरीर नश्वर है ।। २३ ।।

वध्यमाने शरीरे तु देहनाशो भवत्युत ।

जीवः सङ्क्रमतेऽन्यत्र कर्मबन्धनिबन्धनः ।। २४ ।।

शरीरपर आघात करनेसे उस शरीरका नाश तो हो जाता है; किंतु अविनाशी जीव नहीं मरता। वह कर्मोंके बन्धनमें बँधकर फिर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है ।।

ब्राह्मण उवाच

कथं धर्मविदां श्रेष्ठ जीवो भवति शाश्वतः ।

एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन वदतां वर ।। २५ ।।

ब्राह्मणने पूछा—धर्मज्ञों तथा वक्ताओंमें श्रेष्ठ व्याध! जीव सनातन कैसे है? मैं इस विषयको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ ।। २५ ।।

व्याध उवाच

न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे
मिथ्यैतदाहुर्म्रियते किलेति ।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति
दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ।। २६ ।।

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन्! देहका नाश होनेपर जीवका नाश नहीं होता। मनुष्योंका यह कथन कि 'जीव मरता है' मिथ्या ही है, किंतु जीव तो इस शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें चला जाता है। शरीरके पाँचों तत्त्वोंका पृथक्-पृथक् पाँच भूतोंमें मिल जाना ही उसका नाश कहलाता है ।। २६ ।।

अन्यो हि नाश्नाति कृतं हि कर्म
मनुष्यलोके मनुजस्य कश्चित् ।
यत् तेन किंचिद्धि कृतं हि कर्म
तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाशः ।। २७ ।।

इस मानवलोकमें मनुष्यके किये हुए कर्मको (उस कर्ताके सिवा) दूसरा कोई नहीं भोगता है। उसके द्वारा जो कुछ ही कर्म किया गया है, उसे वह स्वयं ही भोगेगा। किये हुए कर्मोंका कभी नाश नहीं होता ।।

सुपुण्यशीला हि भवन्ति पुण्या
नराधमाः पापकृतो भवन्ति ।
नरोऽनुयातस्त्विह कर्मभिः स्वै-
स्ततः समुत्पद्यति भावितस्तैः ।। २८ ।।

पुण्यात्मा मनुष्य पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हैं और नीच मनुष्य पापमें प्रवृत्त होते हैं। यहाँ अपने किये हुए कर्म मनुष्यका अनुसरण करते हैं और उनसे प्रभावित होकर वह दूसरा जन्म धारण करता है ।। २८ ।।

ब्राह्मण उवाच

कथं सम्भवते योनौ कथं वा पुण्यपापयोः ।
जातीः पुण्यास्त्वपुण्याश्च कथं गच्छति सत्तम ।। २९ ।।

ब्राह्मणने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ! जीव दूसरी योनिमें कैसे जन्म लेता है, पाप और पुण्यसे उसका सम्बन्ध किस प्रकार होता है तथा उसे पुण्ययोनि और पापयोनिकी प्राप्ति कैसे होती है? ।। २९ ।।

व्याध उवाच

गर्भाधानसमायुक्तं कर्मेदं सम्प्रदृश्यते ।
समासेन तु ते क्षिप्रं प्रवक्ष्यामि द्विजोत्तम ।। ३० ।।

व्याधने कहा—विप्रवर! गर्भाधान आदि संस्कार-सम्बंधी ग्रन्थोंद्वारा यह प्रतिपादन किया गया है 'कि यह जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, सब कर्मोंका ही परिणाम है।' अतः किस कर्मसे कहाँ जन्म होता है? इस विषयका मैं तुमसे संक्षिप्त वर्णन करता हूँ, सुनो ।। ३० ।।

यथा सम्भृतसम्भारः पुनरेव प्रजायते ।
शुभकृच्छुभयोनीषु पापकृत् पापयोनिषु ।। ३१ ।।

जीव कर्मबीजोंका संग्रह करके जिस प्रकार पुनः जन्म ग्रहण करता है, वह बताया जा रहा है। शुभकर्म करनेवाला मनुष्य शुभ योनियोंमें और पापकर्म करनेवाला पापयोनियोंमें जन्म लेता है ।। ३१ ।।

शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत् ।
मोहनीयैर्वियोनीषु त्वधोगामी च किल्बिषी ।। ३२ ।।

शुभकर्मोंके संयोगसे जीवको देवत्वकी प्राप्ति होती है। शुभ और अशुभ दोनोंके सम्मिश्रणसे उसका मनुष्य-योनिमें जन्म होता है। मोहमें डालनेवाले तामस कर्मोंके आचरणसे जीव पशु, पक्षी आदिकी योनिमें जन्म ग्रहण करता है और जिसने केवल पापका ही संचय किया है, वह नरकगामी होता है ।। ३२ ।।

जातिमृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः ।
संसारे पच्यमानश्च दोषैरात्मकृतैर्नरः ।। ३३ ।।

मनुष्य अपने ही किये हुए अपराधोंके कारण जन्म-मृत्यु और जरासम्बन्धी दुःखोंसे सदा पीडित हो बारंबार संसारमें पचता रहता है ।। ३३ ।।

तिर्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च ।
जीवाः सम्परिवर्तन्ते कर्मबन्धनिबन्धनाः ।। ३४ ।।

कर्मबन्धनमें बँधे हुए (पापी) जीव सहस्रों प्रकारकी तिर्यक् योनियों तथा नरकोंमें चक्कर लगाया करते हैं ।। ३४ ।।

जन्तुस्तु कर्मभिस्तैस्तैः स्वकृतैः प्रेत्य दुःखितः ।
तद्दुःखप्रतिघातार्थमपुण्यां योनिमाप्नुते ।। ३५ ।।

प्रत्येक जीव अपने किये हुए कर्मोंसे ही मृत्युके पश्चात् दुःख भोगता है और उस दुःखका भोग करनेके लिये ही वह (चाण्डालादि) पापयोनिमें जन्म लेता है ।।

ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यं नवं बहु ।
पच्यते तु पुनस्तेन भुक्त्वापथ्यमिवातुरः ।। ३६ ।।

वहाँ फिर नये-नये बहुत-से पापकर्म कर डालता है, जिसके कारण कुपथ्य खा लेनेवाले रोगीकी भाँति उसे नाना प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं ।। ३६ ।।

अजस्रमेव दुःखार्तोऽदुःखितः सुखसंज्ञितः ।
ततोऽनिवृत्तबन्धत्वात् कर्मणामुदयादपि ।। ३७ ।।

परिक्रामति संसारे चक्रवद् बहुवेदनः ।

इस प्रकार वह यद्यपि निरन्तर दुःख ही भोगता रहता है, तथापि अपनेको दुःखी नहीं मानता। इस दुःखको ही वह सुखकी संज्ञा दे देता है। जबतक बन्धनमें डालनेवाले कर्मोंका भोग पूरा नहीं होता और नये-नये कर्म बनते रहते हैं तबतक अनेक प्रकारके कष्टोंको सहन करता हुआ वह चक्रकी तरह इस संसारमें चक्कर लगाता रहता है ।। ३७½ ।।

स चेन्निवृत्तबन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ।। ३८ ।।

तपोयोगसमारम्भं कुरुते द्विजसत्तम ।

कर्मभिर्बहुभिश्चापि लोकानश्नाति मानवः ।। ३९ ।।

द्विजश्रेष्ठ! जब बन्धनकारक कर्मोंका भोग पूरा हो जाता है और सत्कर्मोंके द्वारा मनुष्यमें शुद्धि आ जाती है, तब वह तप और योगका आरम्भ करता है। अतः बहुत-से शुभकर्मोंके फलस्वरूप उसे उत्तम लोकोंका भोग प्राप्त होता है ।। ३८-३९ ।।

स चेन्निवृत्तबन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः ।

प्राप्नोति सुकृताँल्लोकान् यत्र गत्वा न शोचति ।। ४० ।।

इस प्रकार बन्धनरहित तथा शुद्ध हुआ मनुष्य अपने पुण्य कर्मोंके प्रभावसे पुण्यलोक प्राप्त करता है, जहाँ जाकर कोई भी शोक नहीं करता है ।। ४० ।।

पापं कुर्वन् पापवृत्तः पापस्यान्तं न गच्छति ।

तस्मात् पुण्यं यतेत् कर्तुं वर्जयीत च पापकम् ।। ४१ ।।

पाप करनेवाले मनुष्यको पापकी आदत हो जाती है, फिर उसके पापका अन्त नहीं होता। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह पुण्य कर्म करनेका ही प्रयत्न करे और पापको सर्वथा त्याग दे ।। ४१ ।।

अनसूयुः कृतज्ञश्च कल्याणानि च सेवते ।

सुखानि धर्ममर्थं च स्वर्गं च लभते नरः ।। ४२ ।।

पुण्यात्मा मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और कृतज्ञ होकर कल्याणकारी कर्मोंका सेवन करता है तथा उसे सुख, धर्म, अर्थ एवं स्वर्गकी प्राप्ति होती है ।। ४२ ।।

संस्कृतस्य च दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः ।

प्राज्ञस्यानन्तरा वृत्तिरिह लोके परत्र च ।। ४३ ।।

जो संस्कारसम्पन्न, जितेन्द्रिय, शौचाचारपरायण और मनको काबूमें रखनेवाला है, उस बुद्धिमान् पुरुषको इहलोक और परलोकमें भी सुखकी प्राप्ति होती है ।।

सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ।

असंक्लेशेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेत वै द्विज ।। ४४ ।।

ब्रह्मन्! अतः मनुष्यको चाहिये कि वह सत्पुरुषोंके धर्मका पालन करे, शिष्ट पुरुषोंके समान बर्ताव करे और जगत्में किसी भी प्राणीको कष्ट दिये बिना जिससे जीवन-निर्वाह हो सके—ऐसी आजीविका प्राप्त करनेकी इच्छा करे ।। ४४ ।।

सन्ति ह्यागमविज्ञानाः शिष्टाः शास्त्रे विचक्षणाः ।
स्वधर्मेण क्रिया लोके कर्मणः सोऽप्यसंकरः ।। ४५ ।।

संसारमें बहुत-से वेदवेत्ता और शास्त्रविचक्षण शिष्ट पुरुष विद्यमान हैं, उनके उपदेशके अनुसार स्वधर्मके पालनपूर्वक प्रत्येक कार्य करना चाहिये, इससे कर्मोंका संकर नहीं हो पाता ।। ४५ ।।

प्राज्ञो धर्मेण रमते धर्मं चैवोपजीवति ।
तस्माद् धर्मादवाप्तेन धनेन द्विजसत्तम ।। ४६ ।।
तस्यैव सिञ्चते मूलं गुणान् पश्यति तत्र वै ।

द्विजश्रेष्ठ! बुद्धिमान् पुरुष धर्मसे ही आनन्द मानता है, धर्मका ही आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करता है और धर्मसे ही उपलब्ध किये हुए धनसे धनका ही मूल सींचता है, अर्थात् धर्मका पालन करता है। वह धर्ममें ही गुण देखता है ।। ४६½ ।।

धर्मात्मा भवति ह्येवं चित्तं चास्य प्रसीदति ।। ४७ ।।
स मित्रजनसंतुष्ट इह प्रेत्य च नन्दति ।

इस प्रकार वह धर्मात्मा होता है, उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है तथा मित्रजनोंसे संतुष्ट होकर वह इहलोक और परलोकमें भी आनन्दित होता है ।। ४७½ ।।

शब्दं स्पर्शं तथा रूपं गन्धानिष्टांश्च सत्तम ।। ४८ ।।
प्रभुत्वं लभते चापि धर्मस्यैतत् फलं विदुः ।

सज्जनशिरोमणे! धर्मात्मा पुरुष शब्द, स्पर्श, रूप और प्रिय गन्ध—सभी प्रकारके विषय तथा प्रभुत्व भी प्राप्त करता है। उसकी यह स्थिति धर्मका ही फल मानी गयी है ।। ४८½ ।।

धर्मस्य च फलं लब्ध्वा न तृप्यति महाद्विज ।। ४९ ।।
अतृप्यमाणो निर्वेदमापेदे ज्ञानचक्षुषा ।

द्विजोत्तम! कोई-कोई धर्मके फलरूपसे सांसारिक सुखको पाकर संतुष्ट नहीं होता। वह ज्ञानदृष्टिके कारण विषयभोगके सुखसे तृप्ति-लाभ न करके निर्वेद (वैराग्य)-को प्राप्त होता है ।। ४९½ ।।

प्रज्ञाचक्षुर्नर इह दोषं नैवानुरुध्यते ।। ५० ।।
विरज्यति यथाकामं न च धर्मं विमुञ्चति ।

इस जगत्में ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न पुरुष राग-द्वेष आदि दोषोंका अनुसरण नहीं करता। उसे यथेष्ट वैराग्य होता है तथा वह कभी धर्मका त्याग नहीं करता है ।।

सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम् ।। ५१ ।।
ततो मोक्षे प्रयतते नानुपायादुपायतः ।

सम्पूर्ण जगत्‌को नश्वर समझकर वह सबको त्यागनेका प्रयत्न करता है। तत्पश्चात् उचित उपायसे मोक्षके लिये सचेष्ट होता है। अनुपाय (प्रारब्ध आदि)-का अवलम्बन करके बैठ नहीं रहता ।। ५१½ ।।

एवं निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च ।। ५२ ।।

धार्मिकश्चापि भवति मोक्षं च लभते परम् ।

इस प्रकार वह वैराग्यको अपनाता और पापकर्मको छोड़ता जाता है। फिर सर्वथा धर्मात्मा हो जाता और अन्तमें परम मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।। ५२½ ।।

तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः ।। ५३ ।।

तेन सर्वानवाप्नोति कामान् यान् मनसेच्छति ।

जीवके कल्याणका साधन है तप और उसका मूल है शम (मनोनिग्रह) तथा दम (इन्द्रियसंयम)। मनुष्य मनके द्वारा जिन-जिन अभीष्ट पदार्थोंको पाना चाहता है उन सबको वह उस तपके द्वारा प्राप्त कर लेता है ।। ५३½ ।।

इन्द्रियाणां निरोधेन सत्येन च दमेन च ।

ब्रह्मणः पदमाप्नोति यत् परं द्विजसत्तम ।। ५४ ।।

द्विजश्रेष्ठ! इन्द्रियसंयम, सत्यभाषण और मनोनिग्रह—इनके द्वारा मनुष्य ब्रह्मके परमपदको प्राप्त कर लेता है ।।

ब्राह्मण उवाच

इन्द्रियाणि तु यान्याहुः कानि तानि यतव्रत ।

निग्रहश्च कथं कार्यो निग्रहस्य च किं फलम् ।। ५५ ।।

ब्राह्मणने पूछा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले व्याध! जिन्हें इन्द्रिय कहते हैं, वे कौन-कौन हैं? उनका निग्रह कैसे करना चाहिये? और उस निग्रहका फल क्या है? ।। ५५ ।।

कथं च फलमाप्नोति तेषां धर्मभृतां वर ।

एतदिच्छामि तत्त्वेन धर्मं ज्ञातुं निबोध मे ।। ५६ ।।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ व्याध! उन इन्द्रियोंके निग्रहका फल कैसे प्राप्त होता है? मैं इस इन्द्रिय-निग्रहरूपी धर्मको यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ। तुम मुझे समझाओ ।। ५६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २०९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २०९ ।।

* कर्णपर्वके उनहत्तरवें अध्यायमें छियालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकोंमें एक कथा आती है। कौशिक नामका एक तपस्वी ब्राह्मण था। उसने यह व्रत ले लिया कि 'मैं सदा सत्य बोलूँगा।' एक दिन कुछ लोग लुटेरोंके भयसे छिपनेके लिये उसके आश्रमके पासके वनमें घुस गये। खोज करते हुए लुटेरोंने सत्यवादी कौशिकसे पूछा। उनके पूछनेपर कौशिकने सच्ची बात कह दी। पता लग जानेपर उन निर्दयी डाकुओंने उन लोगोंको पकड़कर मार डाला। इस प्रकार सत्य बोलनेके कारण लोगोंकी हिंसा हो जानेसे उस पापके फलस्वरूप कौशिकको नरक जाना पड़ा।

* धर्मकी गति सूक्ष्म होनेके कारण देखनेमें विपरीतता दीखती है; किंतु वास्तवमें वह पूर्वकृत कर्मोंका फल है।

दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

विषयसेवनसे हानि, सत्संगसे लाभ और ब्राह्मी विद्याका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तस्तु विप्रेण धर्मव्याधो युधिष्ठिर ।
प्रत्युवाच यथा विप्रं तच्छृणुष्व नराधिप ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिर! ब्राह्मणके इस प्रकार पूछनेपर धर्मव्याधने उसे जैसा उत्तर दिया था, वह सब सुनाता हूँ, सुनो ।। १ ।।

व्याध उवाच

विज्ञानार्थं मनुष्याणां मनः पूर्वं प्रवर्तते ।
तत् प्राप्य कामं भजते क्रोधं च द्विजसत्तम ।। २ ।।

धर्मव्याधने कहा—द्विजश्रेष्ठ! इन्द्रियोंद्वारा किसी विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सबसे पहले मनुष्योंका मन प्रवृत्त होता है। उस विषयको प्राप्त कर लेनेपर मनका उसके प्रति राग या द्वेष हो जाता है ।। २ ।।

ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत् ।
इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासं च निषेवते ।। ३ ।।

जब किसी विषयमें राग होता है, तब मनुष्य उसे पानेके लिये प्रयत्नशील होता है और उसके लिये बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ करता है। जब वे अभीष्ट रूप, गन्ध आदि विषय प्राप्त हो जाते हैं, तब वह उनका बारंबार सेवन करता है ।। ३ ।।

ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम् ।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम् ।। ४ ।।

उनके सेवनसे विषयोंके प्रति उत्कट राग प्रकट होता है। फिर उसकी प्रतिकूलतामें द्वेष होता है; द्वेषके अनन्तर अभीष्ट वस्तुके प्रति लोभका प्रादुर्भाव होता है। तत्पश्चात् बुद्धिपर मोह छा जाता है ।। ४ ।।

ततो लोभाभिभूतस्य रागद्वेषहतस्य च ।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद् धर्मं करोति च ।। ५ ।।

इस प्रकार लोभसे आक्रान्त और राग-द्वेषसे पीड़ित मनुष्यकी बुद्धि धर्ममें नहीं लगती। यदि वह धर्म करता भी है तो कोई बहाना लेकर ।। ५ ।।

व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते ।
व्याजेन सिध्यमानेषु धनेषु द्विजसत्तम ।। ६ ।।

तत्रैव रमते बुद्धिस्ततः पापं चिकीर्षति ।

जो किसी बहानेसे धर्माचरण करता है, वह वास्तवमें धर्मकी आड़ लेकर धन चाहता है। द्विजश्रेष्ठ! जब धर्मके बहानेसे धनकी प्राप्ति होने लगती है, तब उसकी बुद्धि उसीमें रम जाती है और उसके मनमें पापकी इच्छा जाग उठती है ।। ६ १/२ ।।

सुहृद्भिर्वार्यमाणश्च पण्डितैश्च द्विजोत्तम ।। ७ ।।
उत्तरं श्रुतिसम्बद्धं ब्रवीत्यश्रुतियोजितम् ।

विप्रवर! जब उसे हितैषी मित्र तथा विद्वान् पुरुष ऐसा करनेसे रोकते हैं, तब वह उसके समर्थनमें अशास्त्रीय उत्तर देते हुए भी उसे वेद-प्रतिपादित बताता है ।। ७ १/२ ।।

अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्तते रागदोषजः ।। ८ ।।
पापं चिन्तयते चैव ब्रवीति च करोति च ।
तस्याधर्मप्रवृत्तस्य गुणा नश्यन्ति साधवः ।। ९ ।।

रागरूपी दोषके कारण उसके द्वारा तीन प्रकारके अधर्म होने लगते हैं—१. वह मनसे पापका चिन्तन करता है, २. वाणीसे पापकी ही बात बोलता है और ३. क्रियाद्वारा भी पापका ही आचरण करता है। इस प्रकार अधर्ममें लग जानेपर उसके सभी अच्छे गुण नष्ट हो जाते हैं ।। ८-९ ।।

एकशीलैश्च मित्रत्वं भजन्ते पापकर्मिणः ।
स तेन दुःखमाप्नोति परत्र च विपद्यते ।। १० ।।

वह अपने ही-जैसे स्वभाववाले पापपरायण मनुष्योंसे मित्रता स्थापित कर लेता है। उस पापसे इस लोकमें तो दुःख होता ही है, परलोकमें भी उसे बड़ी विपत्ति भोगनी पड़ती है ।। १० ।।

पापात्मा भवति ह्येवं धर्मलाभं तु मे शृणु ।
यस्त्वेतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति ।। ११ ।।
कुशलः सुखदुःखेषु साधूंश्चाप्युपसेवते ।
तस्य साधुसमारम्भाद् बुद्धिर्धर्मेषु राजते ।। १२ ।।

इस प्रकार मनुष्य पापात्मा हो जाता है। अब धर्मकी प्राप्ति कैसे होती है, इसको मुझसे सुनो। जो दुःख और सुखके विवेचनमें कुशल है वह अपनी बुद्धि इन विषयसम्बन्धी दोषोंको पहले ही समझ लेता है। अतः उनसे दूर हटकर श्रेष्ठ पुरुषोंका संग करता है और उस श्रेष्ठसंगसे उसकी बुद्धि धर्ममें लग जाती है ।। ११-१२ ।।

ब्राह्मण उवाच

ब्रवीषि सूनृतं धर्म्यं यस्य वक्ता न विद्यते ।
दिव्यप्रभावः सुमहानृषिरेव मतोऽसि मे ।। १३ ।।

ब्राह्मण बोला—धर्मव्याध! तुम धर्मके विषयमें बड़ी मधुर और प्रिय बातें कह रहे हो। इन बातोंको बतानेवाला दूसरा कोई नहीं है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम कोई दिव्य प्रभावसे सम्पन्न महान् ऋषि ही हो ।। १३ ।।

व्याध उवाच

ब्राह्मणा वै महाभागाः पितरोऽग्रभुजः सदा ।
तेषां सर्वात्मना कार्यं प्रियं लोके मनीषिणा ।। १४ ।।

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन्! महाभाग ब्राह्मण और पितर ये सदा प्रथम भोजनके अधिकारी माने गये हैं। अतः बुद्धिमान् पुरुषको इस लोकमें सब प्रकारसे उनका प्रिय करना चाहिये ।। १४ ।।

यत् तेषां च प्रियं तत् ते वक्ष्यामि द्विजसत्तम ।
नमस्कृत्वा ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मीं विद्यां निबोध मे ।। १५ ।।

विप्रवर! उन ब्राह्मणोंको नमस्कार करके उनके लिये जो प्रिय वस्तु है, उसका वर्णन करता हूँ। तुम मुझसे ब्राह्मी विद्या श्रवण करो ।। १५ ।।

इदं विश्वं जगत् सर्वमजय्यं चापि सर्वशः ।
महाभूतात्मकं ब्रह्म नातः परतरं भवेत् ।। १६ ।।

पञ्चमहाभूतोंसे बना हुआ यह सम्पूर्ण चराचर जगत् सब प्रकारसे अजेय ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मसे उत्कृष्ट दूसरी कोई वस्तु नहीं है ।। १६ ।।

महाभूतानि खं वायुरग्निरापस्तथा च भूः ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।। १७ ।।

आकाश, वायु अग्नि, जल तथा पृथिवी—ये पाँच महाभूत हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये क्रमशः उनके विशेष गुण हैं ।। १७ ।।

तेषामपि गुणाः सर्वे गुणवृत्तिः परस्परम् ।
पूर्वपूर्वगुणाः सर्वे क्रमशो गुणिषु त्रिषु ।। १८ ।।

उन शब्द आदि गुणोंके भी अनेक गुण-भेद हैं, क्योंकि इन गुणोंका परस्पर संक्रमण भी देखा जाता है। पहले-पहलेके सभी गुण क्रमशः बादवाले तीन गुणवान् भूतों (अग्नि, जल और पृथ्वी)-में उपलब्ध होते हैं, अर्थात् अग्निमें शब्द, स्पर्श और रूप; जलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाये जाते हैं ।। १८ ।।

षष्ठस्तु चेतना नाम मन इत्यभिधीयते ।
सप्तमी तु भवेद् बुद्धिरहंकारस्ततः परम् ।। १९ ।।

इन पाँच भूतोंके अतिरिक्त छठा तत्त्व है चित्त; इसीको मन कहते हैं। सातवाँ तत्त्व बुद्धि है और उसके बाद आठवाँ अहंकार है ।। १९ ।।

इन्द्रियाणि च पञ्चात्मा रजः सत्त्वं तमस्तथा ।

इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ।। २० ।।

इनके सिवा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण और सत्त्व, रज, तम—इन सत्रह तत्त्वोंका समूह अव्यक्त कहलाता है ।। २० ।।

सर्वैरिहेन्द्रियार्थैस्तु व्यक्ताव्यक्तैः सुसंवृतैः ।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गुणः ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।। २१ ।।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन और बुद्धिके जो व्यक्त और अव्यक्त विषय हैं, जो बुद्धिरूपी गुहामें छिपे रहते हैं, उन्हें सम्मिलित करनेसे चौबीस तत्त्व होते हैं। इन तत्त्वोंका समुदाय ही व्यक्त और अव्यक्तरूप गुण है। (यह सब-का-सब ब्रह्मस्वरूप है।) ब्राह्मण! इस प्रकार ये सब बातें मैंने तुम्हें बतायी हैं, अब और क्या सुनना चाहते हो? ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्ये दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणमाहात्म्यविषयक दो सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१० ।।

एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

पञ्चमहाभूतोंके गुणोंका और इन्द्रियनिग्रहका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तः स विप्रस्तु धर्मव्याधेन भारत ।
कथामकथयद् भूयो मनसः प्रीतिवर्धनीम् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतनन्दन! धर्मव्याधके इस प्रकार उपदेश देनेपर कौशिक ब्राह्मणने पुनः मनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाली वार्ता प्रारम्भ की ।। १ ।।

ब्राह्मण उवाच

महाभूतानि यान्याहुः पञ्च धर्मभृतां वर ।
एकैकस्य गुणान् सम्यक् पञ्चानामपि मे वद ।। २ ।।

ब्राह्मण बोला—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ व्याध! जो पाँच महाभूत कहे जाते हैं, उन पाँचोंमेंसे प्रत्येकके गुणोंका मुझसे भलीभाँति वर्णन करो ।। २ ।।

व्याध उवाच

भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाशमेव च ।
गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां वक्ष्यामि ते गुणान् ।। ३ ।।

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन्! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये सब पूर्व-पूर्ववाले तत्त्व अपनेसे उत्तर-उत्तरवालोंके गुणोंसे युक्त हैं। मैं उनके गुणोंका वर्णन करता हूँ ।। ३ ।।

भूमिः पञ्चगुणा ब्रह्मन्नुदकं च चतुर्गुणम् ।
गुणास्त्रयस्तेजसि च त्रयश्चाकाशवातयोः ।। ४ ।।

विप्रवर! पृथ्वीमें पाँच गुण हैं, जल चार गुणोंसे युक्त है, तेजमें तीन गुण होते हैं, वायुमें दो और आकाशमें एक गुण है ।। ४ ।।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एते गुणाः पञ्च भूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तरा ।। ५ ।।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये भूमिके पाँच गुण हैं। इस प्रकार भूमि अन्य सब भूतोंकी अपेक्षा अधिक गुणवती है ।। ५ ।।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्चापि द्विजोत्तम ।
अपामेते गुणा ब्रह्मन् कीर्तितास्तव सुव्रत ।। ६ ।।

द्विजश्रेष्ठ! शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चार जलके गुण हैं। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण! इनका वर्णन पहले भी आपसे किया गया है ॥ ६ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः ।
शब्दः स्पर्शश्च वायौ तु शब्दश्चाकाश एव तु ॥ ७ ॥

शब्द, स्पर्श तथा रूप—ये तेजके तीन गुण हैं, शब्द और स्पर्श—ये दो गुण वायुके हैं तथा आकाशमें एक ही गुण है—शब्द ॥ ७ ॥

एते पञ्चदश ब्रह्मन् गुणा भूतेषु पञ्चसु ।
वर्तन्ते सर्वभूतेषु येषु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ८ ॥

ब्रह्मन्! इस प्रकार पाँचों भूतोंमें ये पंद्रह गुण बताये गये हैं। इन्हींमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं ॥ ८ ॥

अन्योन्यं नातिवर्तन्ते सम्यक् च भवति द्विज ।
यदा तु विषमं भावमाचरन्ति चराचराः ॥ ९ ॥
तदा देही देहमन्यं व्यतिरोहति कालतः ।
आनुपूर्व्या विनश्यन्ति जायन्ते चानुपूर्वशः ॥ १० ॥

विप्रवर! ये पाँच भूत एक-दूसरेके बिना नहीं रह सकते। परस्पर मिलकर ही भलीभाँति प्रकाशित होते हैं। जिस समय व्यक्त और अव्यक्त पाँचों भूत विषम-भावको प्राप्त होते हैं, उस समय यह जीव कालकी प्रेरणासे अपने संकल्पानुसार दूसरे शरीरको प्राप्त हो जाता है। ये पाँचों भूत मृत्युकालमें प्रतिलोमक्रमसे विलीन हो जाते हैं और उत्पत्तिकालमें अनुलोमक्रमसे उत्पन्न होते हैं ॥ ९-१० ॥

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः ।
यैरावृतमिदं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥ ११ ॥

विभिन्न शरीरोंमें जितने रक्त आदि धातु दिखायी देते हैं, वे सब पाँच भूतोंके ही परिणाम हैं, जिनसे यह समस्त चराचर जगत् व्याप्त है ॥ ११ ॥

इन्द्रियैः सृज्यते यद् यत् तत् तद् व्यक्तमिति स्मृतम् ।
तदव्यक्तमिति ज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ १२ ॥

बाह्य इन्द्रियोंसे जिस-जिसका संसर्ग होता है, वह-वह व्यक्त माना गया है; परंतु जो विषय इन्द्रियग्राह्य नहीं है, केवल अनुमानसे जाना जाता है, उसे अव्यक्त समझना चाहिये ॥ १२ ॥

यथास्वं ग्राहकाण्येषां शब्दादीनामिमानि तु ।
इन्द्रियाणि यदा देही धारयन्निव तप्यते ॥ १३ ॥

अपने-अपने विषयोंका अतिक्रमण न करके इन शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन इन्द्रियोंको जब आत्मा अपने वशमें करता है, तब मानो वह तपस्या करता है ॥ १३ ॥

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यति ।
परावरज्ञो यः शक्तः स तु भूतानि पश्यति ।। १४ ।।

वह सम्पूर्ण लोकोंमें अपनेको व्याप्त और अपनेमें सम्पूर्ण लोकोंको स्थित देखता है। इस प्रकार जो निर्गुण ब्रह्मको जाननेवाला समर्थ ज्ञानी पुरुष है, वह सम्पूर्ण भूतोंको आत्मरूपसे देखता है ।। १४ ।।

पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते ।। १५ ।।

सब अवस्थाओंमें सदा समस्त भूतोंको आत्मरूपसे देखनेवाले उस ब्रह्मस्वरूप ज्ञानीका कभी भी अशुभ कर्मोंसे सम्पर्क होना सम्भव नहीं है ।। १५ ।।

अज्ञानमूलं तं क्लेशमतिवृत्तस्य पौरुषम् ।
लोकवृत्तिप्रकाशेन ज्ञानमार्गेण गम्यते ।। १६ ।।

उस (पूर्वोक्त) अज्ञानजनित क्लेशसे जो पार हो गया है, उस महापुरुषका प्रभाव उसके द्वारा की जानेवाली लौकिक चेष्टाओंसे ज्ञानमार्गके द्वारा जाना जा सकता है ।। १६ ।।

अनादिनिधनं जन्तुमात्मयोनिं सदाव्ययम् ।
अनौपम्यममूर्तं च भगवानाह बुद्धिमान् ।। १७ ।।

बुद्धिमान् भगवान् ब्रह्माने (अपने निःश्वासभूत वेदोंके द्वारा) मुक्त जीवको आदि-अन्तसे रहित, स्वयम्भू, अविकारी, अनुपम तथा निराकार बताया है ।। १७ ।।

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां विप्रानुपृच्छसि ।
इन्द्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नान्यथा ।। १८ ।।

विप्रवर! आप मुझसे जो कुछ पूछते हैं, उसके उत्तरमें मैं यह बता रहा हूँ कि इस सबका मूल तप है। इन्द्रियोंका संयम करनेसे ही वह तपस्या सम्पन्न होती है, और किसी प्रकारसे नहीं ।। १८ ।।

इन्द्रियाण्येव तत् सर्वं यत् स्वर्गनरकावुभौ ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ।। १९ ।।

स्वर्ग और नरक आदि जो कुछ भी है, वह सब इन्द्रियाँ ही हैं, अर्थात् इन्द्रियाँ ही उनकी कारण हैं। वशमें की हुई इन्द्रियाँ स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली हैं और जिन्हें विषयोंकी ओर खुला छोड़ दिया गया है, वे इन्द्रियाँ नरकमें डालनेवाली हैं ।। १९ ।।

एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम् ।
एतन्मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च ।। २० ।।

योगका सम्पूर्णरूपसे अनुष्ठान यही है कि मनसहित समस्त इन्द्रियोंको काबूमें रखा जाय। यही सारी तपस्याका मूल है, और इन्द्रियोंको वशमें न रखना ही नरकका हेतु है ।।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमार्च्छन्त्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं समाप्नुयात् ।। २१ ।।

इन्द्रियोंके संसर्गसे ही मनुष्य निःसंदेह दुर्गुण-दुराचार आदि दोषोंको प्राप्त होते हैं। उन्हीं इन्द्रियोंको अच्छी तरह वशमें कर लेनेपर उन्हें सर्वथा सिद्धि प्राप्त हो सकती है ।। २१ ।।

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति ।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ।। २२ ।।

जो अपने शरीरमें ही सदा विद्यमान रहनेवाले मनसहित छहों इन्द्रियोंपर अधिकार पा लेता है वह जितेन्द्रिय पुरुष पापोंमें नहीं लगता। फिर पापजनित अनर्थोंसे तो उसका संयोग ही कैसे हो सकता है? ।।

रथः शरीरं पुरुषस्य दृष्ट-
मात्मा नियन्तेन्द्रियाण्याहुरश्वान् ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ।। २३ ।।

पुरुषका यह प्रत्यक्ष देखनेमें आनेवाला स्थूल शरीर रथ है। आत्मा (बुद्धि) सारथि है और इन्द्रियोंको अश्व बताया गया है। जैसे कुशल, सावधान एवं धीर रथी उत्तम घोड़ोंको अपने वशमें रखकर उनके द्वारा सुखपूर्वक मार्ग तै करता है, उसी प्रकार सावधान, धीर एवं साधन-कुशल पुरुष इन्द्रियोंको वशमें करके सुखसे जीवन-यात्रा पूर्ण करता है ।। २३ ।।

षण्णामात्मनि युक्तानामिन्द्रियाणां प्रमाथिनाम् ।
यो धीरो धारयेद् रश्मीन् स स्यात् परमसारथिः ।। २४ ।।

जो धीर पुरुष अपने शरीरमें नित्य विद्यमान छः प्रमथनशील इन्द्रियरूपी अश्वोंकी बागडोर सँभालता है, वही उत्तम सारथि हो सकता है ।। २४ ।।

इन्द्रियाणां प्रसृष्टानां हयानामिव वर्त्मसु ।
धृतिं कुर्वीत सारथ्ये धृत्या तानि जयेद् ध्रुवम् ।। २५ ।।

सड़कपर दौड़नेवाले घोड़ोंकी तरह विषयोंमें विचरनेवाली इन इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये धैर्यपूर्वक प्रयत्न करे। धैर्यपूर्वक उद्योग करनेवालेको उनपर अवश्य विजय प्राप्त होती है ।। २५ ।।

इन्द्रियाणां विचरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरते बुद्धिं नावं वायुरिवाम्भसि ।। २६ ।।

जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है ।। २६ ।।

येषु विप्रतिपद्यन्ते षट्सु मोहात् फलागमम् ।
तेष्वध्यवसिताध्यायी विन्दते ध्यानजं फलम् ।। २७ ।।

सभी मनुष्य इन छः इन्द्रियोंके शब्द आदि विषयोंमें उनसे प्राप्त होनेवाले सुखरूप फल पानेके सम्बन्धमें मोहसे संशयमें पड़ जाते हैं। परंतु जो उनके दोषोंका अनुसंधान करनेवाला वीतराग पुरुष है, वह उनका निग्रह करके ध्यानजनित आनन्दका अनुभव करता है ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २११ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २११ ।।

द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

तीनों गुणोंके स्वरूप और फलका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवं तु सूक्ष्मे कथिते धर्मव्याधेन भारत ।
ब्राह्मणः स पुनः सूक्ष्मं पप्रच्छ सुसमाहितः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भारत! इस प्रकार धर्मव्याधके द्वारा सूक्ष्म तत्त्वका निरूपण होनेपर कौशिक ब्राह्मणने एकाग्रचित्त होकर पुनः एक सूक्ष्म प्रश्न उपस्थित किया ।। १ ।।

ब्राह्मण उवाच

सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च यथातथम् ।
गुणांस्तत्त्वेन मे ब्रूहि यथावदिह पृच्छतः ।। २ ।।

ब्राह्मण बोला—व्याध! मैं यहाँ यथोचितरूपसे एक प्रश्न उपस्थित करता हूँ। वह यह है कि सत्त्व, रज और तमका गुण (स्वरूप) क्या है? यह मुझे यथार्थरूपसे बताओ ।। २ ।।

व्याध उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
एषां गुणान् पृथक्त्वेन निबोध गदतो मम ।। ३ ।।

धर्मव्याधने कहा—ब्रह्मन्! आप मुझसे जो बात पूछ रहे हैं, मैं अब उसे कहूँगा। सत्त्व, रज और तम—इन तीनोंके गुणोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करता हूँ, सुनिये ।। ३ ।।

मोहात्मकं तमस्तेषां रज एषां प्रवर्तकम् ।
प्रकाशबहुलत्वाच्च सत्त्वं ज्याय इहोच्यते ।। ४ ।।

इन तीनों गुणोंमें जो तमोगुण है वह मोहात्मक—मोह उत्पन्न करनेवाला है। रजोगुण कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाला है। परंतु सत्त्वगुणमें प्रकाशकी बहुलता है, इसलिये वह सबसे श्रेष्ठ कहा जाता है ।। ४ ।।

अविद्याबहुलो मूढः स्वप्नशीलो विचेतनः ।
दुर्हृषीकस्तमोध्वस्तः सक्रोधस्तामसोऽलसः ।। ५ ।।

जिसमें अज्ञानकी बहुलता है, जो मूढ़ (मोहग्रस्त) और अचेत होकर सदा नींद लेता रहता है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें न होनेके कारण दूषित हैं, जो अविवेकी, क्रोधी और आलसी है, ऐसे मनुष्यको तमोगुणी जानना चाहिये ।। ५ ।।

प्रवृत्तवाक्यो मन्त्री च यो नराग्रयोऽनसूयकः ।
विधित्समानो विप्रर्षे स्तब्धो मानी स राजसः ।। ६ ।।

ब्रह्मर्षे! जो प्रवृत्तिमार्गकी ही बातें करनेवाला, सलाह देनेमें कुशल और दूसरोंके गुणोंमें दोष न देखनेवाला है; जो सदा कुछ-न-कुछ करनेकी इच्छा रखता है, जिसमें कठोरता और अभिमानकी अधिकता है, वह मनुष्योंपर रोब जमानेवाला पुरुष रजोगुणी कहा गया है ।। ६ ।।

प्रकाशबहुलो धीरो निर्विधित्सोऽनसूयकः ।
अक्रोधनो नरो धीमान् दान्तश्चैव स सात्त्विकः ।। ७ ।।

जिसमें प्रकाश (ज्ञान)-की बहुलता है, जो धीर और नये-नये कार्य आरम्भ करनेकी उत्सुकतासे रहित है, जिसमें दूसरोंके दोष देखनेकी प्रवृत्तिका अभाव है जो क्रोधशून्य, बुद्धिमान् और जितेन्द्रिय है, वह मनुष्य सात्त्विक माना जाता है ।। ७ ।।

सात्त्विकस्त्वथ सम्बुद्धो लोकवृत्तेन क्लिश्यते ।
यदा बुध्यति बोद्धव्यं लोकवृत्तं जुगुप्सते ।। ८ ।।

सात्त्विक पुरुष ज्ञानसम्पन्न हो रजोगुण और तमोगुणके कार्यभूत लौकिक व्यवहारमें पड़नेका कष्ट नहीं उठाता। वह जब जाननेयोग्य तत्त्वको जान लेता है, तब उसे सांसारिक व्यवहारसे ग्लानि हो जाती है ।। ८ ।।

वैराग्यस्य च रूपं तु पूर्वमेव प्रवर्तते ।
मृदुर्भवत्यहङ्कारः प्रसीदत्यार्जवं च यत् ।। ९ ।।

सात्त्विक पुरुषमें वैराग्यका लक्षण पहले ही प्रकट हो जाता है। उसका अहंकार ढीला पड़ जाता है और सरलता प्रकाशमें आने लगती है ।। ९ ।।

ततोऽस्य सर्वद्वन्द्वानि प्रशाम्यन्ति परस्परम् ।
न चास्य संशयो नाम क्वचिद् भवति कश्चन ।। १० ।।

तदनन्तर इसके राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण द्वन्द्व परस्पर शान्त हो जाते हैं। इसके हृदयमें कभी कोई संशय नहीं उठता ।। १० ।।

शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः ।
वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च ।। ११ ।।

ब्रह्मन्! शूद्रयोनिमें उत्पन्न मनुष्य भी यदि उत्तम गुणोंका आश्रय ले, तो वह वैश्य तथा क्षत्रियभावको प्राप्त कर लेता है ।। ११ ।।

आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते ।
गुणास्ते कीर्तिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।। १२ ।।

जो ‘सरलता’ नामक गुणमें प्रतिष्ठित है, उसे ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मन्! इस प्रकार मैंने आपसे सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन किया है, अब और क्या सुनना चाहते हैं? ।। १२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१२ ।।

त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

प्राणवायुकी स्थितिका वर्णन तथा परमात्म-साक्षात्कारके उपाय

ब्राह्मण उवाच

पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं भवेत् ।
अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः ।। १ ।।

ब्राह्मणने पूछा—व्याध! शरीरमें रहनेवाला अग्निस्वरूप प्राण पार्थिव धातुका अवलम्बन करके कैसे रहता है? और प्राणवायु नाड़ियोंके मार्गविशेषके द्वारा किस प्रकार (रस-रक्तादिका) संचालन करता है? ।। १ ।।

मार्कण्डेय उवाच

प्रश्नमेतं समुद्दिष्टं ब्राह्मणेन युधिष्ठिर ।
व्याधस्तु कथयामास ब्राह्मणाय महात्मने ।। २ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ब्राह्मणके द्वारा उपस्थित किये गये इस प्रश्नको सुनकर धर्मव्याधने उन महामना ब्राह्मणसे इस प्रकार कहा— ।। २ ।।

व्याध उवाच

मूर्धानमाश्रितो वह्निः शरीरं परिपालयन् ।
प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते ।। ३ ।।

धर्मव्याध बोला—ब्रह्मन्! प्राणीके शरीरको सुरक्षित रखता हुआ अग्निस्वरूप उदान वायु मस्तकका आश्रय लेकर शरीरमें रहता है एवं मुख्य प्राण मस्तक और उदानवायु—इन दोनोंमें स्थित हुआ समस्त शरीरमें जीवनका संचार करता है[1] ।। ३ ।।

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम् ।
श्रेष्ठं तदेव भूतानां ब्रह्मयोनिमुपास्महे ।। ४ ।।

भूत, वर्तमान और भविष्य—सब कुछ प्राणके ही आश्रित है, वह प्राण ही समस्त भूतोंमें श्रेष्ठ है।[2] अतः परब्रह्मसे उत्पन्न होनेवाले प्राणकी हम सब उपासना करते हैं[3] ।। ४ ।।

स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः ।
महान् बुद्धिरहङ्कारो भूतानां विषयश्च सः ।। ५ ।।

वह प्राण ही जीव है, वही समस्त प्राणियोंका आत्मा है, वही सनातन पुरुष है, महत्तत्त्व, बुद्धि और अहंकार तथा पाँचों भूतोंके कार्यरूप इन्द्रियाँ और उनके विषय सब

कुछ वही है (क्योंकि इस शरीरमें सबकी स्थिति उसीके आश्रित है और भविष्यमें मिलनेवाले शरीरमें जाना-आना भी इसीके आश्रित रहकर होता है। इसलिये यह प्राणकी स्तुति की गयी है)[४] ।। ५ ।।

(अव्यक्तं सत्त्वसंज्ञं च जीवः कालः स चैव हि ।
प्रकृतिः पुरुषश्चैव प्राण एव द्विजोत्तम ।।
जागर्ति स्वप्नकाले च स्वप्ने स्वप्नायते च सः ।

द्विजश्रेष्ठ! प्राण ही अव्यक्त, सत्त्व, जीव, काल, प्रकृति और पुरुष है। वही जाग्रत्-अवस्थामें जागता है। वही स्वप्नकालमें स्वप्न-जगत्का निर्माण करके स्वप्नावस्थाकी सारी चेष्टाएँ करता है ।।

जाग्रत्सु बलमाधत्ते चेष्टत्सु चेष्टयत्यपि ।।
तस्मिन् निरुद्धे विप्रेन्द्र मृत इत्यभिधीयते ।
त्यक्त्वा शरीरं भूतात्मा पुनरन्यत् प्रपद्यते ।।)

वही जाग्रत्कालमें बलका आधान करता है और चेष्टाशील प्राणियोंमें चेष्टा उत्पन्न करता है। विप्रवर! उस प्राणका निरोध हो जानेपर ही प्रत्येक जीव मरा हुआ कहलाता है। भूतात्मा प्राण एक शरीरको छोड़कर फिर दूसरे शरीरमें प्रविष्ट हो जाता है ।।

एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिपाल्यते ।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः ।। ६ ।।

इस प्रकार इस जगत्में सर्वत्र प्राणकी स्थिति है। प्राणके द्वारा ही सबका पालन होता है। पीछे वही प्राण जब समानवायु भावको प्राप्त होता है तब अपनी-अपनी पृथक् गतिका आश्रय लेता है ।। ६ ।।

बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः ।
वहन् मूत्रं पूरीषं वाऽप्यपानः परिवर्तते ।। ७ ।।

समानवायुके रूपमें जठराग्निका आश्रय ले वह प्राण जब मूत्राशय और गुदामें स्थित होता है, उस समय मल और मूत्रका भार वहन करनेके कारण वह अपानवायुके नामसे विख्यात हो संचरण करता है ।। ७ ।।

प्रयत्ने कर्मणि बले स एष त्रिषु वर्तते ।
उदानमिति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः ।। ८ ।।

वही प्राण जब प्रयत्न (काम करनेकी चेष्टा), कर्म (उत्क्षेपण और गमन आदि) तथा बल (बोझ उठानेकी शक्ति)—इन तीन विषयोंमें प्रवृत्त होता है, तब अध्यात्मवेत्ता मनुष्य उसे उदान कहते हैं ।। ८ ।।

संधौ संधौ संनिविष्टः सर्वेष्वपि तथानिलः ।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ।। ९ ।।

वही जब मनुष्य-शरीरके प्रत्येक संधिस्थलमें व्याप्त होकर रहता है, तब उसे व्यान कहते हैं ।। ९ ।।

धातुष्वग्निस्तु विततः स तु वायुसमीरितः ।
रसान् धातूंश्च दोषांश्च वर्तयन् परिधावति ।। १० ।।

त्वचा आदि सब धातुओंमें जठरानल व्याप्त है। वह प्राण आदि वायुओंसे प्रेरित होकर अन्न आदि रसों, त्वचा आदि धातुओं तथा पित्त आदि दोषोंको परिपक्व करता हुआ समूचे शरीरमें दौड़ा करता है ।। १० ।।

प्राणानां संनिपातात् तु संनिपातः प्रजायते ।
ऊष्मा चाग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम् ।। ११ ।।

प्राण आदि वायुओंके परस्पर मिलनेसे एक संघर्ष उत्पन्न होता है, उससे प्रकट होनेवाले उत्तापको ही जठरानल समझना चाहिये। वही देहधारियोंके खाये हुए अन्नको पचाता है ।। ११ ।।

समानोदानयोर्मध्ये प्राणापानौ समाहितौ ।
समर्थितस्त्वधिष्ठानं सम्यक् पचति पावकः ।। १२ ।।

समान और उदान वायुओंके बीचमें प्राण और अपानवायुकी स्थिति है। उनके संघर्षसे उत्पन्न जठरानल अन्नको पचाता है और उसके रससे इस शरीरको भलीभाँति पुष्ट करता है* ।। १२ ।।

अस्यापि पायुपर्यन्तस्तथा स्याद् गुदसंज्ञितः ।
स्रोतांसि तस्माज्जायन्ते सर्वप्राणेषु देहिनाम् ।। १३ ।।

इस जठरानलका स्थान नाभिसे लेकर पायुतक है। इसीको ‘गुदा’ कहते हैं। उस गुदासे देहधारियोंके समस्त प्राणोंमें स्रोत (नाडीमार्ग) प्रकट होते हैं ।। १३ ।।

अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते ।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम् ।। १४ ।।

गुदासे प्राण अग्निके वेगको लेकर गुदान्तमें टकराता है, फिर वहाँसे ऊपरको उठकर वह जठराग्निको भी ऊपर उठाता है ।। १४ ।।

पक्वाशयस्त्वधो नाभ्यामूर्ध्वमामाशयः स्थितः ।
नाभिमध्ये शरीरस्य प्राणाः सर्वे प्रतिष्ठिताः ।। १५ ।।

नाभिके नीचे पक्वाशय (पके हुए भोजनका स्थान) है और ऊपर आमाशय (कच्चे भोजनका स्थान) है। शरीरमें स्थित समस्त प्राण नाभिमें ही प्रतिष्ठित हैं—वही उनका केन्द्रस्थान है ।। १५ ।।

प्रवृत्ता हृदयात् सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो दशप्राणप्रचोदिताः ।। १६ ।।

नाड़ियाँ हृदयसे नीचे-ऊपर और इधर-उधर फैली हुई हैं। वे दस प्राणवायुओंसे प्रेरित हो शरीरके सब भागोंमें अन्नके रसोंको पहुँचाती रहती हैं ।। १६ ।।

योगिनामेष मार्गस्तु येन गच्छन्ति तत् परम् ।
जितक्लमाः समा धीरा मूर्धन्यात्मानमादधुः ।
एवं सर्वेषु विततौ प्राणापानौ हि देहिषु ।। १७ ।।

जिन्होंने समस्त क्लेशोंको जीत लिया है, जो समदर्शी और धीर हैं, जिन्होंने (सुषुम्णा नाड़ीके द्वारा) अपने प्राणमय आत्माको मस्तक (वर्ती सहस्रारचक्र)-में ले जाकर स्थापित किया है, उन योगियोंके लिये यह (मस्तकसे लेकर पायुतकका सुषुम्णामय) मार्ग है, जिससे वे उस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार समस्त जीवात्माओंके शरीरोंमें ये प्राणवायु और अपानवायु व्याप्त हैं ।। १७ ।।

(तावग्निसहितौ ब्रह्मन् विद्धि वै प्राणमात्मनि ।)
एकादशविकारात्मा कलासम्भारसम्भृतः ।
मूर्तिमन्तं हि तं विद्धि नित्यं योगजितात्मकम् ।। १८ ।।

ब्रह्मन्! वे प्राण और अपान जठरानलके साथ रहते हैं। प्राणको आत्मामें स्थित जानिये। आत्मा एकादश इन्द्रियरूप विकारोंसे युक्त, षोडश* कलाओंके समूहसे सम्पन्न, शरीरको धारण करनेवाला तथा नित्य है। उसने योगबलसे मन-बुद्धिको अपने अधीन कर रखा है। इस प्रकार आत्माके सम्बन्धमें आपको जानना चाहिये ।। १८ ।।

तस्मिन् यः संस्थितो ह्यग्निर्नित्यं स्थाल्यामिवाहितः ।
आत्मानं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ।। १९ ।।

जैसे बटलोईमें आग रखी गयी हो, उसी प्रकार पूर्वोक्त कला-समूहरूप शरीरमें प्रकाशस्वरूप आत्मा सदा विद्यमान रहता है। आप उसे जानिये। वह नित्य तथा योगशक्तिसे मन-बुद्धिको अपने अधीन रखनेवाला है ।। १९ ।।

देवो यः संस्थितस्तस्मिन्नब्बिन्दुरिव पुष्करे ।
क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम् ।। २० ।।

जैसे कमलके पत्तेपर पड़ी हुई जलकी बूँद निर्लिप्त होती है, उसी प्रकार ये आत्मदेव कलात्मक शरीरमें असंगभावसे स्थित हैं। वे ही क्षेत्रज्ञ हैं, आप उन्हें जानिये। वे योगसे अपने मन और बुद्धिपर अधिकार प्राप्त करनेवाले तथा नित्य हैं ।। २० ।।

जीवात्मकानि जानीहि रजः सत्त्वं तमस्तथा ।
जीवमात्मगुणं विद्धि तथाऽऽत्मानं परात्मकम् ।। २१ ।।

ब्रह्मन्! आप यह जान लें कि सत्त्वगुण (प्रकाश), रजोगुण (प्रवृत्ति) और तमोगुण (मोह)—ये जीवात्मक हैं; अर्थात् जीवात्माके अन्तःकरणके विकार हैं, जीव आत्माका गुण (सेवक) है और आत्मा परमात्मस्वरूप है। भाव यह कि परमात्माको ही यहाँ आत्मा कहा गया है ।। २१ ।।

अचेतनं जीवगुणं वदन्ति
स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम् ।
ततः परं क्षेत्रविदो वदन्ति
प्राकल्पयद् यो भुवनानि सप्त ।। २२ ।।

शरीर-तत्त्वके ज्ञाता महात्मा पुरुष जड शरीर आदिको जीवका भोग्य बताते हैं। वह जीव शरीरके भीतर रहकर स्वयं चेष्टाशील होता है तथा शरीर और इन्द्रिय आदि सबको चेष्टाओंमें लगाता है। जिन्होंने सातों भुवनोंका निर्माण किया है, उन परमात्माको ज्ञानी पुरुष जीवात्मासे उत्कृष्ट बताते हैं ।। २२ ।।

एवं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा सम्प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया ज्ञानवेदिभिः ।। २३ ।।

इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा परमेश्वर समस्त प्राणियोंके भीतर प्रकाशित हो रहे हैं। ज्ञानी महात्मा अपनी श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा उन्हें देख पाते हैं ।। २३ ।।

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ।। २४ ।।

मनुष्य अपने चित्तकी पवित्रताके द्वारा ही समस्त शुभाशुभ कर्मोंको नष्ट (फल देनेमें असमर्थ) कर देता है। जिसका अन्तःकरण प्रसन्न (पवित्र) है, वह अपने-आपमें ही स्थित होकर अक्षय सुख (मोक्ष)-का भागी होता है ।। २४ ।।

लक्षणं तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत् ।
निवाते वा यथा दीपो दीप्येत् कुशलदीपितः ।। २५ ।।

जैसे भोजन आदिसे तृप्त हुआ मनुष्य सुखसे सोता है और जैसे वायुरहित स्थानमें चतुर मनुष्यके द्वारा जलाया हुआ दीप निश्चलभावसे प्रकाशित होता है; ऐसा ही लक्षण चित्तकी पवित्रताका भी है ।। २५ ।।

पूर्वरात्रे परे चैव युञ्जानः सततं मनः ।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यन्नात्मानमात्मनि ।। २६ ।।
प्रदीप्तेनेव दीपेन मनोदीपेन पश्यति ।
दृष्ट्वाऽऽत्मानं निरात्मानं स तदा विप्रमुच्यते ।। २७ ।।

मनुष्यको चाहिये कि वह हलका भोजन करे और अन्तःकरणको शुद्ध रखे। रातके पहले और पिछले पहरमें सदा अपना मन परमात्माके चिन्तनमें लगावे। जो इस प्रकार निरन्तर अपने हृदयमें परमात्माके साक्षात्कारका अभ्यास करता है, वह प्रज्वलित दीपकके समान प्रकाशित होनेवाले अपने मनोमय प्रदीपके द्वारा निराकार परमेश्वरका साक्षात्कार करके तत्काल मुक्त हो जाता है ।। २६-२७ ।।

सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
एतत् पवित्रं लोकानां तपो वै संक्रमो मतः ।। २८ ।।

सम्पूर्ण उपायोंसे लोभ और क्रोधकी वृत्तियोंको दबाना चाहिए। संसारमें यही पवित्र तप है और यही सबके लिये भवसागरसे पार उतारनेवाला सेतु माना गया है ।। २८ ।।

नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेद् धर्मं रक्षेच्च मत्सरात् ।
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ।। २९ ।।

सदा तपको क्रोधसे, धर्मको द्वेषसे, विद्याको मान-अपमानसे और अपने-आपको प्रमादसे बचाना चाहिये ।। २९ ।।

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम् ।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं व्रतपरं व्रतम् ।। ३० ।।

क्रूरताका अभाव (दया) सबसे महान् धर्म है, क्षमा सबसे बड़ा बल है, सत्य सबसे उत्तम व्रत है और परमात्माके तत्त्वका ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है ।। ३० ।।

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यं ज्ञानं हितं भवेत् ।
यद् भूतहितमत्यन्तं तद् वै सत्यं परं मतम् ।। ३१ ।।

सत्य बोलना सदा कल्याणकारी है। यथार्थ ज्ञान ही हितकारक होता है। जिससे प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो उसे ही उत्तम सत्य माना गया है ।। ३१ ।।

यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धनाः सदा ।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान् ।। ३२ ।।

जिसके सम्पूर्ण आयोजन कभी कामनाओंसे बँधे हुए नहीं होते तथा जिसने त्यागकी आगमें अपना सर्वस्व होम दिया है वही त्यागी और बुद्धिमान् है ।। ३२ ।।

यतो न गुरुरप्येनं श्रावयेदुपपादयेत् ।
तं विद्याद् ब्रह्मणो योगं वियोगं योगसंज्ञितम् ।। ३३ ।।

इसलिये दृश्य संसारसे वियोग करानेवाले और योग नामसे कहे जानेवाले इस ब्रह्मयोगको स्वयं जानना और सम्पादन करना चाहिये। गुरुको भी उचित है कि वह इसे अपात्र शिष्यके प्रति न सुनावे ।। ३३ ।।

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् ।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ।। ३४ ।।

किसी प्राणीकी हिंसा न करे। सबमें मित्रभाव रखते हुए विचरे। इस दुर्लभ मनुष्य-जीवनको पाकर किसीके साथ वैर न करे ।। ३४ ।।

आकिञ्चन्यं सुसंतोषो निराशित्वमचापलम् ।
एतदेव परं ज्ञानं सदात्मज्ञानमुत्तमम् ।। ३५ ।।

कुछ भी संग्रह न रखना, सभी दशाओंमें अत्यन्त संतुष्ट रहना तथा कामना और लोलुपताको त्याग देना—यही परम ज्ञान है और यही सत्यस्वरूप उत्तम आत्मज्ञान है ।। ३५ ।।

परिग्रहं परित्यज्य भवेद् बुद्ध्या यतव्रतः ।

अशोकं स्थानमाश्रित्य निश्चलं प्रेत्य चेह च ।। ३६ ।।

इहलोक और परलोकके समस्त भोगोंका एवं सब प्रकारके संग्रहका त्याग करके शोकरहित निश्चल परमधामको लक्ष्य बनाकर बुद्धिके द्वारा मन और इन्द्रियोंका संयम करे ।। ३६ ।।

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना ।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ।। ३७ ।।

जो जितेन्द्रिय है, जिसने मनपर अधिकार प्राप्त कर लिया है तथा जो अजित पदको जीतनेकी इच्छा करता है, नित्य तपस्यामें संलग्न रहनेवाले उस मुनिको आसक्ति-जनक भोगोंसे अलग—अनासक्त रहना चाहिये ।। ३७ ।।

गुणागुणमनासङ्गमेककार्यमनन्तरम् ।
एतत् तद् ब्रह्मणो वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ।। ३८ ।।

जो गुणमें रहता हुआ भी गुणोंसे रहित है, जो सर्वथा संगसे रहित है तथा जो एकमात्र अन्तरात्माके द्वारा ही साध्य है, जिसकी उपलब्धिमें अविद्याके सिवा और कोई व्यवधान नहीं है, वही ब्रह्मका अद्वितीय नित्य सिद्ध पद है और वही (निरतिशय) सुख है ।। ३८ ।।

परित्यजति यो दुःखं सुखं चाप्युभयं नरः ।
ब्रह्म प्राप्नोति सोऽत्यन्तमसङ्गेन च गच्छति ।। ३९ ।।

जो मनुष्य दुःख और सुख दोनोंको त्याग देता है, वही अनन्त ब्रह्मपदको प्राप्त होता है। अनासक्तिके द्वारा भी उसी पदकी प्राप्ति होती है ।। ३९ ।।

यथाश्रुतमिदं सर्वं समासेन द्विजोत्तम ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।। ४० ।।

द्विजश्रेष्ठ! मैंने यह सब जैसा सुना है, वैसा सब-का-सब थोड़ेमें आपसे कह सुनाया है। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं? ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मणव्याधसंवादविषयक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

---

[१]. देखिये प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ३ मन्त्र ९।
[२]. देखिये प्रश्नोपनिषद् २।२, ३ और उसके आगेका प्रकरण।
[३]. देखिये प्रश्नोपनिषद् ३।३ तथा २।७।
[४]. प्राणकी स्तुतिका वर्णन अथर्ववेदमें और प्रश्नोपनिषद्में बहुत आया है।

* तात्पर्य यह है कि हृदयमें रहनेवाला प्राण, नाभिमें रहनेवाले समानसे जाकर मिलता है। इसी तरह गुदामें रहनेवाला अपान कंठवर्ती उदानसे जा मिलता है, इस दशामें प्राण, अपान और समानका नाभिमें संघर्ष होनेसे जो अग्नि उत्पन्न होती है, उसे ही 'जठरानल' नाम दिया गया है। वही इस शरीरमें अन्नको पचाकर उसके रससे शरीरको पुष्ट करता है।

* प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक तथा नाम—ये सोलह कलाएँ हैं (देखिये प्रश्नोपनिषद् ६।४)।

चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

माता-पिताकी सेवाका दिग्दर्शन

मार्कण्डेय उवाच

एवं संकथिते कृत्स्ने मोक्षधर्मे युधिष्ठिर ।
दृढप्रीतमना विप्रो धर्मव्याधमुवाच ह ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! धर्मव्याधने जब इस प्रकार पूर्णरूपसे मोक्ष-धर्मका वर्णन किया, तब कौशिक ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न होकर उससे यों बोला ।। १ ।।

न्याययुक्तमिदं सर्वं भवता परिकीर्तितम् ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचिद् धर्मेष्विह हि दृश्यते ।। २ ।।

'तात! तुमने मुझसे जो कुछ कहा, यह सब न्याययुक्त है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ धर्मके विषयमें कोई ऐसी बात नहीं दिखायी देती जो तुम्हें ज्ञात न हो' ।। २ ।।

व्याध उवाच

प्रत्यक्षं मम यो धर्मस्तं च पश्य द्विजोत्तम ।
येन सिद्धिरियं प्राप्ता मया ब्राह्मणपुङ्गव ।। ३ ।।

धर्मव्याधने कहा—विप्रवर! अब मेरा जो प्रत्यक्ष धर्म है, जिसके प्रभावसे मुझे यह सिद्धि प्राप्त हुई है, ब्राह्मणश्रेष्ठ! उसका भी दर्शन कर लीजिये ।। ३ ।।

उत्तिष्ठ भगवन् क्षिप्रं प्रविश्याभ्यन्तरं गृहम् ।
द्रष्टुमर्हसि धर्मज्ञ मातरं पितरं च मे ।। ४ ।।

भगवन्! आप धर्मके ज्ञाता हैं, उठिये और शीघ्र घरके भीतर चलकर मेरे माता-पिताका दर्शन कीजिये ।। ४ ।।

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्तः स प्रविश्याथ ददर्श परमार्चितम् ।
सौधं हृद्यं चतुःशालमतीव च मनोरमम् ।। ५ ।।
देवतागृहसंकाशं दैवतैश्च सुपूजितम् ।
शयनासनसम्बाधं गन्धैश्च परमैर्युतम् ।। ६ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—धर्मव्याधके ऐसा कहनेपर कौशिक ब्राह्मणने भीतर प्रवेश करके देखा—एक बहुत सुन्दर साफ-सुथरा घर था, उसकी दीवारोंपर चूनेसे सफेदी की हुई थी। उसमें चार कमरे थे, वह भवन बहुत प्रिय और मनको लुभा लेनेवाला था, ऐसा जान पड़ता था, मानो देवताओंका निवासस्थान हो। देवता भी उसका आदर करते थे। एक ओर

सोनेके लिये शय्या बिछी थी और दूसरी ओर बैठनेके लिये आसन रखे गये थे। वहाँ धूप और चन्दन, केसर आदिकी उत्तम गन्ध फैल रही थी ।। ५-६ ।।

तत्र शुक्लाम्बरधरौ पितरावस्य पूजितौ ।
कृताहारौ तु संतुष्टावुपविष्टौ वरासने ।
धर्मव्याधस्तु तौ दृष्ट्वा पादेषु शिरसापतत् ।। ७ ।।

एक सुन्दर आसनपर धर्मव्याधके माता-पिता भोजन करके संतुष्ट हो बैठे हुए थे। उस दोनोंके शरीरपर श्वेत वस्त्र शोभा पा रहे थे और पुष्प, चन्दन आदिसे उनकी पूजा की गयी थी। धर्मव्याधने उन दोनोंको देखते ही चरणोंमें मस्तक रख दिया और पृथ्वीपर पड़कर साष्टांग प्रणाम किया ।। ७ ।।

वृद्धावूचतुः

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ धर्मज्ञ धर्मस्त्वामभिरक्षतु ।
प्रीतौ स्वस्तव शौचेन दीर्घमायुरवाप्नुहि ।। ८ ।।

तब बूढ़े माता-पिताने (स्नेहपूर्वक) कहा—बेटा! उठो! उठो! तुम धर्मके जानकार हो, धर्म तुम्हारी सब ओरसे रक्षा करे। हम दोनों तुम्हारे शुद्ध आचार-विचार तथा सेवासे बहुत प्रसन्न हैं। तुम्हारी आयु बड़ी हो ।। ८ ।।

गतिमिष्टां तपो ज्ञानं मेधां च परमां गतः ।

सत्पुत्रेण त्वया पुत्र नित्यं काले सुपूजितौ ।। ९ ।।

तुमने उत्तम गति, तप, ज्ञान और श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त की है, बेटा! तुम सुपुत्र हो। तुमने नित्य नियमपूर्वक समयानुसार हमारा पूजन—आदर-सत्कार किया है ।। ९ ।।

कौशिक ब्राह्मण और माता-पिताके भक्त धर्मव्याध

(सुखमावां वसावोऽत्र देवलोकगताविव)

न तेऽन्यद् दैवतं किंचिद् दैवतेष्वपि वर्तते ।

प्रयतत्वाद् द्विजातीनां दमेनासि समन्वितः ।। १० ।।

हम इस घरमें इस प्रकार सुखसे रहते हैं मानो देवलोकमें पहुँच गये हों। देवताओंमें भी तुम्हारे लिये हम दोनोंके सिवा और कोई देवता नहीं है। तुम हमें ही देवता मानते हो। अपने मनको पवित्र एवं संयममें रखनेके कारण तुम द्विजोचित शम-दमसे सम्पन्न हो ।। १० ।।

पितुः पितामहा ये च तथैव प्रपितामहाः ।

प्रीतास्ते सततं पुत्र दमेनावां च पूजया ।। ११ ।।

वत्स! मेरे पिताके पितामह और प्रपितामह आदि सभी तुम्हारे इन्द्रियसंयमसे सदा प्रसन्न रहते हैं। हम दोनों भी तुम्हारे द्वारा की हुई पूजा-सेवासे बहुत संतुष्ट हैं ।। ११ ।।

मनसा कर्मणा वाचा शुश्रूषा नैव हीयते ।

न चान्या हि तथा बुद्धिर्दृश्यते साम्प्रतं तव ।। १२ ।।

तुम मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी हम दोनोंकी सेवा नहीं छोड़ते। इस समय भी तुम्हारा विचार इसके प्रतिकूल नहीं दिखायी देता ।। १२ ।।

जामदग्न्येन रामेण यथा वृद्धौ सुपूजितौ ।

तथा त्वया कृतं सर्वं तद्विशिष्टं च पुत्रक ।। १३ ।।

बेटा! जमदग्निनन्दन परशुरामने जिस प्रकार अपने वृद्ध माता-पिताकी सेवा-पूजा की थी, उसी प्रकार तथा उससे भी बढ़कर तुमने हमारी सब सेवाएँ की हैं ।। १३ ।।

ततस्तं ब्राह्मणं ताभ्यां धर्मव्याधो न्यवेदयत् ।

तौ स्वागतेन तं विप्रमर्चयामासतुस्तदा ।। १४ ।।

तदनन्तर धर्मव्याधने अपने माता-पिताको उस कौशिक ब्राह्मणका परिचय दिया। तब उन दोनोंने भी स्वागतपूर्वक ब्राह्मणका पूजन किया ।। १४ ।।

प्रतिपूज्य च तां पूजां द्विजः पप्रच्छ तावुभौ ।

सुपुत्राभ्यां सभृत्याभ्यां कच्चिद् वां कुशलं गृहे ।। १५ ।।

अनामयं च वां कच्चित् सदैवेह शरीरयोः ।

ब्राह्मणने उनके द्वारा की हुई पूजाको स्वीकार करके कृतज्ञता प्रकट की और उनसे पूछा—'आप दोनों इस घरमें अपने सुयोग्य पुत्र तथा सेवकोंके साथ सकुशल तो हैं न? आप दोनों शरीरसे भी सदा नीरोग रहते हैं न?' ।। १५½ ।।

वृद्धावूचतुः

कुशलं नौ गृहे विप्र भृत्यवर्गे च सर्वशः ।

कच्चित् त्वमप्यविघ्नेन सम्प्राप्तो भगवन्निति ।। १६ ।।

उन वृद्धोंने उत्तर दिया—ब्रह्मन्! इस घरमें हम दोनों सकुशल हैं। हमारे सेवक तथा कुटुम्बके लोग भी कुशलसे हैं। भगवन्! अपना समाचार कहें, आप यहाँ सकुशल पहुँच गये

न? किसी विघ्न-बाधाका सामना तो नहीं करना पड़ा? ।। १६ ।।

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तौ विप्रः प्रत्युवाच मुदान्वितः ।
धर्मव्याधो निरीक्ष्याथ ततस्तं वाक्यमब्रवीत् ।। १७ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तब कौशिक ब्राह्मणने उन्हें प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया—'हाँ, मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ।' तदनन्तर धर्मव्याधने अपने पिता-माताकी ओर देखते हुए कौशिक ब्राह्मणसे कहा ।। १७ ।।

व्याध उवाच

पिता माता च भगवन्नेतौ मद्दैवतं परम् ।
यद् दैवतेभ्यः कर्तव्यं तदेताभ्यां करोम्यहम् ।। १८ ।।

धर्मव्याध बोला—भगवन्! ये माता-पिता ही मेरे प्रधान देवता हैं। जो कुछ देवताओंके लिये करना चाहिये, वह मैं इन्हीं दोनोंके लिये करता हूँ ।। १८ ।।

त्रयस्त्रिंशद् यथा देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः ।
सम्पूज्याः सर्वलोकस्य तथा वृद्धाविमौ मम ।। १९ ।।

जैसे समस्त संसारके लिये इन्द्र आदि तैंतीस* देवता पूजनीय हैं, उसी प्रकार मेरे लिये ये दोनों बूढ़े माता-पिता ही आराधनीय हैं ।। १९ ।।

उपाहारानाहरन्तो देवतानां यथा द्विजाः ।
कुर्वन्ति तद्वदेताभ्यां करोम्यहमतन्द्रितः ।। २० ।।

द्विजलोग देवताओंके लिये जैसे नाना प्रकारके उपहार समर्पण करते हैं, उसी प्रकार मैं इनके लिये करता हूँ। इनकी सेवामें मुझे आलस्य नहीं होता ।। २० ।।

एतौ मे परमं ब्रह्मन् पिता माता च दैवतम् ।
एतौ पुष्पैः फलै रत्नैस्तोषयामि सदा द्विज ।। २१ ।।

ब्रह्मन्! ये माता-पिता ही मेरे सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। मैं सदा फूल, फल तथा रत्नोंसे इन्हींको संतुष्ट करता हूँ ।। २१ ।।

एतावेवाग्नयो मह्यं यान् वदन्ति मनीषिणः ।
यज्ञा वेदाश्च चत्वारः सर्वमेतौ मम द्विज ।। २२ ।।

विप्रवर! जिन्हें विद्वान् लोग 'अग्नि' कहते हैं, वे मेरे लिये ये ही हैं। चारों वेद और यज्ञ सब कुछ मेरे लिये ये माता-पिता ही हैं ।। २२ ।।

एतदर्थं मम प्राणा भार्या पुत्रः सुहृज्जनः ।
सपुत्रदारः शुश्रूषां नित्यमेव करोम्यहम् ।। २३ ।।

मेरे प्राण, स्त्री, पुत्र, और सुहृद् सब इन्हींकी सेवाके लिये हैं। मैं स्त्री और पुत्रोंके साथ प्रतिदिन इन्हींकी शुश्रूषामें लगा रहता हूँ ।। २३ ।।

स्वयं च स्नापयाम्येतौ तथा पादौ प्रधावये ।
आहारं च प्रयच्छामि स्वयं च द्विजसत्तम ।। २४ ।।

द्विजश्रेष्ठ! मैं स्वयं ही इन्हें नहलाता हूँ, इनके चरण धोता हूँ और स्वयं ही भोजन परोसकर इन्हें जिमाता हूँ ।। २४ ।।

अनुकूलं तथा वच्मि विप्रियं परिवर्जये ।
अधर्मेणापि संयुक्तं प्रियमाभ्यां करोम्यहम् ।। २५ ।।

मैं वही बात बोलता हूँ, जो इनके मनके अनुकूल हो, जो इन्हें प्रिय न लगे, ऐसी बात मुँहसे कभी नहीं निकालता। इनको पसंद हो, तो मैं अधर्मयुक्त कार्य भी कर सकता हूँ ।। २५ ।।

धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा करोमि द्विजसत्तम ।
अतन्द्रितः सदा विप्र शुश्रूषां वै करोम्यहम् ।। २६ ।।

विप्रवर! इस प्रकार माता-पिताकी सेवारूप धर्मको ही महान् मानकर मैं उसका पालन करता हूँ। ब्रह्मन्! आलस्य छोड़कर मैं सदा इन्हीं दोनोंकी सेवामें लगा रहता हूँ ।। २६ ।।

पञ्चैव गुरवो ब्रह्मन् पुरुषस्य बुभूषतः ।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च द्विजसत्तम ।। २७ ।।

ब्राह्मणश्रेष्ठ! उन्नति चाहनेवाले पुरुषके पाँच ही गुरु हैं—पिता, माता, अग्नि, परमात्मा तथा गुरु ।। २७ ।।

एतेषु यस्तु वर्तेत सम्यगेव द्विजोत्तम ।
भवेयुरग्नयस्तस्य परिचीर्णास्तु नित्यशः ।
गार्हस्थ्ये वर्तमानस्य एष धर्मः सनातनः ।। २८ ।।

द्विजश्रेष्ठ! जो इन सबके प्रति उत्तम बर्ताव करेगा, उस गृहस्थ-धर्मका पालन करनेवालेके द्वारा सदा सब अग्नियोंकी सेवा सम्पन्न होती रहेगी। यही सनातन धर्म है ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याध-संवादविषयक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१४ ।।

---

[*] आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति—ये तैंतीस देवता हैं।

पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्मव्याधका कौशिक ब्राह्मणको माता-पिताकी सेवाका उपदेश देकर अपने पूर्वजन्मकी कथा कहते हुए व्याध होनेका कारण बताना

मार्कण्डेय उवाच

गुरुं निवेद्य विप्राय तौ मातापितरावुभौ ।
पुनरेव स धर्मात्मा व्याधो ब्राह्मणमब्रवीत् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार धर्मात्मा व्याधने कौशिक ब्राह्मणको अपने माता-पितारूप दोनों गुरुजनोंका दर्शन कराकर पुनः उससे इस प्रकार कहा — ।। १ ।।

प्रवृत्तचक्षुर्जातोऽस्मि सम्पश्य तपसो बलम् ।
यदर्थमुक्तोऽसि तया गच्छ त्वं मिथिलामिति ।। २ ।।
पतिशुश्रूषपरया दान्तया सत्यशीलया ।
मिथिलायां वसेद् व्याधः स ते धर्मान् प्रवक्ष्यति ।। ३ ।।

'ब्राह्मण!' माता-पिताकी सेवा ही मेरी तपस्या है। इस तपस्याका प्रभाव देखिये। मुझे दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो गयी है, जिसके कारण उस पतिव्रता देवीने जो सदा पतिकी ही सेवामें संलग्न रहनेवाली, जितेन्द्रिय तथा सत्य एवं सदाचारमें तत्पर है, आपको यह कहकर यहाँ भेजा था कि 'आप मिथिलापुरीको जाइये। वहाँ एक व्याध रहता है। वह आपको सब धर्मोंका उपदेश करेगा' ।। २-३ ।।

ब्राह्मण उवाच

पतिव्रतायाः सत्यायाः शीलाढ्याया यतव्रत ।
संस्मृत्य वाक्यं धर्मज्ञ गुणवानसि मे मतः ।। ४ ।।

ब्राह्मण बोला—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धर्मज्ञ व्याध! उस सत्यपरायणा और सुशीला पतिव्रता-देवीके वचनोंका स्मरण करके मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि तुम उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हो ।। ४ ।।

व्याध उवाच

यत् तदा त्वं द्विजश्रेष्ठ तयोक्तो मां प्रति प्रभो ।
दृष्टमेव तया सम्यगेकपत्न्या न संशयः ।। ५ ।।

धर्मव्याधने कहा—द्विजश्रेष्ठ! प्रभो! उस पतिव्रता देवीने पहले आपसे मेरे विषयमें जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है। इसमें संदेह नहीं कि उसने पातिव्रत्यके प्रभावसे सब कुछ प्रत्यक्ष देखा है ।। ५ ।।

त्वदनुग्रहबुद्ध्या तु विप्रैतद् दर्शितं मया ।
वाक्यं च शृणु मे तात यत् ते वक्ष्ये हितं द्विज ।। ६ ।।

विप्रवर! आपपर अनुग्रह करनेके विचारसे ही मैंने ये सब बातें आपके सामने रखी हैं। तात! आप मेरी बात सुनिये। ब्रह्मन्! आपके लिये जो हितकर है वही बात बताऊँगा ।। ६ ।।

त्वया विनिकृता माता पिता च द्विजसत्तम ।
अनिसृष्टोऽसि निष्क्रान्तो गृहात् ताभ्यामनिन्दित ।। ७ ।।
वेदोच्चारणकार्यार्थमयुक्तं तत् त्वया कृतम् ।
तव शोकेन वृद्धौ तावन्धीभूतौ तपस्विनौ ।। ८ ।।

द्विजश्रेष्ठ! आपने माता-पिताकी उपेक्षा की है। वेदाध्ययन करनेके लिये उन दोनोंकी आज्ञा लिये बिना ही आप घरसे निकल पड़े हैं। अनिन्द्य ब्राह्मण! यह आपके द्वारा अनुचित कार्य हुआ है। आपके शोकसे ये दोनों बूढ़े एवं तपस्वी माता-पिता अन्धे हो गये हैं ।।

तौ प्रसादयितुं गच्छ मा त्वां धर्मोऽत्यगादयम् ।
तपस्वी त्वं महात्मा च धर्मे च निरतः सदा ।। ९ ।।

आप उन्हें प्रसन्न करनेके लिये घर जाइये। ऐसा करनेसे आपका धर्म नष्ट नहीं होगा। आप तपस्वी, महात्मा तथा निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं ।। ९ ।।

सर्वमेतदपार्थं ते क्षिप्रं तौ सम्प्रसादय ।
श्रद्दधस्व मम ब्रह्मन् नान्यथा कर्तुमर्हसि ।
गम्यतामद्य विप्रर्षे श्रेयस्ते कथयाम्यहम् ।। १० ।।

परंतु माता-पिताको संतुष्ट न करनेके कारण आपका यह सारा धर्म और व्रत व्यर्थ हो गया है। अतः शीघ्र जाकर उन दोनोंको प्रसन्न कीजिये। ब्रह्मन्! मेरी बातपर श्रद्धा कीजिये। इसके विपरीत कुछ न कीजिये। ब्रह्मर्षे! आप अपने घर जाइये और माता-पिताकी सेवा कीजिये। यह मैं आपके लिये परम कल्याणकी बात बता रहा हूँ ।। १० ।।

ब्राह्मण उवाच

यदेतदुक्तं भवता सर्वं सत्यमसंशयम् ।
प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते धर्माचारगुणान्वित ।। ११ ।।

ब्राह्मण बोला—धर्म, सदाचार और सद्गुणोंसे सम्पन्न व्याध! आपका भला हो। आपने यह जो कुछ बताया है, सब निःसंदेह सत्य है। मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ ।। ११ ।।

व्याध उवाच

दैवतप्रतिमो हि त्वं यस्त्वं धर्ममनुव्रतः ।
पुराणं शाश्वतं दिव्यं दुष्प्राप्यमकृतात्मभिः ।। १२ ।।

धर्मव्याधने कहा—विप्रवर! आप देवताओंके समान हैं; क्योंकि आपने उस धर्ममें मन लगाया है, जो पुरातन, सनातन, दिव्य तथा मनको न जीतनेवाले पुरुषोंके लिये दुर्लभ है ।। १२ ।।

मातापित्रोः सकाशं हि गत्वा त्वं द्विजसत्तम ।
अतन्द्रितः कुरु क्षिप्रं मातापित्रोर्हि पूजनम् ।
अतः परमहं धर्मं नान्यं पश्यामि कंचन ।। १३ ।।

द्विजश्रेष्ठ! आप माता-पिताके पास जाकर आलस्यरहित हो शीघ्र ही उनकी सेवामें लग जाइये। मैं इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं देखता ।। १३ ।।

ब्राह्मण उवाच

इहाहमागतो दिष्ट्या दिष्ट्या मे सङ्गतं त्वया ।
ईदृशा दुर्लभा लोके नरा धर्मप्रदर्शकाः ।। १४ ।।

ब्राह्मण बोला—नरश्रेष्ठ! मेरा बड़ा भाग्य था, जो यहाँ आया और सौभाग्यसे ही मुझे आपका संग प्राप्त हो गया। संसारमें आप-जैसे धर्मका मार्ग दिखानेवाले मनुष्य दुर्लभ हैं ।। १४ ।।

एको नरसहस्रेषु धर्मविद् विद्यते न वा ।
प्रीतोऽस्मि तव सत्येन भद्रं ते पुरुषर्षभ ।। १५ ।।

हजारों मनुष्योंमेंसे कोई एक भी धर्मके तत्त्वको जाननेवाला है या नहीं—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पुरुषर्षभ! आपका कल्याण हो। आज मैं आपके सत्यके कारण आपपर बहुत प्रसन्न हूँ ।। १५ ।।

पतमानोऽद्य नरके भवतास्मि समुद्धृतः ।
भवितव्यमथैवं च यद् दृष्टोऽसि मयानघ ।। १६ ।।

अनघ! मैं नरकमें गिर रहा था। आज आपने मेरा उद्धार कर दिया। इस प्रकार जब मुझे आपका दर्शन मिल गया, तब निश्चय ही आपके उपदेशके अनुसार भविष्यमें सब कुछ होगा ।। १६ ।।

राजा ययातिर्दौहित्रैः पतितस्तारितो यथा ।
सद्भिः पुरुषशार्दूल तथाहं भवता द्विजः ।। १७ ।।

राजा ययाति स्वर्गसे गिर गये थे; परंतु उनके उत्तम स्वभाववाले दौहित्रों (पुत्रीके पुत्रों)-ने पुनः उनका उद्धार कर दिया—वे पूर्ववत् स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हो गये। पुरुषसिंह! इसी प्रकार आपने भी आज मुझ ब्राह्मणको नरकमें गिरनेसे बचाया है ।। १७ ।।

मातापितृभ्यां शुश्रूषां करिष्ये वचनात् तव ।

नाकृतात्मा वेदयति धर्माधर्मविनिश्चयम् ।। १८ ।।

मैं आपके कहनेके अनुसार माता-पिताकी सेवा करूँगा। जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वह धर्म-अधर्मके निर्णयको बतला नहीं सकता ।। १८ ।।

दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः शूद्रयोनौ हि वर्तते ।
न त्वां शूद्रमहं मन्ये भवितव्यं हि कारणम् ।। १९ ।।

आश्चर्य है कि यह सनातन धर्म, जिसके स्वरूपको समझना अत्यन्त कठिन है, शूद्रयोनिके मनुष्यमें भी विद्यमान है। मैं आपको शूद्र नहीं मानता। आपका जो शूद्रयोनिमें जन्म हो गया है, इसका कोई विशेष कारण होना चाहिये ।। १९ ।।

येन कर्मविशेषेण प्राप्तेयं शूद्रता त्वया ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वेन हि महामते ।
कामया ब्रूहि मे सर्वं सत्येन प्रयतात्मना ।। २० ।।

महामते! जिस विशेष कर्मके कारण आपको यह शूद्रयोनि प्राप्त हुई है, उसे मैं यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ। आप सत्य और पवित्र अन्तःकरणके विश्वासके अनुसार स्वेच्छापूर्वक मुझे सब कुछ बताइये ।। २० ।।

व्याध उवाच

अनतिक्रमणीया वै ब्राह्मणा मे द्विजोत्तम ।
शृणु सर्वमिदं वृत्तं पूर्वदेहे ममानघ ।। २१ ।।

धर्मव्याधने कहा—विप्रवर! मुझे ब्राह्मणोंका अपराध कभी नहीं करना चाहिये। अनघ! मेरे पूर्वजन्मके शरीरद्वारा जो घटना घटित हुई है, वह सब बताता हूँ, सुनिये ।। २१ ।।

अहं हि ब्राह्मणः पूर्वमासं द्विजवरात्मजः ।
वेदाध्यायी सुकुशलो वेदाङ्गानां च पारगः ।। २२ ।।

मैं पूर्वजन्ममें एक श्रेष्ठ ब्राह्मणका पुत्र और वेदाध्ययनपरायण ब्राह्मण था। वेदांगोंका पारंगत विद्वान् माना जाता था। मैं विद्याध्ययनमें अत्यन्त कुशल था ।।

आत्मदोषकृतैर्ब्रह्मन्नवस्थामाप्तवानिमाम् ।
कश्चिद् राजा मम सखा धनुर्वेदपरायणः ।। २३ ।।
संसर्गाद् धनुषि श्रेष्ठस्ततोऽहमभवं द्विज ।

ब्राह्मण! अपने ही दोषोंके कारण मुझे इस दुरवस्थामें आना पड़ा है। पूर्वजन्ममें जब मैं ब्राह्मण था, एक धनुर्वेद-परायण राजाके साथ मेरी मित्रता हो गयी थी। उनके संसर्गसे मैं धनुर्वेदकी शिक्षा लेने लगा और धनुष चलानेकी कलामें मैंने श्रेष्ठ योग्यता प्राप्त कर ली ।। २३½ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु मृगयां निर्गतो नृपः ।। २४ ।।

सहितो योधमुख्यैश्च मन्त्रिभिश्च सुसंवृतः ।
ततोऽभ्यहन् मृगांस्तत्र सुबहूनाश्रमं प्रति ।। २५ ।।

ब्रह्मन्! इसी समय राजा अपने मन्त्रियों तथा प्रधान योद्धाओंके साथ शिकार खेलनेके लिये निकले। उन्होंने एक ऋषिके आश्रमके निकट बहुत-से हिंसक पशुओंका वध किया ।। २४-२५ ।।

अथ क्षिप्तः शरो घोरो मयापि द्विजसत्तम ।
ताडितश्च ऋषिस्तेन शरेणानतपर्वणा ।। २६ ।।

द्विजश्रेष्ठ! तदनन्तर मैंने भी एक भयानक बाण छोड़ा। उसकी गाँठ कुछ झुकी हुई थी। उस बाणसे एक ऋषि मारे गये ।। २६ ।।

भूमौ निपतितो ब्रह्मन्नुवाच प्रतिनादयन् ।
नापराध्याम्यहं किंचित् केन पापमिदं कृतम् ।। २७ ।।

ब्रह्मन्! बाण लगते ही वे मुनि पृथिवीपर गिर पड़े और अपने आर्तनादसे उस वन्य प्रदेशको गुँजाते हुए बोले, 'आह! मैं तो किसीका कोई अपराध नहीं करता हूँ। फिर किसने यह पापकर्म कर डाला?' ।। २७ ।।

मन्वानस्तं मृगं चाहं सम्प्राप्तः सहसा प्रभो ।
अपश्यं तमृषिं विद्धं शरेणानतपर्वणा ।। २८ ।।

प्रभो! मैंने उन्हें हिंसक पशु समझकर बाण मारा था। अतः सहसा उनके पास जा पहुँचा। वहाँ जाकर देखा कि झुकी हुई गाँठवाले उस बाणसे एक ऋषि घायल होकर धरतीपर पड़े हैं ।। २८ ।।

अकार्यकरणाच्चापि भृशं मे व्यथितं मनः ।
तमुग्रतपसं विप्रं निष्टनन्तं महीतले ।। २९ ।।

यह न करनेयोग्य पाप कर डालनेके कारण मेरे मनमें उस समय बड़ी पीड़ा हुई। वे उग्र तपस्वी ब्राह्मण उस समय धरतीपर पड़े-पड़े कराह रहे थे ।। २९ ।।

अजानता कृतमिदं मयेत्यहमथाब्रुवम् ।
क्षन्तुमर्हसि मे सर्वमिति चोक्तो मया मुनिः ।। ३० ।।

मैंने साहस करके उन मुनीश्वरसे कहा—'भगवन्! अनजानमें मेरे द्वारा यह अपराध बन गया है। अतः आप यह सब क्षमा कर दें' ।। ३० ।।

ततः प्रत्यब्रवीद् वाक्यमृषिर्मां क्रोधमूर्च्छितः ।
व्याधस्त्वं भविता क्रूर शूद्रयोनाविति द्विज ।। ३१ ।।

मेरी बात सुनकर ऋषि क्रोधसे व्याकुल हो गये और उत्तर देते हुए बोले—'निर्दयी ब्राह्मण! तू शूद्रयोनिमें जन्म लेकर व्याध होगा' ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याधसंवादविषयक दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१५ ।।

षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौशिक-धर्मव्याध-संवादका उपसंहार तथा कौशिकका अपने घरको प्रस्थान

व्याध उवाच

एवं शप्तोऽहमृषिणा तदा द्विजवरोत्तम ।
अभिप्रसादयमृषिं गिरा त्राहीति मां तदा ।। १ ।।
अजानता मयाकार्यमिदमद्य कृतं मुने ।
क्षन्तुमर्हसि तत् सर्वं प्रसीद भगवन्निति ।। २ ।।

धर्मव्याध कहता है—विप्रवर! जब इस प्रकार ऋषिने मुझे शाप दे दिया, तब मैंने कहा—'भगवन्! मेरी रक्षा कीजिये—मुझे उबारिये। मुने! मैंने अनजानमें यह आज अनुचित काम कर डाला है। मेरा सब अपराध क्षमा कीजिये और मुझपर प्रसन्न हो जाइये।' ऐसा कहकर उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा की ।। १-२ ।।

ऋषिरुवाच

नान्यथा भविता शाप एवमेतदसंशयम् ।
आनृशंस्यात् त्वहं किञ्चित् कर्तानुग्रहमद्य ते ।। ३ ।।

ऋषिने कहा—यह शाप टल नहीं सकता। ऐसा होकर ही रहेगा, इसमें संशय नहीं है। परंतु मेरा स्वभाव क्रूर नहीं है, इसलिये मैं तुझपर आज कुछ अनुग्रह करता हूँ ।। ३ ।।

शूद्रयोन्यां वर्तमानो धर्मज्ञो हि भविष्यसि ।
मातापित्रोश्च शुश्रूषां करिष्यसि न संशयः ।। ४ ।।

तू शूद्रयोनिमें रहकर धर्मज्ञ होगा और माता-पिताकी सेवा करेगा। इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है ।। ४ ।।

तया शुश्रूषया सिद्धिं महत्त्वं समवाप्स्यसि ।
जातिस्मरश्च भविता स्वर्गं चैव गमिष्यसि ।। ५ ।।

उस सेवासे तुझे सिद्धि और महत्ता प्राप्त होगी। तू पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण रखनेवाला होगा और अन्तमें स्वर्गलोकमें जायगा ।। ५ ।।

शापक्षये तु निर्वृत्ते भवितासि पुनर्द्विजः ।
एवं शप्तः पुरा तेन ऋषिणास्म्युग्रतेजसा ।। ६ ।।

शापका निवारण हो जानेपर तू फिर ब्राह्मण होगा। इस प्रकार उन उग्र तेजस्वी महर्षिने पूर्वकालमें मुझे शाप दिया था ।। ६ ।।

प्रसादश्च कृतस्तेन ममैव द्विपदां वर ।

शरं चोद्धृतवानस्मि तस्य वै द्विजसत्तम ।। ७ ।।
आश्रमं च मया नीतो न च प्राणैर्व्ययुज्यत ।

नरश्रेष्ठ! फिर उन्होंने ही मेरे ऊपर अनुग्रह किया। द्विजश्रेष्ठ! तदनन्तर मैंने उनके शरीरसे बाण निकाला और उन्हें उनके आश्रमपर पहुँचा दिया। परंतु उनके प्राण नहीं गये ।। ७½ ।।

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा मम पुराभवत् ।। ८ ।।
अभितश्चापि गन्तव्यं मया स्वर्गं द्विजोत्तम ।। ९ ।।

विप्रवर! पूर्वजन्ममें मेरे ऊपर जो कुछ बीता था, वह सब मैंने आपसे कह सुनाया। अब इस जीवनके पश्चात् मुझे स्वर्गलोकमें जाना है ।। ८-९ ।।

ब्राह्मण उवाच

एवमेतानि पुरुषा दुःखानि च सुखानि च ।
आप्नुवन्ति महाबुद्धे नोत्कण्ठां कर्तुमर्हसि ।। १० ।।

ब्राह्मण बोला—महामते! मनुष्य इसी प्रकार दुःख और सुख पाते रहते हैं। इसके लिये आपको चिन्ता नहीं करनी चाहिये ।। १० ।।

दुष्करं हि कृतं कर्म जानता जातिमात्मनः ।
लोकवृत्तान्ततत्त्वज्ञ नित्यं धर्मपरायणः ।। ११ ।।

जिसके फलस्वरूप आपको अपने पूर्वजन्मकी बातोंका ज्ञान बना हुआ है, वह पिता-माताकी सेवारूप कर्म दूसरोंके लिये दुष्कर है; किंतु आपने उसे सम्पन्न कर लिया है। आप लोकवृत्तान्तका तत्त्व जानते हैं और सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं ।। ११ ।।

कर्मदोषश्च वै विद्वन्नात्मजातिकृतेन ते ।
कञ्चित् कालमुष्यतां वै ततोऽसि भविता द्विजः ।। १२ ।।

विद्वन्! आपको जो यह कर्मदोष (दूषित कर्म) प्राप्त हुआ है, वह आपके पूर्वजन्मके कर्मका फल है। इस जन्मके नहीं। अतः कुछ कालतक और इसी रूपमें रहें। फिर आप ब्राह्मण हो जायँगे ।। १२ ।।

साम्प्रतं च मतो मेऽसि ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमानो विकर्मसु ।। १३ ।।
दाम्भिको दुष्कृतः प्रायः शूद्रेण सदृशो भवेत् ।

मैं तो अभी आपको ब्राह्मण मानता हूँ। आपके ब्राह्मण होनेमें संदेह नहीं है। जो ब्राह्मण होकर भी पतनके गर्तमें गिरानेवाले पापकर्मोंमें फँसा हुआ है और प्रायः दुष्कर्मपरायण तथा पाखंडी है, वह शूद्रके समान है ।। १३½ ।।

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः ।। १४ ।।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः ।

इसके विपरीत जो शूद्र होकर भी (शम,) दम, सत्य तथा धर्मका पालन करनेके लिये सदा उद्यत रहता है, उसे मैं ब्राह्मण ही मानता हूँ; क्योंकि मनुष्य सदाचारसे ही द्विज होता है ।। १४½ ।।

कर्मदोषेण विषमां गतिमाप्नोति दारुणाम् ।। १५ ।।
क्षीणदोषमहं मन्ये चाभितस्त्वां नरोत्तम ।

कर्मदोषसे ही मनुष्य विषम एवं भयंकर दुर्गतिमें पड़ जाता है। परंतु नरश्रेष्ठ! मैं तो समझता हूँ कि आपके सारे कर्मदोष सर्वथा नष्ट हो गये हैं ।। १५½ ।।

कर्तुमर्हसि नोत्कण्ठां त्वद्विधा ह्यविषादिनः ।
लोकवृत्तानुवृत्तज्ञा नित्यं धर्मपरायणाः ।। १६ ।।

अतः आपको अपने विषयमें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। आपके-जैसे ज्ञानी पुरुष, जो लोकवृत्तान्तके अनुवर्तनका रहस्य जाननेवाले तथा नित्य धर्मपरायण हैं, कभी विषादग्रस्त नहीं होते हैं ।। १६ ।।

व्याध उवाच

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ।। १७ ।।

धर्मव्याधने कहा—ज्ञानी पुरुष शारीरिक कष्टका औषधसेवनद्वारा नाश करे और विवेकशील बुद्धिद्वारा मानसिक दुःखको नष्ट करे। यही ज्ञानकी शक्ति है। बुद्धिमान् मनुष्यको बालकोंके समान शोक या विलाप नहीं करना चाहिये ।। १७ ।।

अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च ।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते चाल्पबुद्धयः ।। १८ ।।

मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तुके संयोग और प्रिय वस्तुके वियोगमें मानसिक दुःखसे दुःखी होते हैं ।। १८ ।।

गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च ।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ।। १९ ।।

सभी प्राणी तीनों गुणोंके कार्यभूत विभिन्न वस्तु आदिसे जिस प्रकार संयुक्त होते हैं, वैसे ही वियुक्त भी होते रहते हैं। अतः किसी एकका संयोग और किसी एकका वियोग वास्तवमें शोकका कारण नहीं है ।। १९ ।।

अनिष्टं चान्वितं पश्यंस्तथा क्षिप्रं विरज्यते ।
ततश्च प्रतिकुर्वन्ति यदि पश्यन्त्युपक्रमात् ।। २० ।।

यदि किसी कार्यमें अनिष्टका संयोग दिखायी देता है तो मनुष्य शीघ्र ही उससे निवृत्त हो जाता है। और यदि आरम्भ होनेसे पहले ही उस अनिष्टका पता लग जाता है तो लोग उसके प्रतीकारका उपाय करने लगते हैं ।। २० ।।

शोचतो न भवेत् किंचित् केवलं परितप्यते।
परित्यजन्ति ये दुःखं सुखं वाप्युभयं नराः ।। २१ ।।
त एव सुखमेधन्ते ज्ञानतृप्ता मनीषिणः ।
असंतोषपरा मूढाः संतोषं यान्ति पण्डिताः ।। २२ ।।

केवल शोक करनेसे कुछ नहीं होता, संतापमात्र ही हाथ लगता है। जो ज्ञानतृप्त मनीषी मानव सुख और दुःख दोनोंका परित्याग कर देते हैं, वे ही सुखी होते हैं। मूढ़ मनुष्य असंतोषी होते हैं और ज्ञानवानोंको संतोष प्राप्त होता है ।। २१-२२ ।।

असंतोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम् ।
न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम् ।। २३ ।।

असंतोषका अन्त नहीं है, अतः संतोष ही परम सुख है। जिन्होंने ज्ञानमार्गको पार करके परमात्माका साक्षात्कार कर लिया है, वे कभी शोकमें नहीं पड़ते हैं ।।

न विषादे मनः कार्यं विषादो विषमुत्तमम् ।
मारयत्यकृतप्रज्ञं बालं क्रुद्ध इवोरगः ।। २४ ।।

मनको विषादकी ओर न जाने दे। विषाद उग्र विष है। वह क्रोधमें भरे हुए सर्पकी भाँति विवेकहीन अज्ञानी मनुष्यको मार डालता है ।। २४ ।।

यं विषादोऽभिभवति विक्रमे समुपस्थिते ।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न विद्यते ।। २५ ।।

पराक्रमका अवसर उपस्थित होनेपर जिसे विषाद घेर लेता है, उस तेजोहीन पुरुषका कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता ।। २५ ।।

अवश्यं क्रियमाणस्य कर्मणो दृश्यते फलम् ।
न हि निर्वेदमागम्य किंचित् प्राप्नोति शोभनम् ।। २६ ।।

किये जानेवाले कर्मका फल अवश्य दृष्टिगोचर होता है। केवल खिन्न होकर बैठ रहनेसे कोई अच्छा परिणाम हाथ नहीं लगता ।। २६ ।।

अथाप्युपायं पश्येत दुःखस्य परिमोक्षणे ।
अशोचन्नारभेतैवं मुक्तश्चाव्यसनी भवेत् ।। २७ ।।

अतः दुःखसे छूटनेके उपायको अवश्य देखे। शोक और विषादमें न पड़कर आवश्यक कार्य आरम्भ कर दे। इस प्रकार प्रयत्न करनेसे मनुष्य निश्चय ही दुःखसे छूट जाता है और फिर किसी संकट या व्यसनमें नहीं फँसता ।। २७ ।।

भूतेष्वभावं संचिन्त्य ये तु बुद्धेः परं गताः ।
न शोचन्ति कृतप्रज्ञाः पश्यन्तः परमां गतिम् ।। २८ ।।

संसारके सभी पदार्थ अनित्य हैं, ऐसा सोचकर जो बुद्धिसे पार होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो गये हैं वे ज्ञानी महापुरुष परमात्माका साक्षात्कार करते हुए कभी शोकमें नहीं पड़ते ।। २८ ।।

न शोचामि च वै विद्वन् कालाकाङ्क्षी स्थितो ह्यहम् ।
एतैर्निदर्शनैर्ब्रह्मन् नावसीदामि सत्तम ।। २९ ।।

विद्वन्! मैं अन्तकालकी प्रतीक्षा करता हूँ। अतः कभी शोकमग्न नहीं होता। सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण! उपर्युक्त विचारोंका मनन करते रहनेसे मुझे कभी दुःख या अनुत्साह नहीं होता ।। २९ ।।

ब्राह्मण उवाच

कृतप्रज्ञोऽसि मेधावी बुद्धिर्हि विपुला तव ।
नाहं भवन्तं शोचामि ज्ञानतृप्तोऽसि धर्मवित् ।। ३० ।।

ब्राह्मण बोला—धर्मव्याध! आप ज्ञानी और बुद्धिमान् हैं। आपकी बुद्धि विशाल है। आप धर्मके तत्त्वको जानते हैं और ज्ञानानन्दसे तृप्त रहते हैं। अतः मैं आपके लिये शोक नहीं करता ।। ३० ।।

आपृच्छे त्वां स्वस्ति तेऽस्तु धर्मस्त्वां परिरक्षतु ।
अप्रमादस्तु कर्तव्यो धर्मे धर्मभृतां वर ।। ३१ ।।

अब मैं जानेके लिये आपकी अनुमति चाहता हूँ। आपका कल्याण हो और धर्म सदा आपकी रक्षा करे। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ व्याध! आप धर्माचरणमें कभी प्रमाद न करें ।। ३१ ।।

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तं व्याधः कृताञ्जलिरुवाच ह ।
प्रदक्षिणमथो कृत्वा प्रस्थितो द्विजसत्तमः ।। ३२ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! कौशिक ब्राह्मणकी बात सुनकर धर्मव्याधने हाथ जोड़कर कहा—‘बहुत अच्छा! अब आप अपने घरको पधारें।’ तदनन्तर विप्रवर कौशिक धर्मव्याधकी परिक्रमा करके वहाँसे चल दिया ।। ३२ ।।

स तु गत्वा द्विजः सर्वां शुश्रूषां कृतवांस्तदा ।
मातापितृभ्यां वृद्धाभ्यां यथान्यायं सुशंसितः ।। ३३ ।।

घर जाकर उस ब्राह्मणने अपने माता-पिताकी सब प्रकारकी सेवा-शुश्रूषा की और उन बूढ़े माता-पिताने प्रसन्न होकर उसकी यथायोग्य प्रशंसा की ।। ३३ ।।

एतत् ते सर्वमाख्यातं निखिलेन युधिष्ठिर ।
पृष्टवानसि यं तात धर्मं धर्मभृतां वर ।। ३४ ।।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तात युधिष्ठिर! तुमने जो प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने ये सब बातें कह सुनायीं ।।

पतिव्रताया माहात्म्यं ब्राह्मणस्य च सत्तम ।
मातापित्रोश्च शुश्रूषा धर्मव्याधेन कीर्तिता ।। ३५ ।।

साधुश्रेष्ठ! पतिव्रताका माहात्म्य और धर्मव्याधके द्वारा ब्राह्मणसे कही हुई माता-पिताकी सेवा आदिकी बातें बता दीं ।। ३५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् धर्माख्यानमनुत्तमम् ।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठ कथितं मुनिसत्तम ।। ३६ ।।

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन्! आपने धर्मके विषयमें यह अत्यन्त अद्भुत और उत्तम उपाख्यान सुनाया है। मुनिवर! आप समस्त धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ हैं ।। ३६ ।।

सुखश्रव्यतया विद्वन् मुहूर्त इव मे गतः ।
न हि तृप्तोऽस्मि भगवन् शृण्वानो धर्ममुत्तमम् ।। ३७ ।।

विद्वन! यह कथा सुननेमें इतनी सुखद थी कि मेरा बहुत-सा समय भी दो घड़ीके समान बीत गया। भगवन्! आपके मुखसे यह धर्मकी उत्तम कथा सुनते-सुनते मुझे तृप्ति ही नहीं हो रही है ।। ३७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें ब्राह्मण-व्याधसंवादविषयक दो सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१६ ।।

सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अग्निका अंगिराको अपना प्रथम पुत्र स्वीकार करना तथा अंगिरासे बृहस्पतिकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वेमां धर्मसंयुक्तां धर्मराजः कथां शुभाम् ।
पुनः पप्रच्छ तमृषिं मार्कण्डेयमिदं तदा ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह धर्मयुक्त शुभ कथा सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उन मार्कण्डेयमुनिसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया ।। १ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कथमग्निर्वनं यातः कथं चाप्यङ्गिराः पुरा ।
नष्टेऽग्नौ हव्यमवहदग्निर्भूत्वा महाद्युतिः ।। २ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—मुने! पूर्वकालमें अग्निदेवने किस कारणसे जलमें प्रवेश किया था? और अग्निके अदृश्य हो जानेपर महातेजस्वी अंगिरा ऋषिने किस प्रकार अग्नि होकर देवताओंके लिये हविष्य पहुँचानेका कार्य किया? ।। २ ।।

अग्निर्यदा त्वेक एव बहुत्वं चास्य कर्मसु ।
दृश्यते भगवन् सर्वमेतदिच्छामि वेदितुम् ।। ३ ।।

भगवन्! जब अग्निदेव एक ही हैं, तब विभिन्न कर्मोंमें उनके अनेक रूप क्यों दिखायी देते हैं? मैं यह सब कुछ जानना चाहता हूँ ।। ३ ।।

कुमारश्च यथोत्पन्नो यथा चाग्नेः सुतोऽभवत् ।
यथा रुद्राच्च सम्भूतो गङ्गायां कृत्तिकासु च ।। ४ ।।

कुमार कार्तिकेयकी उत्पत्ति कैसे हुई? वे अग्निके पुत्र कैसे हुए? भगवान् शंकरने तथा गंगादेवी और कृत्तिकाओंसे उनका जन्म कैसे सम्भव हुआ? ।। ४ ।।

एतदिच्छाम्यहं त्वत्तः श्रोतुं भार्गवसत्तम ।
कौतूहलसमाविष्टो याथातथ्यं महामुने ।। ५ ।।

भृगुकुलतिलक महामुने! मैं आपके मुखसे यह सब वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ, इसके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ।। ५ ।।

मार्कण्डेय उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यथा क्रुद्धो हुतवहस्तपस्तप्तुं वनं गतः ।। ६ ।।

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! इस विषयमें जानकार लोग उस प्राचीन इतिहासको दुहराया करते हैं, जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार अग्निदेव कुपित हो तपस्याके लिये जलमें प्रविष्ट हुए थे? ।। ६ ।।

यथा च भगवानग्निः स्वयमेवाङ्गिराऽभवत् ।
संतापयंश्च प्रभया नाशयंस्तिमिराणि च ।। ७ ।।

कैसे स्वयं महर्षि अंगिरा ही भगवान् अग्नि बन गये और अपनी प्रभासे अन्धकारका निवारण करते हुए जगत्को ताप देने लगे? ।। ७ ।।

पुराङ्गिरा महाबाहो चचार तप उत्तमम् ।
आश्रमस्थो महाभागो हव्यवाहं विशेषयन् ।
तथा स भूत्वा तु तदा जगत् सर्वं व्यकाशयत् ।। ८ ।।

महाबाहो! प्राचीन कालकी बात है, महाभाग अंगिरा ऋषि अपने आश्रममें ही रहकर उत्तम तपस्या करने लगे। वे अग्निसे भी अधिक तेजस्वी होनेके लिये यत्नशील थे। अपने उद्देश्यमें सफल होकर वे सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करने लगे ।। ८ ।।

तपश्चरंस्तु हुतभुक् संतप्तस्तस्य तेजसा ।
भृशं ग्लानश्च तेजस्वी न च किंचित् प्रजज्ञिवान् ।। ९ ।।

उन्हीं दिनों अग्निदेव भी तपस्या कर रहे थे। वे तेजस्वी होकर भी अंगिराके तेजसे संतप्त हो अत्यन्त मलिन पड़ गये। परंतु इसका कारण क्या है? यह कुछ भी उनकी समझमें नहीं आया ।। ९ ।।

अथ संचिन्तयामास भगवान् हव्यवाहनः ।
अन्योऽग्निरिह लोकानां ब्रह्मणा सम्प्रकल्पितः ।। १० ।।

तब भगवान् अग्निने यह सोचा—'हो-न-हो, ब्रह्माजीने इस जगत्के लिये किसी दूसरे अग्निदेवताका निर्माण कर लिया है' ।। १० ।।

अग्नित्वं विप्रणष्टं हि तप्यमानस्य मे तपः ।
कथमग्निः पुनरहं भवेयमिति चिन्त्य सः ।। ११ ।।
अपश्यदग्निवल्लोकांस्तापयन्तं महामुनिम् ।

'जान पड़ता है, तपस्यामें लग जानेसे मेरा अग्नित्व नष्ट हो गया। अब मैं पुनः किस प्रकार अग्नि हो सकता हूँ?' यह विचार करते हुए उन्होंने देखा कि महामुनि अंगिरा अग्निकी ही भाँति प्रकाशित हो सम्पूर्ण जगत्को ताप दे रहे ।। ११½ ।।

सोपासर्पच्छनैर्भीतस्तमुवाच तदाङ्गिराः ।। १२ ।।
शीघ्रमेव भवस्वाग्निस्त्वं पुनर्लोकभावनः ।
विज्ञातश्चासि लोकेषु त्रिषु संस्थानचारिषु ।। १३ ।।

यह देख वे डरते-डरते धीरेसे उनके पास गये। उस समय उनसे अंगिरा मुनिने कहा—'देव! आप पुनः शीघ्र ही लोकभावन अग्निके पदपर प्रतिष्ठित हो जाइये; क्योंकि तीनों

लोकों तथा स्थावर-जंगम प्राणियोंमें आपकी प्रसिद्धि है ।। १२-१३ ।।

त्वमग्निः प्रथमं सृष्टो ब्रह्मणा तिमिरापहः ।
स्वस्थानं प्रतिपद्यस्व शीघ्रमेव तमोनुद ।। १४ ।।

'ब्रह्माजीने आपको ही अन्धकारनाशक प्रथम अग्निके रूपमें उत्पन्न किया है। तिमिरपुञ्जको दूर भगानेवाले देवता! आप शीघ्र ही अपना स्थान ग्रहण कीजिये' ।। १४ ।।

अग्निरुवाच

नष्टकीर्तिरहं लोके भवान् जातो हुताशनः ।
भवन्तमेव ज्ञास्यन्ति पावकं न तु मां जनाः ।। १५ ।।

अग्निदेव बोले—मुने! संसारमें मेरी कीर्ति नष्ट हो गयी है। अब आप ही अग्निके पदपर प्रतिष्ठित हैं। आपको ही लोग अग्नि समझेंगे, आपके सामने मुझे कोई अग्नि नहीं मानेगा ।। १५ ।।

निक्षिपाम्यहमग्नित्वं त्वमग्निः प्रथमो भव ।
भविष्यामि द्वितीयोऽहें प्राजापत्यक एव च ।। १६ ।।

मैं अपना अग्नित्व आपमें ही रख देता हूँ, आप ही प्रथम अग्निके पदपर प्रतिष्ठित होइये। मैं द्वितीय प्राजापत्य नामक अग्नि होऊँगा ।। १६ ।।

अंगिरा उवाच

कुरु पुण्यं प्रजास्वर्ग्यं भवाग्निस्तिमिरापहः ।
मां च देव कुरुष्वाग्ने प्रथमं पुत्रमञ्जसा ।। १७ ।।

अङ्गिराने कहा—अग्निदेव! आप प्रजाको स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेवाला पुण्यकर्म (देवताओंके पास हविष्य पहुँचानेका कार्य) सम्पन्न कीजिये और स्वयं ही अन्धकारनिवारक अग्निपदपर प्रतिष्ठित होइये; साथ ही मुझे अपना पहला पुत्र स्वीकार कर लीजिये ।। १७ ।।

मार्कण्डेय उवाच

तच्छ्रुत्वाङ्गिरसो वाक्यं जातवेदास्तथाकरोत् ।
राजन् बृहस्पतिर्नाम तस्याप्यङ्गिरसः सुतः ।। १८ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! अंगिराका यह वचन सुनकर अग्निदेवने वैसा ही किया। उन्हें अपना प्रथम पुत्र मान लिया। फिर अंगिराके भी बृहस्पति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ।। १८ ।।

ज्ञात्वा प्रथमजं तं तु वह्नेराङ्गिरसं सुतम् ।
उपेत्य देवाः पप्रच्छुः कारणं तत्र भारत ।। १९ ।।

भरतनन्दन! अंगिराको अग्निदेवका प्रथम पुत्र जानकर सब देवता उनके पास आये और इसका कारण पूछने लगे ।। १९ ।।

स तु पृष्टस्तदा देवैस्ततः कारणमब्रवीत् ।
प्रत्यगृह्णंस्तु देवाश्च तद् वचोऽङ्गिरसस्तदा ।। २० ।।

देवताओंके पूछनेपर अंगिराने उन्हें कारण बताया और देवताओंने अंगिराके उस कथनपर विश्वास करके उसे यथार्थ माना ।। २० ।।

तत्र नानाविधानग्नीन् प्रवक्ष्यामि महाप्रभान् ।
कर्मभिर्बहुभिः ख्यातान् नानार्थान् ब्राह्मणेष्विह ।। २१ ।।

अब मैं महान् कान्तिमान् विविध अग्नियोंका, जो ब्राह्मणग्रंथोक्त विधि-वाक्योंमें अनेक कर्मोंद्वारा विभिन्न प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये विख्यात हैं, वर्णन करूँगा ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें अंगिरसके प्रसंगमें दो सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१७ ।।

अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अंगिराकी संततिका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

ब्रह्मणो यस्तृतीयस्तु पुत्रः कुरुकुलोद्वह ।
तस्याभवत् सुभा भार्या प्रजास्तस्यां च मे शृणु ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—कुरुकुलधुरन्धर युधिष्ठिर! ब्रह्माजीके जो तीसरे पुत्र अंगिरा हैं, उनकी पत्नीका नाम सुभा है। उसके गर्भसे जो संतानें उत्पन्न हुईं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ।। १ ।।

बृहत्कीर्तिर्बृहज्ज्योतिर्बृहद्ब्रह्मा बृहन्मनाः ।
बृहन्मन्त्रो बृहद्भासस्तथा राजन् बृहस्पतिः ।। २ ।।

राजन्! बृहत्कीर्ति, बृहज्ज्योति, बृहद्ब्रह्मा, बृहन्मना, बृहन्मन्त्र, बृहद्भास तथा बृहस्पति (ये अंगिरासे सुभाके सात पुत्र हुए) ।। २ ।।

प्रजासु तासु सर्वासु रूपेणाप्रतिमाभवत् ।
देवी भानुमती नाम प्रथमाङ्गिरसः सुता ।। ३ ।।

अंगिराकी प्रथम पुत्रीका नाम देवी भानुमती है। वह उनकी संतानोंमें सबसे अधिक रूपवती है; उसके रूपकी कहीं तुलना ही नहीं है (भानु अर्थात् सूर्यसे युक्त होनेके कारण यह दिनकी अभिमानिनी है) ।। ३ ।।

भूतानामेव सर्वेषां यस्यां रागस्तदाभवत् ।
रागाद्रागेति यामाहुर्द्वितीयाङ्गिरसः सुता ।। ४ ।।

अंगिरा मुनिकी दूसरी कन्या 'रागा' नामसे विख्यात है। उसपर समस्त प्राणियोंका विशेष अनुराग प्रकट हुआ था। इसीलिये उसका ऐसा नाम प्रसिद्ध हुआ। (यह रात्रिकी अभिमानिनी है) ।। ४ ।।

यां कपर्दिसुतामाहुर्दृश्यादृश्येति देहिनः ।
तनुत्वात् सा सिनीवाली तृतीयाङ्गिरसः सुता ।। ५ ।।

अंगिराकी तीसरी पुत्री 'सिनीवाली' (चतुर्दशीयुक्ता अमावास्या) है जो अत्यन्त कृश होनेके कारण कभी दीखती है और कभी नहीं दीखती; इसीलिये लोग उसे 'दृश्यादृश्या' कहते हैं। भगवान् रुद्र उसे ललाटमें धारण करते हैं, इस कारण उसे सब लोग 'रूद्रसुता, भी कहते हैं ।। ५ ।।

पश्यत्यर्चिष्मती भाभिर्हविर्भिश्च हविष्मती ।
षष्ठीमङ्गिरसः कन्यां पुण्यामाहुर्महिष्मतीम् ।। ६ ।।

उनकी चौथी पुत्री ‘अर्चिष्मती’ है, (यही पूर्ण चन्द्रमासे युक्त होनेके कारण शुद्ध पौर्णमासी कही जाती है) इसकी प्रभासे लोग रातमें भी सब वस्तुओंको स्पष्ट देखते हैं। पाँचवीं कन्या ‘हविष्मती’ (प्रतिपद्‌युक्ता पूर्णिमा ‘राका’) है, जिसके सांनिध्यमें हविष्यद्वारा देवताओंका यजन किया जाता है। अंगिरा मुनिकी जो छठी पुण्यात्मा कन्या है, उसे ‘महिष्मती’ कहते हैं (यही चतुर्दशीयुक्ता पूर्णिमा है, जिसे ‘अनुमति’ भी कहते हैं) ।। ६ ।।

महामखेष्वाङ्गिरसी दीप्तिमत्सु महामते ।
महामतीति विख्याता सप्तमी कथ्यते सुता ।। ७ ।।

महामते! जो दीप्तिशाली सोमयाग आदि महायज्ञोंमें प्रकाशित होनेके कारण ‘महामती’ नामसे विख्यात है, वह (प्रतिपद्‌युक्त अमावास्या) अंगिरा मुनिकी सातवीं पुत्री कहलाती है ।। ७ ।।

यां तु दृष्ट्वा भगवतीं जनः कुहुकुहायते ।
एकानंशेति तामाहुः कुहूमङ्गिरसः सुताम् ।। ८ ।।

जिस भगवती अमाको देखकर लोग ‘कुहु-कुहु’ ध्वनि कर उठते (चकित हो जाते) हैं, अंगिरा मुनिकी वह आठवीं पुत्री ‘कुहू’ नामसे विख्यात है। उसमें चन्द्रमाकी एकमात्र कला अत्यन्त सूक्ष्म अंशसे शेष रहती है। (यही शुद्ध अमावस्या है) ।। ८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि अङ्गिरसोपाख्याने अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें अंगिरसोपाख्यानविषयक दो सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१८ ।।

एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

बृहस्पतिकी संततिका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

बृहस्पतेश्चान्द्रमसी भार्याऽऽसीद् या यशस्विनी ।
अग्नीन् साजनयत् पुण्यान् षडेकां चापि पुत्रिकाम् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! बृहस्पतिजीकी जो यशस्विनी पत्नी चान्द्रमसी (तारा) नामसे विख्यात थी, उसने पुत्ररूपमें छः पवित्र अग्नियोंको तथा एक पुत्रीको भी जन्म दिया ।। १ ।।

आहुतिष्वेव यस्याग्नेर्हविषाद्यं विधीयते ।
सोऽग्निर्बृहस्पतेः पुत्रः शंयुर्नाम महाव्रतः ।। २ ।।

(दर्श-पौर्णमास आदिमें) प्रधान आहुतियोंको देते समय जिस अग्निके लिये सर्वप्रथम घीकी आहुति दी जाती है, वह महान् व्रतधारी अग्नि ही बृहस्पतिका 'शंयु' नामसे विख्यात (प्रथम) पुत्र है ।। २ ।।

चातुर्मास्येषु यस्येष्टमश्वमेधेऽग्रजः प्रभुः ।
दीप्तो ज्वालैरनेकाभैरग्निरेकोऽथ वीर्यवान् ।। ३ ।।

चातुर्मास्य-सम्बन्धी यज्ञोंमें तथा अश्वमेध-यज्ञमें जिसका पूजन होता है, जो सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवाला और सर्वसमर्थ है तथा जो अनेक वर्णकी ज्वालाओंसे प्रज्वलित है, वह अद्वितीय शक्तिशाली अग्नि ही शंयु है ।। ३ ।।

शंयोरप्रतिमा भार्या सत्या सत्याथ धर्मजा ।
अग्निस्तस्य सुतो दीप्तस्तिस्रः कन्याश्च सुव्रताः ।। ४ ।।

शंयुकी पत्नीका नाम था सत्या। वह धर्मकी पुत्री थी। उसके रूप और गुणोंकी कहीं तुलना नहीं थी। वह सदा सत्यके पालनमें तत्पर रहती थी। उसके गर्भसे शंयुके एक अग्निस्वरूप पुत्र तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाली तीन कन्याएँ हुईं ।। ४ ।।

प्रथमेनाज्यभागेन पूज्यते योऽग्निरध्वरे ।
अग्निस्तस्य भरद्वाजः प्रथमः पुत्र उच्यते ।। ५ ।।

यज्ञमें प्रथम आज्यभागके द्वारा जिस अग्निकी पूजा की जाती है, वही शंयुका ज्येष्ठ पुत्र 'भरद्वाज' नामक अग्नि बताया जाता है ।। ५ ।।

पौर्णमासेषु सर्वेषु हविषाऽऽज्यं स्रुवोद्यतम् ।
भरतो नामतः सोऽग्निर्द्वितीयः शंयुतः सुतः ।। ६ ।।

समस्त पौर्णमास यागोंमें स्रुवासे हविष्यके साथ घी उठाकर जिसके लिये 'प्रथम आघार' अर्पित किया जाता है, वह 'भरत' (ऊर्ज) नामक अग्नि शंयुका द्वितीय पुत्र है

(इसका जन्म शंयुकी दूसरी स्त्रीके गर्भसे हुआ था) ।। ६ ।।

तिस्रः कन्या भवन्त्यन्या यासां स भरतः पतिः ।
भरतस्तु सुतस्तस्य भरत्येका च पुत्रिका ।। ७ ।।

शंयुके तीन कन्याएँ और हुईं, जिनका बड़ा भाई भरत ही पालन करता था। भरत (ऊर्ज)-के 'भरत' नामवाला ही एक पुत्र तथा 'भरती' नामकी एक कन्या हुई ।। ७ ।।

भरतो भरतस्याग्नेः पावकस्तु प्रजापतेः ।
महानत्यर्थमहितस्तथा भरतसत्तम ।। ८ ।।

सबका भरण-पोषण करनेवाले प्रजापति भरत नामक अग्निसे 'पावक' की उत्पत्ति हुई। भरतश्रेष्ठ! वह अत्यन्त महनीय (पूज्य) होनेके कारण 'महान्' कहा गया है ।। ८ ।।

भरद्वाजस्य भार्या तु वीरा वीरस्य पिण्डदा ।
प्राहुराज्येन तस्येज्यां सोमस्येव द्विजाः शनैः ।। ९ ।।

शंयुके पहले पुत्र भरद्वाजकी पत्नीका नाम 'वीरा' था, जिसने वीर नामक पुत्रको शरीर प्रदान किया। ब्राह्मणोंने सोमकी ही भाँति वीरकी भी आज्यभागसे पूजा बतायी है[१]। इनके लिये आहुति देते समय मन्त्रका उपांशु उच्चारण किया जाता है ।। ९ ।।

हविषा यो द्वितीयेन सोमेन सह युज्यते ।
रथप्रभू रथध्वानः कुम्भरेताः स उच्यते ।। १० ।।

सोमदेवताके साथ इन्हींको द्वितीय आज्यभाग प्राप्त होता है। इन्हें 'रथप्रभु', 'रथध्वान' और 'कुम्भरेता' भी कहते हैं ।। १० ।।

सरय्वां जनयत् सिद्धिं भानुं भाभिः समावृणोत् ।
आग्नेयमानयन् नित्यमाह्वाने ह्येष सूयते ।। ११ ।।

वीरने 'सरयू' नामवाली पत्नीके गर्भसे 'सिद्धि' नामक पुत्रको जन्म दिया। सिद्धिने अपनी प्रभासे सूर्यको भी आच्छादित कर लिया। सूर्यके आच्छादित हो जानेपर उसने अग्निदेवता-सम्बन्धी यज्ञका अनुष्ठान किया। आह्वान-मन्त्र (अग्निमग्न आवह इत्यादि)-में इस सिद्धि नामक अग्निकी ही स्तुति की जाती है ।। ११ ।।

यस्तु न च्यवते नित्यं यशसा वर्चसा श्रिया ।
अग्निर्निश्च्यवनो नाम पृथिवीं स्तौति केवलम् ।। १२ ।।

बृहस्पतिके (दूसरे) पुत्रका नाम 'निश्च्यवन' है। ये यश, वर्चस् (तेज) और कान्तिसे कभी च्युत नहीं होते हैं। निश्च्यवन अग्नि केवल पृथ्वीकी स्तुति करते हैं[२] ।।

विपाप्मा कलुषैर्मुक्तो विशुद्धश्चार्चिषा ज्वलन् ।
विपापोऽग्निः सुतस्तस्य सत्यः समयधर्मकृत् ।। १३ ।।

वे निष्पाप, निर्मल, विशुद्ध तथा तेजःपुञ्जसे प्रकाशित हैं। उनका पुत्र 'सत्य नामक अग्नि है; सत्य भी निष्पाप तथा कालधर्मके प्रवर्तक हैं ।। १३ ।।

आक्रोशतां हि भूतानां यः करोति हि निष्कृतिम् ।
अग्निः स निष्कृतिर्नाम शोभयत्यभिसेविते ।। १४ ।।

वे वेदनासे पीडित होकर आर्तनाद करनेवाले प्राणियोंको उस कष्टसे निष्कृति (छुटकारा) दिलाते हैं, इसीलिये उन अग्निका एक नाम निष्कृति भी है। वे ही प्राणियोंद्वारा सेवित गृह और उद्यान आदिमें शोभाकी सृष्टि करते हैं ।। १४ ।।

अनुकूजन्ति येनेह वेदनार्ताः स्वयं जनाः ।
तस्य पुत्रः स्वनो नाम पावकः स रुजस्करः ।। १५ ।।

सत्यके पुत्रका नाम 'स्वन' है, जिनसे पीडित होकर लोग वेदनासे स्वयं कराह उठते हैं। इसीलिये उनका यह नाम पड़ा है। वे रोगकारक अग्नि हैं ।। १५ ।।

यस्तु विश्वस्य जगतो बुद्धिमाक्रम्य तिष्ठति ।
तं प्राहुरध्यात्मविदो विश्वजिन्नाम पावकम् ।। १६ ।।

(बृहस्पतिके तीसरे पुत्रका नाम 'विश्वजित्' है) वे सम्पूर्ण विश्वकी बुद्धिको अपने वशमें करके स्थित हैं, इसीलिये अध्यात्मशास्त्रके विद्वानोंने उन्हें 'विश्वजित्' अग्नि कहा है ।। १६ ।।

अन्तराग्निः स्मृतो यस्तु भुक्तं पचति देहिनाम् ।
स जज्ञे विश्वभुङ्नाम सर्वलोकेषु भारत ।। १७ ।।

भरतनन्दन! जो समस्त प्राणियोंके उदरमें स्थित हो उनके खाये हुए पदार्थोंको पचाते हैं, वे सम्पूर्ण लोकोंमें 'विश्वभुक्' नामसे प्रसिद्ध अग्नि बृहस्पतिके (चौथे) पुत्रके रूपमें प्रकट हुए हैं ।। १७ ।।

ब्रह्मचारी यतात्मा च सततं विपुलव्रतः ।
ब्राह्मणाः पूजयन्त्येनं पाकयज्ञेषु पावकम् ।। १८ ।।

ये विश्वभुक् अग्नि ब्रह्मचारी, जितात्मा तथा सदा प्रचुर व्रतोंका पालन करनेवाले हैं। ब्राह्मणलोग पाकयज्ञोंमें इन्हींकी पूजा करते हैं ।। १८ ।।

पवित्रा गोमती नाम नदी यस्याभवत् प्रिया ।
तस्मिन् कर्माणि सर्वाणि क्रियन्ते धर्मकर्तृभिः ।। १९ ।।

पवित्र गोमती नदी इनकी प्रिय पत्नी हुईं। धर्माचरण करनेवाले द्विजलोग विश्वभुक् अग्निमें ही सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं ।। १९ ।।

वडवाग्निः पिबत्यम्भो योऽसौ परमदारुणः ।
ऊर्ध्वभागूर्ध्वभाङ्नाम कविः प्राणाश्रितस्तु यः ।। २० ।।

जो अत्यन्त भयंकर वडवानलरूपसे समुद्रका जल सोखते रहते हैं, वे ही शरीरके भीतर ऊर्ध्वगति—'उदान' नामसे प्रसिद्ध हैं। ऊपरकी ओर गतिशील होनेसे ही उनका नाम 'ऊर्ध्वभाक्' है। वे प्राणवायुके आश्रित एवं त्रिकालदर्शी हैं। (उन्हें बृहस्पतिका पाँचवाँ पुत्र माना गया है) ।। २० ।।

उदग्द्वारं हविर्यस्य गृहे नित्यं प्रदीयते ।
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत् परमः स्मृतः ।। २१ ।।

प्रत्येक गृह्यकर्ममें जिस अग्निके लिये सदा घीकी ऐसी धारा दी जाती है जिसका प्रवाह उत्तराभिमुख हो और इस प्रकार दी हुई वह घृतकी आहुति अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि करती है। इसीलिये उस उत्कृष्ट अग्निका नाम 'स्विष्टकृत्' है। (उसे बृहस्पतिका छठा पुत्र समझना चाहिये) ।। २१ ।।

यः प्रशान्तेषु भूतेषु मन्युर्भवति पावकः ।
क्रुद्धस्य तु रसो जज्ञे मन्युतीव्रा च पुत्रिका ।
स्वाहेति दारुणा क्रूरा सर्वभूतेषु तिष्ठति ।। २२ ।।

जिस समय अग्निस्वरूप बृहस्पतिका क्रोध प्रशान्त प्राणियोंपर प्रकट हुआ उस समय उनके शरीरसे जो पसीना निकला, वही उनकी पुत्रीके रूपमें परिणत हो गया। वह पुत्री अधिक क्रोधवाली थी। वह 'स्वाहा' नामसे प्रसिद्ध हुई। वह दारुण एवं क्रूर कन्या सम्पूर्ण भूतोंमें निवास करती है ।। २२ ।।

त्रिदिवे यस्य सदृशो नास्ति रूपेण कश्चन ।
अतुलत्वात् कृतो देवैर्नाम्ना कामस्तु पावकः ।। २३ ।।

स्वर्गमें भी कहीं तुलना न होनेके कारण जिसके समान रूपवान् दूसरा कोई नहीं है, उस स्वाहा-पुत्रको देवताओंने 'काम' नामक अग्नि कहा है ।। २३ ।।

संहर्षाद् धारयन् क्रोधं धन्वी स्रग्वी रथे स्थितः ।
समरे नाशयेच्छत्रूनमोघो नाम पावकः ।। २४ ।।

जो हृदयमें क्रोध धारण किये धनुष और मालासे विभूषित हो रथपर बैठकर हर्ष और उत्साहके साथ युद्धमें शत्रुओंका नाश करते हैं, उसका नाम है 'अमोघ' अग्नि ।।

उक्थो नाम महाभाग त्रिभिरुक्थैरभिष्टुतः ।
महावाचं त्वजनयत् समाश्वासं हि यं विदुः ।। २५ ।।

महाभाग! ब्राह्मणलोग त्रिविध उक्थ मन्त्रोंद्वारा जिसकी स्तुति करते हैं, जिसने महावाणी (परा)-का आविष्कार किया है तथा ज्ञानी पुरुष जिसे आश्वासन देनेवाला समझते हैं; उस अग्निका नाम 'उक्थ' है ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आंगिरसोपाख्याने एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २१९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आंगिरसोपाख्यानविषयक दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१९ ।।

१. **‘अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय’** इस श्रुतिमें अग्नि और सोमको उपांशु मन्त्रोच्चारणपूर्वक आज्यभाग अर्पण करनेका विधान है। यहाँ सोमके साथ जिस अग्निको आज्यभागका अधिकारी बताया गया है, वह ‘वीर’ नामक अग्नि ही है।

२. ये वाक्‌के अभिमानी देवता हैं। **‘तस्य वाचा सृष्टौ पृथिवी चाग्निश्च’** इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है।

विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाञ्चजन्य अग्निकी उत्पत्ति तथा उसकी संततिका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

काश्यपो ह्यथ वासिष्ठः प्राणश्च प्राणपुत्रकः ।
अग्निराङ्गिरसश्चैव च्यवनस्त्रिषु वर्चकः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! कश्यपपुत्र काश्यप, वसिष्ठ-पुत्र वासिष्ठ, प्राणपुत्र प्राणक, अंगिराके पुत्र च्यवन तथा त्रिवर्चा—ये पाँच अग्नि हैं ।। १ ।।

अचरन्त तपस्तीव्रं पुत्रार्थे बहुवार्षिकम् ।
पुत्रं लभेम धर्मिष्ठं यशसा ब्रह्मणा समम् ।। २ ।।

इन्होंने पुत्रकी प्राप्तिके लिये बहुत वर्षोंतक तीव्र तपस्या की। इनकी तपस्याका उद्देश्य यह था कि हम ब्रह्माजीके समान यशस्वी और धर्मिष्ठ पुत्र प्राप्त करें ।।

महाव्याहृतिभिर्ध्यातः पञ्चभिस्तैस्तदा त्वथ ।
जज्ञे तेजो महार्चिष्मान् पञ्चवर्णः प्रभावनः ।। ३ ।।

पूर्वोक्त पाँच अग्निस्वरूप ऋषियोंने महाव्याहृतिसंज्ञक पाँच मन्त्रोंद्वारा* परमात्माका ध्यान किया, तब उनके समक्ष अत्यन्त तेजोमय, पाँच वर्णोंसे विभूषित एक पुरुष प्रकट हुआ, जो ज्वालाओंसे प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित होता था। वह सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करनेमें समर्थ था ।। ३ ।।

समिद्धोऽग्निः शिरस्तस्य बाहू सूर्यनिभौ तथा ।
त्वङ्नेत्रे च सुवर्णाभे कृष्णे जङ्घे च भारत ।। ४ ।।

भारत! उसका मस्तक प्रज्वलित अग्निके समान जगमगा रहा था, दोनों भुजाएँ प्रभाकरकी प्रभाके समान थीं, दोनों आँखें तथा त्वचा—सुवर्णके समान देदीप्यमान हो रही थीं और उस पुरुषकी पिण्डलियाँ काले रंगकी दिखायी देती थीं ।। ४ ।।

पञ्चवर्णः स तपसा कृतस्तैः पञ्चभिर्जनैः ।
पाञ्चजन्यः श्रुतो देवः पञ्चवंशकरस्तु सः ।। ५ ।।

उपर्युक्त पाँच मुनिजनोंने अपनी तपस्याके प्रभावसे उस पाँच वर्णवाले पुरुषको प्रकट किया था, इसलिये उस देवोपम पुरुषका नाम पाञ्चजन्य हो गया। वह उन पाँचों ऋषियोंके वंशका प्रवर्तक हुआ ।। ५ ।।

दशवर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महातपाः ।
जनयत् पावकं घोरं पितृणां स प्रजाः सृजन् ।। ६ ।।

फिर महातपस्वी पाञ्चजन्यने अपने पितरोंका वंश चलानेके लिये दस हजार वर्षोंतक घोर तपस्या करके भयंकर दक्षिणाग्निको उत्पन्न किया ।। ६ ।।

बृहद् रथन्तरं मूर्ध्नो वक्त्राद् वा तरसाहरौ ।
शिवं नाभ्यां बलादिन्द्रं वाय्वग्नी प्राणतोऽसृजत् ।। ७ ।।

उन्होंने मस्तकसे बृहत् तथा मुखसे रथन्तर सामको प्रकट किया। ये दोनों वेगपूर्वक आयु आदिको हर लेते हैं, इसलिये 'तरसाहर' कहलाते हैं। फिर उन्होंने नाभिसे रुद्रको, बलसे इन्द्रको तथा प्राणसे वायु और अग्निको उत्पन्न किया ।। ७ ।।

बाहुभ्यामनुदात्तौ च विश्वे भूतानि चैव ह ।
एतान् सृष्ट्वा ततः पञ्च पितॄणामसृजत् सुतान् ।। ८ ।।

दोनों भुजाओंसे प्राकृत और वैकृत भेदवाले दोनों अनुदात्तोंको मन और ज्ञानेन्द्रियोंके समस्त (छहों) देवताओंको तथा पाँच महाभूतोंको उत्पन्न किया। इन सबकी सृष्टि करनेके पश्चात् उन्होंने पाँचों पितरोंके लिये पाँच पुत्र और उत्पन्न किये ।। ८ ।।

बृहद्रथस्य प्रणिधिः काश्यपस्य महत्तरः ।
भानुरङ्गिरसो धीरः पुत्रो वर्चस्य सौभरः ।। ९ ।।

(जिनके नाम इस प्रकार हैं—) वासिष्ठ बृहद्रथके अंशसे प्रणिधि, काश्यपके अंशसे महत्तर, अंगिरस च्यवनके अंशसे भानु तथा वर्चके अंशसे सौभर नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई ।। ९ ।।

प्राणस्य चानुदात्तस्तु व्याख्याताः पञ्चविंशतिः ।
देवान् यज्ञमुषश्चान्यान् सृजत् पञ्चदशोत्तरान् ।। १० ।।
सुभीममतिभीमं च भीमं भीमबलाबलम् ।
एतान् यज्ञमुषः पञ्च देवानां ह्यसृजत् तपः ।। ११ ।।

प्राणके अंशसे अनुदात्तकी उत्पत्ति हुई। इस प्रकार पचीस पुत्रोंके नाम बताये गये। तत्पश्चात् 'तप' नामधारी पांचजन्यने यज्ञमें विघ्न डालनेवाले अन्य पंद्रह उत्तर देवों (विनायकों)-की सृष्टि की। उनका विवरण इस प्रकार है—सुभीम, अतिभीम, भीम, भीमबल और अबल—इन पाँच विनायकोंकी उत्पत्ति उन्होंने पहले की, जो देवताओंके यज्ञका विनाश करनेवाले हैं ।। १०-११ ।।

सुमित्रं मित्रवन्तं च मित्रज्ञं मित्रवर्धनम् ।
मित्रधर्माणमित्येतान् देवानभ्यसृजत् तपः ।। १२ ।।

इनके बाद पाञ्चजन्यने सुमित्र, मित्रवान्, मित्रज्ञ, मित्रवर्धन और मित्रधर्मा—इन पाँच देवरूपी विनायकोंको उत्पन्न किया ।। १२ ।।

सुरप्रवीरं वीरं च सुरेशं च सुवर्चसम् ।
सुराणामपि हन्तारं पञ्चैतानसृजत् तपः ।। १३ ।।

तदनन्तर पाञ्चजन्यने सुरप्रवीर, वीर, सुरेश, सुवर्चा तथा सुरहन्ता—इन पाँचोंको प्रकट किया ।। १३ ।।

त्रिविधं संस्थिता ह्येते पञ्च पञ्च पृथक् पृथक् ।

मुष्णन्त्यत्र स्थिता ह्येते स्वर्गतो यज्ञयाजिनः ।। १४ ।।

इस प्रकार ये पंद्रह देवोपम प्रभावशाली विनायक पृथक्-पृथक् पाँच-पाँच व्यक्तियोंके तीन दलोंमें विभक्त हैं। इस पृथ्वीपर ही रहकर स्वर्गलोकसे भी यज्ञकर्ता पुरुषोंकी यज्ञ-सामग्रीका अपहरण कर लेते हैं ।। १४ ।।

तेषामिष्टं हरन्त्येते निघ्नन्ति च महद्धविः ।
स्पर्धया हव्यवाहानां निघ्नन्त्येते हरन्ति च ।। १५ ।।

ये विनायकगण अग्नियोंके लिये अभीष्ट महान् हविष्यका अपहरण तो करते ही हैं, उसे नष्ट भी कर डालते हैं। अग्निगणोंके साथ लाग-डाँट रखनेके कारण ही ये हविष्यका अपहरण और विध्वंस करते हैं ।। १५ ।।

बहिर्वेद्यां तदादानं कुशलैः सम्प्रवर्तितम् ।
तदेते नोपसर्पन्ति यत्र चाग्निः स्थितो भवेत् ।। १६ ।।

इसीलिये यज्ञनिपुण विद्वानोंने यज्ञशालाकी बाह्य वेदीपर इन विनायकोंके लिये देयभाग रख देनेका नियम चालू किया है; क्योंकि जहाँ अग्निकी स्थापना हुई हो, उस स्थानके निकट ये विनायक नहीं जाते हैं ।। १६ ।।

चितोऽग्निरुद्वहन् यज्ञं पक्षाभ्यां तान् प्रबाधते ।
मन्त्रैः प्रशमिता ह्येते नेष्टं मुष्णन्ति यज्ञियम् ।। १७ ।।

मन्त्रद्वारा संस्कार करनेके पश्चात् प्रज्वलित अग्निदेव जिस समय आहुति ग्रहण करते हुए यज्ञका सम्पादन करते हैं, उस समय वे अपने दोनों पंखों (पार्श्ववर्ती शिखाओं) द्वारा उन विनायकोंको कष्ट पहुँचाते हैं (इसीलिये वे उनके पास नहीं फटकते)। मन्त्रोंद्वारा शान्त कर देनेपर वे विनायक यज्ञसम्बन्धी हविष्यका अपहरण नहीं कर पाते हैं ।। १७ ।।

बृहदुक्थस्तपस्यैव पुत्रो भूमिमुपाश्रितः ।
अग्निहोत्रे हूयमाने पृथिव्यां सद्भिरिज्यते ।। १८ ।।

इस पृथ्वीपर जब अग्निहोत्र होने लगता है, उस समय तप (पाञ्चजन्य)-के ही पुत्र बृहदुक्थ इस भूतलपर स्थित हो श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा पूजित होते हैं ।। १८ ।।

रथन्तरश्च तपसः पुत्रोऽग्निः परिपठ्यते ।
मित्रविन्दाय वै तस्य हविरध्वर्यवो विदुः ।। १९ ।।
मुमुदे परमप्रीतः सह पुत्रैर्महायशाः ।। २० ।।

तपके पुत्र जो रथन्तर नामक अग्नि कहे जाते हैं, उनको दी हुई हवि मित्रविन्द देवताका भाग है, ऐसा यजुर्वेदी विद्वान् मानते हैं। महायशस्वी तप (पाञ्चजन्य) अपने इन सभी पुत्रोंके सहित अत्यन्त प्रसन्न हो आनन्दमग्न रहते हैं ।। १९-२० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्याने विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आंगिरसोपाख्मानविषयक दो सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२० ।।

---

* भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः—ये पाँच महाव्याहृतियाँ हैं। ध्यानके लिये मन्त्रप्रयोग इस प्रकार है—**‘ॐ भूरन्नमग्नये पृथिव्यै स्वाहा’** इत्यादि।

एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अग्निस्वरूप तप और भानु (मनु)-की संततिका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

गुरुभिर्नियमैर्युक्तो भरतो नाम पावकः ।
अग्निः पुष्टिमतिर्नाम तुष्टः पुष्टिं प्रयच्छति ।
भरत्येष प्रजाः सर्वास्ततो भरत उच्यते ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पूर्वोक्त भरत नामक अग्नि (जो शंयुके पौत्र और ऊर्जके पुत्र हैं) गुरुतर नियमोंसे युक्त हैं। वे संतुष्ट होनेपर पुष्टि प्रदान करते हैं, इसलिये उनका एक नाम 'पुष्टिमति' भी है। समस्त प्रजाका भरण-पोषण करते हैं, इसलिये उन्हें भरत कहते हैं ।। १ ।।

अग्निर्यश्च शिवो नाम शक्तिपूजापरश्च सः ।
दुःखार्तानां च सर्वेषां शिवकृत् सततं शिवः ।। २ ।।

'शिव' नामसे प्रसिद्ध जो अग्नि हैं, वे शक्तिकी आराधनामें लगे रहते हैं। समस्त दुःखातुर मनुष्योंका सदा ही शिव (कल्याण) करते हैं, इसलिये उन्हें 'शिव' कहते हैं ।। २ ।।

तपसस्तु फलं दृष्ट्वा सम्प्रवृद्धं तपो महत् ।
उद्धर्तुकामो मतिमान् पुत्रो जज्ञे पुरंदरः ।। ३ ।।

तप (पाञ्चजन्य)-का तपस्याजनित फल (ऐश्वर्य) बढ़कर महान् हो गया है, यह देख उसे प्राप्त करनेकी इच्छासे मानो बुद्धिमान् इन्द्र ही पुरंदर नामसे उनके पुत्र होकर प्रकट हुए ।। ३ ।।[१]

ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतस्य लक्ष्यते ।
अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत् ।। ४ ।।

उन्हीं पांचजन्यसे 'ऊष्मा' नामक अग्निका प्रादुर्भाव हुआ। जो समस्त प्राणियोंके शरीरमें ऊष्मा (गर्मी)-के द्वारा परिलक्षित होते हैं तथा तपके जो 'मनु' नामक अग्निस्वरूप पुत्र हैं, उन्होंने 'प्राजापत्य' यज्ञ सम्पन्न कराया था ।। ४ ।।

शम्भुमग्निमथ प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
आवसथ्यं द्विजाः प्राहुर्दीप्तमग्निं महाप्रभम् ।। ५ ।।

वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण 'शम्भु' तथा 'आवसथ्य' नामक अग्निको देदीप्यमान तथा महान् तेजः पुञ्जसे सम्पन्न बताते हैं ।। ५ ।।

ऊर्जस्करान् हव्यवाहान् सुवर्णसदृशप्रभान् ।
ततस्तपो ह्यजनयत् पञ्च यज्ञसुतानिह ।। ६ ।।

इस प्रकार जिन्हें यज्ञमें सोमकी आहुति दी जाती है, ऐसे पाँच पुत्रोंको तपने पैदा किया। वे सब-के-सब सुवर्ण-सदृश कान्तिमान्, बल और तेजकी प्राप्ति करानेवाले तथा देवताओंके लिये हविष्य पहुँचानेवाले हैं ।। ६ ।।

प्रशान्तेऽग्निर्महाभाग परिश्रान्तो गवां पतिः ।
असुरान् जनयन् घोरान् मर्त्यांश्चैव पृथग्विधान् ।। ७ ।।

महाभाग! अस्तकालमें परिश्रमसे थके-माँदे सूर्यदेव (अग्निमें प्रविष्ट होनेके कारण) अग्निस्वरूप हो जाते हैं।[२] भयंकर असुरों तथा नाना प्रकारके मरणधर्मा मनुष्योंको उत्पन्न करते हैं। (उन्हें भी तपकी ही संततिके अन्तर्गत माना गया है) ।। ७ ।।

तपसश्च मनुं पुत्रं भानुं चाप्यङ्गिराः सृजत् ।
बृहद्भानुं तु तं प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ।। ८ ।।

तपके मनु (प्रजापति) स्वरूप पुत्र भानु नामक अग्निको अंगिराने भी (अपना प्रभाव अर्पित करके) नूतन जीवन प्रदान किया है। वेदोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मण भानुको ही 'बृहद्भानु' कहते हैं ।। ८ ।।

भानोर्भार्या सुप्रजा तु बृहद्भासा तु सूर्यजा ।
असृजेतां तु षट् पुत्रान् शृणू तासां प्रजाविधिम् ।। ९ ।।

भानुकी दो पत्नियाँ हुईं—सुप्रजा और बृहद्भासा। इनमें बृहद्भासा सूर्यकी कन्या थी। इन दोनोंने छः पुत्रोंको जन्म दिया। इनके द्वारा जो संतानोंकी सृष्टि हुई, उसका वर्णन सुनो ।। ९ ।।

दुर्बलानां तु भूतानामसून् यः सम्प्रयच्छति ।
तमग्निं बलदं प्राहुः प्रथमं भानुतः सुतम् ।। १० ।।

जो दुर्बल प्राणियोंको प्राण एवं बल प्रदान करते हैं, उन्हें 'बलद' नामक अग्नि बताया जाता है। ये भानुके प्रथम पुत्र हैं ।। १० ।।

यः प्रशान्तेषु भूतेषु मन्युर्भवति दारुणः ।
अग्निः स मन्युमान्नाम द्वितीयो भानुतः सुतः ।। ११ ।।

जो शान्त प्राणियोंमें भयंकर 'क्रोध' बनकर प्रकट होते हैं, वे 'मन्युमान्' नामक अग्नि भानुके द्वितीय पुत्र हैं ।। ११ ।।

दर्शे च पौर्णमासे च यस्येह हविरुच्यते ।
विष्णुर्नामेह योऽग्निस्तु धृतिमान्नाम सोऽङ्गिराः ।। १२ ।।

यहाँ जिनके लिये दर्श तथा पौर्णमास यागोंमें हविष्य-समर्पणका विधान पाया जाता है, उन अग्निका नाम 'विष्णु' है। वे 'अंगिरा' गोत्रीय माने गये हैं। उन्हींका दूसरा नाम 'धृतिमान्' अग्नि है (ये भानुके तीसरे पुत्र हैं) ।। १२ ।।[३]

इन्द्रेण सहितं यस्य हविराग्रयणं स्मृतम् ।

अग्निराग्रयणो नाम भानोरेवान्वयस्तु सः ।। १३ ।।

इन्द्रसहित जिनके लिये आग्रयण (नूतन अन्नद्वारा सम्पन्न होनेवाले यज्ञ) कर्ममें हविष्य-अर्पणका विधान है, वे 'आग्रयण' नामक अग्नि भानुके ही (चौथे) पुत्र हैं ।।

चातुर्मास्येषु नित्यानां हविषां योनिरग्रहः ।
चतुर्भिः सहितः पुत्रैर्भानोरेवान्वयः स्तुभः ।। १४ ।।

चातुर्मास्य यज्ञोंमें नित्य विहित आग्नेय आदि आठ हविष्योंके जो उद्भवस्थान हैं, उनका नाम 'अग्रह' है। (वे ही वैश्वदेव पर्वमें प्रधान विश्वदेव नामक अग्नि हैं—से भानुके पाँचवें पुत्र हैं) 'स्तुभ' नामक अग्नि भी भानुके ही पुत्र हैं। पहले कहे हुए चार पुत्रोंके साथ जो ये अग्रह (वैश्वदेव) और स्तुभ हैं, इन्हें मिलाकर भानुके छः पुत्र हैं ।। १४ ।।

निशा त्वजनयत् कन्यामग्नीषोमावुभौ तथा ।
मनोरेवाभवद् भार्या सुषुवे पञ्च पावकान् ।। १५ ।।

मनु (भानु)-की ही एक तीसरी पत्नी थी, जिसका नाम था निशा। उसने एक कन्या और दो पुत्रों-को जन्म दिया। (कन्याका नाम 'रोहिणी' तथा) पुत्रोंके नाम थे—अग्नि और सोम, इनके सिवा, निशाने पाँच अग्निस्वरूप पुत्र और भी उत्पन्न किये। (जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—वैश्वानर, विश्वपति, सन्निहित, कपिल और अग्रणी) ।। १५ ।।

पूज्यते हविषाग्रयेण चातुर्मास्येषु पावकः ।
पर्जन्यसहितः श्रीमानग्निर्वैश्वानरस्तु सः ।। १६ ।।

चातुर्मास्य यज्ञोंमें प्रधान हविष्यद्वारा पर्जन्यसहित जिनकी पूजा की जाती है, वे कान्तिमान् वैश्वानर नामक अग्नि (मनुके प्रथम पुत्र) हैं ।। १६ ।।

अस्य लोकस्य सर्वस्य यः प्रभुः परिपठ्यते ।
सोऽग्निर्विश्वपतिर्नाम द्वितीयो वै मनोः सुतः ।। १७ ।।
ततः स्विष्टं भवेदाज्यं स्विष्टकृत् परमस्तु सः ।

जो वेदोंमें 'सम्पूर्ण जगत्‌के पति' कहे गये हैं, वे विश्वपति नामक अग्नि मनुके द्वितीय पुत्र हैं। उन्हींके प्रभावसे हविष्यकी सुन्दरभावसे आहुति-क्रिया सम्पन्न होती है; अतः वे परम स्विष्टकृत् (उत्तम अभीष्टकी पूर्ति करनेवाले) कहे जाते हैं ।। १७½ ।।

कन्या सा रोहिणी नाम हिरण्यकशिपोः सुता ।। १८ ।।
कर्मणासौ बभौ भार्या स वह्निः स प्रजापतिः ।

मनुकी कन्या भी 'स्विष्टकृत्' ही मानी गयी है। उसका नाम रोहिणी है; वह मनुकी कुमारी पुत्री किसी अशुभ कर्मके कारण हिरण्यकशिपुकी पत्नी हुई थी। वास्तवमें 'मनु' ही वह्नि है और वे ही 'प्रजापति' कहे गये हैं ।। १८½ ।।

प्राणानाश्रित्य यो देहं प्रवर्तयति देहिनाम् ।
तस्य संनिहितो नाम शब्दरूपस्य साधनः ।। १९ ।।

जो देहधारियोंके प्राणोंका आश्रय लेकर उनके शरीरको कार्यमें प्रवृत्त करते हैं, उनका नाम है, 'संनिहित' अग्नि। ये मनुके तीसरे पुत्र हैं। इनके द्वारा शब्द तथा रूपको ग्रहण करनेमें सहायता मिलती है ।। १९ ।।

शुक्लकृष्णगतिर्देवो यो बिभर्ति हुताशनम् ।
अकल्मषः कल्मषाणां कर्ता क्रोधाश्रितस्तु सः ।। २० ।।
कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा ।
अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः ।। २१ ।।

जो दीप्तिमान् महापुरुष, शुक्ल और कृष्ण गतिके आधार हैं, जो अग्निका धारण-पोषण करते हैं, जिनमें किसी प्रकारका कल्मष अर्थात् विकार नहीं है तथापि जो समस्त विकारस्वरूप जगत्के कर्ता हैं, यति लोग जिनको सदा महर्षि कपिलके नामसे कहा करते हैं, जो सांख्ययोगके प्रवर्तक हैं वे क्रोधस्वरूप अग्निके आश्रय कपिल नामक अग्नि हैं। (ये मनुके चौथे पुत्र हैं) ।। २०-२१ ।।

अग्रं यच्छन्ति भूतानां येन भूतानि नित्यदा ।
कर्मस्विह विचित्रेषु सोऽग्रणीर्वह्निरुच्यते ।। २२ ।।

मनुष्य आदि समस्त भूत-प्राणी सर्वदा भाँति-भाँतिके कर्मोंमें जिनके द्वारा सब भूतोंके लिये अन्नका अग्रभाग अर्पण करते हैं वे अग्रणी नामक अग्नि (मनुके पाँचवें पुत्र) कहलाते हैं ।। २२ ।।

इमानन्यान् समसृजत् पावकान् प्रथितान् भुवि ।
अग्निहोत्रस्य दुष्टस्य प्रायश्चित्तार्थमुल्बणान् ।। २३ ।।

मनुने अग्निहोत्र कर्ममें की हुई त्रुटिके प्रायश्चित्त (समाधान)-के लिये इन लोकविख्यात तेजस्वी अग्नियोंकी सृष्टि की, जो पूर्वोक्त अग्नियोंसे भिन्न हैं ।। २३ ।।

संस्पृशेयुर्यदान्योन्यं कथञ्चिद् वायुनाग्नयः ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वै शुचयेऽग्नये ।। २४ ।।

यदि किसी प्रकार हवाके चलनेसे अग्नियोंका परस्पर स्पर्श हो जाय तो अष्टाकपाल (आठ कपालोंमें* संस्कारपूर्वक तैयार किये हुए) पुरोडाशके द्वारा शुचि नामक अग्निके लिये इष्टि करनी (आहुति देनी) चाहिये ।। २४ ।।

दक्षिणाग्निर्यदा द्वाभ्यां संसृजेत तदा किल ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वै वीतयेऽग्नये ।। २५ ।।

जब दक्षिणाग्निका गार्हपत्य तथा हवनीय नामक दो अग्नियोंसे संसर्ग हो जाय, तब मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कारपूर्वक तैयार किये हुए पुरोडाशद्वारा 'वीति' नामक अग्निके लिये आहुति देनी चाहिये ।। २५ ।।

यद्यग्नयो हि स्पृश्येयुर्निवेशस्था दवाग्निना ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या तु शुचयेऽग्नये ।। २६ ।।

यदि गृहस्थित अग्नियोंका दावानलसे संसर्ग हो जाय तो मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत चरुद्वारा शुचि नामक अग्निको आहुति देनी चाहिये ।। २६ ।।

अग्निं रजस्वला वै स्त्री संस्पृशेदग्निहोत्रिकम् ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या वसुमतेऽग्नये ।। २७ ।।

यदि अग्निहोत्र सम्बन्धी अग्निको कोई रजस्वला स्त्री छू दे तो वसुमान् अग्निके लिये मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत चरुद्वारा आहुति देनी चाहिये ।। २७ ।।

मृतः श्रूयेत यो जीवः परेयुः पशवो यदा ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या सुरभिमतेऽग्नये ।। २८ ।।

यदि किसी प्राणीका मृत्युसूचक विलाप आदि सुनायी दे अथवा कुक्कुर आदि पशु उस अग्निका स्पर्श कर लें, उस दशामें मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत पुरोडाशद्वारा सुरभिमान् नामक अग्निकी प्रसन्नताके लिये होम करना चाहिये ।। २८ ।।

आर्तो न जुहुयादग्निं त्रिरात्रं यस्तु ब्राह्मणः ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या स्वादुत्तराग्नये ।। २९ ।।

जो ब्राह्मण किसी पीड़ासे आतुर होकर तीन राततक अग्निहोत्र न करे, उसे मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत चरुके द्वारा 'उत्तर' नामक अग्निको आहुति देनी चाहिये ।। २९ ।।

दर्शं च पौर्णमासं च यस्य तिष्ठेत् प्रतिष्ठितम् ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या पथिकृतेऽग्नये ।। ३० ।।

जिसका चालू किया हुआ दर्श और पौर्णमास याग बीचमें ही बंद हो जाय अथवा बिना आहुति किये ही रह जाय, उसे 'पथिकृत' नामक अग्निके लिये मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत चरुके द्वारा होम करना चाहिए ।।

सूतिकाग्निर्यदा चाग्निं संस्पृशेदग्निहोत्रिकम् ।
इष्टिरष्टाकपालेन कार्या चाग्निमतेऽग्नये ।। ३१ ।।

जब सूतिकागृहकी अग्नि, अग्निहोत्रकी अग्निका स्पर्श कर ले, तब मिट्टीके आठ पुरवोंमें संस्कृत पुरोडाशद्वारा 'अग्निमान्' नामक अग्निको आहुति देनी चाहिये ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आंगिरसोपाख्याने एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आंगिरसोपाख्यानविषयक दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२१ ।।

---

१. तप अर्थात् पांचजन्यके जो पूर्वोक्त चालीस पुत्र बताये गये हैं, उनके सिवा, पाँच पुत्र और भी उन्होंने उत्पन्न किये थे। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—पुरंदर, ऊष्मा, मनु, शम्भु और आवसथ्य। उनका तीसरेसे छठे श्लोकतक वर्णन है।

२. श्रुति भी कहती है—'आदित्यो वा अस्तं यन्नग्निमनुप्रविशति ।'

3. बलद, मन्युमान् तथा विष्णु नामक अग्नि भानुकी भार्या सुप्रजासे उत्पन्न हैं। इसी प्रकार ‘आग्रयण’ ‘अग्रह’ और ‘स्तुभ’—ये तीन अग्नि बृहद्भासाकी संतान हैं।

* मिट्टीके प्याले या पुरवेका नाम कपाल है।

द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सह नामक अग्निका जलमें प्रवेश और अथर्वा अंगिराद्वारा पुनःउनका प्राकट्य

मार्कण्डेय उवाच

आपस्य मुदिता भार्या सहस्य परमा प्रिया ।
भूपतिर्भुवभर्ता च जनयत् पावकं परम् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! जलमें निवासके कारण प्रसिद्ध हुए ‘सह’ नामक अग्निके एक परम प्रिय पत्नी थी जिसका नाम था मुदिता। उसके गर्भसे भूलोक और भुवर्लोकके स्वामी सहने ‘अद्भुत’* नामक उत्कृष्ट अग्निको उत्पन्न किया ।। १ ।।

भूतानां चापि सर्वेषां यं प्राहुः पावकं पतिम् ।
आत्मा भुवनभर्तेति सान्वयेषु द्विजातिषु ।। २ ।।

ब्राह्मणलोगोंमें वंशपरम्पराके क्रमसे सभी यह मानते और कहते हैं कि ‘अद्भुत’ नामक अग्नि सम्पूर्ण भूतोंके अधिपति हैं। वे ही सबके आत्मा और भुवनभर्ता हैं ।। २ ।।

महतां चैव भूतानां सर्वेषामिह यः पतिः ।
भगवान् स महातेजा नित्यं चरति पावकः ।। ३ ।।

‘वे ही इस जगत्‌के सम्पूर्ण महाभूतोंके पति हैं। उनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य सुशोभित हैं। वे महातेजस्वी अग्निदेव सदा सर्वत्र विचरण करते हैं ।। ३ ।।

अग्निर्गृहपतिर्नाम नित्यं यज्ञेषु पूज्यते ।
हुतं वहति यो हव्यमस्य लोकस्य पावकः ।। ४ ।।

‘जो अग्नि गृहपति नामसे सदा यज्ञमें पूजित होते हैं तथा हवन किये गये हविष्यको देवताओंके पास पहुँचाते हैं, वे अद्भुत अग्नि ही इस जगत्‌को पवित्र करनेवाले हैं ।। ४ ।।

अपां गर्भो महाभागः सत्त्वभुग् यो महाद्भुतः ।
भूपतिर्भुवभर्ता च महतः पतिरुच्यते ।। ५ ।।

‘जो ‘आप’ नामवाले सहके पुत्र हैं, जो महाभाग, सत्त्वभोक्ता, भूलोकके पालक और भुवर्लोकके स्वामी हैं, वे अद्भुत नामक महान् अग्नि बुद्धितत्त्वके अधिपति बताये जाते हैं’ ।। ५ ।।

दहन् मृतानि भूतानि तस्याग्निर्भरतोऽभवत् ।
अग्निष्टोमे च नियतः क्रतुश्रेष्ठो भरस्य तु ।। ६ ।।

‘उन्हीं ‘अद्भुत’ या गृहपतिके एक अग्निस्वरूप पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम ‘भरत’ है। ये मरे हुए प्राणियोंके शवका दाह करते हैं। भरतका अग्निष्टोम यज्ञमें नित्य निवास है,

इसलिये उन्हें ‘नियत’ भी कहते हैं। नियतका संकल्प उत्तम है ।। ६ ।।

स वह्निः प्रथमो नित्यं देवैरन्विष्यते प्रभुः ।
आयान्तं नियतं दृष्ट्वा प्रविवेशार्णवं भयात् ।। ७ ।।

‘प्रथम अग्नि ‘सह’ बड़े प्रभावशाली हैं। एक समय देवतालोग उनको ढूँढ़ रहे थे। उनके साथ अपने पौत्र नियतको भी आता देख (उससे छू जानेके) भयसे वे समुद्रके भीतर घुस गये ।। ७ ।।

देवास्तत्रापि गच्छन्ति मार्गमाणा यथादिशम् ।
दृष्ट्वा त्वग्निरथर्वाणं ततो वचनमब्रवीत् ।। ८ ।।

तब देवतालोग सब दिशाओंमें उनकी खोज करते हुए वहाँ भी पहुँचने लगे। एक दिन अथर्वा (अंगिरा)-को देखकर अग्निने उनसे कहा— ।। ८ ।।

देवानां वह हव्यं त्वमहं वीर सुदुर्बलः ।
अथ त्वं गच्छ मध्वक्षं प्रियमेतत् कुरुष्व मे ।। ९ ।।

वीर! तुम देवताओंके पास उनका हविष्य पहुँचाओ। मैं अत्यन्त दुर्बल हो गया हूँ। अब केवल तुम्हीं अग्निपदपर प्रतिष्ठित हो जाओ और मेरा यह प्रिय कार्य सम्पन्न करो’ ।। ९ ।।

प्रेष्य चाग्निरथर्वाणमन्यं देशं ततोऽगमत् ।
मत्स्यास्तस्य समाचख्युः क्रुद्धस्तानग्निरब्रवीत् ।
भक्ष्या वै विविधैर्भावैर्भविष्यथ शरीरिणाम् ।। १० ।।

इस प्रकार अथर्वाको भेजकर अग्निदेव दूसरे स्थानमें चले गये। किंतु मत्स्योंने अथर्वासे उनकी स्थिति कहाँ है, यह बता दिया। इससे कुपित होकर अग्निने उन्हें शाप देते हुए कहा —‘तुम लोग नाना प्रकारसे जीवोंके भक्ष्य बनोगे’ ।।

अथर्वाणं तथा चापि हव्यवाहोऽब्रवीद् वचः ।। ११ ।।
अनुनीयमानो हि भृशं देववाक्याद्धि तेन सः ।
नैच्छद् वोढुं हविः सोढुं शरीरं चापि सोऽत्यजत् ।। १२ ।।

तदनन्तर अग्निने अथर्वासे फिर वही बात कही। उस समय देवताओंके कहनेसे अथर्वा मुनिने सह नामक अग्निदेवसे अत्यन्त अनुनय-विनय की; परन्तु उन्होंने न तो हविष्य ढोनेका भार लेनेकी इच्छा की और न वे अपने उस जीर्ण शरीरका ही भार सह सके। अन्ततोगत्वा उन्होंने शरीर त्याग दिया ।। ११-१२ ।।

स तच्छरीरं संत्यज्य प्रविवेश धरां तदा ।
भूमिं स्पृष्टासृजद् धातून् पृथक् पृथगतीव हि ।। १३ ।।

उस समय अपने उस शरीरको त्यागकर वे धरतीमें समा गये। भूमिका स्पर्श करके उन्होंने पृथक्-पृथक् बहुत-से धातुओंकी सृष्टि की ।। १३ ।।

पूयात् स गन्धं तेजश्च अस्थिभ्यो देवदारु च ।
श्लेष्मणः स्फाटिकं तस्य पित्तान्मारकतं तथा ।। १४ ।।

'सह' नामक अग्निने अपने पीब तथा रक्तसे गन्धक एवं तैजस धातुओंको उत्पन्न किया। उनकी हड्डियोंसे देवदारुके वृक्ष प्रकट हुए। कफसे स्फटिक तथा पित्तसे मरकतमणिका प्रादुर्भाव हुआ ।। १४ ।।

यकृत् कृष्णायसं तस्य त्रिभिरेव बभुः प्रजाः ।
नखास्तस्याभ्रपटलं शिराजालानि विद्रुमम् ।। १५ ।।

और उनका यकृत् (जिगर) ही काले रंगका लोहा बनकर प्रकट हुआ। काष्ठ, पाषाण और लोहा—इन तीनोंसे ही प्रजाजनोंकी शोभा होती है। उनके नख मेघसमूहका रूप धारण करते हैं। नाडियाँ मूँगा बनकर प्रकट हुई हैं ।। १५ ।।

शरीराद् विविधाश्चान्ये धातवोऽस्याभवन् नृप ।
एवं त्यक्त्वा शरीरं च परमे तपसि स्थितः ।। १६ ।।

राजन्! सह अग्निके शरीरसे अन्य नाना प्रकारके धातु उत्पन्न हुए। इस प्रकार शरीर त्यागकर वे बड़ी भारी तपस्यामें लग गये ।। १६ ।।

भृग्वङ्गिरादिभिर्भूयस्तपसोत्थापितस्तदा ।
भृशं जज्वाल तेजस्वी तपसाऽऽप्यायितः शिखी ।। १७ ।।

जब भृगु और अंगिरा आदि ऋषियोंने पुनः उनको तपस्यासे उपरत कर दिया, तब वे तपस्यासे पुष्ट हुए तेजस्वी अग्निदेव अत्यन्त प्रज्वलित हो उठे ।। १७ ।।

दृष्ट्वा ऋषिं भयाच्चापि प्रविवेश महार्णवम् ।
तस्मिन् नष्टे जगद् भीतमथर्वाणमथाश्रितम् ।
अर्चयामासुरेवैनमथर्वाणं सुरादयः ।। १८ ।।

महर्षि अंगिराको सामने देख वे अग्नि भयके मारे पुनः महासागरके भीतर प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार अग्निके अदृश्य हो जानेपर सारा संसार भयभीत हो अथर्वा—अंगिराकी शरणमें आया तथा देवताओंने इन अथर्वाकी पूजा की ।। १८ ।।

अथर्वा त्वसृजल्लोकानात्मनाऽऽलोक्य पावकम् ।
मिषतां सर्वभूतानामुन्ममाथ महार्णवम् ।। १९ ।।

अथर्वाने सब प्राणियोंके देखते-देखते समुद्रको मथ डाला और अग्निदेवका दर्शन करके स्वयं ही सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि की ।। १९ ।।

एवमग्निर्भगवता नष्टः पूर्वमथर्वणा ।
आहूतः सर्वभूतानां हव्यं वहति सर्वदा ।। २० ।।

इस प्रकार पूर्वकालमें अदृश्य हुए अग्निको भगवान् अंगिराने फिर बुलाया। जिससे प्रकट होकर वे सदा सम्पूर्ण प्राणियोंका हविष्य वहन करते हैं ।। २० ।।

एवं त्वजनयद् धिष्ण्यान् वेदोक्तान् विबुधान् बहून् ।
विचरन् विविधान् देशान् भ्रममाणस्तु तत्र वै ।। २१ ।।

उस समुद्रके भीतर नाना स्थानोंमें विचरण एवं भ्रमण करते हुए सह अग्निने इसी प्रकार विविध भाँतिके बहुत-से वेदोक्त अग्निदेवों तथा उनके स्थानोंको उत्पन्न किया ।। २१ ।।

सिन्धुनदं पञ्चनदं देविकाथ सरस्वती ।
गङ्गा च शतकुम्भा च सरयूर्गण्डसाह्वया ।। २२ ।।
चर्मण्वती मही चैव मेध्या मेधातिथिस्तदा ।
ताम्रवती वेत्रवती नद्यस्तिस्रोऽथ कौशिकी ।। २३ ।।
तमसा नर्मदा चैव नदी गोदावरी तथा ।
वेणोपवेणा भीमा च वडवा चैव भारत ।। २४ ।।
भारती सुप्रयोगा च कावेरी मुर्मुरा तथा ।
तुङ्गवेणा कृष्णवेणा कपिला शोण एव च ।। २५ ।।
एता नद्यस्तु धिष्ण्यानां मातरो याः प्रकीर्तिताः ।

सिन्धुनद, पंचनद, देविका, सरस्वती, गंगा, शतकुम्भा, सरयू, गण्डकी, चर्मण्वती, मही, मेध्या, मेधातिथि, ताम्रवती, वेत्रवती, कौशिकी, तमसा, नर्मदा, गोदावरी, वेणा, उपवेणा, भीमा, वडवा, भारती, सुप्रयोगा, कावेरी, मुर्मुरा, तुंगवेणा, कृष्णवेणा, कपिला तथा शोणभद्र—ये सब नदियाँ और नद हैं, जो अग्नियोंके उत्पत्ति-स्थान कहे गये हैं ।। २२—२५½ ।।

अद्भुतस्य प्रिया भार्या तस्य पुत्रो विभूरसिः ।। २६ ।।
यावन्तः पावकाः प्रोक्ताः सोमास्तावन्त एव तु ।
अत्रेश्चाप्यन्वये जाता ब्रह्मणो मानसाः प्रजाः ।। २७ ।।

अद्भुतकी जो प्रियतमा पत्नी है, उसके गर्भसे उनके ‘विभूरसि’ नामक पुत्र हुआ। अग्नियोंकी जितनी संख्या बतायी गयी है, सोमयागोंकी भी उतनी ही है। वे सब अग्नि ब्रह्माजीके मानसिक संकल्पसे अत्रिके वंशमें उनकी संतानरूपसे उत्पन्न हुए हैं ।। २६-२७ ।।

अत्रिः पुत्रान् स्रष्टुकामस्तानेवात्मन्यधारयत् ।। २८ ।।
तस्य तद्ब्रह्मणः कार्यान्निर्हरन्ति हुताशनाः ।

अत्रिको जब प्रजाकी सृष्टि करनेकी इच्छा हुई, तब उन्होंने उन अग्नियोंको ही अपने हृदयमें धारण किया। फिर उन ब्रह्मर्षिके शरीरसे विभिन्न अग्नियोंका प्रादुर्भाव हुआ ।। २८½ ।।

एवमेते महात्मानः कीर्तितास्तेऽग्नयो मया ।। २९ ।।
अप्रमेया यथोत्पन्नाः श्रीमन्तस्तिमिरापहाः ।

राजन्! इस प्रकार मैंने इन अप्रमेय, अन्धकारनिवारक तथा दीप्तिमान् महामना अग्नियोंकी जिस क्रमसे उत्पत्ति हुई है, उसका तुमसे वर्णन किया ।। २९½ ।।

अद्भुतस्य तु माहात्म्यं यथा वेदेषु कीर्तितम् ।। ३० ।।

तादृशं विद्धि सर्वेषामेको ह्येषु हुताशनः ।

वेदोंमें 'अद्भुत' नामक अग्निके माहात्म्यका जैसा वर्णन है, वैसा ही सब अग्नियोंका समझना चाहिये; क्योंकि इन सबमें एक ही अग्नितत्त्व विद्यमान है ।। ३०½ ।।

एक एवैष भगवान् विज्ञेयः प्रथमोऽङ्गिराः ।। ३१ ।।

बहुधा निःसृतः कायाज्ज्योतिष्टोमः क्रतुर्यथा ।

ये प्रथम भगवान् अग्नि, जिन्हें अंगिरा भी कहते हैं, एक ही हैं, ऐसा जानना चाहिये। जैसे ज्योतिष्टोम यज्ञ उद्भिद् आदि अनेक रूपोंमें प्रकट हुआ है, उसी प्रकार एक ही अग्नितत्त्व प्रजापतिके शरीरसे विविध रूपोंमें उत्पन्न हुआ है ।। ३१½ ।।

इत्येष वंशः सुमहानग्नीनां कीर्तितो मया ।

योऽर्चितो विविधैर्मन्त्रैर्हव्यं वहति देहिनाम् ।। ३२ ।।

इस प्रकार मेरेद्वारा अग्निदेवके महान् वंशका प्रतिपादन किया गया। वे भगवान् अग्नि विविध वेदमन्त्रोंद्वारा पूजित होकर देहधारियोंके दिये हुए हविष्यको देवताओंके पास पहुँचाते हैं ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्यानेऽग्निसमुद्भवे द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आंगिरसोपाख्यानविषयक अग्निप्रादुर्भावसम्बन्धी दो सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२२ ।।

---

* 'सहसः पुत्रोऽद्भुतः' इति मन्त्रवर्णः।

त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रके द्वारा केशीके हाथसे देवसेनाका उद्धार

(वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वेमां धर्मसंयुक्तां धर्मराजः कथां शुभाम् ।
पुनः पप्रच्छ तमृषिं मार्कण्डेयं तपस्विनम् ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह धर्मयुक्त कल्याणमयी कथा सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने पुनः उन तपस्वी मुनि मार्कण्डेयजीसे पूछा ।।

युधिष्ठिर उवाच

कुमारस्तु यथा जातो यथा चाग्नेः सुतोऽभवत् ।
यथा रुद्राच्च सम्भूतो गङ्गायां कृत्तिकासु च ।।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं कौतूहलमतीव मे ।।)

युधिष्ठिर बोले—मुने! कुमार (स्कन्द)-का जन्म कैसे हुआ? वे अग्निके पुत्र किस प्रकार हुए? भगवान् शिवसे उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई? तथा वे गंगा और छहों कृत्तिकाओंके गर्भसे कैसे प्रकट हुए? मैं यह सुनना चाहता हूँ। इसके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल है ।।

मार्कण्डेय उवाच

अग्नीनां विविधा वंशाः कीर्तितास्ते मयानघ ।
शृणु जन्म तु कौरव्य कार्तिकेयस्य धीमतः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजीने कहा—निष्पाप युधिष्ठिर! मैंने तुमसे अग्नियोंके विविध वंशोंका वर्णन किया। अब तुम परम बुद्धिमान् कार्तिकेयके जन्मका वृत्तान्त सुनो ।। १ ।।

अद्भुतस्याद्भुतं पुत्रं प्रवक्ष्याम्यमितौजसम् ।
जातं ब्रह्मर्षिभार्याभिर्ब्रह्मण्यं कीर्तिवर्धनम् ।। २ ।।

अद्भुत अग्निके अद्भुत पुत्र कार्तिकेयके बल और तेज असीम हैं। उनका जन्म ब्रह्मर्षियोंकी पत्नियोंके गर्भसे हुआ है। वे अपने उत्तम यशको बढ़ानेवाले तथा ब्राह्मणभक्त हैं। मैं उनके जन्मका वृत्तान्त बता रहा हूँ, सुनो ।। २ ।।

देवासुराः पुरा यत्ता विनिघ्नन्तः परस्परम् ।
तत्राजयन् सदा देवान् दानवा घोररूपिणः ।। ३ ।।

पूर्वकालकी बात है, देवता और असुर युद्धके लिये उद्यत हो एक-दूसरेको अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा चोट पहुँचाया करते थे। उस संघर्षके समय भयंकर रूपवाले दानव सदा ही देवताओंपर विजय पाते थे ।। ३ ।।

वध्यमानं बल दृष्ट्वा बहुशस्तैः पुरंदरः ।
स सैन्यनायकार्थाय चिन्तामाप भृशं तदा ।। ४ ।।

जब इन्द्रने देखा कि दानव बार-बार देवताओंकी सेनाका वध कर रहे हैं, तब उन्हें एक सुयोग्य सेनापतिकी आवश्यकता हुई। इसके लिये वे बहुत चिन्तित हुए ।। ४ ।।

देवसेनां दानवैर्हि भरनां दृष्ट्वा महाबलः ।
पालयेद् वीर्यमाश्रित्य स ज्ञेयः पुरुषो मया ।। ५ ।।

उन्होंने सोचा 'मुझे ऐसे पुरुषका पता लगाना चाहिये जो महान् बलवान् हो और अपने पराक्रमका आश्रय ले देवताओंकी उस सेनाका, जिनका दानव नाश कर देते हैं, संरक्षण करे' ।। ५ ।।

स शैलं मानसं गत्वा ध्यायन्नर्थमिदं भृशम् ।
शुश्रावार्तस्वरं घोरमथ मुक्तं स्त्रिया तदा ।। ६ ।।

इसी बातका बार-बार विचार करते हुए इन्द्र मानसपर्वतपर गये। वहाँ उन्हें एक स्त्रीके मुखसे निकला हुआ भयंकर आर्तनाद सुनायी दिया ।। ६ ।।

अभिधावतु मां कश्चित् पुरुषस्त्रातु चैव ह ।
पतिं च मे प्रदिशतु स्वयं वा पतिरस्तु मे ।। ७ ।।

वह कह रही थी 'कोई वीर पुरुष दौड़कर आये और मेरी रक्षा करे। वह मेरे लिये पति प्रदान करे या स्वयं ही मेरा पति हो जाय' ।। ७ ।।

पुरंदरस्तु तामाह मा भैर्नास्ति भयं तव ।
एवमुक्त्वा ततोऽपश्यत् केशिनं स्थितमग्रतः ।। ८ ।।

यह सुनकर इन्द्रने उससे कहा—'भद्रे! डरो मत, अब तुम्हें कोई भय नहीं है।' ऐसा कहकर जब उन्होंने उधर दृष्टि डाली, तब केशी दानव सामने खड़ा दिखायी दिया ।। ८ ।।

किरीटिनं गदापाणिं धातुमन्तमिवाचलम् ।
हस्ते गृहीत्वा कन्यां तामथैनं वासवोऽब्रवीत् ।। ९ ।।

उसने मस्तकपर किरीट धारण कर रखा था। उसके हाथमें गदा थी और वह एक कन्याका हाथ पकड़े विविध धातुओंसे विभूषित पर्वत-सा जान पड़ता था। यह देख इन्द्रने उससे कहा— ।। ९ ।।

अनार्यकर्मन् कस्मात् त्वमिमां कन्यां जिहीर्षसि ।
वज्रिणं मां विजानीहि विरमास्याः प्रबाधनात् ।। १० ।।

'रे नीच कर्म करनेवाले दानव! तू कैसे इस कन्याका अपहरण करना चाहता है? समझ ले, मैं वज्रधारी इन्द्र हूँ। अब इस अबलाको सताना छोड़ दे ।। १० ।।

केश्युवाच

विसृजस्व त्वमेवैनां शक्रैषा प्रार्थिता मया ।
क्षमं ते जीवतो गन्तुं स्वपुरं पाकशासन ।। ११ ।।

केशी बोला—इन्द्र! तू ही इसे छोड़ दे। मैंने इसका वरण कर लिया है। पाकशासन! ऐसा करनेपर ही तू जीता-जागता अपनी अमरावती पुरीको लौट सकता है ।। ११ ।।

एवमुक्त्वा गदां केशी चिक्षेपेन्द्रवधाय वै ।
तामापतन्तीं चिच्छेद मध्ये वज्रेण वासवः ।। १२ ।।

ऐसा कहकर केशीने इन्द्रका वध करनेके लिये अपनी गदा चलायी। परंतु इन्द्रने अपने वज्रद्वारा उस आती हुई गदाको बीचसे ही काट डाला ।। १२ ।।

अथास्य शैलशिखरं केशी क्रुद्धो व्यवासृजत् ।
तदा पतन्तं सम्प्रेक्ष्य शैलशृङ्गं शतक्रतुः ।। १३ ।।
बिभेद राजन् वज्रेण भुवि तन्निपपात ह ।
पतता तु तदा केशी तेन शृङ्गेण ताडितः ।। १४ ।।

तब केशीने कुपित होकर इन्द्रपर पर्वतकी एक चट्टान फेंकी। राजन्! उस शैलशिखरको अपने ऊपर सरिता देख इन्द्रने वज्रसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और वह चूर-चूर होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। उस समय गिरते हुए उस शिलाखण्डने केशीको ही भारी चोट पहुँचायी ।।

हित्वा कन्यां महाभागां प्राद्रवद् भृशपीडितः ।
अपयातेऽसुरे तस्मिंस्तां कन्यां वासवोऽब्रवीत् ।

कासि कस्यासि किञ्चेह कुरुषे त्वं शुभानने ।। १५ ।।

उस आघातसे अत्यन्त पीडित हो वह दानव उस परम सौभाग्यशालिनी कन्याको छोड़कर भाग गया। उस असुरके भाग जानेपर इन्द्रने उस कन्यासे पूछा—‘सुमुखि! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? और यहाँ क्या करती हो?’ ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्याने स्कन्दोत्पत्तौ केशिपराभवे त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आंगिरसोपाख्यानप्रकरणमें स्कन्दकी उत्पत्तिके विषयमें केशिपराभवविषयक दो सौ तेईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।। २२३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल १७½ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रका देवसेनाके साथ ब्रह्माजीके पास तथा ब्रह्मर्षियोंके आश्रमपर जाना, अग्निका मोह और वनगमन

कन्योवाच

अहं प्रजापतेः कन्या देवसेनेति विश्रुता ।
भगिनी दैत्यसेना मे सा पूर्वं केशिना हृता ।। १ ।।

कन्या बोली—देवेन्द्र! मैं प्रजापतिकी पुत्री हूँ। मेरा नाम देवसेना है। मेरी बहिनका नाम दैत्यसेना है, जिसे इस केशीने पहले ही हर लिया था ।। १ ।।

सदैवावां भगिन्यौ तु सखीभिः सह मानसम् ।
आगच्छावेह रत्यर्थमनुज्ञाप्य प्रजापतिम् ।। २ ।।

हम दोनों बहिनें अपनी सखियोंके साथ प्रजापतिकी आज्ञा लेकर सदा क्रीडाविहारके लिये इस मानस पर्वतपर आया करती थीं ।। २ ।।

नित्यं चावां प्रार्थयते हर्तुं केशी महासुरः ।
इच्छत्येनं दैत्यसेना न चाहं पाकशासन ।। ३ ।।

पाकशासन! महान् असुर केशी प्रतिदिन यहाँ आकर हम दोनोंको हर ले जानेके लिये फुसलाया करता था। दैत्यसेना इसे चाहती थी, परंतु मेरा इसपर प्रेम नहीं था ।।

सा हृतानेन भगवन् मुक्ताहं त्वद्बलेन तु ।
त्वया देवेन्द्र निर्दिष्टं पतिमिच्छामि दुर्जयम् ।। ४ ।।

अतः दैत्यसेनाको तो यह हर ले गया, परंतु मैं आपके पराक्रमसे बच गयी। भगवन्! देवेन्द्र! अब मैं आपके आदेशके अनुसार किसी दुर्जय वीरको अपना पति बनाना चाहती हूँ ।। ४ ।।

इन्द्र उवाच

मम मातृष्वसेयी त्वं माता दाक्षायणी मम ।
आख्यातुं त्वहमिच्छामि स्वयमात्मबलं त्वया ।। ५ ।।

इन्द्र बोले—शुभे! तुम मेरी मौसेरी बहिन हो। मेरी माता भी दक्षकी ही पुत्री हैं। मेरी इच्छा है कि तुम स्वयं ही अपने बलका परिचय दो ।। ५ ।।

कन्योवाच

अबलाहं महाबाहो पतिस्तु बलवान् मम ।
वरदानात् पितुर्भावी सुरासुरनमस्कृतः ।। ६ ।।

कन्या बोली—महाबाहो! मैं तो अबला हूँ। पिताजीके वरदानसे मेरे भावी पति बलवान् तथा देवदानव-वन्दित होंगे ।। ६ ।।

इन्द्र उवाच

कीदृशं तु बलं देवि पत्युस्तव भविष्यति ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तव वाक्यमनिन्दिते ।। ७ ।।

इन्द्रने पूछा—देवि! तुम्हारे पतिका बल कैसा होगा? अनिन्दिते! यह बात मैं तुम्हारे ही मुँहसे सुनना चाहता हूँ ।। ७ ।।

कन्योवाच

देवदानवयक्षाणां किन्नरोरगरक्षसाम् ।
जेता यो दुष्टदैत्यानां महावीर्यो महाबलः ।। ८ ।।
यस्तु सर्वाणि भूतानि त्वया सह विजेष्यति ।
स हि मे भविता भर्ता ब्रह्मण्यः कीर्तिवर्धनः ।। ९ ।।

कन्या बोली—देवराज! जो देवता, दानव, यक्ष, किन्नर, नाग, राक्षस तथा दुष्ट दैत्योंको जीतनेवाला हो; जिसका पराक्रम महान् और बल असाधारण हो तथा जो तुम्हारे साथ रहकर समस्त प्राणियोंपर विजय प्राप्त कर सके, वह ब्राह्मणहितैषी तथा अपने यशकी वृद्धि करनेवाला वीर पुरुष मेरा पति होगा ।। ८-९ ।।

मार्कण्डेय उवाच

इन्द्रस्तस्या वचः श्रुत्वा दुःखितोऽचिन्तयद् भृशम् ।
अस्या देव्याः पतिर्नास्ति यादृशं सम्प्रभाषते ।। १० ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! देवसेनाकी बात सुनकर इन्द्र अत्यन्त दुःखी हो सोचने लगे ‘इस देवीको जैसा यह बता रही है, वैसा पति मिलना सम्भव नहीं जान पड़ता’ ।। १० ।।

अथापश्यत् स उदये भास्करं भास्करद्युतिः ।
सोमं चैव महाभागं विशमानं दिवाकरम् ।। ११ ।।

तदनन्तर सूर्यके समान तेजस्वी इन्द्रने देखा, सूर्य उदयाचलपर आ गये हैं। महाभाग चन्द्रमा भी सूर्यमें ही प्रवेश कर रहे हैं ।। ११ ।।

अमावास्यां प्रवृत्तायां मुहुर्ते रौद्र एव तु ।
देवासुरं च संग्रामं सोऽपश्यदुदये गिरौ ।। १२ ।।

अमावस्या आरम्भ हो गयी थी। उस रौद्र (भयंकर) मुहूर्तमें ही उदयगिरिके शिखरपर उन्हें देवासुर-संग्रामका लक्षण दिखायी दिया ।। १२ ।।

लोहितैश्च धनैर्युक्तां पूर्वां संध्यां शतक्रतुः ।

अपश्यल्लोहितोदं च भगवान् वरुणालयम् ।। १३ ।।

ऐश्वर्यशाली इन्द्रने देखा, पूर्वसंध्या (प्रभात)-का समय है, प्राचीके आकाशमें लाल रंगके घने बादल घिर आये हैं और समुद्रका जल भी लाल ही दृष्टिगोचर हो रहा है ।। १३ ।।

भृगुभिश्चाङ्गिरोभ्यश्च हुतं मन्त्रैः पृथग्विधैः ।
हव्यं गृहीत्वा वह्निं च प्रविशन्तं दिवाकरम् ।। १४ ।।

भृगु तथा अंगिरा गोत्रके ऋषियोंद्वारा पृथक्-पृथक् मन्त्र पढ़कर हवन किये हुए हविष्यको ग्रहण करके अग्निदेव भी सूर्यमें ही प्रवेश करते हैं ।। १४ ।।

पर्व चैव चतुर्विंशं तदा सूर्यमुपस्थितम् ।
तथा धर्मगतं रौद्रं सोमं सूर्यगतं च तम् ।। १५ ।।

उस समय भगवान् सूर्यके निकट चौबीसवाँ पर्व उपस्थित था; अर्थात् पहले जिस अमावस्यापर्वमें देवासुर-संग्राम हुआ था; उससे पूरे एक वर्षके बाद पुनः वैसा अवसर आया था। धर्मकी अर्थात् होम और संध्याकी वेलामें वह रौद्र मुहूर्त उपस्थित था और चन्द्रमा सूर्यकी राशिमें स्थित हो गये थे ।। १५ ।।

समालोक्यैकतामेव शशिनो भास्करस्य च ।
समवायं तु तं रौद्रं दृष्ट्वा शक्रोऽन्वचिन्तयत् ।। १६ ।।

इस प्रकार चन्द्रमा और सूर्यकी एकता (एक राशिपर स्थिति) तथा रौद्र मुहूर्तका संयोग देखकर इन्द्र मन-ही-मन इस प्रकार चिन्तन करने लगे— ।। १६ ।।

सूर्याचन्द्रमसोर्घोरं दृश्यते परिवेषणम् ।
एतस्मिन्नेव रात्र्यन्ते महद् युद्धं तु शंसति ।। १७ ।।

'अहो! इस समय चन्द्रमा और सूर्यपर यह भयंकर घेरा दिखायी दे रहा है। इससे सूचित होता है कि रात बीतते-बीतते भारी युद्ध छिड़ जायगा ।। १७ ।।

सरित्सिन्धुरपीयं तु प्रत्यसृग्वाहिनी भृशम् ।
शृगालिन्यग्निवक्त्रा च प्रत्यादित्यं विराविणी ।। १८ ।।

'यह सिन्धु नदी भी उलटी धारामें बहकर रक्तके स्रोत बहा रही है। सियारिन मुँहसे आग उगलती हुई-सी सूर्यकी ओर देखकर रोती है ।। १८ ।।

एष रौद्रश्च सङ्घातो महान् युक्तश्च तेजसा ।
सोमस्य वह्निसूर्याभ्यामद्भुतोऽयं समागमः ।। १९ ।।

'अनेक योगोंका यह भयंकर तथा महान् संघात (सम्मेलन) तेजसे आलोकित हो रहा है। अग्नि और सूर्यके साथ चन्द्रमाका यह अद्भुत समागम दृष्टिगोचर होता है ।।

जनयेद् यं सुतं सोमः सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत् ।
अग्निश्चैतैर्गुणैर्युक्तः सर्वैरग्निश्च देवता ।। २० ।।

'जान पड़ता है, इस समय चन्द्रमा जिस पुत्रको जन्म देंगे, वही इस देवीका पति होगा अथवा अग्नि भी इन सभी अभीष्ट गुणोंसे युक्त हैं। वे भी देवकोटिमें ही हैं ।।

एष चेज्जनयेद् गर्भं सोऽस्या देव्याः पतिर्भवेत् ।
एवं संचिन्त्य भगवान् ब्रह्मलोकं तदा गतः ।। २१ ।।
गृहीत्वा देवसेनां तामवदत् स पितामहम् ।
उवाच चास्या देव्यास्त्वं साधुशूरं पतिं दिश ।। २२ ।।

'अतः ये यदि किसी बालकको उत्पन्न करें तो वही इस देवीका पति होगा।' ऐसा सोच-विचारकर ऐश्वर्यशाली इन्द्र उस समय उस देवसेनाको साथ ले ब्रह्मलोकमें गये और ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले—'भगवन्! आप इस देवीके लिये कोई अच्छे स्वभावका शूरवीर पति प्रदान कीजिये' ।। २१-२२ ।।

ब्रह्मोवाच

मयैतच्चिन्तितं कार्यं त्वया दानवसूदन ।
तथा स भविता गर्भो बलवानुरुविक्रमः ।। २३ ।।

ब्रह्माजीने कहा—दानवसूदन! इस विषयमें तुमने जो विचार किया है वही मैंने भी सोचा है। वैसा होनेपर ही एक महान् पराक्रमी बलवान् वीरका प्रादुर्भाव होगा ।। २३ ।।

स भविष्यति सेनानीस्त्वया सह शतक्रतो ।
अस्या देव्याःपतिश्चैव स भविष्यति वीर्यवान् ।। २४ ।।

शतक्रतो! वही तुम्हारे साथ रहकर देवसेनाका पराक्रमी सेनापति होगा और वही इस देवीका भी पति होगा ।। २४ ।।

एतच्छ्रुत्वा नमस्तस्मै कृत्वासौ सह कन्यया ।
तत्राभ्यगच्छद् देवेन्द्रो यत्र देवर्षयोऽभवन् ।। २५ ।।
वसिष्ठप्रमुखा मुख्या विप्रेन्द्राः सुमहाबलाः ।

यह सुनकर देवराज इन्द्र ब्रह्माजीको नमस्कार करके उस कन्याको साथ ले जहाँ महान् शक्तिशाली वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ ब्राह्मण एवं देवर्षि थे, वहाँ उनके आश्रमपर आये ।। २५½ ।।

भागार्थं तपसो धातुं तेषां सोमं तथाध्वरे ।। २६ ।।
पिपासवो ययुर्देवाः शतक्रतुपुरोगमाः ।

उन दिनों वे महर्षिगण जो यज्ञ कर रहे थे, उसमें भाग लेनेके लिये तथा सोमपान करनेके लिये इन्द्र आदि सभी देवता वहाँ पधारे थे। उन सबके मनमें सोमपान की इच्छा थी ।। २६½ ।।

इष्टिं कृत्वा यथान्यायं सुसमिद्धे हुताशने ।। २७ ।।
जुहुवुस्ते महात्मानो हव्यं सर्वदिवौकसाम् ।

उन महात्मा ऋषियोंने प्रज्वलित अग्निमें शास्त्रीय विधिसे इष्टिका सम्पादन करके सम्पूर्ण देवताओंके लिये हविष्यकी आहुति दी ।। २७½ ।।

समाहूतो हुतवहः सोऽद्भुतः सूर्यमण्डलात् ।। २८ ।।
विनिःसृत्य ययौ वह्निर्वाग्यतो विधिवत् प्रभुः ।
आगम्याहवनीयं वै तैर्द्विजैर्मन्त्रतो हुतम् ।। २९ ।।
स तत्र विविधं हव्यं प्रतिगृह्य हुताशनः ।
ऋषिभ्यो भरतश्रेष्ठ प्रायच्छत दिवौकसाम् ।। ३० ।।

भरतश्रेष्ठ! मन्त्रोंद्वारा आवाहन होनेपर वे अद्भुत नामक अग्नि सूर्यमण्डलसे निकलकर मौनभावसे वहाँ आये और ब्रह्मर्षियोंद्वारा मन्त्रोच्चारणपूर्वक विधिवत् हवन किये हुए भाँति-भाँतिके हवनीय पदार्थोंको उन महर्षियोंसे प्राप्त करके उन्होंने सम्पूर्ण देवताओंकी सेवामें अर्पित किया ।।

निष्क्रामंश्चाप्यपश्यत् स पत्नीस्तेषां महात्मनाम् ।
स्वेष्वासनेषूपविष्टाः स्वपन्तीश्च तथा सुखम् ।। ३१ ।।

देवताओंको हविष्य पहुँचाकर जब अग्निदेव वहाँसे जाने लगे, तब उनकी दृष्टि उन महात्मा सप्तर्षियोंकी पत्नियोंपर पड़ी। उनमेंसे कुछ तो अपने आसनोंपर बैठी थीं और कुछ सुखपूर्वक सो रही थीं' ।। ३१ ।।

रुक्मवेदिनिभास्तास्तु चन्द्रलेखा इवामलाः ।
हुताशनार्चिप्रतिमाः सर्वास्तारा इवाद्भुताः ।। ३२ ।।

उनकी अंगकान्ति सुवर्णमयी वेदीके समान गौर थी, वे चन्द्रमाकी कलाके समान निर्मल थीं, अग्निकी लपटोंके समान प्रभा बिखेर रही थीं और तारिकाओंके समान अद्भुत सौन्दर्यसे प्रकाशित हो रही थीं ।। ३२ ।।

स तत्र तेन मनसा बभूव क्षुभितेन्द्रियः ।
पत्नीर्दृष्ट्वा द्विजेन्द्राणां वह्निः कामवशं ययौ ।। ३३ ।।

इस प्रकार वहाँ (आसक्तियुक्त) मनसे उन ब्रह्मर्षियोंकी पत्नियोंको देखकर अग्निदेवकी सारी इन्द्रियाँ क्षोभसे चञ्चल हो उठीं। वे सर्वथा कामके अधीन हो गये ।। ३३ ।।

भूयः संचिन्तयामास न न्याय्यं क्षुभितो ह्यहम् ।
साध्व्यः पत्न्यो द्विजेन्द्राणामकामाः कामयाम्यहम् ।। ३४ ।।

फिर उन्होंने मन-ही-मन विचार किया कि 'मेरा यह कार्य कदापि उचित नहीं है। मेरे मनमें विचार आ गया है। इन ब्रह्मर्षियोंकी पत्नियाँ पतिव्रता हैं। ये मुझे बिलकुल नहीं चाहतीं, तो भी मैं इनकी कामना करता हूँ ।। ३४ ।।

नैताः शक्या मया द्रष्टुं स्प्रष्टुं वाप्यनिमित्ततः ।
गार्हपत्यं समाविश्य तस्मात् पश्याम्यभीक्ष्णशः ।। ३५ ।।

'मैं अकारण न तो इन्हें देख सकता हूँ और न इनका स्पर्श ही कर सकता हूँ। ऐसी दशामें यदि मैं गार्हपत्य अग्निमें प्रविष्ट हो जाऊँ तो बार-बार इनके दर्शनका अवसर पा सकता हूँ' ।। ३५ ।।

मार्कण्डेय उवाच

संस्पृशन्निव सर्वास्ताः शिखाभिः काञ्चनप्रभाः ।
पश्यमानश्च मुमुदे गार्हपत्यं समाश्रितः ।। ३६ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ऐसा निश्चय करके अग्निदेवने गार्हपत्य अग्निका आश्रय लिया और अपनी लपटोंसे स्वर्गकी-सी कान्तिवाली उन ऋषि-पत्नियोंका स्पर्श तथा दर्शन-सा करते हुए वे बड़ी प्रसन्नताका अनुभव करने लगे ।। ३६ ।।

निरुष्य तत्र सुचिरमेवं वह्निर्वशं गतः ।
मनस्तासु विनिक्षिप्य कामयानो वराङ्गनाः ।। ३७ ।।

इस प्रकार बहुत देरतक वहाँ टिके रहकर अग्निदेव कामके वशमें हो गये। वे अपना हृदय उन सुन्दरियोंपर निछावर करके उनसे मिलनेकी कामना कर रहे थे ।।

कामसंतप्तहृदयो देहत्यागविनिश्चितः ।
अलाभे ब्राह्मणस्त्रीणामग्निर्वनमुपागमत् ।। ३८ ।।

उनका हृदय कामाग्निसे संतप्त हो रहा था। वे उन ब्रह्मर्षियोंकी पत्नियोंके न मिलनेसे अपने शरीरको त्याग देनेका निश्चय कर चुके थे। अतः वनमें चले गये ।।

स्वाहा तं दक्षदुहिता प्रथमं कामयत् तदा ।
सा तस्य छिद्रमन्वैच्छच्चिरात्प्रभृति भाविनी ।। ३९ ।।

प्रजापति दक्षकी पुत्री स्वाहा पहलेसे ही अग्निदेवको अपना पति बनाना चाहती थी और इसके लिये बहुत दिनोंसे वह अग्निका छिद्र ढूँढ़ रही थी ।। ३९ ।।

अप्रमत्तस्य देवस्य न च पश्यत्यनिन्दिता ।
सा तं ज्ञात्वा यथावत् तु वह्निं वनमुपागतम् ।। ४० ।।
तत्त्वतः कामसंतप्तं चिन्तयामास भाविनी ।

परंतु अग्निदेवके सदा सावधान रहनेके कारण साध्वी स्वाहा उनका कोई दोष नहीं देख पाती थी। जब उसे अच्छी तरह मालूम हो गया कि अग्नि कामसंतप्त होकर वनमें चले गये हैं, तब उसने मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया ।। ४०½ ।।

अहं सप्तर्षिपत्नीनां कृत्वा रूपाणि पावकम् ।। ४१ ।।
कामयिष्यामि कामार्ता तासां रूपेण मोहितम् ।
एवं कृते प्रीतिरस्य कामावाप्तिश्च मे भवेत् ।। ४२ ।।

मैं अग्निके प्रति कामभावसे पीड़ित हूँ। अतः स्वयं ही सप्तर्षिपत्नियोंके रूप धारण करके अग्निदेवकी कामना करूँगी; क्योंकि वे उनके रूपसे मोहित हो रहे हैं। ऐसा करनेसे उन्हें प्रसन्नता होगी और मेरी कामना भी पूर्ण हो जायगी' ।। ४१-४२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसोपाख्याने स्कन्दोत्पत्तौ चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आंगिरसोपाख्यानके प्रसंगमें स्कन्दकी उत्पत्तिविषयक दो सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२४ ।।

पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्वाहाका मुनिपत्नियोंके रूपोंमें अग्निके साथ समागम, स्कन्दकी उत्पत्ति तथा उनके द्वारा क्रौंच आदि पर्वतोंका विदारण

मार्कण्डेय उवाच

शिवा भार्या त्वङ्गिरसः शीलरूपगुणान्विता ।
तस्याः सा प्रथमं रूपं कृत्वा देवी जनाधिप ।। १ ।।
जगाम पावकाभ्याशं तं चोवाच वराङ्गना ।
मामग्ने कामसंतप्तां त्वं कामयितुमर्हसि ।। २ ।।
करिष्यसि न चेदेवं मृतां मामुपधारय ।
अहमङ्गिरसो भार्या शिवा नाम हुताशन ।
शिष्टाभिः प्रहिता प्राप्ता मन्त्रयित्वा विनिश्चयम् ।। ३ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—नरेश्वर! अंगिराकी पत्नी शिवा शील, रूप और सद्‌गुणोंसे सम्पन्न थी। सुन्दरी स्वाहादेवी पहले उसीका रूप धारण करके अग्निदेवके निकट गयी और उनसे इस प्रकार बोली—‘अग्ने! मैं कामवेदनासे संतप्त हूँ, तुम मुझे अपने हृदयमें स्थान दो। यदि ऐसा नहीं करोगे तो यह निश्चय जान लो, मैं अपने प्राण त्याग दूँगी। हुताशन! मैं अंगिराकी पत्नी हूँ। मेरा नाम शिवा है। दूसरी ऋषि-पत्नियोंने सलाह करके एक निश्चयपर पहुँचकर मुझे यहाँ भेजा है’ ।। १—३ ।।

अग्निरुवाच

कथं मां त्वं विजानीषे कामार्तमितराः कथम् ।
यास्त्वया कीर्तिताः सर्वाः सप्तर्षीणां प्रियाः स्त्रियः ।। ४ ।।

अग्निने पूछा—देवि! तुम तथा दूसरी सप्तर्षियोंकी सभी प्यारी स्त्रियाँ, जिनके विषयमें अभी तुमने चर्चा की है, कैसे जानती हैं कि मैं तुमलोगोंके प्रति कामभावसे पीड़ित हूँ ।। ४ ।।

शिवोवाच

अस्माकं त्वं प्रियो नित्यं बिभीमस्तु वयं तव ।
त्वच्चित्तमिङ्गितैर्ज्ञात्वा प्रेषितास्मि तवान्तिकम् ।। ५ ।।
मैथुनायेह सम्प्राप्ता कामं प्राप्तं द्रुतं चर ।
जामयो मां प्रतीक्षन्ते गमिष्यामि हुताशन ।। ६ ।।

शिवा बोली—अग्निदेव! तुम हमें सदा ही प्रिय रहे हो; परंतु हमलोग तुमसे सदा डरती आ रही हैं। इन दिनों तुम्हारी चेष्टाओंसे मनकी बात जानकर मेरी सखियोंने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। मैं समागमकी इच्छासे यहाँ आयी हूँ। तुम स्वतः प्राप्त हुए काम-सुखका शीघ्र उपभोग करो। हुताशन! वे भगिनीस्वरूपा सखियाँ मेरी राह देख रही हैं, अतः मैं शीघ्र चली जाऊँगी ।। ५-६ ।।

मार्कण्डेय उवाच

ततोऽग्निरुपयेमे तां शिवां प्रीतिमुदायुतः ।
प्रीत्या देवी समायुक्ता शुक्रं जग्राह पाणिना ।। ७ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तब अग्निदेवने प्रेम और प्रसन्नताके साथ उस शिवाको हृदयसे लगाया। (शिवाके रूपमें) 'स्वाहा' देवीने प्रेमपूर्वक अग्निदेवसे समागम करके उनके वीर्यको हाथमें ले लिया ।। ७ ।।

अचिन्तयन्ममेदं ये रूपं द्रक्ष्यन्ति कानने ।
ते ब्राह्मणीनामनृतं दोषं वक्ष्यन्ति पावक ।। ८ ।।

तत्पश्चात् उसने कुछ सोचकर कहा—'अग्निकुलनन्दन!' जो लोग वनमें मेरे इस रूपको देखेंगे वे ब्राह्मण-पत्नियोंको झूठा दोष लगायेंगे ।। ८ ।।

तस्मादेतद् रक्ष्यमाणा गरुडी सम्भवाम्यहम् ।
वनान्निर्गमनं चैव सुखं मम भविष्यति ।। ९ ।।

'अतः मैं इस रहस्यको गुप्त रखनेके लिये 'गरुडी' पक्षिणीका रूप धारण कर लेती हूँ। इस प्रकार मेरा इस वनसे सुखपूर्वक निकलना सम्भव हो सकेगा' ।। ९ ।।

मार्कण्डेय उवाच

सुपर्णी सा तदा भूत्वा निर्जगाम महावनात् ।
अपश्यत् पर्वतं श्वेतं शरस्तम्बैः सुसंवृतम् ।। १० ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर वह तत्काल गरुडीका रूप धारण करके उस महान् वनसे बाहर निकल गयी। आगे जानेपर उसने सरकंडोंके समूहसे आच्छादित श्वेतपर्वतके शिखरको देखा ।। १० ।।

दृष्टीविषैः सप्तशीर्षैर्गुप्तं भोगिभिरद्भुतैः ।
रक्षोभिश्च पिशाचैश्च रौद्रैर्भूतगणैस्तथा ।। ११ ।।
राक्षसीभिश्च सम्पूर्णमनेकैश्च मृगद्विजैः ।

सात सिरोंवाले अद्भुत नाग, जिनकी दृष्टिमें ही विष भरा था, उस पर्वतकी रक्षा करते थे। इनके सिवा राक्षस, पिशाच, भयानक भूतगण, राक्षसी-समुदाय तथा अनेक पशु-पक्षियोंसे भी वह पर्वत भरा हुआ था ।। ११½ ।।

(नदीप्रस्रवणोपेतं नानातरुसमाचितम् ।)

सा तत्र सहसा गत्वा शैलपृष्ठं सुदुर्गमम् ।। १२ ।।
प्राक्षिपत् काञ्चने कुण्डे शुक्रं सा त्वरिता शुभा ।

अनेकानेक नदी और झरने वहाँ बहते थे, तथा नाना प्रकारके वृक्ष उस पर्वतकी शोभा बढ़ाते थे। शुभस्वरूपा स्वाहा देवीने सहसा उस दुर्गम शैलशिखरपर जाकर एक सुवर्णमय कुण्डमें शीघ्रतापूर्वक उस शुक्र (वीर्य)-को डाल दिया ।। १२½ ।।

सप्तानामपि सा देवी सप्तर्षीणां महात्मनाम् ।। १३ ।।
पत्नीसरूपतां कृत्वा कामयामास पावकम् ।
दिव्यरूपमरुन्धत्याः कर्तुं न शकितं तया ।। १४ ।।
तस्यास्तपःप्रभावेण भर्तृशुश्रूषणेन च ।
षट्कृत्वस्तत् तु निक्षिप्तमग्ने रेतः कुरूत्तम ।। १५ ।।

कुरुश्रेष्ठ! उस देवीने सातों महात्मा सप्तर्षियोंकी पत्नियोंके समान रूप धारण करके अग्निदेवके साथ समागमकी इच्छा की थी; किंतु अरुन्धतीकी तपस्या तथा पति-शुश्रूषाके प्रभावसे वह उनका दिव्य रूप धारण न कर सकी, इसलिये छः बार ही अग्निके वीर्यको वहाँ डालनेमें सफल हुई ।। १३—१५ ।।

तस्मिन् कुण्डे प्रतिपदि कामिन्या स्वाहया तदा ।
तत् स्कन्नं तेजसा तत्र संवृतं जनयत् सुतम् ।। १६ ।।
ऋषिभिः पूजितं स्कन्नमनयत् स्कन्दतां ततः ।
षट्शिरा द्विगुणश्रोत्रो द्वादशाक्षिभुजक्रमः ।। १७ ।।

अग्निदेवकी कामना रखनेवाली स्वाहाने प्रतिपदाको उस कुण्डमें उनका वीर्य डाला था। स्कन्दित (स्खलित) हुए उस वीर्यने वहाँ एक तेजस्वी पुत्रको जन्म दिया। ऋषियोंने उसका बड़ा सम्मान किया। वह स्कन्दित होनेके कारण स्कन्द कहलाया। उसके छः सिर, बारह कान, बारह नेत्र और बारह भुजाएँ थीं ।। १६-१७ ।।

एकग्रीवैकजठरः कुमारः समपद्यत ।
द्वितीयायामभिव्यक्तस्तृतीयायां शिशुर्बभौ ।। १८ ।।

परंतु उस कुमारका कण्ठ और पेट एक-एक ही था। वह द्वितीयाको अभिव्यक्त हुआ और तृतीयाको शिशुरूपमें सुशोभित होने लगा ।। १८ ।।

अङ्गप्रत्यङ्गसम्भूतश्चतुर्थ्यामभवद् गुहः ।
लोहिताभ्रेण महता संवृतः सह विद्युता ।। १९ ।।
लोहिताभ्रे सुमहति भाति सूर्य इवोदितः ।

चतुर्थीको वे कुमार स्कन्द सभी अंग-उपांगोंसे सम्पन्न हो गये। उस समय कुमार लाल रंगके विशाल बिजलीयुक्त बादलसे आच्छादित थे। अतः अरुण रंगके मेघोंकी विशाल घटाके भीतर उदित हुए सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे ।। १९½ ।।

गृहीतं तु धनुस्तेन विपुलं लोमहर्षणम् ।। २० ।।
न्यस्तं यत् त्रिपुरघ्नेन सुरारिविनिकृन्तनम् ।
तद् गृहीत्वा धनुः श्रेष्ठं ननाद बलवांस्तदा ।। २१ ।।

त्रिपुरनाशक भगवान् शिवने देवशत्रुओंका विनाश करनेवाले जिस विशाल तथा रोमाञ्चकारी श्रेष्ठ धनुषको रख छोड़ा था उसे बलवान् स्कन्दने उठा लिया और बड़े जोरसे गर्जना की ।। २०-२१ ।।

सम्मोहयन्निवेमान् स त्रीँल्लोकान् सचराचरान् ।

तस्य तं निनदं श्रुत्वा महामेघौघनिःस्वनम् ।। २२ ।।
उत्पेततुर्महानागौ चित्रश्चैरावतश्च ह ।
तावापतन्तौ सम्प्रेक्ष्य स बालोऽर्कसमद्युतिः ।। २३ ।।
द्वाभ्यां गृहीत्वा पाणिभ्यां शक्तिं चान्येन पाणिना ।
अपरेणाग्निदायादस्ताम्रचूडं भुजेन सः ।। २४ ।।
महाकायमुपश्लिष्टं कुक्कुटं बलिनां वरम् ।
गृहीत्वा व्यनदद् भीमं चिक्रीड च महाभुजः ।। २५ ।।

ये उस गर्जनाद्वारा चराचर प्राणियोंसहित इन तीनों लोकोंको मूर्छित-सा कर रहे थे। महान् मेघोंकी गम्भीर ध्वनिके समान उनकी उस गर्जनाको सुनकर चित्र और ऐरावत नामक दो महागज वहाँ दौड़े आये। कुमार स्कन्द सूर्यकी कान्तिके समान उद्भासित हो रहे थे। उन दोनों हाथियोंको आते देख उन अग्निकुमारने उन्हें दो हाथोंसे पकड़ लिया तथा एक हाथमें शक्ति और दूसरेमें अरुण शिखासे विभूषित और बलवानोंमें श्रेष्ठ एवं विशाल शरीरवाले एक समीपवर्ती कुक्कुट (मुर्गे)-को पकड़कर उन महाबाहु कुमारने भयंकर गर्जना की और (उन हाथी-मुर्गे आदिको लिये हुए) क्रीडा करने लगे ।। २२—२५ ।।

द्वाभ्यां भुजाभ्यां बलवान् गृहीत्वा शङ्खमुत्तमम् ।
प्राध्यापयत भूतानां त्रासनं बलिनामपि ।। २६ ।।

तत्पश्चात् उन बलवान् वीरने दोनों हाथोंमें उत्तम शंख लेकर बजाया, जो बलवान् प्राणियोंको भी भयभीत कर देनेवाला था ।। २६ ।।

द्वाभ्यां भुजाभ्यामाकाशं बहुशो निजघान ह ।
कीडन् भाति महासेनस्त्रीँल्लोकान् वदनैः पिबन् ।। २७ ।।

फिर वे दो भुजाओंसे आकाशको बार-बार पीटने लगे। इस प्रकार क्रीडा करते हुए कुमार महासेन ऐसे जान पड़ते थे मानो वे अपने मुखोंसे तीनों लोकोंको पी जायँगे ।। २७ ।।

पर्वताग्रेऽप्रमेयात्मा रश्मिमानुदये यथा ।
स तस्य पर्वतस्याग्रे निषण्णोऽद्भुतविक्रमः ।। २८ ।।
व्यलोकयदमेयात्मा मुखैर्नानाविधैर्दिशः ।
स पश्यन् विविधान् भावांश्चकार निनदं पुनः ।। २९ ।।
तस्य तं निनदं श्रुत्वा न्यपतन् बहुधा जनाः ।
भीताश्चोद्विग्नमनसस्तमेव शरणं ययुः ।। ३० ।।

अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न और अद्भुत पराक्रमी स्कन्द पर्वतके शिखरपर उदयकालमें अंशुमाली सूर्यकी भाँति शोभा पा रहे थे। फिर वे उस पर्वतकी चोटीपर बैठ गये और अपने अनेक मुखोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखने लगे। भाँति-भाँतिकी वस्तुओंको देखकर वे अमेयात्मा स्कन्द पुनः बालोचित कोलाहल करने लगे। उनकी इस

गर्जनाको सुनकर बहुत-से प्राणी पृथ्वीपर गिर गये। फिर भयभीत और उद्विग्नचित्त होकर उन सबने उन्हींकी शरण ली ।। २८—३० ।।

ये तु तं संश्रिता देवं नानावर्णास्तदा जनाः ।
तानप्याहुः पारिषदान् ब्राह्मणाः सुमहाबलान् ।। ३१ ।।

उस समय जिन-जिन नाना वर्णवाले जीवोंने उन स्कन्ददेवकी शरण ली, उन सबको ब्राह्मणोंने उनका महाबलवान् पार्षद बताया है ।। ३१ ।।

स तूत्थाय महाबाहुरुपसान्त्व्य च तान् जनान् ।
धनुर्विकृष्य व्यसृजद् बाणान् श्वेते महागिरौ ।। ३२ ।।

उन महाबाहुने उठकर उन सब प्राणियोंको सान्त्वना दी और महापर्वत श्वेतपर खड़े-खड़े धनुष खींचकर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ।। ३२ ।।

बिभेद स शरैः शैलं क्रौञ्चं हिमवतः सुतम् ।
तेन हंसाश्च गृध्राश्च मेरुं गच्छन्ति पर्वतम् ।। ३३ ।।

उन बाणोंद्वारा उन्होंने हिमालयके पुत्र क्रौञ्च पर्वतको विदीर्ण कर दिया। उसी छिद्रमें होकर हंस और गृध्र पक्षी मेरु पर्वतको जाते हैं ।। ३३ ।।

स विशीर्णोऽपतच्छैलो भृशमार्तस्वरान् रुवन् ।
तस्मिन् निपतिते त्वन्ये नेदुः शैला भृशं तदा ।। ३४ ।।

स्कन्दके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो वह क्रौञ्च पर्वत अत्यन्त आर्तनाद करता हुआ गिर पड़ा। उस समय उसके गिरनेपर दूसरे पर्वत भी जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे ।। ३४ ।।

स तं नादं भृशार्तानां श्रुत्वापि बलिनां वरः ।
न प्राच्यवदमेयात्मा शक्तिमुद्यम्य चानदत् ।। ३५ ।।

बलवानोंमें श्रेष्ठ और अमित आत्मबलसे सम्पन्न कुमार उन अत्यन्त आर्त पर्वतोंके उस चीत्कारको सुनकर भी विचलित नहीं हुए, अपितु हाथसे शक्तिको उठाकर सिंहनाद करने लगे ।। ३५ ।।

सा तदा विमला शक्तिः क्षिप्ता तेन महात्मना ।
बिभेद शिखरं घोरं श्वेतस्य तरसा गिरेः ।। ३६ ।।

उन महात्माने उस समय अपनी चमचमाती हुई शक्ति चलायी और उसके द्वारा श्वेत गिरिके भयानक शिखरको बड़े वेगसे विदीर्ण कर डाला ।। ३६ ।।

स तेनाभिहतो दीर्णो गिरिः श्वेतोऽचलैः सह ।
उत्पपात महीं त्यक्त्वा भीतस्तस्मान्महात्मनः ।। ३७ ।।

इस प्रकार कार्तिकेयद्वारा शक्तिके आघातसे विदीर्ण होकर श्वेत पर्वत उन महात्माके भयसे डर गया और (दूसरे) पर्वतोंके साथ इस पृथ्वीको छोड़कर आकाशमें उड़ गया ।। ३७ ।।

ततः प्रव्यथिता भूमिर्व्यशीर्यत समन्ततः ।

आर्ता स्कन्दं समासाद्य पुनर्बलवती बभौ ।। ३८ ।।

इससे पृथ्वीको बड़ी पीड़ा हुई। वह सब ओरसे फट गयी और पीड़ित हो कार्तिकेयजीकी ही शरणमें जानेपर पुनः बलवती हो शोभा पाने लगी ।। ३८ ।।

पर्वताश्च नमस्कृत्य तमेव पृथिवीं गताः ।

अथैनमभजल्लोकः स्कन्दं शुक्लस्य पञ्चमीम् ।। ३९ ।।

तत्पश्चात् पर्वतोंने भी उन्हींके चरणोंमें मस्तक झुकाया और वे फिर पृथ्वीपर आ गये। तभीसे लोग प्रत्येक मासके शुक्लपक्षकी पञ्चमीको स्कन्ददेवका पूजन करने लगे ।। ३९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आंगिरसे कुमारोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आङ्गिरसोपाख्यानके प्रसंगमें कुमारोत्पत्तिविषयक दो सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

विश्वामित्रका स्कन्दके जातकर्मादि तेरह संस्कार करना और विश्वामित्रके समझानेपर भी ऋषियोंका अपनी पत्नियोंको स्वीकार न करना तथा अग्निदेव आदिके द्वारा बालक स्कन्दकी रक्षा करना

मार्कण्डेय उवाच

तस्मिञ्जाते महासत्त्वे महासेने महाबले ।
समुत्तस्थुर्महोत्पाता घोररूपाः पृथग्विधाः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! उन महान् धैर्यशाली और महाबली महासेनके जन्म लेनेपर भाँति-भाँतिके बड़े भयंकर उत्पात प्रकट होने लगे ।। १ ।।

स्त्रीपुंसोर्विपरीतं च तथा द्वन्द्वानि यानि च ।
ग्रहा दीप्ता दिशः खं च ररास च मही भृशम् ।। २ ।।

स्त्री-पुरुषोंका स्वभाव विपरीत हो गया। सर्दी आदि इन्होंनें भी (अद्भुत) परिवर्तन दिखायी देने लगा। ग्रह, दिशाएँ और आकाश ये सब जलने लगे और पृथ्वी जोर-जोरसे गर्जना-सी करने लगी ।। २ ।।

ऋषयश्च महाघोरान् दृष्ट्वोत्पातान् समन्ततः ।
अकुर्वञ्छान्तिमुद्विग्ना लोकानां लोकभावनाः ।। ३ ।।

लोकहितकी भावना रखनेवाले महर्षि चारों ओर अत्यन्त भयंकर उत्पात देखकर उद्विग्न हो उठे और जगत्में शान्ति बनाये रखनेके लिये शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान करने लगे ।। ३ ।।

निवसन्ति वने ये तु तस्मिंश्चैत्ररथे जनाः ।
तेऽब्रुवन्नेष नोऽनर्थः पावकेनाहितो महान् ।। ४ ।।
संगम्य षड्भिः पत्नीभिः सप्तर्षीणामिति स्म ह ।

उस चैत्ररथ नामक वनमें जो लोग निवास करते थे, वे कहने लगे, 'अग्निने सप्तर्षियोंकी छः पत्नियोंके साथ समागम करके हमलोगोंपर यह बहुत बड़ा अनर्थ लाद दिया है' ।। ४½ ।।

अपरे गरुडीमाहुस्त्वयानर्थोऽयमाहृतः ।। ५ ।।
यैर्दृष्टा सा तदा देवी तस्या रूपेण गच्छती ।
न तु तत् स्वाहया कर्म कृतं जानाति वै जनः ।। ६ ।।

दूसरे लोगोंने उस गरुडी पक्षिणीसे कहा—'तूने ही यह अनर्थ उपस्थित किया है'। यह उन लोगोंका विचार था, जिन्होंने स्वाहादेवीको गरुडीके रूपमें जाते देखा था। लोग यह नहीं जानते थे कि यह सारा कार्य स्वाहाने किया है ।। ५-६ ।।

सुपर्णी तु वचः श्रुत्वा ममायं तनयस्त्विति ।
उपगम्य शनैः स्कन्दमाहाहं जननी तव ।। ७ ।।

गरुडीने लोगोंकी बातें सुनकर कहा—'यह मेरा पुत्र है।' फिर उसने धीरेसे स्कन्दके पास जाकर कहा—'बेटा! मैं तुम्हें जन्म देनेवाली माता हूँ' ।। ७ ।।

अथ सप्तर्षयः श्रुत्वा जातं पुत्रं महौजसम् ।
तत्यजुः षट् तदा पत्नीर्विना देवीमरुन्धतीम् ।। ८ ।।

इधर सप्तर्षियोंने जब यह सुना कि हमारी छः पत्नियोंके रंगसे अग्निदेवके एक महातेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ है, तब उन्होंने अरुन्धती देवीके सिवा अन्य छः पत्नियोंको त्याग दिया ।। ८ ।।

षड्भिरेव तदा जातमाहुस्तद्वनवासिनः ।
सप्तर्षीनाह च स्वाहा मम पुत्रोऽयमित्युत ।। ९ ।।
अहं जाने नैतदेवमिति राजन् पुनः पुनः ।

क्योंकि उस वनके निवासियोंने उस समय छः पत्नियोंके गर्भसे ही उस बालककी उत्पत्ति बतायी थी। राजन्! यद्यपि स्वाहाने सप्तर्षियोंसे बार-बार कहा कि 'यह मेरा पुत्र है। मैं इसके जन्मका रहस्य जानती हूँ; लोग जैसी बात उड़ा रहे हैं, वैसी नहीं है।' (तो भी वे सहसा उसकी बातपर विश्वास न कर सके) ।। ९$\frac{१}{२}$ ।।

विश्वामित्रस्तु कृत्वेष्टिं सप्तर्षीणां महामुनिः ।। १० ।।
पावकं कामसंतप्तमदृष्टः पृष्ठतोऽन्वगात् ।
तत् तेन निखिलं सर्वमवबुद्धं यथातथम् ।। ११ ।।

महामुनि विश्वामित्र जब सप्तर्षियोंकी इष्टि पूर्ण कर चुके, तब वे भी कामपीड़ित अग्निके पीछे-पीछे गुप्तरूपसे चल दिये थे, उस समय कोई उन्हें देख नहीं पाता था। अतः उन्होंने यह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे जान लिया ।। १०-११ ।।

विश्वामित्रस्तु प्रथमं कुमारं शरणं गतः ।
स्तवं दिव्यं सम्प्रचक्रे महासेनस्य चापि सः ।। १२ ।।

विश्वामित्रजी सबसे पहले कुमार कार्तिकेयकी शरणमें गये तथा उन्होंने महासेनकी दिव्य स्तोत्रोंद्वारा स्तुति भी की ।। १२ ।।

मङ्गलानि च सर्वाणि कौमाराणि त्रयोदश ।
जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाश्चक्रे महामुनिः ।। १३ ।।

उन महामुनिने कुमारके सारे मांगलिक कृत्य सम्पन्न किये। जातकर्म आदि तेरह क्रियाओंका भी अनुष्ठान किया ।। १३ ।।

षड्वक्त्रस्य तु माहात्म्यं कुक्कुटस्य तु साधनम् ।
शक्त्या देव्याः साधनं च तथा पारिषदामपि ।। १४ ।।
विश्वामित्रश्चकारैतत् कर्म लोकहिताय वै ।
तस्मादृषिः कुमारस्य विश्वामित्रोऽभवत् प्रियः ।। १५ ।।

स्कन्दकी महिमा, उनके द्वारा कुक्कुट पक्षीका धारण, देवीके समान प्रभावशालिनी शक्तिका ग्रहण तथा पार्षदोंका वरण आदि कुमारके सभी कार्योंको विश्वामित्रने लोकहितके लिये आवश्यक सिद्ध किया। अतः विश्वामित्र मुनि कुमारके अधिक प्रिय हो गये ।। १४-१५ ।।

अन्वजानाच्च स्वाहाया रूपान्यत्वं महामुनिः ।
अब्रवीच्च मुनीन् सर्वान् नापराध्यन्ति वै स्त्रियः ।। १६ ।।
श्रुत्वा तु तत्त्वतस्तस्मात् ते पत्नीः सर्वतोऽत्यजन् ।

महामुनि विश्वामित्रने यह जान लिया था कि स्वाहाने अन्य ऋषिपत्नियोंके रूप धारण करके अग्निदेवसे सम्बन्ध स्थापित किया था; इसलिये उन्होंने सब ऋषियोंसे कहा—'आपकी स्त्रियोंका कोई अपराध नहीं है' उनके मुखसे यथार्थ बात जानकर भी ऋषियोंने अपनी पत्नियोंको सर्वथा त्याग ही दिया ।। १६½ ।।

मार्कण्डेय उवाच

स्कन्दं श्रुत्वा तदा देवा वासवं सहिताऽब्रुवन् ।। १७ ।।
अविषह्यबलं स्कन्दं जहि शक्राशु माचिरम् ।
यदि वा न निहंस्येनं देवेन्द्रोऽयं भविष्यति ।। १८ ।।
त्रैलोक्यं संनिगृह्यास्मांस्त्वां च शक्र महाबल ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! उस समय स्कन्दके जन्म और बल-पराक्रमका समाचार सुनकर सब देवताओंने एकत्र हो इन्द्रसे कहा—'देवेश्वर! स्कन्दका बल असह्य है। शीघ्र उन्हें मार डालिये; विलम्ब न कीजिये। महाबली इन्द्र! यदि आप इन्हें अभी नहीं मारते हैं तो ये त्रिलोकीको, हम सबको तथा आपको भी अपने वशमें करके 'देवेन्द्र' बन बैठेंगे' ।। १७-१८½ ।।

स तानुवाच व्यथितो बालोऽयं सुमहाबलः ।। १९ ।।
स्रष्टारमपि लोकानां युधि विक्रम्य नाशयेत् ।
न बालमुत्सहे हन्तुमिति शक्रः प्रभाषते ।। २० ।।

तब इन्द्रने व्यथित होकर उन देवताओंसे कहा—'देवताओ! यह बालक बड़ा बलवान् है। यह लोकस्रष्टा ब्रह्माको भी युद्धमें पराक्रम करके मार सकता है। अतः मुझमें इस बालकको मारनेका साहस नहीं है।' इन्द्र बार-बार यही बात दुहराने लगे ।। १९-२० ।।

तेऽब्रुवन् नास्ति ते वीर्यं यत एवं प्रभाषसे ।

सर्वास्त्वद्याभिगच्छन्तु स्कन्दं लोकस्य मातरः ।। २१ ।।
कामवीर्या घ्नन्तु चैनं तथेत्युक्त्वा च ता ययुः ।

यह सुनकर देवता बोले—‘आपमें अब बल और पराक्रम नहीं रह गया है, इसीलिये ऐसी बातें कहते हैं। हमारी राय है कि सम्पूर्ण लोकमातृकाएँ स्कन्दके पास जायँ। ये इच्छानुसार पराक्रम प्रकट कर सकती हैं; अतः स्कन्दको मार डालें।’ तब ‘बहुत अच्छा’ कहकर वे मातृकाएँ वहाँसे चल दीं ।। २१½ ।।

तमप्रतिबलं दृष्ट्वा विषण्णवदनास्तु ताः ।। २२ ।।
अशक्योऽयं विचिन्त्यैवं तमेव शरणं ययुः ।
ऊचुश्चैनं त्वमस्माकं पुत्रो भव महाबल ।। २३ ।।

परंतु स्कन्दका अप्रतिम बल देखकर उनके मुखपर उदासी छा गयी। वे सोचने लगीं—‘इस वीरको पराजित करना असम्भव है।’ ऐसा निश्चय होनेपर वे उन्हींकी शरणमें गयीं और बोलीं—‘महाबली कुमार! तुम हमारे पुत्र हो जाओ, हमें माता मान लो ।। २२-२३ ।।

अभिनन्दस्व नः सर्वाः प्रस्नुताः स्नेहविक्लवाः ।
तासां तद् वचनं श्रुत्वा पातुकामः स्तानान् प्रभुः ।। २४ ।।

‘देखो, हम पुत्र-स्नेहसे विकल हो रही हैं, हमारे स्तनोंसे दूध झर रहा है इसे पीकर हम सबको सम्मानित और आनन्दित करो।’ मातृकाओंकी यह बात सुनकर समर्थ स्कन्दके मनमें उनके स्तनपानकी इच्छा जाग्रत हो गयी ।। २४ ।।

ताः सम्पूज्य महासेनः कामांश्चासां प्रदाय सः ।
अपश्यदग्निमायान्तं पितरं बलिनां बली ।। २५ ।।

फिर महासेनने उन सबका समादर करके उनकी मनोवाञ्छा पूर्ण की। तदनन्तर बलवानोंमें बलिष्ठ वीर स्कन्दने अपने पिता अग्निदेवको आते देखा ।। २५ ।।

स तु सम्पूजितस्तेन सह मातृगणेन ह ।
परिवार्य महासेनं रक्षमाणः स्थितः शिवः ।। २६ ।।

कुमार महासेनके द्वारा पूजित हो मंगलकारी अग्निदेव मातृकागणोंके साथ उन्हें घेरकर खड़े हो गये और उनकी रक्षा करने लगे ।। २६ ।।

सर्वासां या तु मातॄणां नारी क्रोधसमुद्भवा ।
धात्री स्वपुत्रवत् स्कन्दं शूलहस्ताभ्यरक्षत ।। २७ ।।

उस समय सम्पूर्ण मातृकाओंके क्रोधसे जो एक नारीमूर्ति प्रकट हुई थी, वह हाथमें त्रिशूल ले धायकी भाँति अपने पुत्रके समान प्रिय स्कन्दकी सब ओरसे रक्षा करने लगी ।। २७ ।।

लोहितस्योदधेः कन्या क्रूरा लोहितभोजना ।
परिष्वज्य महासेनं पुत्रवत् पर्यरक्षत ।। २८ ।।

लाल सागरकी एक क्रूर स्वभाववाली कन्या थी, जिसका रक्त ही भोजन था। वह महासेनको पुत्रकी भाँति हृदयसे लगाकर सर्वतोभावेन उनकी रक्षा करने लगी ।। २८ ।।

अग्निर्भूत्वा नैगमेयश्छागवक्त्रो बहुप्रजः ।
रमयामास शैलस्थं बालं क्रीडनकैरिव ।। २९ ।।

वेदप्रतिपादित अग्नि बकरेका-सा मुख बनाकर अनेक संतानोंके साथ उपस्थित हो पर्वतशिखर पर निवास करनेवाले बालक स्कन्दका इस प्रकार मन बहलाने लगे, मानो उन्हें खिलौनोंसे खेला रहे हों ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे स्कन्दोत्पत्तौ षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आंङ्गिसोपाख्यानके प्रसंगमें स्कन्दकी उत्पत्तिविषयक दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२६ ।।

सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराजित होकर शरणमें आये हुए इन्द्रसहित देवताओंको स्कन्दका अभयदान

मार्कण्डेय उवाच

ग्रहाः सोपग्रहाश्चैव ऋषयो मातरस्तथा ।
हुताशनमुखाश्चैव दृप्ताः पारिषदां गणाः ।। १ ।।
एते चान्ये च बहवो घोरास्त्रिदिववासिनः ।
परिवार्य महासेनं स्थिता मातृगणैः सह ।। २ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ग्रह, उपग्रह, ऋषि, मातृकागण और मुखसे आग उगलनेवाले दर्पयुक्त पार्षदगण—ये तथा दूसरे बहुत-से भयंकर स्वर्गवासी प्राणी मातृकागणोंके साथ रहकर महासेनको सब ओरसे घेरे हुए उनकी रक्षाके लिये खड़े थे ।। १-२ ।।

संदिग्धं विजयं दृष्ट्वा विजयेप्सुः सुरेश्वरः ।
आरुह्यैरावतस्कन्धं प्रययौ दैवतैः सह ।। ३ ।।

देवेश्वर इन्द्रको अपनी विजयके विषयमें संदेह ही दिखायी देता था, तो भी वे विजयकी अभिलाषासे ऐरावत हाथीपर आरुढ़ हो देवताओंके साथ आगे बढ़े ।।

आदाय वज्रं बलवान् सर्वैर्देवगणैर्वृतः ।
विजिघांसुर्महासेनमिन्द्रस्तूर्णतरं ययौ ।। ४ ।।

सब देवताओंसे घिरे हुए बलवान् इन्द्र महासेनको मार डालनेकी इच्छासे हाथमें वज्र ले बड़े वेगसे अग्रसर हो रहे थे ।। ४ ।।

उग्रं तं च महानादं देवानीकं महाप्रभम् ।
विचित्रध्वजसंनाहं नानावाहनकार्मुकम् ।। ५ ।।
प्रवराम्बरसंवीतं श्रिया जुष्टमलङ्कृतम् ।
विजिघांसुं तमायान्तं कुमारः शक्रमन्वयात् ।। ६ ।।

देवताओंकी सेना बड़ी भयानक थी। उसमें जोर-जोरसे विकट गर्जना हो रही थी। उसकी प्रभाका विस्तार महान् था। उसके ध्वज संनाह (कवच) विचित्र थे। सभी सैनिकोंके वाहन और धुनष नाना प्रकारके दिखायी देते थे। सबने श्रेष्ठ वस्त्रोंसे अपने शरीरको आच्छादित कर रखा था। सभी लोग श्रीसम्पन्न तथा विविध आभूषणोंसे विभूषित दिखायी देते थे। इन्द्रको अपने वधके लिये आते देख कुमारने भी उनपर धावा बोल दिया ।। ५-६ ।।

विनदन् पार्थ देवेशो द्रुतं याति महाबलः ।

संहर्षयन् देवसेनां जिघांसुः पावकात्मजम् ।। ७ ।।

युधिष्ठिर! महाबली देवराज इन्द्र अग्निनन्दन स्कन्दको मार डालनेकी इच्छासे देवताओंकी सेनाका हर्ष बढ़ाते हुए तीव्र गतिसे विकट गर्जनाके साथ आगे बढ़ रहे थे ।। ७ ।।

सम्पूज्यमानस्त्रिदशैस्तथैव परमर्षिभिः ।
समीपमथ सम्प्राप्तः कार्तिकेयस्य वासवः ।। ८ ।।
सिंहनादं ततश्चक्रे देवेशः सहितः सुरैः ।
गुहोऽपि शब्दं तं श्रुत्वा व्यनदत् सागरो यथा ।। ९ ।।

उस समय सम्पूर्ण देवता और महर्षि उनका बड़ा सम्मान कर रहे थे। जब देवराज इन्द्र कुमार कार्तिकेयके निकट पहुँचे, तब उन्होंने देवताओंके साथ सिंहके समान गर्जना की। उनका वह सिंहनाद सुनकर कुमार कार्तिकेय भी समुद्रके समान भयंकर गर्जना करने लगे ।। ८-९ ।।

तस्य शब्देन महता समुद्धूतोदधिप्रभम् ।
बभ्राम तत्र तत्रैव देवसैन्यमचेतनम् ।। १० ।।

देवताओंकी सेना उमड़ते हुए समुद्रके समान जान पड़ती थी। परंतु स्कन्दकी भारी गर्जनासे अचेत-सी होकर वहीं चक्कर काटने लगी ।। १० ।।

जिघांसूनुपसम्प्राप्तान् देवान् दृष्ट्वा स पावकिः ।
विससर्ज मुखात् क्रुद्धः प्रवृद्धाः पावकार्चिषः ।। ११ ।।

अग्निकुमार स्कन्द यह देखकर कि देवतालोग मेरा वध करनेकी इच्छासे यहाँ एकत्र हुए हैं, कुपित हो उठे और अपने मुँहसे आगकी बढ़ती हुई लपटें छोड़ने लगे ।। ११ ।।

अदहद् देवसैन्यानि वेपमानानि भूतले ।
ते प्रदीप्तशिरोदेहाः प्रदीप्तायुधवाहनाः ।। १२ ।।

इस प्रकार उन्होंने देवताओंकी सेनाको जलाना प्रारम्भ किया। सारे सैनिक पृथ्वीपर गिरकर छटपटाने लगे। किसीका शरीर जल गया, किसीका सिर, किसीके आयुध जल गये और किसीके वाहन ।। १२ ।।

प्रच्युताः सहसा भान्ति व्यस्तास्तारागणा इव ।
दह्यमानाः प्रपन्नास्ते शरणं पावकात्मजम् ।। १३ ।।
देवा वज्रधरं त्यक्त्वा ततः शान्तिमुपागताः ।
त्यक्तो देवैस्ततः स्कन्दे वज्रं शक्रो न्यपातयत् ।। १४ ।।

वे सब-के-सब सहसा तितर-बितर हो आकाशमें बिखरे हुए तारोंके समान जान पड़ते थे। इस तरह जलते हुए देवता वज्रधारी इन्द्रका साथ छोड़कर अग्निनन्दन स्कन्दकी ही शरणमें आये, तब उन्हें शान्ति मिली। देवताओंके त्याग देनेपर इन्द्रने स्कन्दपर अपने वज्रका प्रहार किया ।। १३-१४ ।।

तद्विसृष्टं जघानाशु पार्श्वं स्कन्दस्य दक्षिणम् ।
बिभेद च महाराज पार्श्वं तस्य महात्मनः ।। १५ ।।

महाराज! इन्द्रके छोड़े हुए उस वज्रने शीघ्र ही कुमार कार्तिकेयकी दायीं पसलीपर गहरी चोट पहुँचायी और उन महामना स्कन्दके पार्श्वभागको क्षत-विक्षत कर दिया ।।

वज्रप्रहारात् स्कन्दस्य संजातः पुरुषोऽपरः ।
युवा काञ्चनसंनाहः शक्तिधृग् दिव्यकुण्डलः ।। १६ ।।

वज्रका प्रहार होनेपर स्कन्दके (उस दक्षिण पार्श्वसे) एक दूसरा वीर पुरुष प्रकट हुआ, जिसकी युवावस्था थी। उसने सुवर्णमय कवच धारण कर रखा था। उसके एक हाथमें शक्ति चमक रही थी और कानोंमें दिव्य कुण्डल झलमला रहे थे ।। १६ ।।

यद्वज्रविशनाज्जातो विशाखस्तेन सोऽभवत् ।
संजातमपरं दृष्ट्वा कालानलसमद्युतिम् ।। १७ ।।
भयादिन्द्रस्तु तं स्कन्दं प्राञ्जलिः शरणं गतः ।

वज्रके प्रविष्ट होनेसे उसकी उत्पत्ति हुई थी, इसलिये वह विशाख नामसे प्रसिद्ध हुआ। प्रलयकालकी अग्निके समान अत्यन्त तेजस्वी उस द्वितीय वीरको प्रकट हुआ देख इन्द्र भयसे थर्रा उठे और हाथ जोड़कर उन स्कन्ददेवकी शरणमें आये ।। १७½ ।।

तस्याभयं ददौ स्कन्दः सह सैन्यस्य सत्तमः ।
ततः प्रहृष्टास्त्रिदशा वादित्राण्यभ्यवादयन् ।। १८ ।।

तब सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ कुमार स्कन्दने सेनासहित इन्द्रको अभयदान दिया। इससे प्रसन्न होकर सब देवता (हर्षसूचक) बाजे बजाने लगे ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे इन्द्रस्कन्दसमागमे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आंगिरसोपाख्यानके प्रसंगमें इन्द्र-स्कन्दसमागमविषयक दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२७ ।।

अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्कन्दके पार्षदोंका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

स्कन्दपारिषदान् घोराञ्शृणुष्वाद्भुतदर्शनान् ।
वज्रप्रहारात् स्कन्दस्य जज्ञुस्तत्र कुमारकाः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! अब तुम स्कन्दके भयंकर पार्षदोंका वर्णन सुनो, जो देखनेमें बड़े अद्भुत हैं। वज्रका प्रहार होनेपर स्कन्दके शरीरसे वहाँ बहुत-से कुमार ग्रह उत्पन्न हुए ।। १ ।।

ये हरन्ति शिशूञ्जातान् गर्भस्थांश्चैव दारुणाः ।
वज्रप्रहारात् कन्याश्च जज्ञिरेऽस्य महाबलाः ।। २ ।।

वे क्रूर स्वभाववाले कुमारग्रह नवजात तथा गर्भस्थ शिशुओंको भी हर ले जाते हैं। इन्द्रके वज्र—प्रहारसे स्कन्दके शरीरसे वहाँ अत्यन्त बलशालिनी कन्याएँ भी उत्पन्न हुई थीं ।। २ ।।

कुमारास्ते विशाखं च पितृत्वे समकल्पयन् ।
स भूत्वा भगवान् संख्ये रक्षंश्छागमुखस्तदा ।। ३ ।।
वृतः कन्यागणैः सर्वैरात्मीयैः सह पुत्रकैः ।
मातॄणां प्रेक्षमाणानां भद्रशाखश्च कौसलः ।। ४ ।।

पूर्वोक्त कुमार-ग्रहोंने विशाख (स्कन्द)-को अपना पिता माना। भगवान् स्कन्द बकरेके समान मुख धारण करके समस्त कन्यागणों और अपने पुत्रोंसे घिरकर मातृकाओंके देखते-देखते युद्धमें अपने पक्षकी रक्षा करते हैं। वे ही ‘भद्रशाख’ तथा ‘कौसल’ नामसे प्रसिद्ध हुए हैं ।।

ततः कुमारपितरं स्कन्दमाहुर्जना भुवि ।
रुद्रमग्निमुमां स्वाहां प्रदेशेषु महाबलाम् ।। ५ ।।
यजन्ति पुत्रकामाश्च पुत्रिणश्च सदा जनाः ।

इसीलिये भूतलके मनुष्य स्कन्दको कुमार-ग्रहोंका पिता कहते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानोंमें पुत्रवान् तथा पुत्रकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य अग्निस्वरूप रुद्र और स्वाहास्वरूपा महाबलवती उमाकी सदा आराधना करते हैं ।। ५½ ।।

यास्तास्त्वजनयत् कन्यास्तपो नाम हुताशनः ।। ६ ।।
किं करोमीति ताः स्कन्दं सम्प्राप्ताः समभाषयन् ।

तप नामक अग्निने जिन कन्याओंको जन्म दिया, वे सब स्कन्दके पास आयीं और पूछने लगीं—‘हम क्या करें?’ ।। ६½ ।।

कुमार्य ऊचुः

भवेम सर्वलोकस्य मातरो वयमुत्तमाः ।। ७ ।।

प्रसादात् तव पूज्याश्च प्रियमेतत् कुरुष्व नः ।

कुमारियाँ बोलीं—हम सब लोग सम्पूर्ण जगत्‌की श्रेष्ठ माताएँ हों और आपकी कृपासे हम सदा पूजनीय मानी जायँ, यही हमारा प्रिय मनोरथ है, आप इसे पूर्ण कीजिये ।। ७½ ।।

सोऽब्रवीद् बाढमित्येवं भविष्यध्वं पृथग्विधाः ।। ८ ।।

शिवाश्चैवाशिवाश्चैव पुनः पुनरुदारधीः ।

ततः संकल्प्य पुत्रत्वे स्कन्दं मातृगणोऽगमत् ।। ९ ।।

तब उदारबुद्धि स्कन्दने बार-बार कहा—'बहुत अच्छा, तुम सब लोग पृथक्-पृथक् पूजनीया माता मानी जाओगी। तुम्हारे दो भेद होंगे—शिवा और अशिवा।' तदनन्तर स्कन्दको अपना पुत्र मानकर मातृकाएँ वहाँसे विदा हो गयीं ।। ८-९ ।।

काकी च हलिमा चैव मालिनी बृंहता तथा ।

आर्या पलाला वैमित्रा सप्तैताः शिशुमातरः ।। १० ।।

काकी, हलिमा, मालिनी, बृंहता, आर्या, पलाला और वैमित्रा—ये सातों शिशुकी माताएँ हैं ।। १० ।।

एतासां वीर्यसम्पन्नः शिशुर्नामातिदारुणः ।

स्कन्दप्रसादजः पुत्रो लोहिताक्षो भयंकरः ।। ११ ।।

भगवान् स्कन्दकी कृपासे इन्हें शिशु नामक एक अत्यन्त पराक्रमी पुत्र प्राप्त हुआ, जो अत्यन्त दारुण और भयंकर था। उसकी आँखें रक्तवर्णकी थीं ।। ११ ।।

एष वीराष्टकः प्रोक्तः स्कन्दमातृगणोद्भवः ।

छागवक्त्रेण सहितो नवकः परिकीर्त्यते ।। १२ ।।

शिशु और मातृगणोंको लेकर जो आठ व्यक्ति होते हैं, उन्हें 'वीराष्टक' कहा गया है। बकरेके-से मुखसे युक्त स्कन्दको सम्मिलित करनेसे यह समुदाय वीर-नवक कहा जाता है ।। १२ ।।

षष्ठं छागमयं वक्त्रं स्कन्दस्यैवेति विद्धि तत् ।

षट्शिरोऽभ्यन्तरं राजन् नित्यं मातृगणार्चितम् ।। १३ ।।

युधिष्ठिर! स्कन्दका ही छठा मुख छागमय है, यह जान लो। राजन्! वह छः सिरोंके बीचमें स्थित है और मातृकाएँ सदा उसकी पूजा करती हैं ।। १३ ।।

षण्णां तु प्रवरं तस्य शीर्षाणामिह शब्द्यते ।

शक्तिं येनासृजद् दिव्यां भद्रशाख इति स्म ह ।। १४ ।।

स्कन्दके छहों मस्तकोंमें वही सर्वश्रेष्ठ बताया जाता है। उन्होंने दिव्यशक्तिका प्रयोग किया था; इसलिये उनका नाम भद्रशाख हुआ ।। १४ ।।

इत्येतद् विविधाकारं वृत्तं शुक्लस्य पञ्चमीम् ।
तत्र युद्धं महाघोरं वृत्तं षष्ठ्यां जनाधिप ।। १५ ।।

नरेश्वर! इस प्रकार शुक्लपक्षकी पंचमी तिथिको विविध आकारवाले पार्षदोंकी सृष्टि हुई और षष्ठीको वहाँ अत्यन्त भयंकर युद्ध हुआ ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे कुमारोत्पत्तौ अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आंगिरसोपाख्यानके प्रसंगमें कुमारोत्पत्तिविषयक दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२८ ।।

एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्कन्दका इन्द्रके साथ वार्तालाप, देवसेनापतिके पदपर अभिषेक तथा देवसेनाके साथ उनका विवाह

मार्कण्डेय उवाच

उपविष्टं तु तं स्कन्दं हिरण्यकवचस्रजम् ।
हिरण्यचूडमुकुटं हिरण्याक्षं महाप्रभम् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! स्कन्द सोनेका कवच, सोनेकी माला और सोनेकी कलँगीसे सुशोभित मुकुट धारण किये (सुन्दर आसनपर) बैठे थे। उनके नेत्रोंसे सुवर्णकी-सी ज्योति छिटक रही थी और उनके शरीरसे महान् तेजःपुंज प्रकट हो रहा था ।। १ ।।

लोहिताम्बरसंवीतं तीक्ष्णदंष्ट्रं मनोरमम् ।
सर्वलक्षणसम्पन्नं त्रैलोक्यस्यापि सुप्रियम् ।। २ ।।

उन्होंने लाल रंगके वस्त्रसे अपने अंगोंको आच्छादित कर रखा था। उनके दाँत बड़े तीखे थे और उनकी आकृति मनको लुभा लेनेवाली थी। वे समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न तथा तीनों लोकोंके लिये अत्यन्त प्रिय थे ।। २ ।।

ततस्तं वरदं शूरं युवानं मृष्टकुण्डलम् ।
अभजत् पद्मरूपा श्रीः स्वयमेव शरीरिणी ।। ३ ।।

तदनन्तर वर देनेमें समर्थ, शौर्यसम्पन्न, युवा अवस्थासे सुशोभित तथा सुन्दर कुण्डलोंसे अलंकृत कुमार कार्तिकेयका कमलके समान कान्तिवाली मूर्तिमती शोभाने स्वयं ही सेवन किया ।। ३ ।।

श्रिया जुष्टः पृथुयशाः स कुमारवरस्तदा ।
निषण्णो दृश्यते भूतैः पौर्णमास्यां यथा शशी ।। ४ ।।

मूर्तिमती शोभासे सेवित हो वहाँ बैठे हुए महा-यशस्वी सुन्दरकुमारको उस समय सब प्राणी पूर्णमासीके चन्द्रमाकी भाँति देखते थे ।। ४ ।।

अपूजयन् महात्मानो ब्राह्मणास्तं महाबलम् ।
इदमाहुस्तदा चैव स्कन्दं तत्र महर्षयः ।। ५ ।।

महामना ब्राह्मणोंने महाबली स्कन्दकी पूजा की और सब महर्षियोंने वहाँ आकर उनका इस प्रकार स्तवन किया ।। ५ ।।

ऋषय ऊचुः

हिरण्यगर्भ भद्रं ते लोकानां शङ्करो भव ।
त्वया षड्रात्रजातेन सर्वे लोका वशीकृताः ।। ६ ।।

ऋषि बोले—हिरण्यगर्भ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम समस्त जगत्‌के लिये कल्याणकारी बनो। तुम्हारे पैदा हुए अभी छः रातें ही बीती होंगी। इतनेमें ही तुमने समस्त लोकोंको अपने वशमें कर लिया है ।। ६ ।।

अभयं च पुनर्दत्तं त्वयैवैषां सुरोत्तम ।
तस्मादिन्द्रो भवानस्तु त्रैलोक्यस्याभयंकरः ।। ७ ।।

सुरश्रेष्ठ! फिर तुम्हींने इन सब लोकोंको अभय दान दिया है। अतः आजसे तुम इन्द्र होकर रहो और तीनों लोकोंके भयका निवारण करो ।। ७ ।।

स्कन्द उवाच

किमिन्द्रः सर्वलोकानां करोतीह तपोधनाः ।
कथं देवगणांश्चैव पाति नित्यं सुरेश्वरः ।। ८ ।।

स्कन्द बोले—तपोधनो! इन्द्र इस पदपर रहकर सम्पूर्ण लोकोंके लिये क्या करते हैं तथा वे देवेश्वर सदा समस्त देवताओंकी किस प्रकार रक्षा करते हैं? ।। ८ ।।

ऋषय ऊचुः

इन्द्रो दधाति भूतानां बलं तेजः प्रजाः सुखम् ।
तुष्टः प्रयच्छति तथा सर्वान् कामान् सुरेश्वरः ।। ९ ।।

ऋषि बोले—देवराज इन्द्र संतुष्ट होनेपर सम्पूर्ण प्राणियोंको बल, तेज, संतान और सुखकी प्राप्ति कराते हैं तथा उनकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करते हैं ।। ९ ।।

दुर्वृत्तानां संहरति व्रतस्थानां प्रयच्छति ।
अनुशास्ति च भूतानि कार्येषु बलसूदनः ।। १० ।।

वे दुष्टोंका संहार करते और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सत्पुरुषोंको जीवन दान देते हैं। बल नामक दैत्यका विनाश करनेवाले इन्द्र सभी प्राणियोंको आवश्यक कार्योंमें लगनेका आदेश देते हैं ।। १० ।।

असूर्ये च भवेत् सूर्यस्तथाचन्द्रे च चन्द्रमाः ।
भवत्यग्निश्च वायुश्च पृथिव्यापश्च कारणैः ।। ११ ।।

सूर्यके अभावमें वे स्वयं ही सूर्य होते हैं और चन्द्रमाके न रहनेपर स्वयं ही चन्द्रमा बनकर उनका कार्य सम्पादन करते हैं। आवश्यकता पड़नेपर वे ही अग्नि, वायु, पृथिवी और जलका स्वरूप धारण कर लेते हैं ।। ११ ।।

एतदिन्द्रेण कर्तव्यमिन्द्रे हि विपुलं बलम् ।
त्वं च वीर बली श्रेष्ठस्तस्मादिन्द्रो भवस्व नः ।। १२ ।।

यह सब इन्द्रका कार्य है। इन्द्रमें अपरिमित बल होता है। वीर! तुम भी श्रेष्ठ बलवान् हो। अतः तुम्हीं हमारे इन्द्र हो जाओ ।। १२ ।।

शक्र उवाच

भवस्वेन्द्रो महाबाहो सर्वेषां नः सुखावहः ।
अभिषिच्यस्व चैवाद्य प्राप्तरूपोऽसि सत्तम ।। १३ ।।

इन्द्रने कहा—महाबाहो! तुम्हीं इन्द्र बनो और हम सबको सुख पहुँचाओ। सज्जनशिरोमणे! तुम इस पदके सर्वथा योग्य हो। अतः आज ही इस पदपर अपना अभिषेक करा लो ।। १३ ।।

स्कन्द उवाच

शाधि त्वमेव त्रैलोक्यमव्यग्रो विजये रतः ।
अहं ते किङ्करः शक्र न ममेन्द्रत्वमीप्सितम् ।। १४ ।।

स्कन्द बोले—इन्द्रदेव! आप ही स्वस्थचित्त होकर तीनों लोकोंका शासन कीजिये और विजयप्राप्तिके कार्यमें संलग्न रहिये। मैं तो आपका सेवक हूँ। मुझे इन्द्र बननेकी इच्छा नहीं है ।। १४ ।।

शक्र उवाच

बलं तवाद्भुतं वीर त्वं देवानामरीन् जहि ।
अवज्ञास्यन्ति मां लोका वीर्येण तव विस्मिताः ।। १५ ।।
इन्द्रत्वे तु स्थितं वीर बलहीनं पराजितम् ।
आवयोश्च मिथो भेदे प्रयतिष्यन्त्यतन्द्रिताः ।। १६ ।।

इन्द्रने कहा—वीर! तुम्हारा बल अद्भुत है, अतः तुम्हीं देव-शत्रुओंका संहार करो। वीरवर! मैं तुम्हारे सामने पराजित होकर बलहीन सिद्ध हो गया हूँ। अतः तुम्हारे पराक्रमसे चकित होकर लोग मेरी अवहेलना करेंगे। यदि मैं इन्द्र पदपर स्थित रहूँ, तो भी सब लोग मेरा उपहास करेंगे और आलस्य छोड़कर हम दोनोंमें परस्पर फूट डालनेका प्रयत्न करेंगे ।। १५-१६ ।।

भेदिते च त्वयि विभो लोको द्वैधमुपेष्यति ।
द्विधाभूतेषु लोकेषु निश्चितेष्वावयोस्तथा ।। १७ ।।
विग्रहः सम्प्रवर्तेत भूतभेदान्महाबल ।
तत्र त्वं मां रणे तात यथाश्रद्धं विजेष्यसि ।। १८ ।।
तस्मादिन्द्रो भवानेव भविता मा विचारय ।

प्रभो! यदि तुम फूट जाओगे तो जगत्‌के प्राणी दो भागोंमें बट जायँगे। महाबलवान् वीर! सम्पूर्ण लोकोंके निश्चय ही दो दलोंमें बट जाने तथा लोगोंके द्वारा भेदबुद्धि उत्पन्न किये जानेपर हम लोगोंमें युद्ध प्रारम्भ हो सकता है। तात! उस युद्धमें जैसा कि मेरा विश्वास है, तुम्हीं विजयी होओगे। अतः तुम्हीं इन्द्र हो जाओ। इस विषयमें कोई दूसरी बात मत सोचो ।। १७-१८½ ।।

स्कन्द उवाच

त्वमेव राजा भद्रं ते त्रैलोक्यस्य ममैव च ।। १९ ।।

करोमि किं च ते शक्र शासनं तद् ब्रवीहि मे ।

स्कन्द बोले—देवेन्द्र! आप ही देवराजके पदपर प्रतिष्ठित रहें। आपका कल्याण हो। आप ही तीनों लोकोंके तथा मेरे भी स्वामी हैं। आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ—? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ।। १९½ ।।

इन्द्र उवाच

अहमिन्द्रो भविष्यामि तव वाक्यान्महाबल ।। २० ।।

यदि सत्यमिदं वाक्यं निश्चयाद् भाषितं त्वया ।

यदि वा शासनं स्कन्द कर्तुमिच्छसि मे शृणु ।। २१ ।।

अभिषिच्यस्व देवानां सैनापत्ये महाबल ।

इन्द्रने कहा—महाबलवान् स्कन्द! मैं तुम्हारे कहनेसे इन्द्र-पदपर प्रतिष्ठित रहूँगा। यदि वास्तवमें तुम मेरी आज्ञाका पालन करना चाहते हो, यदि तुमने यह निश्चित बात कही है, अथवा यदि तुम्हारा यह कथन सत्य है तो मेरी यह बात सुनो—महावीर! तुम देवताओंके सेनापतिके पदपर अपना अभिषेक करा लो ।। २०-२१½ ।।

स्कन्द उवाच

दानवानां विनाशाय देवानामर्थसिद्धये ।। २२ ।।

गोब्राह्मणहितार्थाय सैनापत्येऽभिषिञ्च माम् ।

स्कन्द बोले—देवराज! दानवोंके विनाश, देवताओंके कार्यकी सिद्धि तथा गौओं और ब्राह्मणोंके हितके लिये आप सेनापतिके पदपर मेरा अभिषेक कीजिये ।। २२½ ।।

मार्कण्डेय उवाच

सोऽभिषिक्तो मघवता सर्वैर्देवगणैः सह ।। २३ ।।

अतीव शुशुभे तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।

तत्र तत् काञ्चनं छत्रं ध्रियमाणं व्यरोचत ।। २४ ।।

यथैव सुसमिद्धस्य पावकस्यात्ममण्डलम् ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर समस्त देवताओंसहित इन्द्रने कुमारका देवसेनापतिके पदपर अभिषेक कर दिया। उस सयम वहाँ महर्षियोंद्वारा पूजित होकर स्कन्दकी बड़ी शोभा हुई। उनके ऊपर तना हुआ वह सुवर्णमय छत्र उद्भासित हो रहा था, मानो प्रज्वलित अग्निका अपना ही मण्डल प्रकाशित होता हो ।। २३-२४½ ।।

विश्वकर्मकृता चास्य दिव्या माला हिरण्मयी ।। २५ ।।

आबद्धा त्रिपुरघ्नेन स्वयमेव यशस्विना ।

आगम्य मनुजव्याघ्र सह देव्या परंतप ।। २६ ।।

नरश्रेष्ठ परंतप युधिष्ठिर! साक्षात् त्रिपुरनाशक यशस्वी भगवान् शिव तथा देवी पार्वतीने वहाँ पधारकर स्कन्दके गलेमें विश्वकर्माकी बनायी हुई सोनेकी दिव्य माला पहनायी ।। २५-२६ ।।

अर्चयामास सुप्रीतो भगवान् गोवृषध्वजः ।
रुद्रमग्निं द्विजाः प्राहू रुद्रसूनुस्ततस्तु सः ।। २७ ।।

भगवान् वृषध्वज (शिव)-ने अत्यन्त प्रसन्न होकर स्कन्दका समादर किया। ब्राह्मणलोग अग्निको रुद्रका स्वरूप बताते हैं, इसलिये स्कन्द भगवान् रुद्रके ही पुत्र हैं ।। २७ ।।

रुद्रेण शुक्रमुत्सृष्टं तच्छ्वेतः पर्वतोऽभवत् ।
पावकस्येन्द्रियं श्वेते कृत्तिकाभिः कृतं नगे ।। २८ ।।

रुद्रने जिस वीर्यका त्याग किया था, वही श्वेत पर्वतके रूपमें परिणत हो गया। फिर कृत्तिकाओंने अग्निके वीर्यको श्वेत पर्वतपर पहुँचाया था ।। २८ ।।

पूज्यमानं तु रुद्रेण दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
रुद्रसूनुं ततः प्राहुर्गुहं गुणवतां वरम् ।। २९ ।।

भगवान् रुद्रके द्वारा गुणवानोंमें श्रेष्ठ कुमार कार्तिकेयका सम्मान होता देख सब देवता कहने लगे, ये रुद्रके ही पुत्र हैं ।। २९ ।।

अनुप्रविश्य रुद्रेण वह्निं जातो ह्ययं शिशुः ।
तत्र जातस्ततः स्कन्दो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ।। ३० ।।

'रुद्रने अग्निमें प्रवेश करके इस शिशुको जन्म दिया है। रुद्रस्वरूप अग्निसे उत्पन्न होनेके कारण स्कन्द रुद्रके ही पुत्र कहलाये' ।। ३० ।।

रुद्रस्य वह्नेः स्वाहायाः षण्णां स्त्रीणां च भारत ।
जातः स्कन्दः सुरश्रेष्ठो रुद्रसूनुस्ततोऽभवत् ।। ३१ ।।

भारत! सुरश्रेष्ठ स्कन्दका जन्म रुद्रस्वरूप अग्निसे, स्वाहासे तथा छः स्त्रियोंसे हुआ था। इसलिये वे भगवान् रुद्रके पुत्र हुए ।। ३१ ।।

अरजे वाससी रक्ते वसानः पावकात्मजः ।
भाति दीप्तवपुः श्रीमान् रक्ताभ्राभ्यामिवांशुमान् ।। ३२ ।।

अग्निनन्दन स्कन्द लाल रंगके दो स्वच्छ वस्त्र धारण किये कान्तिमान् एवं तेजस्वी शरीरसे ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो दो लाल बादलोंके साथ भगवान् अंशुमाली (सूर्य) सुशोभित हो रहे हों ।। ३२ ।।

कुक्कुटश्चाग्निना दत्तस्तस्य केतुरलंकृतः ।
रथे समुच्छ्रितो भाति कालाग्निरिव लोहितः ।। ३३ ।।

अग्निदेवने स्कन्दके लिये कुक्कुटके चिह्नसे अलंकृत ऊँचा ध्वज प्रदान किया था, जो रथपर अपनी अरुण प्रभासे प्रलयाग्निके समान उद्भासित होता था ।। ३३ ।।

या चेष्टा सर्वभूतानां प्रभा शान्तिर्बलं तथा ।

अग्रतस्तस्य सा शक्तिर्देवानां जयवर्धिनी ।। ३४ ।।

सम्पूर्ण भूतोंमें जो चेष्टा, प्रभा, शान्ति और बल है, वही कुमार कार्तिकेयके सम्मुख शक्तिरूपमें उपस्थित है। वह देवताओंकी विजयश्रीको बढ़ानेवाली है ।। ३४ ।।

विवेश कवचं चास्य शरीरे सहजं तथा ।
युध्यमानस्य देवस्य प्रादुर्भवति तत् सदा ।। ३५ ।।

तथा उन स्कन्ददेवके शरीरमें सहज (स्वाभाविक) कवचका प्रवेश हो गया, जो सदा उनके युद्ध करते समय प्रकट होता था ।। ३५ ।।

शक्तिर्धर्मो बलं तेजः कान्तत्वं सत्यमुन्नतिः ।
ब्रह्मण्यत्वमसम्मोहो भक्तानां परिरक्षणम् ।। ३६ ।।
निकृन्तनं च शत्रूणां लोकानां चाभिरक्षणम् ।
स्कन्देन सह जातानि सर्वाण्येव जनाधिप ।। ३७ ।।

राजन्! शक्ति, धर्म, बल, तेज, कान्ति, सत्य, उन्नति, ब्राह्मणभक्ति, असम्मोह (विवेक), भक्तजनोंकी रक्षा, सुनका संहार और समस्त लोकोंका पालन—ये सारे गुण स्कन्दके साथ ही उत्पन्न हुए थे ।। ३६-३७ ।।

एवं देवगणैः सर्वैः सोऽभिषिक्तः स्वलंकृतः ।
बभौ प्रतीतः सुमनाः परिपूर्णेन्दुमण्डलः ।। ३८ ।।

इस प्रकार समस्त देवताओंद्वारा सेनापतिके पदपर अभिषिक्त होकर विविध आभूषणोंसे विभूषित, विशुद्ध एवं प्रसन्न हृदयवाले स्कन्द पूर्ण चन्द्रमण्डलके समान सुशोभित हुए ।। ३८ ।।

इष्टैः स्वाध्यायघोषैश्च देवतूर्यवरैरपि ।
देवगन्धर्वगीतैश्च सर्वैरप्सरसां गणैः ।। ३९ ।।
एतैश्चान्यैश्च बहुभिस्तुष्टैर्हृष्टैः स्वलंकृतैः ।
सुसंवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा ।। ४० ।।

उस समय अत्यन्त प्रिय लगनेवाले वेदमन्त्रोंकी ध्वनि सब ओर गूँज उठी, देवताओंके उत्तम वाद्य भी बजने लगे, देव और गन्धर्व गीत गाने लगे और समस्त अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। ये तथा और भी बहुत-से देवगण एवं पिशाचसमूह विविध अलंकारोंसे अलंकृत, हर्षोत्फुल्ल और संतुष्ट हो स्कन्दको घेरकर खड़े थे ।। ३९-४० ।।

क्रीडन् भाति तदा देवैरभिषिक्तश्च पावकिः ।
अभिषिक्तं महासेनमपश्यन्त दिवौकसः ।। ४१ ।।
विनिहत्य तमः सूर्यं यथेहाभ्युदितं तथा ।

उस समय इन सबसे घिरे हुए अग्निनन्दन कार्तिकेय देवताओंद्वारा अभिषिक्त हो भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे। देवताओंने सेनापति पदपर अभिषिक्त हुए कुमार महासेनको इस प्रकार देखा, मानो सूर्यदेव अन्धकारका नाश करके उदित हुए हों ।। ४१½ ।।

अथैनमभ्ययुः सर्वा देवसेनाः सहस्रशः ।। ४२ ।।

अस्माकं त्वं पतिरिति ब्रुवाणाः सर्वतो दिशः ।

तदनन्तर सारी देवसेनाएँ सहस्रोंकी संख्यामें सब दिशाओंसे उनके पास आयीं और कहने लगीं—'आप ही हमारे पति हैं' ।। ४२½ ।।

ताः समासाद्य भगवान् सर्वभूतगणैर्वृतः ।। ४३ ।।

अर्चितस्तु स्तुतश्चैव सान्त्वयामास ता अपि ।

समस्त भूतगणोंसे घिरे हुए भगवान् स्कन्दने उन देवसेनाओंको अपने समीप पाकर उन्हें सान्त्वना दी और स्वयं भी उनके द्वारा पूजित तथा प्रशंसित हुए ।। ४३½ ।।

शतक्रतुश्चाभिषिच्य स्कन्दं सेनापतिं तदा ।। ४४ ।।

सस्मार तां देवसेनां या सा तेन विमोक्षिता ।

उस समय इन्द्रने स्कन्दको सेनापति पदपर अभिषिक्त करनेके पश्चात् उस कुमारी देवसेनाका स्मरण किया, जिसका उन्होंने केशीके हाथसे उद्धार किया था ।। ४४½ ।।

अयं तस्याः पतिर्नूनं विहितो ब्रह्मणा स्वयम् ।। ४५ ।।

विचिन्त्येत्यानयामास देवसेनां ह्यलंकृताम् ।

उन्होंने सोचा, स्वयं ब्रह्माजीने निश्चय ही कुमार कार्तिकेयको ही उसका पति नियत किया है। यह सोचकर वे देवसेनाको वस्त्राभूषणोंसे भूषित करके ले आये ।।

स्कन्दं प्रोवाच बलभिदियं कन्या सुरोत्तम ।। ४६ ।।

अजाते त्वयि निर्दिष्टा तव पत्नी स्वयम्भुवा ।

तस्मात् त्वमस्या विधिवत् पाणिं मन्त्रपुरस्कृतम् ।। ४७ ।।

गृहाण दक्षिणं देव्याः पाणिना पद्मवर्चसा ।

एवमुक्तः स जग्राह तस्याः पाणिं यथाविधि ।। ४८ ।।

फिर बलसंहारक इन्द्रने स्कन्दसे कहा—'सुरश्रेष्ठ! तुम्हारे जन्म लेनेके पहलेसे ही ब्रह्माजीने इस कन्याको तुम्हारी पत्नी नियत की है, अतः तुम वेदमन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक इसका विधिवत् पाणिग्रहण करो। अपने कमलकी-सी कान्तिवाले हाथसे इस देवीका दायाँ हाथ पकड़ो। 'इन्द्रके ऐसा कहनेपर स्कन्दने विधिपूर्वक देवसेनाका पाणिग्रहण किया ।। ४६—४८ ।।

बृहस्पतिर्मन्त्रविद्धि जजाप च जुहाव च ।
एवं स्कन्दस्य महिषीं देवसेनां विदुर्जनाः ।। ४९ ।।

उस समय मन्त्रवेत्ता बृहस्पतिजीने वेदमन्त्रोंका जप और होम किया। इस प्रकार सब लोग यह जान गये कि देवसेना कुमार कार्तिकेयकी पटरानी है ।। ४९ ।।

षष्ठीं यां ब्राह्मणाः प्राहुर्लक्ष्मीमाशां सुखप्रदाम् ।
सिनीवालीं कुहूं चैव सद्वृत्तिमपराजिताम् ।। ५० ।।

उसीको ब्राह्मणलोग षष्ठी, लक्ष्मी, आशा, सुखप्रदा, सिनीवाली, कुहू, सद्वृत्ति तथा अपराजिता कहते हैं ।।

यदा स्कन्दः पतिर्लब्धः शाश्वतो देवसेनया ।
तदा तमाश्रयल्लक्ष्मीः स्वयं देवी शरीरिणी ।। ५१ ।।

जब देवसेनाने स्कन्दको अपने सनातन पतिके रूपमें प्राप्त कर लिया, तब (शोभास्वरूपा) लक्ष्मीदेवीने स्वयं मूर्तिमती होकर उनका आश्रय लिया ।। ५१ ।।

श्रीजुष्टः पञ्चमीं स्कन्दस्तस्माच्छ्रीपञ्चमी स्मृता ।
षष्ठ्यां कृतार्थोऽभूद् यस्मात् तस्मात् षष्ठी महातिथिः ।। ५२ ।।

पंचमी तिथिको स्कन्ददेव श्री अर्थात् शोभासे सेवित हुए, इसलिये उस तिथिको श्रीपञ्चमी कहते हैं और षष्ठीको कृतार्थ हुए थे, इसलिये षष्ठी महातिथि मानी गयी ।। ५२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे स्कन्दोपाख्याने एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २२९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आंगिरसोपाख्यानके प्रसंगमें स्कन्दोपाख्यानसम्बन्धी दो सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२९ ।।

त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कृत्तिकाओंको नक्षत्रमण्डलमें स्थानकी प्राप्ति तथा मनुष्योंको कष्ट देनेवाले विविध ग्रहोंका वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

श्रिया जुष्टं महासेनं देवसेनापतिं कृतम् ।
सप्तर्षिपत्न्यः षड् देव्यस्तत्सकाशमथागमन् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! कुमार महासेनको श्रीसम्पन्न और देवताओंका सेनापति हुआ देख सप्तर्षियोंमेंसे छःकी पत्नियाँ उनके पास आयीं ।। १ ।।

ऋषिभिः सम्परित्यक्ता धर्मयुक्ता महाव्रताः ।
द्रुतमागम्य चोचुस्ता देवसेनापतिं प्रभुम् ।। २ ।।

वे धर्मपरायणा तथा महान् पातिव्रत्यका पालन करनेवाली थीं, तो भी ऋषियोंने उन्हें त्याग दिया था। अतः उन्होंने देवसेनाके स्वामी भगवान् स्कन्दके पास शीघ्रतापूर्वक आकर कहा— ।। २ ।।

वयं पुत्र परित्यक्ता भर्तृभिर्देवसम्मितैः ।
अकारणाद् रुषा तैस्तु पुण्यस्थानात् परिच्युताः ।। ३ ।।

'बेटा! हमारे देवतुल्य पतियोंने अकारण रुष्ट होकर हमें त्याग दिया है, इसलिये (हम) पुण्यलोकसे च्युत हो गयी हैं ।। ३ ।।

अस्माभिः किल जातस्त्वमिति केनाप्युदाहृतम् ।
तत् सत्यमेतत् संश्रुत्य तस्मान्नस्त्रातुमर्हसि ।। ४ ।।

'उन्हें किसीने यह बता दिया है कि तुम हमारे गर्भसे उत्पन्न हुए हो, (परंतु ऐसी बात नहीं है।) अतः हमारे सत्य कथनको सुनकर तुम इस संकटसे हमारी रक्षा करो ।। ४ ।।

अक्षयश्च भेवत् स्वर्गस्त्वत्प्रसादाद्धि नः प्रभो ।
त्वां पुत्रं चाप्यभीप्सामः कृत्वैतदनृणो भव ।। ५ ।।

'प्रभो! तुम्हारी कृपासे हमें अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है। इसके सिवा हम तुम्हें अपना पुत्र भी बनाये रखना चाहती हैं। यह सब कार्य सम्पन्न करके तुम हमसे उऋण हो जाओ' ।। ५ ।।

स्कन्द उवाच

मातरो हि भवत्यो मे सुतो वोऽहमनिन्दिताः ।
यद्वापीच्छत तत् सर्वं सम्भविष्यति वस्तथा ।। ६ ।।

स्कन्द बोले—वन्दनीय सतियो! आपलोग मेरी माताएँ हैं और मैं आप सबका पुत्र हूँ। इसके सिवा यदि आप लोगोंकी और कोई इच्छा हो तो वह भी पूर्ण हो जायगी ।। ६ ।।

मार्कण्डेय उवाच

विवक्षन्तं ततः शक्रं किं कार्यमिति सोऽब्रवीत् ।
उक्तः स्कन्देन ब्रूहीति सोऽब्रवीद् वासवस्ततः ।। ७ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर इन्द्रको कुछ कहनेके लिये उत्सुक देख स्कन्दने पूछा—'क्या काम है, कहिये।' स्कन्दके इस प्रकार आदेश देनेपर इन्द्र बोले — ।। ७ ।।

अभिजित् स्पर्धमाना तु रोहिण्या अनुजा स्वसा ।
इच्छन्ती ज्येष्ठतां देवी तपस्तप्तुं वनं गता ।। ८ ।।

'रोहिणीकी छोटी बहिन अभिजित् देवी स्पर्धाके कारण ज्येष्ठता पानेकी इच्छासे तपस्या करनेके लिये वनमें चली गयी है ।। ८ ।।

तत्र मूढोऽस्मि भद्रं ते नक्षत्रं गगनाच्च्युतम् ।
कालं त्विमं परं स्कन्द ब्रह्मणा सह चिन्तय ।। ९ ।।

'तुम्हारा कल्याण हो, आकाशसे यह एक नक्षत्र च्युत हो गया है; (इसकी पूर्ति कैसे हो?) इस प्रश्नको लेकर मैं किंकर्तव्यविमूढ हो गया हूँ। स्कन्द! तुम ब्रह्माजीके साथ मिलकर

इस उत्तम काल (मुहूर्त या नक्षत्र) की पूर्तिके उपायका विचार करो ।। ९ ।।

धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिकल्पितः ।
रोहिणी ह्यभवत् पूर्वमेवं संख्या समाभवत् ।। १० ।।

'अभिजित्‌का पतन होनेसे ब्रह्माजीने धनिष्ठासे ही (सत्ययुग आदि) कालकी गणनाका क्रम निश्चित किया (क्योंकि वही उस समय युगादि नक्षत्र था)। इसके पूर्व रोहिणीको ही युगादि नक्षत्र माना जाता था (क्योंकि उसीके प्रारम्भकालमें चन्द्रमा, सूर्य तथा गुरुका योग होता था)—इस प्रकार नाक्षत्र मासकी दिन-संख्या उन दिनों सम थी' ।। १० ।।

एवमुक्ते तु शक्रेण त्रिदिवं कृत्तिका गताः ।
नक्षत्रं सप्तशीर्षाभं भाति तद् वह्निदैवतम् ।। ११ ।।

इन्द्रके उपर्युक्त प्रस्ताव करनेपर उनका आशय समझकर छहों कृत्तिकाएँ अभिजित्‌के स्थानकी पूर्ति करनेके लिये आकाशमें चली गयीं। वह अग्निदेवता-सम्बन्धी कृत्तिका नक्षत्र सात सिरोंकी आकृतिमें प्रकाशित हो रहा है ।। ११ ।।

विनता चाब्रवीत् स्कन्दं मम त्वं पिण्डदः सुतः ।
इच्छामि नित्यमेवाहं त्वया पुत्र सहासितुम् ।। १२ ।।

गरुड़जातीय विनताने स्कन्दसे कहा—'बेटा! तुम मेरे पिण्डदाता पुत्र हो। मैं सदा तुम्हारे साथ रहना चाहती हूँ' ।। १२ ।।

स्कन्द उवाच

एवमस्तु नमस्तेऽस्तु पुत्रस्नेहात् प्रशाधि माम् ।
स्नुषया पूज्यमाना वै देवि वत्स्यसि नित्यदा ।। १३ ।।

स्कन्दने कहा—एवमस्तु (ऐसा ही हो), मा! तुम्हें नमस्कार है। तुम मेरे ऊपर पुत्रोचित स्नेह रखकर कर्तव्यका आदेश देती रहो। देवि! तुम यहाँ सदा अपनी पुत्रवधू देवसेनाद्वारा सम्मानित होकर रहोगी ।। १३ ।।

मार्कण्डेय उवाच

अथ मातृगणः सर्वः स्कन्दं वचनमब्रवीत् ।
वयं सर्वस्य लोकस्य मातरः कविभिः स्तुताः ।
इच्छामो मातरस्तुभ्यं भवितुं पूजयस्व नः ।। १४ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर समस्त मातृगणोंने आकर स्कन्दसे कहा —'बेटा! विद्वानोंने हमें सम्पूर्ण लोकोंकी माताएँ कहकर हमारी स्तुति की है। अब हम तुम्हारी माता होना चाहती हैं। तुम मातृभावसे हमारा पूजन करो' ।। १४ ।।

स्कन्द उवाच

मातरो हि भवत्यो मे भवतीनामहं सुतः ।

उच्यतां यन्मया कार्यं भवतीनामथेप्सितम् ।। १५ ।।

स्कन्दने कहा—आप मेरी माताएँ हैं। मैं आपलोगोंका पुत्र हूँ। मुझसे सिद्ध होनेयोग्य जो आपका अभीष्ट कार्य हो, उसे बताइये ।। १५ ।।

मातर ऊचुः

यास्तु ता मातरः पूर्वं लोकस्यास्य प्रकल्पिताः ।
अस्माकं तु भवेत् स्थानं तासां चैव न तद् भवेत् ।। १६ ।।

माताओंने कहा—(ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि) सुप्रसिद्ध लोकमाताएँ जो पहलेसे इस सम्पूर्ण जगत्की माताओंके स्थानपर प्रतिष्ठित हों, (वे अपना पद छोड़ दें।) उनके उस स्थानपर अब हमारा अधिकार हो जाय। उनका उसपर कोई अधिकार न रहे ।। १६ ।।

भवेम पूज्या लोकस्य न ताः पूज्याः सुरर्षभ ।
प्रजाऽस्माकं हृतास्ताभिस्त्वत्कृते ताः प्रयच्छ नः ।। १७ ।।

सुरश्रेष्ठ! हम सम्पूर्ण जगत्की पूजनीया हों। जो पहले मातृकाएँ थीं, उनकी अब पूजा न हो। उन्होंने तुम्हारे लिये हमपर मिथ्या अपवाद लगाकर हमारे पतियोंको कुपित करके हमारे संतानसुखको छीन लिया है। अतः तुम हमें संतान प्रदान करो (हमारे पतियोंको अनुकूल करके हमें संतान-सुखकी प्राप्ति कराओ) ।। १७ ।।

स्कन्द उवाच

वृत्ताः प्रजा न ताः शक्या भवतीभिर्निषेवितुम् ।
अन्यां वः कां प्रयच्छामि प्रजां यां मनसेच्छथ ।। १८ ।।

स्कन्द बोले—माताओ! जिन प्रजाओंकी उत्पत्तिका अवसर बीत गया, उन्हें आपलोग अब नहीं पा सकतीं। यदि दूसरी कोई प्रजा पानेकी आपके मनमें इच्छा हो तो कहिये, मैं उसे प्रदान करूँगा ।। १८ ।।

मातर ऊचुः

इच्छाम तासां मातॄणां प्रजा भोक्तुं प्रयच्छ नः ।
त्वया सह पृथग्भूता ये च तासामथेश्वराः ।। १९ ।।

माताओंने कहा—यदि ऐसी बात है, तो हमें इन लोकमाताओंकी संतानें सौंप दो। हम उन्हें खाना चाहती हैं। तुमसे पृथक् जो उन संतानोंके पिता आदि अभिभावक हैं, उन्हें भी हम खाना चाहती हैं ।। १९ ।।

स्कन्द उवाच

प्रजा वो दद्मि कष्टं तु भवतीभिरुदाहृतम् ।
परिरक्षत भद्रं वः प्रजाः साधु नमस्कृताः ।। २० ।।

स्कन्द बोले—देवियो! आपलोगोंने यह दुःखकी बात कही है, तो भी मैं आपको पहलेकी मातृकाओंकी संतानको अर्पित कर देता हूँ; परंतु आपलोग उन सबकी रक्षा करें; इसीसे आपका भला होगा। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ ।। २० ।।

मातर ऊचुः

परिरक्षाम भद्रं ते प्रजाः स्कन्द यथेच्छसि ।
त्वया नो रोचते स्कन्द सहवासश्चिरं प्रभो ।। २१ ।।

माताओंने कहा—स्कन्द! जैसी तुम्हारी इच्छा है, उसके अनुसार हम उन संतानोंकी रक्षा अवश्य करेंगी। शक्तिशाली कुमार! हमें दीर्घकालतक तुम्हारे साथ रहनेकी इच्छा है ।। २१ ।।

स्कन्द उवाच

यावत् षोडश वर्षाणि भवन्ति तरुणाः प्रजाः ।
प्रबाधत मनुष्याणां तावद्रूपैः पृथग्विधैः ।। २२ ।।

स्कन्द बोले—संसारके मनुष्य जबतक सोलह वर्षके तरुण न हो जायँ, तबतक आप मानव-प्रजाको पृथक्-पृथक् उतने ही रूप धारण करके संताप दे सकती हैं ।। २२ ।।

अहं च वः प्रदास्यामि रौद्रमात्मानमव्ययम् ।
परमं तेन सहिताः सुखं वत्स्यथ पूजिताः ।। २३ ।।

मैं आपलोगोंको एक भयंकर एवं अविनाशी पुरुष प्रदान करूँगा, जो मेरा अभिन्न स्वरूप होगा। उसके साथ सम्मानपूर्वक रहकर आपलोग परम सुखकी भागिनी होंगी ।। २३ ।।

मार्कण्डेय उवाच

ततः शरीरात् स्कन्दस्य पुरुषः पावकप्रभः ।
भोक्तुं प्रजाः स मर्त्यानां निष्पपात महाप्रभः ।। २४ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर स्कन्दके शरीरसे अग्निके समान तेजस्वी तथा परम कान्तिमान् एक पुरुष प्रकट हुआ, जो समस्त मानव-प्रजाको खा जानेकी इच्छा रखता था ।। २४ ।।

अपतत् सहसा भूमौ विसंज्ञोऽथ क्षुधार्दितः ।
स्कन्देन सोऽभ्यनुज्ञातो रौद्ररूपोऽभवद् ग्रहः ।। २५ ।।

वह पैदा होते ही भूखसे पीडित हो सहसा अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। फिर स्कन्दकी आज्ञासे वह भयंकर रूपधारी ग्रह हो गया ।। २५ ।।

स्कन्दापस्मारमित्याहुर्ग्रहं तं द्विजसत्तमाः ।
विनता तु महारौद्रा कथ्यते शकुनिग्रहः ।। २६ ।।

श्रेष्ठ द्विज! इस ग्रहको 'स्कन्दापस्मार' कहते हैं। इसी प्रकार अत्यन्त रौद्र रूप धारण करनेवाली विनताको 'शकुनि ग्रह' बताया जाता है ।। २६ ।।

पूतनां राक्षसीं प्राहुस्तं विद्यात् पूतनाग्रहम् ।
कष्टा दारुणरूपेण घोररूपा निशाचरी ।। २७ ।।

पूतनाको राक्षसी बताया गया है, उसे 'पूतनाग्रह' समझना चाहिये। वह भयंकर रूप धारण करनेवाली निशाचरी बड़ी क्रूरताके साथ बालकोंको कष्ट पहुँचाती है ।। २७ ।।

पिशाची दारुणाकारा कथ्यते शीतपूतना ।
गर्भान् सा मानुषीणां तु हरते घोरदर्शना ।। २८ ।।

इसके सिवा भयानक आकारवाली एक पिशाची है, जिसे 'शीतपूतना' कहते हैं, वह देखनेमें बड़ी डरावनी है। वह मानवी स्त्रियोंका गर्भ हर ले जाती है ।। २८ ।।

अदितिं रेवतीं प्राहुर्ग्रहस्तस्यास्तु रैवतः ।
सोऽपि बालान् महाघोरो बाधते वै महाग्रहः ।। २९ ।।

लोग अदिति देवीको रेवती कहते हैं। रेवतीके ग्रहका नाम रैवत है। वह महाभयंकर महान् ग्रह भी बालकोंको बड़ा कष्ट देता है ।। २९ ।।

दैत्यानां या दितिर्माता तामाहुर्मुखमण्डिकाम् ।
अत्यर्थं शिशुमांसेन सम्प्रहृष्टा दुरासदा ।। ३० ।।

दैत्योंकी माता जो दिति है, उसे 'मुखमण्डिका' कहते हैं। वह छोटे बच्चोंके मांससे अधिक प्रसन्न होती है। उसे पराजित करना अत्यन्त कठिन है ।। ३० ।।

कुमाराश्च कुमार्यश्च ये प्रोक्ताः स्कन्दसम्भवाः ।
तेऽपि गर्भभुजः सर्वे कौरव्य सुमहाग्रहाः ।। ३१ ।।

कुरुनन्दन! स्कन्दके शरीरसे उत्पन्न हुए जिन कुमार एवं कुमारियोंका वर्णन किया गया है, वे सभी गर्भस्थ बालकोंका भक्षण करनेवाले महान् ग्रह हैं ।। ३१ ।।

तासामेव तु पत्नीनां पतयस्ते प्रकीर्तिताः ।
आजायमानान् गृह्णन्ति बालकान् रौद्रकर्मिणः ।। ३२ ।।

वे कुमार उन्हीं पत्नीस्वरूपा कुमारियोंके पति कहे गये हैं। उनके कर्म बड़े भयंकर हैं। वे जन्म लेनेके पहले ही बच्चोंको पकड़ ले जाते हैं ।। ३२ ।।

गवां माता तु या प्राज्ञैः कथ्यते सुरभिर्नृप ।
शकुनिस्तामथारुह्य सह भुङ्क्ते शिशून् भुवि ।। ३३ ।।

राजन्! विद्वान् पुरुष जिसे गोमाता सुरभि कहते हैं, उसीपर आरूढ़ होकर शकुनिग्रह—विनता अन्य ग्रहोंके साथ भूमण्डलके बालकोंका भक्षण करती है ।। ३३ ।।

सरमा नाम या माता शुनां देवी जनाधिप ।
सापि गर्भान् समादत्ते मानुषीणां सदैव हि ।। ३४ ।।

नरेश्वर! कुत्तोंकी माता जो देवजातीय सरमा है, वह भी सदैव मानवीय स्त्रियोंके गर्भस्थ बालकोंका अपहरण करती रहती है ।। ३४ ।।

पादपानां च या माता करञ्जनिलया हि सा ।
वरदा सा हि सौम्या च नित्यं भूतानुकम्पिनी ।। ३५ ।।

जो वृक्षोंकी माता है, वह करंजवृक्षपर निवास किया करती है। वह वर देनेवाली तथा सौम्य है और सदा समस्त प्राणियोंपर कृपा करती है ।। ३५ ।।

करञ्जे तां नमस्यन्ति तस्मात् पुत्रार्थिनो नराः ।
इमे त्वष्टादशान्ये वै ग्रहा मांसमधुप्रियाः ।। ३६ ।।
द्विपञ्चरात्रं तिष्ठन्ति सततं सूतिकागृहे ।
कद्रूः सूक्ष्मवपुर्भूत्वा गर्भिणीं प्रविशत्यथ ।। ३७ ।।
भुङ्क्ते सा तत्र तं गर्भं सा तु नागं प्रसूयते ।

इसीलिये पुत्रार्थी मनुष्य करंजवृक्षपर रहनेवाली उस देवीको नमस्कार करते हैं। ये तथा दूसरे अठारह ग्रह मांस और मधुके प्रेमी हैं और दस राततक सूतिका-गृहमें निरन्तर टिके रहते हैं। कद्रू सूक्ष्म शरीर धारण करके गर्भिणी स्त्रीके शरीरके भीतर प्रवेश कर जाती है और वहाँ उस गर्भको खा जाती है। इससे वह गर्भिणी स्त्री सर्प पैदा करती है ।। ३६-३७½ ।।

गन्धर्वाणां तु या माता सा गर्भं गृह्य गच्छति ।। ३८ ।।
ततो विलीनगर्भा सा मानुषी भुवि दृश्यते ।

जो गन्धर्वोंकी माता है, वह गर्भिणी स्त्रीके गर्भको लेकर चल देती है, जिससे उस मानवी स्त्रीका गर्भ विलीन हुआ देखा जाता है ।। ३८½ ।।

या जनित्री त्वप्सरसां गर्भमास्ते प्रगृह्य सा ।। ३९ ।।
उपनष्टं ततो गर्भं कथयन्ति मनीषिणः ।

जो अप्सराओंकी माता है, वह भी गर्भको पकड़ लेती है, जिससे बुद्धिमान् मनुष्य कहते हैं कि अमुक स्त्रीका गर्भ नष्ट हो गया ।। ३९½ ।।

लोहितस्योदधेः कन्या धात्री स्कन्दस्य सा स्मृता ।। ४० ।।
लोहितायनिरित्येवं कदम्बे सा हि पूज्यते ।

लालसागरकी कन्याका नाम लोहितायनि है, जिसे स्कन्दकी धाय बताया गया है। उसकी कदम्बवृक्षोंमें पूजा की जाती है ।। ४०½ ।।

पुरुषेषु यथा रुद्रस्तथाऽऽर्या प्रमदास्वपि ।। ४१ ।।
आर्या माता कुमारस्य पृथक् कामार्थमिज्यते ।
एवमेते कुमाराणां मया प्रोक्ता महाग्रहाः ।। ४२ ।।
यावत् षोडश वर्षाणि शिशूनां ह्यशिवास्ततः ।

जैसे पुरुषोंमें भगवान् रुद्र श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार स्त्रियोंमें आर्या उत्तम मानी गयी हैं। आर्या कुमार कार्तिकेयकी जननी हैं। लोग अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिये उनका उपर्युक्त ग्रहोंसे पृथक् पूजन करते हैं। इस प्रकार मैंने ये कुमारसम्बन्धी महान् ग्रह बताये हैं। जबतक सोलह वर्षकी अवस्था न हो जाय, तबतक ये बालकोंका अमंगल करनेवाले होते हैं ।। ४१-४२½ ।।

ये च मातृगणाः प्रोक्ताः पुरुषाश्चैव ये ग्रहाः ।। ४३ ।।
सर्वे स्कन्दग्रहा नाम ज्ञेया नित्यं शरीरिभिः ।

जो मातृगण और पुरुषग्रह बताये गये हैं, इन सबको समस्त देहधारी मनुष्य सदा 'स्कन्दग्रह' के नामसे जाने* ।। ४३½ ।।

तेषां प्रशमनं कार्यं स्नानं धूपमथाञ्जनम् ।
बलिकर्मोपहाराश्च स्कन्दस्येज्याविशेषतः ।। ४४ ।।

स्नान, धूप, अञ्जन, बलिकर्म, उपहार अर्पण तथा स्कन्ददेवकी विशेष पूजा करके इन स्कन्दग्रहोंकी शान्ति करनी चाहिये ।। ४४ ।।

एवमभ्यर्चिताः सर्वे प्रयच्छन्ति शुभं नृणाम् ।
आयुर्वीर्यं च राजेन्द्र सम्यक्पूजानमस्कृताः ।। ४५ ।।

राजेन्द्र! इस प्रकार पूजित तथा विधिवत् पूजनद्वारा अभिवन्दित होनेपर वे सभी ग्रह मनुष्योंका मंगल करते हैं और उन्हें आयु तथा बल देते हैं ।। ४५ ।।

ऊर्ध्वं तु षोडशाद् वर्षाद् ये भवन्ति ग्रहा नृणाम् ।
तानहं सम्प्रवक्ष्यामि नमस्कृत्य महेश्वरम् ।। ४६ ।।

अब मैं भगवान् महेश्वरको नमस्कार करके उन ग्रहोंका परिचय दूँगा, जो सोलह वर्षकी अवस्थाके बाद मनुष्योंके लिये अनिष्टकारक होते हैं ।। ४६ ।।

यः पश्यति नरो देवान् जाग्रद् वा शयितोऽपि वा ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं तं तु देवग्रहं विदुः ।। ४७ ।।

जो मनुष्य जागते या सोतेमें देवताओंको देखता और तुरंत पागल हो जाता है, उस कष्ट देनेवाले ग्रहको 'देवग्रह' कहते हैं ।। ४७ ।।

आसीनश्च शयानश्च यः पश्यति नरः पितृन् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयस्तु पितृग्रहः ।। ४८ ।।

जो मनुष्य बैठे-बैठे या सोते समय पितरोंको देखता और शीघ्र पागल हो जाता है, उस बाधा देनेवाले ग्रहको 'पितृग्रह' जानना चाहिये ।। ४८ ।।

अवमन्यति यः सिद्धान् क्रुद्धाश्चापि शपन्ति यम् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ज्ञेयः सिद्धग्रहस्तु सः ।। ४९ ।।

जो सिद्ध पुरुषोंका अनादर करता है और क्रोधमें आकर वे सिद्ध पुरुष जिसे शाप दे देते हैं, जिसके कारण वह तुरंत पागल हो जाता है, उसे 'सिद्धग्रह' की बाधा प्राप्त हुई है, ऐसा समझना चाहिये ।। ४९ ।।

उपाघ्राति च यो गन्धान् रसांश्चापि पृथग्विधान् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं स ज्ञेयो राक्षसो ग्रहः ।। ५० ।।

जो विभिन्न सुगन्धोंको सूँघता तथा रसोंका आस्वादन करता है एवं तत्काल ही उन्मत्त हो उठता है, उसपर प्रभाव डालनेवाले ग्रहको 'राक्षसग्रह' जानना चाहिये ।।

गन्धर्वाश्चापि यं दिव्याः संविशन्ति नरं भुवि ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ग्रहो गान्धर्व एव सः ।। ५१ ।।

भूतलपर जिस मनुष्यमें दिव्य गन्धर्वोंका आवेश होता है, वह भी शीघ्र ही उन्मादग्रस्त हो जाता है। इसे 'गान्धर्वग्रह' की ही बाधा समझनी चाहिये ।। ५१ ।।

अधिरोहन्ति यं नित्यं पिशाचाः पुरुषं प्रति ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ग्रहः पैशाच एव सः ।। ५२ ।।

जिस पुरुषपर सदा पिशाच चढ़े रहते हैं, वह भी शीघ्र पागल हो जाता है। अतः वह 'पिशाचग्रह' की ही बाधा है ।। ५२ ।।

आविशन्ति च यं यक्षाः पुरुषं कालपर्यये ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं ज्ञेयो यक्षग्रहस्तु सः ।। ५३ ।।

कालक्रमसे जिस पुरुषमें यक्षोंका आवेश होता है, उसे भी पागल होते देर नहीं लगती। इसे 'यक्षग्रह' की बाधा जाननी चाहिये ।। ५३ ।।

यस्य दोषैः प्रकुपितं चित्तं मुह्यति देहिनः ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं साधनं तस्य शास्त्रतः ।। ५४ ।।

जिस देहधारी मनुष्यका चित्त वात, पित्त और कफ नामक दोषोंके कुपित होनेसे अपनी संज्ञा खो बैठता है, वह शीघ्र ही विक्षिप्त हो जाता है। उसकी वैद्यक शास्त्रके अनुसार चिकित्सा करानी चाहिये ।। ५४ ।।

वैक्लव्याच्च भयाच्चैव घोराणां चापि दर्शनात् ।
उन्माद्यति स तु क्षिप्रं सान्त्वं तस्य तु साधनम् ।। ५५ ।।

जो घबराहट, भय तथा घोर वस्तुओंके दर्शनसे ही तत्काल पागल हो जाता है, उनके अच्छे होनेका उपाय केवल उसे सान्त्वना देना है ।। ५५ ।।

कश्चित् क्रीडितुकामो वै भोक्तुकामस्तथापरः ।
अभिकामस्तथैवान्य इत्येष त्रिविधो ग्रहः ।। ५६ ।।

कोई ग्रह क्रीडा-विनोदकी, कोई भोजनकी और कोई कामोपभोगकी इच्छा रखता है, इस प्रकार ग्रहोंकी प्रकृति तीन प्रकारकी है ।। ५६ ।।

यावत् सप्ततिवर्षाणि भवन्त्येते ग्रहा नृणाम् ।

अतः परं देहिनां तु ग्रहतुल्यो भवेज्ज्वरः ।। ५७ ।।

जबतक सत्तर वर्षकी अवस्था पूरी होती है, तबतक ये ग्रह मनुष्योंको सताते हैं। उसके बाद तो सभी देहधारियोंको ज्वर आदि रोग ही ग्रहोंके समान सताने लगते हैं ।। ५७ ।।

अप्रकीर्णेन्द्रियं दान्तं शुचिं नित्यमतन्द्रितम् ।

आस्तिकं श्रद्दधानं च वर्जयन्ति सदा ग्रहाः ।। ५८ ।।

जिसने अपनी इन्द्रियोंको सब ओरसे समेट लिया है, जो जितेन्द्रिय, पवित्र, नित्य आलस्यरहित, आस्तिक तथा श्रद्धालु है, उस पुरुषको ग्रह कभी नहीं छेड़ते हैं—उसे दूरसे ही त्याग देते हैं ।। ५८ ।।

इत्येष ते ग्रहोद्देशो मानुषाणां प्रकीर्तितः ।

न स्पृशन्ति ग्रहा भक्तान् नरान् देवं महेश्वरम् ।। ५९ ।।

राजन्! इस प्रकार मैंने मनुष्योंको जो ग्रहोंकी बाधा प्राप्त होती है, उसका संक्षेपसे वर्णन किया है। जो भगवान् महेश्वरके भक्त हैं, उन मनुष्योंको भी ये ग्रह नहीं छूते हैं ।। ५९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे मनुष्यग्रहकथने त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २३० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आंगिरसोपाख्यानके प्रसंगमें मनुष्योंको कष्ट देनेवाले ग्रहोंके वर्णनसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३० ।।

---

* मनुष्योंको कष्ट देनेवाले ये तामस स्कन्दग्रह भगवान् रुद्रके भूत-प्रेतादि गणोंकी भाँति कुमार स्कन्दके शरीरसे उत्पन्न तमोमय कुमारके साथी माने जाते हैं। इन ग्रहोंसे रक्षा पानेके लिये भगवान् महेश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। भय दिखाकर भी भगवान्की भक्ति करानेमें हेतुभूत होनेके कारण इन ग्रहोंका वर्णन यहाँ किया गया है। भगवान्के भक्तोंको ये ग्रह छू भी नहीं सकते। तमोगुणी प्रजापर ही सब तामस ग्रहोंका बल काम करता है। और वही इनकी पूजा-अर्चना किया करते हैं।

एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्कन्दद्वारा स्वाहादेवीका सत्कार, रुद्रदेवके साथ स्कन्द और देवताओंकी भद्रवट-यात्रा, देवासुर-संग्राम, महिषासुर-वध तथा स्कन्दकी प्रशंसा

मार्कण्डेय उवाच

यदा स्कन्देन मातॄणामेवमेतत् प्रियं कृतम् ।
अथैनमब्रवीत् स्वाहा मम पुत्रस्त्वमौरसः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जब स्कन्दने इस प्रकार मातृगणोंका यह प्रिय मनोरथ पूर्ण किया, तब स्वाहाने आकर उनसे कहा—'तुम मेरे औरस पुत्र हो ।। १ ।।

इच्छाम्यहं त्वया दत्तां प्रीतिं परमदुर्लभाम् ।
तामब्रवीत् ततः स्कन्दः प्रीतिमिच्छसि कीदृशीम् ।। २ ।।

'अतः मैं चाहती हूँ कि तुम मुझे परम दुर्लभ प्रीति प्रदान करो।' तब स्कन्दने पूछा—'माँ तुम कैसी प्रीति पानेकी अभिलाषा रखती हो?' ।। २ ।।

स्वाहोवाच

दक्षस्याहं प्रिया कन्या स्वाहा नाम महाभुज ।
बाल्यात्प्रभृति नित्यं च जातकामा हुताशने ।। ३ ।।

स्वाहा बोली—महाबाहो! मैं प्रजापति दक्षकी प्रिय पुत्री हूँ, मेरा नाम स्वाहा है। मैं बचपनसे ही सदा अग्निदेवके प्रति अनुराग रखती आयी हूँ ।। ३ ।।

न स मां कामिनीं पुत्र सम्यक् जानाति पावकः ।
इच्छामि शाश्वतं वासं वस्तुं पुत्र सहाग्निना ।। ४ ।।

पुत्र! परंतु अग्निदेवको इस बातका अच्छी तरह पता नहीं है कि मैं उन्हें चाहती हूँ। बेटा! मेरी यह हार्दिक अभिलाषा है कि मैं नित्य-निरन्तर अग्निदेवके ही साथ निवास करूँ ।। ४ ।।

स्कन्द उवाच

हव्यं कव्यं च यत्किंचिद् द्विजानां मन्त्रसंस्तुतम् ।
होष्यन्त्यग्नौ सदा देवि स्वाहेत्युक्त्वा समुद्धृतम् ।। ५ ।।
अद्यप्रभृति दास्यन्ति सुवृत्ताः सत्पथे स्थिताः ।
एवमग्निस्त्वया सार्धं सदा वत्स्यति शोभने ।। ६ ।।

स्कन्द बोले—देवि! आजसे सन्मार्गपर चलने-वाले सदाचारी धर्मात्मा मनुष्य देवताओं तथा पितरोंके लिये हव्य और कव्यके रूपमें उठाकर ब्राह्मणोंद्वारा उच्चारित वेदमन्त्रोंके साथ अग्निमें जो कुछ आहुति देंगे, वह सब स्वाहाका नाम लेकर ही अर्पण करेंगे। शोभने! इस प्रकार तुम्हारे साथ निरन्तर अग्निदेवका निवास बना रहेगा ।। ५-६ ।।

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्ता ततः स्वाहा तुष्टा स्कन्देन पूजिता ।
पावकेन समायुक्ता भर्त्रा स्कन्दमपूजयत् ।। ७ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! स्कन्दके इस प्रकार कहने और आदर देनेपर स्वाहा बहुत संतुष्ट हुई। अपने स्वामी अग्निदेवका संयोग पाकर उसने भी स्कन्दका पूजन किया ।। ७ ।।

ततो ब्रह्मा महासेनं प्रजापतिरथाब्रवीत् ।
अभिगच्छ महादेवं पितरं त्रिपुरार्दनम् ।। ८ ।।

तदनन्तर प्रजापति ब्रह्माजीने महासेनसे कहा—'वत्स! अब तुम अपने पिता त्रिपुरविनाशक महादेवजीसे मिलो ।।

रुद्रेणाग्निं समाविश्य स्वाहामाविश्य चोमया ।
हितार्थं सर्वलोकानां जातस्त्वमपराजितः ।। ९ ।।

'भगवान् रुद्रने अग्निमें और भगवती उमाने स्वाहामें प्रवेश करके समस्त लोकोंके हितके लिये तुम-जैसे अपराजित वीरको उत्पन्न किया है ।। ९ ।।

उमायोन्यां च रुद्रेण शुक्रं सिक्तं महात्मना ।
अस्मिन् गिरौ निपतितं मिञ्जिकामिञ्जिकं यतः ।। १० ।।
सम्भूतं लोहितोदे तु शुक्रशेषमवापतत् ।
सूर्यरश्मिषु चाप्यन्यदन्यच्चैवापतद् भुवि ।। ११ ।।
आसक्तमन्यद् वृक्षेषु तदेवं पञ्चधापतत् ।
तत्र ते विविधाकारा गणा ज्ञेया मनीषिभिः ।
तव पारिषदा घोरा य एते पिशिताशिनः ।। १२ ।।

'महात्मा रुद्रने उमाके गर्भमें जिस वीर्यकी स्थापना की थी, उसका कुछ भाग इसी पर्वतपर गिर पड़ा था, जिससे मिंजिका-मिंजिक नामक जोड़ेकी उत्पत्ति हुई। शेष शुक्रका कुछ अंश लोहित-सागरमें, कुछ सूर्यकी किरणोंमें, कुछ पृथ्वीपर और कुछ वृक्षोंपर गिर पड़ा। इस प्रकार वह पाँच भागोंमें विभक्त होकर गिरा था। उसीसे ये तुम्हारे विभिन्न आकृतिवाले, मांसभक्षी एवं भयंकर पार्षद प्रकट हुए हैं; जिन्हें मनीषी पुरुष ही जान पाते हैं' ।। १०—१२ ।।

एवमस्त्विति चाप्युक्त्वा महासेनो महेश्वरम् ।

अपूजयदमेयात्मा पितरं पितृवत्सलः ।। १३ ।।

तब अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न एवं पितृभक्त कुमार महासेनने 'एवमस्तु' कहकर अपने पिता भगवान् महेश्वरका पूजन किया ।। १३ ।।

मार्कण्डेय उवाच

अर्कपुष्पैस्तु ते पञ्च गणाः पूज्या धनार्थिभिः ।
व्याधिप्रशमनार्थं च तेषां पूजां समाचरेत् ।। १४ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! धनार्थी पुरुषों-को आकके फूलोंसे उन पाँचों गणोंकी सेवा करनी चाहिये। रोगोंकी शान्तिके लिये भी उनका पूजन करना उचित है ।। १४ ।।

मिञ्जिकामिञ्जिकं चैव मिथुनं रुद्रसम्भवम् ।
नमस्कार्यं सदैवेह बालानां हितमिच्छता ।। १५ ।।

मिंजिका-मिंजकका जोड़ा भी भगवान् शंकरसे उत्पन्न हुआ है। अतः बालकोंके हितकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि वे सदा इस जोड़ेको नमस्कार करें ।। १५ ।।

स्त्रियो मानुषमांसादा वृद्धिका नाम नामतः ।
वृक्षेषु जातास्ता देव्यो नमस्कार्याः प्रजार्थिभिः ।। १६ ।।

वृक्षोंपरसे गिरे हुए शुक्रसे 'वृद्धिका' नामवाली स्त्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, जो मनुष्यका मांस भक्षण करनेवाली हैं। संतानकी इच्छा रखनेवाले लोगोंको इन देवियोंके आगे मस्तक झुकाना चाहिये ।। १६ ।।

एवमेते पिशाचानामसंख्येया गणाः स्मृताः ।
घण्टायाः सपताकायाः शृणु मे सम्भवं नृप ।। १७ ।।

इस प्रकार ये पिशाचोंके असंख्य गण बताये गये हैं। राजन्! अब तुम मुझसे स्कन्दके घण्टे और पताकाकी उत्पत्तिका वृत्तान्त सुनो ।। १७ ।।

ऐरावतस्य घण्टे द्वे वैजयन्त्याविति श्रुते ।
गुहस्य ते स्वयं दत्ते क्रमेणानाय्य धीमता ।। १८ ।।

इन्द्रके ऐरावत हाथीके उपयोगमें आनेवाले जो दो 'वैजयन्ती' नामसे विख्यात घण्टे थे, उन्हें बुद्धिमान् इन्द्रने क्रमशः ले आकर स्वयं कुमार कार्तिकेयको अर्पण कर दिया ।। १८ ।।

एका तत्र विशाखस्य घण्टा स्कन्दस्य चापरा ।
पताका कार्तिकेयस्य विशाखस्य च लोहिता ।। १९ ।।

उनमेंसे एक घण्टा विशाखने ले लिया और दूसरा स्कन्दके पास रह गया। कार्तिकेय और विशाख दोनोंकी पताकाएँ लाल रंगकी हैं ।। १९ ।।

यानि क्रीडनकान्यस्य देवैर्दत्तानि वै तदा ।
तैरेव रमते देवो महासेनो महाबलः ।। २० ।।

उस समय देवताओंने जो खिलौने इन्हें दिये थे, उन्हींसे महाबली महासेन खेलते और मन बहलाते हैं ।।

स संवृतः पिशाचानां गणैर्देवगणैस्तथा ।
शुशुभे काञ्चने शैले दीप्यमानः श्रिया वृतः ।। २१ ।।

राजन्! अद्‌भुत शोभासे सम्पन्न और कान्तिमान् कुमार कार्तिकेय उस समय उस स्वर्णमय शिखरपर पिशाचों और देवताओंके समूहसे घिरकर बड़ी शोभा पा रहे थे ।। २१ ।।

तेन वीरेण शुशुभे स शैलः शुभकाननः ।
आदित्येनेवांशुमता मन्दरश्चारुकन्दरः ।। २२ ।।

जैसे अंशुमाली सूर्यके उदयसे मनोहर कन्दरावाले मन्दराचलकी शोभा होती है, उसी प्रकार वीरवर स्कन्दके निवाससे सुन्दर वनवाले उस श्वेतगिरिकी शोभा बढ़ गयी थी ।। २२ ।।

संतानकवनैः फुल्लैः करवीरवनैरपि ।
पारिजातवनैश्चैव जपाशोकवनैस्तथा ।। २३ ।।
कदम्बतरुषण्डैश्च दिव्यैर्मृगगणैरपि ।
दिव्यैः पक्षिगणैश्चैव शुशुभे श्वेतपर्वतः ।। २४ ।।

वहाँ कहीं फूलोंसे भरे हुए कल्पवृक्षके वन और कहीं कनेरके कानन सुशोभित होते थे। कहीं पारिजातके वन थे तो कहीं जपा और अशोकके उपवन शोभा पाते थे। कहीं कदम्ब नामक वृक्षोंके समूह लहलहा रहे थे तो कहीं दिव्य मृगगण विचर रहे थे। सब ओर दिव्य पक्षियोंके समुदाय कलरव कर रहे थे। इन सबसे उस श्वेत पर्वतकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी ।। २३-२४ ।।

तत्र देवगणाः सर्वे सर्वे देवर्षयस्तथा ।
मेघतूर्यरवाश्चैव क्षुब्धोदधिसमस्वनाः ।। २५ ।।

वहाँ सम्पूर्ण देवता तथा देवर्षिगण आकर विराजमान हो गये। क्षुब्ध महासागरकी गम्भीर गर्जनाके समान मेघों और दिव्य वाद्योंका तुमुल घोष सब ओर गूँजने लगा ।। २५ ।।

तत्र दिव्याश्च गन्धर्वा नृत्यन्तेऽप्सरसस्तथा ।
हृष्टानां तत्र भूतानां श्रूयते निनदो महान् ।। २६ ।।

'वहाँ दिव्य गन्धर्व और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। हर्षमें भरे हुए प्राणियोंका महान् कोलाहल सुनायी देने लगा ।। २६ ।।

एवं सेन्द्रं जगत् सर्वं श्वेतपर्वतसंस्थितम् ।
प्रहृष्टं प्रेक्षते स्कन्दं न च ग्लायति दर्शनात् ।। २७ ।।

इस प्रकार इन्द्रसहित सम्पूर्ण जगत् बड़ी प्रसन्नताके साथ श्वेत पर्वतपर विराजमान कुमार कार्तिकेयका दर्शन करने लगा। उनके दर्शनसे किसीका जी नहीं भरता था ।। २७ ।।

मार्कण्डेय उवाच

यदाभिषिक्तो भगवान् सैनापत्येन पावकिः ।
तदा सम्प्रस्थितः श्रीमान् हृष्टो भद्रवटं हरः ।। २८ ।।
रथेनादित्यवर्णेन पार्वत्या सहितः प्रभुः ।
(अनुयातः सुरैः सर्वैः सहस्राक्षपुरोगमैः)
सहस्रं तस्य सिंहानां तस्मिन् युक्तं रथोत्तमे ।। २९ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! जब अग्निनन्दन भगवान् स्कन्दका सेनापतिके पदपर अभिषेक हो गया, तब श्रीमान् भगवान् शिव देवी पार्वतीके साथ सूर्यके समान रथपर आरूढ हो प्रसन्नतापूर्वक भद्रवटकी ओर प्रस्थित हुए। उस समय इन्द्र आदि सब देवता उनके पीछे-पीछे चले। भगवान् शिवके उस उत्तम रथमें एक हजार सिंह जुते हुए थे ।। २८-२९ ।।

उत्पपात दिवं शुभ्रं कालेनाभिप्रचोदितम् ।
ते पिबन्त इवाकाशं त्रासयन्तश्चराचरान् ।। ३० ।।
सिंहा नभस्यगच्छन्त नदन्तश्चारुकेसराः ।

साक्षात् काल उस रथका संचालन कर रहा था। उसकी प्रेरणासे वह शुभ्र रथ आकाशमें उड़ चला। मनोहर केसरोंसे सुशोभित वे सिंह चराचर प्राणियोंको भयभीत करते और दहाड़ते हुए आकाशमें इस प्रकार चलने लगे, मानो उसे पी जायँगे ।। ३०½ ।।

तस्मिन् रथे पशुपतिः स्थितो भात्युमया सह ।। ३१ ।।
विद्युता सहितः सूर्यः सेन्द्रचापे घने यथा ।

उस रथपर भगवती उमाके साथ बैठे हुए भगवान् शिव इस प्रकार शोभित हो रहे थे, मानो इन्द्रधनुषयुक्त मेघोंकी घटामें विद्युत्‌के साथ भगवान् सूर्य प्रकाशित हो रहे हों ।। ३१½ ।।

अग्रतस्तस्य भगवान् धनेशो गुह्यकैः सह ।। ३२ ।।
आस्थाय रुचिरं याति पुष्पकं नरवाहनः ।

उनके आगे-आगे गुह्यकोंसहित नरवाहन धनाध्यक्ष भगवान् कुबेर मनोहर पुष्पक विमानपर बैठकर जा रहे थे ।। ३२½ ।।

ऐरावतं समास्थाय शक्रश्चापि सुरैः सह ।। ३३ ।।
पृष्ठतोऽनुययौ यान्तं वरदं वृषभध्वजम् ।

देवताओंसहित इन्द्र भी ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हो (भद्रवटको) जाते हुए वरदायक भगवान् वृषभध्वजके पीछे-पीछे चल रहे थे ।। ३३½ ।।

जृम्भकैर्यक्षरक्षोभिः स्रग्विभिः समलङ्कृतः ।। ३४ ।।
यात्यमोघो महायक्षो दक्षिणं पक्षमास्थितः ।

मालाधारी जृम्भकगण, यक्ष तथा राक्षसोंसे सुशोभित महायक्ष अमोघ भगवान् शंकरके दाहिने भागमें रहकर चल रहा था ।। ३४½ ।।

तस्य दक्षिणतो देवा बहवश्चित्रयोधिनः ।। ३५ ।।

गच्छन्ति वसुभिः सार्धं रुद्रैश्च सह सङ्गताः ।

उसके दाहिने भागमें विचित्र प्रकारके युद्ध करनेवाले बहुत-से देवता वसुओं तथा रुद्रोंके साथ संगठित होकर चल रहे थे ।। ३५½ ।।

यमश्च मृत्युना सार्धं सर्वतः परिवारितः ।। ३६ ।।

घोरैर्व्याधिशतैर्याति घोररूपवपुस्तथा ।

मृत्युसहित यमराज अत्यन्त भयंकर रूप धारण करके देवताओंके साथ यात्रा कर रहे थे। उन्हें सैकड़ों भयानक रोगोंने मूर्तिमान् होकर चारों ओरसे घेर रखा था ।। ३६½ ।।

यमस्य पृष्ठतश्चैव घोरस्त्रिशिखरः शितः ।। ३७ ।।

विजयो नाम रुद्रस्य याति शूलः स्वलङ्कृतः ।

यमराजके पीछे-पीछे भगवान् शंकरका विजय नामक भयंकर त्रिशूल जा रहा था, जो तीन शिखरोंसे सुशोभित और तीक्ष्ण था। उस त्रिशूलको सिन्दूर आदिसे भलीभाँति सजाया गया था ।। ३७½ ।।

तमुग्रपाशो वरुणो भगवान् सलिलेश्वरः ।। ३८ ।।

परिवार्य शनैर्याति यादोभिर्विविधैर्वृतः ।

जलके स्वामी भगवान् वरुण हाथमें भयंकर पाश लिये उस त्रिशूलको सब ओरसे घेरकर धीरे-धीरे चल रहे थे। उनके साथ नाना प्रकारकी आकृतिवाले जलजन्तु भी थे ।। ३८½ ।।

पृष्ठतो विजयस्यापि याति रुद्रस्य पट्टिशः ।। ३९ ।।

गदामुसलशक्त्याद्यैर्वृतः प्रहरणोत्तमैः ।

विजयके पीछे भगवान् रुद्रका पट्टिश नामक शस्त्र जा रहा था, जिसे गदा, मुसल और शक्ति आदि उत्तम आयुधोंने घेर रक्खा था ।। ३९½ ।।

पट्टिशं त्वन्वगाद् राजञ्छत्रं रौद्रं महाप्रभम् ।। ४० ।।

कमण्डलुश्चाप्यनु तं महर्षिगणसेवितः ।

राजन्! पट्टिशके पीछे भगवान् रुद्रका अत्यन्त प्रभापूर्ण छत्र जा रहा था और उसके पीछे महर्षियोंद्वारा सेवित कमण्डलु यात्रा कर रहा था ।। ४०½ ।।

तस्य दक्षिणतो भाति दण्डो गच्छन् श्रिया वृतः ।। ४१ ।।

भृग्वङ्गिरोभिः सहितो दैवतैश्चानुपूजितः ।

कमण्डलुके दाहिने भागमें जाते हुए तेजस्वी दण्डकी बड़ी शोभा हो रही थी। उसके साथ भृगु और अंगिरा आदि महर्षि थे और देवता भी बार-बार उसका पूजन करते थे ।। ४१½ ।।

एषां तु पृष्ठतो रुद्रो विमले स्यन्दने स्थितः ।। ४२ ।।

याति संहर्षयन् सर्वांस्तेजसा त्रिदिवौकसः ।

इन सबके पीछे उज्ज्वल रथपर आरुढ़ हो रुद्रदेव यात्रा करते थे, जो अपने तेजसे सम्पूर्ण देवताओंका हर्ष बढ़ा रहे थे ।। ४२½ ।।

ऋषयश्चापि देवाश्च गन्धर्वा भुजगास्तथा ।। ४३ ।।

नद्यो ह्रदाः समुद्राश्च तथैवाप्सरसां गणाः ।

नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव देवानां शिशवश्च ये ।। ४४ ।।

रुद्रदेवके पीछे ऋषि, देवता, गन्धर्व, नाग, नदियाँ, गहरे जलाशय, समुद्र, अप्सराएँ, नक्षत्र, ग्रह तथा देवकुमार चल रहे थे ।। ४३-४४ ।।

स्त्रियश्च विविधाकारा यान्ति रुद्रस्य पृष्ठतः ।

सृजन्त्यः पुष्पवर्षाणि चारुरूपा वराङ्गनाः ।। ४५ ।।

मनोहर रूप और भाँति-भाँतिकी आकृति धारण करनेवाली बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियाँ फूलोंकी वर्षा करती हुई भगवान् रुद्रके पीछे-पीछे जा रही थीं ।। ४५ ।।

पर्जन्यश्चाप्यनुययौ नमस्कृत्य पिनाकिनम् ।

छत्रं च पाण्डुरं सोमस्तस्य मूर्धन्यधारयत् ।। ४६ ।।

पिनाकधारी भगवान् शंकरको नमस्कार करके पर्जन्यदेव भी उनके पीछे-पीछे चले। चन्द्रमाने उनके मस्तकपर श्वेत छत्र लगा रखा था ।। ४६ ।।

चामरे चापि वायुश्च गृहीत्वाग्निश्च धिष्ठितौ ।

शक्रश्च पृष्ठतस्तस्य याति राजञ्छ्रिया वृतः ।। ४७ ।।

सह राजर्षिभिः सर्वैः स्तुवानो वृषकेतनम् ।

राजन्! वायु और अग्नि चँवर लेकर दोनों ओर खड़े थे। तेजस्वी इन्द्र समस्त राजर्षियोंके साथ भगवान् वृषभध्वजकी स्तुति करते हुए उनके पीछे-पीछे जा रहे थे ।। ४७½ ।।

गौरी विद्याथ गान्धारी केशिनी मित्रसाह्वया ।। ४८ ।।

सावित्र्या सह सर्वास्ताः पार्वत्या यान्ति पृष्ठतः ।

तत्र विद्यागणाः सर्वे ये केचित् कविभिः कृताः ।। ४९ ।।

गौरी, विद्या, गान्धारी, केशिनी, मित्रा और सावित्री—ये सब पार्वतीदेवीके पीछे-पीछे चल रही थीं। विद्वानोंद्वारा प्रकाशित सम्पूर्ण विद्याएँ भी उन्हींके साथ थीं ।। ४८-४९ ।।

तस्य कुर्वन्ति वचनं सेन्द्रा देवाश्चमूमुखे ।

गृहीत्वा तु पताकां वै यात्यग्रे राक्षसो ग्रहः ।। ५० ।।

इन्द्र आदि देवता सेनाके मुहानेपर उपस्थित हो भगवान् शिवके आदेशका पालन करते थे। एक राक्षस ग्रह सेनाका झंडा लेकर आगे-आगे चलता था ।। ५० ।।

व्यापृतस्तु श्मशाने यो नित्यं रुद्रस्य वै सखा ।
पिङ्गलो नाम यक्षेन्द्रो लोकस्यानन्ददायकः ।। ५१ ।।

भगवान् रुद्रका सखा यक्षराज पिंगलदेव जो सदा श्मशानमें ही (उसकी रक्षाके लिये) निवास करता और सम्पूर्ण जगत्को आनन्द देनेवाला था, उस यात्रामें भगवान् शिवके साथ था ।। ५१ ।।

एभिश्च सहितो देवस्तत्र याति यथासुखम् ।
अग्रतः पृष्ठतश्चैव न हि तस्य गतिर्ध्रुवा ।। ५२ ।।

इन सबके साथ महादेवजी सुखपूर्वक भद्रवटकी यात्रा कर रहे थे। वे कभी सेनाके आगे रहते और कभी पीछे। उनकी कोई निश्चित गति नहीं थी ।। ५२ ।।

रुद्रं सत्कर्मभिर्मर्त्याः पूजयन्तीह दैवतम् ।
शिवमित्येव यं प्राहुरीशं रुद्रं पितामहम् ।। ५३ ।।
भावैस्तु विविधाकारैः पूजयन्ति महेश्वरम् ।

मरणधर्मा मनुष्य इस संसारमें सत्कर्मोंद्वारा रुद्रदेवकी ही पूजा करते हैं। इन्हींको शिव, ईश, रुद्र और पितामह कहते हैं। लोग नाना प्रकारके भावोंसे भगवान् महेश्वरकी पूजा करते हैं ।। ५३ १/२ ।।

देवसेनापतिस्त्वेवं देवसेनाभिरावृतः ।
अनुगच्छति देवेशं ब्रह्मण्यः कृत्तिकासुतः ।। ५४ ।।

इसी प्रकार ब्राह्मणहितैषी, देवसेनापति, कृत्तिका-नन्दन स्कन्द भी देवताओंकी सेनासे घिरे हुए देवेश्वर भगवान् शिवके पीछे-पीछे जा रहे थे ।। ५४ ।।

अथाब्रवीन्महासेनं महादेवो बृहद् वचः ।
सप्तमं मारुतस्कन्धं रक्ष नित्यमतन्द्रितः ।। ५५ ।।

तदनन्तर महादेवजीने कुमार महासेनसे यह उत्तम बात कही—‘बेटा! तुम सदा सावधानीके साथ मारुतस्कन्ध नामक देवताओंके सातवें व्यूहकी रक्षा करना’ ।। ५५ ।।

स्कन्द उवाच

सप्तमं मारुतस्कन्धं पालयिष्याम्यहं प्रभो ।
यदन्यदपि मे कार्यं देव तद् वद माचिरम् ।। ५६ ।।

स्कन्द बोले—प्रभो! मैं सातवें व्यूह मारुतस्कन्धकी अवश्य रक्षा करूँगा। देव! इसके सिवा और भी मेरा जो कुछ कर्तव्य हो, उसके लिये आप शीघ्र आज्ञा दीजिये ।।

रुद्र उवाच

कार्येष्वहं त्वया पुत्र संद्रष्टव्यः सदैव हि ।

दर्शनान्मम भक्त्या च श्रेयः परमवाप्स्यसि ।। ५७ ।।

रुद्रने कहा—पुत्र! काम पड़नेपर तुम सदा मुझसे मिलते रहना। मेरे दर्शनसे तथा मुझमें भक्ति करनेसे तुम्हारा परम कल्याण होगा ।। ५७ ।।

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वा विससर्जैनं परिष्वज्य महेश्वरः ।
विसर्जिते ततः स्कन्दे बभूवौत्पातिकं महत् ।। ५८ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर भगवान् महेश्वरने कार्तिकेयको हृदयसे लगाकर बिदा किया। स्कन्दके बिदा होते ही बड़ा भारी उत्पात होने लगा ।। ५८ ।।

सहसैव महाराज देवान् सर्वान् प्रमोहयत् ।
जज्वाल खं सनक्षत्रं प्रमूढं भुवनं भृशम् ।। ५९ ।।

महाराज! सहसा समस्त देवताओंको मोहमें डालता हुआ नक्षत्रोंसहित आकाश प्रज्वलित हो उठा। समस्त संसार अत्यन्त मूढ़-सा हो गया ।। ५९ ।।

चचाल व्यनदच्चोर्वी तमोभूतं जगद् बभौ ।
ततस्तद् दारुणं दृष्ट्वा क्षुभितः शङ्करस्तदा ।। ६० ।।
उमा चैव महाभागा देवाश्च समहर्षयः ।

पृथ्वी हिलने लगी। उसमें गड़गड़ाहट पैदा हो गयी। सारा जगत् अन्धकारमें मग्न-सा जान पड़ता था। उस समय यह दारुण उत्पात देखकर भगवान् शंकर, महाभागा उमा, देवगण तथा महर्षिगण क्षुब्ध हो उठे ।।

ततस्तेषु प्रमूढेषु पर्वताम्बुदसंनिभम् ।। ६१ ।।
नानाप्रहरणं घोरमदृश्यत महद् बलम् ।
तद् वै घोरमसंख्येयं गर्जच्च विविधा गिरः ।। ६२ ।।

जिस समय वे सब लोग मोहग्रस्त हो रहे थे, उसी समय पर्वतों और मेघमालाओंके समान दैत्योंकी विशाल एवं भयंकर सेना दिखायी दी। वह नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित थी। उसके सैनिकोंकी संख्या गिनी नहीं जा सकती थी। वह भयंकर वाहिनी अनेक प्रकारकी बोली बोलती हुई भीषण गर्जना कर रही थी ।।

अभ्यद्रवद् रणे देवान् भगवन्तं च शङ्करम् ।
तैर्विसृष्टान्यनीकेषु बाणजालान्यनेकशः ।। ६३ ।।

उसने रणभूमिमें आकर देवताओं तथा भगवान् शंकरपर धावा बोल दिया। दैत्योंने देवताओंके सैनिकोंपर कई बार बाण-वर्षा की ।। ६३ ।।

पर्वताश्च शतघ्न्यश्च प्रासासिपरिघा गदाः ।
निपतद्भिश्च तैर्घोरैर्देवानीकं महायुधैः ।। ६४ ।।
क्षणेन व्यद्रवत् सर्वं विमुखं चाप्यदृश्यत ।

शिलाखण्ड, शतघ्नी (तोप), प्रास, खड्ग, परिघ और गदाओंके लगातार प्रहार हो रहे थे। इन भयंकर महान् अस्त्रोंकी मारसे देवताओंकी सारी सेना क्षणभरमें (पीठ दिखाकर) भाग चली। सारे सैनिक युद्धसे विमुख दिखायी देते थे ।। ६४½ ।।

निकृत्तयोधनागाश्वं कृत्तायुधमहारथम् ।। ६५ ।।
दानवैरर्दितं सैन्यं देवानां विमुखं बभौ ।

बहुत-से योद्धा, हाथी और घोड़े काट डाले गये। असंख्य आयुध और बड़े-बड़े रथ टूक-टूक कर दिये गये। इस प्रकार दानवोंद्वारा पीड़ित हुई देवताओंकी सेना युद्धसे विमुख हो गयी ।। ६५½ ।।

असुरैर्वध्यमानं तत् पावकैरिव काननम् ।। ६६ ।।
अपतद् दग्धभूयिष्ठं महाद्रुमवनं यथा ।

जैसे आग समूचे वनको जला देती है, उसी प्रकार असुरोंने देवताओंकी सेनामें भारी मार-काट मचा दी। बड़े-बड़े वृक्षोंसे भरे हुए वनका अधिकांश भाग जल जानेपर उसकी जैसी दुरवस्था दिखायी देती है, उसी प्रकार दैत्योंकी अस्त्राग्निमें अधिकांश सैनिकोंके दग्ध हो जानेके कारण वह देवसेना धराशायिनी हो रही थी ।।

ते विभिन्नशिरोदेहाः प्राद्रवन्तो दिवौकसः ।। ६७ ।।
न नाथमधिगच्छन्ति वध्यमाना महारणे ।

उस महासमरमें असुरोंकी मार खाकर वे सब देवता भागते हुए कहीं कोई रक्षक नहीं पा रहे थे। किन्हींके सिर फट गये थे तो किन्हींके सब अंगोंमें गहरे घाव हो गये थे ।। ६७ १/२ ।।

अथ तद् विद्रुतं सैन्यं दृष्ट्वा देवः पुरंदरः ।। ६८ ।।
आश्वासयन्नुवाचेदं बलभिद् दानवार्दितम् ।
भयं त्यजत भद्रं वः शूराः शस्त्राणि गृह्णत ।। ६९ ।।
कुरुध्वं विक्रमे बुद्धिं मा वः काचिद् व्यथा भवेत् ।
जयतैनान् सुदुर्वृत्तान् दानवान् घोरदर्शनान् ।। ७० ।।
अभिद्रवत भद्रं वो मया सह महासुरान् ।
शक्रस्य वचनं श्रुत्वा समाश्वस्ता दिवौकसः ।। ७१ ।।

तदनन्तर बलासुरविनाशक देवराज इन्द्रने अपनी उस सेनाको दानवोंसे पीड़ित होकर भागती देख उसे आश्वासन देते हुए कहा—'शूरवीरो! भय त्याग दो, इससे तुम्हारा मंगल होगा। हथियार उठाओ और पराक्रममें मन लगाओ। तुम्हें किसी प्रकार व्यथित नहीं होना चाहिये। इन भयंकर दिखायी देनेवाले दुराचारी दानवोंको जीतो। तुम्हारा कल्याण हो। तुम सब लोग मेरे साथ इन महाकाय दैत्योंपर टूट पड़ो।' इन्द्रकी यह बात सुनकर देवताओंको बड़ी सान्त्वना मिली ।। ६८—७१ ।।

दानवान् प्रत्ययुध्यन्त शक्रं कृत्वा व्यपाश्रयम् ।
ततस्ते त्रिदशाः सर्वे मरुतश्च महाबलाः ।। ७२ ।।
प्रत्युद्ययुर्महाभागाः साध्याश्च वसुभिः सह ।

उन्होंने इन्द्रको अपना आश्रय बनाकर दानवोंके साथ पुनः युद्ध प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् वे सभी देवता महाबली मरुद्‌गण तथा वसुओं एवं महाभाग साध्यगण-सहित युद्धभूमिमें आगे बढ़ने लगे ।। ७२ १/२ ।।

तैर्विसृष्टान्यनीकेषु क्रुद्धैः शस्त्राणि संयुगे ।। ७३ ।।
शराश्च दैत्यकायेषु पिबन्ति रुधिरं बहु ।

उन्होंने संग्राममें कुपित होकर दैत्योंकी सेनाओंके ऊपर जो अस्त्र-शस्त्र और बाण चलाये, वे उनके शरीरोंमें घुसकर प्रचुर मात्रामें रक्त पीने लगे ।। ७३ १/२ ।।

तेषां देहान् विनिर्भिद्य शरास्ते निशितास्तदा ।। ७४ ।।
निपतन्तोऽभ्यदृश्यन्त नगेभ्य इव पन्नगाः ।

वे तीखे बाण उस समय दैत्योंके शरीरोंको विदीर्ण कर रणभूमिमें इस प्रकार गिरते दिखायी देते थे, मानो वृक्षोंसे सर्प गिर रहे हों ।। ७४ १/२ ।।

तानि दैत्यशरीराणि निर्भिन्नानि स्म सायकैः ।। ७५ ।।
अपतन् भूतले राजंश्छिन्नाभ्राणीव सर्वशः ।

राजन्! देवताओंके बाणोंसे विदीर्ण हुए वे दैत्योंके शरीर सब प्रकारसे छिन्न-भिन्न हुए बादलोंके समान धरतीपर गिरने लगे ।। ७५½ ।।

ततस्तद् दानवं सैन्यं सर्वैर्देवगणैर्युधि ।। ७६ ।।
त्रासितं विविधैर्बाणैः कृतं चैव पराङ्मुखम् ।

तदनन्तर समस्त देवताओंने उस युद्धमें दानवसेनाको अपने विविध बाणोंके प्रहारसे भयभीत करके रणभूमिसे विमुख कर दिया ।। ७६½ ।।

अथोत्क्रुष्टं तदा हृष्टैः सर्वैर्देवैरुदायुधैः ।। ७७ ।।
संहतानि च तूर्याणि प्रावाद्यन्त ह्यनेकशः ।

फिर तो उस समय हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र उठाये सम्पूर्ण देवता हर्षमें भरकर कोलाहल करने लगे और अनेक प्रकारके विजय-वाद्य एक साथ बज उठे ।। ७७½ ।।

एवमन्योन्यसंयुक्तं युद्धमासीत् सुदारुणम् ।। ७८ ।।
देवानां दानवानां च मांसशोणितकर्दमम् ।
अनयो देवलोकस्य सहसैवाभ्यदृश्यत ।। ७९ ।।
तथा हि दानवा घोरा विनिघ्नन्ति दिवौकसः ।

इस प्रकार देवताओं और दानवोंमें परस्पर अत्यन्त भयंकर युद्ध हो रहा था। रक्त और मांससे वहाँकी भूमिपर कीचड़ जम गयी थी। फिर सहसा बाजी पलट गयी। देवलोककी पराजय दिखायी देने लगी। भयंकर दानव देवताओंको मारने लगे ।। ७८-७९½ ।।

ततस्तूर्यप्रणादाश्च भेरीणां च महास्वनः ।। ८० ।।
बभूवुर्दानवेन्द्राणां सिंहनादाश्च दारुणाः ।

उस समय दानवेन्द्रोंके भयंकर सिंहनाद सुनायी पड़ते थे। उनके रणवाद्यों तथा भेरियोंका गम्भीर घोष सब ओर गूँज उठा ।। ८०½ ।।

अथ दैत्यबलाद् घोरान्निष्पपात महाबलः ।। ८१ ।।
दानवो महिषो नाम प्रगृह्य विपुलं गिरिम् ।

इतनेहीमें दैत्योंकी भयंकर सेनासे महाबली दानव 'महिष' हाथोंमें एक विशाल पर्वत लिये निकला और देवताओंपर टूट पड़ा ।। ८१½ ।।

ते तं घनैरिवादित्यं दृष्ट्वा सम्परिवारितम् ।। ८२ ।।
तमुद्यतगिरिं राजन् व्यद्रवन्त दिवौकसः ।

राजन्! बादलोंसे घिरे हुए सूर्यकी भाँति पर्वत उठाये हुए उस दानवको देखकर सब देवता भाग चले ।। ८२½ ।।

अथाभिद्रुत्य महिषो देवांश्चिक्षेप तं गिरिम् ।। ८३ ।।
पतता तेन गिरिणा देवसैन्यस्य पार्थिव ।
भीमरूपेण निहतमयुतं प्रापतद् भुवि ।। ८४ ।।

परंतु महिषासुरने देवताओंका पीछा करके उनके ऊपर वह पहाड़ पटक दिया। युधिष्ठिर! उस भयानक पर्वतके गिरनेसे देवसेनाके दस हजार योद्धा कुचलकर धरतीपर गिर पड़े ।। ८३-८४ ।।

अथ तैर्दानवैः सार्धं महिषस्त्रासयन् सुरान् ।
अभ्यद्रवद् रणे तूर्णं सिंहः क्षुद्रमृगानिव ।। ८५ ।।

तदनन्तर जैसे सिंह छोटे मृगोंको डराता हुआ उनपर टूट पड़ता है, उसी प्रकार महिषासुरने अपने दानव-सैनिकोंके साथ रणभूमिमें समस्त देवताओंको भयभीत करते हुए उनपर शीघ्र ही प्रबल आक्रमण किया ।। ८५ ।।

कार्तिकेयके द्वारा महिषासुरका वध

तमापतन्तं महिषं दृष्ट्वा सेन्द्रा दिवौकसः ।

व्यद्रवन्त रणे भीता विकीर्णायुधकेतनाः ।। ८६ ।।

उस महिषासुरको आते देख इन्द्र आदि सब देवता भयभीत हो अपने अस्त्र-शस्त्र और ध्वजा फेंककर युद्धभूमिसे भागने लगे ।। ८६ ।।

ततः स महिषः क्रुद्धस्तूर्णं रुद्ररथं ययौ ।

अभिद्रुत्य च जग्राह रुद्रस्य रथकूबरम् ।। ८७ ।।

तब क्रोधमें भरा हुआ महिषासुर तुरंत ही भगवान् रुद्रके रथकी ओर दौड़ा और पास जाकर उनके रथका कूबर* पकड़ लिया ।। ८७ ।।

यदा रुद्ररथं क्रुद्धो महिषः सहसा गतः ।

रेसतू रोदसी गाढं मुमुहुश्च महर्षयः ।। ८८ ।।

जब क्रोधमें भरे हुए महिषासुरने सहसा भगवान् रुद्रके रथपर आक्रमण किया, उस समय पृथ्वी और आकाशमें भारी कोलाहल मच गया और महर्षिगण भी घबरा गये ।। ८८ ।।

अनदंश्च महाकाया दैत्या जलधरोपमाः ।

आसीच्च निश्चितं तेषां जितमस्माभिरित्युत ।। ८९ ।।

इधर विशालकाय दैत्य मेघोंके समान गम्भीर गर्जना करने लगे। उन्हें यह निश्चय हो गया कि 'हमारी जीत होगी' ।। ८९ ।।

तथाभूते तु भगवान् नावधीन्महिषं रणे ।

सस्मार च तदा स्कन्दं मृत्युं तस्य दुरात्मनः ।। ९० ।।

उस अवस्थामें भी भगवान् रुद्रने युद्धमें महिषासुरको स्वयं नहीं मारा किंतु उस दुरात्मा दानवकी मृत्यु जिनके हाथोंसे होनेवाली थी, उन कुमार कार्तिकेयका स्मरण किया ।। ९० ।।

महिषोऽपि रथं दृष्ट्वा रौद्रो रुद्रस्य चानदत् ।

देवान् संत्रासयंश्चापि दैत्यांश्चापि प्रहर्षयन् ।। ९१ ।।

भयानक महिषासुर रुद्रके रथको देखकर देवताओंको त्रास और दैत्योंको हर्ष प्रदान करता हुआ बार-बार सिंहनाद करने लगा ।। ९१ ।।

ततस्तस्मिन् भये घोरे देवानां समुपस्थिते ।

आजगाम महासेनः क्रोधात् सूर्य इव ज्वलन् ।। ९२ ।।

देवताओंके लिये वह घोर भयका अवसर उपस्थित था। इसी समय जगमगाते हुए सूर्यकी भाँति कुमार महासेन क्रोधमें भरे हुए वहाँ आ पहुँचे ।। ९२ ।।

लोहिताम्बरसंवीतो लोहितस्रग्विभूषणः ।
लोहिताश्वो महाबाहुर्हिरण्यकवचः प्रभुः ।। ९३ ।।

उन्होंने अपने शरीरको लाल वस्त्रोंसे आच्छादित कर रखा था। उनके हार और आभूषण भी लाल रंगके ही थे। उनके घोड़ेका रंग भी लाल था। उन महाबाहु भगवान् स्कन्दने सुवर्णमय कवच धारण किया था ।। ९३ ।।

रथमादित्यसंकाशमास्थितः कनकप्रभम् ।
तं दृष्ट्वा दैत्यसेना सा व्यद्रवत् सहसा रणे ।। ९४ ।।

वे सूर्यके समान तेजस्वी रथपर विराजमान थे। उनकी अंगकान्ति भी सुवर्णके समान ही उद्भासित हो रही थी। उन्हें सहसा संग्राममें उपस्थित देख दैत्योंकी सेना रणभूमिसे भाग चली ।। ९४ ।।

स चापि तां प्रज्वलितां महिषस्य विदारिणीम् ।
मुमोच शक्तिं राजेन्द्र महासेनो महाबलः ।। ९५ ।।

राजेन्द्र! महाबली महासेनने महिषासुरपर एक प्रज्वलित शक्ति चलायी, जो उसके शरीरको विदीर्ण करनेवाली थी ।। ९५ ।।

सा मुक्ताभ्यहरत् तस्य महिषस्य शिरो महत् ।
पपात भिन्ने शिरसि महिषस्त्यक्तजीवितः ।। ९६ ।।

कुमारके हाथसे छूटते ही उस शक्तिने महिषासुरके महान् मस्तकको काट गिराया। सिर कट जानेपर महिषासुर प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। ९६ ।।

पतता शिरसा तेन द्वारं षोडशयोजनम् ।
पर्वताभेन पिहितं तदागम्यं ततोऽभवत् ।। ९७ ।।

उसके पर्वत-सदृश विशाल मस्तकने गिरकर (उत्तर-पूर्व देशके) सोलह योजन लम्बे द्वारको बंद कर दिया। अतः वह देश सर्वसाधारणके लिये अगम्य हो गया ।। ९७ ।।

उत्तराः कुरवस्तेन गच्छन्त्यद्य यथासुखम् ।
क्षिप्ताक्षिप्ता तु सा शक्तिर्हत्वा शत्रून् सहस्रशः ।। ९८ ।।
स्कन्दहस्तमनुप्राप्ता दृश्यते देवदानवैः ।

उत्तर कुरुके निवासी अब उस मार्गसे सुखपूर्वक आते-जाते हैं। देवताओं और दानवोंने देखा, कुमार कार्तिकेय बार-बार शत्रुओंपर शक्तिका प्रहार करते हैं और वह सहस्रों योद्धाओंको मारकर पुनः उनके हाथमें लौट आती है ।। ९८$\frac{१}{२}$ ।।

प्रायः शरैर्विनिहता महासेनेन धीमता ।। ९९ ।।
शेषा दैत्यगणा घोरा भीतास्त्रस्ता दुरासदैः ।
स्कन्दपारिषदैर्हत्वा भक्षिताश्च सहस्रशः ।। १०० ।।

परम बुद्धिमान् महासेनने अपने बाणोंद्वारा अधिकांश दैत्योंको समाप्त कर दिया, बचे-खुचे भयंकर दैत्य भी भयभीत हो साहस खो चुके थे। स्कन्ददेवके दुर्धर्ष पार्षद उन सहस्रों दैत्योंको मारकर खा गये ।। ९९-१०० ।।

दानवान् भक्षयन्तस्ते प्रपिबन्तश्च शोणितम् ।
क्षणान्निर्दानवं सर्वमकार्षुर्भृशहर्षिताः ।। १०१ ।।

उन सबने अत्यन्त हर्षमें भरकर दानवोंको खाते और उनके रक्त पीते हुए क्षणभरमें सारी रणभूमिको दानवोंसे खाली कर दिया ।। १०१ ।।

तमांसीव यथा सूर्यो वृक्षानग्निर्घनान् खगः ।
तथा स्कन्दोऽजयच्छत्रून् स्वेन वीर्येण कीर्तिमान् ।। १०२ ।।

जैसे सूर्य अन्धकार मिटा देते हैं, आग वृक्षोंको जला डालती है और आकाशचारी वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, वैसे ही कीर्तिशाली कुमार कार्तिकेयने अपने पराक्रमद्वारा समस्त शत्रुओंको नष्ट करके उनपर विजय पायी ।। १०२ ।।

सम्पूज्यमानस्त्रिदशैरभिवाद्य महेश्वरम् ।
शुशुभे कृत्तिकापुत्रः प्रकीर्णांशुरिवांशुमान् ।। १०३ ।।

उस समय देवतालोग कृत्तिकानन्दन स्कन्ददेवकी स्तुति और पूजा करने लगे। कुमार स्कन्द अपने पिता महेश्वरको प्रणाम करके सब ओर किरणें बिखेरनेवाले अंशुमाली सूर्यकी भाँति शोभा पाने लगे ।। १०३ ।।

नष्टशत्रुर्यदा स्कन्दः प्रयातस्तु महेश्वरम् ।

तदाब्रवीन्महासेनं परिष्वज्य पुरंदरः ।। १०४ ।।

शत्रुओंका नाश करके जब कुमार कार्तिकेय भगवान् महेश्वरके पास पहुँचे, उस समय इन्द्रने उनको हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा— ।। १०४ ।।

ब्रह्मदत्तवरः स्कन्द त्वयायं महिषो हतः ।
देवास्तृणसमा यस्य बभूवुर्जयतां वर ।। १०५ ।।
सोऽयं त्वया महाबाहो शमितो देवकण्टकः ।
शतं महिषतुल्यानां दानवानां त्वया रणे ।। १०६ ।।
निहतं देवशत्रूणां यैर्वयं पूर्वतापिताः ।
तावकैर्भक्षिताश्चान्ये दानवाः शतसङ्घशः ।। १०७ ।।

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ स्कन्द! इस महिषासुरको ब्रह्माजीने वरदान दिया था, जिसके कारण इसके सामने सब देवता तिनकोंके समान हो गये थे। आज तुमने इसे मार गिराया है। महाबाहो! यह देवताओंके लिये बड़ा भारी काँटा था, जिसे तुमने निकाल फेंका है। यही नहीं, आज रणभूमिमें इस महिषके समान पराक्रमी एक सौ देवद्रोही दानव और तुम्हारे हाथसे मारे गये हैं, जो पहले हमें बहुत कष्ट दे चुके हैं। तुम्हारे पार्षद भी सैकड़ों दानवोंको खा गये हैं ।। १०५—१०७ ।।

अजेयस्त्वं रणेऽरीणामुमापतिरिव प्रभुः ।
एतत् ते प्रथमं देव ख्यातं कर्म भविष्यति ।। १०८ ।।
त्रिषु लोकेषु कीर्तिश्च तवाक्षय्या भविष्यति ।
वशगाश्च भविष्यन्ति सुरास्तव महाभुज ।। १०९ ।।

'देव! तुम भगवान् शंकरके समान ही युद्धमें शत्रुओंके लिये अजेय हो। यह तुम्हारा प्रथम पराक्रम सर्वत्र विख्यात होगा। तुम्हारी अक्षय कीर्ति तीनों लोकोंमें फैल जायगी। महाबाहो! सब देवता तुम्हारे वशमें रहेंगे' ।।

एवमुक्त्वा महासेनं निवृत्तः सह दैवतैः ।
अनुज्ञातो भगवता त्र्यम्बकेण शचीपतिः ।। ११० ।।

महासेनसे ऐसा कहकर शचीपति इन्द्र भगवान् शंकरकी आज्ञा ले देवताओंके साथ स्वर्गलोकको लौट गये ।।

गतो भद्रवटं रुद्रो निवृत्ताश्च दिवौकसः ।
उक्ताश्च देवा रुद्रेण स्कन्दं पश्यत मामिव ।। १११ ।।

भगवान् रुद्र भद्रवटके समीप गये और देवता अपने-अपने स्थानको लौटने लगे। उस समय भगवान् शंकरने देवताओंसे कहा—'तुम सब लोग कुमार कार्तिकेयको मेरे ही समान मानना' ।। १११ ।।

स हत्वा दानवगणान् पूज्यमानो महर्षिभिः ।
एकाह्नैवाजयत् सर्वं त्रैलोक्यं वह्निनन्दनः ।। ११२ ।।

अग्निनन्दन स्कन्दने सब दानवोंको मारकर महर्षियोंसे पूजित हो एक ही दिनमें समूची त्रिलोकीको जीत लिया ।। ११२ ।।

स्कन्दस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः ।
स पुष्टिमिह सम्प्राप्य स्कन्दसालोक्यमाप्नुयात् ।। ११३ ।।

जो ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो स्कन्ददेवके इस जन्मवृत्तान्तका पाठ करता है, वह संसारमें पुष्टिको प्राप्त हो अन्तमें भगवान् स्कन्दके लोकमें जाता है ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे स्कन्दोत्पत्तौ महिषासुरवधे एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २३१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें अंगिरसोपाख्यानके प्रसंगमें स्कन्दकी उत्पत्ति तथा महिषासुरवधविषयक दो सौ एकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ११३ ½ श्लोक हैं)

---

* रथका वह अग्रभाग जहाँ जूआ बाँधा जाता है, कूबर कहलाता है। ग्राम्य भाषामें उसे ‘नकेला’ या ‘सबुनी’ कहते हैं।

द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कार्तिकेयके प्रसिद्ध नामोंका वर्णन तथा उनका स्तवन

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् श्रोतुमिच्छामि नामान्यस्य महात्मनः ।
त्रिषु लोकेषु यान्यस्य विख्यातानि द्विजोत्तम ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—भगवन्! विप्रवर! तीनों लोकोंमें महामना कार्तिकेयके जो-जो नाम विख्यात हैं, मैं उन्हें सुनना चाहता हूँ ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः पाण्डवेयेन महात्मा ऋषिसंनिधौ ।
उवाच भगवांस्तत्र मार्कण्डेयो महातपाः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके इस प्रकार कहनेपर महातपस्वी महात्मा भगवान् मार्कण्डेयने ऋषियोंके समीप इस प्रकार कहा— ।। २ ।।

मार्कण्डेय उवाच

आग्नेयश्चैव स्कन्दश्च दीप्तकीर्तिरनामयः ।
मयूरकेतुर्धर्मात्मा भूतेशो महिषार्दनः ।। ३ ।।
कामजित् कामदः कान्तः सत्यवाग् भुवनेश्वरः ।
शिशुः शीघ्रः शुचिश्चण्डो दीप्तवर्णः शुभाननः ।। ४ ।।
अमोघस्त्वनघो रौद्रः प्रियश्चन्द्राननस्तथा ।
दीप्तशक्तिः प्रशान्तात्मा भद्रकृत् कूटमोहनः ।। ५ ।।
षष्ठीप्रियश्च धर्मात्मा पवित्रो मातृवत्सलः ।
कन्याभर्ता विभक्तश्च स्वाहेयो रेवतीसुतः ।। ६ ।।
प्रभुर्नेता विशाखश्च नैगमेयः सुदुश्चरः ।
सुव्रतो ललितश्चैव बालक्रीडनकप्रियः ।। ७ ।।
खचारी ब्रह्मचारी च शूरः शरवणोद्भवः ।
विश्वामित्रप्रियश्चैव देवसेनाप्रियस्तथा ।। ८ ।।
वासुदेवप्रियश्चैव प्रियः प्रियकृदेव तु ।
नामान्येतानि दिव्यानि कार्तिकेयस्य यः पठेत् ।
स्वर्गं कीर्तिं धनं चैव स लभेन्नात्र संशयः ।। ९ ।।

मार्कण्डेयजी बोले—राजन्! आग्नेय, स्कन्द, दीप्तकीर्ति, अनामय, मयूरकेतु, धर्मात्मा, भूतेश, महिषमर्दन, कामजित्, कामद, कान्त, सत्यवाक्, भुवनेश्वर, शिशु, शीघ्र,

शुचि, चण्ड, दीप्तवर्ण, शुभानन, अमोघ, अनघ, रौद्र, प्रिय, चन्द्रानन, दीप्तशक्ति, प्रशान्तात्मा, भद्रकृत्, कूटमोहन, षष्ठीप्रिय, धर्मात्मा, पवित्र, मातृवत्सल, कन्याभर्ता, विभक्त, स्वाहेय, रेवतीसुत, प्रभु, नेता, विशाख, नैगमेय, सुदुश्चर, सुव्रत, ललित, बाल-क्रीडनकप्रिय, आकाशचारी, ब्रह्मचारी, शूर, शंखणोद्भव, विश्वामित्रप्रिय, देवसेनाप्रिय, वासुदेवप्रिय, प्रिय और प्रियकृत्—ये कार्तिकेयजीके दिव्य नाम हैं। जो इनका पाठ करता है, वह धन, कीर्ति तथा स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है; इसमें संशय नहीं है ।। ३—९ ।।

स्तोष्यामि देवैर्ऋषिभिश्च जुष्टं
शक्त्या गुहं नामभिरप्रमेयम् ।
षडाननं शक्तिधरं सुवीरं
निबोध चैतानि कुरुप्रवीर ।। १० ।।

कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिर! अब मैं देवताओं तथा ऋषियोंसे सेवित, असंख्य नामों तथा अनन्त शक्तिसे सम्पन्न, शक्ति नामक अस्त्र धारण करनेवाले वीरवर षडानन गुहकी स्तुति करता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो ।।

ब्रह्मण्यो वै ब्रह्मजो ब्रह्मविच्च
ब्रह्मेशयो ब्रह्मवतां वरिष्ठः ।
ब्रह्मप्रियो ब्राह्मणसव्रती त्वं
ब्रह्मज्ञो वै ब्राह्मणानां च नेता ।। ११ ।।

स्कन्ददेव! आप ब्राह्मणहितैषी, ब्रह्मात्मज, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, ब्राह्मणप्रिय, ब्राह्मणोंके समान व्रतधारी, ब्रह्मज्ञ तथा ब्राह्मणोंके नेता हैं ।। ११ ।।

स्वाहा स्वधा त्वं परमं पवित्रं
मन्त्रस्तुतस्त्वं प्रथितः षडर्चिः ।
संवत्सरस्त्वमृतवश्च षड् वै
मासार्धमासावयनं दिशश्च ।। १२ ।।

आप स्वाहा, स्वधा, परम पवित्र, मन्त्रोंद्वारा प्रशंसित और सुप्रसिद्ध षडर्चि (छः ज्वालाओंसे युक्त) अग्नि हैं। आप ही संवत्सर, छः ऋतुएँ, पक्ष, मास, अयन और दिशाएँ हैं ।। १२ ।।

त्वं पुष्कराक्षस्त्वरविन्दवक्त्रः
सहस्रवक्त्रोऽसि सहस्रबाहुः ।
त्वं लोकपालः परमं हविश्च
त्वं भावनः सर्वसुरासुराणाम् ।। १३ ।।

आप कमलनयन, कमलमुख, सहस्रवदन और सहस्रबाहु हैं। आप ही लोकपाल, सर्वोत्तम हविष्य तथा सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंके पालक हैं ।। १३ ।।

त्वमेव सेनाधिपतिः प्रचण्डः

प्रभुर्विभुश्चाप्यथ शत्रुजेता ।

सहस्रभूस्त्वं धरणी त्वमेव

सहस्रतुष्टिश्च सहस्रभुक् च ।। १४ ।।

आप ही सेनापति, अत्यन्त कोपवान्, प्रभु, विभु और शत्रुविजयी हैं। आप ही सहस्रभू और पृथ्वी हैं। आप ही सहस्रों प्राणियोंको संतोष देनेवाले तथा सहस्रभोक्ता हैं ।। १४ ।।

सहस्रशीर्षस्त्वमनन्तरूपः

सहस्रपात् त्वं गुह शक्तिधारी ।

गङ्गासुतस्त्वं स्वमतेन देव

स्वाहामहीकृत्तिकानां तथैव ।। १५ ।।

आपके सहस्रों मस्तक हैं। आपके रूपका कहीं अन्त नहीं है। आपके सहस्रों चरण हैं। गुह! आप शक्ति धारण करते हैं। देव! आप अपने इच्छानुसार गंगा, स्वाहा, पृथ्वी तथा कृत्तिकाओंके पुत्ररूपसे प्रकट हुए हैं ।। १५ ।।

त्वं क्रीडसे षण्मुख कुक्कुटेन

यथेष्टनानाविधकामरूपी ।

दीक्षासि सोमो मरुतः सदैव

धर्मोऽसि वायुरचलेन्द्र इन्द्रः ।। १६ ।।

षडानन! आप मुर्गेसे खेलते हैं तथा इच्छानुसार नाना प्रकारके कमनीय रूप धारण करते हैं। आप सदा ही दीक्षा, सोम, मरुद्गण, धर्म, वायु, गिरिराज तथा इन्द्र हैं ।। १६ ।।

सनातनानामपि शाश्वतस्त्वं

प्रभुः प्रभूणामपि चोग्रधन्वा ।

ऋतस्य कर्ता दितिजान्तकस्त्वं

जेता रिपूणां प्रवरः सुराणाम् ।। १७ ।।

आप सनातनोंमें भी सनातन हैं। प्रभुओंके भी प्रभु हैं। आपका धनुष भयंकर है। आप सत्यके प्रवर्तक, दैत्योंका संहार करनेवाले, शत्रुविजयी तथा देवताओंमें श्रेष्ठ हैं ।। १७ ।।

सूक्ष्मं तपस्तत् परमं त्वमेव

परावरज्ञोऽसि परावरस्त्वम् ।

धर्मस्य कामस्य परस्य चैव

त्वत्तेजसा कृत्स्नमिदं महात्मन् ।। १८ ।।

जो सर्वोत्कृष्ट सूक्ष्म तप है, वह आप ही हैं। आप ही कार्य-कारण-तत्त्वके ज्ञाता तथा कार्यकारणस्वरूप हैं। धर्म, काम तथा इन दोनोंसे परे जो मोक्षतत्त्व है, उसके भी आप ही ज्ञाता हैं। महात्मन्! यह सम्पूर्ण जगत् आपके तेजसे प्रकाशित होता है ।। १८ ।।

व्याप्तं जगत् सर्वसुरप्रवीर

शक्त्या मया संस्तुत लोकनाथ ।

नमोऽस्तु ते द्वादशनेत्रबाहो
अतः परं वेद्मि गतिं न तेऽहम् ।। १९ ।।

समस्त देवताओंके प्रमुख वीर! आपकी शक्तिसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। लोकनाथ! मैंने यथाशक्ति आपका स्तवन किया है। बारह नेत्रों और भुजाओंसे सुशोभित देव! आपको नमस्कार है। इससे परे आपका जो स्वरूप है, उसे मैं नहीं जानता ।। १९ ।।

स्कन्दस्य य इदं विप्रः पठेज्जन्म समाहितः ।
श्रावयेद् ब्राह्मणेभ्यो यः शृणुयाद् वा द्विजेरितम् ।। २० ।।
धनमायुर्यशो दीप्तं पुत्राञ्छत्रुजयं तथा ।
स पुष्टितुष्टी सम्प्राप्य स्कन्दसालोक्यमाप्नुयात् ।। २१ ।।

जो ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो स्कन्ददेवके इस जन्म-वृत्तान्तको पढ़ता है, ब्राह्मणोंको सुनाता है अथवा स्वयं ब्राह्मणके मुखसे सुनता है, वह धन, आयु, उज्ज्वल यश, पुत्र, शत्रुविजय तथा तुष्टि-पुष्टि पाकर अन्तमें स्कन्दके लोकमें जाता है ।। २०-२१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि आङ्गिरसे कार्तिकेयस्तवे द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २३२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मार्कण्डेयसमास्यापर्वमें आंगिरसोपाख्यानके प्रसंगमें कार्तिकेयस्तुतिविषयक दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३२ ।।

द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद

(द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्व)

त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका सत्यभामाको सती स्त्रीके कर्तव्यकी शिक्षा देना

वैशम्पायन उवाच

उपासीनेषु विप्रेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
द्रौपदी सत्यभामा च विविशाते तदा समम् ।। १ ।।
जाहस्यमाने सुप्रीते सुखं तत्र निषीदतुः ।
चिरस्य दृष्ट्वा राजेन्द्र तेऽन्योन्यस्य प्रियंवदे ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब महात्मा पाण्डव तथा ब्राह्मणलोग आस-पास बैठकर धर्मचर्चा कर रहे थे, उसी समय द्रौपदी और सत्यभामा भी एक ओर जाकर एक ही साथ सुखपूर्वक बैठीं और अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक परस्पर हास्य-विनोद करने लगीं। राजेन्द्र! दोनोंने एक-दूसरीको बहुत दिनों बाद देखा था, इसलिये परस्पर प्रिय लगनेवाली बातें करती हुई वहाँ सुखपूर्वक बैठी रहीं ।। १-२ ।।

कथयामासतुश्चित्राः कथाः कुरुयदूत्थिताः ।
अथाब्रवीत् सत्यभामा कृष्णस्य महिषी प्रिया ।। ३ ।।
सात्राजिती याज्ञसेनीं रहसीदं सुमध्यमा ।
केन द्रौपदि वृत्तेन पाण्डवानधितिष्ठसि ।। ४ ।।
लोकपालोपमान् वीरान् पुनः परमसंहतान् ।
कथं च वशगास्तुभ्यं न कुप्यन्ति च ते शुभे ।। ५ ।।

कुरुकुल और यदुकुलसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक विचित्र बातें उनकी चर्चाकी विषय थीं। भगवान् श्रीकृष्णकी प्यारी पटरानी सत्राजित्‌कुमारी सुन्दरी सत्यभामाने एकान्तमें द्रौपदीसे इस प्रकार पूछा—'शुभे! द्रुपदकुमारि! किस बर्तावसे तुम हृष्ट-पुष्ट अंगोंवाले तथा लोकपालोंके समान वीर पाण्डवोंके हृदयपर अधिकार रखती हो? किस प्रकार तुम्हारे वशमें रहते हुए वे कभी तुमपर कुपित नहीं होते? ।। ३—५ ।।

तव वश्या हि सततं पाण्डवाः प्रियदर्शने ।
मुखप्रेक्षाश्च ते सर्वे तत्त्वमेतद् ब्रवीहि मे ।। ६ ।।

'प्रियदर्शने! क्या कारण है कि पाण्डव सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं और सब-के-सब तुम्हारे मुँहकी ओर देखते रहते हैं? इसका यथार्थ रहस्य मुझे बताओ ।। ६ ।।

व्रतचर्या तपो वापि स्नानमन्त्रौषधानि वा ।
विद्यावीर्यं मूलवीर्यं जपहोमागदास्तथा ।। ७ ।।
ममाद्याचक्ष्व पाञ्चालि यशस्यं भगदैवतम् ।
येन कृष्णे भवेन्नित्यं मम कृष्णो वशानुगः ।। ८ ।।

'पाञ्चालकुमारी कृष्णे! आज मुझे भी कोई ऐसा व्रत, तप, स्नान, मन्त्र, औषध, विद्या-शक्ति, मूल-शक्ति (जड़ी-बूटीका प्रभाव) जप, होम या दवा बताओ, जो यश और सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाला हो तथा जिससे श्यामसुन्दर सदा मेरे अधीन रहें' ।। ७-८ ।।

एवमुक्त्वा सत्यभामा विरराम यशस्विनी ।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदी प्रत्युवाच ताम् ।। ९ ।।

ऐसा कहकर यशस्विनी सत्यभामा चुप हो गयी। तब पतिपरायणा महाभागा द्रौपदीने उसे इस प्रकार उत्तर दिया— ।। ९ ।।

असत्स्त्रीणां समाचारं सत्ये मामनुपृच्छसि ।
असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्तनम् ।। १० ।।

'सत्ये! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रही हो, वह साध्वी स्त्रियोंका नहीं, दुराचारिणी और कुलटा स्त्रियोंका आचरण है। जिस मार्गका दुराचारिणी स्त्रियोंने अवलम्बन किया है उसके विषयमें हमलोग कोई चर्चा कैसे कर सकती हैं? ।। १० ।।

अनुप्रश्नः संशयो वा नैतत् त्वय्युपपद्यते ।
तथा ह्युपेता बुद्ध्या त्वं कृष्णस्य महिषी प्रिया ।। ११ ।।

'इस प्रकारका प्रश्न अथवा स्वामीके स्नेहमें संदेह करना तुम्हारे-जैसी साध्वी स्त्रीके लिये कदापि उचित नहीं है; चूँकि तुम बुद्धिमती होनेके साथ ही श्यामसुन्दरकी प्रियतमा पटरानी हो ।। ११ ।।

यदैव भर्ता जानीयान्मन्त्रमूलपरां स्त्रियम् ।
उद्विजेत तदैवास्याः सर्पाद् वेश्मगतादिव ।। १२ ।।

'जब पतिको यह मालूम हो जाय कि उसकी पत्नी उसे वशमें करनेके लिये किसी मन्त्र-तन्त्र अथवा जड़ी-बूटीका प्रयोग कर रही है तो वह उससे उसी प्रकार उद्विग्न हो उठता है जैसे अपने घरमें घुसे हुए सर्पसे लोग शंकित रहते हैं' ।। १२ ।।

उद्विग्नस्य कुतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।
न जातु वशगो भर्ता स्त्रियाः स्यान्मन्त्रकर्मणा ।। १३ ।।

'उद्विग्नको शान्ति कैसी? और अशान्तको सुख कहाँ? अतः मन्त्र-तन्त्र करनेसे पति अपनी पत्नीके वशमें कदापि नहीं हो सकता ।। १३ ।।

अमित्रप्रहितांश्चापि गदान् परमदारुणान् ।
मूलप्रचारैर्हि विषं प्रयच्छन्ति जिघांसवः ।। १४ ।।

'इसके सिवा, ऐसे अवसरोंपर धोखेसे शत्रुओं-द्वारा भेजी हुई ओषधियोंको खिलाकर कितनी ही स्त्रियाँ अपने पतियोंको अत्यन्त भयंकर रोगोंका शिकार बना देती हैं। किसीको मारनेकी इच्छावाले मनुष्य उसकी स्त्रीके हाथमें यह प्रचार करते हुए विष दे देते हैं कि 'यह पतिको वशमें करनेवाली जड़ी-बूटी है' ।। १४ ।।

जिह्वया यानि पुरुषस्त्वचा वाप्युपसेवते ।
तत्र चूर्णानि दत्तानि हन्युः क्षिप्रमसंशयम् ।। १५ ।।

'उनके दिये हुए चूर्ण ऐसे होते हैं कि उन्हें पति यदि जिह्वा अथवा त्वचासे भी स्पर्श कर ले, तो वे निःसंदेह उसी क्षण उसके प्राण ले लें ।। १५ ।।

जलोदरसमायुक्ताः श्वित्रिणः पलितास्तथा ।
अपुमांसः कृताः स्त्रीभिर्जडान्धबधिरास्तथा ।। १६ ।।

'कितनी ही स्त्रियोंने अपने पतियोंको (वशमें करनेकी आशासे हानिकारक दवाएँ खिलाकर उन्हें) जलोदर और कोढ़का रोगी, असमयमें ही वृद्ध, नपुंसक, अंधा, गूँगा और बहरा बना दिया है ।। १६ ।।

पापानुगास्तु पापास्ताः पतीनुपसृजन्त्युत ।
न जातु विप्रियं भर्तुः स्त्रिया कार्यं कथंचन ।। १७ ।।

'इस प्रकार पापियोंका अनुसरण करनेवाली वे पापिनी स्त्रियाँ अपने पतियोंको अनेक प्रकारकी विपत्तियोंमें डाल देती हैं। अतः साध्वी स्त्रीको चाहिये कि वह कभी किसी प्रकार

भी पतिका अप्रिय न करे ।। १७ ।।

वर्ताम्यहं तु यां वृत्तिं पाण्डवेषु महात्मसु ।
तां सर्वां शृणु मे सत्यां सत्यभामे यशस्विनि ।। १८ ।।

‘यशस्विनी सत्यभामे! मैं स्वयं महात्मा पाण्डवोंके साथ जैसा बर्ताव करती हूँ, वह सब सच-सच सुनाती हूँ; सुनो ।। १८ ।।

अहंकारं विहायाहं कामक्रोधौ च सर्वदा ।
सदारान् पाण्डवान् नित्यं प्रयतोपचराम्यहम् ।। १९ ।।

‘मैं अहंकार और काम-क्रोधको छोड़कर सदा पूरी सावधानीके साथ सब पाण्डवोंकी और उनकी अन्यान्य स्त्रियोंकी भी सेवा करती हूँ ।। १९ ।।

प्रणयं प्रतिसंहृत्य निधायात्मानमात्मनि ।
शुश्रूषुर्निरहंमाना पतीनां चित्तरक्षिणी ।। २० ।।

अपनी इच्छाओंका दमन करके मनको अपने-आपमें ही समेटे हुए केवल सेवाकी इच्छासे ही अपने पतियोंका मन रखती हूँ। अहंकार और अभिमानको अपने पास नहीं फटकने देती ।। २० ।।

दुर्व्याहृताच्छङ्कमाना दुःस्थिताद् दुरवेक्षितात् ।
दुरासिताद् दुर्व्रजितादिङ्गिताध्यासितादपि ।। २१ ।।

‘कभी मेरे मुखसे कोई बुरी बात न निकल जाय, इसकी आशंकासे सदा सावधान रहती हूँ। असभ्यकी भाँति कहीं खड़ी नहीं होती। निर्लज्जकी तरह सब ओर दृष्टि नहीं डालती। बुरी जगहपर नहीं बैठती। दुराचारसे बचती तथा चलने-फिरनेमें भी असभ्यता न हो जाय, इसके लिये सतत सावधान रहती हूँ। पतियोंके अभिप्रायपूर्ण संकेतका सदैव अनुसरण करती हूँ ।। २१ ।।

सूर्यवैश्वानरसमान् सोमकल्पान् महारथात् ।
सेवे चक्षुर्हणः पार्थानुग्रवीर्यप्रतापिनः ।। २२ ।।

‘कुन्तीदेवीके पाँचों पुत्र ही मेरे पति हैं। वे सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी, चन्द्रमाके समान आह्लाद प्रदान करनेवाले, महारथी, दृष्टिमात्रसे ही शत्रुओंको मारनेकी शक्ति रखनेवाले तथा भयंकर बल-पराक्रम एवं प्रतापसे युक्त हैं। मैं सदा उन्हींकी सेवामें लगी रहती हूँ ।। २२ ।।

देवो मनुष्यो गन्धर्वो युवा चापि स्वलंकृतः ।
द्रव्यवानभिरूपो वा न मेऽन्यः पुरुषो मतः ।। २३ ।।

‘देवता, मनुष्य, गन्धर्व, युवक, बड़ी सजधजवाला धनवान् अथवा परम सुन्दर कैसा ही पुरुष क्यों न हो, मेरा मन पाण्डवोंके सिवा और कहीं नहीं जाता ।। २३ ।।

नाभुक्तवति नास्नाते नासंविष्टे च भर्तरि ।
न संविशामि नाश्नामि सदा कर्मकरेष्वपि ।। २४ ।।

'पतियों और उनके सेवकोंको भोजन कराये बिना मैं कभी भोजन नहीं करती, उन्हें नहलाये बिना कभी नहाती नहीं हूँ तथा पतिदेव जबतक शयन न करें, तबतक मैं सोती भी नहीं हूँ ।। २४ ।।

क्षेत्राद् वनाद् वा ग्रामाद् वा भर्तारं गृहमागतम् ।
अभ्युत्थायाभिनन्दामि आसनेनोदकेन च ।। २५ ।।

'खेतसे, वनसे अथवा गाँवसे जब कभी मेरे पति घर पधारते हैं, उस समय मैं खड़ी होकर उनका अभिनन्दन करती हूँ; तथा आसन और जल अर्पण करके उनके स्वागत-सत्कारमें लग जाती हूँ ।। २५ ।।

प्रमृष्टभाण्डा मृष्टान्ना काले भोजनदायिनी ।
संयता गुप्तधान्या च सुसम्मृष्टनिवेशना ।। २६ ।।

'मैं घरके बर्तनोंको माँज-धोकर साफ रखती हूँ। शुद्ध एवं स्वादिष्ट रसोई तैयार करके सबको ठीक समयपर भोजन कराती हूँ। मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर घरमें गुप्तरूपसे अनाजका संचय रखती हूँ और घरको झाड़-बुहार, लीप-पोतकर सदा स्वच्छ एवं पवित्र बनाये रखती हूँ ।। २६ ।।

अतिरस्कृतसम्भाषा दुःस्त्रियो नानुसेवती ।
अनुकूलवती नित्यं भवाम्यनलसा सदा ।। २७ ।।

'मैं कोई ऐसी बात मुँहसे नहीं निकालती, जिससे किसीका तिरस्कार होता हो। दुष्ट स्त्रियोंके सम्पर्कसे सदा दूर रहती हूँ। आलस्यको कभी पास नहीं आने देती और सदा पतियोंके अनुकूल बर्ताव करती हूँ ।। २७ ।।

अनर्म चापि हसितं द्वारि स्थानमभीक्ष्णशः ।
अवस्करे चिरस्थानं निष्कुटेषु च वर्जये ।। २८ ।।

'पतिके किये हुए परिहासके सिवा अन्य समयमें मैं नहीं हँसा करती, दरवाजेपर बार-बार नहीं खड़ी होती, जहाँ कूड़े-करकट फेंके जाते हों, ऐसे गंदे स्थानोंमें देरतक नहीं ठहरती और बगीचोंमें भी बहुत देरतक अकेली नहीं घूमती हूँ ।। २८ ।।

(अन्त्यालापमसंतोषं परव्यापारसंकथाम् ।
अतिहासातिरोषौ च क्रोधस्थानं च वर्जये ।
निरताहं सदा सत्ये भर्तॄणामुपसेवने ।। २९ ।।

'नीच पुरुषोंसे बात नहीं करती, मनमें असंतोषको स्थान नहीं देती और परायी चर्चासे दूर रहती हूँ। न अधिक हँसती हूँ और न अधिक क्रोध करती हूँ। क्रोधका अवसर ही नहीं आने देती। सदा सत्य बोलती और पतियोंकी सेवामें लगी रहती हूँ ।। २९ ।।

सर्वथा भर्तृरहितं न ममेष्टं कथंचन ।
यदा प्रवसते भर्ता कुटुम्बार्थेन केनचित् ।। ३० ।।
सुमनोवर्णकापेता भवामि व्रतचारिणी ।

'पतिदेवके बिना किसी भी स्थानमें अकेली रहना मुझे बिलकुल पसंद नहीं है। मेरे स्वामी जब कभी कुटुम्बके कार्यसे कभी परदेश चले जाते हैं, उन दिनों मैं फूलोंका शृंगार नहीं धारण करती, अंगराग नहीं लगाती और निरन्तर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करती हूँ ।। ३० १/२ ।।

यच्च भर्ता न पिबति यच्च भर्ता न सेवते ।। ३१ ।।
यच्च नाश्नाति मे भर्ता सर्वं तद् वर्जयाम्यहम् ।

'मेरे पतिदेव जिस चीजको नहीं खाते, नहीं पीते अथवा नहीं सेवन करते, वह सब मैं भी त्याग देती हूँ ।। ३१ १/२ ।।

यथोपदेशं नियता वर्तमाना वराङ्गने ।। ३२ ।।
स्वलंकृता सुप्रयता भर्तुः प्रियहिते रता ।
ये च धर्माः कुटुम्बेषु श्वश्र्वा मे कथिताः पुरा ।। ३३ ।।
(अनुतिष्ठामि तत् सर्वं नित्यकालमतन्द्रिता ।।)

'सुन्दरी! शास्त्रोंमें स्त्रियोंके लिये जिन कर्तव्योंका उपदेश किया गया है, उन सबका मैं नियमपूर्वक पालन करती हूँ। अपने अंगोंको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित रखकर पूरी सावधानीके साथ मैं पतिके प्रिय एवं हित-साधनमें संलग्न रहती हूँ। मेरी सासने अपने परिवारके लोगोंके साथ बर्तावमें लानेयोग्य जो धर्म पहले मुझे बताये थे, उन सबका मैं निरन्तर आलस्यरहित होकर पालन करती हूँ ।। ३२-३३ ।।

भिक्षाबलिश्राद्धमिति स्थालीपाकाश्च पर्वसु ।
मान्यानां मानसत्कारा ये चान्ये विदिता मम ।। ३४ ।।
तान् सर्वाननुवर्तेऽहं दिवारात्रमतन्द्रिता ।
विनयान् नियमांश्चैव सदा सर्वात्मना श्रिता ।। ३५ ।।

'मैं दिन-रात आलस्य त्यागकर भिक्षा-दान, बलिवैश्वदेव, श्राद्ध, पर्वकालोचित स्थालीपाकयज्ञ, मान्य पुरुषोंका आदर-सत्कार, विनय, नियम तथा अन्य जो-जो धर्म मुझे ज्ञात हैं, उन सबका सब प्रकारसे उद्यत होकर पालन करती हूँ ।। ३४-३५ ।।

मृदून् सतः सत्यशीलान् सत्यधर्मानुपालिनः ।
आशीविषानिव क्रुद्धान् पतीन् परिचराम्यहम् ।। ३६ ।।

'मेरे पति बड़े ही सज्जन और मृदुल स्वभावके हैं। सत्यवादी तथा सत्यधर्मका निरन्तर पालन करनेवाले हैं; तथापि क्रोधमें भरे हुए विषैले सर्पोंसे जिस प्रकार लोग डरते हैं, उसी प्रकार मैं अपने पतियोंसे डरती हुई उनकी सेवा करती हूँ ।। ३६ ।।

पत्याश्रयो हि मे धर्मो मतः स्त्रीणां सनातनः ।
स देवः सा गतिर्नान्या तस्य का विप्रियं चरेत् ।। ३७ ।।

'मैं यह मानती हूँ कि पतिके आश्रयमें रहना ही स्त्रियोंका सनातन धर्म है। पति ही उनका देवता है और पति ही उनकी गति है। पतिके सिवा नारीका दूसरा कोई सहारा नहीं

है, ऐसे पतिदेवताका भला कौन स्त्री अप्रिय करेगी? ।। ३७ ।।

अहं पतीन् नातिशये नात्यश्ने नातिभूषये ।
नापि श्वश्रूं परिवदे सर्वदा परियन्त्रिता ।। ३८ ।।

'पतियोंके शयन करनेसे पहले मैं कभी शयन नहीं करती, उनसे पहले भोजन नहीं करती, उनकी इच्छाके विरुद्ध कोई आभूषण नहीं पहनती, अपनी सासकी कभी निन्दा नहीं करती और अपने-आपको सदा नियन्त्रणमें रखती हूँ ।। ३८ ।।

अवधानेन सुभगे नित्योत्थिततयैव च ।
भर्तारो वशगा मह्यं गुरुशुश्रूषयैव च ।। ३९ ।।

'सौभाग्यशालिनी सत्यभामे! मैं सावधानीसे सर्वदा सबेरे उठकर समुचित सेवाके लिये सन्नद्ध रहती हूँ। गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषासे ही मेरे पति मेरे अनुकूल रहते हैं ।। ३९ ।।

नित्यमार्यामहं कुन्तीं वीरसूं सत्यवादिनीम् ।
स्वयं परिचराम्येतां पानाच्छादनभोजनैः ।। ४० ।।

'मैं वीरजननी सत्यवादिनी आर्या कुन्तीदेवीकी भोजन, वस्त्र और जल आदिसे सदा स्वयं सेवा करती रहती हूँ ।। ४० ।।

नैतामतिशये जातु वस्त्रभूषणभोजनैः ।
नापि परिवदे चाहं तां पृथां पृथिवीसमाम् ।। ४१ ।।

'वस्त्र, आभूषण और भोजन आदिमें मैं कभी सासकी अपेक्षा अपने लिये कोई विशेषता नहीं रखती। मेरी सास कुन्तीदेवी पृथ्वीके समान क्षमाशील हैं। मैं कभी उनकी निन्दा नहीं करती ।। ४१ ।।

अष्टावग्रे ब्राह्मणानां सहस्राणि स्म नित्यदा ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीषु युधिष्ठिरनिवेशने ।। ४२ ।।

'पहले महाराज युधिष्ठिरके महलमें प्रतिदिन आठ हजार ब्राह्मण सोनेकी थालियोंमें भोजन किया करते थे ।। ४२ ।।

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ।। ४३ ।।

'महाराज युधिष्ठिरके यहाँ अट्ठासी हजार ऐसे स्नातक गृहस्थ थे, जिनका वे भरण-पोषण करते थे। उनमेंसे प्रत्येककी सेवामें तीस-तीस दासियाँ रहती थीं ।। ४३ ।।

दशान्यानि सहस्राणि येषामन्नं सुसंस्कृतम् ।
ह्रियते रुक्मपात्रीभिर्यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।। ४४ ।।

'इनके सिवा दूसरे दस हजार और ऊर्ध्वरेता यति उनके यहाँ रहते थे, जिनके लिये सुन्दर ढंगसे तैयार किया हुआ अन्न सोनेकी थालियोंमें परोसकर पहुँचाया जाता था ।। ४४ ।।

तान् सर्वानग्रहारेण ब्राह्मणान् वेदवादिनः ।

यथार्हं पूजयामि स्म पानाच्छादनभोजनैः ।। ४५ ।।

'मैं उन सब वेदवादी ब्राह्मणोंको अग्रहार (बलिवैश्वदेवके अन्तमें अतिथिको दिये जानेवाले प्रथम अन्न)-का अर्पण करके भोजन, वस्त्र और जलके द्वारा उनकी यथायोग्य पूजा करती थी ।। ४५ ।।

शतं दासीसहस्राणि कौन्तेयस्य महात्मनः ।
कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलङ्कृताः ।। ४६ ।।

'कुन्तीनन्दन महात्मा युधिष्ठिरके एक लाख दासियाँ थीं, जो हाथोंमें शंखकी चूड़ियाँ, भुजाओंमें बाजूबंद और कण्ठमें सुवर्णके हार पहनकर बड़ी सजधजके साथ रहती थीं ।। ४६ ।।

महार्हमाल्याभरणाः सुवर्णाश्चन्दनोक्षिताः ।
मणीन् हेम च बिभ्रत्यो नृत्यगीतविशारदाः ।। ४७ ।।

'उनकी मालाएँ तथा आभूषण बहुमूल्य थे, अंगकान्ति बड़ी सुन्दर थी। वे चन्दनमिश्रित जलसे स्नान करती और चन्दनका ही अंगराग लगाती थीं, मणि तथा सुवर्णके गहने पहना करती थीं। नृत्य और गीतकी कलामें उनका कौशल देखने ही योग्य था ।। ४७ ।।

तासां नाम च रूपं च भोजनाच्छादनानि च ।
सर्वासामेव वेदाहं कर्म चैव कृताकृतम् ।। ४८ ।।

'उन सबके नाम, रूप तथा भोजन-आच्छादन आदि सभी बातोंकी मुझे जानकारी रहती थी। किसने क्या काम किया और क्या नहीं किया? यह बात भी मुझसे छिपी नहीं रहती थी' ।। ४८ ।।

शतं दासीसहस्राणि कुन्तीपुत्रस्य धीमतः ।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत ।। ४९ ।।

'बुद्धिमान् कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी पूर्वोक्त एक लाख दासियाँ हाथोंमें (भोजनसे भरी हुई) थाली लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन कराती थीं ।। ४९ ।।

शतमश्वसहस्राणि दशनागायुतानि च ।
युधिष्ठिरस्यानुयात्रमिन्द्रप्रस्थनिवासिनः ।। ५० ।।
एतदासीत् तदा राज्ञो यन्महीं पर्यपालयत् ।
येषां संख्याविधिं चैव प्रदिशामि शृणोमि च ।। ५१ ।।

'जिन दिनों महाराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थमें रहकर इस पृथ्वीका पालन करते थे, उस समय प्रत्येक यात्रामें उनके साथ एक लाख घोड़े और एक लाख हाथी चलते थे। मैं ही उनकी गणना करती, आवश्यक वस्तुएँ देती और उनकी आवश्यकताएँ सुनती थी ।। ५०-५१ ।।

अन्तःपुराणां सर्वेषां भृत्यानां चैव सर्वशः ।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ।। ५२ ।।

‘अन्तःपुरके, नौकरोंके तथा ग्वालों और गड़रियोंसे लेकर समस्त सेवकोंके सभी कार्योंकी देखभाल मैं ही करती थी और किसने क्या काम किया अथवा कौन काम अधूरा रह गया—इन सब बातोंकी जानकारी भी रखती थी ।। ५२ ।।

सर्वं राज्ञः समुदयमायं च व्ययमेव च ।
एकाहं वेद्मि कल्याणि पाण्डवानां यशस्विनि ।। ५३ ।।

‘कल्याणी एवं यशस्विनी सत्यभामे! महाराज तथा अन्य पाण्डवोंको जो कुछ आय, व्यय और बचत होती थी, उस सबका हिसाब मैं अकेली ही रखती और जानती थी ।। ५३ ।।

मयि सर्वं समासज्य कुटुम्बं भरतर्षभाः ।
उपासनरताः सर्वे घटयन्ति वरानने ।। ५४ ।।

‘वरानने! भरतश्रेष्ठ पाण्डव कुटुम्बका सारा भार मुझपर ही रखकर उपासनामें लगे रहते और तदनुरूप चेष्टा करते थे ।। ५४ ।।

तमहं भारमासक्तमनाधृष्यं दुरात्मभिः ।
सुखं सर्वं परित्यज्य रात्र्यहानि घटामि वै ।। ५५ ।।

‘मुझपर जो भार रखा गया था, उसे दुष्ट स्वभावके स्त्री-पुरुष नहीं उठा सकते थे। परंतु मैं सब प्रकारका सुख-भोग छोड़कर रात-दिन उस दुर्वह भारको वहन करनेकी चेष्टा किया करती थी ।। ५५ ।।

अधृष्यं वरुणस्येव निधिपूर्णमिवोदधिम् ।
एकाहं वेद्मि कोशं वै पतीनां धर्मचारिणाम् ।। ५६ ।।

‘मेरे धर्मात्मा पतियोंका भरा-पूरा खजाना वरुणके भण्डार और परिपूर्ण महासागरके समान अक्षय एवं अगम्य था। केवल मैं ही उनके विषयकी ठीक जानकारी रखती थी ।। ५६ ।।

अनिशायां निशायां च सहा या क्षुत्पिपासयोः ।
आराधयन्त्याः कौरव्यांस्तुल्या रात्रिरहश्च मे ।। ५७ ।।

‘रात हो या दिन, मैं सदा भूख-प्यासके कष्ट सहन करके निरन्तर कुरुकुलरत्न पाण्डवोंकी आराधनामें लगी रहती थी। इससे मेरे लिये दिन और रात समान हो गये थे ।। ५७ ।।

प्रथमं प्रतिबुध्यामि चरमं संविशामि च ।
नित्यकालमहं सत्ये एतत् संवननं मम ।। ५८ ।।

‘सत्ये! मैं प्रतिदिन सबसे पहले उठती और सबसे पीछे सोती थी। यह पतिभक्ति और सेवा ही मेरा वशीकरण मन्त्र है ।। ५८ ।।

एतज्जानाम्यहं कर्तुं भर्तृसंवननं महत् ।
असत्स्त्रीणां समाचारं नाहं कुर्यां न कामये ।। ५९ ।।

'पतिको वशमें करनेका यही सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय मैं जानती हूँ। दुराचारिणी स्त्रियाँ जिन उपायोंका अवलम्बन करती हैं, उन्हें न तो मैं करती हूँ और न चाहती ही हूँ' ।। ५९ ।।

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा धर्मसहितं व्याहृतं कृष्णया तदा ।
उवाच सत्या सत्कृत्य पाञ्चालीं धर्मचारिणीम् ।। ६० ।।
अभिपन्नास्मि पाञ्चालि याज्ञसेनि क्षमस्व मे ।
कामकारः सखीनां हि सोपहासं प्रभाषितम् ।। ६१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! द्रौपदीकी ये धर्मयुक्त बातें सुनकर सत्यभामाने उस धर्मपरायणा पाञ्चालीका समादर करते हुए कहा—'पाञ्चालराजकुमारी! याज्ञसेनी! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ; (मैंने जो अनुचित प्रश्न किया है), उसके लिये मुझे क्षमा कर दो। सखियोंमें परस्पर स्वेच्छापूर्वक ऐसी हास-परिहासकी बातें हो जाया करती हैं' ।। ६०-६१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २३३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीसत्यभामा-संवादपर्वमें दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६२ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पतिदेवको अनुकूल करनेका उपाय—पतिकी अनन्यभावसे सेवा

द्रौपद्युवाच

इमं तु ते मार्गमपेतमोहं
वक्ष्यामि चित्तग्रहणाय भर्तुः ।
अस्मिन् यथावत् सखि वर्तमाना
भर्तारमाच्छेत्स्यसि कामिनीभ्यः ।। १ ।।

द्रौपदी बोली—सखी! मैं स्वामीके मनका आकर्षण करनेके लिये तुम्हें एक ऐसा मार्ग बता रही हूँ, जिसमें भ्रम अथवा छल-कपटके लिये तनिक भी स्थान नहीं है। यदि तुम यथावत्‌रूपसे इसी पथपर चलती रहोगी तो स्वामीके चित्तको अपनी सौतोंसे हटाकर अपनी ओर अवश्य खींच सकोगी ।। १ ।।

नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये
सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु ।
यथा पतिस्तस्य तु सर्वकामा
लभ्याः प्रसादात् कुपितश्च हन्यात् ।। २ ।।

सत्ये! स्त्रियोंके लिये देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें पतिके समान दूसरा कोई देवता नहीं है। पतिके प्रसादसे नारीकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं, और यदि पति ही कुपित हो जाय तो वह नारीकी सभी आशाओंको नष्ट कर सकता है ।। २ ।।

तस्मादपत्यं विविधाश्च भोगाः
शय्यासनान्युत्तमदर्शनानि ।
वस्त्राणि माल्यानि तथैव गन्धाः
स्वर्गश्च लोको विपुला च कीर्तिः ।। ३ ।।

सेवाद्वारा प्रसन्न किये हुए पतिसे स्त्रियोंको (उत्तम) संतान, भाँति-भाँतिके भोग, शय्या, आसन, सुन्दर दिखायी देनेवाले वस्त्र, माला, सुगन्धित पदार्थ, स्वर्गलोक तथा महान् यशकी प्राप्ति होती है ।। ३ ।।

सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं
दुःखेन साध्वी लभते सुखानि ।
सा कृष्णमाराधय सौहृदेन
प्रेम्णा च नित्यं प्रतिकर्मणा च ।। ४ ।।

तथाऽऽसनैश्वारुभिरग्रमाल्यै-
दाक्षिण्ययोगैर्विविधैश्च गन्धैः ।
अस्याः प्रियोऽस्मीति यथा विदित्वा
त्वामेव संश्लिष्यति तद् विधत्स्व ।। ५ ।।

सखी! इस जगत्में कभी सुखके द्वारा सुख नहीं मिलता। पतिव्रता स्त्री दुःख उठाकर ही सुख पाती है। तुम सौहार्द, प्रेम, सुन्दर वेश-भूषा-धारण, सुन्दर आसन-समर्पण, मनोहर पुष्पमाला, उदारता, सुगन्धित द्रव्य एवं व्यवहारकुशलतासे श्यामसुन्दरकी निरन्तर आराधना करती रहो। उनके साथ ऐसा बर्ताव करो, जिससे वे यह समझकर 'कि सत्यभामाको मैं ही अधिक प्रिय हूँ' तुम्हें ही हृदयसे लगाया करें ।। ४-५ ।।

श्रुत्वा स्वरं द्वारगतस्य भर्तुः
प्रत्युत्थिता तिष्ठ गृहस्य मध्ये ।
दृष्ट्वा प्रविष्टं त्वरिताऽऽसनेन
पाद्येन चैनं प्रतिपूजयस्व ।। ६ ।।

जब महलके द्वारपर पधारे हुए प्राणवल्लभका स्वर सुनायी पड़े, तब तुम उठकर घरके आँगनमें आ जाओ और उनकी प्रतीक्षामें खड़ी रहो। जब देखो कि वे भीतर आ गये, तब तुरंत आसन और पाद्यके द्वारा उनका यथावत् पूजन करो ।। ६ ।।

सम्प्रेषितायामथ चैव दास्या-
मुत्थाय सर्वं स्वयमेव कार्यम् ।
जानातु कृष्णस्तव भावमेतं
सर्वात्मना मां भजतीति सत्ये ।। ७ ।।

सत्ये! यदि श्यामसुन्दर किसी कार्यके लिये दासीको भेजते हों तो तुम्हें स्वयं उठकर वह सब काम कर लेना चाहिये; जिससे श्रीकृष्णको तुम्हारे इस सेवा-भावका अनुभव हो जाय कि सत्यभामा सम्पूर्ण हृदयसे मेरी सेवा करती है ।। ७ ।।

त्वत्संनिधौ यत् कथयेत् पतिस्ते
यद्यप्यगुह्यं परिरक्षितव्यम् ।
काचित् सपत्नी तव वासुदेवं
प्रत्यादिशेत् तेन भवेद् विरागः ।। ८ ।।

तुम्हारे पति तुम्हारे निकट जो भी बात कहें, वह छिपानेयोग्य न हो, तो भी तुम्हें उसे गुप्त ही रखना चाहिये। अन्यथा तुम्हारे मुखसे उस बातको सुनकर यदि कोई सौत उसे श्यामसुन्दरके सामने कह दे, तो इससे उनके मनमें तुम्हारी ओरसे विरक्ति हो सकती है ।। ८ ।।

प्रियांश्च रक्तांश्च हितांश्च भर्तु-
स्तान् भोजयेथा विविधैरुपायैः ।

द्वेष्यैरुपेक्ष्यैरहितैश्च तस्य
भिद्यस्व नित्यं कुहकोद्यतैश्च ।। ९ ।।

पतिदेवके जो प्रिय, अनुरक्त एवं हितैषी सुहृद् हों, उन्हें तरह-तरहके उपायोंसे खिलाओ-पिलाओ तथा जो उनके शत्रु, उपेक्षणीय और अहितकारक हों अथवा जो उनसे छल-कपट करनेके लिये उद्यत रहते हों; उनसे सदा दूर रहो ।। ९ ।।

मदं प्रमादं पुरुषेषु हित्वा
संयच्छ भावं प्रतिगृह्य मौनम् ।
प्रद्युम्नसाम्बावपि ते कुमारौ
नोपासितव्यौ रहिते कदाचित् ।। १० ।।

दूसरे पुरुषोंके समीप घमंड और प्रमादका परित्याग करके मौन रहकर अपने मनोभावको प्रकट न होने दो। कुमार प्रद्युम्न और साम्ब यद्यपि तुम्हारे पुत्र हैं, तथापि तुम्हें एकान्तमें कभी उनके पास भी नहीं बैठना चाहिये ।। १० ।।

महाकुलीनाभिरपापिकाभिः
स्त्रीभिः सतीभिस्तव सख्यमस्तु ।
चण्डाश्च शौण्डाश्च महाशनाश्च
चौराश्च दुष्टाश्चपलाश्च वर्ज्याः ।। ११ ।।

अत्यन्त ऊँचे कुलमें उत्पन्न और पापाचारसे दूर रहनेवाली सती स्त्रियोंके साथ ही तुम्हें सखीभाव स्थापित करना चाहिये। जो अत्यन्त क्रोधी, नशेमें चूर रहनेवाली, अधिक खानेवाली, चोरीकी लत रखनेवाली, दुष्ट और चञ्चल स्वभावकी स्त्रियाँ हों, उन्हें दूरसे ही त्याग देना चाहिये ।। ११ ।।

एतद् यशस्यं भगदैवतं च
स्वार्थ्यं तथा शत्रुनिबर्हणं च ।
महार्हमाल्याभरणाङ्गरागा
भर्तारमाराधय पुण्यगन्धा ।। १२ ।।

तुम बहुमूल्य हार, आभूषण और अंगराग धारण करके पवित्र सुगन्धित वस्तुओंसे सुवासित हो अपने प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी आराधना करो। इससे तुम्हारे यश और सौभाग्यकी वृद्धि होगी। तुम्हारे मनोरथकी सिद्धि तथा शत्रुओंका नाश होगा ।। १२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि द्रौपदीकर्तव्यकथने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २३४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वमें द्रौपदीद्वारा स्त्रीकर्तव्यकथनविषयक दो सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३४ ।।

पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सत्यभामाका द्रौपदीको आश्वासन देकर श्रीकृष्णके साथ द्वारकाको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयादिभिर्विप्रैः पाण्डवैश्च महात्मभिः ।
कथाभिरनुकूलाभिः सह स्थित्वा जनार्दनः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय भगवान् श्रीकृष्ण मार्कण्डेय आदि ब्रह्मर्षियों तथा महात्मा पाण्डवोंके साथ अनुकूल बातें करते हुए कुछ कालतक वहाँ रहकर (द्वारका जानेको उद्यत हुए) ।। १ ।।

ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः ।
आरुरुक्षू रथं सत्यामाह्वयामास केशवः ।। २ ।।

मधुसूदन केशवने उन सबसे यथावत् वार्तालापके अनन्तर विदा लेकर रथपर चढ़नेकी इच्छासे सत्यभामाको बुलाया ।। २ ।।

सत्यभामा ततस्तत्र स्वजित्वा द्रुपदात्मजाम् ।
उवाच वचनं हृद्यं यथाभावं समाहितम् ।। ३ ।।

तब सत्यभामा वहाँ द्रुपदकुमारीसे गले मिलकर अपने हार्दिक भावके अनुसार एकाग्रतापूर्वक मधुर वचन बोली— ।। ३ ।।

कृष्णे मा भूत् तवोत्कण्ठा मा व्यथा मा प्रजागरः ।
भर्तृभिर्देवसंकाशैर्जितां प्राप्स्यसि मेदिनीम् ।। ४ ।।

'सखी कृष्णे! तुम्हें राज्यके लिये चिन्तित और व्यथित नहीं होना चाहिये। तुम इस प्रकार रात-रातभर जागना छोड़ दो। तुम्हारे देवतुल्य पतियोंद्वारा जीती हुई इस पृथ्वीका राज्य तुम्हें अवश्य प्राप्त होगा ।। ४ ।।

न ह्येवं शीलसम्पन्ना नैवं पूजितलक्षणाः ।
प्राप्नुवन्ति चिरं क्लेशं यथा त्वमसितेक्षणे ।। ५ ।।

'श्यामलोचने! तुम्हें जैसा क्लेश सहन करना पड़ा है, वैसा कष्ट तुम्हारे-जैसी सुशीला तथा श्रेष्ठ लक्षणोंवाली देवियाँ अधिक दिनोंतक नहीं भोगा करती हैं ।। ५ ।।

अवश्यं च त्वया भूमिरियं निहतकण्टका ।
भर्तृभिः सह भोक्तव्या निर्द्वन्द्वेति श्रुतं मया ।। ६ ।।

'मैंने (महात्माओंसे) सुना है कि तुम अपने पतियोंके साथ निश्चय ही इस पृथ्वीका निर्द्वन्द्व तथा निष्कण्टक राज्य भोगोगी ।। ६ ।।

धार्तराष्ट्रवधं कृत्वा वैराणि प्रतियात्य च ।
युधिष्ठिरस्थां पृथिवीं द्रक्ष्यसि द्रुपदात्मजे ।। ७ ।।

'द्रुपदकुमारी! तुम शीघ्र ही देखोगी कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर और पहलेके वैरका भरपूर बदला चुकाकर तुम्हारे पतियोंने विजय पायी है और इस पृथ्वीपर महाराज युधिष्ठिरका अधिकार हो गया है ।। ७ ।।

यास्ताः प्रव्रजमानां त्वां प्राहसन् दर्पमोहिताः ।
ताः क्षिप्रं हतसंकल्पा द्रक्ष्यसि त्वं कुरुस्त्रियः ।। ८ ।।

'तुम्हारे वन जाते समय अभिमानसे मोहित हो कुरुकुलकी जिन स्त्रियोंने तुम्हारी हँसी उड़ायी थी, उनकी आशाओंपर पानी फिर जायगा और तुम उन्हें शीघ्र ही दुरवस्थामें पड़ी हुई देखोगी ।। ८ ।।

तव दुःखोपपन्नाया यैराचरितमप्रियम् ।
विद्धि सम्प्रस्थितान् सर्वांस्तान् कृष्णे यमसादनम् ।। ९ ।।

'कृष्णे! तुम दुःखमें पड़ी हुई थी, उस दशामें जिन लोगोंने तुम्हारा अप्रिय किया है, उन सबको तुम यमलोकमें गया हुआ ही समझो ।। ९ ।।

पुत्रस्ते प्रतिविन्ध्यश्च सुतसोमस्तथाविधः ।
श्रुतकर्मार्जुनिश्चैव शतानीकश्च नाकुलिः ।। १० ।।
सहदेवाच्च यो जातः श्रुतसेनस्तवात्मजः ।
सर्वे कुशलिनो वीराः कृतास्त्राश्च सुतास्तव ।। ११ ।।

'युधिष्ठिरकुमार प्रतिविन्ध्य, भीमसेननन्दन सुतसोम, अर्जुनकुमार श्रुतकर्मा, नकुलनन्दन शतानीक तथा सहदेवकुमार श्रुतसेन—तुम्हारे ये सभी वीर पुत्र शस्त्रविद्यामें निपुण हो गये हैं और कुशलपूर्वक द्वारकापुरीमें रहते हैं ।। १०-११ ।।

अभिमन्युरिव प्रीता द्वारवत्यां रता भृशम् ।
त्वमिवैषां सुभद्रा च प्रीत्या सर्वात्मना स्थिता ।। १२ ।।

'वे सबके सब अभिमन्युकी भाँति बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ रहते हैं। द्वारकामें उनका मन बहुत लगता है। सुभद्रादेवी तुम्हारी ही तरह उन सबके साथ सब प्रकारसे प्रेमपूर्ण बर्ताव करती हैं ।। १२ ।।

प्रीयते तव निर्द्वन्द्वा तेभ्यश्च विगतज्वरा ।
दुःखिता तेन दुःखेन सुखेन सुखिता तथा ।। १३ ।।

'वे किसीके प्रति भेदभाव न रखकर उन सबके प्रति निश्छल स्नेह रखती हैं। वे उन बालकोंके दुःखसे ही दुःखी और उन्हींके सुखसे सुखी होती हैं ।। १३ ।।

भजेत् सर्वात्मना चैव प्रद्युम्नजननी तथा ।
भानुप्रभृतिभिश्चैनान् विशिनष्टि च केशवः ।। १४ ।।

'प्रद्युम्नकी माताजी भी उनकी सब प्रकारसे सेवा और देखभाल करती हैं। श्यामसुन्दर अपने भानु आदि पुत्रोंसे भी बढ़कर तुम्हारे पुत्रोंको मानते हैं ।। १४ ।।

भोजनाच्छादने चैषां नित्यं मे श्वशुरः स्थितः ।

रामप्रभृतयः सर्वे भजन्त्यन्धकवृष्णयः ।। १५ ।।

'मेरे श्वशुरजी प्रतिदिन इनके भोजन-वस्त्र आदिकी समुचित व्यवस्थापर दृष्टि रखते हैं। बलरामजी आदि सभी अन्धकवंशी तथा वृष्णिवंशी यादव उनकी सुख-सुविधाका ध्यान रखते हैं ।। १५ ।।

तुल्यो हि प्रणयस्तेषां प्रद्युम्नस्य च भाविनि ।
एवमादि प्रियं सत्यं हृद्यमुक्त्वा मनोऽनुगम् ।। १६ ।।
गमनाय मनश्चक्रे वासुदेवरथं प्रति ।
तां कृष्णां कृष्णमहिषी चकाराभिप्रदक्षिणम् ।। १७ ।।

'भामिनि! उन सबका और प्रद्युम्नका भी तुम्हारे पुत्रोंपर समान प्रेम है।' इस प्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाले, सत्य एवं मनके अनुकूल वचन कहकर श्रीकृष्णमहिषी सत्यभामाने अपने स्वामीके रथकी ओर जानेका विचार किया और द्रौपदीकी परिक्रमा की ।। १६-१७ ।।

आरुरोह रथं शौरेः सत्यभामाथ भाविनी ।
स्मयित्वा तु यदुश्रेष्ठो द्रौपदीं परिसान्त्व्य च ।
उपावर्त्य ततः शीघ्रैर्हयैः प्रायात् पुरं स्वकम् ।। १८ ।।

तदनन्तर भामिनी सत्यभामा श्रीकृष्णके रथपर आरूढ़ हो गयी। यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने मुसकराकर द्रौपदीको सान्त्वना दी और उसे लौटाकर शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा अपनी पुरी द्वारकाको प्रस्थान किया ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वणि कृष्णगमने पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २३५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीसत्यभामासंवादपर्वमें श्रीकृष्णका द्वारकाको प्रस्थानविषयक दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३५ ।।

(घोषयात्रापर्व)

षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका समाचार सुनकर धृतराष्ट्रका खेद और चिन्तापूर्ण उद्गार

जनमेजय उवाच

एवं वने वर्तमाना नराग्र्याः
शीतोष्णवातातपकर्शिताङ्गाः ।
सरस्तदासाद्य वनं च पुण्यं
ततः परं किमकुर्वन्त पार्थाः ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—मुने! इस प्रकार वनमें रहकर सर्दी, गर्मी, हवा और धूपका कष्ट सहनेके कारण जिनके शरीर अत्यन्त कृश हो गये थे, उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने पवित्र द्वैतवनमें पूर्वोक्त सरोवरके पास पहुँचकर फिर कौन-सा कार्य किया? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

सरस्तदासाद्य तु पाण्डुपुत्रा
जनं समुत्सृज्य विधाय वेशम् ।
वनानि रम्याण्यथ पर्वतांश्च
नदीप्रदेशांश्च तदा विचेरुः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! उस (रमणीय) सरोवरपर आकर पाण्डवोंने वहाँ आये हुए जनसमुदायको विदा कर दिया और अपने रहनेके लिये कुटी बनाकर वे आस-पासके रमणीय वनों, पर्वतों तथा नदीके तटप्रदेशोंमें विचरने लगे ।। २ ।।

तथा वने तान् वसतः प्रवीरान्
स्वाध्यायवन्तश्च तपोधनाश्च ।
अभ्याययुर्वेदविदः पुराणा-
स्तान् पूजयामासुरथो नराग्र्याः ।। ३ ।।

इस तरह वनमें रहते हुए उन वीरशिरोमणि पाण्डवोंके पास बहुत-से स्वाध्यायशील, वेदवेत्ता एवं पुरातन तपस्वी ब्राह्मण आते थे और वे नरश्रेष्ठ पाण्डव उनकी यथोचित सेवा-पूजा करते थे ।। ३ ।।

ततः कदाचित् कुशलः कथासु
विप्रोऽभ्यगच्छद् भुवि कौरवेयान् ।
स तैः समेत्याथ यदृच्छयैव
वैचित्रवीर्यं नृपमभ्यगच्छत् ।। ४ ।।

तदनन्तर किसी समय कथा-वार्तामें कुशल एक ब्राह्मण उस वन्यभूमिमें पाण्डवोंके पास आया और उनसे मिलकर वह घूमता-घामता अकस्मात् राजा धृतराष्ट्रके दरबारमें जा पहुँचा ।। ४ ।।

अथोपविष्टः प्रतिसत्कृतश्च
वृद्धेन राज्ञा कुरुसत्तमेन ।
प्रचोदितः संकथयाम्बभूव
धर्मानिलेन्द्रप्रभवान् यमौ च ।। ५ ।।

कुरुकुलमें श्रेष्ठ एवं वयोवृद्ध राजा धृतराष्ट्रने उसका बहुत आदर-सत्कार किया। जब वह आसनपर बैठ गया, तब महाराजके पूछनेपर युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवके समाचार सुनाने लगा ।। ५ ।।

कृशांश्च वातातपकर्शिताङ्गान्
दुःखस्य चोग्रस्य मुखे प्रपन्नान् ।
तां चाप्यनाथामिव वीरनाथां

कृष्णां परिक्लेशगुणेन युक्ताम् ।। ६ ।।

उसने बताया—‘इस समय पाण्डव हवा और गर्मी आदिका कष्ट सहन करनेके कारण अत्यन्त कृश हो गये हैं। भयंकर दुःखके मुँहमें पड़ गये हैं और वीरपत्नी द्रौपदी भी अनाथकी भाँति सब ओरसे क्लेश-ही-क्लेश भोग रही है’ ।। ६ ।।

ततः कथास्तस्य निशम्य राजा
वैचित्रवीर्यः कृपयाभितप्तः ।
वने तथा पार्थिवपुत्रपौत्रान्
श्रुत्वा तथा दुःखनदीं प्रपन्नान् ।। ७ ।।
प्रोवाच दैन्याभिहतान्तरात्मा
निःश्वासवातोपहतस्तदानीम् ।
वाचं कथंचित् स्थिरतामुपेत्य
तत् सर्वमात्मप्रभवं विचिन्त्य ।। ८ ।।

ब्राह्मणकी ये बातें सुनकर विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्र दयासे द्रवित हो बहुत दुःखी हो गये। जब उन्होंने सुना कि राजाके पुत्र और पौत्र होकर भी पाण्डव इस प्रकार दुःखकी नदीमें डूबे हुए हैं, तब उनका हृदय करुणासे भर आया और वे लंबी-लंबी साँसे खींचते हुए किसी प्रकार धैर्य धारण करके सब कुछ अपनी ही करतूतका परिणाम समझकर यों बोले— ।। ७-८ ।।

कथं नु सत्यः शुचिरार्यवृत्तो
ज्येष्ठः सुतानां मम धर्मराजः ।
अजातशत्रुः पृथिवीतले स्म
शेते पुरा राङ्कवकूटशायी ।। ९ ।।

‘अहो! जो मेरे सभी पुत्रोंमें बड़े तथा सत्यवादी, पवित्र और सदाचारी हैं तथा जो पहले रंकु मृगके (नरम) रोओंसे बने हुए बिछौनोंपर सोया करते थे, वे अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिर आजकल भूमिपर कैसे शयन करते होंगे? ।। ९ ।।

प्रबोध्यते मागधसूतपूगै-
र्नित्यं स्तुवद्भिः स्वयमिन्द्रकल्पः ।
पतत्त्रिसङ्घैः स जघन्यरात्रे
प्रबोध्यते नूनमिडातलस्थः ।। १० ।।

‘जिन्हें कभी मागधों और सूतोंका समुदाय प्रतिदिन स्तुति-पाठ करके जगाता था, जो साक्षात् इन्द्रके समान तेजस्वी और पराक्रमी हैं, वे ही राजा युधिष्ठिर निश्चय ही अब भूमिपर सोते और पक्षियोंके कलरव सुनकर रातके पिछले पहरमें जागते होंगे’ ।। १० ।।

कथं नु वातातपकर्शिताङ्गो
वृकोदरः कोपपरिप्लुताङ्गः ।

शेते पृथिव्यामतथोचिताङ्गः
कृष्णासमक्षं वसुधातलस्थः ।। ११ ।।

‘भीमसेनका शरीर हवा और धूपका कष्ट सहन करनेसे अत्यन्त दुर्बल हो गया होगा। उनका अंग-अंग क्रोधसे काँपता और फड़कता होगा। वे द्रौपदीके सामने कैसे धरतीपर शयन करते होंगे? उनका शरीर ऐसा कष्ट भोगनेयोग्य नहीं है ।। ११ ।।

तथार्जुनः सुकुमारो मनस्वी
वशे स्थितो धर्मसुतस्य राज्ञः ।
विदूयमानैरिव सर्वगात्रै-
र्ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात् ।। १२ ।।

‘इसी प्रकार सुकुमार एवं मनस्वी अर्जुन, जो सदा धर्मराज युधिष्ठिरके अधीन रहते हैं, अमर्षके कारण उनके सारे अंगोंमें संताप हो रहा होगा और निश्चय ही उन्हें अपनी कुटियामें अच्छी तरह नींद नहीं आती होगी ।। १२ ।।

यमौ च कृष्णां च युधिष्ठिरं च
भीमं च दृष्ट्वा सुखविप्रयुक्तम् ।
विनिःश्वसन् सर्प इवोग्रतेजा
ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात् ।। १३ ।।

‘अर्जुनका तेज बड़ा ही भयंकर है। वे नकुल, सहदेव, द्रौपदी, युधिष्ठिर तथा भीमसेनको सुखसे वंचित देखकर सर्पके समान फुककारते होंगे और अमर्षके कारण निश्चय ही उन्हें नींद नहीं आती होगी ।। १३ ।।

तथा यमौ चाप्यसुखौ सुखार्हौ
समृद्धरूपावमरौ दिवीव ।
प्रजागरस्थौ ध्रुवमप्रशान्तौ
धर्मेण सत्येन च वार्यमाणौ ।। १४ ।।

‘इसी प्रकार सुख भोगनेके योग्य नकुल और सहदेवका भी सुख छिन गया है। वे दोनों भाई स्वर्गके देवता अश्विनीकुमारोंकी भाँति रूपवान् हैं। वे भी निश्चय ही अशान्तभावसे सारी रात जागते हुए भूमिपर सोते होंगे। धर्म और सत्य ही उन्हें तत्काल आक्रमण करनेसे रोके हुए हैं ।। १४ ।।

समीरणेनाथ समो बलेन
समीरणस्यैव सुतो बलीयान् ।
स धर्मपाशेन सितोऽग्रजेन
ध्रुवं विनिःश्वस्य सहत्यमर्षम् ।। १५ ।।

‘जो बलमें वायुके समान हैं, वायुदेवताके ही अत्यन्त बलवान् पुत्र हैं, वे भीमसेन भी अपने बड़े भाईके द्वारा धर्मके बन्धनमें बाँध लिये गये हैं। निश्चय ही इसीलिये चुपचाप लम्बी

साँसें खींचते हुए वे क्रोधको सहन करते हैं ।। १५ ।।

स चापि भूमौ परिवर्तमानो
वधं सुतानां मम काङ्क्षमाणः ।
सत्येन धर्मेण च वार्यमाणः
कालं प्रतीक्षत्यधिको रणेऽन्यैः ।। १६ ।।

‘रणभूमिमें भीमसेन दूसरोंकी अपेक्षा सदा अधिक पराक्रमी सिद्ध होते हैं। वे मेरे पुत्रोंके वधकी कामना करते हुए धरतीपर करवटें बदल रहे होंगे। सत्य और धर्मने ही उन्हें रोक रखा है; अतः वे भी अवसरकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं ।। १६ ।।

अजातशत्रौ तु जिते निकृत्या
दुःशासनो यत् परुषाण्यवोचत् ।
तानि प्रविष्टानि वृकोदराङ्गं
दहन्ति कक्षाग्निरिवेन्धनानि ।। १७ ।।

‘अजातशत्रु युधिष्ठिरको जूएमें छलपूर्वक हरा दिये जानेपर दुःशासनने जो कड़वी बातें कही थीं, वे भीमसेनके शरीरमें घुसकर जैसे आग तृण और काष्ठके समूहको जला डालती है, उसी प्रकार उन्हें दग्ध कर रही होंगी ।। १७ ।।

न पापकं ध्यास्यति धर्मपुत्रो
धनंजयश्चाप्यनुवर्त्स्यते तम् ।
अरण्यवासेन विवर्धते तु
भीमस्य कोपोऽग्निरिवानिलेन ।। १८ ।।

‘धर्मपुत्र युधिष्ठिर मेरे अपराधपर ध्यान नहीं देंगे। अर्जुन भी उन्हींका अनुसरण करेंगे। परंतु इस वनवाससे भीमसेनका क्रोध तो उसी प्रकार बढ़ रहा होगा, जैसे हवा लगनेसे आग धधक उठती है ।। १८ ।।

स तेन कोपेन विदह्यमानः
करं करेणाभिनिपीड्य वीरः ।
विनिःश्वसत्युष्णमतीव घोरं
दहन्निवेमान् मम पुत्रपौत्रान् ।। १९ ।।

‘उस क्रोधसे जलते हुए वीरवर भीमसेन हाथसे हाथ मलकर इस प्रकार अत्यन्त भयंकर गर्म-गर्म साँस खींच रहे होंगे, मानो मेरे इन पुत्रों और पौत्रोंको अभी भस्म कर डालेंगे ।। १९ ।।

गाण्डीवधन्वा च वृकोदरश्च
संरम्भिणावन्तककालकल्पौ ।
न शेषयेतां युधि शत्रुसेनां
शरान् किरन्तावशनिप्रकाशान् ।। २० ।।

'गाण्डीवधारी अर्जुन तथा भीमसेन जब क्रोधमें भर जायँगे, उस समय यमराज और कालके समान हो जायँगे। वे रणभूमिमें विद्युत्के समान चमकनेवाले बाणोंकी वर्षा करके शत्रुसेनामेंसे किसीको भी जीवित नहीं छोड़ेंगे ।।

दुर्योधनः शकुनिः सूतपुत्रो
दुःशासनश्चापि सुमन्दचेताः ।
मधु प्रपश्यन्ति न तु प्रपातं
यद् द्यूतमालम्ब्य हरन्ति राज्यम् ।। २१ ।।

'दुर्योधन, शकुनि, सूतपुत्र कर्ण तथा दुःशासन—ये बड़े ही मूढ़बुद्धि हैं, क्योंकि जूएके सहारे दूसरेके राज्यका अपहरण कर रहे हैं। (ये अपने ऊपर आनेवाले संकटको नहीं देखते हैं) इन्हें वृक्षकी शाखासे टपकता हुआ केवल मधु ही दिखायी देता है, वहाँसे गिरनेका जो भारी भय है, उधर इनकी दृष्टि नहीं है ।। २१ ।।

शुभाशुभं कर्म नरो हि कृत्वा
प्रतीक्षते तस्य फलं स्म कर्ता ।
स तेन मुह्यत्यवशः फलेन
'मोक्षः कथं स्यात् पुरुषस्य तस्मात् ।। २२ ।।

मनुष्य शुभ और अशुभ कर्म करके उसके स्वर्ग-नरकरूप फलकी प्रतीक्षा करता है। वह उस फलसे विवश होकर मोहित होता है। ऐसी दशामें मूढ़ पुरुषका उस मोहसे कैसे छुटकारा हो सकता है? ।। २२ ।।

क्षेत्रे सुकृष्टे ह्युपिते च बीजे
देवे च वर्षत्यृतुकालयुक्तम् ।
न स्यात् फलं तस्य कुतः प्रसिद्धि-
रन्यत्र दैवादिति चिन्तयामि ।। २३ ।।

'मैं सोचता हूँ कि अच्छी तरह जोते हुए खेतमें बीज बोया जाय तथा ऋतुके अनुसार ठीक समयपर वर्षा भी हो, फिर भी उसमें फल न लगे, तो इसमें प्रारब्धके अतिरिक्त अन्य किसी कारणकी सिद्धि कैसे की जा सकती है? ।। २३ ।।

कृतं मताक्षेण यथा न साधु
साधुप्रवृत्तेन च पाण्डवेन ।
मया च दुष्पुत्रवशानुगेन
तथा कुरूणामयमन्तकालः ।। २४ ।।

'द्यूतप्रेमी शकुनिने जूआ खेलकर कदापि अच्छा नहीं किया। साधुतामें लगे हुए युधिष्ठिरने भी जो उसे तत्काल नहीं मार डाला, यह भी अच्छा नहीं किया। इसी प्रकार कुपुत्रके वशमें पड़कर मैंने भी कोई अच्छा काम नहीं किया है। इसीका फल है कि यह कौरवोंका अन्तकाल आ पहुँचा है ।। २४ ।।

ध्रुवं प्रवास्यत्यसमीरितोऽपि
ध्रुवं प्रजास्यत्युत गर्भिणी या ।
ध्रुवं दिनादौ रजनीप्रणाश-
स्तथा क्षपादौ च दिनप्रणाशः ।। २५ ।।

'निश्चय ही बिना किसी प्रेरणाके भी हवा चलेगी ही, जो गर्भिणी है, वह समयपर अवश्य ही बच्चा जनेगी। दिनके आदिमें रजनीका नाश अवश्यम्भावी है तथा रात्रिके प्रारम्भमें दिनका भी अन्त होना निश्चित है। (इसी प्रकार पापका फल भी किसीके टाले नहीं टल सकता) ।। २५ ।।

क्रियेत कस्मादपरे च कुर्यु-
र्वित्तं न दद्युः पुरुषाः कथंचित् ।
प्राप्यार्थकालं च भवेदनर्थः
कथं न तत् स्यादिति तत् कुतः स्यात् ।। २६ ।।

'यदि यह विश्वास हो जाय तो हम लोभके वश होकर न करनेयोग्य काम क्यों करें और दूसरे भी क्यों करें एवं बुद्धिमान् मनुष्य भी उपार्जित धनका दान क्यों न करें? अर्थके उपयोगका समय प्राप्त होनेपर यदि उसका सदुपयोग न किया जाय तो वह अनर्थका हेतु हो जाता है। अतः विचार करना चाहिये कि उस धनका सदुपयोग क्यों नहीं होता और कैसे हो? ।। २६ ।।

कथं न भिद्येत न च स्रवेत
न च प्रसिच्येदिति रक्षितव्यम् ।
अरक्ष्यमाणं शतधा प्रकीर्येद्
ध्रुवं न नाशोऽस्ति कृतस्य लोके ।। २७ ।।

'यदि प्राप्त हुए धनका यथावत् वितरण न किया जायगा तो वह कच्चे घड़ेमें रखे हुए जलकी भाँति चूकर व्यर्थ नष्ट क्यों न होगा? यह सोचकर उसकी रक्षा करना ही कर्तव्य है। यदि यथायोग्य विभाजनके द्वारा धनकी रक्षा न की जायगी तो वह सैकड़ों प्रकारसे बिखर जायगा। जगत्में किये हुए कर्म-फलका नाश नहीं होता—यह निश्चित है। (इससे यही सिद्ध होता है कि उसका यथायोग्य वितरण कर देना ही उचित है)' ।। २७ ।।

गतो ह्यरण्यादपि शक्रलोकं
धनंजयः पश्यत वीर्यमस्य ।
अस्त्राणि दिव्यानि चतुर्विधानि
ज्ञात्वा पुनर्लोकमिमं प्रपन्नः ।। २८ ।।

'देखो, अर्जुनमें कितनी शक्ति है! वे वनसे भी इन्द्रलोकको चले गये और वहाँसे चारों प्रकारके दिव्यास्त्र सीखकर पुनः इस लोकमें लौट आये ।। २८ ।।

स्वर्गं हि गत्वा सशरीर एव

को मानुषः पुनरागन्तुमिच्छेत् ।

अन्यत्र कालोपहताननेकान्

समीक्षमाणस्तु कुरून् मुमूर्षून् ।। २९ ।।

‘सदेह स्वर्गमें जाकर कौन मनुष्य इस संसारमें पुनः लौटना चाहेगा। अर्जुनके पुनः मर्त्यलोकमें लौटनेका कारण इसके सिवा दूसरा नहीं है कि ये बहुसंख्यक कौरव कालके वशीभूत हो मृत्युके निकट पहुँच गये हैं और अर्जुन इनकी इस अवस्थाको अच्छी तरह देख रहे हैं ।। २९ ।।

धनुर्ग्राहश्चार्जुनः सव्यसाची

धनुश्च तद् गाण्डिवं भीमवेगम् ।

अस्त्राणि दिव्यानि च तानि तस्य

त्रयस्य तेजः प्रसहेत कोऽत्र ।। ३० ।।

‘सव्यसाची अर्जुन अद्वितीय धनुर्धर हैं। उनके उस गाण्डीव धनुषका वेग भी बड़ा भयानक है, और अब तो अर्जुनको वे दिव्यास्त्र भी प्राप्त हो गये हैं। इस समय इन तीनोंके सम्मिलित तेजको यहाँ कौन सह सकता है?’ ।। ३० ।।

निशम्य तद् वचनं पार्थिवस्य

दुर्योधनं रहिते सौबलोऽथ ।

अबोधयत् कर्णमुपेत्य सर्वं

स चाप्यहृष्टोऽभवदल्पचेताः ।। ३१ ।।

एकान्तमें कही हुई राजा धृतराष्ट्रकी उपर्युक्त सारी बातें सुनकर सुबलपुत्र शकुनिने दुर्योधन और कर्णके पास जाकर ज्यों-की-त्यों कह सुनायी। इससे मन्दमति दुर्योधन उदास एवं चिन्तित हो गया ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि धृतराष्ट्रखेदवाक्ये षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २३६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें धृतराष्ट्रके खेदयुक्त वचनसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३६ ।।

सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शकुनि और कर्णका दुर्योधनकी प्रशंसा करते हुए उसे वनमें पाण्डवोंके पास चलनेके लिये उभाड़ना

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्य तद् वाक्यं निशम्य शकुनिस्तदा ।
दुर्योधनमिदं काले कर्णेन सहितोऽब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धृतराष्ट्रके पूर्वोक्त वचन सुनकर उस समय कर्णसहित शकुनिने अवसर देखकर दुर्योधनसे इस प्रकार कहा— ।। १ ।।

प्रव्राज्य पाण्डवान् वीरान् स्वेन वीर्येण भारत ।
भुङ्क्ष्वेमां पृथिवीमेको दिवि शम्बरहा यथा ।। २ ।।

'भरतनन्दन! तुमने अपने पराक्रमसे पाण्डव-वीरोंको देशनिकाला देकर वनवासी बना दिया है। अब तुम स्वर्गमें इन्द्रकी भाँति अकेले ही इस पृथ्वीका राज्य भोगो ।। २ ।।

(तवाद्य पृथिवी राजन्नखिला सागराम्बरा ।
सपर्वतवनारामा सह स्थावरजङ्गमा ।।)

'राजन्! पर्वत, वन, उद्यान एवं स्थावर-जङ्गमोंसहित यह सारी समुद्रपर्यना पृथ्वी आज तुम्हारे अधिकारमें है ।।

प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च प्रतीच्योदीच्यवासिनः ।
कृताः करप्रदाः सर्वे राजानस्ते नराधिप ।। ३ ।।

'नरेश्वर! पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाके सभी राजाओंको तुम्हारे लिये करदाता बना दिया है ।। ३ ।।

या हि सा दीप्यमानेव पाण्डवानभजत् पुरा ।
साद्य लक्ष्मीस्त्वया राजन्नवाप्ता भ्रातृभिः सह ।। ४ ।।

'राजन्! जो दीप्तिमती श्री पहले पाण्डवोंकी सेवा करती थी, वही आज भाइयोंसहित तुम्हारे अधिकारमें आ गयी है ।। ४ ।।

इन्द्रप्रस्थगते यां तां दीप्यमानां युधिष्ठिरे ।
अपश्याम श्रियं राजन् दृश्यते सा तवाद्य वै ।। ५ ।।

'महाराज! इन्द्रप्रस्थमें जानेपर युधिष्ठिरके यहाँ हम लोग जिस राजलक्ष्मीको प्रकाशित होते देखते थे, वही आज तुम्हारे यहाँ उद्भासित होती दिखायी देती है ।। ५ ।।

शत्रवस्तव राजेन्द्र न चिरं शोककर्शिताः ।
सा तु बुद्धिबलेनेयं राज्ञस्तस्माद् युधिष्ठिरात् ।। ६ ।।

त्वयाऽऽक्षिप्ता महाबाहो दीप्यमानेव दृश्यते ।

'राजेन्द्र! तुम्हारे शत्रु शीघ्र ही शोकसे दीन-दुर्बल हो गये हैं। महाबाहो! तुमने राजा युधिष्ठिरसे इस लक्ष्मीको अपने बुद्धिबलसे छीन लिया है। अतः अब तुम्हारे यहाँ यह प्रकाशित होती-सी दिखायी दे रही है ।। ६½ ।।

तथैव तव राजेन्द्र राजानः परवीरहन् ।। ७ ।।

शासनेऽधिष्ठिताः सर्वे किं कुर्म इति वादिनः ।

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महाराज! इसी प्रकार सब राजा अपनेको किंकर बताते हुए आपकी आज्ञाके अधीन रहते हैं ।। ७½ ।।

तवेयं पृथिवी राजन् निखिला सागराम्बरा ।। ८ ।।

सपर्वतवना देवी सग्रामनगराकरा ।

नानावनोद्देशवती पर्वतैरुपशोभिता ।। ९ ।।

'राजन्! इस समय यह सारी समुद्रवसना पृथ्वीदेवी पर्वत, वन, ग्राम, नगर तथा खानोंके साथ तुम्हारे अधिकारमें आ गयी है। यह नाना प्रकारके प्रदेशोंसे युक्त तथा पर्वतोंसे सुशोभित है ।। ८-९ ।।

(नानाध्वजपताकाङ्का स्फीतराष्ट्रा महाबला)

'नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे चिह्नित इस भूतलपर कितने ही समृद्धिशाली राष्ट्र हैं और वहाँ बहुत-सी विशाल सेनाएँ संगठित हैं ।।

वन्द्यमानो द्विजै राजन् पूज्यमानश्च राजभिः ।

पौरुषाद् दिवि देवेषु भ्राजसे रश्मिवानिव ।। १० ।।

'राजन्! तुम अपने पुरुषार्थसे द्विजोंद्वारा सम्मानित तथा राजाओंद्वारा पूजित होकर स्वर्ग एवं देवताओंमें अंशुमाली सूर्यकी भाँति इस भूतलपर प्रकाशित हो रहे हो ।। १० ।।

रुद्रैरिव यमो राजा मरुद्भिरिव वासवः ।

कुरुभिस्त्वं वृतो राजन् भासि नक्षत्रराडिव ।। ११ ।।

'महाराज! जिस प्रकार रुद्रोंसे यमराज, मरुद्गणोंसे इन्द्र तथा नक्षत्रोंसे उनके स्वामी चन्द्रमाकी शोभा होती है, उसी प्रकार कौरवोंसे घिरे हुए तुम शोभा पा रहे हो ।।

यैः स्म ते नाद्रियेताज्ञा न च ये शासने स्थिताः ।

पश्यामस्तान् श्रिया हीनान् पाण्डवान् वनवासिनः ।। १२ ।।

'जिन्होंने तुम्हारी आज्ञाका आदर नहीं किया था और जो तुम्हारे शासनमें नहीं थे, उन पाण्डवोंकी दशा हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। वे राजलक्ष्मीसे वञ्चित हो वनमें निवास करते हैं ।। १२ ।।

श्रूयते हि महाराज सरो द्वैतवनं प्रति ।

वसन्तः पाण्डवाः सार्धं ब्राह्मणैर्वनवासिभिः ।। १३ ।।

'महाराज! सुननेमें आया है कि पाण्डवलोग द्वैतवनमें सरोवरके तटपर वनवासी ब्राह्मणोंके साथ रहते हैं ।। १३ ।।

स प्रयाहि महाराज श्रिया परमया युतः ।
तापयन् पाण्डुपुत्रांस्त्वं रश्मिवानिव तेजसा ।। १४ ।।

'महाराज! तुम उत्कृष्ट राजलक्ष्मीसे सुशोभित होकर वहाँ चलो और जैसे सूर्य अपने तेजसे जगत्‌को संतप्त करते हैं, उसी प्रकार पाण्डुपुत्रोंको संताप दो ।। १४ ।।

स्थितो राज्ये च्युतान् राज्याच्छ्रिया हीनाञ्छ्रिया वृतः ।
असमृद्धान् समृद्धार्थः पश्य पाण्डुसुतान् नृप ।। १५ ।।

'इस समय तुम राजाके पदपर प्रतिष्ठित हो और पाण्डव राज्यसे भ्रष्ट हो गये हैं। तुम श्रीसम्पन्न हो और वे श्रीहीन हैं। तुम समृद्धिशाली हो और वे निर्धन हो गये हैं। नरेश्वर! तुम इसी दशामें चलकर पाण्डवोंको देखो ।। १५ ।।

महाभिजनसम्पन्नं भद्रे महति संस्थितम् ।
पाण्डवास्त्वाभिवीक्षन्तां ययातिमिव नाहुषम् ।। १६ ।।

'पाण्डव तुम्हें नहुषनन्दन ययातिकी भाँति महान् वंशमें उत्पन्न तथा परम मंगलमयी स्थितिमें प्रतिष्ठित देखें ।। १६ ।।

यां श्रियं सुहृदश्चैव दुर्हृदश्च विशाम्पते ।
पश्यन्ति पुरुषे दीप्तां सा समर्था भवत्युत ।। १७ ।।

'प्रजापालक नरेश! पुरुषमें प्रकाशित होनेवाली जिस लक्ष्मीको उसके सुहृद् और शत्रु दोनों देखते हैं, वही सबल होती है ।। १७ ।।

समस्थो विषमस्थान् हि दुर्हृदो योऽभिवीक्षते ।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थः किमतः परमं सुखम् ।। १८ ।।

'जैसे पर्वतकी चोटीपर खड़ा हुआ मनुष्य भूतलपर स्थित हुई सभी वस्तुओंको नीची और छोटी देखता है, उसी प्रकार जो पुरुष स्वयं सुखमें रहकर शत्रुओंको संकटमें पड़ा हुआ देखता है, उसके लिये इससे बढ़कर सुखकी बात और क्या होगी? ।। १८ ।।

न पुत्रधनलाभेन न राज्येनापि विन्दति ।
प्रीतिं नृपतिशार्दूल याममित्राघदर्शनात् ।। १९ ।।
किं नु तस्य सुखं न स्यादाश्रमे यो धनंजयम् ।
अभिवीक्षेत सिद्धार्थो वल्कलाजिनवाससम् ।। २० ।।

'नृपश्रेष्ठ! मनुष्यको अपने शत्रुओंकी दुर्दशा देखनेसे जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह धन, पुत्र तथा राज्य मिलनेसे भी नहीं होती। हमलोगोंमेंसे जो भी स्वयं सिद्धमनोरथ होकर आश्रममें अर्जुनको वल्कल और मृगछाला पहने देखेगा, उसे कौन-सा सुख नहीं मिल जायगा? ।। १९-२० ।।

सुवाससो हि ते भार्या वल्कलाजिनसंवृताम् ।

पश्यन्तु दुःखितां कृष्णां सा च निर्विद्यतां पुनः ।। २१ ।।

‘तुम्हारी रानियाँ सुन्दर साड़ियाँ पहनकर चलें और वनमें वल्कल एवं मृगचर्म लपेटकर दुःखमें डूबी हुई द्रुपदकुमारी कृष्णाको देखें तथा द्रौपदी भी इन्हें देखकर बार-बार संताप करे ।। २१ ।।

विनिन्दतां तथाऽऽत्मानं जीवितं च धनच्युतम् ।
न तथा हि सभामध्ये तस्या भवितुमर्हति ।
वैमनस्यं यथा दृष्ट्वा तव भार्याः स्वलंकृताः ।। २२ ।।

‘वह धनसे वञ्चित हुए अपने आत्मा तथा जीवनकी निन्दा करे—उन्हें बार-बार धिक्कारे। सभामें उसके साथ जो बर्ताव किया गया था, उससे उसके हृदयमें इतना दुःख नहीं हुआ होगा, जितना कि तुम्हारी रानियोंको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित देखकर हो सकता है’ ।। २२ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु राजानं कर्णः शकुनिना सह ।
तूष्णीम्बभूवतुरुभौ वाक्यान्ते जनमेजय ।। २३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शकुनि और कर्ण दोनों राजा दुर्योधनसे ऐसा कहकर (अपनी बात पूरी होनेपर) चुप हो गये ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णशकुनिवाक्ये सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २३७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्ण और शकुनिके वचनविषयक दो सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल २४½ श्लोक हैं।)

अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा कर्ण और शकुनिकी मन्त्रणा स्वीकार करना तथा कर्ण आदिका घोषयात्राको निमित्त बनाकर द्वैतवनमें जानेके लिये धृतराष्ट्रसे आज्ञा लेने जाना

वैशम्पायन उवाच

कर्णस्य वचनं श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्ततः ।
हृष्टो भूत्वा पुनर्दीन इदं वचनमब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णकी बात सुनकर राजा दुर्योधनको पहले तो बड़ी प्रसन्नता हुई; फिर वह दीन होकर इस प्रकार बोला— ।। १ ।।

ब्रवीषि यदिदं कर्ण सर्वं मनसि मे स्थितम् ।
न त्वभ्यनुज्ञां लप्स्यामि गमने यत्र पाण्डवाः ।। २ ।।

'कर्ण! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह सब मेरे मनमें भी है। परंतु जहाँ पाण्डव रहते हैं, वहाँ जानेके लिये मैं पिताजीकी आज्ञा नहीं पा सकूँगा ।। २ ।।

परिदेवति तान् वीरान् धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
मन्यतेऽभ्यधिकांश्चापि तपोयोगेन पाण्डवान् ।। ३ ।।

'महाराज धृतराष्ट्र उन वीर पाण्डवोंके लिये सदा विलाप करते रहते हैं। वे तपःशक्तिके संयोगसे पाण्डवोंको हमसे अधिक बलशाली भी मानते हैं ।। ३ ।।

अथवाप्यनुबुध्येत नृपोऽस्माकं चिकीर्षितम् ।
एवमप्यायतिं रक्षन् नाभ्यनुज्ञातुमर्हति ।। ४ ।।

'अथवा यदि उन्हें इस बातका पता लग जाय कि हमलोग वहाँ जाकर क्या करना चाहते हैं, तब वे भावी संकटसे हमारी रक्षाके लिये ही हमें वहाँ जानेकी अनुमति नहीं देंगे ।। ४ ।।

न हि द्वैतवने किंचिद् विद्यतेऽन्यत् प्रयोजनम् ।
उत्सादनमृते तेषां वनस्थानां महाद्युते ।। ५ ।।

'महातेजस्वी कर्ण! (पिताजीको यह समझते देर नहीं लगेगी कि) वनमें रहनेवाले पाण्डवोंको उखाड़ फेंकनेके अतिरिक्त हमलोगोंके द्वैतवनमें जानेका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है ।। ५ ।।

जानासि हि यथा क्षत्ता द्यूतकाल उपस्थिते ।
अब्रवीद् यच्च मां त्वां च सौबलं वचनं तदा ।। ६ ।।

'जुएका अवसर उपस्थित होनेपर विदुरजीने मुझसे, तुमसे तथा (मामा) शकुनिसे जैसी बातें कही थीं, उन्हें तो तुम जानते ही हो ।। ६ ।।

तानि सर्वाणि वाक्यानि यच्चान्यत् परिदेवितम् ।
विचिन्त्य नाधिगच्छामि गमनायेतराय वा ।। ७ ।।

'उन सब बातोंपर तथा और भी पाण्डवोंके लिये जो विलाप किया गया है, उसपर विचार करके मैं किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाता कि द्वैतवनमें चलूँ या न चलूँ ।।

ममापि हि महान् हर्षो यदहं भीमफाल्गुनौ ।
क्लिष्टावरण्ये पश्येयं कृष्णया सहिताविति ।। ८ ।।

'यदि मैं भीमसेन तथा अर्जुनको द्रौपदीके साथ वनमें क्लेश उठाते देख सकूँ, तो मुझे भी बड़ी प्रसन्नता होगी ।। ८ ।।

न तथा ह्याप्नुयां प्रीतिमवाप्य वसुधामिमाम् ।
दृष्ट्वा यथा पाण्डुसुतान् वल्कलाजिनवाससः ।। ९ ।।

'पाण्डवोंको वल्कल वस्त्र पहने और मृगचर्म ओढ़े देखकर मुझे जितनी खुशी होगी, उतनी इस समूची पृथ्वीका राज्य पाकर भी नहीं होगी' ।। ९ ।।

किं नु स्यादधिकं तस्माद् यदहं द्रुपदात्मजाम् ।
द्रौपदीं कर्ण पश्येयं काषायवसनां वने ।। १० ।।

'कर्ण! मैं द्रुपदकुमारी कृष्णाको वनमें गेरुए कपड़े पहने देखूँ, इससे बढ़कर प्रसन्नताकी बात मेरे लिये और क्या हो सकती है? ।। १० ।।

यदि मां धर्मराजश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ।
युक्तं परमया लक्ष्म्या पश्येतां जीवितं भवेत् ।। ११ ।।

'यदि धर्मराज युधिष्ठिर तथा पाण्डुनन्दन भीमसेन मुझे परमोत्कृष्ट राजलक्ष्मीसे सम्पन्न देख लें तो मेरा जीवन सफल हो जाय ।। ११ ।।

उपायं न तु पश्यामि येन गच्छेम तद् वनम् ।
यथा चाभ्यनुजानीयाद् गच्छन्तं मां महीपतिः ।। १२ ।।

'परन्तु मुझे कोई ऐसा उपाय नहीं दिखायी देता, जिससे हमलोग द्वैतवनमें जा सकें; अथवा महाराज मुझे वहाँ जानेकी आज्ञा दे दें' ।। १२ ।।

स सौबलेन सहितस्तथा दुःशासनेन च ।
उपायं पश्य निपुणं येन गच्छेम तद् वनम् ।। १३ ।।

'अतः तुम मामा शकुनि तथा भाई दुःशासनके साथ सलाह करके कोई अच्छा-सा उपाय ढूँढ़ निकालो, जिससे हमलोग द्वैतवनमें चल सकें ।। १३ ।।

अहमप्यद्य निश्चित्य गमनायेतराय च ।
कल्यमेव गमिष्यामि समीपं पार्थिवस्य ह ।। १४ ।।

'मैं भी आज ही जाने या न जानेके विषयमें कोई निश्चय करके कल सबेरा होते ही महाराजके पास जाऊँगा ।।

मयि तत्रोपविष्टे तु भीष्मे च कुरुसत्तमे ।
उपायो यो भवेद् दृष्टस्तं ब्रूयाः सहसौबलः ।। १५ ।।

'जब मैं वहाँ बैठ जाऊँ और कुरुश्रेष्ठ भीष्मजी भी उपस्थित रहें, उस समय जो उपाय दिखायी दे, उसे तुम और शकुनि—दोनों बतलाना ।। १५ ।।

वचो भीष्मस्य राज्ञश्च निशम्य गमनं प्रति ।
व्यवसायं करिष्येऽहमनुनीय पितामहम् ।। १६ ।।

'पितामह भीष्मजीकी तथा महाराजकी वहाँ जानेके विषयमें क्या सम्मति है; यह सुन लेनेपर पितामहको अनुनय-विनयसे राजी करके (उनकी आज्ञा लेकर ही) द्वैतवनमें चलनेका निश्चय करूँगा' ।। १६ ।।

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे जग्मुरावसथान् प्रति ।
व्युषितायां रजन्यां तु कर्णो राजानमभ्ययात् ।। १७ ।।

'बहुत अच्छा, ऐसा ही हो' यह कहकर सब अपने-अपने विश्रामगृहमें चले गये। जब रात बीती और सबेरा हुआ, तब कर्ण राजा दुर्योधनके पास गया ।। १७ ।।

ततो दुर्योधनं कर्णः प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
उपायः परिदृष्टोऽयं तं निबोध जनेश्वर ।। १८ ।।

वहाँ कर्णने हँसकर दुर्योधनसे कहा—'जनेश्वर! मुझे जो उपाय सूझा है, उसे बताता हूँ, सुनो ।। १८ ।।

घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप ।
घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ।। १९ ।।

'नरेश्वर! गौओंके रहनेके सभी स्थान इस समय द्वैतवनमें ही हैं और वहाँ आपके पधारनेकी सदा प्रतीक्षा की जाती है, अतः घोषयात्रा (उन स्थानोंको देखने)-के बहाने हम वहाँ निःसन्देह चल सकेंगे ।। १९ ।।

उचितं हि सदा गन्तुं घोषयात्रां विशाम्पते ।
एवं च त्वां पिता राजन् समनुज्ञातुमर्हति ।। २० ।।

'राजन्! अपनी गौओंको देखनेके लिये यात्रा करना सदा उचित ही है; ऐसा बहाना लेनेपर पिताजी तुम्हें अवश्य वहाँ जानेकी आज्ञा दे सकते हैं' ।। २० ।।

तथा कथयमानौ तौ घोषयात्राविनिश्चयम् ।
गान्धारराजः शकुनिः प्रत्युवाच हसन्निव ।। २१ ।।

घोषयात्राका निश्चय करनेके लिये इस प्रकारकी बातें करते हुए उन दोनों सुहृदोंसे गान्धारराज शकुनिने हँसते हुए-से कहा— ।। २१ ।।

उपायोऽयं मया दृष्टो गमनाय निरामयः ।

अनुज्ञास्यति नो राजा बोधयिष्यति चाप्युत ।। २२ ।।

‘द्वैतवनमें जानेका यह उपाय मुझे सर्वथा निर्दोष दिखायी दिया है। इसके लिये राजा धृतराष्ट्र हमें अवश्य आज्ञा दे देंगे और वहाँ जाकर हमें क्या-क्या करना चाहिये—इसके विषयमें कुछ समझायेंगे भी ।। २२ ।।

घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप ।

घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ।। २३ ।।

‘नरेश्वर! गौओंके रहनेके सभी स्थान इस समय द्वैतवनमें ही हैं और वहाँ तुम्हारे पधारनेकी सदा प्रतीक्षा की जाती है; अतः घोषयात्राके बहाने हम वहाँ निःसंदेह चल सकेंगे’ ।। २३ ।।

ततः प्रहसिताः सर्वे तेऽन्योन्यस्य तलान् ददुः ।

तदेव च विनिश्चित्य ददृशुः कुरुसत्तमम् ।। २४ ।।

तदनन्तर वे सब-के-सब अपनी योजनाको सफल होती देख हँसने और एक-दूसरेके हाथपर प्रसन्नतासे ताली देने लगे। फिर यही निश्चय करके वे तीनों कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रसे मिले ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि घोषयात्रामन्त्रणे अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २३८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें घोषयात्राके सम्बन्धमें परामर्शविषयक दो सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३८ ।।

एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्ण आदिके द्वारा द्वैतवनमें जानेका प्रस्ताव, राजा धृतराष्ट्रकी अस्वीकृति, शकुनिका समझाना, धृतराष्ट्रका अनुमति देना तथा दुर्योधनका प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रं ततः सर्वे ददृशुर्जनमेजय ।
पृष्ट्वा सुखमथो राज्ञः पृष्टा राज्ञा च भारत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन जनमेजय! तदनन्तर वे सब लोग राजा धृतराष्ट्रसे मिले। उन्होंने राजाकी कुशल पूछी तथा राजाने उनकी ।। १ ।।

ततस्तैर्विहितः पूर्वं समङ्गो नाम बल्लवः ।
समीपस्थास्तदा गावो धृतराष्ट्रे न्यवेदयत् ।। २ ।।

उन लोगोंने समंग नामक एक ग्वालेको पहलेसे ही सिखा-पढ़ाकर ठीक कर लिया था। उसने राजा धृतराष्ट्रकी सेवामें निवेदन किया कि ‘महाराज! आजकल आपकी गौएँ समीप ही आयी हुई हैं’ ।। २ ।।

अनन्तरं च राधेयः शकुनिश्च विशाम्पते ।
आहतुः पार्थिवश्रेष्ठं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।। ३ ।।

जनमेजय! इसके बाद कर्ण और शकुनिने राजाओंमें श्रेष्ठ जननायक धृतराष्ट्रसे कहा— ।। ३ ।।

रमणीयेषु देशेषु घोषाः सम्प्रति कौरव ।
स्मारणे समयः प्राप्तो वत्सानामपि चाङ्कनम् ।। ४ ।।

'कुरुराज! इस समय हमारी गौओंके स्थान रमणीय प्रदेशोंमें हैं। यह समय गौओं और बछड़ोंकी गणना करने तथा उनकी आयु, रंग, जाति एवं नामका ब्यौरा लिखनेके लिये भी अत्यन्त उपयोगी है ।। ४ ।।

मृगया चोचिता राजन्नस्मिन् काले सुतस्य ते ।
दुर्योधनस्य गमनं समनुज्ञातुमर्हसि ।। ५ ।।

'राजन्! इस समय आपके पुत्र दुर्योधनके लिये हिंसक पशुओंके शिकार करनेका भी उपयुक्त अवसर है। अतः आप इन्हें द्वैतवनमें जानेकी आज्ञा दीजिये' ।। ५ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

मृगया शोभना तात गवां हि समवेक्षणम् ।
विश्रम्भस्तु न गन्तव्यो बल्लवानामिति स्मरे ।। ६ ।।

धृतराष्ट्र बोले—तात! हिंसक पशुओंका शिकार खेलनेका प्रस्ताव सुन्दर है। गौओंकी देख-भालका काम भी अच्छा ही है; परंतु ग्वालोंकी बातोंपर विश्वास नहीं करना चाहिये, यह नीतिका वचन है, जिसका मुझे स्मरण हो आया है ।। ६ ।।

ते तु तत्र नरव्याघ्राः समीप इति नः श्रुतम् ।

अतो नाभ्यनुजानामि गमनं तत्र वः स्वयम् ।। ७ ।।

मैंने सुना है कि नरश्रेष्ठ पाण्डव भी इन दिनों वहीं कहीं आस-पास ठहरे हुए हैं; अतः तुमलोगोंको मैं स्वयं वहाँ जानेकी आज्ञा नहीं दे सकता ।। ७ ।।

छद्मना निर्जितास्ते तु कर्शिताश्च महावने ।
तपोनित्याश्च राधेय समर्थाश्च महारथाः ।। ८ ।।

राधानन्दन! पाण्डव छलपूर्वक हराये गये हैं। महान् वनमें रहकर उन्हें बड़ा कष्ट भोगना पड़ा है। वे निरन्तर तपस्या करते रहे हैं और अब विशेष शक्तिसम्पन्न हो गये हैं। महारथी तो वे हैं ही ।। ८ ।।

धर्मराजो न संक्रुद्ध्येद् भीमसेनस्त्वमर्षणः ।
यज्ञसेनस्य दुहिता तेज एव तु केवलम् ।। ९ ।।

माना कि धर्मराज युधिष्ठिर क्रोध नहीं करेंगे, परंतु भीमसेन तो सदा ही अमर्षमें भरे रहते हैं और राजा द्रुपदकी पुत्री कृष्णा भी साक्षात् अग्निकी ही मूर्ति है ।। ९ ।।

यूयं चाप्यपराध्येयुर्दर्पमोहसमन्विताः ।
ततो विनिर्दहेयुस्ते तपसा हि समन्विताः ।। १० ।।

तुमलोग तो अहंकार और मोहमें चूर रहते ही हो; अतः उनका अपराध अवश्य करोगे। उस दशामें वे तुम्हें भस्म किये बिना नहीं छोड़ेंगे। क्योंकि उनमें तपःशक्ति विद्यमान है ।। १० ।।

अथवा सायुधा वीरा मन्युनाभिपरिप्लुताः ।
सहिता बद्धनिस्त्रिंशा दहेयुः शस्त्रतेजसा ।। ११ ।।

अथवा, उन वीरोंके पास अस्त्र-शस्त्रोंकी भी कमी नहीं है। तुम्हारे प्रति उनका क्रोध सदा ही बना रहता है। वे तलवार बाँधे सदा एक साथ रहते हैं; अतः वे अपने शस्त्रोंके तेजसे भी तुम्हें दग्ध कर सकते हैं ।।

अथ यूयं बहुत्वात् तानभियात कथंचन ।
अनार्यं परमं तत् स्यादशक्यं तच्च वै मतम् ।। १२ ।।

यदि संख्यासे अधिक होनेके कारण तुमने ही किसी प्रकार उनपर चढ़ाई कर दी तो यह भी तुम्हारी बड़ी भारी नीचता ही समझी जायगी। मेरी समझमें तो तुमलोगोंका पाण्डवोंपर विजय पाना असम्भव ही है ।। १२ ।।

उषितो हि महाबाहुरिन्द्रलोके धनंजयः ।
दिव्यान्यस्त्राण्यवाप्याथ ततः प्रत्यागतो वनम् ।। १३ ।।

महाबाहु धनंजय इन्द्रलोकमें रह चुके हैं और वहाँसे दिव्यास्त्रोंकी शिक्षा लेकर वनमें लौटे हैं ।। १३ ।।

अकृतास्त्रेण पृथिवी जिता बीभत्सुना पुरा ।
किं पुनः स कृतास्त्रोऽद्य न हन्याद् वो महारथः ।। १४ ।।

पहले जब अर्जुनको दिव्यास्त्र नहीं प्राप्त हुए थे, तभी उन्होंने सारी पृथ्वीको जीत लिया था। अब तो महारथी अर्जुन दिव्यास्त्रोंके विद्वान् हैं, ऐसी दशामें वे तुम्हें मार डालें, यह कौन बड़ी बात है? ।। १४ ।।

अथवा मद्वचः श्रुत्वा तत्र यत्ता भविष्यथ ।
उद्विग्नवासो विश्रम्भाद् दुःखं तत्र भविष्यति ।। १५ ।।

अथवा मेरी बात सुनकर तुमलोग वहाँ यदि अपनेको काबूमें रखते हुए सावधानीके साथ रह सको, तो भी यह विश्वास करके कि ये लोग सत्यवादी होनेके कारण हमें कष्ट नहीं देंगे, वनवाससे उद्विग्न हुए पाण्डवोंके बीचमें निवास करना तुम्हारे लिये दुःखदायी ही होगा ।। १५ ।।

अथवा सैनिकाः केचिदपकुर्युर्युधिष्ठिरम् ।
तदबुद्धिकृतं कर्म दोषमुत्पादयेच्च वः ।। १६ ।।

अथवा यह भी सम्भव है कि तुमलोगोंके कुछ सैनिक युधिष्ठिरका अपमान कर बैठें और तुम्हारे अनजानमें किया गया यह अपराध तुमलोगोंके लिये हानिकारक हो जाय ।। १६ ।।

तस्माद् गच्छन्तु पुरुषाः स्मारणायाप्तकारिणः ।
न स्वयं तत्र गमनं रोचये तव भारत ।। १७ ।।

अतः भरतनन्दन! दूसरे विश्वसनीय पुरुष गौओंकी गणना करनेके लिये वहाँ चले जायँगे। स्वयं तुम्हारा वहाँ जाना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ।। १७ ।।

शकुनिरुवाच

धर्मज्ञः पाण्डवो ज्येष्ठः प्रतिज्ञातं च संसदि ।
तेन द्वादश वर्षाणि वस्तव्यानीति भारत ।। १८ ।।

शकुनि बोला—भारत! ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं। उन्होंने भरी सभामें यह प्रतिज्ञा की है कि ‘हमें बारह वर्षोंतक वनमें रहना है’ ।। १८ ।।

अनुवृत्ताश्च ते सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः ।
युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो न नः कोपं करिष्यति ।। १९ ।।

अन्य पाण्डव भी धर्मपर ही चलनेवाले हैं; अतः वे सब-के-सब युधिष्ठिरका ही अनुसरण करते हैं। कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर हमलोगोंपर कदापि क्रोध नहीं करेंगे ।।

मृगयां चैव नो गन्तुमिच्छा संवर्तते भृशम् ।
स्मारणं तु चिकीर्षामो न तु पाण्डवदर्शनम् ।। २० ।।

हमारी विशेष इच्छा केवल हिंसक पशुओंका शिकार खेलनेकी है। हमलोग वहाँ स्मरणके लिये केवल गौओंकी गणना करना चाहते हैं। पाण्डवोंसे मिलनेकी हमारी इच्छा बिलकुल नहीं है ।। २० ।।

न चानार्यसमाचारः कश्चित् तत्र भविष्यति ।
न च तत्र गमिष्यामो यत्र तेषां प्रतिश्रयः ।। २१ ।।

हमारी ओरसे वहाँ कोई भी नीचतापूर्ण व्यवहार नहीं होगा। जहाँ पाण्डवोंका निवास होगा, उधर हमलोग जायँगे ही नहीं ।। २१ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः शकुनिना धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
दुर्योधनं सहामात्यमनुजज्ञे न कामतः ।। २२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शकुनिके ऐसा कहनेपर राजा धृतराष्ट्रने इच्छा न होते हुए भी मन्त्रियों-सहित दुर्योधनको वहाँ जानेकी आज्ञा दे दी ।। २२ ।।

अनुज्ञातस्तु गान्धारिः कर्णेन सहितस्तदा ।
निर्ययौ भरतश्रेष्ठो बलेन महता वृतः ।। २३ ।।

धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाकर गान्धारीपुत्र भरतश्रेष्ठ दुर्योधन कर्ण और विशाल सेनाके साथ नगरसे बाहर निकला ।। २३ ।।

दुःशासनेन च तथा सौबलेन च धीमता ।
संवृतो भ्रातृभिश्चान्यैः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ।। २४ ।।

दुःशासन, बुद्धिमान् शकुनि, अन्यान्य भाइयों तथा सहस्रों स्त्रियोंसे घिरे हुए दुर्योधनने वहाँसे प्रस्थान किया ।। २४ ।।

तं निर्यान्तं महाबाहुं द्रष्टुं द्वैतवनं सरः ।
पौराश्चानुययुः सर्वे सहदारा वनं च तत् ।। २५ ।।

द्वैतवन नामक सरोवर तथा वनको देखनेके लिये यात्रा करनेवाले महाबाहु दुर्योधनके पीछे समस्त पुरवासी भी अपनी स्त्रियोंको साथ लेकर गये ।। २५ ।।

अष्टौ रथसहस्राणि त्रीणि नागायुतानि च ।
पत्तयो बहुसाहस्रा हयाश्च नवतिः शताः ।। २६ ।।

दुर्योधनके साथ आठ हजार रथ, तीस हजार हाथी, कई हजार पैदल और नौ हजार घोड़े गये ।। २६ ।।

शकटापणवेशाश्च वणिजो वन्दिनस्तथा ।
नराश्च मृगयाशीलाः शतशोऽथ सहस्रशः ।। २७ ।।

बोझ ढोनेके लिये सैकड़ों छकड़े, दुकानें तथा वेष-भूषाकी सामग्रियाँ भी साथ चलीं। वणिक्, वंदीजन तथा आखेटप्रिय मनुष्य सैकड़ों-हजारोंकी संख्यामें साथ गये ।। २७ ।।

ततः प्रयाणे नृपतेः सुमहानभवत् स्वनः ।
प्रावृषीव महावायोरुद्धतस्य विशाम्पते ।। २८ ।।

राजन्! राजा दुर्योधनके प्रस्थानकालमें बड़े जोरका कोलाहल हुआ, मानो वर्षाकालमें प्रचण्ड वायुका भयंकर शब्द सुनायी दे रहा हो ।। २८ ।।

गव्यूतिमात्रे न्यवसद् राजा दुर्योधनस्तदा ।
प्रयातो वाहनैः सर्वैस्ततो द्वैतवनं सरः ।। २९ ।।

नगरसे दो कोस दूर जाकर राजा दुर्योधनने पड़ाव डाल दिया। फिर वहाँसे समस्त वाहनोंके साथ द्वैतवन एवं सरोवरकी ओर प्रस्थान किया ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रस्थाने एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २३९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रस्थानविषयक दो सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३९ ।।

चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका सेनासहित वनमें जाकर गौओंकी देखभाल करना और उसके सैनिकों एवं गन्धर्वोंमें परस्पर कटु संवाद

वैशम्पायन उवाच

अथ दुर्योधनो राजा तत्र तत्र वने वसन् ।
जगाम घोषानभितस्तत्र चक्रे निवेशनम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा दुर्योधन जहाँ-तहाँ वनमें पड़ाव डालता हुआ उन घोषों (गोशालाओं)-के पास पहुँच गया और वहाँ उसने अपनी छावनी डाली ।। १ ।।

रमणीये समाज्ञाते सोदके समहीरुहे ।
देशे सर्वगुणोपेते चक्रुरावसथान् पराः ।। २ ।।

उसके साथ गये हुए लोगोंने भी उस सर्वगुणसम्पन्न, रमणीय, सुपरिचित, सजल तथा सघन वृक्षावलियोंसे युक्त प्रदेशमें अपने डेरे डाल दिये ।। २ ।।

तथैव तत्समीपस्थान् पृथगावसथान् बहुन् ।
कर्णस्य शकुनेश्चैव भ्रातॄणां चैव सर्वशः ।। ३ ।।

इसी प्रकार दुर्योधनके डेरेके पास ही कर्ण, शकुनि तथा दुःशासन आदि सब भाइयोंके लिये पृथक्-पृथक् बहुत-से खेमे पड़ गये ।। ३ ।।

ददर्श स तदा गावः शतशोऽथ सहस्रशः ।
अङ्कैर्लक्षैश्च ताः सर्वा लक्षयामास पार्थिवः ।। ४ ।।

(रहनेकी व्यवस्था ठीक हो जानेपर) राजा दुर्योधनने अपनी सैकड़ों एवं हजारों गौओंका निरीक्षण करना आरम्भ किया। उन सबपर संख्या और निशानी डलवा दी ।। ४ ।।

अङ्कयामास वत्सांश्च जज्ञे चोपसृतांस्त्वपि ।
बालवत्साश्च या गावः कालयामास ता अपि ।। ५ ।।

फिर बछड़ोंपर भी संख्या और निशानी डलवायी और उनमेंसे जो नाथनेयोग्य थे, उन सबकी गणना कराकर उनपर पहचान डाल दी। जिन गौओंके बछड़े बहुत छोटे थे, उनकी भी अलग गणना करवायी ।। ५ ।।

अथ स स्मारणं कृत्वा लक्षयित्वा त्रिहायनान् ।
वृतो गोपालकैः प्रीतो व्यहरत् कुरुनन्दनः ।। ६ ।।

इस प्रकार जाँच-पड़तालका काम पूरा करके कुरुनन्दन दुर्योधनने तीन सालके बछड़ोंकी पृथक् गणना करवायी और स्मरणके लिये सब कुछ लिखकर वह बड़ी

प्रसन्नताके साथ ग्वालोंसे घिरकर उस वनमें विहार करने लगा ।। ६ ।।

स च पौरजनः सर्वः सैनिकाश्च सहस्रशः ।
यथोपजोषं चिक्रीडुर्वने तस्मिन् यथामराः ।। ७ ।।

वे समस्त पुरवासी और सहस्रोंकी संख्यामें आये हुए सैनिक उस वनमें अपनी-अपनी रुचिके अनुसार देवताओंके समान क्रीड़ा करने लगे ।। ७ ।।

ततो गोपाः प्रगातारः कुशला नृत्यवादने ।
धार्तराष्ट्रमुपातिष्ठन् कन्याश्चैव स्वलंकृताः ।। ८ ।।

तदनन्तर नृत्य और वादनकी कलामें कुशल कुछ गवैये गोप तथा गहने-कपड़ोंसे सजी हुई उनकी कन्याएँ दुर्योधनके समीप आयीं ।। ८ ।।

स स्त्रीगणावृतो राजा प्रहृष्टः प्रददौ वसु ।
तेभ्यो यथार्हमन्नानि पानानि विविधानि च ।। ९ ।।

अपनी स्त्रियोंके साथ राजा दुर्योधन उनको देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उन्हें बहुत-सा धन दिया तथा यथायोग्य नाना प्रकारकी खाने-पीनेकी वस्तुएँ अर्पित कीं ।। ९ ।।

ततस्ते सहिताः सर्वे तरक्षून् महिषान् मृगान् ।
गवयर्क्षवराहांश्च समन्तात् पर्यकालयन् ।। १० ।।

तदनन्तर वे सब लोग तरक्षुओं (जरखों), जंगली भैंसों, गवयों, रीछों और शूकरों एवं अन्य जंगली हिंसक पशुओंका सब ओरसे शिकार करने लगे ।। १० ।।

स ताञ्छरैर्विनिर्भिद्य गजांश्च सुबहून् वने ।
रमणीयेषु देशेषु ग्राहयामास वै मृगान् ।। ११ ।।

उन्होंने वनके रमणीय प्रदेशोंमें बहुत-से हाथियोंको अपने बाणोंसे विदीर्ण करके अनेकानेक हिंस्र पशुओंको पकड़ लिया ।। ११ ।।

गोरसानुपयुञ्जान उपभोगांश्च भारत ।
पश्यन् स रमणीयानि वनान्युपवनानि च ।। १२ ।।
मत्तभ्रमरजुष्टानि बर्हिणाभिरुतानि च ।
अगच्छदानुपूर्व्येण पुण्यं द्वैतवनं सरः ।। १३ ।।

भरतनन्दन! दुर्योधन अपने साथियोंसहित दूध आदि गोरसोंका उपयोग करता और भाँति-भाँतिके भोग भोगता हुआ वहाँके रमणीय वनों और उपवनोंकी शोभा देखने लगा। उनमें मतवाले भ्रमर गुंजार करते थे और मयूरोंकी मधुर वाणी सब ओर गूँज रही थी। इस प्रकार क्रमशः आगे बढ़ता हुआ वह परम पवित्र द्वैतवननामक सरोवरके समीप जा पहुँचा ।। १२-१३ ।।

मत्तभ्रमरसंजुष्टं नीलकण्ठरवाकुलम् ।
सप्तच्छदसमाकीर्णं पुन्नागबकुलैर्युतम् ।। १४ ।।

वहाँ मधुमत्त भ्रमर कमलपुष्पोंका रस ले रहे थे। मयूरोंकी मधुर वाणीसे वह सारा प्रदेश व्याप्त हो रहा था। सप्तच्छद (छितवन)-के वृक्षोंसे वह सरोवर आच्छादित-सा जान पड़ता था। उसके तटोंपर मौलसिरी और नागकेसरके वृक्ष शोभा पा रहे थे ।। १४ ।।

ऋद्ध्या परमया युक्तो महेन्द्र इव वज्रभृत् ।
यदृच्छया च तत्रस्थो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।। १५ ।।
ईजे राजर्षियज्ञेन साद्यस्केन विशाम्पते ।
दिव्येन विधिना चैव वन्येन कुरुसत्तम ।। १६ ।।
(विद्वद्भिः सहितो धीमान् ब्राह्मणैर्वनवासिभिः ।)
कृत्वा निवेशमभितः सरसस्तस्य कौरव ।
द्रौपद्या सहितो धीमान् धर्मपत्न्या नराधिपः ।। १७ ।।

उसी सरोवरके तटपर वज्रधारी इन्द्रके समान उत्तम ऐश्वर्यसे सम्पन्न बुद्धिमान् धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर अपनी धर्मपत्नी महारानी द्रौपदीके साथ साद्यस्क (एक दिनमें पूर्ण होनेवाले) राजर्षियज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे। कुरुश्रेष्ठ जनमेजय! उस यज्ञमें उनके साथ बहुत-से वनवासी विद्वान् ब्राह्मण भी थे। राजा वनमें सुलभ होनेवाली सामग्रीद्वारा दिव्य विधिसे यज्ञ कर रहे थे। वे उसी सरोवरके आस-पास कुटी बनाकर रहते थे ।। १५—१७ ।।

ततो दुर्योधनः प्रेष्यानादिदेश सहस्रशः ।
आक्रीडावसथाः क्षिप्रं क्रियन्तामिति भारत ।। १८ ।।

भारत! तदनन्तर दुर्योधनने अपने सहस्रों सेवकोंको आज्ञा दी—'तुमलोग बहुत-से क्रीडामण्डप तैयार करो' ।।

ते तथेत्येव कौरव्यमुक्त्वा वचनकारिणः ।
चिकीर्षन्तस्तदाऽऽक्रीडाञ्जग्मुर्द्वैतवनं सरः ।। १९ ।।

आज्ञाकारी सेवक दुर्योधनसे 'तथास्तु' कहकर क्रीडाभवन बनानेकी इच्छासे द्वैतवनके सरोवरके निकट गये ।। १९ ।।

प्रविशन्तं वनद्वारि गन्धर्वाः समवारयन् ।
सेनाग्रयं धार्तराष्ट्रस्य प्राप्तं द्वैतवनं सरः ।। २० ।।

दुर्योधनका सेनानायक द्वैतवन सरोवरके अत्यन्त निकटतक पहुँच गया था, उस वनके द्वारपर पैर रखते ही उसको गन्धर्वोंने रोक दिया ।। २० ।।

तत्र गन्धर्वराजो वै पूर्वमेव विशाम्पते ।
कुबेरभवनाद् राजन्नाजगाम गणावृतः ।। २१ ।।

राजन्! वहाँ गन्धर्वराज चित्रसेन पहलेसे ही अपने सेवकगणोंके साथ कुबेरभवनसे आये हुए थे ।। २१ ।।

गणैरप्सरसां चैव त्रिदशानां तथाऽऽत्मजैः ।
विहारशीलः क्रीडार्थं तेन तत् संवृतं सरः ।। २२ ।।

वे उन दिनों अप्सराओं तथा देवकुमारोंके साथ विभिन्न स्थानोंमें भ्रमण करते थे। उन्होंने स्वयं ही क्रीड़ाविहारके लिये उस सरोवरको सब ओरसे घेर लिया था ।। २२ ।।

तेन तत् संवृतं दृष्ट्वा ते राजपरिचारकाः ।
प्रतिजग्मुस्ततो राजन् यत्र दुर्योधनो नृपः ।। २३ ।।
स तु तेषां वचः श्रुत्वा सैनिकान् युद्धदुर्मदान् ।
प्रेषयामास कौरव्य उत्सारयत तानिति ।। २४ ।।

राजन्! उस सरोवरको गन्धर्वराजने घेर रखा है, यह देखकर वे राजसेवक जहाँ राजा दुर्योधन था, वहाँ लौट गये। जनमेजय! अपने सेवकोंका कथन सुनकर राजा दुर्योधनने युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले सैनिकोंको यह आदेश देकर भेजा कि 'गन्धर्वोंको वहाँसे मार भगाओ' ।। २३-२४ ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राज्ञः सेनाग्रयायिनः ।
सरो द्वैतवनं गत्वा गन्धर्वानिदमब्रुवन् ।। २५ ।।

राजाका यह आदेश सुनकर उसकी सेनाके नायक द्वैतवन सरोवरके समीप जाकर गन्धर्वोंसे इस प्रकार बोले— ।। २५ ।।

राजा दुर्योधनो नाम धृतराष्ट्रसुतो बली ।
विजिहीर्षुरिहायाति तदर्थमपसर्पत ।। २६ ।।

'गन्धर्वो! महाराज धृतराष्ट्रके बलवान् पुत्र राजा दुर्योधन यहाँ विहार करनेकी इच्छासे पधार रहे हैं। तुमलोग उनके लिये यह स्थान खाली करके दूर चले जाओ' ।। २६ ।।

एवमुक्तास्तु गन्धर्वाः प्रहसन्तो विशाम्पते ।
प्रत्यब्रुवंस्तान् पुरुषानिदं हि परुषं वचः ।। २७ ।।

राजन्! उनके ऐसा कहनेपर गन्धर्व जोर-जोरसे हँसने लगे; और उन राजसेवकोंको उत्तर देते हुए उनसे इस प्रकार कठोर वाणीमें बोले— ।। २७ ।।

न चेतयति वो राजा मन्दबुद्धिः सुयोधनः ।
योऽस्मानाज्ञापयत्येवं वैश्यानिव दिवौकसः ।। २८ ।।

'तुम्हारा राजा दुर्योधन मूर्ख है। उसे तनिक भी चेत नहीं है; क्योंकि वह हम देवलोकवासी गन्धर्वको भी बनियोंके समान समझकर इस प्रकार आज्ञा दे रहा है ।।

यूयं मुमूर्षवश्चापि मन्दप्रज्ञा न संशयः ।
ये तस्य वचनादेवमस्मान् ब्रूत विचेतसः ।। २९ ।।

'तुमलोगोंकी भी बुद्धि मारी गयी है। इसमें संदेह नहीं कि तुम सब-के-सब मरना चाहते हो। तभी तो उस दुर्योधनके कहनेसे तुम इस प्रकार हमसे विचारहीन होकर बातें कर रहे हो ।। २९ ।।

गच्छध्वं त्वरिताः सर्वे यत्र राजा स कौरवः ।
न चेदद्यैव गच्छध्वं धर्मराजनिवेशनम् ।। ३० ।।

‘या तो तुम सब लोग तुरन्त वहीं लौट जाओ, जहाँ तुम्हारा राजा दुर्योधन रहता है। या यदि ऐसा नहीं करना है, तो अभी धर्मराजके नगर (यमलोक) की राह लो’ ।। ३० ।।

एवमुक्तास्तु गन्धर्वै राज्ञः सेनाग्रयायिनः ।

सम्प्राद्रवन् यतो राजा धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ।। ३१ ।।

गन्धर्वोंके ऐसा कहनेपर राजाके सेनानायक योद्धा वहीं भाग गये, जहाँ धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन स्वयं विराजमान था ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि गन्धर्वदुर्योधनसेनासंवादे चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २४० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें गन्धर्वदुर्योधनसेनासंवादविषयक दो सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४० ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३१½ श्लोक हैं)

एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कौरवोंका गन्धर्वोंके साथ युद्ध और कर्णकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते सहिताः सर्वे दुर्योधनमुपागमन् ।
अब्रुवंश्च महाराज यदूचुः कौरवं प्रति ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! तदनन्तर वे सब लोग एक साथ कुरुराज दुर्योधनके पास गये और गन्धर्वोंने राजासे कहनेके लिये जो-जो बातें कही थीं, उन्हें कह सुनाया ।। १ ।।

गन्धर्वैर्वारिते सैन्ये धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
अमर्षपूर्णः सैन्यानि प्रत्यभाषत भारत ।। २ ।।

भारत! गन्धर्वोंद्वारा अपनी सेनाके रोक दिये जानेपर प्रतापी राजा दुर्योधनने अमर्षमें भरकर समस्त सैनिकोंसे कहा— ।। २ ।।

शासतैनानधर्मज्ञान् मम विप्रियकारिणः ।
यदि प्रक्रीडते सर्वैर्देवैः सह शतक्रतुः ।। ३ ।।

‘अरे! यदि समस्त देवताओंके साथ इन्द्र भी यहाँ आकर क्रीडा करते हों, तो वे भी मेरा अप्रिय करनेवाले हैं। तुमलोग इन सब पापात्माओंको दण्ड दो’ ।। ३ ।।

दुर्योधनवचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
सर्व एवाभिसंनद्धा योधाश्चापि सहस्रशः ।। ४ ।।

दुर्योधनकी यह बात सुनकर महाबली कौरव और उनके सहस्रों योद्धा सब-के-सब युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हो गये ।। ४ ।।

ततः प्रमथ्य सर्वांस्तांस्तद् वनं विविशुर्बलात् ।
सिंहनादेन महता पूरयन्तो दिशो दश ।। ५ ।।

तदनन्तर वे अपने महान् सिंहनादसे दसों दिशाओंको गुँजाते हुए उन समस्त गन्धर्वोंको रौंदकर बलपूर्वक द्वैतवनमें घुस गये ।। ५ ।।

ततोऽपरैरवार्यन्त गन्धर्वैः कुरुसैनिकाः ।
ते वार्यमाणा गन्धर्वैः साम्नैव वसुधाधिप ।। ६ ।।
ताननादृत्य गन्धर्वांस्तद् वनं विविशुर्महत् ।
यदा वाचा न तिष्ठन्ति धार्तराष्ट्राः सराजकाः ।। ७ ।।
ततस्ते खेचराः सर्वे चित्रसेने न्यवेदयन् ।

राजन्! उस समय दूसरे-दूसरे गन्धर्वोंने शान्तिपूर्ण वचनोंद्वारा ही कौरव सैनिकोंको रोका। रोकनेपर भी उन गन्धर्वोंकी अवहेलना करके वे समस्त सैनिक उस महान् वनके भीतर प्रविष्ट हो गये। जब राजा दुर्योधनसहित समस्त कौरव वाणीद्वारा मना करनेपर न रुके, तब आकाशमें विचरनेवाले उन सभी गन्धर्वोंने राजा चित्रसेनसे यह सारा समाचार निवेदन किया ।। ६-७½ ।।

गन्धर्वराजस्तान् सर्वानब्रवीत् कौरवान् प्रति ।। ८ ।।
अनार्याञ्छासतेत्येतांश्चित्रसेनोऽत्यमर्षणः ।

यह सुनकर गन्धर्वराज चित्रसेनको बड़ा अमर्ष हुआ। उन्होंने कौरवोंको लक्ष्य करके समस्त गन्धर्वोंको आज्ञा दी, 'अरे! इन दुष्टोंका दमन करो' ।। ८½ ।।

अनुज्ञाताश्च गन्धर्वाश्चित्रसेनेन भारत ।। ९ ।।
प्रगृहीतायुधाः सर्वे धार्तराष्ट्रानभिद्रवन् ।

भारत! चित्रसेनकी आज्ञा पाते ही सब गन्धर्व अस्त्र-शस्त्र लेकर कौरवोंकी ओर दौड़े ।। ९½ ।।

तान् दृष्ट्वा पततः शीघ्रान् गन्धर्वानुद्यतायुधान् ।। १० ।।
प्राद्रवंस्ते दिशः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ।

गन्धर्वोंको अस्त्र-शस्त्र लिये तीव्र वेगसे अपनी ओर आते देख वे सभी कौरव सैनिक दुर्योधनके देखते-देखते चारों ओर भागने लगे ।। १०½ ।।

तान् दृष्ट्वा द्रवतःसर्वान् धार्तराष्ट्रान् पराङ्मुखान् ।। ११ ।।
राधेयस्तु तदा वीरो नासीत् तत्र पराङ्मुखः ।

धृतराष्ट्रके सब पुत्रोंको युद्धसे विमुख हो भागते देखकर भी राधानन्दन वीर कर्णने वहाँ पीठ नहीं दिखायी ।।

आपतन्तीं तु सम्प्रेक्ष्य गन्धर्वाणां महाचमूम् ।। १२ ।।
महता शरवर्षेण राधेयः प्रत्यवारयत् ।

गन्धर्वोंकी उस विशाल सेनाको अपनी ओर आती देख कर्णने भारी बाणवर्षा करके उसे आगे बढ़नेसे रोक दिया ।। १२½ ।।

क्षुरप्रैर्विशिखैर्भल्लैर्वत्सदन्तैस्तथाऽऽयसैः ।। १३ ।।
गन्धर्वाञ्छतशोऽभ्यघ्नँल्लघुत्वात् सूतनन्दन ।

सूतपुत्र कर्णने अपने हाथोंकी फुर्तीके कारण लोहेके क्षुरप्र, विशिख, भल्ल और वत्सदन्त नामक बाणोंकी वर्षा करके सैकड़ों गन्धर्वोंको घायल कर दिया ।। १३½ ।।

पातयन्नुत्तमाङ्गानि गन्धर्वाणां महारथः ।। १४ ।।
क्षणेन व्यधमत् सर्वां चित्रसेनस्य वाहिनीम् ।

गन्धर्वोंके मस्तक काटकर गिराते हुए महारथी कर्णने चित्रसेनकी सारी सेनाको क्षणभरमें छिन्न-भिन्न कर डाला ।। १४½ ।।

ते वध्यमाना गन्धर्वाः सूतपुत्रेण धीमता ।। १५ ।।
भूय एवाभ्यवर्तन्त शतशोऽथ सहस्रशः ।
गन्धर्वभूता पृथिवी क्षणेन समपद्यत ।। १६ ।।
आपतद्भिर्महावेगैश्चित्रसेनस्य सैनिकैः ।

परम बुद्धिमान् सूतपुत्र कर्णके द्वारा ज्यों-ज्यों गन्धर्वोंपर मार पड़ने लगी, त्यों-ही-त्यों वे सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें वहाँ आ-आकर एकत्र होने लगे। इस प्रकार चित्रसेनके अत्यन्त वेगशाली सैनिकोंके आनेसे क्षणभरमें वहाँकी सारी पृथ्वी गन्धर्वमयी हो गयी ।। १५-१६½ ।।

अथ दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ।। १७ ।।
दुःशासनो विकर्णश्च ये चान्ये धृतराष्ट्रजाः ।
न्यहनंस्तत् तदा सैन्यं रथैर्गरुडनिःस्वनैः ।। १८ ।।

तदनन्तर राजा दुर्योधन, सुबलपुत्र शकुनि, दुःशासन, विकर्ण तथा अन्य जो धृतराष्ट्रपुत्र वहाँ आये थे, उन सबने गरुड़के समान भयंकर शब्द करनेवाले रथोंपर आरूढ़ हो गन्धर्वोंकी उस सेनाका संहार आरम्भ किया ।।

भूयश्च योधयामासुः कृत्वा कर्णमथाग्रतः ।
महता रथसङ्घेन रथचारेण चाप्युत ।। १९ ।।
वैकर्तनं परीप्सन्तो गन्धर्वान् समवाकिरन् ।

उन्होंने कर्णको आगे करके पुनः बड़े वेगसे गन्धर्वोंका सामना किया। उनके साथ रथोंका विशाल समूह था। वे रथोंको विचित्र गतियोंसे चलाते हुए कर्णकी रक्षा करने और गन्धर्वोंपर बाण बरसाने लगे ।। १९½ ।।

ततः संन्यपतन् सर्वे गन्धर्वाः कौरवैः सह ।। २० ।।
तदा सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
ततस्ते मृदवोऽभूवन् गन्धर्वाः शरपीडिताः ।। २१ ।।
उच्चक्रुशुश्च कौरव्या गन्धर्वान् प्रेक्ष्य पीडितान् ।

तत्पश्चात् सारे गन्धर्व संगठित हो कौरवोंके साथ भिड़ गये। उस समय उनमें घमासान युद्ध होने लगा, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। तदनन्तर कौरवोंके बाणोंसे पीड़ित हो गन्धर्व कुछ ढीले पड़ने लगे और उन्हें कष्ट पाते देख कौरव-योद्धा जोर-जोरसे गरजने लगे ।। २०-२१½ ।।

गन्धर्वांस्त्रासितान् दृष्ट्वा चित्रसेनो ह्यमर्षणः ।। २२ ।।
उत्पपातासनात् क्रुद्धो वधे तेषां समाहितः ।

गन्धर्वोंको भयभीत देखकर गन्धर्वराज चित्रसेनको बड़ा क्रोध हुआ। वे शत्रुओंके वधका दृढ़ संकल्प लेकर अपने आसनसे उछल पड़े ।। २२½ ।।

ततो मायास्त्रमास्थाय युयुधे चित्रमार्गवित् ।
तयामुह्यन्त कौरव्याश्चित्रसेनस्य मायया ।। २३ ।।

वे युद्धकी विचित्र पद्धतियोंके ज्ञाता थे। उन्होंने मायामय अस्त्रका आश्रय लेकर युद्ध आरम्भ किया। चित्रसेनकी उस मायासे समस्त कौरवोंपर मोह छा गया ।।

एकैको हि तदा योधो धार्तराष्ट्रस्य भारत ।
पर्यवर्तत गन्धर्वैर्दशभिर्दशभिः सह ।। २४ ।।

भारत! उस समय दुर्योधनका एक-एक सैनिक दस-दस गन्धर्वोंके साथ लोहा ले रहा था ।। २४ ।।

ततः सम्पीड्यमानास्ते बलेन महता तदा ।
प्राद्रवन्त रणे भीता ये च राजञ्जिगीषवः ।। २५ ।।

राजन्! तदनन्तर गन्धर्वोंकी विशाल सेनासे पीड़ित हो वे सभी योद्धा, जो पहले जीतनेका हौसला रखते थे, भयभीत हो युद्धसे भाग चले ।। २५ ।।

भज्यमानेष्वनीकेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वशः ।
कर्णो वैकर्तनो राजंस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ।। २६ ।।

जनमेजय! जब कौरवोंके सभी सैनिक युद्ध छोड़कर भागने लगे, उस समय भी सूर्यपुत्र कर्ण पर्वतकी भाँति अविचलभावसे उस युद्धभूमिमें डटा रहा ।। २६ ।।

दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ।
गन्धर्वान् योधयामासुः समरे भृशविक्षताः ।। २७ ।।

दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि—ये उस समरांगणमें यद्यपि बहुत घायल हो गये थे, तथापि गन्धर्वोंसे युद्ध करते रहे ।। २७ ।।

सर्व एव तु गन्धर्वाः शतशोऽथ सहस्रशः ।
जिघांसमानाः सहिताः कर्णमभ्यद्रवन् रणे ।। २८ ।।

इसपर सभी गन्धर्व एक साथ संगठित हो कर्णको मार डालनेकी इच्छासे सौ-सौ तथा हजार-हजारका दल बाँधकर रणभूमिमें कर्णके ऊपर टूट पड़े ।। २८ ।।

असिभिः पट्टिशैः शूलैर्गदाभिश्च महाबलाः ।
सूतपुत्रं जिघांसन्तः समन्तात् पर्यवाकिरन् ।। २९ ।।

उन महाबली वीरोंने सूतपुत्र कर्णके वधकी इच्छा रखकर उसके ऊपर चारों ओरसे तलवार, पट्टिश, शूल और गदाओंद्वारा प्रहार आरम्भ किया ।। २९ ।।

अन्येऽस्य युगमच्छिन्दन् ध्वजमन्ये न्यपातयन् ।
ईषामन्ये हयानन्ये सूतमन्ये न्यपातयन् ।। ३० ।।

किन्हींने उसके रथका जुआ काट दिया, दूसरोंने ध्वजा काटकर गिरा दी। कुछ लोगोंने ईषादण्डके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। कुछ गन्धर्वोंने कर्णके घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया तथा दूसरोंने सारथिको मार गिराया ।। ३० ।।

अन्ये छत्रं वरूथं च बन्धुरं च तथापरे ।
गन्धर्वा बहुसाहस्रास्तिलशो व्यधमन् रथम् ।। ३१ ।।

किसी एकने छत्र, दूसरोंने वरूथ* और अन्य सैनिकोंने रथके बन्धन काट डाले। गन्धर्वोंकी संख्या कई हजार थी। उन्होंने कर्णके रथको तिल-तिल करके काट दिया ।। ३१ ।।

ततो रथादवप्लुत्य सूतपुत्रोऽसिचर्मभृत् ।
विकर्णरथमास्थाय मोक्षायाश्वानचोदयत् ।। ३२ ।।

तब सूतपुत्र कर्ण हाथमें तलवार और ढाल लिये अपने रथसे कूद पड़ा और विकर्णके रथपर बैठकर अपने प्राण बचानेके लिये उसके घोड़ोंको जोर-जोरसे हाँकने लगा ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णपराभवे एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २४१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णपराजयविषयक दो सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४१ ।।

---

* लोहेकी चद्दर या सीकड़ोंका बना हुआ आवरण वरूथ कहलाता है। पहले यह शत्रुके आघातसे रथको रक्षित रखनेके लिये उसके ऊपर डाला जाता था।

द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

गन्धर्वोंद्वारा दुर्योधन आदिकी पराजय और उनका अपहरण

वैशम्पायन उवाच

गन्धर्वैस्तु महाराज भग्ने कर्णे महारथे ।
सम्प्राद्रवच्चमूः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! गन्धर्वोंने जब महारथी कर्णको भगा दिया, तब दुर्योधनके देखते-देखते उसकी सारी सेना भी भाग चली ।। १ ।।

तान् दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान् धार्तराष्ट्रान् पराङ्मुखान् ।
दुर्योधनो महाराजो नासीत् तत्र पराङ्मुखः ।। २ ।।

धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको युद्धसे पीठ दिखाकर भागते देखकर भी राजा दुर्योधन स्वयं वहीं डटा रहा। उसने पीठ नहीं दिखायी ।। २ ।।

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य गन्धर्वाणां महाचमूम् ।
महता शरवर्षेण सोऽभ्यवर्षदरिंदमः ।। ३ ।।

गन्धर्वोंकी उस विशाल सेनाको अपनी ओर आती देख शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर दुर्योधनने उसपर बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा प्रारम्भ कर दी ।। ३ ।।

अचिन्त्य शरवर्षं तु गन्धर्वास्तस्य तं रथम् ।
दुर्योधनं जिघांसन्तः समन्तात् पर्यवारयन् ।। ४ ।।

परंतु गन्धर्वोंने उस बाणवर्षाकी कुछ भी परवाह नहीं की। उन्होंने दुर्योधनको मार डालनेकी इच्छासे उसके रथको चारों ओरसे घेर लिया ।। ४ ।।

युगमीषां वरूथं च तथैव ध्वजसारथी ।
अश्वांस्त्रिवेणुं तल्पं च तिलशो व्यधमञ्छरैः ।। ५ ।।

और उसके युग, ईषादण्ड, वरूथ, ध्वजा, सारथि, घोड़ों, तीन वेणुदण्डवाले छत्र और तल्प (बैठनेके स्थान)-को बाणोंद्वारा तिल-तिल करके काट डाला ।। ५ ।।

दुर्योधनं चित्रसेनो विरथं पतितं भुवि ।
अभिद्रुत्य महाबाहुर्जीवग्राहमथाग्रहीत् ।। ६ ।।

उस समय दुर्योधन रथहीन होकर धरतीपर गिर पड़ा। यह देख महाबाहु चित्रसेनने झटपट जाकर उसे जीते-जी ही बंदी बना लिया ।। ६ ।।

तस्मिन् गृहीते राजेन्द्र स्थितं दुःशासनं रथे ।
पर्यगृह्णन्त गन्धर्वाः परिवार्य समन्ततः ।। ७ ।।

राजेन्द्र! दुर्योधनके कैद हो जानेपर गन्धर्वोंने रथपर बैठे हुए दुःशासनको भी सब ओरसे घेरकर पकड़ लिया ।। ७ ।।

विविंशतिं चित्रसेनमादायान्ये विदुद्रुवुः ।
विन्दानुविन्दावपरे राजदारांश्च सर्वशः ।। ८ ।।

अन्य कितने ही गन्धर्व धृतराष्ट्रके पुत्र चित्रसेन और विविंशतिको बंदी बनाकर ले चले। कुछ अन्य गन्धर्वोंने विन्द और अनुविन्दको तथा राजकुलकी समस्त महिलाओंको भी अपने अधिकारमें ले लिया ।। ८ ।।

सैन्यं तद् धार्तराष्ट्रस्य गन्धर्वैः समभिद्रुतम् ।
पूर्वं प्रभग्नाः सहिताः पाण्डवानभ्ययुस्तदा ।। ९ ।।

गन्धर्वोंने दुर्योधनकी सारी सेनाको मार भगाया था। वह सेना तथा उसके वे सैनिक, जो पहलेसे ही मैदान छोड़कर भाग गये थे, सब एक साथ पाण्डवोंकी शरणमें गये ।। ९ ।।

शकटापणवेशाश्च यानयुग्यं च सर्वशः ।
शरणं पाण्डवान् जग्मुर्ह्रियमाणे महीपतौ ।। १० ।।

गन्धर्व जब राजा दुर्योधनको बंदी बनाकर ले जाने लगे, उस समय छकड़े, रसदकी दूकान, वेष-भूषा, सवारी ढोने तथा कंधोंपर जुआ रखकर चलनेमें समर्थ बैल आदि सब उपकरणोंको साथ ले कौरव-सैनिक पाण्डवोंकी शरणमें गये ।। १० ।।

सैनिका ऊचुः

प्रियदर्शी महाबाहुर्धार्तराष्ट्रो महाबलः ।
गन्धर्वैर्ह्रियते राजा पार्थास्तमनुधावत ।। ११ ।।
दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुर्जयस्तथा ।
बद्ध्वा ह्रियन्ते गन्धर्वै राजदाराश्च सर्वशः ।। १२ ।।

सैनिक बोले—कुन्तीकुमारो! हमारे प्रियदर्शी महाबाहु महाबली धृतराष्ट्रकुमार राजा दुर्योधनको गन्धर्व (बाँधकर) लिये जाते हैं। आपलोग उनकी रक्षाके लिये दौड़िये। वे दुःशासन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुर्जय तथा कुरुकुलकी सब स्त्रियोंको भी कैद करके लिये जा रहे हैं ।। ११-१२ ।।

इति दुर्योधनामात्याः क्रोशन्तो राजगृद्धिनः ।
आर्ता दीनास्ततः सर्वे युधिष्ठिरमुपागमन् ।। १३ ।।

राजाको हृदयसे चाहनेवाले दुर्योधनके सब मन्त्री आर्त एवं दीन होकर उपर्युक्त बातें जोर-जोरसे कहते हुए युधिष्ठिरके समीप गये ।। १३ ।।

तांस्तथा व्यथितान् दीनान् भिक्षमाणान् युधिष्ठिरम् ।
वृद्धान् दुर्योधनामात्यान् भीमसेनोऽभ्यभाषत ।। १४ ।।

दुर्योधनके उन बूढ़े मन्त्रियोंको इस प्रकार दीन एवं दुःखी होकर युधिष्ठिरसे सहायताकी भीख माँगते देख भीमसेनने कहा— ।। १४ ।।

महता हि प्रयत्नेन संनह्य गजवाजिभिः ।
अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम् ।। १५ ।।

‘हमें हाथी-घोड़ों आदिके द्वारा बहुत प्रयत्न करके कमर कसकर जो काम करना चाहिये था, उसे गन्धर्वोंने ही पूरा कर दिया ।। १५ ।।

अन्यथा वर्तमानानामर्थो जातोऽयमन्यथा ।
दुर्मन्त्रितमिदं तावद् राज्ञो दुर्द्यूतदेविनः ।। १६ ।।

‘ये कौरव कुछ और ही करना चाहते थे; परंतु इन्हें उलटा परिणाम देखना पड़ा। कपटद्यूत खेलनेवाले राजा दुर्योधनका यह दुर्मन्त्रणापूर्ण षड्यन्त्र था, जो सफल न हो सका ।। १६ ।।

द्वेष्टारमन्ये क्लीबस्य पातयन्तीति नः श्रुतम् ।
इदं कृतं नः प्रत्यक्षं गन्धर्वैरतिमानुषम् ।। १७ ।।

‘हमने सुना है, जो लोग असमर्थ पुरुषोंसे द्वेष करते हैं, उन्हें दूसरे ही लोग नीचा दिखा देते हैं। गन्धर्वोंने आज अलौकिक पराक्रम करके हमारी इस सुनी हुई बातको प्रत्यक्ष कर दिखाया ।। १७ ।।

दिष्ट्या लोके पुमानस्ति कश्चिदस्मत्प्रिये स्थितः ।
येनास्माकं हृतो भार आसीनानां सुखावहः ।। १८ ।।

‘सौभाग्यकी बात है कि संसारमें कोई ऐसा भी पुरुष है, जो हमलोगोंके प्रिय एवं हितसाधनमें लगा हुआ है। उसने हमलोगोंका भार उतार दिया और हमें बैठे-ही-बैठे सुख पहुँचाया है ।। १८ ।।

शीतवातातपसहांस्तपसा चैव कर्शितान् ।
समस्थो विषमस्थान् हि द्रष्टुमिच्छति दुर्मतिः ।। १९ ।।

‘हम सर्दी, गर्मी और हवाका कष्ट सहते हैं, तपस्यासे दुर्बल हो गये हैं और विषम परिस्थितिमें पड़े हैं, तो भी वह दुर्बुद्धि दुर्योधन, जो इस समय राजगद्दीपर बैठकर मौज उड़ा रहा है, हमें इस दुर्दशामें देखनेकी इच्छा रखता है ।। १९ ।।

अधर्मचारिणस्तस्य कौरव्यस्य दुरात्मनः ।
ये शीलमनुवर्तन्ते ते पश्यन्ति पराभवम् ।। २० ।।

‘उस पापाचारी दुरात्मा कौरवके स्वभावका जो लोग अनुसरण करते हैं, वे भी अपनी पराजय देखते हैं ।। २० ।।

अधर्मो हि कृतस्तेन येनैतदुपशिक्षितम् ।
अनृशंसास्तु कौन्तेयास्तत् प्रत्यक्षं ब्रवीमि वः ।। २१ ।।

‘जिसने दुर्योधनको यह सलाह दी है कि वह वनमें पाण्डवोंसे मिलकर उनकी हँसी उड़ावे, उसने बड़ा भारी पाप किया है। कुन्तीके पुत्र कभी क्रूरतापूर्ण बर्ताव नहीं करते, मैं यह बात आपलोगोंके सामने कह रहा हूँ’ ।। २१ ।।

एवं ब्रुवाणं कौन्तेयं भीमसेनमपस्वरम् ।
न कालः परुषस्यायमिति राजाभ्यभाषत ।। २२ ।।

कुन्तीनन्दन भीमसेनको इस प्रकार विकृत स्वरमें बात करते देख राजा युधिष्ठिरने कहा —‘भैया! यह कड़वी बातें कहनेका समय नहीं है’ ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनादिहरणे द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २४२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधन आदिका अपहरणविषयक दो सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४२ ।।

त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनको गन्धर्वोंके हाथसे कौरवोंको छुड़ानेका आदेश और इसके लिये अर्जुनकी प्रतिज्ञा

युधिष्ठिर उवाच

अस्मानभिगतांस्तात भयार्ताञ्छरणैषिणः ।
कौरवान् विषमप्राप्तान् कथं ब्रूयास्त्वमीदृशम् ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—तात! ये लोग भयसे पीड़ित हो शरण लेनेकी इच्छासे हमारे पास आये हैं। इस समय कौरव भारी संकटमें पड़ गये हैं। फिर तुम ऐसी कड़वी बात कैसे बोल रहे हो? ।। १ ।।

भवन्ति भेदा ज्ञातीनां कलहाश्च वृकोदर ।
प्रसक्तानि च वैराणि कुलधर्मो न नश्यति ।। २ ।।

भीमसेन! ज्ञाति अर्थात् भाई-बन्धुओंमें मतभेद और लड़ाई-झगड़े होते ही रहते हैं। कभी-कभी उनमें वैर भी बँध जाते हैं; परंतु इससे कुलका धर्म यानी अपनापन नष्ट नहीं होता ।। २ ।।

यदा तु कश्चिज्ज्ञातीनां बाह्यः पोथयते कुलम् ।
न मर्षयन्ति तत् सन्तो बाह्येनाभिप्रधर्षणम् ।। ३ ।।

जब कोई बाहरका मनुष्य उनके कुलपर आक्रमण करता है, तब श्रेष्ठ पुरुष उस बाहरी मनुष्यके द्वारा होनेवाले अपने कुलके तिरस्कारको नहीं सहन करते हैं ।। ३ ।।

(परैः परिभवे प्राप्ते वयं पञ्चोत्तरं शतम् ।
परस्परविरोधे तु वयं पञ्च शतं तु ते ।।)
जानात्येष हि दुर्बुद्धिरस्मानिह चिरोषितान् ।
स एवं परिभूयास्मानकार्षीदिदमप्रियम् ।। ४ ।।

दूसरोंके द्वारा पराभव प्राप्त होनेपर उसका सामना करनेके लिये हमलोग एक सौ पाँच भाई हैं। आपसमें विरोध होनेपर ही हम पाँच भाई अलग हैं और वे सौ भाई अलग। यह खोटी बुद्धिवाला गन्धर्व जानता है कि हम (पाण्डव) दीर्घकालसे यहाँ रह रहे हैं, तो भी इस प्रकार हमारा तिरस्कार करके इस चित्रसेन गन्धर्वने यह अप्रिय कार्य किया है ।। ४ ।।

दुर्योधनस्य ग्रहणाद् गन्धर्वेण बलात् प्रभो ।
स्त्रीणां बाह्याभिमर्शाच्च हतं भवति नः कुलम् ।। ५ ।।

शक्तिशाली भीम! गन्धर्वके द्वारा बलपूर्वक दुर्योधनके पकड़े जानेसे और एक बाहरी पुरुषके द्वारा कुरुकुलकी स्त्रियोंका अपहरण होनेसे हमारे कुलका जो तिरस्कार हुआ है,

वह कुलके लिये मृत्युके तुल्य है ।। ५ ।।

शरणं च प्रपन्नानां त्राणार्थं च कुलस्य च ।
उत्तिष्ठत नरव्याघ्राः सज्जीभवत मा चिरम् ।। ६ ।।

नरश्रेष्ठ वीरो! शरणागतोंकी रक्षा करने और कुलकी लाज बचानेके लिये तुमलोग शीघ्र उठो और युद्धके लिये तैयार हो जाओ, विलम्ब न करो ।। ६ ।।

अर्जुनश्च यमौ चैव त्वं च वीरापराजितः ।
मोक्षयध्वं नरव्याघ्रा ह्रियमाणं सुयोधनम् ।। ७ ।।

वीर! अर्जुन, नकुल, सहदेव और तुम किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हो। नरवीरो! गन्धर्वोंद्वारा अपहृत होनेवाले दुर्योधनको छुड़ा लाओ ।। ७ ।।

एते रथा नरव्याघ्राः सर्वशस्त्रसमन्विताः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां विमलाः काञ्चनध्वजाः ।। ८ ।।
सस्वनानधिरोहध्वं नित्यसज्जानिमान् रथान् ।
इन्द्रसेनादिभिः सूतैः कृतशस्त्रैरधिष्ठितान् ।। ९ ।।
एतानास्थाय वै यत्ता गन्धर्वान् योद्धुमाहवे ।
सुयोधनस्य मोक्षाय प्रयतध्वमतन्द्रिताः ।। १० ।।

नरसिंहो! कौरवोंके ये सुनहरी ध्वजावाले निर्मल रथ सामने खड़े हैं। इनमें सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र मौजूद हैं। इनके चलनेपर भारी आवाज होती है। ये रथ सदा सुसज्जित रहते हैं। शस्त्रविद्यामें निपुण इन्द्रसेन आदि सारथि इनपर बैठे हुए हैं। तुमलोग इन रथोंपर आरूढ़ हो गन्धर्वोंसे युद्ध करनेके लिये तैयार हो जाओ और सावधान होकर दुर्योधनको छुड़ानेका प्रयत्न करो ।।

य एव कश्चिद् राजन्यः शरणार्थमिहागतम् ।
परं शक्त्याभिरक्षेत किं पुनस्त्वं वृकोदर ।। ११ ।।

भीमसेन! जो कोई साधारण क्षत्रिय भी क्यों न हो, शरण लेनेके लिये आये हुए मनुष्यकी यथाशक्ति रक्षा करता है। फिर तुम-जैसे वीर पुरुष शरणागतकी रक्षा करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है? ।। ११ ।।

(वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पुनर्वाक्यमभाषत ।
कोपसंरक्तनयनः पूर्ववैरमनुस्मरन् ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार भीमसेन पहलेके वैरका स्मरण करते हुए क्रोधसे आँखें लाल करके फिर इस प्रकार बोले।

भीम उवाच

पुरा जतुगृहेऽनेन दग्धुमस्मान् युधिष्ठिर ।

दुर्बुद्धिर्हि कृता वीर भृशं दैवेन रक्षिताः ।।

भीमसेन बोले—वीरवर भैया युधिष्ठिर! आपको याद होगा, पहले इसी दुर्योधनने लाक्षागृहमें हमलोगोंको जलाकर भस्म कर देनेका घृणित विचार किया था; परंतु दैवने हमारी रक्षा की ।।

कालकूटं विषं तीक्ष्णं भोजने मम भारत ।
उप्त्वा गङ्गां लतापाशैर्बद्ध्वा च प्राक्षिपत् प्रभो ।।

भरतकुलभूषण प्रभो! इसीने मेरे भोजनमें तीव्र कालकूट विष मिला दिया और मुझे लतापाशसे बाँधकर गंगाजीमें फेंक दिया था ।।

द्यूतकाले हि कौन्तेय वृजिनानि कृतानि वै ।
द्रौपद्याश्च परामर्शः केशग्रहणमेव च ।।
वस्त्रापहरणं चैव सभामध्ये कृतानि वै ।
पुरा कृतानां पापानां फलं भुङ्क्ते सुयोधनः ।।

कुन्तीनन्दन! जूएके समय इसने बड़े-बड़े पाप किये हैं। द्रौपदीका स्पर्श, उसके केशोंको पकड़कर खींचना और भरी सभामें उसे नंगी करनेके लिये उसके वस्त्रोंका अपहरण करना—ये सब दुर्योधनके कुकृत्य हैं। पहलेके किये हुए पापोंका फल आज दुर्योधन भोग रहा है ।।

अस्माभिरेव कर्तव्यो धार्तराष्ट्रस्य निग्रहः ।
अन्येन तु कृतं तच्च मैत्र्यमस्माभिरिच्छता ।।
उपकारी तु गन्धर्वो मा राजन् विमना भव ।।

इस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको पकड़कर दण्ड देनेका काम तो हमलोगोंको ही करना चाहिये था; परंतु किसी दूसरेने हमारे साथ मैत्रीकी इच्छा रखकर स्वयं ही वह कार्य पूरा कर दिया। राजन्! आप उदास न हों; गन्धर्व हमलोगोंका उपकारी ही है ।।

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नन्तरे राजंश्चित्रसेनेन वै हृतः ।
विललाप सुदुःखार्तो ह्रियमाणः सुयोधनः ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी समय चित्रसेनद्वारा अपहृत होता हुआ दुर्योधन अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो जोर-जोरसे विलाप करने लगा ।।

दुर्योधन उवाच

पाण्डुपुत्र महाबाहो पौरवाणां यशस्कर ।
सर्वधर्मभृतां श्रेष्ठ गन्धर्वेण हृतं बलात् ।।
रक्षस्व पुरुषव्याघ्र युधिष्ठिर महायशः ।।
भ्रातरं ते महाबाहो बद्ध्वा नयति मामयम् ।

दुःशासनं दुर्विषहं दुर्मुखं दुर्जयं तथा ।।

बद्ध्वा हरन्ति गन्धर्वा अस्महारांश्च सर्वशः ।

अनुधावत मां क्षिप्रं रक्षध्वं पुरुषोत्तमाः ।।

वृकोदर महाबाहो धनंजय महायशः ।

यमौ मामनुधावेतां रक्षार्थं मम सायुधौ ।।

कुरुवंशस्य तु महदयशः प्राप्तमीदृशम् ।

व्यपोहयध्वं गन्धर्वाञ्जित्वा वीर्येण पाण्डवाः ।।

दुर्योधन बोला—पूरुवंशका यश बढ़ानेवाले समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महायशस्वी पुरुषसिंह महाबाहु पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर! मुझे गन्धर्व बलपूर्वक हरकर लिये जा रहा है। मेरी रक्षा करो। महाबाहो! यह शत्रु तुम्हारे भाई मुझ दुर्योधनको बाँधे लिये जाता है। साथ ही ये सारे गन्धर्व दुःशासन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुर्जय तथा हमारी रानियोंको भी बंदी बनाकर लिये जा रहे हैं। पुरुषोत्तम पाण्डवो! शीघ्र इनका पीछा करो और मेरे प्राण बचाओ। महाबाहु वृकोदर और महायशस्वी धनंजय! मेरी रक्षा करो। दोनों भाई नकुल और सहदेव भी अस्त्र-शस्त्र लिये मेरी रक्षाके लिये दौड़े आवें। पाण्डवो! कुरुवंशके लिये यह बड़ा भारी अयश प्राप्त हो रहा है। तुम अपने पराक्रमसे इन गन्धर्वोंको जीतकर मार भगाओ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपमानस्य कौरवस्यार्तया गिरा ।

श्रुत्वा विलापं सम्भ्रान्तो घृणयाभिपरिप्लुतः ।।

युधिष्ठिरः पुनर्वाक्यं भीमसेनमथाब्रवीत् ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार आर्त वाणीमें विलाप करते हुए दुर्योधनका करुण क्रन्दन सुनकर माननीय युधिष्ठिर दयासे द्रवित हो गये। उन्होंने पुनः भीमसेनसे कहा— ।।

क इहार्यो भवेत् त्राणमभिधावेति नोदितः ।

प्राञ्जलिं शरणापन्नं दृष्ट्वा शत्रुमपि ध्रुवम् ।। १२ ।।

‘इस जगत्‌में कौन ऐसा श्रेष्ठ पुरुष है, जो हाथ जोड़कर शरणमें आये हुए शत्रुको भी देखकर और उसके द्वारा की हुई ‘दौड़ो-बचाओ’ की पुकार सुनकर उसकी रक्षाके लिये दौड़ नहीं पड़ेगा? ।। १२ ।।

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च पाण्डवाः ।

शत्रोश्च मोक्षणं क्लेशात् त्रीणि चैकं च तत्समम् ।। १३ ।।

‘पाण्डवो! वरदान, राज्यप्रदान, पुत्रकी प्राप्ति कराना तथा शत्रुका संकटसे उद्धार करना—इन चार वस्तुओंमेंसे प्रारम्भके तीन और अन्तका एक समान हैं ।। १३ ।।

किं चाप्यधिकमेतस्माद् यदापन्नः सुयोधनः ।

त्वद्‌बाहुबलमाश्रित्य जीवितं परिमार्गते ।। १४ ।।

‘तुम्हारे लिये इससे बढ़कर आनन्दकी बात और क्या होगी कि दुर्योधन विपत्तिमें पड़कर तुम्हारे बाहुबलके भरोसे अपने जीवनकी रक्षा करना चाहता है? ।। १४ ।।

स्वयमेव प्रधावेयं यदि न स्याद् वृकोदर ।

विततो मे क्रतुर्वीर न हि मेऽत्र विचारणा ।। १५ ।।

‘वीर भीमसेन! यदि मेरा यह यज्ञ प्रारम्भ न हो गया होता तो मैं स्वयं ही दुर्योधनको छुड़ानेके लिये दौड़ा जाता। इस विषयमें मेरे लिये कोई दूसरा विचार करना उचित नहीं है ।। १५ ।।

साम्नैव तु यथा भीम मोक्षयेथाः सुयोधनम् ।

तथा सर्वैरुपायैस्त्वं यतेथाः कुरुनन्दन ।। १६ ।।

‘कुरुनन्दन भीम! शान्तिपूर्ण ढंगसे समझा-बुझाकर जिस तरह भी दुर्योधनको छुड़ा सको, सभी उपायोंसे वैसा ही प्रयत्न करना ।। १६ ।।

न साम्ना प्रतिपद्येत यदि गन्धर्वराडसौ ।

पराक्रमेण मृदुना मोक्षयेथाः सुयोधनम् ।। १७ ।।

‘यदि समझाने-बुझानेसे वह गन्धर्वराज चित्रसेन तुम्हारी बात न माने तो कोमलतापूर्ण पराक्रमके द्वारा दुर्योधनको छुड़ानेकी चेष्टा करना ।। १७ ।।

अथासौ मृदुयुद्धेन न मुञ्चेद् भीम कौरवान् ।

सर्वोपायैर्विमोच्यास्ते निगृह्य परिपन्थिनः ।। १८ ।।

‘भीम! यदि कोमलतापूर्ण युद्धसे भी वह कौरवोंको न छोड़े तो तुम सभी उपायोंसे उन लुटेरे गन्धर्वोंको कैद करके कौरवोंको छुड़ाना ।। १८ ।।

एतावद्धि मया शक्यं संदेष्टुं वै वृकोदर ।

वैताने कर्मणि तते वर्तमाने च भारत ।। १९ ।।

‘भरतनन्दन वृकोदर! इस समय मेरा यह यज्ञकर्म चालू है; अतः ऐसी स्थितिमें मैं तुम्हें इतना ही संदेश दे सकता हूँ’ ।। १९ ।।

वैशम्पायन उवाच

अजातशत्रोर्वचनं तच्छ्रुत्वा तु धनंजयः ।

प्रतिजज्ञे गुरोर्वाक्यं कौरवाणां विमोक्षणम् ।। २० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अजातशत्रु युधिष्ठिरका उपर्युक्त वचन सुनकर अर्जुनने अपने बड़े भाईकी आज्ञाके अनुसार कौरवोंको छुड़ानेकी प्रतिज्ञा की ।। २० ।।

अर्जुन उवाच

यदि साम्ना न मोक्ष्यन्ति गन्धर्वा धृतराष्ट्रजान् ।
अद्य गन्धर्वराजस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ।। २१ ।।

अर्जुन बोले—यदि गन्धर्वलोग समझाने-बुझानेसे कौरवोंको नहीं छोड़ेंगे, तो यह पृथ्वी आज गन्धर्वराजका रक्त पीयेगी ।। २१ ।।

अर्जुनस्य तु तां श्रुत्वा प्रतिज्ञां सत्यवादिनः ।
कौरवाणां तदा राजन् पुनः प्रत्यागतं मनः ।। २२ ।।

राजन्! सत्यवादी अर्जुनकी वह प्रतिज्ञा सुनकर कौरवोंके जीमें जी आया ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनमोचनानुज्ञायां त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २४३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनको छुड़ानेकी आज्ञाविषयक दो सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५½ श्लोक मिलाकर कुल ३७½ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका गन्धर्वोंके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरवचः श्रुत्वा भीमसेनपुरोगमाः ।
प्रहृष्टवदनाः सर्वे समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरकी बात सुनकर भीमसेन आदि सभी नरश्रेष्ठ पाण्डव युद्धके लिये उठ खड़े हुए। उन सबके मुखपर प्रसन्नता छा रही थी ।। १ ।।

अभेद्यानि ततः सर्वे समनह्यन्त भारत ।
जाम्बूनदविचित्राणि कवचानि महारथाः ।। २ ।।

भारत! तदनन्तर उन समस्त महारथियोंने जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित एवं विचित्र शोभा धारण करनेवाले अभेद्य कवच धारण किये ।। २ ।।

आयुधानि च दिव्यानि विविधानि समादधुः ।
ते दंशिता रथैः सर्वे ध्वजिनः सशरासनाः ।। ३ ।।
पाण्डवाः प्रत्यदृश्यन्त ज्वलिता इव पावकाः ।

फिर नाना प्रकारके दिव्य आयुध हाथमें लिये, कवच धारण करके रथोंपर आरूढ़ हो ध्वज और धनुषसे सुशोभित वे समस्त पाण्डव प्रज्वलित अग्नियोंके समान दिखायी देने लगे ।। ३½ ।।

तान् रथान् साधुसम्पन्नान् संयुक्ताञ्जवनैर्हयैः ।। ४ ।।
आस्थाय रथशार्दूलाः शीघ्रमेव ययुस्ततः ।

उन रथोंमें तेज चलनेवाले घोड़े जुते हुए थे। वे सभी रथ युद्धकी आवश्यक सामग्रियोंसे पूर्णतः सम्पन्न थे। रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डव उनपर आरूढ़ हो शीघ्र ही वहाँसे चल दिये ।। ४½ ।।

ततः कौरवसैन्यानां प्रादुरासीन्महास्वनः ।। ५ ।।
प्रयातान् सहितान् दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रान् महारथान् ।
जितकाशिनश्च खचरास्त्वरिताश्च महारथाः ।। ६ ।।
क्षणेनैव वने तस्मिन् समाजग्मुरभीतवत् ।
न्यवर्तन्त ततः सर्वे गन्धर्वा जितकाशिनः ।। ७ ।।

फिर तो कौरव सैनिकोंकी बड़ी भयंकर गर्जना सुनायी देने लगी। महारथी पाण्डवोंको एक साथ धावा बोलते देख विजयश्रीसे सुशोभित होनेवाले आकाशचारी महारथी गन्धर्व बड़ी उतावलीके साथ क्षणभरमें उस वनके भीतर ऐसे एकत्र हो गये मानो उन्हें किसीका

भय न हो। तदनन्तर अपनी विजयसे उल्लसित होते हुए सारे गन्धर्व शत्रुओंका सामना करनेके लिये लौट पड़े ।। ५—७ ।।

दृष्ट्वा रथागतान् वीरान् पाण्डवांश्चतुरो रणे ।
तांस्तु विभ्राजितान् दृष्ट्वा लोकपालानिवोद्यतान् ।। ८ ।।
व्यूढानीका व्यतिष्ठन्त गन्धमादनवासिनः ।

उन्होंने देखा, चारों वीर पाण्डव युद्धके लिए उद्यत हो रथपर बैठे हुए आ रहे हैं और अपनी कान्तिसे लोकपालोंके समान उद्भासित हो रहे हैं। यह देखकर गन्धमादननिवासी गन्धर्व अपनी सेनाकी व्यूहरचना करके खड़े हो गये ।। ८½ ।।

राज्ञस्तु वचनं स्मृत्वा धर्मपुत्रस्य धीमतः ।। ९ ।।
क्रमेण मृदुना युद्धमुपक्रान्तं च भारत ।

भारत! परम बुद्धिमान् धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके पूर्वोक्त वचनोंको स्मरण करके पाण्डवोंने कोमलतापूर्वक ही युद्ध आरम्भ किया ।। ९½ ।।

न तु गन्धर्वराजस्य सैनिका मन्दचेतसः ।। १० ।।
शक्यन्ते मृदुना श्रेयः प्रतिपादयितुं तदा ।

परंतु गन्धर्वराज चित्रसेनके मूढ़ सैनिक ऐसे नहीं थे जिन्हें कोमलतापूर्ण बर्तावके द्वारा कल्याणके पथपर लाया जा सके ।। १०½ ।।

ततस्तान् युधि दुर्धर्षान् सव्यसाची परंतपः ।। ११ ।।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमुवाच खचरान् रणे ।
विसर्जयत राजानं भ्रातरं मे सुयोधनम् ।। १२ ।।

तो भी उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने रणदुर्जय आकाशचारी गन्धर्वोंको समझाते हुए इस प्रकार कहा—'तुम सब लोग मेरे भाई राजा दुर्योधनको छोड़ दो' ।। ११-१२ ।।

त एवमुक्ता गन्धर्वाः पाण्डवेन यशस्विना ।
उत्स्मयन्तस्तदा पार्थमिदं वचनमब्रुवन् ।। १३ ।।

यशस्वी पाण्डुनन्दन अर्जुनके ऐसा कहनेपर गन्धर्वोंने मुसकराकर उनसे इस प्रकार कहा— ।। १३ ।।

एकस्यैव वयं तात कुर्याम वचनं भुवि ।
यस्य शासनमाज्ञाय चरामो विगतज्वराः ।। १४ ।।
तेनैकेन यथाऽऽदिष्टं तथा वर्ताम भारत ।
न शास्ता विद्यतेऽस्माकमन्यस्तस्मात् सुरेश्वरात् ।। १५ ।।

'तात! हम भूमण्डलमें केवल एक व्यक्तिकी ही आज्ञाका पालन करते हैं। भारत! जिनके शासनको शिरोधार्य करके हम निश्चिन्त हो सर्वत्र विचरते हैं। हमारे उन्हीं एकमात्र

स्वामीने जैसी आज्ञा दी है वैसा बर्ताव हम कर रहे हैं। अतः इन देवेश्वरके सिवा दूसरा कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो हमलोगोंपर शासन कर सके' ।। १४-१५ ।।

एवमुक्तः स गन्धर्वैः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
गन्धर्वान् पुनरेवेदं वचनं प्रत्यभाषत ।। १६ ।।

गन्धर्वोंके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन अर्जुनने पुनः उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया — ।। १६ ।।

न तद् गन्धर्वराजस्य युक्तं कर्म जुगुप्सितम् ।
परदाराभिमर्शश्च मानुषैश्च समागमः ।। १७ ।।

'गन्धर्वो! परायी स्त्रियोंका अपहरण और मनुष्योंके साथ युद्ध—ये घृणित कर्म गन्धर्वराज चित्रसेनको शोभा नहीं देते हैं ।। १७ ।।

उत्सृज्यध्वं महावीर्यान् धृतराष्ट्रसुतानिमान् ।
दारांश्चैषां विमुञ्चध्वं धर्मराजस्य शासनात् ।। १८ ।।

'अतः तुमलोग धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे इन महापराक्रमी धृतराष्ट्रके पुत्रों तथा इनकी स्त्रियोंको छोड़ दो ।।

यदा साम्ना न मुञ्चध्वं गन्धर्वा धृतराष्ट्रजान् ।
मोक्षयिष्यामि विक्रम्य स्वयमेव सुयोधनम् ।। १९ ।।

'गन्धर्वो! यदि इस प्रकार समझाने-बुझानेसे तुमलोग धृतराष्ट्रके पुत्रोंको नहीं छोड़ोगे, तो मैं स्वयं ही पराक्रम करके दुर्योधनको छुड़ा लूँगा' ।। १९ ।।

एवमुक्त्वा ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः ।
ससर्ज निशितान् बाणान् खचरान् खचरान् प्रति ।। २० ।।

ऐसा कहकर सव्यसाची अर्जुनने गन्धर्वोंके एक-एक दलपर अपने तीखे आकाशगामी बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। २० ।।

तथैव शरवर्षेण गन्धर्वास्ते बलोत्कटाः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त पाण्डवाश्च दिवौकसः ।। २१ ।।

इसी प्रकार बलोन्मत्त गन्धर्व भी बाणोंकी बौछार करते हुए पाण्डवोंसे भिड़ गये। इधरसे पाण्डव भी गन्धर्वोंका डटकर सामना करने लगे ।। २१ ।।

ततः सुतुमुलं युद्धं गन्धर्वाणां तरस्विनाम् ।
बभूव भीमवेगानां पाण्डवानां च भारत ।। २२ ।।

भारत! तदनन्तर बलशाली गन्धर्वों तथा भयानक वेगवाले पाण्डवोंमें अत्यन्त भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि पाण्डवगन्धर्वयुद्धे
चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २४४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें पाण्डव-गन्धर्वयुद्धविषयक दो सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४४ ।।

पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके द्वारा गन्धर्वोंकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततो दिव्यास्त्रसम्पन्ना गन्धर्वा हेममालिनः ।
विसृजन्तः शरान् दीप्तान् समन्तात् पर्यवारयन् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर दिव्यास्त्रोंसे सम्पन्न सुवर्णमालाधारी गन्धर्वोंने तेजोमय बाणोंकी वर्षा करते हुए चारों ओरसे पाण्डवोंको घेर लिया ।। १ ।।

चत्वारः पाण्डवा वीरा गन्धर्वाश्च सहस्रशः ।
रणे संन्यपतन् राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ।। २ ।।

राजन्! वीर पाण्डव केवल चार थे, परंतु उस रणभूमिमें हजारों गन्धर्व उनपर एक साथ टूट पड़े थे। यह एक अद्भुत-सी बात थी ।। २ ।।

यथा कर्णस्य च रथो धार्तराष्ट्रस्य चोभयोः ।
गन्धर्वैः शतशश्छिन्नौ तथा तेषां प्रचक्रिरे ।। ३ ।।

गन्धर्वोंने जैसे कर्ण तथा दुर्योधन दोनोंके रथोंको छिन्न-भिन्न करके उनके सैकड़ों टुकड़े कर दिये थे, उसी प्रकार वे पाण्डवोंके रथोंको भी टूक-टूक कर देनेकी चेष्टामें लग गये ।। ३ ।।

तान् समापततो राजन् गन्धर्वाञ्छतशो रणे ।
प्रत्यगृह्णन् नरव्याघ्राः शरवर्षैरनेकशः ।। ४ ।।

राजन्! रणभूमिमें सैकड़ों गन्धर्वोंको अपने ऊपर आक्रमण करते देख नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने बार-बार बाणोंकी झड़ी लगाकर उन सबको रोक दिया ।। ४ ।।

ते कीर्यमाणाः खगमाः शरवर्षैः समन्ततः ।
न शेकुः पाण्डुपुत्राणां समीपे परिवर्तितुम् ।। ५ ।।

सब ओरसे बाणोंकी वर्षाका लक्ष्य होनेके कारण वे आकाशचारी गन्धर्व पाण्डवोंके समीप जानेका साहस न कर सके ।। ५ ।।

अभिक्रुद्धानभिक्रुद्धो गन्धर्वानर्जुनस्तदा ।
लक्षयित्वाथ दिव्यानि महास्त्राण्युपचक्रमे ।। ६ ।।

अर्जुन-चित्रसेन-युद्ध

उस समय गन्धर्वोंको क्रोधमें भरे हुए देख अर्जुनने भी कुपित होकर महान् दिव्यास्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया ।। ६ ।।

सहस्राणां सहस्राणि प्राहिणोद् यमसादनम् ।
आग्नेयेनार्जुनः संख्ये गन्धर्वाणां बलोत्कटः ।। ७ ।।

वे अत्यन्त बलवान् थे। उन्होंने उस युद्धमें आग्नेयास्त्रका प्रयोग करके दस लाख गन्धर्वोंको यमलोक पहुँचा दिया ।। ७ ।।

तथा भीमो महेष्वासः संयुगे बलिनां वरः ।
गन्धर्वाञ्छतशो राजञ्जघान निशितैः शरैः ।। ८ ।।

राजन्! इसी प्रकार बलवानोंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर भीमसेनने अपने तीक्ष्ण सायकोंद्वारा सैकड़ों गन्धर्वोंको मार गिराया ।। ८ ।।

माद्रीपुत्रावपि तथा युध्यमानौ बलोत्कटौ ।
परिगृह्याग्रतो राजन् जघ्नतुः शतशः परान् ।। ९ ।।

उत्कट बलशाली माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने भी युद्धमें तत्पर हो सैकड़ों शत्रुओंको आगेसे पकड़कर मार डाला ।। ९ ।।

ते वध्यमाना गन्धर्वा दिव्यैरस्त्रैर्महारथैः ।
उत्पेतुः खमुपादाय धृतराष्ट्रसुतांस्ततः ।। १० ।।

महारथी पाण्डवोंके चलाये दिव्यास्त्रोंकी मार खाकर गन्धर्व धृतराष्ट्रके पुत्रोंको लिये-दिये आकाशमें उड़ गये ।। १० ।।

स तानुत्पतितान् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
महता शरजालेन समन्तात् पर्यवारयत् ।। ११ ।।

कुन्तीनन्दन अर्जुनने उन्हें आकाशमें उड़ते देख चारों ओर बाणोंका विस्तृत जाल-सा फैलाकर गन्धर्वोंको घेरेमें डाल दिया ।। ११ ।।

ते बद्धाः शरजालेन शकुन्ता इव पञ्जरे ।
ववर्षुरर्जुनं क्रोधाद् गदाशक्त्यृष्टिवृष्टिभिः ।। १२ ।।

उस जालमें वे उसी प्रकार बँध गये, जैसे पिंजड़ेमें पक्षी। अतः वे अत्यन्त कुपित होकर अर्जुनपर गदा, शक्ति और ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ।। १२ ।।

गदाशक्त्यृष्टिवृष्टीस्ता निहत्य परमास्त्रवित् ।
गात्राणि चाहनद् भल्लैर्गन्धर्वाणां धनंजयः ।। १३ ।।

तब उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता अर्जुन उनकी गदा, शक्ति तथा ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षाका निवारण करके भल्ल नामक बाणोंद्वारा गन्धर्वोंके अंगोंपर आघात करने लगे ।। १३ ।।

शिरोभिः प्रपतद्भिश्च चरणैर्बाहुभिस्तथा ।
अश्मवृष्टिरिवाभाति परेषामभवद् भयम् ।। १४ ।।

गन्धर्वोंके मस्तक, बाहु तथा पैर कट-कटकर इस प्रकार गिरने लगे मानो पत्थरोंकी वर्षा हो रही हो। इससे शत्रुओंको बड़ा भय होने लगा ।। १४ ।।

ते वध्यमाना गन्धर्वाः पाण्डवेन महात्मना ।
भूमिष्ठमन्तरिक्षस्थाः शरवर्षैरवाकिरन् ।। १५ ।।

महात्मा पाण्डुनन्दन अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर आकाशमें स्थित हुए गन्धर्वोंने पृथ्वीपर खड़े हुए अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की ।। १५ ।।

तेषां तु शरवर्षाणि सव्यसाची परंतपः ।
अस्त्रैः संवार्य तेजस्वी गन्धर्वान् प्रत्यविध्यत ।। १६ ।।

तेजस्वी परंतप सव्यसाचीने अपने अस्त्रोंद्वारा गन्धर्वोंकी बाणवर्षाका निवारण करके उन्हें फिरसे घायल कर दिया ।। १६ ।।

स्थूणाकर्णेन्द्रजालं च सौरं चापि तथार्जुनः ।
आग्नेयं चापि सौम्यं च ससर्ज कुरुनन्दनः ।। १७ ।।

कुरुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले अर्जुनने स्थूणाकर्ण, इन्द्रजाल, सौर, आग्नेय तथा सौम्य नामक दिव्यास्त्रोंका प्रयोग किया ।। १७ ।।

ते दह्यमाना गन्धर्वाः कुन्तीपुत्रस्य सायकैः ।
दैतेया इव शक्रेण विषादमगमन् परम् ।। १८ ।।

कुन्तीकुमारके उन सायकोंसे गन्धर्व उसी प्रकार दग्ध होने लगे, जैसे इन्द्रके बाणोंद्वारा दैत्य। इससे उनको बड़ा विषाद हुआ ।। १८ ।।

ऊर्ध्वमाक्रममाणाश्च शरजालेन वारिताः ।
विसर्पमाणा भल्लैश्च वार्यन्ते सव्यसाचिना ।। १९ ।।

जब वे ऊपरकी ओर उड़ने लगते तब अर्जुनके बाणोंके जालसे उनकी गति रुक जाती थी, और जब इधर-उधर भागने लगते तब सव्यसाची अर्जुनके भल्ल नामक बाण उन्हें आगे बढ़नेसे रोकते थे ।। १९ ।।

गन्धर्वांस्त्रासितान् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रेण भारत ।
चित्रसेनो गदां गृह्य सव्यसाचिनमाद्रवत् ।। २० ।।

भारत! इस प्रकार कुन्तीकुमारके द्वारा गन्धर्वोंको त्रस्त हुआ देख गन्धर्वराज चित्रसेनने गदा लेकर सव्यसाची अर्जुनपर आक्रमण किया ।। २० ।।

तस्याभिपततस्तूर्णं गदाहस्तस्य संयुगे ।
गदां सर्वायसीं पार्थः शरैश्चिच्छेद सप्तधा ।। २१ ।।

हाथमें गदा लिये बड़े वेगसे युद्धके लिये आते हुए चित्रसेनकी उस गदाके, जो सब-की-सब लोहेकी बनी हुई थी, अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा सात टुकड़े कर दिये ।। २१ ।।

स गदां बहुधा दृष्ट्वा कृत्तां बाणैस्तरस्विना ।
संवृत्य विद्ययाऽऽत्मानं योधयामास पाण्डवम् ।। २२ ।।

वेगशाली अर्जुनके बाणोंसे अपनी गदाके अनेक टुकड़े हुए देख चित्रसेन अन्तर्धानविद्याद्वारा अपने आपको छिपाकर उन पाण्डुकुमारके साथ युद्ध करने लगे ।। २२ ।।

अस्त्राणि तस्य दिव्यानि सम्प्रयुक्तानि सर्वशः ।
दिव्यैरस्त्रैस्तदा वीरः पर्यवारयदर्जुनः ।। २३ ।।

उस समय उन्होंने जिन-जिन दिव्यास्त्रोंका प्रयोग किया, उन सबको वीर अर्जुनने अपने दिव्य अस्त्रोंद्वारा शान्त कर दिया ।। २३ ।।

स वार्यमाणस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना ।
गन्धर्वराजो बलवान् माययान्तर्हितस्तदा ।। २४ ।।

महात्मा अर्जुनके उन अस्त्रोंसे रोके जानेपर बलवान् गन्धर्वराज मायासे अदृश्य हो गये ।। २४ ।।

अन्तर्हितं तमालक्ष्य प्रहरन्तमथार्जुनः ।
ताडयामास खचरैर्दिव्यास्त्रप्रतिमन्त्रितैः ।। २५ ।।

उन्हें अदृश्य होकर प्रहार करते देख अर्जुनने दिव्यास्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित किये हुए आकाशचारी बाणोंसे बींध डाला ।। २५ ।।

अन्तर्धानवधं चास्य चक्रे क्रुद्धोऽर्जुनस्तदा ।
शब्दवेधं समाश्रित्य बहुरूपो धनंजयः ।। २६ ।।

(रणभूमिमें सब ओर विचरनेके कारण) उस समय अर्जुन अनेक रूप धारण किये हुए जान पड़ते थे। उन्होंने कुपित होकर शब्दवेधका सहारा ले चित्रसेनकी अन्तर्धानरूप मायाको भी नष्ट कर दिया ।। २६ ।।

स वध्यमानस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना ।
ततोऽस्य दर्शयामास तदाऽऽत्मानं प्रियः सखा ।। २७ ।।

चित्रसेन अर्जुनके प्यारे सखा थे। उन्होंने महात्मा अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त घायल होनेपर अपने-आपको उनके सामने प्रकट कर दिया ।। २७ ।।

चित्रसेनस्तथोवाच सखायं युधि विद्धि माम् ।
चित्रसेनमथालक्ष्य सखायं युधि दुर्बलम् ।। २८ ।।
संजहारास्त्रमथ तत् प्रसृष्टं पाण्डवर्षभः ।
दृष्ट्वा तु पाण्डवाः सर्वे संहृतास्त्रं धनंजयम् ।। २९ ।।
संजह्रुः प्रद्रुतानश्वाञ्छरवेगान् धनूंषि च ।

चित्रसेनने उनसे कहा—'कुन्तीनन्दन! इस युद्धमें मुझे तुम अपना सखा चित्रसेन समझो।' यह सुनकर अर्जुनने चित्रसेनकी ओर दृष्टिपात किया। अपने सखाको युद्धमें अत्यन्त दुर्बल हुआ देख पाण्डवप्रवर अर्जुनने अपने धनुषपर प्रकट किये हुए उस दिव्यास्त्रका उपसंहार कर दिया। अर्जुनको अपना अस्त्र समेटते देख सब पाण्डवोंने भी दौड़ते हुए घोड़ोंको रोक लिया तथा वेगपूर्वक छूटनेवाले बाणों और धनुषोंका संचालन भी बंद कर दिया ।। २८-२९ १/२ ।।

चित्रसेनश्च भीमश्च सव्यसाची यमावपि ।
पृष्ट्वा कौशलमन्योन्यं रथेष्वेवावतस्थिरे ।। ३० ।।

तत्पश्चात् गन्धर्वराज चित्रसेन, भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेव सब लोग परस्पर कुशल-समाचार पूछकर अपने रथोंमें ही बैठे रहे ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि गन्धर्वपराभवे पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २४५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें गन्धर्वपराजयविषयक दो सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४५ ।।

षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

चित्रसेन, अर्जुन तथा युधिष्ठिरका संवाद और दुर्योधनका छुटकारा

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनश्चित्रसेनं प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
मध्ये गन्धर्वसैन्यानां महेष्वासो महाद्युतिः ।। १ ।।
किं ते व्यवसितं वीर कौरवाणां विनिग्रहे ।
किमर्थं च सदारोऽयं निगृहीतः सुयोधनः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर परम कान्तिमान् महाधनुर्धर अर्जुनने गन्धर्वोंकी सेनाके बीच चित्रसेनसे हँसते हुए पूछा—'वीर! कौरवोंको बंदी बनानेमें तुम्हारा क्या उद्देश्य था? स्त्रियोंसहित दुर्योधनको तुमने किसलिये कैद किया?' ।। १-२ ।।

चित्रसेन उवाच

विदितोऽयमभिप्रायस्तत्रस्थेन दुरात्मनः ।
दुर्योधनस्य पापस्य कर्णस्य च धनंजय ।। ३ ।।
वनस्थान् भवतो ज्ञात्वा क्लिश्यमानाननाथवत् ।
समस्थो विषमस्थांस्तान् द्रक्ष्यामीत्यनवस्थितान् ।। ४ ।।
इमेऽवहसितुं प्राप्ता द्रौपदीं च यशस्विनीम् ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितं चैषां मामुवाच सुरेश्वरः ।। ५ ।।

चित्रसेनने कहा—धनंजय! देवराज इन्द्रको स्वर्गमें बैठे-ही-बैठे दुरात्मा दुर्योधन और पापी कर्णका यह अभिप्राय मालूम हो गया था कि ये आपलोगोंको वनमें रहकर अनाथकी भाँति क्लेश उठाते और विषम परिस्थितिमें पड़कर अस्थिरभावसे रहते हुए जानकर भी उस अवस्थामें आपको देखने और दुःखी करनेका निश्चय कर चुके हैं। ये स्वयं सम (सुखपूर्ण)-अवस्थामें स्थित हैं, फिर भी आप पाण्डवों तथा यशस्विनी द्रौपदीकी हँसी उड़ानेके लिये वनमें आये हैं। इस प्रकार इनकी (आपलोगोंका अनिष्ट करनेकी) इच्छा जानकर देवेश्वर इन्द्रने मुझसे इस प्रकार कहा— ।। ३—५ ।।

गच्छ दुर्योधनं बद्ध्वा सहामात्यमिहानय ।
धनंजयश्च ते रक्ष्यः सह भ्रातृभिराहवे ।। ६ ।।
स च प्रियः सखा तुभ्यं शिष्यश्च तव पाण्डवः ।

'चित्रसेन! तुम जाओ और दुर्योधनको उसके मन्त्रियोंसहित बाँधकर यहाँ ले आओ। युद्धमें तुम्हें भाइयोंसहित अर्जुनकी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि पाण्डुनन्दन अर्जुन तुम्हारे

प्रिय सखा तथा शिष्य हैं' ।।

वचनाद् देवराजस्य ततोऽस्मीहागतो द्रुतम् ।। ७ ।।

अयं दुरात्मा बद्धश्च गमिष्यामि सुरालयम् ।

नेष्याम्येनं दुरात्मानं पाकशासनशासनात् ।। ८ ।।

वहाँसे देवराजकी यह आज्ञा मानकर मैं तुरन्त यहाँ चला आया। यह दुरात्मा दुर्योधन मेरी कैदमें आ गया है; अतः अब मैं देवलोकको जाऊँगा और पाकशासन इन्द्रकी आज्ञासे इस दुरात्माको भी वहीं ले जाऊँगा ।। ८ ।।

अर्जुन उवाच

उत्सृज्यतां चित्रसेन भ्रातास्माकं सुयोधनः ।

धर्मराजस्य संदेशान्मम चेदिच्छसि प्रियम् ।। ९ ।।

अर्जुन बोले—चित्रसेन! दुर्योधन हमलोगोंका भाई है। यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो धर्मराजके आदेशसे इसे छोड़ दो ।। ९ ।।

चित्रसेन उवाच

पापोऽयं नित्यसंतुष्टो न विमोक्षणमर्हति ।

प्रलब्धा धर्मराजस्य कृष्णायाश्च धनंजय ।। १० ।।

चित्रसेनने कहा—धनंजय! यह पापी सदा राज्यसुख भोगनेके कारण हर्षसे मतवाला हो उठा है; अतः इसे छोड़ना उचित नहीं है। इसने धर्मराज युधिष्ठिर तथा द्रौपदीको धोखा दिया है ।। १० ।।

नेदं चिकीर्षितं तस्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

जानाति धर्मराजो हि श्रुत्वा कुरु यथेच्छसि ।। ११ ।।

कुन्तीनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर इसके इस कुटिल अभिप्रायको नहीं जानते हैं; अतः यह सब सुनकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो ।। ११ ।।

वैशम्पायन उवाच

ते सर्व एव राजानमभिजग्मुर्युधिष्ठिरम् ।

अभिगम्य च तत् सर्वं शशंसुस्तस्य चेष्टितम् ।। १२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वे सब लोग राजा युधिष्ठिरके पास गये। वहाँ जाकर गन्धर्वोंने दुर्योधनकी सारी कुचेष्टा कह सुनायी ।। १२ ।।

अजातशत्रुस्तच्छ्रुत्वा गन्धर्वस्य वचस्तदा ।

मोक्षयामास तान् सर्वान् गन्धर्वान् प्रशशंस च ।। १३ ।।

गन्धर्वोंका यह कथन सुनकर अजातशत्रु युधिष्ठिरने उस समय समस्त कौरवोंको बन्धनसे छुड़ा दिया और गन्धर्वोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की— ।। १३ ।।

दिष्ट्या भवद्भिर्बलिभिः शक्तैः सर्वैर्न हिंसितः ।
दुर्वृत्तो धार्तराष्ट्रोऽयं सामात्यज्ञातिबान्धवः ।। १४ ।।

'आप सब लोग बलवान् और सामर्थ्यशाली हैं। आपने मन्त्रियों तथा जाति-भाइयोंसहित इस दुराचारी दुर्योधनका वध नहीं किया, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ।। १४ ।।

उपकारो महांस्तात कृतोऽयं मम खेचरैः ।
कुलं न परिभूतं मे मोक्षणेऽस्य दुरात्मनः ।। १५ ।।

'तात! आकाशचारी गन्धर्वोंने यह मेरा बहुत बड़ा उपकार किया कि इस दुरात्माको छोड़ दिया, इसलिये मेरे कुलका अपमान नहीं हुआ ।। १५ ।।

आज्ञापयध्वमिष्टानि प्रीयामो दर्शनेन वः ।
प्राप्य सर्वानभिप्रायांस्ततो व्रजत मा चिरम् ।। १६ ।।

'गन्धर्वो! अपनी अभीष्ट सेवाके लिये हमें आज्ञा दीजिये। हम सब लोग आपके दर्शनसे बहुत प्रसन्न हैं। अपनी समस्त मनोवांछित वस्तुओंको प्राप्त करनेके पश्चात् यहाँसे शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान कीजियेगा ।। १६ ।।

अनुज्ञातास्तु गन्धर्वाः पाण्डुपुत्रेण धीमता ।
सहाप्सरोभिः संहृष्टाश्चित्रसेनमुखा ययुः ।। १७ ।।

बुद्धिमान् पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे आज्ञा लेकर चित्रसेन आदि सब गन्धर्व अप्सराओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे विदा हुए ।। १७ ।।

(देवलोकं ततो गत्वा गन्धर्वैः सहितस्तदा ।
न्यवेदयच्च तत् सर्वं चित्रसेनः शतक्रतोः ।।)
देवराडपि गन्धर्वान् मृतांस्तान् समजीवयत् ।
दिव्येनामृतवर्षेण ये हताः कौरवैर्युधि ।। १८ ।।

तदनन्तर गन्धर्वोंसहित चित्रसेनने देवलोकमें पहुँचकर देवराज इन्द्रके समक्ष सब समाचार निवेदन किया। युद्धमें कौरवोंद्वारा जो गन्धर्व मारे गये थे, उन सबको देवराज इन्द्रने दिव्य अमृतकी वर्षा करके जिला दिया ।। १८ ।।

ज्ञातींस्तानवमुच्याथ राजदारांश्च सर्वशः ।
कृत्वा च दुष्करं कर्म प्रीतियुक्ताश्च पाण्डवाः ।। १९ ।।
सस्त्रीकुमारैः कुरुभिः पूज्यमाना महारथाः ।
बभ्राजिरे महात्मानः क्रतुमध्ये यथाग्नयः ।। २० ।।

इस प्रकार उन सब भाई-बंधुओं एवं राजकुलकी महिलाओंको गन्धर्वोंसे छुड़ाकर एवं दुष्कर पराक्रम करके प्रसन्न हुए महारथी महामना पाण्डव स्त्री-बालकोंसहित कौरवोंद्वारा पूजित एवं प्रशंसित हो यज्ञ-मण्डपमें प्रज्वलित अग्नियोंके समान देदीप्यमान हो रहे थे ।। १९-२० ।।

ततो दुर्योधनं मुक्तं भ्रातृभिः सहितस्तदा ।
युधिष्ठिरस्तु प्रणयादिदं वचनमब्रवीत् ।। २१ ।।

तदनन्तर बन्धनमुक्त हुए दुर्योधनसे भाइयोंसहित युधिष्ठिरने प्रेमपूर्वक यह बात कही — ।। २१ ।।

मा स्म तात पुनः कार्षीरीदृशं साहसं क्वचित् ।
न हि साहसकर्तारः सुखमेधन्ति भारत ।। २२ ।।

'तात! फिर कभी ऐसा दुःसाहस न करना। भारत! दुःसाहस करनेवाले मनुष्य कभी सुखी नहीं होते ।। २२ ।।

स्वस्तिमान् सहितः सर्वैर्भ्रातृभिः कुरुनन्दन ।
गृहान् व्रज यथाकामं वैमनस्यं च मा कृथाः ।। २३ ।।

'कुरुनन्दन! अब तुम अपने सब भाइयोंके साथ कुशलपूर्वक इच्छानुसार घर जाओ। हमलोगोंके प्रति मनमें वैमनस्य न रखना? ।। २३ ।।

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवेनाभ्यनुज्ञातो राजा दुर्योधनस्तदा ।
प्रणम्य धर्मपुत्रं तु गतेन्द्रिय इवातुरः ।। २४ ।।

विदीर्यमाणो व्रीडावान् जगाम नगरं प्रति ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर राजा दुर्योधनने उन धर्मपुत्र अजातशत्रुको प्रणाम करके अपने नगरकी ओर प्रस्थान किया। उस समय जिसकी इन्द्रियाँ काम न देती हों उस रोगीकी भाँति उसका हृदय व्यथासे विदीर्ण हो रहा था। उसे अपने कुकृत्यपर बड़ी लज्जा हो रही थी ।। २४½ ।।

तस्मिन् गते कौरवेये कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।। २५ ।।
भ्रातृभिः सहितो वीरः पूज्यमानो द्विजातिभिः ।
तपोधनैश्च तैः सर्वैर्वृतः शक्र इवामरैः ।। २६ ।।
तथा द्वैतवने तस्मिन् विजहार मुदा युतः ।। २७ ।।

दुर्योधनके चले जानेपर द्विजातियोंसे प्रशंसित होते हुए भाइयोंसहित वीर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर वहाँके समस्त तपस्वी मुनियोंसे घिरे रहकर देवताओंके बीचमें बैठे हुए इन्द्रकी भाँति शोभा पाने और प्रसन्नतापूर्वक द्वैतवनमें विहार करने लगे ।। २५—२७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनमोक्षणे षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २४६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनको छुड़ानेसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २८ श्लोक हैं)

सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सेनासहित दुर्योधनका मार्गमें ठहरना और कर्णके द्वारा उसका अभिनन्दन

जनमेजय उवाच

शत्रुभिर्जितबद्धस्य पाण्डवैश्च महात्मभिः ।
मोक्षितस्य युधा पश्चान्मानिनः सुदुरात्मनः ।। १ ।।
कत्थनस्यावलिप्तस्य गर्वितस्य च नित्यशः ।
सदा च पौरुषौदार्यैः पाण्डवानवमन्यतः ।। २ ।।
दुर्योधनस्य पापस्य नित्याहंकारवादिनः ।
प्रवेशो हास्तिनपुरे दुष्करः प्रतिभाति मे ।। ३ ।।
तस्य लज्जान्वितस्यैव शोकव्याकुलचेतसः ।
प्रवेशं विस्तरेण त्वं वैशम्पायन कीर्तय ।। ४ ।।

जनमेजय बोले—मुने! दुर्योधनको शत्रुओंने जीता और बाँध लिया। फिर महात्मा पाण्डवोंने गन्धर्वोंके साथ युद्ध करके उसे छुड़ाया। ऐसी दशामें उस अभिमानी और दुरात्मा दुर्योधनका हस्तिनापुरमें प्रवेश करना मुझे तो अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है; क्योंकि वह अपने शौर्यके विषयमें बहुत डींग हाँका करता था, घमंडमें भरा रहता था और सदा गर्वके नशेमें चूर रहा करता था। उसने अपने पौरुष और उदारताद्वारा सदा पाण्डवोंका अपमान ही किया था। पापी दुर्योधन सदा अहंकारकी ही बातें करता था। पाण्डवोंकी सहायतासे मेरे जीवनकी रक्षा हुई, यह सोचकर तो वह लज्जित हो गया होगा; उसका हृदय शोकसे व्याकुल हो उठा होगा। वैशम्पायनजी! ऐसी स्थितिमें उसने अपनी राजधानीमें कैसे प्रवेश किया? यह विस्तारपूर्वक कहिये ।।

वैशम्पायन उवाच

धर्मराजनिसृष्टस्तु धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ।
लज्जयाधोमुखः सीदन्नुपासर्पत् सुदुःखितः ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! धर्मराजसे विदा होकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन लज्जासे मुँह नीचा किये अत्यन्त दुःखी और खिन्न होकर वहाँसे चल दिया ।। ५ ।।

स्वपुरं प्रययौ राजा चतुरंगबलानुगः ।
शोकोपहतया बुद्ध्या चिन्तयानः पराभवम् ।। ६ ।।

राजा दुर्योधनकी बुद्धि शोकसे मारी गयी थी। वह अपने अपमानपर विचार करता हुआ चतुरंगिणी सेनाके साथ नगरकी ओर चल पड़ा ।। ६ ।।

विमुच्य पथि यानानि देशे सुयवसोदके ।
संनिविष्टः शुभे रम्ये भूमिभागे यथेप्सितम् ।। ७ ।।
हस्त्यश्वरथपादातं यथास्थानं न्यवेशयत् ।

रास्तेमें एक ऐसा स्थान मिला जहाँ घास और जलकी सुविधा थी। दुर्योधन अपने वाहनोंको वहीं छोड़कर एक सुन्दर एवं रमणीय भूभागमें अपनी रुचिके अनुसार ठहर गया। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंको भी उसने यथास्थान ठहरनेकी आज्ञा दे दी ।। ७½ ।।

अथोपविष्टं राजानं पर्यङ्के ज्वलनप्रभे ।। ८ ।।
उपप्लुतं यथा सोमं राहुणा रात्रिसंक्षये ।

राजा दुर्योधन अग्निके समान उद्दीप्त होनेवाले (सोनेके) पलंगपर बैठा हुआ था। रात्रिके अन्तमें चन्द्रमापर राहुद्वारा ग्रहण लग जानेपर जैसे उसकी शोभा नष्ट हो जाती है, वही दशा उस समय दुर्योधनकी भी थी ।। ८½ ।।

उपागम्याब्रवीत् कर्णो दुर्योधनमिदं तदा ।। ९ ।।
दिष्ट्या जीवसि गान्धारे दिष्ट्या नः सङ्गमः पुनः ।
दिष्ट्या त्वया जिताश्चैव गन्धर्वाः कामरूपिणः ।। १० ।।

उस समय कर्णने समीप आकर दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—‘गान्धारीनन्दन! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम जीवित हो। सौभाग्यवश हमलोग पुनः एक-दूसरेसे मिल गये। भाग्यसे तुमने इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले गन्धर्वोंपर विजय पायी, यह और भी प्रसन्नताकी बात है ।। ९-१० ।।

दिष्ट्या समग्रान् पश्यामि भ्रातृंस्ते कुरुनन्दन ।
विजिगीषून् रणे युक्तान् निर्जितारीन् महारथान् ।। ११ ।।

‘कुरुनन्दन! मैं तुम्हारे सम्पूर्ण महारथी भाइयोंको, जो शत्रुओंपर विजय पा चुके हैं, युद्धके लिये उद्यत तथा पुनः विजयकी अभिलाषासे युक्त देख रहा हूँ, यह भी सौभाग्यका ही सूचक है ।। ११ ।।

अहं त्वभिद्रुतः सर्वैर्गन्धर्वैः पश्यतस्तव ।
नाशक्नुवं स्थापयितुं दीर्यमाणां च वाहिनीम् ।। १२ ।।

‘मैं तो तुम्हारे देखते-देखते ही समस्त गन्धर्वोंसे पराजित होकर भाग गया था। तितर-बितर होकर भागती हुई सेनाको स्थिर न रख सका ।। १२ ।।

शरक्षताङ्गश्च भृशं व्यपयातोऽभिपीडितः ।
इदं त्वत्यद्भुतं मन्ये यद् युष्मानिह भारत ।। १३ ।।
अरिष्टानक्षतांश्चापि सदारबलवाहनान् ।
विमुक्तान् सम्प्रपश्यामि युद्धात् तस्मादमानुषात् ।। १४ ।।

‘बाणोंके आघातसे मेरा सारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया था। समस्त अंगोंमें बड़ी वेदना हो रही थी; इसीलिये मुझे भागना पड़ा। भारत! तुमलोग, जो उस अमानुषिक युद्धसे

छूटकर यहाँ स्त्री, सेना और वाहनोंसहित सकुशल तथा क्षतिसे रहित दिखायी देते हो; यह बात मुझे बड़ी अद्भुत जान पड़ती है ।। १३-१४ ।।

नैतस्य कर्ता लोकेऽस्मिन् पुमान् भारत विद्यते ।
यत् कृतं ते महाराज सह भ्रातृभिराहवे ।। १५ ।।

'भरतनन्दन महाराज! इस युद्धमें भाइयोंसहित तुमने जो पराक्रम कर दिखाया है, उसे करनेवाला दूसरा कोई पुरुष इस संसारमें नहीं है' ।। १५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।
उवाच चाङ्गराजानं वाष्पगद्गदया गिरा ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कर्णके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधन उस समय अश्रुगद्गद वाणीद्वारा अंगराज (कर्ण)-से इस प्रकार बोला ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते वर्नपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदुर्योधनसंवादे सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २४७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णदुर्योधनसंवादविषयक दो सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४७ ।।

अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका कर्णको अपनी पराजयका समाचार बताना

दुर्योधन उवाच

अजानतस्ते राधेय नाभ्यसूयाम्यहं वचः ।
जानासि त्वं जिताञ्छत्रून् गन्धर्वांस्तेजसा मया ।। १ ।।

दुर्योधन बोला—राधानन्दन! तुम सब बातें जानते नहीं हो, इसीसे मैं तुम्हारे इस कथनको बुरा नहीं मानता। तुम समझते हो कि मैंने अपने शत्रुभूत गन्धर्वोंको अपने ही पराक्रमसे हराया है; परंतु ऐसी बात नहीं है ।। १ ।।

आयोधितास्तु गन्धर्वाः सुचिरं सोदरैर्मम ।
मया सह महाबाहो कृतश्चोभयतः क्षयः ।। २ ।।

महाबाहो! मेरे भाइयोंने मेरे साथ रहकर गन्धर्वोंके साथ बहुत देरतक युद्ध किया और उसमें दोनों पक्षके बहुत-से सैनिक मारे गये ।। २ ।।

मायाधिकास्त्वयुध्यन्त यदा शूरा वियद्गताः ।
तदा नो न समं युद्धमभवत् खेचरैः सह ।। ३ ।।

परंतु जब मायाके कारण अधिक शक्तिशाली शूरवीर गन्धर्व आकाशमें खड़े होकर युद्ध करने लगे, तब उनके साथ हमलोगोंका युद्ध समान स्थितिमें नहीं रह सका ।।

पराजयं च प्राप्ताः स्मो रणे बन्धनमेव च ।
सभृत्यामात्यपुत्राश्च सदारबलवाहनाः ।। ४ ।।

युद्धमें हमारी पराजय हुई और हम सेवक, सचिव, पुत्र, स्त्री, सेना तथा सवारियोंसहित बंदी बना लिये गये ।। ४ ।।

उच्चैराकाशमार्गेण हृताःस्मस्तैः सुदुःखिताः ।
अथ नः सैनिकाः केचिदमात्याश्च महारथाः ।। ५ ।।
उपगम्याब्रुवन् दीनाः पाण्डवाञ्छरणप्रदान् ।

फिर गन्धर्व हमें ऊँचे आकाशमार्गसे ले चले। उस समय हमलोग अत्यन्त दुःखी हो रहे थे। तदनन्तर हमारे कुछ सैनिकों और महारथी मन्त्रियोंने अत्यन्त दीन हो शरणदाता पाण्डवोंके पास जाकर कहा— ।। ५½ ।।

एष दुर्योधनो राजा धार्तराष्ट्रः सहानुजः ।। ६ ।।
सामात्यदारो ह्रियते गन्धर्वैर्दिवमाश्रितैः ।

'कुन्तीकुमारो! ये धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन अपने भाइयों, मन्त्रियों तथा स्त्रियोंके साथ यहाँ आये थे। इन्हें गन्धर्वगण आकाशमार्गसे हरकर लिये जाते हैं ।। ६½ ।।

तं मोक्षयत भद्रं वः सहदारं नराधिपम् ।। ७ ।।

पराभवो मा भविष्यत् कुरुदारेषु सर्वशः ।

'आपलोगोंका कल्याण हो। रानियोंसहित महाराजको छुड़ाइये। कहीं ऐसा न हो कि कुरुकुलकी स्त्रियोंका तिरस्कार हो जाय' ।। ७½ ।।

एवमुक्ते तु धर्मात्मा ज्येष्ठः पाण्डुसुतस्तदा ।। ८ ।।

प्रसाद्य पाण्डवान् सर्वानाज्ञापयत मोक्षणे ।

उनके ऐसा कहनेपर ज्येष्ठ पाण्डुपुत्र धर्मात्मा युधिष्ठिरने अन्य सब पाण्डवोंको राजी करके हम सब लोगोंको छुड़ानेके लिये आज्ञा दी ।। ८½ ।।

अथागम्य तमुद्देशं पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।। ९ ।।

सान्त्वपूर्वमयाचन्त शक्ताः सन्तो महारथाः ।

तदनन्तर पुरुषसिंह महारथी पाण्डव उस स्थानपर आकर समर्थ होते हुए भी गन्धर्वोंसे सान्त्वनापूर्ण शब्दोंमें (हमें छोड़ देनेके लिये) याचना करने लगे ।। ९½ ।।

यदा चास्मान् न मुमुचुर्गन्धर्वाः सान्त्विता अपि ।। १० ।।

(आकाशचारिणो वीरा नदन्तो जलदा इव) ।

ततोऽर्जुनश्च भीमश्च यमजौ च बलोत्कटौ ।

मुमुचुः शरवर्षाणि गन्धर्वान् प्रत्यनेकशः ।। ११ ।।

उनके समझाने-बुझानेपर भी जब आकाशचारी वीर गन्धर्व हमें न छोड़ सके और बादलोंकी भाँति गर्जने लगे तब अर्जुन, भीम तथा उत्कट बलशाली नकुल-सहदेवने उन असंख्य गन्धर्वोंकी ओर लक्ष्य करके बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। १०-११ ।।

अथ सर्वे रणं मुक्त्वा प्रयाताः खेचराः दिवम् ।

अस्मानेवाभिकर्षन्तो दीनान् मुदितमानसाः ।। १२ ।।

फिर तो सारे गन्धर्व रणभूमि छोड़कर आकाशमें उड़ गये और मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करते हुए हम दीन-दुखियोंको अपनी ओर घसीटने लगे ।। १२ ।।

ततः समन्तात् पश्यामः शरजालेन वेष्टितम् ।

अमानुषाणि चास्त्राणि प्रमुञ्चन्तं धनंजयम् ।। १३ ।।

इसी समय हमने देखा, चारों ओर बाणोंका जाल-सा बन गया है और उससे वेष्टित हो अर्जुन अलौकिक अस्त्रोंकी वर्षा कर रहे हैं ।। १३ ।।

समावृता दिशो दृष्ट्वा पाण्डवेन शितैः शरैः ।

धनंजयसखाऽऽत्मानं दर्शयामास वै तदा ।। १४ ।।

पाण्डुनन्दन अर्जुनने अपने तीखे बाणोंसे समस्त दिशाओंको आच्छादित कर दिया है, यह देखकर उनके सखा चित्रसेनने अपने-आपको उनके सामने प्रकट कर दिया ।। १४ ।।

चित्रसेनः पाण्डवेन समाश्लिष्य परस्परम् ।

कुशलं परिपप्रच्छ तैः पृष्टश्चाप्यनामयम् ।। १५ ।।

फिर तो चित्रसेन और अर्जुन दोनों एक-दूसरेसे मिले और कुशल-मंगल तथा स्वास्थ्यका समाचार पूछने लगे ।। १५ ।।

ते समेत्य तथान्योन्यं सन्नाहान् विप्रमुच्य च ।
एकीभूतास्ततो वीरा गन्धर्वाः सह पाण्डवैः ।
अपूजयेतामन्योन्यं चित्रसेनधनंजयौ ।। १६ ।।

दोनोंने एक-दूसरेसे मिलकर अपना कवच उतार दिया। फिर समस्त वीर गन्धर्व पाण्डवोंके साथ मिलकर एक हो गये। तत्पश्चात् चित्रसेन और धनंजयने एक-दूसरेका आदर-सत्कार किया ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनवाक्ये अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २४८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक दो सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १/२ श्लोक मिलाकर कुल १६१/२ श्लोक हैं)

एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका कर्णसे अपनी ग्लानिका वर्णन करते हुए आमरण अनशनका निश्चय, दुःशासनको राजा बननेका आदेश, दुःशासनका दुःख और कर्णका दुर्योधनको समझाना

दुर्योधन उवाच

चित्रसेनं समागम्य प्रहसन्नर्जुनस्तदा ।
इदं वचनमक्लीबमब्रवीत् परवीरहा ।। १ ।।

दुर्योधन बोला—कर्ण! चित्रसेनसे मिलकर उस समय शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने हँसते हुए-से यह शूरोचित वचन कहा— ।। १ ।।

भ्रातॄनर्हसि मे वीर मोक्तुं गन्धर्वसत्तम ।
अनर्हधर्षणा हीमे जीवमानेषु पाण्डुषु ।। २ ।।

'वीर गन्धर्वश्रेष्ठ! तुम्हें मेरे इन भाइयोंको मुक्त कर देना चाहिये। पाण्डवोंके जीते-जी ये इस प्रकार अपमान सहन करनेयोग्य नहीं हैं' ।। २ ।।

एवमुक्तस्तु गन्धर्वः पाण्डवेन महात्मना ।
उवाच यत् कर्ण वयं मन्त्रयन्तो विनिर्गताः ।। ३ ।।
द्रष्टारः स्म सुखाद्धीनान् सदारान् पाण्डवानिति ।

कर्ण! महात्मा पाण्डुनन्दन अर्जुनके ऐसा कहनेपर गन्धर्वने वह बात कह दी, जिसके लिये सलाह करके हमलोग घरसे चले थे। उसने बताया कि 'ये कौरव सुखसे वञ्चित हुए पाण्डवों तथा द्रौपदीकी दुर्दशा देखनेके लिये आये हैं' ।। ३½ ।।

तस्मिन्नुच्चार्यमाणे तु गन्धर्वेण वचस्तथा ।। ४ ।।
भूमेर्विवरमन्वैच्छं प्रवेष्टुं व्रीडयान्वितः ।

जिस समय गन्धर्व उपर्युक्त बात कह रहा था, उस समय मैं (अत्यन्त) लज्जित हो गया। मेरी इच्छा हुई कि धरती फटे और मैं उसमें समा जाऊँ ।। ४½ ।।

युधिष्ठिरमथागम्य गन्धर्वाः सह पाण्डवैः ।। ५ ।।
अस्मद्दुर्मन्त्रितं तस्मै बद्धांश्चास्मान् न्यवेदयन् ।

तत्पश्चात् गन्धर्वोंने पाण्डवोंके साथ युधिष्ठिरके पास आकर हमलोगोंकी दुर्मन्त्रणा उन्हें बतायी और हमें उनके सुपुर्द कर दिया। उस समय हम सब लोग बँधे हुए थे ।। ५½ ।।

स्त्रीसमक्षमहं दीनो बद्धः शत्रुवशं गतः ।। ६ ।।
युधिष्ठिरस्योपहृतः किं नु दुःखमतः परम् ।

स्त्रियोंके सामने मैं दीनभावसे बँधकर शत्रुओंके वशमें पड़ गया और उसी दशामें युधिष्ठिरको अर्पित किया गया। इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है? ।। ६½ ।।

ये मे निराकृता नित्यं रिपुर्येषामहं सदा ।। ७ ।।

तैर्मोक्षितोऽहं दुर्बुद्धिर्दत्तं तैरेव जीवितम् ।

जिनका मैंने सदा तिरस्कार किया और जिनका मैं सर्वदा शत्रु बना रहा, उन्हीं लोगोंने मुझ दुर्बुद्धिको शत्रुओंके बन्धनसे छुड़ाया है और उन्होंने ही मुझे जीवनदान दिया है ।। ७½ ।।

प्राप्तः स्यां यद्यहं वीर वधं तस्मिन् महारणे ।। ८ ।।

श्रेयस्तद् भविता मह्यं नैवंभूतस्य जीवितम् ।

वीर! यदि मैं उस महायुद्धमें मारा गया होता तो यह मेरे लिये कल्याणकारी होता; परंतु इस दशामें जीवित रहना कदापि अच्छा नहीं है ।। ८½ ।।

भवेद् यशः पृथिव्यां मे ख्यातं गन्धर्वतो वधात् ।। ९ ।।

प्राप्ताश्च पुण्यलोकाः स्युर्महेन्द्रसदनेऽक्षयाः ।

गन्धर्वके हाथसे मारे जानेपर इस भूमण्डलमें मेरा यश विख्यात हो जाता और इन्द्रलोकमें मुझे अक्षय पुण्यधाम प्राप्त होते ।। ९½ ।।

यत् त्वद्य मे व्यवसितं तच्छृणुध्वं नरर्षभाः ।। १० ।।

इह प्रायमुपासिष्ये यूयं व्रजत वै गृहान् ।

नरश्रेष्ठ वीरो! अब मैंने जो निश्चय किया है, उसे सुनो। मैं यहाँ आमरण अनशन करूँगा। तुम सब लोग घर लौट जाओ ।। १०½ ।।

भ्रातरश्चैव मे सर्वे यान्त्वद्य स्वपुरं प्रति ।। ११ ।।

कर्णप्रभृतयश्चैव सुहृदो बान्धवाश्च ये ।

दुःशासनं पुरस्कृत्य प्रयान्त्वद्य पुरं प्रति ।। १२ ।।

मेरे सब भाई आज अपनी राजधानीको चले जायँ। कर्ण आदि मेरे मित्र तथा बान्धवगण भी दुःशासनको आगे करके आज ही हस्तिनापुरको लौट जायँ ।।

न ह्यहं सम्प्रयास्यामि पुरं शत्रुनिराकृतः ।

शत्रुमानापहो भूत्वा सुहृदां मानकृत् तथा ।। १३ ।।

शत्रुओंसे अपमानित होकर अब मैं अपने नगरको नहीं जाऊँगा। अबतक मैंने शत्रुओंका मानमर्दन किया है और सुहृदोंको सम्मान दिया है ।। १३ ।।

स सुहृच्छोकदो जातः शत्रूणां हर्षवर्धनः ।

वारणाह्वयमासाद्य किं वक्ष्यामि जनाधिपम् ।। १४ ।।

परंतु आज मैं अपने सुहृदोंके लिये शोकदायक और शत्रुओंका हर्ष बढ़ानेवाला हो गया। हस्तिनापुर जाकर मैं राजासे क्या कहूँगा? ।। १४ ।।

भीष्मद्रोणौ कृपद्रौणी विदुरः संजयस्तथा ।
बाह्लीकः सौमदत्तिश्च ये चान्ये वृद्धसम्मताः ।। १५ ।।
ब्राह्मणाः श्रेणिमुख्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ।
किं मां वक्ष्यन्ति किं चापि प्रतिवक्ष्यामि तानहम् ।। १६ ।।

भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विदुर, संजय, बाह्लीक, भूरिश्रवा तथा अन्य जो वृद्ध पुरुषोंके लिये आदरणीय महानुभाव हैं वे, तथा ब्राह्मण, प्रमुख वैश्यगण और उदासीन वृत्तिवाले लोग मुझसे क्या कहेंगे और मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा? ।। १५-१६ ।।

रिपूणां शिरसि स्थित्वा तथा विक्रम्य चोरसि ।
आत्मदोषात् परिभ्रष्टः कथं वक्ष्यामि तानहम् ।। १७ ।।

मैं पराक्रम करके शत्रुओंके मस्तक तथा छातीपर खड़ा हो गया था; परंतु अब अपने ही दोषसे नीचे गिर गया। ऐसी दशामें उन आदरणीय पुरुषोंसे मैं किस प्रकार वार्तालाप करूँगा? ।। १७ ।।

दुर्विनीताः श्रियं प्राप्य विद्यामैश्वर्यमेव च ।
तिष्ठन्ति न चिरं भद्रे यथाहं मदगर्वितः ।। १८ ।।

उद्दण्ड मनुष्य लक्ष्मी, विद्या तथा ऐश्वर्यको पाकर भी दीर्घकालतक कल्याणमय पदपर प्रतिष्ठित नहीं रह पाते हैं। जैसे मैं मद और अहंकारमें चूर होकर अपनी प्रतिष्ठा खो बैठा हूँ ।। १८ ।।

अहो नार्हमिदं कर्म कष्टं दुश्चरितं कृतम् ।
स्वयं दुर्बुद्धिना मोहाद् येन प्राप्तोऽस्मि संशयम् ।। १९ ।।

अहो! यह कुकर्म मेरे योग्य नहीं था। मुझ दुर्बुद्धिने स्वयं ही मोहवश दुःखदायक दुष्कर्म कर डाला; जिससे (गन्धर्वोंका बंदी हो जानेके कारण) मेरा जीवन संदिग्ध हो गया ।। १९ ।।

तस्मात् प्रायमुपासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ।
चेतयानो हि को जीवेत् कृच्छ्राच्छत्रुभिरुद्धृतः ।। २० ।।

इसलिये मैं (अवश्य) आमरण उपवास करूँगा। अब जीवित नहीं रह सकूँगा। जिसका शत्रुओंने संकटसे उद्धार किया हो, ऐसा कौन विचारशील पुरुष जीवित रहना चाहेगा? ।। २० ।।

शत्रुभिश्चावहसितो मानी पौरुषवर्जितः ।
पाण्डवैर्विक्रमाढ्यैश्च सावमानमवेक्षितः ।। २१ ।।

शत्रुओंने मेरी हँसी उड़ायी है। मुझे अपने पौरुषका अभिमान था; किंतु यहाँ मैं कोई पुरुषार्थ न दिखा सका। पराक्रमी पाण्डवोंने अवहेलनापूर्ण दृष्टिसे मुझे देखा है। (ऐसी

दशामें मुझे इस जीवनसे विरक्ति हो गयी है) ।। २१ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं चिन्तापरिगतो दुःशासनमथाब्रवीत् ।
दुःशासन निबोधेदं वचनं मम भारत ।। २२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार चिन्तामग्न हुए दुर्योधनने दुःशासनसे कहा—'भरतनन्दन दुःशासन! मेरी यह बात सुनो— ।। २२ ।।

प्रतीच्छ त्वं मया दत्तमभिषेकं नृपो भव ।
प्रशाधि पृथिवीं स्फीतां कर्णसौबलपालिताम् ।। २३ ।।

'मैं तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ। तुम मेरे दिये हुए इस राज्यको ग्रहण करो और राजा बनो। कर्ण और शकुनिकी सहायतासे सुरक्षित एवं धन-धान्यसे समृद्ध इस पृथ्वीका शासन करो ।। २३ ।।

भ्रातॄन् पालय विस्रब्धं मरुतो वृत्रहा यथा ।
बान्धवाश्चोपजीवन्तु देवा इव शतक्रुतुम् ।। २४ ।।

'जैसे इन्द्र मरुद्गणोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार तुम अपने अन्य भाइयोंका विश्वासपूर्वक पालन करना। जैसे देवता इन्द्रके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह करते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे बान्धवजन भी तुम्हारा आश्रय लेकर जीविका चलावें ।। २४ ।।

ब्राह्मणेषु सदा वृत्तिं कुर्वीथाश्चाप्रमादतः ।
बन्धूनां सुहृदां चैव भवेथास्त्वं गतिः सदा ।। २५ ।।

'प्रमाद छोड़कर सदा ब्राह्मणोंकी जीविकाकी व्यवस्था एवं रक्षा करना। बन्धुओं तथा सुहृदोंको सदैव सहारा देते रहना ।। २५ ।।

ज्ञातींश्चाप्यनुपश्येथा विष्णुर्देवगणान् यथा ।
गुरवः पालनीयास्ते गच्छ पालय मेदिनीम् ।। २६ ।।
नन्दयन् सुहृदः सर्वान् शात्रवांश्चावभर्त्सयन् ।
कण्ठे चैनं परिष्वज्य गम्यतामित्युवाच ह ।। २७ ।।

'जैसे भगवान् विष्णु देवताओंपर कृपादृष्टि रखते हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने कुटुम्बीजनोंकी देखभाल करते रहना और गुरुजनोंका सदैव पालन करना। अच्छा, अब जाओ और समस्त सुहृदोंका आनन्द बढ़ाते तथा शत्रुओंकी भर्त्सना करते हुए अपनी अधिकृत भूमिकी रक्षा करो।' ऐसा कहकर दुर्योधनने दुःशासनको गलेसे लगा लिया और गद्‌गद कण्ठसे कहा—'जाओ' ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा दीनो दुःशासनोऽब्रवीत् ।
अश्रुकण्ठः सुदुःखार्तः प्राञ्जलिः प्रणिपत्य च ।। २८ ।।
सगद्गदमिदं वाक्यं भ्रातरं ज्येष्ठमात्मनः ।

प्रसीदेत्यपतद् भूमौ दूयमानेन चेतसा ।। २९ ।।
दु:खित: पादयोस्तस्य नेत्रजं जलमुत्सृजन् ।
उक्तवांश्च नरव्याघ्रो नैतदेवं भविष्यति ।। ३० ।।

दुर्योधनकी यह बात सुनकर दु:शासनका गला भर आया। वह अत्यन्त दु:खसे आतुर हो दीनभावसे हाथ जोड़कर अपने बड़े भाईके चरणोंमें गिर पड़ा और गद्‌गद वाणीमें व्यथित चित्तसे इस प्रकार बोला—‘भैया! आप प्रसन्न हों?’ ऐसा कहकर वह धरतीपर लोट गया और दु:खसे कातर हो दुर्योधनके दोनों चरणोंमें अपने नेत्रोंका अश्रुजल चढ़ाता हुआ नरश्रेष्ठ दु:शासन यों बोला—‘नहीं, ऐसा नहीं होगा ।। २८—३० ।।

विदीर्येत् सकला भूमिर्द्यौश्चापि शकलीभवेत् ।
रविरात्मप्रभां जह्यात् सोम: शीतांशुतां त्यजेत् ।। ३१ ।।
वायु: शैघ्रयमथो जह्याद्धिमवांश्च परिव्रजेत् ।
शुष्येत् तोयं समुद्रेषु वह्निरप्युष्णतां त्यजेत् ।। ३२ ।।
न चाहं त्वदृते राजन् प्रशासेयं वसुन्धराम् ।
पुन: पुन: प्रसीदेति वाक्यं चेदमुवाच ह ।। ३३ ।।

‘चाहे सारी पृथ्वी फट जाय, आकाशके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ, सूर्य अपनी प्रभा और चन्द्रमा अपनी शीतलता त्याग दें, वायु अपनी तीव्र गति छोड़ दें, हिमालय अपना स्थान छोड़कर इधर-उधर घूमने लगे, समुद्रका जल सूख जाय तथा अग्नि अपनी उष्णता त्याग दे; परंतु मैं आपके बिना इस पृथ्वीका शासन नहीं करूँगा। राजन्! अब आप प्रसन्न हो जाइये, प्रसन्न हो जाइये।’ इस अन्तिम वाक्यको दु:शासनने बार-बार दुहराया और इस प्रकार कहा— ।। ३१—३३ ।।

त्वमेव न: कुले राजा भविष्यसि शतं समा: ।
एवमुक्त्वा स राजानं सुस्वरं प्ररुरोद ह ।। ३४ ।।
पादौ संस्पृश्य मानार्हौ भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भारत ।

‘भैया! आप ही हमारे कुलमें सौ वर्षोंतक राजा बने रहेंगे।’ जनमेजय! ऐसा कहकर दु:शासन अपने बड़े भाईके माननीय चरणोंको पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगा ।। ३४½ ।।

तथा तौ दु:खितौ दृष्ट्वा दु:शासनसुयोधनौ ।। ३५ ।।
अधिगम्य व्यथाविष्ट: कर्णस्तौ प्रत्यभाषत ।

दु:शासन और दुर्योधनको इस प्रकार दु:खी होते देख कर्णके मनमें बड़ी व्यथा हुई। उसने निकट जाकर उन दोनोंसे कहा— ।। ३५½ ।।

विषीदथ: किं कौरव्यौ बालिश्यात् प्राकृताविव ।। ३६ ।।
न शोक: शोचमानस्य विनिवर्तेत कर्हिचित् ।

‘कुरुकुलके श्रेष्ठ वीरो! तुम दोनों गँवारोंकी तरह नासमझीके कारण इतना विषाद क्यों कर रहे हो? शोकमें डूबे रहनेसे किसी मनुष्यका शोक कभी निवृत्त नहीं होता ।। ३६½ ।।

यदा च शोचतः शोको व्यसनं नापकर्षति ।। ३७ ।।
सामर्थ्यं किं ततः शोके शोचमानौ प्रपश्यथः ।
धृतिं गृह्णीत मा शत्रून् शोचन्तौ नन्दयिष्यथः ।। ३८ ।।

जब शोक करनेवालेका शोक उसपर आये हुए संकटको टाल नहीं सकता है, तब उसमें क्या सामर्थ्य है? यह तुम दोनों भाई शोक करके प्रत्यक्ष देख रहे हो। अतः धैर्य धारण करो। शोक करके तो शत्रुओंका हर्ष ही बढ़ाओगे ।।

कर्तव्यं हि कृतं राजन् पाण्डवैस्तव मोक्षणम् ।
नित्यमेव प्रियं कार्यं राज्ञो विषयवासिभिः ।। ३९ ।।

'राजन्! पाण्डवोंने गन्धर्वोंके हाथसे तुम्हें छुड़ाकर अपने कर्तव्यका ही पालन किया है। राजाके राज्यमें रहनेवालोंको सदा ही उसका प्रिय करना चाहिये ।। ३९ ।।

पाल्यमानास्त्वया ते हि निवसन्ति गतज्वराः ।
नार्हस्येवंगते मन्युं कर्तुं प्राकृतवद् यथा ।। ४० ।।

'तुमसे सुरक्षित होकर वे यहाँ निश्चिन्ततापूर्वक निवास कर रहे हैं। ऐसी दशामें तुम्हें निम्न कोटिके मनुष्योंकी तरह दीनतापूर्ण खेद नहीं करना चाहिये ।। ४० ।।

विषण्णास्तव सोदर्यास्त्वयि प्रायं समास्थिते ।
(तदलं दुःखितानेतान् कर्तुं सर्वान् नराधिप ।।)
उत्तिष्ठ व्रज भद्रं ते समाश्वासय सोदरान् ।। ४१ ।।

'राजन्! तुम आमरण उपवासका व्रत लेकर बैठे हो और इधर तुम्हारे सगे भाई शोक एवं विषादमें डूबे हुए हैं। बस, इन सबको दुःखी करनेसे कोई लाभ नहीं है। तुम्हारा भला हो। उठो, चलो और अपने भाइयोंको आश्वासन दो' ।। ४१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २४९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रायोपवेशनविषयक दो सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं)

पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्णके समझानेपर भी दुर्योधनका आमरण अनशन करनेका ही निश्चय

कर्ण उवाच

राजन्नाद्यावगच्छामि तवेह लघुसत्त्वताम् ।
किमत्र चित्रं यद् वीर मोक्षितः पाण्डवैरसि ।। १ ।।
सद्यो वशं समापन्नः शत्रूणां शत्रुकर्शन ।

कर्ण बोला—राजन्! आज तुम जो यहाँ इतनी लघुताका अनुभव कर रहे हो, इसका कोई कारण मेरी समझमें नहीं आता। शत्रुनाशक वीर! यदि एक बार शत्रुओंके वशमें पड़ जानेपर पाण्डवोंने तुम्हें छुड़ाया है, तो इसमें कौन अद्भुत बात हो गयी? ।। १½ ।।

सेनाजीवैश्च कौरव्य तथा विषयवासिभिः ।। २ ।।
अज्ञातैर्यदि वा ज्ञातैः कर्तव्यं नृपतेः प्रियम् ।

कुरुश्रेष्ठ! जो राजकीय सेनामें रहकर जीविका चलाते हैं तथा राजाके राज्यमें निवास करते हैं, वे ज्ञात हों या अज्ञात; उनका कर्तव्य है कि वे सदा राजाका प्रिय करें ।। २½ ।।

प्रायः प्रधानाः पुरुषाः क्षोभयन्त्यरिवाहिनीम् ।। ३ ।।
निगृह्यन्ते च युद्धेषु मोक्ष्यन्ते चैव सैनिकैः ।

प्रायः देखा जाता है कि प्रधान पुरुष लड़ते-लड़ते शत्रुओंकी सेनाको व्याकुल कर देते हैं। फिर उसी युद्धमें वे बंदी बना लिये जाते हैं और साधारण सैनिकोंकी सहायतासे छूट भी जाते हैं ।। ३½ ।।

सेनाजीवाश्च ये राज्ञां विषये सन्ति मानवाः ।। ४ ।।
तैः सङ्गम्य नृपार्थाय यतितव्यं यथातथम् ।

जो मनुष्य सेनाजीवी हैं अथवा राजाके राज्यमें निवास करते हैं, उन सबको मिलकर अपने राजाके हितके लिये यथोचित प्रयत्न करना चाहिये ।। ४½ ।।

यद्येवं पाण्डवै राजन् भवद्विषयवासिभिः ।। ५ ।।
यदृच्छया मोक्षितोऽसि तत्र का परिदेवना ।

राजन्! यदि तुम्हारे राज्यमें निवास करनेवाले पाण्डवोंने इसी नीतिके अनुसार दैववश तुम्हें शत्रुओंके हाथसे छुड़ा दिया है, तो इसमें खेद करनेकी क्या बात है? ।। ५½ ।।

न चैतत् साधु यद् राजन् पाण्डवास्त्वां नृपोत्तमम् ।। ६ ।।
स्वसेनया सम्प्रयान्तं नानुयान्ति स्म पृष्ठतः ।

राजन्! आप श्रेष्ठ नरेश हैं और अपनी सेनाके साथ वनमें पधारे हैं, ऐसी दशामें यहाँ रहनेवाले पाण्डव यदि आपके पीछे-पीछे न चलते—आपकी सहायता न करते तो यह उनके लिये अच्छी बात न होती ।। ६½ ।।

शूराश्च बलवन्तश्च संयुगेष्वपलायिनः ।। ७ ।।
भवतस्ते सहाया वै प्रेष्यतां पूर्वमागताः ।

पाण्डव शौर्यसम्पन्न, बलवान् तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाले हैं। वे आपके दास तो बहुत पहले ही हो चुके हैं, अतः उन्हें आपका सहायक होना ही चाहिये ।। ७½ ।।

पाण्डवेयानि रत्नानि त्वमद्याप्युपभुञ्जसे ।। ८ ।।
सत्त्वस्थान् पाण्डवान् पश्य न ते प्रायमुपाविशन् ।
(तदलं ते महाबाहो विषादं कर्तुमीदृशम् ।)
उत्तिष्ठ राजन् भद्रं ते न चिरं कर्तुमर्हसि ।। ९ ।।

पाण्डवोंके पास जितने रत्न थे, उन सबका उपभोग आज तुम्हीं कर रहे हो; तथापि देखो, पाण्डव कितने धैर्यवान् हैं कि उन्होंने कभी आमरण अनशन नहीं किया। अतः महाबाहो! तुम्हारे इस प्रकार विषाद करनेसे कोई लाभ नहीं है। राजन्! उठो, तुम्हारा कल्याण हो। अब यहाँ अधिक विलम्ब नहीं करना चाहिये ।।

अवश्यमेव नृपते राज्ञो विषयवासिभिः ।
प्रियाण्याचरितव्यानि तत्र का परिदेवना ।। १० ।।

नरेश्वर! राजाके राज्यमें निवास करनेवाले लोगोंको अवश्य ही उसके प्रिय कार्य करने चाहिये। अतः इसके लिये पछताने या विलाप करनेकी क्या बात है? ।। १० ।।

मद्वाक्यमेतद् राजेन्द्र यद्येवं न करिष्यसि ।
स्थास्यामीह भवत्पादौ शुश्रूषन्नरिमर्दन ।। ११ ।।

शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले महाराज! यदि तुम मेरी यह बात नहीं मानोगे तो मैं भी तुम्हारे चरणोंकी सेवा करता हुआ यहीं रह जाऊँगा ।। ११ ।।

नोत्सहे जीवितुमहं त्वद्विहीनो नरर्षभ ।
प्रायोपविष्टस्तु नृप राज्ञां हास्यो भविष्यसि ।। १२ ।।

नरश्रेष्ठ! तुमसे अलग होकर मैं जीवित नहीं रहना चाहता। राजन्! आमरण अनशनके लिये बैठ जानेपर तुम समस्त राजाओंके उपहासपात्र हो जाओगे ।। १२ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा ।
नैवोत्थातुं मनश्चक्रे स्वर्गाय कृतनिश्चयः ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कर्णके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने स्वर्गलोकमें ही जानेका निश्चय करके उस समय उठनेका विचार नहीं किया ।। १३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे कर्णवाक्ये पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २५० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रायोपवेशनके प्रसंगमें कर्णवाक्यसम्बन्धी दो सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५० ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १३½ श्लोक हैं)

एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शकुनिके समझानेपर भी दुर्योधनको प्रायोपवेशनसे विचलित होते न देखकर दैत्योंका कृत्याद्वारा उसे रसातलमें बुलाना

वैशम्पायन उवाच

प्रायोपविष्टं राजानं दुर्योधनममर्षणम् ।
उवाच सान्त्वयन् राजञ्छकुनिः सौबलस्तदा ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर अमर्षमें भरकर आमरण उपवासके लिये बैठे हुए राजा दुर्योधनको सान्त्वना देते हुए सुबलपुत्र शकुनिने कहा ।। १ ।।

शकुनिरुवाच

सम्यगुक्तं हि कर्णेन तच्छ्रुतं कौरव त्वया ।
मया हृतां श्रियं स्फीतां तां मोहादपहाय किम् ।। २ ।।

शकुनि बोला—कुरुनन्दन! कर्णने बहुत अच्छी बात कही है, जो तुमने सुनी ही है। मैंने पाण्डवोंसे तुम्हारे लिये जिस समृद्धशालिनी राज-लक्ष्मीका अपहरण किया है, तुम उसे मोहवश क्यों त्याग रहे हो? ।। २ ।।

त्वमल्पबुद्ध्या नृपते प्राणानुत्स्रष्टुमर्हसि ।
अथवाप्यवगच्छामि न वृद्धाः सेवितास्त्वया ।। ३ ।।

नरेश्वर! तुम अपनी अल्पबुद्धिके कारण ही आज प्राणत्याग करनेको उतारू हो गये हो; अथवा मैं समझता हूँ कि तुमने कभी वृद्धपुरुषोंका सेवन नहीं किया है ।। ३ ।।

यः समुत्पतितं हर्षं दैन्यं वा न नियच्छति ।
स नश्यति श्रियं प्राप्य पात्रमाममिवाम्भसि ।। ४ ।।

जो मनुष्य सहसा उत्पन्न हुए हर्ष अथवा शोकपर नियन्त्रण नहीं रखता, वह राजलक्ष्मीको पाकर भी उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे मिट्टीका कच्चा बर्तन पानीमें गल जाता है ।। ४ ।।

अतिभीरुमतिक्लीबं दीर्घसूत्रं प्रमादिनम् ।
व्यसनाद् विषयाक्रान्तं न भजन्ति नृपं प्रजाः ।। ५ ।।

जो राजा अत्यन्त डरपोक, बहुत कायर, दीर्घसूत्री (आलसी), प्रमादी और दुर्व्यसनवश विषयोंमें फँसा होता है, उसे प्रजा अपना स्वामी नहीं स्वीकार करती है ।। ५ ।।

सत्कृतस्य हि ते शोको विपरीते कथं भवेत् ।
मा कृतं शोभनं पार्थैः शोकमालमब्य नाशय ।। ६ ।।

पाण्डवोंने तुम्हारा सत्कार किया है तो तुम्हें शोक हो रहा है। इसके विपरीत यदि उन्होंने तिरस्कार किया होता तो न जाने तुम्हारी कैसी दशा हो जाती? कुन्तीकुमारोंने जो सद्व्यवहार किया है, उसे तुम शोकका आश्रय लेकर नष्ट न कर दो ।। ६ ।।

यत्र हर्षस्त्वया कार्यः सत्कर्तव्याश्च पाण्डवाः ।
तत्र शोचसि राजेन्द्र विपरीतमिदं तव ।। ७ ।।

राजेन्द्र! जहाँ तुम्हें हर्ष मनाना और पाण्डवोंका सत्कार करना चाहिये था वहाँ तुम शोक कर रहे हो। तुम्हारा यह व्यवहार तो उलटा ही है ।। ७ ।।

प्रसीद मा त्यजात्मानं तुष्टश्च सुकृतं स्मर ।
प्रयच्छ राज्यं पार्थानां यशो धर्ममवाप्नुहि ।। ८ ।।

अतः मनमें प्रसन्नता लाओ। शरीरका त्याग न करो। पाण्डवोंने तुम्हारे साथ जो सद्व्यवहार किया है उसे स्मरण करो और संतुष्ट होकर उनका राज्य उन्हें लौटा दो। ऐसा करके यश और धर्मके भागी बनो ।। ८ ।।

क्रियामेतां समाज्ञाय कृतज्ञस्त्वं भविष्यसि ।
सौभ्रात्रं पाण्डवैः कृत्वा समवस्थाप्य चैव तान् ।। ९ ।।
पित्र्यं राज्यं प्रयच्छैषां ततः सुखमवाप्स्यसि ।

मेरे इस प्रस्तावको समझकर ऐसा ही करो। इससे तुम कृतज्ञ माने जाओगे। पाण्डवोंके साथ उत्तम भाईचारेका बर्ताव करके उन्हें राज्यसिंहासनपर बिठा दो और उनका पैतृक राज्य उन्हें समर्पित कर दो। इससे तुम्हें सुख प्राप्त होगा ।। ९½ ।।

वैशम्पायन उवाच

शकुनेस्तु वचः श्रुत्वा दुःशासनमवेक्ष्य च ।। १० ।।
पादयोः पतितं वीरं विकृतं भ्रातृसौहृदम् ।
बाहुभ्यां साधुजाताभ्यां दुःशासनमरिंदमम् ।। ११ ।।
उत्थाप्य सम्परिष्वज्य प्रीत्याजिघ्रत मूर्धनि ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! शकुनिका यह वचन सुनकर दुर्योधनने अपने चरणोंमें पड़े हुए म्लान मुखवाले भ्रातृभक्त शत्रुदमन वीर दुःशासनकी ओर देखकर अपनी सुन्दर बाँहोंद्वारा उसे उठाया और प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाकर उसका मस्तक सूँघा ।। १०-११½ ।।

कर्णसौबलयोश्चापि संश्रुत्य वचनान्यसौ ।। १२ ।।
निर्वेदं परमं गत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
व्रीडयाभिपरीतात्मा नैराश्यमगमत् परम् ।। १३ ।।

कर्ण और शकुनिकी भी बातें सुनकर राजा दुर्योधन अत्यन्त उदास हो गया, तथा मन-ही-मन लज्जासे अभिभूत हो उसने बड़ी निराशाका अनुभव किया ।। १२-१३ ।।

तच्छ्रुत्वा सुहृदश्चैव समन्युरिदमब्रवीत् ।
न धर्मधनसौख्येन नैश्वर्येण न चाज्ञया ।। १४ ।।
नैव भोगैश्च मे कार्यं मा विहन्यत गच्छत ।
निश्चितेयं मम मतिः स्थिता प्रायोपवेशने ।। १५ ।।
गच्छध्वं नगरं सर्वे पूज्याश्च गुरवो मम ।

सब सुहृदोंके वचन सुनकर दुर्योधनने उनसे कुपित हो इस प्रकार कहा—‘मुझे धर्म, धन, सुख, ऐश्वर्य, शासन और भोग किसीकी भी आवश्यकता नहीं है। तुमलोग मेरे निश्चयमें बाधा न डालो। यहाँसे चले जाओ। आमरण अनशन करनेके सम्बन्धमें मेरी बुद्धिका निश्चय अटल है। तुम सब लोग नगरको जाओ और वहाँ मेरे गुरुजनोंका सदा आदर-सत्कार करो’ ।। १४-१५½ ।।

त एवमुक्ताः प्रत्यूचू राजानमरिमर्दनम् ।। १६ ।।
या गतिस्तव राजेन्द्र सास्माकमपि भारत ।
कथं वा सम्प्रवेक्ष्यामस्त्वद्विहीनाः पुरं वयम् ।। १७ ।।

ऐसा उत्तर पाकर सब सुहृदोंने शत्रुदमन राजा दुर्योधनसे कहा—‘राजेन्द्र! तुम्हारी जो गति होगी वही हमारी भी होगी। भारत! हम तुम्हारे बिना हस्तिनापुरमें कैसे प्रवेश करेंगे?’ ।। १६-१७ ।।

वैशम्पायन उवाच

स सुहृद्भिरमात्यैश्च भ्रातृभिः स्वजनेन च ।
बहुप्रकारमप्युक्तो निश्चयान्न विचाल्यते ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुर्योधनको उसके सुहृद्, मन्त्री, भाई तथा स्वजनोंने बहुतेरा समझाया, परंतु कोई भी उसे अपने निश्चयसे विचलित न कर सका ।। १८ ।।

दर्भास्तरणमास्तीर्य निश्चयाद् धृतराष्ट्रजः ।
संस्पृश्यापः शुचिर्भूत्वा भूतले समुपस्थितः ।। १९ ।।
कुशचीराम्बरधरः परं नियममास्थितः ।
वाग्यतो राजशार्दूलः स स्वर्गगतिकाम्यया ।। २० ।।
मनसोपचितिं कृत्वा निरस्य च बहिःक्रियाः ।

धृतराष्ट्रपुत्र नृपश्रेष्ठ दुर्योधन अपने निश्चयपर अटल रहकर आचमन करके पवित्र हो पृथ्वीपर कुशका आसन बिछा कुश और वल्कलके वस्त्र धारण करके बैठा और स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे वाणीका संयम करके उपवासके उत्तम नियमोंका पालन करने लगा। उस समय उसने मनके द्वारा मरनेका ही निश्चय करके स्नान-भोजन आदि बाह्य क्रियाओंको सर्वथा त्याग दिया था ।। १९-२०$\frac{१}{२}$ ।।

अथ तं निश्चयं तस्य बुद्ध्वा दैतेयदानवाः ।। २१ ।।
पातालवासिनो रौद्राः पूर्वं देवैर्विनिर्जिताः ।
ते स्वपक्षक्षयं तं तु ज्ञात्वा दुर्योधनस्य वै ।। २२ ।।
आह्वानाय तदा चक्रुः कर्म वैतानसम्भवम् ।
बृहस्पत्युशनोक्तैश्च मन्त्रैर्मन्त्रविशारदाः ।। २३ ।।
अथर्ववेदप्रोक्तैश्च याश्चोपनिषदि क्रियाः ।

मन्त्रजप्यसमायुक्तास्तास्तदा समवर्तयन् ।। २४ ।।

दुर्योधनके इस निश्चयको जानकर पातालवासी भयंकर दैत्यों और दानवोंने, जो पूर्वकालमें देवताओंसे पराजित हो चुके थे, मन-ही-मन विचार किया कि इस प्रकार दुर्योधनका प्राणान्त होनेसे तो हमारा पक्ष ही नष्ट हो जायगा; अतः उसे अपने पास बुलानेके लिये मन्त्रविद्यामें निपुण दैत्योंने उस समय बृहस्पति और शुक्राचार्यके द्वारा वर्णित तथा अथर्ववेदमें प्रतिपादित मन्त्रोंद्वारा अग्निविस्तार-साध्य यज्ञकर्मका अनुष्ठान आरम्भ किया और उपनिषद् (आरण्यक)-में जो मन्त्रजपसे युक्त हवनादि क्रियाएँ बतायी गयी हैं, उनका भी सम्पादन किया ।। २१—२४ ।।

जुह्वत्यग्नौ हविः क्षीरं मन्त्रवत् सुसमाहिताः ।
ब्राह्मणा वेदवेदाङ्गपारगाः सुदृढव्रताः ।। २५ ।।

तब दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले, वेद-वेदांगोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो मन्त्रोच्चारणपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें घृत और खीरकी आहुति देने लगे ।। २५ ।।

कर्मसिद्धौ तदा तत्र जृम्भमाणा महाद्भुता ।
कृत्या समुत्थिता राजन् किं करोमीति चाब्रवीत् ।। २६ ।।

राजन्! कर्मकी सिद्धि होनेपर वहाँ यज्ञकुण्डसे उस समय एक अत्यन्त अद्भुत कृत्या जँभाई लेती हुई प्रकट हुई और बोली—'मैं क्या करूँ?' ।। २६ ।।

आहुर्दैत्याश्च तां तत्र सुप्रीतेनान्तरात्मना ।
प्रायोपविष्टं राजानं धार्तराष्ट्रमिहानय ।। २७ ।।

तब दैत्योंने प्रसन्नचित्त होकर उससे कहा—'तू प्रायोपवेशन करते हुए धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनको यहाँ ले आ' ।। २७ ।।

तथेति च प्रतिश्रुत्य सा कृत्या प्रययौ तदा ।
निमेषादगमच्चापि यत्र राजा सुयोधनः ।। २८ ।।

'जो आज्ञा' कहकर वह कृत्या तत्काल वहाँसे प्रस्थित हुई और पलक मारते-मारते जहाँ राजा दुर्योधन था, वहाँ पहुँच गयी ।। २८ ।।

समादाय च राजानं प्रविवेश रसातलम् ।
दानवानां मुहूर्ताच्च तमानीतं न्यवेदयत् ।
तमानीतं नृपं दृष्ट्वा रात्रौ संगत्य दानवाः ।। २९ ।।
प्रहृष्टमनसः सर्वे किंचिदुत्फुल्ललोचनाः ।
साभिमानमिदं वाक्यं दुर्योधनमथाब्रुवन् ।। ३० ।।

फिर राजाको साथ ले दो ही घड़ीमें रसातल आ पहुँची; और दानवोंको उसके लाये जानेकी सूचना दे दी। राजा दुर्योधनको लाया गया देख सब दानव रातमें एकत्र हुए। उनके

मनमें प्रसन्नता भरी थी और नेत्र हर्षातिरेकसे कुछ खिल उठे थे। उन्होंने दुर्योधनसे अभिमानपूर्वक यह बात कही ।। २९-३० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनप्रायोपवेशे एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २५१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनप्रायोपवेशनविषयक दो सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५१ ।।

द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दानवोंका दुर्योधनको समझाना और कर्णके अनुरोध करनेपर दुर्योधनका अनशन त्याग करके हस्तिनापुरको प्रस्थान

दानवा ऊचुः

भोः सुयोधन राजेन्द्र भरतानां कुलोद्वह ।
शूरैः परिवृतो नित्यं तथैव च महात्मभिः ।। १ ।।
अकार्षीः साहसमिदं कस्मात् प्रायोपवेशनम् ।
आत्मत्यागी ह्यधो याति वाच्यतां चायशस्करीम् ।। २ ।।

दानव बोले—भरतवंशका भार वहन करनेवाले महाराज सुयोधन! आप सदा शूरवीरों तथा महामना पुरुषोंसे घिरे रहते हैं, फिर आपने यह आमरण उपवास करनेका साहस क्यों किया है? आत्महत्या करनेवाला पुरुष तो अधोगतिको प्राप्त होता है और लोकमें उसकी निन्दा होती है, जो अयश फैलानेवाली है ।। १-२ ।।

न हि कार्यविरुद्धेषु बहुपापेषु कर्मसु ।
मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ।। ३ ।।

जो अभीष्ट कार्योंके विरुद्ध पड़ते हों, जिनमें बहुत पाप भरे हों तथा जो जड़मूलसहित अपना विनाश करनेवाले हों, ऐसे आत्महत्या आदि अशुभ कर्मोंमें आप-जैसे बुद्धिमान् पुरुष नहीं प्रवृत्त होते ।। ३ ।।

नियच्छैनां मतिं राजन् धर्मार्थसुखनाशिनीम् ।
यशःप्रतापवीर्यघ्नीं शत्रूणां हर्षवर्धनीम् ।। ४ ।।

राजन्! आपका यह आत्महत्यासम्बन्धी विचार धर्म, अर्थ तथा सुख, यश, प्रताप और पराक्रमका नाश करनेवाला तथा शत्रुओंका हर्ष बढ़ानेवाला है, अतः इसे रोकिये ।। ४ ।।

श्रूयतां तु प्रभो तत्त्वं दिव्यतां चात्मनो नृप ।
निर्माणं च शरीरस्य ततो धैर्यमवाप्नुहि ।। ५ ।।

प्रभो! एक रहस्यकी बात सुनिये। नरेश्वर! आपका स्वरूप दिव्य है तथा आपके शरीरका निर्माण भी अद्भुत प्रकारसे हुआ है। यह हमलोगोंसे सुनकर धैर्य धारण कीजिये ।। ५ ।।

पुरा त्वं तपसास्माभिर्लब्धो राजन् महेश्वरात् ।
पूर्वकायश्च पूर्वस्ते निर्मितो वज्रसंचयैः ।। ६ ।।

राजन्! पूर्वकालमें हमलोंगोंने तपस्याद्वारा भगवान् शंकरकी आराधना करके आपको प्राप्त किया था। आपके शरीरका पूर्वभाग—जो नाभिसे ऊपर है, वज्रसमूहसे बना हुआ है ।। ६ ।।

अस्त्रैरभेद्यः शस्त्रैश्चाप्यधः कायश्च तेऽनघ ।
कृतः पुष्पमयो देव्या रूपतः स्त्रीमनोहरः ।। ७ ।।

वह किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे विदीर्ण नहीं हो सकता। अनघ! उसी प्रकार आपका नाभिसे नीचेका शरीर पार्वतीदेवीने पुष्पमय बनाया है, जो अपने रूप-सौन्दर्यसे स्त्रियोंके मनको मोहनेवाला है ।। ७ ।।

एवमीश्वरसंयुक्तस्तव देहो नृपोत्तम ।
देव्या च राजशार्दूल दिव्यस्त्वं हि न मानुषः ।। ८ ।।

नृपश्रेष्ठ! इस प्रकार आपका शरीर देवी पार्वतीके साथ साक्षात् भगवान् महेश्वरने संघटित किया है। अतः राजसिंह! आप मनुष्य नहीं, दिव्य पुरुष हैं ।। ८ ।।

क्षत्रियाश्च महावीर्या भगदत्तपुरोगमाः ।
दिव्यास्त्रविदुषः शूराः क्षपयिष्यन्ति ते रिपून् ।। ९ ।।

भगदत्त आदि महापराक्रमी क्षत्रिय दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता तथा शौर्यसम्पन्न हैं। वे आपके शत्रुओंका संहार करेंगे ।।

तदलं ते विषादेन भयं तव न विद्यते ।
साहाय्यार्थं च ते वीराः सम्भूता भुवि दानवाः ।। १० ।।

अतः आपको शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है। आपको कोई भय नहीं है। आपकी सहायताके लिये बहुत-से वीर दानव भूतलपर प्रकट हो चुके हैं ।। १० ।।

भीष्मद्रोणकृपादींश्च प्रवेक्ष्यन्त्यपरेऽसुराः ।
यैराविष्टा घृणां त्यक्त्वा योत्स्यन्ते तव वैरिभिः ।। ११ ।।

दूसरे भी अनेक असुर भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदिके शरीरोंमें प्रवेश करेंगे, जिनसे आविष्ट होकर वे लोग दयाको त्यागकर आपके शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ।। ११ ।।

नैव पुत्रान् न च भ्रातॄन् न पितॄन् च बान्धवान् ।
नैव शिष्यान् न च ज्ञातीन् न बालात् स्थविरान् न च ।। १२ ।।
युधि सम्प्रहरिष्यन्तो मोक्ष्यन्ति कुरुसत्तम ।
निःस्नेहा दानवाविष्टाः समाक्रान्तेऽन्तरात्मनि ।। १३ ।।

कुरुश्रेष्ठ! दानवोंका आवेश होनेपर भीष्म, द्रोण आदिकी अन्तरात्मापर भी उन दानवोंका ही अधिकार हो जायगा। उस दशामें युद्धमें स्नेहरहित हो प्रहार करते हुए वे लोग पुत्रों, भाइयों, पितृजनों, बान्धवों, शिष्यों, कुटुम्बीजनों, बालकों तथा बूढ़ोंको भी नहीं छोड़ेंगे ।।

प्रहरिष्यन्ति विवशाः स्नेहमुत्सृज्य दूरतः ।
हृष्टाः पुरुषशार्दूलाः कलुषीकृतमानसाः ।
अविज्ञानविमूढाश्च दैवाच्च विधिनिर्मितात् ।। १४ ।।

वे पुरुषसिंह भीष्म आदि वीर (दानवोंके आवेशके कारण) विवश होकर अज्ञानसे मोहित हो जायँगे। उनके मनमें मलिनता आ जायगी और वे स्नेहको दूर छोड़कर प्रसन्नतापूर्वक अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रहार करेंगे। इसमें विधिनिर्मित होनहार ही कारण है ।। १४ ।।

व्याभाषमाणाश्चान्योन्यं न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ।
सर्वे शस्त्रास्त्रमोक्षेण पौरुषे समवस्थिताः ।। १५ ।।
श्लाघमानाः कुरुश्रेष्ठ करिष्यन्ति जनक्षयम् ।

एक-दूसरेके विरुद्ध भाषण करते हुए वे सब योद्धा कहेंगे—'आज तू मेरे हाथोंसे जीवित नहीं बच सकता।' कुरुश्रेष्ठ! इस प्रकार सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए पराक्रमपर डटे रहेंगे और परस्पर होड़ लगाकर जनसंहार करेंगे ।। १५½ ।।

तेऽपि पञ्च महात्मानः प्रतियोत्स्यन्ति पाण्डवाः ।। १६ ।।
वधं चैषां करिष्यन्ति दैवयुक्ता महाबलाः ।

वे दैवप्रेरित महाबली महात्मा पाँचों पाण्डव भी इन भीष्म आदिका सामना करते हुए इनका वध करेंगे ।। १६½ ।।

दैत्यरक्षोगणाश्चैव सम्भूताः क्षत्रयोनिषु ।। १७ ।।
योत्स्यन्ति युधि विक्रम्य शत्रुभिस्तव पार्थिव ।
गदाभिर्मुसलैः शूलैः शस्त्रैरुच्चावचैस्तथा ।। १८ ।।
(प्रहरिष्यन्ति ते वीरास्तवारिषु महाबलाः ।)

राजन्! दैत्यों तथा राक्षसोंके समुदाय क्षत्रिययोनिमें उत्पन्न हुए हैं, जो आपके शत्रुओंके साथ पराक्रमपूर्वक युद्ध करेंगे। वे महाबली वीर दैत्य आपके शत्रुओंपर गदा, मुसल, शूल तथा अन्य छोटे-बड़े अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रहार करेंगे ।। १७-१८ ।।

यच्च तेऽन्तर्गतं वीर भयमर्जुनसम्भवम् ।
तत्रापि विहितोऽस्माभिर्वधोपायोऽर्जुनस्य वै ।। १९ ।।

वीर! आपके भीतर जो अर्जुनका भय समाया हुआ है, वह भी निकाल देना चाहिये; क्योंकि हमलोगोंने अर्जुनके वधका उपाय भी कर लिया है ।। १९ ।।

हतस्य नरकस्यात्मा कर्णमूर्तिमुपाश्रितः ।
तद् वैरं संस्मरन् वीर योत्स्यते केशवार्जुनौ ।। २० ।।

श्रीकृष्णके हाथों जो नरकासुर मारा गया है, उसकी आत्मा कर्णके शरीरमें घुस गयी है। वीरवर! वह (नरकासुर) उस वैरको याद करके श्रीकृष्ण और अर्जुनसे युद्ध करेगा ।। २० ।।

स ते विक्रमशौटीरो रणे पार्थं विजेष्यति ।
कर्णः प्रहरतां श्रेष्ठः सर्वांश्चारीन् महारथः ।। २१ ।।

महारथी कर्ण योद्धाओंमें श्रेष्ठ और अपने पराक्रमपर गर्व रखनेवाला है। वह रणभूमिमें अर्जुन तथा आपके अन्य सब शत्रुओंपर अवश्य विजयी होगा ।। २१ ।।

ज्ञात्वैतच्छद्मना वज्री रक्षार्थं सव्यसाचिनः ।
कुण्डले कवचं चैव कर्णस्यापहरिष्यति ।। २२ ।।

इस बातको समझकर वज्रधारी इन्द्र अर्जुनकी रक्षाके लिये छल करके कर्णके कुण्डल और कवचका अपहरण कर लेंगे ।। २२ ।।

तस्मादस्माभिरप्यत्र दैत्याः शतसहस्रशः ।
नियुक्ता राक्षसाश्चैव ये ते संशप्तका इति ।। २३ ।।

प्रख्यातास्तेऽर्जुनं वीरं हनिष्यन्ति च मा शुचः ।
असपत्ना त्वया हीयं भोक्तव्या वसुधा नृप ।। २४ ।।

इसीलिये हमलोगोंने भी एक लाख दैत्यों तथा राक्षसोंको इस काममें लगा रखा है, जो संशप्तक नामसे विख्यात हैं। वे वीर अर्जुनको मार डालेंगे। अतः आप शोक न करें। नरेश्वर! आपको इस पृथ्वीका निष्कंटक राज्य भोगना है ।। २३-२४ ।।

मा विषादं गमस्तस्मान्नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
विनष्टे त्वयि चास्माकं पक्षो हीयेत कौरव ।। २५ ।।

अतः कुरुनन्दन! आप विषाद न करें। यह आपको शोभा नहीं देता है। आपके नष्ट हो जानेपर तो हमारे पक्षका ही नाश हो जायगा ।। २५ ।।

गच्छ वीर न ते बुद्धिरन्या कार्या कथञ्चन ।
त्वमस्माकं गतिर्नित्यं देवतानां च पाण्डवाः ।। २६ ।।

वीरवर! जाइये। अब आपको किसी तरह भी अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। देखिये, देवताओंने पाण्डवोंका आश्रय ले रखा है; परंतु हमारी गति तो सदा आप ही हैं ।। २६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा परिष्वज्य दैत्यास्तं राजकुञ्जरम् ।
समाश्वास्य च दुर्धर्षं पुत्रवद् दानवर्षभाः ।। २७ ।।
स्थिरां कृत्वा बुद्धिमस्य प्रियाण्युक्त्वा च भारत ।
गम्यतामित्यनुज्ञाय जयमाप्नुहि चेत्यथ ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! दुर्धर्ष वीर नृपशिरोमणि दुर्योधनसे ऐसा कहकर दैत्यों तथा दानवेश्वरोंने उसे पुत्रकी भाँति हृदयसे लगाया और आश्वासन देकर उसकी बुद्धिको स्थिर किया। भारत! तत्पश्चात् प्रिय वचन बोलकर उन्होंने दुर्योधनको जानेके लिये आज्ञा देते हुए कहा—‘अब आप जाइये और शत्रुओंपर विजय प्राप्त कीजिये’ ।। २७-२८ ।।

तैर्विसृष्टं महाबाहुं कृत्या सैवानयत् पुनः ।
तमेव देशं यत्रासौ तदा प्रायमुपाविशत् ।। २९ ।।

दैत्योंके विदा करनेपर उसी कृत्याने महाबाहु दुर्योधनको पुनः उसी स्थानपर पहुँचा दिया, जहाँ वह पहले आमरण उपवासके लिये बैठा था ।। २९ ।।

प्रतिनिक्षिप्य तं वीरं कृत्या समभिपूज्य च ।
अनुज्ञाता च राज्ञा सा तथैवान्तरधीयत ।। ३० ।।

वीर राजा दुर्योधनको वहाँ रखकर कृत्याने उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया और उससे आज्ञा लेकर जैसे आयी थी, वैसे ही अदृश्य हो गयी ।। ३० ।।

गतायामथ तस्यां तु राजा दुर्योधनस्तदा ।
स्वप्नभूतमिदं सर्वमचिन्तयत भारत ।। ३१ ।।
(सम्मृश्य तानि वाक्यानि दानवोक्तानि दुर्मतिः ।)
विजेष्यामि रणे पाण्डूनिति चास्याभवन्मतिः ।

भारत! कृत्याके चले जानेपर राजा दुर्योधनने इन सारी बातोंको स्वप्न समझा। दैत्योंके कहे हुए वचनोंपर विचार करके दुर्बुद्धि दुर्योधनके मनमें यह संकल्प उदित हुआ कि ‘मैं युद्धमें पाण्डवोंको जीत लूँगा’ ।। ३१½ ।।

कर्णं संशप्तकांश्चैव पार्थस्यामित्रघातिनः ।। ३२ ।।
अमन्यत वधे युक्तान् समर्थांश्च सुयोधनः ।

दुर्योधनने यह मान लिया कि संशप्तकगण तथा कर्ण ये शत्रुघाती अर्जुनके वधमें लगे हुए हैं और इसके लिये वे समर्थ हैं ।। ३२½ ।।

एवमाशा दृढा तस्य धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।। ३३ ।।
विनिर्जये पाण्डवानामभवद् भरतर्षभ ।

जनमेजय! इस प्रकार उस खोटी बुद्धिवाले धृतराष्ट्रपुत्रके मनमें पाण्डवोंपर विजय पानेकी दृढ़ आशा हो गयी ।। ३३½ ।।

कर्णोऽप्याविष्टचित्तात्मा नरकस्यान्तरात्मना ।। ३४ ।।
अर्जुनस्य वधे क्रूरां करोति स्म तदा मतिम् ।

इधर कर्ण भी नरकासुरकी अन्तरात्मासे आविष्टचित्त होनेके कारण अर्जुनका वध करनेके लिये क्रूरतापूर्ण संकल्प करने लगा ।। ३४½ ।।

संशप्तकाश्च ते वीरा राक्षसाविष्टचेतसः ।। ३५ ।।
रजस्तमोभ्यामाक्रान्ताः फाल्गुनस्य वधैषिणः ।

इसी प्रकार राक्षसोंसे आविष्टचित्त होकर वे संशप्तक वीर भी रजोगुण और तमोगुणसे आक्रान्त हो अर्जुनको मार डालनेकी इच्छा रखने लगे ।। ३५½ ।।

भीष्मद्रोणकृपाद्याश्च दानवाक्रान्तचेतसः ।। ३६ ।।
न तथा पाण्डुपुत्राणां स्नेहवन्तो विशाम्पते ।

राजन्! भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके मनपर भी दानवोंने अधिकार कर लिया था। अतः पाण्डवोंके प्रति उनका भी वैसा स्नेह नहीं रह गया ।। ३६½ ।।

(कृत्ययाऽऽनाय्यकथितं यत् तस्यां निशि दानवैः ।)
न चाचचक्षे कस्मैचिदेतद् राजा सुयोधनः ।। ३७ ।।

दानवोंने रातमें कृत्याद्वारा अपने यहाँ बुलाकर जो बातें कही थीं, उन्हें राजा दुर्योधनने किसीपर भी प्रकट नहीं किया ।। ३७ ।।

दुर्योधनं निशान्ते च कर्णो वैकर्तनोऽब्रवीत् ।

स्मयन्निवाञ्जलिं कृत्वा पार्थिवं हेतुमद् वचः ।। ३८ ।।

वह रात बीतनेपर सूर्यपुत्र कर्णने आकर राजा दुर्योधनसे हाथ जोड़ मुसकराते हुए यह युक्तियुक्त वचन कहा— ।। ३८ ।।

न मृतो जयते शत्रूञ्जीवन् भद्राणि पश्यति ।
मृतस्य भद्राणि कुतः कौरवेय कुतो जयः ।। ३९ ।।

'कुरुनन्दन! मरा हुआ मनुष्य कभी शत्रुओंपर विजय नहीं पाता। जो जीवित रहता है वह कभी सुखके दिन भी देखता है। मरे हुए को कहाँ सुख और कहाँ विजय? ।। ३९ ।।

न कालोऽद्य विषादस्य भयस्य मरणस्य वा ।
परिष्वज्याब्रवीच्चैनं भुजाभ्यां स महाभुजः ।। ४० ।।

'यह समय शोक मनाने, भयभीत होने अथवा मरनेका नहीं है', यह कहकर महाबाहु कर्णने दोनों भुजाओंसे खींचकर दुर्योधनको हृदयसे लगा लिया और कहा— ।। ४० ।।

उत्तिष्ठ राजन् किं शेषे कस्माच्छोचसि शत्रुहन् ।
शत्रून् प्रताप्य वीर्येण स कथं मृत्युमिच्छसि ।। ४१ ।।

'शत्रुघाती नरेश! उठो, क्यों सो रहे हो? किसलिये शोक करते हो? अपने पराक्रमसे शत्रुओंको संतप्त करके अब मृत्युकी इच्छा क्यों करते हो? ।। ४१ ।।

अथवा ते भयं जातं दृष्ट्वार्जुनपराक्रमम् ।
सत्यं ते प्रतिजानामि वधिष्यामि रणेऽर्जुनम् ।। ४२ ।।

'अथवा यदि तुम्हें अर्जुनका पराक्रम देखकर भय हो गया हो तो मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मैं युद्धमें अर्जुनको अवश्य मार डालूँगा ।। ४२ ।।

गते त्रयोदशे वर्षे सत्येनायुधमालभे ।
आनयिष्याम्यहं पार्थान् वशं तव जनाधिप ।। ४३ ।।

'महाराज! मैं धनुष छूकर सचाईके साथ यह शपथ ग्रहण करता हूँ कि तेरहवाँ वर्ष व्यतीत होते ही पाण्डवोंको तुम्हारे वशमें ला दूँगा' ।। ४३ ।।

एवमुक्तस्तु कर्णेन दैत्यानां वचनात् तथा ।
प्रणिपातेन चाप्येषामुदतिष्ठत् सुयोधनः ।। ४४ ।।

कर्णके ऐसा कहनेपर और इन दुःशासन आदि भाइयोंके प्रणामपूर्वक अनुनय-विनय करनेपर दैत्योंके वचनोंका स्मरण करके दुर्योधन अपने आसनसे उठ खड़ा हुआ ।। ४४ ।।

दैत्यानां तद् वचः श्रुत्वा हृदि कृत्वा स्थिरां मतिम् ।
ततो मनुजशार्दूलो योजयामास वाहिनीम् ।। ४५ ।।
रथनागाश्वकलिलां पदातिजनसंकुलाम् ।
गङ्गौघप्रतिमा राजन् सा प्रयाता महाचमूः ।। ४६ ।।

दैत्योंके पूर्वोक्त कथनको याद करके नरश्रेष्ठ दुर्योधनने पाण्डवोंसे युद्ध करनेका पक्का विचार कर लिया और फिर हस्तिनापुर जानेके लिये रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सैनिकोंसे

युक्त अपनी चतुरंगिणी सेनाको तैयार होनेकी आज्ञा दी। राजन्! वह विशाल वाहिनी गंगाके प्रवाहके समान चलने लगी ।। ४५-४६ ।।

श्वेतच्छत्रैः पताकाभिश्चामरैश्च सुपाण्डुरैः ।
रथैर्नागैः पदातैश्च शुशुभेऽतीव संकुला ।। ४७ ।।
व्यपेताभ्रघने काले द्यौरिवाव्यक्तशारदी ।

श्वेत छत्र, पताका, शुभ चँवर, रथ, हाथी और पैदल योद्धाओंसे भरी हुई वह कौरव-सेना शरत्कालमें कुछ-कुछ व्यक्त शारदीय सुषमासे सुशोभित आकाशकी भाँति शोभा पा रही थी ।। ४७½ ।।

जयाशीर्भिर्द्विजेन्द्रैः स स्तूयमानोऽधिराजवत् ।। ४८ ।।
गृह्णन्नञ्जलिमालाश्च धार्तराष्ट्रो जनाधिपः ।
सुयोधनो ययावग्रे श्रिया परमया ज्वलन् ।। ४९ ।।

धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन सम्राट्‌की भाँति श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके मुखसे विजयसूचक आशीर्वादोंके साथ अपनी स्तुति सुनता तथा लोगोंकी प्रणामाञ्जलियोंको ग्रहण करता हुआ उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित हो आगे-आगे चला ।। ४८-४९ ।।

कर्णेन सार्धं राजेन्द्र सौबलेन च देविना ।
दुःशासनादयश्चास्य भ्रातरः सर्व एव ते ।। ५० ।।
भूरिश्रवाः सोमदत्तो महाराजश्च बाह्लिकः ।
रथैर्नानाविधाकारैर्हयैर्गजवरैस्तथा ।। ५१ ।।
प्रयान्तं नृपसिंहं तमनुजग्मुः कुरूद्वहाः ।
कालेनाल्पेन राजेन्द्र स्वपुरं विविशुस्तदा ।। ५२ ।।

राजेन्द्र! कर्ण तथा द्यूतकुशल शकुनिके साथ दुःशासन आदि सब भाई, भूरिश्रवा, सोमदत्त तथा महाराज बाह्लीक—ये सभी कुरुकुलरत्न नाना प्रकारके रथों, गजराजों तथा घोड़ोंपर बैठकर राजसिंह दुर्योधनके पीछे-पीछे चल रहे थे। जनमेजय! थोड़े समयमें उन सबने अपनी राजधानी हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ।। ५०—५२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनपुरप्रवेशे द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २५२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनका नगरमें प्रवेशविषयक दो सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल ५३½ श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

भीष्मका कर्णकी निन्दा करते हुए दुर्योधनको पाण्डवोंसे संधि करनेका परामर्श देना, कर्णके क्षोभपूर्ण वचन और दिग्विजयके लिये प्रस्थान

जनमेजय उवाच

वसमानेषु पार्थेषु वने तस्मिन् महात्मसु ।
धार्तराष्ट्रा महेष्वासाः किमकुर्वत सत्तमाः ।। १ ।।

जनमेजय बोले—मुने! जब महात्मा पाण्डव उस वनमें निवास करते थे, उन दिनों महान् धनुर्धर नरश्रेष्ठ धृतराष्ट्र-पुत्रोंने क्या किया? ।। १ ।।

कर्णो वैकर्तनश्चैव शकुनिश्च महाबलः ।
भीष्मद्रोणकृपाश्चैव तन्मे शंसितुमर्हसि ।। २ ।।

सूर्यपुत्र कर्ण, महाबली शकुनि, भीष्म, द्रोण तथा कृपाचार्य—इन सबने कौन-सा कार्य किया? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ।। २ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं गतेषु पार्थेषु विसृष्टे च सुयोधने ।
आगते हास्तिनपुरं मोक्षिते पाण्डुनन्दनैः ।। ३ ।।
भीष्मोऽब्रवीन्महाराज धार्तराष्ट्रमिदं वचः ।

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज! पाण्डवोंद्वारा गन्धर्वोंसे छुटकारा मिल जानेपर जब दुर्योधन विदा होकर हस्तिनापुर पहुँच गया और पाण्डव जाकर पूर्ववत् वनमें ही रहने लगे तब भीष्मजीने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे यह बात कही— ।। ३½ ।।

उक्तं तात यथा पूर्वं गच्छतस्ते तपोवनम् ।। ४ ।।

गमनं मे न रुचितं तव तत्र कृतं च ते ।

‘तात! तुम्हारे तपोवन जाते समय जैसा कि मैंने पहले ही कह दिया था, वही आज भी कह रहा हूँ। मुझे तुम्हारा वहाँ जाना अच्छा नहीं लगा और वहाँ जाकर तुमने जो कुछ किया, वह भी पसंद नहीं आया ।। ४ १/२ ।।

ततः प्राप्तं त्वया वीर ग्रहणं शत्रुभिर्बलात् ।। ५ ।।

मोक्षितश्चासि धर्मज्ञैः पाण्डवैर्न च लज्जसे ।

‘वीर! शत्रुओंने तुम्हें वहाँ बलपूर्वक बंदी बना लिया और धर्मज्ञ पाण्डवोंने तुम्हें उस संकटसे छुड़ाया है। क्या अब भी तुम्हें लज्जा नहीं आती? ।। ५ १/२ ।।

प्रत्यक्षं तव गान्धारे ससैन्यस्य विशाम्पते ।। ६ ।।

सूतपुत्रोऽपयाद् भीतो गन्धर्वाणां तदा रणात् ।

‘गान्धारीनन्दन! सेनासहित तुम्हारे सामने ही सूतपुत्र कर्ण गन्धर्वोंसे भयभीत हो युद्धभूमिसे भाग निकला ।। ६ १/२ ।।

क्रोशतस्तव राजेन्द्र ससैन्यस्य नृपात्मज ।। ७ ।।

दृष्टस्ते विक्रमश्चैव पाण्डवानां महात्मनाम् ।

राजेन्द्र! राजकुमार! जब सेनासहित तुम चीखते-चिल्लाते रहे उस समय महात्मा पाण्डवोंने जो पराक्रम कर दिखाया था वह भी तुमने प्रत्यक्ष देखा है ।। ७½ ।।

कर्णस्य च महाबाहो सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ।। ८ ।।
न चापि पादभाक् कर्णः पाण्डवानां नृपोत्तम ।
धनुर्वेदे च शौर्ये च धर्मे वा धर्मवत्सल ।। ९ ।।

महाबाहो! उस समय खोटी बुद्धिवाले सूतपुत्र कर्णका पराक्रम भी तुमसे छिपा नहीं था। नृपश्रेष्ठ! धर्मवत्सल! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि धनुर्वेद, शौर्य और धर्माचरणमें कर्ण पाण्डवोंकी अपेक्षा चौथाई योग्यता भी नहीं रखता है ।। ८-९ ।।

तस्मादहं क्षमं मन्ये पाण्डवैस्तैर्महात्मभिः ।
संधिं संधिविदां श्रेष्ठ कुलस्यास्य विवृद्धये ।। १० ।।

'अतः संधिवेत्ताओंमें श्रेष्ठ नरेश! मैं तो इस कुलके अभ्युदयके लिये उन महात्मा पाण्डवोंके साथ संधि कर लेना ही उचित समझता हूँ' ।। १० ।।

एवमुक्तश्च भीष्मेण धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः ।
प्रहस्य सहसा राजन् विप्रतस्थे ससौबलः ।। ११ ।।

राजन्! भीष्मके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधन हँस पड़ा और शकुनिके साथ सहसा वहाँसे अन्यत्र चला गया ।। ११ ।।

तं तु प्रस्थितमाज्ञाय कर्णदुःशासनादयः ।
अनुजग्मुर्महेष्वासा धार्तराष्ट्रं महाबलम् ।। १२ ।।

महाबली दुर्योधनको अन्यत्र गया जान कर्ण और दुःशासन आदि महान् धनुर्धरोंने उसका अनुसरण किया ।। १२ ।।

तांस्तु सम्प्रस्थितान् दृष्ट्वा भीष्मः कुरुपितामहः ।
लज्जया व्रीडितो राजन् जगाम स्वं निवेशनम् ।। १३ ।।

राजन्! उन सबको वहाँसे प्रस्थान करते देख कुरुकुलपितामह भीष्म लज्जित होकर अपने आवास-स्थानको चले गये ।। १३ ।।

गते भीष्मे महाराज धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः ।
पुनरागम्य तं देशममन्त्रयत मन्त्रिभिः ।। १४ ।।

महाराज! भीष्मके चले जानेपर राजा दुर्योधन फिर उसी स्थानपर लौट आया और अपने मन्त्रियोंके साथ गुप्त मन्त्रणा करने लगा— ।। १४ ।।

किमस्माकं भवेच्छ्रेयः किं कार्यमवशिष्यते ।
कथं च सुकृतं तत् स्यान्मन्त्रयामोऽद्य यद्धितम् ।। १५ ।।

'मित्रो! क्या करनेसे हमलोगोंकी भलाई होगी? हमारे लिये कौन-सा कार्य शेष रह गया है? कैसे करनेसे हमारा कार्य शुभ परिणामजनक होगा? क्या करनेमें हमारा हित है? आज इसी विषयपर हमलोगोंको विचार करना है' ।। १५ ।।

कर्ण उवाच

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव ।
भीष्मोऽस्मान् निन्दति सदा पाण्डवांश्च प्रशंसति ।। १६ ।।

कर्ण बोला—कुरुकुलरत्न दुर्योधन! मैं तुमसे जो कुछ कह रहा हूँ, उसपर ध्यान दो। भीष्म सदा हमारी निन्दा और पाण्डवोंकी प्रशंसा करते रहते हैं ।। १६ ।।

त्वद् द्वेषाच्च महाबाहो ममापि द्वेष्टुमर्हति ।
विगर्हते च मां नित्यं त्वत्समीपे नरेश्वर ।। १७ ।।

महाबाहो! वे तुम्हारे प्रति द्वेष होनेसे मुझसे भी द्वेष रखते हैं। नरेश्वर! तुम्हारे सामने वे सदा मेरी निन्दा ही किया करते हैं ।। १७ ।।

सोऽहं भीष्मवचस्तद् वै न मृष्यामीह भारत ।
त्वत्समक्षं यदुक्तं च भीष्मेणामित्रकर्षण ।। १८ ।।
पाण्डवानां यशो राजंस्तव निन्दां च भारत ।
अनुजानीहि मां राजन् सभृत्यबलवाहनम् ।। १९ ।।

भारत! तुम्हारे सामने भीष्मने जो कुछ कहा है, उसे मैं सहन नहीं कर सकता। शत्रुदमन! भरतकुलनन्दन! उन्होंने जो पाण्डवोंका यश गाया और तुम्हारी निन्दा की है, यह मेरे लिये असह्य है। अतः तुम मुझे सेवक, सेना तथा सवारियोंके साथ दिग्विजय करनेकी आज्ञा दो ।।

जेष्यामि पृथिवीं राजन् सशैलवनकाननाम् ।
जिता च पाण्डवैर्भूमिश्चतुर्भिर्बलशालिभिः ।। २० ।।
तामहं ते विजेष्यामि एक एव न संशयः ।
सम्पश्यतु सुदुर्बुद्धिर्भीष्मः कुरुकुलाधमः ।। २१ ।।

राजन्! मैं पर्वत, वन और काननोंसहित सारी पृथ्वीको जीत लूँगा। जिस भूमिपर चार बलशाली पाण्डवोंने मिलकर विजय पायी है उसे मैं तुम्हारे लिये अकेला ही जीत लूँगा, इसमें संशय नहीं है। खोटी बुद्धिवाला कुरु-कुलाधम भीष्म मेरे इस पराक्रमको अपनी आँखों देखे ।।

अनिन्द्यं निन्दते यो हि अप्रशंस्यं प्रशंसति ।
स पश्यतु बलं मेऽद्य आत्मानं तु विगर्हतु ।। २२ ।।

जो अनिन्दनीयकी निन्दा और अप्रशंसनीयकी प्रशंसा करता है, वह भीष्म आज मेरा बल देख ले और अपने-आपको धिक्कारे ।। २२ ।।

अनुजानीहि मां राजन् ध्रुवो हि विजयस्तव ।
प्रतिजानामि ते सत्यं राजन्नायुधमालभे ।। २३ ।।

राजन्! मुझे आज्ञा दो। तुम्हारी विजय निश्चित है। यह मैं तुमसे प्रतिज्ञापूर्वक सत्य कहता हूँ और शस्त्र छूकर शपथ करता हूँ ।। २३ ।।

तच्छ्रुत्वा तु वचो राजन् कर्णस्य भरतर्षभ ।
प्रीत्या परमया युक्तः कर्णमाह नराधिपः ।। २४ ।।

भरतश्रेष्ठ राजन्! कर्णकी यह बात सुनकर राजा दुर्योधनने बड़ी प्रसन्नताके साथ उससे कहा— ।। २४ ।।

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे त्वं महाबलः ।
हितेषु वर्तसे नित्यं सफलं जन्म चाद्य मे ।। २५ ।।

'वीर! मैं धन्य हूँ, तुम्हारे अनुग्रहका पात्र हूँ; क्योंकि तुम-जैसे महाबली सुहृद् सदा मेरे हितसाधनमें लगे रहते हैं। आज मेरा जन्म सफल हो गया ।। २५ ।।

यदा च मन्यसे वीर सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।
तदा निर्गच्छ भद्रं ते ह्यनुशाधि च मामिति ।। २६ ।।

'वीरवर! जब तुम्हें विश्वास है कि तुम्हारे द्वारा सब शत्रुओंका संहार हो सकता है तब तुम दिग्विजयके लिये यात्रा करो। तुम्हारा कल्याण हो। मुझे आवश्यक व्यवस्थाके लिये आज्ञा दो ।। २६ ।।

एवमुक्तस्तदा कर्णो धार्तराष्ट्रेण धीमता ।
सर्वमाज्ञापयामास प्रायात्रिकमरिंदम ।। २७ ।।

जनमेजय! बुद्धिमान् दुर्योधनके इस प्रकार कहनेपर कर्णने यात्रासम्बन्धी सारी आवश्यक तैयारीके लिये आज्ञा दे दी ।। २७ ।।

प्रययौ च महेष्वासो नक्षत्रे शुभदैवते ।
शुभे तिथौ मुहूर्ते च पूज्यमानो द्विजातिभिः ।। २८ ।।
मङ्गलैश्च शुभैः स्नातो वाग्भिश्चापि प्रपूजितः ।
नादयन् रथघोषेण त्रैलोक्यं सचराचरम् ।। २९ ।।

तदनन्तर महान् धनुर्धर कर्णने मांगलिक शुभ पदार्थोंसे जलके द्वारा स्नान करके द्विजातियोंकी आशीर्वादमय वाणीसे सम्मानित एवं प्रशंसित हो शुभ नक्षत्र, शुभ तिथि और शुभ मुहूर्तमें यात्रा की। उस समय वह अपने रथकी घर्घराहटसे चराचर भूतोंसहित समस्त त्रिलोकीको प्रतिध्वनित कर रहा था ।। २८-२९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदिग्विजये त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २५३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णदिग्विजयविषयक दो सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५३ ।।

चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्णके द्वारा सारी पृथ्वीपर दिग्विजय और हस्तिनापुरमें उसका सत्कार

वैशम्पायन उवाच

ततः कर्णो महेष्वासो बलेन महता वृतः ।
द्रुपदस्य पुरं रम्यं रुरोध भरतर्षभ ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! तदनन्तर महाधनुर्धर कर्णने अपनी विशाल सेनाके साथ जाकर राजा द्रुपदके रमणीय नगरको चारों ओरसे घेर लिया ।। १ ।।

युद्धेन महता चैनं चक्रे वीरं वशानुगम् ।
सुवर्णं रजतं चापि रत्नानि विविधानि च ।। २ ।।
करं च दापयामास द्रुपदं नृपसत्तम ।
तं विनिर्जित्य राजेन्द्र राजानस्तस्य येऽनुगाः ।। ३ ।।
तान् सर्वान् वशगांश्चक्रे करं चैनानदापयत् ।

फिर महान् युद्ध करके उसने वीर द्रुपदको अपने वशमें कर लिया और उन्हें सोना, चाँदी, भाँति-भाँतिके रत्न एवं कर देनेके लिये विवश किया। नृपश्रेष्ठ महाराज जनमेजय! इस प्रकार द्रुपदको जीतकर कर्णने उनके अनुयायी नरेशोंको भी अपने अधीन कर लिया और उन सबसे भी कर वसूल किया ।। २-३ १/२ ।।

अथोत्तरां दिशं गत्वा वशे चक्रे नराधिपान् ।। ४ ।।
भगदत्तं च निर्जित्य राधेयो गिरिमारुहत् ।
हिमवन्तं महाशैलं युध्यमानश्च शत्रुभिः ।। ५ ।।
प्रययौ च दिशः सर्वान् नृपतीन् वशमानयत् ।
स हैमवतिकान् जित्वा करं सर्वानदापयत् ।। ६ ।।

तत्पश्चात् उसने उत्तर दिशामें जाकर वहाँके राजाओंको अपने वशमें कर लिया। भगदत्तको जीतकर राधानन्दन कर्ण शत्रुओंसे युद्ध करता हुआ महान् पर्वत हिमालयपर आरूढ़ हुआ। वहाँसे सब दिशाओंमें जाकर उसने समस्त राजाओंको अपने अधीन किया और हिमालयप्रदेशके समस्त भूपालोंको जीतकर उनसे कर लिया ।। ४—६ ।।

नेपालविषये ये च राजानस्तानवाजयत् ।
अवतीर्य ततः शैलात् पूर्वां दिशमभिद्रुतः ।। ७ ।।

तदनन्तर नेपालदेशमें जो राजा थे, उनपर भी विजय प्राप्त की, फिर हिमालय पर्वतसे उतरकर उसने पूर्व दिशाकी ओर धावा किया ।। ७ ।।

अङ्गान् वङ्गान् कलिंगांश्च शुण्डिकान् मिथिलानथ ।
मागधान् कर्कखण्डांश्च निवेश्य विषयेऽऽत्मनः ।। ८ ।।
आवशीरांश्च योध्यांश्च अहिक्षत्रं च निर्जयत् ।
पूर्वां दिशं विनिर्जित्य वत्सभूमिं तथागमत् ।। ९ ।।

अंग, वंग, कलिंग, शुण्डिक, मिथिला, मगध और कर्कखण्ड—इन सब देशोंको अपने राज्यमें मिलाकर कर्णने आवशीर, योध्य और अहिक्षत्र देशको भी जीत लिया। इस प्रकार पूर्व दिशापर विजय प्राप्त करके उसने वत्सभूमिमें पदार्पण किया ।। ८-९ ।।

वत्सभूमिं विनिर्जित्य केवलां मृत्तिकावतीम् ।
मोहनं पत्तनं चैव त्रिपुरीं कोसलां तथा ।। १० ।।
एतान् सर्वान् विनिर्जित्य करमादाय सर्वशः ।

वत्सभूमिको जीतकर कर्णने केवला, मृत्तिकावती, मोहन, पत्तन, त्रिपुरी तथा कोसला—इन सब देशोंको अपने अधिकारमें किया और सबसे कर लेकर (दक्षिण दिशाकी ओर) प्रस्थान किया ।। १०½ ।।

दक्षिणां दिशमास्थाय कर्णो जित्वा महारथान् ।। ११ ।।
रुक्मिणं दाक्षिणात्येषु योधयामास सूतजः ।
स युद्धं तुमुलं कृत्वा रुक्मी प्रोवाच सूतजम् ।। १२ ।।

दक्षिण दिशामें पहुँचकर कर्णने बड़े-बड़े महारथियोंको जीता। दाक्षिणात्योंमें रुक्मीके साथ कर्णने युद्ध किया। रुक्मीने पहले तो बड़ा भयंकर युद्ध किया, फिर उसने सूतपुत्र कर्णसे कहा ।। ११-१२ ।।

प्रीतोऽस्मि तव राजेन्द्र विक्रमेण बलेन च ।
न ते विघ्नं करिष्यामि प्रतिज्ञां समपालयम् ।। १३ ।।

'राजेन्द्र! मैं तुम्हारे बल और पराक्रमसे बहुत प्रसन्न हूँ। अतः तुम्हारे कार्यमें विघ्न नहीं डालूँगा। थोड़ी देर युद्ध करके मैंने केवल क्षत्रियधर्मका पालन किया है ।। १३ ।।

प्रीत्या चाहं प्रयच्छामि हिरण्यं यावदिच्छसि ।
समेत्य रुक्मिणा कर्णः पाण्ड्यंशैलं च सोऽगमत् ।। १४ ।।

'तुम जितना सोना ले जाना चाहो उतना मैं प्रसन्नतापूर्वक दे रहा हूँ।' इस प्रकार रुक्मीसे मिलकर कर्णने पाण्ड्यदेश तथा श्रीशैलकी ओर प्रस्थान किया ।।

स केरलं रणे चैव नीलं चापि महीपतिम् ।
वेणुदारिसुतं चैव ये चान्ये नृपसत्तमाः ।। १५ ।।
दक्षिणस्यां दिशि नृपान् करान् सर्वानदापयत् ।

उसने रणभूमिमें केरल नरेश, राजा नील तथा वेणुदारिपुत्रको हराया और दक्षिण दिशामें अन्य जितने प्रमुख भूपाल थे, उन सबको जीतकर उनसे कर वसूल किया ।। १५½ ।।

शैशुपालिं ततो गत्वा विजिग्ये सूतनन्दनः ।। १६ ।।
पार्श्वस्थांश्चापि नृपतीन् वशे चक्रे महाबलः ।

इसके बाद सूतपुत्र महाबली कर्णने चेदिदेशमें जाकर शिशुपालके पुत्रको हराया और उसके पार्श्ववर्ती नरेशोंको भी अपने अधीन कर लिया ।। १६½ ।।

आवन्त्यांश्च वशे कृत्वा साम्ना च भरतर्षभ ।
वृष्णिभिः सह संगम्य पश्चिमामपि निर्जयत् ।। १७ ।।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर उसने सामनीतिके द्वारा अवन्तीदेशके राजाओंको वशमें करके वृष्णिवंशी यादवोंसे हिल-मिलकर पश्चिम दिशापर भी विजय प्राप्त की ।। १७ ।।

वारुणीं दिशमागम्य यवनान् बर्बरांस्तथा ।
नृपान् पश्चिमभूमिस्थान् दापयामास वै करान् ।। १८ ।।

इसके बाद पश्चिम दिशामें जाकर यवन तथा बर्बर राजाओंको, जो पश्चिम देशके ही निवासी थे, पराजित करके उनसे कर लिया ।। १८ ।।

विजित्य पृथिवीं सर्वां स पूर्वापरदक्षिणाम् ।
सम्लेच्छाटविकान् वीरः सपर्वतनिवासिनः ।। १९ ।।
भद्रान् रोहितकांश्चैव आग्रेयान् मालवानपि ।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत् प्रहसन्निव ।। २० ।।
शशकान् यवनांश्चैव विजिग्ये सूतनन्दनः ।

इस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सब दिशाओंकी समूची पृथ्वीको जीतकर म्लेच्छ, वनवासी, पर्वतीय, भद्र, रोहितक, आग्रेय तथा मालव आदि समस्त गणराज्योंको परास्त किया। इसके बाद नीतिके अनुसार काम करनेवाले सूतनन्दन कर्णने हँसते-हँसते शशक और यवन राजाओंको भी जीत लिया ।। १९-२०½ ।।

नग्नजित्प्रमुखांश्चैव गणान् जित्वा महारथान् ।। २१ ।।
एवं स पृथिवीं सर्वां वशे कृत्वा महारथः ।
विजित्य पुरुषव्याघ्रो नागसाह्वयमागमत् ।। २२ ।।

इस प्रकार पुरुषसिंह महारथी कर्ण नग्नजित् आदि महारथी नरेशसमुदायोंको जीतकर सारी पृथ्वीको पराजित करके अपने वशमें कर लेनेके पश्चात् हस्तिनापुरको लौट आया ।। २१-२२ ।।

तमागतं महेष्वासं धार्तराष्ट्रो जनाधिपः ।
प्रत्युद्गम्य महाराज सभ्रातृपितृबान्धवः ।। २३ ।।
अर्चयामास विधिना कर्णमाहवशोभिनम् ।
आश्रावयच्च तत् कर्म प्रीयमाणो जनेश्वरः ।। २४ ।।

महाराज! रणमें शोभा पानेवाले महाधनुर्धर कर्णको आया हुआ जान भाई, पिता तथा बन्धु-बान्धवोंसहित राजा दुर्योधनने उसकी अगवानी की और विधिपूर्वक उसका स्वागत-

सत्कार किया। तत्पश्चात् दुर्योधनने अत्यन्त प्रसन्न होकर कर्णके दिग्विजयकी सब ओर घोषणा करा दी ।।

यन्न भीष्मान्न च द्रोणान्न कृपान्न च बाह्लिकात् ।
प्राप्तवानस्मि भद्रं ते त्वत्तः प्राप्तं मया हि तत् ।। २५ ।।

तत्पश्चात् उसने कर्णसे कहा—'वीरवर! तुम्हारा कल्याण हो। मुझे भीष्मजीसे, आचार्य द्रोणसे, कृपाचार्यसे तथा बाह्लिकसे भी जो वस्तु नहीं मिली थी, वह तुमसे प्राप्त हो गयी ।। २५ ।।

बहुना च किमुक्तेन शृणु कर्ण वचो मम ।
सनाथोऽस्मि महाबाहो त्वया नाथेन सत्तम ।। २६ ।।

'महाबाहु कर्ण! अधिक कहनेसे क्या लाभ? तुम मेरी बात सुनो। सत्पुरुषरत्न! तुम्हें अपना नाथ (सहायक) पाकर ही मैं सनाथ हूँ ।। २६ ।।

न हि ते पाण्डवाः सर्वे कलामर्हन्ति षोडशीम् ।
अन्ये वा पुरुषव्याघ्र राजानोऽभ्युदितोदिताः ।। २७ ।।

'पुरुषसिंह! वे समस्त पाण्डव अथवा अन्य श्रेष्ठतम नरेश तुम्हारी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते ।। २७ ।।

स भवान् धृतराष्ट्रं तं गान्धारीं च यशस्विनीम् ।

पश्य कर्ण महेष्वास अदितिं वज्रभृद् यथा ।। २८ ।।

'महाधनुर्धर कर्ण! अब तुम मेरे पूज्य पिता धृतराष्ट्र तथा यशस्विनी माता गान्धारीका उसी प्रकार दर्शन करो, जैसे वज्रधारी इन्द्र माता अदितिका दर्शन करते हैं' ।। २८ ।।

ततो हलहलाशब्दः प्रादुरासीद् विशाम्पते ।
हाहाकाराश्च बहवो नगरे नागसाह्वये ।। २९ ।।

जनमेजय! तदनन्तर हस्तिनापुर नगरमें सब ओर बड़ा भारी कोलाहल मच गया। अनेक प्रकारके हाहाकार सुनायी देने लगे ।। २९ ।।

केचिदेनं प्रशंसन्ति निन्दन्ति स्म तथापरे ।
तूष्णीमासंस्तथा चान्ये नृपास्तत्र जनाधिप ।। ३० ।।

राजन्! कोई तो कर्णकी प्रशंसा करते थे और दूसरे उसकी निन्दा। अन्य कितने ही राजा निन्दा और प्रशंसा कुछ भी न करके मौन थे ।। ३० ।।

एवं विजित्य राजेन्द्र कर्णः शस्त्रभृतां वरः ।
सपर्वतवनाकाशां ससमुद्रां सनिष्कुटाम् ।। ३१ ।।
देशैरुच्चावचैः पूर्णां पत्तनैर्नगरैरपि ।
द्वीपैश्चानूपसम्पूर्णैः पृथिवीं पृथिवीपते ।। ३२ ।।
कालेन नातिदीर्घेण वशे कृत्वा तु पार्थिवान् ।
अक्षयं धनमादाय सूतजो नृपमभ्ययात् ।। ३३ ।।

महाराज! इस प्रकार शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ सूतपुत्र कर्णने पर्वत, वन, खुले स्थान, समुद्र, उद्यान, ऊँचे-नीचे देश, पुर और नगर, द्वीप और जलयुक्त प्रदेशोंसे युक्त सारी पृथ्वीको जीतकर थोड़े ही समयमें समस्त राजाओंको वशमें कर लिया और उनसे अटूट धनराशि लेकर वह राजा धृतराष्ट्रके समीप आया ।। ३१—३३ ।।

प्रविश्य च गृहं राजन्नभ्यन्तरमरिंदम ।
गान्धारीसहितं वीरो धृतराष्ट्रं ददर्श सः ।। ३४ ।।
पुत्रवच्च नरव्याघ्र पादौ जग्राह धर्मवित् ।
धृतराष्ट्रेण चाश्लिष्य प्रेम्णा चापि विसर्जितः ।। ३५ ।।

शत्रुसूदन जनमेजय! धर्मज्ञ वीर कर्णने अन्तःपुरमें प्रवेश करके गान्धारीसहित धृतराष्ट्रका दर्शन किया और पुत्रकी भाँति उसने उनके दोनों चरण पकड़ लिये। धृतराष्ट्रने भी उसे प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाकर विदा किया ।।

तदा प्रभृति राजा च शकुनिश्चापि सौबलः ।
जानते निर्जितान् पार्थान् कर्णेन युधि भारत ।। ३६ ।।

भारत! तबसे राजा दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि युद्धमें कर्णद्वारा पाण्डवोंको पराजित हुआ ही समझने लगे ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि कर्णदिग्विजये चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २५४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें कर्णदिग्विजयसम्बन्धी दो सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५४ ।।

पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्ण और पुरोहितकी सलाहसे दुर्योधनकी वैष्णवयज्ञके लिये तैयारी

वैशम्पायन उवाच

जित्वा तु पृथिवीं राजन् सूतपुत्रो जनाधिप ।
अब्रवीत् परवीरघ्नो दुर्योधनमिदं वचः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सूतपुत्र कर्णने सारी पृथ्वीको जीतकर दुर्योधनसे इस प्रकार कहा ।। १ ।।

कर्ण उवाच

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव ।
श्रुत्वा वाचं तथा सर्वं कर्तुमर्हस्यरिंदम ।। २ ।।

कर्ण बोला—कुरुनन्दन दुर्योधन! मैं जो कहता हूँ, उसे सुनो। शत्रुदमन! मेरी बात सुनकर उसके अनुसार सब कुछ करो ।। २ ।।

तवाद्य पृथिवी वीर निःसपत्ना नृपोत्तम ।
तां पालय यथा शक्रो हतशत्रुर्महामनाः ।। ३ ।।

वीर! नृपश्रेष्ठ! आज सारी पृथ्वी तुम्हारे लिये निष्कण्टक हो गयी है। जैसे महामना इन्द्र अपने शत्रुओंका संहार करके त्रिलोकीका पालन करते हैं, उसी प्रकार तुम भी इस पृथ्वीका पालन करो ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन कर्णं राजाब्रवीत् पुनः ।
न किंचिद् दुर्लभं तस्य यस्य त्वं पुरुषर्षभ ।। ४ ।।
सहायश्चानुरक्तश्च मदर्थं च समुद्यतः ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तं वै शृणु यथातथम् ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने पुनः उससे कहा—‘पुरुषश्रेष्ठ! जिसके सहायक तुम हो एवं जिसपर तुम्हारा अनुराग है, उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। तुम सदा मेरे हितके लिये उद्यत रहते हो। मेरा एक मनोरथ है, जिसे यथार्थरूपसे बतलाता हूँ, सुनो’ ।। ४-५।।

राजसूयं पाण्डवस्य दृष्ट्वा क्रतुवरं महत् ।
मम स्पृहा समुत्पन्ना तां सम्पादय सूतज ।। ६ ।।

सूतनन्दन! ‘पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके उस क्रतुश्रेष्ठ महान् राजसूययज्ञको देखकर मेरे मनमें भी उसे करनेकी इच्छा जाग उठी है। तुम इस इच्छाको पूर्ण करो’ ।। ६ ।।

एवमुक्तस्ततः कर्णो राजानमिदमब्रवीत् ।
तवाद्य पृथिवीपाला वश्याः सर्वे नृपोत्तम ।। ७ ।।
आहूयन्तां द्विजवराः सम्भाराश्च यथाविधि ।
सम्भ्रियन्तां कुरुश्रेष्ठ यज्ञोपकरणानि च ।। ८ ।।

दुर्योधनकी यह बात सुनकर कर्णने उससे यह कहा—‘नृपश्रेष्ठ! इस समय भूपाल तुम्हारे वशमें हैं। कुरुकुलश्रेष्ठ! उत्तम ब्राह्मणोंको बुलाओ और विधिपूर्वक यज्ञकी सामग्रियों तथा उपकरणोंको जुटाओ ।। ७-८ ।।

ऋत्विजश्च समाहूता यथोक्ता वेदपारगाः ।
क्रियां कुर्वन्तु ते राजन् यथाशास्त्रमरिंदम ।। ९ ।।

‘शत्रुदमन नरेश! तुम्हारे द्वारा आमन्त्रित शास्त्रोक्त योग्यतासे सम्पन्न वेदज्ञ ऋत्विक् विधिके अनुसार सब कार्य करें ।। ९ ।।

बह्वन्नपानसंयुक्तः सुसमृद्धगुणान्वितः ।
प्रवर्ततां महायज्ञस्तवापि भरतर्षभ ।। १० ।।

‘भरतश्रेष्ठ! तुम्हारा महायज्ञ भी प्रचुर अन्नपानकी सामग्रीसे युक्त और अत्यन्त समृद्धिशाली गुणोंसे सम्पन्न हो’ ।। १० ।।

एवमुक्तस्तु कर्णेन धार्तराष्ट्रो विशाम्पते ।
पुरोहितं समानाय्य वचनं चेदमब्रवीत् ।। ११ ।।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं समाप्तवरदक्षिणम् ।
आहर त्वं मम कृते यथान्यायं यथाक्रमम् ।। १२ ।।

राजन्! कर्णके इस प्रकार अनुमोदन करनेपर दुर्योधनने अपने पुरोहितको बुलाकर यह बात कही—‘ब्रह्मन्! आप मेरे लिये उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका यथोचित रीतिसे विधिपूर्वक अनुष्ठान करवाइये’ ।। ११-१२ ।।

स एवमुक्तो नृपतिमुवाच द्विजसत्तमः ।
(ब्राह्मणैः सहितो राजन् ये तत्रासन् समागताः ।)
न स शक्यः क्रतुश्रेष्ठो जीवमाने युधिष्ठिरे ।। १३ ।।
आहर्तुं कौरवश्रेष्ठ कुले तव नृपोत्तम ।
दीर्घायुर्जीवति च ते धृतराष्ट्रः पिता नृप ।। १४ ।।
अतश्चापि विरुद्धस्ते क्रतुरेष नृपोत्तम ।

नरेश्वर! राजाके इस प्रकार आदेश देनेपर विप्रवर पुरोहितने वहाँ आये हुए अन्य ब्राह्मणोंके साथ इस प्रकार उत्तर दिया।—‘कौरवश्रेष्ठ! नृपशिरोमणे! राजा युधिष्ठिरके जीते आपके कुलमें इस उत्तम क्रतु राजसूयका अनुष्ठान नहीं किया जा सकता। महाराज! अभी

आपके दीर्घायु पिता धृतराष्ट्र भी जीवित हैं, इसलिये भी यह यज्ञ आपके लिये अनुकूल नहीं पड़ता ।।

अस्ति त्वन्यन्महत् सत्रं राजसूयसमं प्रभो ।। १५ ।।

प्रभो! एक-दूसरा महान् यज्ञ है, जो राजसूयकी समानता रखता है ।। १५ ।।

तेन त्वं यज राजेन्द्र शृणु चेदं वचो मम ।
य इमे पृथिवीपालाः करदास्तव पार्थिव ।। १६ ।।
ते करान् सम्प्रयच्छन्तु सुवर्णं च कृताकृतम् ।
तेन ते क्रियतामद्य लाङ्गलं नृपसत्तम ।। १७ ।।

'राजेन्द्र! आप उसीके द्वारा भगवान्‌का यजन कीजिये और इसके सम्बन्धमें मेरी यह बात सुनिये। पृथ्वीनाथ! ये जो सब भूपाल आपको कर देते हैं, इन्हें आज्ञा दीजिये—ये लोग आपको सुवर्णके बने हुए आभूषण तथा सुवर्ण 'कर' के रूपमें अर्पण करें। नृपश्रेष्ठ! उसी सुवर्णसे आप एक हल तैयार करवाइये ।। १६-१७ ।।

यज्ञवाटस्य ते भूमिः कृष्यतां तेन भारत ।
तत्र यज्ञो नृपश्रेष्ठ प्रभूतान्नः सुसंस्कृतः ।। १८ ।।
प्रवर्ततां यथान्यायं सर्वतो ह्यनिवारितः ।

'भारत! उसी हलसे आपके यज्ञमण्डपकी भूमि जोती जाय। नृपश्रेष्ठ! उस जोती हुई भूमिमें ही उत्तम संस्कारसे सम्पन्न, प्रचुर अन्नपानसे युक्त और सबके लिये खुला हुआ यज्ञ यथोचितरूपसे प्रारम्भ किया जाय ।। १८½ ।।

एष ते वैष्णवो नाम यज्ञः सत्पुरुषोचितः ।। १९ ।।
एतेन नेष्टवान् कश्चिदृते विष्णुं पुरातनम् ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं स्पर्धत्येष महाक्रतुः ।। २० ।।

'यह मैंने आपको वैष्णव नामक यज्ञ बताया है जिसका अनुष्ठान सत्पुरुषोंके लिये सर्वथा उचित है। पुरातन पुरुष भगवान् विष्णुके सिवा और किसीने अबतक इस यज्ञका अनुष्ठान नहीं किया है। यह महायज्ञ क्रतुश्रेष्ठ राजसूयसे टक्कर लेनेवाला है ।। १९-२० ।।

अस्माकं रोचते चैव श्रेयश्च तव भारत ।
निर्विघ्नश्च भवत्येष सफला स्यात् स्पृहा तव ।। २१ ।।

'भारत! हमलोगोंको तो यही यज्ञ पसंद है और यही आपके लिये कल्याणकारी होगा। यह यज्ञ बिना किसी विघ्न-बाधाके सम्पन्न हो जाता है; अतः तुम्हारी यह यज्ञविषयक अभिलाषा भी इसीसे सफल होगी ।। २१ ।।

(तस्मादेष महाबाहो तव यज्ञः प्रवर्तताम् ।)
एवमुक्तस्तु तैर्विप्रैर्धार्तराष्ट्रो महीपतिः ।
कर्णं च सौबलं चैव भ्रातृंश्चैवेदमब्रवीत् ।। २२ ।।

‘इसलिये महाबाहो! तुम्हारा यह यज्ञ आरम्भ होना चाहिये।’ उन ब्राह्मणोंके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने कर्ण, शकुनि तथा अपने भाइयोंसे इस प्रकार कहा— ।। २२ ।।

रोचते मे वचः कृत्स्नं ब्राह्मणानां न संशयः ।
रोचते यदि युष्माकं तस्मात् प्रब्रूत मा चिरम् ।। २३ ।।

‘बन्धुओ! मुझे तो इन ब्राह्मणोंकी सारी बातें रुचिकर जान पड़ती हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। यदि तुमलोगोंको भी यह बात अच्छी लगे तो शीघ्र अपनी सम्मति प्रकट करो’ ।। २३ ।।

एवमुक्तास्तु ते सर्वे तथेत्यूचुर्नराधिपम् ।
संदिदेश ततो राजा व्यापारस्थान् यथाक्रमम् ।। २४ ।।
हलस्य करणे चापि व्यादिष्टाः सर्वशिल्पिनः ।
यथोक्तं च नृपश्रेष्ठ कृतं सर्वं यथाक्रमम् ।। २५ ।।

यह सुनकर उन सबने राजासे ‘तथास्तु’ कहकर उसकी हाँ-में-हाँ मिला दी। तदनन्तर राजा दुर्योधनने काममें लगे हुए सब शिल्पियोंको क्रमशः हल बनानेकी आज्ञा दी। नृपश्रेष्ठ! राजाकी आज्ञा पाकर सब शिल्पियोंने तदनुसार सारा कार्य क्रमशः सम्पन्न किया ।। २४-२५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनयज्ञसमारम्भे पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २५५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनयज्ञसमारम्भविषयक दो सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके यज्ञका आरम्भ एवं समाप्ति

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु शिल्पिनः सर्वे अमात्यप्रवराश्च ये ।
विदुरश्च महाप्राज्ञो धार्तराष्ट्रे न्यवेदयन् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर समस्त शिल्पियों, श्रेष्ठ मन्त्रियों तथा परम बुद्धिमान् विदुरजीने दुर्योधनको सूचना दी— ।। १ ।।

सज्जं क्रतुवरं राजन् प्राप्तकालं च भारत ।
सौवर्णं च कृतं सर्वं लाङ्गलं च महाधनम् ।। २ ।।

'भारत! क्रतुश्रेष्ठ वैष्णवयज्ञकी सारी सामग्री जुट गयी है। यज्ञका नियत समय भी आ पहुँचा है और सोनेका बहुमूल्य हल भी पूर्णरूपसे बन गया है' ।। २ ।।

एतच्छ्रुत्वा नृपश्रेष्ठो धार्तराष्ट्रो विशाम्पते ।
आज्ञापयामास नृपः क्रतुराजप्रवर्तनम् ।। ३ ।।

राजन्! यह सुनकर नृपश्रेष्ठ दुर्योधनने उस क्रतुराजको प्रारम्भ करनेकी आज्ञा दी ।। ३ ।।

ततः प्रववृते यज्ञः प्रभूतार्थः सुसंस्कृतः ।
दीक्षितश्चापि गान्धारिर्यथाशास्त्रं यथाक्रमम् ।। ४ ।।

फिर तो उत्तम संस्कारसे युक्त और प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न वह वैष्णवयज्ञ आरम्भ हुआ। गान्धारीनन्दन दुर्योधनने शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार विधिपूर्वक उस यज्ञकी दीक्षा ली ।। ४ ।।

प्रहृष्टो धृतराष्ट्रश्च विदुरश्च महायशाः ।
भीष्मो द्रोणः कृप, कर्णो गान्धारी च यशस्विनी ।। ५ ।।

धृतराष्ट्र, महायशस्वी विदुर, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण तथा यशस्विनी गान्धारीको इस यज्ञसे बड़ी प्रसन्नता हुई ।। ५ ।।

निमन्त्रणार्थं दूतांश्च प्रेषयामास शीघ्रगान् ।
पार्थिवानां च राजेन्द्र ब्राह्मणानां तथैव च ।। ६ ।।

राजेन्द्र! तदनन्तर समस्त भूपालों तथा ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करनेके लिये बहुत-से शीघ्रगामी दूत भेजे ।। ६ ।।

ते प्रयाता यथोद्दिष्टा दूतास्त्वरितवाहनाः ।
तत्र कंचित् प्रयातं तु दूतं दुःशासनोऽब्रवीत् ।। ७ ।।

दूतगण तेज चलनेवाले वाहनोंपर सवार हो जिन्हें जैसी आज्ञा मिली थी, उसके अनुसार कर्तव्यपालनके लिये प्रस्थित हुए। उन्हींमेंसे एक जाते हुए दूतसे दुःशासनने कहा — ।। ७ ।।

गच्छ द्वैतवनं शीघ्रं पाण्डवान् पापपूरुषान् ।
निमन्त्रय यथान्यायं विप्रांस्तस्मिन् वने तदा ।। ८ ।।

'तुम शीघ्रतापूर्वक द्वैतवनमें जाओ और पापात्मा पाण्डवों तथा उस वनमें रहनेवाले ब्राह्मणोंको यथोचित रीतिसे निमन्त्रण दे आओ' ।। ८ ।।

स गत्वा पाण्डवान् सर्वानुवाचाभिप्रणम्य च ।
दुर्योधनो महाराज यजते नृपसत्तमः ।। ९ ।।
स्ववीर्यार्जितमर्थौघमवाप्य कुरुसत्तमः ।
तत्र गच्छन्ति राजानो ब्राह्मणाश्च ततस्ततः ।। १० ।।

उस दूतने समस्त पाण्डवोंके पास जाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा —'महाराज! कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष नृपतिशिरोमणि दुर्योधन अपने पराक्रमसे अतुल धनराशि प्राप्तकर एक यज्ञ कर रहे हैं। उसमें (विभिन्न स्थानोंसे) बहुत-से राजा और ब्राह्मण पधार रहे हैं ।। ९-१० ।।

अहं तु प्रेषितो राजन् कौरवेण महात्मना ।
आमन्त्रयति वो राजा धार्तराष्ट्रो जनेश्वरः ।। ११ ।।
मनोऽभिलषितं राज्ञस्तं क्रतुं द्रष्टुमर्हथ ।

'राजन्! महामना दुःशासनने मुझे आपके पास भेजा है। जननायक महाराज दुर्योधन आपलोगोंको उस यज्ञमें बुला रहे हैं। आपलोग चलकर राजाके मनोवांछित उस यज्ञका दर्शन कीजिये' ।। ११½ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा तच्छ्रुत्वा दूतभाषितम् ।। १२ ।।
अब्रवीन्नृपशार्दूलो दिष्ट्या राजा सुयोधनः ।
यजते क्रतुमुख्येन पूर्वेषां कीर्तिवर्धनः ।। १३ ।।

दूतका यह कथन सुनकर राजाओंमें सिंहके समान महाराज युधिष्ठिरने इस प्रकार उत्तर दिया—'सौभाग्यकी बात है कि पूर्वजोंकी कीर्ति बढ़ानेवाले राजा सुयोधन श्रेष्ठ यज्ञके द्वारा भगवान्‌का यजन कर रहे हैं ।। १२-१३ ।।

वयमप्युपयास्यामो न त्विदानीं कथंचन ।
समयः परिपाल्यो नो यावद् वर्षं त्रयोदशम् ।। १४ ।।

'हम भी उस यज्ञमें चलते, परंतु इस समय यह किसी तरह सम्भव नहीं है। हमें तेरह वर्षतक वनमें रहनेकी अपनी प्रतिज्ञाका पालन करना है' ।। १४ ।।

श्रुत्वैतद् धर्मराजस्य भीमो वचनमब्रवीत् ।
तदा तु नृपतिर्गन्ता धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। १५ ।।
अस्त्रशस्त्रप्रदीप्तेऽग्नौ यदा तं पातयिष्यति ।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं रणसत्रे नराधिपः ।। १६ ।।
यदा क्रोधहविर्मोक्ता धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवः ।
आगन्ताहं तदास्मीति वाच्यस्ते स सुयोधनः ।। १७ ।।

धर्मराजकी यह बात सुनकर भीमसेनने दूतसे इस प्रकार कहा—'दूत! तुम राजा दुर्योधनसे जाकर यह कह देना कि सम्राट् धर्मराज युधिष्ठिर तेरह वर्ष बीतनेके पश्चात् उस समय वहाँ पधारेंगे जब कि रणयज्ञमें अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रज्वलित की हुई रोषाग्निमें वे तुम्हारी आहुति देंगे। जब रोषकी आगमें जलते हुए धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर पाण्डव अपने क्रोधरूपी घीकी आहुति डालनेको उद्यत होंगे, उस समय मैं (भीमसेन) वहाँ पदार्पण करूँगा' ।। १५—१७ ।।

शेषास्तु पाण्डवा राजन् नैवोचुः किंचिदप्रियम् ।
दूतश्चापि यथावृत्तं धार्तराष्ट्रे न्यवेदयत् ।। १८ ।।

राजन्! शेष पाण्डवोंने कोई अप्रिय वचन नहीं कहा। दूतने भी लौटकर दुर्योधनसे सब समाचार ठीक-ठीक बता दिया ।। १८ ।।

अथाजग्मुर्नरश्रेष्ठा नानाजनपदेश्वराः ।
ब्राह्मणाश्च महाभाग धार्तराष्ट्रपुरं प्रति ।। १९ ।।

महाभाग! तदनन्तर विभिन्न देशोंके अधिपति नरश्रेष्ठ भूपाल तथा ब्राह्मण दुर्योधनकी राजधानी हस्तिनापुरमें आये ।। १९ ।।

ते त्वर्चिता यथाशास्त्रं यथाविधि यथाक्रमम् ।
मुदा परमया युक्ताः प्रीताश्चापि नरेश्वराः ।। २० ।।

उन सबकी शास्त्रीय विधिसे यथोचित सेवा-पूजा की गयी। इससे वे नरेशगण अत्यन्त प्रसन्न हो मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करने लगे ।। २० ।।

धृतराष्ट्रोऽपि राजेन्द्र संवृतः सर्वकौरवैः ।
हर्षेण महता युक्तो विदुरं प्रत्यभाषत ।। २१ ।।

राजेन्द्र! समस्त कौरवोंसे घिरे हुए धृतराष्ट्रको भी बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने विदुरसे कहा — ।। २१ ।।

यथा सुखी जनः सर्वः क्षत्तः स्यादन्नसंयुतः ।
तुष्येत् तु यज्ञसदने तथा क्षिप्रं विधीयताम् ।। २२ ।।

'भैया! शीघ्र ऐसी व्यवस्था करो, जिससे इस यज्ञमण्डपमें पधारे हुए सभी लोग खान-पानसे संतुष्ट एवं सुखी हों' ।। २२ ।।

विदुरस्तु तदाज्ञाय सर्ववर्णानरिंदम ।
यथा प्रमाणतो विद्वान् पूजयामास धर्मवित् ।। २३ ।।

शत्रुदमन जनमेजय! धर्मज्ञ एवं विद्वान् विदुरजीने सब मनुष्योंकी ठीक-ठीक संख्याका ज्ञान करके उन सबका यथोचित स्वागत-सत्कार किया ।। २३ ।।

भक्ष्यपेयान्नपानेन माल्यैश्चापि सुगन्धिभिः ।
वासोभिर्विविधैश्चैव योजयामास हृष्टवत् ।। २४ ।।

वे बड़े हर्षके साथ सभी अतिथियोंको उत्तम भक्ष्य, पेय, अन्न-पान, सुगन्धित पुष्पहार तथा नाना प्रकारके वस्त्र देने लगे ।। २४ ।।

कृत्वा ह्यावसथान् वीरो यथाशास्त्रं यथाक्रमम् ।

सान्त्वयित्वा च राजेन्द्रो दत्त्वा च विविधं वसु ।। २५ ।।

विसर्जयामास नृपान् ब्राह्मणांश्च सहस्रशः ।

वीर राजा दुर्योधनने सभीको शास्त्रानुसार यथायोग्य निवासगृह बनवाकर उनमें ठहराया था। उसने सब प्रकारसे आश्वासन तथा भाँति-भाँतिके रत्न देकर सहस्रों राजाओं तथा ब्राह्मणोंको विदा किया ।। २५½ ।।

विसृज्य च नृपान् सर्वान् भ्रातृभिः परिवारितः ।। २६ ।।

विवेश हास्तिनपुरं सहितः कर्णसौबलैः ।। २७ ।।

इस प्रकार सब राजाओंको विदा देकर भाइयोंसे घिरे हुए दुर्योधनने कर्ण और शकुनिके साथ हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ।। २६-२७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि दुर्योधनयज्ञे षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २५६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें दुर्योधनका यज्ञविषयक दो सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५६ ।।

सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके यज्ञके विषयमें लोगोंका मत, कर्णद्वारा अर्जुनके वधकी प्रतिज्ञा, युधिष्ठिरकी चिन्ता तथा दुर्योधनकी शासननीति

वैशम्पायन उवाच

प्रविशन्तं महाराज सूतास्तुष्टुवुरच्युतम् ।
जनाश्चापि महेष्वासं तुष्टुवू राजसत्तम ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! राजश्रेष्ठ! नगरमें प्रवेश करते समय सूतों तथा अन्य लोगोंने भी अटल निश्चयी और महान् धनुर्धर राजा दुर्योधनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ।। १ ।।

लाजैश्चन्दनचूर्णैश्च विकीर्य च जनास्ततः ।
ऊचुर्दिष्ट्या नृपाविघ्नः समाप्तोऽयं क्रतुस्तव ।। २ ।।

तत्पश्चात् सब लोग लावा और चन्दनचूर्ण बिखेरकर कहने लगे—'महाराज! आपका यह यज्ञ बिना किसी विघ्न-बाधाके पूर्ण हो गया, यह बड़े सौभाग्यकी बात है' ।। २ ।।

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र वातिकास्तं महीपतिम् ।
युधिष्ठिरस्य यज्ञेन न समो ह्येष ते क्रतुः ।। ३ ।।

वहीं कुछ ऐसे लोग भी थे, जिनका मस्तिष्क वातरोगसे विकृत था—कब क्या कहना उचित है, इसको वे नहीं जानते थे, अतः राजा दुर्योधनको सम्बोधित करके कहने लगे—'राजन्! आपका यह यज्ञ युधिष्ठिरके यज्ञके समान नहीं था' ।। ३ ।।

नैव तस्य क्रतोरेष कलामर्हति षोडशीम् ।
एवं तत्राब्रुवन् केचिद् वातिकास्तं जनेश्वरम् ।। ४ ।।

कुछ अन्य वायुरोगग्रस्त लोग राजा दुर्योधनसे इस प्रकार कहने लगे—'यह यज्ञ तो युधिष्ठिरके यज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है' ।। ४ ।।

सुहृदस्त्वब्रुवंस्तत्र अति सर्वानयं क्रतुः ।
ययातिर्नहुषश्चापि मान्धाता भरतस्तथा ।। ५ ।।
क्रतुमेनं समाहृत्य पूताः सर्वे दिवं गताः ।

जो राजाके सुहृद् थे, वे वहाँ इस प्रकार बोले—'यह यज्ञ पिछले सब यज्ञोंसे बढ़कर हुआ है। ययाति, नहुष, मांधाता और भरत भी इस यज्ञ-कर्मका अनुष्ठान करके पवित्र हो सब-के-सब स्वर्गलोकमें गये हैं' ।। ५½ ।।

एता वाचः शुभाः शृण्वन् सुहृदां भरतर्षभ ।। ६ ।।

प्रविवेश पुरं हृष्टः स्ववेश्म च नराधिपः ।

भरतश्रेष्ठ! सुहृदोंकी ये सुन्दर बातें सुनता हुआ राजा दुर्योधन प्रसन्नतापूर्वक नगरमें प्रवेश करके अपने राजभवनमें गया ।। ६½ ।।

अभिवाद्य ततः पादौ मातापित्रोर्विशाम्पते ।। ७ ।।
भीष्मद्रोणकृपादीनां विदुरस्य च धीमतः ।
अभिवादितः कनीयोभिर्भ्रातृभिर्भ्रातृनन्दनः ।। ८ ।।

महाराज! उसने सबसे पहले अपने माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। तत्पश्चात् क्रमशः भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिको तथा बुद्धिमान् विदुरजीको भी मस्तक झुकाया। तदनन्तर छोटे भाइयोंने आकर भ्राताओंका आनन्द बढ़ानेवाले दुर्योधनको प्रणाम किया ।। ७-८ ।।

निषसादासने मुख्ये भ्रातृभिः परिवारितः ।
तमुत्थाय महाराजं सूतपुत्रोऽब्रवीद् वचः ।। ९ ।।

इसके बाद सब भाइयोंसे घिरा हुआ अपने प्रमुख राजसिंहासनपर विराजमान हुआ। उस समय सूतपुत्र कर्णने उठकर महाराज दुर्योधनसे इस प्रकार कहा— ।। ९ ।।

दिष्ट्या ते भरतश्रेष्ठ समाप्तोऽयं महाक्रतुः ।
हतेषु युधि पार्थेषु राजसूये तथा त्वया ।। १० ।।
आहृतेऽहं नरश्रेष्ठ त्वां सभाजयिता पुनः ।

'भरतश्रेष्ठ! सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा यह महान् यज्ञ सकुशल समाप्त हुआ। नरश्रेष्ठ! जब युद्धमें पाण्डव मारे जायँगे, उस समय तुम्हारे द्वारा आयोजित राजसूययज्ञकी समाप्तिपर मैं पुनः इसी प्रकार तुम्हारा अभिनन्दन करूँगा' ।। १०½ ।।

तमब्रवीन्महाराजो धार्तराष्ट्रो महायशाः ।। ११ ।।
सत्यमेतत् त्वयोक्तं हि पाण्डवेषु दुरात्मसु ।
निहतेषु नरश्रेष्ठ प्राप्ते चापि महाक्रतौ ।। १२ ।।
राजसूये पुनर्वीर त्वमेवं वर्धयिष्यसि ।

तब महायशस्वी महाराज दुर्योधनने उससे इस प्रकार कहा—'वीर! तुम्हारा यह कथन सत्य है। नरश्रेष्ठ! जब दुरात्मा पाण्डव मारे जायँगे, उस समय महायज्ञ राजसूयके समाप्त होनेपर तुम पुनः इसी प्रकार मेरा अभिनन्दन करोगे' ।। ११-१२½ ।।

एवमुक्त्वा महाराज कर्णमाश्लिष्य भारत ।। १३ ।।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास कौरवः ।

भरतकुलभूषण! महाराज! ऐसा कहकर दुर्योधनने कर्णको छातीसे लगा लिया और क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका चिन्तन करने लगा ।। १३½ ।।

सोऽब्रवीत् कौरवांश्चापि पार्श्वस्थान् नृपसत्तमः ।। १४ ।।
कदा तु तं क्रतुवरं राजसूयं महाधनम् ।

निहत्य पाण्डवान् सर्वानाहरिष्यामि कौरवाः ।। १५ ।।

नृपश्रेष्ठ दुर्योधनने अपने पास खड़े हुए कौरवोंको सम्बोधित करके कहा—'कुरुकुलके राजकुमारो! कब ऐसा समय आयगा जब मैं समस्त पाण्डवोंको मारकर प्रचुर धनसे सम्पन्न होनेवाले उस क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान करूँगा' ।। १४-१५ ।।

तमब्रवीत् तदा कर्णः शृणु मे राजकुञ्जर ।
पादौ न धावये तावद् यावन्न निहतोऽर्जुनः ।। १६ ।।
कीलालजं न खादेयं करिष्ये चासुरव्रतम् ।
नास्तीति नैव वक्ष्यामि याचितो येन केनचित् ।। १७ ।।

उस समय कर्णने दुर्योधनसे कहा—'नृपश्रेष्ठ! मेरी यह प्रतिज्ञा सुन लो—'जबतक अर्जुन मेरे हाथसे मारा नहीं जाता, तबतक मैं दूसरोंसे पैर नहीं धुलवाऊँगा, केवल जलसे उत्पन्न पदार्थ नहीं खाऊँगा और आसुरव्रत (क्रूरता आदि) नहीं धारण करूँगा। किसीके भी कुछ माँगनेपर 'नहीं है', ऐसी बात नहीं कहूँगा' ।। १६-१७ ।।

अथोत्क्रुष्टं महेष्वासैर्धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
प्रतिज्ञाते फाल्गुनस्य वधे कर्णेन संयुगे ।। १८ ।।

कर्णके द्वारा युद्धमें अर्जुनके वधकी प्रतिज्ञा करनेपर महान् धनुर्धर महारथी धृतराष्ट्रपुत्रोंने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ।। १८ ।।

विजितांश्चाप्यमन्यन्त पाण्डवान् धृतराष्ट्रजाः ।
दुर्योधनोऽपि राजेन्द्र विसृज्य नरपुङ्गवान् ।। १९ ।।
प्रविवेश गृहं श्रीमान् यथा चैत्ररथं प्रभुः ।
तेऽपि सर्वे महेष्वासा जग्मुर्वेश्मानि भारत ।। २० ।।

उस दिनसे कौरव पाण्डवोंको पराजित ही मानने लगे। राजेन्द्र! तदनन्तर जैसे देवराज इन्द्र चैत्ररथ नामक उद्यानमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार श्रीमान् राजा दुर्योधनने उन नरपुंगवोंको विदा करके अपने महलमें प्रवेश किया। भारत! तदनन्तर वे सभी महाधनुर्धर वीर अपने-अपने भवनमें चले गये ।। १९-२० ।।

पाण्डवाश्च महेष्वासा दूतवाक्यप्रचोदिताः ।
चिन्तयन्तस्तमेवार्थं नालभन्त सुखं क्वचित् ।। २१ ।।

इधर महाधनुर्धर पाण्डव दूतके वाक्यसे प्रेरित हो उसी विषयका चिन्तन करते हुए कभी चैन नहीं पाते थे ।।

भूयश्च चारै राजेन्द्र प्रवृत्तिरुपपादिता ।
प्रतिज्ञा सूतपुत्रस्य विजयस्य वधं प्रति ।। २२ ।।

महाराज! फिर उन्होंने गुप्तचरोंद्वारा वह समाचार भी प्राप्त कर लिया, जिसमें अर्जुनके वधके लिये सूतपुत्र कर्णकी प्रतिज्ञा दुहरायी गयी थी ।। २२ ।।

एतच्छ्रुत्वा धर्मसुतः समुद्विग्नो नराधिप ।

अभेद्यकवचं मत्वा कर्णमद्भुतविक्रमम् ।। २३ ।।
अनुस्मरंश्च संक्लेशान् न शान्तिमुपयाति सः ।

राजन्! यह सब सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर उद्विग्न हो उठे। वे विचारने लगे—'कर्णका कवच अभेद्य है और उसका पराक्रम भी अद्भुत है।' यह मानकर तथा वनके क्लेशोंका स्मरण करके उन्हें शान्ति नहीं प्राप्त होती थी ।। २३½ ।।

तस्य चिन्तापरीतस्य बुद्धिर्जज्ञे महात्मनः ।। २४ ।।
बहुव्यालमृगाकीर्णं त्यक्तुं द्वैतवनं वनम् ।

इस प्रकार चिन्तासे घिरे हुए महात्मा युधिष्ठिरके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'अनेक प्रकारके सर्पों तथा मृगोंसे भरे हुए इस द्वैतवनको छोड़कर हम कहीं अन्यत्र चले चलें' ।। २४½ ।।

धार्तराष्ट्रोऽपि नृपतिः प्रशशास वसुन्धराम् ।। २५ ।।
भ्रातृभिः सहितो वीरैर्भीष्मद्रोणकृपैस्तथा ।
सङ्गम्य सूतपुत्रेण कर्णेनाहवशोभिना ।। २६ ।।
(सततं प्रीयमाणो वै देविना सौबलेन च ।)

इधर राजा दुर्योधन भी अपने वीर भाइयोंके साथ रहकर भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, युद्धमें शोभा पानेवाले सूतपुत्र कर्ण तथा द्यूतकुशल शकुनिसे मिलकर निरन्तर प्रसन्नताका अनुभव करता हुआ इस पृथ्वीका शासन करने लगा ।।

दुर्योधनः प्रिये नित्यं वर्तमानो महीभृताम् ।
पूजयामास विप्रेन्द्रान् क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।। २७ ।।

दुर्योधन सदा अपने अधीन रहनेवाले राजाओंका प्रिय करने लगा और प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका भी स्वागत-सत्कार करता रहा ।। २७ ।।

भ्रातॄणां च प्रियं राजन् स चकार परंतपः ।
निश्चित्य मनसा वीरो दत्तभुक्तफलं धनम् ।। २८ ।।

राजन्! शत्रुओंको संताप देनेवाला वीर दुर्योधन निरन्तर अपने भाइयोंका प्रिय कार्य किया करता था। 'धनके दो ही फल हैं—दान और भोग' ऐसा मन-ही-मन निश्चय करके वह इन्हींमें धनका उपयोग करता था ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि घोषयात्रापर्वणि युधिष्ठिरचिन्तायां सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २५७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत घोषयात्रापर्वमें युधिष्ठिरकी चिन्तासे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २८½ श्लोक हैं)

(मृगस्वप्नोद्भवपर्व)

अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका काम्यकवनमें गमन

जनमेजय उवाच

दुर्योधनं मोक्षयित्वा पाण्डुपुत्रा महाबलाः ।
किमकार्षुर्वने तस्मिंस्तन्ममाख्यातुमर्हसि ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—दुर्योधनको गन्धर्वोंके बन्धनसे छुड़ाकर महाबली पाण्डवोंने उस वनमें कौन-सा कार्य किया? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः शयानं कौन्तेयं रात्रौ द्वैतवने मृगाः ।
स्वप्नान्ते दर्शयामासुर्बाष्पकण्ठा युधिष्ठिरम् ।। २ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—तदनन्तर एक रातमें जब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर सो रहे थे, स्वप्नमें द्वैतवनके सिंह-बाघ आदि हिंस्र पशुओंने उन्हें दर्शन दिया। उन सबके कण्ठ आँसुओंसे रुँधे हुए थे ।। २ ।।

तानब्रवीत् स राजेन्द्रो वेपमानान् कृताञ्जलीन् ।
ब्रूत यद् वक्तुकामाः स्थ के भवन्तः किमिष्यते ।। ३ ।।

वे थर-थर काँपते हुए हाथ जोड़कर खड़े थे। महाराज युधिष्ठिरने उनसे पूछा—'आपलोग कौन हैं? क्या कहना चाहते हैं? आपकी क्या इच्छा है? बताइये' ।। ३ ।।

एवमुक्ताः पाण्डवेन कौन्तेयेन यशस्विना ।
प्रत्यब्रुवन् मृगास्तत्र हतशेषा युधिष्ठिरम् ।। ४ ।।

यशस्वी पाण्डव कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर मरनेसे बचे हुए हिंसक पशुओंने उनसे कहा— ।। ४ ।।

वयं मृगा द्वैतवने हतशिष्टास्तु भारत ।
नोत्सीदेम महाराज क्रियतां वासपर्ययः ।। ५ ।।

'भारत! हम द्वैतवनके पशु हैं। आपलोगोंके मारनेसे हमारी इतनी ही संख्या शेष रह गयी है। महाराज! हमारा सर्वथा संहार न हो जाय, इसके लिये आप अपना निवासस्थान बदल दीजिये ।। ५ ।।

भवतो भ्रातरः शूराः सर्व एवास्त्रकोविदाः ।
कुलान्यल्पावशिष्टानि कृतवन्तो वनौकसाम् ।। ६ ।।

'आपके सभी भाई शूरवीर एवं अस्त्रविद्याके पण्डित हैं। इन्होंने हम वनवासी हिंसक पशुओंके कुलोंको थोड़ी ही संख्यामें जीवित छोड़ा है ।। ६ ।।

बीजभूता वयं केचिदवशिष्टा महामते ।
विवर्धेमहि राजेन्द्र प्रसादात् ते युधिष्ठिर ।। ७ ।।

'महामते! हम सिंह, बाघ आदि पशु थोड़ी-सी संख्यामें अपने वंशके बीजमात्र शेष रह गये हैं। महाराज युधिष्ठिर! आपकी कृपासे हमारे वंशकी वृद्धि हो, यही हम निवेदन करते हैं' ।। ७ ।।

तान् वेपमानान् वित्रस्तान् बीजमात्रावशेषितान् ।
मृगान् दृष्ट्वा सुदुःखार्तो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। ८ ।।

वे सिंह-बाघ आदि पशु त्रस्त होकर थर-थर काँप रहे थे और बीजमात्र ही शेष रह गये थे। उनकी यह दयनीय दशा देखकर धर्मराज युधिष्ठिर अत्यन्त दुःखसे व्याकुल हो गये ।। ८ ।।

तांस्तथेत्यब्रवीद् राजा सर्वभूतहिते रतः ।
यथा भवन्तो ब्रुवते करिष्यामि च तत् तथा ।। ९ ।।

समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले राजा युधिष्ठिरने उनसे कहा—'बहुत अच्छा, तुमलोग जैसा कहते हो, वैसा ही करूँगा' ।। ९ ।।

इत्येवं प्रतिबुद्धः स रात्र्यन्ते राजसत्तमः ।
अब्रवीत् सहितान् भ्रातॄन् दयापन्नो मृगान् प्रति ।। १० ।।
उक्तो रात्रौ मृगैरस्मि स्वप्नान्ते हतशेषितैः ।
तन्तुभूताः स्म भद्रं ते दया नः क्रियतामिति ।। ११ ।।

इस प्रकार रात बीतनेपर जब सबेरे उनकी नींद खुली, तब वे नृपतिशिरोमणि हिंसक पशुओंके प्रति दयाभावसे द्रवित हो अपने सब भाइयोंसे बोले—'बन्धुओ! रातको सपनेमें मरनेसे बचे हुए इस वनके पशुओंने मुझसे कहा है—'राजन्! आपका भला हो। हम अपनी वंशपरम्पराके एक-एक तन्तुमात्र शेष रह गये हैं। अब हमलोगोंपर दया कीजिये' ।। १०-११ ।।

ते सत्यमाहुः कर्तव्या दयास्माभिर्वनौकसाम् ।
साष्टमासं हि नो वर्षं यदेतदुपयुङ्क्ष्महे ।। १२ ।।

'मेरी समझमें वे पशु ठीक कहते हैं। हमलोगोंको वनवासी हिंस्र जीवोंपर भी दया करनी चाहिये। अबतक हमलोगोंको इस द्वैतवनमें रहते हुए एक वर्ष आठ महीने बीत चुके हैं ।। १२ ।।

पुनर्बहुमृगं रम्यं काम्यकं काननोत्तमम् ।

मरुभूमेः शिरःस्थानं तृणबिन्दुसरः प्रति ।। १३ ।।

तत्रेमां वसतिं शिष्टां विहरन्तो रमेमहि ।

'अतः अब हम पुनः असंख्य मृगोंसे युक्त, रमणीय तथा उत्तम काम्यकवनमें तृणबिन्दु नामक सरोवरके पास चलें। काम्यकवन मरुभूमिके शीर्षक स्थानमें पड़ता है। वहीं विहार करते हुए हम वनवासके शेष दिन सुखपूर्वक बितायेंगे' ।। १३½ ।।

ततस्ते पाण्डवाः शीघ्रं प्रययुर्धर्मकोविदाः ।। १४ ।।

ब्राह्मणैः सहिता राजन् ये च तत्र सहोषिताः ।

इन्द्रसेनादिभिश्चैव प्रेष्यैरनुगतास्तदा ।। १५ ।।

राजन्! तदनन्तर उन धर्मज्ञ पाण्डवोंने वहाँ रहनेवाले ब्राह्मणोंके साथ शीघ्र ही उस वनसे प्रस्थान कर दिया। इन्द्रसेन आदि सेवक भी उस समय उन्हींके साथ चल दिये ।। १४-१५ ।।

ते यात्वानुसृतैर्मार्गैः स्वन्नैः शुचिजलान्वितैः ।

ददृशुः काम्यकं पुण्यमाश्रमं तापसायुतम् ।। १६ ।।

वे सब लोग उत्तम अन्न और पवित्र जलकी सुविधासे सम्पन्न तथा सदा चालू रहनेवाले मार्गोंसे यात्रा करते हुए पुण्य एवं बहुतेरे तपस्वी जनोंसे युक्त काम्यक वनके आश्रममें पहुँचकर वहाँकी शोभा देखने लगे ।। १६ ।।

विविशुस्ते स्म कौरव्या वृता विप्रर्षभैस्तदा ।

तद् वनं भरतश्रेष्ठाः स्वर्गं सुकृतिनो यथा ।। १७ ।।

जैसे पुण्यात्मा पुरुष स्वर्गमें जाते हैं, उसी प्रकार उन भरतश्रेष्ठ पाण्डवोंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ काम्यक वनमें प्रवेश किया ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मृगस्वप्नोद्भवपर्वणि काम्यकप्रवेशे अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २५८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत मृगस्वप्नोद्भवपर्वमें काम्यकवनप्रवेशविषयक दो सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५८ ।।

(व्रीहिद्रौणिकपर्व)

एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता, व्यासजीका पाण्डवोंके पास आगमन और दानकी महत्ताका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

वने निवसतां तेषां पाण्डवानां महात्मनाम् ।
वर्षाण्येकादशातीयुः कृच्छ्रेण भरतर्षभ ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! इस प्रकार वनमें रहते हुए उन महात्मा पाण्डवोंके ग्यारह वर्ष बड़े कष्टसे बीते ।। १ ।।

फलमूलाशनास्ते हि सुखार्हा दुःखमुत्तमम् ।
प्राप्तकालमनुध्यान्तः सेहिरे वरपूरुषाः ।। २ ।।

वे फल-मूल खाकर रहते थे। सुख भोगनेके योग्य होकर भी महान् कष्ट भोगते थे और यह सोचकर कि यह हमारे कष्टका समय है, इसे धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये, चुपचाप सब दुःख झेलते थे। उनमें ऐसा विवेक इसलिये था कि वे सब-के-सब श्रेष्ठ पुरुष थे ।। २ ।।

युधिष्ठिरस्तु राजर्षिरात्मकर्मापराधजम् ।
चिन्तयन् स महाबाहुर्भ्रातॄणां दुःखमुत्तमम् ।। ३ ।।

महाबाहु राजर्षि युधिष्ठिर सदा यही सोचते रहते थे कि 'मेरे भाइयोंपर जो यह महान् दुःख आ पड़ा है, मेरी ही करनीका फल है। मेरे ही अपराधसे इन्हें कष्ट भोगना पड़ रहा है' ।। ३ ।।

न सुष्वाप सुखं राजा हृदि शल्यैरिवार्पितैः ।
दौरात्म्यमनुपश्यंस्तत् काले द्यूतोद्भवस्य हि ।। ४ ।।
संस्मरन् परुषा वाचः सूतपुत्रस्य पाण्डवः ।
निःश्वासपरमो दीनो बिभ्रत् कोपविषं महत् ।। ५ ।।

इसी चिन्तामें पड़े-पड़े राजा युधिष्ठिर रातमें सुखकी नींद नहीं सो पाते थे। ये बातें उनके हृदयमें चुभे हुए काँटोंके समान दुःख दिया करती थीं। जूआ खेलनेके कारणभूत शकुनि आदिकी दुष्टतापर दृष्टिपात करके तथा सूतपुत्र कर्णकी कठोर बातोंको स्मरण करके पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर दीनभावसे लंबी साँसें लेते रहते और महान् क्रोधरूपी विषको अपने हृदयमें धारण करते थे ।। ४-५ ।।

अर्जुनों यमजौ चोभौ द्रौपदी च यशस्विनी ।

स च भीमो महातेजाः सर्वेषामुत्तमो बली ।। ६ ।।

युधिष्ठिरमुदीक्षन्तः सेहुर्दुःखमनुत्तमम् ।

अर्जुन, दोनों भाई नकुल-सहदेव, यशस्विनी द्रौपदी तथा सर्वश्रेष्ठ बलवान् महातेजस्वी भीमसेन भी राजा युधिष्ठिरकी ओर देखते हुए महान्-से-महान् दुःखको चुपचाप सहते रहे ।। ६½ ।।

अवशिष्टमल्पकालं मन्वानाः पुरुषर्षभाः ।। ७ ।।

वपुरन्यदिवाकार्षुरुत्साहामर्षचेष्टितैः ।

'अब तो वनवासका थोड़ा-सा ही समय शेष रह गया है, ऐसा समझकर नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने उत्साह एवं अमर्षयुक्त चेष्टाओंसे अपने शरीरको किसी और ही प्रकारका बना लिया था ।। ७½ ।।

कस्यचित् त्वथ कालस्य व्यासः सत्यवतीसुतः ।। ८ ।।

आजगाम महायोगी पाण्डवानवलोककः ।

तमागतमभिप्रेक्ष्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।। ९ ।।

प्रत्युद्‌गम्य महात्मानं प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ।

तदनन्तर किसी समय महायोगी सत्यवतीनन्दन व्यास पाण्डवोंको देखनेके लिये वहाँ आये। उन महात्माको आया देख कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर उनकी अगवानीके लिये कुछ दूर आगे बढ़ गये और विधिपूर्वक स्वागत-सत्कारके साथ उन्हें अपने साथ लिवा लाये ।। ८-९½ ।।

तमासीनमुपासीनः शुश्रूषुर्नियतेन्द्रियः ।। १० ।।

तोषयन् प्रणिपातेन व्यासं पाण्डवनन्दनः ।

जब वे आसनपर बैठ गये तब पाण्डवोंका आनन्द बढ़ानेवाले युधिष्ठिर अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए सेवाकी इच्छासे व्यासजीके पास ही बैठ गये और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उन्होंने महर्षिको संतुष्ट किया ।। १०½ ।।

तानवेक्ष्य कृशान् पौत्रान् वने वन्येन जीवतः ।। ११ ।।

महर्षिरनुकम्पार्थमब्रवीद् बाष्पगद्‌गदम् ।

अपने पौत्रोंको वनवासके कष्टसे दुर्बल तथा जंगली फल-मूल खाकर जीवननिर्वाह करते देख महर्षि व्यासको बड़ी दया आयी। वे उनपर कृपा करनेके लिये नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए गद्‌गद कण्ठसे बोले— ।। ११½ ।।

युधिष्ठिर महाबाहो शृणु धर्मभृतां वर ।। १२ ।।

नातप्ततपसो लोके प्राप्नुवन्ति महासुखम् ।

सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणोपसेवते ।। १३ ।।

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाबाहु युधिष्ठिर! मेरी बात सुनो, संसारमें जिन्होंने तपस्या नहीं की है, वे महान् सुखकी उपलब्धि नहीं कर पाते हैं। मनुष्य बारी-बारीसे सुख और दुःख दोनोंका सेवन करता है ।। १२-१३ ।।

न ह्यनन्तं सुखं कश्चित् प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
प्रज्ञावांस्त्वेव पुरुषः संयुक्तः परया धिया ।। १४ ।।
उदयास्तमनज्ञो हि न हृष्यति न शोचति ।

'नरश्रेष्ठ! कोई भी इस जगत्में ऐसा सुख नहीं पाता, जिसका कभी अन्त न हो। उत्तम बुद्धिसे युक्त ज्ञानवान् पुरुष ही उत्पत्ति, स्थिति और लयके अधिष्ठानरूप परमात्माको जानकर कभी हर्ष और शोक नहीं करता है ।। १४½ ।।

सुखमापतितं सेवेद् दुःखमापतितं वहेत् ।। १५ ।।
कालप्राप्तमुपासीत सस्यानामिव कर्षकः ।

'अतः विवेकी पुरुषको उचित है कि प्राप्त हुए सुखका (त्यागपूर्वक) सेवन करे और स्वतः आये हुए दुःखका भार भी (धैर्यपूर्वक) वहन करे। जैसे किसान बीज बोकर समयके अनुसार प्रारब्धवश जितना अन्न मिलता है, उसे ग्रहण करता है; उसी प्रकार मनुष्य समय-समयपर दैववश प्राप्त हुए सुख तथा दुःखको स्वीकार करें ।। १५½ ।।

तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ।। १६ ।।

नासाध्यं तपसः किंचिदिति बुद्ध्यस्व भारत ।

'भारत! तपसे बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है। तपसे मनुष्य महत्पद (परमात्मा)-को प्राप्त कर लेता है। तुम इस बातको अच्छी तरह जान लो कि तपस्यासे कुछ भी असाध्य नहीं है ।। १६½ ।।

सत्यमार्जवमक्रोधः संविभागो दमः शमः ।। १७ ।।
अनसूयाविहिंसा च शौचमिन्द्रियसंयमः ।
पावनानि महाराज नराणां पुण्यकर्मणाम् ।। १८ ।।

'महाराज! सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, देवता और अतिथियोंको देकर अन्न आदि ग्रहण करना, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, दूसरोंके दोष न देखना, हिंसा न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता रखना तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंको काबूमें रखना—ये पुण्यात्मा पुरुषोंके सद्‌गुण सबको पवित्र करनेवाले हैं ।। १७-१८ ।।

अधर्मरुचयो मूढास्तिर्यग्गतिपरायणाः ।
कृच्छ्रां योनिमनुप्राप्ता न सुखं विन्दते जनाः ।। १९ ।।

'जो लोग अधर्ममें रुचि रखनेवाले हैं, वे मूढ़ मानव पशु-पक्षी आदि तिर्यग्-योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं। उन कष्टदायक योनियोंमें पड़कर वे कभी सुख नहीं पाते हैं ।। १९ ।।

इह यत् क्रियते कर्म तत् परत्रोपयुज्यते ।
तस्माच्छरीरं युञ्जीत तपसा नियमेन च ।। २० ।।

'इस लोकमें जो कर्म किया जाता है, उसका फल परलोकमें भोगना पड़ता है। इसलिये अपने शरीरको तप और नियमोंके पालनमें लगावे ।। २० ।।

यथाशक्ति प्रयच्छेत सम्पूज्याभिप्रणम्य च ।
काले प्राप्ते च हृष्टात्मा राजन् विगतमत्सरः ।। २१ ।।

'राजन्! समयपर यदि कोई अतिथि आ जाय तो क्रोधरहित और प्रसन्नचित्त होकर अपनी शक्तिके अनुसार उसे दान दे; और विधिवत् पूजन करके उसे प्रणाम करे ।। २१ ।।

सत्यवादी लभेतायुरनायासमथार्जवम् ।
अक्रोधनोऽनसूयश्च निर्वृतिं लभते पराम् ।। २२ ।।

'सत्यवादी मनुष्य दीर्घ आयु, क्लेशशून्यता (सुख) तथा सरलता प्राप्त करता है। जो क्रोध नहीं करता और दूसरोंके दोष नहीं देखता है, उसे परमानन्दपदकी प्राप्ति होती है ।। २२ ।।

दान्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विन्दति ।
न च तप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम् ।। २३ ।।

'जो सदा अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर मनका निग्रह करता है, उसे कभी क्लेशका सामना नहीं करना पड़ता। जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, वह दूसरोंकी सम्पत्तिको देखकर संतप्त नहीं होता है' ।। २३ ।।

संविभक्ता च दाता च भोगवान् सुखवान् नरः ।
भवत्यहिंसकश्चैव परमारोग्यमश्नुते ।। २४ ।।

'जो देवताओं और अतिथियोंको उनका भाग समर्पित करता है वह भोगसामग्रीसे सम्पन्न होता है। दान करनेवाला मनुष्य सुखी होता है। जो किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता उसे उत्तम आरोग्यकी प्राप्ति होती है ।। २४ ।।

मान्यमानयिता जन्म कुले महति विन्दति ।
व्यसनैर्न तु संयोगं प्राप्नोति विजितेन्द्रियः ।। २५ ।।
(विन्दते सुखमत्यन्तमिह लोके परत्र च ।)

'जो माननीय पुरुषोंका सम्मान करता है वह महान् कुलमें जन्म पाता है। जितेन्द्रिय पुरुष कभी दुर्व्यसनोंमें नहीं फँसता है। उसे इस लोक और परलोकमें भी अत्यन्त सुखकी प्राप्ति होती है ।। २५ ।।

शुभानुशयबुद्धिर्हि संयुक्तः कालधर्मणा ।
प्रादुर्भवति तद्योगात् कल्याणमतिरेव सः ।। २६ ।।

'जिसकी बुद्धि शुभमें ही आसक्त होती है, वह मनुष्य मृत्युको प्राप्त होनेपर उस शुभके संयोगसे कल्याणबुद्धि होकर ही उत्पन्न होता है' ।। २६ ।।

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् दानधर्माणां तपसो वा महामुने ।
किंस्विद् बहुगुणं प्रेत्य किं वा दुष्करमुच्यते ।। २७ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! महामुने! दानधर्म एवं तपस्या—इनमेंसे किसका फल परलोकमें अधिक माना गया है? और इन दोनोंमें कौन दुष्कर बताया जाता है ।। २७ ।।

व्यास उवाच

दानान्न दुष्करं तात पृथिव्यामस्ति किंचन ।
अर्थे च महती तृष्णा स च दुःखेन लभ्यते ।। २८ ।।

व्यासजीने कहा—तात! दानसे बढ़कर दुष्कर कार्य इस पृथ्वीपर दूसरा कोई नहीं है। लोगोंको धनका लोभ अधिक होता है और धन मिलता भी बड़े कष्टसे है ।। २८ ।।

परित्यज्य प्रियान् प्राणाम् धनार्थं हि महामते ।
प्रविशन्ति नरा वीराः समुद्रमटवीं तथा ।। २९ ।।

महामते! कितने ही साहसी मनुष्य रत्नोंके लिये अपने प्यारे प्राणोंका मोह छोड़कर समुद्रमें गोते लगाते हैं और धनके लिये घोर जंगलोंमें भटकते फिरते हैं ।। २९ ।।

कृषिगोरक्ष्यमित्येके प्रतिपद्यन्ति मानवाः ।
पुरुषाः प्रेष्यतामेके निर्गच्छन्ति धनार्थिनः ।। ३० ।।

कुछ मनुष्य कृषि तथा गोरक्षाको अपनी जीविकाका साधन बनाते हैं, कुछ लोग धनकी इच्छासे नौकरी करनेके लिये दूर निकल जाते हैं ।। ३० ।।

तस्माद् दुःखार्जितस्यैव परित्यागः सुदुष्करः ।
न दुष्करतरं दानात् तस्माद् दानं मतं मम ।। ३१ ।।

अतः दुःख सहकर कमाये हुए धनका परित्याग करना अत्यन्त कठिन है। दानसे बढ़कर दूसरा कोई दुष्कर कार्य नहीं है। इसलिये मेरे मतमें दान ही सर्वश्रेष्ठ है ।। ३१ ।।

विशेषस्त्वत्र विज्ञेयो न्यायेनोपार्जितं धनम् ।
पात्रे काले च देशे च साधुभ्यः प्रतिपादयेत् ।। ३२ ।।

यहाँ विशेष बात यह जाननी चाहिये कि मनुष्य न्यायसे कमाये गये धनको उत्तम देश, काल और पात्रका विचार करते हुए श्रेष्ठ पुरुषोंको दे ।। ३२ ।।

अन्यायात् समुपात्तेन दानधर्मो धनेन यः ।
क्रियते न स कर्तारं त्रायते महतो भयात् ।। ३३ ।।

अन्यायसे प्राप्त किये हुए धनके द्वारा जो दानधर्म किया जाता है वह कर्ताकी महान् भयसे रक्षा नहीं कर पाता ।। ३३ ।।

पात्रे दानं स्वल्पमपि काले दत्तं युधिष्ठिर ।
मनसा हि विशुद्धेन प्रेत्यानन्तफलं स्मृतम् ।। ३४ ।।

युधिष्ठिर! यदि विशुद्ध मनसे उत्तम समयपर सत्पात्रको थोड़ा-सा भी दान दिया गया हो तो वह परलोकमें अनन्त फल देनेवाला माना गया है ।। ३४ ।।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
व्रीहिद्रोणपरित्यागाद् यत् फलं प्राप मुद्गलः ।। ३५ ।।

इस विषयमें जानकार लोग इस पुराने इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं कि मुद्गल ऋषिने एक द्रोण धानका दान करके महान् फल प्राप्त किया था ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि दानदुष्करत्वकथने एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २५९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत व्रीहिद्रौणिकपर्वमें दानकी दुष्करताका प्रतिपादनविषय दो सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३५½ श्लोक हैं)

षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्वासाद्वारा महर्षि मुद्गलके दानधर्म एवं धैर्यकी परीक्षा तथा मुद्गलका देवदूतसे कुछ प्रश्न करना

युधिष्ठिर उवाच

व्रीहिद्रोणः परित्यक्तः कथं तेन महात्मना ।
कस्मै दत्तश्च भगवन् विधिना केन चात्थ मे ।। १ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! महात्मा मुद्गलने एक द्रोण[1] धानका दान कैसे और किस विधिसे किया था तथा वह दान किसको दिया गया था? यह सब मुझे बताइये ।। १ ।।

प्रत्यक्षधर्मा भगवान् यस्य तुष्टो हि कर्मभिः ।
सफलं तस्य जन्माहं मन्ये सद्धर्मचारिणः ।। २ ।।

मनुष्योंके धर्मको प्रत्यक्ष देखने और जाननेवाले भगवान् जिसके कर्मोंसे संतुष्ट होते हैं, उसी श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुषका जन्म सफल है, ऐसा मैं मानता हूँ ।। २ ।।

व्यास उवाच

शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा मुद्गलः संयतेन्द्रियः ।
आसीद् राजन् कुरुक्षेत्रे सत्यवागनसूयकः ।। ३ ।।

व्यासजी बोले—राजन्! कुरुक्षेत्रमें मुद्गलनामक एक ऋषि रहते थे। वे बड़े धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे। शिल[2] तथा उञ्छवृत्तिसे ही वे जीविका चलाते थे तथा सदा सत्य बोलते और किसीकी भी निन्दा नहीं करते थे ।। ३ ।।

अतिथिव्रती क्रियावांश्च कापोतीं वृत्तिमास्थितः ।
सत्रमिष्टीकृतं नाम समुपास्ते महातपाः ।। ४ ।।
सपुत्रदारो हि मुनिः पक्षाहारो बभूव ह ।
कपोतवृत्त्या पक्षेण व्रीहिद्रोणमुपार्जयत् ।। ५ ।।

उन्होंने अतिथियोंकी सेवाका व्रत ले रखा था। वे बड़े कर्मनिष्ठ और तपस्वी थे तथा कापोती वृत्तिका आश्रय ले आवश्यकताके अनुरूप थोड़े-से ही अन्नका संग्रह करते थे। वे मुनि स्त्री और पुत्रके साथ रहकर पंद्रह दिनमें जैसे कबूतर दाने चुगता है, उसी प्रकार चुनकर एक द्रोण धानका संग्रह कर पाते थे और उसके द्वारा इष्टीकृत नामक यज्ञका अनुष्ठान करते थे। इस प्रकार परिवारसहित उन्हें पंद्रह दिनपर भोजन प्राप्त होता था ।। ४-५ ।।

दर्शं च पौर्णमासं च कुर्वन् विगतमत्सरः ।
देवतातिथिशेषेण कुरुते देहयापनम् ।। ६ ।।

उनके मनमें किसीके प्रति ईर्ष्याका भाव नहीं था। वे प्रत्येक पक्षमें दर्श एवं पौर्णमास यज्ञ करते हुए देवताओं और अतिथियोंको उनका भाग अर्पित करके शेष अन्नसे जीवन-यापन करते थे ।। ६ ।।

तस्येन्द्रः सहितो देवैः साक्षात् त्रिभुवनेश्वरः ।
प्रत्यगृह्णान्महाराज भागं पर्वणि पर्वणि ।। ७ ।।

महाराज! प्रत्येक पर्वपर तीनों लोकोंके स्वामी साक्षात् इन्द्र देवताओंसहित पधारकर उनके यज्ञमें भाग ग्रहण करते थे ।। ७ ।।

स पर्वकालं कृत्वा तु मुनिवृत्त्या समन्वितः ।
अतिथिभ्यो ददावन्नं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।। ८ ।।

मुद्‌गल ऋषि मुनिवृत्तिसे रहते हुए पर्वकालोचित कर्मदर्श और पौर्णमास यज्ञ करके हर्षोल्लासपूर्ण हृदयसे अतिथियोंको भोजन देते थे ।। ८ ।।

व्रीहिद्रोणस्य तद्धस्य ददतोऽन्नं महात्मनः ।
शिष्टं मात्सर्यहीनस्य वर्धतेऽतिथिदर्शनात् ।। ९ ।।

ईर्ष्यासे रहित महात्मा मुद्‌गल एक द्रोण धानसे तैयार किये हुए अन्नमेंसे जब-जब दान करते थे, तब-तब देनेसे बचा हुआ अन्न मुद्‌गलके द्वारा दूसरे अतिथियोंका दर्शन करनेसे बढ़ जाया करता था ।। ९ ।।

तच्छतान्यपि भुञ्जन्ति ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ।
मुनेस्त्यागविशुद्धया तु तदन्नं वृद्धिमृच्छति ।। १० ।।

इस प्रकार उसमें सैकड़ों मनीषी ब्राह्मण एक साथ भोजन कर लेते थे। मुद्‌गल मुनिके विशुद्ध त्यागके प्रभावसे वह अन्न निश्चय ही बढ़ जाता था ।। १० ।।

तं तु शुश्राव धर्मिष्ठं मुद्‌गलं संशितव्रतम् ।
दुर्वासा नृप दिग्वासास्तमथाभ्याजगाम ह ।। ११ ।।

राजन्! एक दिन दिगम्बर वेषमें भ्रमण करनेवाले महर्षि दुर्वासाने उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धर्मिष्ठ महात्मा मुद्‌गलका नाम सुना। उनके व्रतकी ख्याति सुनकर वे वहाँ आ पहुँचे ।। ११ ।।

बिभ्रच्चानियतं वेषमुन्मत्त इव पाण्डव ।
विकचः परुषा वाचो व्याहरन् विविधा मुनिः ।। १२ ।।

पाण्डुनन्दन! दुर्वासा मुनि पागलोंकी तरह अटपटा वेष धारण किये, मूँड़ मुड़ाये और नाना प्रकारके कटु वचन बोलते हुए उस आश्रममें पधारे ।। १२ ।।

अभिगम्याथ तं विप्रमुवाच मुनिसत्तमः ।
अन्नार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम ।। १३ ।।

ब्रह्मर्षि मुद्‌गलके पास पहुँचकर मुनिश्रेष्ठ दुर्वासाने कहा—‘विप्रवर! तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैं भोजनकी इच्छासे यहाँ आया हूँ’ ।। १३ ।।

स्वागतं तेऽस्त्विति मुनिं मुद्‌गलः प्रत्यभाषत ।
पाद्यमाचमनीयं च प्रतिपाद्यार्घ्यमुत्तमम् ।। १४ ।।
प्रादात् स तापसायान्नं क्षुधितायातिथिव्रती ।
उन्मत्ताय परां श्रद्धामास्थाय स धृतव्रतः ।। १५ ।।
ततस्तदन्नं रसवत् स एव क्षुधयान्वितः ।
बुभुजे कृत्स्नमुन्मत्तः प्रादात् तस्मै च मुद्‌गलः ।। १६ ।।

मुद्‌गलने उनसे कहा—‘महर्षे!’ आपका स्वागत है, ऐसा कहकर उन्होंने पाद्य, उत्तम अर्घ्य तथा आचमनीय आदि पूजनकी सामग्री भेंट की। तत्पश्चात् उन व्रतधारी अतिथिसेवी महर्षि मुद्‌गलने बड़ी श्रद्धाके साथ उन्मत्त-वेशधारी भूखे तपस्वी दुर्वासाको भोजन अर्पित किया। वह अन्न बड़ा स्वादिष्ट था। वे उन्मत्त मुनि भूखे तो थे ही, परोसी हुई सारी रसोई खा गये। तब महर्षि मुद्‌गलने उन्हें और भोजन दिया ।। १४—१६ ।।

भुक्त्वा चान्नं ततः सर्वमुच्छिष्टेनात्मनस्ततः ।
अथाङ्गं लिलिपेऽन्नेन यथागतमगाच्च सः ।। १७ ।।

इस तरह सारा भोजन उदरस्थ करके दुर्वासाजीने जूठन लेकर अपने सारे अंगोंमें लपेट ली और फिर जैसे आये थे, वैसे ही चल दिये ।। १७ ।।

एवं द्वितीये सम्प्राप्ते यथाकाले मनीषिणः ।
आगम्य बुभुजे सर्वमन्नमुञ्छोपजीविनः ।। १८ ।।

इसी प्रकार दूसरा पर्वकाल आनेपर दुर्वासा ऋषिने पुनः आकर उञ्छवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेवाले उन मनीषी महात्मा मुद्‌गलके यहाँका सारा अन्न खा लिया ।। १८ ।।

निराहारस्तु स मुनिरुञ्छमार्जयते पुनः ।
न चैनं विक्रियां नेतुमशकन्मुद्गलं क्षुधा ।। १९ ।।

मुनि निराहार रहकर पुनः अन्नके दाने बीनने लगे। भूखका कष्ट उनके मनमें विकार उत्पन्न करनेमें समर्थ न हो सका ।। १९ ।।

न क्रोधो न च मात्सर्यं नावमानो न सम्भ्रमः ।
सपुत्रदारमुञ्छन्तमाविवेश द्विजोत्तमम् ।। २० ।।

स्त्री-पुत्रसहित अन्नके दाने चुनते हुए विप्रवर मुद्गलके हृदयमें क्रोध, द्वेष, घबराहट तथा अपमान प्रवेश नहीं कर सके ।। २० ।।

तथा तमुञ्छधर्माणं दुर्वासा मुनिसत्तमम् ।
उपतस्थे यथाकालं षट्कृत्वः कृतनिश्चयः ।। २१ ।।

इस प्रकार उञ्छधर्मका पालन करनेवाले मुनिश्रेष्ठ मुद्गलके घरपर महर्षि दुर्वासा उनका धैर्य छुड़ानेका दृढ़ निश्चय लेकर लगातार छः बार ठीक पर्वके समय उपस्थित हुए ।। २१ ।।

न चास्य मनसा कंचिद् विकारं ददृशे मुनिः ।
शुद्धसत्त्वस्य शुद्धं स ददृशे निर्मलं मनः ।। २२ ।।

किंतु उन्होंने उनके मनमें कभी कोई विकार नहीं देखा। शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि मुद्‌गलके मनको दुर्वासाने सदा शुद्ध और निर्मल ही पाया ।। २२ ।।

तमुवाच ततः प्रीतः स मुनिर्मुद्‌गलं ततः ।
त्वत्समो नास्ति लोकेऽस्मिन् दाता मात्सर्यवर्जितः ।। २३ ।।

तब वे प्रसन्न होकर मुद्‌गलसे बोले—‘ब्रह्मन्! इस संसारमें ईर्ष्यासे रहित होकर दान देनेवाला मनुष्य तुम्हारे समान दूसरा कोई नहीं है ।। २३ ।।

क्षुद् धर्मसंज्ञां प्रणुदत्यादत्ते धैर्यमेव च ।
रसानुसारिणी जिह्वा कर्षत्येव रसान् प्रति ।। २४ ।।

‘भूख (बड़े-बड़े लोगोंके) धर्मज्ञानको विलुप्त कर देती है, धैर्य हर लेती है तथा रसका अनुसरण करनेवाली रसना सदा रसीले पदार्थोंकी ओर मनुष्यको खींचती रहती है ।। २४ ।।

आहारप्रभवाः प्राणा मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्रयं निश्चितं तपः ।। २५ ।।

‘भोजनसे ही प्राणोंकी रक्षा होती है। चंचल मनको रोकना अत्यन्त कठिन होता है। मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रताको ही निश्चितरूपसे तप कहा गया है’ ।। २५ ।।

श्रमेणोपार्जितं त्यक्तुं दुःखं शुद्धेन चेतसा ।
तत् सर्वं भवता साधो यथावदुपपादितम् ।। २६ ।।

‘परिश्रमसे उपार्जित किये हुए धनका शुद्ध हृदयसे दान करना अत्यन्त दुष्कर है। परंतु श्रेष्ठ पुरुष! तुमने यह सब कुछ यथार्थरूपसे सिद्ध कर लिया है ।। २६ ।।

प्रीताः स्मोऽनुगृहीताश्च समेत्य भवता सह ।
इन्द्रियाभिजयो धैर्यं संविभागो दमः शमः ।। २७ ।।
दया सत्यं च धर्मश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
(विशुद्धसत्त्वसम्पन्नो न त्वदन्योऽस्ति कश्चन ।)
जितास्ते कर्मभिर्लोकाः प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ।। २८ ।।

‘तुमसे मिलकर हम बहुत प्रसन्न हैं और अपने ऊपर तुम्हारा अनुग्रह मानते हैं। इन्द्रियसंयम, धैर्य, संविभाग (दान), शम, दम, दया, सत्य और धर्म—ये सब गुण तुममें पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। तुम्हारे-जैसा पवित्र अन्तःकरणवाला दूसरा कोई नहीं है। तुमने अपने शुभ कर्मोंसे सभी लोकोंको जीत लिया; परमपदको प्राप्त कर लिया ।। २७-२८ ।।

अहो दानं विघुष्टं ते सुमहत् स्वर्गवासिभिः ।
सशरीरो भवान् गन्ता स्वर्गं सुचरितव्रत ।। २९ ।।

‘अहो! स्वर्गवासी देवताओंने भी तुम्हारे महान् दानकी सर्वत्र घोषणा की है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! तुम सदेह स्वर्गलोकको जाओगे’ ।। २९ ।।

इत्येवं वदतस्तस्य तदा दुर्वाससो मुनेः ।

देवदूतो विमानेन मुद्गलं प्रत्युपस्थितः ।। ३० ।।

दुर्वासा मुनि इस प्रकार कह ही रहे थे कि एक देवदूत विमानके साथ मुद्गल ऋषिके पास आ पहुँचा ।।

हंससारसयुक्तेन किङ्किणीजालमालिना ।
कामगेन विचित्रेण दिव्यगन्धवता तथा ।। ३१ ।।

उस विमानमें हंस एवं सारस जुते हुए थे। क्षुद्र-घण्टिकाओंकी जालीसे उसे सुसज्जित किया गया था तथा उससे दिव्य सुगन्ध फैल रही थी। वह विमान देखनेमें बड़ा विचित्र और इच्छानुसार चलनेवाला था ।। ३१ ।।

उवाच चैनं विप्रर्षिं विमानं कर्मभिर्जितम् ।
समुपारोह संसिद्धिं प्राप्तोऽसि परमां मुने ।। ३२ ।।

देवदूतने ब्रह्मर्षि मुद्गलसे कहा—'मुने! यह विमान आपको शुभ कर्मोंसे प्राप्त हुआ है। इसपर बैठिये। आप परम सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं' ।। ३२ ।।

तमेवंवादिनमृषिर्देवदूतमुवाच ह ।
इच्छामि भवता प्रोक्तान् गुणान् स्वर्गनिवासिनाम् ।। ३३ ।।
के गुणास्तत्र वसतां किं तपः कश्च निश्चयः ।
स्वर्गे तत्र सुखं किं च दोषो वा देवदूतक ।। ३४ ।।

देवदूतके ऐसा कहनेपर महर्षि मुद्गलने उससे कहा—'देवदूत! मैं तुम्हारे मुखसे स्वर्गवासियोंके गुण सुनना चाहता हूँ। वहाँ रहनेवालोंमें कौन-कौनसे गुण होते हैं? कैसी तपस्या होती है? और उनका निश्चित विचार कैसा होता है? स्वर्गमें क्या सुख है और वहाँ क्या दोष है? ।।

सतां साप्तपदं मैत्रमाहुः सन्तः कुलोचिताः ।
मित्रतां च पुरस्कृत्य पृच्छामि त्वामहं विभो ।। ३५ ।।

'प्रभो! सत्पुरुषोंमें सात पग एक साथ चलनेसे ही मित्रता हो जाती है, ऐसा कुलीन सत्पुरुषोंका कथन है। मैं उसी मैत्रीको सामने रखकर तुमसे उपर्युक्त प्रश्न पूछ रहा हूँ ।। ३५ ।।

यदत्र तथ्यं पथ्यं च तद् ब्रवीह्यविचारयन् ।
श्रुत्वा तथा करिष्यामि व्यवसायं गिरा तव ।। ३६ ।।

'इसके उत्तरमें जो सत्य एवं हितकर बात हो, उसे बिना किसी हिचकिचाहटके कहो। तुम्हारी बात सुनकर उसीके द्वारा मैं अपने कर्तव्यका निश्चय करूँगा' ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि मुद्गलोपाख्याने षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २६० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत व्रीहिद्रौणिकपर्वमें मुद्गलोपाख्यानसम्बन्धी दो सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६० ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३६½ श्लोक हैं)

---

१. कुछ विद्वानोंके मतसे यह सोलह सेरका होता है।

२. 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्।' इस कोषवाक्यके अनुसार बाजार उठ जानेपर या खेत कटनेपर वहाँ बिखरे हुए अन्नके दाने बीनना 'उञ्छ' कहलाता है और खेत कट जानेपर वहाँ गिरी हुई गेहूँ-धान आदिकी बालें बीनना 'शील' कहा गया है।

एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवदूतद्वारा स्वर्गलोकके गुण-दोषोंका तथा दोषरहित विष्णुधामका वर्णन सुनकर मुद्गलका देवदूतको लौटा देना एवं व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाकर अपने आश्रमको लौट जाना

देवदूत उवाच

महर्षे आर्यबुद्धिस्त्वं यः स्वर्गसुखमुत्तमम् ।
सम्प्राप्तं बहु मन्तव्यं विमृशस्यबुधो यथा ।। १ ।।

देवदूत बोला—महर्षे! तुम्हारी बुद्धि बड़ी उत्तम है। जिस उत्तम स्वर्गीय सुखको दूसरे लोग बहुत बड़ी चीज समझते हैं, वह तुम्हें प्राप्त ही है, फिर भी तुम अनजान-से बनकर इसके सम्बन्धमें विचार करते हो—इसके गुण-दोषकी समीक्षा कर रहे हो ।। १ ।।

उपरिष्टादसौ लोको योऽयं स्वरिति संज्ञितः ।
ऊर्ध्वगः सत्पथः शश्वद् देवयानचरो मुने ।। २ ।।

मुने! जिसे स्वर्लोक कहते हैं, वह यहाँसे बहुत ऊपर है। वहाँ पहुँचनेके लिये ऊपरको जाया जाता है, इसलिये उसका एक नाम ऊर्ध्वग भी है। वहाँ जानेके लिये जो मार्ग है, वह बहुत उत्तम है। वहाँके लोग सदा विमानोंपर विचरा करते हैं ।। २ ।।

नातप्ततपसः पुंसो नामहायज्ञयाजिनः ।
नानृता नास्तिकाश्चैव तत्र गच्छन्ति मुद्गल ।। ३ ।।

मुद्गल! जिन्होंने तपस्या नहीं की है, बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा यजन नहीं किया है तथा जो असत्यवादी एवं नास्तिक हैं, वे उस लोकमें नहीं जा पाते हैं ।। ३ ।।

धर्मात्मानो जितात्मानः शान्ता दान्ता विमत्सराः ।
दानधर्मरता मर्त्याः शूराश्चाहवलक्षणाः ।। ४ ।।
तत्र गच्छन्ति धर्माग्रयं कृत्वा शमदमात्मकम् ।
लोकान् पुण्यकृतां ब्रह्मन् सद्भिराचरितान् नृभिः ।। ५ ।।

ब्रह्मन्! धर्मात्मा, मनको वशमें रखनेवाले, शम-दमसे सम्पन्न, ईर्ष्यारहित, दानधर्मपरायण तथा युद्धकलामें प्रसिद्ध शूरवीर मनुष्य ही वहाँ सब धर्मोंमें श्रेष्ठ इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रहरूपी योगको अपनाकर सत्पुरुषों-द्वारा सेवित पुण्यवानोंके लोकोंमें जाते हैं ।। ४-५ ।।

देवाः साध्यास्तथा विश्वे तथैव च महर्षयः ।
यामा धामाश्च मौद्गल्य* गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।। ६ ।।

एषां देवनिकायानां पृथक् पृथगनेकशः ।
भास्वन्तः कामसम्पन्ना लोकास्तेजोमयाः शुभाः ।। ७ ।।

मुद्‌गल! वहाँ देवता, साध्य, विश्वेदेव, महर्षिगण, याम, धाम, गन्धर्व तथा अप्सरा—इन सब देवसमूहोंके अलग-अलग अनेक प्रकाशमान लोक हैं, जो इच्छानुसार प्राप्त होनेवाले भोगोंसे सम्पन्न, तेजस्वी तथा मंगलकारी हैं ।। ६-७ ।।

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि योजनानि हिरण्मयः ।
मेरुः पर्वतराड् यत्र देवोद्यानानि मुद्‌गल ।। ८ ।।
नन्दनादीनि पुण्यानि विहाराः पुण्यकर्मणाम् ।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न शीतोष्णे भयं तथा ।। ९ ।।

स्वर्गमें तैंतीस हजार योजनका सुवर्णमय एक बहुत ऊँचा पर्वत है जो मेरुगिरिके नामसे विख्यात है। मुद्‌गल! वहीं देवताओंके नन्दन आदि पवित्र उद्यान तथा पुण्यात्मा पुरुषोंके विहारस्थल हैं। वहाँ किसीको भूख-प्यास नहीं लगती, मनमें कभी ग्लानि नहीं होती, गरमी और जाड़ेका कष्ट भी नहीं होता और न कोई भय ही होता है ।। ८-९ ।।

बीभत्समशुभं वापि तत्र किंचिन्न विद्यते ।
मनोज्ञाः सर्वतो गन्धाः सुखस्पर्शाश्च सर्वशः ।। १० ।।
शब्दाः श्रुतिमनोग्राह्याः सर्वतस्तत्र वै मुने ।
न शोको न जरा तत्र नायासपरिदेवने ।। ११ ।।

वहाँ कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो घृणा करने-योग्य एवं अशुभ हो। वहाँ सब ओर मनोरम सुगन्ध, सुखदायक स्पर्श तथा कानों और मनको प्रिय लगनेवाले मधुर शब्द सुननेमें आते हैं। मुने! स्वर्गलोकमें न शोक होता है, न बुढ़ापा। वहाँ थकावट तथा करुणाजनक विलाप भी श्रवणगोचर नहीं होते ।। १०-११ ।।

ईदृशः स मुने लोकः स्वकर्मफलहेतुकः ।
सुकृतैस्तत्र पुरुषाः सम्भवन्त्यात्मकर्मभिः ।। १२ ।।

महर्षे! स्वर्गलोक ऐसा ही है। अपने सत्कर्मोंके फलरूप ही उसकी प्राप्ति होती है। मनुष्य वहाँ अपने किये हुए पुण्यकर्मोंसे ही रह पाते हैं ।। १२ ।।

तैजसानि शरीराणि भवन्त्यत्रोपपद्यताम् ।
कर्मजान्येव मौद्‌गल्य न मातृपितृजान्युत ।। १३ ।।

मुद्‌गल! स्वर्गवासियोंके शरीरमें तैजस तत्त्वकी प्रधानता होती है। वे शरीर पुण्यकर्मोंसे ही उपलब्ध होते हैं। माता-पिताके रजोवीर्यसे उनकी उत्पत्ति नहीं होती है ।। १३ ।।

न संस्वेदो न दौर्गन्ध्यं पुरीषं मूत्रमेव च ।
तेषां न च रजो वस्त्रं बाधते तत्र वै मुने ।। १४ ।।

उन शरीरोंमें कभी पसीना नहीं निकलता, दुर्गन्ध नहीं आती तथा मल-मूत्रका भी अभाव होता है। मुने! उनके कपड़ोंमें कभी मैल नहीं बैठती है ।। १४ ।।

न म्लायन्ति स्रजस्तेषां दिव्यगन्धा मनोरमाः ।
संयुज्यन्ते विमानैश्च ब्रह्मन्नेवंविधैश्च ते ।। १५ ।।

स्वर्गवासियोंकी जो (दिव्य कुसुमोंकी) मालाएँ होती हैं, वे कभी कुम्हलाती नहीं हैं। उनसे निरन्तर दिव्य सुगन्ध फैलती रहती है तथा वे देखनेमें भी बड़ी मनोरम होती हैं। ब्रह्मन्! स्वर्गके सभी निवासी ऐसे ही विमानोंसे सम्पन्न होते हैं ।। १५ ।।

ईर्ष्याशोकक्लमापेता मोहमात्सर्यवर्जिताः ।
सुखं स्वर्गजितस्तत्र वर्तयन्ते महामुने ।। १६ ।।

महामुने! जो अपने सत्कर्मोंद्वारा स्वर्गलोकपर विजय पा चुके हैं, वे वहाँ बड़े सुखसे जीवन बिताते हैं। उनमें किसीके प्रति ईर्ष्या नहीं होती, वे कभी शोक तथा थकावटका अनुभव नहीं करते एवं मोह तथा मात्सर्य (द्वेषभाव)-से सदा दूर रहते हैं ।। १६ ।।

तेषां तथाविधानां तु लोकानां मुनिपुङ्गव ।
उपर्युपरि लोकस्य लोका दिव्या गुणान्विताः ।। १७ ।।

मुनिश्रेष्ठ! देवताओंके जो पूर्वोक्त प्रकारके लोक हैं, उन सबसे ऊपर अन्य कितने ही विविध गुणसम्पन्न दिव्य लोक हैं ।। १७ ।।

पुरस्ताद् ब्राह्मणास्तत्र लोकास्तेजोमयाः शुभाः ।
यत्र यान्त्यृषयो ब्रह्मन् पूताः स्वैः कर्मभिः शुभैः ।। १८ ।।

उन सबसे ऊपर ब्रह्माजीके लोक हैं, जो अत्यन्त तेजस्वी एवं मंगलकारी हैं। ब्रह्मन्! वहाँ अपने शुभ कर्मोंसे पवित्र ऋषि, मुनि जाते हैं ।। १८ ।।

ऋभवो नाम तत्रान्ये देवानामपि देवताः ।
तेषां लोकात् परतरे यान् यजन्तीह देवताः ।। १९ ।।

वहीं ऋभु नामक दूसरे देवता रहते हैं, जो देवगणोंके भी आराध्यदेव हैं। देवताओंके लोकोंसे उनका स्थान उत्कृष्ट है। देवतालोग भी यज्ञोंद्वारा उनका यजन करते हैं ।। १९ ।।

स्वयंप्रभास्ते भास्वन्तो लोकाः कामदुघाः परे ।
न तेषां स्त्रीकृतस्तापो न लोकैश्वर्यमत्सरः ।। २० ।।

उनके उत्तम लोक स्वयंप्रकाश, तेजस्वी और सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले हैं। उन्हें स्त्रियोंके लिये संताप नहीं होता। लोकोंके ऐश्वर्यके लिये उनके मनमें कभी ईर्ष्या नहीं होती ।। २० ।।

न वर्तयन्त्याहुतिभिस्ते नाप्यमृतभोजनाः ।
तथा दिव्यशरीरास्ते न च विग्रहमूर्तयः ।। २१ ।।

वे देवताओंकी तरह आहुतियोंसे जीविका नहीं चलाते। उन्हें अमृत पीनेकी आवश्यकता नहीं होती। उनके शरीर दिव्य ज्योतिर्मय हैं। उनकी कोई विशेष आकृति नहीं होती ।। २१ ।।

न सुखे सुखकामास्ते देवदेवाः सनातनाः ।

न कल्पपरिवर्तेषु परिवर्तन्ति ते तथा ।। २२ ।।

वे सुखमें प्रतिष्ठित हैं, परंतु सुखकी कामना नहीं रखते। वे देवताओंके भी देवता और सनातन हैं। कल्पका अन्त होनेपर भी उनकी स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं होता—वे ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं ।। २२ ।।

जरा मृत्युः कुतस्तेषां हर्षः प्रीतिः सुखं न च ।
न दुःखं न सुखं चापि रागद्वेषौ कुतो मुने ।। २३ ।।

मुने! उनमें जरा-मृत्युकी सम्भावना तो हो ही कैसे सकती है? हर्ष, प्रीति तथा सुख आदि विकारोंका भी उनमें सर्वथा अभाव ही है। ऐसी स्थितिमें उनके भीतर दुःख-सुख तथा राग-द्वेषादि कैसे रह सकते हैं? ।। २३ ।।

देवानामपि मौद्गल्य कांक्षिता सा गतिः परा ।
दुष्प्रापा परमा सिद्धिरगम्या कामगोचरैः ।। २४ ।।

मौद्गल्य! स्वर्गवासी देवता भी उस (ऋभु नामक देवताओंकी) परमगतिको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं। वह परा सिद्धिकी अवस्था है, जो अत्यन्त दुर्लभ है। विषयभोगोंकी इच्छा रखनेवाले लोगोंकी वहाँतक पहुँच नहीं होती ।। २४ ।।

त्रयस्त्रिंशदिमे देवा येषां लोका मनीषिभिः ।
गम्यन्ते नियमैः श्रेष्ठैर्दानैर्वा विधिपूर्वकैः ।। २५ ।।

ये जो तैंतीस देवता हैं, उन्हींके लोकोंको मनीषी पुरुष उत्तम नियमोंके आचरणसे अथवा विधिपूर्वक दिये हुए दानोंसे प्राप्त करते हैं ।। २५ ।।

सेयं दानकृता व्युष्टिरनुप्राप्ता सुखं त्वया ।
तां भुङ्क्ष्व सुकृतैर्लब्धां तपसा द्योतितप्रभः ।। २६ ।।

ब्रह्मन्! तुमने अपने दानके प्रभावसे अनायास ही वह स्वर्गीय सुख-सम्पत्ति प्राप्त कर ली है। अपनी तपस्याके तेजसे देदीप्यमान होकर अब तुम अपने पुण्यसे प्राप्त हुए उस दिव्य वैभवका उपभोग करो ।। २६ ।।

एतत् स्वर्गसुखं विप्र लोका नानाविधास्तथा ।
गुणाः स्वर्गस्य प्रोक्तास्ते दोषानपि निबोध मे ।। २७ ।।

विप्रवर! यही स्वर्गका सुख है और ऐसे ही वहाँ भाँति-भाँतिके लोक हैं। यहाँतक मैंने तुम्हें स्वर्गके गुण बताये हैं; अब वहाँके दोष भी मुझसे सुन लो ।। २७ ।।

कृतस्य कर्मणस्तत्र भुज्यते यत् फलं दिवि ।
न चान्यत् क्रियते कर्म मूलच्छेदेन भुज्यते ।। २८ ।।

अपने किये हुए सत्कर्मोंका जो फल होता है, वही स्वर्गमें भोगा जाता है। वहाँ कोई नया कर्म नहीं किया जाता। अपना पुण्यरूप मूलधन गँवानेसे ही वहाँके भोग प्राप्त होते हैं ।। २८ ।।

सोऽत्र दोषो मम मतस्तस्यान्ते पतनं च यत् ।

सुखव्याप्तमनस्कानां पतनं यच्च मुद्गल ।। २९ ।।

मुद्गल! स्वर्गमें सबसे बड़ा दोष मुझे यह जान पड़ता है कि कर्मोंका भोग समाप्त होनेपर एक दिन वहाँसे पतन हो ही जाता है। जिनका मन सुखभोगमें लगा हुआ है, उनको सहसा पतन कितना दुःखदायी होता है ।। २९ ।।

असंतोषः परीतापो दृष्ट्वा दीप्ततराः श्रियः ।
यद् भवत्यवरे स्थाने स्थितानां तत् सुदुष्करम् ।। ३० ।।

स्वर्गमें भी जो लोग नीचेके स्थानोंमें स्थित हैं, उन्हें अपनेसे ऊपरके लोकोंकी समुज्ज्वल श्रीसम्पत्ति देखकर जो असंतोष और संताप होता है, उसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है ।। ३० ।।

संज्ञामोहश्च पततां रजसा च प्रधर्षणम् ।
प्रम्लानेषु च माल्येषु ततः पिपतिषोर्भयम् ।। ३१ ।।

स्वर्गलोकसे गिरते समय वहाँके निवासियोंकी चेतना लुप्त हो जाती है। रजोगुणके आक्रमणसे उनकी बुद्धि बिगड़ जाती है। पहले उनके गलेकी मालाएँ कुम्हला जाती हैं; इससे उन्हें पतनकी सूचना मिल जानेसे उनके मनमें बड़ा भारी भय समा जाता है ।। ३१ ।।

आब्रह्मभवनादेते दोषा मौद्गल्य दारुणाः ।
नाकलोके सुकृतिनां गुणास्त्वयुतशो नृणाम् ।। ३२ ।।

मौद्गल्य! ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने लोक हैं, उन सबमें ये भयंकर दोष देखे जाते हैं। स्वर्गलोकमें रहते समय तो पुण्यात्मा पुरुषोंमें सहस्रों गुण होते हैं ।। ३२ ।।

अयं त्वन्यो गुणः श्रेष्ठश्च्युतानां स्वर्गतो मुने ।
शुभानुशययोगेन मनुष्येषूपजायते ।। ३३ ।।

मुने! परंतु वहाँसे भ्रष्ट हुए जीवोंका भी यह एक अन्य श्रेष्ठ गुण देखा जाता है कि वे अपने शुभ कर्मों-के संस्कारसे युक्त होनेके कारण मनुष्ययोनिमें ही जन्म पाते हैं ।। ३३ ।।

तत्रापि स महाभागः सुखभागभिजायते ।
न चेत् सम्बुध्यते तत्र गच्छत्यधमतां ततः ।। ३४ ।।

वहाँ भी वह महाभाग मानव सुखके साधनोंसे सम्पन्न होकर ही उत्पन्न होता है। परंतु यदि मानवयोनिमें वह अपने कर्तव्यको न समझे, तो उससे भी नीची योनिमें चला जाता है ।। ३४ ।।

इह यत् क्रियते कर्म तत् परत्रोपभुज्यते ।
कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमिरसौ मता ।। ३५ ।।

इस मनुष्यलोकमें मानव-शरीरद्वारा जो कर्म किया जाता है, उसीको परलोकमें भोगा जाता है। ब्रह्मन्! यह कर्मभूमि और वह फलभोगकी भूमि मानी गयी है ।। ३५ ।।

मुद्गल उवाच

महान्तस्तु अमी दोषास्त्वया स्वर्गस्य कीर्तिताः ।
निर्दोष एव यस्त्वन्यो लोकं तं प्रवदस्व मे ।। ३६ ।।

मुद्‍गल बोले—देवदूत! तुमने स्वर्गके महान् दोष बताये, परंतु स्वर्गकी अपेक्षा यदि कोई दूसरा लोक इन दोषोंसे सर्वथा रहित हो तो मुझसे उसीका वर्णन करो ।।

देवदूत उवाच

ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं तद् विष्णोः परमं पदम् ।
शुद्धं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति यद् विदुः ।। ३७ ।।

देवदूतने कहा—ब्रह्माजीके भी लोकसे ऊपर भगवान् विष्णुका परम धाम है। वह शुद्ध सनातन ज्योतिर्मय लोक है। उसे परब्रह्म भी कहते हैं ।। ३७ ।।

न तत्र विप्र गच्छन्ति पुरुषा विषयात्मकाः ।
दम्भलोभमहाक्रोधमोहद्रोहैरभिद्रुताः ।। ३८ ।।

विप्रवर! जिनका मन विषयोंमें रचा-पचा रहता है, वे लोग वहाँ नहीं जा सकते। दम्भ, लोभ, महाक्रोध, मोह और द्रोहसे युक्त मनुष्य भी वहाँ नहीं पहुँच सकते ।। ३८ ।।

निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वाः संयतेन्द्रियाः ।
ध्यानयोगपराश्चैव तत्र गच्छन्ति मानवाः ।। ३९ ।।

जो ममता और अहंकारसे रहित, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे ऊपर उठे हुए, जितेन्द्रिय तथा ध्यानयोगमें तत्पर हैं, वे मनुष्य ही उस लोकमें जा सकते हैं ।। ३९ ।।

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां पृच्छसि मुद्‍गल ।
तवानुकम्पया साधो साधु गच्छाम मा चिरम् ।। ४० ।।

मुद्‍गल! तुमने जो कुछ मुझसे पूछा था, वह सब मैंने कह सुनाया। साधो! अब आपकी कृपासे हमलोग सुखपूर्वक स्वर्गकी यात्रा करें, विलम्ब नहीं होना चाहिये ।। ४० ।।

व्यास उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु मौद्‍गल्यो वाक्यं विममृशे धिया ।
विमृश्य च मुनिश्रेष्ठो देवदूतमुवाच ह ।। ४१ ।।

व्यासजी कहते हैं—राजन्! देवदूतकी यह बात सुनकर मुनिश्रेष्ठ मुद्‍गलने उसपर बुद्धिपूर्वक विचार किया। विचार करके उन्होंने देवदूतसे कहा— ।। ४१ ।।

देवदूत नमस्तेऽस्तु गच्छ तात यथासुखम् ।
महादोषेण मे कार्यं न स्वर्गेण सुखेन वा ।। ४२ ।।

‘देवदूत! तुम्हें नमस्कार है। तात! तुम सुखपूर्वक पधारो। स्वर्ग अथवा वहाँका सुख महान् दोषसे युक्त है; इसलिये मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है ।। ४२ ।।

पतनान्ते महद् दुःखं परितापः सुदारुणः ।
स्वर्गभाजश्चरन्तीह तस्मात् स्वर्गं न कामये ।। ४३ ।।

'ओह! पतनके बाद तो स्वर्गवासी मनुष्योंको अत्यन्त भयंकर महान् दुःख और अनुताप होता है और फिर वे इसी लोकमें विचरते रहते हैं; इसलिये मुझे स्वर्गमें जानेकी इच्छा नहीं है ।। ४३ ।।

यत्र गत्वा न शोचन्ति न व्यथन्ति चलन्ति वा ।
तदहं स्थानमत्यन्तं मार्गयिष्यामि केवलम् ।। ४४ ।।

'जहाँ जाकर मनुष्य कभी शोक नहीं करते, व्यथित नहीं होते तथा जहाँसे विचलित नहीं होते हैं। केवल उसी अक्षय धामका मैं अनुसंधान करूँगा' ।। ४४ ।।

इत्युक्त्वा स मुनिर्वाक्यं देवदूतं विसृज्य तम् ।
शिलोञ्छवृत्तिर्धर्मात्मा शममातिष्ठदुत्तमम् ।। ४५ ।।

ऐसा कहकर मुद्गल मुनिने उस देवदूतको विदा कर दिया और शिल एवं उञ्छवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेवाले वे धर्मात्मा महर्षि उत्तम रीतिसे शम-दम आदि नियमोंका पालन करने लगे ।। ४५ ।।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्भूत्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
ज्ञानयोगेन शुद्धेन ध्याननित्यो बभूव ह ।। ४६ ।।

उनकी दृष्टिमें निन्दा और स्तुति समान हो गयी। वे मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझने लगे और विशुद्ध ज्ञानयोगके द्वारा नित्य ध्यानमें तत्पर रहने लगे ।।

ध्यानयोगाद् बलं लब्ध्वा प्राप्य बुद्धिमनुत्तमाम् ।
जगाम शाश्वतीं सिद्धिं परां निर्वाणलक्षणाम् ।। ४७ ।।

ध्यानसे (परम वैराग्यका) बल पाकर उन्हें उत्तम बोध प्राप्त हुआ और उसके द्वारा उन्होंने सनातन मोक्षरूपा परम सिद्धि प्राप्त कर ली ।। ४७ ।।

तस्मात् त्वमपि कौन्तेय न शोकं कर्तुमर्हसि ।
राज्यात् स्फीतात् परिभ्रष्टस्तपसा तदवाप्स्यसि ।। ४८ ।।

कुन्तीनन्दन! इसलिये तुम भी समृद्धिशाली राज्यसे भ्रष्ट होनेके कारण शोक न करो; तपस्याद्वारा तुम उसे प्राप्त कर लोगे ।। ४८ ।।

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
पर्यायेणोपसर्पन्ते नरं नेमिमरा इव ।। ४९ ।।

मनुष्यपर सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख बारी-बारीसे आते रहते हैं। जैसे अरे नेमिसे जुड़े हुए ऊँचे-नीचे आते रहते हैं, वैसे ही मनुष्यका दुःख-सुखसे सम्बन्ध होता रहता है ।। ४९ ।।

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्स्यस्यमितविक्रम ।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं व्येतु ते मानसो ज्वरः ।। ५० ।।

अमितपराक्रमी युधिष्ठिर! तुम तेरहवें वर्षके बाद अपने बाप-दादोंका राज्य प्राप्त कर लोगे, अतः अब तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ।। ५० ।।

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्त्वा भगवान् व्यासः पाण्डवनन्दनम् ।
जगाम तपसे धीमान् पुनरेवाश्रमं प्रति ।। ५१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! परम बुद्धिमान् भगवान् व्यास पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर तपस्याके लिये पुनः अपने आश्रमकी ओर चले गये ।। ५१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि व्रीहिद्रौणिकपर्वणि मुद्गलदेवदूतसंवादे एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २६१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत व्रीहिद्रौणिकपर्वमें मुद्गल-देवदूत-संवादविषयक दो सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६१ ।।

---

* मुद्गल ऋषिको ही ‘मौद्गल्य’ भी कहा है।

(द्रौपदीहरणपर्व)

द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका महर्षि दुर्वासाको आतिथ्यसत्कारसे संतुष्ट करके उन्हें युधिष्ठिरके पास भेजकर प्रसन्न होना

जनमेजय उवाच

वसत्स्वेवं वने तेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
रममाणेषु चित्राभिः कथाभिर्मुनिभिः सह ।। १ ।।
सूर्यदत्ताक्षयान्नेव कृष्णाया भोजनावधि ।
ब्राह्मणांस्तर्पमाणेषु ये चान्नार्थमुपागताः ।। २ ।।
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानः सर्वे दुर्योधनादयः ।
कथं तेष्वन्ववर्तन्त पापाचारा महामुने ।। ३ ।।
दुःशासनस्य कर्णस्य शकुनेश्च मते स्थिताः ।
एतदाचक्ष्व भगवन् वैशम्पायन पृच्छतः ।। ४ ।।

जनमेजयने पूछा—महामुनि वैशम्पायनजी! जब महात्मा पाण्डव इस प्रकार वनमें रहकर मुनियोंके साथ विचित्र कथा-वार्ताद्वारा मनोरञ्जन करते थे तथा जबतक द्रौपद्री भोजन न कर ले, तबतक सूर्यके दिये हुए अक्षयपात्रसे प्राप्त होनेवाले अन्नसे वे उन ब्राह्मणोंको तृप्त करते थे, जो भोजनके लिये उनके पास आये होते थे; उन दिनों दुःशासन, कर्ण और शकुनिके मतके अनुसार चलनेवाले पापाचारी दुरात्मा दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रपुत्रोंने उन पाण्डवोंके साथ कैसा बर्ताव किया? भगवन्! मेरे प्रश्नके अनुसार ये सब बातें कहिये ।। १—४ ।।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तेषां तथा वृत्तिं नगरे वसतामिव ।
दुर्योधनो महाराज तेषु पापमरोचयत् ।। ५ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज! जब दुर्योधनने सुना कि पाण्डवलोग तो वनमें भी उसी प्रकार दान-पुण्य करते हुए आनन्दसे रह रहे हैं, जैसे नगरके निवासी रहा करते हैं, तब उसने उनका अनिष्ट करनेका विचार किया ।। ५ ।।

तथा तैर्निकृतिप्रज्ञैः कर्णदुःशासनादिभिः ।

नानोपायैरघं तेषु चिन्तयत्सु दुरात्मसु ।। ६ ।।
अभ्यागच्छत् स धर्मात्मा तपस्वी सुमहायशाः ।
शिष्यायुतसमोपेतो दुर्वासा नाम कामतः ।। ७ ।।

इस प्रकार सोचकर छल-कपटकी विद्यामें निपुण कर्ण और दुःशासन आदिके साथ जब वे दुरात्मा धृतराष्ट्र-पुत्र भाँति-भाँतिके उपायोंसे पाण्डवोंको संकटमें डालनेकी युक्तिका विचार कर रहे थे, उसी समय महायशस्वी धर्मात्मा तपस्वी महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्योंको साथ लिये हुए वहाँ स्वेच्छासे ही आ पहुँचे ।। ६-७ ।।

तमागतमभिप्रेक्ष्य मुनिं परमकोपनम् ।
दुर्योधनो विनीतात्मा प्रश्रयेण दमेन च ।। ८ ।।
सहितो भ्रातृभिः श्रीमानातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ।

परम क्रोधी दुर्वासा मुनिको आया देख भाइयों-सहित श्रीमान् राजा दुर्योधनने अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखकर नम्रतापूर्वक विनीतभावसे उन्हें अतिथिसत्कारके रूपमें निमन्त्रित किया ।। ८½ ।।

विधिवत् पूजयामास स्वयं किङ्करवत् स्थितः ।। ९ ।।
अहानि कतिचित् तत्र तस्थौ स मुनिसत्तमः ।

दुर्योधनने स्वयं दासकी भाँति उनकी सेवामें खड़े रहकर विधिपूर्वक उनकी पूजा की। मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा कई दिनोंतक वहाँ ठहरे रहे ।। ९½ ।।

तं च पर्यचरद् राजा दिवारात्रमतन्द्रितः ।। १० ।।
दुर्योधनो महाराज शापात् तस्य विशङ्कितः ।

महाराज जनमेजय! राजा दुर्योधन (श्रद्धासे नहीं, अपितु) उनके शापसे डरता हुआ दिन-रात आलस्य छोड़कर उनकी सेवामें लगा रहा ।। १०½ ।।

क्षुधितोऽस्मि ददस्वान्नं शीघ्रं मम नराधिप ।। ११ ।।
इत्युक्त्वा गच्छति स्नातुं प्रत्यागच्छति वै चिरात् ।
न भोक्ष्याम्यद्य मे नास्ति क्षुधेत्युक्त्वैत्यदर्शनम् ।। १२ ।।

वे मुनि कभी कहते कि 'राजन्! मैं बहुत भूखा हूँ, मुझे शीघ्र भोजन दो' ऐसा कहकर वे स्नान करनेके लिये चले जाते और बहुत देरके बाद लौटते थे। लौटकर वे कह देते—'मैं नहीं खाऊँगा; आज मुझे भूख नहीं है' ऐसा कहकर अदृश्य हो जाते थे ।। ११-१२ ।।

अकस्मादेत्य च ब्रूते भोजयास्मांस्त्वरान्वितः ।
कदाचिच्च निशीथे स उत्थाय निकृतौ स्थितः ।। १३ ।।
पूर्ववत् कारयित्वान्नं न भुङ्क्ते गर्हयन् स्म सः ।

फिर कहींसे अकस्मात् आकर कहते—'हमलोगोंको जल्दी भोजन कराओ।' कभी आधी रातमें उठकर उसे नीचा दीखानेके लिये उद्यत हो पूर्ववत् भोजन बनवाकर उस भोजनकी निन्दा करते हुए भोजन करनेसे इनकार कर देते थे ।। १३½ ।।

वर्तमाने तथा तस्मिन् यदा दुर्योधनो नृपः ।। १४ ।।
विकृतिं नैति न क्रोधं तदा तुष्टोऽभवन्मुनिः ।
आह चैनं दुराधर्षो वरदोऽस्मीति भारत ।। १५ ।।

भारत! ऐसा उन्होंने कई बार किया, तो भी जब राजा दुर्योधनके मनमें विकार या क्रोध नहीं उत्पन्न हुआ, तब वे दुर्धर्ष मुनि उसपर बहुत प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—'मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ' ।। १४-१५ ।।

दुर्वासा उवाच

वरं वरय भद्रं ते यत् ते मनसि वर्तते ।
मयि प्रीते तु यद् धर्म्यं नालभ्यं विद्यते तव ।। १६ ।।

दुर्वासा बोले—राजन्! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे मनमें जो इच्छा हो, उसके लिये वर माँगो। मेरे प्रसन्न होनेपर जो धर्मानुकूल वस्तु होगी, वह तुम्हारे लिये अलभ्य नहीं रहेगी ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
अमन्यत पुनर्जातमात्मानं स सुयोधनः ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि दुर्वासाका यह वचन सुनकर दुर्योधनने मन-ही-मन ऐसा समझा, मानो उसका नया जन्म हुआ हो ।। १७ ।।

प्रागेव मन्त्रितं चासीत् कर्णदुःशासनादिभिः ।
याचनीयं मुनेस्तुष्टादिति निश्चित्य दुर्मतिः ।। १८ ।।
अतिहर्षान्वितो राजन् वरमेनमयाचत ।
शिष्यैः सह मम ब्रह्मन् यथा जातोऽतिथिर्भवान् ।। १९ ।।
अस्मत्कुले महाराजो ज्येष्ठः श्रेष्ठो युधिष्ठिरः ।
वने वसति धर्मात्मा भ्रातृभिः परिवारितः ।। २० ।।
गुणवान् शीलसम्पन्नस्तस्य त्वमतिथिर्भव ।

मुनि संतुष्ट हों, तो क्या माँगना चाहिये, इस बातके लिये कर्ण और दुःशासन आदिके साथ उसकी पहलेसे ही सलाह हो चुकी थी। राजन्! उसी निश्चयके अनुसार दुर्बुद्धि दुर्योधनने अत्यन्त प्रसन्न होकर यह वर माँगा—'ब्रह्मन्! हमारे कुलमें महाराज युधिष्ठिर सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। इस समय वे धर्मात्मा पाण्डुकुमार अपने भाइयोंके साथ वनमें निवास करते हैं। युधिष्ठिर बड़े गुणवान् और सुशील हैं। जिस प्रकार आप मेरे अतिथि हुए, उसी तरह शिष्योंके सहित आप उनके भी अतिथि होइये ।। १८—२०½ ।।

यदा च राजपुत्री सा सुकुमारी यशस्विनी ।। २१ ।।

भोजयित्वा द्विजान् सर्वान् पतींश्च वरवर्णिनी ।
विश्रान्ता च स्वयं भुक्त्वा सुखासीना भवेद् यदा ।। २२ ।।
तदा त्वं तत्र गच्छेथा यद्यनुग्राह्यता मयि ।

'यदि आपकी मुझपर कृपा हो तो मेरी प्रार्थनासे आप वहाँ ऐसे समयमें जाइयेगा, जब परम सुन्दरी यशस्विनी सुकुमारी राजकुमारी द्रौपदी समस्त ब्राह्मणों तथा पाँचों पतियोंको भोजन कराकर स्वयं भी भोजन करनेके पश्चात् सुखपूर्वक बैठकर विश्रास कर रही हो' ।। २१-२२½ ।।

तथा करिष्ये त्वत्प्रीत्येत्येवमुक्त्वा सुयोधनम् ।। २३ ।।
दुर्वासा अपि विप्रेन्द्रो यथागतमगात् ततः ।
कृतार्थमपि चात्मानं तदा मेने सुयोधनः ।। २४ ।।

'तुमपर प्रेम होनेके कारण मैं वैसा ही करूँगा', दुर्योधनसे ऐसा कहकर विप्रवर दुर्वासा जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। उस समय दुर्योधनने अपने-आपको कृतार्थ माना ।। २३-२४ ।।

करेण च करं गृह्य कर्णस्य मुदितो भृशम् ।
कर्णोऽपि भ्रातृसहितमित्युवाच नृपं मुदा ।। २५ ।।

वह कर्णका हाथ अपने हाथमें लेकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। कर्णने भी भाइयोंसहित राजा दुर्योधनसे बड़े हर्षके साथ इस प्रकार कहा ।। २५ ।।

कर्ण उवाच

दिष्टया कामः सुसंवृत्तो दिष्टया कौरव वर्धसे ।
दिष्टया ते शत्रवो मग्ना दुस्तरे व्यसनार्णवे ।। २६ ।।

कर्ण बोला—कुरुनन्दन! सौभाग्यसे हमारा काम बन गया। तुम्हारा अभ्युदय हो रहा है, यह भी भाग्यकी ही बात है। तुम्हारे शत्रु विपत्तिके अपार महासागरमें डूब गये, यह कितने सौभाग्यकी बात है? ।। २६ ।।

दुर्वासःक्रोधजे वह्नौ पतिताः पाण्डुनन्दनाः ।
स्वैरेव ते महापापैर्गता वै दुस्तरं तमः ।। २७ ।।

पाण्डव दुर्वासाकी क्रोधाग्निमें गिर गये हैं और अपने ही महापापोंके कारण वे दुस्तर नरकमें जा पड़े हैं ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्थं ते निकृतिप्रज्ञा राजन् दुर्योधनादयः ।
हसन्तः प्रीतमनसो जग्मुः स्वं स्वं निकेतनम् ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! छल-कपटकी विद्यामें प्रवीण दुर्योधन आदि इस प्रकार बातें करते और हँसते हुए प्रसन्न मनसे अपने-अपने भवनोंमें गये ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि दुर्वासउपाख्याने द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २६२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें दुर्वासाका उपाख्यानविषयक दो सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६२ ।।

त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दुर्वासाका पाण्डवोंके आश्रमपर असमयमें आतिथ्यके लिये जाना, द्रौपदीके द्वारा स्मरण किये जानेपर भगवान्‌का प्रकट होना तथा पाण्डवोंको दुर्वासाके भयसे मुक्त करना और उनको आश्वासन देकर द्वारका जाना

वैशम्पायन उवाच

ततः कदाचिद् दुर्वासाः सुखासीनांस्तु पाण्डवान् ।
भुक्त्वा चावस्थितां कृष्णां ज्ञात्वा तस्मिन् वने मुनिः ।। १ ।।
अभ्यागच्छत् परिवृतः शिष्यैरयुतसम्मितैः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर एक दिन महर्षि दुर्वासा इस बातका पता लगाकर कि पाण्डवलोग भोजन करके सुखपूर्वक बैठे हैं और द्रौपदी भी भोजनसे निवृत्त हो आराम कर रही है, दस हजार शिष्योंसे घिरे हुए उस वनमें आये ।। १½ ।।

दृष्ट्वाऽऽयान्तं तमतिथिं स च राजा युधिष्ठिरः ।। २ ।।
जगामाभिमुखः श्रीमान् सह भ्रातृभिरच्युतः ।
तस्मै बद्ध्वाञ्जलिं सम्यगुपवेश्य वरासने ।। ३ ।।
विधिवत् पूजयित्वा तमातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ।
आह्निकं भगवन् कृत्वा शीघ्रमेहीति चाब्रवीत् ।। ४ ।।

श्रीमान् राजा युधिष्ठिर अतिथिको आते देख भाइयोंसहित उनके सम्मुख गये। वे अपनी मर्यादासे कभी च्युत नहीं होते थे। उन्होंने उन अतिथिदेवताको लाकर श्रेष्ठ आसनपर आदरपूर्वक बैठाया और हाथ जोड़कर प्रणाम किया। फिर विधिपूर्वक पूजा करके उन्हें अतिथिसत्कारके रूपमें निमन्त्रित किया और कहा—‘भगवन्! अपना नित्य नियम पूरा करके (भोजनके लिये) शीघ्र पधारिये’ ।। २—४ ।।

जगाम च मुनिः सोऽपि स्नातुं शिष्यैः सहानघः ।
भोजयेत् सहशिष्यं मां कथमित्यविचिन्तयन् ।। ५ ।।
न्यमज्जत् सलिले चापि मुनिसङ्घः समाहितः ।

यह सुनकर वे निष्पाप मुनि अपने शिष्योंके साथ स्नान करनेके लिये चले गये। उन्होंने इस बातका तनिक भी विचार नहीं किया कि ये इस समय शिष्योंसहित मुझे भोजन कैसे दे सकेंगे। सारी मुनिमण्डलीने जलमें गोता लगाया, फिर सब लोग एकाग्रचित्त होकर ध्यान करने लगे ।। ५१/२ ।।

एतस्मिन्नन्तरे राजन् द्रौपदी योषितां वरा ।। ६ ।।
चिन्तामवाप परमामन्नहेतोः पतिव्रता ।

राजन्! इसी समय युवतियोंमें श्रेष्ठ पतिव्रता द्रौपदीको अन्नके लिये बड़ी चिन्ता हुई ।। ६१/२ ।।

सा चिन्तयन्ती च सदा नान्नहेतुमविन्दत ।। ७ ।।
मनसा चिन्तयामास कृष्णं कंसनिषूदनम् ।

जब बहुत सोचने-विचारनेपर भी उसे अन्न मिलनेका कोई उपाय नहीं सूझा, तब वह मन-ही-मन कंसनिकन्दन आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका स्मरण करने लगी— ।। ७१/२ ।।

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय ।। ८ ।।
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन ।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय ।। ९ ।।
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर ।
आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्तक नतास्मि ते ।। १० ।।

'हे कृष्ण! हे महाबाहु श्रीकृष्ण! हे देवकीनन्दन! हे अविनाशी वासुदेव! चरणोंमें पड़े हुए दुखियोंका दुःख दूर करनेवाले हे जगदीश्वर! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्‌के आत्मा हो। अविनाशी प्रभो! तुम्हीं इस विश्वकी उत्पत्ति और संहार करनेवाले हो। शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले गोपाल! तुम्हीं समस्त प्रजाका पालन करनेवाले परात्पर परमेश्वर हो। आकूति (मन) और चित्ति (बुद्धि)-के प्रेरक परमात्मन्! मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ ।। ८—१० ।।

वरेण्य वरदानन्त अगतीनां गतिर्भव ।
पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर ।। ११ ।।
सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता ।
पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल ।। १२ ।।

'सबके वरण करने योग्य वरदाता अनन्त! आओ। जिन्हें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई सहायता देनेवाला नहीं है, उन असहाय भक्तोंकी सहायता करो। पुराणपुरुष! प्राण और मनकी वृत्ति आदि तुम्हारे पासतक नहीं पहुँच सकती। सबके साक्षी परमात्मन्! मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ। शरणागतवत्सल देव! कृपा करके मुझे बचाओ' ।। ११-१२ ।।

नीलोत्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण ।
पीताम्बरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण ।। १३ ।।
त्वमादिरन्तो भूतानां त्वमेव च परायणम् ।
परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः ।। १४ ।।

'नीलकमलदलके समान श्यामसुन्दर! कमलपुष्पके भीतरी भागके समान किंचित् लाल नेत्रोंवाले पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण! तुम्हारे वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणिमय आभूषण शोभा पाता है। प्रभो! तुम्हीं समस्त प्राणियोंके आदि और अन्त हो। तुम्हीं सबके परम आश्रय हो। तुम्हीं परात्पर, ज्योतिर्मय सर्वात्मा एवं सब ओर मुखवाले परमेश्वर हो ।। १३-१४ ।।

त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसम्पदाम् ।
त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि ।। १५ ।।

'ज्ञानी पुरुष तुम्हें ही इस जगत्‌का परम बीज और सम्पूर्ण सम्पदाओंकी निधि बतलाते हैं। देवेश्वर! यदि तुम मेरे रक्षक हो तो मुझपर सारी विपत्तियाँ टूट पड़ें, तो भी मुझे उनसे भय नहीं है' ।। १५ ।।

दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा ।

तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ।। १६ ।।

'भगवन्! पहले कौरव-सभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकटसे भी मेरा उद्धार करो' ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं स्तुतस्तदा देवः कृष्णया भक्तवत्सलः ।
द्रौपद्याः संकटं ज्ञात्वा देवदेवो जगत्पतिः ।। १७ ।।
पार्श्वस्थां शयने त्यक्त्वा रुक्मिणीं केशवः प्रभुः ।
तत्राजगाम त्वरितो ह्यचिन्त्यगतिरीश्वरः ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रौपदीके इस प्रकार स्तुति करनेपर अचिन्त्यगति परमेश्वर देवाधिदेव जगन्नाथ भक्तवत्सल भगवान् केशवको यह मालूम हो गया कि द्रौपदीपर कोई संकट आ गया है, फिर तो शय्यापर अपने पास ही सोयी हुई रुक्मिणीको छोड़कर तुरंत वहाँ आ पहुँचे ।। १७-१८ ।।

ततस्तं द्रौपदी दृष्ट्वा प्रणम्य परया मुदा ।
अब्रवीद् वासुदेवाय मुनेरागमनादिकम् ।। १९ ।।

भगवान्‌को आया देख द्रौपदीको बड़ा आनन्द हुआ। उसने उन्हें प्रणाम करके दुर्वासा मुनिके आने आदिका सारा समाचार कह सुनाया ।। १९ ।।

ततस्तामब्रवीत् कृष्णः क्षुधितोऽस्मि भृशातुरः ।
शीघ्रं भोजय मां कृष्णे पश्चात् सर्वं करिष्यसि ।। २० ।।
निशम्य तद्वचः कृष्णा लज्जिता वाक्यमब्रवीत् ।
स्थाल्यां भास्करदत्तायामन्नं मद्भोजनावधि ।। २१ ।।
भुक्तवत्यस्म्यहं देव तस्मादन्नं न विद्यते ।

तब भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदीसे कहा—'कृष्णे! इस समय मुझे बड़ी भूख लगी है; मैं भूखसे अत्यन्त पीड़ित हो रहा हूँ। पहले मुझे जल्दी भोजन करा; फिर सारा प्रबन्ध करती रहना।' उनकी यह बात सुनकर द्रौपदीको बड़ी लज्जा हुई। वह बोली—'भगवन्! सूर्यनारायणकी दी हुई बटलोईसे तभीतक भोजन मिलता है जबतक मैं भोजन न कर लूँ। देव! आज तो मैं भी भोजन कर चुकी हूँ; अतः अब उसमें अन्न नहीं रह गया है' ।। २०-२१ १/२ ।।

ततः प्रोवाच भगवान् कृष्णां कमललोचनः ।। २२ ।।
कृष्णे न नर्मकालोऽयं क्षुच्छ्रमेणातुरे मयि ।
शीघ्रं गच्छ मम स्थालीमानीय त्वं प्रदर्शय ।। २३ ।।
इति निर्बन्धतः स्थालीमानाय्य स यदूद्वहः ।
स्थाल्याः कण्ठेऽथ संलग्नं शाकान्नं वीक्ष्य केशवः ।। २४ ।।

उपयुज्याब्रवीदेनामनेन हरिरीश्वरः ।
विश्वात्मा प्रीयतां देवस्तुष्टश्चास्त्विति यज्ञभुक् ।। २५ ।।

यह सुनकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने द्रौपदीसे फिर कहा—'कृष्णे! मैं तो भूख और थकावटसे आतुर हो रहा हूँ और तुझे हँसी सूझती है। यह परिहासका समय नहीं है। जल्दी जा और बटलोई लाकर मुझे दिखा। इस प्रकार हठ करके भगवान्ने द्रौपदीसे बटलोई मँगवायी। उसके गलेमें जरा-सा साग लगा हुआ था। उसे देखकर श्रीकृष्णने लेकर खा लिया और द्रौपदीसे कहा—'इस सागसे सम्पूर्ण विश्वके आत्मा यज्ञभोक्ता सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि तृप्त और संतुष्ट हों' ।। २२-२५ ।।

आकारय मुनीन् शीघ्रं भोजनायेति चाब्रवीत् ।
सहदेवं महाबाहुः कृष्णः क्लेशविनाशनः ।। २६ ।।

इतना कहकर सबका क्लेश दूर करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण सहदेवसे बोले—'तुम शीघ्र जाकर मुनियोंको भोजनके लिये बुला लाओ' ।। २६ ।।

ततो जगाम त्वरितः सहदेवो महायशाः ।
आकारितुं तु तान् सर्वान् भोजनार्थं नृपोत्तम ।। २७ ।।
स्नातुं गतान् देवनद्यां दुर्वासः प्रभृतीन् मुनीन् ।

नृपश्रेष्ठ! तब महायशस्वी सहदेव देवनदीमें स्नानके लिये गये हुए उन दुर्वासा आदि सब मुनियोंको भोजनके निमित्त बुलानेके लिये तुरंत गये ।। २७½ ।।

ते चावतीर्णाः सलिले कृतवन्तोऽघमर्षणम् ।। २८ ।।
दृष्ट्वोद्‌गारान् सान्नरसांस्तृप्त्या परमया युताः ।
उत्तीर्य सलिलात् तस्माद् दृष्टवन्तः परस्परम् ।। २९ ।।
दुर्वाससमभिप्रेक्ष्य ते सर्वे मुनयोऽब्रुवन् ।
राज्ञा हि कारयित्वान्नं वयं स्नातुं समागताः ।। ३० ।।
आकण्ठतृप्ता विप्रर्षे किंस्विद् भुञ्जामहे वयम् ।
वृथा पाकः कृतोऽस्माभिस्तत्र किं करवामहे ।। ३१ ।।

वे मुनिलोग उस समय जलमें उतरकर अघमर्षण मन्त्रका जप कर रहे थे। सहसा उन्हें पूर्ण तृप्तिका अनुभव हुआ; बार-बार अन्नरससे युक्त डकारें आने लगीं। यह देखकर वे जलसे बाहर निकले और आपसमें एक-दूसरेकी ओर देखने लगे। (सबकी एक-सी अवस्था हो रही थी।) वे सभी मुनि दुर्वासाकी ओर देखकर बोले—‘ब्रह्मर्षे! हमलोग राजा युधिष्ठिरको रसोई बनवानेकी आज्ञा देकर स्नान करनेके लिये आये थे, परंतु इस समय इतनी तृप्ति हो रही है कि कण्ठतक अन्न भरा हुआ जान पड़ता है। अब हम कैसे भोजन करेंगे? हमने जो रसोई तैयार करवायी है, वह व्यर्थ होगी। उसके लिये हमें क्या करना चाहिये’ ।। २८—३१ ।।

दुर्वासा उवाच

वृथा पाकेन राजर्षेरपराधः कृतो महान् ।
मास्मानधाक्षुर्दृष्ट्वैव पाण्डवाः क्रूरचक्षुषा ।। ३२ ।।
स्मृत्वानुभावं राजर्षेरम्बरीषस्य धीमतः ।
बिभेमि सुतरां विप्रा हरिपादाश्रयाज्जनात् ।। ३३ ।।
पाण्डवाश्च महात्मानः सर्वे धर्मपरायणाः ।
शूराश्च कृतविद्याश्च व्रतिनस्तपसि स्थिताः ।। ३४ ।।
सदाचाररता नित्यं वासुदेवपरायणाः ।
क्रुद्धास्ते निर्दहेयुर्वै तूलराशिमिवानलः ।
तत एतानपृष्ट्वैव शिष्याः शीघ्रं पलायत ।। ३५ ।।

दुर्वासा बोले—वास्तवमें व्यर्थ ही रसोई बनवाकर हमने राजर्षि युधिष्ठिरका महान् अपराध किया है। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डव क्रूर दृष्टिसे देखकर हमें भस्म कर दें। ब्राह्मणो! परम बुद्धिमान् राजा अम्बरीषके प्रभावको याद करके मैं उन भक्तजनोंसे सदा डरता रहता हूँ, जिन्होंने भगवान् श्रीहरिके चरणोंका आश्रय ले रखा है। सब पाण्डव महामना, धर्मपरायण, विद्वान्, शूरवीर, व्रतधारी तथा तपस्वी हैं। वे सदा सदाचारपरायण तथा भगवान् वासुदेवको अपना परम आश्रय माननेवाले हैं। पाण्डव कुपित होनेपर हमको

उसी प्रकार भस्म कर सकते हैं, जैसे रूईके ढेरको आग। अतः शिष्यो! पाण्डवोंसे बिना पूछे ही तुरंत भाग चलो ।। ३२—३५ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तास्ते द्विजाः सर्वे मुनिना गुरुणा तदा ।
पाण्डवेभ्यो भृशं भीता दुद्रुवुस्ते दिशो दश ।। ३६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गुरु दुर्वासा मुनिके ऐसा कहनेपर वे सब ब्राह्मण पाण्डवोंसे अत्यन्त भयभीत हो दसों दिशाओंमें भाग गये ।। ३६ ।।

सहदेवो देवनद्यामपश्यन् मुनिसत्तमान् ।
तीर्थेष्वितस्ततस्तस्या विचचार गवेषयन् ।। ३७ ।।

सहदेवने जब देवनदीमें उन श्रेष्ठ मुनियोंको नहीं देखा, तब वे वहाँके तीर्थोंमें इधर-उधर खोजते हुए विचरने लगे ।। ३७ ।।

तत्रस्थेभ्यस्तापसेभ्यः श्रुत्वा तांश्चैव विद्रुतान् ।
युधिष्ठिरमथाभ्येत्य तं वृत्तान्तं न्यवेदयत् ।। ३८ ।।

वहाँ रहनेवाले तपस्वी मुनियोंके मुखसे उनके भागनेका समाचार सुनकर सहदेव युधिष्ठिरके पास लौट आये और सारा वृत्तान्त उनसे निवेदन कर दिया ।। ३८ ।।

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे प्रत्यागमनकाङ्‌क्षिणः ।
प्रतीक्षन्तः कियत्कालं जितात्मानोऽवतस्थिरे ।। ३९ ।।

तदनन्तर मनको वशमें करनेवाले सब पाण्डव उनके लौट आनेकी आशासे कुछ देरतक उनकी प्रतीक्षा करते रहे ।। ३९ ।।

निशीथेऽभ्येत्य चाकस्मादस्मान् स छलयिष्यति ।
कथं च निस्तरे मास्मात् कृच्छ्राद् दैवोपसादितात् ।। ४० ।।
इति चिन्तापरान् दृष्ट्वा निःश्वसन्तो मुहुर्मुहुः ।
उवाच वचनं श्रीमान् कृष्णः प्रत्यक्षतां गतः ।। ४१ ।।

पाण्डव सोचने लगे—‘दुर्वासा मुनि अकस्मात् आधी रातको आकर हमें छलेंगे। दैववश प्राप्त हुए इस महान् संकटसे हमारा उद्धार कैसे होगा?’ इसी चिन्तामें पड़कर वे बारंबार लंबी साँसें खींचने लगे। उनकी यह दशा देखकर भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिर आदि अन्य सब पाण्डवोंको प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा ।। ४०-४१ ।।

श्रीकृष्ण उवाच

भवतामापदं ज्ञात्वा ऋषेः परमकोपनात् ।
द्रौपद्या चिन्तितः पार्था अहं सत्वरमागतः ।। ४२ ।।
न भयं विद्यते तस्मादृषेर्दुर्वाससोऽल्पकम् ।
तेजसा भवतां भीतः पूर्वमेव पलायितः ।। ४३ ।।

श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीकुमारो! परम क्रोधी महर्षि दुर्वासासे आपलोगोंपर संकट आता जानकर द्रौपदीने मेरा स्मरण किया था, इसीलिये मैं तुरंत यहाँ आ पहुँचा। अब आपलोगोंको दुर्वासा मुनिसे तनिक भी भय नहीं है। वे आपके तेजसे डरकर पहले ही भाग गये हैं ।।

धर्मनित्यास्तु ये केचिन्न ते सीदन्ति कर्हिचित् ।
आपृच्छे वो गमिष्यामि नियतं भद्रमस्तु वः ।। ४४ ।।

जो लोग सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं, वे कभी कष्टमें नहीं पड़ते। अब मैं आपलोगोंसे जानेके लिये आज्ञा चाहता हूँ। यहाँसे द्वारकापुरीको जाऊँगा। आपलोगोंका निरन्तर कल्याण हो ।। ४४ ।।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वेरितं केशवस्य बभूवुः स्वस्थमानसाः ।
द्रौपद्या सहिताः पार्थास्तमूचुर्विगतज्वराः ।। ४५ ।।
त्वया नाथेन गोविन्द दुस्तरामापदं विभो ।
तीर्णाः प्लवमिवासाद्य मज्जमाना महार्णवे ।। ४६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर द्रौपदीसहित पाण्डवोंका चित्त स्वस्थ हुआ। उनकी सारी चिन्ता दूर हो गयी और वे भगवान्से इस प्रकार बोले—'विभो! गोविन्द! तुम्हें अपना सहायक और संरक्षक पाकर हम बड़ी-बड़ी दुस्तर विपत्तियोंसे उसी प्रकार पार हुए हैं, जैसे महासागरमें डूबते हुए मनुष्य जहाजका सहारा पाकर पार हो जाते हैं ।। ४५-४६ ।।

स्वस्ति साधय भद्रं ते इत्याज्ञातो ययौ पुरीम् ।

'तुम्हारा कल्याण हो। इसी प्रकार भक्तोंका हित-साधन किया करो।' पाण्डवोंके इस प्रकार कहनेपर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकापुरीको चले गये ।। ४६½ ।।

पाण्डवाश्च महाभाग द्रौपद्या सहिताः प्रभो ।। ४७ ।।
ऊषुः प्रहृष्टमनसो विहरन्तो वनाद् वनम् ।

महाभाग जनमेजय! तत्पश्चात् द्रौपदीसहित पाण्डव प्रसन्नचित्त हो वहाँ एक वनसे दूसरे वनमें भ्रमण करते हुए सुखसे रहने लगे ।। ४७½ ।।

इति तेऽभिहितं राजन् यत् पृष्टोऽहमिह त्वया ।। ४८ ।।
एवंविधान्यलीकानि धार्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः ।
पाण्डवेषु वनस्थेषु प्रयुक्तानि वृथाभवन् ।। ४९ ।।

राजन्! यहाँ तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने तुम्हें बतला दिया। इस प्रकार दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंने वनवासी पाण्डवोंपर अनेक बार छल-कपटका प्रयोग किया, परंतु वह सब व्यर्थ हो गया ।। ४८-४९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि दुर्वासउपाख्याने त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २६३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें दुर्वासाकी कथाविषयक दो सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६३ ।।

चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जयद्रथका द्रौपदीको देखकर मोहित होना और उसके पास कोटिकास्यको भेजना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् बहुमृगेऽरण्ये अटमाना महारथाः ।
काम्यके भरतश्रेष्ठा विजह्रुस्ते यथामराः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! काम्यकवनमें नाना प्रकारके वन्य पशु रहते थे। वहाँ भरतकुलभूषण महारथी पाण्डव सब ओर घूमते हुए देवताओंके समान विहार करते थे ।। १ ।।

प्रेक्षमाणा बहुविधान् वनोद्देशान् समन्ततः ।
यथर्तुकालरम्याश्च वनराजीः सुपुष्पिताः ।। २ ।।

वे चारों ओर घूम-घूमकर नाना प्रकारके वन्य प्रदेशों तथा ऋतुकालके अनुसार भलीभाँति खिले हुए फूलोंसे सुशोभित रमणीय वनश्रेणियोंकी शोभा देखते थे ।। २ ।।

पाण्डवा मृगयाशीलाश्चरन्तस्तन्महद् वनम् ।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमाः कञ्चित् कालमरिंदम ।। ३ ।।

शत्रुदमन जनमेजय! पाण्डवलोग बाघ-चीते आदि हिंसक पशुओंका शिकार किया करते थे। देवराज इन्द्रके समान वे उस महान् वनमें विचरते हुए कुछ कालतक विहार करते रहे ।। ३ ।।

ततस्ते यौगपद्येन ययुः सर्वे चतुर्दिशम् ।
मृगयां पुरुषव्याघ्रा ब्राह्मणार्थे परंतपाः ।। ४ ।।
द्रौपदीमाश्रमे न्यस्य तृणबिन्दोरनुज्ञया ।
महर्षेर्दीप्ततपसो धौम्यस्य च पुरोधसः ।। ५ ।।

एक दिनकी बात है, शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह पाँचों पाण्डव उद्दीप्त तपस्वी पुरोहित धौम्य तथा महर्षि तृणबिन्दुकी आज्ञासे द्रौपदीको अकेली ही आश्रममें रखकर ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये हिंसक पशुओं-को मारने एक साथ चारों दिशाओंमें (अलग-अलग) चले गये ।। ४-५ ।।

ततस्तु राजा सिन्धूनां वार्द्धक्षत्रिर्महायशाः ।
विवाहकामः शाल्वेयान् प्रयातः सोऽभवत् तदा ।। ६ ।।
महता परिबर्हेण राजयोग्येन संवृतः ।
राजभिर्बहुभिः सार्धमुपायात् काम्यकं च सः ।। ७ ।।

उसी समय सिंधुदेशका महायशस्वी राजा जयद्रथ, जो वृद्धक्षत्रका पुत्र था, विवाहकी इच्छासे शाल्वदेशकी ओर जा रहा था। वह बहुमूल्य राजोचित ठाट-बाटसे सुसज्जित था। अनेक राजाओंके साथ यात्रा करता हुआ वह काम्यकवनमें आ पहुँचा ।। ६-७ ।।

तत्रापश्यत् प्रियां भार्यां पाण्डवानां यशस्विनीम् ।
तिष्ठन्तीमाश्रमद्वारि द्रौपदीं निर्जने वने ।। ८ ।।

वहाँ उसने पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी यशस्विनी द्रौपदीको दूरसे देखा, जो निर्जन वनमें अपने आश्रमके दरवाजेपर खड़ी थी ।। ८ ।।

विभ्राजमानां वपुषा बिभ्रतीं रूपमुत्तमम् ।
भ्राजयन्तीं वनोद्देशं नीलाभ्रमिव विद्युतम् ।। ९ ।।

वह परम सुन्दर रूप धारण किये अपनी अनुपम कान्तिसे उद्‌भासित हो रही थी और जैसे विद्युत् अपनी प्रभासे नीले मेघसमूहको प्रकाशित करती है, उसी प्रकार वह सुन्दरी अपनी अङ्गच्छटासे उस वनप्रान्तको सब ओरसे देदीप्यमान कर रही थी ।। ९ ।।

अप्सरा देवकन्या वा माया वा देवनिर्मिता ।
इति कृत्वाञ्जलिं सर्वे ददृशुस्तामनिन्दिताम् ।। १० ।।

जयद्रथ और उसके सभी साथियोंने उस अनिन्द्य सुन्दरीकी ओर देखा और वे हाथ जोड़कर मन-ही-मन यह विचार करने लगे—‘यह कोई अप्सरा है या देवकन्या अथवा देवताओंकी रची हुई माया है?’ ।। १० ।।

ततः स राजा सिन्धूनां वार्द्धक्षत्रिर्जयद्रथः ।
विस्मितस्त्वनवद्याङ्गीं दृष्ट्वा तां दुष्टमानसः ।। ११ ।।

निर्दोष अंगोंवाली उस सुन्दरीको देखकर वृद्धक्षत्र-कुमार सिन्धुराज जयद्रथ चकित रह गया। उसके मनमें दूषित भावनाका उदय हुआ ।। ११ ।।

स कोटिकास्यं राजानमब्रवीत् काममोहितः ।
कस्य त्वेषानवद्याङ्गी यदि वापि न मानुषी ।। १२ ।।

उसने काममोहित होकर राजा कोटिकास्यसे कहा—‘कोटिक! जरा जाकर पता तो लगाओ, यह सर्वांगसुन्दरी किसकी स्त्री है? अथवा यह मनुष्यजातिकी स्त्री है भी या नहीं? ।। १२ ।।

विवाहार्थो न मे कश्चिदिमां प्राप्यातिसुन्दरीम् ।
एतामेवाहमादाय गमिष्यामि स्वमालयम् ।। १३ ।।

‘इस अत्यन्त सुन्दरी रमणीको पाकर मुझे और किसीसे विवाह करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। इसीको लेकर मैं अपने घर लौट जाऊँगा ।। १३ ।।

गच्छ जानीहि सौम्येमां कस्य वात्र कुतोऽपि वा ।
किमर्थमागता सुभ्रूरिदं कण्टकितं वनम् ।। १४ ।।

'सौम्य! जाओ, पता लगाओ, यह किसकी स्त्री है और कहाँसे इस वनमें आयी है? यह सुन्दर भौंहोंवाली युवती काँटोंसे भरे हुए इस जंगलमें किसलिये आयी है? ।। १४ ।।

अपि नाम वरारोहा मामेषा लोकसुन्दरी ।
भजेदद्यायतापाङ्गी सुदती तनुमध्यमा ।। १५ ।।

'क्या यह मनोहर कटिप्रदेशवाली विश्वसुन्दरी मुझे अंगीकार करेगी? इसके नेत्रप्रान्त कितने विशाल हैं, दाँत कैसे सुन्दर हैं और शरीरका मध्यभाग कितना सूक्ष्म है? ।। १५ ।।

अप्यहं कृतकामः स्यामिमां प्राप्य वरस्त्रियम् ।
गच्छ जानीहि को न्वस्या नाथ इत्येव कोटिक ।। १६ ।।
स कोटिकास्यस्तच्छ्रुत्वा रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ।
उपेत्य पप्रच्छ तदा क्रोष्टा व्याघ्रवधूमिव ।। १७ ।।

'यदि मैं इस सुन्दरीको पा जाऊँ तो कृतार्थ हो जाऊँगा। कोटिक! जाओ और पता लगाओ कि इसका पति कौन है?' जयद्रथका यह वचन सुनकर कुण्डलमण्डित कोटिकास्य रथसे उतर पड़ा और जैसे गीदड़ बाघकी स्त्रीसे बात करे, उसी प्रकार उसने द्रौपदीके पास जाकर पूछा ।। १६-१७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथागमने चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २६४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें जयद्रथका आगमनविषयक दो सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६४ ।।

पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

कोटिकास्यका द्रौपदीसे जयद्रथ और उसके साथियोंका परिचय देते हुए उसका भी परिचय पूछना

कोटिक उवाच

का त्वं कदम्बस्य विनाम्य शाखा-
मेकाऽऽश्रमे तिष्ठसि शोभमाना ।
देदीप्यमानाग्निशिखेव नक्तं
व्याधूयमाना पवनेन सुभ्रूः ।। १ ।।

कोटिक बोला—सुन्दर भौंहोंवाली सुन्दरी! तुम कौन हो? जो कदम्बकी डाली झुकाकर उसके सहारे इस आश्रममें अकेली खड़ी हो, यहाँ तुम्हारी बड़ी शोभा हो रही है। जैसे रातमें वायुसे आन्दोलित अग्निकी ज्वाला देदीप्यमान दिखायी देती है, उसी प्रकार तुम भी इस आश्रममें अपनी प्रभा बिखेर रही हो ।। १ ।।

अतीव रूपेण समन्विता त्वं
न चाप्यरण्येषु बिभेषि किं नु ।
देवी नु यक्षी यदि दानवी वा
वराप्सरा दैत्यवराङ्गना वा ।। २ ।।

तुम बड़ी रूपवती हो। क्या इन जंगलोंमें भी तुम्हें डर नहीं लगता है? तुम किसी देवता, यक्ष, दानव अथवा दैत्यकी स्त्री तो नहीं हो या कोई श्रेष्ठ अप्सरा हो? ।। २ ।।

वपुष्मती वोरगराजकन्या
वनेचरी वा क्षणदाचरस्त्री ।
यद्येव राज्ञो वरुणस्य पत्नी
यमस्य सोमस्य धनेश्वरस्य ।। ३ ।।

क्या तुम दिव्यरूप धारण करनेवाली नागराजकुमारी हो अथवा वनमें विचरनेवाली किसी राक्षसकी पत्नी हो अथवा राजा वरुण, यमराज, चन्द्रमा एवं धनाध्यक्ष कुबेर—इनमेंसे किसीकी पत्नी हो? ।। ३ ।।

धातुर्विधातुः सवितुर्विभोर्वा
शक्रस्य वा त्वं सदनात् प्रपन्ना ।
न ह्येव नः पृच्छसि ये वयं स्म
न चापि जानीम तवेह नाथम् ।। ४ ।।

अथवा तुम धाता, विधाता, सविता, विभु या इन्द्रके भवनसे यहाँ आयी हो? न तो तुम्हीं हमारा परिचय पूछती हो और न हम ही यहाँ तुम्हारे पतिके विषयमें जानते हैं ।।

वयं हि मानं तव वर्धयन्तः
पृच्छाम भद्रे प्रभवं प्रभुं च ।
आचक्ष्व बन्धूंश्च पतिं कुलं च
तत्त्वेन यच्चेह करोषि कार्यम् ।। ५ ।।

भद्रे! हम तुम्हारा सम्मान बढ़ाते हुए तुम्हारे पिता और पतिका परिचय पूछ रहे हैं। तुम अपने बन्धु-बान्धव, पति और कुलका यथार्थ परिचय दो और यह भी बताओ कि तुम यहाँ कौन-सा कार्य करती हो? ।।

अहं तु राज्ञः सुरथस्य पुत्रो
यं कोटिकास्येति विदुर्मनुष्याः ।
असौ तु यस्तिष्ठति काञ्चनाङ्गे
रथे हुतोऽग्निश्चयने यथैव ।। ६ ।।
त्रिगर्तराजः कमलायताक्षि
क्षेमङ्करो नाम स एष वीरः ।

कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी! मैं राजा सुरथका पुत्र हूँ, जिसे साधारण जनता कोटिकास्यके नामसे जानती है और वे जो सुवर्णमय रथमें बैठे हैं तथा वेदीपर स्थापित एवं घीकी आहुति पड़नेसे प्रज्वलित हुए अग्निके समान प्रकाशित हो रहे हैं, त्रिगर्तदेशके राजा हैं। ये वीर क्षेमंकरके नामसे प्रसिद्ध हैं ।। ६½ ।।

अस्मात् परस्त्वेष महाधनुष्मान्
पुत्रः कुलिन्दाधिपतेर्वरिष्ठः ।। ७ ।।
निरीक्षते त्वां विपुलायताक्षः
सुपुष्पितः पर्वतवासनित्यः ।

इनके बाद जो ये महान् धनुष धारण किये सुन्दर फूलोंकी मालाएँ पहने विशाल नेत्रोंवाले वीर तुम्हें निहार रहे हैं, कुलिन्दराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं। वे सदा पर्वतपर ही निवास करते हैं ।। ७½ ।।

असौ तु यः पुष्करिणीसमीपे
श्यामो युवा तिष्ठति दर्शनीयः ।। ८ ।।
इक्ष्वाकुराज्ञः सुबलस्य पुत्रः
स एव हन्ता द्विषतां सुगात्रि ।

सुन्दराङ्गि! और वे जो पुष्करिणीके समीप श्यामवर्णके दर्शनीय नवयुवक खड़े हैं, इक्ष्वाकुवंशी राजा सुबलके पुत्र हैं। ये अकेले ही अपने शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं ।। ८½ ।।

यस्यानुचक्रं ध्वजिनः प्रयान्ति
सौवीरका द्वादश राजपुत्राः ।। ९ ।।
शोणाश्वयुक्तेषु रथेषु सर्वे
मखेषु दीप्ता इव हव्यवाहाः ।
अङ्गारकः कुञ्जरो गुप्तकश्च
शत्रुञ्जयः संजयसुप्रवृद्धौ ।। १० ।।
भयंकरोऽथ भ्रमरो रविश्च
शूरः प्रतापः कुहनश्च नाम ।
यं षट् सहस्रा रथिनोऽनुयान्ति
नागा हयाश्चैव पदातिनश्च ।। ११ ।।
जयद्रथो नाम यदि श्रुतस्ते
सौवीरराजः सुभगे स एषः ।

लाल रंगके घोड़ोंसे जुते हुए रथोंपर बैठकर यज्ञोंमें प्रज्वलित अग्निके समान सुशोभित होनेवाले अंगारक, कुञ्जर, गुप्तक, शत्रुञ्जय, संजय, सुप्रवृद्ध, भयंकर, भ्रमर, रवि, शूर, प्रताप तथा कुहन—सौवीरदेशके ये बारह राजकुमार जिनके रथके पीछे हाथमें ध्वजा लिये चलते हैं तथा छः हजार रथी, हाथी, घोड़े और पैदल जिनका अनुगमन करते हैं, उन सौवीरराज जयद्रथका नाम तुमने सुना होगा। सौभाग्यशालिनि! ये वे ही राजा जयद्रथ दिखायी दे रहे हैं ।। ९—११½ ।।

तस्यापरे भ्रातरोऽदीनसत्त्वा
बलाहकानीकविदारणाद्याः ।। १२ ।।

उनके दूसरे उदार हृदयवाले भाई बलाहक और अनीक—विदारण आदि भी उनके साथ हैं ।। १२ ।।

सौवीरवीराः प्रवरा युवानो
राजानमेते बलिनोऽनुयान्ति ।
एतैः सहायैरुपयाति राजा
मरुद्गणैरिन्द्र इवाभिगुप्तः ।। १३ ।।

सौवीरदेशके ये प्रमुख बलवान् नवयुवक वीर सदा राजा जयद्रथके साथ चलते हैं। राजा जयद्रथ इन सहायकोंसे सुरक्षित हो मरुद्गणोंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति यात्रा करते हैं ।। १३ ।।

अजानतां ख्यापय नः सुकेशि
कस्यासि भार्या दुहिता च कस्य ।। १४ ।।

सुकेशि! हम तुमसे सर्वथा अनजान हैं, अतः हमें भी अपना परिचय दो; तुम किसकी पत्नी और किसकी पुत्री हो? ।। १४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि कोटिकास्यप्रश्ने पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २६५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें कोटिकास्यका प्रश्नविषयक दो सौ पैसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६५ ।।

षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका कोटिकास्यको उत्तर

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीद् द्रौपदी राजपुत्री
पृष्टा शिबीनां प्रवरेण तेन ।
अवेक्ष्य मन्दं प्रविमुच्य शाखां
संगृह्णती कौशिकमुत्तरीयम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शिबिदेशके प्रमुख वीर कोटिकास्यके इस प्रकार पूछनेपर राजकुमारी द्रौपदी कदम्बकी वह डाली छोड़कर अपनी रेशमी ओढ़नीको सँभालती हुई संकोचपूर्वक उसकी ओर देखकर बोली— ।। १ ।।

बुद्ध्याभिजानामि नरेन्द्रपुत्र
न मादृशी त्वामभिभाष्टुमर्हति ।
न त्वेह वक्तास्ति तवेह वाक्य-
मन्यो नरो वाप्यथवापि नारी ।। २ ।।

'राजकुमार! मैं बुद्धिसे सोच-विचारकर भलीभाँति समझती हूँ कि मुझ-जैसी पतिपरायणा स्त्रीको तुम-जैसे पर पुरुषसे वार्तालाप नहीं करना चाहिये; परंतु यहाँ कोई दूसरा ऐसा पुरुष अथवा स्त्री नहीं है जो तुम्हारी बातका उत्तर दे सके ।। २ ।।

एका ह्यहं सम्प्रति तेन वाचं
ददामि वै भद्र निबोध चेदम् ।
अहं ह्यरण्ये कथमेकमेका
त्वामालपेयं निरता स्वधर्मे ।। ३ ।।

'मैं इस समय यहाँ अकेली ही हूँ। इसलिये विवश होकर तुमसे बोलना पड़ रहा है। भद्रपुरुष! मेरी इस बातपर ध्यान दो। मैं अपने धर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाली हूँ। इस समय इस वनमें मैं अकेली हूँ और तुम भी अकेले पुरुष हो, ऐसी दशामें मैं तुम्हारे साथ कैसे वार्तालाप कर सकती हूँ? ।। ३ ।।

जानामि च त्वां सुरथस्य पुत्रं
यं कोटिकास्येति विदुर्मनुष्याः ।
तस्मादहं शैब्य तथैव तुभ्य-
माख्यामि बन्धून् प्रथितं कुलं च ।। ४ ।।

'परंतु मैं तुम्हें पहचानती हूँ, तुम राजा सुरथके पुत्र हो, जिसे लोग कोटिकास्यके नामसे जानते हैं। शैब्य! इसीलिये मैं तुम्हें अपने बन्धुजनों तथा विश्वविख्यात वंशका परिचय देती

हूँ ।। ४ ।।

अपत्यमस्मि द्रुपदस्य राज्ञः
कृष्णेति मां शैब्य विदुर्मनुष्याः ।
साहं वृणे पञ्च जनान् पतित्वे
ये खाण्डवप्रस्थगताः श्रुतास्ते ।। ५ ।।

'शिबिदेशके राजकुमार! मैं राजा द्रुपदकी पुत्री हूँ। मनुष्य मुझे कृष्णाके नामसे जानते हैं। मैंने पाँचों पाण्डवोंका पतिरूपमें वरण किया है, जो खाण्डव-प्रस्थमें रहते थे। उनका नाम तुमने अवश्य सुना होगा ।।

युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च
माद्रयाश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ ।
ते मां निवेश्येह दिशश्चतस्रो
विभज्य पार्था मृगयां प्रयाताः ।। ६ ।।

'युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीपुत्र नरवीर नकुल-सहदेव—ये ही मेरे पति हैं। वे सब-के-सब मुझे यहाँ रखकर हिंसक पशुओंको मारनेके लिये अलग-अलग बँटकर चारों दिशाओंमें गये हैं ।। ६ ।।

प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो
जयः प्रतीचीं यमजावुदीचीम् ।
मन्ये तु तेषां रथसत्तमानां
कालोऽभितः प्राप्त इहोपयातुम् ।। ७ ।।

'स्वयं राजा युधिष्ठिर पूर्व दिशामें गये हैं, भीमसेन दक्षिण दिशामें, अर्जुन पश्चिम दिशामें और नकुल-सहदेव उत्तर दिशामें गये हैं। मैं समझती हूँ, अब उन महारथियोंके सब ओरसे यहाँ पहुँचनेका समय हो गया है ।। ७ ।।

सम्मानिता यास्यथ तैर्यथेष्टं
विमुच्य वाहानवरोहयध्वम् ।
प्रियातिथिर्धर्मसुतो महात्मा
प्रीतो भविष्यत्यभिवीक्ष्य युष्मान् ।। ८ ।।

'अब तुमलोग अपनी सवारियोंसे उतरो और घोड़ोंको खोलकर विश्राम करो। मेरे पतियोंका आदर-सत्कार ग्रहण करके अपने अभीष्ट देशको जाना। महात्मा धर्मपुत्र युधिष्ठिर अतिथियोंके बड़े प्रेमी हैं। वे तुमलोगोंको देखकर बहुत प्रसन्न होंगे' ।। ८ ।।

एतावदुक्त्वा द्रुपदात्मजा सा
शैब्यात्मजं चन्द्रमुखी प्रतीता ।
विवेश तां पर्णशालां प्रशस्तां
संचिन्त्य तेषामतिथित्वमर्थे ।। ९ ।।

शिबिदेशके राजकुमार कोटिकास्यसे ऐसा कहकर वह चन्द्रमुखी द्रौपदी अपनी उत्तम पर्णशालाके भीतर चली गयी। 'ये लोग हमारे अतिथि हैं' ऐसा सोचकर उसे उनपर विश्वास हो गया था। अतः वह प्रसन्नतापूर्वक उनके आतिथ्यकी व्यवस्थामें लग गयी ।। ९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदीवाक्ये षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २६६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक दो सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६६ ।।

सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जयद्रथ और द्रौपदीका संवाद

वैशम्पायन उवाच

तथाऽऽसीनेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ।
यदुक्तं कृष्णया सार्धं तत् सर्वं प्रत्यवेदयत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! पूर्वोक्त प्रकारसे रथपर बैठे हुए उन सब राजाओंके पास जाकर कोटिकास्यने द्रौपदीके साथ उसकी जो-जो बातें हुई थीं, वे सब कह सुनायीं ।। १ ।।

कोटिकास्यवचः श्रुत्वा शैब्यं सौवीरकोऽब्रवीत् ।
यदा वाचं व्याहरन्त्यामस्यां मे रमते मनः ।। २ ।।
सीमन्तिनीनां मुख्यायां विनिवृत्तः कथं भवान् ।
एतां दृष्ट्वा स्त्रियो मेऽन्या यथा शाखामृगस्त्रियः ।। ३ ।।
प्रतिभान्ति महाबाहो सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
दर्शनादेव हि मनस्तया मेऽपहृतं भृशम् ।। ४ ।।
तां समाचक्ष्व कल्याणीं यदि स्याच्छैब्य मानुषी ।

कोटिकास्यकी बात सुनकर सौवीरनरेश जयद्रथने उससे कहा—'शैब्य! सुन्दरियोंमें सर्वश्रेष्ठ वह युवती जब तुमसे बातचीत कर रही थी, उस समय मेरा मन उसीमें लगा हुआ था। तुम उसे साथ लिये बिना कैसे लौट आये? महाबाहो! मैं तुमसे यह सच कहता हूँ इसे देखकर मुझे दूसरी स्त्रियाँ ऐसी जान पड़ती हैं मानो बंदरियाँ हों। उसने दर्शनमात्रसे ही मेरे मनको अच्छी तरह हर लिया है। शैब्य! यदि वह मानवी हो तो उस कल्याणीके विषयमें ठीक-ठीक बताओ' ।। २—४½ ।।

कोटिक उवाच

एषा वै द्रौपदी कृष्णा राजपुत्री यशस्विनी ।। ५ ।।
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां महिषी सम्मता भृशम् ।
सर्वेषां चैव पार्थानां प्रिया बहुमता सती ।। ६ ।।
तया समेत्य सौवीर सौवीराभिमुखो व्रज ।

कोटिक बोला—सौवीरनरेश! यह यशस्विनी राजकुमारी द्रुपदपुत्री कृष्णा ही है, जो पाँचों पाण्डवोंकी अत्यन्त आदरणीया महारानी है। कुन्तीके सभी पुत्र इसे प्यार करते हैं। यह सती-साध्वी देवी अपने पतियोंके लिये बड़े सम्मानकी वस्तु है। तुम उससे मिलकर सौवीरदेशकी राह लो ।। ५-६½ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच पश्यामि द्रौपदीमिति ।। ७ ।।

पतिः सौवीरसिन्धूनां दुष्टभावो जयद्रथः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कोटिकास्यके ऐसा कहनेपर सौवीर और सिन्धु आदि देशोंके स्वामी जयद्रथने मनमें दुर्भावना लेकर उसे उत्तर दिया—'अच्छा, मैं भी द्रौपदीसे मिल लेता हूँ' ।। ७½ ।।

स प्रविश्याश्रमं पुण्यं सिंहगोष्ठं वृको यथा ।। ८ ।।

आत्मना सप्तमः कृष्णामिदं वचनमब्रवीत् ।

कुशलं ते वरारोहे भर्तारस्तेऽप्यनामयाः ।। ९ ।।

येषां कुशलकामासि तेऽपि कच्चिदनामयाः ।

उसने अपने छः भाइयोंके साथ स्वयं सातवाँ बनकर द्रौपदीके पवित्र आश्रममें प्रवेश किया, मानो कोई भेड़िया सिंहकी माँदमें घुसा हो। वहाँ जाकर उसने द्रौपदीसे इस प्रकार कहा—'वरारोहे! तुम कुशलसे हो न? तुम्हारे पति नीरोग तो हैं न? इनके सिवा और जिन लोगोंको तुम सकुशल देखना चाहती हो, वे सभी स्वस्थ तो हैं न? ।। ८-९½ ।।

द्रौपद्युवाच

अपि ते कुशलं राजन् राष्ट्रे कोशे बले तथा ।। १० ।।

कच्चिदेकः शिबीनाढ्यान् सौवीरान् सह सिन्धुभिः ।

अनुतिष्ठसि धर्मेण ये चान्ये विजितास्त्वया ।। ११ ।।

द्रौपदी बोली—राजन्! तुम स्वयं सकुशल हो न? तुम्हारे राज्य, खजाना और सैनिक तो कुशलसे हैं न? समृद्धिशाली शिबि, सौवीर, सिन्धु तथा अन्य जो-जो प्रदेश तुम्हारे अधिकारमें आ गये हैं, उन सबकी प्रजाका तुम धर्मपूर्वक पालन तो करते हो न? ।। १०-११ ।।

कौरव्यः कुशली राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

अहं च भ्रातरश्चास्य यांश्चान्यान् परिपृच्छसि ।। १२ ।।

पाद्यं प्रतिगृहाणेदमासनं च नृपात्मज ।

मेरे पति कुरुकुलरत्न कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर सकुशल हैं। मैं, उनके चारों भाई तथा अन्य जिन लोगोंके विषयमें तुम पूछ रहे हो, वे सब कुशलसे हैं। राजकुमार! यह पैर धोनेके लिये जल है, इसे ग्रहण करो और यह आसन है, इसपर बैठो ।। १२½ ।।

जयद्रथ उवाच

एहि मे रथमारोह सुखमाप्नुहि केवलम् ।। १३ ।।

गतश्रीकांश्च्युतान् राज्यात् कृपणान् गतचेतसः ।

अरण्यवासिनः पार्थान् नानुरोद्धुं त्वमर्हसि ।। १४ ।।
नैव प्राज्ञा गतश्रीकं भर्तारमुपयुञ्जते ।
युञ्जानमनुयुञ्जीत न श्रियः संक्षये वसेत् ।। १५ ।।

जयद्रथने कहा—आओ चलो, मेरे रथपर बैठो और अखण्ड सुखका उपभोग करो। अब पाण्डवोंके पास धन नहीं रहा। उनका राज्य छीन लिया गया। वे दीन और उत्साहहीन हो गये हैं। अब इन वनवासी कुन्तीपुत्रोंका अनुसरण करना तुम्हें शोभा नहीं देता। विदुषी स्त्रियाँ निर्धन पतिकी उपासना नहीं करती हैं। स्वामीके पास जबतक लक्ष्मी रहे, तभीतक उसके साथ रहना चाहिये। जब उसकी सम्पत्ति नष्ट हो जाय, तो वहाँ कदापि न रहे ।। १३—१५ ।।

श्रिया विहीना राष्ट्राच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः ।
अलं ते पाण्डुपुत्राणां भक्त्या क्लेशमुपासितुम् ।। १६ ।।

पाण्डव सदाके लिये श्रीहीन तथा राज्यभ्रष्ट हो गये हैं। अब तुम्हें पाण्डवोंके प्रति भक्ति रखकर कष्ट भोगनेकी आवश्यकता नहीं है ।। १६ ।।

भार्या मे भव सुश्रोणि त्यजैनान् सुखमाप्नुहि ।
अखिलान् सिन्धुसौवीरानाप्नुहि त्वं मया सह ।। १७ ।।

सुन्दरि! तुम मेरी भार्या बन जाओ। इन पाण्डवोंको छोड़ दो और मेरे साथ रहकर सुख भोगो। मेरे साथ रहनेसे तुम्हें सम्पूर्ण सिन्धु और सौवीरदेशका राज्य प्राप्त होगा, तुम महारानी बनोगी ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्ता सिन्धुराजेन वाक्यं हृदयकम्पनम् ।
कृष्णा तस्मादपाक्रामद् देशात् सभ्रुकुटीमुखी ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सिन्धुराज जयद्रथके मुखसे यह हृदय कँपा देनेवाली बात सुनकर द्रुपदकुमारी कृष्णा उस स्थानसे दूर हट गयी। उसके मुखपर रोष छा गया और उसकी भौंहें तन गयीं ।। १८ ।।

अवमत्यास्य तद् वाक्यमाक्षिप्य च सुमध्यमा ।
मैवमित्यब्रवीत् कृष्णा लज्जस्वेति च सैन्धव ।। १९ ।।

उसके इस प्रस्तावका तिरस्कार करके सुन्दरी द्रौपदीने उसे कड़ी फटकार सुनायी और बोली—‘खबरदार, फिर कभी ऐसी बात मुखसे मत निकालना। सिन्धुराज! तुम्हें लज्जा आनी चाहिये थी ।। १९ ।।

सा काङ्क्षमाणा भर्तॄणामुपयातमनिन्दिता ।
विलोभयामास परं वाक्यैर्वाक्यानि युञ्जती ।। २० ।।

पतिव्रता द्रौपदी चाहती थी कि मेरे पति अभी यहाँ आ जायँ। अतः वह जयद्रथसे वाद-विवाद करती हुई उसे बातोंमें फँसाये रखनेकी चेष्टा करने लगी ।। २० ।।

(द्रौपद्युवाच

नैवं वद महाबाहो न्याय्यं त्वं न च बुध्यसे ।।
पाण्डूनां धार्तराष्ट्राणां स्वसा चैव कनीयसी ।
दुःशला नाम तस्यास्त्वं भर्ता राजकुलोद्वह ।।
मम भ्राता च न्याय्येन त्वया रक्ष्या महारथ ।
धर्मिष्ठानां कुले जातो न धर्मं त्वमवेक्षसे ।।

द्रौपदी बोली—महाबाहो! ऐसी पापकी बात न बोलो। कौन-सा कार्य धर्मके अनुकूल और न्यायसंगत है, इसका तुम्हें ज्ञान नहीं है। तुम धृतराष्ट्रपुत्रों तथा पाण्डवोंकी छोटी बहन दुःशलाके पति हो। महारथी राजकुमार! इस नातेसे न्यायतः तुम मेरे भाई हो; अतः तुम्हें मेरी रक्षा करनी चाहिये। तुम्हारा जन्म तो धर्मात्माओंके कुलमें हुआ है, परंतु तुम्हारी दृष्टि धर्मकी ओर नहीं है ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः सिन्धुराजोऽथ वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रौपदीके ऐसा कहनेपर सिन्धुराज जयद्रथने उसे इस प्रकार उत्तर दिया।

जयद्रथ उवाच

राज्ञां धर्मं न जानीषे स्त्रियो रत्नानि चैव हि ।
साधारणानि लोकेऽस्मिन् प्रवदन्ति मनीषिणः ।।)

जयद्रथ बोला—कृष्णे! तुम राजाओंका धर्म नहीं जानती। मनीषी पुरुषोंका कथन है कि इस संसारमें स्त्रियाँ तथा रत्न सर्वसाधारणकी वस्तुएँ हैं ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथद्रौपदीसंवादे सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २६७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें जयद्रथद्रौपदीसंवादविषयक दो सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका जयद्रथको फटकारना और जयद्रथद्वारा उसका अपहरण

वैशम्पायन उवाच

सरोषरागोपहतेन बल्गुना
सरागनेत्रेण नतोन्नतभ्रुवा ।
मुखेन विस्फूर्य सुवीरराष्ट्रपं
ततोऽब्रवीत् तं द्रुपदात्मजा पुनः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जयद्रथकी बात सुनकर द्रौपदीका सुन्दर मुख क्रोधसे तमतमा उठा, आँखें लाल हो गयीं, भौंहें टेढ़ी होकर तन गयीं और उसने सौवीरराज जयद्रथको फटकारकर पुनः इस प्रकार कहा— ।। १ ।।

यशस्विनस्तीक्ष्णविषान् महारथा-
नभिब्रुवन् मूढ न लज्जसे कथम् ।
महेन्द्रकल्पान् निरतान् स्वकर्मसु
स्थितान् समूहेष्वपि यक्षरक्षसाम् ।। २ ।।

'अरे मूढ़! मेरे पति पाण्डव महान् यशस्वी, सदा अपने धर्मके पालनमें स्थित, यक्षों तथा राक्षसोंके समूहमें भी युद्ध करनेमें समर्थ, देवराज इन्द्रके सदृश शक्तिशाली तथा महारथी वीर हैं। उनका क्रोध तीक्ष्ण विषवाले नागोंके समान भयंकर है। उनके सम्मानके विरुद्ध ऐसी ओछी बातें कहते हुए तुझे लज्जा कैसे नहीं आती? ।। २ ।।

न किंचिदीड्यं प्रवदन्ति पापं
वनेचरं वा गृहमेधिनं वा ।
तपस्विनं सम्परिपूर्णविद्यं
भषन्ति हैवं श्वनराः सुवीर ।। ३ ।।

'अच्छे लोग पूजनीय, तपस्वी तथा पूर्ण विद्वान् पुरुषके प्रति भले ही वह वनवासी हो या गृहस्थ कोई अनुचित बात नहीं कहते हैं। जयद्रथ! मनुष्योंमें जो तेरे-जैसे कुत्ते हैं, वे ही इस तरह भूँका करते हैं ।। ३ ।।

अहं तु मन्ये तव नास्ति कश्चि-
देतादृशे क्षत्रियसंनिवेशे ।
यस्त्वाद्य पातालमुखे पतन्तं
पाणौ गृहीत्वा प्रतिसंहरेत ।। ४ ।।

नागं प्रभिन्नं गिरिकूटकल्प-
मुपत्यकां हैमवतीं चरन्तम् ।
दण्डीव यूथादपसेधसि त्वं
यो जेतुमाशंससि धर्मराजम् ।। ५ ।।

'मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि इस क्षत्रिय-मण्डलीमें कोई भी तेरा ऐसा हितैषी स्वजन नहीं है, जो आज तेरा हाथ पकड़कर तुझे पातालके गहरे गर्तमें गिरनेसे बचा ले। अरे! जैसे कोइ मूर्ख मनुष्य हिमालयकी उपत्यकामें विचरनेवाले पर्वतशिखरके समान ऊँचे एवं मदकी धारा बहानेवाले गजराजको हाथमें डंडा लेकर उसके यूथसे अलग हाँक लाना चाहे, उसी प्रकार तू धर्मराज युधिष्ठिरको जीतनेका हौसला रखता है ।। ४-५ ।।

बाल्यात् प्रसुप्तस्य महाबलस्य
सिंहस्य पक्ष्माणि मुखाल्लुनासि ।
पदा समाहत्य पलायमानः
क्रुद्धं यदा द्रक्ष्यसि भीमसेनम् ।। ६ ।।

'तू मूर्खतावश (अपनी माँदमें) सोये हुए महाबली सिंहको लात मारकर उसके मुखके बाल नोंच रहा है। जिस समय तू क्रोधमें भरे हुए भीमसेनको देखेगा, उस समय तुरंत भाग

छूटेगा ।। ६ ।।

महाबलं घोरतरं प्रवृद्धं
जातं हरिं पर्वतकन्दरेषु ।
प्रसुप्तमुग्रं प्रपदेन हंसि
यः क्रुद्धमायोत्स्यसि जिष्णुमुग्रम् ।। ७ ।।

'यदि तू रोषमें भरे हुए भयंकर योद्धा अर्जुनसे जूझना चाहता है, तो समझ ले कि पर्वतकी कन्दराओंमें उत्पन्न हो वहीं पलकर बढ़े हुए अत्यन्त घोर और महाबली सोये हुए भयानक सिंहको तू पैरसे ठोकर मार रहा है ।। ७ ।।

कृष्णोरगौ तीक्ष्णमुखौ द्विजिह्वौ
मत्तः पदाऽऽक्रामसि पुच्छदेशे ।
यः पाण्डवाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्यां
जघन्यजाभ्यां प्रयुयुत्ससे त्वम् ।। ८ ।।

'यदि तू पुरुषरत्न दोनों छोटे पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेकी इच्छा रखता है तो यह मानना पड़ेगा कि मतवाला होकर तू मुखमें तीक्ष्ण विष धारण करनेवाले एवं दो जिह्वाओंसे युक्त दो काले नागोंकी पूँछको पैरसे कुचल रहा है ।। ८ ।।

यथा च वेणुः कदली नलो वा
फलन्त्यभावाय न भूतयेऽऽत्मनः ।
तथैव मां तैः परिरक्ष्यमाणा-
मादास्यसे कर्कटकीव गर्भम् ।। ९ ।।

'अरे मूर्ख! जैसे बाँस, केला और नरकुल—ये अपने विनाशके लिये ही फलते हैं, समृद्धिके लिये नहीं तथा जैसे केकड़ेकी मादा अपनी मृत्युके लिये ही गर्भ धारण करती है, उसी प्रकार तू पाण्डवोंद्वारा सदा सुरक्षित मुझ द्रौपदीका अपनी मृत्युके लिये ही अपहरण करना चाहता है' ।। ९ ।।

जयद्रथ उवाच

जानामि कृष्णे विदितं ममैतद्
यथाविधास्ते नरदेवपुत्राः ।
न त्वेवमेतेन विभीषणेन
शक्या वयं त्रासयितुं त्वयाद्य ।। १० ।।

जयद्रथने कहा—कृष्णे! मैं जानता हूँ कि तुम्हारे पति राजकुमार पाण्डव कैसे हैं? मुझे ये सब बातें मालूम हैं। परंतु इस समय इस विभीषिकाद्वारा तुम हमें डरा नहीं सकती ।। १० ।।

वयं पुनः सप्तदशेषु कृष्णे

कुलेषु सर्वेऽनवमेषु जाताः ।
षड्भ्यो गुणेभ्योऽभ्यधिका विहीनान्
मन्यामहे द्रौपदि पाण्डुपुत्रान् ।। ११ ।।

द्रुपदकुमारी कृष्णे! हम सब लोग उन श्रेष्ठ कुलोंमें उत्पन्न हुए हैं, जो सत्रह[1] गुणोंसे सम्पन्न हैं। इसके सिवा हम छः[2] गुणोंको पाकर पाण्डवोंसे बढ़े-चढ़े हैं; अतः उन्हें अपनेसे हीन मानते हैं ।। ११ ।।

सा क्षिप्रमातिष्ठ गजं रथं वा
न वाक्यमात्रेण वयं हि शक्याः ।
आशंस वा त्वं कृपणं वदन्ती
सौवीरराजस्य पुनः प्रसादम् ।। १२ ।।

कृष्णे! तुम बड़ी-बड़ी बातें बनाकर हमें रोक नहीं सकती। अब तुम्हारे सामने दो ही मार्ग हैं—या तो सीधी तरहसे तुरंत चलकर मेरे हाथी या रथपर सवार हो जाओ; अथवा पाण्डवोंके हार जानेपर दीन वाणीमें विलाप करती हुई सौवीरराज जयद्रथसे कृपाकी भीख माँगो ।। १२ ।।

द्रौपद्युवाच

महाबला किंत्विह दुर्बलेव
सौवीरराजस्य मताहमस्मि ।
नाहं प्रमाथादिह सम्प्रतीता
सौवीरराजं कृपणं वदेयम् ।। १३ ।।

द्रौपदीने कहा—मैं महान् बल एवं शक्तिसे सम्पन्न हूँ, तो भी सौवीरराज जयद्रथकी दृष्टिमें यहाँ दुर्बल-सी प्रतीत हो रही हूँ। मुझे भगवान्‌पर विश्वास है, मैं जोर-जबर्दस्ती करनेसे यहाँ जयद्रथके सामने कभी दीन वचन नहीं बोल सकती ।। १३ ।।

यस्या हि कृष्णौ पदवीं चरेतां
समास्थितावेकरथे समेतौ ।
इन्द्रोऽपि तां नापहरेत् कथंचि-
न्मनुष्यमात्रः कृपणः कुतोऽन्यः ।। १४ ।।

एक रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन साथ होकर जिसकी खोजमें निकलेंगे, उस द्रौपदीको देवराज इन्द्र भी किसी तरह हरकर नहीं ले जा सकते। फिर दूसरे किसी दीन-हीन मनुष्यकी तो बिसात ही क्या है? ।। १४ ।।

यदा किरीटी परवीरघाती
निघ्नन् रथस्थो द्विषतां मनांसि ।
मदन्तरे त्वद्ध्वजिनीं प्रवेष्टा

कक्षं दहन्नग्निरिवोष्णगेषु ।। १५ ।।

जब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले किरीटधारी अर्जुन शत्रुओंके मनोबलको नष्ट करते हुए मेरे लिये रथमें स्थित हो तेरी सेनामें प्रवेश करेंगे, उस समय जैसे गर्मियोंमें आग घास-फूसको जलाती है, उसी प्रकार तुझे और तेरी सेनाको भस्म कर डालेंगे ।। १५ ।।

जनार्दनः सान्धकवृष्णिवीरो
महेष्वासाः केकयाश्चापि सर्वे ।
एते हि सर्वे मम राजपुत्राः
प्रहृष्टरूपाः पदवीं चरेयुः ।। १६ ।।

अन्धक और वृष्णिवंशी वीरोंके साथ भगवान् श्रीकृष्ण तथा महान् धनुर्धर समस्त केकयराजकुमार मेरे रक्षक हैं। ये सभी राजपुत्र हर्ष और उत्साहमें भरकर मेरा पता लगानेके लिये निकल पड़ेंगे ।। १६ ।।

मौर्वीविसृष्टाः स्तनयित्नुघोषा
गाण्डीवमुक्तास्त्वतिवेगवन्तः ।
हस्तं समाहत्य धनंजयस्य
भीमाः शब्दं घोरतरं नदन्ति ।। १७ ।।

अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चासे छूटे हुए अत्यन्त वेगशाली बाण मेघोंके समान गर्जना करते हैं। वे भयानक बाण अर्जुनके हाथसे टकराकर अत्यन्त घोर शब्दकी सृष्टि करते हैं ।। १७ ।।

गाण्डीवमुक्तांश्च महाशरौघान्
पतंगसङ्घानिव शीघ्रवेगान् ।
यदा द्रष्टास्यर्जुनं वीर्यशालिनं
तदा स्वबुद्धिं प्रतिनिन्दितासि ।। १८ ।।

जब तू गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए विशाल बाण-समूहोंको टिड्डियोंकी भाँति वेगसे उड़ते देखेगा और जब अद्भुत पराक्रमसे शोभा पानेवाले वीर अर्जुनपर तेरी दृष्टि पड़ेगी, उस समय अपने इस कुकृत्यको याद करके तू स्वयं ही अपनी बुद्धिको धिक्कारेगा ।। १८ ।।

सशङ्खघोषः सतलत्रघोषो
गाण्डीवधन्वा मुहुरुद्वहंश्च ।
यदा शरानर्पयिता तवोरसि
तदा मनस्ते किमिवाभविष्यत् ।। १९ ।।

जब गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुन शंख-ध्वनिके साथ दस्तानेकी आवाज फैलाते हुए बार-बार बाण उठा-उठाकर तेरी छातीपर चोट करेंगे, उस समय तेरे मनकी दशा कैसी होगी? (इसे भी सोच ले) ।। १९ ।।

गदाहस्तं भीममभिद्रवन्तं

माद्रीपुत्रौ सम्पतन्तौ दिशश्च ।
अमर्षजं क्रोधविषं वमन्तौ
दृष्ट्वा चिरं तापमुपैष्यसेऽधम ।। २० ।।

अरे नीच! जब भीमसेन हाथमें गदा लिये दौड़ेंगे और माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव अमर्षजनित क्रोधरूपी विष उगलते हुए (तेरी सेनापर) सब दिशाओंसे टूट पड़ेंगे, तब उन्हें देखकर तू दीर्घकालतक संतापकी आगमें जलता रहेगा ।। २० ।।

यथा वाहं नातिचरे कथंचित्
पतीन् महार्हान् मनसापि जातु ।
तेनाद्य सत्येन वशीकृतं त्वां
द्रष्टास्मि पार्थैः परिकृष्यमाणम् ।। २१ ।।

यदि मैंने कभी मनसे भी अपने परम पूजनीय पतियोंका किसी तरह उल्लंघन नहीं किया हो तो आज इस सत्यके प्रभावसे मैं देखूँगी कि पाण्डव तुझे जीतकर अपने वशमें करके जमीनपर घसीट रहे हैं ।। २१ ।।

न सम्भ्रमं गन्तुमहं हि शक्ष्ये
त्वया नृशंसेन विकृष्यमाणा ।
समागताहं हि कुरुप्रवीरैः
पुनर्वनं काम्यकमागतास्मि ।। २२ ।।

मैं जानती हूँ कि तू नृशंस है, अतः मुझे बलपूर्वक खींचकर ले जायगा। परंतु इससे मैं सम्भ्रम (घबराहट)-में नहीं पड़ सकूँगी। मैं अपने पति कुरुवंशी वीर पाण्डवोंसे शीघ्र ही मिलूँगी और उनके साथ पुनः इसी काम्यकवनमें आकर रहूँगी ।। २२ ।।

वैशम्पायन उवाच

साताननुप्रेक्ष्य विशालनेत्रा
जिघृक्षमाणानवभर्त्सयन्ती ।
प्रोवाच मा मा स्पृशतेति भीता
धौम्यं प्रचुक्रोश पुरोहितं सा ।। २३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय जयद्रथके साथी आश्रममें प्रविष्ट होकर द्रौपदीको पकड़ लेना चाहते थे। यह देख विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी उन्हें डाँटकर बोली—‘खबरदार, कोई मेरे शरीरका स्पर्श न करे।’ फिर भयभीत होकर उसने अपने पुरोहित धौम्य मुनिको पुकारा ।। २३ ।।

जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे
जयद्रथस्तं समवाक्षिपत् सा ।
तया समाक्षिप्ततनुः स पापः

पपात शाखीव निकृत्तमूलः ।। २४ ।।

इतनेमें ही जयद्रथने आगे बढ़कर द्रौपदीकी ओढ़नीका छोर पकड़ लिया, परंतु द्रौपदीने उसे जोरका धक्का दिया। उसका धक्का लगते ही पापी जयद्रथका शरीर जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ।।

प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन
मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री ।
सा कृष्यमाणा रथमारुरोह
धौम्यस्य पादावभिवाद्य कृष्णा ।। २५ ।।

फिर बड़े वेगसे उठकर उसने राजकुमारी द्रौपदीको पकड़ लिया। तब बार-बार लंबी साँसें छोड़ती हुई द्रौपदीने धौम्यमुनिके चरणोंमें प्रणाम किया, किंतु वह जयद्रथके द्वारा खींची जानेके कारण बाध्य होकर उसके रथपर बैठ गयी ।। २५ ।।

धौम्य उवाच

नेयं शक्या त्वया नेतुमविजित्य महारथान् ।
धर्मं क्षत्रस्य पौराणमवेक्षस्व जयद्रथ ।। २६ ।।

तब धौम्यने कहा—जयद्रथ! तू क्षत्रियोंके प्राचीन धर्मपर दृष्टिपात कर। महारथी पाण्डवोंको परास्त किये बिना इसे ले जानेका तुझे कोई अधिकार नहीं है ।। २६ ।।

क्षुद्रं कृत्वा फलं पापं त्वं प्राप्स्यसि न संशयः ।
आसाद्य पाण्डवान् वीरान् धर्मराजपुरोगमान् ।। २७ ।।

तू धर्मराज आदि वीर पाण्डवोंके सामने पड़नेपर इस खोटे कर्मका बुरा फल प्राप्त करेगा, इसमें संशय नहीं है ।। २७ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा ह्रियमाणां तां राजपुत्रीं यशस्विनीम् ।
अन्वगच्छत् तदा धौम्यः पदातिगणमध्यगः ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर धौम्य मुनि हरकर ले जायी जाती हुई यशस्विनी राजकुमारी द्रौपदीके पीछे-पीछे पैदल सेनाके बीचमें होकर चलने लगे ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २६८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें दो सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६८ ।।

१. खेती, व्यापार, दुर्ग, पुल बनाना, हाथी बाँधना, खानोंकी रक्षा, कर वसूलना और निर्जन प्रदेशोंको बसाना—ये आठ संधान-कर्म तथा प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति, प्रभुसिद्धि, मन्त्रसिद्धि, उत्साहसिद्धि, प्रभूदय, मन्त्रोदय और उत्साहोदय—ये नौ मिलाकर सत्रह गुण होते हैं।

२. शौर्य, तेज, धृति, दाक्षिण्य, दान तथा ऐश्वर्य—ये छः गुण हैं।

एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका आश्रमपर लौटना और धात्रेयिकासे द्रौपदीहरणका वृत्तान्त जानकर जयद्रथका पीछा करना

वैशम्पायन उवाच

ततो दिशः सम्प्रविहृत्य पार्था
मृगान् वराहान् महिषांश्च हत्वा ।
धनुर्धराः श्रेष्ठतमाः पृथिव्यां
पृथक् चरन्तः सहिता बभूवुः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भूमण्डलके श्रेष्ठतम धनुर्धर पाँचों कुन्तीकुमार सब दिशाओंमें घूम-फिरकर हिंसक पशुओं, वराहों और जंगली भैंसोंको मारकर पृथक्-पृथक् विचरते हुए एक साथ हो गये ।। १ ।।

ततो मृगव्यालगणानुकीर्णं
महावनं तद् विहगोपघुष्टम् ।
भ्रातॄंश्च तानभ्यवदद् युधिष्ठिरः
श्रुत्वा गिरो व्याहरतां मृगाणाम् ।। २ ।।

उस समय हिंसक पशुओं और साँपोंसे भरा हुआ वह महान् वन सहसा चिड़ियोंके चीत्कारसे गूँज उठा तथा वन्य पशु भी भयभीत होकर आर्तनाद करने लगे। उन सबकी आवाज सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे कहा— ।। २ ।।

आदित्यदीप्तां दिशमभ्युपेत्य
मृगा द्विजाः क्रूरमिमे वदन्ति ।
आयासमुग्रं प्रतिवेदयन्तो
महावनं शत्रुभिर्बाध्यमानम् ।। ३ ।।

‘भाइयो! देखो, ये मृग और पक्षी सूर्यके द्वारा प्रकाशित पूर्वदिशाकी ओर दौड़ते हुए अत्यन्त कठोर शब्द बोल रहे हैं और किसी भयंकर उत्पातकी सूचना देते हैं। जान पड़ता है, यह विशाल वन हमारे शत्रुओं-द्वारा पीड़ित हो रहा है ।। ३ ।।

क्षिप्रं निवर्तध्वमलं विलम्बै-
र्मनो हि मे दूयति दह्यते च ।
बुद्धिं समाच्छाद्य च मे समन्यु-
रुद्धूयते प्राणपतिः शरीरे ।। ४ ।।

‘अब शीघ्र आश्रमकी ओर लौटो। हमें विलम्ब नहीं करना चाहिये; क्योंकि मेरा मन बुद्धिकी विवेकशक्तिको आच्छादित करके व्यथित तथा चिन्तासे दग्ध हो रहा है। तथा मेरे शरीरमें यह प्राणोंका स्वामी (जीव) भयभीत हुआ छटपटा रहा है ।। ४ ।।

सरः सुपर्णेन हृतोरगं यथा
राष्ट्रं यथाराजकमात्तलक्ष्मि ।
एवंविधं मे प्रतिभाति काम्यकं
शौण्डैर्यथा पीतरसश्च कुम्भः ।। ५ ।।

‘जैसे गरुड़के द्वारा सरोवरमें रहनेवाले महासर्पके पकड़ लिये जानेपर वह मथित-सा हो उठता है, जैसे बिना राजाका राज्य श्रीहीन हो जाता है तथा जिस प्रकार रससे भरा हुआ घड़ा धूर्तोंद्वारा (चुपकेसे) पी लिये जानेपर सहसा खाली दिखायी देता है; उसी प्रकार शत्रुओंद्वारा काम्यकवनकी भी दुरवस्था की गयी है, ऐसा मुझे जान पड़ता है’ ।। ५ ।।

ते सैन्धवैरत्यनिलोग्रवेगै-
र्महाजवैर्वाजिभिरुह्यमानाः ।
युक्तैर्बृहद्भिः सुरथैर्नृवीरा-
स्तदाऽऽश्रमायाभिमुखा बभूवुः ।। ६ ।।

तत्पश्चात् वे नरवीर पाण्डव हवासे भी अधिक तेज चलनेवाले सिन्धुदेशके महान् वेगशाली अश्वोंसे जुते हुए सुन्दर एवं विशाल रथोंपर बैठकर आश्रमकी ओर चले ।। ६ ।।

तेषां तु गोमायुरनल्पघोषो
निवर्ततां वाममुपेत्य पार्श्वम् ।
प्रव्याहरत् तत् प्रविमृश्य राजा
प्रोवाच भीमं च धनंजयं च ।। ७ ।।

उस समय एक गीदड़ बड़े जोरसे रोता हुआ लौटते हुए पाण्डवोंके वामभागसे होकर निकल गया। इस अपशकुनपर विचार करके राजा युधिष्ठिरने भीमसेन और अर्जुनसे कहा — ।। ७ ।।

यथा वदत्येष विहीनयोनिः
शालावृको वाममुपेत्य पार्श्वम् ।
सुव्यक्तमस्मानवमन्य पापैः
कृतोऽभिमर्दः कुरुभिः प्रसह्य ।। ८ ।।

‘यह नीच योनिका गीदड़, जो हमलोगोंके वामभागसे होकर निकला है, जैसा शब्द कर रहा है, उससे स्पष्ट जान पड़ता है कि पापी कौरवोंने यहाँ आकर हमारी अवहेलना करते हुए हठपूर्वक भारी संहार मचा रखा है’ ।। ८ ।।

इत्येव ते तद् वनमाविशन्तो
महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा ।

बालामपश्यन्त तदा रुदन्तीं

धात्रेयिकां प्रेष्यवधूं प्रियायाः ।। ९ ।।

इस प्रकार उस विशाल वनमें शिकार खेलकर लौटे हुए पाण्डव जब आश्रमके समीपवर्ती वनमें प्रवेश करने लगे, तब उन्होंने देखा कि उनकी प्रिया द्रौपदीकी दासी धात्रेयिका, जो उन्हींके एक सेवककी स्त्री थी, रो रही है ।। ९ ।।

तामिन्द्रसेनस्त्वरितोऽभिसृत्य

रथादवप्लुत्य ततोऽभ्यधावत् ।

प्रोवाच चैनां वचनं नरेन्द्र

धात्रेयिकामन्तितरस्तदानीम् ।। १० ।।

राजा जनमेजय! उसे रोती देख सारथि इन्द्रसेन तुरंत रथसे कूद पड़ा और वहाँसे दौड़कर धात्रेयिकाके अत्यन्त निकट जाकर उस समय इस प्रकार बोला— ।। १० ।।

किं रोदिषि त्वं पतिता धरण्यां

किं ते मुखं शुष्यति दीनवर्णम् ।

कच्चिन्न पापैः सुनृशंसकृद्भिः

प्रमाथिता द्रौपदी राजपुत्री ।। ११ ।।

‘तू इस प्रकार धरतीपर पड़ी क्यों रो रही है? तेरा मुँह दीन होकर क्यों सूख रहा है? कहीं अत्यन्त निष्ठुर कर्म करनेवाले पापी कौरवोंने यहाँ आकर राजकुमारी द्रौपदीका तिरस्कार तो नहीं किया? ।। ११ ।।

अचिन्त्यरूपा सुविशालनेत्रा

शरीरतुल्या कुरुपुङ्गवानाम् ।

यद्येव देवी पृथिवीं प्रविष्टा

दिवं प्रपन्नाप्यथवा समुद्रम् ।। १२ ।।

तस्या गमिष्यन्ति पदे हि पार्था

यथा हि संतप्यति धर्मपुत्रः ।

‘धर्मराज युधिष्ठिर महारानीके लिये जिस प्रकार संतप्त हो रहे हैं, उसे देखते हुए यह निश्चय है कि समस्त कुन्तीकुमार उनकी खोजमें अभी जायँगे। उनका रूप अचिन्त्य है। वे सुन्दर एवं विशाल नेत्रोंसे सुशोभित होती हैं तथा कुरुप्रवर पाण्डवोंको अपने शरीरके समान प्यारी हैं। वे द्रौपदीदेवी यदि पृथ्वीके भीतर प्रविष्ट हुई हों, स्वर्गलोकमें गयी हों अथवा समुद्रमें समा गयी हों, पाण्डव उन्हें अवश्य ढूँढ़ निकालेंगे ।। १२½ ।।

को हीदृशानाममरिमर्दनानां
क्लेशक्षमानामपराजितानाम् ।। १३ ।।
प्राणैः समामिष्टतमां जिहीर्षे-
दनुत्तमं रत्नमिव प्रमूढः ।

‘जो शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले और किसीसे भी पराजित नहीं होनेवाले हैं, जो सब प्रकारके क्लेश सहन करनेमें समर्थ हैं, ऐसे पाण्डवोंकी सर्वोत्तम रत्नके समान स्पृहणीय तथा प्राणोंके समान प्रियतमा द्रौपदीका कौन मूर्ख अपहरण करना चाहेगा? ।। १३½ ।।

न बुध्यते नाथवतीमिहाद्य
बहिश्चरं हृदयं पाण्डवानाम् ।। १४ ।।
कस्याद्य कायं प्रतिभिद्य घोरा
महीं प्रवेक्ष्यन्ति शिताः शराग्रयाः ।

'द्रौपदी बाहर प्रकट हुई पाण्डवोंकी अन्तरात्मा है। अपने पतियोंसे सनाथ महारानी द्रौपदीको यहाँ कौन मूर्ख नहीं जानता था? आज पाण्डवोंके अत्यन्त भयंकर और तीक्ष्ण श्रेष्ठ बाण किसके शरीरको विदीर्ण करके पृथ्वीमें घुस जायँगे? ।। १४½ ।।

मा त्वं शुचस्तां प्रति भीरु विद्धि
यथाद्य कृष्णा पुनरेष्यतीति ।। १५ ।।
निहत्य सर्वान् द्विषतः समग्रान्
पार्थाः समेष्यन्त्यथ याज्ञसेन्या ।

'भीरु! तू महारानी द्रौपदीके लिये शोक न कर। तू समझ ले कि अभी वे पुनः यहाँ आ जायँगी। कुन्तीके पुत्र अपने समस्त शत्रुओंका संहार करके द्रुपदकुमारीसे अवश्य मिलेंगे' ।। १५½ ।।

अथाब्रवीच्चारु मुखं प्रमृज्य
धात्रेयिका सारथिमिन्द्रसेनम् ।। १६ ।।
जयद्रथेनापहृता प्रमथ्य
पञ्चेन्द्रकल्पान् परिभूय कृष्णा ।
तिष्ठन्ति वर्त्मानि नवान्यमूनि
वृक्षाश्च न म्लान्ति तथैव भग्नाः ।। १७ ।।

तब अपने सुन्दर मुखपर बहते हुए आँसुओंको (दोनों हाथोंसे) पोंछकर धात्रेयिकाने सारथि इन्द्रसेनसे कहा—'इन्द्रसेन! इन्द्रके समान पराक्रमी इन पाँचों पाण्डवोंका अपमान करके जयद्रथने हठपूर्वक द्रौपदीका अपहरण किया है। देखो, उसके रथ और सैनिकोंके जानेसे जो ये नये मार्ग बन गये हैं, वे ज्यों-के-त्यों हैं, मिटे नहीं हैं तथा ये टूटे हुए वृक्ष भी अभी मुरझाये नहीं हैं ।। १६-१७ ।।

आवर्तयध्वं ह्यनुयात शीघ्रं
न दूरयातैव हि राजपुत्री ।
संनह्यध्वं सर्व एवेन्द्रकल्पा
महान्ति चारूणि च दंशनानि ।। १८ ।।

'इन्द्रके समान तेजस्वी समस्त पाण्डववीरो! आपलोग अपने रथोंको लौटाइये। शीघ्र शत्रुओंका पीछा कीजिये। अभी राजकुमारी द्रौपदी दूर नहीं गयी होगी। शीघ्र ही महान् एवं मनोहर कवच धारण कर लीजिये ।। १८ ।।

गृह्णीत चापानि महाधनानि
शरांश्च शीघ्रं पदवीं चरध्वम् ।
पुरा हि निर्भर्त्सनदण्डमोहिता
प्रमोहचित्ता वदनेन शुष्यता ।। १९ ।।
ददाति कस्मैचिदनर्हते तनुं

वराज्यपूर्णामिव भस्मनि स्रुचम् ।
पुरा तुषाग्नाविव हूयते हविः
पुरा श्मशाने स्रगिवापविद्धयते ।। २० ।।
पुरा च सोमोऽध्वरगोऽवलिह्यते
शुना यथा विप्रजने प्रमोहिते ।
महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा
पुरा शृगालो नलिनीं विगाहते ।। २१ ।।

'बहुमूल्य धनुष और बाण ले लीजिये और शीघ्र ही शत्रुके मार्गका अनुसरण कीजिये। कहीं ऐसा न हो कि डाँट-डपट और दण्डके भयसे मोहित और व्याकुलचित्त हो अपना उदास मुख लिये द्रौपदी किसी अयोग्य पुरुषको आत्मसमर्पण कर दे। ऐसी घटना घटित होनेसे पहले ही वहाँ पहुँच जाइये। यदि राजकुमारी कृष्णा किसी पराये पुरुषके हाथमें पड़ गयी तो समझ लीजिये किसीने उत्तम घीसे भरी हुई स्रुवाको राखमें डाल दिया, हविष्यको भूसेकी आगमें होम दिया गया, (देवपूजाके लिये बनी हुई) सुन्दर माला श्मशानमें फेंक दी गयी, यज्ञमण्डपमें रखे हुए पवित्र सोमरसको वहाँके ब्राह्मणोंकी असावधानीसे किसी कुत्तेने चाट लिया और विशाल वनमें शिकार करके अशुद्ध हुए गीदड़ने किसी पवित्र सरोवरमें गोता लगाकर उसे अपवित्र कर दिया; अतः ऐसी अप्रिय घटना घटित होनेसे पहले ही आपलोगोंको वहाँ पहुँच जाना चाहिये ।।

मा वः प्रियायाः सुनसं सुलोचनं
चन्द्रप्रभाच्छं वदनं प्रसन्नम् ।
स्पृश्याच्छुभं कश्चिदकृत्यकारी
श्वा वै पुरोडाशमिवाध्वरस्थम् ।
एतानि वर्त्मान्यनुयात शीघ्रं
मा वः कालः क्षिप्रमिहात्यगाद् वै ।। २२ ।।

'कहीं ऐसा न हो कि आपलोगोंकी प्रियाके सुन्दर नेत्र तथा मनोहर नासिकासे सुशोभित चन्द्र-रश्मियोंके समान स्वच्छ, प्रसन्न एवं पवित्र मुखको कोई कुकर्मकारी पापात्मा पुरुष छू दे; ठीक उसी तरह, जैसे कुत्ता यज्ञके पुरोडाशको चाट ले। अतः जितना शीघ्र सम्भव हो, इन्हीं मार्गोंसे शत्रुका पीछा कीजिये। आपलोगोंका बहुमूल्य समय यहाँ अधिक नहीं बीतना चाहिये' ।। २२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

भद्रे प्रतिक्राम नियच्छ वाचं
मास्मत्सकाशे परुषाण्यवोचः ।
राजानो वा यदि वा राजपुत्रा

बलेन मत्ता वञ्चनां प्राप्नुवन्ति ।। २३ ।।

युधिष्ठिर बोले—भद्रे! हट जाओ। अपनी जबान बंद करो। हमारे निकट द्रौपदीके सम्बन्धमें ऐसी अनुचित और कठोर बातें मुँहसे न निकालो। जिन्होंने अपने बलके घमंडमें आकर ऐसा निन्दनीय कार्य किया है, वे राजा हों या राजकुमार, उन्हें अपने प्राण एवं सम्मानसे अवश्य वञ्चित होना पड़ेगा ।। २३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा प्रययुर्हि शीघ्रं
तान्येव वर्त्मान्यनुवर्तमानाः ।
मुहुर्मुहुर्व्यालवदुच्छ्वसन्तो
ज्यां विक्षिपन्तश्च महाधनुर्भ्यः ।। २४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर समस्त पाण्डव अपने विशाल धनुषकी डोरी खींचते और बार-बार सर्पोंके समान फुफकारते हुए उन्हीं मार्गोंपर चलते हुए बड़े वेगसे आगे बढ़े ।। २४ ।।

ततोऽपश्यंस्तस्य सैन्यस्य रेणु-
मुद्भूतं वै वाजिखुरप्रणुन्नम् ।
पदातीनां मध्यगतं च धौम्यं
विक्रोशन्तं भीममभिद्रवेति ।। २५ ।।

तदनन्तर उन्हें जयद्रथकी सेनाके घोड़ोंकी टॉपसे आहत होकर उड़ती हुई धूल दिखायी दी। उसके साथ ही पैदल सैनिकोंके बीचमें होकर चलते हुए पुरोहित धौम्य भी दृष्टिगोचर हुए, जो बार-बार पुकार रहे थे—‘भीमसेन! दौड़ो’ ।। २५ ।।

ते सान्त्व्य धौम्यं परिदीनसत्त्वाः
सुखं भवानेत्विति राजपुत्राः ।
श्येना यथैवामिषसम्प्रयुक्ता
जवेन तत् सैन्यमथाभ्यधावन् ।। २६ ।।

तब असाधारण पराक्रमी राजकुमार पाण्डव धौम्य मुनिको सान्त्वना देते हुए बोले—‘आप निश्चिन्त होकर चलिये, (हमलोग आ पहुँचे हैं।)’ फिर जैसे बाज मांसकी ओर झपटते हैं, उसी प्रकार पाण्डव जयद्रथकी सेनाके पीछे बड़े वेगसे दौड़े ।। २६ ।।

तेषां महेन्द्रोपमविक्रमाणां
संरब्धानां धर्षणाद् याज्ञसेन्याः ।
क्रोधः प्रजज्वाल जयद्रथं च
दृष्ट्वा प्रियां तस्य रथे स्थितां च ।। २७ ।।

इन्द्रके समान पराक्रमी पाण्डव द्रौपदीके तिरस्कारकी बात सुनकर ही क्रोधातुर हो रहे थे; जब उन्होंने जयद्रथको और उसके रथपर बैठी हुई अपनी प्रिया द्रौपदीको देखा, तब तो उनकी क्रोधाग्नि प्रबल वेगसे प्रज्वलित हो उठी ।। २७ ।।

प्रचुक्रुशुश्चाप्यथ सिन्धुराजं
वृकोदरश्चैव धनंजयश्च ।
यमौ च राजा च महाधनुर्धरा-
स्ततो दिशः सम्मुमुहुः परेषाम् ।। २८ ।।

फिर तो भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा राजा युधिष्ठिर—ये सभी महाधनुर्धर वीर सिन्धुराज जयद्रथको ललकारने लगे। उस समय शत्रुओंके सैनिकोंको इतनी घबराहट हुई कि उन्हें दिशाओंतकका ज्ञान न रहा ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि पार्थागमने एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २६९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें पार्थागमनविषयक दो सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६९ ।।

सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रौपदीद्वारा जयद्रथके सामने पाण्डवोंके पराक्रमका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततो घोरतरः शब्दो वने समभवत् तदा ।
भीमसेनार्जुनौ दृष्ट्वा क्षत्रियाणाममर्षिणाम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर उस वनमें भीमसेन और अर्जुनको देखकर अमर्षमें भरे हुए क्षत्रियोंका अत्यन्त घोर कोलाहल सुनायी देने लगा ।। १ ।।

तेषां ध्वजाग्राण्यभिवीक्ष्य राजा
स्वयं दुरात्मा नरपुङ्गवानाम् ।
जयद्रथो याज्ञसेनीमुवाच
रथे स्थितां भानुमतीं हतौजाः ।। २ ।।

उन नरश्रेष्ठ वीरोंकी ध्वजाओंके अग्रभागोंको देखकर हतोत्साह हुए दुरात्मा राजा जयद्रथने अपने रथपर बैठी हुई तेजस्विनी द्रौपदीसे स्वयं कहा— ।। २ ।।

आयान्तीमे पञ्च रथा महान्तो
मन्ये च कृष्णे पतयस्तवैते ।
सा जानती ख्यापय नः सुकेशि
परं परं पाण्डवानां रथस्थम् ।। ३ ।।

'सुन्दर केशोंवाली कृष्णे! ये पाँच विशाल रथ आ रहे हैं। जान पड़ता है, इनमें तुम्हारे पति ही बैठे हैं। तुम तो सबको जानती ही हो। मुझे रथपर बैठे हुए इन पाण्डवोंमेंसे एक-एकका उत्तरोत्तर परिचय दो' ।। ३ ।।

द्रौपद्युवाच

किं ते ज्ञातैर्मूढ महाधनुर्धरै-
रनायुष्यं कर्म कृत्वातिघोरम् ।
एते वीराः पतयो मे समेता
न वः शेषः कश्चिदिहास्ति युद्धे ।। ४ ।।

द्रौपदी बोली—अरे मूढ़! आयुका नाश करनेवाला वह अत्यन्त भयंकर नीच कर्म करके अब तू इन महाधनुर्धर पाण्डव वीरोंका परिचय जानकर क्या करेगा? ये मेरे सभी वीर पति जुट गये हैं। इनके साथ जो युद्ध होनेवाला है, उसमें तेरे पक्षका कोई भी मनुष्य जीवित नहीं बचेगा ।। ४ ।।

आख्यातव्यं त्वेव सर्वं मुमूर्षो-

र्मया तुभ्यं पृष्टया धर्म एषः ।
न मे व्यथा विद्यते त्वद्भयं वा
सम्पश्यन्त्याः सानुजं धर्मराजम् ।। ५ ।।

मैं भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरको सामने देख रही हूँ; अतः अब न मुझे दुःख है और न तेरा डर ही है। अब तू शीघ्र ही मरना चाहता है; अतः ऐसे समयमें तूने मुझसे जो कुछ पूछा है, उसका उत्तर तुझे दे देना उचित है; यही धर्म है। (अतः मैं अपने पतियोंका परिचय देती हूँ) ।। ५ ।।

यस्य ध्वजाग्रे नदतो मृदङ्गौ
नन्दोपनन्दौ मधुरौ युक्तरूपौ ।
एतं स्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञं
सदा जनाः कृत्यवन्तोऽनुयान्ति ।। ६ ।।
य एष जाम्बूनदशुद्धगौरः
प्रचण्डघोणस्तनुरायताक्षः ।
एतं कुरुश्रेष्ठतमं वदन्ति
युधिष्ठिरं धर्मसुतं पतिं मे ।। ७ ।।

जिनकी ध्वजाके सिरेपर बँधे हुए नन्द और उपनन्द नामक दो सुन्दर मृदंग मधुर स्वरमें बज रहे हैं, जिनका शरीर जाम्बूनद सुवर्णके समान विशुद्ध गौरवर्णका है, जिनकी नासिका ऊँची और नेत्र बड़े-बड़े हैं, जो देखनेमें दुबले-पतले हैं, कुरुकुलके इन श्रेष्ठतम पुरुषको ही धर्मनन्दन युधिष्ठिर कहते हैं। ये मेरे पति हैं। ये अपने धर्म और अर्थके सिद्धान्तको अच्छी तरह जानते हैं; अतः आवश्यकता पड़नेपर लोग इनका सदा अनुसरण करते हैं ।। ६-७ ।।

अप्येष शत्रोः शरणागतस्य
दद्यात् प्राणान् धर्मचारी नृवीरः ।
परेह्येनं मूढ जवेन भूतये
त्वमात्मनः प्राञ्जलिर्न्यस्तशस्त्रः ।। ८ ।।

ये धर्मात्मा नरवीर अपनी शरणमें आये हुए शत्रुको भी प्राणदान दे देते हैं। अरे मूर्ख! यदि तू अपनी भलाई चाहता है तो हथियार नीचे डाल दे और हाथ जोड़कर शीघ्र इनकी शरणमें जा ।। ८ ।।

अथाप्येनं पश्यसि यं रथस्थं
महाभुजं शालमिव प्रवृद्धम् ।
संदष्टौष्ठं भ्रुकुटीसंहतभ्रुवं
वृकोदरो नाम पतिर्ममैषः ।। ९ ।।
आजानेया बलिनः साधु दान्ता
महाबलाः शूरमुदावहन्ति ।

एतस्य कर्माण्यतिमानुषाणि
भीमेति शब्दोऽस्य गतः पृथिव्याम् ।। १० ।।

ये जो शाल (साखू)-के वृक्षकी तरह ऊँचे और विशाल भुजाओंसे सुशोभित वीर पुरुष तुझे रथमें बैठे दिखायी देते हैं, जो क्रोधके मारे भौंहें टेढ़ी करके दाँतोंसे अपने ओंठ चबा रहे हैं, ये मेरे दूसरे पति वृकोदर हैं। बड़े बलवान्, सुशिक्षित और शक्तिशाली आजानेय नामक अश्व इन शूरशिरोमणिके रथको खींचते हैं। इनके सभी कर्म प्रायः ऐसे होते हैं, जिन्हें मानवजगत् नहीं कर सकता। ये अपने भयंकर पराक्रमके कारण इस भूतलपर भीमके नामसे विख्यात हैं ।। ९-१० ।।

नास्यापराद्धाः शेषमवाप्नुवन्ति
नायं वैरं विस्मरते कदाचित् ।
वैरस्यान्तं संविधायोपयाति
पश्चाच्छान्तिं न च गच्छत्यतीव ।। ११ ।।

इनके अपराधी कभी जीवित नहीं रह सकते। ये वैरको कभी नहीं भूलते हैं और वैरका बदला लेकर ही रहते हैं। बदला लेनेके बाद भी अच्छी तरह शान्त नहीं हो पाते ।। ११ ।।

धनुर्धराग्र्यो धृतिमान् यशस्वी
जितेन्द्रियो वृद्धसेवी नृवीरः ।
भ्राता च शिष्यश्च युधिष्ठिरस्य
धनंजयो नाम पतिर्ममैषः ।। १२ ।।
यो वै न कामान्न भयान्न लोभात्
त्यजेद् धर्मं न नृशंसं च कुर्यात् ।
स एष वैश्वानरतुल्यतेजाः
कुन्तीसुतः शत्रुसहः प्रमाथी ।। १३ ।।

ये जो तीसरे वीर पुरुष दिखायी दे रहे हैं, वे मेरे पति धनंजय हैं। इन्हें समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ माना गया है। ये धैर्यवान्, यशस्वी, जितेन्द्रिय, वृद्धपुरुषोंके सेवक तथा महाराज युधिष्ठिरके भाई और शिष्य हैं। अर्जुन कभी काम, भय अथवा लोभवश न तो अपना धर्म छोड़ सकते हैं और न कोई निष्ठुरतापूर्ण कार्य ही कर सकते हैं। इनका तेज अग्निके समान है। ये कुन्तीनन्दन धनंजय समस्त शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ और सभी दुष्टोंका दमन करनेमें दक्ष हैं ।। १२-१३ ।।

यः सर्वधर्मार्थविनिश्चयज्ञो
भयार्तानां भयहर्ता मनीषी ।
यस्योत्तमं रूपमाहुः पृथिव्यां
यं पाण्डवाः परिरक्षन्ति सर्वे ।। १४ ।।
प्राणैर्गरीयांसमनुव्रतं वै

स एष वीरो नकुलः पतिर्मे ।

जो समस्त धर्म और अर्थके निश्चयको जानते हैं, भयसे पीड़ित मनुष्योंका भय दूर करते हैं, जो परम बुद्धिमान् हैं, इस भूमण्डलमें जिनका रूप सबसे सुन्दर बताया जाता है, जो अपने बड़े भाइयोंकी सेवामें तत्पर रहनेवाले और उन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, समस्त पाण्डव जिनकी रक्षा करते हैं, वे ही ये मेरे वीर पति नकुल हैं ।। १४½ ।।

यः खड्गयोधी लघुचित्रहस्तो
महांश्च धीमान् सहदेवोऽद्वितीयः ।। १५ ।।
यस्याद्य कर्म द्रक्ष्यसे मूढसत्त्व
शतक्रतोर्वा दैत्यसेनासु संख्ये ।
शूरः कृतास्त्रो मतिमान् मनस्वी
प्रियङ्करो धर्मसुतस्य राज्ञः ।। १६ ।।

जो खड्गद्वारा युद्ध करनेकी कलामें कुशल हैं, जिनका हाथ बड़ी फुर्तीसे अद्भुत पैंतरे दिखाता हुआ चलता है, जो परम बुद्धिमान् और अद्वितीय वीर हैं, वे सहदेव मेरे पाँचवें पति हैं। ओ मूढ़ प्राणी! जैसे दैत्योंकी सेनामें देवराज इन्द्रका पराक्रम प्रकट होता है, उसी प्रकार युद्धमें तू आज सहदेवका महान् पौरुष देखेगा। वे शौर्यसम्पन्न, अस्त्रविद्याके विशेषज्ञ, बुद्धिमान्, मनस्वी तथा धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरका प्रिय करनेवाले हैं ।। १५-१६ ।।

य एष चन्द्रार्कसमानतेजा
जघन्यजः पाण्डवानां प्रियश्च ।
बुद्ध्या समो यस्य नरो न विद्यते
वक्ता तथा सत्सु विनिश्चयज्ञः ।। १७ ।।

इनका तेज चन्द्रमा और सूर्यके समान है। ये पाण्डवोंमें सबसे छोटे और सबके प्रिय हैं। बुद्धिमें इनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। ये अच्छे वक्ता और सत्पुरुषोंकी सभामें सिद्धान्तके ज्ञाता माने गये हैं ।। १७ ।।

स एष शूरो नित्यममर्षणश्च
धीमान् प्राज्ञः सहदेवः पतिर्मे ।
त्यजेत् प्राणान् प्रविशेद्धव्यवाहं
न त्वेवैष व्याहरेद् धर्मबाह्यम् ।। १८ ।।
सदा मनस्वी क्षत्रधर्मे रतश्च
कुन्त्याः प्राणैरिष्टतमो नृवीरः ।

मेरे पति सहदेव शूरवीर, सदा ईर्ष्यारहित, बुद्धिमान् और विद्वान् हैं। ये अपने प्राण छोड़ सकते हैं, प्रज्वलित आगमें प्रवेश कर सकते हैं, परंतु धर्मके विरुद्ध कोई बात नहीं बोल सकते। नरवीर सहदेव सदा क्षत्रियधर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाले और मनस्वी हैं। आर्या कुन्तीको ये प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं ।। १८½ ।।

विशीर्यन्तीं नावमिवार्णवान्ते
रत्नाभिपूर्णां मकरस्य पृष्ठे ।। १९ ।।
सेनां तवेमां हतसर्वयोधां
विक्षोभितां द्रक्ष्यसि पाण्डुपुत्रैः ।

(अरे मूढ!) रत्नोंसे लदी हुई नाव जैसे समुद्रके बीचमें जाकर किसी मगरमच्छकी पीठसे टकराकर टूट जाती है, उसी प्रकार पाण्डवलोग आज तेरे समस्त सैनिकोंका संहार करके तेरी इस सारी सेनाको छिन्न-भिन्न कर डालेंगे और तू अपनी आँखोंसे यह सब कुछ देखेगा ।। १९½ ।।

इत्येते वै कथिताः पाण्डुपुत्रा
यांस्त्वं मोहादवमन्य प्रवृत्तः ।
यद्येतेभ्यो मुच्यसेऽरिष्टदेहः
पुनर्जन्म प्राप्स्यसे जीव एव ।। २० ।।

इस प्रकार मैंने तुझे इन पाण्डवोंका परिचय दिया है, जिनका अपमान करके तू मोहवश इस नीच कर्ममें प्रवृत्त हुआ है। यदि आज तू इनके हाथोंसे जीवित बच जाय और तेरे शरीरपर कोई आँच नहीं आये, तो तुझे जीते-जी यह दूसरा जन्म प्राप्त हो ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः पार्थाः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पा-
स्त्यक्त्वा त्रस्तान् प्राञ्जलींस्तान् पदातीन् ।
रथानीकं शरवर्षान्धकारं
चक्रुः क्रुद्धाः सर्वतः संनिगृह्य ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! द्रौपदी यह बात कह ही रही थी कि पाँच इन्द्रोंके समान पराक्रमी पाँचों पाण्डव भयभीत होकर हाथ जोड़नेवाले पैदल सैनिकोंको छोड़कर कुपित हो रथ, हाथी और घोड़ोंसे युक्त अवशिष्ट सेनाको सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये और बाणोंकी ऐसी घनघोर वर्षा करने लगे कि चारों ओर अन्धकार छा गया ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि द्रौपदीवाक्ये सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २७० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें द्रौपदीवचनविषयक दो सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७० ।।

एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंद्वारा जयद्रथकी सेनाका संहार, जयद्रथका पलायन, द्रौपदी तथा नकुल-सहदेवके साथ युधिष्ठिरका आश्रमपर लौटना तथा भीम और अर्जुनका वनमें जयद्रथका पीछा करना

वैशम्पायन उवाच

संतिष्ठत प्रहरत तूर्णं विपरिधावत ।
इति स्म सैन्धवो राजा चोदयामास तान् नृपान् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तब सिन्धुराज जयद्रथ 'ठहरो, मारो, जल्दी दौड़ो' कहकर अपने साथ आये हुए राजाओंको युद्धके लिये उत्साहित करने लगा ।। १ ।।

ततो घोरतमः शब्दो रणे समभवत् तदा ।
भीमार्जुनयमान् दृष्ट्वा सैन्यानां सयुधिष्ठिरान् ।। २ ।।

उस समय रणभूमिमें युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवको देखकर जयद्रथके सैनिकोंमें बड़ा भयंकर कोलाहल मच गया ।। २ ।।

शिबिसौवीरसिन्धूनां विषादश्चाप्यजायत ।
तान् दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान् व्याघ्रानिव बलोत्कटान् ।। ३ ।।

सिंहके समान उत्कट बलवान् पुरुषसिंह पाण्डवोंको देखकर शिबि, सौवीर तथा सिन्धुदेशके राजाओंके मनमें भी अत्यन्त विषाद छा गया ।। ३ ।।

हेमचित्रसमुत्सेधां सर्वशैक्यायसीं गदाम् ।
प्रगृह्याभ्यद्रवद् भीमः सैन्धवं कालचोदितम् ।। ४ ।।

जिसका ऊपरी भाग स्वर्णपत्रसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभा पाता था, जिसका सब कुछ शैक्य नामक लोहेसे बनाया गया था, उस विशाल गदाको हाथमें लेकर भीमसेन कालप्रेरित जयद्रथकी ओर दौड़े ।। ४ ।।

तदन्तरमथावृत्य कोटिकास्योऽभ्यहारयत् ।
महता रथवंशेन परिवार्य वृकोदरम् ।। ५ ।।

इतनेमें ही रथोंकी विशाल सेनाके द्वारा भीमसेनको सब ओरसे घेरकर कोटिकास्यने जयद्रथ और भीमसेनके बीचमें भारी व्यवधान डाल दिया ।। ५ ।।

शक्तितोमरनाराचैर्वीरबाहुप्रचोदितैः ।
कीर्यमाणोऽपि बहुभिर्न स्म भीमोऽभ्यकम्पत ।। ६ ।।

उस समय सब योद्धा भीमसेनपर अपनी भुजाओंके द्वारा चलाकर शक्ति, तोमर और नाराच आदि बहुत-से अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे; परंतु भीमसेन इससे तनिक भी विचलित नहीं हुए ।। ६ ।।

गजं तु सगजारोहं पदातींश्च चतुर्दश ।
जघान गदया भीमः सैन्धवध्वजिनीमुखे ।। ७ ।।

उन्होंने जयद्रथकी सेनाके मुहानेपर जाकर अपनी गदाकी चोटसे सवारसहित एक हाथी और चौदह पैदलोंको मार डाला ।। ७ ।।

पार्थः पञ्च शतान् शूरान् पर्वतीयान् महारथान् ।
परीप्समानः सौवीरं जघान ध्वजिनीमुखे ।। ८ ।।

इसी प्रकार अर्जुनने सौवीरराज जयद्रथको पकड़नेकी इच्छा रखकर सेनाके अग्रभागमें स्थित पाँच सौ शूरवीर पर्वतीय महारथियोंको मार डाला ।। ८ ।।

राजा स्वयं सुवीराणां प्रवराणां प्रहारिणाम् ।
निमेषमात्रेण शतं जघान समरे तदा ।। ९ ।।

स्वयं राजा युधिष्ठिरने भी उस समय अपने ऊपर प्रहार करनेवाले सौवीर क्षत्रियोंके सौ प्रमुख वीरोंको पलक मारते-मारते समरांगणमें मार गिराया ।। ९ ।।

ददृशे नकुलस्तत्र रथात् प्रस्कन्द्य खड्गधृक् ।
शिरांसि पादरक्षाणां बीजवत् प्रवपन् मुहुः ।। १० ।।

महावीर नकुल हाथमें तलवार लिये रथसे कूद पड़े और पादरक्षक सैनिकोंके मस्तक काट-काटकर बीजकी भाँति उन्हें बार-बार धरतीपर बोते दिखायी दिये ।। १० ।।

सहदेवस्तु संयाय रथेन गजयोधिनः ।
पातयामास नाराचैर्द्रुमेभ्य इव बर्हिणः ।। ११ ।।

सहदेव रथद्वारा आगे बढ़कर हाथीसवार योद्धाओंसे भिड़ गये और नाराच नामक बाणोंसे मार-मारकर उन्हें इस प्रकार नीचे गिराने लगे, मानो कोई व्याध वृक्षोंपरसे मोरोंको घायल करके गिरा रहा हो ।। ११ ।।

ततस्त्रिगर्तः सधनुरवतीर्य महारथात् ।
गदया चतुरो वाहान् राज्ञस्तस्य तदावधीत् ।। १२ ।।

तदनन्तर धनुष हाथमें लिये त्रिगर्तराजने अपने विशाल रथसे उतरकर राजा युधिष्ठिरके चारों घोड़ोंको गदासे मार डाला ।। १२ ।।

तमभ्याशगतं राजा पदातिं कुन्तिनन्दनः ।
अर्धचन्द्रेण बाणेन विव्याधोरसि धर्मराट् ।। १३ ।।

उसे पैदल ही पास आया देख कुन्तीनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरने अर्धचन्द्राकार बाणसे उसकी छातीको छेद डाला ।। १३ ।।

स भिन्नहृदयो वीरो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ।

पपाताभिमुखः पार्थं छिन्नमूल इव द्रुमः ।। १४ ।।

तब हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण वीर त्रिगर्तराज मुखसे रक्त वमन करता हुआ राजा युधिष्ठिरके सामने ही जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ।।

इन्द्रसेनद्वितीयस्तु रथात् प्रस्कन्द्य धर्मराट् ।
हताश्वः सहदेवस्य प्रतिपेदे महारथम् ।। १५ ।।

इधर धर्मराज युधिष्ठिर अपने घोड़े मारे जानेके कारण सारथि इन्द्रसेनके साथ सहदेवके विशाल रथपर जा बैठे ।। १५ ।।

नकुलं त्वभिसंधाय क्षेमङ्करमहामुखौ ।
उभावुभयतस्तीक्ष्णैः शरवर्षैरवर्षताम् ।। १६ ।।

दूसरी ओर क्षेमंकर और महामुख नामक दो वीर (राजकुमार) नकुलको लक्ष्य करके दोनों ओरसे तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। १६ ।।

तोमरैरभिवर्षन्तौ जीमूताविव वार्षिकौ ।
एकैकेन विपाठेन जघ्ने माद्रवतीसुतः ।। १७ ।।

उस समय तोमरोंकी वर्षा करते हुए वे दोनों योद्धा वर्षाऋतुके दो बादलोंके समान जान पड़ते थे। परंतु माद्रीनन्दन नकुलने एक-एक विपाठ नामक बाण मारकर उन दोनोंको धराशायी कर दिया ।। १७ ।।

त्रिगर्तराजः सुरथस्तस्याथ रथधूर्गतः ।
रथमाक्षेपयामास गजेन गजयानवित् ।। १८ ।।

तदनन्तर हाथीका संचालन करनेमें निपुण त्रिगर्तराज सुरथने नकुलके रथके धुरेके पास पहुँचकर अपने हाथीके द्वारा उनके रथको दूर फेंकवा दिया ।। १८ ।।

नकुलस्त्वपभीस्तस्माद् रथाच्चर्मासिपाणिमान् ।
उद्भ्रान्तं स्थानमास्थाय तस्थौ गिरिरिवाचलः ।। १९ ।।

परंतु नकुलको इससे तनिक भी भय नहीं हुआ। वे हाथमें ढाल-तलवार लिये उस रथसे कूद पड़े और एक निरापद स्थानमें आकर पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़े हो गये ।। १९ ।।

सुरथस्तं गजवरं वधाय नकुलस्य तु ।
प्रेषयामास सक्रोधमत्युच्छ्रितकरं ततः ।। २० ।।

तब सुरथने कुपित होकर अत्यन्त ऊँचे सूँड़ उठाये हुए उस गजराजको नकुलका वध करनेके लिये प्रेरित किया ।। २० ।।

नकुलस्तस्य नागस्य समीपपरिवर्तिनः ।
सविषाणं भुजं मूले खड्गेन निरकृन्तत ।। २१ ।।

परंतु नकुलने खड्गद्वारा अपने निकट आये हुए उस हाथीकी सूँड़को दाँतोंसहित जड़से काट डाला ।।

स विनद्य महानादं गजः किङ्किणिभूषणः ।
पतन्नवाक्शिरा भूमौ हस्त्यारोहमपोथयत् ।। २२ ।।

फिर तो घुघुरुओंसे विभूषित वह गजराज बड़े जोरसे चीत्कार करके नीचे मस्तक किये पृथ्वीपर गिर पड़ा। गिरते-गिरते उसने महावतको भी पृथ्वीपर दे मारा ।। २२ ।।

स तत् कर्म महत् कृत्वा शूरो माद्रवतीसुतः ।
भीमसेनरथं प्राप्य शर्म लेभे महारथः ।। २३ ।।

यह महान् पराक्रम प्रकट करके शूरवीर माद्रीनन्दन महारथी नकुल भीमसेनके रथपर चढ़ गये और वहीं पहुँचकर उन्हें शान्ति मिली ।। २३ ।।

भीमस्त्वापततो राज्ञः कोटिकास्यस्य सङ्गरे ।
सूतस्य नुदतो वाहान् क्षुरेणापाहरच्छिरः ।। २४ ।।

इधर भीमसेनने युद्धमें अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले राजा कोटिकास्यके सारथिका, जो उस समय घोड़ोंका संचालन कर रहा था, छुरेसे सिर उड़ा दिया ।।

न बुबोध हतं सूतं स राजा बाहुशालिना ।
तस्याश्वा व्यद्रवन् संख्ये हतसूतास्ततस्ततः ।। २५ ।।

परंतु राजाको यह मालूम न हो सका कि बाहुशाली भीमके द्वारा मेरा सारथि मारा गया है। उसके मारे जानेसे कोटिकास्यके घोड़े रणभूमिमें इधर-उधर भागने लगे ।। २५ ।।

विमुखं हतसूतं तं भीमः प्रहरतां वरः ।
जघान तलयुक्तेन प्रासेनाभ्येत्य पाण्डवः ।। २६ ।।

सारथिके नष्ट हो जानेसे कोटिकास्यको रणसे विमुख हुआ देख योद्धाओंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन भीमसेनने उसके पास जाकर प्रास नामक मूठदार शस्त्रसे उसे मार डाला ।। २६ ।।

द्वादशानां तु सर्वेषां सौवीराणां धनंजयः ।
चकर्त निशितैर्भल्लैर्धनूंषि च शिरांसि च ।। २७ ।।

अर्जुनने सौवीरदेशके जो बारह राजकुमार थे, उन सबके धनुष और मस्तक अपने भल्ल नामक तीखे बाणोंसे काट गिराये ।। २७ ।।

शिबीनिक्ष्वाकुमुख्यांश्च त्रिगर्तान् सैन्धवानपि ।
जघानातिरथः संख्ये बाणगोचरमागतान् ।। २८ ।।

उन अतिरथी वीरने युद्धमें बाणोंके लक्ष्य बने हुए शिबि, इक्ष्वाकु, त्रिगर्त और सिन्धुदेशके क्षत्रियोंको भी मार डाला ।। २८ ।।

सादिताः प्रत्यदृश्यन्त बहवः सव्यसाचिना ।
सपताकाश्च मातङ्गाः सध्वजाश्च महारथाः ।। २९ ।।

सव्यसाची अर्जुनके द्वारा मारे या नष्ट किये गये पताकासहित बहुतेरे हाथी और ध्वजायुक्त अनेक विशाल रथ दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। २९ ।।

प्रच्छाद्य पृथिवीं तस्थुः सर्वमायोधनं प्रति ।
शरीराण्यशिरस्कानि विदेहानि शिरांसि च ।। ३० ।।

उस समय बिना सिरके धड़ और बिना धड़के सिर समस्त रणभूमिको आच्छादित करके बिखरे पड़े थे ।।

श्वगृध्रकङ्ककाकोलभासगोमायुवायसाः ।
अतृप्यंस्तत्र वीराणां हतानां मांसशोणितैः ।। ३१ ।।

वहाँ मारे गये वीरोंके मांस तथा रक्तसे कुत्ते, गीध, कंक (सफेद चीलें), काकोल (पहाड़ी कौए) चीलें, गीदड़ और कौए तृप्त हो रहे थे ।। ३१ ।।

हतेषु तेषु वीरेषु सिन्धुराजो जयद्रथः ।
विमुच्य कृष्णां संत्रस्तः पलायनपरोऽभवत् ।। ३२ ।।

उन वीरोंके मारे जानेपर सिन्धुराज जयद्रथ भयसे थर्रा उठा और द्रौपदीको वहीं छोड़कर उसने भाग जानेका विचार किया ।। ३२ ।।

स तस्मिन् संकुले सैन्ये द्रौपदीमवतार्य ताम् ।
प्राणप्रेप्सुरुपाधावद् वनं येन नराधमः ।। ३३ ।।

उस तितर-बितर हुई सेनाके बीच उस द्रौपदीको रथसे उतारकर नराधम जयद्रथ अपने प्राण बचानेके लिये वनकी ओर भागा ।। ३३ ।।

द्रौपदीं धर्मराजस्तु दृष्ट्वा धौम्यपुरस्कृताम् ।
माद्रीपुत्रेण वीरेण रथमारोपयत् तदा ।। ३४ ।।

धर्मराज युधिष्ठिरने देखा कि द्रौपदी धौम्य मुनिको आगे करके आ रही है, तो उन्होंने वीरवर माद्रीनन्दन सहदेवद्वारा उसे रथपर चढ़वा लिया ।। ३४ ।।

ततस्तद् विद्रुतं सैन्यमपयाते जयद्रथे ।
आदिश्यादिश्य नाराचैराजघान वृकोदरः ।। ३५ ।।

जयद्रथके भाग जानेपर सारी सेना इधर-उधर भाग चली, परंतु भीमसेन अपने नाराचोंद्वारा नाम बता-बताकर उन सैनिकोंका वध करने लगे ।। ३५ ।।

सव्यसाची तु तं दृष्ट्वा पलायन्तं जयद्रथम् ।
वारयामास निघ्नन्तं भीमं सैन्धवसैनिकान् ।। ३६ ।।

जयद्रथको भागते देख अर्जुनने उसके सैनिकोंके संहारमें लगे हुए भीमसेनको रोका ।। ३६ ।।

अर्जुन उवाच

यस्यापचारात् प्राप्तोऽयमस्मान् क्लेशो दुरासदः ।
तमस्मिन् समरोद्देशे न पश्यामि जयद्रथम् ।। ३७ ।।

अर्जुन बोले—जिसके अत्याचारसे हमलोगोंको यह दुःसह क्लेश सहन करना पड़ा है, उस जयद्रथको तो मैं इस समरभूमिमें देखता ही नहीं हूँ ।। ३७ ।।

तमेवान्विष भद्रं ते किं ते योधैर्निपातितैः ।
अनामिषमिदं कर्म कथं वा मन्यते भवान् ।। ३८ ।।

भैया! आपका भला हो, आप जयद्रथकी ही खोज करें, इन (निरीह) सैनिकोंको मारनेसे क्या लाभ? यह कार्य तो निष्फल दिखायी देता है अथवा आप इसे कैसा समझते हैं? ।। ३८ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो भीमसेनस्तु गुडाकेशेन धीमता ।
युधिष्ठिरमभिप्रेक्ष्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ।। ३९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बुद्धिमान् अर्जुनके ऐसा कहनेपर बातचीतमें कुशल भीमसेनने युधिष्ठिरकी ओर देखकर कहा— ।। ३९ ।।

हतप्रवीरा रिपवो भूयिष्ठं विद्रुता दिशः ।
गृहीत्वा द्रौपदीं राजन् निवर्ततु भवानितः ।। ४० ।।

'राजन्! शत्रुओंके प्रमुख वीर मारे जा चुके हैं और बहुत-से सैनिक सब दिशाओंमें भाग गये हैं। अब आप द्रौपदीको साथ लेकर यहाँसे आश्रमको लौटिये ।। ४० ।।

यमाभ्यां सह राजेन्द्र धौम्येन च महात्मना ।
प्राप्याश्रमपदं राजन् द्रौपदीं परिसान्त्वय ।। ४१ ।।

'महाराज! आप नकुल, सहदेव तथा महात्मा धौम्यके साथ आश्रमपर पहुँचकर द्रौपदीको सान्त्वना दीजिये ।। ४१ ।।

न हि मे मोक्ष्यते जीवन् मूढः सैन्धवको नृपः ।
पातालतलसंस्थोऽपि यदि शक्रोऽस्य सारथिः ।। ४२ ।।

'मूर्ख सिन्धुराज जयद्रथ यदि पातालमें घुस जाय अथवा इन्द्र भी उसके सारथि या सहायक होकर आ जायँ तो भी आज वह मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकता' ।। ४२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

न हन्तव्यो महाबाहो दुरात्मापि स सैन्धवः ।
दुःशलामभिसंस्मृत्य गान्धारीं च यशस्विनीम् ।। ४३ ।।

युधिष्ठिर बोले—महाबाहो! सिन्धुराज जयद्रथ यद्यपि अत्यन्त दुरात्मा है; तथापि बहिन दुःशला और यशस्विनी माता गान्धारीको स्मरण करके उसका वध न करना ।। ४३ ।।

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा द्रौपदी भीममुवाच व्याकुलेन्द्रिया ।
कुपिता ह्रीमती प्राज्ञा पती भीमार्जुनावुभौ ।। ४४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर द्रौपदीकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं। वह लज्जावती और बुद्धिमती होनेपर भी भीमसेन और अर्जुन दोनों पतियोंसे कुपित होकर बोली— ।।

कर्तव्यं चेत् प्रियं मह्यं वध्यः स पुरुषाधमः ।
सैन्धवापसदः पापो दुर्मतिः कुलपांसनः ।। ४५ ।।

'यदि आप लोगोंको मेरा प्रिय करना है तो उस नराधमको अवश्य मार डालिये। वह पापी दुर्बुद्धि जयद्रथ सिन्धुदेशका कलङ्क और कुलाङ्गार है ।। ४५ ।।

भार्याभिहर्ता वैरी यो यश्च राज्यहरो रिपुः ।
याचमानोऽपि संग्रामे न मोक्तव्यः कथंचन ।। ४६ ।।

'जो अपनी पत्नीका अपहरण करनेवाला तथा राज्यको हड़प लेनेवाला हो, ऐसे शत्रुको युद्धमें पाकर वह प्राणोंकी भीख माँगे तो भी किसी तरह जीवित नहीं छोड़ना चाहिये' ।। ४६ ।।

इत्युक्तौ तौ नरव्याघ्रौ ययतुर्यत्र सैन्धवः ।
राजा निववृते कृष्णामादाय सपुरोहितः ।। ४७ ।।

द्रौपदीके ऐसा कहनेपर वे दोनों नरश्रेष्ठ जिस ओर जयद्रथ गया था, उसी ओर चल दिये तथा राजा युधिष्ठिर द्रौपदीको लेकर पुरोहित धौम्यके साथ आश्रमपर चल पड़े ।। ४७ ।।

स प्रविश्याश्रमपदमपविद्धबृसीमठम् ।
मार्कण्डेयादिभिर्विप्रैरनुकीर्णं ददर्श ह ।। ४८ ।।

उन्होंने आश्रममें प्रवेश करके देखा कि बैठनेके आसन और स्वाध्यायके लिये बनी हुई पर्णशालामें सब वस्तुएँ इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। मार्कण्डेय आदि ब्रह्मर्षि वहाँ इकट्ठे हो रहे थे ।। ४८ ।।

द्रौपदीमनुशोचद्भिर्ब्राह्मणैस्तैः समाहितैः ।
समियाय महाप्राज्ञः सभार्यो भ्रातृमध्यगः ।। ४९ ।।

वे सब ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो द्रौपदीके लिये ही बार-बार शोक कर रहे थे। इतनेमें ही पत्नीसहित परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर अपने भाई नकुल और सहदेवके बीचमें होकर चलते हुए वहाँ आ पहुँचे ।। ४९ ।।

ते स्म तं मुदिता दृष्ट्वा पुनः प्रत्यागतं नृपम् ।
जित्वा तान् सिन्धुसौवीरान् द्रौपदीं चाहृतां पुनः ।। ५० ।।

सिन्धु और सौवीरदेशके क्षत्रियोंको जीतकर महाराज लौटे हैं और द्रौपदीदेवी भी पुनः आश्रममें आ गयी हैं, यह देखकर उन ऋषियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ।। ५० ।।

स तैः परिवृतो राजा तत्रैवोपविवेश ह ।
प्रविवेशाश्रमं कृष्णा यमाभ्यां सह भाविनी ।। ५१ ।।

उन ब्राह्मणोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिर वहीं बैठ गये और भामिनी कृष्णा नकुल-सहदेवके साथ आश्रमके भीतर चली गयी ।। ५१ ।।

भीमसेनार्जुनौ चापि श्रुत्वा क्रोशगतं रिपुम् ।
स्वयमश्वांस्तुदन्तौ तौ जवेनैवाभ्यधावताम् ।। ५२ ।।

इधर भीमसेन और अर्जुनने जब सुना कि हमारा शत्रु जयद्रथ एक कोस आगे निकल गया है, तब वे स्वयं अपने घोड़ोंको हाँकते हुए बड़े वेगसे उसके पीछे दौड़े ।। ५२ ।।

इदमत्यद्भुतं चात्र चकार पुरुषोऽर्जुनः ।
क्रोशमात्रगतानश्वान् सैन्धवस्य जघान यत् ।। ५३ ।।
स हि दिव्यास्त्रसम्पन्नः कृच्छ्रकालेऽप्यसम्भ्रमः ।
अकरोद् दुष्करं कर्म शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः ।। ५४ ।।

यहाँ वीर पुरुष अर्जुनने एक अद्भुत पराक्रम दिखाया। यद्यपि जयद्रथके घोड़े एक कोस आगे निकल गये थे, तो भी उन्होंने दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंद्वारा उन्हें दूरसे ही मार डाला। अर्जुन दिव्यास्त्रसे सम्पन्न थे। संकटकालमें भी घबराते नहीं थे। इसीलिये उन्होंने वह दुष्कर कर्म कर दिखाया ।। ५३-५४ ।।

ततोऽभ्यधावतां वीरावुभौ भीमधनंजयौ ।
हताश्वं सैन्धवं भीतमेकं व्याकुलचेतसम् ।। ५५ ।।

तत्पश्चात् वे दोनों वीर भीम और अर्जुन जयद्रथके पीछे दौड़े। वह अकेला तो था ही, घोड़ोंके मारे जानेसे अत्यन्त भयभीत भी हो गया था। उसके हृदयमें व्याकुलता छा गयी थी ।। ५५ ।।

सैन्धवस्तु हतान् दृष्ट्वा तथाश्वान् स्वान् सुदुःखितः ।
अतिविक्रमकर्माणि कुर्वाणं च धनंजयम् ।। ५६ ।।

सिन्धुराज अपने घोड़ोंको मारा गया देख और अलौकिक पराक्रम कर दिखानेवाले अर्जुनको आता जान अत्यन्त दुःखी हो गया ।। ५६ ।।

पलायनकृतोत्साहः प्राद्रवद् येन वै वनम् ।
सैन्धवं त्वभिसम्प्रेक्ष्य पराक्रान्तं पलायने ।। ५७ ।।
अनुयाय महाबाहुः फाल्गुनो वाक्यमब्रवीत् ।

अब उसमें केवल भागनेका उत्साह रह गया था, अतः वह वनकी ओर भागा। सिन्धुराजको केवल भागनेमें ही पराक्रम दिखाता देख महाबाहु अर्जुन उसका पीछा करते हुए बोले— ।। ५७½ ।।

अनेन वीर्येण कथं स्त्रियं प्रार्थयसे बलात् ।। ५८ ।।
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम् ।

कथं ह्यनुचरान् हित्वा शत्रुमध्ये पलायसे ।। ५९ ।।

‘राजकुमार! लौटो, तुम्हें पीठ दिखाकर भागना शोभा नहीं देता। अपने सेवकोंको शत्रुओंके बीचमें छोड़कर कैसे भागे जा रहे हो? क्या इसी बलसे तुम दूसरेकी स्त्रीको बलपूर्वक हरकर ले जाना चाहते थे?’ ।। ५८-५९ ।।

इत्युच्यमानः पार्थेन सैन्धवो न न्यवर्तत ।
तिष्ठ तिष्ठेति तं भीमः सहसाभ्यद्रवद् बली ।
मा वधीरिति पार्थस्तं दयावान् प्रत्यभाषत ।। ६० ।।

अर्जुनके इस प्रकार ताने देनेपर भी सिन्धुराज नहीं लौटा, तब महाबली भीम ‘ठहरो, ठहरो’ कहते हुए सहसा उसके पीछे दौड़े। उस समय दयालु अर्जुनने उनसे कहा—‘भैया! इसकी जान न मारना’ ।। ६० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि द्रौपदीहरणपर्वणि जयद्रथपलायने एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २७१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत द्रौपदीहरणपर्वमें जयद्रथपलायनविषयक दो सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७१ ।।

(जयद्रथविमोक्षणपर्व)

द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

भीमद्वारा बंदी होकर जयद्रथका युधिष्ठिरके सामने उपस्थित होना, उनकी आज्ञासे छूटकर उसका गंगाद्वारमें तप करके भगवान् शिवसे वरदान पाना तथा भगवान् शिवद्वारा अर्जुनके सहायक भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

जयद्रथस्तु सम्प्रेक्ष्य भ्रातरावुद्यतावुभौ ।
प्राधावत् तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सुदुःखितः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीम और अर्जुन दोनों भाइयोंको अपने बधके लिये तुले हुए देख जयद्रथ बहुत दुःखी हुआ और घबराहट छोड़कर प्राण बचानेकी इच्छासे तुरंत तीव्र गतिसे भागने लगा ।। १ ।।

तं भीमसेनो धावन्तमवतीर्य रथाद् बली ।
अभिद्रुत्य निजग्राह केशपक्षे ह्यमर्षणः ।। २ ।।

उसे भागता देख अमर्षमें भरे हुए महाबली भीम भी रथसे उतर गये और बड़े वेगसे दौड़कर उन्होंने उसके केश पकड़ लिये ।। २ ।।

समुद्यम्य च तं भीमो निष्पिपेष महीतले ।
शिरो गृहीत्वा राजानं ताडयामास चैव ह ।। ३ ।।

तत्पश्चात् भीमने उसे ऊपर उठाकर धरतीपर पटक दिया और उसे रौंदने लगे। फिर उन्होंने राजा जयद्रथका सिर पकड़कर उसे कई थप्पड़ लगाये ।। ३ ।।

पुनः संजीवमानस्य तस्योत्पतितुमिच्छतः ।
पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद् विलपिष्यतः ।। ४ ।।
तस्य जानू ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना ।
स मोहमगमद् राजा प्रहारवरपीडितः ।। ५ ।।

इतनी मार खाकर भी वह अभी जीवित ही था और उठनेकी इच्छा कर रहा था। इसी समय महाबाहु भीमने उसके मस्तकपर एक लात मारी। इससे वह रोने-चिल्लाने लगा, तो

भी भीमसेनने उसे गिराकर उसके शरीरपर अपने दोनों घुटने रख दिये और उसे घूँसोंसे मारने लगे। इस प्रकार बड़े जोरकी मार पड़नेसे पीड़ाके मारे राजा जयद्रथ मूर्छित हो गया ।। ४-५ ।।

सरोषं भीमसेनं तु वारयामास फाल्गुनः ।
दुःशलायाः कृते राजा यत् तदाहेति कौरव ।। ६ ।।

इतनेपर भी भीमसेनका क्रोध कम नहीं हुआ। यह देख अर्जुनने उन्हें रोका और कहा—'कुरुनन्दन! दुःशलाके वैधव्यका खयाल करके महाराजने जो आज्ञा दी थी, उसका भी तो विचार कीजिये' ।। ६ ।।

भीमसेन उवाच

नायं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति ।
कृष्णायास्तदनर्हायाः परिक्लेष्टा नराधमः ।। ७ ।।

भीमसेनने कहा—इस नराधमने क्लेश पानेके अयोग्य द्रौपदीको कष्ट पहुँचाया है; अतः अब मेरे हाथसे इस पापाचारी जयद्रथका जीवित रहना ठीक नहीं है ।। ७ ।।

किं नु शक्यं मया कर्तुं यद् राजा सततं घृणी ।
त्वं च बालिशया बुद्ध्या सदैवास्मान् प्रबाधसे ।। ८ ।।

परंतु मैं क्या कर सकता हूँ? राजा युधिष्ठिर सदा दयालु ही बने रहते हैं और तुम भी अपनी बालबुद्धिके कारण मेरे ऐसे कामोंमें सदा बाधा पहुँचाया करते हो ।। ८ ।।

एवमुक्त्वा सटास्तस्य पञ्च चक्रे वृकोदरः ।
अर्धचन्द्रेण बाणेन किंचिदब्रुवतस्तदा ।। ९ ।।

ऐसा कहकर भीमने जयद्रथके लम्बे-लम्बे बालोंको अर्द्धचन्द्राकार बाणसे मूँड़कर पाँच चोटियाँ रख दीं। उस समय वह भयके मारे कुछ भी बोल नहीं पाता था ।। ९ ।।

विकत्थयित्वा राजानं ततः प्राह वृकोदरः ।
जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ।। १० ।।

तदनन्तर कटुवचनोंसे सिन्धुराजका तिरस्कार करते हुए भीमने उससे कहा—'अरे मूढ़! यदि तू जीवित रहना चाहता है तो जीवनरक्षाका हेतुभूत मेरा यह वचन सुन— ।। १० ।।

दासोऽस्मीति तथा वाच्यं संसत्सु च सभासु च ।
एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ।। ११ ।।

'तू राजाओंकी सभा-समितियोंमें जाकर सदा अपनेको (महाराज युधिष्ठिरका) दास बताया कर। यह शर्त स्वीकार हो, तो तुझे जीवन-दान दे सकता हूँ। युद्धमें विजयी पुरुषकी ओरसे हारे हुएके लिये ऐसा ही विधान है' ।। ११ ।।

एवमस्त्विति तं राजा कृष्यमाणो जयद्रथः ।

प्रोवाच पुरुषव्याघ्रं भीममाहवशोभिनम् ।। १२ ।।

उस समय सिन्धुराज जयद्रथ धरतीपर घसीटा जा रहा था। उसने उपर्युक्त शर्त स्वीकार कर ली और युद्धमें शोभा पानेवाले पुरुषसिंह भीमसेनसे अपनी स्वीकृति स्पष्ट बता दी ।। १२ ।।

तत एनं विचेष्टन्तं बद्ध्वा पार्थो वृकोदरः ।
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुण्ठितम् ।। १३ ।।

तदनन्तर वह उठनेकी चेष्टा करने लगा। तब कुन्तीकुमार वृकोदरने उसे बाँधकर रथपर डाल दिया। वह बेचारा धूलसे लथपथ और अचेत हो रहा था ।।

ततस्तं रथमास्थाय भीमः पार्थानुगस्तदा ।
अभ्येत्याश्रममध्यस्थमभ्यगच्छद् युधिष्ठिरम् ।। १४ ।।

उसे रथपर चढ़ाकर आगे-आगे भीम चले और पीछे-पीछे अर्जुन। आश्रमपर आकर भीमसेन वहाँ मध्यभागमें बैठे हुए राजा युधिष्ठिरके पास गये ।। १४ ।।

दर्शयामास भीमस्तु तदवस्थं जयद्रथम् ।
तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतामिति चाब्रवीत् ।। १५ ।।

भीमने उसी अवस्थामें जयद्रथको महाराजके सामने उपस्थित किया। उसे देखकर राजा युधिष्ठिर जोर-जोरसे हँसने लगे और बोले—‘अब इसे छोड़ दो’ ।। १५ ।।

राजानं चाब्रवीद् भीमो द्रौपद्याः कथ्यतामिति ।
दासभावगतो ह्येष पाण्डूनां पापचेतनः ।। १६ ।।

तब भीमसेनने भी राजासे कहा—‘आप द्रौपदीको यह सूचित कर दीजिये कि यह पापात्मा जयद्रथ पाण्डवोंका दास हो चुका है’ ।। १६ ।।

तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः ।
मुञ्चैनमधमाचारं प्रमाणा यदि ते वयम् ।। १७ ।।

तब बड़े भाई युधिष्ठिरने प्रेमपूर्वक भीमसेनसे कहा—‘यदि तुम मेरी बात मानते हो तो इस पापाचारीको छोड़ दो’ ।। १७ ।।

द्रौपदी चाब्रवीद् भीममभिप्रेक्ष्य युधिष्ठिरम् ।
दासोऽयं मुच्यतां राज्ञस्त्वया पञ्चसटः कृतः ।। १८ ।।

उस समय द्रौपदीने भी युधिष्ठिरकी ओर देखकर भीमसेनसे कहा—'आपने इसका सिर मूँड़कर पाँच चोटियाँ रख दी हैं तथा यह महाराजका दास हो गया है; अतः अब इसे छोड़ दीजिये' ।। १८ ।।

स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य युधिष्ठिरम् ।
ववन्दे विह्वलो राजंस्तांश्च दृष्ट्वा मुनींस्तदा ।। १९ ।।

राजन्! तब जयद्रथ बन्धनसे मुक्त कर दिया गया। उसने विह्वल होकर राजा युधिष्ठिरके पास जा उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् वहाँ बैठे हुए अन्यान्य मुनियोंको भी देखकर उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया ।। १९ ।।

तमुवाच घृणी राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
तथा जयद्रथं दृष्ट्वा गृहीतं सव्यसाचिना ।। २० ।।

उस समय (आदर देते हुए) अर्जुनने जयद्रथका हाथ थाम लिया। तब दयालु राजा धर्मपुत्र युधिष्ठिरने जयद्रथकी ओर देखकर कहा— ।। २० ।।

अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः पुनः क्वचित् ।
स्त्रीकामं वा धिगस्तु त्वां क्षुद्रः क्षुद्रसहायवान् ।। २१ ।।
एवंविधं हि कः कुर्यात् त्वदन्यः पुरुषाधमः ।

(कर्म धर्मविरुद्धं वै लोकदुष्टं च कर्म ते ।)

'सिंधुराज! अब तू दास नहीं रहा, जा, तूझे छोड़ दिया गया है। फिर कभी ऐसा काम न करना। अरे! तू परायी स्त्रीकी इच्छा करता है, तुझे धिक्कार है! तू स्वयं तो नीच है ही तेरे सहायक भी अधम हैं। तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा नराधम है जो ऐसा धर्मविरुद्ध कार्य कर सके? तेरा यह कर्म सम्पूर्ण लोकमें निन्दित है' ।। २१½ ।।

गतसत्त्वमिव ज्ञात्वा कर्तारमशुभस्य तम् ।। २२ ।।
सम्प्रेक्ष्य भरतश्रेष्ठः कृपां चक्रे नराधिपः ।
धर्मे ते वर्धतां बुद्धिर्मा चाधर्मे मनः कृथाः ।। २३ ।।
साश्वः सरथपादातः स्वस्ति गच्छ जयद्रथ ।

वह अशुभ कर्म करनेवाला जयद्रथ मृतप्राय-सा हो गया है, यह देख और समझकर भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उसपर कृपा की और कहा—'तेरी बुद्धि धर्ममें उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, तू कभी अधर्ममें मन न लगाना। जयद्रथ! अपने रथ, घोड़े और पैदल सबको साथ लिये कुशलपूर्वक चला जा' ।। २२-२३½ ।।

एवमुक्तस्तु सव्रीडं तूष्णीं किंचिदवाङ्मुखः ।। २४ ।।
जगाम राजन् दुःखार्तो गङ्गाद्वाराय भारत ।
स देवं शरणं गत्वा विरूपाक्षमुमापतिम् ।। २५ ।।
तपश्चचार विपुलं तस्य प्रीतो वृषध्वजः ।
बलिं स्वयं प्रत्यगृह्णात् प्रीयमाणस्त्रिलोचनः ।। २६ ।।

राजन्! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर जयद्रथ बहुत लज्जित हुआ और नीचा मुँह किये वहाँसे चुपचाप चला गया। जनमेजय! वह पराजित होनेके महान् दुःखसे पीड़ित था; अतः वहाँसे घर न जाकर गंगाद्वार (हरिद्वार)-को चल दिया। वहाँ पहुँचकर उसने तीन नेत्रोंवाले भगवान् उमापतिकी शरण ले बड़ी भारी तपस्या की। इससे भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये। त्रिनेत्रधारी महादेवने प्रसन्नतापूर्वक स्वयं दर्शन देकर उसकी पूजा ग्रहण की ।। २४—२६ ।।

वरं चास्मै ददौ देवः स जग्राह च तच्छृणु ।
समस्तान् सरथान् पञ्च जयेयं युधि पाण्डवान् ।। २७ ।।
इति राजाब्रवीद् देवं नेति देवस्तमब्रवीत् ।
अजय्यांश्चाप्यवध्यांश्च वारयिष्यसि तान् युधि ।। २८ ।।
ऋतेऽर्जुनं महाबाहुं नरं नाम सुरेश्वरम् ।
बदर्यां तप्ततपसं नारायणसहायकम् ।। २९ ।।

जनमेजय! भगवान्ने उसे वर दिया और जयद्रथने उसको ग्रहण किया। वह वर क्या था? यह बताता हूँ, सुनो—'मैं रथसहित पाँचों पाण्डवोंको युद्धमें जीत लूँ', यही वर सिन्धुराजने महादेवजीसे माँगा। परंतु महादेवजीने उससे कहा—'ऐसा नहीं हो सकता। पाण्डव अजेय और अवध्य हैं। तुम केवल एक दिन युद्धमें महाबाहु अर्जुनको छोड़कर

अन्य चार पाण्डवोंको आगे बढ़नेसे रोक सकते हो। देवेश्वर नर, जो बदरिकाश्रममें भगवान् नारायणके साथ रहकर तपस्या करते हैं, वे ही अर्जुन हैं ।। २७—२९ ।।

अजितं सर्वलोकानां देवैरपि दुरासदम् ।
मया दत्तं पाशुपतं दिव्यमप्रतिमं शरम् ।
अवाप लोकपालेभ्यो वज्रादीन् स महाशरान् ।। ३० ।।

'उन्हें तुम तो क्या, सम्पूर्ण लोक मिलकर भी जीत नहीं सकते। उनका सामना करना तो देवताओंके लिये भी कठिन है। मैंने उन्हें पाशुपत नामक दिव्य अस्त्र प्रदान किया है, जिसके जोड़का दूसरा कोई अस्त्र ही नहीं है। इसके सिवा अन्यान्य लोकपालोंसे भी उन्होंने वज्र आदि महान् अस्त्र प्राप्त किये हैं ।। ३० ।।

देवदेवो ह्यनन्तात्मा विष्णुः सुरगुरुः प्रभुः ।
प्रधानपुरुषोऽव्यक्तो विश्वात्मा विश्वमूर्तिमान् ।। ३१ ।।

['अब मैं तुम्हें नरस्वरूप अर्जुनके सहायक भगवान् नारायणकी महिमा बताता हूँ, सूनो] भगवान् नारायण देवताओंके भी देवता, अनन्तस्वरूप, सर्वव्यापी, देवगुरु, सर्वसमर्थ, प्रकृति-पुरुषरूप, अव्यक्त, विश्वात्मा एवं विश्वरूप हैं ।। ३१ ।।

युगान्तकाले सम्प्राप्ते कालाग्निर्दहते जगत् ।

सपर्वतार्णवद्वीपं सशैलवनकाननम् ।। ३२ ।।

'प्रलयकाल उपस्थित होनेपर वे भगवान् विष्णु ही कालाग्निरूपसे प्रकट हो पर्वत, समुद्र, द्वीप, शैल, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण जगत्को दग्ध कर देते हैं ।। ३२ ।।

निर्दहन् नागलोकांश्च पातालतलचारिणः ।
अथान्तरिक्षे सुमहन्नानावर्णाः पयोधराः ।। ३३ ।।

'फिर पातालतलमें विचरण करनेवाले नागलोकोंको भी वे भस्म कर डालते हैं। कालाग्निद्वारा सब कुछ भस्म हो जानेपर आकाशमें अनेक रंगके महान् मेघोंकी घोर घटा घिर आती है ।। ३३ ।।

घोरस्वरा विनदिनस्तडिन्मालावलम्बिनः ।
समुत्तिष्ठन् दिशः सर्वा विवर्षन्तः समन्ततः ।। ३४ ।।

'भयंकर स्वरसे गर्जना करते हुए वे बादल बिजलियोंकी मालाओंसे प्रकाशित हो सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल जाते और सब ओर वर्षा करने लग जाते हैं ।। ३४ ।।

ततोऽग्निं नाशयामासुः संवर्ताग्निनियामकाः ।
अक्षमात्रैश्च धाराभिस्तिष्ठन्त्यापूर्य सर्वशः ।। ३५ ।।

'इससे प्रलयकालीन अग्नि बुझ जाती है। संवर्तक अग्निका नियन्त्रण करनेवाले वे महामेघ लंबे सर्पोंके समान मोटी धाराओंसे जल गिराते हुए सबको डुबो देते हैं ।। ३५ ।।

एकार्णवे तदा तस्मिन्नुपशान्तचराचरे ।
नष्टचन्द्रार्कपवने ग्रहनक्षत्रवर्जिते ।। ३६ ।।

'उस समय सम्पूर्ण दिशाओंमें पानी भर जानेसे चारों ओर एकाकार जलमय समुद्र ही दृष्टिगोचर होता है। उस एकार्णवके जलमें समस्त चराचर जगत् नष्ट हो जाता है। चन्द्रमा, सूर्य और वायु भी विलीन हो जाते हैं। ग्रह और नक्षत्रोंका अभाव हो जाता है ।। ३६ ।।

चतुर्युगसहस्रान्ते सलिलेनाप्लुता मही ।
ततो नारायणाख्यस्तु सहस्राक्षः सहस्रपात् ।। ३७ ।।
सहस्रशीर्षा पुरुषः स्वप्तुकामस्त्वतीन्द्रियः ।
फटासहस्रविकटं शेषं पर्यङ्कभाजनम् ।। ३८ ।।
सहस्रमिव तिग्मांशुसंघातममितद्युतिम् ।
कुन्देन्दुहारगोक्षीरमृणालकुमुदप्रभम् ।। ३९ ।।
तत्रासौ भगवान् देवः स्वपञ्जलनिधौ तदा ।
नैशेन तमसा व्याप्तां स्वां रात्रिं कुरुते विभुः ।। ४० ।।

'एक हजार चतुर्युगी समाप्त होनेपर उपर्युक्त एकार्णवके जलमें यह पृथ्वी डूब जाती है। तत्पश्चात् नारायण नामसे प्रसिद्ध भगवान् श्रीहरि उस एकार्णवके जलमें शयन करनेके हेतु अपने लिये निशाकालोचित अन्धकार (तमोगुण)-से व्याप्त महारात्रिका निर्माण करते हैं। उन भगवान्के सहस्रों नेत्र, सहस्रों चरण और सहस्रों मस्तक हैं। वे अन्तर्यामी पुरुष हैं

और इन्द्रियातीत होनेपर भी शयन करनेकी इच्छासे उन शेषनागको अपना पर्यंक बनाते हैं जो सहस्रों फणोंसे विकटाकार दिखायी देते हैं। वे शेषनाग एक सहस्र प्रचण्ड सूर्योंके समूहकी भाँति अनन्त एवं असीम प्रभा धारण करते हैं। उनकी कान्ति कुन्द-पुष्प, चन्द्रमा, मुक्ताहार, गोदुग्ध, कमलनाल तथा कुमुद-कुसुमके समान उज्ज्वल है। उन्हींकी शय्या बनाकर भगवान् श्रीहरि शयन करते हैं ।।

सत्त्वोद्रेकात् प्रबुद्धस्तु शून्यं लोकमपश्यत ।
इमं चोदाहरन्त्यत्र श्लोकं नारायणं प्रति ।। ४१ ।।

'तत्पश्चात् सृष्टिकालमें सत्त्वगुणके आधिक्यसे भगवान् योगनिद्रासे जाग उठे। जागनेपर उन्हें यह समस्त लोक सूना दिखायी दिया। महर्षिगण भगवान् नारायणके सम्बन्धमें यहाँ इस श्लोकका उदाहरण दिया करते हैं— ।। ४१ ।।

आपो नारास्तत्तनव इत्यपां नाम शुश्रुम ।
अयनं तेन चैवास्ते तेन नारायणः स्मृतः ।। ४२ ।।

'जल भगवान्का शरीर है, इसीलिये उनका नाम 'नार' सुनते आये हैं। वह नार ही उनका अयन (गृह) है अथवा उसके साथ एक होकर वे रहते हैं, इसीलिये उन भगवान्को नारायण कहा गया है' ।। ४२ ।।

प्रध्यानसमकालं तु प्रजाहेतोः सनातनः ।
ध्यातमात्रे तु भगवन्नाभ्यां पद्मः समुत्थितः ।। ४३ ।।

'तत्पश्चात् प्रजाकी सृष्टिके लिये भगवान्ने चिन्तन किया। इस चिन्तनके साथ ही भगवान्की नाभिसे सनातन कमल प्रकट हुआ ।। ४३ ।।

ततश्चतुर्मुखो ब्रह्मा नाभिपद्माद् विनिःसृतः ।
तत्रोपविष्टः सहसा पद्मे लोकपितामहः ।। ४४ ।।
शून्यं दृष्ट्वा जगत् कृत्स्नं मानसानात्मनः समान् ।
ततो मरीचिप्रमुखान् महर्षीनसृजन्नव ।। ४५ ।।

'उस नाभिकमलसे चतुर्मुख ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ। उस कमलपर बैठे हुए लोकपितामह ब्रह्माजीने सहसा सम्पूर्ण जगत्को शून्य देखकर अपने मानसपुत्रके रूपमें अपने ही-जैसे प्रभावशाली मरीचि आदि नौ महर्षियोंको उत्पन्न किया ।। ४४-४५ ।।

तेऽसृजन् सर्वभूतानि त्रसानि स्थावराणि च ।
यक्षराक्षसभूतानि पिशाचोरगमानुषान् ।। ४६ ।।

'उन महर्षियोंने स्थावर-जंगमरूप सम्पूर्ण भूतोंकी तथा यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, नाग और मनुष्योंकी सृष्टि की ।। ४६ ।।

सृज्यते ब्रह्ममूर्तिस्तु रक्षते पौरुषी तनुः ।
रौद्रीभावेन शमयेत् तिस्रोऽवस्थाः प्रजापतेः ।। ४७ ।।

'ब्रह्माजीके रूपसे भगवान् सृष्टि करते हैं। परमपुरुष नारायणरूपसे इसकी रक्षा करते हैं तथा रुद्रस्वरूपसे सबका संहार करते हैं। इस प्रकार प्रजापालक भगवान्‌की ये तीन अवस्थाएँ हैं ।। ४७ ।।

न श्रुतं ते सिन्धुपते विष्णोरद्भुतकर्मणः ।
कथ्यमानानि मुनिभिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।। ४८ ।।

'सिन्धुराज! क्या तुमने वेदोंके पारंगत ब्रह्मर्षियोंके मुखसे अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णुका चरित्र नहीं सुना है? ।। ४८ ।।

जलेन समनुप्राप्ते सर्वतः पृथिवीतले ।
तदा चैकार्णवे तस्मिन्नेकाकाशे प्रभुश्चरन् ।। ४९ ।।
निशायामिव खद्योतः प्रावृट्काले समन्ततः ।
प्रतिष्ठानाय पृथिवीं मार्गमाणस्तदाभवत् ।। ५० ।।

'समस्त भूमण्डल सब ओरसे जलमें डूबा हुआ था। उस समय एकार्णवसे उपलक्षित एकमात्र आकाशमें पृथ्वीका पता लगानेके लिये भगवान् इस प्रकार विचर रहे थे, जैसे वर्षाकालकी रातमें जुगनू सब ओर उड़ता फिरता है। वे पृथ्वीको कहीं स्थिररूपसे स्थापित करनेके लिये उसकी खोज कर रहे थे ।। ४९-५० ।।

जले निमग्नां गां दृष्ट्वा चोद्धर्तुं मनसेच्छति ।
किं नु रूपमहं कृत्वा सलिलादुद्धरे महीम् ।। ५१ ।।

पृथ्वीको जलमें डूबी हुई देख भगवान्‌ने मन-ही-मन उसे बाहर निकालनेकी इच्छा की। वे सोचने लगे, 'कौन-सा रूप धारण करके मैं इस जलसे पृथ्वीका उद्धार करूँ' ।। ५१ ।।

एवं संचिन्त्य मनसा दृष्ट्वा दिव्येन चक्षुषा ।
जलक्रीडाभिरुचितं वाराहं रूपमस्मरत् ।। ५२ ।।

'इस प्रकार मन-ही-मन चिन्तन करके उन्होंने दिव्य दृष्टिसे देखा कि जलमें क्रीड़ा करनेके योग्य तो वराहरूप है; अतः उन्होंने उसी रूपका स्मरण किया ।।

कृत्वा वराहवपुषं वाङ्मयं वेदसम्मितम् ।
दशयोजनविस्तीर्णमायतं शतयोजनम् ।। ५३ ।।
महापर्वतवर्ष्माभं तीक्ष्णदंष्ट्रं प्रदीप्तिमत् ।
महामेघौघनिर्घोषं नीलजीमूतसंनिभम् ।। ५४ ।।

'वेदतुल्य वैदिक वाङ्मय वराहरूप धारण करके भगवान्‌ने जलके भीतर प्रवेश किया। उनका वह विशाल पर्वताकार शरीर सौ योजन लंबा और दस योजन चौड़ा था। उनकी दाढ़ें बड़ी तीखी थीं। उनका शरीर देदीप्यमान हो रहा था। भगवान्‌का कण्ठस्वर महान् मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर था। उनकी अंगकान्ति नील जलधरके समान श्याम थी ।। ५३-५४ ।।

भूत्वा यज्ञवराहो वै अपः सम्प्राविशत् प्रभुः ।

दंष्ट्रेणैकेन चोद्धृत्य स्वे स्थाने न्यविशन्महीम् ।। ५५ ।।

'इस प्रकार यज्ञवाराहरूप धारण करके भगवान्ने जलके भीतर प्रवेश किया और एक ही दाँतसे पृथ्वीको उठाकर उसे अपने स्थानपर स्थापित कर दिया ।। ५५ ।।

पुनरेव महाबाहुरपूर्वां तनुमाश्रितः ।
नरस्य कृत्वार्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं प्रभुः ।। ५६ ।।
दैत्येन्द्रस्य सभां गत्वा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ।
दैत्यानामादिपुरुषः सुरारिर्दितिनन्दनः ।। ५७ ।।
दृष्ट्वा चापूर्वपुरुषं क्रोधात् संरक्तलोचनः ।

'तदनन्तर महाबाहु भगवान् श्रीहरिने एक अपूर्व शरीर धारण किया, जिसमें आधा अंग तो मनुष्यका था और आधा सिंहका। इस प्रकार नृसिंहरूप धारण करके हाथसे हाथका स्पर्श किये हुए दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी सभामें गये। दैत्योंके आदिपुरुष और देवताओंके शत्रु दितिनन्दन हिरण्यकशिपुने उस अपूर्व पुरुषको देखकर क्रोधसे आँखें लाल कर लीं ।। ५६-५७½ ।।

शूलोद्यतकरः स्रग्वी हिरण्यकशिपुस्तदा ।। ५८ ।।
मेघस्तनितनिर्घोषो नीलाभ्रचयसंनिभः ।
देवारिर्दितिजो वीरो नृसिंहं समुपाद्रवत् ।। ५९ ।।

'उसने एक हाथमें शूल उठा रखा था। उसके गलेमें पुष्पोंकी माला शोभा पा रही थी। उस समय वीर हिरण्यकशिपुने, जिसकी आवाज मेघकी गर्जनाके समान थी, जो नीले मेघोंके समूह-जैसा श्याम था तथा जो दितिके गर्भसे उत्पन्न होकर देवताओंका शत्रु बना हुआ था; भगवान् नृसिंहपर धावा किया ।। ५८-५९ ।।

समुपेत्य ततस्तीक्ष्णैर्मृगेन्द्रेण बलीयसा ।
नारसिंहेन वपुषा दारितः करजैर्भृशम् ।। ६० ।।

'इसी समय अत्यन्त बलवान् मृगेन्द्रस्वरूप भगवान् नृसिंहने दैत्यके निकट जाकर उसे अपने तीखे नखोंद्वारा अत्यन्त विदीर्ण कर दिया ।। ६० ।।

एवं निहत्य भगवान् दैत्येन्द्रं रिपुघातिनम् ।
भूयोऽन्यः पुण्डरीकाक्षः प्रभुर्लोकहिताय च ।। ६१ ।।

'इस प्रकार शत्रुघाती दैत्यराज हिरण्यकशिपुका वध करके भगवान् कमलनयन श्रीहरि पुनः सम्पूर्ण लोकोंके हितके लिये अन्य रूपमें प्रकट हुए ।। ६१ ।।

कश्यपस्यात्मजः श्रीमानदित्या गर्भधारितः ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु प्रसूता गर्भमुत्तमम् ।। ६२ ।।

'उस समय वे कश्यपजीके तेजस्वी पुत्र हुए। अदितिदेवीने उन्हें गर्भमें धारण किया था। पूरे एक हजार वर्षतक गर्भमें धारण करनेके पश्चात् अदितिने एक उत्तम बालकको जन्म दिया ।। ६२ ।।

दुर्दिनाम्भोदसदृशो दीप्ताक्षो वामनाकृतिः ।
दण्डी कमण्डलुधरः श्रीवत्सोरसि भूषितः ।। ६३ ।।

'वह वर्षाकालके मेघके समान श्यामवर्णका था। उसके नेत्र देदीप्यमान हो रहे थे। वे वामनाकार, दण्ड और कमण्डलु धारण किये तथा वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित थे ।। ६३ ।।

जटी यज्ञोपवीती च भगवान् बालरूपधृक् ।
यज्ञवाटं गतः श्रीमान् दानवेन्द्रस्य वै तदा ।। ६४ ।।

'उनके सिरपर जटा थी और गलेमें यज्ञोपवीत शोभा पाता था। उस समय वे बालरूपधारी श्रीमान् भगवान् दानवराज बलिकी यज्ञशालाके समीप गये ।।

बृहस्पतिसहायोऽसौ प्रविष्टो बलिनो मखे ।
तं दृष्ट्वा वामनतनुं प्रहृष्टो बलिरब्रवीत् ।। ६५ ।।

'बृहस्पतिजीकी सहायतासे उनका बलिके यज्ञ-मण्डपमें प्रवेश हुआ। वामनरूपधारी भगवान्‌को देखकर राजा बलि बहुत प्रसन्न हुए और बोले— ।। ६५ ।।

प्रीतोऽस्मि दर्शने विप्र ब्रूहि त्वं किं ददानि ते ।
एवमुक्तस्तु बलिना वामनः प्रत्युवाच ह ।। ६६ ।।
स्वस्तीत्युक्त्वा बलिं देवः स्मयमानोऽभ्यभाषत ।
मेदिनीं दानवपते देहि मे विक्रमत्रयम् ।। ६७ ।।

'ब्रह्मन्! आपका दर्शन पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। आज्ञा कीजिये, मैं आपकी सेवाके लिये क्या दूँ?' बलिके ऐसा कहनेपर भगवान् वामनने '(आपका) स्वस्ति (कल्याण हो)' ऐसा कहकर बलिको आशीर्वाद दिया और मुसकराते हुए कहा—'दानवराज! मुझे तीन पग पृथ्वी दे दीजिये' ।। ६६-६७ ।।

बलिर्ददौ प्रसन्नात्मा विप्रायामिततेजसे ।
ततो दिव्याद्भुततमं रूपं विक्रमतो हरेः ।। ६८ ।।

'बलिने प्रसन्नचित्त होकर उन अमिततेजस्वी ब्राह्मणदेवताको उनकी मुँहमाँगी वस्तु दे दी। तब भूमिको नापते समय श्रीहरिका अत्यन्त अद्भुत दिव्य रूप प्रकट हुआ ।। ६८ ।।

विक्रमैस्त्रिभिरक्षोभ्यो जहाराशु स मेदिनीम् ।
ददौ शक्राय च महीं विष्णुर्देवः सनातनः ।। ६९ ।।

'उन अक्षोभ्य सनातन विष्णुदेवने तीन पगद्वारा शीघ्र ही सारी वसुधा नाप ली और देवराज इन्द्रको समर्पित कर दी ।। ६९ ।।

एष ते वामनो नाम प्रादुर्भावः प्रकीर्तितः ।
तेन देवाः प्रादुरासन् वैष्णवं चोच्यते जगत् ।। ७० ।।

'यह मैंने तुम्हें भगवान्‌के वामनावतारकी बात बतायी है। उन्हींसे देवताओंकी उत्पत्ति हुई है। यह जगत् भी भगवान् विष्णुसे प्रकट होनेके कारण वैष्णव कहलाता है ।। ७० ।।

असतां निग्रहार्थाय धर्मसंरक्षणाय च ।
अवतीर्णो मनुष्याणामजायत यदुक्षये ।। ७१ ।।
स एवं भगवान् विष्णुः कृष्णेति परिकीर्त्यते ।
अनाद्यन्तमजं देवं प्रभुं लोकनमस्कृतम् ।। ७२ ।।

'राजन्! वे ही भगवान् विष्णु दुष्टोंका दमन और धर्मका संरक्षण करनेके लिये मनुष्योंके बीच यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं। उन्हींको श्रीकृष्ण कहते हैं। वे अनादि, अनन्त, अजन्मा, दिव्यस्वरूप, सर्वसमर्थ और विश्ववन्दित हैं ।। ७१-७२ ।।

यं देवं विदुषो गान्ति तस्य कर्माणि सैन्धव ।
यमाहुरजितं कृष्णं शङ्खचक्रगदाधरम् ।। ७३ ।।
श्रीवत्सधारिणं देवं पीतकौशेयवाससम् ।
प्रधानः सोऽस्त्रविदुषां तेन कृष्णेन रक्ष्यते ।। ७४ ।।

'सिन्धुराज! विद्वान् पुरुष उन्हीं भगवान्की महिमा गाते और उन्हींके पावन चरित्रोंका वर्णन करते हैं। उन्हींको अपराजित, शंखचक्रगदाधारी पीतपट्टाम्बर-विभूषित श्रीवत्सधारी भगवान् श्रीकृष्ण कहा गया है। अस्त्रविद्याके विद्वानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित हैं ।। ७३-७४ ।।

सहायः पुण्डरीकाक्षः श्रीमानतुलविक्रमः ।
समानस्यन्दने पार्थमास्थाय परवीरहा ।। ७५ ।।

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अतुलपराक्रमी श्रीमान् कमलनयन श्रीकृष्ण एक ही रथपर अर्जुनके समीप बैठकर उनकी सहायता करते हैं ।। ७५ ।।

न शक्यते तेन जेतुं त्रिदशैरपि दुःसहः ।
कः पुनर्मानुषो भावो रणे पार्थं विजेष्यति ।। ७६ ।।

'इस कारण अर्जुनको कोई नहीं जीत सकता। उनका वेग सहन करना देवताओंके लिये भी कठिन है; फिर कौन ऐसा मनुष्य है जो युद्धमें अर्जुनपर विजय पा सके? ।।

तमेकं वर्जयित्वा तु सर्वं यौधिष्ठिरं बलम् ।
चतुरः पाण्डवान् राजन् दिनैकं जेष्यसे रिपून् ।। ७७ ।।

'राजन्! केवल अर्जुनको छोड़कर एक दिन ही तुम युधिष्ठिरकी सारी सेनाको और अपने शत्रु चारों पाण्डवोंको भी जीत सकोगे' ।। ७७ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा नृपतिं सर्वपापहरो हरः ।
उमापतिः पशुपतिर्यज्ञहा त्रिपुरार्दनः ।। ७८ ।।
वामनैर्विकटैः कुब्जैरुग्रश्रवणदर्शनैः ।
वृतः पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ।। ७९ ।।

त्र्यम्बको राजशार्दूल भगनेत्रनिपातनः ।
उमासहायो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ।। ८० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उमापति भगवान् हर समस्त पापोंका अपहरण करनेवाले हैं। वे पशुरूपी जीवोंके पालक, दक्षयज्ञविध्वंसक तथा त्रिपुरविनाशक हैं। उनके तीन नेत्र हैं और उन्हींके द्वारा भगदेवताके नेत्र नष्ट किये गये हैं। भगवती उमा सदा उनके साथ रहती हैं। नृपश्रेष्ठ! भगवान् शिव सिन्धुराज जयद्रथसे पूर्वोक्त वचन कहकर भयंकर कानों और नेत्रोंवाले भाँति-भाँतिके अस्त्र उठाये रहनेवाले अपने भयंकर पार्षदोंके साथ, जिनमें बौने, कुबड़े और विकट आकृतिवाले प्राणी भी थे, भगवती पार्वतीसहित वहीं अन्तर्धान हो गये ।। ७८—८० ।।

जयद्रथोऽपि मन्दात्मा स्वमेव भवनं ययौ ।
पाण्डवाश्च वने तस्मिन् न्यवसन् काम्यके तथा ।। ८१ ।।

तत्पश्चात् मन्दबुद्धि जयद्रथ भी अपने घर चला गया और पाण्डवगण उस काम्यकवनमें उसी प्रकार निवास करने लगे ।। ८१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि जयद्रथविमोक्षणपर्वणि द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २७२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत जयद्रथविमोक्षणपर्वमें दो सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ८१½ श्लोक हैं)

(रामोपाख्यानपर्व)

त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अपनी दुरवस्थासे दुःखी हुए युधिष्ठिरका मार्कण्डेय मुनिसे प्रश्न करना

जनमेजय उवाच

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
अत ऊर्ध्वं नरव्याघ्राः किमकुर्वत पाण्डवाः ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—इस प्रकार द्रौपदीका अपहरण होनेपर महान् क्लेश उठानेके पश्चात् मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी पाण्डवोंने कौन-सा कार्य किया? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं कृष्णां मोक्षयित्वा विनिर्जित्य जयद्रथम् ।
आसांचक्रे मुनिगणैर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय! इस प्रकार जयद्रथको जीतकर द्रौपदीको छुड़ा लेनेके पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर मुनिमण्डलीके साथ बैठे हुए थे ।। २ ।।

तेषां मध्ये महर्षीणां शृण्वतामनुशोचताम् ।
मार्कण्डेयमिदं वाक्यमब्रवीत् पाण्डुनन्दनः ।। ३ ।।

महर्षिलोग भी पाण्डवोंपर आये हुए संकटको सुनते और उसके लिये बारंबार शोक प्रकट करते थे। उन्हींमेंसे मार्कण्डेयजीको लक्ष्य करके पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा ।। ३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् देवर्षीणां त्वं ख्यातो भूतभविष्यवित् ।
संशयं परिपृच्छामि छिन्धि मे हृदि संस्थितम् ।। ४ ।।

युधिष्ठिर बोले—भगवन्! आप भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंके ज्ञाता हैं। देवर्षियोंमें भी आपका नाम विख्यात है। अतः आपसे मैं अपने हृदयका एक संदेह पूछता हूँ, उसका निवारण कीजिये ।। ४ ।।

द्रुपदस्य सुता ह्येषा वेदिमध्यात् समुत्थिता ।
अयोनिजा महाभागा स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः ।। ५ ।।

यह परम सौभाग्यशालिनी द्रुपदकुमारी यज्ञकी वेदीसे प्रकट हुई है; अतः अयोनिजा है (इसे गर्भवासका कष्ट नहीं सहन करना पड़ा है)। इसे महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू होनेका गौरव भी मिला है ।। ५ ।।

मन्ये कालश्च भगवान् दैवं च विधिनिर्मितम् ।
भवितव्यं च भूतानां यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ।। ६ ।।

मेरी समझमें भगवान् काल, विधिनिर्मित दैव और समस्त प्राणियोंकी भवितव्यता अर्थात् उनके लिये होनेवाली घटना—ये तीनों ही प्रबल हैं; इनको कोई टाल नहीं सकता ।। ६ ।।

इमां हि पत्नीमस्माकं धर्मज्ञां धर्मचारिणीम् ।
संस्पृशेदीदृशो भावः शुचिं स्तैन्यमिवानृतम् ।। ७ ।।

अन्यथा हमारी इस पत्नीको, जो धर्मको जाननेवाली तथा धर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाली है, ऐसा भाव (अपहृत होनेका लांछन) कैसे स्पर्श कर सकता था? यह तो ठीक वैसा ही है, जैसे किसी शुद्ध आचार-विचारवाले मनुष्यपर झूठे ही चोरीका कलंक लग जाय ।। ७ ।।

न हि पापं कृतं किंचित् कर्म वा निन्दितं क्वचित् ।
द्रौपद्या ब्राह्मणेष्वेव धर्मः सुचरितो महान् ।। ८ ।।

इसने कभी कोई पाप या निन्दित कर्म नहीं किया है। द्रौपदीने ब्राह्मणोंके प्रति सेवा-सत्कार आदिके रूपमें महान् धर्मका आचरण किया है ।। ८ ।।

तां जहार बलाद् राजा मूढबुद्धिर्जयद्रथः ।
तस्याः संहरणात् पापः शिरसः केशपातनम् ।। ९ ।।
पराजयं च संग्रामे ससहायः समाप्तवान् ।
प्रत्याहृता तथा स्माभिर्हत्वा तत् सैन्धवं बलम् ।। १० ।।

ऐसी स्त्रीका भी मूढ़बुद्धि पापी राजा जयद्रथने बलपूर्वक अपहरण किया। इस अपहरणके ही कारण उसका सिर मूँड़ा गया, वह अपने सहायकों-सहित युद्धमें पराजित हुआ तथा हमलोग सिन्धु-देशकी सेनाका संहार करके पुनः द्रौपदीको लौटा लाये हैं ।। ९-१० ।।

तद् दारहरणं प्राप्तमस्माभिरवितर्कितम् ।
ज्ञातिभिर्विप्रवासश्च मिथ्याव्यवसितैरियम् ।। ११ ।।

इस प्रकार हमने जिसे कभी सोचातक न था, वह अपनी पत्नीका अपहरणरूप अपमान हमें प्राप्त हुआ और मिथ्या व्यवसायमें लगे हुए बान्धवोंने हमें देशसे निर्वासित कर दिया है ।। ११ ।।

अस्ति नूनं मया कश्चिदल्पभाग्यतरो नरः ।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा भवेत् ।। १२ ।।

अतः मैं पूछता हूँ, क्या संसारमें मेरे-जैसा मन्दभाग्य मनुष्य कोई और भी है अथवा आपने पहले कभी मुझ-जैसे भाग्यहीनको कहीं देखा या सुना है? ।। १२ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २७३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें युधिष्ठिरप्रश्नविषयक दो सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७३ ।।

चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीराम आदिका जन्म तथा कुबेरकी उत्पत्ति और उन्हें ऐश्वर्यकी प्राप्ति

मार्कण्डेय उवाच

प्राप्तमप्रतिमं दुःखं रामेण भरतर्षभ ।
रक्षसा जानकी तस्य हृता भार्या बलीयसा ।। १ ।।
आश्रमाद् राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ।
मायामास्थाय तरसा हत्वा गृध्रं जटायुषम् ।। २ ।।

मार्कण्डेयजीने कहा—भरतश्रेष्ठ! श्रीरामचन्द्रजीको भी वनवास तथा स्त्रीवियोगका अनुपम दुःख सहन करना पड़ा था। दुरात्मा राक्षसराज महाबली रावण अपना मायाजाल बिछाकर आश्रमसे उनकी पत्नी सीताको वेगपूर्वक हर ले गया था और अपने कार्यमें बाधा डालनेवाले गृध्रराज जटायुको उसने वहीं मार गिराया था ।। १-२ ।।

प्रत्याजहार तां रामः सुग्रीवबलमाश्रितः ।
बद्ध्वा सेतुं समुद्रस्य दग्ध्वा लङ्कां शितैः शरैः ।। ३ ।।

फिर श्रीरामचन्द्रजी भी सुग्रीवकी सेनाका सहारा ले समुद्रपर पुल बाँधकर लंकामें गये और अपने तीखे (आग्नेय आदि) बाणोंसे उसको भस्म करके वहाँसे सीताको वापस लाये ।। ३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कस्मिन् रामः कुले जातः किंवीर्यः किम्पराक्रमः ।
रावणः कस्य पुत्रो वा किं वैरं तस्य तेन ह ।। ४ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! श्रीरामचन्द्रजी किस कुलमें प्रकट हुए थे? उनका बल और पराक्रम कैसा था? रावण किसका पुत्र था और उसका रामचन्द्रजीसे क्या वैर था? ।। ४ ।।

एतन्मे भगवन् सर्वं सम्यगाख्यातुमर्हसि ।
श्रोतुमिच्छामि चरितं रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।। ५ ।।

भगवन्! ये सभी बातें मुझे अच्छी प्रकार बताइये। मैं अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीरामका चरित्र सुनना चाहता हूँ ।। ५ ।।

मार्कण्डेय उवाच

अजो नामाभवद् राजा महानिक्ष्वाकुवंशजः ।
तस्य पुत्रो दशरथः शश्वत्स्वाध्यायवाञ्छुचिः ।। ६ ।।

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! इक्ष्वाकुवंशमें अज नामसे प्रसिद्ध एक महान् राजा हो गये हैं। उनके पुत्र थे दशरथ, जो सदा स्वाध्यायमें संलग्न रहनेवाले और पवित्र थे ।। ६ ।।

अभवंस्तस्य चत्वारः पुत्रा धर्मार्थकोविदाः ।
रामलक्ष्मणशत्रुघ्ना भरतश्च महाबलः ।। ७ ।।

उनके चार पुत्र हुए। वे सब-के-सब धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—राम, लक्ष्मण, महाबली भरत और शत्रुघ्न ।। ७ ।।

रामस्य माता कौसल्या कैकेयी भरतस्य तु ।
सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रायाः परंतपौ ।। ८ ।।

श्रीरामचन्द्रजीकी माताका नाम कौसल्या था, भरतकी माता कैकेयी थी तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले लक्ष्मण और शत्रुघ्न सुमित्राके पुत्र थे ।। ८ ।।

विदेहराजो जनकः सीता तस्यात्मजा विभो ।
यां चकार स्वयं त्वष्टा रामस्य महिषीं प्रियाम् ।। ९ ।।

राजन्! विदेहदेशके राजा जनककी एक पुत्री थी, जिसका नाम था सीता। उसे स्वयं विधाताने ही भगवान् श्रीरामकी प्यारी रानी होनेके लिये रचा था ।। ९ ।।

एतद् रामस्य ते जन्म सीतायाश्च प्रकीर्तितम् ।
रावणस्यापि ते जन्म व्याख्यास्यामि जनेश्वर ।। १० ।।

जनेश्वर! इस प्रकार मैंने तुम्हें श्रीराम और सीताके जन्मका वृत्तान्त बताया है। अब रावणके भी जन्मका प्रसंग सुनाऊँगा ।। १० ।।

पितामहो रावणस्य साक्षाद् देवः प्रजापतिः ।
स्वयम्भूः सर्वलोकानां प्रभुः स्रष्टा महातपाः ।। ११ ।।

सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, सबकी सृष्टि करनेवाले, प्रजापालक, महातपस्वी और स्वयम्भू साक्षात् भगवान् ब्रह्माजी ही रावणके पितामह थे ।। ११ ।।

पुलस्त्यो नाम तस्यासीन्मानसो दयितः सुतः ।
तस्य वैश्रवणो नाम गवि पुत्रोऽभवत् प्रभुः ।। १२ ।।

ब्रह्माजीके एक परम प्रिय मानसपुत्र पुलस्त्यजी थे। उनसे उनकी गौ नामकी पत्नीके गर्भसे वैश्रवण नामक शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न हुआ ।। १२ ।।

पितरं स समुत्सृज्य पितामहमुपस्थितः ।
तस्य कोपात् पिता राजन् ससर्जात्मानमात्मना ।। १३ ।।
स जज्ञे विश्रवा नाम तस्यात्मार्धेन वै द्विजः ।
प्रतीकाराय सक्रोधस्ततो वैश्रवणस्य वै ।। १४ ।।

राजन्! वैश्रवण अपने पिताको छोड़कर पितामहकी सेवामें रहने लगे। इससे उनपर क्रोध करके पिता पुलस्त्यने स्वयं अपने-आपको ही दूसरे रूपमें प्रकट कर लिया।

पुलस्त्यके आधे शरीरसे जो दूसरा द्विज प्रकट हुआ, उसका नाम विश्रवा था। विश्रवा वैश्रवणसे बदला लेनेके लिये उनके ऊपर सदा कुपित रहा करते थे ।। १३-१४ ।।

पितामहस्तु प्रीतात्मा ददौ वैश्रवणस्य ह ।
अमरत्वं धनेशत्वं लोकपालत्वमेव च ।। १५ ।।

परंतु पितामह ब्रह्माजी उनपर प्रसन्न थे; अतः उन्होंने वैश्रवणको अमरत्व प्रदान किया और धनका स्वामी तथा लोकपाल बना दिया ।। १५ ।।

ईशानेन तथा सख्यं पुत्रं च नलकूबरम् ।
राजधानीनिवेशं च लङ्कां रक्षोगणान्विताम् ।। १६ ।।

पितामहने उनकी महादेवजीसे मैत्री करायी, उन्हें नलकूबर नामक पुत्र दिया तथा राक्षसोंसे भरी हुई लंकाको उनकी राजधानी बनायी ।। १६ ।।

विमानं पुष्पकं नाम कामगं च ददौ प्रभुः ।
यक्षाणामाधिपत्यं च राजराजत्वमेव च ।। १७ ।।

साथ ही उन्हें इच्छानुसार विचरनेवाला पुष्पक नामका एक विमान दिया। इसके सिवा ब्रह्माजीने कुबेरको यक्षोंका स्वामी बना दिया और उन्हें ‘राजराज’की पदवी प्रदान की ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामरावणयोर्जन्मकथने चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २७४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें राम-रावणजन्मकथनविषयक दो सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७४ ।।

पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण, खर और शूर्पणखाकी उत्पत्ति, तपस्या और वरप्राप्ति तथा कुबेरका रावणको शाप देना

मार्कण्डेय उवाच

पुलस्त्यस्य तु यः क्रोधादर्धदेहोऽभवन्मुनिः ।
विश्रवा नाम सक्रोधः स वैश्रवणमैक्षत ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! पुलस्त्यके क्रोधसे उनके आधे शरीरसे जो 'विश्रवा' नामक मुनि प्रकट हुए थे, वे कुबेरको कुपित दृष्टिसे देखने लगे ।। १ ।।

बुबुधे तं तु सक्रोधं पितरं राक्षसेश्वरः ।
कुबेरस्तत्प्रसादार्थं यतते स्म सदा नृप ।। २ ।।

युधिष्ठिर! राक्षसोंके स्वामी कुबेरको जब यह बात मालूम हो गयी कि मेरे पिता मुझपर रुष्ट रहते हैं, तब वे उन्हें प्रसन्न रखनेका यत्न करने लगे ।। २ ।।

स राजराजो लङ्कायां न्यवसन्नरवाहनः ।
राक्षसीः प्रददौ तिस्रः पितुर्वै परिचारिकाः ।। ३ ।।

राजराज कुबेर स्वयं लंकामें ही रहते थे। वे मनुष्योंद्वारा ढोई जानेवाली पालकी आदिकी सवारीपर चलते थे, इसलिये नरवाहन कहलाते थे। उन्होंने अपने पिता विश्रवाकी सेवाके लिये तीन राक्षसकन्याओंको परिचारिकाओंके रूपमें नियुक्त कर दिया था ।। ३ ।।

ताः सदा तं महात्मानं संतोषयितुमुद्यताः ।
ऋषिं भरतशार्दूल नृत्यगीतविशारदाः ।। ४ ।।

भरतश्रेष्ठ! वे तीनों ही नाचने और गानेकी कलामें निपुण थीं तथा सदा ही उन महात्मा महर्षिको संतुष्ट रखनेके लिये सचेष्ट रहती थीं ।। ४ ।।

पुष्पोत्कटा च राका च मालिनी च विशाम्पते ।
अन्योन्यस्पर्धया राजन् श्रेयस्कामाः सुमध्यमाः ।। ५ ।।

महाराज! उनके नाम थे—पुष्पोत्कटा, राका तथा मालिनी। वे तीनों सुन्दरियाँ अपना भला चाहती थीं। इसलिये एक-दूसरीसे स्पर्धा रखकर मुनिकी सेवा करती थीं ।। ५ ।।

स तासां भगवांस्तुष्टो महात्मा प्रददौ वरान् ।
लोकपालोपमान् पुत्रानेकैकस्या यथेप्सितान् ।। ६ ।।

वे ऐश्वर्यशाली महात्मा उनकी सेवाओंसे प्रसन्न हो गये और उनमेंसे प्रत्येकको उनकी इच्छाके अनुसार लोकपालोंके समान पराक्रमी पुत्र होनेका वरदान दिया ।।

पुष्पोत्कटायां जज्ञाते द्वौ पुत्रौ राक्षसेश्वरौ ।
कुम्भकर्णदशग्रीवौ बलेनाप्रतिमौ भुवि ।। ७ ।।

पुष्पोत्कटाके दो पुत्र हुए—रावण और कुम्भकर्ण। ये दोनों ही राक्षसोंके अधिपति थे। भूमण्डलमें इनके समान बलवान् दूसरा कोई नहीं था ।। ७ ।।

मालिनी जनयामास पुत्रमेकं विभीषणम् ।
राकायां मिथुनं जज्ञे खरः शूर्पणखा तथा ।। ८ ।।

मालिनीने एक ही पुत्र विभीषणको जन्म दिया। राकाके गर्भसे एक पुत्र और एक पुत्री हुई। पुत्रका नाम खर था और पुत्रीका शूर्पणखा ।। ८ ।।

विभीषणस्तु रूपेण सर्वेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत् ।
स बभूव महाभागो धर्मगोप्ता क्रियारतिः ।। ९ ।।

इन सब बालकोंमें विभीषण ही सबसे अधिक रूपवान्, सौभाग्यशाली, धर्मरक्षक तथा कर्तव्यपरायण थे ।। ९ ।।

दशग्रीवस्तु सर्वेषां श्रेष्ठो राक्षसपुङ्गवः ।
महोत्साहो महावीर्यो महासत्त्वपराक्रमः ।। १० ।।

रावणके दस मस्तक थे। वही सबमें ज्येष्ठ तथा राक्षसोंका स्वामी था। उत्साह, बल, धैर्य और पराक्रममें भी वह महान् था ।। १० ।।

कुम्भकर्णो बलेनासीत् सर्वेभ्योऽभ्यधिको युधि ।
मायावी रणशौण्डश्च रौद्रश्च रजनीचरः ।। ११ ।।

कुम्भकर्ण शारीरिक बलमें सबसे बढ़ा-चढ़ा था। युद्धमें भी वह सबसे बढ़कर था। मायावी और रणकुशल तो था ही, वह निशाचर बड़ा भयंकर भी था ।। ११ ।।

खरो धनुषि विक्रान्तो ब्रह्मद्विट् पिशिताशनः ।
सिद्धविघ्नकरी चापि रौद्री शूर्पणखा तथा ।। १२ ।।

खर धनुर्विद्यामें विशेष पराक्रमी था। वह ब्राह्मणोंसे द्वेष रखनेवाला तथा मांसाहारी था। शूर्पणखाकी आकृति बड़ी भयानक थी। वह सिद्ध ऋषि-मुनियोंकी तपस्यामें विघ्न डाला करती थी ।। १२ ।।

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
ऊषुः पित्रा सह रता गन्धमादनपर्वते ।। १३ ।।

वे सभी बालक वेदवेत्ता, शूरवीर तथा ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले थे और अपने पिताके साथ गन्धमादन पर्वतपर सुखपूर्वक रहते थे ।। १३ ।।

ततो वैश्रवणं तत्र ददृशुर्नरवाहनम् ।
पित्रा सार्धं समासीनमृद्ध्या परमया युतम् ।। १४ ।।

एक दिन नरवाहन कुबेर अपने महान् ऐश्वर्यसे युक्त होकर पिताके साथ बैठे थे। उसी अवस्थामें रावण आदिने उनको देखा ।। १४ ।।

जातामर्षास्ततस्ते तु तपसे धृतनिश्चयाः ।
ब्रह्माणं तोषयामासुर्घोरेण तपसा तदा ।। १५ ।।

उनका वैभव देखकर इन बालकोंके हृदयमें डाह पैदा हो गयी। अतः उन्होंने मन-ही-मन तपस्या करनेका निश्चय किया और घोर तपस्याके द्वारा उन्होंने ब्रह्माजीको संतुष्ट कर लिया ।। १५ ।।

अतिष्ठदेकपादेन सहस्रं परिवत्सरान् ।
वायुभक्षो दशग्रीवः पञ्चाग्निः सुसमाहितः ।। १६ ।।

रावण सहस्रों वर्षोंतक एक पैरसे खड़ा रहा। वह चित्तको एकाग्र रखकर पंचाग्निसेवन करता और वायु पीकर रहता था ।। १६ ।।

अधःशायी कुम्भकर्णो यताहारो यतव्रतः ।
विभीषणः शीर्णपर्णमेकमभ्यवहारयन् ।। १७ ।।

कुम्भकर्णने भी आहारका संयम किया। वह भूमिपर सोता और कठोर नियमोंका पालन करता था। विभीषण केवल एक सूखा पत्ता खाकर रहते थे ।। १७ ।।

उपवासरतिर्धीमान् सदा जप्यपरायणः ।
तमेव कालमातिष्ठत् तीव्रं तप उदारधीः ।। १८ ।।

उनका भी उपवासमें ही प्रेम था। बुद्धिमान् एवं उदारबुद्धि विभीषण सदा जप किया करते थे। उन्होंने भी उतने समयतक तीव्र तपस्या की ।। १८ ।।

खरः शूर्पणखा चैव तेषां वै तप्यतां तपः ।
परिचर्यां च रक्षां च चक्रतुर्हृष्टमानसौ ।। १९ ।।

खर और शूर्पणखा ये दोनों प्रसन्नमनसे तपस्यामें लगे हुए अपने भाइयोंकी परिचर्या तथा रक्षा करते थे ।।

पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्छित्त्वा दशाननः ।
जुहोत्यग्नौ दुराधर्षस्तेनातुष्यज्जगत्प्रभुः ।। २० ।।

एक हजार वर्ष पूर्ण होनेपर दुर्धर्ष दशाननने अपना मस्तक काटकर अग्निमें उसकी आहुति दे दी। उसके इस अद्‌भुत कर्मसे लोकेश्वर ब्रह्माजी बहुत संतुष्ट हुए ।।

ततो ब्रह्मा स्वयं गत्वा तपसस्तान् न्यवारयत् ।
प्रलोभ्य वरदानेन सर्वानेव पृथक् पृथक् ।। २१ ।।

तदनन्तर ब्रह्माजीने स्वयं जाकर उन सबको तपस्या करनेसे रोका और प्रत्येकको पृथक्-पृथक् वरदानका लोभ देते हुए कहा— ।। २१ ।।

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्मि वो निवर्तध्वं वरान् वृणुत पुत्रकाः ।
यद् यदिष्टमृते त्वेकममरत्वं तथास्तु तत् ।। २२ ।।

ब्रह्माजी बोले—पुत्रो! मैं तुम सबपर प्रसन्न हूँ, वर माँगो और तपस्यासे निवृत्त हो जाओ। केवल अमरत्वको छोड़कर जिसकी जो-जो इच्छा हो, उसके अनुसार वह वर माँगे। उसका वह मनोरथ पूर्ण होगा ।।

यद् यदग्नौ हुतं सर्वं शिरस्ते महदीप्सया ।
तथैव तानि ते देहे भविष्यन्ति यथेप्सया ।। २३ ।।

(तत्पश्चात् उन्होंने रावणकी ओर लक्ष्य करके कहा—) तुमने महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त करनेकी इच्छासे अपने जिन-जिन मस्तकोंकी अग्निमें आहुति दी है, वे सब-के-सब पूर्ववत् तुम्हारे शरीरमें इच्छानुसार जुड़ जायँगे ।।

वैरूप्यं च न ते देहे कामरूपधरस्तथा ।
भविष्यसि रणेऽरीणां विजेता न च संशयः ।। २४ ।।

तुम्हारे शरीरमें किसी प्रकारकी कुरूपता नहीं होगी, तुम इच्छानुसार रूप धारण कर सकोगे तथा युद्धमें शत्रुओंपर विजयी होओगे, इसमें संशय नहीं है ।। २४ ।।

रावण उवाच

गन्धर्वदेवासुरतो यक्षराक्षसतस्तथा ।
सर्पकिन्नरभूतेभ्यो न मे भूयात् पराभवः ।। २५ ।।

रावण बोला—भगवन्! गन्धर्व, देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, सर्प, किन्नर तथा भूतोंसे कभी मेरी पराजय न हो ।। २५ ।।

ब्रह्मोवाच

य एते कीर्तिताः सर्वे न तेभ्योऽस्ति भयं तव ।
ऋते मनुष्याद् भद्रं ते तथा तद् विहितं मया ।। २६ ।।

ब्रह्माजीने कहा—तुमने जिन लोगोंका नाम लिया है, इनमेंसे किसीसे भी तुम्हें भय नहीं होगा। केवल मनुष्यको छोड़कर तुम सबसे निर्भय रहो। तुम्हारा भला हो। तुम्हारे लिये मनुष्यसे होनेवाले भयका विधान मैंने ही किया है ।। २६ ।।

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तो दशग्रीवस्तुष्टः समभवत् तदा ।
अवमेने हि दुर्बुद्धिर्मनुष्यान् पुरुषादकः ।। २७ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर दसमुख रावण बहुत प्रसन्न हुआ। वह दुर्बुद्धि नरभक्षी राक्षस मनुष्योंकी अवहेलना करता था ।। २७ ।।

कुम्भकर्णमथोवाच तथैव प्रपितामहः ।
स वव्रे महतीं निद्रां तमसा ग्रस्तचेतनः ।। २८ ।।

तत्पश्चात् ब्रह्माजीने कुम्भकर्णसे वर माँगनेको कहा। परंतु उसकी बुद्धि तमोगुणसे ग्रस्त थी; अतः उसने अधिक कालतक नींद लेनेका वर माँगा ।। २८ ।।

तथा भविष्यतीत्युक्त्वा विभीषणमुवाच ह ।
वरं वृष्णीष्व पुत्र त्वं प्रीतोऽस्मीति पुनः पुनः ।। २९ ।।

उसे 'ऐसा ही होगा' यों कहकर ब्रह्माजी विभीषणके पास गये और इस प्रकार बोले—'बेटा! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, अतः तुम भी वर माँगो।' ब्रह्माजीने यह बात बार-बार दुहरायी ।। २९ ।।

विभीषण उवाच

परमापद्गतस्यापि नाधर्मे मे मतिर्भवेत् ।
अशिक्षितं च भगवन् ब्रह्मास्त्रं प्रतिभातु मे ।। ३० ।।

विभीषण बोले—भगवन्! बहुत बड़ा संकट आनेपर भी मेरे मनमें कभी पापका विचार न उठे तथा बिना सीखे ही मेरे हृदयमें ब्रह्मास्त्रके प्रयोग और उपसंहारकी विधि स्फुरित हो जाय ।। ३० ।।

ब्रह्मोवाच

यस्माद् राक्षसयोनौ ते जातस्यामित्रकर्शन ।
नाधर्मे धीयते बुद्धिरमरत्वं ददानि ते ।। ३१ ।।

ब्रह्माजीने कहा—शत्रुनाशन! राक्षसयोनिमें जन्म लेकर भी तुम्हारी बुद्धि अधर्ममें नहीं लगती; इसलिये (तुम्हारे माँगे हुए वरके अतिरिक्त) मैं तुम्हें अमरत्व भी देता हूँ ।। ३१ ।।

मार्कण्डेय उवाच

राक्षसस्तु वरं लब्ध्वा दशग्रीवो विशाम्पते ।
लङ्कायाश्च्यावयामास युधि जित्वा धनेश्वरम् ।। ३२ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! राक्षस दशाननने वर प्राप्त कर लेनेपर सबसे पहले अपने भाई कुबेरको युद्धमें परास्त किया और उन्हें लंकाके राज्यसे बहिष्कृत कर दिया ।। ३२ ।।

हित्वा स भगवाँल्लङ्कामाविशद् गन्धमादनम् ।
गन्धर्वयक्षानुगतो रक्षःकिम्पुरुषैः सह ।। ३३ ।।

भगवान् कुबेर लंका छोड़कर गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा किम्पुरुषोंके साथ गन्धमादन पर्वतपर आकर रहने लगे ।।

विमानं पुष्पकं तस्य जहाराक्रम्य रावणः ।
शशाप तं वैश्रवणो न त्वामेतद् वहिष्यति ।। ३४ ।।
यस्तु त्वां समरे हन्ता तमेवैतद् वहिष्यति ।
अवमन्य गुरुं मां च क्षिप्रं त्वं न भविष्यसि ।। ३५ ।।

रावणने आक्रमण करके उनका पुष्पक विमान भी छीन लिया। तब कुबेरने कुपित होकर उसे शाप दिया—'अरे! यह विमान तेरी सवारीमें नहीं आ सकेगा। जो युद्धमें तुझे मार डालेगा, उसीका यह वाहन होगा। मैं तेरा बड़ा भाई होनेके कारण मान्य था, परंतु तूने मेरा अपमान किया है। इससे बहुत शीघ्र तेरा नाश हो जायगा' ।। ३४-३५ ।।

विभीषणस्तु धर्मात्मा सतां मार्गमनुस्मरन् ।
अन्वगच्छन्महाराज श्रिया परमया युतः ।। ३६ ।।

महाराज! विभीषण धर्मात्मा थे। उन्होंने सत्पुरुषोंके मार्गका ध्यान रखकर सदा अपने भाई कुबेरका अनुसरण किया; अतः वे उत्तम लक्ष्मीसे सम्पन्न हुए ।। ३६ ।।

तस्मै स भगवांस्तुष्टो भ्राता भ्रात्रे धनेश्वरः ।
सैनापत्यं ददौ धीमान् यक्षराक्षससेनयोः ।। ३७ ।।

बड़े भाई बुद्धिमान् भगवान् कुबेरने संतुष्ट होकर छोटे भाई विभीषणको यक्ष तथा राक्षसोंकी सेनाका सेनापति बना दिया ।। ३७ ।।

राक्षसाः पुरुषादाश्च पिशाचाश्च महाबलाः ।
सर्वे समेत्य राजानमभ्यषिञ्चन् दशाननम् ।। ३८ ।।

नरभक्षी राक्षस तथा महाबली पिशाच—सबने मिलकर दशमुख रावणको राक्षसराजके पदपर अभिषिक्त किया ।। ३८ ।।

दशग्रीवश्च दैत्यानां देवानां च बलोत्कटः ।
आक्रम्य रत्नान्यहरत् कामरूपी विहङ्गमः ।। ३९ ।।

बलोन्मत्त रावण इच्छानुसार रूप धारण करने और आकाशमें भी चलनेमें समर्थ था। उसने दैत्यों और देवताओंपर आक्रमण करके उनके पास जो रत्न या रत्नभूत वस्तुएँ थीं, उन सबका अपहरण कर लिया ।। ३९ ।।

रावयामास लोकान् यत् तस्माद्रावण उच्यते ।
दशग्रीवः कामबलो देवानां भयमादधत् ।। ४० ।।

उसने सम्पूर्ण लोकोंको रुला दिया था; इसलिये वह रावण कहलाता है। दशाननका बल उसके इच्छानुसार बढ़ जाता था; अतः वह सदा देवताओंको भयभीत किये रहता था ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रावणादिवरप्राप्तौ पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २७५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें रावण आदिको वरप्राप्तिविषयक दो सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७५ ।।

षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवताओंका ब्रह्माजीके पास जाकर रावणके अत्याचारसे बचानेके लिये प्रार्थना करना तथा ब्रह्माजीकी आज्ञासे देवताओंका रीछ और वानरयोनिमें संतान उत्पन्न करना एवं दुन्दुभी गन्धर्वीका मन्थरा बनकर आना

मार्कण्डेय उवाच

ततो ब्रह्मर्षयः सर्वे सिद्धा देवर्षयस्तथा ।
हव्यवाहं पुरस्कृत्य ब्रह्माणं शरणं गताः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् रावणसे कष्ट पाये हुए ब्रह्मर्षि, देवर्षि तथा सिद्धगण अग्निदेवको आगे करके ब्रह्माजीकी शरणमें गये ।। १ ।।

अग्निरुवाच

योऽसौ विश्रवसः पुत्रो दशग्रीवो महाबलः ।
अवध्यो वरदानेन कृतो भगवता पुरा ।। २ ।।
स बाधते प्रजाः सर्वा विप्रकारैर्महाबलः ।
ततो नस्त्रातु भगवन् नान्यस्त्राता हि विद्यते ।। ३ ।।

अग्निदेव बोले—भगवन्! आपने पहले जो वरदान देकर विश्रवाके पुत्र महाबली रावणको अवध्य कर दिया है, वह महाबलवान् राक्षस अब संसारकी समस्त प्रजाको अनेक प्रकारसे सता रहा है; अतः आप ही उसके भयसे हमारी रक्षा कीजिये। आपके सिवा हमारा दूसरा कोई रक्षक नहीं है ।। २-३ ।।

ब्रह्मोवाच

न स देवासुरैः शक्यो युद्धे जेतुं विभावसो ।
विहितं तत्र यत् कार्यमभितस्तस्य निग्रहः ।। ४ ।।

ब्रह्माजीने कहा—अग्ने! देवता या असुर उसे युद्धमें नहीं जीत सकते। उसके विनाशके लिये जो आवश्यक कार्य था, वह कर दिया गया। अब सब प्रकारसे उस दुष्टका दमन हो जायगा ।। ४ ।।

तदर्थमवतीर्णोऽसौ मन्नियोगाच्चतुर्भुजः ।
विष्णुः प्रहरतां श्रेष्ठः स तत् कर्म करिष्यति ।। ५ ।।

उस राक्षसके निग्रहके लिये मैंने चतुर्भुज भगवान् विष्णुसे अनुरोध किया था। मेरी प्रार्थनासे वे भगवान् भूतलपर अवतार ले चुके हैं। वे योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं; अतः वे ही रावणके

दमनका कार्य करेंगे ।। ५ ।।

मार्कण्डेय उवाच

पितामहस्ततस्तेषां संनिधौ शक्रमब्रवीत् ।
सर्वैर्देवगणैः सार्धं सम्भव त्वं महीतले ।। ६ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर ब्रह्माजीने उन देवताओंके समीप ही इन्द्रसे कहा—'तुम समस्त देवताओंके साथ भूतलपर जन्म ग्रहण करो ।। ६ ।।

विष्णोः सहायानृक्षीषु वानरीषु च सर्वशः ।
जनयध्वं सुतान् वीरान् कामरूपबलान्वितान् ।। ७ ।।

'वहाँ रीछों और वानरोंकी स्त्रियोंसे ऐसे वीर पुत्रको उत्पन्न करो, जो इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ, बलवान् तथा भूतलपर अवतीर्ण हुए भगवान् विष्णुके योग्य सहायक हों' ।। ७ ।।

ततो भागानुभागेन देवगन्धर्वपन्नगाः ।
अवतर्तुं महीं सर्वे मन्त्रयामासुरञ्जसा ।। ८ ।।

तदनन्तर देवता, गन्धर्व और नाग अपने-अपने अंश एवं अंशांशसे इस पृथ्वीपर अवतीर्ण होनेके लिये परस्पर परामर्श करने लगे ।। ८ ।।

तेषां समक्षं गन्धर्वीं दुन्दुभीं नाम नामतः ।
शशास वरदो देवो गच्छ कार्यार्थसिद्धये ।। ९ ।।

फिर वरदायक देवता ब्रह्माजीने उन सबके सामने ही दुन्दुभी नामवाली गन्धर्वीको आज्ञा दी कि 'तुम भी देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये भूतलपर जाओ ।। ९ ।।

पितामहवचः श्रुत्वा गन्धर्वी दुन्दुभी ततः ।
मन्थरा मानुषे लोके कुब्जा समभवत् तदा ।। १० ।।

पितामहकी बात सुनकर गन्धर्वी दुन्दुभी मनुष्यलोकमें आकर मन्थरा नामसे प्रसिद्ध कुबड़ी दासी हुई ।। १० ।।

शक्रप्रभृतयश्चैव सर्वे ते सुरसत्तमाः ।
वानरर्क्षवरस्त्रीषु जनयामासुरात्मजान् ।। ११ ।।
तेऽन्ववर्तन् पितॄन् सर्वे यशसा च बलेन च ।
भेत्तारो गिरिशृङ्गाणां शालतालशिलायुधाः ।। १२ ।।

इन्द्र आदि समस्त श्रेष्ठ देवता भी वानरों तथा रीछोंकी उत्तम स्त्रियोंसे संतान उत्पन्न करने लगे। वे सब वानर और रीछ यश तथा बलमें अपने पिता देवताओंके समान ही हुए। वे पर्वतोंके शिखर तोड़ डालनेकी शक्ति रखते थे एवं शाल (साखू) और ताल (ताड़)-के वृक्ष तथा पत्थरोंकी चट्टानें ही उनके आयुध थे ।। ११-१२ ।।

वज्रसंहननाः सर्वे सर्वे चौघबलास्तथा ।

कामवीर्यबलाश्चैव सर्वे युद्धविशारदाः ।। १३ ।।

उनका शरीर वज्रके समान दुर्भेद्य और सुदृढ़ था। वे सभी राशि-राशि बलके आश्रय थे। उनका बल और पराक्रम इच्छाके अनुसार प्रकट होता था। वे सब-के-सब युद्ध करनेकी कलामें दक्ष थे ।। १३ ।।

नागायुतसमप्राणा वायुवेगसमा जवे ।
यत्रेच्छकनिवासाश्च केचिदत्र वनौकसः ।। १४ ।।

उनके शरीरमें दस हजार हाथियोंके समान बल था। तेज चलनेमें वे वायुके वेगको लजा देते थे। उनका कोई घर-बार नहीं था; जहाँ इच्छा होती वहीं रह जाते थे। उनमेंसे कुछ लोग केवल वनोंमें ही रहते थे ।। १४ ।।

एवं विधाय तत् सर्वं भगवाँल्लोकभावनः ।
मन्थरां बोधयामास यद् यत् कार्यं यथा यथा ।। १५ ।।

इस प्रकार सारी व्यवस्था करके लोक स्रष्टा भगवान् ब्रह्माने मन्थरा बनी हुई दुन्दुभीको जो-जो काम जैसे-जैसे करना था, वह सब समझा दिया ।। १५ ।।

सा तद्वचः समाज्ञाय तथा चक्रे मनोजवा ।
इतश्चेतश्च गच्छन्ती वैरसन्धुक्षणे रता ।। १६ ।।

वह मनके समान वेगसे चलनेवाली थी। उसने ब्रह्माजीकी बातको अच्छी तरह समझकर उसके अनुसार ही कार्य किया। वह इधर-उधर घूम-फिरकर वैरकी आग प्रज्वलित करनेमें लग गयी ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि वानराद्युत्पत्तौ षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २७६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें वानर आदिकी उत्पत्तिसे सम्बन्धित दो सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७६ ।।

सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी, रामवनगमन, भरतकी चित्रकूटयात्रा, रामके द्वारा खर-दूषण आदि राक्षसोंका नाश तथा रावणका मारीचके पास जाना

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं भगवता जन्म रामादीनां पृथक् पृथक् ।
प्रस्थानकारणं ब्रह्मन् श्रोतुमिच्छामि कथ्यताम् ।। १ ।।
कथं दाशरथी वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
सम्प्रस्थितौ वने ब्रह्मन् मैथिली च यशस्विनी ।। २ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—ब्रह्मन्! आपने श्रीरामचन्द्रजी आदि सभी भाइयोंके जन्मकी कथा तो पृथक्-पृथक् सुना दी, अब मैं उनके वनवासका कारण सुनना चाहता हूँ; उसे कहिये। दशरथजीके वीर पुत्र दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण तथा मिथिलेशकुमारी यशस्विनी सीताको वनमें क्यों जाना पड़ा? ।। १-२ ।।

मार्कण्डेय उवाच

जातपुत्रो दशरथः प्रीतिमानभवन्नृप ।
क्रियारतिर्धर्मरतः सततं वृद्धसेविता ।। ३ ।।

मार्कण्डेयजीने कहा—राजन्! अपने पुत्रोंके जन्मसे महाराज दशरथको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे सदा सत्कर्ममें तत्पर रहनेवाले, धर्मपरायण तथा बड़े-बूढ़ोंके सेवक थे ।। ३ ।।

क्रमेण चास्य ते पुत्रा व्यवर्धन्त महौजसः ।
वेदेषु सरहस्येषु धनुर्वेदेषु पारगाः ।। ४ ।।
चरितब्रह्मचर्यास्ते कृतदाराश्च पार्थिव ।
यदा तदा दशरथः प्रीतिमानभवत् सुखी ।। ५ ।।

राजाके वे महातेजस्वी पुत्र क्रमशः बढ़ने लगे। उन्होंने (उपनयनके पश्चात्) विधिवत् ब्रह्मचर्यका पालन किया और वेदों तथा रहस्यसहित धनुर्वेदके पारंगत विद्वान् हुए। समयानुसार जब उनका विवाह हो गया, तब राजा दशरथ बड़े प्रसन्न तथा सुखी हुए ।। ४-५ ।।

ज्येष्ठो रामोऽभवत् तेषां रमयामास हि प्रजाः ।
मनोहरतया धीमान् पितुर्हृदयनन्दनः ।। ६ ।।

चारों पुत्रोंमें बुद्धिमान् श्रीराम सबसे बड़े थे। वे अपने मनोहर रूप एवं सुन्दर स्वभावसे समस्त प्रजाको आनन्दित करते थे—सबका मन उन्हींमें रमता था। इसके सिवा वे पिताके मनमें भी आनन्द बढ़ानेवाले थे ।। ६ ।।

ततः स राजा मतिमान् मत्वाऽऽत्मानं वयोऽधिकम् ।
मन्त्रयामास सचिवैर्धर्मज्ञैश्च पुरोहितैः ।। ७ ।।
अभिषेकाय रामस्य यौवराज्येन भारत ।

युधिष्ठिर! राजा दशरथ बड़े बुद्धिमान् थे। उन्होंने यह सोचकर कि अब मेरी अवस्था बहुत अधिक हो गयी; अतः श्रीरामको युवराजपदपर अभिषिक्त कर देना चाहिये; इस विषयमें अपने मन्त्री और धर्मज्ञ पुरोहितोंसे सलाह ली ।। ७१/२ ।।

प्राप्तकालं च ते सर्वे मेनिरे मन्त्रिसत्तमाः ।। ८ ।।
लोहिताक्षं महाबाहुं मत्तमातङ्गगामिनम् ।
कम्बुग्रीवं महोरस्कं नीलकुञ्चितमूर्धजम् ।। ९ ।।
दीप्यमानं श्रिया वीरं शक्रादनवरं रणे ।
पारगं सर्वधर्माणां बृहस्पतिसमं मतौ ।। १० ।।
सर्वानुरक्तप्रकृतिं सर्वविद्याविशारदम् ।
जितेन्द्रियममित्राणामपि दृष्टिमनोहरम् ।। ११ ।।
नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम् ।
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ।। १२ ।।
पुत्रं राजा दशरथः कौसल्यानन्दवर्धनम् ।
संदृश्य परमां प्रीतिमगच्छत् कुरुनन्दन ।। १३ ।।

उन सभी श्रेष्ठ मन्त्रियोंने राजाके इस समयोचित प्रस्तावका अनुमोदन किया। श्रीरामचन्द्रजीके सुन्दर नेत्र कुछ-कुछ लाल थे और भुजाएँ बड़ी एवं घुटनों तक लंबी थीं। वे मतवाले हाथीके समान मस्तानी चालसे चलते थे। उनकी ग्रीवा शंखके समान सुन्दर थी, उनकी छाती चौड़ी थी और उनके सिरपर काले-काले घुँघराले बाल थे। उनकी देह दिव्य दीप्तिसे दमकती रहती थी। युद्धमें उनका पराक्रम देवराज इन्द्रसे कम नहीं था। वे समस्त धर्मोंके पारंगत विद्वान् और बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् थे। सम्पूर्ण प्रजाका उनमें अनुराग था। वे सभी विद्याओंमें प्रवीण तथा जितेन्द्रिय थे। उनका अद्भुत रूप देखकर शत्रुओंके भी नेत्र और मन लुभा जाते थे। वे दुष्टोंका दमन करनेमें समर्थ, साधुओंके संरक्षक, धर्मात्मा, धैर्यवान, दुर्धर्ष, विजयी तथा किसीसे भी परास्त न होनेवाले थे। कुरुनन्दन! कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले अपने पुत्र श्रीरामको देख-देखकर राजा दशरथको बड़ी प्रसन्नता होती थी ।। ८—१३ ।।

चिन्तयंश्च महातेजा गुणान् रामस्य वीर्यवान् ।
अभ्यभाषत भद्रं ते प्रीयमाणः पुरोहितम् ।। १४ ।।

अद्य पुष्यो निशि ब्रह्मन् पुण्यं योगमुपैष्यति ।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां मे रामश्चोपनिमन्त्र्यताम् ।। १५ ।।

राजन्! तुम्हारा भला हो। महातेजस्वी तथा परम पराक्रमी राजा दशरथ श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंका स्मरण करते हुए बड़ी प्रसन्नताके साथ पुरोहितसे बोले—'ब्रह्मन्! आज पुष्य नक्षत्र है। रातमें इसे परम पवित्र योग प्राप्त होनेवाला है। आप राज्याभिषेककी सामग्री तैयार कीजिये और श्रीरामको भी इसकी सूचना दे दीजिये' ।। १४-१५ ।।

इति तद् राजवचनं प्रतिश्रुत्याथ मन्थरा ।
कैकेयीमभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ।। १६ ।।

राजाकी यह बात मन्थराने भी सुन ली। वह ठीक समयपर कैकेयीके पास जाकर यों बोली— ।। १६ ।।

अद्य कैकेयि दौर्भाग्यं राज्ञा ते ख्यापितं महत् ।
आशीविषस्त्वां संक्रुद्धश्चण्डो दशतु दुर्भगे ।। १७ ।।

'केकयनन्दिनि! आज राजाने तुम्हारे लिये महान् दुर्भाग्यकी घोषणा की है। खोटे भाग्यवाली रानी! इससे अच्छा तो यह होता कि तुम्हें क्रोधमें भरा हुआ प्रचण्ड विषधर सर्प डँस लेता ।। १७ ।।

सुभगा खलु कौसल्या यस्याःपुत्रोऽभिषेक्ष्यते ।

कुतो हि तव सौभाग्यं यस्याः पुत्रो न राज्यभाक् ।। १८ ।।

'रानी कौसल्याका भाग्य अवश्य अच्छा है, जिनके पुत्रका राज्याभिषेक होगा। तुम्हारा ऐसा सौभाग्य कहाँ? जिसका पुत्र राज्यका अधिकारी ही नहीं है' ।।

सा तद्वचनमाज्ञाय सर्वाभरणभूषिता ।
देवी विलग्नमध्येव बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।। १९ ।।
विविक्ते पतिमासाद्य हसन्तीव शुचिस्मिता ।
प्रणयं व्यञ्जयन्तीव मधुरं वाक्यमब्रवीत् ।। २० ।।

मन्थराकी यह बात सुनकर सूक्ष्म कटिप्रदेशवाली देवी कैकेयी समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो परम सुन्दर रूप बनाकर एकान्तमें अपने पतिके पास गयी। उसकी मुसकराहटसे उसके शुद्ध भावकी सूचना मिल रही थी। वह हँसती और प्रेम जताती हुई-सी मधुर वाणीमें बोली— ।। १९-२० ।।

सत्यप्रतिज्ञ यन्मे त्वं काममेकं निसृष्टवान् ।
उपाकुरुष्व तद् राजंस्तस्मान्मुच्यस्व संकटात् ।। २१ ।।

'सच्ची प्रतिज्ञा करनेवाले महाराज! आपने पहले जो 'तेरा मनोरथ सफल करूँगा' ऐसा वर दिया था, उसे आज पूर्ण कीजिये और उस संकटसे मुक्त हो जाइये' ।। २१ ।।

राजोवाच

वरं ददानि ते हन्त तद् गृहाण यदिच्छसि ।
अवध्यो वध्यतां कोऽद्य वध्यः कोऽद्य विमुच्यताम् ।। २२ ।।
धनं ददानि कस्याद्य ह्रियतां कस्य वा पुनः ।
ब्राह्मणस्वादिहान्यत्र यत् किंचिद् वित्तमस्ति मे ।। २३ ।।

राजाने कहा—प्रिये! यह तो बड़े हर्षकी बात है। मैं अभी तुम्हें वर देता हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, ले लो। आज मैं तुम्हारे कहनेसे किस कैद करनेके अयोग्यको कैद कर दूँ अथवा किस कैद करनेयोग्यको मुक्त कर दूँ? किसे धन दे दूँ अथवा किसका सर्वस्व हरण कर लूँ? ब्राह्मणधनके अतिरिक्त यहाँ अथवा अन्यत्र जो कुछ भी मेरे पास धन है, उसपर तुम्हारा अधिकार है ।। २२-२३ ।।

पृथिव्यां राजराजोऽस्मि चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ।
यस्तेऽभिलषितः कामो ब्रूहि कल्याणि मा चिरम् ।। २४ ।।

मैं इस समय इस भूमण्डलका राजराजेश्वर हूँ चारों वर्णोंकी रक्षा करनेवाला हूँ। कल्याणि! तुम्हारा जो भी अभिलषित मनोरथ हो, उसे बताओ, देर न करो ।।

सा तद्वचनमाज्ञाय परिगृह्य नराधिपम् ।
आत्मनो बलमाज्ञाय तत एनमुवाच ह ।। २५ ।।

राजाकी बातको समझकर और उन्हें सब प्रकारसे वचनबद्ध करके अपनी शक्तिको भी ठीक-ठीक जान लेनेके बाद कैकेयीने उनसे कहा— ।। २५ ।।

आभिषेचनिकं यत् ते रामार्थमुपकल्पितम् ।
भरतस्तदवाप्नोतु वनं गच्छतु राघवः ।। २६ ।।

'महाराज! आपने श्रीरामके लिये जो राज्याभिषेकका सामान तैयार कराया है, वह भरतको प्राप्त हो और राम वनमें चले जायँ' ।। २६ ।।

स तद् राजा वचः श्रुत्वा विप्रियं दारुणोदयम् ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठ न किंचिद् व्याजहार ह ।। २७ ।।

भरतश्रेष्ठ! कैकेयीका यह अप्रिय एवं भयानक परिणामवाला वचन सुनकर राजा दशरथ दुःखसे आतुर हो अपने मुँहसे कुछ भी बोल न सके ।। २७ ।।

ततस्तथोक्तं पितरं रामो विज्ञाय वीर्यवान् ।
वनं प्रतस्थे धर्मात्मा राजा सत्यो भवत्विति ।। २८ ।।

श्रीरामचन्द्रजी शक्तिशाली होनेके साथ ही बड़े धर्मात्मा थे। उन्होंने पिताके पूर्वोक्त वरदानकी बात जानकर राजाके सत्यकी रक्षा हो, इस उद्देश्यसे स्वयं ही वनको प्रस्थान किया ।। २८ ।।

तमन्वगच्छल्लक्ष्मीवान् धनुष्माँल्लक्ष्मणस्तदा ।

सीता च भार्या भद्रं ते वैदेही जनकात्मजा ।। २९ ।।

राजन्! तुम्हारा कल्याण हो। श्रीरामचन्द्रजीके वन जाते समय उत्तम शोभासे सम्पन्न उनके भाई बुनर्धर लक्ष्मणने तथा उनकी पत्नी विदेहराजकुमारी जनकनन्दिनी सीताने भी उनका अनुसरण किया ।। २९ ।।

ततो वनं गते रामे राजा दशरथस्तदा ।
समयुज्यत देहस्य कालपर्यायधर्मणा ।। ३० ।।

श्रीरामचन्द्रजीके वनमें चले जानेपर (उनके वियोगमें) राजा दशरथने शरीर त्याग दिया ।। ३० ।।

रामं तु गतमाज्ञाय राजानं च तथागतम् ।
आनाय्य भरतं देवी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ।। ३१ ।।

श्रीरामचन्द्रजी वनमें चले गये तथा राजा परलोकवासी हो गये, यह देखकर कैकेयीने भरतको ननिहालसे बुलवाया और इस प्रकार कहा— ।। ३१ ।।

गतो दशरथः स्वर्गं वनस्थौ रामलक्ष्मणौ ।
गृहाण राज्यं विपुलं क्षेमं निहतकण्टकम् ।। ३२ ।।

'बेटा! तुम्हारे पिता महाराज दशरथ स्वर्गलोकको सिधार गये तथा श्रीराम और लक्ष्मण वनमें निवास करते हैं। अब यह विशाल राज्य सब प्रकारसे सुखद और निष्कण्टक हो गया है। तुम इसे ग्रहण करो' ।। ३२ ।।

तामुवाच स धर्मात्मा नृशंसं बत ते कृतम् ।
पतिं हत्वा कुलं चेदमुत्साद्य धनलुब्धया ।। ३३ ।।
अयशः पातयित्वा मे मूर्ध्नि त्वं कुलपांसने ।
सकामा भव मे मातरित्युक्त्वा प्ररुरोद ह ।। ३४ ।।

भरत बड़े धर्मात्मा थे। वे माताकी बात सुनकर उससे बोले—'कुलकलंकिनी जननी! तूने धनके लोभमें पड़कर यह कितनी बड़ी क्रूरताका काम किया है? पतिकी हत्या की और इस कुलका विनाश कर डाला। 'मेरे मस्तकपर कलंकका टीका लगाकर तू अपना मनोरथ पूर्ण कर ले।' ऐसा कहकर भरत फूट-फूटकर रोने लगे ।। ३३-३४ ।।

स चारित्रं विशोध्याथ सर्वप्रकृतिसंनिधौ ।
अन्वयाद् भ्रातरं रामं विनिवर्तनलालसः ।। ३५ ।।

उन्होंने सारी प्रजा और मन्त्रियों आदिके निकट अपनी सफाई दी तथा भाई श्रीरामको वनसे लौटा लानेकी लालसासे उन्हींके पथका अनुसरण किया ।। ३५ ।।

कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीं च सुदुःखितः ।
अग्रे प्रस्थाप्य यानैः स शत्रुघ्नसहितो ययौ ।। ३६ ।।

वे कौसल्या, सुमित्रा तथा कैकेयीको सवारियोंद्वारा आगे भेजकर स्वयं अत्यन्त दुःखी हो शत्रुघ्नके साथ (पैदल ही) वनको चले ।। ३६ ।।

वसिष्ठवामदेवाभ्यां विप्रैश्चान्यैः सहस्रशः ।
पौरजानपदैः सार्धं रामानयनकाङ्क्षया ।। ३७ ।।

श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेकी अभिलाषासे उन्होंने वसिष्ठ, वामदेव और दूसरे सहस्रों ब्राह्मणों तथा नगर एवं जनपदके लोगोंको साथ लेकर यात्रा की ।। ३७ ।।

ददर्श चित्रकूटस्थं स रामं सहलक्ष्मणम् ।
तापसानामलंकारं धारयन्तं धनुर्धरम् ।। ३८ ।।

चित्रकूट पहुँचकर भरतने लक्ष्मणसहित श्रीरामको धनुष हाथमें लिये तपस्वीजनोंकी वेष-भूषा धारण किये देखा ।। ३८ ।।

(श्रीराम उवाच

गच्छ तात प्रजा रक्ष्याः सत्यं रक्षाम्यहं पितुः ।)
विसर्जितः स रामेण पितुर्वचनकारिणा ।
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं पुरस्कृत्यास्य पादुके ।। ३९ ।।

उस समय श्रीरामचन्द्रजीने कहा—तात भरत! अयोध्याको लौट जाओ। तुम्हें प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये और मैं पिताके सत्यकी रक्षा कर रहा हूँ, ऐसा कहकर पिताकी आज्ञा पालन करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने (समझा-बुझाकर) उन्हें विदा कर दिया। तब वे (लौटकर) बड़े भाईकी चरणपादुकाओंको आगे रखकर नन्दिग्राममें ठहर गये और वहींसे राज्यकी देख-भाल करने लगे ।। ३९ ।।

रामस्तु पुनराशङ्क्य पौरजानपदागमम् ।
प्रविवेश महारण्यं शरभङ्गाश्रमं प्रति ।। ४० ।।

श्रीरामचन्द्रजीने वहाँ नगर और जनपदके लोगोंके बराबर आने-जानेकी आशंकासे शरभंग मुनिके आश्रमके पास विशाल वनमें प्रवेश किया ।। ४० ।।

सत्कृत्य शरभङ्गं स दण्डकारण्यमाश्रितः ।
नदीं गोदावरीं रम्यामाश्रित्य न्यवसत् तदा ।। ४१ ।।

वहाँ शरभंग मुनिका सत्कार करके वे दण्डकारण्यमें चले गये और वहाँ सुरम्य गोदावरी नदीके तटका आश्रय लेकर रहने लगे ।। ४१ ।।

वसतस्तस्य रामस्य ततः शूर्पणखाकृतम् ।
खरेणासीन्महद् वैरं जनस्थाननिवासिना ।। ४२ ।।

वहाँ रहते समय शूर्पणखाके (नाक, कान और ओंठ काटनेके) कारण श्रीरामचन्द्रजीका जनस्थान-निवासी खर नामक राक्षसके साथ महान् वैर हो गया ।। ४२ ।।

रक्षार्थं तापसानां तु राघवो धर्मवत्सलः ।
चतुर्दश सहस्राणि जघान भुवि रक्षसाम् ।। ४३ ।।
दूषणं च खरं चैव निहत्य सुमहाबलौ ।
चक्रे क्षेमं पुनर्धीमान् धर्मारण्यं स राघवः ।। ४४ ।।

धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्रजीने तपस्वी मुनियोंकी रक्षाके लिये महाबली खर और दूषणको मारकर वहाँके चौदह हजार राक्षसोंका संहार कर डाला तथा उन बुद्धिमान् रघुनाथजीने पुनः उस वनको क्षेमकारक धर्मारण्य बना दिया ।। ४३-४४ ।।

हतेषु तेषु रक्षःसु ततः शूर्पणखा पुनः ।
ययौ निकृत्तनासोष्ठी लङ्कां भ्रातुर्निवेशनम् ।। ४५ ।।

उन राक्षसोंके मारे जानेपर शूर्पणखा, जिसकी नाक और ओंठ काट लिये गये थे, पुनः लंकामें अपने भाई रावणके घर गयी ।। ४५ ।।

ततो रावणमभ्येत्य राक्षसी दुःखमूर्च्छिता ।
पपात पादयोर्भ्रातुः संशुष्करुधिरानना ।। ४६ ।।

रावणके पास पहुँचकर वह राक्षसी दुःखसे मूर्च्छित हो भाईके चरणोंमें गिर पड़ी। उसके मुखपर रक्त बहकर सूख गया था ।। ४६ ।।

तां तथा विकृतां दृष्ट्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ।
उत्पपातासनात् क्रुद्धो दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ।। ४७ ।।

बहिनका रूप इस प्रकार विकृत हुआ देखकर रावण क्रोधसे मूर्च्छित हो उठा और दाँतोंसे दाँत पीसता हुआ रोषपूर्वक आसनसे उठकर खड़ा हो गया ।। ४७ ।।

स्वानमात्यान् विसृज्याथ विविक्ते तामुवाच सः ।

केनास्येवं कृता भद्रे मामचिन्त्यावमन्य च ।। ४८ ।।

अपने मन्त्रियोंको विदा करके उसने एकान्तमें शूर्पणखासे पूछा—'भद्रे! किसने मेरी परवा न करके—मेरी सर्वथा अवहेलना करके तुम्हारी ऐसी दुर्दशा की है? ।। ४८ ।।

कः शूलं तीक्ष्णमासाद्य सर्वगात्रैर्निषेवते ।
कः शिरस्यग्निमाधाय विश्वस्तः स्वपते सुखम् ।। ४९ ।।

'कौन तीखे शूलके पास जाकर उसे अपने सारे अंगोंमें चुभोना चाहता है? कौन मूर्ख अपने सिरपर आग रखकर बेखटके सुखकी नींद सो रहा है? ।। ४९ ।।

आशीविषं घोरतरं पादेन स्पृशतीह कः ।
सिंहं केसरिणं कश्च दंष्ट्रायां स्पृश्य तिष्ठति ।। ५० ।।

'कौन अत्यन्त भयंकर विषधर सर्पको पैरसे कुचल रहा है? तथा कौन केसरी सिंहकी दाढ़ोंमें हाथ डालकर निश्चिन्त खड़ा है?' ।। ५० ।।

इत्येवं ब्रुवतस्तस्य स्रोतोभ्यस्तेजसोऽर्चिषः ।
निश्चेरुर्दह्यतो रात्रौ वृक्षस्येव स्वरन्ध्रतः ।। ५१ ।।

इस प्रकार बोलते हुए रावणके कान, नाक एवं आँख आदि छिद्रोंसे उसी प्रकार आगकी चिनगारियाँ निकलने लगीं, जिस प्रकार रातको जलते हुए वृक्षके छेदोंसे आगकी लपटें निकलती हैं ।। ५१ ।।

तस्य तत् सर्वमाचख्यौ भगिनी रामविक्रमम् ।
खरदूषणसंयुक्तं राक्षसानां पराभवम् ।। ५२ ।।

तब रावणकी बहिन शूर्पणखाने श्रीरामके उस पराक्रम और खर-दूषणसहित समस्त राक्षसोंके संहारका (सारा) वृत्तान्त कह सुनाया ।। ५२ ।।

स निश्चित्य ततः कृत्यं स्वसारमुपसान्त्व्य च ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे राजा विधाय नगरे विधिम् ।। ५३ ।।

यह सुनकर रावणने अपने कर्तव्यका निश्चय किया और अपनी बहिनको सान्त्वना देकर नगर आदिकी रक्षाका प्रबन्ध करके वह आकाशमार्गसे उड़ चला ।। ५३ ।।

त्रिकूटं समतिक्रम्य कालपर्वतमेव च ।
ददर्श मकरावासं गम्भीरोदं महोदधिम् ।। ५४ ।।

त्रिकूट और कालपर्वतको लाँघकर उसने मगरोंके निवासस्थान गहरे महासागरको देखा ।। ५४ ।।

तमतीत्याथ गोकर्णमभ्यगच्छद् दशाननः ।
दयितं स्थानमव्यग्रं शूलपाणेर्महात्मनः ।। ५५ ।।

उसे ऊपर-ही-ऊपर लाँघकर दशमुख रावण गोकर्णतीर्थमें गया, जो परमात्मा शूलपाणि शिवका प्रिय एवं अविचल स्थान है ।। ५५ ।।

तत्राभ्यगच्छन्मारीचं पूर्वामात्यं दशाननः ।

पुरा रामभयादेव तापस्यं समुपाश्रितम् ।। ५६ ।।

वहाँ रावण अपने भूतपूर्व मन्त्री मारीचसे मिला, जो श्रीरामचन्द्रजीके भयसे ही पहलेसे उस स्थानमें आकर तपस्या करता था ।। ५६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामवनाभिगमने सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २७७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें श्रीरामवनगमनविषयक दो सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५६½ श्लोक हैं)

अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मृगरूपधारी मारीचका वध तथा सीताका अपहरण

मार्कण्डेय उवाच

मारीचस्त्वथ सम्भ्रान्तो दृष्ट्वा रावणमागतम् ।
पूजयामास सत्कारैः फलमूलादिभिस्ततः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! रावणको आया देख मारीच सहसा उठकर खड़ा हो गया और उसने फल-मूल आदि अतिथिसत्कारकी सामग्रियोंद्वारा उसका विधिवत् पूजन किया ।। १ ।।

विश्रान्तं चैनमासीनमन्वासीनः स राक्षसः ।
उवाच प्रश्रितं वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ।। २ ।।

जब रावण बैठकर विश्राम कर चुका, तब उसके पास बैठकर बातचीत करनेमें कुशल राक्षस मारीचने वाक्यका मर्म समझनेमें निपुण रावणसे विनयपूर्वक कहा— ।। २ ।।

न ते प्रकृतिमान् वर्णः कच्चित् क्षेमं पुरे तव ।
कच्चित् प्रकृतयः सर्वा भजन्ते त्वां यथा पुरा ।। ३ ।।

'लंकेश्वर! तुम्हारे शरीरका रंग ठीक हालतमें नहीं है। तुम उदास दिखायी देते हो। तुम्हारे नगरमें कुशल तो है न? समस्त प्रजा और मन्त्री आदि पहलेकी भाँति तुम्हारी सेवा करते हैं न? ।। ३ ।।

किमिहागमने चापि कार्यं ते राक्षसेश्वर ।
कृतमित्येव तद् विद्धि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ।। ४ ।।

'राक्षसराज! कौन-सा ऐसा कार्य आ गया है, जिसके लिये तुम्हें यहाँतक आना पड़ा? यदि वह मेरेद्वारा साध्य है तो कितना ही कठिन क्यों न हो, उसे किया हुआ ही समझो' ।। ४ ।।

शशंस रावणस्तस्मै तत् सर्वं रामचेष्टितम् ।
समासेनैव कार्याणि क्रोधामर्षसमन्वितः ।। ५ ।।

रावण क्रोध और अमर्षमें भरा हुआ था। उसने एक-एक करके रामद्वारा किये हुए सब कार्य संक्षेपसे कह सुनाये ।। ५ ।।

मारीचस्त्वब्रवीच्छ्रुत्वा समासेनैव रावणम् ।
अलं ते राममासाद्य वीर्यज्ञो ह्यस्मि तस्य वै ।। ६ ।।

मारीचने सारी बातें सुनकर थोड़ेमें ही रावणको समझाते हुए कहा—'दशानन! तुम श्रीरामसे भिड़नेका साहस न करो। मैं उनके पराक्रमको जानता हूँ ।। ६ ।।

बाणवेगं हि कस्तस्य शक्तः सोढुं महात्मनः ।

प्रव्रज्यायां हि मे हेतुः स एव पुरुषर्षभः ।। ७ ।।
विनाशमुखमेतत् ते केनाख्यातं दुरात्मना ।

‘भला! इस जगत्में कौन ऐसा वीर है, जो परमात्मा श्रीरामके बाणोंका वेग सह सके? मैं जो यहाँ संन्यासी बना बैठा हूँ, इसमें भी वे पुरुषरत्न श्रीराम ही कारण हैं। श्रीरामसे वैर मोल लेना विनाशके मुखमें जाना है, किस दुरात्माने तुम्हें ऐसी सलाह दी है?’ ।। ७½ ।।

तमुवाचाथ सक्रोधो रावणः परिभर्त्सयन् ।। ८ ।।
अकुर्वतोऽस्मद्वचनं स्यान्मृत्युरपि ते ध्रुवम् ।

मारीचकी बात सुनकर रावण और भी कुपित हो उठा और उसे डाँटते हुए बोला—‘मारीच! यदि तू मेरी बात नहीं मानेगा तो भी तेरी मृत्यु निश्चित ही है ।। ८½ ।।

मारीचश्चिन्तयामास विशिष्टान्मरणं वरम् ।। ९ ।।
अवश्यं मरणे प्राप्ते करिष्याम्यस्य यन्मतम् ।

मारीचने सोचा, ‘यदि मृत्यु निश्चित ही है तो श्रेष्ठ पुरुषके हाथसे ही मरना अच्छा होगा; अतः रावणका जो अभीष्ट कार्य है, उसे अवश्य करूँगा’ ।। ९½ ।।

ततस्तं प्रत्युवाचाथ मारीचो रक्षसां वरम् ।। १० ।।
किं ते साह्यं मया कार्यं करिष्याम्यवशोऽपि तत् ।

तदनन्तर उसने राक्षसराज रावणसे कहा—'अच्छा; बताओ, मुझे तुम्हारी क्या सहायता करनी होगी? इच्छा, न होनेपर भी मैं विवश होकर उसे करूँगा' ।। १०$\frac{१}{२}$ ।।

तमब्रवीद् दशग्रीवो गच्छ सीतां प्रलोभय ।। ११ ।।
रत्नशृङ्गो मृगो भूत्वा रत्नचित्रतनूरुहः ।
ध्रुवं सीता समालक्ष्य त्वां रामं चोदयिष्यति ।। १२ ।।

तब दशाननने उससे कहा—'तुम एक ऐसे मनोहर मृगका रूप धारण करो जिसके सींग रत्नमय प्रतीत हों और शरीरके रोएँ भी रत्नोंके ही समान चित्र-विचित्र दिखायी दें। फिर रामके आश्रमपर जाओ और सीताको लुभाओ। सीता तुम्हें देख लेनेपर निश्चय ही रामसे यह अनुरोध करेगी कि 'आप इस मृगको पकड़ लाइये' ।। ११-१२ ।।

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे सीता वश्या भविष्यति ।
तामादायापनेष्यामि ततः स न भविष्यति ।। १३ ।।
भार्यावियोगाद् दुर्बुद्धिरेतत् साह्यं कुरुष्व मे ।

'तुम्हारे पीछे रामके अपने आश्रमसे दूर निकल जानेपर सीताको वशमें लाना सहज हो जायगा। मैं उसे आश्रमसे हरकर ले जाऊँगा और दुर्बुद्धि राम अपनी प्यारी पत्नीके वियोगसे व्याकुल होकर प्राण दे देगा। बस, मेरी इतनी ही सहायता कर दो' ।। १३$\frac{१}{२}$ ।।

इत्येवमुक्तो मारीचः कृत्वोदकमथात्मनः ।। १४ ।।
रावणं पुरतो यान्तमन्वगच्छत् सुदुःखितः ।

रावणके ऐसा कहनेपर मारीच स्वयं ही अपना श्राद्ध-तर्पण करके अत्यन्त दुःखी होकर आगे जाते हुए रावणके पीछे-पीछे चला ।। १४$\frac{१}{२}$ ।।

ततस्तस्याश्रमं गत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।। १५ ।।
चक्रतुस्तत् तथा सर्वमुभौ यत् पूर्वमन्त्रितम् ।

तदनन्तर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमके समीप जाकर उन दोनोंने पहले जैसी सलाह कर रखी थी, उसके अनुसार सब कार्य किया ।। १५$\frac{१}{२}$ ।।

रावणस्तु यतिर्भूत्वा मुण्डः कुण्डी त्रिदण्डधृक् ।। १६ ।।
मृगश्च भूत्वा मारीचस्तं देशमुपजग्मतुः ।
दर्शयामास मारीचो वैदेहीं मृगरूपधृक् ।। १७ ।।

रावण मूँड़ मुड़ाने, भिक्षापात्र हाथमें लिये एवं त्रिदण्डधारी संन्यासीका रूप धारण करके और मारीच मृग बनकर—दोनों उस स्थानपर गये। मारीचने विदेहनन्दिनी सीताके समक्ष अपना मृगरूप प्रकट किया ।। १६-१७ ।।

चोदयामास तस्यार्थे सा रामं विधिचोदिता ।
रामस्तस्याः प्रियं कुर्वन् धनुरादाय सत्वरः ।। १८ ।।
रक्षार्थे लक्ष्मणं न्यस्य प्रययौ मृगलिप्सया ।

विधिके विधानसे प्रेरित होकर सीताने उस मृगको लानेके लिये श्रीरामचन्द्रजीको भेजा। श्रीरामचन्द्रजी सीताका प्रिय करनेके लिये धनुष हाथमें ले लक्ष्मणको सीताकी रक्षाका भार सौंपकर मृगको लानेकी इच्छासे तुरंत चल दिये ।। १८½ ।।

स धन्वी बद्धतुणीरः खड्गगोधाङ्गुलित्रवान् ।। १९ ।।
अन्वधावन्मृगं रामो रुद्रस्तारामृगं यथा ।

वे धनुष-बाण ले, पीठपर तरकस बाँधकर, कटिमें कृपाण लटकाये तथा हाथोंमें दस्ताने पहने उस मृगके पीछे उसी प्रकार दौड़े, जैसे मृगशिरा नक्षत्रके पीछे भगवान् रुद्र दौड़े थे ।। १९½ ।।

सोऽन्तर्हितः पुनस्तस्य दर्शनं राक्षसो व्रजन् ।। २० ।।
चकर्ष महदध्वानं रामस्तं बुबुधे ततः ।
निशाचरं विदित्वा तं राधवः प्रतिभानवान् ।। २१ ।।
अमोघं शरमादाय जघान मृगरूपिणम् ।

मायावी राक्षस मारीच कभी छिप जाता और कभी नेत्रोंके समक्ष प्रकट हो जाता था। इस प्रकार वह श्रीरामचन्द्रजीको आश्रमसे बहुत दूर खींच ले गया। तब श्रीरामचन्द्रजी यह ताड़ गये कि यह कोई मायावी राक्षस है। यह बात ध्यानमें आते ही प्रतिभाशाली

श्रीरघुनाथजीने एक अमोघ बाण लेकर उस मृगरूपधारी निशाचरको मार डाला ।। २०-२१ ।।

स रामबाणाभिहतः कृत्वा रामस्वरं तदा ।। २२ ।।
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं चुक्रोशार्तस्वरेण ह ।

श्रीरामचन्द्रजीके बाणसे आहत हो मरते समय मारीचने उनके ही स्वरमें ‘हा सीते, हा लक्ष्मण’ कहकर आर्तनाद किया ।। २२½ ।।

शुश्राव तस्य वैदेही ततस्तां करुणां गिरम् ।। २३ ।।
सा प्राद्रवद् यतः शब्दस्तामुवाचाथ लक्ष्मणः ।
अलं ते शङ्कया भीरु को रामं प्रहरिष्यति ।। २४ ।।
मुहूर्ताद् द्रक्ष्यसे रामं भर्तारं त्वं शुचिस्मिते ।

विदेहनन्दिनी सीताने भी उसकी वह करुणाभरी पुकार सुनी। उसकी पुकार सुनते ही जिस ओरसे वह आवाज आयी थी, उसी ओर वे दौड़ पड़ीं। तब लक्ष्मणने उनसे कहा —‘भीरु! डरनेकी कोई बात नहीं है। भला, कौन ऐसा है, जो भगवान् रामको मार सकेगा? शुचिस्मिते! तुम दो ही घड़ीमें अपने पति भगवान् श्रीरामको यहाँ उपस्थित देखोगी ।। २३-२४½ ।।

इत्युक्ता सा प्ररुदती पर्यशङ्कत लक्ष्मणम् ।। २५ ।।
हता वै स्त्रीस्वभावेन शुक्लचारित्रभूषणा ।
सा तं परुषमारब्धा वक्तुं साध्वी पतिव्रता ।। २६ ।।

लक्ष्मणकी यह बात सुनकर रोती हुई सीताने उन्हें संदेहकी दृष्टिसे देखा। यद्यपि शुद्ध सदाचार ही उनका आभूषण था। वे साध्वी और पतिव्रता थीं; तथापि स्त्री स्वभाववश उस समय उनकी बुद्धि मारी गयी। उन्होंने लक्ष्मणको कठोर बातें सुनानी आरम्भ कीं — ।। २५-२६ ।।

नैष कामो भवेन्मूढ यं त्वं प्रार्थयसे हृदा ।
अप्यहं शस्त्रमादाय हन्यामात्मानमात्मना ।। २७ ।।
पतेयं गिरिशृङ्गाद् वा विशेयं वा हुताशनम् ।
रामं भर्तारमुत्सृज्य न त्वहं त्वां कथंचन ।। २८ ।।
निहीनमुपतिष्ठेयं शार्दूली क्रोष्टुकं यथा ।

‘ओ मूढ़! तुम मन-ही-मन जिस वस्तुको पाना चाहते हो, तुम्हारा वह मनोरथ कभी पूर्ण न होगा। मैं स्वयं तलवार लेकर अपना गला काट लूँगी, पर्वतके शिखरसे कूद पड़ूँगी अथवा जलती हुई आगमें समा जाऊँगी; परंतु’ राम-जैसे स्वामीको छोड़कर तुम-जैसे नीच पुरुषका कदापि वरण न करूँगी। जैसे सिंहिनी सियारको नहीं स्वीकार कर सकती, उसी प्रकार मैं तुम्हें नहीं ग्रहण करूँगी’ ।। २७-२८½ ।।

एतादृशं वचः श्रुत्वा लक्ष्मणः प्रियराघवः ।। २९ ।।

पिधाय कर्णौ सद्वृत्तः प्रस्थितो येन राघवः ।
स रामस्य पदं गृह्य प्रससार धनुर्धरः ।। ३० ।।
अवीक्षमाणो बिम्बोष्ठीं प्रययौ लक्ष्मणस्तदा ।

लक्ष्मण सदाचारी तथा श्रीरामचन्द्रजीके प्रेमी थे। उन्होंने सीताके ये कठोर वचन सुनकर अपने दोनों कान बंद कर लिये और उसी मार्गसे चल दिये, जिससे श्रीरामचन्द्रजी गये थे। उस समय लक्ष्मणके हाथमें धनुष था। उन्होंने बिम्बफलके समान अरुण अधरोंवाली सीताकी ओर आँख उठाकर देखातक नहीं। श्रीरामके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए उन्होंने वहाँसे प्रस्थान कर दिया ।। २९-३०½ ।।

एतस्मिन्नन्तरे रक्षो रावणः प्रत्यदृश्यत ।। ३१ ।।
अभव्यो भव्यरूपेण भस्मच्छन्न इवानलः ।
यतिवेषप्रतिच्छन्नो जिहीर्षुस्तामनिन्दिताम् ।। ३२ ।।

इसी समय अवसर पाकर राक्षस रावण साध्वी सीताको हर ले जानेकी इच्छासे वहाँ दिखायी दिया। वह भयानक निशाचर सुन्दर रूप धारण करके राखमें छिपी हुई आगके समान संन्यासीके वेषमें अपने यथार्थ रूपको छिपाये हुए था ।। ३१-३२ ।।

सा तमालक्ष्य सम्प्राप्तं धर्मज्ञा जनकात्मजा ।
निमन्त्रयामास तदा फलमूलाशनादिभिः ।। ३३ ।।

उस समय यतिको अपने आश्रमपर आया हुआ देख धर्मको जाननेवाली जनकनन्दिनी सीता फल-मूलके भोजन आदिके अतिथिसत्कारके लिये उसे निमन्त्रित किया ।।

अवमन्य ततः सर्वं स्वरूपं प्रत्यपद्यत ।
सान्त्वयामास वैदेहीमिति राक्षसपुङ्गवः ।। ३४ ।।

राक्षसराज रावण सीताकी दी हुई उन सभी वस्तुओंकी अवहेलना करके अपने असली रूपमें प्रकट हो गया और विदेहराजकुमारीको इस प्रकार सान्त्वना देने लगा— ।। ३४ ।।

सीते राक्षसराजोऽहं रावणो नाम विश्रुतः ।
मम लङ्कापुरी नाम्ना रम्या पारे महोदधेः ।। ३५ ।।

'सीते! मैं राक्षसोंका राजा हूँ। मेरा 'रावण' नाम सर्वत्र विख्यात है। समुद्रके पार बसी हुई रमणीय लंकापुरी मेरी राजधानी है ।। ३५ ।।

तत्र त्वं नरनारीषु शोभिष्यसि मया सह ।
भार्या मे भव सुश्रोणि तापसं त्यज राघवम् ।। ३६ ।।

'वहाँ नर-नारियोंके बीच मेरे साथ रहकर तुम बड़ी शोभा पाओगी। अतः सुन्दरी! तुम मेरी पत्नी हो जाओ और इस तपस्वी रामको छोड़ दो' ।। ३६ ।।

एवमादीनि वाक्यानि श्रुत्वा तस्याथ जानकी ।
पिधाय कर्णौ सुश्रोणी मैवमित्यब्रवीद् वचः ।। ३७ ।।
प्रपतेद् द्यौः सनक्षत्रा पृथिवी शकलीभवेत् ।

शैत्यमग्निरियान्नाहं त्यजेयं रघुनन्दनम् ।। ३८ ।।

रावणके ऐसे वचन सुनकर सुन्दरी जनककिशोरीने अपने दोनों कान बंद कर लिये और उससे इस प्रकार कहा—'बस, अब ऐसी बातें मुँहसे न निकाल। नक्षत्रोंसहित आकाश फट पड़े, पृथ्वी टूक-टूक हो जाय और अग्नि अपनी उष्णताका त्याग करके शीतल हो जाय, परंतु मैं रघुकुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजीको नहीं छोड़ सकती ।। ३७-३८ ।।

कथं हि भिन्नकरटं पद्मिनं वनगोचरम् ।
उपस्थाय महानागं करेणुः सूकरं स्पृशेत् ।। ३९ ।।

'गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले पद्ममाला-मण्डित वनवासी गजराजकी सेवामें उपस्थित होकर कोई हथिनी किसी शूकरको कैसे छू सकती है? ।। ३९ ।।

कथं हि पीत्वा माध्वीकं पीत्वा च मधुमाधवीम् ।
लोभं सौवीरके कुर्यान्नारी काचिदिति स्मरेत् ।। ४० ।।

'जो फूलोंके रससे बने हुए मधुर पेय तथा मधुमक्षिकाओंद्वारा तैयार किया हुआ मधु पी चुकी हो, ऐसी कोई भी नारी काँजीके रसका लोभ कैसे कर सकती है?' ।। ४० ।।

इति सा तं समाभाष्य प्रविवेशाश्रमं ततः ।
क्रोधात् प्रस्फुरमाणौष्ठी विधुन्वाना करौ मुहुः ।। ४१ ।।

रावणसे इस प्रकार कहकर सीता अपने आश्रममें प्रवेश करने लगीं। उस समय क्रोधके मारे उनके ओंठ फड़क रहे थे और वे अपने दोनों हाथोंको बार-बार हिला रही थीं ।। ४१ ।।

तामभिद्रुत्य सुश्रोणीं रावणः प्रत्यषेधयत् ।
भर्त्सयित्वा तु रूक्षेण स्वरेण गतचेतनाम् ।। ४२ ।।

इसी समय रावणने दौड़कर उनका मार्ग रोक लिया और कठोर स्वरसे उन्हें डराना, धमकाना आरम्भ किया। इससे वे भयके मारे मूर्च्छित हो गयीं ।। ४२ ।।

मूर्धजेषु निजग्राह ऊर्ध्वमाचक्रमे ततः ।
तां ददर्श ततो गृध्रो जटायुर्गिरिगोचरः ।
रुदतीं राम रामेति ह्रियमाणां तपस्विनीम् ।। ४३ ।।

तब रावणने उनके केश पकड़ लिये और आकाशमार्गसे लंकाकी ओर प्रस्थान किया। उस समय वे तपस्विनी सीता 'हा राम-हा रामकी' रट लगाती हुई रो रही थीं और वह राक्षस उन्हें हरकर लिये जा रहा था। इसी अवस्थामें एक पर्वतकी गुफामें रहनेवाले गृध्रराज जटायुने उन्हें देखा ।। ४३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि मारीचवधे सीताहरणे च अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २७८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें मारीचवध तथा सीताहरणविषयक दो सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७८ ।।

एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

रावणद्वारा जटायुका वध, श्रीरामद्वारा उसका अन्त्येष्टि-संस्कार, कबन्धका वध तथा उसके दिव्य स्वरूपसे वार्तालाप

मार्कण्डेय उवाच

सखा दशरथस्यासीज्जटायुररुणात्मजः ।
गृध्रराजो महावीरः सम्पातिर्यस्य सोदरः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! महावीर गृध्रराज जटायु (सूर्यके सारथि) अरुणके पुत्र थे। उनके बड़े भाईका नाम सम्पाति था। राजा दशरथके साथ उनकी बड़ी मित्रता थी ।। १ ।।

स ददर्श तदा सीतां रावणाङ्कगतां स्नुषाम् ।
सक्रोधोऽभ्यद्रवत् पक्षी रावणं राक्षसेश्वरम् ।। २ ।।

इसी नाते सीताको वे अपनी पुत्रवधू मानते थे। जब जटायुने उन्हें रावणकी गोदमें पराधीन होकर पड़ी हुई देखा तब उनके क्रोधकी सीमा न रही। वे राक्षसराज रावणपर टूट पड़े ।। २ ।।

अथैनमब्रवीद् गृध्रो मुञ्च मुञ्चेति मैथिलीम् ।
ध्रियमाणे मयि कथं हरिष्यसि निशाचर ।। ३ ।।

इस प्रकार और वे बोले—‘निशाचर! मिथिलेश-कुमारीको छोड़ दे, छोड़ दे। मेरे जीते-जी तू इन्हें कैसे हर ले जायगा?’ ।। ३ ।।

न हि मे मोक्ष्यसे जीवन् यदि नोत्सृजसे वधूम् ।
उक्त्वैवं राक्षसेन्द्रं तं चकर्त नखरैर्भृशम् ।। ४ ।।

‘यदि मेरी पुत्रवधू सीताको तू नहीं छोड़ेगा तो मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकेगा।’ ऐसा कहकर जटायुने अपने नखोंसे राक्षसराज रावणको बहुत घायल कर दिया ।। ४ ।।

पक्षतुण्डप्रहारैश्च शतशो जर्जरीकृतम् ।
चक्षार रुधिरं भूरि गिरिः प्रस्रवणैरिव ।। ५ ।।

उन्होंने पंखों और चोंचसे मार-मारकर उसके सैकड़ों घाव कर दिये। रावणका सारा शरीर जर्जर हो गया तथा देहसे रक्तकी धाराएँ बह चलीं, मानो पर्वत अनेक झरनोंसे आर्द्र हो रहा हो ।। ५ ।।

स वध्यमानो गृध्रेण रामप्रियहितैषिणा ।
खड्गमादाय चिच्छेद भुजौ तस्य पतत्त्रिणः ।। ६ ।।

श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय एवं हित चाहनेवाले जटायुको इस प्रकार चोट करते देख रावणने तलवार लेकर उन पक्षिराजके दोनों पंख काट डाले ।। ६ ।।

निहत्य गृध्रराजं स भिन्नाभ्रशिखरोपमम् ।
ऊर्ध्वमाचक्रमे सीतां गृहीत्वाङ्केन राक्षसः ।। ७ ।।

बादलोंको भेदनेवाले पर्वतशिखरके समान गृध्रराज जटायुको घायल करके रावण पुनः सीताको गोदमें लिये हुए आकाशमार्गसे चल दिया ।। ७ ।।

यत्र यत्र तु वैदेही पश्यत्याश्रममण्डलम् ।
सरो वा सरितो वापि तत्र मुञ्चति भूषणम् ।। ८ ।।

विदेहकुमारी सीता जहाँ-जहाँ कोई आश्रम, सरोवर या नदी देखतीं, वहाँ-वहाँ अपना कोई-न-कोई आभूषण गिरा देती थीं ।। ८ ।।

सा ददर्श गिरिप्रस्थे पञ्च वानरपुङ्गवान् ।
तत्र वासो महद्दिव्यमुत्ससर्ज मनस्विनी ।। ९ ।।

आगे जानेपर उन्होंने एक पर्वतके शिखरपर बैठे हुए पाँच श्रेष्ठ वानरोंको देखा। वहाँ उन बुद्धिमती देवीने अपना एक अत्यन्त दिव्य वस्त्र गिरा दिया ।। ९ ।।

तत् तेषां वानरेन्द्राणां पपात पवनोद्‌धुतम् ।
मध्ये सुपीतं पञ्चानां विद्युन्मेघान्तरे यथा ।। १० ।।

वह सुन्दर पीले रंगका वस्त्र आकाशमें उड़ता हुआ उन पाँचों वानरोंके मध्यभागमें जा गिरा, मानो मेघोंके बीचमें विद्युत् प्रकट हो गयी हो ।। १० ।।

अचिरेणातिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ।
ददर्शाथ पुरीं रम्यां बहुद्वारां मनोरमाम् ।। ११ ।।

आकाशचारी पक्षीकी भाँति आकाशगामी रावण थोड़े ही समयमें अपना मार्ग तय करके लंकाके निकट जा पहुँचा। उसने दूरसे ही अपनी रमणीय एवं मनोहर पुरीको देखा, जो अनेक दरवाजोंसे सुशोभित हो रही थी ।। ११ ।।

प्राकारवप्रसम्बाधां निर्मितां विश्वकर्मणा ।
प्रविवेश पुरीं लङ्कां ससीतो राक्षसेश्वरः ।। १२ ।।

साक्षात् विश्वकर्माने उस पुरीका निर्माण किया था। वह सब ओरसे चहारदीवारी तथा खाइयोंद्वारा घिरी हुई थी। राक्षसराज रावणने सीताके साथ उसी लंकापुरीमें प्रवेश किया ।। १२ ।।

एवं हृतायां वैदेह्यां रामो हत्वा महामृगम् ।
निवृत्तो ददृशे धीमान् भ्रातरं लक्ष्मणं तथा ।। १३ ।।

इस प्रकार सीताका अपहरण हो जानेपर बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजी उस महामृगरूप मारीचको मारकर लौटे; उस समय मार्गमें उन्हें लक्ष्मण दिखायी दिये ।। १३ ।।

कथमुत्सृज्य वैदेहीं वने राक्षससेविते ।
इति तं भ्रातरं दृष्ट्वा प्राप्तोऽसीति व्यगर्हयत् ।। १४ ।।

भाईको देखकर श्रीरामने उन्हें कोसते हुए कहा—‘लक्ष्मण! राक्षसोंसे भरे हुए इस घोर जंगलमें जानकीको अकेली छोड़कर तुम यहाँ कैसे चले आये?’ ।। १४ ।।

मृगरूपधरेणाथ रक्षसा सोऽपकर्षणम् ।
भ्रातुरागमनं चैव चिन्तयन् पर्यतप्यत ।। १५ ।।

‘मृगरूपधारी राक्षस मुझे आश्रमसे दूर खींच लाया और भाई भी आश्रमको अरक्षित छोड़कर मेरे पास आ गया’, यह सोचते हुए श्रीरामचन्द्रजी मन-ही-मन संतप्त हो उठे ।। १५ ।।

गर्हयन्नेव रामस्तु त्वरितस्तं समासदत् ।
अपि जीवति वैदेही नेति पश्यामि लक्ष्मण ।। १६ ।।

उपर्युक्तरूपसे लक्ष्मणकी निन्दा करते हुए श्रीरामचन्द्रजी तुरंत उनके पास आ गये और कहने लगे—‘लक्ष्मण! मैं देखता हूँ, सीता जीवित भी है या नहीं’ ।। १६ ।।

तस्य तत् सर्वमाचख्यौ सीताया लक्ष्मणो वचः ।
यदुक्तवत्यसदृशं वैदेही पश्चिमं वचः ।। १७ ।।

तब लक्ष्मणने सीताकी वे सारी अनुचित एवं आक्षेपपूर्ण बातें, जिन्हें उन्होंने अन्तमें कहा था, कह सुनायीं ।। १७ ।।

दह्यमानेन तु हृदा रामोऽभ्यपतदाश्रमम् ।
स ददर्श तदा गृध्रं निहतं पर्वतोपमम् ।। १८ ।।

श्रीरामचन्द्रजीका हृदय शोकाग्निसे दग्ध हो रहा था। वे शीघ्रतापूर्वक आश्रमकी ओर बढ़े। मार्गमें उन्हें पर्वताकार गृध्रराज जटायु दिखायी दिये, जो रावणके हाथसे घायल हुए पड़े थे ।। १८ ।।

राक्षसं शङ्कमानस्तं विकृष्य बलवद् धनुः ।
अभ्यधावत काकुत्स्थस्ततस्तं सहलक्ष्मणः ।। १९ ।।

लक्ष्मणसहित श्रीरामने उन्हें राक्षस समझकर अपने प्रबल धनुषको खींचा और उनपर धावा कर दिया ।। १९ ।।

स तावुवाच तेजस्वी सहितौ रामलक्ष्मणौ ।
गृध्रराजोऽस्मि भद्रं वां सखा दशरथस्य वै ।। २० ।।

तब तेजस्वी जटायुने साथ आये हुए श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंसे कहा—'आप दोनोंका भला हो। मैं राजा दशरथका मित्र गृध्रराज जटायु हूँ' ।। २० ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा संगृह्य धनुषी शुभे ।
कोऽयं पितरमस्माकं नाम्नाऽऽहेत्यूचतुश्च तौ ।। २१ ।।

उनकी ये बातें सुनकर उन्होंने अपने सुन्दर धनुष उतारकर हाथमें ले लिये और परस्पर पूछने लगे कि 'यह कौन है जो हमारे पिताका नाम लेकर परिचय दे रहा है' ।। २१ ।।

ततो ददृशतुस्तौ तं छिन्नपक्षद्वयं खगम् ।
तयोः शशंस गृध्रस्तु सीतार्थे रावणाद् वधम् ।। २२ ।।

तदनन्तर उन्होंने पास आकर देखा—जटायुके दोनों पंख कटे हुए हैं। गृध्रने बताया कि 'सीताको छुड़ानेके लिये युद्ध करते समय मैं रावणके हाथसे अत्यन्त घायल कर दिया गया हूँ' ।। २२ ।।

अपृच्छद् राघवो गृध्रं रावणः कां दिशं गतः ।
तस्य गृध्रः शिरःकम्पैराचचक्षे ममार च ।। २३ ।।

श्रीरामचन्द्रजीने जटायुसे पूछा—'रावण किस दिशाकी ओर गया है?' गृध्रने सिर हिलाकर संकेतसे दक्षिण दिशा बतायी और अपने प्राण त्याग दिये ।। २३ ।।

दक्षिणामिति काकुत्स्थो विदित्वास्य तदिङ्गितम् ।
संस्कारं लम्भयामास सखायं पूजयन् पितुः ।। २४ ।।

उनके संकेतके अनुसार दक्षिण दिशा समझ लेनेके पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने पिताके मित्र होनेके नाते जटायुको आदर देते हुए उनका विधिपूर्वक अन्त्येष्टि-संस्कार किया ।। २४ ।।

ततो दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं व्यपविद्धबृसीमठम् ।
विध्वस्तकलशं शून्यं गोमायुशतसंकुलम् ।। २५ ।।

तदनन्तर आश्रमपर पहुँचकर उन्होंने देखा, कुशकी चटाई बाहर फेंकी हुई है, कुटी उजाड़ हो गयी है, घर सूना पड़ा है, कलश फूटे पड़े हैं और सारे आश्रममें सैकड़ों गीदड़ भरे हुए हैं ।। २५ ।।

दुःखशोकसमाविष्टौ वैदेहीहरणार्दितौ ।
जग्मतुर्दण्डकारण्यं दक्षिणेन परंतपौ ।। २६ ।।

सीताका अपहरण हो जानेसे दोनों भाइयोंको बड़ी वेदना हुई। वे दुःख और शोकमें डूब गये। फिर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीराम और लक्ष्मण दण्डकारण्यसे दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ।। २६ ।।

वने महति तस्मिंस्तु रामः सौमित्रिणा सह ।
ददर्श मृगयूथानि द्रवमाणानि सर्वशः ।। २७ ।।

उस विशाल वनमें लक्ष्मणसहित श्रीरामने देखा कि मृगोंके झुंड सब ओर भाग रहे हैं ।। २७ ।।

शब्दं च घोरं सत्त्वानां दावाग्नेरिव वर्धतः ।
अपश्येतां मुहूर्ताच्च कबन्धं घोरदर्शनम् ।। २८ ।।

वन-जन्तुओंका भयंकर शब्द ऐसा जान पड़ता था मानो वहाँ सब ओर दावानल फैल रहा हो और उससे भयभीत हुए प्राणी आर्तनाद कर रहे हों। दो ही घड़ीमें उन दोनों

भाइयोंने देखा, सामने एक ‘कबन्ध’ (धड़) प्रकट हुआ है, जो देखनेमें अत्यन्त भयंकर है ।। २८ ।।

मेघपर्वतसंकाशं शालस्कन्धं महाभुजम् ।
उरोगतविशालाक्षं महोदरमहामुखम् ।। २९ ।।

वह मेघके समान काला और पर्वतके समान विशालकाय था। साखूकी शाखाके समान उसके कंधे और बड़ी-बड़ी भुजाएँ थीं। उसकी चौड़ी छातीमें दो बड़ी-बड़ी आँखें चमक रहीं थीं और लंबे-से पेटमें बहुत बड़ा मुख दिखायी दे रहा था ।। २९ ।।

यदृच्छयाथ तद् रक्षः करे जग्राह लक्ष्मणम् ।
विषादमगमत् सद्यः सौमित्रिरथ भारत ।। ३० ।।

वह एक राक्षस था। उसने सहसा आकर लक्ष्मणका एक हाथ पकड़ लिया। भारत! यह देख सुमित्रानन्दन लक्ष्मण तत्काल बहुत दुःखी हो गये ।। ३० ।।

स राममभिसम्प्रेक्ष्य कृष्यते येन तन्मुखम् ।
विषण्णश्चाब्रवीद् रामं पश्यावस्थामिमां मम ।। ३१ ।।

जिस ओर उस राक्षसका मुख था, उसी ओर वे खिंचे चले जा रहे थे। तब श्रीरामकी ओर देखकर वे अत्यन्त विषादग्रस्त होकर बोले—‘भैया! देखिये, मेरी यह क्या अवस्था हो रही है? ।। ३१ ।।

हरणं चैव वैदेह्या मम चायमुपप्लवः ।
राज्यभ्रंशश्च भवतस्तातस्य मरणं तथा ।। ३२ ।।

‘विदेहकुमारीका अपहरण, मेरा इस प्रकार असमयमें विपत्तिग्रस्त होना, आपका राज्यसे निर्वासन तथा पिताजीकी मृत्यु—(इस प्रकार संकटपर संकट आता जा रहा है) ।। ३२ ।।

नाहं त्वां सह वैदेह्या समेतं कोसलागतम् ।
द्रक्ष्यामि पृथिवीराज्ये पितृपैतामहे स्थितम् ।। ३३ ।।

‘जान पड़ता है, जब आप सीताके साथ अयोध्यामें लौटकर पिता-पितामहोंकी परम्परासे प्राप्त हुए इस भूमण्डलके राज्यपर प्रतिष्ठित होंगे, उस समय मैं आपका दर्शन न कर सकूँगा ।। ३३ ।।

द्रक्ष्यन्त्यार्यस्य धन्या ये कुशलाजशमीदलैः ।
अभिषिक्तस्य वदनं सोमं शान्तघनं यथा ।। ३४ ।।

‘जो लोग कुश, लाजा और शमीपत्र आदिके द्वारा राज्यपर अभिषिक्त हुए आप आर्यके मेघोंके आवरणसे रहित शरत्कालीन चन्द्रमाके समान मनोहर मुखका दर्शन करेंगे, वे धन्य हैं’ ।। ३४ ।।

एवं बहुविधं धीमान् विललाप स लक्ष्मणः ।
तमुवाचाथ काकुत्स्थः सम्भ्रमेष्वप्यसम्भ्रमः ।। ३५ ।।

बुद्धिमान् लक्ष्मण इस प्रकार भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगे। भगवान् श्रीराम घबराहटके समय भी घबराते नहीं थे। उन्होंने लक्ष्मणसे कहा— ।। ३५ ।।

मा विषीद नरव्याघ्र नैष कश्चिन्मयि स्थिते ।
छिन्ध्यस्य दक्षिणं बाहुं छिन्नः सव्यो मया भुजः ।। ३६ ।।

'नरश्रेष्ठ! तुम खेद न करो। मेरे रहते यह राक्षस कोई चीज नहीं है; इससे तुम्हें कोई हानि नहीं पहुँच सकती। तुम इसकी दाहिनी बाँह काट डालो। मैं बायीं भुजा काट रहा हूँ' ।। ३६ ।।

इत्येवं वदता तस्य भुजो रामेण पातितः ।
खड्गेन भृशतीक्ष्णेन निकृत्तस्तिलकाण्डवत् ।। ३७ ।।

इस प्रकार कहते हुए श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त तीखी तलवारसे उस राक्षसकी एक बाँह तिलके पौधेकी तरह काट गिरायी ।। ३७ ।।

ततोऽस्य दक्षिणं बाहु खड्गेनाजघ्निवान् बली ।
सौमित्रिरपि सम्प्रेक्ष्य भ्रातरं राघवं स्थितम् ।। ३८ ।।
पुनर्जघान पार्श्वे वै तद् रक्षो लक्ष्मणो भृशम् ।
गतासुरपतद् भूमौ कबन्धः सुमहांस्ततः ।। ३९ ।।

तदनन्तर बलवान् सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने भी अपने खड्गसे उसकी दाहिनी बाँह काट डाली और अपने भाई श्रीरामको खड़ा देखकर उन्होंने उसकी पसलीपर भी बड़े जोरसे प्रहार किया। फिर तो वह महान् राक्षस कबन्ध प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। ३८-३९ ।।

तस्य देहाद् विनिःसृत्य पुरुषो दिव्यदर्शनः ।
ददृशे दिवमास्थाय दिवि सूर्य इव ज्वलन् ।। ४० ।।

उसकी देहसे एक दिव्यरूपधारी पुरुष निकलकर आकाशमें खड़ा दिखायी दिया। वह सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा था ।। ४० ।।

पप्रच्छ रामस्तं वाग्मी कस्त्वं प्रब्रूहि पृच्छतः ।
कामया किमिदं चित्रमाश्चर्यं प्रतिभाति मे ।। ४१ ।।

तब कुशल वक्ता भगवान् श्रीरामने उससे पूछा—'तुम कौन हो? अपना परिचय दो। मेरे पूछनेपर अपनी इच्छाके अनुसार बताओ, यह कैसी अद्‌भुत एवं आश्चर्यमयी घटना प्रतीत हो रही है?' ।। ४१ ।।

तस्याचचक्षे गन्धर्वो विश्वावसुरहं नृप ।
प्राप्तो ब्राह्मणशापेन योनिं राक्षससेविताम् ।। ४२ ।।
रावणेन हृता सीता राज्ञा लङ्काधिवासिना ।
सुग्रीवमभिगच्छस्व स ते साह्यं करिष्यति ।। ४३ ।।

उसने कहा—'राजन्! मैं विश्वावसु नामक गन्धर्व हूँ। एक ब्राह्मणके शापसे इस राक्षसयोनिमें आ गया था—लंकावासी राक्षसराज रावणने आपकी पत्नी सीताका अपहरण किया है। आप वानरराज सुग्रीवसे मिलिये। वे आपकी सहायता करेंगे' ।। ४२-४३ ।।

एषा पम्पा शिवजला हंसकारण्डवायुता ।
ऋष्यमूकस्य शैलस्य संनिकर्षे तटाकिनी ।। ४४ ।।

‘यह थोड़ी ही दूरपर पवित्र जलसे भरा हुआ पम्पासरोवर है, जिसमें हंस और कारण्डव आदि पक्षी चहक रहे हैं। वह सरोवर ऋष्यमूक पर्वतसे सटा हुआ है ।। ४४ ।।

वसते तत्र सुग्रीवश्चतुर्भिः सचिवैः सह ।
भ्राता वानरराजस्य वालिनो हेममालिनः ।। ४५ ।।

‘वहीं अपने चार मन्त्रियोंके साथ सुवर्णमालाधारी वानरराज वालीके भाई सुग्रीव निवास करते हैं ।। ४५ ।।

तेन त्वं सह संगम्य दुःखमूलं निवेदय ।
समानशीलो भवतः साहाय्यं स करिष्यति ।। ४६ ।।

‘उनसे मिलकर आप अपने दुःखका कारण बताइये। उनका शील-स्वभाव आपके ही समान है। वे निश्चय ही आपकी सहायता करेंगे ।। ४६ ।।

एतावच्छक्यमस्माभिर्वक्तुं द्रष्टासि जानकीम् ।
ध्रुवं वानरराजस्य विदितो रावणालयः ।। ४७ ।।

‘मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि आपकी जनकनन्दिनी सीतासे अवश्य भेंट होगी। वानरराज सुग्रीवको रावणके घरका पता निश्चय ही ज्ञात है’ ।। ४७ ।।

इत्युक्त्वान्तर्हितो दिव्यः पुरुषः स महाप्रभः ।
विस्मयं जग्मतुश्चोभौ प्रवीरौ रामलक्ष्मणौ ।। ४८ ।।

ऐसा कहकर वह महातेजस्वी दिव्य पुरुष वहीं अन्तर्हित हो गया। वीरवर श्रीराम और लक्ष्मण दोनोंको उसके दर्शन और वार्तालापसे बड़ा विस्मय हुआ ।। ४८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कबन्धहनने एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २७९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें कबन्धवधविषयक दो सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७९ ।।

अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राम और सुग्रीवकी मित्रता, वाली और सुग्रीवका युद्ध, श्रीरामके द्वारा वालीका वध तथा लंकाकी अशोकवाटिकामें राक्षसियोंद्वारा डरायी हुई सीताको त्रिजटाका आश्वासन

मार्कण्डेय उवाच

ततोऽविदूरे नलिनीं प्रभूतकमलोत्पलाम् ।
सीताहरणदुःखार्तः पम्पां रामः समासदत् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर सीताहरणके दुःखसे पीड़ित हो श्रीरामचन्द्रजी पम्पासरोवर-पर गये, जो वहाँसे थोड़ी ही दूरपर था। उसमें बहुत-से कमल और उत्पल लिखे हुए थे ।। १ ।।

मारुतेन सुशीतेन सुखेनामृतगन्धिना ।
सेव्यमानो वने तस्मिन् जगाम मनसा प्रियाम् ।। २ ।।

उस वनमें अमृतकी-सी सुगन्ध लिये मन्द गतिसे प्रवाहित होनेवाली सुखद शीतल वायुका स्पर्श पाकर श्रीरामचन्द्रजी मन-ही-मन अपनी प्रिया सीताका चिन्तन करने लगे ।। २ ।।

विललाप स राजेन्द्रस्तत्र कान्तामनुस्मरन् ।
कामबाणाभिसंतप्तः सौमित्रिस्तमथाब्रवीत् ।। ३ ।।

अपनी प्राणवल्लभाका बारंबार स्मरण करके कामबाणसे संतप्त हुए-से महाराज श्रीराम विलाप करने लगे। उस समय सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने उनसे कहा— ।। ३ ।।

न त्वामेवंविधो भावः स्प्रष्टुमर्हति मानद ।
आत्मवन्तमिव व्याधिः पुरुषं वृद्धशीलिनम् ।। ४ ।।

'मानद! मनपर काबू रखनेवाले तथा वृद्धोंके समान संयम-नियमसे रहनेवाले पुरुषको जैसे कोई रोग नहीं छू सकता, उसी प्रकार आपको ऐसे दैन्यभावका स्पर्श होना उचित नहीं जान पड़ता है' ।। ४ ।।

प्रवृत्तिरुपलब्धा ते वैदेह्या रावणस्य च ।
तां त्वं पुरुषकारेण बुद्ध्या चैवोपपादय ।। ५ ।।

'आपको सीता तथा उनका अपहरण करनेवाले रावणका समाचार मिल ही गया है। अब आप अपने पुरुषार्थ और बुद्धिबलसे जानकीको प्राप्त कीजिये ।। ५ ।।

अभिगच्छाव सुग्रीवं शैलस्थं हरिपुङ्गवम् ।

मयि शिष्ये च भृत्ये च सहाये च समाश्वस ।। ६ ।।

'हम दोनों यहाँसे वानरराज सुग्रीवके पास चलें, जो ऋष्यमूक पर्वतके शिखरपर रहते हैं। मैं आपका शिष्य, सेवक और सहायक हूँ। मेरे रहते आपको धैर्य रखना चाहिये' ।। ६ ।।

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्लक्ष्मणेन स राघवः ।
उक्तः प्रकृतिमापेदे कार्ये चानन्तरोऽभवत् ।। ७ ।।

इस प्रकार लक्ष्मणद्वारा अनेक प्रकारके वचनोंसे धैर्य दिलाये जानेपर श्रीरामचन्द्रजी स्वस्थ हुए और आवश्यक कार्यमें लग गये ।। ७ ।।

निषेव्य वारि पम्पायास्तर्पयित्वा पितॄनपि ।
प्रतस्थतुरुभौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।। ८ ।।

उन्होंने पम्पासरोवरके जलमें स्नान करके पितरोंका तर्पण किया। फिर उन दोनों वीर भ्राता श्रीराम और लक्ष्मणने वहाँसे प्रस्थान किया ।। ८ ।।

तावृष्यमूकमभ्येत्य बहुमूलफलद्रुमम् ।
गिर्यग्रे वानरान् पञ्च वीरौ ददृशतुस्तदा ।। ९ ।।

प्रचुर फल, मूल और वृक्षोंसे भरे हुए ऋष्यमूक पर्वतपर पहुँचकर उन दोनों वीरोंने देखा, पर्वतके शिखरपर पाँच वानर बैठे हुए हैं ।। ९ ।।

सुग्रीवः प्रेषयामास सचिवं वानरं तयोः ।
बुद्धिमन्तं हनूमन्तं हिमवन्तमिव स्थितम् ।। १० ।।

सुग्रीवने हिमालयके समान गम्भीर भावसे बैठे हुए अपने बुद्धिमान् सचिव हनुमान्को उन दोनोंके पास भेजा ।। १० ।।

तेन सम्भाष्य पूर्वं तौ सुग्रीवमभिजग्मतुः ।
सख्यं वानरराजेन चक्रे रामस्तदा नृप ।। ११ ।।

उनके साथ पहले बातचीत हो जानेपर वे दोनों भाई सुग्रीवके पास गये। राजन्! उस समय श्रीरामचन्द्रजीने वानरराज सुग्रीवके साथ मैत्री की ।। ११ ।।

तद् वासो दर्शयामासुस्तस्य कार्ये निवेदिते ।
वानराणां तु यत् सीता ह्रियमाणा व्यपासृजत् ।। १२ ।।

रामने सुग्रीवके समक्ष जब अपना कार्य निवेदन किया, तब उन्होंने श्रीरामको वह वस्त्र दिखाया, जिसे अपहरणकालमें सीताने वानरोंके बीचमें डाल दिया था ।। १२ ।।

तत् प्रत्ययकरं लब्ध्वा सुग्रीवं प्लवगाधिपम् ।
पृथिव्यां वानरैश्वर्ये स्वयं रामोऽभ्यषेचयत् ।। १३ ।।

रावणद्वारा सीताके अपहृत होनेका यह विश्वासजनक प्रमाण पाकर श्रीरामने स्वयं ही वानरराज सुग्रीवको अखिल भूमण्डलके वानरोंके सम्राट्पदपर अभिषिक्त कर दिया ।। १३ ।।

प्रतिजज्ञे च काकुत्स्थः समरे वालिनो वधम् ।
सुग्रीवश्चापि वैदेह्याः पुनरानयनं नृप ।। १४ ।।

साथ ही उन्होंने युद्धमें वालीके वधकी भी प्रतिज्ञा की। राजन्! तब सुग्रीवने भी विदेहनन्दिनी सीताको पुनः ढूँढ़ लानेकी प्रतिज्ञा की ।। १४ ।।

इत्युक्त्वा समयं कृत्वा विश्वास्य च परस्परम् ।
अभ्येत्य सर्वे किष्किन्धां तस्थुर्युद्धाभिकाङ्क्षिणः ।। १५ ।।

इस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक एक-दूसरेको विश्वास दिलाकर वे सब-के-सब किष्किन्धापुरीमें आये और युद्धकी अभिलाषासे डटकर खड़े हो गये ।। १५ ।।

सुग्रीवः प्राप्य किष्किन्धां ननादौघनिभस्वनः ।
नास्य तन्ममृषे वाली तारा तं प्रत्यषेधयत् ।। १६ ।।

सुग्रीवने किष्किन्धामें जाकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया, मानो बहुत बड़े जनसमूहका शब्द गूँज उठा हो। वालीको यह सहन नहीं हो सका। जब वह युद्धके लिये निकलने लगा, तब उसकी स्त्री ताराने उसे मना करते हुए कहा— ।। १६ ।।

यथा नदति सुग्रीवो बलवानेष वानरः ।
मन्ये चाश्रयवान् प्राप्तो न त्वं निष्क्रान्तुमर्हसि ।। १७ ।।

'नाथ! आज सुग्रीव जिस प्रकार गर्जना कर रहा है, उससे मालूम होता है, इस समय उसका बल बढ़ा हुआ है। मेरी समझमें उसे कोई बलवान् सहायक मिल गया है, तभी वह यहाँतक आ सका है। अतः आप घरसे न निकलें' ।। १७ ।।

हेममाली ततो वाली तारां ताराधिपाननाम् ।
प्रोवाच वचनं वाग्मी तां वानरपतिः पतिः ।। १८ ।।

तब सुवर्णमालासे विभूषित तारापति वानरराज वाली, जो बातचीत करनेमें कुशल था, अपनी चन्द्रमुखी पत्नी तारासे इस प्रकार बोला— ।। १८ ।।

सर्वभूतरुतज्ञा त्वं पश्य बुद्ध्या समन्विता ।
केन चाश्रयवान् प्राप्तो ममैष भ्रातृगन्धिकः ।। १९ ।।

'प्रिये! तुम समस्त प्राणियोंकी बोली समझती हो, साथ ही बुद्धिमती भी हो। अतः सोचो तो सही, यह मेरा नाममात्रका भाई किसका सहारा लेकर यहाँ आया है?' ।। १९ ।।

चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु तारा ताराधिपप्रभा ।
पतिमित्यब्रवीत् प्राज्ञा शृणु सर्वं कपीश्वर ।। २० ।।

तारा अपनी अंगकान्तिसे चन्द्रमाकी ज्योत्स्नाके समान उद्दीप्त हो रही थी। उस विदुषीने दो घड़ीतक विचार करके अपने पतिसे कहा—'कपीश्वर! मैं सब बातें बताती हूँ, सुनिये ।। २० ।।

हृतदारो महासत्त्वो रामो दशरथात्मजः ।
तुल्यारिमित्रतां प्राप्तः सुग्रीवेण धनुर्धरः ।। २१ ।।

'दशरथनन्दन श्रीराम महान् शक्तिशाली वीर हैं। उनकी पत्नीका किसीने अपहरण कर लिया है। उसकी खोजके लिये उन्होंने सुग्रीवसे मित्रता की है और दोनोंने एक-दूसरेके शत्रुको शत्रु तथा मित्रको मित्र मान लिया है। श्रीरामचन्द्रजी बड़े धनुर्धर हैं ।। २१ ।।

भ्राता चास्य महाबाहुः सौमित्रिरपराजितः ।
लक्ष्मणो नाम मेधावी स्थितः कार्यार्थसिद्धये ।। २२ ।।

'उनके भाई महाबाहु सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजी भी किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हैं। उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर है। वे श्रीरामके प्रत्येक कार्यकी सिद्धिके लिये उनके साथ रहते हैं ।। २२ ।।

मैन्दश्च द्विविदश्चापि हनूमांश्चानिलात्मजः ।
जाम्बवानृक्षराजश्च सुग्रीवसचिवाः स्थिताः ।। २३ ।।

‘इनके सिवा, मैन्द, द्विविद, वायुपुत्र हनुमान् तथा ऋक्षराज जाम्बवान्—ये सुग्रीवके चार मन्त्री हैं ।। २३ ।।

सर्व एते महात्मानो बुद्धिमन्तो महाबलाः ।
अलं तव विनाशाय रामवीर्यबलाश्रयात् ।। २४ ।।

‘ये सब-के-सब महामनस्वी, बुद्धिमान् और महाबली हैं। श्रीरामचन्द्रजीके बल-पराक्रमका सहारा मिल जानेसे ये लोग आपको मार डालनेमें समर्थ हैं’ ।। २४ ।।

तस्यास्तदाक्षिप्य वचो हितमुक्तं कपीश्वरः ।
पर्यशङ्कत तामीर्षुः सुग्रीवगतमानसाम् ।। २५ ।।

यद्यपि ताराने वालीके हितकी बात कही थी, तो भी वानरराज वालीने उसके कथनपर आक्षेप किया और ईर्ष्यावश उसके मनमें यह शंका हो गयी कि तारा मन-ही-मन सुग्रीवको चाहती है ।। २५ ।।

तारां परुषमुक्त्वा तु निर्जगाम गुहामुखात् ।
स्थितं माल्यवतोऽभ्याशे सुग्रीवं सोऽभ्यभाषत ।। २६ ।।

ताराको कठोर बातें सुनाकर वाली किष्किन्धाकी गुफाके द्वारसे बाहर निकला और माल्यवान् पर्वतके निकट खड़े हुए सुग्रीवसे इस प्रकार बोला— ।। २६ ।।

असकृत् त्वं मया पूर्वं निर्जितो जीवितप्रियः ।
मुक्तो ज्ञातिरिति ज्ञात्वा का त्वरा मरणे पुनः ।। २७ ।।

‘अरे! तू तो पहले अनेक बार युद्धमें मेरेद्वारा परास्त हो चुका है और जीवनका अधिक लोभ होनेके कारण भागकर जान बचाता फिरा है। मैंने भी अपना भाई समझकर तुझे जीवित छोड़ दिया है। फिर आज तुझे मरनेके लिये इतनी उतावली क्यों हो गयी है?’ ।।

इत्युक्तः प्राह सुग्रीवो भ्रातरं हेतुमद् वचः ।
प्राप्तकालममित्रघ्नो रामं सम्बोधयन्निव ।। २८ ।।

वालीके ऐसा कहनेपर शत्रुहन्ता सुग्रीव श्रीरामचन्द्रजीको परिस्थितिका ज्ञान कराते हुए-से अपने उस भाईसे अवसरके अनुरूप युक्तियुक्त वचन बोले— ।।

हृतराज्यस्य मे राजन् हृतदारस्य च त्वया ।
किं मे जीवितसामर्थ्यमिति विद्धि समागतम् ।। २९ ।।

‘राजन्! तुमने मेरा राज्य हर लिया है, मेरी स्त्रीको भी अपने अधिकारमें कर लिया है, ऐसी दशामें मुझमें जीवित रहनेकी शक्ति ही कहाँ है? यही सोचकर मरनेके लिये चला आया हूँ। आप मेरे आगमनका यही उद्देश्य समझ लें’ ।। २९ ।।

एवमुक्त्वा बहुविधं ततस्तौ संनिपेततुः ।
समरे वालिसुग्रीवौ शालतालशिलायुधौ ।। ३० ।।

इस प्रकार बहुत-सी बातें करके वाली और सुग्रीव दोनों एक-दूसरेसे गुँथ गये। उस युद्धमें साखू और ताड़के वृक्ष तथा पत्थरकी चट्टानें—ये ही उनके अस्त्र-शस्त्र थे ।। ३० ।।

उभौ जघ्नतुरन्योन्यमुभौ भूमौ निपेततुः ।
उभौ ववल्गतुश्चित्रं मुष्टिभिश्च निजघ्नतुः ।। ३१ ।।

दोनों दोनोंपर प्रहार करते, दोनों जमीनपर गिर जाते, फिर दोनों ही उछल-कूदकर विचित्र ढंगसे पैंतरे बदलते तथा मुक्कों और घूसोंसे एक-दूसरेको मारते थे ।। ३१ ।।

उभौ रुधिरसंसिक्तौ नखदन्तपरिक्षतौ ।
शुशुभाते तदा वीरौ पुष्पिताविव किंशुकौ ।। ३२ ।।

दोनों नख और दाँतोंके आघातसे क्षत-विक्षत हो रक्तसे लथपथ हो रहे थे। उस समय वे दोनों वीर खिले हुए पलासके दो वृक्षोंकी भाँति शोभा पाते थे ।। ३२ ।।

न विशेषस्तयोर्युद्धे यदा कश्चन दृश्यते ।
सुग्रीवस्य तदा मालां हनुमान् कण्ठ आसजत् ।। ३३ ।।

जब युद्धमें उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी दिया, तब हनुमान्‌जीने सुग्रीवकी पहचानके लिये उनके गलेमें एक माला डाल दी ।। ३३ ।।

स मालया तदा वीरः शुशुभे कण्ठसक्तया ।
श्रीमानिव महाशैलो मलयो मेघमालया ।। ३४ ।।

कण्ठमें पड़ी हुई उस मालासे वीर सुग्रीव उस समय मेघपंक्तिसे सुशोभित महापर्वत मलयकी भाँति शोभा पा रहे थे ।। ३४ ।।

कृतचिह्नं तु सुग्रीवं रामो दृष्ट्वा महाधनुः ।
विचकर्ष धनुः श्रेष्ठं वालिमुद्दिश्य लक्ष्यवत् ।। ३५ ।।
विस्फारस्तस्य धनुषो यन्त्रस्येव तदा बभौ ।
वितत्रास तदा वाली शरेणाभिहतोरसि ।। ३६ ।।

महाधनुर्धर श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवको चिह्न धारण किये देख वालीको लक्ष्य बनाकर अपना महान् धनुष खींचा। उस धनुषकी टंकार मशीनकी भयंकर आवाजके समान जान पड़ती थी। उसे सुनकर वाली भयभीत हो उठा। इतनेमें ही श्रीरामके बाणने उसकी छातीपर भारी चोट की ।। ३५-३६ ।।

स भिन्नहृदयो वाली वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ।
ददर्शावस्थितं रामं ततः सौमित्रिणा सह ।। ३७ ।।

इससे वालीका वक्षःस्थल विदीर्ण हो गया और वह अपने मुँहसे रक्त वमन करने लगा। सामने ही उसे लक्ष्मणके साथ खड़े हुए श्रीराम दिखायी दिये ।। ३७ ।।

गर्हयित्वा स काकुत्स्थं पपात भुवि मूर्च्छितः ।
तारा ददर्श तं भूमौ तारापतिसमौजसम् ।। ३८ ।।

तब वह (छिपकर आघात करनेके कारण) श्रीरामचन्द्रजीकी निन्दा करके पृथ्वीपर गिर पड़ा और मूर्च्छित हो गया। ताराने चन्द्रमाके समान तेजस्वी अपने वीर पति वालीको प्राणहीन होकर पृथ्वीपर पड़ा देखा ।।

हते वालिनि सुग्रीवः किष्किन्धां प्रत्यपद्यत ।
तां च तारापतिमुखीं तारां निपतितेश्वराम् ।। ३९ ।।

वालीके मारे जानेपर अनाथ हुई किष्किन्धापुरी तथा चन्द्रमुखी तारा सुग्रीवको प्राप्त हुई ।। ३९ ।।

रामस्तु चतुरो मासान् पृष्ठे माल्यवतः शुभे ।
निवासमकरोद् धीमान् सुग्रीवेणाभ्युपस्थितः ।। ४० ।।

परम बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीने माल्यवान् पर्वतकी सुन्दर घाटीमें वर्षाके चार महीनोंतक निवास किया। समय-समयपर सुग्रीव भी उनकी सेवामें उपस्थित होते रहते

थे ।। ४० ।।

रावणोऽपि पुरीं गत्वा लङ्कां कामबलात्कृतः ।
सीतां निवेशयामास भवने नन्दनोपमे ।। ४१ ।।
अशोकवनिकाभ्याशे तापसाश्रमसंनिभे ।
भर्तृस्मरणतन्वङ्गी तापसीवेषधारिणी ।। ४२ ।।

इधर कामके वशीभूत हुए रावणने भी लंकापुरीमें पहुँचकर सीताको अशोकवाटिकाके निकट तपस्वी मुनियोंके आश्रमकी भाँति शान्तिपूर्ण तथा नन्दनवनके समान रमणीय भवनमें ठहराया। पतिका निरन्तर चिन्तन करते-करते सीताका शरीर दुर्बल हो गया था। वे तपस्विनीवेषमें वहाँ रहती थीं ।। ४१-४२ ।।

उपवासतपःशीला तत्रास पृथुलेक्षणा ।
उवास दुःखवसतिं फलमूलकृताशना ।। ४३ ।।

उपवास और तपस्या करनेका उनका स्वभाव-सा बन गया था। विशाल नेत्रोंवाली जानकी वहाँ फल-मूल खाकर बड़े दुःखसे दिन बिताती थीं ।। ४३ ।।

दिदेश राक्षसीस्तत्र रक्षणे राक्षसाधिपः ।
प्रासासिशूलपरशुमुद्गरालातधारिणीः ।। ४४ ।।

राक्षसराज रावणने सीताकी रक्षाके लिये कुछ राक्षसियोंको नियुक्त कर दिया था, जो भाला, तलवार, त्रिशूल, फरसा, मुद्गर और जलती हुई लुआठी लिये वहाँ पहरा देती थीं ।। ४४ ।।

द्व्यक्षीं त्र्यक्षीं ललाटाक्षीं दीर्घजिह्वामजिह्विकाम् ।
त्रिस्तनीमेकपादां च त्रिजटामेकलोचनाम् ।। ४५ ।।

उनमेंसे किसीके दो आँखें थीं, किसीके तीन। किसीके ललाटमें ही आँखें थीं, किसीके बहुत बड़ी जिह्वा थी, तो किसीके जीभ थी ही नहीं। किसीके तीन स्तन थे तो किसीका एक पैर। कोई अपने सिरपर तीन जटाएँ रखती थी तो किसीके एक ही आँख थी ।। ४५ ।।

एताश्चान्याश्च दीप्ताक्ष्यः करभोत्कटमूर्द्धजाः ।
परिवार्यासते सीतां दिवारात्रमतन्द्रिताः ।। ४६ ।।

ये तथा दूसरी बहुत-सी राक्षसियाँ निद्रा और आलस्यको छोड़कर दिन-रात सीताको घेरे रहती थीं। उनकी आँखें आगकी तरह प्रज्वलित होती थीं और सिरके बाल ऊँटोंके समान रूखे तथा भूरे थे ।। ४६ ।।

तास्तु तामायतापाङ्गीं पिशाच्यो दारुणस्वराः ।
तर्जयन्ति सदा रौद्राः परुषव्यञ्जनस्वराः ।। ४७ ।।

वे पिशाची स्त्रियाँ देखनेमें बड़ी भयंकर थीं। उनका स्वर अत्यन्त दारुण था। उनके मुखसे जो स्वर और व्यंजन निकलते थे, वे बड़े कठोर होते थे। वे राक्षसियाँ निम्नांकित बातें कहकर विशाल नेत्रोंवाली सीताको सदा डाँटती-फटकारती रहती थीं— ।। ४७ ।।

खादाम पाटयामैनां तिलशः प्रविभज्य ताम् ।
येयं भर्तारमस्माकमवमन्येह जीवति ।। ४८ ।।

'अरी! यह हमारे स्वामीकी अवहेलना करके अबतक यहाँ जीवित कैसे है? हम इसे चीर डालें। इसे तिल-तिल काटकर खा जायँ' ।। ४८ ।।

इत्येवं परिभर्त्सन्तीस्त्रास्यमाना पुनः पुनः ।
भर्तृशोकसमाविष्टा निःश्वस्येदमुवाच ताः ।। ४९ ।।

इस तरह कठोर वचनोंद्वारा डराने-धमकानेवाली उन राक्षसियोंसे बार-बार डरायी जाती हुई सीता पतिवियोगके शोकसे संतप्त हो लंबी साँसें खींचती हुई बोलीं— ।।

आर्याः खादत मां शीघ्रं न मे लोभोऽस्ति जीविते ।
विना तं पुण्डरीकाक्षं नीलकुञ्चितमूर्धजम् ।। ५० ।।
अप्येवाहं निराहारा जीवितप्रियवर्जिता ।
शोषयिष्यामि गात्राणि व्याली तालगता यथा ।। ५१ ।।
न त्वन्यमभिगच्छेयं पुमांसं राघवादृते ।
इति जानीत सत्यं मे क्रियतां यदनन्तरम् ।। ५२ ।।

'बहिनो! तुमलोग शीघ्र मुझे मारकर खा जाओ। अब इस जीवनके लिये मुझे तनिक भी लोभ नहीं है। मैं काले घुँघराले केश-कलापसे सुशोभित अपने स्वामी कमलनयन भगवान् श्रीरामके बिना जीना ही नहीं चाहती। प्राणवल्लभ रघुनाथजीके दर्शनसे वंचित होनेके कारण निराहार ही रहकर ताड़के पेड़पर रहनेवाली नागिनकी तरह मैं अपने शरीरको सुखा डालूँगी; परंतु श्रीरामके सिवा दूसरे किसी पुरुषका सेवन कदापि नहीं करूँगी। मेरी इस बातको सत्य समझो और इसके बाद जो कुछ करना हो, करो' ।। ५०—५२ ।।

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा राक्षस्यस्ताः खरस्वनाः ।
आख्यातुं राक्षसेन्द्राय जग्मुस्तत् सर्वमादृताः ।। ५३ ।।

सीताकी यह बात सुनकर कठोर बोली बोलनेवाली वे राक्षसियाँ राक्षसराज रावणको आदरपूर्वक वह सब समाचार निवेदन करनेके लिये चली गयीं ।। ५३ ।।

गतासु तासु सर्वासु त्रिजटा नाम राक्षसी ।
सान्त्वयामास वैदेहीं धर्मज्ञा प्रियवादिनी ।। ५४ ।।

वहाँ केवल धर्मको जाननेवाली प्रियवादिनी त्रिजटा नामकी राक्षसी रह गयी। अन्य सब राक्षसियोंके चले जानेपर उसने सीताको सान्त्वना देते हुए कहा— ।। ५४ ।।

सीते वक्ष्यामि ते किंचिद् विश्वासं कुरु मे सखि ।
भयं त्वं त्यज वामोरु शृणु चेदं वचो मम ।। ५५ ।।

'सखी सीते! मैं तुमसे एक बात कहूँगी। तुम मुझपर विश्वास करो। वामोरु! तुम भय छोड़ो और मेरी यह बात सुनो ।। ५५ ।।

अविन्ध्यो नाम मेधावी वृद्धो राक्षसपुङ्गवः ।
स रामस्य हितान्वेषी त्वदर्थे हि स मावदत् ।। ५६ ।।

'यहाँ अविन्ध्य नामसे प्रसिद्ध एक बुद्धिमान्, वृद्ध और श्रेष्ठ राक्षस रहते हैं जो सदा श्रीरामचन्द्रजीके हितका चिन्तन करते रहते हैं। उन्होंने तुमसे कहनेके लिये मेरेद्वारा यह संदेश भेजा है ।। ५६ ।।

सीता मद्वचनाद् वाच्या समाश्वास्य प्रसाद्य च ।
भर्ता ते कुशली रामो लक्ष्मणानुगतो बली ।। ५७ ।।
सख्यं वानरराजेन शक्रप्रतिमतेजसा ।
कृतवान् राघवः श्रीमांस्त्वदर्थे च समुद्यतः ।। ५८ ।।
मा च तेऽस्तु भयं भीरु रावणाल्लोकगर्हितात् ।
नलकूबरशापेन रक्षिता ह्यसि नन्दिनि ।। ५९ ।।
शप्तो ह्येष पुरा पापो वधूं रम्भां परामृशन् ।
न शक्नोत्यवशां नारीमुपैतुमजितेन्द्रियः ।। ६० ।।
क्षिप्रमेष्यति ते भर्ता सुग्रीवेणाभिरक्षितः ।
सौमित्रिसहितो धीमांस्त्वां चेतो मोक्षयिष्यति ।। ६१ ।।

'उनका कहना है कि त्रिजटे! तुम मेरी ओरसे सीताको समझा-बुझाकर संतुष्ट करके यह कहना कि—'तुम्हारे स्वामी महाबली श्रीराम लक्ष्मणसहित सकुशल हैं। श्रीमान् रघुनाथजीने इन्द्रतुल्य तेजस्वी वानरराज सुग्रीवके साथ मैत्री की है और तुम्हें यहाँसे छुड़ानेके लिये उद्योग आरम्भ कर दिया है; अतः भीरु! अब तुम्हें लोकनिन्दित रावणसे तनिक भी भय नहीं करना चाहिये। नन्दिनी! नलकूबरने रावणको जो शाप दे रखा है, उसीसे तुम सदा सुरक्षित रहोगी। कुछ समय पहलेकी बात है, इस पापी रावणने नलकूबरकी पत्नी एवं अपनी पुत्रवधूके तुल्य रम्भाका स्पर्श किया था, इसीसे उसको शाप प्राप्त हुआ है। यद्यपि यह रावण जितेन्द्रिय नहीं है, तो भी किसी अवशा—स्वतन्त्रतापूर्वक उसे न चाहनेवाली नारीके पास नहीं जा सकता है। सुग्रीवद्वारा सुरक्षित तुम्हारे स्वामी बुद्धिमान् भगवान् श्रीराम अपने भाई लक्ष्मणके साथ शीघ्र ही यहाँ आयेंगे और तुम्हें यहाँसे छुड़ा ले जायँगे' ।। ५७—६१ ।।

स्वप्ना हि सुमहाघोरा दृष्टा मेऽनिष्टदर्शनाः ।
विनाशायास्य दुर्बुद्धेः पौलस्त्यकुलघातिनः ।। ६२ ।।

(अविन्ध्यका संदेश सुनाकर फिर त्रिजटाने अपनी ओरसे कहा—) 'सखी! मैंने भी रातमें बड़े भयंकर स्वप्न देखे हैं, जो इस पुलस्त्यकुल-घातक दुर्बुद्धि रावणके विनाश एवं अनिष्टकी सूचना देनेवाले हैं ।। ६२ ।।

दारुणो ह्येष दुष्टात्मा क्षुद्रकर्मा निशाचरः ।
स्वभावाच्छीलदोषेण सर्वेषां भयवर्धनः ।। ६३ ।।

‘यह दारुण दुष्टात्मा तथा क्षुद्रकर्म करनेवाला निशाचर अपने स्वभाव और शीलदोषसे सब लोगोंका भय बढ़ा रहा है ।। ६३ ।।

स्पर्धते सर्वदेवैर्यः कालोपहतचेतनः ।
मया विनाशलिङ्गानि स्वप्ने दृष्टानि तस्य वै ।। ६४ ।।

‘कालसे इसकी बुद्धि मारी गयी है; अतः यह समस्त देवताओंसे ईर्ष्या रखता है। मैंने स्वप्नमें जो कुछ देखा है, वह सब इसके विनाशकी सूचना दे रहा है ।। ६४ ।।

तैलाभिषिक्तो विकचो मज्जन् पङ्के दशाननः ।
असकृत् खरयुक्ते तु रथे नृत्यन्निव स्थितः ।। ६५ ।।

‘सपनेमें मैंने देखा है कि रावण तेलसे नहाये, मूँड़ मुँड़ाये, कीचड़में डूब रहा है। फिर कई बार देखनेमें आया कि वह गदहोंसे जुते हुए रथपर खड़ा होकर नृत्य-सा कर रहा है ।। ६५ ।।

कुम्भकर्णादयश्चेमे नग्नाः पतितमूर्धजाः ।
गच्छन्ति दक्षिणामाशां रक्तमाल्यानुलेपनाः ।। ६६ ।।

‘उसके साथ ही ये कुम्भकर्ण आदि राक्षस भी मूँड़ मुड़ाये, लाल चन्दन लगाये, लाल फूलोंकी माला पहने, नंगे होकर दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे हैं ।। ६६ ।।

श्वेतातपत्रः सोष्णीषः शुक्लमाल्यानुलेपनः ।
श्वेतपर्वतमारूढ एक एव विभीषणः ।। ६७ ।।

‘केवल विभीषण ही श्वेत छत्र धारण किये, सफेद पगड़ी पहने एवं श्वेत पुष्पोंकी मालासे अलंकृत हो श्वेत चन्दन लगाये श्वेतपर्वतपर आरूढ दिखायी दिये ।। ६७ ।।

सचिवाश्चास्य चत्वारः शुक्लमाल्यानुलेपनाः ।
श्वेतपर्वतमारूढा मोक्ष्यन्तेऽस्मान्महाभयात् ।। ६८ ।।

‘इनके चारों मन्त्री भी श्वेत पुष्पमाला और चन्दनसे चर्चित हो श्वेतपर्वतके शिखरपर बैठे थे; अतः विभीषणके साथ वे भी आनेवाले महान् भयसे मुक्त हो जायँगे’ ।। ६८ ।।

रामस्यास्त्रेण पृथिवी परिक्षिप्ता ससागरा ।
यशसा पृथिवीं कृत्स्नां पूरयिष्यति ते पतिः ।। ६९ ।।

‘स्वप्नमें मुझे यह भी दिखायी दिया है कि भगवान् श्रीरामके बाणोंसे समुद्रसहित सारी पृथ्वी आच्छादित हो गयी है; अतः यह निश्चित है कि तुम्हारे पतिदेव अपने सुयशसे समस्त भूमण्डलको परिपूर्ण कर देंगे ।। ६९ ।।

अस्थिसंचयमारूढो भुञ्जानो मधुपायसम् ।
लक्ष्मणश्च मया दृष्टो दिधक्षुः सर्वतो दिशम् ।। ७० ।।

‘इसी तरह मैंने लक्ष्मणको भी देखा है। वे हड्डियोंके ढेरपर बैठे हुए मधुमिश्रित खीर खा रहे थे और ऐसा जान पड़ता था मानो वे समस्त दिशाओंको दग्ध कर देना चाहते हैं ।। ७० ।।

रुदती रुधिरार्द्राङ्गी व्याघ्रेण परिरक्षिता ।

असकृत् त्वं मया दृष्टा गच्छन्ती दिशमुत्तराम् ।। ७१ ।।

'सपनेमें मैंने तुमको भी कई बार देखा। तुम्हारे सारे अंग खूनसे तर हो रहे थे। तुम रोती हुई उत्तर दिशाकी ओर जा रही थीं और एक व्याघ्र तुम्हारी रक्षा कर रहा था ।। ७१ ।।

हर्षमेष्यसि वैदेहि क्षिप्रं भर्त्रा समन्विता ।

राघवेण सह भ्रात्रा सीते त्वमचिरादिव ।। ७२ ।।

'विदेहनन्दिनी सीते! इस सपनेसे यही प्रतीत होता है कि तुम शीघ्र ही अपने स्वामीसे मिलकर हर्षका अनुभव करोगी। भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीसे तुम्हारी अवश्य भेंट होगी; इसमें अब अधिक विलम्ब नहीं है' ।। ७२ ।।

इत्येतन्मृगशावाक्षी तच्छ्रुत्वा त्रिजटावचः ।

बभूवाशावती बाला पुनर्भर्तृसमागमे ।। ७३ ।।

त्रिजटाकी यह बात सुनकर मृगशावक-से नेत्रोंवाली सीताको पुनः पतिदेवसे मिलनेकी आशा बँध गयी ।। ७३ ।।

यावदभ्यागता रौद्राः पिशाच्यस्ताः सुदारुणाः ।

ददृशुस्तां त्रिजटया सहासीनां यथा पुरा ।। ७४ ।।

इतनेमें ही अत्यन्त क्रूर स्वभाववाली वे भयंकर पिशाचिनियाँ रावणके दरबारसे वहाँ लौटकर आयीं। आकर उन्होंने देखा, सीता त्रिजटाके साथ पूर्ववत् अपने स्थानपर बैठी है ।। ७४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि त्रिजटाकृतसीतासान्त्वने अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २८० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें त्रिजटाद्वारा सीताको आश्वासनविषयक दो सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८० ।।

एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

रावण और सीताका संवाद

मार्कण्डेय उवाच

ततस्तां भर्तृशोकार्तां दीनां मलिनवाससम् ।
मणिशेषाभ्यलङ्कारां रुदतीं च पतिव्रताम् ।। १ ।।
राक्षसीभिरुपास्यन्तीं समासीनां शिलातले ।
रावणः कामबाणार्तो ददर्शोपससर्प च ।। २ ।।
देवदानवगन्धर्वयक्षकिम्पुरुषैर्युधि ।
अजितोऽशोकवनिकां ययौ कन्दर्पपीडितः ।। ३ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर एक दिन जब पतिव्रता सीता स्वामीके वियोगके दुःखसे पीड़ित हो मैले कपड़े पहने केवल चूड़ामणिमात्र आभूषण धारण किये राक्षसियोंसे घिरी हुई एक शिलापर बैठी दीनभावसे रो रही थीं, उसी समय देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष और किम्पुरुष किसीसे कभी युद्धमें परास्त न होनेवाला रावण कामबाणसे पीड़ित हो अशोकवाटिकामें गया। वहाँ उसने सीताको देखा और कामवेदनासे व्यथित होकर वह उनके समीप चला गया ।। १—३ ।।

दिव्याम्बरधरः श्रीमान् सुमृष्टमणिकुण्डलः ।
विचित्रमाल्यमुकुटो वसन्त इव मूर्तिमान् ।। ४ ।।

रावणने दिव्य वस्त्र धारण कर रखे थे। उसके कानोंमें सुन्दर मणिमय कुण्डल झलक रहे थे। वह विचित्र माला और मुकुट पहने मूर्तिमान् वसन्तके समान शोभासम्पन्न जान पड़ता था ।। ४ ।।

न कल्पवृक्षसदृशो यत्नादपि विभूषितः ।
श्मशानचैत्यद्रुमवद् भूषितोऽपि भयंकरः ।। ५ ।।

उसने बड़े यत्नसे अपने-आपको वस्त्राभूषणोंद्वारा सजा रखा था, तो भी कल्पवृक्षके समान आह्लादजनक नहीं जान पड़ता था; अपितु श्मशानभूमिके चैत्यवृक्षकी भाँति भूषित होनेपर भी भयानक प्रतीत होता था ।। ५ ।।

स तस्यास्तनुमध्यायाः समीपे रजनीचरः ।
ददृशे रोहिणीमेत्य शनैश्चर इव ग्रहः ।। ६ ।।

सूक्ष्म कटिप्रदेशवाली सीताके समीप खड़ा हुआ वह राक्षस रोहिणी नक्षत्रके निकट पहुँचे हुए शनैश्चर ग्रहके समान भयंकर दिखायी देता था ।। ६ ।।

स तामामन्त्र्य सुश्रोणीं पुष्पकेतुशराहतः ।
इदमित्यब्रवीद् वाक्यं त्रस्तां रौहीमिवाबलाम् ।। ७ ।।

कामदेवके बाणोंसे घायल हुआ रावण मृगीके समान भयभीत हुई उस सुन्दरी अबलाको सम्बोधित करके इस प्रकार बोला— ।। ७ ।।

सीते पर्याप्तमेतावत् कृतो भर्तुरनुग्रहः ।
प्रसादं कुरु तन्वङ्गि क्रियतां परिकर्म ते ।। ८ ।।

'सीते! आजतक तुमने जो अपने पतिपर इतना अनुग्रह दिखाया, यह बहुत हुआ। तन्वंगि! अब मुझपर कृपा करो, जिससे तुम्हें शृंगार धारण कराया जाय ।। ८ ।।

भजस्व मां वरारोहे महार्हाभरणाम्बरा ।
भव मे सर्वनारीणामुत्तमा वरवर्णिनी ।। ९ ।।

'वरारोहे! मुझे अंगीकार करो और बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे भूषित हो मेरी सब स्त्रियोंमें श्रेष्ठ तथा सुन्दरी पटरानी बनो ।। ९ ।।

सन्ति मे देवकन्याश्च गन्धर्वाणां च योषितः ।
सन्ति दानवकन्याश्च दैत्यानां चापि योषितः ।। १० ।।

'मेरे महलमें देवताओंकी कन्याएँ, गन्धर्वोंकी युवती स्त्रियाँ, दानवकिशोरियाँ तथा दैत्योंकी रमणियाँ मेरी भार्याओंके रूपमें विद्यमान हैं ।। १० ।।

चतुर्दश पिशाचानां कोट्यो मे वचने स्थिताः ।
द्विस्तावत् पुरुषादानां रक्षसां भीमकर्मणाम् ।। ११ ।।

'चौदह करोड़ पिशाच मेरी आज्ञाके अधीन रहते हैं। इनसे दूने नरभक्षी राक्षस मेरे सेवक हैं, जो अत्यन्त भयंकर कर्म करनेवाले हैं ।। ११ ।।

ततो मे त्रिगुणा यक्षा ये मद्वचनकारिणः ।
केचिदेव धनाध्यक्षं भ्रातरं मे समाश्रिताः ।। १२ ।।

'इनकी अपेक्षा तिगुनी संख्या मेरे आज्ञापालक यक्षोंकी है। यक्षोंमेंसे कुछ ही मेरे भाई धनाध्यक्ष कुबेरकी सेवामें रहते हैं ।। १२ ।।

गन्धर्वाप्सरसो भद्रे मामापानगतं सदा ।
उपतिष्ठन्ति वामोरु यथैव भ्रातरं मम ।। १३ ।।

'भद्रे! वामोरु! जब मैं मधुपानकी गोष्ठीमें बैठता हूँ, उस समय मेरे भाईकी ही भाँति मेरी सेवामें भी गन्धर्वोंसहित अप्सराएँ उपस्थित होती हैं ।। १३ ।।

पुत्रोऽहमपि विप्रर्षेः साक्षाद् विश्रवसो मुनेः ।
पञ्चमो लोकपालानामिति मे प्रथितं यशः ।। १४ ।।

'मैं भी कुबेरके ही समान साक्षात् ब्रह्मर्षि विश्रवा मुनिका पुत्र हूँ। (इन्द्र, यम, वरुण और कुबेर—इन चार लोकपालोंके सिवा) पाँचवें लोकपालके रूपमें मेरा सुयश सर्वत्र फैला हुआ है ।। १४ ।।

दिव्यानि भक्ष्यभोज्यानि पानानि विविधानि च ।
यथैव त्रिदशेशस्य तथैव मम भाविनि ।। १५ ।।

‘भामिनि! देवराज इन्द्रकी भाँति मुझे भी दिव्य भक्ष्य-भोज्य पदार्थ तथा नाना प्रकारके पेय रस उपलब्ध होते हैं ।। १५ ।।

क्षीयतां दुष्कृतं कर्म वनवासकृतं तव ।
भार्या मे भव सुश्रोणि यथा मन्दोदरी तथा ।। १६ ।।

‘सुश्रोणि! वनवासका कष्ट प्रदान करनेवाले तुम्हारे पूर्वकृत दुष्कर्मकी समाप्ति हो जानी चाहिये; इसके लिये तुम मन्दोदरीकी भाँति मेरी भार्या हो जाओ’ ।। १६ ।।

इत्युक्ता तेन वैदेही परिवृत्य शुभानना ।
तृणमन्तरतः कृत्वा तमुवाच निशाचरम् । १७ ।।
अशिवेनातिवामोरूरजस्रं नेत्रवारिणा ।
स्तनावपतितौ बाला संहतावभिवर्षती ।। १८ ।।
उवाच वाक्यं तं क्षुद्रं वैदेही पतिदेवता ।

रावणके ऐसा कहनेपर परम सुन्दर जाँघोंसे सुशोभित, पतिको ही देवता माननेवाली विदेहराजकुमारी सुमुखी सीता अपना मुँह फेरकर बीचमें तिनकेकी ओट करके राक्षसोंके लिये अमंगलसूचक आँसुओंद्वारा अपने पीन एवं उन्नत स्तनोंको निरन्तर भिगोती हुई उस नीच निशाचरसे इस प्रकार बोलीं— ।। १७-१८½ ।।

असकृद् वदतो वाक्यमीदृशं राक्षसेश्वर ।। १९ ।।
विषादयुक्तमेतत् ते मया श्रुतमभाग्यया ।
तद् भद्रसुख भद्रं ते मानसं विनिवर्त्यताम् ।। २० ।।

‘राक्षसराज! तुम्हारे मुखसे ऐसी दुःखदायिनी बातें अनेक बार निकली हैं और मुझ अभागिनीको वे सारी बातें बार-बार सुननी पड़ी हैं। भद्रसुख! तुम्हारा भला हो। तुम अपना मन मेरी ओरसे हटा लो ।। १९-२० ।।

परदारास्म्यलभ्या च सततं च पतिव्रता ।
न चैवोपयिकी भार्या मानुषी कृपणा तव ।। २१ ।।

‘मैं परायी स्त्री हूँ, पतिव्रता हूँ। तुम कभी किसी तरह मुझे नहीं पा सकते। एक दीन मानवकन्या होनेके कारण मैं तुम-जैसे निशाचरकी भार्या होने योग्य नहीं हूँ ।। २१ ।।

विवशां धर्षयित्वा च कां त्वं प्रीतिमवाप्स्यसि ।
प्रजापतिसमो विप्रो ब्रह्मयोनिः पिता तव ।। २२ ।।

‘मुझ विवश अबलाको बलपूर्वक अपमानित करके तुम्हें क्या सुख मिलेगा? तुम्हारे पिता ब्राह्मण हैं। ब्रह्मासे उत्पन्न होनेके कारण वे ब्रह्माके ही समान हैं ।। २२ ।।

न च पालयसे धर्मं लोकपालसमः कथम् ।
भ्रातरं राजराजानं महेश्वरसखं प्रभुम् ।। २३ ।।
धनेश्वरं व्यपदिशन् कथं त्विह न लज्जसे ।

'तुम भी लोकपालोंके समान हो, फिर धर्मका पालन क्यों नहीं करते? महेश्वरके सखा राजराज धनाध्यक्ष प्रभु कुबेरको अपना भाई बता रहे हो, तो भी यहाँ ऐसा बर्ताव करते हुए तुम्हें लज्जा क्यों नहीं आती?' ।। २३$\frac{१}{२}$ ।।

इत्युक्त्वा प्रारुदत् सीता कम्पयन्ती पयोधरौ ।। २४ ।।
शिरोधरां च तन्वङ्गी मुखं प्रच्छाद्य वाससा ।

ऐसा कहकर तन्वंगी सीता अपनी गर्दन और मुखको कपड़ेसे ढककर फूट-फूटकर रोने लगीं। उस समय छाती धड़कनेके कारण उनके स्तन काँप रहे थे ।। २४$\frac{१}{२}$ ।।

तस्या रुदत्या भाविन्या दीर्घा वेणी सुसंयता ।। २५ ।।
ददृशे स्वसिता स्निग्धा काली व्यालीव मूर्धनि ।

अच्छी तरह रोती हुई भामिनी सीताके मस्तकपर बँधी हुई स्निग्ध, असित एवं विशाल वेणी काली नागिनके समान दिखायी देती थी ।। २५$\frac{१}{२}$ ।।

श्रुत्वा तद् रावणो वाक्यं सीतयोक्तं सुनिष्ठुरम् ।। २६ ।।
प्रत्याख्यातोऽपि दुर्मेधाः पुनरेवाब्रवीद् वचः ।
काममङ्गानि मे सीते दुनोतु मकरध्वजः ।। २७ ।।
न त्वामकामां सुश्रोणीं समेष्ये चारुहासिनीम् ।

सीताके मुखसे यह अत्यन्त निष्ठुर वचन सुनकर और उनके द्वारा कोरा उत्तर पाकर भी दुर्बुद्धि रावण पुनः इस प्रकार कहने लगा—'सीते! भले ही कामदेव मेरे शरीरको पीड़ा देता रहे, परंतु मैं तुम-जैसी मनोहर मुसकानवाली सुन्दरी युवतीको राजी किये बिना तुम्हारे साथ समागम नहीं करूँगा ।। २६-२७$\frac{१}{२}$ ।।

किं नु शक्यं मया कर्तुं यत् त्वमद्यापि मानुषम् ।। २८ ।।
आहारभूतमस्माकं राममेवानुरुध्यसे ।। २९ ।।

'तुम आज भी उस मनुष्य रामके प्रति ही, जो हम लोगोंका आहार है, अनुराग दिखाती जा रही हो; ऐसी दशामें मैं क्या कर सकता हूँ? ।। २८-२९ ।।

इत्युक्त्वा तामनिन्द्याङ्गीं स राक्षसमहेश्वरः ।
तत्रैवान्तर्हितो भूत्वा जगामाभिमतां दिशम् ।। ३० ।।

अनिन्द्य अंगोंवाली सीतासे ऐसा कहकर राक्षसराज रावण वहीं अन्तर्धान हो अभीष्ट दिशाकी ओर चल दिया ।।

राक्षसीभिः परिवृता वैदेही शोककर्शिता ।
सेव्यमाना त्रिजटया तत्रैव न्यवसत् तदा ।। ३१ ।।

इधर शोकसे दुबली हुई सीता राक्षसियोंसे घिरकर त्रिजटासे सुसेवित हो अशोकवाटिकामें ही रहने लगीं ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि सीतारावणसंवादे एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २८१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें सीता-रावणसंवादविषयक दो सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८१ ।।

द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीरामका सुग्रीवपर कोप, सुग्रीवका सीताकी खोजमें वानरोंको भेजना तथा श्रीहनुमान्‌जीका लौटकर अपनी लंकायात्राका वृत्तान्त निवेदन करना

मार्कण्डेय उवाच

राघवः सहसौमित्रिः सुग्रीवेणाभिपालितः ।
वसन् माल्यवतः पृष्ठे ददृशे विमलं नभः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इधर श्रीराम और लक्ष्मण सुग्रीवसे सुरक्षित हो माल्यवान् पर्वतके पृष्ठभागपर रहने लगे। कुछ कालके अनन्तर जब वर्षाऋतु बीत गयी, तब उन्हें आकाश निर्मल दिखायी दिया ।। १ ।।

स दृष्ट्वा विमले व्योम्नि निर्मलं शशलक्षणम् ।
ग्रहनक्षत्रताराभिरनुयातममित्रहा ।। २ ।।
कुमुदोत्पलपद्मानां गन्धमादाय वायुना ।
महीधरस्थः शीतेन सहसा प्रतिबोधितः ।। ३ ।।

शरदृऋतुके निर्मल आकाशमें ग्रह, नक्षत्र तथा ताराओंसहित विमल चन्द्रमाका दर्शन करके शत्रुसंहारक श्रीराम अभी पर्वतपर सोये ही थे कि कुमुद, उत्पल और पद्मोंकी सुगन्ध लेकर बहती हुई शीतल एवं सुखद वायुने उन्हें सहसा जगा दिया ।। २-३ ।।

प्रभाते लक्ष्मणं वीरमभ्यभाषत दुर्मनाः ।
सीतां संस्मृत्य धर्मात्मा रुद्धां राक्षसवेश्मनि ।। ४ ।।

धर्मात्मा श्रीरामको प्रातःकाल राक्षसके भवनमें कैद हुई अपनी पत्नी सीताका स्मरण हो आया और वे खिन्नचित्त होकर वीरवर लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले— ।। ४ ।।

गच्छ लक्ष्मण जानीहि किष्किन्धायां कपीश्वरम् ।
प्रमत्तं ग्राम्यधर्मेषु कृतघ्नं स्वार्थपण्डितम् ।। ५ ।।

‘लक्ष्मण! जाओ और पता लगाओ कि किष्किन्धामें वानरराज सुग्रीव क्या कर रहा है? जान पड़ता है, स्वार्थसाधनकी कलामें पण्डित कृतघ्न सुग्रीव विषयभोगोंमें आसक्त हो अपने कर्तव्यको भूल गया है ।। ५ ।।

योऽसौ कुलाधमो मूढो मया राज्येऽभिषेचितः ।
सर्ववानरगोपुच्छा यमृक्षाश्च भजन्ति वै ।। ६ ।।

‘उस वानरकुलकलंक मूर्खको मैंने ही राज्यपर अभिषिक्त किया है। इसके कारण सम्पूर्ण वानर, लंगूर तथा रीछ उसकी सेवा करते हैं ।। ६ ।।

यदर्थं निहतो वाली मया रघुकुलोद्वह ।
त्वया सह महाबाहो किष्किन्धोपवने तदा ।। ७ ।।

'रघुकुलतिलक महाबाहु लक्ष्मण! इसी सुग्रीवके लिये उन दिनों मैंने तुम्हारे साथ किष्किन्धाके उद्यानमें जाकर वालीका वध किया था ।। ७ ।।

कृतघ्नं तमहं मन्ये वानरापसदं भुवि ।
यो मामेवंगतो मूढो न जानीतेऽद्य लक्ष्मण ।। ८ ।।

'सुमित्रानन्दन! मैं तो उस नीच वानरको इस भूतलपर कृतघ्न मानता हूँ, क्योंकि वह मूर्ख इस अवस्थामें पहुँचकर मुझे भूल गया है ।। ८ ।।

असौ मन्ये न जानीते समयप्रतिपालनम् ।
कृतोपकारं मां नूनमवमन्याल्पया धिया ।। ९ ।।

'मैं तो समझता हूँ, वह अपनी की हुई प्रतिज्ञाका पालन करना नहीं जानता और अपनी मन्दबुद्धिके कारण मुझ उपकारीकी भी वह निश्चय ही अवहेलना कर रहा है ।। ९ ।।

यदि तावदनुद्युक्तः शेते कामसुखात्मकः ।
नेतव्यो वालिमार्गेण सर्वभूतगतिं त्वया ।। १० ।।

'यदि वह विषयसुखमें ही आसक्त हो सीताकी खोजके लिये कुछ उद्योग न कर रहा हो तो उसे भी तुम वालीके मार्गसे उसी लोकको पहुँचा देना, जहाँ एक-न-एक दिन सभी प्राणियोंको जाना पड़ता है ।। १० ।।

अथापि घटतेऽस्माकमर्थे वानरपुङ्गवः ।
तमादायैव काकुत्स्थ त्वरावान् भव मा चिरम् ।। ११ ।।

सीताजीका रावणको फटकारना

हनुमान्‌जीकी श्रीसीताजीसे भेंट

'लक्ष्मण! यदि वानरराज हमारे कार्यके लिये कुछ चेष्टा कर रहा हो तो उसे साथ लेकर तुरंत लौट आना, देर न लगाना' ।। ११ ।।

इत्युक्तो लक्ष्मणो भ्रात्रा गुरुवाक्यहिते रतः ।
प्रतस्थे रुचिरं गृह्य समार्गणगुणं धनुः ।। १२ ।।

भाईके ऐसा कहनेपर गुरुजनोंकी आज्ञाके पालन तथा हिताचरणमें तत्पर रहनेवाले लक्ष्मण बाण और प्रत्यञ्चासहित सुन्दर धनुष हाथमें लेकर वहाँसे चल दिये ।।

किष्किन्धाव्दारमासाद्य प्रविवेशानिवारितः ।
सक्रोध इति तं मत्वा राजा प्रत्युद्ययौ हरिः ।। १३ ।।

किष्किन्धाके द्वारपर पहुँचकर वे बेरोक-टोक भीतर घुस गये। लक्ष्मण क्रोधमें भरे हुए आ रहे हैं, यह जानकर राजा सुग्रीव उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़ आया ।। १३ ।।

तं सदारो विनीतात्मा सुग्रीवः प्लवगाधिपः ।
पूजया प्रतिजग्राह प्रीयमाणस्तदर्हया ।। १४ ।।
तमब्रवीद् रामवचः सौमित्रिरकुतोभयः ।

पत्नीसहित वानरराज सुग्रीव विनीतभावसे लक्ष्मणजीकी पूजा करके उन्हें साथ लिवा ले गये। किसीसे भी भय न माननेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मणने उस पूजा (आदर-सत्कार)-से प्रसन्न हो उनसे श्रीरामचन्द्रजीकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं ।। १४½ ।।

स तत् सर्वमशेषेण श्रुत्वा प्रह्वः कृताञ्जलिः ।। १५ ।।
सभृत्यदारो राजेन्द्र सुग्रीवो वानराधिपः ।
इदमाह वचः प्रीतो लक्ष्मणं नरकुञ्जरम् ।। १६ ।।

राजेन्द्र! वह सब कुछ पूरा-पूरा सुनकर नम्रतापूर्वक हाथ जोड़े हुए भार्या तथा सेवकोंसहित वानरराज सुग्रीवने नरश्रेष्ठ लक्ष्मणसे सहर्ष निवेदन किया— ।।

नास्मि लक्ष्मण दुर्मेधा नाकृतज्ञो न निर्घृणः ।
श्रूयतां यः प्रयत्नो मे सीतापर्येषणे कृतः ।। १७ ।।

'लक्ष्मण! मैं न तो दुर्बुद्धि हूँ, न अकृतज्ञ हूँ और न निर्दय ही हूँ। मैंने सीताकी खोजके लिये जो प्रयत्न किया है, उसे सुनिये ।। १७ ।।

दिशः प्रस्थापिताः सर्वे विनीता हरयो मया ।
सर्वेषां च कृतः कालो मासेनागमनं पुनः ।। १८ ।।

'मैंने सब दिशाओंमें सभी विनयशील वानरोंको भेज दिया है और उन सबके लिये एक महीनेके अंदर ही लौट आनेका समय निश्चित कर दिया है ।। १८ ।।

यैरियं सवना साद्रिः सपुरा सागराम्बरा ।
विचेतव्या मही वीर सग्रामनगराकरा ।। १९ ।।

'वीर! वे सब लोग वन, पर्वत, पुर, ग्राम, नगर तथा आकरोंसहित समुद्रवसना इस सारी पृथ्वीपर सीताकी खोज करेंगे ।। १९ ।।

स मासः पञ्चरात्रेण पूर्णो भवितुमर्हति ।
ततः श्रोष्यसि रामेण सहितः सुमहत् प्रियम् ।। २० ।।

'वह एक मास, जिसके समाप्त होनेतक वानरोंको लौट आना है, पाँच रातमें पूरा हो जायगा। तत्पश्चात् आप रामचन्द्रजीके साथ सीताका अत्यन्त प्रिय समाचार सुनेंगे' ।। २० ।।

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तेन वानरेन्द्रेण धीमता ।
त्यक्त्वा रोषमदीनात्मा सुग्रीवं प्रत्यपूजयत् ।। २१ ।।

बुद्धिमान् वानरराज सुग्रीवके ऐसा कहनेपर उदार हृदयवाले लक्ष्मणने रोष त्यागकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ।। २१ ।।

स रामं सहसुग्रीवो माल्यवत्पृष्ठमास्थितम् ।
अभिगम्योदयं तस्य कार्यस्य प्रत्यवेदयत् ।। २२ ।।

तत्पश्चात् वे सुग्रीवको साथ लेकर माल्यवान् पर्वतके पृष्ठभागमें रहनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके पास गये। वहाँ उन्होंने बताया कि सीताका अनुसंधानकार्य आरम्भ हो गया है ।। २२ ।।

इत्येवं वानरेन्द्रास्ते समाजग्मुः सहस्रशः ।
दिशस्तिस्रो विचित्याथ न तु ये दक्षिणां गताः ।। २३ ।।

इसके बाद मास पूर्ण होनेपर तीन दिशाओंकी खोज करके सहस्रों वानरप्रमुख वहाँ आये। केवल वे ही नहीं आये जो दक्षिण दिशामें पता लगाने गये थे ।।

आचख्युस्तत्र रामाय महीं सागरमेखलाम् ।
विचितां न तु वैदेह्या दर्शनं रावणस्य वा ।। २४ ।।

आये हुए वानरोंने श्रीरामचन्द्रजीसे बताया कि समुद्रसे घिरी हुई सारी पृथ्वी हमने देख डाली, परंतु कहीं भी सीता अथवा रावणका दर्शन नहीं हुआ ।। २४ ।।

गतास्तु दक्षिणामाशां ये वै वानरपुङ्गवाः ।
आशावांस्तेषु काकुत्स्थः प्राणानार्तोऽभ्यधारयत् ।। २५ ।।

जो प्रमुख वानर दक्षिण दिशाकी ओर गये थे, उन्हींसे सीताका वास्तविक समाचार मिलनेकी आशा बँधी हुई थी, इसीलिये व्यथित होनेपर भी श्रीरामचन्द्रजी अपने प्राणोंको धारण किये रहे ।। २५ ।।

द्विमासोपरमे काले व्यतीते प्लवगास्ततः ।
सुग्रीवमभिगम्येदं त्वरिता वाक्यमब्रुवन् ।। २६ ।।

दो मास व्यतीत हो जानेपर कुछ वानर बड़ी उतावलीके साथ सुग्रीवके पास आये और इस प्रकार कहने लगे— ।। २६ ।।

रक्षितं वालिना यत् तत् स्फीतं मधुवनं महत् ।
त्वया च प्लवगश्रेष्ठ तद् भुङ्क्ते पवनात्मजः ।। २७ ।।

'वानरराज! वालीने तथा आपने भी जिस समृद्धिशाली महान् मधुवनकी रक्षा की थी, उसे पवननन्दन हनुमान्‌जी (राजाज्ञाके बिना ही) अपने उपभोगमें ला रहे हैं ।। २७ ।।

वालिपुत्रोऽङ्गदश्चैव ये चान्ये प्लवगर्षभाः ।
विचेतुं दक्षिणामाशां राजन् प्रस्थापितास्त्वया ।। २८ ।।

'राजन्! उनके साथ वालिपुत्र अंगद तथा अन्य सभी श्रेष्ठ वानर इस काममें भाग ले रहे हैं, जिन्हें आपने दक्षिण दिशामें सीताजीकी खोजके लिये भेजा था' ।। २८ ।।

तेषामपनयं श्रुत्वा मेने स कृतकृत्यताम् ।
कृतार्थानां हि भृत्यानामेतद् भवति चेष्टितम् ।। २९ ।।

उन वानरोंके अनुचित बर्तावका समाचार सुनकर सुग्रीवको यह विश्वास हो गया कि वे सब काम पूरा करके लौटे हैं; क्योंकि ऐसी धृष्टतापूर्ण चेष्टा उन्हीं सेवकोंकी होती है जो अपने कार्यमें सफल हो जाते हैं ।। २९ ।।

स तद् रामाय मेधावी शशंस प्लवगर्षभः ।
रामश्चाप्यनुमानेन मेने दृष्टां तु मैथिलीम् ।। ३० ।।

बुद्धिमान् वानरप्रवर सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीसे अपना निश्चय बताया। श्रीरामचन्द्रजीने भी अनुमानसे यह मान लिया कि उन वानरोंने अवश्य ही मिथिलेशकुमारी सीताका दर्शन किया होगा ।। ३० ।।

हनुमत्प्रमुखाश्चापि विश्रान्तास्ते प्लवङ्गमाः ।
अभिजग्मुर्हरीन्द्रं तं रामलक्ष्मणसंनिधौ ।। ३१ ।।

हनुमान् आदि श्रेष्ठ वानर विश्राम कर लेनेके पश्चात् श्रीराम और लक्ष्मणके समीप बैठे हुए उन वानरराज सुग्रीवके पास गये ।। ३१ ।।

गतिं च मुखवर्णं च दृष्ट्वा रामो हनूमतः ।
अगमत् प्रत्ययं भूयो दृष्टा सीतेति भारत ।। ३२ ।।

युधिष्ठिर! हनुमान्‌जीकी चाल-ढाल और मुखकी कान्ति देखकर श्रीरामचन्द्रजीको यह विश्वास हो गया कि इन्होंने सीताको देखा है ।। ३२ ।।

हनुमत्प्रमुखास्ते तु वानराः पूर्णमानसाः ।
प्रणेमुर्विधिवद् रामं सुग्रीवं लक्ष्मणं तथा ।। ३३ ।।

सफलमनोरथ हुए हनुमान् आदि प्रमुख वानरोंने श्रीराम, सुग्रीव तथा लक्ष्मणको विधिपूर्वक प्रणाम किया ।। ३३ ।।

तानुवाचानतान् रामः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
अपि मां जीवयिष्यध्वमपि वः कृतकृत्यता ।। ३४ ।।

उस समय श्रीरामचन्द्रजी धनुष-बाण लेकर उन प्रणाम करते हुए वानरोंसे पूछा—‘क्या तुमलोग सीताका अमृतमय समाचार सुनाकर मुझे जीवनदान दोगे? क्या तुम लोगोंको अपने कार्यमें सफलता मिली है? ।। ३४ ।।

अपि राज्यमयोध्यायां कारयिष्याम्यहं पुनः ।
निहत्य समरे शत्रूनाहृत्य जनकात्मजाम् ।। ३५ ।।

‘क्या मैं युद्धमें शत्रुओंको मारकर जनकनन्दिनी सीताको साथ ले पुनः अयोध्यामें रहकर राज्य करूँगा? ।।

अमोक्षयित्वा वैदेहीमहत्वा च रणे रिपून् ।
हृतदारोऽवधूतश्च नाहं जीवितुमुत्सहे ।। ३६ ।।

‘विदेहनन्दिनी सीताको बिना छुड़ाने तथा समरभूमिमें शत्रुओंका बिना संहार किये पत्नीको खोकर और अवधूत बनकर मैं जीवित नहीं रह सकता’ ।। ३६ ।।

इत्युक्तवचनं रामं प्रत्युवाचानिलात्मजः ।
प्रियमाख्यामि ते राम दृष्टा सा जानकी मया ।। ३७ ।।

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर वायुपुत्र हनुमान्‌जीने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—‘श्रीराम! मैं आपको प्रिय समाचार सुना रहा हूँ। मैंने जनकनन्दिनी सीताका दर्शन किया है ।। ३७ ।।

विचित्य दक्षिणामाशां सपर्वतवनाकराम् ।
श्रान्ताः काले व्यतीते स्म दृष्टवन्तो महागुहाम् ।। ३८ ।।

'पर्वत, वन तथा आकरोंसहित सम्पूर्ण दक्षिण दिशामें श्रीसीताजीका अनुसंधान करके जब हमलोग थक गये और यहाँ लौटनेका समय व्यतीत हो गया, तब हमें एक बहुत बड़ी गुफा दिखायी दी ।। ३८ ।।

प्रविशामो वयं तां तु बहुयोजनमायताम् ।
सान्धकारां सुविपिनां गहनां कीटसेविताम् ।। ३९ ।।
गत्वा सुमहदध्वानमादित्यस्य प्रभां ततः ।
दृष्टवन्तः स्म तत्रैव भवनं दिव्यमन्तरा ।। ४० ।।

'वह कई योजन लंबी थी। उसमें अन्धकार भरा हुआ था। उसके भीतर घने जंगल थे। उस गहन गुफामें बहुत-से कीड़े रहा करते थे। उसमें प्रवेश करके हमने बहुत दूरतकका रास्ता पार कर लिया। तत्पश्चात् सूर्यके प्रकाशका दर्शन हुआ। उसी गुफाके अंदर एक दिव्य भवन शोभा पा रहा था ।। ३९-४० ।।

मयस्य किल दैत्यस्य तदासीद् वेश्म राघव ।
तत्र प्रभावती नाम तपोऽतप्यत तापसी ।। ४१ ।।

'रघुनन्दन! वह सुन्दर भवन दैत्यराज मयका निवासस्थान बताया जाता है। उसमें प्रभावती नामकी एक तपस्विनी तप कर रही थी ।। ४१ ।।

तया दत्तानि भोज्यानि पानानि विविधानि च ।
भुक्त्वा लब्धबलाः सन्तस्तयोक्तेन पथा ततः ।। ४२ ।।
निर्याय तस्मादुद्देशात् पश्यामो लवणाम्भसः ।
समीपे सह्यमलयौ दर्दुरं च महागिरिम् ।। ४३ ।।

'उसने हमें अनेक प्रकारके भोज्य पदार्थ तथा भाँति-भाँतिके पीने योग्य रस दिये। उन्हें खाकर हमें नूतन बल प्राप्त हुआ। फिर उसीके बताये हुए मार्गसे जब हम गुफासे बाहर निकले, तब हमें लवणसमुद्रके निकटवर्ती सह्य, मलय और दर्दुर नामक महान् पर्वत दिखायी दिये ।। ४२-४३ ।।

ततो मलयमारुह्य पश्यन्तो वरुणालयम् ।
विषण्णा व्यथिताः खिन्ना निराशा जीविते भृशम् ।। ४४ ।।

'फिर हमलोग मलयाचलपर चढ़कर समुद्रकी ओर देखने लगे। उसकी विशालता देखकर हमारा हृदय विषादसे भर गया। हम खिन्न और व्यथित हो गये। हमें जीवनकी कोई आशा न रही ।। ४४ ।।

अनेकशतविस्तीर्णं योजनानां महोदधिम् ।
तिमिनक्रझषावासं चिन्तयन्तः सुदुःखिताः ।। ४५ ।।

'उस महासागरका विस्तार कई सौ योजनोंमें था। उसमें तिमि, मगर और बड़े-बड़े मत्स्य निवास करते थे। उसके इस स्वरूपका स्मरण करके हम सब लोग बहुत दुःखी हो गये ।। ४५ ।।

तत्रानशनसंकल्पं कृत्वाऽऽसीना वयं तदा ।
ततः कथान्ते गृध्रस्य जटायोरभवत् कथा ।। ४६ ।।

'अन्तमें अनशन करके प्राण त्याग देनेका संकल्प लेकर हम सब लोग वहाँ बैठ गये। फिर आपसमें बातचीत होने लगी और बीचमें जटायुका प्रसंग छिड़ गया ।। ४६ ।।

ततः पर्वतशृङ्गाभं घोररूपं भयावहम् ।
पक्षिणं दृष्टवन्तः स्म वैनतेयमिवापरम् ।। ४७ ।।

'इतनेमें ही हमने दूसरे गरुड़की भाँति एक भयंकर पक्षीको देखा जो पर्वतशिखरके समान जान पड़ता था। उसका स्वरूप बड़ा डरावना था ।। ४७ ।।

सोऽस्मानतर्कयद् भोक्तुमथाभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ।
भोः क एष मम भ्रातुर्जटायोः कुरुते कथाम् ।। ४८ ।।
सम्पातिर्नाम तस्याहं ज्येष्ठो भ्राता खगाधिपः ।
अन्योन्यस्पर्धयारूढावावामादित्यसत्पदम् ।। ४९ ।।

'वह पक्षी हमें खा जानेकी युक्ति सोचने लगा। फिर हमारे पास आकर बोला—'अजी! कौन मेरे भाई जटायुकी बात कर रहा था। मैं उसका बड़ा भाई पक्षिराज सम्पाति हूँ। हम

दोनों एक-दूसरेसे होड़ लगाकर आकाशमें सूर्यमण्डलतक पहुँचनेके लिये उड़े थे ।। ४८-४९ ।।

ततो दग्धाविमौ पक्षौ न दग्धौ तु जटायुषः ।
तदा मे चिरदृष्टः स भ्राता गृध्रपतिः प्रियः ।। ५० ।।
निर्दग्धपक्षः पतितो ह्यहमस्मिन् महागिरौ ।

'इससे मेरी ये दोनों पाँखें जल गयीं, परंतु जटायुके पंख नहीं जले। तबसे दीर्घकाल व्यतीत हो गया। उन्हीं दिनों मैंने अपने प्रिय भाई गृध्रराज जटायुको देखा था। पंख जल जानेसे मैं इसी महान् पर्वतपर गिर पड़ा' ।। ५०½ ।।

तस्यैवं वदतोऽस्माभिर्हतो भ्राता निवेदितः ।। ५१ ।।
व्यसनं भवतश्चेदं संक्षेपाद् वै निवेदितम् ।

'सम्पाति जब इस तरहकी बातें कर रहा था, उस समय हमलोगोंने बताया कि जटायु मारे गये। साथ ही हमने संक्षेपसे आपके ऊपर आये हुए इस संकटका समाचार भी निवेदन कर दिया ।। ५१½ ।।

स सम्पातिस्तदा राजन् श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।। ५२ ।।
विषण्णचेताः पप्रच्छ पुनरस्मानरिंदम ।
कः स रामः कथं सीता जटायुश्च कथं हतः ।। ५३ ।।
इच्छामि सर्वमेवैतच्छ्रोतुं प्लवगसत्तमाः ।

'राजन्! यह अत्यन्त अप्रिय वृत्तान्त सुनकर उस सम्पातिके मनमें बड़ा खेद हुआ। शत्रुदमन! उसने पुनः हमलोगोंसे पूछा—'श्रेष्ठ वानरगण! वे श्रीराम कौन हैं, सीता कैसी है और जटायु किस प्रकार मारे गये? ये सब बातें मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ' ।। ५२-५३½ ।।

तस्याहं सर्वमेवैतद् भवतो व्यसनागमम् ।। ५४ ।।
प्रायोपवेशने चैव हेतुं विस्तरशोऽब्रुवम् ।

'तब मैंने सम्पातिके समक्ष आपपर संकट आनेका यह सारा वृत्तान्त और अपने आमरण अनशनका कारण विस्तारपूर्वक बताया ।। ५४½ ।।

सोऽस्मानुत्थापयामास वाक्येनानेन पक्षिराट् ।। ५५ ।।
रावणो विदितो मह्यं लङ्का चास्य महापुरी ।
दृष्टा पारे समुद्रस्य त्रिकूटगिरिकन्दरे ।। ५६ ।।
भवित्री तत्र वैदेही न मेऽस्त्यत्र विचारणा ।

'तब पक्षिराज सम्पातिने अपने निम्नांकित वचनद्वारा हमें उत्साहित करके उठाया। 'वानरो! मैं रावणको जानता हूँ। उसकी महापुरी लंका भी मैंने देखी है। वह समुद्रके उस पार त्रिकूटगिरिकी कन्दरामें बसी है। विदेहकुमारी सीता अवश्य वहीं होंगी, इस विषयमें मुझे कोई अन्यथा विचार नहीं हो रहा है' ।। ५५-५६½ ।।

इति तस्य वचः श्रुत्वा वयमुत्थाय सत्वतः ।। ५७ ।।
सागरक्रमणे मन्त्रं मन्त्रयामः परंतप ।

परंतप! उसकी यह बात सुनकर हमलोग तुरंत उठे और समुद्र पार करनेके विषयमें परस्पर सलाह करने लगे ।। ५७½ ।।

नाध्यवास्यद् यदा कश्चित् सागरस्य विलङ्घनम् ।। ५८ ।।
ततः पितरमाविश्य पुप्लवेऽहं महार्णवम् ।
शतयोजनविस्तीर्णं निहत्य जलराक्षसीम् ।। ५९ ।।

'जब कोई भी समुद्रको लाँघनेका साहस न कर सका, तब मैं अपने पिता वायुके स्वरूपमें प्रविष्ट होकर वह सौ योजन विस्तृत महासागर लाँघ गया। उस समय समुद्रके जलमें एक राक्षसी रहती थी, जिसे अपने मार्गमें विघ्न डालनेपर मैंने मार डाला था ।। ५८-५९ ।।

तत्र सीता मया दृष्टा रावणान्तःपुरे सती ।
उपवासतपःशीला भर्तृदर्शनलालसा ।। ६० ।।

लंकामें पहुँचकर रावणके अन्तःपुरमें मैंने सती सीताका दर्शन किया, जो अपने पतिदेवताके दर्शनकी लालसासे निरन्तर उपवास और तपस्या किया करती हैं ।।

जटिला मलदिग्धाङ्गी कृशा दीना तपस्विनी ।
निमित्तैस्तामहं सीतामुपलभ्य पृथग्विधैः ।। ६१ ।।
उपसृत्याब्रुवं चार्यामभिगम्य रहोगताम् ।
सीते रामस्य दूतोऽहं वानरो मारुतात्मजः ।। ६२ ।।

'उनके केश जटाके रूपमें परिणत हो गये थे। अंग-अंगमें मैल जम गयी थी। वे दीन, दुर्बल और तपस्विनी दिखायी देती थीं। कई भिन्न-भिन्न कारणोंसे उन्हें आर्या सीताके रूपमें पहचानकर मैं एकान्तमें उनके निकट गया और इस प्रकार बोला—'देवि सीते! मैं श्रीरामचन्द्रजीका दूत पवनपुत्र हनुमान् नामक वानर हूँ ।। ६१-६२ ।।

त्वद्दर्शनमभिप्रेप्सुरिह प्राप्तो विहायसा ।
राजपुत्रौ कुशलिनौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।। ६३ ।।

'आपके दर्शनके लिये मैं आकाशमार्गसे यहाँ आया हूँ। दोनों भाई राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण कुशलसे हैं ।। ६३ ।।

सर्वशाखामृगेन्द्रेण सुग्रीवेणाभिपालितौ ।
कुशलं त्वाब्रवीद् रामः सीते सौमित्रिणा सह ।। ६४ ।।

'सम्पूर्ण वानरोंके अधीश्वर सुग्रीव इस समय उनकी रक्षामें तत्पर हैं। देवि! सुमित्रानन्दन लक्ष्मणके साथ भगवान् श्रीरामने आपको अपने सकुशल होनेका समाचार कहलाया है ।। ६४ ।।

सखिभावाच्च सुग्रीवः कुशलं त्वानुपृच्छति ।
क्षिप्रमेष्यति ते भर्ता सर्वशाखामृगैः सह ।। ६५ ।।
प्रत्ययं कुरु मे देवि वानरोऽस्मि न राक्षसः ।

'उनके मित्र होनेके नाते सुग्रीव भी आपका कुशल-मंगल पूछते हैं। आपके स्वामी भगवान् श्रीराम सम्पूर्ण वानरोंकी सेनाके साथ शीघ्र यहाँ पधारेंगे। देवि! मेरा विश्वास कीजिये। मैं राक्षस नहीं, वानर हूँ' ।। ६५½ ।।

मुहूर्तमिव च ध्यात्वा सीता मां प्रत्युवाच ह ।। ६६ ।।
अवैमि त्वां हनूमन्तमविन्ध्यवचनादहम् ।
अविन्ध्यो हि महाबाहो राक्षसो वृद्धसम्मतः ।। ६७ ।।

'तदनन्तर सीताने दो घड़ीतक कुछ सोचकर मुझसे इस प्रकार कहा—'महाबाहो! मैं अविन्ध्यके कहनेसे यह विश्वास करती हूँ कि तुम हनुमान् हो। अविन्ध्य राक्षसकुलमें उत्पन्न होते हुए भी वृद्ध एवं आदरणीय हैं ।। ६६-६७ ।।

कथितस्तेन सुग्रीवस्त्वद्विधैः सचिवैर्वृतः ।
गम्यतामिति चोक्त्वा मां सीता प्रादादिमं मणिम् ।। ६८ ।।
धारिता येन वैदेही कालमेतमनिन्दिता ।
प्रत्ययर्थं कथां चेमां कथयामास जानकी ।। ६९ ।।

'उन्होंने ही तुम्हारे-जैसे मन्त्रियोंसे युक्त सुग्रीवका परिचय दिया है। वत्स! अब तुम भगवान् श्रीरामके पास जाओ।' ऐसा कहकर सती साध्वी सीताने अपनी पहचानके लिये यह एक मणि दी, जिसको धारण करके वे अबतक अपने प्राणोंकी रक्षा करती आयी हैं। जानकीने विश्वास दिलानेके लिये यह एक कथा भी सुनायी थी— ।। ६८-६९ ।।

क्षिप्तामिषीकां काकाय चित्रकूटे महागिरौ ।
भवता पुरुषव्याघ्र प्रत्यभिज्ञानकारणात् ।। ७० ।।
(एकाक्षिविकलः काकः सुदुष्टात्मा कृतश्च वै ।)

'पुरुषसिंह! उस कथाका मुख्य विषय यह है कि आपने महापर्वत चित्रकूटपर रहते समय किसी कौएके ऊपर एक सींकका बाण चलाया था और उस दुष्टात्मा कौएको एक आँखसे वंचित कर दिया था। यह प्रसंग उन्होंने केवल अपनी पहचान करानेके उद्देश्यसे प्रस्तुत किया था ।। ७० ।।

ग्राहयित्वाहमात्मानं ततो दग्ध्वा च तां पुरीम् ।
सम्प्राप्त इति तं रामः प्रियवादिनमार्चयत् ।। ७१ ।।

'तदनन्तर मैंने जान-बूझकर अपने-आपको राक्षसोंद्वारा पकड़वा दिया और लंकापुरीको जलाकर समुद्रके इस पार आ पहुँचा।' यह सब समाचार सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने प्रियवादी हनुमान्‌का अत्यन्त आदर-सत्कार किया ।। ७१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि हनुमत्प्रत्यागमने द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २८२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें हनुमान्‌जीके लंकासे लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७१½ श्लोक हैं)

त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वानर-सेनाका संगठन, सेतुका निर्माण, विभीषणका अभिषेक और लंकाकी सीमामें सेनाका प्रवेश तथा अंगदको रावणके पास दूत बनाकर भेजना

मार्कण्डेय उवाच

ततस्तत्रैव रामस्य समासीनस्य तैः सह ।
समाजग्मुः कपिश्रेष्ठाः सुग्रीववचनात् तदा ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर सुग्रीवकी आज्ञाके अनुसार बड़े-बड़े वानरवीर माल्यवान् पर्वतपर लक्ष्मण आदिके साथ बैठे हुए भगवान् श्रीरामके पास पहुँचने लगे ।। १ ।।

वृतः कोटिसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ।
श्वशुरो वालिनः श्रीमान् सुषेणो राममभ्ययात् ।। २ ।।

सबसे पहले वालीके श्वशुर श्रीमान् सुषेण श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें उपस्थित हुए। उनके साथ वेगशाली वानरोंकी सहस्र कोटि (दस अरब) सेना थी ।। २ ।।

कोटीशतवृतो वापि गजो गवय एव च ।
वानरेन्द्रौ महावीर्यौ पृथक् पृथगदृश्यताम् ।। ३ ।।

फिर महापराक्रमी वानरराज ‘गज’ और ‘गवय’ पृथक्-पृथक् एक-एक अरब सेनाके साथ आते दिखायी दिये ।। ३ ।।

षष्टिकोटिसहस्राणि प्रकर्षन् प्रत्यदृश्यत ।
गोलाङ्गूलो महाराज गवाक्षो भीमदर्शनः ।। ४ ।।

महाराज! गोलांगूल (लंगूर) जातिका वानर गवाक्ष, जो देखनेमें बड़ा भयंकर था, साठ सहस्र कोटि (छः खरब) वानर-सेना साथ लिये दृष्टिगोचर हुआ ।। ४ ।।

गन्धमादनवासी तु प्रथितो गन्धमादनः ।
कोटीशतसहस्राणि हरीणां समकर्षत ।। ५ ।।

गन्धमादन पर्वतपर रहनेवाला गन्धमादन नामसे विख्यात वानर वानरोंकी दस खरब सेना साथ लेकर आया ।। ५ ।।

पनसो नाम मेधावी वानरः सुमहाबलः ।
कोटीर्दश द्वादश च त्रिंशत् पञ्च प्रकर्षति ।। ६ ।।

पनस नामक बुद्धिमान् तथा महाबली वानर सत्तावन करोड़ सेना साथ लेकर आया ।। ६ ।।

श्रीमान् दधिमुखो नाम हरिवृद्धोऽतिवीर्यवान् ।
प्रचकर्ष महासैन्यं हरीणां भीमतेजसाम् ।। ७ ।।

वानरोंमें वृद्ध तथा अत्यन्त पराक्रमी श्रीमान् दधिमुख भयंकर तेजसे सम्पन्न वानरोंकी विशाल सेना साथ लेकर आये ।। ७ ।।

कृष्णानां मुखपुण्ड्राणामृक्षाणां भीमकर्मणाम् ।
कोटीशतसहस्रेण जाम्बवान् प्रत्यदृश्यत ।। ८ ।।

जिनके मुख (ललाट)-पर तिलकका चिह्न शोभा पा रहा था तथा जो भयंकर पराक्रम करनेवाले थे, ऐसे काले रंगके शतकोटि सहस्र (दस खरब) रीछोंकी सेनाके साथ वहाँ जाम्बवान् दिखायी दिये ।। ८ ।।

एते चान्ये च बहवो हरियूथपयूथपाः ।
असंख्येया महाराज समीयू रामकारणात् ।। ९ ।।

महाराज! ये तथा और भी बहुत-से वानर-यूथपतियोंके भी यूथपति, जिनकी कोई संख्या नहीं थी, श्रीरामचन्द्रजीके कार्यसे वहाँ एकत्र हुए ।। ९ ।।

गिरिकूटनिभाङ्गानां सिंहानामिव गर्जताम् ।
श्रूयते तुमुलः शब्दस्तत्र तत्र प्रधावताम् ।। १० ।।

उनके अंग पर्वतोंके शिखरके सदृश जान पड़ते थे। वे सबके सब सिंहोंके समान गरजते और इधर-उधर दौड़ते थे। उन सबका सम्मिलित शब्द बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ।। १० ।।

गिरिकूटनिभाः केचित् केचिन्महिषसंनिभाः ।
शरदभ्रप्रतीकाशाः केचिद्धिङ्गुलकाननाः ।। ११ ।।

कोई पर्वत-शिखरके समान ऊँचे थे तो कोई भैंसोंके सदृश मोटे और काले। कितने ही वानर शरद्-ऋतुके बादलोंकी तरह सफेद दिखायी देते थे, कितनोंके ही मुख सिन्दूरके समान लाल रंगके थे ।। ११ ।।

उत्पतन्तः पतन्तश्च प्लवमानाश्च वानराः ।
उद्धुन्वन्तोऽपरे रेणून् समाजग्मुः समन्ततः ।। १२ ।।

वे वानर सैनिक उछलते, गिरते-पड़ते, कूदते-फाँदते और धूल उड़ाते हुए चारों ओरसे एकत्र हो रहे थे ।। १२ ।।

स वानरमहासैन्यः पूर्णसागरसंनिभः ।
निवेशमकरोत् तत्र सुग्रीवानुमते तदा ।। १३ ।।

वानरोंकी वह विशाल सेना भरे-पूरे महासागरके समान दिखायी देती थी। सुग्रीवकी आज्ञासे उस समय माल्यवान् पर्वतके आस-पास ही उस समस्त सेनाका पड़ाव पड़ गया ।। १३ ।।

ततस्तेषु हरीन्द्रेषु समावृत्तेषु सर्वशः ।

तिथौ प्रशस्ते नक्षत्रे मुहूर्ते चाभिपूजिते ।। १४ ।।
तेन व्यूढेन सैन्येन लोकानुद्धर्तयन्निव ।
प्रययौ राघवः श्रीमान् सुग्रीवसहितस्तदा ।। १५ ।।

तदनन्तर उन समस्त श्रेष्ठ वानरोंके सब ओरसे एकत्र हो जानेपर सुग्रीवसहित भगवान् श्रीरामने एक दिन शुभ तिथि, उत्तम नक्षत्र और शुभ मुहूर्तमें युद्धके लिये प्रस्थान किया। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो वे उस व्यूहरचनायुक्त सेनाके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंका संहार करने जा रहे हैं ।। १४-१५ ।।

मुखमासीत् तु सैन्यस्य हनूमान् मारुतात्मजः ।
जघनं पालयामास सौमित्रिरकुतोभयः ।। १६ ।।

उस सेनाके मुहानेपर वायुपुत्र हनुमान्‌जी विद्यमान थे। किसीसे भी भय न माननेवाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मण उसके पृष्ठभागकी रक्षा कर रहे थे ।। १६ ।।

बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ राघवौ तत्र जग्मतुः ।
वृतौ हरिमहामात्रैश्चन्द्रसूर्यौ ग्रहैरिव ।। १७ ।।

दोनों रघुवंशी वीर श्रीराम और लक्ष्मण हाथोंमें गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने पहने हुए थे। वे ग्रहोंसे घिरे हुए चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति वानरजातीय मन्त्रियोंके बीचमें होकर चल रहे थे ।। १७ ।।

प्रबभौ हरिसैन्यं तत् सालतालशिलायुधम् ।
सुमहच्छालिभवनं यथा सूर्योदयं प्रति ।। १८ ।।

श्रीरामचन्द्रजीके सम्मुख साल, ताल और शिलारूपी आयुध लिये वे समस्त वानर सैनिक सूर्योदयके समय पके हुए धानके विशाल खेतोंके समान जान पड़ते थे ।।

नलनीलाङ्गदक्राथमैन्दद्विविदपालिता ।
ययौ सुमहती सेना राघवस्यार्थसिद्धये ।। १९ ।।

नल, नील, अंगद, क्राथ, मैन्द तथा द्विविदके द्वारा सुरक्षित हुई वह विशाल वानरसेना श्रीरामचन्द्रजीका कार्य सिद्ध करनेके लिये आगे बढ़ती चली जा रही थी ।। १९ ।।

विविधेषु प्रशस्तेषु बहुमूलफलेषु च ।
प्रभूतमधुमूलेषु वारिमत्सु शिवेषु च ।। २० ।।
निवसन्ती निराबाधा तथैव गिरिसानुषु ।
उपायाद्धरिसेना सा क्षारोदमथ सागरम् ।। २१ ।।

जहाँ फल-मूलकी बहुतायत होती, मधु और कन्द-मूल प्रचुरमात्रामें उपलब्ध होते तथा जलकी अधिक सुविधा होती, ऐसे कल्याणकारी और उत्तम विविध पर्वतीय शिखरोंपर डेरा डालती हुई वह वानरसेना बिना किसी विघ्न-बाधाके खारे पानीवाले समुद्रके निकट जा पहुँची ।। २०-२१ ।।

द्वितीयसागरनिभं तद् बलं बहुलध्वजम् ।

वेलावनं समासाद्य निवासमकरोत् तदा ॥ २२ ॥

असंख्य ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित वह विशाल वाहिनी दूसरे महासागरके समान जान पड़ती थी। सागरके तटवर्ती वनमें पहुँचकर उसने अपना पड़ाव डाला ॥ २२ ॥

ततो दाशरथिः श्रीमान् सुग्रीवं प्रत्यभाषत ।
मध्ये वानरमुख्यानां प्राप्तकालमिदं वचः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् मुख्य-मुख्य वानरोंके बीचमें बैठे हुए दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामने सुग्रीवसे यह समयोचित बात कही— ॥ २३ ॥

उपायः को नु भवतां मतः सागरलङ्घने ।
इयं हि महती सेना सागरश्चातिदुस्तरः ॥ २४ ॥

'मित्रो! हमारी यह सेना बहुत बड़ी है और सामने अत्यन्त दुस्तर महासागर लहरें ले रहा है। ऐशी दशामें आपलोग समुद्रके पार जानेके लिये कौन-सा उपाय ठीक समझते हैं?' ॥ २४ ॥

तत्रान्ये व्याहरन्ति स्म वानरा बहुमानिनः ।
समर्था लङ्घने सिन्धोर्न तु तत् कृत्स्नकारकम् ॥ २५ ॥

तब वहाँ बहुत-से दूसरे-दूसरे वानर, जो बड़े अभिमानी थे, कहने लगे—'हम तो समुद्रको लाँघ जानेमें समर्थ हैं, परंतु सब नहीं लाँघ सकते' ॥ २५ ॥

केचिन्नौभिर्व्यवस्यन्ति केचिच्च विविधैः प्लवैः ।
नेति रामस्तु तान् सर्वान् सान्त्वयन् प्रत्यभाषत ॥ २६ ॥

कुछ वानर बड़ी-बड़ी नावोंके द्वारा समुद्रके पार जानेका निश्चय प्रकट करने लगे। कुछने नाव-डोंगी आदि विविध साधनोंद्वारा पार जानेकी बात बतायी। परंतु श्रीरामचन्द्रजीने उनकी यह सलाह माननेसे इनकार कर दिया और सबको सान्त्वना देते हुए कहा— ॥ २६ ॥

शतयोजनविस्तारं न शक्ताः सर्ववानराः ।
क्रान्तुं तोयनिधिं वीरा नैषा वो नैष्ठिकी मतिः ॥ २७ ॥

'वीरो! सभी वानरोंमें इतनी शक्ति नहीं है कि वे सौ योजन विस्तृत समुद्रको लाँघ सकें; अतः तुम लोगोंका यह निर्णय सर्वमान्य सिद्धान्तके रूपमें ग्राह्य नहीं है ॥ २७ ॥

नावो न सन्ति सेनाया बह्वयस्तारयितुं तथा ।
वणिजामुपघातं च कथमस्मद्विधश्चरेत् ॥ २८ ॥

'इतनी बड़ी सेनाको पार उतारनेके लिये हमलोगोंके पास अधिक नौकाएँ भी नहीं हैं। (यदि कहें, व्यापारियोंके जहाजोंसे काम लिया जाय, तो) मेरे-जैसा पुरुष अपने स्वार्थके लिये व्यापारियोंके व्यवसायको हानि कैसे पहुँचा सकता है? ॥ २८ ॥

विस्तीर्णं चैव नः सैन्यं हन्याच्छिद्रेण वै परः ।
प्लवोडुपप्रतारश्च नैवात्र मम रोचते ॥ २९ ॥

‘इसके सिवा नौका आदिसे यात्रा करनेपर हमारी सेना छिट-फुट होकर बहुत दूरतक फैल जायगी। उस दशामें अवसर पाकर शत्रु इसका नाश भी कर सकता है। इसीलिये डोंगी और नाव आदिपर बैठकर पार उतरनेकी बात मुझे ठीक नहीं जँचती है ।। २९ ।।

अहं त्विमं जलनिधिं समारप्स्याम्युपायतः ।
प्रतिशेष्याम्युपवसन् दर्शयिष्यति मां ततः ।। ३० ।।

‘मैं तो किसी उपायसे इस समुद्रकी ही आराधना आरम्भ करूँगा। इसके तटपर अन्न-जल छोड़कर धरना दूँगा। इससे यह अवश्य मुझे दर्शन देगा तथा कोई मार्ग दिखायेगा ।। ३० ।।

न चेद् दर्शयिता मार्गं धक्ष्याम्येनमहं ततः ।
महास्त्रैरप्रतिहतैरत्यग्निपवनोज्ज्वलैः ।। ३१ ।।

‘यदि यह स्वयं प्रकट होकर कोई मार्ग नहीं दिखायेगा तो मैं अग्नि और वायुसे भी अधिक तेजस्वी तथा कभी न चूकनेवाले महान् दिव्यास्त्रोंद्वारा इसे जलाकर भस्म कर डालूँगा’ ।। ३१ ।।

इत्युक्त्वा सह सौमित्रिरुपस्पृश्याथ राघवः ।
प्रतिशिश्ये जलनिधिं विधिवत् कुशसंस्तरे ।। ३२ ।।

ऐसा कहकर लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीने आचमन करके समुद्रके तटपर कुशकी चटाई बिछाकर उसपर लेटकर विधिपूर्वक धरना दे दिया ।। ३२ ।।

सागरस्तु ततः स्वप्ने दर्शयामास राघवम् ।
देवो नदनदीभर्ता श्रीमान् यादोगणैर्वृतः ।। ३३ ।।

तब नदों और नदियोंके स्वामी श्रीमान् समुद्रदेवने जल-जन्तुओंके साथ प्रकट होकर स्वप्नमें श्रीरामचन्द्रजीको दर्शन दिया ।। ३३ ।।

कौसल्यामातरित्येवमाभाष्य मधुरं वचः ।
इदमित्याह रत्नानामाकरैः शतशो वृतः ।। ३४ ।।

वह सैकड़ों रत्नके आकरोंसे घिरा हुआ था। उसने ‘कौसल्यानन्दन’ कहकर श्रीरामको सम्बोधित किया और मधुर वाणीमें इस प्रकार कहा— ।। ३४ ।।

ब्रूहि किं ते करोम्यत्र साहाय्यं पुरुषर्षभ ।
ऐक्ष्वाको ह्यस्मि ते ज्ञातिरिति रामस्तमब्रवीत् ।। ३५ ।।

‘नरश्रेष्ठ! कहो, मैं यहाँ तुम्हारी क्या सहायता करूँ? सगरपुत्रोंसे संवर्धित होनेके कारण मैं भी इक्ष्वाकुवंशीय तथा तुम्हारा भाई-बन्धु हूँ’। यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने उससे कहा— ।। ३५ ।।

मार्गमिच्छामि सैन्यस्य दत्तं नदनदीपते ।
येन गत्वा दशग्रीवं हन्यां पौलस्त्यपांसनम् ।। ३६ ।।

'नद-नदीश्वर! मैं अपनी सेनाके लिये तुम्हारे द्वारा दिया हुआ मार्ग चाहता हूँ, जिससे जाकर पुलस्त्यकुलांगार दशमुख रावणको मार सकूँ ।। ३६ ।।

यद्येवं याचतो मार्गं न प्रदास्यति मे भवान् ।
शरैस्त्वां शोषयिष्यामि दिव्यास्त्रप्रतिमन्त्रितैः ।। ३७ ।।

'यदि इस प्रकार याचना करनेपर तुम मुझे मार्ग न दोगे तो मैं दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंद्वारा तुम्हें सुखा दूँगा' ।। ३७ ।।

इत्येवं ब्रुवतः श्रुत्वा रामस्य वरुणालयः ।
उवाच व्यथितो वाक्यमिति बद्धाञ्जलिः स्थितः ।। ३८ ।।

श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर वरुणालय समुद्र व्यथित हो उठा और खड़े हुए हाथ जोड़कर बोला— ।। ३८ ।।

नेच्छामि प्रतिघातं ते नास्मि विघ्नकरस्तव ।
शृणु चेदं वचो राम श्रुत्वा कर्तव्यमाचर ।। ३९ ।।

'श्रीराम! मैं तुम्हारा सामना करना नहीं चाहता और न मैं तुम्हारे मार्गमें विघ्न डालनेकी ही इच्छा रखता हूँ। मेरी यह बात सुनो और सुनकर जो कर्तव्य हो, उसे करो ।। ३९ ।।

यदि दास्यामि ते मार्गं सैन्यस्य व्रजतोऽऽज्ञया ।
अन्येऽप्याज्ञापयिष्यन्ति मामेवं धनुषो बलात् ।। ४० ।।

'यदि मैं इस समय तुम्हारी आज्ञासे तुम्हें और लंका जाती हुई तुम्हारी सेनाको मार्ग दे दूँगा तो दूसरे लोग भी इसी प्रकार धनुषके बलसे मुझपर हुक्म चलाया करेंगे ।। ४० ।।

अस्ति त्वत्र नलो नाम वानरः शिल्पिसम्मतः ।
त्वष्टुर्देवस्य तनयो बलवान् विश्वकर्मणः ।। ४१ ।।

'तुम्हारी सेनामें एक नल नामक वानर है जो शिल्पियोंके लिये भी आदरणीय है। बलवान् नल देवशिल्पी विश्वकर्माका पुत्र है ।। ४१ ।।

स यत् काष्ठं तृणं वापि शिलां वा क्षेप्स्यते मयि ।
सर्वं तद् धारयिष्यामि स ते सेतुर्भविष्यति ।। ४२ ।।

'वह अपने हाथसे उठाकर जो भी काठ, तिनका या पत्थर मेरे भीतर डाल देगा, वह सब मैं जलके ऊपर-धारण किये रहूँगा। वही तुम्हारे लिये पुल हो जायगा' ।। ४२ ।।

इत्युक्त्वान्तर्हिते तस्मिन् रामो नलमुवाच ह ।
कुरु सेतुं समुद्रे त्वं शक्तो ह्यसि मतो मम ।। ४३ ।।

ऐसा कहकर समुद्र अन्तर्धान हो गया। तत्पश्चात् श्रीरामने उठकर नलसे कहा—'तुम समुद्रपर एक पुल तैयार करो। मैं जानता हूँ, तुममें यह कार्य करनेकी शक्ति है' ।। ४३ ।।

तेनोपायेन काकुत्स्थः सेतुबन्धमकारयत् ।
दशयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ।। ४४ ।।

उसी उपायसे रघुनाथजीने समुद्रपर सौ योजन लंबा और दस योजन चौड़ा पुल तैयार कराया ।। ४४ ।।

नलसेतुरिति ख्यातो योऽद्यापि प्रथितो भुवि ।
रामस्याज्ञां पुरस्कृत्य निर्यातो गिरिसंनिभः ।। ४५ ।।

वह आज भी भूमण्डलमें 'नलसेतु' के नामसे विख्यात है। श्रीरामजीकी आज्ञा मानकर समुद्रने उस पर्वताकार पुलको अपने ऊपर धारण किया ।। ४५ ।।

तत्रस्थं स तु धर्मात्मा समागच्छद् विभीषणः ।
भ्राता वै राक्षसेन्द्रस्य चतुर्भिः सचिवैः सह ।। ४६ ।।

श्रीरामचन्द्रजी अभी समुद्रके किनारे ही थे कि राक्षसराज रावणके भाई धर्मात्मा विभीषण अपने चार मन्त्रियोंके साथ उनसे मिलनेके लिये आये ।। ४६ ।।

प्रतिजग्राह समस्तं स्वागतेन महामनाः ।
सुग्रीवस्य तु शङ्काभूत् प्रणिधिः स्यादिति स्म ह ।। ४७ ।।

महामना श्रीरामने स्वागतपूर्वक उन्हें अपनाया। उस समय सुग्रीवके मनमें यह शंका हुई कि 'कहीं यह शत्रुका कोई गुप्तचर न हो' ।। ४७ ।।

राघवः सत्यचेष्टाभिः सम्यक् च चरितेङ्गितैः ।
यदा तत्त्वेन तुष्टोऽभूत् तत एनमपूजयत् ।। ४८ ।।

परंतु श्रीरामचन्द्रजीने उनकी सत्य चेष्टाओं, उत्तम आचरणों और मुख-नेत्र आदिके संकेतोंसे सूचित होनेवाले मनोभावोंकी सम्यक् समीक्षा करके जब अच्छी तरह संतोष प्राप्त कर लिया, तब विभीषणका बहुत आदर किया ।। ४८ ।।

सर्वराक्षसराज्ये चाप्यभ्यषिञ्चद् विभीषणम् ।
चक्रे च मन्त्रसचिवं सुहृदं लक्ष्मणस्य च ।। ४९ ।।

साथ ही उन्हें समस्त राक्षसोंके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया और लक्ष्मणका सुहृद् तथा अपना सलाहकार बना लिया ।। ५९ ।।

विभीषणमते चैव सोऽत्यक्रामन्महार्णवम् ।
ससैन्यः सेतुना तेन मासेनैव नराधिप ।। ५० ।।

नरेश्वर! विभीषणकी सलाहसे श्रीरामचन्द्रजीने उसी सेतुद्वारा एक ही महीनेमें सेनासहित महासागरको पार कर लिया ।। ५० ।।

ततो गत्वा समासाद्य लङ्कोद्यानान्यनेकशः ।
भेदयामास कपिभिर्महान्ति च बहूनि च ।। ५१ ।।

तत्पश्चात् उन्होंने लंकाकी सीमामें पहुँचकर वानरोंद्वारा वहाँके बहुत-से बड़े-बड़े उद्यानोंको छिन्न-भिन्न करा दिया ।। ५१ ।।

ततस्तौ रावणामात्यौ मन्त्रिणौ शुकसारणौ ।
चरौ वानररूपेण तौ जग्राह विभीषणः ।। ५२ ।।

उस सेनामें वानरोंका रूप घारण करके रावणके दो मन्त्री शुक और सारण गुप्तचरका काम करनेके लिये घुस आये थे। विभीषणने उन दोनोंको पहचानकर कैद कर लिया ।। ५२ ।।

प्रतिपन्नौ यदा रूपं राक्षसं तौ निशाचरौ ।
दर्शयित्वा ततः सैन्यं रामः पश्चादवासृजत् ।। ५३ ।।

जब वे दोनों निशाचर अपने राक्षसरूपमें प्रकट हुए, तब श्रीरामने उन्हें अपनी सेनाका दर्शन कराकर छोड़ दिया ।।

निवेश्योपवने सैन्यं तत् पुरः प्राज्ञवानरम् ।
प्रेषयामास दौत्येन रावणस्य ततोऽङ्गदम् ।। ५४ ।।

लंकापुरीके उपवनमें वानरसेनाको ठहराकर श्रीरघुनाथजीने बुद्धिमान् वानर अंगदको दूतके रूपमें रावणके यहाँ भेजा ।। ५४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि सेतुबन्धने त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २८३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें सेतुबन्धविषयक दो सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८३ ।।

चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अंगदका रावणके पास जाकर रामका संदेश सुनाकर लौटना तथा राक्षसों और वानरोंका घोर संग्राम

मार्कण्डेय उवाच

प्रभूतान्नोदके तस्मिन् बहुमूलफले वने ।
सेनां निवेश्य काकुत्स्थो विधिवत् पर्यरक्षत ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! लंकाके उस वनमें अन्न और जलका बहुत सुभीता था। फल और मूल प्रचुरमात्रामें उपलब्ध थे; अतः वहीं सेनाकी छावनी डालकर श्रीरामचन्द्रजी विधिपूर्वक उसकी रक्षा करते रहे ।। १ ।।

रावणः संविधं चक्रे लङ्कायां शास्त्रनिर्मिताम् ।
प्रकृत्यैव दुराधर्षा दृढप्राकारतोरणा ।। २ ।।

इधर रावण लंकामें शास्त्रोक्त प्रकारसे बनी हुई युद्ध-सामग्री (मशीनगन आदि)-का संग्रह करने लगा। लंकाकी चहारदीवारी और नगर-द्वार अत्यन्त सुदृढ़ थे; अतः स्वभावसे ही वह दुर्धर्ष थी—किसी भी आक्रमणकारीका वहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन था ।। २ ।।

अगाधतोयाः परिखा मीननक्रसमाकुलाः ।
बभूवुः सप्त दुर्धर्षाः खादिरैः शङ्कुभिश्चिताः ।। ३ ।।

नगरके चारों ओर सात गहरी खाइयाँ थीं, जिनमें अगाध जल भरा रहता था और उनमें मत्स्य-मगर आदि जल-जन्तु निवास करते थे। इन खाइयोंमें सब ओर खैरके खूँटे गड़े हुए थे ।। ३ ।।

कपाटयन्त्रदुर्धर्षा बभूवुः सहुडोपलाः ।
साशीविषघटायोधाः ससर्जरसपांसवः ।। ४ ।।

‘मजबूत किवाड़ लगे थे और गोला बरसानेवाले यन्त्र (मशीनें) यथास्थान लगे थे। इनके सिवा वहाँ बहुत-से शृंग और गोले जमा किये गये थे। इन सब कारणोंसे इन खाइयोंको पार करना बहुत कठिन था। विषधर सर्पोंके समूह, सैनिक, सर्जरस (लाह) और धूल—इन सबसे संयुक्त और सुरक्षित होनेके कारण भी वे खाइयाँ दुर्गम थीं ।। ४ ।।

मुसलालातनाराचतोमरासिपरश्वधैः ।
अन्विताश्च शतघ्नीभिः समधूच्छिष्टमुद्गराः ।। ५ ।।

मुसल, अलात (बनैठी), बाण, तोमर, तलवार, फरसे, मोमके मुद्गर तथा तोप आदि अस्त्र-शस्त्रोंके संग्रहके कारण भी वे खाइयाँ दुर्लंघ्य थीं ।। ५ ।।

पुरद्वारेषु सर्वेषु गुल्माः स्थावरजङ्गमाः ।

बभूवुः पत्तिबहुलाः प्रभूतगजवाजिनः ।। ६ ।।

नगरके सभी दरवाजोंपर छिपकर बैठनेके लिये बुर्ज बने हुए थे। ये स्थावर गुल्म कहलाते थे और घूम-फिरकर रक्षा करनेवाले जो सैनिक नियुक्त किये गये थे वे जंगम गुल्म कहे जाते थे। इनमें अधिकांश पैदल और बहुत-से हाथीसवार तथा घुड़सवार भी थे ।। ६ ।।

अङ्गदस्त्वथ लङ्काया द्वारदेशमुपागतः ।
विदितो राक्षसेन्द्रस्य प्रविवेश गतव्यथः ।। ७ ।।
मध्ये राक्षसकोटीनां बह्वीनां सुमहाबलः ।
शुशुभे मेघमालाभिरादित्य इव संवृतः ।। ८ ।।

(श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे) महाबली अंगद दूत बनकर लंकापुरीके द्वारपर आये। राक्षसराज रावणको उनके आगमनकी सूचना दी गयी। फिर अनुमति मिलनेपर उन्होंने निर्भय होकर पुरीमें प्रवेश किया। अनेक करोड़ राक्षसोंके बीचमें जाते हुए अंगद मेघोंकी घटासे घिरे हुए सूर्यदेवके समान सुशोभित हो रहे थे ।। ७-८ ।।

स समासाद्य पौलस्त्यममात्यैरभिसंवृतम् ।
रामसंदेशमामन्त्र्य वाग्मी वक्तुं प्रचक्रमे ।। ९ ।।

मन्त्रियोंसे घिरकर बैठे हुए पुलस्त्यनन्दन रावणके पास पहुँचकर कुशल वक्ता अंगदने रावणको सम्बोधित करके श्रीरामचन्द्रजीका संदेश इस प्रकार कहना आरम्भ किया — ।। ९ ।।

आह त्वां राघवो राजन् कोसलेन्द्रो महायशाः ।
प्राप्तकालमिदं वाक्यं तदादत्स्व कुरुष्व च ।। १० ।।

राजन्! कोसलदेशके महाराज महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजीने तुमसे कहनेके लिये जो समयोचित संदेश भेजा है, उसे सुनो और तदनुसार कार्य करो ।। १० ।।

अकृतात्मानमासाद्य राजानमनये रतम् ।
विनश्यन्त्यनयाविष्टा देशाश्च नगराणि च ।। ११ ।।

'जो राजा अपने मनको काबूमें न रखकर अन्यायमें तत्पर रहता है, उसका आश्रय लेकर उसके अधीन रहनेवाले नगर और देश भी अनीतिपरायण होकर नष्ट हो जाते हैं' ।। ११ ।।

त्वयैकेनापराद्धं मे सीतामाहरता बलात् ।
वधायानपराद्धानामन्येषां तद् भविष्यति ।। १२ ।।

'सीताका बलपूर्वक अपहरण करके मेरा अपराध तो अकेले तुमने किया है, परंतु इसके कारण अन्य निर्दोष लोग भी मारे जायँगे' ।। १२ ।।

ये त्वया बलदर्पाभ्यामविष्टेन वनेचराः ।
ऋषयो हिंसिताः पूर्वं देवाश्चाप्यवमानिताः ।। १३ ।।
राजर्षयश्च निहता रुदत्यश्च हृताः स्त्रियः ।

तदिदं समनुप्राप्तं फलं तस्यानयस्य ते ॥ १४ ॥

'तुमने बल और अहंकारसे उन्मत्त होकर पहले जिन वनवासी ऋषियोंकी हत्या की, देवताओंका अपमान किया, राजर्षियोंके प्राण लिये तथा रोती-बिलखती अबलाओंका भी अपहरण किया था, उन सब अत्याचारोंका फल अब तुम्हें प्राप्त होनेवाला है' ॥ १३-१४ ॥

हन्तास्मि त्वां सहामात्यैर्युध्यस्व पुरुषो भव ।
पश्य मे धनुषो वीर्यं मानुषस्य निशाचर ॥ १५ ॥

'मैं मन्त्रियोंसहित तुम्हें मार डालूँगा। साहस हो तो युद्ध करो और पौरुषका परिचय दो। निशाचर! यद्यपि मैं मनुष्य हूँ, तो भी मेरे धनुषका बल देखना ॥ १५ ॥

मुच्यतां जानकी सीता न मे मोक्ष्यसि कर्हिचित् ।
अराक्षसमिमं लोकं कर्तास्मि निशितैः शरैः ॥ १६ ॥

'जनकनन्दिनी सीताको छोड़ दो, अन्यथा कभी मेरे हाथसे जीवित नहीं बचोगे। मैं अपने तीखे बाणोंद्वारा इस संसारको राक्षसोंसे सूना कर दूँगा' ॥ १६ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य दूतस्य परुषं वचः ।
श्रुत्वा न ममृषे राजा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके दूतके मुखसे ऐसी कठोर बातें सुनकर राजा रावण सहन न कर सका। वह क्रोधसे मूर्च्छित हो उठा ॥ १७ ॥

इङ्गितज्ञास्ततो भर्तुश्चत्वारो रजनीचराः ।
चतुर्ष्वङ्गेषु जगृहुः शार्दूलमिव पक्षिणः ॥ १८ ॥

तब स्वामीके संकेतको समझनेवाले चार निशाचर अपनी जगहसे उठे और जिस प्रकार पक्षी सिंहको पकड़े, उसी प्रकार वे अंगदके चार अंगोंको पकड़ने लगे ॥ १८ ॥

तांस्तथाङ्गेषु संसक्तानङ्गदो रजनीचरान् ।
आदायैव खमुत्पत्य प्रासादतलमाविशत् ॥ १९ ॥

अंगद इस प्रकार अपने अंगोंसे सटे हुए उन चारों राक्षसोंको लिये-दिये आकाशमें उछलकर महलकी छतपर जा चढ़े ॥ १९ ॥

वेगेनोत्पततस्तस्य पेतुस्ते रजनीचराः ।
भुवि सम्भिन्नहृदयाः प्रहारवरपीडिताः ॥ २० ॥

उछलते समय उनके वेगसे छूटकर वे चारों राक्षस पृथ्वीपर जा गिरे। उन राक्षसोंकी छाती फट गयी और अधिक चोट लगनेके कारण उन्हें बड़ी पीड़ा हुई ॥ २० ॥

संसक्तो हर्म्यशिखरात् तस्मात् पुनरवापतत् ।
लङ्घयित्वा पुरीं लङ्कां सुवेलस्य समीपतः ॥ २१ ॥

छतपर चढ़े हुए अंगद फिर उस महलके कँगूरेसे कूद पड़े और लंकापुरीको लाँघकर सुवेलपर्वतके समीप आ पहुँचे ॥ २१ ॥

कोसलेन्द्रमथागम्य सर्वमावेद्य वानरः ।

विशश्राम स तेजस्वी राघवेणाभिनन्दितः ॥ २२ ॥

फिर कोसलनरेश श्रीरामचन्द्रजीसे मिलकर तेजस्वी वानर अंगदने रावणके दरबारकी सारी बातें बतायीं। श्रीरामने अंगदकी बड़ी प्रशंसा की। फिर वे विश्राम करने लगे ॥ २२ ॥

ततः सर्वाभिसारेण हरीणां वातरंहसाम् ।
भेदयामास लङ्कायाः प्राकारं रघुनन्दनः ॥ २३ ॥

तदनन्तर भगवान् श्रीरामने वायुके समान वेगशाली वानरोंकी सम्पूर्ण सेनाके द्वारा एक साथ लंकापर धावा बोल दिया और उसकी चहारदीवारी तुड़वा डाली ॥ २३ ॥

विभीषणर्क्षाधिपती पुरस्कृत्याथ लक्ष्मणः ।
दक्षिणं नगरद्वारमवामृद्नाद् दुरासदम् ॥ २४ ॥

नगरके दक्षिण द्वारमें प्रवेश करना बहुत कठिन था, परंतु लक्ष्मणने विभीषण और जाम्बवान्को आगे करके उसे भी धूलमें मिला दिया ॥ २४ ॥

करभारुणपाण्डूनां हरीणां युद्धशालिनाम् ।
कोटीशतसहस्रेण लङ्कामभ्यपपत् तदा ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने हथेलीके समान श्वेत और लाल रंगके युद्धकुशल वानरोंकी दस खरब सेनाके साथ लंकामें प्रवेश किया ॥ २५ ॥

प्रलम्बबाहूरुकरजङ्घान्तरविलम्बिनाम् ।

ऋक्षाणां धूम्रवर्णानां तिस्रः कोट्यो व्यवस्थिताः ।। २६ ।।

उनके भुजा, ऊरु, हाथ और जंघा (पिंडली)—ये सभी अङ्ग विशाल थे तथा अंगोंकी कान्ति धुएँके समान काली थी, ऐसे तीन करोड़ रीछ सैनिक भी उनके साथ लंकामें जाकर युद्धके लिये डटे हुए थे ।।

उत्पतद्‌भिः पतद्‌भिश्च निपतद्‌भिश्च वानरैः ।
नादृश्यत तदा सूर्यो रजसा नाशितप्रभः ।। २७ ।।

उस समय वानरोंके उछलने-कूदने तथा गिरने-पड़नेसे इतनी धूल उड़ी कि उससे सूर्यकी प्रभा नष्ट-सी हो गयी और उसका दीखना बंद हो गया ।। २७ ।।

शालिप्रसूनसदृशैः शिरीषकुसुमप्रभैः ।
तरुणादित्यसदृशैः शणगौरैश्च वानरैः ।। २८ ।।
प्राकारं ददृशुस्ते तु समन्तात् कपिलीकृतम् ।
राक्षसा विस्मिता राजन् सस्त्रीवृद्धाः समन्ततः ।। २९ ।।

राजन्! धानके फूल-जैसे रंगवाले, मौलसिरीके पुष्प-सदृश कान्तिवाले, प्रातःकालके सूर्यके समान अरुण प्रभावाले तथा सनईके समान सफेद रंगवाले वानरोंसे व्याप्त होनेके कारण लंकाकी चहारदीवारी चारों ओर कपिलवर्णकी दिखायी देती थी। स्त्रियों और वृद्धोंसहित समस्त लंकावासी राक्षस चारों ओर आश्चर्यचकित होकर इस दृश्यको देख रहे थे ।। २८-२९ ।।

बिभिदुस्ते मणिस्तम्भान् कर्णाट्टशिखराणि च ।
भग्नोन्मथितशृङ्गाणि यन्त्राणि च विचिक्षिपुः ।। ३० ।।

वानर सैनिक वहाँके मणिनिर्मित खम्भों और अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे महलोंके कंगूरोंको तोड़ने-फोड़ने लगे। गोलाबारी करनेवाले जो तोप आदि यन्त्र लगे थे, उनके शिखरोंको चूर-चूर करके उन्होंने दूर फेंक दिया ।। ३० ।।

परिगृह्य शतघ्नीश्च सचक्राः सहुडोपलाः ।
चिक्षिपुर्भुजवेगेन लङ्कामध्ये महास्वनाः ।। ३१ ।।

पहियोंवाली तोपों, शृंगों और गोलोंको ले-लेकर महान् कोलाहल करते हुए वानर अपनी भुजाओंके वेगसे उन्हें लंकामें फेंकने लगे ।। ३१ ।।

प्राकारस्थाश्च ये केचिन्निशाचरगणास्तथा ।
प्रदुद्रुवुस्ते शतशः कपिभिः समभिद्रुताः ।। ३२ ।।

जो कोई निशाचर चहारदीवारीकी रक्षाके लिये सैकड़ोंकी संख्यामें वहाँ खड़े थे, वे सब वानरोंद्वारा खदेड़े जानेपर भाग खड़े हुए ।। ३२ ।।

ततस्तु राजवचनाद् राक्षसाः कामरूपिणः ।
निर्ययुर्विकृताकाराः सहस्रशतसङ्घशः ।। ३३ ।।

तदनन्तर राक्षसराज रावणकी आज्ञा पाकर इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षस लाख-लाखकी टोली बनाकर नगरसे बाहर निकले। उन सबकी आकृति बड़ी विकराल थी ।। ३३ ।।

शस्त्रवर्षाणि वर्षन्तो द्रावयित्वा वनौकसः ।
प्राकारं शोभयन्तस्ते परं विक्रममास्थिताः ।। ३४ ।।

वे चहारदीवारीकी शोभा बढ़ाते हुए अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करके वनवासी वानरोंको खदेड़ने लगे और अपने उत्तम पराक्रमका परिचय देने लगे ।। ३४ ।।

स माषराशिसदृशैर्बभूव क्षणदाचरैः ।
कृतो निर्वानरो भूयः प्राकारो भीमदर्शनैः ।। ३५ ।।

उड़दके ढेर-जैसे काले-कलूटे उन भयंकर निशाचरोंने लड़कर पुनः उस चहारदीवारीको वानरोंसे सूनी कर दिया ।। ३५ ।।

पेतुः शूलविभिन्नाङ्गा बहवो वानरर्षभाः ।
स्तम्भतोरणभग्नाश्च पेतुस्तत्र निशाचराः ।। ३६ ।।

उनके शूलोंकी मारसे अंग विदीर्ण हो जानेके कारण बहुत-से श्रेष्ठ वानर धराशायी हो गये। इसी प्रकार वानरोंके हाथोंसे खम्भोंकी मार खाकर कितने ही निशाचर युद्धका मैदान छोड़कर भाग गये और कितने वहीं ढेर हो गये ।। ३६ ।।

केशाकेश्यभवद् युद्धं रक्षसां वानरैः सह ।
नखैर्दन्तैश्च वीराणां खादतां वै परस्परम् ।। ३७ ।।

तत्पश्चात् वीर राक्षसोंका वानरोंके साथ सिरके बाल पकड़कर युद्ध होने लगा। वे नखों और दाँतोंसे भी एक-दूसरेको काट खाते थे ।। ३७ ।।

निष्टनन्तो ह्युभयतस्तत्र वानरराक्षसाः ।
हता निपतिता भूमौ न मुञ्चन्ति परस्परम् ।। ३८ ।।

दोनों ओरसे गर्जना करते हुए वानर तथा राक्षस इस प्रकार युद्ध करते थे कि मरकर पृथ्वीपर गिर जानेके बाद भी एक-दूसरेको छोड़ते नहीं थे ।। ३८ ।।

रामस्तु शरजालानि ववर्ष जलदो यथा ।
तानि लङ्कां समासाद्य जघ्नुस्तान् रजनीचरान् ।। ३९ ।।

उधर श्रीरामचन्द्रजी भी, जैसे बादल जल बरसाते हैं, उसी प्रकार बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे और वे बाण लंकामें घुसकर वहाँ खड़े हुए निशाचरोंके प्राण लेने लगे ।। ३९ ।।

सौमित्रिरपि नाराचैर्दृढधन्वा जितक्लमः ।
आदिश्यादिश्य दुर्गस्थान् पातयामास राक्षसान् ।। ४० ।।

क्लेश और थकावटपर विजय पानेवाले सुदृढ़ धनुर्धर सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी सूचना दे-देकर नाराच नामक बाणोंद्वारा दुर्गके भीतर रहनेवाले राक्षसोंको भी मार गिराने लगे ।। ४० ।।

ततः प्रत्यवहारोऽभूत् सैन्यानां राघवाज्ञया ।
कृते विमर्दे लङ्कायां लब्धलक्ष्यो जयोत्तरः ।। ४१ ।।

इस प्रकार लंकामें भीषण मार-काट मचानेके बाद वानरसैनिक लक्ष्यसिद्धिपूर्वक विजय पाकर श्रीरघुनाथजीकी आज्ञासे युद्ध बंद करके शिविरकी ओर लौट गये ।। ४१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि लङ्काप्रवेशे चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २८४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें लंकामें प्रवेशविषयक दो सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८४ ।।

पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीराम और रावणकी सेनाओंका द्वन्द्वयुद्ध

मार्कण्डेय उवाच

ततो निविशमानांस्तान् सैनिकान् रावणानुगाः ।
अभिजग्मुर्गणानेके पिशाचक्षुद्ररक्षसाम् ।। १ ।।
पर्वणः पतनो जम्भः खरः क्रोधवशो हरिः ।
प्ररुजश्चारुजश्चैव प्रघसश्चैवमादयः ।। २ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जब वानर-सैनिक शिविरमें प्रवेश करने लगे, उस समय रावणकी सेनामें रहनेवाले पर्वण, पतन, जम्भ, खर, क्रोधवश, हरि, प्ररुज, अरुज और प्रघस आदि पिशाच तथा अधम राक्षसोंके अनेक दलोंने आकर उनपर धावा बोल दिया ।। १-२ ।।

ततोऽभिपततां तेषामदृश्यानां दुरात्मनाम् ।
अन्तर्धानवधं तज्ज्ञश्चकार स विभीषणः ।। ३ ।।

वे दुरात्मा निशाचर अन्तर्धानविद्यासे अदृश्य होकर आक्रमण कर रहे थे। विभीषण उस विद्याके जानकार थे, अतः उन्होंने उन राक्षसोंकी अन्तर्धानशक्तिको नष्ट कर दिया ।। ३ ।।

ते दृश्यमाना हरिभिर्बलिभिर्दूरपातिभिः ।
निहताः सर्वशो राजन् महीं जग्मुर्गतासवः ।। ४ ।।

फिर तो वे सभी राक्षस वानरोंकी दृष्टिमें आ गये। राजन्! वानर बलवान् तो थे ही, वे दूरतक उछलकर जानेकी शक्ति रखते थे। वे सब ओरसे कूद-कूदकर उन्हें मारने लगे। उनकी मार खाकर वे सभी राक्षस प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ।। ४ ।।

अमृष्यमाणः सबलो रावणो निर्ययावथ ।
राक्षसानां बलैर्घोरैः पिशाचानां च संवृतः ।। ५ ।।

रावणके लिये यह बात असह्य हो उठी। वह पिशाचों तथा राक्षसोंकी भयंकर सेनासे घिरा हुआ दल-बलके साथ लंकासे बाहर निकला ।। ५ ।।

युद्धशास्त्रविधानज्ञ उशना इव चापरः ।
व्यूह्य चौशनसं व्यूहं हरीनभ्यवहारयत् ।। ६ ।।

वह दूसरे शुक्राचार्यके समान युद्धशास्त्रके विधानका ज्ञाता था। उसने शुक्राचार्यके मतके अनुसार व्यूह-रचना करके सब वानरोंको घेर लिया ।। ६ ।।

राघवस्तु विनिर्यान्तं व्यूढानीकं दशाननम् ।
बार्हस्पत्यं विधिं कृत्वा प्रत्यव्यूहन्निशाचरम् ।। ७ ।।

श्रीरामचन्द्रजीने जब देखा कि दशमुख रावण व्यूहाकार सेनाको साथ ले नगरसे बाहर निकल रहा है, तब उन्होंने भी उस निशाचरके विरुद्ध बृहस्पतिकी बतायी हुई रीतिसे अपनी सेनाका व्यूह बनाया ।। ७ ।।

समेत्य युयुधे तत्र ततो रामेण रावणः ।
युयुधे लक्ष्मणश्चापि तथैवेन्द्रजिता सह ।। ८ ।।

तदनन्तर वहाँ पहुँचकर रावण श्रीरामचन्द्रजीके साथ युद्ध करने लगा। दूसरी ओर लक्ष्मणने भी इन्द्रजित्के साथ युद्ध करना प्रारम्भ किया ।। ८ ।।

विरूपाक्षेण सुग्रीवस्तारेण च निखर्वटः ।
तुण्डेन च नलस्तत्र पटुशः पनसेन च ।। ९ ।।

सुग्रीवने विरूपाक्षके साथ युद्ध किया। निखर्वट नामक राक्षस तार नामक वानरसे जा भिड़ा। नलने निशाचर तुण्डका सामना किया तथा पटुश नामक राक्षस पनस वानरके साथ युद्ध करने लगा ।। ९ ।।

विषह्यं यं हि यो मेने स स तेन समेयिवान् ।
युयुधे युद्धवेलायां स्वबाहुबलमाश्रितः ।। १० ।।

जो जिसे अपने जोड़का समझता था, उसीके साथ उसकी भिड़न्त हुई। सबलोग युद्धके समय अपने बाहुबलका आश्रय ले शत्रुका सामना करते थे ।। १० ।।

स सम्प्रहारो ववृधे भीरूणां भयवर्धनः ।
लोमसंहर्षणो घोरः पुरा देवासुरे यथा ।। ११ ।।

पूर्वकालमें देवताओं और असुरोंमें जैसा भयंकर तथा रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ था, उसी प्रकार वानरों और निशाचरोंका वह युद्ध भयानकरूपसे बढ़ता जा रहा था। वह संग्राम कायरोंके भयको बढ़ानेवाला था ।। ११ ।।

रावणो राममानर्छच्छक्तिशूलासिवृष्टिभिः ।
निशितैरायसैस्तीक्ष्णै रावणं चापि राघवः ।। १२ ।।
तथैवेन्द्रजितं यत्तं लक्ष्मणो मर्मभेदिभिः ।
इन्द्रजिच्चापि सौमित्रिं बिभेद बहुभिः शरैः ।। १३ ।।

रावणने शक्ति, शूल और खड्गकी वर्षा करके श्रीरामचन्द्रजीको बहुत पीड़ा दी तथा श्रीरघुनाथजीने भी लोहेके बने हुए तीखे बाणोंद्वारा रावणको अत्यन्त पीड़ित किया। इसी प्रकार युद्धके लिये उद्यत रहनेवाले इन्द्रजित्को लक्ष्मणने मर्मभेदी बाणोंद्वारा घायल किया और इन्द्रजित्ने सुमित्रानन्दन लक्ष्मणको अनेक बाणोंद्वारा बींध डाला ।। १२-१३ ।।

विभीषणः प्रहस्तं च प्रहस्तश्च विभीषणम् ।
खगपत्रैः शरैस्तीक्ष्णैरभ्यवर्षद् गतव्यथः ।। १४ ।।

इधर विभीषण प्रहस्तपर और प्रहस्त विभीषणपर पंखयुक्त तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे। उन दोनोंमेंसे कोई भी व्यथाका अनुभव नहीं करता था ।। १४ ।।

तेषां बलवतामासीन्महास्त्राणां समागमः ।
विव्यथुः सकला येन त्रयो लोकाश्चराचराः ।। १५ ।।

बड़े-बड़े अस्त्र धारण करनेवाले उन बलवान् वीरोंका वह संग्राम इतना भयंकर था कि उससे तीनों लोकोंके समस्त चराचर प्राणी व्यथित हो उठे ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रामरावणद्वन्द्वयुद्धे पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २८५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें राम-रावणद्वन्द्वयुद्धविषयक दो सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८५ ।।

षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

प्रहस्त और धूम्राक्षके वधसे दुःखी हुए रावणका कुम्भकर्णको जगाना और उसे युद्धमें भेजना

मार्कण्डेय उवाच

ततः प्रहस्तः सहसा समभ्येत्य विभीषणम् ।
गदया ताडयामास विनद्य रणकर्कशः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर युद्धमें निष्ठुर पराक्रम दिखानेवाले प्रहस्तने सहसा विभीषणके पास पहुँचकर गर्जना करते हुए उनपर गदासे आघात किया ।। १ ।।

स तयाभिहतो धीमान् गदया भीमवेगया ।
नाकम्पत महाबाहुर्हिमवानिव सुस्थिरः ।। २ ।।

भयानक वेगवाली उस गदासे आहत होकर भी बुद्धिमान् महाबाहु विभीषण विचलित नहीं हुए। वे हिमालयके समान सुस्थिरभावसे खड़े रहे ।। २ ।।

ततः प्रगृह्य विपुलां शतघण्टां विभीषणः ।
अनुमन्त्र्य महाशक्तिं चिक्षेपास्य शिरः प्रति ।। ३ ।।

तत्पश्चात् विभीषणने एक विशाल महाशक्ति हाथमें ली, जिसमें शोभाके लिये सौ घंटियाँ लगी हुई थीं। उसे अभिमन्त्रित करके उन्होंने प्रहस्तके मस्तकपर दे मारा ।। ३ ।।

पतन्त्या स तया वेगाद् राक्षसोऽशनिवेगया ।
हृतोत्तमाङ्गो ददृशे वातरुग्ण इव द्रुमः ।। ४ ।।

विद्युत्के समान वेगवाली उस महाशक्तिका वेगपूर्वक आघात होते ही राक्षस प्रहस्तका मस्तक धड़से अलग हो गया और वह आँधीके द्वारा उखाड़े हुए वृक्षकी भाँति धराशायी दिखायी देने लगा ।। ४ ।।

तं दृष्ट्वा निहतं संख्ये प्रहस्तं क्षणदाचरम् ।
अभिदुद्राव धूम्राक्षो वेगेन महता कपीन् ।। ५ ।।

निशाचर प्रहस्तको युद्धमें मारा गया देख धूम्राक्ष बड़े वेगसे वानरोंकी ओर दौड़ा ।। ५ ।।

तस्य मेघोपमं सैन्यमापतद् भीमदर्शनम् ।
दृष्ट्वैव सहसा दीर्णा रणे वानरपुङ्गवाः ।। ६ ।।

मेघोंकी काली घटाके समान भयानक दिखायी देनेवाली उसकी सेनाको आते देख सभी श्रेष्ठ वानर सहसा भयभीत होकर युद्धसे भाग चले ।। ६ ।।

ततस्तान् सहसा दीर्णान् दृष्ट्वा वानरपुङ्गवान् ।
निर्ययौ कपिशार्दूलो हनूमान् मारुतात्मजः ।। ७ ।।

उन भयभीत प्रमुख वानरोंको सहसा पलायन करते देख कपिकेसरी मारुतनन्दन हनुमान्‌जी धूम्राक्षका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ।। ७ ।।

तं दृष्ट्वावस्थितं संख्ये हरयः पवनात्मजम् ।
महत्या त्वरया राजन् संन्यवर्तन्त सर्वशः ।। ८ ।।

राजन्! पवनकुमारको युद्धके लिये उपस्थित देख सभी वानर सब ओरसे बड़ी उतावलीके साथ लौट आये ।। ८ ।।

ततः शब्दो महानासीत् तुमुलो लोमहर्षणः ।
रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम् ।। ९ ।।

फिर तो एक-दूसरेपर धावा बोलती हुई श्रीराम तथा रावणकी सेनाओंका अत्यन्त भयंकर रोमाञ्चकारी कोलाहल आरम्भ हो गया ।। ९ ।।

तस्मिन् प्रवृत्ते संग्रामे घोरे रुधिरकर्दमे ।
धूम्राक्षः कपिसैन्यं तद् द्रावयामास पत्रिभिः ।। १० ।।

उस घोर संग्राममें धरतीपर रक्तकी कीच जम गयी थी। इसी समय धूम्राक्ष अपने बाणोंसे उस वानरसेनाको खदेड़ने लगा ।। १० ।।

तं स रक्षोमहामात्रमापतन्तं सपत्नजित् ।
प्रतिजग्राह हनुमांस्तरसा पवनात्मजः ।। ११ ।।

तब शत्रुविजयी पवननन्दन हनुमान्‌ने अपनी ओर आते हुए उस विशालकाय राक्षसको बड़े वेगसे धर दबाया ।। ११ ।।

तयोर्युद्धमभूद् घोरं हरिराक्षसवीरयोः ।
जिगीषतोर्युधान्योन्यमिन्द्रप्रह्लादयोरिव ।। १२ ।।

उन दोनों वानर तथा राक्षसवीरोंमें भयंकर युद्ध छिड़ गया। वे इन्द्र और प्रह्लादकी भाँति युद्ध करके एक-दूसरेको जीतना चाहते थे ।। १२ ।।

गदाभिः परिघैश्चैव राक्षसो जघ्निवान् कपिम् ।
कपिश्च जघ्निवान् रक्षः सस्कन्धविटपैर्द्रुमैः ।। १३ ।।

निशाचर धूम्राक्षने गदाओं तथा परिघोंद्वारा कपिवर हनुमान्‌जीको चोट पहुँचायी और हनुमान्‌जीने उस राक्षसपर तने और डालियोंसहित वृक्षोंसे प्रहार किया ।।

ततस्तमतिकोपेन साश्वं सरथसारथिम् ।
धूम्राक्षमवधीत् क्रुद्धो हनूमान् मारुतात्मजः ।। १४ ।।

तदनन्तर मारुतनन्दन हनुमान्‌जीने अत्यन्त कुपित हो घोड़े, रथ और सारथिसहित धूम्राक्षको मार डाला ।।

ततस्तं निहतं दृष्ट्वा धूम्राक्षं राक्षसोत्तमम् ।

हरयो जातविस्रम्भा जघ्नुरन्ये च सैनिकान् ।। १५ ।।

राक्षसप्रवर धूम्राक्षको मारा गया देख अन्य वानर तथा भालुओंको अपनी शक्तिपर विश्वास हुआ और वे उत्साहपूर्वक राक्षसोंको मारने लगे ।। १५ ।।

ते वध्यमाना हरिभिर्बलिभिर्जितकाशिभिः ।
राक्षसा भग्नसंकल्पा लङ्कामभ्यपतन् भयात् ।। १६ ।।

विजयसे उल्लसित हुए बलवान् वानर वीरोंकी मार खाकर राक्षस हताश हो गये और भयके मारे लंकाकी ओर भाग चले ।। १६ ।।

तेऽभिपत्य पुरं भग्ना हतशेषा निशाचराः ।
सर्वं राज्ञे यथावृत्तं रावणाय न्यवेदयन् ।। १७ ।।

मरनेसे बचे हुए उन निशाचरोंने भग्नमनोरथ होकर लङ्कापुरीमें प्रवेश किया तथा रावणके समीप जाकर युद्धका सब समाचार ज्यों-का-त्यों निवेदन कर दिया ।। १७ ।।

श्रुत्वा तु रावणस्तेभ्यः प्रहस्तं निहतं युधि ।
धूम्राक्षं च महेष्वासं ससैन्यं वानरर्षभैः ।। १८ ।।
सुदीर्घमिव निःश्वस्य समुत्पत्य वरासनात् ।
उवाच कुम्भकर्णस्य कर्मकालोऽयमागतः ।। १९ ।।

उनके मुखसे श्रेष्ठ वानर वीरोंद्वारा युद्धमें सेनासहित प्रहस्त तथा महाधनुर्धर धूम्राक्षके मारे जानेका वृत्तान्त सुनकर रावण बड़ी देरतक शोकभरे उच्छ्वास लेता रहा। फिर वह अपने श्रेष्ठ सिंहासनसे उछलकर खड़ा हो गया और बोला—‘अब यह कुम्भकर्णके पराक्रम दिखलानेका समय आ गया है’ ।। १८-१९ ।।

इत्येवमुक्त्वा विविधैर्वादित्रैः सुमहास्वनैः ।
शयानमतिनिद्रालुं कुम्भकर्णमबोधयत् ।। २० ।।

ऐसा कहकर रावणने अत्यन्त उच्च स्वरसे बजनेवाले भाँति-भाँतिके बाजे बजवाकर अधिक नींद लेनेवाले सोये हुए कुम्भकर्णको जगाया ।। २० ।।

प्रबोध्य महता चैनं यत्नेनागतसाध्वसः ।
स्वस्थमासीनमव्यग्रं विनिद्रं राक्षसाधिपः ।। २१ ।।
ततोऽब्रवीद् दशग्रीवः कुम्भकर्णं महाबलम् ।
धन्योऽसि यस्य ते निद्रा कुम्भकर्णेयमीदृशी ।। २२ ।।

महान् प्रयत्नद्वारा उसे जगाकर भयभीत हुए राक्षसराज रावणने, जब महाबली कुम्भकर्ण स्वस्थ, शान्त तथा निद्रारहित होकर बैठ गया, तब उससे इस प्रकार कहा—‘भैया कुम्भकर्ण! तुम धन्य हो जिसे ऐसी नींद आती है ।। २१-२२ ।।

य इदं दारुणाकारं न जानीषे महाभयम् ।
एष तीर्त्वार्णवं रामः सेतुना हरिभिः सह ।। २३ ।।
अवमन्येह नः सर्वान् करोति कदनं महत् ।

मया त्वपहृता भार्या सीता नामास्य जानकी ।। २४ ।।

‘हमलोगोंपर जो यह अत्यन्त दारुण एवं महान् भय उपस्थित हुआ है, इसका तुम्हें पता ही नहीं है। यह राम सेतुद्वारा समुद्रको लाँघकर हमलोगोंकी अवहेलना करके वानरोंके साथ यहाँ आ पहुँचा है और राक्षसोंका महासंहार कर रहा है। मैंने इसकी पत्नी जनककुमारी सीताका अपहरण किया था ।। २३-२४ ।।

तां नेतुं स इहायातो बद्ध्वा सेतुं महार्णवे ।
तेन चैव प्रहस्तादिर्महान् नः स्वजनो हतः ।। २५ ।।

‘उसे वापस लेनेके लिये ही राम महासागरपर पुल बाँधकर यहाँ आया है। उसने हमारे प्रहस्त आदि प्रमुख स्वजनोंको मार डाला है ।। २५ ।।

तस्य नान्यो निहन्तास्ति त्वामृते शत्रुकर्शन ।
स दंशितोऽभिनिर्याय त्वमद्य बलिनां वर ।। २६ ।।
रामादीन् समरे सर्वाञ्चहि शत्रूनरिंदम ।

‘शत्रुसूदन! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो उसको मार सके। बलवानोंमें श्रेष्ठ वीर! तुम शत्रुओंका दमन करनेवाले हो। आज कवच धारण करके निकलो तथा राम आदि समस्त शत्रुओंका समरभूमिमें संहार कर डालो ।। २६½ ।।

दूषणावरजौ चैव वज्रवेगप्रमाथिनौ ।। २७ ।।
तौ त्वां बलेन महता सहितावनुयास्यतः ।

‘दूषणके छोटे भाई वज्रवेग और प्रमाथी अपनी विशाल सेनाके साथ तुम्हारा अनुसरण करेंगे’ ।। २७½ ।।

इत्युक्त्वा राक्षसपतिः कुम्भकर्णं तरस्विनम् ।
संदिदेशेतिकर्तव्यं वज्रवेगप्रमाथिनौ ।। २८ ।।

वेगशाली वीर कुम्भकर्णसे ऐसा कहकर राक्षसराज रावणने वज्रवेग और प्रमाथीको, युद्धमें क्या-क्या करना है, इन सब बातोंको समझाया और उनके पालनका आदेश दिया ।। २८ ।।

तथेत्युक्त्वा तु तौ वीरौ रावणं दूषणानुजौ ।
कुम्भकर्णं पुरस्कृत्य तूर्णं निर्ययतुः पुरात् ।। २९ ।।

दूषणके वे दोनों वीर भाई रावणसे ‘तथास्तु’ कहकर कुम्भकर्णको आगे करके तुरंत नगरसे बाहर निकले ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कुम्भकर्णनिर्गमने षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २८६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें कुम्भकर्णका युद्धके लिये प्रस्थानविषयक दो सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८६ ।।

सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

कुम्भकर्ण, वज्रवेग और प्रमाथीका वध

मार्कण्डेय उवाच

ततो निर्याय स्वपुरात् कुम्भकर्णः सहानुगः ।
अपश्यत् कपिसैन्यं तज्जितकाश्यग्रतः स्थितम् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! सेवकों-सहित अपने नगरसे निकलकर कुम्भकर्णने अपने सामने खड़ी हुई वानरसेनाको देखा, जो विजयके उल्लाससे सुशोभित हो रही थी ।। १ ।।

स वीक्षमाणस्तत् सैन्यं रामदर्शनकाङ्क्षया ।
अपश्यच्चापि सौमित्रिं धनुष्पाणिं व्यवस्थितम् ।। २ ।।

फिर जब उसने भगवान् श्रीरामके दर्शनकी इच्छासे उस सेनामें इधर-उधर दृष्टि डाली, तब उसे हाथमें धनुष लिये सुमित्रानन्दन लक्ष्मण खड़े दिखायी दिये ।। २ ।।

तमभ्येत्याशु हरयः परिवव्रुः समन्ततः ।
अभ्यघ्नंश्च महाकायैर्बहुभिर्जगतीरुहैः ।। ३ ।।

इतनेमें ही वानरोंने चारों ओरसे आकर कुम्भकर्णको शीघ्रतापूर्वक घेर लिया और बहुत-से बड़े-बड़े पेड़ उखाड़कर उन्हींके द्वारा उसपर प्रहार करने लगे ।। ३ ।।

करजैरतुदंश्चान्ये विहाय भयमुत्तमम् ।
बहुधा युध्यमानास्ते युद्धमार्गैः प्लवङ्गमाः ।। ४ ।।
नानाप्रहरणैर्भीमै राक्षसेन्द्रमताडयन् ।

कुछ वानरोंने कुम्भकर्णसे प्राप्त होनेवाले महान् भयकी परवा न करके उसको नखोंसे पीड़ा देनी प्रारम्भ की। युद्धकी विभिन्न प्रणालियोंद्वारा अनेक प्रकारसे युद्ध करते हुए वानरसैनिक भाँति-भाँतिके भयंकर आयुधोंद्वारा राक्षसराज कुम्भकर्णको चोट पहुँचाने लगे ।।

स ताड्यमानः प्रहसन् भक्षयामास वानरान् ।। ५ ।।
बलं चण्डबलाख्यं च वज्रबाहुं च बानरम् ।

वानरोंके प्रहार करनेपर वह जोर-जोरसे हँसने और उन्हें पकड़-पकड़कर खाने लगा। देखते-देखते बल, चण्डबल और वज्रबाहु नामक वानर उसके मुखके ग्रास बन गये ।। ५ १/२ ।।

तद् दृष्ट्वा व्यथनं कर्म कुम्भकर्णस्य रक्षसः ।। ६ ।।
उदक्रोशन् परित्रस्तास्तारप्रभृतयस्तदा ।

राक्षस कुम्भकर्णका यह दु:खदायी कर्म देखकर तार आदि वानर भयभीत हो जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे ।।

तानुच्चैः क्रोशतः सैन्याञ्छ्रुत्वा स हरियूथपान् ।। ७ ।।
अभिदुद्राव सुग्रीवः कुम्भकर्णमपेतभीः ।

अपने सैनिकों तथा वानरयूथपतियोंका वह उच्च स्वरसे किया जाता हुआ चीत्कार सुनकर सुग्रीव निर्भय हो कुम्भकर्णकी ओर दौड़े ।। ७½ ।।

ततो निपत्य वेगेन कुम्भकर्णं महामनाः ।। ८ ।।
शालेन जघ्निवान् मूर्ध्नि बलेन कपिकुञ्जरः ।

महामना कपिश्रेष्ठ सुग्रीवने बड़े वेगसे उछलकर एक शालवृक्षके द्वारा कुम्भकर्णके मस्तकपर बलपूर्वक प्रहार किया ।। ८½ ।।

स महात्मा महावेगः कुम्भकर्णस्य मूर्धनि ।। ९ ।।
बिभेद शालं सुग्रीवो न चैवाव्यथयत् कपिः ।

कपिश्रेष्ठ सुग्रीवका हृदय महान् था। उनका वेग भी महान् था। उन्होंने कुम्भकर्णके मस्तकपर पटककर उस शालवृक्षको दो टूक कर डाला; तथापि वे उसे व्यथा न पहुँचा सके ।। ९½ ।।

ततो विनद्य सहसा शालस्पर्शविबोधितः ।। १० ।।
दोर्भ्यामादाय सुग्रीवं कुम्भकर्णोऽहरद् बलात् ।

शालके स्पर्शसे कुम्भकर्ण कुछ सावधान हो गया। उसने सहसा गर्जना करके सुग्रीवको दोनों हाथोंसे बलपूर्वक धर दबाया और अपने साथ ले लिया ।। १०½ ।।

ह्रियमाणं तु सुग्रीवं कुम्भकर्णेन रक्षसा ।। ११ ।।
अवेक्ष्याभ्यद्रवद् वीरः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ।

राक्षस कुम्भकर्ण द्वारा सुग्रीवका अपहरण होता देख मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले सुमित्राकुमार वीरवर लक्ष्मण उसकी ओर दौड़े ।। ११½ ।।

सोऽभिपत्य महावेगं रुक्मपुङ्खं महाशरम् ।। १२ ।।
प्राहिणोत् कुम्भकर्णाय लक्ष्मणः परवीरहा ।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने कुम्भकर्णके सामने जाकर उसको लक्ष्य करके सुवर्णमय पंखसे सुशोभित एक महावेगशाली महान् बाण चलाया ।। १२½ ।।

स तस्य देहावरणं भित्त्वा देहं च सायकः ।। १३ ।।
जगाम दारयन् भूमिं रुधिरेण समुक्षितः ।

वह बाण उसके कवचको काटकर शरीरको छेदता हुआ रक्तरंजित हो धरतीको चीरकर उसमें समा गया' ।। १३½ ।।

तथा स भिन्नहृदयः समुत्सृज्य कपीश्वरम् ।। १४ ।।
(वेगेन महताऽऽविष्टस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।)
कुम्भकर्णो महेष्वासः प्रगृहीतशिलायुधः ।
अभिदुद्राव सौमित्रिमुद्यम्य महतीं शिलाम् ।। १५ ।।

इस प्रकार छाती छिद जानेके कारण महाधनुर्धर कुम्भकर्णने वानरराज सुग्रीवको तो छोड़ दिया और बड़े वेगसे लक्ष्मणकी ओर घूमकर कहा—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह'। तत्पश्चात् एक बहुत बड़ी शिला हाथमें लेकर वह सुमित्रानन्दन लक्ष्मणकी ओर दौड़ा ।। १४-१५ ।।

तस्याभिपततस्तूर्णं क्षुराभ्यामुच्छ्रितौ करौ ।

चिच्छेद निशिताग्राभ्यां स बभूव चतुर्भुजः ।। १६ ।।

तब लक्ष्मणने भी बड़ी शीघ्रताके साथ तीखी धारवाले दो क्षुर नामक बाण मारकर अपनी ओर आते हुए कुम्भकर्णकी ऊपर उठी हुई दोनों भुजाओंको काट डाला। उनके कटते ही वह चार भुजाओंसे युक्त हो गया ।। १६ ।।

तानप्यस्य भुजान् सर्वान् प्रगृहीतशिलायुधान् ।
क्षुरैश्चिच्छेद लघ्वस्त्रं सौमित्रिः प्रतिदर्शयन् ।। १७ ।।

उन चारों भुजाओंमें भी उसने आयुधके रूपमें बड़ी-बड़ी चट्टानें उठा लीं। यह देख सुमित्राकुमारने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए फिरसे पूर्वोक्त बाण मारकर उसकी उन चारों भुजाओंको भी काट दिया ।। १७ ।।

स बभूवातिकायश्च बहुपादशिरोभुजः ।
तं ब्रह्मास्त्रेण सौमित्रिर्ददाराद्रिचयोपमम् ।। १८ ।।

अब उसने अपना शरीर बहुत बड़ा बना लिया। उसके अनेक पैर, अनेक सिर और अनेक भुजाएँ हो गयीं। यह देख लक्ष्मणने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करके पर्वत-समूहके समान विशाल शरीरवाले उस राक्षसको चीर डाला ।।

स पपात महावीर्यो दिव्यास्त्राभिहतो रणे ।
महाशनिविनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ।। १९ ।।

जैसे महान् भयंकर बिजलीके आघातसे शाखाओं और पत्तोंसहित वृक्ष दग्ध हो जाता है, उसी प्रकार लक्ष्मणके दिव्यास्त्रसे आहत होकर महापराक्रमी कुम्भकर्ण रणभूमिमें गिर पड़ा ।। १९ ।।

तं दृष्ट्वा वृत्रसंकाशं कुम्भकर्णं तरस्विनम् ।
गतासुं पतितं भूमौ राक्षसाः प्राद्रवन् भयात् ।। २० ।।

वृत्रासुरके समान वेगशाली कुम्भकर्णको प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर पड़ा देख सब राक्षस भयके मारे भाग चले ।। २० ।।

तथा तान् द्रवतो योधान् दृष्ट्वा तौ दूषणानुजौ ।
अवस्थाप्याथ सौमित्रिं संक्रुद्धावभ्यधावताम् ।। २१ ।।

अपने उन सैनिकोंको इस प्रकार भागते देख दूषणके दोनों भाई—वज्रवेग और प्रमाथीने किसी प्रकार उन्हें रोककर खड़ा किया और अत्यन्त कुपित हो सुमित्राकुमार लक्ष्मणपर धावा बोल दिया ।। २१ ।।

तावाद्रवन्तौ संक्रुद्धौ वज्रवेगप्रमाथिनौ ।
अभिजग्राह सौमित्रिर्विनद्योभौ पतत्रिभिः ।। २२ ।।

क्रोधमें भरे हुए वज्रवेग और प्रमाथीको अपनी ओर आते देख लक्ष्मणने बड़े जोरसे सिंहनाद किया और उन दोनोंकी गतिको बाणोंद्वारा रोक दिया ।। २२ ।।

ततः सुतुमुलं युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।

दूषणानुजयोः पार्थ लक्ष्मणस्य च धीमतः ।। २३ ।।

युधिष्ठिर! फिर तो दूषणके भाइयों तथा बुद्धिमान् लक्ष्मणमें ऐसा भयंकर युद्ध हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ।। २३ ।।

महता शरवर्षेण राक्षसौ सोऽभ्यवर्षत ।
तौ चापि वीरौ संक्रुद्धावुभौ तं समवर्षताम् ।। २४ ।।

लक्ष्मण उन दोनों राक्षसोंपर बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा कर रहे थे और वे दोनों वीर राक्षस भी अत्यन्त कुपित होकर लक्ष्मणपर बाणोंकी बौछार करते थे ।। २४ ।।

मुहूर्तमेवमभवद् वज्रवेगप्रमाथिनोः ।
सौमित्रेश्च महाबाहोः सम्प्रहारः सुदारुणः ।। २५ ।।

इस प्रकार वज्रवेग, प्रमाथी और महाबाहु लक्ष्मणका वह भयंकर संग्राम दो घड़ीतक अबाधगतिसे चलता रहा ।। २५ ।।

अथाद्रिशृङ्गमादाय हनुमान् मारुतात्मजः ।
अभिद्रुत्याददे प्राणान् वज्रवेगस्य रक्षसः ।। २६ ।।

इसी बीचमें वायुनन्दन हनुमान्‌जीने पर्वतका शिखर हाथमें लेकर वज्रवेग नामक राक्षसके ऊपर आक्रमण किया और उसके प्राण ले लिये ।। २६ ।।

नीलश्च महता ग्राव्णा दूषणावरजं हरिः ।
प्रमाथिनमभिद्रुत्य प्रममाथ महाबलः ।। २७ ।।

महाबली नील नामक वानरने एक विशाल चट्टान लेकर दूषणके छोटे भाई प्रमाथीपर हमला किया और उसका कचूमर निकाल दिया ।। २७ ।।

ततः प्रावर्तत पुनः संग्रामः कटुकोदयः ।
रामरावणसैन्यानामन्योन्यमभिधावताम् ।। २८ ।।

तदनन्तर श्रीराम और रावणकी सेनाओंमें परस्पर आक्रमणपूर्वक भीषण संग्राम आरम्भ हो गया जो कटु परिणामका जनक था ।। २८ ।।

शतशो नैर्ऋतान् वन्या जघ्नुर्वन्यांश्च नैर्ऋताः ।
नैर्ऋतास्तत्र वध्यन्ते प्रायेण न तु वानराः ।। २९ ।।

वनवासी वानरोंने सैकड़ों राक्षसोंको तथा राक्षसोंने वानरोंको घायल किया। उस युद्धमें अधिकांश राक्षस ही मारे जा रहे थे, वानर नहीं ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि कुम्भकर्णादिवधे सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २८७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें कुम्भकर्ण आदिका वधविषयक दो सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २९½ श्लोक हैं)

अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रजित्का मायामय युद्ध तथा श्रीराम और लक्ष्मणकी मूर्च्छा

मार्कण्डेय उवाच

ततः श्रुत्वा हतं संख्ये कुम्भकर्णं सहानुगम् ।
प्रहस्तं च महेष्वासं धूम्राक्षं चातितेजसम् ।। १ ।।
पुत्रमिन्द्रजितं वीरं रावणः प्रत्यभाषत ।
जहि राममित्रघ्न सुग्रीवं च सलक्ष्मणम् ।। २ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर सेवकोंसहित कुम्भकर्ण, महाधनुर्धर प्रहस्त तथा अत्यन्त तेजस्वी धूम्राक्षको संग्राममें मारा गया सुनकर रावणने अपने वीर पुत्र इन्द्रजित्से कहा—'शत्रुसूदन! तुम राम, लक्ष्मण तथा सुग्रीवका वध करो ।। १-२ ।।

त्वया हि मम सत्पुत्र यशो दीप्तमुपार्जितम् ।
जित्वा वज्रधरं संख्ये सहस्राक्षं शचीपतिम् ।। ३ ।।

'सुपुत्र! तुमने युद्धमें सहस्र नेत्रोंवाले वज्रधारी शचीपति इन्द्रको जीतकर उज्ज्वल यशका उपार्जन किया है ।। ३ ।।

अन्तर्हितः प्रकाशो वा दिव्यैर्दत्तवरैः शरैः ।
जहि शत्रूनमित्रघ्न मम शस्त्रभृतां वर ।। ४ ।।

'शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ शत्रुनाशन वीर! जिनके लिये देवताओंने तुम्हें वरदान दिया है, ऐसे दिव्यास्त्रों-द्वारा प्रकटरूपमें या अदृश्य होकर मेरे शत्रुओंका नाश करो ।। ४ ।।

रामलक्ष्मणसुग्रीवाः शरस्पर्शं न तेऽनघ ।
समर्थाः प्रतिसोढुं च कुतस्तदनुयायिनः ।। ५ ।।

'अनघ! स्वयं राम, लक्ष्मण और सुग्रीव भी तुम्हारे बाणोंका आघात सहन करनेमें समर्थ नहीं हैं, फिर उनके अनुयायी तो हो ही कैसे सकते हैं? ।। ५ ।।

अकृता या प्रहस्तेन कुम्भकर्णेन चानघ ।
खरस्यापचितिः संख्ये तां गच्छ त्वं महाभुज ।। ६ ।।

'निष्पाप महाबाहो! प्रहस्त और कुम्भकर्णने भी खरके वधका जो बदला नहीं चुकाया, उसे युद्धमें तुम चुकाओ ।। ६ ।।

त्वमद्य निशितैर्बाणैर्हत्वा शत्रून् ससैनिकान् ।
प्रतिनन्दय मां पुत्र पुरा जित्वेव वासवम् ।। ७ ।।

'बेटा! तुमने पूर्वकालमें इन्द्रको जीतकर जिस प्रकार मुझे आनन्दित किया था, उसी प्रकार आज तुम तीखे बाणोंसे सैनिकोंसहित शत्रुओंका संहार करके मेरा आनन्द बढ़ाओ' ।। ७ ।।

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा रथमास्थाय दंशितः ।
प्रययाविन्द्रजिद् राजंस्तूर्णमायोधनं प्रति ।। ८ ।।

राजन्! रावणके द्वारा ऐसी आज्ञा देनेपर इन्द्रजित्ने 'बहुत अच्छा' कहकर पिताकी आज्ञा स्वीकार की और वह कवच बाँध रथपर बैठकर तुरंत ही संग्रामभूमिकी ओर चल दिया ।। ८ ।।

ततो विश्राव्य विस्पष्टं नाम राक्षसपुङ्गवः ।
आह्वयामास समरे लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।। ९ ।।

तत्पश्चात् उस राक्षसराजने स्पष्टरूपसे अपने नामकी घोषणा करके शुभलक्षण लक्ष्मणको युद्धके लिये ललकारा ।। ९ ।।

तं लक्ष्मणोऽभ्यधावच्च प्रगृह्य सशरं धनुः ।
त्रासयंस्तलघोषेण सिंहः क्षुद्रमृगान् यथा ।। १० ।।

तब लक्ष्मण भी धनुषपर बाण चढ़ाये हुए उसकी ओर बड़े वेगसे दौड़े और सिंह जैसे छोटे मृगोंको डरा देता है, उसी प्रकार वे अपने धनुषकी टंकारसे सब राक्षसोंको त्रास देने लगे ।। १० ।।

तयोः समभवद् युद्धं सुमहज्जयगृद्धिनोः ।
दिव्यास्त्रविदुषोस्तीव्रमन्योन्यस्पर्धिनोस्तदा ।। ११ ।।

वे दोनों ही विजयकी अभिलाषा रखनेवाले, दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता तथा परस्पर बड़ी स्पर्धा रखनेवाले थे। उन दोनोंमें उस समय बड़ा भारी युद्ध हुआ ।। ११ ।।

रावणिस्तु यदा नैनं विशेषयति सायकैः ।
ततो गुरुतरं यत्नमातिष्ठद् बलिनां वरः ।। १२ ।।

बलवानोंमें श्रेष्ठ रावणकुमार इन्द्रजित् जब बाण-वर्षा करनेमें लक्ष्मणसे आगे न बढ़ सका, तब उसने गुरुतर प्रयत्न आरम्भ किया ।। १२ ।।

तत एनं महावेगैरर्दयामास तोमरैः ।
तानागतान् स चिच्छेद सौमित्रिर्निशितैः शरैः ।। १३ ।।

उसने अत्यन्त वेगशाली तोमरोंकी वर्षा करके लक्ष्मणको पीड़ा पहुँचानेकी चेष्टा की, परंतु लक्ष्मणने तीखे बाणोंसे उन सब तोमरोंको पास आते ही काट गिराया ।। १३ ।।

ते निकृत्ताः शरैस्तीक्ष्णैर्न्यपतन् धरणीतले ।
तमङ्गदो वालिसुतः श्रीमानुद्यम्य पादपम् ।। १४ ।।
अभिद्रुत्य महावेगस्ताडयामास मूर्धनि ।
तस्येन्द्रजिदसम्भ्रान्तः प्रासेनोरसि वीर्यवान् ।। १५ ।।

प्रहर्तुमैच्छत् तं चास्य प्रासं चिच्छेद लक्ष्मणः ।

लक्ष्मणके तीखे बाणोंसे टूक-टूक होकर वे तोमर पृथ्वीपर बिखर गये। तब महावेगशाली वालिपुत्र श्रीमान् अंगदने एक वृक्ष उठा लिया और दौड़कर इन्द्रजित्के मस्तकपर उसे दे मारा; परंतु इन्द्रजित् इससे तनिक भी विचलित न हुआ। उस पराक्रमी वीरने प्रासद्वारा अंगदकी छातीमें प्रहार करनेका विचार किया, किंतु लक्ष्मणने उसे पहले ही काट गिराया ।। १४-१५½ ।।

तमभ्याशगतं वीरमङ्गदं रावणात्मजः ।। १६ ।।

गदयाताडयत् सव्ये पार्श्वे वानरपुङ्गवम् ।

तब रावणकुमारने अपने निकट आये हुए उस वानरश्रेष्ठ वीर अंगदकी बायीं पसलीमें गदासे आघात किया ।। १६½ ।।

तमचिन्त्य प्रहारं स बलवान् वालिनः सुतः ।। १७ ।।

ससर्जेन्द्रजितः क्रोधाच्छालस्कन्धं तथाङ्गदः ।

बलवान् वालिनन्दन अंगदने इन्द्रजित्के उस गदाप्रहारकी कोई परवा न करके ऊपर क्रोधपूर्वक साखूका तना उठाकर दे मारा ।। १७½ ।।

सोऽङ्गदेन रुषोत्सृष्टो वधायेन्द्रजितस्तरुः ।। १८ ।।

जघानेन्द्रजितः पार्थ रथं साश्वं ससारथिम् ।

युधिष्ठिर! अंगदके द्वारा इन्द्रजित्के वधके लिये रोषपूर्वक चलाये हुए उस वृक्षने उसके सारथि और घोड़ोंसहित रथको नष्ट कर दिया ।। १८½ ।।

ततो हताश्वात् प्रस्कन्द्य रथात् स हतसारथिः ।। १९ ।।

तत्रैवान्तर्दधे राजन् मायया रावणात्मजः ।

राजन्! सारथिके मारे जानेपर रावणकुमार इन्द्रजित् उस अश्वहीन रथसे कूद पड़ा और मायाका आश्रय ले वहीं अन्तर्धान हो गया ।। १९½ ।।

अन्तर्हितं विदित्वा तं बहुमायं च राक्षसम् ।। २० ।।

रामस्तं देशमागम्य तत् सैन्यं पर्यरक्षत ।

अनेक प्रकारकी माया जाननेवाले उस राक्षसको अदृश्य हुआ जान भगवान् श्रीराम उस स्थानपर आकर सब ओरसे अपनी सेनाकी रक्षा करने लगे ।। २०½ ।।

स राममुद्दिश्य शरैस्ततो दत्तवरैस्तदा ।। २१ ।।

विव्याध सर्वगात्रेषु लक्ष्मणं च महाबलम् ।

तब इन्द्रजित्ने भगवान् श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणके सम्पूर्ण अंगोंको देवताओंसे वरदानके रूपमें प्राप्त हुए बाणोंद्वारा क्षत-विक्षत कर दिया ।। २१½ ।।

तमदृश्यं शरैः शूरौ माययान्तर्हितं तदा ।। २२ ।।

योधयामासतुरुभौ रावणिं रामलक्ष्मणौ ।

यद्यपि रावणका पुत्र मायासे तिरोहित हो जानेके कारण दिखायी नहीं देता था, तो भी शूरवीर श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई उसके साथ युद्ध करते ही रहे ।। २२½ ।।

स रुषा सर्वगात्रेषु तयोः पुरुषसिंहयोः ।। २३ ।।

व्यसृजत् सायकान् भूयः शतशोऽथ सहस्रशः ।

इन्द्रजित्ने पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी उन दोनों भाइयोंके समस्त अंगोंमें रोषपूर्वक सैकड़ों और हजारों बाणोंकी बारंबार वृष्टि की ।। २३½ ।।

तमदृश्यं विचिन्वन्तः सृजन्तमनिशं शरान् ।। २४ ।।

हरयो विविशुर्व्योम प्रगृह्य महतीः शिलाः ।

वानरोंने देखा कि वह राक्षस छिपकर निरन्तर बाणोंकी झड़ी लगा रहा है, तब वे हाथोंमें बड़ी-बड़ी शिलाएँ लिये आकाशमें उड़ गये और उसकी खोज करने लगे ।। २४½ ।।

तांश्च तौ चाप्यदृश्यः स शरैर्विव्याध राक्षसः ।। २५ ।।

स भृशं ताडयामास रावणिर्माययाऽऽवृतः ।

रावणकुमार अपनी मायासे आवृत होनेके कारण स्वयं किसीकी दृष्टिमें नहीं आता था; परंतु वह उन दोनों भाइयोंको तथा सम्पूर्ण वानरोंको भी निरन्तर अपने बाणोंद्वारा घायल कर रहा था ।। २५½ ।।

तौ शरैराचितौ वीरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।

पेततुर्गगनाद् भूमिं सूर्याचन्द्रमसाविव ।। २६ ।।

वे दोनों बन्धु श्रीराम और लक्ष्मण ऊपरसे नीचेतक बाणोंसे व्याप्त हो गये थे; अतः आकाशसे गिरे हुए सूर्य और चन्द्रमाकी भाँति इस पृथ्वीपर गिर पड़े ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि इन्द्रजिद्युद्धे अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २८८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें इन्द्रजित्-युद्धविषयक दो सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८८ ।।

एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीराम-लक्ष्मणका सचेत होकर कुबेरके भेजे हुए अभिमन्त्रित जलसे प्रमुख वानरोंसहित अपने नेत्र धोना, लक्ष्मणद्वारा इन्द्रजित्‌का वध एवं सीताको मारनेके लिये उद्यत हुए रावणका अविन्ध्यके द्वारा निवारण करना

मार्कण्डेय उवाच

तावुभौ पतितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बबन्ध रावणिर्भूयः शरैर्दत्तवरैस्तदा ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उन दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको पृथ्वीपर पड़े देख रावणकुमार इन्द्रजित्‌ने जिनके लिये देवताओंका वर प्राप्त था, उन बाणोंद्वारा उन्हें सब ओरसे बाँध लिया ।। १ ।।

तौ वीरौ शरबन्धेन बद्धाविन्द्रजिता रणे ।
रेजतुः पुरुषव्याघ्रौ शकुन्ताविव पञ्जरे ।। २ ।।

इन्द्रजित्‌द्वारा बाणोंके बन्धनसे बँधे हुए वे दोनों वीर पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण पिंजड़ेमें बंद हुए दो पक्षियोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ।। २ ।।

तौ दृष्ट्वा पतितौ भूमौ शतशः सायकैश्चितौ ।
सुग्रीवः कपिभिः सार्धं परिवार्य ततः स्थितः ।। ३ ।।

उन दोनोंको सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त एवं पृथ्वीपर पड़े देख वानरोंसहित सुग्रीव उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये ।। ३ ।।

सुषेणमैन्दद्विविदैः कुमुदेनाङ्गदेन च ।
हनुमन्नीलतारैश्च नलेन च कपीश्वरः ।। ४ ।।

सुषेण, मैन्द, द्विविद, कुमुद, अंगद, हनुमान्, नील, तार तथा नलके साथ कपिराज सुग्रीव उन दोनों बन्धुओंकी रक्षा करने लगे ।। ४ ।।

ततस्तं देशमागम्य कृतकर्मा विभीषणः ।
बोधयामास तौ वीरौ प्रज्ञास्त्रेण प्रबोधितौ ।। ५ ।।

तदनन्तर अपने कर्तव्य कर्मको पूरा करके विभीषण उस स्थानपर आये। उन्होंने प्रज्ञास्त्रद्वारा उन दोनों वीरोंको होशमें लाकर जगाया ।। ५ ।।

विशल्यौ चापि सुग्रीवः क्षणेनैतौ चकार ह ।
विशल्यया महौषध्या दिव्यमन्त्रप्रयुक्तया ।। ६ ।।

फिर सुग्रीवने दिव्य मन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित विशल्या नामक महौषधिद्वारा उनके अंगोंसे बाण निकालकर उन्हें क्षणभरमें स्वस्थ कर दिया ।। ६ ।।

तौ लब्धसंज्ञौ नृवरौ विशल्यावुदतिष्ठताम् ।
गततन्द्रीक्लमौ चापि क्षणेनैतौ महारथौ ।। ७ ।।

होशमें आ जानेपर वे दोनों नरश्रेष्ठ महारथी वीर बाणोंसे रहित हो आलस्य और थकावट त्यागकर क्षणभरमें उठ खड़े हुए ।। ७ ।।

ततो विभीषणः पार्थ राममिक्ष्वाकुनन्दनम् ।
उवाच विज्वरं दृष्ट्वा कृताञ्जलिरिदं वचः ।। ८ ।।

युधिष्ठिर! तदनन्तर विभीषणने इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजीको नीरोग एवं स्वस्थ देख हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा— ।। ८ ।।

इदमम्भो गृहीत्वा तु राजराजस्य शासनात् ।
गुह्यकोऽभ्यागतः श्वेतात् त्वत्सकाशमरिन्दम ।। ९ ।।

'शत्रुदमन! राजाधिराज कुबेरकी आज्ञासे एक गुह्यक यह जल लिये हुए श्वेतपर्वतसे चलकर आपके समीप आया है ।। ९ ।।

इदमम्भः कुबेरस्ते महाराजः प्रयच्छति ।
अन्तर्हितानां भूतानां दर्शनार्थं परंतप ।। १० ।।

'परंतप! महाराज कुबेर आपको यह जल इस उद्देश्यसे समर्पित कर रहे हैं कि आप इसे नेत्रोंमें लगाकर मायासे अदृश्य हुए प्राणियोंको देख सकें ।। १० ।।

अनेन मृष्टनयनो भूतान्यन्तर्हितान्युत ।
भवान् द्रक्ष्यति यस्मै च प्रदास्यति नरः स तु ।। ११ ।।

'उन्होंने कहा है कि आप इस जलसे अपने दोनों नेत्र धोकर अदृश्य प्राणियोंको भी देख सकेंगे और आप जिसे यह जल अर्पित करेंगे, वह मनुष्य भी अदृश्य भूतोंको देखनेमें समर्थ होगा' ।। ११ ।।

तथेति रामस्तद् वारि प्रतिगृह्याभिसंस्कृतम् ।
चकार नेत्रयोः शौचं लक्ष्मणश्च महामनाः ।। १२ ।।

'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामचन्द्रजीने वह अभिमन्त्रित जल ले लिया। फिर उन्होंने तथा महामना लक्ष्मणने भी उससे अपने दोनों नेत्र धोये ।। १२ ।।

सुग्रीवजाम्बवन्तौ च हनुमानङ्गदस्तथा ।
मैन्दद्विविदनीलाश्च प्रायः प्लवगसत्तमाः ।। १३ ।।

सुग्रीव, जाम्बवान्, हनुमान्, अंगद, मैन्द, द्विविद तथा नील आदि प्रायः सभी प्रमुख वानरोंने उस जलसे अपनी-अपनी आँखें धोयीं ।। १३ ।।

तथा समभवच्चापि यदुवाच विभीषणः ।
क्षणेनातीन्द्रियाण्येषां चक्षूंष्यासन् युधिष्ठिर ।। १४ ।।

युधिष्ठिर! जैसा विभीषणने बताया था, उसका वैसा ही प्रभाव देखनेमें आया। इन सबकी आँखें क्षणभरमें अतीन्द्रिय वस्तुओंका साक्षात्कार करनेवाली हो गयीं ।। १४ ।।

इन्द्रजित् कृतकर्मा च पित्रे कर्म तदाऽऽत्मनः ।
निवेद्य पुनरागच्छत् त्वरयाऽऽजि शिरःप्रति ।। १५ ।।

इन्द्रजित्‌ने उस दिन युद्धमें जो पराक्रम कर दिखाया था, अपने उस वीरोचित कर्मको पितासे बताकर वह पुनः युद्धके मुहानेकी ओर लौटने लगा ।। १५ ।।

तमापतन्तं संक्रुद्धं पुनरेव युयुत्सया ।
अभिदुद्राव सौमित्रिर्विभीषणमते स्थितः ।। १६ ।।

उसे क्रोधमें भरकर पुनः युद्धकी इच्छासे आते देख विभीषणकी सम्मतिसे लक्ष्मणने उसपर धावा किया ।। १६ ।।

अकृताह्निकमेवैनं जिघांसुर्जितकाशिनम् ।
शरैर्जघान संक्रुद्धः कृतसंज्ञोऽथ लक्ष्मणः ।। १७ ।।

इन्द्रजित् विजयके उल्लाससे सुशोभित हो रहा था। अभी उसने नित्यकर्म भी नहीं किया था, उसी अवस्थामें सचेत हुए लक्ष्मणने कुपित होकर उसे मार डालनेकी इच्छासे उसपर बाणोंद्वारा प्रहार करना आरम्भ किया ।। १७ ।।

तयोः समभवद् युद्धं तदान्योन्यं जिगीषतोः ।

अतीव चित्रमाश्चर्यं शक्रप्रह्लादयोरिव ।। १८ ।।

वे दोनों ही एक-दूसरेको जीतनेके लिये उत्सुक थे। उस समय उनमें इन्द्र और प्रह्लादकी भाँति अत्यन्त अद्‌भुत तथा आश्चर्यजनक युद्ध होने लगा ।। १८ ।।

अविध्यदिन्द्रजित् तीक्ष्णैः सौमित्रिं मर्मभेदिभिः ।
सौमित्रिश्चानलस्पर्शैरविध्यद् रावणिं शरैः ।। १९ ।।

इन्द्रजित्‌ने तीखे तथा मर्मभेदी बाणोंद्वारा सुमित्रा-कुमार लक्ष्मणको बींध डाला। इसी प्रकार लक्ष्मणने भी अग्निके समान दाहक स्पर्शवाले तीखे सायकोंद्वारा रावणकुमार इन्द्रजित्‌को घायल कर दिया ।। १९ ।।

सौमित्रिशरसंस्पर्शाद् रावणिः क्रोधमूर्च्छितः ।
असृजल्लक्ष्मणायाष्टौ शरानाशीविषोपमान् ।। २० ।।

लक्ष्मणके बाणोंकी चोट खाकर रावणकुमार क्रोधसे मूर्च्छित हो उठा। उसने उनके ऊपर विषधर साँपोंके समान विषैले आठ बाण छोड़े ।। २० ।।

तस्यासून् पावकस्पर्शैः सौमित्रिः पत्रिभिस्त्रिभिः ।
यथा निरहरद् वीरस्तन्मे निगदतः शृणु ।। २१ ।।

वीर सुमित्राकुमारने अग्निके समान दाहक तीन बाणोंद्वारा जिस प्रकार इन्द्रजित्‌के प्राण लिये, वह बताता हूँ; सुनो ।। २१ ।।

एकेनास्य धनुष्मन्तं बाहुं देहादपातयत् ।
द्वितीयेन सनाराचं भुजं भूमौ न्यपातयत् ।। २२ ।।

एक बाणद्वारा उन्होंने इन्द्रजित्‌की धनुष धारण करनेवाली भुजाको काटकर शरीरसे अलग कर दिया। दूसरे बाणद्वारा नाराच लिये हुए शत्रुकी दूसरी भुजाको धराशायी कर दिया ।। २२ ।।

तृतीयेन तु बाणेन पृथुधारेण भास्वता ।
जहार सुनसं चापि शिरो भ्राजिष्णुकुण्डलम् ।। २३ ।।

तत्पश्चात् मोटी धारवाले और चमकीले तीसरे बाणसे उन्होंने सुन्दर नासिका और शोभाशाली कुण्डलोंसे विभूषित शत्रुके मस्तकको भी धड़से अलग कर दिया ।। २३ ।।

विनिकृत्तभुजस्कन्धं कबन्धं भीमदर्शनम् ।
तं हत्वा सूतमप्यस्त्रैर्जघान बलिनां वरः ।। २४ ।।

भुजाओं और कंधोंके कट जानेसे उसका धड़ बड़ा भयंकर दिखायी देता था। इन्द्रजित्‌को मारकर बलवानोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मणने अपने अस्त्रोंद्वारा उसके सारथिको भी मार गिराया ।। २४ ।।

लङ्कां प्रवेशयामासुस्तं रथं वाजिनस्तदा ।
ददर्श रावणस्तं च रथं पुत्रविनाकृतम् ।। २५ ।।
स पुत्रं निहतं ज्ञात्वा त्रासात् सम्भ्रान्तमानसः ।

रावणः शोकमोहार्तो वैदेहीं हन्तुमुद्यतः ।। २६ ।।

उस समय घोड़ोंने उस ही खाली रथको लंकापुरीमें पहुँचाया। रावणने देखा, मेरे पुत्रका रथ उसके बिना ही लौट आया है। तब पुत्रको मारा गया जान भयके मारे रावणका मन उद्भ्रान्त हो उठा। वह शोक और मोहसे आतुर होकर विदेहनन्दिनी सीताको मार डालनेके लिये उद्यत हो गया ।। २५-२६ ।।

अशोकवनिकास्थां तां रामदर्शनलालसाम् ।

खड्गमादाय दुष्टात्मा जवेनाभिपपात ह ।। २७ ।।

दुष्टात्मा दशानन हाथमें तलवार लेकर अशोक-वाटिकामें श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी लालसासे बैठी हुई सीताजीके पास बड़े वेगसे दौड़ा गया ।। २७ ।।

तं दृष्ट्वा तस्य दुर्बुद्धेरविन्ध्यः पापनिश्चयम् ।

शमयामास संक्रुद्धं श्रूयतां येन हेतुना ।। २८ ।।

दूषित बुद्धिवाले उस निशाचरके इस पापपूर्ण निश्चयको जानकर मन्त्री अविन्ध्यने समझा-बुझाकर उसका क्रोध शान्त किया। किस मुक्तिसे उसने रावणको शान्त किया, यह बताता हूँ, सुनो— ।। २८ ।।

महाराज्ये स्थितो दीप्ते न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।

हतैवैषा यदा स्त्री च बन्धनस्था च ते वशे ।। २९ ।।

'राक्षसराज! आप लंकाके समुज्ज्वल सम्राट्-पदपर विराजमान होकर एक अबलाको न मारें। यह स्त्री होकर आपके वशमें पड़ी है, आपके घरमें कैद है; ऐसी दशामें यह तो मरी हुई है ।। २९ ।।

न चैषा देहभेदेन हता स्यादिति मे मतिः ।

जहि भर्तारमेवास्या हते तस्मिन् हता भवेत् ।। ३० ।।

'इसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर देनेसे ही इसका वध नहीं होगा, ऐसा मेरा विचार है। इसके पतिको ही मार डालिये। उसके मारे जानेपर यह स्वतः मर जायगी ।। ३० ।।

न हि ते विक्रमे तुल्यः साक्षादपि शतक्रतुः ।

असकृद्धि त्वया सेन्द्रास्त्रासितास्त्रिदशा युधि ।। ३१ ।।

'साक्षात् इन्द्र भी पराक्रममें आपकी समानता नहीं कर सकते। आपने अनेक बार युद्धमें इन्द्रसहित संपूर्ण देवताओंको भयभीत (एवं पराजित) किया है' ।। ३१ ।।

एवं बहुविधैर्वाक्यैरविन्ध्यो रावणं तदा ।

क्रुद्धं संशमयामास जगृहे च स तद्वचः ।। ३२ ।।

इस तरह अनेक प्रकारके वचनोंद्वारा अविन्ध्यने रावणका क्रोध शान्त किया और रावणने भी उसकी बात मान ली ।। ३२ ।।

निर्याणे स मतिं कृत्वा निधायासिं क्षपाचरः ।

आज्ञापयामास तदा रथो मे कल्प्यतामिति ।। ३३ ।।

फिर उस निशाचरने युद्धके लिये प्रस्थान करनेका निश्चय करके तलवार रख दी और आज्ञा दी—'मेरा रथ तैयार किया जाय' ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि श्रीरामोपाख्यानपर्वणि इन्द्रजिद्वधे एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २८९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें इन्द्रजित्-वधविषयक दो सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८९ ।।

नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राम और रावणका युद्ध तथा रावणका वध

मार्कण्डेय उवाच

ततः क्रुद्धो दशग्रीवः प्रिये पुत्रे निपातिते ।
निर्ययौ रथमास्थाय हेमरत्नविभूषितम् ।। १ ।।
स वृतो राक्षसैर्घोरैर्विविधायुधपाणिभिः ।
अभिदुद्राव रामं स योधयन् हरियूथपान् ।। २ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! अपने प्रिय पुत्र इन्द्रजित्के मारे जानेपर दशमुख रावणका क्रोध बहुत बढ़ गया। वह सुवर्ण तथा रत्नोंसे विभूषित रथपर बैठकर लंकापुरीसे बाहर निकला। हाथोंमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले भंयकर राक्षस उसे घेरकर चले। वह वानर-यूथपतियोंसे युद्ध करता हुआ श्रीरामचन्द्रजीकी ओर दौड़ा ।। १-२ ।।

तमाद्रवन्तं संक्रुद्धं मैन्दनीलनलाङ्गदाः ।
हनूमाञ्जाम्बवांश्चैव ससैन्याः पर्यवारयन् ।। ३ ।।

उसे क्रोधपूर्वक आक्रमण करते देख मैन्द, नील, नल, अंगद, हनुमान् और जाम्बवान्ने सेनासहित आगे बढ़कर उसे चारों ओरसे घेर लिया ।। ३ ।।

ते दशग्रीवसैन्यं तदृक्षवानरपुङ्गवाः ।
द्रुमैर्विध्वंसयांचक्रुर्दशग्रीवस्य पश्यतः ।। ४ ।।

उन रीछ और वानर-सेनापतियोंने दशाननके देखते-देखते वृक्षोंकी मारसे उसकी सेनाका संहार आरम्भ कर दिया ।। ४ ।।

ततः स सैन्यमालोक्य वध्यमानमरातिभिः ।
मायावी चासृजन्मायां रावणो राक्षसाधिपः ।। ५ ।।

अपनी सेनाको शत्रुओंद्वारा मारी जाती देख मायावी राक्षसराज रावणने माया प्रकट की ।। ५ ।।

तस्य देहविनिष्क्रान्ताः शतशोऽथ सहस्रशः ।
राक्षसाः प्रत्यदृश्यन्त शरशक्त्यृष्टिपाणयः ।। ६ ।।

उसके शरीरसे सैकड़ों और हजारों राक्षस प्रकट होकर हाथोंमें बाण, शक्ति तथा ऋष्टि आदि आयुध लिये दिखायी देने लगे ।। ६ ।।

तान् रामो जघ्निवात् सर्वान् दिव्येनास्त्रेण राक्षसान् ।
अथ भूयोऽपि मायां स व्यदधाद् राक्षसाधिपः ।। ७ ।।

श्रीरामचन्द्रजीने अपने दिव्य अस्त्रके द्वारा उन सब राक्षसोंको नष्ट कर दिया। तब राक्षसराजने पुनः मायाकी सृष्टि की ।। ७ ।।

कृत्वा रामस्य रूपाणि लक्ष्मणस्य च भारत ।
अभिदुद्राव रामं च लक्ष्मणं च दशाननः ।। ८ ।।

भारत! दशाननने श्रीराम और लक्ष्मणके ही बहुत-से रूप धारण करके श्रीराम और लक्ष्मणपर धावा किया ।। ८ ।।

ततस्ते राममार्च्छन्तो लक्ष्मणं च क्षपाचराः ।
अभिपेतुस्तदा रामं प्रगृहीतशरासनाः ।। ९ ।।

तदनन्तर वे राक्षस हाथोंमें धनुष-बाण लिये श्रीराम और लक्ष्मणको पीड़ा देते हुए उनपर टूट पड़े ।। ९ ।।

तां दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रस्य मायामिक्ष्वाकुनन्दनः ।
उवाच रामं सौमित्रिरसम्भ्रान्तो बृहद् वचः ।। १० ।।

राक्षसराज रावणकी उस मायाको देखकर इक्ष्वाकुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणको तनिक भी घबराहट नहीं हुई। उन्होंने श्रीरामसे यह महत्त्वपूर्ण बात कही— ।। १० ।।

जहीमान् राक्षसान् पापानात्मनः प्रतिरूपकान् ।

जघान रामस्तांश्चान्यानात्मनः प्रतिरूपकान् ।। ११ ।।

'भगवन्! अपने ही समान आकारवाले इन पापी राक्षसोंको मार डालिये।' तब श्रीरामने रावणकी मायासे निर्मित अपने ही समान रूप धारण करनेवाले उन सबको तथा अन्य राक्षसोंको भी मार डाला ।। ११ ।।

ततो हर्यश्वयुक्तेन रथेनादित्यवर्चसा ।
उपतस्थे रणे रामं मातलिः शक्रसारथिः ।। १२ ।।

इसी समय इन्द्रका सारथि मातलि हरे रंगके घोड़ोंसे जुते हुए सूर्यके समान तेजस्वी रथके साथ उस रणभूमिमें श्रीरामचन्द्रजीके समीप आ पहुँचा ।। १२ ।।

मातलिरुवाच

अयं हर्यश्वयुक् जैत्रो मघोनः स्यन्दनोत्तमः ।
अनेन शक्रः काकुत्स्थ समरे दैत्यदानवान् ।। १३ ।।
शतशः पुरुषव्याघ्र रथोदारेण जघ्निवान् ।
तदनेन नरव्याघ्र मया यत्तेन संयुगे ।। १४ ।।
स्यन्दनेन जहि क्षिप्रं रावणं मा चिरं कृथाः ।

मातलि बोला—पुरुषसिंह श्रीराम! यह हरे रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ विजयशाली उत्तम रथ देवराज इन्द्रका है। इस विशाल रथके द्वारा इन्द्रने सैकड़ों दैत्यों और दानवोंका समरांगणमें संहार किया है। नरश्रेष्ठ! मेरे द्वारा संचालित इस रथपर बैठकर आप युद्धमें रावणको शीघ्र मार डालिये, विलम्ब न कीजिये ।। १३-१४½ ।।

इत्युक्तो राघवस्तथ्यं वचोऽशङ्कत मातलेः ।। १५ ।।
मायैषा राक्षसस्येति तमुवाच विभीषणः ।
नेयं माया नरव्याघ्र रावणस्य दुरात्मनः ।। १६ ।।

मातलिके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उसकी बातपर इसलिये संदेह किया कि कहीं यह भी राक्षसकी माया ही न हो। तब विभीषणने उनसे कहा—'पुरुषसिंह! यह दुरात्मा रावणकी माया नहीं है ।। १५-१६ ।।

तदातिष्ठ रथं शीघ्रमिममैन्द्रं महाद्युते ।
ततः प्रहृष्टः काकुस्त्थस्तथेत्युक्त्वा विभीषणम् ।। १७ ।।
रथेनाभिपपाताथ दशग्रीवं रुषान्वितः ।

'महाद्युते! आप शीघ्र इन्द्रके इस रथपर आरूढ़ होइये।' तब श्रीरामचन्द्रजीने प्रसन्नतापूर्वक विभीषणसे कहा—'ठीक है।' यों कहकर उन्होंने रथपर आरूढ़ हो बड़े रोषके साथ दशमुख रावणपर आक्रमण किया ।।

हाहाकृतानि भूतानि रावणे समभिद्रुते ।। १८ ।।
सिंहनादाः सपटहा दिवि दिव्यास्तथानदन् ।

दशकन्धरराजसून्वोस्तथा युद्धमभून्महत् ।। १९ ।।

रावणपर श्रीरामकी चढ़ाई होते ही समस्त प्राणी हाहाकार कर उठे, देवलोकमें नगारे बज उठे और जोर-जोरसे सिंहनाद होने लगा। दशकन्धर रावण तथा राजकुमार श्रीराममें उस समय महान् युद्ध छिड़ गया ।। १८-१९ ।।

अलब्धोपममन्यत्र तयोरेव तथाभवत् ।

स रामाय महाघोरं विससर्ज निशाचरः ।। २० ।।

शूलमिन्द्राशनिप्रख्यं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ।

तच्छूलं सत्वरं रामश्चिच्छेद निशितैः शरैः ।। २१ ।।

उस युद्धकी संसारमें अन्यत्र कहीं उपमा नहीं थी। उनका वह संग्राम उन्हींके संग्रामके समान था। निशाचर रावणने श्रीरामपर एक त्रिशूल चलाया, जो उठे हुए इन्द्रके वज्र तथा ब्रह्मदण्डके समान अत्यन्त भयंकर था; परंतु श्रीरामने तत्काल अपने तीखे बाणोंद्वारा उस त्रिशूलके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ।। २०-२१ ।।

तद् दृष्ट्वा दुष्करं कर्म रावणं भयमाविशत् ।

ततः क्रुद्धः ससर्जाशु दशग्रीवः शिताञ्छरान् ।। २२ ।।

उनका वह दुष्कर कर्म देखकर दशानन रावणके मनमें भय समा गया। फिर कुपित होकर उसने तुरंत ही तीखे सायकोंकी वर्षा आरम्भ की ।। २२ ।।

सहस्रायुतशो रामे शस्त्राणि विविधानि च ।

ततो भुशुण्डीः शूलानि मुसलानि परश्वधान् ।। २३ ।।

शक्तीश्च विविधाकाराः शतघ्नीश्च शितान् क्षुरान् ।

उस समय श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर भाँति-भाँतिके हजारों शस्त्र गिरने लगे तथा भुशुण्डी, शूल, मुसल, फरसे, नाना प्रकारकी शक्तियाँ, शतघ्नी और तीखी धारवाले बाणोंकी वृष्टि होने लगी ।। २३½ ।।

तां मायां विकृतां दृष्ट्वा दशग्रीवस्य रक्षसः ।। २४ ।।

भयात् प्रदुद्रुवुः सर्वे वानराः सर्वतोदिशम् ।

राक्षस दशाननकी उस विकराल मायाको देखकर सब वानर भयके मारे चारों दिशाओंमें भाग चले ।। २४½ ।।

ततः सुपत्रं सुमुखं हेमपुङ्खं शरोत्तमम् ।। २५ ।।

तूणादादाय काकुत्स्थो ब्रह्मास्त्रेण युयोज ह ।

तं बाणवर्यं रामेण ब्रह्मास्त्रेणानुमन्त्रितम् ।। २६ ।।

जहृषुर्देवगन्धर्वा दृष्ट्वा शक्रपुरोगमाः ।

अल्पावशेषमायुश्च ततोऽमन्यन्त रक्षसः ।। २७ ।।

ब्रह्मास्त्रोदीरणाच्छत्रोर्देवदानवकिन्नराः ।

तब श्रीरामचन्द्रजीने सोनेके सुन्दर पंख तथा उत्तम अग्रभागवाले एक श्रेष्ठ बाणको तरकससे निकालकर उसे ब्रह्मास्त्रद्वारा अभिमन्त्रित किया। श्रीरामद्वारा ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित किये हुए उस उत्तम बाणको देखकर इन्द्र आदि देवताओं तथा गन्धर्वोंके हर्षकी सीमा न रही। शत्रुके प्रति श्रीरामके मुखसे ब्रह्मास्त्रका प्रयोग होता देख देवता, दानव और किन्नर यह समझ गये कि अब इस राक्षसकी आयु बहुत थोड़ी रह गयी है ।। २५—२७ १/२ ।।

ततः ससर्ज तं रामः शरमप्रतिमौजसम् ।। २८ ।।
रावणान्तकरं घोरं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ।

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने उठे हुए ब्रह्मदण्डके समान भयंकर तथा अप्रतिम तेजस्वी उस रावणविनाशक बाणको छोड़ दिया ।। २८ १/२ ।।

मुक्तमात्रेण रामेण दूराकृष्टेन भारत ।। २९ ।।
स तेन राक्षसश्रेष्ठः सरथः साश्वसारथिः ।
प्रजज्वाल महाज्वालेनाग्निनाभिपरिप्लुतः ।। ३० ।।

युधिष्ठिर! श्रीरामद्वारा धनुषको दूरतक खींचकर छोड़े हुए उस बाणके लगते ही राक्षसराज रावण रथ, घोड़े और सारथिसहित इस प्रकार जलने लगा मानो भयंकर लपटोंवाली आगके लपेटमें आ गया हो ।। २९-३० ।।

ततः प्रहृष्टास्त्रिदशाः सहगन्धर्वचारणाः ।
निहतं रावणं दृष्ट्वा रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।। ३१ ।।

इस प्रकार अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके हाथोंसे रावणको मारा गया देख देवता, गन्धर्व तथा चारण बहुत प्रसन्न हुए ।। ३१ ।।

तत्यजुस्तं महाभागं पञ्च भूतानि रावणम् ।
भ्रंशितः सर्वलोकेभ्यः स हि ब्रह्मास्त्रतेजसा ।। ३२ ।।

तदनन्तर पाँचों भूतोंने उस महान् भाग्यशाली रावणको त्याग दिया। ब्रह्मास्त्रके तेजसे दग्ध होकर वह सम्पूर्ण लोकोंसे भ्रष्ट हो गया ।। ३२ ।।

शरीरधातवो ह्यस्य मांसं रुधिरमेव च ।
नेशुर्ब्रह्मास्त्रनिर्दग्धा न च भस्माप्यदृश्यत ।। ३३ ।।

उसके शरीरके धातु, मांस तथा रक्त भी ब्रह्मास्त्रसे दग्ध होकर नष्ट हो गये। उसकी राखतक नहीं दिखायी दी ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि रावणवधे नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २९० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें रावणवधविषयक दो सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९० ।।

एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीरामका सीताके प्रति संदेह, देवताओंद्वारा सीताकी शुद्धिका समर्थन, श्रीरामका दल-बलसहित लंकासे प्रस्थान एवं किष्किन्धा होते हुए अयोध्यामें पहुँचकर भरतसे मिलना तथा राज्यपर अभिषिक्त होना

मार्कण्डेय उवाच

स हत्वा रावणं क्षुद्रं राक्षसेन्द्रं सुरद्विषम् ।
बभूव हृष्टः ससुहृद् रामः सौमित्रिणा सह ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार नीच स्वभाववाले देवद्रोही राक्षसराज रावणका वध करके भगवान् श्रीराम अपने मित्रों तथा लक्ष्मणके साथ बड़े प्रसन्न हुए ।। १ ।।

ततो हते दशग्रीवे देवाः सर्षिपुरोगमाः ।
आशीर्भिर्जययुक्ताभिरानर्चुस्तं महाभुजम् ।। २ ।।

दशाननके मारे जानेपर देवता तथा महर्षिगण जययुक्त आशीर्वाद देते हुए उन महाबाहुकी पूजा एवं प्रशंसा करने लगे ।। २ ।।

रामं कमलपत्राक्षं तुष्टुवुः सर्वदेवताः ।
गन्धर्वाः पुष्पवर्षैश्च वाग्भिश्च त्रिदशालयाः ।। ३ ।।

स्वर्गवासी सम्पूर्ण देवताओं तथा गन्धर्वोंने फूलोंकी वर्षा करते हुए उत्तम वाणीद्वारा कमलनयन भगवान् श्रीरामका स्तवन किया ।। ३ ।।

पूजयित्वा यथा रामं प्रतिजग्मुर्यथागतम् ।
तन्महोत्सवसंकाशमासीदाकाशमच्युत ।। ४ ।।

श्रीरामकी भलीभाँति पूजा करके वे सब जैसे आये थे, उसी प्रकार लौट गये। युधिष्ठिर! उस समय आकाश महान् उत्सवसमारोहसे भरा-सा जान पड़ता था ।। ४ ।।

ततो हत्वा दशग्रीवं लङ्कां रामो महायशाः ।
विभीषणाय प्रददौ प्रभुः परपुरञ्जयः ।। ५ ।।

तत्पश्चात् शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महायशस्वी भगवान् श्रीरामने दशानन रावणका वध करनेके अनन्तर लंकाका राज्य विभीषणको दे दिया ।। ५ ।।

ततः सीतां पुरस्कृत्य विभीषणपुरस्कृताम् ।
अविन्ध्यो नाम सुप्रज्ञो वृद्धामात्यो विनिर्ययौ ।। ६ ।।

इसके बाद उत्तम बुद्धिसे युक्त बूढ़े मन्त्री अविन्ध्य विभीषणसहित भगवती सीताको आगे करके लंकापुरीसे बाहर निकले ।। ६ ।।

उवाच च महात्मानं काकुत्स्थं दैन्यमास्थितः ।
प्रतीच्छ देवीं सद्वृत्तां महात्मञ्जानकीमिति ।। ७ ।।

वे ककुत्स्थकुलभूषण महात्मा श्रीरामचन्द्रजीसे दीनतापूर्वक बोले—'महात्मन्! सदाचारसे सुशोभित जनककिशोरी महारानी सीताको ग्रहण कीजिये' ।। ७ ।।

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्मादवतीर्य रथोत्तमात् ।
बाष्पेणापिहितां सीतां ददर्शेक्ष्वाकुनन्दनः ।। ८ ।।

यह सुनकर इक्ष्वाकुनन्दन भगवान् श्रीरामने उस उत्तम रथसे उतरकर सीताको देखा। उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी ।। ८ ।।

तां दृष्ट्वा चारुसर्वाङ्गीं यानस्थां शोककर्शिताम् ।
मलोपचितसर्वाङ्गीं जटिलां कृष्णवाससम् ।। ९ ।।

शिबिकामें बैठी हुई सर्वांगसुन्दरी सीता शोकसे दुबली हो गयी थीं। उनके समस्त अंगोंमें मैल जम गयी थी, सिरके बाल आपसमें चिपककर जटाके रूपमें परिणत हो गये थे और उनका वस्त्र काला पड़ा गया था ।। ९ ।।

उवाच रामो वैदेहीं परामर्शविशङ्कितः ।
गच्छ वैदेहि मुक्ता त्वं यत् कार्यं तन्मया कृतम् ।। १० ।।

श्रीरामचन्द्रजीके मनमें यह संदेह हुआ कि सम्भव है, सीता पर पुरुषके स्पर्शसे अपवित्र हो गयी हों; अतः उन्होंने विदेहनन्दिनी सीतासे स्पष्ट वचनोंद्वारा कहा —'विदेहकुमारी! मैंने तुम्हें रावणकी कैदसे छुड़ा दिया। अब तुम जाओ। मेरा जो कर्तव्य था, उसे मैंने पूरा कर दिया ।। १० ।।

मामासाद्य पतिं भद्रे न त्वं राक्षसवेश्मनि ।
जरां व्रजेथा इति मे निहतोऽसौ निशाचरः ।। ११ ।।

'भद्रे! मुझ-जैसे पतिको पाकर तुम्हें वृद्धावस्थातक किसी राक्षसके घरमें न रहना पड़े, यही सोचकर मैंने उस निशाचरका वध किया है ।। ११ ।।

कथं ह्यस्मद्विधो जातु जानन् धर्मविनिश्चयम् ।
परहस्तगतां नारीं मुहूर्तमपि धारयेत् ।। १२ ।।

'धर्मके सिद्धान्तको जाननेवाला मेरे-जैसा कोई भी पुरुष दूसरेके हाथमें पड़ी हुई नारीको मुहूर्तभरके लिये भी कैसे ग्रहण कर सकता है? ।। १२ ।।

सुवृत्तामसुवृत्तां वाप्यहं त्वामद्य मैथिलि ।
नोत्सहे परिभोगाय श्वावलीढं हविर्यथा ।। १३ ।।

'मिथिलेशनन्दिनी! तुम्हारा आचार-विचार शुद्ध रह गया हो अथवा अशुद्ध, अब मैं तुम्हें अपने उपयोगमें नहीं ला सकता—ठीक उसी तरह, जैसे कुत्तेके चाटे हुए हविष्यको कोई भी ग्रहण नहीं करता' ।। १३ ।।

ततः सा सहसा बाला तच्छ्रुत्वा दारुणं वचः ।
पपात देवी व्यथिता निकृत्ता कदली यथा ।। १४ ।।

सहसा यह कठोर वचन सुनकर देवी सीता व्यथित हो कटे हुए केलेके वृक्षकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ीं ।। १४ ।।

योऽप्यस्या हर्षसम्भूतो मुखरागस्तदाभवत् ।
क्षणेन स पुनर्नष्टो निःश्वास इव दर्पणे ।। १५ ।।

जैसे श्वास लेनेसे दर्पणमें पड़ा हुआ मुखका प्रतिबिम्ब मलिन हो जाता है, उसी प्रकार सीताके मुखपर उस समय जो हर्षजनित कान्ति छा रही थी, वह एक ही क्षणमें फिर विलीन हो गयी ।। १५ ।।

ततस्ते हरयः सर्वे नच्छ्रुत्वा रामभाषितम् ।
गतासुकल्पा निश्चेष्टा बभूवुः सहलक्ष्मणाः ।। १६ ।।

श्रीरामचन्द्रजीका यह कथन सुनकर समस्त वानर तथा लक्ष्मण सबके सब मरे हुएके समान निश्चेष्ट हो गये ।। १६ ।।

ततो देवो विशुद्धात्मा विमानेन चतुर्मुखः ।
पद्मयोनिर्जगत्स्रष्टा दर्शयामास राघवम् ।। १७ ।।

इसी समय विशुद्ध अन्तःकरणवाले कमलयोनि जगत्स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्माजीने विमानद्वारा वहाँ आकर श्रीरामचन्द्रजीको दर्शन दिया ।। १७ ।।

शक्रश्चाग्निश्च वायुश्च यमो वरुण एव च ।
यक्षाधिपश्च भगवांस्तथा सप्तर्षयोऽमलाः ।। १८ ।।

साथ ही इन्द्र, अग्नि, वायु, यम, वरुण, यक्षराज भगवान् कुबेर तथा निर्मल चित्तवाले सप्तर्षिगण भी वहाँ आ गये ।। १८ ।।

राजा दशरथश्चैव दिव्यभास्वरमूर्तिमान् ।
विमानेन महार्हेण हंसयुक्तेन भास्वता ।। १९ ।।

इनके सिवा हंसोंसे युता एक बहुमूल्य तेजस्वी विमानद्वारा दिव्य प्रकाशमय स्वरूप धारण किये स्वयं राजा दशरथ भी वहाँ पधारे ।। १९ ।।

ततोऽन्तरिक्षं तत् सर्वं देवगन्धर्वसंकुलम् ।
शुशुभे तारकाचित्रं शरदीव नभस्तलम् ।। २० ।।

उस समय देवताओं और गन्धर्वोंसे भरा हुआ वह सम्पूर्ण अन्तरिक्ष इस प्रकार शोभा पाने लगा, मानो असंख्य तारागणोंसे चित्रित शरद्ऋतुका आकाश हो ।। २० ।।

तत उत्थाय वैदेही तेषां मध्ये यशस्विनी ।
उवाच वाक्यं कल्याणी रामं पृथुलवक्षसम् ।। २१ ।।

तब उन सबके बीचमें खड़ी होकर कल्याणमयी यशस्विनी सीताने चौड़ी छातीवाले भगवान् श्रीरामसे इस प्रकार कहा— ।। २१ ।।

राजपुत्र न ते दोषं करोमि विदिता हि ते ।
गतिः स्त्रीणां नराणां च शृणु चेदं वचो मम ।। २२ ।।

'राजपुत्र! मैं आपको दोष नहीं देती, क्योंकि आप स्त्रियों और पुरुषोंकी कैसी गति है, यह अच्छी तरह जानते हैं। केवल मेरी यह बात सुन लीजिये ।। २२ ।।

अन्तश्चरति भूतानां मातरिश्वा सदागतिः ।
स मे विमुञ्चतु प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ।। २३ ।।

'निरन्तर संचरण करनेवाले वायुदेव समस्त प्राणियोंके भीतर विचरते हैं। यदि मैंने कोई पापाचार किया हो तो वे वायुदेवता मेरे प्राणोंका परित्याग कर दें ।। २३ ।।

अग्निरापस्तथाऽऽकाशं पृथिवी वायुरेव च ।
विमुञ्चन्तु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ।। २४ ।।

'यदि मैं पापका आचरण करती होऊँ तो अग्नि, जल, आकाश, पृथ्वी और वायु—ये सब मिलकर मुझसे मेरे प्राणोंका वियोग करा दें ।। २४ ।।

यथाहं त्वदृते वीर नान्यं स्वप्नेऽप्यचिन्तयम् ।
तथा मे देवनिर्दिष्टस्त्वमेव हि पतिर्भव ।। २५ ।।

'वीर! यदि मैंने आपके सिवा दूसरे किसी पुरुषका स्वप्नमें भी चिन्तन न किया हो तो देवताओंके दिये हुए एकमात्र आप ही मेरे पति हों' ।। २५ ।।

ततोऽन्तरिक्षे वागासीत् सुभगा लोकसाक्षिणी ।
पुण्या संहर्षणी तेषां वानराणां महात्मनाम् ।। २६ ।।

तदनन्तर आकाशमें सब लोगोंको साक्षी देती हुई एक सुन्दर वाणी उच्चरित हुई, जो परम पवित्र होनेके साथ ही उन महामना वानरोंको भी हर्ष प्रदान करनेवाली थी ।। २६ ।।

वायुरुवाच

भो भो राघव सत्यं वै वायुरस्मि सदागतिः ।
अपापा मैथिली राजन् संगच्छ सह भार्यया ।। २७ ।।

(उस आकाशवाणीके रूपमें) **वायुदेवता बोले**—रघुनन्दन! मैं सदा विचरण करनेवाला वायुदेवता हूँ। सीताने जो कुछ कहा है, वह सत्य है। राजन्! मिथिलेशकुमारी सर्वथा पापशून्य हैं। आप अपनी इस पत्नीसे निःसंकोच होकर मिलिये ।। २७ ।।

अग्निरुवाच

अहमन्तःशरीरस्थो भूतानां रघुनन्दन ।
सुसूक्ष्ममपि काकुत्स्थ मैथिली नापराध्यति ।। २८ ।।

अग्निदेवने कहा—रघुनन्दन! मैं समस्त प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाला अग्नि हूँ। मुझे मालूम है कि मिथिलेशकुमारीके द्वारा कभी सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म अपराध नहीं हुआ है ।। २८ ।।

वरुण उवाच

रसा वै मत्प्रसूता हि भूतदेहेषु राघव ।
अहं वै त्वां प्रब्रवीमि मैथिली प्रतिगृह्यताम् ।। २९ ।।

वरुणदेवने कहा—श्रीराम! समस्त प्राणियोंके शरीरमें जो जलतत्त्व है, वह मुझसे ही उत्पन्न हुआ है। अतः मैं तुमसे कहता हूँ, मिथिलेशकुमारी निष्पाप है, इसे ग्रहण करो ।। २९ ।।

ब्रह्मोवाच

पुत्र नैतदिहाश्चर्यं त्वयि राजर्षिधर्मणि ।
साधो सद्वृत्त काकुत्स्थ शृणु चेदं वचो मम ।। ३० ।।

तत्पश्चात् ब्रह्माजी बोले—वत्स! तुम राजर्षियोंके धर्मपर चलनेवाले हो; अतः तुममें ऐसा सद्विचार होना आश्चर्यकी बात नहीं है। साधु सदाचारी श्रीराम! तुम मेरी यह बात सुनो ।। ३० ।।

शत्रुरेष त्वया वीर देवगन्धर्वभोगिनाम् ।

यक्षाणां दानवानां च महर्षीणां च पातितः ।। ३१ ।।

वीरवर! यह रावण देवता, गन्धर्व, नाग, यक्ष, दानव तथा महर्षियोंका भी शत्रु था। इसे तुमने मार गिराया है ।। ३१ ।।

अवध्यः सर्वभूतानां मत्प्रसादात् पुराभवत् ।
कस्माच्चित् कारणात् पापः कञ्चित् कालमुपेक्षितः ।। ३२ ।।

पूर्वकालमें मेरे ही प्रसादसे यह समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य हो गया था। किसी कारणवश ही कुछ कालतक इस पापीकी उपेक्षा की गयी थी ।। ३२ ।।

वधार्थमात्मनस्तेन हृता सीता दुरात्मना ।
नलकूबरशापेन रक्षा चास्याः कृता मया ।। ३३ ।।

दुरात्मा रावणने अपने वधके लिये ही सीताका अपहरण किया था। नलकूबरके शापद्वारा मैंने सीताकी रक्षाका प्रबन्ध कर दिया था ।। ३३ ।।

यदि ह्यकामां सेवेत स्त्रियमन्यामपि ध्रुवम् ।
शतधास्य फलेन्मूर्धा इत्युक्तः सोऽभवत् पुरा ।। ३४ ।।

पूर्वकालमें रावणको यह शाप दिया गया था कि यदि यह उसे न चाहनेवाली किसी परायी स्त्रीका बलपूर्वक सेवन करेगा तो इसके मस्तकके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे ।। ३४ ।।

नात्र शङ्का त्वया कार्या प्रतीच्छेमां महाद्युते ।
कृतं त्वया महत् कार्यं देवानाममरप्रभ ।। ३५ ।।

अतः महातेजस्वी श्रीराम! तुम्हें सीताके विषयमें कोई शंका नहीं करनी चाहिये। इसे ग्रहण करो। देवताओंके समान तेजस्वी वीर! तुमने रावणको मारकर देवताओंका महान् कार्य सिद्ध किया है ।। ३५ ।।

दशरथ उवाच

प्रीतोऽस्मि वत्स भद्रं ते पिता दशरथोऽस्मि ते ।
अनुजानामि राज्यं च प्रशाधि पुरुषोत्तम ।। ३६ ।।

दशरथजी बोले—वत्स! मैं तुम्हारा पिता दशरथ हूँ, तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारा कल्याण हो। पुरुषोत्तम! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि अब तुम अयोध्याका राज्य करो ।। ३६ ।।

राम उवाच

अभिवादये त्वां राजेन्द्र यदि त्वं जनको मम ।
गमिष्यामि पुरीं रम्यामयोध्यां शासनात् तव ।। ३७ ।।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—राजेन्द्र! यदि आप मेरे पिता हैं तो मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आपकी आज्ञासे अब मैं रमणीय अयोध्यापुरीको लौट जाऊँगा ।। ३७ ।।

मार्कण्डेय उवाच

तमुवाच पिता भूयः प्रहृष्टो भरतर्षभ ।

गच्छायोध्यां प्रशाधीति रामं रक्तान्तलोचनम् ।। ३८ ।।

सम्पूर्णानीह वर्षाणि चतुर्दश महाद्युते ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर! तदनन्तर पिता दशरथने अत्यन्त प्रसन्न होकर कुछ-कुछ लाल नेत्रोंवाले श्रीरामचन्द्रजीसे पुनः कहा—'महाद्युते! तुम्हारे वनवासके चौदह वर्ष पूरे हो गये हैं। अब तुम अयोध्या जाओ और वहाँका शासन अपने हाथमें लो' ।। ३८½ ।।

ततो देवान् नमस्कृत्य सुहृद्भिरभिनन्दितः ।। ३९ ।।

महेन्द्र इव पौलोम्या भार्यया स समेयिवान् ।

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने देवताओंको नमस्कार किया और सुहृदोंसे अभिनन्दित हो अपनी पत्नी सीतासे मिले, मानो इन्द्रका शचीसे मिलन हुआ हो ।। ३९½ ।।

ततो वरं ददौ तस्मै ह्यविन्ध्याय परंतपः ।। ४० ।।

त्रिजटां चार्थमानाभ्यां योजयामास राक्षसीम् ।

इसके बाद परंतप श्रीरामने अविन्ध्यको अभीष्ट वरदान दिया तथा त्रिजटा राक्षसीको धन और सम्मानसे संतुष्ट किया ।। ४०½ ।।

तमुवाच ततो ब्रह्मा देवैः शक्रपुरोगमैः ।। ४१ ।।

कौसल्यामातरिष्टांस्ते वरानद्य ददानि कान् ।

यह सब हो जानेपर इन्द्र आदि देवताओंसहित ब्रह्माने भगवान् रामसे कहा—'कौसल्यानन्दन! कहो, आज मैं तुम्हें कौन-कौनसे अभीष्ट वर प्रदान करूँ'? ।।

वव्रे रामः स्थितिं धर्मे शत्रुभिश्चापराजयम् ।। ४२ ।।

राक्षसैर्निहतानां च वानराणां समुद्भवम् ।

तब श्रीरामचन्द्रजीने उनसे ये वर माँगे—'मेरी धर्ममें सदा स्थिति रहे, शत्रुओंसे कभी पराजय न हो तथा राक्षसोंके द्वारा मारे गये वानर पुनः जीवित हो जायँ' ।। ४२½ ।।

ततस्ते ब्रह्मणा प्रोक्ते तथेति वचने तदा ।। ४३ ।।

समुत्तस्थुर्महाराज वानरा लब्धचेतसः ।

यह सुनकर ब्रह्माजीने कहा—'ऐसा ही हो।' महाराज! उनके इतना कहते ही सभी वानर चेतना प्राप्त करके जी उठे ।। ४३½ ।।

सीता चापि महाभागा वरं हनुमते ददौ ।। ४४ ।।

रामकीर्त्या समं पुत्र जीवितं ते भविष्यति ।

महासौभाग्यवती सीताने भी हनुमान्‌जीको यह वर दिया—'पुत्र! जबतक इस धरातलपर भगवान् श्रीरामकी कीर्ति बनी रहेगी, तबतक तुम्हारा जीवन स्थिर रहेगा ।। ४४½ ।।

दिव्यास्त्वामुपभोगाश्च मत्प्रसादकृताः सदा ॥ ४५ ॥
उपस्थास्यन्ति हनुमन्निति स्म हरिलोचन ।

'पिंगलनयन हनुमान्! मेरी कृपासे तुम्हें सदा ही दिव्य भोग प्राप्त होते रहेंगे' ॥ ४५½ ॥

ततस्ते प्रेक्षमाणानां तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ॥ ४६ ॥
अन्तर्धानं ययुर्देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः ।

तदनन्तर अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले वानरोंके देखते-देखते वहाँ इन्द्र आदि सब देवता अन्तर्धान हो गये ॥ ४६½ ॥

दृष्ट्वा रामं तु जानक्या संगतं शक्रसारथिः ॥ ४७ ॥
उवाच परमप्रीतः सुहृन्मध्य इदं वचः ।
देवगन्धर्वयक्षाणां मानुषासुरभोगिनाम् ॥ ४८ ॥
अपनीतं त्वया दुःखमिदं सत्यपराक्रम ।

श्रीरामचन्द्रजीको जनकनन्दिनी सीताके साथ विराजमान देख इन्द्रसारथि मातलिको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने सब सुहृदोंके बीचमें इस प्रकार कहा—'सत्यपराक्रमी श्रीराम! आपने देवता, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, असुर और नाग—इन सबका दुःख दूर कर दिया है ॥ ४७-४८½ ॥

सदेवासुरगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ॥ ४९ ॥
कथयिष्यन्ति लोकास्त्वां यावद् भूमिर्धरिष्यति ।

'जबतक यह पृथ्वी रहेगी, तबतक देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा नागोंसहित सम्पूर्ण जगत्के लोग आपकी कीर्तिकथाका गान करेंगे' ॥ ४९½ ॥

इत्येवमुक्त्वानुज्ञाप्य रामं शस्त्रभृतां बरम् ॥ ५० ॥
सम्पूज्यापाक्रमत् तेन रथेनादित्यवर्चसा ।

ऐसा कहकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञा ले उनकी पूजा करके सूर्यके समान तेजस्वी उसी रथके द्वारा मातलि स्वर्गलोकको चला गया ॥ ५०½ ॥

ततः सीतां पुरस्कृत्य रामः सौमित्रिणा सह ॥ ५१ ॥
सुग्रीवप्रमुखैश्चैव सहितः सर्ववानरैः ।
विधाय रक्षां लङ्कायां विभीषणपुरस्कृतः ॥ ५२ ॥
संततार पुनस्तेन सेतुना मकरालयम् ।
पुष्पकेण विमानेन खेचरेण विराजता ॥ ५३ ॥
कामगेन यथामुख्यैरमात्यैः संवृतो वशी ।

तदनन्तर जितेन्द्रिय भगवान् श्रीरामने लंकापुरीकी सुरक्षाका प्रबन्ध करके लक्ष्मण, सुग्रीव आदि सभी श्रेष्ठ वानरों, विभीषण तथा प्रधान-प्रधान सचिवोंके साथ सीताको आगे करके इच्छानुसार चलनेवाले, आकाशचारी, शोभाशाली पुष्पकविमानपर आरूढ़ हो उसीके द्वारा पूर्वोक्त सेतुमार्गसे ऊपर-ही-ऊपर पुनः मकरालय समुद्रको पार किया ।। ५१—५३½ ।।

ततस्तीरे समुद्रस्य यत्र शिश्ये स पार्थिवः ।। ५४ ।।
तत्रैवोवास धर्मात्मा सहितः सर्ववानरैः ।

समुद्रके इस पार आकर धर्मात्मा श्रीरामने पहले जहाँ शयन किया था, उसी स्थानपर सम्पूर्ण वानरोंके साथ विश्राम किया ।। ५४½ ।।

अथैनान् राघवः काले समानीयाभिपूज्य च ।। ५५ ।।
विसर्जयामास तदा रत्नैः संतोष्य सर्वशः ।

फिर श्रीरघुनाथजीने यथासमय सबको अपने पास बुलाकर सबका यथायोग्य आदर-सत्कार किया तथा रत्नोंकी भेंटसे संतुष्ट करके सभी वानरों और रीछोंको बिदा किया ।। ५५½ ।।

गतेषु वानरेन्द्रेषु गोपुच्छर्क्षेषु तेषु च ।। ५६ ।।
सुग्रीवसहितो रामः किष्किन्धां पुनरागमत् ।

जब वे रीछ, श्रेष्ठ वानर और लंगूर चले गये, तब सुग्रीवसहित श्रीरामने पुनः किष्किन्धापुरीको प्रस्थान किया ।। ५६½ ।।

विभीषणेनानुगतः सुग्रीवसहितस्तदा ।। ५७ ।।

पुष्पकेण विमानेन वैदेह्या दर्शयन् वनम् ।

किष्किन्धां तु समासाद्य रामः प्रहरतां वरः ।। ५८ ।।

अङ्गदं कृतकर्माणं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।

विभीषण और सुग्रीवके साथ पुष्पक-विमानद्वारा विदेहकुमारी सीताको वनकी शोभा दिखाते हुए योद्धाओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने किष्किन्धामें पहुँचकर अंगदको, जिन्होंने लंकाके युद्धमें महान् पराक्रम दिखाया था, युवराजके पदपर अभिषिक्त किया ।। ५७-५८½ ।।

ततस्तैरेव सहितो रामः सौमित्रिणा सह ।। ५९ ।।

यथागतेन मार्गेण प्रययौ स्वपुरं प्रति ।

इसके बाद लक्ष्मण तथा सुग्रीव आदिके साथ श्रीरामचन्द्रजी जिस मार्गसे आये थे, उसीके द्वारा अपनी राजधानी अयोध्याकी ओर प्रस्थित हुए ।। ५९½ ।।

अयोध्यां स समासाद्य पुरीं राष्ट्रपतिस्ततः ।। ६० ।।

भरताय हनूमन्तं दूतं प्रास्थापयत् तदा ।

तत्पश्चात् अयोध्यापुरीके निकट पहुँचकर राष्ट्रपति श्रीरामने हनुमानजीको दूत बनाकर भरतके पास भेजा ।।

लक्षयित्वेङ्गितं सर्वं प्रियं तस्मै निवेद्य वै ।। ६१ ।।

वायुपुत्रे पुनः प्राप्ते नन्दिग्राममुपागमत् ।

जब वायुपुत्र हनुमान्जी भरतजीकी सारी चेष्टाओंको लक्ष्य करके उन्हें श्रीरामचन्द्रजीके पुनरागमनका प्रिय समाचार सुनाकर लौट आये, तब श्रीरामचन्द्रजी नन्दिग्राममें आये ।। ६१½ ।।

स तत्र मलदिग्धाङ्गं भरतं चीरवाससम् ।। ६२ ।।

अग्रतः पादुके कृत्वा ददर्शासीनमासने ।

वहाँ आकर श्रीरामने देखा, भरत चीरवस्त्र पहने हुए हैं, उनका शरीर मैलसे भरा हुआ है और वे मेरी चरणपादुकाएँ आगे रखकर कुशासनपर बैठे हैं ।। ६२½ ।।

संगतो भरतेनाथ शत्रुघ्नेन च वीर्यवान् ।। ६३ ।।

राघवः सहसौमित्रिर्मुमुदे भरतर्षभ ।

युधिष्ठिर! लक्ष्मणसहित पराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी भरत और शत्रुघ्नसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए ।। ६३½ ।।

ततो भरतशत्रुघ्नौ समेतौ गुरुणा तदा ।। ६४ ।।

वैदेह्या दर्शनेनोभौ प्रहर्षं समवापतुः ।

भरत और शत्रुघ्नको भी उस समय बड़े भाईसे मिलकर तथा विदेहकुमारी सीताका दर्शन करके महान् हर्ष प्राप्त हुआ ।। ६४½ ।।

तस्मै तद् भरतो राज्यमागतायातिसत्कृतम् ।
न्यासं निर्यातयामास युक्तः परमया मुदा ।। ६५ ।।

फिर भरतजीने बड़ी प्रसन्नताके साथ अयोध्या पधारे हुए भगवान् श्रीरामको अपने पास धरोहरके रूपमें रखा हुआ (अयोध्याका) राज्य अत्यन्त सत्कारपूर्वक लौटा दिया ।। ६५ ।।

ततस्तं वैष्णवे शूरं नक्षत्रेऽभिमतेऽहनि ।
वसिष्ठो वामदेवश्च सहितावभ्यषिञ्चताम् ।। ६६ ।।

तत्पश्चात् विष्णुदेवतासम्बन्धी श्रवण नक्षत्रका पुण्य दिवस आनेपर वसिष्ठ और वामदेव दोनों ऋषियोंने मिलकर शूरशिरोमणि भगवान् रामका राज्याभिषेक किया ।। ६६ ।।

सोऽभिषिक्तः कपिश्रेष्ठं सुग्रीवं ससुहृज्जनम् ।
विभीषणं च पौलस्त्यमन्वजानाद् गृहान् प्रति ।। ६७ ।।

राज्याभिषेकका कार्य सम्पन्न हो जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने सुहृदोंसहित सुग्रीवको तथा पुलस्त्यकुलनन्दन विभीषणको अपने-अपने घर लौटनेकी आज्ञा दी ।। ६७ ।।

अभ्यर्च्य विविधैर्भोगैः प्रीतियुक्तौ मुदा युतौ ।
समाधायेतिकर्तव्यं दुःखेन विससर्ज ह ।। ६८ ।।

श्रीरामने भाँति-भाँतिके भोग अर्पित करके उन दोनोंका सत्कार किया। इससे वे बड़े प्रसन्न और आनन्दमग्न हो गये। तदनन्तर उन दोनोंको कर्तव्यकी शिक्षा देकर रघुनाथजीने उन्हें बड़े दुःखसे विदा किया ।। ६८ ।।

पुष्पकं च विमानं तत् पूजयित्वा स राघवः ।
प्रादाद् वैश्रवणायैव प्रीत्या स रघुनन्दनः ।। ६९ ।।

इसके बाद उस पुष्पकविमानकी पूजा करके रघुनन्दन श्रीरामने उसे कुबेरको ही प्रेमपूर्वक लौटा दिया ।। ६९ ।।

ततो देवर्षिसहितः सरितं गोमतीमनु ।
दशाश्वमेधानाजह्रे जारूथ्यान् स निरर्गलान् ।। ७० ।।

तदनन्तर देवर्षियोंसहित गोमती नदीके तटपर जाकर श्रीरघुनाथजीने दस अश्वमेध यज्ञ किये, जो स्तुतिके योग्य थे और जिनमें अन्न आदिकी इच्छासे आनेवाले याचकोंके लिये कभी द्वार बंद नहीं होता था ।। ७० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि श्रीरामाभिषेके एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २९१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें श्रीरामाभिषेकविषयक दो सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९१ ।।

द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मार्कण्डेयजीके द्वारा राजा युधिष्ठिरको आश्वासन

मार्कण्डेय उवाच

एवमेतन्महाबाहो रामेणामिततेजसा ।
प्राप्तं व्यसनमत्युग्रं वनवासकृतं पुरा ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—महाबाहु युधिष्ठिर! इस प्रकार प्राचीन कालमें अमिततेजस्वी श्रीरामने वनवासजनित अत्यन्त भंयकर कष्ट भोगा था ।। १ ।।

मा शुचः पुरुषव्याघ्र क्षत्रियोऽसि परंतप ।
बाहुवीर्याश्रिते मार्गे वर्तसे दीप्तनिर्णये ।। २ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह! तुम क्षत्रिय हो, शोक न करो। तुम तो उस मार्गपर चल रहे हो, जहाँ केवल अपने बाहुबलका भरोसा किया जाता है तथा जहाँ अभीष्ट फलकी प्राप्ति प्रत्यक्ष एवं असंदिग्ध है ।। २ ।।

न हि ते वृजिनं किंचिद् वर्तते परमण्वपि ।
अस्मिन् मार्गे निषीदेयुः सेन्द्रा अपि सुरसुराः ।। ३ ।।

श्रीरामके कष्टके सामने तुम्हारा कष्ट अणुमात्र भी नहीं है। इन्द्रसहित देवता तथा असुर भी इस क्षत्रियधर्मके मार्गपर चले हैं ।। ३ ।।

संहत्य निहतो वृत्रो मरुद्भिर्वज्रपाणिना ।
नमुचिश्चैव दुर्धर्षो दीर्घजिह्वा च राक्षसी ।। ४ ।।

वज्रपाणि इन्द्रने मरुद्गणोंके साथ मिलकर वृत्रासुर, दुर्धर्ष वीर नमुचि तथा दीर्घजिह्वा राक्षसीका वध किया था ।। ४ ।।

सहायवति सर्वार्थाः संतिष्ठन्तीह सर्वशः ।
किं नु तस्याजितं संख्ये यस्य भ्राता धनंजयः ।। ५ ।।

जो सहायकोंसे सम्पन्न है, उसके सभी मनोरथ इस जगत्में सब प्रकारसे सिद्ध होते हैं। फिर जिसे धनंजय-जैसा भाई मिला हो, वह युद्धमें किसे परास्त नहीं कर सकता ।। ५ ।।

अयं च बलिनां श्रेष्ठो भीमो भीमपराक्रमः ।
युवानौ च महेष्वासौ वीरौ माद्रवतीसुतौ ।। ६ ।।

ये भयंकर पराक्रमी भीमसेन बलवानोंमें श्रेष्ठ हैं। माद्रीनन्दन वीर नकुल-सहदेव भी महान् धनुर्धर तथा नवयुवक हैं ।। ६ ।।

एभिः सहायैः कस्मात् त्वं विषीदसि परंतप ।
य इमे वज्रिणः सेनां जयेयुः समरुद्गणाम् ।। ७ ।।

परंतप! इन सब सहायकोंके होते हुए तुम विषाद क्यों करते हो? तुम्हारे ये भाई तो मरुद्गणोंसहित वज्रधारी इन्द्रकी सेनाको भी परास्त कर सकते हैं ।। ७ ।।

त्वमप्येभिर्महेष्वासैः सहायैर्देवरूपिभिः ।
विजेष्यसे रणे सर्वानमित्रान् भरतर्षभ ।। ८ ।।

भरतश्रेष्ठ! तुम भी इन देवस्वरूप महाधनुर्धर भाइयोंकी सहायतासे अपने समस्त शत्रुओंको युद्धमें जीत लोगे ।। ८ ।।

इतश्च त्वमिमां पश्य सैन्धवेन दुरात्मना ।
बलिना वीर्यमत्तेन हृतामेभिर्महात्मभिः ।। ९ ।।
आनीतां द्रौपदीं कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
जयद्रथं च राजानं विजितं वशमागतम् ।। १० ।।

इधर इस द्रौपदीकी ओर देखो। अपने पराक्रमके मदसे उन्मत्त महाबली दुरात्मा सिन्धुराजने इसे हर लिया था; परंतु तुम्हारे इन महात्मा बन्धुओंने अत्यन्त दुष्कर कर्म करके द्रुपदकुमारी कृष्णाको पुनः लौटा लिया तथा राजा जयद्रथको भी परास्त करके अपने अधीन कर लिया था ।। ९-१० ।।

असहायेन रामेण वैदेही पुनराहृता ।
हत्वा संख्ये दशग्रीवं राक्षसं भीमविक्रमम् ।। ११ ।।

श्रीरामचन्द्रजीके तो कोई स्वजातीय सहायक भी नहीं थे, तो भी उन्होंने युद्धमें भंयकर पराक्रमी राक्षस दशाननका वध करके विदेहनन्दिनी सीताको पुनः लौटा लिया ।। ११ ।।

यस्य शाखामृगा मित्राण्यृक्षाः कालमुखास्तथा ।
जात्यन्तरगता राजन्नेतद् बुद्ध्यानुचिन्तय ।। १२ ।।

राजन्! दूसरी योनिके प्राणी वानर, लंगूर तथा रीछ ही उनके मित्र अथवा सहायक थे (किंतु तुम्हारे तो चार शूरवीर भाई सहायक हैं)। इस बातपर बुद्धिद्वारा विचार करो ।। १२ ।।

तस्मात् स त्वं कुरुश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ ।
त्वद्विधा हि महात्मानो न शोचन्ति परंतप ।। १३ ।।

अतः कुरुश्रेष्ठ! भरतभूषण! तुम शोक न करो। क्योंकि परंतप! तुम्हारे-जैसे महात्मा पुरुष कभी शोक नहीं करते ।। १३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितो राजा मार्कण्डेयेन धीमता ।
त्यक्त्वा दुःखमदीनात्मा पुनरेप्येनमब्रवीत् ।। १४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! परम बुद्धिमान् मार्कण्डेय मुनिके इस प्रकार आश्वासन देनेपर उदार हृदयवाले राजा युधिष्ठिर दुःख-शोक छोड़कर पुनः उनसे इस प्रकार

बोले ।। १४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि रामोपाख्यानपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २९२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत रामोपाख्यानपर्वमें युधिष्ठिरको आश्वासनविषयक दो सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९२ ।।

(पतिव्रतामाहात्म्यपर्व)

त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजा अश्वपतिको देवी सावित्रीके वरदानसे सावित्री नामक कन्याकी प्राप्ति तथा सावित्रीका पतिवरणके लिये विभिन्न देशोंमें भ्रमण

युधिष्ठिर उवाच

नात्मानमनुशोचामि नेमान् भ्रातॄन् महामुने ।
हरणं चापि राज्यस्य यथेमां द्रुपदात्मजाम् ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—महामुने! इस द्रुपदकुमारीके लिये मुझे जैसा शोक होता है, वैसा न तो अपने लिये, न इन भाइयोंके लिये न राज्य छिन जानेके लिये ही होता है ।। १ ।।

द्यूते दुरात्मभिः क्लिष्टाः कृष्णया तारिता वयम् ।
जयद्रथेन च पुनर्वनाच्चापि हृता बलात् ।। २ ।।

दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंने जूएके समय हमलोगोंको भारी संकटमें डाल दिया था, परंतु इस द्रौपदीने हमें बचा लिया। फिर जयद्रथने इस वनसे इसका बलपूर्वक अपहरण किया ।। २ ।।

अस्ति सीमन्तिनी काचिद् दृष्टपूर्वापि वा श्रुता ।
पतिव्रता महाभागा यथेयं द्रुपदात्मजा ।। ३ ।।

क्या आपने किसी ऐसी परम सौभाग्यवती पतिव्रता नारीको पहले कभी देखा अथवा सुना है, जैसी यह द्रौपदी है? ।। ३ ।।

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन् कुलस्त्रीणां महाभाग्यं युधिष्ठिर ।
सर्वमेतद् यथा प्राप्तं सावित्र्या राजकन्यया ।। ४ ।।

मार्कण्डेयजी बोले—राजा युधिष्ठिर! राजकन्या सावित्रीने कुलकामिनियोंके लिये परम सौभाग्यरूप यह पातिव्रत्य आदि सब सद्‌गुणसमूह जिस प्रकार प्राप्त किया था, वह बताता हूँ, सुनो ।। ४ ।।

आसीन्मद्रेषु धर्मात्मा राजा परमधार्मिकः ।
ब्रह्मण्यश्च महात्मा च सत्यसंधो जितेन्द्रियः ।। ५ ।।

प्राचीनकालकी बात है, मद्रदेशमें एक परम धर्मात्मा राजा राज्य करते थे। वे ब्राह्मण-भक्त, विशालहृदय, सत्य-प्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय थे ।। ५ ।।

यज्वा दानपतिर्दक्षः पौरजानपदप्रियः ।
पार्थिवोऽश्वपतिर्नाम सर्वभूतहिते रतः ।। ६ ।।

वे यज्ञ करनेवाले, दानाध्यक्ष, कार्यकुशल, नगर और जनपदके लोगोंके परम प्रिय तथा सम्पूर्ण भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले भूपाल थे। उनका नाम अश्वपति था ।। ६ ।।

क्षमावाननपत्यश्च सत्यवाग् विजितेन्द्रियः ।
अतिक्रान्तेन वयसा संतापमुपजग्मिवान् ।। ७ ।।

राजा अश्वपति क्षमाशील, सत्यवादी और जितेन्द्रिय होनेपर भी संतानहीन थे। बहुत अधिक अवस्था बीत जानेपर इसके कारण उनके मनमें बड़ा संताप हुआ ।। ७ ।।

अपत्योत्पादनार्थं च तीव्रं नियममास्थितः ।
काले परिमिताहारो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।। ८ ।।

अतः उन्होंने संतानकी उत्पत्तिके लिये कठोर नियमोंका आश्रय लिया। वे निश्चित समयपर थोड़ा-सा भोजन करते और ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए इन्द्रियोंको संयममें रखते थे ।। ८ ।।

हुत्वा शतसहस्रं स सावित्र्या राजसत्तमः ।
षष्ठे षष्ठे तदा काले बभूव मितभोजनः ।। ९ ।।

राजाओंमें श्रेष्ठ अश्वपति ब्राह्मणोंके साथ प्रतिदिन गायत्री-मन्त्रसे एक लाख आहुति देकर दिनके छठे भागमें परिमित भोजन करते थे ।। ९ ।।

एतेन नियमेनासीद् वर्षाण्यष्टादशैव तु ।
पूर्णे त्वष्टादशे वर्षे सावित्री तुष्टिमभ्यगात् ।। १० ।।

उनको इस नियमसे रहते हुए अठारह वर्ष बीत गये। अठारहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर सावित्रीदेवी संतुष्ट हुईं ।। १० ।।

रूपिणी तु तदा राजन् दर्शयामास तं नृपम् ।
अग्निहोत्रात् समुत्थाय हर्षेण महतान्विता ।
उवाच चैनं वरदा वचनं पार्थिवं तदा ।। ११ ।।
(सा तमश्वपतिं राजन् सावित्री नियमे स्थितम् ।।)

राजन्! तब मूर्तिमती सावित्रीदेवीने अग्निहोत्रकी अग्निसे प्रकट होकर बड़े हर्षके साथ राजाको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और वर देनेके लिये उद्यत हो अनुष्ठानके नियमोंमें स्थित उस राजा अश्वपतिसे इस प्रकार कहा ।।

सावित्र्युवाच

ब्रह्मचर्येण शुद्धेन दमेन नियमेन च ।

सर्वात्मना च भक्त्या च तुष्टास्मि तव पार्थिव ।। १२ ।।

सावित्री बोली—राजन्! मैं तुम्हारे विशुद्ध ब्रह्मचर्य, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह तथा सम्पूर्ण हृदयसे की हुई भक्तिके द्वारा बहुत संतुष्ट हुई हूँ ।। १२ ।।

वरं वृणीष्वाश्वपते मद्रराज यदीप्सितम् ।
न प्रमादश्च धर्मेषु कर्तव्यस्ते कथञ्चन ।। १३ ।।

मद्रराज अश्वपते! तुम्हें जो अभीष्ट हो, वह वर माँगो। धर्मोंके पालनमें तुम्हें कभी किसी तरह भी प्रमाद नहीं करना चाहिये ।। १३ ।।

अश्वपतिरुवाच

अपत्यार्थः समारम्भः कृतो धर्मेप्सया मया ।
पुत्रा मे बहवो देवि भवेयुः कुलभावनाः ।। १४ ।।

अश्वपतिने कहा—देवि! मैंने धर्मप्राप्तिकी इच्छासे संतानके लिये यह अनुष्ठान आरम्भ किया था। आपकी कृपासे मुझे बहुत-से वंशप्रवर्तक पुत्र प्राप्त हों ।। १४ ।।

तुष्टासि यदि मे देवि वरमेतं वृणोम्यहम् ।
संतानं परमो धर्म इत्याहुर्मां द्विजातयः ।। १५ ।।

देवि! यदि आप प्रसन्न हैं तो मैं आपसे यह संतानसम्बन्धी वर ही माँगता हूँ; क्योंकि द्विजातिगण मुझसे बराबर यही कहते हैं कि ‘न्याययुक्त संतानोत्पादन (भी) परम धर्म है’ ।। १५ ।।

सावित्र्युवाच

पूर्वमेव मया राजन्नभिप्रायमिमं तव ।
ज्ञात्वा पुत्रार्थमुक्तो वै भगवांस्ते पितामहः ।। १६ ।।

सावित्री बोली—राजन्! मैंने पहले ही तुम्हारे इस अभिप्रायको जानकर पुत्रके लिये भगवान् ब्रह्माजीसे निवेदन किया था ।। १६ ।।

प्रसादाच्चैव तस्मात् ते स्वयम्भुविहिताद् भुवि ।
कन्या तेजस्विनी सौम्य क्षिप्रमेव भविष्यति ।। १७ ।।

अतः सौम्य! भगवान् ब्रह्माजीके कृपाप्रसादसे तुम्हें शीघ्र ही इस पृथ्वीपर एक तेजस्विनी कन्या प्राप्त होगी ।। १७ ।।

उत्तरं च न ते किंचिद् व्याहर्तव्यं कथञ्चन ।
पितामहनिसर्गेण तुष्टा ह्येतद् ब्रवीमि ते ।। १८ ।।

इस विषयमें तुम्हें किसी तरह भी कोई प्रतिवाद या उत्तर नहीं देना चाहिये। मैं ब्रह्माजीकी आज्ञासे संतुष्ट होकर तुमसे यह बात कहती हूँ ।। १८ ।।

मार्कण्डेय उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय सावित्र्या वचनं नृपः ।
प्रसादयामास पुनः क्षिप्रमेतद् भविष्यति ।। १९ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! सावित्रीदेवीकी बात सुनकर राजाने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञाका पालन करनेकी प्रतिज्ञा की और पुनः सावित्रीदेवीको इस उद्देश्यसे प्रसन्न किया कि यह भविष्यवाणी शीघ्र सफल हो ।। १९ ।।

अन्तर्हितायां सावित्र्यां जगाम स्वपुरं नृपः ।
स्वराज्ये चावसद् वीरः प्रजा धर्मेण पालयन् ।। २० ।।

जब सावित्रदेवी अन्तर्धान हो गयीं, तब वीर राजा अश्वपति भी अपने नगरको चले गये और प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते हुए अपने राज्यमें ही रहने लगे ।।

कस्मिंश्चित् तु गते काले स राजा नियतव्रतः ।
ज्येष्ठायां धर्मचारिण्यां महिष्यां गर्भमादधे ।। २१ ।।

नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजा अश्वपतिने किसी समय अपनी धर्मपरायणा बड़ी रानीमें गर्भ स्थापित किया ।। २१ ।।

राजपुत्र्यास्तु गर्भः स मालव्या भरतर्षभ ।
व्यवर्धत तदा शुक्ले तारापतिरिवाम्बरे ।। २२ ।।

भरतश्रेष्ठ! अश्वपतिकी पत्नी मालवदेशकी राजकुमारी थीं। उनका वह गर्भ आकाशमें शुक्लपक्षीय चन्द्रमाकी भाँति दिनोदिन बढ़ने लगा ।। २२ ।।

प्राप्ते काले तु सुषुवे कन्यां राजीवलोचनाम् ।
क्रियाश्च तस्या मुदितश्चक्रे च नृपसत्तमः ।। २३ ।।

समय प्राप्त होनेपर महारानीने एक कमलनयनी कन्याको जन्म दिया तथा नृपश्रेष्ठ अश्वपतिने अत्यन्त प्रसन्न होकर उसके जातकर्म आदि संस्कार सम्पन्न करवाये ।। २३ ।।

सावित्र्या प्रीतया दत्ता सावित्र्या हुतया ह्यपि ।
सावित्रीत्येव नामास्याश्चक्रुर्विप्रास्तथा पिता ।। २४ ।।

सावित्रीने प्रसन्न होकर उस कन्याको दिया था तथा गायत्री-मन्त्रद्वारा आहुति देनेसे ही सावित्रीदेवी प्रसन्न हुई थीं, अतः ब्राह्मणों तथा पिताने उस कन्याका नाम 'सावित्री' ही रखा ।। २४ ।।

सा विग्रहवतीव श्रीर्व्यवर्धत नृपात्मजा ।
कालेन चापि सा कन्या यौवनस्था बभूव ह ।। २५ ।।

वह राजकन्या मूर्तिमती लक्ष्मीके समान बढ़ने लगी और यथासमय उसने युवावस्थामें प्रवेश किया ।। २५ ।।

तां सुमध्यां पृथुश्रोणीं प्रतिमां काञ्चनीमिव ।
प्राप्तेयं देवकन्येति दृष्ट्वा सम्मेनिरे जनाः ।। २६ ।।

उसके शरीरका कटिभाग परम सुन्दर तथा नितम्बदेश पृथुल था। वह सुवर्णकी बनी हुई प्रतिमा-सी जान पड़ती थी। उसे देखकर सब लोग यही मानते थे कि यह कोई देवकन्या आ गयी है ।। २६ ।।

तां तु पद्मपलाशाक्षीं ज्वलन्तीमिव तेजसा ।
न कश्चिद् वरयामास तेजसा प्रतिवारितः ।। २७ ।।

उसके नेत्रयुगल विकसित नील कमलदलके समान मनोहर थे। वह अपने तेजसे प्रज्वलित-सी जान पड़ती थी। उसके तेजसे प्रतिहत हो जानेके कारण कोई भी राजा या राजकुमार उसका वरण नहीं कर सका ।। २७ ।।

अथोपोष्य शिरःस्नाता देवतामभिगम्य सा ।
हुत्वाग्निं विधिवद् विप्रान् वाचयामास पर्वणि ।। २८ ।।

एक दिन किसी पर्वके अवसरपर उपवासपूर्वक शिरसे स्नान करके सावित्री देवताके दर्शनके लिये गयी और विधिपूर्वक अग्निमें आहुति दे उसने ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया ।। २८ ।।

ततः सुमनसः शेषाः प्रतिगृह्य महात्मनः ।
पितुः समीपमगमद् देवी श्रीरिव रूपिणी ।। २९ ।।

तदनन्तर इष्टदेवताका प्रसाद लेकर मूर्तिमती लक्ष्मीदेवीके समान सुशोभित होती हुई वह अपने महात्मा पिताके समीप गयी ।। २९ ।।

साभिवाद्य पितुः पादौ शेषाः पूर्वं निवेद्य च ।
कृताञ्जलिर्वरारोहा नृपतेः पार्श्वमास्थिता ।। ३० ।।

पहले प्रसाद आदि निवेदन करके उसने पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर वह सुन्दरी कन्या हाथ जोड़कर पिताके पार्श्वभागमें खड़ी हो गयी ।। ३० ।।

यौवनस्थां तु तां दृष्ट्वा स्वां सुतां देवरूपिणीम् ।
अयाच्यमानां स वरैर्नृपतिर्दुःखितोऽभवत् ।। ३१ ।।

अपनी देवस्वरूपिणी पुत्रीको युवावस्थामें प्रविष्ट हुई देख और अभीतक इसके लिये किसी वरने याचना नहीं की, यह सोचकर मद्रनरेशको बड़ा दुःख हुआ ।। ३१ ।।

राजोवाच

पुत्रि प्रदानकालस्ते न च कश्चिद् वृणोति माम् ।
स्वयमन्विच्छ भर्तारं गुणैः सदृशमात्मनः ।। ३२ ।।

राजा बोले—बेटी! अब किसी वरके साथ तेरा ब्याह कर देनेका समय आ गया है, परंतु (तेरे तेजसे प्रतिहत हो जानेके कारण) कोई भी मुझसे तुझे माँग नहीं रहा है। इसलिये तू स्वयं ही ऐसे वरकी खोज कर ले जो गुणोंमें तेरे समान हो ।। ३२ ।।

प्रार्थितः पुरुषो यश्च स निवेद्यस्त्वया मम ।

विमृश्याहं प्रदास्यामि वरय त्वं यथेप्सितम् ।। ३३ ।।

जिस पुरुषको तू पतिरूपमें प्राप्त करना चाहे, उसका मुझे परिचय दे देना; फिर मैं सोच-विचारकर उसके साथ तेरा ब्याह कर दूँगा। तू मनोवांछित वरका वरण कर ले ।। ३३ ।।

श्रुतं हि धर्मशास्त्रेषु पठ्यमानं द्विजातिभिः ।
तथा त्वमपि कल्याणि गदतो मे वचः शृणु ।। ३४ ।।

कल्याणि! मैंने ब्राह्मणोंके मुखसे धर्मशास्त्रोंकी जो बात सुनी है, उसे बता रहा हूँ, तू भी सुन ले— ।। ३४ ।।

अप्रदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन् पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्तश्च वाच्यो मातुररक्षिता ।। ३५ ।।

'विवाहके योग्य हो जानेपर कन्याका दान न करनेवाला पिता निन्दनीय है। ऋतुकालमें पत्नीके साथ समागम न करनेवाला पति निन्दाका पात्र है तथा पतिके मर जानेपर विधवा माताकी रक्षा न करनेवाला पुत्र धिक्कारके योग्य है' ।। ३५ ।।

इदं मे वचनं श्रुत्वा भर्तुरन्वेषणे त्वर ।
देवतानां यथा वाच्यो न भवेयं तथा कुरु ।। ३६ ।।

मेरी यह बात सुनकर तू पतिकी खोज करनेमें शीघ्रता कर। ऐसी चेष्टा कर, जिससे मैं देवताओंकी दृष्टिमें अपराधी न बनूँ ।। ३६ ।।

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा दुहितरं तथा वृद्धांश्च मन्त्रिणः ।
व्यादिदेशानुयात्रं च गम्यतां चेत्यचोदयत् ।। ३७ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पुत्रीसे ऐसा कहकर राजाने बूढ़े मन्त्रियोंको आज्ञा दी—'आपलोग यात्राके लिये आवश्यक सामग्री (वाहन आदि) लेकर सावित्रीके साथ जायँ' ।। ३७ ।।

साभिवाद्य पितुः पादौ व्रीडितेव मनस्विनी ।
पितुर्वचनमाज्ञाय निर्जगामाविचारितम् ।। ३८ ।।

मनस्विनी सावित्रीने कुछ लज्जित-सी होकर पिताके चरणोंमें प्रणाम किया और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके बिना कुछ सोच-विचार किये उसने प्रस्थान कर दिया ।। ३८ ।।

सा हैमं रथमास्थाय स्थविरैः सचिवैर्वृता ।
तपोवनानि रम्याणि राजर्षीणां जगाम ह ।। ३९ ।।

सुवर्णमय रथपर सवार हो बूढ़े मन्त्रियोंसे घिरी हुई वह राजकन्या राजर्षियोंके सुरम्य तपोवनोंमें गयी ।। ३९ ।।

मान्यानां तत्र वृद्धानां कृत्वा पादाभिवादनम् ।
वनानि क्रमशस्तात सर्वाण्येवाभ्यगच्छत ।। ४० ।।

तात! वहाँ माननीय वृद्धजनोंकी चरणवन्दना करके उसने क्रमशः सभी वनोंमें भ्रमण किया ।। ४० ।।

एवं तीर्थेषु सर्वेषु धनोत्सर्गं नृपात्मजा ।
कुर्वती द्विजमुख्यानां तं तं देशं जगाम ह ।। ४१ ।।

इस प्रकार राजकुमारी सावित्री सभी तीर्थोंमें जाकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धनदान करती हुई विभिन्न देशोंमें घूमती फिरी ।। ४१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २९३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४१½ श्लोक हैं)

चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सावित्रीका सत्यवान्‌के साथ विवाह करनेका दृढ़ निश्चय

मार्कण्डेय उवाच

अथ मद्राधिपो राजा नारदेन समागतः ।
उपविष्टः सभामध्ये कथायोगेन भारत ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतनन्दन युधिष्ठिर! एक दिन मद्रराज अश्वपति अपनी सभामें बैठे हुए देवर्षि नारदजीके साथ मिलकर बातें कर रहे थे ।। १ ।।

ततोऽभिगम्य तीर्थानि सर्वाण्येवाश्रमांस्तथा ।
आजगाम पितुर्वेश्म सावित्री सह मन्त्रिभिः ।। २ ।।

उसी समय सावित्री सब तीर्थों और आश्रमोंमें घूम-फिरकर मन्त्रियोंके साथ अपने पिताके घर आ पहुँची ।। २ ।।

नारदेन सहासीनं सा दृष्ट्वा पितरं शुभा ।
उभयोरेव शिरसा चक्रे पादाभिवादनम् ।। ३ ।।

वहाँ पिताको नारदजीके साथ बैठे हुए देखकर शुभलक्षणा सावित्रीने दोनोंके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया ।। ३ ।।

नारद उवाच

क्व गताभूत् सुतेयं ते कुतश्चैवागता नृप ।
किमर्थं युवतीं भर्त्रे न चैनां सम्प्रयच्छसि ।। ४ ।।

नारदजीने पूछा—राजन्! आपकी यह पुत्री कहाँ गयी थी और कहाँसे आ रही है? अब तो यह युवती हो गयी है। आप किसी वरके साथ इसका विवाह क्यों नहीं कर देते हैं? ।। ४ ।।

अश्वपतिरुवाच

कार्येण खल्वनेनैव प्रेषिताद्यैव चागता ।
एतस्याः शृणु देवर्षे भर्तारं योऽनया वृतः ।। ५ ।।

अश्वपतिने कहा—देवर्षे! इसे मैंने इसी कार्यसे भेजा था और यह अभी-अभी लौटी है। इसने अपने लिये जिस पतिका वरण किया है, उसका नाम इसीके मुखसे सुनिये ।। ५ ।।

मार्कण्डेय उवाच

सा ब्रूहि विस्तरेणेति पित्रा संचोदिता शुभा ।

तदैव तस्य वचनं प्रतिगृह्योदमब्रवीत् ।। ६ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! पिताके यह कहनेपर कि 'बेटी! तू अपनी यात्राका वृतान्त विस्तारके साथ बतला' शुभलक्षणा सावित्री उनकी आज्ञा मानकर उस समय इस प्रकार बोली ।। ६ ।।

सावित्र्युवाच

आसीच्छाल्वेषु धर्मात्मा क्षत्रियः पृथिवीपतिः ।
द्युमत्सेन इति ख्यातः पश्चाच्चान्धो बभूव ह ।। ७ ।।

सावित्रीने कहा—पिताजी! शाल्वदेशमें द्युमत्सेन नामसे प्रसिद्ध एक धर्मात्मा क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। पीछे वे अंधे हो गये ।। ७ ।।

विनष्टचक्षुषस्तस्य बालपुत्रस्य धीमतः ।
सामीप्येन हृतं राज्यं छिद्रेऽस्मिन् पूर्ववैरिणा ।। ८ ।।

उनकी आँखें चली गयीं और पुत्र अभी बाल्यावस्थामें था, यह अवसर पाकर उनके पूर्वशत्रु एक पड़ोसी राजाने आक्रमण किया और उस बुद्धिमान् नरेशका राज्य हर लिया ।। ८ ।।

स बालवत्सया सार्धं भार्यया प्रस्थितो वनम् ।

महारण्यं गतश्चापि तपस्तेपे महाव्रतः ।। ९ ।।
तस्य पुत्रः पुरे जातः संवृद्धश्च तपोवने ।
सत्यवाननुरूपो मे भर्तेति मनसा वृतः ।। १० ।।

तब अपनी छोटी अवस्थाके पुत्रवाली पत्नीके साथ वे वनमें चले आये और विशाल वनके भीतर रहकर बड़े-बड़े व्रतोंका पालन करते हुए तपस्या करने लगे। उनके एक पुत्र हैं सत्यवान्, जो पैदा तो नगरमें हुए हैं, परंतु उनका पालन-पोषण एवं संवर्धन तपोवनमें हुआ है। वे ही मेरे योग्य पति हैं। उन्हींका मैंने मन-ही-मन वरण किया है ।। ९-१० ।।

नारद उवाच

अहो बत महत् पापं सावित्र्या नृपते कृतम् ।
अजानन्त्या यदनया गुणवान् सत्यवान् वृतः ।। ११ ।।

(यह सुनकर) नारदजी बोल उठे—अहो! यह बड़े खेदकी बात है। राजन्! सावित्रीने बिना जाने ही अपना बड़ा अनिष्ट किया है, जो कि इसने सत्यवान्‌को गुणवान् समझकर वरण कर लिया है ।। ११ ।।

सत्यं वदत्यस्य पिता सत्यं माता प्रभाषते ।
तथास्य ब्राह्मणाश्चक्रुर्नामैतत् सत्यवानिति ।। १२ ।।

इस राजकुमारके पिता सदा सत्य बोलते हैं। इसकी माता भी सत्यभाषण करती है। इसलिये ब्राह्मणोंने इसका नाम 'सत्यवान्' रख दिया था ।। १२ ।।

बालस्याश्वाः प्रियाश्चास्य करोत्यश्वांश्च मृन्मयान् ।
चित्रेऽपि विलिखत्यश्वांश्चित्राश्व इति चोच्यते ।। १३ ।।

इस बालकको अश्व बहुत प्रिय हैं। यह मिट्टीके अश्व बनाया करता है और चित्र लिखते समय भी अश्वोंको ही अंकित करता है, अतः इसे 'चित्राश्व' भी कहते हैं ।। १३ ।।

राजोवाच

अपीदानीं स तेजस्वी बुद्धिमान् वा नृपात्मजः ।
क्षमावानपि वा शूरः सत्यवान् पितृवत्सलः ।। १४ ।।

राजाने पूछा—देवर्षे! इस समय पितृभक्त राजकुमार सत्यवान् तेजस्वी, बुद्धिमान्, क्षमावान् और शूरवीर तो है न? ।। १४ ।।

नारद उवाच

विवस्वानिव तेजस्वी बृहस्पतिसमो मतौ ।
महेन्द्र इव वीरश्च वसुधेव समन्वितः ।। १५ ।।

नारदजीने कहा—वह राजकुमार सूर्यके समान तेजस्वी, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान्, इन्द्रके समान वीर और पृथ्वीके समान क्षमाशील है ।। १५ ।।

अश्वपतिरुवाच

अपि राजात्मजो दाता ब्रह्मण्यश्चापि सत्यवान् ।
रूपवानप्युदारो वाप्यथवा प्रियदर्शनः ।। १६ ।।

अश्वपतिने पूछा—क्या राजपुत्र सत्यवान् दानी, ब्राह्मणभक्त, रूपवान्, उदार अथवा प्रियदर्शन भी है? ।।

नारद उवाच

सांकृते रन्तिदेवस्य स्वशक्त्या दानतः समः ।
ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शिबिरौशीनरो यथा ।। १७ ।।

नारदजीने कहा—सत्यवान् अपनी शक्तिके अनुसार दान देनेमें संकृतिनन्दन रन्तिदेवके समान है तथा उशीनरपुत्र शिबिके समान ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी है ।। १७ ।।

ययातिरिव चोदारः सोमवत् प्रियदर्शनः ।
रूपेणान्यतमोऽश्विभ्यां द्युमत्सेनसुतो बली ।। १८ ।।

वह ययातिकी भाँति उदार और चन्द्रमाके समान प्रियदर्शन है। द्युमत्सेनका वह बलवान् पुत्र रूपवान् तो इतना है मानो अश्विनीकुमारोंमेंसे ही एक हो ।। १८ ।।

स दान्तः स मृदुः शूरः स सत्यः संयतेन्द्रियः ।
स मैत्रः सोऽनसूयश्च स ह्रीमान् द्युतिमांश्च सः ।। १९ ।।

वह जितेन्द्रिय, मृदुल, शूरवीर, सत्यस्वरूप, इन्द्रियसंयमी, सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला, अदोषदर्शी, लज्जावान् और कान्तिमान् है ।। १९ ।।

नित्यशश्चार्जवं तस्मिन् स्थितिस्तस्यैव च ध्रुवा ।
संक्षेपतस्तपोवृद्धैः शीलवृद्धैश्च कथ्यते ।। २० ।।

तप और शीलमें बढ़े हुए वृद्ध पुरुष संक्षेपमें उसके विषयमें ऐसा कहते हैं कि राजकुमार सत्यवान्‌में सरलताका नित्य निवास है और उस सद्‌गुणमें उसकी अविचल स्थिति है ।। २० ।।

अश्वपतिरुवाच

गुणैरुपेतं सर्वैस्तं भगवन् प्रब्रवीषि मे ।
दोषानप्यस्य मे ब्रूहि यदि सन्तीह केचन ।। २१ ।।

अश्वपति बोले—भगवन्! आप तो उसे सभी गुणोंसे सम्पन्न ही बता रहे हैं, यदि उसमें कोई दोष हों तो उन्हें भी बतलाइये ।। २१ ।।

नारद उवाच

एक एवास्य दोषो हि गुणानाक्रम्य तिष्ठति ।

स च दोषः प्रयत्नेन न शक्यमतिवर्तितुम् ।। २२ ।।

नारदजीने कहा—दोष तो एक ही है, जो उसके सभी गुणोंको दबाकर स्थित है। उस दोषको प्रयत्न करके भी हटाया नहीं जा सकता ।। २२ ।।

एको दोषोऽस्ति नान्योऽस्य सोऽद्यप्रभृति सत्यवान् ।
संवत्सरेण क्षीणायुर्देहन्यासं करिष्यति ।। २३ ।।

आजसे लेकर एक वर्ष पूर्ण होनेतक सत्यवान्‌की आयु पूर्ण हो जायगी और वह शरीर त्याग देगा। केवल यही दोष उसमें है, दूसरा नहीं ।। २३ ।।

राजोवाच

एहि सावित्रि गच्छस्व अन्यं वरय शोभने ।
तस्य दोषो महानेको गुणानाक्रम्य च स्थितः ।। २४ ।।

राजा बोले—बेटी सावित्री! यहाँ आ। शोभने! तू पुनः यात्रा कर और दूसरे किसी पुरुषका वरण कर ले। सत्यवान्‌का यह एक ही बहुत बड़ा दोष है जो उसके सभी गुणोंको दबाकर स्थित है ।। २४ ।।

यथा मे भगवानाह नारदो देवसत्कृतः ।
संवत्सरेण सोऽल्पायुर्देहन्यासं करिष्यति ।। २५ ।।

जैसा कि देववदिन्त भगवान् नारदजी कह रहे हैं, सत्यवान्‌की आयु बहुत थोड़ी है और वह एक ही वर्षमें देहत्याग कर देगा ।। २५ ।।

सावित्र्युवाच

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ।। २६ ।।
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।
सकृद् वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम् ।। २७ ।।

सावित्री बोली—भाइयोंमें धनका बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या एक ही बार दी जाती है तथा श्रेष्ठ दाता ‘मैं दूँगा’, यह कहकर एक ही बार वचनदान करता है। ये तीन बातें एक-एक बार ही होती हैं। सत्यवान् दीर्घायु हों या अल्पायु, गुणवान् हों या गुणहीन; मैंने उन्हें एक बार अपना पति चुन लिया। अब मैं दूसरे किसी पुरुषका वरण नहीं कर सकती ।। २६-२७ ।।

मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते ।
क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः ।। २८ ।।

पहले मनसे निश्चय करके फिर वाणीद्वारा कहा जाता है। तत्पश्चात् उसे कार्यरूपमें परिणत किया जाता है, अतः इस विषयमें मेरा मन ही प्रमाण है ।। २८ ।।

नारद उवाच

स्थिरा बुद्धिर्नरश्रेष्ठ सावित्र्या दुहितुस्तव ।
नैषा वारयितुं शक्या धर्मादस्मात् कथंचन ।। २९ ।।

नारदजी बोले—नरश्रेष्ठ! आपकी पुत्री सावित्रीकी बुद्धि स्थिर है। इसे इस धर्ममार्गसे किसी तरह हटाया नहीं जा सकता ।। २९ ।।

नान्यस्मिन् पुरुषे सन्ति ये सत्यवति वै गुणाः ।
प्रदानमेव तस्मान्मे रोचते दुहितुस्तव ।। ३० ।।

सत्यवान्‌में जो गुण हैं, वे दूसरे किसी पुरुषमें हैं भी नहीं। अतः मुझे आपकी पुत्रीका सत्यवान्‌के साथ विवाह कर देना ही ठीक मालूम पड़ता है ।। ३० ।।

राजोवाच

अविचाल्यं तदुक्तं यत् तथ्यं भगवता वचः ।
करिष्याम्येतदेवं च गुरुर्हि भगवान् मम ।। ३१ ।।

राजा बोले—देवर्षे! आपने जो बात कही है, वह ठीक है। उसे टाला नहीं जा सकता। अतः मैं ऐसा ही करूँगा, क्योंकि आप मेरे गुरु हैं ।। ३१ ।।

नारद उवाच

अविघ्नमस्तु सावित्र्याः प्रदाने दुहितुस्तव ।
साधयिष्याम्यहं तावत् सर्वेषां भद्रमस्तु वः ।। ३२ ।।

नारदजीने कहा—राजन्! आपकी पुत्री सावित्रीके विवाहमें किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा न आवे। अच्छा, अब मैं चलता हूँ। आप सब लोगोंका कल्याण हो ।।

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा समुत्पत्य नारदस्त्रिदिवं गतः ।
राजापि दुहितुः सज्जं वैवाहिकमकारयत् ।। ३३ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर नारदजी उठे और स्वर्गलोकमें चले गये। इधर राजा भी अपनी पुत्रीके विवाहकी तैयारी कराने लगे ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २९४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९४ ।।

पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सत्यवान् और सावित्रीका विवाह तथा सावित्रीका अपनी सेवाओंद्वारा सबको संतुष्ट करना

मार्कण्डेय उवाच

अथ कन्याप्रदाने स तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
समानिन्ये च तत् सर्वं भाण्डं वैवाहिकं नृपः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर कन्यादानके विषयमें नारदजीके ही कथनपर विचार करते हुए राजा अश्वपतिने विवाहके लिये सारी सामग्री एकत्र करवायी ।। १ ।।

ततो वृद्धान् द्विजान् सर्वानृत्विजः सपुरोहितान् ।
समाहूय दिने पुण्ये प्रययौ सह कन्यया ।। २ ।।

फिर उन्होंने बूढ़े ब्राह्मणों, समस्त ऋत्विजों तथा पुरोहितोंको बुलाकर किसी शुभ दिनमें कन्याके साथ तपोवनको प्रस्थान किया ।। २ ।।

मेध्यारण्यं स गत्वा च द्युमत्सेनाश्रमं नृपः ।
पद्भ्यामेव द्विजैः सार्धं राजर्षिं तमुपागमत् ।। ३ ।।

पवित्र वनमें द्युमत्सेनके आश्रमके निकट पहुँचकर राजा अश्वपति ब्राह्मणोंके साथ पैदल ही उन राजर्षिके पास गये ।। ३ ।।

तत्रापश्यन्महाभागं शालवृक्षमुपाश्रितम् ।
कौश्यां बृस्यां समासीनं चक्षुर्हीनं नृपं तदा ।। ४ ।।

वहाँ उन्होंने उन महाभाग नेत्रहीन नरेशको शालवृक्षके नीचे एक कुशकी चटाईपर बैठे देखा ।। ४ ।।

स राजा तस्य राजर्षेः कृत्वा पूजां यथार्हतः ।
वाचा सुनियतो भूत्वा चकारात्मनिवेदनम् ।। ५ ।।
तस्यार्घ्यमासनं चैव गां चावेद्य स धर्मवित् ।
किमागमनमित्येवं राजा राजानमब्रवीत् ।। ६ ।।

राजा अश्वपतिने राजर्षि द्युमत्सेनकी यथायोग्य पूजा की और वाणीको संयममें रखकर उन्होंने उनके समक्ष अपना परिचय दिया। तब धर्मज्ञ राजा द्युमत्सेनने मद्रराज अश्वपतिको अर्घ्य, आसन और गौ निवेदन करके उनसे पूछा—‘किस उद्देश्यसे आपका यहाँ शुभागमन हुआ है?’ ।। ५-६ ।।

तस्य सर्वमभिप्रायमितिकर्तव्यतां च ताम् ।

सत्यवन्तं समुद्दिश्य सर्वमेव न्यवेदयत् ।। ७ ।।

तब राजाने उनसे सत्यवान्‌के उद्देश्यसे अपना सारा अभिप्राय तथा कैसे-कैसे क्या-क्या करना है इत्यादि बातोंका विवरण सब कुछ स्पष्ट बता दिया ।। ७ ।।

अश्वपतिरुवाच

सावित्री नाम राजर्षे कन्येयं मम शोभना ।
तां स्वधर्मेण धर्मज्ञ स्नुषार्थे त्वं गृहाण मे ।। ८ ।।

अश्वपति बोले—धर्मज्ञ राजर्षे! सावित्री नामसे प्रसिद्ध मेरी यह सुन्दरी कन्या है। इसे आप धर्मतः अपनी पुत्रवधू बनानेके लिये स्वीकार करें ।। ८ ।।

द्युमत्सेन उवाच

च्युताः स्म राज्याद् वनवासमाश्रिता-
श्चराम धर्मं नियतास्तपस्विनः ।
कथं त्वनर्हा वनवासमाश्रमे
निवत्स्यते क्लेशमिमं सुता तव ।। ९ ।।

द्युमत्सेन बोले—महाराज! हम राज्यसे भ्रष्ट हो चुके हैं एवं वनका आश्रय लेकर संयम-नियमके साथ तपस्वी जीवन बिताते हुए धर्मका अनुष्ठान करते हैं। आपकी कन्या ये सब कष्ट सहन करनेयोग्य नहीं है। ऐसी दशामें यह आश्रममें रहकर वनवासके इस कष्टको कैसे सह सकेगी? ।। ९ ।।

अश्वपतिरुवाच

सुखं च दुःखं च भवाभवात्मकं
यदा विजानाति सुताहमेव च ।
न मद्विधे युज्यति वाक्यमीदृशं
विनिश्चयेनाभिगतोऽस्मि ते नृप ।। १० ।।

अश्वपतिने कहा—राजन्! सुख और दुःख तो उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। इस बातको मैं और मेरी पुत्री दोनों जानते हैं। मेरे-जैसे मनुष्यसे आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। मैं तो सब प्रकारसे निश्चय करके ही आपके पास आया हूँ ।। १० ।।

आशां नार्हसि मे हन्तुं सौहृदात् प्रणतस्य च ।
अभितश्चागतं प्रेम्णा प्रत्याख्यातुं न मार्हसि ।। ११ ।।

मैं सौहार्दभावसे आपकी शरणमें आया हूँ। आप मेरी आशा भग्न न करें—प्रेमपूर्वक अपने पास आये हुए मुझ प्रार्थीको निराश न लौटावें ।। ११ ।।

अनुरूपो हि युक्तश्च त्वं ममाहं तवापि च ।
स्नुषां प्रतीच्छ मे कन्यां भार्यां सत्यवतः सतः ।। १२ ।।

आप सर्वथा मेरे अनुरूप और योग्य हैं। मैं भी आपके योग्य हूँ। आप मेरी इस कन्याको अपने श्रेष्ठ पुत्र सत्यवान्‌की पत्नी एवं अपनी पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण कीजिये ।। १२ ।।

द्युमत्सेन उवाच

पूर्वमेवाभिलषितः सम्बन्धो मे त्वया सह ।
भ्रष्टराज्यस्त्वहमिति तत एतद् विचारितम् ।। १३ ।।

द्युमत्सेन बोले—महाराज! मैं तो पहलेसे ही आपके साथ सम्बन्ध करना चाहता था; परंतु इस समय अपने राज्यसे भ्रष्ट हो गया हूँ, ऐसा सोचकर मैंने ऐसा विचार कर लिया था कि अब यह सम्बन्ध नहीं हो सकेगा ।। १३ ।।

अभिप्रायस्त्वयं यो मे पूर्वमेवाभिकाङ्क्षितः ।
स निर्वर्ततु मेऽद्यैव काङ्क्षितो ह्यसि मेऽतिथिः ।। १४ ।।

किंतु मेरा यह अभिप्राय, जो मुझे पहलेसे ही अभीष्ट था, यदि आज ही सिद्ध होना चाहता है तो अवश्य हो। आप मेरे मनोवांछित अतिथि हैं ।। १४ ।।

ततः सर्वान् समानाय्य द्विजानाश्रमवासिनः ।
यथाविधि समुद्वाहं कारयामासतुर्नृपौ ।। १५ ।।

तदनन्तर उस आश्रममें रहनेवाले सभी ब्राह्मणोंको बुलाकर दोनों राजाओंने सत्यवान्-सावित्रीका विवाह-संस्कार विधिवत् सम्पन्न कराया ।। १५ ।।

दत्त्वा सोऽश्वपतिः कन्यां यथार्हं सपरिच्छदम् ।
ययौ स्वमेव भवनं युक्तः परमया मुदा ।। १६ ।।

राजा अश्वपति दहेजसहित कन्यादान देकर बड़ी प्रसन्नताके साथ अपनी राजधानीको लौट गये ।। १६ ।।

सत्यवानपि तां भार्यां लब्ध्वा सर्वगुणान्विताम् ।
मुमुदे सा च तं लब्ध्वा भर्तारं मनसेप्सितम् ।। १७ ।।

उस सर्वसद्‌गुणसम्पन्न भार्याको पाकर सत्यवान्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई और सत्यवान्‌को अपने मनोवांछित पतिके रूपमें पाकर सावित्रीको भी बड़ा आनन्द हुआ ।।

गते पितरि सर्वाणि संन्यस्याभरणानि सा ।
जगृहे वल्कलान्येव वस्त्रं काषायमेव च ।। १८ ।।

पिताके चले जानेपर सावित्री अपने सब आभूषण उतारकर वल्कल तथा गेरुआ वस्त्र पहनने लगी ।। १८ ।।

परिचारैर्गुणैश्चैव प्रश्रयेण दमेन च ।
सर्वकामक्रियाभिश्च सर्वेषां तुष्टिमादधे ।। १९ ।।

सावित्रीने सेवा, गुण, विनय, संयम और सबके मनके अनुसार कार्य करनेसे सभीको प्रसन्न कर लिया ।। १९ ।।

श्वश्रूं शरीरसत्कारैः सर्वैराच्छादनादिभिः ।
श्वशुरं देवसत्कारैर्वाचः संयमनेन च ।। २० ।।

उसने शारीरिक सेवा तथा वस्त्राभूषण आदिके द्वारा सासको और वाणीके संयमपूर्वक देवोचित सत्कारद्वारा ससुरको संतुष्ट किया ।। २० ।।

तथैव प्रियवादेन नैपुणेन शमेन च ।
रहश्चैवोपचारेण भर्तारं पर्यतोषयत् ।। २१ ।।

इसी प्रकार मधुर सम्भाषण, कार्य-कुशलता, शान्ति तथा एकान्तसेवाद्वारा पतिदेवको भी सदा प्रसन्न रखा ।। २१ ।।

एवं तत्राश्रमे तेषां तदा निवसतां सताम् ।
कालस्तपस्यतां कश्चिदपाक्रामत भारत ।। २२ ।।

भरतनन्दन! इस प्रकार उन सब लोगोंको उस आश्रममें रहकर तपस्या करते कुछ काल व्यतीत हो गया ।। २२ ।।

सावित्र्या ग्लायमानायास्तिष्ठन्त्यास्तु दिवानिशम् ।
नारदेन यदुक्तं तद् वाक्यं मनसि वर्तते ।। २३ ।।

इधर सावित्री निरन्तर चिन्तासे गली जा रही थी। दिन-रात सोते-उठते हर समय नारदजीकी कही हुई बात उसके मनमें बनी रहती थी—वह उसे क्षणभरके लिये भी नहीं भूलती थी ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २९५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९५ ।।

षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सावित्रीकी व्रतचर्या तथा सास-ससुर और पतिकी आज्ञा लेकर सत्यवान्‌के साथ उसका वनमें जाना

मार्कण्डेय उवाच

ततः काले बहुतिथे व्यतिक्रान्ते कदाचन ।
प्राप्तः स कालो मर्तव्यं यत्र सत्यवता नृप ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर बहुत दिन बीत जानेपर एक दिन वह समय भी आ पहुँचा जब कि सत्यवान्‌की मृत्यु होनेवाली थी ।। १ ।।

गणयन्त्याश्च सावित्र्या दिवसे दिवसे गते ।
यद् वाक्यं नारदेनोक्तं वर्तते हृदि नित्यशः ।। २ ।।

सावित्री एक-एक दिन बीतनेपर उसकी गणना करती रहती थी। नारदजीने जो बात कही थी, वह उसके हृदयमें सदा विद्यमान रहती थी ।। २ ।।

चतुर्थेऽहनि मर्तव्यमिति संचिन्त्य भाविनी ।
व्रतं त्रिरात्मुद्दिश्य दिवारात्रं स्थिताभवत् ।। ३ ।।

भाविनी सावित्रीको जब यह निश्चय हो गया कि मेरे पतिको आजसे चौथे दिन मरना है, तब उसने तीन रातका व्रत धारण किया और उसमें वह दिन-रात खड़ी ही रही ।। ३ ।।

तं श्रुत्वा नियमं तस्या भृशं दुःखान्वितो नृपः ।
उत्थाय वाक्यं सावित्रीमब्रवीत् परिसान्त्वयन् ।। ४ ।।

सावित्रीका यह कठोर नियम सुनकर राजा द्युमत्सेनको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने उठकर सावित्रीको सान्त्वना देते हुए कहा ।। ४ ।।

द्युमत्सेन उवाच

अतितीव्रोऽयमारम्भस्त्वयाऽऽरब्धो नृपात्मजे ।
तिसृणां वसतीनां हि स्थानं परमदुश्चरम् ।। ५ ।।

द्युमत्सेन बोले—राजकुमारी! तुमने यह बड़ा कठोर व्रत आरम्भ किया है। तीन दिनोंतक निराहार रहना तो अत्यन्त दुष्कर कार्य है ।। ५ ।।

सावित्र्युवाच

न कार्यस्तात संतापः पारयिष्याम्यहं व्रतम् ।
व्यवसायकृतं हीदं व्यवसायश्च कारणम् ।। ६ ।।

सावित्री बोली—पिताजी! आप चिन्ता न करें। मैं इस व्रतको पूर्ण कर लूँगी। दृढ़ निश्चय ही व्रतके निर्वाहमें कारण हुआ करता है, सो मैंने भी दृढ़ निश्चयसे ही इस व्रतको

आरम्भ किया है ।। ६ ।।

द्युमत्सेन उवाच

व्रतं भिन्धीति वक्तुं त्वां नास्मि शक्तः कथञ्चन ।
पारयस्वेति वचनं युक्तमस्मद्विधो वदेत् ।। ७ ।।

द्युमत्सेनने कहा—यह तो मैं तुम्हें किसी तरह नहीं कह सकता कि 'बेटी! तुम व्रत भंग कर दो।' मेरे-जैसा मनुष्य यही समुचित बात कह सकता है कि 'तुम व्रतको निर्विघ्न पूर्ण करो' ।। ७ ।।

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा द्युमत्सेनो विरराम महामनाः ।
तिष्ठन्ती चैव सावित्री काष्ठभूतेव लक्ष्यते ।। ८ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर महामना द्युमत्सेन चुप हो गये। सावित्री एक स्थानपर खड़ी हुई काठ-सी दिखायी देती थी ।। ८ ।।

श्वोभूते भर्तृमरणे सावित्र्या भरतर्षभ ।
दुःखान्वितायास्तिष्ठन्त्या सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत ।। ९ ।।

भरतश्रेष्ठ! कल ही पतिदेवकी मृत्यु होनेवाली है, यह सोचकर दुःखमें डूबी हुई सावित्रीकी वह रात खड़े-ही-खड़े बीत गयी ।। ९ ।।

अद्य तद् दिवसं चेति हुत्वा दीप्तं हुताशनम् ।
युगमात्रोदिते सूर्ये कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः ।। १० ।।

दूसरे दिन यह सोचकर कि आज ही वह दिन है, उसने सूर्यदेवके चार हाथ ऊपर उठते-उठते पूर्वाह्णकालके सब कृत्य पूरे कर लिये और प्रज्वलित अग्निमें आहुति दी ।। १० ।।

ततः सर्वान् द्विजान् वृद्धान् श्वश्रूं श्वशुरमेव च ।
अभिवाद्यानुपूर्व्येण प्राञ्जलिर्नियता स्थिता ।। ११ ।।

फिर सभी ब्राह्मणों, बड़े-बूढ़ों और सास-ससुरको क्रमशः प्रणाम करके वह नियमपूर्वक हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ी रही ।। ११ ।।

अवैधव्याशिषस्ते तु सावित्र्यर्थं हिताः शुभाः ।
ऊचुस्तपस्विनः सर्वे तपोवननिवासिनः ।। १२ ।।

उस तपोवनमें रहनेवाले सभी तपस्वियोंने सावित्रीके लिये अवैधव्यसूचक—सौभाग्यवर्धक, शुभ और हितकर आशीर्वाद दिये ।। १२ ।।

एवमस्त्विति सावित्री ध्यानयोगपरायणा ।
मनसा ता गिरः सर्वा प्रत्यगृह्णात् तपस्विनाम् ।। १३ ।।

सावित्रीने ध्यानयोगमें स्थित हो तपस्वियोंकी उस आशीर्वादमयी वाणीको 'एवमस्तु (ऐसा ही हो)' कहकर मन-ही-मन शिरोधार्य किया ।। १३ ।।

तं कालं तं मुहूर्तं च प्रतीक्षन्ती नृपात्मजा ।
यथोक्तं नारदवचश्चिन्तयन्ती सुदुःखिता ।। १४ ।।

फिर पतिकी मृत्युसे सम्बन्ध रखनेवाले समय और मुहूर्तकी प्रतीक्षा करती हुई राजकुमारी सावित्री नारदजीके पूर्वोक्त वचनका चिन्तन करके बहुत दुःखी हो गयी ।। १४ ।।

ततस्तु श्वश्रूश्वशुरावूचतुस्तां नृपात्मजाम् ।
एकान्तमास्थितां वाक्यं प्रीत्या भरतसत्तम ।। १५ ।।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर सास और ससुरने एकान्तमें बैठी हुई राजकुमारी सावित्रीसे प्रेमपूर्वक इस प्रकार कहा ।। १५ ।।

श्वशुरावूचतुः

व्रतं यथोपदिष्टं तु तथा तत् पारितं त्वया ।
आहारकालः सम्प्राप्तः क्रियतां यदनन्तरम् ।। १६ ।।

सास-ससुर बोले—बेटी! तुमने शास्त्रके उपदेशके अनुसार अपना व्रत पूरा कर लिया है, अब पारण करनेका समय हो गया है। अतः जो कर्तव्य है, वह करो ।। १६ ।।

सावित्र्युवाच

अस्तं गते मयाऽऽदित्ये भोक्तव्यं कृतकामया ।
एष मे हृदि संकल्पः समयश्च कृतो मया ।। १७ ।।

सावित्री बोली—सूर्यास्त होनेपर जब मेरा मनोरथ पूर्ण हो जायगा तभी मैं भोजन करूँगी। यह मेरे मनका संकल्प है और मैंने ऐसा करनेकी प्रतिज्ञा कर ली है ।। १७ ।।

मार्कण्डेय उवाच

एवं सम्भाषमाणायाः सावित्र्या भोजनं प्रति ।
स्कन्धे परशुमादाय सत्यवान् प्रस्थितो वनम ।। १८ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जब सावित्री भोजनके सम्बन्धमें इस प्रकार बातें कर रही थी, उसी समय सत्यवान् कंधेपर कुल्हाड़ी रखकर (फल-फूल, समिधा आदि लानेके लिये) वनकी ओर चले ।। १८ ।।

सावित्री त्वाह भर्तारं नैकस्त्वं गन्तुमर्हसि ।
सह त्वया गमिष्यामि न हि त्वां हातुमुत्सहे ।। १९ ।।

उस समय सावित्रीने अपने पतिसे कहा—नाथ! आप अकेले न जाइये। मैं भी आपके साथ चलूँगी। आज मैं आपको अकेला नहीं छोड़ सकती ।। १९ ।।

सत्यवानुवाच

वनं न गतपूर्वं ते दुःखः पन्थाश्च भाविनि ।
व्रतोपवासक्षामा च कथं पद्भ्यां गमिष्यसि ।। २० ।।

सत्यवान्‌ने कहा—सुन्दरि! तुम पहले कभी वनमें नहीं गयी हो। वनका रास्ता बड़ा दुःखदायक होता है, तुम व्रत और उपवास करनेके कारण दुर्बल हो रही हो। ऐसी दशामें पैदल कैसे चल सकोगी? ।। २० ।।

सावित्र्युवाच

उपवासान्न मे ग्लानिर्नास्ति चापि परिश्रमः ।
गमने च कृतोत्साहां प्रतिषेद्धुं न मार्हसि ।। २१ ।।

सावित्री बोली—उपवासके कारण मुझे किसी प्रकारकी शिथिलता और थकावट नहीं है। चलनेके लिये मेरे मनमें पूर्ण उत्साह है, अतः आप मुझे मना न कीजिये ।।

सत्यवानुवाच

यदि ते गमनोत्साहः करिष्यामि तव प्रियम् ।
मम त्वामन्त्रय गुरून् न मां दोषः स्पृशेदयम् ।। २२ ।।

सत्यवान्ने कहा—यदि तुम्हें चलनेका उत्साह है तो मैं तुम्हारा प्रिय मनोरथ पूर्ण करूँगा। परंतु तुम मेरे माता-पितासे पूछ लो, जिससे मुझे दोषका भागी न होना पड़े ।।

मार्कण्डेय उवाच

साभिवाद्याब्रवीच्छ्वश्रूं श्वशुरं च महाव्रता ।
अयं गच्छति मे भर्ता फलाहारो महावनम् ।। २३ ।।
इच्छेयमभ्यनुज्ञाता आर्यया श्वशुरेण ह ।
अनेन सह निर्गन्तुं न मेऽद्य विरहः क्षमः ।। २४ ।।
गुर्वग्निहोत्रार्थकृते प्रस्थितश्च सुतस्तव ।
न निवार्यो निवार्यः स्यादन्यथा प्रस्थितो वनम् ।। २५ ।।
संवत्सरः किंचिदूनो न निष्क्रान्ताहमाश्रमात् ।
वनं कुसुमितं द्रष्टुं परं कौतूहलं हि मे ।। २६ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तब महान् व्रतका पालन करनेवाली सावित्रीने अपने सास-ससुरको प्रणाम करके कहा—'ये मेरे पतिदेव फल आदि लानेके लिये महान् वनमें जा रहे हैं। यदि सासजी और ससुरजी मुझे आज्ञा दें तो मैं भी इनके साथ जाना चाहती हूँ। आज मुझे इनका एक क्षणका भी विरह सहा नहीं जाता। आपके पुत्र आज गुरुजनोंके लिये तथा अग्निहोत्रके उद्देश्यसे फल, फूल और समिधा आदि लानेके लिये वनमें जा रहे हैं, अतः उनको रोकना उचित नहीं है। हाँ, यदि किसी दूसरे कार्यके लिये वनमें जाते होते तो उन्हें रोका भी जा सकता था। एक वर्षसे कुछ ही कम हुआ, मैं आश्रमसे बाहर नहीं निकली। अतः आज फूलोंसे भरे हुए वनको देखनेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ।। २३—२६ ।।

द्युमत्सेन उवाच

यतः प्रभृति सावित्री पित्रा दत्ता स्नुषा मम ।
नानयाभ्यर्थनायुक्तमुक्तपूर्वं स्मराम्यहम् ।। २७ ।।

द्युमत्सेन बोले—जबसे सावित्रीके पिताने इसे मेरी पुत्रवधू बनाकर दिया है, तबसे आजतक इसने पहले कभी मुझसे किसी बातके लिये प्रार्थना की हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है ।। २७ ।।

तदेषा लभतां कामं यथाभिलषितं वधूः ।
अप्रमादश्च कर्तव्यः पुत्रि सत्यवतः पथि ।। २८ ।।

अतः आज मेरी पुत्रवधू अपना अभीष्ट मनोरथ प्राप्त करे। बेटी! जा, सत्यवान्के मार्गमें सावधानी रखना ।। २८ ।।

मार्कण्डेय उवाच

उभाभ्यामभ्यनुज्ञाता सा जगाम यशस्विनी ।
सह भर्त्रा हसन्तीव हृदयेन विदूयता ।। २९ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार सास और ससुर दोनोंकी आज्ञा पाकर यशस्विनी सावित्री अपने पतिदेवके साथ चल दी, वह ऊपरसे तो हँसती-सी जान पड़ती थी, किंतु उसका हृदय दुःखकी ज्वालासे दग्ध हो रहा था ।। २९ ।।

सा वनानि विचित्राणि रमणीयानि सर्वशः ।
मयूरगणजुष्टानि ददर्श विपुलेक्षणा ।। ३० ।।

विशाल नेत्रोंवाली सावित्रीने सब ओर घूम-घूमकर मयूरसमूहोंसे सेवित रमणीय और विचित्र वन देखे ।। ३० ।।

नदीः पुण्यवहाश्चैव पुष्पितांश्च नगोत्तमान् ।
सत्यवानाह पश्येति सावित्रीं मधुरं वचः ।। ३१ ।।

पवित्र जल बहानेवाली नदियों तथा फूलोंसे लदे हुए सुन्दर वृक्षोंको लक्ष्य करके सत्यवान् सावित्रीसे मधुर वाणीमें कहते—'प्रिये! देखो, कैसा मनोहर दृश्य है' ।। ३१ ।।

निरीक्षमाणा भर्तारं सर्वावस्थमनिन्दिता ।
मृतमेव हि भर्तारं काले मुनिवचः स्मरन् ।। ३२ ।।

सती-साध्वी सावित्री अपने पतिकी सभी अवस्थाओंका निरीक्षण करती थी। नारदजीके वचनोंको स्मरण करके उसे निश्चय हो गया था कि समयपर मेरे पतिकी मृत्यु अवश्यम्भावी है ।। ३२ ।।

अनुव्रजन्ती भर्तारं जगाम मृदुगामिनी ।
द्विधेव हृदयं कृत्वा तं च कालमवेक्षती ।। ३३ ।।

मन्दगतिसे चलनेवाली सावित्री मानो अपने हृदयके दो भाग करके एकसे अपने पतिका अनुसरण करती और दूसरेसे प्रतिक्षण उनके मृत्युकालकी प्रतीक्षा कर रही थी ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २९६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९६ ।।

सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सावित्री और यमका संवाद, यमराजका संतुष्ट होकर सावित्रीको अनेक वरदान देते हुए मरे हुए सत्यवान्‌को भी जीवित कर देना तथा सत्यवान् और सावित्रीका वार्तालाप एवं आश्रमकी ओर प्रस्थान

मार्कण्डेय उवाच

अथ भार्यासहायः स फलान्यादाय वीर्यवान् ।
कठिनं पूरयामास ततः काष्ठान्यपाटयत् ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तदनन्तर पत्नीसहित शक्तिशाली सत्यवान्‌ने फल चुनकर एक काठकी टोकरी भर ली। तत्पश्चात् वे लकड़ी चीरने लगे ।। १ ।।

तस्य पाटयतः काष्ठं स्वेदो वै समजायत ।
व्यायामेन च तेनास्य जज्ञे शिरसि वेदना ।। २ ।।
सोऽभिगम्य प्रियां भार्यामुवाच श्रमपीडितः ।

लकड़ी चीरते समय परिश्रमके कारण उनके शरीरसे पसीना निकल आया और उसी परिश्रमसे उनके सिरमें दर्द होने लगा। तब वे श्रमसे पीड़ित हो अपनी प्यारी पत्नीके पास जाकर बोले— ।। २½ ।।

सत्यवानुवाच

व्यायामेन ममानेन जाता शिरसि वेदना ।। ३ ।।
अङ्गानि चैव सावित्रि हृदयं दूयतीव च ।
अस्वस्थमिव चात्मानं लक्षये मितभाषिणि ।। ४ ।।
शूलैरिव शिरो विद्धमिदं संलक्षयाम्यहम् ।
तत् स्वप्तुमिच्छे कल्याणि न स्थातुं शक्तिरस्ति मे ।। ५ ।।

सत्यवान्‌ने कहा—सावित्री! आज लकड़ी काटनेके परिश्रमसे मेरे सिरमें दर्द होने लगा है, सारे अंगोंमें पीड़ा हो रही है और हृदय दग्ध-सा होता जान पड़ता है। मितभाषिणी प्रिये! मैं अपने-आपको अस्वस्थ-सा देख रहा हूँ। ऐसा जान पड़ता है, कोई शूलोंसे मेरे सिरको छेद रहा है। कल्याणि! अब मैं सोना चाहता हूँ। मुझमें खड़े रहनेकी शक्ति नहीं रह गयी है ।। ३—५ ।।

सा समासाद्य सावित्री भर्तारमुपगम्य च ।
उत्सङ्गेऽस्य शिरः कृत्वा निषसाद महीतले ।। ६ ।।

यह सुनकर सावित्री शीघ्र अपने पतिके पास आयी और उनका सिर गोदीमें लेकर पृथ्वीपर बैठ गयी ।। ६ ।।

ततः सा नारदवचो विमृशन्ती तपस्विनी ।
तं मुहूर्तं क्षणं वेलां दिवसं च युयोज ह ।। ७ ।।

फिर वह तपस्विनी राजकन्या नारदजीकी बात याद करके उस मुहूर्त, क्षण, समय और दिनका योग मिलाने लगी ।। ७ ।।

मुहूर्तादेव चापश्यत् पुरुषं रक्तवाससम् ।
बद्धमौलिं वपुष्मन्तमादित्यसमतेजसम् ।। ८ ।।
श्यामावदातं रक्ताक्षं पाशहस्तं भयावहम् ।
स्थितं सत्यवतः पार्श्वे निरीक्षन्तं तमेव च ।। ९ ।।

दो ही घड़ीमें उसने देखा, एक दिव्य पुरुष प्रकट हुए हैं, जिनके शरीरपर लाल रंगका वस्त्र शोभा पा रहा है। सिरपर मुकुट बँधा हुआ है। सूर्यके समान तेजस्वी होनेके कारण वे मूर्तिमान् सूर्य ही जान पड़ते हैं। उनका शरीर श्याम एवं उज्ज्वल प्रभासे उद्‌भासित है, नेत्र लाल हैं। उनके हाथमें पाश है। उनका स्वरूप डरावना है। वे सत्यवान्‌के पास खड़े हैं और बार-बार उन्हींकी ओर देख रहे हैं ।। ८-९ ।।

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय भर्तुर्न्यस्य शनैः शिरः ।
कृताञ्जलिरुवाचार्ता हृदयेन प्रवेपती ।। १० ।।

उन्हें देखते ही सावित्रीने धीरेसे पतिका मस्तक भूमिपर रख दिया और सहसा खड़ी हो हाथ जोड़कर काँपते हुए हृदयसे वह आर्त वाणीमें बोली ।। १० ।।

सावित्र्युवाच

दैवतं त्वाभिजानामि वपुरेतद्ध्यमानुषम् ।
कामया ब्रूहि देवेश कस्त्वं किं चिकीर्षसि ।। ११ ।।

सावित्रीने कहा—मैं समझती हूँ, आप कोई देवता हैं; क्योंकि आपका यह शरीर मनुष्यों-जैसा नहीं है। देवेश्वर! यदि आपकी इच्छा हो तो बताइये आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं ।। ११ ।।

यम उवाच

पतिव्रतासि सावित्रि तथैव च तपोऽन्विता ।
अतस्त्वामभिभाषामि विद्धि मां त्वं शुभे यमम् ।। १२ ।।

यमराज बोले—सावित्री! तू पतिव्रता और तपस्विनी है, इसलिये मैं तुझसे वार्तालाप कर सकता हूँ। शुभे! तू मुझे यमराज जान ।। १२ ।।

अयं ते सत्यवान् भर्ता क्षीणायुः पार्थिवात्मजः ।
नेष्यामि तमहं बद्ध्वा विद्ध्येतन्मे चिकीर्षितम् ।। १३ ।।

तेरे पति इस राजकुमार सत्यवान्‌की आयु समाप्त हो गयी है, अतः मैं इसे बाँधकर ले जाऊँगा। बस, मैं यही करना चाहता हूँ ।। १३ ।।

सावित्र्युवाच

श्रूयते भगवन् दूतास्तवागच्छन्ति मानवान् ।
नेतुं किल भवान् कस्मादागतोऽसि स्वयं प्रभो ।। १४ ।।

सावित्रीने पूछा—भगवन्! मैंने तो सुना है कि मनुष्योंको ले जानेके लिये आपके दूत आया करते हैं। प्रभो! आप स्वयं यहाँ कैसे चले आये? ।। १४ ।।

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्तः पितृराजस्तां भगवान् स्वचिकीर्षितम् ।
यथावत् सर्वमाख्यातुं तत्प्रियार्थं प्रचक्रमे ।। १५ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! सावित्रीके इस प्रकार पूछनेपर पितृराज भगवान् यमने उसका प्रिय करनेके लिये अपना सारा अभिप्राय यथार्थरूपसे बताना आरम्भ किया ।। १५ ।।

अयं च धर्मसंयुक्तो रूपवान् गुणसागरः ।
नार्हो मत्पुरुषैर्नेतुमतोऽस्मि स्वयमागतः ।। १६ ।।

‘यह सत्यवान् धर्मात्मा, रूपवान् और गुणोंका समुद्र है। मेरे दूतोंद्वारा ले जाया जाने योग्य नहीं है। इसीलिये मैं स्वयं आया हूँ’ ।। १६ ।।

ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम् ।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ।। १७ ।।

तदनन्तर यमराजने सत्यवान्के शरीरसे पाशमें बँधे हुए अंगुष्ठमात्र परिमाणवाले विवश हुए जीवको बलपूर्वक खींचकर निकाला ।। १७ ।।

ततः समुद्धृतप्राणं गतश्वासं हतप्रभम् ।
निर्विचेष्टं शरीरं तद् बभूवाप्रियदर्शनम् ।। १८ ।।

फिर तो प्राण निकल जानेसे उसकी साँस बंद हो गयी—अंगकान्ति फीकी पड़ गयी और शरीर निश्चेष्ट होकर अपरूप दिखायी देने लगा ।। १८ ।।

यमस्तु तं ततो बद्ध्वा प्रयातो दक्षिणामुखः ।
सावित्री चैव दुःखार्ता यममेवान्वगच्छत ।
नियमव्रतसंसिद्धा महाभागा पतिव्रता ।। १९ ।।

यमराज उस जीवको बाँधकर साथ लिये दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये। सावित्री दुःखसे आतुर हो यमराजके ही पीछे-पीछे चल पड़ी। वह परम सौभाग्यवती पतिव्रता राजकन्या नियमपूर्वक व्रतोंके पालनसे पूर्णतः सिद्ध हो चुकी थी। (अतः निर्बाध गतिसे सर्वत्र आने-जानेमें समर्थ थी) ।। १९ ।।

यम उवाच

निवर्त गच्छ सावित्रि कुरुष्वास्यौर्ध्वदेहिकम् ।
कृतं भर्तुस्त्वयाऽऽनृण्यं यावद् गम्यं गतं त्वया ।। २० ।।

यमराज बोले—सावित्री! अब तू लौट जा, सत्यवान्का अन्त्येष्टि-संस्कार कर। अब तू पतिके ऋणसे उऋण हो गयी। पतिके पीछे तुझे जहाँतक आना चाहिये था, तू वहाँतक आ चुकी ।। २० ।।

सावित्र्युवाच

यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति ।
मया च तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः ।। २१ ।।

सावित्रीने कहा—जहाँ मेरे पति ले जाये जाते हैं अथवा ये स्वयं जहाँ जा रहे हैं, वहीं मुझे भी जाना चाहिये; यही सनातन धर्म है ।। २१ ।।

तपसा गुरुभक्त्या च भर्तुः स्नेहाद् व्रतेन च ।
तव चैव प्रसादेन न मे प्रतिहता गतिः ।। २२ ।।

तपस्या, गुरुभक्ति, पतिप्रेम, व्रतपालन तथा आपकी कृपासे मेरी गति कहीं भी रुक नहीं सकती ।। २२ ।।

प्राहुः साप्तपदं मैत्रं बुधास्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
मित्रतां च पुरस्कृत्य किञ्चिद् वक्ष्यामि तच्छृणु ।। २३ ।।

तत्त्वार्थदर्शी विद्वान् ऐसा कहते हैं कि सात पग साथ चलनेमात्रसे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, उसी मित्रताको सामने रखकर मैं आपसे कुछ निवेदन करूँगी, उसे सुनिये ।। २३ ।।

नानात्मवन्तस्तु वने चरन्ति
धर्मं च वासं च परिश्रमं च ।
विज्ञानतो धर्ममुदाहरन्ति
तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ।। २४ ।।

जिन्होंने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, वे वनमें रहकर धर्मपालन, गुरुकुलवास तथा कष्टसहनरूप तपस्या नहीं कर सकते हैं। जितेन्द्रिय पुरुष ही यह सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। महात्मालोग विवेक-विचारसे ही धर्म-प्राप्ति बताते हैं, अतः सभी सत्पुरुष धर्मको ही श्रेष्ठ मानते हैं ।। २४ ।।

एकस्य धर्मेण सतां मतेन
सर्वे स्म तं मार्गमनुप्रपन्नाः ।
मा वै द्वितीयं मा तृतीयं च वाञ्छे
तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम् ।। २५ ।।

अपने एक ही वर्णके सत्पुरुष-सम्मत धर्मका पालन करनेसे सभी लोग उस विज्ञान-मार्गपर पहुँच जाते हैं, जो सबका लक्ष्य है। अतः दूसरे या तीसरे वर्णकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। इसलिये साधु पुरुष केवल वर्ण-धर्मको ही प्रधानता देते हैं ।। २५ ।।

यम उवाच

निवर्त तुष्टोऽस्मि तवानया गिरा
स्वराक्षरव्यञ्जनहेतुयुक्तया ।
वरं वृणीष्वेह विनास्य जीवितं
ददानि ते सर्वमनिन्दिते वरम् ।। २६ ।।

यमराज बोले—अनिन्दिते! तू लौट जा। स्वर, अक्षर, व्यंजन एवं युक्तियोंसे युक्त तेरी इन बातोंसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तू यहाँ मुझसे कोई वर माँग ले। सत्यवान्के जीवनके सिवा मैं और सब कुछ तुझे दे सकता हूँ ।। २६ ।।

सावित्र्युवाच

च्युतः स्वराज्याद् वनवासमाश्रितो
विनष्टचक्षुः श्वशुरो ममाश्रमे ।
स लब्धचक्षुर्बलवान् भवेन्नृप-

स्तव प्रसादाज्ज्वलनार्कसंनिभः ।। २७ ।।

सावित्री बोली—भगवन्! मेरे श्वशुर अपने राज्यसे भ्रष्ट होकर वनमें रहते हैं। उनकी आँखें भी नष्ट हो गयी हैं। मैं चाहती हूँ, आपकी कृपासे उन महाराजको उनकी आँखें मिल जायँ और वे बलवान् तथा अग्नि एवं सूर्यके समान तेजस्वी हो जायँ ।। २७ ।।

यम उवाच

ददानि तेऽहं तमनिन्दिते वरं
यथा त्वयोक्तंभविता च तत् तथा ।
तवाध्वना ग्लानिमिवोपलक्षये
निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ।। २८ ।।

यमराज बोले—अनिन्दिते! मैं तुझे वर देता हूँ। तूने जैसा कहा है, वह सब वैसा ही होगा। मैं देखता हूँ, तू राह चलनेके कारण बहुत थक गयी है। अब लौट जा, जिससे तुझे अधिक परिश्रम न हो ।। २८ ।।

सावित्र्युवाच

श्रमः कुतो भर्तृसमीपतो हि मे
यतो हि भर्ता मम सा गतिर्ध्रुवा ।
यतः पतिं नेष्यसि तत्र मे गतिः
सुरेश भूयश्च वचो निबोध मे ।। २९ ।।

सावित्री बोली—स्वामीके समीप रहते हुए मुझे श्रम हो ही कैसे सकता है। जहाँ मेरे पतिदेव रहेंगे, वहीं मेरी भी गति निश्चित है। आप जहाँ मेरे प्राणनाथको ले जायँगे, वहीं मेरा जाना भी अवश्यम्भावी है। देवेश्वर! आप फिर मेरी बात सुनिये ।। २९ ।।

सतां सकृत्संगतमीप्सितं परं
ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते ।
न चाफलं सत्पुरुषेण सङ्गतं
ततः सतां सन्निवसेत् समागमे ।। ३० ।।

सत्पुरुषोंका एक बारका समागम भी अत्यन्त अभीष्ट होता है। उनके साथ मित्रता हो जाना उससे भी बढ़कर बताया गया है। साधु पुरुषका संग कभी निष्फल नहीं होता; अतः सदा सत्पुरुषोंके ही समीप रहना चाहिये ।। ३० ।।

यम उवाच

मनोऽनुकूलं बुधबुद्धिवर्धनं
त्वया यदुक्तं वचनं हिताश्रयम् ।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं

वरं द्वितीयं वरयस्व भामिनि ॥ ३१ ॥

यमराज बोले—भामिनी! तूने जो सबके हितकी बात कही है, वह मेरे मनके अनुकूल है तथा विद्वानोंकी भी बुद्धिको बढ़ानेवाली है; अतः इस सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर तू दूसरा कोई वर और माँग ले ॥ ३१ ॥

सावित्र्युवाच

हृतं पुरा मे श्वशुरस्य धीमतः
स्वमेव राज्यं लभतां स पार्थिवः ।
जह्यात् स्वधर्मं न च मे गुरुर्यथा
द्वितीयमेतद् वरयामि ते वरम् ॥ ३२ ॥

सावित्री बोली—मेरे बुद्धिमान् श्वशुरका राज्य, जो पहले उनसे छीन लिया गया है, उसे वे महराज पुनः प्राप्त कर लें तथा वे मेरे पूज्य गुरु महाराज द्युमत्सेन कभी अपना धर्म न छोड़ें; यही दूसरा वर मैं आपसे माँगती हूँ ॥ ३२ ॥

यम उवाच

स्वमेव राज्यं प्रतिपत्स्यतेऽचिरा-
न्न च स्वधर्मात् परिहास्यते नृपः ।
कृतेन कामेन मया नृपात्मजे
निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत् ॥ ३३ ॥

यमराज बोले—राजा द्युमत्सेन शीघ्र एवं अनायास ही अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे और वे कभी अपने धर्मका भी परित्याग नहीं करेंगे। राजकुमारी! मेरेद्वारा अब तेरी इच्छा पूरी हो गयी। तू लौट जा, जिससे तुझे परिश्रम न हो ॥ ३३ ॥

सावित्र्युवाच

प्रजास्त्वयैता नियमेन संयता
नियम्य चैता नयसे निकामया ।
ततो यमत्वं तव देव विश्रुतं
निबोध चेमां गिरमीरितां मया ॥ ३४ ॥

सावित्री बोली—देव! इस सारी प्रजाको आप नियमसे संयममें रखते हैं और उसका नियमन करके आप अपनी इच्छाके अनुसार उसे विभिन्न लोकोंमें ले जाते हैं। इसीलिये आपका 'यम' नाम सर्वत्र विख्यात है। मैं जो बात कहती हूँ, उसे सुनिये ॥ ३४ ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥ ३५ ॥

मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, सबपर दयाभाव बनाये रखना और दान देना यह साधु पुरुषोंका सनातन धर्म है ।। ३५ ।।

एवंप्रायश्च लोकोऽयं मनुष्याः शक्तिपेशलाः ।
सन्तस्त्वेवाप्यमित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते ।। ३६ ।।

प्रायः इस संसारके लोग अल्पायु होते हैं, मनुष्योंकी शक्तिहीनता तो प्रसिद्ध ही है। आप-जैसे संत-महात्मा तो अपनी शरणमें आये हुए शत्रुओंपर भी दया करते हैं। (फिर हम-जैसे दीन मनुष्योंपर दया क्यों न करेंगे?) ।। ३६ ।।

यम उवाच

पिपासितस्येव भवेद् यथा पय-
स्तथा त्वया वाक्यमिदं समीरितम् ।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं
वरं वृणीष्वेह शुभे यदिच्छसि ।। ३७ ।।

यमराज बोले—शुभे! जैसे प्यासे मनुष्यको प्राप्त हुआ जल आनन्ददायक होता है, उसी प्रकार तेरी कही हुई यह बात मुझे अत्यन्त सुख दे रही है। अतः तू सत्यवान्‌के जीवनके सिवा और कोई वर, जिसे तू लेना चाहे, माँग ले ।। ३७ ।।

सावित्र्युवाच

ममानपत्यः पृथिवीपतिः पिता
भवेत् पितुः पुत्रशतं तथौरसम् ।
कुलस्य सन्तानकरं च यद् भवेत्
तृतीयमेतद् वरयामि ते वरम् ।। ३८ ।।

सावित्रीने कहा—भगवन्! मेरे पिता महाराज अश्वपति पुत्रहीन हैं; उन्हें सौ ऐसे औरस पुत्र प्राप्त हों, जो उनके कुलकी संतानपरम्पराको चलानेवाले हों। मैं आपसे यही तीसरा वर माँगती हूँ ।। ३८ ।।

यम उवाच

कुलस्य सन्तानकरं सुवर्चसं
शतं सुतानां पितुरस्तु ते शुभे ।
कृतेन कामेन नराधिपात्मजे
निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ।। ३९ ।।

यमराज बोले—शुभे! तेरे पिताके कुलकी संतान-परम्पराको चलानेवाले सौ तेजस्वी पुत्र होंगे। राजकुमारी! तेरी यह कामना भी पूरी हुई। अब लौट जा, तू रास्तेसे बड़ी दूर चली आयी है ।। ३९ ।।

सावित्र्युवाच

न दूरमेतन्मम भर्तृसंनिधौ
मनो हि मे दूरतरं प्रधावति ।
अथ व्रजन्नेव गिरं समुद्यतां
मयोच्यमानां शृणु भूय एव च ।। ४० ।।

सावित्रीने कहा—भगवन्! मैं अपने स्वामीके समीप हूँ। इसलिये यह स्थान मेरे लिये दूर नहीं है। मेरा मन तो और भी दूरतक दौड़ लगाता है। आप चलते-चलते ही मेरी कही हुई ये प्रस्तुत बातें पुनः सुनें ।। ४० ।।

विवस्वतस्त्वं तनयः प्रतापवां-
स्ततो हि वैवस्वत उच्यसे बुधैः ।
समेन धर्मेण चरन्ति ताः प्रजा-
स्ततस्तवेहेश्वर धर्मराजता ।। ४१ ।।

देवेश्वर! आप विवस्वान् (सूर्य)-के प्रतापी पुत्र हैं; इसलिये विद्वान् पुरुष आपको वैवस्वत कहते हैं। आप समस्त प्रजाके साथ समतापूर्वक धर्मानुसार आचरण करते हैं, इसलिये आप धर्मराज कहलाते हैं ।। ४१ ।।

आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः ।
तस्मात् सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति ।। ४२ ।।

मनुष्यको अपने-आपपर भी उतना विश्वास नहीं होता है, जितना संतोंपर होता है। इसलिये सब लोग संतोंसे विशेष प्रेम करना चाहते हैं ।। ४२ ।।

सौहृदात् सर्वभूतानां विश्वासो नाम जायते ।
तस्मात् सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः ।। ४३ ।।

सौहार्दसे ही समस्त प्राणियोंका एक-दूसरेके प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। संतोंमें सौहार्द होनेके कारण ही सब लोग उनपर अधिक विश्वास करते हैं ।। ४३ ।।

यम उवाच

उदाहृतं ते वचनं यदङ्गने
शुभे न तादृक् त्वदृते श्रुतं मया ।
अनेन तुष्टोऽस्मि विनास्य जीवितं
वरं चतुर्थं वरयस्व गच्छ च ।। ४४ ।।

यमराज बोले—कल्याणि! तूने जैसी बात कही है, वैसी मैंने तेरे सिवा किसी दूसरेके मुखसे नहीं सुनी है। शुभे! तेरी इस बातसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ; तू सत्यवान्‌के जीवनके सिवा और कोई चौथा वर माँग ले और यहाँसे लौट जा ।। ४४ ।।

सावित्र्युवाच

ममात्मजं सत्यवतस्तथौरसं
भवेदुभाभ्यामिह यत् कुलोद्वहम् ।
शतं सुतानां बलवीर्यशालिना-
मिदं चतुर्थं वरयामि ते वरम् ।। ४५ ।।

सावित्रीने कहा—मेरे और सत्यवान्—दोनोंके संयोगसे कुलकी वृद्धि करनेवाले, बल और पराक्रमसे सुशोभित सौ औरस पुत्र हों। यह मैं आपसे चौथा वर माँगती हूँ ।। ४५ ।।

यम उवाच

शतं सुतानां बलवीर्यशालिनां
भविष्यति प्रीतिकरं तवाबले ।
परिश्रमस्ते न भवन्नृपात्मजे
निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता ।। ४६ ।।

यमराज बोले—अबले! तुझे बल और पराक्रमसे सम्पन्न सौ पुत्र प्राप्त होंगे; जो तेरी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले होंगे। राजकुमारी! अब तू लौट जा, जिससे तुझे थकावट न हो। तू रास्तेसे बहुत दूर चली आयी है ।। ४६ ।।

सावित्र्युवाच

सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः
सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ति ।
सतां सद्भिर्नाफलः सङ्गमोऽस्ति
सद्भ्यो भयं नानुवर्तन्ति सन्तः ।। ४७ ।।

सावित्रीने कहा—सत्पुरुषोंकी वृत्ति निरन्तर धर्ममें ही लगी रहती है। श्रेष्ठ पुरुष कभी दुःखी या व्यथित नहीं होते। सत्पुरुषोंका संतोंके साथ जो समागम होता है, वह कभी निष्फल नहीं होता है। श्रेष्ठ पुरुष संतोंसे कभी भय नहीं मानते हैं ।। ४७ ।।

सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं
सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति ।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्
सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः ।। ४८ ।।

श्रेष्ठ पुरुष सत्यके बलसे सूर्यका संचालन करते हैं। संत-महात्मा अपनी तपस्यासे इस पृथ्वीको धारण करते हैं। राजन्! सत्पुरुष ही भूत, वर्तमान और भविष्यके आश्रय हैं। श्रेष्ठ पुरुष संतोंके बीचमें रहकर कभी दुःख नहीं उठाते हैं ।। ४८ ।।

आर्यजुष्टमिदं वृत्तमिति विज्ञाय शाश्वतम् ।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ति परस्परम् ।। ४९ ।।

यह सनातन सदाचार सत्पुरुषोंद्वारा सेवित है। यह जानकर सभी श्रेष्ठ पुरुष परोपकार करते हैं और आपसमें एक-दूसरेकी ओर स्वार्थकी दृष्टिसे कभी नहीं देखते हैं ।। ४९ ।।

न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो
न चाप्यर्थो नश्यति नापि मानः ।
यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं
तस्मात् सन्तो रक्षितारो भवन्ति ।। ५० ।।

सत्पुरुषोंका प्रसाद कभी व्यर्थ नहीं जाता। वहाँ किसीको स्वार्थकी हानि नहीं उठानी पड़ती है और न मान-सम्मान ही नष्ट होता है। ये तीनों (प्रसाद, अर्थ और मान) संतोंमें नित्य-निरन्तर बने रहते हैं; इसलिये वे सम्पूर्ण जगत्के रक्षक होते हैं ।। ५० ।।

यम उवाच

यथा यथा भाषसि धर्मसंहितं
मनोऽनुकूलं सुपदं महार्थवत् ।
तथा तथा मे त्वयि भक्तिरुत्तमा
वरं वृणीष्वाप्रतिमं पतिव्रते ।। ५१ ।।

यमराज बोले—पतिव्रते! जैसे-जैसे तू गम्भीर अर्थसे युक्त और सुन्दर पदोंसे विभूषित, मनके अनुकूल धर्मसंगत बातें मुझे सुनाती जा रही है, वैसे-ही-वैसे तेरे प्रति मेरी उत्तम भक्ति बढ़ती जाती है; अतः तू मुझसे कोई अनुपम वर माँग ले ।। ५१ ।।

सावित्र्युवाच

न तेऽपवर्गः सुकृताद् विनाकृत-
स्तथा यथान्येषु वरेषु मानद ।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं
यथा मृता ह्येवमहं पतिं विना ।। ५२ ।।

सावित्रीने कहा—मानद! आपने मुझे जो पुत्र-प्राप्तिका वर दिया है, वह पुण्यमय दाम्पत्य-संयोगके बिना सफल नहीं हो सकता। अन्य वरोंकी जैसी स्थिति है, वैसी इस अन्तिम वरकी नहीं है। इसलिये मैं पुनः यह वर माँगती हूँ कि ये सत्यवान् जीवित हो जायँ; क्योंकि इन पतिदेवताके बिना मैं मरी हुईके ही समान हूँ ।। ५२ ।।

न कामये भर्तृविनाकृता सुखं
न कामये भर्तृविनाकृता दिवम् ।
न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं
न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम् ।। ५३ ।।

पतिके बिना यदि कोई सुख मिलता है तो वह मुझे नहीं चाहिये। पतिदेवके बिना मैं स्वर्गलोकमें भी जानेकी इच्छा नहीं रखती। पतिके बिना मुझे धन-सम्पत्तिकी भी इच्छा नहीं

है। अधिक क्या कहूँ, मैं पतिके बिना जीवित रहना भी नहीं चाहती ।। ५३ ।।

वरातिसर्गः शतपुत्रता मम
त्वयैव दत्तो ह्रियते च मे पतिः ।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं
तवैव सत्यं वचनं भविष्यति ।। ५४ ।।

आपने ही मुझे सौ पुत्र होनेका वर दिया है और आप ही मेरे पतिको अन्यत्र लिये जा रहे हैं; अतः मैं वही वर माँगती हूँ कि ये सत्यवान् जीवित हो जायँ, इससे आपका ही वचन सत्य होगा ।। ५४ ।।

मार्कण्डेय उवाच

तथेत्युक्त्वा तु तं पाश मुक्त्वा वैवस्वतो यमः ।
धर्मराजः प्रहृष्टात्मा सावित्रीमिदमब्रवीत् ।। ५५ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर 'तथास्तु' कहकर सूर्यपुत्र धर्मराज यमने सत्यवान्‌का बन्धन खोल दिया और प्रसन्नचित्त होकर सावित्रीसे इस प्रकार कहा—

एष भद्रे मया मुक्तो भर्ता ते कुलनन्दिनि ।
(तोषितोऽहं त्वया साध्वि वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः ।)
अरोगस्तव नेयश्च सिद्धार्थः स भविष्यति ।। ५६ ।।

‘भद्रे! यह ले, मैंने तेरे पतिको छोड़ दिया। कुलनन्दिनी! तूने अपने धर्मार्थयुक्त वचनोंद्वारा मुझे पूर्ण संतुष्ट कर दिया है। साध्वी! यह सत्यवान् नीरोग, सफल-मनोरथ तथा तेरे द्वारा ले जानेयोग्य हो गया ।। ५६ ।।

चतुर्वर्षशतायुश्च त्वया सार्धमवाप्स्यति ।
इष्ट्वा यज्ञैश्च धर्मेण ख्यातिं लोके गमिष्यति ।। ५७ ।।

‘यह तेरे साथ रहकर चार सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त करेगा। यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करके यह अपने धर्माचरणके द्वारा सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात होगा ।। ५७ ।।

त्वयि पुत्रशतं चैव सत्यवान् जनयिष्यति ।
ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः ।। ५८ ।।

‘सत्यवान् तेरे गर्भसे सौ पुत्र उत्पन्न करेगा और वे सभी राजकुमार राजा होनेके साथ ही पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न होंगे ।। ५८ ।।

ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्च भविष्यन्तीह शाश्वताः ।
पितुश्च ते पुत्रशतं भविता तव मातरि ।। ५९ ।।

‘तेरे ही नामसे उनकी सदा ख्याति होगी अर्थात् वे सावित्र नामसे प्रसिद्ध होंगे। तेरे पिताके भी तेरी माताके ही गर्भसे सौ पुत्र होंगे ।। ५९ ।।

मालव्यां मालवा नाम शाश्वताः पुत्रपौत्रिणः ।
भ्रातरस्ते भविष्यन्ति क्षत्रियास्त्रिदशोपमाः ।। ६० ।।

यम-सावित्री

'वे तेरी माता मालवीसे उत्पन्न होनेके कारण मालव नामसे विख्यात होंगे। तेरे भाई मालव क्षत्रिय पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न तथा देवताओंके समान तेजस्वी होंगे' ।। ६० ।।

एवं तस्यै वरं दत्त्वा धर्मराजः प्रतापवान् ।
निवर्तयित्वा सावित्रीं स्वमेव भवनं ययौ ।। ६१ ।।

सावित्रीको इस प्रकार वरदान दे प्रतापी धर्मराज उसे लौटाकर अपने लोकको चले गये ।। ६१ ।।

सावित्र्यपि यमे याते भर्तारं प्रतिलभ्य च ।
जगाम तत्र यत्रास्या भर्तुः शावं कलेवरम् ।। ६२ ।।

यमराजके चले जानेपर सावित्री अपने पतिको पाकर उसी स्थानपर गयी; जहाँ पतिका मृत शरीर पड़ा था ।। ६२ ।।

सा भूमौ प्रेक्ष्य भर्तारमुपसृत्योपगृह्य च ।
उत्सङ्गे शिर आरोप्य भूमावुपविवेश ह ।। ६३ ।।

वह पृथ्वीपर अपने पतिको पड़ा देख उनके पास गयी और पृथ्वीपर बैठ गयी, फिर पतिको उठाकर उसने उनके मस्तकको गोदीमें रख लिया ।। ६३ ।।

संज्ञां च स पुनर्लब्ध्वा सावित्रीमभ्यभाषत ।
प्रोष्यागत इव प्रेम्णा पुनः पुनरुदीक्ष्य वै ।। ६४ ।।

तदनन्तर पुनः चेतना प्राप्त करके सत्यवान् परदेशमें रहकर लौटे हुए पुरुषकी भाँति बार-बार प्रेमपूर्वक सावित्रीकी ओर देखते हुए उससे बोले ।। ६४ ।।

सत्यवानुवाच

सुचिरं बत सुप्तोऽस्मि किमर्थं नावबोधितः ।
क्व चासौ पुरुषः श्यामो योऽसौ मां संचकर्ष ह ।। ६५ ।।

सत्यवान्ने कहा—प्रिये! खेद है कि मैं बहुत देरतक सोता रह गया। तुमने मुझे जगा क्यों नहीं दिया? वे श्यामवर्णके पुरुष कहाँ हैं जिन्होंने मुझे खींचा था? ।। ६५ ।।

सावित्र्युवाच

सुचिरं त्वं प्रसुप्तोऽसि ममाङ्के पुरुषर्षभ ।
गतः स भगवान् देवः प्रजासंयमनो यमः ।। ६६ ।।

सावित्री बोली—नरश्रेष्ठ! आप मेरी गोदमें बहुत देरतक सोते रह गये। वे श्यामवर्णके पुरुष प्रजाको संयममें रखनेवाले साक्षात् भगवान् यम थे, जो अब चले गये हैं ।। ६६ ।।

विश्रान्तोऽसि महाभाग विनिद्रश्च नृपात्मज ।
यदि शक्यं समुत्तिष्ठ विगाढां पश्य शर्वरीम् ।। ६७ ।।

महाभाग! आपने विश्राम कर लिया। राजकुमार! अब आपकी नींद भी टूट चुकी है। यदि शक्ति हो तो उठिये; देखिये, प्रगाढ़ अन्धकारसे युक्त रात्रि हो गयी है ।। ६७ ।।

मार्कण्डेय उवाच

उपलभ्य ततः संज्ञां सुखसुप्त इवोत्थितः ।
दिशः सर्वा वनान्तांश्च निरीक्ष्योवाच सत्यवान् ।। ६८ ।।
फलाहारोऽस्मि निष्क्रान्तस्त्वया सह सुमध्यमे ।
ततः पाटयतः काष्ठं शिरसो मे रुजाभवत् ।। ६९ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब होशमें आकर सत्यवान् सुखपूर्वक सोये हुए पुरुषकी भाँति उठकर सम्पूर्ण दिशाओं तथा वनप्रान्तकी ओर दृष्टि डालकर बोले—'सुमध्यमे! मैं फल लानेके लिये तुम्हारे साथ घरसे निकला था, फिर लकड़ी चीरते समय मेरे सिरमें जोर-जोरसे दर्द होने लगा था ।। ६८-६९ ।।

शिरोऽभितापसंतप्तः स्थातुं चिरमशक्नुवन् ।
तवोत्सङ्गे प्रसुप्तोऽस्मि इति सर्वं स्मरे शुभे ।। ७० ।।

'शुभे! मस्तककी उस पीड़ासे संतप्त हो मैं देरतक खड़ा रहनेमें असमर्थ हो गया और तुम्हारी गोदमें सिर रखकर सो रहा। ये सारी बातें मुझे क्रमशः याद आ रही हैं ।। ७० ।।

त्वयोपगूढस्य च मे निद्रयापहृतं मनः ।
ततोऽपश्यं तमो घोरं पुरुषं च महौजसम् ।। ७१ ।।

'तुम्हारे अंगोंका स्पर्श होनेसे मेरा मन नींदमें खो गया। तत्पश्चात् मुझे घोर अंधकार दिखायी दिया। साथ ही एक महातेजस्वी दिव्य पुरुषका दर्शन हुआ ।। ७१ ।।

तद् यदि त्वं विजानासि किं तद् ब्रूहि सुमध्यमे ।
स्वप्नो मे यदि वा दृष्टो यदि वा सत्यमेव तत् ।। ७२ ।।

'सुमध्यमे! यदि तुम जानती हो तो बताओ; वह सब क्या था? मैंने जो कुछ देखा है वह स्वप्न तो नहीं था? अथवा वह सब सत्य ही था' ।। ७२ ।।

तमुवाचाथ सावित्री रजनी व्यवगाहते ।
श्वस्ते सर्वं यथावृत्तमाख्यास्यामि नृपात्मज ।। ७३ ।।

तब सावित्री उनसे बोली—राजकुमार! रात बढ़ती जा रही है। कल सबेरे मैं आपसे सब बातें ठीक-ठीक बताऊँगी ।। ७३ ।।

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते पितरौ पश्य सुव्रत ।
विगाढा रजनी चेयं निवृत्तश्च दिवाकरः ।। ७४ ।।

'सुव्रत! उठिये, उठिये, आपका कल्याण हो। आप चलकर माता-पिताका दर्शन तो कीजिये। सूर्य डूब गये तथा रात घनी हो गयी है ।। ७४ ।।

नक्तंचराश्चरन्त्येते हृष्टाः क्रूराभिभाषिणः ।
श्रूयन्ते पर्णशब्दाश्च मृगाणां चरतां वने ।। ७५ ।।

ये क्रूर बोली बोलनेवाले निशाचर यहाँ प्रसन्नतापूर्वक विचर रहे हैं। वनमें घूमते हुए मृगोंके पैरोंसे लगकर पत्तोंके मर्मर शब्द सुनायी पड़ते हैं ।। ७५ ।।

एता घोरं शिवा नादान् दिशं दक्षिणपश्चिमाम् ।
आस्थाय विरुवन्त्युग्राः कम्पयन्त्यो मनो मम ।। ७६ ।।

'दक्षिण और पश्चिमके कोणकी दिशामें जाकर ये उग्र सियारिनें भयंकर शब्द कर रही हैं, जिससे मेरा हृदय काँप उठता है ।। ७६ ।।

सत्यवानुवाच

वनं प्रतिभयाकारं घनेन तमसाऽऽवृतम् ।
न विज्ञास्यसि पन्थानं गन्तुं चैव न शक्ष्यसि ।। ७७ ।।

सत्यवान् बोले—प्रिये! यह वन गाढ अंधकारसे आच्छादित होकर अत्यन्त भयंकर दिखायी दे रहा है। इस समय न तो तुम्हें रास्ता सूझेगा और न तुम चल ही सकोगी ।। ७७ ।।

सावित्र्युवाच

अस्मिन्नद्य वने दग्धे शुष्कवृक्षः स्थितो ज्वलन् ।
वायुना धम्यमानोऽत्र दृश्यतेऽग्निः क्वचित् क्वचित् ।। ७८ ।।

सावित्रीने कहा—आज इस वनमें आग लगी थी। इसमें एक सूखा वृक्ष खड़ा है, जो जल रहा है। हवा लगनेसे उसमें कहीं-कहीं आग दिखायी देती है ।। ७८ ।।

ततोऽग्निमानयित्वेह ज्वालयिष्यामि सर्वतः ।
काष्ठानीमानि सन्तीह जहि सन्तापमात्मनः ।। ७९ ।।

वहींसे आग ले आकर मैं सब ओर लकड़ियाँ जलाऊँगी। यहाँ बहुत-से काठ-कबाड़ पड़े हैं। आप मनसे चिन्ता निकाल दीजिये ।। ७९ ।।

यदि नोत्सहसे गन्तुं सरुजं त्वां हि लक्षये ।
न च ज्ञास्यसि पन्थानं तमसा संवृते वने ।। ८० ।।
श्वः प्रभाते वने दृश्ये यास्यावोऽनुमते तव।
वसावेह क्षपामेकां रुचितं यदि तेऽनघ ।। ८१ ।।

परंतु मैं आपको रुग्ण देख रही हूँ। ऐसी दशामें यदि आपके मनमें चलनेका उत्साह न हो अथवा इस तिमिराच्छन्न वनमें यदि आपको रास्तेका ज्ञान न हो सके तो आपकी अनुमति होनेपर हम दोनों कल सबेरे, जब वनकी हर एक वस्तु स्पष्ट दीखने लगे, घर चलेंगे। अनघ! यदि आपकी रुचि हो तो एक रात हमलोग यहीं निवास करें ।। ८०-८१ ।।

सत्यवानुवाच

शिरोरुजा निवृत्ता मे स्वस्थान्यङ्गानि लक्षये ।
मातापितृभ्यामिच्छामि संगमं त्वत्प्रसादजम् ।। ८२ ।।

सत्यवान्‌ने कहा—प्रिये! मेरे सिरका दर्द दूर हो गया है। मुझे अपने सब अंग स्वस्थ दिखायी देते हैं। अब तुम्हारे कृपाप्रसादसे मैं अपने माता-पितासे मिलना चाहता हूँ ।। ८२ ।।

न कदाचिद् विकालं हि गतपूर्वो मयाऽऽश्रमः ।
अनागतायां सन्ध्यायां माता मे प्ररुणद्धि माम् ।। ८३ ।।

आजसे पहले कभी भी मैं इतनी देर करके असमयमें अपने आश्रमपर नहीं लौटा हूँ। संध्या होनेसे पहले ही माता मुझे रोक लेती है—आश्रमसे बाहर नहीं जाने देती ।। ८३ ।।

दिवापि मयि निष्क्रान्ते संतप्येते गुरू मम ।
विचिनोति हि मां तातः सहैवाश्रमवासिभिः ।। ८४ ।।

दिनमें भी यदि मैं आश्रमसे दूर निकल जाता हूँ तो मेरे माता-पिता व्याकुल हो उठते हैं एवं पिताजी आश्रमवासियोंके साथ मुझे खोजने निकल पड़ते हैं ।।

मात्रा पित्रा च सुभृशं दुःखिताभ्यामहं पुरा ।
उपालब्धश्च बहुशश्चिरेणागच्छसीति ह ।। ८५ ।।

मेरे माता-पिताने अत्यन्त दुःखी होकर पहले कई बार मुझे उलाहना दिया है कि 'तु देरसे घर लौटता है' ।।

का त्ववस्था तयोरद्य मदर्थमिति चिन्तये ।
तयोरदृश्ये मयि च महद् दुःखं भविष्यति ।। ८६ ।।

आज मेरे लिये उन दोनोंकी क्या अवस्था हुई होगी? यह सोचकर मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है। मुझे न देखनेपर उन दोनोंको महान् दुःख होगा ।। ८६ ।।

पुरा मामूचतुश्चैव रात्रावस्रायमाणकौ ।
भृशं सुदुःखितौ वृद्धौ बहुशः प्रीतिसंयुतौ ।। ८७ ।।

पहलेकी बात है, मेरे वृद्ध माता-पिताने अत्यन्त दुःखी हो रातमें आँसू बहाते हुए मुझसे बारंबार प्रेमपूर्वक कहा था— ।। ८७ ।।

त्वया हीनौ न जीवाव मुहूर्तमपि पुत्रक ।
यावद् धरिष्यसे पुत्र तावन्नौ जीवितं ध्रुवम् ।। ८८ ।।

'बेटा! तुम्हारे बिना हम दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकते। वत्स! तुम जबतक जीवित रहोगे, तभीतक हमारा भी जीवन निश्चित है ।। ८८ ।।

वृद्धयोरन्धयोर्दृष्टिस्त्वयि वंशः प्रतिष्ठितः ।
त्वयि पिण्डश्च कीर्तिश्च संतानं चावयोरिति ।। ८९ ।।

'हम दोनों बूढ़े और अंधे हैं। तुम्हीं हमारी दृष्टि हो तथा तुम्हींपर हमारा वंश प्रतिष्ठित है। हम दोनोंका पिण्ड, कीर्ति और कुलपरम्परा सब कुछ तुमपर ही अवलम्बित है' ।। ८९ ।।

माता वृद्धा पिता वृद्धस्तयोर्यष्टिरहं किल ।
तौ रात्रौ मामपश्यन्तौ कामवस्थां गमिष्यतः ।। ९० ।।

मेरी माता बूढ़ी है। पिता भी वृद्ध हैं, केवल मैं ही उन दोनोंके लिये लाठीका सहारा हूँ। वे दोनों रातमें मुझे न देखकर पता नहीं किस दशाको पहुँच जायँगे? ।। ९० ।।

निद्रायाश्चाभ्यसूयामि यस्या हेतोः पिता मम ।
माता च संशयं प्राप्ता मत्कृतेऽनपकारिणी ।। ९१ ।।

मैं अपनी इस नींदको कोसता हूँ, जिसके कारण मेरे पिता तथा कभी मेरा अपकार न करनेवाली मेरी माताका जीवन संशयमें पड़ गया है ।। ९१ ।।

अहं च संशयं प्राप्तः कृच्छ्रामापदमास्थितः ।
मातापितृभ्यां हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे ।। ९२ ।।

मैं भी कठिन विपत्तिमें फँसकर प्राण-संशयकी दशामें आ पहुँचा हूँ। माता-पिताके बिना तो मैं कदापि जीवित नहीं रह सकता ।। ९२ ।।

व्यक्तमाकुलया बुद्ध्या प्रज्ञाचक्षुः पिता मम ।
एकैकमस्यां वेलायां पृच्छत्याश्रमवासिनम् ।। ९३ ।।

निश्चय ही इस समय मेरे प्रज्ञाचक्षु (अंधे) पिता व्याकुल हृदयसे एक-एक आश्रमवासीके पास जाकर मेरे विषयमें पूछ रहे होंगे ।। ९३ ।।

नात्मानमनुशोचामि यथाहं पितरं शुभे ।
भर्तारं चाप्यनुगतां मातरं परिदुर्बलाम् ।। ९४ ।।

शुभे! मुझे अपने लिये उतना शोक नहीं है, जितना कि पिताके लिये और उन्हींका अनुसरण करनेवाली दुबली-पतली माताके लिये है ।। ९४ ।।

मत्कृतेन हि तावद्य सन्तापं परमेष्यतः ।
जीवन्तावनुजीवामि भर्तव्यौ तौ मयेति ह ।। ९५ ।।
तयोः प्रियं मे कर्तव्यमिति जानामि चाप्यहम् ।

मेरे कारण आज मेरे माता-पिता बहुत संतप्त होंगे। उन्हें जीवित देखकर ही मैं जी रहा हूँ। मुझे उन दोनोंका भरण-पोषण करना चाहिये। मैं यह भी जानता हूँ कि माता-पिताका प्रिय करना ही मेरा कर्तव्य है ।। ९५½ ।।

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा गुरुभक्तो गुरुप्रियः ।। ९६ ।।
उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्तः सुस्वरं प्ररुरोद ह ।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! यों कहकर धर्मात्मा, गुरुभक्त एवं गुरुजनोंके प्रिय सत्यवान् दोनों बाँहें ऊपर उठाकर दुःखसे आतुर हो फूट-फूटकर रोने लगे ।। ९६½ ।।

ततोऽब्रवीत् तथा दृष्ट्वा भर्तारं शोककर्शितम् ।। ९७ ।।
प्रमृज्याश्रूणि नेत्राभ्यां सावित्री धर्मचारिणी ।
यदि मेऽस्ति तपस्तप्तं यदि दत्तं हुतं यदि ।। ९८ ।।

श्वश्रूश्वशुरभर्तॄणां मम पुण्यास्तु शर्वरी ।

अपने पतिको इस प्रकार शोकसे कातर हुआ देख धर्मका पालन करनेवाली सावित्रीने नेत्रोंसे बहते हुए आँसुओंको पोंछकर कहा—'यदि मैंने कोई तपस्या की हो, यदि दान दिया हो और होम किया हो तो मेरे सास-ससुर और पतिके लिये यह रात पुण्यमयी हो ।। ९७-९८½ ।।

न स्मराम्युक्तपूर्वं वै स्वैरेष्वनृतां गिरम् ।। ९९ ।।
तेन सत्येन तावद्य ध्रियेतां श्वशुरौ मम ।

'मैंने पहले कभी इच्छानुसार किये जानेवाले क्रीडा-विनोदमें भी झूठी बात कही हो, मुझे इसका स्मरण नहीं है। उस सत्यके प्रभावसे इस समय मेरे सास-ससुर जीवित रहें ।। ९९½ ।।

सत्यवानुवाच

कामये दर्शनं पित्रोर्याहि सावित्रि मा चिरम् ।। १०० ।।
(अपि नाम गुरू तौ हि पश्येयं प्रीयमाणकौ ।)

सत्यवान्‌ने कहा—सावित्री! चलो, मैं शीघ्र ही माता-पिताका दर्शन करना चाहता हूँ। क्या मैं उन दोनोंको प्रसन्न देख सकूँगा? ।। १०० ।।

पुरा मातुः पितुर्वापि यदि पश्यामि विप्रियम् ।
न जीविष्ये वरारोहे सत्येनात्मानमालभे ।। १०१ ।।

वरारोहे! मैं सत्यकी शपथ खाकर अपना शरीर छूकर कहता हूँ, यदि मैं माता अथवा पिताका अप्रिय देखूँगा तो जीवित नहीं रहूँगा ।। १०१ ।।

यदि धर्मे च ते बुद्धिर्मां चेज्जीवन्तमिच्छसि ।
मम प्रियं वा कर्तव्यं गच्छावाश्रममन्तिकात् ।। १०२ ।।

यदि तुम्हारी बुद्धि धर्ममें रत है, यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहती हो अथवा मेरा प्रिय करना अपना कर्तव्य समझती हो तो हम दोनों शीघ्र ही आश्रमके समीप चलें ।। १०२ ।।

मार्कण्डेय उवाच

सावित्री तत उत्थाय केशान् संयम्य भाविनी ।
पतिमुत्थापयामास बाहुभ्यां परिगृह्य वै ।। १०३ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब पतिका हितचिन्तन करनेवाली सावित्रीने उठकर अपने खुले हुए केशोंको बाँध लिया और दोनों हाथोंसे पकड़कर पतिको उठाया ।। १०३ ।।

उत्थाय सत्यवांश्चापि प्रमृज्याङ्गानि पाणिना ।
सर्वा दिशः समालोक्य कठिने दृष्टिमादधे ।। १०४ ।।

सत्यवान्‌ने भी उठकर एक हाथसे अपने सभी अंग पोंछे और चारों ओर देखकर फलोंकी टोकरीपर दृष्टि डाली ।। १०४ ।।

तमुवाचाथ सावित्री श्वः फलानि हरिष्यसि ।
योगक्षेमार्थमेतं ते नेष्यामि परशुं त्वहम् ।। १०५ ।।

तब सावित्रीने उनसे कहा—'कल सबेरे फलोंको ले चलियेगा। इस समय आपके योग-क्षेमके लिये इस कुल्हाड़ीको मैं साथ ले चलूँगी' ।। १०५ ।।

कृत्वा कठिनभारं सा वृक्षशाखावलम्बिनम् ।
गृहीत्वा परशुं भर्तुः सकाशे पुनरागमत् ।। १०६ ।।

फिर उसने टोकरीके बोझको पेड़की डालमें लटका दिया और कुल्हाड़ी लेकर वह पुनः पतिके पास आ गयी ।। १०६ ।।

वामे स्कन्धे तु वामोरूर्भर्तुर्बाहुं निवेश्य च ।
दक्षिणेन परिष्वज्य जगाम गजगामिनी ।। १०७ ।।

कमनीय ऊरुओंसे सुशोभित तथा हाथीके समान मन्द गतिसे चलनेवाली सावित्रीने पतिकी दाहिनी भुजाको अपने बायें कंधेपर रखकर दाहिने हाथसे उन्हें अपने पार्श्वभागमें सटा लिया और धीरे-धीर चलने लगी ।। १०७ ।।

सत्यवानुवाच

अभ्यासगमनाद् भीरु पन्थानो विदिता मम ।

वृक्षान्तरालोकितया ज्योत्स्नया चापि लक्षये ।। १०८ ।।

उस समय सत्यवान्‌ने कहा—भीरु! बार-बार आने-जानेसे यहाँके सभी मार्ग मेरे परिचित हैं। वृक्षोंके भीतरसे दिखायी देनेवाली चाँदनीसे भी मैं रास्तोंकी पहचान कर लेता हूँ ।। १०८ ।।

आगतौ स्वः पथा येन फलान्यवचितानि च ।

यथागतं शुभे गच्छ पन्थानं मा विचारय ।। १०९ ।।

यह वही मार्ग है जिससे हम दोनों आये थे और हमने फल चुने थे। शुभे! तुम जैसे आयी हो वैसे चली चलो। रास्तेका विचार न करो ।। १०९ ।।

पलाशखण्डे चैतस्मिन् पन्था व्यावर्तते द्विधा ।

तस्योत्तरेण यः पन्थास्तेन गच्छ त्वरस्व च ।। ११० ।।

स्वस्थोऽस्मि बलवानस्मि दिदृक्षुः पितरावुभौ ।

पलाश-वृक्षोंके इस वनप्रदेशमें यह मार्ग अलग-अलग दो दिशाओंकी ओर मुड़ जाता है। इन दोनोंमेंसे जो मार्ग उत्तरकी ओरसे जाता है, उसीसे चलो और शीघ्रतापूर्वक पैर बढ़ाओ। अब मैं स्वस्थ हूँ, बलवान् हूँ और अपने माता तथा पिता दोनोंको देखनेके लिये उत्सुक हूँ ।। ११०½ ।।

मार्कण्डेय उवाच

ब्रुवन्नेवं त्वरायुक्तः सम्प्रायादाश्रमं प्रति ।। १११ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—ऐसा कहते हुए सत्यवान् बड़ी उतावलीके साथ आश्रमकी ओर चलने लगे ।। १११ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २९७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ११२ श्लोक हैं)

अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पत्नीसहित राजा द्युमत्सेनकी सत्यवान्‌के लिये चिन्ता, ऋषियोंका उन्हें आश्वासन देना, सावित्री और सत्यवान्‌का आगमन तथा सावित्रीद्वारा विलम्बसे आनेके कारणपर प्रकाश डालते हुए वरप्राप्तिका विवरण बताना

मार्कण्डेय उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु द्युमत्सेनो महाबलः ।
लब्धचक्षुः प्रसन्नायां दृष्ट्यां सर्वं ददर्श ह ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इसी समय महाबली महाराजा द्युमत्सेनको उनकी खोयी हुई आँखें मिल गयीं। दृष्टि स्वच्छ हो जानेके कारण वे सब कुछ देखने लगे ।। १ ।।

स सर्वानाश्रमान् गत्वा शैब्यया सह भार्यया ।
पुत्रहेतोः परामार्तिं जगाम भरतर्षभ ।। २ ।।

भरतश्रेष्ठ! वे अपनी पत्नी शैब्याके साथ सभी आश्रमोंमें जाकर पुत्रका पता लगाने लगे। उस समय उन्हें सत्यवान्‌के लिये बड़ी वेदना हो रही थी ।। २ ।।

तावाश्रमान् नदीश्चैव वनानि च सरांसि च ।
तस्यां निशि विचिन्वन्तौ दम्पती परिजग्मतुः ।। ३ ।।

वे दोनों पति-पत्नी उस रातमें पुत्रकी खोज करते हुए विभिन्न आश्रमों, नदीके तटों तथा वनों और सरोवरोंमें भ्रमण करने लगे ।। ३ ।।

श्रुत्वा शब्दं तु यं कञ्चिदुन्मुखौ सुतशङ्कया ।
सावित्रीसहितोऽभ्येति सत्यवानित्यभाषताम् ।। ४ ।।

जो कोई भी शब्द कानमें पड़ता, उसीको सुनकर वे अपने पुत्रके आनेकी आशंकासे उत्सुक हो उठते और परस्पर कहने लगते कि 'सावित्रीके साथ सत्यवान् आ रहा है' ।। ४ ।।

भिन्नैश्च परुषैः पादैः सव्रणैः शोणितोक्षितैः ।
कुशकण्टकविद्धाङ्गावुन्मत्ताविव धावतः ।। ५ ।।

उनके पैरोंमें बिवाई फट गयी थी, वे कठोर हो गये थे तथा घाव हो जानेके कारण रक्तसे भींगे रहते थे, तो भी उन्हीं पैरोंसे वे दोनों दम्पति इधर-उधर पागलोंकी भाँति दौड़ रहे थे। उस समय उनके अंगोंमें कुश और काँटे बिंध गये थे ।। ५ ।।

ततोऽभिसृत्य तैर्विप्रैः सर्वैराश्रमवासिभिः ।
परिवार्य समाश्वास्य तावानीतौ स्वमाश्रमम् ।। ६ ।।

तब उन आश्रमोंमें रहनेवाले समस्त ब्राह्मणोंने उनके पास जा उन्हें सब ओरसे घेरकर आश्वासन दिया तथा उन दोनोंको उनके आश्रमपर पहुँचाया ।। ६ ।।

तत्र भार्यासहायः स वृतो वृद्धैस्तपोधनैः ।
आश्वासितोऽपि चित्रार्थैः पूर्वराज्ञां कथाश्रयैः ।। ७ ।।
ततस्तौ पुनराश्वस्तौ वृद्धौ पुत्रदिदृक्षया ।
बाल्यवृत्तानि पुत्रस्य स्मरन्तौ भृशदुःखितौ ।। ८ ।।

तपस्याके धनी वृद्ध ब्राह्मणोंद्वारा घिरे हुए पत्नीसहित राजा द्युमत्सेनको प्राचीन राजाओंकी विचित्र अर्थोंसे भरी हुई कथाएँ सुनाकर पूरा आश्वासन दिया गया, तो भी वे दोनों वृद्ध बारंबार सान्त्वना मिलते रहनेपर भी अपने पुत्रको देखनेकी इच्छासे उसके बचपनकी बातें सोचते हुए बहुत दुःखी हो गये ।। ७-८ ।।

पुनरुक्त्वा च करुणां वाचं तौ शोककर्शितौ ।
हा पुत्र हा साध्वि वधूः क्वासि क्वासीत्यरोदताम् ।
ब्राह्मणः सत्यवाक् तेषामुवाचेदं तयोर्वचः ।। ९ ।।

वे शोककातर दम्पति बारंबार करुण वचन बोलते हुए 'हा पुत्र! हा सती-साध्वी बहू! तुम कहाँ हो, कहाँ हो?' यों कहकर रोने लगे। उस समय एक सत्यवादी ब्राह्मणने उन दोनोंसे इस प्रकार कहा ।। ९ ।।

सुवर्चा उवाच

यथास्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च ।
आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ।। १० ।।

सुवर्चा बोले—सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री जैसी तपस्या, इन्द्रियसंयम तथा सदाचारसे संयुक्त है, उसे देखते हुए मैं कह सकता हूँ कि सत्यवान् जीवित है ।। १० ।।

गौतम उवाच

वेदाः साङ्गा मयाधीतास्तपो मे संचितं महत् ।
कौमारब्रह्मचर्यं च गुरवोऽग्निश्च तोषिताः ।। ११ ।।
समाहितेन चीर्णानि सर्वाण्येव व्रतानि मे ।
वायुभक्षोपवासश्च कृतो मे विधिवत् पुरा ।। १२ ।।
अनेन तपसा वेद्मि सर्वं परचिकीर्षितम् ।
सत्यमेतन्निबोधध्वं ध्रियते सत्यवानिति ।। १३ ।।

गौतम बोले—मैंने छहों अंगोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन किया है। महान् तपका संचय किया है। कुमारावस्थासे ही ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरुजनों तथा अग्निदेवको संतुष्ट किया है। एकाग्रचित्त होकर सभी व्रत पूर्ण किये हैं। पूर्वकालमें हवा पीकर विधिपूर्वक उपवासव्रतका साधन किया है। इस तपस्याके प्रभावसे मैं दूसरोंकी सारी

चेष्टाओंको जान लेता हूँ। आपलोग मेरी यह बात सच मानें कि सत्यवान् जीवित है ।। ११—१३ ।।

शिष्य उवाच

उपाध्यायस्य मे वक्त्राद् यथा वाक्यं विनिःसृतम् ।
नैव जातु भवेन्मिथ्या तथा जीवति सत्यवान् ।। १४ ।।

गौतमके शिष्यने कहा—मेरे गुरुजीके मुखसे जो बात निकली है वह कभी मिथ्या नहीं हो सकती। सत्यवान् अवश्य जीवित है ।। १४ ।।

ऋषय ऊचुः

यथास्य भार्या सावित्री सर्वैरेव सुलक्षणैः ।
अवैधव्यकरैर्युक्ता तथा जीवति सत्यवान् ।। १५ ।।

कुछ ऋषियोंने कहा—सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री उन सभी शुभ लक्षणोंसे युक्त है जो वैधव्यका निवारण करके सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाले हैं, इसलिये सत्यवान् अवश्य जीवित है ।। १५ ।।

भारद्वाज उवाच

यथास्य भार्या सावित्री तपसा च दमेन च ।
आचारेण च संयुक्ता तथा जीवति सत्यवान् ।। १६ ।।

भारद्वाज बोले—सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री जैसी तपस्या, इन्द्रियसंयम तथा सदाचारसे संयुक्त है, उसे देखते हुए मैं कह सकता हूँ कि सत्यवान् जीवित है ।।

दाल्भ्य उवाच

यथा दृष्टिः प्रवृत्ता ते सावित्र्याश्च यथा व्रतम् ।
गताऽऽहारमकृत्वा च तथा जीवति सत्यवान् ।। १७ ।।

दाल्भ्यने कहा—राजन्! जिस प्रकार आपको दृष्टि प्राप्त हो गयी और जिस प्रकार सावित्रीका उपवास-व्रत चल रहा था तथा जिस प्रकार वह आज भोजन किये बिना ही पतिके साथ गयी है, इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि सत्यवान् जीवित है ।। १७ ।।

आपस्तम्ब उवाच

यथा वदन्ति शान्तायां दिशि वै मृगपक्षिणः ।
पार्थिवी च प्रवृत्तिस्ते तथा जीवति सत्यवान् ।। १८ ।।

आपस्तम्ब बोले—इस शान्त (एवं प्रसन्न) दिशामें मृग और पक्षी जैसी बोली बोल रहे हैं और आपके द्वारा जिस प्रकार राजोचित धर्मका अनुष्ठान हो रहा है, उसके अनुसार यह

कहा जा सकता है कि सत्यवान् जीवित है ।। १८ ।।

धौम्य उवाच

सर्वैर्गूणैरुपेतस्ते यथा पुत्रो जनप्रियः ।
दीर्घायुर्लक्षणोपेतस्तथा जीवति सत्यवान् ।। १९ ।।

धौम्यने कहा—महाराज! आपका यह पुत्र जिस प्रकार समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न, जनप्रिय तथा चिरजीवी पुरुषोंके लक्षणोंसे युक्त है, उसके अनुसार यही मानना चाहिये कि सत्यवान् जीवित है ।। १९ ।।

मार्कण्डेय उवाच

एवमाश्वासितस्तैस्तु सत्यवाग्भिस्तपस्विभिः ।
तांस्तान् विगणयन् सर्वांस्ततः स्थिर इवाभवत् ।। २० ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार सत्यवादी एवं तपस्वी मुनियोंने जब राजा द्युमत्सेनको पूर्णतः आश्वासन दिया, तब उन सबका समादर करते हुए उनकी बात मानकर वे स्थिर-से हो गये ।। २० ।।

ततो मुहूर्तात् सावित्री भर्त्रा सत्यवता सह ।
आजगामाश्रमं रात्रौ प्रहृष्टा प्रविवेश ह ।। २१ ।।

तदनन्तर दो ही घड़ीमें सावित्री अपने पति सत्यवान्‌के साथ रातमें वहाँ आयी और बड़े हर्षके साथ उसने आश्रममें प्रवेश किया ।। २१ ।।

ब्राह्मणा ऊचुः

पुत्रेण संगतं त्वां तु चक्षुष्मन्तं निरीक्ष्य च ।
सर्वे वयं वै पृच्छामो वृद्धिं वै पृथिवीपते ।। २२ ।।

तब ब्राह्मणोंने कहा—महाराज! पुत्रके साथ आपका मिलन हुआ और आपको नेत्र भी प्राप्त हो गये, इस अवस्थामें आपको देखकर हम सब लोग आपका अभ्युदय मना रहे हैं ।। २२ ।।

समागमेन पुत्रस्य सावित्र्या दर्शनेन च ।
चक्षुषश्चात्मनो लाभात् त्रिभिर्दिष्ट्या विवर्धसे ।। २३ ।।

बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपको पुत्रका समागम प्राप्त हुआ, बहू सावित्रीका दर्शन हुआ और अपने खोये हुए नेत्र पुनः मिल गये। इन तीनों बातोंसे आपका अभ्युदय सूचित होता है ।। २३ ।।

सर्वैरस्माभिरुक्तं यत् तथा तन्नात्र संशयः ।
भूयोभूयः समृद्धिस्ते क्षिप्रमेव भविष्यति ।। २४ ।।

हम सब लोगोंने जो बात कही है, वह ज्यों-की-त्यों सत्य निकली, इसमें संशय नहीं है। आगे भी शीघ्र ही आपकी बारंबार समृद्धि होनेवाली है ।। २४ ।।

ततोऽग्निं तत्र संज्वाल्य द्विजास्ते सर्व एव हि ।
उपासांचक्रिरे पार्थ द्युमत्सेनं महीपतिम् ।। २५ ।।

युधिष्ठिर! तदनन्तर सभी ब्राह्मण वहाँ आग जलाकर राजा द्युमत्सेनके पास बैठ गये ।। २५ ।।

शैब्या च सत्यवांश्चैव सावित्री चैकतः स्थिताः ।
सर्वैस्तैरभ्यनुज्ञाता विशोकाः समुपाविशन् ।। २६ ।।

शैब्या, सत्यवान् तथा सावित्री—ये तीनों भी एक ओर खड़े थे, जो उन सब महात्माओंकी आज्ञा पाकर शोकरहित हो बैठ गये ।। २६ ।।

ततो राज्ञा सहासीनाः सर्वे ते वनवासिनः ।
जातकौतूहलाः पार्थ पप्रच्छुर्नृपतेः सुतम् ।। २७ ।।

पार्थ! तत्पश्चात् राजाके साथ बैठे हुए वे सभी वनवासी कौतूहलवश राजकुमार सत्यवान्से पूछने लगे ।। २७ ।।

ऋषय ऊचुः

प्रागेव नागतं कस्मात् सभार्येण त्वया विभो ।
विरात्रे चागतं कस्मात् कोऽनुबन्धस्तवाभवत् ।। २८ ।।

ऋषि बोले—राजकुमार! तुम अपनी पत्नीके साथ पहले ही क्यों नहीं चले आये? क्यों इतनी रात बिताकर आये? तुम्हारे सामने कौन-सी अड़चन आ गयी थी? ।। २८ ।।

संतापितः पिता माता वयं चैव नृपात्मज ।
कस्मादिति न जानीमस्तत् सर्वं वक्तुमर्हसि ।। २९ ।।

राजपुत्र! तुमने आनेमें विलम्ब करके अपने माता-पिता तथा हमलोगोंको भी भारी संतापमें डाल दिया था। तुमने ऐसा क्यों किया? यह हम नहीं जान पाते हैं, अतः सब बातें स्पष्ट रूपसे बताओ ।। २९ ।।

सत्यवानुवाच

पित्राहमभ्यनुज्ञातः सावित्रीसहितो गतः ।
अथ मेऽभूच्छिरोदुःखं वने काष्ठानि भिन्दतः ।। ३० ।।

सत्यवान् बोले—मैं पिताकी आज्ञा पाकर सावित्रीके साथ वनमें गया। फिर वनमें लकड़ियोंको चीरते समय मेरे सिरमें बड़े जोरसे दर्द होने लगा ।। ३० ।।

सुप्तश्चाहं वेदनया चिरमित्युपलक्षये ।
तावत् कालं न च मया सुप्तपूर्वं कदाचन ।। ३१ ।।

मैं समझता हूँ कि मैं वेदनासे व्याकुल होकर देरतक सोता रह गया। उतने समयतक मैं उसके पहले कभी नहीं सोया था ।। ३१ ।।

सर्वेषामेव भवतां संतापो मा भवेदिति ।
अतो विरात्रागमनं नान्यदस्तीह कारणम् ।। ३२ ।।

नींद खुलनेपर मैं इतनी रातके बाद भी इसलिये चला आया कि आप सब लोगोंको मेरे लिये चिन्तित न होना पड़े। इस विलम्बमें और कोई कारण नहीं है ।। ३२ ।।

गौतम उवाच

अकस्माच्चक्षुषः प्राप्तिर्द्युमत्सेनस्य ते पितुः ।
नास्य त्वं कारणं वेत्सि सावित्री वक्तुमर्हति ।। ३३ ।।

गौतम बोले—तुम्हारे पिता द्युमत्सेनको जो सहसा नेत्रोंकी प्राप्ति हुई है, इसका कारण तुम नहीं जानते। सम्भवतः सावित्री बतला सकती है ।। ३३ ।।

श्रोतुमिच्छामि सावित्रि त्वं हि वेत्थ परावरम् ।
त्वां हि जानामि सावित्रि सावित्रीमिव तेजसा ।। ३४ ।।
त्वमत्र हेतुं जानीषे तस्मात् सत्यं निरूच्यताम् ।
रहस्यं यदि ते नास्ति किंचिदत्र वदस्व नः ।। ३५ ।।

सावित्री! मैं इसका रहस्य तुमसे सुनना चाहता हूँ; क्योंकि तुम भूत और भविष्य सब कुछ जानती हो। मैं तुम्हें साक्षात् सावित्रीदेवीके समान तेजस्विनी जानता हूँ। राजाको जो सहसा नेत्रोंकी प्राप्ति हुई है, इसका कारण तुम जानती हो। सच-सच बताओ, यदि इसमें कुछ छिपानेकी बात न हो तो हमसे अवश्य कहो ।। ३४-३५ ।।

सावित्र्युवाच

एवमेतद् यथा वेत्थ संकल्पो नान्यथा हि वः ।
न हि किंचिद् रहस्यं मे श्रूयतां तथ्यमेव यत् ।। ३६ ।।

सावित्री बोली—मुनीश्वरो! आपलोग जैसा समझते हैं, ठीक है। आपलोगोंका संकल्प अन्यथा नहीं हो सकता। मेरे लिये कोई छिपानेकी बात नहीं है। मैं सब घटनाएँ ठीक-ठीक बताती हूँ, सुनिये ।। ३६ ।।

मृत्युर्मे पत्युराख्यातो नारदेन महात्मना ।
स चाद्य दिवसः प्राप्तस्ततो नैनं जहाम्यहम् ।। ३७ ।।

महात्मा नारदजीने मुझसे मेरे पतिकी मृत्युका हाल बताया था। वह मृत्युदिवस आज ही आया था; इसलिये मैं इन्हें अकेला नहीं छोड़ती थी ।। ३७ ।।

सुप्तं चैनं यमः साक्षादुपागच्छत् सकिङ्करः ।
स एनमनयद् बद्ध्वा दिशं पितृनिषेविताम् ।। ३८ ।।

जब ये सिरके दर्दसे व्याकुल होकर सो गये, उस समय साक्षात् भगवान् यमराज अपने सेवकके साथ पधारे। वे इन्हें बाँधकर दक्षिण दिशाकी ओर ले चले ।। ३८ ।।

अस्तौषं तमहं देवं सत्येन वचसा विभुम् ।
पञ्च वै तेन मे दत्ता वराः शृणुत तान् मम ।। ३९ ।।

उस समय मैंने सत्यवचनोंद्वारा उन भगवान् यमकी स्तुति की। तब उन्होंने मुझे पाँच वर दिये। उन वरोंको आप मुझसे सुनिये ।। ३९ ।।

चक्षुषी च स्वराज्यं च द्वौ वरौ श्वशुरस्य मे ।
लब्धं पितुः पुत्रशतं पुत्राणां चात्मनः शतम् ।। ४० ।।

नेत्र तथा अपने राज्यकी प्राप्ति—ये दो वर मेरे श्वशुरके लिये प्राप्त हुए हैं। इसके सिवा मैंने अपने पिताके लिये सौ पुत्र तथा अपने लिये भी सौ पुत्र होनेके दो वर और पाये हैं ।। ४० ।।

चतुर्वर्षशतायुर्मे भर्ता लब्धश्च सत्यवान् ।
भर्तुर्हि जीवितार्थं तु मया चीर्णं त्विदं व्रतम् ।। ४१ ।।

पाँचवें वरके रूपमें मुझे मेरे पति सत्यवान् चार सौ वर्षोंकी आयु लेकर प्राप्त हुए हैं। पतिके जीवनकी रक्षाके लिये ही मैंने यह व्रत किया था ।। ४१ ।।

एतत् सर्वं मयाऽऽख्यातं कारणं विस्तरेण वः ।
यथावृत्तं सुखोदर्कमिदं दुःखं महन्मम ।। ४२ ।।

इस प्रकार मैंने आपलोगोंसे विलम्बसे आनेका कारण और उसका यथावत् वृत्तान्त विस्तारपूर्वक बताया है। मुझे जो यह महान् दुःख उठाना पड़ा है उसका अन्तिम फल सुख ही हुआ है ।। ४२ ।।

ऋषय ऊचुः

निमज्जमानं व्यसनैरभिद्रुतं
कुलं नरेन्द्रस्य तमोमये ह्रदे ।
त्वया सुशीलव्रतपुण्यया कुलं
समुद्धृतं साध्वि पुनः कुलीनया ।। ४३ ।।

ऋषि बोले—पतिव्रते! राजा द्युमत्सेनका कुल भाँति-भाँतिकी विपत्तियोंसे ग्रस्त होकर दुःखके अंधकारमय गढ़ेमें डूबा जा रहा था; परंतु तुझ-जैसी सुशीला, व्रतपरायणा और पवित्र आचरणवाली कुलीन वधूने आकर इसका उद्धार कर दिया ।। ४३ ।।

मार्कण्डेय उवाच

तथा प्रशस्य ह्यभिपूज्य चैव
वरस्त्रियं तामृषयः समागताः ।
नरेन्द्रमामन्त्र्य सपुत्रमञ्जसा

शिवेन जग्मुर्मुदिताः स्वमालयम् ।। ४४ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार वहाँ आये हुए महर्षियोंने स्त्रियोंमें श्रेष्ठ सावित्रीकी भूरि-भूरि प्रशंसा तथा आदर-सत्कार करके पुत्रसहित राजा द्युमत्सेनकी अनुमति ले सुख और प्रसन्नताके साथ अपने-अपने घरको प्रस्थान किया ।। ४४ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २९८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दौ सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९८ ।।

नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शाल्वदेशकी प्रजाके अनुरोधसे महाराज द्युमत्सेनका राज्याभिषेक कराना तथा सावित्रीको सौ पुत्रों और सौ भाइयोंकी प्राप्ति

मार्कण्डेय उवाच

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामुदिते सूर्यमण्डले ।
कृतपौर्वाह्णिकाः सर्वे समेयुस्ते तपोधनाः ।। १ ।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—जब वह रात बीत गयी और सूर्यमण्डलका उदय हुआ, उस समय सब तपोधन ऋषिगण पूर्वाह्णकालका नित्यकृत्य पूरा करके पुनः उस आश्रममें एकत्र हुए ।। १ ।।

तदेव सर्वं सावित्र्या महाभाग्यं महर्षयः ।
द्युमत्सेनाय नातृप्यन् कथयन्तः पुनः पुनः ।। २ ।।

वे महर्षिगण राजा द्युमत्सेनसे सावित्रीके उस परम सौभाग्यका बारंबार वर्णन करते हुए भी तृप्त नहीं होते थे ।।

ततः प्रकृतयः सर्वाः शाल्वेभ्योऽभ्यागता नृप ।
आचख्युर्निहतं चैव स्वेनामात्येन तं द्विषम् ।। ३ ।।

राजन्! उसी समय शाल्वदेशसे वहाँकी सारी प्रजाओंने आकर महाराज द्युमत्सेनसे कहा—‘प्रभो! आपका शत्रु अपने ही मन्त्रीके हाथों मारा गया है’ ।। ३ ।।

तं मन्त्रिणा हतं श्रुत्वा ससहायं सबान्धवम् ।
न्यवेदयन् यथावृत्तं विद्रुतं च द्विषद्बलम् ।। ४ ।।
ऐकमत्यं च सर्वस्य जनस्याथ नृपं प्रति ।
सचक्षुर्वाप्यचक्षुर्वा स नो राजा भवत्विति ।। ५ ।।

उन्होंने यह भी निवेदन किया कि ‘उसके सहायक और बन्धु-बान्धव भी मन्त्रीके ही हाथों मर चुके हैं। शत्रुकी सारी सेना पलायन कर गयी है। यह यथावत् वृत्तान्त सुनकर सब लोगोंका एकमतसे यह निश्चय हुआ है कि हमें पूर्व नरेशपर ही विश्वास है। उन्हें दिखायी देता हो या न दीखता हो, वे ही हमारे राजा हों’ ।। ४-५ ।।

अनेन निश्चयेनेह वयं प्रस्थापिता नृप ।
प्राप्तानीमानि यानानि चतुरङ्गं च ते बलम् ।। ६ ।।

'नरेश्वर! ऐसा निश्चय करके ही हमें यहाँ भेजा गया है। ये सवारियाँ प्रस्तुत हैं और आपकी चतुरंगिणी सेना भी सेवामें उपस्थित है' ।। ६ ।।

प्रयाहि राजन् भद्रं ते घुष्टस्ते नगरे जयः ।
अध्यास्स्व चिररात्राय पितृपैतामहं पदम् ।। ७ ।।

'राजन्! आपका कल्याण हो। अब अपने राज्यमें पधारिये। नगरमें आपकी विजय घोषित कर दी गयी है। आप दीर्घकालतक अपने बाप-दादोंके राज्यपर प्रतिष्ठित रहें' ।। ७ ।।

चक्षुष्मन्तं च तं दृष्ट्वा राजानं वपुषान्वितम् ।
मूर्ध्ना निपतिताः सर्वे विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।। ८ ।।

तत्पश्चात् राजा द्युमत्सेनको नेत्रयुक्त और स्वस्थ शरीरसे सुशोभित देखकर उन सबके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे और सबने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ।। ८ ।।

ततोऽभिवाद्य तान् वृद्धान् द्विजानाश्रमवासिनः ।
तैश्चाभिपूजितः सर्वैः प्रययौ नगरं प्रति ।। ९ ।।

इसके बाद राजाने आश्रममें रहनेवाले उन वृद्ध ब्राह्मणोंका अभिवादन किया और उन सबसे समादृत हो वे अपनी राजधानीकी ओर चले ।। ९ ।।

शैब्या च सह सावित्र्या स्वास्तीर्णेन सुवर्चसा ।
नरयुक्तेन यानेन प्रययौ सेनया वृता ।। १० ।।

शैब्या भी अपनी बहू सावित्रीके साथ सुन्दर बिछावनसे युक्त तेजस्वी शिबिकापर, जिसे कई कहार ढो रहे थे, आरूढ़ हो सेनासे घिरी हुई चल दी ।। १० ।।

ततोऽभिषिषिचुः प्रीत्या द्युमत्सेनं पुरोहिताः ।
पुत्रं चास्य महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयन् ।। ११ ।।

वहाँ पहुँचनेपर पुरोहितोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ द्युमत्सेनका राज्याभिषेक किया। साथ ही उनके महामना पुत्र सत्यवान्‌को भी युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया ।। ११ ।।

ततः कालेन महता सावित्र्याः कीर्तिवर्धनम् ।
तद् वै पुत्रशतं जज्ञे शूराणामनिवर्तिनाम् ।। १२ ।।

तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् सावित्रीके गर्भसे उसकी कीर्ति बढ़ानेवाले सौ पुत्र उत्पन्न हुए। वे सब-के-सब शूरवीर तथा संग्राममें कभी पीछे न हटनेवाले थे ।। १२ ।।

भ्रातॄणां सोदराणां च तथैवास्याभवच्छतम् ।
मद्राधिपस्याश्वपतेर्मालव्यां सुमहद् बलम् ।। १३ ।।

इसी प्रकार मद्रराज अश्वपतिके भी मालवीके गर्भसे सावित्रीके सौ सहोदर भाई उत्पन्न हुए, जो अत्यन्त बलशाली थे ।। १३ ।।

एवमात्मा पिता माता श्वश्रूः श्वशुर एव च ।
भर्तुः कुलं च सावित्र्या सर्वं कृच्छ्रात् समुद्धृतम् ।। १४ ।।

इस तरह सावित्रीने अपने आपको, पिता-माताको, सास-ससुरको तथा पतिके समस्त कुलको भी भारी संकटसे बचा लिया था ।। १४ ।।

तथैवैषा हि कल्याणी द्रौपदी शीलसम्मता ।
तारयिष्यति वः सर्वान् सावित्रीव कुलाङ्गना ।। १५ ।।

सावित्रीकी ही भाँति यह कल्याणमयी उत्तम कुलवाली सुशीला द्रौपदी तुम सब लोगोंका महान् संकटसे उद्धार करेगी ।। १५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं स पाण्डवस्तेन अनुनीतो महात्मना ।
विशोको विज्वरो राजन् काम्यके न्यवसत् तदा ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार उन महात्मा मार्कण्डेयजीके समझाने-बुझाने और आश्वासन देनेपर उस समय पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिर शोक तथा चिन्तासे रहित हो काम्यकवनमें सुखपूर्वक रहने लगे ।। १६ ।।

यश्चेदं शृणुयाद् भक्त्या सावित्र्याख्यानमुत्तमम् ।
स सुखी सर्वसिद्धार्थो न दुःखं प्राप्नुयान्नरः ।। १७ ।।

जो इस परम उत्तम सावित्री-उपाख्यानको भक्तिभावसे सुनेगा, वह मनुष्य सदा अपने समस्त मनोरथोंके सिद्ध होनेसे सुखी होगा और कभी दुःख नहीं पायेगा ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।। २९९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत पतिव्रतामाहात्म्यपर्वमें सावित्री-उपाख्यानविषयक दो सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९९ ।।

(कुण्डलाहरणपर्व)

त्रिशततमोऽध्यायः

सूर्यका स्वप्नमें कर्णको दर्शन देकर उसे इन्द्रको कुण्डल और कवच न देनेके लिये सचेत करना तथा कर्णका आग्रहपूर्वक कुण्डल और कवच देनेका ही निश्चय रखना

जनमेजय उवाच

यत् तत् तदा महद् ब्रह्मँल्लोमशो वाक्यमब्रवीत् ।
इन्द्रस्य वचनादेव पाण्डुपुत्रं युधिष्ठिरम् ।। १ ।।
यच्चापि ते भयं तीव्रं न च कीर्तयसे क्वचित् ।
तच्चाप्यपहरिष्यामि धनंजय इतो गते ।। २ ।।
किं नु तज्जपतां श्रेष्ठ कर्णं प्रति महद् भयम् ।
आसीन्न च स धर्मात्मा कथयामास कस्यचित् ।। ३ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! लोमशजीने इन्द्रके कथनानुसार उस समय पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे जो यह महत्वपूर्ण वचन कहा था कि 'तुम्हें जो बड़ा भारी भय लगा रहता है और जिसकी तुम किसीके सामने चर्चा भी नहीं करते, उसे भी मैं अर्जुनके यहाँ (स्वर्ग)-से चले जानेपर दूर कर दूँगा।' जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ वैशम्पायनजी! धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिरको कर्णसे वह कौन-सा भारी भय था, जिसकी वे किसीके सम्मुख बात भी नहीं चलाते थे ।। १—३ ।।

वैशम्पायन उवाच

अहं ते राजशार्दूल कथयामि कथामिमाम् ।
पृच्छतो भरतश्रेष्ठ शुश्रूषस्व गिरं मम ।। ४ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—नृपश्रेष्ठ! भरतकुलभूषण! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैं यह कथा सुनाऊँगा। तुम ध्यान देकर मेरी बात सुनो ।। ४ ।।

द्वादशे समतिक्रान्ते वर्षे प्राप्ते त्रयोदशे ।
पाण्डूनां हितकृच्छक्रः कर्णं भिक्षितुमुद्यतः ।। ५ ।।

जब पाण्डवोंके वनवासके बारह वर्ष बीत गये और तेरहवाँ वर्ष आरम्भ हुआ, तब पाण्डवोंके हितकारी इन्द्र कर्णसे कवच-कुण्डल माँगनेको उद्यत हुए ।। ५ ।।

अभिप्रायमथो ज्ञात्वा महेन्द्रस्य विभावसुः ।
कुण्डलार्थे महाराज सूर्यः कर्णमुपागतः ।। ६ ।।

महाराज! कुण्डलके विषयमें देवराज इन्द्रका मनोभाव जानकर भगवान् सूर्य कर्णके पास गये ।। ६ ।।

महार्हे शयने वीरं स्पर्द्ध्यास्तरणसंवृते ।
शयानमतिविश्वस्तं ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम् ।। ७ ।।

ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी वीर कर्ण अत्यन्त निश्चिन्त होकर एक सुन्दर बिछौनेवाली बहुमूल्य शय्यापर सोया था ।। ७ ।।

स्वप्नान्ते निशि राजेन्द्र दर्शयामास रश्मिवान् ।
कृपया परयाऽऽविष्टः पुत्रस्नेहाच्च भारत ।। ८ ।।

राजेन्द्र! भरतनन्दन! अंशुमाली भगवान् सूर्यने पुत्रस्नेहवश अत्यन्त दयाभावसे युक्त हो रातको सपनेमें कर्णको दर्शन दिया ।। ८ ।।

ब्राह्मणो वेदविद् भूत्वा सूर्यो योगर्द्धिरूपवान् ।
हितार्थमब्रवीत् कर्णं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।। ९ ।।

उस समय उन्होंने वेदवेत्ता ब्राह्मणका रूप धारण कर रखा था। उनका स्वरूप योग-समृद्धिसे सम्पन्न था। उन्होंने कर्णके हितके लिये उसे समझाते हुए इस प्रकार कहा — ।। ९ ।।

कर्ण मद्वचनं तात शृणु सत्यभृतां वर ।
ब्रुवतोऽद्य महाबाहो सौहृदात् परमं हितम् ।। १० ।।

'सत्यधारियोंमें श्रेष्ठ तात कर्ण! मेरी बात सुनो। महाबाहो! मैं सौहार्दवश आज तुम्हारे परम हितकी बात कहता हूँ ।। १० ।।

उपायास्यति शक्रस्त्वां पाण्डवानां हितेप्सया ।
ब्राह्मणच्छद्मना कर्ण कुण्डलापजिहीर्षया ।। ११ ।।

'कर्ण! देवराज इन्द्र पाण्डवोंके हितकी इच्छासे तुम्हारे दोनों कुण्डल (और कवच) लेनेके लिये ब्राह्मणका छद्मवेष धारण करके तुम्हारे पास आयँगे ।। ११ ।।

विदितं तेन शीलं ते सर्वस्य जगतस्तथा ।
यथा त्वं भिक्षितः सद्भिर्ददास्येव न याचसे ।। १२ ।।

'तुम्हारी दानशीलताका उन्हें ज्ञान है तथा सम्पूर्ण जगत्को तुम्हारे इस नियमका पता है कि किसी सत्पुरुषके माँगनेपर तुम उसकी अभीष्ट वस्तु देते ही हो, उससे कुछ माँगते नहीं हो ।। १२ ।।

त्वं हि तात ददास्येव ब्राह्मणेभ्यः प्रयाचितम् ।
वित्तं यच्चान्यदप्याहुर्न प्रत्याख्यासि कस्यचित् ।। १३ ।।

‘तात! तुम ब्राह्मणोंको उनकी माँगी हुई वस्तु दे ही देते हो; साथ ही धन तथा और जो कुछ भी वे माँग लें, सब दे डालते हो। किसीको ‘नहीं’ कहकर निराश नहीं लौटाते ।। १३ ।।

त्वां तु चैवंविधं ज्ञात्वा स्वयं वै पाकशासनः ।
आगन्ता कुण्डलार्थाय कवचं चैव भिक्षितुम् ।। १४ ।।

‘तुम्हारे ऐसे स्वभावको जानकर साक्षात् इन्द्र तुमसे तुम्हारे कवच और कुण्डल माँगनेके लिये आनेवाले हैं ।। १४ ।।

तस्मै प्रयाचमानाय न देये कुण्डले त्वया ।
अनुनेयः परं शक्त्या श्रेय एतद्धि ते परम् ।। १५ ।।

‘उनके माँगनेपर तुम उन्हें अपने दोनों कुण्डल दे न देना। यथाशक्ति अनुनय-विनय करके उन्हें समझा देना; इससे तुम्हारा परम मंगल होगा ।। १५ ।।

कुण्डलार्थे ब्रुवंस्तात कारणैर्बहुभिस्त्वया ।
अन्यैर्बहुविधैर्वित्तैः सन्निवार्यः पुनः पुनः ।। १६ ।।

‘इस प्रकार वे जब-जब कुण्डलके लिये बात करें तब-तब बहुत-से कारण बताकर तथा दूसरे नाना प्रकारके धन आदि देनेकी बात कहकर बार-बार उन्हें कुण्डल माँगनेसे मना करना ।। १६ ।।

रत्नैः स्त्रीभिस्तथा गोभिर्धनैर्बहुविधैरपि ।
निदर्शनैश्च बहुभिः कुण्डलेप्सुः पुरन्दरः ।। १७ ।।

‘नाना प्रकारके रत्न, स्त्री, गौ, भाँति-भाँतिके धन देकर तथा बहुत-से दृष्टान्तोंद्वारा बहलाकर कुण्डलार्थी इन्द्रको टालनेका प्रयत्न करना ।। १७ ।।

यदि दास्यसि कर्ण त्वं सहजे कुण्डले शुभे ।
आयुषः प्रक्षयं गत्वा मृत्योर्वशमुपैष्यसि ।। १८ ।।

‘कर्ण! यदि तुम अपने जन्मके साथ ही उत्पन्न हुए ये सुन्दर कुण्डल इन्द्रको दे दोगे तो तुम्हारी आयु क्षीण हो जायगी और तुम मृत्युके अधीन हो जाओगे ।। १८ ।।

कवचेन समायुक्तः कुण्डलाभ्यां च मानद ।
अवध्यस्त्वं रणेऽरीणामिति विद्धि वचो मम ।। १९ ।।

‘मानद! तुम अपने कवच और कुण्डलोंसे संयुक्त होनेपर रणमें शत्रुओंके लिये भी अवध्य बने रहोगे, मेरी इस बातको समझ लो ।। १९ ।।

अमृतादुत्थितं ह्येतदुभयं रत्नसम्भवम् ।
तस्माद् रक्ष्यं त्वया कर्ण जीवितं चेत् प्रियं तव ।। २० ।।

‘कर्ण! ये दोनों रत्नमय कवच और कुण्डल अमृतसे उत्पन्न हुए हैं; अतः यदि तुम्हें अपना जीवन प्रिय हो तो इन दोनों वस्तुओंकी रक्षा अवश्य करना’ ।। २० ।।

कर्ण उवाच

को मामेवं भवान् प्राह दर्शयन् सौहृदं परम् ।
कामया भगवन् ब्रूहि को भवान् द्विजवेषधृक् ।। २१ ।।

कर्णने पूछा—भगवन्! आप मेरे प्रति अत्यन्त स्नेह दिखाते हुए जो इस प्रकार हितकर सलाह दे रहे हैं इससे मैं जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं? यदि इच्छा हो, तो बताइये। इस प्रकार ब्राह्मणवेष धारण करनेवाले आप कौन हैं? ।। २१ ।।

ब्राह्मण उवाच

अहं तात सहस्रांशुः सौहृदात् त्वां निदर्शये ।
कुरुष्वैतद् वचो मे त्वमेतच्छ्रेयः परं हि ते ।। २२ ।।

ब्राह्मणने कहा—तात! मैं सहस्रांशु सूर्य हूँ। स्नेहवश ही तुम्हें दर्शन देकर सामयिक कर्तव्य सुझा रहा हूँ। तुम मेरा कहना मान लो। इससे तुम्हारा परम कल्याण होगा ।। २२ ।।

कर्ण उवाच

श्रेय एव ममात्यन्तं यस्य मे गोपतिः प्रभुः ।
प्रवक्ताद्य हितान्वेषी शृणु चेदं वचो मम ।। २३ ।।

कर्णने कहा—जिसके हितका अनुसंधान साक्षात् भगवान् सूर्य करते और हितकी बात बताते हैं, उस कर्णका तो परम कल्याण है ही। भगवन्! आप मेरी यह बात सुनें ।। २३ ।।

प्रसादये त्वां वरदं प्रणयाच्च ब्रवीम्यहम् ।
न निवार्यो व्रतादस्मादहं यद्यस्मि ते प्रियः ।। २४ ।।

प्रभो! आप वरदायक देवता हैं। मैं आपसे प्रसन्न रहनेका अनुरोध करता हूँ और प्रेमपूर्वक यह कहता हूँ कि यदि मैं आपका प्रिय हूँ तो आप मुझे इस व्रतसे विचलित न करें ।। २४ ।।

व्रतं वै मम लोकोऽयं वेत्ति कृत्स्नं विभावसो ।
यथाहं द्विजमुख्येभ्यो दद्यां प्राणानपि ध्रुवम् ।। २५ ।।

सूर्यदेव! संसारमें सब लोग मेरे इस व्रतके विषयमें पूर्णरूपसे जानते हैं कि मैं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके याचना करनेपर उन्हें निश्चय ही अपने प्राण भी दे सकता हूँ ।। २५ ।।

यद्यागच्छति मां शक्रो ब्राह्मणच्छद्मना वृतः ।
हितार्थं पाण्डुपुत्राणां खेचरोत्तम भिक्षितुम् ।। २६ ।।
दास्यामि विबुधश्रेष्ठ कुण्डले वर्म चोत्तमम् ।
न मे कीर्तिः प्रणश्येत त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।। २७ ।।

आकाशमें विचरनेवालोंमें उत्तम सूर्यदेव! यदि पाण्डवोंके हितके लिये ब्राह्मणके छद्मवेशमें अपनेको छिपाकर साक्षात् इन्द्रदेव मेरे पास भिक्षा माँगने आ रहे हैं तो देवेश्वर! मैं

उन्हें दोनों कुण्डल और उत्तम कवच अवश्य दे दूँगा, जिससे तीनों लोकोंमें विख्यात हुई मेरी कीर्ति नष्ट न होने पाये ।। २६-२७ ।।

मद्विधस्य यशस्यं हि न युक्तं प्राणरक्षणम् ।
युक्तं हि यशसा युक्तं मरणं लोकसम्मतम् ।। २८ ।।

मेरे-जैसे शूरवीरको प्राण देकर भी यशकी ही रक्षा करनी चाहिये; अपयश लेकर प्राणोंकी रक्षा करनी कदापि उचित नहीं है। सुयशके साथ यदि मृत्यु हो जाय तो वह वीरोचित एवं सम्पूर्ण लोकके लिये सम्मानकी वस्तु है ।। २८ ।।

सोऽहमिन्द्राय दास्यामि कुण्डले सह वर्मणा ।
यदि मां बलवृत्रघ्नो भिक्षार्थमुपयास्यति ।। २९ ।।

ऐसी स्थितिमें यदि बलासुर और वृत्रासुरके विनाशक देवराज इन्द्र मेरे पास भिक्षाके लिये पधारेंगे तो मैं कवचसहित दोनों कुण्डल उन्हें अवश्य दे दूँगा ।। २९ ।।

हितार्थं पाण्डुपुत्राणां कुण्डले मे प्रयाचितुम् ।
तन्मे कीर्तिकरं लोके तस्याकीर्तिर्भविष्यति ।। ३० ।।

यदि इन्द्र पाण्डवोंके हितके लिये मेरे कुण्डल माँगने आयेंगे तो इससे संसारमें मेरी कीर्ति बढ़ेगी और उनका अपयश होगा ।। ३० ।।

वृणोमि कीर्तिं लोके हि जीवितेनापि भानुमन् ।
कीर्तिमानश्नुते स्वर्गं हीनकीर्तिस्तु नश्यति ।। ३१ ।।

अतः सूर्यदेव! मैं जीवन देकर भी जगत्में कीर्तिका ही वरण करूँगा। कीर्तिमान् पुरुष स्वर्गका सुख भोगता है। जिसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है, वह स्वयं भी नष्ट ही है ।। ३१ ।।

कीर्तिर्हि पुरुषं लोके संजीवयति मातृवत् ।
अकीर्तिर्जीवितं हन्ति जीवतोऽपि शरीरिणः ।। ३२ ।।

कीर्ति इस संसारमें माताकी भाँति मनुष्यको नूतन जीवन प्रदान करती है। परंतु अकीर्ति जीवित पुरुषके भी जीवनको नष्ट कर देती है ।। ३२ ।।

अयं पुराणः श्लोको हि स्वयं गीतो विभावसो ।
धात्रा लोकेश्वर यथा कीर्तिरायुर्नरस्य ह ।। ३३ ।।

विभावसो! लोकेश्वर! साक्षात् ब्रह्माजीके द्वारा गाया हुआ यह प्राचीन श्लोक है कि कीर्ति मनुष्यकी आयु है ।। ३३ ।।

पुरुषस्य परे लोके कीर्तिरेव परायणम् ।
इह लोके विशुद्धा च कीर्तिरायुर्विवर्द्धनी ।। ३४ ।।

परलोकमें कीर्ति ही पुरुषके लिये सबसे महान् आश्रय है। इस लोकमें भी विशुद्ध कीर्ति आयु बढ़ानेवाली होती है ।। ३४ ।।

सोऽहं शरीरजे दत्त्वा कीर्तिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम् ।
दत्त्वा च विधिवद् दानं ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ।। ३५ ।।

हुत्वा शरीरं संग्रामे कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
विजित्य च परानाजौ यशः प्राप्स्यामि केवलम् ।। ३६ ।।

अतः मैं अपने शरीरके साथ उत्पन्न हुए कवच-कुण्डल इन्द्रको देकर सनातन कीर्ति प्राप्त करूँगा। ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक दान देकर, अत्यन्त दुष्कर पराक्रम करके समराग्निमें शरीरकी आहुति देकर तथा शत्रुओंको संग्राममें जीतकर मैं केवल सुयशका उपार्जन करूँगा ।। ३५-३६ ।।

भीतानामभयं दत्त्वा संग्रामे जीवितार्थिनाम् ।
वृद्धान् बालान् द्विजातींश्च मोक्षयित्वा महाभयात् ।। ३७ ।।
प्राप्स्यामि परमं लोके यशः स्वर्ग्यमनुत्तमम् ।
जीवितेनापि मे रक्ष्या कीर्तिस्तद् विद्धि मे व्रचम् ।। ३८ ।।

संग्राममें भयभीत होकर प्राणोंकी भीख माँगनेवाले सैनिकोंको अभय देकर तथा बालक, वृद्ध और ब्राह्मणोंको महान् भयसे छुड़ाकर संसारमें परम उत्तम स्वर्गीय यशका उपार्जन करूँगा। मुझे प्राण देकर भी अपनी कीर्ति सुरक्षित रखनी है। यही मेरा व्रत समझें ।। ३७-३८ ।।

सोऽहं दत्त्वा मघवते भिक्षामेतामनुत्तमाम् ।
ब्राह्मणच्छद्मिने देव लोके गन्ता परां गतिम् ।। ३९ ।।

इसलिये देव! इस प्रकारके व्रतवाला मैं ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्रको यह परम श्रेष्ठ भिक्षा देकर जगत्में उत्तम गति प्राप्त करूँगा ।। ३९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे त्रिशततमोऽध्यायः ।। ३०० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्यकर्णसंवादविषयक तीन सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३०० ।।

एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सूर्यका कर्णको समझाते हुए उसे इन्द्रको कुण्डल न देनेका आदेश देना

सूर्य उवाच

माहितं कर्ण कार्षीस्त्वमात्मनः सुहृदां तथा ।
पुत्राणामथ भार्याणामथो मातुरथो पितुः ।। १ ।।

सूर्यने कहा—कर्ण! तुम अपना, अपने सुहृदोंका, पुत्रों और पत्नियोंका तथा माता-पिताका अहित न करो ।। १ ।।

शरीरस्याविरोधेन प्राणिनां प्राणभृद्वर ।
इष्यते यशसः प्राप्तिः कीर्तिश्च त्रिदिवे स्थिरा ।। २ ।।

प्राणधारियोंमें श्रेष्ठ वीर! अपने शरीरकी रक्षा करते हुए ही प्राणियोंको इहलोकमें यशकी प्राप्ति तथा स्वर्गमें स्थायी कीर्ति अभीष्ट होती है ।। २ ।।

यस्त्वं प्राणविरोधेन कीर्तिमिच्छसि शाश्वतीम् ।
सा ते प्राणान् समादाय गमिष्यति न संशयः ।। ३ ।।

यदि तुम प्राणोंका विरोध (नाश) करके सनातन कीर्ति प्राप्त करना चाहते हो तो इसमें संदेह नहीं कि वह (कीर्ति) तुम्हारे प्राणोंको लेकर ही जायगी ।। ३ ।।

जीवतां कुरुते कार्यं पिता माता सुतास्तथा ।
ये चान्ये बान्धवाः केचिल्लोकेऽस्मिन् पुरुषर्षभ ।। ४ ।।

पुरुषरत्न! पिता, माता, पुत्र तथा और जो कोई भी भाई-बन्धु इस लोकमें हैं, वे सब जीवित पुरुषोंसे ही अपने प्रयोजनकी सिद्धि करते हैं ।। ४ ।।

राजानश्च नरव्याघ्र पौरुषेण निबोध तत् ।
कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्य महाद्युते ।। ५ ।।

महातेजस्वी नरश्रेष्ठ! राजालोग भी जीवित रहनेपर ही पुरुषार्थसे कीर्तिलाभ करते हैं। इस बातको समझो; जीवित पुरुषके लिये ही कीर्ति अच्छी मानी गयी है ।।

मृतस्य कीर्त्या किं कार्यं भस्मीभूतस्य देहिनः ।
मृतः कीर्तिं न जानीते जीवन् कीर्तिं समश्नुते ।। ६ ।।

जो मर गया, जिसका शरीर चिताकी आगमें जलकर भस्म हो गया; उसे कीर्तिसे क्या प्रयोजन है? मरा हुआ पुरुष कीर्तिके विषयमें कुछ नहीं जानता। जीवित पुरुष ही कीर्तिजनित सुखका अनुभव करता है ।। ६ ।।

मृतस्य कीर्तिर्मर्त्यस्य यथा माला गतायुषः ।

अहं तु त्वां ब्रवीम्येतद् भक्तोऽसीति हितेप्सया ।। ७ ।।

मरे हुए मनुष्यकी कीर्ति मुर्देके गलेमें पड़ी हुई मालाके समान व्यर्थ है। तुम मेरे भक्त हो, इसीलिये तुम्हारे हितकी इच्छासे मैं ये सब बातें कहता हूँ ।। ७ ।।

भक्तिमन्तो हि मे रक्ष्या इत्येतेनापि हेतुना ।
भक्तोऽयं परया भक्त्या मामित्येव महाभुज ।
ममापि भक्तिरुत्पन्ना स त्वं कुरु वचो मम ।। ८ ।।

मुझे अपने भक्तोंकी रक्षा करनी ही चाहिये, इसलिये भी तुमसे तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ। महाबाहो! यह मेरा भक्त है, परम भक्तिभावसे मेरा भजन करता है, यह सोचकर मेरे मनमें भी तुम्हारे प्रति स्नेह जाग उठा है। अतः तुम मेरी आज्ञाका पालन करो ।। ८ ।।

अस्ति चात्र परं किञ्चिदध्यात्मं देवनिर्मितम् ।
अतश्च त्वां ब्रवीम्येतत् क्रियतामविशङ्कया ।। ९ ।।

इस सम्बन्धमें एक देवविहित आध्यात्मिक रहस्य है। इसी कारण तुमसे कह रहा हूँ कि तुम बेखटके यही कार्य करो, जिसे मैंने तुम्हें बतलाया है ।। ९ ।।

देवगुह्यं त्वया ज्ञातुं न शक्यं पुरुषर्षभ ।
तस्मान्नाख्यामि ते गुह्यं काले वेत्स्यति तद् भवान् ।। १० ।।

पुरुषरत्न! देवताओंकी गुप्त बात तुम नहीं समझ सकते, इसीलिये वह गोपनीय रहस्य तुम्हें नहीं बता रहा हूँ। समय आनेपर तुम सब कुछ अपने-आप जान लोगे ।। १० ।।

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि त्वं राधेय निबोध तत् ।
मास्मै ते कुण्डले दद्या भिक्षिते वज्रपाणिना ।। ११ ।।

राधानन्दन! मैं फिर अपनी कही हुई बात दुहराता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो—'इन्द्रके माँगनेपर भी तुम उन्हें अपने वे कुण्डल न देना' ।। ११ ।।

शोभसे कुण्डलाभ्यां च रुचिराभ्यां महाद्युते ।
विशाखयोर्मध्यगतः शशीव विमले दिवि ।। १२ ।।

महाद्युते! तुम इन दोनों मनोहर कुण्डलोंसे निर्मल आकाशमें विशाखा नामक दो नक्षत्रोंके बीच प्रकाशित होनेवाले चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते हो ।। १२ ।।

कीर्तिश्च जीवतः साध्वी पुरुषस्येति विद्धि तत् ।
प्रत्याख्येयस्त्वया तात कुण्डलार्थे सुरेश्वरः ।। १३ ।।

तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि जीवित पुरुषके लिये ही कीर्ति प्रशंसनीय है। अतः तात! तुम्हें कुण्डलके लिये आये हुए देवराज इन्द्रको देनेसे इनकार कर देना चाहिये ।। १३ ।।

शक्या बहुविधैर्वाक्यैः कुण्डलेप्सा त्वयानघ ।
विहन्तुं देवराजस्य हेतुयुक्तैः पुनः पुनः ।। १४ ।।

अनघ! तुम बारंबार युक्तियुक्त वचन कहकर अनेक प्रकारकी बातोंमें बहलाकर देवराज इन्द्रकी कुण्डल लेनेकी इच्छाको नष्ट कर सकते हो ।। १४ ।।

हेतुमदुपपन्नार्थैर्माधुर्यकृतभूषणैः ।

पुरन्दरस्य कर्ण त्वं बुद्धिमेतामपानुद ।। १५ ।।

कर्ण! अनेक कारण दिखाकर, नाना प्रकारकी युक्तियाँ सामने रखकर तथा माधुर्यगुणसे विभूषित वचन सुनाकर देवराज इन्द्रके इस कुण्डल लेनेके विचारको तुम पलट देना ।। १५ ।।

त्वं हि नित्यं नरव्याघ्र स्पर्धसे सव्यसाचिना ।

सव्यसाची त्वया चेह युधि शूरः समेष्यति ।। १६ ।।

नरव्याघ्र! तुम सदा अर्जुनसे स्पर्धा रखते हो अतः शूरवीर अर्जुन युद्धमें कभी तुमसे अवश्य भिड़ेगा ।। १६ ।।

न तु त्वामर्जुनः शक्तः कुण्डलाभ्यां समन्वितम् ।

विजेतुं युधि यद्यस्य स्वयमिन्द्रः सखा भवेत् ।। १७ ।।

यदि तुम इन दोनों कुण्डलोंको धारण किये रहोगे, तो अर्जुन तुम्हें युद्धमें कदापि नहीं जीत सकते; भले ही साक्षात् इन्द्र भी उनकी सहायता करनेके लिये आ जायँ ।। १७ ।।

तस्मान्न देये शक्राय त्वयैते कुण्डले शुभे ।

संग्रामे यदि निर्जेतुं कर्ण कामयसेऽर्जुनम् ।। १८ ।।

अतः कर्ण! यदि तुम समरभूमिमें अर्जुनको जीतनेकी अभिलाषा रखते हो तो इन्द्रको ये दोनों शुभ कुण्डल कदापि न देना ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३०१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्य-कर्णसंवादविषयक तीन सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३०१ ।।

द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सूर्य-कर्ण-संवाद, सूर्यकी आज्ञाके अनुसार कर्णका इन्द्रसे शक्ति लेकर ही उन्हें कुण्डल और कवच देनेका निश्चय

कर्ण उवाच

भगवन्तमहं भक्तो यथा मां वेत्थ गोपते ।
तथा परमतिग्मांशो नास्त्यदेयं कथंचन ।। १ ।।

कर्णने कहा—सूर्यदेव! मैं आपका अनन्य भक्त हूँ, जैसा कि आप भी मुझे जानते हैं। प्रचण्डरश्मे! आपके लिये किसी प्रकार कुछ भी अदेय नहीं है ।। १ ।।

न मे दारा न मे पुत्रा न चात्मा सुहृदो न च ।
तथेष्टा वै सदा भक्त्या यथा त्वं गोपते मम ।। २ ।।

स्त्री, पुत्र, सुहृद् और अपना शरीर भी मुझे वैसा प्रिय नहीं है, जैसे आप हैं। किरणोंके स्वामी सूर्यदेव! सदा आप ही मेरे भक्तिभावके आश्रय हैं ।। २ ।।

इष्टानां च महात्मानो भक्तानां च न संशयः ।
कुर्वन्ति भक्तिमिष्टां च जानीषे त्वं च भास्कर ।। ३ ।।

प्रभाकर! आप भी जानते ही हैं कि महात्मा पुरुष भी अपने प्रिय भक्तोंपर पूर्ण स्नेह रखते हैं, इसमें संदेह नहीं है ।। ३ ।।

इष्टो भक्तश्च मे कर्णो न चान्यद् दैवतं दिवि ।
जानीत इति वै कृत्वा भगवानाह मद्धितम् ।। ४ ।।

आपको यह मालूम है कि कर्ण मेरा प्रिय भक्त है और वह स्वर्गके दूसरे किसी भी देवताको (अपने इष्टरूपमें नहीं जानता है, यही समझकर आप मुझे मेरे हितका उपदेश कर रहे हैं ।। ४ ।।

भूयश्च शिरसा याचे प्रसाद्य च पुनः पुनः ।
इति ब्रवीमि तिग्मांशो त्वं तु मे क्षन्तुमर्हसि ।। ५ ।।

प्रचण्ड किरणोंवाले देव! मैं पुनः आपके चरणोंमें मस्तक रखकर, आपको प्रसन्न करके बारंबार क्षमायाचना करता हूँ। इस समय मैं जो कुछ कहता हूँ, उसके लिये आप मुझे क्षमा करें ।। ५ ।।

बिभेमि न तथा मृत्योर्यथा बिभ्येऽनृतादहम् ।
विशेषेण द्विजातीनां सर्वेषां सर्वदा सताम् ।। ६ ।।
प्रदाने जीवितस्यापि न मेऽत्रास्ति विचारणा ।

मैं मृत्युसे भी उतना नहीं डरता जितना झूठसे डरता हूँ। विशेषतः सदा समस्त सज्जन ब्राह्मणोंको उनके माँगनेपर अपने प्राण देनेमें भी मुझे कोई सोच-विचार नहीं हो सकता ।। ६½ ।।

यच्च मामात्थ देव त्वं पाण्डवं फाल्गुनं प्रति ।। ७ ।।
व्येतु संतापजं दुःखं तव भास्कर मानसम् ।
अर्जुनप्रतिमं चैव विजेष्यामि रणेऽर्जुनम् ।। ८ ।।

देव! आपने पाण्डुनन्दन अर्जुनसे जो मेरे लिये डरकी बात बतायी है, उसके लिये आपके मनमें कोई दुःख और संताप नहीं होना चाहिये। भास्कर! मैं कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी अर्जुनको युद्धमें अवश्य जीत लूँगा ।। ७-८ ।।

तवापि विदितं देव ममाप्यस्त्रबलं महत् ।
जामदग्न्यादुपात्तं यत्र तथा द्रोणान्महात्मनः ।। ९ ।।

देव! मेरे पास भी अस्त्रोंका जो महान् बल है। इसे आप भी जानते हैं। मैंने जमदग्निनन्दन परशुराम तथा महात्मा द्रोणाचार्यसे अस्त्रविद्या सीखी है ।। ९ ।।

इदं त्वमनुजानीहि सुरश्रेष्ठ व्रतं मम ।
भिक्षते वज्रिणे दद्यामपि जीवितमात्मनः ।। १० ।।

सुरश्रेष्ठ! यह जो मेरा दान देनेका व्रत है, उसके लिये आप भी मुझे आज्ञा दीजिये, जिससे मैं याचक बनकर आये हुए इन्द्रको अपने प्राणतक दे सकूँ ।। १० ।।

सूर्य उवाच

यदि तात ददास्येते वज्रिणे कुण्डले शुभे ।
त्वमप्येनमथो ब्रूया विजयार्थं महाबलम् ।। ११ ।।
नियमेन प्रदद्यां ते कुण्डले वै शतक्रतो ।

सूर्य बोले—तात! यदि तुम इन्द्रको ये दोनों सुन्दर कुण्डल दे रहे हो तो तुम भी उन महाबली इन्द्रसे अपनी विजयके लिये कोई अस्त्र माँग लेना और उनसे स्पष्ट कह देना कि देवराज! मैं एक शर्तके साथ ये दोनों कुण्डल आपको दे सकता हूँ ।। ११½ ।।

अवध्यो ह्यसि भूतानां कुण्डलाभ्यां समन्वितः ।। १२ ।।
अर्जुनेन विनाशं हि तव दानवसूदनः ।
प्रार्थयानो रणे वत्स कुण्डले ते जिहीर्षति ।। १३ ।।

कर्ण! इन दोनों कुण्डलोंसे युक्त रहनेपर तुम सभी प्राणियोंके लिये अवध्य बने रहोगे। वत्स! दानवसूदन इन्द्र युद्धमें अर्जुनके द्वारा तुम्हारा विनाश चाहते हैं। इसीलिये वे तुम्हारे दोनों कुण्डलोंको हर लेनेकी इच्छा करते हैं ।। १२-१३ ।।

स त्वमप्येनमाराध्य सूनृताभिः पुनः पुनः ।
अभ्यर्थयेथा देवेशममोघार्थं पुरन्दरम् ।। १४ ।।

अतः तुम भी उनकी आराधना करके बारंबार मीठे वचन बोलकर देवेश्वर इन्द्रसे किसी अमोघ अस्त्रके लिये प्रार्थना करना ।। १४ ।।

अमोघां देहि मे शक्तिममित्रविनिबर्हिणीम् ।
दास्यामि ते सहस्राक्ष कुण्डले वर्म चोत्तमम् ।। १५ ।।

तुम उनसे कहना—'सहस्राक्ष! मैं आपको अपने शरीरका उत्तम कवच और दोनों कुण्डल दे दूँगा, परंतु आप भी मुझे अपनी वह अमोघ शक्ति प्रदान कीजिये, जो शत्रुओंका संहार करनेवाली है' ।। १५ ।।

इत्येव नियमेन त्वं दद्याः शक्राय कुण्डले ।
तया त्वं कर्ण संग्रामे हनिष्यसि रणे रिपून् ।। १६ ।।

इसी शर्तके साथ तुम इन्द्रको अपने कुण्डल देना। कर्ण! उस शक्तिके द्वारा तुम युद्धमें अपने शत्रुओंको मार डालोगे ।। १६ ।।

नाहत्वा हि महाबाहो शत्रूनेति करं पुनः ।
सा शक्तिर्देवराजस्य शतशोऽथ सहस्रशः ।। १७ ।।

महाबाहो! देवराज इन्द्रकी वह शक्ति युद्धमें सैकड़ों-हजारों शत्रुओंका वध किये बिना पुनः हाथमें लौटकर नहीं आती ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सहस्रांशुः सहसान्तरधीयत ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर सूर्यदेव सहसा वहीं अन्तर्धान हो गये ।। १७½ ।।

(कर्णस्तु बुबुधे राजन् स्वप्नान्ते प्रवदन्निव ।
प्रतिबुद्धस्तु राधेयः स्वप्नं संचिन्त्य भारत ।।
चकार निश्चयं राजन् शक्त्यर्थं वदतां वरः ।
यदि मामिन्द्र आयाति कुण्डलार्थं परंतपः ।।
शक्त्या तस्मै प्रदास्यामि कुण्डले वर्म चैव ह ।
स कृत्वा प्रातरुत्थाय कार्याणि भरतर्षभ ।।
ब्राह्मणान् वाचयित्वाथ यथाकार्यमुपाक्रमत् ।
विधिना राजशार्दूल मुहूर्तमजपत् ततः ।।)

राजन्! स्वप्नके अन्तमें कुछ बोलता हुआ-सा कर्ण जाग उठा। भारत! जगनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ राधानन्दन कर्णने स्वप्नका चिन्तन करके शक्तिके लिये इस प्रकार निश्चय किया, 'यदि शत्रुओंको संताप देनेवाले इन्द्र कुण्डलके लिये मेरे पास आ रहे हैं तो मैं शक्ति लेकर ही उन्हें कुण्डल और कवच दूँगा।' भरतश्रेष्ठ! ऐसा निश्चय करके कर्ण प्रातःकाल उठा

और आवश्यक कार्य करके ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर यथासमय संध्योपासन आदि कार्य करने लगा। नृपश्रेष्ठ! फिर उसने विधिपूर्वक दो घड़ीतक जप किया ।।

ततः सूर्याय जप्यान्ते कर्णः स्वप्नं न्यवेदयत् ।। १८ ।।
यथादृष्टं यथातत्त्वं यथोक्तमुभयोर्निशि ।
तत् सर्वमानुपूर्व्येण शशंसास्मै वृषस्तदा ।। १९ ।।

तदनन्तर जपके अन्तमें कर्णने भगवान् सूर्यसे स्वप्नका वृत्तान्त निवेदन किया। उसने जो कुछ देखा था तथा रातमें उन दोनोंमें जैसी बातें हुई थीं, उन सबको कर्णने क्रमशः उनसे ठीक-ठीक कह सुनाया ।। १८-१९ ।।

तच्छ्रुत्वा भगवान् देवो भानुः स्वर्भानुसूदनः ।
उवाच तं तथेत्येव कर्णं सूर्यः स्मयन्निव ।। २० ।।

राहुका संहार करनेवाले भगवान् सूर्यदेवने यह सब सुनकर कर्णसे मुसकराते हुए-से कहा—'तुमने जो कुछ देखा है, वह सब ठीक है' ।। २० ।।

ततस्तत्त्वमिति ज्ञात्वा राधेयः परवीरहा ।
शक्तिमेवाभिकाङ्क्षन् वै वासवं प्रत्यपालयत् ।। २१ ।।

तब शत्रुओंका संहार करनेवाला राधानन्दन कर्ण उस स्वप्नकी घटनाको यथार्थ जानकर शक्ति प्राप्त करनेकी ही अभिलाषा ले इन्द्रकी प्रतीक्षा करने लगा ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकर्णसंवादे द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३०२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्य-कर्ण-संवादविषयक तीन सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३०२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तिभोजके यहाँ ब्रह्मर्षि दुर्वासाका आगमन तथा राजाका उनकी सेवाके लिये पृथाको आवश्यक उपदेश देना

जनमेजय उवाच

किं तद् गुह्यं न चाख्यातं कर्णायेहोष्णरश्मिना ।
कीदृशे कुण्डले ते च कवचं चैव कीदृशम् ।। १ ।।
कुतश्च कवचं तस्य कुण्डले चैव सत्तम ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि तपोधन ।। २ ।।

जनमेजयने पूछा—सज्जनशिरोमणे! कौन-सी ऐसी गोपनीय बात थी, जिसे भगवान् सूर्यने कर्णपर प्रकट नहीं किया। उसके वे दोनों कुण्डल और कवच कैसे थे? तपोधन! कर्णको कुण्डल और कवच कहाँसे प्राप्त हुए थे? मैं यह सुनना चाहता हूँ, आप कृपापूर्वक मुझे बताइये ।। १-२ ।।

वैशम्पायन उवाच

अयं राजन् ब्रवीम्येतत् तस्य गुह्यं विभावसोः ।
यादृशे कुण्डले ते च कवचं चैव यादृशम् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! सूर्यदेवकी दृष्टिमें जो गोपनीय रहस्य था, उसे बताता हूँ। इसके साथ कर्णके कुण्डल और कवच कैसे थे? यह भी बता रहा हूँ ।। ३ ।।

कुन्तिभोजं पुरा राजन् ब्राह्मणः पर्युपस्थितः ।
तिग्मतेजा महाप्रांशुः श्मश्रुदण्डजटाधरः ।। ४ ।।

राजन्! प्राचीनकालकी बात है, राजा कुन्तिभोजके दरबारमें अत्यन्त ऊँचे कदके एक प्रचण्ड तेजस्वी ब्राह्मण उपस्थित हुए। उन्होंने दाढ़ी, मूँछ, दण्ड और जटा धारण कर रखी थी ।। ४ ।।

दर्शनीयोऽनवद्याङ्गस्तेजसा प्रज्वलन्निव ।
मधुपिङ्गो मधुरवाक् तपःस्वाध्यायभूषणः ।। ५ ।।

उनका स्वरूप देखने ही योग्य था। उनके सभी अंग निर्दोष थे। वे तेजसे प्रज्वलित होते-से जान पड़ते थे। उनके शरीरकी कान्ति मधुके समान पिंगलवर्णकी थी। वे मधुर वचन बोलनेवाले तथा तपस्या और स्वाध्यायरूप सद्‌गुणोंसे विभूषित थे ।। ५ ।।

स राजानं कुन्तिभोजमब्रवीत् सुमहातपाः ।
भिक्षामिच्छामि वै भोक्तुं तव गेहे विमत्सर ।। ६ ।।

उन महातपस्वीने राजा कुन्तिभोजसे कहा—'किसीसे ईर्ष्या न करनेवाले नरेश! मैं तुम्हारे घरमें भिक्षान्न भोजन करना चाहता हूँ ।। ६ ।।

न मे व्यलीकं कर्तव्यं त्वया वा तव चानुगैः ।
एवं वत्स्यामि ते गेहे यदि ते रोचतेऽनघ ।। ७ ।।

'परंतु एक शर्त है, तुम या तुम्हारे सेवक कभी मेरे मनके प्रतिकूल आचरण न करें। अनघ! यदि तुम्हें मेरी यह शर्त ठीक जान पड़े तो उस दशामें मैं तुम्हारे घरमें निवास करूँगा ।। ७ ।।

यथाकामं च गच्छेयमागच्छेयं तथैव च ।
शय्यासने च मे राजन् नापराध्येत कश्चन ।। ८ ।।

'मैं अपनी इच्छाके अनुसार जब चाहूँगा चला जाऊँगा और जब जीमें आयेगा चला आऊँगा। राजन्! मेरी शय्या और आसनपर बैठना अपराध होगा। अतः यह अपराध कोई न करे' ।। ८ ।।

तमब्रवीत् कुन्तिभोजः प्रीतियुक्तमिदं वचः ।
एवमस्तु परं चेति पुनश्चैनमथाब्रवीत् ।। ९ ।।

तब राजा कुन्तिभोजने बड़ी प्रसन्नताके साथ उत्तर दिया—'विप्रवर! 'एवमस्तु'—जैसा आप चाहते हैं, वैसा ही होगा', इतना कहकर वे फिर बोले— ।। ९ ।।

मम कन्या महाप्राज्ञ पृथा नाम यशस्विनी ।
शीलवृत्तान्विता साध्वी नियता चैव भाविनी ।। १० ।।

'महाप्राज्ञ! मेरे पृथा नामकी एक यशस्विनी कन्या है, जो शील और सदाचारसे सम्पन्न, साध्वी, संयम-नियमसे रहनेवाली और विचारशील है ।। १० ।।

उपस्थास्यति सा त्वां वै पूजयानवमन्य च ।
तस्याश्च शीलवृत्तेन तुष्टिं समुपयास्यसि ।। ११ ।।

'वह सदा आपकी सेवा-पूजाके लिये उपस्थित रहेगी। उसके द्वारा आपका अपमान कभी न होगा। मेरा विश्वास है कि उसके शील और सदाचारसे आप संतुष्ट होंगे' ।।

एवमुक्त्वा तु तं विप्रमभिपूज्य यथाविधि ।
उवाच कन्यामभ्येत्य पृथां पृथुललोचनाम् ।। १२ ।।

ऐसा कहकर उन ब्राह्मणदेवताकी विधिपूर्वक पूजा करके राजाने अपनी विशाल नेत्रोंवाली कन्या पृथाके पास जाकर कहा— ।। १२ ।।

अयं वत्से महाभागो ब्राह्मणो वस्तुमिच्छति ।
मम गेहे मया चास्य तथेत्येवं प्रतिश्रुतम् ।। १३ ।।

'वत्से! ये महाभाग ब्राह्मण मेरे घरमें निवास करना चाहते हैं। मैंने 'तथास्तु' कहकर इन्हें अपने यहाँ ठहरानेकी प्रतिज्ञा कर ली है ।। १३ ।।

त्वयि वत्से पराश्वस्य ब्राह्मणस्याभिराधनम् ।
तन्मे वाक्यममिथ्या त्वं कर्तुमर्हसि कर्हिचित् ।। १४ ।।

'बेटी! तुमपर भरोसा करके ही मैंने इन तेजस्वी ब्राह्मणकी आराधना स्वीकार की है; अतः तुम मेरी बात कभी मिथ्या न होने दोगी, ऐसी आशा है ।। १४ ।।

अयं तपस्वी भगवान् स्वाध्यायनियतो द्विजः ।
यद् यद् ब्रूयान्महातेजास्तत्तद् देयममत्सरात् ।। १५ ।।

'ये विप्रवर महातेजस्वी, तपस्वी, ऐश्वर्यशाली तथा नियमपूर्वक वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न रहनेवाले हैं। ये जिस-जिस वस्तुके लिये कहें, वह सब इन्हें ईर्ष्यारहित हो श्रद्धाके साथ देना ।। १५ ।।

ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः ।

ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते ।। १६ ।।

'क्योंकि ब्राह्मण ही उत्कृष्ट तेज है, ब्राह्मण ही परम तप है, ब्राह्मणोंके नमस्कारसे ही सूर्यदेव आकाशमें प्रकाशित हो रहे हैं ।। १६ ।।

अमानयन् हि मानार्हान् वातापिश्च महासुरः ।
निहतो ब्रह्मदण्डेन तालजङ्घस्तथैव च ।। १७ ।।

'माननीय ब्राह्मणोंका सम्मान न करनेके कारण ही महान् असुर वातापि और उसी प्रकार तालजंघ ब्रह्मदण्डसे मारे गये ।। १७ ।।

सोऽयं वत्से महाभार आहितस्त्वयि साम्प्रतम् ।
त्वं सदा नियता कुर्या ब्राह्मणस्याभिराधनम् ।। १८ ।।

'अतः बेटी! इस समय सेवाका यह महान् भार मैंने तुम्हारे ऊपर रखा है। तुम सदा नियमपूर्वक इन ब्राह्मणदेवताकी आराधना करती रहो ।। १८ ।।

जानामि प्रणिधानं ते बाल्यात् प्रभृति नन्दिनी ।
ब्राह्मणेष्विह सर्वेषु गुरुबन्धुषु चैव ह ।। १९ ।।
तथा प्रेष्येषु सर्वेषु मित्रसम्बन्धिमातृषु ।
मयि चैव यथावत् त्वं सर्वमावृत्य वर्तसे ।। २० ।।

'माता-पिताका आनन्द बढ़ानेवाली पुत्री! मैं जानता हूँ, बचपनसे ही तुम्हारा चित्त एकाग्र है। समस्त ब्राह्मणों, गुरुजनों, बन्धु-बान्धवों, सेवकों, मित्रों, सम्बन्धियों तथा माताओंके प्रति और मेरे प्रति भी तुम सदा यथोचित बर्ताव करती आयी हो। तुमने अपने सद्भावसे सबको प्रभावित कर लिया है ।। १९-२० ।।

न ह्यतुष्टो जनोऽस्तीह पुरे चान्तःपुरे च ते ।
सम्यग्वृत्त्यानवद्याङ्गि तव भृत्यजनेष्वपि ।। २१ ।।

'निर्दोष अंगोंवाली पुत्री! नगरमें या अन्तःपुरमें, सेवकोंमें भी कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो तुम्हारे उत्तम बर्तावसे संतुष्ट न हो ।। २१ ।।

संदेष्टव्यां तु मन्ये त्वां द्विजातिं कोपनं प्रति ।
पृथे बालेति कृत्वा वै सुता चासि ममेति च ।। २२ ।।

'तथापि पृथे! तुम अभी बालिका और मेरी पुत्री हो, इसलिये इन क्रोधी ब्राह्मणके प्रति बर्ताव करनेके विषयमें तुम्हें कुछ उपदेश देनेकी आवश्यकताका अनुभव मैं करता हूँ ।। २२ ।।

वृष्णीनां च कुले जाता शूरस्य दयिता सुता ।
दत्ता प्रीतिमता मह्यं पित्रा बाला पुरा स्वयम् ।। २३ ।।

'वृष्णिवंशमें तुम्हारा जन्म हुआ है। तुम शूरसेनकी प्यारी पुत्री हो। पूर्वकालमें स्वयं तुम्हारे पिताने बाल्यावस्थामें ही बड़ी प्रसन्नताके साथ तुम्हें मेरे हाथों सौंपा था ।। २३ ।।

वसुदेवस्य भगिनी सुतानां प्रवरा मम ।

अग्रयमग्रे प्रतिज्ञाय तेनासि दुहिता मम ।। २४ ।।

तुम वसुदेवकी बहिन तथा मेरी संतानोंमें सबसे बड़ी हो। पहले उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि मैं अपनी पहली संतान तुम्हें दे दूँगा। उसीके अनुसार उन्होंने तुम्हें मेरी गोदमें अर्पित किया है, इस कारण तुम मेरी दत्तक पुत्री हो ।। २४ ।।

तादृशे हि कुले जाता कुले चैव विवर्धिता ।

सुखात् सुखमनुप्राप्ता ह्रदाद् ह्रदमिवागता ।। २५ ।।

‘वैसे उत्तम कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ तथा मेरे श्रेष्ठ कुलमें तुम पालित और पोषित होकर बड़ी हुई। जैसे जलकी धारा एक सरोवरसे निकलकर दूसरे सरोवरमें गिरती है, उसी प्रकार तुम एक सुखमय स्थानसे दूसरे सुखमय स्थानमें आयी हो ।। २५ ।।

दौष्कुलेया विशेषेण कथंचित् प्रग्रहं गताः ।

बालभावाद् विकुर्वन्ति प्रायशः प्रमदाः शुभे ।। २६ ।।

‘शुभे! जो दूषित कुलमें उत्पन्न होनेवाली स्त्रियाँ हैं, वे किसी तरह विशेष आग्रहमें पड़कर अपने अविवेकके कारण प्रायः बिगड़ जाती हैं (परंतु तुमसे ऐसी आशंका नहीं है) ।। २६ ।।

पृथे राजकुले जन्म रूपं चापि तवाद्‌भुतम् ।

तेन तेनासि सम्पन्ना समुपेता च भाविनी ।। २७ ।।

‘पृथे! तुम्हारा जन्म राजकुलमें हुआ है। तुम्हारा रूप भी अद्‌भुत है। कुल और स्वरूपके अनुसार ही तुम उत्तम शील, सदाचार और सद्‌गुणोंसे संयुक्त एवं सम्पन्न हो। साथ ही विचारशील भी हो ।। २७ ।।

सा त्वं दर्पं परित्यज्य दम्भं मानं च भाविनि ।

आराध्य वरदं विप्रं श्रेयसा योक्ष्यसे पृथे ।। २८ ।।

‘सुन्दर भाववाली पृथे! तुम दर्प, दम्भ और मानको त्यागकर यदि इन वरदायक ब्राह्मणकी आराधना करोगी तो परम कल्याणकी भागिनी होओगी ।। २८ ।।

एवं प्राप्स्यसि कल्याणि कल्याणमनघे ध्रुवम् ।

कोपिते च द्विजश्रेष्ठे कृत्स्नं दह्येत मे कुलम् ।। २९ ।।

‘कल्याणि! तुम पापरहित हो। यदि इस प्रकार इनकी सेवा करनेमें सफल हो गयी तो तुम्हें निश्चय ही कल्याणकी प्राप्ति होगी, और यदि तुमने अपने अनुचित बर्तावसे इन श्रेष्ठ ब्राह्मणको कुपित कर दिया तो मेरा सम्पूर्ण कुल जलकर भस्म हो जायगा’ ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथोपदेशे त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३०३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें पृथाको उपदेशविषयक तीन सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३०३ ।।

चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तीका पितासे वार्तालाप और ब्राह्मणकी परिचर्या

कुन्त्युवाच

ब्राह्मणं यन्त्रिता राजन्नुपस्थास्यामि पूजया ।
यथाप्रतिज्ञं राजेन्द्र न च मिथ्या ब्रवीम्यहम् ।। १ ।।

कुन्ती बोली—राजन्! मैं नियमोंमें आबद्ध रहकर आपकी प्रतिज्ञाके अनुसार निरन्तर इन तपस्वी ब्राह्मणकी सेवा-पूजाके लिये उपस्थित रहूँगी। राजेन्द्र! मैं झूठ नहीं बोलती हूँ ।। १ ।।

एष चैव स्वभावो मे पूजयेयं द्विजानिति ।
तव चैव प्रियं कार्यं श्रेयश्च परमं मम ।। २ ।।

यह मेरा स्वभाव ही है कि मैं ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजा करूँ और आपका प्रिय करना तो मेरे लिये परम कल्याणकी बात है ही ।। २ ।।

यद्येवैष्यति सायाह्ने यदि प्रातरथो निशि ।
यद्यर्धरात्रे भगवान् न मे कोपं करिष्यति ।। ३ ।।

ये पूजनीय ब्राह्मण यदि सायंकाल आवें, प्रातःकाल पधारें अथवा रात या आधीरातमें भी दर्शन दें, ये कभी भी मेरे मनमें क्रोध उत्पन्न नहीं कर सकेंगे—मैं हर समय इनकी समुचित सेवाके लिये प्रस्तुत रहूँगी ।। ३ ।।

लाभो ममैष राजेन्द्र यद् वै पूजयती द्विजान् ।
आदेशे तव तिष्ठन्ती हित कुर्यां नरोत्तम ।। ४ ।।

राजेन्द्र! नरश्रेष्ठ! मेरे लिये महान् लाभकी बात यही है कि मैं आपकी आज्ञाके अधीन रहकर ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजा करती हुई सदैव आपका हित-साधन करूँ ।। ४ ।।

विस्रब्धो भव राजेन्द्र न व्यलीकं द्विजोत्तमः ।
वसन् प्राप्स्यति ते गेहे सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। ५ ।।

महाराज! विश्वास कीजिये। आपके भवनमें निवास करते हुए ये द्विजश्रेष्ठ कभी अपने मनके प्रतिकूल कोई कार्य नहीं देख पायेंगे। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ ।। ५ ।।

यत् प्रियं च द्विजस्यास्य हितं चैव तवानघ ।
यतिष्यामि तथा राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ।। ६ ।।

निष्पाप नरेश! आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये। मैं वही कार्य करनेका प्रयत्न करूँगी जो इन तपस्वी ब्राह्मणको प्रिय और आपके लिये हितकर हो ।। ६ ।।

ब्राह्मणा हि महाभागाः पूजिताः पृथिवीपते ।
तारणाय समर्थाः स्युर्विपरीते वधाय च ।। ७ ।।

क्योंकि पृथ्वीपते! महाभाग ब्राह्मण भलीभाँति पूजित होनेपर सेवकको तारनेमें समर्थ होते हैं; और इसके विपरीत अपमानित होनेपर विनाशकारी बन जाते हैं ।। ७ ।।

साहमेतद् विजानन्ती तोषयिष्ये द्विजोत्तमम् ।
न मत्कृते व्यथां राजन् प्राप्स्यसि द्विजसत्तमात् ।। ८ ।।

मैं इस बातको जानती हूँ। अतः इन श्रेष्ठ ब्राह्मणको सब तरहसे संतुष्ट रखूँगी। राजन्! मेरे कारण इन द्विजश्रेष्ठसे आपको कोई कष्ट नहीं प्राप्त होगा ।। ८ ।।

अपराधेऽपि राजेन्द्र राज्ञामश्रेयसे द्विजाः ।
भवन्ति चवनो यद्वत् सुकन्यायाः कृते पुरा ।। ९ ।।

राजेन्द्र! किसी बालिकाद्वारा अपराध बन जानेपर भी ब्राह्मणलोग राजाओंका अमंगल करनेको उद्यत हो जाते हैं, जैसे प्राचीनकालमें सुकन्याद्वारा अपराध होनेपर महर्षि च्यवन महाराज शर्यातिका अनिष्ट करनेको उद्यत हो गये थे ।। ९ ।।

नियमेन परेणाहमुपस्थास्ये द्विजोत्तमम् ।
यथा त्वया नरेन्द्रेदं भाषितं ब्राह्मणं प्रति ।। १० ।।

नरेन्द्र! आपने ब्राह्मणके प्रति बर्ताव करनेके विषयमें जो कुछ कहा है, उसके अनुसार मैं उत्तम नियमोंके पालनपूर्वक इन श्रेष्ठ ब्राह्मणकी सेवामें उपस्थित रहूँगी ।।

एवं ब्रुवन्तीं बहुशः परिष्वज्य समर्थ्य च ।
इति चेति च कर्तव्यं राजा सर्वमथादिशत् ।। ११ ।।

इस प्रकार कहती हुई कुन्तीको बारंबार गलेसे लगाकर राजाने उसकी बातोंका समर्थन किया और कैसे-कैसे क्या-क्या करना चाहिये, इसके विषयमें उसे सुनिश्चित आदेश दिया ।। ११ ।।

राजोवाच

एवमेतत् त्वया भद्रे कर्तव्यमविशङ्कया ।
मद्धितार्थं तथाऽऽत्मार्थं कुलार्थं चाप्यनिन्दिते ।। १२ ।।

राजा बोले—भद्रे! अनिन्दिते! मेरे, तुम्हारे तथा कुलके हितके लिये तुम्हें निःशंकभावसे इसी प्रकार यह सब कार्य करना चाहिये ।। १२ ।।

एवमुक्त्वा तु तां कन्यां कुन्तिभोजो महायशाः ।
पृथां परिददौ तस्मै द्विजाय द्विजवत्सलः ।। १३ ।।

ब्राहणप्रेमी महायशस्वी राजा कुन्तिभोजने पुत्रीसे ऐसा कहकर उन आये हुए द्विजकी सेवामें पृथाको दे दिया ।। १३ ।।

इयं ब्रह्मन् मम सुता बाला सुखविवर्धिता ।
अपराध्येत यत्र किंचिन्न कार्यं हृदि तत् त्वया ।। १४ ।।

और कहा—‘ब्रह्मन्! यह मेरी पुत्री पृथा अभी बालिका है और सुखमें पली हुई है। यदि आपका कोई अपराध कर बैठे, तो भी आप उसे मनमें नहीं लाइयेगा ।। १४ ।।

द्विजातयो महाभागा वृद्धबालतपस्विषु ।
भवन्त्यक्रोधनाः प्रायो ह्यपराद्धेषु नित्यदा ।। १५ ।।

‘वृद्ध, बालक और तपस्वीजन यदि कोई अपराध कर दें, तो भी आप-जैसे महाभाग ब्राह्मण प्रायः कभी उनपर क्रोध नहीं करते ।। १५ ।।

सुमहत्यपराधेऽपि क्षान्तिः कार्या द्विजातिभिः ।
यथाशक्ति यथोत्साहं पूजा ग्राह्या द्विजोत्तम ।। १६ ।।

‘विप्रवर! सेवकका महान् अपराध होनेपर भी ब्राह्मणोंको क्षमा करनी चाहिये तथा शक्ति और उत्साहके अनुसार उनके द्वारा की हुई सेवा-पूजा स्वीकार कर लेनी चाहिये’ ।। १६ ।।

तथेति ब्राह्मणेनोक्तं स राजा प्रीतमानसः ।
हंसचन्द्रांशुसंकाशं गृहमस्मै न्यवेदयत् ।। १७ ।।

ब्राह्मणने ‘तथास्तु’ कहकर राजाका अनुरोध मान लिया। इससे उनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने ब्राह्मणको रहनेके लिये हंस और चन्द्रमाकी किरणोंके समान एक उज्ज्वल भवन दे दिया ।। १७ ।।

तत्राग्निशरणे क्लृप्तमासनं तस्य भानुमत् ।
आहारादि च सर्वं तत् तथैव प्रत्यवेदयत् ।। १८ ।।

वहाँ अग्निहोत्रगृहमें उनके लिये चमचमाते हुए सुन्दर आसनकी व्यवस्था हो गयी। भोजन आदिकी सब सामग्री भी राजाने वहीं प्रस्तुत कर दी ।। १८ ।।

निक्षिप्य राजपुत्री तु तन्द्रीं मानं तथैव च ।
आतस्थे परमं यत्नं ब्राह्मणस्याभिराधने ।। १९ ।।

राजकुमारी कुन्ती आलस्य और अभिमानको दूर भगाकर ब्राह्मणकी आराधनामें बड़े यत्नसे संलग्न हो गयी ।। १९ ।।

तत्र सा ब्राह्मणं गत्वा पृथा शौचपरा सती ।
विधिवत् परिचारर्हं देववत् पर्यतोषयत् ।। २० ।।

बाहर-भीतरसे शुद्ध हो सती-साध्वी पृथा उन पूजनीय ब्राह्मणके पास जाकर देवताकी भाँति उनकी विधिवत् आराधना करके उन्हें पूर्णरूपसे संतुष्ट रखने लगी ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथाद्विजपरिचर्यायां चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३०४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें कुन्तीके द्वारा ब्राह्मणकी परिचर्याविषयक तीन सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३०४ ।।

पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तीकी सेवासे संतुष्ट होकर तपस्वी ब्राह्मणका उसको मन्त्रका उपदेश देना

वैशम्पायन उवाच

सा तु कन्या महाराज ब्राह्मणं संशितव्रतम् ।
तोषयामास शुद्धेन मनसा संशितव्रता ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! इस प्रकार वह कन्या पृथा कठोर व्रतका पालन करती हुई शुद्ध हृदयसे उन उत्तम व्रतधारी ब्राह्मणको अपनी सेवाओंद्वारा संतुष्ट रखने लगी ।। १ ।।

प्रातरेष्याम्यथेत्युक्त्वा कदाचिद् द्विजसत्तमः ।
तत आयाति राजेन्द्र सायं रात्रावथो पुनः ।। २ ।।

राजेन्द्र! वे श्रेष्ठ ब्राह्मण कभी यह कहकर कि 'मैं प्रातःकाल लौट आऊँगा' चल देते और सायंकाल अथवा बहुत रात बीतनेपर पुनः वापस आते थे ।। २ ।।

तं च सर्वासु वेलासु भक्ष्यभोज्यप्रतिश्रयैः ।
पूजयामास सा कन्या वर्धमानैस्तु सर्वदा ।। ३ ।।

परंतु वह कन्या प्रतिदिन हर समय पहलेकी अपेक्षा अधिक-अधिक परिणाममें भक्ष्य-भोज्य आदि सामग्री तथा शय्या-आसन आदि प्रस्तुत करके उनका सेवा-सत्कार किया करती थी ।। ३ ।।

अन्नादिसमुदाचारः शय्यासनकृतस्तथा ।
दिवसे दिवसे तस्य वर्धते न तु हीयते ।। ४ ।।

नित्यप्रति अन्न आदिके द्वारा उन ब्राह्मणका सत्कार अन्य दिनोंकी अपेक्षा बढ़कर ही होता था। उनके लिये शय्या और आसन आदिकी सुविधा भी पहलेकी अपेक्षा अधिक ही दी जाती थी। किसी बातमें तनिक भी कमी नहीं की जाती थी ।। ४ ।।

निर्भर्त्सनापवादैश्च तथैवाप्रियया गिरा ।
ब्राह्मणस्य पृथा राजन् न चकाराप्रियं तदा ।। ५ ।।

राजन्! वे ब्राह्मण कभी धिक्कारते, कभी बात-बातमें दोषारोपण करते और प्रायः कटु वचन भी बोला करते थे, तो भी पृथा उनके प्रति कभी कोई अप्रिय बर्ताव नहीं करती थी ।। ५ ।।

व्यस्ते काले पुनश्चैति न चैति बहुशो द्विजः ।
सुदुर्लभमपि ह्यन्नं दीयतामिति सोऽब्रवीत् ।। ६ ।।

वे कभी ऐसे समयमें लौटकर आते थे, जब कि पृथाको दूसरे कामोंसे दम लेनेकी भी फुरसत नहीं होती थी और कभी वे कई दिनोंतक आते ही नहीं थे। आनेपर भी ऐसा भोजन माँग लेते जो अत्यन्त दुर्लभ होता ।। ६ ।।

कृतमेव च तत् सर्वं यथा तस्मै न्यवेदयत् ।
शिष्यवत् पुत्रवच्चैव स्वसृवच्च सुसंयता ।। ७ ।।

परंतु कुन्ती उन्हें उनकी माँगी हुई सब वस्तुएँ इस प्रकार प्रस्तुत कर देती थी, मानो उनको पहलेसे ही तैयार करके रखा हो। वह अत्यन्त संयत होकर शिष्य, पुत्र तथा छोटी बहिनकी भाँति सदा उनकी सेवामें लगी रहती थी ।। ७ ।।

यथोपजोषं राजेन्द्र द्विजातिप्रवरस्य सा ।
प्रीतिमुत्पादयामास कन्यारत्नमनिन्दिता ।। ८ ।।

राजेन्द्र! उस अनिन्द्य कन्यारत्न कुन्तीने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणको उनकी रुचिके अनुसार सेवा करके अत्यन्त प्रसन्न कर लिया ।। ८ ।।

तस्यास्तु शीलवृत्तेन तुतोष द्विजसत्तमः ।
अवधानेन भूयोऽस्याः परं यत्नमथाकरोत् ।। ९ ।।

उसके शील, सदाचार तथा सावधानीसे उन द्विजश्रेष्ठको बड़ा संतोष हुआ। उन्होंने कुन्तीका हित करनेका पूरा प्रयत्न किया ।। ९ ।।

तां प्रभाते च सायं च पिता पप्रच्छ भारत ।
अपि तुष्यति ते पुत्रि ब्राह्मणः परिचर्यया ।। १० ।।

जनमेजय! पिता कुन्तिभोज प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकालमें पूछते थे—‘बेटी! तुम्हारी सेवासे ब्राह्मणको संतोष तो है न?’ ।। १० ।।

तं सा परममित्येव प्रत्युवाच यशस्विनी ।
ततः प्रीतिमवापाग्र्यां कुन्तिभोजो महामनाः ।। ११ ।।

वह यशस्विनी कन्या उन्हें उत्तर देती—‘हाँ पिताजी! वे बहुत प्रसन्न हैं।’ यह सुनकर महामना कुन्तिभोजको बड़ा हर्ष प्राप्त होता था ।। ११ ।।

ततः संवत्सरे पूर्णो यदासौ जपतां वरः ।
नापश्यद् दुष्कृतं किंचित् पृथायाः सौहृदे रतः ।। १२ ।।
ततः प्रीतमना भूत्वा स एनां ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
प्रीतोऽस्मि परमं भद्रे परिचारेण ते शुभे ।। १३ ।।
वरान् वृणीष्व कल्याणि दुरापात् मानुषैरिह ।
यैस्त्वं सीमन्तिनीः सर्वा यशसाभिभविष्यसि ।। १४ ।।

तदनन्तर जब एक वर्ष पूरा हो गया और पृथाके प्रति वात्सल्य स्नेह रखनेवाले जपकर्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण दुर्वासाजीने उसकी सेवामें कोई त्रुटि नहीं देखी, तब वे प्रसन्नचित्त होकर पृथासे इस प्रकार बोले—‘भद्रे! मैं तुम्हारी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। शुभे!

कल्याणि! तुम मुझसे ऐसे वर माँगो, जो यहाँ दूसरे मनुष्योंके लिये दुर्लभ हों और जिनके कारण तुम संसारकी समस्त सुन्दरियोंको अपने सुयशसे पराजित कर सको' ।। १२—१४ ।।

कुन्त्युवाच

कृतानि मम सर्वाणि यस्या मे वेदवित्तम ।
त्वं प्रसन्नः पिता चैव कृतं विप्र वरैर्मम ।। १५ ।।

कुन्ती बोली—वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ! जब मुझ सेविकाके ऊपर आप और पिताजी प्रसन्न हो गये तब मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गयीं। विप्रवर! मुझे वर लेनेकी आवश्यकता नहीं है ।। १५ ।।

ब्राह्मण उवाच

यदि नेच्छसि मत्तस्त्वं वरं भद्रे शुचिस्मिते ।
इमं मन्त्रं गृहाण त्वमाह्वानाय दिवौकसाम् ।। १६ ।।

ब्राह्मणने कहा—भद्रे! पवित्र मुसकानवाली पृथे! यदि तुम मुझसे वर नहीं लेना चाहती हो तो देवताओंका आवाहन करनेके लिये यह एक मन्त्र ही ग्रहण कर लो ।। १६ ।।

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
तेन तेन वशे भद्रे स्थातव्यं ते भविष्यति ।। १७ ।।

भद्रे! तुम इस मन्त्रके द्वारा जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी वह-वह तुम्हारे अधीन हो जानेके लिये बाध्य होगा ।। १७ ।।

अकामो वा सकामो वा स समेष्यति ते वशे ।
विबुधो मन्त्रसंशान्तो भवेद् भृत्य इवानतः ।। १८ ।।

वह देवता कामनारहित हो या कामनायुक्त, मन्त्रके प्रभावसे शान्तचित्त हो विनीत सेवककी भाँति तुम्हारे पास आकर तुम्हारे अधीन हो जायगा ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

न शशाक द्वितीयं सा प्रत्याख्यातुमनिन्दिता ।
तं वै द्विजातिप्रवरं तदा शापभयान्नृप ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! साध्वी पृथा दूसरी बार उन श्रेष्ठ ब्राह्मणकी बात न टाल सकी; क्योंकि वैसा करनेपर उसे उनके शापका भय था ।। १९ ।।

ततस्तामनवद्याङ्गीं ग्राहयामास स द्विजः ।
मन्त्रग्रामं तदा राजन्नथर्वशिरसि श्रुतम् ।। २० ।।

राजन्! तब ब्राह्मणने निर्दोष अंगोंवाली कुन्तीको उस मन्त्रसमूहका उपदेश दिया जो अथर्ववेदीय उपनिषद्में प्रसिद्ध है ।। २० ।।

तं प्रदाय तु राजेन्द्र कुन्तिभोजमुवाच ह ।
उषितोऽस्मि सुखं राजन् कन्यया परितोषितः ।। २१ ।।
तव गेहेषु विहितः सदा सुप्रतिपूजितः ।
साधयिष्यामहे तावदित्युक्त्वान्तरधीयत ।। २२ ।।

राजेन्द्र! पृथाको वह मन्त्र देकर ब्राह्मणने राजा कुन्तिभोजसे कहा—‘राजन्! मैं तुम्हारे घरमें तुम्हारी कन्याद्वारा सदा समादृत और संतुष्ट होकर बड़े सुखसे रहा हूँ। अब हम अपनी कार्यसिद्धिके लिये यहाँसे जायँगे।’ ऐसा कहकर वे ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान हो गये ।। २१-२२ ।।

स तु राजा द्विजं दृष्ट्वा तत्रैवान्तर्हितं तदा ।
बभूव विस्मयाविष्टः पृथां च समपूजयत् ।। २३ ।।

ब्राह्मणको अन्तर्हित हुआ देख उस समय राजाको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने अपनी पुत्री कुन्तीका विशेष आदर-सत्कार किया ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि पृथाया मन्त्रप्राप्तौ पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३०५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें पृथाको मन्त्रकी प्राप्तिविषयक तीन सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३०५ ।।

षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कुन्तीके, द्वारा सूर्यदेवताका आवाहन तथा कुन्ती-सूर्य-संवाद

वैशम्पायन उवाच

गते तस्मिन् द्विजश्रेष्ठे कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ।
चिन्तयामास सा कन्या मन्त्रग्रामबलाबलम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन श्रेष्ठ ब्राह्मणके चले जानेपर किसी कारणवश* राजकन्या कुन्तीने मन-ही-मन सोचा; 'इस मन्त्रसमूहमें कोई बल है या नहीं ।। १ ।।

अयं वै कीदृशस्तेन मम दत्तो महात्मना ।
मन्त्रग्रामो बलं तस्य ज्ञास्ये नातिचिरादिति ।। २ ।।

'उन महात्मा ब्राह्मणने मुझे यह कैसा मन्त्रसमूह प्रदान किया है? उसके बलको मैं शीघ्र ही (परीक्षाद्वारा) जानूँगी' ।। २ ।।

एवं संचिन्तयन्ती सा ददर्शर्तुं यदृच्छया ।
व्रीडिता साभवद् बाला कन्याभावे रजस्वला ।। ३ ।।

इस प्रकार सोच-विचारमें पड़ी हुई कुन्तीने अकस्मात् अपने शरीरमें ऋतुका प्रादुर्भाव हुआ देखा। कन्यावस्थामें ही अपनेको रजस्वला पाकर उस बालिकाने लज्जाका अनुभव किया ।। ३ ।।

ततो हर्म्यतलस्था सा महार्हशयनोचिता ।
प्राच्यां दिशि समुद्यन्तं ददर्शादित्यमण्डलम् ।। ४ ।।

तदनन्तर एक दिन कुन्ती अपने महलके भीतर एक बहुमूल्य पलंगपर लेटी हुई थी। उसी समय उसने (खिड़कीसे) पूर्वदिशामें उदित होते हुए सूर्यमण्डलकी ओर दृष्टिपात किया ।। ४ ।।

तत्र बद्धमनोदृष्टिरभवत् सा सुमध्यमा ।
न चातप्यत रूपेण भानोः संध्यागतस्य सा ।। ५ ।।

प्रातःसंध्याके समय उगते हुए सूर्यकी ओर देखनेमें सुमध्यमा कुन्तीको तनिक भी तापका अनुभव नहीं हुआ। उसके मन और नेत्र उन्हींमें आसक्त हो गये ।।

तस्या दृष्टिरभूद् दिव्या सापश्यद् दिव्यदर्शनम् ।
आमुक्तकवचं देवं कुण्डलाभ्यां विभूषितम् ।। ६ ।।

उस समय उसकी दृष्टि दिव्य हो गयी। उसने दिव्यरूपमें दिखायी देनेवाले भगवान् सूर्यकी ओर देखा। वे कवच धारण किये एवं कुण्डलोंसे विभूषित थे ।। ६ ।।

तस्याः कौतूहलं त्वासीन्मन्त्रं प्रति नराधिप ।
आह्वानमकरोत् साथ तस्य देवस्य भाविनी ।। ७ ।।

नरेश्वर! उन्हें देखकर कुन्तीके मनमें अपने मन्त्रकी शक्तिकी परीक्षा करनेके लिये कौतूहल पैदा हुआ। तब उस सुन्दरी राजकन्याने सूर्यदेवका आवाहन किया ।। ७ ।।

प्राणानुपस्पृश्य तदा ह्याजुहाव दिवाकरम् ।
आजगाम ततो राजंस्त्वरमाणो दिवाकरः ।। ८ ।।

उसने विधिपूर्वक आचमन और प्राणायाम करके भगवान् दिवाकरका आवाहन किया। राजन्! तब भगवान् सूर्य बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आये ।। ८ ।।

मधुपिङ्गो महाबाहुः कम्बुग्रीवो हसन्निव ।
अङ्गदी बद्धमुकुटो दिशः प्रज्वालयन्निव ।। ९ ।।

उनकी अंगकान्ति मधुके समान पिंगलवर्णकी थी। भुजाएँ बड़ी-बड़ी और ग्रीवा शंखके समान थी। वे हँसते हुए-से जान पड़ते थे। उनकी भुजाओंमें अंगद (बाजूबंद) चमक रहे थे और मस्तकपर बँधा हुआ मुकुट शोभा पाता था। वे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रज्वलित-सी कर रहे थे ।। ९ ।।

योगात् कृत्वा द्विधाऽऽत्मानमाजगाम तताप च ।
आबभाषे ततः कुन्तीं साम्ना परमवल्गुना ।। १० ।।

वे योगशक्तिसे अपने दो स्वरूप बनाकर एकसे वहाँ आये और दूसरेसे आकाशमें तपते रहे। उन्होंने कुन्तीको समझाते हुए परम मधुर वाणीमें कहा— ।। १० ।।

आगतोऽस्मि वशं भद्रे तव मन्त्रबलात्कृतः ।
किं करोमि वशो राज्ञि ब्रूहि कर्ता तदस्मि ते ।। ११ ।।

'भद्रे! मैं तुम्हारे मन्त्रके बलसे आकृष्ट होकर तुम्हारे वशमें आ गया हूँ। राजकुमारी! बताओ, तुम्हारे अधीन रहकर मैं कौन-सा कार्य करूँ? तुम जो कहोगी, वही करूँगा' ।। ११ ।।

कुन्त्युवाच

गम्यतां भगवंस्तत्र यत एवागतो ह्यसि ।
कौतूहलात् समाहूतः प्रसीद भगवन्निति ।। १२ ।।

कुन्ती बोली—भगवन्! आप जहाँसे आये हैं वहीं पधारिये। मैंने आपको कौतूहलवश ही बुलाया था। प्रभो! प्रसन्न होइये ।। १२ ।।

सूर्य उवाच

गमिष्येऽहं यथा मां त्वं ब्रवीषि तनुमध्यमे ।

न तु देवं समाहूय न्याय्यं प्रेषयितुं वृथा ।। १३ ।।

सूर्यने कहा—तनुमध्यमे! जैसा तुम कह रही हो उसके अनुसार मैं चला तो जाऊँगा ही; परंतु किसी देवताको बुलाकर उसे व्यर्थ लौटा देना न्यायकी बात नहीं है ।। १३ ।।

तवाभिसंधिः सुभगे सूर्यात् पुत्रो भवेदिति ।
वीर्येणाप्रतिमो लोके कवची कुण्डलीति च ।। १४ ।।

सुभगे! तुम्हारे मनमें यह संकल्प उठा था कि 'सूर्यदेवसे मुझे एक ऐसा पुत्र प्राप्त हो, जो संसारमें अनुपम पराक्रमी तथा जन्मसे ही दिव्य कवच एवं कुण्डलोंसे सुशोभित हो' ।। १४ ।।

सा त्वमात्मप्रदानं वै कुरुष्व गजगामिनि ।
उत्पत्स्यति हि पुत्रस्ते यथासंकल्पमङ्गने ।। १५ ।।

अतः गजगामिनि! तुम मुझे अपना शरीर समर्पित कर दो। अंगने! ऐसा करनेसे तुम्हें अपने संकल्पके अनुसार तेजस्वी पुत्र प्राप्त होगा ।। १५ ।।

अथ गच्छाम्यहं भद्रे त्वया संगम्य सुस्मिते ।
यदि त्वं वचनं नाद्य करिष्यसि मम प्रियम् ।। १६ ।।
शपिष्ये त्वामहं क्रुद्धो ब्राह्मणं पितरं च ते ।
त्वत्कृते तान् प्रधक्ष्यामि सर्वानपि न संशयः ।। १७ ।।

भद्रे! सुन्दर मुसकानवाली पृथे! तुमसे समागम करके मैं पुनः लौट जाऊँगा; परंतु यदि आज तुम मेरा प्रिय वचन नहीं मानोगी तो मैं कुपित होकर तुमको, उस मन्त्रदाता ब्राह्मणको और तुम्हारे पिताको भी शाप दे दूँगा। तुम्हारे कारण मैं उन सबको जलाकर भस्म कर दूँगा; इसमें संशय नहीं है ।। १६-१७ ।।

पितरं चैव ते मूढं यो न वेत्ति तवानयम् ।
तस्य च ब्राह्मणस्याद्य योऽसौ मन्त्रमदात् तव ।। १८ ।।
शीलवृत्तमविज्ञाय धास्यामि विनयं परम् ।

तुम्हारे मूर्ख पिताको भी मैं जला दूँगा, जो तुम्हारे इस अन्यायको नहीं जानता है तथा जिसने तुम्हारे शील और सदाचारको जाने बिना ही मन्त्रका उपदेश दिया है, उस ब्राह्मणको भी अच्छी सीख दूँगा ।। १८½ ।।

एते हि विबुधाः सर्वे पुरन्दरमुखा दिवि ।। १९ ।।
त्वया प्रलब्धं पश्यन्ति स्मयन्त इव भाविनि ।
पश्य चैनान् सुरगणान् दिव्यं चक्षुरिदं हि ते ।
पूर्वमेव मया दत्तं दृष्टवत्यसि येन माम् ।। २० ।।

भामिनि! ये इन्द्र आदि समस्त देवता आकाशमें खड़े होकर मुसकराते हुए-से मेरी ओर इस भावसे देख रहे हैं कि मैं तुम्हारे द्वारा कैसा ठगा गया? देखो न, इन देवताओंकी ओर। मैंने तुम्हें पहलेसे ही दिव्य दृष्टि दे दी है, जिससे तुम मुझे देख सकती हो ।। १९-२० ।।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽपश्यत् त्रिदशान् राजपुत्री
सर्वानेव स्वेषु धिष्ण्येषु खस्थान् ।
प्रभावन्तं भानुमन्तं महान्तं
यथाऽऽदित्यं रोचमानांस्तथैव ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब राजकुमारी कुन्तीने आकाशमें अपने-अपने विमानोंपर बैठे हुए सब देवताओंको देखा। जैसे सहस्रों किरणोंसे युक्त भगवान् सूर्य अत्यन्त दीप्तिमान् दिखायी देते हैं, उसी प्रकार वे सब देवता प्रकाशित हो रहे थे ।। २१ ।।

सा तान् दृष्ट्वा व्रीडमानेव बाला
सूर्यं देवी वचनं प्राह भीता ।
गच्छ त्वं वै गोपते स्वं विमानं
कन्याभावाद् दुःख एवापचारः ।। २२ ।।

उन्हें देखकर बालिका कुन्तीको बड़ी लज्जा हुई। उस देवीने भयभीत होकर सूर्यदेवसे कहा—‘किरणोंके स्वामी दिवाकर! आप अपने विमानपर चले जाइये। छोटी बालिका होनेके कारण मेरेद्वारा आपको बुलानेका यह दुःखदायक अपराध बन गया है ।। २२ ।।

पिता माता गुरवश्चैव येऽन्ये
देहस्यास्य प्रभवन्ति प्रदाने ।
नाहं धर्मं लोपयिष्यामि लोके
स्त्रीणां वृत्तं पूज्यते देहरक्षा ।। २३ ।।

‘मेरे पिता-माता तथा अन्य गुरुजन ही मेरे इस शरीरको देनेका अधिकार रखते हैं। मैं अपने धर्मका लोप नहीं करूँगी। स्त्रियोंके सदाचारमें अपने शरीरकी पवित्रताको बनाये रखना ही प्रधान है और संसारमें उसीकी प्रशंसा की जाती है ।। २३ ।।

मया मन्त्रबलं ज्ञातुमाहूतस्त्वं विभावसो ।
बाल्याद् बालोति तत् कृत्वा क्षन्तुमर्हसि मे विभो ।। २४ ।।

‘प्रभो! प्रभाकर! मैंने अपने बाल-स्वभावके कारण मन्त्रका बल जाननेके लिये ही आपका आवाहन किया है। एक अनजान बालिका समझकर आप मेरे इस अपराधको क्षमा कर दें’ ।। २४ ।।

सूर्य उवाच

बालेति कृत्वानुनयं तवाहं
ददानि नान्यानुनयं लभेत ।
आत्मप्रदानं कुरु कुन्तिकन्ये
शान्तिस्तवैवं हि भवेच्च भीरु ।। २५ ।।

सूर्यदेवने कहा—कुन्तिभोजकुमारी कुन्ती! बालिका समझकर ही मैं तुमसे इतनी अनुनय-विनय करता हूँ। दूसरी कोई स्त्री मुझसे अनुनयका अवसर नहीं पा सकती। भीरु! तुम मुझे अपना शरीर अर्पण करो। ऐसा करनेसे ही तुम्हें शान्ति प्राप्त हो सकती है ।। २५ ।।

न चापि गन्तुं युक्तं हि मया मिथ्याकृतेन वै ।
असमेत्य त्वया भीरु मन्त्राहूतेन भाविनि ।। २६ ।।
गमिष्याम्यनवद्याङ्गि लोके समवहास्यताम् ।
सर्वेषां विबुधानां च वक्तव्यः स्यां तथा शुभे ।। २७ ।।

निर्दोष अंगोंवाली सुन्दरी! तुमने मन्त्रद्वारा मेरा आवाहन किया है; इस दशामें उस आवाहनको व्यर्थ करके तुमसे मिले बिना ही लौट जाना मेरे लिये उचित न होगा। भीरु! यदि मैं इसी तरह लौटूँगा तो जगत्‌में मेरा उपहास होगा। शुभे! सम्पूर्ण देवताओंकी दृष्टिमें भी मुझे निन्दनीय बनना पड़ेगा ।। २६-२७ ।।

सा त्वं मया समागच्छ लप्स्यसे मादृशं सुतम् ।
विशिष्टा सर्वलोकेषु भविष्यसि न संशयः ।। २८ ।।

अतः तुम मेरे साथ समागम करो। तुम मेरे ही समान पुत्र पाओगी और समस्त संसारमें (अन्य स्त्रियोंसे) विशिष्ट समझी जाओगी; इसमें संशय नहीं है ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्याह्वाने षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३०६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्यका आवाहनविषयक तीन सौ छठाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३०६ ।।

---

* इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें सूर्यदेवने उस कारणका स्पष्टीकरण किया है।

सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सूर्यद्वारा कुन्तीके उदरमें गर्भस्थापन

वैशम्पायन उवाच

सा तु कन्या बहुविधं ब्रुवन्ती मधुरं वचः ।
अनुनेतुं सहस्रांशुं न शशाक मनस्विनी ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार राजकन्या मनस्विनी कुन्ती नाना प्रकारसे मधुर वचन कहकर अनुनय-विनय करनेपर भी भगवान् सूर्यको मनानेमें सफल न हो सकी ।। १ ।।

न शशाक यदा बाला प्रत्याख्यातुं तमोनुदम् ।
भीता शापात् ततो राजन् दध्यौ दीर्घमथान्तरम् ।। २ ।।

राजन्! जब वह बाला अन्धकारनाशक भगवान् सूर्यदेवको टाल न सकी, तब शापसे भयभीत हो दीर्घकालतक मन-ही-मन कुछ सोचने लगी ।। २ ।।

अनागसः पितुः शापो ब्राह्मणस्य तथैव च ।
मन्निमित्तः कथं न स्यात् क्रुद्धादस्माद् विभावसोः ।। ३ ।।

उसने सोचा कि 'क्या उपाय करूँ? जिससे मेरे कारण मेरे निरपराध पिता तथा निर्दोष ब्राह्मणको क्रोधमें भरे हुए इन सूर्यदेवसे शाप न प्राप्त हो ।। ३ ।।

बालेनापि सता मोहाद् भृशं पापकृतान्यपि ।
नाभ्यासादयितव्यानि तेजांसि च तपांसि च ।। ४ ।।

'सज्जन बालकको भी चाहिये कि वह अत्यन्त मोहके कारण पापशून्य, तेजस्वी तथा तपस्वी पुरुषोंके अत्यन्त निकट न जाय ।। ४ ।।

साहमद्य भृशं भीता गृहीता च करे भृशम् ।
कथं त्वकार्यं कुर्यां वै प्रदानं ह्यात्मनः स्वयम् ।। ५ ।।

'परंतु मैं तो आज अत्यन्त भयभीत हो भगवान् सूर्यदेवके हाथमें पड़ गयी हूँ, तो भी स्वयं अपने शरीरको देने-जैसा न करनेयोग्य नीच कर्म कैसे करूँ?' ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

सा वै शापपरित्रस्ता बहु चिन्तयती हृदा ।
मोहेनाभिपरीताङ्गी स्मयमाना पुनः पुनः ।। ६ ।।
तं देवमब्रवीद् भीता बन्धूनां राजसत्तम ।
व्रीडाविह्वलया वाचा शापत्रस्ता विशाम्पते ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! कुन्ती शापसे अत्यन्त डरकर मन-ही-मन तरह-तरहकी बातें सोच रही थी। उसके सारे अंग मोहसे व्याप्त हो रहे थे। वह बार-बार आश्चर्यचकित हो रही थी। एक ओर तो वह शापसे आतंकित थी, दूसरी ओर उसे भाई-बन्धुओंका भय लगा हुआ था। भूपाल! उस दशामें वह लज्जाके कारण विशृंखल वाणीद्वारा सूर्यदेवसे इस प्रकार बोली ।।

कुन्त्युवाच

पिता मे ध्रियते देव माता चान्ये च बान्धवाः ।
न तेषु ध्रियमाणेषु विधिलोपो भवेदयम् ।। ८ ।।

कुन्तीने कहा—देव! मेरे पिता, माता तथा अन्य बान्धव जीवित हैं। उन सबके जीते-जी स्वयं आत्मदान करनेपर कहीं शास्त्रीय विधिका लोप न हो जाय? ।। ८ ।।

त्वया तु संगमो देव यदि स्याद् विधिवर्जितः ।
मन्निमित्तं कुलस्यास्य लोके कीर्तिर्नशेत् ततः ।। ९ ।।

भगवन्! यदि आपके साथ मेरा वेदोक्त विधिके विपरीत समागम हो तो मेरे ही कारण जगत्‌में इस कुलकी कीर्ति नष्ट हो जायगी ।। ९ ।।

अथवा धर्ममेतं त्वं मन्यसे तपतां वर ।
ऋते प्रदानाद् बन्धुभ्यस्तव कामं करोम्यहम् ।। १० ।।

अथवा तपनेवालोंमें श्रेष्ठ दिवाकर! यदि बन्धुजनोंके दिये बिना ही मेरे साथ अपने समागमको आप धर्मयुक्त समझते हों तो मैं आपकी इच्छा पूर्ण कर सकती हूँ ।। १० ।।

आत्मप्रदानं दुधर्ष तव कृत्वा सती त्वहम् ।
त्वयि धर्मो यशश्चैव कीर्तिरायुश्च देहिनाम् ।। ११ ।।

दुर्धर्ष देव! क्या मैं आपको आत्मदान करके भी सती-साध्वी रह सकती हूँ? आपमें ही देहधारियोंके धर्म, यश, कीर्ति तथा आयु प्रतिष्ठित हैं ।। ११ ।।

सूर्य उवाच

न ते पिता न ते माता गुरवो वा शुचिस्मिते ।
प्रभवन्ति वरारोहे भद्रं ते शृणु मे वचः ।। १२ ।।

भगवान् सूर्यने कहा—शुचिस्मिते! वरारोहे! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी बात सुनो। तुम्हारे पिता, माता अथवा अन्य गुरुजन तुम्हें (इस कामसे रोकनेमें) समर्थ नहीं हैं ।। १२ ।।

सर्वान् कामयते यस्मात् कमेर्धातोश्च भाविनि ।
तस्मात् कन्येह सुश्रोणि स्वतन्त्रा वरवर्णिनि ।। १३ ।।

सुन्दर भाववाली कुन्ती! ‘कम्’ धातुसे कन्या शब्दकी सिद्धि होती है। सुन्दरी! वह (स्वयंवरमें आये हुए) सब वरोंमेंसे किसीको भी स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी कामनाका विषय बना सकती है; इसीलिये इस जगत्‌में उसे कन्या कहा गया है ।। १३ ।।

नाधर्मश्चरितः कश्चित् त्वया भवति भाविनि ।
अधर्मं कुत एवाहं वरेयं लोककाम्यया ।। १४ ।।

कुन्ती! मेरे साथ समागम करनेसे तुम्हारे द्वारा कोई अधर्म नहीं बन रहा है। भला! मैं लौकिक कामवासनाके वशीभूत होकर अधर्मका वरण कैसे कर सकता हूँ? ।। १४ ।।

अनावृताः स्त्रियः सर्वा नराश्च वरवर्णिनि ।
स्वभाव एष लोकानां विकारोऽन्य इति स्मृतः ।। १५ ।।

वरवर्णिनि! मेरे लिये सभी स्त्रियाँ और पुरुष आवरणरहित हैं; क्योंकि मैं सबका साक्षी हूँ। जो अन्य सब विकार हैं, यह तो प्राकृत मनुष्योंका स्वभाव माना गया है ।। १५ ।।

सा मया सह संगम्य पुनः कन्या भविष्यसि ।
पुत्रश्च ते महाबाहुर्भविष्यति महायशाः ।। १६ ।।

तुम मेरे साथ समागम करके पुनः कन्या ही बनी रहोगी और तुम्हें महाबाहु एवं महायशस्वी पुत्र प्राप्त होगा ।। १६ ।।

कुन्त्युवाच

यदि पुत्रो मम भवेत् त्वत्तः सर्वतमोनुद ।
कुण्डली कवची शूरो महाबाहुर्महाबलः ।। १७ ।।

कुन्ती बोली—समस्त अन्धकारको दूर करनेवाले सूर्यदेव! यदि आपसे मुझे पुत्र प्राप्त हो तो वह महाबाहु, महाबली तथा कुण्डल और कवचसे विभूषित शूरवीर हो ।। १७ ।।

सूर्य उवाच

भविष्यति महाबाहुः कुण्डली दिव्यवर्मभृत् ।
उभयं चामृतमयं तस्य भद्रे भविष्यति ।। १८ ।।

सूर्यने कहा—भद्रे! तुम्हारा पुत्र महाबाहु, कुण्डल-धारी तथा दिव्य कवच धारण करनेवाला होगा। उसके कुण्डल और कवच दोनों अमृतमय होंगे ।। १८ ।।

कुन्त्युवाच

यद्येतदमृतादस्ति कुण्डले वर्म चोत्तमम् ।
मम पुत्रस्य यं वै त्वं मत्त उत्पादयिष्यसि ।। १९ ।।
अस्तु मे सङ्गमो देव यथोक्तं भगवंस्त्वया ।
त्वद्वीर्यरूपसत्त्वौजा धर्मयुक्तो भवेत् स च ।। २० ।।

कुन्ती बोली—प्रभो! आप मेरे गर्भसे जिसको जन्म देंगे, उस मेरे पुत्रके कुण्डल और कवच यदि अमृतसे उत्पन्न हुए होंगे; तो भगवन्! आपने जैसा कहा है, उसी रूपमें मेरा आपके साथ समागम हो। आपका वह पुत्र आपके ही समान वीर्य, रूप, धैर्य, ओज तथा धर्मसे युक्त होना चाहिये ।। १९-२० ।।

सूर्य उवाच

अदित्या कुण्डले राज्ञि दत्ते मे मत्तकाशिनि ।
तेऽस्य दास्यामि वै भीरु वर्म चैवेदमुत्तमम् ।। २१ ।।

सूर्यदेवने कहा—यौवनके मदसे सुशोभित होनेवाली भीरु राजकुमारी! माता अदितिने मुझे जो कुण्डल दिये हैं, उन्हें मैं तुम्हारे इस पुत्रको दे दूँगा। साथ ही यह उत्तम कवच भी उसे अर्पित करूँगा ।। २१ ।।

कुन्त्युवाच

परमं भगवन्नेवं संगमिष्ये त्वया सह ।
यदि पुत्रो भवेदेवं यथा वदसि गोपते ।। २२ ।।

कुन्ती बोली—भगवन्! गोपते! जैसा आप कहते हैं, वैसा ही पुत्र यदि मुझे प्राप्त हो तो मैं आपके साथ उत्तम रीतिसे समागम करूँगी ।। २२ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्त्वा तु तां कुन्तीमाविवेश विहङ्गमः ।
स्वर्भानुशत्रुर्योगात्मा नाभ्यां पस्पर्श चैव ताम् ।। २३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब ‘बहुत अच्छा’ कहकर आकाशचारी राहुशत्रु भगवान् सूर्यने योगरूपसे कुन्तीके शरीरमें प्रवेश किया और उसकी नाभिको छू दिया ।। २३ ।।

ततः सा विह्वलेवासीत् कन्या सूर्यस्य तेजसा ।
पपात चाथ सा देवी शयने मूढचेतना ।। २४ ।।

तब वह राजकन्या सूर्यके तेजसे विह्वल और अचेत-सी होकर शय्यापर गिर पड़ी ।। २४ ।।

सूर्य उवाच

साधयिष्यामि सुश्रोणि पुत्रं वै जनयिष्यसि ।
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं कन्या चैव भविष्यसि ।। २५ ।।

सूर्यने कहा—सुन्दरी! मैं ऐसी चेष्टा करूँगा, जिससे तुम समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पुत्रको जन्म दोगी और कन्या ही बनी रहोगी ।। २५ ।।

ततः सा व्रीडिता बाला तदा सूर्यमथाब्रवीत् ।
एवमस्त्विति राजेन्द्र प्रस्थितं भूरिवर्चसम् ।। २६ ।।

राजेन्द्र! तब संगमके लिये उद्यत हुए महातेजस्वी सूर्यदेवकी ओर देखकर लज्जित हुई उस राजकन्याने उनसे कहा—‘प्रभो! ऐसा ही हो’ ।। २६ ।।

वैशम्पायन उवाच

इति स्मोक्त्वा कुन्तिराजात्मजा सा
विवस्वन्तं याचमाना सलज्जा ।
तस्मिन् पुण्ये शयनीये पपात
मोहाविष्टा भज्यमाना लतेव ।। २७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर कुन्तिनरेशकी कन्या पृथा भगवान् सूर्यसे पुत्रके लिये प्रार्थना करती हुई अत्यन्त लज्जा और मोहके वशीभूत होकर कटी हुई लताकी भाँति उस पवित्र शय्यापर गिर पड़ी ।। २७ ।।

तिग्मांशुस्तां तेजसा मोहयित्वा
योगेनाविश्यात्मसंस्थां चकार ।
न चैवैनां दूषयामास भानुः
संज्ञां लेभे भूय एवाथ बाला ।। २८ ।।

तत्पश्चात् सूर्यदेवने उसे अपने तेजसे मोहित कर दिया और योगशक्तिके द्वारा उसके भीतर प्रवेश करके अपना तेजोमय वीर्य स्थापित कर दिया। उन्होंने कुन्तीको दूषित नहीं किया—उसका कन्याभाव अछूता ही रहा। तदनन्तर वह राजकन्या फिर सचेत हो गयी ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि सूर्यकुन्तीसमागमे सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३०७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें सूर्यकुन्ती-समागमविषयक तीन सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३०७ ।।

अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

कर्णका जन्म, कुन्तीका उसे पिटारीमें रखकर जलमें बहा देना और विलाप करना

वैशम्पायन उवाच

ततो गर्भः समभवत् पृथायाः पृथिवीपते ।
शुक्ले दशोत्तरे पक्षे तारापतिरिवाम्बरे ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार आकाशमें जैसे चन्द्रमाका उदय होता है, उसी प्रकार ग्यारहवें मासके* शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको कुन्तीके उदरमें भगवान् सूर्यके द्वारा गर्भ स्थापित हुआ ।। १ ।।

सा बान्धवभयाद् बाला गर्भं तं विनिगूहती ।
धारयामास सुश्रोणी न चैनां बुबुधे जनः ।। २ ।।

सुन्दर कटिप्रदेशवाली कुन्ती भाई-बन्धुओंके भयसे उस गर्भको छिपाती हुई धारण करने लगी। अतः कोई भी मनुष्य नहीं जान सका कि यह गर्भवती है ।। २ ।।

न हि तां वेद नार्यन्या काचिद् धात्रेयिकामृते ।
कन्यापुरगतां बालां निपुणां परिरक्षणे ।। ३ ।।

एक धायके सिवा दूसरी कोई स्त्री भी इसका पता न पा सकी। कुन्ती सदा कन्याओंके अन्तःपुरमें रहती थी एवं अपने रहस्यको छिपानेमें वह अत्यन्त निपुण थी ।। ३ ।।

ततः कालेन सा गर्भं सुषुवे वरवर्णिनी ।
कन्यैव तस्य देवस्य प्रसादादमरप्रभम् ।। ४ ।।

तदनन्तर सुन्दरी पृथाने यथासमय भगवान् सूर्यके कृपाप्रसादसे स्वयं कन्या ही बनी रहकर देवताओंके समान तेजस्वी एक पुत्रको जन्म दिया ।। ४ ।।

तथैवाबद्धकवचं कनकोज्ज्वलकुण्डलम् ।
हर्यक्षं वृषभस्कन्धं यथास्य पितरं तथा ।। ५ ।।

उसने अपने पिताके ही समान शरीरपर कवच बाँध रखा था और उसके कानोंमें सोनेके बने हुए दो दिव्य कुण्डल जगमगा रहे थे। उस बालककी आँखें सिंहके समान और कंधे वृषभ-जैसे थे ।। ५ ।।

जातमात्रं च तं गर्भं धात्र्या सम्मन्त्र्य भाविनी ।
मञ्जूषायां समाधाय स्वास्तीर्णायां समन्ततः ।। ६ ।।
मधूच्छिष्टस्थितायां सा सुखायां रुदती तथा ।
श्लक्ष्णायां सुपिधानायामश्वनद्यामवासृजत् ।। ७ ।।

उस बालकके पैदा होते ही भामिनी कुन्तीने धायसे सलाह लेकर एक पिटारी मँगवायी और उसमें सब ओर सुन्दर मुलायम बिछौने बिछा दिये। इसके बाद उस पिटारीमें चारों ओर मोम चुपड़ दिया, जिससे उसके भीतर जल न प्रवेश कर सके। जब वह सब तरहसे चिकनी और सुखद हो गयी, तब उसके भीतर उस बालकको सुला दिया और उसका सुन्दर ढक्कन बंद कर दिया तथा रोते-रोते उस पिटारीको अश्वनदीमें छोड़ दिया* ।। ६-७ ।।

जानती चाप्यकर्तव्यं कन्याया गर्भधारणम् ।

पुत्रस्नेहेन सा राजन् करुणं पर्यदेवयत् ।। ८ ।।

राजन्! यद्यपि वह यह जानती थी कि किसी कन्याके लिये गर्भधारण करना सर्वथा निषिद्ध और अनुचित है, तथापि पुत्रस्नेह उमड़ आनेसे कुन्ती वहाँ करुणाजनक विलाप करने लगी ।। ८ ।।

समुत्सृजन्ती मञ्जूषामश्वनद्यां तदा जले ।

उवाच रुदती कुन्ती यानि वाक्यानि तच्छृणु ।। ९ ।।

उस समय अश्वनदीके जलमें उस पिटारीको छोड़ते समय रोती हुई कुन्तीने जो बातें कहीं, उन्हें बताता हूँ; सुनो ।। ९ ।।

स्वस्ति ते चान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च पुत्रक ।

दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यस्तथा तोयचराश्च ये ।। १० ।।

वह बोली—'मेरे बच्चे! जलचर, थलचर, आकाशचारी तथा दिव्य प्राणी तेरा मंगल करें ।। १० ।।

शिवास्ते सन्तु पन्थानो मा च ते परिपन्थिनः ।

आगताश्च तथा पुत्र भवन्त्वद्रोहचेतसः ।। ११ ।।

'तेरा मार्ग मंगलमय हो। बेटा! तेरे पास शत्रु न आयें। जो आ जायँ, उनके मनमें तेरे प्रति द्रोहकी भावना न रहे ।। ११ ।।

पातु त्वां वरुणो राजा सलिले सलिलेश्वरः ।

अन्तरिक्षेऽन्तरिक्षस्थः पवनः सर्वगस्तथा ।। १२ ।।

'जलमें उसके स्वामी राजा वरुण तेरी रक्षा करें। अन्तरिक्षमें वहाँ रहनेवाले सर्वगामी वायुदेव तेरी रक्षा करें ।। १२ ।।

पिता त्वां पातु सर्वत्र तपनस्तपतां वरः ।

येन दत्तोऽसि मे पुत्र दिव्येन विधिना किल ।। १३ ।।

'पुत्र! जिन्होंने दिव्य रीतिसे तुझे मेरे गर्भमें स्थापित किया है वे तपनेवालोंमें श्रेष्ठ तेरे पिता भगवान् सूर्य सर्वत्र तेरा पालन करें ।। १३ ।।

आदित्या वसवो रुद्राः साध्या विश्वे च देवताः ।

मरुतश्च सहेन्द्रेण दिशश्च सदिगीश्वराः ।। १४ ।।

रक्षन्तु त्वां सुराः सर्वे समेषु विषमेषु च ।

वेत्स्यामि त्वां विदेशेऽपि कवचेनाभिसूचितम् ।। १५ ।।

‘आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, विश्वेदेव, इन्द्रसहित मरुद्‌गण, दिक्पालोंसहित दिशाएँ तथा समस्त देवता सभी सम-विषम स्थानोंमें तेरी रक्षा करें। यदि विदेशमें भी तू जीवित रहेगा तो मैं इन कवच-कुण्डल आदि चिह्नोंसे उपलक्षित होनेपर तुझे पहचान लूँगी ।। १४-१५ ।।

धन्यस्ते पुत्र जनको देवो भानुर्विभावसुः ।
यस्त्वां द्रक्ष्यति दिव्येन चक्षुषा वाहिनीगतम् ।। १६ ।।

‘बेटा! तेरे पिता भगवान् भुवनभास्कर धन्य हैं, जो अपनी दिव्य दृष्टिसे नदीकी धारामें स्थित हुए तुझको देखेंगे ।। १६ ।।

धन्या सा प्रमदा या त्वां पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ।
यस्यास्त्वं तृषितः पुत्र स्तनं पास्यसि देवज ।। १७ ।।

‘देवपुत्र! वह रमणी धन्य है जो तुझे अपना पुत्र बनाकर पालेगी और तू भूख-प्यास लगनेपर जिसके स्तनोंका दूध पियेगा ।। १७ ।।

को नु स्वप्नस्तया दृष्टो या त्वामादित्यवर्चसम् ।
दिव्यवर्मसमायुक्तं दिव्यकुण्डलभूषितम् ।। १८ ।।
पद्मायतविशालाक्षं पद्मताम्रदलोज्ज्वलम् ।
सुललाटं सुकेशान्तं पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ।। १९ ।।

‘उस भाग्यशालिनी नारीने कौन-सा ऐसा शुभ स्वप्न देखा होगा, जो सूर्यके समान तेजस्वी, दिव्य कवचसे संयुक्त, दिव्य कुण्डलभूषित, कमलदलके समान विशाल नेत्रवाले, लाल कमलदलके सदृश गौर कान्तिवाले, सुन्दर ललाट और मनोहर केशसमूहसे विभूषित तुझ-जैसे दिव्य बालकको अपना पुत्र बनायेगी’ ।। १८-१९ ।।

धन्या द्रक्ष्यन्ति पुत्र त्वां भूमौ संसर्पमाणकम् ।
अव्यक्तकलवाक्यानि वदन्तं रेणुगुण्ठितम् ।। २० ।।

‘वत्स! जब तू धरतीपर पेटके बल सरकता फिरेगा और समझमें न आनेवाली मधुर तोतली बोली बोलेगा, उस समय तेरे धूलिधूसरित अंगोंको जो लोग देखेंगे, वे धन्य हैं ।। २० ।।

धन्या द्रक्ष्यन्ति पुत्र त्वां पुनर्यौवनगोचरम् ।
हिमवद्वनसम्भूतं सिंहं केसरिणं यथा ।। २१ ।।

‘पुत्र! हिमालयके जंगलमें उत्पन्न हुए केसरी सिंहके समान तुझे जवानीमें जो लोग देखेंगे, वे धन्य हैं ।। २१ ।।

एवं बहुविधं राजन् विलप्य करुणं पृथा ।
अवासृजत मञ्जूषामश्वनद्यास्तदा जले ।। २२ ।।

राजन्! इस तरह बहुत-सी बातें कहकर करुण-विलाप करती हुई कुन्तीने उस समय अश्वनदीके जलमें वह पिटारी छोड़ दी ।। २२ ।।

रुदती पुत्रशोकार्ता निशीथे कमलेक्षणा ।
धात्र्या सह पृथा राजन् पुत्रदर्शनलालसा ।। २३ ।।

जनमेजय! आधी रातके समय कमलनयनी कुन्ती पुत्रशोकसे आतुर हो उसके दर्शनकी लालसासे धात्रीके साथ नदीके तटपर देरतक रोती रही ।। २३ ।।

विसर्जयित्वा मञ्जूषां सम्बोधनभयात् पितुः ।
विवेश राजभवनं पुनः शोकातुरा ततः ।। २४ ।।

पेटीको पानीमें बहाकर, कहीं पिताजी जग न जायँ, इस भयसे वह शोकसे आतुर हो पुनः राजभवनमें चली गयी ।। २४ ।।

मञ्जूषा त्वश्वनद्याः सा ययौ चर्मण्वतीं नदीम् ।
चर्मण्वत्याश्च यमुनां ततो गङ्गां जगाम ह ।। २५ ।।

वह पिटारी अश्वनदीसे चर्मण्वती (चम्बल) नदीमें गयी। चर्मण्वतीसे यमुनामें और वहाँसे गंगामें जा पहुँची ।। २५ ।।

गङ्गायाः सूतविषयं चम्पामनुययौ पुरीम् ।
स मञ्जूषागतो गर्भस्तरङ्गैरुह्यमानकः ।। २६ ।।

पिटारीमें सोया हुआ वह बालक गंगाकी लहरोंसे बहाया जाता हुआ चम्पापुरीके पास सूतराज्यमें जा पहुँचा ।।

अमृतादुत्थितं दिव्यं तनुवर्म सकुण्डलम् ।
धारयामास तं गर्भं दैवं च विधिनिर्मितम् ।। २७ ।।

उसके शरीरका दिव्य कवच और कानोंके कुण्डल—ये अमृतसे प्रकट हुए थे। वे ही विधाताद्वारा रचित उस देवकुमारको जीवित रख रहे थे ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि कर्णपरित्यागे अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३०८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें कर्णपरित्यागविषयक तीन सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३०८ ।।

---

* यहाँ मूल पाठमें मासका निर्देश करनेके लिये **'दशोत्तरे'** यह पद आया है, जिसका अर्थ है ग्यारहवें महीनेमें। यह ग्यारहवाँ महीना कौन-सा है? इस विषयमें दो प्रकारके मत उपलब्ध होते हैं। एक मतके अनुसार यहाँ 'माघ' मास ग्रहण किया जाना चाहिये; कारण कि वर्षका आरम्भ चैत्रसे होता है, अतः इस क्रमसे गणना करनेपर 'माघ' ही ग्यारहवाँ मास निश्चित होता है। दूसरे मतवालोंका कहना यह है कि पहले मार्गशीर्ष माससे वर्षकी गणना होती थी। इसीलिये वह 'अग्रहायण' (वर्षका प्रथम मास) कहा जाता है। **'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'** इस वचनसे भी यही सूचित होता है। इस क्रमसे गणना करनेपर 'आश्विन मास' ग्यारहवाँ सिद्ध होता है।

* इस प्रकार पिटारीमें बंद करके बहा देनेपर भी वह बालक इसलिये नहीं मरा कि वह अमृतसे उत्पन्न कवच और कुण्डल धारण किये हुए था। देखिये इसी अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक।

नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अधिरथ सूत तथा उसकी पत्नी राधाको बालक कर्णकी प्राप्ति, राधाके द्वारा उसका पालन, हस्तिनापुरमें उसकी शिक्षा-दीक्षा तथा कर्णके पास इन्द्रका आगमन

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु धृतराष्ट्रस्य वै सखा ।
सूतोऽधिरथ इत्येव सदारो जाह्नवीं ययौ ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी समय राजा धृतराष्ट्रका मित्र अधिरथ सूत अपनी स्त्रीके साथ गंगाजीके तटपर आया ।। १ ।।

तस्य भार्याभवद् राजन् रूपेणासदृशी भुवि ।
राधा नाम महाभागा न सा पुत्रमविन्दत ।। २ ।।

राजन्! उसकी परम सौभाग्यवती पत्नी इस भूतलपर अनुपम सुन्दरी थी। उसका नाम था राधा। उसके कोई पुत्र नहीं हुआ था ।। २ ।।

अपत्यार्थे परं यत्नमकरोच्च विशेषतः ।
सा ददर्शाथ मञ्जूषामुह्यमानां यदृच्छया ।। ३ ।।

राधा पुत्रप्राप्तिके लिये विशेष यत्न करती रहती थी। दैवयोगसे उसीने गंगाजीके जलमें बहती हुई उस पिटारीको देखा ।। ३ ।।

दत्तरक्षाप्रतिसरामन्वालम्भनशोभनाम् ।
ऊर्मीतरङ्गैर्जाह्नव्याः समानीतामुपह्वरम् ।। ४ ।।

पिटारीके ऊपर उसकी रक्षाके लिये लता लपेट दी गयी थी और सिन्दूरका लेप लगा होनेसे उसकी बड़ी शोभा हो रही थी। गंगाकी तरंगोंके थपेड़े खाकर वह पिटारी तटके समीप आ लगी ।। ४ ।।

सा तु कौतूहलात् प्राप्तां ग्राहयामास भाविनी ।
ततो निवेदयामास सूतस्याधिरथस्य वै ।। ५ ।।

भामिनी राधाने कौतूहलवश उस पिटारीको सेवकोंसे पकड़वा मँगाया और अधिरथ सूतको इसकी सूचना दी ।।

स तामुद्धृत्य मञ्जूषामुत्सार्य जलमन्तिकात् ।
यन्त्रैरुद्घाटयामास सोऽपश्यत् तत्र बालकम् ।। ६ ।।

अधिरथने उस पिटारीको पानीसे बाहर निकालकर जब यन्त्रों (औजारों) द्वारा उसे खोला, तब उसके भीतर एक बालकको देखा ।। ६ ।।

तरुणादित्यसंकाशं हेमवर्मधरं तथा ।
मृष्टकुण्डलयुक्तेन वदनेन विराजता ।। ७ ।।

वह बालक प्रातःकालीन सूर्यके समान तेजस्वी था। उसने अपने अंगोंमें स्वर्णमय कवच धारण कर रखा था। उसका मुख कानोंमें पड़े हुए दो उज्ज्वल कुण्डलोंसे प्रकाशित हो रहा था ।। ७ ।।

स सूतो भार्यया सार्धं विम्मयोत्फुल्ललोचनः ।
अङ्कमारोप्य तं बालं भार्यां वचनमब्रवीत् ।। ८ ।।

उसे देखकर पत्नीसहित सूतके नेत्रकमल आश्चर्य एवं प्रसन्नतासे खिल उठे। उसने बालकको गोदमें लेकर अपनी पत्नीसे कहा— ।। ८ ।।

इदमत्यद्‌भुतं भीरु यतो जातोऽस्मि भाविनि ।
दृष्टवान् देवगर्भोऽयं मन्येऽस्माकमुपागतः ।। ९ ।।

‘भीरु! भाविनि! जबसे मैं पैदा हुआ हूँ, तबसे आज ही मैंने ऐसा अद्‌भुत बालक देखा है। मैं समझता हूँ, यह कोई देवबालक ही हमें भाग्यवश प्राप्त हुआ है ।। ९ ।।

अनपत्यस्य पुत्रोऽयं देवैर्दत्तो ध्रुवं मम ।
इत्युक्त्वा तं ददौ पुत्रं राधायै स महीपते ।। १० ।।

‘मुझ पुत्रहीनको अवश्य ही देवताओंने दया करके यह पुत्र प्रदान किया है।’ राजन्! ऐसा कहकर अधिरथने वह पुत्र राधाको दे दिया ।। १० ।।

प्रतिजग्राह तं राधा विधिवद् दिव्यरूपिणम् ।
पुत्रं कमलगर्भाभं देवगर्भं श्रिया वृतम् ।। ११ ।।
(स्तन्यं समास्रवच्चास्या दैवादित्यथ निश्चयः ।)

राधाने भी कमलके भीतरी भागके समान कान्तिमान्, शोभाशाली तथा दिव्यरूपधारी उस देवबालकको विधि-पूर्वक ग्रहण किया। निश्चय ही दैवकी प्रेरणासे राधाके स्तनोंसे दूध भी झरने लगा ।। ११ ।।

पुपोष चैनं विधिवद् ववृधे स च वीर्यवान् ।
ततः प्रभृति चाप्यन्ये प्राभवन्नौरसाः सुताः ।। १२ ।।

उसने विधिपूर्वक उस बालकका पालन-पोषण किया और वह धीरे-धीरे सबल होकर दिनोदिन बढ़ने लगा। तभीसे उस सूत-दम्पतिके और भी अनेक औरस पुत्र उत्पन्न हुए ।। १२ ।।

वसुवर्मधरं दृष्ट्वा तं बालं हेमकुण्डलम् ।
नामास्य वसुषेणेति ततश्चक्रुर्द्विजातयः ।। १३ ।।

तदनन्तर वसु (सुवर्ण) मय कवच धारण किये तथा सोनेके ही कुण्डल पहने हुए उस बालकको देखकर ब्राह्मणोंने उसका नाम ‘वसुषेण’ रखा ।। १३ ।।

एवं स सूतपुत्रत्वं जगामामितविक्रमः ।

वसुषेण इति ख्यातो वृष इत्येव च प्रभुः ।। १४ ।।

इस प्रकार वह अमितपराक्रमी एवं सामर्थ्यशाली बालक सूतपुत्र बन गया। लोकमें ‘वसुषेण’ और ‘वृष’ इन दो नामोंसे उसकी प्रसिद्धि हुई ।। १४ ।।

सूतस्य ववृधेऽङ्गेषु श्रेष्ठः पुत्रः स वीर्यवान् ।
चारेण विदितश्चासीत् पृथया दिव्यवर्मभृत् ।। १५ ।।

अधिरथ सूतका वह पराक्रमी श्रेष्ठ पुत्र अंगदेशमें पालित होकर दिनोदिन बढ़ने लगा। कुन्तीने गुप्तचर भेजकर मालूम कर लिया था कि मेरा दिव्य कवचधारी पुत्र अधिरथके यहाँ पल रहा है ।। १५ ।।

सूतस्त्वधिरथः पुत्रं विवृद्धं समयेन तम् ।
दृष्ट्वा प्रस्थापयामास पुरं वारणसाह्वयम् ।। १६ ।।

अधिरथ सूतने अपने पुत्रको बड़ा हुआ देख उसे यथासमय हस्तिनापुर भेज दिया ।। १६ ।।

तत्रोपसदनं चक्रे द्रोणस्येष्वस्त्रकर्मणि ।
सख्यं दुर्योधनेनैवमगमत् स च वीर्यवान् ।। १७ ।।

वहाँ उसने धनुर्वेदकी शिक्षा लेनेके लिये आचार्य द्रोणकी शिष्यता स्वीकार की। इस प्रकार पराक्रमी कर्णकी दुर्योधनके साथ मित्रता हो गयी ।। १७ ।।

द्रोणात् कृपाच्च रामाच्च सोऽस्त्रग्रामं चतुर्विधम् ।
लब्धवा लोकेऽभवत् ख्यातः परमेष्वासतां गतः ।। १८ ।।

वह द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा परशुरामसे चारों प्रकारकी अस्त्रविद्या सीखकर संसारमें एक महान् धनुर्धरके रूपमें विख्यात हुआ ।। १८ ।।

संधाय धार्तराष्ट्रेण पार्थानां विप्रिये रतः ।
योद्धुमाशंसते नित्यं फाल्गुनेन महात्मना ।। १९ ।।

धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे मिलकर वह कुन्ती-कुमारोंका अनिष्ट करनेमें लगा रहता और सदा महामना अर्जुनसे युद्ध करनेकी इच्छा व्यक्त किया करता था ।। १९ ।।

सदा हि तस्य स्पर्धाऽऽसीदर्जुनेन विशाम्पते ।
अर्जुनस्य च कर्णेन यतो दृष्टो बभूव सः ।। २० ।।

राजन्! अर्जुन और कर्णने जबसे एक-दूसरेको देखा था, तभीसे कर्ण अर्जुनके साथ स्पर्धा रखता था और अर्जुन भी कर्णके साथ बड़ी स्पर्धा रखते थे ।। २० ।।

एतद् गुह्यं महाराज सूर्यस्यासीन्न संशयः ।
यः सूर्यसम्भवः कर्णः कुन्त्यां सूतकुले तथा ।। २१ ।।

महाराज! निःसंदेह सूर्यका यही वह गुप्त रहस्य है कि कुन्तीके गर्भसे सूर्यद्वारा उत्पन्न कर्ण सूतकुलमें पला था ।। २१ ।।

तं तु कुण्डलिनं दृष्ट्वा वर्मणा च समन्वितम् ।

अवध्यं समरे मत्वा पर्यतप्यद् युधिष्ठिरः ।। २२ ।।

उसे दिव्य कुण्डल और कवचसे संयुक्त देख युद्धमें अवध्य जानकर राजा युधिष्ठिर सदा संतप्त होते रहते थे ।। २२ ।।

यदा च कर्णो राजेन्द्र भानुमन्तं दिवाकरम् ।
स्तौति मध्यन्दिने प्राप्ते प्राञ्जलिः सलिले स्थितः ।। २३ ।।
तत्रैनमुपतिष्ठन्ति ब्राह्मणा धनहेतुना ।
नादेयं तस्य तत्काले किञ्चिदस्ति द्विजातिषु ।। २४ ।।

राजेन्द्र! जब कर्ण दोपहरके समय जलमें खड़ा हो हाथ जोड़कर अंशुमाली भगवान् दिवाकरकी स्तुति करता था, उस समय बहुत-से ब्राह्मण धनके लिये उसके पास आते थे। उस अवसरपर उसके पास कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जो ब्राह्मणोंके लिये अदेय हो ।।

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षां देहीत्युपस्थितः ।
स्वागतं चेति राधेयस्तमथ प्रत्यभाषत ।। २५ ।।

इन्द्र भी उसी समय ब्राह्मण बनकर वहाँ उपस्थित हुए और बोले—‘मुझे भिक्षा दो।’ यह सुनकर राधानन्दन कर्णने उत्तर दिया—‘विप्रवर! आपका स्वागत है’ ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि राधाकर्णप्राप्तौ नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३०९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें राधाको कर्णकी प्राप्तिविषयक तीन सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३०९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

इन्द्रका कर्णको अमोघ शक्ति देकर बदलेमें उसके कवच-कुण्डल लेना

वैशम्पायन उवाच

देवराजमनुप्राप्तं ब्राह्मणच्छद्मना वृतम् ।
दृष्ट्वा स्वागतमित्याह न बुबोधास्य मानसम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवराजको ब्राह्मणके छद्मवेषमें छिपकर आये देख कर्णने कहा—‘ब्रह्मन्! आपका स्वागत है।’ परंतु कर्णको उस समय इन्द्रके मनोभावका कुछ भी पता न चला ।। १ ।।

हिरण्यकण्ठीः प्रमदा ग्रामान् वा बहुगोकुलान् ।
किं ददानीति तं विप्रमुवाचाधिरथिस्ततः ।। २ ।।

तब अधिरथकुमारने उन ब्राह्मणरूपधारी इन्द्रसे कहा—‘विप्रवर! मैं आपको क्या दूँ? सोनेके कण्ठोंसे विभूषित युवती स्त्रियाँ अथवा बहुसंख्यक गोधनोंसे भरे हुए अनेक ग्राम?’ ।। २ ।।

ब्राह्मण उवाच

हिरण्यकण्ठ्यः प्रमदा यच्चान्यत् प्रीतिवर्धनम् ।
नाहं दत्तमिहेच्छामि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम् ।। ३ ।।

ब्राह्मण बोले—वीरवर! तुम्हारी दी हुई सोनेके कंठोंसे विभूषित युवती स्त्रियाँ तथा दूसरी आनन्दवर्धक वस्तुएँ मैं नहीं लेना चाहता। इन वस्तुओंको उन याचकोंको दे दो, जो इनकी अभिलाषा लेकर आये हों ।। ३ ।।

यदेतत् सहजं वर्म कुण्डले च तवानघ ।
एतदुत्कृत्य मे देहि यदि सत्यव्रतो भवान् ।। ४ ।।

अनघ! यदि तुम सत्यव्रती हो, तो ये जो तुम्हारे शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए कवच और कुण्डल हैं, इन्हें काटकर मुझे दे दो ।। ४ ।।

एतदिच्छाम्यहं क्षिप्रं त्वया दत्तं परंतप ।
एष मे सर्वलाभानां लाभः परमको मतः ।। ५ ।।

परंतप! तुम्हारा दिया हुआ यही दान मैं शीघ्रतापूर्वक लेना चाहता हूँ। यही मेरे लिये सम्पूर्ण लाभोंमें सबसे बढ़कर लाभ है ।। ५ ।।

कर्ण उवाच

अवनिं प्रमदा गाश्च निवापं बहुवार्षिकम् ।

तत् ते विप्र प्रदास्यामि न तु वर्म सकुण्डलम् ।। ६ ।।

कर्णने कहा—ब्रह्मन्! यदि आप घर बनानेके लिये भूमि, गृहस्थी बसानेके लिये सुन्दरी तरुणी स्त्रियाँ, बहुत-सी गौएँ, खेत और बहुत वर्षोंतक चालू रहनेवाली जीवनवृत्ति लेना चाहें तो दे दूँगा; परंतु कवच और कुण्डल नहीं दे सकता ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्याच्यमानः स तु द्विजः ।
कर्णेन भरतश्रेष्ठ नान्यं वरमयाचत ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार बहुत-सी बातें कहकर कर्णके प्रार्थना करनेपर भी उन ब्राह्मणदेवने दूसरा कोई वर नहीं माँगा ।। ७ ।।

सान्त्वितश्च यथाशक्ति पूजितश्च यथाविधि ।
न चान्यं स द्विजश्रेष्ठः कामयामास वै वरम् ।। ८ ।।

कर्णने उन्हें यथाशक्ति बहुत समझाया एवं विधि-पूर्वक उनका पूजन किया। तथापि उन द्विजश्रेष्ठने और किसी वरको लेनेसे अनिच्छा प्रकट कर दी ।। ८ ।।

यदा नान्यं प्रवृणुते वरं वै द्विजसत्तमः ।
(विनास्य सहजं वर्म कुण्डले च विशाम्पते) ।
तदैनमब्रवीद् भूयो राधेयः प्रहसन्निव ।। ९ ।।

राजन्! जब उन द्विजश्रेष्ठने कर्णके सहज कवच और कुण्डलके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं माँगी, तब राधानन्दन कर्णने उनसे हँसते हुए-से कहा— ।। ९ ।।

सहजं वर्म मे विप्र कुण्डले चामृतोद्भवे ।
तेनावध्योऽस्मि लोकेषु ततो नैतज्जहाम्यहम् ।। १० ।।

‘विप्रवर! कवच तो मेरे शरीरके साथ ही उत्पन्न हुआ है और दोनों कुण्डल भी अमृतसे प्रकट हुए हैं। इन्हींके कारण मैं संसारमें अवध्य बना हुआ हूँ; अतः मैं इन सब वस्तुओंको त्याग नहीं सकता ।। १० ।।

विशालं पृथिवीराज्यं क्षेमं निहतकण्टकम् ।
प्रतिगृह्णीष्व मत्तस्त्वं साधु ब्राह्मणपुङ्गव ।। ११ ।।

‘ब्राह्मणप्रवर! आप मुझसे समूची पृथ्वीका कल्याणमय, अकण्टक, विशाल एवं उत्तम साम्राज्य ले लें ।। ११ ।।

कुण्डलाभ्यां विमुक्तोऽहं वर्मणा सहजेन च ।
गमनीयो भविष्यामि शत्रूणां द्विजसत्तम ।। १२ ।।

‘द्विजश्रेष्ठ इस सहज कवच और दोनों कुण्डलोंसे वंचित हो जानेपर मैं शत्रुओंका वध्य हो जाऊँगा (अतः इन्हें न माँगिये)’ ।। १२ ।।

वैशम्पायन उवाच

यदान्यं न वरं वव्रे भगवान् पाकशासनः ।
ततः प्रहस्य कर्णस्तं पुनरित्यब्रवीद् वचः ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इतना अनुनय-विनय करनेपर भी जब पाकशासन भगवान् इन्द्रने दूसरा कोई वर नहीं माँगा, तब कर्णने हँसकर पुनः इस प्रकार कहा— ।। १३ ।।

विदितो देवदेवेश प्रागेवासि मम प्रभो ।
न तु न्याय्यं मया दातुं तव शक्र वृथा वरम् ।। १४ ।।

'देवदेवेश्वर! प्रभो! आप पधार रहे हैं, यह बात मुझे पहले ही ज्ञात हो गयी थी। पर देवेन्द्र! मैं आपको निष्फल कर दूँ, यह न्यायसंगत नहीं है ।। १४ ।।

त्वं हि देवेश्वरः साक्षात् त्वया देयो वरो मम ।
अन्येषां चैव भूतानामीश्वरो ह्यसि भूतकृत् ।। १५ ।।

'आप साक्षात् देवेश्वर हैं। उचित तो यही है कि आप मुझे वर दें; क्योंकि आप अन्य सब भूतोंके ईश्वर तथा उन्हें उत्पन्न करनेवाले हैं ।। १५ ।।

यदि दास्यामि ते देव कुण्डले कवचं तथा ।
वध्यतामुपयास्यामि त्वं च शक्रावहास्यताम् ।। १६ ।।
तस्माद् विनिमयं कृत्वा कुण्डले वर्म चोत्तमम् ।
हरस्व शक्र कामं मे न दद्यामहमन्यथा ।। १७ ।।

'इन्द्रदेव! यदि मैं आपको अपने दोनों कुण्डल और कवच दे दूँगा तो मैं तो शत्रुओंका वध्य हो जाऊँगा और संसारमें आपकी हँसी होगी। इसलिये (कर्णने सूर्यकी आज्ञाको याद करके कहा—) शक्र! आप कुछ बदला देकर इच्छानुसार मेरे कुण्डल और उत्तम कवच ले जाइये; अन्यथा मैं इन्हें नहीं दे सकता' ।। १६-१७ ।।

शक्र उवाच

विदितोऽहं रवेः पूर्वमायानेव तवान्तिकम् ।
तेन ते सर्वमाख्यातमेवमेतन्न संशयः ।। १८ ।।

इन्द्र बोले—कर्ण! जब मैं तुम्हारे पास आ रहा था, उसके पहले ही सूर्यदेवको यह बात मालूम हो गयी थी। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने ही तुमसे सारी बातें बता दी हैं ।। १८ ।।

काममस्तु तथा तात तव कर्ण यथेच्छसि ।
वर्जयित्वा तु मे वज्रं प्रवृणीष्व यथेच्छसि ।। १९ ।।

तात कर्ण! तुम्हारी रुचिके अनुसार इन वस्तुओंका परिवर्तन ही हो जाय। मेरे वज्रको छोड़कर तुम जो चाहो, वही आयुध मुझसे माँग लो ।। १९ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः कर्णः प्रहृष्टस्तु उपसंगम्य वासवम् ।

अमोघां शक्तिमभ्येत्य वव्रे सम्पूर्णमानसः ।। २० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब कर्ण अत्यन्त प्रसन्न होकर देवराज इन्द्रके पास गया और सफलमनोरथ होकर उसने उनकी अमोघ शक्ति माँगी ।। २० ।।

कर्ण उवाच

वर्मणा कुण्डलाभ्यां च शक्तिं मे देहि वासव ।
अमोघां शत्रुसंघानां घातिनीं पृतनामुखे ।। २१ ।।

कर्ण बोला—वासव! मेरे कवच और कुण्डल लेकर आप मुझे अपनी वह अमोघ शक्ति प्रदान कीजिये जो सेनाके अग्रभागमें शत्रुसमुदायका संहार करनेवाली है ।।

ततः संचिन्त्य मनसा मुहूर्तमिव वासवः ।
शक्त्यर्थं पृथिवीपाल कर्णं वाक्यमथाब्रवीत् ।। २२ ।।

राजन्! तब इन्द्रने शक्तिके विषयमें दो घड़ी-तक मन-ही-मन विचार करके कर्णसे इस प्रकार कहा— ।। २२ ।।

कुण्डले मे प्रयच्छस्व वर्म चैव शरीरजम् ।
गृहाण कर्ण शक्तिं त्वमनेन समयेन च ।। २३ ।।

'कर्ण! तुम मुझे अपने दोनों कुण्डल और सहज कवच दे दो और मेरी यह शक्ति ग्रहण कर लो। इसी शर्तके अनुसार हमलोगोंमें इन वस्तुओंका विनिमय (बदला) हो जाय ।। २३ ।।

अमोघा हन्ति शतशः शत्रून् मम करच्युता ।
पुनश्च पाणिमभ्येति मम दैत्यान् विनिघ्नतः ।। २४ ।।

'सूतनन्दन! दैत्योंका संहार करते समय मेरे हाथसे छूटनेपर यह अमोघ शक्ति सैकड़ों शत्रुओंको मार देती है और पुनः मेरे हाथमें चली आती है' ।। २४ ।।

सेयं तव करप्राप्ता हत्वैकं रिपुमूर्जितम् ।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च मामेवैष्यति सूतज ।। २५ ।।

'वही शक्ति तुम्हारे हाथमें जाकर किसी एक तेजस्वी, ओजस्वी, प्रतापी तथा गर्जना करनेवाले शत्रुको मारकर पुनः मेरे ही पास आ जायगी' ।। २५ ।।

कर्ण उवाच

एकमेवाहमिच्छामि रिपुं हन्तुं महाहवे ।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च यतो मम भयं भवेत् ।। २६ ।।

कर्ण बोला—देवेन्द्र! मैं महासमरमें अपने एक ही शत्रुको इसके द्वारा मारना चाहता हूँ जो बहुत गर्जना करनेवाला और प्रतापी है, तथा जिससे मुझे सदा भय बना रहता है ।। २६ ।।

इन्द्र उवाच

एकं हनिष्यसि रिपुं गर्जन्तं बलिनं रणे ।
त्वं तु यं प्रार्थयस्येकं रक्ष्यते स महात्मना ।। २७ ।।
यमाहुर्वेदविद्वांसो वराहमपराजितम् ।
नारायणमचिन्त्यं च तेन कृष्णेन रक्ष्यते ।। २८ ।।

इन्द्रने कहा—कर्ण! तुम (इस शक्तिसे) रणभूमिमें गर्जना करनेवाले किसी एक बलवान् शत्रुको मार सकोगे, परंतु इस समय तुम जिस एक शत्रुको लक्ष्य करके यह अमोघ शक्ति माँग रहे हो वह तो उन परमात्माद्वारा सुरक्षित है, जिन्हें वेदवेत्ता विद्वान् पुरुषोत्तम अपराजित, हरि तथा अचिन्त्यस्वरूप नारायण कहते हैं। वे स्वयं श्रीकृष्ण हैं जिनके द्वारा उस वीरकी रक्षा हो रही है ।। २७-२८ ।।

कर्ण उवाच

एवमप्यस्तु भगवन्नेकवीरवधे मम ।
अमोघां देहि मे शक्तिं यथा हन्यां प्रतापिनम् ।। २९ ।।

कर्ण बोला—भगवन्! ऐसा ही हो। तो भी आप एक वीरके वधके लिये मुझे अपनी अमोघ शक्ति दे दीजिये, जिससे मैं अपने प्रतापी शत्रुका वध कर सकूँ ।। २९ ।।

उत्कृत्य तु प्रदास्यामि कुण्डले कवचं च ते ।
निकृत्तेषु तु गात्रेषु न मे बीभत्सता भवेत् ।। ३० ।।

मैं आपको अपने शरीरसे उधेड़कर कवच और कुण्डल तो दे दूँगा; परंतु उस समय मेरे अंगोंके कट जानेपर मेरा स्वरूप बीभत्स न होना चाहिये ।। ३० ।।

इन्द्र उवाच

न ते बीभत्सता कर्ण भविष्यति कथञ्चन ।
व्रणश्चैव न गात्रेषु यस्त्वं नानृतमिच्छसि ।। ३१ ।।

इन्द्रने कहा—कर्ण! तुम्हारा स्वरूप किसी प्रकार भी बीभत्स नहीं होगा। तुम्हारे अंगोंमें घावतक नहीं होगा; क्योंकि तुम असत्यकी इच्छा नहीं रखते हो ।। ३१ ।।

यादृशस्ते पितुर्वर्णस्तेजश्च वदतां वर ।
तादृशेनैव वर्णेन त्वं कर्ण भविता पुनः ।। ३२ ।।
विद्यमानेषु शस्त्रेषु यद्यमोघामसंशये ।
प्रमत्तो मोक्ष्यसे चापि त्वय्येवैषा पतिष्यति ।। ३३ ।।

वक्ताओंमें श्रेष्ठ कर्ण! तुम्हारे पिताका जैसा वर्ण और तेज है, वैसे ही वर्ण और तेजसे तुम पुनः सम्पन्न हो जाओगे। जबतक तुम्हारे पास दूसरे शस्त्र रहें और प्राणसंकटकी परिस्थिति न आ जाय, तबतक तुम यदि प्रमादवश यह अमोघ शक्ति यों ही किसी शत्रुपर छोड़ दोगे तो यह उसे न मारकर तुम्हारे ही ऊपर आ पड़ेगी ।। ३२-३३ ।।

कर्णको इन्द्रका शक्ति-दान

युधिष्ठिर और बगुलारूपधारी यक्ष

कर्ण उवाच

संशयं परमं प्राप्य विमोक्ष्ये वासवीमिमाम् ।
यथा मामात्थ शक्र त्वं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। ३४ ।।

कर्ण बोला—देवेन्द्र! आप जैसा मुझसे कह रहे हैं, उसके अनुसार प्राणसंकटकी अवस्थामें पड़कर ही मैं आपकी दी हुई इस शक्तिका उपयोग करूँगा, यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ ।। ३४ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः शक्तिं प्रज्वलितां प्रतिगृह्य विशाम्पते ।
शस्त्रं गृहीत्वा निशितं सर्वगात्राण्यकृन्तत ।। ३५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर इन्द्रकी प्रज्वलित शक्ति लेकर कर्णने तीखी तलवार उठायी और कवच उधेड़नेके लिये अपने सब अंगोंको काटना आरम्भ किया ।। ३५ ।।

ततो देवा मानवा दानवाश्च
निकृन्तन्तं कर्णमात्मानमेवम् ।
दृष्ट्वा सर्वे सिंहनादान् प्रणेदु-
र्न ह्यस्यासीन्मुखजो वै विकारः ।। ३६ ।।

उस समय देवता, मनुष्य और दानव सब लोग इस प्रकार अपना शरीर काटते हुए कर्णको देखकर सिंहनाद करने लगे; परंतु कर्णके मुखपर तनिक भी विकार नहीं आया ।। ३६ ।।

ततो दिव्या दुन्दुभयः प्रणेदुः
पपातोच्चैः पुष्पवर्षं च दिव्यम् ।
दृष्ट्वा कर्णं शस्त्रसंकृत्तगात्रं
मुहुश्चापि स्मयमानं नृवीरम् ।। ३७ ।।

कर्णके सारे अंग शस्त्रोंके आघातसे कट गये थे, फिर भी वह नरवीर बारंबार मुसकरा रहा था। यह देखकर दिव्य दुन्दुभियाँ बज उठीं एवं आकाशसे दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगी ।। ३७ ।।

ततश्छित्त्वा कवचं दिव्यमङ्गात्
तथैवार्द्रं प्रददौ वासवाय ।
तथोत्कृत्य प्रददौ कुण्डले ते
कर्णात् तस्मात् कर्मणा तेन कर्णः ।। ३८ ।।

तदनन्तर अपने शरीरसे दिव्य कवचको उधेड़कर कर्णने इन्द्रके हाथमें दे दिया; वह कवच उस समय रक्तसे भीगा हुआ ही था। इसी प्रकार उसने कानोंके वे कुण्डल भी

काटकर दे दिये। अतः इस कर्णन (कर्तन) रूपी कर्मसे उसका नाम 'कर्ण' हुआ ।। ३८ ।।

ततः शक्रः प्रहसन् वञ्चयित्वा
कर्णं लोके यशसा योजयित्वा ।
कृतं कार्यं पाण्डवानां हि मेने
ततः पश्चाद् दिवमेवोत्पपात ।। ३९ ।।

इस प्रकार कर्णको (कवच और कुण्डलसे) वंचित करके एवं संसारमें उसका सुयश फैलाकर देवराज इन्द्र हँसते हुए स्वर्गलोकको चले गये। उन्हें मन-ही-मन यह विश्वास हो गया कि 'मैंने पाण्डवोंका कार्य पूरा कर दिया' ।। ३९ ।।

श्रुत्वा कर्णं मुषितं धार्तराष्ट्रा
दीनाः सर्वे भग्नदर्पा इवासन् ।
तां चावस्थां गमितं सूतपुत्रं
श्रुत्वा पार्था जहृषुः काननस्थाः ।। ४० ।।

धृतराष्ट्रके पुत्रोंने जब यह सुना कि कर्णको (कवच और कुण्डलोंसे) वंचित कर दिया गया तो वे सब अत्यन्त दीन-से हो गये; उनका घमंड चूर-चूर-सा हो गया। वनमें रहनेवाले कुन्तीपुत्रोंने जब सुना कि सूतपुत्र इस दशामें पहुँच गया है तब उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ।। ४० ।।

जनमेजय उवाच

क्वस्था वीराः पाण्डवास्ते बभूवुः
कुतश्चैते श्रुतवन्तः प्रियं तत् ।
किं वाकार्षुर्द्वादशेऽब्दे व्यतीते
तन्मे सर्वं भगवान् व्याकरोतु ।। ४१ ।।

जनमेजयने पूछा—भगवन्! वे वीर पाण्डव उन दिनों कहाँ थे? उन्होंने वह प्रिय समाचार कैसे सुना और बारहवाँ वर्ष व्यतीत हो जानेपर क्या किया? ये सब बातें आप मुझे स्पष्टरूपसे बतायें ।। ४१ ।।

वैशम्पायन उवाच

लब्ध्वा कृष्णां सैन्धवं द्रावयित्वा
विप्रैः सार्धं काम्यकादाश्रमात् ते ।
मार्कण्डेयाच्छ्रुतवन्तः पुराणं
देवर्षीणां चरितं विस्तरेण ।। ४२ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! द्रौपदीको पाकर तथा जयद्रथको काम्यक वनसे भगाकर ब्राह्मणोंसहित समस्त पाण्डवोंने मार्कण्डेयजीके मुखसे पुराणकथा और देवताओं तथा ऋषियोंके विस्तृत चरित्र सुनते हुए इसे भी सुना था ।। ४२ ।।

(प्रत्याजग्मुः सरथाः सानुयात्राः
सर्वैः सार्धं सूतपौरोगवैस्ते ।
ततो युयुर्द्वैतवने नृवीरा
निस्तीर्यैवं वनवासं समग्रम् ।।)

इस प्रकार वनवासकी पूरी अवधि बिताकर वे नरवीर पाण्डव अपने रथ, अनुचर, सूत तथा रसोइयोंके साथ पुनः द्वैतवनमें लौट आये ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि कुण्डलाहरणपर्वणि कवचकुण्डलदाने दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३१० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत कुण्डलाहरणपर्वमें कवच-कुण्डलदानविषयक तीन सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३१० ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १ $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ४३ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं)

(आरणेयपर्व)

एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणकी अरणि एवं मन्थन-काष्ठका पता लगानेके लिये पाण्डवोंका मृगके पीछे दौड़ना और दुःखी होना

जनमेजय उवाच

एवं हृतायां भार्यायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
प्रतिपद्य ततः कृष्णां किमकुर्वत पाण्डवाः ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! इस प्रकार अपनी पत्नी द्रौपदीका अपहरण होनेपर अत्यन्त क्लेश उठाकर पाण्डवोंने जब उन्हें पुनः प्राप्त कर लिया, उसके बाद उन्होंने क्या किया? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
विहाय काम्यकं राजा सह भ्रातृभिरच्युतः ।। २ ।।
पुनर्द्वैतवनं रम्यमाजगाम युधिष्ठिरः ।
स्वादुमूलफलं रम्यं विचित्रबहुपादपम् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पूर्वोक्त प्रकारसे द्रौपदीका हरण होनेपर भारी क्लेश उठानेके बाद जब पाण्डवोंने उन्हें पा लिया, तब धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ काम्यकवन छोड़कर पुनः रमणीय द्वैतवनमें ही चले आये। वहाँ स्वादिष्ट फल-मूलोंकी बहुतायत थी तथा बहुत-से विचित्र वृक्ष उस वनकी शोभा बढ़ाते थे ।। २-३ ।।

अनुभुक्तफलाहाराः सर्व एव मिताशनाः ।
न्यवसन् पाण्डवास्तत्र कृष्णया सह भार्यया ।। ४ ।।

वहाँ सब पाण्डव अपनी पत्नी द्रौपदीके साथ केवल फलाहार करके परिमित भोजनपर जीवन-निर्वाह करते हुए रहते थे ।। ४ ।।

वसन् द्वैतवने राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।। ५ ।।
ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ता धर्मात्मानो यतव्रताः ।

क्लेशमार्च्छन्त विपुलं सुखोदर्कं परंतपाः ।। ६ ।।

द्वैतवनमें रहते समय कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीकुमार नकुल-सहदेव—इन सभी शत्रुसंतापी संयम-नियम-परायण धर्मात्मा पाण्डवोंने एक दिन एक ब्राह्मणके लिये पराक्रम करते हुए महान् क्लेश उठाया, परंतु उसका भावी परिणाम सुखमय ही हुआ ।। ५-६ ।।

तस्मिन् प्रतिवसन्तस्ते यत् प्रापुः कुरुसत्तमाः ।
वने क्लेशं सुखोदर्कं तत् प्रवक्ष्यामि ते शृणु ।। ७ ।।

राजन्! उस वनमें रहते हुए उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंने जो भविष्यमें सुख देनेवाला क्लेश उठाया, उसका वर्णन करता हूँ, सुनो— ।। ७ ।।

अरणीसहितं मन्थं ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ।। ८ ।।

एक तपस्वी ब्राह्मणका (रस्सीमें बँधा) अरणीसहित मन्थनकाष्ठ एक वृक्षमें रंगा था; वहीं एक मृग आकर उस वृक्षसे अपना शरीर रगड़ने लगा। उस समय वे दोनों काष्ठ उस मृगके सींगमें अटक गये ।। ८ ।।

तदादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः ।
आश्रमान्तरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ।। ९ ।।

राजन्! उन काष्ठोंको लेकर वह महामृग बड़ी उतावलीसे भागा और बड़े वेगसे चौकड़ी भरता हुआ शीघ्र ही आश्रमसे ओझल हो गया ।। ९ ।।

ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा स विप्रः कुरुसत्तम ।
त्वरितोऽभ्यागमत् तत्र अग्निहोत्रपरीप्सया ।। १० ।।

कुरुश्रेष्ठ! उस ब्राह्मणने जब देखा कि मृग मेरी अरणी और मथानीको लेकर तेजीसे भागा जा रहा है, तब वह अग्निहोत्रकी रक्षाके लिये तुरंत वहीं (पाण्डवोंके आश्रममें) आया ।। १० ।।

अजातशत्रुमासीनं भ्रातृभिः सहितं वने ।
आगम्य ब्राह्मणस्तूर्णं संतप्तश्चेदमब्रवीत् ।। ११ ।।

वनमें भाइयोंके साथ बैठे हुए अजातशत्रु युधिष्ठिरके पास तुरंत आकर संतप्त हुए उस ब्राह्मणने इस प्रकार कहा— ।। ११ ।।

अरणीसहितं मन्थं समासक्तं वनस्पतौ ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ।। १२ ।।
तमादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः ।
आश्रमात् त्वरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ।। १३ ।।

‘राजन्! मैंने अपनी अरणी और मथानी एक वृक्षपर रख दी थी। एक मृग वहाँ आकर उस वृक्षसे शरीर रगड़ने लगा और उसके सींगमें वे दोनों काष्ठ फँस गये। वह महान् मृग उन

काष्ठोंको लेकर बड़ी उतावलीके साथ भाग गया है और अत्यन्त वेगवान् होनेके कारण चौकड़ी भरता हुआ शीघ्र ही आश्रमसे बहुत दूर निकल गया है ।। १२-१३ ।।

तस्य गत्वा पदं राजन्नासाद्य च महामृगम् ।
अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पाण्डवाः ।। १४ ।।

'महाराज युधिष्ठिर! तथा वीर पाण्डवो। तुम सब लोग उसके पदचिह्नोंको देखते हुए उस महामृगके पास पहुँचो और वे दोनों काष्ठ ले आओ, जिससे मेरा अग्निहोत्रकर्म लुप्त न हो' ।। १४ ।।

ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा संतप्तोऽथ युधिष्ठिरः ।
धनुरादाय कौन्तेयः प्राद्रवद् भ्रातृभिः सह ।। १५ ।।

ब्राह्मणकी बात सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर बहुत दुःखी हुए और मृगका पता लगानेके लिये वे धनुष लेकर भाइयोंसहित दौड़े ।। १५ ।।

सन्नद्धा धन्विनः सर्वे प्राद्रवन् नरपुङ्गवाः ।
ब्राह्मणार्थे यतन्तस्ते शीघ्रमन्वगमन् मृगम् ।। १६ ।।

वे सभी नरश्रेष्ठ कवच बाँध एवं कमर कसकर धनुष लिये आश्रमसे दौड़े और ब्राह्मणकी कार्यसिद्धिके लिये प्रयत्नशील होकर तीव्र गतिसे मृगका पीछा करने लगे ।।

कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन्तो महारथाः ।
नाविध्यन् पाण्डवास्तत्र पश्यन्तो मृगमन्तिकात् ।। १७ ।।

कुछ दूर जानेपर उन्हें वह मृग अपने पास ही दिखायी दिया। तब वे महारथी पाण्डव कर्णि, नालीक और नाराच नामक बाण उसपर छोड़ने लगे; किंतु वे देखते हुए भी वहाँ उस मृगको बींध न सके ।। १७ ।।

तेषां प्रयतमानानां नादृश्यत महामृगः ।
अपश्यन्तो मृगं शान्ता दुःखं प्राप्ता मनस्विनः ।। १८ ।।

घोर प्रयत्न करनेपर भी वह महामृग उनके हाथ न लगा; सहसा अदृश्य हो गया। मृगको न देखकर वे मनस्वी वीर हतोत्साह और दुःखी हो गये ।। १८ ।।

शीतलच्छायमागम्य न्यग्रोधं गहने वने ।
क्षुत्पिपासापरीताङ्गाः पाण्डवाः समुपाविशन् ।। १९ ।।

तत्पश्चात् उस गहन वनमें भूख-प्याससे पीड़ित अंगोंवाले पाण्डव एक शीतल छायावाले बरगदके पास आकर बैठ गये ।। १९ ।।

तेषां समुपविष्टानां नकुलो दुःखितस्तदा ।
अब्रवीद् भ्रातरं श्रेष्ठममर्षात् कुरुनन्दनम् ।। २० ।।

उनके बैठ जानेपर नकुल अत्यन्त दुःखी हो अमर्षमें आकर बड़े भाई कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले— ।। २० ।।

नास्मिन् कुले जातु ममज्ज धर्मो

न चालस्यादर्थलोपो बभूव ।
अनुत्तराः सर्वभूतेषु भूयः
सम्प्राप्ताः स्मः संशयं किंनु राजन् ।। २१ ।।

'राजन्! हमारे कुलमें कभी आलस्यवश धर्मका लोप नहीं हुआ; अर्थका भी कभी नाश नहीं हुआ। हमने किसी भी प्राणीके प्रार्थना करनेपर कभी उसे कोरा जवाब नहीं दिया—निराश नहीं किया। फिर भी हम धर्मसंकटमें कैसे पड़ गये?' ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि मृगान्वेषणे एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३११ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें मृगका अनुसंधानविषयक तीन सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३११ ।।

द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पानी लानेके लिये गये हुए नकुल आदि चार भाइयोंका सरोवरके तटपर अचेत होकर गिरना

युधिष्ठिर उवाच

नापदामस्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम् ।
धर्मस्तु विभजत्यर्थमुभयोः पुण्यपापयोः ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—भैया! आपत्तियोंकी न तो कोई सीमा है, न कोई निमित्त दिखायी देता है और न कोई विशेष कारण ही परिलक्षित होता है। पहलेका किया हुआ पुण्य और पापरूप कर्म ही प्रारब्ध बनकर सुख और दुःखरूप फल बाँटता रहता है ।। १ ।।

भीम उवाच

प्रातिकाम्यनयत् कृष्णां सभायां प्रेष्यवत् तदा ।
न मया निहतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ।। २ ।।

भीमसेनने कहा—जब प्रातिकामीकी जगह दूत बनकर गया हुआ दुःशासन द्रौपदीको कौरवोंकी सभामें दासीकी भाँति बलपूर्वक खींच ले आया, उस समय मैंने जो उसका वध नहीं कर डाला; इसीके कारण हमलोग ऐसे धर्मसंकटमें पड़े हैं ।। २ ।।

अर्जुन उवाच

वाचस्तीक्ष्णास्थिभेदिन्यः सूतपुत्रेण भाषिताः ।
अतितीव्रा मया क्षान्तास्तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ।। ३ ।।

अर्जुन बोले—सूतपुत्र कर्णके कहे हुए कठोर अस्थियोंको भी विदीर्ण कर देनेवाले अत्यन्त कड़वे वचन सुनकर भी जो हमने सहन कर लिये; उसीसे आज हम धर्मसंकटकी अवस्थामें आ पहुँचे हैं ।। ३ ।।

सहदेव उवाच

शकुनिस्त्वां यदाजैषीदक्षद्यूतेन भारत ।
स मया न हतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ।। ४ ।।

सहदेवने कहा—भारत! जब शकुनिने आपको जूएमें जीत लिया और उस समय मैंने उसे मार नहीं डाला, उसीका यह फल है कि आज हमलोग धर्मसंकटमें पड़ गये हैं ।। ४ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्यमब्रवीत् ।
आरुह्य वृक्षं माद्रेय निरीक्षस्व दिशो दश ।। ५ ।।

पानीयमन्तिके पश्य वृक्षांश्चाप्युदकाश्रितान् ।
एते हि भ्रातरः श्रान्तास्तव तात पिपासिताः ।। ६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने नकुलसे कहा—'माद्रीनन्दन! किसी वृक्षपर चढ़कर सब दिशाओंमें दृष्टिपात करो। कहीं आस-पास पानी हो, तो देखो अथवा जलके किनारे होनेवाले वृक्षोंपर भी दृष्टि डालो। तात! तुम्हारे ये भाई थके-माँदे और प्यासे हैं' ।। ५-६ ।।

नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम् ।
अब्रवीद् भ्रातरं ज्येष्ठमभिवीक्ष्य समन्ततः ।। ७ ।।

तब नकुल 'बहुत अच्छा' कहकर शीघ्र ही एक पेड़पर चढ़ गये और चारों ओर दृष्टि डालकर अपने बड़े भाईसे बोले— ।। ७ ।।

पश्यामि बहुलान् राजन् वृक्षानुदकसंश्रयान् ।
सारसानां च निर्ह्रादमत्रोदकमसंशयम् ।। ८ ।।

'राजन्! मैं ऐसे बहुतेरे वृक्ष देख रहा हूँ, जो जलके किनारे ही होते हैं। सारसोंकी आवाज भी सुनायी देती है; अतः निःसंदेह यहाँ आस-पास ही कोई जलाशय है' ।। ८ ।।

ततोऽब्रवीत् सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गच्छ सौम्य ततः शीघ्रं तूणैः पानीयमानय ।। ९ ।।

तब सत्यका पालन करनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने नकुलसे कहा—'सौम्य! शीघ्र जाओ और तरकसोंमें पानी भर लाओ' ।। ९ ।।

नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात् ।
प्राद्रवद् यत्र पानीयं शीघ्रं चैवान्वपद्यत ।। १० ।।

नकुल 'बहुत अच्छा' कहकर बड़े भाईकी आज्ञासे शीघ्रतापूर्वक गये और जहाँ जलाशय था, वहाँ तुरंत पहुँच गये ।। १० ।।

स दृष्ट्वा विमल तोयं सारसैः परिवारितम् ।
पातुकामस्ततो वाचमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे ।। ११ ।।

वहाँ सारसोंसे घिरे हुए जलाशयका स्वच्छ जल देखकर नकुलको उसे पीनेकी इच्छा हुई। इतनेमें ही आकाशसे उनके कानोंमें एक स्पष्ट वाणी सुनायी दी ।।

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु माद्रेय ततः पिब हरस्व च ।। १२ ।।

यक्ष बोला—तात! तुम इस सरोवरका पानी पीनेका साहस न करो। इसपर पहलेसे ही मेरा अधिकार हो चुका है। माद्रीकुमार! पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे दो, फिर पानी पीओ और ले भी जाओ ।। १२ ।।

अनादृत्य तु तद् वाक्यं नकुलः सुपिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ।। १३ ।।

नकुलकी प्यास बहुत बढ़ गयी थी। उन्होंने यक्षके कथनकी अवहेलना करके वहाँका शीतल जल पी लिया। पीते ही वे अचेत होकर गिर पड़े ।। १३ ।।

चिरायमाणे नकुले कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीद् भ्रातरं वीरं सहदेवमरिंदमम् ।। १४ ।।

नकुलके लौटनेमें जब अधिक विलम्ब हो गया, तब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अपने शत्रुहन्ता वीर भ्राता सहदेवसे कहा— ।। १४ ।।

भ्राता हि चिरयातो नः सहदेव तवाग्रजः ।
तथैवानय सोदर्यं पानीयं च त्वमानय ।। १५ ।।

‘सहदेव! हमारे अनुज और तुम्हारे अग्रज भ्राता नकुलको यहाँसे गये बहुत देर हो गयी। तुम जाकर अपने सहोदर भाईको बुला लाओ और पानी भी ले आओ’ ।। १५ ।।

सहदेवस्तथेत्यक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत ।
ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा ।। १६ ।।

तब सहदेव ‘बहुत अच्छा’ कहकर उसी दिशाकी ओर चल दिये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा, भाई नकुल पृथ्वीपर मरे पड़े हैं ।। १६ ।।

भ्रातृशोकाभिसंतप्तस्तृषया च प्रपीडितः ।
अभिदुद्राव पानीयं ततो वागभ्यभाषत ।। १७ ।।

भाईके शोकसे उनका हृदय संतप्त हो उठा। साथ ही प्याससे भी वे बहुत कष्ट पा रहे थे; अतः पानीकी ओर दौड़े। उसी समय आकाशवाणी बोल उठी— ।।

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा यथाकामं पिबस्व च हरस्व च ।। १८ ।।

‘तात! पानी पीनेका साहस न करो। यहाँ पहलेसे ही मेरा अधिकार हो चुका है। तुम पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे दो, फिर इच्छानुसार जल पीओ और साथ ले भी जाओ’ ।। १८ ।।

अनादृत्य तु तद् वाक्यं सहदेवः पिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ।। १९ ।।

प्यासे सहदेव उस वचनकी अवहेलना करके वहाँका ठंडा जल पीने लगे एवं पीते ही अचेत होकर गिर पड़े ।। १९ ।।

अथाब्रवीत् स विजयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भ्रातरौ ते चिरगतौ बीभत्सो शत्रुकर्शन ।। २० ।।

तदनन्तर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा—‘शत्रुनाशन बीभत्सो! तुम्हारे दोनों भाइयोंको गये बहुत देर हो गयी ।। २० ।।

तौ चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां दुःखितानामपाश्रयः ।। २१ ।।

'तुम्हारा कल्याण हो। तुम उन दोनोंको बुला लाओ और साथ ही पानी भी ले आओ। तात! तुम्हीं हम सब दुःखी बन्धुओंके सहारे हो' ।। २१ ।।

एवमुक्तो गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
आमुक्तखड्गो मेधावी तत् सरः प्रत्यपद्यत ।। २२ ।।

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर निद्राविजयी बुद्धिमान् अर्जुन धनुष-बाण और खड्ग लिये उस सरोवरके तटपर गये ।। २२ ।।

ततः पुरुषशार्दूलौ पानीयहरणे गतौ ।
तौ ददर्श हतौ तत्र भ्रातरौ श्वेतवाहनः ।। २३ ।।

श्वेतवाहन अर्जुनने जल लानेके लिये गये हुए उन दोनों पुरुषसिंह भाइयोंको वहाँ मरे हुए देखा ।। २३ ।।

प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः ।
धनुरुद्यम्य कौन्तेयो व्यलोकयत तद् वनम् ।। २४ ।।

दोनोंको प्रगाढ़ निद्रामें सोये हुएकी भाँति देखकर मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी अर्जुनको बहुत दुःख हुआ। उन्होंने धनुष उठाकर उस वनका अच्छी तरह निरीक्षण किया ।। २४ ।।

नापश्यत् तत्र किञ्चित् स भूतमस्मिन् महावने ।
सव्यसाची ततः श्रान्तः पानीयं सोऽभ्यधावत ।। २५ ।।

जब उस विशाल वनमें उन्हें कोई भी हिंसक प्राणी नहीं दिखायी दिया, तब सव्यसाची अर्जुन थककर पानीकी ओर दौड़े ।। २५ ।।

अभिधावंस्ततो वाक्यमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे ।
किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात् त्वया ।। २६ ।।
कौन्तेय यदि प्रश्नांस्तान् मयोक्तान् प्रतिपत्स्यसे ।
ततः पास्यसि पानीयं हरिष्यसि च भारत ।। २७ ।।

दौड़ते समय उन्हें आकाशकी ओरसे आती हुई वाणी सुनायी दी—'कुन्तीनन्दन! क्यों पानीके निकट जा रहे हो? तुम जबरदस्ती यह जल नहीं पी सकते। भारत! यदि मेरे उन प्रश्नोंका उत्तर दे सको, तो यहाँका पानी पीओ और साथ ले भी जाओ' ।। २६-२७ ।।

वारितस्त्वब्रवीत् पार्थो दृश्यमानो निवारय ।
यावद् बाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि ।। २८ ।।

इस प्रकार रोके जानेपर अर्जुनने कहा—'जरा सामने आकर रोको। सामने आते ही बाणोंसे टुकड़े-टुकड़े हो जानेपर फिर तुम इस प्रकार नहीं बोल पाओगे' ।। २८ ।।

एवमुक्त्वा ततः पार्थः शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः ।

प्रववर्ष दिशः कृत्स्नाः शब्दवेधं च दर्शयन् ।। २९ ।।

ऐसा कहकर अर्जुनने अपनी शब्दवेध-कलाका परिचय देते हुए दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंकी सब ओर झड़ी लगा दी ।। २९ ।।

कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन् भरतर्षभ ।
स त्वमोघानिषून् मुक्त्वा तृष्णयाभिप्रपीडितः ।। ३० ।।
अनेकैरिषुसङ्घातैरन्तरिक्षे ववर्ष ह ।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! अर्जुन उस समय कर्णि, नालीक तथा नाराच आदि बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। प्यासससे पीड़ित हुए अर्जुनने कितने ही अमोघ बाणोंका प्रयोग करके आकाशमें भी कई बार बाण-समूहकी वर्षा की ।। ३०½ ।।

यक्ष उवाच

किं विघातेन ते पार्थ प्रश्नानुक्त्वा ततः पिब ।। ३१ ।।
अनुक्त्वा च पिबन् प्रश्नान् पीत्वैव न भविष्यसि ।

यक्ष बोला—पार्थ! इस प्रकार प्राणियोंपर आघात करनेसे क्या लाभ? पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, फिर जल पीओ। यदि तुम प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना ही यहाँका जल पीओगे, तो पीते ही मर जाओगे ।। ३१½ ।।

एवमुक्तस्ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः ।। ३२ ।।
अवज्ञायैव तां वाचं पीत्वैव निपपात ह ।

उसके ऐसा कहनेपर कुन्तीपुत्र सव्यसाची धनंजय उसके वचनोंकी अवहेलना करके जल पीने लगे और पीते ही अचेत होकर गिर पड़े ।। ३२½ ।।

अथाब्रवीद् भीमसेनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।। ३३ ।।
नकुलः सहदेवश्च बीभत्सुश्च परंतप ।
चिरं गतास्तोयहेतोर्न चागच्छन्ति भारत ।। ३४ ।।
तांश्चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।

तब कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने भीमसेनसे कहा—‘परंतप! भरतनन्दन! नकुल, सहदेव और अर्जुनको पानीके लिये गये बहुत देर हो गयी। वे अभीतक नहीं आ रहे हैं। तुम्हारा कल्याण हो। तुम जाकर उन्हें बुला लाओ और पानी भी ले आओ’ ।। ३३-३४½ ।।

भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तं देशं प्रत्यपद्यत ।। ३५ ।।
यत्र ते पुरुषव्याघ्रा भ्रातरोऽस्य निपातिताः ।
तान् दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृषया च प्रपीडितः ।। ३६ ।।

तब भीमसेन ‘बहुत अच्छा’ कहकर उस स्थान-पर गये, जहाँ वे पुरुषसिंह तीनों भाई पृथ्वीपर पड़े थे। उन्हें उस अवस्थामें देखकर भीमसेनको बड़ा दुःख हुआ। इधर प्यास भी उन्हें बहुत कष्ट दे रही थी ।।

अमन्यत महाबाहुः कर्म तद् यक्षरक्षसाम् ।
स चिन्तयामास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्य वै ।। ३७ ।।
पास्यामि तावत् पानीयमिति पार्थो वृकोदरः ।
ततोऽभ्यधावत् पानीयं पिपासुः पुरुषर्षभः ।। ३८ ।।

महाबाहु भीमसेनने मन-ही-मन यह निश्चय किया कि 'यह यक्षों तथा राक्षसोंका काम है।' फिर उन्होंने सोचा; 'आज निश्चय ही मुझे शत्रुके साथ युद्ध करना पड़ेगा, अतः पहले जल तो पी लूँ।' ऐसा निश्चय करके प्यासे नरश्रेष्ठ कुन्तीकुमार भीमसेन जलकी ओर दौड़े ।।

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ।। ३९ ।।

यक्ष बोला—तात! पानी पीनेका साहस न करना। इस जलपर पहलेसे ही मेरा अधिकार स्थापित हो चुका है। कुन्तीकुमार! पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दे दो, फिर पानी पीओ और ले भी जाओ ।। ३९ ।।

एवमुक्तस्तदा भीमो यक्षेणामिततेजसा ।
अनुक्त्वैव तु तान् प्रश्नान् पीत्वैव निपपात ह ।। ४० ।।

अमिततेजस्वी यक्षके ऐसा कहनेपर भी भीमसेन उन प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना ही जल पीने लगे और पीते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े ।। ४० ।।

ततः कुन्तीसुतो राजा प्रचिन्त्य पुरुषर्षभः ।
समुत्थाय महाबाहुर्दह्यमानेन चेतसा ।। ४१ ।।
व्यपेतजननिर्घोषं प्रविवेश महावनम् ।
रुरुभिश्च वराहैश्च पक्षिभिश्च निषेवितम् ।। ४२ ।।

तदनन्तर कुन्तीपुत्र पुरुषरत्न महाबाहु राजा युधिष्ठिर बहुत देरतक सोच-विचार करके उठे और जलते हुए हृदयसे उन्होंने उस विशाल वनमें प्रवेश किया, जहाँ मनुष्योंकी आवाजतक नहीं सुनायी देती थी। वहाँ रुरु मृग, वराह तथा पक्षियोंके समुदाय ही निवास करते थे ।। ४१-४२ ।।

नीलभास्वरवर्णैश्च पादपैरुपशोभितम् ।
भ्रमरैरुपगीतं च पक्षिभिश्च महायशाः ।। ४३ ।।

नीले रंगके चमकीले वृक्ष उस वनकी शोभा बढ़ा रहे थे। भ्रमरोंके गुंजन और विहंगोंके कलरवसे वह वनप्रान्त शब्दायमान हो रहा था ।। ४३ ।।

स गच्छन् कानने तस्मिन् हेमजालपरिष्कृतम् ।
ददर्श तत् सरः श्रीमान् विश्वकर्मकृतं यथा ।। ४४ ।।

महायशस्वी श्रीमान् युधिष्ठिरने उस वनमें विचरण करते हुए उस सरोवरको देखा, जो सुनहरे रंगके कुसुमकेसरोंसे विभूषित था। जान पड़ता था; साक्षात् विश्वकर्माने ही उसका निर्माण किया है ।। ४४ ।।

उपेतं नलिनीजालैः सिन्धुवारैः सवेतसैः ।
केतकैः करवीरैश्च पिप्पलैश्चैव संवृतम् ।
(ततो धर्मसुतः श्रीमान् भ्रातृदर्शनलालसः ।)
श्रमार्तस्तदुपागम्य सरो दृष्ट्वाथ विस्मितः ।। ४५ ।।

उस सरोवरका जल कमलकी बेलोंसे आच्छादित हो रहा था और उसके चारों किनारोंपर सिंदुवार, बेंत, केवड़े, करवीर तथा पीपलके वृक्ष उसे घेरे हुए थे। उस समय भाइयोंसे मिलनेके लिये उत्सुक श्रीमान् धर्मनन्दन युधिष्ठिर थकावटसे पीड़ित हो उस सरोवरपर आये और वहाँकी अवस्था देखकर बड़े विस्मित हुए ।। ४५ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि नकुलादिपतने द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३१२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें नकुल आदि चारों भाइयोंके मूर्च्छित होकर गिरनेसे सम्बन्ध रखनेवाला तीन सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३१२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं।)

त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

यक्ष और युधिष्ठिरका प्रश्नोत्तर तथा युधिष्ठिरके उत्तरसे संतुष्ट हुए यक्षका चारों भाइयोंके जीवित होनेका वरदान देना

वैशम्पायन उवाच

स ददर्श हतान् भ्रातॄँल्लोकपालानिव च्युतान् ।
चुगान्ते समनुप्राप्ते शक्रप्रतिमगौरवान् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरने इन्द्रके समान गौरवशाली अपने भाइयोंको सरोवरके तटपर निर्जीवकी भाँति पड़े हुए देखा; मानो प्रलय-कालमें सम्पूर्ण लोकपाल अपने लोकोंसे भ्रष्ट होकर गिर गये हों ।। १ ।।

विनिकीर्णधनुर्बाणं दृष्ट्वा निहतमर्जुनम् ।
भीमसेनं यमौ चैव निर्विचेष्टान् गतायुषः ।। २ ।।
स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य शोकबाष्पपरिप्लुतः ।
तान् दृष्ट्वा पतितान् भ्रातॄन् सर्वांश्चिन्तासमन्वितः ।। ३ ।।
धर्मपुत्रो महाबाहुर्विललाप सुविस्तरम् ।

अर्जुन मरे पड़े थे; उनके धनुष-बाण इधर-उधर बिखरे थे। भीमसेन और नकुल-सहदेव भी प्राणरहित हो निश्चेष्ट हो गये थे। इन सबको देखकर युधिष्ठिर गरम-गरम लंबी साँसें खींचने लगे। उनके नेत्रोंसे शोकके आँसू उमड़कर उन्हें भिगो रहे थे। अपने समस्त भ्राताओंको इस प्रकार धराशायी हुए देख महाबाहु धर्मपुत्र युधिष्ठिर गहरी चिन्तामें डूब गये और देरतक विलाप करते रहे— ।। २-३½ ।।

ननु त्वया महाबाहो प्रतिज्ञातं वृकोदर ।। ४ ।।
सुयोधनस्य भेत्स्यामि गदया सक्थिनी रणे ।
व्यर्थं तदद्य मे सर्वं त्वयि वीर निपातिते ।। ५ ।।
महात्मनि महाबाहो कुरूणां कीर्तिवर्धने ।

वे बोले—'महाबाहु वृकोदर! तुमने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं युद्धमें अपनी गदासे दुर्योधनकी दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा।' महाबाहो! तुम कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले थे। तुम्हारा हृदय विशाल था। वीर! आज तुम्हारे गिर जानेसे मेरे लिये वह सब कुछ व्यर्थ हो गया ।। ४-५½ ।।

मनुष्यसम्भवा वाचो विधर्मिण्यः प्रतिश्रुताः ।। ६ ।।
भवतां दिव्यवाचस्तु ता भवन्तु कथं मृषा ।

‘साधारण मनुष्योंकी बातें तथा उनकी प्रतिज्ञाएँ तो झूठी निकल जाती हैं; परंतु तुमलोगोंके सम्बन्धमें जो दिव्य वाणियाँ हुई थीं, वे कैसे मिथ्या हो सकती हैं? ।। ६½ ।।

देवाश्चापि यदावोचन् सूतके त्वां धनंजय ।। ७ ।।
सहस्राक्षादनवरः कुन्ति पुत्रस्तवेति वै ।
उत्तरे पारियात्रे च जगुर्भूतानि सर्वशः ।। ८ ।।
विप्रणष्टां श्रियं चैषामाहर्ता पुनरञ्जसा ।
नास्य जेता रणे कश्चिदजेता नैष कस्यचित् ।। १९ ।।

“धनंजय! जब तुम्हारा जन्म हुआ था, उस समय देवताओंने भी कहा था कि ‘कुन्ती! तुम्हारा यह पुत्र सहस्रनेत्रधारी इन्द्रसे किसी बातमें कम न होगा।’ उत्तर पारियात्र पर्वतपर सब प्राणियोंने तुम्हारे विषयमें यही कहा था कि ‘ये अर्जुन शीघ्र ही पाण्डवोंकी खोयी हुई राजलक्ष्मीको पुनः लौटा लायेंगे। युद्धमें कोई भी इनपर विजय पानेवाला न होगा और ये भी किसीको परास्त किये बिना न रहेंगे” ।। ७—९ ।।

सोऽयं मृत्युवशं यातः कथं जिष्णुर्महाबलः ।
अयं ममाशां संहत्य शेते भूमौ धनंजयः ।। १० ।।
आश्रित्य यं वयं नाथ दुःखान्येतानि सेहिम ।

‘वे ही महाबली अर्जुन आज मृत्युके अधीन कैसे हो गये? ये वे ही धनंजय मेरी आशालताको छिन्न-भिन्न करके धरतीपर पड़े हैं; जिन्हें अपना रक्षक बनाकर और जिनका ही भारी भरोसा करके हमलोग ये सारे दुःख सहते आये हैं ।। १०½ ।।

रणे प्रमत्तौ वीरौ च सदा शत्रुनिबर्हणौ ।। ११ ।।
कथं रिपुवशं यातौ कुन्तीपुत्रौ महाबलौ ।
यौ सर्वास्त्राप्रतिहतौ भीमसेनधनंजयौ ।। १२ ।।

‘कुन्तीके ये दोनों महाबली पुत्र भीमसेन और अर्जुन—जो किसी भी अस्त्रसे प्रतिहत न होनेवाले, समरांगणमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले तथा सदैव शत्रुओंका संहार करनेवाले वीर थे, वे आज सहसा शत्रुके अधीन कैसे हो गये? ।। ११-१२ ।।

अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम दुर्हृदः ।
यमौ यदेतौ दृष्ट्वाद्य पतितौ नावदीर्यते ।। १३ ।।

‘मुझ दुष्टका हृदय निश्चय ही पत्थर और लोहेका बना हुआ है, जो कि आज इन दोनों भाई नकुल और सहदेवको धरतीपर पड़ा देख विदीर्ण नहीं हो जाता है ।। १३ ।।

शास्त्रज्ञा देशकालज्ञास्तपोयुक्ताः क्रियान्विताः ।
अकृत्वा सदृशं कर्म किं शेध्वं पुरुषर्षभाः ।। १४ ।।

‘पुरुषसिंह बन्धुओ! तुमलोग शास्त्रोंके विद्वान् देशकालको समझनेवाले, तपस्वी और कर्मठ वीर थे। अपने योग्य पराक्रम किये बिना ही तुमलोग (प्राणहीन हो) कैसे सो रहे हो? ।। १४ ।।

अविक्षतशरीराश्चाप्यप्रमृष्टशरासनाः ।
असंज्ञा भुवि संगम्य किं शेध्वमपराजिताः ।। १५ ।।

'तुम्हारे शरीरोंमें कोई घाव नहीं है, तुमने धनुष-बाणका स्पर्शतक नहीं किया है तथा तुम किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हो; ऐसी दशामें इस पृथ्वीपर संज्ञाशून्य होकर क्यों पड़े हो?' ।। १५ ।।

सानूनिवाद्रेः संसुप्तान् दृष्ट्वा भ्रातृन् महामतिः ।
सुखं प्रसुप्तान् प्रस्विन्नः खिन्नः कष्टां दशां गतः ।। १६ ।।

परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर धरतीपर पड़े हुए पर्वत-शिखरोंके समान अपने भाइयोंको इस प्रकार सुखकी नींद सोते देखकर बहुत दुःखी हुए। उनके सारे अंगोंमें पसीना निकल आया और वे अत्यन्त कष्टप्रद अवस्थामें पहुँच गये ।। १६ ।।

एवमेवेदमित्युक्त्वा धर्मात्मा स नरेश्वरः ।
शोकसागरमध्यस्थो दध्यौ कारणमाकुलः ।। १७ ।।

'यह ऐसी ही होनहार है', ऐसा कहकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर शोकसागरमें मग्न तथा व्याकुल होकर भाइयोंकी मृत्युके कारणपर विचार करने लगे ।। १७ ।।

इतिकर्तव्यतां चेति देशकालविभागवित् ।
नाभिपेदे महाबाहुश्चिन्तयानो महामतिः ।। १८ ।।

वे यह भी सोचने लगे कि 'अब क्या करना चाहिये?' महाबुद्धिमान् महाबाहु युधिष्ठिर देश और कालके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जाननेवाले थे; तो भी बहुत सोचने-विचारनेपर भी वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके ।। १८ ।।

अथ संस्तभ्य धर्मात्मा तदाऽऽत्मानं तपोयुतः ।
एवं विलप्य बहुधा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।। १९ ।।
बुद्ध्या विचिन्तयामास वीराः केन निपातिताः ।। २० ।।
नैषां शस्त्रप्रहारोऽस्ति पदं नेहास्ति कस्यचित् ।
भूतं महदिदं मन्ये भ्रातरो येन मे हताः ।। २१ ।।

तत्पश्चात् धर्मात्मा और तपस्वी धर्मपुत्र युधिष्ठिर अपने मनको स्थिर करके बहुत विलाप करनेके पश्चात् अपनी बुद्धिद्वारा यह विचार करने लगे—'इन वीरोंको किसने मार गिराया है? इनके शरीरोंमें अस्त्र-शस्त्रोंके आघातका कोई चिह्न नहीं है और न इस स्थानपर किसी दूसरेके पैरोंका निशान ही है। मैं समझता हूँ, अवश्य वह कोई भारी भूत है, जिसने मेरे भाइयोंको मारा है ।। १९—२१ ।।

एकाग्रं चिन्तयिष्यामि पीत्वा वेत्स्यामि वा जलम् ।
स्यात् तु दुर्योधनेनेदमुपांशुविहितं कृतम् ।। २२ ।।

'इस विषयमें मैं चित्तको एकाग्र करके फिर सोचूँगा अथवा पानी पीकर इस रहस्यको समझनेकी चेष्टा करूँगा। सम्भव है, दुर्योधनने चुपके-चुपके कोई षड्यन्त्र किया

हो ।। २२ ।।

गान्धारराजरचितं सततं जिह्मबुद्धिना ।
यस्य कार्यमकार्यं वा सममेव भवत्युत ।। २३ ।।
कस्तस्य विश्वसेद् वीरो दुष्कृतेरकृतात्मनः ।
अथवा पुरुषैर्गूढैः प्रयोगोऽयं दुरात्मनः ।। २४ ।।

‘अथवा जिसकी बुद्धिमें सदा कुटिलता ही निवास करती है, उस गान्धारराज शकुनिकी भी यह करतूत हो सकती है। जिसके लिये कर्तव्य और अकर्तव्य दोनों बराबर हैं, उस अजितात्मा पापी शकुनिपर कौन वीर पुरुष विश्वास कर सकता है? अथवा गुप्तरूपसे नियुक्त किये हुए पुरुषोंद्वारा दुरात्मा दुर्योधनने ही यह हिंसात्मक प्रयोग किया होगा’ ।। २३-२४ ।।

भवेदिति महाबुद्धिर्बहुधा तदचिन्तयत् ।
तस्यासीन्न विषेणेदमुदकं दूषितं यथा ।। २५ ।।

इस प्रकार परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर भाँति-भाँतिकी चिन्ता करने लगे। (परीक्षा करनेपर) उन्हें इस बातका निश्चय हो गया था कि इस सरोवरके जलमें जहर नहीं मिलाया गया है ।। २५ ।।

मृतानामपि चैतेषां विकृतं नैव जायते ।
मुखवर्णाः प्रसन्ना मे भ्रातॄणामित्यचिन्तयत् ।। २६ ।।

‘क्योंकि मर जानेपर भी मेरे इन भाइयोंके शरीरमें कोई विकृति नहीं उत्पन्न हुई है। अब भी मेरे भाइयोंके मुखकी कान्ति प्रसन्न है।’ इस तरह वे सोच-विचारमें ही डूबे रहे ।। २६ ।।

एकैकशश्चोघबलानिमान् पुरुषसत्तमान् ।
कोऽन्यः प्रतिसमासेत कालान्तकयमादृते ।। २७ ।।

‘मेरे इन पुरुषरत्न भाइयोंमेंसे प्रत्येकके शरीरमें बलका अगाध सिन्धु लहराता था। आयु पूर्ण होनेपर सबका अन्त कर देनेवाले यमराजके सिवा दूसरा कौन इनसे भिड़ सकता था?’ ।। २७ ।।

एतेन व्यवसायेन तत् तोयं व्यवगाढवान् ।
गाहमानश्च तत् तोयमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे ।। २८ ।।

इस प्रकार निश्चय करके युधिष्ठिर जलमें उतरे। पानीमें प्रवेश करते ही उनके कानोंमें आकाशवाणी सुनायी दी ।। २८ ।।

यक्ष उवाच

अहं बकः शैवलमत्स्यभक्षो
नीता मया प्रेतवशं तवानुजाः ।
त्वं पञ्चमो भविता राजपुत्र

न चेत् प्रश्नान् पृच्छतो व्याकरोषि ।। २९ ।।

यक्ष बोला—राजकुमार! मैं सेवार और मछली खानेवाला बगुला हूँ। मैंने ही तुम्हारे छोटे भाइयोंको यमलोक भेजा है; अतः मेरे पूछनेपर यदि तुम मेरे प्रश्नोंका उत्तर न दोगे, तो तुम भी यमलोकके पाँचवें अतिथि होओगे ।। २९ ।।

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ।। ३० ।।

तात! जल पीनेका साहस न करना। इसपर मेरा पहलेसे ही अधिकार हो गया है। कुन्तीकुमार! मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो और तब जल पीओ और ले भी जाओ ।। ३० ।।

युधिष्ठिर उवाच

रुद्राणां वा वसूनां वा मरुतां वा प्रधानभाक् ।
पृच्छामि को भवान् देवो नैतच्छकुनिना कृतम् ।। ३१ ।।

युधिष्ठिर बोले—मैं पूछता हूँ, तुम रुद्रों, वसुओं अथवा मरुद्‌गणोंमेंसे कौन-से प्रधान देवता हो? बताओ। यह काम किसी पक्षीका किया हुआ नहीं हो सकता? ।। ३१ ।।

हिमवान् पारियात्रश्च विन्ध्यो मलय एव च ।
चत्वारः पर्वताः केन पातिता भूरितेजसः ।। ३२ ।।

मेरे महातेजस्वी भाई हिमवान्, पारियात्र, विन्ध्य तथा मलय—इन चारों पर्वतोंके समान हैं। इन्हें किसने मार गिराया है? ।। ३२ ।।

अतीव ते महत् कर्म कृतं च बलिनां वर ।
यान् न देवा न गन्धर्वा नासुराश्च न राक्षसाः ।। ३३ ।।
विषहेरन् महायुद्धे कृतं ते तन्महाद्‌भुतम् ।
न ते जानामि यत् कार्यं नाभिजानामि काङ्‌क्षितम् ।। ३४ ।।

बलवानोंमें श्रेष्ठ वीर! तुमने यह अत्यन्त महान् कर्म किया है। बड़े-बड़े युद्धोंमें जिन वीरों-(के प्रभाव)-को देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस भी नहीं सह सकते थे, उन्हें गिराकर तुमने परम अद्‌भुत पराक्रम किया है। तुम्हारा कार्य क्या है? यह मैं नहीं जानता। तुम क्या चाहते हो? इसका भी मुझे पता नहीं है ।।

कौतूहलं महज्जातं साध्वसं चागतं मम ।
येनास्म्युद्विग्नहृदयः समुत्पन्नशिरोज्वरः ।। ३५ ।।
पृच्छामि भगवंस्तस्मात् को भवानिह तिष्ठति ।

तुम्हारे विषयमें मुझे महान् कौतूहल हो गया है। तुमसे मुझे कुछ भय भी लगने लगा है, जिससे मेरा हृदय उद्विग्न हो उठा है और सिरमें संताप होने लगा है। अतः भगवन्! मैं विनयपूर्वक पूछता हूँ, तुम यहाँ कौन विराज रहे हो? ।। ३५ ।।

यक्ष उवाच

यक्षोऽहमस्मि भद्रं ते नास्मि पक्षी जलेचरः ।। ३६ ।।
मयैते निहताः सर्वे भ्रातरस्ते महौजसः ।

यक्षने कहा—तुम्हारा कल्याण हो। मैं जलचर पक्षी नहीं हूँ, यक्ष हूँ। तुम्हारे ये सभी महान् तेजस्वी भाई मेरे द्वारा ही मारे गये हैं ।। ३६½ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तामशिवां श्रुत्वा वाचं स परुषाक्षराम् ।। ३७ ।।
यक्षस्य ब्रुवतो राजन्नुपक्रम्य तदा स्थितः ।
विरूपाक्षं महाकायं यक्षं तालसमुच्छ्रयम् ।। ३८ ।।
ज्वलनार्कप्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम् ।
वृक्षमाश्रित्य तिष्ठन्तं ददर्श भरतर्षभः ।। ३९ ।।
मेघगम्भीरनादेन तर्जयन्तं महास्वनम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् उस समय इस प्रकार बोलनेवाले उस यक्षकी वह अमंगलमयी और कठोर वाणी सुनकर भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर उसके पास जाकर खड़े हो गये। उन्होंने देखा, एक विकट नेत्रोंवाला विशालकाय यक्ष वृक्षके ऊपर बैठा है। वह बड़ा ही दुर्धर्ष, ताड़के समान लंबा, अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी तथा पर्वतके समान ऊँचा है। वही अपनी मेघके समान गम्भीर नादयुक्त वाणीसे उन्हें फटकार रहा है। उसकी आवाज बहुत ऊँची है ।।

यक्ष उवाच

इमे ते भ्रातरो राजन् वार्यमाणा मयासकृत् ।। ४० ।।
बलात् तोयं जिहीर्षन्तस्ततो वै मृदिता मया ।
न पेयमुदकं राजन् प्राणानिह परीप्सता ।। ४१ ।।
पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ।। ४२ ।।

यक्षने कहा—राजन्! तुम्हारे इन भाइयोंको मैंने बार-बार रोका था; फिर भी ये बलपूर्वक जल ले जाना चाहते थे; इसीसे मैंने इन्हें मार डाला। महाराज युधिष्ठिर! यदि तुम्हें अपने प्राण बचानेकी इच्छा हो, तो वहाँ जल नहीं पीना चाहिये। पार्थ! तुम पानी पीनेका साहस न करना, यह पहलेसे ही मेरे अधिकारकी वस्तु है। कुन्तीनन्दन! पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, उसके बाद जल पीओ और ले भी जाओ ।। ४०—४२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

न चाहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम् ।
कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तो हि पुरुषाः सदा ।। ४३ ।।

यदात्मना स्वमात्मानं प्रशंसे पुरुषर्षभ ।
यथाप्रज्ञं तु ते प्रश्नान् प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम् ।। ४४ ।।

युधिष्ठिरने कहा—यक्ष! मैं तुम्हारे अधिकारकी वस्तुको नहीं ले जाना चाहता। मैं स्वयं ही अपनी बड़ाई करूँ; इस बातकी सत्पुरुष कभी प्रशंसा नहीं करते। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दूँगा, तुम मुझसे प्रश्न करो ।। ४३-४४ ।।

यक्ष उवाच

किं स्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याभितश्चराः ।
कश्चैनमस्तं नयति कस्मिंश्च प्रतितिष्ठति ।। ४५ ।।

यक्षने पूछा—सूर्यको कौन ऊपर उठाता (उदित करता) है? उसके चारों ओर कौन चलते हैं? उसे अस्त कौन करता है? और वह किसमें प्रतिष्ठित है? ।। ४५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चराः ।
धर्मश्चास्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति ।। ४६ ।।

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्म सूर्यको ऊपर उठाता (उदित करता) है, देवता उसके चारों ओर चलते हैं, धर्म उसे अस्त करता है और वह सत्यमें प्रतिष्ठित है ।। ४६ ।।

यक्ष उवाच

केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति केनस्विद् विन्दते महत् ।
केनस्विद् द्वितीयवान् भवति राजन् केन च बुद्धिमान् ।। ४७ ।।

यक्षने पूछा—राजन्! मनुष्य श्रोत्रिय किससे होता है? महत्पदको किसके द्वारा प्राप्त करता है? वह किसके द्वारा द्वितीयवान् होता है? और किससे बुद्धिमान् होता है? ।। ४७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विन्दते महत् ।
धृत्या द्वितीयवान् भवति बुद्धिमान् वृद्धसेवया ।। ४८ ।।

युधिष्ठिर बोले—वेदाध्ययनके द्वारा मनुष्य श्रोत्रिय होता है, तपसे महत्पद प्राप्त करता है, धैर्यसे द्वितीयवान् (दूसरे साथीसे युक्त) होता है और वृद्ध पुरुषोंकी सेवासे बुद्धिमान् होता है ।। ४८ ।।

यक्ष उवाच

किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ।। ४९ ।।

यक्षने पूछा—ब्राह्मणोंमें देवत्व क्या है? उनमें सत्पुरुषोंका-सा धर्म क्या है? उनका मनुष्यभाव क्या है? और उनमें असत्पुरुषोंका-सा आचरण क्या है? ।। ४९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव ।
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव ।। ५० ।।

युधिष्ठिर बोले—वेदोंका स्वाध्याय ही ब्राह्मणोंमें देवत्व है, तप सत्पुरुषोंका-सा धर्म है, मरना मनुष्य-भाव है और निन्दा करना असत्पुरुषोंका-सा आचरण है ।। ५० ।।

यक्ष उवाच

किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ।। ५१ ।।

यक्षने पूछा—क्षत्रियोंमें देवत्व क्या है? उनमें सत्पुरुषोंका-सा धर्म क्या है? उनका मनुष्यभाव क्या है? और उनमें असत्पुरुषोंका-सा आचरण क्या है? ।। ५१ ।।

युधिष्ठिर उवाच

इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव ।
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव ।। ५२ ।।

युधिष्ठिर बोले—बाणविद्या क्षत्रियोंका देवत्व है, यज्ञ उनका सत्पुरुषोंका-सा धर्म है, भय मानवीय भाव है और शरणमें आये हुए दुःखियोंका परित्याग कर देना उनमें असत्पुरुषोंका-सा आचरण है ।। ५२ ।।

यक्ष उवाच

किमेकं यज्ञियं साम किमेकं यज्ञियं यजुः ।
का चैषां वृणुते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्तते ।। ५३ ।।

यक्षने पूछा—कौन एक वस्तु यज्ञिय साम है? कौन एक (यज्ञसम्बन्धी) यज्ञिय यजु है? कौन एक वस्तु यज्ञका वरण करती है? और किस एकका यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता? ।। ५३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियं यजुः ।
ऋगेका वृणुते यज्ञं तां यज्ञो नातिवर्तते ।। ५४ ।।

युधिष्ठिर बोले—प्राण ही यज्ञिय साम है, मन ही यज्ञसम्बन्धी यजु है, एकमात्र ऋचा ही यज्ञका वरण करती है और उसीका यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता ।। ५४ ।।

यक्ष उवाच

किंस्विदावपतां श्रेष्ठं किंस्विन्निवपतां वरम् ।
किंस्वित् प्रतिष्ठमानानां किंस्वित् प्रसवतां वरम् ।। ५५ ।।

यक्षने पूछा—खेती करनेवालोंके लिये कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है? बिखेरने (बोने) वालोंके लिये क्या श्रेष्ठ है? प्रतिष्ठाप्राप्त धनियोंके लिये कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है? तथा संतानोत्पादन करनेवालोंके लिये क्या श्रेष्ठ है? ।।

युधिष्ठिर उवाच

वर्षमावपतां श्रेष्ठं बीजं निवपतां वरम् ।
गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरः ।। ५६ ।।

युधिष्ठिर बोले—खेती करनेवालोंके लिये वर्षा श्रेष्ठ है। बिखेरने (बोने) वालोंके लिये बीज श्रेष्ठ है। प्रतिष्ठाप्राप्त धनियोंके लिये गौ (का पालन-पोषण और संग्रह) श्रेष्ठ है और संतानोत्पादन करनेवालोंके लिये पुत्र श्रेष्ठ है ।। ५६ ।।

यक्ष उवाच

इन्द्रियार्थाननुभवन् बुद्धिमाँल्लोकपूजितः ।
सम्मतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन् को न जीवति ।। ५७ ।।

यक्षने पूछा—ऐसा कौन पुरुष है, जो बुद्धिमान्, लोकमें सम्मानित और सब प्राणियोंका माननीय होकर एवं इन्द्रियोंके विषयोंको अनुभव करते तथा श्वास लेते हुए भी वास्तवमें जीवित नहीं है? ।। ५७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन् न स जीवति ।। ५८ ।।

युधिष्ठिरने कहा—जो देवता, अतिथि, भरणीय कुटुम्बीजन, पितर और आत्मा—इन पाँचोंका पोषण नहीं करता, वह श्वास लेनेपर भी जीवित नहीं है ।।

यक्ष उवाच

किंस्विद् गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात् ।
किंस्विच्छीघ्रतरं वायोः किंस्विद् बहुतरं तृणात् ।। ५९ ।।

यक्षने पूछा—पृथ्वीसे भी भारी क्या है? आकाशसे भी ऊँचा क्या है? वायुसे भी तेज चलनेवाला क्या है? और तिनकोंसे भी अधिक (असंख्य) क्या है? ।। ५९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा ।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरी तृणात् ।। ६० ।।

युधिष्ठिर बोले—माताका गौरव पृथ्वीसे भी अधिक है। पिता आकाशसे भी ऊँचा है। मन वायुसे भी तेज चलनेवाला है और चिन्ता तिनकोंसे भी अधिक असंख्य एवं अनन्त है ।। ६० ।।

यक्ष उवाच

किंस्वित् सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति ।
कस्यस्विद्धृदयं नास्ति किंस्विद् वेगेन वर्धते ।। ६१ ।।

यक्षने पूछा—कौन सोनेपर भी आँखें नहीं मूँदता? उत्पन्न होकर भी कौन चेष्टा नहीं करता? किसमें हृदय नहीं है? और कौन वेगसे बढ़ता है ।। ६१ ।।

युधिष्ठिर उवाच

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ।। ६२ ।।

युधिष्ठिर बोले—मछली सोनेपर भी आँखें नहीं मूँदती, अण्डा उत्पन्न होकर भी चेष्टा नहीं करता, पत्थरमें हृदय नहीं है और नदी वेगसे बढ़ती है ।। ६२ ।।

यक्ष उवाच

किंस्वित् प्रवसतो मित्रं किंस्विन्मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य च किं मित्रं किंस्विन्मित्रं मरिष्यतः ।। ६३ ।।

यक्षने पूछा—प्रवासी (परदेशके यात्री)-का मित्र कौन है? गृहवासी (गृहस्थ)-का मित्र कौन है? रोगीका मित्र कौन है? और मृत्युके समीप पहुँचे हुए पुरुषका मित्र कौन है? ।। ६३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य भिषङ्मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ।। ६४ ।।

युधिष्ठिर बोले—सहयात्रियोंका समुदाय अथवा साथमें यात्रा करनेवाला साथी ही प्रवासीका मित्र है, पत्नी गृहवासीका मित्र है, वैद्य रोगीका मित्र है और दान मुमूर्षु (अर्थात् मरनेवाले) मनुष्यका मित्र है ।। ६४ ।।

यक्ष उवाच

कोऽतिथिः सर्वभूतानां किंस्विद् धर्मं सनातनम् ।
अमृतं किंस्विद् राजेन्द्र किंस्वित् सर्वमिदं जगत् ।। ६५ ।।

यक्षने पूछा—राजेन्द्र! समस्त प्राणियोंका अतिथि कौन है? सनातन धर्म क्या है? अमृत क्या है? और यह सारा जगत् क्या है? ।। ६५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अतिथिः सर्वभूतानामग्निः सोमो गवामृतम् ।
सनातनोऽमृतो धर्मो वायुः सर्वमिदं जगत् ।। ६६ ।।

युधिष्ठिर बोले—अग्नि समस्त प्राणियोंका अतिथि है, गौका दूध अमृत है, अविनाशी नित्य धर्म ही सनातन धर्म है और वायु यह सारा जगत् है ।। ६६ ।।

यक्ष उवाच

किंस्विदेको विचरते जातः को जायते पुनः ।
किंस्विद्धिमस्य भैषज्यं किंस्विदावपनं महत् ।। ६७ ।।

यक्षने पूछा—अकेला कौन विचरता है? एक बार उत्पन्न होकर पुनः कौन उत्पन्न होता है? शीतकी ओषधि क्या है? और महान् आवपन (क्षेत्र) क्या है? ।।

युधिष्ठिर उवाच

सूर्य एको विचरते चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ।। ६८ ।।

युधिष्ठिर बोले—सूर्य अकेला विचरता है, चन्द्रमा एक बार जन्म लेकर पुनः जन्म लेता है, अग्नि शीतकी ओषधि है और पृथ्वी बड़ा भारी आवपन है ।। ६८ ।।

यक्ष उवाच

किंस्विदेकपदं धर्म्यं किंस्विदेकपदं यशः ।
किंस्विदेकपदं स्वर्ग्यं किंस्विदेकपदं सुखम् ।। ६९ ।।

यक्षने पूछा—धर्मका मुख्य स्थान क्या है? यशका मुख्य स्थान क्या है? स्वर्गका मुख्य स्थान क्या है? और सुखका मुख्य स्थान क्या है? ।। ६९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः ।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ।। ७० ।।

युधिष्ठिर बोले—धर्मका मुख्य स्थान दक्षता है, यशका मुख्य स्थान दान है, स्वर्गका मुख्य स्थान सत्य है और सुखका मुख्य स्थान शील है ।। ७० ।।

यक्ष उवाच

किंस्विदात्मा मनुष्यस्य किंस्विद् दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं किंस्विदस्य किंस्विदस्य परायणम् ।। ७१ ।।

यक्षने पूछा—मनुष्यकी आत्मा क्या है? इसका दैवकृत सखा कौन है? इसका उपजीवन (जीवनका सहारा) क्या है? और इसका परम आश्रय क्या है? ।।

युधिष्ठिर उवाच

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ।। ७२ ।।

युधिष्ठिर बोले—पुत्र मनुष्यकी आत्मा है, स्त्री इसकी दैवकृत सहचरी है, मेघ उपजीवन है और दान इसका परम आश्रय है ।। ७२ ।।

यक्ष उवाच

धन्यानामुत्तमं किंस्विद् धनानां स्यात् किमुत्तमम् ।
लाभानामुत्तमं किं स्यात् सुखानां स्यात् किमुत्तमम् ।। ७३ ।।

यक्षने पूछा—धन्यवादके योग्य पुरुषोंमें उत्तम गुण क्या है? धनोंमें उत्तम धन क्या है? लाभोंमें प्रधान लाभ क्या है? और सुखोंमें उत्तम सुख क्या है? ।। ७३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम् ।
लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ।। ७४ ।।

युधिष्ठिर बोले—धन्य पुरुषोंमें दक्षता ही उत्तम गुण है, धनोंमें शास्त्रज्ञान प्रधान है, लाभोंमें आरोग्य श्रेष्ठ है और सुखोंमें संतोष ही उत्तम सुख है ।। ७४ ।।

यक्ष उवाच

कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः ।
किं नयम्य न शोचन्ति कैश्च संधिर्न जीर्यते ।। ७५ ।।

यक्षने पूछा—लोकमें श्रेष्ठ धर्म क्या है? नित्य फलवाला धर्म क्या है? किसको वशमें रखनेसे मनुष्य शोक नहीं करते? और किनके साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती? ।। ७५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः ।
मनो यम्य न शोचन्ति संधिः सद्भिर्न जीर्यते ।। ७६ ।।

युधिष्ठिर बोले—लोकमें दया श्रेष्ठ धर्म है, वेदोक्त धर्म नित्य फलवाला है, मनको वशमें रखनेसे मनुष्य शोक नहीं करते और सत्पुरुषोंके साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती ।। ७६ ।।

यक्ष उवाच

किं नु हित्वा प्रियो भवति
किं नु हित्वा न शोचति ।

किं नु हित्वार्थवान् भवति
किं नु हित्वा सुखी भवेत् ।। ७७ ।।

यक्षने पूछा—किस वस्तुको त्यागकर मनुष्य प्रिय होता है? किसको त्यागकर शोक नहीं करता? किसको त्यागकर वह अर्थवान् होता है? और किसको त्यागकर सुखी होता है? ।। ७७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

मानं हित्वा प्रियो भवति
क्रोधं हित्वा न शोचति ।
कामं हित्वार्थवान् भवति
लोभं हित्वा सुखी भवेत् ।। ७८ ।।

युधिष्ठिर बोले—मानको त्याग देनेपर मनुष्य प्रिय होता है, क्रोधको त्यागकर शोक नहीं करता, कामको त्यागकर वह अर्थवान् होता है और लोभको त्यागकर सुखी होता है ।। ७८ ।।

यक्ष उवाच

किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके ।
किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ।। ७९ ।।

यक्षने पूछा—ब्राह्मणको किसलिये दान दिया जाता है? नट और नर्तकोंको क्यों दान देते हैं? सेवकोंको दान देनेका क्या प्रयोजन है? और राजाओंको क्यों दान दिया जाता है? ।। ७९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोऽर्थं नटनर्तके ।
भृत्येषु भरणार्थं वै भयार्थं चैव राजसु ।। ८० ।।

युधिष्ठिर बोले—ब्राह्मणको धर्मके लिये दान दिया जाता है, नट-नर्तकोंको यशके लिये दान (धन) देते हैं, सेवकोंको उनके भरण-पोषणके लिये दान (वेतन) दिया जाता है और राजाओंको भयके कारण दान (कर) देते हैं ।। ८० ।।

यक्ष उवाच

केनस्विदावृतो लोकः केनस्विन्न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ।। ८१ ।।

यक्षने पूछा—जगत् किस वस्तुसे ढका हुआ है? किसके कारण वह प्रकाशित नहीं होता? मनुष्य मित्रोंको किसलिये त्याग देता है? और स्वर्गमें किस कारण नहीं जाता? ।। ८१ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अज्ञानेनावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते ।
लोभात् त्यजति मित्राणि संगात् स्वर्गं न गच्छति ।। ८२ ।।

युधिष्ठिर बोले—जगत् अज्ञानसे ढका हुआ है, तमोगुणके कारण वह प्रकाशित नहीं होता, लोभके कारण मनुष्य मित्रोंको त्याग देता है और आसक्तिके कारण स्वर्गमें नहीं जाता ।। ८२ ।।

यक्ष उवाच

मृतः कथं स्यात् पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् ।
श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात् कथं यज्ञो मृतो भवेत् ।। ८३ ।।

यक्षने पूछा—पुरुष किस प्रकार मरा हुआ कहा जाता है? राष्ट्र किस प्रकार मर जाता है? श्राद्ध किस प्रकार मृत हो जाता है? और यज्ञ कैसे नष्ट हो जाता है? ।।

युधिष्ठिर उवाच

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ।। ८४ ।।

युधिष्ठिर बोले—दरिद्र पुरुष मरा हुआ है यानी मरे हुएके समान है, बिना राजाका राज्य मर जाता है यानी नष्ट हो जाता है, श्रोत्रिय ब्राह्मणके बिना श्राद्ध मृत हो जाता है और बिना दक्षिणाका यज्ञ नष्ट हो जाता है ।।

यक्ष उवाच

का दिक् किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किं च वै विषम् ।
श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च ।। ८५ ।।

यक्षने पूछा—दिशा क्या है? जल क्या है? अन्न क्या है? विष क्या है? और श्राद्धका समय क्या है? यह बताओ। इसके बाद जल पीओ और ले भी जाओ ।। ८५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

सन्तो दिग् जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम् ।
श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे ।। ८६ ।।

युधिष्ठिर बोले—सत्पुरुष दिशा हैं, आकाश जल है, पृथ्वी अन्न है, प्रार्थना (कामना) विष है और ब्राह्मण ही श्राद्धका समय है अथवा यक्ष! इस विषयमें तुम्हारी क्या मान्यता है? ।। ८६ ।।

यक्ष उवाच

तपः किं लक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्तितः ।

क्षमा च का परा प्रोक्ता का च ह्रीः परिकीर्तिता ॥ ८७ ॥

यक्षने पूछा—तपका क्या लक्षण बताया गया है? दम किसे कहा गया है? उत्तम क्षमा क्या बतायी गयी है? और लज्जा किसको कहा गया है? ॥ ८७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः ।
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ॥ ८८ ॥

युधिष्ठिर बोले—अपने धर्ममें तत्पर रहना तप है, मनके दमनका ही नाम दम है, सर्दी-गरमी आदि द्वन्द्वोंको सहन करना क्षमा है तथा न करने योग्य कामसे दूर रहना लज्जा है ॥ ८८ ॥

यक्ष उवाच

किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन् कः शमश्च प्रकीर्तितः ।
दया च का परा प्रोक्ता किं चार्जवमुदाहृतम् ॥ ८९ ॥

यक्षने पूछा—राजन्! ज्ञान किसे कहते हैं? शम क्या कहलाता है? उत्तम दया किसका नाम है? और आर्जव (सरलता) किसे कहते हैं? ॥ ८९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः शमश्चित्तप्रशान्तता ।
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ॥ ९० ॥

युधिष्ठिर बोले—परमात्मतत्त्वका यथार्थ बोध ही ज्ञान है, चित्तकी शान्ति ही शम है, सबके सुखकी इच्छा रखना ही उत्तम दया है और समचित्त होना ही आर्जव (सरलता) है ॥ ९० ॥

यक्ष उवाच

कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनन्तकः ।
कीदृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः ॥ ९१ ॥

यक्षने पूछा—मनुष्योंका दुर्जय शत्रु कौन है? अनन्त व्याधि क्या है? साधु कौन माना जाता है? और असाधु किसे कहते हैं? ॥ ९१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः ।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥ ९२ ॥

युधिष्ठिर बोले—क्रोध दुर्जय शत्रु है, लोभ अनन्त व्याधि है तथा जो समस्त प्राणियोंका हित करनेवाला हो, वही साधु है और निर्दयी पुरुषको ही असाधु माना गया

है ।। ९२ ।।

यक्ष उवाच

को मोहः प्रोच्यते राजन् कश्च मानः प्रकीर्तितः ।
किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकीर्तितः ।। ९३ ।।

यक्षने पूछा—राजन्! मोह किसे कहते हैं? मान क्या कहलाता है? आलस्य किसे जानना चाहिये? और शोक किसे कहते हैं? ।। ९३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

मोहो हि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता ।
धर्मनिष्क्रियताऽऽलस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते ।। ९४ ।।

युधिष्ठिर बोले—धर्ममूढ़ता ही मोह है, आत्माभिमान ही मान है, धर्मका पालन न करना आलस्य है और अज्ञानको ही शोक कहते हैं ।। ९४ ।।

यक्ष उवाच

किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्यमुदाहृतम् ।
स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमिहोच्यते ।। ९५ ।।

यक्षने पूछा—ऋषियोंने स्थिरता किसे कहा है? धैर्य क्या कहलाता है? परम स्नान किसे कहते हैं? और दान किसका नाम है? ।। ९५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः ।
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ।। ९६ ।।

युधिष्ठिर बोले—अपने धर्ममें स्थिर रहना ही स्थिरता है, इन्द्रियनिग्रह धैर्य है, मानसिक मलोंका त्याग करना परम स्नान है और प्राणियोंकी रक्षा करना ही दान है ।।

यक्ष उवाच

कः पण्डितः पुमान् ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते ।
को मूर्खः कश्च कामः स्यात् को मत्सर इति स्मृतः ।। ९७ ।।

यक्षने पूछा—किस पुरुषको पण्डित समझना चाहिये, नास्तिक कौन कहलाता है? मूर्ख कौन है? काम क्या है? तथा मत्सर किसे कहते हैं? ।। ९७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते ।
कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ।। ९८ ।।

युधिष्ठिर बोले—धर्मज्ञको पण्डित समझना चाहिये, मूर्ख नास्तिक कहलाता है और नास्तिक मूर्ख है तथा जो जन्म-मरणरूप संसारका कारण है, वह वासना काम है और हृदयकी जलन ही मत्सर है ।। ९८ ।।

यक्ष उवाच

कोऽहङ्कार इति प्रोक्तः कश्च दम्भः प्रकीर्तितः ।
किं तद् दैवं परं प्रोक्तं किं तत् पैशुन्यमुच्यते ।। ९९ ।।

यक्षने पूछा—अहंकार किसे कहते हैं? दम्भ क्या कहलाता है? जिसे परम दैव कहते हैं, वह क्या है? और पैशुन्य किसका नाम है? ।। ९९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

महाज्ञानमहङ्कारो दम्भो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः ।
दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम् ।। १०० ।।

युधिष्ठिर बोले—महान् अज्ञान अहंकार है, अपनेको झूठ-मूठ बड़ा धर्मात्मा प्रसिद्ध करना दम्भ है, दानका फल दैव कहलाता है और दूसरोंको दोष लगाना पैशुन्य (चुगली) है ।। १०० ।।

यक्ष उवाच

धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः ।
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र संगमः ।। १०१ ।।

यक्षने पूछा—धर्म, अर्थ और काम—ये सब परस्पर विरोधी हैं। इन नित्य-विरुद्ध पुरुषार्थोंका एक स्थानपर कैसे संयोग हो सकता है? ।। १०१ ।।

युधिष्ठिर उवाच

यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः ।। १०२ ।।

युधिष्ठिर बोले—जब धर्म और भार्या—ये दोनों परस्पर अविरोधी होकर मनुष्यके वशमें हो जाते हैं, उस समय धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों परस्पर विरोधियोंका भी एक साथ रहना सहज हो जाता है* ।। १०२ ।।

यक्ष उवाच

अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ ।
एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि ।। १०३ ।।

यक्षने पूछा—भरतश्रेष्ठ! अक्षय नरक किस पुरुषको प्राप्त होता है? मेरे इस प्रश्नका शीघ्र ही उत्तर दो ।। १०३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिञ्चनम् ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ।। १०४ ।।

युधिष्ठिर बोले—जो पुरुष भिक्षा माँगनेवाले किसी अकिञ्चन ब्राह्मणको स्वयं बुलाकर फिर उसे 'नाहीं' कर देता है, वह अक्षय नरकमें जाता है ।। १०४ ।।

वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
देवेषु पितृधर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ।। १०५ ।।

जो पुरुष वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देवता और पितृधर्मोंमें मिथ्याबुद्धि रखता है, वह अक्षय नरकको प्राप्त होता है ।। १०५ ।।

विद्यमाने धने लोभाद् दानभोगविवर्जितः ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ।। १०६ ।।

धन पास रहते हुए भी जो लोभवश दान और भोगसे रहित है तथा (माँगनेवाले ब्राह्मणादिको एवं न्याययुक्त भोगके लिये स्त्री-पुत्रादिको) पीछेसे यह कह देता है कि मेरे पास कुछ नहीं है, वह अक्षय नरकमें जाता है ।। १०६ ।।

यक्ष उवाच

राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम् ।। १०७ ।।

यक्षने पूछा—राजन्! कुल, आचार, स्वाध्याय और शास्त्रश्रवण—इनमेंसे किसके द्वारा ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है? यह बात निश्चय करके बताओ ।। १०७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ।। १०८ ।।

युधिष्ठिर बोले—तात यक्ष! सुनो न तो कुल ब्राह्मणत्वमें कारण है न स्वाध्याय और न शास्त्रश्रवण। ब्राह्मणत्वका हेतु आचार ही है, इसमें संशय नहीं है ।।

वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ।। १०९ ।।

इसलिये प्रयत्नपूर्वक सदाचारकी ही रक्षा करनी चाहिये। ब्राह्मणको तो उसपर विशेषरूपसे दृष्टि रखनी जरूरी है; क्योंकि जिसका सदाचार अक्षुण्ण है, उसका ब्राह्मणत्व भी बना हुआ है और जिसका आचार नष्ट हो गया, वह तो स्वयं भी नष्ट हो गया ।। १०९ ।।

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः ।। ११० ।।

पढ़नेवाले, पढ़ानेवाले तथा शास्त्रका विचार करनेवाले—ये सब तो व्यसनी और मूर्ख ही हैं। पण्डित तो वही है, जो अपने (शास्त्रोक्त) कर्तव्यका पालन करता है ।। ११० ।।

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते ।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ।। १११ ।।

चारों वेद पढ़ा होनेपर भी जो दुराचारी है, वह अधमतामें शूद्रसे भी बढ़कर है। जो (नित्य) अग्निहोत्रमें तत्पर और जितेन्द्रिय है, वही 'ब्राह्मण' कहा जाता है ।।

यक्ष उवाच

प्रियवचनवादी किं लभते
विमृशितकार्यकरः किं लभते ।
बहुमित्रकरः किं लभते
धर्मरतः किं लभते कथय ।। ११२ ।।

यक्षने पूछा—बताओ; मधुर वचन बोलनेवालेको क्या मिलता है? सोच-विचारकर काम करनेवाला क्या पा लेता है? जो बहुत-से मित्र बना लेता है, उसे क्या लाभ होता है? और जो धर्मनिष्ठ है, उसे क्या मिलता है? ।। ११२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

प्रियवचनवादी प्रियो भवति
विमृशितकार्यकरोऽधिकं जयति ।
बहुमित्रकरः सुखं वसते
यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ।। ११३ ।।

युधिष्ठिर बोले—मधुर वचन बोलनेवाला सबको प्रिय होता है, सोच-विचारकर काम करनेवालेको अधिकतर सफलता मिलती है एवं जो बहुत-से मित्र बना लेता है, वह सुखसे रहता है और जो धर्मनिष्ठ है, वह सद्गति पाता है ।। ११३ ।।

यक्ष उवाच

को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्थाः का च वार्तिका ।
ममैतांश्चतुरः प्रश्नान् कथयित्वा जलं पिब ।। ११४ ।।

यक्षने पूछा—सुखी कौन है? आश्चर्य क्या है? मार्ग क्या है और वार्ता क्या है? मेरे इन चार प्रश्नोंका उत्तर देकर जल पीओ ।। ११४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे ।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते ।। ११५ ।।

युधिष्ठिर बोले—जलचर यक्ष! जिस पुरुषपर ऋण नहीं है और जो परदेशमें नहीं है, वह भले ही पाँचवें या छठे दिन अपने घरके भीतर साग-पात ही पकाकर खाता हो, तो भी वही सुखी है ।। ११५ ।।

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ।। ११६ ।।

संसारसे रोज-रोज प्राणी यमलोकमें जा रहे हैं; किंतु जो बचे हुए हैं, वे सर्वदा जीते रहनेकी इच्छा करते हैं; इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा? ।। ११६ ।।

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ।। ११७ ।।

तर्कको कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें निहित है अर्थात् अत्यन्य गूढ़ है; अतः जिससे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है ।। ११७ ।।

अस्मिन् महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता ।। ११८ ।।

इस महामोहरूपी कड़ाहेमें भगवान् काल समस्त प्राणियोंको मास और ऋतुरूप करछीसे उलट-पलटकर सूर्यरूप अग्नि और रात-दिनरूप ईंधनके द्वारा राँध रहे हैं, यही वार्ता है ।। ११८ ।।

यक्ष उवाच

व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना याथातथ्यं परंतप ।
पुरुषं त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः ।। ११९ ।।

यक्षने पूछा—परंतप! तुमने मेरे सब प्रश्नोंके उत्तर ठीक-ठीक दे दिये, अब तुम पुरुषकी भी व्याख्या कर दो और यह बताओ कि सबसे बड़ा धनी कौन है? ।।

युधिष्ठिर उवाच

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा ।
यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते ।। १२० ।।

युधिष्ठिर बोले—जिस व्यक्तिके पुण्यकर्मोंकी कीर्तिका शब्द जबतक स्वर्ग और भूमिको स्पर्श करता है, तबतक वह पुरुष कहलाता है ।। १२० ।।

तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च ।

अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ।। १२१ ।।

जो मनुष्य प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख और भूत-भविष्यत्—इन द्वन्द्वोंमें सम है, वही सबसे बड़ा धनी है ।। १२१ ।।

(भूतभव्यभविष्येषु निःस्पृहः शान्तमानसः ।
सुप्रसन्नः सदा योगी स वै सर्वधनीश्वरः ।।)

जो भूत, वर्तमान और भविष्य सभी विषयोंकी ओरसे निःस्पृह, शान्तचित्त, सुप्रसन्न और सदा योगयुक्त है, वही सब धनियोंका स्वामी है ।।

यक्ष उवाच

व्याख्यातः पुरुषो राजन् यश्च सर्वधनी नरः ।
तस्मात् त्वमेकं भ्रातॄणां यमिच्छसि स जीवतु ।। १२२ ।।

यक्षने कहा—राजन्! जो सबसे बढ़कर धनी पुरुष है, उसकी तुमने ठीक-ठीक व्याख्या कर दी; इसलिये अपने भाइयोंमेंसे जिस एकको तुम चाहो, वही जीवित हो सकता है ।। १२२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो य एष रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोत्थितः ।
व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष जीवतु ।। १२३ ।।

युधिष्ठिर बोले—यक्ष! यह जो श्यामवर्ण, अरुणनयन, सुविशाल शालवृक्षके समान ऊँचा और चौड़ी छातीवाला महाबाहु नकुल है, वही जीवित हो जाय ।। १२३ ।।

यक्ष उवाच

प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम् ।
स कस्मान्नकुलं राजन् सापत्नं जीवमिच्छसि ।। १२४ ।।

यक्षने कहा—राजन्! यह तुम्हारा प्रिय भीमसेन है और यह तुमलोगोंका सबसे बड़ा सहारा अर्जुन है; इन्हें छोड़कर तुम किसलिये सौतेले भाई नकुलको जिलाना चाहते हो? ।। १२४ ।।

यस्य नागसहस्रेण दशसंख्येन वै बलम् ।
तुल्यं तं भीममुत्सृज्य नकुलं जीवमिच्छसि ।। १२५ ।।

जिसमें दस हजार हाथियोंके समान बल है, उस भीमको छोड़कर तुम नकुलको ही क्यों जिलाना चाहते हो? ।। १२५ ।।

तथैनं मनुजाः प्राहुर्भीमसेनं प्रियं तव ।
अथ केनानुभावेन सापत्नं जीवमिच्छसि ।। १२६ ।।

सभी मनुष्य भीमसेनको तुम्हारा प्रिय बतलाते हैं; उसे छोड़कर भला सौतेले भाई नकुलमें तुम कौन-सा सामर्थ्य देखकर उसे जिलाना चाहते हो? ।। १२६ ।।

यस्य बाहुबलं सर्वे पाण्डवाः समुपासते ।
अर्जुनं तमपाहाय नकुलं जीवमिच्छसि ।। १२७ ।।

जिसके बाहुबलका सभी पाण्डवोंको पूरा भरोसा है, उस अर्जुनको भी छोड़कर तुम्हें नकुलको जिला देनेकी इच्छा क्यों है? ।। १२७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद् धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।। १२८ ।।

युधिष्ठिर बोले—यदि धर्मका नाश किया जाय, तो वह नष्ट हुआ धर्म ही कर्ताको भी नष्ट कर देता है और यदि उसकी रक्षा की जाय, तो वही कर्ताकी भी रक्षा कर लेता है। इसीसे मैं धर्मका त्याग नहीं करता कि कहीं नष्ट होकर वह धर्म मेरा ही नाश न कर दे ।। १२८ ।।

आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम् ।
आनृशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु ।। १२९ ।।

यक्ष! मेरा ऐसा विचार है कि वस्तुतः अनृशंसता (दया तथा समता) ही परम धर्म है। यही सोचकर मैं सबके प्रति दया और समानभाव रखना चाहता हूँ; इसलिये नकुल ही जीवित हो जाय ।। १२९ ।।

धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः ।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु ।। १३० ।।

यक्ष! लोग मेरे विषयमें ऐसा समझते हैं कि राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं; अतएव मैं अपने धर्मसे विचलित नहीं होऊँगा। मेरा भाई नकुल जीवित हो जाय ।। १३० ।।

कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम ।
उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः ।। १३१ ।।

मेरे पिताके कुन्ती और माद्री नामकी दो भार्याएँ रहीं। वे दोनों ही पुत्रवती बनी रहें, ऐसा मेरा विचार है ।। १३१ ।।

यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः ।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ।। १३२ ।।

यक्ष! मेरे लिये जैसी कुन्ती है, वैसी ही माद्री। उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। मैं दोनों माताओंके प्रति समानभाव ही रखना चाहता हूँ। इसलिये नकुल ही जीवित हो ।। १३२ ।।

यक्ष उवाच

तस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम् ।

तस्मात् ते भ्रातरः सर्वे जीवन्तु भरतर्षभ ।। १३३ ।।

यक्षने कहा—भरतश्रेष्ठ! तुमने अर्थ और कामसे भी अधिक दया और समताका आदर किया है, इसलिये तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जायँ ।। १३३ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि यक्षप्रश्ने त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३१३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें यक्षप्रश्नविषयक तीन सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३१३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १३४ श्लोक हैं।)

---

* धर्मानुकूल प्राप्त भार्यासे धर्मका विरोध नहीं होता एवं वह पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली हो, तो धर्मसे उसका विरोध नहीं होता। इस प्रकार धर्मानुसार प्राप्त पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली स्त्री और धर्म दोनों जिसके अनुकूल हो जाते हैं, वह धर्मात्मा गृहस्थ कभी दरिद्र नहीं होता। इसलिये उसके घरमें धर्म, अर्थ और काम तीनों बिना विरोधके एक साथ रह सकते हैं।

चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

यक्षका चारों भाइयोंको जिलाकर धर्मके रूपमें प्रकट हो युधिष्ठिरको वरदान देना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते यक्षवचनादुदतिष्ठन्त पाण्डवाः ।
क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणेन व्यपगच्छताम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर यक्षके कहते ही सब पाण्डव उठकर खड़े हो गये तथा एक क्षणमें ही उन सबकी भूख-प्यास जाती रही ।। १ ।।

युधिष्ठिर उवाच

सरस्येकेन पादेन तिष्ठन्तमपराजितम् ।
पृच्छामि को भवान् देवो न मे यक्षो मतो भवान् ।। २ ।।

युधिष्ठिर बोले—इस सरोवरमें एक पैरसे खड़े हुए, किसीसे भी पराजित न होनेवाले आपसे मैं पूछता हूँ—आप कौन देवश्रेष्ठ हैं? मुझे तो आप यक्ष नहीं मालूम होते ।। २ ।।

वसूनां वा भवानेको रुद्राणामथवा भवान् ।
अथवा मरुतां श्रेष्ठो वज्री वा त्रिदशेश्वरः ।। ३ ।।

आप वसुओंमेंसे, रुद्रोंमेंसे अथवा मरुद्‌गणोंमेंसे कोई एक श्रेष्ठ पुरुष तो नहीं हैं? अथवा आप स्वयं वज्रधारी देवराज इन्द्र ही हैं? ।। ३ ।।

मम हि भ्रातर इमे सहस्रशतयोधिनः ।
तं योधं न प्रपश्यामि येन सर्वे निपातिताः ।। ४ ।।

मेरे ये भाई तो लाखों वीरोंसे युद्ध करनेवाले हैं। ऐसा तो मैंने कोई योद्धा नहीं देखा, जिसने इन सभीको रणभूमिमें गिरा दिया हो ।। ४ ।।

सुखं प्रतिप्रबुद्धानामिन्द्रियाण्युपलक्षये ।
स भवान् सुहृदोऽस्माकमथवा नः पिता भवान् ।। ५ ।।

अब जीवित होनेपर भी इनकी इन्द्रियाँ सुखकी नींद सोकर उठे हुए पुरुषोंके समान स्वस्थ दिखायी देती हैं, अतः आप हमारे कोई सुहृद् हैं अथवा पिता? ।। ५ ।।

यक्ष उवाच

अहं ते जनकस्तात धर्मोऽमृदुपराक्रम ।
त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरतर्षभ ।। ६ ।।

यक्षने कहा—प्रचण्ड पराक्रमी भरतश्रेष्ठ तात! युधिष्ठिर! मैं तुम्हारा जन्मदाता पिता धर्मराज हूँ। तुम्हें देखनेकी इच्छासे ही मैं यहाँ आया हूँ, मुझे पहचानो ।। ६ ।।

यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम् ।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ।। ७ ।।

यश, सत्य, दम, शौच, सरलता, लज्जा, अचंचलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य—ये सब मेरे शरीर हैं ।। ७ ।।

अहिंसा समता शान्तिरानृशंस्यममत्सरः ।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ।। ८ ।।

अहिंसा, समता, शान्ति, दया और अमत्सर—डाहका न होना—इन्हें मेरे पास पहुँचनेके द्वार समझो। तुम मुझे सदा प्रिय हो ।। ८ ।।

दिष्ट्या पञ्चसु रक्तोऽसि दिष्ट्या ते षट्पदी जिता ।
द्वे पूर्वे मध्यमे द्वे च द्वे चान्ते साम्परायिके ।। ९ ।।

सौभाग्यवश तुम्हारा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान—इन पाँचों साधनोंपर अनुराग है तथा सौभाग्यसे तुमने भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मृत्यु—इन छहों दोषोंको जीत लिया है। इनमेंसे पहले दो दोष आरम्भसे ही रहते हैं, बीचके दो तरुणावस्था आनेपर होते हैं तथा बादवाले दो दोष अन्तिम समयपर आते हैं ।। ९ ।।

धर्मोऽहमिति भद्रं ते जिज्ञासुस्त्वामिहागतः ।
आनृशंस्येन तुष्टोऽस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ ।। १० ।।

तुम्हारा मंगल हो। मैं धर्म हूँ और तुम्हारा व्यवहार जाननेकी इच्छासे ही यहाँ आया हूँ। निष्पाप राजन्! तुम्हारी दयालुता और समदर्शितासे मैं तुमपर प्रसन्न हूँ और तुम्हें वर देना चाहता हूँ ।। १० ।।

वरं वृणीष्व राजेन्द्र दाता ह्यस्मि तवानघ ।
ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गतिः ।। ११ ।।

पापरहित राजेन्द्र! तुम मनोऽनुकूल वर माँग लो। मैं तुम्हें अवश्य दे दूँगा। जो मनुष्य मेरे भक्त हैं, उनकी कभी दुर्गति नहीं होती ।। ११ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अरणीसहितं यस्य मृगो ह्यादाय गच्छति ।
तस्याग्नयो न लुप्येरन् प्रथमोऽस्तु वरो मम ।। १२ ।।

युधिष्ठिर बोले—भगवन्! पहला वर तो मैं यही माँगता हूँ कि जिस ब्राह्मणके अरणीसहित मन्थन-काष्ठको मृग लेकर भाग गया है, उसके अग्निहोत्रका लोप न हो ।। १२ ।।

यक्ष उवाच

अरणीसहितं ह्यस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया ।
मृगवेषेण कौन्तेय जिज्ञासार्थं तव प्रभो ।। १३ ।।

यक्षने कहा—कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर! उस ब्राह्मणके अरणीसहित मन्थनकाष्ठको तो तुम्हारी परीक्षाके लिये मैं ही मृगरूपसे लेकर भाग गया था ।।

वैशम्पायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ।
अन्यं वरय भद्रं ते वरं त्वममरोपम ।। १४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—इसके बाद भगवान् धर्मने उत्तर दिया कि (लो, अरणी और मन्थनकाष्ठ) तुम्हें दे ही देता हूँ। देवोपम नरेश! तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम कोई दूसरा वर माँगो ।। १४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

वर्षाणि द्वादशारण्ये त्रयोदशमुपस्थितम् ।
तत्र नो नाभिजानीयुर्वसतो मनुजाः क्वचित् ।। १५ ।।

युधिष्ठिर बोले—हम बारह वर्षतक वनमें रह चुके। अब तेरहवाँ वर्ष आ लगा है। अतः ऐसा वर दीजिये कि इसमें कहीं भी रहनेपर लोग हमें पहचान न सकें ।। १५ ।।

वैशम्पायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ।
भूयश्चाश्वासयामास कौन्तेयं सत्यविक्रमम् ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर भगवान् धर्मने उत्तरमें कहा—'मैं तुम्हें यह वर भी देता हूँ।' इसके बाद धर्मराजने पुनः सत्यपराक्रमी युधिष्ठिरको आश्वासन देते हुए कहा— ।। १६ ।।

यद्यपि स्वेन रूपेण चरिष्यथ महीमिमाम् ।
न वो विज्ञास्यते कश्चित् त्रिषु लोकेषु भारत ।। १७ ।।

'भरतनन्दन! यद्यपि तुम इस पृथ्वीपर इसी रूपसे विचरोगे, तो भी तीनों लोकोंमें कोई भी तुम्हें नहीं पहचान सकेगा ।। १७ ।।

वर्षं त्रयोदशमिदं मत्प्रसादात् कुरूद्वहाः ।
विराटनगरे गूढा अविज्ञाताश्चरिष्यथ ।। १८ ।।

'कुरुनन्दन पाण्डवगण! मेरी कृपासे तुमलोग तेरहवें वर्षमें गुप्तरूपसे विराटनगरमें रहते हुए किसीसे भी पहचाने न जाकर विचरण करोगे ।। १८ ।।

यद् वः संकल्पितं रूपं मनसा यस्य यादृशम् ।
तादृशं तादृशं सर्वे छन्दतो धारयिष्यथ ।। १९ ।।

'तथा तुममेंसे जो-जो मनसे जैसा संकल्प करेगा, वह इच्छानुसार वैसा-वैसा ही रूप धारण कर सकेगा ।। १९ ।।

अरणीसहितं चेदं ब्राह्मणाय प्रयच्छत ।
जिज्ञासार्थं मया ह्येतदाहृतं मृगरूपिणा ।। २० ।।

'यह अरणीसहित मन्थनकाष्ठ उस ब्राह्मणको दे दो। तुम्हारी परीक्षाके लिये ही मैंने मृगका रूप धारण करके इसका हरण किया था ।। २० ।।

प्रवृणीष्वापरं सौम्य वरमिष्टं ददानि ते ।
न तृप्यामि नरश्रेष्ठ प्रयच्छन् वै वरांस्तथा ।। २१ ।।

'सौम्य! इसके अतिरिक्त तुम एक और भी अभीष्ट वर माँग लो। वह मैं तुम्हें दूँगा। नरश्रेष्ठ! तुम्हें वर देते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ।। २१ ।।

तृतीयं गृह्यतां पुत्र वरमप्रतिमं महत् ।
त्वं हि मत्प्रभवो राजन् विदुरश्च ममांशजः ।। २२ ।।

'बेटा! तुम तीसरा भी महान् एवं अनुपम वर माँग लो। राजन्! तुम मेरे पुत्र हो और विदुरने भी मेरे ही अंशसे जन्म लिया है' ।। २२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

देवदेवो मया दृष्टो भवान् साक्षात् सनातनः ।
यं ददासि वरं तुष्टस्तं ग्रहीष्याम्यहं पितः ।। २३ ।।

युधिष्ठिर बोले—पिताजी! आप सनातन देवाधिदेव हैं। आज मुझे साक्षात् आपके दर्शन हो गये। आप प्रसन्न होकर मुझे जो भी वर देंगे, उसे मैं शिरोधार्य करूँगा ।। २३ ।।

जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो ।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् ।। २४ ।।

विभो! मुझे ऐसा वर दीजिये कि मैं लोभ, मोह और क्रोधको जीत सकूँ तथा दान, तप और सत्यमें सदा मेरा मन लगा रहे ।। २४ ।।

धर्म उवाच

उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव ।
भवान् धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति ।। २५ ।।

धर्मराजने कहा—पाण्डुपुत्र! तुम तो स्वयं धर्म-स्वरूप ही हो। अतः इन गुणोंसे तो स्वभावसे ही सम्पन्न हो। आगे भी तुम्हारे कथनानुसार तुममें ये सब धर्म बने रहेंगे ।। २५ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वान्तर्दधे धर्मो भगवाँल्लोकभावनः ।
समेताः पाण्डवाश्चैव सुखसुप्ता मनस्विनः ।। २६ ।।
उपेत्य चाश्रमं वीराः सर्व एव गतक्लमाः ।
आरणेयं ददुस्तस्मै ब्राह्मणाय तपस्विने ।। २७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर लोकरक्षक भगवान् धर्म अन्तर्धान हो गये एवं सुखपूर्वक सोकर उठनेसे श्रमरहित हुए मनस्वी वीर पाण्डवगण एकत्र होकर आश्रममें लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने उस तपस्वी ब्राह्मणको उसकी अरणी एवं मन्थनकाष्ठ दे दिये ।।

इदं समुत्थानसमागतं महत्
पितुश्च पुत्रस्य च कीर्तिवर्धनम् ।
पठन् नरः स्याद् विजितेन्द्रियो वशी
सपुत्रपौत्रः शतवर्षभाग् भवेत् ।। २८ ।।

भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवके पुनः जीवनलाभ करनेसे सम्बन्ध रखनेवाले तथा पिता धर्म और पुत्र युधिष्ठिरके संवाद तथा समागमरूप कीर्तिको बढ़ानेवाले इस प्रशस्त उपाख्यानका जो पुरुष पाठ करता है, वह जितेन्द्रिय, वशी तथा पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न होकर सौ वर्षतक जीवित रहता है ।। २८ ।।

न चाप्यधर्मे न सुहृद्विभेदने
परस्वहारे परदारमर्शने ।
कदर्यभावे न रमेन्मनः सदा
नृणां सदाख्यानमिदं विजानताम् ।। २९ ।।

तथा जो लोग सदा इस मनोहर उपाख्यानको स्मरण रखेंगे; उनका मन अधर्ममें, सुहृदोंके भीतर फूट डालनेमें, दूसरोंका धन हरनेमें, परस्त्रीगमनमें अथवा कृपणतामें कभी प्रवृत्त नहीं होगा ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि नकुलादिजीवनादिवरप्राप्तौ चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३१४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें नकुल आदिके जीवित होने आदि वरोंकी प्राप्तिविषयक तीन सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३१४ ।।

पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अज्ञातवासके लिये अनुमति लेते समय शोकाकुल हुए युधिष्ठिरको महर्षि धौम्यका समझाना, भीमसेनका उत्साह देना तथा आश्रमसे दूर जाकर पाण्डवोंका परस्पर परामर्शके लिये बैठना

वैशम्पायन उवाच

धर्मेण तेऽभ्यनुज्ञाताः पाण्डवाः सत्यविक्रमाः ।
अज्ञातवासं वत्स्यन्तश्छन्ना वर्षं त्रयोदशम् ।। १ ।।
उपोपविष्टा विद्वांसः सहिताः संशितव्रताः ।
ये तद्भक्ता वसन्ति स्म वनवासे तपस्विनः ।। २ ।।
तानब्रुवन् महात्मानः स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ।
अभ्यनुज्ञापयिष्यन्तस्तं निवासं धृतव्रताः ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराजकी अनुमति पाकर सत्यपराक्रमी पाण्डव तेरहवें वर्षमें छिपकर अज्ञातवास करनेकी इच्छासे एकत्र हो विचार-विमर्शके लिये आस-पास बैठे। वे सब-के-सब उत्तम व्रतका पालन करनेवाले और विद्वान् थे। वनवासके समय जो तपस्वी ब्राह्मण पाण्डवोंके प्रति स्नेह होनेके कारण उनके साथ रहते थे, उनसे अज्ञातवासके हेतु आज्ञा लेनेके लिये व्रतधारी महात्मा पाण्डव हाथ जोड़कर खड़े हो इस प्रकार बोले— ।। १—३ ।।

विदितं भवतां सर्वं धार्तराष्ट्रैर्यथा वयम् ।
छद्मना हृतराज्याश्चानयाश्च बहुशः कृताः ।। ४ ।।

‘मुनिवरो! धृतराष्ट्रके पुत्रोंने जिस प्रकार छल करके हमारा राज्य हर लिया और हमपर बारंबार अत्याचार किया, वह सब आपलोगोंको विदित ही है ।। ४ ।।

उषिताश्च वने कृच्छ्रे वयं द्वादश वत्सरान् ।
अज्ञातवाससमयं शेषं वर्षं त्रयोदशम् ।। ५ ।।

'हमलोग कष्टदायक वनमें बारह वर्षोंतक रह लिये। अब अन्तिम तेरहवाँ वर्ष हमारे अज्ञातवासका समय है ।। ५ ।।

तद् वसामो वयं छन्नास्तदनुज्ञातुमर्हथ ।
सुयोधनश्च दुष्टात्मा कर्णश्च सहसौबलः ।। ६ ।।
जानन्तो विषमं कुर्युरस्मास्वत्यन्तवैरिणः ।
युक्तचाराश्च युक्ताश्च पौरस्य स्वजनस्य च ।। ७ ।।

'अतः इस वर्ष हम छिपकर रहना चाहते हैं। इसके लिये आपलोग हमें आज्ञा दें। दुष्टात्मा दुर्योधन, कर्ण और शकुनि हमसे अत्यन्त वैर रखते हैं। वे स्वयं तो हमारा पता लगानेको उद्यत हैं ही, उन्होंने गुप्तचर भी लगा रखे हैं। अतः यदि उन्हें हमारे रहनेका पता चल जायगा, तो वे हमसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरजनों तथा स्वजनोंके साथ भी विषम (बुरा) बर्ताव कर सकते हैं ।। ६-७ ।।

अपि नस्तद् भवेद् भूयो यद् वयं ब्राह्मणैः सह ।
समस्ताः स्वेषु राष्ट्रेषु स्वराज्यस्था भवेमहि ।। ८ ।।

'क्या हमारे सामने फिर कभी ऐसा अवसर आयेगा, जब कि हम सब भाई ब्राह्मणोंके साथ अपने राष्ट्रमें रहेंगे—अपने राज्यपर प्रतिष्ठित होंगे' ।। ८ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा दुःखशोकार्तः शुचिर्धर्मसुतस्तदा ।
सम्मूर्छितोऽभवद् राजा साश्रुकण्ठो युधिष्ठिरः ।। ९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर पवित्र अन्तःकरणवाले धर्मनन्दन राजा युधिष्ठिर दुःख और शोकसे आतुर होकर मूर्च्छित हो गये। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी और कण्ठ अवरुद्ध हो गया था ।। ९ ।।

तमथाश्वासयन् सर्वे ब्राह्मणा भ्रातृभिः सह ।
अथ धौम्योऽब्रवीद् वाक्यं महार्थं नृपतिं तदा ।। १० ।।

उस समय उनके भाइयोंसहित समस्त ब्राह्मणोंने उन्हें आश्वासन दिया। तत्पश्चात् महर्षि धौम्यने राजा युधिष्ठिरसे यह गम्भीर अर्थयुक्त वचन कहा— ।। १० ।।

राजन् विद्वान् भवान् दान्तः
सत्यसंधो जितेन्द्रियः ।
नैवंविधाः प्रमुह्यन्ते
नराः कस्याञ्चिदापदि ।। ११ ।।

'राजन्! आप विद्वान्, मनको वशमें रखनेवाले, सत्यप्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय हैं। आप-जैसे मनुष्य किसी भी आपत्तिमें मोहित नहीं होते अर्थात् अपना धैर्य और विवेक नहीं खोते हैं ।। ११ ।।

देवैरप्यापदः प्राप्ताश्छन्नैश्च बहुशस्तथा ।
तत्र तत्र सपत्नानां निग्रहार्थं महात्मभिः ।। १२ ।।

'महामना देवताओंको भी जहाँ-तहाँ शत्रुओंके निग्रहके लिये अनेक बार छिपकर रहना और विपत्तियोंको भोगना पड़ा है ।। १२ ।।

इन्द्रेण निषधान् प्राप्य गिरिप्रस्थाश्रमे तदा ।
छन्नेनोष्य कृतं कर्म द्विषतां च विनिग्रहे ।। १३ ।।

'देवराज इन्द्र शत्रुओंका दमन करनेके लिये गुप्तरूपसे निषधदेशमें गये और गिरिप्रस्थाश्रममें छिपे रहकर उन्होंने अपना कार्य सिद्ध किया ।। ५३ ।।

विष्णुनाश्वशिरः प्राप्य तथादित्यां निवत्स्यता ।
गर्भे वधार्थं दैत्यानामज्ञातेनोषितं चिरम् ।। १४ ।।

'भगवान् विष्णु भी दैत्योंका वध करनेके लिये हयग्रीवस्वरूप धारण करके अज्ञातभावसे अदितिके गर्भमें दीर्घकालतक रहे हैं ।। १४ ।।

प्राप्य वामनरूपेण प्रच्छन्नं ब्रह्मरूपिणा ।
बलेर्यथा हृतं राज्यं विक्रमैस्तच्च ते श्रुतम् ।। १५ ।।

'उन्होंने ही ब्राह्मणवेषमें वामनरूप धारण करके अपने तीन पगोंद्वारा जिस प्रकार छिपे तौरपर राजा बलिका राज्य हर लिया था, वह सब तो तुमने सुना ही होगा ।।

हुताशनेन यच्चापः प्रविश्यच्छन्नमासता ।
विबुधानां कृतं कर्म तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ।। १६ ।।

‘अग्निने जलमें प्रवेश करके वहीं छिपे रहकर देवताओंका कार्य जिस प्रकार सिद्ध किया, वह सब कुछ भी तुम सुन चुके हो ।। १६ ।।

प्रच्छन्नं चापि धर्मज्ञ हरिणारिविनिग्रहे ।
वज्रं प्रविश्य शक्रस्य यत् कृतं तच्च ते श्रुतम् ।। १७ ।।

‘धर्मज्ञ! भगवान् श्रीहरिने शत्रुओंके विनाशके लिये छिपे तौरपर इन्द्रके वज्रमें प्रवेश करके जो कार्य किया, वह भी तुम्हारे कानोंमें पड़ा होगा ।। १७ ।।

और्वेण वसता छन्नमूरौ ब्रह्मर्षिणा तदा ।
यत् कृतं तात देवेषु कर्म तत्तेऽनघ श्रुतम् ।। १८ ।।

‘तात! निष्पाप नरेश! ब्रह्मर्षि और्वने (माताके) ऊरुमें गुप्तरूपसे निवास करते हुए जो देवकार्य सिद्ध किया था, वह भी तुम्हारे सुननेमें आया ही होगा ।। १८ ।।

एवं विवस्वता तात छन्नेनोत्तमतेजसा ।
निर्दग्धाः शात्रवाः सर्वे वसता भुवि सर्वशः ।। १९ ।।

‘तात! इसी प्रकार महातेजस्वी भगवान् सूर्यने भी पृथ्वीपर गुप्तरूपसे निवास करके समस्त शत्रुओंको दग्ध किया है ।। १९ ।।

विष्णुना वसता चापि गृहे दशरथस्य वै ।
दशग्रीवो हतश्छन्नं संयुगे भीमकर्मणा ।। २० ।।

‘भयंकर पराक्रमी भगवान् विष्णुने भी श्रीरामरूपसे दशरथके घरमें छिपे रहकर युद्धमें दशमुख रावणका वध किया था ।। २० ।।

एवमेव महात्मानः प्रच्छन्नास्तत्र तत्र ह ।
अजयञ्छात्रवान् युद्धे तथा त्वमपि जेष्यसि ।। २१ ।।

‘इसी प्रकार कितने ही महामना वीर पुरुषोंने यत्र-तत्र छिपे रहकर युद्धमें शत्रुओंपर विजय पायी है। इसी प्रकार तुम भी विजयी होओगे’ ।। २१ ।।

तथा धौम्येन धर्मज्ञो वाक्यैः सम्परितोषितः ।
शास्त्रबुद्धया स्वबुद्धया च न चचाल युधिष्ठिरः ।। २२ ।।

महर्षि धौम्यने जब इस प्रकार युक्तियुक्त वचनोंद्वारा धर्मज्ञ युधिष्ठिरको संतोष प्रदान किया, तब वे शास्त्रज्ञान और अपने बुद्धिबलके कारण (धर्मसे) विचलित नहीं हुए ।। २२ ।।

अथाब्रवीन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ।
राजानं बलिनां श्रेष्ठो गिरा सम्परिहर्षयन् ।। २३ ।।

तदनन्तर बलवानोंमें श्रेष्ठ महाबली महाबाहु भीमसेनने अपनी वाणीसे राजा युधिष्ठिरका हर्ष और उत्साह बढ़ाते हुए कहा— ।। २३ ।।

अवेक्षया महाराज तव गाण्डीवधन्वना ।

धर्मानुगतया बुद्ध्या न किञ्चित् साहसं कृतम् ।। २४ ।।

'महाराज! गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुनने आपके आदेशकी प्रतीक्षा तथा अपनी धर्मानुगामिनी बुद्धिके कारण ही अबतक कोई साहसका कार्य नहीं किया है ।। २४ ।।

सहदेवो मया नित्यं नकुलश्च निवारितौ ।
शक्तौ विध्वंसने तेषां शत्रूणां भीमविक्रमौ ।। २५ ।।

'भयंकर पराक्रमी नकुल और सहदेव उन सब शत्रुओंका विध्वंस करनेमें समर्थ हैं। इन दोनोंको मैं ही सदा रोकता आया हूँ ।। २५ ।।

न वयं तत् प्रहास्यामो यस्मिन् योक्ष्यति नो भवान् ।
भवान् विधत्तां तत् सर्वं क्षिप्रं जेष्यामहे रिपून् ।। २६ ।।

'आप हमें जिस कार्यमें लगा देंगे, उसे हमलोग पूरा किये बिना नहीं छोड़ेंगे। अतः आप युद्धकी सारी व्यवस्था कीजिये। हम शत्रुओंपर शीघ्र ही विजय पायेंगे' ।। २६ ।।

इत्युक्ते भीमसेनेन ब्राह्मणाः परमाशिषा ।
उक्त्वा चापृच्छ्य भरतान्यथास्वान्स्वान्ययुर्गृहान् ।। २७ ।।

भीमसेनके ऐसा कहनेपर सब ब्राह्मण पाण्डवोंको उत्तम आशीर्वाद देकर और उन भरतवंशियोंसे अनुमति लेकर अपने-अपने घरोंको चले गये ।। २७ ।।

सर्वे वेदविदो मुख्या यतयो मुनयस्तथा ।
आसेदुस्ते यथान्यायं पुनर्दर्शनकाङ्क्षया ।। २८ ।।

वेदोंके ज्ञाता समस्त प्रधान-प्रधान संन्यासी तथा मुनिलोग पाण्डवोंसे फिर मिलनेकी इच्छा रखकर न्यायानुसार अपने योग्य स्थानोंमें रहने लगे ।। २८ ।।

सह धौम्येन विद्वांसस्तथा पञ्च च पाण्डवाः ।
उत्थाय प्रययुर्वीराः कृष्णामादाय धन्विनः ।। २९ ।।

धौम्यसहित विद्वान् एवं वीर पाँचों पाण्डव द्रौपदीको साथ लिये धनुष धारण किये वहाँसे उठकर चल दिये ।। २९ ।।

क्रोशमात्रमुपागम्य तस्माद् देशान्निमित्ततः ।
श्वोभूते मनुजव्याघ्राश्छन्नवासार्थमुद्यताः ।। ३० ।।
पृथक्छास्त्रविदः सर्वे सर्वे मन्त्रविशारदाः ।
संधिविग्रहकालज्ञा मन्त्राय समुपाविशन् ।। ३१ ।।

किसी कारणवश उस स्थानसे एक कोस दूर जाकर वे नरश्रेष्ठ ठहर गये और आगामी दूसरे दिनसे अज्ञातवास आरम्भ करनेके लिये उद्यत हो परस्पर सलाह करनेके निमित्त आस-पास बैठ गये। वे सभी पृथक्-पृथक् शास्त्रोंके ज्ञाता, मन्त्रणा करनेमें कुशल तथा संधि-विग्रह आदिके अवसरको जाननेवाले थे ।। ३०-३१ ।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां वनपर्वणि आरणेयपर्वणि अज्ञातवासमन्त्रणे पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।। ३१५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत—व्यासनिर्मित शतसाहस्री संहिताके वनपर्वके अन्तर्गत आरणेयपर्वमें अज्ञातवासके लिये मन्त्रणाविषयक तीन सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३१५ ।।

वनपर्वकी श्लोक-संख्या

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंका ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	गद्य	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	१०९३७	(७८५)	१०८० ।=	१७१ ॥	१२१८८ ॥।=
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	८२	(४)	५ ॥		८७ ॥

वनपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या १२२७६ ।=

वनपर्व-श्रवण-महिमा

इदमारण्यकं श्रुत्वा महापापैः प्रमुच्यते ।
अधनो धनमाप्नोति पुत्रपौत्रसमन्वितः ।। १ ।।

इस वनपर्वको सुनकर मनुष्य बड़े-बड़े पापोंसे मुक्त हो जाता है, निर्धन धन पाता है और पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न होता है ।। १ ।।

यं यं प्रार्थयते कामं तं तं प्राप्नोत्यसंशयम् ।
नारी वा पुरुषो वापि शुचिः प्रयतमानसः ।। २ ।।
आरण्यके श्रुतेऽधीते ब्राह्मणान् पायसादिभिः ।
भोजयेद् वस्त्रगोस्वर्णदानै रत्नैः प्रपूजितान् ।। ३ ।।

वह जिस-जिस मनोवाञ्छित वस्तुके लिये प्रार्थना करता है, उसे निश्चय ही पा लेता है। स्त्री हो या पुरुष; शुद्ध एवं एकाग्रचित्त होकर इस वनपर्वका श्रवण अथवा पाठ करनेपर वस्त्र, गौ, सुवर्ण तथा रत्नोंके दानसे ब्राह्मणोंका सम्मान करके उन्हें खीर आदिका भोजन करावे ।। २-३ ।।

ब्राह्मणेषु च तुष्टेषु संतुष्टाः पाण्डुनन्दनाः ।
ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः शक्रो देवगणास्तथा ।। ४ ।।
भूतानि मुनयो देव्यस्तथा पितृगणाश्च ये ।
वाचकं पूजयेच्छक्त्या वस्त्रान्नैः स्वर्णभूषणैः ।। ५ ।।

ब्राह्मणोंके संतुष्ट होनेपर पाण्डव, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, देवगण, भूतगण, मुनिगण, देवियाँ तथा पितृगण—ये सभी संतुष्ट होते हैं। अपनी शक्तिके अनुसार अन्न-वस्त्र और आभूषण देकर वाचककी पूजा करनी चाहिये ।। ४-५ ।।

विशेषतस्तु कपिला देया तु जयपाठके ।
कांस्यदोहा रौप्यखुरा स्वर्णशृङ्गी सभूषणा ।
पाण्डूनां परितोषार्थं दद्यादन्नं द्विजातये ।। ६ ।।

महाभारतके वाचकको विशेषतः एक कपिला गौ देनी चाहिये। उसके साथ काँसेका एक दुग्धपात्र होना चाहिये। गायके खुरोंमें चाँदी और सींगोंमें सोना मढ़ा दे। उसे अन्य आभूषणोंसे भी विभूषित करे। पाण्डवोंके संतोषके लिये ब्राह्मणोंको अन्नदान करे ।। ६ ।।

आरण्यकाख्यमाख्यानं शृणुयाद् यो नरोत्तमः ।
स सर्वकाममाप्नोति पुनः स्वर्गतिमाप्नुयात् ।। ७ ।।

जो नरश्रेष्ठ इस वनपर्वकी कथाको सुनता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है एवं शरीरका अन्त होनेपर स्वर्गलोकमें जाता है ।। ७ ।।

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः ।।

महाभारत-सार

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे ।।

'मनुष्य इस जगत्‌में हजारों माता-पिताओं तथा सैकड़ों स्त्री-पुत्रोंके संयोग-वियोगका अनुभव कर चुके हैं, करते हैं और करते रहेंगे।'

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ।।

'अज्ञानी पुरुषको प्रतिदिन हर्षके हजारों और भयके सैकड़ों अवसर प्राप्त होते रहते हैं; किन्तु विद्वान् पुरुषके मनपर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।'

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।।

'मैं दोनों हाथ ऊपर उठाकर पुकार-पुकारकर कह रहा हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्मसे मोक्ष तो सिद्ध होता ही है; अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं तो भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते!'

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।।

'कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी धर्मका त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धनका हेतु अनित्य।'

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति ।।

'यह महाभारतका सारभूत उपदेश 'भारत-सावित्री' के नामसे प्रसिद्ध है। जो प्रतिदिन सबेरे उठकर इसका पाठ करता है, वह सम्पूर्ण महाभारतके अध्ययनका फल पाकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

—महाभारत, स्वर्गारोहण० ५।६०—६४

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः ।।

श्रीमहाभारतम्

विराटपर्व

पाण्डवप्रवेशपर्व

प्रथमोऽध्यायः

विराटनगरमें अज्ञातवास करनेके लिये पाण्डवोंकी गुप्त मन्त्रणा तथा युधिष्ठिरके द्वारा अपने भावी कार्यक्रमका दिग्दर्शन

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ।। १ ।।

अन्तर्यामी नारायण भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्यसखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत)-का पाठ करना चाहिये ।। १ ।।

जनमेजय उवाच

कथं विराटनगरे मम पूर्वपितामहाः ।
अज्ञातवासमुषिता दुर्योधनभयार्दिताः ।। २ ।।
पतिव्रता महाभागा सततं ब्रह्मवादिनी ।
द्रौपदी च कथं ब्रह्मन्नज्ञाता दुःखितावसत् ।। ३ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! मेरे प्रपितामह पाण्डवोंने दुर्योधनके भयसे कष्ट उठाते हुए विराटनगरमें अपने अज्ञातवासका समय किस प्रकार व्यतीत किया तथा दुःखमें पड़ी हुई सदा ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णका नामकीर्तन करनेवाली परम सौभाग्यवती पतिव्रता द्रौपदी वहाँ अपनेको अज्ञात रखकर कैसे निवास कर सकी? ।। २-३ ।।

वैशम्पायन उवाच

यथा विराटनगरे तव पूर्वपितामहाः ।
अज्ञातवासमुषितास्तच्छृणुष्व नराधिप ।। ४ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! तुम्हारे प्रपितामहोंने विराटनगरमें जिस प्रकार अज्ञातवासके दिन पूरे किये थे, वह बताता हूँ; सुनो ।। ४ ।।

तथा स तु वराँल्लब्ध्वा धर्मो धर्मभृतां वरः ।
गत्वाऽऽश्रमं ब्राह्मणेभ्य आचख्यौ सर्वमेव तत् ।। ५ ।।

यक्षरूपधारी धर्मसे इस प्रकार वरदान पानेके अनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मपुत्र युधिष्ठिरने आश्रमपर जाकर वह सब समाचार ब्राह्मणोंको बताया ।। ५ ।।

कथयित्वा तु तत् सर्वं ब्राह्मणेभ्यो युधिष्ठिरः ।
अरणीसहितं तस्मै ब्राह्मणाय न्यवेदयत् ।। ६ ।।
ततो युधिष्ठिरो राजा धर्मपुत्रो महामनाः ।
संनिवर्त्यानुजान् सर्वानिति होवाच भारत ।। ७ ।।

भारत! ब्राह्मणोंसे सब कुछ बताकर जब युधिष्ठिरने अरणीसहित मन्थनकाष्ठ पूर्वोक्त ब्राह्मणदेवताको सौंप दिया, तब धर्मपुत्र महामनस्वी उन राजा युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंको एकत्र करके इस प्रकार कहा— ।।

द्वादशेमानि वर्षाणि राज्यविप्रोषिता वयम् ।
त्रयोदशोऽयं सम्प्राप्तः कृच्छ्रात् परमदुर्वसः ।। ८ ।।

'आज बारह वर्ष बीत गये, हमलोग अपने राज्यसे बाहर आकर वनमें रहते हैं। अब यह तेरहवाँ वर्ष आरम्भ हुआ है। इसमें बड़े कष्टसे कठिनाइयोंका सामना करते हुए अत्यन्त गुप्तरूपसे रहना होगा ।। ८ ।।

स साधु कौन्तेय इतो वासमर्जुन रोचय ।
संवत्सरमिमं यत्र वसेमाविदिताः परैः ।। ९ ।।

'कुन्तीनन्दन अर्जुन! तुम अपनी रुचिके अनुसार कोई उत्तम निवासस्थान चुनो, जहाँ यहाँसे चलकर हम एक वर्षतक इस प्रकार रहें कि शत्रुओंको हमारा पता न चल सके' ।। ९ ।।

अर्जुन उवाच

तस्यैव वरदानेन धर्मस्य मनुजाधिप ।
अज्ञाता विचरिष्यामो नराणां नात्र संशयः ।। १० ।।
तत्र वासाय राष्ट्राणि कीर्तयिष्यामि कानिचित् ।
रमणीयानि गुप्तानि तेषां किञ्चित् स्म रोचय ।। ११ ।।

अर्जुन बोले—नरेश्वर! इसमें संदेह नहीं कि उन्हीं भगवान् धर्मके दिये हुए वरके प्रभावसे हमलोग इस पृथ्वीपर विचरते रहेंगे और हमें दूसरे मनुष्य पहचान न सकेंगे तथापि

मैं आपसे निवास करनेयोग्य कुछ रमणीय एवं गुप्त राष्ट्रोंके नाम बतलाऊँगा, उनमेंसे किसीको आप स्वयं ही अपनी रुचिके अनुसार चुन लीजिये ।। १०-११ ।।

सन्ति रम्या जनपदा बह्वन्नाः परितः कुरून् ।
पाञ्चालाश्चेदिमत्स्याश्च शूरसेनाः पटच्चराः ।। १२ ।।
दशार्णा नवराष्ट्राश्च मल्लाः शाल्वा युगन्धराः ।
कुन्तिराष्ट्रं च विपुलं सुराष्ट्रावन्तयस्तथा ।। ५३ ।।

कुरुदेशके चारों ओर बहुत-से सुरम्य जनपद हैं, जहाँ बहुत अन्न होता है। उनके नाम ये हैं—पांचाल, चेदि, मत्स्य, शूरसेन, पटच्चर, दशार्ण, नवराष्ट्र, मल्ल, शाल्व, युगन्धर, विशाल कुन्तिराष्ट्र, सौराष्ट्र तथा अवन्ती ।। १२-१३ ।।

एतेषां कतमो राजन् निवासस्तव रोचते ।
यत्र वत्स्यामहे राजन् संवत्सरमिमं वयम् ।। १४ ।।

राजन्! इनमेंसे कौन-सा राष्ट्र आपको निवास करनेके लिये पसंद है? जिसमें हम सब लोग इस वर्ष निवास करें ।। १४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतमेतन्महाबाहो यथा स भगवान् प्रभुः ।
अब्रवीत् सर्वभूतेशस्तत् तथा न तदन्यथा ।। १५ ।।

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहो! तुम्हारी यह बात मैंने ध्यानसे सुनी है। सम्पूर्ण भूतोंके अधीश्वर और प्रभावशाली भगवान् धर्मने हमारे लिये जैसा आदेश दिया है, वह सब वैसा ही होगा। उसके विपरीत कुछ नहीं होगा ।। १५ ।।

अवश्यं त्वेव वासार्थं रमणीयं शिवं सुखम् ।
सम्मन्त्र्य सहितैः सर्वैर्वस्तव्यमकुतोभयैः ।। १६ ।।

तथापि हम सब लोगोंको आपसमें सलाह करके अवश्य ही अपने रहनेके लिये कोई परम सुन्दर, कल्याणकारी तथा सुखद स्थान चुन लेना चाहिये, जहाँ हम निर्भय होकर रह सकें ।। १६ ।।

मत्स्यो विराटो बलवानभिरक्तोऽथ पाण्डवान् ।
धर्मशीलो वदान्यश्च वृद्धश्च सततं प्रियः ।। १७ ।।

[तुम्हारे बताये हुए देशोंमेंसे] मत्स्यदेशके राजा विराट बहुत बलवान् हैं और पाण्डवोंके प्रति उनका अनुराग भी है; साथ ही वे स्वभावतः धर्मात्मा, वृद्ध, उदार तथा हमें सदैव प्रिय हैं ।। १७ ।।

विराटनगरे तात संवत्सरमिमं वयम् ।
कुर्वन्तस्तस्य कर्माणि विहरिष्याम भारत ।। १८ ।।

भाई अर्जुन! इसलिये इस वर्ष हमलोग राजा विराटके ही नगरमें रहें और उनका कार्यसाधन करते हुए उनके यहाँ विचरण करें ।। १८ ।।

यानि यानि च कर्माणि तस्य वक्ष्यामहे वयम् ।
आसाद्य मत्स्यं तत् कर्म प्रब्रूत कुरुनन्दनाः ।। १९ ।।

किंतु कुरुनन्दनो! तुमलोग यह तो बताओ कि हम मत्स्यराजके पास पहुँचकर किन-किन कार्योंका भार सँभाल सकेंगे? ।। १९ ।।

अर्जुन उवाच

नरदेव कथं तस्य राष्ट्रे कर्म करिष्यसि ।
विराटनगरे साधो रंस्यसे केन कर्मणा ।। २० ।।

अर्जुनने पूछा—नरदेव! आप उनके राष्ट्रमें किस प्रकार कार्य करेंगे? महात्मन्! विराटनगरमें कौन-सा कर्म करनेसे आपको प्रसन्नता होगी? ।। २० ।।

मृदुर्वदान्यो ह्रीमांश्च धार्मिकः सत्यविक्रमः ।
राजंस्त्वमापदाऽऽकृष्टः किं करिष्यसि पाण्डव ।। २१ ।।

राजन्! आपका स्वभाव कोमल है। आप उदार, लज्जाशील, धर्मपरायण तथा सत्यपराक्रमी हैं, तथापि विपत्तिमें पड़ गये हैं। पाण्डुनन्दन! आप वहाँ क्या करेंगे? ।। २१ ।।

न दुःखमुचितं किञ्चिद् राजन् वेद यथा जनः ।
स इमामापदं प्राप्य कथं घोरां तरिष्यसि ।। २२ ।।

राजन्! साधारण मनुष्योंकी भाँति आपको किसी प्रकारके दुःखका अनुभव हो, यह उचित नहीं है; अतः इस घोर आपत्तिमें पड़कर आप कैसे इसके पार होंगे? ।। २२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

शृणुध्वं यत् करिष्यामि कर्म वै कुरुनन्दनाः ।
विराटमनुसम्प्राप्य राजानं पुरुषर्षभाः ।। २३ ।।

युधिष्ठिरने कहा—नरश्रेष्ठ कुरुनन्दनो! मैं राजा विराटके यहाँ चलकर जो कार्य करूँगा, वह बताता हूँ; सुनो ।। २३ ।।

सभास्तारो भविष्यामि तस्य राज्ञो महात्मनः ।
कङ्को नाम द्विजो भूत्वा मताक्षः प्रियदेवनः ।। २४ ।।
वैदूर्यान् काञ्चनान् दान्तान् फलैर्ज्योतीरसैः सह ।
कृष्णाँल्लोहितवर्णांश्च निर्वर्त्स्यामि मनोरमान् ।। २५ ।।

मैं पासा खेलनेकी विद्या जानता हूँ और यह खेल मुझे प्रिय भी है, अतः मैं कंक* नामक ब्राह्मण बनकर महामना राजा विराटकी राजसभाका एक सदस्य हो जाऊँगा और वैदूर्यमणिके समान हरी, सुवर्णके समान पीली तथा हाथीदाँतकी बनी हुई काली और लाल

रंगकी मनोहर गोटियोंको चमकीले बिन्दुओंसे युक्त पासोंके अनुसार चलाता रहूँगा ।। २४-२५ ।।

विराटराजं रमयन् सामात्यं सहबान्धवम् ।

न च मां वेत्स्यते कश्चित् तोषयिष्ये च तं नृपम् ।। २६ ।।

मैं राजा विराटको उनके मन्त्रियों तथा बन्धु-बान्धवोंसहित पासोंके खेलसे प्रसन्न करता रहूँगा। इस रूपमें मुझे कोई पहचान न सकेगा और मैं उन मत्स्यनरेशको भलीभाँति संतुष्ट रखूँगा ।। २६ ।।

आसं युधिष्ठिरस्याहं पुरा प्राणसमः सखा ।

इति वक्ष्यामि राजानं यदि मां सोऽनुयोक्ष्यते ।। २७ ।।

यदि वे राजा मुझसे पूछेंगे कि आप कौन हैं, तो मैं उन्हें बताऊँगा कि मैं पहले महाराज युधिष्ठिरका प्राणोंके समान प्रिय सखा था ।। २७ ।।

इत्येतद् वो मयाऽऽख्यातं विहरिष्याम्यहं यथा ।

इस प्रकार मैंने तुमलोगोंको बता दिया कि विराटनगरमें मैं किस प्रकार रहूँगा ।। २७½ ।।

(वैशम्पायन उवाच

एवं निर्दिश्य चात्मानं भीमसेनमुवाच ह ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार अज्ञातवासमें अपने द्वारा किये जानेवाले कार्यको बतलाकर युधिष्ठिर भीमसेनसे बोले।

युधिष्ठिर उवाच

भीमसेन कथं कर्म मात्स्यराष्ट्रे करिष्यसि ।।

हत्वा क्रोधवशांस्तत्र पर्वते गन्धमादने ।

यक्षान् क्रोधाभिताम्राक्षान् राक्षसांश्चापि पौरुषान् ।

प्रादाः पाञ्चालकन्यायै पद्मानि सुबहून्यपि ।।

युधिष्ठिरने पूछा—भीमसेन! तुम मत्स्यदेशमें किस प्रकार कोई कार्य कर सकोगे? तुमने गन्धमादन पर्वतपर क्रोधसे सदा लाल आँखें किये रहनेवाले क्रोधवश नामक यक्षों और महापराक्रमी राक्षसोंका वध करके पांचालराजकुमारी द्रौपदीको बहुत-से कमल लाकर दिये थे।

बकं राक्षसराजानं भीषणं पुरुषादकम् ।

जघ्निवानसि कौन्तेय ब्राह्मणार्थमरिंदम ।।

क्षेमा चाभयसंवीता ह्येकचक्रा त्वया कृता ।।

शत्रुहन्ता भीम! ब्राह्मणपरिवारकी रक्षाके लिये तुमने भयानक आकृतिवाले नरभक्षी राक्षसराज बकको भी मार डाला था और इस प्रकार एकचक्रा नगरीको भयरहित एवं

कल्याणयुक्त बनाया था।

हिडिम्बं च महावीर्यं किर्मीरं चैव राक्षसम् ।

त्वया हत्वा महाबाहो वनं निष्कण्टकं कृतम् ।।

महाबाहो! तुमने महावीर हिडिम्ब और राक्षस किर्मीरको मारकर वनको निष्कण्टक बनाया था।

आपदं चापि सम्प्राप्ता द्रौपदी चारुहासिनी ।

जटासुरवधं कृत्वा त्वया च परिमोक्षिता ।।

मत्स्यराजान्तिके तात वीर्यपूर्णोऽत्यमर्षणः ।)

वृकोदर विराटे त्वं रंस्यसे केन हेतुना ।। २८ ।।

संकटमें पड़ी हुई मनोहर हास्यवाली द्रौपदीको भी तुमने जटासुरका वध करके छुड़ाया था। तात भीमसेन! तुम अत्यन्त बलवान् एवं अमर्षशाली हो। राजा विराटके यहाँ कौन-सा कार्य करके तुम प्रसन्नतापूर्वक रह सकोगे—यह बतलाओ ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी परस्पर मन्त्रणासे सम्बन्ध रखनेवाला पहला अध्याय पूरा हुआ ।। १ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ३४ $\frac{1}{2}$ श्लोक हैं।)

---

* विश्वकोषके अनुसार 'कंक' शब्द यमराजका वाचक है। यमराजका ही दूसरा नाम धर्म है और वे ही युधिष्ठिररूपमें अवतीर्ण हुए थे। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इस उक्तिके अनुसार भी धर्म एवं धर्मपुत्र युधिष्ठिरमें कोई अन्तर नहीं है। यह समझकर ही अपनी सत्यवादिताकी रक्षा करते हुए युधिष्ठिरने 'कंक' नामसे अपना परिचय दिया। इसके सिवा उन्होंने जो अपनेको युधिष्ठिरका प्राणोंके समान प्रिय सखा बताया, वह भी असत्य नहीं है। युधिष्ठिर नामक शरीरको ही यहाँ युधिष्ठिर समझना चाहिये। आत्माकी सत्तासे ही शरीरका संचालन होता है। अतः आत्मा उसके साथ रहनेके कारण उसका सखा है। आत्मा सबसे बढ़कर प्रिय है ही; अतः यहाँ युधिष्ठिरका आत्मा युधिष्ठिर-शरीरका प्रिय सखा कहा गया है।

द्वितीयोऽध्यायः

भीमसेन और अर्जुनद्वारा विराटनगरमें किये जानेवाले अपने अनुकूल कार्योंका निर्देश

भीमसेन उवाच

पौरोगवो ब्रुवाणोऽहं बल्लवो नाम भारत ।
उपस्थास्यामि राजानं विराटमिति मे मतिः ।। १ ।।

भीमसेनने कहा—भरतवंशशिरोमणे! मैं पौरोगव[1] (पाकशालाका अध्यक्ष) बनकर और बल्लव[2] नामसे अपना परिचय देकर राजा विराटके दरबारमें उपस्थित होऊँगा। मेरा यही विचार है ।। १ ।।

सूपानस्य करिष्यामि कुशलोऽस्मि महानसे ।
कृतपूर्वाणि यान्यस्य व्यञ्जनानि सुशिक्षितैः ।। २ ।।
तान्यप्यभिभविष्यामि प्रीतिं संजनयन्नहम् ।

मैं रसोई बनानेके काममें चतुर हूँ। अपने ऊपर राजाके मनमें अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे उनके लिये सूप (दाल, कढ़ी एवं साग आदि) तैयार करूँगा और पाककलामें भलीभाँति शिक्षा पाये हुए चतुर रसोइयोंने राजाके लिये पहले जो-जो व्यंजन बनाये होंगे, उन्हें भी अपने बनाये हुए व्यंजनोंसे तुच्छ सिद्ध कर दूँगा ।। २½ ।।

आहरिष्यामि दारूणां निचयान् महतोऽपि च ।। ३ ।।
यत् प्रेक्ष्य विपुलं कर्म राजा संयोक्ष्यते स माम् ।
अमानुषाणि कुर्वाणस्तानि कर्माणि भारत ।। ४ ।।

इतना ही नहीं, मैं रसोईके लिये लकड़ियोंके बड़े-से-बड़े गट्ठोंको भी उठा लाऊँगा, जिस महान् कर्मको देखकर राजा विराट मुझे अवश्य रसोइयेके कामपर नियुक्त कर लेंगे। भारत! मैं वहाँ ऐसे-ऐसे अद्भुत कार्य करता रहूँगा, जो साधारण मनुष्योंकी शक्तिके बाहर है ।। ३-४ ।।

राज्ञस्तस्य परे प्रेष्या मंस्यन्ते मां यथा नृपम् ।
भक्ष्यान्नरसपानानां भविष्यामि तथेश्वरः ।। ५ ।।

इससे राजा विराटके दूसरे सेवक राजाके ही समान मेरा सम्मान करेंगे और मैं भक्ष्य, भोज्य, रस तथा पेय पदार्थोंका इच्छानुसार उपयोग करनेमें समर्थ होऊँगा ।। ५ ।।

द्विपा वा बलिनो राजन् वृषभा वा महाबलाः ।
विनिग्राह्या यदि मया निग्रहीष्यामि तानपि ।। ६ ।।

राजन्! बलवान् हाथी अथवा महाबली बैल भी यदि काबूमें करनेके लिये मुझे सौंपे जायँगे तो मैं उन्हें भी बाँधकर अपने वशमें कर लूँगा ।। ६ ।।

ये च केचिन्नियोत्स्यन्ति समाजेषु नियोधकाः ।
तानहं हि नियोत्स्यामि रतिं तस्य विवर्धयन् ।। ७ ।।

तथा जो कोई भी मल्लयुद्ध करनेवाले पहलवान जनसमाजमें दंगल करना चाहेंगे, राजाका प्रेम बढ़ानेके, लिये मैं उनसे भी भिड़ जाऊँगा ।। ७ ।।

न त्वेतान् युद्धयमानान् वै हनिष्यामि कथञ्चन ।
तथैतान् पातयिष्यामि यथा यास्यन्ति न क्षयम् ।। ८ ।।

परंतु कुश्ती करनेवाले इन पहलवानोंको मैं किसी प्रकार जानसे नहीं मारूँगा; अपितु इस प्रकार नीचे गिराऊँगा, जिससे उनकी मृत्यु न हो ।। ८ ।।

आरालिको गोविकर्ता सूपकर्ता नियोधकः ।
आसं युधिष्ठिरस्याहमिति वक्ष्यामि पृच्छतः ।। ९ ।।

महाराजके पूछनेपर मैं यह कहूँगा कि मैं राजा युधिष्ठिरके यहाँ आरालिक (मतवाले हाथियोंको भी काबूमें करनेवाला गजशिक्षक), गोविकर्ता (महाबली वृषभोंको भी पछाड़कर उन्हें नाथनेवाला), सूपकर्ता (दाल-साग आदि भाँति-भाँतिके व्यंजन बनानेवाला) तथा नियोधक (दंगली पहलवान) रहा हूँ ।। ९ ।।

आत्मानमात्मना रक्षंश्चरिष्यामि विशाम्पते ।
इत्येतत् प्रतिजानामि विहरिष्याम्यहं यथा ।। १० ।।

राजन्! अपने-आप अपनी रक्षा करते हुए मैं विराटके नगरमें विचरूँगा। मुझे विश्वास है कि इस प्रकार मैं वहाँ सुखपूर्वक रह सकूँगा ।। १० ।।

युधिष्ठिर उवाच

यमग्निर्ब्राह्मणो भूत्वा समागच्छन्नृणां वरम् ।
दिधक्षुः खाण्डवं दावं दाशार्हसहितं पुरा ।। ११ ।।
महाबलं महाबाहुमजितं कुरुनन्दनम् ।
सोऽयं किं कर्म कौन्तेयः करिष्यति धनंजयः ।। १२ ।।

युधिष्ठिर बोले—जो मनुष्योंमें श्रेष्ठ महाबली और महाबाहु है, पहले भगवान् श्रीकृष्णके साथ बैठे हुए जिस अर्जुनके पास खाण्डववनको जलानेकी इच्छासे ब्राह्मणका रूप धारण करके साक्षात् अग्निदेव पधारे थे, जो कुरुकुलको आनन्द देनेवाला तथा किसीसे भी परास्त न होनेवाला है, वह कुन्तीनन्दन धनंजय विराटनगरमें कौन-सा कार्य करेगा? ।। ११-१२ ।।

योऽयमासाद्य तं दावं तर्पयामास पावकम् ।
विजित्यैकरथेनेन्द्रं हत्वा पन्नगराक्षसान् ।। १३ ।।

वासुकेः सर्पराजस्य स्वसारं हृतवांश्च यः ।
श्रेष्ठो यः प्रतियोधानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ।। १४ ।।

जिसने खाण्डवदाहके समय वहाँ पहुँचकर एकमात्र रथका आश्रय ले इन्द्रको पराजित कर तथा नागों एवं राक्षसोंको मारकर अग्निदेवको तृप्त किया और अपने अप्रतिम सौन्दर्यसे नागराज वासुकिकी बहिन उलूपीका चित्त चुरा लिया एवं जो सम्मुख युद्ध करनेवाले वीरोंमें सबसे श्रेष्ठ है, वह अर्जुन वहाँ क्या काम करेगा? ।। १३-१४ ।।

सूर्यः प्रतपतां श्रेष्ठो द्विपदां ब्राह्मणो वरः ।
आशीविषश्च सर्पाणामग्निस्तेजस्विनां वरः ।। १५ ।।
आयुधानां वरं वज्रं ककुद्मी च गवां वरः ।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठः पर्जन्यो वर्षतां वरः ।। १६ ।।
धृतराष्ट्रश्च नागानां हस्तिष्वैरावणो वरः ।
पुत्रः प्रियाणामधिको भार्या च सुहृदां वरा ।। १७ ।।
(गिरीणां प्रवरो मेरुर्देवानां मधुसूदनः ।
ग्रहाणां प्रवरश्चन्द्रः सरसां मानसं वरम् ।।)
यथैतानि विशिष्टानि जात्यां जात्यां वृकोदर ।
एवं युवा गुडाकेशः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ।। १८ ।।

जैसे तपनेवाले तेजस्वी पदार्थोंमें सूर्य श्रेष्ठ हैं, मनुष्योंमें ब्राह्मणका स्थान ऊँचा है, जैसे सर्पोंमें आशीविष जातिवाले सर्प महान् हैं, तेजस्वियोंमें अग्नि श्रेष्ठ हैं, अस्त्र-शस्त्रोंमें वज्रका स्थान ऊँचा है, गौओंमें ऊँचे कंधेवाला साँड़ बड़ा माना गया है, जलाशयोंमें समुद्र सबसे महान् है, वर्षा करनेवाले मेघोंमें पर्जन्य श्रेष्ठ हैं, नागोंमें धृतराष्ट्र तथा हाथियोंमें ऐरावत बड़ा है, जैसे प्रिय सम्बन्धियोंमें पुत्र सबसे अधिक प्रिय है और अकारण हित चाहनेवाले सुहृदोंमें धर्मपत्नी सबसे बढ़कर है, जैसे पर्वतोंमें मेरु श्रेष्ठ है, देवताओंमें मधुसूदन भगवान् विष्णु श्रेष्ठ हैं, ग्रहोंमें चन्द्रमा श्रेष्ठ हैं और सरोवरोंमें मानसरोवर श्रेष्ठ है। भीमसेन! अपनी-अपनी जातिमें जिस प्रकार ये पूर्वोक्त वस्तुएँ विशिष्ट मानी गयी हैं, वैसे ही सम्पूर्ण धनुर्धारियोंमें युवावस्थासे सम्पन्न यह गुडाकेश (निद्राविजयी) अर्जुन श्रेष्ठ है ।। १५—१८ ।।

सोऽयमिन्द्रादनवरो वासुदेवान्महाद्युतिः ।
गाण्डीवधन्वा बीभत्सुः श्वेताश्वः किं करिष्यति ।। १९ ।।

यह देवराज इन्द्र और भगवान् श्रीकृष्णसे किसी बातमें कम नहीं है। श्वेत घोड़ोंवाले रथपर चलनेवाला यह महातेजस्वी गाण्डीवधारी बीभत्सु (अर्जुन) वहाँ कौन-सा कार्य करेगा? ।। १९ ।।

उषित्वा पञ्ज वर्षाणि सहस्राक्षस्य वेश्मनि ।
अस्त्रयोगं समासाद्य स्ववीर्यान्मानुषाद्भुतम् ।
दिव्यान्यस्त्राणि चाप्तानि देवरूपेण भास्वता ।। २० ।।

इसने पाँच वर्षोंतक देवराज इन्द्रके भवनमें रहकर ऐसे दिव्यास्त्र प्राप्त किये हैं, जिनका मनुष्योंमें होना एक अद्‌भुत-सी बात है। अपने देवोपम स्वरूपसे प्रकाशित होनेवाले अर्जुनने अनेक दिव्यास्त्र पाये हैं ।। २० ।।

यं मन्ये द्वादशं रुद्रमादित्यानां त्रयोदशम् ।
वसूनां नवमं मन्ये ग्रहाणां दशमं तथा ।। २१ ।।

जिस अर्जुनको मैं बारहवाँ रुद्र और तेरहवाँ आदित्य मानता हूँ, नवम वसु तथा दसवाँ ग्रह स्वीकार करता हूँ ।। २१ ।।

यस्य बाहू समौ दीर्घौ ज्याघातकठिनत्वचौ ।
दक्षिणे चैव सव्ये च गवामिव वहः कृतः ।। २२ ।।

जिसकी दोनों भुजाएँ एक-सी विशाल हैं; प्रत्यंचाके आघातसे उनकी त्वचा कठोर हो गयी है। जैसे बैलोंके कंधोंपर जुआठेकी रगड़से चिह्न बन जाता है, उसी प्रकार जिसकी दाहिनी और बायीं भुजाओंपर प्रत्यंचाकी रगड़से चिह्न बन गये हैं ।। २२ ।।

हिमवानिव शैलानां समुद्रः सरितामिव ।
त्रिदशानां यथा शक्रो वसूनामिव हव्यवाट् ।। २३ ।।
मृगाणामिव शार्दूलो गरुडः पततामिव ।
वरः संनह्यमानानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ।। २४ ।।

जैसे पर्वतोंमें हिमालय, सरिताओंमें समुद्र, देवताओंमें इन्द्र, वसुओंमें हव्यवाहक अग्नि, मृगोंमें सिंह तथा पक्षियोंमें गरुड़ श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार कवचधारी वीरोंमें जिसका स्थान सबसे ऊँचा है, वह अर्जुन विराटनगरमें जाकर क्या काम करेगा? ।। २३-२४ ।।

अर्जुन उवाच

प्रतिज्ञां षण्ढकोऽस्मीति करिष्यामि महीपते ।
ज्याघातौ हि महान्तौ मे संवर्तुं नृप दुष्करौ ।। २५ ।।
वलयैश्छादयिष्यामि बाहू किणकृताविमौ ।

अर्जुनने कहा—महाराज! मैं राजाकी सभामें यह दृढ़तापूर्वक कहूँगा कि मैं षण्ढक (नपुंसक) हूँ। राजन्! यद्यपि मेरी दायीं-बायीं भुजाओंमें धनुषकी डोरीकी रगड़से जो महान् चिह्न बन गये हैं, उन्हें छिपाना बहुत कठिन है तथापि कंगन आदि आभूषणोंसे मैं इन ज्याघातचिह्नित भुजाओंको ढक-लूँगा ।। २५½ ।।

कर्णयोः प्रतिमुच्याहं कुण्डले ज्वलनप्रभे ।। २६ ।।
पिनद्धकम्बुः पाणिभ्यां तृतीयां प्रकृतिं गतः ।
वेणीकृतशिरा राजन् नाम्ना चैव बृहन्नला ।। २७ ।।

मैं दोनों कानोंमें अग्निके समान कान्तिमान् कुण्डल पहनकर हाथोंमें शंखकी चूड़ियाँ धारण कर लूँगा। इस प्रकार तीसरी प्रकृति (नपुंसकभाव)-को अपनाकर सिरपर चोटी गूँथ

लूँगा और अपनेको बृहन्नला नामसे घोषित करूँगा[१] ।। २६-२७ ।।

पठन्नाख्यायिकाश्चैव स्त्रीभावेन पुनः पुनः ।

रमयिष्ये महीपालमन्यांश्चान्तःपुरे जनान् ।। २८ ।।

स्त्रीभावसे अपने स्वरूपको छिपाकर बारंबार पूर्ववर्ती राजाओंके चरित्रोंका गान करके महाराज विराट तथा अन्तःपुरकी अन्यान्य स्त्रियोंका मनोरंजन करूँगा ।।

गीतं नृत्यं विचित्रं च वादित्रं विविधं तथा ।

शिक्षयिष्याम्यहं राजन् विराटस्य पुरस्त्रियः ।। २९ ।।

राजन्! मैं विराटनगरकी स्त्रियोंको गीत गाने, विचित्र ढंगसे नृत्य करने तथा भाँति-भाँतिके बाजे बजानेकी शिक्षा दूँगा ।। २९ ।।

प्रजानां समुदाचारं बहु कर्म कृतं वदन् ।

छादयिष्यामि कौन्तेय माययाऽऽत्मानमात्मना ।। ३० ।।

कुन्तीनन्दन! प्रजाजनोंके उत्तम आचार-विचार और उनके किये हुए अनेक प्रकारके सत्कर्मोंका वर्णन करता हुआ मैं मायामय नपुंसकवेशसे बुद्धिद्वारा अपने यथार्थ स्वरूपको छिपाये रखूँगा ।। ३० ।।

युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका ।

उषितास्मीति वक्ष्यामि पृष्टो राज्ञा च पाण्डव ।। ३१ ।।

पाण्डुनन्दन! यदि राजा विराटने मेरा परिचय पूछा, तो मैं कह दूँगा कि मैं महाराज युधिष्ठिरके घरमें महारानी द्रौपदीकी परिचारिका[२] रह चुकी हूँ ।। ३१ ।।

एतेन विधिना छन्नः कृतकेन यथानलः ।

विहरिष्यामि राजेन्द्र विराटभवने सुखम् ।। ३२ ।।

राजेन्द्र! इस प्रकार कृत्रिम वेशभूषासे राखमें छिपी हुई अग्निके समान अपनेको छिपाकर मैं विराटके महलमें सुखपूर्वक निवास करूँगा ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी मन्त्रणाविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ।। २ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३३ श्लोक हैं।)

---

१. पुरोगु कहते हैं वायुको, उसके पुत्र होनेसे भीमसेनका ‘पौरोगव’ नाम सत्य एवं सार्थक है।

२. बल्लवका अर्थ है सूपकर्ता अर्थात् रसोइया। रसोईके काममें निपुण होनेसे उनका यह नाम यथार्थ ही है।

तृतीयोऽध्यायः

नकुल, सहदेव तथा द्रौपदीद्वारा अपने-अपने भावी कर्तव्योंका दिग्दर्शन

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीर-
स्तथार्जुनो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
वाक्यं तथासौ विरराम भूयो
नृपोऽपरं भ्रातरमाबभाषे ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तथा पुरुषोंमें महान् वीर अर्जुन इस प्रकार कहकर चुप हो गये। तब राजा युधिष्ठिर पुनः दूसरे भाईसे बोले ।।

युधिष्ठिर उवाच

किं त्वं नकुल कुर्वाणस्तत्र तात चरिष्यसि ।
कर्म तत् त्वं समाचक्ष्व राज्ये तस्य महीपतेः ।
सुकुमारश्च शूरश्च दर्शनीयः सुखोचितः ।। २ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—नकुल! तुम राजा विराटके राज्यमें कौन-सा कार्य करते हुए निवास करोगे? वह कार्य बताओ। तात! तुम तो शूरवीर होनेके साथ ही अत्यन्त सुकुमार, परम दर्शनीय और सर्वथा सुख भोगनेके ही योग्य हो ।। २ ।।

नकुल उवाच

अश्वबन्धो भविष्यामि विराटनृपतेरहम् ।
सर्वथा ज्ञानसम्पन्नः कुशलः परिरक्षणे ।। ३ ।।

नकुल बोले—राजन्! मैं राजा विराटके यहाँ अश्वबन्ध (घोड़ोंको वशमें करनेवाला सवार) होकर रहूँगा। मैं अश्वविज्ञानसे सम्पन्न और घोड़ोंकी रक्षाके कार्यमें कुशल हूँ ।। ३ ।।

ग्रन्थिको नाम नाम्नाहं कर्मैतत् सुप्रियं मम ।
कुशलोऽस्म्यश्वशिक्षायां तथैवाश्वचिकित्सने ।
प्रियाश्च सततं मेऽश्वाः कुरुराज यथा तव ।। ४ ।।

मैं राजसभामें ग्रन्थिक नामसे अपना परिचय दूँगा। घोड़ोंकी देखभालका काम मुझे अत्यन्त प्रिय है। उन्हें भाँति-भाँतिकी चालें सिखाने और उनकी चिकित्सा करनेमें भी मैं निपुण हूँ। कुरुराज! आपकी ही भाँति मुझे भी घोड़े सदैव प्रिय रहे हैं* ।। ४ ।।

ये मामामन्त्रयिष्यन्ति विराटनगरे जनाः ।

तेभ्य एवं प्रवक्ष्यामि विहरिष्याम्यहं यथा ।। ५ ।।
पाण्डवेन पुरा तात अश्वेष्वधिकृतः पुरा ।
विराटनगरे छन्नश्चरिष्यामि महीपते ।। ६ ।।

विराटनगरमें जो लोग मुझसे पूछेंगे, उन्हें मैं इस प्रकार उत्तर दूँगा—‘तात! पहले पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने मुझे अश्वोंका अध्यक्ष बनाकर रख रखा था।’ महीपते! मैं जिस प्रकार वहाँ विहार करूँगा, वह सब मैंने आपको बता दिया। राजा विराटके नगरमें अपनेको छिपाये रखकर ही मैं सर्वत्र विचरूँगा ।। ५-६ ।।

युधिष्ठिर उवाच

सहदेव कथं तस्य समीपे विहरिष्यसि ।
किं वा त्वं कर्म कुर्वाणः प्रच्छन्नो विहरिष्यसि ।। ७ ।।

युधिष्ठिरने सहदेवसे पूछा—भैया सहदेव! तुम राजा विराटके समीप कैसे जाओगे उनके यहाँ क्या काम करते हुए गुप्तरूपसे निवास करोगे? ।। ७ ।।

सहदेव उवाच

गोसंख्याता भविष्यामि विराटस्य महीपतेः ।
प्रतिषेद्धा च दोग्धा च संख्याने कुशलो गवाम् ।। ८ ।।

सहदेवने कहा—महाराज! मैं राजा विराटके यहाँ गौओंकी गिनती—जाँच-पड़ताल करनेवाला गो-शालाध्यक्ष होकर रहूँगा। मैं गौओंको नियन्त्रणमें रखने और दुहनेका काम अच्छी तरह जानता हूँ। उन्हें गिनने और उनकी परख-पहचानके काममें भी कुशल हूँ ।। ८ ।।

तन्तिपाल इति ख्यातो नाम्नाहं विदितस्त्वथ ।
निपुणं च चरिष्यामि व्येतु ते मानसो ज्वरः ।। ९ ।।

मैं वहाँ तन्तिपाल नामसे प्रसिद्ध होऊँगा। इसी नामसे मुझे सब लोग जानेंगे। मैं बड़ी चतुराईसे अपनेको छिपाये रखकर वहाँ सब ओर विचरूँगा; अतः मेरे विषयमें आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ।। ९ ।।

(अरोगा बहुलाः पुष्टाः क्षीरवत्यो बहुप्रजाः ।
निष्पन्नसत्त्वाः सुभृता व्यपेतज्वरकिल्बिषाः ।।
नष्टचोरभया नित्यं व्याधिव्याघ्रविवर्जिताः ।
गावश्च सुसुखा राजन् निरुद्विग्ना निरामयाः ।।
भविष्यन्ति मया गुप्ता विराटपशवो नृप ।।)

राजन्! मेरे द्वारा रक्षित होकर राजा विराटके पशु तथा गौएँ नीरोग, संख्यामें अधिक, हृष्ट-पुष्ट, अधिक दूध देनेवाली, बहुत संतानोंवाली, सत्त्वयुक्त, अच्छी तरह सम्हाल होनेसे

रोगरूप पापसे रहित, चोरोंके भयसे मुक्त तथा सदा व्याधि एवं बाघ आदिके भयसे रक्षित होंगी। महाराज! वे उद्वेगरहित, सुखी और निरामय तो होंगी ही।

अहं हि सततं गोषु भवता प्रहितः पुरा।
तत्र मे कौशलं सर्वमवबुद्धं विशाम्पते ।। १० ।।

भूपाल! पहले आपने मुझे सदा गौओंकी देखभालके कार्यमें नियुक्त किया है। इस कार्यमें मैं कितना दक्ष हूँ, यह सब आपको विदित ही है ।। १० ।।

लक्षणं चरितं चापि गवां यच्चापि मङ्गलम्।
तत् सर्वं मे सुविदितमन्यच्चापि महीपते ।। ११ ।।
वृषभानपि जानामि राजन् पूजितलक्षणान्।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ।। १२ ।।

महीपते! गौओंके जो लक्षण और चरित्र मंगल-कारक होते हैं, वे सब मुझे भलीभाँति मालूम हैं। उनके विषयमें और भी बहुत-सी बातें मैं जानता हूँ। राजन्! इसके सिवा मैं ऐसे प्रशंसनीय लक्षणोंवाले साँड़ोंको भी जानता हूँ, जिनके मूत्रको सूँघ लेनेमात्रसे वन्ध्या स्त्री भी गर्भवती हो सकती है ।। ११-१२ ।।

सोऽहमेवं चरिष्यामि प्रीतिरत्र हि मे सदा।
न च मां वेत्स्यते कश्चित् तोषयिष्ये च पार्थिवम् ।। १३ ।।

इस प्रकार मैं गौओंकी सेवा करूँगा। इस कार्यमें मुझे सदासे प्रेम रहा है। वहाँ मुझे कोई पहचान नहीं सकेगा। मैं अपने कार्यसे राजा विराटको संतुष्ट कर लूँगा* ।। १३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

इयं हि नः प्रिया भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।
मातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठेव च स्वसा ।। १४ ।।
केन स्म द्रौपदी कृष्णा कर्मणा विचरिष्यति।
न हि किञ्चिद् विजानाति कर्म कर्तुं यथा स्त्रियः ।। १५ ।।

युधिष्ठिर बोले—यह द्रुपदकुमारी कृष्णा हमलोगोंकी प्यारी भार्या है। इसका गौरव हमारे लिये प्राणोंसे भी बढ़कर है। यह माता (पृथ्वी)-की भाँति पालन करनेयोग्य तथा बड़ी बहन (धेनु)-के समान आदरणीय है। यह तो दूसरी स्त्रियोंकी भाँति कोई काम-काज भी नहीं जानती; फिर वहाँ किस कर्मका आश्रय लेकर निवास करेगी? ।। १४-१५ ।।

सुकुमारी च बाला च राजपुत्री यशस्विनी।
पतिव्रता महाभागा कथं नु विचरिष्यति ।। १६ ।।

इसका शरीर अत्यन्त सुकुमार है। इसकी अवस्था नयी है। यह यशस्विनी राजकुमारी परम सौभाग्यवती तथा पतिव्रता है। भला, यह विराटनगरमें किस प्रकार रहेगी? ।। १६ ।।

माल्यगन्धानलङ्कारान् वस्त्राणि विविधानि च।

एतान्येवाभिजानाति यतो जाता हि भामिनी ।। १७ ।।

इस भामिनीने जबसे जन्म लिया है, तबसे अबतक माला, सुगन्धित पदार्थ, भाँति-भाँतिके गहने तथा अनेक प्रकारके वस्त्रोंको ही जाना है। इसने कभी कष्टका अनुभव नहीं किया है ।। १७ ।।

द्रौपद्युवाच

सैरन्ध्र्यो रक्षिता लोके भुजिष्याः सन्ति भारत ।
नैवमन्याः स्त्रियो यान्ति इति लोकस्य निश्चयः ।।
साहं ब्रुवाणा सैरन्ध्री कुशला केशकर्मणि ।। १८ ।।
युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका ।
उषितास्मीति वक्ष्यामि पृष्टा राज्ञा च भारत ।। १९ ।।

द्रौपदीने कहा—भारत! इस जगत्‌में बहुत-सी ऐसी स्त्रियाँ हैं, जिनका दूसरोंके घरोंमें पालन होता है और जो शिल्पकर्मोंद्वारा जीवननिर्वाह करती हैं। वे अपने सदाचारसे स्वतः सुरक्षित होती हैं। ऐसी स्त्रियोंको सैरन्ध्री कहते हैं। लोगोंको अच्छी तरह मालूम है कि सैरन्ध्रीकी भाँति दूसरी स्त्रियाँ बाहरकी यात्रा नहीं करतीं, [अतः सैरन्ध्रीके वेशमें मुझे कोई पहचान नहीं सकेगा।] इसलिये मैं सैरन्ध्री कहकर अपना परिचय दूँगी। बालोंको सँवारने और वेणी-रचना आदिके कार्योंमें मैं बहुत निपुण हूँ। यदि राजा मुझसे पूछेंगे, तो कह दूँगी कि 'मैं महाराज युधिष्ठिरके महलमें महारानी द्रौपदीकी परिचारिका बनकर रही हूँ' ।। १८-१९ ।।

आत्मगुप्ता चरिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।। २० ।।
सुदेष्णां प्रत्युपस्थास्ये राजभार्यां यशस्विनीम् ।
सा रक्षिष्यति मां प्राप्तां मा भूत् ते दुःखमीदृशम् ।। २१ ।।

मैं अपनी रक्षा स्वयं कर लूँगी। आप जो मुझसे पूछते हैं कि तुम वहाँ क्या करोगी? कैसे रहोगी? उसके उत्तरमें निवेदन है कि मैं यशस्विनी राजपत्नी सुदेष्णाके पास जाऊँगी। मुझे अपने पास आयी हुई जानकर वे रख लेंगी और सब प्रकारसे मेरी रक्षा करेंगी। अतः आपके मनमें इस बातका दुःख नहीं होना चाहिये कि द्रौपदी कैसे सुरक्षित रह सकेगा ।। २०-२१ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कल्याणं भाषसे कृष्णे कुले जातासि भामिनि ।
न पापमभिजानासि साध्वी साधुव्रते स्थिता ।। २२ ।।

युधिष्ठिर बोले—कृष्णे! तुमने भली बात कही, इसमें कल्याण ही भरा है। क्यों न हो, तुम ऊँचे कुलमें उत्पन्न जो हुई हो! भामिनि! तुम्हें पापका रंचमात्र भी ज्ञान नहीं है। तुम साध्वी हो और उत्तम व्रतके पालनमें तत्पर रहती हो ।। २२ ।।

यथा न दुर्हृदः पापा भवन्ति सुखिनः पुनः ।
कुर्यास्तत् त्वं हि कल्याणि लक्षयेयुर्न ते तथा ।। २३ ।।

कल्याणि! वहाँ ऐसा बर्ताव करना, जिससे वे पापी शत्रु फिर सुखी होनेका अवसर न पा सकें; वे तुम्हें किसी तरह पहचान न सकें ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरादिमन्त्रणे तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी परस्पर मन्त्रणाविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ।। ३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं।)

---

१. इस प्रसंगमें अर्जुनने अपनेको षण्ढक और बृहन्नला कहा है। षण्ढक शब्दका अर्थ है नपुंसक। अर्जुन इस समय उर्वशीके शापसे नपुंसक हो गये थे। बृहन्नलाका मूल शब्द बृहन्नल है। विद्वानोंने 'र' और 'ल' को एक-सा माना है; अतः बृहन्नलका अर्थ बृहन्नर अर्थात् श्रेष्ठ या महान् मानव है। भगवान् नारायणके सखा होनेके कारण अर्जुन नरश्रेष्ठ हैं ही।

२. परिचारिकाका एक अर्थ है सेविका और दूसरा अर्थ है सब ओर विचरण करनेवाली। इस प्रकार अर्जुनने गूढ़ अभिप्राययुक्त परिचारिका शब्दद्वारा अपनेको द्रौपदीका पति सूचित किया है।

* नकुलने अपना नाम ग्रन्थिक बताया और अपनेको अश्वोंका अधिकारी कहा है। ग्रन्थिकका अर्थ है आयुर्वेद तथा अध्वर्युविद्यासम्बन्धी ग्रन्थोंको जाननेवाला। श्रुतिमें अश्विनीकुमारोंको देवताओंका वैद्य तथा अध्वर्यु कहा गया है। 'अश्विनौ वै देवाना भिषजावश्विनावध्वर्यू' । नकुल अश्विनीकुमारोंके पुत्र हैं; अतः उनका अपनेको ग्रन्थिक कहना उपयुक्त ही है। 'नास्ति श्वो येषां ते अश्वाः' जिनके कलतक जीवित रहनेकी आशा न हो, वे अश्व हैं—इस व्युत्पत्तिके अनुसार जीवनकी आशा छोड़कर युद्धमें डटे रहनेवाले वीरोंको अश्व कहते हैं। नकुल उनके अधिकारी अर्थात् वीरोंमें प्रधान हैं। अतः उनका यह परिचय यथार्थ ही है।

* 'तस्य वाक्तन्तिर्नामानि दामानि' इस श्रुतिके अनुसार तन्ति शब्द वाणीका वाचक है। तन्तिपाल कहकर सहदेवने गूढ़रूपसे युधिष्ठिरको यह बताया कि मैं आपकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करूँगा। साधारण लोगोंकी दृष्टिमें तन्तिपालका अर्थ है, बैलोंको बाँधनेकी रस्सीको सुरक्षित रखनेवाला। अतः सहदेवने भी अपना परिचय यथार्थ ही दिया।

चतुर्थोऽध्यायः

धौम्यका पाण्डवोंको राजाके यहाँ रहनेका ढंग बताना और सबका अपने-अपने अभीष्ट स्थानोंको जाना

युधिष्ठिर उवाच

कर्माण्युक्तानि युष्माभिर्यानि यानि करिष्यथ ।
मम चापि यथा बुद्धिरुचिता विधिनिश्चयात् ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—विराटके यहाँ रहकर तुम्हें जो-जो कार्य करने हैं, वे सब तुमने बताये। मुझे भी अपनी बुद्धिके अनुसार जो कार्य उचित प्रतीत हुआ, वह कह चुका। जान पड़ता है, विधाताका यही निश्चय है ।। १ ।।

पुरोहितोऽयमस्माकमग्निहोत्राणि रक्षतु ।
सूदपौरोगवैः सार्द्धं द्रुपदस्य निवेशने ।। २ ।।
इन्द्रसेनमुखाश्चेमे रथानादाय केवलान् ।
यान्तु द्वारवतीं शीघ्रमिति मे वर्तते मतिः ।। ३ ।।

अब मेरी सलाह यह है कि ये पुरोहित धौम्यजी रसोइयों तथा पाकशालाध्यक्षके साथ राजा द्रुपदके घर जाकर रहें और वहाँ हमारे अग्निहोत्रकी अग्नियोंकी रक्षा करें तथा ये इन्द्रसेन आदि सेवकगण केवल रथोंको लेकर शीघ्र यहाँसे द्वारकाको चले जायँ ।। २-३ ।।

इमाश्च नार्यो द्रौपद्याः सर्वाश्च परिचारिकाः ।
पाञ्जालानेव गच्छन्तु सूदपौरोगवैः सह ।। ४ ।।

और ये जो द्रौपदीकी सेवा करनेवाली स्त्रियाँ हैं, वे सब रसोइयों और पाकशालाध्यक्षके साथ पांचालदेशको ही चली जायँ ।। ४ ।।

सर्वैरपि च वक्तव्यं न प्राज्ञायन्त पाण्डवाः ।
गता ह्यस्मानपाहाय सर्वे द्वैतवनादिति ।। ५ ।।

वहाँ सब लोग यही कहें—'हमें पाण्डवोंका कुछ भी पता नहीं है। वे सब द्वैतवनसे ही हमें छोड़कर न जाने कहाँ चले गये' ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं तेऽन्योन्यमामन्त्र्य कर्माण्युक्त्वा पृथक् पृथक् ।
धौम्यमामन्त्रयामासुः स च तान् मन्त्रमब्रवीत् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार आपसमें एक-दूसरेकी सलाह लेकर और अपने पृथक्-पृथक् कर्म बतलाकर पाण्डवोंने पुरोहित धौम्यकी भी सम्मति ली। तब पुरोहित धौम्यने उन्हें इस प्रकार सलाह दी ।। ६ ।।

धौम्य उवाच

विहितं पाण्डवाः सर्वं ब्राह्मणेषु सुहृत्सु च ।
याने प्रहरणे चैव तथैवाग्निषु भारत ।। ७ ।।
त्वया रक्षा विधातव्या कृष्णायाः फाल्गुनेन च ।
विदितं वो यथा सर्वं लोकवृत्तमिदं तव ।। ८ ।।

धौम्यजी बोले—पाण्डवो! ब्राह्मणों, सुहृदों, सवारी या युद्ध-यात्रा, आयुध या युद्ध तथा अग्नियोंके प्रति जो शास्त्रविहित कर्तव्य हैं, उन्हें तुम अच्छी तरह जानते हो और तदनुकूल तुमने जो व्यवस्था की है, वह सब ठीक है। भारत! अब मैं तुमसे यह कहना चाहता हूँ कि तुम और अर्जुन सावधान रहकर सदा द्रौपदीकी रक्षा करना। लोकव्यवहारकी सभी बातें अथवा साधारण लोगोंके व्यवहार तुम सब लोगोंको विदित हैं ।। ७-८ ।।

विदिते चापि वक्तव्यं सुहृद्भिरनुरागतः ।
एष धर्मश्च कामश्च अर्थश्चैव सनातनः ।। ९ ।।

विदित होनेपर भी हितैषी सुहृदोंका कर्तव्य है कि वे स्नेहवश हितकी बात बतावें। यही सनातन धर्म है और इसीसे काम एवं अर्थकी प्राप्ति होती है ।। ९ ।।

अतोऽहमपि वक्ष्यामि हेतुमत्र निबोधत ।
हन्तेमां राजवसतिं राजपुत्रा ब्रवीम्यहम् ।। १० ।।
यथा राजकुलं प्राप्य सर्वान् दोषांस्तरिष्यथ ।
दुर्वसं चैव कौरव्य जानता राजवेश्मनि ।। ११ ।।

इसलिये मैं भी जो युक्तियुक्त बातें बताऊँगा, उन्हें यहाँ ध्यान देकर सुनो। राजपुत्रो! मैं यह बता रहा हूँ कि राजाके घरमें रहकर कैसा बर्ताव करना चाहिये? उसके अनुसार राजकुलमें रहते हुए भी तुमलोग वहाँके सब दोषोंसे पार हो जाओगे। कुरुनन्दन! विवेकी पुरुषके लिये भी राजमहलमें निवास करना अत्यन्त कठिन है ।। १०-११ ।।

अमानितैर्मानितैर्वा अज्ञातैः परिवत्सरम् ।
ततश्चतुर्दशे वर्षे चरिष्यथ यथासुखम् ।। १२ ।।

वहाँ तुम्हारा अपमान हो या सम्मान, सब कुछ सहकर एक वर्षतक अज्ञातभावसे रहना चाहिये। तदनन्तर चौदहवें वर्षमें तुमलोग अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक विचरण कर सकोगे ।। १२ ।।

दृष्टद्वारो लभेद् द्रष्टुं राजस्वेषु न विश्वसेत् ।
तदेवासनमन्विच्छेद् यत्र नाभिपतेत् परः ।। १३ ।।

राजासे मिलना हो, तो पहले द्वारपालसे मिलकर राजाको सूचना देनी चाहिये और मिलनेके लिये उनकी आज्ञा मँगा लेनी चाहिये। इन राजाओंपर पूर्ण विश्वास कभी न करे। अपने लिये वही आसन पसंद करे, जिसपर दूसरा कोई बैठनेवाला न हो ।। १३ ।।

यो न यानं न पर्यङ्कं न पीठं न गजं रथम् ।
आरोहेत् सम्मतोऽस्मीति स राजवसतिं वसेत् ।। १४ ।।

जो 'मैं राजाका प्रिय व्यक्ति हूँ', यों मानकर कभी राजाकी सवारी, पलंग, पादुका, हाथी एवं रथ आदिपर नहीं चढ़ता है, वही राजाके घरमें कुशलपूर्वक रह सकता है ।। १४ ।।

यत्र यत्रैनमासीनं शङ्केरन् दुष्टचारिणः ।
न तत्रोपविशेद् यो वै स राजवसतिं वसेत् ।। १५ ।।

जिन-जिन स्थानोंपर बैठनेसे दुराचारी मनुष्य संदेह करते हों, वहाँ-वहाँ जो कभी नहीं बैठता, वही राजभवनमें रह सकता है ।। १५ ।।

न चानुशिष्याद् राजानमपृच्छन्तं कदाचन ।
तूष्णीं त्वेनमुपासीत काले समभिपूजयेत् ।। १६ ।।

बिना पूछे राजाको कभी कर्तव्यका उपदेश न दे। मौनभावसे ही उसकी सेवा करे और उपयुक्त अवसरपर राजाकी प्रशंसा भी करे ।। १६ ।।

असूयन्ति हि राजानो जनाननृतवादिनः ।
तथैव चावमन्यन्ते मन्त्रिणं वादिनं मृषा ।। १७ ।।

झूठ बोलनेवाले मनुष्योंके प्रति राजालोग दोषदृष्टि कर लेते हैं। इसी प्रकार वे मिथ्यावादी मन्त्रीका भी अपमान करते हैं ।। १७ ।।

नैषां दारेषु कुर्वीत मैत्रीं प्राज्ञः कदाचन ।

अन्तःपुरचरा ये च द्वेष्टि यानहिताश्च ये ।। १८ ।।

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह राजाओंकी रानियोंसे मेल-जोल न करे और जो रनिवासमें आते-जाते हों, राजा जिनसे द्वेष रखते हों तथा जो लोग राजाका अहित चाहनेवाले हों, उनसे भी मैत्री स्थापित न करे ।।

विदिते चास्य कुर्वीत कार्याणि सुलघून्यपि ।

एवं विचरतो राज्ञि न क्षतिर्जायते क्वचित् ।। १९ ।।

छोटे-से-छोटे कार्य भी राजाको जनाकर ही करे। राजदरबारमें ऐसा आचरण करनेवाले मनुष्योंको कभी हानि नहीं उठानी पड़ती ।। १९ ।।

गच्छन्नपि परां भूमिमपृष्टो ह्यनियोजितः ।

जात्यन्ध इव मन्येत मर्यादामनुचिन्तयन् ।। २० ।।

बैठनेके लिये अपनेको ऊँचा आसन प्राप्त होता हो, तो भी जबतक राजा न पूछें—बैठनेका आदेश न दें, तबतक राजदरबारकी मर्यादाका खयाल करके अपनेको जन्मान्ध-सा माने, मानो उस आसनको वह देखता ही न हो। इस भावसे खड़ा रहकर राजाज्ञाकी प्रतीक्षा करता रहे ।। २० ।।

न हि पुत्रं न नप्तारं न भ्रातरमरिंदमाः ।

समतिक्रान्तमर्यादं पूजयन्ति नराधिपाः ।। २१ ।।

क्योंकि शत्रुविजयी राजालोग मर्यादाका उल्लंघन करनेवाले अपने पुत्र, नाती-पोते और भाईका भी आदर नहीं करते ।। २१ ।।

यत्नाच्चोपचरेदेनमग्निवद् देववत् त्विह ।

अनृतेनोपचीर्णो हि हन्यादेव न संशयः ।। २२ ।।

इस जगत्में राजाको अग्निके समान दाहक मानकर उसके अत्यन्त निकट न रहे और देवताके समान निग्रह तथा अनुग्रहमें समर्थ जानकर उसकी कभी अवहेलना न करे। इस प्रकार यत्नपूर्वक उसकी परिचर्यामें संलग्न रहे। इसमें संदेह नहीं कि जो मिथ्या एवं कपटपूर्ण उपचारके द्वारा राजाकी सेवा करता है, वह एक दिन अवश्य उसके हाथसे मारा जाता है ।। २२ ।।

यद् यद् भर्तानुयुञ्जीत तत् तदेवानुवर्तयेत् ।

प्रमादमवलेपं च कोपं च परिवर्जयेत् ।। २३ ।।

राजा जिस-जिस कार्यके लिये आज्ञा दे, उसीका पालन करे। लापरवाही, घमंड और क्रोधको सर्वथा त्याग दे ।। २३ ।।

समर्थनासु सर्वासु हितं च प्रियमेव च ।

संवर्णयेत् तदेवास्य प्रियादपि हितं भवेत् ।। २४ ।।

कर्तव्य और अकर्तव्यके निर्णयके सभी अवसरोंपर हितकारक और प्रिय वचन कहे। यदि दोनों सम्भव न हों, तो प्रिय वचनका त्याग करके भी जो हितकारक हो, वही बात कहे (हितविरोधी प्रिय वचन कदापि न कहे) ।। २४ ।।

अनुकूलो भवेच्चास्य सर्वार्थेषु कथासु च ।
अप्रियं चाहितं यत् स्यात् तदस्मै नानुवर्णयेत् ।। २५ ।।

सभी विषयों तथा सब बातोंमें राजाके अनुकूल रहे। कथावार्तामें भी राजाके सामने ऐसी बातोंकी बार-बार चर्चा न करे, जो उसे अप्रिय एवं अहितकर प्रतीत होती हों ।। २५ ।।

नाहमस्य प्रियोऽस्मीति मत्वा सेवेत पण्डितः ।
अप्रमत्तश्च सततं हितं कुर्यात् प्रियं च यत् ।। २६ ।।

विद्वान् पुरुष 'मैं राजाका प्रिय व्यक्ति नहीं हूँ', ऐसा मानता हुआ सदा सावधान रहकर उसकी सेवा करे। राजाके लिये जो हितकर और प्रिय हो, वही कार्य करे ।। २६ ।।

नास्यानिष्टानि सेवेत नाहितैः सह संवदेत् ।
स्वस्थानान्न विकम्पेत स राजवसतिं वसेत् ।। २७ ।।

जो चीज राजाको पसंद न हो, उसका कदापि सेवन न करे। उसके शत्रुओंसे बातचीत न करे और अपने स्थानसे कभी विचलित न हो। ऐसा बर्ताव करनेवाला मनुष्य ही राजाके यहाँ सकुशल रह सकता है ।। २७ ।।

दक्षिणं वाथ वामं वा पार्श्वमासीत पण्डितः ।
रक्षिणां ह्यात्तशस्त्राणां स्थानं पश्चात् विधीयते ।। २८ ।।

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह राजाके दाहिने या बायें भागमें बैठे; क्योंकि राजाके पीछे अस्त्र-शस्त्रधारी अंगरक्षक सैनिकोंका स्थान होता है ।। २८ ।।

नित्यं हि प्रतिषिद्धं तु पुरस्तादासनं महत् ।
न च संदर्शने किञ्चित् प्रवृत्तमपि संजयेत् ।। २९ ।।

राजाके सामने किसीके लिये भी ऊँचा आसन लगाना सर्वथा निषिद्ध है। उसकी आँखोंके सामने यदि कोई पुरस्कार-वितरण या वेतनदान आदिका कार्य हो रहा हो, तो उसमें बिना बुलाये स्वयं पहले लेनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये ।। २९ ।।

अपि ह्येतद् दरिद्राणां व्यलीकस्थानमुत्तमम् ।
न मृषाभिहितं राज्ञां मनुष्येषु प्रकाशयेत् ।। ३० ।।

क्योंकि ऐसी ढिठाई तो दरिद्रोंको भी बहुत अप्रिय जान पड़ती है; फिर राजाओंकी तो बात ही क्या है? राजाओंकी किसी झूठी बातको दूसरे मनुष्योंके सामने प्रकाशित न करें ।। ३० ।।

असूयन्ति हि राजानो नराननृतवादिनः ।
तथैव चावमन्यन्ते नरान् पण्डितमानिनः ।। ३१ ।।

क्योंकि झूठ बोलनेवाले मनुष्योंसे राजालोग द्वेष मान लेते हैं। इसी तरह जो लोग अपनेको पण्डित मानते हैं, उनका भी राजा तिरस्कार करते हैं ।। ३१ ।।

शूरोऽस्मीति न दृप्तः स्याद् बुद्धिमानिति वा पुनः ।
प्रियमेवाचरन् राज्ञः प्रियो भवति भोगवान् ।। ३२ ।।

'मैं शूरवीर हूँ अथवा बड़ा बुद्धिमान् हूँ', ऐसा घमंड न करे। जो सदा राजाको प्रिय लगनेवाले कार्य ही करता है, वही उसका प्रेमपात्र तथा ऐश्वर्यभोगसे सम्पन्न होता है ।। ३२ ।।

ऐश्वर्यं प्राप्य दुष्प्रापं प्रियं प्राप्य च राजतः ।
अप्रमत्तो भवेद् राज्ञः प्रियेषु च हितेषु च ।। ३३ ।।

राजासे दुर्लभ ऐश्वर्य तथा प्रिय भोग प्राप्त होनेपर मनुष्य सदा सावधान होकर उसके प्रिय एवं हितकर कार्योंमें संलग्न रहे ।। ३३ ।।

यस्य कोपो महाबाधः प्रसादश्च महाफलः ।
कस्तस्य मनसापीच्छेदनर्थं प्राज्ञसम्मतः ।। ३४ ।।

जिसका क्रोध बड़ा भारी संकट उपस्थित कर देता है और जिसकी प्रसन्नता महान् फल—ऐश्वर्य-भोग देनेवाली है, उस राजाका कौन बुद्धिमान् पुरुष मनसे भी अनिष्ट साधन करना चाहेगा? ।। ३४ ।।

न चोष्ठौ न भुजौ जानू न च वाक्यं समाक्षिपेत् ।
सदा वातं च वाचं च ष्ठीवनं चाचरेच्छनैः ।। ३५ ।।

राजाके समक्ष अपने दोनों हाथ, ओठ और घुटनोंको व्यर्थ न हिलावे; बकवाद न करे। सदा शनैः-शनैः बोले। धीरेसे थूके और दूसरोंको पता न चले, इस प्रकार अधोवायु छोड़े ।। ३५ ।।

हास्यवस्तुषु चान्यस्य वर्तमानेषु केषुचित् ।
नातिगाढं प्रहृष्येत न चाप्युन्मत्तवद्धसेत् ।। ३६ ।।
न चातिधैर्येण चरेद् गुरुतां हि व्रजेत् ततः ।
स्मितं तु मृदुपूर्वेण दर्शयेत प्रसादजम् ।। ३७ ।।

किसी दूसरे व्यक्तिके सम्बन्धमें कोई हास्यजनक वस्तु दिखायी दे, तो अधिक हर्ष न प्रकट करे एवं पागलोंकी तरह अट्टहास न करे तथा अत्यन्त धैर्यके कारण जडवत् निश्चेष्ट होकर भी न रहे। इससे वह गौरव (सम्मान) को प्राप्त होता है। मनमें प्रसन्नता होनेपर मुखसे मृदुल (मन्द) मुसकानका ही प्रदर्शन करे ।। ३६-३७ ।।

लाभे न हर्षयेद् यस्तु न व्यथेद् योऽवमानितः ।
असम्मूढश्च यो नित्यं स राजवसतिं वसेत् ।। ३८ ।।

जो अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेपर (अधिक) हर्षित नहीं होता अथवा अपमानित होनेपर अधिक व्यथाका अनुभव नहीं करता और सदा मोहशून्य होकर विवेकसे काम लेता

है, वही राजाके यहाँ सुखपूर्वक रह सकता है ।। ३८ ।।

राजानं राजपुत्रं वा संवर्णयति यः सदा ।
अमात्यः पण्डितो भूत्वा स चिरं तिष्ठते प्रियः ।। ३९ ।।

जो बुद्धिमान् सचिव सदा राजा अथवा राजकुमारकी प्रशंसा करता रहता है, वही राजाके यहाँ उसका प्रीतिपात्र होकर दीर्घकालतक टिक सकता है ।। ३९ ।।

प्रगृहीतश्च योऽमात्यो निगृहीतस्त्वकारणैः ।
न निर्वदति राजानं लभते सम्पदं पुनः ।। ४० ।।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च गुणवादी विचक्षणः ।
उपजीवी भवेद् राज्ञो विषये योऽपि वा भवेत् ।। ४१ ।।

यदि कोई मन्त्री पहले राजाका कृपापात्र रहा हो और पीछे अकारण उसे दण्ड भोगना पड़ा हो, उस दशामें भी जो राजाकी निन्दा नहीं करता, वह पुनः अपने पूर्व वैभवको प्राप्त कर लेता है। जो बुद्धिमान् राजाके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह अथवा उसके राज्यमें निवास करता है, उसे राजाके सामने अथवा पीठ पीछे भी उसके गुणोंकी ही चर्चा करनी चाहिये ।। ४०-४१ ।।

अमात्यो हि बलाद् भोक्तुं राजानं प्रार्थयेत यः ।
न स तिष्ठेच्चिरं स्थानं गच्छेच्च प्राणसंशयम् ।। ४२ ।।

जो मन्त्री राजाको बलपूर्वक अपने अधीन करना चाहता है, वह अधिक समयतक अपने पदपर नहीं टिक सकता। इतना ही नहीं, उसके प्राणोंपर भी संकट आ जाता है ।। ४२ ।।

श्रेयः सदाऽऽत्मनो दृष्ट्वा परं राज्ञा न संवदेत् ।
विशेषयेच्च राजानं योग्यभूमिषु सर्वदा ।। ४३ ।।

अपनी भलाई अथवा लाभ देखकर दूसरेको सदा राजाके साथ न मिलावे; न बातचीत करावे। उपयुक्त स्थान और अवसर देखकर सदा राजाकी विशेषता प्रकट करे ।। ४३ ।।

अम्लानोबलवाञ्छूरश्छायेवानुगतः सदा ।
सत्यवादी मृदुर्दान्तः स राजवसतिं वसेत् ।। ४४ ।।

जो उत्साहसम्पन्न, बुद्धि-बलसे युक्त, शूरवीर, सत्यवादी, कोमलस्वभाव और जितेन्द्रिय होकर सदा छायाकी भाँति राजाका अनुसरण करता है, वही राजदरबारमें टिक सकता है ।। ४४ ।।

अन्यस्मिन् प्रेष्यमाणे तु पुरस्ताद् यः समुत्पतेत् ।
अहं किं करवाणीति स राजवसतिं वसेत् ।। ४५ ।।

जब दूसरेको किसी कार्यके लिये भेजा जा रहा हो, उस समय जो स्वयं ही उठकर आगे जाय और पूछे—‘मेरे लिये क्या आज्ञा है’, वही राजभवनमें निवास कर सकता है ।। ४५ ।।

आन्तरे चैव बाह्ये च राज्ञा यश्चाथ सर्वदा ।

आदिष्टो नैव कम्पेत स राजवसतिं वसेत् ।। ४६ ।।

जो राजाके द्वारा आन्तरिक (धन एवं स्त्री आदिकी रक्षा) और बाह्य (शत्रुविजय आदि) कार्योंके लिये आदेश मिलनेपर कभी शंकित या भयभीत नहीं होता, वही राजाके यहाँ रह सकता है ।। ४६ ।।

यो वै गृहेभ्यः प्रवसन् प्रियाणां नानुसंस्मरेत् ।
दुःखेन सुखमन्विच्छेत् स राजवसतिं वसेत् ।। ४७ ।।

जो घर-बार छोड़कर परदेशमें पड़ा रहनेपर भी प्रियजनों एवं अभीष्ट भोगोंका स्मरण नहीं करता और कष्ट सहकर सुख पानेकी इच्छा करता है, वही राजदरबारमें टिक सकता है ।। ४७ ।।

समवेषं न कुर्वीत नोच्चैः संनिहितो वसेत् ।
न मन्त्रं बहुधा कुर्यादेवं राज्ञः प्रियो भवेत् ।। ४८ ।।

राजाके समान वेशभूषा न धारण करे। उसके अत्यन्त निकट न रहे। उसके सामने उच्च आसनपर न बैठे। अपने साथ राजाने जो गुप्त सलाह की हो, उसे दूसरोंपर प्रकट न करे। ऐसा करनेसे ही मनुष्य राजाका प्रिय हो सकता है ।। ४८ ।।

न कर्मणि नियुक्तः सन् धनं किञ्चिदपि स्पृशेत् ।
प्राप्नोति हि हरन् द्रव्यं बन्धनं यदि वा वधम् ।। ४९ ।।

यदि राजाने किसी कामपर नियुक्त किया हो, तो उसमें घूसके रूपमें थोड़ा भी धन न ले; क्योंकि जो इस प्रकार चोरीसे धन लेता है, उसे एक दिन बन्धन अथवा वधका दण्ड भोगना पड़ता है ।। ४९ ।।

यानं वस्त्रमलङ्कारं यच्चान्यत् सम्प्रयच्छति ।
तदेव धारयेन्नित्यमेवं प्रियतरो भवेत् ।। ५० ।।

राजा प्रसन्न होकर सवारी, वस्त्र, आभूषण तथा और भी जो कोई वस्तु दे, उसीको सदा धारण करे या उपयोगमें लावे। ऐसा करनेसे वह राजाका अधिक प्रिय होता है ।। ५० ।।

एवं संयम्य चित्तानि यत्नतः पाण्डुनन्दनाः ।
संवत्सरमिमं तात तथाशीला बुभूषत ।
अथ स्वविषयं प्राप्य यथाकामं करिष्यथ ।। ५१ ।।

तात युधिष्ठिर एवं पाण्डवो! इस प्रकार प्रयत्न-पूर्वक अपने मनको वशमें रखकर पूर्वोक्त रीतिसे उत्तम बर्ताव करते हुए इस तेरहवें वर्षको व्यतीत करो और इसी रूपमें रहकर ऐश्वर्य पानेकी इच्छा करो। तदनन्तर अपने राज्यमें आकर इच्छानुसार व्यवहार करना ।। ५१ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अनुशिष्टाः स्म भद्रं ते नैतद् वक्तास्ति कश्चन ।

कुन्तीमृते मातरं नो विदुरं वा महामतिम् ।। ५२ ।।

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन्! आपका भला हो। आपने हमें बहुत अच्छी शिक्षा दी। हमारी माता कुन्ती तथा महाबुद्धिमान् विदुरजीको छोड़कर दूसरा कोई नहीं है, जो हमें ऐसी बात बतावे ।। ५२ ।।

यदेवानन्तरं कार्यं तद् भवान् कर्तुमर्हति ।
तारणायास्य दुःखस्य प्रस्थानाय जयाय च ।। ५३ ।।

अब हमें इस दुःखसागरसे पार होने, यहाँसे प्रस्थान करने और विजय पानेके लिये जो कर्तव्य आवश्यक हो, उसे आप पूर्ण करें ।। ५३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा धौम्योऽथ द्विजसत्तमः ।
अकरोद् विधिवत् सर्वं प्रस्थाने यद् विधीयते ।। ५४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर विप्रवर धौम्यजीने यात्राके समय जो आवश्यक शास्त्रविहित कर्तव्य है, वह सब विधिपूर्वक सम्पन्न किया ।। ५४ ।।

तेषां समिध्य तानग्नीन् मन्त्रवच्च जुहाव सः ।
समृद्धिवृद्धिलाभाय पृथिवीविजयाय च ।। ५५ ।।

पाण्डवोंकी अग्निहोत्रसम्बन्धी अग्निको प्रज्वलित करके उन्होंने उनकी समृद्धि, वृद्धि, राज्यलाभ तथा पृथ्वीपर विजय-प्राप्तिके लिये वेदमन्त्र पढ़कर होम किया ।। ५५ ।।

अग्नीन् प्रदक्षिणीकृत्य ब्राह्मणांश्च तपोधनान् ।
याज्ञसेनीं पुरस्कृत्य षडेवाथ प्रवव्रजुः ।। ५६ ।।

तत्पश्चात् पाण्डवोंने अग्नि तथा तपस्वी ब्राह्मणोंकी परिक्रमा करके द्रौपदीको आगे रखकर वहाँसे प्रस्थान किया। कुल छः व्यक्ति ही आसन छोड़कर एक साथ चले थे ।। ५६ ।।

गतेषु तेषु वीरेषु धौम्योऽथ जपतां वरः ।
अग्निहोत्राण्युपादाय पाञ्चालानभ्यगच्छत ।। ५७ ।।

उन पाण्डव वीरोंके चले जानेपर जपयज्ञ करनेवालोंमें श्रेष्ठ धौम्यजी उस अग्निहोत्रसम्बन्धी अग्निको साथ लेकर पांचालदेशमें चले गये ।। ५७ ।।

इन्द्रसेनादयश्चैव यथोक्ताः प्राप्य यादवान् ।
रथानश्वांश्च रक्षन्तः सुखमूषुः सुसंवृताः ।। ५८ ।।

इन्द्रसेन आदि सेवक भी पूर्वोक्त आदेश पाकर यदुवंशियोंकी नगरी द्वारकामें जा पहुँचे और वहाँ स्वयं सुरक्षित हो रथ और घोड़ोंकी रक्षा करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे ।। ५८ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि धौम्योपदेशे चतुर्थोऽध्यायः ।। ४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें धौम्योपदेशसम्बन्धी चौथा अध्याय पूरा हुआ ।। ४ ।।

पञ्चमोऽध्यायः

पाण्डवोंका विराटनगरके समीप पहुँचकर श्मशानमें एक शमीवृक्षपर अपने अस्त्र-शस्त्र रखना

वैशम्पायन उवाच

ते वीरा बद्धनिस्त्रिंशास्तथा बद्धकलापिनः ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणाः कालिन्दीमभितो ययुः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर वे वीर पाण्डव तलवार बाँधे, पीठपर तूणीर कसे, गोहके चमड़ेसे बने हुए अंगुलित्र (दस्ताने) पहने (पैदल चलते-चलते) यमुनानदीके समीप जा पहुँचे ।। १ ।।

ततस्ते दक्षिणं तीरमन्वगच्छन् पदातयः ।
निवृत्तवनवासा हि स्वराष्ट्रं प्रेप्सवस्तदा ।
वसन्तो गिरिदुर्गेषु वनदुर्गेषु धन्विनः ।। २ ।।
विध्यन्तो मृगजातानि महेष्वासा महाबलाः ।

इसके बाद वे यमुनाके दक्षिण किनारेपर पैदल ही चलने लगे। उस समय उनके मनमें यह अभिलाषा जाग उठी थी कि अब हम वनवासके कष्टसे मुक्त हो अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे। उन सबने धनुष ले रखे थे। वे महान् धनुर्धर और महापराक्रमी वीर पर्वतों और वनोंके दुर्गम प्रदेशोंमें डेरा डालते और हिंसक पशुओंको मारते हुए यात्रा कर रहे थे ।। २½ ।।

उत्तरेण दशार्णांस्ते पञ्चालान् दक्षिणेन च ।। ३ ।।
अन्तरेण यकृल्लोमान् शूरसेनांश्च पाण्डवाः ।
लुब्धा ब्रुवाणा मत्स्यस्य विषयं प्राविशन् वनात् ।। ४ ।।
धन्विनो बद्धनिस्त्रिंशा विवर्णाः श्मश्रुधारिणः ।
ततो जनपदं प्राप्य कृष्णा राजानमब्रवीत् ।। ५ ।।

आगे जाकर वे दशार्णसे उत्तर और पांचालसे दक्षिण एवं यकृल्लोम तथा शूरसेन देशोंके बीचसे होकर यात्रा करने लगे। उन्होंने हाथोंमें धनुष धारण कर रखे थे। उनकी कमरमें तलवारें बँधी थीं। उनके शरीर मलिन एवं उदास थे। उन सबकी दाढ़ी-मूँछें बढ़ गयी थीं। किसीके पूछनेपर वे अपनेको मत्स्यदेशमें निवास करनेके इच्छुक बताते थे। इस प्रकार उन्होंने वनसे निकलकर मत्स्यराष्ट्रके जनपदमें प्रवेश किया। जनपदमें आनेपर द्रौपदीने राजा युधिष्ठिरसे कहा— ।। ३—५ ।।

पश्यैकपद्यो दृश्यन्ते क्षेत्राणि विविधानि च ।
व्यक्तं दूरे विराटस्य राजधानी भविष्यति ।

वसामेहापरां रात्रिं बलवान् मे परिश्रमः ।। ६ ।।

'महाराज! देखिये, यहाँ अनेक प्रकारके खेत और उनमें पहुँचनेके लिये बहुत-सी पगडंडियाँ दिखायी देती हैं। जान पड़ता है, विराटकी राजधानी अभी दूर होगी। मुझे बड़ी थकावट हो रही है, अतः हम एक रात और यहीं रहें' ।। ६ ।।

युधिष्ठिर उवाच

धनंजय समुद्यम्य पाञ्चालीं वह भारत ।
राजधान्यां निवत्स्यामो विमुक्ताश्च वनादितः ।। ७ ।।

युधिष्ठिर बोले—धनंजय! तुम द्रौपदीको कंधेपर उठाकर ले चलो। भारत! इस वनसे निकलकर अब हमलोग राजधानीमें ही निवास करेंगे ।। ७ ।।

वैशम्पायन उवाच

तामादायार्जुनस्तूर्णं द्रौपदीं गजराडिव ।
सम्प्राप्य नगराध्याशमवतारयदर्जुनः ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तब गजराजके समान पराक्रमी अर्जुनने तुरंत ही द्रौपदीको उठा लिया और नगरके निकट पहुँचकर उन्हें कंधेसे उतारा ।। ८ ।।

स राजधानीं सम्प्राप्य कौन्तेयोऽर्जुनमब्रवीत् ।
क्वायुधानि समासज्ज्य प्रवेक्ष्यामः पुरं वयम् ।। ९ ।।

राजधानीके समीप पहुँचकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा—'भैया! हम अपने अस्त्र-शस्त्र कहाँ रखकर नगरमें प्रवेश करें? ।। ९ ।।

सायुधाश्च प्रवेक्ष्यामो वयं तात पुरं यदि ।
समुद्वेगं जनस्यास्य करिष्यामो न संशयः ।। १० ।।

'तात! यदि अपने आयुधोंके साथ हम नगरमें प्रवेश करेंगे, तो निःसंदेह यहाँके निवासियोंको उद्वेग (भय) में डाल देंगे ।। १० ।।

गाण्डीवं च महद् गाढं लोके च विदितं नृणाम् ।
तच्चेदायुधमादाय गच्छामो नगरं वयम् ।
क्षिप्रमस्मान् विजानीयुर्मनुष्या नात्र संशयः ।। ११ ।।

'तुम्हारा गाण्डीव धनुष तो बहुत बड़ा और भारी है। संसारके सब लोगोंमें उसकी प्रसिद्धि है। ऐसी दशामें यदि हम अस्त्र-शस्त्र लेकर नगरमें चलेंगे, तो यहाँ सब लोग हमें शीघ्र ही पहचान लेंगे। इसमें संशय नहीं है ।। ११ ।।

ततो द्वादश वर्षाणि प्रवेष्टव्यं वने पुनः ।
एकस्मिन्नपि विज्ञाते प्रतिज्ञातं हि नस्तथा ।। १२ ।।

'यदि हममेंसे एक भी पहचान लिया गया, तो हमें दुबारा बारह वर्षोंके लिये वनमें प्रवेश करना पड़ेगा; क्योंकि हमने ऐसी ही प्रतिज्ञा कर रखी है' ।। १२ ।।

अर्जुन उवाच

इयं कूटे मनुष्येन्द्र गहना महती शमी ।
भीमशाखा दुरारोहा श्मशानस्य समीपतः ।। १३ ।।

अर्जुनने कहा—राजन्! श्मशानभूमिके समीप एक टीलेपर यह शमीका बहुत बड़ा सघन वृक्ष है। इसकी शाखाएँ बड़ी भयानक हैं, इससे इसपर चढ़ना कठिन है ।। ५३ ।।

न चापि विद्यते कश्चिन्मनुष्य इति मे मतिः ।
योऽस्मान् निदधतो द्रष्टा भवेच्छस्त्राणि पाण्डवाः ।। १४ ।।

पाण्डवो! मेरा विश्वास है कि यहाँ कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो हमें अपने अस्त्र-शस्त्रोंको यहाँ रखते समय देख सके ।। १४ ।।

उत्पथे हि वने जाता मृगव्यालनिषेविते ।
समीपे च श्मशानस्य गहनस्य विशेषतः ।। १५ ।।
समाधायायुधं शम्यां गच्छामो नगरं प्रति ।
एवमत्र यथायोगं विहरिष्याम भारत ।। १६ ।।

यह वृक्ष रास्तेसे बहुत दूर जंगलमें है। इसके आसपास हिंसक जीव और सर्प आदि रहते हैं। विशेषतः यह दुर्गम श्मशानभूमिके निकट है; (अतः यहाँतक किसीके आने या वृक्षपर चढ़नेकी सम्भावना नहीं है;) इसलिये इसी शमीवृक्षपर हम अपने अस्त्र-शस्त्र रखकर नगरमें चलें। भारत! ऐसा करके हम यहाँ जैसा सुयोग होगा, उसके अनुसार विचरण करेंगे ।। १५-१६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स राजानं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
प्रचक्रमे निधानाय शस्त्राणां भरतर्षभ ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराज राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर अर्जुन वहाँ अस्त्र-शस्त्रोंको रखनेके प्रयत्नमें लग गये ।। १७ ।।

येन देवान् मनुष्यांश्च सर्वांश्चैकरथोऽजयत् ।
स्फीताञ्जनपदांश्चान्यानजयत् कुरुपुङ्गवः ।। १८ ।।
तदुदारं महाघोषं सम्पन्नबलसूदनम् ।
अपज्यमकरोत् पार्थो गाण्डीवं सुभयंकरम् ।। १९ ।।

कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने जिस धनुषके द्वारा एकमात्र रथका आश्रय ले सम्पूर्ण देवताओं और मनुष्योंपर विजय पायी थी तथा अन्यान्य अनेक समृद्धिशाली जनपदोंपर विजय-पताका फहरायी थी, जिस धनुषने दिव्य बलसे सम्पन्न असुरों आदिकी सेनाओंका संहार किया था, जिसकी टंकारध्वनि बहुत दूरतक फैलती है, उस उदार तथा अत्यन्त भयंकर गाण्डीव धनुषकी प्रत्यंचा अर्जुनने उतार डाली ।। १८-१९ ।।

येन वीरः कुरुक्षेत्रमभ्यरक्षत् परंतपः ।
अमुञ्चद् धनुषस्तस्य ज्यामक्षय्यां युधिष्ठिरः ।। २० ।।

परंतप वीर युधिष्ठिरने जिसके द्वारा समूचे कुरुक्षेत्रकी रक्षा की थी, उस धनुषकी अक्षय डोरीको उन्होंने भी उतार दिया ।। २० ।।

पाञ्चालान् येन संग्रामे भीमसेनोऽजयत् प्रभुः ।
प्रत्यषेधद् बहूनेकः सपत्नांश्चैव दिग्जये ।। २१ ।।
निशम्य यस्य विस्फारं व्यद्रवन्त रणात् परे ।
पर्वतस्येव दीर्णस्य विस्फोटमशनेरिव ।। २२ ।।
सैन्धवं येन राजानं पर्यामृषितवानथ ।
ज्यापाशं धनुषस्तस्य भीमसेनोऽवतारयत् ।। २३ ।।

भीमसेनने जिसके द्वारा पांचाल वीरोंपर विजय पायी थी, दिग्विजयके समय उन्होंने अकेले ही जिसकी सहायतासे बहुतेरे शत्रुओंको परास्त किया था, वज्रके फटने और पर्वतके विदीर्ण होनेके समान जिसका भयंकर टंकार सुनकर कितने ही शत्रु युद्ध छोड़कर भाग खड़े हुए तथा जिसके सहयोगसे उन्होंने सिन्धुराज जयद्रथको परास्त किया था, अपने उसी धनुषकी प्रत्यंचा भीमसेनने भी उतार दिया ।। २१—२३ ।।

अजयत् पश्चिमामाशां धनुषा येन पाण्डवः ।
माद्रीपुत्रो महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभाषिता ।। २४ ।।
तस्य मौर्वीमपाकर्षच्छूरः संक्रन्दनो युधि ।
कुले नास्ति समो रूपे यस्येति नकुलः स्मृतः ।। २५ ।।

जिनका मुख ताँबेके समान लाल था, जो बहुत कम बोलते थे, उन महाबाहु माद्रीनन्दन नकुलने दिग्विजयके समय जिस धनुषकी सहायतासे पश्चिम दिशापर विजय प्राप्त की थी, समूचे कुरुकुलमें जिनके समान दूसरा कोई रूपवान् न होनेके कारण जिन्हें नकुल कहा जाता था, जो युद्धमें शत्रुओंको रुलानेवाले शूर-वीर थे; उन वीरवर नकुलने भी अपने पूर्वोक्त धनुषकी प्रत्यंचा उतार दी ।। २४-२५ ।।

दक्षिणां दक्षिणाचारो दिशं येनाजयत् प्रभुः ।
अपज्यमकरोद् वीरः सहदेवस्तदायुधम् ।। २६ ।।

शास्त्रानुकूल तथा उदार आचार-विचारवाले शक्तिशाली वीर सहदेवने भी जिसकी सहायतासे दक्षिण दिशाको जीता था, उस धनुषकी डोरी उतार दी ।। २६ ।।

खड्गांश्च दीप्तान् दीर्घांश्च कलापांश्च महाधनान् ।
विपाठान् क्षुरधारांश्च धनुर्भिर्निदधुः सह ।। २७ ।।

धनुषोंके साथ-साथ पाण्डवोंने बड़े-बड़े एवं चमकीले खड्ग, बहुमूल्य तूणीर, छुरेके समान तीखी धारवाले क्षुरधार और विपाठ नामक बाण भी रख दिये ।।

वैशम्पायन उवाच

अथान्वशासन्नकुलं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आरुह्येमां शमीं वीर धनूंष्येतानि निक्षिप ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने नकुलको आज्ञा दी—'वीर! तुम इस शमीपर चढ़कर ये धनुष आदि अस्त्र-शस्त्र रख दो' ।। २८ ।।

तामुपारुह्य नकुलो धनूंषि निदधे स्वयम् ।
यानि तस्यावकाशानि दिव्यरूपाण्यमन्यत ।। २९ ।।

तब नकुलने उस वृक्षपर चढ़कर उसके खोंखलोंमें वे धनुष आदि आयुध स्वयं अपने हाथसे रखे। उसके जो खोंखले थे, वे नकुलको दिव्यरूप जान पड़े ।। २९ ।।

यत्र चापश्यत स वै तिरोवर्षाणि वर्षति ।
तत्र तानि दृढैः पाशैः सुगाढं पर्यबन्धत ।। ३० ।।

क्योंकि उन्होंने देखा, वहाँ मेघ तिरछी वृष्टि करता है (जिससे खोंखलोंमें पानी नहीं पड़ता)। उन्हींमें उन आयुधोंको रखकर मजबूत रस्सियोंसे उन्हें अच्छी तरह बाँध दिया ।। ३० ।।

शरीरं च मृतस्यैकं समबध्नन्त पाण्डवाः ।
विवर्जयिष्यन्ति नरा दूरादेव शमीमिमाम् ।। ३१ ।।
आबद्धं शवमत्रेति गन्धमाघ्राय पूतिकम् ।

अशीतिशतवर्षेयं माता न इति वादिनः ।। ३२ ।।
कुलधर्मोऽयमस्माकं पूर्वैराचरितोऽपि वा ।
समासज्ज्याथ वृक्षेऽस्मिन्निति वै व्याहरन्ति ते ।। ३३ ।।
आगोपालाविपालेभ्य आचक्षाणाः परंतपाः ।
आजग्मुर्नगराभ्याशं पार्थाः शत्रुनिबर्हणाः ।। ३४ ।।

इसके बाद पाण्डवोंने एक मृतकका शव लाकर उस वृक्षकी शाखामें बाँध दिया। उसे बाँधनेका उद्देश्य यह था कि इसकी दुर्गन्ध नाकमें पड़ते ही लोग समझ लेंगे कि इसमें सड़ी लाश बँधी है; अतः दूरसे ही वे इस शमीवृक्षको त्याग देंगे। परंतप पाण्डव इस प्रकार उस शमीवृक्षपर शव बाँधकर उस वनमें गाय चरानेवाले-ग्वालों और भेड़ पालनेवाले गड़रियोंसे शव बाँधनेका कारण बताते हुए इस प्रकार कहते थे—'यह एक सौ अस्सी वर्षकी हमारी माता है। हमारे कुलका यह धर्म है, इसलिये ऐसा किया है। हमारे पूर्वज भी ऐसा ही करते आये हैं।'* इस प्रकार शत्रुओंका संहार करनेवाले वे कुन्तीपुत्र नगरके निकट आ पहुँचे ।। ३१—३४ ।।

जयो जयन्तो विजयो जयत्सेनो जयद्बलः ।
इति गुह्यानि नामानि चक्रे तेषां युधिष्ठिरः ।। ३५ ।।

तब युधिष्ठिरने क्रमशः पाँचों भाइयोंके जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जयद्बल—ये गुप्त नाम रखे ।। ३५ ।।

ततो यथाप्रतिज्ञाभिः प्राविशन् नगरं महत् ।
अज्ञातचर्यां वत्स्यन्तो राष्ट्रे वर्षं त्रयोदशम् ।। ३६ ।।

तत्पश्चात् उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार तेरहवें वर्षका अज्ञातवास पूर्ण करनेके लिये मत्स्यराष्ट्रके उस विशाल नगरमें प्रवेश किया ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि पुरप्रवेशे अस्त्रसंस्थापने पञ्चमोऽध्यायः ।। ५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें नगरप्रवेशके लिये अस्त्रस्थापनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५ ।।

---

* पाण्डवलोग शव बँधी हुई शाखाकी ओर अँगुलीसे संकेत करके कहते थे—'यह हमारी माता है।' वे अपने आयुधोंकी रक्षा करनेके कारण शमीको ही अपनी माता मानते थे और उसीकी ओर उनका वास्तविक संकेत था। शव-बन्धनके व्याजसे वे अस्त्र-संरक्षणको ही पूर्वजोंद्वारा आचरित कुलधर्म घोषित करते थे।

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा दुर्गादेवीकी स्तुति और देवीका प्रत्यक्ष प्रकट होकर उन्हें वर देना

वैशम्पायन उवाच

विराटनगरं रम्यं गच्छमानो युधिष्ठिरः ।
अस्तुवन्मनसा देवीं दुर्गां त्रिभुवनेश्वरीम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! विराटके रमणीय नगरमें प्रवेश करते समय महाराज युधिष्ठिरने मन-ही-मन त्रिभुवनकी अधीश्वरी दुर्गादेवीका इस प्रकार स्तवन किया— ।। १ ।।

यशोदागर्भसम्भूतां नारायणवरप्रियाम् ।
नन्दगोपकुले जातां मङ्गल्यां कुलवर्धिनीम् ।। २ ।।
कंसविद्रावणकरीमसुराणां क्षयंकरीम् ।
शिलातटविनिक्षिप्तामाकाशं प्रति गामिनीम् ।। ३ ।।
वासुदेवस्य भगिनीं दिव्यमाल्यविभूषिताम् ।
दिव्याम्बरधरां देवीं खड्गखेटकधारिणीम् ।। ४ ।।

‘जो यशोदाके गर्भसे प्रकट हुई है, जो भगवान् नारायणको अत्यन्त प्रिय है, नन्दगोपके कुलमें जिसने अवतार लिया है, जो सबका मंगल करनेवाली तथा कुलको बढ़ानेवाली है, जो कंसको भयभीत करनेवाली और असुरोंका संहार करनेवाली है, कंसके द्वारा पत्थरकी शिलापर पटकी जानेपर जो आकाशमें उड़ गयी थी, जिसके अंग दिव्य गन्धमाला एवं आभूषणोंसे विभूषित हैं, जिसने दिव्य वस्त्र धारण कर रखा है, जो हाथोंमें ढाल और तलवार धारण करती है, वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी भगिनी उस दुर्गादेवीका मैं चिन्तन करता हूँ ।। २—४ ।।

भारावतरणे पुण्ये ये स्मरन्ति सदाशिवाम् ।
तान् वै तारयसे पापात् पङ्के गामिव दुर्बलाम् ।। ५ ।।

‘पृथ्वीका भार उतारनेवाली पुण्यमयी देवि! तुम सदा सबका कल्याण करनेवाली हो। जो लोग तुम्हारा स्मरण करते हैं, निश्चय ही तुम उन्हें पाप और उसके फलस्वरूप होनेवाले दुःखसे उबार लेती हो; ठीक उसी तरह, जैसे कोई पुरुष कीचड़में फँसी हुई दुर्बल गायका उद्धार कर देता है’ ।। ५ ।।

स्तोतुं प्रचक्रमे भूयो विविधैः स्तोत्रसम्भवैः ।
आमन्त्र्य दर्शनाकाङ्क्षी राजा देवीं सहानुजः ।। ६ ।।
नमोऽस्तु वरदे कृष्णे कुमारि ब्रह्मचारिणि ।

बालार्कसदृशाकारे पूर्णचन्द्रनिभानने ।। ७ ।।

तत्पश्चात् भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरने देवीके दर्शनकी अभिलाषा रखकर नाना प्रकारके स्तुतिपरक नामोंद्वारा उन्हें सम्बोधित करके पुनः उनकी स्तुति प्रारम्भ की—'इच्छानुसार उत्तम वर देनेवाली देवि! तुम्हें नमस्कार है। सच्चिदानन्दमयी कृष्णे! तुम कुमारी और ब्रह्मचारिणी हो। तुम्हारी अंगकान्ति प्रभातकालीन सूर्यके सदृश लाल है । तुम्हारा मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति आह्लाद प्रदान करनेवाला है ।। ६-७ ।।

चतुर्भुजे चतुर्वक्त्रे पीनश्रोणिपयोधरे ।
मयूरपिच्छवलये केयूराङ्गदधारिणि ।
भासि देवि यथा पद्मा नारायणपरिग्रहः ।। ८ ।।
स्वरूपं ब्रह्मचर्यं च विशदं गगनेश्वरी ।
कृष्णच्छविसमा कृष्णा संकर्षणसमानना ।। ९ ।।

'तुम चार भुजाओंसे सुशोभित विष्णुरूपा और चार मुखोंसे अलंकृत ब्रह्मस्वरूपा हो। तुम्हारे नितम्ब और उरोज पीन हैं। तुमने मोरपंखका कंगन धारण किया है तथा केयूर और अंगद पहन रखे हैं। देवि! भगवान् नारायणकी धर्मपत्नी लक्ष्मीजीके समान तुम्हारी शोभा हो रही है। आकाशमें विचरनेवाली देवि! तुम्हारा स्वरूप और ब्रह्मचर्य परम उज्ज्वल है। श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी छबिके समान तुम्हारी श्याम कान्ति है, इसीलिये तुम कृष्णा कहलाती हो। तुम्हारा मुख संकर्षणके समान है ।।

बिभ्रती विपुलौ बाहू शक्रध्वजसमुच्छ्रयौ ।
पात्री च पङ्कजी घण्टी स्त्रीविशुद्धा च या भुवि ।। १० ।।
पाशं धनुर्महाचक्रं विविधान्यायुधानि च ।
कुण्डलाभ्यां सुपूर्णाभ्यां कर्णाभ्यां च विभूषिता ।। ११ ।।
चन्द्रविस्पर्द्धिना देवि मुखेन त्वं विराजसे ।
मुकुटेन विचित्रेण केशबन्धेन शोभिना ।। १२ ।।
भुजङ्गाभोगवासेन श्रोणिसूत्रेण राजता ।
विभ्राजसे चाबद्धेन भोगेनेवेह मन्दरः ।। १३ ।।

'तुम (वर और अभय मुद्रा धारण करनेवाली) ऊपर उठी हुई दो विशाल भुजाओंको इन्द्रकी ध्वजाके समान धारण करती हो। तुम्हारे तीसरे हाथमें पात्र, चौथेमें कमल और पाँचवेंमें घण्टा सुशोभित है। छठे हाथमें पाश, सातवेंमें धनुष तथा आठवेंमें महान् चक्र शोभा पाता है। ये ही तुम्हारे नाना प्रकारके आयुध हैं। इस पृथ्वीपर स्त्रीका जो विशुद्ध स्वरूप है, वह तुम्हीं हो। कुण्डलमण्डित कर्णयुगल तुम्हारे मुखमण्डलकी शोभा बढ़ाते हैं। देवि! तुम चन्द्रमासे होड़ लेनेवाले मुखसे सुशोभित होती हो। तुम्हारे मस्तकपर विचित्र मुकुट है। बँधे हुए केशोंकी वेणी साँपकी आकृतिके समान कुछ और ही शोभा दे रही है।

यहाँ कमरमें बँधी हुई सुन्दर करधनीके द्वारा तुम्हारी ऐसी शोभा हो रही है, मानो नागसे लपेटा हुआ मन्दराचल हो ।। १०—१३ ।।

ध्वजेन शिखिपिच्छानामुच्छ्रितेन विराजसे ।
कौमारं व्रतमास्थाय त्रिदिवं पावितं त्वया ।। १४ ।।

'तुम्हारी मयूरपिच्छसे चिह्नित ध्वजा आकाशमें ऊँची फहरा रही है। उससे तुम्हारी शोभा और भी बढ़ गयी है। तुमने ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके तीनों लोकोंको पवित्र कर दिया है ।। १४ ।।

तेन त्वं स्तूयसे देवि त्रिदशैः पूज्यसेऽपि च ।
त्रैलोक्यरक्षणार्थाय महिषासुरनाशिनि ।
प्रसन्ना मे सुरश्रेष्ठे दयां कुरु शिवा भव ।। १५ ।।

'देवि! इसीलिये सम्पूर्ण देवता तुम्हारी स्तुति और पूजा भी करते हैं। तीनों लोकोंकी रक्षाके लिये महिषासुरका नाश करनेवाली देवेश्वरी! मुझपर प्रसन्न होकर दया करो। मेरे लिये कल्याणमयी हो जाओ ।। १५ ।।

जया त्वं विजया चैव संग्रामे च जयप्रदा ।
ममापि विजयं देहि वरदा त्वं च साम्प्रतम् ।। १६ ।।

'तुम जया और विजया हो। तुम्हीं संग्राममें विजय देनेवाली हो, अतः मुझे भी विजय दो। इस समय तुम मेरे लिये वरदायिनी हो जाओ ।। १६ ।।

विन्ध्ये चैव नगश्रेष्ठे तव स्थानं हि शाश्वतम् ।
कालि कालि महाकालि खड्गखट्वाङ्गधारिणि ।। १७ ।।

'पर्वतोंमें श्रेष्ठ विन्ध्याचलपर तुम्हारा सनातन निवासस्थान है। काली! काली!! महाकाली!!! तुम खड्ग और खट्वांग धारण करनेवाली हो ।। १७ ।।

कृतानुयात्रा भूतैस्त्वं वरदा कामचारिणि ।
भारावतारे ये च त्वां संस्मरिष्यन्ति मानवाः ।। १८ ।।
प्रणमन्ति च ये त्वां हि प्रभाते तु नरा भुवि ।
न तेषां दुर्लभं किंचित् पुत्रतो धनतोऽपि वा ।। १९ ।।

'जो प्राणी तुम्हारा अनुसरण करते हैं, उन्हें तुम मनोवाञ्छित वर देती हो। इच्छानुसार विचरनेवाली देवि! जो मनुष्य अपने ऊपर आये हुए संकटका भार उतारनेके लिये तुम्हारा स्मरण करते हैं तथा जो मानव प्रतिदिन प्रातःकाल तुम्हें प्रणाम करते हैं, उनके लिये इस पृथ्वीपर पुत्र अथवा धन-धान्य आदि कुछ भी दुर्लभ नहीं हैं ।। १८-१९ ।।

दुर्गात् तारयसे दुर्गे तत् त्वं दुर्गा स्मृता जनैः ।
कान्तारेष्ववसन्नानां मग्नानां च महार्णवे ।। २० ।।
दस्युभिर्वा निरुद्धानां त्वं गतिः परमा नृणाम् ।
जलप्रतरणे चैव कान्तारेष्वटवीषु च ।। २१ ।।

ये स्मरन्ति महादेवि न च सीदन्ति ते नराः ।
त्वं कीर्तिः श्रीर्धृतिः सिद्धिर्ह्रीर्विद्या संततिर्मतिः ।। २२ ।।
संध्या रात्रिः प्रभा निद्रा ज्योत्स्ना कान्तिः क्षमा दया ।
नृणां च बन्धनं मोहं पुत्रनाशं धनक्षयम् ।। २३ ।।
व्याधिं मृत्युं भयं चैव पूजिता नाशयिष्यसि ।
सोऽहं राज्यात् परिभ्रष्टः शरणं त्वां प्रपन्नवान् ।। २४ ।।

'दुर्गे! तुम दुःसह दुःखसे उद्धार करती हो, इसीलिये लोगोंके द्वारा दुर्गा कही जाती हो। जो दुर्गम वनमें कष्ट पा रहे हों, महासागरमें डूब रहे हों अथवा लुटेरोंके वशमें पड़ गये हों, उन सब मनुष्योंके लिये तुम्हीं परम गति हो—तुम्हीं उन्हें संकटसे मुक्त कर सकती हो। महादेवि! पानीमें तैरते समय, दुर्गम मार्गमें चलते समय और जंगलोंमें भटक जानेपर जो तुम्हारा स्मरण करते हैं, वे मनुष्य क्लेश नहीं पाते। तुम्हीं कीर्ति, श्री, धृति, सिद्धि, लज्जा, विद्या, संतति, मति, संध्या, रात्रि, प्रभा, निद्रा, ज्योत्स्ना, कान्ति, क्षमा और दया हो। तुम पूजित होनेपर मनुष्योंके बन्धन, मोह, पुत्रनाश और धननाशका संकट, व्याधि, मृत्यु और सम्पूर्ण भय नष्ट कर देती हो। मैं भी राज्यसे भ्रष्ट हूँ, इसलिये तुम्हारी शरणमें आया हूँ ।।

प्रणतश्च यथा मूर्ध्ना तव देवि सुरेश्वरि ।
त्राहि मां पद्मपत्राक्षि सत्ये सत्या भवस्व नः ।। २५ ।।

'कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली देवि! देवेश्वरि! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करता हूँ। मेरी रक्षा करो। सत्ये! हमारे लिये वस्तुतः सत्यस्वरूपा बनो—अपनी महिमाको सत्य कर दिखाओ ।।

शरणं भव मे दुर्गे शरण्ये भक्तवत्सले ।
एवं स्तुता हि सा देवी दर्शयामास पाण्डवम् ।। २६ ।।
उपगम्य तु राजानमिदं वचनमब्रवीत् ।

'शरणागतोंकी रक्षा करनेवाली भक्तवत्सले दुर्गे! मुझे शरण दो।' इस प्रकार स्तुति करनेपर देवी दुर्गाने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको प्रत्यक्ष दर्शन दिया तथा राजाके पास आकर यह बात कही ।। २६½ ।।

देव्युवाच

शृणु राजन् महाबाहो मदीयं वचनं प्रभो ।। २७ ।।
भविष्यत्यचिरादेव संग्रामे विजयस्तव ।
मम प्रसादान्निर्जित्य हत्वा कौरववाहिनीम् ।। २८ ।।
राज्यं निष्कपटकं कृत्वा भोक्ष्यसे मेदिनीं पुनः ।
भ्रातृभिःसहितो राजन् प्रीतिं प्राप्स्यसि पुष्कलाम् ।। २९ ।।

देवी बोली—महाबाहु राजा युधिष्ठिर! मेरी बात सुनो। समर्थ राजन्! शीघ्र ही तुम्हें संग्राममें विजय प्राप्त होगी। मेरे प्रसादसे कौरवसेनाको जीतकर उसका संहार करके तुम निष्कण्टक राज्य करोगे और पुनः इस पृथ्वीका सुख भोगोगे। राजन्! तुम्हें भाइयोंसहित पूर्ण प्रसन्नता प्राप्त होगी ।। २७—२९ ।।

मत्प्रसादाच्च ते सौख्यमारोग्यं च भविष्यति ।
ये च संकीर्तयिष्यन्ति लोके विगतकल्मषाः ।। ३० ।।
तेषां तुष्टा प्रदास्यामि राज्यमायुर्वपुः सुतम् ।
प्रवासे नगरे चापि संग्रामे शत्रुसंकटे ।। ३१ ।।
अटव्यां दुर्गकान्तारे सागरे गहने गिरौ ।
ये स्मरिष्यन्ति मां राजन् यथाहं भवता स्मृता ।। ३२ ।।
न तेषां दुर्लभं किंचिदस्मिँल्लोके भविष्यति ।
इदं स्तोत्रवरं भक्त्या शृणुयाद् वा पठेत वा ।। ३३ ।।
तस्य सर्वाणि कार्याणि सिद्धिं यास्यन्ति पाण्डवाः ।
मत्प्रसादाच्च वः सर्वान् विराटनगरे स्थितान् ।। ३४ ।।
न प्रज्ञास्यन्ति कुरवो नरा वा तन्निवासिनः ।
इत्युक्त्वा वरदा देवी युधिष्ठिरमरिंदमम् ।
रक्षां कृत्वा च पाण्डूनां तत्रैवान्तरधीयत ।। ३५ ।।

मेरी कृपासे तुम्हें सुख और आरोग्य सुलभ होगा। लोकमें जो मनुष्य मेरा कीर्तन और स्तवन करेंगे, वे पापरहित होंगे और मैं संतुष्ट होकर उन्हें राज्य, बड़ी आयु, नीरोग शरीर और पुत्र प्रदान करूँगी। राजन्! जैसे तुमने मेरा स्मरण किया है, इसी प्रकार जो लोग परदेशमें रहते समय, नगरमें, युद्धमें, शत्रुओंद्वारा संकट प्राप्त होनेपर, घने जंगलोंमें, दुर्गम मार्गमें, समुद्रमें तथा गहन पर्वतपर भी मेरा स्मरण करेंगे, उनके लिये इस संसारमें कुछ भी दुर्लभ न होगा। पाण्डवो! जो इस उत्तम स्तोत्रको भक्तिभावसे सुनेगा या पढ़ेगा, उसके सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो जायँगे। मेरे कृपाप्रसादसे विराटनगरमें रहते समय तुम सब लोगोंको कौरवगण अथवा उस नगरके निवासी मनुष्य नहीं पहचान सकेंगे। शत्रुओंका दमन करनेवाले राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर वरदायिनी देवी दुर्गा पाण्डवोंकी रक्षाका भार ले वहीं अन्तर्धान हो गयी ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि दुर्गास्तवे षष्ठोऽध्यायः ।। ६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें दुर्गास्तोत्रविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ।। ६ ।।

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका राजसभामें जाकर विराटसे मिलना और वहाँ आदरपूर्वक निवास पाना

वैशम्पायन उवाच

(ततस्तु ते पुण्यतमां शिवां शुभां
महर्षिगन्धर्वनिषेवितोदकाम् ।
त्रिलोककान्तामवतीर्य जाह्नवी-
मृषींश्च देवांश्च पितॄनतर्पयन् ।।

वैशम्पायनजी कहते है—राजन्! तदनन्तर पाण्डवोंने परम पवित्र, कल्याणमयी, मंगलस्वरूपा, त्रिभुवनकमनीया गंगामें, जिसके जलका महर्षि और गन्धर्वगण सदा सेवन करते हैं, उतरकर देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंका तर्पण किया।

वरप्रदानं ह्यनुचिन्त्य पार्थिवो
हुताग्निहोत्रः कृतजप्यमङ्गलः ।
दिशं तथैन्द्रीमभितः प्रपेदिवान्
कृताञ्जलिर्धर्ममुपाह्वयच्छनैः ।।

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिर अग्निहोत्र, जप और मंगलपाठ करके धर्मराजके दिये हुए वरदानका चिन्तन करते हुए पूर्व दिशाकी ओर चले और हाथ जोड़कर धीरे-धीरे धर्मराजका स्मरण करने लगे।

युधिष्ठिर उवाच

वरप्रदानं मम दत्तवान् पिता
प्रसन्नचेता वरदः प्रजापतिः ।
जलार्थिनो मे तृषितस्य सोदरा
मया प्रयुक्ता विविशुर्जलाशयम् ।।

युधिष्ठिर बोले—मेरे पिता प्रजापति धर्म वरदायक देवता हैं। उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर मुझे वर दिया है। मैंने प्याससे पीड़ित हो जलकी इच्छासे अपने भाइयोंको भेजा था। मेरी प्रेरणासे ही वे एक सरोवरमें उतरे।

निपातिता यक्षवरेण ते वने
महाहवे वज्रभृतेव दानवाः ।
मया च गत्वा वरदोऽभितोषितो
विवक्षता प्रश्नसमुच्चयं गुरुः ।।

परंतु उस वनमें श्रेष्ठ यक्षके रूपमें आये हुए उन धर्मराजने मेरे भाइयोंको उसी प्रकार धराशायी कर दिया, जैसे वज्रधारी इन्द्र महान् संग्राममें दानवोंको मार गिराते हैं। तब मैंने वहाँ जाकर उनके प्रश्नोंका उत्तर दे उन वरदायक गुरुरूप पिताको संतुष्ट किया।

स मे प्रसन्नो भगवान् वरं ददौ
परिष्वजंश्चाह तथैव सौहृदात् ।
वृणीष्व यद् वाञ्छसि पाण्डुनन्दन
स्थितोऽन्तरिक्षे वरदोऽस्मि पश्यताम् ।।

उस समय प्रसन्न हो भगवान् धर्मने बड़े स्नेहसे मुझे हृदयसे लगाया और वर देनेके लिये उद्यत हो मुझसे कहा—'पाण्डुनन्दन! तुम जो कुछ चाहते हो, वह मुझसे माँग लो। मैं तुम्हें वर देनेके लिये आकाशमें खड़ा हूँ। मेरी ओर देखो।'

स वै मयोक्तो वरदः पिता प्रभुः
सदैव मे धर्मरता मतिर्भवेत् ।
इमे च जीवन्तु ममानुजाः प्रभो
वपुश्च रूपं च बलं तथाप्नुयुः ।।

तब मैंने अपने वरदायक पिता भगवान् धर्मराजसे कहा—'प्रभो! मेरी बुद्धि सदा धर्ममें ही लगी रहे तथा ये मेरे छोटे भाई जीवित हो जायँ और पहले-जैसा रूप, युवावस्था एवं बल प्राप्त कर लें।

क्षमा च कीर्तिश्च यथेष्टतो भवेद्
व्रतं च सत्यं च समाप्तिरेव च ।
वरो ममैषोऽस्तु यथानुकीर्तितो
न तन्मृषा देववरो यदब्रवीत् ।।

'हमलोगोंमें इच्छानुसार क्षमा और कीर्ति हो और हम अपने सत्यव्रतको पूर्ण कर लें; यही वर हमें प्राप्त होना चाहिये।' जैसा कि मैंने बताया, वैसा ही वर उन्होंने दिया। देवेश्वर धर्मने जैसा कहा है, वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्ममेवानुचिन्तयन् ।
तदैव तत्प्रसादेन रूपमेवाभजत् स्वकम् ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर धर्मात्मा युधिष्ठिर उस समय धर्मका ही बार-बार चिन्तन करने लगे। तब धर्मदेवके प्रसादसे उन्होंने तत्काल अपने अभीष्ट स्वरूपको प्राप्त कर लिया।

स वै द्विजातिस्तरुणस्त्रिदण्डधृक्
कमण्डलूष्णीषधरोऽन्वजायत ।

सुरक्तमाञ्जिष्ठवराम्बरः शिखी
पवित्रपाणिर्ददृशे तदद्भुतम् ।।

वे कमण्डलु और पगड़ी धारण किये त्रिदण्डधारी तरुण ब्राह्मण बन गये। उनके शरीरपर मँजीठके रंगके सुन्दर लाल वस्त्र शोभा पाने लगे तथा मस्तकपर शिखा दिखायी देने लगी। वे हाथमें कुश लिये अद्भुत रूपमें दृष्टिगोचर होने लगे।

तथैव तेषामपि धर्मचारिणां
यथेप्सिता ह्याभरणाम्बरस्रजः ।
क्षणेन राजन्नभवन्महात्मनां
प्रशस्तधर्माग्र्यफलाभिकाङ्क्षिणाम् ।।)

राजन्! इसी प्रकार उत्तम धर्मके श्रेष्ठ फलकी अभिलाषा रखनेवाले उन सभी धर्मचारी महात्मा पाण्डवोंको क्षणभरमें उनके अभीष्ट वेशके अनुरूप वस्त्र, आभूषण और माला आदि वस्तुएँ प्राप्त हो गयीं।

ततो विराटं प्रथमं युधिष्ठिरो
राजा सभायामुपविष्टमाव्रजत् ।
वैदूर्यरूपान् प्रतिमुच्य काञ्चना-
नक्षान् स कक्षे परिगृह्य वाससा ।। १ ।।

तदनन्तर वैदूर्यके समान हरी, सुवर्णके समान पीली (तथा लाल और काली) चौसरकी गोटियोंसहित पासोंको कपड़ेमें बाँधकर बगलमें दबाये हुए राजा युधिष्ठिर सबसे पहले राजाके दरबारमें गये। उस समय राजा विराट सभामें बैठे थे ।। १ ।।

नराधिपो राष्ट्रपतिं यशस्विनं
महायशाः कौरववंशवर्धनः ।
महानुभावो नरराजसत्कृतो
दुरासदस्तीक्ष्णविषो यथोरगः ।। २ ।।
बलेन रूपेण नरर्षभो महा-
नपूर्वरूपेण यथामरस्तथा ।
महाभ्रजालैरिव संवृतो रवि-
र्यथानलो भस्मवृतश्च वीर्यवान् ।। ३ ।।

वे बड़े यशस्वी और मत्स्यराष्ट्रके अधिपति थे। राजा युधिष्ठिर भी महान् यशस्वी, कौरववंशकी मर्यादाको बढ़ानेवाले तथा महानुभाव (अत्यन्त प्रभावशाली) थे। सब राजे-महाराजे उनका सत्कार करते थे। तीखे विषवाले सर्पकी भाँति वे दुर्धर्ष थे। बल और रूपकी दृष्टिसे मनुष्योंमें सबसे श्रेष्ठ और महान् थे। अपने अपूर्व रूपके कारण वे देवताके समान जान पड़ते थे। महामेघमालाओंसे आवृत सूर्य तथा राखमें छिपी हुई अग्निके समान उनका तेजस्वी रूप वेशभूषासे आच्छादित था। वे बड़े पराक्रमी थे ।। २-३ ।।

तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य पाण्डवं
विराटराडिन्दुमिवाभ्रसंवृतम् ।
समागतं पूर्णशशिप्रभाननं
महानुभावं न चिरेण दृष्टवान् ।। ४ ।।

उनका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहा था। बादलोंसे ढके हुए चन्द्रमाकी भाँति शोभायमान महानुभाव पाण्डुनन्दनको आते देख राजा विराटकी दृष्टि सहसा उनकी ओर आकृष्ट हो गयी। निकट आनेपर शीघ्र ही उन्होंने बड़े गौरसे उनकी ओर देखा ।। ४ ।।

मन्त्रिद्विजान् सूतमुखान् विशस्तथा
ये चापि केचित् परितः समासते ।
पप्रच्छ कोऽयं प्रथमं समेयिवान्
नृपोपमोऽयं समवेक्षते सभाम् ।। ५ ।।

मन्त्री, ब्राह्मण, सूत-मागध आदि, वैश्यगण तथा अन्य जो कोई भी सभासद् उनके दायें-बायें सब ओर बैठे थे, उन सबसे राजाने पूछा—'ये कौन हैं? जो पहले-पहल यहाँ पधारे हैं? ये तो किसी राजाकी भाँति मेरी सभाको निहार रहे हैं' ।। ५ ।।

न तु द्विजोऽयं भविता नरोत्तमः
पतिः पृथिव्या इति मे मनोगतम् ।
न चास्य दासो न रथो न कुञ्जरः
समीपतो भ्राजति चायमिन्द्रवत् ।। ६ ।।

इनका वेश तो ब्राह्मणका-सा है, किंतु ये ब्राह्मण नहीं हो सकते। ये नरश्रेष्ठ तो कहींके भूपति ही होंगे; ऐसा विचार मेरे मनमें उठ रहा है। परंतु इनके साथ दास, रथ और हाथी-घोड़े आदि कुछ भी नहीं हैं। फिर भी ये निकटसे इन्द्रके समान सुशोभित हो रहे हैं ।। ६ ।।

शरीरलिङ्गैरुपसूचितो ह्ययं
मूर्द्धाभिषिक्त इति मे मनोगतम् ।
समीपमायाति च मे गतव्यथो
यथा गजस्तामरसीं मदोत्कटः ।। ७ ।।

'इनके शरीरमें जो लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उनसे यह सूचित होता है कि ये मूर्द्धाभिषिक्त सम्राट् हैं। मेरे मनमें तो यही बात आती है। जैसे मतवाला हाथी बेखटके किसी कमलिनीके पास जाता हो, उसी प्रकार ये बिना किसी संकोचके—व्यथारहित होकर मेरी सभामें आ रहे हैं' ।। ७ ।।

वितर्कयन्तं तु नरर्षभस्तथा
युधिष्ठिरोऽभ्येत्य विराटमब्रवीत् ।
सम्राड्विजानात्विह जीवनार्थिनं
विनष्टसर्वस्वमुपागतं द्विजम् ।। ८ ।।

इस प्रकार तर्क-वितर्कमें पड़े हुए राजा विराटके पास आकर नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरने कहा—‘महाराज! आपको विदित हो; मैं एक ब्राह्मण हूँ, मेरा सर्वस्व नष्ट हो गया है; अतः मैं आपके यहाँ जीवननिर्वाहके लिये आया हूँ ।। ८ ।।

इहाहमिच्छामि तवानघान्तिके
वस्तुं यथा कामचरस्तथा विभो ।
तमब्रवीत् स्वागतमित्यनन्तरं
राजा प्रहृष्टः प्रतिसंगृहाण च ।। ९ ।।
तं राजसिंहं प्रतिगृह्य राजा
प्रीत्याऽऽत्मना चैनमिदं बभाषे ।
कामेन ताताभिवदाम्यहं त्वां
कस्यासि राज्ञो विषयादिहागतः ।। १० ।।

‘अनघ! मैं यहाँ आपके समीप रहना चाहता हूँ। प्रभो! जैसी आपकी इच्छा होगी, उसी प्रकार सब कार्य करते हुए मैं यहाँ रहूँगा।’ युधिष्ठिरकी बात सुनकर राजा विराट बहुत प्रसन्न हुए और बोले—‘ब्रह्मन्! आपका स्वागत है।’ तदनन्तर उन्होंने राजाओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरको सादर ग्रहण किया। ग्रहण करके राजा विराटने प्रसन्न मनसे उनसे इस प्रकार कहा—‘तात! मैं प्रेमपूर्वक आपसे पूछता हूँ, आप इस समय किस राजाके राज्यसे यहाँ आये हैं? ।। ९-१० ।।

गोत्रं च नामापि च शंस तत्त्वतः
किं चापि शिल्पं तव विद्यते कृतम् ।। ११ ।।

'अपने गोत्र और नाम भी ठीक-ठीक बताइये। साथ ही यह भी कहें कि आपने किस विद्या या कलामें कुशलता प्राप्त की है ।। ११ ।।

युधिष्ठिर उवाच

युधिष्ठिरस्यासमहं पुरा सखा
वैयाघ्रपद्यः पुनरस्मि विप्रः ।
अक्षान् प्रयोक्तुं कुशलोऽस्मि देविनां
कङ्केति नाम्नास्मि विराट विश्रुतः ।। १२ ।।

युधिष्ठिरने कहा—महाराज विराट! मैं वैयाघ्रपद-गोत्रमें उत्पन्न हुआ ब्राह्मण हूँ। लोगोंमें 'कंक' नामसे मेरी प्रसिद्धि है। मैं पहले राजा युधिष्ठिरके साथ रहता था। वे मुझे अपना सखा मानते थे। मैं चौसर खेलनेवालोंके बीच पासे फेंकनेकी कलामें कुशल हूँ ।। १२ ।।

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरं यमिच्छसि
प्रशाधि मत्स्यान् वशगो ह्यहं तव ।
प्रियाश्च धूर्ता मम देविनः सदा
भवांश्च देवोपम राज्यमर्हति ।। १३ ।।

विराट बोले—ब्रह्मन्! मैं आपको वर देता हूँ; आप जो चाहें, माँग लें। समूचे मत्स्यदेशपर शासन करें। मैं आपके वशमें हूँ; क्योंकि द्यूतक्रीडामें निपुण, चतुर, चालाक मनुष्य मुझे सदा प्रिय हैं। देवोपम ब्राह्मण! आप तो राज्य पानेके योग्य हैं ।। १३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

प्राप्तो विवादः प्रथमं विशाम्पते
न विद्यते कं च न मत्स्य हीनतः ।
न मे जितः कश्चन धारयेद् धनं
वरो ममैषोऽस्तु तव प्रसादजः ।। १४ ।।

युधिष्ठिरने कहा—मत्स्यराज! नरनाथ! मुझे किसी हीन वर्णके मनुष्यसे विवाद न करना पड़े, यह मैं पहला वर माँगता हूँ तथा मुझसे पराजित होनेवाला कोई भी मनुष्य हारे हुए धनको अपने पास न रखे (मुझे दे दे)। आपकी कृपासे यह दूसरा वर मुझे प्राप्त हो जाय, तो मैं रह सकता हूँ ।। १४ ।।

विराट उवाच

हन्यामवश्यं यदि तेऽप्रियं चरेत्
प्रव्राजयेयं विषयाद् द्विजांस्तथा ।
शृण्वन्तु मे जानपदाः समागताः
कङ्को यथाहं विषये प्रभुस्तथा ।। १५ ।।

विराट बोले—ब्रह्मन्! यदि कोई ब्राह्मणेतर मनुष्य आपका अप्रिय करेगा तो उसे मैं निश्चय ही प्राण-दण्ड दूँगा। यदि ब्राह्मणोंने आपका अपराध किया तो उन्हें देशसे निकाल दूँगा। [युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर राजा विराट अन्य सभासदोंसे बोले—] मेरे राज्यमें निवास करनेवाले और इस सभामें आये हुए लोगो! मेरी बात सुनो, जैसे मैं इस मत्स्यदेशका स्वामी हूँ, वैसे ही ये कंक भी हैं ।। १५ ।।

समानयानो भवितासि मे सखा
प्रभूतवस्त्रो बहुपानभोजनः ।
पश्येस्त्वमन्तश्च बहिश्च सर्वदा
कृतं च ते द्वारमपावृतं मया ।। १६ ।।

[फिर वे युधिष्ठिरसे बोले—] कंक! आजसे आप मेरे सखा हैं। जैसी सवारीमें मैं चलता हूँ, वैसी ही आपको भी मिलेगी। पहननेके वस्त्र और भोजन-पान आदिका प्रबन्ध भी

आपके लिये पर्याप्त मात्रामें रहेगा। बाहरके राज्य-कोश, उद्यान और सेना आदि तथा भीतरके धन-दारा आदिकी भी देख-भाल आप ही करें। मेरे आदेशसे आपके लिये राजमहलका द्वार सदा खुला रहेगा; आपसे कोई परदा नहीं रखा जायगा ।। १६ ।।

ये त्वानुवादेऽयुरवृत्तिकर्शिता
ब्रूयाश्च तेषां वचनेन मां सदा ।
दास्यामि सर्वं तदहं न संशयो
न ते भयं विद्यति संनिधौ मम ।। १७ ।।

जो लोग जीविकाके अभावमें कष्ट पा रहे हों और अनुवादके लिये अर्थात् पहलेके स्थायी तौरपर दिये हुए खेत और बगीचे आदिको पुनः उपयोगमें लानेके निमित्त नूतन राजाज्ञा प्राप्त करनेके लिये आपके पास आवें, उनके अनुरोधपूर्ण वचनसे आप सदा उनकी प्रार्थना मुझे सुना सकते हैं। विश्वास रखिये, आपके कथनानुसार उन याचकोंको मैं सब कुछ दूँगा; इसमें संशय नहीं है। आपको मेरे पास आने या कुछ कहनेमें भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं है ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

(एवं तु राज्ञः प्रथमः समागमो
बभूव मात्स्यस्य युधिष्ठिरस्य च ।
विराटराजस्य हि तेन संगमो
बभूव विष्णोरिव वज्रपाणिना ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार वहाँ राजा युधिष्ठिर तथा मत्स्यनरेशकी प्रथम भेंट हुई। जैसे भगवान् विष्णुका वज्रधारी इन्द्रसे मिलन हुआ हो, उसी प्रकार विराटनरेशका राजा युधिष्ठिरके साथ समागम हुआ।

तमासनस्थं प्रियरूपदर्शनं
निरीक्षमाणो न ततर्प भूमिपः ।
सभां च तां प्रज्वलयन् युधिष्ठिरः
श्रिया यथा शक्र इव त्रिविष्टपम् ।।)

युधिष्ठिरके स्वरूपका दर्शन विराटराजको बहुत प्रिय लगा। जब वे आसनपर बैठ गये, तब राजा विराट उन्हें एकटक निहारने लगे। उनके दर्शनसे वे तृप्त ही नहीं होते थे। जैसे इन्द्र अपनी कान्तिसे स्वर्गकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार राजा युधिष्ठिर उस सभाको प्रकाशित कर रहे थे।

एवं स लब्ध्वा तु वरं समागमं
विराटराजेन नरर्षभस्तदा ।
उवास धीरः परमार्चितः सुखी

न चापि कश्चिच्चरितं बुबोध तत् ।। १८ ।।

धीर स्वभाववाले नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर उस समय राजा विराटके साथ इस प्रकार अच्छे ढंगसे मिलकर और उनके द्वारा परम आदर-सत्कार पाकर वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे। उनका वह चरित्र किसीको भी मालूम नहीं हुआ ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि युधिष्ठिरप्रवेशो नाम सप्तमोऽध्यायः ।। ७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें युधिष्ठिरप्रवेशविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं।)

अष्टमोऽध्यायः

भीमसेनका राजा विराटकी सभामें प्रवेश और राजाके द्वारा आश्वासन पाना

वैशम्पायन उवाच

अथापरो भीमबलः श्रियाज्वल-
न्नुपाययौ सिंहविलासविक्रमः ।
खजां च दर्वीं च करेण धारय-
न्नसिं च कालाङ्गमकोशमव्रणम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर द्वितीय पाण्डव भयंकर बलशाली भीमसेन सिंहकी-सी मस्त चालसे चलते हुए राजाके दरबारमें आये। वे अपने सहज तेजसे प्रकाशित हो रहे थे। उन्होंने हाथमें मथानी, करछी और शाक काटनेके लिये एक काले रंगका तीखी धारवाला छुरा ले रखा था। उनका वह छुरा टूटा-फूटा न था और न उसके ऊपर कोई आवरण था ।। १ ।।

स सूदरूपः परमेण वर्चसा
रविर्यथा लोकमिमं प्रकाशयन् ।
स कृष्णवासा गिरिराजसारवां-
स्तं मत्स्यराजं समुपेत्य तस्थिवान् ।। २ ।।

वे यद्यपि रसोइयेके वेशमें थे, तो भी अपने उत्कृष्ट तेजसे इस लोकको प्रकाशित करनेवाले सूर्यदेवकी भाँति सुशोभित हो रहे थे। उनके वस्त्र काले थे और उनका शरीर पर्वतराज मेरुके समान सुदृढ़ था। वे मत्स्यराज विराटके समीप आकर खड़े हो गये ।। २ ।।

तं प्रेक्ष्य राजा रमयन्नुपागतं
ततोऽब्रवीज्जानपदान् समागतान् ।
सिंहोन्नतांसोऽयमतीव रूपवान्
प्रदृश्यते को नु नरर्षभो युवा ।। ३ ।।

अपने पास आये हुए भीमसेनको देखकर उन्हें प्रसन्न करते हुए राजा विराट मत्स्य जनपदके निवासी समागत सभासदोंसे बोले—‘सिंहके समान ऊँचे कंधोंवाला और मनुष्योंमें श्रेष्ठ यह जो अत्यन्त रूपवान् युवक दिखायी दे रहा है; कौन है? ।। ३ ।।

अदृष्टपूर्वः पुरुषो रविर्यथा
वितर्कयन् नास्य लभामि निश्चयम् ।
तथास्य चित्तं ह्यपि संवितर्कयन्

नरर्षभस्यास्य न यामि तत्त्वतः ।। ४ ।।

'आजसे पहले कभी इसका दर्शन नहीं हुआ है। यह वीर पुरुष सूर्यके समान तेजस्वी है। मैं बहुत सोच-विचारकर भी इसके विषयमें किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाता। यहाँ आनेमें इस श्रेष्ठ पुरुषका आन्तरिक अभिप्राय क्या है? इसपर भी मैंने बहुत तर्क-वितर्क किया है; परंतु किसी वास्तविक परिणामतक नहीं पहुँच पा रहा हूँ ।। ४ ।।

दृष्ट्वैव चैनं तु विचारयाम्यहं
गन्धर्वराजो यदि वा पुरंदरः ।
जानीत कोऽयं मम दर्शने स्थितो
यदीप्सितं तल्लभतां च मा चिरम् ।। ५ ।।

'इसे देखकर ही मैं सोचने लगा हूँ कि यह गन्धर्वराज हैं या देवराज इन्द्र? मेरी दृष्टिके सामने खड़ा हुआ यह युवक कौन है, इसका पता लगाओ और यह जो कुछ पाना चाहता हो, वह सब इसे मिल जाना चाहिये; इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये' ।। ५ ।।

विराटवाक्येन च तेन चोदिता
नरा विराटस्य सुशीघ्रगामिनः ।
उपेत्य कौन्तेयमथाब्रुवंस्तदा
यथा स राजावदताच्युतानुजम् ।। ६ ।।

राजा विराटके पूर्वोक्त आदेशसे प्रेरित हो दरबारीलोग शीघ्रतापूर्वक धर्मराज युधिष्ठिरके छोटे भाई कुन्तीपुत्र भीमसेनके समीप गये तथा राजाने जैसे कहा था, उसी प्रकार उनका परिचय पूछा ।। ६ ।।

ततो विराटं समुपेत्य पाण्डव-
स्त्वदीनरूपं वचनं महामनाः ।
उवाच सूदोऽस्मि नरेन्द्र बल्लवो
भजस्व मां व्यञ्जनकारमुत्तमम् ।। ७ ।।

तब महामना पाण्डुनन्दन भीम विराटके अत्यन्त निकट जाकर दीनतारहित वाणीमें बोले—'नरेन्द्र! मैं रसोइया हूँ। मेरा नाम बल्लव है। मैं बहुत उत्तम व्यंजन बनाता हूँ। आप मुझे अपने यहाँ इस कार्यके लिये रख लीजिये' ।। ७ ।।

विराट उवाच

न सूदतां बल्लव श्रद्दधामि ते
सहस्रनेत्रप्रतिमो विराजसे ।
श्रिया च रूपेण च विक्रमेण च
प्रभाससे त्वं नृवरो नरेष्विव ।। ८ ।।

विराट बोले—बल्लव! तुम रसोइये हो, इस बातपर मुझे विश्वास नहीं होता। तुम तो इन्द्रके समान तेजस्वी दिखायी देते हो। अपने अद्‌भुत रूप, दिव्य शोभा और महान् पराक्रमसे तुम मनुष्योंमें कोई श्रेष्ठ पुरुष अथवा राजा प्रतीत होते हो ।। ८ ।।

भीम उवाच

नरेन्द्र सूदः परिचारकोऽस्मि ते
जानामि सूपान् प्रथमं च केवलान् ।
आस्वादिता ये नृपते पुराभवन्
युधिष्ठिरेणापि नृपेण सर्वशः ।। ९ ।।

भीमसेनने कहा—महाराज! मैं रसोई बनानेवाला आपका सेवक हूँ। मैं भाँति-भाँतिके व्यंजन बनाना जानता हूँ जिनका बनाना केवल मुझे ही ज्ञात है। मेरे बनाये हुए व्यंजन उत्तम श्रेणीके होते हैं। राजन्! पहले महाराज युधिष्ठिरने भी उन सब प्रकारके व्यंजनोंका आस्वादन किया है ।। ९ ।।

बलेन तुल्यश्च न विद्यते मया
नियुद्धशीलश्च सदैव पार्थिव ।
गजैश्च सिंहैश्च समेयिवानहं
सदा करिष्यामि तवानघ प्रियम् ।। १० ।।

इसके सिवा शारीरिक बलमें भी मेरी समता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। भूपाल! मैं सदा कुश्ती लड़नेवाला पहलवान हूँ; हाथियों और सिंहोंसे भी भिड़ जाता हूँ। अनघ! मैं सदा आपको प्रिय लगनेवाला कार्य करूँगा ।। १० ।।

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरान् महानसे
तथा च कुर्याः कुशलं प्रभाषसे ।

विराटके यहाँ पाण्डव

न चैव मन्ये तव कर्म यत् समं

समुद्रनेमिं पृथिवीं त्वमर्हसि ।। ११ ।।

विराट बोले—बल्लव! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें अभीष्ट वर देता हूँ। तुम अपनेको भोजन बनानेके काममें कुशल बताते हो, तो मेरी पाकशालामें रहकर वही करो। किंतु मैं यह कार्य तुम्हारे योग्य नहीं समझता। तुम तो समुद्रसे घिरी हुई समूची पृथ्वीका शासन करनेके योग्य हो ।। ११ ।।

तथा हि कामो भवतस्तथा कृतं
महानसे त्वं भव मे पुरस्कृतः ।
नराश्च ये तत्र समाहिताः पुरा
भवांश्च तेषामधिपो मया कृतः ।। १२ ।।

तथापि जैसी तुम्हारी रुचि है, मैंने वैसा किया है। तुम मेरी पाकशालामें अग्रणी होकर रहो। जो लोग वहाँ पहलेसे नियुक्त हैं, मैंने तुम्हें उन सबका स्वामी बनाया ।। १२ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथा स भीमो विहितो महानसे
विराटराज्ञो दयितोऽभवद् दृढम् ।
उवास राज्ये न च तं पृथग् जनो
बुबोध तत्रानुचराश्च केचन ।। १३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार भीमसेन पाकशालामें नियुक्त हो राजा विराटके अत्यन्त प्रिय व्यक्ति होकर रहने लगे। उस राज्यके किसी भी मनुष्यने उनका रहस्य नहीं जाना और न उस पाकशालाके कोई सेवक ही उन्हें पहचान सके ।। १३ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि भीमप्रवेशे अष्टमोऽध्यायः ।। ८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें भीमप्रवेशसम्बन्धी आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८ ।।

नवमोऽध्यायः

द्रौपदीका सैरन्ध्रीके वेशमें विराटके रनिवासमें जाकर रानी सुदेष्णासे वार्तालाप करना और वहाँ निवास पाना

वैशम्पायन उवाच

ततः केशान् समुत्क्षिप्य वेल्लिताग्राननिन्दितान् ।
कृष्णान् सूक्ष्मान् मृदून् दीर्घान् समुद्ग्रथ्य शुचिस्मिता ।। १ ।।
जुगूहे दक्षिणे पार्श्वे मृदूनसितलोचना ।
वासश्च परिधायैकं कृष्णा सुमलिनं महत् ।। २ ।।
कृत्वा वेषं च सैरन्ध्र्यास्ततो व्यचरदार्तवत् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पवित्र मन्द मुसकान और कजरारे नेत्रोंवाली द्रौपदीने अपने सुन्दर, महीन, कोमल और बड़े-बड़े, काले एवं घुँघराले केशोंकी चोटी गूँथकर उन मृदुल अलकोंको दाहिने भागमें छिपा दिया और एक अत्यन्त मलिन वस्त्र धारण करके सैरन्ध्रीका वेश बनाये वह दीन-दुःखियोंकी भाँति नगरमें विचरने लगी ।। १-२ १/२ ।।

तां नराः परिधावन्तीं स्त्रियश्च समुपाद्रवन् ।। ३ ।।
अपृच्छंश्चैव तां दृष्ट्वा का त्वं किं च चिकीर्षसि ।

उसे इधर-उधर भटकती देख बहुत-सी स्त्रियाँ और पुरुष उसके पास दौड़े आये तथा पूछने लगे—'तुम कौन हो? और क्या करना चाहती हो?' ।। ३ १/२ ।।

सा तानुवाच राजेन्द्र सैरन्ध्र्यहमिहागता ।। ४ ।।
कर्म चेच्छामि वै कर्तुं तस्य यो मां युयुक्षति ।
तस्या रूपेण वेषेण श्लक्ष्णया च तथा गिरा ।
न श्रद्दधत तां दासीमन्नहेतोरुपस्थिताम् ।। ५ ।।

राजेन्द्र! उनके इस प्रकार पूछनेपर द्रौपदीने उनसे कहा—'मैं सैरन्ध्री* हूँ। जो मुझे अपने यहाँ नियुक्त करना चाहे, उसीके यहाँ मैं सैरन्ध्रीका कार्य करना चाहती हूँ और इसीलिये यहाँ आयी हूँ।' उसके रूप, वेष और मधुर वाणीसे किसीको यह विश्वास नहीं हुआ कि यह दासी है और अन्न-वस्त्रके लिये यहाँ उपस्थित हुई है ।। ४-५ ।।

विराटस्य तु कैकेयी भार्या परमसम्मता ।
आलोकयन्ती ददृशे प्रासादाद् द्रुपदात्मजाम् ।। ६ ।।

इतनेमें ही राजा विराटकी अत्यन्त प्यारी भार्या केकय-राजकुमारी सुदेष्णाने, जो अपने महलपर खड़ी हुई नगरकी शोभा निहार रही थी, वहींसे द्रुपदकुमारीको देखा ।। ६ ।।

सा समीक्ष्य तथारूपामनाथामेकवाससम् ।
समाहूयाब्रवीद् भद्रे का त्वं किं च चिकीर्षसि ।। ७ ।।

वह एक वस्त्र धारण किये थी एवं अनाथा-सी जान पड़ती थी। ऐसे दिव्य रूपवाली तरुणीको उस अवस्थामें देखकर रानीने उसे अपने पास बुलाया और पूछा—'भद्रे! तुम कौन हो और क्या करना चाहती हो?' ।। ७ ।।

सा तामुवाच राजेन्द्र सैरन्ध्र्यहमुपागता ।
कर्म चेच्छाम्यहं कर्तुं तस्य यो मां युयुक्षति ।। ८ ।।

राजेन्द्र! तब द्रौपदीने रानी सुदेष्णासे कहा—'मैं सैरन्ध्री हूँ। जो मुझे अपने यहाँ नियुक्त करना चाहे, उसके यहाँ रहकर मैं सैरन्ध्रीका कार्य करना चाहती हूँ और इसीलिये यहाँ आयी हूँ' ।। ८ ।।

सुदेष्णोवाच

नैवंरूपा भवन्त्येव यथा वदसि भामिनि ।
प्रेषयन्तीव वै दासीर्दासांश्च विविधान् बहुन् ।। ९ ।।

सुदेष्णाने कहा—भामिनि! तुम जैसा कह रही हो, उसपर विश्वास नहीं होता, क्योंकि तुम्हारी-जैसी रूपवती स्त्रियाँ सैरन्ध्री (दासी) नहीं हुआ करतीं। तुम तो बहुत-सी दासियों और नाना प्रकारके बहुतेरे दासोंको आज्ञा देनेवाली रानी-जैसी जान पड़ती हो ।। ९ ।।

नोच्चगुल्फा संहतोरुस्त्रिगम्भीरा षडुन्नता ।
रक्ता पञ्चसु रक्तेषु हंसगद्गदभाषिणी ।। १० ।।
सुकेशी सुस्तनी श्यामा पीनश्रोणिपयोधरा ।
तेन तेनैव सम्पन्ना काश्मीरीव तुरङ्गमी ।। ११ ।।
अरालपक्ष्मनयना बिम्बोष्ठी तनुमध्यमा ।
कम्बुग्रीवा गूढशिरा पूर्णचन्द्रनिभानना ।। १२ ।।

तुम्हारे गुल्फ ऊँचे नहीं हैं, दोनों जाँघें परस्पर सटी हुई हैं। तुम्हारी नाभि, वाणी और बुद्धि तीनोंमें गम्भीरता है। नाक, कान, आँख, स्तन, नख और घाँटी—इन छहों अंगोंमें ऊँचाई है। हाथों और पैरोंके तलवे, आँखके कोने, ओठ, जिह्वा और नख—इन पाँचों अंगोंमें स्वाभाविक लालिमा है। हंसोंकी भाँति मधुर एवं गद्गद वाणी है। तुम्हारे केश काले और चिकने हैं। स्तन बहुत सुन्दर हैं। अंगकान्ति श्याम है। नितम्ब और उरोज पीन हैं। ऊपर कही हुई प्रत्येक विशेषतासे तुम सम्पन्न हो। काश्मीरदेशकी घोड़ीके समान तुममें अनेक शुभ लक्षण हैं। तुम्हारे नेत्रोंकी पलकें काली और तिरछी हैं। ओष्ठ पके हुए बिम्बफलके समान लाल हैं। कमर पतली है। गर्दन शंखकी शोभाको छीने लेती है। नसें मांससे ढकी हुई हैं तथा मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाको लज्जित कर रहा है ।। १०—१२ ।।

शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया ।

शारदोत्पलसेविन्या रूपेण सदृशी श्रिया ।। १३ ।।

तुम रूपमें उन्हीं लक्ष्मीके समान हो, जिनके नेत्र शरद्-ऋतुके विकसित कमलदलके समान विशाल हैं, जिनके अंगोंसे शरत्कालीन कमलकी-सी सुगन्ध फैलती रहती है तथा जो शरद्ऋतुके कमलोंका सेवन करती हैं ।। १३ ।।

का त्वं ब्रूहि यथा भद्रे नासि दासी कथंचन ।
यक्षी वा यदि वा देवी गन्धर्वी यदि वाप्सराः ।। १४ ।।
देवकन्या भुजङ्गी वा नगरस्याथ देवता ।
विद्याधरी किन्नरी वा यदि वा रोहिणी स्वयम् ।। १५ ।।

कल्याणी! बताओ, तुम वास्तवमें कौन हो? दासी तो तुम किसी प्रकार भी नहीं हो सकतीं। तुम यक्षी हो या देवी? गन्धर्वकन्या हो या अप्सरा? देवकन्या हो या नागकन्या? अथवा इस नगरकी अधिष्ठात्री देवी तो नहीं हो? विद्याधरी, किन्नरी या साक्षात् चन्द्रदेवकी पत्नी रोहिणी तो नहीं हो? ।। १४-१५ ।।

अलम्बुषा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ मालिनी ।
इन्द्राणी वारुणी वा त्वं त्वष्टुर्धातुः प्रजापतेः ।
देव्यो देवेषु विख्यातास्तासां त्वं कतमा शुभे ।। १६ ।।

तुम अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका अथवा मालिनी नामकी अप्सरा तो नहीं हो? क्या तुम इन्द्राणी, वारुणी देवी, विश्वकर्माकी पत्नी अथवा प्रजापति ब्रह्माकी शक्ति सावित्री हो? शुभे! देवताओंके यहाँ जो प्रसिद्ध देवियाँ हैं, उनमेंसे तुम कौन हो? ।। १६ ।।

द्रौपद्युवाच

नास्मि देवी न गन्धर्वी नासुरी न च राक्षसी ।
सैरन्ध्री तु भुजिष्यास्मि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। १७ ।।

द्रौपदी बोली—रानीजी! मैं न तो देवी हूँ, न गन्धर्वी; न असुरपत्नी हूँ, न राक्षसी। मैं तो सेवा करनेवाली सैरन्ध्री हूँ। यह मैं आपसे सच-सच कह रही हूँ ।। १७ ।।

केशान् जानाम्यहं कर्तुं पिंषे साधु विलेपनम् ।
मल्लिकोत्पलपद्मानां चम्पकानां तथा शुभे ।। १८ ।।
ग्रथयिष्ये विचित्राश्च स्रजः परमशोभनाः ।

मैं केशोंका शृंगार करना जानती हूँ तथा उबटन या अंगराग बहुत अच्छा पीस लेती हूँ। शुभे! मैं मल्लिका, उत्पल, कमल और चम्पा आदि फूलोंके बहुत सुन्दर एवं विचित्र हार भी गूँथ सकती हूँ ।। १८½ ।।

आराधयं सत्यभामां कृष्णस्य महिषीं प्रियाम् ।। १९ ।।
कृष्णां च भार्यां पाण्डूनां कुरूणामेकसुन्दरीम् ।

पहले मैं श्रीकृष्णकी प्यारी रानी सत्यभामा तथा कुरुकुलकी एकमात्र सुन्दरी पाण्डवोंकी धर्मपत्नी द्रौपदीकी सेवामें रह चुकी हूँ ।। १९½ ।।

तत्र तत्र चराम्येवं लभमाना सुभोजनम् ।। २० ।।
वासांसि यावन्ति लभे तावत् तावद् रमे तथा ।
मालिनीत्येव मे नाम स्वयं देवी चकार सा ।
साहमद्यागता देवि सुदेष्णे त्वन्निवेशनम् ।। २१ ।।

मैं भिन्न-भिन्न स्थानोंमें सेवा करके उत्तम भोजन पाती हुई विचरती हूँ। मुझे जितने वस्त्र मिल जाते हैं, उतनोंमें ही मैं प्रसन्न रहती हूँ। स्वयं देवी द्रौपदीने मेरा नाम 'मालिनी' रख दिया था। देवि सुदेष्णे! आज वही मैं सैरन्ध्री आपके महलमें आयी हूँ ।। २०-२१ ।।

सुदेष्णोवाच

मूर्ध्नि त्वां वासयेयं वै संशयो मे न विद्यते ।
न चेदिच्छति राजा त्वां गच्छेत् सर्वेण चेतसा ।। २२ ।।

सुदेष्णाने कहा—सुन्दरी! यदि मेरे मनमें संदेह न होता, तो मैं तुम्हें अपने सिर-माथे रख लेती। यदि राजा तुम्हें चाहने न लगें—सम्पूर्ण चित्तसे तुमपर आसक्त न हो जायँ तो तुम्हें रखनेमें मुझे कोई आपत्ति न होगी ।। २२ ।।

स्त्रियो राजकुले याश्च याश्चेमा मम वेश्मनि ।

प्रसक्तास्त्वां निरीक्षन्ते पुमांसं कं न मोहयेः ।। २३ ।।

इस राजकुलमें जितनी स्त्रियाँ हैं तथा मेरे महलमें भी जो ये सुन्दरियाँ हैं, वे सब एकटक तुम्हारी ओर निहार रही हैं; फिर पुरुष कौन ऐसा होगा, जिसे तुम मोहित न कर सको? ।। २३ ।।

वृक्षांश्चावस्थितान् पश्य य इमे मम वेश्मनि ।
तेऽपि त्वां संनमन्तीव पुमांसं कं न मोहयेः ।। २४ ।।

देखो, मेरे भवनमें ये जो वृक्ष खड़े हैं, वे भी तुम्हें देखनेके लिये मानो झुके-से पड़ते हैं। फिर पुरुष कौन ऐसा होगा, जिसे तुम मोहित न कर लो? ।। २४ ।।

राजा विराटः सुश्रोणि दृष्ट्वा वपुरमानुषम् ।
विहाय मां वरारोहे गच्छेत् सर्वेण चेतसा ।। २५ ।।

सुन्दर नितम्बोंवाली सुन्दरी! तुम्हारे सम्पूर्ण अंग सुन्दर हैं। राजा विराट तुम्हारा यह दिव्य रूप देखते ही मुझे छोड़कर सम्पूर्ण चित्तसे तुम्हींमें आसक्त हो जायँगे ।। २५ ।।

यं हि त्वमनवद्याङ्गि तरलायतलोचने ।
प्रसक्तमभिवीक्षेथाः स कामवशगो भवेत् ।। २६ ।।

निर्दोष अंगों तथा चंचल एवं विशाल नेत्रोंवाली सैरन्ध्री! जिस पुरुषकी ओर तुम ध्यानसे देख लोगी, वही कामके अधीन हो जायगा ।। २६ ।।

यश्च त्वां सततं पश्येत् पुरुषश्चारुहासिनि ।
एवं सर्वानवद्याङ्गि स चानङ्गवशो भवेत् ।। २७ ।।

शुभांगि! चारुहासिनि! इसी प्रकार जो पुरुष प्रतिदिन तुम्हें देखेगा, वह भी कामदेवके वशीभूत हो जायगा ।। २७ ।।

अध्यारोहेद् यथा वृक्षान् वधायैवात्मनो नरः ।
राजवेश्मनि ते सुभ्रु गृहे तु स्यात् तथा मम ।। २८ ।।

सुभ्रु! जैसे कोई मूर्ख मनुष्य आत्महत्याके लिये (गिरनेके उद्देश्यसे) वृक्षोंपर चढ़े, उसी प्रकार राजमहलमें या अपने घरमें तुम्हें रखना मेरे लिये अनिष्टकारी हो सकता है ।। २८ ।।

यथा च कर्कटी गर्भमाधत्ते मृत्युमात्मनः ।
तथाविधमहं मन्ये वासं तव शुचिस्मिते ।। २९ ।।

शुचिस्मिते! जैसे केंकड़ेकी मादा अपने मृत्युके लिये ही गर्भ धारण करती है, उसी प्रकार तुम्हें इस घरमें ठहराना मैं अपने लिये मरणके तुल्य मानती हूँ ।। २९ ।।

द्रौपद्युवाच

नास्मि लभ्या विराटेन न चान्येन कदाचन ।
गन्धर्वाः पतयो मह्यं युवानः पञ्च भामिनि ।। ३० ।।

द्रौपदी बोली—भामिनि! मुझे राजा विराट या दूसरा कोई पुरुष कभी नहीं पा सकता। पाँच तरुण गन्धर्व मेरे पति हैं ।। ३० ।।

पुत्रा गन्धर्वराजस्य महासत्त्वस्य कस्यचित् ।
रक्षन्ति ते च मां नित्यं दुःखाचारा तथा ह्यहम् ।। ३१ ।।

वे सब किसी महान् शक्तिशाली गन्धर्वराजके[*] पुत्र हैं। वे ही मेरी प्रतिदिन रक्षा करते हैं तथा मैं स्वयं भी दुर्धर्ष हूँ ।। ३१ ।।

यो मे न दद्यादुच्छिष्टं न च पादौ प्रधावयेत् ।
प्रीणेरंस्तेन वासेन गन्धर्वाः पतयो मम ।। ३२ ।।

जो मुझे जूँठा अन्न नहीं देता और मुझसे अपने पैर नहीं धुलवाता, उसके उस व्यवहारसे मेरे पति गन्धर्वलोग प्रसन्न रहते हैं ।। ३२ ।।

यो हि मां पुरुषो गृद्धयेद् यथान्याः प्राकृताः स्त्रियः ।
तामेव निवसेद् रात्रिं प्रविश्य च परां तनुम् ।। ३३ ।।

परंतु जो पुरुष मुझे अन्य प्राकृत स्त्रियोंके समान समझकर (बलपूर्वक) प्राप्त करना चाहता है, उसका उसी रातमें परलोकवास हो जाता है ।। ३३ ।।

न चाप्यहं चालयितुं शक्या केनचिदङ्गने ।
दुःखशीला हि गन्धर्वास्ते च मे बलिनः प्रियाः ।। ३४ ।।
प्रच्छन्नाश्चापि रक्षन्ति ते मां नित्यं शुचिस्मिते ।

अतः कल्याणि! मुझे कोई भी सतीत्वसे विचलित नहीं कर सकता। शुचिस्मिते! यद्यपि मेरे पति गन्धर्वगण इस समय दुःखमें पड़े हैं; तथापि वे बड़े बलवान् हैं और गुप्तरूपसे सदा मेरी रक्षा करते रहते हैं ।। ३४½ ।।

सुदेष्णोवाच

एवं त्वां वासयिष्यामि यथा त्वं नन्दिनीच्छसि ।। ३५ ।।
न च पादौ न चोच्छिष्टं स्प्रक्ष्यसि त्वं कथंचन ।

सुदेष्णाने कहा—आनन्ददायिनी सुन्दरी! यदि (तुम्हारा शील-स्वभाव) ऐसा है, तो मैं जैसी तुम्हारी इच्छा है, उसके अनुसार तुम्हें अवश्य अपने घरमें ठहराऊँगी। तुम्हें किसी प्रकार पैर या जूँठन नहीं छूने पड़ेंगे ।। ३५½ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं कृष्णा विराटस्य भार्यया परिसान्त्विता ।। ३६ ।।
उवास नगरे तस्मिन् पतिधर्मवती सती ।
न चैनां वेद तत्रान्यस्तत्त्वेन जनमेजय ।। ३७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—विराटकी रानीने जब इस प्रकार आश्वासन दिया, तब पातिव्रत्य धर्मका पालन करनेवाली सती द्रौपदी उस नगरमें रहने लगी। जनमेजय! वहाँ

दूसरा कोई मनुष्य उसका वास्तविक परिचय न पा सका ।। ३६-३७ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि द्रौपदीप्रवेशे नवमोऽध्यायः ।। ९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें द्रौपदीप्रवेशसम्बन्धी नवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९ ।।

---

* सैरन्ध्री किसे कहते हैं, यह स्वयं द्रौपदीने इसके पूर्व तीसरे अध्यायके १८ वें श्लोकमें बताया है।

* यहाँ 'गन्धर्वराज' कहनेका गूढ़ अभिप्राय यह है कि वे गन्धर्वतुल्य राजा पाण्डुके पुत्र हैं।

दशमोऽध्यायः

सहदेवका राजा विराटके साथ वार्तालाप और गौओंकी देखभालके लिये उनकी नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

सहदेवोऽपि गोपानां कृत्वा वेषमनुत्तमम् ।
भाषां चैषां समास्थाय विराटमुपयादथ ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सहदेव भी ग्वालोंका परम उत्तम वेष बनाकर उन्हींकी भाषामें बोलते हुए राजा विराटके यहाँ गये ।। १ ।।

गोष्ठमासाद्य तिष्ठन्तं भवनस्य समीपतः ।
राजाथ दृष्ट्वा पुरुषान् प्राहिणोज्जातविस्मयः ।। २ ।।

राजभवनके पास ही गोशाला थी; वहाँ पहुँचकर वे खड़े हो गये। राजा उन्हें दूरसे ही देखकर आश्चर्यमें पड़ गये और उनके पास कुछ लोगोंको भेजा ।। २ ।।

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य भ्राजमानं नरर्षभम् ।
समुपस्थाय वै राजा पप्रच्छ कुरुनन्दनम् ।। ३ ।।

[अपने सेवकोंके बुलानेपर उनके साथ] दिव्य कान्तिसे सुशोभित नरश्रेष्ठ सहदेवको राजसभाकी ओर आते देख राजा विराट स्वयं उठकर उनके पास चले गये और कुरुकुलको आनन्द देनेवाले सहदेवसे पूछने लगे— ।। ३ ।।

कस्य वा त्वं कुतो वा त्वं किं वा त्वं तु चिकीर्षसि ।
न हि मे दृष्टपूर्वस्त्वं तत्त्वं ब्रूहि नरर्षभ ।। ४ ।।

'पुरुषप्रवर! तुम किसके पुत्र हो, कहाँसे आये हो और क्या करना चाहते हो? मैंने आजसे पहले तुम्हें कभी नहीं देखा है; अतः अपना ठीक-ठीक परिचय दो' ।। ४ ।।

सम्प्राप्य राजानममित्रतापनं
ततोऽब्रवीन्मेघमहौघनिःस्वनः ।
वैश्योऽस्मि नाम्नाहमरिष्टनेमि-
र्गोसंख्य आसं कुरुपुङ्गवानाम् ।। ५ ।।
वस्तुं त्वयीच्छामि विशां वरिष्ठ
तान् राजसिंहान् न हि वेद्मि पार्थान् ।
न शक्यते जीवितुमप्यकर्मणा
न च त्वदन्यो मम रोचते नृपः ।। ६ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा विराटके निकट पहुँचकर सहदेव मेघोंकी घनघोर घटाके समान गम्भीर स्वरमें बोले—'महाराज! मैं वैश्य हूँ। मेरा नाम अरिष्टनेमि है। नृपश्रेष्ठ! मैं कुरुवंशशिरोमणि पाण्डवोंके यहाँ गौओंकी गणना तथा देखभाल करता रहा हूँ। अब आपके यहाँ रहना चाहता हूँ; क्योंकि राजाओंमें सिंहके समान पाण्डव कहाँ हैं? यह मैं नहीं जानता। बिना काम किये जीविका चल नहीं सकती और आपके सिवा दूसरा कोई राजा मुझे पसंद नहीं है' ।। ५-६ ।।

विराट उवाच

त्वं ब्राह्मणो यदि वा क्षत्रियोऽसि
समुद्रनेमीश्वररूपवानसि ।
आचक्ष्व मे तत्त्वममित्रकर्शन
न वैश्यकर्म त्वयि विद्यते क्षमम् ।। ७ ।।

विराटने कहा—शत्रुतापन! मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय हो। समुद्रसे घिरी हुई समूची पृथ्वीके सम्राट्‌की भाँति तुम्हारा भव्य रूप है; अतः मुझे अपना ठीक-ठीक परिचय दो। यह वैश्य कर्म (गोपालन) तुम्हारे योग्य नहीं है ।। ७ ।।

कस्यासि राज्ञो विषयादिहागतः
किं वापि शिल्पं तव विद्यते कृतम् ।

कथं त्वमस्मासु निवत्स्यसे सदा
वदस्व किं चापि तवेह वेतनम् ।। ८ ।।

तुम किस राजाके राज्यसे यहाँ आये हो? और तुमने किस कलाकी शिक्षा प्राप्त की है? बोलो, हमारे यहाँ कैसे सदा रह सकोगे? और यहाँ तुम्हारा वेतन क्या होगा? ।। ८ ।।

सहदेव उवाच

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः ।
तस्याष्टशतसाहस्रा गवां वर्गाः शतं शतम् ।। ९ ।।

सहदेव बोले—राजन्! पाँचों पाण्डवोंमें सबसे बड़े भाई युधिष्ठिर हैं। उनके पास एक प्रकारकी गौओंके आठ लाख झुंड थे और प्रत्येक झुंडमें सौ-सौ गायें थीं ।। ९ ।।

अपरे शतसाहस्रा द्विस्तावन्तस्तथा परे ।
तेषां गोसंख्य आसं वै तन्तिपालेति मां विदुः ।। १० ।।
भूतं भव्यं भविष्यं च यच्च संख्यागतं गवाम् ।
न मेऽस्त्यविदितं किंचित् समन्ताद् दशयोजनम् ।। ११ ।।

इनके सिवा, दूसरे प्रकारकी गौओंके एक लाख झुंड तथा तीसरे प्रकारकी गौओंके उनसे दुगुने अर्थात् दो लाख झुंड थे। (प्रत्येक झुंडमें सौ-सौ गायें थीं।) पाण्डवोंकी उन गौओंका मैं गणक और निरीक्षक था। वे लोग मुझे 'तन्तिपाल' कहा करते थे। चारों ओर दस योजनकी दूरीमें जितनी गौएँ हों; उनकी भूत, वर्तमान और भविष्यमें जितनी संख्या थी, है और होगी, उन सबको मैं जानता हूँ। गौओंके सम्बन्धमें तीनों कालमें होनेवाली कोई ऐसी बात नहीं है, जो मुझे ज्ञात न हो ।।

गुणाः सुविदिता ह्यासन् मम तस्य महात्मनः ।
असकृत् स मया तुष्टः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।। १२ ।।
क्षिप्रं च गावो बहुला भवन्ति
न तासु रोगो भवतीह कश्चन ।
तैस्तैरुपायैर्विदितं ममैत-
देतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ।। १३ ।।
ऋषभांश्चापि जानामि राजन् पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ।। १४ ।।

महात्मा राजा युधिष्ठिरको मेरे ये गुण भलीभाँति विदित थे। वे कुरुराज युधिष्ठिर सदा मेरे ऊपर संतुष्ट रहते थे। किन-किन उपायोंसे गौओंकी संख्या शीघ्र बढ़ जाती है और उनमें कोई रोग नहीं पैदा होता, यह सब मुझे ज्ञात है। महाराज! ये ही कलाएँ मुझमें विद्यमान हैं। इनके सिवा मैं उन उत्तम लक्षणोंवाले बैलोंको भी जानता हूँ, जिनके मूत्रको सूँघ लेनेमात्रसे वन्ध्या स्त्री भी गर्भधारण एवं संतान उत्पन्न करनेयोग्य हो जाती है ।। १२—१४ ।।

विराट उवाच

शतं सहस्राणि समाहितानि
सवर्णवर्णस्य विमिश्रितान् गुणैः ।
पशून् सपालान् भवते ददाम्यहं
त्वदाश्रया मे पशवो भवन्त्विह ।। १५ ।।

विराटने कहा—तन्तिपाल! मेरे यहाँ एक लाख पशु संगृहीत हैं। उनमेंसे कुछ तो एक ही रंगके हैं और कुछ मिश्रित रंगके। वे सब विभिन्न गुणोंसे संयुक्त हैं। मैं उन पशुओं और पशुपालोंको आजसे तुम्हारे हाथमें सौंपता हूँ। मेरे पशु अबसे तुम्हारे ही अधीन रहेंगे ।। १५ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथा स राज्ञोऽविदितो विशाम्पते-
रुवास तत्रैव सुखं नरोत्तमः ।
न चैनमन्येऽपि विदुः कथंचन
प्रादाच्च तस्मै भरणं यथेप्सितम् ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार प्रजापालक राजा विराटसे अपरिचित रहकर नरश्रेष्ठ सहदेव वहीं गोशालामें रहने लगे। दूसरे लोग भी उन्हें किसी तरह पहचान न सके। राजाने उनके लिये उनकी इच्छाके अनुसार भरण-पोषणकी व्यवस्था कर दी ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि सहदेवप्रवेशे दशमोऽध्यायः ।। १० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें सहदेवप्रवेशविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १० ।।

एकादशोऽध्यायः

अर्जुनका राजा विराटसे मिलना और राजाके द्वारा कन्याओंको नृत्य आदिकी शिक्षा देनेके लिये उनको नियुक्त करना

वैशम्पायन उवाच

अथापरोऽदृश्यत रूपसम्पदा
स्त्रीणामलङ्कारधरो बृहत्पुमान् ।
प्राकारवप्रे प्रतिमुच्य कुण्डले
दीर्घे च कम्बूपरि हाटके शुभे ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर नगरकी चहारदीवारीके पीछे जो मिट्टीका ऊँचा टीला था, उसके समीप रूप-सम्पदासे सुशोभित एक दूसरा पुरुष दिखायी दिया। उसका डील-डौल ऊँचा था। उसने स्त्रियोंके लिये उचित आभूषण पहन रखे थे तथा कानोंमें बड़े-बड़े कुण्डल और हाथोंमें शंखकी चूड़ियाँ पहनकर उनके ऊपर सोनेके सुन्दर कंगन धारण कर लिये थे ।। १ ।।

बाहू च दीर्घान् प्रविकीर्य मूर्धजान्
महाभुजो वारणतुल्यविक्रमः ।
गतेन भूमिं प्रतिकम्पयंस्तदा
विराटमासाद्य सभासमीपतः ।। २ ।।

अपने बड़े-बड़े केशोंकी लटोंको खोलकर हाथोंतक फैलाये वह महाबाहु पुरुष उस समय हाथीके समान मस्तानी चालसे चलता और पग-पगपर मानो पृथ्वीको कँपाता हुआ राजसभाके समीप राजा विराटके पास आकर खड़ा हुआ ।। २ ।।

तं प्रेक्ष्य राजोपगतं सभातले
व्याजात् प्रतिच्छन्नमरिप्रमाथिनम् ।
विराजमानं परमेण वर्चसा
सुतं महेन्द्रस्य गजेन्द्रविक्रमम् ।। ३ ।।

सर्वानपृच्छच्च सभानुचारिणः
कुतोऽयमायाति पुरा न मे श्रुतः ।
न चैनमूचुर्विदितं तदा नराः
सविस्मयं वाक्यमिदं नृपोऽब्रवीत् ।। ४ ।।

छद्मवेशसे अपने स्वरूपको छिपाकर सभाभवनमें आया हुआ वह शत्रुविजयी वीर पुरुष अपने उत्कृष्ट तेजसे प्रकाशित हो रहा था। गजराजके समान बल-विक्रमवाले उस महेन्द्रपुत्र अर्जुनको देखकर राजाने समस्त सभासदोंसे पूछा—'यह कहाँसे आया है? आजसे पहले मैंने कभी इसके विषयमें नहीं सुना है।' राजाके पूछनेपर उन मनुष्योंमेंसे किसीने उस पुरुषको अपना परिचित नहीं बताया। तब राजाने आश्चर्ययुक्त होकर यह बात कहीं— ।। ३-४ ।।

सत्त्वोपपन्नः पुरुषोऽमरोपमः
श्यामो युवा वारणयूथपोपमः ।
आमुच्य कम्बूपरि हाटके शुभे
विमुच्य वेणीमपिनह्य कुण्डले ।। ५ ।।
स्रग्वी सुकेशः परिधाय चान्यथा
शुशोभ धन्वी कवची शरी यथा ।
आरुह्य यानं परिधावतां भवान्
सुतैः समो मे भव वा मया समः ।। ६ ।।

'तात! तुम शक्ति और धैर्यसे सम्पन्न देवोपम पुरुष हो। तुम्हारी अंगकान्ति श्याम है। तुम तरुण हो और हाथियोंके यूथके अधिपति महान् गजराजके समान शोभा पा रहे हो। तुमने हाथोंमें शंखकी चूड़ियाँ पहनकर उनके ऊपर सोनेके सुन्दर कंगन डाल लिये हैं, वेणी खोलकर केशोंकी लटें छितरा ली हैं तथा कानोंमें कुण्डल धारणकर गलेमें गजरा डाल रखा है। तुम्हारे केश बहुत ही सुन्दर हैं। तुम नारीजनोचित वेश-भूषा धारण करके भी उसके विपरीत धनुष-बाण और कवच धारण करनेवाले वीरके समान शोभा पा रहे हो। तुम रथ आदि वाहनोंपर बैठकर इच्छानुसार भ्रमण करो और मेरे पुत्रोंके अथवा मेरे ही समान होकर रहो ।। ५-६ ।।

वृद्धो ह्यहं वै परिहारकामः
सर्वान् मत्स्यांस्तरसा पालयस्व ।
नैवंविधाः क्लीबरूपा भवन्ति
कथंचनेति प्रतिभाति मे मनः ।। ७ ।।

'मैं बूढ़ा हो गया हूँ; अब राजकाज छोड़ना चाहता हूँ; अतः तुम सम्पूर्ण मत्स्यदेशका शीघ्र ही पालन करो। तुम्हारे-जैसे स्वरूपवाले किसी तरह नपुंसक नहीं हो सकते। मेरे मनको ऐसा ही प्रतीत होता है' ।। ७ ।।

(अर्जुन उवाच

वेणीं प्रकुर्यां रुचिरे च कुण्डले
तथा स्रजः प्रावरणानि संहरे ।

स्नानं चरेयं विमृजे च दर्पणं
विशेषकेष्वेव च कौशलं मम ।।
क्लीबेषु बालेषु जनेषु नर्तने
शिक्षाप्रदानेषु च योग्यता मम ।
करोमि वेणीषु च पुष्पपूरणं
न मे स्त्रियः कर्मणि कौशलाधिकाः ।।

अर्जुन बोले—मैं वेणी-रचना अच्छी कर सकता हूँ, मनोहर कुण्डल बनाना जानता हूँ, फूलोंके हार तथा ओढ़नेकी चादरें सुन्दर ढंगसे बनाता हूँ, स्नान करा सकता हूँ, दर्पणकी सफाई करता हूँ और चन्दन आदिसे अनेक प्रकारकी रेखाएँ बनाकर शृंगार करनेकी क्रियामें मुझे विशेष कुशलता प्राप्त है। नपुंसकों, बालकों एवं साधारण लोगोंमें नाचने तथा संगीत एवं नृत्यकी शिक्षा देनेमें मेरी अच्छी योग्यता है। स्त्रियोंकी वेणीमें फूल गूँथनेका कार्य भी मैं अच्छे ढंगसे सम्पन्न करता हूँ। इन सब कार्योंमें स्त्रियाँ भी मुझसे अधिक कुशल नहीं हैं।

तमब्रवीत् प्रांशुमुदीक्ष्य विस्मितो
विराटराजोपसृतं महायशाः ।।

निकट आनेपर उसका कद बहुत ऊँचा देखकर महायशस्वी राजा विराट अत्यन्त विस्मित होकर बोले।

विराट उवाच

नार्हस्तु वेषोऽयमनूर्जितस्ते
नापुंस्त्वमर्हो नरदेवसिंह ।
तवैष वेशोऽशुभवेषभूषणै-
र्विभूषितो भूतपतेरिव प्रभो ।।
विभाति भानोरिव रश्मिमालिनो
घनावरुद्धे गगने घनैरिव ।
धनुर्हि मन्ये तव शोभयेद् भुजौ
तथा हि पीनावतिमात्रमायतौ ।।)

विराटने कहा—नरदेवसिंह! ओज और बलसे रहित नपुंसकका-सा यह वेष तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम क्लीब होनेके योग्य नहीं हो। प्रभो! तुम्हारा यह वेष भगवान् भूतनाथकी भाँति अशुभ वेष-भूषासे विभूषित है। जैसे बादलोंकी घटासे आच्छादित आकाशमें भी अंशुमाली सूर्यका मण्डल सुशोभित होता है, उसी प्रकार इस क्लीबवेषमें भी तुम पौरुषसे प्रकाशित हो रहे हो। मेरा ऐसा विश्वास है कि तुम्हारी इन मोटी और अत्यन्त विशाल भुजाओंको धनुष ही सुशोभित कर सकता है।

अर्जुन उवाच

गायामि नृत्याम्यथ वादयामि
भद्रोऽस्मि नृत्ये कुशलोऽस्मि गीते ।
त्वमुत्तरायै प्रदिशस्व मां स्वयं
भवामि देव्या नरदेव नर्तकः ।। ८ ।।

अर्जुनने कहा—नरदेव! मैं गाता, नाचता और बाजे बजाता हूँ। नृत्यकलामें निपुण और संगीत-कलामें भी कुशल हूँ। आप उत्तराको शिक्षा देनेके लिये मुझे रख लें। मैं स्वयं राजकुमारी उत्तराको नृत्य सिखलाऊँगा ।। ८ ।।

इदं तु रूपं मम येन किं तव
प्रकीर्तयित्वा भृशशोकवर्धनम् ।
बृहन्नलां मां नरदेव विद्धि
सुतं सुतां वा पितृमातृवर्जिताम् ।। ९ ।।

मेरा ऐसा रूप जिस कारणसे हुआ है, उसे आपके सामने कहनेसे क्या लाभ है? वह अधिक शोक बढ़ानेवाली बात है। राजन्! आप मुझे बृहन्नला समझें और पिता-मातासे रहित पुत्र या पुत्री मान लें ।। ९ ।।

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरं बृहन्नले

सुतां च मे नर्तय याश्च तादृशीः ।
इदं तु ते कर्म समं न मे मतं
समुद्रनेमिं पृथिवीं त्वमर्हसि ।। १० ।।

विराट बोले—बृहन्नले! मैं तुम्हें अभीष्ट वर देता हूँ। तुम मेरी पुत्रीको तथा उसके समान अवस्थावाली अन्य राजकुमारियोंको नृत्यकला सिखलाओ। परंतु मुझे यह कर्म तुम्हारे योग्य नहीं जान पड़ता। तुम तो समुद्रसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीके शासक होने योग्य हो ।। १० ।।

वैशम्पायन उवाच

बृहन्नलां तामभिवीक्ष्य मत्स्यराट्
कलासु नृत्येषु तथैव वादिते ।
सम्मन्त्र्य राजा विविधैः स्वमन्त्रिभिः
परीक्ष्य चैनं प्रमदाभिराशु वै ।। ११ ।।
अपुंस्त्वमप्यस्य निशम्य च स्थिरं
ततः कुमारीपुरमुत्ससर्ज तम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर मत्स्यनरेशने बृहन्नलाकी गीत, नृत्य और बाजे बजानेकी कलाओंमें परीक्षा करके अपने अनेक मन्त्रियोंसे यह सलाह ली कि इसे अन्तःपुरमें रखना चाहिये या नहीं। फिर तरुणी स्त्रियोंद्वारा शीघ्र ही उनके नपुंसकत्वकी जाँच करायी। जब सब तरहसे उनका नपुंसक होना ठीक प्रमाणित हो गया, तब यह सुन-समझकर उन्होंने बृहन्नलाको कन्याके अन्तःपुरमें जानेकी आज्ञा दी ।। ११½ ।।

स शिक्षयामास च गीतवादितं
सुतां विराटस्य धनंजयः प्रभुः ।। १२ ।।
सखीश्च तस्याः परिचारिकास्तथा
प्रियश्च तासां स बभूव पाण्डवः ।। १३ ।।
तथा स सत्रेण धनंजयो वसन्
प्रियाणि कुर्वन् सह ताभिरात्मवान् ।
तथा च तं तत्र न जज्ञिरे जना
बहिश्चरा वाप्यथ चान्तरेचराः ।। १४ ।।

शक्तिशाली अर्जुन विराटकन्या उत्तरा, उसकी सखियों तथा सेविकाओंको भी गीत, वाद्य एवं नृत्यकलाकी शिक्षा देने लगे। इससे वे उन सबके प्रिय हो गये। छद्मवेशमें कन्याओंके साथ रहते हुए भी अर्जुन अपने मनको सदा पूर्णरूपसे वशमें रखते और उन सबको प्रिय लगनेवाले कार्य करते थे। इस रूपमें वहाँ रहते हुए अर्जुनको बाहर अथवा अन्तःपुरके कोई भी मनुष्य पहचान न सके ।। १२—१४ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि अर्जुनप्रवेशो नाम एकादशोऽध्यायः ।। ११ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें अर्जुनप्रवेशनामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल १८ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं।)

द्वादशोऽध्यायः

नकुलका विराटके अश्वोंकी देखरेखमें नियुक्त होना

वैशम्पायन उवाच

अथापरोऽदृश्यत पाण्डवः प्रभु-
र्विराटराजं तरसा समेयिवान् ।
तमापतन्तं ददृशे पृथग्जनो
विमुक्तमभ्रादिव सूर्यमण्डलम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर अन्य पाण्डुपुत्र शक्तिशाली नकुल बड़े वेगसे चलते हुए राजा विराटके यहाँ आये। उन्हें आते समय साधारण लोगोंने देखा; उस समय वे मेघमालाकी ओटसे निकले हुए सूर्यमण्डलके समान तेजस्वी जान पड़ते थे ।। १ ।।

स वै हयानैक्षत तांस्ततस्ततः
समीक्षमाणं स ददर्श मत्स्यराट् ।
ततोऽब्रवीत्ताननुगान् नरेश्वरः
कुतोऽयमायाति नरोऽमरोपमः ।। २ ।।
स्वयं हयानीक्षति मामकान् दृढं
ध्रुवं हयज्ञो भविता विचक्षणः ।
प्रवेश्यतामेष समीपमाशु मे
विभाति वीरो हि यथामरस्तथा ।। ३ ।।

आते ही उन्होंने इधर-उधर घूमकर घोड़ोंको देखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार उन अश्वोंका निरीक्षण करते समय उन्हें मत्स्यराज विराटने देखा। तब वे नरेश वहाँ बैठे हुए अनुचरोंसे बोले—‘पता तो लगाओ, यह देवोपम पुरुष कहाँसे आ रहा है? यह बिना कहे-सुने स्वयं मेरे घोड़ोंको बहुत ध्यानसे देख रहा है; अतः यह अवश्य घोड़ोंको पहचाननेवाला और अश्वविद्याका विद्वान् होगा। इसलिये इसे शीघ्र मेरे समीप ले आओ। यह वीर देवताओंकी भाँति सुशोभित हो रहा है’ ।। २-३ ।।

अभ्येत्य राजानममित्रहाब्रवी-
ज्जयोऽस्तु ते पार्थिव भद्रमस्तु वः ।
हयेषु युक्तो नृप सम्मतः सदा
तवाश्वसूतो निपुणो भवाम्यहम् ।। ४ ।।

तत्पश्चात् राजसेवकोंके साथ राजाके समीप आकर शत्रुहन्ता नकुलने कहा—'राजन्! आपकी जय हो। आपका कल्याण हो। मैं घोड़ोंको शिक्षा देनेमें निपुण हूँ और अनेक राजाओंसे सम्मानित हूँ। मैं सदा आपके घोड़ोंका चतुर सारथि हो सकता हूँ' ।। ४ ।।

विराट उवाच

ददामि यानानि धनं निवेशनं
ममाश्वसूतो भवितुं त्वमर्हसि ।
कुतोऽसि कस्यासि कथं त्वमागतः
प्रब्रूहि शिल्पं तव विद्यते च यत् ।। ५ ।।

विराटने कहा—भद्र पुरुष! मैं तुम्हें सवारी, धन और रहनेके लिये घर देता हूँ। तुम मेरे घोड़ोंको शिक्षा देनेवाले सारथि हो सकते हो, किंतु मैं पहले यह जानना चाहता हूँ कि तुम

कहाँसे आये हो? किसके पुत्र हो और किसलिये तुम्हारा यहाँ आगमन हुआ है? तुममें जो कला-कौशल हो, उसे भी बताओ ।। ५ ।।

नकुल उवाच

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः ।
तेनाहमश्वेषु पुरा नियुक्तः शत्रुकर्शन ।। ६ ।।
अश्वानां प्रकृतिं वेद्मि विनयं चापि सर्वशः ।
दुष्टानां प्रतिपत्तिं च कृत्स्नं चैव चिकित्सितम् ।। ७ ।।

नकुल बोले—शत्रुदमन! सुनिये, पाँचों पाण्डवोंमें जो बड़े भ्राता युधिष्ठिर हैं, उन्होंने पहले मुझे घोड़ोंकी देखभालके कामपर लगा रखा था। मैं घोड़ोंकी जाति पहचानता हूँ एवं उन्हें सब प्रकारकी शिक्षा देनेकी कला भी जानता हूँ। दुष्ट घोड़ोंकी दुष्टता-निवारणका ढंग भी मुझे मालूम है तथा घोड़ोंकी चिकित्सा भी मैं पूर्णरूपसे जानता हूँ ।। ६-७ ।।

न कातरं स्यान्मम जातु वाहनं
न मेऽस्ति दुष्टा वडवा कुतो हयाः ।
जनस्तु मामाह स चापि पाण्डवो
युधिष्ठिरो ग्रन्थिकमेव नामतः ।। ८ ।।

मेरा सिखाया हुआ घोड़ा कभी कायर नहीं हो सकता। मेरी सिखायी हुई घोड़ीमें भी कोई ऐब नहीं आता, फिर घोड़े तो बिगड़ ही कैसे सकते हैं? मुझे साधारण लोग तथा पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर भी 'ग्रन्थिक' नामसे ही पुकारा करते थे ।। ८ ।।

(मातलिरिव देवपतेर्दशरथनृपतेः सुमन्त्र इव यन्ता ।
सुमह इव जामदग्नेस्तथैव तव शिक्षयाम्यश्वान् ।।
युधिष्ठिरस्य राजेन्द्र नरराजस्य शासनात् ।
शतसाहस्रकोटीनामश्वानामस्मि रक्षिता ।।)

जैसे देवराज इन्द्रके सारथि मातलि हैं, जैसे राजा दशरथके रथचालक सुमन्त्र हैं और जैसे जमदग्निनन्दन परशुरामके सूत सुमह हैं, उसी प्रकार मैं आपका सारथि होकर आपके घोड़ोंको शिक्षा दूँगा। राजेन्द्र! मैं महाराज युधिष्ठिरके आदेशसे उनके यहाँ लक्षकोटि अश्वोंका संरक्षक रहा हूँ।

विराट उवाच

यदस्ति किंचिन्मम वाजिवाहनं
तदस्तु सर्वं त्वदधीनमद्य वै ।
ये चापि केचिन्मम वाजियोजका-
स्त्वदाश्रयाः सारथयश्च सन्तु मे ।। ९ ।।

विराटने कहा—ग्रन्थिक! मेरे पास जो भी घोड़े और अन्य वाहन हैं, वे सब आजसे ही तुम्हारे अधीन हो जायँ। इसके सिवा जो कोई भी मेरे घोड़ोंको जोतनेवाले सारथि हैं, वे सब तुम्हारे अधिकारमें इदं रहें ।। ९ ।।

इदं तवेष्टं यदि वै सुरोपम
ब्रवीहि यत् ते प्रसमीक्षितं वसु ।
त तेऽनुरूपं हयकर्म विद्यते
प्रभासि राजेव हि सम्मतो मम ।। १० ।।
युधिष्ठिरस्येव हि दर्शनेन मे
समं तवेदं प्रियमत्र दर्शनम् ।
कथं तु भृत्यैः स विनाकृतो वने
वसत्यनिन्द्यो रमते च पाण्डवः ।। ११ ।।

देवोपम पुरुष! यदि यही कार्य तुम्हें प्रिय है, तो बताओ, इसके लिये वेतनरूपसे कितना धन लेनेका तुमने विचार किया है? यह घोड़ोंकी शिक्षाका कार्य तुम्हारे अनुरूप नहीं है। तुम तो राजाकी भाँति शोभा पा रहे हो और मुझे भी अत्यन्त प्रिय लगते हो। आज मुझे तुम्हारा जो यहाँ दर्शन हुआ है, यह राजा युधिष्ठिरके ही दर्शनके समान मुझे अत्यन्त प्रिय है। अहो! सर्वथा प्रशंसाके योग्य पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर सेवकोंके बिना वनमें कैसे रहते होंगे और कैसे उनका मन वहाँ लगता होगा? ।। १०-११ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथा स गन्धर्ववरोपमो युवा
विराटराज्ञा मुदितेन पूजितः ।
न चैनमन्येऽपि विदुः कथंचन
प्रियाभिरामं विचरन्तमन्तरा ।। १२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार प्रसन्न हुए राजा विराटके द्वारा सम्मानित हो श्रेष्ठ गन्धर्वके सदृश शोभा पानेवाले युवावस्थासम्पन्न नकुल वहाँ रहने लगे। उनका स्वरूप बड़ा ही प्रिय और नयनाभिराम था। वे नगरके भीतर विचरते रहते थे, तो भी उन्हें राजा तथा अन्य मनुष्य किसी प्रकार पहचान न सके ।। १२ ।।

एवं हि मत्स्ये न्यवसन्त पाण्डवा
यथाप्रतिज्ञाभिरमोघदर्शनाः ।
अज्ञातचर्यां व्यचरन् समाहिताः
समुद्रनेमीपतयोऽतिदुःखिताः ।। १३ ।।

जिनका दर्शन अमोघ है, वे पाण्डवगण इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार मत्स्यदेशमें रहने और एकाग्रतापूर्वक अज्ञातवासका समय व्यतीत करने लगे। वे सागरसे

घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीके अधिपति होकर भी अत्यन्त कष्ट उठा रहे थे ।। १३ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि पाण्डवप्रवेशपर्वणि नकुलप्रवेशे द्वादशोऽध्यायः ।। १२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत पाण्डवप्रवेशपर्वमें नकुलप्रवेशसम्बन्धी बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १५ श्लोक हैं।)

(समयपालनपर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा जीमूत नामक विश्वविख्यात मल्लका वध

जनमेजय उवाच

एवं ते मत्स्यनगरे प्रच्छन्नाः कुरुनन्दनाः ।
अत ऊर्ध्वं महावीर्याः किमकुर्वत वै द्विज ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! इस प्रकार मत्स्यदेशकी राजधानीमें गुप्तरूपसे निवास करनेवाले महापराक्रमी पाण्डुपुत्रोंने इसके बाद क्या किया? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं मत्स्यस्य नगरे प्रच्छन्नाः कुरुनन्दनाः ।
आराधयन्तो राजानं यदकुर्वत तच्छृणु ।। २ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! इस प्रकार मत्स्यदेशकी राजधानीमें गुप्तरूपसे निवास करनेवाले पाण्डवोंने राजा विराटकी सेवा करते हुए जो-जो कार्य किया, वह सुनो ।। २ ।।

तृणबिन्दुप्रसादाच्च धर्मस्य च महात्मनः ।
अज्ञातवासमेवं तु विराटनगरेऽवसन् ।। ३ ।।
युधिष्ठिरः सभास्तारो मत्स्यानामभवत् प्रियः ।
तथैव च विराटस्य सपुत्रस्य विशाम्पते ।। ४ ।।
स ह्यक्षहृदयज्ञस्तान् क्रीडयामास पाण्डवः ।
अक्षवत्यां यथाकामं सूत्रबद्धानिव द्विजान् ।। ५ ।।

राजर्षि तृणबिन्दु और महात्मा धर्मके प्रसादसे पाण्डवलोग इस प्रकार विराटके नगरमें अज्ञातवासके दिन पूरे करने लगे। महाराज युधिष्ठिर राजसभाके प्रमुख सदस्य और मत्स्यदेशकी प्रजाके अत्यन्त प्रिय थे। राजन्! इसी प्रकार पुत्रसहित राजा विराटका भी उनपर विशेष प्रेम था। वे पासोंका मर्म जानते थे। जैसे कोई सूतमें बाँधे हुए पक्षियोंको इच्छानुसार उड़ावे, उसी प्रकार वे

द्यूतशालामें पासोंको अपने इच्छानुसार फेंकते हुए राजा आदिको जूआ खेलाया करते थे ।। ३—५ ।।

अज्ञातं च विराटस्य विजित्य वसु धर्मराट् ।
भ्रातृभ्यः पुरुषव्याघ्रो यथार्हं सम्प्रयच्छति ।। ६ ।।

'पुरुषसिंह धर्मराज युधिष्ठिर जूएमें धन जीतकर अपने भाइयोंको यथायोग्य बाँट देते थे।' इसका राजा विराटको भी पता नहीं लगता था ।। ६ ।।

भीमसेनोऽपि मांसानि भक्ष्याणि विविधानि च ।
अतिसृष्टानि मत्स्येन विक्रीणीते युधिष्ठिरे ।। ७ ।।

भीमसेन भी नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ, जो मत्स्यनरेशद्वारा उन्हें पुरस्काररूपमें प्राप्त होते, बेच देते और उससे मिला हुआ धन युधिष्ठिरकी सेवामें अर्पित करते थे ।। ७ ।।

वासांसि परिजीर्णानि लब्धान्यन्तःपुरेऽर्जुनः ।
विक्रीणानश्च सर्वेभ्यः पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ।। ८ ।।

अर्जुनको अन्तःपुरमें जो पुराने उतारे हुए बहुमूल्य वस्त्र प्राप्त होते, उन्हें वे बेचते और बेचनेसे मिला हुआ मूल्य सब पाण्डवोंको देते थे ।। ८ ।।

सहदेवोऽपि गोपानां वेषमास्थाय पाण्डवः ।
दधि क्षीरं घृतं चैव पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ।। ९ ।।

पाण्डुनन्दन सहदेव भी ग्वालोंका वेश धारणकर पाण्डवोंको दही, दूध और घी दिया करते थे ।। ९ ।।

नकुलोऽपि धनं लब्ध्वा कृते कर्मणि वाजिनाम् ।
तुष्टे तस्मिन् नरपतौ पाण्डवेभ्यः प्रयच्छति ।। १० ।।

नकुल भी घोड़ोंके शिक्षणका कार्य करके महाराज विराटके संतुष्ट होनेपर उनसे पुरस्कारस्वरूप जो धन पाते, उसे सब पाण्डवोंको बाँट दिया करते थे ।। १० ।।

कृष्णा तु सर्वान् भर्तॄंस्तान् निरीक्षन्ती तपस्विनी ।
यथा पुनरविज्ञाता तथा चरति भामिनी ।। ११ ।।

तपस्विनी एवं सुन्दरी द्रौपदी भी उन सब पतियोंकी देखभाल करती हुई ऐसा बर्ताव करती, जिससे फिर कोई उसे पहचान न सके ।। ११ ।।

एवं सम्पादयन्तस्ते तदान्योन्यं महारथाः ।
विराटनगरे चेरुः पुनर्गर्भधृता इव ।। १२ ।।

इस प्रकार एक-दूसरेका सहयोग करते हुए वे महारथी पाण्डव विराटनगरमें बहुत छिपकर रहते थे; मानो पुनः माताके गर्भमें निवास कर रहे हों ।। १२ ।।

साशङ्का धार्तराष्ट्रस्य भयात् पाण्डुसुतास्तदा ।

प्रेक्षमाणास्तदा कृष्णामूषुश्छन्ना नराधिप ।। १३ ।।

राजन्! दुर्योधनद्वारा पहचान लिये जानेके भयसे पाण्डव सदा सशंक रहते थे; अतः वे उस समय द्रौपदीकी देखभाल करते हुए भी छिपकर ही वहाँ निवास करते थे ।।

अथ मासे चतुर्थे तु ब्रह्मणः सुमहोत्सवः ।
आसीत् समृद्धो मत्स्येषु पुरुषाणां सुसम्मतः ।। १४ ।।
तत्र मल्लाः समापेतुर्दिग्भ्यो राजन् सहस्रशः ।
समाजे ब्रह्मणो राजन् यथा पशुपतेरिव ।। १५ ।।

तदनन्तर चौथा महीना प्रारम्भ होनेपर मत्स्यदेशमें ब्रह्माजीकी पूजाका महान् उत्सव मनाया जाने लगा। इसमें बड़ा समारोह होता था। मत्स्यदेशके लोगोंको यह बहुत प्रिय था। जनमेजय! उस समय विराटनगरमें चारों दिशाओंसे हजारों कुश्ती लड़नेवाले मल्ल जुटने लगे। इसी अवसरपर ब्रह्माजी और भगवान् शंकरकी सभाके समान उस राजधानीमें लोगोंका जमाव होता था ।। १४-१५ ।।

महाकाया महावीर्याः कालखञ्जा इवासुराः ।
वीर्योन्मत्ता बलोदग्रा राज्ञा समभिपूजिताः ।। १६ ।।

वहाँ आये हुए विशालकाय और महान् बलशाली मल्ल कालखंज नामक असुरोंके समान जान पड़ते थे। वे सब अपनी शक्ति और पराक्रमके मदसे उन्मत्त थे एवं बलमें बहुत बड़े-चढ़े थे। राजा विराटने उन सबका खूब स्वागत-सत्कार किया ।। १६ ।।

सिंहस्कन्धकटिग्रीवाः स्ववदाता मनस्विनः ।
असकृल्लब्धलक्षास्ते रङ्गे पार्थिवसंनिधौ ।। १७ ।।

उनके कंधे, कमर और कण्ठ सिंहके समान थे। वे निर्मल यशसे सुशोभित और मनस्वी थे। उन्होंने अनेक बार राजाके समीप रंगभूमि (अखाड़े) में विजय पायी थी ।। १७ ।।

तेषामेको महानासीत् सर्वमल्लानथाह्वयत् ।
आवल्गमानं तं रङ्गे नोपतिष्ठति कश्चन ।। १८ ।।

उन सबमें एक बहुत बड़ा पहलवान था, जो दूसरे सब पहलवानोंको अपने साथ लड़नेके लिये ललकारता था। जब वह अखाड़ेमें उतरकर उलछने लगा, उस समय कोई भी उसके समीप खड़ा न हो सका ।। १८ ।।

यदा सर्वे विमनसस्ते मल्ला हतचेतसः ।
अथ सूदेन तं मल्लं योधयामास मत्स्यराट् ।। १९ ।।

जब वे सभी मल्ल उदासीन हो हिम्मत हार बैठे, तब मत्स्यनरेशने अपने रसोइयेसे उस पहलवानको लड़ानेका निश्चय किया ।। १९ ।।

नोद्यमानस्तदा भीमो दुःखेनैवाकरोन्मतिम् ।
न हि शक्नोति विवृते प्रत्याख्यातुं नराधिपम् ।। २० ।।

उस समय राजासे प्रेरित होनेपर भीमसेनने [पहचाने जानेके भयसे] दुःखी होकर ही उससे लड़नेका विचार किया। वे राजाकी बातको प्रकटरूपमें टाल नहीं सकते थे ।। २० ।।

ततः स पुरुषव्याघ्रः शार्दूलशिथिलश्चरन् ।
प्रविवेश महारङ्गं विराटमभिपूजयन् ।। २१ ।।

तदनन्तर पुरुषसिंह भीमने सिंहके समान धीमी चालसे चलते हुए राजा विराटका मान रखनेके लिये उस विशाल रंगभूमिमें प्रवेश किया ।। २१ ।।

बबन्ध कक्षां कौन्तेयस्ततः संहर्षयन् जनम् ।
ततस्तु वृत्रसंकाशं भीमो मल्लं समाह्वयत् ।। २२ ।।
जीमूतं नाम तं तत्र मल्लं प्रख्यातविक्रमम् ।

फिर लोगोंमें हर्षका संचार करते हुए उन्होंने लँगोट बाँधा और उस प्रसिद्ध पराक्रमी जीमूत नामक मल्लको, जो वृत्रासुरके समान दिखायी देता था, युद्धके लिये ललकारा ।। २२½ ।।

तावुभौ सुमहोत्साहावुभौ भीमपराक्रमौ ।। २३ ।।
मत्ताविव महाकायौ वारणौ षष्टिहायनौ ।

वे दोनों बड़े उत्साहमें भरे थे। दोनों ही प्रचण्ड पराक्रमी थे, ऐसा लगता था मानो साठ वर्षके दो मतवाले एवं विशालकाय गजराज एक-दूसरेसे भिड़नेको उद्यत हों ।। २३½ ।।

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुयुद्धं समीयतुः ।। २४ ।।
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ।
आसीत् सुभीमः सम्पातो वज्रपर्वतयोरिव ।। २५ ।।

अत्यन्त हर्षमें भरकर एक-दूसरेको जीत लेनेकी इच्छावाले वे दोनों नरश्रेष्ठ वीर बाहुयुद्ध करने लगे। उस समय उन दोनोंमें बड़ी भयंकर भिड़न्त हुई। उनके परस्परके आघातसे इस प्रकार चटचट शब्द होने लगा, मानो वज्र और पर्वत एक-दूसरेसे टकरा गये हों ।।

उभौ परमसंहृष्टौ बलेनातिबलावुभौ ।
अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ।। २६ ।।

दोनों अत्यन्त प्रसन्न थे। बलकी दृष्टिसे दोनों ही अत्यन्त बलशाली थे और एक-दूसरेपर चोट करनेका अवसर देखते हुए विजयके अभिलाषी हो रहे

थे ।। २६ ।।

उभौ परमसंहृष्टौ मत्ताविव महागजौ ।
कृतप्रतिकृतैश्चित्रैर्बाहुभिश्च सुसङ्कटैः ।
संनिपातावधूतैश्च प्रमाथोन्मथनैस्तथा[१] ।। २७ ।।

दोनोंमें भरपूर हर्ष और उत्साह भरा था। दोनों ही मतवाले गजराजोंकी भाँति एक-दूसरेसे भिड़े हुए थे। जब एक-दूसरेका कोई अंग जोरसे दबाता, तब दूसरा फौरन उसका प्रतीकार करता—उस अंगको उसकी पकड़से छुड़ा लेता था। दोनों एक-दूसरेके हाथोंको मुट्ठीसे पकड़कर विवश कर देते और विचित्र ढंगसे परस्पर प्रहार करते थे। दोनों आपसमें गुँथ जाते और फिर धक्के देकर एक दूसरेको दूर हटा देते। कभी एक-दूसरेको पटककर जमीनपर रगड़ता, तो दूसरा नीचेसे ही कुलाँचकर ऊपरवालेको दूर फेंक देता या उसे लिये-दिये खड़ा हो अपने शरीरसे दबाकर उसके अंगोंको भी मथ डालता था ।। २७ ।।

क्षेपणैर्मुष्टिभिश्चैव[१] [२] वराहोद्धूतनिःस्वनैः[३] ।
तलैर्वज्रनिपातैश्च[४] प्रसृष्टाभिस्तथैव[५] च ।। २८ ।।

कभी दोनों दोनोंको बलपूर्वक पीछे हटाते और मुक्कोंसे एक-दूसरेकी छातीपर चोट करते थे। कभी एकको दूसरा अपने कंधेपर उठा लेता और उसका मुँह नीचे करके घुमाकर पटक देता था, जिससे ऐसा शब्द होता; मानो किसी शूकरने चोट की हो। कभी परस्पर तर्जनी और अँगूठेके मध्यभागको फैलाकर चाँटोंकी मार होती और कभी हाथकी अंगुलियोंको फैलाकर वे एक-दूसरेको थप्पड़ मारते थे ।। २८ ।।

शलाकानखपातैश्च पादोद्धूतैश्च दारुणैः ।
जानुभिश्चाश्मनिर्घोषैः शिरोभिश्चावघट्टनैः ।। २९ ।।

कभी वे रोषपूर्वक अंगुलियोंके नखोंसे एक-दूसरेको बकोटते। कभी पैरोंसे उलझाकर दोनों दोनोंको गिरा देते। कभी घुटने और सिरसे टक्कर मारते; जिससे पत्थर टकरानेके समान भयंकर शब्द होता था ।। २९ ।।

तद् युद्धमभवद् घोरमशस्त्रं बाहुतेजसा ।
बलप्राणेन शूराणां समाजोत्सवसंनिधौ ।। ३० ।।
अरज्यत जनः सर्वः सोत्क्रुष्टनिनदोत्थितः ।
बलिनोः संयुगे राजन् वृत्रवासवयोरिव ।। ३१ ।।
प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्याकर्षविकर्षणैः[६] ।
आकर्षतुरथान्योन्यं जानुभिश्चापि जघ्नतुः ।। ३२ ।।

कभी वे प्रतिपक्षीको गोदमें घसीट लाते, कभी खेलमें ही उसे सामने खींच लेते, कभी आगे-पीछे, दायें-बायें पैंतरे बदलते और कभी सहसा पीछे ढकेलकर पटक देते थे। इस तरह दोनों दोनोंको अपनी ओर खींचते और घुटनोंसे एक-दूसरेपर प्रहार करते थे। उस सामूहिक उत्सवमें पहलवानों और जनसमुदायके निकट उन दोनोंमें केवल बाहुबल, शारीरिक बल तथा प्राणबलसे किसी अस्त्र-शस्त्रके बिना बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। राजन्! इन्द्र और वृत्रासुरके समान भीम और जीमूतके उस मल्लयुद्धमें सब लोगोंका बड़ा मनोरंजन हुआ। सभी दर्शक जीतनेवालेका उत्साह बढ़ानेके लिये जोर-जोरसे हर्षनाद कर उठते थे ।। ३०—३२ ।।

ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम् ।
व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव ।। ३३ ।।
चकर्ष दोर्भ्यामुत्पात्य भीमो मल्लममित्रहा ।
निनदन्तमभिक्रोशन् शार्दूल इव वारणम् ।। ३४ ।।
समुद्यम्य महाबाहुर्भ्रामयामास वीर्यवान् ।
ततो मल्लाश्च मत्स्याश्च विस्मयं चक्रिरे परम् ।। ३५ ।।

तदनन्तर चौड़ी छाती और लंबी भुजावाले, कुश्तीके दाँव-पेचमें कुशल वे दोनों वीर गम्भीर गर्जनाके साथ एक-दूसरेको डाँट बताते हुए लोहेके परिघ (मोटे डंडे)-जैसी बाँहोंसे बाँहें मिलाकर परस्पर भिड़ गये। फिर विपुलपराक्रमी शत्रुहन्ता महाबाहु भीमसेनने गर्जना करते हुए, जैसे सिंह हाथीपर झपटे, उसी प्रकार झपटकर जीमूतको दोनों हाथोंसे पकड़कर खींचा और ऊपर उठाकर उसे घुमाना आरम्भ किया। यह देख वहाँ आये हुए पहलवानों तथा मत्स्यदेशकी प्रजाको बड़ा आश्चर्य हुआ ।। ३३—३५ ।।

भ्रामयित्वा शतगुणं गतसत्त्वमचेतनम् ।
प्रत्यपिंषन्महाबाहुर्मल्लं भुवि वृकोदरः ।। ३६ ।।

सौ बार घुमानेपर जब वह धैर्य, साहस और चेतनासे भी हाथ धो बैठा, तब बड़ी-बड़ी बाहुओंवाले वृकोदरने उसे पृथ्वीपर गिराकर मसल डाला ।। ३६ ।।

तस्मिन् विनिहते वीरे जीमूते लोकविश्रुते ।
विराटः परमं हर्षमगच्छद् बान्धवैः सह ।। ३७ ।।

इस प्रकार उस लोकविख्यात वीर जीमूतके मारे जानेपर राजा विराटको अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ बड़ी प्रसन्नता हुई ।। ३७ ।।

प्रहर्षात् प्रददौ वित्तं बहु राजा महामनाः ।
बल्लवाय महारङ्गे यथा वैश्रवणस्तथा ।। ३८ ।।

उस समय कुबेरके समान महामनस्वी राजा विराटने अत्यन्त हर्षमें भरकर बल्लवको उस विशाल रंगभूमिमें ही बहुत धन दिया ।। ३८ ।।

एवं स सुबहून् मल्लान् पुरुषांश्च महाबलान् ।
विनिघ्नन् मत्स्यराजस्य प्रीतिमाहरदुत्तमाम् ।। ३९ ।।

इसी तरह बहुत-से पहलवानों और महाबली पुरुषोंको मारकर भीमसेनने मत्स्यनरेश विराटका उत्तम प्रेम प्राप्त किया ।। ३९ ।।

यदास्य तुल्यः पुरुषो न कश्चित् तत्र विद्यते ।
ततो व्याघ्रैश्च सिंहैश्च द्विरदैश्चाप्ययोधयत् ।। ४० ।।

जब वहाँ उनकी जोड़का कोई पहलवान नहीं रह गया, तब विराट उन्हें व्याघ्रों, सिंहों और हाथियोंसे लड़ाने लगे ।। ४० ।।

पुनरन्तःपुरगतः स्त्रीणां मध्ये वृकोदरः ।
योध्यते स विराटेन सिंहैर्मत्तैर्महाबलैः ।। ४१ ।।

कभी-कभी विराटकी प्रेरणासे स्त्रियोंके अन्तःपुरमें जाकर भीमसेन उन्हें दिखानेके लिये महान् बलवान् और मतवाले सिंहोंके साथ लड़ा करते थे ।। ४१ ।।

बीभत्सुरपि गीतेन स्वनृत्येन च पाण्डवः ।
विराटं तोषयामास सर्वाश्चान्तःपुरस्त्रियः ।। ४२ ।।

पाण्डुनन्दन अर्जुनने भी अपने गीत और नृत्यसे राजा विराट तथा अन्तःपुरकी सम्पूर्ण स्त्रियोंको संतुष्ट कर लिया था ।। ४२ ।।

अश्वैर्विनीतैर्जवनैस्तत्र तत्र समागतैः ।
तोषयामास राजानं नकुलो नृपसत्तमम् ।। ४३ ।।
तस्मै प्रदेयं प्रायच्छत् प्रीतो राजा धनं बहु ।
विनीतान् वृषभान् दृष्ट्वा सहदेवस्य चाभितः ।
धनं ददौ बहुविधं विराटः पुरुषर्षभः ।। ४४ ।।

इसी प्रकार नकुलने जहाँ-तहाँसे आये हुए वेगवान् घोड़ोंको सुशिक्षित करके नृपश्रेष्ठ विराटको प्रसन्न किया था। प्रसन्न होकर राजाने पुरस्काररूपमें उन्हें बहुत धन दिया था। इसी तरह सहदेवके द्वारा शिक्षित एवं विनीत किये हुए बैलोंको देखकर नरश्रेष्ठ विराटने उन्हें भी इनाममें बहुत धन दिया ।। ४३-४४ ।।

द्रौपदी प्रेक्ष्य तान् सर्वान् क्लिश्यमानान् महारथान् ।
नातिप्रीतमना राजन् निःश्वासपरमाभवत् ।। ४५ ।।

राजन्! अपने सम्पूर्ण महारथी पतियोंको इस प्रकार क्लेश उठाते देख द्रौपदीके मनमें खेद होता था और वह लंबी साँसें भरती रहती थी ।। ४५ ।।

एवं ते न्यवसंस्तत्र प्रच्छन्नाः पुरुषर्षभाः ।
कर्माणि तस्य कुर्वाणा विराटनृपतेस्तदा ।। ४६ ।।

इस प्रकार वे पुरुषशिरोमणि पाण्डव उस समय राजा विराटके भिन्न-भिन्न कार्य सँभालते हुए वहाँ छिपकर रहते थे ।। ४६ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि समयपालनपर्वणि जीमूतवधे त्रयोदशोऽध्यायः ।। १३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत समयपालनपर्वमें जीमूतवधसम्बन्धी तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३ ।।

१- प्रमाथ तथा उन्मथन आदि मल्लयुद्धके दाँव-पेचोंके नाम हैं। इनकी व्याख्या नीलकण्ठी आदि टीकाओंमें मल्लशास्त्रके अनुसार इस प्रकार दी गयी है—

निपात्य पेषणं भूमौ प्रमाथ इति कथ्यते । यत् तूत्थायाङ्गथनं तदुन्मथनमुच्यते ।।

१- क्षेपणं कथ्यते यत् तु स्थानात् प्रच्यावनं हठात् ।।

२- उभयोर्भुजयोर्मुष्टिरुरोमध्ये निपात्यते । मुष्टिरित्युच्यते तज्ज्ञैर्मल्लविद्याविशारदैः ।।

३- अवाङ्मुखं स्कन्धगतं भ्रामयित्वा तदैव यः । क्षिप्तस्य शब्दः स भवेद् वराहोद्धूतनिःस्वनः ।।

४- तर्जन्यङ्गुष्ठमध्येन प्रसारितकरो हि यः । सम्प्रहारतलाख्यस्तु संग्राहो वज्रमिष्यते ।।

५- अङ्गुल्यः प्रसृता यास्तु ताः प्रसृष्टा उदीरिताः ।।

६- आकृष्य क्रोडीकरणं प्रकर्षणमुदाहृतम् । आकर्षणं लीलयैव सम्मुखीकरणं स्मृतम् ।।
पुरः पश्चात् पार्श्वयोश्चाभ्याकर्षो भ्रमणं तथा । पश्चात् प्रपातनं वेगाद् विकर्षणमुदाहृतम् ।।

(कीचकवधपर्व)

चतुर्दशोऽध्यायः

कीचकका द्रौपदीपर आसक्त हो उससे प्रणययाचना करना और द्रौपदीका उसे फटकारना

वैशम्पायन उवाच

वसमानेषु पार्थेषु मत्स्यस्य नगरे तदा ।
महारथेषु छन्नेषु मासा दश समाययुः ।। १ ।।
याज्ञसेनी सुदेष्णां तु शुश्रूषन्ती विशाम्पते ।
आवसत् परिचारार्हा सुदुःखं जनमेजय ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय कुन्तीके उन महारथी पुत्रोंको मत्स्यराजके नगरमें छिपकर रहते हुए धीरे-धीरे दस महीने बीत गये। राजन्! यज्ञसेनकुमारी द्रौपदी, जो स्वयं स्वामिनीकी भाँति सेवाके योग्य थी, रानी सुदेष्णाकी शुश्रूषा करती हुई बड़े कष्टसे वहाँ रहती थी ।। १-२ ।।

तथा चरन्ती पाञ्चाली सुदेष्णाया निवेशने ।
तां देवीं तोषयामास तथा चान्तःपुरस्त्रियः ।। ३ ।।

सुदेष्णाके महलमें पूर्वोक्तरूपसे सेवा करती हुई पांचालीने महारानी तथा अन्तःपुरकी अन्य स्त्रियोंको पूर्ण प्रसन्न कर लिया ।। ३ ।।

तस्मिन् वर्षे गतप्राये कीचकस्तु महाबलः ।
सेनापतिर्विराटस्य ददर्श द्रुपदात्मजाम् ।। ४ ।।

जब वह वर्ष पूरा होनेमें कुछ ही समय बाकी रह गया, तबकी बात है; एक दिन राजा विराटके सेनापति महाबली कीचकने द्रुपदकुमारीको देखा ।। ४ ।।

तां दृष्ट्वा देवगर्भाभां चरन्तीं देवतामिव ।
कीचकः कामयामास कामबाणप्रपीडितः ।। ५ ।।

राजमहलमें देवांगनाकी भाँति विचरती हुई देवकन्याके समान कान्तिवाली द्रौपदीको देखकर कीचक कामबाणसे अत्यन्त पीड़ित हो उसे चाहने लगा ।। ५ ।।

स तु कामाग्निसंतप्तः सुदेष्णामभिगम्य वै ।
प्रहसन्निव सेनानीरिदं वचनमब्रवीत् ।। ६ ।।

कामवासनाकी आगमें जलता हुआ सेनापति कीचक अपनी बहिन रानी सुदेष्णाके पास गया और हँसता हुआ-सा उससे इस प्रकार बोला— ।। ६ ।।

नेयं मया जातु पुरेह दृष्टा
राज्ञो विराटस्य निवेशने शुभा ।
रूपेण चोन्मादयतीव मां भृशं
गन्धेन जाता मदिरेव भामिनी ।। ७ ।।

'सुदेष्णे! यह सुन्दरी जो अपने रूपसे मुझे अत्यन्त उन्मत्त-सा किये देती है, पहले कभी राजा विराटके इस महलमें मेरे द्वारा नहीं देखी गयी थी। यह भामिनी अपनी दिव्य गन्धसे मेरे लिये मदिरा-सी मादक हो रही है ।। ७ ।।

का देवरूपा हृदयङ्गमा शुभे
ह्याचक्ष्व मे कस्य कुतोऽत्र शोभने ।
चित्तं हि निर्मथ्य करोति मां वशे
न चान्यदत्रौषधमस्ति मे मतम् ।। ८ ।।

'शुभे! यह कौन है? इसका रूप देवांगनाके समान है। यह मेरे हृदयमें समा गयी है। शोभने! मुझे बताओ, यह किसकी स्त्री है और कहाँसे आयी है? यह मेरे मनको मथकर मुझे वशमें किये लेती है। मेरे इस रोगकी ओषधि इसकी प्राप्तिके सिवा दूसरी कोई नहीं जान पड़ती ।। ८ ।।

अहो तवेयं परिचारिका शुभा
प्रत्यग्ररूपा प्रतिभाति मामियम् ।
अयुक्तरूपं हि करोति कर्म ते
प्रशास्तु मां यच्च ममास्ति किंचन ।। ९ ।।

'अहो! बड़े आश्चर्यकी बात है कि यह सुन्दरी तुम्हारे यहाँ दासीका काम कर रही है। मुझे ऐसा लगता है, इसका रूप नित्य नवीन है। तुम्हारे यहाँ जो काम यह करती है, वह इसके योग्य कदापि नहीं है। मैं चाहता हूँ, यह मेरी गृहस्वामिनी होकर मुझपर और मेरे पास जो कुछ है, उसपर भी एकच्छत्र शासन करे ।। ९ ।।

प्रभूतनागाश्वरथं महाजनं
समृद्धियुक्तं बहुपानभोजनम् ।
मनोहरं काञ्चनचित्रभूषणं
गृहं महच्छोभयतामियं मम ।। १० ।।

'मेरे घरमें बहुत-से हाथी, घोड़े और रथ हैं, बहुत-से सेवा करनेवाले परिजन हैं तथा उसमें प्रचुर सम्पत्ति भरी है। भोजन और पेयकी उसमें अधिकता है। देखनेमें भी वह मनोहर है। सुवर्णमय चित्र उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। मेरे उस विशाल भवनमें चलकर यह सुन्दरी उसे सुशोभित करे' ।। १० ।।

ततः सुदेष्णामनुमन्त्र्य कीचक-
स्ततः समभ्येत्य नराधिपात्मजाम् ।
उवाच कृष्णामभिसान्त्वयंस्तदा
मृगेन्द्रकन्यामिव जम्बुको वने ।। ११ ।।

तदनन्तर रानी सुदेष्णाकी सम्मति ले कीचक राजकुमारी द्रौपदीके पास आकर उसे सान्त्वना देता हुआ बोला; मानो वनमें कोई सियार किसी सिंहकी कन्याको फुसला रहा हो ।। ११ ।।

का त्वं कस्यासि कल्याणि कुतो वा त्वं वरानने ।
प्राप्ता विराटनगरं तत् त्वमाचक्ष्व शोभने ।। १२ ।।

(उसने द्रौपदीसे पूछा—) 'कल्याणि! तुम कौन हो और किसकी कन्या हो? अथवा सुमुखि! तुम कहाँसे इस विराटनगरमें आयी हो? शोभने! ये सब बातें मुझे सच-सच बताओ ।। १२ ।।

रूपमग्रयं तथा कान्तिः सौकुमार्यमनुत्तमम् ।
कान्त्या विभाति वक्त्रं ते शशाङ्क इव निर्मलम् ।। १३ ।।

'तुम्हारा यह श्रेष्ठ और सुन्दर रूप, यह दिव्य कान्ति और यह सुकुमारता संसारमें सबसे उत्तम है और तुम्हारा निर्मल मुख तो अपनी छबिसे निष्कलंक चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहा है ।। १३ ।।

नेत्रे सुविपुले सुभ्रु पद्मपत्रनिभे शुभे ।
वाक्यं ते चारुसर्वाङ्गि परपुष्टरुतोपमम् ।। १४ ।।

'सुन्दर भौंहोंवाली सर्वांगसुन्दरी! तुम्हारे ये उत्तम और विशाल नेत्र कमलदलके समान सुशोभित हैं। तुम्हारी वाणी क्या है; कोकिलकी कूक है ।। १४ ।।

एवंरूपा मया नारी काचिदन्या महीतले ।
न दृष्टपूर्वा सुश्रोणि यादृशी त्वमनिन्दिते ।। १५ ।।

'सुश्रोणि! अनिन्दिते! जैसी तुम हो, ऐसे मनोहर रूपवाली कोई दूसरी स्त्री इस पृथ्वीपर मैंने आजसे पहले कभी नहीं देखी थी ।। १५ ।।

लक्ष्मीः पद्मालया का त्वमथ भूतिः सुमध्यमे ।
ह्रीः श्रीः कीर्तिरथो कान्तिरासां का त्वं वरानने ।। १६ ।।

'सुमध्यमे! तुम कमलोंमें निवास करनेवाली लक्ष्मी हो अथवा साकार विभूति? सुमुखि! लज्जा, श्री, कीर्ति और कान्ति—इन देवियोंमेंसे तुम कौन हो? ।। १६ ।।

अतीवरूपिणी किं त्वमनङ्गाङ्गविहारिणी ।
अतीव भ्राजसे सुभ्रु प्रभेवेन्दोरनुत्तमा ।। १७ ।।

'क्या तुम कामदेवके अंगोंसे क्रीड़ा करनेवाली अतिशय रूपवती रति हो? सुभ्रु! तुम चन्द्रमाकी परम उत्तम प्रभाके समान अत्यन्त उद्भासित हो रही हो ।।

अपि चेक्षणपक्ष्माणां स्मितं ज्योत्स्नोपमं शुभम् ।
दिव्यांशुरश्मिभिर्वृत्तं दिव्यकान्तिमनोरमम् ।। १८ ।।
निरीक्ष्य वक्त्रचन्द्रं ते लक्ष्म्यानुपमया युतम् ।
कृत्स्ने जगति को नेह कामस्य वशगो भवेत् ।। १९ ।।

'तुम्हारा सुन्दर मुखचन्द्र अनुपम लक्ष्मीसे अलंकृत है, तुम्हारे नेत्रोंकी अधखुली पलकें चाँदनीके समान मनको आह्लादित करनेवाली हैं। दिव्य रश्मियोंसे आवृत तुम्हारा यह मुखचन्द्र दिव्य छबिके द्वारा मनको रमा लेनेवाला है। इसे देखकर सम्पूर्ण जगत्में कौन ऐसा पुरुष है, जो कामके अधीन न हो जाय? ।। १८-१९ ।।

हारालंकारयोग्यौ तु स्तनौ चोभौ सुशोभनौ ।
सुजातौ सहितौ लक्ष्म्या पीनौ वृत्तौ निरन्तरौ ।। २० ।।

'तुम्हारे दोनों सान हार आदि आभूषणोंके योग्य और परम सुन्दर हैं। ये ऊँचे, श्रीसम्पन्न, स्थूल, गोल-गोल और परस्पर सटे हुए हैं ।। २० ।।

कुड्मलाम्बुरुहाकारौ तव सुभ्रु पयोधरौ ।
कामप्रतोदाविव मां तुदतश्चारुहासिनि ।। २१ ।।

'सुन्दर भौंहों तथा मनोरम मुसकानवाली सुन्दरी! कमलकोशके समान आकारवाले तुम्हारे दोनों उरोज कामदेवके चाबुककी भाँति मुझे पीड़ा दे रहे हैं ।। २१ ।।

वलीविभङ्गचतुरं स्तनभारविनामितम् ।
कराग्रसम्मितं मध्यं तवेदं तनुमध्यमे ।। २२ ।।

'तनुमध्यमे! तुम्हारी कमर इतनी पतली है कि हाथोंके अग्रभागसे (अँगूठेसे लेकर तर्जनीतकके बित्तेसे) माप ली जा सकती है। वह त्रिवलीकी तीन रेखाओंसे परम सुन्दर दीखती है। तुम्हारे स्तनोंके भारने उसे कुछ झुका दिया है ।। २२ ।।

दृष्ट्वैव चारु जघनं सरित्पुलिनसंनिभम् ।
कामव्याधिरसाध्यो मामप्याक्रामति भामिनि ।। २३ ।।

'भामिनि! नदीके दो किनारोंके समान तुम्हारे मनोहर जघनको देख लेनेसे ही कामरूपी असाध्य रोग मुझ-जैसे वीरपर भी आक्रमण कर रहा है ।। २३ ।।

जज्वाल चाग्निमदनो दावाग्निरिव निर्दयः ।
त्वत्सङ्गमाभिसंकल्पविवृद्धो मां दहत्ययम् ।। २४ ।।

'निर्दयी कामदेव अग्निस्वरूप होकर दावानलकी भाँति मेरे हृदयरूपी वनमें जल उठा है। तुम्हारे समागमका संकल्प इसमें घीका काम करता है। इससे अत्यन्त प्रज्वलित होकर यह काम मुझे जला रहा है ।। २४ ।।

आत्मप्रदानवर्षेण संगमाम्भोधरेण च ।
शमयस्व वरारोहे ज्वलन्तं मन्मथानलम् ।। २५ ।।

'वरारोहे! तुम अपने संगमरूपी मेघसे आत्म-समर्पणरूपी वर्षाद्वारा इस प्रज्वलित मदनाग्निको बुझा दो ।।

मच्चित्तोन्मादनकरा मन्मथस्य शरोत्कराः ।
त्वत्संगमाशानिशितास्तीव्रा शशिनिभानने ।
मह्यं विदार्य हृदयमिदं निर्दयवेगिताः ।। २६ ।।
प्रविष्टा ह्यसितापाङ्गि प्रचण्डाश्चण्डदारुणाः ।
अत्युन्मादसमारम्भाः प्रीत्युन्मादकरा मम ।
आत्मप्रदानसम्भोगैर्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ।। २७ ।।

'चन्द्रमुखी! मेरे मनको उन्मत्त बना देनेवाले कामदेवके बाणसमूह तुम्हारे समागमकी आशारूपी शानपर चढ़कर अत्यन्त तीखे और तीव्र हो गये हैं। कजरारे नयनप्रान्तोंवाली सुन्दरी! अत्यन्त क्रोधपूर्वक चलाये हुए कामके वे प्रचण्ड एवं भयंकर बाण दयाशून्य हो वेगसे आकर मेरे इस हृदयको विदीर्ण करके भीतर घुस गये हैं और अतिशय उन्माद (सन्निपातजनित बेहोशी) पैदा कर रहे हैं। वे मेरे लिये प्रेमोन्मादजनक हो रहे हैं। अब तुम्हीं आत्मदान-जनित सम्भोगरूप औषधके द्वारा यहाँ मेरा उद्धार कर सकती हो ।। २६-२७ ।।

चित्रमाल्याम्बरधरा सर्वाभरणभूषिता ।
कामं प्रकामं सेव त्वं मया सह विलासिनि ।। २८ ।।

'विलासिनि! विचित्र माला और सुन्दर वस्त्र धारण करके समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो मेरे साथ अतिशय कामभोगका सेवन करो ।। २८ ।।

नार्हसीहासुखं वस्तुं सुखार्हा सुखवर्जिता ।
प्राप्नुह्यनुत्तमं सौख्यं मत्तस्त्वं मत्तगामिनि ।। २९ ।।

'यहाँ अनेक प्रकारके कष्ट हैं। अतः तुम ऐसे स्थानमें निवास करने योग्य नहीं हो। तुम सुख भोगनेके योग्य हो, किंतु यहाँ सुखसे वंचित हो। मस्तीभरी चालसे चलनेवाली सैरन्ध्री! तुम मुझसे सर्वोत्तम सुखभोग प्राप्त करो' ।। २९ ।।

स्वादून्यमृतकल्पानि पेयानि विविधानि च ।
पिबमाना मनोज्ञानि रममाणा यथासुखम् ।। ३० ।।

'अमृतके समान स्वादिष्ट और मनोहर भाँति-भाँतिके पेय रसोंका पान करती हुई तुम्हें जैसे सुख मिले, उसी प्रकार रमण करो ।। ३० ।।

भोगोपचारान् विविधान् सौभाग्यं चाप्यनुत्तमम् ।
पानं पिब महाभागे भोगैश्चानुत्तमैः शुभैः ।। ३१ ।।
इदं हि रूपं प्रथमं तवानघे
निरर्थकं केवलमद्य भामिनि ।
अधार्यमाणा स्रगिवोत्तमा शुभा
न शोभसे सुन्दरि शोभना सती ।। ३२ ।।

'महाभागे! नाना प्रकारकी भोग-सामग्री तथा सर्वोत्तम सौभाग्य पाकर उत्तमोत्तम शुभ भोगोंके साथ पीने योग्य रसोंका आस्वादन करो। अनघे! तुम्हारा यह सर्वोत्कृष्ट रूप-सौन्दर्य आजकी परिस्थितिमें केवल व्यर्थ जा रहा है। भामिनि! जैसे उत्तम हारको यदि किसीने गलेमें धारण नहीं किया, तो उसकी शोभा नहीं होती, उसी प्रकार सुन्दरि! तुम शुभस्वरूपा और शोभामयी होकर भी किसीके गलेका हार न बन सकनेके कारण सुशोभित नहीं होती हो ।। ३१-३२ ।।

त्यजामि दारान् मम ये पुरातना
भवन्तु दास्यस्तव चारुहासिनि ।
अहं च ते सुन्दरि दासवत् स्थितः
सदा भविष्ये वशगो वरानने ।। ३३ ।।

'चारुहासिनि! यदि तुम चाहो तो मैं पहली स्त्रियोंको त्याग दूँगा अथवा वे सब तुम्हारी दासी बनकर रहेंगी। सुन्दरि! सुमुखि! मैं स्वयं भी दासकी भाँति सदा तुम्हारे अधीन रहूँगा' ।। ३३ ।।

द्रौपद्युवाच

अप्रार्थनीयामिह मां सुतपुत्राभिमन्यसे ।
निहीनवर्णां सैरन्ध्रीं बीभत्सां केशकारिणीम् ।। ३४ ।।

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र! तुम मुझे चाहते हो। छिः छिः; मुझसे इस तरहकी याचना करना तुम्हारे लिये कदापि योग्य नहीं है। एक तो मेरी जाति छोटी है, दूसरे मैं सैरन्ध्री (दासी) हूँ, बीभत्स वेषवाली स्त्री हूँ तथा केश सँवारनेका काम करनेवाली एक तुच्छ सेविका हूँ ।। ३४ ।।

(स्वेषु दारेषु मेधावी कुरुते यत्नमुत्तमम् ।
स्वदारनिरतो ह्याशु नरो भद्राणि पश्यति ।।

बुद्धिमान् पुरुष अपनी पत्नीको ही अनुकूल बनाये रखनेके लिये उत्तम यत्न करता है। अपनी स्त्रीमें अनुराग रखनेवाला मनुष्य शीघ्र ही कल्याणका भागी होता है।

न चाधर्मेण लिप्येत न चाकीर्तिमवाप्नुयात् ।
स्वदारेषु रतिर्धर्मो मृतस्यापि न संशयः ।।

मनुष्यको चाहिये कि वह पापमें लिप्त न हो, अपयशका पात्र न बने, अपनी ही पत्नीके प्रति अनुराग रखना परम धर्म है। वह मृत पुरुषके लिये भी कल्याणकारी होता है, इसमें संशय नहीं है।

स्वजातिदारा मर्त्यस्य इहलोके परत्र च ।
प्रेतकार्याणि कुर्वन्ति निवापैस्तर्पयन्ति च ।।

अपनी जातिकी स्त्रियाँ मनुष्यके लिये इहलोक और परलोकमें भी हितकारिणी होती हैं। वे प्रेतकार्य (अन्त्येष्टि-संस्कार) करती और जलांजलि देकर मृतात्माको तृप्त करती हैं।

तदक्षय्यं च धर्म्यं च स्वर्ग्यमाहुर्मनीषिणः।
स्वजातिदारजाः पुत्रा जायन्ते कुलपूजिताः॥

उनके इस कार्यको मनीषी पुरुषोंने अक्षय, धर्मसंगत एवं स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला बताया है। अपनी जातिकी स्त्रीसे उत्पन्न हुए पुरुष कुलमें सम्मानित होते हैं।

प्रिया हि प्राणिनां दारास्तस्मात् त्वं धर्मभाग् भव।
परदाररतो मर्त्यो न च भद्राणि पश्यति॥)

सभी प्राणियोंको अपनी ही पत्नी प्यारी होती है। इसलिये तुम भी ऐसा करके धर्मके भागी बनो। परस्त्रीलम्पट पुरुष कभी कल्याण नहीं देखता।

परदारास्मि भद्रं ते न युक्तं तव साम्प्रतम्।
दयिताः प्राणिनां दारा धर्मं समनुचिन्तय॥ ३५॥

सबसे बड़ी बात यह है कि मैं दूसरेकी पत्नी हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। इस समय मुझसे इस तरहकी बातें करना तुम्हारे लिये किसी तरह उचित नहीं है। जगत्‌के सब प्राणियोंके लिये अपनी ही स्त्री प्रिय होती है। तुम धर्मका विचार करो॥ ३५॥

परदारे न ते बुद्धिर्जातु कार्या कथंचन।
विवर्जनं ह्यकार्याणामेतत् सुपुरुषव्रतम्॥ ३६॥

परायी स्त्रीमें तुम्हें कभी किसी तरह भी मन नहीं लगाना चाहिये। न करने योग्य अनुचित कर्मोंको सर्वथा त्याग दिया जाय, यही श्रेष्ठ पुरुषोंका व्रत है॥ ३६॥

मिथ्याभिगृध्नो हि नरः पापात्मा मोहमास्थितः।
अयशः प्राप्नुयाद् घोरं महद् वा प्राप्नुयाद् भयम्॥ ३७॥

झूठे विषयोंमें आसक्त होनेवाला पापात्मा मनुष्य मोहमें पड़कर भयंकर अपयश पाता है अथवा उसे बड़े भारी भय (मृत्यु) का सामना करना पड़ता है॥ ३७॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु सैरन्ध्र्या कीचकः काममोहितः।
जानन्नपि सुदुर्बुद्धिः परदाराभिमर्शने॥ ३८॥
दोषान् बहुन् प्राणहरान् सर्वलोकविगर्हितान्।
प्रोवाचेदं सुदुर्बुद्धिर्द्रौपदीमजितेन्द्रियः॥ ३९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सैरन्ध्रीके इस प्रकार समझानेपर भी कीचकको होश न हुआ। वह कामसे मोहित हो रहा था। यद्यपि उस दुर्बुद्धिको यह मालूम था कि परायी स्त्रीके स्पर्शसे बहुत-से ऐसे दोष प्रकट होते हैं, जिनकी सब लोग निन्दा करते हैं तथा

जिनके कारण प्राणोंसे भी हाथ धोना पड़ता है; तो भी उस अजितेन्द्रिय तथा अत्यन्त दुर्बुद्धिने द्रौपदीसे इस प्रकार कहा— ।। ३८-३९ ।।

नार्हस्येवं वरारोहे प्रत्याख्यातुं वरानने ।
मां मन्मथसमाविष्टं त्वत्कृते चारुहासिनि ।। ४० ।।

'वरारोहे! सुमुखि! तुम्हें इस प्रकार मेरी प्रार्थना नहीं ठुकरानी चाहिये! चारुहासिनि! मैं तुम्हारे लिये कामवेदनासे पीड़ित हूँ ।। ४० ।।

प्रत्याख्याय च मां भीरु वशगं प्रियवादिनम् ।
नूनं त्वमसितापाङ्गि पश्चात्तापं करिष्यसि ।। ४१ ।।

'भीरु! मैं तुम्हारे वशमें हूँ और प्रिय वचन बोलता हूँ। कजरारे नयनोंवाली सैरन्ध्री! मुझे ठुकराकर तुम निश्चय ही पश्चात्ताप करोगी ।। ४१ ।।

अहं हि सुभ्रु राज्यस्य कृत्स्नस्यास्य सुमध्यमे ।
प्रभुर्वासयिता चैव वीर्ये चाप्रतिमः क्षितौ ।। ४२ ।।

'सुभ्रू! सुमध्यमे! मैं इस सम्पूर्ण राज्यका स्वामी और इसे बसानेवाला हूँ। बल और पराक्रममें इस पृथ्वीपर मेरी समानता करनेवाला कोई नहीं है ।। ४२ ।।

पृथिव्यां मत्समो नास्ति कश्चिदन्यः पुमानिह ।
रूपयौवनसौभाग्यैर्भोगैश्चानुत्तमैः शुभैः ।। ४३ ।।

'रूप, यौवन, सौभाग्य और सर्वोत्तम शुभ भोगोंकी दृष्टिसे इस भूतलपर मेरी समता करनेवाला दूसरा कोई पुरुष नहीं है ।। ४३ ।।

सर्वकामसमृद्धेषु भोगेष्वनुपमेष्विह ।
भोक्तव्येषु च कल्याणि कस्माद् दास्ये रता ह्यसि ।। ४४ ।।

'कल्याणि! जब सम्पूर्ण मनोरथोंसे सम्पन्न अनुपम भोग यहाँ भोगनेके लिये तुम्हें सुलभ हो रहे हैं, तब तुम दासीपनमें क्यों आसक्त हो? ।। ४४ ।।

मया दत्तमिदं राज्यं स्वामिन्यसि शुभानने ।
भजस्व मां वरारोहे भुङ्क्ष्व भोगाननुत्तमान् ।। ४५ ।।

'शुभानने! मैंने यह सम्पूर्ण राज्य तुम्हें अर्पित कर दिया। अब तुम्हीं इसकी स्वामिनी हो। वरारोहे! मुझे अपना लो और मेरे साथ उत्तमोत्तम भोगोंका उपभोग करो' ।। ४५ ।।

एवमुक्ता तु सा साध्वी कीचकेनाशुभं वचः ।
कीचकं प्रत्युवाचेदं गर्हयन्त्यस्य तद् वचः ।। ४६ ।।

कीचकके इस प्रकार अशुभ (पापपूर्ण) वचन कहनेपर सती-साध्वी द्रौपदीने उसकी उन ओछी बातोंकी निन्दा करते हुए इस प्रकार उत्तर दिया ।। ४६ ।।

सैरन्ध्र्युवाच

मा सूतपुत्र मुह्यस्व माद्य त्यक्ष्यस्व जीवितम् ।

जानीहि पञ्चभिर्घोरैर्नित्यं मामभिरक्षिताम् ।। ४७ ।।

सैरन्ध्री बोली—सूतपुत्र! तू आज इस प्रकार मोहके फंदेमें न पड़। अपनी जान न गँवा। तुझे मालूम होना चाहिये कि पाँच भयंकर गन्धर्व मेरी नित्य रक्षा करते हैं ।। ४७ ।।

न चाप्यहं त्वया लभ्या गन्धर्वाः पतयो मम ।
ते त्वां निहन्युः कुपिताः साध्वलं मा व्यनीनशः ।। ४८ ।।

वे गन्धर्व ही मेरे पति हैं। तू कदापि मुझे पा नहीं सकता। मेरे पति कुपित होकर तुझे मार डालेंगे; अतः सँभल जा। इस पापबुद्धिका त्याग कर दे। अपना सर्वनाश न करा ।। ४८ ।।

अशक्यरूपं पुरुषैरध्वानं गन्तुमिच्छसि ।
यथा निश्चेतनो बालः कूलस्थः कूलमुत्तरम् ।
तर्तुमिच्छति मन्दात्मा तथा त्वं कर्तुमिच्छसि ।। ४९ ।।

अरे! तू उस राहपर जाना चाहता है, जहाँ दूसरे पुरुष नहीं जा सकते। जैसे नदीके एक किनारेपर बैठा हुआ कोई मन्दबुद्धि अचेत बालक दूसरे किनारेपर तैरकर जाना चाहता हो, वैसा ही विनाशकारी कार्य तू भी करना चाहता है ।। ४९ ।।

अन्तर्महीं वा यदि वोर्ध्वमुत्पतेः
समुद्रपारं यदि वा प्रधावसि ।

तथापि तेषां न विमोक्षमर्हसि
प्रमाथिनो देवसुता हि खेचराः ।। ५० ।।

सूतपुत्र! मुझपर कुदृष्टि डालकर पृथ्वीके भीतर (पातालमें) घुस जा, आकाशमें उड़ जा अथवा समुद्रके उस पार भाग जा, तथापि मेरे पतियोंके हाथसे तू छूट नहीं सकता; क्योंकि मेरे पति देवताओंके पुत्र तथा आकाशमें विचरनेवाले हैं। वे अपने शत्रुओंको मथ डालनेकी शक्ति रखते हैं ।। ५० ।।

(मां हि त्वमवमन्वानः सूतपुत्र विनङ्‌क्ष्यसि ।
आशु चाद्यैव नचिरात् सपुत्रः सहबान्धवः ।।

सूतपुत्र! तू मेरा अपमान कर रहा है; अतः पुत्रों तथा बन्धु-बान्धवोंसहित तू आज ही शीघ्र नष्ट हो जायगा। तेरे विनाशमें अब विलम्ब नहीं है।

दुर्लभामभिमन्वानो मां वीरैरभिरक्षिताम् ।
पतिष्यस्यवशस्तूर्णं वृन्तात् तालफलं यथा ।।

मैं वीर गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित होनेके कारण तेरे लिये सर्वथा दुर्लभ हूँ। मेरा अपमान करनेसे शीघ्र ही विवशतापूर्वक तेरा उसी प्रकार पतन होगा, जैसे ताड़का फल अपने मूलस्थानसे नीचे गिरता है।

यो मामज्ञाय कामार्तः अबद्धानि प्रभाषसे ।
अशक्तस्तु पुमाञ्छैलं न लङ्‌घयितुमर्हति ।।

तू मुझे नहीं जानता, इसीलिये कामातुर होकर बहकी-बहकी बातें कर रहा है। परंतु कोई असमर्थ पुरुष कितना ही प्रयत्न करे, वह पर्वतको नहीं लाँघ सकता।

दिशः प्रपन्नो गिरिगह्वराणि वा
गुहां प्रविष्टोऽन्तरितोऽपि वा क्षितेः ।।
जुह्वन् जपन् वा प्रपतन् गिरेस्तटाद्-
हुताशनादित्यगतिं गतोऽपि वा ।
भार्याभिमन्ता पुरुषो महात्मनां
न जातु मुच्येत कथंचनाहतः ।।

चाहे कोई सम्पूर्ण दिशाओंकी शरण लेता फिरे, पर्वतकी बड़ी-बड़ी कन्दराओं अथवा दुर्गम गुफाओंमें छिप जाय या पृथ्वीके अंदर ही रहने लगे, होम और जपमें संलग्न रहे, पर्वतके शिखरसे कूद पड़े, जलती आग अथवा सूर्यकी प्रचण्ड रश्मियोंकी शरण ले तो भी महात्मा गन्धर्वोंकी पत्नीका अपमान करनेवाला पुरुष कभी किसी तरह भी उनके हाथसे जीवित नहीं बच सकता।

मोघं तवेदं वचनं भविष्यति
प्रतोलनं वा तुलया महागिरेः ।
हुताशनं प्रज्वलितं महावने

निदाघमध्याह्न इवातुरः स्वयम् ।।

प्रवेष्टुकामोऽसि वधाय चात्मनः

कुलस्य सर्वस्य विनाशनाय च ।

तेरी ये सब बातें व्यर्थ होंगी। तेरे लिये मुझे पाना किसी महान् पर्वतको तराजूपर तौलनेके समान महान् असम्भव है। गरमीकी दोपहरीमें जब किसी महान् वनके भीतर प्रचण्ड दावानल धधक चुका हो, उस समय उसमें स्वयं ही घुसनेवाले किसी आतुर पुरुषकी भाँति तू भी अपने और समस्त कुलके विनाशके लिये ही वहाँ प्रवेश करना चाहता है।

सदेवगन्धर्वमहर्षिसंनिधौ

सनागलोकासुरराक्षसालये ।।

गूढस्थितां मामवमन्य चेतसा

न जीवितार्थी शरणं त्वमाप्स्यसि ।।)

मैं यहाँ अपने स्वरूपको छिपाकर रहती हूँ। फिर भी तू मनसे समझ-बूझकर मेरा अपमान करना चाहता है। किंतु याद रख, तू ऐसा करके यदि अपना जीवन बचानेके लिये देवताओं, गन्धर्वों और महर्षियोंके निकट चला जाय अथवा नागलोग, असुरलोक तथा राक्षसोंके निवासस्थानमें भी पहुँच जाय, तो भी तू वहाँ शरण नहीं पा सकेगा।

त्वं कालरात्रीमिव कश्चिदातुरः

किं मां दृढं प्रार्थयसेऽद्य कीचक ।

किं मातुरङ्के शयितो यथा शिशु-

श्चन्द्रं जिघृक्षुरिव मन्यसे हि माम् ।। ५१ ।।

कीचक! जैसे कोई रोगी कालरात्रिका आवाहन करे, उसी प्रकार मुझे प्राप्त करनेके लिये तू क्यों आज दुराग्रहपूर्ण प्रार्थना कर रहा है? अरे! जैसे माताकी गोदमें सोया हुआ शिशु चन्द्रमाको ग्रहण करना चाहे, क्या तू उसी प्रकार मुझे पाना चाहता है? ।। ५१ ।।

तेषां प्रियां प्रार्थयतो न ते भुवि

गत्वा दिवं वा शरणं भविष्यति ।

न वर्तते कीचक ते दृशा शुभं

या तेन संजीवनमर्थयेत सा ।। ५२ ।।

कीचक! उन गन्धर्वोंकी प्रियतमासे ऐसी अनुचित प्रार्थना करके पृथ्वी अथवा आकाशमें भाग जानेपर भी तुझे कोई शरण देनेवाला नहीं मिलेगा। (तू इतना कामान्ध हो गया है कि) तुझे वह शुभ दृष्टि—वह बुद्धि नहीं प्राप्त होती, जो तेरी मंगलकामना करे—जिससे तेरा जीवन सुरक्षित रह सके ।। ५२ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचककृष्णासंवादे चतुर्दशोऽध्यायः ।। १४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचक-द्रौपदी-संवादविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ६४ श्लोक हैं।)

पञ्चदशोऽध्यायः

रानी सुदेष्णाका द्रौपदीको कीचकके घर भेजना

वैशम्पायन उवाच

प्रत्याख्यातो राजपुत्र्या सुदेष्णां कीचकोऽब्रवीत् ।
अमर्यादेन कामेन घोरेणाभिपरिप्लुतः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजकुमारी द्रौपदीके द्वारा इस प्रकार ठुकरा दिये जानेपर कीचक असीम एवं भयंकर कामसे विवश होकर अपनी बहिन सुदेष्णासे बोला— ।। १ ।।

यथा कैकेयि सैरन्ध्री समेयात् तद् विधीयताम् ।
येनोपायेन सैरन्ध्री भजेन्मां गजगामिनी ।
तं सुदेष्णे परीप्सस्व प्राणान् मोहात् प्रहासिषम् ।। २ ।।

'केकयराजनन्दिनि! जिस उपायसे भी वह गजगामिनी सैरन्ध्री मेरे पास आवे और मुझे अंगीकार कर ले, वह करो। सुदेष्णे! तुम स्वयं ही ऊहापोह करके युक्तिसे वह उचित उपाय ढूँढ़ निकालो, जिससे मुझे (मोहके वश हो) प्राणोंका त्याग न करना पड़े' ।। २ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्य सा बहुशः श्रुत्वा वाचं विलपतस्तदा ।
विराटमहिषी देवी कृपां चक्रे मनस्विनी ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार बारंबार विलाप करते हुए कीचककी बात सुनकर उस समय राजा विराटकी मनस्विनी महारानी सुदेष्णाके मनमें उसके प्रति दयाभाव प्रकट हो गया ।। ३ ।।

(सुदेष्णोवाच

शरणागतेयं सुश्रोणी मया दत्ताभया च सा ।
शुभाचारा च भद्रं ते नैनां वक्तुमिहोत्सहे ।।

सुदेष्णा बोली—भाई! यह सुन्दरी सैरन्ध्री मेरी शरणमें आयी है। इसे मैंने अभय दे रखा है। तुम्हारा कल्याण हो। यह बड़ी सदाचारिणी है। मैं इससे तुम्हारी मनोगत बात नहीं कह सकती।

नैषा शक्या हि चान्येन स्प्रष्टुं पापेन चेतसा ।
गन्धर्वाः किल पञ्चैनां रक्षन्ति रमयन्ति च ।।

इसे कोई भी दूसरा पुरुष मनमें दूषित भाव लेकर नहीं छू सकता। सुनती हूँ, पाँच गन्धर्व इसकी रक्षा करते हैं और इसे सुख पहुँचाते हैं।

एवमेषा ममाचष्टे तथा प्रथमसंगमे ।
तथैव गजनासोरुः सत्यमाह ममान्तिके ।।
ते हि कुद्धा महात्मानो नाशयेयुर्हि जीवितम् ।

इसने यह बात मुझसे उसी समय जब कि मेरी इससे पहले-पहल भेंट हुई थी, बता दी थी। इसी प्रकार हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली इस सुन्दरीने मेरे निकट यह सत्य ही कहा है कि यदि किसीने मेरा अपमान किया, तो मेरे महात्मा पति कुपित होकर उसके जीवनको ही नष्ट कर देंगे।

राजा चैव समीक्ष्यैनां सम्मोहं गतवानिह ।।
मया च सत्यवचनैरनुनीतो महीपतिः ।

राजा भी इसे यहाँ देखकर मोहित हो गये थे, तब मैंने इसकी कही हुई सच्ची बातें बताकर उन्हें किसी प्रकार समझा-बुझाकर शान्त किया।

सोऽप्येनामनिशं दृष्ट्वा मनसैवाभ्यनन्दत ।।
भयाद् गन्धर्वमुख्यानां जीवितस्योपघातिनाम् ।
मनसापि ततस्त्वेनां न चिन्तयति पार्थिवः ।।

तबसे वे भी सदा इसे देखकर मन-ही-मन इसका अभिनन्दन करते हैं। जीवनका विनाश करनेवाले उन श्रेष्ठ गन्धर्वोंके भयसे महाराज कभी मनसे भी इसका चिन्तन नहीं करते हैं।

ते हि क्रुद्धा महात्मानो गरुडानिलतेजसः ।
दहेयुरपि लोकांस्त्रीन् युगान्तेष्विव भास्कराः ।।

वे महात्मा गन्धर्व गरुड़ और वायुके समान तेजस्वी हैं। वे कुपित होनेपर प्रलयकालके सूर्योंकी भाँति तीनों लोकोंको दग्ध कर सकते हैं।

सैरन्ध्र्या ह्येतदाख्यातं मम तेषां महद् बलम् ।
तव चाहमिदं गुह्यं स्नेहादाख्यामि बन्धुवत् ।।

सैरन्ध्रीने स्वयं ही मुझसे उनके महान् बलका परिचय दिया है। भ्रातृस्नेहके कारण मैंने तुमसे यह गोपनीय बात भी बता दी है।

मा गमिष्यसि वै कृच्छ्रां गतिं परमदुर्गमाम् ।
बलिनस्ते रुजं कुर्युः कुलस्य च धनस्य च ।।

इसे ध्यानमें रखनेसे तुम अत्यन्त दुःखदायिनी संकटपूर्ण परिस्थितिमें नहीं पड़ोगे। गन्धर्वलोग बलवान् हैं। वे तुम्हारे कुल और सम्पत्तिका भी नाश कर सकते हैं।

तस्मान्नास्यां मनः कर्तुं यदि प्राणाः प्रियास्तव ।
मा चिन्तयेथा मा गास्त्वं मत्प्रियं च यदीच्छसि ।।

इसलिये यदि तुम्हें अपने प्राण प्रिय हैं और यदि तुम मेरा भी प्रिय करना चाहते हो तो इस सैरन्ध्रीमें मन न लगाओ। उसका चिन्तन छोड़ दो और उसके पास कभी न जाओ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु दुष्टात्मा भगिनीं कीचकोऽब्रवीत् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सुदेष्णाके ऐसा कहनेपर दुष्टात्मा कीचक अपनी बहिनसे बोला।

कीचक उवाच

गन्धर्वाणां शतं वापि सहस्रमयुतानि वा ।।
अहमेको हनिष्यामि गन्धर्वान् पञ्च किं पुनः ।

कीचकने कहा—बहिन! मैं सैकड़ों, सहस्रों तथा अयुत गन्धर्वोंको भी अकेला ही मार गिराऊँगा, फिर पाँचकी तो बात ही क्या है?।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता सुदेष्णा तु शोकेनाभिप्रपीडिता ।।
अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो पापमिति स्म ह ।
प्रारुदद् भृशदुःखार्ता विपाकं तस्य वीक्ष्य सा ।।
पातालेषु पतत्येष विलपन् वडवामुखे ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कीचकके ऐसा कहनेपर सुदेष्णा शोकसे अत्यन्त व्यथित हो उठी और मन-ही-मन कहने लगी—'अहो! यह महान् दुःख, महान् संकट और महान् पापकी बात हो रही है।' इस कर्मके भावी परिणामपर दृष्टिपात करके वह अत्यन्त दुःखसे आतुर हो रोने लगी और मन-ही-मन बोली—'मेरा यह भाई तो ऊटपटाँग बातें बोलकर स्वयं ही पाताल अथवा बडवानलके मुखमें गिर रहा है'। (तत्पश्चात् वह कीचकको सुनाकर कहने लगी—)

त्वत्कृते विनशिष्यन्ति भ्रातरः सुहृदश्च मे ।।
किं नु शक्यं मया कर्तुं यत् त्वमेवमभिप्लुतः ।
न च श्रेयोऽभिजानीषे काममेवानुवर्तसे ।।

'मैं देखती हूँ; तेरे कारण मेरे सभी भाई और सुहृद् नष्ट हो जायँगे। तू ऐसी अनुचित इच्छाको अपने मनमें स्थान दे रहा है; मैं इसके लिये क्या कर सकती हूँ? अपनी भलाई किस बातमें है, यह तू नहीं समझता है और केवल कामका ही गुलाम हो रहा है।

ध्रुवं गतायुस्त्वं पाप यदेवं काममोहितः ।
अकर्तव्ये हि मां पापे नियुनङ्क्षि नराधम ।।

'पापी! निश्चय ही तेरी आयु समाप्त हो गयी है; तभी तू इस प्रकार कामसे मोहित हो रहा है। नराधम! तू मुझे ऐसे पापपूर्ण कार्यमें लगा रहा है, जो कदापि करने योग्य नहीं है।

अपि चैतत् पुरा प्रोक्तं निपुणैर्मनुजोत्तमैः ।
एकस्तु कुरुते पापं स्वजातिस्तेन हन्यते ।।

'प्राचीनकालके श्रेष्ठ एवं कुशल मनुष्योंने यह ठीक ही कहा है कि कुलमें एक मनुष्य पाप करता है और उसके कारण सभी जाति-भाई मारे जाते हैं।

गतस्त्वं धर्मराजस्य विषयं नात्र संशयः ।
अदूषकमिमं सर्वं स्वजनं घातयिष्यसि ।।

'तू यमराजके लोकमें गया हुआ ही है, इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं रह गया है। तू अपने साथ इन समस्त निरपराध स्वजनोंको भी मरवा डालेगा।

एतत् तु मे दुःखतरं येनाहं भ्रातृसौहृदात् ।
विदितार्था करिष्यामि तुष्टो भव कुलक्षयात् ।।)

'मेरे लिये सबसे महान् दुःखकी बात यह है कि मैं सारे परिणामोंको समझ-बूझकर भी भ्रातृ-स्नेहके कारण तेरी आज्ञाका पालन करूँगी। तू अपने कुलका संहार करके संतुष्ट हो ले'।

स्वमन्त्रमभिसंधाय तस्यार्थमनुचिन्त्य च ।
उद्योगं चैव कृष्णायाः सुदेष्णा सूतमब्रवीत् ।। ४ ।।

तदनन्तर सुदेष्णाने अपने कार्यका विचार करके कीचकके मनोभावपर ध्यान दिया और फिर उसे द्रौपदीकी प्राप्ति करानेके लिये उचित उपायका निश्चय करके उसने सूतसे कहा— ।। ४ ।।

पर्वणि त्वं समुद्दिश्य सुरामन्नं च कारय ।
तत्रैनां प्रेषयिष्यामि सुराहारीं तवान्तिकम् ।। ५ ।।

'कीचक! तुम किसी पर्व या त्यौहारके दिन अपने घरमें मदिरा तथा अन्न-भोजनकी सामग्री तैयार कराओ। फिर मैं इस सैरन्ध्रीको वहाँसे सुरा ले आनेके बहाने तुम्हारे पास भेजूँगी ।। ५ ।।

तत्र सम्प्रेषितामेनां विजने निरवग्रहे ।
सान्त्वयेथा यथाकामं सान्त्व्यमाना रमेद् यदि ।। ६ ।।

'वहाँ भेजी हुई इस सेविकाको एकान्तमें, जहाँ कोई विघ्न-बाधा न हो, अपनी इच्छाके अनुसार समझाना-बुझाना। सम्भव है, तुम्हारी सान्त्वना मिलनेपर यह रमणके लिये उद्यत हो जाय' ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स विनिष्क्रम्य भगिन्या वचनात् तदा ।
सुरामाहारयामास राजार्हां सुपरिष्कृताम् ।। ७ ।।
भक्ष्यांश्च विविधाकारान् बहूंश्चोच्चावचांस्तदा ।
कारयामास कुशलैरन्नं पानं सुशोभनम् ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! बहिनके वचनसे इस प्रकार आश्वासन मिलनेपर कीचक उस समय वहाँसे चला गया और घर जाकर उसने यथासमय चतुर रसोइयोंके द्वारा राजाओंके उपयोगमें आने योग्य उत्तम एवं परिष्कृत मदिरा मँगवायी और भाँति-भाँतिके अनेक विशिष्ट और साधारण भक्ष्य पदार्थ एवं परम उत्तम अन्न-पानकी तैयारी करायी ।। ७-८ ।।

तस्मिन् कृते तदा देवी कीचकेनोपमन्त्रिता ।

उसकी व्यवस्था हो जानेपर कीचकने सुदेष्णाको भोजनके लिये आमन्त्रित किया ।। ८ १/२ ।।

(त्वरावान् कालपाशेन कण्ठे बद्धः पशुर्यथा ।
नावबुध्यत मूढात्मा मरणं समुपस्थितम् ।।

मूढात्मा कीचक कण्ठमें कालपाशसे बँधे हुए पशुकी भाँति अपने निकट आयी हुई मृत्युको नहीं जान पाता था। वह द्रौपदीको पानेके लिये उतावला हो रहा था।

कीचक उवाच

मधु मद्यं बहुविधं भक्ष्याश्च विविधाः कृताः ।
सुदेष्णे ब्रूहि सैरन्ध्रीं यथा सा मे गृहं व्रजेत् ।।

कीचक बोला—सुदेष्णे! मैंने नाना प्रकारकी मीठी मदिरा मँगा ली है और विविध प्रकारकी रसोई भी तैयार कर ली है। अब तुम सैरन्ध्रीसे कह दो, जिससे वह मेरे घरमें पधारे।

केनचित् त्वद्य कार्येण त्वर शीघ्रं मम प्रियम् ।।
अहं हि शरणं देवं प्रपद्ये वृषभध्वजम् ।
समागमं मे सैरन्ध्र्या मरणं वा दिशेति वै ।।

किसी कामके बहाने उसे जल्दी मेरे यहाँ भेजो। मेरा प्रिय कार्य सिद्ध करनेमें शीघ्रता करो। मैं भगवान् शंकरकी शरण लेकर यह प्रार्थना करता हूँ कि प्रभो! मुझे सैरन्ध्रीसे मिला दो अथवा मृत्यु प्रदान करो।

वैशम्पायन उवाच

सा तमाह विनिःश्वस्य प्रतिगच्छ स्वकं गृहम् ।
एषाहमपि सैरन्ध्रीं सुरार्थे तूर्णमादिशे ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब सुदेष्णा लंबी साँस खींचकर उससे बोली—'तुम अपने घर लौट जाओ। मैं सैरन्ध्रीको शीघ्र ही वहाँसे मदिरा ले आनेके लिये आज्ञा देती हूँ'।

एवमुक्तस्तु पापात्मा कीचकस्त्वरितः पुनः ।
स्वगृहं प्राविशत् तूर्णं सैरन्ध्रीगतमानसः ।।)

उसके ऐसा कहनेपर सैरन्ध्रीका चिन्तन करता हुआ पापात्मा कीचक फिर तुरंत ही अपने घरको लौट गया।

सुदेष्णा प्रेषयामास सैरन्ध्रीं कीचकालयम् ।। ९ ।।

तब सुदेष्णाने सैरन्ध्रीको कीचकके घर जानेके लिये कहा ।। ९ ।।

सुदेष्णोवाच

उत्तिष्ठ गच्छ सैरन्ध्रि कीचकस्य निवेशनम् ।
पानमानय कल्याणि पिपासा मां प्रबाधते ।। १० ।।

सुदेष्णा बोली—सैरन्ध्री! उठो और कीचकके घर जाओ। कल्याणी! मुझे प्यास विशेष कष्ट दे रही है; अतः वहाँसे मेरे पीने योग्य रस ले आओ ।। १० ।।

सैरन्ध्र्युवाच

न गच्छेयमहं तस्य राजपुत्रि निवेशनम् ।
त्वमेव राज्ञि जानासि यथा स निरपत्रपः ।। ११ ।।

सैरन्ध्रीने कहा—राजकुमारी! मैं उसके घर नहीं जा सकती। महारानी! आप तो जानती ही हैं कि वह कैसा निर्लज्ज है ।। ११ ।।

न चाहमनवद्याङ्गि तव वेश्मनि भामिनि ।
कामवृत्ता भविष्यामि पतीनां व्यभिचारिणी ।। १२ ।।

निर्दोष अंगोंवाली देवि! मैं आपके महलमें अपने पतियोंकी दृष्टिमें व्यभिचारिणी और स्वेच्छाचारिणी होकर नहीं रहूँगी ।। १२ ।।

त्वं चैव देवि जानासि यथा स समयः कृतः ।
प्रविशन्त्या मया पूर्वं तव वेश्मनि भामिनि ।। १३ ।।

भामिनि! देवि! पहले आपके इस राजभवनमें प्रवेश करते समय मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसे भी आप जानती ही हैं ।। १३ ।।

कीचकस्तु सुकेशान्ते मूढो मदनदर्पितः ।
सोऽवमंस्यति मां दृष्ट्वा न यास्ये तत्र शोभने ।। १४ ।।

कमनीय केशोंवाली सुन्दरी! मूर्ख कीचक तो काम-मदसे उन्मत्त हो रहा है। वह मुझे देखते ही अपमानित कर बैठेगा। इसलिये मैं वहाँ नहीं जाऊँगी ।। १४ ।।

सन्ति बह्व्यस्तव प्रेष्या राजपुत्रि वशानुगाः ।
अन्यां प्रेषय भद्रं ते स हि मामवमंस्यते ।। १५ ।।

राजपुत्री! आपके अधीन तो और भी बहुत-सी दासियाँ हैं; उन्हींमेंसे किसी दूसरीको भेज दीजिये। आपका कल्याण हो। मेरे जानेसे कीचक मेरा अपमान करेगा ।।

सुदेष्णोवाच

नैव त्वां जातु हिंस्यात् स इतः सम्प्रेषितां मया ।
इत्युक्त्वा प्रददौ पात्रं सपिधानं हिरण्मयम् ।। १६ ।।

सुदेष्णा बोली—शुभे! मैंने तुम्हें यहाँसे भेजा है, अतः वह कभी तुम्हें कष्ट नहीं देगा। यह कहकर सुदेष्णाने द्रौपदीके हाथमें ढक्कनसहित एक सुवर्णमय पात्र दे दिया ।। १६ ।।

सा शङ्कमाना रुदती दैवं शरणमीयुषी ।
प्रातिष्ठत सुराहारी कीचकस्य निवेशनम् ।। १७ ।।

द्रौपदी मदिरा लानेके लिये उस पात्रको लेकर शंकित हो रोती हुई कीचकके घरकी ओर चली और अपने सतीत्वकी रक्षाके लिये मन-ही-मन भगवान् सूर्यकी शरणमें गयी ।। १७ ।।

सैरन्ध्र्युवाच

यथाहमन्यं भर्तृभ्यो नाभिजानामि कंचन ।
तेन सत्येन मां प्राप्तां मा कुर्यात् कीचको वशे ।। १८ ।।

सैरन्ध्रीने कहा—भगवन्! यदि मैं अपने पतियोंके सिवा दूसरे किसी पुरुषको मनमें नहीं लाती, तो इस सत्यके प्रभावसे कीचक अपने घरमें आयी हुई मुझ अबलाको अपने वशमें न कर सके ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

उपातिष्ठत सा सूर्यं मुहूर्तमबला ततः ।
स तस्यास्तनुमध्यायाः सर्वं सूर्योऽवबुद्धवान् ।। १९ ।।
अन्तर्हितं ततस्तस्या रक्षो रक्षार्थमादिशत् ।
तच्चैनां नाजहात् तत्र सर्वावस्थास्वनिन्दिताम् ।। २० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सब प्रकारके बलसे रहित द्रौपदी दो घड़ीतक भगवान् सूर्यकी उपासना करती रही। तदनन्तर श्रीसूर्यदेवने पतले कटिभागवाली द्रुपदकुमारीकी सारी परिस्थिति समझ ली और उसकी रक्षाके लिये अदृश्यरूपसे एक राक्षसको नियुक्त कर दिया। वह राक्षस किसी भी अवस्थामें सती-साध्वी द्रौपदीको वहाँ असहाय नहीं छोड़ता था ।। १९-२० ।।

तां मृगीमिव संत्रस्तां दृष्ट्वा कृष्णां समीपगाम् ।
उदतिष्ठन्मुदा सूतो नावं लब्ध्वेव पारगः ।। २१ ।।

डरी हुई हरिणीकी भाँति भयभीत द्रौपदीको समीप आयी देख सूत कीचक आनन्दमें भरकर खड़ा हो गया; मानो नदीके पार जानेवाला पथिक नौका पाकर प्रसन्न हो गया हो ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीसुराहरणे पञ्चदशोऽध्यायः ।। १५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीके द्वारा मदिरानयनसम्बन्धी पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २५ श्लोक मिलाकर कुल ४६ श्लोक हैं।)

षोडशोऽध्यायः

कीचकद्वारा द्रौपदीका अपमान

कीचक उवाच

स्वागतं ते सुकेशान्ते सुव्युष्टा रजनी मम ।
स्वामिनी त्वमनुप्राप्ता प्रकुरुष्व मम प्रियम् ।। १ ।।

कीचकने कहा—सुन्दर अलकोंवाली सैरन्ध्री! तुम्हारा स्वागत है। आजकी रातका प्रभात मेरे लिये बड़ा मंगलमय है। अब तुम मेरी स्वामिनी होकर मेरा प्रिय कार्य करो ।। १ ।।

सुवर्णमालाः कम्बूश्च कुण्डले परिहाटके ।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्नं च शोभनम् ।। २ ।।
आहरन्तु च वस्त्राणि कौशिकान्यजिनानि च ।

मैं दासियोंको आज्ञा देता हूँ; वे तुम्हारे लिये सोनेके हार, शंखकी चूड़ियाँ, विभिन्न नगरोंमें बने हुए शुभ्र सुवर्णमय कर्णफूलके जोड़े, सुन्दर मणि-रत्नमय आभूषण, रेशमी साड़ियाँ तथा मृगचर्म आदि ले आवें ।।

अस्ति मे शयनं दिव्यं त्वदर्थमुपकल्पितम् ।
एहि तत्र मया सार्धं पिबस्व मधुमाधवीम् ।। ३ ।।

मैंने तुम्हारे लिये पहलेसे ही यह दिव्य शय्या बिछा रखी है। आओ, यहाँ मेरे साथ बैठकर मधुर माध्वीरसका पान करो ।। ३ ।।

द्रौपद्युवाच

(नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुं निषादेनेव ब्राह्मणी ।
मा गमिष्यसि दुर्बुद्धे गतिं दुर्गान्तरान्तराम् ।।

द्रौपदी बोली—दुर्बुद्धे! जैसे निषाद ब्राह्मणीका स्पर्श नहीं कर सकता, उसी प्रकार तुम भी मुझे छू नहीं सकते। तुम मेरा तिरस्कार करके भारी-से-भारी दुर्गतिमें न पड़ो।

यत्र गच्छन्ति बहवः परदाराभिमर्शकाः ।
नराः सम्भिन्नमर्यादाः कीटवच्च गुहाशयाः ।।)

उस दुरवस्थामें न जाओ, जहाँ धर्ममर्यादाका छेदन करनेवाले बहुत-से परस्त्रीगामी मनुष्य बिलमें सोनेवाले कीड़ोंकी भाँति जाया करते हैं।

अप्रैषीद् राजपुत्री मां सुराहारीं तवान्तिकम् ।
पानमाहर मे क्षिप्रं पिपासा मेऽति चाब्रवीत् ।। ४ ।।

राजकुमारी सुदेष्णाने मुझे मदिरा लानेके लिये तुम्हारे पास भेजा है। उनका कहना है—'मुझे बड़े जोरकी प्यास लगी है; अतः शीघ्र मेरे लिये पीने योग्य रस ले आओ' ।। ४ ।।

कीचक उवाच

अन्या भद्रे नयिष्यन्ति राजपुत्र्याः प्रतिश्रुतम् ।
इत्येतां दक्षिणे पाणौ सूतपुत्रः परामृशत् ।। ५ ।।

कीचकने कहा—कल्याणी! राजपुत्री सुदेष्णाकी मँगायी हुई वस्तु दूसरी दासियाँ पहुँचा देंगी। ऐसा कहकर सूतपुत्रने द्रौपदीका दाहिना हाथ पकड़ लिया ।। ५ ।।

द्रौपद्युवाच

यथैवाहं नाभिचरे कदाचित्
पतीन् मदाद् वै मनसापि जातु ।
तेनैव सत्येन वशीकृतं त्वां
द्रष्टास्मि पापं परिकृष्यमाणम् ।। ६ ।।

द्रौपदी बोली—ओ पापी! यदि मैंने आजतक कभी मनसे भी अभिमानवश अपने पतियोंके विरुद्ध आचरण न किया हो तो इस सत्यके प्रभावसे मैं देखूँगी कि तू शत्रुके अधीन होकर पृथ्वीपर घसीटा जा रहा है ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

स तामभिप्रेक्ष्य विशालनेत्रां
जिघृक्षमाणः परिभर्त्सयन्तीम् ।
जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे
स कीचकस्तां सहसाऽऽक्षिपन्तीम् ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! बड़े-बड़े नेत्रोंवाली द्रौपदीको इस प्रकार फटकारती देख कीचकने उसे पकड़ लेनेकी इच्छा की; किंतु वह सहसा झटका देकर पीछेकी ओर हटने लगी; इतनेमें ही झपटकर कीचकने उसके दुपट्टेका छोर पकड़ लिया ।। ७ ।।

प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन
मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री ।
तया समाक्षिप्ततनुः स पापः
पपात शाखीव निकृत्तमूलः ।। ८ ।।

अब वह बड़े वेगसे उसे काबूमें लानेका प्रयत्न करने लगा। इधर राजकुमारी द्रौपदी बारंबार लंबी साँसें भरती हुई उससे छूटनेका प्रयत्न करने लगी। उसने सँभलकर दोनों हाथोंसे कीचकको बड़े जोरका धक्का दिया; जिससे वह पापी जड़—मूलसे कटे वृक्षकी भाँति (धम्मसे) जमीनपर जा गिरा ।। ८ ।।

सा गृहीता विधुन्वाना भूमावाक्षिप्य कीचकम् ।
सभां शरणमागच्छद् यत्र राजा युधिष्ठिरः ।। ९ ।।

इस प्रकार पकड़में आनेपर कीचकको धरतीपर गिराकर भयसे काँपती हुई द्रौपदीने भागकर उस राज-सभाकी शरण ली, जहाँ राजा युधिष्ठिर विद्यमान थे ।।

तां कीचकः प्रधावन्तीं केशपाशे परामृशत् ।
अथैनां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदावधीत् ।। १० ।।

कीचकने भी उठकर भागती हुई द्रौपदीका पीछा किया और उसका केशपाश पकड़ लिया। फिर उसने राजाके देखते-देखते उसे पृथ्वीपर गिराकर लात मारी ।।

तस्य योऽसौ तदार्केण राक्षसः संनियोजितः ।
स कीचकमपोवाह वातवेगेन भारत ।। ११ ।।

भारत! इतनेमें ही भगवान् सूर्यने जिस राक्षसको द्रौपदीकी रक्षाके लिये नियुक्त कर रखा था, उसने कीचकको पकड़कर आँधीके समान वेगसे दूर फेंक दिया ।। ११ ।।

स पपात तदा भूमौ रक्षोबलसमाहतः ।
विघूर्णमानो निश्चेष्टश्छिन्नमूल इव द्रुमः ।। १२ ।।

राक्षसद्वारा बलपूर्वक आहत होकर कीचकके सारे शरीरमें चक्कर आ गया और वह जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति निश्चेष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। १२ ।।

(सभायां पश्यतो राज्ञो विराटस्य महात्मनः ।
ब्राह्मणानां च वृद्धानां क्षत्रियाणां च पश्यताम् ।।
तस्याः पादाभितप्ताया मुखाद् रुधिरमास्रवत् ।
तां दृष्ट्वा तत्र ते सभ्या हाहाभूताः समन्ततः ।।
न युक्तं सूतपुत्रेति कीचकेति च मानवाः ।
किमियं वध्यते बाला कृपणा चाप्यबान्धवा ।।)

सभामें महामना राजा विराटके तथा वृद्ध ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके देखते-देखते कीचकके पादप्रहारसे पीड़ित हुई द्रौपदीके मुँहसे रक्त बहने लगा। उसे उस अवस्थामें देखकर समस्त सभासद् सब ओरसे हाहाकार कर उठे और सब लोग कहने लगे—‘सूतपुत्र कीचक! तुम्हारा यह कार्य उचित नहीं है। यह बेचारी अबला अपने बन्धु-बान्धवोंसे रहित है। इसे क्यों पीड़ा दे रहे हो?’

तां चासीनौ ददृशतुर्भीमसेनयुधिष्ठिरौ ।
अमृष्यमाणौ कृष्णायाः कीचकेन पराभवम् ।। १३ ।।

उस समय भीमसेन और युधिष्ठिर भी राजसभामें बैठे हुए थे। उन्होंने कीचकके द्वारा द्रौपदीका यह अपमान अपनी आँखों देखा; जिसे वे सहन न कर सके ।। १३ ।।

तस्य भीमो वधं प्रेप्सुः कीचकस्य दुरात्मनः ।
दन्तैर्दन्तांस्तदा रोषान्निष्पिपेष महामनाः ।। १४ ।।

महामना भीमसेन दुरात्मा कीचकको मार डालनेकी इच्छासे उस समय रोषवश दाँतोंसे दाँत पीसने लगे ।। १४ ।।

धूमच्छाया ह्यभजतां नेत्रे चोच्छ्रितपक्ष्मणी ।

सस्वेदा भृकुटी चोग्रा ललाटे समवर्तत ।। १५ ।।

उनकी आँखोंकी पलकें ऊपरको उठकर तन गयीं। उनमें धूआँ-सा छा गया, ललाटमें पसीना निकल आया और भौंहें टेढ़ी होकर भयंकर प्रतीत होने लगीं ।।

हस्तेन ममृजे चैव ललाटं परवीरहा ।

भूयश्च त्वरितः क्रुद्धः सहसोत्थातुमैच्छत ।। १६ ।।

शत्रुहन्ता भीम हाथसे माथेका पसीना पोंछने लगे। फिर तुरंत ही प्रचण्ड कोपमें भर गये और सहसा उठनेकी इच्छा करने लगे ।। १६ ।।

अथावमृद्नादङ्गुष्ठमङ्गुष्ठेन युधिष्ठिरः ।

प्रबोधनभयाद् राजा भीमं तं प्रत्यषेधयत् ।। १७ ।।

तब राजा युधिष्ठिरने रहस्य प्रकट हो जानेके डरसे अपने अँगूठेसे भीमका अँगूठा दबाया और इस प्रकार उन्हें उत्तेजित होनेसे रोका ।। १७ ।।

तं मत्तमिव मातङ्गं वीक्षमाणं वनस्पतिम् ।

स तमावारयामास भीमसेनं युधिष्ठिरः ।। १८ ।।

भीमसेन मतवाले गजराजकी भाँति एक वृक्षकी ओर देख रहे थे। तब युधिष्ठिरने उन्हें रोकते हुए कहा— ।।

विराटकी राजसभामें कीचकद्वारा सैरन्ध्रीका अपमान

आलोकयसि किं वृक्षं सूद दारुकृतेन वै ।

यदि ते दारुभिः कृत्यं बहिर्वृक्षान्निगृह्यताम् ।। १९ ।।

'बल्लव! क्या तुम ईंधनके लिये वृक्षकी ओर देखते हो? यदि रसोईके लिये सूखी लकड़ी चाहिये, तो बाहर जाकर वृक्षसे ले लो' ।। १९ ।।

(यस्य चार्द्रस्य वृक्षस्य शीतच्छायां समाश्रयेत् ।
न तस्य पर्णं द्रुह्येत पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ।।

'जिस हरे-भरे वृक्षकी शीतल छायाका आश्रय लेकर रहा जाय, उसके किसी एक पत्तेसे भी द्रोह नहीं करना चाहिये। उसके पहलेके उपकारोंको सदा याद रखकर उसकी रक्षा करनी चाहिये'।

इङ्गितज्ञः स तु भ्रातुस्तूष्णीमासीद् वृकोदरः ।।
भीमस्य तु समारम्भं दृष्ट्वा राज्ञश्च चेष्टितम् ।
द्रौपद्यभ्यधिकं क्रुद्धा प्रारुदत् सा पुनः पुनः ।।
कीचकेनानुगमनात् कृष्णा ताम्रायतेक्षणा ।)

तब भाईके संकेतको समझनेवाले भीमसेन उस समय चुप हो गये। भीमके उस क्रोधको तथा राजा युधिष्ठिरकी शान्तिपूर्ण चेष्टाको देखकर द्रौपदी अधिक क्रुद्ध हो उठी। कीचकके पीछा करनेसे कृष्णाकी आँखें रोषसे लाल हो रही थीं। वह खीझके कारण बार-बार रोने लगी।

सा सभाद्वारमासाद्य रुदती मत्स्यमब्रवीत् ।
अवेक्षमाणा सुश्रोणी पतींस्तान् दीनचेतसः ।। २० ।।

इधर सुन्दर कटिप्रान्तवाली द्रौपदी राजसभाके द्वारपर आकर अपने दीन हृदयवाले पतियोंकी ओर देखती हुई मत्स्यनरेशसे बोली ।। २० ।।

आकारमभिरक्षन्ती प्रतिज्ञाधर्मसंहिता ।
दह्यमानेव रौद्रेण चक्षुषा द्रुपदात्मजा ।। २१ ।।

उस समय वह प्रतिज्ञारूप धर्मसे आबद्ध होनेके कारण अपने स्वरूपको छिपा रही थी; किंतु उसके नेत्र मानो जला रहे हों, इस प्रकार भयंकर हो उठे थे ।। २१ ।।

(द्रौपद्युवाच

प्रजारक्षणशीलानां राज्ञां ह्यमिततेजसाम् ।
कार्यं हि पालनं नित्यं धर्मे सत्ये च तिष्ठताम् ।।
स्वप्रजायां प्रजायां च विशेषं नाधिगच्छताम् ।

द्रौपदीने कहा—जों स्वभावसे ही प्रजाजनोंकी रक्षामें लगे हुए हैं, सदा धर्म और सत्यके मार्गमें स्थित हैं तथा प्रजा और अपनी संतानमें कोई अन्तर नहीं समझते, उन अमिततेजस्वी राजाओंको चाहिये कि वे सदा आश्रितजनोंका पालन एवं संरक्षण करें।

प्रियेष्वपि च द्वेष्येषु समत्वं ये समाश्रिताः ।।

विवादेषु प्रवृत्तेषु समं कार्यानुदर्शिना ।

राज्ञा धर्मासनस्थेन जितौ लोकावुभावपि ।।

जो प्रियजनों तथा द्वेषपात्रोंमें भी समानभाव रखते हैं, प्रजाजनोंमें विवाद आरम्भ होनेपर जो राजा धर्मासनपर बैठकर समानभावसे प्रत्येक कार्यपर विचार करते हैं, वे दोनों लोकोंको जीत लेते हैं।

राजन् धर्मासनस्थोऽपि रक्ष मां त्वमनागसीम् ।।

अहं त्वनपराध्यन्ती कीचकेन दुरात्मना ।

पश्यतस्ते महाराज हता पादेन दासवत् ।।

राजन्! आप धर्मके आसनपर बैठे हैं। मुझ निरपराध अबलाकी रक्षा कीजिये। महाराज! मैंने कोई अपराध नहीं किया है तो भी दुरात्मा कीचकने आपके देखते-देखते मुझको लात मारी है; मेरे साथ (खरीदे हुए) दासका-सा बर्ताव किया है।

मत्स्याधिप प्रजा रक्ष पिता पुत्रानिवौरसान् ।।

यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्मा कुरुते नृपः ।

अचिरात् तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ।।

मत्स्यराज! जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप अपने प्रजाजनोंका संरक्षण कीजिये। जो मोहमें डूबा हुआ राजा अधर्मयुक्त कार्य करता है, उस दुरात्माको उसके शत्रु शीघ्र ही वशमें कर लेते हैं।

मत्स्यानां कुलजस्त्वं हि तेषां सत्यं परायणम् ।

त्वं किलैवंविधो जातः कुले धर्मपरायणे ।।

आप मत्स्यकुलमें उत्पन्न हुए हैं। सत्य ही मत्स्यनरेशोंका महान् आश्रय रहा है। आप भी इस धर्मपरायण कुलमें ऐसे ही धर्मात्मा पैदा हुए हैं।

अतस्त्वाहमभिक्रन्दे शरणार्थं नराधिप ।

त्राहि मामद्य राजेन्द्र कीचकात् पापपूरुषात् ।।

अतः नरेश्वर! मैं आपसे शरण देनेके लिये रुदन करती हूँ। राजेन्द्र! आज मुझे इस पापी कीचकसे बचाइये।

अनाथामिह मां ज्ञात्वा कीचकः पुरुषाधमः ।

प्रहरत्येव नीचात्मा न तु धर्ममवेक्षते ।।

पुरुषाधम कीचक यहाँ मुझे असहाय जानकर मार रहा है। यह नीच अपने धर्मकी ओर नहीं देखता है।

अकार्याणामनारम्भात् कार्याणामनुपालनात् ।

प्रजासु ये सुवृत्तास्ते स्वर्गमायान्ति भूमिपाः ।।

जो भूमिपाल न करनेयोग्य कार्योंका आरम्भ नहीं करते, करनेयोग्य कर्तव्योंका निरन्तर पालन करते हैं और सदा प्रजाके साथ उत्तम बर्ताव करते हैं, वे स्वर्गलोकमें जाते हैं।

कार्याकार्यविशेषज्ञाः कामकारेण पार्थिव ।
प्रजासु किल्बिषं कृत्वा नरकं यान्त्यधोमुखाः ।।

परंतु राजन्! जो राजा कर्तव्य और अकर्तव्यके अन्तरको जानते हुए भी स्वेच्छाचारितावश प्रजावर्गके साथ पापाचार करते हैं, वे अधोमुख हो नरकमें जाते हैं।

नैव यज्ञैर्न वा दानैर्न गुरोरुपसेवया ।
प्राप्नुवन्ति तथा धर्मं यथा कार्यानुपालनात् ।।

राजालोग यज्ञ, दान अथवा गुरुसेवनसे भी वैसा धर्म (पुण्य) नहीं पाते हैं, जैसा कि अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेसे प्राप्त करते हैं।

क्रियायामक्रियायां च प्रापणे पुण्यपापयोः ।।
प्रजायां सृज्यमानायां पुरा ह्येतदुदाहृतम् ।
एतद् वो मानुषाः सम्यक् कार्यं द्वन्द्वतया भुवि ।
अस्मिन् सुनीते दुर्नीते लभते कर्मजं फलम् ।।

पूर्वकालमें सृष्टिकी रचनाके समय ब्रह्माजीने क्रिया करने और न करनेकी स्थितिमें पुण्य और पापकी प्राप्तिके विषयमें इस प्रकार कहा था—'मनुष्यो! तुमलोगोंको इस पृथ्वीलोकमें द्वन्द्वरूपमें प्राप्त धर्म और अधर्मके विषयमें भलीभाँति समझकर कर्म करना चाहिये; क्योंकि अच्छी या बुरी जैसी नीयतसे काम किया जाता है, वैसा ही कर्मजनित फल मिलता है।

कल्याणकारी कल्याणं पापकारी च पापकम् ।
तेन गच्छति संसर्गं स्वर्गाय नरकाय वा ।।

'कल्याणकारी मनुष्य कल्याणका और पापाचारी पुरुष पापके फलस्वरूप दुःखका भागी होता है। जो इनके संसर्गमें आता है, वह भी (कर्मानुसार) स्वर्ग या नरकमें जाता है।

सुकृतं दुष्कृतं वापि कृत्वा मोहेन मानवः ।
पश्चात्तापेन तप्येत स्वबुद्ध्या मरणं गतः ।।

'मनुष्य मोहपूर्वक सत्कर्म या दुष्कर्म करके मृत्युके बाद भी मन-ही-मन पश्चात्ताप करता रहता है' ।।

एवमुक्त्वा परं वाक्यं विससर्ज शतक्रतुम् ।
शक्रोऽप्यापृच्छ्य ब्रह्माणं देवराज्यमपालयत् ।।

इस प्रकार उत्तम वचन कहकर ब्रह्माजीने इन्द्रको विदा कर दिया। इन्द्र भी ब्रह्माजीसे पूछकर देवलोकमें आये और देवसाम्राज्यका पालन करने लगे।

यथोक्तं देवदेवेन ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
तथा त्वमपि राजेन्द्र कार्याकार्ये स्थिरो भव ।।

राजेन्द्र! देवाधिदेव परमेष्ठी ब्रह्माजीने जैसा उपदेश दिया है, उसके अनुसार आप भी कर्तव्य और अकर्तव्यके निर्णयमें दृढ़तापूर्वक लगे रहिये।

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपमानायां पाञ्चाल्यां मत्स्यपुङ्गवः ।
अशक्तः कीचकं तत्र शासितुं बलदर्पितम् ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पांचाल-राजकुमारी द्रौपदीके इस प्रकार विलाप करनेपर भी मत्स्यराज विराट बलाभिमानी कीचकपर शासन करनेमें असमर्थ ही रहे।

विराटराजः सूतं तु सान्त्वेनैव न्यवारयत् ।
कीचकं मत्स्यराजेन कृतागसमनिन्दिता ।।
नापराधानुरूपेण दण्डेन प्रतिपादितम् ।
पाञ्चालराजस्य सुता दृष्ट्वा सुरसुतोपमा ।।
धर्मज्ञा व्यवहाराणां कीचकं कृतकिल्बिषम् ।
पुनः प्रोवाच राजानं स्मरन्ती धर्ममुत्तमम् ।।
सम्प्रेक्ष्य च वरारोहा सर्वांस्तत्र सभासदः ।
विराटं चाह पाञ्चाली दुःखेनाविष्टचेतना ।।)

उन्होंने शान्तिपूर्वक समझा-बुझाकर ही सूतको वैसा करनेसे मना किया। यद्यपि कीचकने भारी अपराध किया था, तो भी मत्स्यराजने उसे अपराधके अनुसार दण्ड नहीं दिया; यह देख देवकन्याके समान सुन्दरी एवं व्यवहार-धर्मको जाननेवाली साध्वी द्रौपदी उत्तम धर्मका स्मरण करती हुई राजा विराट तथा समस्त सभासदोंकी ओर देखकर दुःखी हृदयसे इस प्रकार बोली—।

येषां वैरी न स्वपिति षष्ठेऽपि विषये वसन् ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत् ।। २२ ।।

'जिन मेरे पतियोंके वैरीको पाँच देशोंको पार करके छठे देशमें रहनेपर भी भयके मारे नींद नहीं आती, आज उन्हींकी मानिनी पत्नी मुझ असहाय अबलाको एक सूतपुत्रने लातसे मारा है ।। २२ ।।

ये दद्युर्न च याचेयुर्ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत् ।। २३ ।।

'जो सदा दूसरोंको देते हैं, किंतु किसीसे याचना नहीं करते, जो ब्राह्मणभक्त तथा सत्यवादी हैं, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीको सूतपुत्रने लात मारी है ।। २३ ।।

येषां दुन्दुभिनिर्घोषो ज्याघोषः श्रूयतेऽनिशम् ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत् ।। २४ ।।

'जिनके धनुषकी टंकार सदा देव-दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनिके समान सुनायी पड़ती है, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीको सूतपुत्रने लातसे मारा है ।। २४ ।।

ये च तेजस्विनो दान्ता बलवन्तोऽतिमानिनः ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत् ।। २५ ।।

‘जो तेजस्वी, जितेन्द्रिय, बलवान् और अत्यन्त मानी हैं, उन्हींकी मुझ मानिनी पत्नीपर सूतपुत्रने पैरसे आघात किया है ।। २५ ।।

सर्वलोकमिमं हन्युर्धर्मपाशसितास्तु ये ।
तेषां मां मानिनीं भार्यां सूतपुत्रः पदावधीत् ।। २६ ।।

‘मेरे पति इस सम्पूर्ण संसारको मार सकते हैं; किंतु वे धर्मके बन्धनमें बँधे हैं, इसीसे आज उनकी मुझ मानिनी पत्नीपर सूतपुत्रने पैरसे प्रहार किया है ।।

शरणं ये प्रपन्नानां भवन्ति शरणार्थिनाम् ।
चरन्ति लोके प्रच्छन्नाः क्व नु तेऽद्य महारथाः ।। २७ ।।

‘जो शरण चाहनेवाले अथवा शरणमें आये हुए सब लोगोंको शरण देते हैं, वे मेरे महारथी पति अपने स्वरूपको छिपाकर आज जगत्‌में कहाँ विचर रहे हैं? ।। २७ ।।

कथं ते सूतपुत्रेण वध्यमानां प्रियां सतीम् ।
मर्षयन्ति यथा क्लीबा बलवन्तोऽमितौजसः ।। २८ ।।

‘जो अमिततेजस्वी और बलवान् हैं, वे (मेरे पति) एक सूतपुत्रद्वारा मारी जाती हुई अपनी सती-साध्वी प्रिय पत्नीका अपमान कायरों और नपुंसकोंकी भाँति कैसे सहन कर रहे हैं? ।। २८ ।।

क्व नु तेषाममर्षश्च वीर्यं तेजश्च वर्तते ।
न परीप्सन्ति ये भार्यां वध्यमानां दुरात्मना ।। २९ ।।

‘आज उनका अमर्ष, पराक्रम और तेज कहाँ है? जो एक दुरात्माकी मार खाती हुई अपनी पत्नीकी रक्षा नहीं करते हैं ।। २९ ।।

मयात्र शक्यं किं कर्तुं विराटे धर्मदूषके ।
यः पश्यन् मां मर्षयति वध्यमानामनागसम् ।। ३० ।।

‘यहाँका राजा विराट भी धर्मको कलंकित करनेवाला है; जो मुझ निरपराध अबलाको अपने सामने मार खाती देखकर भी सहन किये जाता है। भला, इसके रहते मैं इस अपमानका बदला चुकानेके लिये क्या कर सकती हूँ? ।। ३० ।।

न राजा राजवत् किंचित् समाचरति कीचके ।
दस्यूनामिव धर्मस्ते न हि संसदि शोभते ।। ३१ ।।
नाहमेतेन युक्तं वै हन्तुं मत्स्य तवान्तिके ।
सभासदोऽत्र पश्यन्तु कीचकस्य व्यतिक्रमम् ।। ३२ ।।

‘यह राजा होकर भी कीचकके प्रति कुछ भी राजोचित न्याय नहीं कर रहा है। मत्स्यराज! तुम्हारा यह लुटेरोंका-सा धर्म इस राजसभामें शोभा नहीं देता। तुम्हारे निकट इस कीचकद्वारा मुझपर मार पड़ी, यह कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। यहाँ जो सभासद् बैठे हैं, वे भी कीचकका यह अत्याचार देखें ।। ३१-३२ ।।

कीचको न च धर्मज्ञो न च मत्स्यः कथंचन ।

सभासदोऽप्यधर्मज्ञा य एनं पर्युपासते ।। ३३ ।।

'कीचकको धर्मका ज्ञान नहीं है और यह मत्स्यराज भी किसी प्रकार धर्मज्ञ नहीं है तथा जो इस अधर्मी राजाके पास बैठते हैं, वे सभासद् भी धर्मके ज्ञाता नहीं हैं' ।। ३३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवंविधैर्वचोभिः सा तदा कृष्णाश्रुलोचना ।
उपालभत राजानं मत्स्यानां वरवर्णिनी ।। ३४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उत्तम वर्णवाली द्रौपदीने उस समय आँखोंमें आँसू भरकर ऐसे वचनोंद्वारा मत्स्यराजको बहुत फटकारा और उलाहना दिया ।। ३४ ।।

विराट उवाच

परोक्षं नाभिजानामि विग्रहं युवयोरहम् ।
अर्थतत्त्वमविज्ञाय किं नु स्यात् कौशलं मम ।। ३५ ।।

तब विराट बोले—सैरन्ध्री! हमारे परोक्षमें तुम दोनोंमें किस प्रकार कलह हुआ है; इसे मैं नहीं जानता और वास्तविक बातको जाने बिना न्याय करनेमें मेरा क्या कौशल प्रकट होगा? ।। ३५ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु सभ्या विज्ञाय कृष्णां भूयोऽभ्यपूजयन् ।
साधु साध्विति चाप्याहुः कीचकं च व्यगर्हयन् ।। ३६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सभासदोंने सारा रहस्य जानकर द्रौपदीकी बार-बार सराहना की। उसे अनेक बार साधुवाद दिया और कीचककी निन्दा करते हुए उसे बहुत धिक्कारा ।। ३६ ।।

सभ्या ऊचुः

यस्येयं चारुसर्वाङ्गी भार्या स्वादायतेक्षणा ।
परो लाभस्तु तस्य स्यान्न च शोचेत् कथंचन ।। ३७ ।।

सभासद् बोले—सम्पूर्ण मनोहर अंगोंसे सुशोभित यह बड़े-बड़े नेत्रोंवाली साध्वी जिसकी धर्मपत्नी है, उसे जीवनमें बहुत बड़ा लाभ मिला है। वह किसी प्रकार शोक नहीं कर सकता ।। ३७ ।।

(यस्या गात्रं शुभं पीनं मुखं जयति पङ्कजम् ।
गतिर्हंसं स्मितं कुन्दं सैषा नार्हति पद्वधम् ।।

जिसका शरीर शुभ और हृष्ट-पुष्ट है, जिसका मुख अपने सौन्दर्यसे कमलको पराजित कर रहा है तथा जिसकी मन्द-मन्द गति हंसको और मुस्कान कुन्दपुष्पोंकी शोभाको तिरस्कृत कर रही है, वही यह नारी पदप्रहारके योग्य नहीं है।

द्वात्रिंशद् दशना यस्याः श्वेता मांसनिबन्धनाः ।
स्निग्धाश्च मृदवः केशाः सैषा नार्हति पद्वधम् ।।

जिसके बत्तीसों दाँत मसूड़ोंमें दृढ़तापूर्वक आबद्ध और उज्ज्वल हैं, जिसके केश चिकने और कोमल हैं, वैसी यह नारी लात मारने योग्य कदापि नहीं है।

पद्मं चक्रं ध्वजं शङ्खं प्रासादो मकरस्तथा ।
यस्याः पाणितले सन्ति सैषा नार्हति पद्वधम् ।।

जिसकी हथेलीमें कमल, चक्र, ध्वजा, शंख, मन्दिर और मगरके चिह्न हैं, वह शुभलक्षणा नारी पैरोंसे ठुकरायी जाय, यह कदापि उचित नहीं है।

आवर्ताः खलु चत्वारः सर्वे चैव प्रदक्षिणाः ।
समं गात्रं शुभं स्निग्धं यस्य नार्हति पद्वधम् ।।

जिसके शरीरमें चार आवर्त हैं और वे सबके सब प्रदक्षिणभावसे सुशोभित हैं, जिसके अङ्ग समान (सुडौल), शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न और स्निग्ध हैं, वह लात मारनेयोग्य नहीं है।

अच्छिद्रहस्तपादा च अच्छिद्रदशना च या ।
कन्या कमलपत्राक्षी कथमर्हति पद्वधम् ।।

जिसके हाथों, पैरों और दाँतोंमें छिद्र नहीं दिखायी देते हैं, वह कमलदललोचना कन्या पैरोंसे ठोकर मारने योग्य कैसे हो सकती है?।

सेयं लक्षणसम्पन्ना पूर्णचन्द्रनिभानना ।
सुरूपिणी सुवदना नेयं योग्या पदा वधम् ।।

यह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न है। इसका मुख पूर्णचन्द्रके समान मनोहर है। यह सुन्दर रूपवाली सुमुखी नारी पैरोंसे ठुकराने योग्य नहीं है।

देवदेवीव सुभगा शक्रदेवीव शोभना ।
अप्सरा इव सौरूप्यान्नेयं योग्या पदा वधम् ।।)

यह देवांगनाके समान सौभाग्यशालिनी, इन्द्राणीके समान शोभासम्पन्न तथा अप्सराके समान सुन्दर रूप धारण करनेवाली है। यह लात मारनेयोग्य कदापि नहीं है।

न हीदृशी मनुष्येषु सुलभा वरवर्णिनी ।
नारी सर्वानवद्याङ्गी देवीं मन्यामहे वयम् ।। ३८ ।।

मनुष्य-जातिमें तो ऐसी सती-साध्वी और सुन्दरी स्त्री सुलभ ही नहीं होती। इसके सम्पूर्ण अंग निर्दोष हैं। हम तो इसे मानवी नहीं; देवी मानते हैं ।। ३८ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्पूजयन्तस्ते कृष्णां प्रेक्ष्य सभासदः ।
युधिष्ठिरस्य कोपात् तु ललाटे स्वेद आगमत् ।। ३९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब इस प्रकार द्रौपदीको देखकर सभासद् उसकी प्रशंसा कर रहे थे, उस समय कीचकके प्रति क्रोध होनेके कारण युधिष्ठिरके ललाटमें पसीना आ गया ।। ३९ ।।

(सा विनिःश्वस्य सुश्रोणी भूमावन्तर्मुखी स्थिता ।
तूष्णीमासीत् तदा दृष्ट्वा विवक्षन्तं युधिष्ठिरम् ।।)

तदनन्तर सुन्दरी द्रौपदी लंबी साँस खींचकर नीचा मुख किये भूमिपर खड़ी हो गयी और राजा युधिष्ठिरको कुछ कहनेके लिये उद्यत देख वह स्वयं मौन रह गयी।

अथाब्रवीद् राजपुत्रीं कौरव्यो महिषीं प्रियाम् ।
गच्छ सैरन्ध्रि मात्र स्थाः सुदेष्णाया निवेशनम् ।। ४० ।।

तब उन कुरुनन्दनने अपनी प्यारी रानीसे इस प्रकार कहा—'सैरन्ध्री! अब तू यहाँ न ठहर। रानी सुदेष्णाके महलमें चली जा ।। ४० ।।

भर्तारमनुरुन्धन्त्यः क्लिश्यन्ते वीरपत्नयः ।
शुश्रूषया क्लिश्यमानाः पतिलोकं जयन्त्युत ।। ४१ ।।

'पतिका अनुसरण करनेवाली वीरपत्नियाँ सब क्लेश चुपचाप सहन कर लेती हैं। जो पतिसेवापूर्वक क्लेश उठाती हैं, वे साध्वी देवियाँ पतिलोकपर विजय पा लेती हैं ।। ४१ ।।

मन्ये न कालं क्रोधस्य पश्यन्ति पतयस्तव ।
तेन त्वां नाभिधावन्ति गन्धर्वाः सूर्यवर्चसः ।। ४२ ।।

'मैं समझता हूँ, तुम्हारे सूर्यके समान तेजस्वी पति गन्धर्वगण अभी क्रोध करनेका अवसर नहीं देखते; इसीलिये तुम्हारे पास दौड़कर नहीं आ रहे हैं ।। ४२ ।।

(श्रूयन्तां ते सुकेशान्ते मोक्षधर्माश्रयाः कथाः ।
यथा धर्मः कुलस्त्रीणां दृष्टो धर्मानुरोधनात् ।।

'सुन्दर केशप्रान्तवाली सैरन्ध्री! तुम मोक्षधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें सुनो। धर्मशास्त्रके अनुसार कुलवती स्त्रियोंका धर्म इस प्रकार देखा गया है।

नास्ति कश्चित् स्त्रिया यज्ञो न श्राद्धं नाप्युपोषणम् ।
या च भर्तरि शुश्रूषा सा स्वर्गायाभिजायते ।।

'स्त्रीके लिये न तो कोई यज्ञ है, न श्राद्ध है और न उपवासका ही विधान है। स्त्रियोंके द्वारा जो पतिकी सेवा होती है, वही उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली है।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।।

'कुमारावस्थामें पिता, युवावस्थामें पति और वृद्धावस्थामें पुत्र नारीकी रक्षा करता है। स्त्रीको कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये।

भर्तॄन् प्रति तथा पत्न्यो न क्रुध्यन्ति कदाचन ।
बहुभिश्च परिक्लेशैरवज्ञाताश्च शत्रुभिः ।।

‘पतिव्रता स्त्रियाँ नाना प्रकारके क्लेश सहकर तथा शत्रुओंद्वारा अपमानित होकर भी अपने पतियोंपर कभी क्रोध नहीं करतीं।

अनन्यभावशुश्रूषाः पुण्यलोकं व्रजन्त्युत ।
न क्रुद्धान् प्रति यायाद् वै पतींस्ते वृत्रहा अपि ।।

‘इस प्रकार अनन्यभावसे पतिकी शुश्रूषा करनेवाली स्त्रियाँ पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेती हैं। सैरन्ध्री! तुम्हारे पतियोंके कुपित होनेपर तो वृत्रहन्ता इन्द्र भी युद्धमें उनका सामना नहीं कर सकते।

यदि ते समयः कश्चित् कृतो ह्यायतलोचने ।
तं स्मरस्व क्षमाशीले क्षमा धर्मो ह्यनुत्तमः ।।

‘विशाललोचने! यदि उनके साथ तेरी कोई शर्त हुई हो तो उसे याद कर ले। क्षमाशीले! क्षमा सबसे उत्तम धर्म है।

क्षमा सत्यं क्षमा दानं क्षमा धर्मः क्षमा तपः ।
क्षमावतामयं लोकः परलोकः क्षमावताम् ।।
द्वयंशिनो द्वादशाङ्गस्य चतुर्विंशतिपर्वणः ।
कः षष्टित्रिशतारस्य मासोनस्याक्षमी भवेत् ।।

‘क्षमा सत्य है, क्षमा दान है, क्षमा धर्म है और क्षमा ही तप है। क्षमाशील मनुष्योंके लिये ही यह लोक और परलोक है। जिसके दो (उत्तरायण एवं दक्षिणायन) अंश हैं, बारह (मास) अंग हैं, चौबीस (पक्ष) पर्व हैं और तीन सौ साठ (दिन) अरे हैं, उस कालचक्रके पूर्ण होनेमें यदि एक मासकी ही कमी रह गयी हो; तो कौन उसकी प्रतीक्षा न करके क्षमाका त्याग कर सकता है?’।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते तिष्ठन्तीं पुनरेवाह धर्मराट् ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इतना कहनेपर भी जब द्रौपदी वहाँ खड़ी ही रह गयी, तब धर्मराजने पुनः उससे कहा—।

अकालज्ञासि सैरन्ध्रि शैलूषीव विरोदिषि ।
विघ्नं करोषि मत्स्यानां दीव्यतां राजसंसदि ।। ४३ ।।

‘सैरन्ध्री! तू अवसरको नहीं पहचानती; इसीलिये नटीकी भाँति राजसभामें रो रही है और द्यूतक्रीड़ामें लगे हुए मत्स्यराजकुमारोंके खेलमें विघ्न डालती है ।।

गच्छ सैरन्ध्रि गन्धर्वाः करिष्यन्ति तव प्रियम् ।
व्यपनेष्यन्ति ते दुःखं येन ते विप्रियं कृतम् ।। ४४ ।।

‘सैरन्ध्री! जाओ, गन्धर्व तुम्हारा प्रिय करेंगे। जिसने तुम्हारा अपकार किया है, उसे मारकर तुम्हारा दुःख दूर कर देंगे’ ।। ४४ ।।

सैरन्ध्र्युवाच

अतीव तेषां घृणिनामर्थेऽहं धर्मचारिणी ।
तस्य तस्यैव ते वध्या येषां ज्येष्ठोऽक्षदेविता ।। ४५ ।।

सैरन्ध्री बोली—जिनके बड़े भाई सदा जूआ खेला करते हैं, उन दयालु गन्धर्वोंके लिये मैं अत्यन्त धर्मपरायणा रहूँगी। मेरा अपकार करनेवाले दुरात्मा उन सबके लिये वध्य हों ।। ४५ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्राद्रवत् कृष्णा सुदेष्णाया निवेशनम् ।
केशान् मुक्त्वा च सुश्रोणी संरम्भाल्लोहितेक्षणा ।। ४६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यों कहकर सुन्दर कटिप्रान्तवाली द्रौपदी तीव्र गतिसे रानी सुदेष्णाके महलको चली गयी। उसके केश खुले हुए थे और क्रोधसे उसकी आँखें लाल हो रही थीं ।। ४६ ।।

शुशुभे वदनं तस्या रुदत्याः सुचिरं तदा ।
मेघलेखाविनिर्मुक्तं दिवीव शशिमण्डलम् ।। ४७ ।।

उस समय रोती हुई द्रौपदीका मुख इस प्रकार सुशोभित हो रहा था, मानो आकाशमें मेघमालाके आवरणसे मुक्त चन्द्रबिम्ब शोभा पा रहा हो ।। ४७ ।।

(पांसुकुण्ठितसर्वाङ्गी गजराजवधूरिव ।
प्रतस्थे नागनासोरूर्भर्तुराज्ञाय शासनम् ।।

समस्त अंगोंमें धूलिसे धूसरित गजराजवधूकी भाँति शोभा पानेवाली तथा हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली द्रौपदी स्वामीकी आज्ञा शिरोधार्य करके राजसभासे अन्तःपुरमें चली गयी।

विमुक्ता मृगशावाक्षी निरन्तरपयोधरा ।
प्रभा नक्षत्रराजस्य कालमेघैरिवावृता ।।

उसके स्तन एक-दूसरेसे सटे हुए थे, तथा नेत्र मृगशावकोंके समान चंचल हो रहे थे। वह कीचकके हाथसे छूटकर शोक और दुःखसे इस प्रकार मलिन हो रही थी, मानो चन्द्रमाकी प्रभा वर्षाकालके मेघोंसे आच्छादित हो गयी हो।

यस्या ह्यर्थे पाण्डवेयास्त्यजेयुरपि जीवितम् ।
तां ते दृष्ट्वा तथा कृष्णां क्षमिणो धर्मचारिणः ।।
समयं नातिवर्तन्ते वेलामिव महोदधिः ।।)

जिसके लिये समस्त पाण्डव अपने प्राणतक दे सकते थे, उसी कृष्णाको उस दशामें देखकर भी धर्मात्मा पाण्डव क्षमा धारण किये बैठे थे। जैसे समुद्र अपने तटकी सीमाका

उल्लंघन नहीं करता, उसी प्रकार वे अज्ञातवासके लिये स्वीकृत समयका अतिक्रमण नहीं कर रहे थे।

सुदेष्णोवाच

कस्त्वावधीद् वरारोहे कस्माद् रोदिषि शोभने ।
कस्याद्य न सुखं भद्रे केन ते विप्रियं कृतम् ।। ४८ ।।

सुदेष्णाने पूछा—वरारोहे! तुम्हें किसने मारा है? शोभने! तू क्यों रोती है? भद्रे! आज किसका सुख समाप्त हो गया? किसने तुम्हारा अपराध किया है? ४८ ।।

(किमिदं पद्मसंकाशं सुदन्तोष्ठाक्षिनासिकम् ।
रुदन्त्या अवमृष्टास्रं पूर्णेन्दुसमवर्चसम् ।।

कमलके समान कमनीय, सुन्दर दाँत, ओठ, नेत्र और नासिकासे सुशोभित तथा पूर्णचन्द्रके समान कान्तिमान् तुम्हारा यह मनोहर मुख ऐसा (मलिन) क्यों हो रहा है? तुम रोती हुई अपने मुखपर बहे हुए आँसुओंको पोंछ रही हो।

बिम्बोष्ठं कृष्णताराभ्यामत्यन्तरुचिरप्रभम् ।
नयनाभ्याममजिह्माभ्यां मुखं ते मुञ्चते जलम् ।।

काली पुतलीवाले सरल नेत्रोंसे सुशोभित, बिम्ब-फलके समान अरुण अधरोंसे उपलक्षित और अत्यन्त मनोहर प्रभासे प्रकाशित तुम्हारा मुख इस समय आँसू क्यों गिरा रहा है?।

वैशम्पायन उवाच

तीं निःश्वस्याब्रवीत् कृष्णा जानन्ती नाम पृच्छसि ।
भ्रात्रे त्वं मामनुप्रेष्य किमेवं त्वं विकत्थसे ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब कृष्णाने लंबी साँसे खींचकर कहा—‘तुम सब कुछ जानती हुई भी मुझसे क्या पूछ रही हो? स्वयं ही मुझे अपने भाईके पास भेजकर अब इस प्रकारकी बातें क्यों बना रही हो?’।

द्रौपद्युवाच

कीचको मावधीत् तत्र सुराहारीं गतां तव ।
सभायां पश्यतो राज्ञो यथैव विजने वने ।। ४९ ।।

द्रौपदी फिर बोली—मैं तुम्हारे लिये मदिरा लाने गयी थी। वहाँ कीचकने राजसभामें महाराजके देखते-देखते मुझपर प्रहार किया है; ठीक उसी तरह, जैसे कोई निर्जन वनमें किसी असहाय अबलापर आघात करता हो ।। ४९ ।।

सुदेष्णोवाच

घातयामि सुकेशान्ते कीचकं यदि मन्यसे ।

योऽसौ त्वां कामसम्मत्तो दुर्लभामवमन्यते ।। ५० ।।

सुदेष्णाने कहा—सुन्दर लटोंवाली सुन्दरी! यदि तुम्हारी सम्मति हो, तो मैं कीचकको मरवा डालूँ; जो कामसे उन्मत्त होकर तुझ-जैसी दुर्लभ देवीका अपमान कर रहा है ।। ५० ।।

सैरन्ध्र्युवाच

अन्ये चैनं वधिष्यन्ति येषामागः करोति सः ।

मन्ये चैवाद्य सुव्यक्तं यमलोकं गमिष्यति ।। ५१ ।।

सैरन्ध्री बोली—महारानी! उसे दूसरे ही लोग मार डालेंगे, जिनका कि अपराध वह कर रहा है। मैं तो समझती हूँ, अब वह निश्चय ही यमलोककी यात्रा करेगा ।। ५१ ।।

(भ्रातुः प्रयच्छ त्वरिता जीवश्राद्धं त्वमद्य वै ।

सुदृष्टं कुरु वै चैनं नासून् मन्ये धरिष्यति ।।

रानी! आज तुम अपने भाईके लिये शीघ्र ही जीवित श्राद्ध कर लो। उसके लिये आवश्यक दान दे लो। साथ ही उसे आँख भरकर अच्छी तरह देख लो। मेरा विश्वास है कि अब उसके प्राण नहीं रहेंगे।

तेषां हि मम भर्तॄणां पञ्चानां धर्मचारिणाम् ।

एको दुर्धर्षणोऽत्यर्थं बले चाप्रतिमो भुवि ।।

निर्मनुष्यमिमं लोकं कुर्यात् क्रुद्धो निशामिमाम् ।

न च संक्रुध्यते तावद् गन्धर्वः कामरूपधृक् ।।

मेरे पाँच धर्मात्मा पतियोंमेंसे एक अत्यन्त दुःसह एवं अमर्षशील वीर हैं। भूतलपर बलमें उनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। वे कुपित होनेपर इस रातमें ही इस संसारको मनुष्योंसे शून्य कर सकते हैं। परंतु इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वे गन्धर्व न जाने क्यों अभीतक क्रोध नहीं कर रहे हैं।

वैशम्पायन उवाच

सुदेष्णामेवमुक्त्वा तु सैरन्ध्री दुःखमोहिता ।

कीचकस्य वधार्थाय व्रतदीक्षामुपागमत् ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! रानी सुदेष्णासे ऐसा कहकर दुःखसे मोहित हुई सैरन्ध्रीने कीचकके वधके लिये व्रतकी दीक्षा ग्रहण की।

अभ्यर्थिता च नारीभिर्मानिता च सुदेष्णया ।

न च स्नाति न चाश्नाति न पांसून् परिमार्जति ।।

दूसरी स्त्रियोंने उससे बहुत प्रार्थना की। रानी सुदेष्णाने भी उसे बहुत मनाया; तथापि न वह स्नान करती, न भोजन करती और न अपने शरीरकी धूल ही झाड़ती थी।

रुधिरक्लिन्नवदना बभूव रुदितेक्षणा ।।

तां तथा शोकसंतप्तां दृष्ट्वा प्ररुदितां स्त्रियः ।
कीचकस्य वधं सर्वा मनोभिश्च शशंसिरे ।।

उसका मुँह रक्तसे भींगा हुआ था, आँखोंमें रुलाईके आँसू भरे हुए थे। उसे इस प्रकार शोकसे संतप्त होकर रोती देख सब स्त्रियाँ मन-ही-मन कीचकके वधकी इच्छा करने लगीं।

जनमेजय उवाच

अहो दुःखतरं प्राप्ता कीचकेन पदा हता ।
प्रतिव्रता महाभागा द्रौपदी योषितां वरा ।।

जनमेजय बोले—विप्रवर! संसारकी युवतियोंमें श्रेष्ठ एवं पतिव्रता महाभागा द्रौपदीको कीचकने लात मार दी; इससे वह महान् दुःखमें डूब गयी। अहो! यह कितने कष्टकी बात है।

दुःशलां मानयन्ती या भर्तॄणां भगिनीं शुभाम् ।
नाशपत् सिन्धुराजं तं बलात्कारेण वाहिता ।।

जिस समय सिन्धुराज जयद्रथने बलपूर्वक उसका अपहरण किया था, उस समय उसने अपने पतियोंकी बहिन दुःशलाका सम्मान करते हुए वह कष्ट सह लिया और शुभलक्षणा सिन्धुराजको शाप नहीं दिया।

किमर्थं धर्षणं प्राप्ता कीचकेन दुरात्मना ।
नाशपत् तं महाभागा कृष्णा पादेन ताडिता ।।

परंतु जब दुरात्मा कीचकने उसका तिरस्कार किया और उसे लातसे मारा, उस समय महाभागा कृष्णाने उस दुष्टको शाप क्यों नहीं दे दिया?।

तेजोराशिरियं देवी धर्मज्ञा सत्यवादिनी ।
केशपक्षे परामृष्टा मर्षयिष्यत्यशक्तवत् ।।
नैतत् कारणमल्पं हि श्रोतुकामोऽस्मि सत्तम ।
कृष्णायास्तु परिक्लेशान्मनो मे दूयते भृशम् ।।

देवी द्रौपदी तेजकी राशि थी। वह धर्मज्ञा और सत्यवादिनी थी। उसके-जैसी तेजस्विनी स्त्री अपने केश पकड़ लिये जानेपर असमर्थकी भाँति चुपचाप सह लेगी, यह सम्भव नहीं है। यदि उसने सह लिया तो इसका कोई छोटा कारण नहीं होगा। साधुशिरोमणे! मैं वह कारण सुनना चाहता हूँ। कृष्णाके क्लेशकी बात सुनकर मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है।

कस्य वंशे समुद्भूतः स च दुर्ललितो मुने ।
बलोन्मत्तः कथं चासीच्छ्यालो मात्स्यस्य कीचकः ।।

मुने! मत्स्यराजका साला दुष्ट कीचक किसके कुलमें उत्पन्न हुआ था? और वह बलसे उन्मत्त क्यों हो गया था? ।

वैशम्पायन उवाच

त्वदुक्तोऽयमनुप्रश्नः कुरूणां कीर्तिवर्धन ।
एतत् सर्वं तथा वक्ष्ये विस्तरेणैव पार्थिव ।।

वैशम्पायनजीने कहा—कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले नरेश! तुम्हारा उठाया हुआ यह प्रश्न ठीक है। मैं यह सब विस्तारपूर्वक बताऊँगा।

ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातः सूतो भवति पार्थिव ।
प्रातिलोम्येन जातानां स ह्येको द्विज एव तु ।।

राजन्! क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी मातासे उत्पन्न हुआ बालक 'सूत' कहलाता है। प्रतिलोमसंकर जातियोंमें अकेली यह सूत जाति ही द्विज कही गयी है।

रथकारमितीमं हि क्रियायुक्तं द्विजन्मनाम् ।
क्षत्रियादवरं वैश्याद् विशिष्टमिति चक्षते ।।

द्विजोचित कर्मोंसे युक्त उस सूतको ही रथकार भी कहते हैं। इसे क्षत्रियसे हीन और वैश्यसे श्रेष्ठ बताते हैं।

सह सूतेन सम्बन्धः कृतपूर्वो नरेश्वरैः ।
तथापि तैर्महीपाल राजशब्दो न लभ्यते ।।

राजन्! पहलेके नरेशोंने सूतजातिके साथ भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया है, परंतु उन्हें राजाकी उपाधि नहीं प्राप्त होती थी।

तेषां तु सूतविषयः सूतानां नामतः कृतः ।
उपजीव्य च यत् क्षत्रं लब्धं सूतेन तत् पुरा ।।

उनके लिये सूतोंके नामसे सूतराज्य ही नियत कर दिया गया था। वह राज्य सूतजातिके एक पुरुषने किसी क्षत्रियकी सेवा करके ही प्राप्त किया था।

सूतानामधिपो राजा केकयो नाम विश्रुतः ।।
राजकन्यासमुद्भूतः सारथ्येऽनुपमोऽभवत् ।

सुप्रसिद्ध केकय नामक राजा सूतोंके ही अधिपति थे। उनका जन्म किसी क्षत्रियकन्याके गर्भसे हुआ था। वे सारथिके कर्ममें अनुपम थे।

पुत्रास्तस्य कुरुश्रेष्ठ मालव्यां जज्ञिरे तदा ।।
तेषामतिबलो ज्येष्ठः कीचकः सर्वजित् प्रभो ।

कुरुश्रेष्ठ! उनके मालवीके गर्भसे कई पुत्र उत्पन्न हुए। प्रभो! उन पुत्रोंमें कीचक ही सबसे बड़ा था। वह अत्यन्त बलवान् और सर्वविजयी योद्धा था।

द्वितीयायां तु मालव्यां चित्रा ह्यवरजाभवत् ।
तां सुदेष्णेति वै प्राहुर्विराटमहिषीं प्रियाम् ।।

राजा केकयकी दूसरी रानी भी मालवकन्या ही थी। उसके गर्भसे चित्रा नामवाली कन्या उत्पन्न हुई, जो समस्त कीचकबन्धुओंकी छोटी बहिन थी। उसीको सुदेष्णा भी कहते

हैं। वही आगे चलकर महाराज विराटकी प्यारी पटरानी हुई।

तां विराटस्य मात्स्यस्य केकयः प्रददौ मुदा ।
सुरथायां मृतायां तु कौसल्यां श्वेतमातरि ।।

विराटकी बड़ी रानी कोसलदेशकी राजकुमारी सुरथा, जो श्वेतकी जननी थी, उसकी मृत्यु हो जानेपर केकय-नरेशने अपनी कन्या सुदेष्णाका विवाह मत्स्यराज विराटके साथ प्रसन्नतापूर्वक कर दिया।

सुदेष्णां महिषीं लब्ध्वा राजा दुःखमपानुदत् ।।
उत्तरं चोत्तरां चैव विराटात् पृथिवीपते ।
सुदेष्णा सुषुवे देवी कैकेयी कुलवृद्धये ।।

सुदेष्णाको महारानीके रूपमें पाकर राजा विराटका दुःख दूर हो गया। जनमेजय! केकयकुमारी रानी सुदेष्णाने राजा विराटसे अपने कुलकी वृद्धिके लिये उत्तर और उत्तरा नामक दो संतानोंको उत्पन्न किया।

मातृष्वसृसुतां राजन् कीचकस्तामनिन्दिताम् ।
सदा परिचरन् प्रीत्या विराटे न्यवसत् सुखी ।।

राजन्! कीचक अपनी मौसीकी बेटी सती-साध्वी सुदेष्णाकी प्रेमपूर्वक परिचर्या करता हुआ विराटके यहाँ सुखपूर्वक रहने लगा।

भ्रातरस्तस्य विक्रान्ताः सर्वे च तमनुव्रताः ।
विराटस्यैव संहृष्टा बलं कोशं च वर्धयन् ।।

उसके सभी पराक्रमी भाई कीचकके ही प्रेमी भक्त थे; अतः वे भी विराटके ही बल और कोषको बढ़ाते हुए प्रसन्नतापूर्वक वहाँ रहने लगे।

कालेया नाम दैतेयाः प्रायशो भुवि विश्रुताः ।
जज्ञिरे कीचका राजन् बाणो ज्येष्ठस्ततोऽभवत् ।।
स हि सर्वास्त्रसम्पन्नो बलवान् भीमविक्रमः ।
कीचको नष्टमर्यादो बभूव भयदो नृणाम् ।

राजन्! कालेय नामक दैत्य ही, जो प्रायः इस भूमण्डलमें विख्यात थे, कीचकोंके रूपमें उत्पन्न हुए थे। कालेयोंमें बाण सबसे बड़ा था। वही सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न, भयंकर पराक्रमी और महाबली कीचक हुआ, जो धर्मकी मर्यादाको तोड़ने और मनुष्योंके भयको बढ़ानेवाला था।

तं प्राप्य बलसम्मत्तं विराटः पृथिवीपतिः ।।
जिगाय सर्वांश्च रिपून् यथेन्द्रो दानवानिव ।

उस बलोन्मत्त कीचककी सहायता पाकर जैसे इन्द्र दानवोंपर विजय पाते हैं, उसी प्रकार राजा विराटने भी समस्त शत्रुओंपर विजय प्राप्त की।

मेखलांश्च त्रिगर्तांश्च दशार्णांश्च कशेरुकान् ।

मालवान् यवनांश्चैव पुलिन्दान् काशिकोसलान् ।
अङ्गान् वङ्गान् कलिङ्गांश्च तङ्गणान् परतङ्गणान् ।
मलदान् निषधांश्चैव तुण्डिकेरांश्च कोङ्कणान् ।।
करदांश्च निषिद्धांश्च शिवान् दुश्छिल्लिकांस्तथा ।
अन्ये च बहवः शूराः नानाजनपदेश्वराः ।
कीचकेन रणे भग्ना व्यद्रवन्त दिशो दश ।।

मेखल, त्रिगर्त, दशार्ण, कशेरुक, मालव, यवन, पुलिन्द, काशी, कोसल, अंग, वंग, कलिंग, तंगण, परतंगण, मलद, निषध, तुण्डिकेर, कोंकण, करद, निषिद्ध, शिव, दुश्छिल्लिक तथा अन्य नाना जनपदोंके स्वामी अनेक शूरवीर नरेश रणभूमिमें कीचकसे पराजित हो दसों दिशाओंमें भाग गये।

तमेवं वीर्यसम्पन्नं नागायुतबलं रणे ।
विराटस्तत्र सेनायाश्चकार पतिमात्मनः ।।

ऐसे पराक्रमसम्पन्न कीचकको, जो संग्राममें दस हजार हाथियोंका बल रखता था, राजा विराटने अपना सेनापति बना लिया।

विराटभ्रातरश्चैव दश दाशरथोपमाः ।
ते चैनानन्ववर्तन्त कीचकान् बलवत्तरान् ।।

विराटके दस भाई ऐसे थे, जो दशरथनन्दन श्रीरामके समान शक्तिशाली समझे जाते थे। वे भी इन प्रबलतर कीचकबन्धुओंका अनुसरण करने लगे।

एवंविधबलोपेताः कीचकास्ते न तद्विधाः ।
राज्ञः श्याला महात्मानो विराटस्य हितैषिणः ।

ऐसे बलसम्पन्न कीचक, जो राजा विराटके साले लगते थे, शौर्यमें अपना सानी नहीं रखते थे। वे महामना विराटके बड़े हितैषी थे।

एतत् ते कथितं सर्वं कीचकस्य पराक्रमम् ।।
द्रौपदी न शशापैनं यस्मात् तद् गदतः शृणु ।

जनमेजय! इस प्रकार मैंने तुमसे कीचकके पराक्रमकी सारे बातें बता दीं। अब यह भी सुन लो कि द्रौपदीने उसे शाप क्यों नहीं दिया?।

क्षरतीति तपः क्रोधादृषयो न शपन्ति हि ।।
जानन्ती तद् यथातत्त्वं पाञ्चाली न शशाप तम् ।

क्रोधसे तपस्या नष्ट होती है, इसीलिये ऋषि भी सहसा किसीको शाप नहीं देते हैं। द्रौपदी इस बातको अच्छी तरह जानती थी; इसीलिये उसने उसे शाप नहीं दिया।

क्षमा धर्मः क्षमा दानं क्षमा यज्ञः क्षमा यशः ।
क्षमा सत्यं क्षमा शीलं क्षमा कीर्तिः क्षमा परम् ।।
क्षमा पुण्यं क्षमा तीर्थं क्षमा सर्वमिति श्रुतिः ।

क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।
एतत् सर्वं विजानन्ती सा क्षमामन्वपद्यत ।।

क्षमा धर्म है, क्षमा दान है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा यश है, क्षमा सत्य है, क्षमा शील है, क्षमा कीर्ति है, क्षमा सबसे उत्कृष्ट तत्त्व है, क्षमा पुण्य है, क्षमा तीर्थ है और क्षमा सब कुछ है; ऐसा श्रुतिका कथन है। यह लोक क्षमावानोंका ही है। परलोक भी क्षमावानोंका ही है। द्रौपदी यह सब कुछ जानती थी, इसलिये उसने क्षमाका ही आश्रय लिया।

भर्तॄणां मतमाज्ञाय क्षमिणां धर्मचारिणाम् ।
नाशपत् तं विशालाक्षी सती शक्तापि भारत ।।

भरतनन्दन! क्षमाशील एवं धर्मात्मा पतियोंका मत जानकर विशाल नेत्रोंवाली सती-साध्वी द्रौपदीने समर्थ होते हुए भी कीचकको शाप नहीं दिया।

पाण्डवाश्चापि ते सर्वे द्रौपदीं प्रेक्ष्य दुःखिताः ।
क्रोधाग्निना व्यदह्यन्त तदा कालव्यपेक्षया ।।

समस्त पाण्डव भी द्रौपदीकी दुरवस्था देखकर दुःखी हो समयकी प्रतीक्षा करते हुए क्रोधाग्निमें जलते रहे।

अथ भीमो महाबाहुः सूदयिष्यंस्तु कीचकम् ।
वारितो धर्मपुत्रेण वेलयेव महोदधिः ।।

महाबाहु भीमसेन तो कीचकको तत्काल मार डालनेके लिये उद्यत थे; परंतु जैसे वेला (तटकी सीमा) महासागरके वेगको रोके रहती है, उसी प्रकार धर्मपुत्र युधिष्ठिरने उन्हें रोक दिया।

संधार्य मनसा रोषं दिवारात्रं विनिःश्वसन् ।
महानसे तदा कृच्छ्रात् सुष्वाप रजनीं च ताम् ।।)

वे मनमें क्रोधको रोककर दिन-रात लंबी साँसें खींचते रहते थे। उस दिन पाकशालामें जाकर वे रातमें बड़े कष्टसे सोये।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीपरिभवे षोडशोऽध्यायः ।। १६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीतिरस्कारसम्बन्धी सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९२ श्लोक मिलाकर कुल १४३ श्लोक हैं।)

सप्तदशोऽध्यायः

द्रौपदीका भीमसेनके समीप जाना

वैशम्पायन उवाच

सा हता सूतपुत्रेण राजपत्नी यशस्विनी ।
वधं कृष्णा परीप्सन्ती सेनावाहस्य भामिनी ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सूतपुत्र सेनापति कीचकने जबसे लात मारी थी, तभीसे यशस्विनी राजपत्नी भामिनी द्रौपदी उसके वधकी बात सोचने लगी ।। १ ।।

जगामावासमेवाथ सा तदा द्रुपदात्मजा ।
कृत्वा शौचं यथान्यायं कृष्णा सा तनुमध्यमा ।। २ ।।
गात्राणि वाससी चैव प्रक्षाल्य सलिलेन सा ।
चिन्तयामास रुदती तस्य दुःखस्य निर्णयम् ।। ३ ।।

वह अपने निवासस्थानपर गयी। उस समय सूक्ष्म कटिभागवाली द्रुपदकुमारी कृष्णाने वहाँ यथायोग्य शौच-स्नान करके जलसे अपने शरीर और वस्त्र धोये तथा वह रोती हुई उस दुःखके निवारणका उपाय सोचने लगी— ।। २-३ ।।

किं करोमि क्व गच्छामि कथं कार्यं भवेन्मम ।
इत्येवं चिन्तयित्वा सा भीमं वै मनसागमत् ।। ४ ।।

‘क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? कैसे मेरा अभीष्ट कार्य होगा, इस प्रकार चिन्तन करके उसने मन-ही-मन भीमसेनका स्मरण किया ।। ४ ।।

नान्यः कर्ता ऋते भीमान्ममाद्य मनसः प्रियम् ।
तत उत्थाय रात्रौ सा विहाय शयनं स्वकम् ।। ५ ।।
प्राद्रवन्नाथमिच्छन्ती कृष्णा नाथवती सती ।
भवनं भीमसेनस्य क्षिप्रमायतलोचना ।। ६ ।।
दुःखेन महता युक्ता मानसेन मनस्विनी ।

‘भीमसेनके सिवा दूसरा कोई आज मेरे मनको प्रिय लगनेवाला कार्य नहीं कर सकता’—ऐसा निश्चय करके वह विशाल नेत्रोंवाली सती-साध्वी सनाथा कृष्णा रातको अपनी शय्या छोड़कर उठी और अपने नाथ (रक्षक)-से मिलनेकी इच्छा रखकर शीघ्रतापूर्वक भीमसेनके भवनमें गयी। उस समय मनस्विनी द्रौपदी महान् मानसिक दुःखसे पीड़ित थी ।। ५-६½ ।।

सैरन्ध्र्युवाच

तस्मिञ्जीवति पापिष्ठे सेनावाहे मम द्विषि ।। ७ ।।

तत् कर्म कृतवानद्य कथं निद्रां निषेवसे ।

वहाँ पहुँचते ही सैरन्ध्री बोली—आर्यपुत्र! मुझसे द्वेष रखनेवाले उस महापापी सेनापतिके, जिसने मेरे साथ वैसा अपमानजनक बर्ताव किया था, जीते-जी तुम आज नींद कैसे ले रहे हो? ।। ७½ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वाथ तां शालां प्रविवेश मनस्विनी ।। ८ ।।

यस्यां भीमस्तथा शेते मृगराज इव श्वसन् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहती हुई मनस्विनी द्रौपदीने उस भवनमें प्रवेश किया, जिसमें सिंहकी भाँति साँसें खींचते हुए भीमसेन सो रहे थे ।।

तस्या रूपेण सा शाला भीमस्य च महात्मनः ।। ९ ।।

सम्मूर्छितेव कौरव्य प्रजज्वाल च तेजसा ।

सा वै महानसं प्राप्य भीमसेनं शुचिस्मिता ।। १० ।।

सर्वश्वेतेव माहेयी वने जाता त्रिहायणी ।

उपातिष्ठत पाञ्चाली वासितेव नरर्षभम् ।। ११ ।।

कुरुनन्दन! द्रौपदीके दिव्य रूपसे महात्मा भीमकी वह पाकशाला शोभा-समृद्धिको प्राप्त होकर तेजसे प्रकाशित हो उठी। पवित्र मुसकानवाली द्रौपदी पाक-शालामें पहुँचकर क्रमशः [बक, साँड़ और गजराजके पास जानेवाली] जलमें उत्पन्न हुई बकी, तीन सालकी पार्थिव गौ तथा हथिनीके समान श्रेष्ठ पुरुष भीमसेनके समीप गयीं ।। ९—११ ।।

सा लतेव महाशालं फुल्लं गोमतितीरजम् ।

परिष्वजत पाञ्चाली मध्यमं पाण्डुनन्दनम् ।। १२ ।।

जैसे लता गोमतीके तटपर उत्पन्न एवं खिले हुए ऊँचे शालवृक्षमें लिपट जाती है, उसी प्रकार सती-साध्वी पांचालीने मध्यम* पाण्डव भीमसेनका आलिंगन किया ।। १२ ।।

बाहुभ्यां परिरभ्यैनं प्राबोधयदनिन्दिता ।

सिंहं सुप्तं वने दुर्गे मृगराजवधूरिव ।। १३ ।।

उसने उन्हें दोनों भुजाओंसे कसकर जगाया; ठीक वैसे ही, जैसे दुर्गम वनमें सोये हुए सिंहको सिंहिनी जगाती है ।। १३ ।।

भीमसेनमुपाश्लिष्यद्धस्तिनीव महागजम् ।

वीणेव मधुरालापा गान्धारं साधु मूर्छती ।

अभ्यभाषत पाञ्चाली भीमसेनमनिन्दिता ।। १४ ।।

जैसे हथिनी महान् गजराजका आलिंगन करती है, उसी प्रकार निर्दोष पाञ्चालराजकुमारी भीमसेनसे सटकर गान्धार स्वरमें मधुर ध्वनि फैलाती हुई वीणाकी भाँति मीठे वचनोंमें बोली— ।। १४ ।।

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे भीमसेन यथा मृतः ।
नामृतस्य हि पापीयान् भार्यामालभ्य जीवति ।। १५ ।।

'भीमसेन! उठो, उठो, क्यों मुर्देकी तरह सो रहे हो?; क्योंकि (तुम्हारे-जैसे वीर) पुरुषके जीवित रहते हुए उसकी पत्नीका स्पर्श करके कोई महापापी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता' ।। १५ ।।

स सम्प्रहाय शयनं राजपुत्र्या प्रबोधितः ।
उपातिष्ठत मेघाभः पर्यङ्के सोपसंग्रहे ।। १६ ।।
अथाब्रवीद् राजपुत्रीं कौरव्यो महिषीं प्रियाम् ।
केनास्यर्थेन सम्प्राप्ता त्वरितेव ममान्तिकम् ।। १७ ।।
न ते प्रकृतिमान् वर्णः कृशा पाण्डुश्च लक्ष्यसे ।
आचक्ष्व परिशेषेण सर्वं विद्यामहं यथा ।। १८ ।।

राजकुमारी द्रौपदीके जगानेपर मेघके समान श्याम वर्णवाले कुरुनन्दन भीमसेन तोशक बिछे हुए पलंगपर शयन छोड़कर उठ बैठे और अपनी प्यारी रानीसे बोले—'देवि! किस कार्यसे तुम इतनी उतावली-सी होकर मेरे पास आयी हो? तुम्हारे शरीरकी कान्ति स्वाभाविक नहीं रह गयी है। तुमपर उदासी छायी है। तुम दुबली और पीली दिखायी देती हो। पूरी बात बताओ, जिससे मैं सब कुछ जान सकूँ ।। १६—१८ ।।

सुखं वा यदि वा दुःखं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
यथावत् सर्वमाचक्ष्व श्रुत्वा ज्ञास्यामि यत् क्षमम् ।। १९ ।।

'तुम्हें सुख हो या दुःख, बुरा हुआ हो या भला, सब बातें ठीक-ठीक कह जाओ। वह सब सुनकर मैं उसके निवारणके लिये उचित उपाय सोचूँगा ।।

अहमेव हि ते कृष्णे विश्वास्यः सर्वकर्मसु ।
अहमापत्सु चापि त्वां मोक्षयामि पुनः पुनः ।। २० ।।

'कृष्णे! सब कार्योंके लिये मैं ही तुम्हारा विश्वासपात्र हूँ। मैं ही सब प्रकारकी विपत्तियोंमें बार-बार सहायता करके तुम्हें संकटसे मुक्त करता हूँ ।। २० ।।

शीघ्रमुक्त्वा यथाकामं यत् ते कार्यं विवक्षितम् ।
गच्छ वै शयनायैव पुरा नान्येन बुध्यते ।। २१ ।।

'अतः जैसी तुम्हारी रुचि हो और जिस कार्यके लिये कुछ कहना चाहती हो, उसे शीघ्र कहकर पहले ही अपने शयनगृहमें चली जाओ, जिससे दूसरे किसीको इसका पता न चल सके' ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे सप्तदशोऽध्यायः ।। १७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदी-भीम-संवादविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७ ।।

---

* नकुल-सहदेव जुड़वें पैदा हुए थे; अतः वे दोनों कनिष्ठ (छोटे) भाई हैं। युधिष्ठिर बड़े हैं। भीमसेन और अर्जुन मध्यम हैं। विराटपर्वके प्रसंगमें अर्जुन पुरुष नहीं रह गये हैं। अतः भीमसेन ही यहाँ प्रधानरूपसे मध्यम पाण्डव कहे गये हैं।

अष्टादशोऽध्यायः

द्रौपदीका भीमसेनके प्रति अपने दुःखके उद्गार प्रकट करना

वैशम्पायन उवाच

(सा लज्जमाना भीता च अधोमुखमुखी ततः ।
नोवाच किंचिद् वचनं बाष्पदूषितलोचना ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय लज्जित और भयभीत हुई द्रौपदीके नेत्रोंमें आँसू भर आये थे। वह मुँह नीचा किये मौन बैठी रही; कुछ भी बोल न सकी।

अथाब्रवीद् भीमपराक्रमो बली
वृकोदरः पाण्डवमुख्यसम्मतः ।
प्रब्रूहि किं ते करवाणि सुन्दरि
प्रियं प्रिये वारणखेलगामिनि ।।)

तब पाण्डवप्रवर युधिष्ठिरके परम प्रिय भयंकर पराक्रमी महाबली भीम इस प्रकार बोले—'सुन्दरि! गजराजकी भाँति लीला-विलासपूर्वक मन्द-गतिसे चलनेवाली प्रिये! बताओ; मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?'।

द्रौपद्युवाच

अशोच्यत्वं कुतस्तस्य यस्या भर्ता युधिष्ठिरः ।
जानन् सर्वाणि दुःखानि किं मां त्वं परिपृच्छसि ।। १ ।।

द्रौपदी बोली—जिस स्त्रीके पति राजा युधिष्ठिर हों, वह बिना शोकके रहे, यह कैसे सम्भव हो सकता है? तुम मेरे सारे दुःखोंको जानते हुए भी मुझसे कैसे पूछते हो? ।। १ ।।

यन्मां दासीप्रवादेन प्रातिकामी तदानयत् ।
सभापरिषदो मध्ये तन्मां दहति भारत ।। २ ।।

दुर्योधनके सेवकके रूपमें दुःशासन मुझे दासी कहकर जो उस समय कौरवोंके सभाभवनमें जनसमाजके भीतर घसीट ले गया, वह अपमानकी आग मुझे आजतक जला रही है ।। २ ।।

(क्षत्रियैस्तत्र कर्णाद्यैर्दृष्टा दुर्योधनेन च ।
श्वशुराभ्यां च भीष्मेण विदुरेण च धीमता ।।
द्रोणेन च महाबाहो कृपेण च परंतप ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबाहु भीम! उस समय वहाँ बैठे हुए कर्ण आदि क्षत्रियोंने, दुर्योधनने, मेरे दोनों ससुर भीष्म और बुद्धिमान् विदुरने तथा द्रोणाचार्य और कृपाचार्यने भी मुझे उस दुरवस्थामें देखा था।

साहं श्वशुरयोर्मध्ये भ्रातृमध्ये च पाण्डव ।।

केशे गृहीत्वैव सभां नीता जीवति वै त्वयि ।)

पाण्डुनन्दन! इस प्रकार तुम्हारे जीते-जी मेरे केश पकड़कर मुझे दोनों श्वशुरों तथा दुर्योधन आदि भ्राताओंके बीच राजसभामें लाया गया।

पार्थिवस्य सुता नाम का नु जीवति मादृशी ।

अनुभूयेदृशं दुःखमन्यत्र द्रौपदीं प्रभो ।। ३ ।।

स्वामिन्! मुझ द्रुपदकन्याको छोड़कर दूसरी मेरी-जैसी कौन राजकुमारी होगी, जो ऐसा दुःख भोगकर जी रही हो ।। ३ ।।

वनवासगतायाश्च सैन्धवेन दुरात्मना ।

परामर्शो द्वितीयो वै सोढुमुत्सहते तु का ।। ४ ।।

वनवासमें जानेपर दुरात्मा सिन्धुराज जयद्रथने जो मेरा स्पर्श कर लिया, यह दूसरा अपमान था। उसे भी कौन सह सकती है? ।। ४ ।।

(पद्भ्यां पर्यचरं चाहं देशान् विषमसंस्थितान् ।

दुर्गाञ्छ्वापदसंकीर्णांस्त्वयि जीवति पाण्डव ।।

पाण्डुकुमार! तुम्हारे जीते-जी मुझे हिंसक जन्तुओंसे भरे हुए विषम एवं दुर्गम प्रदेशोंमें पैदल विचरना पड़ा।

ततोऽहं द्वादशे वर्षे वन्यमूलफलाशना ।

इदं पुरमनुप्राप्ता सुदेष्णापरिचारिका ।।

परस्त्रियमुपातिष्ठे सत्यधर्मपथस्थिता ।

तदनन्तर बारहवें वर्षके अन्तमें मैं जंगली फल-मूलोंका आहार करती हुई इस विराटनगरमें आयी और सुदेष्णाकी सेविका बन गयी। मैं सत्यधर्मके मार्गमें स्थित होकर आज दूसरी स्त्रीकी सेवा करती हूँ।

गोशीर्षकं पद्मकं च हरिश्यामं च चन्दनम् ।।

नित्यं पिंषे विराटस्य त्वयि जीवति पाण्डव ।।

साहं बहूनि दुःखानि गणयामि न ते कृते ।

द्रुपदस्य सुता चाहं धृष्टद्युम्नस्य चानुजा ।

अग्निकुण्डात् समुद्भूता नोर्व्यां जातु चरामि भोः ।।)

'पाण्डुपुत्र! तुम्हारे जीते-जी मैं प्रतिदिन राजा विराटके लिये गोशीर्ष, पद्मकाष्ठ और हरिश्याम आदि चन्दन पीसती हूँ। फिर भी तुम्हारे संतोषके लिये मैं ऐसे बहुत-से दुःखोंको कुछ भी नहीं गिनती। मैं द्रुपदकी पुत्री और धृष्टद्युम्नकी बहिन हूँ। अग्निकुण्डसे मेरी उत्पत्ति हुई है। मैं कभी धरतीपर पैदल नहीं चलती थी (परंतु अब यहाँ यह दुर्दशा भोग रही हूँ)।

मत्स्यराजसमक्षं तु तस्य धूर्तस्य पश्यतः ।

कीचकेन परामृष्टा का नु जीवति मादृशी ।। ५ ।।

मत्स्यदेशके राजा विराटके सामने उस जुआरीके देखते-देखते कीचकने जो लात मारकर मेरा अपमान किया है, उसको सहकर मेरी-जैसी कौन राजकुमारी जीवित रह सकती है? ।। ५ ।।

एवं बहुविधैः क्लेशैः क्लिश्यमानां च भारत ।
न मां जानासि कौन्तेय किं फलं जीवितेन मे ।। ६ ।।

भरतकुलभूषण कुन्तीनन्दन! ऐसे बहुत-से क्लेशोंद्वारा मैं निरन्तर पीड़ित रहती हूँ; क्या तुम यह नहीं जानते? फिर मेरे जीनेका ही क्या प्रयोजन है? ।। ६ ।।

योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम भारत ।
सेनानीः पुरुषव्याघ्र श्यालः परमदुर्मतिः ।। ७ ।।
स मां सैरन्ध्रिवेषेण वसन्तीं राजवेश्मनि ।
नित्यमेवाह दुष्टात्मा भार्या मम भवेति वै ।। ८ ।।

भारत! पुरुषसिंह! राजा विराटका जो यह कीचक नामक सेनापति है, वह उनका साला लगता है। उसकी बुद्धि बड़ी खोटी है। राजमहलमें सैरन्ध्रीके वेशमें निवास करती हुई मुझे देखकर वह दुष्टात्मा प्रतिदिन ही आकर मुझसे कहता है—'मेरी ही पत्नी हो जाओ' ।।

तेनोपमन्त्र्यमाणाया वधार्हेण सपत्नहन् ।
कालेनेव फलं पक्वं हृदयं मे विदीर्यते ।। ९ ।।

शत्रुदमन! उस मार डालने योग्य पापीके द्वारा रोज-रोज यह घृणित प्रस्ताव सुनते-सुनते समयसे पके हुए फलकी भाँति मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है ।। ९ ।।

(विजानामि तवामर्षं बलं वीर्यं च पाण्डव ।
ततोऽहं परिदेवामि चाग्रतस्ते महाबल ।।

महाबली पाण्डुनन्दन! मैं तुम्हारे अमर्ष, बल और पराक्रमको जानती हूँ; इसीलिये मैं तुम्हारे आगे रोती-बिलखती हूँ।

यथा यूथपतिर्मत्तः कुञ्जरः षष्टिहायनः ।
भूमौ निपतितं बिल्वं पद्भ्यामाक्रम्य पीडयेत् ।।
तथैव च शिरस्तस्य निपात्य धरणीतले ।
वामेन पुरुषव्याघ्र मर्द पादेन पाण्डव ।।

पुरुषसिंह पाण्डुपुत्र! जैसे साठ वर्षका मतवाला यूथपति गजराज धरतीपर गिरे हुए बेलके फलको पैरोंसे दबाकर कुचल डाले, उसी प्रकार कीचकके मस्तकको पृथ्वीपर गिराकर बाँयें पैरसे मसल डालो।

स चेदुद्यन्तमादित्यं प्रातरुत्थाय पश्यति ।
कीचकः शर्वरीं व्युष्टां नाहं जीवितुमुत्सहे ।।)

यदि कीचक इस रात्रिके बीतनेपर प्रातःकाल उठकर उगते हुए सूर्यका दर्शन कर लेगा, तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगी ।

भ्रातरं च विगर्हस्व ज्येष्ठं दुर्द्यूतदेविनम् ।
यस्यास्मि कर्मणा प्राप्ता दुःखमेतदनन्तकम् ।। १० ।।

दूषित द्यूतक्रीड़ामें लगे रहनेवाले अपने उस बड़े भाईकी निन्दा करो, जिसकी करतूतसे मैं इस अनन्त दुःखमें पड़ गयी हूँ ।। १० ।।

को हि राज्यं परित्यज्य सर्वस्वं चात्मना सह ।
प्रव्रज्यायैव दीव्येत विना दुर्द्यूतदेविनम् ।। ११ ।।

निन्दनीय जूएमें आसक्त रहनेवाले उस जुआरीको छोड़कर दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपने साथ ही राज्य तथा सर्वस्वका परित्याग करके वनवास लेनेकी शर्तपर जूआ खेल सकता हो? ।। ११ ।।

यदि निष्कसहस्रेण यच्चान्यत् सारवद् धनम् ।
सायम्प्रातरदेविष्यदपि संवत्सरान् बहून् ।। १२ ।।
रुक्मं हिरण्यं वासांसि यानं युग्यमजाविकम् ।
अश्वाश्वतरसङ्घांश्च न जातु क्षयमावहेत् ।। १३ ।।

यदि वे प्रतिदिन शाम-सबेरे एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राओंसे जूआ खेलते तथा जो दूसरे बहुमूल्य धन थे, उनको—सोने, चाँदी, वस्त्र, सवारी, रथ, बकरी, भेड़, घोड़े और खच्चरों आदिके समूहको बहुत वर्षोंतक भी दाँवपर लगाते रहते, तो भी हमारा राज्य-वैभव कभी क्षीण नहीं होता ।। १२-१३ ।।

सोऽयं द्यूतप्रवादेन श्रियः प्रत्यवरोपितः ।
तूष्णीमास्ते यथा मूढः स्वानि कर्माणि चिन्तयन् ।। १४ ।।

जूएकी आसक्तिने इन्हें राजलक्ष्मीके सिंहासनसे नीचे उतार दिया है और अब ये अपने उन कर्मोंका चिन्तन करते हुए अज्ञकी भाँति चुपचाप बैठे रहते हैं ।।

दश नागसहस्राणि हयानां हेममालिनाम् ।
यं यान्तमनुयान्तीह सोऽयं द्यूतेन जीवति ।। १५ ।।

जिनके कहीं यात्रा करते समय दस हजार हाथी और सोनेकी मालाएँ पहने हुए सहस्रों घोड़े पीछे-पीछे चलते थे, वे ही महाराज यहाँ जूएसे जीविका चलाते हैं ।।

रथाः शतसहस्राणि नृपाणाममितौजसाम् ।
उपासन्त महाराजमिन्द्रप्रस्थे युधिष्ठिरम् ।। १६ ।।
शतं दासीसहस्राणां यस्य नित्यं महानसे ।
पात्रीहस्तं दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत ।। १७ ।।
एष निष्कसहस्राणि प्रदाय ददतां वरः ।
द्यूतजेन ह्यनर्थेन महता समुपाश्रितः ।। १८ ।।

इन्द्रप्रस्थमें जिनकी सवारीके लिये एक लाख रथ प्रस्तुत रहते थे और जिन महाराज युधिष्ठिरकी सेवामें सहस्रों महापराक्रमी राजा बैठा करते थे, जिनके भोजनालयमें नित्य एक

लाख दासियाँ सोनेके पात्र हाथमें लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन कराया करती थीं तथा जो दाताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर रोज सहस्रों स्वर्णमुद्राएँ दानमें बाँटा करते थे, वे ही धर्मराज यहाँ जूएमें कमाये हुए महान् अनर्थकारी धनसे जीवन-निर्वाह कर रहे हैं ।। १६—१८ ।।

एनं हि स्वरसम्पन्ना बहवः सूतमागधा ।
सायम्प्रातरुपातिष्ठन् सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।। १९ ।।

इन्द्रप्रस्थमें विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण करनेवाले बहुत-से सूत और मागध मधुर स्वरसे संयुक्त वाणीद्वारा सायंकाल और प्रातःकाल इन महाराजकी स्तुति किया करते थे ।। १९ ।।

सहस्रमृषयो यस्य नित्यमासन् सभासदः ।
तपःश्रुतोपसम्पन्नाः सर्वकामैरुपस्थिताः ।। २० ।।

तपस्या और वेदज्ञानसे सम्पन्न सहस्रों पूर्णकाम ऋषि-महर्षि प्रतिदिन इनकी राजसभामें बैठा करते थे ।।

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ।। २१ ।।

अट्ठासी हजार स्नातक गृहस्थ ब्राह्मणोंका, जिनमेंसे एक-एककी सेवाके लिये तीस-तीस दासियाँ थीं, राजा युधिष्ठिर अपने यहाँ पालन करते थे ।। २१ ।।

अप्रतिग्राहिणां चैव यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
दश चापि सहस्राणि सोऽयमास्ते नरेश्वरः ।। २२ ।।

साथ ही ये महाराज दान न लेनेवाले दस हजार ऊर्ध्वरेता संन्यासियोंका भी स्वयं ही भरण-पोषण करते थे। आज वे ही इस अवस्थामें रह रहे हैं ।। २२ ।।

आनृशंस्यमनुक्रोशं संविभागस्तथैव च ।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि सोऽयमास्ते नरेश्वरः ।। २३ ।।

जिनमें कोमलता, दया और सबको अन्न-वस्त्र देना आदि समस्त सद्‌गुण विद्यमान थे, वे ही ये महाराज आज इस दुरवस्थामें पड़े हैं ।। २३ ।।

अन्धान् वृद्धांस्तथानाथान् बालान् राष्ट्रेषु दुर्गतान् ।
बिभर्ति विविधान् राजा धृतिमान् सत्यविक्रमः ।
संविभागमना नित्यमानृशंस्याद् युधिष्ठिरः ।। २४ ।।

धैर्यवान् तथा सत्यपराक्रमी राजा युधिष्ठिर अपने कोमल स्वभावके कारण सदा सबको भोजन आदि देनेमें ही मन लगाते थे और अपने राज्यके अनेक अंधों, बूढ़ों, अनाथों, बालकों तथा दुर्गतिमें पड़े हुए लोगोंका भरण-पोषण करते रहते थे ।। २४ ।।

स एष निरयं प्राप्तो मत्स्यस्य परिचारकः ।
सभायां देविता राज्ञः कङ्को ब्रूते युधिष्ठिरः ।। २५ ।।

वे ही ये युधिष्ठिर आज मत्स्यराजके सेवक होकर परतन्त्रतारूपी नरकमें पड़े हुए हैं। ये सभामें राजाको जूआ खेलाते और कंक कहकर अपना परिचय देते हैं ।। २५ ।।

इन्द्रप्रस्थे निवसतः समये यस्य पार्थिवाः ।
आसन् बलिभृतः सर्वे सोऽद्यान्यैर्भृतिमिच्छति ।। २६ ।।

इन्द्रप्रस्थमें रहते समय जिन्हें सब राजा भेंट देते थे, वे ही आज दूसरोंसे अपने भरण-पोषणके लिये धन पानेकी इच्छा रखते हैं ।। २६ ।।

पार्थिवाः पृथिवीपाला यस्यासन् वशवर्तिनः ।
स वशे विवशो राजा परेषामद्य वर्तते ।। २७ ।।

इस पृथ्वीका पालन करनेवाले बहुत-से भूपाल जिनकी आज्ञाके अधीन थे, वे ही महाराज आज विवश होकर दूसरोंके वशमें रहते हैं ।। २७ ।।

प्रताप्य पृथिवीं सर्वां रश्मिमानिव तेजसा ।
सोऽयं राज्ञो विराटस्य सभास्तारो युधिष्ठिरः ।। २८ ।।

सूर्यकी भाँति अपने तेजसे सम्पूर्ण भूमण्डलको प्रकाशित कर अब ये धर्मराज युधिष्ठिर राजा विराटकी सभाके एक साधारण सदस्य बने हुए हैं ।। २८ ।।

यमुपासन्त राजानः सभायामृषिभिः सह ।
तमुपासीनमद्यान्यं पश्य पाण्डव पाण्डवम् ।। २९ ।।

पाण्डुनन्दन! देखो, राजसभामें ऋषियोंके साथ अनेक राजा जिनकी उपासना करते थे, वे ही पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आज दूसरेकी उपासना कर रहे हैं ।। २९ ।।

सदस्यं यमुपासीनं परस्य प्रियवादिनम् ।
दृष्ट्वा युधिष्ठिरं कोपो वर्धते मामसंशयम् ।। ३० ।।

एक सामान्य सदस्यकी हैसियतसे दूसरेकी सेवामें बैठे हुए वे विराटके मनको प्रिय लगनेवाली बातें करते हैं। महाराज युधिष्ठिरको इस दशामें देखकर निश्चय ही मेरा क्रोध बढ़ जाता है ।। ३० ।।

अतदर्हं महाप्राज्ञं जीवितार्थेऽभिसंस्थितम् ।
दृष्ट्वा कस्य न दुःखं स्याद् धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।। ३१ ।।

जो धर्मात्मा और परम बुद्धिमान् हैं, जिनका कभी इस दुरवस्थामें पड़ना उचित नहीं है, वे ही जीविकाके लिये आज दूसरेके घरमें पड़े हैं। महाराज युधिष्ठिरको इस दशामें देखकर किसे दुःख न होगा? ।। ३१ ।।

उपास्ते स्म सभायां यं कृत्स्ना वीर वसुन्धरा ।
तमुपासीनमप्यन्यं पश्य भारत भारतम् ।। ३२ ।।

वीर! पहले राजसभामें समस्त भूमण्डलके लोग जिनकी सब ओरसे उपासना करते थे, भारत! अब उन्हीं भूरतवंशशिरोमणिको आज दूसरे राजाकी सभामें बैठे देख लो ।। ३२ ।।

एवं बहुविधैर्दुःखैः पीड्यमानामनाथवत् ।

शोकसागरमध्यस्थां किं मां भीम न पश्यसि ।। ३३ ।।

भीमसेन! इस प्रकार अनेक दुःखोंसे अनाथकी भाँति पीड़ित होती हुई मैं शोकके महासागरमें डूब रही हूँ, क्या तुम मेरी यह दुर्दशा नहीं देखते? ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे अष्टादशोऽध्यायः ।। १८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीभीमसंवादविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३½ श्लोक मिलाकर कुल ४६½ श्लोक हैं।)

एकोनविंशोऽध्यायः

पाण्डवोंके दुःखसे दुःखित द्रौपदीका भीमसेनके सम्मुख विलाप

द्रौपद्युवाच

इदं तु ते महद् दुःखं यत् प्रवक्ष्यामि भारत ।
न मेऽभ्यसूया कर्तव्या दुःखादेतद् ब्रवीम्यहम् ।। १ ।।

द्रौपदी बोली—भारत! अब जो दुःख मैं तुमसे निवेदन करनेवाली हूँ, वह तो मेरे लिये और भी महान् है। तुम इसके लिये मुझे दोष न देना। मैं दुःखसे व्यथित होनेके कारण ही यह सब कह रही हूँ ।। १ ।।

सूदकर्मणि हीने त्वमसमे भरतर्षभ ।
ब्रुवन् बल्लवजातीयः कस्य शोकं न वर्धयेः ।। २ ।।

भरतर्षभ! जो तुम्हारे लिये सर्वथा अयोग्य है, ऐसे रसोइयेके नीच काममें लगे हो और अपनेको 'बल्लव' जातिका मनुष्य बताते हो। इस अवस्थामें तुम्हें देखकर किसका शोक न बढ़ेगा? ।। २ ।।

सूपकारं विराटस्य बल्लवं त्वां विदुर्जनाः ।
प्रेष्यत्वं समनुप्राप्तं ततो दुःखतरं नु किम् ।। ३ ।।

लोग तुम्हें राजा विराटके रसोइये बल्लवके नामसे जानते हैं। तुम स्वामी होकर भी आज सेवककी दशामें पड़े हो। इससे बढ़कर महान् कष्ट मेरे लिये और क्या हो सकता है? ।। ३ ।।

यदा महानसे सिद्धे विराटमुपतिष्ठसि ।
ब्रुवाणो बल्लवः सूदस्तदा सीदति मे मनः ।। ४ ।।

जब पाकशालामें भोजन बना लेनेपर तुम विराटकी सेवामें उपस्थित होते हो और कहते हो—'महाराज! बल्लव रसोइया आपको भोजनके लिये बुलाने आया है', तब यह सब सुनकर मेरा मन दुःखित हो जाता है ।। ४ ।।

यदा प्रहृष्टः सम्राट् त्वां संयोधयति कुञ्जरैः ।
हसन्त्यन्तःपुरे नार्यो मम तूद्विजते मनः ।। ५ ।।

जब विराटनरेश प्रसन्न होकर तुम्हें हाथियोंसे लड़ाते हैं, उस समय रनिवासकी दूसरी स्त्रियाँ तो हँसती हैं और मेरा हृदय शोकसे व्याकुल हो उठता है ।।

शार्दूलैर्महिषैः सिंहैरागारे योध्यसे यदा ।
कैकेय्याः प्रेक्षमाणायास्तदा मे कश्मलं भवेत् ।। ६ ।।

जब रानी सुदेष्णा दर्शक बनकर बैठती हैं और तुम महलके आँगनमें व्याघ्रों, सिंहों तथा भैंसोंसे लड़ते हो, उस समय मुझे बड़ी व्यथा होती है ।। ६ ।।

तत उत्थाय कैकेयी सर्वास्ताः प्रत्यभाषत ।
प्रेष्याः समुत्थिताश्चापि कैकेयीं ताः स्त्रियोऽब्रुवन् ।। ७ ।।
प्रेक्ष्य मामनवद्याङ्गीं कश्मलोपहतामिव ।

एक दिन उक्त पशुओंसे तुम्हारा युद्ध देखकर उठनेके बाद मुझ निर्दोष अंगोंवाली अबलाको इसी कारण शोकपीड़ित-सी देख केकयराजकुमारी सुदेष्णा अपने साथ आयी हुई सम्पूर्ण दासियोंसे और वे खड़ी हुई दासियाँ रानी कैकेयीसे इस प्रकार कहने लगीं— ।।

स्नेहात् संवासजाद् धर्मात् सूदमेषा शुचिस्मिता ।। ८ ।।
योद्धयमानं महावीर्यमियं समनुशोचति ।
कल्याणरूपा सैरन्ध्री बल्लवश्चापि सुन्दरः ।। ९ ।।

'यह पवित्र मुसकानवाली सैरन्ध्री पहले (युधिष्ठिरके यहाँ) एक स्थानमें साथ-साथ रहनेके कारण पैदा होनेवाले स्नेहसे अथवा धर्मसे प्रेरित होकर उस महापराक्रमी रसोइयेको पशुओंसे लड़ते देख उसके लिये बार-बार शोक करने लगती है। सैरन्ध्रीका रूप तो मंगलमय है ही, बल्लव भी बड़ा सुन्दर है ।। ८-९ ।।

स्त्रीणां चित्तं च दुर्ज्ञेयं युक्तरूपौ च मे मतौ ।
सैरन्ध्री प्रियसंवासान्नित्यं करुणवादिनी ।। १० ।।

'स्त्रियोंके हृदयको समझ लेना बहुत कठिन है, हमें तो यह जोड़ी अच्छी जान पड़ती है। सैरन्ध्री अपने प्रिय सम्बन्धके कारण जब रसोइयेको हाथी आदिसे लड़ानेकी बात की जाती है, तब (अत्यन्त दीन-सी होकर) सदा करुणायुक्त वचन बोलने लगती है ।। १० ।।

अस्मिन् राजकुले चेमौ तुल्यकालनिवासिनौ ।
इति ब्रुवाणा वाक्यानि सा मां नित्यमतर्जयत् ।। ११ ।।

'क्यों न हो, इस राजपरिवारमें भी तो ये दोनों एक ही समयसे निवास करते हैं?' इस तरहकी बातें कहकर रानी सुदेष्णा प्रायः नित्य मुझे झिड़का करती हैं ।।

क्रुध्यन्तीं मां च सम्प्रेक्ष्य समशङ्कत मां त्वयि ।
तस्यां तथा ब्रुवत्यां तु दुःखं मां महदाविशत् ।। १२ ।।

और मुझे क्रोध करती देख तुम्हारे प्रति मेरे गुप्त प्रेमकी आशंका कर बैठती हैं। जब-जब वे वैसी बातें कहती हैं, उस समय मुझे बहुत दुःख होता है ।। १२ ।।

त्वय्येवं निरयं प्राप्ते भीमे भीमपराक्रमे ।
शोके यौधिष्ठिरे मग्ना नाहं जीवितुमुत्सहे ।। १३ ।।

भीम! भयंकर पराक्रम दिखानेवाले होकर भी तुम ऐसे नरकतुल्य कष्ट भोग रहे हो और उधर महाराज युधिष्ठिरको भी भारी शोक सहन करना पड़ता है। इस प्रकार मैं दुःखके समुद्रमें डूबी हुई हूँ। अब मुझे जीवित रहनेका तनिक भी उत्साह नहीं है ।। १३ ।।

यः सदेवान् मनुष्यांश्च सर्वांश्चैकरथोऽजयत् ।
सोऽयं राज्ञो विराटस्य कन्यानां नर्तको युवा ।। १४ ।।

वह तरुण वीर अर्जुन, जो अकेले ही रथमें बैठकर सम्पूर्ण मनुष्यों तथा देवताओंपर भी विजय पा चुका है, आज राजा विराटकी कन्याओंको नाचना सिखाता है ।।

योऽतर्पयदमेयात्मा खाण्डवे जातवेदसम् ।
सोऽन्तःपुरगतः पार्थ कूपेऽग्निरिव संवृतः ।। १५ ।।

कुन्तीनन्दन! जो असीम आत्मबलसे सम्पन्न है, जिसने खाण्डववनमें साक्षात् अग्निदेवको तृप्त किया था, वही वीर अर्जुन आज कुएँमें पड़ी हुई अग्निकी तरह अन्तःपुरमें छिपा हुआ है ।। १५ ।।

यस्माद् भयममित्राणां सदैव पुरुषर्षभात् ।
स लोकपरिभूतेन वेषेणास्ते धनंजयः ।। १६ ।।

जो पुरुषोंमें श्रेष्ठ है, जिससे शत्रुओंको सदा ही भय प्राप्त होता आया है, वही धनंजय आज लोकनिन्दित नपुंसकवेषमें रह रहा है ।। १६ ।।

यस्य ज्याक्षेपकठिनौ बाहू परिघसंनिभौ ।
स शङ्खपरिपूर्णाभ्यां शोचन्नास्ते धनंजयः ।। १७ ।।

जिसकी परिघ (लोहदण्ड)-के समान मोटी भुजाएँ प्रत्यञ्चा खींचते-खींचते कठोर हो गयी थीं, वही धनंजय आज हाथोंमें शंखकी चूड़ियाँ पहनकर दुःख भोग रहा है ।।

यस्य ज्यातलनिर्घोषात् समकम्पन्त शत्रवः ।
स्त्रियो गीतस्वनं तस्य मुदिताः पर्युपासते ।। १८ ।।

जिसके धनुषकी टंकारसे समस्त शुत्र थर्रा उठते थे, आज अन्तःपुरकी स्त्रियाँ उसीके गीतोंकी ध्वनि सुनती और प्रसन्न होती हैं ।। १८ ।।

किरीटं सूर्यसंकाशं यस्य मूर्द्धन्यशोभत ।
वेणीविकृतकेशान्तः सोऽयमद्य धनंजयः ।। १९ ।।

जिसके मस्तकपर सूर्यके समान तेजस्वी किरीट शोभा पाता था, सिरपर चोटी धारण करनेके कारण उसी अर्जुनके केशोंकी शोभा बिगड़ गयी है ।। १९ ।।

तं वेणीकृतकेशान्तं भीमधन्वानमर्जुनम् ।
कन्यापरिवृतं दृष्ट्वा भीम सीदति मे मनः ।। २० ।।

भीम! भयंकर गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले वीर अर्जुनको अपने सिरपर केशोंकी चोटी धारण किये कन्याओंसे घिरा देख मेरा हृदय विषादसे भर जाता है ।।

यस्मिन्नस्त्राणि दिव्यानि समस्तानि महात्मनि ।
आधारः सर्वविद्यानां स धारयति कुण्डले ।। २१ ।।

जिस महात्मामें सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्रतिष्ठित हैं तथा जो समस्त विद्याओंका आधार है, वह आज कानोंमें (स्त्रियोंकी भाँति) कुण्डल धारण करता है ।। २१ ।।

स्प्रष्टुं राजसहस्राणि तेजसाप्रतिमानि वै ।
समरे नाभ्यवर्तन्त वेलामिव महार्णवः ।। २२ ।।
सोऽयं राज्ञो विराटस्य कन्यानां नर्तको युवा ।
आस्ते वेषप्रतिच्छन्नः कन्यानां परिचारकः ।। २३ ।।

जैसे महासागर तट सीमाको नहीं लाँघ पाता, उसी प्रकार सहस्रों अप्रतिम तेजवाले राजा जिस वीरको वशीभूत करनेके लिये आगे न बढ़ सके, वही तरुण अर्जुन इस समय राजा विराटकी कन्याओंको नाचना सिखा रहा है और हीजड़ेके वेषमें छिपकर उन कन्याओंकी सेवा करता है ।। २२-२३ ।।

यस्य स्म रथघोषेण समकम्पत मेदिनी ।
सपर्वतवना भीम सहस्थावरजङ्गमा ।। २४ ।।
यस्मिन् जाते महाभागे कुन्त्याः शोको व्यनश्यत ।
स शोचयति मामद्य भीमसेन तवानुजः ।। २५ ।।

भीमसेन! जिसके रथकी घर्घराहटसे पर्वत, वन और चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वी काँप उठती थी, जिस महान् भाग्यशाली पुत्रके उत्पन्न होनेपर माता कुन्तीका सारा शोक नष्ट हो गया था, वही तुम्हारा छोटा भाई अर्जुन आज अपनी दुरवस्थाके कारण मुझे शोकमग्न किये देता है ।। २४-२५ ।।

भूषितं तमलंकारैः कुण्डलैः परिहाटकैः ।
कम्बुपाणिनमायान्तं दृष्ट्वा सीदति मे मनः ।। २६ ।।

अर्जुनको स्त्रीजनोचित आभूषणों तथा सुवर्णमय कुण्डलोंसे विभूषित हो हाथोंमें शंखकी चूड़ियाँ धारण किये आते देख मेरा हृदय दुःखित हो जाता है ।। २६ ।।

यस्य नास्ति समो वीर्ये कश्चिदुर्व्यां धनुर्धरः ।
सोऽद्य कन्यापरिवृतो गायन्नास्ते धनंजयः ।। २७ ।।

इस भूतलपर जिसके बल-पराक्रमकी समानता करनेवाला कोई धनुर्धर वीर नहीं है, वही धनंजय आज राजकन्याओंके बीचमें बैठकर गीत गाया करता है ।। २७ ।।

धर्मे शौर्ये च सत्ये च जीवलोकस्य सम्मतम् ।
स्त्रीवेषविकृतं पार्थं दृष्ट्वा सीदति मे मनः ।। २८ ।।

धर्म, शूरवीरता और सत्यभाषणमें जो सम्पूर्ण जीव-जगत्के लिये एक आदर्श था, उसी अर्जुनको अब स्त्रीवेषमें विकृत हुआ देखकर मेरा हृदय शोकमें डूब जाता है ।। २८ ।।

यदा ह्येनं परिवृतं कन्याभिर्देवरूपिणम् ।
प्रभिन्नमिव मातङ्गं परिकीर्णं करेणुभिः ।। २९ ।।
मत्स्यमर्थपतिं पार्थं विराटं समुपस्थितम् ।
पश्यामि तूर्यमध्यस्थं दिशो नश्यन्ति मे तदा ।। ३० ।।

हथिनियोंसे घिरे हुए गण्डस्थलसे मधुकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति जब वाद्ययन्त्रोंके बीचमें बैठे हुए देवरूपधारी कुन्तीनन्दन अर्जुनको (नृत्यशालामें) कन्याओंसे घिरकर धनपति मत्स्यराज विराटकी सेवामें उपस्थित देखती हूँ, उस समय मेरी आँखोंमें अँधेरा छा जाता है; मुझे दिशाएँ नहीं सूझती हैं ।। २९-३० ।।

नूनमार्या न जानाति कृच्छ्रं प्राप्तं धनंजयम् ।
अजातशत्रुं कौरव्यं मग्नं दुर्द्यूतदेविनम् ।। ३१ ।।

निश्चय ही मेरी सास कुन्ती नहीं जानती होंगी कि मेरा पुत्र धनंजय ऐसे संकटमें पड़ा है और खोटे जूएके खेलमें आसक्त कुरुवंशशिरोमणि अजातशत्रु युधिष्ठिर भी शोकमें डूबे हुए हैं ।। ३१ ।।

(ऐन्द्रवारुणवायव्यब्राह्माग्नेयैश्च वैष्णवैः ।
अग्नीन् संतर्पयन् पार्थः सर्वांश्चैकरथोऽजयत् ।।
दिव्यैरस्त्रैरचिन्त्यात्मा सर्वशत्रुनिबर्हणः ।।
दिव्यं गान्धर्वमस्त्रं च वायव्यमथ वैष्णवम् ।
ब्राह्मं पाशुपतं चैव स्थूणाकर्णं च दर्शयन् ।।
पौलोमान् कालकेयांश्च इन्द्रशत्रून् महासुरान् ।
निवातकवचैः सार्धं घोरानेकरथोऽजयत् ।
सोऽन्तःपुरगतः पार्थः कूपेऽग्निरिव संवृतः ।।

जिन कुन्तीकुमार अर्जुनने ऐन्द्र, वारुण, वायव्य, ब्राह्म, आग्नेय और वैष्णव अस्त्रोंद्वारा अग्निदेवको तृप्त करते हुए एकमात्र रथकी सहायतासे सब देवताओंको जीत लिया, जिनका आत्मबल अचिन्त्य है, जो अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा समस्त शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ हैं, जिन्होंने एकमात्र रथपर आरूढ़ हो दिव्य गान्धर्व, वायव्य, वैष्णव, ब्राह्म, पाशुपत तथा स्थूणाकर्ण नामक अस्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए युद्धमें निवातकवचोंसहित भयंकर पौलोम और कालकेय आदि महान् असुरोंको, जो इन्द्रसे शत्रुता रखनेवाले थे, परास्त कर दिया था, वे ही अर्जुन आज अन्तःपुरमें उसी प्रकार छिपे बैठे हैं, जैसे प्रज्वलित अग्नि कुएँमें ढक दी गयी हो।

कन्यापुरगतं दृष्ट्वा गोष्ठेष्विव महर्षभम् ।
स्त्रीवेषविकृतं पार्थं कुन्तीं गच्छति मे मनः ।।)

जैसे बड़ा भारी साँड़ गोशालाओंमें आबद्ध हो, उसी प्रकार स्त्रियोंके वेषसे विकृत अर्जुनको कन्याओंके अन्तःपुरमें देखकर मेरा मन बार-बार कुन्तीदेवीकी याद करता है।

तथा दृष्ट्वा यवीयांसं सहदेवं गवां पतिम् ।
गोषु गोवेषमायान्तं पाण्डुभूतास्मि भारत ।। ३२ ।।

भारत! इसी प्रकार तुम्हारे छोटे भाई सहदेवको, जो गौओंका पालक बनाया गया है, जब मैं गौओंके बीच ग्वालेके वेशमें आते देखती हूँ, तो मेरा रक्त सूख जाता है और सारा

शरीर पीला पड़ जाता है ।। ३२ ।।

सहदेवस्य वृत्तानि चिन्तयन्ती पुनः पुनः ।
न निद्रामभिगच्छामि भीमसेन कुतो रतिम् ।। ३३ ।।

भीमसेन! सहदेवकी दुर्दशाका बार-बार चिन्तन करनेके कारण मुझे कभी नींदतक नहीं आती; फिर सुख कहाँसे मिल सकता है? ।। ३३ ।।

न विन्दामि महाबाहो सहदेवस्य दुष्कृतम् ।
यस्मिन्नेवंविधं दुःखं प्राप्नुयात् सत्यविक्रमः ।। ३४ ।।

महाबाहो! जहाँतक मैं जानती हूँ, सहदेवने कभी कोई पाप नहीं किया है, जिससे इस सत्यपराक्रमी वीरको ऐसा दुःख उठाना पड़े ।। ३४ ।।

दूयामि भरतश्रेष्ठ दृष्ट्वा ते भ्रातरं प्रियम् ।
गोषु गोवृषसंकाशं मत्स्येनाभिनिवेशितम् ।। ३५ ।।

भरतश्रेष्ठ! साँड़के समान हृष्ट-पुष्ट तुम्हारे प्रिय भ्राता सहदेवको राजा विराटके द्वारा गौओंकी सेवामें लगाया गया देख मुझे बड़ा दुःख होता है ।। ३५ ।।

संरब्धं रक्तनेपथ्यं गोपालानां पुरोगमम् ।
विराटमभिनन्दन्तमथ मे भवति ज्वरः ।। ३६ ।।

गेरू आदिसे लाल रंगका शृंगार धारण किये ग्वालोंके अगुआ बने हुए सहदेवको उद्विग्न होनेपर भी जब मैं राजा विराटका अभिनन्दन करते देखती हूँ, तब मुझे बुखार चढ़ आता है ।। ३६ ।।

सहदेवं हि मे वीर नित्यमार्या प्रशंसति ।
महाभिजनसम्पन्नः शीलवान् वृत्तवानिति ।। ३७ ।।

वीर! आर्या कुन्ती मुझसे सहदेवकी सदा प्रशंसा किया करती थीं कि यह महान् कुलमें उत्पन्न, शीलवान् और सदाचारी है ।। ३७ ।।

ह्रीनिषेवो मधुरवाग्धार्मिकश्च प्रियश्च मे ।
स तेऽरण्येषु वोढव्यो याज्ञसेनि क्षपास्वपि ।। ३८ ।।
सुकुमारश्च शूरश्च राजानं चाप्यनुव्रतः ।
ज्येष्ठापचायिनं वीरं स्वयं पाञ्चालि भोजयेः ।। ३९ ।।
इत्युवाच हि मां कुन्ती रुदती पुत्रगृद्धिनी ।
प्रव्रजन्तं महारण्यं तं परिष्वज्य तिष्ठती ।। ४० ।।

मुझे स्मरण है, जब सहदेव महान् वनमें आने लगे, उस समय पुत्रवत्सला माता कुन्ती उन्हें हृदयसे लगाकर खड़ी हो गयीं और रोती हुई मुझसे यों कहने लगीं—‘याज्ञसेनी! सहदेव बड़ा लज्जाशील, मधुरभाषी और धार्मिक है। यह मुझे अत्यन्त प्रिय है। इसे वनमें रात्रिके समय तुम स्वयं सँभालकर (हाथ पकड़कर) ले जाना, क्योंकि यह सुकुमार है (सम्भव है, थकावटके कारण चल न सके)। मेरा सहदेव शूरवीर, राजा युधिष्ठिरका भक्त,

अपने बड़े भाईका पुजारी और वीर है। पाञ्चालराजकुमारी! तुम इसे अपने हाथों भोजन कराना ।। ३८—४० ।।

तं दृष्ट्वा व्यापृतं गोषु वत्सचर्मक्षपाशयम् ।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं किं नु जीवामि पाण्डव ।। ४१ ।।

पाण्डुनन्दन! योद्धाओंमें श्रेष्ठ उसी सहदेवको जब मैं गौओंकी सेवामें तत्पर और बछड़ोंके चमड़ेपर रातमें सोते देखती हूँ, तब किसलिये जीवन धारण करूँ'? ।। ४१ ।।

यस्त्रिभिर्नित्यसम्पन्नो रूपेणास्त्रेण मेधया ।
सोऽश्वबन्धो विराटस्य पश्य कालस्य पर्ययम् ।। ४२ ।।

इसी प्रकार जो सुन्दर रूप, अस्त्रबल और मेधाशक्ति—इन तीनोंसे सदा सम्पन्न रहता है, वह वीरवर नकुल आज विराटके यहाँ घोड़े बाँधता है। देखो, कालकी कैसी विपरीत गति है? ।। ४२ ।।

अभ्यकीर्यन्त वृन्दानि दामग्रन्थिमुदीक्ष्य तम् ।
विनयन्तं जवेनाश्वान् महाराजस्य पश्यतः ।। ४३ ।।

जिसे देखकर शत्रुओंके समुदाय बिखर जाते—भाग खड़े होते हैं, वही अब ग्रन्थिक बनकर घोड़ोंकी रास खोलता और बाँधता है तथा महाराजके सामने अश्वोंको वेगसे चलनेकी शिक्षा देता है ।। ४३ ।।

अपश्यमेनं श्रीमन्तं मत्स्यं भ्राजिष्णुमुत्तमम् ।
विराटमुपतिष्ठन्तं दर्शयन्तं च वाजिनः ।। ४४ ।।

मैंने शोभासम्पन्न, तेजस्वी तथा उत्तम रूपवाले नकुलको अपनी आँखों देखा है। वह मत्स्यनरेश विराटको भाँति-भाँतिके घोड़े दिखाता और उनकी सेवामें खड़ा रहता है ।। ४४ ।।

किं नु मां मन्यसे पार्थ सुखिनीति परंतप ।
एवं दुःखशताविष्टा युधिष्ठिरनिमित्ततः ।। ४५ ।।

कुन्तीनन्दन! शत्रुदमन! क्या तुम समझते हो, यह सब देखकर मैं सुखी हूँ। राजा युधिष्ठिरके कारण ऐसे सैकड़ों दुःख मुझे सदा घेरे रहते हैं ।। ४५ ।।

अतः प्रतिविशिष्टानि दुःखान्यन्यानि भारत ।
वर्तन्ते मयि कौन्तेय वक्ष्यामि शृणु तान्यपि ।। ४६ ।।

भारत! कुन्तीकुमार! इनसे भी भारी दूसरे दुःख मुझपर आ पड़े हैं, उनका भी वर्णन करती हूँ, सुनो ।।

युष्मासु ध्रियमाणेषु दुःखानि विविधान्युत ।
शोषयन्ति शरीरं मे किं नु दुःखमतः परम् ।। ४७ ।।

तुम सबके जीते-जी नाना प्रकारके कष्ट मेरे शरीरको सुखा रहे हैं, इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है? ।। ४७ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे एकोनविंशोऽध्यायः ।। १९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीभीमसेनसंवादविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ५२ श्लोक हैं।)

विंशोऽध्यायः

द्रौपदीद्वारा भीमसेनसे अपना दुःख निवेदन करना

द्रौपद्युवाच

अहं सैरन्ध्रिवेषेण चरन्ती राजवेश्मनि ।
शौचदास्मि सुदेष्णाया अक्षधूर्तस्य कारणात् ।। १ ।।

द्रौपदी कहती है—परंतप! तुम्हारे जूएमें चतुर चालाक भाईके कारण आज मैं राजमहलमें सैरन्ध्रीका वेश धारण करके टहल बजाती और रानी सुदेष्णाको स्नानकी वस्तुएँ जुटाकर देती हूँ ।। १ ।।

विक्रियां पश्य मे तीव्रां राजपुत्र्याः परंतप ।
आत्मकालमुदीक्षन्ती सर्वं दुःखं किलान्तवत् ।। २ ।।

राजपुत्री होकर भी मुझे कैसा भारी हीन कार्य करना पड़ता है, यह अपनी आँखों देख लो; परंतु सब लोग अपने अभ्युदयका अवसर देखते रहते हैं; क्योंकि यदि दुःख आता है तो उसका अन्त भी होता ही है ।। २ ।।

अनित्या किल मर्त्यानामर्थसिद्धिर्जयाजयौ ।
इति कृत्वा प्रतीक्षामि भर्तॄणामुदयं पुनः ।। ३ ।।

मनुष्योंकी अर्थ-सिद्धि या जय-पराजय अनित्य हैं। वे सदा स्थिर नहीं रहते। यही सोचकर मैं अपने पतियोंके पुनः अभ्युदयकी प्रतीक्षा करती हूँ ।। ३ ।।

चक्रवत्परिवर्तन्ते ह्यर्थाश्च व्यसनानि च ।
इति कृत्वा प्रतीक्षामि भर्तॄणामुदयं पुनः ।। ४ ।।

धन और व्यसन (सम्पत्ति और विपत्ति) सदा गाड़ीके पहियेकी तरह घूमा करते हैं; ऐसा विचारकर मैं पतियोंके पुनः अभ्युदयकालकी प्रतीक्षा करती हूँ ।। ४ ।।

य एव हेतुर्भवति पुरुषस्य जयावहः ।
पराजये च हेतुश्च स इति प्रतिपालये ।
किं मां न प्रतिजानीषे भीमसेन मृतामिव ।। ५ ।।

जो काल मनुष्यके लिये विजयदायक होता है, वही उसकी पराजयका भी कारण बन जाता है। ऐसा विचारकर मैं अपने पक्षकी विजयके अवसरकी राह देखती हूँ। भीमसेन! क्या तुम नहीं जानते कि इन दुःखोंके आघातसे मैं मरी हुई-सी हो गयी हूँ ।। ५ ।।

दत्त्वा याचन्ति पुरुषा हत्वा वध्यन्ति चापरे ।
पातयित्वा च पात्यन्ते परैरिति च मे श्रुतम् ।। ६ ।।

मैंने सुना है, जो मनुष्य दान करते हैं, वे ही कभी याचनाके लिये विवश हो जाते हैं। दूसरे बहुत-से मनुष्य ऐसे हैं, जो दूसरोंको मारकर स्वयं भी दूसरोंके द्वारा मारे जाते हैं तथा

जो दूसरोंको नीचे गिराते हैं, वे स्वयं भी दूसरे प्रतिपक्षियोंद्वारा नीचे गिराये जाते हैं ।। ६ ।।

न दैवस्यातिभारोऽस्ति न चैवास्यातिवर्तनम् ।
इति चाप्यागमं भूयो दैवस्य प्रतिपालये ।। ७ ।।

अतः दैवके लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है। दैवके विधानको लाँघ जाना भी असम्भव है। इसलिये मैं दैवकी प्रधानता बतानेवाले शास्त्र-वचनोंका पालन करती—उन्हें आदर देती हूँ ।। ७ ।।

स्थितं पूर्वं जलं यत्र पुनस्तत्रैव गच्छति ।
इति पर्यायमिच्छन्ती प्रतीक्षे उदयं पुनः ।। ८ ।।

पानी जहाँ पहले स्थिर होता है, वह फिर भी वहीं ठहरता है। इस क्रमको चाहती हुई मैं पुनः अभ्युदयकालकी प्रतीक्षा करती हूँ ।। ८ ।।

दैवेन किल यस्यार्थः सुनीतोऽपि विपद्यते ।
दैवस्य चागमे यत्नस्तेन कार्यो विजानता ।। ९ ।।

उत्तम नीतिद्वारा सुरक्षित पदार्थ भी यदि दैव प्रतिकूल हो तो उसके द्वारा नष्ट हो जाता है; अतः विज्ञ पुरुषको दैवको अनुकूल बनानेका ही प्रयत्न करना चाहिये ।। ९ ।।

यत् तु मे वचनस्यास्य कथितस्य प्रयोजनम् ।
पृच्छ मां दुःखितां तत्त्वं पृष्टा चात्र ब्रवीमि ते ।। १० ।।

मैंने इस समय जो ये बातें कही हैं, इनका क्या प्रयोजन है? यह मुझ दुखियासे पूछो। तुम्हारे पूछनेपर यहाँ मैं यथार्थ बात बताती हूँ, सुनो ।। १० ।।

महिषी पाण्डुपुत्राणां दुहिता द्रुपदस्य च ।
इमामवस्थां सम्प्राप्ता मदन्या का जिजीविषेत् ।। ११ ।।

मैं पाण्डवोंकी पटरानी और द्रुपदकी पुत्री होकर भी ऐसी दुर्दशामें पड़ी हूँ। मेरे सिवा दूसरी कौन स्त्री ऐसी अवस्थामें जीना चाहेगी? ।। ११ ।।

कुरून् परिभवेत् सर्वान् पञ्चालानपि भारत ।
पाण्डवेयांश्च सम्प्राप्तो मम क्लेशो ह्यरिंदम ।। १२ ।।

भारत! शत्रुदमन! मुझपर पड़ा हुआ यह क्लेश समस्त कौरवों, पाञ्चालों और पाण्डवोंके लिये अपमानकी बात है ।। १२ ।।

भ्रातृभिः श्वशुरैः पुत्रैर्बहुभिः परिवारिता ।
एवं समुदिता नारी का त्वन्या दुःखिता भवेत् ।। १३ ।।

जिसके बहुत-से भाई, श्वशुर और पुत्र हों, जो इन सबसे घिरी हुई हो तथा भलीभाँति अभ्युदयशील हो, ऐसी परिस्थितिमें मेरे सिवा दूसरी कौन स्त्री दुःख भोगनेके लिये विवश हुई होगी? ।। १३ ।।

नूनं हि बालया धातुर्मया वै विप्रियं कृतम् ।
यस्य प्रसादाद् दुर्नीतं प्राप्तास्मि भरतर्षभ ।। १४ ।।

भरतश्रेष्ठ! जान पड़ता है, बचपनमें मैंने विधाताका निश्चय ही महान् अपराध किया है, जिसके फलस्वरूप मैं आज इस दुर्दशामें पड़ गयी हूँ ।। १४ ।।

वर्णावकाशमपि मे पश्य पाण्डव यादृशम् ।

तादृशो मे न तत्रासीद् दुःखे परमके तदा ।। १५ ।।

पाण्डुनन्दन! देखो, मेरे शरीरकी कान्ति कैसी फीकी पड़ गयी है! यहाँ नगरमें मेरी जो अवस्था है, वह उन दिनों अत्यन्त दुःखपूर्ण वनवासके समय भी नहीं थी ।। १६ ।।

त्वमेव भीम जानीषे यन्मे पार्थ सुखं पुरा ।

साहं दासीत्वमापन्ना न शान्तिमवशा लभे ।। १६ ।।

नादैविकमहं मन्ये यत्र पार्थो धनंजयः ।

भीमधन्वा महाबाहुरास्ते छन्न इवानलः ।। १७ ।।

भीमसेन! तुम्हीं जानते हो, पहले मुझे कितना सुख था। यहाँ आकर जबसे मैं दासीभावको प्राप्त हुई हूँ, तभीसे परतन्त्र होनेके कारण मुझे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती है। इसे मैं दैवकी ही लीला मानती हूँ। जहाँ प्रचण्ड धनुष धारण करनेवाले महाबाहु अर्जुन भी राखसे ढकी हुई अग्निकी भाँति रनिवासमें छिपकर रहते हैं ।। १६-१७ ।।

अशक्या वेदितुं पार्थ प्राणिनां वै गतिर्नरैः ।

विनिपातमिमं मन्ये युष्माकं ह्यविचिन्तितम् ।। १८ ।।

कुन्तीनन्दन! दैवाधीन प्राणियोंकी कब क्या गति होगी, इसे जानना मनुष्योंके लिये सर्वथा असम्भव है। मैं तो समझती हूँ, तुमलोगोंकी जो यह अवनति हुई है, इसकी किसीके मनमें कल्पनातक नहीं थी ।। १८ ।।

यस्या मम मुखप्रेक्षा यूयमिन्द्रसमाः सदा ।

सा प्रेक्षे मुखमन्यासामवराणां वरा सती ।। १९ ।।

एक दिन वह था कि इन्द्रके समान पराक्रमी तुम सब भाई सदा मेरा मुँह निहारा करते थे। आज वही मैं श्रेष्ठ होकर भी अपनेसे निकृष्ट दूसरी स्त्रियोंका मुँह जोहती रहती हूँ ।। १९ ।।

पश्य पाण्डव मेऽवस्थां यथा नार्हामि वै तथा ।

युष्मासु ध्रियमाणेषु पश्य कालस्य पर्ययम् ।। २० ।।

यस्याः सागरपर्यन्ता पृथिवी वशवर्तिनी ।

आसीत् साद्य सुदेष्णाया भीताहं वशवर्तिनी ।। २१ ।।

पाण्डुनन्दन! देखो, तुम सबके जीते-जी मैं ऐसी बुरी हालतमें पड़ी हूँ, जो मेरे लिये कदापि उचित नहीं है। समयके इस उलट-फेरको तो देखो; एक दिन समुद्रके पासतककी सारी पृथ्वी जिसके अधीन थी, वही मैं आज सुदेष्णाके वशमें होकर उससे डरती रहती हूँ ।। २०-२१ ।।

यस्याः पुरःसरा आसन् पृष्ठतश्चानुगामिनः ।

साहमद्य सुदेष्णायाः पुरः पश्चाच्च गामिनी ।। २२ ।।

जिसके आगे और पीछे बहुत-से सेवक रहा करते थे, वही मैं अब रानी सुदेष्णाके आगे और पीछे चलती हूँ ।। २२ ।।

इदं तु दुःखं कौन्तेय ममासह्यं निबोध तत् ।
या न जातु स्वयं पिंषे गात्रोद्वर्तनमात्मनः ।
अन्यत्र कुन्त्या भद्रं ते सा पिनष्म्यद्य चन्दनम् ।। २३ ।।
पश्य कौन्तेय पाणी मे नैवाभूतां हि यौ पुरा ।

कुन्तीकुमार! इसके सिवा मेरे एक और असह्य दुःखको तो देखो। पहले मैं माता कुन्तीको छोड़कर (और किसीके लिये तो क्या) स्वयं अपने लिये भी कभी उबटन नहीं पीसती थी; किंतु वही मैं आज दूसरोंके लिये चन्दन घिसती हूँ। पार्थ! देखो, ये मेरे दोनों हाथ, जिनमें घट्ठे पड़ गये हैं, पहले ये ऐसे नहीं थे ।। २३½ ।।

इत्यस्य दर्शयामास किणवन्तौ करावुभौ ।। २४ ।।

ऐसा कहकर द्रौपदीने भीमसेनको अपने दोनों हाथ दिखाये, जिनमें चन्दन रगड़नेसे काले दाग पड़ गये थे ।। २४ ।।

बिभेमि कुन्त्या या नाहं युष्माकं वा कदाचन ।
साद्याग्रतो विराटस्य भीता तिष्ठामि किङ्करी ।। २५ ।।

(फिर वह सिसकती हुई बोली—) 'नाथ! जो पहले कभी आर्या कुन्तीसे अथवा तुमलोगोंसे भी नहीं डरती थी, वही द्रौपदी आज दासी होकर राजा विराटके आगे भयभीत-सी खड़ी रहती है' ।। २५ ।।

किं नु वक्ष्यति सम्राण्मां वर्णकः सुकृतो न वा ।
नान्यपिष्टं हि मत्स्यस्य चन्दनं किल रोचते ।। २६ ।।

उस समय मैं सोचती हूँ, 'न जाने सम्राट् मुझे क्या कहेंगे? यह उबटन अच्छा बना है या नहीं।' मेरे सिवा दूसरेका पीसा हुआ चन्दन मत्स्यराजको अच्छा ही नहीं लगता ।। २६ ।।

वैशम्पायन उवाच

सा कीर्तयन्ती दुःखानि भीमसेनस्य भामिनी ।
रुरोद शनकैः कृष्णा भीमसेनमुदीक्षती ।। २७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भामिनी द्रौपदी इस प्रकार भीमसेनसे अपने दुःख बताकर उनके मुखकी ओर देखती हुई धीरे-धीरे रोने लगी ।। २७ ।।

सा बाष्पकलया वाचा निःश्वसन्ती पुनः पुनः ।
हृदयं भीमसेनस्य घट्टयन्तीदमब्रवीत् ।। २८ ।।

वह बार-बार लंबी साँसें लेती हुई आँसुओंसे गद्गद वाणीमें भीमसेनके हृदयको कम्पित करती हुई इस प्रकार बोली— ।। २८ ।।

नाल्पं कृतं मया भीम देवानां किल्बिषं पुरा ।
अभाग्या यत्र जीवामि कर्तव्ये सति पाण्डव ।। २९ ।।

'पाण्डुनन्दन भीमसेन! मैंने पूर्वकालमें देवताओंका थोड़ा अपराध नहीं किया है, तभी तो मुझ अभागिनीको जहाँ मर जाना चाहिये, उस दशामें भी मैं जी रही हूँ' ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तस्याः करौ सूक्ष्मौ किणबद्धौ वृकोदरः ।
मुखमानीय वै पत्न्या रुरोद परवीरहा ।। ३० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर शत्रुहन्ता भीमसेन अपनी पत्नी द्रौपदीके दुबले-पतले हाथोंको, जिनमें घट्ठे पड़ गये थे, अपने मुखपर लगाकर रो पड़े ।। ३० ।।

तौ गृहीत्वा च कौन्तेयो बाष्पमुत्सृज्य वीर्यवान् ।
ततः परमदुःखार्त इदं वचनमब्रवीत् ।। ३१ ।।

फिर पराक्रमी भीमने उन हाथोंको पकड़कर आँसू बहाते हुए अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो इस प्रकार कहा ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीभीमसंवादे विंशोऽध्यायः ।। २० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदी-भीम-संवादविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २० ।।

एकविंशोऽध्यायः

भीमसेन और द्रौपदीका संवाद

भीमसेन उवाच

धिगस्तु मे बाहुबलं गाण्डीवं फाल्गुनस्य च ।
यत् ते रक्तौ पुरा भूत्वा पाणी कृतकिणाविमौ ।। १ ।।

भीमसेन बोले—देवि! मेरे बाहुबलको तथा अर्जुनके गाण्डीव धनुषको भी धिक्कार है; क्योंकि तुम्हारे ये दोनों कोमल हाथ, जो पहले लाल थे, अब घट्ठे पड़नेसे काले हो गये हैं ।। १ ।।

सभायां तु विराटस्य करोमि कदनं महत् ।
तत्र मे कारणं भाति कौन्तेयो यत् प्रतीक्षते ।। २ ।।

मैं तो उसी दिन विराटकी सभामें ही भारी संहार मचा देता, किंतु ऐसा न करनेमें कारण बन गये कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर। वे प्रकट हो जानेका भय सूचित करते हुए मेरी ओर देखने लगे ।। २ ।।

अथवा कीचकस्याहं पोथयामि पदा शिरः ।
ऐश्वर्यमदमत्तस्य क्रीडन्निव महाद्विपः ।। ३ ।।

अथवा ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हुए उस कीचकका मस्तक मैं उसी प्रकार पैरोंसे रौंद डालता जैसे क्रीडा करता हुआ महान् गजराज कीचक (बाँस)-के वृक्षको मसल डालता है ।। ३ ।।

अपश्यं त्वां यदा कृष्णे कीचकेन पदा हताम् ।
तदैवाहं चिकीर्षामि मत्स्यानां कदनं महत् ।। ४ ।।

कृष्णे! जब कीचकने तुम्हें लातसे मारा था, उस समय मैं वहीं था और अपनी आँखों यह घटना मैंने देखी थी। उसी क्षण मेरी इच्छा हुई कि आज इन मत्स्यदेशवासियोंका महासंहार कर डालूँ ।। ४ ।।

तत्र मां धर्मराजस्तु कटाक्षेण न्यवारयत् ।
तदहं तस्य विज्ञाय स्थित एवास्मि भामिनि ।। ५ ।।

किंतु धर्मराजने वहाँ नेत्रोंसे संकेत करके मुझे ऐसा करनेसे रोक दिया। भामिनि! उनके उस इशारेको समझकर ही मैं चुप रह गया ।। ५ ।।

यच्च राष्ट्रात् प्रच्यवनं कुरूणामवधश्च यः ।
सुयोधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ।। ६ ।।
दुःशासनस्य पापस्य यन्मया नाहृतं शिरः ।
तन्मे दहति गात्राणि हृदि शल्यमिवार्पितम् ।

मा धर्मं जहि सुश्रोणि क्रोधं जहि महामते ।। ७ ।।

जिस दिन हमें राज्यसे वञ्चित किया गया, उसी दिन जो कौरवोंका वध नहीं हुआ, दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा पापी दुःशासनके मस्तक मैंने नहीं काट डाले, यह सब सोचकर मेरे हृदयमें काँटा-सा चुभ जाता है और शरीरमें आग लग जाती है। सुश्रोणि! तुम बड़ी बुद्धिमती हो, धर्मको न छोड़ो; क्रोधका त्याग करो ।। ६-७ ।।

इमं तु समुपालम्भं त्वत्तो राजा युधिष्ठिरः ।

शृणुयाद् वापि कल्याणि कृत्स्नं जह्यात् स जीवितम् ।। ८ ।।

कल्याणी! यदि राजा युधिष्ठिर तुम्हारे मुखसे यह सारा उपालम्भ सुन लेंगे तो प्राण त्याग देंगे ।। ८ ।।

धनंजयो वा सुश्रोणि यमौ वा तनुमध्यमे ।

लोकान्तरगतेष्वेषु नाहं शक्ष्यामि जीवितुम् ।। ९ ।।

सुश्रोणि! तनुमध्यमे! धनंजय अथवा नकुल-सहदेव भी इसे सुनकर जीवित नहीं रह सकते। इन सबके परलोकवासी हो जानेपर मैं भी नहीं जी सकूँगा ।।

पुरा सुकन्या भार्या च भार्गवं च्यवनं वने ।

वल्मीकभूतं शाम्यन्तमन्वपद्यत भामिनी ।। १० ।।

नारायणी चेन्द्रसेना रूपेण यदि ते श्रुता ।

पतिमन्वचरद् वृद्धं पुरा वर्षसहस्रिणम् ।। ११ ।।

प्राचीन कालकी बात है, भृगुनन्दन महर्षि च्यवन तपस्या करते-करते बाँबीके समान हो गये थे, मानो अब उनका जीवनदीप बुझ जायगा; ऐसी दशा हो गयी थी, तो भी उनकी कल्याणमयी पत्नी सुकन्याने उन्हींका अनुसरण किया—वह उन्हींकी सेवा-शुश्रूषामें लगी रही। नारायणी इन्द्रसेना भी अपने रूप-सौन्दर्यके कारण विख्यात थी। तुमने भी उसका नाम सुना होगा। पूर्वकालमें उसने अपने हजार वर्षके बूढ़े पति मुद्‌गल ऋषिकी निरन्तर सेवा की थी ।। १०-११ ।।

दुहिता जनकस्यापि वैदेही यदि ते श्रुता ।

पतिमन्वचरत् सीता महारण्यनिवासिनम् ।। १२ ।।

जनकनन्दिनी वैदेही सीताका नाम तो तुम्हारे कानोंमें पड़ा ही होगा। उन्होंने अत्यन्त घोर वनमें निवास करनेवाले अपने पति श्रीरामचन्द्रजीका अनुगमन किया था ।। १२ ।।

रक्षसा निग्रहं प्राप्य रामस्य महिषी प्रिया ।

क्लिश्यमानापि सुश्रोणि राममेवान्वपद्यत ।। १३ ।।

सुश्रोणि! जानकी श्रीरामकी प्यारी रानी थीं। वे राक्षसकी कैदमें पड़कर दीर्घकालतक क्लेश उठाती रहीं, तो भी उन्होंने श्रीरामको ही अपनाये रखा; अपना धर्म नहीं छोड़ा ।। १३ ।।

लोपामुद्रा तथा भीरु वयोरूपसमन्विता ।

अगस्तिमन्वयाद्धित्वा कामान् सर्वानमानुषान् ।। १४ ।।

भीरु! नयी अवस्था और अनुपम रूप-सौन्दर्यसे सम्पन्न राजकुमारी लोपामुद्राने सम्पूर्ण अलौकिक सुख-भोगोंपर लात मारकर अपने पति महर्षि अगस्त्यका ही अनुसरण किया था ।। १४ ।।

द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवन्तमनिन्दिता ।
सावित्र्यनुचचारैका यमलोकं मनस्विनी ।। १५ ।।

सती-साध्वी मनस्विनी सावित्री द्युमत्सेनके पुत्र वीरवर सत्यवान्‌के मर जानेपर उनके पीछे-पीछे अकेली ही यमलोककी ओर गयी थी ।। १५ ।।

यथैताः कीर्तिता नार्यो रूपवत्यः पतिव्रताः ।
तथा त्वमपि कल्याणि सर्वैः समुदिता गुणैः ।। १६ ।।

कल्याणि! इन रूपवती पतिव्रता नारियोंका जैसा आदर्श बताया गया है, उसी प्रकार तुम भी समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न हो ।। १६ ।।

मादीर्घं क्षम कालं त्वं मासमर्धं च सम्मितम् ।
पूर्णे त्रयोदशे वर्षे राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ।। १७ ।।

अब तुम थोड़े दिनोंतक और ठहर जाओ। वर्ष पूरा होनेमें महीना—आध-महीना और रह गया है। तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होते ही तुम राजरानी बनोगी ।। १७ ।।

(सत्येन ते शपे चाहं भविता नान्यथेति ह ।
सर्वासां परमस्त्रीणां प्रामाण्यं कर्तुमर्हसि ।

देवि! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, ऐसा ही होगा; यह टल नहीं सकता। तुम्हें सभी श्रेष्ठ स्त्रियोंके समक्ष अपना आदर्श उपस्थित करना चाहिये।

सर्वेषां च नरेन्द्राणां मूर्ध्नि स्थास्यसि भामिनि ।।
भर्तृभक्त्या च वृत्तेन भोगान् प्राप्स्यसि दुर्लभान् ।।)

भामिनि! तुम अपनी पतिभक्ति तथा सदाचारसे सम्पूर्ण नरेशोंके मस्तकपर स्थान प्राप्त करोगी और तुम्हें दुर्लभ भोग सुलभ होंगे।

द्रौपद्युवाच

आर्तयैतन्मया भीम कृतं बाष्पप्रमोचनम् ।
अपारयन्त्या दुःखानि न राजानमुपालभे ।। १८ ।।

द्रौपदीने कहा—प्राणनाथ भीम! इधर अनेक प्रकारके दुःखोंको सहन करनेमें असमर्थ एवं आर्त होकर ही मैंने ये आँसू बहाये हैं। मैं राजा युधिष्ठिरको उलाहना नहीं दूँगी ।। १८ ।।

किमुक्तेन व्यतीतेन भीमसेन महाबल ।
प्रत्युपस्थितकालस्य कार्यस्यानन्तरो भव ।। १९ ।।

महाबली भीमसेन! अब बीती बातोंको दुहरानेसे क्या लाभ? इस समय जिसका अवसर उपस्थित है, उस कार्यके लिये तैयार हो जाओ ।। १९ ।।

ममेह भीम कैकेयी रूपाभिभवशङ्कया ।
नित्यमुद्विजते राजा कथं नेयादिमामिति ।। २० ।।

भीम! केकयकुमारी सुदेष्णा यहाँ मेरे रूपसे पराजित होनेके कारण सदा इस शंकासे उद्विग्न रहती है कि राजा विराट किसी प्रकार इसपर आसक्त न हो जायँ ।। २० ।।

तस्या विदित्वा तं भावं स्वयं चानृतदर्शनः ।
कीचकोऽयं सुदुष्टात्मा सदा प्रार्थयते हि माम् ।। २१ ।।

जिसका देखना भी अनृत (पापमय) है, वही यह परम दुष्टात्मा कीचक रानी सुदेष्णाके उक्त मनोभाव-को जानकर सदा स्वयं आकर मेरे आगे प्रार्थना किया करता है ।। २१ ।।

तमहं कुपिता भीम पुनः कोपं नियम्य च ।
अब्रुवं कामसम्मूढमात्मानं रक्ष कीचक ।। २२ ।।

भीम! पहले-पहल उसके ऐसा कहनेपर मैं कुपित हो उठी; किंतु पुनः क्रोधके वेगको रोककर बोली—‘कीचक! तू कामसे मोहित हो रहा है। अरे! तू अपने-आपकी रक्षा कर ।। २२ ।।

गन्धर्वाणामहं भार्या पञ्चानां महिषी प्रिया ।
ते त्वां निहन्युः कुपिताः शूराः साहसकारिणः ।। २३ ।।

‘मैं पाँच गन्धर्वोंकी पत्नी तथा प्यारी रानी हूँ। वे साहसी तथा शूरवीर गन्धर्व तुम्हें कुपित होकर मार डालेंगे’ ।। २३ ।।

एवमुक्तः सुदुष्टात्मा कीचकः प्रत्युवाच ह ।
नाहं बिभेमि सैरन्ध्रि गन्धर्वाणां शुचिस्मिते ।। २४ ।।

मेरे ऐसा कहनेपर महा दुष्टात्मा कीचकने उत्तर दिया—‘पवित्र मुसकानवाली सैरन्ध्री! मैं गन्धर्वोंसे नहीं डरता ।। २४ ।।

शतं शतसहस्राणि गन्धर्वाणामहं रणे ।
समागतं हनिष्यामि त्वं भीरु कुरु मे क्षणम् ।। २५ ।।

‘भीरु! यदि युद्धमें मेरे सामने एक करोड़ गन्धर्व भी आ जायँ, तो मैं उन्हें मार डालूँगा; परंतु तुम मुझे स्वीकार कर लो’ ।। २५ ।।

इत्युक्ते चाब्रुवं मत्तं कामातुरमहं पुनः ।
न त्वं प्रतिबलश्चैषां गन्धर्वाणां यशस्विनाम् ।। २६ ।।

उसके इस प्रकार उत्तर देनेपर मैंने पुनः उस कामातुर और मतवाले कीचकसे कहा—‘कीचक! तू मेरे यशस्वी पति गन्धर्वोंके समान बलवान् नहीं है ।। २६ ।।

धर्मे स्थितास्मि सततं कुलशीलसमन्विता ।
नेच्छामि कंचिद् वध्यन्तं तेन जीवसि कीचक ।। २७ ।।

'मैं सदा पातिव्रत्य-धर्ममें स्थित रहती हूँ एवं अपने उत्तम कुलकी मर्यादा और सदाचारसे सम्पन्न हूँ। मैं नहीं चाहती कि मेरे कारण किसीका वध हो, इसीलिये तू अबतक जीवित है' ।। २७ ।।

एवमुक्तः स दुष्टात्मा प्राहसत् स्वनवत् तदा ।
अथ मां तत्र कैकेयी प्रैषयत् प्रणयेन तु ।। २८ ।।
तेनैव देशिता पूर्वं भ्रातृप्रियचिकीर्षया ।
सुरामानय कल्याणि कीचकस्य निवेशनात् ।। २९ ।।

मेरी यह बात सुनकर वह दुष्टात्मा ठहाका मारकर हँसने लगा। तदनन्तर केकयराजकुमारी सुदेष्णा, जैसा कीचकने पहले उसे सिखा रखा था, उसी योजनाके अनुसार अपने भाईका प्रिय करनेकी इच्छासे मुझे प्रेमपूर्वक कीचकके यहाँ भेजने लगी और बोली—'कल्याणि! तुम कीचकके महलसे मेरे लिये मदिरा ले आओ' ।। २८-२९ ।।

सूतपुत्रस्तु मां दृष्ट्वा महत् सान्त्वमवर्तयत् ।
सान्त्वे प्रतिहते क्रुद्धः परामर्शमनाभवत् ।। ३० ।।

मैं वहाँ गयी। सूतपुत्रने मुझे देखकर पहले तो अपनी बात मान लेनेके लिये बड़े-बड़े आश्वासनोंके साथ समझाना आरम्भ किया; किंतु जब मैंने उसकी प्रार्थना ठुकरा दी, तब उसने क्रोधपूर्वक मेरे साथ बलात्कार करनेका विचार किया ।। ३० ।।

विदित्वा तस्य संकल्पं कीचकस्य दुरात्मनः ।
तथाहं राजशरणं जवेनैव प्रधाविता ।। ३१ ।।

दुरात्मा कीचकके उस संकल्पको मैं जान गयी और राजाकी शरणमें पहुँचनेके लिये बड़े वेगसे भागी ।।

संदर्शने तु मां राज्ञः सूतपुत्रः परामृशत् ।
पातयित्वा तु दुष्टात्मा पदाहं तेन ताडिता ।। ३२ ।।

किंतु वहाँ भी दुष्टात्मा सूतपुत्रने राजाके सामने मुझे पकड़ लिया और पृथ्वीपर गिराकर लातसे मारा ।।

प्रेक्षते स्म विराटस्तु कङ्कस्तु बहवो जनाः ।
रथिनः पीठमर्दाश्च हस्त्यारोहाश्च नैगमाः ।। ३३ ।।

राजा विराट देखते रह गये। कंक तथा अन्य लोगोंने भी यह सब देखा। रथी, पीठमर्द (राजाके प्रियव्यक्ति), महावत, वैदिक विद्वान् तथा नागरिक—सबकी दृष्टिमें यह बात आयी थी ।। ३३ ।।

उपालब्धो मया राजा कङ्कश्चापि पुनः पुनः ।
ततो न वारितो राज्ञा न तस्याविनयः कृतः ।। ३४ ।।

मैंने राजा विराट और कंकको बार-बार फटकारा, तो भी राजाने न तो उसे मना किया और न उसकी उद्दण्डताका दमन ही किया ।। ३४ ।।

योऽयं राज्ञो विराटस्थ कीचको नाम सारथिः ।
त्यक्तधर्मा नृशंसश्च नरस्त्रीसम्मतः प्रियः ।। ३५ ।।

राजा विराटका यह जो कीचक नामवाला सारथि है, इसने धर्मको त्याग दिया है। यह अत्यन्त क्रूर है, तो भी विराट और सुदेष्णा दोनों पति-पत्नी उसे बहुत मानते हैं। यह उनका प्रिय सेनापति है ।। ३५ ।।

शूरोऽभिमानी पापात्मा सर्वार्थेषु च मुग्धवान् ।
दारामर्शी महाभाग लभतेऽर्थान् बहूनपि ।। ३६ ।।

इसे अपनी शूरवीरताका बड़ा अभिमान है। यह पापात्मा सब बातोंमें मूर्ख है। महाभाग! यह परायी स्त्रियोंपर बलात्कार करता और लोगोंसे बहुत धन हड़पता रहता है ।। ३६ ।।

आहरेदपि वित्तानि परेषां क्रोशतामपि ।
न तिष्ठति स्म सन्मार्गे न च धर्मं बुभूषति ।। ३७ ।।

लोग रोते-चिल्लाते रह जाते हैं; किंतु यह उनका सारा धन हड़प लेता है। यह सन्मार्गमें स्थिर नहीं रहता तथा धर्मोपार्जन भी नहीं करना चाहता है ।। ३७ ।।

पापात्मा पापभावश्च कामबाणवशानुगः ।
अविनीतश्च दुष्टात्मा प्रत्याख्यातः पुनः पुनः ।। ३८ ।।

यह पापात्मा है; इसके मनमें पापकी ही वासना है। यह कामदेवके बाणोंसे विवश हो रहा है। उद्दण्ड और दुष्टात्मा तो है ही। मैंने बार-बार इसकी प्रार्थना ठुकरायी है ।। ३८ ।।

दर्शने दर्शने हन्याद् यदि जह्यां च जीवितम् ।
तद् धर्मे यतमानानां महान् धर्मो नशिष्यति ।। ३९ ।।

अतः यह जब-जब सामने आयेगा, मुझे मारेगा। सम्भव है, किसी दिन मुझे जीवनसे भी हाथ धोना पड़े। उस दशामें धर्मके लिये प्रयत्न करनेवाले तुम सब लोगोंका सबसे महान् धर्म नष्ट हो जायगा ।। ३९ ।।

समयं रक्षमाणानां भार्या वो न भविष्यति ।
भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ।। ४० ।।

यदि तुमलोग प्रतिज्ञाके अनुसार तेरह वर्षकी अवधिका पालन करते रहोगे, तो तुम्हारी यह भार्या जीवित न रहेगी। भार्याकी रक्षा करनेपर संतानकी रक्षा होती है ।। ४० ।।

प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ।
आत्मा हि जायते तस्यां तेन जायां विदुर्बुधाः ।। ४१ ।।

संतानकी रक्षा होनेपर अपना आत्मा सुरक्षित होता है। आत्मा ही पत्नीके गर्भसे पुत्ररूपमें जन्म लेता है। इसीलिये विद्वान् पुरुष पत्नीको 'जाया' कहते हैं ।। ४१ ।।

भर्ता तु भार्यया रक्ष्यः कथं जायान्ममोदरे ।
वदतां वर्णधर्मांश्च ब्राह्मणानामिति श्रुतः ।। ४२ ।।

मैंने वर्णधर्मका उपदेश देनेवाले ब्राह्मणोंके मुँहसे सुना है, पत्नीको पतिकी रक्षा इसलिये करनी चाहिये कि यह किसी दिन मेरे पेटसे पुत्ररूपमें जन्म लेगा ।। ४२ ।।

क्षत्रियस्य सदा धर्मो नान्यः शत्रुनिबर्हणात् ।
पश्यतो धर्मराजस्य कीचको मां पदावधीत् ।। ४३ ।।
तव चैव समक्षे वै भीमसेन महाबल ।
त्वया ह्यहं परित्राता तस्माद् घोराज्जटासुरात् ।। ४४ ।।

महाबली भीमसेन! क्षत्रियके लिये सदा शत्रुओंका संहार करनेके सिवा और कोई धर्म नहीं है। कीचकने धर्मराज युधिष्ठिरके देखते-देखते और तुम्हारी आँखोंके सामने मुझे लात मारी है। तुमने उस भयंकर राक्षस जटासुरसे मेरी रक्षा की है ।। ४३-४४ ।।

जयद्रथं तथैव त्वमजैषीर्भ्रातृभिः सह ।
जहीममपि पापिष्ठं योऽयं मामवमन्यते ।। ४५ ।।

भाइयोंसहित तुमने जयद्रथको भी परास्त किया है। अतः अब इस महापापी कीचकको भी मार डालो, जो मेरा अपमान कर रहा है ।। ४५ ।।

कीचको राजवाल्लभ्याच्छोककृन्मम भारत ।
तमेवं कामसम्मत्तं भिन्धि कुम्भमिवाश्मनि ।। ४६ ।।

भारत! राजाका प्रिय होनेके कारण ही कीचक मेरे लिये शोककारक हो रहा है। अतः ऐसे कामोन्मत्त पापीको तुम उसी तरह विदीर्ण कर डालो, जैसे पत्थर-पर पटककर घड़ेको फोड़ दिया जाता है ।। ४६ ।।

यो निमित्तमनर्थानां बहूनां मम भारत ।
तं चेज्जीवन्तमादित्यः प्रातरभ्युदयिष्यति ।। ४७ ।।
विषमालोड्य पास्यामि मा कीचकवशं गमम् ।
श्रेयो हि मरणं मह्यं भीमसेन तवाग्रतः ।। ४८ ।।

भारत! जो मेरे लिये बहुत-से अनर्थोंका कारण बना हुआ है, उसके जीते-जी यदि कल सूर्योदय हो जायगा, तो मैं विष घोलकर पी लूँगी; किंतु कीचकके अधीन नहीं होऊँगी। भीमसेन! कीचकके वशमें पड़नेकी अपेक्षा तुम्हारे सामने प्राण त्याग देना मेरे लिये कल्याणकारी होगा ।। ४७-४८ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्रारुदत् कृष्णा भीमस्योरःसमाश्रिता ।
भीमश्च तां परिष्वज्य महत् सान्त्वं प्रयुज्य च ।। ४९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर द्रौपदी भीमके वक्षःस्थलपर माथा टेककर फूट-फूटकर रोने लगी। भीमसेनने उसको हृदयसे लगाकर बहुत सान्त्वना दी ।। ४९ ।।

आश्वासयित्वा बहुशो भृशमार्तां सुमध्यमाम् ।
हेतुतत्त्वार्थसंयुक्तैर्वचोभिर्द्रुपदात्मजाम् ।। ५० ।।
प्रमृज्य वदनं तस्याः पाणिनाश्रुसमाकुलम् ।
कीचकं मनसागच्छत् सृक्किणी परिसंलिहन् ।
उवाच चैनां दुःखार्तां भीमः क्रोधसमन्वितः ।। ५१ ।।

वह बहुत आर्त हो रही थी, अतः उन्होंने सुन्दर कटिभागवाली द्रुपदकुमारीको युक्तियुक्त तात्त्विक वचनोंसे अनेक बार आश्वासन देकर अपने हाथसे उसके आँसूभरे मुँहको पोंछा और क्रोधसे जबड़े चाटते हुए मन-ही-मन कीचकका स्मरण किया। तदनन्तर भीमने दुःखपीड़ित द्रौपदीसे इस प्रकार कहा ।। ५०-५१ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि द्रौपदीसान्त्वने एकविंशोऽध्यायः ।। २१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें द्रौपदीको आश्वासनविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५३ श्लोक हैं।)

द्वाविंशोऽध्यायः

कीचक और भीमसेनका युद्ध तथा कीचकवध

भीमसेन उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे ।
अद्य तं सूदयिष्यामि कीचकं सहबान्धवम् ।। १ ।।

भीमसेन बोले—भद्रे! तू जैसा कह रही है, वैसा ही करूँगा। भीरु! मैं आज कीचकको उसके भाई-बन्धुओंसहित मार डालूँगा ।। १ ।।

अस्याः प्रदोषे शर्वर्याः कुरुष्वानेन संगतम् ।
दुःखं शोकं च निर्धूय याज्ञसेनि शुचिस्मिते ।। २ ।।

पवित्र मुसकानवाली द्रौपदी! तुम दुःख-शोक भुलाकर आगामी रात्रिके प्रदोषकालमें कीचकसे मिलो और उसे नृत्यशालामें आनेके लिये कह दो ।। २ ।।

यैषा नर्तनशालेह मत्स्यराजेन कारिता ।
दिवात्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम् ।। ३ ।।

मत्स्यराज विराटने जो यहाँ नृत्यशाला बनवायी है, उसमें दिनके समय तो कन्याएँ नाचती हैं तथा रातको अपने-अपने घर चली जाती हैं ।। ३ ।।

तत्रास्ति शयनं दिव्यं दृढाङ्गं सुप्रतिष्ठितम् ।
तत्रास्य दर्शयिष्यामि पूर्वप्रेतान् पितामहान् ।। ४ ।।

उस नृत्यशालामें एक बहुत सुन्दर मजबूत पलंग बिछा हुआ है। वहीं आनेपर उस कीचकको मैं उसके मरे हुए बाप-दादोंका दर्शन कराऊँगा ।। ४ ।।

यथा च त्वां न पश्येयुः कुर्वाणां तेन संविदम् ।
कुर्यास्तथा त्वं कल्याणि यथा संनिहितो भवेत् ।। ५ ।।

तुम ऐसी चेष्टा करना, जिससे उसके साथ गुप्त वार्तालाप करते समय कोई तुम्हें देख न ले। कल्याणी! तुम ऐसी बात करना, जिससे वहाँ दिये हुए संकेतके अनुसार वह अवश्य मेरे पास आ जाय ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथा तौ कथयित्वा तु बाष्पमुत्सृज्य दुःखितौ ।
रात्रिशेषं तमत्युग्रं धारयामासतुर्हृदि ।। ६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार बातचीत करके वे दोनों दुःखी दम्पति आँसू बहाकर अलग हुए तथा रात्रिके शेषभागको उन्होंने बड़ी व्याकुलतासे बिताया और आपसकी बातचीतको मनमें ही गुप्त रखा ।। ६ ।।

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरुत्थाय कीचकः ।
गत्वा राजकुलायैव द्रौपदीमिदमब्रवीत् ।। ७ ।।

वह रात बीत जानेपर कीचक सबेरे उठा और राजमहलमें जाकर द्रौपदीसे इस प्रकार बोला— ।। ७ ।।

सभायां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदाहनम् ।
न चैवालभसे त्राणमभिपन्ना बलीयसा ।। ८ ।।

'सैरन्ध्री! मैंने राजसभामें तुम्हारे महाराजके देखते-देखते तुम्हें पृथ्वीपर गिराकर लातोंसे मारा था। तुम मुझ-जैसे महाबलवान् पुरुषके पाले पड़ी हो; तुम्हें कोई बचा नहीं सकता ।। ८ ।।

प्रवादेनेह मत्स्यानां राजा नाम्नायमुच्यते ।
अहमेव हि मत्स्यानां राजा वै वाहिनीपतिः ।। ९ ।।

'राजा विराट तो कहनेके लिये ही मत्स्यदेशका नाममात्रका राजा है। वास्तवमें मैं ही यहाँका राजा हूँ; क्योंकि सेनाका मालिक मैं हूँ ।। ९ ।।

मां सुखं प्रतिपद्यस्व दासो भीरु भवामि ते ।
अह्नाय तव सुश्रोणि शतं निष्कान् ददाम्यहम् ।। १० ।।

'भीरु! सुखपूर्वक मुझे स्वीकार कर लो, फिर तो मैं तुम्हारा दास बन जाऊँगा। सुश्रोणि! मैं तुम्हारे दैनिक खर्चके लिये प्रतिदिन सौ मोहरें देता रहूँगा ।। १० ।।

दासीशतं च ते दद्यां दासानामपि चापरम् ।
रथं चाश्वतरीयुक्तमस्तु नौ भीरु संगमः ।। ११ ।।

'तुम्हारी सेवाके लिये सौ दासियाँ और उतने ही दास दूँगा। तुम्हारी सवारीके लिये खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ प्रस्तुत रहेगा। भीरु! अब हम दोनोंका परस्पर समागम होना चाहिये ।। ११ ।।

द्रौपद्युवाच

एवं मे समयं त्वद्य प्रतिपद्यस्व कीचक ।
न त्वां सखा वा भ्राता वा जानीयात् संगतं मया ।। १२ ।।

द्रौपदीने कहा—कीचक! यदि ऐसी बात है, तो आज मेरी एक शर्त स्वीकार करो। तुम मुझसे मिलने आते हो—यह बात तुम्हारा मित्र अथवा भाई कोई भी न जाने ।। १२ ।।

अनुप्रवादाद् भीतास्मि गन्धर्वाणां यशस्विनाम् ।
एवं मे प्रतिजानीहि ततोऽहं वशगा तव ।। १३ ।।

क्योंकि मैं यशस्वी गन्धर्वोंके अपवादसे डरती हूँ। यदि इस बातके लिये मुझसे प्रतिज्ञा करो, तो मैं तुम्हारे अधीन हो सकती हूँ ।। १३ ।।

कीचक उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा सुश्रोणि भाषसे ।
एको भद्रे गमिष्यामि शून्यमावसथं तव ।। १४ ।।

कीचक बोला—ठीक है। सुश्रोणि! तुम जैसा कहती हो, वैसा ही करूँगा। भद्रे! तुम्हारे सूने घरमें मैं अकेला ही जाऊँगा ।। १४ ।।

समागमार्थं रम्भोरु त्वया मदनमोहितः ।
यथा त्वां नैव पश्येयुर्गन्धर्वाः सूर्यवर्चसः ।। १५ ।।

रम्भोरु! मैं कामसे मोहित होकर तुम्हारे साथ समागमके लिये इस प्रकार आऊँगा, जिससे सूर्यके समान तेजस्वी गन्धर्व तुम्हें उस समय मेरे साथ न देख सकें ।। १५ ।।

द्रौपद्युवाच

यदेतन्नर्तनागारं मत्स्यराजेन कारितम् ।
दिवात्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम् ।। १६ ।।

द्रौपदीने कहा—कीचक! मत्स्यराजने यह जो नृत्यशाला बनवायी है, उसमें दिनके समय कन्याएँ नृत्य करती हैं तथा रातमें अपने-अपने घर चली जाती हैं ।।

तमिस्रे तत्र गच्छेथा गन्धर्वास्तन्न जानते ।
तत्र दोषः परिहृतो भविष्यति न संशयः ।। १७ ।।

वहाँ अँधेरा रहता है, अतः मुझसे मिलनेके लिये वहीं जाना। उस स्थानको गन्धर्व नहीं जानते। वहाँ मिलनेसे सब दोष दूर हो जायगा; इसमें संशय नहीं है ।। १७ ।।

(कीचक उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु मन्यसे ।
एकः सन् नर्तनागारमागमिष्यामि शोभने ।।
समागमार्थं सुश्रोणि शपे च सुकृतेन मे ।

कीचक बोला—भद्रे! भीरु! तुम जैसा ठीक समझती हो, वैसा ही करूँगा। शोभने! मैं तुमसे मिलनेके लिये अकेला ही नृत्यशालामें आऊँगा। सुश्रोणि! यह बात मैं अपने पुण्यकी शपथ खाकर कहता हूँ।

यथा त्वां नावबुध्यन्ते गन्धर्वा वरवर्णिनि ।।
सत्यं ते प्रतिजानामि गन्धर्वेभ्यो न ते भयम् ।)

वरवर्णिनी! मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे गन्धर्वोंको तुम्हारे विषयमें कुछ भी पता न लगे। मैं सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम्हें गन्धर्वोंसे कोई भय नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

तमर्थमपि जल्पन्त्याः कृष्णायाः कीचकेन ह ।
दिवसार्धं समभवन्मासेनैव समं नृप ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार कीचकके साथ बात करनेके बाद द्रौपदीको अवशिष्ट आधा दिन (भीमसेनसे यह बात निवेदन करनेकी प्रतीक्षामें) एक महीनेके समान भारी मालूम हुआ ।। १८ ।।

कीचकोऽथ गृहं गत्वा भृशं हर्षपरिप्लुतः ।
सैरन्ध्रीरूपिणं मूढो मृत्युं तं नावबुद्धवान् ।। १९ ।।

इधर कीचक महान् हर्षमें भरा हुआ अपने घरको गया। उस मूर्खको यह पता नहीं था कि सैरन्ध्रीके रूपमें मेरी मृत्यु आ रही है ।। १९ ।।

गन्धाभरणमाल्येषु व्यासक्तः सविशेषतः ।
अलंचक्रे तदाऽऽत्मानं सत्वरः काममोहितः ।। २० ।।

वह तो कामसे मोहित हो रहा था, अतः घर जाकर शीघ्र ही अपने-आपको (गहने-कपड़ोंसे) सजाने लगा। वह विशेषतः सुगन्धित पदार्थों, आभूषणों तथा मालाओंके सेवनमें संलग्न रहा ।। २० ।।

तस्य तत् कुर्वतः कर्म कालो दीर्घ इवाभवत् ।
अनुचिन्तयतश्चापि तामेवायतलोचनाम् ।। २१ ।।

मन-ही-मन विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदीका बारंबार चिन्तन करते हुए शृंगार धारण करते समय कीचकको वह थोड़ा-सा समय भी उत्कण्ठावश बहुत बड़ा-सा प्रतीत हुआ ।। २१ ।।

आसीदभ्यधिका चापि श्रीः श्रियं प्रमुमुक्षतः ।
निर्वाणकाले दीपस्य वर्तीमिव दिधक्षतः ।। २२ ।।

वास्तवमें जो सदाके लिये राजलक्ष्मीसे वियुक्त होनेवाला है, उस कीचककी भी उस समय शृंगार आदि धारण करनेसे श्री (शोभा) बहुत बढ़ गयी थी। ठीक उसी तरह जैसे बुझनेके समय बत्तीको भी जला देनेकी इच्छावाले दीपककी प्रभा विशेष बढ़ जाती है ।। २२ ।।

कृतसम्प्रत्ययस्तस्याः कीचकः काममोहितः ।
नाजानाद् दिवसं यान्तं चिन्तयानः समागमम् ।। २३ ।।

काममोहित कीचकने द्रौपदीकी बातपर पूरा विश्वास कर लिया था; अतः उसके समागम-सुखका चिन्तन करते-करते उसे यह भी पता न चला कि दिन कब बीत गया ।। २३ ।।

ततस्तु द्रौपदी गत्वा तदा भीमं महानसे ।
उपातिष्ठत कल्याणी कौरव्यं पतिमन्तिकम् ।। २४ ।।

तदनन्तर कल्याणस्वरूपा द्रौपदी पाकशालामें अपने पति कुरुनन्दन भीमसेनके पास गयी ।। २४ ।।

तमुवाच सुकेशान्ता कीचकस्य मया कृतः ।
संगमो नर्तनागारे यथावोचः परंतप ।। २५ ।।

वहाँ सुन्दर लटोंवाली कृष्णाने कहा—‘शत्रुतापन! जैसा तुमने कहा था, उसके अनुसार मैंने कीचकको नृत्यशालामें मिलनेका संकेत कर दिया है ।। २५ ।।

शून्यं स नर्तनागारमागमिष्यति कीचकः ।
एको निशि महाबाहो कीचकं तं निषूदय ।। २६ ।।

‘अतः महाबाहो! कीचक रातके समय उस सूनी नृत्यशालामें अकेला आवेगा। तुम वहीं उसे मार डालना ।।

तं सूतपुत्रं कौन्तेय कीचकं मददर्पितम् ।
गत्वा त्वं नर्तनागारं निर्जीवं कुरु पाण्डव ।। २७ ।।

‘कुन्तीकुमार! पाण्डुनन्दन! तुम नृत्यगृहमें जाकर उस मदोन्मत्त सूतपुत्र कीचकको प्राणशून्य कर दो ।। २७ ।।

दर्पाच्च सूतपुत्रोऽसौ गन्धर्वानवमन्यते ।
तं त्वं प्रहरतां श्रेष्ठ ह्रदान्नागमिवोद्धर ।। २८ ।।

‘प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ वीर! वह सूतपुत्र अपनी वीरताके घमंडमें आकर गन्धर्वोंकी अवहेलना करता है; अतः जलाशयसे सर्पकी भाँति उसे तुम इस जगत्‌से निकाल फेंको ।। २८ ।।

अश्रु दुःखाभिभूताया मम मार्जस्व भारत ।
आत्मनश्चैव भद्रं ते कुरु मानं कुलस्य च ।। २९ ।।

‘भारत! तुम्हारा कल्याण हो। तुम कीचकको मारकर मुझ दुःखपीड़ित अबलाके आँसू पोंछो तथा अपना और अपने कुलका सम्मान बढ़ाओ’ ।। २९ ।।

भीमसेन उवाच

स्वागतं ते वरारोहे यन्मां वेदयसे प्रियम् ।
न ह्यन्यं कञ्चिदिच्छामि सहायं वरवर्णिनि ।। ३० ।।

भीमसेन बोले—वरारोहे! तुम्हारा स्वागत है; क्योंकि तुमने मुझे प्रिय संवाद सुनाया है। सुन्दरी! मैं इस कार्यमें दूसरे किसीको सहायक बनाना नहीं चाहता ।।

या मे प्रीतिस्त्वयाऽऽख्याता कीचकस्य समागमे ।
हत्वा हिडिम्बं सा प्रीतिर्ममासीद् वरवर्णिनि ।। ३१ ।।

वरवर्णिनि! कीचकसे मिलनेके लिये तुमने जो शुभ संवाद दिया है और इसे सुनकर मुझे जितनी प्रसन्नता हुई है, ऐसी प्रसन्नता मुझे हिडिम्बासुरको मारकर प्राप्त हुई थी ।। ३१ ।।

सत्यं भ्रातॄंश्च धर्मं च पुरस्कृत्य ब्रवीमि ते ।
कीचकं निहनिष्यामि वृत्रं देवपतिर्यथा ।। ३२ ।।

मैं सत्य, धर्म और भाइयोंको आगे करके—उनकी शपथ खाकर तुमसे कहता हूँ, जैसे देवराज इन्द्रने वृत्रासुरको मारा था, उसी प्रकार मैं भी कीचकका वध कर डालूँगा ।। ३२ ।।

तं गह्वरे प्रकाशे वा पोथयिष्यामि कीचकम् ।
अथ चेदपि योत्स्यन्ति हिंसे मत्स्यानपि ध्रुवम् ।। ३३ ।।

एकान्तमें या जन-समुदायमें जहाँ भी वह मिलेगा, कीचकको मैं कुचल डालूँगा और यदि मत्स्यदेशके लोग उसकी ओरसे युद्ध करेंगे, तो उन्हें भी निश्चय ही मार डालूँगा ।। ३३ ।।

ततो दुर्योधनं हत्वा प्रतिपत्स्ये वसुन्धराम् ।
कामं मत्स्यमुपास्तां हि कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।। ३४ ।।

तदनन्तर दुर्योधनको मारकर समूची पृथ्वीका राज्य ले लूँगा। भले ही कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर यहाँ बैठकर मत्स्यराज विराटकी उपासना करते रहें ।। ३४ ।।

द्रौपद्युवाच

यथा न संत्यजेथास्त्वं सत्यं वै मत्कृते विभो ।
निगूढस्त्वं तथा पार्थ कीचकं तं निषूदय ।। ३५ ।।

द्रौपदीने कहा—प्रभो! तुम वही करो, जिससे मेरे लिये तुम्हें सत्यका परित्याग न करना पड़े। कुन्तीनन्दन! तुम अपनेको गुप्त रखकर ही उस कीचकका संहार करो ।। ३५ ।।

भीमसेन उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे ।
अद्य तं सूदयिष्यामि कीचकं सह बान्धवैः ।। ३६ ।।

भीमसेन बोले—ठीक है, भीरु! तुम जैसा कहती हो, वही करूँगा। आज मैं उस कीचकको उसके भाई-बन्धुओंसहित मार डालूँगा ।। ३६ ।।

अदृश्यमानस्तस्याथ तमस्विन्यामनिन्दिते ।
नागो बिल्वमिवाक्रम्य पोथयिष्याम्यहं शिरः ।
अलभ्यामिच्छतस्तस्य कीचकस्य दुरात्मनः ।। ३७ ।।

अनिन्दिते! गजराज जैसे बेलके फलपर पैर रखकर उसे कुचल दे, उसी प्रकार मैं अँधेरी रातमें उससे अदृश्य रहकर तुझ-जैसी अलभ्य नारीको प्राप्त करनेकी इच्छावाले दुरात्मा कीचकके मस्तकको कुचल डालूँगा ।। ३७ ।।

वैशम्पायन उवाच

भीमोऽथ प्रथमं गत्वा रात्रौ छन्न उपाविशत् ।
मृगं हरिरिवादृश्यः प्रत्याकाङ्क्षत कीचकम् ।। ३८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर भीमसेन रातके समय पहले ही जाकर नृत्यशालामें छिपकर बैठ गये और कीचककी इस प्रकार प्रतीक्षा करने लगे, जैसे सिंह अदृश्य रहकर मृगकी घातमें बैठा रहता है ।। ३८ ।।

कीचकश्चाप्यलंकृत्य यथाकाममुपागमत् ।
तां वेलां नर्तनागारं पाञ्चालीसंगमाशया ।। ३९ ।।

इधर कीचक भी इच्छानुसार वस्त्राभूषणोंसे सज-धजकर द्रौपदीके साथ समागमकी अभिलाषासे उसी समय नृत्यशालाके समीप आया ।। ३९ ।।

मन्यमानः स संकेतमागारं प्राविशच्च तत् ।
प्रविश्य च स तद् वेश्म तमसा संवृतं महत् ।। ४० ।।

उस गृहको संकेत-स्थान मानकर उसने भीतर प्रवेश किया। वह विशाल भवन सब ओरसे अन्धकारसे आच्छन्न हो रहा था ।। ४० ।।

पूर्वागतं ततस्तत्र भीममप्रतिमौजसम् ।
एकान्तावस्थितं चैनमाससाद स दुर्मतिः ।। ४१ ।।
शयानं शयने तत्र सूतपुत्रः परामृशत् ।
जाज्वल्यमानं कोपेन कृष्णाधर्षणजेन ह ।। ४२ ।।

अतुलितपराक्रमी भीमसेन तो वहाँ पहलेसे ही आकर एकान्तमें एक शय्यापर लेटे हुए थे। खोटी बुद्धिवाला सूतपुत्र कीचक वहीं पहुँच गया और उन्हें हाथसे टटोलने लगा। उस समय भीमसेन कीचकद्वारा द्रौपदीके अपमानके कारण क्रोधसे जल रहे थे ।। ४१-४२ ।।

उपसंगम्य चैवैनं कीचकः काममोहितः ।
हर्षोन्मथितचित्तात्मा स्मयमानोऽभ्यभाषत ।। ४३ ।।

उनके पास पहुँचते ही काममोहित कीचक हर्षसे उन्मत्तचित्त हो मुसकराते हुए बोला — ।। ४३ ।।

प्रापितं ते मया वित्तं बहुरूपमनन्तकम् ।
यत् कृतं धनरत्नाढ्यं दासीशतपरिच्छदम् ।। ४४ ।।
रूपलावण्ययुक्ताभिर्युवतीभिरलंकृतम् ।
गृहं चान्तःपुरं सुभ्रु क्रीडारतिविराजितम् ।
तत् सर्वं त्वां समुद्दिश्य सहसाहमुपागतः ।। ४५ ।।

'सुभ्रु! मैंने अनेक प्रकारका जो अनन्त धन संचित किया है, वह सब तुम्हें भेंट कर दिया तथा मेरा जो धन-रत्नादिसे सम्पन्न, सैकड़ों दासी आदि उपकरणोंसे युक्त, रूप-लावण्यवती युवतियोंसे अलंकृत तथा क्रीडा-विलाससे सुशोभित गृह एवं अन्तःपुर है, वह सब तुम्हारे लिये ही निछावर करके मैं सहसा तुम्हारे पास चला आया हूँ ।। ४४-४५ ।।

अकस्मान्मां प्रशंसन्ति सदा गृहगताः स्त्रियः ।
सुवासा दर्शनीयश्च नान्योऽस्ति त्वादृशः पुमान् ।। ४६ ।।

मेरे घरकी स्त्रियाँ अकस्मात् मेरी प्रशंसा करने लगती हैं और कहती हैं—'आपके समान सुन्दर वस्त्रधारी और दर्शनीय दूसरा कोई पुरुष नहीं है' ।। ४६ ।।

भीमसेन उवाच

दिष्ट्या त्वं दर्शनीयोऽथ दिष्ट्याऽऽत्मानं प्रशंससि ।
ईदृशस्तु त्वया स्पर्शः स्पृष्टपूर्वो न कर्हिचित् ।। ४७ ।।

भीमसेन बोले—सौभाग्यकी बात है कि तुम ऐसे दर्शनीय हो और यह भी भाग्यकी ही बात है कि तुम स्वयं ही अपनी प्रशंसा कर रहे हो। परंतु ऐसा कोमल स्पर्श भी तुम्हें पहले कभी नहीं प्राप्त हुआ होगा ।।

स्पर्शं वेत्सि विदग्धस्त्वं कामधर्मविचक्षणः ।
स्त्रीणां प्रीतिकरो नान्यस्त्वत्समः पुरुषस्त्विह ।। ४८ ।।

स्पर्शको तो तुम खूब पहचानते हो। इस कलामें बड़े चतुर हो। कामधर्मके विलक्षण ज्ञाता जान पड़ते हो। इस संसारमें स्त्रियोंको प्रसन्न करनेवाला तुम्हारे सिवा दूसरा कोई पुरुष नहीं है ।। ४८ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।
सहसोत्पत्य कौन्तेयः प्रहस्येदमुवाच ह ।। ४९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कीचकसे ऐसा कहकर भयंकरपराक्रमी कुन्तीपुत्र महाबाहु भीमसेन सहसा उछलकर खड़े हो गये और हँसते हुए इस प्रकार बोले — ।। ४९ ।।

अद्य त्वां भगिनी पापं कृष्यमाणं मया भुवि ।
द्रक्ष्यतेऽद्रिप्रतीकाशं सिंहेनेव महागजम् ।। ५० ।।

‘अरे! तू पर्वतके समान विशालकाय है, तो भी जैसे सिंह महान् गजराजको घसीटता है, उसी प्रकार आज मैं तुझ पापीको पृथ्वीपर पटककर घसीटूँगा और तेरी बहिन यह सब देखेगी ।। ५० ।।

निराबाधा त्वयि हते सैरन्ध्री विचरिष्यति ।
सुखमेव चरिष्यन्ति सैरन्ध्र्याः पतयः सदा ।। ५१ ।।

‘इस प्रकार तेरे मारे जानेपर सैरन्ध्री बेखटके विचरेगी और उसके पति भी सदा सुखसे ही रहेंगे’ ।। ५१ ।।

ततो जग्राह केशेषु माल्यवत्सु महाबलः ।
स केशेषु परामृष्टो बलेन बलिनां वरः ।। ५२ ।।
आक्षिप्य केशान् वेगेन बाह्वोर्जग्राह पाण्डवम् ।
बाहुयुद्धं तयोरासीत् क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः ।। ५३ ।।
वसन्ते वासिताहेतोर्बलवद्गजयोरिव ।

ऐसा कहकर महाबली भीमसेनने उसके पुष्पहार-विभूषित केश पकड़ लिये। कीचक भी बलवानोंमें श्रेष्ठ था। सिरके बाल पकड़ लिये जानेपर उसने बलपूर्वक झटका देकर उन्हें छुड़ा लिया और बड़ी फुर्तीसे पाण्डुनन्दन भीमको दोनों भुजाओंमें भर लिया। तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए उन दोनों पुरुषसिंहोंमें बाहुयुद्ध होने लगा, मानो वसन्त-ऋतुमें हथिनीके लिये दो बलवान् गजराज एक-दूसरेसे जूझ रहे हों ।। ५२-५३½ ।।

कीचकानां तु मुख्यस्य नराणामुत्तमस्य च ।। ५४ ।।
वालिसुग्रीवयोर्भ्रात्रोः पुरेव कपिसिंहयोः ।
अन्योन्यमपि संरब्धौ परस्परजयैषिणौ ।। ५५ ।।

एक ओर कीचकोंका प्रधान कीचक था, तो दूसरी ओर मनुष्योंमें श्रेष्ठ भीमसेन। जैसे पूर्वकालमें कपिश्रेष्ठ वाली और सुग्रीव दोनों भाइयोंमें घोर युद्ध हुआ था, वैसा ही इन दोनोंमें भी होने लगा। दोनों एक-दूसरेपर कुपित थे और परस्पर विजय पानेकी इच्छासे लड़ रहे थे ।। ५४-५५ ।।

ततः समुद्यम्य भुजौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ ।
नखदंष्ट्राभिरन्योन्यं घ्नतः क्रोधविषोद्धतौ ।। ५६ ।।

फिर दोनों क्रोधरूपी विषसे उद्धत हुए पाँच मस्तकोंवाले सर्पोंकी भाँति अपनी-अपनी (पाँच अंगुलियोंसे युक्त) भुजाओंको ऊपर उठाकर एक-दूसरेपर नखों और दाँतोंसे प्रहार

करने लगे ।। ५६ ।।

वेगेनाभिहतो भीमः कीचकेन बलीयसा ।
स्थिरप्रतिज्ञः स रणे पदान्न चलितः पदम् ।। ५७ ।।

बलिष्ठ कीचकने बड़े वेगसे आघात किया, तो भी दृढ़प्रतिज्ञ भीम उस युद्धमें स्थिर रहे; एक पग भी पीछे नहीं हटे ।। ५७ ।।

तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षन्तौ परस्परम् ।
उभावपि प्रकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविव ।। ५८ ।।

फिर दोनों आपसमें गुँथ गये और एक-दूसरेको खींचने लगे। उस समय वे दो हृष्ट-पुष्ट साँड़ोंकी भाँति सुशोभित होते थे ।। ५८ ।।

तयोर्ह्यासीत् सुतुमुलः सम्प्रहारः सुदारुणः ।
नखदन्तायुधवतोर्व्याघ्रयोरिव दृप्तयोः ।। ५९ ।।

नख और दाँत ही उनके आयुध थे। जैसे दो मतवाले व्याघ्र परस्पर लड़ रहे हों, उसी प्रकार उनमें अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्ध होने लगा ।। ५९ ।।

अभिपत्याथ बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णादमर्षितः ।
मातङ्ग इव मातङ्गं प्रभिन्नकरटामुखम् ।। ६० ।।

जैसे क्रोधमें भरा हुआ एक हाथी गण्डस्थलसे मद टपकाते हुए दूसरे हाथीको सूँड़से पकड़ ले, उसी प्रकार रोषयुक्त कीचकने सहसा झपटकर दोनों हाथोंसे भीमसेनको पकड़ लिया ।। ६० ।।

स चाप्येनं तदा भीमः प्रतिजग्राह वीर्यवान् ।
तमाक्षिपत् कीचकोऽथ बलेन बलिनां वरः ।। ६१ ।।

तब पराक्रमी भीमने भी झपटकर उसे पकड़ा, किंतु बलवानोंमें श्रेष्ठ कीचकने बलपूर्वक उन्हें झटक दिया ।। ६१ ।।

तयोर्भुजविनिष्पेषादुभयोर्बलिनोस्तदा ।
शब्दः समभवद् घोरो वेणुस्फोटसमो युधि ।। ६२ ।।

उस समय उस युद्धमें उन दोनों बलवानोंकी भुजाओंकी रगड़से बाँस फटनेका-सा भयानक शब्द होने लगा ।। ६२ ।।

अथैनमाक्षिप्य बलाद् गृहमध्ये वृकोदरः ।
धूनयामास वेगेन वायुश्चण्ड इव द्रुमम् ।। ६३ ।।

फिर जिस प्रकार प्रचण्ड आँधी वृक्षको झकझोर डालती है, उसी प्रकार भीमसेन कीचकको बलपूर्वक धक्के दे-देकर उसे नृत्यशालामें वेगसे घुमाने लगे ।। ६३ ।।

भीमेन च परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे ।
प्रास्पन्दत यथाप्राणं विचकर्ष च पाण्डवम् ।। ६४ ।।

उस युद्धमें बलवान् भीमकी पकड़में आकर यद्यपि कीचक अपना बल खो रहा था, तथापि वह यथाशक्ति उन्हें परास्त करनेकी चेष्टा करता रहा और भीमसेनको अपनी ओर खींचने लगा ।। ६४ ।।

ईषदाकलितं चापि क्रोधाद् द्रुतपदं स्थितम् ।
कीचको बलवान् भीमं जानुभ्यामाक्षिपद् भुवि ।। ६५ ।।

जब वे कुछ-कुछ वशमें आ गये और उनका पैर कुछ लड़खड़ाने लगा, तब उस दशामें खड़े हुए भीमसेनको बलवान् कीचकने क्रोधपूर्वक दोनों घुटनोंसे मारकर पृथ्वीपर गिरा दिया ।। ६५ ।।

पातितो भुवि भीमस्तु कीचकेन बलीयसा ।
उत्पपाताथ वेगेन दण्डपाणिरिवान्तकः ।। ६६ ।।

अत्यन्त बलशाली कीचकद्वारा इस प्रकार भूमिपर गिराये हुए भीमसेन हाथमें दण्ड धारण करनेवाले यमराजकी भाँति बड़े वेगसे उछलकर खड़े हो गये ।। ६६ ।।

स्पर्धया च बलोन्मत्तौ तावुभौ सूतपाण्डवौ ।
निशीथे पर्यकर्षेतां बलिनौ निर्जने स्थले ।। ६७ ।।

सूतपुत्र और पाण्डुनन्दन दोनों बलसे उन्मत्त हो रहे थे। वे दोनों बलवान् वीर स्पर्धाके कारण उस निर्जन स्थानमें आधी रातके समय एक-दूसरेको खींचते और धक्के देते रहे ।। ६७ ।।

ततस्तद् भवनं श्रेष्ठं प्राकम्पत मुहुर्मुहुः ।
बलवच्चापि संक्रुद्धावन्योन्यं प्रति गर्जतः ।। ६८ ।।

इससे वह विशाल भवन बार-बार हिल उठता था। दोनों योद्धा बड़े क्रोधमें भरकर एक-दूसरेके सामने जोर-जोरसे गरज रहे थे ।। ६८ ।।

तलाभ्यां स तु भीमेन वक्षस्यभिहतो बली ।
कीचको रोषसंतप्तः पदान्न चलितः पदम् ।। ६९ ।।

इतनेमें ही भीमने दोनों हथेलियोंसे कीचककी छातीपर प्रहार किया। चोट खाकर बलवान् कीचक क्रोधसे जल उठा, किंतु अपने स्थानसे एक पग भी विचलित नहीं हुआ ।। ६९ ।।

मुहूर्तं तु स तं वेगं सहित्वा भुवि दुःसहम् ।
बलादहीयत तदा सूतो भीमबलार्दितः ।। ७० ।।

भूमिपर खड़े रहकर दो घड़ीतक उस दुःसह वेगको सह लेनेके पश्चात् भीमसेनके बलसे पीड़ित हो सूतपुत्र कीचक अपनी शक्ति खो बैठा ।। ७० ।।

तं हीयमानं विज्ञाय भीमसेनो महाबलः ।
वक्षस्यानीय वेगेन ममर्दैनं विचेतसम् ।। ७१ ।।

महाबली भीमसेन उसे निर्बल एवं अचेत होते देख उसकी छातीपर चढ़ बैठे और बड़े वेगसे उसे रौंदने लगे ।। ७१ ।।

क्रोधाविष्टो विनिःश्वस्य पुनश्चैनं वृकोदरः ।

जग्राह जयतां श्रेष्ठः केशेष्वेव तदा भृशम् ।। ७२ ।।

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ भीमसेनका क्रोधावेश अभी उतरा नहीं था। उन्होंने पुनः बारंबार उच्छ्वास लेकर कीचकके केश पकड़ लिये ।। ७२ ।।

गृहीत्वा कीचकं भीमो विरराज महाबलः ।

शार्दूलः पिशिताकाङ्क्षी गृहीत्वेव महामृगम् ।। ७३ ।।

जैसे कच्चे मांसकी अभिलाषा रखनेवाला सिंह महान् मृगको पकड़ ले, उसी प्रकार महाबली भीम कीचकको पकड़कर बड़ी शोभा पा रहे थे ।। ७३ ।।

तत एनं परिश्रान्तमुपलभ्य वृकोदरः ।

योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा ।। ७४ ।।

तदनन्तर उसे अत्यन्त थका जानकर भीमने अपनी भुजाओंमें इस प्रकार कस लिया, जैसे पशुको रस्सीसे बाँध दिया गया हो ।। ७४ ।।

नदन्तं च महानादं भिन्नभेरीसमस्वनम् ।

भ्रामयामास सुचिरं विस्फुरन्तमचेतसम् ।। ७५ ।।

अब वह फूटे नगारेके समान विकृत स्वरमें जोर-जोरसे सिंहनाद करने तथा बन्धनसे छूटनेके लिये छटपटाने लगा। उसकी चेतना लुप्त हो रही थी। उसी दशामें भीमसेनने बहुत देरतक उसे घुमाया ।। ७५ ।।

प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां कण्ठं तस्य वृकोदरः ।

अपीडयत कृष्णायास्तदा कोपोपशान्तये ।। ७६ ।।

फिर द्रौपदीका क्रोध शान्त करनेके लिये उन्होंने दोनों हाथोंसे उसका गला पकड़कर बड़े वेगसे दबाया ।।

अथ तं भग्नसर्वाङ्गं व्याविद्धनयनाम्बरम् ।

आक्रम्य च कटीदेशे जानुना कीचकाधमम् ।

अपीडयत बाहुभ्यां पशुमारममारयत् ।। ७७ ।।

इस प्रकार जब उसके सब अंग भग्न हो गये, आँखकी पुतलियाँ बाहर निकल आयीं और वस्त्र फट गये, तब उन्होंने उस कीचकाधमकी कमरको अपने घुटनोंसे दबाकर दोनों भुजाओंद्वारा उसका गला घोंट दिया और उसे पशुकी तरह मारने लगे ।। ७७ ।।

तं विषीदन्तमाज्ञाय कीचकं पाण्डुनन्दनः ।

भूतले भ्रामयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ।। ७८ ।।

मृत्युके समय कीचकको विषाद करते देख पाण्डुनन्दन भीमने उसे धरतीपर घसीटा और इस प्रकार कहा— ।। ७८ ।।

अद्याहमनृणो भूत्वा भ्रातुर्भार्यापहारिणम् ।
शान्तिं लब्धास्मि परमां हत्वा सैरन्ध्रिकण्टकम् ।। ७९ ।।

'जो सैरन्ध्रीके लिये कण्टक था, जिसने मेरे भाईकी पत्नीका अपहरण करनेकी चेष्टा की थी, उस दुष्ट कीचकको मारकर आज मैं उऋण हो जाऊँगा और मुझे बड़ी शान्ति मिलेगी' ।। ७९ ।।

इत्येवमुक्त्वा पुरुषप्रवीर-
स्तं कीचकं क्रोधसरागनेत्रः ।
आस्रस्तवस्त्राभरणं स्फुरन्त-
मुद्भ्रान्तनेत्रं व्यसुमुत्ससर्ज ।। ८० ।।

पुरुषोंमें उत्कृष्ट वीर भीमसेनके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे। उन्होंने उपर्युक्त बातें कहकर कीचकको नीचे डाल दिया। उस समय उसके गहने-कपड़े इधर-उधर बिखर गये थे। वह छटपटा रहा था। उसकी आँखें ऊपरको चढ़ गयी थीं और उसके प्राणपखेरू निकल रहे थे ।। ८० ।।

निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टौष्ठपुटं बली ।
समाक्रम्य च संक्रुद्धो बलेन बलिनां वरः ।। ८१ ।।

बलवानोंमें श्रेष्ठ भीम अब भी क्रोधमें भरे थे। वे हाथसे हाथ मलते हुए दाँतोंसे ओठ दबाकर पुनः बलपूर्वक कीचकके ऊपर चढ़ गये ।। ८१ ।।

तस्य पादौ च पाणी च शिरो ग्रीवां च सर्वशः ।
काये प्रवेशयामास पशोरिव पिनाकधृक् ।। ८२ ।।

तदनन्तर जैसे महादेवजीने गयासुरके सब अंगोंको उसके शरीरके भीतर घुसेड़ दिया था, उसी प्रकार उन्होंने भी कीचकके हाथ, पैर, सिर और गर्दन आदि सब अंगोंको उसके धड़में ही घुसा दिया ।। ८२ ।।

तं सम्मथितसर्वाङ्गं मांसपिण्डोपमं कृतम् ।
कृष्णाया दर्शयामास भीमसेनो महाबलः ।। ८३ ।।

महाबली भीमने उसका सारा शरीर मथ डाला और उसे मांसका लोंदा-सा बना दिया। इसके बाद उन्होंने द्रौपदीको दिखाया ।। ८३ ।।

उवाच च महातेजा द्रौपदीं योषितां वराम् ।
पश्यैनमेहि पाञ्चालि कामुकोऽयं यथा कृतः ।। ८४ ।।

उस समय महातेजस्वी भीमने युवतियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदीसे कहा—'पांचाली! यहाँ आओ और इसे देखो। इस कामीकी शक्ल कैसी बना दी है!' ।। ८४ ।।

एवमुक्त्वा महाराज भीमो भीमपराक्रमः ।
पादेन पीडयामास तस्य कायं दुरात्मनः ।। ८५ ।।

महाराज! भयंकर पराक्रमी भीमने ऐसा कहकर उस दुरात्माकी लाशको पैरसे दबाया ।। ८५ ।।

ततोऽग्निं तत्र प्रज्वाल्य दर्शयित्वा तु कीचकम् ।
पाञ्चालीं स तदा वीर इदं वचनमब्रवीत् ।। ८६ ।।

फिर वहाँ आग जलाकर उन्होंने कीचकका शव दिखाया। उस समय वीरवर भीमने पांचालीसे यह बात कही— ।। ८६ ।।

प्रार्थयन्ति सुकेशान्ते ये त्वां शीलगुणान्विताम् ।
एवं ते भीरु वध्यन्ते कीचकः शोभते यथा ।। ८७ ।।

'सुन्दर केशोंवाली भीरु पांचाली! तुम सुशील और सद्‌गुणोंसे सम्पन्न हो। जो दुष्ट तुमसे समागमकी याचना करेंगे, वे इसी प्रकार मारे जायँगे। जैसे आज कीचक शोभा पाता है, वही दशा उनकी भी होगी' ।। ८७ ।।

तत् कृत्वा दुष्करं कर्म कृष्णायाः प्रियमुत्तमम् ।
तथा स कीचकं हत्वा गत्वा रोषस्य वै शमम् ।। ८८ ।।
आमन्त्र्य द्रौपदीं कृष्णां क्षिप्रमायान्महानसम् ।
कीचकं घातयित्वा तु द्रौपदी योषितां वरा ।
प्रहृष्टा गतसंतापा सभापालानुवाच ह ।। ८९ ।।

द्रौपदीको प्रिय लगनेवाले इस उत्तम एवं दुष्कर कर्मको करके ऊपर बताये अनुसार कीचकको मारकर अपना रोष शान्त करनेके पश्चात् द्रौपदीसे पूछकर भीमसेन पुनः पाकशालामें चले गये। युवतियोंमें श्रेष्ठ द्रौपदी इस प्रकार कीचकको मरवाकर बड़ी प्रसन्न हुई। उसके सब संताप दूर हो गये। फिर वह सभाभवनके रक्षकोंके पास जाकर बोली — ।। ८८-८९ ।।

कीचकोऽयं हतः शेते गन्धर्वैः पतिभिर्मम ।
परस्त्रीकामसम्मत्तस्तत्रागच्छत पश्यत ।। ९० ।।

'आओ, देखो, 'परायी स्त्रीके प्रति कामोन्मत्त रहनेवाला यह कीचक मेरे पति गन्धर्वोंद्वारा मारा जाकर वहाँ नृत्यशालामें पड़ा है' ।। ९० ।।

तच्छ्रुत्वा भाषितं तस्या नर्तनागाररक्षिणः ।
सहसैव समाजग्मुरादायोल्काः सहस्रशः ।। ९१ ।।

उसका यह कथन सुनकर नृत्यशालाके रक्षक सहस्रोंकी संख्यामें हाथोंमें मसाल लिये सहसा वहाँ आये ।। ९१ ।।

ततो गत्वाथ तद् वेश्म कीचकं विनिपातितम् ।
गतासुं ददृशुर्भूमौ रुधिरेण समुक्षितम् ।। ९२ ।।

और उस घरके भीतर जाकर उन्होंने देखा; कीचकको गन्धर्वने मार गिराया है, उसके प्राण निकल गये हैं और उसकी लाश खूनसे लथपथ होकर धरतीपर पड़ी है ।। ९२ ।।

पाणिपादविहीनं तु दृष्ट्वा च व्यथिताऽभवन् ।
निरीक्षन्ति ततः सर्वे परं विस्मयमागताः ।। ९३ ।।

उसे हाथ-पैरसे हीन देख उन सबको बड़ी व्यथा हुई। फिर वे सभी बड़े आश्चर्यमें पड़कर उसे ध्यानसे देखने लगे ।। ९३ ।।

अमानुषं कृतं कर्म तं दृष्ट्वा विनिपातितम् ।
क्वास्य ग्रीवा क्व चरणौ क्व पाणी क्व शिरस्तथा ।
इति स्म तं परीक्षन्ते गन्धर्वेण हतं तदा ।। ९४ ।।

कीचकको इस तरह मारा गया देख वे आपसमें बोले—'यह कर्म तो किसी मनुष्यका किया हुआ नहीं हो सकता। देखो न, इसकी गर्दन, हाथ, पैर और सिर आदि अंग कहाँ चले गये?' यों कहकर जब परीक्षा की, तो वे इसी निश्चयपर पहुँचे कि हो-न-हो, इसे गन्धर्वने ही मारा है ।। ९४ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचकवधे द्वाविंशोऽध्यायः ।। २२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचकवधविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ९६½ श्लोक हैं।)

त्रयोविंशोऽध्यायः

उपकीचकोंका सैरन्ध्रीको बाँधकर श्मशानभूमिमें ले जाना और भीमसेनका उन सबको मारकर सैरन्ध्रीको छुड़ाना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् काले समागम्य सर्वे तत्रास्य बान्धवाः ।
रुरुदुः कीचकं दृष्ट्वा परिवार्य समन्ततः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उसी समय यह समाचार पाकर कीचकके सब बन्धु-बान्धव वहाँ आ गये। वे कीचककी यह दशा देख उसे चारों ओरसे घेरकर विलाप करने लगे ।। १ ।।

सर्वे संहृष्टरोमाणः संत्रस्ताः प्रेक्ष्य कीचकम् ।
तथा सम्भिन्नसर्वाङ्गं कूर्मं स्थल इवोद्धृतम् ।। २ ।।

उसके सारे अवयव शरीरमें घुस गये थे, इसलिये वह जलसे निकालकर स्थलमें रखे हुए कछुएके समान जान पड़ता था। कीचकके शवकी वह दुर्गति देखकर वे सब थर्रा उठे, उन सबके रोंगटे खड़े हो गये ।। २ ।।

पोथितं भीमसेनेन तमिन्द्रेणेव दानवम् ।
संस्कारयितुमिच्छन्तो बहिर्नेतुं प्रचक्रमुः ।। ३ ।।

जैसे इन्द्रने दानव वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार भीमसेनके हाथसे मारे गये उस कीचकका दाह-संस्कार करनेकी इच्छासे उसके बान्धवगण उसे बाहर (श्मशानभूमिमें) ले जानेकी तैयारी करने लगे ।। ३ ।।

ददृशुस्ते ततः कृष्णां सूतपुत्राः समागताः ।
अदूराच्चानवद्याङ्गीं स्तम्भमालिङ्ग्य तिष्ठतीम् ।। ४ ।।

इसी समय वहाँ आये हुए सूतपुत्रोंने देखा, निर्दोष अंगोंवाली द्रौपदी थोड़ी ही दूरपर एक खंभेका सहारा लिये खड़ी है ।। ४ ।।

समवेतेषु सर्वेषु तामूचुरुपकीचकाः ।
हन्यतां शीघ्रमसती यत्कृते कीचको हतः ।। ५ ।।

जब सब लोग जुट गये, तब उन उपकीचकों (कीचकके भाइयों)-ने द्रौपदीको लक्ष्य करके कहा—‘इस दुष्टाको शीघ्र मार डाला जाय, क्योंकि इसीके लिये कीचककी जान गयी है ।। ५ ।।

अथवा नैव हन्तव्या दह्यतां कामिना सह ।
मृतस्यापि प्रियं कार्यं सूतपुत्रस्य सर्वथा ।। ६ ।।

‘अथवा मारा न जाय। कामी कीचककी लाशके साथ ही इसे भी जला दिया जाय। मर जानेपर भी सूतपुत्रका जो प्रिय हो; जिससे उसकी आत्मा प्रसन्न हो, वह कार्य हमें सर्वथा करना चाहिये’ ।। ६ ।।

ततो विराटमूचुस्ते कीचकोऽस्याः कृते हतः ।
सहानेनाद्य दह्येम तदनुज्ञातुमर्हसि ।। ७ ।।

तदनन्तर उन्होंने विराटसे कहा—‘इस सैरन्ध्रीके लिये ही कीचक मारा गया है, अतः आज हम कीचककी लाशके साथ इसे भी जला देना चाहते हैं, आप इसके लिये आज्ञा दें’ ।। ७ ।।

पराक्रमं तु सूतानां मत्वा राजान्वमोदत ।
सैरन्ध्र्याः सूतपुत्रेण सह दाहं विशाम्पतिः ।। ८ ।।

राजाने सूतपुत्रोंके पराक्रमका विचार करके सैरन्ध्रीको कीचकके साथ जला डालनेकी अनुमति दे दी ।। ८ ।।

तां समासाद्य वित्रस्तां कृष्णां कमललोचनाम् ।
मोमुह्यमानां ते तत्र जगृहुः कीचका भृशम् ।। ९ ।।

फिर क्या था, उपकीचकोंने उसके पास जाकर भयभीत एवं मूर्च्छित हुई कमललोचना कृष्णाको बलपूर्वक पकड़ लिया ।। ९ ।।

ततस्तु तां समारोप्य निबध्य च सुमध्यमाम् ।

जग्मुरुद्यम्य ते सर्वे श्मशानाभिमुखास्तदा ।। १० ।।

फिर उन्होंने सुन्दर कटिभागवाली उस देवीको टिकटीपर चढ़ाकर लाशके साथ ही बाँध दिया। इसके बाद वे सब लोग मृतकको उठाकर श्मशानभूमिकी ओर ले चले ।। १० ।।

ह्रियमाणा तु सा राजन् सूतपुत्रैरनिन्दिता ।
प्राक्रोशन्नाथमिच्छन्ती कृष्णा नाथवती सती ।। ११ ।।

राजन्! सूतपुत्रोंद्वारा इस प्रकार ले जायी जाती हुई सती द्रौपदी सनाथा होकर भी [अनाथा-सी हो रही थी, वह] नाथ (रक्षक)-की इच्छा करती हुई जोर-जोरसे पुकारने लगी ।। ११ ।।

द्रौपद्युवाच

जयो जयन्तो विजयो जयत्सेनो जयद्बलः ।
ते मे वाचं विजानन्तु सूतपुत्रा नयन्ति माम् ।। १२ ।।

द्रौपदी बोली—मेरे पति जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जयद्बल जहाँ भी हों, मेरी यह आर्त वाणी सुनें और समझें। ये सूतपुत्र मुझे श्मशानमें लिये जा रहे हैं ।। १२ ।।

येषां ज्यातलनिर्घोषो विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
व्यश्रूयत महायुद्धे भीमघोषस्तरस्विनाम् ।। १३ ।।
रथघोषश्च बलवान् गन्धर्वाणां तरस्विनाम् ।
ते मे वाचं विजानन्तु सूतपुत्रा नयन्ति माम् ।। १४ ।।

जिन वेगवान् गन्धर्वोंके धनुषोंकी प्रत्यंचाका भीषण शब्द वज्राघातके समान सुनायी देता है तथा जिनके रथोंकी घर्घराहटकी आवाज भी बड़े जोरसे उठती और दूरतक फैलती है, वे मेरी आर्त वाणी सुनें और समझें। ये सुतपुत्र मुझे श्मशानमें ले जा रहे हैं ।। १३-१४ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्ताः कृपणा वाचः कृष्णायाः परिदेवितम् ।
श्रुत्वैवाभ्यापतद् भीमः शयनादविचारयन् ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! द्रौपदीकी वह दीन वाणी और करुण विलाप सुनते ही भीमसेन बिना कोई विचार किये शय्यासे कूद पड़े ।। १५ ।।

भीमसेन उवाच

अहं शृणोमि ते वाचं त्वया सैरन्ध्रि भाषिताम् ।
तस्मात् ते सूतपुत्रेभ्यो भयं भीरु न विद्यते ।। १६ ।।

भीमसेन बोले—सैरन्ध्री! तुम जो कुछ कह रही हो, तुम्हारी वह वाणी मैं सुनता हूँ। इसलिये भीरु! अब इन सूतपुत्रोंसे तेरे लिये कोई भय नहीं है ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा स महाबाहुर्विजजृम्भे जिघांसया ।
ततः स व्यायतं कृत्वा वेषं विपरिवर्त्य च ।। १७ ।।
अद्वारेणाभ्यवस्कन्द्य निर्जगाम बहिस्तदा ।
स भीमसेनः प्राकारादारुह्य तरसा द्रुमम् ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर महाबाहु भीमसेनने उपकीचकोंका वध करनेके लिये अँगड़ाई लेते हुए अपने शरीरको बढ़ा लिया और प्रयत्नपूर्वक वेष बदलकर बिना दरवाजेके ही दीवार फाँदकर पाकशालासे बाहर निकल गये। फिर वे नगरका परकोटा लाँघकर बड़े वेगसे एक वृक्षपर चढ़ गये (और वहींसे यह देखने लगे कि उपकीचक द्रौपदीको किधर ले जा रहे हैं) ।। १७-१८ ।।

श्मशानाभिमुखः प्रायाद् यत्र ते कीचका गताः ।
स लङ्घयित्वा प्राकारं निःसृत्य च पुरोत्तमात् ।
जवेन पतितो भीमः सूतानामग्रतस्तदा ।। १९ ।।

तत्पश्चात् वे उपकीचक जिधर गये थे, उसी ओर भीमसेन भी श्मशानभूमिकी दिशामें चल दिये। चहारदीवारी लाँघनेके पश्चात् उस श्रेष्ठ नगरसे निकलकर भीमसेन इतने वेगसे चले कि सूतपुत्रोंसे पहले ही वहाँ पहुँच गये ।। १९ ।।

चितासमीपे गत्वा स तत्रापश्यद् वनस्पतिम् ।
तालमात्रं महास्कन्धं मूर्धशुष्कं विशाम्पते ।। २० ।।

राजन्! चिताके समीप जाकर उन्होंने वहाँ ताड़के बराबर एक वृक्ष देखा, जिसकी शाखाएँ बहुत बड़ी थीं और जो ऊपरसे सूख गया था ।। २० ।।

तं नागवदुपक्रम्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।
स्कन्धमारोपयामास दशव्यामं परंतपः ।। २१ ।।

उस वृक्षकी ऊँचाई दस व्याम* थी। उसे शत्रुतापन भीमसेनने दोनों भुजाओंमें भरकर हाथीके समान जोर लगाकर उखाड़ा और अपने कंधेपर रख लिया ।। २१ ।।

स तं वृक्षं दशव्यामं सस्कन्धविटपं बली ।
प्रगृह्याभ्यद्रवत् सूतान् दण्डपाणिरिवान्तकः ।। २२ ।।

शाखा-प्रशाखाओंसहित उस दस व्याम ऊँचे वृक्षको लेकर बलवान् भीम दण्डपाणि यमराजके समान उन सूतपुत्रोंकी ओर दौड़े ।। २२ ।।

ऊरुवेगेन तस्याथ न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकाः ।
भूमौ निपतिता वृक्षाः सङ्घशस्तत्र शेरते ।। २३ ।।

उस समय उनकी जंघाओंके वेगसे टकराकर बहुतेरे बरगद, पीपल और ढाकके वृक्ष पृथ्वीपर गिरकर ढेर-के-ढेर बिखर गये ।। २३ ।।

तं सिंहमिव संक्रुद्धं दृष्ट्वा गन्धर्वमागतम् ।
वित्रेसुः सर्वशः सूता विषादभयकम्पिताः ।। २४ ।।

सिंहके समान क्रोधमें भरे हुए गन्धर्वरूपी भीमको अपनी ओर आते देखकर सभी सूतपुत्र डर गये और विषाद एवं भयसे काँपते हुए कहने लगे— ।। २४ ।।

गन्धर्वो बलवानेति क्रुद्ध उद्यम्य पादपम् ।
सैरन्ध्री मुच्यतां शीघ्रं यतो नो भयमागतम् ।। २५ ।।

'अरे! देखो, यह बलवान् गन्धर्व वृक्ष उठाये कुपित हो हमारी ओर आ रहा है। सैरन्ध्रीको शीघ्र छोड़ दो, क्योंकि उसीके कारण हमें यह भय उपस्थित हुआ है' ।। २५ ।।

ते तु दृष्ट्वा तदाऽऽविद्धं भीमसेनेन पादपम् ।
विमुच्य द्रौपदीं तत्र प्राद्रवन्नगरं प्रति ।। २६ ।।

इतनेमें ही भीमसेनके द्वारा घुमाये जाते हुए उस वृक्षको देखकर वे द्रौपदीको वहीं छोड़ नगरकी ओर भागने लगे ।। २६ ।।

द्रवतस्तांस्तु सम्प्रेक्ष्य स वज्री दानवानिव ।
शतं पञ्चाधिकं भीमः प्राहिणोद् यमसादनम् ।। २७ ।।
वृक्षेणैतेन राजेन्द्र प्रभञ्जनसुतो बली ।

राजेन्द्र! उन्हें भागते देख वायुपुत्र बलवान् भीमने, वज्रधारी इन्द्र जैसे दानवोंका वध करते हैं, उसी प्रकार उस वृक्षसे एक सौ पाँच उपकीचकोंको यमराजके घर भेज दिया ।। २७½ ।।

तत आश्वासयत् कृष्णां स विमुच्य विशाम्पते ।। २८ ।।

महाराज! तदनन्तर उन्होंने द्रौपदीको बन्धनसे मुक्त करके आश्वासन दिया ।। २८ ।।

उवाच च महाबाहुः पाञ्चालीं तत्र द्रौपदीम् ।
अश्रुपूर्णमुखीं दीनां दुर्धर्षः स वृकोदरः ।। २९ ।।

उस समय पांचालराजकुमारी द्रौपदी बड़ी दीन एवं दयनीय हो गयी थी। उसके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। दुर्धर्ष वीर महाबाहु वृकोदरने उसे धीरज बँधाते हुए कहा — ।। २९ ।।

एवं ते भीरु वध्यन्ते ये त्वां क्लिश्यन्त्यनागसम् ।
प्रैहि त्वं नगरं कृष्णे न भयं विद्यते तव ।। ३० ।।
अन्येनाहं गमिष्यामि विराटस्य महानसम् ।। ३१ ।।

‘भीरु! जो तुझ निरपराध अबलाको सतायेंगे, वे इसी तरह मारे जायँगे। कृष्णे! नगरको जाओ। अब तुम्हारे लिये कोई भय नहीं है। मैं दूसरे मार्गसे विराटकी पाकशालामें चला जाऊँगा’ ।। ३०-३१ ।।

वैशम्पायन उवाच

पञ्चाधिकं शतं तच्च निहतं तेन भारत ।
महावनमिवच्छिन्नं शिश्ये विगलितद्रुमम् ।। ३२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! भीमसेनके द्वारा मारे गये वे एक सौ पाँच उपकीचक वहाँ श्मशानभूमिमें इस प्रकार सो रहे थे, मानो काटा हुआ महान् जंगल गिरे हुए पेड़ोंसे भरा हो ।। ३२ ।।

एवं ते निहता राजञ्छतं पञ्च च कीचकाः ।
स च सेनापतिः पूर्वमित्येतत् सूतषट्शतम् ।। ३३ ।।

राजन्! इस प्रकार वे एक सौ पाँच उपकीचक और पहले मरा हुआ सेनापति कीचक सब मिलकर एक सौ छः सूतपुत्र मारे गये ।। ३३ ।।

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं नरा नार्यश्च संगताः ।
विस्मयं परमं गत्वा नोचुः किञ्चन भारत ।। ३४ ।।

भारत! उस समय श्मशानभूमिमें बहुत-से पुरुष और स्त्रियाँ एकत्र हो गयी थीं। उन सबने यह महान् आश्चर्यजनक काण्ड देखा, किंतु भारी विस्मयमें पड़कर किसीने कुछ कहा नहीं ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ।। २३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३ ।।

---

* दोनों हाथोंको फैलानेपर जितनी लंबाई होती है, उसे एक व्याम कहते हैं।

चतुर्विंशोऽध्यायः

द्रौपदीका राजमहलमें लौटकर आना और बृहन्नला एवं सुदेष्णासे उसकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ते दृष्ट्वा निहतान् सूतान् राज्ञे गत्वा न्यवेदयन् ।
गन्धर्वैर्निहता राजन् सूतपुत्रा महाबलाः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! नगरवासियोंने सूतपुत्रोंका यह संहार देख राजा विराटके पास जाकर निवेदन किया—‘महाराज! गन्धर्वोंने महाबली सूतपुत्रोंको मार डाला ।। १ ।।

यथा वज्रेण वै दीर्णं पर्वतस्य महच्छिरः ।
व्यतिकीर्णाः प्रदृश्यन्ते तथा सूता महीतले ।। २ ।।

‘जैसे पर्वतका महान् शिखर वज्रसे विदीर्ण हो गया हो, उसी प्रकार वे सूतपुत्र पृथ्वीपर बिखरे दिखायी देते हैं ।। २ ।।

सैरन्ध्री च विमुक्तासौ पुनरायाति ते गृहम् ।
सर्वं संशयितं राजन् नगरं ते भविष्यति ।। ३ ।।

‘सैरन्ध्री बन्धनमुक्त हो गयी है, अब वह पुनः आपके महलकी ओर आ रही है। उसके रहनेसे आपके सम्पूर्ण नगरका जीवन संकटमें पड़ जायगा ।। ३ ।।

यथारूपा च सैरन्ध्री गन्धर्वाश्च महाबलाः ।
पुंसामिष्टश्च विषयो मैथुनाय न संशयः ।। ४ ।।

‘सैरन्ध्रीका जैसा अप्रतिम रूप-सौन्दर्य है, वह सबको विदित ही है। उसके पति गन्धर्व भी बड़े बलवान् हैं। पुरुषोंको मैथुनके लिये विषयभोग अभीष्ट है ही; इसमें संशय नहीं है ।। ४ ।।

यथा सैरन्ध्रिदोषेण न ते राजन्निदं पुरम् ।
विनाशमेति वै क्षिप्रं तथा नीतिर्विधीयताम् ।। ५ ।।

‘अतः राजन्! आप शीघ्र ही कोई ऐसी नीति अपनावें, जिससे सैरन्ध्रीके दोषसे आपका यह नगर नष्ट न हो जाय’ ।। ५ ।।

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा विराटो वाहिनीपतिः ।
अब्रवीत् क्रियतामेषां सूतानां परमक्रिया ।। ६ ।।

उनकी वह बात सुनकर सेनाओंके स्वामी राजा विराटने कहा—‘इन सूतपुत्रोंका अन्त्येष्टि-संस्कार किया जाय ।। ६ ।।

एकस्मिन्नेव ते सर्वे सुसमिद्धे हुताशने ।
दह्यन्तां कीचकाः शीघ्रं रत्नैर्गन्धैश्च सर्वशः ।। ७ ।।

'एक ही चितामें अग्नि प्रज्वलित करके रत्न और सुगन्धित पदार्थोंके साथ सम्पूर्ण कीचकोंका दाह करना चाहिये' ।। ७ ।।

सुदेष्णामब्रवीद् राजा महिषीं जातसाध्वसः ।
सैरन्ध्रीमागतां ब्रूया ममैव वचनादिदम् ।। ८ ।।

तदनन्तर राजाने भयभीत होकर रानी सुदेष्णाके पास जाकर कहा—'देवि! जब सैरन्ध्री यहाँ आ जाय, तो मेरी ही ओरसे उससे यों कहो— ।। ८ ।।

गच्छ सैरन्ध्रि भद्रं ते यथाकामं वरानने ।
बिभेति राजा सुश्रोणि गन्धर्वेभ्यः पराभवात् ।। ९ ।।

'सैरन्ध्री! तुम्हारा कल्याण हो। वरानने! तुम्हारी जहाँ रुचि हो, चली जाओ। सुश्रोणि! गन्धर्वोंके तिरस्कारसे राजा डरते हैं ।। ९ ।।

न हि त्वामुत्सहे वक्तुं स्वयं गन्धर्वरक्षिताम् ।
स्त्रियास्त्वदोषस्तां वक्तुमतस्त्वां प्रब्रवीम्यहम् ।। १० ।।

'तुम गन्धर्वोंसे सुरक्षित हो। मैं पुरुष होनेके कारण स्वयं तुमसे कोई बात नहीं कह सकता। किंतु स्त्रीके मुखसे तुम्हारे प्रति यह सब कहलानेमें दोष नहीं है; अतः अपनी पत्नीके द्वारा स्वयं ही तुमसे यह बात कह रहा हूँ' ।। १० ।।

वैशम्पायन उवाच

अथ मुक्ता भयात् कृष्णा सूतपुत्रान् निरस्य च ।
मोक्षिता भीमसेनेन जगाम नगरं प्रति ।। ११ ।।
त्रासितेव मृगी बाला शार्दूलेन मनस्विनी ।
गात्राणि वाससी चैव प्रक्षाल्य सलिलेन सा ।। १२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब सूतपुत्रोंको मारकर भीमसेनने द्रौपदीका बन्धन खोल दिया और वह भयसे मुक्त हो गयी, तब जलसे स्नान करके अपने शरीर और वस्त्रोंको धोकर सिंहसे डरायी हुई हरिणीकी भाँति वह मनस्विनी बाला नगरकी ओर चली ।। ११-१२ ।।

तां दृष्ट्वा पुरुषा राजन् प्राद्रवन्त दिशो दश ।
गन्धर्वाणां भयत्रस्ताः केचिद् दृष्ट्वा न्यमीलयन् ।। १३ ।।

जनमेजय! उस समय द्रौपदीको देखकर गन्धर्वोंके भयसे डरे हुए पुरुष दसों दिशाओंकी ओर भाग जाते थे और कोई-कोई उसे देखकर आँख मूँद लेते थे ।।

ततो महानसद्वारि भीमसेनमवस्थितम् ।
ददर्श राजन् पाञ्चाली यथा मत्तं महाद्विपम् ।। १४ ।।

तदनन्तर पाकशालाके द्वारपर पहुँचकर पांचालीने वहाँ मतवाले गजराजके समान भीमसेनको खड़ा देखा ।।

तं विस्मयन्ती शनकैः संज्ञाभिरिदमब्रवीत् ।
गन्धर्वराजाय नमो येनास्मि परिमोचिता ।। १५ ।।

और विस्मयविमुग्ध होकर उसने धीरेसे संकेतपूर्वक इस प्रकार कहा—'उन गन्धर्वराजको नमस्कार है, जिन्होंने मुझे भारी संकटसे मुक्त किया है' ।। १५ ।।

भीमसेन उवाच

ये पुरा विचरन्तीह पुरुषा वशवर्तिनः ।
तस्यास्ते वचनं श्रुत्वा ह्यनृणा विहरन्त्वतः ।। १६ ।।

भीमसेन बोले—देवि! जो पुरुष तुम्हारी आज्ञाके अधीन होकर यहाँ पहलेसे विचर रहे हैं, वे तुम्हारी यह बात सुनकर प्रतिज्ञासे उऋण हो इच्छानुसार विहार करें ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः सा नर्तनागारे धनंजयमपश्यत ।
राज्ञः कन्या विराटस्य नर्तयानं महाभुजम् ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् द्रौपदीने नृत्यशालामें पहुँचकर महाबाहु अर्जुनको देखा, जो राजा विराटकी कन्याओंको नृत्य सिखा रहे थे ।। १७ ।।

ततस्ता नर्तनागाराद् विनिष्क्रम्य सहार्जुनाः ।
कन्या ददृशुरायान्तीं क्लिष्टां कृष्णामनागसम् ।। १८ ।।

उसके आनेका समाचार पाकर अर्जुनसहित वे सब कन्याएँ नृत्यगृहसे बाहर निकल आयीं और वहाँ आती हुई निरपराध सतायी गयी कृष्णाको देखने लगीं ।। १८ ।।

कन्या ऊचुः

दिष्ट्या सैरन्ध्रि मुक्तासि दिष्ट्यासि पुनरागता ।
दिष्ट्या विनिहताः सूता ये त्वां क्लिश्यन्त्यनागसम् ।। १९ ।।

उसे देखकर कन्याओंने कहा—सैरन्ध्री! सौभाग्य-की बात है कि तुम संकटसे मुक्त हो गयीं और सौभाग्यसे यहाँ पुनः लौट आयीं। वे सूतपुत्र जो तुम्हें बिना किसी अपराधके ही कष्ट दे रहे थे, मार दिये गये, यह भी भाग्यवश अच्छा ही हुआ ।। १९ ।।

बृहन्नलोवाच

कथं सैरन्ध्रि मुक्तासि कथं पापाश्च ते हताः ।
इच्छामि वै तव श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ।। २० ।।

बृहन्नलाने पूछा—सैरन्ध्री! तू उन पापियोंके हाथसे कैसे छूटी? और वे पापी कैसे मारे गये? मैं ये सब बातें तेरे मुखसे ज्यों-की-त्यों सुनना चाहती हूँ ।। २० ।।

सैरन्ध्र्युवाच

बृहन्नले किं नु तव सैरन्ध्र्या कार्यमद्य वै ।
या त्वं वससि कल्याणि सदा कन्यापुरे सुखम् ।। २१ ।।

सैरन्ध्री बोली—बृहन्नले! अब तुम्हें सैरन्ध्रीसे क्या काम है? कल्याणी! तुम तो मौजसे इन कन्याओंके अन्तःपुरमें रहती हो ।। २१ ।।

न हि दुःखं समाप्नोषि सैरन्ध्री यदुपाश्नुते ।
तेन मां दुःखितामेवं पृच्छसे प्रहसन्निव ।। २२ ।।

सैरन्ध्री जो दुःख भोग रही है, उसे दूर तो करोगी नहीं या उसका अनुभव तो तुम्हें होता नहीं; इसीलिये मुझ दुखियाकी केवल हँसी उड़ानेके लिये ऐसा प्रश्न कर रही हो? ।। २२ ।।

बृहन्नलोवाच

बृहन्नलापि कल्याणि दुःखमाप्नोत्यनुत्तमम् ।
तिर्यग्योनिगता बाले न चैनामवबुध्यसे ।। २३ ।।

बृहन्नलाने कहा—कल्याणी! पशुओंकी-सी नीच या नपुंसक योनिमें पड़कर बृहन्नला भी महान् दुःख भोग रही है, तू अभी भोली-भाली है; इसीलिये बृहन्नलाको नहीं समझ पाती ।। २३ ।।

त्वया सहोषिता चास्मि त्वं च सर्वैः सहोषिता ।

क्लिश्यन्त्यां त्वयि सुश्रोणि को नु दुःखं न चिन्तयेत् ।। २४ ।।

सुश्रोणि! तेरे साथ तो मैं रह चुकी हूँ और तू भी हम सबके साथ रही है; फिर तेरे ऊपर कष्ट पड़नेपर किसको दुःख न होगा? ।। २४ ।।

न तु केनचिदत्यन्तं कस्यचिद्‌धृदयं क्वचित् ।
वेदितुं शक्यते नूनं तेन मां नावबुध्यसे ।। २५ ।।

निश्चय ही, कोई अन्य व्यक्ति किसी दूसरेके हृदयको कभी पूर्णरूपसे नहीं समझ सकता, यही कारण है कि तुम मुझे नहीं समझ पाती; मेरे कष्टका अनुभव नहीं कर पाती ।। २५ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः सहैव कन्याभिर्द्रौपदी राजवेश्म तत् ।
प्रविवेश सुदेष्णायाः समीपमुपगामिनी ।। २६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर उन कन्याओंके साथ ही द्रौपदी राजभवनमें गयी और रानी सुदेष्णाके पास जाकर खड़ी हो गयी ।। २६ ।।

तामब्रवीद् राजपुत्री विराटवचनादिदम् ।
सैरन्ध्रि गम्यतां शीघ्रं यत्र कामयसे गतिम् ।। २७ ।।

तब राजपुत्री सुदेष्णाने विराटके कथनानुसार उससे कहा—‘सैरन्ध्री! तुम जहाँ जाना चाहो, शीघ्र चली जाओ ।।

राजा बिभेति ते भद्रे गन्धर्वेभ्यः पराभवात् ।
त्वं चापि तरुणी सुभ्रु रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
पुंसामिष्टश्च विषयो गन्धर्वाश्चातिकोपनाः ।। २८ ।।

‘भद्रे! तुम्हारे गन्धर्वोंद्वारा प्राप्त होनेवाले पराभवसे महाराजको भय हो रहा है। सुभ्रु! तुम अभी तरुणी हो, रूप-सौन्दर्यमें भी तुम्हारी समानता कर सके, ऐसी कोई स्त्री इस भूमण्डलमें नहीं है। पुरुषोंको विषयभोग प्रिय होता ही है; (अतः उनसे प्रमाद होनेकी सम्भावना है।) इधर तुम्हारे गन्धर्व बड़े क्रोधी हैं (वे न जाने कब क्या कर बैठें?)’ ।। २८ ।।

सैरन्ध्र्युवाच

त्रयोदशाहमात्रं मे राजा क्षाम्यतु भामिनि ।
कृतकृत्या भविष्यन्ति गन्धर्वास्ते न संशयः ।। २९ ।।

सैरन्ध्रीने कहा—भामिनि! मेरे लिये तेरह दिन और महाराज क्षमा करें। निःसंदेह तबतक गन्धर्वों-का अभीष्ट कार्य पूर्ण हो जायगा—वे कृतकृत्य हो जायँगे ।। २९ ।।

ततो मामुपनेष्यन्ति करिष्यन्ति च ते प्रियम् ।
ध्रुवं च श्रेयसा राजा योक्ष्यते सह बान्धवैः ।। ३० ।।

इसके बाद वे मुझे तो ले ही जायँगे, आपका भी प्रिय करेंगे। (गन्धर्वोंकी प्रसन्नतासे) अवश्य ही राजा विराट अपने भाई-बन्धुओंसहित कल्याणके भागी होंगे ।।

(राज्ञा कृतोपकाराश्च कृतज्ञाश्च सदा शुभे ।
साधवश्च बलोत्सिक्ताः कृतप्रतिकृतेप्सवः ।।
अर्थिनी प्रब्रवीम्येषा यद् वा तद् वेति चिन्तय ।
भरस्व तदहर्मात्रं ततः श्रेयो भविष्यति ।।

शुभे! राजा विराटने गन्धर्वोंका बड़ा उपकार किया है; अतः वे सदा उनके प्रति कृतज्ञ बने रहते हैं। गन्धर्वलोग बलके अभिमानी होते हुए भी साधु स्वभावके पुरुष हैं और अपने प्रति किये हुए उपकारका बदला चुकानेकी इच्छा रखते हैं। मैं एक प्रयोजनसे यहाँ रहती हूँ; इसीलिये तुमसे अभी कुछ दिन और यहाँ ठहरने देनेके लिये अनुरोध करती हूँ। तुम अपने मनमें जो कुछ भी सोच-विचार करो, किंतु कुछ गिने गिनाये दिनोंतक अभी और मेरा भरण-पोषण करती चलो; इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कैकेयी दुःखमोहिता ।
उवाच द्रौपदीमार्ता भ्रातृव्यसनकर्शिता ।।
वस भद्रे यथेष्टं त्वं त्वामहं शरणं गता ।
त्रायस्व मम भर्तारं पुत्रांश्चैव विशेषतः ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सैरन्ध्रीकी यह बात सुनकर केकयराजकुमारी सुदेष्णा भाईके शोकसे पीड़ित और दुःखसे मोहित हो आर्त होकर द्रौपदीसे बोली—‘भद्रे! तुम्हारी जबतक इच्छा हो, यहाँ रहो; परंतु मेरे पति और पुत्रोंकी विशेषरूपसे रक्षा करो। इसके लिये मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ’।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि कीचकवधपर्वणि कीचकदाहे चतुर्विंशोऽध्यायः ।। २४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत कीचकवधपर्वमें कीचकोंके दाह-संस्कारविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं।)

(गोहरणपर्व)

पञ्चविंशोऽध्यायः

दुर्योधनके पास उसके गुप्तचरोंका आना और उनका पाण्डवोंके विषयमें कुछ पता न लगा, यह बताकर कीचकवधका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

(कीचके तु हते राजा विराटः परवीरहा ।
शोकमाहारयत् तीव्रं सामात्यः सपुरोहितः ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कीचकके मारे जानेपर शत्रुवीरोंका वध करनेवाले राजा विराट पुरोहित और मन्त्रियोंसहित बहुत दुःखी हुए।

कीचकस्य तु घातेन सानुजस्य विशाम्पते ।
अत्याहितं चिन्तयित्वा व्यस्मयन्त पृथग् जनाः ।। १ ।।

नरेश्वर! भाइयोंसहित कीचकका वध होनेसे सब लोग इसको बड़ी भारी दुर्घटना या दुःसाहसका काम मानकर अलग-अलग आश्चर्यमें पड़े रहे ।। १ ।।

तस्मिन् पुरे जनपदे संजल्पोऽभूच्च सङ्घशः ।
शौर्याद्धि वल्लभो राज्ञो महासत्त्वः स कीचकः ।। २ ।।

उस नगर तथा राष्ट्रमें झुंड-के-झुंड मनुष्य एकत्र हो जाते और उनमें इस तरहकी बातें होने लगती थीं—‘महाबली कीचक अपनी शूरवीरताके कारण राजा विराटको बहुत प्रिय था ।। २ ।।

आसीत् प्रहर्ता सैन्यानां दारामर्शी च दुर्मतिः ।
स हतः खलु पापात्मा गन्धर्वैर्दुष्टपूरुषः ।। ३ ।।

‘उसने विपक्षी दलोंकी बहुत-सी सेनाओंका संहार किया था, किंतु उसकी बुद्धि बड़ी खोटी थी। वह परायी स्त्रियोंपर बलात्कार करनेवाला पापात्मा और दुष्ट था; इसीलिये गन्धर्वोंद्वारा मारा गया है ।। ३ ।।

इत्यजल्पन् महाराज परानीकविनाशनम् ।
देशे देशे मनुष्याश्च कीचकं दुष्प्रधर्षणम् ।। ४ ।।

महाराज जनमेजय! शत्रुओंकी सेनाका संहार करनेवाले उस दुर्धर्ष वीर कीचकके विषयमें देश-देशके लोग ऐसी ही बातें किया करते थे ।। ४ ।।

अथ वै धार्तराष्ट्रेण प्रयुक्ता ये बहिश्चराः ।
मृगयित्वा बहून् ग्रामान् राष्ट्राणि नगराणि च ।। ५ ।।
संविधाय यथादृष्टं यथादेशप्रदर्शनम् ।
कृतकृत्या न्यवर्तन्त ते चरा नगरं प्रति ।। ६ ।।

इधर अज्ञातवासकी अवस्थामें पाण्डवोंका पता लगानेके लिये दुर्योधनने जो बाहरके देशोंमें घूमनेवाले गुप्तचर लगा रखे थे, वे अनेक ग्राम, राष्ट्र और नगरोंमें उन्हें ढूँढ़कर, जैसा वे देख सकते या पता लगा सकते थे अथवा जिन-जिन देशोंमें छान-बीन कर सकते थे, उन सबमें उसी प्रकार देखभाल करके अपना काम पूरा करके पुनः हस्तिनापुरमें लौट आये ।। ५-६ ।।

तत्र दृष्ट्वा तु राजानं कौरव्यं धृतराष्ट्रजम् ।
द्रोणकर्णकृपैः सार्धं भीष्मेण च महात्मना ।। ७ ।।
संगतं भ्रातृभिश्चापि त्रिगर्तैश्च महारथैः ।
दुर्योधनं सभामध्ये आसीनमिदमब्रुवन् ।। ८ ।।

वहाँ वे धृतराष्ट्रपुत्र कुरुनन्दन दुर्योधनसे मिले, जो द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, महात्मा भीष्म, अपने सम्पूर्ण भाई तथा महारथी त्रिगर्तोंके साथ राजसभामें बैठा था। उससे मिलकर उन गुप्तचरोंने यों कहा ।। ७-८ ।।

चरा ऊचुः

कृतोऽस्माभिः परो यत्नस्तेषामन्वेषणे सदा ।
पाण्डवानां मनुष्येन्द्र तस्मिन् महति कानने ।। ९ ।।

गुप्तचर बोले—नरेन्द्र! हमने उस विशाल वनमें पाण्डवोंकी खोजके लिये सदा महान् प्रयत्न जारी रखा है ।।

निर्जने मृगसंकीर्णे नानाद्रुमलताकुले ।
लताप्रतानबहुले नानागुल्मसमावृते ।। १० ।।
न च विद्मो गता येन पार्थाः सुदृढविक्रमाः ।
मार्गमाणाः पदन्यासं तेषु तेषु तथा तथा ।। ११ ।।

मृगोंसे भरे हुए निर्जन वनमें, जो अनेकानेक वृक्षों और लताओंसे व्याप्त, विविध लताओंकी बहुलता एवं विस्तारसे विलसित तथा नाना गुल्मोंसे समावृत है, घूमकर वहाँके विभिन्न स्थानोंमें अनेक प्रकारसे उनके पदचिह्न हम ढूँढ़ते रहे हैं तथापि वे सुदृढ़ पराक्रमी कुन्तीकुमार किस मार्गसे कहाँ गये? यह नहीं जान सके ।। १०-११ ।।

गिरिकूटेषु तुङ्गेषु नानाजनपदेषु च ।

जनाकीर्णेषु देशेषु खर्वटेषु पुरेषु च ।। १२ ।।

नरेन्द्र बहुशोऽन्विष्टा नैव विद्मश्च पाण्डवान् ।

अत्यन्तं वा विनष्टास्ते भद्रं तुभ्यं नरर्षभ ।। १३ ।।

महाराज! हमने पर्वतोंके ऊँचे-ऊँचे शिखरोंपर, भिन्न-भिन्न देशोंमें, जनसमूहसे भरे हुए स्थानोंमें तथा तराईके गाँवों, बाजारों और नगरोंमें भी उनकी बहुत खोज की, परंतु कहीं भी पाण्डवोंका पता नहीं लगा। नरश्रेष्ठ! आपका कल्याण हो। सम्भव है, वे सर्वथा नष्ट हो गये हों ।। १२-१३ ।।

वर्त्मन्यन्वेष्यमाणा वै रथिनां रथिसत्तम ।

न हि विद्मो गतिं तेषां वासं हि नरसत्तम ।। १४ ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ नरोत्तम! हमने रथियोंके मार्गपर भी उनका अन्वेषण किया है, किंतु वे कहाँ गये और कहाँ रहते हैं? इसका पता हमें नहीं लगा ।। १४ ।।

किंचित्काले मनुष्येन्द्र सूतानामनुगा वयम् ।

मृगयित्वा यथान्यायं वेदितार्थाः स्म तत्त्वतः ।। १५ ।।

मानवेन्द्र! कुछ कालतक हमलोग उनके सारथियोंके पीछे लगे रहे और अच्छी तरह खोज करके हमने एक यथार्थ बातका ठीक-ठीक पता लगा लिया है ।। १५ ।।

प्राप्ता द्वारवतीं सूता विना पार्थैः परंतप ।

न तत्र कृष्णा राजेन्द्र पाण्डवाश्च महाव्रताः ।। १६ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले राजेश्वर! पाण्डवोंके इन्द्रसेन आदि सारथि उनके बिना ही द्वारकापुरीमें पहुँच गये हैं। वहाँ न तो द्रौपदी है और न महान् व्रतधारी पाण्डव ही हैं ।। १६ ।।

सर्वथा विप्रणष्टास्ते नमस्ते भरतर्षभ ।

न हि विद्मो गतिं तेषां वासं वापि महात्मनाम् ।। १७ ।।

पाण्डवानां प्रवृत्तिं च विद्मः कर्मापि वा कृतम् ।

स नः शाधि मनुष्येन्द्र अत ऊर्ध्वं विशाम्पते ।। १८ ।।

जान पड़ता है; वे बिल्कुल नष्ट हो गये। भरतश्रेष्ठ! आपको नमस्कार है। हम महात्मा पाण्डवोंके मार्ग, निवासस्थान, प्रवृत्ति अथवा उनके द्वारा किये हुए कार्यके विषयमें कुछ भी जानकारी नहीं प्राप्त कर सके। प्रजापालक नरेश! इसके बाद हमारे लिये क्या आज्ञा है? ।। १७-१८ ।।

अन्वेषणे पाण्डवानां भूयः किं करवामहे ।

इमां च नः प्रियां वीर वाचं भद्रवतीं शृणु ।। १९ ।।

बताइये, पाण्डवोंको ढूँढ़नेके लिये हम पुनः क्या करें? वीर! हमारी एक बात और सुनिये, यह आपको प्रिय लगेगी। इसमें आपके लिये मंगलजनक समाचार है ।। १९ ।।

येन त्रिगर्ता निहता बलेन महता नृप ।

सूतेन राज्ञो मत्स्यस्य कीचकेन बलीयसा ।। २० ।।
स हतः पतितः शेते गन्धर्वैर्निशि भारत ।
अदृश्यमानैर्दुष्टात्मा भ्रातृभिः सह सोदरैः ।। २१ ।।

राजन्! मत्स्यराज विराटके जिस महाबली सेनापति सूतपुत्र कीचकने बहुत बड़ी सेनाके द्वारा त्रिगर्तदेश और वहाँके निवासियोंको तहस-नहस कर दिया था, भारत! गन्धर्वोंने उस दुष्टात्माको उसके सहोदर भाइयोंसहित रात्रिमें गुप्तरूपसे मार डाला है। अब वह श्मशानभूमिमें पड़ा सो रहा है ।। २०-२१ ।।

(श्यालो राज्ञो विराटस्य सेनापतिरुदारधीः ।
सुदेष्णायाः स वै ज्येष्ठः शूरो वीरो गतव्यथः ।।
उत्साहवान् महावीर्यो नीतिमान् बलवानपि ।
युद्धज्ञो रिपुवीरघ्नः सिंहतुल्यपराक्रमः ।।
प्रजारक्षणदक्षश्च शत्रुग्रहणशक्तिमान् ।
विजितारिर्महायुद्धे प्रचण्डो मानवत् परः ।।
नरनारीमनोह्लादी धीरो वाग्मी रणप्रियः ।

उदारचित्त कीचक राजा विराटका साला और सेनापति था। रानी सुदेष्णाका वह बड़ा भाई लगता था। कीचक शूरवीर, व्यथारहित, उत्साही, महापराक्रमी, नीतिमान्, बलवान्, युद्धकी कलाको जाननेवाला, शत्रु-वीरोंका संहार करनेमें समर्थ, सिंहके समान पराक्रम-सम्पन्न, प्रजारक्षणमें कुशल, शत्रुओंको काबूमें लानेकी शक्ति रखनेवाला, बड़े-बड़े युद्धोंमें वैरियोंपर विजय पानेवाला, अत्यन्त क्रोधी, अभिमानी, नर-नारियोंके मनको आह्लादित करनेवाला, रणप्रिय धीर और बोलनेमें चतुर था।

स हतो निशि गन्धर्वैः स्त्रीनिमित्तं नराधिप ।
अमृष्यमाणो दुष्टात्मा निशीथे सह सोदरैः ।।
सुहृदश्चास्य निहता योधाश्च प्रवरा हताः ।)

नरेश्वर! वह अमर्षशील दुष्टात्मा कीचक एक स्त्रीके कारण गन्धर्वोंद्वारा आधीरातमें अपने भाइयोंसहित मार डाला गया है। उसके प्रिय सुहृद् और श्रेष्ठ सैनिक भी मारे गये हैं।

प्रियमेतदुपश्रुत्य शत्रूणां च पराभवम् ।
कृतकृत्यश्च कौरव्य विधत्स्व यदनन्तरम् ।। २२ ।।

कुरुनन्दन! शत्रुओंके पराभवका यह प्रिय संवाद सुनकर आप कृतकृत्य हों और इसके बाद जो कुछ करना हो, वह करें ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्यागमने पञ्चविंशोऽध्यायः ।। २५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचरोंके लौटकर आनेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल २८ श्लोक हैं।)

षड्विंशोऽध्यायः

दुर्योधनका सभासदोंसे पाण्डवोंका पता लगानेके लिये परामर्श तथा इस विषयमें कर्ण और दुःशासनकी सम्मति

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा ज्ञात्वा तेषां वचस्तदा ।
चिरमन्तर्मना भूत्वा प्रत्युवाच सभासदः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा दुर्योधन उस समय दूतोंकी बातपर विचार करके बहुत देरतक मन-ही-मन कुछ सोचता रहा। उसके बाद उसने सभासदोंसे कहा— ।। १ ।।

सुदुःखा खलु कार्याणां गतिर्विज्ञातुमन्ततः ।
तस्मात् सर्वे निरीक्षध्वं क्व नु ते पाण्डवा गताः ।। २ ।।

'कार्योंके अन्तिम परिणामको ठीक-ठीक समझ लेना अत्यन्त कठिन है; अतः आप सब लोग इस बातको समझें कि पाण्डव कहाँ चले गये? ।। २ ।।

अल्पावशिष्टं कालस्य गतभूयिष्ठमन्ततः ।

तेषामज्ञातचर्यायामस्मिन् वर्षे त्रयोदशे ।। ३ ।।

'इस तेरहवें वर्षमें पाण्डवोंके अज्ञातवासका अधिकांश समय बीत चुका है और थोड़े ही दिन शेष हैं ।। ३ ।।

अस्य वर्षस्य शेषं चेद् व्यतीयुरिह पाण्डवाः ।
निवृत्तसमयास्ते हि सत्यव्रतपरायणाः ।। ४ ।।
क्षरन्त इव नागेन्द्राः सर्वे ह्याशीविषोपमाः ।
दुःखा भवेयुः संरब्धाः कौरवान् प्रति ते ध्रुवम् ।। ५ ।।

'यदि शेष समय भी पाण्डव इसी प्रकार यहाँ व्यतीत कर लें, तो वे प्रतिज्ञापालनके भारसे मुक्त हो जायँगे। फिर तो वे सत्यव्रती पाण्डव मदकी धारा बहानेवाले गजराजों और विषधर सर्पोंके समान क्रोधमें भरकर निश्चय ही कौरवोंके लिये दुःखदायी हो जायँगे ।। ४-५ ।।

सर्वे कालस्य वेत्तारः कृच्छ्ररूपधराः स्थिताः ।
प्रविशेयुर्जितक्रोधास्तावदेव पुनर्वनम् ।। ६ ।।
तस्मात् क्षिप्रं बुभूषध्वं यथा तेऽत्यन्तमव्ययम् ।
राज्यं निर्द्वन्द्वमव्यग्रं निःसपत्नं चिरं भवेत् ।। ७ ।।

'वे सब समयकी नियत अवधिको जानते हैं; अतः कही ऐसा वेष धारण करके छिपे होंगे, जिससे उन्हें पहचानना कठिन हो गया है; इसलिये आपलोग शीघ्र उनका पता लगानेकी चेष्टा करें, जिससे वे क्रोधको दबाकर उतने ही समयके लिये अर्थात् बारह वर्षोंके लिये फिर वनमें चले जायँ। ऐसा होनेपर ही मेरा यह राज्य दीर्घकाल-तकके लिये निर्द्वन्द्व, व्यग्रताशून्य तथा निष्कण्टक हो जायगा' ।। ६-७ ।।

अथाब्रवीत् ततः कर्णः क्षिप्रं गच्छन्तु भारत ।
अन्ये धूर्ता नरा दक्षा निभृताः साधुकारिणः ।। ८ ।।

यह सुनकर कर्णने कहा—'भरतनन्दन! तब शीघ्र ही दूसरे कार्यकुशल गुप्तचर भेजे जायँ, जो धूर्त होनेके साथ ही छिपे रहकर अपना कार्य अच्छी तरह कर सकें ।। ८ ।।

चरन्तु देशान् संवीताः स्फीताञ्जनपदाकुलान् ।
तत्र गोष्ठीषु रम्यासु सिद्धप्रव्रजितेषु च ।। ९ ।।
परिचारेषु तीर्थेषु विविधेष्वाकरेषु च ।
विज्ञातव्या मनुष्यैस्तैस्तर्कया सुविनीतया ।। १० ।।

'वे गुप्तरूपसे धन-धान्यसम्पन्न एवं जनसमुदायसे भरे हुए देशोंमें जायँ और वहाँ सुरम्य सभाओंमें, सिद्ध-संन्यासी महात्माओंके आश्रमोंमें, राजनगरोंमें, नाना प्रकारके तीर्थों और सर्वोत्तम स्थानोंमें, वहाँ निवास करनेवाले मनुष्योंसे विनयपूर्ण युक्तिसे पूछकर उनका पता लगावें ।। ९-१० ।।

विविधैस्तत्परैः सम्यक् तज्ज्ञैर्निपुणसंवृतैः ।

अन्वेष्टव्याः सुनिपुणैः पाण्डवाश्छन्नवासिनः ।। ११ ।।
नदीकुञ्जेषु तीर्थेषु ग्रामेषु नगरेषु च ।
आश्रमेषु च रम्येषु पर्वतेषु गुहासु च ।। १२ ।।

'पाण्डव छिपकर किसी गुप्त स्थानमें निवास करते होंगे; अतः जो कार्यसाधनमें तत्पर, उन्हें अच्छी तरह पहचाननेवाले, बुद्धिमानीसे स्वयं भी छिपकर कार्य करनेवाले और अत्यन्त कुशल हों, ऐसे अनेक गुप्तचर नदी-तटवर्ती कुंजों, तीर्थों, गाँवों, नगरों, रमणीय आश्रमों, पर्वतों तथा गुफाओंमें जा-जाकर उनकी खोज करें' ।। ११-१२ ।।

अथाग्रजानन्तरजः पापभावानुरागवान् ।
ज्येष्ठं दुःशासनस्तत्र भ्राता भ्रातरमब्रवीत् ।। १३ ।।

तदनन्तर सदा पापभावनामें अनुरक्त रहनेवाला दुर्योधनसे छोटा भाई दुःशासन अपने बड़े भाईसे बोला— ।। १३ ।।

येषु नः प्रत्ययो राजंश्चारेषु मनुजाधिप ।
ते यान्तु दत्तदेया वै भूयस्तान् परिमार्गितुम् ।। १४ ।।

'राजन्! नरेश्वर! जिन गुप्तचरोंपर हमारा अधिक विश्वास हो, उन्हें देनेयोग्य सब साधन देकर पुनः पाण्डवोंकी खोजके लिये भेजा जाय ।। १४ ।।

एतच्च कर्णो यत् प्राह सर्वमीहामहे तथा ।
यथोद्दिष्टं चराः सर्वे मृगयन्तु यतस्ततः ।। १५ ।।

'कर्णने जो बात कही है, वह सब हम करें। इनके बताये हुए स्थानोंमें जहाँ-तहाँ घूमकर सभी गुप्तचर उनका पता लगावें' ।। १५ ।।

एते चान्ये च भूयांसो देशाद् देशं यथाविधि ।
न तु तेषां गतिर्वासः प्रवृत्तिश्चोपलभ्यते ।। १६ ।।

'ये तथा और भी बहुत-से लोग एक देशसे दूसरे देशमें विधिपूर्वक खोज करें। अभीतक तो पाण्डवोंके गन्तव्य स्थान, निवास तथा प्रवृत्तिका कुछ भी पता नहीं लग रहा है ।। १६ ।।

अत्यन्तं वा निगूढास्ते पारं चोर्मिमतो गताः ।
व्यालैश्चापि महारण्ये भक्षिताः शूरमानिनः ।। १७ ।।

'या तो वे अधिक गुप्त स्थानमें छिपे हैं या समुद्रके उस पार चले गये हैं। यह भी सम्भव है कि अपनेको शूरवीर माननेवाले इन पाण्डवोंको उस महान् वनमें अजगर निगल गये हों ।। १७ ।।

अथवा विषमं प्राप्य विनष्टाः शाश्वतीः समाः ।
तस्मान्मानसमव्यग्रं कृत्वा त्वं कुरुनन्दन ।
कुरु कार्यं महोत्साहं मन्यसे यन्नराधिप ।। १८ ।।

‘अथवा वे किसी विषम परिस्थितिमें पड़कर सदाके लिये नष्ट हो गये हों। अतः कुरुनन्दन! मनुजेश्वर! आप अपने चित्तको स्वस्थ करके जो ठीक समझमें आवे, वह कार्य पूर्ण उत्साहके साथ करें’ ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि कर्णदुःशासनवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः ।। २६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें कर्ण और दुःशासनके वचनविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६ ।।

सप्तविंशोऽध्यायः

आचार्य द्रोणकी सम्मति

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्महावीर्यो द्रोणस्तत्त्वार्थदर्शिवान् ।
न तादृशा विनश्यन्ति न प्रयान्ति पराभवम् ।। १ ।।
शूराश्च कृतविद्याश्च बुद्धिमन्तो जितेन्द्रियाः ।
धर्मज्ञाश्च कृतज्ञाश्च धर्मराजमनुव्रताः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर तत्त्वार्थदर्शी महापराक्रमी द्रोणाचार्यने कहा—'पाण्डवलोग शूरवीर, विद्वान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, कृतज्ञ और अपने बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञा माननेवाले उनके भक्त हैं। ऐसे महापुरुष न तो नष्ट होते हैं और न किसीसे तिरस्कृत ही होते हैं ।। १-२ ।।

नीतिधर्मार्थतत्त्वज्ञं पितृवच्च समाहितम् ।
धर्मे स्थितं सत्यधृतिं ज्येष्ठं ज्येष्ठानुयायिनः ।। ३ ।।
अनुव्रता महात्मानं भ्रातरो भ्रातरं नृप ।
अजातशत्रुं श्रीमन्तं सर्वभ्रातॄननुव्रतम् ।। ४ ।।

'उनमें धर्मराज तो नीति, धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले, भाइयोंद्वारा पिताकी भाँति सम्मानित, धर्मपर अटल रहनेवाले, सत्यपरायण और भाइयोंमें सबसे ज्येष्ठ हैं। राजन्! उनके भाई भी अपनेसे बड़ोंके अनुगामी और अपने महात्मा बन्धु श्रीमान् अजातशत्रु युधिष्ठिरके भक्त हैं। धर्मराज भी सब भाइयोंपर अत्यन्त स्नेह रखते हैं ।। ३-४ ।।

तेषां तथा विधेयानां निभृतानां महात्मनाम् ।
किमर्थं नीतिमान् पार्थः श्रेयो नैषां करिष्यति ।। ५ ।।

'जो इस प्रकार आज्ञापालक, विनयशील और महात्मा हैं, ऐसे अपने छोटे भाइयोंका नीतिज्ञ धर्मराज कैसे भला नहीं करेंगे? ।। ५ ।।

तस्माद् यत्नात् प्रतीक्षन्ते कालस्योदयमागतम् ।
न हि ते नाशमृच्छेयुरिति पश्याम्यहं धिया ।। ६ ।।

'अतः मैं अपनी बुद्धि और अनुभवकी दृष्टिसे यह देखता हूँ कि पाण्डवलोग अपने अनुकूल समयके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं; वे नष्ट नहीं हो सकते ।। ६ ।।

साम्प्रतं चैव यत् कार्यं तच्च क्षिप्रमकालिकम् ।
क्रियतां साधु संचिन्त्य वासश्चैषां प्रचिन्त्यताम् ।। ७ ।।
यथावत् पाण्डुपुत्राणां सर्वार्थेषु धृतात्मनाम् ।

दुर्ज्ञेयाः खलु शूरास्ते दुरापास्तपसा वृताः ।। ८ ।।

'इस समय जो कुछ करना है, वह खूब सोच-विचारकर शीघ्र किया जाना चाहिये। इसमें विलम्ब करना ठीक नहीं है। सभी विषयोंमें धैर्य रखनेवाले उन पाण्डवोंके निवास-स्थानका ही ठीक-ठीक पता लगाना चाहिये। वे सभी शूरवीर और तपस्यासे आवृत हैं, अतः उन्हें पाना कठिन है। पा लेनेपर भी उन्हें पहचानना तो और भी कठिन है ।। ७-८ ।।

शुद्धात्मा गुणवान् पार्थः सत्यवान् नीतिमान् शुचिः ।
तेजोराशिरसंख्येयो गृह्णीयादपि चक्षुषा ।। ९ ।।

'कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर शुद्धचित्त, गुणवान्, सत्यवान्, नीतिमान्, पवित्र और तेजके पुंज हैं; अतः उन्हें पहचानना असम्भव है। आँखोंसे दीख जानेपर भी वे मनुष्यको मोह लेंगे—पहचाने नहीं जा सकेंगे ।। ९ ।।

विज्ञाय क्रियतां तस्माद् भूयश्च मृगयामहे ।
ब्राह्मणैश्चारकैः सिद्धैर्ये चान्ये तद्विदो जनाः ।। १० ।।

'इसलिये इन बातोंको अच्छी तरह सोच-समझकर ही हमें कोई काम करना चाहिये। ब्राह्मण, गुप्तचर, सिद्ध पुरुष अथवा जो दूसरे लोग उन्हें पहचानते हों, उनके द्वारा पुनः उन सबकी खोज करानी चाहिये' ।। १० ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि द्रोणवाक्ये चारप्रत्याचारे सप्तविंशोऽध्यायः ।। २७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें द्रोणवाक्य एवं गुप्तचर भेजनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७ ।।

अष्टाविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी महिमा कहते हुए भीष्मकी पाण्डवोंके अन्वेषणके विषयमें सम्मति

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो भरतानां पितामहः ।
श्रुतवान् देशकालज्ञस्तत्त्वज्ञः सर्वधर्मवित् ।। १ ।।
आचार्यवाक्योपरमे तद्वाक्यमभिसंदधत् ।
हितार्थं समुवाचैनां भारतीं भारतान् प्रति ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसके पश्चात् भरतवंशियोंके पितामह, देशकालके ज्ञाता, वेद-शास्त्रोंके विद्वान्, तत्त्वज्ञानी और सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मजीने आचार्य द्रोणकी बात पूरी होनेपर कौरवोंके हितके लिये आचार्यके कथनसे मेल खाती हुई यह बात कौरवोंसे कही ।। १-२ ।।

युधिष्ठिरे समासक्तां धर्मज्ञे धर्मसंवृताम् ।
असत्सु दुर्लभां नित्यं सतां चाभिमतां सदा ।। ३ ।।

उनकी वह बात धर्मज्ञ युधिष्ठिरसे सम्बन्ध रखनेवाली तथा धर्मसे युक्त थी। वह दुष्ट पुरुषोंके लिये सदा दुर्लभ और सत्पुरुषोंको सदैव प्रिय लगने-वाली थी ।। ३ ।।

भीष्मः समवदत् तत्र गिरं साधुभिरर्चिताम् ।
यश्चैष ब्राह्मणः प्राह द्रोणः सर्वार्थतत्त्ववित् ।। ४ ।।

इस प्रकार भीष्मजीने वहाँ सत्पुरुषोंद्वारा प्रशंसित सम्यक् वचन कहा—‘सब विषयोंके तत्त्वज्ञ तथा विप्रवर आचार्य द्रोणने जैसा कहा है, वह ठीक है ।। ४ ।।

सर्वलक्षणसम्पन्नाः साधुव्रतसमन्विताः ।
श्रुतव्रतोपपन्नाश्च नानाश्रुतिसमन्विताः ।। ५ ।।
वृद्धानुशासने युक्ताः सत्यव्रतपरायणाः ।
समयं समयज्ञास्ते पालयन्तः शुचिव्रताः ।। ६ ।।

वास्तवमें पाण्डव समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, साधु-पुरुषोचित नियमों एवं व्रतके पालनमें तत्पर, वेदोक्त व्रतके पालक, नाना प्रकारकी श्रुतियोंके ज्ञाता, बड़े-बूढ़ोंके उपदेश और आदेशके पालनमें संलग्न, सत्यव्रतपरायण तथा शुद्ध व्रत धारण करनेवाले हैं। वे अज्ञातवासके नियत समयको जानते हैं, इसीलिये उसका पालन कर रहे हैं ।। ५-६ ।।

क्षत्रधर्मरता नित्यं केशवानुगताः सदा ।
प्रवीरपुरुषास्ते वै महात्मानो महाबलाः ।

नावसीदितुमर्हन्ति उद्वहन्तः सतां धरम् ।। ७ ।।

'पाण्डव क्षत्रिय-धर्ममें नित्य अनुरक्त रहकर सदा भगवान् श्रीकृष्णका अनुगमन करनेवाले हैं। वे उत्तम वीर पुरुष, महात्मा, महाबलवान् तथा साधु पुरुषोंके लिये उचित कर्तव्यका भार वहन कर रहे हैं; अतः वे कष्ट भोगने या नष्ट होने योग्य नहीं हैं ।। ७ ।।

धर्मतश्चैव गुप्तास्ते सुवीर्येण च पाण्डवाः ।
न नाशमधिगच्छेयुरिति मे धीयते मतिः ।। ८ ।।

'पाण्डव अपने धर्म तथा उत्तम पराक्रमसे सुरक्षित हैं। अतः वे नष्ट नहीं हो सकते, यह मेरा निश्चित विचार है ।। ८ ।।

तत्र बुद्धिं प्रवक्ष्यामि पाण्डवान् प्रति भारत ।
न तु नीतिः सुनीतस्य शक्यतेऽन्वेषितुं परैः ।। ९ ।।

'भरतनन्दन! पाण्डवोंके विषयमें मेरी बुद्धिका जो निश्चय है, उसे बताता हूँ। जो उत्तम नीतिसे सम्पन्न है, उसकी उस नीतिका अनुसंधान दूसरे (अनीतिपरायण) मनुष्य नहीं कर सकते ।। ९ ।।

यत् तु शक्यमिहास्माभिस्तान् वै संचिन्त्य पाण्डवान् ।
बुद्ध्या प्रयुक्तं न द्रोहात् प्रवक्ष्यामि निबोध तत् ।। १० ।।

'पाण्डवोंके सम्बन्धमें अपनी बुद्धिसे भलीभाँति सोच-विचारकर मुझे जो युक्तिसंगत जान पड़ा है, वही उपाय हम यहाँ कर सकते हैं। मैं उसे द्रोणके कारण नहीं, तुम्हारे भलेके लिये बताता हूँ; ध्यान देकर सुनो ।। १० ।।

न त्वियं मादृशैर्नीतिस्तस्य वाच्या कथंचन ।
सा त्वियं साधु वक्तव्या न त्वनीतिः कथंचन ।। ११ ।।

'युधिष्ठिरकी जो नीति है, उसकी मेरे-जैसे पुरुषोंको कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये। उसे अच्छी नीति ही कहनी चाहिये, अनीति कहना किसी प्रकार ठीक नहीं है ।। ११ ।।

वृद्धानुशासने तात तिष्ठता सत्यशीलिना ।
अवश्यं त्विह धीरेण सतां मध्ये विवक्षता ।। १२ ।।
यथार्हमिह वक्तव्यं सर्वथा धर्मलिप्सया ।

'तात! जो वृद्धपुरुषोंके अनुशासनमें रहनेवाला और सत्यपालक है, वह धीर पुरुष यदि साधुपुरुषोंके समाजमें कुछ कहना चाहता है, तो उसे यहाँ सर्वथा धर्म प्राप्त करनेकी इच्छासे यथार्थ एवं उचित बात ही कहनी चाहिये ।। १२½ ।।

तत्र नाहं तथा मन्ये यथायमितरो जनः ।। १३ ।।
निवासं धर्मराजस्य वर्षेऽस्मिन् वै त्रयोदशे ।

'अतः इस तेरहवें वर्षमें धर्मराज युधिष्ठिरके निवासके सम्बन्धमें दूसरे लोग जैसी धारणा रखते हैं, वैसा मैं नहीं मानता ।। १३½ ।।

तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसाम्प्रतम् ।। १४ ।।

पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः ।
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः ।
जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः ।। १५ ।।

'तात! जिस नगर या राष्ट्रमें राजा युधिष्ठिर निवास करते होंगे, वहाँके राजाओंका अकल्याण नहीं हो सकता। जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, उस जनपदके लोगोंको दानशील, उदार, विनयी और लज्जाशील होना चाहिये ।। १४-१५ ।।

प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः ।
हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः ।। १६ ।।

'जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके मनुष्य सदा प्रिय वचन बोलनेवाले, जितेन्द्रिय, कल्याणभागी, सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र और कार्यकुशल होंगे ।। १६ ।।

नासूयको न चापीर्षुर्नाभिमानी न मत्सरी ।
भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः ।। १७ ।।

'वहाँ कोई न तो दूसरेके दोष देखनेवाला होगा और न ईर्ष्यालु। न किसीमें अभिमान होगा और न मात्सर्य (द्वेष)। वहाँके सब लोग स्वयं ही धर्ममें तत्पर होंगे ।। १७ ।।

ब्रह्मघोषाश्च भूयांसः पूर्णाहुत्यस्तथैव च ।
क्रतवश्च भविष्यन्ति भूयांसो भूरिदक्षिणाः ।। १८ ।।

'उस देश या जनपदमें प्रचुररूपसे वेदध्वनि होती होगी, यज्ञोंमें पूर्णाहुतियाँ दी जाती होंगी और बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले बहुत-से यज्ञ हो रहे होंगे ।। १८ ।।

सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः ।
सम्पन्नसस्या च मही निरातङ्का भविष्यति ।। १९ ।।

'वहाँ मेघ सदा ठीक-ठीक वर्षा करता होगा, इसमें संशय नहीं है। वहाँकी भूमिपर खेती लहलहाती होगी और वहाँ निवास करनेवाली प्रजा सर्वथा निर्भय होगी ।। १९ ।।

गुणवन्ति च धान्यानि रसवन्ति फलानि च ।
गन्धवन्ति च माल्यानि शुभशब्दा च भारती ।। २० ।।

'वहाँ गुणयुक्त धान्य, सरस फल, सुगन्धयुक्त माला और मांगलिक शब्दोंसे युक्त वाणी सुलभ होगी ।। २० ।।

वायुश्च सुखसंस्पर्शो निष्प्रतीपं च दर्शनम् ।
न भयं त्वाविशेत् तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ।। २१ ।।

'वहाँ जिसका स्पर्श सुखदायक हो, ऐसी शीतल एवं मन्द वायु चलती होगी। धर्म और ब्रह्मके स्वरूपका विचार पाखण्डशून्य होगा। जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ भयका प्रवेश नहीं हो सकता ।। २१ ।।

गावश्च बहुलास्तत्र न कृशा न च दुर्बलाः ।
पयांसि दधिसर्पींषि रसवन्ति हितानि च ।। २२ ।।

‘उन जनपदमें गौओंकी अधिकता होगी और वे गौएँ कृश या दुर्बल न होकर खूब हृष्ट-पुष्ट होंगी। उनके दूध, दही और घी भी बड़े स्वादिष्ट तथा हितकारी होंगे ।। २२ ।।

गुणवन्ति च पेयानि भोज्यानि रसवन्ति च ।
तत्र देशे भविष्यन्ति यत्र राजा युधिष्ठिरः ।। २३ ।।

‘जिस देशमें राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ गुणकारी पेय और सरस भोज्य पदार्थ सुलभ होंगे ।। २३ ।।

रसाः स्पर्शाश्च गन्धाश्च शब्दाश्चापि गुणान्विताः ।
दृश्यानि च प्रसन्नानि यत्र राजा युधिष्ठिरः ।। २४ ।।

‘जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द—सभी विषय गुणकारी होंगे और मनको प्रसन्न करनेवाले दृश्य देखनेको मिलेंगे ।। २४ ।।

धर्माश्च तत्र सर्वैस्तु सेविताश्च द्विजातिभिः ।
स्वैः स्वैर्गुणैश्च संयुक्ता अस्मिन् वर्षे त्रयोदशे ।। २५ ।।

‘इस तेरहवें वर्षमें राजा युधिष्ठिर जहाँ कहीं भी होंगे, वहाँके समस्त द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) अपने-अपने धर्मोंका पालन करते होंगे और धर्म भी अपने गुण तथा प्रभावसे सम्पन्न होंगे ।। २५ ।।

देशे तस्मिन् भविष्यन्ति तात पाण्डवसंयुते ।
सम्प्रीतिमान् जनस्तत्र संतुष्टः शुचिरव्ययः ।। २६ ।।

‘तात! पाण्डवोंसे संयुक्त देशमें ये सब विशेषताएँ होंगी। वहाँके लोग प्रसन्न, संतुष्ट, पवित्र और विकारशून्य होंगे ।। २६ ।।

देवतातिथिपूजासु सर्वभावानुरागवान् ।
इष्टदानो महोत्साहः स्वस्वधर्मपरायणः ।। २७ ।।

‘देवता और अतिथियोंकी पूजामें सबका सर्वतोभावेन अनुराग होगा। सभी लोग दानको प्रिय मानेंगे, सबमें भारी उत्साह भरा होगा और सभी अपने-अपने धर्मके पालनमें तत्पर होंगे ।। २७ ।।

अशुभाद्धि शुभप्रेप्सुरिष्टयज्ञः शुभव्रतः ।
भविष्यति जनस्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ।। २८ ।।

‘जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके लोग अशुभको छोड़कर शुभके अभिलाषी होंगे। यज्ञोंका अनुष्ठान उनके लिये अभीष्ट कार्य होगा और वे श्रेष्ठ व्रतोंको धारण करनेवाले होंगे ।। २८ ।।

त्यक्तवाक्यानृतस्तात शुभकल्याणमङ्गलः ।
शुभार्थेप्सुः शुभमतिर्यत्र राजा युधिष्ठिरः ।। २९ ।।

‘तात! जहाँ राजा युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँके लोग असत्यभाषणका त्याग करनेवाले, शुभ, कल्याण एवं मंगलसे युक्त, शुभ वस्तुओंकी प्राप्तिके इच्छुक तथा शुभमें ही मन

लगानेवाले होंगे ।। २९ ।।

भविष्यति जनस्तत्र नित्यं चेष्टप्रियव्रतः ।
धर्मात्मा शक्यते ज्ञातुं नापि तात द्विजातिभिः ।। ३० ।।
किं पुनः प्राकृतैस्तात पार्थो विज्ञायते क्वचित् ।
यस्मिन् सत्यं धृतिर्दानं परा शान्तिर्ध्रुवा क्षमा ।। ३१ ।।
ह्रीः श्रीः कीर्तिः परं तेज आनृशंस्यमथार्जवम् ।

‘सदा इष्टजनोंका प्रिय करना ही उनका व्रत होगा। कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं। उनमें सत्य, धैर्य, दान, परम शान्ति, अटल क्षमा, लज्जा, श्री, कीर्ति, उत्कृष्ट तेज, दयालुता और सरलता आदि गुण सदा रहते हैं। अतः अन्य साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) भी उन्हें नहीं पहचान सकते ।। ३०-३१½ ।।

तस्मात् तत्र निवासं तु छन्नं यत्नेन धीमतः ।
गतिं च परमां तत्र नोत्सहे वक्तुमन्यथा ।। ३२ ।।

‘इसलिये जहाँ ऐसे लक्षण पाये जायँ, वहीं बुद्धिमान् युधिष्ठिरका यत्नपूर्वक छिपाया हुआ निवास-स्थान हो सकता है; वहीं उनका उत्कृष्ट आश्रय होना सम्भव है। इसके विपरीत मैं और कोई बात नहीं कह सकता ।। ३२ ।।

एवमेतत् तु संचिन्त्य यत्कृते मन्यसे हितम् ।
तत् क्षिप्रं कुरु कौरव्य यद्येवं श्रद्दधासि मे ।। ३३ ।।

‘कुरुनन्दन! यदि मेरी बातोंपर तुम्हें विश्वास हो, तो इसी प्रकार सोच-विचारकर जो काम करनेसे तुम्हें अपना हित जान पड़े, उसे शीघ्र करो’ ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्याचारे भीष्मवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ।। २८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचर भेजनेके विषयमें भीष्मवचनसम्बन्धी अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८ ।।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

कृपाचार्यकी सम्मति और दुर्योधनका निश्चय

वैशम्पायन उवाच

ततः शारद्वतो वाक्यमित्युवाच कृपस्तदा ।
युक्तं प्राप्तं च वृद्धेन पाण्डवान् प्रति भाषितम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसके पश्चात् महर्षि शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने उस समय यह बात कही—'राजन्! वयोवृद्ध भीष्मजीने पाण्डवोंके विषयमें जो कुछ कहा है, वह युक्तियुक्त तो है ही, अवसरके अनुकूल भी है ।। १ ।।

धर्मार्थसहितं श्लक्ष्णं तत्त्वतश्च सहेतुकम् ।
तत्रानुरूपं भीष्मेण ममाप्यत्र गिरं शृणु ।। २ ।।

'उसमें धर्म और अर्थ दोनों ही संनिहित हैं। वह सुन्दर, तात्त्विक और सकारण है। इस विषयमें मेरा भी जो कथन है, वह भीष्मजीके ही अनुरूप है, उसे सुनो ।।

तेषां चैव गतिस्तीर्थैर्वासश्चैषां प्रचिन्त्यताम् ।
नीतिर्विधीयतां चापि साम्प्रतं या हिता भवेत् ।। ३ ।।

'तुमलोग गुप्तचरोंसे पाण्डवोंकी गति और स्थितिका पता लगवाओ और उसी नीतिका आश्रय लो, जो इस समय हितकारिणी हो ।। ३ ।।

नावज्ञेयो रिपुस्तात प्राकृतोऽपि बुभूषता ।
किं पुनः पाण्डवास्तात सर्वास्त्रकुशला रणे ।। ४ ।।

'तात! जिसे सम्राट् बननेकी इच्छा हो, उसे साधारण शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। फिर जो युद्धमें सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके संचालनमें कुशल हैं, उन पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है? ।। ४ ।।

तस्मात् सत्रं प्रविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
गूढभावेषु छन्नेषु काले चोदयमागते ।। ५ ।।
स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे च ज्ञातव्यं बलमात्मनः ।
उदयः पाण्डवानां च प्राप्ते काले न संशयः ।। ६ ।।

'अतः इस समय जब कि महात्मा पाण्डव छद्मवेष धारण करके (अर्थात् वेष बदलकर) गुप्तरूपसे छिपे हुए हैं और अज्ञातवासकी जो नियत अवधि थी, वह प्रायः समाप्त हो चली है, स्वराष्ट्र और परराष्ट्रमें अपनी कितनी शक्ति है—इसे समझ लेना चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि उपयुक्त समय आते ही पाण्डव प्रकट हो जायँगे ।। ५-६ ।।

निवृत्तसमयाः पार्था महात्मानो महाबलाः ।
महोत्साहा भविष्यन्ति पाण्डवा ह्यमितौजसः ।। ७ ।।

'अज्ञातवासका समय पूर्ण कर लेनेपर कुन्तीके वे महाबली, अमितपराक्रमी और महात्मा पुत्र पाण्डव महान् उत्साहसे सम्पन्न हो जायँगे ।। ७ ।।

तस्माद् बलं च कोषश्च नीतिश्चापि विधीयताम् ।
यथा कालोदये प्राप्ते सम्यक् तैः संदधामहे ।। ८ ।।

'अतः इस समय तुम्हें अपनी सेना, कोष और नीति ऐसी बनायी रखनी चाहिये, जिससे समय आनेपर हम उनके साथ यथावत् सन्धि (मेल अथवा बाण-संधान) कर सकें ।। ८ ।।

तात बुद्ध्यापि तत् सर्वं बुध्यस्व बलमात्मनः ।
नियतं सर्वमित्रेषु बलवत्स्वबलेषु च ।। ९ ।।

'तात! तुम स्वयं बुद्धिसे भी विचारकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति कितनी है, इसकी जानकारी प्राप्त कर लो। तुम्हारे बलवान् और निर्बल सब प्रकारके मित्रोंमें निश्चित बल कितना है, यह भी जान लेना चाहिये ।। ९ ।।

उच्चावचं बलं ज्ञात्वा मध्यस्थं चापि भारत ।
प्रहृष्टमप्रहृष्टं च संदधाम तथा परैः ।। १० ।।

'भारत! उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकारकी सेनाओंकी स्थिति समझो। उत्तम और मध्यम सेनाएँ प्रसन्न हैं या अप्रसन्न—इसे जान लो; तब हम शत्रुओंसे सन्धि (मेल या बाण-संधान) कर सकते हैं ।। १० ।।

साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन बलिकर्मणा ।
न्यायेनाक्रम्य च परान् बलाच्चानम्य दुर्बलान् ।। ११ ।।
सान्त्वयित्वा तु मित्राणि बलं चाभाष्यतां सुखम् ।
सुकोषबलसंवृद्धः सम्यक् सिद्धिमवाप्स्यसि ।। १२ ।।

'साम (समझाना), दान (धन आदि देना), भेद (शत्रुओंमें फूट डालना), दण्ड देना और कर लेना—इन नीतियोंके द्वारा* शत्रुपर आक्रमण करके, दुर्बलोंको बलसे दबाकर, मित्रोंको मेल-जोलसे अपनाकर और सेनाको मिष्टभाषण एवं वेतन आदि देकर अपने अनुकूल कर लेना चाहिये। इस प्रकार उत्तम कोष और सेनाको बढ़ा लेनेपर तुम अच्छी सफलता प्राप्त कर सकोगे ।। ११-१२ ।।

योत्स्यसे चापि बलिभिररिभिः प्रत्युपस्थितैः ।
अन्यैस्त्वं पाण्डवैर्वापि हीनैः स्वबलवाहनैः ।। १३ ।।

'उस दशामें बलवान्-से-बलवान् शत्रु क्यों न आ जायँ और वे पाण्डव हों या दूसरे कोई, यदि सेना और वाहन आदिकी दृष्टिसे उनमें अपनी अपेक्षा न्यूनता है तो तुम उन सबके साथ युद्ध कर सकोगे ।। १३ ।।

एवं सर्वं विनिश्चित्य व्यवसायं स्वधर्मतः ।
यथाकालं मनुष्येन्द्र चिरं सुखमवाप्स्यसि ।। १४ ।।

'नरेन्द्र! इस प्रकार अपने धर्मके अनुकूल सम्पूर्ण कर्तव्यका निश्चय करके यथासमय उसका पालन करोगे, तो दीर्घकालतक सुख भोगोगे' ।। १४ ।।

(वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो वाक्यं श्रुत्वा तेषां महात्मनाम् ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य सचिवानिदमब्रवीत् ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर दुर्योधन उन महात्माओंका वचन सुनकर दो घड़ीतक कुछ विचार करता रहा। फिर मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोला।

दुर्योधन उवाच

श्रुतं ह्येतन्मया पूर्वं कथासु जनसंसदि ।
वीराणां शास्त्रविदुषां प्राज्ञानां मतिनिश्चये ।।
कृतिनां सारफल्गुत्वं जानामि नयचक्षुषा ।

दुर्योधनने कहा—मन्त्रियो! मैंने पूर्वकालमें जनसाधारणकी बैठकमें आपसकी बातचीतके समय शास्त्रोंके विद्वान्, ज्ञानी, वीर एवं पुण्यात्मा पुरुषोंके निश्चित सिद्धान्तके विषयमें कुछ ऐसी बातें सुनी हैं, जिनसे नीतिकी दृष्टिके अनुसार मैं मनुष्योंके बलाबलकी जानकारी रखता हूँ।

सत्त्वे बाहुबले धैर्ये प्राणे शारीरसम्भवे ।
साम्प्रतं मानुषे लोके सदैत्यनरराक्षसे ।।
चत्वारस्तु नरव्याघ्रा बले शक्रोपमा भुवि ।
उत्तमाः प्राणिनां तेषां नास्ति कश्चिद् बले समः ।।
समप्राणबला नित्यं सम्पूर्णबलपौरुषाः ।
बलदेवश्च भीमश्च मद्रराजश्च वीर्यवान् ।।
चतुर्थः कीचकस्तेषां पञ्चमं नानुशुश्रुमः ।
अन्योन्यानन्तरबलाः परस्परजयैषिणः ।।
बाहुयुद्धमभीप्सन्तो नित्यं संरब्धमानसाः ।
तेनाहमवगच्छामि प्रत्ययेन वृकोदरम् ।।
मनस्यभिनिविष्टं मे व्यक्तं जीवन्ति पाण्डवाः ।

इस समय मनुष्यलोकमें दैत्य, मानव तथा राक्षसोंमें चार ही ऐसे पुरुषसिंह सुने जाते हैं, जो इस भूतलपर आत्मबल, बाहुबल, धैर्य तथा शारीरिक शक्तिमें इन्द्रके समान हैं। वे ही समस्त प्राणधारियोंमें उत्तम हैं। बलमें उनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। उन सबमें सदा एक समान प्राणशक्ति मानी गयी है। वे सम्पूर्ण बल और पराक्रमसे सम्पन्न हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—बलदेव, भीमसेन, पराक्रमी मद्रराज शल्य तथा कीचक। इनमें कीचकका चौथा स्थान है। इनके समान कोई पाँचवाँ वीर मेरे सुननेमें नहीं आया। ये सभी

परस्पर समान बलशाली तथा (मौका पड़नेपर) एक-दूसरेको जीतनेके लिये उत्सुक रहे हैं। इनके मनमें एक-दूसरेके प्रति सदा रोष भरा रहा और ये परस्पर बाहुयुद्ध करना चाहते रहे हैं। इस आधारपर मैं भीमसेनका पता पा लेता हूँ और मेरे मनमें स्पष्टरूपसे यह बात आ जाती है कि पाण्डव अवश्य जीवित हैं।

तत्राहं कीचकं मन्ये भीमसेनेन मारितम् ।।
सैरन्ध्रीं द्रौपदीं मन्ये नात्र कार्या विचारणा ।

अब मुझे ऐसा लगता है कि विराटनगरमें कीचकको भीमसेनने ही मारा है। सैरन्ध्रीको मैं द्रौपदी समझता हूँ। इस विषयमें कोई अधिक विचार नहीं करना चाहिये।

शङ्के कृष्णानिमित्तं तु भीमसेनेन कीचकः ।।
गन्धर्वव्यपदेशेन हतो निशि महाबलः ।
को हि शक्तः परो भीमात् कीचकं हन्तुमोजसा ।।
शस्त्रं विना बाहुवीर्यात् तथा सर्वाङ्गचूर्णने ।
मर्दितुं वा तथा शीघ्रं चर्ममांसास्थिचूर्णितम् ।।

मुझे संदेह है कि द्रौपदीके निमित्तसे भीमसेनने ही गन्धर्वका नाम धारण करके रात्रिके समय महाबली कीचकको मारा होगा। भीमसेनके सिवा दूसरा कौन ऐसा वीर है, जो बिना अस्त्र-शस्त्रके केवल शारीरिक शक्ति और बाहुबलसे कीचकको मार सके तथा उसके सम्पूर्ण अंगोंको चूर-चूर करने और शीघ्रतापूर्वक अस्थि, चर्म एवं मांसके उस चूर्णसमुदायको मसलकर मांसपिण्ड बना देनेमें समर्थ हो?।

रूपमन्यत् समास्थाय भीमस्यैतद् विचेष्टितम् ।
ध्रुवं कृष्णानिमित्तं तु भीमसेनेन सूतजाः ।।
गन्धर्वव्यपदेशेन हता युधि न संशयः ।

अतः यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि दूसरा रूप धारण करके भीमसेनने ही यह पराक्रम किया है। गन्धर्वनामधारी भीमने ही कृष्णाके लिये रातके समय सूतपुत्रोंका वध किया है, इसमें संशय नहीं है।

पितामहेन ये चोक्ता देशस्य च जनस्य च ।।
गुणास्ते मत्स्यराष्ट्रस्य बहुशोऽपि मया श्रुताः ।
विराटनगरे मन्ये पाण्डवाश्छन्नचारिणः ।।
निवसन्ति पुरे रम्ये तत्र यात्रा विधीयताम् ।

पितामह भीष्मने युधिष्ठिरके निवासके प्रभावसे देश और जनसमुदायके जो गुण बताये हैं, उनमें भी बहुत-से गुण मत्स्यराष्ट्रमें (दूतोंद्वारा) मेरे सुननेमें आये हैं। इससे मैं मानता हूँ कि पाण्डव राजा विराटके रमणीय नगरमें निवास करते और छद्मवेष धारण करके गुप्तरूपसे विचरते हैं, अतः वहाँकी यात्रा करनी चाहिये।

मत्स्यराष्ट्रं हनिष्यामो ग्रहीष्यामश्च गोधनम् ।।

गृहीते गोधने नूनं तेऽपि योत्स्यन्ति पाण्डवाः ।
अपूर्णे समये चापि यदि पश्येम पाण्डवान् ।
द्वादशान्यानि वर्षाणि प्रवेक्ष्यन्ति पुनर्वनम् ।।

हमलोग वहाँ चलकर मत्स्यराष्ट्रको तहस-नहस करेंगे और राजा विराटके गोधनपर अपना अधिकार कर लेंगे। उनके गोधनका अपहरण कर लेनेपर निश्चय ही पाण्डव भी हम लोगोंके साथ युद्ध करेंगे। ऐसी दशामें यदि अज्ञातवासका समय पूर्ण होनेसे पूर्व ही हम पाण्डवोंको देख लेंगे, तो उन्हें पुनः दूसरी बार बारह वर्षोंके लिये वनमें प्रवेश करना पड़ेगा।

तस्मादन्यतरेणापि लाभोऽस्माकं भविष्यति ।
कोषवृद्धिरिहास्माकं शत्रूणां निधनं भवेत् ।।
कथं सुयोधनं गच्छेद् युधिष्ठिरभृतः पुरा ।
एतच्चापि वदत्येष मात्स्यः परिभवान्मयि ।।

अतः दोमेंसे एक भी हो जाय, तो भी हमें लाभ ही होगा। इस रणयात्रासे हमारे कोषकी वृद्धि होगी और शत्रुओंका नाश हो जायगा। मत्स्यदेशका राजा विराट मेरे प्रति तिरस्कारका भाव रखकर यह भी कहा करता है कि पूर्वकालमें धर्मराज युधिष्ठिरने जिसका पालन-पोषण किया हो, वह दुर्योधनके अधिकारमें कैसे जा सकता है?।

तस्मात् कर्तव्यमेतद् वै तत्र यात्रा विधीयताम् ।
एतत् सुनीतं मन्येऽहं सर्वेषां यदि रोचते ।।)

अतः निश्चय ही मत्स्यदेशपर आक्रमण करना चाहिये। वहाँकी यात्रा अवश्य की जाय। यदि आप सब लोगोंको अच्छा लगे, तो मैं इस कार्यको नीतिके अनुकूल मानता हूँ।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि चारप्रत्याचारे कृपवाक्ये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ।। २९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें गुप्तचर भेजनेके विषयमें कृपाचार्यवचनसम्बन्धी उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २० श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं।)

---

* जब शत्रुकी शक्ति अपने बराबर हो, तब उसके प्रति साम और भेदनीतिका प्रयोग करना चाहिये अर्थात् उससे समझौता करना या उसकी सेनामें फूट डालनी चाहिये। यदि शत्रु अपनेसे अधिक शक्तिशाली हो, तो वहाँ दाननीतिका प्रयोग उचित है अर्थात् उसे धन, रत्न आदि भेंट देकर शान्त करना चाहिये। यदि अपनी ही शक्ति अधिक हो, तो उसे दण्ड देना या युद्धमें मार गिराना चाहिये। अतः अपने और विपक्षीके बलाबलका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

त्रिंशोऽध्यायः

सुशर्माके प्रस्तावके अनुसार त्रिगर्तों और कौरवोंका मत्स्यदेशपर धावा

वैशम्पायन उवाच

अथ राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा रथयूथपः ।
प्राप्तकालमिदं वाक्यमुवाच त्वरितो बली ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर त्रिगर्तदेशके राजा महाबली सुशर्माने, जो रथियोंके समूहका अधिपति था, बड़ी उतावलीके साथ अपना यह समयोचित प्रस्ताव उपस्थित किया ।। १ ।।

असकृन्निकृताः पूर्वं मत्स्यशाल्वेयकैः प्रभो ।
सूतेनैव च मत्स्यस्य कीचकेन पुनः पुनः ।। २ ।।
बाधितो बन्धुभिः सार्धं बलाद् बलवता विभो ।
स कर्णमभ्युदीक्ष्याथ दुर्योधनमभाषत ।। ३ ।।

उसने कर्णकी ओर देखकर दुर्योधनसे कहा—'प्रभो! पहले मत्स्य तथा शाल्वदेशके सैनिकोंने अनेक बार चढ़ाई करके हमें कष्ट दिया है। मत्स्यराजके सेनापति महाबली सूतपुत्र कीचकने अपने बन्धुओंके साथ बार-बार आक्रमण करके मुझे बलपूर्वक सताया है ।। २-३ ।।

असकृन्मत्स्यराज्ञा मे राष्ट्रं बाधितमोजसा ।
प्रणेता कीचकस्तस्य बलवानभवत् पुरा ।। ४ ।।

'मत्स्यनरेशने बहुत बार अपने बल-पराक्रमसे धावा करके मेरे समूचे राष्ट्रको क्लेश पहुँचाया है। पहले बलवान् कीचक ही उनका सेनानायक था ।। ४ ।।

क्रूरोऽमर्षी स दुष्टात्मा भुवि प्रख्यातविक्रमः ।
निहतः स तु गन्धर्वैः पापकर्मा नृशंसवान् ।। ५ ।।

'वह दुष्टात्मा बहुत ही क्रूर और क्रोधी था। इस भूतलपर अपने पराक्रमके लिये उसकी सर्वत्र ख्याति थी। अब वह निर्दयी और पापाचारी कीचक गन्धर्वोंद्वारा मार डाला गया है ।। ५ ।।

तस्मिन् विनिहते राजा हतदर्पो निराश्रयः ।
भविष्यति निरुत्साहो विराट इति मे मतिः ।। ६ ।।

'उसके मारे जानेसे राजा विराटका घमण्ड चूर-चूर हो गया होगा। अब वे निराधार एवं निरुत्साह हो गये होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है ।। ६ ।।

तत्र यात्रा मम मता यदि ते रोचतेऽनघ ।
कौरवाणां च सर्वेषां कर्णस्य च महात्मनः ।। ७ ।।

'अनघ! यदि आपको जचे, तो मेरी राय यह है कि समस्त कौरव वीरों और महामना कर्णका भी उस देशपर आक्रमण हो ।। ७ ।।

एतत् प्राप्तमहं मन्ये कार्यमात्ययिकं हि नः ।
राष्ट्रं तस्याभियास्यामो बहुधान्यसमाकुलम् ।। ८ ।।

'मैं समझता हूँ; इसके लिये उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ है। यह हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक कार्य है। हम प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न मत्स्यराष्ट्रपर चढ़ाई करें ।।

आददामोऽस्य रत्नानि विविधानि वसूनि च ।
ग्रामान् राष्ट्राणि वा तस्य हरिष्यामो विभागशः ।। ९ ।।

'राजा विराटके यहाँ नाना प्रकारके रत्न और धन हैं। हम वे सब ले लेंगे और उनके गाँव तथा सम्पूर्ण राष्ट्रको जीतकर आपसमें बाँट लेंगे ।। ९ ।।

अथवा गोसहस्राणि शुभानि च बहूनि च ।
विविधानि हरिष्यामः प्रतिपीड्य पुरं बलात् ।। १० ।।

'अथवा उनके यहाँ सहस्रों सुन्दर गौओंके बहुत-से समुदाय हैं; अतः बलपूर्वक उनके नगरमें उत्पात मचाकर उन समस्त गौओंका अपहरण कर लेंगे ।। १० ।।

कौरवैः सह संगत्य त्रिगर्तैश्च विशाम्पते ।
गास्तस्यापहरामोऽद्य सर्वैश्चैव सुसंहताः ।। ११ ।।

'महाराज! कौरवोंके साथ संगठित त्रिगर्तदेशीय सैनिकोंकी सहायतासे हम सब मिलकर विराटकी गौओंको हर लेंगे ।। ११ ।।

संविभागेन कृत्वा तु निबध्नीमोऽस्य पौरुषम् ।
हत्वा चास्य चमूं कृत्स्नां वशमेवानयामहे ।। १२ ।।

'और हम आपसमें विभाजन करके उन्हें अपने यहाँ बाँध लेंगे। साथ ही मत्स्यराजके सामर्थ्यको नष्ट करके उसकी सारी सेनाको अपने अधीन कर लेंगे ।। १२ ।।

तं वशे न्यायतः कृत्वा सुखं वत्स्यामहे वयम् ।
भवतां बलवृद्धिश्च भविष्यति न संशयः ।। १३ ।।

'विराटको नीतिसे वशमें करके हम सुखसे रहेंगे। इससे आपलोगोंकी सेना और शक्तिकी वृद्धि भी होगी; इसमें संशय नहीं है' ।। १३ ।।

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कर्णो राजानमब्रवीत् ।
सूक्तं सुशर्मणा वाक्यं प्राप्तकालं हितं च नः ।। १४ ।।

त्रिगर्तराजका यह कथन सुनकर कर्णने राजा दुर्योधनसे कहा—'सुशर्माने ठीक कहा है; यह समयोचित होनेके साथ ही हमारे लिये हितकर भी है ।। १४ ।।

तस्मात् क्षिप्रं विनिर्यामो योजयित्वा वरूथिनीम् ।

विभज्य चाप्यनीकानि यथा वा मन्यसेऽनघ ।। १५ ।।

‘इसलिये सेनाको सुसज्जित करके उसे कई टुकड़ियोंमें बाँटकर हमलोग शीघ्र यहाँसे कूच कर देंगे। अथवा अनघ! आपको जैसा ठीक लगे, वैसा करें ।। १५ ।।

प्राज्ञो वा कुरुवृद्धोऽयं सर्वेषां नः पितामहः ।।
आचार्यश्च यथा द्रोणः कृपः शारद्वतस्तथा ।
मन्यन्ते ते यथा सर्वे तथा यात्रा विधीयताम् ।। १६ ।।

‘अथवा कुरुकुलमें सबसे वृद्ध हमारे पितामह परम बुद्धिमान् भीष्म, आचार्य द्रोण तथा शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य—ये लोग जैसे ठीक समझें, वैसे ही यात्रा करनी चाहिये ।। १६ ।।

सम्मन्त्र्य चाशु गच्छामः साधनार्थं महीपतेः ।
किं च नः पाण्डवैः कार्यं हीनार्थबलपौरुषैः ।। १७ ।।

‘आपसमें अच्छी तरह सलाह करके हमें राजा विराटको वशमें करनेके लिये शीघ्र प्रस्थान कर देना चाहिये। पाण्डवलोग धन, बल तथा पौरुष तीनोंसे हीन हैं, अतः उनसे हमें क्या काम है? ।। १७ ।।

अत्यन्तं वा प्रणष्टास्ते प्राप्ता वापि यमक्षयम् ।
यामो राजन् निरुद्विग्ना विराटनगरं वयम् ।
आदास्यामो हि गास्तस्य विविधानि वसूनि च ।। १८ ।।

‘राजन्! वे अत्यन्त अदृश्य (छिपे हुए) हों या यमराज-के घर पहुँच गये हों, हमें तो उद्वेगशून्य होकर विराटनगरकी यात्रा करनी चाहिये। वहाँ हमलोग विराटकी गौओंको तथा उनके विविध धन-रत्नोंको हस्तगत कर लेंगे’ ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा वाक्यमादाय तस्य तत् ।
वैकर्तनस्य कर्णस्य क्षिप्रमाज्ञापयत् स्वयम् ।। १९ ।।
शासने नित्यसंयुक्तं दुःशासनमनन्तरम् ।
सह वृद्धैस्तु सम्मन्त्र्य क्षिप्रं योजय वाहिनीम् ।। २० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा दुर्योधनने सूर्यपुत्र कर्णकी बात मानकर अपनी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा संनद्ध रहनेवाले छोटे भाई दुःशासनको स्वयं ही तुरंत आदेश दे दिया—‘वृद्धजनोंकी सम्मति लेकर शीघ्र अपनी सेनाको प्रस्थानके लिये तैयार करो ।। १९-२० ।।

यथोद्देशं च गच्छामः सहितास्तत्र कौरवैः ।
सुशर्मा च यथोद्दिष्टं देशं यातु महारथः ।
त्रिगर्तैः सहितो राजा समग्रबलवाहनः ।। २१ ।।

‘जिधरसे आक्रमणका निश्चय हो, उसी ओर हम कौरव-सैनिकोंके साथ चलें। महारथी सुशर्मा भी त्रिगर्तोंके साथ निश्चित दिशाकी ओर जायँ और अपने समस्त बल (सेना) एवं वाहनोंको साथ ले लें ।। २१ ।।

प्रागेव हि सुसंवीतो मत्स्यस्य विषयं प्रति ।
जघन्यतो वयं तत्र यास्यामो दिवसान्तरे ।
विषयं मत्स्यराजस्य सुसमृद्धं सुसंहताः ।। २२ ।।

‘सब साधनोंसे सम्पन्न हो सुशर्मा पहले मत्स्यदेशपर आक्रमण करें। फिर पीछेसे एक दिन बाद हमलोग भी पूर्णतः संगठित हो मत्स्यनरेशके समृद्धिशाली राज्यपर धावा बोल देंगे ।। २२ ।।

ये यान्तु सहितास्तत्र विराटनगरं प्रति ।
क्षिप्रं गोपान् समासाद्य गृह्णन्तु विपुलं धनम् ।। २३ ।।

‘त्रिगर्त-सैनिक एक साथ मिलकर तुरंत विराट-नगरपर चढ़ाई करें और पहले ग्वालोंके पास पहुँचकर वहाँके बढ़े हुए गोधनपर अधिकार कर लें ।। २३ ।।

गवां शतसहस्राणि श्रीमन्ति गुणवन्ति च ।
वयमप्यनुगृह्णीमो द्विधा कृत्वा वरूथिनीम् ।। २४ ।।

‘फिर हमलोग अपनी सेनाको दो टुकड़ोंमें बाँटकर उनकी लाखों सुन्दर तथा गुणवती गौओंका अपहरण करेंगे’ ।। २४ ।।

वैशम्पायन उवाच

ते स्म गत्वा यथोद्दिष्टां दिशं वह्नेर्महीपते ।
संनद्धा रथिनः सर्वे सपदाता बलोत्कटाः ।। २५ ।।
प्रति वैरं चिकीर्षन्तो गोषु गृद्धा महाबलाः ।
आदातुं गाः सुशर्माथ कृष्णपक्षस्य सप्तमीम् ।। २६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! तदनन्तर पूर्व वैरका बदला लेनेकी इच्छावाले त्रिगर्तदेशीय रथी और पैदल सैनिक कवच आदि धारण करके तैयार हो गये। वे सभी महान् बलवान् और प्रचण्ड पराक्रमी थे। सुशर्माने विराटकी गौओंका अपहरण करनेके लिये पूर्वनिश्चित योजनाके अनुसार कृष्णपक्षकी सप्तमीको अग्निकोणकी ओरसे विराटनगरपर चढ़ाई की ।। २५-२६ ।।

अपरे दिवसे सर्वे राजन् सम्भूय कौरवाः ।
अष्टम्यां ते न्यगृह्णन्त गोकुलानि सहस्रशः ।। २७ ।।

राजन्! फिर दूसरे दिन अष्टमीको दूसरी ओरसे सब कौरवोंने मिलकर धावा किया और गौओंके सहस्रों झुंडोंपर अधिकार जमा लिया ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे सुशर्माभियाने त्रिंशोऽध्यायः ।। ३० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिणदिशाकी गौओंको ग्रहण करनेके लिये सुशर्मा आदिकी मत्स्यदेशपर चढ़ाईसे सम्बन्ध रखनेवाला तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३० ।।

एकत्रिंशोऽध्यायः

चारों पाण्डवोंसहित राजा विराटकी सेनाका युद्धके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततस्तेषां महाराज तत्रैवामिततेजसाम् ।
छद्मलिङ्गप्रविष्टानां पाण्डवानां महात्मनाम् ।। १ ।।
व्यतीतः समयः सम्यग् वसतां वै पुरोत्तमे ।
कुर्वतां तस्य कर्माणि विराटस्य महीपतेः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! उन दिनों छद्मवेषमें छिपकर उस श्रेष्ठ नगरमें रहते और महाराज विराटके कार्य सम्पादन करते हुए अतुलित तेजस्वी महात्मा पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष भलीभाँति बीत चुका था ।। १-२ ।।

कीचके तु हते राजा विराटः परवीरहा ।
परां सम्भावनां चक्रे कुन्तीपुत्रे युधिष्ठिरे ।। ३ ।।

कीचकके मारे जानेपर शत्रुहन्ता राजा विराट कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके प्रति बड़ी आदरबुद्धि रखने और उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ करने लगे थे ।। ३ ।।

ततस्त्रयोदशस्यान्ते तस्य वर्षस्य भारत ।
सुशर्मणा गृहीतं तद् गोधनं तरसा बहु ।। ४ ।।

भारत! तदनन्तर तेरहवें वर्षके अन्तमें सुशर्माने बड़े वेगसे आक्रमण करके विराटकी बहुत-सी गौओंको अपने अधिकारमें कर लिया ।। ४ ।।

(ततः शब्दो महानासीद् रेणुश्च दिवमस्पृशत् ।
शङ्खदुन्दुभिघोषश्च भेरीणां च महास्वनः ।।
गवाश्वरथनागानां नराणां च पदातिनाम् ।

इससे उस समय बड़ा भारी कोलाहल मचा। धरतीकी धूल उड़कर ऊँचे आकाशमें व्याप्त हो गयी। शंख, दुन्दुभि तथा नगारोंके महान् शब्द सब ओर गूँज उठे। बैलों, घोड़ों, रथों, हाथियों तथा पैदल सैनिकोंकी आवाज सब ओर फैल गयी।

एवं तैस्त्वभिनिर्याय मत्स्यराजस्य गोधने ।।
त्रिगर्तैर्गृह्यमाणे तु गोपालाः प्रत्यषेधयन् ।

इस प्रकार इन सबके साथ आक्रमण करके जब त्रिगर्तदेशीय योद्धा मत्स्यराजके गोधनको लेकर जाने लगे, उस समय उन गौओंके रक्षकोंने उन सैनिकोंको रोका।

अथ त्रिगर्ता बहवः परिगृह्य धनं बहु ।।

परिक्षिप्य हयैः शीघ्रै रथव्रातैश्च भारत ।

गोपालान् प्रत्ययुध्यन्त रणे कृत्वा जये धृतिम् ।।

ते हन्यमाना बहुभिः प्रासतोमरपाणिभिः ।

गोपाला गोकुले भक्ता वारयामासुरोजसा ।

परश्वधैश्च मुसलैर्भिन्दिपालैश्च मुद्गरैः ।।

गोपालाः कर्षणैश्चित्रैर्जघ्नुरश्वान् समन्ततः ।

भारत! तब त्रिगर्तोंने बहुत-सा धन लेकर उसे अपने अधिकारमें करके शीघ्रगामी अश्वों तथा रथसमूहोंद्वारा युद्धमें विजयका दृढ़ संकल्प लेकर उन गोरक्षकोंका सामना करना आरम्भ किया। त्रिगर्तोंकी संख्या बहुत थी। वे हाथोंमें प्रास और तोमर लेकर विराटके ग्वालोंको मारने लगे; तथापि गोसमुदायके प्रति भक्तिभाव रखनेवाले वे ग्वाले बलपूर्वक उन्हें रोके रहे। उन्होंने फरसे, मूसल, भिन्दिपाल, मुद्गर तथा 'कर्षण' नामक विचित्र शस्त्रोंद्वारा सब ओरसे शत्रुओंके अश्वोंको मार भगाया।

ते हन्यामानाः संक्रुद्धास्त्रिगर्ता रथयोधिनः ।।

विसृज्य शरवर्षाणि गोपिन् व्यद्रावयन् रणे ।)

ग्वालोंके आघातसे अत्यन्त कुपित हो रथोंद्वारा युद्ध करनेवाले त्रिगर्तसैनिक बाणोंकी वर्षा करके उन ग्वालोंको रणभूमिसे खदेड़ने लगे।

ततो जवेन महता गोपः पुरमथाव्रजत् ।

स दृष्ट्वा मत्स्यराजं च रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ।। ५ ।।

तब उन गौओंका रक्षक गोप, जिसने कानोंमें कुण्डल पहन रखे थे, रथपर आरूढ़ हो तीव्र गतिसे नगरमें आया और मत्स्यराजको देखकर दूरसे ही रथसे उतर पड़ा ।। ५ ।।

शूरैः परिवृतं योधैः कुण्डलाङ्गदधारिभिः ।

संवृतं मन्त्रिभिः सार्धं पाण्डवैश्च महात्मभिः ।। ६ ।।

तं सभायां महाराजमासीनं राष्ट्रवर्धनम् ।

अपने राष्ट्रकी उन्नति करनेवाले महाराज विराट कुण्डल तथा अंगद (बाजूबन्द)-धारी शूरवीर योद्धाओंसे घिरकर मन्त्रियों तथा महात्मा पाण्डवोंके साथ राजसभामें बैठे थे ।। ६ १/२ ।।

सोऽब्रवीदुपसंगम्य विराटं प्रणतस्तदा ।। ७ ।।

अस्मान् युधि विनिर्जित्य परिभूय सबान्धवान् ।

गवां शतसहस्राणि त्रिगर्ताः कालयन्ति ते ।। ८ ।।

उस समय उनके पास जाकर गोपने प्रणाम करके कहा—'महाराज! त्रिगर्तदेशके सैनिक हमें युद्धमें जीतकर और भाई-बन्धुओंसहित हमारा तिरस्कार करके आपकी लाखों गौओंको हाँककर लिये जा रहे हैं ।। ७-८ ।।

तान् परीप्सस्व राजेन्द्र मा नेशुः पशवस्तव ।

तच्छ्रुत्वा नृपतिः सेनां मत्स्यानां समयोजयत् ।। ९ ।।

'राजेन्द्र! उन्हें वापस लेने—छुड़ानेकी चेष्टा कीजिये; जिससे आपके वे पशु नष्ट न हो जायँ—आपके हाथोंसे दूर न निकल जायँ।' यह सुनकर राजाने मत्स्यदेशकी सेना एकत्र की ।। ९ ।।

रथनागाश्वकलिलां पत्तिध्वजसमाकुलाम् ।
राजानो राजपुत्राश्च तनुत्राण्यथ भेजिरे ।। १० ।।

उसमें रथ, हाथी, घोड़े और पैदल—सब प्रकारके सैनिक भरे थे और वह सेना ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त थी। फिर राजा तथा राजकुमारोंने पृथक्-पृथक् कवच धारण किये ।। १० ।।

भानुमन्ति विचित्राणि शूरसेव्यानि भागशः ।
सवज्रायसगर्भं तु कवचं तत्र काञ्चनम् ।। ११ ।।
विराटस्य प्रियो भ्राता शतानीकोऽभ्यहारयत् ।

वे कवच बड़े चमकीले, विचित्र और शूरवीरोंके धारण करने योग्य थे। राजा विराटके प्रिय भाई शतानीकने सुवर्णमय कवच ग्रहण किया, जिसके भीतर हीरे और लोहेकी जालियाँ लगी थीं ।। ११½ ।।

सर्वपारसवं वर्म कल्याणपटलं दृढम् ।। १२ ।।
शतानीकादवरजो मदिराक्षोऽभ्यहारयत् ।

शतानीकसे छोटे भाईका नाम मदिराक्ष था। उन्होंने सुवर्णपत्रसे आच्छादित सुदृढ़ कवच धारण किया, जो सारा-का-सारा सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंको सहन करनेमें समर्थ फौलादका बना हुआ था ।। १२½ ।।

शतसूर्यं शतावर्तं शतबिन्दु शताक्षिमत् ।। १३ ।।
अभेद्यकल्पं मत्स्यानां राजा कवचमाहरत् ।
उत्सेधे यस्य पद्मानि शतं सौगन्धिकानि च ।। १४ ।।

मत्स्यदेशके राजा विराटने अभेद्यकल्प नामक कवच ग्रहण किया, जो किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे कट नहीं सकता था। उसमें सूर्यके समान चमकीली सौ फूलियाँ लगी थीं, सौ भँवरें बनी थीं, सौ बिन्दु (सूक्ष्म चक्र) और सौ नेत्रके समान आकारवाले चक्र बने थे। इसके सिवा उसमें नीचेसे ऊपरतक सौगन्धिक (कह्लार) जातिके सौ कमलोंकी आकृतियाँ पंक्तिबद्ध बनी हुई थीं ।। १३-१४ ।।

सुवर्णपृष्ठं सूर्याभं सूर्यदत्तोऽभ्यहारयत् ।
दृढमायसगर्भं च श्वेतं वर्म शताक्षिमत् ।। १५ ।।
विराटस्य सुतो ज्येष्ठो वीरः शङ्खोऽभ्यहारयत् ।

सेनापति सूर्यदत्त (शतानीक)-ने पृष्ठभागमें सुवर्णजटित एवं सूर्यके समान चमकीला कवच पहन रखा था। विराटके ज्येष्ठ पुत्र वीरवर शंखने श्वेत रंगका एक सुदृढ़ कवच धारण

किया, जिसके भीतरी भागमें लोहा लगा था और ऊपर नेत्रके समान सौ चिह्न बने हुए थे ।।

शतशश्च तनुत्राणि यथास्वं ते महारथाः ।। १६ ।।
योत्स्यमाना अनह्यन्त देवरूपाः प्रहारिणः ।

इसी प्रकार सैकड़ों देवताओंके समान रूपवान् महारथियोंने युद्धके लिये उद्यत हो अपने-अपने वैभवके अनुसार कवच पहन लिये। वे सब-के-सब प्रहार करनेमें कुशल थे ।। १६½ ।।

सूपस्करेषु शुभ्रेषु महत्सु च महारथाः ।। १७ ।।
पृथक् काञ्चनसंनाहान् रथेष्वश्वानयोजयन् ।

उन महारथियोंने सुन्दर पहियोंवाले विशाल एवं उज्ज्वल रथोंमें पृथक्-पृथक् सोनेके बख्तर धारण कराये हुए घोड़ोंको जोता ।। १७½ ।।

सूर्यचन्द्रप्रतीकाशे रथे दिव्ये हिरण्मये ।। १८ ।।
महानुभावो मत्स्यस्य ध्वज उच्छिश्रिये तदा ।

मत्स्यराजके सुवर्णमय दिव्य रथमें, जो सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहा था, उस समय बहुत ऊँची ध्वजा फहराने लगी ।। १८½ ।।

अथान्यान् विविधाकारान् ध्वजान् हेमपरिष्कृतान् ।। १९ ।।
यथास्वं क्षत्रियाः शूरा रथेषु समयोजयन् ।

इसी प्रकार अन्य शूरवीर क्षत्रियोंने अपने-अपने रथोंमें यथाशक्ति सुवर्णमण्डित नाना प्रकारकी ध्वजाएँ फहरायीं ।।

(रथेषु युज्यमानेषु कङ्को राजानमब्रवीत् ।
मयाप्यस्त्रं चतुर्मार्गमवाप्तमृषिसत्तमात् ।।
दंशितो रथमास्थाय पदं निर्याम्यहं गवाम् ।
अयं च बलवाञ्छूरो बल्लवो दृश्यतेऽनघ ।।
गोसंख्यमश्वबन्धं च रथेषु समयोजय ।
नैते न जातु युध्येयुर्गवार्थमिति मे मतिः ।।)
अथ मत्स्योऽब्रवीद् राजा शतानीकं जघन्यजम् ।। २० ।।

जब रथ जोते जा रहे थे, उस समय कंकने राजा विराटसे कहा—'मैंने भी एक श्रेष्ठ महर्षिसे चार मार्गोंवाले धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की है, अतः मैं भी कवच धारण करके रथपर बैठकर गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करूँगा। निष्पाप नरेश! यह बल्लव नामक रसोइया भी बलवान् एवं शूरवीर दिखायी देता है, इसे गौओंकी गणना करनेवाले गोशालाध्यक्ष तन्तिपाल तथा अश्वोंकी शिक्षाका प्रबन्ध करनेवाले ग्रन्थिकको भी रथोंपर बिठा दीजिये। मेरा विश्वास है कि ये गौओंके लिये युद्ध करनेसे कदापि मुँह नहीं मोड़ सकते।'

तदनन्तर मत्स्यराजने अपने छोटे भाई शतानीकसे कहा— ।। २० ।।

कङ्कबल्लवगोपाला दामग्रन्थिश्च वीर्यवान् ।

युद्धयेयुरिति मे बुद्धिर्वर्तते नात्र संशयः ।। २१ ।।

'भैया! मेरे विचारमें यह बात आती है कि ये कंक, बल्लव, तन्तिपाल और ग्रन्थिक भी युद्ध कर सकते हैं, इसमें संशय नहीं है ।। २१ ।।

एतेषामपि दीयन्तां रथा ध्वजपताकिनः ।
कवचानि च चित्राणि दृढानि च मृदूनि च ।। २२ ।।
प्रतिमुञ्चन्तु गात्रेषु दीयन्तामायुधानि च ।
वीराङ्गरूपाः पुरुषा नागराजकरोपमाः ।। २३ ।।

'अतः इनके लिये भी ध्वजा और पताकाओंसे सुशोभित रथ दो। ये भी अपने अंगोंमें ऊपरसे दृढ़, किंतु भीतरसे कोमल और विचित्र कवच धारण कर लें। फिर इन्हें भी सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र अर्पित करो। इनके अंग और स्वरूप वीरोचित जान पड़ते हैं। इन वीर पुरुषोंकी भुजाएँ गजराजकी सूँड़दण्डकी भाँति शोभा पाती हैं ।। २२-२३ ।।

नेमे जातु न युध्येरन्निति मे धीयते मतिः ।
एतच्छ्रुत्वा तु नृपतेर्वाक्यं त्वरितमानसः ।
शतानीकस्तु पार्थेभ्यो रथान् राजन् समादिशत् ।। २४ ।।

'ये युद्ध न करते हों, यह कदापि सम्भव नहीं अर्थात् ये अवश्य युद्धकुशल हैं। मेरी बुद्धिका तो ऐसा ही निश्चय है।'

जनमेजय! राजाका यह वचन सुनकर शतानीकने उतावले मनसे कुन्तीपुत्रोंके लिये शीघ्रतापूर्वक रथ लानेका आदेश दिया ।। २४ ।।

सहदेवाय राज्ञे च भीमाय नकुलाय च ।
तान् प्रहृष्टांस्ततः सूता राजभक्तिपुरस्कृताः ।। २५ ।।
निर्दिष्टा नरदेवेन रथाञ्छीघ्रमयोजयन् ।

सहदेव, राजा युधिष्ठिर, भीम और नकुल—इन चारोंके लिये रथ लानेकी आज्ञा हुई। इस बातसे पाण्डव बड़े प्रसन्न थे। तब राजभक्त सारथि महाराज विराटके बताये अनुसार रथोंको शीघ्रतापूर्वक जोतकर ले आये ।।

कवचानि विचित्राणि मृदूनि च दृढानि च ।। २६ ।।
विराटः प्रादिशद् यानि तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तान्यामुच्य शरीरेषु दंशितास्ते परंतपाः ।। २७ ।।

उसके बाद अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले पाण्डुपुत्रोंको राजा विराटने अपने हाथसे विचित्र कवच प्रदान किये, जो ऊपरसे सुदृढ़ और भीतरसे कोमल थे। उन्हें लेकर उन वीरोंने अपने अंगोंमें यथास्थान बाँध लिया ।। २६-२७ ।।

रथान् हयैः सुसम्पन्नानास्थाय च नरोत्तमाः ।
निर्ययुर्मुदिताः पार्थाः शत्रुसंघावमर्दिनः ।। २८ ।।

शत्रुसमूहको रौंद डालनेवाले वे नरश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र घोड़े जुते हुए रथोंपर बैठकर बड़ी प्रसन्नताके साथ राजभवनसे बाहर निकले ।। २८ ।।

तरस्विनश्छन्नरूपाः सर्वे युद्धविशारदाः ।
रथान् हेमपरिच्छन्नानास्थाय च महारथाः ।। २९ ।।
विराटमन्वयुः पार्थाः सहिताः कुरुपुङ्गवाः ।
चत्वारो भ्रातरः शूराः पाण्डवाः सत्यविक्रमाः ।। ३० ।।

वे बड़े वेगसे चले। उन्होंने अपने यथार्थ स्वरूपको अभीतक छिपा रखा था। वे सब-के-सब युद्धकी कलामें अत्यन्त निपुण थे। कुरुवंशशिरोमणि वे चारों महारथी कुन्तीकुमार सुवर्णमण्डित रथोंपर आरूढ़ हो एक ही साथ विराटके पीछे-पीछे चले। चारों भाई पाण्डव शूरवीर और सत्यपराक्रमी थे ।। २९-३० ।।

(दीर्घाणां च दृढानां च धनुषां ते यथाबलम् ।
उत्कृष्य पाशान् मौर्वीणां वीराश्चापेष्वयोजयन् ।।
ततः सुवाससः सर्वे ते वीराश्चन्दनोक्षिताः ।
चोदिता नरदेवेन क्षिप्रमश्वानचोदयन् ।।
ते हया हेमसंच्छन्ना बृहन्तः साधुवाहिनः ।
चोदिताः प्रत्यदृश्यन्त पक्षिणामिव पङ्क्तयः ।।)

उन वीरोंने अपने विशाल और सुदृढ़ धनुषोंकी डोरियोंको यथाशक्ति ऊपर खींचकर धनुषके दूसरे सिरेपर चढ़ाया। फिर सुन्दर वस्त्र धारण करके चन्दनसे चर्चित हो उन समस्त वीर पाण्डवोंने नरदेव विराटकी आज्ञासे शीघ्रतापूर्वक अपने घोड़े हाँक दिये। अच्छी तरह रथका भार वहन करनेवाले वे स्वर्णभूषित विशाल अश्व हाँके जानेपर श्रेणीबद्ध होकर उड़ते हुए पक्षियोंके समान दिखायी देने लगे।

भीमाश्च मत्तमातङ्गाः प्रभिन्नकरटामुखाः ।
क्षरन्तश्चैव नागेन्द्राः सुदन्ताः षष्टिहायनाः ।। ३१ ।।
स्वारूढा युद्धकुशलैः शिक्षिता हस्तिसादिभिः ।
राजानमन्वयुः पश्चाच्चलन्त इव पर्वताः ।। ३२ ।।

जिनके गण्डस्थलसे मदकी धारा बहती थी, ऐसे भयंकर मतवाले हाथी तथा सुन्दर दाँतोंवाले साठ वर्षके मदवर्षी गजराज, जिन्हें युद्धकुशल महावतोंने शिक्षा दी थी, सवारोंको अपनी पीठपर चढ़ाये राजा विराटके पीछे-पीछे इस प्रकार जा रहे थे, मानो चलते-फिरते पर्वत हों ।। ३१-३२ ।।

विशारदानां मुख्यानां हृष्टानां चारुजीविनाम् ।
अष्टौ रथसहस्राणि दश नागशतानि च ।। ३३ ।।
षष्टिश्चाश्वसहस्राणि मत्स्यानामभिनिर्ययुः ।
तदनीकं विराटस्य शुशुभे भरतर्षभ ।। ३४ ।।

युद्धकी कलामें कुशल, प्रसन्न रहनेवाले तथा उत्तम जीविकावाले मत्स्यदेशके प्रधान-प्रधान वीरोंकी उस सेनामें आठ हजार रथी, एक हजार हाथीसवार तथा साठ हजार घुड़सवार थे, जो युद्धके लिये तैयार होकर निकले थे। भरतर्षभ! उनसे विराटकी वह विशाल वाहिनी अत्यन्त सुशोभित हो रही थी ।। ३३-३४ ।।

सम्प्रयातं तदा राजन् निरीक्षन्तं गवां पदम् ।
तद् बलाग्रयं विराटस्य सम्प्रस्थितमशोभत ।
दृढायुधजनाकीर्णं गजाश्वरथसंकुलम् ।। ३५ ।।

राजन्! उस समय गौओंके पदचिह्न देखती युद्धके लिये प्रस्थित हुई विराटकी वह श्रेष्ठ सेना अपूर्व शोभा पा रही थी। उसमें ऐसे पैदल सैनिक भरे थे, जिनके हाथोंमें मजबूत हथियार थे। साथ ही हाथी, घोड़े तथा रथके सवारोंसे भी वह सेना परिपूर्ण थी ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे मत्स्यराजरणोद्योगे एकत्रिंशोऽध्यायः ।। ३१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिण दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें मत्स्यराजविराटके युद्धोद्योगसे सम्बद्ध इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३ श्लोक मिलाकर कुल ४८ श्लोक हैं।)

द्वात्रिंशोऽध्यायः

मत्स्य तथा त्रिगर्तदेशीय सेनाओंका परस्पर युद्ध

वैशम्पायन उवाच

निर्याय नगराच्छूरा व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।
त्रिगर्तानस्पृशन् मत्स्याः सूर्ये परिणते सति ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! नगरसे निकलकर प्रहार करनेमें कुशल वे मत्स्यदेशीय वीर योद्धा अपनी सेनाका व्यूह बनाकर चले और सूर्यके ढलते-ढलते उन्होंने त्रिगर्तोंको पकड़ लिया ।। १ ।।

ते त्रिगर्ताश्च मत्स्याश्च संरब्धा युद्धदुर्मदाः ।
अन्योन्यमभिगर्जन्तो गोषु गृद्धा महाबलाः ।। २ ।।

फिर तो क्रोधमें भरकर युद्धके लिये उन्मत्त हुए वे त्रिगर्त और मत्स्यदेशके महाबली वीर गौओंको ले जानेकी इच्छासे एक-दूसरेको लक्ष्य करके गर्जना करने लगे ।। २ ।।

भीमाश्च मत्तमातङ्गास्तोमराङ्कुशनोदिताः ।
ग्रामणीयैः समारूढाः कुशलैर्हस्तिसादिभिः ।। ३ ।।
तेषां समागमो घोरस्तुमुलो लोमहर्षणः ।
घ्नतां परस्परं राजन् यमराष्ट्रविवर्धनः ।। ४ ।।

हाथियोंपर चढ़कर उन्हें चलानेमें कुशल श्रेष्ठ महावतोंद्वारा तोमरों और अंकुशोंकी मारसे आगे बढ़ाये हुए भयंकर और मतवाले गजराज दोनों ओरसे एक-दूसरेपर टूट पड़े। परस्पर शस्त्रोंका प्रहार करनेवाले हाथीसवारोंका वह कोलाहलपूर्ण भयंकर युद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला एवं महासंहारकारी था ।। ३-४ ।।

देवासुरसमो राजन्नासीत् सूर्येऽवलम्बति ।
पदातिरथनागेन्द्रहयारोहबलौघवान् ।। ५ ।।

राजन्! सूर्य पश्चिमकी ओर ढल रहे थे। उस समय पैदल, रथी, हाथीसवार तथा घुड़सवारोंके समूहसे भरा हुआ वह युद्ध देवासुरसंग्रामके समान हो रहा था ।। ५ ।।

अन्योन्यमभ्यापततां निघ्नतां चेतरेतरम् ।
उदतिष्ठद् रजो भौमं न प्राज्ञायत किंचन ।। ६ ।।

एक-दूसरेपर धावा बोलकर आपसमें मार-काट मचानेवाले उन सैनिकोंके पदाघातसे इतनी धूल उड़ी कि कुछ भी सूझ-बूझ नहीं पड़ता था ।। ६ ।।

पक्षिणश्चापतन् भूमौ सैन्येन रजसाऽऽवृताः ।
इषुभिर्व्यतिसर्पद्भिरादित्योऽन्तरधीयत ।। ७ ।।

सेनाकी धूलसे आच्छादित होकर उड़ते हुए पक्षी भी भूमिपर गिर जाते थे। दोनों ओरसे छूटे हुए बाणोंद्वारा (आकाश खचाखच भर जानेके कारण) सूर्यदेवका दीखना बंद हो गया ।। ७ ।।

खद्योतैरिव संयुक्तमन्तरिक्षं व्यराजत ।
रुक्मपृष्ठानि चापानि व्यतिषिक्तानि धन्विनाम् ।। ८ ।।
पततां लोकवीराणां सव्यदक्षिणमस्यताम् ।
रथा रथैः समाजग्मुः पादातैश्च पदातयः ।। ९ ।।

बाणोंके कारण अन्तरिक्ष मानो जुगनुओंसे भर गया हो, इस प्रकार चकमक हो रहा था। दाँयें-बाँयें बाण मारनेवाले वे विश्वविख्यात धनुर्धर वीर जब घायल होकर गिरते थे, उस समय उनके सुवर्णकी पीठवाले धनुष दूसरोंके हाथमें चले जाते थे। रथी रथियोंसे और पैदल पैदलोंसे भिड़े हुए थे ।। ८-९ ।।

सादिनः सादिभिश्चैव गजैश्चापि महागजाः ।
असिभिः पट्टिशैः प्रासैः शक्तिभिस्तोमरैरपि ।। १० ।।
संरब्धाः समरे राजन् निजघ्नुरितरेतरम् ।
निघ्नन्तः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ।। ११ ।।
न शेकुरभिसंरब्धाः शूरान् कर्तुं पराङ्मुखान् ।

घुड़सवार घुड़सवारोंसे और गजारोही गजारोहियोंसे लड़ रहे थे। राजन्! वे सब क्रोधमें भरकर उस युद्धमें एक-दूसरेपर तलवार, पट्टिश, प्रास, शक्ति और तोमर आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे प्रहार कर रहे थे; किंतु परिघके समान प्रचण्ड भुजदण्डवाले वे शूरवीर परस्पर क्रोधपूर्वक प्रहार करनेपर भी सामना करनेवाले वीरोंको पीछे नहीं हटा पाते थे ।। १०-११ १/२ ।।

कृत्तोत्तरोष्ठं सुनसं कृत्तकेशमलंकृतम् ।। १२ ।।
अदृश्यत शिरश्छिन्नं रजोध्वस्तं सकुण्डलम् ।

बातकी बातमें, कुण्डलोंसहित कटे हुए कितने ही मस्तक धूलमें लोटने लगे। किसीकी नाक बड़ी सुन्दर थी, परन्तु ऊपरका ओठ कट गया था। कोई अलंकारोंसे अलंकृत था, किंतु उसका केशभाग कटकर उड़ गया था ।। १२ १/२ ।।

अदृश्यंस्तत्र गात्राणि शरैश्छिन्नानि भागशः ।। १३ ।।
शालस्कन्धनिकाशानि क्षत्रियाणां महामृधे ।

उस महासंग्राममें बहुत-से क्षत्रिय वीरोंके शरीर, जो शालवृक्षकी शाखाओंके समान विशाल एवं हृष्ट-पुष्ट थे, छिन्न-भिन्न होकर टुकड़े-टुकड़े दिखायी देने लगे ।।

नागभोगनिकाशैश्च बाहुभिश्चन्दनोक्षितैः ।। १४ ।।
आस्तीर्णा वसुधा भाति शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।

सर्पोंके शरीरकी भाँति सुशोभित चन्दनचर्चित भुजाओं तथा कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे पटी हुई रणभूमि अपूर्व शोभा धारण कर रही थी ।। १४½ ।।

रथिनां रथिभिश्चात्र सम्प्रहारोऽभ्यवर्तत ।। १५ ।।

सादिभिः सादिनां चापि पदातीनां पदातिभिः ।

उपाशाम्यद् रजो भौमं रुधिरेण प्रसर्पता ।। १६ ।।

वहाँ रथियोंका रथियोंसे, घुड़सवारोंका घुड़सवारोंसे और पैदल योद्धाओंका पैदलोंसे घमासान युद्ध होने लगा। सब ओर रक्तकी धारा बह चली और उसमें सनकर धरतीकी धूल शान्त हो गयी ।। १५-१६ ।।

कश्मलं चाविशद् घोरं निर्मर्यादमवर्तत ।

युद्ध करनेवाले वीरोंको मूर्च्छा आने लगी। उनमें मर्यादाशून्य भयंकर युद्ध छिड़ गया ।। १६½ ।।

(युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रातृभिः सहितस्तदा ।

व्यूहं कृत्वा विराटस्य अन्वयुध्यत पाण्डवः ।।

आत्मानं श्येनवत् कृत्वा तुण्डमासीद् युधिष्ठिरः ।

पक्षौ यमौ च भवतः पुच्छमासीद् वृकोदरः ।।

सहस्रं न्यहनत् तत्र कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

भीमसेनः सुसंक्रुद्धः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।।

द्विसहस्रं रथान् वीरः परलोकं प्रवेशयत् ।

नकुलस्त्रिशतं जघ्ने सहदेवश्चतुःशतम् ।।)

पाण्डुनन्दन धर्मात्मा युधिष्ठिरने भी भाइयों-सहित व्यूह-रचना करके राजा विराटके लिये त्रिगर्तोंके साथ युद्ध आरम्भ किया। उन्होंने अपने-आपको श्येन (बाज) पक्षीके रूपमें उपस्थित करके उसकी चोंचका स्थान ग्रहण किया। नकुल और सहदेव दोनों पंखोंके रूपमें हो गये। भीमसेन पूँछके स्थानमें हुए। कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने शत्रुओंके एक सहस्र सैनिकोंका संहार कर डाला। सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ वीर भीमसेनने अत्यन्त कुपित हो दो हजार रथियोंको परलोक पहुँचा दिया। नकुलने तीन सौ और सहदेवने चार सौ सैनिकोंको मार डाला।

उपाविशन् गरुत्मन्तः शरैर्गाढं प्रवेजिताः ।

अन्तरिक्षे गतिर्येषां दर्शनं चाप्यरुध्यत ।। १७ ।।

आकाशचारी पक्षी भी बाणसमूहोंसे अत्यन्त उद्विग्न होकर इधर-उधर बैठ गये। उनका आकाशमें उड़ना और दूरतक देखना भी बंद हो गया ।। १७ ।।

ते घ्नन्तः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ।

न शेकुरभिसंरब्धाः शूरान् कर्तुं पराङ्मुखान् ।। १८ ।।

परिघकी-सी मोटी बाँहोंवाले शूरमा कुपित हो एक-दूसरेपर घातक प्रहार करते हुए भी सच्चे शूरवीरोंको युद्धसे विमुख नहीं कर पाते थे ।। १८ ।।

शतानीकः शतं हत्वा विशालाक्षश्चतुःशतम् ।
प्रविष्टौ महतीं सेनां त्रिगर्तानां महारथौ ।। १९ ।।

इस प्रकार युद्ध करते-करते शतानीक सौ तथा विशालाक्ष (मदिराक्ष) चार सौ त्रिगर्त योद्धाओंको मारकर उनकी भारी सेनामें घुस गये। वे दोनों महारथी थे ।। १९ ।।

तौ प्रविष्टौ महासेनां बलवन्तौ मनस्विनौ ।
आर्च्छेतां बहुसंरब्धौ केशाकेशि रथारथि ।। २० ।।

उस विशाल सेनामें घुसे हुए और अत्यन्त क्रुद्ध हुए उन बलवान् एवं मनस्वी वीरोंने उस सारी सेनाको मोहित कर दिया। वे दोनों उन त्रिगर्त सैनिकोंसे एक दूसरेके केश पकड़-पकड़कर तथा रथोंपर बैठे हुए रथियोंको गिरा-गिराकर युद्ध करने लगे ।। २० ।।

लक्षयित्वा त्रिगर्तानां तौ प्रविष्टौ रथव्रजम् ।
अग्रतः सूर्यदत्तश्च मदिराक्षश्च पृष्ठतः ।। २१ ।।

फिर उन दोनोंने त्रिगर्तोंकी रथसेनाको लक्ष्य बनाकर उसमें प्रवेश किया। सूर्यदत्तने आगेकी ओरसे आक्रमण किया और मदिराक्षने पीछेकी ओरसे ।। २१ ।।

विराटस्तत्र संग्रामे हत्वा पञ्चशतान् रथान् ।
हयानां च शतान्यष्टौ हत्वा पञ्च महारथान् ।। २२ ।।
चरन् स विविधान् मार्गान् रथेन रथसत्तमः ।
त्रिगर्तानां सुशर्माणमार्च्छद् रुक्मरथं रणे ।। २३ ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ राजा विराटने रथके द्वारा विविध मार्गोंसे चलते—अनेक प्रकारके रणकौशल दिखाते हुए उस युद्धमें त्रिगर्तोंके पाँच सौ रथी, आठ सौ घुड़सवार तथा पाँच महारथियोंको मार गिरानेके पश्चात् स्वर्णभूषित रथपर बैठे हुए सुशर्मापर धावा किया ।। २२-२३ ।।

तौ व्यवाहरतां तत्र महात्मानौ महाबलौ ।
अन्योन्यमभिगर्जन्तौ गोष्ठेषु वृषभाविव ।। २४ ।।

वे दोनों महान् बलवान् और महामनस्वी वीर गर्जते हुए एक-दूसरेसे इस प्रकार जा भिड़े, मानो गोशालामें दो साँड़ लड़ रहे हों ।। २४ ।।

ततो राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
मत्स्यं समायाद् राजानं द्वैरथेन नरर्षभः ।। २५ ।।

त्रिगर्तराज सुशर्मापर युद्धका घोर उन्माद छाया हुआ था। उस नरश्रेष्ठ वीरने राजा विराटका द्वैरथयुद्धके द्वारा सामना किया ।। २५ ।।

ततो रथाभ्यां रथिनौ व्यतीयतुरमर्षणौ ।
शरान् व्यसृजतां शीघ्रं तोयधारा घना इव ।। २६ ।।

क्रोधमें भरे हुए वे दोनों रथी अपना-अपना रथ बढ़ाकर निकट आ गये और शीघ्रतापूर्वक एक दूसरेपर बाणोंकी झड़ी लगाने लगे, मानो दो मेघ जलकी धाराएँ बरसा रहे हों ।। २६ ।।

अन्योन्यं चापि संरब्धौ विचेरतुरमर्षणौ ।

कृतास्त्रौ निशितैर्बाणैरसिशक्तिगदाभृतौ ।। २७ ।।

दोनोंका एक दूसरेके प्रति क्रोध और अमर्ष बढ़ा हुआ था। दोनों ही अस्त्रविद्यामें निपुण थे और दोनोंने ही तलवार, शक्ति तथा गदा भी ले रखी थी। उस समय दोनों तीखे बाणोंसे परस्पर प्रहार करते हुए रणभूमिमें विचरने लगे ।। २७ ।।

ततो राजा सुशर्माणं विव्याध दशभिः शरैः ।

पञ्चभिः पञ्चभिश्चास्य विव्याध चतुरो हयान् ।। २८ ।।

इसी समय राजा विराटने सुशर्माको दस बाणोंसे बींध डाला और पाँच-पाँच बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको भी घायल कर दिया ।। २८ ।।

तथैव मत्स्यराजानं सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।

पञ्चाशता शितैर्बाणैर्विव्याध परमास्त्रवित् ।। २९ ।।

इसी प्रकार महान् अस्त्रवेत्ता सुशर्माने भी रणोन्मत्त होकर पचास तीखे बाणोंसे मत्स्यराज विराटको बींध डाला ।। २९ ।।

ततः सैन्यं महाराज मत्स्यराजसुशर्मणोः ।

नाभ्यजानात् तदान्योन्यं सैन्येन रजसाऽऽवृतम् ।। ३० ।।

महाराज! तदनन्तर सैनिकोंके पैरोंसे इतनी धूल उड़ी कि मत्स्यनरेश तथा सुशर्मा दोनोंकी सेनाएँ उससे आच्छादित हो गयीं और एक-दूसरेके विषयमें यह भी न जान सकीं कि कौन कहाँ क्या कर रहा है? ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे विराटसुशर्मयुद्धे द्वात्रिंशोऽध्यायः ।। ३२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिणदिशाकी गौओंके अपहरणके समय होनेवाले विराट और सुशर्माके युद्धके विषयमें बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं।)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

सुशर्माका विराटको पकड़कर ले जाना, पाण्डवोंके प्रयत्नसे उनका छुटकारा, भीमद्वारा सुशर्माका निग्रह और युधिष्ठिरका अनुग्रह करके उसे छोड़ देना

वैशम्पायन उवाच

तमसाभिप्लुते लोके रजसा चैव भारत ।
अतिष्ठन् वै मुहूर्तं तु व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! उस समय [सूर्यास्त हो चुका था एवं रात्रि आ गयी थी, अतः] सब लोग धूलसे तो आवृत थे ही, अन्धकारसे भी आच्छादित हो गये; अतः प्रहार करनेवाले सैनिक सेनाका व्यूह बनाकर कुछ देरतक युद्ध बंद करके खड़े रहे ।। १ ।।

ततोऽन्धकारं प्रणुदन्नुदतिष्ठत चन्द्रमाः ।
कुर्वाणो विमलां रात्रिं नन्दयन् क्षत्रियान् युधि ।। २ ।।

इतनेमें ही अन्धकारका निवारण करते हुए चन्द्रदेवका उदय हुआ। उन्होंने उस रणक्षेत्रमें क्षत्रियोंको आनन्द प्रदान करते हुए उस रात्रिको निर्मल (अन्धकार-शून्य) बना दिया ।। २ ।।

ततः प्रकाशमासाद्य पुनर्युद्धमवर्तत ।
घोररूपं ततस्ते स्म नावैक्षन्त परस्परम् ।। ३ ।।

अतः उजाला हो जानेसे पुनः घोर युद्ध प्रारम्भ हो गया। उस समय (युद्धके आवेशमें) योद्धा एक दूसरेको देख नहीं रहे थे ।। ३ ।।

ततः सुशर्मा त्रैगर्तः सह भ्रात्रा यवीयसा ।
अभ्यद्रवन्मत्स्यराजं रथव्रातेन सर्वशः ।। ४ ।।

तदनन्तर त्रिगर्तराज सुशर्माने अपने छोटे भाईके साथ रथियोंका समूह लेकर चारों ओरसे मत्स्यराज विराटपर धावा बोल दिया ।। ४ ।।

ततो रथाभ्यां प्रस्कन्द्य भ्रातरौ क्षत्रियर्षभौ ।
गदापाणी सुसंरब्धौ समभ्यद्रवतां रथान् ।। ५ ।।

फिर वे क्षत्रियशिरोमणि दोनों बन्धु रथोंसे कूद पड़े और हाथमें गदा ले क्रोधमें भरकर शत्रुसेनाके रथोंकी ओर दौड़े ।। ५ ।।

(मत्ताविव वृषावेतौ गजाविव मदोद्धतौ ।
सिंहाविव गजग्राहौ शक्रवृत्राविवोत्थितौ ।।
उभौ तुल्यबलोत्साहावुभौ तुल्यपराक्रमौ ।

उभौ तुल्यास्त्रविदुषावुभौ युद्धविशारदौ ।।)

वे दोनों मतवाले साँड़ों, मदोन्मत्त गजराजों, एक ही हाथीपर आक्रमण करनेवाले दो सिंहों तथा युद्धके लिये उद्यत वृत्रासुर एवं इन्द्रके समान जान पड़ते थे। दोनोंके बल और उत्साह समान थे। दोनों ही एक-जैसे पराक्रमी और एक-से ही अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता थे। युद्ध करनेकी कलामें वे दोनों ही वीर अत्यन्त निपुण थे।

तथैव तेषां तु बलानि तानि
क्रुद्धान्यथान्योन्यमभिद्रवन्ति ।
गदासिखड्गैश्च परश्वधैश्च
प्रासैश्च तीक्ष्णाग्रसुपीतधारैः ।। ६ ।।

इसी प्रकार उन सबकी वे सेनाएँ भी कुपित हो गदा, तलवार, खड्ग, फरसे और भलीभाँति तेज किये हुए तीखी धारवाले प्रासों (भालों) से प्रहार करती हुई एक-दूसरीपर टूट पड़ीं ।। ६ ।।

बलं तु मत्स्यस्य बलेन राजा
सर्वं त्रिगर्ताधिपतिः सुशर्मा ।
प्रमथ्य जित्वा च प्रसह्य मत्स्यं
विराटमोजस्विनमभ्यधावत् ।। ७ ।।
तौ निहत्य पृथग् धुर्यावुभौ तौ पार्ष्णिसारथी ।
विरथं मत्स्यराजानं जीवग्राहमगृह्णताम् ।। ८ ।।

त्रिगर्तदेशके स्वामी राजा सुशर्माने अपनी सेनाके द्वारा मत्स्यराजकी सेनाको मथ डाला और बलपूर्वक उसे परास्त करके महापराक्रमी मत्स्यनरेश विराटपर चढ़ाई कर दी। उन दोनों भाइयोंने पृथक्-पृथक् विराटके दोनों घोड़ोंको मारकर उनके पार्श्वभागकी रक्षा करनेवाले सिपाहियों तथा सारथिको भी मार डाला और उन्हें रथहीन करके जीते-जी ही पकड़ लिया ।। ७-८ ।।

तमुन्मथ्य सुशर्माथ युवतीमिव कामुकः ।
स्यन्दनं स्वं समारोप्य प्रययौ शीघ्रवाहनः ।। ९ ।।

जैसे कामी पुरुष किसी युवतीको बलपूर्वक पकड़ ले, वैसे ही सुशर्माने राजा विराटको पीड़ित करके पकड़ लिया और उनको शीघ्रगामी वाहनोंसे युक्त अपने रथपर चढ़ाकर वह चल दिया ।। ९ ।।

तस्मिन् गृहीते विरथे विराटे बलवत्तरे ।
प्राद्रवन्त भयान्मत्स्यास्त्रिगर्तैरर्दिता भृशम् ।। १० ।।

अतिशय बलवान् राजा विराट जब रथहीन होकर पकड़ लिये गये, तब त्रिगर्तोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित हुए मत्स्यदेशीय सैनिक भयभीत होकर भागने लगे ।। १० ।।

तेषु संत्रस्यमानेषु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

प्रत्यभाषन्महाबाहुं भीमसेनमरिंदमम् ।। ११ ।।

उनके इस प्रकार अत्यन्त भयभीत होनेपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबाहु भीमसेनसे कहा— ।। ११ ।।

मत्स्यराजः परामृष्टस्त्रिगर्तेन सुशर्मणा ।
तं मोचय महाबाहो न गच्छेद् द्विषतां वशम् ।। १२ ।।

'महाबाहो! त्रिगर्तराज सुशर्माने मत्स्यराजको पकड़ लिया है। उन्हें शीघ्र छुड़ाओ; जिससे वे शत्रुओंके वशमें न पड़ जायँ ।। १२ ।।

उषिताः स्म सुखं सर्वे सर्वकामैः सुपूजिताः ।
भीमसेन त्वया कार्या तस्य वासस्य निष्कृतिः ।। १३ ।।

'हम सब लोग उनके यहाँ सुखपूर्वक रहे हैं और उन्होंने हमें सब प्रकारकी अभीष्ट वस्तुएँ देकर हमारा भलीभाँति सत्कार किया है। अतः भीमसेन! तुम्हें उनके घरमें रहनेके उपकारका बदला चुकाना चाहिये' ।। १३ ।।

भीमसेन उवाच

अहमेनं परित्रास्ये शासनात् तव पार्थिव ।
पश्य मे सुमहत् कर्म युध्यतः सह शत्रुभिः ।। १४ ।।

भीमसेन बोले—महाराज! आपकी आज्ञासे मैं इन्हें सुशर्माके हाथोंसे छुड़ा लूँगा। आज आप शत्रुओंके साथ युद्ध करते समय मेरे महान् पराक्रमको देखें ।। १४ ।।

स्वबाहुबलमाश्रित्य तिष्ठ त्वं भ्रातृभिः सह ।
एकान्तमाश्रितो राजन् पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ।। १५ ।।

मैं अपने बाहुबलका भरोसा करके लड़ूँगा। राजन्! आज आप भाइयोंसहित एकान्तमें खड़े होकर अब मेरा पराक्रम देखें ।। १५ ।।

सुस्कन्धोऽयं महावृक्षो गदारूप इव स्थितः ।
अहमेनमपारुज्य द्रावयिष्यामि शात्रवान् ।। १६ ।।

यह सामने जो महान् वृक्ष है, इसकी शाखाएँ बड़ी सुन्दर हैं। यह तो मानो गदाके ही रूपमें खड़ा है। अतः मैं इसीको उखाड़कर इसके द्वारा शत्रुदलको मार भगाऊँगा ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

तं मत्तमिव मातङ्गं वीक्षमाणं वनस्पतिम् ।
अब्रवीद् भ्रातरं वीरं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यह कहकर भीमसेन मदोन्मत्त गजराजकी भाँति उस वृक्षकी ओर देखने लगे। तब धर्मराज युधिष्ठिरने अपने वीर भ्रातासे कहा— ।। १७ ।।

मा भीम साहसं कार्षीस्तिष्ठत्वेष वनस्पतिः ।
मा त्वां वृक्षेण कर्माणि कुर्वाणमतिमानुषम् ।। १८ ।।

जनाः समवबुध्येरन् भीमोऽयमिति भारत।
अन्यदेवायुधं किंचित् प्रतिपद्यस्व मानुषम् ।। १९ ।।

'भीमसेन! ऐसा दु:साहस न करो, इस वृक्षको खड़ा रहने दो। यदि तुम इस महावृक्षको उखाड़नेका अतिमानुष (मानवोंके लिये असाध्य) कर्म करोगे, तो सब लोग पहचान लेंगे कि यह तो भीम है। अतः भारत! तुम किसी दूसरे मानवोचित आयुधको ही ग्रहण करो ।। १८-१९ ।।

चापं वा यदि वा शक्तिं निस्त्रिंशं वा परश्वधम् ।
यदेव मानुषं भीम भवेदन्यैरलक्षितम् ।। २० ।।
तदेवायुधमादाय मोक्षयाशु महीपतिम् ।
यमौ च चक्ररक्षौ ते भवितारौ महाबलौ ।। २१ ।।
सहिताः समरे तत्र मत्स्यराजं परीप्सत ।

'धनुष, शक्ति, खड्ग अथवा कुठार, जो भी मनुष्योचित अस्त्र-शस्त्र तुम्हें ठीक लगे; जिससे तुम दूसरोंद्वारा पहचाने न जा सको, वही लेकर राजाको शीघ्र छुड़ाओ। ये महाबली नकुल और सहदेव तुम्हारे रथके पहियोंकी रक्षा करेंगे। तुम तीनों भाई युद्धमें एक साथ मिलकर महाराज विराटको छुड़ाओ' ।। २०-२१½ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु वेगेन भीमसेनो महाबलः ।। २२ ।।
गृहीत्वा तु धनुः श्रेष्ठं जवेन सुमहाजवः ।
व्यमुञ्चच्छरवर्षाणि सतोय इव तोयदः ।। २३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! युधिष्ठिरके उक्त आदेश देनेपर महान् वेगशाली महाबली भीमसेनने शीघ्रतापूर्वक एक उत्तम धनुष हाथमें ले लिया। फिर तो जैसे मेघ जलकी धारा बरसाता हो, उसी प्रकार वे वेगपूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। २२-२३ ।।

तं भीमो भीमकर्माणं सुशर्माणमथाद्रवत् ।
विराटं समवीक्ष्यैनं तिष्ठ तिष्ठेति चावदत् ।। २४ ।।

तदनन्तर भीमसेन भयंकर कर्म करनेवाले सुशर्माकी ओर दौड़े और विराटकी ओर देखते हुए सुशर्मासे बोले—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह' ।। २४ ।।

सुशर्मा चिन्तयामास कालान्तकयमोपमम् ।
तिष्ठ तिष्ठेति भाषन्तं पृष्ठतो रथपुङ्गवः ।
पश्यतां सुमहत् कर्म महद् युद्धमुपस्थितम् ।। २५ ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ सुशर्मा पीछेकी ओरसे आते और 'खड़ा रह, खड़ा रह' कहते हुए काल, अन्तक एवं यमराजके समान भयंकर वीर पुरुषको देखकर चिन्तामें पड़ गया और अपने

साथियोंसे बोला—'देखो, फिर बड़ा भारी युद्ध उपस्थित हुआ है। इसमें महान् पराक्रम दिखाओ' ।। २५ ।।

परावृत्तो धनुर्गृह्य सुशर्मा भ्रातृभिः सह ।
निमेषान्तरमात्रेण भीमसेनेन ते रथाः ।। २६ ।।
रथानां च गजानां च वाजिनां च ससादिनाम् ।
सहस्रशतसङ्घाताः शूराणामुग्रधन्विनाम् ।। २७ ।।
पातिता भीमसेनेन विराटस्य समीपतः ।
पत्तयो निहतास्तेषां गदां गृह्य महात्मना ।। २८ ।।

ऐसा कहकर सुशर्मा भाइयोंसहित धनुष उठाये लौट पड़ा। इधर महात्मा भीमसेनने निमेषमात्रमें ही गदा लेकर शत्रुओंके भयंकर धनुष धारण करनेवाले रथी, हाथीसवार और घुड़सवार वीरोंके एक लाख सैनिकोंके समूहोंको राजा विराटके समीप मार गिराया और बहुत-से पैदल सिपाहियोंका भी संहार कर डाला ।। २६—२८ ।।

तद् दृष्ट्वा तादृशं युद्धं सुशर्मा युद्धदुर्मदः ।
चिन्तयामास मनसा किं शेषं हि बलस्य मे ।
अपरो दृश्यते सैन्ये पुरा मग्नो महाबले ।। २९ ।।

ऐसा भयानक युद्ध देख रणोन्मत्त सुशर्मा मन-ही-मन सोचने लगा, 'जान पड़ता है, मेरी सेना बुरी तरह मारी जायगी; क्योंकि मेरा दूसरा भाई भी पहलेसे ही इस विशाल सैन्य-समुद्रमें डूबा हुआ दिखायी देता है' ।। २९ ।।

आकर्णपूर्णेन तदा धनुषा प्रत्यदृश्यत ।
सुशर्मा सायकांस्तीक्ष्णान् क्षिपते च पुनः पुनः ।। ३० ।।
ततः समस्तास्ते सर्वे तुरगानभ्यचोदयन् ।
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणास्त्रिगर्तान् प्रत्यमर्षणाः ।। ३१ ।।

ऐसा विचारकर वह कानतक खींचे हुए धनुषके द्वारा युद्धके लिये उद्यत दिखायी देने लगा। सुशर्मा बारंबार तीखे बाणोंकी झड़ी लगा रहा है, यह देख सम्पूर्ण मत्स्यदेशीय योद्धा त्रिगर्तोंके प्रति कुपित हो दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए अपने रथोंके घोड़ोंको आगे बढ़ाने लगे ।। ३०-३१ ।।

तान् निवृत्तरथान् दृष्ट्वा पाण्डवान् सा महाचमूः ।
वैराटिः परमक्रुद्धो युयुधे परमाद्भुतम् ।। ३२ ।।

पाण्डवोंको त्रिगर्तोंकी ओर रथ लौटाते देख मत्स्यवीरोंकी वह विशालवाहिनी भी लौट पड़ी। विराटके पुत्र श्वेत अत्यन्त क्रोधमें भरकर बड़ा अद्‌भुत युद्ध करने लगे ।। ३२ ।।

सहस्रमवधीत् तत्र कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमः सप्त सहस्राणि यमलोकमदर्शयत् ।। ३३ ।।

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने एक हजार त्रिगर्तोंको मार गिराया। भीमसेनने सात हजार योद्धाओंको यमलोकका दर्शन कराया ।। ३३ ।।

नकुलश्चापि सप्तैव शतानि प्राहिणोच्छरैः ।

शतानि त्रीणि शूराणां सहदेवः प्रतापवान् ।। ३४ ।।

युधिष्ठिरसमादिष्टो निजघ्ने पुरुषर्षभः ।

नकुलने अपने बाणोंसे सात सौ सैनिकोंको यमराजके घर भेज दिया तथा पुरुषोंमें श्रेष्ठ प्रतापी वीर सहदेवने युधिष्ठिरकी आज्ञासे तीन सौ शूरवीरोंका संहार कर डाला ।। ३४½ ।।

ततोऽभ्यपतदत्युग्रः सुशर्माणमुदायुधः ।। ३५ ।।

हत्वा तां महतीं सेनां त्रिगर्तानां महारथः ।

तदनन्तर महारथी सहदेव त्रिगर्तोंकी उस महासेनाका संहार करके अत्यन्त उग्र रूप धारण किये हाथमें धनुष ले सुशर्मापर चढ़ आये ।। ३५½ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा त्वरमाणो महारथः ।। ३६ ।।

अभिपत्य सुशर्माणं शरैरभ्याहनद् भृशम् ।

तत्पश्चात् महारथी राजा युधिष्ठिर भी बड़ी उतावलीके साथ सुशर्मापर धावा बोलकर उसे बाणोंद्वारा बारंबार बींधने लगे ।। ३६½ ।।

सुशर्मापि सुसंरब्धस्त्वरमाणो युधिष्ठिरम् ।। ३७ ।।

अविध्यन्नवभिर्बाणैश्चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।

तब सुशर्माने भी अत्यन्त कुपित हो बड़ी फुर्तीके साथ नौ बाणोंसे राजा युधिष्ठिरको और चार बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको बींध डाला ।। ३७½ ।।

ततो राजन्नाशुकारी कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।। ३८ ।।

समासाद्य सुशर्माणमश्वानस्य व्यपोथयत् ।

पृष्ठगोपांश्च तस्याथ हत्वा परमसायकैः ।। ३९ ।।

अथास्य सारथिं क्रुद्धो रथोपस्थादपातयत् ।

राजन्! फिर तो शीघ्रता करनेवाले कुन्तीपुत्र भीमने सुशर्माके पास पहुँचकर उत्तम बाणोंसे उसके घोड़ोंको मार डाला। साथ ही उसके पृष्ठरक्षकोंको भी मारकर कुपित हो उसके सारथिको भी रथसे नीचे गिरा दिया ।। ३८-३९½ ।।

चक्ररक्षश्च शूरो वै मदिराक्षोऽतिविश्रुतः ।। ४० ।।

समायाद् विरथं दृष्ट्वा त्रिगर्तं प्राहरत् तदा ।

सुशर्माको रथहीन हुआ देखकर राजा विराटके चक्ररक्षक सुप्रसिद्ध वीर मदिराक्ष भी वहाँ आ पहुँचे और त्रिगर्तनरेशपर बाणोंसे प्रहार करने लगे ।। ४०½ ।।

ततो विराटः प्रस्कन्द्य रथादथ सुशर्मणः ।। ४१ ।।

गदां तस्य परामृश्य तमेवाभ्यद्रवद् बली ।

स चचार गदापाणिर्वृद्धोऽपि तरुणो यथा ।। ४२ ।।

इसी बीचमें बलवान् राजा विराट सुशर्माके रथसे कूद पड़े और उसकी गदा लेकर उसीकी ओर दौड़े। उस समय हाथमें गदा लिये राजा विराट बूढ़े होनेपर भी तरुणके समान रणभूमिमें विचर रहे थे ।। ४१-४२ ।।

पलायमानं त्रैगर्तं दृष्ट्वा भीमोऽभ्याभाषत ।
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम् ।। ४३ ।।

इसी बीचमें मौका पाकर त्रिगर्तराज भागने लगा। उसे पलायन करते देख भीमसेन बोले—'राजकुमार! लौट आओ। तुम्हारा युद्धसे पीठ दिखाकर भागना उचित नहीं है ।। ४३ ।।

अनेन वीर्येण कथं गास्त्वं प्रार्थयसे बलात् ।
कथं चानुचरांस्त्यक्त्वा शत्रुमध्ये विषीदसि ।। ४४ ।।

'इसी पराक्रमके भरोसे तुम विराटकी गौओंको बलपूर्वक कैसे ले जाना चाहते थे? अपने सेवकोंको शत्रुओंके बीचमें छोड़कर क्यों भागते और विषाद करते हो?' ।। ४४ ।।

इत्युक्तः स तु पार्थेन सुशर्मा रथयूथपः ।
तिष्ठ तिष्ठेति भीमं स सहसाऽभ्यद्रवद् बली ।। ४५ ।।
भीमस्तु भीमसंकाशो रथात् प्रस्कन्द्य पाण्डवः ।

प्राद्रवत् तूर्णमव्यग्रो जीवितेप्सुः सुशर्मणः ।। ४६ ।।

भीमसेनके ऐसा कहनेपर रथियोंके यूथका अधिपति बलवान् सुशर्मा 'खड़ा रह, खड़ा रह', ऐसा कहते हुए सहसा भीमसेनपर टूट पड़ा। परंतु पाण्डुनन्दन भीम तो भीम-जैसे ही थे; वे तनिक भी व्यग्र नहीं हुए; अपितु रथसे कूदकर सुशर्माके प्राण लेनेके लिये बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े ।। ४५-४६ ।।

तं भीमसेनो धावन्तमभ्यधावत वीर्यवान् ।
त्रिगर्तराजमादातुं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ।। ४७ ।।

तब सुशर्मा फिर भाग चला और पराक्रमी भीमसेन त्रिगर्तराजको पकड़नेके लिये उसी प्रकार उसका पीछा करने लगे, जैसे सिंह छोटे मृगोंको पकड़नेके लिये जाता है ।। ४७ ।।

अभिद्रुत्य सुशर्माणं केशपक्षे परामृशत् ।
समुद्यम्य तु रोषात् तं निष्पिपेष महीतले ।। ४८ ।।

सुशर्माके पास पहुँचकर भीमने उसके केश पकड़ लिये और क्रोधपूर्वक उसे उठाकर पृथ्वीपर दे मारा। तत्पश्चात् उसे वहीं रगड़ने लगे ।। ४८ ।।

पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद् विलपिष्यतः ।
तस्य जानुं ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना ।
स मोहमगमद् राजा प्रहारवरपीडितः ।। ४९ ।।

इससे सुशर्मा विलाप करने लगा। उस समय भीमने उसके मस्तकपर लात मारी और उसके पेटको घुटनोंसे दबाकर ऐसा घूँसा मारा कि उसके भारी आघातसे पीड़ित होकर राजा सुशर्मा मूर्च्छित हो गया ।। ४९ ।।

तस्मिन् गृहीते विरथे त्रिगर्तानां महारथे ।
अभज्यत बलं सर्वं त्रैगर्तं तद् भयातुरम् ।। ५० ।।

त्रिगर्तोंका महारथी वीर सुशर्मा जब रथहीन होकर कैद कर लिया गया, तब वह सारी त्रिगर्तसेना भयसे व्याकुल हो तितर-बितर हो गयी ।। ५० ।।

निवर्त्य गास्ततः सर्वाः पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
अवजित्य सुशर्माणं धनं चादाय सर्वशः ।। ५१ ।।

तदनन्तर पाण्डुके महारथी पुत्र सुशर्माको परास्त करनेके पश्चात् सब गौओंको लौटाकर और लूटका सारा धन वापस लेकर चले ।। ५१ ।।

स्वबाहुबलसम्पन्ना ह्रीनिषेवा यतव्रताः ।
विराटस्य महात्मानः परिक्लेशविनाशनाः ।। ५२ ।।

वे सभी अपने बाहुबलसे सम्पन्न, लज्जाशील, संयमपूर्वक व्रतपालनमें तत्पर, महात्मा तथा विराटका सारा क्लेश दूर करनेवाले थे ।। ५२ ।।

स्थिताः समक्षं ते सर्वे त्वथ भीमोऽभ्यभाषत ।। ५३ ।।
नायं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति ।

किं तु शक्यं मया कर्तुं यद् राजा सततं घृणी ॥ ५४ ॥

जब वे सब राजाके सामने आकर खड़े हुए, तब भीमसेन बोले—'यह पापाचारी सुशर्मा मेरे हाथसे छूटकर जीवित रहनेयोग्य तो नहीं है; परंतु मैं कर ही क्या सकता हूँ? हमारे महाराज सदाके दयालु हैं' ॥ ५३-५४ ॥

गले गृहीत्वा राजानमानीय विवशं वशम् ।
तत एनं विचेष्टन्तं बद्ध्वा पार्थो वृकोदरः ॥ ५५ ॥
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुण्ठितम् ।

इसके बाद भीम राजा सुशर्माका गला पकड़कर ले आये। उस समय वह लाचार होकर उनके वशमें पड़ा था और छूटनेके लिये छटपटा रहा था। कुन्तीपुत्र भीमने सुशर्माको रस्सियोंसे बाँधकर रथपर रख दिया। उसके सारे अंग धूलमें सने थे और चेतना लुप्त-सी हो रही थी ॥ ५५½ ॥

अभ्येत्य रणमध्यस्थमभ्यगच्छद् युधिष्ठिरम् ॥ ५६ ॥
दर्शयामास भीमस्तु सुशर्माणं नराधिपम् ।

इसके बाद भीमने रणभूमिमें स्थित राजा युधिष्ठिरके पास जाकर उन्हें राजा सुशर्माको दिखलाया ॥ ५६½ ॥

प्रोवाच पुरुषव्याघ्रो भीममाहवशोभिनम् ।। ५७ ।।
तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतां वै नराधमः ।
एवमुक्तोऽब्रवीद् भीमः सुशर्माणं महाबलम् ।। ५८ ।।

भीम युद्धमें अत्यन्त सुशोभित होते थे। पुरुष-श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर सुशर्माको उस दशामें देखकर हँसे और भीमसेनसे बोले—‘इस नराधमको छोड़ दो।’ उनके ऐसा कहनेपर भीम महाबली सुशर्मासे बोले ।। ५७-५८ ।।

भीम उवाच

जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ।
दासोऽस्मीति त्वया वाच्यं संसत्सु च सभासु च ।। ५९ ।।

भीमसेनने कहा—मूर्ख! यदि तू जीवित रहना चाहता है, तो उसका उपाय बताता हूँ; मेरी बात सुन। तुझे संसदों और सभाओंमें जाकर सदा यही कहना होगा कि ‘मैं राजा विराटका दास हूँ’ ।। ५९ ।।

एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ।
तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः ।। ६० ।।

ऐसा स्वीकार हो तो तुझे जीवन-दान दूँगा। युद्धमें जीतनेवाले पुरुषोंका यही नियम है। तब बड़े भ्राता युधिष्ठिरने भीमसे प्रेमपूर्वक कहा ।। ६० ।।

युधिष्ठिर उवाच

मुञ्च मुञ्चाधमाचारं प्रमाणं यदि ते वयम् ।
दासभावं गतो ह्येष विराटस्य महीपतेः ।
अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः कदाचन ।। ६१ ।।

तब युधिष्ठिर बोले—भैया! यदि तुम मेरी बात मानते हो, तो इस पापाचारीको ‘छोड़ दो, छोड़ दो’। यह महाराज विराटका दास तो हो ही चुका है। (इसके बाद वे सुशर्मासे बोले—) ‘तुम दास नहीं रहे, जाओ, छोड़ दिये गये। फिर कभी ‘ऐसा काम न करना’ ।। ६१ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिणदिशाकी गौओंका अपहरण करते समय सुशर्माके निग्रहसे सम्बन्ध रखनेवाला तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ६३ श्लोक हैं।)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

राजा विराटद्वारा पाण्डवोंका सम्मान, युधिष्ठिरद्वारा राजाका अभिनन्दन तथा विराटनगरमें राजाकी विजयघोषणा

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु सव्रीडः सुशर्माऽऽसीदधोमुखः ।
स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य प्रतस्थिवान् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर सुशर्माने लज्जित होकर अपना मुँह नीचे कर लिया और बन्धनसे मुक्त हो राजा विराटके पास जा उन्हें प्रणाम करके अपने देशको प्रस्थान किया ।। १ ।।

विसृज्य तु सुशर्माणं पाण्डवास्ते हतद्विषः ।
स्वबाहुबलसम्पन्ना ह्रीनिषेवा यतव्रताः ।। २ ।।
संग्रामशिरसो मध्ये तां रात्रिं सुखिनोऽवसन् ।

इस प्रकार सुशर्माको मुक्त करके शत्रुओंका संहार करनेवाले, अपने बाहुबलसे सम्पन्न, लज्जाशील और संयमपूर्वक व्रतपालनमें तत्पर रहनेवाले वे पाण्डव उस युद्धके मुहानेपर ही रातभर सुखसे रहे ।। २½ ।।

ततो विराटः कौन्तेयानतिमानुषविक्रमान् ।
अर्चयामास वित्तेन मानेन च महारथान् ।। ३ ।।

तदनन्तर राजा विराटने अतिमानुष (मानवीय शक्तिसे परे) पराक्रम करनेवाले महारथी कुन्तीपुत्रोंका धन और मानदानद्वारा सत्कार किया ।। ३ ।।

विराट उवाच

यथैव मम रत्नानि युष्माकं तानि वै तथा ।
कार्यं कुरुत वै सर्वे यथाकामं यथासुखम् ।। ४ ।।
ददाम्यलंकृताः कन्या वसूनि विविधानि च ।
मनसश्चाप्यभिप्रेतं युद्धे शत्रुनिबर्हणाः ।। ५ ।।

विराटने कहा—युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेवाले वीरो! ये रत्न और धन जैसे मेरे हैं, वैसे ही तुमलोगोंके भी। तुम सब लोग यहाँ सुखपूर्वक रहो और जिस कार्यमें तुमलोगोंकी रुचि हो, वही करो। मैं तुम सबको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्याएँ, नाना प्रकारके रत्न, धन तथा और भी मनोवांछित पदार्थ देता हूँ ।। ४-५ ।।

युष्माकं विक्रमादद्य मुक्तोऽहं स्वस्तिमानिह ।

तस्माद् भवन्तो मत्स्यानामीश्वराः सर्व एव हि ।। ६ ।।

आज मैं तुमलोगोंके ही पराक्रमसे यहाँ शत्रुके पंजेसे कुशलपूर्वक छूटकर आया हूँ। अतः तुमलोग मत्स्यदेशके स्वामी ही हो ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथेतिवादिनं मत्स्यं कौरवेयाः पृथक् पृथक् ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे युधिष्ठिरपुरोगमाः ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार कहनेवाले मत्स्यराजसे युधिष्ठिर आदि सभी कुरुवंशी पृथक्-पृथक् हाथ जोड़कर बोले— ।। ७ ।।

प्रतिनन्दाम ते वाक्यं सर्वं चैव विशाम्पते ।
एतेनैव प्रतीताः स्म यत् त्वं मुक्तोऽद्य शत्रुभिः ।। ८ ।।

'महाराज! आपका कहना ठीक है। हम आपके सम्पूर्ण वचनोंका अभिनन्दन करते हैं, किंतु हमलोग इतनेसे ही संतुष्ट हैं कि आप आज शत्रुओंसे मुक्त हो गये' ।। ८ ।।

ततोऽब्रवीत् प्रीतमना मत्स्यराजो युधिष्ठिरम् ।
पुनरेव महाबाहुर्विराटो राजसत्तमः ।। ९ ।।
एहि त्वामभिषेक्ष्यामि मत्स्यराजस्तु नो भवान् ।। १० ।।

तब राजाओंमें श्रेष्ठ मत्स्यनरेश महाबाहु विराटने मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न होकर पुनः युधिष्ठिरसे कहा—'कंकजी! आइये, मैं आपका अभिषेक करूँगा। आप ही हमारे मत्स्यदेशके राजा बनें ।। ९-१० ।।

मनसश्चाप्यभिप्रेतं यथेष्टं भुवि दुर्लभम् ।
तत् तेऽहं सम्प्रदास्यामि सर्वमर्हति नो भवान् ।। ११ ।।

'इस पृथ्वीपर दुर्लभ जो और भी प्रिय तथा मनोवांछित पदार्थ होगा, वह भी मैं आपको दूँगा। आप तो हमारा सब कुछ पानेके अधिकारी हैं ।। ११ ।।

रत्नानि गाः सुवर्णं च मणिमुक्तमथापि च ।
वैयाघ्रपद्य विप्रेन्द्र सर्वथैव नमोऽस्तु ते ।। १२ ।।

'व्याघ्रपदगोत्रमें उत्पन्न विप्रवर! मेरे रत्न, गौएँ, सुवर्ण, मणि तथा मोती भी आपके अर्पण हैं। आपको हमारा सब प्रकारसे नमस्कार है ।। १२ ।।

त्वत्कृते ह्यद्य पश्यामि राज्यं संतानमेव च ।
यतश्च जातसंरम्भो न च शत्रुवशं गतः ।। १३ ।।

'आपके कारण ही आज मैं अपने राज्य और संतानका मुख देख पाऊँगा; क्योंकि पकड़े जानेपर मैं भयभीत हो गया था, किंतु आपके पराक्रमसे शत्रुके अधीन नहीं रहा' ।। १३ ।।

ततो युधिष्ठिरो मत्स्यं पुनरेवाभ्यभाषत ।

प्रतिनन्दामि ते वाक्यं मनोज्ञं मत्स्य भाषसे ।। १४ ।।

आनृशंस्यपरो नित्यं सुसुखी सततं भव ।

यह सुनकर राजा युधिष्ठिरने मत्स्यराजसे पुनः कहा—'राजन्! आप बड़ी मनोहर बात कह रहे हैं। मैं आपके इस वचनका अभिनन्दन करता हूँ आप निरन्तर दयाभाव रखते हुए सर्वदा परम सुखी हों ।। १४½ ।।

(वैशम्पायन उवाच

पुनरेव विराटश्च राजा कङ्कमभाषत ।

अहो सूदस्य कर्माणि बल्लवस्य द्विजोत्तम ।

सोऽहं सूदेन संग्रामे बल्लवेनाभिरक्षितः ।।

त्वत्कृते सर्वमेवैतदुपपन्नं ममानघ ।

वरं वृणीष्व भद्रं ते ब्रूहि किं करवाणि ते ।।

ददामि ते महाप्रीत्या रत्नान्युच्चावचानि च ।

शयनासनयानानि कन्याश्च समलंकृताः ।।

हस्त्यश्वरथसङ्घाश्च राष्ट्राणि विविधानि च ।

एतानि च मम प्रीत्या प्रतिगृह्णीष्व सुव्रत ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कंकनामधारी युधिष्ठिरके यों कहनेपर राजा विराट पुनः उनसे इस प्रकार बोले—'द्विजश्रेष्ठ! बल्लव नामक रसोइयेका कर्म भी अद्भुत है। इस युद्धमें बल्लवने ही मेरी रक्षा की है। निष्पाप विप्रवर! आपके ही करनेसे यह सब कुछ सम्भव हुआ है। आपका कल्याण हो। आप मुझसे वर माँगिये और बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ आपको नाना प्रकारके उत्तमोत्तम रत्न, शय्या, आसन, वाहन, वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सुन्दरी कन्याएँ, हाथी, घोड़े और रथोंके समूह तथा भाँति-भाँतिके जनपद भेंट करता हूँ। सुव्रत! आप मेरी प्रसन्नताके लिये इन सब वस्तुओंको ग्रहण करें।

तं तथावादिनं तत्र कौरव्यः प्रत्यभाषत ।

एकैव तु मम प्रीतिर्यत् त्वं मुक्तोऽसि शत्रुभिः ।

प्रतीतश्च पुरं तुष्टः प्रवेक्ष्यसि तदानघ ।।

दारैः पुत्रैश्च संश्लिष्य सा हि प्रीतिर्ममातुला ।)

तब वहाँ ऐसी बातें कहनेवाले राजा विराटको कुरुकुलनन्दन युधिष्ठिरने इस प्रकार उत्तर दिया—'महाराज! आप शत्रुओंके हाथसे छूट गये, यही मेरे लिये बड़ी प्रसन्नताकी बात है। अनघ! आप निर्भय होकर संतोषपूर्वक अपने नगरमें प्रवेश करेंगे और अपने स्त्री-पुत्रोंसे मिलकर सुखी होंगे; यही मेरे लिये अनुपम प्रसन्नताकी बात होगी।

गच्छन्तु दूतास्त्वरितं नगरं तव पार्थिव ।। १५ ।।

सुहृदां प्रियमाख्यातुं घोषयन्तु च ते जयम् ।
ततस्तद्वचनान्मत्स्यो दूतान् राजा समादिशत् ।। १६ ।।

'महाराज! अब आपके नगरमें सुहृदोंसे यह प्रिय समाचार बतानेके लिये तुरंत ही दूतोंको जाना चाहिये। वे दूत वहाँ आपकी विजय घोषित करें।' तब उनके कथनानुसार राजा विराटने दूतोंको आदेश दिया— ।। १५-१६ ।।

आचक्षध्वं पुरं गत्वा संग्रामविजयं मम ।
कुमार्यः समलंकृत्य पर्यागच्छन्तु मे पुरात् ।। १७ ।।

'दूतो! तुमलोग नगरमें जाकर सूचना दो कि युद्धमें मेरी विजय हुई है। कुमारी कन्याएँ शृंगार करके स्वागतके लिये नगरसे बाहर आ जायँ ।। १७ ।।

वादित्राणि च सर्वाणि गणिकाश्च स्वलंकृताः ।
एतां चाज्ञां ततः श्रुत्वा राज्ञा मत्स्येन नोदिताः ।
तामाज्ञां शिरसा कृत्वा प्रस्थिता हृष्टमानसाः ।। १८ ।।

'सब प्रकारके बाजे बजाये जायँ और वेश्याएँ भी सज-धजकर तैयार रहें।' मत्स्यराजकी इस आज्ञाको सुनकर उसे शिरोधार्य करके दूत प्रसन्नचित्त होकर चले ।। १८ ।।

ते गत्वा तत्र तां रात्रिमथ सूर्योदयं प्रति ।
विराटस्य पुराभ्याशे दूता जयमघोषयन् ।। १९ ।।

रातमें ही वहाँसे प्रस्थान करके सूर्योदय होते-होते दूत विराटकी राजधानीमें जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने सब ओर मत्स्यराजकी विजय घोषित कर दी ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दक्षिणगोग्रहे विराटजयघोषे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दक्षिण दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें विराटके जयघोषसम्बन्धी चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं।)

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

कौरवोंद्वारा उत्तर दिशाकी ओरसे आकर विराटकी गौओंका अपहरण और गोपाध्यक्षका उत्तरकुमारको युद्धके लिये उत्साह दिलाना

वैशम्पायन उवाच

याते त्रिगर्तान् मत्स्ये तु पशूंस्तान् वै परीप्सति ।
दुर्योधनः सहामात्यो विराटमुपयादथ ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जिस समय अपने पशुओंको छुड़ा लानेकी इच्छासे राजा विराट त्रिगर्तोंसे युद्ध करनेके लिये गये, उसी समय दुर्योधनने अपने मन्त्रियोंके साथ विराटदेशपर चढ़ाई की ।। १ ।।

भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च कृपश्च परमास्त्रवित् ।
द्रौणिश्च सौबलश्चैव तथा दुःशासनः प्रभो ।। २ ।।
विविंशतिर्विकर्णश्च चित्रसेनश्च वीर्यवान् ।
दुर्मुखो दुःशलश्चैव ये चैवान्ये महारथाः ।। ३ ।।

राजन्! भीष्म, द्रोण, कर्ण, अस्त्रविद्याके श्रेष्ठ विद्वान् कृपाचार्य, अश्वत्थामा, शकुनि, दुःशासन, विविंशति, विकर्ण, पराक्रमी चित्रसेन, दुर्मुख, दुःशल तथा अन्य महारथी भी दुर्योधनके साथ थे ।। २-३ ।।

एते मत्स्यानुपागम्य विराटस्य महीपतेः ।
घोषान् विद्राव्य तरसा गोधनं जह्रुरोजसा ।। ४ ।।

इन सबने राजा विराटके मत्स्यदेशमें आकर उनके गोष्ठोंमें भगदड़ मचा दी और बड़े वेगसे बलपूर्वक गोधनका अपहरण करना आरम्भ किया ।। ४ ।।

षष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयन्ति च ।
महता रथवंशेन परिवार्य समन्ततः ।। ५ ।।

वे कौरव वीर राजा विराटकी साठ हजार गौओंको विशाल रथसमूहोंद्वारा चारों ओरसे घेरकर हाँक ले चले ।। ५ ।।

गोपालानां तु घोषस्य हन्यतां तैर्महारथैः ।
आरावः सुमहानासीत् सम्प्रहारे भयंकरे ।। ६ ।।

उस समय वहाँ भयंकर मारपीट हुई। उन महारथियोंद्वारा मारे जाते हुए गोष्ठके ग्वालोंका जोर-जोरसे होनेवाला आर्तनाद बहुत दूरतक सुनायी देता था ।। ६ ।।

गोपाध्यक्षो भयत्रस्तो रथमास्थाय सत्वरः ।

जगाम नगरायैव परिक्रोशंस्तदाऽऽर्तवत् ।। ७ ।।

तब उन गौओंका रक्षक भयभीत हो तुरंत ही रथपर बैठकर आर्तकी भाँति विलाप करता हुआ राजधानीकी ओर चल दिया ।। ७ ।।

स प्रविश्य पुरं राज्ञो नृपवेश्माभ्ययात् ततः ।
अवतीर्य रथात् तूर्णमाख्यातुं प्रविवेश ह ।। ८ ।।

राजा विराटके नगरमें पहुँचकर वह राजभवनके समीप गया और रथसे उतरकर तुरंत यह समाचार सूचित करनेके लिये महलके भीतर चला गया ।। ८ ।।

दृष्ट्वा भूमिंजयं नाम पुत्रं मत्स्यस्य मानिनम् ।
तस्मै तत् सर्वमाचष्ट राष्ट्रस्य पशुकर्षणम् ।। ९ ।।
षष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयन्ति ते ।
तद् विजेतुं समुत्तिष्ठ गोधनं राष्ट्रमवर्धन ।। १० ।।

वहाँ मत्स्यराजके मानी पुत्र भूमिंजय (उत्तर) से मिलकर उस गोपने उनसे राज्यके पशुओंके अपहरणका सब समाचार बताते हुए कहा—‘राजकुमार! आप इस राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाले हैं। आज कौरव आपकी साठ हजार गौओंको हाँक ले जा रहे हैं। उनके हाथसे उस गोधनको जीत लानेके लिये उठ खड़े होइये ।। ९-१० ।।

राजपुत्र हितप्रेप्सुः क्षिप्रं निर्याहि च स्वयम् ।
त्वां हि मत्स्यो महीपालः शून्यपालमिहाकरोत् ।। ११ ।।

‘राजपुत्र! आप इस राज्यके हितैषी हैं, अतः स्वयं ही युद्धके लिये तैयार होकर निकलिये। मत्स्यनरेशने अपनी अनुपस्थितिमें आपको ही यहाँका रक्षक नियुक्त किया है ।। ११ ।।

त्वया परिषदो मध्ये श्लाघते स नराधिपः ।
पुत्रो ममानुरूपश्च शूरश्चेति कुलोद्वहः ।। १२ ।।

'वे सभामें आपसे प्रभावित होकर आपकी प्रशंसामें बड़ी-बड़ी बातें किया करते हैं। उनका कहना है—'मेरा यह पुत्र उत्तर मेरे अनुरूप शूरवीर और इस वंशका भार वहन करनेमें समर्थ है ।। १२ ।।

इष्वस्त्रे निपुणो योधः सदा वीरश्च मे सुतः ।
तस्य तत् सत्यमेवास्तु मनुष्येन्द्रस्य भाषितम् ।। १३ ।।

'मेरा वह लाड़ला बेटा बाण चलाने तथा अन्यान्य अस्त्रोंके प्रयोगकी कलामें भी निपुण, सदा युद्धके लिये उद्यत रहनेवाला और वीर है।' उन महाराजका यह कथन आज सत्य सिद्ध होना चाहिये ।। १३ ।।

आवर्तय कुरून् जित्वा पशून् पशुमतां वर ।
निर्दहैषामनीकानि भीमेन शरतेजसा ।। १४ ।।

'पशुसम्पत्तिवाले समस्त राजाओंमें आप श्रेष्ठ हैं; अतः कौरवोंको परास्त करके अपने पशुओंको लौटा लाइये और बाणोंकी भयंकर अग्निसे इन कौरवोंकी सारी सेनाओंको भस्म कर डालिये ।। १४ ।।

धनुश्च्युतै रुक्मपुङ्खैः शरैः संनतपर्वभिः ।
द्विषतां भिन्ध्यनीकानि गजानामिव यूथपः ।। १५ ।।

‘जैसे हाथियोंके झुंडका स्वामी गजराज अपने विरोधियोंको रौंद डालता है, उसी प्रकार आप अपने धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय पंखसे सुशोभित और झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंद्वारा विपक्षियोंकी विपुल वाहिनीको छिन्न-भिन्न कर डालिये ।। १५ ।।

पाशोपधानां ज्यातन्त्रीं चापदण्डां महास्वनाम् ।
शरवर्णां धनुर्वीणां शत्रुमध्ये प्रवादय ।। १६ ।।

‘आज शत्रुओंके बीचमें जोर-जोरसे गूँजनेवाली धनुषरूपी वीणा बजाइये। पाश (प्रत्यंचा बाँधनेके दोनों सिरे) उसके उपधान (खूँटियाँ) हैं, प्रत्यंचा तार हैं, धनुष उसका दण्ड है और बाण ही उससे झंकृत होनेवाले वर्ण (स्वर) हैं ।। १६ ।।

श्वेता रजतसंकाशा रथे युज्यन्तु ते हयाः ।
ध्वजं च सिंहं सौवर्णमुच्छ्रयन्तु तव प्रभो ।। १७ ।।

‘प्रभो अब चाँदीके समान चमकनेवाले वे श्वेत रंगके घोड़े आपके रथमें जोते जायँ और सिंहके चिह्नसे सुशोभित सुवर्णमय ऊँचा ध्वज फहरा दिया जाय ।। १७ ।।

रुक्मपुङ्खाः प्रसन्नाग्रा मुक्ता हस्तवता त्वया ।
छादयन्तु शराः सूर्यं राज्ञां मार्गनिरोधकाः ।। १८ ।।

‘वीरवर! आपके हाथ बहुत मजबूत हैं। उनके द्वारा आपके चलाये हुए सोनेकी पाँख और स्वच्छ नोकवाले बाण शत्रुपक्षके राजाओंकी राह रोककर सूर्यदेवको भी ढक दें ।। १८ ।।

रणे जित्वा कुरून् सर्वान् वज्रपाणिरिवासुरान् ।
यशो महदवाप्य त्वं प्रविशेदं पुरं पुनः ।। १९ ।।

‘जैसे वज्रपाणि इन्द्र समस्त असुरोंको परास्त कर देते हैं, उसी प्रकार आप युद्धमें सम्पूर्ण कौरवोंको जीतकर महान् यश प्राप्त करके पुनः इस नगरमें प्रवेश करें ।।

त्वं हि राष्ट्रस्य परमा गतिर्मत्स्यपतेः सुतः ।
यथा हि पाण्डुपुत्राणामर्जुनो जयतां वरः ।। २० ।।
एवमेव गतिर्नूनं भवान् विषयवासिनाम् ।
गतिमन्तो वयं त्वद्य सर्वे विषयवासिनः ।। २१ ।।

‘मत्स्यराजके सुयोग्य पुत्र होनेके कारण आप ही इस राष्ट्रके महान् आश्रय हैं। जैसे विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन पाण्डवोंके उत्तम आश्रय हैं, उसी प्रकार आप भी निश्चय ही इस राज्यके निवासियोंकी परम गति हैं। हम सभी मत्स्यदेशवासी आज आपको पाकर ही गतिमान् (सनाथ) हैं’ ।। २०-२१ ।।

वैशम्पायन उवाच

स्त्रीमध्य उक्तस्तेनासौ तद् वाक्यमभयंकरम् ।
अन्तःपुरे श्लाघमान इदं वचनमब्रवीत् ।। २२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उस समय राजकुमार उत्तर अन्तःपुरमें स्त्रियोंके बीचमें बैठा था। वहीं उस गोपाध्यक्षने उससे ये निर्भय बनानेवाली उत्साहजनक बातें कहीं। अतः वह अपनी प्रशंसा करता हुआ इस प्रकार कहने लगा ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे गोपवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ।। ३५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी गौओंके अपहरणके प्रसंगमें गोपवचनविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३५ ।।

षट्त्रिंशोऽध्यायः

उत्तरका अपने लिये सारथि ढूँढ़नेका प्रस्ताव, अर्जुनकी सम्मतिसे द्रौपदीका बृहन्नलाको सारथि बनानेके लिये सुझाव देना

उत्तर उवाच

अद्याहमनुगच्छेयं दृढधन्वा गवां पदम् ।
यदि मे सारथिः कश्चिद् भवेदश्वेषु कोविदः ।। १ ।।

उत्तर बोला—गोपप्रवर! मेरा धनुष तो बहुत मजबूत है। यदि मेरे पास घोड़े हाँकनेकी कलामें कुशल कोई सारथि होता, तो आज मैं अवश्य ही उन गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करता ।। १ ।।

तं त्वहं नागवच्छामि यो मे यन्ता भवेन्नरः ।
पश्यध्वं सारथिं क्षिप्रं मम युक्तं प्रयास्यतः ।। २ ।।

इस समय मुझे ऐसे किसी मनुष्यका पता नहीं है, जो मेरा सारथि बन सके। मैं युद्धके लिये प्रस्थान करूँगा, अतः शीघ्र मेरे लिये किसी योग्य सारथिकी तलाश करो ।।

अष्टाविंशतिरात्रं वा मासं वा नूनमन्ततः ।
यत् तदासीन्महद् युद्धं तत्र मे सारथिर्हतः ।। ३ ।।

पहले लगातार अट्ठाईस राततक अथवा अन्ततः एक मासतक जो वह महायुद्ध हुआ था, उसमें मेरा सारथि मारा गया था ।। ३ ।।

स लभेयं यदा त्वन्यं हययानविदं नरम् ।
त्वरावानद्य यात्वाहं समुच्छ्रितमहाध्वजम् ।। ४ ।।
विगाह्य तत् परानीकं गजवाजिरथाकुलम् ।
शस्त्रप्रतापनिर्वीर्यान् कुरून् जित्वाऽऽनये पशून् ।। ५ ।।

अतः यदि घोड़े हाँकनेकी कला जाननेवाले किसी दूसरे मनुष्यको भी पा जाऊँ, तो अभी बड़े वेगसे जाकर ऊँची-ऊँची विशाल ध्वजाओंसे विभूषित एवं हाथी, घोड़े तथा रथोंसे भरी हुई शत्रुओंकी सेनामें घुस जाऊँ और अपने आयुधोंके प्रतापसे कौरवोंको निर्वीर्य (पराक्रमशून्य) तथा परास्त करके सम्पूर्ण पशुओंको लौटा लाऊँ ।। ४-५ ।।

दुर्योधनं शान्तनवं कर्णं वैकर्तनं कृपम् ।
द्रोणं च सह पुत्रेण महेष्वासान् समागतान् ।। ६ ।।
वित्रासयित्वा संग्रामे दानवानिव वज्रभृत् ।
अनेनैव मुहूर्तेन पुनः प्रत्यानये पशून् ।। ७ ।।

जैसे वज्रधारी इन्द्र दानवोंको भयभीत कर देते हैं, उसी प्रकार मैं दुर्योधन, शान्तनुनन्दन भीष्म, सूर्यपुत्र कर्ण, कृपाचार्य तथा पुत्र (अश्वत्थामा) सहित द्रोणाचार्य आदि महान् धनुर्धरोंको, जो यहाँ आये हैं, युद्धमें अत्यन्त भय पहुँचाकर इसी मुहूर्तमें अपने पशुओंको वापस ला सकता हूँ ।। ६-७ ।।

शून्यमासाद्य कुरवः प्रयान्त्यादाय गोधनम् ।
किं नु शक्यं मया कर्तुं यदहं तत्र नाभवम् ।। ८ ।।

गोष्ठको सूना पाकर कौरवलोग मेरा गोधन लिये जा रहे हैं। परंतु अब मैं यहाँसे क्या कर सकता हूँ? जबकि वहाँ उस समय मैं मौजूद नहीं था ।। ८ ।।

पश्येयुरद्य मे वीर्यं कुरवस्ते समागताः ।
किं नु पार्थोऽर्जुनः साक्षादयमस्मान् प्रबाधते ।। ९ ।।

अच्छा, जब कौरवलोग यहाँ आ ही गये हैं, तब आज मेरा पराक्रम देख लें। फिर तो वे कहेंगे—'क्या यह साक्षात् कुन्तीपुत्र अर्जुन ही हमें पीड़ा दे रहा है?' ।। ९ ।।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तदर्जुनो वाक्यं राज्ञः पुत्रस्य भाषतः ।
अतीतसमये काले प्रियां भार्यामनिन्दिताम् ।। १० ।।
द्रुपदस्य सुतां तन्वीं पाञ्चालीं पावकात्मजाम् ।
सत्यार्जवगुणोपेतां भर्तुः प्रियहिते रताम् ।। ११ ।।
उवाच रहसि प्रीतः कृष्णां सर्वार्थकोविदः ।
उत्तरं ब्रूहि कल्याणि क्षिप्रं मद्वचनादिदम् ।। १२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार बोलते हुए राजकुमार उत्तरकी वह बात सुनकर सब बातोंमें कुशल अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए। उस समयतक उनके अज्ञातवासकी अवधि पूरी हो गयी थी। अतः उन्होंने अपनी सतीसाध्वी प्यारी पत्नी पांचाल-राजकुमारी द्रौपदीको, जिसका अग्निसे प्रादुर्भाव हुआ था और जो तन्वंगी, सत्य-सरलता आदि सद्‌गुणोंसे विभूषित तथा पतिके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहनेवाली थी, एकान्तमें बुलाकर कहा—'कल्याणि! तुम मेरी बात मानकर राजकुमार उत्तरसे शीघ्र इस प्रकार कहो — ।। १०—१२ ।।

अयं वै पाण्डवस्यासीत् सारथिः सम्मतो दृढः ।
महायुद्धेषु संसिद्धः स ते यन्ता भविष्यति ।। १३ ।।

'यह बृहन्नला पाण्डुनन्दन अर्जुनका सुदृढ़ एवं प्रिय सारथि रह चुका है। उसने बड़े-बड़े युद्धोंमें सफलता प्राप्त की है। वह तुम्हारा सारथि हो जायगा' ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं स्त्रीषु भाषतश्च पुनः पुनः ।

न सामर्षत पाञ्चाली बीभत्सोः परिकीर्तनम् ।। १४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उत्तर स्त्रियोंके बीचमें बैठा था और बार-बार अपनी तुलनामें अर्जुनका नाम ले-लेकर डींग मार रहा था। पांचालराजकुमारी द्रौपदीसे यह सहन न हो सका ।। १४ ।।

अथैनमुपसंगम्य स्त्रीमध्यात् सा तपस्विनी ।
व्रीडमानेव शनकैरिदं वचनमब्रवीत् ।। १५ ।।

वह तपस्विनी स्त्रियोंके बीचसे उठकर उत्तरके समीप आयी और लजाती हुई-सी धीरे-धीरे इस प्रकार बोली— ।। १५ ।।

योऽसौ बृहद्वारणाभो युवा सुप्रियदर्शनः ।
बृहन्नलेति विख्यातः पार्थस्यासीत् स सारथिः ।। १६ ।।

'राजकुमार! यह जो विशाल गजराजके समान हृष्ट-पुष्ट, तरुण, सुन्दर और देखनेमें अत्यन्त प्रिय 'बृहन्नला' नामसे विख्यात नर्तक है, पहले कुन्तीपुत्र अर्जुनका सारथि था ।। १६ ।।

धनुष्यनवरश्चासीत् तस्य शिष्यो महात्मनः ।
दृष्टपूर्वो मया वीर चरन्त्या पाण्डवान् प्रति ।। १७ ।।

'वीर! यह उन्हीं महात्माका शिष्य है, अतः धनुर्विद्यामें भी उनसे कम नहीं है। पहले पाण्डवोंके यहाँ रहते समय मैंने इसे देखा है ।। १७ ।।

यदा तत् पावको दावमदहत् खाण्डवं महत् ।
अर्जुनस्य तदानेन संगृहीता हयोत्तमाः ।। १८ ।।

'जिन दिनों अर्जुनकी सहायतासे अग्निदेवने दावानलरूप हो महान् खाण्डववनको जलाया था, उस समय इसीने अर्जुनके श्रेष्ठ घोड़ोंकी बागडोर सँभाली थी ।। १८ ।।

तेन सारथिना पार्थः सर्वभूतानि सर्वशः ।
अजयत् खाण्डवप्रस्थे न हि यन्तास्ति तादृशः ।। १९ ।।

'इसी सारथिके सहयोगसे कुन्तीपुत्र अर्जुनने खाण्डवप्रस्थमें सम्पूर्ण प्राणियोंपर विजय पायी थी; अतः इसके समान दूसरा कोई सारथि नहीं है ।। १९ ।।

उत्तर उवाच

सैरन्ध्रि जानासि तथा युवानं
नपुंसको नैव भवेद् यथासौ ।
अहं न शक्नोमि बृहन्नलां शुभे
वक्तुं स्वयं यच्छ हयान् ममेति वै ।। २० ।।

उत्तरने कहा—सैरन्ध्री! वह युवक ऐसे गुणोंसे विभूषित है कि वह नपुंसक नहीं हो सकता; इन बातोंको तुम अच्छी तरह जानती हो; [अतः तुम उससे कह दो, तो ठीक है।]

शुभे! मैं स्वयं बृहन्नलासे नहीं कह सकता कि तुम मेरे घोड़ोंकी रास सँभालो ।। २० ।।

द्रौपद्युवाच

येयं कुमारी सुश्रोणी भगिनी ते यवीयसी ।
अस्याः स वीर वचनं करिष्यति न संशयः ।। २१ ।।

द्रौपदीने कहा—वीर! यह जो सुन्दर कटिप्रदेशवाली तुम्हारी छोटी बहिन कुमारी उत्तरा है। इसकी बात वह अवश्य मान लेगा, इसमें संशय नहीं है ।। २१ ।।

यदि वै सारथिः स स्यात् कुरून् सर्वान् न संशयः ।
जित्वा गाश्च समादाय ध्रुवमागमनं भवेत् ।। २२ ।।

यदि वह सारथि हो जाय, तो निःसंदेह सम्पूर्ण कौरवोंको जीतकर और गौओंको भी वापस लेकर तुम्हारा इस नगरमें आगमन हो सकता है, यह ध्रुव सत्य है ।। २२ ।।

एवमुक्तः स सैरन्ध्र्या भगिनीं प्रत्यभाषत ।
गच्छ त्वमनवद्याङ्गि तामानय बृहन्नलाम् ।। २३ ।।

सैरन्ध्रीके ऐसा कहनेपर उत्तर अपनी बहिनसे बोला—‘निर्दोष अंगोंवाली उत्तरे! जाओ, उस बृहन्नलाको बुला ले आओ’ ।। २३ ।।

सा भ्रात्रा प्रेषिता शीघ्रमगच्छन्नर्तनागृहम् ।
यत्रास्ते स महाबाहुश्छन्नः सत्रेण पाण्डवः ।। २४ ।।

भाईके भेजनेपर कुमारी उत्तरा शीघ्र नृत्यशालामें गयी, जहाँ पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुन कपटवेषमें छिपकर रहते थे ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे बृहन्नलासारथ्यकथने षट्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें बृहन्नलाका सारथ्यकथनसम्बन्धी छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३६ ।।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

बृहन्नलाको सारथि बनाकर राजकुमार उत्तरका रणभूमिकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

सा प्राद्रवत् काञ्चनमाल्यधारिणी
ज्येष्ठेन भ्रात्रा प्रहिता यशस्विनी ।
सुदक्षिणा वेदिविलग्नमध्या
सा पद्मपत्राभनिभा शिखण्डिनी ।। १ ।।
तन्वी शुभाङ्गी मणिचित्रमेखला
मत्स्यस्य राज्ञो दुहिता श्रिया वृता ।
तन्नर्तनागारमरालपक्ष्मा
शतह्रदा मेघमिवान्वपद्यत ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुमारी उत्तरा सोनेकी माला और मोरपंखका शृंगार धारण किये हुए थी। उसकी अंगकान्ति कमलदलकी-सी आभावाली लक्ष्मीको भी लज्जित कर रही थी। उसकी कमर यज्ञकी वेदीके समान सूक्ष्म थी। शरीरसे भी वह पतली ही थी। उसके सभी अंग शुभ लक्षणोंसे युक्त थे। उसने कटिप्रदेशमें मणियोंकी बनी हुई विचित्र करधनी पहन रखी थी। मत्स्यराजकी वह यशस्विनी कन्या अनुपम शोभासे प्रकाशित हो रही थी। बड़ोंकी आज्ञा माननेवाली कुमारी उत्तरा बड़े भाईके भेजनेसे बड़ी उतावलीके साथ नृत्यशालामें गयी; मानो चपला मेघ-मालामें विलीन हो गयी हो। उसके नेत्रोंकी टेढ़ी-टेढ़ी बरौनियाँ बड़ी भली मालूम होती थीं ।। १-२ ।।

सा हस्तिहस्तोपमसंहितोरूः
स्वनिन्दिता चारुदती सुमध्यमा ।
आसाद्य तं वै वरमाल्यधारिणी
पार्थं शुभा नागवधूरिव द्विपम् ।। ३ ।।

उसकी परस्पर सटी हुई जाँघें हाथीकी सूँड़के समान सुशोभित होती थीं, दाँत चमकीले और मनोहर थे। शरीरका मध्यभाग बड़ा सुहावना था। वह अनिन्द्य-सुन्दरी सुन्दर हार धारण किये उन कुन्तीनन्दन अर्जुनके पास पहुँचकर गजराजके समीप गयी हुई हथिनीके समान शोभा पा रही थी ।। ३ ।।

सा रत्नभूता मनसः प्रियार्चिता
सुता विराटस्य यथेन्द्रलक्ष्मीः ।

सुदर्शनीया प्रमुखे यशस्विनी
प्रीत्याब्रवीदर्जुनमायतेक्षणा ।। ४ ।।

विराटकुमारी उत्तरा स्त्रियोंमें रत्नस्वरूपा और मनको प्रिय लगनेवाली थी। वह उस राजभवनमें इन्द्रकी साम्राज्यलक्ष्मीके समान सम्मानित थी। उसके नेत्र बड़े-बड़े थे। वह यशस्विनी बाला सामनेसे देखने ही योग्य थी। वह अर्जुनसे प्रेमपूर्वक बोली— ।। ४ ।।

सुसंहतोरुं कनकोज्ज्वलत्वचं
पार्थः कुमारीं स तदाभ्यभाषत ।
किमागमः काञ्चनमाल्यधारिणि
मृगाक्षि किं त्वं त्वरितेव भामिनि ।।
किं ते मुखं सुन्दरि न प्रसन्न-
माचक्ष्व तत्त्वं मम शीघ्रमङ्गने ।। ५ ।।

सुवर्णके समान सुन्दर एवं गौर त्वचा तथा सटी जाँघोंवाली कुमारी उत्तराको देखकर अर्जुनने पूछा—‘सुवर्णकी माला धारण करनेवाली मृगलोचने! भामिनि! तुम क्यों उतावली-सी चली आ रही हो? सुन्दरि! आज तुम्हारा मुख प्रसन्न क्यों नहीं है? अंगने! मुझे शीघ्र सब बातें ठीक-ठीक बताओ’ ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

स तां दृष्ट्वा विशालाक्षीं राजपुत्रीं सखीं तथा ।
प्रहसन्नब्रवीद् राजन् किमागमनमित्युत ।। ६ ।।
तमब्रवीद् राजपुत्री समुपेत्य नरर्षभम् ।
प्रणयं भावयन्ती सा सखीमध्य इदं वचः ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विशाल नेत्रोंवाली अपनी सखी राजकुमारी उत्तराकी ओर देखकर अर्जुनने हँसते हुए जब उससे अपने पास आनेका कारण पूछा, तब वह राजपुत्री नरश्रेष्ठ अर्जुनके समीप जा अपना प्रेम प्रकट करती हुई सखियोंके बीचमें इस प्रकार बोली— ।। ६-७ ।।

गावो राष्ट्रस्य कुरुभिः काल्यन्ते नो बृहन्नले ।
ता विजेतुं मम भ्राता प्रयास्यति धनुर्धरः ।। ८ ।।

'बृहन्नले! हमारे राष्ट्रकी गौओंको कौरव हाँककर लिये जाते हैं; अतः उन्हें जीतनेके लिये मेरे भैया धनुष धारण करके जानेवाले हैं ।। ८ ।।

नाचिरं निहतस्तस्य संग्रामे रथसारथिः ।
तेन नास्ति समः सूतो योऽस्य सारथ्यमाचरेत् ।। ९ ।।

'थोड़े ही दिन हुए, उनके रथका सारथि एक युद्धमें मारा गया। इस कारण कोई ऐसा योग्य सूत नहीं है, जो उनके सारथिका काम सँभाल सके ।। ९ ।।

तस्मै प्रयतमानाय सारथ्यर्थं बृहन्नले ।
आचचक्षे हयज्ञाने सैरन्ध्री कौशलं तव ।। १० ।।

'बृहन्नले! वे सारथि ढूँढ़नेका प्रयत्न कर रहे थे, इतनेमें ही सैरन्ध्रीने पहुँचकर यह बताया कि तुम अश्वविद्यामें कुशल हो ।। १० ।।

अर्जुनस्य किलासीस्त्वं सारथिर्दयितः पुरा ।
त्वयाजयत् सहायेन पृथिवीं पाण्डवर्षभः ।। ११ ।।

'पहले तुम अर्जुनका प्रिय सारथि रह चुकी हो। तुम्हारी सहायतासे उन पाण्डवशिरोमणिने समूची पृथ्वीपर विजय पायी है ।। ११ ।।

सा सारथ्यं मम भ्रातुः कुरु साधु बृहन्नले ।
पुरा दूरतरं गावो ह्रियन्त कुरुभिर्हि नः ।। १२ ।।

'अतः बृहन्नले! इसके पहले कि कौरवलोग हमारी गौओंको बहुत दूर लेकर चले जायँ, तुम मेरे भाईके सारथिका कार्य अच्छी तरह कर दो ।। १२ ।।

अथैतद् वचनं मेऽद्य नियुक्ता न करिष्यसि ।
प्रणयादुच्यमाना त्वं परित्यक्ष्यामि जीवितम् ।। १३ ।।

'सखी! मैं बड़े प्रेमसे यह बात कहती हूँ। यदि आज इतना अनुरोध करनेपर भी तुम मेरी बात नहीं मानोगी, तो मैं प्राण त्याग दूँगी' ।। १३ ।।

एवमुक्तस्तु सुश्रोण्या तया सख्या परंतपः ।
जगाम राजपुत्रस्य सकाशममितौजसः ।। १४ ।।
तमाव्रजन्तं त्वरितं प्रभिन्नमिव कुञ्जरम् ।
अन्वगच्छद् विशालाक्षी गजं गजवधूरिव ।। १५ ।।

सुन्दर कटिप्रदेशवाली सखी उत्तराके ऐसा कहनेपर शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुन अमितपराक्रमी राजकुमार उत्तरके समीप गये। मद टपकानेवाले गजराजकी भाँति शीघ्रतापूर्वक आते हुए अर्जुनके पीछे-पीछे विशाल नेत्रोंवाली उत्तरा भी आयी; ठीक उसी तरह, जैसे हथिनी हाथीके पीछे-पीछे जाती है ।। १४-१५ ।।

दूरादेव तु तां प्रेक्ष्य राजपुत्रोऽभ्यभाषत ।
त्वया सारथिना पार्थः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ।। १६ ।।
पृथिवीमजयत् कृत्स्नां कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
सैरन्ध्री त्वां समाचष्टे सा हि जानाति पाण्डवान् ।। १७ ।।

राजकुमार उत्तरने बृहन्नलाको दूरसे ही देखकर इस प्रकार कहा—'बृहन्नले! अर्जुनने तुम्हें सारथि बनाकर खाण्डववनमें अग्निको तृप्त किया था। इतना ही नहीं, कुन्तीपुत्र धनंजयने तुम-जैसे सारथिके सहयोगसे ही समूची पृथ्वीपर विजय पायी है।' तुम्हारे विषयमें यह बात सैरन्ध्री कह रही थी, क्योंकि वह पाण्डवोंको अच्छी तरह जानती है ।। १६-१७ ।।

संयच्छ मामकानश्वांस्तथैव त्वं बृहन्नले ।
कुरुभिर्योत्स्यमानस्य गोधनानि परीप्सतः ।। १८ ।।

'बृहन्नले! तुम अर्जुनकी ही भाँति मेरे घोड़ोंको भी काबूमें रखना, क्योंकि मैं अपना गोधन वापस लेनेके लिये कौरवोंके साथ युद्ध करनेवाला हूँ ।। १८ ।।

अर्जुनस्य किलासीस्त्वं सारथिर्दयितः पुरा ।
त्वयाजयत् सहायेन पृथिवीं पाण्डवर्षभः ।। १९ ।।

'पहले तुम अर्जुनका प्रिय सारथि रह चुकी हो और तुम्हारी ही सहायतासे उन पाण्डवशिरोमणिने समूची पृथ्वीपर विजय पायी है' ।। १९ ।।

एवमुक्ता प्रत्युवाच राजपुत्रं बृहन्नला ।

का शक्तिर्मम सारथ्यं कर्तुं संग्राममूर्धनि ।। २० ।।

उसके ऐसा कहनेपर बृहन्नला राजकुमारसे बोली—'भला, मेरी क्या शक्ति है कि मैं युद्धके मुहानेपर सारथिका काम सँभाल सकूँ? ।। २० ।।

गीतं वा यदि वा नृत्यं वादित्रं वा पृथग्विधम् ।
तत् करिष्यामि भद्रं ते सारथ्यं तु कुतो मम ।। २१ ।।

'राजकुमार! आपका कल्याण हो। यदि गाना हो, नृत्य करना हो अथवा विभिन्न प्रकारके बाजे बजाने हों, तो वह कर लूँगी। सारथिका काम मुझसे कैसे हो सकता है? ।। २१ ।।

उत्तर उवाच

बृहन्नले गायनो वा नर्तनो वा पुनर्भव ।
क्षिप्रं मे रथमास्थाय निगृह्णीष्व हयोत्तमान् ।। २२ ।।

उत्तर बोला—बृहन्नले! तुम पुनः लौटकर गायक या नर्तक जो चाहो, बन जाना। इस समय तो शीघ्र ही मेरे रथपर बैठकर श्रेष्ठ घोड़ोंको काबूमें करो ।। २२ ।।

वैशम्पायन उवाच

स तत्र नर्मसंयुक्तमकरोत् पाण्डवो बहु ।
उत्तरायाः प्रमुखतः सर्वं जानन्नरिंदमः ।। २३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शत्रुओंका दमन करनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने सब कुछ जानते हुए भी उत्तराके सामने हँसीके लिये बहुत-से अनभिज्ञतासूचक कार्य किये ।। २३ ।।

ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य कवचं शरीरे प्रत्यमुञ्जत ।
कुमार्यस्तत्र तं दृष्ट्वा प्राहसन् पृथुलोचनाः ।। २४ ।।

वे कवचको ऊपर उठाकर शरीरमें डालने लगे। यह देखकर वहाँ खड़ी हुई बड़े-बड़े नेत्रोंवाली राजकुमारियाँ हँसने लगीं ।। २४ ।।

स तु दृष्ट्वा विमुह्यन्तं स्वयमेवोत्तरस्ततः ।
कवचेन महार्हेण समनह्यद् बृहन्नलाम् ।। २५ ।।

बृहन्नलाको (कवच धारणके समय) भूल करती देख राजकुमार उत्तरने स्वयं ही उसे बहुमूल्य कवच धारण कराया ।। २५ ।।

स बिभ्रत् कवचं चाग्र्यं स्वयमप्यंशुमत्प्रभम् ।
ध्वजं च सिंहमुच्छ्रित्य सारथ्ये समकल्पयत् ।। २६ ।।

फिर उसने स्वयं भी सूर्यके समान कान्तिमान् सुन्दर कवच धारण किया और रथपर सिंहध्वज फहराकर बृहन्नलाको सारथिके कार्यमें नियुक्त कर दिया ।। २६ ।।

धनूंषि च महार्हाणि बाणांश्च रुचिरान् बहून् ।

आदाय प्रययौ वीरः स बृहन्नलसारथिः ।। २७ ।।

तदनन्तर बहुत-से बहुमूल्य धनुष और सुन्दर बाण लेकर वीर उत्तर बृहन्नला सारथिके साथ युद्धके लिये प्रस्थित हुआ ।। २७ ।।

अथोत्तरा च कन्याश्च सख्यस्तामब्रुवंस्तदा ।
बृहन्नले आनयेथा वासांसि रुचिराणि च ।। २८ ।।
पाञ्चालिकार्थं चित्राणि सूक्ष्माणि च मृदूनि च ।
विजित्य संग्रामगतान् भीष्मद्रोणमुखान् कुरून् ।। २९ ।।

उस समय उत्तरा और उसकी सखीरूपा दूसरी राजकन्याओंने कहा—'बृहन्नले! तुम युद्धभूमिमें आये हुए भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख कौरववीरोंको जीतकर हमारी गुड़ियोंके लिये उनके महीन, कोमल और विचित्र रंगके सुन्दर-सुन्दर वस्त्र ले आना' ।। २८-२९ ।।

एवं ता ब्रुवतीः कन्याः सहिताः पाण्डुनन्दनः ।
प्रत्युवाच हसन् पार्थो मेघदुन्दुभिनिःस्वनः ।। ३० ।।

ऐसा कहती हुई उन सब कन्याओंसे पाण्डुनन्दन अर्जुनने हँसते हुए मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर वाणीमें कहा ।। ३० ।।

बृहन्नलोवाच

यद्युत्तरोऽयं संग्रामे विजेष्यति महारथान् ।
अथाहरिष्ये वासांसि दिव्यानि रुचिराणि च ।। ३१ ।।

बृहन्नला बोली—यदि ये राजकुमार उत्तर रणभूमिमें उन महारथियोंको परास्त कर देंगे, तो मैं अवश्य उनके दिव्य और सुन्दर वस्त्र ले आऊँगी ।। ३१ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु बीभत्सुस्ततः प्राचोदयद्धयान् ।
कुरूनभिमुखः शूरो नानाध्वजपताकिनः ।। ३२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर शूरवीर अर्जुनने भाँति-भाँतिकी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित कौरवोंकी ओर जानेके लिये घोड़ोंको हाँक दिया ।। ३२ ।।

तमुत्तरं वीक्ष्य रथोत्तमे स्थितं
बृहन्नलायाः सहितं महाभुजम् ।
स्त्रियश्च कन्याश्च द्विजाश्च सुव्रताः
प्रदक्षिणं चक्रुरथोचुरङ्गनाः ।। ३३ ।।

बृहन्नलाके साथ उत्तम रथपर बैठे हुए महाबाहु उत्तरको जाते देख स्त्रियों, कन्याओं तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंने उसकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की। तत्पश्चात् स्त्रियाँ और कन्याएँ बोलीं— ।। ३३ ।।

यदर्जुनस्यर्षभतुल्यगामिनः

पुराभवत् खाण्डवदाहमङ्गलम् ।
कुरून् समासाद्य रणे बृहन्नले
सहोत्तरेणाद्य तदस्तु मङ्गलम् ।। ३४ ।।

'बृहन्नले! वृषभके समान गतिवाले अर्जुनको पहले खाण्डववनदाहके समय जैसा मंगल प्राप्त हुआ था, आज युद्धमें कौरवोंके पास पहुँचनेपर राजकुमार उत्तरके साथ तुम्हें वैसा ही मंगल प्राप्त हो' ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तरनिर्याणं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ।। ३७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें राजकुमार उत्तरका युद्धके लिये प्रस्थानविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३७ ।।

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

उत्तरकुमारका भय और अर्जुनका उसे आश्वासन देकर रथपर चढ़ाना

वैशम्पायन उवाच

स राजधान्या निर्याय वैराटिरकुतोभयः ।
प्रयाहीत्यब्रवीत् सूतं यत्र ते कुरवो गताः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजधानीसे निकलकर विराटकुमार उत्तरने सर्वथा निर्भय हो सारथिसे कहा—'बृहन्नले! जहाँ कौरव गये हैं, उधर ही रथ ले चलो ।। १ ।।

समवेतान् कुरून् सर्वान् जिगीषूनवजित्य वै ।
गास्तेषां क्षिप्रमादाय पुनरेष्याम्यहं पुरम् ।। २ ।।

'मैं यहाँ विजयकी आशासे एकत्र होनेवाले समस्त कौरवोंको परास्त करके उनसे अपनी गौएँ वापस ले शीघ्र अपने नगरमें लौट आऊँगा' ।। २ ।।

ततस्तांश्चोदयामास सदश्वान् पाण्डुनन्दनः ।
ते हया नरसिंहेन नोदिता वातरंहसः ।

आलिखन्त इवाकाशमूहुः काञ्चनमालिनः ।। ३ ।।

तब पाण्डुनन्दन अर्जुनने उत्तरके उत्तम जातिके घोड़ोंको हाँका और उनकी बाग ढीली कर दी। नरश्रेष्ठ अर्जुनके हाँकनेपर सोनेकी माला पहने हुए वे घोड़े हवाके समान वेगसे चलने लगे, मानो आकाशमें अपनी टाप अड़ाते हुए रथ लिये उड़े जा रहे हों ।। ३ ।।

नातिदूरमथो गत्वा मत्स्यपुत्रधनंजयौ ।
अवेक्षेताममित्रघ्नौ कुरूणां बलिनां बलम् ।। ४ ।।

थोड़ी ही दूर जानेपर शत्रुहन्ता विराटपुत्र उत्तर और धनंजयने महाबली कौरवोंकी विशाल सेना देखी ।। ४ ।।

श्मशानमभितो गत्वा आससाद कुरूनथ ।
तां शमीमन्ववीक्षेतां व्यूढानीकांश्च सर्वशः ।। ५ ।।

श्मशानभूमिके समीप जाकर उन्होंने कौरवोंको पा लिया। वे दोनों उस शमीवृक्षके आसपास सब ओर सेनाका व्यूह बनाकर खड़े हुए कौरव-सैनिकोंकी ओर देखने लगे ।। ५ ।।

तदनीकं महत् तेषां विबभौ सागरोपमम् ।
सर्पमाणमिवाकाशे वनं बहुलपादपम् ।। ६ ।।

उनकी वह विशालवाहिनी समुद्रके समान जान पड़ती थी। जब वह चलती, तब ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशमें असंख्य वृक्षोंसे भरा हुआ वन चल रहा हो ।। ६ ।।

ददृशे पार्थिवो रेणुर्जनितस्तेन सर्पता ।
दृष्टिप्रणाशो भूतानां दिवस्पृक् कुरुसत्तम ।। ७ ।।

कुरुश्रेष्ठ जनमेजय! कौरव-सेनाके चलनेसे ऊपर उठी हुई धरतीकी धूल अन्तरिक्षको छूती-सी दिखायी देती थी। उसके कारण समस्त प्राणियोंकी दृष्टिका लोप-सा हो गया था—किसीको कुछ सूझ नहीं पड़ता था ।। ७ ।।

तदनीकं महद् दृष्ट्वा गजाश्वरथसंकुलम् ।
कर्णदुर्योधनकृपैर्गुप्तं शान्तनवेन च ।। ८ ।।
द्रोणेन च सपुत्रेण महेष्वासेन धीमता ।
हृष्टरोमा भयोद्विग्नः पार्थं वैराटिरब्रवीत् ।। ९ ।।

वह भारी सेना हाथी, घोड़ों एवं रथोंसे भरी हुई थी। कर्ण, दुर्योधन, कृपाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा और महान् धनुर्धर एवं परम बुद्धिमान् द्रोण उसकी रक्षा कर रहे थे। उसे देखकर विराटपुत्र उत्तरके रोंगटे खड़े हो गये। उसने भयसे व्याकुल होकर अर्जुनसे कहा ।। ८-९ ।।

उत्तर उवाच

नोत्सहे कुरुभिर्योद्‌धुं रोमहर्षं हि पश्य मे ।
बहुप्रवीरमत्युग्रं देवैरपि दुरासदम् ।। १० ।।

उत्तर बोला—बृहन्नले! मुझमें कौरवोंके साथ युद्ध करनेका साहस नहीं है; क्योंकि देखो, भयके कारण मेरे रोएँ खड़े हो गये हैं। इस सेनाके भीतर बहुतेरे बड़े-बड़े वीर हैं। यह बड़ी भयानक जान पड़ती है। इसे परास्त करना तो देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है ।। १० ।।

प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि कुरुसैन्यमनन्तकम् ।
नाशंसे भारतीं सेनां प्रवेष्टुं भीमकार्मुकाम् ।। ११ ।।

कौरवोंकी सेनाका कहीं अन्त नहीं है। मैं इसका सामना नहीं कर सकता। भयानक धनुषवाली भरतवंशियोंकी इस विशाल वाहिनीमें प्रवेश करना तो दूर रहे, मैं उसके सम्बन्धमें बात भी नहीं कर सकता ।। ११ ।।

रथनागाश्वकलिलां पत्तिध्वजसमाकुलाम् ।
दृष्ट्वैव हि परानाजौ मनः प्रव्यथतीव मे ।। १२ ।।

रथ, हाथी और घोड़ोंसे यह कौरवदल खचाखच भरा हुआ है। पैदल सिपाहियों और असंख्य ध्वजाओंसे व्याप्त है। इसलिये रणभूमिमें इन शत्रुओंको देखकर ही मेरा हृदय व्यथित-सा हो गया है ।। १२ ।।

यत्र द्रोणश्च भीष्मश्च कृपः कर्णो विविंशतिः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाह्लिकः ।। १३ ।।
दुर्योधनस्तथा वीरो राजा च रथिनां वरः ।
द्युतिमन्तो महेष्वासाः सर्वे युद्धविशारदाः ।। १४ ।।

जहाँ द्रोण, भीष्म, कृप, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक तथा रथियोंमें श्रेष्ठ वीर राजा दुर्योधन हैं। जो सबके सब तेजस्वी, महान् धनुर्धर और युद्धकी कलामें प्रवीण हैं ।। १३-१४ ।।

(मत्ता इव महानागा युक्तध्वजपताकिनः ।
नीतिमन्तो महेष्वासा सर्वास्त्रकृतनिश्चयाः ।।
दुर्जयाः सर्वसैन्यानां देवैरपि सवासवैः ।
पताकिनश्च मातङ्गाः सध्वजाश्च महारथाः ।।
विप्रकीर्णाः कृतोद्योगा वाजिनश्चित्रभूषिताः ।
तान् जेतुं समरे शूरान् दुर्बुद्धिरहमागतः ।।)

ये कौरववीर मदसे उन्मत्त हुए महान् गजराजोंके समान जान पड़ते हैं। ये सबके सब ध्वजा-पताकाओंसे युक्त, नीतिनिपुण, महाधनुर्धर तथा सम्पूर्ण अस्त्रविद्याका सुनिश्चित ज्ञान रखते हैं। इनपर विजय पाना सम्पूर्ण सेनाओंके लिये ही नहीं, इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है। इनके हाथियोंपर भी पताकाएँ फहरा रही हैं। बड़े-बड़े रथ ध्वजाओंसे सुशोभित हो रहे हैं। विचित्र आभूषणोंसे आभूषित घोड़े चारों ओर फैलकर

विजयके लिये उद्योगशील प्रतीत होते हैं। ऐसे शूरवीर कौरवोंको युद्धमें जीतनेके लिये मैं दुर्बुद्धि बालक कहाँ आ गया।

दृष्ट्वैव हि कुरूनेतान् व्यूढानीकान् प्रहारिणः ।
हृषितानि च रोमाणि कश्मलं चागतं मम ।। १५ ।।

सेनाकी व्यूहरचना करके प्रहारके लिये उद्यत खड़े हुए इन कौरवोंको देखकर ही मेरे रोंगटे खड़े हो गये हैं। मुझे मूर्च्छा-सी आ रही है ।। १५ ।।

वैशम्पायन उवाच

अविजातो विजातस्य मौर्ख्याद् धूर्तस्थ पश्यतः ।
परिदेवयते मन्दः सकाशे सव्यसाचिनः ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मूर्ख उत्तर एक साधारण कोटिका मनुष्य था और छद्मवेशधारी सव्यसाची अर्जुन असाधारण वीर थे। अतः उनके प्रभावको न जाननेके कारण वह मूर्खतावश उनके पास रहकर भी उन्हींके देखते-देखते यों विलाप करने लगा — ।। १६ ।।

त्रिगर्तान् मे पिता यातः शून्ये सम्प्रणिधाय माम् ।
सर्वां सेनामुपादाय न मे सन्तीह सैनिकाः ।। १७ ।।
सोऽहमेको बहून् बालः कृतास्त्रानकृतश्रमः ।
प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि निवर्तस्व बृहन्नले ।। १८ ।।

‘बृहन्नले! मेरे पिता सूने नगरमें उसकी रक्षाके लिये मुझे अकेला रखकर स्वयं सारी सेना साथ ले त्रिगर्तोंसे युद्ध करनेके लिये गये हैं। मेरे पास यहाँ कोई सैनिक नहीं है। मैं अकेला बालक हूँ और मैंने अस्त्रविद्यामें अभी अधिक परिश्रम भी नहीं किया है। ऐसी दशामें अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता और प्रौढ़ अवस्थावाले इन बहुसंख्यक कौरवोंका सामना मैं नहीं कर सकूँगा। अतः तुम रथ लेकर लौट चलो’ ।। १७-१८ ।।

बृहन्नलोवाच

भयेन दीनरूपोऽसि द्विषतां हर्षवर्धनः ।
न च तावत् कृतं कर्म परैः किंचिद् रणाजिरे ।। १९ ।।

बृहन्नलाने कहा—राजकुमार! तुम भयके कारण दीन होकर शत्रुओंका हर्ष बढ़ा रहे हो। अभी तो शत्रुओंने युद्धके मैदानमें कोई पराक्रम भी नहीं प्रकट किया है ।। १९ ।।

स्वयमेव च मामात्थ वह मां कौरवान् प्रति ।
सोऽहं त्वां तत्र नेष्यामि यत्रैते बहुला ध्वजाः ।। २० ।।

तुमने स्वयं ही कहा था कि मुझे कौरवोंके पास ले चलो; अतः जहाँ ये बहुत-सी ध्वजाएँ फहरा रही हैं, वहीं तुम्हें ले चलूँगी ।। २० ।।

मध्यमामिषगृध्राणां कुरूणामाततायिनाम् ।

नेष्यामि त्वां महाबाहो पृथिव्यामपि युध्यताम् ।। २१ ।।

महाबाहो! जैसे गीध मांसपर टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार जो गौओंको लूटनेके लिये यहाँ आये हैं, उन आततायी कौरवोंके बीच तुम्हें ले चलती हूँ। यदि ये पृथ्वीके लिये भी युद्ध ठानेंगे तो उसमें भी मैं तुम्हें ले चलूँगी ।। २१ ।।

तथा स्त्रीषु प्रतिश्रुत्य पौरुषं पुरुषेषु च ।
कत्थमानोऽभिनिर्याय किमर्थं न युयुत्ससे ।। २२ ।।

तुम स्त्रियों और पुरुषोंके बीच कौरवोंको हराकर अपने गोधनको वापस लानेकी प्रतिज्ञा करके पुरुषार्थके विषयमें अपनी श्लाघा करते हुए युद्धके लिये निकले थे; फिर अब क्यों युद्ध नहीं करना चाहते? ।। २२ ।।

न चेद् विजित्य गास्तास्त्वं गृहान् वै प्रतियास्यसि ।
प्रहसिष्यन्ति वीरास्त्वां नरा नार्यश्च संगताः ।। २३ ।।

यदि उन गौओंको बिना जीते ही तुम घर लौटोगे, तो वीर पुरुष तुम्हारी हँसी उड़ायेंगे और यत्र-तत्र स्त्रियाँ और पुरुष एकत्र हो तुम्हारा उपहास करेंगे ।। २३ ।।

अहमप्यत्र सैरन्ध्र्या ख्याता सारथ्यकर्मणि ।
न च शक्ष्याम्यनिर्जित्य गाः प्रयातुं पुरं प्रति ।। २४ ।।

मैं भी सैरन्ध्रीके द्वारा सारथ्यके कार्यमें कुशल बतायी गयी हूँ, अतः अब गौओंको जीतकर वापस लिये बिना मैं नगरमें नहीं जा सकूँगी ।। २४ ।।

स्तोत्रेण चैव सैरन्ध्र्यास्तव वाक्येन तेन च ।
कथं न युध्येयमहं कुरून् सर्वान् स्थिरो भव ।। २५ ।।

सैरन्ध्री और तुमने भी बड़ी-बड़ी बातें कहकर मेरी बहुत स्तुति-प्रशंसा की है, फिर सम्पूर्ण कौरवोंके साथ मैं ही क्यों न युद्ध करूँ? तुम दृढ़तापूर्वक डट जाओ ।।

उत्तर उवाच

कामं हरन्तु मत्स्यानां भूयांसः कुरवो धनम् ।
प्रहसन्तु च मां नार्यो नरा वापि बृहन्नले ।। २६ ।।
संग्रामे न च कार्यं मे गावो गच्छन्तु चापि मे ।
शून्यं मे नगरं चापि पितुश्चैव बिभेम्यहम् ।। २७ ।।

उत्तर बोला—बृहन्नले! भारी संख्यामें आये हुए कौरव भले ही मत्स्यदेशका सारा धन इच्छानुसार हर ले जायँ, स्त्रियाँ अथवा पुरुष जितना चाहें, मेरा उपहास करें तथा मेरी गौएँ भी चली जायँ; किंतु इस युद्धमें मेरा कोई काम नहीं है। मेरा नगर सूना पड़ा है। [पिताजी उसकी रक्षाका भार मुझे दे गये थे]। मैं पिताजीसे डरता हूँ [इसलिये यहाँ नहीं ठहर सकता] ।। २६-२७ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्राद्रवद् भीतो रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ।
त्यक्त्वा मानं च दर्पं च विसृज्य सशरं धनुः ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर मान और अभिमानको त्यागकर बाणसहित धनुषको वहीं छोड़कर कुण्डलधारी राजकुमार उत्तर रथसे कूद पड़ा और भयभीत होकर भाग चला ।। २८ ।।

बृहन्नलोवाच

नैष शूरैः स्मृतो धर्मः क्षत्रियस्य पलायनम् ।
श्रेयस्तु मरणं युद्धे न भीतस्य पलायनम् ।। २९ ।।

तब बृहन्नलाने कहा—राजकुमार! क्षत्रियका युद्धसे भागना शूरवीरोंकी दृष्टिमें धर्म नहीं है। युद्ध करके मर जाना अच्छा है; किंतु भयभीत होकर भागना कदापि अच्छा नहीं है ।। २९ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयः सोऽवप्लुत्य रथोत्तमात् ।
तमन्वधावद् धावन्तं राजपुत्रं धनंजयः ।। ३० ।।
दीर्घां वेणीं विधुन्वानः साधु रक्ते च वाससी ।
विधूय वेणीं धावन्तमजानन्तोऽर्जुनं तदा ।। ३१ ।।
सैनिकाः प्राहसन् केचित् तथारूपमवेक्ष्य तम् ।
तं शीघ्रमभिधावन्तं सम्प्रेक्ष्य कुरवोऽब्रुवन् ।। ३२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर कुन्तीनन्दन धनंजय भी उस उत्तम रथसे कूद पड़े और भागते हुए राजकुमारको पकड़नेके लिये अपनी लंबी चोटी हिलाते और लाल रंगकी साड़ी एवं दुपट्टेको फहराते हुए उसके पीछे-पीछे दौड़े। उस समय चोटी हिला-हिलाकर दौड़ते हुए अर्जुनको उस रूपमें देखकर उन्हें न जाननेवाले कुछ सैनिक ठहाका मारकर हँसने लगे। उन्हें शीघ्र गतिसे दौड़ते देख कौरव आपसमें कहने लगे— ।। ३०—३२ ।।

क एष वेषसंच्छन्नो भस्मन्येव हुताशनः ।
किंचिदस्य यथा पुंसः किंचिदस्य यथा स्त्रियः ।। ३३ ।।

'यह कौन है जो राखमें छिपी हुई अग्निकी भाँति नारीके वेशमें छिपा है? इसकी कुछ बातें तो पुरुषों-जैसी हैं और कुछ स्त्रियों-जैसी ।। ३३ ।।

सारूप्यमर्जुनस्येव क्लीबरूपं बिभर्ति च ।
तदेवैतच्छिरो ग्रीवं तौ बाहू परिघोपमौ ।
तद्वदेवास्य विक्रान्तं नायमन्यो धनंजयात् ।। ३४ ।।

'इसका स्वरूप तो अर्जुनसे मिलता-जुलता है; किंतु वेषभूषा इसने नपुंसकों-जैसी बना रखी है। देखो न, वही अर्जुन-जैसा सिर है, वैसी ही ग्रीवा है, वे ही परिघ-जैसी मोटी भुजाएँ हैं और उन्हींके समान इसकी चाल-ढाल है; अतः यह अर्जुनके सिवा दूसरा कोई नहीं है ।।

अमरेष्विव देवेन्द्रो मानुषेषु धनंजयः ।
एकः कोऽस्मानुपायायादन्यो लोके धनंजयात् ।। ३५ ।।

'मनुष्योंमें धनंजयका वही स्थान है, जो देवताओंमें इन्द्रका है। संसारमें अर्जुनके सिवा दूसरा कौन वीर है, जो अकेला हमलोगोंका सामना करनेके लिये चला आये? ।। ३५ ।।

एकः पुत्रो विराटस्य शून्ये संनिहितः पुरे ।
स एष किल निर्यातो बालभावान्न पौरुषात् ।। ३६ ।।

'विराटके सूने नगरमें उनका एक ही पुत्र देख-रेखके लिये रह गया था; सो यह बचपन (मूर्खता) के कारण हमारा सामना करनेके लिये चला आया, अपने पुरुषार्थसे प्रेरित होकर नहीं ।। ३६ ।।

सत्रेण नूनं छन्नं हि चरन्तं पार्थमर्जुनम् ।
उत्तरः सारथिं कृत्वा निर्यातो नगराद् बहिः ।। ३७ ।।

'निश्चय ही कपटवेशमें छिपे हुए कुन्तीपुत्र अर्जुनको अपना सारथि बनाकर उत्तर नगरसे बाहर निकला था ।। ३७ ।।

स नो मन्यामहे दृष्ट्वा भीत एष पलायते ।
तं नूनमेष धावन्तं जिघृक्षति धनंजयः ।। ३८ ।।

'मालूम होता है, हमलोगोंको देखकर यह बहुत डर गया है; इसीलिये भागा जाता है और ये अर्जुन अवश्य ही उस भागते हुए राजकुमारको पकड़ लाना चाहते हैं' ।। ३८ ।।

वैशम्पायन उवाच

इति स्म कुरवः सर्वे विमृशन्तः पृथक् पृथक् ।
न च व्यवसितुं किंचिदुत्तरं शक्नुवन्ति ते ।। ३९ ।।
छन्नं तथा तं सत्रेण पाण्डवं प्रेक्ष्य भारत ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! इस प्रकार सभी कौरव अलग-अलग विचार-विमर्श करते थे, किंतु छद्मवेषमें छिपे हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन तथा उत्तरको देखकर भी वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाते थे ।।

(दुर्योधन उवाचेदं सैनिकान् रथसत्तमान् ।।
अर्जुनो वासुदेवो वा रामः प्रद्युम्न एव वा ।
ते हि नः प्रतिसंयातुं संग्रामे न च शक्नुयुः ।।
अन्यो वा क्लीबरूपेण यद्यागच्छेद् गवां पदम् ।
अर्पयित्वा शरैस्तीक्ष्णैः पातयिष्यामि भूतले ।।
कथमेकतरस्तेषां समस्तान् योधयेत् कुरून् ।
अर्जुनो नेति चेत्येनं न व्यवस्यन्ति ते पुनः ।
इति स्म कुरवः सर्वे मन्त्रयन्तो महारथाः ।।
दृढवेधी महासत्त्वः शक्रतुल्यपराक्रमः ।
अद्यागच्छति ये योद्धुं सर्वं संशयितं बलम् ।।
न चाप्यन्यं नरं तत्र व्यवस्यन्ति धनंजयात् ।)

उस समय दुर्योधनने रथियोंमें श्रेष्ठ समस्त सैनिकोंसे इस प्रकार कहा—'अर्जुन, श्रीकृष्ण, बलराम और प्रद्युम्न भी संग्रामभूमिमें हमलोगोंका सामना नहीं कर सकते। यदि कोई दूसरा मनुष्य ही हीजड़ेका रूप धारण करके इन गौओंके स्थानपर आयेगा, तो मैं उसे

अपने तीखे बाणोंसे घायल करके धरतीपर सुला दूँगा। यह उपर्युक्त वीरोंमेंसे ही कोई एक हो, तो भी अकेला समस्त कौरवोंके साथ कैसे युद्ध कर सकता है?' उधर 'यह अर्जुन ही तो नहीं है? नहीं, वे नहीं जान पड़ते।' इस प्रकार आपसमें मन्त्रणा करते हुए समस्त कौरव महारथी अर्जुनके विषयमें कोई निश्चय नहीं कर पाते थे। कई एक कहने लगे कि 'अर्जुनकी शक्ति महान् है। उनका पराक्रम इन्द्रके समान है। वे दृढ़तापूर्वक शत्रुओंका वेधन करनेवाले हैं। यदि वे ही आज युद्ध करनेके लिये आ रहे हैं, तब तो समस्त सैनिकोंका जीवन संशयमें पड़ गया।' वे इस मनुष्यको वहाँ अर्जुनसे भिन्न भी नहीं निश्चित कर पाते थे ।।

उत्तरं तु प्रधावन्तमभिद्रुत्य धनंजयः ।
गत्वा पदशतं तूर्णं केशपक्षे परामृशत् ।। ४० ।।

उधर अर्जुनने भागते हुए उत्तरका पीछा करके सौ कदम दूर जाते-जाते उसके केश पकड़ लिये ।। ४० ।।

सोऽर्जुनेन परामृष्टः पर्यदेवयदार्तवत् ।
बहुलं कृपणं चैव विराटस्य सुतस्तदा ।। ४१ ।।

अर्जुनके द्वारा पकड़ लिये जानेपर विराटपुत्र उत्तर बड़ी दीनताके साथ आर्तकी भाँति विलाप करने लगा ।।

उत्तर उवाच

शृणुयास्त्वं हि कल्याणि बृहन्नले सुमध्यमे ।
निवर्तय रथं क्षिप्रं जीवन् भद्राणि पश्यति ।। ४२ ।।

उत्तर बोला—सुन्दर कटिवाली कल्याणमयी बृहन्नले! तुम मेरी बात सुनो। मेरे रथको शीघ्र लौटाओ; क्योंकि मनुष्य जीवित रहे, तो वह अनेक बार मंगल देखता है ।। ४२ ।।

शातकुम्भस्य शुद्धस्य शतं निष्कान् ददामि ते ।
मणीनष्टौ च वैदूर्यान् हेमबद्धान् महाप्रभान् ।। ४३ ।।

मैं तुम्हें शुद्ध सुवर्णकी सौ मोहरें देता हूँ, साथ ही अत्यन्त प्रकाशमान स्वर्णजटित आठ वैदूर्यमणियाँ भेंट करता हूँ ।। ४३ ।।

हेमदण्डप्रतिच्छन्नं रथं युक्तं च सुव्रतैः ।
मत्तांश्च दश मातङ्गान् मुञ्च मां त्वं बृहन्नले ।। ४४ ।।

इतना ही नहीं, उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए तथा सुवर्णमय दण्डसे युक्त एक रथ और दस मतवाले हाथी भी दे रहा हूँ। बृहन्नले! यह सब ले लो, किंतु तुम मुझे छोड़ दो ।। ४४ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमादीनि वाक्यानि विलपन्तमचेतसम् ।
प्रहस्य पुरुषव्याघ्रो रथस्यान्तिकमानयत् ।। ४५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उत्तर इसी प्रकारकी बातें कहता और विलाप करता हुआ अचेत हो रहा था। पुरुषसिंह अर्जुन उसकी बातोंपर हँसते हुए उसे रथके समीप ले आये ।। ४५ ।।

अथैनमब्रवीत् पार्थो भयार्तं नष्टचेतसम् ।
यदि नोत्सहसे योद्धुं शत्रुभिः शत्रुकर्षण ।
एहि मे त्वं हयान् यच्छ युध्यमानस्य शत्रुभिः ।। ४६ ।।

जब वह भयसे आतुर होकर अपनी सुध-बुध खोने लगा तब अर्जुनने उससे कहा—'शत्रुनाशन! यदि तुम्हें शत्रुओंके साथ युद्ध करनेका उत्साह नहीं है तो चलो; मैं उनसे युद्ध करूँगा। तुम मेरे घोड़ोंकी बागडोर सँभालो ।।

प्रयाह्येतद् रथानीकं मद्बाहुबलरक्षितः ।
अप्रधृष्यतमं घोरं गुप्तं वीरैर्महारथैः ।। ४७ ।।

'तुम मेरे बाहुबलसे सुरक्षित हो इस रथ-सेनाकी ओर चलो, जो महारथी वीरोंसे सुरक्षित, घोर एवं अत्यन्त दुर्धर्ष है ।। ४७ ।।

मा भैस्त्वं राजपुत्राग्र्य क्षत्रियोऽसि परंतप ।
कथं पुरुषशार्दूल शत्रुमध्ये विषीदसि ।। ४८ ।।

'राजपुत्रशिरोमणे! भयभीत न होओ। शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! तुम क्षत्रिय हो, पुरुषसिंह! तुम शत्रुओंके बीचमें आकर विषाद कैसे कर रहे हो?' ।। ४८ ।।

अहं वै कुरुभिर्योत्स्ये विजेष्यामि च ते पशून् ।
प्रविश्यैतद् रथानीकमप्रधृष्यं दुरासदम् ।। ४९ ।।

'देखो, मैं इस अतीव दुर्धर्ष तथा दुर्गम रथसेनामें घुसकर कौरवोंके साथ युद्ध करूँगा और तुम्हारे पशुओंको जीत लाऊँगा ।। ४९ ।।

यन्ता भव नरश्रेष्ठ योत्स्येऽहं कुरुभिः सह ।

'नरश्रेष्ठ! तुम केवल मेरे सारथि बनकर बैठे रहो। इन कौरवोंके साथ युद्ध तो मैं करूँगा' ।। ४९½ ।।

एवं ब्रुवाणो बीभत्सुर्वैराटिमपराजितः ।
समाश्वास्य मुहुर्तं तमुत्तरं भरतर्षभ ।। ५० ।।
तत एनं विचेष्टन्तमकामं भयपीडितम् ।
रथमारोपयामास पार्थः प्रहरतां वरः ।। ५१ ।।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ और कभी परास्त न होनेवाले कुन्तीपुत्र अर्जुनने उपर्युक्त बातें कहकर विराटकुमार उत्तरको दो घड़ीतक भलीभाँति समझाया-बुझाया। तत्पश्चात् युद्धकी कामनासे रहित, भयसे व्याकुल और भागनेके लिये छटपटाते हुए उत्तरको उन्होंने रथपर चढ़ाया ।। ५०-५१ ।।

(गाण्डीवं पुनरादातुमुपायात् तां शमीं प्रति ।।

उत्तरं स समाश्वास्य कृत्वा यन्तारमर्जुनः ।)

अर्जुन अपने गाण्डीव धनुषको लानेके लिये पुनः उस शमीवृक्षकी ओर गये। उन्होंने उत्तरको समझा-बुझाकार सारथि बननेके लिये राजी कर लिया था ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तराश्वासने अष्टात्रिंशोऽध्यायः ।। ३८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशासे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें उत्तरके आश्वासनसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल ६०½ श्लोक हैं।)

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

द्रोणाचार्यद्वारा अर्जुनके अलौकिक पराक्रमकी प्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

तं दृष्ट्वा क्लीबवेषेण रथस्थं नरपुङ्गवम् ।
शमीमभिमुखं यान्तं रथमारोप्य चोत्तरम् ।। १ ।।
भीष्मद्रोणमुखास्तत्र कुरवो रथिसत्तमाः ।
वित्रस्तमनसः सर्वे धनंजयकृताद् भयात् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! नपुंसकवेषमें रथपर बैठे हुए नरश्रेष्ठ अर्जुनको, जो उत्तरको रथपर बिठाकर शमीवृक्षकी ओर जा रहे थे, भीष्म-द्रोण आदि कौरव महारथियोंने देखा। यह देखकर अर्जुनकी आशंका होनेसे वे सबके सब मन-ही-मन भयभीत हो उठे ।।

तानवेक्ष्य हतोत्साहानुत्पातानपि चाद्भुतान् ।
गुरुः शस्त्रभृतां श्रेष्ठो भारद्वाजोऽभ्यभाषत ।। ३ ।।

उन सब महारथियोंको हतोत्साह देख तथा अद्भुत उत्पातोंको भी देखकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन आचार्य द्रोण बोले— ।। ३ ।।

चण्डाश्च वाताः संवान्ति रूक्षाः शर्करवर्षिणः ।
भस्मवर्णप्रकाशेन तमसा संवृतं नभः ।। ४ ।।

'इस समय कंकड़ बरसानेवाली प्रचण्ड एवं रूखी हवा चल रही है। राखके समान रंगवाले अन्धकारसे आकाश आच्छादित हो रहा है ।। ४ ।।

रूक्षवर्णाश्च जलदा दृश्यन्तेऽद्भुतदर्शनाः ।
निःसरन्ति च कोशेभ्यः शस्त्राणि विविधानि च ।। ५ ।।

'रूक्ष वर्णवाले अद्भुत बादल भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। म्यानोंसे अनेक प्रकारके शस्त्र निकल रहे हैं ।।

शिवाश्च विनदन्त्येता दीप्तायां दिशि दारुणाः ।
हयाश्चाश्रूणि मुञ्चन्ति ध्वजाः कम्पन्त्यकम्पिताः ।। ६ ।।

'दिशाओंमें आग-सी लग रही है और उनमें ये भयंकर गीदड़ियाँ चीत्कार करती हैं। घोड़े आँसू बहाते हैं और रथोंकी ध्वजाएँ बिना हिलाये ही हिल रही हैं ।।

यादृशान्यत्र रूपाणि संदृश्यन्ते बहूनि च ।
यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु साध्यसं समुपस्थितम् ।। ७ ।।

'यहाँ जैसे-जैसे बहुत-से रूप (लक्षण) दिखायी दे रहे हैं, उनसे यह सूचित होता है कि कोई महान् भय उपस्थित होनेवाला है; आप सब लोग सावधान हो जायँ ।। ७ ।।

रक्षध्वमपि चात्मानं व्यूहध्वं वाहिनीमपि ।

वैशसं च प्रतीक्षध्वं रक्षध्वं चापि गोधनम् ।। ८ ।।

'आपलोग अपने आपकी रक्षा तो करें ही, सेनाका भी व्यूह बना लें। युद्धमें बहुत बड़ा नरसंहार होनेवाला है। उसकी प्रतीक्षा करें और इस गोधनकी भी रखवाली करते रहें ।। ८ ।।

एष वीरो महेष्वासः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
आगतः क्लीबवेषेण पार्थो नास्त्यत्र संशयः ।। ९ ।।

'नपुंसकवेशमें ये समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महान् धनुर्धर वीर अर्जुन ही आ गये हैं, इसमें संदेह नहीं है ।। ९ ।।

नदीज लङ्केशवनारिकेतु-
र्नगाह्वयो नाम नगारिसूनुः ।
एषोऽङ्गनावेषधरः किरीटी
जित्वाऽव यं नेष्यति चाद्य गा वः ।। १० ।।

'गंगानन्दन! जिनकी ध्वजापर हनुमान्‌जी विराजमान होते हैं, एक वृक्षका नाम (अर्जुन) ही जिनका नाम है और जो इन्द्रके पुत्र हैं, वे किरीटधारी धनंजय ही नारी-वेश धारण किये यहाँ आ रहे हैं। ये जिसको जीतकर आज हमारी इन गौओंको लौटा ले जायँगे, उस दुर्योधनकी रक्षा कीजिये ।। १० ।।

स एष पार्थो विक्रान्तः सव्यसाची परंतपः ।
नायुद्धेन निवर्तेत सर्वैरपि सुरासुरैः ।। ११ ।।

'ये वे ही शत्रुओंको संताप देनेवाले महापराक्रमी सव्यसाची अर्जुन हैं, जो (सामना होनेपर) सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंके साथ भी बिना युद्ध किये पीछे नहीं लौट सकते ।। ११ ।।

क्लेशितश्च वने शूरो वासवेनापि शिक्षितः ।
अमर्षवशमापन्नो वासवप्रतिमो युधि ।
नेहास्य प्रतियोद्धारमहं पश्यामि कौरवाः ।। १२ ।।

'कौरवो! साक्षात् इन्द्रने भी इन्हें अस्त्रविद्याकी शिक्षा दी है। युद्धमें कुपित होनेपर ये साक्षात् इन्द्रके समान पराक्रम दिखाते हैं। तुम लोगोंने इन शूरवीरको वनमें (अनुचित) क्लेश पहुँचाया है। मुझे इनका सामना करनेवाला कोई योद्धा यहाँ नहीं दिखायी देता ।। १२ ।।

महादेवोऽपि पार्थेन श्रूयते युधि तोषितः ।
किरातवेषप्रच्छन्नो गिरौ हिमवति प्रभुः ।। १३ ।।

'सुना जाता है, हिमालय पर्वतपर किरातवेशमें छिपे हुए साक्षात् भगवान् शंकरको भी अर्जुनने युद्धमें संतुष्ट किया था' ।। १३ ।।

कर्ण उवाच

सदा भवान् फाल्गुनस्य गुणैरस्मान् विकत्थसे ।
न चार्जुनः कलापूर्णो मम दुर्योधनस्य च ।। १४ ।।

कर्णने कहा—आचार्य! आप सदा हमारे सामने अर्जुनके गुणोंकी श्लाघा करते रहते हैं, परंतु अर्जुन मेरी और दुर्योधनकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं है ।।

दुर्योधन उवाच

यद्येष पार्थो राधेय कृतं कार्यं भवेन्मम ।
ज्ञाताः पुनश्चरिष्यन्ति द्वादशाब्दान् विशाम्पते ।। १५ ।।

दुर्योधनने कहा—राधानन्दन! यदि यह अर्जुन है; तब तो मेरा काम ही बन गया। अंगराज! अब ये पाण्डव पहचान लिये जानेके कारण फिर बारह वर्षोंतक वनमें भटकेंगे ।। १५ ।।

अथैष कश्चिदेवान्यः क्लीबवेषेण मानवः ।
शरैरेनं सुनिशितैः पातयिष्यामि भूतले ।। १६ ।।

और यदि यह नपुंसकवेशमें कोई दूसरा ही मनुष्य है, तो इसे अत्यन्त तीखे बाणोंद्वारा अभी इस भूतलपर मार गिराऊँगा ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् ब्रुवति तद् वाक्यं धार्तराष्ट्रे परंतप ।
भीष्मो द्रोणः कृपो द्रौणिः पौरुषं तदपूजयन् ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—परंतप! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर भीष्म, द्रोण, कृप और अश्वत्थामाने उसके इस पराक्रमकी बड़ी प्रशंसा की ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनप्रशंसायामेकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ३९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तर दिशाकी ओरसे गौओंके अपहरणके प्रसंगमें अर्जुनकी प्रशंसाविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३९ ।।

चत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरको शमीवृक्षसे अस्त्र उतारनेके लिये आदेश

वैशम्पायन उवाच

तां शमीमुपसंगम्य पार्थो वैराटिमब्रवीत् ।
सुकुमारं समाज्ञाय संग्रामे नातिकोविदम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस शमीवृक्षके समीप पहुँचकर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरको सुकुमार तथा युद्धकी कलामें पूर्णतया कुशल न जानकर उससे कहा — ।। १ ।।

समादिष्टो मया क्षिप्रं धनूंष्यवहरोत्तर ।
नेमानि हि त्वदीयानि सोढुं शक्ष्यन्ति मे बलम् ।
भारं चापि गुरुं वोढुं कुञ्जरं वा प्रमर्दितुम् ।। २ ।।
मम वा बाहुविक्षेपं शत्रूनिह विजेष्यतः ।

'उत्तर! मेरी आज्ञासे तुम शीघ्र इस वृक्षपर चढ़कर वहाँ रखे हुए धनुष उतारो, क्योंकि तुम्हारे ये धनुष मेरे बाहुबलको नहीं सह सकेंगे, कोई भारी कार्य-भार नहीं उठा सकेंगे अथवा बड़े-बड़े गजराजोंका नाश करनेमें भी ये काम न दे सकेंगे। इतना ही नहीं, यहाँ शत्रुओंपर विजय पानेके लिये युद्ध करते समय ये मेरे बाहुविक्षेपको भी नहीं सँभाल सकेंगे ।। २½ ।।

(नैभिः काममलं कर्तुं कर्म वैजयिकं त्विह ।
अतिसूक्ष्माणि ह्रस्वानि सर्वाणि च मृदूनि च ।
आयुधानि महाबाहो तवैतानि परंतप ।।)
तस्माद् भूमिंजयारोह शमीमेतां पलाशिनीम् ।। ३ ।।

'शत्रुओंको संताप देनेवाले महाबाहु उत्तर! तुम्हारे ये सभी अस्त्र-शस्त्र अत्यन्त सूक्ष्म, छोटे और कोमल हैं। इनके द्वारा यहाँ विजय दिलानेवाला पराक्रम नहीं किया जा सकता। इसलिये भूमिंजय! पत्तोंसे सुशोभित इस शमीवृक्षपर शीघ्र चढ़ जाओ ।। ३ ।।

अस्यां हि पाण्डुपुत्राणां धनूंषि निहितान्युत ।
युधिष्ठिरस्य भीमस्य बीभत्सोर्यमयोस्तथा ।। ४ ।।

'इसपर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेव—इन सब पाण्डवोंके धनुष रखे हुए हैं ।। ४ ।।

ध्वजाः शराश्च शूराणां दिव्यानि कवचानि च ।
अत्र चैतन्महावीर्यं धनुः पार्थस्य गाण्डिवम् ।। ५ ।।
एकं शतसहस्रेण सम्मितं राष्ट्रवर्धनम् ।

व्यायामसहमत्यर्थं तृणराजसमं महत् ।। ६ ।।

‘उन शूरवीरोंके ध्वज, बाण और दिव्य कवच भी यहीं हैं। यहीं अर्जुनका वह महान् शक्तिशाली गाण्डीव धनुष भी है, जो अकेला ही एक लाख धनुषोंके समान है। यह राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला, परिश्रमको सहनेमें समर्थ और ताड़के समान अत्यन्त विशाल है ।। ५-६ ।।

सर्वायुधमहामात्रं शत्रुसम्बाधकारकम् ।
सुवर्णविकृतं दिव्यं श्लक्ष्णमायतमव्रणम् ।। ७ ।।
अलं भारं गुरुं वोढुं दारुणं चारुदर्शनम् ।
तादृशान्येव सर्वाणि बलवन्ति दृढानि च ।
युधिष्ठिरस्य भीमस्य बीभत्सोर्यमयोस्तथा ।। ८ ।।

‘सम्पूर्ण आयुधोंमें यह सबसे बड़ा है और शत्रुओंको विशेष पीड़ा देनेवाला है। यह सोनेको गलाकर बनाया हुआ, दिव्य, सुन्दर, विस्तृत तथा व्रणरहित (नित्य नूतन) है। यह भारीसे भारी भार वहन करनेमें समर्थ, भयंकर और देखनेमें मनोहर है। ऐसे ही युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवके भी सब धनुष प्रबल और सुदृढ़ हैं ।। ७-८ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनास्त्रकथने चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके प्रसंगमें अर्जुनके द्वारा अस्त्रवर्णनविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४० ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ९½ श्लोक हैं।)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरका अर्जुनके आदेशके अनुसार शमीवृक्षसे पाण्डवोंके दिव्य धनुष आदि उतारना

उत्तर उवाच

अस्मिन् वृक्षे किलोद्बद्धं नः श्रुतम् ।
तदहं राजपुत्रः सन् स्पृशेयं पाणिना कथम् ।। १ ।।

उत्तर बोला—मैंने तो सुन रखा था कि इस वृक्षमें कोई लाश बँधी है, ऐसी दशामें मैं राजकुमार होकर अपने हाथसे उसका स्पर्श कैसे कर सकता हूँ? ।। १ ।।

नैवंविधं मया मुक्तमालब्धुं क्षत्रयोनिना ।
महता राजपुत्रेण मन्त्रयज्ञविदा सता ।। २ ।।

एक तो मैं क्षत्रिय, दूसरे महान् राजकुमार तथा तीसरे मन्त्र और यज्ञोंका ज्ञाता एवं सत्पुरुष हूँ, अतः मुझे ऐसी अपवित्र वस्तुका स्पर्श करना उचित नहीं है ।। २ ।।

स्पृष्टवन्तं शरीरं मां शववाहमिवाशुचिम् ।
कथं वा व्यवहार्यं वै कुर्वीथास्त्वं बृहन्नले ।। ३ ।।

बृहन्नले! यदि मैं शवका स्पर्श कर लूँ, तो मुर्दा ढोनेवालोंकी भाँति अपवित्र हो जाऊँगा; फिर तुम मुझे व्यवहारमें लाने योग्य युद्ध कैसे कर सकोगी? ।। ३ ।।

बृहन्नलोवाच

व्यवहार्यश्च राजेन्द्र शुचिश्चैव भविष्यसि ।
धनूंष्येतानि मा भैस्त्वं शरीरं नात्र विद्यते ।। ४ ।।

बृहन्नलाने कहा—राजेन्द्र! तुम इन धनुषोंको छूकर भी व्यवहारमें लाने योग्य और पवित्र ही रहोगे। डरो मत, ये केवल धनुष हैं; इनमें कोई शव नहीं है ।। ४ ।।

दायादं मत्स्यराजस्य कुले जातं मनस्विनाम् ।
त्वां कथं निन्दितं कर्म कारयेयं नृपात्मज ।। ५ ।।

राजकुमार! तुम मनस्वी पुरुषोंके उत्तम कुलमें उत्पन्न और मत्स्यनरेशके पुत्र हो। भला, मैं तुमसे कोई निन्दित कर्म कैसे करवा सकती हूँ ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स पार्थेन रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ।
आरुरोह शमीवृक्षं वैराटिरवशस्तदा ।। ६ ।।
तमन्वशासच्छत्रुघ्नो रथे तिष्ठन् धनंजयः ।
अवरोपय वृक्षाग्राद् धनूंष्येतानि मा चिरम् ।। ७ ।।

परिवेष्टनमेतेषां क्षिप्रं चैव व्यपानुद ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनके ऐसा कहनेपर कुण्डलधारी विराटपुत्र उत्तर विवश हो रथसे कूदकर शमीवृक्षपर चढ़ गया। तब रथपर बैठे हुए शत्रुनाशक पृथापुत्र धनंजयने शासनके स्वरमें कहा—'इन धनुषोंको जल्दी वृक्षसे नीचे उतारो और इन सबका पत्रमय वेष्टन भी शीघ्र हटा दो' ।। ६-७½ ।।

सोऽपहृत्य महार्हाणि धनूंषि पृथुवक्षसाम् ।
परिवेष्टनपत्राणि विमुच्य समुपानयत् ।। ८ ।।
तथा संनहनान्येषां परिमुच्य समन्ततः ।
अपश्यद् गाण्डिवं तत्र चतुर्भिरपरैः सह ।। ९ ।।

तब उत्तरने विशाल वक्षःस्थलवाले पाण्डवोंके बहुमूल्य धनुषोंको वृक्षके नीचे ले आकर उनपर जो पत्तोंके वेष्टन लगे थे, उन्हें खोलकर हटाया। फिर उन धनुषों तथा उनकी डोरियोंको सब ओरसे खोलकर अर्जुनके पास ले आया। उसमें अन्य चार धनुषोंके साथ रखे हुए गाण्डीव धनुषको उत्तरने देखा ।। ८-९ ।।

तेषां विमुच्यमानानां धनुषामर्कवर्चसाम् ।
विनिश्चेरुः प्रभा दिव्या ग्रहाणामुदयेष्विव ।। १० ।।

वेष्टन खोलनेपर उन सूर्यके समान तेजस्वी धनुषोंकी प्रभा चारों ओर फैल गयी, जैसे उदय होनेपर ग्रहोंका दिव्य प्रकाश सब ओर छा जाता है ।। १० ।।

स तेषां रूपमालोक्य भोगिनामिव जृम्भताम् ।
हृष्टरोमा भयोद्विग्नः क्षणेन समपद्यत ।। ११ ।।
संस्पृश्य तानि चापानि भानुमन्ति बृहन्ति च ।
वैराटिरर्जुनं राजन्निदं वचनमब्रवीत् ।। १२ ।।

जँभाई लेनेके लिये मुँह खोले हुए विशाल सर्पोंकी भाँति उन धनुषोंका रूप देखकर उत्तरके शरीरमें रोमांच हो आया और वह क्षणभरमें भयसे उद्विग्न हो गया। राजन्! तदनन्तर उन प्रभापूर्ण विशाल धनुषोंका स्पर्श करके विराटपुत्र उत्तरने अर्जुनसे इस प्रकार कहा ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अस्त्रावरोपणे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर वृक्षसे अस्त्रोंको उतारनेसे सम्बन्ध रखनेवाला इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४१ ।।

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरका बृहन्नलासे पाण्डवोंके अस्त्र-शस्त्रोंके विषयमें प्रश्न करना

उत्तर उवाच

बिन्दवो जातरूपस्य शतं यस्मिन् निपातिताः ।
सहस्रकोटिसौवर्णाः कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ।। १ ।।

उत्तरने पूछा—बृहन्नले! जिसपर सोनेकी सौ फूलियाँ जड़ी हैं, जिसके दोनों सिरे बहुत ही मजबूत और चमकीले हैं, यह उत्तम धनुष किस यशस्वी वीरका है? ।।

वारणा यत्र सौवर्णाः पृष्ठे भासन्ति दंशिताः ।
सुपार्श्वं सुग्रहं चैव कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ।। २ ।।

जिसकी पीठपर सोनेके प्रकाशमान हाथी सुशोभित हो रहे हैं तथा जिसके दोनों किनारे बड़े सुन्दर और मध्यभाग बहुत ही उत्तम है, यह श्रेष्ठ धनुष किसका है? ।।

तपनीयस्य शुद्धस्य षष्टिर्यस्येन्द्रगोपकाः ।
पृष्ठे विभक्ताः शोभान्ते कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ।। ३ ।।

जिसके पृष्ठभागमें शुद्ध सुवर्णके बने हुए लाल-पीले रंगवाले साठ इन्द्रगोप (वीरबहूटी) नामक कीट पृथक्-पृथक् शोभा पा रहे हैं, यह उत्तम धनुष किसका है? ।। ३ ।।

सूर्या यत्र च सौवर्णास्त्रयो भासन्ति दंशिताः ।
तेजसा प्रज्वलन्तो हि कस्यैत्द धनुरुत्तमम् ।। ४ ।।

जिसमें परस्पर सटे हुए तीन सुवर्णमय सूर्यचिह्न प्रकाशित हो रहे हैं, जो तेजसे मानो प्रज्वलित हैं, यह उत्तम धनुष किसका है? ।। ४ ।।

शलभा यत्र सौवर्णास्तपनीयविभूषिताः ।
सुवर्णमणिचित्रं च कस्यैतद् धनुरुत्तमम् ।। ५ ।।

जिसपर तप्त-सुवर्णभूषित मीनेके फतिंगे शोभा पा रहे हैं तथा जो उत्तम वर्णकी मणियोंसे जटित होनेके कारण विचित्र दिखायी देता है, यह उत्तम धनुष किसका है? ।। ५ ।।

इमे च कस्य नाराचाः साहस्रा लोमवाहिनः ।
समन्तात् कलधौताग्रा उपासंगे हिरण्मये ।। ६ ।।
विपाठाः पृथवः कस्य गार्ध्रपत्राः शिलाशिताः ।
हारिद्रवर्णाः सुमुखाः पीताः सर्वायसाः शराः ।। ७ ।।

ये जो सोनेके तरकसमें सहस्रों नाराच रखे हुए हैं, जिनके सब ओर विशेषतः अग्रभागमें सोनेका पानी चढ़ा है और जो सबके सब पंखवाले हैं, ये किसके उपयोगमें आते हैं? ये मोटे-मोटे विपाठ (स्थूल दण्डवाले बाणविशेष) किसके हैं? इनमें गीधकी पाँखें लगी हुई हैं। इन बाणोंको पत्थरपर रगड़कर तेज किया गया है। इनके रंग हल्दीके समान हैं और अग्रभाग बहुत ही सुन्दर हैं। कारीगरने इनपर भी खूब पानी चढ़ाया है। ये सबके सब लोहेके ही बाण हैं (अर्थात् इनमें नीचे काठका डंडा नहीं लगा है) ।। ६-७ ।।

कस्यायमसितश्चापः पञ्चशार्दूललक्षणः ।
वराहकर्णव्यामिश्रान् शरान् धारयते दश ।। ८ ।।

सिरपर पाँच सिंहोंके चिह्न हैं, ऐसा यह काले रंगका धनुष किसका है? यह तो सूअरके कानके समान नोकवाले दस बाणोंको एक साथ धारण कर सकता है ।। ८ ।।

कस्येमे पृथवो दीर्घाश्चन्द्रबिम्बार्धदर्शनाः ।
शतानि सप्त तिष्ठन्ति नाराचा रुधिराशनाः ।। ९ ।।

ये जो शत्रुओंका रक्त पीनेवाले मोटे, विशाल तथा अर्धचन्द्राकार दिखायी देनेवाले सात सौ नाराच रखे हुए हैं, किसके हैं? ।। ९ ।।

कस्येमे शुकपत्राभैः पूर्वैरर्धैः सुवाससः ।
उत्तरैरायसैः पीतैर्हेमपुङ्खैः शिलाशितैः ।। १० ।।

जिनके पूर्वार्धभाग तोतेकी पाँखके समान रंगवाले और उत्तरार्धभाग सुवर्णमय पंखसे युक्त एवं पीले हैं, जो पत्थरपर घिसकर तेज किये हुए और लोहेके बने हैं, ऐसे ये सुन्दर पाँखवाले बाण किसके हैं? ।। १० ।।

गुरुभारसहो दिव्यः शात्रवाणां भयंकरः ।
कस्यायं सायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिलीमुखः ।। ११ ।।

जिसके पृष्ठभागमें मेढ़कीका चित्र है और जिसका मुखभाग भी मेढ़कीके मुख-सा बना हुआ है, ऐसा यह भारी भार सहन करनेमें समर्थ, दिव्य और शत्रुमण्डलीके लिये भयंकर विशाल खड्ग किसका है? ।। ११ ।।

वैयाघ्रकोशे निहितो हेमचित्रो दुरासदः ।
सुफलश्चित्रकोशश्च किङ्किणीसायको महान् ।। १२ ।।
कस्य हेमत्सरुर्दिव्यः खड्गः परमनिर्मलः ।

जो बाघके चमड़ेकी बनी हुई म्यानके भीतर रखा गया है, जो सुवर्णचित्रित और शत्रुओंके लिये असह्य है, जिसका अग्रभाग भी बहुत ही सुन्दर है, जिसकी म्यानपर चित्रकारी की हुई है, जो घुँघरूदार और विशाल है, वह सोनेकी मूठवाला दिव्य एवं अत्यन्त निर्मल खड्ग किसका है? ।।

कस्यायं विमलः खड्गो गव्ये कोशे समर्पितः ।। १३ ।।
हेमत्सरुरनाधृष्यो नैषध्यो भारसाधनः ।

जिसे गोचर्मकी म्यानमें रखा गया है, जो निषधदेशका बना हुआ है, जिसे कोई तोड़ नहीं सकता, जो भारी भार सह सकता है, वह सोनेकी मूठवाला विमल खड्ग किसका है? ।। १३½ ।।

कस्य पाञ्चनखे कोशे सायको हेमविग्रहः ।। १४ ।।
प्रमाणरूपसम्पन्नः पीत आकाशसंनिभः ।

जिसे बकरेके चमड़ेकी बनी हुई म्यानमें रखा गया है, जो सोनेकी मूठसे युक्त और सुवर्णभूषित स्वरूपवाली है, वह उचित लंबाई-चौड़ाई एवं आकृतिवाली, आकाशके समान नीलोज्ज्वल एवं पानीदार तलवार किसकी है? ।। १४½ ।।

कस्य हेममये कोशे सुतप्ते पावकप्रभे ।। १५ ।।
निस्त्रिंशोऽयं गुरुः पीतः सायकः परनिर्व्रणः ।
कस्यायमसितः खड्गो हेमबिन्दुभिरावृतः ।। १६ ।।
आशीविषसमस्पर्शः परकायप्रभेदनः ।
गुरुभारसहो दिव्यः सपत्नानां भयप्रदः ।। १७ ।।*

जो अग्निके समान प्रकाशमान एवं आगमें तपाये शुद्ध सुवर्णकी बनी हुई म्यानमें सुरक्षित, भारी, पानीदार तथा तीस अंगुलसे बड़ा है, जो स्वर्णबिन्दुओंसे विभूषित तथा काले रंगका है, जिसे शत्रु काट नहीं सकते, जिसका स्पर्श सर्पके समान है, जो शत्रुके शरीरको चीर डालनेवाला, भारी भार सहन करनेमें समर्थ, दिव्य एवं शत्रुओंके लिये भयदायक है, वह खड्ग किसका है? ।।

निर्दिशस्व यथातत्त्वं मया पृष्टा बृहन्नले ।
विस्मयो मे परो जातो दृष्ट्वा सर्वमिदं महत् ।। १८ ।।

बृहन्नले! मैंने जो पूछा है, उसे ठीक-ठीक बताओ। ये सब महान् अस्त्र-शस्त्र देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरवाक्यं नाम द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरवाक्यविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४२ ।।

---

* ये १६, १७ श्लोक अन्य बहुत-सी प्रतियोंमें नहीं हैं, परंतु नीलकंठवाली प्रतिमें हैं, इसलिये यहाँ ले लिये गये हैं। किंतु अगले अध्यायमें जो उत्तर दिया गया है, उससे इन श्लोकोंका मेल नहीं है।

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

बृहन्नलाद्वारा उत्तरको पाण्डवोंके आयुधोंका परिचय कराना

बृहन्नलोवाच

यन्मां पूर्वमिहापृच्छः शत्रुसेनापहारिणम् ।
गाण्डीवमेतत् पार्थस्य लोकेषु विदितं धनुः ।। १ ।।
सर्वायुधमहामात्रं शातकुम्भपरिष्कृतम् ।
एतत् तदर्जुनस्यासीद् गाण्डीवं परमायुधम् ।। २ ।।

बृहन्नला बोली—राजकुमार! तुमने पहले जिसके विषयमें मुझसे प्रश्न किया है, वही यह अर्जुनका विश्वविख्यात गाण्डीव धनुष है, जो शत्रुओंकी सेनाके लिये कालरूप है। यह सब आयुधोंसे विशाल है। इसमें सब ओर सोना मढ़ा है। यही उत्तम आयुध गाण्डीव अर्जुनके पास रहा करता था ।। १-२ ।।

यत् तच्छतसहस्रेण सम्मितं राष्ट्रवर्द्धनम् ।
येन देवान् मनुष्यांश्च पार्थो विजयते मृधे ।। ३ ।।
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः श्लक्ष्णमायतमव्रणम् ।
देवदानवगन्धर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः ।। ४ ।।

यह अकेला ही एक लाख धनुषोंकी बराबरी करनेवाला तथा अपने राष्ट्रको बढ़ानेवाला है। पृथापुत्र अर्जुन इसीके द्वारा युद्धमें मनुष्यों तथा देवताओंपर विजय पाते आ रहे हैं। हलके-गहरे अनेक प्रकारके रंगोंसे इसकी विचित्र शोभा होती है। यह चिकना, चमकदार और विस्तृत है। इसमें कहीं कोई चोटका चिह्न नहीं आया है। देवताओं, दानवों तथा गन्धर्वोंने इसका बहुत वर्षोंतक पूजन किया है ।। ३-४ ।।

एतद् वर्षसहस्रं तु ब्रह्मा पूर्वमधारयत् ।
ततोऽनन्तरमेवाथ प्रजापतिरधारयत् ।। ५ ।।
त्रीणि पञ्चशतं चैव शक्रोऽशीति च पञ्च च ।
सोमः पञ्चशतं राजा तथैव वरुणः शतम् ।
पार्थः पञ्च च षष्टिं च वर्षाणि श्वेतवाहनः ।। ६ ।।

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इसे एक हजार वर्षोंतक धारण किया था। तदनन्तर प्रजापतिने पाँच सौ तीन वर्षोंतक इसे अपने पास रखा। फिर इन्द्रने पचासी वर्षोंतक रखा। इन्द्रके बाद सोमने पाँच सौ तथा राजा वरुणने सौ वर्षोंतक इसे धारण किया। तत्पश्चात् श्वेतवाहन अर्जुन पैंसठ वर्षोंसे इसे धारण करते चले आ रहे हैं ।। ५-६ ।।

महावीर्यं महादिव्यमेतत् तद् धनुरुत्तमम् ।
एतत् पार्थमनुप्राप्तं वरुणाच्चारुदर्शनम् ।। ७ ।।

यह सर्वोत्तम धनुष देखनेमें बड़ा ही मनोहर है। इसके द्वारा महान् पराक्रम प्रकट होता है। अर्जुनको यह महादिव्य धनुष साक्षात् वरुणदेवसे प्राप्त हुआ था ।। ७ ।।

पूजितं सुरमर्त्येषु बिभर्ति परमं वपुः ।
सुपार्श्वं भीमसेनस्य जातरूपग्रहं धनुः ।
येन पार्थोऽजयत् कृत्स्नां दिशं प्राचीं परंतपः ।। ८ ।।

तथा दूसरा देवताओं और मनुष्योंमें पूजित उत्कृष्ट रूप धारण करनेवाला धनुष भीमसेनका है, जिसके दोनों किनारे बड़े सुन्दर हैं और मध्यभागमें सोना मढ़ा हुआ है। यह वही धनुष है, जिससे शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार भीमसेनने सम्पूर्ण प्राचीदिशापर विजय पायी थी ।। ८ ।।

इन्द्रगोपकचित्रं च यदेतच्चारुदर्शनम् ।
राज्ञो युधिष्ठिरस्यैतद् वैराटे धनुरुत्तमम् ।। ९ ।।

उत्तर! जिसके ऊपर 'इन्द्रगोप' (वीरबहूटी) नामक कीटोंका चित्र है और जो देखनेमें मनोहर है, वही यह उत्तम धनुष राजा युधिष्ठिरका है ।। ९ ।।

सूर्या यस्मिंस्तु सौवर्णाः प्रकाशन्ते प्रकाशिनः ।
तेजसा प्रज्वलन्तो वै नकुलस्यैतदायुधम् ।। १० ।।

जिसमें सुवर्णके बने हुए प्रकाशपूर्ण सूर्य प्रकाशित हो रहे हैं और जो तेजसे जाज्वल्यमान जान पड़ते हैं, वही यह नकुलका आयुध है ।। १० ।।

शलभा यत्र सौवर्णास्तपनीयविचित्रिताः ।
एतन्माद्रीसुतास्यापि सहदेवस्य कार्मुकम् ।। ११ ।।

जिसके ऊपर सुवर्णजटित मीनेके फतिंगे सुशोभित हैं, वही यह माद्रीनन्दन सहदेवका धनुष है ।। ११ ।।

ये त्विमे क्षुरसंकाशाः सहस्रा लोमवाहिनः ।
एतेऽर्जुनस्य वैराटे शराः सर्पविषोपमाः ।। १२ ।।

विराटपुत्र! ये जो छुरेके समान मजबूत और चमकीले बाण हैं, जिनमें पंख लगे हुए हैं और जो साँपोंके विषके समान प्रभाव रखते हैं, ये सब अर्जुनके ही हैं ।। १२ ।।

एते ज्वलन्तः संग्रामे तेजसा शीघ्रगामिनः ।
भवन्ति वीरस्याक्षय्या व्यूहतः समरे रिपून् ।। १३ ।।

ये युद्धमें तेजसे प्रकाशित होकर बड़ी तेजीसे शत्रुपर आघात करते हैं। रणमें शत्रुओंपर बाणवर्षा करनेवाले वीरके लिये भी इन बाणोंका काटना असम्भव है ।। १३ ।।

ये चेमे पृथवो दीर्घाश्चन्द्रबिम्बार्धदर्शनाः ।
एते भीमस्य निशिता रिपुक्षयकराः शराः ।। १४ ।।

हारिद्रवर्णा ये त्वेते हेमपुङ्खाः शिलाशिताः ।

ये जो मोटे, विशाल और अर्धचन्द्राकार दिखायी देते हैं; वे भीमसेनके तीखे बाण हैं, जो शत्रुओंका संहार कर डालते हैं। ये हल्दीके समान रंगवाले और सुनहरी पाँखोंसे सुशोभित हैं। इन्हें पत्थरपर रगड़कर तेज किया गया है ।। १४½ ।।

नकुलस्य कलापोऽयं पञ्चशार्दूललक्षणः ।। १५ ।।

येनासौ व्यजयत् कृत्स्नां प्रतीचीं दिशमाहवे ।

कलापो ह्येष तस्यासीन्माद्रीपुत्रस्य धीमतः ।। १६ ।।

जिसपर पाँच सिंहोंके चिह्न हैं, वही यह नकुलका ‘कलाप’ (तरकस) है, जिससे उन्होंने युद्धमें सम्पूर्ण पश्चिमदिशापर विजय पायी थी। उस समय बुद्धिमान् माद्रीपुत्र नकुलके पास यही कलाप था ।। १५-१६ ।।

ये त्विमे भास्कराकाराः सर्वपारसवाः शराः ।

एते चित्रक्रियोपेताः सहदेवस्य धीमतः ।। १७ ।।

और ये जो सूर्यके समान आकृतिवाले चमकीले बाण हैं, इनके द्वारा सम्पूर्ण शत्रुसमूहोंका विनाश होता है। विचित्र क्रियाशक्तिसे सम्पन्न ये सभी बाण बुद्धिमान् सहदेवके हैं ।। १७ ।।

ये त्विमे निशिताः पीताः पृथवो दीर्घवाससः ।

हेमपुङ्खास्त्रिपर्वाणो राज्ञ एते महाशराः ।। १८ ।।

ये जो तीखे, पानीदार, मोटे और बड़ी-बड़ी पाँखोंवाले तीन पर्वोंके बाण हैं और जिनकी पाँखें सोनेकी बनी हुई हैं; ये सब राजा युधिष्ठिके महान् शर हैं ।। १८ ।।

यस्त्वयं सायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिलीमुखः ।

अर्जुनस्यैष संग्रामे गुरुभारसहो दृढः ।। १९ ।।

जिसके पृष्ठभागमें मेढकीका चित्र है और जिसका मुखभाग भी मेढकीके मुखके समान ही बना हुआ है, यह विशाल खड्ग अर्जुनका है। यह युद्धभूमिमें भारी आघातको सह सकनेमें समर्थ और मजबूत है ।। १९ ।।

वैयाघ्रकोशः सुमहान् भीमसेनस्य सायकः ।

गुरुभारसहो दिव्यः शात्रवाणां भयंकरः ।। २० ।।

जिसकी म्यान व्याघ्रचर्मकी बनी हुई है, वह महान् खड्ग भीमसेनका है। यह भी गुरुतर भार सहन करनेवाला, दिव्य एवं शत्रुओंके लिये भयंकर है ।। २० ।।

सुफलश्चित्रकोशश्च हेमत्सरुरनुत्तमः ।

निस्त्रिंशः कौरवस्यैष धर्मराजस्य धीमतः ।। २१ ।।

जिसकी धार सुन्दर एवं पतली है, जिसकी म्यान विचित्र और मूठ सोनेकी है, वह तीस अंगुलसे बड़ा सर्वोत्तम खड्ग परम बुद्धिमान् कुरुनन्दन धर्मराजका है ।।

यस्तु पाञ्चनखे कोशे निहितश्चित्रयोधने ।

नकुलस्यैष निस्त्रिंशो गुरुभारसहो दृढः ।। २२ ।।

जो बकरेके चमड़ेकी बनी हुई म्यानमें बंद है तथा नाना प्रकारके युद्धोंमें शस्त्रोंका भारी आघात सहन करनेमें समर्थ और मजबूत है, वह यह नकुलका खड्ग है ।।

यस्त्वयं विपुलः खड्गो गव्ये कोशे समर्पितः ।
सहदेवस्य विद्धयेनं सर्वभारसहं दृढम् ।। २३ ।।

और यह जो गोचर्मकी म्यानमें रखा गया है, यह सहदेवका विशाल खड्ग है। इसे सब प्रकारके अघात-प्रत्याघात सहनेमें समर्थ और सुदृढ़ जानो ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे आयुधवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर आयुधवर्णनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४३ ।।

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरकुमारसे अपना और अपने भाइयोंका यथार्थ परिचय देना

उत्तर उवाच

सुवर्णविकृतानीमान्यायुधानि महात्मनाम् ।
रुचिराणि प्रकाशन्ते पार्थानामाशुकारिणाम् ।। १ ।।
क्व नु स्विदर्जुनः पार्थः कौरव्यो वा युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ।। २ ।।

उत्तरने पूछा—बृहन्नले! रणमें फुर्ती दिखानेवाले जिन महात्मा कुन्तीपुत्रोंके ये सुवर्णभूषित सुन्दर आयुध इतने प्रकाशित हो रहे हैं, वे पृथापुत्र अर्जुन, कुरुनन्दन युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव और पाण्डुपुत्र भीमसेन अब कहाँ हैं? ।। १-२ ।।

सर्व एव महात्मानः सर्वामित्रविनाशनाः ।
राज्यमक्षैः पराकीर्य न श्रूयन्ते कथंचन ।। ३ ।।

सम्पूर्ण शत्रुओंका नाश करनेवाले वे सभी महात्मा जूएद्वारा अपना राज्य हारकर कहाँ गये? जिससे कहीं किसी प्रकार भी उनके विषयमें कुछ सुननेमें नहीं आता? ।। ३ ।।

द्रौपदी क्व च पाञ्चाली स्त्रीरत्नमिति विश्रुता ।
जितानक्षैस्तदा कृष्णा तानेवान्वगमद् वनम् ।। ४ ।।

पांचालदेशकी राजकुमारी द्रौपदी स्त्रीरत्नके रूपमें विख्यात है। वह कहाँ है? सुना है, जब पाण्डव जूएमें हार गये, तब द्रुपदकुमारी कृष्णा भी उन्हींके साथ वनमें चली गयी थी ।। ४ ।।

अर्जुन उवाच

अहमस्म्यर्जुनः पार्थः सभास्तारो युधिष्ठिरः ।
बल्लवो भीमसेनस्तु पितुस्ते रसपाचकः ।। ५ ।।

अर्जुनने कहा—राजकुमार! मैं ही पृथापुत्र अर्जुन हूँ। राजाकी सभाके माननीय सदस्य कंक ही युधिष्ठिर हैं। बल्लव भीमसेन हैं, जो तुम्हारे पिताके भोजनालयमें रसोइयेका काम करते हैं ।। ५ ।।

अश्वबन्धोऽथ नकुलः सहदेवस्तु गोकुले ।
सैरन्ध्रीं द्रौपदीं विद्धि यत्कृते कीचका हताः ।। ६ ।।

अश्वोंकी देखभाल करनेवाले ग्रन्थिक नकुल हैं और गोशालाके अध्यक्ष तन्तिपाल सहदेव। सैरन्ध्रीको ही द्रौपदी समझो, जिसके कारण सभी कीचक मारे गये हैं ।। ६ ।।

उत्तर उवाच

दश पार्थस्य नामानि यानि पूर्वं श्रुतानि मे ।
प्रब्रूयास्तानि यदि मे श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ।। ७ ।।

उत्तर बोला—मैंने पहलेसे जो अर्जुनके दस नाम सुन रखे हैं, उन्हें यदि तुम बता दो तो मैं तुम्हारी सारी बातोंपर विश्वास कर सकता हूँ ।। ७ ।।

अर्जुन उवाच

हन्त तेऽहं समाचक्षे दश नामानि यानि मे ।
वैराटे शृणु तानि त्वं यानि पूर्वं श्रुतानि ते ।। ८ ।।

अर्जुनने कहा—विराटपुत्र! मेरे जो दस नाम हैं और जिन्हें तुमने पहलेसे ही सुन रखा है, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ।। ८ ।।

एकाग्रमानसो भूत्वा शृणु सर्वं समाहितः ।
अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः ।
बीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यसाची धनंजयः ।। ९ ।।

एकाग्रचित्त हो सावधानीके साथ सबको सुनना। (वे नाम ये हैं—) अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु, किरीटी, श्वेतवाहन, बीभत्सु, विजय, कृष्ण, सव्यसाची और धनंजय ।। ९ ।।

उत्तर उवाच

केनासि विजयो नाम केनासि श्वेतवाहनः ।
किरीटी नाम केनासि सव्यसाची कथं भवान् ।। १० ।।

उत्तरने पूछा—किस कारणसे आपका नाम विजय हुआ और किसलिये आप श्वेतवाहन कहलाते हैं? आपके किरीटी नाम धारण करनेका क्या कारण है? और आप सव्यसाची नामसे कैसे प्रसिद्ध हुए? ।। १० ।।

अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः कृष्णो बीभत्सुरेव च ।
धनंजयश्च केनासि ब्रूहि तन्मम तत्त्वतः ।। ११ ।।

इसी प्रकार आपके अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु, कृष्ण, बीभत्सु और धनंजय नाम पड़नेका भी क्या कारण है? यह सब मुझे ठीक-ठीक बताइये ।। ११ ।।

श्रुता मे तस्य वीरस्य केवला नामहेतवः ।
तत् सर्वं यदि मे ब्रूयाः श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ।। १२ ।।

वीर अर्जुनके विभिन्न नाम पड़नेके जो प्रधान हेतु हैं, वे सब मैंने सुन रखे हैं। उन सबको यदि आप बता देंगे तो आपकी सब बातोंपर मेरा विश्वास हो जायगा ।।

अर्जुन उवाच

सर्वान् जनपदान् जित्वा वित्तमादाय केवलम् ।

मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मां धनंजयम् ।। १३ ।।

अर्जुनने कहा—मैं सम्पूर्ण देशोंको जीतकर और उनसे (कररूपमें) केवल धन लेकर धनके ही बीचमें स्थित था, इसलिये लोग मुझे 'धनंजय' कहते हैं ।। १३ ।।

अभिप्रयामि संग्रामे यदहं युद्धदुर्मदान् ।
नाजित्वा विनिवर्तामि तेन मां विजयं विदुः ।। १४ ।।

जब मैं संग्रामभूमिमें रणोन्मत्त योद्धाओंका सामना करनेके लिये जाता हूँ, तब उन्हें परास्त किये बिना कभी नहीं लौटता। इसीलिये वीर पुरुष मुझे 'विजय' के नामसे जानते हैं ।। १४ ।।

श्वेताः काञ्चनसंनाहा रथे युज्यन्ति मे हयाः ।
संग्रामे युध्यमानस्य तेनाहं श्वेतवाहनः ।। १५ ।।
उत्तराभ्यां फल्गुनीभ्यां नक्षत्राभ्यामहं दिवा ।
जातो हिमवतः पृष्ठे तेन मां फाल्गुनं विदुः ।। १६ ।।

संग्राममें युद्ध करते समय मेरे रथमें सोनेके बख्तरसे सजे हुए श्वेत रंगके घोड़े जोते जाते हैं, इसलिये मेरा नाम 'श्वेतवाहन' हुआ है तथा हिमालयके शिखरपर उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें दिनके समय मेरा जन्म हुआ था; इसलिये मुझे 'फाल्गुन' कहते हैं ।। १५-१६ ।।

पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः ।
किरीटं मुर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम् ।। १७ ।।

पूर्वकालमें बड़े-बड़े दानव वीरोंके साथ युद्ध करते समय देवराज इन्द्रने मेरे मस्तकपर सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाला किरीट रख दिया था; इसीलिये मुझे 'किरीटी' कहते हैं ।। १७ ।।

न कुर्यां कर्म बीभत्सं युध्यमानः कथंचन ।
तेन देवमनुष्येषु बीभत्सुरिति विश्रुतः ।। १८ ।।

युद्ध करते समय मैं किसी प्रकार भी बीभत्स (घृणित) कर्म नहीं करता; इसीलिये देवताओं और मनुष्योंमें मेरी 'बीभत्सु' नामसे प्रसिद्धि हुई है ।। १८ ।।

उभौ मे दक्षिणौ पाणी गाण्डीवस्य विकर्षणे ।
तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः ।। १९ ।।

मेरा बाँया और दाहिना दोनों हाथ गाण्डीव धनुषकी डोरी खींचनेमें समर्थ हैं, इसलिये देवताओं और मनुष्योंमें लोग मुझे 'सव्यसाची' समझते हैं ।। १९ ।।

पृथिव्यां चतुरन्तायां वर्णो मे दुर्लभः समः ।
करोमि कर्म शुक्लं च तस्मान्मामर्जुनं विदुः ।। २० ।।

(अर्जुन शब्दके तीन अर्थ हैं—वर्ण या दीप्ति, ऋजुता या समता, धवल या शुद्ध।) चारों ओर समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर मेरे-जैसी दीप्ति दुर्लभ है। मैं सबके प्रति समभाव रखता हूँ और शुद्ध कर्म करता हूँ। इसी कारण विज्ञ पुरुष मुझे 'अर्जुन' के नामसे जानते हैं ।। २० ।।

अहं दुरापो दुर्धर्षो दमनः पाकशासनिः ।
तेन देवमनुष्येषु जिष्णुर्नामास्मि विश्रुतः ।। २१ ।।
कृष्ण इत्येव दशमं नाम चक्रे पिता मम ।
कृष्णावदातस्य ततः प्रियत्वाद् बालकस्य वै ।। २२ ।।

मुझे पकड़ना या तिरस्कृत करना बहुत कठिन है। मैं इन्द्रका पुत्र एवं शत्रुदमन विजयी वीर हूँ, इसलिये देवताओं और मनुष्योंमें 'जिष्णु' नामसे मेरी ख्याति हुई है। (कृष्णशब्दका अर्थ है—श्यामवर्ण तथा मनको आकर्षित करनेवाला) मेरे शरीरका रंग कृष्ण-गौर है तथा बाल्यावस्थामें चित्ताकर्षक होनेके कारण मैं पिताजीको बहुत प्रिय था। अतः मेरे पिताने ही मेरा दसवाँ नाम 'कृष्ण' रखा था ।। २१-२२ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः स पार्थं वैराटिरभ्यवादयदन्तिकात् ।
अहं भूमिंजयो नाम नाम्नाहमपि चोत्तरः ।। २३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर विराटपुत्र उत्तरने निकट जाकर अर्जुनके चरणोंमें प्रणाम किया और बोला—'मेरा नाम भूमिंजय तथा उत्तर भी है ।।

दिष्ट्या त्वां पार्थ पश्यामि स्वागतं ते धनंजय ।
लोहिताक्ष महाबाहो नागराजकरोपम ।। २४ ।।

'कुन्तीनन्दन! मेरा सौभाग्य है कि मुझे आपका दर्शन मिला। धनंजय! आपका स्वागत है। महाबाहो! आपके नेत्र लाल हैं और बाहुदण्ड गजराजके शुण्डको लज्जित कर रहे हैं ।। २४ ।।

यदज्ञानादवोचं त्वां क्षन्तुमर्हसि तन्मम ।
यतस्त्वया कृतं पूर्वं चित्रं कर्म सुदुष्करम् ।
अतो भयं व्यतीतं मे प्रीतिश्च परमा त्वयि ।। २५ ।।

'मैंने अज्ञानवश आपसे जो अनुचित बात कह दी हो, उसे आप क्षमा करेंगे। पूर्वकालमें आपने अत्यन्त दुष्कर और अद्भुत कार्य किये हैं, इसलिये आपका संरक्षण पाकर मेरा भय दूर हो गया है और आपके प्रति मेरा प्रेम बहुत बढ़ गया है ।। २५ ।।

(दासोऽहं ते भविष्यामि पश्य मामनुकम्पया ।
या प्रतिज्ञा कृता पूर्वं तव सारथ्यकर्मणि ।।
मनः स्वास्थ्यं च मे जातं जातं भाग्यं च मे महत् ।)

'पार्थ! मैं आपका दास होऊँगा। आप मेरी ओर कृपापूर्ण दृष्टिसे देखें। मैंने आपके सारथिका कार्य करनेके लिये पहले जो प्रतिज्ञा की थी, उसके लिये अब मेरा मन स्वस्थ हो गया है। मेरा महान् सौभाग्य प्रकट हुआ है (जिससे मुझे आपकी सेवाका यह शुभ अवसर प्राप्त हो रहा है)'।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनपरिचये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर अर्जुनपरिचयसम्बन्धी चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४४ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं।)

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा युद्धकी तैयारी, अस्त्र-शस्त्रोंका स्मरण, उनसे वार्तालाप तथा उत्तरके भयका निवारण

उत्तर उवाच

आस्थाय रुचिरं वीर रथं सारथिना मया ।
कतमं यास्यसेऽनीकमुक्तो यास्याम्यहं त्वया ।। १ ।।

उत्तर बोला—वीरवर! आप सुन्दर रथपर आरूढ़ हो मुझ सारथिके साथ किस सेनाकी ओर चलेंगे? आप जहाँ चलनेके लिये आज्ञा देंगे, वहीं मैं आपके साथ चलूँगा ।। १ ।।

अर्जुन उवाच

प्रीतोऽस्मि पुरुषव्याघ्र न भयं विद्यते तव ।
सर्वान् नुदामि ते शत्रून् रणे रणविशारद ।। २ ।।

अर्जुनने कहा—पुरुषसिंह! अब तुम्हें कोई भय नहीं रहा, यह जानकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। रणकर्ममें कुशल वीर! मैं तुम्हारे सब शत्रुओंको अभी मार भगाता हूँ ।।

स्वस्थो भव महाबाहो पश्य मां शत्रुभिः सह ।
युध्यमानं विमर्देऽस्मिन् कुर्वाणं भैरवं महत् ।। ३ ।।

महाबाहो! तुम स्वस्थचित्त (निश्चिन्त) हो जाओ और इस संग्राममें मुझे शत्रुओंके साथ युद्ध तथा अत्यन्त भयंकर पराक्रम करते देखो ।। ३ ।।

एतान् सर्वानुपासङ्गान् क्षिप्रं बध्नीहि मे रथे ।
एकं चाहर निस्त्रिंशं जातरूपपरिष्कृतम् ।। ४ ।।

मेरे इन सब तरकसोंको शीघ्र रथमें बाँध दो और एक सुवर्णभूषित खड्ग भी ले आओ ।। ४ ।।

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा त्वरावानुत्तरस्तदा ।
अर्जुनस्यायुधान् गृह्य शीघ्रेणावातरत् ततः ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनका यह कथन सुनकर उत्तर उतावला हो अर्जुनके सब आयुधोंको लेकर शीघ्रतापूर्वक वृक्षसे उतर आया ।। ५ ।।

अर्जुन उवाच

अहं वै कुरुभिर्योत्स्याम्यवजेष्यामि ते पशून् ।। ६ ।।

अर्जुन बोले—मैं कौरवोंसे युद्ध करूँगा और तुम्हारे पशुओंको जीत लूँगा ।। ६ ।।

संकल्पपक्षविक्षेपं बाहुप्राकारतोरणम् ।
त्रिदण्डतूणसम्बाधमनेकध्वजसंकुलम् ।। ७ ।।
ज्याक्षेपणं क्रोधकृतं नेमीनिनददुन्दुभि ।
नगरं ते मया गुप्तं रथोपस्थं भविष्यति ।। ८ ।।

मुझसे सुरक्षित होकर रथका यह ऊपरी भाग ही तुम्हारे लिये नगर हो जायगा। इस रथके जो धुरी-पहिये आदि अंग हैं, उनकी सुदृढ़ कल्पना ही नगरकी गलियोंके दोनों भागोंमें बने हुए गृहोंका विस्तार है। मेरी दोनों भुजाएँ ही चहारदीवारी और नगरद्वार हैं। इस रथमें जो त्रिदण्ड (हरिस और उसके अगल-बगलकी लकड़ियाँ) तथा तूणीर आदि हैं, वे किसीको यहाँतक फटकने नहीं देंगे। जैसे नगरमें हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथी—इन त्रिविध सेनाओं तथा आयुधोंके कारण उसके भीतर दूसरोंका प्रवेश करना असम्भव होता है। नगरमें जैसे बहुत-सी ध्वजा-पताकाएँ फहराती हैं, उसी प्रकार इस रथमें भी फहरा रही हैं। धनुषकी प्रत्यञ्चा ही नगरमें लगी हुई तोपकी नली है, जिसका क्रोधपूर्वक उपयोग होता है और रथके पहियोंकी घर्घराहटको ही नगरमें बजनेवाले नगाड़ोंकी आवाज समझो ।। ७-८ ।।

अधिष्ठितो मया संख्ये रथो गाण्डीवधन्वना ।
अजेयः शत्रुसैन्यानां वैराटे व्येतु ते भयम् ।। ९ ।।

जब मैं युद्धभूमिमें गाण्डीव धनुष लेकर रथपर सवार होऊँगा, उस समय शत्रुओंकी सेनाएँ मुझे जीत नहीं सकेंगी; अतः विराटनन्दन! तुम्हारा भय अब दूर हो जाना चाहिये ।। ९ ।।

उत्तर उवाच

बिभेमि नाहमेतेषां जानामि त्वां स्थिरं युधि ।
केशवेनापि संग्रामे साक्षादिन्द्रेण वा समम् ।। १० ।।

उत्तरने कहा—अब मैं उनसे नहीं डरता; क्योंकि मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि आप संग्रामभूमिमें भगवान् श्रीकृष्ण और साक्षात् इन्द्रके समान स्थिर रहनेवाले हैं ।।

इदं तु चिन्तयन्नेवं परिमुह्यामि केवलम् ।
निश्चयं चापि दुर्मेधा न गच्छामि कथंचन ।। ११ ।।

केवल इसी एक बातको सोचकर मैं ऐसे मोहमें पड़ जाता हूँ कि बुद्धि अच्छी न होनेके कारण किसी तरह भी किसी निश्चयतक नहीं पहुँच पाता ।। ११ ।।

एवं युक्ताङ्गरूपस्य लक्षणैः सूचितस्य च ।
केन कर्मविपाकेन क्लीबत्वमिदमागतम् ।। १२ ।।

(वह चिन्ता इस प्रकार है—) आपका एक-एक अवयव तथा रूप सब प्रकारसे उपयुक्त है। आप लक्षणोंद्वारा भी अलौकिक सूचित हो रहे हैं। ऐसी दशामें भी किस कर्मके परिणामसे आपको यह नपुंसकता प्राप्त हुई है? ।। १२ ।।

मन्ये त्वां क्लीबवेषेण चरन्तं शूलपाणिनम् ।
गन्धर्वराजप्रतिमं देवं वापि शतक्रतुम् ।। १३ ।।

मैं तो नपुंसकवेषमें विचरनेवाले आपको शूलपाणि भगवान् शंकरका स्वरूप मानता हूँ अथवा गन्धर्वराजके समान या साक्षात् देवराज इन्द्र समझता हूँ ।। १३ ।।

अर्जुन उवाच

(उर्वशीशापसम्भूतं क्लैब्यं मां समुपस्थितम् ।
पुराहमाज्ञया भ्रातुर्ज्येष्ठस्यास्मि सुरालयम् ।।
प्राप्तवानुर्वशी दृष्टा सुधर्मायां मया तदा ।
नृत्यन्ती परमं रूपं बिभ्रती वज्रिसंनिधौ ।।
अपश्यंस्तामनिमिषं कूटस्थामन्वयस्य मे ।
रात्रौ समागता मह्यं शयानं रन्तुमिच्छया ।।
अहं तामभिवाद्यैव मातृसत्कारमाचरम् ।
सा च मामशपत् क्रुद्धा शिखण्डी त्वं भवेरिति ।।
श्रुत्वा तमिन्द्रो मामाह मा भैस्त्वं पार्थ षण्ढतः ।
उपकारो भवेत् तुभ्यमज्ञातवसतौ पुरा ।।
इतीन्द्रो मामनुग्राह्य ततः प्रेषितवान् वृषा ।
तदिदं समनुप्राप्तं व्रतं तीर्णं मयानघ ।।)

अर्जुन बोले—महाबाहो! उर्वशीके शापसे मुझे यह नपुंसकभाव प्राप्त हुआ है। पूर्वकालमें मैं अपने बड़े भाईकी आज्ञासे देवलोकमें गया था। वहाँ सुधर्मा नामक सभामें मैंने उस समय उर्वशी अप्सराको देखा। वह परम सुन्दर रूप धारण करके वज्रधारी इन्द्रके समीप नृत्य कर रही थी। मेरे वंशकी मूलहेतु (जननी) होनेके कारण मैं उसे अपलक नेत्रोंसे देखने लगा। तब वह रातमें सोते समय रमणकी इच्छासे मेरे पास आयी, परंतु मैंने उसे प्रणाम करके (उसकी इच्छाकी पूर्ति न करके) उसका माताके समान सत्कार किया। तब उसने कुपित होकर मुझे शाप दे दिया—‘तुम नपुंसक हो जाओ।’ तब इन्द्रने वह शाप सुनकर मुझसे कहा—‘पार्थ! तुम नपुंसक होनेसे डरो मत। यह तुम्हारे लिये अज्ञातवासके समय उपकारक होगा।’ इस प्रकार देवराज इन्द्रने मुझपर अनुग्रह करके यह आश्वासन दिया और स्वर्गलोकसे यहाँ भेजा। अनघ! वही यह व्रत प्राप्त हुआ था, जिसको मैंने पूरा किया है।

भ्रातुर्नियोगाज्ज्येष्ठस्य संवत्सरमिदं व्रतम् ।

चरामि व्रतचर्यं च सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। १४ ।।
नास्मि क्लीबो महाबाहो परवान् धर्मसंयुतः ।
समाप्तव्रतमुत्तीर्णं विद्धि मां त्वं नृपात्मज ।। १५ ।।

महाबाहो! मैं बड़े भाईकी आज्ञासे इस वर्ष एक व्रतका पालन कर रहा था। उस व्रतकी जो दिनचर्या है, उसके अनुसार मैं नपुंसक बनकर रहा हूँ। मैं तुमसे यह सच्ची बात कह रहा हूँ। वास्तवमें मैं नपुंसक नहीं हूँ; भाईकी आज्ञाके अधीन होकर धर्मके पालनमें तत्पर रहा हूँ। राजकुमार! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि अब मेरा व्रत समाप्त हो गया है; अतः मैं नपुंसकभावके कष्टसे भी मुक्त हो चुका हूँ ।। १४-१५ ।।

उत्तर उवाच

परमोऽनुग्रहो मेऽद्य यतस्तर्को न मे वृथा ।
न हीदृशाः क्लीबरूपा भवन्ति तु नरोत्तम ।। १६ ।।

उत्तरने कहा—नरश्रेष्ठ! आज मुझपर आपने बड़ा अनुग्रह किया, जो मुझे सब बात बता दी। ऐसे लक्षणोंवाले पुरुष नपुंसक नहीं होते, इस प्रकार जो मेरे मनमें तर्क उठ रहा था, वह व्यर्थ नहीं था ।। १६ ।।

सहायवानस्मि रणे युध्येयममरैरपि ।
साध्वसं हि प्रणष्टं मे किं करोमि ब्रवीहि मे ।। १७ ।।
अहं ते संग्रहीष्यामि हयान् शत्रुरथारुजान् ।
शिक्षितो ह्यस्मि सारथ्ये तीर्थतः पुरुषर्षभ ।। १८ ।।

अब तो मुझे आपकी सहायता मिल गयी है; अतः युद्धभूमिमें देवताओंका भी सामना कर सकता हूँ। मेरा सारा भय नष्ट हो गया। बताइये, अब मैं क्या करूँ? पुरुषप्रवर! मैंने गुरुसे सारथ्यकर्मकी शिक्षा प्राप्त की है; इसलिये आपके घोड़ोंको, जो शत्रुके रथका नाश करनेवाले हैं, मैं काबूमें रखूँगा ।। १७-१८ ।।

दारुको वासुदेवस्य यथा शक्रस्य मातलिः ।
तथा मां विद्धि सारथ्ये शिक्षितं नरपुङ्गव ।। १९ ।।

नरपुंगव! जैसे भगवान् वासुदेवका सारथि दारुक और इन्द्रका सारथि मातलि है, उसी प्रकार मुझे भी आप सारथिके कार्यमें पूर्ण शिक्षित मानिये ।। १९ ।।

यस्य याते न पश्यन्ति भूमौ क्षिप्तं पदं पदम् ।
दक्षिणां यो धुरं युक्तः सुग्रीवसदृशो हयः ।। २० ।।

जो घोड़ा दाहिनी धुरीमें जोता गया है तथा जिसके जाते समय लोग यह नहीं देख पाते कि उसने कब कहाँ पृथ्वीपर पैर रखा या उठाया है, यह (भगवान् श्रीकृष्णके चार अश्वोंमेंसे) सुग्रीव नामक घोड़ेके समान है ।। २० ।।

योऽयं धुरं धुर्यवरो वामां वहति शोभनः ।

तं मन्ये मेघपुष्पस्य जवेन सदृशं हयम् ।। २१ ।।

और भार ढोनेवालोंमें श्रेष्ठ जो यह सुन्दर अश्व बाँयीं धुरीका भार वहन करता है, उसे वेगमें मेघपुष्प नामक अश्वके समान मानता हूँ ।। २१ ।।

योऽयं काञ्चनसंनाहः पार्ष्णिं वहति शोभनः ।
समं शैब्यस्य तं मन्ये जवेन बलवत्तरम् ।। २२ ।।

यह जो सोनेके बख्तरसे सजा हुआ सुन्दर अश्व बाँयीं ओर पिछला जुआ ढो रहा है, इसे वेगमें मैं शैब्य नामक अश्वके समान अत्यन्त बलवान् मानता हूँ ।। २२ ।।

योऽयं वहति मे पार्ष्णिं दक्षिणामभितः स्थितः ।
बलाहकादपि मतः स जवे वीर्यवत्तरः ।। २३ ।।

और यह जो दाहिने भागका पिछला जुआ धारण करके खड़ा है, वह वेगमें बलाहक नामवाले अश्वसे भी अधिक समझा गया है ।। २३ ।।

त्वामेवायं रथो वोढुं संग्रामेऽर्हति धन्विनम् ।
त्वं चेमं रथमास्थाय योद्धुमर्हो मतो मम ।। २४ ।।

यह रथ आप-जैसे धनुर्धर वीरको ही वहन करने योग्य है और मेरी रायमें आप इसी रथपर बैठकर युद्ध करने योग्य हैं ।। २४ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो विमुच्य बाहुभ्यां वलयानि स वीर्यवान् ।
चित्र काञ्चनसंनाहे प्रत्यमुञ्चत् तदा तले ।। २५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पराक्रमी अर्जुनने हाथोंसे कड़े और चूड़ियाँ उतार दीं और हथेलियोंमें सोनेके बने हुए विचित्र कवच धारण कर लिये ।। २५ ।।

कृष्णान् भङ्गिमतः केशान् श्वेतेनोद्ग्रथ्य वाससा ।
अथासौ प्राङ्मुखो भूत्वा शुचिः प्रयतमानसः ।
अभिदध्यौ महाबाहुः सर्वास्त्राणि रथोत्तमे ।। २६ ।।

फिर उन्होंने काले-काले घुँघराले केशोंको श्वेत वस्त्रसे बाँध दिया और पूर्वकी ओर मुँह करके पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो महाबाहु धनंजयने उस श्रेष्ठ रथपर सम्पूर्ण अस्त्रोंका ध्यान किया ।। २६ ।।

ऊचुश्च पार्थं सर्वाणि प्राञ्जलीनि नृपात्मजम् ।
इमे स्म परमोदाराः किंकराः पाण्डुनन्दन ।। २७ ।।

तब वे सब अस्त्र प्रकट होकर राजकुमार अर्जुनसे हाथ जोड़कर बोले—‘पाण्डुनन्दन! ये हमलोग तुम्हारे परम उदार किंकर हैं’ ।। २७ ।।

प्रणिपत्य ततः पार्थः समालभ्य च पाणिना ।
सर्वाणि मानसानीह भवतेत्यभ्यभाषत ।। २८ ।।

तब अर्जुनने उन्हें प्रणाम करके अपने हाथसे उनका स्पर्श किया और कहा—'आप सब लोग मेरे मनमें निवास करें' ।। २८ ।।

प्रतिगृह्य ततोऽस्त्राणि प्रहृष्टवदनोऽभवत् ।
अधिज्यं तरसा कृत्वा गाण्डीवं व्याक्षिपद् धनुः ।। २९ ।।

इस प्रकार अपने अस्त्र-शस्त्रोंको अनुकूल करके अर्जुनका मुखारविन्द प्रसन्नतासे खिल उठा। उन्होंने बड़े वेगसे गाण्डीव धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ाकर उसकी टंकार की ।। २९ ।।

तस्य विक्षिप्यमाणस्य धनुषोऽभून्महाध्वनिः ।
यथा शैलस्य महतः शैलेनैवावजघ्नतः ।। ३० ।।

उस धनुषकी टंकारके समय बड़े जोरका शब्द हुआ, मानो किसी महान् पर्वतको पर्वतसे ही टक्कर लगी हो ।। ३० ।।

स निर्घातोऽभवद् भूभिद् दिक्षु वायुर्ववौ भृशम् ।
पपात महती चोल्का दिशो न प्रचकाशिरे ।
भ्रान्तध्वजं खं तदासीत् प्रकम्पितमहाद्रुमम् ।। ३१ ।।
तं शब्दं कुरवोऽजानन् विस्फोटमशनेरिव ।
यदर्जुनो धनुःश्रेष्ठं बाहुभ्यामाक्षिपद् रथे ।। ३२ ।।

वह भयानक शब्द पृथ्वीको विदीर्ण करता-सा गूँज उठा। सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रचण्ड आँधी चलने लगी, महान् उल्कापात होने लगा और दिशाओंमें अन्धकार छा गया। शत्रुसेनाके ध्वज आकाशमें अकारण हिलने लगे। बड़े-बड़े वृक्ष भी हिलने लगे। अर्जुनने अपने दोनों हाथोंसे रथपर बैठे-बैठे जो अपने श्रेष्ठ धनुषकी टंकार-ध्वनि की, उसे सुनकर कौरवोंने समझा, कहींसे बिजली टूट पड़ी है ।। ३१-३२ ।।

उत्तर उवाच

एकस्त्वं पाण्डवश्रेष्ठ बहूनेतान् महारथान् ।
कथं जेष्यसि संग्रामे सर्वशस्त्रास्त्रपारगान् ।। ३३ ।।

उस समय उत्तर बोला—पाण्डवश्रेष्ठ! आप तो अकेले हैं, इन सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके पारगामी बहुसंख्यक महारथियोंको युद्धमें कैसे जीत सकेंगे? ।। ३३ ।।

असहायोऽसि कौन्तेय ससहायाश्च कौरवाः ।
अतएव महाबाहो भीतस्तिष्ठामि तेऽग्रतः ।। ३४ ।।

कुन्तीनन्दन! आप असहाय हैं और कौरवोंके साथ बहुतेरे सहायक हैं। महाबाहो! यह सोचकर मैं आपके सामने भयभीत हो रहा हूँ ।। ३४ ।।

उवाच पार्थो मा भैषीः प्रहस्य स्वनवत् तदा ।। ३५ ।।
युध्यमानस्य मे वीर गन्धर्वैः सुमहाबलैः ।

सहायो घोषयात्रायां कस्तदाऽऽसीत् सखा मम ।। ३६ ।।

अर्जुनका शङ्खनाद

तथा प्रतिभये तस्मिन् देवदानवसंकुले ।

खाण्डवे युध्यमानस्य कस्तदाऽऽसीत् सखा मम ।। ३७ ।।

यह सुनकर अर्जुन खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—‘वीर! डरो मत! कौरवोंकी घोषयात्राके समय जब मैंने महाबली गन्धर्वोंके साथ युद्ध किया था, उस समय मेरा सखा या सहायक कौन था? जब देवताओं और दानवोंसे भरे हुए उस अत्यन्त भयंकर खाण्डववनमें मैं युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा साथी कौन था? ।। ३५—३७ ।।

निवातकवचैः सार्धं पौलोमैश्च महाबलैः ।
युध्यतो देवराजार्थे कः सहायस्तदाभवत् ।। ३८ ।।

देवराज इन्द्रके लिये महाबली निवातकवच और पौलोम दैत्योंके साथ युद्ध करते समय मेरा कौन सहायक था? ।। ३८ ।।

स्वयंवरे तु पाञ्चाल्या राजभिः सह संयुगे ।
युध्यतो बहुभिस्तात कः सहायस्तदाभवत् ।। ३९ ।।

तात! द्रौपदीके स्वयंवरमें जब मुझे अनेक राजाओंके साथ युद्ध करना पड़ा था, उस समय किसने मेरी सहायता की थी? ।। ३९ ।।

उपजीव्य गुरुं द्रोणं शक्रं वैश्रवणं यमम् ।
वरुणं पावकं चैव कृपं कृष्णं च माधवम् ।। ४० ।।
पिनाकपाणिनं चैव कथमेतान् न योधये ।
रथं वाहय मे शीघ्रं व्येतु ते मानसो ज्वरः ।। ४१ ।।

मैं गुरुवर द्रोणाचार्य, इन्द्र, कुबेर, यमराज, वरुण, अग्निदेव, कृपाचार्य, लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण तथा पिनाकपाणि भगवान् शंकर—इन सबका आश्रय पा चुका हूँ; फिर भला, इन महारथियोंसे युद्ध क्यों नहीं कर सकूँगा? शीघ्र मेरा रथ हाँको; तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे उत्तरार्जुनयोर्वाक्यं नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर विराटकुमार उत्तर और अर्जुनकी बातचीतविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल ४७ श्लोक हैं।)

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

उत्तरके रथपर अर्जुनको ध्वजकी प्राप्ति, अर्जुनका शंखनाद और द्रोणाचार्यका कौरवोंसे उत्पात-सूचक अपशकुनोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

उत्तरं सारथिं कृत्वा शमीं कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
आयुधं सर्वमादाय प्रययौ पाण्डवर्षभः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उत्तरको सारथि बना शमी वृक्षकी परिक्रमा करके अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र लेकर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन युद्धके लिये चले ।। १ ।।

ध्वजं सिंहं रथात् तस्मादपनीय महारथः ।
प्रणिधाय शमीमूले प्रायादुत्तरसारथिः ।। २ ।।

उन महारथी पार्थने उस रथपरसे सिंहचिह्नयुक्त ध्वजाको हटाकर शमीवृक्षके नीचे रख दिया और सारथि उत्तरके साथ प्रस्थान किया ।। २ ।।

दैवीं मायां रथे युक्तां विहितां विश्वकर्मणा ।
काञ्चनं सिंहलाङ्गूलं ध्वजं वानरलक्षणम् ।। ३ ।।
मनसा चिन्तयामास प्रसादं पावकस्य च ।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा ध्वजे भूतान्यदेशयत् ।। ४ ।।

उस समय उन्होंने मन-ही-मन अग्निदेवके प्रसादस्वरूप प्राप्त हुए अपने सुवर्णमय ध्वजका चिन्तन किया, जिसपर मूर्तिमान् वानर उपलक्षित होता है और जिसकी लंबी पूँछ सिंहके समान है। वह ध्वज क्या था, विश्वकर्माकी बनायी हुई दैवी माया थी, जो रथमें संयुक्त हो जाती थी। अग्निदेवने अर्जुनका मनोभाव जानकर उस ध्वजपर स्थित रहनेके लिये भूतोंको आदेश दिया ।।

सपताकं विचित्राङ्गं सोपासङ्गं महाबलम् ।
खात् पपात रथे तूर्णं दिव्यरूपं मनोरमम् ।। ५ ।।

तत्पश्चात् पताका तथा विचित्र अंग और उपांगोंसहित वह अतिशय शक्तिशाली दिव्यरूप मनोरम ध्वज तुरंत ही आकाशसे अर्जुनके रथपर आ गिरा ।। ५ ।।

रथं तमागतं दृष्ट्वा दक्षिणं प्राकरोत् तदा ।
रथमास्थाय बीभत्सुः कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।। ६ ।।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणः प्रगृहीतशरासनः ।
ततः प्रायादुदीचीं च कपिप्रवरकेतनः ।। ७ ।।

इस प्रकार उस ध्वजको रथपर आया हुआ देख श्वेत घोड़ोंवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनने उस रथकी परिक्रमा की तथा उसके ऊपर बैठकर अपनी अंगुलियोंमें गोहके चमड़ेके बने हुए दस्ताने धारण किये। फिर कपिश्रेष्ठ हनुमान्‌जीसे उपलक्षित ध्वजाको फहराते हुए गाण्डीव धनुषके साथ उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान किया ।। ६-७ ।।

स्वनवन्तं महाशङ्खं बलवानरिमर्दनः ।
प्राधमद् बलमास्थाय द्विषतां लोमहर्षणम् ।। ८ ।।

उस समय शत्रुमर्दन महाबली अर्जुनने घोर शब्द करनेवाले अपने महान् शंखको खूब जोर लगाकर बजाया। जिसकी आवाज सुनकर शत्रुओंके रोंगटे खड़े हो गये ।। ८ ।।

(शशाङ्करूपं बीभत्सुः प्राध्मापयदरिंदमः ।
शङ्खशब्दोऽस्य सोऽत्यर्थं श्रूयते कालमेघवत् ।।
तस्य शंखस्य शब्देन धनुषो निस्वनेन च ।
वानरस्य च नादेन रथनेमिस्वनेन च ।।
जङ्गमस्य भयं घोरमकरोत् पाकशासनिः ।)

शत्रुदमन अर्जुनने जो महान् शंख फूँका था, वह चन्द्रमाके समान परम उज्ज्वल जान पड़ता था। उस शंखका जोर-जोरसे होनेवाला शब्द वर्षाकालके मेघकी गर्जनाके समान सुनायी देता था। शंखकी ध्वनि, धनुषकी टंकार, वानरकी गर्जना तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटसे इन्द्रपुत्र अर्जुनने समस्त जंगम प्राणियोंके मनमें घोर भयका संचार कर दिया।

ततस्ते जवना धुर्या जानुभ्यामगमन्महीम् ।
उत्तरश्चापि संत्रस्तो रथोपस्थ उपाविशत् ।। ९ ।।

उस शंखध्वनिसे घबराकर रथके वेगशाली घोड़ोंने भी धरतीपर घुटने टेक दिये और उत्तर भी अत्यन्त भयभीत हो रथके ऊपरी भागमें जहाँ रथीका स्थान है, आ बैठा ।। ९ ।।

संस्थाप्य चाश्वान् कौन्तेयः समुद्यम्य च रश्मिभिः ।
उत्तरं च परिष्वज्य समाश्वासयदर्जुनः ।। १० ।।

तब कुन्तीनन्दन अर्जुनने स्वयं रास खींचकर घोड़ोंको खड़ा किया और उत्तरको हृदयसे लगाकर धीरज बँधाया ।। १० ।।

अर्जुन उवाच

मा भैस्त्वं राजपुत्राग्रय क्षत्रियोऽसि परंतप ।
कथं तु पुरुषव्याघ्र शत्रुमध्ये विषीदसि ।। ११ ।।

अर्जुनने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले राजकुमारशिरोमणे! डरो मत, तुम क्षत्रिय हो। पुरुषसिंह! शत्रुओंके बीचमें आकर घबराते कैसे हो? ।। ११ ।।

श्रुतास्ते शङ्खशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः ।
कुञ्जराणां च नदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ।। १२ ।।

तुमने बहुत बार शंख-ध्वनि सुनी होगी। रण-भेरियोंके भयंकर शब्द भी बहुत बार तुम्हारे कानोंमें पड़े होंगे और व्यूहबद्ध सेनाओंमें खड़े हुए चिग्घाड़नेवाले गजराजोंके शब्द भी तुमने सुने ही होंगे ।। १२ ।।

स त्वं कथमिहानेन शङ्खशब्देन भीषितः ।
विवर्णरूपो वित्रस्तः पुरुषः प्राकृतो यथा ।। १३ ।।

फिर यहाँ इस शंखनादसे तुम भयभीत कैसे हो गये? साधारण मनुष्योंके समान अधिक डर जानेके कारण तुम्हारे शरीरका रंग फीका कैसे पड़ गया? ।। १३ ।।

उत्तर उवाच

श्रुता मे शङ्खशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः ।
कुञ्जराणां निनदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ।। १४ ।।

उत्तरने कहा—वीरवर! इसमें संदेह नहीं कि मैंने बहुत बार शंखध्वनि सुनी है। रणभेरियोंके भयंकर शब्द भी बहुत बार मेरे कानोंमें पड़े हैं और व्यूहबद्ध सेनाओंमें खड़े हुए चिग्घाड़नेवाले गजराजोंके शब्द भी मैंने सुने हैं ।। १४ ।।

नैवंविधः शङ्खशब्दः पुरा जातु मया श्रुतः ।
ध्वजस्य चापि रूपं मे दृष्टपूर्वं न हीदृशम् ।। १५ ।।

परंतु आजके पहले कभी ऐसा भयंकर शंखनाद मेरे सुननेमें नहीं आया था और ध्वजका भी ऐसा रूप मैंने कभी नहीं देखा था ।। १५ ।।

धनुषश्चैव निर्घोषः श्रुतपूर्वो न मे क्वचित् ।
अस्य शङ्खस्य शब्देन धनुषो निःस्वनेन च ।। १६ ।।
अमानुषाणां शब्देन भूतानां ध्वजवासिनाम् ।
रथस्य च निनादेन मनो मुह्यति मे भृशम् ।। १७ ।।

धनुषकी ऐसी टंकार भी पहले कभी मैंने नहीं सुनी थी। इस शंखके भयानक शब्दसे, धनुषकी अनुपम टंकारसे, ध्वजामें निवास करनेवाले मानवेतर प्राणियोंके घोर शब्दसे तथा रथकी भारी घर्घराहटसे भी डरकर मेरा हृदय बहुत व्याकुल हो उठा है ।। १६-१७ ।।

व्याकुलाश्च दिशः सर्वा हृदयं व्यथतीव मे ।
ध्वजेन पिहिताः सर्वा दिशो न प्रतिभान्ति मे ।। १८ ।।

सम्पूर्ण दिशाओंमें घबराहट छा गयी है तथा मेरे हृदयमें बड़ी व्यथा हो रही है, इस ध्वजने तो समस्त दिशाओंको ढँक लिया है। अतः मुझे किसी दिशाकी प्रतीति नहीं हो रही है ।। १८ ।।

गाण्डीवस्य च शब्देन कर्णौ मे बधिरीकृतौ ।
स मुहूर्तं प्रयातं तु पार्थो वैराटिमब्रवीत् ।। १९ ।।

गाण्डीव धनुषकी टंकारसे तो मेरे दोनों कान बहरे हो गये हैं।

इस प्रकार दो घड़ीतक आगे बढ़नेपर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरसे कहा— ।। १९ ।।

अर्जुन उवाच

एकान्तं रथमास्थाय पद्भ्यां त्वमवपीडयन् ।
दृढं च रश्मीन् संयच्छ शङ्खं ध्मास्याम्यहं पुनः ।। २० ।।

अर्जुन बोले—राजकुमार! अब तुम रथपर अच्छी तरह जमकर बैठ जाओ और अपनी टाँगोंसे बैठनेके स्थानको जकड़ लो। साथ ही घोड़ोंकी रासको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो। मैं फिर शंख बजाऊँगा ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः शङ्खमुपाध्मासीद् दारयन्निव पर्वतान् ।
गुहा गिरीणां च तदा दिशः शैलांस्तथैव च ।
उत्तरश्चापि संलीनो रथोपस्थ उपाविशत् ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब अर्जुनने इतने जोरसे शंख बजाया मानो वे पर्वतों, पर्वतीय गुफाओं, सम्पूर्ण दिशाओं और बड़ी-बड़ी चट्टानोंको भी विदीर्ण कर डालेंगे। उत्तर इस बार भी रथके भीतरी भागमें छिपकर बैठ गया ।। २१ ।।

तस्य शङ्खस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च ।
गाण्डीवस्य च घोषेण पृथिवी समकम्पत ।। २२ ।।

उस शंखके शब्दसे, रथनेमियोंकी घर्घराहटसे तथा गाण्डीव धनुषकी टंकारसे धरती काँप उठी ।। २२ ।।

तं समाश्वासयामास पुनरेव धनंजयः ।। २३ ।।

तदनन्तर अर्जुनने उत्तरको पुनः धीरज बँधाया ।। २३ ।।

द्रोण उवाच

यथा रथस्य निर्घोषो यथा मेघ उदीर्यते ।
कम्पते च यथा भूमिर्नैषोऽन्यः सव्यसाचिनः ।। २४ ।।
(यह शंख-ध्वनि सुनकर कौरवसेनामें)

द्रोणाचार्यने कहा—जैसी यह रथकी घर्घराहट सुनायी दे रही है, जिस तरह उससे मेघगर्जनाका-सा शब्द हो रहा है और उसीके कारण जिस प्रकार यह पृथ्वी काँपने लगी है, इनसे यह सूचित होता है कि यह आनेवाला योद्धा अर्जुनके सिवा दूसरा कोई नहीं है ।। २४ ।।

शस्त्राणि न प्रकाशन्ते प्रहृष्यन्ति वाजिनः ।
अग्नयश्च न भासन्ते समिद्धास्तन्न शोभनम् ।। २५ ।।

अब हमारे शस्त्र चमक नहीं रहे हैं, घोड़े प्रसन्न नहीं जान पड़ते और अग्निहोत्रकी अग्नियाँ भी प्रज्वलित एवं उद्दीप्त नहीं हो रही हैं। यह सब अशुभकी सूचना है ।।

प्रत्यादित्यं च नः सर्वे मृगा घोरप्रवादिनः ।

ध्वजेषु च निलीयन्ते वायसास्तन्न शोभनम् ।। २६ ।।

हमारे सभी पशु सूर्यकी ओर दृष्टि करके भयंकर क्रन्दन करते हैं और रथोंकी ध्वजाओंमें कौए छिप रहे हैं। यह भी शुभसूचक नहीं है ।। २६ ।।

शकुनाश्चापसव्या नो वेदयन्ति महद् भयम् ।। २७ ।।

गोमायुरेष सेनायां रुदन् मध्येन धावति ।

अनाहतश्च निष्क्रान्तो महद् वेदयते भयम् ।। २८ ।।

ये पक्षी भी हमारे वामभागमें उड़कर महान् भयकी सूचना दे रहे हैं और यह गीदड़ बिना किसी आघातके हमारी सेनाके बीचसे निकलकर रोता हुआ भाग रहा है, यह भी महान् भयका विज्ञापन कर रहा है ।। २७-२८ ।।

भवतां रोमकूपाणि प्रहृष्टान्युपलक्षये ।

ध्रुवं विनाशो युद्धेन क्षत्रियाणां प्रदृश्यते ।। २९ ।।

कौरवो! मैं देखता हूँ, तुम्हारे रोंगटे खड़े हो गये हैं; अतः निश्चय ही, इस युद्धके द्वारा क्षत्रियोंका विनाश निकट दिखायी देता है ।। २९ ।।

ज्योतींषि न प्रकाशन्ते दारुणा मृगपक्षिणः ।

उत्पाता विविधा घोरा दृश्यन्ते क्षत्रनाशनाः ।। ३० ।।

सूर्य आदिका प्रकाश मंद पड़ गया है। भयंकर मृग और पक्षी सामने आ रहे हैं और क्षत्रियोंके संहारकी सूचना देनेवाले अनेक प्रकारके घोर उत्पात दिखायी देते हैं ।। ३० ।।

विशेषत इहास्माकं निमित्तानि विनाशने ।
उल्काभिश्च प्रदीप्ताभिर्बाध्यते पृतना तव ।
वाहनान्यप्रहृष्टानि रुदन्तीव विशाम्पते ।। ३१ ।।

राजा दुर्योधन! विशेषतः यहीं हमारे लिये विनाश-सूचक अपशकुन हो रहे हैं। तुम्हारी सेनाके ऊपर जलती हुई उल्काएँ गिर-गिरकर उसे पीड़ा देती हैं। तुम्हारे वाहन (हाथी-घोड़े) अप्रसन्न तथा रोते-से दीखते हैं ।। ३१ ।।

उपासते च सैन्यानि गृध्रास्तव समन्ततः ।
तप्स्यसे वाहिनीं दृष्ट्वा पार्थबाणप्रपीडिताम् ।
पराभूता च वः सेना न कश्चिद् योद्धुमिच्छति ।। ३२ ।।

सेनाके चारों ओर गीध बैठ रहे हैं, इससे जान पड़ता है; तुम अपनी सेनाको अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित होती देख मनमें संताप करोगे। तुम्हारी सेना अभीसे तिरस्कृत-सी हो रही है, कोई भी सैनिक युद्ध करना नहीं चाहता है ।। ३२ ।।

विवर्णमुखभूयिष्ठाः सर्वे योधा विचेतसः ।
गाः सम्प्रस्थाप्य तिष्ठामो व्यूढानीका प्रहारिणः ।। ३३ ।।

समस्त सैनिकोंके मुखपर भारी उदासी छा गयी है। सब अचेत—हतोत्साह हो रहे हैं। अतः हम गौओंको हस्तिनापुरकी ओर भेजकर सेनाकी व्यूहरचना करके शत्रुपर प्रहार करनेके लिये उद्यत हो जायँ ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे औत्पातिको नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके अवसरपर उत्पातसूचक अपशकुनसम्बन्धी छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४६ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ३५½ श्लोक हैं।)

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा युद्धका निश्चय तथा कर्णकी उक्ति

वैशम्पायन उवाच

अथ दुर्योधनो राजा समरे भीष्ममब्रवीत् ।
द्रोणं च रथशार्दूलं कृपं च सुमहारथम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा दुर्योधनने समरभूमिमें भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोण और महारथी कृपाचार्यसे कहा— ।। १ ।।

उक्तोऽयमर्थ आचार्यौ मया कर्णेन चासकृत् ।
पुनरेव प्रवक्ष्यामि न हि तृप्यामि तं ब्रुवन् ।। २ ।।

'आचार्यो! मैंने और कर्णने यह बात आपलोगोंसे कई बार कही है और फिर उसीको दुहराता हूँ; क्योंकि उसे बार-बार कहकर भी मुझे तृप्ति नहीं होती ।। २ ।।

पराभूतैर्हि वस्तव्यं तैश्च द्वादश वत्सरान् ।
वने जनपदे ज्ञातैरेष एव पणो हि नः ।। ३ ।।

'जूआ खेलते समय हमलोगोंकी यही शर्त थी कि हममेंसे जो हारेंगे, उन्हें बारह वर्षोंतक किसी वनमें प्रकटरूपसे और एक वर्षतक किसी नगरमें अज्ञात-भावसे निवास करना पड़ेगा ।। ३ ।।

तेषां न तावन्निर्वृत्तं वर्तते तु त्रयोदशम् ।
अज्ञातवासो बीभत्सुरथास्माभिः समागतः ।। ४ ।।

अभी पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष पूरा नहीं हुआ है, तो भी अज्ञातवासमें रहनेवाला अर्जुन आज प्रकटरूपसे हमारे साथ युद्ध करने आ रहा है ।। ४ ।।

अनिवृत्ते तु निर्वासे यदि बीभत्सुरागतः ।
पुनर्द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ।। ५ ।।

'यदि अज्ञातवास पूर्ण होनेके पहले ही अर्जुन आ गया है, तो पाण्डव फिर बारह वर्षों तक वनमें निवास करेंगे ।।

लोभाद् वा ते न जानीयुरस्मान् वा मोह आविशत् ।
हीनातिरिक्तमेतेषां भीष्मो वेदितुमर्हति ।। ६ ।।

'वे राज्यके लोभसे अपनी प्रतिज्ञाको स्मरण नहीं रख सके हैं या हमलोगोंमें ही मोह (प्रमाद) आ गया है। इनके तेरहवें वर्षमें अभी कुछ कमी है या अधिक दिन बीत गये हैं; यह भीष्मजी जान सकते हैं ।। ६ ।।

अर्थानां च पुनर्द्वैधे नित्यं भवति संशयः ।
अन्यथा चिन्तितो ह्यर्थः पुनर्भवति सोऽन्यथा ।। ७ ।।

'जिन विषयोंमें दुविधा पड़ जाती है, उनमें सदा संदेह बना रहता है। किसी विषयको अन्य प्रकारसे सोचा जाता है, किंतु पता लगनेपर वह किसी और ही प्रकारका सिद्ध होता है ।। ७ ।।

उत्तरं मार्गमाणानां मत्स्यानां च युयुत्सताम् ।
यदि बीभत्सुरायातस्तदा कस्यापराध्नुमः ।। ८ ।।

'हमलोग मत्स्यदेशके उत्तरगोष्ठकी खोज करते हुए यहाँ आये और मत्स्यदेशीय सैनिकोंके साथ ही युद्ध करना चाहते थे। इस दशामें भी यदि अर्जुन हमसे युद्ध करने आया है, तो हम किसका अपराध कर रहे हैं? ।।

त्रिगर्तानां वयं हेतोर्मत्स्यान् योद्धुमिहागताः ।
मत्स्यानां विप्रकारांस्ते बहूनस्मानकीर्तयन् ।। ९ ।।

'मत्स्यनिवासियोंके साथ भी जो हम यहाँ युद्धके लिये आये हैं, वह अपने स्वार्थको लेकर नहीं, त्रिगर्तोंकी सहायताके उद्देश्यसे हमारा यहाँ आगमन हुआ है। त्रिगर्तोंने हमारे सामने मत्स्यदेशीय सैनिकोंके बहुत-से अत्याचारोंका वर्णन किया था ।। ९ ।।

तेषां भयाभिभूतानां तदस्माभिः प्रतिश्रुतम् ।
प्रथमं तैर्ग्रहीतव्यं मत्स्यानां गोधनं महत् ।
सप्तम्यामपराह्ने वै तथा तैस्तु समाहितम् ।। १० ।।

'वे भयसे बहुत दबे हुए थे; इसलिये हमने उनकी सहायताके लिये प्रतिज्ञा की थी। हमारी उनकी बात यह हुई थी कि वे लोग सप्तमी तिथिको अपराह्नकालमें मत्स्यदेशके (दक्षिण) गोष्ठपर आक्रमण करके वहाँका महान् गोधन अपने अधिकारमें कर लें। ऐसा ही उन्होंने किया भी है ।। १० ।।

अष्टम्यां पुनरस्माभिरादित्यस्योदयं प्रति ।
इमा गावो ग्रहीतव्या गते मत्स्ये गवां पदम् ।। ११ ।।

'साथ ही यह भी तय हुआ था कि हमलोग अष्टमीको सूर्योदय होते-होते उत्तरगोष्ठकी इन गौओंको ग्रहण कर लें; क्योंकि उस समय मत्स्यराज गौओंके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए त्रिगर्तोंके पीछे गये होंगे ।। ११ ।।

ते वा गाश्चानयिष्यन्ति यदि वा स्युः पराजिताः ।
अस्मान् वा ह्युपसंधाय कुर्युर्मत्स्येन संगतम् ।। १२ ।।

'वे त्रिगर्त-सैनिक गौओंको यहाँ ले आयेंगे अथवा यदि परास्त हो गये, तो हमलोगोंसे मिलकर पुनः मत्स्यराजके साथ युद्ध करेंगे ।। १२ ।।

अथवा तानपाहाय मत्स्यो जानपदैः सह ।
सर्वया सेनया सार्धं संवृतो भीमरूपया ।
आयातः केवलं रात्रिमस्मान् योद्धुमिहागतः ।। १३ ।।

‘**अथवा यदि मत्स्यराज त्रिगर्तोंको भगाकर** अपने देशके लोगों एवं अपनी सारी भयंकर सेनाके साथ इस रातमें हमलोगोंसे युद्ध करनेके लिये यहाँ आ रहे होंगे ।।

तेषामेव महावीर्यः कश्चिदेष पुरःसरः ।
अस्मान् जेतुमिहायातो मत्स्यो वापि स्वयं भवेत् ।। १४ ।।

‘उन्हीं सैनिकोंमेंसे यह कोई महापराक्रमी योद्धा अगुआ बनकर हमें जीतने आया है। यह भी सम्भव है कि ये स्वयं मत्स्यराज ही हों ।। १४ ।।

यद्येष राजा मत्स्यानां यदि बीभत्सुरागतः ।
सर्वैर्योद्धव्यमस्माभिरिति नः समयः कृतः ।। १५ ।।

‘यदि यह मत्स्योंका राजा विराट हो अथवा अर्जुन ही उसकी ओरसे आया हो, तो भी हम सब लोगोंको उससे युद्ध करना ही है; यह हमने प्रतिज्ञा कर ली है ।। १५ ।।

अथ कस्मात् स्थिता ह्येते रथेषु रथसत्तमाः ।
भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विकर्णो द्रौणिरेव च ।। १६ ।।
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे काले ह्यस्मिन् महारथाः ।
नान्यत्र युद्धाच्छ्रेयोऽस्ति तथाऽऽत्मा प्रणिधीयताम् ।। १७ ।।

‘फिर वे हमारे श्रेष्ठ रथी-महारथी भीष्म, द्रोण, कृप, विकर्ण और अश्वत्थामा आदि इस समय भ्रान्तचित्त हो रथोंमें चुपचाप क्यों बैठे हैं? युद्धके सिवा और किसी बातमें कल्याण नहीं है। यह समझकर अपने-आपको इस परिस्थितिके अनुकूल बनाना चाहिये ।।

आच्छिन्ने गोधनेऽस्माकमपि देवेन वज्रिणा ।
यमेन वापि संग्रामे को हास्तिनपुरं व्रजेत् ।। १८ ।।

‘यदि स्वयं वज्रधारी इन्द्र अथवा यमराज ही युद्धमें आकर हमसे गोधन छीन लें, तो भी ऐसा कौन होगा, जो उनका सामना करना छोड़कर हस्तिनापुरको लौट जाय? ।। १८ ।।

शरैरेभिः प्रणुन्नानां भग्नानां गहने वने ।
को हि जीवेत् पदातीनां भवेदश्वेषु संशयः ।। १९ ।।

‘यदि कोई गहन वनमें भागकर प्राण बचाना चाहें, तो मेरे इन बाणोंसे वे छिन्न-भिन्न कर दिये जायँगे। इस तरह भागनेवाले पैदल सैनिकोंमेंसे कौन जीवित रह सकता है? घुड़सवारोंके विषयमें संदेह है (वे भागनेपर मारे भी जा सकते हैं और बच भी सकते हैं)’ ।। १९ ।।

दुर्योधनवचः श्रुत्वा राधेयस्त्वब्रवीद् वचः ।
आचार्यं पृष्ठतः कृत्वा तथा नीतिर्विधीयताम् ।। २० ।।

दुर्योधनकी बात सुनकर राधानन्दन कर्णने कहा—‘राजन्! आप आचार्य द्रोणको पीछे रखकर ऐसी नीति बनाइये कि विजय प्राप्त हो ।। २० ।।

जानाति हि मतं तेषामतस्त्रासयतीह नः ।
अर्जुने चास्य सम्प्रीतिमधिकामुपलक्षये ।। २१ ।।

‘ये पाण्डवोंका मत जानते हैं, इसीलिये यहाँ हमें डरा रहे हैं और अर्जुनके प्रति इनका प्रेम अधिक मैं देखता हूँ ।। २१ ।।

तथा हि दृष्ट्वा बीभत्सुमुपायान्तं प्रशंसति ।
यथा सेना न भज्येत तथा नीतिर्विधीयताम् ।। २२ ।।

‘तभी तो अर्जुनको आते देख ये उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। (इनकी बातोंसे हतोत्साह होकर) सेनामें भगदड़ न मच जाय, इसका खयाल रखते हुए तदनुकूल नीति निर्धारित कीजिये ।। २२ ।।

ह्रेषितं ह्युपशृण्वाने द्रोणे सर्वं विघट्टितम् ।
अदेशिका महारण्ये ग्रीष्मे शत्रुवशं गताः ।
यथा न विभ्रमेत् सेना तथा नीतिर्विधीयताम् ।। २३ ।।

‘[आगे रहनेपर] ये अर्जुनके घोड़ोंकी हिनहिनाहट सुनते ही घबरा उठेंगे। फिर तो सारी सेना ही विचलित हो जायगी। इस समय हम विदेशमें हैं, बड़े भारी जंगलमें पड़े हुए हैं, गरमीकी ऋतु है और हम शत्रुके वशमें आ गये हैं; अतः ऐसी नीतिसे काम लें कि इनकी बातें सुनकर सैनिकोंके मनमें भ्रम न फैले ।। २३ ।।

इष्टा हि पाण्डवा नित्यमाचार्यस्य विशेषतः ।
आसयन्नपरार्थाश्च कथ्यते स्म स्वयं तथा ।। २४ ।।

‘आचार्यको सदासे ही पाण्डव अधिक प्रिय रहे हैं। उन स्वार्थियोंने अपना काम बनानेके लिये ही द्रोणाचार्यको आपके पास रख छोड़ा है। ये स्वयं भी ऐसी बातें कहते हैं, जिससे हमारे कथनकी पुष्टि होती है ।। २४ ।।

अश्वानां ह्रेषितं श्रुत्वा कः प्रशंसापरो भवेत् ।
स्थाने वापि व्रजन्तो वा सदा ह्रेषन्ति वाजिनः ।। २५ ।।

‘भला, घोड़ोंकी हिनहिनाहट सुनकर कौन किसीकी प्रशंसा करने लग जाता है? घोड़े अपने स्थानपर हों या यात्रा करते हों, वे सदा ही हींसते रहते हैं (इससे किसीकी वीरताका क्या सम्बन्ध है?) ।। २५ ।।

सदा च वायवो वान्ति नित्यं वर्षति वासवः ।
स्तनयित्नोश्च निर्घोषः श्रूयते बहुशस्तथा ।। २६ ।।
किमत्र कार्यं पार्थस्य कथं वा स प्रशस्यते ।
अन्यत्र कामाद् द्वेषाद् वा रोषादस्मासु केवलात् ।। २७ ।।

‘हवा सदा चला करती है। इन्द्र हमेशा वर्षा करते हैं। मेघोंकी गर्जना बहुत बार सुननेको मिलती है। (इससे डरने या अपशकुन माननेकी क्या बात है?) इसमें अर्जुनका क्या काम है (कौन-सा चमत्कार है?) इस बातको लेकर क्यों उसकी प्रशंसा की जाती है? इसका कारण इस बातके सिवा और क्या हो सकता है कि आचार्यके मनमें अर्जुनका भला

करनेकी इच्छा हो एवं हमारे प्रति इनके हृदयमें केवल द्वेष तथा रोषका भाव ही संचित हो? ।। २६-२७ ।।

आचार्या वै कारुणिकाः प्राज्ञाश्चापापदर्शिनः ।
नैते महाभये प्राप्ते सम्प्रष्टव्याः कथंचन ।। २८ ।।

'आचार्यलोग बड़े दयालु, बुद्धिमान् और पाप तथा हिंसाके विरुद्ध विचार रखनेवाले होते हैं। जब कोई महान् भयका अवसर प्राप्त हो, उस समय इनसे किसी प्रकारकी सलाह नहीं पूछनी चाहिये ।। २८ ।।

प्रासादेषु विचित्रेषु गोष्ठीषूपवनेषु च ।
कथा विचित्राः कुर्वाणाः पण्डितास्तत्र शोभनाः ।। २९ ।।

'पण्डितलोग सुन्दर महलों और मन्दिरोंमें, सभाओंमें और बगीचोंमें बैठकर जब विचित्र कथावार्ता सुना रहे हों, तब वहीं उनकी शोभा होती है ।। २९ ।।

बहून्याश्चर्यरूपाणि कुर्वाणा जनसंसदि ।
इज्यास्त्रे चोपसंधाने पण्डितास्तत्र शोभनाः ।। ३० ।।

जनसमुदायमें बहुत-से आश्चर्यजनक विनोदपूर्ण कार्य करने तथा यज्ञ-सम्बन्धी आयुधों (पात्रों) को यथास्थान रखने एवं प्रोक्षण आदि करनेमें ही पण्डितोंकी शोभा है ।। ३० ।।

परेषां विवरज्ञाने मनुष्यचरितेषु च ।
हस्त्यश्वरथचर्यासु खरोष्ट्राजाविकर्मणि ।। ३१ ।।
गोधनेषु प्रतोलीषु वरद्वारमुखेषु च ।
अन्नसंस्कारदोषेषु पण्डितास्तत्र शोभनाः ।। ३२ ।।

'दूसरोंके छिद्रको जानने या देखनेमें, मनुष्योंकी दिनचर्या बतानेमें, हाथी, घोड़े तथा रथयात्रा करनेका मुहूर्त आदिसे निकालनेमें, गदहों, ऊँटों, बकरों और भेड़ोंकी गुण-दोष-समीक्षा एवं चिकित्सा आदिमें गोधनके संग्रह और परीक्षणमें, गलियों तथा घरके श्रेष्ठ दरवाजोंपर किये जानेवाले मांगलिक कृत्यमें, नवीन अन्नका इष्टिद्वारा संस्कार कराने तथा अन्नमें केश-कीट आदि गिर जानेसे जो दोष आता है, उनपर विचार करनेमें भी पण्डितोंकी राय लेनी चाहिये। ऐसे ही कार्योंमें उनकी शोभा है ।। ३१-३२ ।।

पण्डितान् पृष्ठतः कृत्वा परेषां गुणवादिनः ।
विधीयतां तथा नीतिर्यथा वध्यो भवेत् परः ।। ३३ ।।

'शत्रुओंके गुणोंका बखान करनेवाले पण्डितोंको पीछे करके ऐसी नीति काममें लें, जिससे शत्रुका वध हो सके ।। ३३ ।।

गावश्च सम्प्रतिष्ठाप्य सेनां व्यूह्य समन्ततः ।
आरक्षाश्च विधीयन्तां यत्र योत्स्यामहे परान् ।। ३४ ।।

'गौओंको बीचमें खड़ी करके उनके चारों ओर सेनाका व्यूह बना लिया जाय तथा सब ओरसे रक्षाकी ऐसी व्यवस्था कर ली जाय, जिससे हम शत्रुओंके साथ युद्ध कर

सकें' ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे दुर्योधनवाक्ये सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहमें दुर्योधनवाक्यसम्बन्धी सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४७ ।।

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

कर्णकी आत्मप्रशंसापूर्ण अहंकारोक्ति

कर्ण उवाच

सर्वानायुष्मतो भीतान् संत्रस्तानिव लक्षये ।
अयुद्धमनसश्चैव सर्वांश्चैवानवस्थितान् ।। १ ।।

कर्ण बोला—मैं आप सब आयुष्मानोंको भयभीत एवं त्रस्त-सा देखता हूँ। आपमेंसे किसीका मन युद्धमें नहीं लग रहा है एवं सभी चञ्चल दिखायी देते हैं ।। १ ।।

यद्येष राजा मत्स्यानां यदि बीभत्सुरागतः ।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ।। २ ।।

यदि यह मत्स्यदेशका राजा हो अथवा यदि स्वयं अर्जुन आया हो, तो भी जैसे वेला समुद्रको रोक देती है, उसी प्रकार मैं भी इसे आगे बढ़नेसे रोक दूँगा ।। २ ।।

मम चापप्रयुक्तानां शराणां नतपर्वणाम् ।
नावृत्तिर्गच्छतां तेषां सर्पाणामिव सर्पताम् ।। ३ ।।

मेरे धनुषसे छूटकर सर्पोंकी भाँति आगे बढ़नेवाले और झुकी हुई गाँठवाले बाण कभी अपने लक्ष्यसे च्युत नहीं होते ।। ३ ।।

रुक्मपुङ्खा सुतीक्ष्णाग्रा मुक्ता हस्तवता मया ।
छादयन्तु शराः पार्थं शलभा इव पादपम् ।। ४ ।।

सुनहरी पाँख और तीखी नोकवाले बाण मेरे हाथोंसे छूटकर अर्जुनको ठीक उसी तरह, ढँक लेंगे; जैसे टिड्डियाँ पेड़को आच्छादित कर देती हैं ।। ४ ।।

शराणां पुङ्खसक्तानां मौर्व्याभिहतया दृढम् ।
श्रूयतां तलयोः शब्दो भेर्योराहतयोरिव ।। ५ ।।

पाँखवाले बाणोंको धनुषकी प्रत्यञ्चापर चढ़ाकर भलीभाँति खींचनेके पश्चात् मेरी दोनों हथेलियोंका ऐसा शब्द होता है, जैसे दो नगाड़े पीटे गये हों। आज वह शब्द आपलोग सुनें ।। ५ ।।

समाहितो हि बीभत्सुर्वर्षाण्यष्टौ च पञ्च च ।
जातस्नेहश्च युद्धेऽस्मिन् मयि सम्प्रहरिष्यति ।। ६ ।।

अर्जुन तेरह वर्षोंतक वनमें समाधि लगाता रहा है, किंतु उसका इस युद्धमें स्नेह है; अतः मुझपर वह बाणोंका प्रहार करेगा ।। ६ ।।

पात्रीभूतश्च कौन्तेयो ब्राह्मणो गुणवानिव ।
शरौघान् प्रतिगृह्णातु मया मुक्तान् सहस्रशः ।। ७ ।।

कुन्तीनन्दन धनंजय गुणवान् ब्राह्मणकी भाँति मेरे लिये एक सुपात्र व्यक्ति है। अतः आज वह मेरे छोड़े हुए सहस्रों बाणसमुदायोंका दान स्वीकार करे ।। ७ ।।

एष चैव महेष्वासस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
अहं चापि नरश्रेष्ठादर्जुनान्नावरः क्वचित् ।। ८ ।।

यह तीनों लोकोंमें महान् धनुर्धरके रूपमें विख्यात है और मैं भी नरश्रेष्ठ अर्जुनसे किसी बातमें कम नहीं हूँ ।। ८ ।।

इतश्चेतश्च निर्मुक्तैः काञ्चनैर्गार्ध्रवाजितैः ।
दृश्यतामद्य वै व्योम खद्योतैरिव संवृतम् ।। ९ ।।

इधर-उधर दोनों ओरसे छूटे हुए गीधकी पाँखोंसे युक्त सुवर्णमय बाणोंद्वारा आच्छादित हो आज आकाश जुगुनुओंसे भरा हुआ-सा दिखायी देगा ।। ९ ।।

अद्याहमृणमक्षय्यं पुरा वाचा प्रतिश्रुतम् ।
धार्तराष्ट्राय दास्यामि निहत्य समरेऽर्जुनम् ।। १० ।।

मैं आज युद्धमें अर्जुनको मारकर पहले की हुई अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार दुर्योधनका अक्षय ऋण चुका दूँगा ।। १० ।।

अन्तराच्छिद्यमानानां पुङ्खानां व्यतिशीर्यताम् ।
शलभानामिवाकाशे प्रचारः सम्प्रदृश्यताम् ।। ११ ।।

आज बीचसे कटकर इधर-उधर बिखर जानेवाले पंखयुक्त बाणोंका आकाशमें फतिंगोंकी भाँति उड़ना और गिरना देखो ।। ११ ।।

इन्द्राशनिसमस्पर्शैर्महेन्द्रसमतेजसम् ।
अर्दयिष्याम्यहं पार्थमुल्काभिरिव कुञ्जरम् ।। १२ ।।

यद्यपि अर्जुन महेन्द्रके समान तेजस्वी है, तो भी आज उसे उल्काओं (मशालों) द्वारा गजराजकी भाँति इन्द्रके वज्रकी तरह कठोर स्पर्शवाले अपने बाणोंसे पीड़ित कर दूँगा ।। १२ ।।

रथादतिरथं शूरं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
विवशं पार्थमादास्ये गरुत्मानिव पन्नगम् ।। १३ ।।

जो रथियोंसे भी बढ़कर अतिरथी, सम्पूर्ण शस्त्र-धारियोंमें श्रेष्ठ और शूरवीर है, उस कुन्तीपुत्रको आज मैं युद्धमें विवश करके उसी प्रकार दबोच लूँगा, जैसे गरुड़ साँपको पकड़ लेता है ।। १३ ।।

तमग्निमिव दुर्धर्षमसिशक्तिशरेन्धनम् ।
पाण्डवाग्निमहं दीप्तं प्रदहन्तमिवाहितम् ।। १४ ।।
अश्ववेगपुरोवातो रथौघस्तनयित्नुमान् ।
शरधारो महामेघः शमयिष्यामि पाण्डवम् ।। १५ ।।

जो अग्निकी भाँति दुर्धर्ष है, खड्ग, शक्ति और बाणरूपी ईंधनसे प्रज्वलित है और अपने शत्रुको भस्म कर रही है, उस अर्जुनरूपी जलती हुई आगको आज मैं महामेघ बनकर बुझा दूँगा। मेरे अश्वोंका वेग ही पुरवैया हवाका काम करेगा। रथसमूहकी घर्घराहट ही बादलोंकी गम्भीर गर्जना होगी और बाणोंकी धारा ही जलधाराका काम करेगी ।। १४-१५ ।।

मत्कार्मुकविनिर्मुक्ताः पार्थमाशीविषोपमाः ।
शराः समभिसर्पन्तु वल्मीकमिव पन्नगाः ।। १६ ।।

आज मेरे धनुषसे छूटे हुए सर्पोंके समान विषैले बाण अर्जुनके शरीरमें उसी प्रकार प्रवेश करेंगे, जैसे साँप बाँबीमें घुसते हैं ।। १६ ।।

सुतेजनै रुक्मपुङ्खैः सुधौतैर्नतपर्वभिः ।
आचितं पश्य कौन्तेयं कर्णिकारैरिवाचलम् ।। १७ ।।

कनेरके फूलोंसे व्याप्त पर्वतकी जैसी शोभा होती है, उसी प्रकार मेरे तेज, सुनहरे पंखवाले, उज्ज्वल और झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कुन्तीपुत्र अर्जुनको आच्छादित हुआ देखो ।। १७ ।।

जामदग्न्यान्मया ह्यस्त्रं यत् प्राप्तमृषिसत्तमात् ।
तदुपाश्रित्य वीर्यं च युध्येयमपि वासवम् ।। १८ ।।

मुनिश्रेष्ठ परशुरामजीसे मैंने जो अस्त्र प्राप्त किये हैं, उन अस्त्रों और अपने पराक्रमका आश्रय लेकर मैं इन्द्रसे भी युद्ध कर सकता हूँ ।। १८ ।।

ध्वजाग्रे वानरस्तिष्ठन् भल्लेन निहतो मया ।
अद्यैव पततां भूमौ विनदन् भैरवान् रवान् ।। १९ ।।

अर्जुनकी ध्वजाके अग्रभागपर स्थित होनेवाला वानर जो भयंकर गर्जना किया करता है, वह आज ही मेरे बाणोंसे मारा जाकर पृथ्वीपर गिर जाय ।। १९ ।।

शत्रोर्मया विपन्नानां भूतानां ध्वजवासिनाम् ।
दिशः प्रतिष्ठमानानामस्तु शब्दो दिवंगमः ।। २० ।।

शत्रुकी ध्वजामें निवास करनेवाले भूतगण भी मुझसे मारे जाकर जब चारों दिशाओंमें भागने लगेंगे, उस समय उनके हाहाकारका शब्द स्वर्गलोकतक पहुँच जायगा ।।

अद्य दुर्योधनस्याहं शल्यं हृदि चिरस्थितम् ।
समूलमुद्धरिष्यामि बीभत्सुं पातयन् रथात् ।। २१ ।।

अर्जुनको रथसे गिराकर आज मैं दुर्योधनके हृदयमें चिरकालसे चुभे हुए काँटेको जड़सहित निकाल फेंकूँगा ।।

हताश्वं विरथं पार्थं पौरुषे पर्यवस्थितम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागमद्य पश्यन्तु कौरवाः ।। २२ ।।

पुरुषार्थसाधनमें लगे हुए अर्जुनके घोड़े मार दिये जायँगे और वह रथहीन होकर केवल साँपकी भाँति फुफकार मारता फिरेगा। कौरवलोग आज उसकी यह अवस्था भी देखें ।। २२ ।।

कामं गच्छन्तु कुरवो धनमादाय केवलम् ।
रथेषु वापि तिष्ठन्तो युद्धं पश्यन्तु मामकम् ।। २३ ।।

कौरवोंकी इच्छा हो, तो वे केवल गोधन लेकर यहाँसे चले जायँ अथवा अपने रथोंपर बैठे रहकर अर्जुनके साथ मेरा युद्ध देखें ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कर्णविकत्थने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कर्णके आत्मप्रशंसापूर्ण वचनसम्बन्धी अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४८ ।।

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कृपाचार्यका कर्णको फटकारते हुए युद्धके विषयमें अपना विचार बताना

कृप उवाच

सदैव तव राधेय युद्धे क्रूरतरा मतिः ।
नार्थानां प्रकृतिं वेत्सि नानुबन्धमवेक्षसे ।। १ ।।

तदनन्तर कृपाचार्यने कहा—राधानन्दन! युद्धके विषयमें तुम्हारा विचार सदा ही क्रूरतापूर्ण रहता है। तुम न तो कार्योंके स्वरूपको ही जानते हो और न उनके परिणामका ही विचार करते हो ।। १ ।।

माया हि बहवः सन्ति शास्त्रमाश्रित्य चिन्तिताः।
तेषां युद्धं तु पापिष्ठं वेदयन्ति पुराविदः ।। २ ।।

मैंने शास्त्रका आश्रय लेकर बहुत-सी मायाओंका चिन्तन किया है; किंतु उन सबमें युद्ध ही सर्वाधिक पापपूर्ण कर्म है—ऐसा प्राचीन विद्वान् बताते हैं ।। २ ।।

देशकालेन संयुक्तं युद्धं विजयदं भवेत् ।
हीनकालं तदेवेह फलं न लभते पुनः ।
देशे काले च विक्रान्तं कल्याणाय विधीयते ।। ३ ।।

देश और कालके अनुसार जो युद्ध किया जाता है, वह विजय देनेवाला होता है; किंतु जो अनुपयुक्त कालमें किया जाता है, वह युद्ध सफल नहीं होता। देश और कालके अनुसार किया हुआ पराक्रम ही कल्याणकारी होता है ।। ३ ।।

आनुकूल्येन कार्याणामन्तरं संविधीयते ।
भारं हि रथकारस्य न व्यवस्यन्ति पण्डिताः ।। ४ ।।

देश और कालकी अनुकूलता होनेसे ही कार्योंका फल सिद्ध होता है। विद्वान् पुरुष रथ बनानेवाले (सूत) की बातपर ही सारा भार डालकर स्वयं देश-कालका विचार किये बिना युद्ध आदिका निश्चय नहीं करते* ।। ४ ।।

परिचिन्त्य तु पार्थेन संनिपातो न नः क्षमः ।
एकः कुरूनभ्यगच्छदेकश्चाग्निमतर्पयत् ।। ५ ।।

विचार करनेपर तो यही समझमें आता है कि अर्जुनके साथ युद्ध करना हमारे लिये कदापि उचित नहीं है; [क्योंकि वे अकेले भी हमें परास्त कर सकते हैं।] अर्जुनने अकेले ही उत्तरकुरुदेशपर चढ़ाई की और उसे जीत लिया। अकेले ही खाण्डववन देकर अग्निको तृप्त किया ।। ५ ।।

एकश्च पञ्च वर्षाणि ब्रह्मचर्यमधारयत् ।
एकः सुभद्रामारोप्य द्वैरथे कृष्णमाह्वयत् ।। ६ ।।

उन्होंने अकेले ही पाँच वर्षतक कठोर तप करते हुए ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया। अकेले ही सुभद्राको रथपर बिठाकर उसका अपहरण किया और द्वन्द्वयुद्धके लिये श्रीकृष्णको भी ललकारा ।। ६ ।।

एक: किरातरूपेण स्थितं रुद्रमयोधयत् ।
अस्मिन्नेव वने पार्थो हृतां कृष्णामवाजयत् ।। ७ ।।

अर्जुनने अकेले ही किरातरूपमें सामने आये हुए भगवान् शंकरसे युद्ध किया। इसी वनवासकी घटना है, जब जयद्रथने द्रौपदीका अपहरण किया था, उस समय भी अर्जुनने अकेले ही उसे हराकर द्रौपदीको उसके हाथसे छुड़ाया था ।। ७ ।।

एकश्च पञ्च वर्षाणि शक्रादस्त्राण्यशिक्षत ।
एकः सोऽयमरिं जित्वा कुरूणामकरोद् यशः ।। ८ ।।
एको गन्धर्वराजानं चित्रसेनमरिंदमः ।
विजिग्ये तरसा संख्ये सेनां प्राप्य सुदुर्जयाम् ।। ९ ।।

उन्होंने अकेले ही पाँच वर्षतक स्वर्गमें रहकर साक्षात् इन्द्रसे अस्त्र-शस्त्र सीखे हैं और अकेले ही सब शत्रुओंको जीतकर कुरुवंशका यश बढ़ाया है। शत्रुओंका दमन करनेवाले महावीर अर्जुनने कौरवोंकी घोषयात्राके समय युद्धमें गन्धर्वोंकी दुर्जय सेनाका वेगपूर्वक सामना करते हुए अकेले ही गन्धर्वराज चित्रसेनपर विजय पायी थी ।। ८-९ ।।

तथा निवातकवचाः कालखञ्जाश्च दानवाः ।
दैवतैरप्यवध्यास्ते एकेन युधि पातिताः ।। १० ।।

निवातकवच और कालखञ्ज आदि दानवगण तो देवताओंके लिये भी अवध्य थे, किंतु अर्जुनने अकेले ही उन सबको युद्धमें मार गिराया है ।। १० ।।

एकेन हि त्वया कर्ण किं नामेह कृतं पुरा ।
एकैकेन यथा तेषां भूमिपाला वशे कृताः ।। ११ ।।

किंतु कर्ण! तुम तो बताओ, तुमने पहले कभी अकेले रहकर इस जगत्में कौन-सा पुरुषार्थ किया है? पाण्डवोंमेंसे तो एक-एकने विभिन्न दिशाओंमें जाकर वहाँके भूमिपालोंको अपने वशमें कर लिया था [क्या तुमने भी ऐसा कोई कार्य किया है?] ।। ११ ।।

इन्द्रोऽपि हि न पार्थेन संयुगे योद्धुमर्हति ।
यस्तेनाशंसते योद्धुं कर्तव्यं तस्य भेषजम् ।। १२ ।।

अर्जुनके साथ तो इन्द्र भी रणभूमिमें खड़े होकर युद्ध नहीं कर सकते। फिर जो उनसे अकेले भिड़नेकी बात करता है, (वह पागल है।) उसकी दवा करानी चाहिये ।। १२ ।।

आशीविषस्य क्रुद्धस्य पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।

अवमुच्य प्रदेशिन्या दंष्ट्रामादातुमिच्छसि ।। १३ ।।

सूतपुत्र! (अर्जुनके साथ अकेले भिड़नेका साहस करके) तुम मानो क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके मुखमें अपना दाहिना हाथ उठाकर डालना और तर्जनी अंगुलीसे उसके दाँत उखाड़ लेना चाहते हो ।। १३ ।।

अथवा कुञ्जरं मत्तमेक एव चरन् वने ।
अनङ्कुशं समारुह्य नगरं गन्तुमिच्छसि ।। १४ ।।

अथवा वनमें अकेले घूमते हुए तुम बिना अंकुशके ही मतवाले हाथीकी पीठपर बैठकर नगरमें जाना चाहते हो ।। १४ ।।

समिद्धं पावकं चैव घृतमेदोवसाहुतम् ।
घृताक्तश्चीरवासास्त्वं मध्येनोत्तर्तुमिच्छसि ।। १५ ।।

अथवा अपने शरीरमें घी पोतकर चिथड़े या वल्कल पहने हुए तुम घी, मेदा और चर्बी आदिकी आहुतियोंसे प्रज्वलित आगके भीतरसे होकर निकलना चाहते हो ।। १५ ।।

आत्मानं कः समुद्बद्ध्य कण्ठे बद्ध्वा महाशिलाम् ।
समुद्रं तरते दोर्भ्यां तत्र किं नाम पौरुषम् ।। १६ ।।

अपने-आपको बन्धनसे जकड़कर और गलेमें बड़ी भारी शिला बाँधकर कौन दोनों हाथोंसे तैरता हुआ समुद्रको पार कर सकता है? उसमें क्या यह पुरुषार्थ है! अर्थात् मूर्खता है ।। १६ ।।

अकृतास्त्रः कृतास्त्रं वै बलवन्तं सुदुर्बलः ।
तादृशं कर्ण यः पार्थं योद्धुमिच्छेत् स दुर्मतिः ।। १७ ।।

कर्ण! जिसने अस्त्र-शस्त्रोंकी पूर्ण शिक्षा न पायी हो, वह अत्यन्त दुर्बल पुरुष यदि अस्त्र-शस्त्रोंकी कलामें प्रवीण तथा कुन्तीपुत्र अर्जुन-जैसे बलवान् वीरसे युद्ध करना चाहे, तो समझना चाहिये कि उसकी बुद्धि मारी गयी है ।। १७ ।।

अस्माभिर्ह्येष निकृतो वर्षाणीह त्रयोदश ।
सिंहः पाशविनिर्मुक्तो न नः शेषं करिष्यति ।। १८ ।।
एकान्ते पार्थमासीनं कूपेऽग्निमिव संवृतम् ।
अज्ञानादभ्यवस्कन्द्य प्राप्ताः स्मो भयमुत्तमम् ।। १९ ।।

हमलोगोंने तेरह वर्षोंतक इन्हें वनमें रखकर इनके साथ कपटपूर्ण बर्ताव किया है। (अब ये प्रतिज्ञाके बन्धनसे मुक्त हो गये हैं;) अतः बन्धनसे छूटे हुए सिंहकी भाँति क्या वे हमारा नाश न कर डालेंगे? कुएँमें छिपी हुई अग्निके समान यहाँ एकान्तमें स्थित कुन्तीपुत्र अर्जुनके पास हम अज्ञानवश आ पहुँचे हैं और भारी भय एवं संकटमें पड़ गये हैं ।। १८-१९ ।।

सह युध्यामहे पार्थमागतं युद्धदुर्मदम् ।
सैन्यास्तिष्ठन्तु संनद्धा व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।। २० ।।

इसलिये हमारा विचार है कि हमलोग एक साथ संगठित होकर यहाँ आये हुए रणोन्मत्त अर्जुनके साथ युद्ध करें। हमारे सैनिक कवच बाँधकर खड़े रहें, सेनाका व्यूह बना लिया जाय और सब लोग प्रहार करनेके लिये उद्यत हो जायँ ।। २० ।।

द्रोणो दुर्योधनो भीष्मो भवान् द्रौणिस्तथा वयम् ।
सर्वे युध्यामहे पार्थं कर्ण मा साहसं कृथाः ।। २१ ।।
वयं व्यवसितं पार्थं वज्रपाणिमिवोद्यतम् ।
षड्रथाः प्रतियुध्येम तिष्ठेम यदि संहताः ।। २२ ।।

कर्ण! तुम अकेले अर्जुनसे भिड़नेका दुःसाहस न करो। आचार्य द्रोण, दुर्योधन, भीष्म, तुम, अश्वत्थामा और हम सब मिलकर अर्जुनसे युद्ध करेंगे। यदि हम छहों महारथी संगठित होकर सामना करें, तभी इन्द्रके सदृश दुर्धर्ष एवं दृढ़निश्चयी कुलीपुत्र अर्जुनके साथ युद्ध कर सकते हैं ।।

व्यूढानीकानि सैन्यानि यत्ताः परमधन्विनः ।
युध्यामहेऽर्जुनं संख्ये दानवा इव वासवम् ।। २३ ।।

सेनाओंकी व्यूहरचना हो जाय और हम सभी श्रेष्ठ धनुर्धर सावधान रहें, तो जैसे दानव इन्द्रसे भिड़ते हैं, उसी प्रकार हम युद्धमें अर्जुनका सामना कर सकते हैं ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कृपवाक्यं नाम एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ४९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कृपाचार्यवाक्यविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४९ ।।

---

* जैसे कोई रथ बनानेवाला कारीगर रथ लाकर यह कहे कि मैंने इस दिव्य रथका निर्माण किया है। इसका प्रत्येक अंग सुदृढ़ है। इसपर बैठकर युद्ध करनेसे तुम देवताओंपर भी सर्वथा विजय पा सकोगे, तो केवल उसके इस कहनेपर भरोसा करके कोई बुद्धिमान् पुरुष युद्धके लिये तैयार न हो जायगा। उसी प्रकार कर्ण! केवल तुम्हारे इस डींग मारनेपर भरोसा करके देश-काल आदिका विचार किये बिना हमलोगोंका युद्धके लिये उद्यत होना ठीक नहीं है, यही कृपाचार्यके उपर्युक्त कथनका अभिप्राय है

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके उद्गार

अश्वत्थामोवाच

न च तावज्जिता गावो न च सीमान्तरं गताः ।
न हास्तिनपुरं प्राप्तास्त्वं च कर्ण विकत्थसे ।। १ ।।

अश्वत्थामाने कहा—कर्ण! अभी तो हमने न गौओंको जीता है, न मत्स्यदेशकी सीमाके बाहर जा सके हैं और न हस्तिनापुरमें ही पहुँच गये हैं। फिर तुम इतनी व्यर्थ बकवाद क्यों कर रहे हो? ।। १ ।।

संग्रामांश्च बहून् जित्वा लब्धवा च विपुलं धनम् ।
विजित्य च परां सेनां नाहुः किंचन पौरुषम् ।। २ ।।
दहत्यग्निरवाक्यस्तु तूष्णीं भाति दिवाकरः ।
तूष्णीं धारयते लोकान् वसुधा सचराचरान् ।। ३ ।।

विद्वान् पुरुष बहुत-सी लड़ाइयाँ जीतकर, असंख्य धनराशि पाकर तथा शत्रुओंकी सेनाको परास्त करके भी इस तरह व्यर्थ बकवाद नहीं करते। आग बिना कुछ कहे-सुने ही सबको जलाकर भस्म कर देती है, सूर्यदेव मौन रहकर ही प्रकाशित होते हैं, पृथ्वी चुप रहकर ही सम्पूर्ण चराचर लोकोंको धारण करती है (इनमेंसे कोई अपने पराक्रमकी प्रशंसा नहीं करता) ।। २-३ ।।

चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि विहितानि स्वयम्भुवा ।
धनं यैरधिगन्तव्यं यच्च कुर्वन् न दुष्यति ।। ४ ।।

ब्रह्माजीने चारों वर्णोंके कर्म नियत कर दिये हैं, जिनसे धन भी मिल सकता है और जिनका अनुष्ठान करनेसे कर्ता दोषका भागी नहीं होता ।। ४ ।।

अधीत्य ब्राह्मणो वेदान् याजयेत यजेत वा ।
क्षत्रियो धनुराश्रित्य यजेच्चैव न याजयेत् ।। ५ ।।

ब्राह्मण वेदोंको पढ़कर यज्ञ करावे अथवा करे। क्षत्रिय धनुषका आश्रय लेकर धन कमाये और यज्ञ करे; परंतु वह दूसरोंका यज्ञ न करावे (क्योंकि यह काम ब्राह्मणोंका है) ।। ५ ।।

वैश्योऽधिगम्य वित्तानि ब्रह्मकर्माणि कारयेत् ।
शूद्रः शुश्रूषणं कुर्यात् त्रिषु वर्णेषु नित्यशः ।
वन्दनायोगविधिभिर्वैतसीं वृत्तिमास्थितः ।। ६ ।।

वैश्य कृषि और व्यापार आदिके द्वारा धनोपार्जन करके ब्राह्मणोंके द्वारा वेदोक्त कर्म करावें और शूद्र वैतसीवृत्ति (बेंतके वृक्षकी भाँति नम्रता) का आश्रय ले प्रणाम और

आज्ञापालन आदिके द्वारा सदा तीनों वर्णोंके पास रहकर उनकी सेवा करे ।। ६ ।।

वर्तमाना यथाशास्त्रं प्राप्य चापि महीमिमाम् ।
सत्कुर्वन्ति महाभागा गुरून् सुविगुणानपि ।। ७ ।।

महान् सौभाग्यशाली श्रेष्ठ पुरुष शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार बर्ताव करते हुए न्यायसे इस पृथ्वीको प्राप्त करके भी अत्यन्त गुणहीन गुरुजनोंका भी सत्कार करते हैं (और यहाँ अन्यायसे राज्य लेकर गुणवान् गुरुजनोंका भी तिरस्कार हो रहा है) ।। ७ ।।

प्राप्य द्यूतेन को राज्यं क्षत्रियस्तोष्टुमर्हति ।
तथा नृशंसरूपोऽयं धार्तराष्ट्रश्च निर्घृणः ।। ८ ।।

भला जुएसे राज्य पाकर कौन क्षत्रिय संतुष्ट हो सकता है? परंतु इस धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको इसीमें संतोष है; क्योंकि यह क्रूर और निर्दयी है ।। ८ ।।

तथाधिगम्य वित्तानि को विकत्थेद् विचक्षणः ।
निकृत्या वञ्चनायोगैश्चरन् वैतंसिको यथा ।। ९ ।।

जैसे व्याध शठता और छल-कपटसे भरे हुए उपायोंद्वारा जीवननिर्वाह करता है, उसी प्रकार कपटपूर्ण वृत्तिसे धन पाकर कौन बुद्धिमान् पुरुष अपने ही मुँह अपनी बड़ाई करेगा? ।। ९ ।।

कतमद् द्वैरथं युद्धं यत्राजैषीर्धनंजयम् ।
नकुलं सहदेवं वा धनं येषां त्वया हृतम् ।। १० ।।

राजा दुर्योधन! तुमने जिन पाण्डवोंका धन कपटद्यूतके द्वारा हर लिया है, उनमेंसे धनंजय, नकुल या सहदेव किसको कब युद्धमें हराया है? वह कौन-सा द्वन्द्वयुद्ध हुआ था, जिसमें तुमने अर्जुन आदिमेंसे किसीको जीता हो? ।। १० ।।

युधिष्ठिरो जितः कस्मिन् भीमश्च बलिनां वरः ।
इन्द्रप्रस्थं त्वया कस्मिन् संग्रामे निर्जितं पुरा ।। ११ ।।

धर्मराज युधिष्ठिर अथवा बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन तुम्हारे द्वारा किस युद्धमें परास्त किये गये हैं? आज जिस इन्द्रप्रस्थपर तुम्हारा अधिकार है, उसे पहले तुमने किस युद्धमें जीता था? ।। ११ ।।

तथैव कतमद् युद्धं यस्मिन् कृष्णा जिता त्वया ।
एकवस्त्रा सभां नीता दुष्टकर्मन् रजस्वला ।। १२ ।।

दुष्ट कर्म करनेवाले पापी! बताओ तो, कौन-सा ऐसा युद्ध हुआ था, जिसमें तुमने द्रौपदीको जीत लिया हो? तुमलोग तो अकारण ही एक वस्त्र धारण करनेवाली बेचारी द्रौपदीको रजस्वलावस्थामें राजसभाके भीतर घसीट लाये थे ।। १२ ।।

मूलमेषां महत् कृत्तं सारार्थी चन्दनं यथा ।
कर्म कारयिथाः सूत तत्र किं विदुरोऽब्रवीत् ।। १३ ।।

सूतपुत्र! जैसे धनकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य चन्दनकी लकड़ी काटता है, उसी प्रकार तुमने और दुर्योधनने कपट-द्यूत और द्रौपदीके अपमानद्वारा इन पाण्डवोंका मूलोच्छेद किया। जिस समय तुमलोगोंने पाण्डवोंको कर्मकार (दास) बनाया था, उस दिन वहाँ महात्मा विदुरने क्या कहा था; (उन्होंने जूएको कुरुकुलके संहारका कारण बताया था,) याद है न? ।। १३ ।।

यथाशक्ति मनुष्याणां शममालक्षयामहे ।
अन्येषामपि सत्त्वानामपि कीटपिपीलिकैः ।
द्रौपद्याः सम्परिक्लेशं न क्षन्तुं पाण्डवोऽर्हति ।। १४ ।।

हम देखते हैं, मनुष्य हों या अन्य जीव-जन्तु अथवा कीड़े-मकोड़े आदि ही क्यों न हों, सबमें अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार सहनशीलताकी एक सीमा होती है। द्रौपदीको जो कष्ट दिये गये हैं, उन्हें पाण्डुपुत्र अर्जुन कभी क्षमा नहीं कर सकते ।। १४ ।।

क्षयाय धार्तराष्ट्राणां प्रादुर्भूतो धनंजयः ।
त्वं पुनः पण्डितो भूत्वा वाचं वक्तुमिहेच्छसि ।। १५ ।।

धृतराष्ट्रके पुत्रोंका संहार करनेके लिये ही धनंजय प्रकट हुए हैं और एक तुम हो, जो यहाँ पण्डित बनकर बड़ी-बड़ी बातें बनाना चाहते हो ।। १६ ।।

वैरान्तकरणो जिष्णुर्न नः शेषं करिष्यति ।। १६ ।।

क्या वैरका बदला चुकानेवाले अर्जुन हमलोगोंका संहार नहीं कर डालेंगे? ।। १६ ।।

नैष देवान् न गन्धर्वान् नासुरान् न च राक्षसान् ।
भयादिह न मुध्येत कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।। १७ ।।

यह कभी सम्भव नहीं है कि कुन्तीनन्दन अर्जुन भयके कारण देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षसोंसे भी युद्ध न करें ।। १७ ।।

यं यमेषोऽतिसंक्रुद्धः संग्रामे निपतिष्यति ।
वृक्षं गरुत्मान् वेगेन विनिहत्य तमेष्यति ।। १८ ।।

जैसे गरुड़ जिस-जिस वृक्षपर पैर रखते हैं, अपने वेगसे उसे गिराकर चले जाते हैं, उसी प्रकार अर्जुन अत्यन्त क्रोधमें भरकर संग्रामभूमिमें जिस-जिस महारथीपर आक्रमण करेंगे, उसे नष्ट करके ही आगे बढ़ेंगे ।। १८ ।।

त्वत्तो विशिष्टं वीर्येण धनुष्यमरराट्समम् ।
वासुदेवसमं युद्धे तं पार्थं को न पूजयेत् ।। १९ ।।

कर्ण! अर्जुन पराक्रममें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े हैं, धनुष चलानेमें तो वे देवराज इन्द्रके तुल्य हैं और युद्धकी कलामें साक्षात् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके समान हैं; ऐसे कुन्तीपुत्रकी कौन प्रशंसा नहीं करेगा? ।। १९ ।।

देवं दैवेन युध्येत मानुषेण च मानुषम् ।
अस्त्रं ह्यस्त्रेण यो हन्यात् कोऽर्जुनेन समः पुमान् ।। २० ।।

जो देवताओंके साथ देवोचित ढंगसे और मनुष्योंके साथ मानवोचित प्रणालीसे युद्ध करते हैं और प्रत्येक अस्त्रको उसके विरोधी अस्त्रद्वारा नष्ट कर सकते हैं, उन कुन्तीनन्दन धनंजयकी समानता करनेवाला कौन पुरुष है? ।। २० ।।

पुत्रादनन्तरं शिष्य इति धर्मविदो विदुः ।
एतेनापि निमित्तेन प्रियो द्रोणस्य पाण्डवः ।। २१ ।।

धर्मज्ञ पुरुष ऐसा मानते हैं कि गुरुको पुत्रके बाद शिष्य ही प्रिय होता है, इस कारणसे भी पाण्डुनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोणको प्रिय हैं [अतः वे उनकी प्रशंसा क्यों न करें?] ।। २१ ।।

यथा त्वमकरोर्द्यूतमिन्द्रप्रस्थं यथाऽऽहरः ।
यथाऽऽनैषीः सभां कृष्णां तथा युध्यस्व पाण्डवम् ।। २२ ।।

दुर्योधन! जैसे तुमलोगोंने जूएका खेल किया, जिस तरह इन्द्रप्रस्थके राज्यका अपहरण किया और जिस प्रकार भरी सभामें द्रौपदीको घसीट ले गये, उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुनसे युद्ध भी करो। [जब उन अन्यायोंके समय तुम्हें हमारे सहयोगकी आवश्यकता नहीं जान पड़ी, तब इस युद्धमें भी सहयोगकी आशा न रखो] ।। २२ ।।

अयं ते मातुलः प्राज्ञः क्षत्रधर्मस्य कोविदः ।
दुर्द्यूतदेवी गान्धारः शकुनिर्युध्यतामिह ।। २३ ।।

ये तुम्हारे मामा शकुनि बड़े बुद्धिमान् और क्षत्रियधर्मके महापण्डित हैं। छलपूर्वक जूआ खेलनेवाले ये गान्धारदेशके नरेश शकुनि ही यहाँ युद्ध करें ।। २३ ।।

नाक्षान् क्षिपति गाण्डीवं न कृतं द्वापरं न च ।
ज्वलतो निशितान् बाणांस्तांस्तान् क्षिपति गाण्डिवम् ।। २४ ।।

गाण्डीव धनुष कृतयुग, द्वापर और त्रेता नामक पासे नहीं फेंकता है, वह तो लगातार तीखे और प्रज्वलित बाणोंकी वर्षा करता है ।। २४ ।।

न हि गाण्डीवनिर्मुक्ता गार्ध्रपक्षाः सुतेजनाः ।
नान्तरेष्ववतिष्ठन्ते गिरीणामपि दारणाः ।। २५ ।।

गाण्डीवसे छूटे हुए गीधके पंखवाले तीखे बाण पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाले हैं। वे शत्रुकी छातीमें घुसे बिना नहीं रहते ।। २५ ।।

अन्तकः पवनो मृत्युस्तथाग्निर्वडवामुखः ।
कुर्युरेते क्वचिच्छेषं न तु क्रुद्धो धनंजयः ।। २६ ।।

यमराज, वायु, मृत्यु और बड़वानल—ये चाहे जड़-मूलसे नष्ट न करें, कुछ बाकी छोड़ दें, परंतु अर्जुन कुपित होनेपर कुछ भी नहीं छोड़ेंगे ।। २६ ।।

यथा सभायां द्यूतं त्वं मातुलेन सहाकरोः ।
तथा युध्यस्व संग्रामे सौबलेन सुरक्षितः ।। २७ ।।

राजन्! जैसे राजसभामें तुमने मामाके साथ जूएका खेल किया है, उसी प्रकार इस संग्रामभूमिमें भी तुम उन्हीं मामा शकुनिसे सुरक्षित होकर युद्ध करो। (किसी दूसरेसे सहयोगकी आशा न रखो) ।। २७ ।।

युध्यन्तां कामतो योधा नाहं योत्स्ये धनंजयम् ।
मत्स्यो ह्यस्माभिरायोध्यो यद्यागच्छेद् गवां पदम् ।। २८ ।।

अथवा अन्य योद्धाओंकी इच्छा हो, तो वे युद्ध कर सकते हैं, किंतु मैं अर्जुनके साथ नहीं लड़ूँगा। हमें तो मत्स्यनरेशसे युद्ध करना है। यदि वे इस गोष्ठपर आ जायँ, तो मैं उनके साथ युद्ध कर सकता हूँ ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे द्रौणिवाक्यं नाम पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अश्वत्थामावाक्यविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५० ।।

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मजीके द्वारा सेनामें शान्ति और एकता बनाये रखनेकी चेष्टा तथा द्रोणाचार्यके द्वारा दुर्योधनकी रक्षाके लिये प्रयत्न

भीष्म उवाच

साधु पश्यति वै द्रौणिः कृपः साध्वनुपश्यति ।
कर्णस्तु क्षत्रधर्मेण केवलं योद्धुमिच्छति ।। १ ।।

भीष्मजी बोले—दुर्योधन! अश्वत्थामा ठीक विचार कर रहे हैं। कृपाचार्यकी दृष्टि भी ठीक है। कर्ण तो केवल क्षत्रिय-धर्मकी दृष्टिसे युद्ध करना चाहता है ।।

आचार्यो नाभिवक्तव्यः पुरुषेण विजानता ।
देशकालौ तु सम्प्रेक्ष्य योद्धव्यमिति मे मतिः ।। २ ।।

विज्ञ पुरुषको अपने आचार्यकी निन्दा या तिरस्कार नहीं करना चाहिये। मेरा भी विचार यही है कि देश, कालका विचार करके ही युद्ध करना उचित है ।। २ ।।

यस्य सूर्यसमाः पञ्च सपत्नाः स्युः प्रहारिणः ।
कथमभ्युदये तेषां न प्रमुह्येत पण्डितः ।। ३ ।।

जिसके सूर्यके समान तेजस्वी और प्रहार करनेमें समर्थ पाँच शत्रु हों और उन शत्रुओंका अभ्युदय हो रहा हो, तो उस दशामें विद्वान् पुरुषको भी कैसे मोह न होगा ।। ३ ।।

स्वार्थे सर्वे विमुह्यन्ति येऽपि धर्मविदो जनाः ।
तस्माद् राजन् ब्रवीम्येष वाक्यं ते यदि रोचते ।। ४ ।।

स्वार्थके विषयमें सोचते समय सभी मनुष्य—धर्मज्ञ पुरुष भी मोहमें पड़ जाते हैं; अतः राजन्! यदि तुम्हें जचे, तो मैं इस विषयमें अपनी सलाह भी देता हूँ ।।

कर्णो हि यदवोचत् त्वां तेजःसंजननाय तत् ।
आचार्यपुत्रः क्षमतां महत् कार्यमुपस्थितम् ।। ५ ।।

कर्णने तुमसे जो कुछ कहा है, वह तेज एवं उत्साहको बढ़ानेके लिये ही कहा है । आचार्यपुत्र क्षमा करें। इस समय महान् कार्य उपस्थित है ।। ५ ।।

नायं कालो विरोधस्य कौन्तेये समुपस्थिते ।
क्षन्तव्यं भवता सर्वमाचार्येण कृपेण च ।। ६ ।।

यह समय आपसके विरोधका नहीं है; विशेषतः ऐसे मौकेपर जब कि कुन्तीनन्दन अर्जुन युद्धके लिये उपस्थित हैं। पूजनीय आचार्य द्रोण तथा कृपाचार्यको सब अपराध क्षमा करना चाहिये ।। ६ ।।

भवतां हि कृतास्त्रत्वं यथाऽऽदित्ये प्रभा तथा ।
यथा चन्द्रमसो लक्ष्मीः सर्वथा नापकृष्यते ।। ७ ।।

जैसे सूर्यमें प्रभा और चन्द्रमामें लक्ष्मी (शोभा) सर्वथा विद्यमान रहती है—कभी कम नहीं होती, उसी प्रकार आपलोगोंका अस्त्रविद्यामें जो पाण्डित्य है, वह अक्षुण्ण है ।। ७ ।।

एवं भवत्सु ब्राह्मण्यं ब्रह्मास्त्रं च प्रतिष्ठितम् ।
चत्वार एकतो वेदाः क्षात्रमेकत्र दृश्यते ।। ८ ।।

इस प्रकार आपलोगोंमें ब्राह्मणत्व तथा ब्रह्मास्त्र दोनों ही प्रतिष्ठित हैं, यद्यपि प्रायः एक व्यक्तिमें चारों वेदोंका ज्ञान देखा जाता है, तो दूसरेमें क्षात्रधर्मका ।। ८ ।।

नैतत् समस्तमुभयं कस्मिंश्चिदनुशुश्रुम ।
अन्यत्र भारताचार्यात् सपुत्रादिति मे मतिः ।। ९ ।।

ये दोनों बातें पूर्णरूपसे किसी एक व्यक्तिमें हमने नहीं सुनी हैं। केवल भरतवंशियोंके आचार्य कृप, द्रोण और उनके पुत्र अश्वत्थामामें ही ये दोनों शक्तियाँ (ब्रह्मबल और क्षात्रबल) हैं। इनके सिवा और कहीं उक्त दोनों बातोंका एकत्र समावेश नहीं है। यह मेरा दृढ़ विश्वास है ।। ९ ।।

वेदान्ताश्च पुराणानि इतिहासं पुरातनम् ।
जामदग्न्यमृते राजन् को द्रोणादधिको भवेत् ।। १० ।।

राजन्! वेदान्त, पुराण और प्राचीन इतिहासके ज्ञानमें जमदग्निनन्दन परशुरामजीके सिवा दूसरा कौन मनुष्य द्रोणाचार्यसे बढ़कर हो सकता है? ।। १० ।।

ब्रह्मास्त्रं चैव वेदाश्च नैतदन्यत्र दृश्यते ।
आचार्यपुत्रः क्षमतां नायं कालो विभेदने ।। ११ ।।
सर्वे संहत्य युध्यामः पाकशासनिमागतम् ।। १२ ।।

ब्रह्मास्त्र और वेद—ये दोनों वस्तुएँ हमारे आचार्योंके सिवा अन्यत्र कहीं नहीं देखी जातीं। आचार्यपुत्र क्षमा करें, यह समय आपसमें फूट पैदा करनेका नहीं है। हम सब लोग मिलकर यहाँ आये हुए अर्जुनसे युद्ध करेंगे ।। ११-१२ ।।

बलस्य व्यसनानीह यान्युक्तानि मनीषिभिः ।
मुख्यो भेदो हि तेषां तु पापिष्ठो विदुषां मतः ।। १३ ।।

मनीषी पुरुषोंने सेनाका विनाश करनेवाले जितने संकट बताये हैं, उनमें आपसकी फूट सबसे प्रधान कहा है। विद्वानोंने इस फूटको महान् पाप माना है ।। १३ ।।

अश्वत्थामोवाच

नैव न्याय्यमिदं वाच्यमस्माकं पुरुषर्षभ ।
किं तु रोषपरीतेन गुरुणा भाषिता गुणाः ।। १४ ।।

अश्वत्थामाने कहा—पुरुषश्रेष्ठ! हमारी न्यायोचित बातकी निन्दा नहीं की जानी चाहिये। आचार्य द्रोणने पाण्डवोंपर हुए पहलेके अन्यायोंका स्मरण करके रोषपूर्वक अर्जुनके गुणोंका यहाँ वर्णन किया है (भेद उत्पन्न करनेके लिये नहीं) ।। १४ ।।

शत्रोरपि गुणा ग्राह्या दोषा वाच्या गुरोरपि ।
सर्वथा सर्वयत्नेन पुत्रे शिष्ये हितं वदेत् ।। १५ ।।

शत्रुके भी गुण ग्रहण करने चाहिये और गुरुके भी दोष बतानेमें संकोच नहीं करना चाहिये। गुरुको सब प्रकारसे पूर्ण प्रयत्न करके पुत्र और शिष्यके लिये जो हितकर हो, वही बात कहनी चाहिये ।। १५ ।।

दुर्योधन उवाच

आचार्य एव क्षमतां शान्तिरत्र विधीयताम् ।
अभिद्यमाने तु गुरौ तद् वृत्तं रोषकारितम् ।। १६ ।।

दुर्योधनने कहा—आचार्य! क्षमा करें, अब शान्ति धारण करनी चाहिये। यदि गुरुके मनमें भेद न हो, तभी यह समझा जायगा कि पहले जो बातें कही गयी हैं, उनमें रोष ही कारण था ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो द्रोणं क्षमयामास भारत ।
सह कर्णेन भीष्मेण कृपेण च महात्मना ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर दुर्योधनने कर्ण, भीष्म और महात्मा कृपाचार्यके साथ आचार्य द्रोणसे क्षमा माँगी ।। १७ ।।

द्रोण उवाच

यदेतत् प्रथमं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ।
तेनैवाहं प्रसन्नो वै नीतिरत्र विधीयताम् ।। १८ ।।
यथा दुर्योधनं पार्थो नोपसर्पति संगरे ।
साहसाद् यदि वा मोहात् तथा नीतिर्विधीयताम् ।। १९ ।।

तब द्रोण बोले—शान्तनुनन्दन भीष्मजीने पहले जो बात कही थी, उसीसे मैं प्रसन्न हूँ। अब ऐसी नीतिसे काम लेना चाहिये, जिससे अर्जुन इस युद्धमें दुर्योधनके पासतक न पहुँच सकें। साहससे अथवा प्रमादवश भी दुर्योधनपर उनका आक्रमण न हो, ऐसी नीति निर्धारित करनी चाहिये ।। १८-१९ ।।

वनवासे ह्यनिर्वृत्ते दर्शयेन्न धनंजयः ।
धनं चालभमानोऽत्र नाद्य तत् क्षन्तुमर्हति ।। २० ।।

वनवासकी अवधि पूर्ण हुए बिना अर्जुन अपनेको प्रकट नहीं कर सकते थे। आज यदि वे यहाँ आकर अपना गोधन न पा सके, तो हमको क्षमा नहीं कर सकते ।। २० ।।

यथा नायं समायुञ्ज्याद् धार्तराष्ट्रन् कथंचन ।
न च सेनाः पराजय्यात् तथा नीतिर्विधीयताम् ।। २१ ।।

ऐसी दशामें जैसे भी सम्भव हो; वे धृतराष्ट्रपुत्रोंपर आक्रमण न कर सकें और किसी प्रकार भी कौरव-सेनाओंको परास्त न करने पावें, ऐसी कोई नीति बनानी चाहिये ।। २१ ।।

उक्तं दुर्योधनेनापि पुरस्ताद् वाक्यमीदृशम् ।
तदनुस्मृत्य गाङ्गेय यथावद् वक्तुमर्हसि ।। २२ ।।

दुर्योधनने भी पहले ऐसी बात कही थी कि पाण्डवोंका अज्ञातवास पूर्ण होनेमें संदेह है, अतः गंगानन्दन भीष्म! आप स्वयं स्मरण करके यथार्थ बात क्या है—उनका अज्ञातवास पूर्ण हो गया है या नहीं, इसका निर्णय करें ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे द्रोणवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय द्रोणवाक्यसम्बन्धी इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५१ ।।

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

पितामह भीष्मकी सम्मति

भीष्म उवाच

कलाः काष्ठाश्च युज्यन्ते मुहूर्ताश्च दिनानि च ।
अर्धमासाश्च मासाश्च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।। १ ।।
ऋतवश्चापि युज्यन्ते तथा संवत्सरा अपि ।
एवं कालविभागेन कालचक्रं प्रवर्तते ।। २ ।।

भीष्मजीने कहा—कला, काष्ठा, मुहूर्त, दिन, मास, पक्ष, नक्षत्र, ग्रह, ऋतु और संवत्सर—ये सब एक-दूसरेसे जुड़ते हैं। इस तरह कालके इन छोटे-छोटे विभागोंद्वारा यह सम्पूर्ण कालचक्र चल रहा है ।। १-२ ।।

तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषां च व्यतिक्रमात् ।
पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः ।। ३ ।।

इन पक्ष-मास आदिके समयके बढ़ने-घटनेसे और ग्रह-नक्षत्रोंकी गतिके व्यतिक्रमसे हर पाँचवें वर्षमें दो महीने अधिमासके बढ़ जाते हैं ।। ३ ।।

एषामभ्यधिका मासाः पञ्च च द्वादश क्षपाः ।
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः ।। ४ ।।

इस प्रकार इन तेरह वर्षोंके पूर्ण होनेके पश्चात् भी पाण्डवोंके पाँच महीने बारह दिन और अधिक बीत चुके हैं। ऐसा मेरा विचार है* ।। ४ ।।

सर्वं यथावच्चरितं यद् यदेभिः प्रतिश्रुतम् ।
एवमेतद् ध्रुवं ज्ञात्वा ततो बीभत्सुरागतः ।। ५ ।।

इन पाण्डवोंने जो-जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, उन सबका यथावत् पालन किया है; अवश्य इस बातको अच्छी तरह जानकर ही अर्जुन यहाँ आये हैं ।। ५ ।।

सर्वे चैव महात्मानः सर्वे धर्मार्थकोविदाः ।
येषां युधिष्ठिरो राजा कस्माद् धर्मेऽपराध्नुयुः ।। ६ ।।

सभी पाण्डव महात्मा हैं और सभी धर्म तथा अर्थके ज्ञाता हैं। जिनके नेता राजा युधिष्ठिर हैं, वे धर्मके विषयमें कैसे कोई अपराध कर सकते हैं? ।। ६ ।।

अलुब्धाश्चैव कौन्तेयाः कृतवन्तश्च दुष्करम् ।
न चापि केवलं राज्यमिच्छेयुस्तेऽनुपायतः ।। ७ ।।

कुन्तीके पुत्र लोभी नहीं हैं। उन्होंने तपस्या आदि कठिन कर्म किये हैं। वे अधर्म या अनुचित उपायसे (धर्मको गँवाकर) केवल राज्य लेनेके इच्छुक नहीं हैं ।।

तदैव ते हि विक्रान्तुमीषुः कौरवनन्दनाः ।

धर्मपाशनिबद्धास्तु न चेलुः क्षत्रियव्रतात् ।। ८ ।।
यच्चानृत इति ख्यायाद् यः स गच्छेत् पराभवम् ।
वृणुयुर्मरणं पार्था नानृतत्वं कथंचन ।। ९ ।।

कुरुकुलको आनन्द देनेवाले पाण्डव उसी समय पराक्रम करनेमें समर्थ थे, किंतु वे धर्मके बन्धनमें बँधे थे; इसलिये क्षत्रियव्रतसे विचलित नहीं हुए। यदि कोई अर्जुनको असत्यवादी कहेगा तो वह पराजयको प्राप्त होगा। कुन्तीके पुत्र मौतको गले लगा सकते हैं, किंतु किसी प्रकार असत्यका आश्रय नहीं ले सकते ।। ८-९ ।।

प्राप्तकाले तु प्राप्तव्यं नोत्सृजेयुर्नरर्षभाः ।
अपि वज्रभृता गुप्तं तथावीर्या हि पाण्डवाः ।। १० ।।

नरश्रेष्ठ पाण्डव समय आनेपर अपने पाने योग्य भाग या हकको भी नहीं छोड़ सकते, भले ही वज्रधारी इन्द्र उस वस्तुकी रक्षा करते हों। पाण्डवोंका ऐसा ही पराक्रम है ।। १० ।।

प्रतियुध्येम समरे सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
तस्माद् यदत्र कल्याणं लोके सद्भिरनुष्ठितम् ।
तत् संविधीयतां शीघ्रं
मा वो ह्यर्थोऽभ्यगात् परम् ।। ११ ।।

इस समय रणभूमिमें समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनके साथ हमें युद्ध करना है। इसलिये जगत्‌में साधुपुरुषोंद्वारा आचरित जो कल्याणकारी उपाय है, उसे शीघ्र करना चाहिये, जिससे तुम्हारा यह गोधन शत्रुके हाथमें न जाय ।। ११ ।।

न हि पश्यामि संग्रामे कदाचिदपि कौरव ।
एकान्तसिद्धिं राजेन्द्र सम्प्राप्तश्च धनंजयः ।। १२ ।।

कुरुनन्दन! राजेन्द्र! मैं युद्धमें कभी ऐसा नहीं देखता कि किसी एक पक्षकी ही सफलता अनिवार्य हो। लो, अर्जुन आ पहुँचे हैं ।। १२ ।।

सम्प्रवृत्ते तु संग्रामे भावाभावौ जयाजयौ ।
अवश्यमेकं स्पृशतो दृष्टमेतदसंशयम् ।। १३ ।।

संग्राम छिड़ जानेपर किसी-न-किसी पक्षको लाभ या हानि, जय अथवा पराजय अवश्य प्राप्त होते हैं, यह सदा देखा गया है। इसमें संशयकी कोई बात नहीं है ।। १३ ।।

तस्माद् युद्धोचितं कर्म कर्म वा धर्मसंहितम् ।
क्रियतामाशु राजेन्द्र सम्प्राप्तश्च धनंजयः ।। १४ ।।

अतः राजेन्द्र! तुम युद्धोचित कर्तव्यका पालन करो अथवा धर्मके अनुसार कार्य करो —बिना युद्धके ही राज्य देकर सन्धि कर लो। जो कुछ करना हो, जल्दी करो। अर्जुन अब सिरपर आ पहुँचे हैं ।। १४ ।।

(एकोऽपि समरे पार्थः पृथिवीं निर्दहेच्छरैः ।
भ्रातृभिः सहितस्तात किं पुनः कौरवान् रणे ।

तस्मात् सन्धिं कुरुश्रेष्ठ कुरुष्व यदि मन्यसे ।)

कुन्तीपुत्र अर्जुन अकेला ही समरभूमिमें समूची पृथ्वीको भी दग्ध कर सकता है, फिर वह अपने सम्पूर्ण वीर बन्धुओंके साथ मिलकर केवल कौरवोंको रणभूमिमें नष्ट कर दे, यह कौन बड़ी बात है? अतः कुरुश्रेष्ठ! यदि आप ठीक समझें, तो पाण्डवोंके साथ सन्धि कर लें।

दुर्योधन उवाच

नाहं राज्यं प्रदास्यामि पाण्डवानां पितामह ।
युद्धोपचारिकं यत् तु तच्छीघ्रं प्रविधीयताम् ।। १५ ।।

दुर्योधनने कहा—किन्तु पितामह! मैं पाण्डवोंको राज्य तो दूँगा नहीं, (अतः उनसे सन्धि हो नहीं सकती तब फिर) युद्धमें उपयोगी जो भी कार्य हो, उसे ही शीघ्र पूरा किया जाय ।। १५ ।।

भीष्म उवाच

अत्र या मामिका बुद्धिः श्रूयतां यदि रोचते ।
सर्वथा हि मया श्रेयो वक्तव्यं कुरुनन्दन ।। १६ ।।

भीष्मने कहा—कुरुनन्दन! यदि तुम्हें जचे, तो इस विषयमें मेरी जो सलाह है, उसे सुनो। मैं सर्वथा कल्याणकी ही बात कहूँगा ।। १६ ।।

क्षिप्रं बलचतुर्भागं गृह्य गच्छ पुरं प्रति ।
ततोऽपरश्चतुर्भागो गाः समादाय गच्छतु ।। १७ ।।

तुम सेनाका एक चौथाई भाग लेकर शीघ्र ही हस्तिनापुरकी ओर चल दो तथा दूसरी एक चौथाई टुकड़ी गौओंको साथ लेकर जाय ।। १७ ।।

वयं चार्धेन सैन्यस्य प्रतियोत्स्याम पाण्डवम् ।
अहं द्रोणश्च कर्णश्च अश्वत्थामा कृपस्तथा ।
प्रतियोत्स्याम बीभत्सुमागतं कृतनिश्चयम् ।। १८ ।।

हमलोग आधी सेना साथ लेकर पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना करेंगे। मैं, द्रोणाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य युद्धका निश्चय करके आये हुए अर्जुनके साथ लड़ेंगे ।। १८ ।।

मत्स्यं वा पुनरायातमागतं वा शतक्रतुम् ।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ।। १९ ।।

फिर तो चाहे मत्स्यनरेश आ जायँ या साक्षात् इन्द्र, जैसे वेला समुद्रको रोक देती है, उसी प्रकार मैं उन्हें आगे बढ़नेसे रोक रखूँगा ।। १९ ।।

वैशम्पायन उवाच

तद् वाक्यं रुरुचे तेषां भीष्मेणोक्तं महात्मना ।
तथा हि कृतवान् राजा कौरवाणामनन्तरम् ।। २० ।।
भीष्मः प्रस्थाप्य राजानं गोधनं तदनन्तरम् ।
सेनामुख्यान् व्यवस्थाप्य व्यूहितुं सम्प्रचक्रमे ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा भीष्मकी कही हुई यह बात सबको पसंद आ गयी। फिर कौरवोंके राजा दुर्योधनने वैसा ही किया। पहले राजा दुर्योधनको और उसके बाद गोधनको भेजकर सेनापतियोंको व्यवस्थित करके भीष्मजीने सेनाका व्यूह बनानेकी तैयारी की ।। २०-२१ ।।

भीष्म उवाच

आचार्य मध्ये तिष्ठ त्वमश्वत्थामा तु सव्यतः ।
कृपः शारद्वतो धीमान् पार्श्वं रक्षतु दक्षिणम् ।। २२ ।।

भीष्मजी बोले—आचार्य! आप बीचमें खड़े हों, अश्वत्थामा वामभागकी रक्षा करें और शरद्वान्‌के पुत्र बुद्धिमान् कृपाचार्य सेनाके दक्षिणभागकी रक्षा करें ।। २२ ।।

अग्रतः सूतपुत्रस्तु कर्णस्तिष्ठतु दंशितः ।
अहं सर्वस्य सैन्यस्य पश्चात् स्थास्यामि पालयन् ।। २३ ।।

सूतपुत्र कर्ण कवच धारण करके सेनाके आगे रहे और मैं पृष्ठभागकी रक्षा करता हुआ सम्पूर्ण सेनाके पीछे स्थित रहूँगा ।। २३ ।।

(सर्वे महारथाः शूरा महेष्वासा महाबलाः ।
युद्ध्यन्तु पाण्डवश्रेष्ठमागतं यत्नतो युधि ।।

सभी महारथी महाधनुर्धर और महाबली शूरवीर योद्धा यहाँ आये हुए पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके साथ रणभूमिमें यत्नपूर्वक युद्ध करें।

वैशम्पायन उवाच

अभेद्यं सर्वसैन्यानां व्यूह्य व्यूहं कुरूत्तमः ।
वज्रगर्भं व्रीहिमुखमर्धचक्रान्तमण्डलम् ।।
तस्य व्यूहस्य पश्चार्धे भीष्मश्चाथोद्यतायुधः ।
सौवर्णं तालमुच्छ्रित्य रथे तिष्ठन्नशोभत ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर कुरुश्रेष्ठ भीष्मने समस्त सेनाओंका दुर्भेद्य व्यूह रचकर उसे वज्रगर्भ, व्रीहिमुख तथा अर्धचक्रान्तमण्डल आदिके रूपमें खड़ा किया और उसके पिछले भागमें भीष्मजी भी सुवर्णमय तालध्वज फहराकर हाथमें हथियार लिये खड़े हो गये। उस समय उनकी बड़ी शोभा हो रही थी।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि भीष्मसैन्यव्यूहे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें भीष्मजीके द्वारा सेनाकी व्यूहरचनाविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल २७½ श्लोक हैं।)

---

* चान्द्रवर्ष तीन सौ चौवन दिनोंका होता है और सौरवर्ष तीन सौ पैंसठ दिन पंद्रह घड़ी एवं कुछ पलोंका हुआ करता है। इस हिसाबसे तेरह सौर वर्षोंमें चान्द्रवर्षके लगभग पाँच महीने अधिक हो जाते हैं। इन वर्षोंमें यदि छः बार अधिमास पड़ जायँ, तो जिस तिथिको पाण्डवोंका वनवास हुआ था, तेरहवें वर्षकी उसी तिथितक तेरह वर्षोंसे पाँच महीने और बारह दिन अधिक हो सकते हैं। पाण्डवोंने सूर्यकी संक्रान्तिके अनुसार वर्षकी गणना की थी; अतः उन्होंने अधिमास आदिके कारण बढ़े हुए महीनों और दिनोंकी संख्याको अलग नहीं माना। इसीलिये उनकी गणनामें तेरह ही वर्ष हुए। भीष्मजीने चान्द्रवर्षकी गणनाका आश्रय लेकर बढ़े हुए महीनों और दिनोंको भी गणनामें ले लिया। अतः उनके हिसाबसे उस दिनतक तेरह वर्ष पूर्ण होकर पाँच मास बारह दिन अधिक हुए। यह कालभेद सौर और चान्द्रवर्षोंकी गणनाके भेदसे ही हुआ है। वास्तवमें सूर्यकी संक्रान्तिके हिसाबसे उस समयतक पाण्डवोंके तेरह वर्ष छः दिन हो चुके थे। चान्द्रवर्षकी गणनाके अनुसार वही समय तेरह वर्ष पाँच माह बारह दिनका हो गया।

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका दुर्योधनकी सेनापर आक्रमण करके गौओंको लौटा लेना

वैशम्पायन उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु कौरवेयेषु भारत ।
उपायादर्जुनस्तूर्णं रथघोषेण नादयन् ।। १ ।।
ददृशुस्ते ध्वजाग्रं वै शुश्रुवुश्च महास्वनम् ।
दोधूयमानस्य भृशं गाण्डीवस्य च निःस्वनम् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार कौरव-सेनाकी व्यूह-रचना हो जानेपर अर्जुन अपने रथकी घर्घराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजारे हुए शीघ्र ही निकट आ पहुँचे। सैनिकोंने उनकी ध्वजाके अग्रभागको देखा, उनके रथसे आती हुई भयंकर आवाज भी सुनी और खींचे जाते हुए गाण्डीवकी जोर-जोरसे होनेवाली टंकारध्वनि भी उनके कानोंमें पड़ी ।।

ततस्तु सर्वमालोक्य द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
महारथमनुप्राप्तं दृष्ट्वा गाण्डीवधन्विनम् ।। ३ ।।

तब सब कुछ देखकर गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले महारथी अर्जुनको निकट आया जानकर आचार्य द्रोण यह वचन बोले ।। ३ ।।

द्रोण उवाच

एतद् ध्वजाग्रं पार्थस्य दूरतः सम्प्रकाशते ।
एष घोषः स रथजो रोरवीति च वानरः ।। ४ ।।

द्रोणने कहा—यह अर्जुनकी ध्वजाका ऊपरी भाग दूरसे ही प्रकाशित हो रहा है। यह उन्हींके रथकी घर्घराहटका शब्द है। साथ ही ध्वजापर बैठा हुआ वानर भी उच्च स्वरसे गर्जना कर रहा है ।। ४ ।।

एष तिष्ठन् रथश्रेष्ठे रथे च रथिनां वरः ।
उत्कर्षति धनुःश्रेष्ठं गाण्डीवमशनिस्वनम् ।। ५ ।।

यह देखो, उस श्रेष्ठ रथमें बैठे हुए रथियोंमें प्रधान वीर अर्जुन धनुषोंमें सर्वोत्तम गाण्डीवकी डोरी खींच रहे हैं और उससे वज्रकी गड़गड़ाहटके समान शब्द हो रहा है ।। ५ ।।

इमौ च बाणौ सहितौ पादयोर्मे व्यवस्थितौ ।
अपरौ चाप्यतिक्रान्तौ कर्णौ संस्पृश्य मे शरौ ।। ६ ।।

ये दो बाण एक साथ आकर मेरे पैरोंके आगे गिरे हैं और दूसरे दो बाण मेरे दोनों कानोंको छूकर निकल गये हैं ।। ६ ।।

निरुष्य हि वने वासं कृत्वा कर्मातिमानुषम् ।
अभिवादयते पार्थः श्रोत्रे च परिपृच्छति ।। ७ ।।

कुन्तीनन्दन अर्जुन वनमें रहकर वहाँ तपस्या तथा शौर्यद्वारा अतिमानुष (मानवी शक्तिके बाहरका) पराक्रम करके आज प्रकट हुए हैं। ये प्रथम दो बाणोंद्वारा मुझे प्रणाम कर रहे हैं और दूसरे दो बाणोंद्वारा कानोंमें युद्धके लिये आज्ञा माँगते हैं ।। ७ ।।

चिरदृष्टोऽयमस्माभिः प्रज्ञावान् बान्धवप्रियः ।
अतीव ज्वलितो लक्ष्म्या पाण्डुपुत्रो धनंजयः ।। ८ ।।

बन्धु-बन्धवोंको प्रिय लगनेवाले परम बुद्धिमान् अर्जुनको आज हमने दीर्घकालके बाद देखा है। अहा! पाण्डुपुत्र धनंजय अपनी दिव्य लक्ष्मी (शोभा) से अत्यन्त प्रकाशित हो रहे हैं ।। ८ ।।

रथी शरी चारुतली निषङ्गी
शङ्खी पताकी कवची किरीटी ।
खड्गी च धन्वी च विभाति पार्थः
शिखी वृतः स्रुग्भिरिवाज्यसिक्तः ।। ९ ।।

रथपर बैठे हुए धनंजयने बाण, सुन्दर दस्ताने, तरकस, शंख, कवच, किरीट, खड्ग और धनुष धारण कर रखे हैं। इनके रथपर पताका फहरा रही है। इन सामग्रियोंसे सम्पन्न होकर आज ये तेजस्वी पार्थ स्रुवा आदि यज्ञसाधनोंसे घिरे और घीकी आहुति पाकर प्रज्वलित हुए अग्निके समान शोभा पा रहे हैं ।। ९ ।।

(वैशम्पायन उवाच

तमदूरमुपायान्तं दृष्ट्वा पाण्डवमर्जुनम् ।
नारयः प्रेक्षितुं शेकुस्तपन्तं हि यथा रविम् ।।
स तं दृष्ट्वा रथानीकं पार्थः सारथिमब्रवीत् ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तपते हुए सूर्यकी भाँति देदीप्यमान पाण्डुनन्दन अर्जुनको समीप आते देख शत्रु उनकी ओर दृष्टिपात न कर सके। रथियोंकी सेनाको सामने देख कुन्तीकुमार अर्जुनने सारथिसे कहा।

अर्जुन उवाच

इषुपाते च सेनाया हयान् संयच्छ सारथे ।
यावत् समीक्षे सैन्येऽस्मिन् क्वासौ कुरुकुलाधमः ।। १० ।।
सर्वानेताननादृत्य दृष्ट्वा तमतिमानिनम् ।
तस्य मुर्ध्नि पतिष्यामि तत एते पराजिताः ।। ११ ।।

अर्जुनने कहा—सारथे! धनुषसे बाण चलानेपर वह जितनी दूरीपर जाकर गिरता है, कौरवसेनासे उतना ही अन्तर रह जाय, तो घोड़ोंको रोक लेना; जिससे मैं यह देख लूँ कि इस सेनामें वह कुरुकुलाधम दुर्योधन कहाँ है। उस अत्यन्त अभिमानी दुर्योधनको देख लेनेपर मैं इन सब योद्धाओंको छोड़कर उसीके सिरपर पड़ूँगा। उसके पराजित होनेसे ये सब परास्त हो जायँगे ।। ११ ।।

एष व्यवस्थितो द्रोणो द्रौणिश्च तदनन्तरम् ।
भीष्मः कृपश्च कर्णश्च महेष्वासाः समागताः ।। १२ ।।

ये आचार्य द्रोण खड़े हैं। उनके बाद उन्हींके पुत्र अश्वत्थामा हैं। उधर पितामह भीष्म दिखायी देते हैं। इधर कृपाचार्य हैं और वह कर्ण है। ये सब महान् धनुर्धर यहाँ युद्धके लिये आये हैं ।। १२ ।।

राजानं नात्र पश्यामि गाः समादाय गच्छति ।
दक्षिणं मार्गमास्थाय शङ्के जीवपरायणः ।। १३ ।।

परंतु इनमें मैं राजा दुर्योधनको नहीं देखता हूँ। मुझे संदेह है कि वह दक्षिण दिशाका मार्ग पकड़-कर गौओंको साथ ले अपनी जान बचाये भागा जा रहा है ।। १३ ।।

उत्सृजैतद् रथानीकं गच्छ यत्र सुयोधनः ।
तत्रैव योत्स्ये वैराटे नास्ति युद्धं निरामिषम् ।
तं जित्वा विनिवर्तिष्ये गाः समादाय वै पुनः ।। १४ ।।

अतः विराटनन्दन! इस रथियोंकी सेनाको छोड़ो और जहाँ दुर्योधन है, वहीं चलो। मैं वहीं युद्ध करूँगा। यहाँ व्यर्थ युद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है। उसे जीतकर गौओंको अपने साथ ले मैं पुनः लौट आऊँगा ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स वैराटिर्हयान् संयम्य यत्नतः ।
नियम्य च ततो रश्मीन् यत्र ते कुरुपुङ्गवाः ।
अचोदयत् ततो वाहान् यत्र दुर्योधनो गतः ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर विराटकुमार उत्तरने यत्नपूर्वक घोड़ोंकी रास खींचकर जहाँ बड़े-बड़े कौरव महारथी खड़े थे, उधर जानेसे उन्हें रोका। फिर उसने काबूमें रखते हुए उन घोड़ोंको उसी ओर बढ़ाया, जिधर राजा दुर्योधन गया था ।। १५ ।।

उत्सृज्य रथवंशं तु प्रयाते श्वेतवाहने ।
अभिप्रायं विदित्वा च कृपो वचनमब्रवीत् ।। १६ ।।

रथियोंकी सेना छोड़कर श्वेतवाहन अर्जुन जब दूसरी ओर चल दिये, तब उनका अभिप्राय समझकर कृपाचार्य बोले— ।। १६ ।।

नैषोऽन्तरेण राजानं बीभत्सुः स्थातुमिच्छति ।
तस्य पार्ष्णिं ग्रहीष्यामो जवेनाभिप्रयास्यतः ।। १७ ।।

'ये अर्जुन राजा दुर्योधनके बिना ठहरना नहीं चाहते, इसलिये उधर ही बड़े वेगसे जा रहे हैं। अतः हमलोग शीघ्र चलकर इनका पीछा करें ।। १७ ।।

न ह्येनमतिसंक्रुद्धमेको युध्येत संयुगे ।
अन्यो देवात् सहस्राक्षात् कृष्णाद् वा देवकीसुतात् ।
आचार्याच्च सपुत्राद् वा भारद्वाजान्महारथात् ।। १८ ।।

'इस समय ये बड़े क्रोधमें भरे हैं; अतः साक्षात् इन्द्र या देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा पुत्रसहित महारथी आचार्य द्रोणके सिवा दूसरा कोई इनके साथ अकेला युद्ध नहीं कर सकता ।। १८ ।।

किं नो गावः करिष्यन्ति धनं वा विपुलं तथा ।
दुर्योधनः पार्थजले पुरा नौरिव मज्जति ।। १९ ।।

'ये गौएँ अथवा प्रचुर धन हमें क्या लाभ पहुँचायेंगे? राजा दुर्योधन पार्थरूपी जलमें पुरानी नावकी भाँति डूबना चाहता है ।। १९ ।।

तथैव गत्वा बीभत्सुर्नाम विश्राव्य चात्मनः ।
शलभैरिव तां सेनां शरैः शीघ्रमवाकिरत् ।। २० ।।

उधर अर्जुन उसी प्रकार रथसे दुर्योधनके पास पहुँच गये और उच्चस्वरसे अपना नाम सुनाकर बड़ी शीघ्रतासे कौरवसेनापर टिड्डीदलोंकी भाँति असंख्य बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। २० ।।

कीर्यमाणाः शरौघैस्तु योधास्ते पार्थचोदितैः ।
नापश्यन्नावृतां भूमिं नान्तरिक्षं च पत्रिभिः ।। २१ ।।

अर्जुनके छोड़े हुए बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर वे समस्त सैनिक कुछ देख नहीं पाते थे। पृथ्वी और आकाश भी बाणोंसे ढँक गये थे ।। २१ ।।

तेषामापततां युद्धे नापयानेऽभवन्मतिः ।
शीघ्रत्वमेव पार्थस्य पूजयन्ति स्म चेतसा ।। २२ ।।

युद्धमें बाणोंकी मार खाकर कौरवसैनिक धराशायी होते जा रहे थे, तो भी उनका मन वहाँसे भागनेको नहीं होता था। वे मन-ही-मन अर्जुनकी फुर्तीकी सराहना करते थे ।।

ततः शङ्खं प्रदध्मौ स द्विषतां लोमहर्षणम् ।
विस्फार्य च धनुःश्रेष्ठं ध्वजे भूतान्यचोदयत् ।। २३ ।।

तदनन्तर पार्थने अपना शंख बजाया, जो शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। फिर उन्होंने अपने श्रेष्ठ धनुषकी टंकार करके ध्वजापर बैठे हुए भूतोंको सिंहनाद करनेकी प्रेरणा दी ।। २३ ।।

तस्य शङ्खस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च ।

गाण्डीवस्य च घोषेण पृथिवी समकम्पत ।। २४ ।।
अमानुषाणां भूतानां तेषां च ध्वजवासिनाम् ।
ऊर्ध्वं पुच्छान् विधुन्वाना रेभमाणाः समन्ततः ।
गावः प्रतिन्यवर्तन्त दिशमास्थाय दक्षिणाम् ।। २५ ।।

अर्जुनके शंखनाद, रथके पहियोंकी घर्घराहट, गाण्डीव धनुषकी टंकार तथा ध्वजमें निवास करनेवाले मानवेतर भूतोंके भयंकर कोलाहलसे पृथ्वी काँप उठी तथा गौएँ ऊपरको पूँछ उठाकर हिलाती और रँभाती हुई सब ओरसे लौट पड़ीं और दक्षिण दिशाकी ओर भाग चलीं ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे गोनिवर्तने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय गौओंके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं।)

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका कर्णपर आक्रमण, विकर्णकी पराजय, शत्रुंतप और संग्रामजित्का वध, कर्ण और अर्जुनका युद्ध तथा कर्णका पलायन

वैशम्पायन उवाच

स शत्रुसेनां तरसा प्रणुद्य
गास्ता विजित्याथ धनुर्धराग्रयः ।
दुर्योधनायाभिमुखं प्रयातो
भूयो रणं सोऽभिचिकीर्षमाणः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने शत्रुसेनाको बड़े वेगसे दबाकर उन गौओंको जीत लिया और वे युद्धकी इच्छासे फिर दुर्योधनकी ओर चले ।।

गोषु प्रयातासु जवेन मत्स्यान्
किरीटिनं कृतकार्यं च मत्वा ।
दुर्योधनायाभिमुखं प्रयातं
कुरुप्रवीराः सहसा निपेतुः ।। २ ।।

जब गौएँ तीव्र गतिसे मत्स्यदेशकी राजधानीकी ओर भाग गयीं और अर्जुन अपने कार्यमें सफल होकर दुर्योधनकी ओर बढ़ चले, तब यह सब जानकर कौरव वीर सहसा वहाँ आ पहुँचे ।। २ ।।

तेषामनीकानि बहूनि गाढं
व्यूढानि दृष्ट्वा बहुलध्वजानि ।
मत्स्यस्य पुत्रं द्विषतां निहन्ता
वैराटिमामन्त्र्य ततोऽभ्युवाच ।। ३ ।।

उनकी अनेक सेनाएँ थीं और उन सबकी अच्छी तरह व्यूह-रचना की गयी थी। उन सेनाओंमें बहुत-सी ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं। शत्रुओंका नाश करनेवाले अर्जुनने उन सबको देखकर विराटपुत्र उत्तरको सम्बोधित करके कहा— ।। ३ ।।

एतेन तूर्णं प्रतिपादयेमान्
श्वेतान् हयान् काञ्चनरश्मियोक्त्रान् ।
जवेन सर्वेण कुरु प्रयत्न-
मासादयेऽहं कुरुसिंहवृन्दम् ।। ४ ।।

गजो गजेनेव मया दुरात्मा
योद्धुं समाकाङ्क्षति सूतपुत्रः ।
तमेव मां प्रापय राजपुत्र
दुर्योधनापाश्रयजातदर्पम् ।। ५ ।।

'राजकुमार! सुनहरी रस्सियोंसे जुते हुए मेरे इन सफेद घोड़ोंको तुम शीघ्र ही इस मार्गसे ले चलो और सम्पूर्ण वेगसे ऐसा प्रयत्न करो कि मैं कुरुश्रेष्ठ दुर्योधनकी सेनाके पास पहुँच जाऊँ। यह देखो, जैसे हाथी हाथीके साथ भिड़ना चाहता हो, उसी प्रकार यह दुरात्मा सूतपुत्र कर्ण मेरे साथ युद्ध करना चाहता है। पहले इसीके पास मुझे ले चलो। यह दुर्योधनका सहारा पाकर बड़ा घमंडी हो गया है ।। ४-५ ।।

स तैर्हयैर्वातजवैर्बृहद्भिः
पुत्रो विराटस्य सुवर्णकक्षैः ।
व्यध्वंसयत् तद् रथिनामनीकं
ततोऽवहत् पाण्डवमाजिमध्ये ।। ६ ।।

अर्जुनके विशाल घोड़े वायुके समान वेगशाली थे। उनकी जीनके नीचे लगे हुए कपड़ेके दोनों पिछले छोर सुनहरे थे। विराटपुत्र उत्तरने तेजीसे हाँककर उन घोड़ोंके द्वारा कौरव रथियोंकी सेनाको कुचलवाते हुए पाण्डुनन्दन अर्जुनको सेनाके मध्यभागमें पहुँचा दिया ।। ६ ।।

तं चित्रसेनो विशिखैर्विपाठैः
संग्रामजिच्छत्रुसहो जयश्च ।
प्रत्युद्ययुर्भारतमापतन्तं
महारथाः कर्णमभीप्समानाः ।। ७ ।।

इतनेमें ही चित्रसेन, संग्रामजित्, शत्रुसह तथा जय आदि महारथी विपाठ नामक बाणोंकी वर्षा करते हुए कर्णकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे वहाँ आक्रमण करनेवाले अर्जुनके सामने आ डटे ।। ७ ।।

ततः स तेषां पुरुषप्रवीरः
शरासनार्चिः शरवेगतापः ।
व्रातं रथानामदहत् समन्यु-
र्वनं यथाग्निः कुरुपुङ्गनाम् ।। ८ ।।

तब पुरुषश्रेष्ठ वीरवर अर्जुन क्रोधसे युक्त हो आग-बबूले हो गये। धनुष मानो उस आगकी ज्वाला थी और बाणोंका वेग ही आँच बन गया था। जैसे आग वनको जला डालती है, उसी प्रकार वे उन कुरुश्रेष्ठ महारथियोंके रथसमूहोंको भस्म करने लगे ।। ८ ।।

तस्मिंस्तु युद्धे तुमुले प्रवृत्ते
पार्थं विकर्णोऽतिरथं रथेन ।

विपाठवर्षेण कुरुप्रवीरो
भीमेन भीमानुजमाससाद ।। ९ ।।

इस प्रकार घोर युद्ध छिड़ जानेपर कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर विकर्णने रथपर सवार हो विपाठ नामक बाणोंकी भयंकर वर्षा करते हुए भीमके छोटे भाई अतिरथी वीर अर्जुनपर आक्रमण किया ।। ९ ।।

ततो विकर्णस्य धनुर्विकृष्य
जाम्बूनदाग्र्योपचितं दृढज्यम् ।
अपातयत् तं ध्वजमस्य मथ्य
च्छिन्नध्वजः सोऽप्यपयाज्जवेन ।। १० ।।

तब अर्जुनने अपने बाणोंसे जाम्बूनद नामक उत्तम सुवर्ण मढ़े हुए सुदृढ़ प्रत्यञ्जावाले विकर्णके धनुषको काटकर उसके ध्वजको भी टुकड़े-टुकड़े करके गिरा दिया। रथकी ध्वजा कट जानेपर विकर्ण बड़े वेगसे भाग निकला ।। १० ।।

तं शात्रवाणां गणबाधितारं
कर्माणि कुर्वन्तममानुषाणि ।
शत्रुंतपः पार्थममृष्यमाणः
समार्दयच्छरवर्षेण पार्थम् ।। ११ ।।

शत्रुदलके वीरोंका वध करनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुनको इस प्रकार अमानुषिक पराक्रम करते देख शत्रुंतप नामक वीर उनके सामने आया। वह अर्जुनका पराक्रम न सह अपनी बाणवर्षासे पार्थको पीड़ा देने लगा ।। ११ ।।

स तेन राज्ञातिरथेन विद्धो
विगाहमानो ध्वजिनीं कुरूणाम् ।
शत्रुंतपं पञ्चभिराशु विद्ध्वा
ततोऽस्य सूतं दशभिर्जघान ।। १२ ।।

कौरवसेनामें विचरनेवाले अर्जुनने अतिरथी राजा शत्रुंतपके बाणोंसे घायल होकर उसे भी तुरंत ही पाँच बाणोंसे बींध डाला। फिर उसके सारथिको दस बाण मारकर यमलोक पहुँचा दिया ।। १२ ।।

ततः स विद्धो भरतर्षभेण
बाणेन गात्रावरणातिगेन ।
गतासुराजौ निपपात भूमौ
नगो नगाग्रादिव वातरुग्णः ।। १३ ।।

भरतश्रेष्ठ अर्जुनके बाण कवच छेदकर शरीरके भीतर घुस जाते थे। उनके द्वारा घायल होकर राजा शत्रुंतपके प्राणपखेरू उड़ गये और जैसे आँधीसे उखड़ा हुआ वृक्ष पर्वतशिखरसे नीचे गिरे, उसी प्रकार वह रथसे रणभूमिमें गिर पड़ा ।। १३ ।।

नरर्षभास्तेन नरर्षभेण
वीरा रणे वीरतरेण भग्नाः ।
चकम्पिरे वातवशेन काले
प्रकम्पितानीव महावनानि ।। १४ ।।

नरश्रेष्ठ वीरवर धनंजयके बाणोंकी मार खाकर कौरवसेनाके कितने ही श्रेष्ठ वीर घायल हो इस प्रकार काँपने लगे, जैसे समयानुसार प्रचण्ड आँधीके वेगसे बड़े-बड़े जंगलोंके वृक्ष हिलने लगते हैं ।। १४ ।।

हतास्तु पार्थेन नरप्रवीरा
गतासवोर्व्यां सुषुपुः सुवेषाः ।
वसुप्रदा वासवतुल्यवीर्याः
पराजिता वासवजेन संख्ये ।। १५ ।।

कुन्तीपुत्र अर्जुनके द्वारा मारे गये बहुतेरे उत्कृष्ट नरवीर जो सुन्दर वेश-भूषासे सुशोभित थे, प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर सो गये। जो वीर दूसरोंको वसु (धन) देनेवाले और वासव (इन्द्र) के तुल्य पराक्रमी थे, वे भी वासवनन्दन अर्जुनके द्वारा उस युद्धमें पराजित हो गये ।। १५ ।।

सुवर्णकार्ष्णायसवर्मनद्धा
नागा यथा हैमवताः प्रवृद्धाः ।
तथा स शत्रून् समरे विनिघ्नन्
गाण्डीवधन्वा पुरुषप्रवीरः ।। १६ ।।
चचार संख्ये विदिशो दिशश्च
दहन्निवाग्निर्वनमातपान्ते ।

उनमेंसे कुछ तो सोनेके कवच पहने थे और कुछ लोगोंने काले लोहेके बख्तर बाँध रखे थे। वे उस युद्धभूमिमें पड़े हुए हिमालयप्रदेशके विशालकाय गजराजोंके समान जान पड़ते थे। इस प्रकार संग्राममें शत्रुओंका संहार करनेवाले गाण्डीव-धारी वीरशिरोमणि नररत्न अर्जुन वहाँ सब दिशाओंमें इस प्रकार विचरने लगे, मानो ग्रीष्म-ऋतुमें दावानल सम्पूर्ण वनको दग्ध करता हुआ चारों ओर फैल रहा हो ।। १६½ ।।

प्रकीर्णपर्णानि यथा वसन्ते
विशातयित्वा पवनोऽम्बुदांश्च ।। १७ ।।
तथा सपत्नान् विकिरन् किरीटी
चचार संख्येऽतिरथो रथेन ।

जैसे वसन्तऋतुमें (तेज चलनेवाली) हवा पतझड़के बिखरे पत्तोंको उड़ाती और बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार उस रणभूमिमें रथपर बैठे हुए अतिरथी वीर किरीटधारी अर्जुन शत्रुओंका संहार करते हुए विचरने लगे ।। १७½ ।।

शोणाश्ववाहस्य हयान् निहत्य
वैकर्तनभ्रातुरदीनसत्त्वः ।
एकेन संग्राममजितः शरेण
शिरो जहाराथ किरीटमाली ।। १८ ।।

उनके हृदयमें दीनताका लेश भी नहीं था। वे सुन्दर किरीट और मालाओंसे अलंकृत थे। उन्होंने लाल घोड़ेवाले रथपर बैठकर अपने सामने आये हुए कर्णके भाई संग्रामजित्‌के घोड़ोंको मार डाला और एक बाणसे उसके मस्तकको भी धड़से अलग कर दिया ।। १८ ।।

तस्मिन् हते भ्रातरि सूतपुत्रो
वैकर्तनो वीर्यमथाददानः ।
प्रगृह्य दन्ताविव नागराजो
महर्षभं व्याघ्र इवाभ्यधावत् ।। १९ ।।

अपने भाई संग्रामजित्‌के मारे जानेपर सूतपुत्र कर्णने कुपित हो पराक्रम दिखानेकी इच्छासे अर्जुन और उत्तरपर इस प्रकार हठपूर्वक धावा किया, मानो कोई गजराज दो पर्वतशिखरोंसे भिड़ने चला हो अथवा कोई व्याघ्र किसी महाबली साँड़पर टूट पड़ा हो ।। १९ ।।

स पाण्डवं द्वादशभिः पृषत्कै-
र्वैकर्तनः शीघ्रमथो जघान ।
विव्याध गात्रेषु हयांश्च सर्वान्
विराटपुत्रं च करे निजघ्ने ।। २० ।।

सूर्यपुत्र कर्णने बड़ी शीघ्रताके साथ पाण्डुनन्दन अर्जुनको बारह बाणोंसे घायल किया, उनके घोड़ोंके शरीर छेदकर छलनी कर दिये और विराटपुत्र उत्तरके हाथमें भी भारी चोट पहुँचायी ।। २० ।।

तमापतन्तं सहसा किरीटी
वैकर्तनं वै तरसाभिपत्य ।
प्रगृह्य वेगं न्यपतज्जवेन
नागं गरुत्मानिव चित्रपक्षः ।। २१ ।।

कर्णको सहसा आते देख किरीटधारी अर्जुन भी तीव्र गतिसे आगे बढ़कर जैसे विचित्र पंखवाले गरुड़ किसी नागपर जोरसे आक्रमण करते हों, उसी प्रकार बड़े वेगसे उसपर टूट पड़े ।। २१ ।।

तावुत्तमौ सर्वधनुर्धराणां
महाबलौ सर्वसपत्नसाहौ ।
कर्णस्य पार्थस्य निशम्य युद्धं
दिदृक्षमाणाः कुरवोऽभितस्थुः ।। २२ ।।

वे दोनों ही सम्पूर्ण धनुर्धर वीरोंमें श्रेष्ठ, महान् बलवान् तथा समस्त शत्रुओंका वेग सहन करनेवाले थे। कर्ण और अर्जुनका युद्ध सुनकर समस्त कौरववीर उसे देखनेके लिये दर्शकोंकी भाँति खड़े हो गये ।। २२ ।।

स पाण्डवस्तूर्णमुदीर्णकोपः
कृतागसं कर्णमुदीक्ष्य हर्षात् ।
क्षणेन साश्वं सरथं ससारथि-
मन्तर्दधे घोरशरौघवृष्ट्या ।। २३ ।।

अपने अपराधी कर्णको सामने देखकर पाण्डुनन्दन अर्जुनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी। वे तुरंत ही हर्ष एवं उत्साहसे भर गये और भयंकर बाणोंकी वर्षा करके उन्होंने क्षणभरमें घोड़े, रथ और सारथिसहित कर्णको ढँक दिया ।। २३ ।।

ततः सुविद्धाः सरथाः सनागा
योधा विनेदुर्भरतर्षभाणाम् ।
अन्तर्हिता भीष्ममुखाः सहाश्वाः
किरीटिना कीर्णरथाः पृषत्कैः ।। २४ ।।

तदनन्तर कौरवसेनाके रथियों और हाथीसवारों-सहित सम्पूर्ण योद्धा अत्यन्त घायल होकर चीखने-चिल्लाने लगे। किरीटधारी पार्थके बाणोंसे रथ आच्छादित हो जानेके कारण भीष्म आदि सभी महारथी घोड़ोंसहित अदृश्य हो गये ।। २४ ।।

स चापि तानर्जुनबाहुमुक्ता-
ञ्छराञ्छरौघैः प्रतिहत्य वीरः ।
तस्थौ महात्मा सधनुः सबाणः
सविस्फुलिङ्गोऽग्निरिवाशु कर्णः ।। २५ ।।

तब महामना वीर कर्ण भी बाणसमूहोंद्वारा अर्जुनकी भुजाओंसे छोड़े गये सम्पूर्ण बाणोंको शीघ्र ही काटकर अपने धनुष और बाणोंके साथ चिनगारियोंसे युक्त अग्निकी भाँति सुशोभित होने लगा ।। २५ ।।

ततस्त्वभूद् वै तलतालशब्दः
सशङ्खभेरीपणवप्रणादः ।
प्रक्ष्वेडितज्यातलनिःस्वनं तं
वैकर्तनं पूजयतां कुरूणाम् ।। २६ ।।

फिर तो वहाँ कर्ण बार-बार प्रत्यंचा खींचकर धनुषकी टंकार फैलाने लगा और उसकी प्रशंसा करनेवाले कौरवोंके दलमें हथेलियों और तालियोंकी गड़गड़ाहट होने लगी। शंख बज उठे, नगाड़े पीटे जाने लगे और ढोलोंका गम्भीर शब्द सब ओर गूँजने लगा ।। २६ ।।

उद्धूतलाङ्गूलमहापताक-
ध्वजोत्तमांसाकुलभीषणान्तम् ।

गाण्डीवनिर्ह्रादकृतप्रणादं
किरीटिनं प्रेक्ष्य ननाद कर्णः ।। २७ ।।

अर्जुनके रथकी ध्वजापर बैठे वानरवीरकी पूँछ बहुत बड़ी पताकाके समान हिल रही थी और उसके अग्रभागपर भयंकर भूतोंका भैरवनाद हो रहा था। इसके साथ ही वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीव धनुषकी टंकार फैल रही थी। ऐसे किरीटधारी अर्जुनकी ओर देखकर कर्ण बार-बार सिंहनाद करने लगा ।। २७ ।।

स चापि वैकर्तनमर्दयित्वा
साश्वं ससूतं सरथं पृषत्कैः ।
तमाववर्ष प्रसभं किरीटी
पितामहं द्रोणकृपौ च दृष्ट्वा ।। २८ ।।

तब अर्जुनने भी घोड़े, सारथि एवं रथसहित कर्णको बाणोंद्वारा पीड़ित करके पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्यकी ओर देखते हुए कर्णपर हठपूर्वक बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की ।। २८ ।।

स चापि पार्थं बहुभिः पृषत्कै-
र्वैकर्तनो मेघ इवाभ्यवर्षत् ।
तथैव कर्णं च किरीटमाली
संछादयामास शितैः पृषत्कैः ।। २९ ।।

यह देख कर्णने भी अर्जुनपर मेघकी भाँति बहुत-से बाणोंकी झड़ी लगा दी। इसी प्रकार किरीटमाली अर्जुनने भी अपने तीखे सायकोंसे कर्णको ढँक दिया ।।

तयोः सुतीक्ष्णान् सृजतोः शरौघान्
महाशरौघास्त्रविवर्धने रणे ।
रथे विलग्नाविव चन्द्रसूर्यौ
घनान्तरेणानुददर्श लोकः ।। ३० ।।

इस प्रकार जहाँ राशि-राशि बाणोंद्वारा भीषण मार-काट मची हुई थी, उस रणक्षेत्रमें वे दोनों वीर अत्यन्त तीक्ष्ण शरसमूहोंकी बौछार कर रहे थे। लोगोंने देखा, वे रथपर बैठे हुए बाणसमूहके भीतरसे इस प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं, मानो बादलोंके भीतरसे सूर्य और चन्द्रमा चमक रहे हों ।। ३० ।।

अथाशुकारी चतुरो हयांश्च
विव्याध कर्णो निशितैः किरीटिनः ।
त्रिभिश्च यन्तारममृष्यमाणो
विव्याध तूर्णं त्रिभिरस्य केतुम् ।। ३१ ।।

कर्णको अर्जुनका पराक्रम असह्य हो उठा। उसने अपनी आशुकारिता (शीघ्र बाण छोड़नेकी कला) का परिचय देते हुए तीखे बाणोंसे अर्जुनके चारों घोड़ोंको बींध डाला; फिर

तीन बाणोंसे उनके सारथिको घायल किया और तुरंत ही तीन बाण मारकर ध्वजको भी छेद डाला ।। ३१ ।।

ततोऽभिविद्धः समरावमर्दी
प्रबोधितः सिंह इव प्रसुप्तः ।
गाण्डीवधन्वा ऋषभः कुरूणा-
मजिह्मगैः कर्णमियाय जिष्णुः ।। ३२ ।।

कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष गाण्डीवधारी अर्जुन समर-भूमिमें शत्रुओंको रौंद डालनेवाले थे। वे सूतपुत्रके बाणोंसे घायल होकर सोये हुए सिंहके समान जाग उठे और विपक्षियोंपर सीधे आघात करनेवाले बाणोंद्वारा कर्णका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ।। ३२ ।।

शरास्त्रवृष्ट्या निहतो महात्मा
प्रादुश्चकारातिमनुष्यकर्म ।
प्राच्छादयत् कर्णरथं पृषत्कै-
र्लोकानिमान् सूर्य इवांशुजालैः ।। ३३ ।।

कर्णकी बाणवर्षासे आहत हुए महात्मा अर्जुनने अतिमानुष पराक्रम प्रकट किया। जैसे सूर्य अपनी किरणोंके समूहसे समस्त संसारको आच्छादित कर देते हैं, उसी प्रकार उन्होंने बाणसमुदायसे कर्णके रथको ढक दिया ।।

स हस्तिनेवाभिहतो गजेन्द्रः
प्रगृह्य भल्लान् निशितान् निषङ्गात् ।
आकर्णपूर्णं च धनुर्विकृष्य
विव्याध गात्रेष्वथ सूतपुत्रम् ।। ३४ ।।

उस समय अर्जुनकी दशा उस गजराजकी भाँति हो रही थी, जो अपने प्रतिद्वन्द्वी गजका प्रहार सहकर स्वयं भी उसपर चोट करनेके लिये उद्यत हो। उन्होंने तरकससे भल्ल नामक तीखे बाण निकाले और धनुषको कानतक खींचकर सूतपुत्रके अंगोंको बींध डाला ।। ३४ ।।

अथास्य बाहूरुशिरोललाटं
ग्रीवां वराङ्गानि परावमर्दी ।
शितैश्च बाणैर्युधि निर्बिभेद
गाण्डीवमुक्तैरशनिप्रकाशैः ।। ३५ ।।

शत्रुओंका मान-मर्दन करनेवाले वीर धनंजयने गाण्डीव धनुषसे छूटकर वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले तीखे सायकोंद्वारा उस युद्धमें कर्णकी दोनों भुजाओं, जाँघों, मस्तक, ललाट तथा ग्रीवा आदि उत्तम अंगोंको छेद डाला ।। ३५ ।।

स पार्थमुक्तैरिषुभिः प्रणुन्नो
गजो गजेनेव जितस्तरस्वी ।

विहाय संग्रामशिरः प्रयातो

वैकर्तनः पाण्डवबाणतप्तः ।। ३६ ।।

अर्जुनके छोड़े हुए बाणोंकी चोट खाकर सूर्यपुत्र कर्ण तिलमिला उठा और एक हाथीसे पराजित हुए दूसरे वेगशाली हाथीकी भाँति वह पाण्डुनन्दन अर्जुनके बाणोंसे संतप्त हो युद्धका मुहाना छोड़कर भाग निकला ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे कर्णापयाने चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय कर्णका युद्धसे पलायनविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५४ ।।

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा कौरवसेनाका संहार और उत्तरका उनके रथको कृपाचार्यके पास ले जाना

वैशम्पायन उवाच

अपयाते तु राधेये दुर्योधनपुरोगमाः ।
अनीकेन यथास्वेन शनैरार्च्छन्त पाण्डवम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राधानन्दन कर्णके भाग जानेपर दुर्योधन आदि कौरवयोद्धा अपनी-अपनी सेनाके साथ धीरे-धीरे पाण्डुनन्दन अर्जुनकी ओर बढ़ आये ।। १ ।।

बहुधा तस्य सैन्यस्य व्यूढस्यापततः शरैः ।
अधारयत वेगं स वेलेव तु महोदधेः ।। २ ।।

तब जैसे वेला (तटभूमि) महासागरके वेगको रोक लेती है, उसी प्रकार अर्जुनने व्यूहरचनापूर्वक बाणवर्षाके साथ आती हुई अनेक भागोंमें विभक्त कौरवसेनाके बढ़ावको रोक दिया ।। २ ।।

ततः प्रहस्य बीभत्सुः कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।
दिव्यमस्त्रं प्रकुर्वाणः प्रत्यायाद् रथसत्तमः ।। ३ ।।
यथा रश्मिभिरादित्यः प्रच्छादयति मेदिनीम् ।
तथा गाण्डीवनिर्मुक्तैः शरैः पार्थो दिशो दश ।। ४ ।।

तदनन्तर श्वेत घोड़ोंवाले श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ कुन्तीनन्दन अर्जुनने हँसकर दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए उस सेनाका सामना किया। जैसे सूर्यदेव अपनी अनन्त किरणोंद्वारा समूची पृथ्वीको आच्छादित कर लेते हैं, उसी प्रकार अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए असंख्य बाणोंद्वारा दसों दिशाओंको ढँक दिया ।। ३-४ ।।

न रथानां न चाश्वानां न गजानां न वर्मणाम् ।
अनिविद्धं शितैर्बाणैरासीद्द्व्यङ्गुलमन्तरम् ।। ५ ।।

वहाँ रथों, घोड़ों, हाथियों तथा उनके सवारोंके अंगों और कवचोंमें दो अंगुल भी ऐसा स्थान नहीं बचा था, जो अर्जुनके तीखे बाणोंसे बिंध न गया हो ।। ५ ।।

दिव्ययोगाच्च पार्थस्य हयानामुत्तरस्य च ।
शिक्षाशिल्पोपपन्नत्वादस्त्राणां च परिक्रमात् ।
वीर्यवत्त्वं द्रुतं चाग्रयं दृष्ट्वा जिष्णोरपूजयन् ।। ६ ।।

अर्जुनके दिव्यास्त्रोंका प्रयोग, घोड़ोंकी शिक्षा, रथ-संचालनकी कलामें उत्तरका कौशल तथा पार्थके अस्त्र चलानेका क्रम—इन सबके कारण तथा उनका पराक्रम और अत्यन्त फुर्ती देखकर शत्रु भी उनकी प्रशंसा करने लगे ।। ६ ।।

कालाग्निमिव बीभत्सुं निर्दहन्तमिव प्रजाः ।
नारयः प्रेक्षितुं शेकुर्ज्वलन्तमिव पावकम् ।। ७ ।।

अर्जुन समस्त प्रजाका संहार करनेवाली प्रलयकालीन अग्निके समान शत्रुओंको भस्म कर रहे थे। वे मानो जलती आग हो रहे थे। शत्रु उनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं पाते थे ।। ७ ।।

तानि ग्रस्तान्यनीकानि रेजुरर्जुनमार्गणैः ।
शैलं प्रति बलाभ्राणि व्याप्तानीवार्करश्मिभिः ।। ८ ।।

अर्जुनके बाणोंसे आच्छादित हुई कौरवोंकी सेना इस प्रकार सुशोभित हुई, मानो पर्वतके निकट नवीन मेघोंकी घटा सूर्यकी किरणोंसे व्याप्त हो गयी हो ।। ८ ।।

अशोकानां वनानीवच्छन्नानि बहुशः शुभैः ।
रेजुः पार्थशरैस्तत्र तदा सैन्यानि भारत ।। ९ ।।

भारत! उस समय कुन्तीपुत्र अर्जुनके बाणोंसे घायल हो लहूलुहान हुए कौरवसैनिक बहुतेरे लाल फूलोंसे आच्छादित अशोकवनके समान शोभा पा रहे थे ।। ९ ।।

स्रजोऽर्जुनशरैः शीर्णं शुष्यत्पुष्पं हिरण्मयम् ।
छत्राणि च पताकाश्च खे दधार सदागतिः ।। १० ।।

अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो हारसे टूटकर बिखरे हुए स्वर्णचम्पाके सूखे फूल, छत्र और पताकाओं आदिको वायु कुछ देरतक आकाशमें ही धारण किये रहती थी (बाणोंके जालपर रुक जानेसे वे जल्दी नीचे नहीं गिरते थे) ।। १० ।।

स्वबलत्रासनात्त्रस्ताः परिपेतुर्दिशो दश ।
रथाङ्गदेशानादाय पार्थच्छिन्नयुगा हयाः ।। ११ ।।

अर्जुनने जिनके जुए काट दिये थे, वे शत्रुदलके घोड़े अपनी सेनाकी घबराहटसे स्वयं भी व्यग्र हो उठे और जुएका एक-एक टुकड़ा अपने साथ लिये सब ओर भागने लगे ।। ११ ।।

कर्णकक्षविषाणेषु अन्तरोष्ठेषु चैव ह ।
मर्मस्वङ्गेषु चाहत्यापातयत् समरे गजान् ।। १२ ।।

अब अर्जुन युद्धभूमिमें गजराजोंके कान, कक्ष, दाँत, निचले ओठ तथा अन्य मर्मस्थानोंमें बाण मारकर उन्हें धराशायी करने लगे ।। १२ ।।

कौरवाग्रगजानां तु शरीरैर्गतचेतसाम् ।
क्षणेन संवृता भूमिर्मेघैरिव नभस्तलम् ।। १३ ।।

एक ही क्षणमें प्राणहीन हुए कौरवसेनाके आगे चलनेवाले गजराजोंकी लाशोंसे वहाँकी भूमि पट गयी एवं मेघोंकी घटासे आच्छादित आकाशकी भाँति प्रतीत होने लगी ।। १३ ।।

युगान्तसमये सर्वं यथा स्थावरजङ्गमम् ।
कालक्षयमशेषेण दहत्यग्रशिखः शिखी ।
तद्वत् पार्थो महाराज ददाह समरे रिपून् ।। १४ ।।

महाराज! जैसे प्रलयकालमें लपलपाती लपटोंके साथ आगे बढ़नेवाली संवर्तकाग्नि सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार कुन्तीनन्दन अर्जुन उस समरभूमिमें शत्रुओंको अपनी बाणाग्निसे दग्ध करने लगे ।। १४ ।।

ततः सर्वास्त्रतेजोभिर्धनुषो निःस्वनेन च ।
शब्देनामानुषाणां च भूतानां ध्वजवासिनाम् ।
भैरवं शब्दमत्यर्थं वानरस्य च कुर्वतः ।। १५ ।।
दैवारिपाच्च बीभत्सुस्तस्मिन् दौर्योधने वने ।
भयमुत्पादयामास बलवानरिमर्दनः ।। १६ ।।

तदनन्तर शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले बलवान् अर्जुनने अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके तेजसे, धनुषकी टंकारसे, ध्वजामें निवास करनेवाले मानवेतर भूतोंके भयंकर कोलाहलसे, अत्यन्त भैरव गर्जना करनेवाले वानरके प्रभावसे तथा भीषण नाद फैलानेवाले शंखसे भी दुर्योधनकी उस सेनामें भारी भय उत्पन्न कर दिया ।। १५-१६ ।।

रथशक्तिममित्राणां प्रागेव निपतद् भुवि ।
सोऽपयात् सहसा पश्चात् साहसाच्चाभ्युपेयिवान् ।। १७ ।।

शत्रुओंकी रथशक्तिको तो अर्जुन पहलेसे ही धरतीपर सुला चुके थे। फिर असमर्थोंका वध करना अनुचित साहस मानकर वे एक बार वहाँसे हट गये, परंतु (उन सैनिकोंको युद्धके लिये उद्यत देख) फिर उनके पास आ गये ।। १७ ।।

शरव्रातैः सुतीक्ष्णाग्रैः समादिष्टैः खगैरिव ।
अर्जुनस्तु खमावव्रे लोहितप्राशनैः खगैः ।। १८ ।।

अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए अत्यन्त तीखी धारवाले बाणसमूह मानो रक्त पीनेवाले आकाशचारी पक्षी थे, उनके द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण आकाशको ढँक दिया ।। १८ ।।

अत्र मध्ये यथार्कस्य रश्मयस्तिग्मतेजसः ।
दिशासु च तथा राजन्नसंख्याताः शरास्तदा ।। १९ ।।

राजन्! जैसे प्रचण्ड तेजवाले सूर्यदेवकी किरणें एक पात्रमें नहीं अँट सकतीं, उसी प्रकार उस समय सम्पूर्ण दिशाओंमें फैले हुए अर्जुनके असंख्य बाण आकाशमें समा नहीं पाते थे ।। १९ ।।

सकृदेवानतं शेकू रथमभ्यसितुं परे ।
अलभ्यः पुनरश्वैस्तु रथात् सोऽतिप्रपादयेत् ।। २० ।।

शत्रुसैनिक अर्जुनका रथ निकट आनेपर उसे एक ही बार पहचान पाते थे; दुबारा इसके लिये उन्हें अवसर नहीं मिलता था; क्योंकि पास आते ही अर्जुन उन्हें घोड़ोंसहित इस लोकसे परलोक भेज देते थे ।। २० ।।

ते शरा द्विट्शरीरेषु यथैव न ससज्जिरे ।
द्विडनीकेषु बीभत्सोर्न ससज्जे रथस्तदा ।। २१ ।।

अर्जुनके वे बाण जिस प्रकार शत्रुओंके शरीरमें अटकते नहीं थे, उन्हें छेदकर पार निकल जाते थे, उसी प्रकार उनका रथ भी उस समय शत्रु-सेनाओंमें कहीं रुकता नहीं था; उनको चीरता हुआ आगे बढ़ जाता था ।।

स तद् विक्षोभयामास ह्यरातिबलमञ्जसा ।
अनन्तभोगो भुजगः क्रीडन्निव महार्णवे ।। २२ ।।

जैसे अनन्त फणोंवाले नागराज शेष महासागरमें क्रीड़ा करते हुए उसे मथ डालते हैं, उसी प्रकार अर्जुनने अनायास ही शत्रुसेनामें घूम-घूमकर भारी हलचल पैदा कर दी ।। २२ ।।

अस्यतो नित्यमत्यर्थं सर्वमेवातिगस्तथा ।
अश्रुतः श्रूयते भूतैर्धनुर्घोषः किरीटिनः ।। २३ ।।

जब अर्जुन बाण चलाते थे, उस समय समस्त प्राणी सदा उनके गाण्डीव धनुषकी बड़े जोरसे होनेवाली अद्‌भुत टंकार सुनते थे। वैसी टंकार-ध्वनि पहले किसीने कभी नहीं सुनी थी। उसके सामने दूसरे सभी प्रकारके शब्द दब जाते थे ।। २३ ।।

संततास्तत्र मातङ्गा बाणैरल्पान्तरान्तरे ।
संवृतास्तेन दृश्यन्ते मेघा इव गभस्तिभिः ।। २४ ।।

उस युद्धभूमिमें खड़े हुए हाथियोंके सम्पूर्ण अंग बहुत थोड़ी-थोड़ी दूरपर बाणोंसे छिद गये थे। इस कारण वे सूर्यकी किरणोंसे आवृत मेघोंकी घटाके समान दिखायी देते थे ।। २४ ।।

दिशोऽनुभ्रमतः सर्वाः सव्यदक्षिणमस्यतः ।
सततं दृश्यते युद्धे सायकासनमण्डलम् ।। २५ ।।

अर्जुन सब दिशाओंमें बार-बार घूमते हुए दाँयें-बाँयें बाण चला रहे थे; इसलिये युद्धमें अलातचक्रकी भाँति उनका मण्डलाकार धनुष सदा दृष्टिगोचर होता रहता था ।। २५ ।।

पतन्त्यरूपेषु यथा चक्षूंषि न कदाचन ।
नालक्ष्येषु शराः पेतुस्तथा गाण्डीवधन्वनः ।। २६ ।।

जैसे आँखें रूपहीन पदार्थोंपर कभी नहीं पड़तीं, उसी प्रकार गाण्डीवधारी अर्जुनके बाण उन व्यक्तियोंपर नहीं पड़ते थे, जो उनके बाणोंके लक्ष्य नहीं थे (अर्थात् जिन्हें वे अपने बाणोंका निशाना नहीं बनाना चाहते थे।) ।। २६ ।।

मार्गो गजसहस्रस्य युगपद् गच्छतो वने ।

यथा भवेत् तथा जज्ञे रथमार्गः किरीटिनः ।। २७ ।।

जैसे वनमें एक साथ चलते हुए सहस्रों हाथियोंके पदचिह्नोंसे बहुत साफ और चौड़ा रास्ता बन जाता है, उसी प्रकार किरीटधारी अर्जुनके रथका मार्ग भी उनकी बाणवर्षासे साफ हो जाता था ।। २७ ।।

नूनं पार्थजयैषित्वाच्छक्रः सर्वामरैः सह ।
हन्त्यस्मानित्यमन्यन्त पार्थेन निहताः परे ।। २८ ।।

अर्जुनके बाणोंसे घायल हुए शत्रु ऐसा समझते थे कि निश्चय ही अर्जुनकी विजयकी अभिलाषा रखनेके कारण साक्षात् इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंके साथ आकर हमें मार रहे हैं ।। २८ ।।

घ्नन्तमत्यर्थमहितान् विजयं तत्र मेनिरे ।
कालमर्जुनरूपेण संहरन्तमिव प्रजाः ।। २९ ।।

उस समरभूमिमें असंख्य शत्रुओंका संहार करते हुए पार्थकी ओर देखकर लोग यह मानने लगे कि अर्जुनके रूपमें साक्षात् काल ही आकर सबका संहार कर रहा है ।। २९ ।।

कुरुसेनाशरीराणि पार्थेनैवाहतान्यपि ।
सेदुः पार्थहतानीव पार्थकर्मानुशासनात् ।। ३० ।।

कौरव-योद्धाओंके शरीर कुन्तीनन्दन अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर छिन्न-भिन्न हो गये थे। वे पार्थके बाणोंसे मरे हुएकी ही भाँति पड़े थे; क्योंकि पार्थके इस अद्भुत पराक्रमकी उन्हींसे उपमा दी जा सकती है ।। ३० ।।

ओषधीनां शिरांसीव द्विषच्छीर्षाणि सोऽन्वयात् ।
अवनेशुः कुरूणां हि वीर्याण्यर्जुनजाद् भयात् ।। ३१ ।।

वे धानकी बालके समान शत्रुओंके सिर क्रमशः काटते जाते थे। अर्जुनके भयसे कौरवोंकी सारी शक्ति नष्ट हो गयी थी ।। ३१ ।।

अर्जुनानिलभिन्नानि वनान्यर्जुनविद्विषाम् ।
चक्रुर्लोहितधाराभिर्धरणीं लोहितान्तराम् ।। ३२ ।।

अर्जुनके शत्रुरूपी वन अर्जुनरूपी वायुसे ही छिन्न-भिन्न हो लाल धाराएँ (रक्त) बहाकर पृथ्वीको भी लाल करने लगे ।। ३२ ।।

लोहितेन समायुक्तैः पांसुभिः पवनोद्धृतैः ।
बभूवुर्लोहितास्तत्र भृशमादित्यरश्मयः ।। ३३ ।।

वायुद्वारा उड़ायी हुई रक्तसे सनी धूलके संसर्गसे आकाशमें सूर्यकी किरणें भी अधिक लाल हो गयीं ।। ३३ ।।

सार्कं खं तत्क्षणेनासीत् संध्यायामिव लोहितम् ।
अप्यस्तं प्राप्य सूर्योऽपि निवर्तेत न पाण्डवः ।। ३४ ।।

जैसे संध्याकालमें पश्चिमका आकाश लाल हो जाता है, उसी प्रकार उस समय सूर्यसहित आकाश लाल रंगका हो गया था। संध्याकालमें तो सूर्य अस्ताचलपर पहुँचकर परसंताप-कर्मसे निवृत्त हो जाते हैं; परंतु पाण्डुनन्दन अर्जुन शत्रुपीड़नरूपी कर्मसे निवृत्त नहीं हुए ।। ३४ ।।

तान् सर्वान् समरे शूरः पौरुषे समवस्थितान् ।
दिव्यैरस्त्रैरचिन्त्यात्मा सर्वानाच्छेद् धनुर्धरान् ।। ३५ ।।

अचिन्त्य मन-बुद्धिवाले शूरवीर अर्जुनने रणभूमिमें पुरुषार्थ दिखानेके लिये डटे हुए उन सभी धनुषधारियोंपर अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा आक्रमण किया ।। ३५ ।।

स तु द्रोणं त्रिसप्तत्या क्षुरप्राणां समार्पयत् ।
दुःसहं दशभिर्बाणैर्द्रौणिमष्टाभिरेव च ।। ३६ ।।
दुःशासनं द्वादशभिः कृपं शारद्वतं त्रिभिः ।
भीष्मं शान्तनवं षष्ट्या राजानं च शतेन ह ।
कर्णं च कर्णिना कर्णे विव्याध परवीरहा ।। ३७ ।।

उन्होंने द्रोणाचार्यको तिहत्तर, दुःसहको दस, अश्वत्थामाको आठ, दुःशासनको बारह, शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यको तीन, शान्तनुनन्दन भीष्मको साठ तथा राजा दुर्योधनको सौ क्षुरप्र नामवाले बाणोंसे घायल किया। तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले अर्जुनने कर्णके कानमें एक कर्णी नामक बाण मारकर उसे बींध डाला ।। ३६-३७ ।।

तस्मिन् विद्धे महेष्वासे कर्णे सर्वास्त्रकोविदे ।
हताश्वसूते विरथे ततोऽनीकमभज्यत ।। ३८ ।।

फिर उसके घोड़े और सारथिको भी यमलोक भेजकर रथहीन कर दिया। इस प्रकार सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता महाधनुर्धर सुप्रसिद्ध कर्णके घायल होने तथा उसके घोड़े, सारथि एवं रथके नष्ट हो जानेपर सारी सेनामें भगदड़ मच गयी ।। ३८ ।।

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा पार्थमाजिस्थितं पुनः ।
अभिप्रायं समाज्ञाय वैराटिरिदमब्रवीत् ।। ३९ ।।
आस्थाय रुचिरं जिष्णो रथं सारथिना मया ।
कतमं यास्यसेऽनीकमुक्तो यास्याम्यहं त्वया ।। ४० ।।

विराटकुमार उत्तरने कौरव-सेनाको भागती और कुन्तीपुत्र अर्जुनको पुनः युद्धके लिये डटा हुआ देखकर उनका अभिप्राय समझकर यों कहा—'जिष्णो! मुझ सारथिके साथ इस सुन्दर रथपर बैठे हुए आप अब किस सेनाकी ओर जाना चाहते हैं? आप जहाँके लिये आज्ञा दें, वहीं आपके साथ चलूँ ।। ३९-४० ।।

अर्जुन उवाच

लोहिताश्वमरिष्टं यं वैयाघ्रमनुपश्यसि ।

नीलां पताकामाश्रित्य रथे तिष्ठन्तमुत्तर ।। ४१ ।।
कृपस्यैतदनीकाग्र्यं प्रापयस्वैतदेव माम् ।
एतस्य दर्शयिष्यामि शीघ्रास्त्रं दृढधन्विनः ।। ४२ ।।

अर्जुन बोले—उत्तर! जिनके लाल-लाल घोड़े हैं, जिन शुभस्वरूप महापुरुषको तुम बाघम्बर पहने देख रहे हो, जो अपने रथपर नीले रंगकी पताका फहराकर बैठे हुए हैं, वे कृपाचार्यजी हैं और वहीं यह उनकी श्रेष्ठ सेना है। मुझे इसी सेनाके पास ले चलो। मैं इन दृढ़ धनुषवाले कृपाचार्यजीको शीघ्र अस्त्र चलानेकी कला दिखलाऊँगा ।। ४१-४२ ।।

ध्वजे कमण्डलुर्यस्य शातकौम्भमयः शुभः ।
आचार्य एष हि द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।। ४३ ।।

जिनकी ध्वजामें सुन्दर सुवर्णमय कमण्डलु सुशोभित है, ये सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण हैं ।। ४३ ।।

सदा ममैष मान्यस्तु सर्वशस्त्रभृतामपि ।
सुप्रसन्नं महावीरं कुरुष्वैनं प्रदक्षिणम् ।। ४४ ।।

ये मेरे तथा अन्य सब शस्त्रधारियोंके माननीय हैं। तुम इन परम प्रसन्न महावीर आचार्यपादकी रथद्वारा प्रदक्षिणा करो ।। ४४ ।।

अत्रैव वावरोहैनमेष धर्मः सनातनः ।
यदि मे प्रथमं द्रोणः शरीरे प्रहरिष्यति ।
ततोऽस्य प्रहरिष्यामि नास्य कोपो भवेदिति ।। ४५ ।।

तुम इसी समय इन्हें आदर दो और युद्धके लिये उद्यत हो रथपर बैठे रहो। यह सनातन धर्म है। यदि आचार्य द्रोण पहले मेरे शरीरपर प्रहार करेंगे, तब मैं इनके ऊपर भी बाणोंद्वारा आघात करूँगा। ऐसा करनेपर इन्हें क्रोध नहीं होगा ।। ४५ ।।

अस्याविदूरे हि धनुर्ध्वजाग्रे यस्य दृश्यते ।
आचार्यस्यैष पुत्रो वै अश्वत्थामा महारथः ।। ४६ ।।
सदा ममैष मान्यस्तु सर्वशस्त्रभृतामपि ।
एतस्य त्वं रथं प्राप्य निवर्तेथाः पुनः पुनः ।। ४७ ।।

इनके पास ही जिनकी ध्वजाके अग्रभागमें धनुषका चिह्न दिखायी देता है, ये आचार्यके ही योग्य पुत्र महारथी अश्वत्थामा हैं। ये भी मेरे तथा सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंके लिये माननीय हैं, अतः इनके रथके समीप जाकर भी तुम बार-बार लौट आना ।। ४६-४७ ।।

य एष तु रथानीके सुवर्णकवचावृतः ।
सेनाग्र्येण तृतीयेन व्यावहार्येण तिष्ठति ।। ४८ ।।
यस्य नागो ध्वजाग्रेऽसौ हेमकेतनसंवृतः ।
धृतराष्ट्रात्मजः श्रीमानेष राजा सुयोधनः ।। ४९ ।।

यह जो रथियोंकी सेनामें सोनेका कवच धारण किये तीसरी काम देने योग्य (बिना थकी-मादी) सेनाके साथ विराजमान है, जिसकी ध्वजाके अग्रभागमें नागका चिह्न है और सोनेकी पताका फहरा रही है, यह धृतराष्ट्रपुत्र श्रीमान् राजा सुयोधन है ।। ४८-४९ ।।

एतस्याभिमुखं वीर रथं पररथारुजम् ।
प्रापयस्वैष राजा हि प्रमाथी युद्धदुर्मदः ।। ५० ।।

वीर! शत्रुओंके रथको तोड़ डालनेवाले अपने इस रथको तुम इसीके सम्मुख ले चलो। यह राजा शत्रुओंको मथ डालनेवाला तथा युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाला है ।। ५० ।।

एष द्रोणस्य शिष्याणां शीघ्रास्त्रे प्रथमो मतः ।
एतस्य दर्शयिष्यामि शीघ्रास्त्रं विपुलं रणे ।। ५१ ।।

यह शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेमें आचार्य द्रोणके शिष्योंमें प्रथम माना गया है। इस युद्धमें आज मैं इसे शीघ्र अस्त्र चलानेकी विपुल कलाका दर्शन कराऊँगा ।।

नागकक्षा तु रुचिरा ध्वजाग्रे यस्य तिष्ठति ।
एष वैकर्तनः कर्णो विदितः पूर्वमेव ते ।। ५२ ।।

जिसकी ध्वजाके अग्रभागपर हाथी या उसकी साँकलके चिह्नसे युक्त पताका फहरा रही है, यह विकर्तनपुत्र कर्ण है। इससे तुम पहले ही परिचित हो चुके हो ।। ५२ ।।

एतस्य रथमास्थाय राधेयस्य दुरात्मनः ।
यत्तो भवेथाः संग्रामे स्पर्धते हि सदा मया ।। ५३ ।।

इस दुरात्मा राधापुत्रके रथके निकट जाकर सावधान हो जाना। यह सदा युद्धमें मेरे साथ स्पर्धा रखता है ।। ५३ ।।

यस्तु नीलानुसारेण पञ्चतारेण केतुना ।
हस्तावापी बृहद्धन्वा रथे तिष्ठति वीर्यवान् ।। ५४ ।।
यस्य तारार्कचित्रोऽसौ ध्वजो रथवरे स्थितः ।
यस्यैतत् पाण्डुरं छत्रं विमलं मूर्ध्नि तिष्ठति ।। ५५ ।।
महतो रथवंशस्य नानाध्वजपताकिनः ।
बलाहकाग्रे सूर्यो वा य एष प्रमुखे स्थितः ।। ५६ ।।
हैमं चन्द्रार्कसंकाशं कवचं यस्य दृश्यते ।
जातरूपशिरस्त्राणं मनस्तापयतीव मे ।। ५७ ।।
एष शान्तनवो भीष्मः सर्वेषां नः पितामहः ।
राजश्रियाभिवृद्धश्च सुयोधनवशानुगः ।। ५८ ।।

जो नीले रंगकी पाँच तारोंके चिह्नसे सुशोभित पताकावाले रथपर बैठे हुए हैं, जिनका धनुष विशाल है, जिन्होंने हाथोंमें दस्ताने पहन रखे हैं, जिनका वह तारों और सूर्यके चिह्नोंसे विचित्र शोभा धारण करनेवाला ध्वज फहरा रहा है, जिनके मस्तकपर श्वेत रंगका उज्ज्वल छत्र सुशोभित है, जो नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे उपलक्षित रथियोंकी

विशाल सेनाके अग्रभागमें बादलोंके आगे सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं, जिनके शरीरपर चन्द्रमा और सूर्यके समान चमकीला सोनेका कवच और सुवर्णमय शिरस्त्राण दिखायी देता है, वे श्रेष्ठ रथपर विराजमान महापराक्रमी वीर पुरुष हम सबके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्म हैं। वे राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न होकर भी दुर्योधनके अधीन हो रहे हैं। इसलिये मेरे मनको संतप्त-सा किये देते हैं ।। ५४—५८ ।।

पश्चादेष प्रयातव्यो न मे विघ्नकरो भवेत् ।
एतेन युध्यमानस्य यत्तः संयच्छ मे हयान् ।। ५९ ।।

इनके पास सबसे पीछे चलना। ये मेरे मार्गमें विघ्नकारक नहीं होंगे। इनके साथ युद्ध करते समय सावधान होकर मेरे घोड़ोंको सँभालना ।। ५९ ।।

ततोऽभ्यवहदव्यग्रो वैराटिः सव्यसाचिनम् ।
यत्रातिष्ठत् कृपो राजन् योत्स्यमानो धनंजयम् ।। ६० ।।

राजन्! अर्जुनकी यह बात सुनकर विराटपुत्र उत्तर निर्भय एवं सावधान हो सव्यसाची धनंजयको उस स्थानपर ले गया, जहाँ कृपाचार्य उनसे युद्ध करनेके लिये खड़े थे ।। ६० ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि अर्जुनकृपसंग्रामे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुन-कृप-संग्रामविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५५ ।।

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुन और कृपाचार्यका युद्ध देखनेके लिये देवताओंका आकाशमें विमानोंपर आगमन

वैशम्पायन उवाच

तान्यनीकान्यदृश्यन्त कुरूणामुग्रधन्विनाम् ।
संसर्पन्ते यथा मेघा घर्मान्ते मन्दमारुताः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भयंकर धनुष धारण करनेवाले कौरवोंके वे सैनिक शनैः-शनैः आगे बढ़ने लगे। उस समय वे ऐसे दिखायी देते थे, मानो ग्रीष्मके अन्त एवं वर्षाके प्रारम्भमें मन्द वायुद्वारा प्रेरित मेघ धीरे-धीरे आ रहे हों ।। १ ।।

अभ्याशे वाजिनस्तस्थुः समारूढाः प्रहारिणः ।
भीमरूपाश्च मातङ्गास्तोमराङ्कुशनोदिताः ।
महामात्रैः समारूढा विचित्रकवचोच्च्वलाः ।। २ ।।

घुड़सवार योद्धा समीप आकर खड़े हो गये। घोड़ोंके साथ ही भयंकर हाथी भी आगे बढ़ आये। उन्हें महावत तोमर और अंकुशोंकी मारसे आगे बढ़नेकी प्रेरणा दे रहे थे और उन हाथियोंपर बैठे हुए शूर-वीर अपने विचित्र कवचोंकी प्रभासे प्रकाशित हो रहे थे ।। २ ।।

ततः शक्रः सुरगणैः समारुह्य सुदर्शनम् ।
सहोपायात् तदा राजन् विश्वाश्विमरुतां गणैः ।। ३ ।।

राजन्! इसी समय देवताओंसहित इन्द्र विमानपर बैठकर विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गणोंके साथ वहाँ आये, जहाँ परस्पर शत्रुता रखनेवाले दो दलोंका भयंकर संघर्ष छिड़ा हुआ था ।। ३ ।।

तद् देवयक्षगन्धर्वमहोरगसमाकुलम् ।
शुशुभेऽभ्रविनिर्मुक्तं ग्रहाणामिव मण्डलम् ।। ४ ।।

उस समय देवता, यक्ष, गन्धर्व तथा बड़े-बड़े नागों (के विमानों) से भरा हुआ वहाँका आकाश बादलोंके आवरणसे रहित ग्रहमण्डलकी भाँति शोभा पाने लगा ।। ४ ।।

अस्त्राणां च बलं तेषां मानुषेषु प्रयुञ्जताम् ।
तच्च भीमं महद् युद्धं कृपार्जुनसमागमे ।
द्रष्टुमभ्यागता देवाः स्वविमानैः पृथक् पृथक् ।। ५ ।।

कृपाचार्य और अर्जुनके संग्राममें देवताओंके उन अस्त्रोंकी शक्तिका मनुष्योंपर प्रयोग करनेवाले शूरवीरोंके उस महाभयंकर युद्धको अपनी आँखों देखनेके लिये देवतालोग पृथक्-पृथक् अपने विमानोंपर बैठकर आये थे ।। ५ ।।

शतं शतसहस्राणां यत्र स्थूणा हिरण्मयी ।
मणिरत्नमयी चान्या प्रासादं तदधारयत् ।। ६ ।।
ततः कामगमं दिव्यं सर्वरत्नविभूषितम् ।
विमानं देवराजस्य शुशुभे खेचरं तदा ।। ७ ।।

उन विमानोंमें देवराज इन्द्रका आकाशचारी विमान उस समय सबसे अधिक शोभा पा रहा था। वह इच्छानुसार चलनेवाला दिव्य यान सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित था। उस विमानको एक करोड़ खंभोंने धारण कर रखा था। उनमें एक ओर सोनेके और दूसरी ओर मणि एवं रत्नोंके खंभे लगे थे ।। ६-७ ।।

तत्र देवास्त्रयस्त्रिंशत् तिष्ठन्ति सहवासवाः ।
गन्धर्वा राक्षसाः सर्पाः पितरश्च महर्षिभिः ।। ८ ।।
तथा राजा वसुमना बलाक्षः सुप्रतर्दनः ।
अष्टकश्च शिबिश्चैव ययातिर्नहुषो गयः ।। ९ ।।
मनुः पूरू रघुर्भानुः कृशाश्वः सगरो नलः ।
विमाने देवराजस्य समदृश्यन्त सुप्रभाः ।। १० ।।

उस विमानमें इन्द्रसहित तैंतीस देवता विराजमान थे। इनके सिवा गन्धर्व, राक्षस, सर्प, पितर, महर्षिगण, राजा वसुमना, बलाक्ष, सुप्रतर्दन, अष्टक, शिबि, ययाति, नहुष, गय, मनु, पूरु, रघु, भानु, कृशाश्व, सगर तथा नल—ये सब तेजस्वी रूप धारण करके देवराजके विमानमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। ८—१० ।।

अग्नेरीशस्य सोमस्य वरुणस्य प्रजापतेः ।
तथा धातुर्विधातुश्च कुबेरस्य यमस्य च ।। ११ ।।
अलम्बुषोग्रसेनानां गन्धर्वस्य च तुम्बुरोः ।
यथामानं यथोद्देशं विमानानि चकाशिरे ।। १२ ।।

अग्नि, ईश, सोम, वरुण, प्रजापति, धाता, विधाता कुबेर, यम, अलम्बुष और उग्रसेन आदि गन्धर्व तथा गन्धर्वराज तुम्बुरुके भी पृथक्-पृथक् विमान अपनी-अपनी लंबाई-चौड़ाईके अनुसार आकाशके विभिन्न प्रदेशोंमें प्रकाशित हो रहे थे ।। ११-१२ ।।

सर्वदेवनिकायाश्च सिद्धाश्च परमर्षयः ।
अर्जुनस्य कुरूणां च द्रष्टुं युद्धमुपागताः ।। १३ ।।

ये सभी देवसमुदाय, सिद्ध और महर्षिगण अर्जुन तथा कौरवदलका युद्ध देखनेके लिये जुटे थे ।। १३ ।।

दिव्यानां सर्वमाल्यानां गन्धः पुण्योऽथ सर्वशः ।
प्रससार वसन्ताग्रे वनानामिव भारत ।। १४ ।।

जनमेजय! जैसे वसन्तके प्रारम्भमें वनके फूलोंकी मनोहर सुगन्ध सब ओर फैलने लगती है, उसी प्रकार दिव्य मालाओंकी पुण्यमय गन्ध वहाँ सब ओर छा गयी ।।

तत्र रत्नानि देवानां समदृश्यन्त तिष्ठताम् ।
आतपत्राणि वासांसि स्रजश्च व्यजनानि च ।। १५ ।।

उन विमानोंमें बैठे हुए देवताओंके रत्न, छत्र, वस्त्र, मालाएँ और चँवर आदि स्पष्ट दिखायी दे रहे थे ।। १५ ।।

उपाशाम्यद् रजो भौमं सर्वं व्याप्तं मरीचिभिः ।
दिव्यगन्धानुपादाय वायुर्योधानसेवत ।। १६ ।।

धरतीकी धूल शान्त हो गयी थी और पृथ्वीकी प्रत्येक वस्तुपर (दिव्य) किरणोंका प्रकाश छा गया था। वायु दिव्य गन्ध लेकर वहाँपर स्थित योद्धाओंका सेवन करती थी ।। १६ ।।

प्रभासितमिवाकाशं चित्ररूपमलंकृतम् ।
सम्पतद्भिः स्थितैश्चापि नानारत्नविभासितैः ।। १७ ।।
विमानैर्विविधैश्चित्रैरुपानीतैः सुरोत्तमैः ।
वज्रभृच्छुशुभे तत्र विमानस्थैः सुरैर्वृतः ।। १८ ।।
बिभ्रन्मालां महातेजाः पद्मोत्पलसमायुताम् ।
विप्रेक्ष्यमाणो बहुभिर्नातृप्यत् सुमहाहवम् ।। १९ ।।

श्रेष्ठ देवताओंद्वारा लाये हुए भाँति-भाँतिके विचित्र विमान अनेकानेक रत्नोंसे उद्भासित थे। उनमेंसे कुछ स्थिर हो गये थे और कुछ (नीचे-ऊपर) उड़ रहे थे। उनके द्वारा उद्भासित होनेवाले आकाशकी विचित्र शोभा हो रही थी। वहाँ विमानस्थ देवताओंसे घिरे हुए वज्रधारी महातेजस्वी इन्द्र पद्म और उत्पलोंकी माला पहने सुशोभित हो रहे थे। वे अनेक वीरोंके साथ छिड़े हुए अर्जुनके उस महान् संग्रामको बार-बार देखते थे, तो भी तृप्त नहीं होते थे ।। १७—१९ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि देवागमने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें देवागमनविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५६ ।।

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कृपाचार्य और अर्जुनका युद्ध तथा कौरवपक्षके सैनिकोंद्वारा कृपाचार्यको हटा ले जाना

वैशम्पायन उवाच

दृष्ट्वा व्यूढान्यनीकानि कुरूणां कुरुनन्दन ।
तत्र वैराटिमामन्त्र्य पार्थो वचनमब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कौरव-सेनाओंको व्यूह-रचना करके खड़ी हुई देखकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने विराटकुमार उत्तरको सम्बोधित करके कहा— ।। १ ।।

जाम्बूनदमयी वेदी ध्वजे यस्य प्रदृश्यते ।
तस्य दक्षिणतो याहि कृपः शारद्वतो यतः ।। २ ।।

'उत्तर! जिसकी ध्वजापर सोनेकी वेदीका चिह्न दिखायी देता है, उस रथके दाहिने होकर चलो। उधर ही शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य हैं' ।। २ ।।

वैशम्पायन उवाच

धनंजयवचः श्रुत्वा वैराटिस्त्वरितस्ततः ।
हयान् रजतसंकाशान् हेमभाण्डानचोदयत् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! धनंजयकी बात सुनकर विराटकुमार उत्तरने तुरंत ही चाँदीके समान चमकीले उन श्वेत घोड़ोंको; जो सोनेके साज-सामानसे सुशोभित हो रहे थे, हाँका ।। ३ ।।

आनुपूर्व्यात् तु तत् सर्वमास्थाय जवमुत्तमम् ।
प्राहिणोच्चन्द्रसंकाशान् कुपितानिव तान् हयान् ।। ४ ।।

घोड़ोंको वेगपूर्वक भगानेके जितने उत्तम ढंग हैं, क्रमशः उन सबका सहारा लेकर उत्तरने उन चन्द्रमाके समान श्वेत घोड़ोंको इतनी तीव्र गतिसे आगे बढ़ाया, मानो वे कुपित होकर भाग रहे हों ।। ४ ।।

स गत्वा कुरुसेनायाः समीपं हयकोविदः ।
पुनरावर्तयामास तान् हयान् वातरंहसः ।। ५ ।।
प्रदक्षिणमुपावृत्य मण्डलं सव्यमेव च ।

अश्वविद्यामें प्रवीण विराटपुत्रने पहले कौरवसेनाके समीप जाकर उन वायुके समान वेगशाली घोड़ोंको पुनः लौटाया और दाँयीं ओरसे घुमाकर बाँयीं ओर बढ़ा दिया ।। ५ १/२ ।।

कुरून् सम्मोहयामास मत्स्यो यानेन तत्त्ववित् ।। ६ ।।
कृपस्य रथमास्थाय वैराटिरकुतोभयः ।

प्रदक्षिणमुपावृत्य तस्थौ तस्याग्रतो बली ।। ७ ।।

अश्वसंचालनका रहस्य जाननेवाले मत्स्यनरेशके पुत्रने रथकी चालसे कौरवोंको मोह (भ्रम) में डाल दिया—वे यह न जान सके कि रथ किस महारथीके पास जाना चाहता है। विराटनन्दन महाबली उत्तरको किसी ओरसे कोई भय नहीं था। उसने कृपाचार्यके रथके समीप जा रथद्वारा उनकी प्रदक्षिणा की। फिर उनके सामने जा वह रथ रोककर खड़ा हो गया ।। ६-७ ।।

ततोऽर्जुनः शङ्खवरं देवदत्तं महारवम् ।
प्रदध्मौ बलमास्थाय नाम विश्राव्य चात्मनः ।। ८ ।।

तब अर्जुनने अपना नाम सुनाकर और पूरा बल लगाकर भारी आवाज करनेवाले अपने उत्तम शंख देवदत्तको बजाया ।। ८ ।।

तस्य शब्दो महानासीद् धम्यमानस्य जिष्णुना ।
तथा वीर्यवता संख्ये पर्वतस्येव दीर्यतः ।। ९ ।।

युद्धभूमिमें वैसे महापराक्रमी विजयशील अर्जुनके द्वारा बजाये जानेपर उस शंखसे इतने जोरकी आवाज हुई, मानो कोई पर्वत फट गया हो ।। ९ ।।

पूजयांचक्रिरे शङ्खं कुरवः सहसैनिकाः ।
अर्जुनेन तथा ध्मातः शतधा यन्न दीर्यते ।। १० ।।

उस समय समस्त कौरव अपने सैनिकोंके साथ यह कहकर उस शंखकी सराहना करने लगे कि अहो! यह अद्‌भुत शंख है, जो अर्जुनके इस प्रकार बजानेपर भी उसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते? ।। १० ।।

दिवमावृत्य शब्दस्तु निवृत्तः शुश्रुवे पुनः ।
सृष्टो मघवता वज्रः प्रपतन्निव पर्वते ।। ११ ।।

वह शंखनाद स्वर्गलोकसे टकराकर जब पुनः लौटा, तब इस प्रकार सुनायी दिया, मानो इन्द्रका चलाया हुआ वज्र किसी पर्वतपर गिरा हो ।। ११ ।।

एतस्मिन्नन्तरे वीरो बलवीर्यसमन्वितः ।
अर्जुनं प्रति संरब्धः कृपः परमदुर्जयः ।
अमृष्यमाणस्तं शब्दं कृपः शारद्वतस्तदा ।। १२ ।।
अर्जुनं प्रति संरब्धो युद्धार्थी स महारथः ।
महोदधिजमादाय दध्मौ वेगेन वीर्यवान् ।। १३ ।।

वीरवर कृपाचार्य बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे। उन्हें जीतना अत्यन्त कठिन था। वे अर्जुनके शंख बजानेके अनन्तर उनके प्रति कुपित हो उठे। शरद्वान्‌के पुत्र महारथी कृपाचार्य उस समय अर्जुनके शंखनादको नहीं सह सके उनके मनमें अर्जुनपर कुछ रोष हो आया; इसलिये युद्धके (उसके साथ) अभिलाषी होकर उन महापराक्रमी महारथीने अपना शंख लेकर उसे बड़े जोरसे फूँका ।। १२-१३ ।।

स तु शब्देन लोकांस्त्रीनावृत्य रथिनां वरः ।
धनुरादाय सुमहज्ज्याशब्दमकरोत् तदा ।। १४ ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने उस शंखनादसे तीनों लोकोंको गुँजाकर उस समय हाथमें धनुष ले लिया और उसकी प्रत्यंचा खींचकर टंकारध्वनि की ।। १४ ।।

तौ रथौ सूर्यसंकाशौ योत्स्यमानौ महाबलौ ।
शारदाविव जीमूतौ व्यरोचेतां व्यवस्थितौ ।। १५ ।।

वे दोनों महारथी बड़े पराक्रमी और सूर्यके समान तेजस्वी थे, अतः युद्ध करनेके लिये खड़े हुए वे दोनों वीर शरत्कालके दो मेघोंकी भाँति शोभा पाने लगे ।। १५ ।।

ततः शारद्वतस्तूर्णं पार्थं दशभिराशुगैः ।
विव्याध परवीरघ्नं निशितैर्मर्मभेदिभिः ।। १६ ।।

तदनन्तर कृपाचार्यने मर्मस्थानको विदीर्ण कर देनेवाले दस तीखे बाणोंद्वारा शत्रुवीरोंके संहारक कुन्तीनन्दन अर्जुनको तुरंत बींध डाला ।। १६ ।।

पार्थोऽपि विश्रुतं लोके गाण्डीवं परमायुधम् ।
विकृष्य चिक्षेप बहून् नाराचान् मर्मभेदिनः ।। १७ ।।

तब अर्जुनने भी अपने विश्वविख्यात उत्तम आयुध गाण्डीवको (कानतक) खींचकर बहुत-से मर्मभेदी नाराच छोड़े ।। १७ ।।

तानप्राप्तान् शितैर्बाणैर्नासचान् रक्तभोजनान् ।
कृपश्चिच्छेद पार्थस्य शतशोऽथ सहस्रशः ।। १८ ।।

किंतु अर्जुनके द्वारा चलाये हुए उन रक्त पीनेवाले नाराचोंको अपने पास आनेसे पहले ही कृपाचार्यने तीखे बाण मारकर उनके सैकड़ों और हजारों टुकड़े कर डाले ।।

ततः पार्थस्तु संक्रुद्धश्चित्रान् मार्गान् प्रदर्शयन् ।
दिशः संछादयन् बाणैः प्रदिशश्च महारथः ।
एकच्छायमिवाकाशमकरोत् सर्वतः प्रभुः ।। १९ ।।

तब सामर्थ्यशाली महारथी कुन्तीपुत्र अर्जुनने क्रोधमें भरकर बाण चलानेकी विचित्र पद्धतियोंका प्रदर्शन करते हुए बाणोंकी झड़ी लगाकर सम्पूर्ण दिशा-विदिशाओंको ढँक दिया और आकाशको सब ओरसे एकमात्र अन्धकारमें निमग्न-सा कर दिया ।। १९ ।।

प्राच्छादयदमेयात्मा पार्थः शरशतैः कृपम् ।
स शरैरर्दितः क्रुद्धः शितैरग्निशिखोपमैः ।। २० ।।

तदनन्तर अचिन्त्य मन-बुद्धिवाले पृथापुत्र अर्जुनने सैकड़ों बाण मारकर कृपाचार्यको ढँक दिया। आगकी लपटोंके समान जलानेवाले उन तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर कृपाचार्यको बड़ा क्रोध हुआ ।। २० ।।

तूर्णं दशसहस्रेण पार्थमप्रतिमौजसम् ।
अर्दयित्वा महात्मानं ननर्द समरे कृपः ।। २१ ।।

तब उन्होंने अनुपम पराक्रमी महात्मा पृथापुत्रको युद्धमें तुरंत ही दस हजार बाणोंसे पीड़ित करके बड़े जोरसे गर्जना की ।। २१ ।।

ततः कनकपर्वाग्रैर्वीरः संनतपर्वभिः ।
त्वरन् गाण्डीवनिर्मुक्तैरर्जुनस्तस्य वाजिनः ।। २२ ।।
चतुर्भिश्चतुरस्तीक्ष्णैरविध्यत् परमेषुभिः ।
ते हया निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः ।
उत्पेतुः सहसा सर्वे कृपः स्थानादथाच्यवत् ।। २३ ।।

तब वीर अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए झुकी हुई गाँठ और सुनहरे पर्वाग्र (फल)-वाले चार बाणोंद्वारा बड़ी उतावलीसे कृपाचार्यके चारों घोड़ोंको बींध डाला। वे चारों बाण बड़े तीखे और उत्तम थे। विषाग्निसे जलते हुए सर्पोंकी भाँति उन तेज बाणोंकी मार खाकर वे सभी घोड़े सहसा उछल पड़े। इससे कृपाचार्य अपने स्थानसे गिर गये ।। २२-२३ ।।

च्युतं तु गौतमं स्थानात् समीक्ष्य कुरुनन्दनः ।
नाविध्यत् परवीरघ्नो रक्षमाणोऽस्य गौरवम् ।। २४ ।।

कृपाचार्यको स्थानसे गिरा हुआ देख शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले कुरुनन्दन अर्जुनने उनके गौरवकी रक्षा करते हुए उनपर बाणोंसे आघात नहीं किया ।। २४ ।।

स तु लब्ध्वा पुनः स्थानं गौतमः सव्यसाचिनम् ।

विव्याध दशभिर्बाणैस्त्वरितः कङ्कपत्रिभिः ।। २५ ।।

किंतु कृपाचार्यने पुनः अपना स्थान ग्रहण कर लेनेपर तुरंत ही सफेद चीलके पंखोंसे युक्त दस बाणोंका प्रहार करके सव्यसाची अर्जुनको बींध डाला ।। २५ ।।

ततः पार्थो धनुस्तस्य भल्लेन निशितेन ह ।

चिच्छेदैकेन भूयश्च हस्तावापमथाहरत् ।। २६ ।।

तब अर्जुनने एक तीखे भल्ल नामक बाणद्वारा कृपाचार्यका धनुष काट डाला और पुनः उनके दस्तानेको नष्ट कर दिया ।। २६ ।।

अथास्य कवचं बाणैर्निशितैर्मर्मभेदिभिः ।

व्यधमन्न च पार्थोऽस्य शरीरमवपीडयत् ।। २७ ।।

उसके बाद पार्थने मर्मभेदी तीखे बाणोंद्वारा उनके कवचको भी छिन्न-भिन्न कर दिया, किंतु उनके शरीरको तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचाया ।। २७ ।।

तस्य निर्मुच्यमानस्य कवचात् काय आबभौ ।

समये मुच्यमानस्य सर्पस्येव तनुर्यथा ।। २८ ।।

कवचसे मुक्त होनेपर कृपाचार्यका शरीर इस प्रकार सुशोभित हुआ, मानो समयपर केंचुल छूटनेके बाद सर्पका शरीर सुशोभित हो रहा हो ।। २८ ।।

छिन्ने धनुषि पार्थेन सोऽन्यदादाय कार्मुकम् ।

चकार गौतमः सज्यं तदद्भुतमिवाभवत् ।। २९ ।।

अर्जुनद्वारा धनुष काट दिये जानेपर गौतम (कृप) ने दूसरा धनुष लेकर उसपर प्रत्यंचा चढ़ा ली। यह एक अद्‌भुत-सी बात हुई ।। २९ ।।

स तदप्यस्य कौन्तेयश्चिच्छेद नतपर्वणा ।

एवमन्यानि चापानि बहूनि कृतहस्तवत् ।

शारद्वतस्य चिच्छेद पाण्डवः परवीरहा ।। ३० ।।

परंतु कुन्तीनन्दनने झुकी हुई गाँठवाले एक बाणसे उनके उस धनुषको भी काट दिया और इसी प्रकार कृपाचार्यके बहुत-से दूसरे धनुष भी शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाण्डुनन्दनने हाथकी फुर्ती दिखानेमें कुशल वीरकी भाँति छिन्न-भिन्न कर डाले ।। ३० ।।

स च्छिन्नधनुरादाय रथशक्तिं प्रतापवान् ।

प्राहिणोत् पाण्डुपुत्राय प्रदीप्तामशनीमिव ।। ३१ ।।

इस तरह धनुष कट जानेपर प्रतापी कृपाचार्यने पाण्डुपुत्र अर्जुनपर वज्रकी भाँति प्रज्वलित रथशक्ति चलायी ।। ३१ ।।

तामर्जुनस्तदाऽऽयान्तीं शक्तिं हेमविभूषिताम् ।

वियद्‌गतां महोल्काभां चिच्छेद दशभिः शरैः ।। ३२ ।।

सापतद् दशधा छिन्ना भूमौ पार्थेन धीमता ।। ३३ ।।

तब अर्जुनने भारी उल्काकी भाँति अपनी ओर आती हुई उस सुवर्णभूषित शक्तिको दस बाण मारकर आकाशमें ही काट डाला। बुद्धिमान् पार्थके द्वारा दस टुकड़ोंमें कटी हुई वह शक्ति पृथ्वीपर गिर पड़ी ।।

युगपच्चैव भल्लैस्तु ततः सज्यधनुः कृपः ।
तमाशु निशितैः पार्थं बिभेद दशभिः शरैः ।। ३४ ।।

तब कृपाचार्यने पुनः प्रत्यंचासहित धनुष लेकर उसके ऊपर एक ही साथ भल्ल नामक दस बाणोंका संधान किया और उन दसों तीक्ष्ण बाणोंद्वारा तुरंत ही अर्जुनको बींध डाला ।। ३४ ।।

ततः पार्थो महातेजा विशिखानग्नितेजसः ।
चिक्षेप समरे क्रुद्धस्त्रयोदश शिलाशितान् ।। ३५ ।।

तदनन्तर महातेजस्वी कुन्तीपुत्रने उस संग्रामभूमिमें कुपित हो (कृपाचार्यपर) पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए अग्निके समान तेजस्वी तेरह बाण चलाये ।। ३५ ।।

अथास्य युगमेकेन चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
षष्ठेन च शिरः कायाच्छरेण रथसारथेः ।। ३६ ।।

एक बाणसे उनके रथका जूआ काटकर चार बाणोंसे चारों घोड़े मार डाले और छठे बाणसे रथके सारथिका सिर धड़से अलग कर दिया ।। ३६ ।।

त्रिभिस्त्रिवेणुं समरे द्वाभ्यामक्षं महारथः ।
द्वादशेन तु भल्लेन चकर्तास्य ध्वजं तदा ।। ३७ ।।
ततो वज्रनिकाशेन फाल्गुनः प्रहसन्निव ।
त्रयोदशेनेन्द्रसमः कृपं वक्षस्यविध्यत ।। ३८ ।।

फिर उन महारथी अर्जुनने तीन बाणोंसे रथके तीनों वेणु, दोसे रथका धुरा और बारहवें भल्ल नामक बाणसे उनके रथकी ध्वजाको भी उस समय रणभूमिमें काट गिराया। इसके बाद इन्द्रके समान पराक्रमी फाल्गुनने हँसते हुए-से वज्रसदृश तेरहवें बाणद्वारा कृपाचार्यकी छातीमें चोट पहुँचायी ।। ३७-३८ ।।

स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
गदापाणिरवप्लुत्य तूर्णं चिक्षेप तां गदाम् ।। ३९ ।।

इस प्रकार धनुष, रथ, घोड़े और सारथि आदिके नष्ट हो जानेपर कृपाचार्य हाथमें गदा लिये रथसे कूद पड़े और तुरंत ही उसे अर्जुनपर दे मारा ।। ३९ ।।

सा च मुक्ता गदा गुर्वी कृपेण सुपरिष्कृता ।
अर्जुनेन शरैर्नुन्ना प्रतिमार्गमथागमत् ।। ४० ।।

जिसका सुवर्ण आदिसे भलीभाँति परिष्कार किया गया था, वह कृपाचार्यद्वारा चलायी हुई भारी गदा अर्जुनके बाणोंसे प्रेरित हो उलटी लौट गयी ।। ४० ।।

तं तु योधाः परीप्सन्तः शारद्वतममर्षणम् ।

सर्वतः समरे पार्थं शरवर्षैरवाकिरन् ।। ४१ ।।

शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य अत्यन्त अमर्षमें भरे थे। उनके प्राण बचानेकी इच्छावाले कौरव सैनिक सब ओरसे आकर उस युद्धमें अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ।।

ततो विराटस्य सुतः सव्यमावृत्य वाजिनः ।
यमकं मण्डलं कृत्वा तान् योधान् प्रत्यवारयत् ।। ४२ ।।

यह देख विराटपुत्र उत्तरने घोड़ोंको दाँयीं ओरसे घुमाकर यमकमण्डलसे रथ-संचालन करते हुए उन सब योद्धाओंको बाणवर्षासे रोक दिया ।। ४२ ।।

ततः कृपमुपादाय विरथं ते नरर्षभाः ।
अपजह्रुर्महावेगा कुन्तीपुत्राद् धनंजयात् ।। ४३ ।।

इतनेमें ही वे नरश्रेष्ठ सैनिक कुन्तीपुत्र धनंजयसे डरकर रथहीन कृपाचार्यको बड़े वेगसे हटा ले गये ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहणे कृपापयाने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोष्ठकी गौओंके अपहरणके प्रसंगमें कृपाचार्यका पलायनसम्बन्धी सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५७ ।।

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अर्जुनका द्रोणाचार्यके साथ युद्ध और आचार्यका पलायन

वैशम्पायन उवाच

कृपेऽपनीते द्रोणस्तु प्रगृह्य सशरं धनुः ।
अभ्यद्रवदनाधृष्यः शोणाश्वः श्वेतवाहनम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कृपाचार्य रणभूमिसे बाहर हटा दिये गये, तब लाल घोड़ोंवाले दुर्धर्ष वीर आचार्य द्रोणने धनुष-बाण लेकर श्वेतवाहन अर्जुनपर धावा किया ।। १ ।।

स तु रुक्मरथं दृष्ट्वा गुरुमायान्तमन्तिकात् ।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठ उत्तरं वाक्यमब्रवीत् ।। २ ।।

सुवर्णमय रथपर आरूढ़ गुरुदेवको अपने निकट आते देख विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उत्तरसे इस प्रकार बोले ।। २ ।।

अर्जुन उवाच

यत्रैषा काञ्चनी वेदी ध्वजे यस्य प्रकाशते ।
उच्छ्रिता प्रवरे दण्डे पताकाभिरलङ्कृता ।
अत्र मां वह भद्रं ते द्रोणानीकाय सारथे ।। ३ ।।

अर्जुनने कहा—सारथे! तुम्हारा कल्याण हो। जिस रथकी ध्वजामें ऊँचे डंडेके ऊपर पताकाओंसे विभूषित यह ऊँची सुवर्णमयी वेदी प्रकाशित हो रही है, वहाँ आचार्य द्रोणकी सेना है। मुझे वहीं ले चलो ।। ३ ।।

अथवाः शोणाः प्रकाशन्ते बृहन्तश्चारुवाहिनः ।
स्निग्धविद्रुमसंकाशास्ताम्रास्याः प्रियदर्शनाः ।
युक्ता रथवरे यस्य सर्वशिक्षाविशारदाः ।। ४ ।।
दीर्घबाहुर्महातेजा बलरूपसमन्वितः ।
सर्वलोकेषु विक्रान्तो भारद्वाजः प्रतापवान् ।। ५ ।।

जिनके श्रेष्ठ रथमें जुते हुए सब प्रकारकी शिक्षाओंमें निपुण, चिकने, मूँगेके समान लाल रंगके, ताँबे-से मुखवाले, सुन्दर तथा अच्छे ढंगसे रथका भार वहन करनेवाले बड़े-बड़े अश्व सुशोभित हो रहे हैं, वे महातेजस्वी दीर्घबाहु, बल एवं रूपसे सम्पन्न तथा समस्त संसारमें विख्यात पराक्रमी प्रतापी वीर भरद्वाजनन्दन द्रोण हैं ।। ४-५ ।।

बुद्ध्या तुल्यो ह्युशनसा बृहस्पतिसमो नये ।
वेदास्तथैव चत्वारो ब्रह्मचर्यं तथैव च ।। ६ ।।

ससंहाराणि सर्वाणि दिव्यान्यस्त्राणि मारिष ।
धनुर्वेदश्च कात्स्न्र्येन यस्मिन् नित्यं प्रतिष्ठितः ।। ७ ।।

ये बुद्धिमें शुक्राचार्य और नीतिमें बृहस्पतिके समान हैं। *मारिष! इनमें चारों वेद, ब्रह्मचर्य, संहार-विधिसहित सम्पूर्ण दिव्यास्त्र और समस्त धनुर्वेद सदा प्रतिष्ठित है ।। ६-७ ।।

क्षमा दमश्च सत्यं च आनृशंस्यमथार्जवम् ।
एते चान्ये च बहवो यस्मिन् नित्यं द्विजे गुणाः ।। ८ ।।

इन विप्रशिरोमणिमें क्षमा, इन्द्रियसंयम, सत्य, कोमलता, सरलता तथा अन्य बहुत-से सद्‌गुण नित्य विद्यमान हैं ।। ८ ।।

तेनाहं योद्धुमिच्छामि महाभागेन संयुगे ।
तस्मात् तं प्रापयाचार्यं क्षिप्रमुत्तर वाहय ।। ९ ।।

अतः मैं इन्हीं महाभाग आचार्यके साथ इस समरभूमिमें युद्ध करना चाहता हूँ। अतः उत्तर! रथ बढ़ाओ और मुझे शीघ्र उन आचार्यके समीप पहुँचा दो ।। ९ ।।

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु वैराटिर्हेमभूषणान् ।
चोदयामास तानश्वान् भारद्वाजरथं प्रति ।। १० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनके इस प्रकार आदेश देनेपर विराटनन्दन उत्तरने सोनेके आभूषणोंसे विभूषित उन अश्वोंको आचार्य द्रोणके रथकी ओर हाँक दिया ।। १० ।।

तमापतन्तं वेगेन पाण्डवं रथिनां वरम् ।
द्रोणः प्रत्युद्ययौ पार्थं मत्तो मत्तमिव द्विपम् ।। ११ ।।

महारथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन अर्जुनको बड़े वेगसे अपनी ओर आते देख आचार्य द्रोण भी पार्थकी ओर आगे बढ़ आये, ठीक उसी तरह जैसे एक उन्मत्त गजराज दूसरे मतवाले गजराजसे भिड़नेके लिये जा रहा हो ।। ११ ।।

ततः प्राध्मापयच्छङ्खं भेरीशतनिनादिनम् ।
प्रचुक्षुभे बलं सर्वमुद्भूत इव सागरः ।। १२ ।।

तदनन्तर द्रोणने सौ नगाड़ोंके बराबर आवाज करनेवाले अपने शंखको बजाया। उसे सुनकर सारी सेनामें हलचल मच गयी, मानो समुद्रमें ज्वार आ गया हो ।। १२ ।।

अथ शोणान् सदश्वांस्तान् हंसवर्णैर्मनोजवैः ।
मिश्रितान् समरे दृष्ट्वा व्यस्मयन्त रणे नराः ।। १३ ।।

रणभूमिमें उन लाल रंगके सुन्दर घोड़ोंको हंसके समान वर्णवाले मनके सदृश वेगशाली श्वेत घोड़ोंसे मिला देख युद्ध करनेके विषयमें सब लोग आश्चर्यमें पड़ गये ।। १३ ।।

तौ रथौ वीर्यसम्पन्नौ दृष्ट्वा संग्राममूर्धनि ।
आचार्यशिष्यावजितौ कृतविद्यौ मनस्विनौ ।। १४ ।।
समाश्लिष्टौ तदान्योन्यं द्रोणपार्थौ महाबलौ ।
दृष्ट्वा प्राकम्पत मुहुर्भरतानां महद् बलम् ।। १५ ।।

महाबली द्रोण और कुन्तीपुत्र अर्जुन दोनों महारथी बल-वीर्य-सम्पन्न, अजेय, अस्त्रविद्याके विशेषज्ञ और मनस्वी थे। युद्धके सिरेपर वे दोनों आचार्य और शिष्य अपने-अपने रथपर बैठे हुए (ही एक-दूसरेकी ओर हाथ बढ़ाकर मानो) परस्पर आलिंगन करने लगे। उन्हें इस अवस्थामें देखकर भरतवंशियोंकी वह विशाल सेना बारंबार भयसे काँपने लगी ।। १४-१५ ।।

हर्षयुक्तस्ततः पार्थः प्रहसन्निव वीर्यवान् ।
रथं रथेन द्रोणस्य समासाद्य महारथः ।। १६ ।।
अभिवाद्य महाबाहुः सामपूर्वमिदं वचः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेयः परवीरहा ।। १७ ।।

तदनन्तर शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले महारथी और महापराक्रमी कुन्तीपुत्र महाबाहु अर्जुन हर्षोल्लासमें भर गये और आचार्य द्रोणके रथसे अपना रथ भिड़ाकर उन्हें प्रणाम करके हँसते हुए-से शान्तिपूर्वक मधुर वाणीमें यों बोले— ।। १६-१७ ।।

उषिताः स्मो वने वासं प्रतिकर्म चिकीर्षवः ।
कोपं नार्हसि नः कर्तुं सदा समरदुर्जय ।। १८ ।।
अहं तु प्रहृते पूर्वं प्रहरिष्यामि तेऽनघ ।
इति मे वर्तते बुद्धिस्तद् भवान् कर्तुमर्हति ।। १९ ।।

‘आचार्य! युद्धमें आपपर विजय पाना सर्वथा कठिन है। हमलोग बहुत वर्षोंतक वनमें रहकर कष्ट उठाते रहे हैं। अब शत्रुओंसे बदला लेनेकी इच्छासे आये हैं; अतः आप हमलोगोंपर क्रोध न करें। अनघ! मैं तो आपपर तभी प्रहार करूँगा, जब पहले आप मुझपर प्रहार कर लेंगे। मेरा यही निश्चय है, अतः आप ही पहले मुझपर प्रहार करें’ ।। १८-१९ ।।

ततोऽस्मै प्राहिणोद् द्रोणः शरानधिकविंशतिम् ।
अप्राप्तांश्चैव तान् पार्थश्चिच्छेद कृतहस्तवत् ।। २० ।।

तब आचार्य द्रोणने अर्जुनपर इक्कीस बाण चलाये; किंतु पार्थने उन सबको पास आनेसे पहले ही काट गिराया, मानो उनके हाथ इस कलामें पूर्ण सुशिक्षित थे ।। २० ।।

ततः शरसहस्रेण रथं पार्थस्य वीर्यवान् ।
अवाकिरत् ततो द्रोणः शीघ्रमस्त्रं विदर्शयन् ।। २१ ।।

तदनन्तर पराक्रमी द्रोणने अपनी अस्त्र चलानेकी फुर्ती दिखाते हुए अर्जुनके रथपर सहस्रों बाणोंकी वृष्टि की ।। २१ ।।

हयांश्च रजतप्रख्यान् कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ।

अवाकिरदमेयात्मा पार्थं संकोपयन्निव ।। २२ ।।

उनका आत्मबल असीम था। उन्होंने चाँदीके समान अंगवाले अर्जुनके श्वेत घोड़ोंको भी शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सफेद चीलकी पाँखवाले बाणोंसे ढँक दिया। जान पड़ता था, आचार्य यह सब करके अर्जुनके क्रोधको उभाड़ना चाहते थे ।। २२ ।।

एवं प्रववृते युद्धं भारद्वाजकिरीटिनोः ।
समं विमुञ्चतो संख्ये विशिखान् दीप्ततेजसः ।। २३ ।।

इस प्रकार भरद्वाजनन्दन द्रोण और किरीटधारी अर्जुनमें युद्ध छिड़ गया। वे दोनों समरभूमिमें (एक दूसरेपर) समानरूपसे तेजस्वी बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। २३ ।।

तावुभौ ख्यातकर्माणावुभौ वायुसमौ जवे ।
उभौ दिव्यास्त्रविदुषावुभावुत्तमतेजसौ ।
क्षिपन्तौ शरजालानि मोहयामासतुर्नृपान् ।। २४ ।।

दोनों ही विख्यात पराक्रमी थे। वेगमें दोनों ही वायुके समान थे। वे दोनों गुरु-शिष्य दिव्यास्त्रोंके महापण्डित और उत्तम तेजसे सम्पन्न थे। परस्पर बाणोंकी झड़ी लगाते हुए दोनोंने सब राजाओंको मोहमें डाल दिया ।। २४ ।।

व्यस्मयन्त ततो योधा ये तत्रासन् समागताः ।
शरान् विसृजतोस्तूर्णं साधु साध्वित्यपूजयन् ।। २५ ।।

तदनन्तर जो-जो सैनिक वहाँ आये थे, वे एक-दूसरेपर तीव्र गतिसे बाण-वर्षा करनेवाले दोनों वीरोंकी ‘साधु-साधु’ कहकर सराहना करने लगे— ।। २५ ।।

द्रोणं हि समरे कोऽन्यो योद्धुमर्हति फाल्गुनात् ।
रौद्रः क्षत्रियधर्मोऽयं गुरुणा यदयुध्यत ।
इत्यब्रुवञ्जनास्तत्र संग्रामशिरसि स्थिताः ।। २६ ।।

‘भला, युद्धमें अर्जुनके सिवा दूसरा कौन द्रोणाचार्यका सामना कर सकता है? यह क्षत्रियधर्म कितना भयंकर है कि शिष्यको गुरुसे युद्ध करना पड़ा है।’ इस प्रकार वहाँ युद्धके मुहानेपर खड़े हुए योद्धा आपसमें बातें करते थे ।। २६ ।।

वीरौ तावभिसंरब्धौ संनिकृष्टौ महाभूजौ ।
छादयेतां शरव्रातैरन्योन्यमपराजितौ ।। २७ ।।

दोनों महाबाहु वीर क्रोधमें भरकर निकट आ गये और बाणसमूहोंसे एक-दूसरेको आच्छादित करने लगे। उनमेंसे कोई भी पराजित होनेवाला न था ।। २७ ।।

विस्फार्य सुमहच्चापं हेमपृष्ठं दुरासदम् ।
भारद्वाजोऽथ संक्रुद्धः फाल्गुनं प्रत्यविध्यत ।। २८ ।।

भरद्वाजनन्दन द्रोण अत्यन्त कुपित हो, जिसके पृष्ठभागमें सुवर्ण जड़ा हुआ था और जिसे उठाना दूसरोंके लिये बहुत कठिन था, उस महान् धनुषको खींचकर अर्जुनको बाणोंसे बींधने लगे ।। २८ ।।

स सायकमयैर्जालैरर्जुनस्य रथं प्रति ।
भानुमद्भिः शिलाधौतैर्भानोराच्छादयत् प्रभाम् ।। २९ ।।

उन्होंने अर्जुनके रथपर बाणोंका जाल-सा बिछा दिया। इतना ही नहीं, शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए उन तेजस्वी बाणोंद्वारा उन्होंने सूर्यकी प्रभाको भी आच्छादित कर दिया ।। २९ ।।

पार्थं च सुमहाबाहुर्महावेगैर्महारथः ।
विव्याध निशितैर्बाणैर्मेघो वृष्टयेव पर्वतम् ।। ३० ।।

जैसे मेघ पर्वतपर जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार महाबाहु महारथी द्रोण पृथापुत्र अर्जुनको अत्यन्त वेगशाली तीखे बाणोंद्वारा बींध रहे थे ।। ३० ।।

तथैव दिव्यं गाण्डीवं धनुरादाय पाण्डवः ।
शत्रुघ्नं वेगवान् हृष्टो भारसाधनमुत्तमम् ।। ३१ ।।
विससर्ज शरांश्चित्रान् सुवर्णविकृतान् बहून् ।
नाशयन् शरवर्षाणि भारद्वाजस्य वीर्यवान् ।
तूर्णं चापविनिर्मुक्तैस्तदद्भुतमिवाभवत् ।। ३२ ।।

इसी प्रकार हर्षमें भरे हुए वेगशाली पाण्डुनन्दन अर्जुन भी भार सहन करनेमें समर्थ और शत्रुओंका नाश करनेवाला उत्तम एवं दिव्य गाण्डीव धनुष लेकर बहुतसे स्वर्णभूषित विचित्र बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। पराक्रमी पार्थ अपने धनुषसे छूटे हुए बाणसमूहोंद्वारा तुरंत ही आचार्य द्रोणकी बाण-वर्षाको नष्ट करते जाते थे। यह एक अद्भुत-सी बात थी ।। ३१-३२ ।।

स रथेन चरन् पार्थः प्रेक्षणीयो धनंजयः ।
युगपद् दिक्षु सर्वासु सर्वतोऽस्त्राण्यदर्शयत् ।। ३३ ।।
एकच्छायमिवाकाशं बाणैश्चक्रे समन्ततः ।
नादृश्यत तदा द्रोणो नीहारेणेव संवृतः ।। ३४ ।।

रथसे विचरनेवाले कुन्तीपुत्र धनंजय सबके लिये दर्शनीय हो रहे थे। उन्होंने सब दिशाओंमें एक ही साथ अस्त्रोंकी वर्षा दिखायी और आकाशको चारों ओरसे बाणोंद्वारा ढँककर एकमात्र अन्धकारमें निमग्न-सा कर दिया। उस समय आचार्य द्रोण कुहरेसे ढके हुएकी भाँति अदृश्य हो गये ।। ३३-३४ ।।

तस्याभवत् तदा रूपं संवृतस्य शरोत्तमैः ।
जाज्वल्यमानस्य तदा पर्वतस्येव सर्वतः ।। ३५ ।।

उत्तम बाणोंसे ढके हुए द्रोणाचार्यका स्वरूप उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो सब ओरसे जलता हुआ कोई पर्वत हो ।। ३५ ।।

दृष्ट्वा तु पार्थस्य रणे शरैः स्वरथमावृतम् ।
स विस्फार्य धनुः श्रेष्ठं मेघस्तनितनिःस्वनम् ।। ३६ ।।

अग्निचक्रोपमं घोरं व्यकर्षत् परमायुधम् ।
व्यशातयच्छरांस्तांस्तु द्रोणः समितिशोभनः ।। ३७ ।।

आचार्य द्रोण संग्रामभूमिमें बड़ी शोभा पानेवाले थे। संग्राममें उन्होंने अपने रथको जब अर्जुनके बाणोंसे ढका हुआ देखा, तब मेघगर्जनाके समान गम्भीर नाद करनेवाले अग्निचक्रके सदृश भयंकर परम उत्तम आयुधश्रेष्ठ धनुषकी टंकार फैलाते हुए उसे (कानोंतक) खींचा और अपने शर-समूहोंसे अर्जुनके उन सब बाणोंको काट डाला ।। ३६-३७ ।।

महानभूत् ततः शब्दो वंशानामिव दह्यताम् ।। ३८ ।।

उस समय जलते हुए बाँसोंके चटखनेका-सा बड़ा भयंकर शब्द हो रहा था ।। ३८ ।।

जाम्बूनदमयैः पुङ्खैश्चित्रचापविनिर्गतैः ।
प्राच्छादयदमेयात्मा दिशः सूर्यस्य च प्रभाम् ।। ३९ ।।

जिनकी मन-बुद्धि अमेय है, उन द्रोणने अपने विचित्र धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय पंखोंवाले बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं तथा सूर्यके प्रकाशको भी ढक दिया ।।

ततः कनकपुङ्खानां शराणां नतपर्वणाम् ।
वियच्चराणां वियति दृश्यन्ते बहवो व्रजाः ।। ४० ।।

उस समय सोनेकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले आकाशचारी बाणोंके बहुत-से समुदाय आकाशमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। ४० ।।

द्रोणस्य पुङ्खसक्ताश्च प्रभवन्तः शरासनात् ।
एको दीर्घ इवादृश्यदाकाशे संहतः शरः ।। ४१ ।।

वे सभी पक्षधारी बाण-समुदाय आचार्य द्रोणके धनुषसे प्रकट हुए थे। आकाशमें उन बाणोंका समूह परस्पर सटकर एक ही विशाल बाणके समान दिखायी देता था ।। ४१ ।।

एवं तौ स्वर्णविकृतान् विमुञ्चन्तौ महाशरान् ।
आकाशं संवृतं वीरावुल्काभिरिव चक्रतुः ।। ४२ ।।

इस प्रकार वे दोनों वीर सुवर्णविभूषित महाबाणोंकी वर्षा करते हुए आकाशको मानो उल्काओंसे आच्छादित करने लगे ।। ४२ ।।

शरास्तयोस्तु विबभुः कङ्कबर्हिणवाससः ।
पङ्क्त्यः शरदि खस्थानां हंसानां चरतामिव ।। ४३ ।।

कंक और मोरकी पाँखवाले उन दोनोंके बाण शरद्‌ऋतुमें आकाशमें विचरनेवाले हंसोंकी पाँतके समान सुशोभित होते थे ।। ४३ ।।

युद्धं समभवत् तत्र सुसंरब्धं महात्मनोः ।
द्रोणपाण्डवयोर्घोरं वृत्रवासवयोरिव ।। ४४ ।।

महामना द्रोण और पाण्डुनन्दन अर्जुनका वह रोषपूर्ण युद्ध वृत्रासुर और इन्द्रके समान भयंकर प्रतीत होता था ।।

तौ गजाविव चासाद्य विषाणाग्रैः परस्परम् ।
शरैः पूर्णायतोत्सृष्टैरन्योन्यमभिजघ्नतुः ।। ४५ ।।

जैसे दो हाथी एक-दूसरेसे भिड़कर दाँतोंके अग्रभागसे प्रहार करते हों, उसी प्रकार वे दोनों धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए बाणोंद्वारा एक-दूसरेको घायल कर रहे थे ।। ४५ ।।

तौ व्यवाहरतां युद्धे संरब्धौ रणशोभिनौ ।
उदीरयन्तौ समरे दिव्यान्यस्त्राणि भागशः ।। ४६ ।।

क्रोधमें भरे हुए उन दोनों वीरोंकी रणभूमिमें बड़ी शोभा हो रही थी। वे उस संग्राममें पृथक्-पृथक् दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए धर्मयुद्ध कर रहे थे ।। ४६ ।।

अथ त्वाचार्यमुख्येन शरान् सृष्टाञ्छिलाशितान् ।
न्यवारयच्छितैर्बाणैरर्जुनो जयतां वरः ।। ४७ ।।

तदनन्तर विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने आचार्यप्रवर द्रोणके द्वारा चलाये हुए शानपर तेज किये हुए बाणोंको अपने तीखे सायकोंसे नष्ट कर दिया ।। ४७ ।।

दर्शयन् वीक्षमाणानामस्त्रमुग्रपराक्रमः ।
इषुभिस्तूर्णमाकाशं बहुभिश्च समावृणोत् ।। ४८ ।।
जिघांसन्तं नरव्याघ्रमर्जुनं तिग्मतेजसम् ।
आचार्यमुख्यः समरे द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ।
अर्जुनेन सहाक्रीडच्छरैः संनतपर्वभिः ।। ४९ ।।

वे भयानक पराक्रमी थे, उन्होंने दर्शकोंको अपना अस्त्र-कौशल दिखाते हुए तुरंत बहुसंख्यक बाणोंद्वारा आकाशको ढँक दिया। यद्यपि प्रचण्ड तेजस्वी नरश्रेष्ठ अर्जुन विपक्षीको मार डालनेकी इच्छा रखते थे, तो भी शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ आचार्यप्रवर द्रोण उस समरभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा प्रहार करके अर्जुनके साथ मानो खेल कर रहे थे (उनमें अर्जुनके प्रति वात्सल्यका भाव उमड़ रहा था) ।। ४८-४९ ।।

दिव्यान्यस्त्राणि वर्षन्तं तस्मिन् वै तुमुले रणे ।
अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य फाल्गुनं समयोधयत् ।। ५० ।।

उस तुमुल युद्धमें अर्जुन दिव्यास्त्रोंकी वर्षा कर रहे थे, किंतु आचार्य अपने अस्त्रोंद्वारा उनके अस्त्रोंका निवारणमात्र करके उन्हें लड़ा रहे थे ।। ५० ।।

तयोरासीत् सम्प्रहारः क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः ।
अमर्षिणोस्तदान्योन्यं देवदानवयोरिव ।। ५१ ।।

वे दोनों नरश्रेष्ठ जब क्रोध और अमर्षमें भर गये, तब उनमें परस्पर देवताओं और दानवोंकी भाँति घमासान युद्ध छिड़ गया ।। ५१ ।।

ऐन्द्रं वायव्यमाग्नेयमस्त्रमस्त्रेण पाण्डवः ।
द्रोणेन मुक्तमात्रं तु ग्रसति स्म पुनः पुनः ।। ५२ ।।

पाण्डुनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोणके छोड़े हुए ऐन्द्र, वायव्य और आग्नेय आदि अस्त्रोंको उसके विरोधी अस्त्रद्वारा बार-बार नष्ट कर देते थे ।। ५२ ।।

एवं शूरौ महेष्वासौ विसृजन्तौ शिताञ्छरान् ।
एकच्छायं चक्रतुस्तावाकाशं शरवृष्टिभिः ।। ५३ ।।

इस प्रकार वे दोनों महान् धनुर्धर शूरवीर तीखे बाण छोड़ते हुए अपनी बाणवर्षाद्वारा आकाशको एकमात्र अन्धकारमें निमग्न करने लगे ।। ५३ ।।

तत्रार्जुनेन मुक्तानां पततां वै शरीरिषु ।
पर्वतेष्विव वज्राणां शराणां श्रूयते स्वनः ।। ५४ ।।

अर्जुनके छोड़े हुए बाण जब देहधारियोंपर पड़ते थे, तब पर्वतोंपर गिरनेवाले वज्रके समान भयंकर शब्द सुनायी देता था ।। ५४ ।।

ततो नागा रथाश्चैव वाजिनश्च विशाम्पते ।
शोणिताक्ता व्यदृश्यन्त पुष्पिता इव किंशुकाः ।। ५५ ।।

जनमेजय! उस समय हाथीसवार, रथी और घुड़सवार लोहूलुहान होकर फूले हुए पलाश वृक्षके समान दिखायी देते थे ।। ५५ ।।

बाहुभिश्च सकेयूरैर्विचित्रैश्च महारथैः ।
सुवर्णचित्रैः कवचैर्ध्वजैश्च विनिपातितैः ।। ५६ ।।
योधैश्च निहतैस्तत्र पार्थबाणप्रपीडितैः ।
बलमासीत् समुद्भ्रान्तं द्रोणार्जुनसमागमे ।। ५७ ।।

द्रोणाचार्य और अर्जुनके उस युद्धमें पार्थके बाणोंसे पीड़ित हो कितने ही योद्धा मर गये थे। कितनोंकी केयूरभूषित भुजाएँ कटकर गिरी थीं। विचित्र वेष-भूषावाले महारथी धराशायी हो रहे थे। सुवर्णजटित विचित्र कवच और ध्वजाएँ वहाँ बिखरी पड़ी थीं। इन सब कारणोंसे वह सारी सेना उद्भ्रान्त (भयसे अचेत)-सी हो गयी थी ।। ५६-५७ ।।

विधुन्वानौ तु तौ तत्र धनुषी भारसाधने ।
आच्छादयेतामन्योन्यं ततक्षतुरथेषुभिः ।। ५८ ।।

उन दोनोंके धनुष भार सहन करनेमें समर्थ थे। वे उन धनुषोंको कँपाते हुए (तीखे) बाणोंद्वारा एक-दूसरेको बींधते और आच्छादित कर देते थे ।। ५८ ।।

तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं भरतर्षभ ।
द्रोणकौन्तेययोस्तत्र बलिवासवयोरिव ।। ५९ ।।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! तदनन्तर द्रोण और कुन्तीपुत्रमें बलि और इन्द्रके संग्राम-सा तुमुल युद्ध होने लगा ।। ५९ ।।

अथ पूर्णायतोत्सृष्टैः शरैः संनतपर्वभिः ।
व्यदारयेतामन्योन्यं प्राणद्यूते प्रवर्तिते ।। ६० ।।

उस समय प्राणोंकी बाजी लगाकर (युद्धका जूआ खेला जा रहा था।) दोनों वीर धनुषको कानतक खींचकर छोड़े हुए झुकी गाँठवाले बाणोंसे एक-दूसरेको विदीर्ण कर रहे थे ।। ६० ।।

अथान्तरिक्षे नादोऽभूद् द्रोणं तत्र प्रशंसताम् ।
दुष्करं कृतवान् द्रोणो यदर्जुनमयोधयत् ।। ६१ ।।
प्रमाथिनं महावीर्यं दृढमुष्टिं दुरासदम् ।
जेतारं देवदैत्यानां सर्वेषां च महारथम् ।। ६२ ।।

इसी समय आचार्य द्रोणकी प्रशंसा करनेवाले देवताओंका यह शब्द आकाशमें गूँज उठा—'अहो! द्रोणाचार्यने बड़ा दुष्कर कार्य किया कि अबतक अर्जुनके साथ युद्धमें डटे रह गये। ये अर्जुन तो शत्रुओंको मथ डालनेवाले, महापराक्रमी, दृढ़ मुष्टिवाले, दुर्धर्ष तथा सम्पूर्ण देवताओं और दैत्योंको जीतनेवाले महारथी वीर हैं' ।। ६१-६२ ।।

अविभ्रमं च शिक्षां च लाघवं दूरपातिताम् ।
पार्थस्य समरे दृष्ट्वा द्रोणस्याभूच्च विस्मयः ।। ६३ ।।

उस समरभूमिमें अर्जुनका कभी न चूकनेका स्वभाव, अस्त्र-शस्त्रोंकी अद्भुत शिक्षा, हाथोंकी फुर्ती और दूरतक बाण मारनेकी शक्ति देखकर आचार्य द्रोणको भी बड़ा विस्मय हुआ ।। ६३ ।।

अथ गाण्डीवमुद्यम्य दिव्यं धनुरमर्षणः ।
विचकर्ष रणे पार्थो बाहुभ्यां भरतर्षभ ।। ६४ ।।

जनमेजय! तदनन्तर रणभूमिमें कुन्तीपुत्रने दिव्य गाण्डीव धनुषको ऊँचे उठाकर कुपित हो उसे दोनों हाथोंसे खींचना आरम्भ किया ।। ६४ ।।

तस्य बाणमयं वर्षं शलभानामिवायतिम् ।
दृष्ट्वा ते विस्मिताः सर्वे साधु साध्वित्य पूजयन् ।। ६५ ।।

फिर तो टिड्डियोंके झुंडके समान उनकी (अद्भुत) बाणवर्षा देखकर वे सभी सैनिक आश्चर्यचकित हो 'साधु-साधु' कहते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे ।। ६५ ।।

न च बाणान्तरे वायुरस्य शक्नोति सर्पितुम् ।
अनिशं संदधानस्य शरानुत्सृजतस्तथा ।। ६६ ।।
ददर्श नान्तरं कश्चित् पार्थस्याददतोऽपि च ।। ६७ ।।

उनके बाणोंके भीतर वायु भी प्रवेश नहीं कर पाती थी। कुन्तीनन्दन अर्जुन निरन्तर बाणोंको हाथमें लेते, धनुषपर रखते और छोड़ते थे। कोई भी उनकी इन क्रियाओंमें क्षणभरका भी अन्तर नहीं देख पाता था ।। ६६-६७ ।।

तथा शीघ्रास्त्रयुद्धे तु वर्तमाने सुदारुणे ।
शीघ्रं शीघ्रतरं पार्थः शरानन्यानुदीरयत् ।। ६८ ।।

इस प्रकार शीघ्रतापूर्वक अस्त्रप्रहारके द्वारा चलनेवाले उस अत्यन्त भयंकर संग्राममें कुन्तीपुत्र अर्जुन शीघ्र एवं अत्यन्त शीघ्र दूसरे-दूसरे बाण प्रकट करने लगे ।। ६८ ।।

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।
युगपत् प्रापतंस्तत्र द्रोणस्य रथमन्तिकात् ।। ६९ ।।
कीर्यमाणे तदा द्रोणे शरैर्गाण्डीवधन्वना ।
हाहाकारो महानासीत् सैन्यानां भरतर्षभ ।। ७० ।।

तत्पश्चात् एक ही साथ झुकी हुई गाँठवाले एक लाख बाण द्रोणाचार्यके रथके समीप आ गिरे। जनमेजय! गाण्डीवधन्वा अर्जुनके द्वारा जब द्रोणपर इस प्रकार बाणवर्षा होने लगी, तब कौरव-सैनिकोंमें भारी हाहाकार मच गया ।। ६९-७० ।।

पाण्डवस्य तु शीघ्रास्त्रं मघवा प्रत्यपूजयत् ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव ये च तत्र समागताः ।। ७१ ।।

पाण्डुनन्दनके शीघ्रतापूर्वक अस्त्र-संचालनके लिये इन्द्रने उनकी बड़ी प्रशंसा की। उनके सिवा वहाँ जो गन्धर्व और अप्सराएँ आयी थीं, उन्होंने भी उनकी बड़ी सराहना की ।। ७१ ।।

ततो वृन्देन महता रथानां रथयूथपः ।
आचार्यपुत्रः सहसा पाण्डवं पर्यवारयत् ।। ७२ ।।

तदनन्तर रथियोंके यूथपति आचार्यपुत्र अश्वत्थामाने रथारोहियोंके विशाल समूहके साथ सहसा वहाँ पहुँचकर पाण्डुनन्दनको चारों ओरसे घेर लिया ।। ७२ ।।

अश्वत्थामा तु तत् कर्म हृदयेन महात्मनः ।
पूजयामास पार्थस्य कोपं चास्याकरोद् भृशम् ।। ७३ ।।

अश्वत्थामाने महात्मा अर्जुनके उस पराक्रमकी मन-ही-मन भूरि-भूरि प्रशंसा की और उनपर अपना महान् क्रोध प्रकट किया ।। ७३ ।।

स मन्युवशमापन्नः पार्थमभ्यद्रवद् रणे ।
किरञ्छरसहस्राणि पर्जन्य इव वृष्टिमान् ।। ७४ ।।

आचार्यपुत्र क्रोधके वशीभूत हो गया था। वह रणभूमिमें जल बरसानेवाले मेघकी भाँति सहस्रों बाणोंकी बौछार करता हुआ पार्थपर टूट पड़ा ।। ७४ ।।

आवृत्य तु महाबाहुर्यतो द्रौणिस्ततो हयान् ।
अन्तरं प्रददौ पार्थो द्रोणस्य व्यपसर्पितुम् ।। ७५ ।।

तब महाबाहु अर्जुनने जिधर अश्वत्थामा था, उसी ओर घोड़ोंको घुमाकर आचार्य द्रोणको भाग जानेका अवसर दे दिया ।। ७५ ।।

स तु लब्ध्वान्तरं तूर्णमपायाज्जवनैर्हयैः ।
छिन्नवर्मध्वजः शूरो निकृत्तः परमेषुभिः ।। ७६ ।।

अर्जुनके उत्तम बाणोंसे द्रोणके कवच और ध्वज छिन्न-भिन्न हो चुके थे। वे स्वयं भी बहुत घायल हो गये थे, अतः मौका पाते ही वेगशाली घोड़ोंको बढ़ाकर तुरंत वहाँसे भाग निकले ।। ७६ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि द्रोणापयाने अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें द्रोणाचार्यके पलायनसे सम्बन्ध रखनेवाला अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५८ ।।

---

* ‘आर्यस्तु मारिषः’ (अमरकोष)।

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके साथ अर्जुनका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रौणिर्महाराज प्रययावर्जुनं रणे ।
तं पार्थः प्रतिजग्राह वायुवेगमिवोद्धतम् ।
शरजालेन महता वर्षमाणमिवाम्बुदम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! तदनन्तर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने रणभूमिमें जब अर्जुनपर बड़े वेगसे आक्रमण किया, तब अर्जुनने भी प्रचण्ड वायुवेगके समान तीव्र गतिसे आते हुए अश्वत्थामाको रोका। उस समय जल बरसानेवाले मेघकी भाँति वह महान् शरसमूहकी वर्षा कर रहा था ।। १ ।।

तयोर्देवासुरसमः संनिपातो महानभूत् ।
किरतोः शरजालानि वृत्रवासवयोरिव ।। २ ।।

उन दोनोंमें देवताओं और असुरोंके समान भारी संघर्ष होने लगा। वे दोनों (एक-दूसरेपर) बाणसमूहोंकी बौछार करते हुए वृत्रासुर और इन्द्रके समान जान पड़ते थे ।। २ ।।

न स्म सूर्यस्तदा भाति न च वाति समीरणः ।
शरजालावृते व्योम्निच्छायाभूते समन्ततः ।। ३ ।।

उनके बाणोंके जालसे आच्छादित होकर आकाश सब ओरसे अन्धकारमय हो रहा था। उस समय न तो सूर्य प्रकाशित हो रहे थे और न वायु ही चल पाती थी ।। ३ ।।

महांश्चटचटाशब्दो योधयोर्हन्यमानयोः ।
दह्यतामिव वेणूनामासीत् परपुरंजय ।। ४ ।।

शत्रुविजयी जनमेजय! जब दोनों योद्धा एक दूसरेपर आघात करते, तब जलते हुए बाँसोंके चटखनेकी भाँति चटचट शब्द होने लगता था ।। ४ ।।

हयानस्यार्जुनः सर्वान् कृतवानल्पजीवितान् ।
ते राजन् न प्रजानन्त दिशं काञ्चन मोहिताः ।। ५ ।।

अर्जुनने अश्वत्थामाके घोड़ोंको घायल करके अल्पजीवी बना दिया। राजन्! वे मोहग्रस्त (मूर्च्छित) होनेके कारण किसी भी दिशाको नहीं जान पाते थे ।।

ततो द्रौणिर्महावीर्यः पार्थस्य विचरिष्यतः ।
विवरं सूक्ष्ममालोक्य ज्यां चिच्छेद क्षुरेण ह ।
तदस्यापूजयन् देवाः कर्म दृष्ट्वातिमानुषम् ।। ६ ।।

तदनन्तर महापराक्रमी अश्वत्थामाने रणभूमिमें विचरते हुए अर्जुनका छोटा-सा छिद्र (तनिक-सी असावधानी) देखकर क्षुर नामक बाणसे उनकी प्रत्यंचा काट डाली। उसके इस

अतिमानुष कर्मको देखकर सब देवता उसकी बड़ी प्रशंसा करने लगे ।। ६ ।।

द्रोणो भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्चैव महारथाः ।
साधु साध्विति भाषन्तोऽपूजयन् कर्म तस्य तत् ।। ७ ।।

द्रोण, भीष्म, कर्ण और कृपाचार्य—ये सभी महारथी साधुवाद देते हुए अश्वत्थामाके उस कार्यकी सराहना करने लगे ।। ७ ।।

ततो द्रौणिर्धनुः श्रेष्ठमपकृष्य रथर्षभम् ।
पुनरेवाहनत् पार्थं हृदये कङ्कपत्रिभिः ।। ८ ।।

तदनन्तर द्रोणपुत्रने अपना श्रेष्ठ धनुष खींचकर कंक पक्षीके पंखवाले बाणोंद्वारा रथियोंमें श्रेष्ठ पार्थकी छातीमें पुनः भारी आघात पहुँचाया ।। ८ ।।

ततः पार्थो महाबाहुः प्रहस्य स्वनवत् तदा ।
योजयामास नवया मौर्व्या गाण्डीवमोजसा ।। ९ ।।

उस समय महाबाहु पार्थ ठहाका मारकर हँसने लगे। फिर उन्होंने गाण्डीव धनुषपर बलपूर्वक नयी प्रत्यंचा चढ़ा दी ।। ९ ।।

ततोऽर्धचन्द्रमावृत्य तेन पार्थः समागमत् ।
वारणेनेव मत्तेन मत्तो वारणयूथपः ।। १० ।।

तदनन्तर पसीनेसे अर्धचन्द्राकार धनुषकी डोरीको माँजकर अर्जुन अश्वत्थामासे भिड़ गये, मानो कोई उन्मत्त गजयूथाधिपति किसी दूसरे मतवाले हाथीके साथ जा भिड़ा हो ।। १० ।।

ततः प्रववृते युद्धं पृथिव्यामेकवीरयोः ।
रणमध्ये द्वयोरेवं सुमहल्लोमहर्षणम् ।। ११ ।।

इसके बाद उस रणभूमिमें भूमण्डलके इन दोनों अनुपम वीरोंका ऐसा भयंकर संग्राम हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ।। ११ ।।

तौ वीरौ ददृशुः सर्वे कुरवो विस्मयान्विताः ।
युध्यमानौ महावीर्यौ यूथपाविव संगतौ ।। १२ ।।

समस्त कौरव विस्मयविमुग्ध होकर उन दोनों वीरोंकी ओर देखने लगे। महापराक्रमी अश्वत्थामा और अर्जुन परस्पर भिड़े हुए दो यूथपतियोंकी भाँति लड़ रहे थे ।। १२ ।।

तौ समाजघ्नतुर्वीरावन्योन्यं पुरुषर्षभौ ।
शरैराशीविषाकारैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः ।। १३ ।।

वे दोनों पुरुषसिंह वीर विषधर सर्पके समान आकारवाले जलते हुए-से बाणोंद्वारा एक-दूसरेको चोट पहुँचाने लगे ।। १३ ।।

अक्षय्याविषुधी दिव्यौ पाण्डवस्य महात्मनः ।
तेन पार्थो रणे शूरस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ।। १४ ।।

महात्मा पाण्डुनन्दनके पास दो दिव्य अक्षय तूणीर थे, इससे कुन्तीपुत्र शूरवीर अर्जुन रणभूमिमें पर्वतकी भाँति अविचल खड़े रहे ।। १४ ।।

अश्वत्थाम्नः पुनर्बाणाः क्षिप्रमभ्यस्यतो रणे ।
जग्मुः परिक्षयं तूर्णमभूत् तेनाधिकोऽर्जुनः ।। १५ ।।

परंतु संग्राममें शीघ्रतापूर्वक बार-बार शरसंधान करनेवाले अश्वत्थामाके बाण जल्दी समाप्त हो गये। इस कारण अर्जुन उसकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए ।। १५ ।।

ततः कर्णो महाचापं विकृष्याभ्यधिकं तदा ।
अवाक्षिपत् ततः शब्दो हाहाकारो महानभूत् ।। १६ ।।

तब कर्णने अपने महान् धनुषको बड़े जोरसे खींचकर टंकार की। उससे वहाँ महान् हाहाकारका शब्द होने लगा ।। १६ ।।

ततश्चक्षुर्दधे पार्थो यत्र विस्फार्यते धनुः ।
ददर्श तत्र राधेयं तस्य कोपो व्यवर्धत ।। १७ ।।

तब अर्जुनने जहाँ धनुषकी टंकार हो रही थी, उधर दृष्टि डाली, तो वहाँ राधानन्दन कर्ण दिखायी पड़ा। इससे उनका क्रोध बहुत बढ़ गया ।। १७ ।।

स रोषवशमापन्नः कर्णमेव जिघांसया ।
तमैक्षत विवृत्ताभ्यां नेत्राभ्यां कुरुपुङ्गवः ।। १८ ।।

तब कुरुश्रेष्ठ अर्जुन रोषके वशीभूत हो कर्णको ही मार डालनेकी इच्छासे दोनों आँखें फाड़-फाड़कर उसकी ओर देखने लगे ।। १८ ।।

तथा तु विमुखे पार्थे द्रोणपुत्रस्य सायकान् ।
त्वरिताः पुरुषा राजन्नुपाजह्रुः सहस्रशः ।। १९ ।।

राजन्! इस प्रकार जब अर्जुनने उधरसे दृष्टि हटाकर दूसरी ओर मुँह फेर लिया, तब बहुत-से सैनिक तुरंत वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने द्रोणपुत्रके हजारों बाणोंको (रणभूमिसे उठाकर) उन्हें समर्पित कर दिया ।। १९ ।।

उत्सृज्य च महाबाहुर्द्रोणपुत्रं धनंजयः ।
अभिदुद्राव सहसा कर्णमेव सपत्नजित् ।। २० ।।

तब शत्रुविजयी महाबाहु धनंजयने द्रोणपुत्रको वहीं छोड़कर सहसा कर्णपर ही धावा किया ।। २० ।।

तमभिद्रुत्य कौन्तेयः क्रोधसंरक्तलोचनः ।
कामयन् द्वैरथं तेन युद्धं वचनमब्रवीत् ।। २१ ।।

और कर्णके पास पहुँचकर उसके साथ द्वन्द्वयुद्धकी इच्छा रखते हुए कुन्तीकुमारने क्रोधसे लाल आँखें करके यह बात कही ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनाश्वत्थामयुद्धे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ।। ५९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अर्जुन और अश्वत्थामाके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५९ ।।

षष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और कर्णका संवाद तथा कर्णका अर्जुनसे हारकर भागना

अर्जुन उवाच

कर्ण यत् ते सभामध्ये बहु वाचा विकत्थितम् ।
न मे युधि समोऽस्तीति तदिदं समुपस्थितम् ।। १ ।।

अर्जुन बोले—कर्ण! पहले कौरवोंकी सभामें तूने जो अपनी बहुत प्रशंसा करते हुए यह बात कही थी कि युद्धमें मेरे समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है। (उसकी सचाईकी परीक्षाके लिये) यह युद्धका अवसर उपस्थित हो गया है ।। १ ।।

सोऽद्य कर्ण मया सार्धं व्यवहृत्य महामृधे ।
ज्ञास्यस्यबलमात्मानं न चान्यानवमंस्यसे ।। २ ।।

कर्ण! आज इस महासंग्राममें मेरे साथ भिड़कर तू अपनेको भलीभाँति निर्बल समझ लेगा और फिर कभी दूसरोंका अपमान नहीं करेगा ।। २ ।।

अवोचः परुषा वाचो धर्ममुत्सृज्य केवलम् ।
इदं तु दुष्करं मन्ये यदिदं ते चिकीर्षितम् ।। ३ ।।

पहले तूने केवल धर्मकी अवहेलना करके बड़ी कठोर बातें कही हैं, परंतु तू जो कुछ करना चाहता है, वह तेरे लिये मैं अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ ।। ३ ।।

यत् त्वया कथितं पूर्वं मामनासाद्य किंचन ।
तदद्य कुरु राधेय कुरुमध्ये मया सह ।। ४ ।।

राधानन्दन! मेरे साथ भिड़न्त होनेके पहले कौरवोंकी सभामें तूने जो कुछ कहा है, आज मेरे साथ युद्ध करके वह सब सत्य कर दिखा ।। ४ ।।

यत् सभायां स पाञ्चालीं क्लिश्यमानां दुरात्मभिः ।
दृष्टवानसि तस्याद्य फलमाप्नुहि केवलम् ।। ५ ।।

अरे! भरी सभामें दुरात्मा कौरव पांचालराजकुमारी द्रौपदीको क्लेश दे रहे थे और तू मौजसे यह सब देखता रहा। आज केवल उस अत्याचारका फल भोग ले ।। ५ ।।

धर्मपाशनिबद्धेन यन्मया मर्षितं पुरा ।
तस्य राधेय कोपस्य विजयं पश्य मे मृधे ।। ६ ।।

पहले मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हुआ था। इसलिये मैंने सब कुछ (चुपचाप) सह लिया। परंतु राधापुत्र! आजके युद्धमें मेरे उस क्रोधका फल मेरी विजयके रूपमें अभी देख ले ।। ६ ।।

वने द्वादश वर्षाणि यानि सोढानि दुर्मते ।
तस्याद्य प्रतिकोपस्य फलं प्राप्नुहि सम्प्रति ।। ७ ।।

ओ दुर्मते! हमने बारह वर्षोंतक वनमें रहकर जो क्लेश सहन किये हैं, उनका बदला चुकानेके लिये आज मेरे बढ़े हुए क्रोधका फल तू अभी चख ले ।। ७ ।।

एहि कर्ण मया सार्धं प्रतियुध्यस्व सङ्गरे ।
प्रेक्षकाः कुरवः सर्वे भवन्तु तव सैनिकाः ।। ८ ।।

कर्ण! आ, रणभूमिमें मेरा सामना कर। समस्त कौरव और तेरे सैनिक सब दर्शक होकर हमारे युद्धको देखें ।।

कर्ण उवाच

ब्रवीषि वाचा यत् पार्थ कर्मणा तत् समाचर ।
अतिशेते हि ते वाक्यं कर्मैतत् प्रथितं भुवि ।। ९ ।।

कर्णने कहा—कुन्तीपुत्र! तू मुझसे जो कुछ कहता है, उसे क्रियाद्वारा करके दिखा। तेरी बातें कार्य करनेकी अपेक्षा बहुत बढ़-चढ़कर होती हैं। यह बात भूमण्डलमें प्रसिद्ध है ।। ९ ।।

यत् त्वया मर्षितं पूर्वं तदशक्तेन मर्षितम् ।
इतो गृह्णीमहे पार्थ तव दृष्ट्वा पराक्रमम् ।। १० ।।

पार्थ! तेरा यह जबानी पराक्रम देखकर तो हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि तूने पहले जो कुछ सहन किया है, वह अपनी असमर्थताके ही कारण किया है ।। १० ।।

धर्मपाशनिबद्धेन यत् त्वया मर्षितं पुरा ।
तथैव बद्धमात्मानमबद्धमिव मन्यसे ।। ११ ।।

यदि तूने पहले धर्मके बन्धनमें बँधकर कष्ट सहन किया है, तो आज भी तू उसी प्रकार बँधा हुआ है; तो भी तू अपने-आपको उस बन्धनसे मुक्त-सा मान रहा है ।। ११ ।।

यदि तावद् वने वासो यथोक्तश्चरितस्त्वया ।
तत् त्वं धर्मार्थवित् क्लिष्टः स मया योद्धुमिच्छसि ।। १२ ।।

यदि तूने वनवासके पूर्वोक्त नियमका भलीभाँति पालन कर लिया है, तो तू धर्म और अर्थका ज्ञाता ठहरा। इसलिये तूने कष्ट सहा है और उसीको याद करके इस समय मेरे साथ लड़ना चाहता है ।। १२ ।।

यदि शक्रः स्वयं पार्थ युध्यते तव कारणात् ।
तथापि न व्यथा काचिन्मम स्याद् विक्रमिष्यतः ।। १३ ।।

पार्थ! यदि इस समय साक्षात् इन्द्र भी तेरे लिये युद्ध करने आयें, तो भी युद्धमें पराक्रम दिखाते हुए मुझको किसी प्रकारकी व्यथा न होगी ।। १३ ।।

अयं कौन्तेय कामस्ते नचिरात् समुपस्थितः ।

योत्स्यसे हि मया सार्धमद्य द्रक्ष्यसि मे बलम् ।। १४ ।।

कुन्तीकुमार! मेरे साथ युद्धका जो तेरा हौसला है, वह अभी-अभी प्रकट हुआ है। अतः अब मेरे साथ तेरा युद्ध होगा और आज तू मेरा बल स्वयं देख लेगा ।। १४ ।।

अर्जुन उवाच

इदानीमेव तावत् त्वमपयातो रणान्मम ।
तेन जीवसि राधेय निहतस्त्वनुजस्तव ।। १५ ।।

अर्जुन बोले—राधापुत्र! अभी कुछ ही देर पहलेकी बात है, मेरे सामने युद्धसे पीठ दिखाकर तू भाग गया था, इसीलिये अबतक जी रहा है; किंतु तेरा छोटा भाई मारा गया ।। १५ ।।

भ्रातरं घातयित्वा कस्त्यक्त्वा रणशिरश्च कः ।
त्वदन्यः कः पुमान् सत्सु ब्रूयादेवं व्यवस्थितः ।। १६ ।।

तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपने भाईको मरवाकर और युद्धका मुहाना छोड़कर (भाग जानेके बाद भी) भलेमानसोंके बीचमें खड़ा हो ऐसी डींग मारेगा? ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

इति कर्णं ब्रुवन्नेव बीभत्सुरपराजितः ।
अभ्ययाद् विसृजन् बाणान् कायावरणभेदिनः ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुन किसीसे भी परास्त होनेवाले नहीं थे। वे कर्णसे उपर्युक्त बातें कहकर कवचको भी विदीर्ण कर देनेवाले बाण छोड़ते हुए उसकी ओर बढ़े ।। १७ ।।

प्रतिजग्राह तं कर्णः प्रीयमाणो महारथः ।
महता शरवर्षेण वर्षमाणमिवाम्बुदम् ।। १८ ।।

महारथी कर्णने बड़ी प्रसन्नताके साथ मेघके सदृश बाणोंकी दृष्टि करनेवाले अर्जुनको अपने सायकोंकी भारी बौछार करके रोका ।। १८ ।।

उत्पेतुः शरजालानि घोररूपाणि सर्वशः ।
अविध्यदश्वान् बाह्वोश्च हस्तावापं पृथक् पृथक् ।। १९ ।।
सोऽमृष्यमाणः कर्णस्य निषङ्गस्यावलम्बनम् ।
चिच्छेद निशिताग्रेण शरेण नतपर्वणा ।। २० ।।

फिर तो आकाशमें सब ओर भयंकर बाणोंके समूह उड़ने लगे। अर्जुनसे यह सहन न हो सका; अतः उन्होंने झुकी हुई गाँठ एवं तीखी नोकवाले बाणसे कर्णके घोड़ोंको बींध डाला। भुजाओंमें भी गहरी चोट पहुँचायी और हाथोंके दस्तानोंको भी पृथक्-पृथक् विदीर्ण

कर दिया। इतना ही नहीं, कर्णके भाथा लटकानेकी रस्सीको भी काट गिराया ।। १९-२० ।।

उपासङ्गादुपादाय कर्णो बाणानथापरान् ।

विव्याध पाण्डवं हस्ते तस्य मुष्टिरशीर्यत ।। २१ ।।

तब कर्णने (अलग रखे हुए) छोटे तरकससे दूसरे बाण लेकर पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथमें चोट पहुँचायी। इससे उनकी मुट्ठी ढीली पड़ गयी ।। २१ ।।

ततः पार्थो महाबाहुः कर्णस्य धनुरच्छिनत् ।

स शक्तिं प्राहिणोत् तस्मै तां पार्थो व्यधमच्छरैः ।। २२ ।।

तब महाबाहु पार्थने कर्णका धनुष काट दिया। यह देख कर्णने अर्जुनपर शक्ति चलायी; किंतु पार्थने उसे बाणोंसे नष्ट कर दिया ।। २२ ।।

ततोऽनुपेतुर्बहवो राधेयस्य पदानुगाः ।

तांश्च गाण्डीवनिर्मुक्तैः प्राहिणोद् यमसादनम् ।। २३ ।।

इतनेमें ही राधापुत्र कर्णके बहुत-से सैनिक वहाँ आ पहुँचे, किंतु अर्जुनने गाण्डीवद्वारा छोड़े हुए बाणोंसे मारकर उन सबको यमलोक भेज दिया ।। २३ ।।

ततोऽस्याश्वाञ्छरैस्तीक्ष्णैर्बीभत्सुर्भारसाधनैः ।

आकर्णमुक्तैरवधीत् ते हताः प्रापतन् भुवि ।। २४ ।।

तत्पश्चात् बीभत्सुने भार (शत्रुओंके आघात) सहनेमें समर्थ तीखे बाणोंद्वारा, जो धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये थे, कर्णके घोड़ोंको घायल कर दिया। वे घोड़े मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े ।। २४ ।।

अथापरेण बाणेन ज्वलितेन महौजसा ।

विव्याध कर्णं कौन्तेयस्तीक्ष्णेनोरसि वीर्यवान् ।। २५ ।।

तत्पश्चात् पराक्रमी कुन्तीकुमारने महान् तेजस्वी तथा अग्निके समान प्रज्वलित दूसरे बाणद्वारा कर्णकी छातीमें आघात किया ।। २५ ।।

तस्य भित्त्वा तनुत्राणं कायमभ्यगमच्छरः ।

ततः स तमसाऽऽविष्टो न स्म किंचित् प्रजज्ञिवान् ।। २६ ।।

यह बाण कर्णका कवच काटकर उसके वक्षःस्थलके भीतर घुस गया। इससे कर्णको मूर्च्छा आ गयी और उसे किसी भी बातकी सुध-बुध न रही ।। २६ ।।

स गाढवेदनो हित्वा रणं प्रायादुदङ्मुखः ।

ततोऽर्जुन उदक्रोशदुत्तरश्च महारथः ।। २७ ।।

कर्णको उस चोटसे बड़ी भारी वेदना हुई और वह युद्धभूमिको छोड़कर उत्तर दिशाकी ओर भागा। यह देख अर्जुन और उत्तर दोनों महारथी जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि कर्णापयाने षष्टितमोऽध्यायः ।। ६० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें कर्णका पलायनविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६० ।।

एकषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनका उत्तरकुमारको आश्वासन तथा अर्जुनसे दुःशासन आदिकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

ततो वैकर्तनं जित्वा पार्थो वैराटिमब्रवीत् ।
एतन्मां प्रापयानीकं यत्र तालो हिरण्मयः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार वैकर्तन कर्णको जीतकर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरसे कहा—'सारथे! तुम मुझे इस सेनाकी ओर ले चलो, जिसकी ध्वजापर सुवर्णमय ताड़ वृक्षका चिह्न है ।। १ ।।

अत्र शान्तनवो भीष्मो रथेऽस्माकं पितामहः ।
काङ्क्षमाणो मया युद्धं तिष्ठत्यमरदर्शनः ।। २ ।।

'उस रथपर हम सबके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मजी बैठे हैं। वे मेरे साथ युद्धकी इच्छा रखकर खड़े हैं। उनका दर्शन देवताओंके समान है' ।। २ ।।

अथ सैन्यं महद् दृष्ट्वा रथनागहयाकुलम् ।
अब्रवीदुत्तरः पार्थमपविद्धः शरैर्भृशम् ।। ३ ।।
नाहं शक्ष्यामि वीरेह नियन्तुं ते हयोत्तमान् ।
विषीदन्ति मम प्राणा मनो विह्वलतीव मे ।। ४ ।।

यह सुनकर उत्तरने, जो बाणोंसे अत्यन्त घायल हो चुका था, रथों, हाथियों और घोड़ोंसे भरी हुई विशाल सेनाकी ओर देखकर कहा—'वीर! अब मैं युद्धभूमिमें आपके उत्तम घोड़ोंको नहीं सँभाल सकूँगा। मेरे प्राण बड़ी व्यथामें हैं और मन व्याकुल-सा हो रहा है' ।। ३-४ ।।

अस्त्राणामिव दिव्यानां प्रभावः सम्प्रयुज्यताम् ।
त्वया च कुरुभिश्चैव द्रवन्तीव दिशो दश ।। ५ ।।

'आपके तथा कौरव वीरोंके द्वारा प्रयुक्त होनेवाले दिव्यास्त्रोंका प्रभाव यह है कि मुझे दसों दिशाएँ भागती-सी प्रतीत होती हैं ।। ५ ।।

गन्धेन मूर्च्छितश्चाहं वसारुधिरमेदसाम् ।
द्वैधीभूतं मनो मेऽद्य तव चैव प्रपश्यतः ।। ६ ।।

'मैं चर्बी, रक्त और मेदकी गन्धसे मूर्च्छित हो रहा हूँ। आज आपके देखते-देखते मेरा मन दुविधामें पड़ गया है' ।। ६ ।।

अदृष्टपूर्वः शूराणां मया संख्ये समागमः ।

गदापातेन महता शङ्खानां निःस्वनेन च ।। ७ ।।
सिंहनादैश्च शूराणां गजानां बृंहितैस्तथा ।
गाण्डीवशब्देन भृशमशनिप्रतिमेन च ।
श्रुतिः स्मृतिश्च मे वीर प्रणष्टा मूढचेतसः ।। ८ ।।

'युद्धमें इतने शूरवीरोंका जमघट मैंने पहले कभी नहीं देखा था। वीरवर! गदाओंके भारी आघात, शंखोंके भयंकर शब्द, शूरवीरोंके सिंहनाद, हाथियोंके चिग्घाड़ तथा वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीव धनुषकी भारी टंकारध्वनिसे मेरा चित्त मोहित हो गया है। मेरी श्रवणशक्ति और स्मरणशक्ति भी जवाब दे चुकी है ।। ७-८ ।।

अलातचक्रप्रतिमं मण्डलं सततं त्वया ।
व्याक्षिप्यमाणं समरे गाण्डीवं च प्रकर्षता ।
दृष्टिः प्रचलिता वीर हृदयं दीर्यतीव मे ।। ९ ।।

'रणभूमिमें आप निरन्तर गाण्डीव धनुषको खींचते और टंकारते रहते हैं, जिससे यह अलातचक्रके समान गोल प्रतीत होता है। उसे देखकर मेरी आँखें चौधियाँ रही हैं तथा हृदय फटा-सा जा रहा है ।। ९ ।।

वपुश्चोग्रं तव रणे क्रुद्धस्येव पिनाकिनः ।
व्यायच्छतस्तव भुजं दृष्ट्वा भीर्मे भवत्यपि ।। १० ।।

'इस संग्राममें कुपित हुए पिनाकपाणि भगवान् रुद्रकी भाँति आपका शरीर भयानक जान पड़ता है और लगातार धनुष-बाण चलानेके व्यायाममें संलग्न रहनेवाले आपकी भुजाओंको देखकर भी मुझे भय लगता है ।। १० ।।

नाददानं न संधानं न मुञ्चन्तं शरोत्तमान् ।
त्वामहं सम्प्रपश्यामि पश्यन्नपि न चेतनः ।। ११ ।।

'आप कब उत्तम बाणोंको हाथमें लेते, कब धनुषपर रखते और कब उन्हें छोड़ते हैं, यह सब मैं नहीं देख पाता और देखनेपर भी मुझे चेत नहीं रहता ।। ११ ।।

अवसीदन्ति मे प्राणा भूरियं चलतीव च ।
न च प्रतोदं रश्मींश्च संयन्तुं शक्तिरस्ति मे ।। १२ ।।

'इस समय मेरे प्राण अकुला रहे हैं। यह पृथ्वी काँपती-सी जान पड़ती है। इस समय मुझमें इतनी शक्ति नहीं है कि घोड़ोंकी रास सँभालूँ और चाबुक लेकर इन्हें हाँकूँ' ।। १२ ।।

अर्जुन उवाच

मा भैषीः स्तम्भयात्मानं त्वयापि नरपुङ्गव ।
अत्यद्भुतानि कर्माणि कृतानि रणमूर्धनि ।। १३ ।।

अर्जुन बोले—नरश्रेष्ठ! डरो मत। अपने-आपको सँभालो। तुमने भी युद्धके मुहानेपर बड़े अद्भुत पराक्रम दिखाये हैं ।। १३ ।।

राजपुत्रोऽसि भद्रं ते कुले मत्स्यस्य विश्रुते ।
जातस्त्वं शत्रुदमने नावसीदितुमर्हसि ।। १४ ।।
धृतिं कृत्वा सुविपुलां राजपुत्र रथे मम ।
युध्यमानस्य समरे हयान् संयच्छ शत्रुहन् ।। १५ ।।

तुम राजकुमार हो। तुम्हारा कल्याण हो। तुमने मत्स्यनरेशके विख्यात वंशमें जन्म ग्रहण किया है; अतः शत्रुओंके संहारके अवसरपर तुम्हें शिथिल नहीं होना चाहिये। राजपुत्र! तुम तो शत्रुओंका नाश करनेवाले हो, अतः पूर्णरूपसे धैर्य धारण करके रथपर बैठो और युद्ध करते समय मेरे घोड़ोंको काबूमें रखो ।। १४-१५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुर्वैराटिं नरसत्तमः ।
अर्जुनो रथिनां श्रेष्ठ उत्तरं वाक्यमब्रवीत् ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार समझा-बुझाकर रथियोंमें श्रेष्ठ और मनुष्योंमें सर्वोत्तम महाबाहु अर्जुन विराट-कुमार उत्तरसे पुनः यह वचन बोले— ।। १६ ।।

सेनाग्रमाशु भीष्मस्य प्रापयस्वैतदेव माम् ।
आच्छेत्स्याम्यहमेतस्य धनुर्ज्यामपि चाहवे ।। १७ ।।

'राजकुमार! तुम शीघ्र ही पितामह भीष्मकी इसी सेनाके सामने मेरा रथ ले चलो, मुझे पहुँचाओ। इस युद्धमें मैं इनकी प्रत्यंचा भी काट डालूँगा ।। १७ ।।

अस्यन्तं दिव्यमस्त्रं मां चित्रमद्य निशामय ।
शतह्रदामिवायान्तीं स्तनयित्नोरिवाम्बरे ।। १८ ।।
सुवर्णपृष्ठं गाण्डीवं द्रक्ष्यन्ति कुरवो मम ।
दक्षिणेनाथ वामेन कतरेण स्विदस्यति ।। १९ ।।
इति मां सङ्गताः सर्वे तर्कयिष्यन्ति शत्रवः ।
शोणितोदां रथावर्तां नागनक्रां दुरत्ययाम् ।
नदीं प्रस्कन्दयिष्यामि परलोकप्रवाहिनीम् ।। २० ।।

'आज मुझे विचित्र दिव्यास्त्रोंका प्रहार करते देखो। जैसे आकाशमें मेघोंकी घटासे बिजली प्रकट होती है, उसी प्रकार (बाणोंकी विद्युच्छटा प्रकट करनेवाले) मेरे गाण्डीव धनुषको, जिसके पृष्ठभागमें सोना मढ़ा है, आज कौरवलोग विस्मित होकर देखेंगे। आज सारी शत्रुमण्डली इकट्ठी होकर यह अनुमान लगायेगी कि अर्जुन किस हाथसे बाण चलाते हैं? दाहिने हाथसे या बायेंसे? आज मैं परलोककी ओर प्रवाहित होनेवाली (शत्रुसेनारूप) दुर्लङ्घ्य नदीको मथ डालूँगा, जिसमें रक्त ही जल है, रथ भँवर हैं और हाथी ग्राहके स्थानमें हैं ।। १८—२० ।।

पाणिपादशिरःपृष्ठबाहुशाखानिरन्तरम् ।

वनं कुरूणां छेत्स्यामि शरैः संनतपर्वभिः ।। २१ ।।

'आज झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कौरवसेनारूपी जंगलको काट डालूँगा। हाथ, पैर, सिर, पृष्ठ (पीठ) तथा बाहु आदि अङ्ग ही विविध शाखाओंके रूपमें फैलकर इस कौरव-वनको सघन किये हुए हैं ।। २१ ।।

जयतः कौरवीं सेनामेकस्य मम धन्विनः ।
शतं मार्गा भविष्यन्ति पावकस्येव कानने ।। २२ ।।

'जैसे वनमें लगे हुए दावानलको आगे बढ़नेके लिये सैकड़ों मार्ग सुलभ होते हैं, उसी प्रकार कौरवसेनापर विजय पानेवाले मुझ एकमात्र धनुर्धर वीरके लिये इसमें सैकड़ों मार्ग प्रकट हो जायँगे ।। २२ ।।

मया चक्रमिवाविद्धं सैन्यं द्रक्ष्यसि केवलम् ।
इष्वस्त्रे शिक्षितं चित्रमहं दर्शयितास्मि ते ।। २३ ।।

'मेरे बाणोंसे घायल हुई सारी सेनाको तुम चक्रकी भाँति घूमती हुई देखोगे। आज तुम्हें बाणविद्यामें प्राप्त की हुई अपनी विचित्र शिक्षाका परिचय कराऊँगा ।। २३ ।।

असम्भ्रान्तो रथे तिष्ठ समेषु विषमेषु च ।
दिवमावृत्य तिष्ठन्तं गिरिं भिन्द्यां स्म पत्रिभिः ।। २४ ।।

'तुम सम-विषम (ऊँची-नीची) भूमियोंमें सम्भ्रमरहित (सावधान) होकर रथपर बैठो (और घोड़ोंकी सँभाल रखो)। आज मैं सारे आकाशको घेरकर खड़े हुए (महान्) पर्वतको भी अपने बाणोंसे विदीर्ण कर डालूँगा ।।

अहमिन्द्रस्य वचनात् संग्रामेऽभ्यहनं पुरा ।
पौलोमान् कालखञ्जांश्च सहस्राणि शतानि च ।। २५ ।।

'मैंने पहले देवराज इन्द्रकी आज्ञासे युद्धमें उनके शत्रु पौलोम और कालखंज नामक लाखों दानवोंका वध किया है ।। २५ ।।

अहमिन्द्राद् दृढां मुष्टिं ब्रह्मणः कृतहस्तताम् ।
प्रगाढे तुमुलं चित्रमिति विद्धि प्रजापतेः ।। २६ ।।

'तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैंने धनुष पकड़ते समय मुट्ठीको दृढ़ रखना इन्द्रसे, बाण चलाते समय हाथोंकी फुर्ती ब्रह्माजीसे तथा संकटके समय विचित्र प्रकारसे तुमुल युद्ध करनेकी कला प्रजापतिसे सीखी है ।। २६ ।।

अहं पारे समुद्रस्य हिरण्यपुरवासिनाम् ।
जित्वा षष्टिं सहस्राणि रथिनामुग्रधन्विनाम् ।। २७ ।।

'पहलेकी बात है, मैंने समुद्रके उस पार हिरण्यपुरमें निवास करनेवाले साठ हजार अत्यन्त भयंकर धनुर्धर महारथियोंको परास्त किया था ।। २७ ।।

शीर्यमाणानि कूलानि प्रवृद्धेनेव वारिणा ।
मया कुरूणां वृन्दानि पात्यमानानि पश्य वै ।। २८ ।।

‘आज देख लेना, जैसे प्रबल वेगसे आयी हुई जलकी बाढ़ किनारोंको काट-काटकर गिरा देती है, उसी प्रकार मैं कौरवदलके सैन्यसमूहोंको मार गिराऊँगा ।।

ध्वजवृक्षं पत्तितृणं रथसिंहगणायुतम् ।
वनमादीपयिष्यामि कुरूणामस्त्रतेजसा ।। २९ ।।

‘कौरवोंकी सेना एक जंगलके समान है, उसमें ध्वज ही वृक्ष हैं, पैदल सैनिक घास-फूस हैं तथा रथ ही सिंहोंके स्थानमें हैं। मैं अपने अस्त्र-शस्त्ररूपी अग्निसे आज इस कौरववनको जलाकर भस्म कर दूँगा ।। २९ ।।

तानहं रथनीडेभ्यः शरैः संनतपर्वभिः ।
यत्तान् सर्वानतिबलान् योत्स्यमानानवस्थितान् ।
एकः संकालयिष्यामि वज्रपाणिरिवासुरान् ।। ३० ।।

‘जैसे व्याध घोंसलेमें बैठे हुए पक्षियोंको भी मार गिराता है, उसी प्रकार मैं मुड़ी हुई नोकवाले (तीखे) बाणोंसे मारकर उन सभी कौरववीरोंको रथोंकी बैठकोंसे नीचे गिरा दूँगा। जैसे वज्रधारी इन्द्र अकेले ही समस्त असुरोंका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार मैं भी अकेला ही यहाँ युद्धके लिये सावधान होकर खड़े हुए समस्त महाबली योद्धाओंका भलीभाँति विनाश कर डालूँगा ।।

रौद्रं रुद्रादहं ह्यस्त्रं वारुणं वरुणादपि ।
अस्त्रमाग्नेयमग्नेश्च वायव्यं मातरिश्वनः ।
वज्रादीनि तथास्त्राणि शक्रादहमवाप्तवान् ।। ३१ ।।

‘मैंने भगवान् रुद्रसे रौद्रास्त्रकी, वरुणसे वारुणास्त्रकी, अग्निसे आग्नेयास्त्रकी और वायु देवतासे वायव्यास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की है। इसी प्रकार साक्षात् इन्द्रसे मैंने वज्र आदि अस्त्र प्राप्त किये हैं ।। ३१ ।।

धार्तराष्ट्रवनं घोरं नरसिंहाभिरक्षितम् ।
अहमुत्पाटयिष्यामि वैराटे व्येतु ते भयम् ।। ३२ ।।

‘वीर मानवरूपी सिंहोंसे सुरक्षित इस भयंकर कौरववनको मैं अकेला ही उजाड़ डालूँगा, अतः विराटकुमार! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये’ ।। ३२ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितस्तेन वैराटिः सव्यसाचिना ।
व्यवागाहद् रथानीकं भीमं भीष्माभिरक्षितम् ।। ३३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सव्यसाची अर्जुनके इस प्रकार सान्त्वना देनेपर विराटकुमार उत्तरने भीष्मजीके द्वारा सब ओरसे सुरक्षित रथियोंकी भयंकर सेनामें प्रवेश किया ।। ३३ ।।

तमायान्तं महाबाहुं जिगीषन्तं रणे कुरून् ।

अभ्यवारयदव्यग्रः क्रूरकर्माऽऽपगासुतः ।। ३४ ।।

रणभूमिमें कौरवोंको जीतनेकी इच्छासे आते हुए महाबाहु अर्जुनको कठोर कर्म करनेवाले गंगानन्दन भीष्मने बिना किसी घबराहटके रोक दिया ।। ३४ ।।

तस्य जिष्णुरुपावृत्य ध्वजं मूलादपातयत् ।
विकृष्य कलधौताग्रैः स विद्धः प्रापतद् भुवि ।। ३५ ।।

तब अर्जुनने उनकी ओर घूमकर सुनहरी धारवाले बाणोंसे भीष्मजीकी ध्वजाको जड़से काट गिराया, बाणोंसे छिद जानेके कारण वह ध्वजा पृथ्वीपर गिर पड़ी ।। ३५ ।।

तं चित्रमाल्याभरणाः कृतविद्या मनस्विनः ।
आगच्छन् भीमधन्वानं चत्वारश्च महाबलाः ।। ३६ ।।
दुःशासनो विकर्णश्च दुःसहोऽथ विविंशतिः ।
आगत्य भीमधन्वानं बीभत्सुं पर्यवारयन् ।। ३७ ।।

इतनेहीमें विचित्र माला और आभूषणोंसे विभूषित और अस्त्रसंचालनकी विद्यामें निपुण चार महाबली मनस्वी वीर दुःशासन, विकर्ण, दुःसह और विविंशति वहाँ भयंकर धनुषवाले अर्जुनपर चढ़ आये और वहाँ आकर उन्होंने उग्रधन्वा बीभत्सुको चारों ओरसे घेर लिया ।। ३६-३७ ।।

दुःशासनस्तु भल्लेन विद्ध्वा वैराटमुत्तरम् ।
द्वितीयेनार्जुनं वीरः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।। ३८ ।।

वीर दुःशासनने भल्ल नामक एक बाणसे विराटकुमार उत्तरको घायल करके दूसरेसे अर्जुनकी छाती छेद डाली ।। ३८ ।।

तस्य जिष्णुरुपावृत्य पृथुधारेण कार्मुकम् ।
चकर्त गार्ध्रपत्रेण जातरूपपरिष्कृतम् ।। ३९ ।।

तब अर्जुन उसकी ओर मुड़े और मोटी धार और गीधकी पाँख-जैसे पंखवाले बाणसे उन्होंने दुःशासनके सुवर्णजटित धनुषको काट डाला ।। ३९ ।।

अथैनं पञ्चभिः पश्चात् प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।
सोऽपयातो रणं हित्वा पार्थबाणप्रपीडितः ।। ४० ।।

तत्पश्चात् उसकी छातीमें भी पाँच बाण मारे। पार्थके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो दुःशासन युद्ध छोड़कर भाग गया ।। ४० ।।

तं विकर्णः शरैस्तीक्ष्णैर्गृध्रपत्रैरजिह्मगैः ।
विव्याध परवीरघ्नमर्जुनं धृतराष्ट्रजः ।। ४१ ।।

तब धृतराष्ट्रपुत्र विकर्णने शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले अर्जुनको सीधे लक्ष्यकी ओर जानेवाले गृध्रपत्रयुक्त तीखे बाणोंसे बींध डाला ।। ४१ ।।

ततस्तमपि कौन्तेयः शरेणानतपर्वणा ।
ललाटेऽभ्यहनत् तूर्णं स विद्धः प्रापतद् रथात् ।। ४२ ।।

तत्पश्चात् कुन्तीनन्दन अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे उसको भी ललाटमें बींध डाला। उस बाणसे घायल होकर विकर्ण तुरंत ही रथसे नीचे गिर पड़ा ।। ४२ ।।

ततः पार्थमभिद्रुत्य दुःसहः सविविंशतिः ।
अवाकिरच्छरैस्तीक्ष्णैः परीप्सुर्भ्रातरं रणे ।। ४३ ।।

तब दुःसह और विविंशति अर्जुनकी ओर दौड़े और युद्धमें भाईका बदला लेनेके लिये उनके ऊपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। ४३ ।।

तावुभौ गार्ध्रपत्राभ्यां निशिताभ्यां धनंजयः ।
विद्ध्वा युगपदव्यग्रस्तयोर्वाहानसूदयत् ।। ४४ ।।

फिर धनंजयने गृध्रकी पाँखवाले दो तीखे बाणोंद्वारा उन दोनोंको एक ही साथ घायल करके बिना किसी घबराहटके उनके घोड़ोंको भी मार गिराया ।। ४४ ।।

तौ हताश्वौ विभिन्नाङ्गौ धृतराष्ट्रात्मजावुभौ ।
अभिपत्य रथैरन्यैरपनीतौ पदानुगैः ।। ४५ ।।

घोड़ोंके मारे जाने और शरीरके बिंध जानेपर उन दोनों धृतराष्ट्रकुमारोंके पास उनके सेवक आ पहुँचे और उन्हें दूसरे रथपर डालकर अन्यत्र हटा ले गये ।। ४५ ।।

सर्वा दिशश्चाभ्यपतद् बीभत्सुरपराजितः ।
किरीटमाली कौन्तेयो लब्धलक्षो महाबलः ।। ४६ ।।

किसीसे परास्त न होनेवाले किरीट-मालाधारी महाबली कुन्तीनन्दन अर्जुनका निशाना कभी चूकता नहीं था। वे उस सेनामें सब ओर विचरने लगे ।। ४६ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि अर्जुनदुःशासनादियुद्धे एकषष्टितमोऽध्यायः ।। ६१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुनदुःशासन आदिके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६१ ।।

द्विषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनका सब योद्धाओं और महारथियोंके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

अथ संगम्य सर्वे ते कौरवाणां महारथाः ।
अर्जुनं सहिता यत्ताः प्रत्ययुध्यन्त भारत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर कौरवसेनाके सब महारथी मिलकर एक साथ संगठित हो बड़ी सावधानीके साथ अर्जुनका सामना करने लगे ।। १ ।।

स सायकमयैर्जालैः सर्वतस्तान् महारथान् ।
प्राच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव पर्वतान् ।। २ ।।

परंतु असीम आत्मबलसे सम्पन्न कुन्तीपुत्रने सब ओर सायकोंका जाल-सा बिछाकर कुहरेसे ढके हुए पहाड़ोंकी तरह उन सब महारथियोंको आच्छादित कर दिया ।। २ ।।

नदद्भिश्च महानागैर्हेषमाणैश्च वाजिभिः ।
भेरीशङ्खनिनादैश्च स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।। ३ ।।

बड़े-बड़े गजराजोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हिनहिनाने और नगाड़ों तथा शंखोंके बजाये जानेसे जो शब्द हुए, उनके एकत्र मिलनेसे उस रणभूमिमें भारी कोलाहल मच गया ।। ३ ।।

नराश्वकायान् निर्भिद्य लौहानि कवचानि च ।
पार्थस्य शरजालानि विनिष्पेतुः सहस्रशः ।। ४ ।।

पार्थके सहस्रों बाणसमुदाय मनुष्यों और घोड़ोंके शरीरोंको छेदकर और उनके लोहेके बने हुए कवचोंको भी छिन्न-भिन्न करके नीचे गिरा रहे थे ।। ४ ।।

त्वरमाणः शरानस्यन् पाण्डवः प्रबभौ रणे ।
मध्यंदिनगतोऽर्चिष्माञ्छरदीव दिवाकरः ।। ५ ।।

जैसे शरद्‌ऋतुके (निर्मल आकाशमें) दोपहरका सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणें फैलाकर प्रकाशित होता है, उसी प्रकार संग्राममें पाण्डुनन्दन अर्जुन शत्रुसेनापर उतावलीके साथ बाणवर्षा करते हुए सुशोभित होते थे ।। ५ ।।

उपप्लवन्ति वित्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तथा ।
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चैव पदातयः ।। ६ ।।

उस समय अत्यन्त भयभीत होकर रथी सैनिक रथोंसे कूदकर और घुड़सवार घोड़ोंकी पीठसे उछलकर जान लेकर भाग चले और पैदल योद्धा तो भूमिपर थे ही; उन्होंने भी (डरके मारे) इधर-उधरकी राह ली ।। ६ ।।

शरैः संछिद्यमानानां कवचानां महात्मनाम् ।
ताम्रराजतलौहानां प्रादुरासीन्महास्वनः ।। ७ ।।

महामना शुरवीरोंके ताँबे, चाँदी और लोहेके बने हुए कवच जब बाणोंसे कटते थे, तब उनका बड़ा भारी शब्द होता था ।। ७ ।।

छन्नमायोधनं सर्वं शरीरैर्गतचेतसाम् ।
गजाश्वसादिनां तत्र शितबाणात्तजीवितैः ।। ८ ।।
रथोपस्थाभिपतितैरास्तृता मानवैर्मही ।
प्रनृत्यतीव संग्रामे चापहस्तो धनंजयः ।। ९ ।।

कुछ ही देरमें युद्धका सारा मैदान मूर्च्छित हुए सैनिकोंके शरीरोंसे पट गया। तीखे बाणोंकी मारसे जिनके प्राण निकल गये थे, उन हाथीसवारों, घुड़सवारों तथा रथकी बैठकसे गिरे हुए मनुष्योंकी लाशोंसे वहाँकी भूमि आच्छादित हो गयी थी। उस समय ऐसा जान पड़ता था, जैसे धनुष हाथमें लिये अर्जुन युद्धभूमिमें सब ओर नाचते फिर रहे हों ।। ८-९ ।।

श्रुत्वा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
त्रस्तानि सर्वसैन्यानि व्यपागच्छन् महाहवात् ।। १० ।।
कुण्डलोष्णीषधारीणि जातरूपस्रजस्तथा ।
पतितानि स्म दृश्यन्ते शिरांसि रणमूर्धनि ।। ११ ।।

गाण्डीवकी टंकार वज्रकी गड़गड़ाहटको भी मात कर रही थी। उसे सुनकर समस्त सैनिक भयभीत हो उस महान् संग्रामसे भाग निकले। युद्धके मुहानेपर कुण्डल और पगड़ी धारण किये असंख्य कटे हुए सिर पड़े दिखायी देते थे। कितने ही सोनेके हार इधर-उधर गिरे थे ।। १०-११ ।।

विशिखोन्मथितैर्गात्रैर्बाहुभिश्च सकार्मुकैः ।
सहस्ताभरणैश्चान्यैः प्रच्छन्ना भाति मेदिनी ।। १२ ।।

अर्जुनके बाणोंसे मथित हुई लाशोंसे वहाँकी जमीन पट गयी थी। कितनी ही भुजाएँ कटकर गिरी थीं; जो अब भी (मुट्ठीमें दृढ़तापूर्वक) धनुष पकड़े हुए थीं। उन हाथोंमें बाजूबन्द, कड़े और अंगूठी आदि आभूषण सभी ज्यों-के-त्यों थे। इन सबसे आच्छादित होकर उस रणभूमिकी विचित्र शोभा हो रही थी ।। १२ ।।

शिरसां पात्यमानानामन्तरा निशितैः शरैः ।
अश्मवृष्टिरिवाकाशादभवद् भरतर्षभ ।। १३ ।।

भरतश्रेष्ठ! बीचमें तीखे बाणोंसे काटकर गिराये जानेवाले योद्धाओंके मस्तकोंकी श्रेणी आकाशसे होनेवाली पत्थरोंकी वर्षा-सी जान पड़ती थी ।। १३ ।।

दर्शयित्वा तथाऽऽत्मानं रौद्रं रुद्रपराक्रमः ।
अवरुद्धोऽचरत् पार्थो वर्षाणि त्रिदशानि च ।
क्रोधाग्निमुत्सृजन् वीरो धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवः ।। १४ ।।

भयानक पराक्रमी कुन्तीपुत्र अर्जुन तेरह वर्षोंतक वनमें विवश होकर रुके थे। अब (उपयुक्त अवसर पाकर) वे वीर पाण्डुकुमार धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर अपनी क्रोधाग्नि बरसाते तथा अपने रौद्र रूपका दर्शन कराते हुए रणभूमिमें विचरने लगे ।। १४ ।।

तस्य तद् दहतः सैन्यं दृष्ट्वा चैव पराक्रमम् ।
सर्वे शान्तिपरा योधा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ।। १५ ।।

कौरव-योद्धाओंको दग्ध करनेवाले अर्जुनका वह पराक्रम देखकर सभी सैनिक दुर्योधनके सामने ही ठण्डे पड़ गये ।। १५ ।।

वित्रासयित्वा तत् सैन्यं द्रावयित्वा महारथान् ।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठः पर्यवर्तत भारत ।। १६ ।।

भारत! विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुन उस सेनाको भयभीत करके (सामने आये हुए) महारथियोंको भगाकर रणभूमिमें चारों ओर घूमने लगे ।। १६ ।।

प्रावर्तयन्नदीं घोरां शोणितोदां तरङ्गिणीम् ।
अस्थिशैवालसम्बाधां युगान्ते कालनिर्मिताम् ।। १७ ।।

पार्थने उस समय वहाँ खुनकी नदी बहा दी; जो बड़ी ही भयंकर थी। उसमें जलकी जगह रक्तकी धारा बहती थी तथा रक्तकी ही तरंगें उठती थीं। हड्डियाँ ही उसमें सेवार बनकर छा रही थीं। जान पड़ता था, प्रलयकालमें साक्षात् कालने ही उसका निर्माण किया हो ।। १७ ।।

शरचापप्लवां घोरां केशशैवलशाद्वलाम् ।
तनुत्रोष्णीषसम्बाधां नागकूर्ममहाद्विपाम् ।। १८ ।।

उसमें धनुष और बाण ऐसे बहते थे, मानो डोंगियाँ चल रही हों। उसका स्वरूप बड़ा भयानक लगता था। केश उसमें सेवार और घासके समान प्रतीत होते थे। उसमें वीरोंके कवच और पगड़ियाँ भरी थीं। हाथी कछुओं और बड़े-बड़े जलहस्तियोंके समान जान पड़ते थे ।। १८ ।।

मेदोवसासृक्प्रवहां महाभयविवर्धिनीम् ।
रौद्ररूपां महाभीमां श्वापदैरभिनादिताम् ।। १९ ।।

मेदा, चर्बी तथा रुधिरको बहानेवाली वह नदी महान् भयको बढ़ानेवाली थी। उसकी स्थिति बड़ी भीषण थी। उस रौद्ररूपा नदीके तटपर (रक्तभोजी) हिंसक जन्तु कोलाहल कर रहे थे ।। १९ ।।

तीक्ष्णशस्त्रमहाग्राहां क्रव्यादगणसेविताम् ।
मुक्ताहारोर्मिकलिलां चित्रालंकारबुद्बुदाम् ।। २० ।।

तीखे शस्त्र उसके भीतर बड़े-बड़े ग्राहोंके समान जान पड़ते थे। मांसभोजी जीव-जन्तु वहाँ निवास करते थे। मोतियोंकी मालाएँ लहरोंके समान जान पड़ती थीं। विचित्र आभूषण उसमें उठते हुए जलके बुलबुले-जैसे प्रतीत होते थे ।। २० ।।

शरसंघमहावर्तां नागनक्रां दुरत्ययाम् ।
महारथमहाद्वीपां शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनाम् ।
चकार च तदा पार्थो नदीं दुस्तरशोणिताम् ।। २१ ।।

बाणोंके समूह बड़ी-बड़ी भँवरें थे। हाथी घड़ियालों-से जान पड़ते थे; अतः उसके पार जाना अत्यन्त कठिन था। बड़े-बड़े रथ उसके भीतर विशाल टापू-जैसे प्रतीत होते थे। शंख और नगाड़ोंकी आवाज ही उस नदीकी कलकल ध्वनि थी। इस प्रकार अर्जुनने वहाँ खूनकी दुर्लङ्घ्य नदी बहा दी ।। २१ ।।

आददानस्य हि शरान् संधाय च विमुञ्चतः ।
विकर्षतश्च गाण्डीवं न कश्चिद् ददृशे जनः ।। २२ ।।

अर्जुन कब बाण हाथमें लेते, गाण्डीव धनुषपर रखते, उसकी प्रत्यंचा खींचते और बाण छोड़ते हैं, यह कोई भी मनुष्य नहीं देख पाता था ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि अर्जुनसंकुलयुद्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ।। ६२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें अर्जुनके संकुलयुद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६२ ।।

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनपर समस्त कौरवपक्षीय महारथियोंका आक्रमण और सबका युद्धभूमिसे पीठ दिखाकर भागना

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनः कर्णो दुःशासनविविंशती ।
द्रोणश्च सह पुत्रेण कृपश्चापि महारथः ।। १ ।।
पुनर्ययुश्च संरब्धा धनंजयजिघांसवः ।
विस्फारयन्तश्चापानि बलवन्ति दृढानि च ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, विविंशति, पुत्रसहित आचार्य द्रोण और महारथी कृपाचार्य—ये सब योद्धा रोषमें भरकर धनंजयको मार डालनेकी इच्छासे अपने मजबूत और दृढ़ धनुषोंकी टंकार फैलाते हुए उनपर पुनः चढ़ आये ।। १-२ ।।

तान् विकीर्णपताकेन रथेनादित्यवर्चसा ।
प्रत्युद्ययौ महाराज समन्ताद् वानरध्वजः ।। ३ ।।

महाराज! तब वानरयुक्त ध्वजावाले अर्जुन भी सूर्यके समान तेजस्वी तथा फहराती हुई पताकासे सुशोभित रथके द्वारा सब ओरसे उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ।। ३ ।।

ततः कृपश्च कर्णश्च द्रोणश्च रथिनां वरः ।
तं महास्त्रैर्महावीर्यं परिवार्य धनंजयम् ।। ४ ।।
शरौघान् सम्यगस्यन्तो जीमूता इव वार्षिकाः ।
ववर्षुः शरवर्षाणि पातयन्तो धनंजयम् ।। ५ ।।

यह देख कृपाचार्य, कर्ण तथा रथियोंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण—ये महापराक्रमी धनंजयको (चारों ओरसे) घेरकर अपने महान् धनुषोंसे उनपर राशि-राशि बाणोंका खूब जमकर प्रहार करने लगे। ये तीनों महारथी धनंजयको मार गिरानेकी इच्छासे वर्षाकालके मेघोंकी भाँति सायकोंकी वर्षा कर रहे थे ।। ४-५ ।।

इषुभिर्बहुभिस्तूर्णं समरे लोमवाहिभिः ।
अदूरात् पर्यवस्थाप्य पूरयामासुरादृताः ।। ६ ।।

उन्होंने समरभूमिमें थोड़ी ही दूरपर पार्थकी गतिको कुण्ठित करके बड़े चावसे बहुसंख्यक पंखयुक्त बाणोंकी बौछार करते हुए उन्हें तुरंत ढँक दिया ।। ६ ।।

तथा तैरवकीर्णस्य दिव्यैरस्त्रैः समन्ततः ।
न तस्य द्व्यङ्गुलमपि विवृतं सम्प्रदृश्यते ।। ७ ।।

वे महारथी जब इस प्रकार सब ओरसे अर्जुनपर दिव्यास्त्रोंसे अभिमन्त्रित बाणोंकी वर्षा करने लगे, उस समय उनके शरीरका दो अंगुल भाग भी बाणोंसे खाली नहीं दिखायी देता था ।। ७ ।।

ततः प्रहस्य बीभत्सुर्दिव्यमैन्द्रं महारथः ।
अस्त्रमादित्यसंकाशं गाण्डीवे समयोजयत् ।। ८ ।।

तब महारथी अर्जुनने हँसकर गाण्डीव धनुषपर सूर्यके समान तेजस्वी दिव्य ऐन्द्रास्त्रका संधान किया ।। ८ ।।

शररश्मिरिवादित्यः प्रतस्थे समरे बली ।
किरीटमाली कौन्तेयः सर्वान् प्राच्छादयत् कुरून् ।। ९ ।।

फिर तो महाबली किरीटमाली कुन्तीनन्दन अर्जुन सूर्यकी भाँति बाणरूपी प्रचण्ड किरणोंको बिखेरते हुए समरभूमिमें आगे बढ़े। उन्होंने समस्त कौरव-योद्धाओंको सायकोंसे ढँक दिया ।। ९ ।।

यथा बलाहके विद्युत् पावको वा शिलोच्चये ।
तथा गाण्डीवमभवदिन्द्रायुधमिवानतम् ।। १० ।।

जैसे मेघोंमें बिजली और पर्वतपर आगकी ज्वाला शोभा पाती है, उसी प्रकार अर्जुनके हाथमें गाण्डीव धनुष सुशोभित होता था। वह आकाशमें इन्द्रधनुष-सा झुका हुआ

था ।। १० ।।

यथा वर्षति पर्जन्ये विद्युद् विभ्राजते दिवि ।

द्योतयन्ती दिशः सर्वाः पृथिवीं च समन्ततः ।। ११ ।।

तथा दश दिशः सर्वाः पतद्गाण्डीवमावृणोत् ।

नागाश्च रथिनः सर्वे मुमुहुस्तत्र भारत ।। १२ ।।

जैसे मेघके वर्षा करते समय आकाशमें बिजली चमक उठती है और वह सम्पूर्ण दिशाओं तथा पृथ्वीको भी सब ओरसे प्रकाशित कर देती है, उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करते हुए गाण्डीव धनुषने दसों दिशाओंको सम्पूर्णतया आच्छादित कर दिया। जनमेजय! उस समय वहाँ हाथीसवार और रथी आदि सब सैनिक मोहित (मूर्च्छित) हो रहे थे ।। ११-१२ ।।

सर्वे शान्तिपरा योधाः स्वचित्तानि न लेभिरे ।

संग्रामे विमुखाः सर्वे योधास्ते हतचेतसः ।। १३ ।।

सबने शान्ति (जडता और मूकता) धारण कर ली थी। किसीका होश ठिकाने न था। सभी योद्धाओंने हतोत्साह होकर युद्धसे मुँह मोड़ लिया ।। १३ ।।

एवं सर्वाणि सैन्यानि भग्नानि भरतर्षभ ।

व्यद्रवन्त दिशः सर्वा निराशानि स्वजीविते ।। १४ ।।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! इस प्रकार सारी सेनाका व्यूह टूट गया। सब सैनिक अपने जीवनसे निराश होकर चारों दिशाओंमें भागने लगे ।। १४ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरगोग्रहे अर्जुनसंकुलयुद्धे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ।। ६३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरगोग्रहके समय अर्जुनका संकुलयुद्धविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६३ ।।

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और भीष्मका अद्भुत युद्ध तथा मूर्च्छित भीष्मका सारथिद्वारा रणभूमिसे हटाया जाना

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो भरतानां पितामहः ।
वध्यमानेषु योधेषु धनंजयमुपाद्रवत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भरतवंशके सुप्रसिद्ध वीर शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म अपने पक्षके योद्धाओंका संहार होता देख अर्जुनकी ओर दौड़े ।। १ ।।

प्रगृह्य कार्मुकश्रेष्ठं जातरूपपरिष्कृतम् ।
शरानादाय तीक्ष्णाग्रान् मर्मभेदान् प्रमाथिनः ।। २ ।।

उन्होंने हाथमें सुवर्णभूषित श्रेष्ठ धनुष और शत्रुओंको मथ डालनेवाले तीखे एवं मर्मभेदी बाण ले रखे थे ।। २ ।।

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
शुशुभे स नरव्याघ्रो गिरिः सूर्योदये यथा ।। ३ ।।

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे वे नरश्रेष्ठ भीष्म सूर्योदयकालमें उदयाचलकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ।। ३ ।।

प्रध्माय शङ्खं गाङ्गेयो धार्तराष्ट्रान् प्रहर्षयन् ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य बीभत्सुं समवारयत् ।। ४ ।।

गंगानन्दन भीष्मने शंख बजाकर धृतराष्ट्रपुत्रोंका हर्ष बढ़ाया और दाहिनी ओर मुड़कर अर्जुनको आगे बढ़नेसे रोका ।। ४ ।।

तमुदीक्ष्य समायान्तं कौन्तेयः परवीरहा ।
प्रत्यगृह्णात् प्रहृष्टात्मा धाराधरमिवाचलः ।। ५ ।।

शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले कुन्तीकुमार धनंजयने भीष्मको आते देख प्रसन्नचित्त होकर उनका सामना किया; ठीक उसी तरह, जैसे पर्वत अविचलभावसे खड़ा हो जल बरसानेवाले मेघका आघात सहन करता है ।। ५ ।।

ततो भीष्मः शरानष्टौ ध्वजे पार्थस्य वीर्यवान् ।
समार्पयन्महावेगाञ्छ्वसमानानिवोरगान् ।। ६ ।।

तब पराक्रमी भीष्मने पार्थकी ध्वजापर फुफकारते हुए सर्पोंके समान अत्यन्त वेगशाली आठ बाण मारे ।।

ते ध्वजं पाण्डुपुत्रस्य समासाद्य पतत्त्रिणः ।
ज्वलन्तं कपिमाजघ्नुर्ध्वजाग्रनिलयांश्च तान् ।। ७ ।।

उन बाणोंने पाण्डुनन्दन अर्जुनकी ध्वजाके समीप पहुँचकर वहाँ बैठे हुए तेजस्वी वानरको तथा ध्वजके अग्रभागमें निवास करनेवाले अन्य भूतोंको भी गहरी चोट पहुँचायी ।। ७ ।।

ततो भल्लेन महता पृथुधारेण पाण्डवः ।
छत्रं चिच्छेद भीष्मस्य तूर्णं तदपतद् भुवि ।। ८ ।।

तब पाण्डुकुमारने मोटी धारवाले विशाल भल्लके द्वारा भीष्मका छत्र काट दिया, जिससे वह तुरंत ही पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। ८ ।।

ध्वजं चैवास्य कौन्तेयः शरैरभ्यहनद् भृशम् ।
शीघ्रकृद् रथवाहांश्च तथोभौ पार्ष्णिसारथी ।। ९ ।।

फिर कुन्तीनन्दनने शीघ्रता करते हुए उनकी ध्वजाको भी अपने बाणोंसे छेद डाला और रथके घोड़ों, पार्श्वरक्षकों तथा सारथिको भी बहुत घायल कर दिया ।। ९ ।।

अमृष्यमाणस्तद् भीष्मो जानन्नपि स पाण्डवम् ।
दिव्येनास्त्रेण महता धनंजयमवाकिरत् ।। १० ।।

भीष्मजी अपने सैनिकोंपर किये गये अर्जुनके उस पराक्रमको सह न सके। वे यह जानते हुए भी कि ये पाण्डुपुत्र धनंजय हैं, महान् दिव्यास्त्रद्वारा उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। १० ।।

तथैव पाण्डवो भीष्मे दिव्यमस्त्रमुदीरयन् ।
प्रत्यगृह्णादमेयात्मा महामेघमिवाचलः ।। ११ ।।

परंतु असीम आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डुपुत्र अर्जुन जैसे पर्वत महामेघका सामना करता है, उसी प्रकार भीष्मपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते हुए उनका सामना करने लगे ।। ११ ।।

तयोस्तदभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
भीष्मस्य सह पार्थेन बलिवासवयोरिव ।। १२ ।।

उन दोनोंका वह तुमुल युद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। पार्थके साथ भीष्मका वह संग्राम बलि और इन्द्रके युद्धके समान था ।। १२ ।।

प्रैक्षन्त कुरवः सर्वे योधाश्च सहसैनिकाः ।
भल्लैर्भल्लाः समागम्य भीष्मपाण्डवयोर्युधि ।
अन्तरिक्षे व्यराजन्त खद्योताः प्रावृषीव हि ।। १३ ।।

समस्त कौरव-योद्धा अपने सैनिकोंके साथ खड़े-खडे तमाशा देखने लगे। रणभूमिमें भीष्म और पाण्डुकुमारके भल्ल एक-दूसरेसे टकराकर वर्षाकालके आकाशमें जुगुनुओंकी भाँति चमक उठते थे ।। १३ ।।

अग्निचक्रमिवाविद्धं सव्यदक्षिणमस्यतः ।

गाण्डीवमभवद् राजन् पार्थस्य सृजतः शरान् ।। १४ ।।
ततः संछादयामास भीष्मं शरशतैः शितैः ।
पर्वतं वारिधाराभिश्छादयन्निव तोयदः ।। १५ ।।

राजन्! दाँयें-बाँयें बाण फेंकनेवाले पार्थके द्वारा घुमाया जाता हुआ गाण्डीव धनुष अलातचक्रके समान जान पड़ता था। तदनन्तर जैसे मेघ अपनी जलधाराओंसे पर्वतको भी आच्छादित कर देता है, उसी प्रकार अर्जुनने सैकड़ों पैने बाणोंसे भीष्मको ढँक दिया ।। १४-१५ ।।

तां स वेलामिवोद्भूतां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
व्यधमत् सायकैर्भीष्मः पाण्डवं समवारयत् ।। १६ ।।

जैसे समुद्रमें ज्वार आ गया हो, उसी प्रकार वहाँ प्रकट हुई उस बाणवर्षाको भीष्मने अपने सायकोंसे छिन्न-भिन्न कर दिया और पाण्डुपुत्र अर्जुनको कुण्ठित कर दिया ।। १६ ।।

ततस्तानि निकृत्तानि शरजालानि भागशः ।
समरे च व्यशीर्यन्त फाल्गुनस्य रथं प्रति ।। १७ ।।

तदनन्तर रणभूमिमें कटकर टुकड़े-टुकड़े हुए वे बाणसमूह अर्जुनके रथपर बिखरने लगे ।। १७ ।।

ततः कनकपुङ्खानां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
पाण्डवस्य रथात् तूर्णं शलभानामिवायतिम् ।
व्यधमत् तां पुनस्तस्य भीष्मः शरशतैः शितैः ।। १८ ।।

इसके बाद पुनः पाण्डुपुत्र अर्जुनके रथसे टिड्डियोंके दलकी भाँति तुरंत ही सोनेके पंखवाले बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ हुई; किंतु भीष्मने सैकड़ों पैने बाणोंद्वारा उसे फिर शान्त कर दिया ।। १८ ।।

ततस्ते कुरवः सर्वे साधु साध्विति चाब्रुवन् ।
दुष्करं कृतवान् भीष्मो यदर्जुनमयोधयत् ।। १९ ।।

उस समय समस्त कौरव साधुवाद देते हुए बोल उठे—‘अहो! भीष्मजीने यह दुष्कर पराक्रम किया, जो कि अर्जुनके साथ युद्ध किया’ ।। १९ ।।

बलवांस्तरुणो दक्षः क्षिप्रकारी धनंजयः ।
कोऽन्यः समर्थः पार्थस्य वेगं धारयितुं रणे ।। २० ।।
ऋते शान्तनवाद् भीष्मात् कृष्णाद् वा देवकीसुतात् ।
आचार्यप्रवराद् वापि भारद्वाजान्महाबलात् ।। २१ ।।

अर्जुन बलवान्, तरुण, कुशल और शीघ्रतापूर्वक बाण चलानेवाले हैं। शान्तनुनन्दन भीष्म, देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा आचार्यप्रवर महाबली भरद्वाजनन्दन द्रोणके सिवा दूसरा कौन ऐसा है, जो संग्राममें पार्थका वेग रोक सके? ।।

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य क्रीडन्तौ भरतर्षभौ ।

चक्षूंषि सर्वभूतानां मोहयन्तौ महाबलौ ।। २२ ।।

वे दोनों भरतकुलशिरोमणि महाबली वीर समस्त प्राणियोंके नेत्रोंमें मोह एवं आश्चर्य उत्पन्न करते हुए अस्त्रोंद्वारा एक-दूसरेके अस्त्रोंका निवारण करके खेल-सा कर रहे थे ।। २२ ।।

प्राजापत्यं तथैवैन्द्रमाग्नेयं रौद्रदारुणम् ।
कौबेरं वारुणं चैव याम्यं वायव्यमेव च ।
प्रयुञ्जानौ महात्मानौ समरे तौ विचेरतुः ।। २३ ।।

प्राजापत्य, ऐन्द्र, आग्नेय, भयंकर रौद्र, कौबेर, वारुण, याम्य तथा वायव्य अस्त्रोंका प्रयोग करते हुए वे दोनों महापुरुष समरभूमिमें विचर रहे थे ।। २३ ।।

विस्मितान्यथ भूतानि तौ दृष्ट्वा संयुगे तदा ।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भीष्मेति चाब्रुवन् ।। २४ ।।

उस समय युद्धमें उन दोनोंकी ओर देखकर सब प्राणी आश्चर्यचकित हो बोल उठते थे—'महाबाहु पार्थ! साधुवाद, महाबाहु भीष्म! साधुवाद ।। २४ ।।

नायं युक्तो मनुष्येषु योऽयं संदृश्यते महान् ।
महास्त्राणां सम्प्रयोगः समरे भीष्मपार्थयोः ।। २५ ।।

'भीष्म और पार्थके युद्धमें जो यह बड़े-बड़े दिव्यास्त्रोंका महान् प्रयोग देखा जा रहा है, यह मनुष्योंमें अन्यत्र कहीं सम्भव नहीं है' ।। २५ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं सर्वास्त्रविदुषोरस्त्रयुद्धमवर्तत ।
अस्त्रयुद्धे तु निर्वृत्ते शरयुद्धमवर्तत ।। २६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता भीष्म और अर्जुनमें कुछ कालतक दिव्यास्त्रोंका युद्ध चलता रहा। उसके समाप्त हो जानेपर पुनः बाणयुद्ध प्रारम्भ हुआ ।। २६ ।।

अथ जिष्णुरुपावृत्य क्षुरधारेण कार्मुकम् ।
चकर्त भीष्मस्य तदा जातरूपपरिष्कृतम् ।। २७ ।।

तदनन्तर विजयशील अर्जुनने निकट आकर छुरेके समान धारवाले एक बाणसे भीष्मके सुवर्णभूषित धनुषको काट डाला ।। २७ ।।

निमेषान्तरमात्रेण भीष्मोऽन्यत् कार्मुकं रणे ।
समादाय महाबाहुः सज्यं चक्रे महारथः ।
शरांश्च सुबहून् क्रुद्धो मुमोचाशु धनंजये ।। २८ ।।

किंतु विशाल भुजाओंवाले महारथी भीष्मने पलक मारते-मारते उस युद्धमें दूसरा धनुष ले उसपर प्रत्यंचा चढ़ा दी और क्रोधमें भरकर धनंजयपर बहुत-से बाणोंका प्रहार

किया ।। २८ ।।

अर्जुनोऽपि शरांस्तीक्ष्णान् भीष्माय निशितान् बहून् ।
चिक्षेप सुमहातेजास्तथा भीष्मश्च पाण्डवे ।। २९ ।।

तब महातेजस्वी अर्जुनने भी भीष्मपर बहुत-से पैने बाण फेंके और भीष्मने भी पाण्डुपुत्रको अनेक तीखे बाण मारे ।। २९ ।।

तयोर्दिव्यास्त्रविदुषोरस्यतोर्निशिताञ्छरान् ।
न विशेषस्तदा राजँल्लक्ष्यते स्म महात्मनोः ।। ३० ।।

राजन्! वे दोनों महात्मा दिव्यास्त्रोंके पण्डित थे और एक-दूसरेपर पैने बाण फेंक रहे थे। उस समय उन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ।। ३० ।।

अथावृणोद् दश दिशः शरैरतिरथस्तदा ।
किरीटमाली कौन्तेयः शूरः शान्तनवस्तथा ।। ३१ ।।

किरीटमाली कुन्तीकुमार अर्जुन और शान्तनुनन्दन भीष्म दोनों ही अतिरथी वीर थे। उन्होंने अपने बाणोंसे दसों दिशाओंको आच्छादित कर दिया ।। ३१ ।।

अतीव पाण्डवो भीष्मं भीष्मश्चातीव पाण्डवम् ।
बभूव तस्मिन् संग्रामे राजंल्लोके तदद्भुतम् ।। ३२ ।।

राजा जनमेजय! उस युद्धमें कभी पाण्डुपुत्र अर्जुन भीष्मसे बढ़ जाते थे, तो कभी भीष्म ही अर्जुनको लाँघ जाते थे। जगत्में यह एक अद्भुत बात थी ।। ३२ ।।

पाण्डवेन हताः शूरा भीष्मस्य रथरक्षिणः ।
शेरते स्म तदा राजन् कौन्तेयस्याभितो रथम् ।। ३३ ।।

राजन्! भीष्मके रथकी रक्षा करनेवाले शूरवीर सैनिक अर्जुनके द्वारा मारे जाकर उनके रथके दोनों ओर पड़े थे ।। ३३ ।।

ततो गाण्डीवनिर्मुक्ता निरमित्रं चिकीर्षवः ।
आगच्छन् पुङ्खसंश्लिष्टाः श्वेतवाहनपत्रिणः ।। ३४ ।।

तदनन्तर श्वेतवाहन अर्जुनके पंखधारी बाण गाण्डीव धनुषसे छूटकर संसारको शत्रुरहित करनेकी इच्छासे सब ओर आने लगे ।। ३४ ।।

निष्पतन्तो रथात् तस्य धौता हैरण्यवाससः ।
आकाशे समदृश्यन्त हंसानामिवपङ्क्तयः ।। ३५ ।।

उनके रथसे निकलते हुए सुनहरे पंखवाले श्वेत बाण आकाशमें हंसोंकी पंक्ति-से दिखायी देते थे ।। ३५ ।।

तस्य तद् दिव्यमस्त्रं हि विगाढं चित्रमस्यतः ।
प्रेक्षन्ते स्मान्तरिक्षस्थाः सर्वे देवाः सवासवाः ।। ३६ ।।

अर्जुन विचित्र ढंगसे मर्मभेदी दिव्यास्त्रोंका प्रयोग कर रहे थे और आकाशमें खड़े हुए इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता उनका वह अस्त्रकौशल देख रहे थे ।। ३६ ।।

तं दृष्ट्वा परमप्रीतो गन्धर्वश्चित्रमद्भुतम् ।
शशंस देवराजाय चित्रसेनः प्रतापवान् ।। ३७ ।।

उस समय प्रतापी चित्रसेन गन्धर्वने अर्जुनकी ओर देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो देवराज इन्द्रसे उनके विचित्र एवं अद्भुत रणकौशलकी प्रशंसा करते हुए कहा— ।।

पश्येमान् पार्थनिर्मुक्तान् संसक्तानिव गच्छतः ।
चित्ररूपमिदं जिष्णोर्दिव्यमस्त्रमुदीर्यतः ।। ३८ ।।

'प्रभो! देखिये, ये पार्थके छोड़े हुए बाण परस्पर सटे हुए-से जा रहे हैं। दिव्यास्त्र प्रकट करनेवाले अर्जुनकी यह अस्त्र-संचालनकला विचित्र एवं अद्भुत है ।। ३८ ।।

नेदं मनुष्याः संदध्युर्न हीदं तेषु विद्यते ।
पौराणानां महास्त्राणां विचित्रोऽयं समागमः ।। ३९ ।।

'दूसरे मनुष्य इस दिव्यास्त्रका संधान नहीं कर सकते; क्योंकि यह अस्त्र दूसरे मनुष्योंके पास है ही नहीं। यहाँ प्राचीनकालके बड़े-बड़े अस्त्रोंका यह अद्भुत समागम हुआ है ।। ३९ ।।

आददानस्य हि शरान् संधाय च विमुञ्चतः ।
विकर्षतश्च गाण्डीवं नान्तरं समदृश्यत ।। ४० ।।

'अर्जुन कब बाण निकालते हैं, कब चढ़ाते हैं, कब छोड़ते हैं और कब गाण्डीव धनुषको खींचते हैं तथा इन क्रियाओंमें कितना अन्तर पड़ता है; यह सब किसीको दिखायी ही नहीं देता था ।। ४० ।।

मध्यंदिनगतं सूर्यं प्रतपन्तमिवाम्बरे ।
नाशक्नुवन्त सैन्यानि पाण्डवं प्रति वीक्षितुम् ।। ४१ ।।

'आकाशमें दोपहरके समय प्रचण्ड किरणोंसे तपते हुए सूर्यकी ओर जैसे कोई देख नहीं सकता, उसी प्रकार प्रतापी पाण्डुपुत्रकी ओर कौरव-सैनिक आँख उठाकर देखनेमें भी असमर्थ हो गये हैं ।। ४१ ।।

तथैव भीष्मं गाङ्गेयं द्रष्टुं नोत्सहते जनः ।। ४२ ।।

'इसी प्रकार गंगानन्दन भीष्मकी ओर भी कोई मनुष्य देखनेका साहस नहीं करता है ।। ४२ ।।

उभौ विश्रुतकर्माणावुभौ तीव्रपराक्रमौ ।
उभौ सदृशकर्माणावुभौ युधि सुदुर्जयौ ।। ४३ ।।

'दोनों वीर अपने अद्भुत कार्योंके लिये संसारमें प्रसिद्ध हैं। दोनोंके पराक्रम उग्र हैं। दोनों एक-सा पराक्रम दिखानेवाले तथा युद्धमें अत्यन्त दुर्जय हैं' ।। ४३ ।।

इत्युक्तो देवराजस्तु पार्थभीष्मसमागमम् ।
पूजयामास दिव्येन पुष्पवर्षेण भारत ।। ४४ ।।

जनमेजय! चित्रसेनके ऐसा कहनेपर देवराज इन्द्रने दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करके अर्जुन और भीष्मके इस अद्‌भुत संग्रामके प्रति आदर प्रकट किया ।। ४४ ।।

ततः शान्तनवो भीष्मो वामं पार्श्वमताडयत् ।
पश्यतः प्रतिसंधाय विध्यतः सव्यसाचिनः ।। ४५ ।।

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्मने (कौरवसेनाको) घायल करनेवाले सव्यसाची अर्जुनके देखते-देखते बाणसंधान करके उनका बायाँ पार्श्व बींध डाला ।। ४५ ।।

ततः प्रहस्य बीभत्सुः पृथुधारेण कार्मुकम् ।
चिच्छेद गार्ध्रपत्रेण भीष्मस्यादित्यतेजसः ।। ४६ ।।

तब अर्जुनने भी हँसकर मोटी धार एवं गीधकी पाँखवाले बाणसे सूर्यके समान तेजस्वी भीष्मका धनुष फिर काट दिया ।। ४६ ।।

अथैनं दशभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।
यतमानं पराक्रान्तं कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।। ४७ ।।

तत्पश्चात् कुन्तीपुत्र धनंजयने विजयके लिये प्रयत्नशील पराक्रमी भीष्मकी छातीमें दस बाण मारकर गहरी चोट पहुँचायी ।। ४७ ।।

स पीडितो महाबाहुर्गृहीत्वा रथकूबरम् ।
गाङ्गेयो युद्धदुर्धर्षस्तस्थौ दीर्घमिवान्तरम् ।। ४८ ।।

उससे पीड़ित हो रणदुर्धर्ष वीर महाबाहु भीष्म रथका कूबर पकड़कर बहुत देरतक निश्चेष्ट बैठे रह गये ।।

तं विसंज्ञमपोवाह संयन्ता रथवाजिनाम् ।
उपदेशमनुस्मृत्य रक्षमाणो महारथम् ।। ४९ ।।

वे बेहोश थे। ‘ऐसी दशामें सारथिको रथीकी रक्षा करनी चाहिये’ इस उपदेशका स्मरण करके महारथी भीष्मकी प्राणरक्षाके उद्देश्यसे उनके रथ और घोड़ोंको काबूमें रखनेवाला सारथि उन्हें संग्रामभूमिसे दूर हटा ले गया ।। ४९ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि भीष्मापयाने चतुःषष्टितमोऽध्यायः ।। ६४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें भीष्मके रणभूमिसे हटाये जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६४ ।।

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

अर्जुन और दुर्योधनका युद्ध, विकर्ण आदि योद्धाओंसहित दुर्योधनका युद्धके मैदानसे भागना

वैशम्पायन उवाच

भीष्मे तु संग्रामशिरो विहाय
पलायमाने धृतराष्ट्रपुत्रः ।
उत्सृज्य केतुं विनदन् महात्मा
धनुर्विगृह्यार्जुनमाससाद ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब भीष्मजी युद्धका मुहाना छोड़कर दूर हट गये, तब धृतराष्ट्र-पुत्र महामना दुर्योधन अपने रथकी पताका फहराकर हाथमें धनुष ले सिंहनाद करता हुआ अर्जुनपर चढ़ आया ।। १ ।।

स भीमधन्वानमुदग्रवीर्यं
धनंजयं शत्रुगणे चरन्तम् ।
आकर्णपूर्णायतचोदितेन
विव्याध भल्लेन ललाटमध्ये ।। २ ।।

उस समय भयंकर धनुष धारण करनेवाले प्रचण्ड पराक्रमी धनंजय शत्रुसेनामें विचर रहे थे। दुर्योधनने धनुषको कानतक खींचकर छोड़े हुए भल्ल नामक बाणसे उनके ललाटमें गहरी चोट पहुँचायी ।। २ ।।

स तेन बाणेन समर्पितेन
जाम्बूनदाग्रेण सुसंहितेन ।
रराज राजन् महनीयकर्मा
यथैकपर्वा रुचिरैकशृङ्गः ।। ३ ।।

वह बाण अर्जुनके ललाटमें धँस गया। राजन्! प्रशंसनीय पराक्रमवाले अर्जुन सुनहरी धारवाले उस धँसे हुए बाणके द्वारा उसी प्रकार सुशोभित हुए, जैसे एक सुन्दर शिखरवाला पर्वत अपने ऊपर उगे हुए एक ही बाँसके पेड़से शोभा पा रहा हो ।। ३ ।।

अथास्य बाणेन विदारितस्य
प्रादुर्बभूवासृगजस्रमुष्णम् ।
स तस्य जाम्बूनदपुङ्खचित्रो
भित्त्वा ललाटं सुविराजते स्म ।। ४ ।।

दुर्योधनके उस बाणसे अर्जुनका ललाट विदीर्ण हो गया और उससे गरम-गरम रक्तकी अविच्छिन्न धारा बहने लगी। जाम्बूनद सुवर्णकी पाँखवाला वह विचित्र बाण पार्थका ललाट छेदकर बड़ी शोभा पा रहा था ।। ४ ।।

दुर्योधनश्चापि तमुग्रतेजाः
पार्थश्च दुर्योधनमेकवीरः ।
अन्योन्यमाजौ पुरुषप्रवीरौ
समौ समाजग्मतुराजमीढौ ।। ५ ।।

तदनन्तर उग्रतेजस्वी अद्वितीय वीर अर्जुनने दुर्योधनपर और दुर्योधनने अर्जुनपर आक्रमण किया। अजमीढवंशके वे दोनों प्रमुख वीर पुरुष एक समान पराक्रमी थे। उन्होंने संग्राममें एक-दूसरेपर बड़े वेगसे धावा किया ।। ५ ।।

ततः प्रभिन्नेन महागजेन
महीधराभेन पुनर्विकर्णः ।
रथैश्चतुर्भिर्गजपादरक्षैः
कुन्तीसुतं जिष्णुमथाभ्यधावत् ।। ६ ।।

उसी समय एक पर्वताकार विशाल गजराजपर, जिसके मस्तकसे मद टपक रहा था, चढ़कर विकर्ण पुनः विजयशाली कुन्तीनन्दन अर्जुनपर चढ़ आया। उसके साथ चार रथारोही योद्धा भी थे, जो हाथीके चारों पैरोंकी रक्षा करते थे ।। ६ ।।

तमापतन्तं त्वरितं गजेन्द्रं
धनंजयः कुम्भविभागमध्ये ।
आकर्णपूर्णेन महायसेन
बाणेन विव्याध महाजवेन ।। ७ ।।

गजराजको तीव्र गतिसे अपनी ओर आते देख धनंजयने धनुषको कानतक खींचकर चलाये हुए लोहेके अत्यन्त वेगशाली बाणद्वारा उसके कुम्भस्थलको बींध डाला ।। ७ ।।

पार्थेन सृष्टः स तु गार्ध्रपत्र
आपुङ्खदेशात् प्रविवेश नागम् ।
विदार्य शैलप्रवरं प्रकाशं
यथाशनिः पर्वतमिन्द्रसृष्टः ।। ८ ।।

पार्थका छोड़ा हुआ वह गीध पक्षीके परोंवाला बाण उस हाथीके मस्तकमें पंखसहित घुस गया; मानो इन्द्रका चलाया हुआ वज्र किसी प्रकाशपूर्ण गिरिराजको विदीर्ण करके उसके भीतर समा गया हो ।। ८ ।।

शरप्रतप्तः स तु नागराजः
प्रवेपिताङ्गो व्यथितान्तरात्मा ।
संसीदमानो निपपात मह्यां

वज्राहतं शृङ्गमिवाचलस्य ।। ९ ।।

वह गजराज अर्जुनके बाणसे संतप्त हो उठा। उसकी अन्तरात्मा व्यथित हो गयी और सारा शरीर काँपने लगा। जैसे वज्रका मारा हुआ पर्वतशिखर ढह जाता है, उसी प्रकार वह नागराज शिथिल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। ९ ।।

निपातिते दन्तिवरे पृथिव्यां
त्रासाद् विकर्णः सहसावतीर्य ।
तूर्णं पदान्यष्टशतानि गत्वा
विविंशतेः स्यन्दनमारुरोह ।। १० ।।

उस विशाल हाथीके धराशायी हो जानेपर विकर्ण बहुत डर गया और सहसा कूदकर शीघ्रतापूर्वक भाग गया और आठ सौ पग चलकर विविंशतिके रथपर चढ़ गया ।। १० ।।

निहत्य नागं तु शरेण तेन
वज्रोपमेनाद्रिवराम्बुदाभम् ।
तथाविधेनैव शरेण पार्थो
दुर्योधनं वक्षसि निर्बिभेद ।। ११ ।।

उस वज्रसदृश बाणद्वारा पर्वत तथा मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होनेवाले गजराजको मारकर पार्थने वैसे ही दूसरे बाणसे दुर्योधनकी छाती छेद डाली ।। ११ ।।

ततो गजे राजनि चैव भिन्ने
भग्ने विकर्णे च सपादरक्षे ।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैः प्रणुन्ना-
स्ते योधमुख्याः सहसापजग्मुः ।। १२ ।।

इस प्रकार गजराज और कुरुराज दोनोंके घायल होने तथा गजराजके पादरक्षकोंसहित विकर्णके भाग जानेपर गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए सायकोंकी मार खाकर पीड़ित हुए समस्त मुख्य-मुख्य योद्धा सहसा मैदान छोड़कर भाग गये ।। १२ ।।

दृष्ट्वैव पार्थेन हतं च नागं
योधांश्च सर्वान् द्रवतो निशम्य ।
रथं समावृत्य कुरुप्रवीरो
रणात् प्रदुद्राव यतो न पार्थः ।। १३ ।।

अर्जुनके हाथसे गजराज मारा गया और सम्पूर्ण योद्धा भी रणभूमि छोड़कर भाग रहे हैं, यह देखकर कुरुवंशका प्रमुख वीर दुर्योधन भी, जिस ओर अर्जुन नहीं थे, उसी दिशामें रथ घुमाकर भागा ।। १३ ।।

तं भीमरूपं त्वरितं द्रवन्तं
दुर्योधनं शत्रुसहोऽभिषङ्गात् ।
प्रास्फोटयद् योद्धुमनाः किरीटी

बाणेन विद्धं रुधिरं वमन्तम् ।। १४ ।।

उस समय दुर्योधनका रूप भयंकर हो रहा था। वह हार खाकर बाणसे घायल हो रक्त वमन करता हुआ भागा जा रहा था। यह देखकर शत्रुका वेग सहन करनेवाले किरीटधारी अर्जुनने ताल ठोंकी और मनमें युद्धके लिये उत्साह रखते हुए वे शत्रुको ललकारने लगे ।। १४ ।।

अर्जुन उवाच

विहाय कीर्तिं विपुलं यशश्च
युद्धात् परावृत्य पलायसे किम् ।
न तेऽद्य तूर्याणि समाहतानि
तथैव राज्यादवरोपितस्य ।। १५ ।।
युधिष्ठिरस्यास्मि निदेशकारी
पार्थस्तृतीयो युधि संस्थितोऽस्मि ।
तदर्थमावृत्य मुखं प्रयच्छ
नरेन्द्रवृत्तं स्मर धार्तराष्ट्र ।। १६ ।।

अर्जुन बोले—धृतराष्ट्रके पुत्र! तू युद्धसे पीठ दिखाकर क्यों भागा जा रहा है? अरे! ऐसा करके तू अपनी कीर्ति और विशाल यशसे हाथ धो बैठा है। आज तेरे विजयके बाजे पहले-जैसे नहीं बज रहे हैं। तूने जिन्हें राज्यसे उतार दिया है, उन्हीं महाराज युधिष्ठिरका आज्ञाकारी मैं तीसरा पाण्डव युद्धके लिये खड़ा हूँ। अतः तू मेरा सामना करनेके लिये लौटकर अपना मुँह तो दिखा। राजाका आचार-व्यवहार कैसा होना चाहिये, इसकी याद तो कर ले ।। १५-१६ ।।

मोघं तवेदं भुवि नामधेयं
दुर्योधनेतीह कृतं पुरस्तात् ।
न हीह दुर्योधनता तवास्ति
पलायमानस्य रणं विहाय ।। १७ ।।

व्यर्थ ही इस पृथ्वीपर तेरा नाम दुर्योधन रखा गया। तू तो युद्ध छोड़कर भागा जा रहा है; अतः यहाँ तुझमें दुर्योधन नामके अनुरूप कोई गुण नहीं है ।। १७ ।।

न ते पुरस्तादथ पृष्ठतो वा
पश्यामि दुर्योधन रक्षितारम् ।
अपेहि युद्धात् पुरुषप्रवीर
प्राणान् प्रियान् पाण्डवतोऽद्य रक्ष ।। १८ ।।

दुर्योधन! अच्छा, तेरे आगे या पीछे कोई रक्षक नहीं दिखायी देता। अतः वीर पुरुष! तू युद्धसे भाग जा और पाण्डुपुत्र अर्जुनके हाथसे आज अपने प्यारे प्राणोंकी रक्षा कर

ले ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि दुर्योधनापयाने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ।। ६५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें दुर्योधनका युद्धसे पलायनविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६५ ।।

षट्षष्टितमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा समस्त कौरवदलकी पराजय तथा कौरवोंका स्वदेशको प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

आहूयमानश्च स तेन संख्ये
महात्मना वै धृतराष्ट्रपुत्रः ।
निवर्तितस्तस्य गिराङ्कुशेन
महागजो मत्त इवाङ्कुशेन ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा अर्जुनने जब इस प्रकार युद्धके लिये ललकारा, तब धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अंकुशकी चोट खाये हुए मतवाले गजराजकी भाँति उनके कटुवचनरूपी अंकुशसे पीड़ित हो पुनः लौट पड़ा ।। १ ।।

सोऽमृष्यमाणो वचसाभिमृष्टो
महारथेनातिरथस्तरस्वी ।
पर्याववर्ताथ रथेन वीरो
भोगी यथा पादतलाभिमृष्टः ।। २ ।।

महारथी कुन्तीकुमारने अपने वचनोंद्वारा उसका तिरस्कार किया था; अतः वह वेगशाली अतिरथी वीर इस अपमानको न सह सका, अतएव जैसे पैरोंसे कुचला हुआ सर्प बदला लेनेके लिये लौट पड़ता है, उसी प्रकार दुर्योधन अपने रथके साथ लौट आया ।। २ ।।

तं प्रेक्ष्य कर्णः परिवर्तमानं
निवर्त्य संस्तभ्य च विद्धगात्रम् ।
दुर्योधनस्योत्तरतोऽभ्यगच्छत्
पार्थं नृवीरो युधि हेममाली ।। ३ ।।

उसको लौटते देख कर्ण भी अपने घायल शरीरको किसी प्रकार सँभालकर लौट पड़ा और दुर्योधनके उत्तर (वाम)-भागमें रहकर युद्धभूमिमें पार्थका सामना करनेके लिये चला। नरवीर कर्ण सोनेकी मालासे अलंकृत था ।। ३ ।।

भीष्मस्ततः शान्तनवो विवृत्य
हिरण्यकक्षस्त्वरयाभिषङ्गी ।
दुर्योधनं पश्चिमतोऽभ्यरक्षत्
पार्थान्महाबाहुरधिज्यधन्वा ।। ४ ।।

तदनन्तर सुनहरे रंगकी चादर ओढ़े शान्तनुनन्दन भीष्म भी बड़े वेगसे रथ घुमाकर वहाँ आ पहुँचे। वे शत्रुको पराजित करनेमें समर्थ थे। महाबाहु भीष्म धनुषकी प्रत्यंचा चढ़ाकर पश्चिम या पीछेकी ओरसे पार्थके आक्रमणोंसे दुर्योधनकी रक्षा करने लगे ।। ४ ।।

द्रोणः कृपश्चैव विविंशतिश्च
दुःशासनश्चैव विवृत्य शीघ्रम् ।
सर्वे पुरस्ताद् विततोरुचापा
दुर्योधनार्थं त्वरिताऽभ्युपेयुः ।। ५ ।।

तत्पश्चात् द्रोण, कृपाचार्य, विविंशति और दुःशासन भी शीघ्र ही घूमकर आ गये। वे सब अपने विशाल धनुषको ताने हुए पूर्व या सामनेकी ओरसे दुर्योधनकी रक्षाके लिये बड़ी उतावलीके साथ आये थे ।। ५ ।।

स तान्यनीकानि निवर्तमाना-
न्यालोक्य पूर्णौघनिभानि पार्थः ।
हंसो यथा मेघमिवापतन्तं
धनंजयः प्रत्यतपत् तरस्वी ।। ६ ।।

जैसे सूर्य घिरती हुई मेघोंकी घटाको अपनी किरणोंसे तपाता है, उसी प्रकार वेगशाली कुन्तीपुत्र धनंजयने भारी जलप्रवाहके समान लौटती हुई उन कौरवसेनाओंको देखकर उन्हें संताप देना आरम्भ किया ।। ६ ।।

ते सर्वतः सम्परिवार्य पार्थ-
मस्त्राणि दिव्यानि समाददानाः ।
ववर्षुरभ्येत्य शरैः समन्ता-
न्मेघा यथा भूधरमम्बुवर्गैः ।। ७ ।।

दिव्य अस्त्र धारण किये हुए उन योद्धाओंने अर्जुनको चारों ओरसे घेर लिया और जैसे बादल पहाड़के ऊपर सब ओरसे पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार वे निकट आकर उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। ७ ।।

ततोऽस्त्रमस्त्रेण निवार्य तेषां
गाण्डीवधन्वा कुरुपुङ्गवानाम् ।
सम्मोहनं शत्रुसहोऽन्यदस्त्रं
प्रादुश्चकारैन्द्रिरपारणीयम् ।। ८ ।।

तब शत्रुओंका वेग सहन करनेवाले इन्द्रपुत्र गाण्डीवधारी अर्जुनने अपने अस्त्रसे कौरवदलके उन श्रेष्ठ वीरोंके अस्त्रोंका निवारण करके सम्मोहन नामक दूसरा अस्त्र प्रकट किया, जिसका निवारण करना किसीके लिये भी असम्भव था ।। ८ ।।

ततो दिशश्चानुदिशो विवृत्य
शरैः सुधारैर्निशितैः सुपत्रैः ।

गाण्डीवघोषेण मनांसि तेषां
महाबलः प्रव्यथयाञ्चकार ।। ९ ।।

फिर तो उन महाबलीने सुन्दर पंख और पैनी धारवाले बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओं और दिक्कोणोंको आच्छादित करके गाण्डीव धनुषकी (भयंकर) टंकारसे कौरवयोद्धाओंके हृदयमें बड़ी व्यथा उत्पन्न कर दी ।। ९ ।।

ततः पुनर्भीमरवं प्रगृह्य
दोर्भ्यां महाशङ्खमुदारघोषम् ।
व्यनादयत् स प्रदिशो दिशः खं
भुवं च पार्थो द्विषतां निहन्ता ।। १० ।।

तत्पश्चात् शत्रुहन्ता कुन्तीकुमारने भयंकर शब्द करनेवाले अपने महाशंखको, जिसकी आवाज बहुत दूरतक सुनायी पड़ती थी, दोनों हाथोंसे थामकर बजाया। उसकी ध्वनि सम्पूर्ण दिशाओं-विदिशाओं, आकाश तथा पृथ्वीमें सब ओर गूँज उठी ।। १० ।।

ते शङ्खनादेन कुरुप्रवीराः
सम्मोहिताः पार्थसमीरितेन ।
उत्सृज्य चापानि दुरासदानि
सर्वे तदा शान्तिपरा बभूवुः ।। ११ ।।

अर्जुनके बजाये हुए उस शंखकी आवाजसे वे समस्त कौरव वीर मोहित (मूर्च्छित) हो गये और अपने दुर्लभ धनुषोंको त्यागकर सब-के-सब गहरी शान्ति (बेहोशी)-में डूब गये ।। ११ ।।

तथा विसंज्ञेषु च तेषु पार्थः
स्मृत्वा च वाक्यानि तथोत्तरायाः ।
निर्याहि मध्यादिति मत्स्यपुत्र-
मुवाच यावत् कुरवो विसंज्ञाः ।। १२ ।।
आचार्यशारद्वतयोः सुशुक्ले
कर्णस्य पीतं रुचिरं च वस्त्रम् ।
द्रौणेश्च राज्ञश्च तथैव नीले
वस्त्रे समादत्स्व नरप्रवीर ।। १३ ।।

उन कौरव महारथियोंके अचेत हो जानेपर अर्जुनको उत्तराकी कही हुई बातें स्मरण हो आयीं और उन्होंने मत्स्यनरेशके पुत्र उत्तरसे कहा—'नरवीर! ये कौरव अभी बेहोश पड़े हुए हैं। ये जबतक होशमें आवें, उसके पहले ही सेनाके बीचसे निकल जाओ। आचार्य द्रोण और कृपाचार्यके शरीरपर जो श्वेत वस्त्र सुशोभित हैं, कर्णके अंगोंपर जो सुन्दर पीले रंगका वस्त्र है, अश्वत्थामा तथा राजा दुर्योधनके शरीरपर जो नीले रंगके कपड़े हैं, उन सबको उतार लो ।। १२-१३ ।।

भीष्मस्य संज्ञां तु तथैव मन्ये
जानाति सोऽस्त्रप्रतिघातमेषः ।
एतस्य वाहान् कुरु सव्यतस्त्व-
मेवं हि यातव्यममूढसंज्ञैः ।। १४ ।।

'मैं समझता हूँ, पितामह भीष्मको होश बना हुआ है; क्योंकि वे इस सम्मोहन अस्त्रको निवारण करनेकी विधि जानते हैं। उनके घोड़ोंको बाँयीं ओर छोड़कर जाना; क्योंकि जिनकी चेतना लुप्त नहीं हुई है, ऐसे वीरोंके निकटसे जाना हो, तो इसी प्रकार जाना चाहिये' ।। १४ ।।

रश्मीन् समुत्सृज्य ततो महात्मा
रथादवप्लुत्य विराटपुत्रः ।
वस्त्राण्युपादाय महारथानां
तूर्णं पुनः स्वं रथमारुरोह ।। १५ ।।

तब महामना विराटपुत्र घोड़ोंकी रास छोड़कर रथसे कूद पड़ा और उन महारथियोंके कपड़े लेकर फिर शीघ्र ही अपने रथपर चढ़ आया ।। १५ ।।

ततोऽन्वशासच्चतुरः सदश्वान्
पुत्रो विराटस्य हिरण्यकक्षान् ।
ते तद् व्यतीयुर्ध्वजिनामनीकं
श्वेता वहन्तोऽर्जुनमाजिमध्यात् ।। १६ ।।

तत्पश्चात् विराटकुमारने सोनेके साज-सामानसे सुशोभित उन चारों सुन्दर घोड़ोंको हाँक दिया। वे श्वेत घोड़े अर्जुनको रथमें लिये हुए रणभूमिके मध्यभागसे निकले और रथारोहियोंकी ध्वजायुक्त सेनाका घेरा पार करके बाहर पहुँच गये ।। १६ ।।

तथानुयान्तं पुरुषप्रवीरं
भीष्मः शरैरभ्यहनत् तरस्वी ।
स चापि भीष्मस्य हयान् निहत्य
विव्याध पार्थो दशभिः पृषत्कैः ।। १७ ।।

मनुष्योंमें प्रधान वीर अर्जुनको इस प्रकार जाते देख वेगशाली भीष्मने बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया। तब अर्जुनने भी भीष्मके घोड़ोंको मारकर दस बाणोंसे उन्हें भी घायल कर दिया ।। १७ ।।

ततोऽर्जुनो भीष्ममपास्य युद्धे
विद्ध्वास्य यन्तारमरिष्टधन्वा ।
तस्थौ विमुक्तो रथवृन्दमध्या-
न्मेघं विदार्येव सहस्ररश्मिः ।। १८ ।।

दुर्भेद्य धनुषवाले अर्जुन भीष्मको युद्धभूमिमें छोड़कर और उनके सारथिको बाणोंसे बींधकर रथोंके घेरेसे बाहर जा खड़े हुए। उस समय वे बादलोंको छिन्न-भिन्न करके प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवकी भाँति शोभा पा रहे थे ।। १८ ।।

लब्ध्वा हि संज्ञां तु कुरुप्रवीराः
पार्थं निरीक्ष्याथ सुरेन्द्रकल्पम् ।
रणे विमुक्तं स्थितमेकमाजौ

स धार्तराष्ट्रस्त्वरितं बभाषे ।। १९ ।।

थोड़ी देर बाद होशमें आकर कौरववीरोंने देखा, देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी कुन्तीपुत्र अर्जुन युद्धमें रथोंके घेरेसे बाहर हो अकेले खड़े हैं। उन्हें इस अवस्थामें देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन तुरंत बोल उठा— ।। १९ ।।

अयं कथं वै भवतो विमुक्त-
स्तथा प्रमथ्नीत यथा न मुच्येत् ।
तमब्रवीच्छान्तनवः प्रहस्य
क्व ते गता बुद्धिरभूत् क्व वीर्यम् ।। २० ।।
शान्तिं परां प्राप्य यदा स्थितोऽभू-
रुत्सृज्य बाणांश्च धनुर्विचित्रम् ।

'पितामह! यह आपके हाथसे कैसे बच गया? आप इसे इस प्रकार मथ डालिये, जिससे यह छूटने न पावे।' तब शान्तनुनन्दन भीष्मने हँसकर दुर्योधनसे कहा—'राजन्! जब तू अपने विचित्र धनुष और बाणोंको त्यागकर यहाँ गहरी शान्तिमें डूबा हुआ अचेत पड़ा था, उस समय तेरी बुद्धि कहाँ गयी थी? और पराक्रम कहाँ था? ।। २०½ ।।

न त्वेष बीभत्सुरलं नृशंसं
कर्तुं न पापेऽस्य मनो विशिष्टम् ।। २१ ।।
त्रैलोक्यहेतोर्न जहेत् स्वधर्मं
सर्वे न तस्मान्निहता रणेऽस्मिन् ।
क्षिप्रं कुरून् याहि कुरुप्रवीर
विजित्य गाश्च प्रतियातु पार्थः ।
मा ते स्वकोऽर्थो निपतेत मोहात्
तत् संविधातव्यमरिष्टबन्धम् ।। २२ ।।

'ये अर्जुन कभी निर्दयताका व्यवहार नहीं कर सकते। इनका मन कभी पापाचारमें प्रवृत्त नहीं होता। ये त्रिलोकीके राज्यके लिये भी अपना धर्म नहीं छोड़ सकते। यही कारण है कि इन्होंने इस युद्धमें हम सबके प्राण नहीं लिये। कुरुकुलके प्रमुख वीर! अब तू शीघ्र ही कुरुदेशको लौट चल। अर्जुन भी गायोंको जीतकर लौट जायँ। अब मोहवश तेरा अपना स्वार्थ भी नष्ट न हो जाय, इसका ध्यान रख। सबको वही काम करना चाहिये, जिससे अपना कल्याण हो' ।। २१-२२ ।।

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनस्तस्य तु तन्निशम्य
पितामहस्यात्महितं वचोऽथ ।
अतीतकामो युधि सोऽत्यमर्षी

राजा विनिःश्वस्य बभूव तूष्णीम् ।। २३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पितामहके ये अपने लिये हितकर वचन सुनकर राजा दुर्योधनके मनमें युद्धकी इच्छा नहीं रह गयी। वह भीतर-ही-भीतर अत्यन्त अमर्षका भार लिये लंबी साँसें भरता हुआ चुप हो गया ।। २३ ।।

तद् भीष्मवाक्यं हितमीक्ष्य सर्वे
धनंजयाग्निं च विवर्धमानम् ।
निवर्तनायैव मनो निदध्यु-
र्दुर्योधनं ते परिरक्षमाणाः ।। २४ ।।

अन्य सब योद्धाओंको भी भीष्मजीका वह कथन हितकर जान पड़ा; क्योंकि युद्ध करनेसे तो धनंजयरूपी अग्नि उत्तरोत्तर बढ़कर प्रचण्ड रूप ही धारण करती जाती, यह सब सोचकर उन सबने दुर्योधनकी रक्षा करते हुए अपने देशको लौट जानेका ही निश्चय किया ।। २४ ।।

तान् प्रस्थितान् प्रीतमनाः स पार्थो
धनंजयः प्रेक्ष्य कुरुप्रवीरान् ।
अभाषमाणोऽनुनयं मुहूर्तं
वचोऽब्रवीत् सम्परिहृत्य भूयः ।। २५ ।।
पितामहं शान्तनवं च वृद्धं
द्रोणं गुरुं च प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।

उन कौरववीरोंको वहाँसे प्रस्थान करते देख कुन्तीपुत्र धनंजय मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। वे दो घड़ीतक किसीसे अनुनय-विनयपूर्ण वचन न कहकर मौन रहे। फिर लौटकर उन्होंने वृद्ध पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्यके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और कुछ बातचीत भी की ।। २५ ।।

द्रौणिं कृपं चैव कुरूंश्च मान्या-
ञ्छरैर्विचित्रैरभिवाद्य चैव ।। २६ ।।
दुर्योधनस्योत्तमरत्नचित्रं
चिच्छेद पार्थो मुकुटं शरेण ।

फिर अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा अन्य माननीय (बाह्लीक, सोमदत्त आदि) कौरवोंको बाणोंकी विचित्र रीतिसे नमस्कार करके पार्थने एक बाण मारकर दुर्योधनके उत्तम रत्नजटित विचित्र मुकुटको काट डाला ।। २६½ ।।

आमन्त्र्य वीरांश्च तथैव मान्यान्
गाण्डीवघोषेण विनाद्य लोकान् ।। २७ ।।
स देवदत्तं सहसा विनाद्य
विदार्य वीरो द्विषतां मनांसि ।

इसी प्रकार अन्य माननीय वीरोंसे भी विदा ले गाण्डीवकी टंकारसे सम्पूर्ण जगत्‌को प्रतिध्वनित करके वीर अर्जुनने सहसा देवदत्त नामक शंख बजाया और शत्रुओंका दिल दहला दिया ।। २७½ ।।

ध्वजेन सर्वानभिभूय शत्रून्
सहेममालेन विराजमानः ।। २८ ।।
दृष्ट्वा प्रयातांस्तु कुरून् किरीटी
हृष्टोऽब्रवीत् तत्र स मत्स्यपुत्रम् ।
आवर्तयाश्वान् पशवो जितास्ते
याताः परे याहि पुरं प्रहृष्टः ।। २९ ।।

इस प्रकार अपने रथकी सुवर्णमालामण्डित ध्वजासे सम्पूर्ण शत्रुओंका तिरस्कार करके अर्जुन विजयोल्लाससे विशेष शोभा पाने लगे। कौरव चले गये, यह देखकर किरीटधारी अर्जुनको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने मत्स्यनरेशके पुत्र उत्तरसे वहाँ इस प्रकार कहा —‘राजकुमार! अब घोड़ोंको लौटाओ। तुम्हारी गौओंको जीत लिया गया और शत्रु भाग गये; इसलिये अब तुम आनन्दपूर्वक नगरकी ओर चलो’ ।। २८-२९ ।।

देवास्तु दृष्ट्वा महदद्‌भुतं तद्
युद्धं कुरूणां सह फाल्गुनेन ।
जग्मुर्यथास्वं भवनं प्रतीताः
पार्थस्य कर्माणि विचिन्तयन्तः ।। ३० ।।

अर्जुनके साथ होनेवाला कौरवोंका वह अत्यन्त अद्‌भुत युद्ध देखकर देवतालोग बड़े प्रसन्न हुए और अर्जुनके पराक्रमका स्मरण करते हुए अपने-अपने भवनको चले गये ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि समस्तकौरवपलायने षट्‌षष्टितमोऽध्यायः ।। ६६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें समस्त कौरवोंके पलायनसे सम्बन्ध रखनेवाला छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६६ ।।

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

विजयी अर्जुन और उत्तरका राजधानीकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततो विजित्य संग्रामे कुरून् स वृषभेक्षणः ।
समानयामास तदा विराटस्य धनं महत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार बैल-सी विशाल आँखोंवाले अर्जुन उस समय युद्धमें कौरवोंको जीतकर विराटका वह महान् गोधन लौटा लाये ।।

गतेषु च प्रभग्नेषु धार्तराष्ट्रेषु सर्वतः ।
वनान्निष्क्रम्य गहनाद् बहवः कुरुसैनिकाः ।। २ ।।
भयात् संत्रस्तमनसः समाजग्मुस्ततस्ततः ।
मुक्तकेशास्त्वदृश्यन्त स्थिताः प्राञ्जलयस्तदा ।। ३ ।।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्ता विदेशस्था विचेतसः ।

जब कौरव-दलके लोग चले गये या इधर-उधर सब दिशाओंमें भाग गये, उस समय बहुत-से कौरवसैनिक जो घने जंगलमें छिपे हुए थे, वहाँसे निकलकर डरते-डरते अर्जुनके पास आये। उनके मनमें भय समा गया था। वे भूखे-प्यासे और थके-माँदे थे। परदेशमें होनेके कारण उनके हृदयकी व्याकुलता और बढ़ गयी थी। वे उस समय केश खोले और हाथ जोड़े हुए खड़े दिखायी दिये ।। २-३½ ।।

ऊचुः प्रणम्य सम्भ्रान्ताः पार्थ किं करवाम ते ।। ४ ।।
(प्राणानन्तर्मनोयातान् प्रयाचिष्यामहे वयम् ।
वयं चार्जुन ते दासा ह्यनुरक्ष्या ह्यनायकाः ।।

वे सब-के-सब अर्जुनको प्रणाम करके घबराये हुए बोले—'कुन्तीनन्दन! हम आपकी क्या सेवा करें? अर्जुन! हम आपसे हृदयके भीतर छिपे हुए अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये याचना करते हैं। हमलोग आपके दास और अनाथ हैं; अतः आपको सदा हमारी रक्षा करनी चाहिये' ।। ४ ।।

अर्जुन उवाच

अनाथान् दुःखितान् दीनान्
कृशान् वृद्धान् पराजितान् ।
न्यस्तशस्त्रान् निराशांश्च
नाहं हन्मि कृताञ्जलीन् ।।)
स्वस्ति व्रजत वो भद्रं न भेतव्यं कथंचन ।

नाहमार्तान् जिघांसामि भृशमाश्वासयामि वः ।। ५ ।।

अर्जुनने कहा—सैनिको! जो लोग अनाथ, दुःखी, दीन, दुर्बल, वृद्ध, पराजित, अस्त्र-शस्त्रोंको नीचे डाल देनेवाले, प्राणोंसे निराश एवं हाथ जोड़कर शरणागत होते हैं, उन सबको मैं नहीं मारता हूँ। तुम्हारा भला हो। तुम कुशलपूर्वक घर लौट जाओ। तुम्हें मेरी ओरसे किसी प्रकारका भय नहीं होना चाहिये। मैं संकटमें पड़े हुए मनुष्योंको नहीं मारना चाहता। इस बातके लिये मैं तुम्हें पूरा-पूरा विश्वास दिलाता हूँ ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तामभयां वाचं श्रुत्वा योधाः समागताः ।
आयुःकीर्तियशोदाभिस्तमाशीर्भिरनन्दयन् ।। ६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनकी वह अभयदानयुक्त वाणी सुनकर वहाँ आये हुए समस्त योद्धाओंने उन्हें आयु, कीर्ति तथा सुयश बढ़ानेवाले आशीर्वाद देते हुए उनका अभिनन्दन किया ।। ६ ।।

ततोऽर्जुनं नागमिव प्रभिन्न-
मुत्सृज्य शत्रून् विनिवर्तमानम् ।
विराटराष्ट्राभिमुखं प्रयान्तं
नाशक्नुवंस्तं कुरवोऽभियातुम् ।। ७ ।।

उस समय अर्जुन शत्रुओंको छोड़कर—उन्हें जीवनदान दे, मदकी धारा बहानेवाले हाथीकी भाँति मस्तीकी चालसे विराटनगरकी ओर लौटे जा रहे थे। कौरवोंको उनपर आक्रमण करनेका साहस नहीं हुआ ।।

ततः स तन्मेघमिवापतन्तं
विद्राव्य पार्थः कुरुसैन्यवृन्दम् ।
मत्स्यस्य पुत्रं द्विषतां निहन्ता
वचोऽब्रवीत् सम्परिरभ्य भूयः ।। ८ ।।

कौरवोंकी सेना मेघोंकी घटा-सी उमड़ आयी थी; किंतु शत्रुहन्ता पार्थने उसे मार भगाया। इस प्रकार शत्रुसेनाको परास्त करके अर्जुनने उत्तरको पुनः हृदयसे लगाकर कहा— ।। ८ ।।

पितुः सकाशे तव तात सर्वे
वसन्ति पार्था विदितं तवैव ।
तान् मा प्रशंसेर्नगरं प्रविश्य
भीतः प्रणश्येद्धि स मत्स्यराजः ।। ९ ।।

‘तात! तुम्हारे पिताके समीप समस्त पाण्डव निवास करते हैं, यह बात अबतक तुम्हींको विदित हुई है; अतः तुम नगरमें प्रवेश करके पाण्डवोंकी प्रशंसा न करना, नहीं तो

मत्स्यराज डरकर प्राण त्याग देंगे ।। ९ ।।

मया जिता सा ध्वजिनी कुरूणां
मया च गावो विजिता द्विषद्भ्यः ।
पितुः सकाशं नगरं प्रविश्य
त्वमात्मनः कर्म कृतं ब्रवीहि ।। १० ।।

'राजधानीमें प्रवेश करके पिताके समीप जानेपर तुम यही कहना कि मैंने कौरवोंकी उस विशाल सेनापर विजय पायी है और मैंने ही शत्रुओंसे अपनी गौओंको जीता है। सारांश यह कि युद्धमें जो कुछ हुआ है, वह सब तुम अपना ही किया हुआ पराक्रम बताना' ।। १० ।।

उत्तर उवाच

यत् ते कृतं कर्म न पारणीयं
तत् ते कर्म कर्तुं मम नास्ति शक्तिः ।
न त्वां प्रवक्ष्यामि पितुः सकाशे
यावन्न मां वक्ष्यसि सव्यसाचिन् ।। ११ ।।

उत्तरने कहा—सव्यसाचिन्! आपने जो पराक्रम किया है, वह दूसरेके लिये असम्भव है। वैसा अद्भुत कर्म करनेकी मुझमें शक्ति नहीं है; तथापि जबतक आप मुझे आज्ञा न देंगे, तबतक पिताजीके निकट आपके विषयमें मैं कुछ भी नहीं कहूँगा ।। ११ ।।

वैशम्पायन उवाच

स शत्रुसेनामवजित्य जिष्णु-
राच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः ।
श्मशानमागत्य पुनः शमीं ता-
मभ्येत्य तस्थौ शरविक्षताङ्गः ।। १२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विजयशील अर्जुन पूर्वोक्तरूपसे शत्रुसेनाको परास्त करके कौरवोंके हाथसे सारा गोधन छीन लेनेके बाद पुनः श्मशानभूमिमें उसी शमीवृक्षके समीप आकर खड़े हुए। उस समय उनके सभी अंग बाणोंके आघातसे क्षत-विक्षत हो रहे थे ।।

ततः स वह्निप्रतिमो महाकपिः
सहैव भूतैर्दिवमुत्पपात ।
तथैव माया विहिता बभूव
ध्वजं च सैंहं युयुजे रथे पुनः ।। १३ ।।

तदनन्तर वह अग्निके समान तेजस्वी महावानर ध्वजनिवासी भूतगणोंके साथ आकाशमें उड़ गया। उसी प्रकार ध्वजसहित वह दैवी माया भी विलीन हो गयी और

अर्जुनके रथमें फिर वही सिंहध्वज लगा दिया गया ।। १३ ।।

विधाय तच्चायुधमाजिवर्धनं
कुरूत्तमानामिषुधीः शरांस्तथा ।
प्रायात् स मत्स्यो नगरं प्रहृष्टः
किरीटिना सारथिना महात्मना ।। १४ ।।

कुरुकुलशिरोमणि पाण्डवोंके युद्धक्षमतावर्धक आयुधों, तरकसों और बाणोंको फिर पूर्ववत् शमीवृक्ष-पर रखकर मत्स्यकुमार उत्तर महात्मा अर्जुनको सारथि बना उनके साथ प्रसन्नतापूर्वक नगरको चला ।। १४ ।।

पार्थस्तु कृत्वा परमार्यकर्म
निहत्य शत्रून् द्विषतां निहन्ता ।
चकार वेणीं च तथैव भूयो
जग्राह रश्मीन् पुनरुत्तरस्य ।
विवेश हृष्टो नगरं महामना
बृहन्नलारूपमुपेत्य सारथिः ।। १५ ।।

शत्रुहन्ता कुन्तीपुत्रने शत्रुओंको मारकर महान् वीरोचित पराक्रम करके पुनः पूर्ववत् सिरपर वेणी धारण कर ली और उत्तरके घोड़ोंकी रास सँभाली। इस प्रकार बृहन्नलाका रूप धारणकर महामना अर्जुनने सारथिके रूपमें प्रसन्नतापूर्वक राजधानीमें प्रवेश किया ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो निवृत्ताः कुरवः प्रभग्ना वशमास्थिताः ।
हस्तिनापुरमुद्दिश्य सर्वे दीना ययुस्तदा ।। १६ ।।
पन्थानमुपसङ्गम्य फाल्गुनो वाक्यमब्रवीत् ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर कौरव युद्धसे भागकर विवशतापूर्वक लौट गये। उन सबने दीनभावसे उस समय हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थान किया। इधर अर्जुनने नगरके रास्तेमें आकर उत्तरसे कहा— ।। १६-१७ ।।

राजपुत्र प्रत्यवेक्ष समानीतानि सर्वशः ।
गोकुलानि महाबाहो वीर गोपालकैः सह ।। १८ ।।
ततोऽपराह्णे यास्यामो विराटनगरं प्रति ।
आश्वास्य पाययित्वा च परिप्लाव्य च वाजिनः ।। १९ ।।

'महाबाहु राजकुमार! देख लो, तुम्हारे सब गोधन ग्वालोंके साथ यहाँ आ गये हैं। वीर! अब हम-लोग घोड़ोंको पानी पिला और नहलाकर उनकी थकावट दूर हो जानेके बाद अपराह्णकालमें विराटनगर चलेंगे ।। १८-१९ ।।

गच्छन्तु त्वरिताश्चेमे गोपालाः प्रेषितास्त्वया ।
नगरे प्रियमाख्यातुं घोषयन्तु च ते जयम् ।। २० ।।

'तुम्हारे द्वारा भेजे हुए ये ग्वाले तुरंत नगरमें विजयका प्रिय संवाद सुनानेके लिये जायँ और यह घोषित कर दें कि राजकुमार उत्तरकी जीत हुई है' ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

अथोत्तरस्त्वरमाणः स दूता-
नाज्ञापयद् वचनात् फाल्गुनस्य ।
आचक्षध्वं विजयं पार्थिवस्य
भग्नाः परे विजिताश्चापि गावः ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब अर्जुनके कथनानुसार उत्तरने बड़ी उतावलीके साथ दूतोंको आज्ञा दी—'जाओ और सूचित करो कि महाराजकी विजय हुई है। शत्रु भाग गये और गौएँ जीतकर वापस लायी गयी हैं' ।। २१ ।।

इत्येवं तौ भारतमत्स्यवीरौ
सम्मन्त्र्य सङ्गम्य ततः शमीं ताम् ।
अभ्येत्य भूयो विजयेन तृप्ता-
वुत्सृष्ट मारोपयतां स्वभाण्डम् ।। २२ ।।

इस प्रकार भरतकुल और मत्स्यकुलके उन दोनों वीरोंने आपसमें सलाह करके पूर्वोक्त शमीवृक्षके समीप जा पहलेके उतारे हुए अपने अलंकार आदि शरीरपर धारण कर लिये थे और उनके रखनेके पात्र (भी) रथपर चढ़ा लिये थे ।। २२ ।।

स शत्रुसेनामभिभूय सर्वा-
माच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः ।
वैराटिरायान्नगरं प्रतीतो
बृहन्नलासारथिना प्रवीरः ।। २३ ।।

इस तरह शत्रुओंकी सम्पूर्ण सेनाको पराजित करके कौरवोंसे सारा गोधन छीनकर विराटकुमार वीर उत्तर बृहन्नला सारथिके साथ प्रसन्नतापूर्वक नगरकी ओर प्रस्थित हुआ ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि उत्तरागमने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ।। ६७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें उत्तरका आगमनविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६७ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं।]

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

राजा विराटकी उत्तरके विषयमें चिन्ता, विजयी उत्तरका नगरमें प्रवेश, प्रजाओंद्वारा उनका स्वागत, विराटद्वारा युधिष्ठिरका तिरस्कार और क्षमा-प्रार्थना एवं उत्तरसे युद्धका समाचार पूछना

वैशम्पायन उवाच

धनं चापि विजित्याशु विराटो वाहिनीपतिः ।
विवेश नगरं हृष्टश्चतुर्भिः पाण्डवैः सह ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सेनाओंके स्वामी राजा विराटने (दक्षिण गोष्ठकी) गौओंको जीतकर शीघ्र ही चारों पाण्डवोंके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक नगरमें प्रवेश किया ।। १ ।।

जित्वा त्रिगर्तान् संग्रामे गाश्चैवादाय सर्वशः ।
अशोभत महाराज सहपार्थः श्रिया वृतः ।। २ ।।

महाराज! संग्राममें त्रिगर्तोंको हराकर सम्पूर्ण गौएँ वापस ले विजयलक्ष्मीसे सम्पन्न महाराज विराट कुन्तीपुत्रोंके साथ बड़ी शोभा पाने लगे ।। २ ।।

तमासनगतं वीरं सुहृदां हर्षवर्धनम् ।
उपासाञ्चक्रिरे सर्वे सह पार्थैः परंतपाः ।। ३ ।।

मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाले वीरवर विराट राजसिंहासनपर विराजमान हुए। उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले सब शूरवीर कुन्तीपुत्रोंके साथ राजाकी सेवाके लिये उनके पास बैठे ।। ३ ।।

उपतस्थुः प्रकृतयः समस्ता ब्राह्मणैः सह ।
सभाजितः ससैन्यस्तु प्रतिनन्द्याथ मत्स्यराट् ।। ४ ।।

फिर ब्राह्मणोंसहित समस्त प्रजावर्गके लोग उपस्थित हुए। सबने सेनासहित मत्स्यराजका अभिनन्दन एवं स्वागत-सत्कार किया ।। ४ ।।

विसर्जयामास तदा द्विजांश्च प्रकृतीस्तथा ।
तथा स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ।। ५ ।।
उत्तरं परिपप्रच्छ क्व यात इति चाब्रवीत् ।
आचख्युस्तस्य तत् सर्वं स्त्रियः कन्याश्च वेश्मनि ।। ६ ।।

तदनन्तर मत्स्यदेशके राजा सेनाओंके स्वामी विराटने ब्राह्मणों तथा प्रजावर्गके लोगोंको विदा कर दिया और (अन्तःपुरमें जाकर) उत्तरके विषयमें पूछा—'राजकुमार उत्तर

कहाँ गये हैं?’ तब घरमें रहनेवाली स्त्रियों और कन्याओंने उनसे सब बातें बनायीं — ।। ५-६ ।।

अन्तःपुरचराश्चैव कुरुभिर्गोधनं हृतम् ।
विजेतुमभिसंरब्ध एक एवातिसाहसात् ।
बृहन्नलासहायश्च निर्गतः पृथिवीञ्जयः ।। ७ ।।

‘इसी प्रकार अन्तःपुरमें रहनेवाली स्त्रियोंने भी बताया कि कौरवोंने हमारे गोष्ठका गोधन हर लिया है, अतः कुमार भूमिंजय अत्यन्त साहसके कारण क्रोधमें भरकर अकेले ही उन गौओंको जीत लानेके लिये बृहन्नलाके साथ निकले हैं ।। ७ ।।

उपयातानतिरथान् भीष्मं शान्तनवं कृपम् ।
कर्णं दुर्योधनं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड् रथान् ।। ८ ।।

‘सुना है, शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, द्रोणाचार्य तथा द्रोणपुत्र अश्वत्थामा—ये छः अतिरथी वीर युद्धके लिये आये हैं’ ।। ८ ।।

वैशम्पायन उवाच

राजा विराटोऽथ भृशाभितप्तः
श्रुत्वा सुतं त्वेकरथेन यातम् ।
बृहन्नलासारथिमाजिवर्धनं
प्रोवाच सर्वानथ मन्त्रिमुख्यान् ।। ९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युद्धमें आगे बढ़नेवाले अपने पुत्रको बृहन्नला सारथिके साथ एकमात्र रथकी सहायतासे कौरवोंका सामना करनेके लिये गया हुआ सुनकर राजा विराटको बड़ा संताप हुआ। उन्होंने (अपने) सभी प्रधान मन्त्रियोंसे कहा — ।। ९ ।।

सर्वथा कुरवस्ते हि ये चान्ये वसुधाधिपाः ।
त्रिगर्तान् निःसृताञ्छ्रुत्वा न स्थास्यन्ति कदाचन ।। १० ।।

‘कौरव हों या दूसरे कोई राजा, जब वे सुनेंगे कि त्रिगर्त लोग युद्धमें पीठ दिखाकर भाग गये हैं, तब वे कदापि यहाँ ठहर नहीं सकेंगे’ ।। १० ।।

तस्माद् गच्छन्तु मे योधा बलेन महता वृताः ।
उत्तरस्य परीप्सार्थं ये त्रिगर्तैरविक्षताः ।। ११ ।।

‘अतः मेरे सैनिकोंमेंसे जो लोग त्रिगर्तोंके साथ होनेवाले युद्धमें घायल नहीं हुए हों, वे सब विशाल सेनाके साथ राजकुमार उत्तरकी रक्षाके लिये जायँ’ ।।

हयांश्च नागांश्च रथांश्च शीघ्रं
पदातिसङ्घांश्च ततः प्रवीरान् ।
प्रस्थापयामास सुतस्य हेतो-

र्विचित्रशस्त्राभरणोपपन्नान् ।। १२ ।।

तत्पश्चात् उन्होंने पुत्रकी रक्षाके लिये विचित्र-विचित्र आयुधों और आभूषणोंसे विभूषित घुड़सवारों, हाथीसवारों, रथारोहियों तथा पैदल योद्धाओंके समूहोंको, जो बड़े शूरवीर थे, भेजा ।। १२ ।।

एवं स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ।
व्यादिदेशाथ तां क्षिप्रं वाहिनीं चतुरङ्गिणीम् ।। १३ ।।
कुमारमाशु जानीत यदि जीवति वा न वा ।
यस्य यन्ता गतः षण्ढो मन्येऽहं स न जीवति ।। १४ ।।

इस प्रकार सेनाओंके स्वामी मत्स्यनरेश विराटने अपनी उस चतुरंगिणी सेनाको शीघ्र आदेश दिया, 'जाओ, शीघ्र पता लगाओ। कुमार जीवित हैं या नहीं। एक हिजड़ा जिसका सारथि बनकर गया है, वह मेरी समझसे तो अब जीवित नहीं होगा' ।। १३-१४ ।।

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीद् धर्मराजो विहस्य
विराटराजं तु भृशाभितप्तम् ।
बृहन्नला सारथिश्चेन्नरेन्द्र
परे न नेष्यन्ति तवाद्य गास्ताः ।। १५ ।।
सर्वान् महीपान् सहितान् कुरूंश्च
तथैव देवासुरसिद्धयक्षान् ।
अलं विजेतुं समरे सुतस्ते
स्वनुष्ठितः सारथिना हि तेन ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा विराटको बहुत दुःखी देखकर धर्मराज युधिष्ठिरने उनसे हँसकर कहा—'नरेन्द्र! यदि बृहन्नला सारथि है, तो यह विश्वास कीजिये कि शत्रु आज आपकी वे गौएँ नहीं ले जा सकेंगे। उस हितैषी सारथिके सहयोगसे सब कार्य ठीक-ठीक कर लेनेपर आपका पुत्र युद्धमें समस्त राजाओं तथा संगठित होकर आये हुए कौरवोंकी तो बात ही क्या, देवता, असुर, सिद्ध और यक्षोंपर भी निश्चय ही विजय पा सकता है' ।। १५-१६ ।।

वैशम्पायन उवाच

अथोत्तरेण प्रहिता दूतास्ते शीघ्रगामिनः ।
विराटनगरं प्राप्य विजयं समवेदयन् ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसी समय उत्तरके भेजे हुए शीघ्रगामी दूतोंने विराटनगरमें आकर विजयकी सूचना दी ।। १७ ।।

राज्ञस्तत् सर्वमाचख्यौ मन्त्री विजयमुत्तमम् ।

पराजयं कुरूणां चाप्युपायान्तं तथोत्तरम् ।। १८ ।।
सर्वा विनिर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः ।
उत्तरः सह सूतेन कुशली च परंतपः ।। १९ ।।

मन्त्रीने वह सब समाचार महाराजसे कह सुनाया। अपने पक्षकी उत्तम विजय और कौरवोंकी करारी हार हुई है। राजकुमार उत्तर नगरमें आ रहे हैं। समस्त गौएँ जीत ली गयीं तथा कौरव परास्त होकर भाग गये। शत्रुओंको संताप देनेवाले कुमार उत्तर सारथिसहित सकुशल हैं ।। १८-१९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या विनिर्जिता गावः कुरवश्च पलायिताः ।
नाद्भुतं त्वेव मन्येऽहं यत् ते पुत्रोऽजयत् कुरून् ।। २० ।।
ध्रुव एव जयस्तस्य यस्य यन्ता बृहन्नला ।
(देवेन्द्रसारथिश्चैव मातलिर्लघुविक्रमः ।
कृष्णस्य सारथिश्चैव न बृहन्नलया समौ ।।)

युधिष्ठिरने कहा—महाराज! सौभाग्यकी बात है कि गौएँ जीत ली गयीं और कौरव भाग गये। आपके पुत्रने कौरवोंपर जो विजय पायी है, उसे मैं कोई आश्चर्यकी बात नहीं मानता। जिसका सारथि बृहन्नला हो, उसकी विजय तो निश्चित ही है। देवराज इन्द्रका शीघ्रगामी सारथि मातलि तथा श्रीकृष्णका सारथि दारुक—ये दोनों बृहन्नलाकी समानता नहीं कर सकते ।। २०½ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो विराटो नृपतिः सम्प्रहृष्टतनुरुहः ।। २१ ।।
श्रुत्वा स विजयं तस्य कुमारस्यामितौजसः ।
आच्छादयित्वा दूतांस्तान् मन्त्रिणं सोऽभ्यचोदयत् ।। २२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने अमित-पराक्रमी कुमारकी विजयका समाचार सुनकर राजा विराट बड़े प्रसन्न हुए। उनके शरीरमें रोमांच हो आया। उन्होंने वस्त्र और आभूषणोंसे उन दूतोंका सत्कार किया और मन्त्रीको आज्ञा दी— ।। २१-२२ ।।

राजमार्गाः क्रियन्तां मे पताकाभिरलंकृताः ।
पुष्पोपहारैरर्च्यन्तां देवताश्चापि सर्वशः ।। २३ ।।
कुमारा योधमुख्याश्च गणिकाश्च स्वलंकृताः ।
वादित्राणि च सर्वाणि प्रत्युद्यान्तु सुतं मम ।। २४ ।।

‘मेरे नगरकी सड़कोंको पताकाओंसे अलंकृत किया जाय। फूलों तथा नाना प्रकारके उपहारोंसे सब देवताओंकी पूजा होनी चाहिये। कुमार, मुख्य-मुख्य योद्धा, शृंगारसे सुशोभित वारांगनाएँ और सब प्रकारके बाजे-गाजे मेरे पुत्रकी अगवानीमें भेजे जायँ ।।

घण्टावान् मानवः शीघ्रं मत्तमारुह्य वारणम् ।
शृङ्गाटकेषु सर्वेषु आख्यातु विजयं मम ।। २५ ।।
उत्तरा च कुमारीभिर्बह्वीभिः परिवारिता ।
शृंगारवेषाभरणा प्रत्युद्यातु सुतं मम ।। २६ ।।

'एक मनुष्य शीघ्र ही हाथमें घण्टा लिये मतवाले गजराजपर बैठ जाय और नगरके समस्त चौराहोंपर हमारी विजयका संवाद सुनावे। राजकुमारी उत्तरा भी उत्तम शृङ्गार और सुन्दर वेष-भूषासे सुशोभित हो अन्य राजकुमारियोंके साथ मेरे पुत्रकी अगवानीमें जायँ' ।।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा चेदं वचनं पार्थिवस्य
सर्वं पुरं स्वस्तिकपाणिभूतम् ।
भेर्यश्च तूर्याणि च वारिजाश्च
वेषैः परार्घ्यैः प्रमदाः शुभाश्च ।। २७ ।।
तथैव सूतैः सह मागधैश्च
नान्दीवाद्याः पणवास्तूर्यवाद्याः ।
पुराद् विराटस्य महाबलस्य
प्रत्युद्ययुः पुत्रमनन्तवीर्यम् ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! राजाकी इस आज्ञाको सुनकर बहुमूल्य वेशभूषासे सुशोभित सौभाग्यवती तरुणी स्त्रियों, सूत, मागध और बंदीजनोंसहित समस्त पुरवासी, हाथोंमें मांगलिक वस्तुएँ लेकर भेरी, तूर्य, शंख तथा पणव आदि मांगलिक बाजे साथ लिये महाबली विराटके अनन्त पराक्रमी पुत्र उत्तरकी अगवानी करनेके लिये नगरसे बाहर गये ।। २७-२८ ।।

प्रस्थाप्य सेनां कन्याश्च गणिकाश्च स्वलङ्कृताः ।
मत्स्यराजो महाप्राज्ञः प्रहृष्ट इदमब्रवीत् ।। २९ ।।

राजन्! तदनन्तर सेना, सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कन्याओं और वारांगनाओंको भेजकर परम बुद्धिमान् मत्स्यनरेश हर्षोल्लासमें भरकर इस प्रकार बोले— ।।

अक्षानाहर सैरन्ध्रि कङ्क द्यूतं प्रवर्तताम् ।
तं तथावादिनं दृष्ट्वा पाण्डवः प्रत्यभाषत ।। ३० ।।

'सैरन्ध्री! जा, पासे ले आ। कंक! जूआ प्रारम्भ हो। 'उन्हें ऐसा कहते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर बोले— ।। ३० ।।

न देवितव्यं हृष्टेन कितवेनेति नः श्रुतम् ।
तं त्वामद्य मुदा युक्तं नाहं देवितुमुत्सहे ।
प्रियं तु ते चिकीर्षामि वर्ततां यदि मन्यसे ।। ३१ ।।

'राजन्! मैंने सुना है, जब चालाक जुआरी अत्यन्त हर्षमें भरा हो, तो उसके साथ जूआ नहीं खेलना चाहिये। आज आप भी बड़े आनन्दमें मग्न हैं; अतः आपके साथ जूआ खेलनेका साहस नहीं होता, तथापि आपका प्रिय कार्य तो करना ही चाहता हूँ, अतः यदि आपकी इच्छा हो, तो खेल शुरू हो सकता है' ।। ३१ ।।

विराट उवाच

स्त्रियो गावो हिरण्यं च यच्चान्यद् वसु किञ्चन ।
न मे किञ्चित् त्वया रक्ष्यमन्तरेणापि देवितुम् ।। ३२ ।।

विराटने कहा—स्त्रियाँ, गौएँ, सुवर्ण तथा अन्य जो कोई भी धन सुरक्षित रखा जाता है, बिना जूएके वह सब मुझे कुछ नहीं चाहिये। (मुझे तो जूआ ही सबसे अधिक प्रिय है) ।। ३२ ।।

कङ्क उवाच

किं ते द्यूतेन राजेन्द्र बहुदोषेण मानद ।
देवने बहवो दोषास्तस्मात् तत् परिवर्जयेत् ।। ३३ ।।

कंक बोले—सबको मान देनेवाले महाराज! आपको जूएसे क्या लेना है? इसमें तो बहुत-से दोष हैं। जूआ खेलनेमें अनेक दोष होते हैं, इसलिये इसे त्याग देना चाहिये ।। ३३ ।।

श्रुतस्ते यदि वा दृष्टः पाण्डवेयो युधिष्ठिरः ।
स राष्ट्रं सुमहत् स्फीतं भ्रातॄंश्च त्रिदशोपमान् ।। ३४ ।।
राज्यं हारितवान् सर्वं तस्माद् द्यूतं न रोचये ।
(निःसंशयं स कितवः पश्चात् तप्यति पाण्डवः ।।
विविधानां च रत्नानां धनानां च पराजये ।
अस्मिन् क्षितिविनाशश्च वाक्पारुष्यमनन्तरम् ।।
अविश्वास्यं बुधैर्नित्यमेकाह्ना द्रव्यनाशनम् ।)
अथवा मन्यसे राजन् दीव्याम यदि रोचते ।। ३५ ।।

आपने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको देखा होगा अथवा उनका नाम तो अवश्य सुना होगा। वे अपने अत्यन्त समृद्धिशाली राष्ट्रको, देवताओंके समान तेजस्वी भाइयोंको तथा समूचे राज्यको भी जूएमें हार गये थे। अतः मैं जूएको पसंद नहीं करता। नाना प्रकारके रत्नों और धनको हार जानेके कारण अब वे जुआरी युधिष्ठिर निश्चय ही पश्चात्ताप करते होंगे। इस जूएमें आसक्त होनेपर राज्यका नाश होता है, फिर जुआरी एक दूसरेके प्रति कटु वचनोंका प्रयोग करते हैं। जूआ एक ही दिनमें महान् धनराशिका नाश करनेवाला है। अतः विद्वान् पुरुषोंको इस (धोखा देनेवाले जूए) पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। राजन्! तो भी यदि आपकी रुचि और आग्रह हो, तो हम खेलेंगे ही ।। ३४-३५ ।।

वैशम्पायन उवाच

प्रवर्तमाने द्यूते तु मत्स्यः पाण्डवमब्रवीत् ।
पश्य पुत्रेण मे युद्धे तादृशाः कुरवो जिताः ।। ३६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जूएका खेल आरम्भ हो गया। खेलते-खेलते मत्स्यराजने पाण्डुनन्दनसे कहा—'देखो, आज मेरे बेटेने युद्धमें उन प्रसिद्ध कौरवोंपर विजय पायी है' ।। ३६ ।।

ततोऽब्रवीन्महात्मा स एनं राजा युधिष्ठिरः ।
बृहन्नला यस्य यन्ता कथं स न जयेद् युधि ।। ३७ ।।

तब महात्मा राजा युधिष्ठिरने विराटसे कहा—'बृहन्नला जिसका सारथि हो, वह युद्धमें कैसे नहीं जीतेगा?' ।। ३७ ।।

इत्युक्तः कुपितो राजा मत्स्यः पाण्डवमब्रवीत् ।
समं पुत्रेण मे षण्ढं ब्रह्मबन्धो प्रशंससि ।। ३८ ।।

यह सुनते ही मत्स्यनरेश कुपित हो उठे और पाण्डुनन्दनसे बोले—'अधम ब्राह्मण! तू मेरे पुत्रके समान एक हिजड़ेकी प्रशंसा करता है! ।। ३८ ।।

वाच्यावाच्यं न जानीषे नूनं मामवमन्यसे ।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् कस्मान्न स विजेष्यति ।। ३९ ।।
वयस्यत्वात् तु ते ब्रह्मन्नपराधमिमं क्षमे ।
नेदृशं तु पुनर्वाच्यं यदि जीवितुमिच्छसि ।। ४० ।।

'क्या कहना चाहिये और क्या नहीं, इसका तुझे ज्ञान नहीं है। निश्चय ही तू अपनी बातोंसे मेरा अपमान कर रहा है। भला, मेरा पुत्र भीष्म-द्रोण आदि समस्त वीरोंको क्यों नहीं जीत लेगा? ब्रह्मन्! मित्र होनेके नाते ही मैं तुम्हारे इस अपराधको क्षमा करता हूँ। यदि जीनेकी इच्छा हो, तो फिर ऐसी बात न करना' ।। ३९-४० ।।

युधिष्ठिर उवाच

यत्र द्रोणस्तथा भीष्मो द्रौणिर्वैकर्तनः कृपः ।
दुर्योधनश्च राजेन्द्रस्तथान्ये च महारथाः ।। ४१ ।।
मरुद्गणैः परिवृतः साक्षादपि मरुत्पतिः ।
कोऽन्यो बृहन्नलायास्तान् प्रतियुध्येत सङ्गतान् ।। ४२ ।।

युधिष्ठिर बोले—जहाँ द्रोणाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा, कर्ण, कृपाचार्य राजा दुर्योधन तथा अन्य महारथी उपस्थित हों, वहाँ बृहन्नलाके सिवा दूसरा कौन पुरुष चाहे वह देवताओंसे घिरा हुआ साक्षात् देवराज इन्द्र ही क्यों न हो, उन सब संगठित वीरोंका सामना कर सकता है? ।। ४१-४२ ।।

यस्य बाहुबले तुल्यो न भूतो न भविष्यति ।

अतीव समरं दृष्ट्वा हर्षो यस्योपजायते ।। ४३ ।।
योऽजयत् सङ्गतान् सर्वान् ससुरासुरमानवान् ।
तादृशेन सहायेन कस्मात् स न विजेष्यते ।। ४४ ।।

बाहुबलमें जिसकी समानता करनेवाला न कोई हुआ है और न होगा ही, युद्धका अवसर आया देखकर जिसे अत्यन्त हर्ष होता है, जिसने युद्धमें एकत्र हुए देवता, असुर और मनुष्य—सबको जीत लिया है, वैसे बृहन्नला—जैसे सहायकके होनेपर राजकुमार उत्तर विजयी क्यों न होंगे? ।। ४३-४४ ।।

विराट उवाच

बहुशः प्रतिषिद्धोऽसि न च वाचं नियच्छसि ।
नियन्ता चेन्न विद्येत न कश्चिद् धर्ममाचरेत् ।। ४५ ।।

विराटने कहा—कंक! मैंने बहुत बार मना किया, तो भी तू अपनी जबान नहीं बंद कर रहा है। सच है, यदि शासन करनेवाला राजा न हो, तो कोई भी धर्मका आचरण नहीं कर सकता ।। ४५ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रकुपितो राजा तमक्षेणाहनद् भृशम् ।
मुखे युधिष्ठिरं कोपान्नैवमित्येव भर्त्सयन् ।। ४६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इतना कहकर कोपमें भरे हुए राजा विराटने वह पासा युधिष्ठिरके मुखपर जोरसे दे मारा तथा रोषपूर्वक डाँटते हुए उनसे कहा—‘फिर कभी ऐसी बात न कहना’ ।। ४६ ।।

बलवत् प्रतिविद्धस्य नस्तः शोणितमावहत् ।
तदप्राप्तं महीं पार्थः पाणिभ्यां प्रत्यगृह्णत ।। ४७ ।।
अवैक्षत स धर्मात्मा द्रौपदीं पार्श्वतः स्थिताम् ।
सा ज्ञात्वा तमभिप्रायं भर्तुश्चित्तवशानुगा ।। ४८ ।।
पात्रं गृहीत्वा सौवर्णं जलपूर्णमनिन्दिता ।
तच्छोणितं प्रत्यगृह्णाद् यत् प्रसुस्राव नस्ततः ।। ४९ ।।

पासेका आघात जोरसे लगा था, अतः उनकी नाकसे रक्तकी धारा बह चली। किंतु धर्मात्मा युधिष्ठिरने उस रक्तको पृथ्वीपर गिरनेसे पहले ही अपने दोनों हाथोंमें रोक लिया और पास ही खड़ी हुई द्रौपदीकी ओर देखा। द्रौपदी अपने स्वामीके मनके अधीन रहनेवाली और उनकी अनुगामिनी थी। उस सती-साध्वी देवीने उनका अभिप्राय समझ लिया; अतः जलसे भरा हुआ सुवर्णमय पात्र ले आकर युधिष्ठिरकी नाकसे जो रक्त बहता था, वह सब उसमें ले लिया ।। ४७-४९ ।।

अथोत्तरः शुभैर्गन्धैर्माल्यैश्च विविधैस्तथा ।
अवकीर्यमाणः संहृष्टो नगरं स्वैरमागतः ।। ५० ।।

इसी समय राजकुमार उत्तर बड़े हर्षके साथ स्वच्छन्दतापूर्वक नगरमें आये। मार्गमें उनके ऊपर उत्तम गन्ध और भाँति-भाँतिके पुष्पहार बरसाये जा रहे थे ।।

सभाज्यमानः पौरैश्च स्त्रीभिर्जानपदैस्तथा ।
आसाद्य भवनद्वारं पित्रे सम्प्रत्यवेदयत् ।। ५१ ।।

मत्स्यदेशके लोगों, पुरवासियों तथा सुन्दरी स्त्रियोंने उनका स्वागत किया; फिर राजभवनके द्वारपर पहुँचकर उन्होंने पिताको अपने आगमनकी सूचना करवायी ।। ५१ ।।

ततो द्वाःस्थः प्रविश्यैव विराटमिदमब्रवीत् ।
बृहन्नलासहायश्च पुत्रो द्वार्युत्तरः स्थितः ।। ५२ ।।

तब द्वारपालने भीतर जाकर महाराज विराटसे कहा—'प्रभो! बृहन्नलाके साथ राजकुमार उत्तर द्वारपर खड़े हैं' ।। ५२ ।।

ततो हृष्टो मत्स्यराजः क्षत्तारमिदमब्रवीत् ।
प्रवेश्यतामुभौ तूर्णं दर्शनेप्सुरहं तयोः ।। ५३ ।।

इस समाचारसे प्रसन्न होकर मत्स्यराज अपने सेवकसे बोले—'मैं उन दोनोंसे मिलना चाहता हूँ; अतः उन्हें शीघ्र भीतर ले आओ' ।। ५३ ।।

क्षत्तारं कुरुराजस्तु शनैः कर्ण उपाजपत् ।

उत्तरः प्रविशत्वेको न प्रवेश्या बृहन्नला ।। ५४ ।।

तब जाते हुए सेवकके कानमें युधिष्ठिरने धीरेसे कहा—'पहले अकेले राजकुमार उत्तर ही यहाँ आवें। बृहन्नलाको साथमें न ले आना' ।। ५४ ।।

एतस्य हि महाबाहो व्रतमेतत् समाहितम् ।
यो ममाङ्गे व्रणं कुर्याच्छोणितं वापि दर्शयेत् ।
अन्यत्र संग्रामगतान्न स जीवेत् कथञ्चन ।। ५५ ।।

'महाबाहो! बृहन्नलाका यह निश्चित व्रत है कि जो युद्धभूमिके सिवा अन्य किसी स्थानमें मेरे शरीरमें घाव कर दे या रक्त बहता दिखा दे, वह किसी प्रकार जीवित न रहने पाये ।। ५५ ।।

न मृष्याद् भृशसंक्रुद्धो मां दृष्ट्वा तु सशोणितम् ।
विराटमिह सामात्यं हन्यात् सबलवाहनम् ।। ५६ ।।

'मेरे शरीरमें रक्त देखकर वह अत्यन्त कुपित हो उठेगा और इस अपराधको क्षमा नहीं करेगा एवं राजा विराटको मन्त्री, सेना और वाहनोंसहित यहीं मार डालेगा' ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञः सुतो ज्येष्ठः प्राविशत् पृथिवीञ्जयः ।
सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कङ्कं चाप्युपतिष्ठत ।। ५७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा विराटके ज्येष्ठ पुत्र कुमार भूमिंजय (उत्तर) ने भीतर प्रवेश किया और पिताके दोनों चरणोंमें प्रणाम करके कंकको भी मस्तक झुकाया ।। ५७ ।।

ततो रुधिरसंयुक्तमनेकाग्रमनागसम् ।
भूमावासीनमेकान्ते सैरन्ध्र्या प्रत्युपस्थितम् ।। ५८ ।।

उसने देखा, कंक एकान्तमें भूमिपर बैठे हैं। सैरन्ध्री उनकी सेवामें उपस्थित है। उनका मन एकाग्र नहीं है और वे निरपराध हैं, तो भी उनके शरीरसे रक्त बह रहा है ।। ५८ ।।

ततः पप्रच्छ पितरं त्वरमाण इवोत्तरः ।
केनायं ताडितो राजन् केन पापमिदं कृतम् ।। ५९ ।।

तब उत्तरने बड़ी उतावलीके साथ अपने पितासे पूछा—'राजन्! किसने इन्हें मारा है? किसने यह पाप किया है?' ।। ५९ ।।

विराट उवाच

मयायं ताडितो जिह्मो न चाप्येतावदर्हति ।
प्रशस्यमाने यच्छूरे त्वयि षण्ढं प्रशंसति ।। ६० ।।

विराटने कहा—बेटा! मैंने ही इस कुटिलको मारा है। यह इतने सम्मानके योग्य कदापि नहीं है। देखो न, जब मैं तुम्हारे शौर्यकी प्रशंसा करता हूँ, तब यह उस हिजड़ेकी

बड़ाई करने लगता है ।। ६० ।।

उत्तर उवाच

अकार्यं ते कृतं राजन् क्षिप्रमेव प्रसाद्यताम् ।
मा त्वां ब्रह्मविषं घोरं समूलमिह निर्दहेत् ।। ६१ ।।

उत्तर बोले—राजन्! आपने इन्हें मारकर बड़ा अनुचित कार्य किया है। शीघ्र ही इनको मनाइये; अन्यथा ब्राह्मणका भयंकर क्रोधविष आपको यहाँ जड़-मूलसहित भस्म कर डालेगा ।। ६१ ।।

वैशम्पायन उवाच

स पुत्रस्य वचः श्रुत्वा विराटो राष्ट्रवर्धनः ।
क्षमयामास कौन्तेयं भस्मच्छन्नमिवानलम् ।। ६२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पुत्रकी यह बात सुनकर अपने राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाले महाराज विराटने राखमें छिपी हुई अग्निकी भाँति तेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे क्षमा माँगी ।। ६२ ।।

क्षमयन्तं तु राजानं पाण्डवः प्रत्यभाषत ।
चिरं क्षान्तमिदं राजन् न मन्युर्विद्यते मम ।। ६३ ।।

राजाको क्षमा माँगते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने कहा—‘राजन्! मैंने चिरकालसे क्षमाका व्रत ले रखा है, अतः आपका यह अपराध क्षमा हो चुका है। मुझे आपपर जरा भी क्रोध नहीं है ।। ६३ ।।

यदि ह्येतत् पतेद् भूमौ रुधिरं मम नस्ततः ।
सराष्ट्रस्त्वं महाराज विनश्येथा न संशयः ।। ६४ ।।

‘महाराज! यदि मेरी नाकसे बहनेवाला यह रक्त धरतीपर गिर जाता, तो आप सारे राष्ट्रके साथ नष्ट हो जाते; इसमें कोई संशय नहीं है ।। ६४ ।।

न दूषयामि ते राजन् यद् वै हन्याददूषकम् ।
बलवन्तं प्रभुं राजन् क्षिप्रं दारुणमाप्नुयात् ।। ६५ ।।

‘राजन्! जो किसीकी निन्दा या अपराध न करे, उसे मार देना अन्याय है, तथापि मैं आपके इस कार्यकी निन्दा नहीं करता; क्योंकि बलवान् राजाको प्रायः शीघ्र ही ऐसे कठोर कर्म करनेका अवसर प्राप्त हो जाता है’ ।।

वैशम्पायन उवाच

शोणिते तु व्यतिक्रान्ते प्रविवेश बृहन्नला ।
अभिवाद्य विराटं तु कङ्कं चाप्युपतिष्ठत ।। ६६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब युधिष्ठिरकी नाकसे रक्त बहना बंद हो गया, उस समय बृहन्नलाने राजसभामें प्रवेश किया। उसने विराटको नमस्कार करके कंकको भी प्रणाम किया ।। ६६ ।।

क्षामयित्वा तु कौरव्यं रणादुत्तरमागतम् ।
प्रशशंस ततो मत्स्यः शृण्वतः सव्यसाचिनः ।। ६७ ।।

इधर मत्स्यनरेश कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे क्षमा माँगकर सव्यसाची अर्जुनके सुनते हुए ही रणभूमिसे आये हुए उत्तरकी प्रशंसा करने लगे— ।। ६७ ।।

त्वया दायादवानस्मि कैकेयीनन्दिवर्धन ।
त्वया मे सदृशः पुत्रो न भूतो न भविष्यति ।। ६८ ।।

'कैकेयीनन्दन! तुम्हें पाकर मैं वास्तवमें पुत्रवान् हूँ। तुम्हारे समान मेरा दूसरा कोई पुत्र न हुआ है; न होगा ही ।। ६८ ।।

पदं पदसहस्रेण यश्चरन् नापराध्नुयात् ।
तेन कर्णेन ते तात कथमासीत् समागमः ।। ६९ ।।
मनुष्यलोके सकले यस्य तुल्यो न विद्यते ।
तेन भीष्मेण ते तात कथमासीत् समागमः ।। ७० ।।

तात! जो एक ही लक्ष्यके साथ-साथ सहस्रों लक्ष्योंका वेध करनेके लिये बाण चलाता है और कहीं भी चूकता नहीं है, उस कर्णके साथ तुम्हारा युद्ध किस प्रकार हुआ? बेटा! सारे मनुष्यलोकमें जिनकी समानता करनेवाला कोई नहीं है, उन भीष्मजीके साथ तुम्हारी भिड़न्त किस प्रकार हुई? ।। ६९-७० ।।

आचार्यो वृष्णिवीराणां कौरवाणां च यो द्विजः ।
सर्वक्षत्रस्य चाचार्यः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
तेन द्रोणेन ते तात कथमासीत् समागमः ।। ७१ ।।

'तात! जो वृष्णि वीरों और कौरवों दोनोंके आचार्य हैं अथवा दोनोंके ही नहीं, सम्पूर्ण क्षत्रियोंके आचार्य हैं, समस्त शस्त्रधारियोंमें जिनका सबसे ऊँचा स्थान है, उन द्रोणाचार्यके साथ तुम्हारा संग्राम किस प्रकार हुआ? ।।

आचार्यपुत्रो यः शूरः सर्वशस्त्रभृतामपि ।
अश्वत्थामेति विख्यातस्तेनासीत् संगरः कथम् ।। ७२ ।।

'आचार्यके जो शूरवीर पुत्र सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं, जिनकी अश्वत्थामा नामसे ख्याति है, उनके साथ तुम्हारी लड़ाई कैसे हुई? ।। ७२ ।।

रणे यं प्रेक्ष्य सीदन्ति हृतस्वा वणिजो यथा ।
कृपेण तेन ते तात कथमासीत् समागमः ।। ७३ ।।

'बेटा! जैसे वणिक् अपना धन छिन जानेपर दुःखी होते हैं, उसी प्रकार युद्धमें जिन्हें देखकर बड़े-बड़े योद्धा शिथिल हो जाते हैं, उन कृपाचार्यके साथ तुम्हारा संग्राम किस

प्रकार हुआ? ।। ७३ ।।

पर्वतं योऽभिविध्येत राजपुत्रो महेषुभिः ।

दुर्योधनेन ते तात कथमासीत् समागमः ।। ७४ ।।

‘तात! जो राजपुत्र अपने महान् बाणोंसे पर्वतको भी विदीर्ण कर सकता है, उस दुर्योधनके साथ तुम्हारी मुठभेड़ कैसे हुई? ।। ७४ ।।

अवगाढा द्विषन्तो मे सुखो वातोऽभिवाति माम् ।

यस्त्वं धनमथाजैषीः कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ।। ७५ ।।

‘बेटा! कौरवोंने जिस गोधनको संग्राममें हड़प लिया था, उसे तुम जीतकर ले आये, यह बहुत अच्छा हुआ। आज हमारे शत्रु परास्त हो गये, इसलिये आजकी वायु मुझे बड़ी सुखदायिनी प्रतीत हो रही है ।। ७५ ।।

तेषां भयाभिपन्नानां सर्वेषां बलशालिनाम् ।

नूनं प्रकाल्य तान् सर्वांस्त्वया युधि नरर्षभ ।

आच्छिन्नं गोधनं सर्वं शार्दूलेनामिषं यथा ।। ७६ ।।

‘नरश्रेष्ठ! तुमने उन समस्त शत्रुओंको युद्धमें जीतकर उन्हें भयमें डाल दिया है और उन समस्त बलशालियोंके हाथसे अपने सारे गोधनको इस प्रकार छीन लिया है, जैसे सिंह दूसरे जन्तुओंके हाथसे मांस छीन लेता है ।। ७६ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि विराटोत्तरसंवादे अष्टषष्टितमोऽध्यायः ।। ६८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें विराट-उत्तर-संवादविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६८ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं।)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

राजा विराट और उत्तरकी विजयके विषयमें बातचीत

उत्तर उवाच

न मया निर्जिता गावो न मया निर्जिताः परे ।
कृतं तत् सकलं तेन देवपुत्रेण केनचित् ।। १ ।।

उत्तरने कहा—पिताजी! मैंने गौओंको नहीं जीता है और न मैंने शत्रुओंपर ही विजय पायी है। यह सब कार्य तो किसी देवकुमारने किया है ।। १ ।।

स हि भीतं द्रवन्तं मां देवपुत्रो न्यवर्तयत् ।
स चातिष्ठद् रथोपस्थे वज्रसंहननो युवा ।। २ ।।

मैं तो डरकर भागा आ रहा था; किंतु वज्रके समान सुदृढ़ शरीरवाले उस तरुण देवपुत्रने मुझे लौटाया और वह स्वयं ही रथके पिछले भागमें रथी बनकर बैठ गया ।। २ ।।

तेन ता निर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः ।
तस्य तत् कर्म वीरस्य न मया तात तत् कृतम् ।। ३ ।।

उसीने उन गौओंको जीता है और कौरवोंको भी परास्त किया है। पिताजी! यह सब उसी वीरका कर्म है। मैंने कुछ नहीं किया है ।। ३ ।।

स हि शारद्वतं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड् रथान् ।
सूतपुत्रं च भीष्मं च चकार विमुखाञ्छरैः ।। ४ ।।
दुर्योधनं विकर्णं च सनागमिव यूथपम् ।
प्रभग्नमब्रवीद् भीतं राजपुत्रं महाबलः ।। ५ ।।

उसीने कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कर्ण, भीष्म और दुर्योधन—इन छहों महारथियोंको अपने बाणोंसे मारकर युद्धसे भगा दिया। वहाँ जैसे यूथपति गजराज अपने झुंडके हाथियोंसहित भागा जाता हो, उसी प्रकार दुर्योधन और विकर्ण आदि राजपुत्र भयभीत होकर भागने लगे; तब उस महाबली देवपुत्रने दुर्योधनसे कहा— ।। ४-५ ।।

न हास्तिनपुरे त्राणं तव पश्यामि किंचन ।
व्यायामेन परीप्सस्व जीवितं कौरवात्मज ।। ६ ।।

'धृतराष्ट्रकुमार! अब हस्तिनापुरमें तेरी जीवन-रक्षाका कोई उपाय मुझे नहीं दिखायी देता; अतः देश-देशान्तरोंमें घूमकर अपनी जान बचा ।। ६ ।।

न मोक्ष्यसे पलायंस्त्वं राजन् युद्धे मनः कुरु ।
पृथिवीं भोक्ष्यसे जित्वा हतो वा स्वर्गमाप्स्यसि ।। ७ ।।

'राजन्! भागनेसे तू नहीं बच सकता। युद्धमें मन लगा। जीत लेगा, तो पृथ्वीका राज्य भोगेगा अथवा मारे जानेपर तुझे स्वर्ग मिलेगा' ।। ७ ।।

स निवृत्तो नरव्याघ्रो मुञ्चन् वज्रनिभाञ्छरान् ।
सचिवैः संवृतो राजा रथे नाग इव श्वसन् ।। ८ ।।

महाराज! इतना सुनना था कि नरश्रेष्ठ दुर्योधन साँपकी भाँति फुँफकारता हुआ रथके द्वारा लौट आया और मन्त्रियोंसे घिरकर उस देवपुत्रपर वज्र-सरीखे बाणोंकी वर्षा करने लगा ।। ८ ।।

तं दृष्ट्वा रोमहर्षोऽभूदूरुकम्पश्च मारिष ।
स तत्र सिंहसंकाशमनीकं व्यधमच्छरैः ।। ९ ।।

मारिष! उस समय उसे देखकर मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये और जाँघें काँपने लगीं; किंतु उस देवपुत्रने अपने बाणोंद्वारा सिंहके समान पराक्रमी दुर्योधन और उसकी सेनाको संतप्त कर दिया ।। ९ ।।

तत् प्रणुद्य रथानीकं सिंहसंहननो युवा ।
कुरूंस्तान् प्रहसन् राजन् संस्थितान् हृतवाससः ।। १० ।।
एकेन तेन वीरेण षड् रथाः परिनिर्जिताः ।
शार्दूलेनेव मत्तेन यथा वनचरा मृगाः ।। ११ ।।

सिंहके समान सुदृढ़ शरीरवाले उस तरुण वीरने रथारोहियोंकी सेनाको छिन्न-भिन्न करके हँसते-हँसते उन कौरवोंको भी धराशायी कर दिया, जिससे उनके कपड़े उतार लिये गये। जैसे मदोन्मत्त सिंह वनमें विचरनेवाले मृगोंको परास्त करता है, उसी प्रकार उस वीर देवपुत्रने अकेले ही उन छः महारथियोंको हराया है ।। १०-११ ।।

विराट उवाच

क्व स वीरो महाबाहुर्देवपुत्रो महायशाः ।
यो मे धनमथाजैषीत् कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ।। १२ ।।
इच्छामि तमहं द्रष्टुमर्चितुं च महाबलम् ।
येन मे त्वं च गावश्च रक्षिता देवसूनुना ।। १३ ।।

विराटने पूछा—बेटा! वह महायशस्वी महाबाहु वीर देवपुत्र कहाँ है, जिसने युद्धमें कौरवोंद्वारा काबूमें की हुई मेरी गौओंको जीता है? जिस देवकुमारने तुम्हें और मेरी गौओंको भी बचाया है, मैं उस महापराक्रमी वीरको देखना और उसका सत्कार करना चाहता हूँ ।। १२-१३ ।।

उत्तर उवाच

अन्तर्धानं गतस्तत्र देवपुत्रो महाबलः ।
स तु श्वो वा परश्वो वा मन्ये प्रादुर्भविष्यति ।। १४ ।।

उत्तरने कहा—पिताजी! वह महाबली देवपुत्र वहीं अन्तर्धान हो गया; किंतु मेरा विश्वास है कि वह कल या परसों यहाँ फिर प्रकट होगा ।। १४ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमाख्यायमानं तु छन्नं सत्रेण पाण्डवम् ।
वसन्तं तत्र नाज्ञासीद् विराटो वाहिनीपतिः ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार संकेतपूर्वक बतानेपर भी सेनाओंके स्वामी राजा विराट नपुंसकवेशमें छिपकर वहीं रहनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनको पहचान न सके ।। १५ ।।

ततः पार्थोऽभ्यनुज्ञातो विराटेन महात्मना ।
प्रददौ तानि वासांसि विराटदुहितुः स्वयम् ।। १६ ।।

तदनन्तर महामना विराटकी आज्ञासे बृहन्नलारूपी अर्जुनने स्वयं विराटकन्या उत्तराको वे सब कपड़े, जो महारथियोंके शरीरसे उतारे गये थे, दे दिये ।। १६ ।।

उत्तरा तु महार्हाणि विविधानि नवानि च ।
प्रतिगृह्याभवत् प्रीता तानि वासांसि भामिनी ।। १७ ।।
मन्त्रयित्वा तु कौन्तेय उत्तरेण महात्मना ।
इतिकर्तव्यतां सर्वां राजन् पार्थे युधिष्ठिरे ।। १८ ।।
ततस्तथा तद् व्यदधाद् यथावत् पुरुषर्षभ ।
सह पुत्रेण मत्स्यस्य प्रहृष्टा भरतर्षभाः ।। १९ ।।

भामिनी उत्तरा उन भाँति-भाँतिके नवीन एवं बहुमूल्य वस्त्रोंको लेकर बहुत प्रसन्न हुई। जनमेजय! कुन्तीनन्दन अर्जुनने महामना उत्तरके साथ राजा युधिष्ठिरको प्रकट करनेके विषयमें सलाह की और क्या-क्या करना चाहिये, इन सब बातोंका निश्चय कर लिया। नरश्रेष्ठ! तदनन्तर उन्होंने उसी निश्चयके अनुसार सब कार्य ठीक-ठीक किया। भरतकुलशिरोमणि पाण्डव मत्स्यनरेशके पुत्र उत्तरके साथ वह सब व्यवस्था करके बड़े प्रसन्न हुए ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि गोहरणपर्वणि विराटोत्तरसंवादे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ।। ६९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत गोहरणपर्वमें विराट-उत्तर-संवादविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६९ ।।

(वैवाहिकपर्व)

सप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका राजा विराटको महाराज युधिष्ठिरका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

ततस्तृतीये दिवसे भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
स्नाताः शुक्लाम्बरधराः समये चरितव्रताः ।। १ ।।
युधिष्ठिरं पुरस्कृत्य सर्वाभरणभूषिताः ।
द्वारि मत्ता यथा नागा भ्राजमाना महारथाः ।। २ ।।
विराटस्य सभां गत्वा भूमिपालासनेष्वथ ।
निषेदुः पावकप्रख्याः सर्वे धिष्ण्येष्विवाग्नयः ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर नियत समयतक अपनी प्रतिज्ञाका पालन करके अग्निके समान तेजस्वी पाँचों भाई महारथी पाण्डव तीसरे दिन स्नान करके श्वेत वस्त्र धारणकर समस्त राजोचित आभूषणोंसे विभूषित हो राजसभामें द्वारपर स्थित मदोन्मत्त गजराजोंकी भाँति सुशोभित होने लगे। वे राजा युधिष्ठिरको आगे करके विराटकी सभामें गये और राजाओंके लिये रखे हुए सिंहासनोंपर बैठे। उस समय वे भिन्न-भिन्न यज्ञवेदियोंपर प्रज्वलित अग्नियोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ।। १—३ ।।

तेषु तत्रोपविष्टेषु विराटः पृथिवीपतिः ।
आजगाम सभां कर्तुं राजकार्याणि सर्वशः ।। ४ ।।

पाण्डवोंके वहाँ बैठ जानेपर राजा विराट अपने समस्त राजकाज करनेके लिये सभामें आये ।। ४ ।।

श्रीमतः पाण्डवान् दृष्ट्वा ज्वलतः पावकानिव ।
मुहूर्तमिव च ध्यात्वा सरोषः पृथिवीपतिः ।। ५ ।।
अथ मत्स्योऽब्रवीत् कङ्कं देवरूपमिव स्थितम् ।
मरुद्गणैरुपासीनं त्रिदशानामिवेश्वरम् ।। ६ ।।

वहाँ प्रज्वलित अग्नियोंके समान तेजस्वी श्रीसम्पन्न पाण्डवोंको देखकर पृथ्वीपति विराटने दो घड़ीतक मन-ही-मन कुछ विचार किया। फिर वे कुपित होकर देवताके समान स्थित मरुद्गणोंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रके तुल्य सुशोभित कंकसे बोले— ।। ५-६ ।।

स किलाक्षातिवापस्त्वं सभास्तारो मया वृतः ।

अथ राजासने कस्मादुपविष्टस्त्वलंकृतः ।। ७ ।।

'कंक! तुम्हें तो मैंने पासा फेंकनेवाला सभासद् बनाया था। आज बन-ठनकर राजसिंहासनपर कैसे बैठ गये?' ।। ७ ।।

वैशम्पायन उवाच

परिहासेप्सया वाक्यं विराटस्य निशम्य तत् ।
स्मयमानोऽर्जुनो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मानो परिहास करनेके लिये कहा गया हो, ऐसा विराटका वह वचन सुनकर अर्जुन मुसकराते हुए इस प्रकार बोले ।। ८ ।।

अर्जुन उवाच

इन्द्रस्यार्धासनं राजन्नयमारोढुमर्हति ।
ब्रह्मण्यः श्रुतवांस्त्यागी यज्ञशीलो दृढव्रतः ।। ९ ।।

अर्जुनने कहा—राजन्! आपके राजासनकी तो बात ही क्या है, ये तो इन्द्रके भी आधे सिंहासनपर बैठनेके अधिकारी हैं। ये ब्राह्मणभक्त, शास्त्रोंके विद्वान्, त्यागी, यज्ञशील तथा दृढ़ताके साथ अपने व्रतका पालन करनेवाले हैं ।। ९ ।।

एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः ।
एष बुद्ध्याधिको लोके तपसां च परायणम् ।। १० ।।
एषोऽस्त्रं विविधं वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे ।
न चैवान्यः पुमान् वेत्ति न वेत्स्यति कदाचन ।। ११ ।।

ये मूर्तिमान धर्म हैं तथा पराक्रमी पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। इस जगत्में ये सबसे बढ़कर बुद्धिमान् और तपस्याके परम आश्रय हैं। ये नाना प्रकारके ऐसे अस्त्रोंको जानते हैं, जिन्हें इस चराचर त्रिलोकीमें दूसरा मनुष्य न तो जानता है और न कभी जान सकेगा ।। १०-११ ।।

न देवा नासुराः केचिन्न मनुष्या न राक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ।। १२ ।।

जिन अस्त्रोंको देवता, असुर, मनुष्य, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और बड़े-बड़े नाग भी नहीं जानते, उन सबका इन्हें ज्ञान है ।। १२ ।।

दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः ।
पाण्डवानामतिरथो यज्ञधर्मपरो वशी ।। १३ ।।

ये दीर्घदर्शी, महातेजस्वी तथा नगर और देशके लोगोंको अत्यन्त प्रिय हैं। ये पाण्डवोंमें अतिरथी वीर हैं एवं सदा यज्ञ और धर्मके अनुष्ठानमें संलग्न तथा मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले हैं ।। १३ ।।

महर्षिकल्पो राजर्षिः सर्वलोकेषु विश्रुतः ।

बलवान् धृतिमान् दक्षः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
धनैश्च सञ्चयैश्चैव शक्रवैश्रवणोपमः ।। १४ ।।

ये महर्षियोंके समान हैं, राजर्षि हैं और समस्त लोकोंमें विख्यात हैं। बलवान्, धैर्यवान्, चतुर, सत्यवादी और जितेन्द्रिय हैं। धन और संग्रहकी दृष्टिसे ये इन्द्र और कुबेरके समान हैं ।। १४ ।।

यथा मनुर्महातेजा लोकानां परिरक्षिता ।
एवमेष महातेजाः प्रजानुग्रहकारकः ।। १५ ।।

जैसे महातेजस्वी मनु समस्त लोकोंके रक्षक हैं उसी प्रकार ये महातेजस्वी नरेश भी प्रजाजनोंपर अनुग्रह करनेवाले हैं ।। १५ ।।

अयं कुरूणामृषभो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अस्य कीर्तिः स्थिता लोके सूर्यस्येवोद्यतः प्रभा ।। १६ ।।

ये ही कुरुवंशमें सर्वश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर हैं। उदयकालके सूर्यकी शान्त प्रभाके समान इनकी सुख-दायिनी कीर्ति समस्त संसारमें फैली हुई है ।। १६ ।।

संसरन्ति दिशः सर्वा यशसोऽस्य इवांशवः ।
उदितस्येव सूर्यस्य तेजसोऽनु गभस्तयः ।। १७ ।।

जैसे सूर्योदय होनेपर सूर्यके तेजके पश्चात् उनकी किरणें समस्त दिशाओंमें फैल जाती हैं, उसी प्रकार इनके सुयशके साथ-साथ उसकी सुधाधवल किरणें समस्त दिशाओंमें छा रही हैं ।। १७ ।।

एनं दशसहस्राणि कुञ्जराणां तरस्विनाम् ।
अन्वयुः पृष्ठतो राजन् यावदध्यावसत् कुरून् ।। १८ ।।

राजन्! ये महाराज जब कुरुदेशमें रहते थे, उस समय इनके पीछे दस हजार वेगवान् हाथी चला करते थे ।। १८ ।।

त्रिंशदेनं सहस्राणि रथाः काञ्चनमालिनः ।
सदश्वैरुपसम्पन्नाः पृष्ठतोऽनुययुस्तदा ।। १९ ।।

इस प्रकार अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमालामण्डित तीस हजार रथ भी उस समय इनका अनुसरण करते थे ।।

एनमष्टशताः सूताः सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।
अब्रुवन् मागधैः सार्धं पुरा शक्रमिवर्षयः ।। २० ।।

जैसे महर्षिगण इन्द्रकी स्तुति करते हैं, उसी प्रकार पहले विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण किये आठ सौ सूत और मागध इनके गुण गाते थे ।। २० ।।

एनं नित्यमुपासन्त कुरवः किंकरा यथा ।
सर्वे च राजन् राजानो धनेश्वरमिवामराः ।। २१ ।।

राजन्! जैसे देवगण धनाध्यक्ष कुबेरका दरबार किया करते हैं, वैसे ही सब राजा और कौरव किंकरोंकी भाँति इनकी नित्य उपासना करते थे ।। २१ ।।

एष सर्वान् महीपालान् करदान् समकारयत् ।
वैश्यानिव महाभागो विवशान् स्ववशानपि ।। २२ ।।
अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम् ।
उपजीवन्ति राजानमेनं सुचरितव्रतम् ।। २३ ।।

इन महाभाग नरेशने इस देशके सब राजाओंको वैश्योंकी भाँति स्ववश (अपने अधीन) और विवश करके कर देनेवाला बना दिया था। (अर्थात् सब राजा इन्हें कर दिया करते थे।) अत्यन्त उत्तम व्रतका पालन करनेवाले इन महाराजके यहाँ प्रतिदिन अट्ठासी हजार महाबुद्धिमान् स्नातकोंकी जीविका चलती थी ।। २२-२३ ।।

एष वृद्धाननाथांश्च पङ्गूनन्धांश्च मानवान् ।
पुत्रवत् पालयामास प्रजा धर्मेण वै विभुः ।। २४ ।।

ये बूढ़े, अनाथ, पंगू और अंधे मनुष्योंका भी स्नेहपूर्वक पालन करते थे। ये नरेश अपनी प्रजाकी धर्मपूर्वक पुत्रकी भाँति रक्षा करते थे ।। २४ ।।

एष धर्मे दमे चैव क्रोधे चापि जितव्रतः ।
महाप्रसादो ब्रह्मण्यः सत्यवादी च पार्थिवः ।। २५ ।।

ये भूपाल धर्म और इन्द्रियसंयममें तत्पर तथा क्रोधको काबूमें रखनेके लिये दृढ़प्रतिज्ञ हैं। ये बड़े कृपालु, ब्राह्मणभक्त और सत्यवक्ता हैं ।। २५ ।।

शीघ्रं तापेन चैतस्य तप्यते स सुयोधनः ।
सगणः सह कर्णेन सौबलेनापि वा विभुः ।। २६ ।।

इनके प्रतापसे दुर्योधन शक्तिशाली होकर भी कर्ण, शकुनि तथा अपने गणोंके साथ शीघ्र ही संतप्त होनेवाला है ।। २६ ।।

न शक्यन्ते ह्यस्य गुणाः प्रसंख्यातुं नरेश्वर ।
एष धर्मपरो नित्यमानृशंसश्च पाण्डवः ।। २७ ।।
एवं युक्तो महाराजः पाण्डवः पार्थिवर्षभः ।
कथं नार्हति राजार्हमासनं पृथिवीपते ।। २८ ।।

नरेश्वर! इनके सद्गुणोंकी गणना नहीं की जा सकती। ये पाण्डुनन्दन नित्य धर्मपरायण तथा दयालु स्वभावके हैं। राजन्! समस्त राजाओंके शिरोमणि पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर इस प्रकार सर्वोत्तम गुणोंसे युक्त होकर भी राजोचित आसनके अधिकारी क्यों नहीं हैं? ।। २७-२८ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पाण्डवप्रकाशे सप्ततितमोऽध्यायः ।। ७० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें पाण्डवप्राकट्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७० ।।

एकसप्ततितमोऽध्यायः

विराटको अन्य पाण्डवोंका भी परिचय प्राप्त होना तथा विराटके द्वारा युधिष्ठिरको राज्य समर्पण करके अर्जुनके साथ उत्तराके विवाहका प्रस्ताव करना

विराट उवाच

यद्येष राजा कौरव्यः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
कतमोऽस्यार्जुनो भ्राता भीमश्च कतमो बली ।। १ ।।
नकुलः सहदेवो वा द्रौपदी वा यशस्विनी ।
यदा द्यूतजिताः पार्था न प्राज्ञायन्त ते क्वचित् ।। २ ।।

विराटने पूछा—यदि ये कुरुकुलके रत्न कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर हैं, तो इनमें कौन इनके भाई अर्जुन हैं? कौन महाबली भीम हैं? नकुल, सहदेव तथा यशस्विनी द्रौपदी कौन हैं? जबसे कुन्तीपुत्र जूएमें हार गये, तबसे उनका कहीं भी पता नहीं लगा ।। १-२ ।।

अर्जुन उवाच

य एष बल्लवो ब्रूते सूदस्तव नराधिप ।
एष भीमो महाराज भीमवेगपराक्रमः ।। ३ ।।

अर्जुन बोले—महाराज! ये जो बल्लवनामधारी आपके रसोइये हैं, ये ही भयंकर वेग और पराक्रमवाले भीमसेन हैं ।। ३ ।।

एष क्रोधवशान् हत्वा पर्वते गन्धमादने ।
सौगन्धिकानि दिव्यानि कृष्णार्थे समुपाहरत् ।। ४ ।।
गन्धर्व एष वै हन्ता कीचकानां दुरात्मनाम् ।
व्याघ्रानृक्षान् वराहांश्च हतवान् स्त्रीपुरे तव ।। ५ ।।

ये ही गन्धमादन पर्वतपर क्रोधवश नामवाले राक्षसोंको मारकर द्रौपदीके लिये दिव्य सौगन्धिक कमल ले आये थे। दुरात्मा कीचकोंका संहार करनेवाले गन्धर्व भी ये ही हैं। इन्होंने ही आपके अन्तःपुरमें अनेक व्याघ्रों, भालुओं और वराहोंका वध किया है ।। ४-५ ।।

(हिडिम्बं च बकं चैव किर्मीरं च जटासुरम् ।
हत्वा निष्कण्टकं चक्रेऽरण्यं सवर्तः सुखम् ।।)

इन्होंने ही हिडिम्ब, बकासुर, किर्मीर और जटासुर-को मारकर वनको सर्वथा निष्कण्टक और सुखमय बनाया था।

यश्चासीदश्वबन्धस्ते नकुलोऽयं परंतपः ।
गोसङ्ख्यः सहदेवश्च माद्रीपुत्रौ महारथौ ।। ६ ।।

शृङ्गारवेषाभरणौ रूपवन्तौ यशस्विनौ ।
महारथसहस्राणां समर्थौ भरतर्षभौ ।। ७ ।।

और ये शत्रुओंको संताप देनेवाले नकुल जो अबतक आपके यहाँ अश्वशालाके प्रबन्धक रहे हैं और ये सहदेव हैं, जो गौओंकी सँभाल करते आये हैं। ये दोनों (हमारी माता) माद्रीके पुत्र एवं महारथी वीर हैं। उत्तम शृंगार, सुन्दर वेष और आभूषणोंसे सुशोभित ये दोनों भाई बड़े ही रूपवान् और यशस्वी हैं। भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ ये नकुल-सहदेव युद्धमें सहस्रों महारथियोंका सामना करनेमें समर्थ हैं ।। ६-७ ।।

एषा पद्मपलाशाक्षी सुमध्या चारुहासिनी ।
सैरन्ध्री द्रौपदी राजन् यस्यार्थे कीचका हताः ।। ८ ।।

राजन्! यह विकसित कमलदलके समान विशाल नेत्र, सुन्दर कटिप्रदेश और मनोहर मुसकानवाली सैरन्ध्री ही महारानी द्रौपदी है, जिसके धर्मकी रक्षाके लिये कीचकोंका वध किया गया ।। ८ ।।

अर्जुनोऽहं महाराज व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
भीमादवरजः पार्थो यमाभ्यां चापि पूर्वजः ।। ९ ।।

महाराज! मैं ही अर्जुन हूँ। अवश्य मेरा नाम भी आपके कानोंमें पड़ा होगा। मैं कुन्तीदेवीका पुत्र हूँ। भीमसेनसे छोटा और नकुल-सहदेवसे बड़ा हूँ ।। ९ ।।

उषिताः स्मो महाराज सुखं तव निवेशने ।
अज्ञातवासमुषिता गर्भवास इव प्रजाः ।। १० ।।

राजन्! हमलोगोंने बड़े सुखसे आपके महलमें अज्ञातवासका समय बिताया है। जैसे संतान गर्भवासमें रही हो, उसी प्रकार हम भी यहाँ अज्ञातवासमें रहे हैं ।। १० ।।

वैशम्पायन उवाच

यदार्जुनेन ते वीराः कथिताः पञ्च पाण्डवाः ।
तदार्जुनस्य वैराटिः कथयामास विक्रमम् ।। ११ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब अर्जुनने पाँचों पाण्डव वीरोंका परिचय दे दिया, तब विराटकुमार उत्तरने अर्जुनका पराक्रम बताया ।। ११ ।।

पुनरेव च तान् पार्थान् दर्शयामास चोत्तरः ।। १२ ।।

साथ ही उन्होंने पाँचों पाण्डवोंका एक-एक करके पुनः राजाको परिचय दिया ।। १२ ।।

उत्तर उवाच

य एष जाम्बूनदशुद्धगौर-
तनुर्महान् सिंह इव प्रवृद्धः ।
प्रचण्डघोणः पृथुदीर्घनेत्र-

स्ताम्रायताक्षः कुरुराज एषः ।। १३ ।।

उत्तर बोले—पिताजी! विशुद्ध जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान जिनका गौर शरीर है, जो सबसे बड़े और सिंहके समान हृष्ट-पुष्ट हैं, जिनकी नाक लंबी और बड़े-बड़े नेत्र कुछ लालिमा लिये कानोंतक फैले हुए हैं, ये ही कुरुकुलनरेश महाराज युधिष्ठिर हैं ।। १३ ।।

अयं पुनर्मत्तगजेन्द्रगामी
प्रतप्तचामीकरशुद्धगौरः
पृथ्वायतांसो गुरुदीर्घबाहु-
र्वृकोदरः पश्यत पश्यतैनम् ।। १४ ।।

और ये जो मतवाले गजराजकी भाँति मस्तानी चालसे चलनेवाले हैं, तपाये हुए सुवर्णके समान जिनका विशुद्ध गौर शरीर है, जिनके कंधे मोटे और चौड़े हैं तथा भुजाएँ बड़ी-बड़ी और भारी हैं, ये ही भीमसेन हैं। इन्हें अच्छी तरह देखिये ।। १४ ।।

यस्त्वेव पार्श्वेऽस्य महाधनुष्मान्
श्यामो युवा वारणयूथपोपमः ।
सिंहोन्नतांसो गजराजगामी
पद्मायताक्षोऽर्जुन एष वीरः ।। १५ ।।

इनके बगलमें जो ये महान् धनुर्धर श्यामवर्णके तरुण वीर विराज रहे हैं, जो यूथपति गजराजके समान शोभा पाते हैं, जिनके कंधे सिंहके समान ऊँचे और चाल मतवाले हाथीके समान मस्तानी है, ये ही कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाले वीरवर अर्जुन हैं ।। १५ ।।

राज्ञः समीपे पुरुषोत्तमौ तु
यमाविमौ विष्णुमहेन्द्रकल्पौ ।
मनुष्यलोके सकले समोऽस्ति
ययोर्न रूपे न बले न शीले ।। १६ ।।

महाराज युधिष्ठिरके समीप बैठे हुए वे इन्द्र और उपेन्द्रके समान दोनों नरश्रेष्ठ माद्रीके जुड़वें पुत्र नकुल-सहदेव हैं। सम्पूर्ण मानव-जगत्में इनके रूप, बल और शीलकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ।। १६ ।।

आभ्यां तु पार्श्वे कनकोत्तमाङ्गी
यैषा प्रभा मूर्तिमतीव गौरी ।
नीलोत्पलाभा सुरदेवतेव
कृष्णा स्थिता मूर्तिमतीव लक्ष्मीः ।। १७ ।।

इन दोनोंके बगलमें ये जो तेजस्विनी देवी मूर्तिमती गौरीके समान खड़ी हैं, जिनके उत्तम अंगोंसे सुनहरी छटा छिटक रही है, जिनकी कान्ति नीलकमलकी आभाको लज्जित कर रही है तथा जो देवताओंकी भी देवी और साकाररूपमें प्रकट हुई लक्ष्मीके समान शोभा पा रही हैं, ये ही द्रुपदकुमारी महारानी कृष्णा हैं ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं निवेद्य तान् पार्थान् पाण्डवान् पञ्च भूपते: ।
ततोऽर्जुनस्य वैराटि: कथयामास विक्रमम् ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार उन पाँचों कुन्तीपुत्र पाण्डवोंका राजाको परिचय देकर विराटकुमारने अर्जुनका पराक्रम बताना प्रारम्भ किया ।।

उत्तर उवाच

अयं स द्विषतां हन्ता मृगाणामिव केसरी ।
अचरद् रथवृन्देषु निघ्नंस्तांस्तान् वरान् रथान् ।। १९ ।।

उत्तरने कहा—पिताजी! ये ही वे देवपुत्र हैं, जो शत्रुओंका उसी प्रकार वध करते हैं, जैसे सिंह मृगोंका। ये ही कौरव रथारोहियोंकी सेनामें उन सब श्रेष्ठ महारथियोंको घायल करते हुए निर्भय विचर रहे थे ।। १९ ।।

अनेन विद्धो मातङ्गो महानेकेषुणा हत: ।
सुवर्णकक्ष: संग्रामे दन्ताभ्यामगमन्महीम् ।। २० ।।

युद्धमें इनके एक ही बाणसे घायल होकर विकर्णका विशाल गजराज, जो सोनेकी साँकलसे सुशोभित था, धरतीपर दोनों दाँत टेककर मर गया ।। २० ।।

अनेन विजिता गावो जिताश्च कुरवो युधि ।
अस्य शङ्खप्रणादेन कर्णौ मे बधिरीकृतौ ।। २१ ।।

इन्होंने ही गौओंको जीता और युद्धमें कौरवोंको परास्त किया है। इनके शंखकी गम्भीर ध्वनि सुनकर मेरे तो कान बहरे हो गये थे ।। २१ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मत्स्यराज: प्रतापवान् ।
उत्तरं प्रत्युवाचेदमभिपन्नो युधिष्ठिरे ।। २२ ।।
प्रसादनं पाण्डवस्य प्राप्तकालं हि रोचते ।
उत्तरां च प्रयच्छामि पार्थाय यदि मन्यसे ।। २३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उत्तरकी यह बात सुनकर प्रतापी मत्स्यनरेश, जो युधिष्ठिरके अपराधी थे, अपने पुत्रसे इस प्रकार बोले—‘बेटा! यह पाण्डवोंको प्रसन्न करनेका समय आया है। मेरी ऐसी ही रुचि है। यदि तुम्हारी राय हो, तो मैं कुमारी उत्तराका विवाह कुन्तीपुत्र अर्जुनसे कर दूँ’ ।। २२-२३ ।।

उत्तर उवाच

आर्या: पूज्याश्च मान्याश्च प्राप्तकालं च मे मतम् ।
पूज्यन्तां पूजनार्हाश्च महाभागाश्च पाण्डवा: ।। २४ ।।

उत्तरने कहा—पिताजी! पाण्डवलोग महान् सौभाग्यशाली हैं। ये सर्वथा श्रेष्ठ, पूजनीय और सम्मानके योग्य हैं। मेरी समझमें इनके सत्कारका हमें अवसर भी मिल गया है, अतः इन पूजनेयोग्य पाण्डवोंका आप अवश्य पूजन करें ।। २४ ।।

विराट उवाच

अहं खल्वपि संग्रामे शत्रूणां वशमागतः ।
मोक्षितो भीमसेनेन गावश्चापि जितास्तथा ।। २५ ।।

विराट बोले—बेटा! मैं भी त्रिगर्तोंके साथ होनेवाले संग्राममें शत्रुओंके वशीभूत हो गया था, किंतु भीमसेनने मुझे छुड़ाया और हमारी सब गौओंको भी जीता ।। २५ ।।

एतेषां बाहुवीर्येण अस्माकं विजयो मृधे ।
एवं सर्वे सहामात्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
प्रसादयामो भद्रं ते सानुजं पाण्डवर्षभम् ।। २६ ।।

इन पाण्डवोंके ही बाहुबलसे संग्राममें हमारी विजय हुई है; इसलिये वत्स! तुम्हारा भला हो। हम सब लोग मन्त्रियोंसहित चलकर पाण्डवश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको उनके छोटे भाइयोंसहित प्रसन्न करें ।। २६ ।।

यदस्माभिरजानद्भिः किंचिदुक्तो नराधिपः ।
क्षन्तुमर्हति तत् सर्वं धर्मात्मा ह्येष पाण्डवः ।। २७ ।।

हमने अनजानमें उनके प्रति जो कुछ अनुचित वचन कह दिया है, वह सब ये धर्मात्मा पाण्डुपुत्र महाराज युधिष्ठिर क्षमा करें ।। २७ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो विराटः परमाभितुष्टः
समेत्य राजा समयं चकार ।
राज्यं च सर्वं विससर्ज तस्मै
सदण्डकोशं सपुरं महात्मा ।। २८ ।।
पाण्डवांश्च ततः सर्वान् मत्स्यराजः प्रतापवान् ।
धनंजयं पुरस्कृत्य दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रवीत् ।। २९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर राजा विराटने बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने पुत्रसे मिलकर कुछ विचार किया, फिर उन महामनाने दण्ड, कोश और नगर आदिसहित सम्पूर्ण राज्य युधिष्ठिरको समर्पित कर दिया। फिर प्रतापी मत्स्यराज अर्जुनको आगे रखकर सब पाण्डवोंसे मिले और यह कहने लगे कि हमारा बड़ा सौभाग्य है, हमारा बड़ा सौभाग्य है; जो आपलोगोंका दर्शन हुआ ।। २८-२९ ।।

समुपाघ्राय मूर्धानं संश्लिष्य च पुनः पुनः ।
युधिष्ठिरं च भीमं च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।। ३० ।।

फिर उन्होंने युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवका बार-बार मस्तक सूँघा और सबको हृदयसे लगाया ।। ३० ।।

नातृप्यद् दर्शने तेषां विराटो वाहिनीपतिः ।
स प्रीयमाणो राजानं युधिष्ठिरमथाब्रवीत् ।। ३१ ।।

सेनाओंके स्वामी राजा विराट पाण्डवोंको देख-देखकर तृप्त नहीं होते थे। वे प्रेमपूर्वक राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले— ।। ३१ ।।

दिष्ट्या भवन्तः सम्प्राप्ताः सर्वे कुशलिनो वनात् ।
दिष्ट्या सम्पालितं कृच्छ्रमज्ञातं वै दुरात्मभिः ।। ३२ ।।

'बड़े सौभाग्यकी बात है, जो आप सब लोग वनसे कुशलपूर्वक लौट आये। दुरात्मा कौरवोंसे अज्ञात रहकर आपने यह कष्टसाध्य अज्ञातवासका नियम पूरा कर लिया, यह भी बड़े आनन्दकी बात है ।। ३२ ।।

इदं च राज्यं पार्थाय यच्चान्यदपि किञ्चन ।
प्रतिगृह्णन्तु तत् सर्वं पाण्डवा अविशङ्कया ।। ३३ ।।

'मेरा यह राज्य कुन्तीपुत्रको समर्पित है। इसके सिवा और भी जो कुछ मेरे पास है, वह सब पाण्डवलोग बिना किसी संकोचके ग्रहण करें ।। ३३ ।।

उत्तरां प्रतिगृह्णातु सव्यसाची धनंजयः ।
अयं ह्यौपयिको भर्ता तस्याः पुरुषसत्तमः ।। ३४ ।।

'सव्यसाची धनंजय मेरी कन्या उत्तराको पत्नीरूपमें स्वीकार करें। ये नरश्रेष्ठ उसके लिये सर्वथा योग्य पति हैं' ।। ३४ ।।

एवमुक्तो धर्मराजः पार्थमैक्षद् धनंजयम् ।
ईक्षितश्चार्जुनो भ्रात्रा मत्स्यं वचनमब्रवीत् ।। ३५ ।।
प्रतिगृह्णाम्यहं राजन् स्नुषां दुहितरं तव ।
युक्तश्चावां हि सम्बन्धो मत्स्यभारतयोरपि ।। ३६ ।।

राजा विराटके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने कुन्तीनन्दन अर्जुनकी ओर देखा। भाईके देखनेपर अर्जुनने मत्स्यराजसे इस प्रकार कहा—'राजन्! मैं आपकी पुत्रीको अपनी पुत्रवधूके रूपमें स्वीकार करता हूँ। मत्स्य और भरतवंशका यह सम्बन्ध सर्वथा उचित है' ।। ३५-३६ ।।

इति श्रीमहाभारते विराटपर्वणि वैवाहिकपर्वणि उत्तराविवाहप्रस्तावे एकसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें उत्तराविवाहप्रस्तावविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७१ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३७ श्लोक हैं।)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका अपनी पुत्रवधूके रूपमें उत्तराको ग्रहण करना एवं अभिमन्यु और उत्तराका विवाह

विराट उवाच

किमर्थं पाण्डवश्रेष्ठ भार्यां दुहितरं मम ।
प्रतिग्रहीतुं नेमां त्वं मया दत्तामिहेच्छसि ।। १ ।।

विराट बोले—पाण्डवश्रेष्ठ! मैं स्वयं तुम्हें अपनी कन्या दे रहा हूँ, फिर तुम उसे अपनी पत्नीके रूपमें क्यों नहीं स्वीकार करते? ।। १ ।।

अर्जुन उवाच

अन्तःपुरेऽहमुषितः सदा पश्यन् सुतां तव ।
रहस्यं च प्रकाशं च विश्वस्ता पितृवन्मयि ।। २ ।।
प्रियो बहुतमश्चासं नर्तको गीतकोविदः ।
आचार्यवच्च मां नित्यं मन्यते दुहिता तव ।। ३ ।।

अर्जुनने कहा—राजन्! मैं बहुत समयतक आपके रनिवासमें रहा हूँ और आपकी कन्याको एकान्तमें तथा सबके सामने भी (पुत्रीभावसे ही) देखता आया हूँ। उसने भी मुझपर पिताकी भाँति ही विश्वास किया है। मैं नाचता तो था ही, गानविद्यामें भी कुशल हूँ, अतः उसका मेरे प्रति बहुत अधिक प्रेम रहा है, किंतु आपकी पुत्री मुझे सदा आचार्य (गुरु) की भाँति मानती आयी है ।। २-३ ।।

वयःस्थया तया राजन् सह संवत्सरोषितः ।
अतिशङ्का भवेत् स्थाने तव लोकस्य वा विभो ।। ४ ।।

राजन्! जब वह वयस्क हो चुकी थी तब मैं उसके साथ एक वर्षतक रह चुका हूँ। प्रभो! (ऐसी अवस्थामें यदि मैं उसके साथ विवाह करूँगा, तो) आपको या और किसी मनुष्यको हमारे चरित्रके विषयमें (अवश्य ही) संदेह होगा और वह युक्तिसंगत ही होगा ।। ४ ।।

तस्मान्निमन्त्रयेऽहं ते दुहितां मनुजाधिप ।
शुद्धो जितेन्द्रियो दान्तस्तस्याः शुद्धिः कृता मया ।। ५ ।।

महाराज! वह संदेह न हो, इसके लिये मैं आपकी पुत्रीको पुत्रवधूके रूपमें ही ग्रहण करूँगा। ऐसा होनेपर ही मैं शुद्धचरित्र, जितेन्द्रिय तथा मनको दमन करनेवाला समझा जाऊँगा और इसीसे मेरे द्वारा आपकी कन्याके चरित्रकी शुद्धि स्पष्ट हो जायगी ।। ५ ।।

स्नुषायां दुहितुर्वापि पुत्रे चात्मनि वा पुनः ।

अत्र शङ्कां न पश्यामि तेन शुद्धिर्भविष्यति ।। ६ ।।

पुत्रवधू और पुत्रीमें तथा पुत्र अथवा आत्मामें भेद नहीं है, अतः उसे पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण करनेपर मुझे कलंककी शंका नहीं दिखायी देती और इससे हम दोनोंकी पवित्रता भी स्पष्ट हो जायगी ।। ६ ।।

अभिशापादहं भीतो मिथ्यावादात् परंतप ।
स्नुषार्थमुत्तरां राजन् प्रतिगृह्णामि ते सुताम् ।। ७ ।।

परंतप! मैं अभिशाप और मिथ्यावादसे डरता हूँ, (यदि मैं आपकी पुत्रीको पत्नीरूपमें ग्रहण करूँ, तो लोग यह कल्पना कर सकते हैं कि इन दोनोंमें पहलेसे ही अनुचित सम्बन्ध था;) इसलिये राजन्! मैं आपकी पुत्री उत्तराको पुत्रवधूके रूपमें ही ग्रहण करता हूँ ।। ७ ।।

स्वस्रीयो वासुदेवस्य साक्षाद् देवशिशुर्यथा ।
दयितश्चक्रहस्तस्य सर्वास्त्रेषु च कोविदः ।। ८ ।।

मेरा पुत्र देवकुमारके समान है। वह साक्षात् भगवान् वासुदेवका भानजा है। चक्रधारी श्रीकृष्णको वह बहुत प्रिय है। साथ ही वह सब प्रकारकी अस्त्रविद्यामें कुशल है ।। ८ ।।

अभिमन्युर्महाबाहुः पुत्रो मम विशाम्पते ।
जामाता तव युक्तो वै भर्ता च दुहितुस्तव ।। ९ ।।

महाराज! मेरे उस महाबाहु पुत्रका नाम अभिमन्यु है। वह आपका सुयोग्य दामाद और आपकी पुत्रीका उपयुक्त पति होगा ।। ९ ।।

विराट उवाच

उपपन्नं कुरुश्रेष्ठे कुन्तीपुत्र धनंजये ।
य एवं धर्मनित्यश्च जातज्ञानश्च पाण्डवः ।। १० ।।
यत् कृत्यं मन्यसे पार्थ क्रियतां तदनन्तरम् ।
सर्वे कामाः समृद्धा मे सम्बन्धी यस्य मेऽर्जुनः ।। ११ ।।

विराट बोले—पार्थ! आप कौरवोंमें श्रेष्ठ और कुन्तीदेवीके पुत्र हैं। धनंजयमें इस प्रकार धर्मका विचार होना उचित ही है। पाण्डुपुत्र अर्जुन ही इस प्रकार नित्यधर्मपरायण और ज्ञानसम्पन्न हो सकते हैं। अब इसके बाद जो कर्तव्य आप ठीक समझें, उसे पूर्ण करें। मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गयीं। जिसके सम्बन्धी अर्जुन हो रहे हों, उसकी कौन-सी कामना अपूर्ण रह सकती हैं? ।। १०-११ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति राजेन्द्रे कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अन्वशासत् स संयोगं समये मत्स्यपार्थयोः ।। १२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महाराज विराटके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने उचित अवसर जान मत्स्यनरेश और पार्थके इस सम्बन्धका अनुमोदन

किया ।। १२ ।।

ततो मित्रेषु सर्वेषु वासुदेवं च भारत ।

प्रेषयामास कौन्तेयो विराटश्च महीपतिः ।। १३ ।।

जनमेजय! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर तथा राजा विराटने अपने-अपने सम्पूर्ण सुहृदों एवं सगे-सम्बन्धियोंको तथा भगवान् वासुदेवको भी निमन्त्रण भेजा ।। १३ ।।

ततस्त्रयोदशे वर्षे निवृत्ते पञ्च पाण्डवाः ।

उपप्लव्यं विराटस्य समपद्यन्त सर्वशः ।। १४ ।।

पाँचों पाण्डवोंका तेरहवाँ वर्ष तो पूर्ण हो ही चुका था, वे सब-के-सब राजा विराटके उपप्लव्य नामक नगरमें आकर रहने लगे ।। १४ ।।

अभिमन्युं च बीभत्सुरानिनाय जनार्दनम् ।

आनर्तेभ्योऽपि दाशार्हानानयामास पाण्डवः ।। १५ ।।

पाण्डुनन्दन अर्जुनने आनर्तदेशसे अभिमन्यु, भगवान् वासुदेव तथा दशार्हवंशके अपने अन्य सम्बन्धियोंको भी वहाँ बुलवा लिया ।। १५ ।।

काशिराजश्च शैब्यश्च प्रीयमाणौ युधिष्ठिरे ।

अक्षौहिणीभ्यां सहितावागतौ पृथिवीपती ।। १६ ।।

काशिराज और शैब्य दोनों युधिष्ठिरके बड़े प्रेमी थे। वे दोनों नरेश एक-एक अक्षौहिणी सेनाके साथ उपप्लव्य नगरमें आये ।। १६ ।।

अक्षौहिण्या च सहितो यज्ञसेनो महाबलः ।

द्रौपद्याश्च सुता वीराः शिखण्डी चापराजितः ।। १७ ।।

धृष्टद्युम्नश्च दुर्धर्षः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।

समस्ताक्षौहिणीपाला यज्वानो भूरिदक्षिणाः ।

वेदावभृथसम्पन्नाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः ।। १८ ।।

महाबली राजा द्रुपद भी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पधारे। उनके साथ द्रौपदीके पाँचों वीर पुत्र, कभी परास्त न होनेवाले शिखण्डी और समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ एवं दुर्धर्ष वीर धृष्टद्युम्न भी थे। इनके सिवा और भी अनेक राजा वहाँ पधारे, जो सब-के-सब एक-एक अक्षौहिणी सेनाके पालक, यज्ञकर्ता, यज्ञोंमें अधिकसे अधिक दक्षिणा देनेवाले, वेद और अवभृथ (यज्ञान्त) स्नानसे सम्पन्न, शूरवीर तथा पाण्डवोंके लिये प्राण देनेवाले थे ।। १७-१८ ।।

तानागतानभिप्रेक्ष्य मत्स्यो धर्मभृतां वरः ।

पूजयामास विधिवत् सभृत्यबलवाहनान् ।। १९ ।।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ मत्स्यनरेश विराटने उन्हें आया हुआ देख सेवक, सेना और सवारियोंसहित उन सबका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार किया ।। १९ ।।

प्रीतोऽभवद् दुहितरं दत्त्वा तामभिमन्यवे ।

ततः प्रत्युपयातेषु पार्थिवेषु ततस्ततः ।। २० ।।
तत्रागमद् वासुदेवो वनमाली हलायुधः ।
कृतवर्मा च हार्दिक्यो युयुधानश्च सात्यकिः ।। २१ ।।
अनाधृष्टिस्तथाक्रूरः साम्बो निशठ एव च ।
अभिमन्युमुपादाय सह मात्रा परंतपाः ।। २२ ।।

अभिमन्युको अपनी पुत्रीका वाग्दान करके राजा विराट बहुत प्रसन्न थे। तत्पश्चात् सब राजालोग अपने-अपने लिये नियत किये हुए स्थानोंमें विश्रामके लिये पधारे। वहाँ वनमालाधारी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण, हलरूपी शस्त्र धारण करनेवाले बलराम, हृदीकपुत्र कृतवर्मा, युयुधान नामसे प्रसिद्ध सात्यकि, अनाधृष्टि, अक्रूर, साम्ब और निशठ—ये सभी शत्रुसंतापन वीर अभिमन्यु और उसकी माता सुभद्राको साथ लिये वहाँ पधारे थे ।। २०—२२ ।।

इन्द्रसेनादयश्चैव रथैस्तैः सुसमाहितैः ।
आययुः सहिताः सर्वे परिसंवत्सरोषिताः ।। २३ ।।

जिन्होंने एक वर्षतक द्वारकामें निवास किया था, वे इन्द्रसेन आदि सारथि भी अच्छी तरह सब सामग्रियोंसे सम्पन्न किये हुए रथोंसहित वहाँ आये थे ।। २३ ।।

दशनागसहस्राणि हयानां द्विगुणं तथा ।
रथानामयुतं पूर्णं नियुतं च पदातिनाम् ।। २४ ।।
वृष्ण्यन्धकाश्च बहवो भोजाश्च परमौजसः ।
अन्वयुर्वृष्णिशार्दूलं वासुदेवं महाद्युतिम् ।। २५ ।।

परमतेजस्वी वृष्णिवंशशिरोमणि भगवान् वासुदेव-के साथ दस हजार हाथी, उनसे दुगुने अर्थात् बीस हजार घोड़े, दस हजार रथ और दस लाख पैदल सेना थी। इसके सिवा वृष्णि, अन्धक तथा भोजवंश-के और भी बहुत-से महापराक्रमी वीर उनके साथ पधारे थे ।। २४-२५ ।।

पारिबर्हं ददौ कृष्णः पाण्डवानां महात्मनाम् ।
स्त्रियो रत्नानि वासांसि पृथक् पृथगनेकशः ।। २६ ।।
ततो विवाहो विधिवद् ववृधे मत्स्यपार्थयोः ।

भगवान् श्रीकृष्णने महात्मा पाण्डवोंको दहेज या निमन्त्रणमें बहुत-सी दासियाँ, नाना प्रकारके रत्न और बहुत-से वस्त्र पृथक्-पृथक् भेंट किये। तत्पश्चात् मत्स्य और पार्थकुलके वैवाहिक सम्बन्धका कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न होने लगा ।। २६½ ।।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च गोमुखा डम्बरास्तथा ।। २७ ।।
पार्थैः संयुज्यमानस्य नेदुर्मत्स्यस्य वेश्मनि ।
भक्ष्यान्नभोज्यपानानि प्रभूतान्यभ्यहारयन् ।। २८ ।।

तदनन्तर कुन्तीपुत्रोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेवाले मत्स्यनरेशके महलमें शंख, नगाड़े, गोमुख और डम्बर आदि भाँति-भाँतिके बाजे बजने लगे। साथ ही उन्होंने खानेयोग्य अन्न, भोज्य और पीने आदिकी सामग्री भी प्रचुर मात्रामें प्रस्तुत की ।। २७-२८ ।।

गायनाख्यानशीलाश्च नटवैतालिकास्तथा ।
स्तुवन्तस्तानुपातिष्ठन् सूताश्च सह मागधैः ।। २९ ।।

गानेवाले, प्राचीन उपाख्यान सुनानेवाले, नट और वैतालिक सूत-मागध आदिके साथ उपस्थित हो पाण्डवोंकी स्तुति-प्रशंसा करने लगे ।। २९ ।।

सुदेष्णां च पुरस्कृत्य मत्स्यानां च वरस्त्रियः ।
आजग्मुश्चारुसर्वाङ्ग्यः सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।। ३० ।।

मत्स्यनरेशके रनिवासकी सुन्दरी स्त्रियाँ रानी सुदेष्णाको आगे करके महारानी द्रौपदीके यहाँ आयीं। उन सबके सभी अंग बड़े मनोहर थे। उन सबने विशुद्ध मणिमय कुण्डल पहन रखे थे ।। ३० ।।

वर्णोपपन्नास्ता नार्यो रूपवत्यः स्वलंकृताः ।
सर्वाश्चाभ्यभवन् कृष्णा रूपेण यशसा श्रिया ।। ३१ ।।

वे सभी नारियाँ उत्तम वर्णकी थीं। रूपवती होनेके साथ ही वे भाँति-भाँतिके सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित भी थीं; परंतु द्रुपदकुमारी कृष्णाने अपने दिव्य रूप, यश और उत्तम कान्तिसे उन सबको तिरस्कृत कर दिया ।।

परिवार्योत्तरां तास्तु राजपुत्रीमलंकृताम् ।
सुतामिव महेन्द्रस्य पुरस्कृत्योपतस्थिरे ।। ३२ ।।

उस समय राजकुमारी उत्तरा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो महेन्द्रपुत्री जयन्ती-सी सुशोभित हो रही थी। राजपरिवारकी स्त्रियाँ उसे आगे करके दोनों ओरसे घेरकर वहाँ उपस्थित हुईं ।। ३२ ।।

तां प्रत्यगृह्णात् कौन्तेयः सुतस्यार्थे धनंजयः ।
सौभद्रस्यानवद्याङ्गीं विराटतनयां तदा ।। ३३ ।।

उस समय कुन्तीनन्दन अर्जुनने अपने पुत्र सुभद्राकुमार अभिमन्युके लिये निर्दोष अंगोंवाली विराटकुमारी उत्तराको ग्रहण किया ।। ३३ ।।

तत्रातिष्ठन्महाराजो रूपमिन्द्रस्य धारयन् ।
स्नुषां तां प्रतिजग्राह कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।। ३४ ।।

वहाँ इन्द्रके समान रूप धारण किये कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर भी खड़े थे। उन्होंने भी उत्तराको पुत्रवधूके रूपमें अंगीकार किया ।। ३४ ।।

प्रतिगृह्य च तां पार्थः पुरस्कृत्य जनार्दनम् ।
विवाहं कारयामास सौभद्रस्य महात्मनः ।। ३५

इस प्रकार पार्थने उत्तराको ग्रहण करके भगवान् श्रीकृष्णके सामने महामना अभिमन्यु और उत्तराका विवाह-संस्कार सम्पन्न कराया ।। ३५ ।।

तस्मै सप्त सहस्राणि हयानां वातरंहसाम् ।
द्वे च नागशते मुख्ये प्रादाद् बहुधनं तदा ।। ३६ ।।
हुत्वा सम्यक् समिद्धाग्निमर्चयित्वा द्विजन्मनः ।
राज्यं बलं च कोशं च सर्वमात्मानमेव च ।। ३७ ।।

विवाहकालमें विराटने प्रज्वलित अग्निमें विधिवत् होम कराकर ब्राह्मणोंका पूजन करनेके पश्चात् दहेजमें वरपक्षको वायुके समान वेगवान् सात हजार घोड़े, दो सौ बड़े-बड़े हाथी तथा और भी बहुत-सा धन भेंट किया। साथ ही राजपाट, सेना और खजानेसहित सब कुछ एवं अपने-आपको भी उनकी सेवामें समर्पित कर दिया ।। ३६-३७ ।।

कृते विवाहे तु तदा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं यदुपाहरदच्युतः ।। ३८ ।।

विवाह सम्पन्न हो जानेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णसे जो धन मिला था, उसमेंसे बहुत कुछ ब्राह्मणोंको दान किया ।। ३८ ।।

गोसहस्राणि रत्नानि वस्त्राणि विविधानि च ।
भूषणानि च मुख्यानि यानानि शयनानि च ।। ३९ ।।

भोजनानि च हृद्यानि पानानि विविधानि च ।
तन्महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनायुतम् ।
नगरं मत्स्यराजस्य शुशुभे भरतर्षभ ।। ४० ।।

हजारों गौएँ, रत्न, नाना प्रकारके वस्त्र, आभूषण, मुख्य-मुख्य वाहन, शय्या, भोजनसामग्री तथा भाँति-भाँतिकी पीनेयोग्य उत्तम वस्तुएँ भी अर्पण कीं। जनमेजय! उस समय हजारों-लाखों हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरा हुआ मत्स्यराजका वह नगर मूर्तिमान् महोत्सव-सा सुशोभित हो रहा था ।। ३९-४० ।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्रयां संहितायां वैयासिक्यां विराटर्वणि वैवाहिकपर्वणि उत्तराविवाहे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७२ ।।

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारत नामक एक लाख श्लोकोंकी संहितामें विराटपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें उत्तराविवाहविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७२ ।।

विराटपर्वकी श्लोक-संख्या

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंका ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	२१२५	(१९८)	२८३ ॥	२४०८ ॥
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	२४९	(२२ ॥)	३३ ॥	२८२ ॥

विराटपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या—२६९१

श्रवण-महिमा

श्रुत्वा तु चरितं पुण्यं पाण्डवानां महात्मनाम् ।
नाधिव्याधिभयं तेषां जायते पुण्यकर्मणाम् ।। १ ।।

पुण्यकर्मा महात्मा पाण्डवोंका पवित्र चरित्र सुनकर श्रोताओंको आधि (मानसिक दुःख) और व्याधि (शारीरिक कष्ट)-का भय नहीं होता है ।। १ ।।

दुर्गतेस्तरणे तेषामायतं तरणं भवेत् ।
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं पुण्यवृद्धिः प्रजायते ।। २ ।।

पाण्डवोंका जो दुर्गतिसे उद्धार हुआ, उस प्रसंगका पाठ करनेपर मनुष्यके लिये भारीसे भारी संकटसे छूटना सरल हो जाता है। उन्हें सुभिक्ष, क्षेम, आरोग्य तथा पुण्यकी वृद्धि सुलभ होती है ।। २ ।।

सर्वपापानि नश्यन्ति जायन्ते सर्वसम्पदः ।
एकाकी विजयेच्छत्रून् स्मृत्वा फाल्गुनकर्म च ।। ३ ।।
ईतयः सम्प्रणश्यन्ति न वियोगः प्रिये जने ।। ४ ।।

अर्जुनके चरित्रका स्मरण करनेसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, सब प्रकारकी सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं और मनुष्य अकेला या असहाय होनेपर भी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं, (अतिवृष्टि आदि) ईतियोंका नाश होता है और प्रियजनोंसे कभी वियोग नहीं होता ।। ३-४ ।।

श्रुत्वा वैराटकं पर्व वासांसि विविधानि च ।
हिरण्यं धान्यं गावश्च दद्याद् वित्तानुसारतः ।। ५ ।।
प्रीयते देवतानां वै दद्याद् वै द्विजमुख्यके ।
वाचके तु सुसंतुष्टे तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ।। ६ ।।
ब्राह्मणान् भोजयेच्छक्त्या पायसैः सर्पिषा सितैः ।
एवं श्रुते च वैराटे सम्यक् फलमवाप्नुयात् ।। ७ ।।

विराटपर्वकी कथा सुनकर अपने वैभवके अनुसार भाँति-भाँतिके वस्त्र, सुवर्ण, धान्य और गौ—ये वस्तुएँ देवताओंकी प्रसन्नताके लिये श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दान करनी चाहिये। वाचकके भलीभाँति संतुष्ट होनेपर सब देवता संतुष्ट होते हैं। तत्पश्चात् यथाशक्ति घी और

मिश्री मिलायी हुई खीरका ब्राहाणोंको भोजन करावे। इस विधिसे विराटपर्व सुननेपर श्रोताको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ।। ५—७ ।।

गीताप्रेस गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
फोन : (०५५१) २३३४७२१, २३३१२५०, २३३१२५१

॥ श्रीहरिः ॥

34

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(तृतीय खण्ड)

उद्योगपर्व और भीष्मपर्व, सचित्र, सरल हिन्दी-अनुवादसहित

गीताप्रेस गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

गीताप्रेस, गोरखपुर

।। श्रीहरिः ।।

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(तृतीय खण्ड)

[उद्योगपर्व और भीष्मपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवाद)

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ।।

अनुवादक—

साहित्याचार्य पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

।। श्रीहरिः ।।

विषय-सूची

उद्योगपर्व

अध्याय **विषय**

(सेनोद्योगपर्व)

(संजययानपर्व)

(प्रजागरपर्व)

(सनत्सुजातपर्व)

(यानसंधिपर्व)

(भगवद्यानपर्व)

(सैन्यनिर्याणपर्व)

(उलूकदूतागमनपर्व)

(रथातिरथसंख्यानपर्व)

(अम्बोपाख्यानपर्व)

भीष्मपर्व

(जम्बूखण्डविनिर्माणपर्व)

(भूमिपर्व)

(श्रीमद्भगवद्गीतापर्व)

३२- **(श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टमोऽध्यायः)** ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादिके विषयमें अर्जुनके सात प्रश्न और उनका उत्तर एवं भक्तियोग तथा शुक्ल और कृष्ण मार्गोंका प्रतिपादन

३३- **(श्रीमद्भगवद्गीतायां नवमोऽध्यायः)** ज्ञान-विज्ञान और जगत्‌की उत्पत्तिका, आसुरी और दैवी सम्पदावालोंका, प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका, सकाम-निष्काम उपासनाका एवं भगवद्भक्तिकी महिमाका वर्णन

३४- **(श्रीमद्भगवद्गीतायां दशमोऽध्यायः)** भगवान्‌की विभूति और योगशक्तिका तथा प्रभावसहित भक्तियोगका कथन, अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌द्वारा अपनी विभूतियोंका और योगशक्तिका पुनः वर्णन

३५- **(श्रीमद्भगवद्गीतायामेकादशोऽध्यायः)** विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना, भगवान् और संजयद्वारा विश्वरूपका वर्णन, अर्जुनद्वारा भगवान्‌के विश्वरूपका देखा जाना, भयभीत हुए अर्जुनद्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना, भगवान्‌द्वारा विश्वरूप और चतुर्भुज-रूपके दर्शनकी महिमा और केवल अनन्यभक्तिसे ही भगवान्‌की प्राप्तिका कथन

३६- **(श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वादशोऽध्यायः)** साकार और निराकारके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय तथा भगवत्प्राप्तिके उपायका एवं भगवत्प्राप्तिवाले पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन

३७- **(श्रीमद्भगवद्गीतायां त्रयोदशोऽध्यायः)** ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुषका वर्णन

३८- **(श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्दशोऽध्यायः)** ज्ञानकी महिमा और प्रकृति-पुरुषसे जगत्‌की उत्पत्तिका, सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंका, भगवत्प्राप्तिके उपायका एवं गुणातीत पुरुषके लक्षणोंका वर्णन

३९- **(श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चदशोऽध्यायः)** संसारवृक्षका, भगवत्प्राप्तिके उपायका, जीवात्माका, प्रभावसहित परमेश्वरके स्वरूपका एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके तत्त्वका वर्णन

४०- **(श्रीमद्भगवद्गीतायां षोडशोऽध्यायः)** फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदाका वर्णन तथा शास्त्रविपरीत आचरणोंको त्यागने और शास्त्रके अनुकूल आचरण करनेके लिये प्रेरणा

४१- **(श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तदशोऽध्यायः)** श्रद्धाका और शास्त्रविपरीत घोर तप करनेवालोंका वर्णन, आहार, यज्ञ, तप और दानके पृथक्-पृथक् भेद तथा ॐ, तत्, सत्‌के प्रयोगकी व्याख्या

४२- **(श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टादशोऽध्यायः)** त्यागका, सांख्यसिद्धान्तका, फलसहित वर्ण-धर्मका, उपासनासहित ज्ञाननिष्ठाका, भक्तिसहित निष्काम

(भीष्मवधपर्व)

चित्र-सूची

सादा

ॐश्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

उद्योगपर्व

सेनोद्योगपर्व

प्रथमोऽध्यायः

राजा विराटकी सभामें भगवान् श्रीकृष्णका भाषण

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ।।

अन्तर्यामी नारायण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत)-का पाठ करना चाहिये।

वैशम्पायन उवाच

कृत्वा विवाहं तु कुरुप्रवीरा-
स्तदाभिमन्योर्मुदिताः स्वपक्षाः ।
विश्रम्य रात्रावुषसि प्रतीताः
सभां विराटस्य ततोऽभिजग्मुः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय अभिमन्युका विवाह करके कुरुवीर पाण्डव तथा उनके अपने पक्षके लोग (यादव पांचाल आदि) अत्यन्त आनन्दित हुए। रात्रिमें विश्राम करके वे प्रातःकाल जो और (नित्यकर्म करके) विराटकी सभामें उपस्थित हुए ।। १ ।।

सभा तु सा मत्स्यपतेः समृद्धा
मणिप्रवेकोत्तमरत्नचित्रा ।
न्यस्तासना माल्यवती सुगन्धा
तामभ्ययुस्ते नरराजवृद्धाः ।। २ ।।

मत्स्यदेशके अधिपति विराटकी वह सभा अत्यन्त समृद्धिशालिनी थी। उसमें मणियों (मोती-मूँगे आदि)-की खिड़कियाँ और झालरें लगी थीं। उसके फर्श और दीवारोंमें उत्तम-उत्तम रत्नों (हीरे-पन्ने आदि)-की पच्चीकारी की गयी थी। इन सबके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उस सभाभवनमें यथायोग्य स्थानोंपर आसन लगे हुए थे, जगह-जगह मालाएँ लटक रही थीं और सब ओर सुगन्ध फैल रही थी। वे श्रेष्ठ नरपतिगण उसी सभामें एकत्र हुए ।। २ ।।

अथासनान्याविशतां पुरस्ता-
दुभौ विराटद्रुपदौ नरेन्द्रौ ।
वृद्धौ च मान्यौ पृथिवीपतीनां
पित्रा समं रामजनार्दनौ च ।। ३ ।।

वहाँ सबसे पहले राजा विराट और द्रुपद आसनपर विराजमान हुए; क्योंकि वे दोनों समस्त भूपतियोंमें वृद्ध और माननीय थे। तत्पश्चात् अपने पिता वसुदेवके साथ बलराम और श्रीकृष्णने भी आसन ग्रहण किये ।। ३ ।।

पाञ्चालराजस्य समीपतस्तु
शिनिप्रवीरः सहरौहिणेयः ।
मत्स्यस्य राज्ञस्तु सुसंनिकृष्टो
जनार्दनश्चैव युधिष्ठिरश्च ।। ४ ।।

पांचालराज द्रुपदके पास शिनिवंशके श्रेष्ठ वीर सात्यकि तथा रोहिणीनन्दन बलरामजी बैठे थे और मत्स्यराज विराटके अत्यन्त निकट श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिर विराजमान थे ।। ४ ।।

सुताश्च सर्वे द्रुपदस्य राज्ञो
भीमार्जुनौ माद्रवतीसुतौ च ।
प्रद्युम्नसाम्बौ च युधि प्रवीरौ
विराटपुत्रैश्च सहाभिमन्युः ।। ५ ।।
सर्वे च शूराः पितृभिः समाना
वीर्येण रूपेण बलेन चैव ।
उपाविशन् द्रौपदेयाः कुमाराः
सुवर्णचित्रेषु वरासनेषु ।। ६ ।।

राजा द्रुपदके सब पुत्र, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, युद्धवीर प्रद्युम्न और साम्ब, विराटके पुत्रोंसहित अभिमन्यु तथा द्रौपदीके सभी पुत्र सुवर्णजटित सुन्दर सिंहासनोंपर आसपास ही बैठे थे। द्रौपदीके पाँचों पुत्र पराक्रम, सौन्दर्य और बलमें अपने पिता पाण्डवोंके ही समान थे। वे सब-के-सब शूरवीर थे ।। ५-६ ।।

तथोपविष्टेषु महारथेषु
विराजमानाभरणाम्बरेषु ।
रराज सा राजवती समृद्धा
ग्रहैरिव द्यौर्विमलैरुपेता ।। ७ ।।

इस प्रकार चमकीले आभूषणों तथा सुन्दर वस्त्रोंसे विभूषित उन समस्त महारथियोंके बैठ जानेपर राजाओंसे भरी हुई वह समृद्धिशालिनी सभा ऐसी शोभा पा रही थी, मानो उज्ज्वल ग्रह-नक्षत्रोंसे भरा आकाश जगमगा रहा हो ।। ७ ।।

ततः कथास्ते समवाययुक्ताः
कृत्वा विचित्राः पुरुषप्रवीराः ।
तस्थुर्मुहूर्तं परिचिन्तयन्तः
कृष्णं नृपास्ते समुदीक्षमाणाः ।। ८ ।।

तदनन्तर उन शूरवीर पुरुषोंने समाजमें जैसी बातचीत करनी उचित है, वैसी ही विविध प्रकारकी विचित्र बातें कीं। फिर वे सब नरेश भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए दो घड़ीतक कुछ सोचते हुए चुप बैठे रहे ।। ८ ।।

कथान्तमासाद्य च माधवेन
संघट्टिताः पाण्डवकार्यहेतोः ।
ते राजसिंहाः सहिता ह्यशृण्वन्
वाक्यं महार्थं सुमहोदयं च ।। ९ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके कार्यके लिये ही उन श्रेष्ठ राजाओंको संगठित किया था। जब उन सब लोगोंकी बातचीत बंद हो गयी, तब वे सिंहके समान पराक्रमी नरेश एक साथ श्रीकृष्णके सारगर्भित तथा श्रेष्ठ फल देनेवाले वचन सुनने लगे ।। ९ ।।

श्रीकृष्ण उवाच

सर्वैर्भवद्भिर्विदितं यथायं
युधिष्ठिरः सौबलेनाक्षवत्याम् ।
जितो निकृत्यापहृतं च राज्यं
वनप्रवासे समयः कृतश्च ।। १० ।।

श्रीकृष्णने भाषण देना प्रारम्भ किया—उपस्थित सुहृद्गण! आप सब लोगोंको यह मालूम ही है कि सुबलपुत्र शकुनिने द्यूतसभामें किस प्रकार कपट करके धर्मात्मा युधिष्ठिरको परास्त किया और इनका राज्य छीन लिया है। उस जूएमें यह शर्त रख दी गयी थी कि जो हारे, वह बारह वर्षोंतक वनवास और एक वर्षतक अज्ञातवास करे ।। १० ।।

शक्तैर्विजेतुं तरसा महीं च
सत्ये स्थितैः सत्यरथैर्यथावत् ।
पाण्डोः सुतैस्तद् व्रतमुग्ररूपं
वर्षाणि षट् सप्त च चीर्णमग्र्यैः ।। ११ ।।

पाण्डव सदा सत्यपर आरूढ़ रहते हैं। सत्य ही इनका रथ (आश्रय) है। इनमें वेगपूर्वक समस्त भूमण्डल-को जीत लेनेकी शक्ति है तथापि इन वीराग्रगण्य पाण्डु-कुमारोंने सत्यका खयाल करके तेरह वर्षोंतक वनवास और अज्ञातवासके उस कठोर व्रतका धैर्यपूर्वक पालन किया है, जिसका स्वरूप बड़ा ही उग्र है ।। ११ ।।

त्रयोदशश्चैव सुदुस्तरोऽय-

मज्ञायमानैर्भवतां समीपे ।
क्लेशानसह्यान् विविधान् सहद्भि-
र्महात्मभिश्चापि वने निविष्टम् ।। १२ ।।

इस तेरहवें वर्षको पार करना बहुत ही कठिन था, परंतु इन महात्माओंने आपके पास ही अज्ञातरूपसे रहकर भाँति-भाँतिके असह्य क्लेश सहते हुए यह वर्ष बिताया है, इसके अतिरिक्त बारह वर्षोंतक ये वनमें भी रह चुके हैं ।। १२ ।।

एतैः परप्रेष्यनियोगयुक्तै-
रिच्छद्भिराप्तं स्वकुलेन राज्यम् ।
एवंगते धर्मसुतस्य राज्ञो
दुर्योधनस्यापि च यद्धितं स्यात् ।। १३ ।।
तच्चिन्तयध्वं कुरुपुङ्गवानां
धर्म्यं च युक्तं च यशस्करं च ।
अधर्मयुक्तं न च कामयेत
राज्यं सुराणामपि धर्मराजः ।। १४ ।।

अपनी कुलपरम्परासे प्राप्त हुए राज्यकी अभिलाषासे ही इन वीरोंने अबतक अज्ञातावस्थामें दूसरोंकी सेवामें संलग्न रहकर तेरहवाँ वर्ष पूरा किया है। ऐसी परिस्थितिमें जिस उपायसे धर्मपुत्र युधिष्ठिर तथा राजा दुर्योधनका भी हित हो, उसका आपलोग विचार करें। आप कोई ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालें, जो इन कुरुश्रेष्ठ वीरोंके लिये धर्मानुकूल, न्यायोचित तथा यशकी वृद्धि करनेवाला हो। धर्मराज युधिष्ठिर यदि धर्मके विरुद्ध देवताओंका भी राज्य प्राप्त होता हो, तो उसे लेना नहीं चाहेंगे ।। १३-१४ ।।

धर्मार्थयुक्तं तु महीपतित्वं
ग्रामेऽपि कस्मिंश्चिदयं बुभूषेत् ।
पित्र्यं हि राज्यं विदितं नृपाणां
यथापकृष्टं धृतराष्ट्रपुत्रैः ।। १५ ।।

किसी छोटेसे गाँवका राज्य भी यदि धर्म और अर्थके अनुकूल प्राप्त होता हो, तो ये उसे लेनेकी इच्छा कर सकते हैं। आप सभी नरेशोंको यह विदित ही है कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने पाण्डवोंके पैतृक राज्यका किस प्रकार अपहरण किया है ।। १५ ।।

मिथ्योपचारेण यथा ह्यनेन
कृच्छ्रं महत् प्राप्तमसह्यरूपम् ।
न चापि पार्थो विजितो रणे तैः
स्वतेजसा धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः ।। १६ ।।

कौरवोंके इस मिथ्या व्यवहार तथा छल-कपटके कारण पाण्डवोंको कितना महान् और असह्य कष्ट भोगना पड़ा है, यह भी आपलोगोंसे छिपा नहीं है। धृतराष्ट्रके उन पुत्रोंने

अपने बल और पराक्रमसे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको किसी युद्धमें पराजित नहीं किया था (छलसे ही इनका राज्य छीना) ।। १६ ।।

तथापि राजा सहितः सुहृद्भि-
रभीप्सतेऽनामयमेव तेषाम् ।
यत् तु स्वयं पाण्डुसुतैर्विजित्य
समाहृतं भूमिपतीन् प्रपीड्य ।। १७ ।।
तत् प्रार्थयन्ते पुरुषप्रवीराः
कुन्तीसुता माद्रवतीसुतौ च ।
बालास्त्विमे तैर्विविधैरुपायैः
सम्प्रार्थिता हन्तुममित्रसंघैः ।। १८ ।।
राज्यं जिहीर्षद्भिरसद्भिरुग्रैः
सर्वं च तद् वो विदितं यथावत् ।

तथापि सुहृदोंसहित राजा युधिष्ठिर उनकी भलाई ही चाहते हैं। पाण्डवोंने दूसरे-दूसरे राजाओंको युद्धमें जीतकर उन्हें पीड़ित करके जो धन स्वयं प्राप्त किया था, उसीको कुन्ती और माद्रीके ये वीर पुत्र माँग रहे हैं। जब पाण्डव बालक थे—अपना हित-अहित कुछ नहीं समझते थे, तभी इनके राज्यको हर लेनेकी इच्छासे उन उग्र प्रकृतिके दुष्ट शत्रुओंने संघबद्ध होकर भाँति-भाँतिके षड्यन्त्रोंद्वारा इन्हें मार डालनेकी पूरी चेष्टा की थी; ये सब बातें आपलोग अच्छी तरह जानते होंगे ।। १७-१८½ ।।

तेषां च लोभं प्रसमीक्ष्य वृद्धं
धर्मज्ञतां चापि युधिष्ठिरस्य ।। १९ ।।
सम्बन्धितां चापि समीक्ष्य तेषां
मतिं कुरुध्वं सहिताः पृथक् च ।
इमे च सत्येऽभिरताः सदैव
तं पालयित्वा समयं यथावत् ।। २० ।।

अतः सभी सभासद् कौरवोंके बढ़े हुए लोभको, युधिष्ठिरकी धर्मज्ञताको तथा इन दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धको देखते हुए अलग-अलग तथा एक रायसे भी कुछ निश्चय करें। ये पाण्डवगण सदा ही सत्यपरायण होनेके कारण पहले की हुई प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करके हमारे सामने उपस्थित हैं ।। १९-२० ।।

अतोऽन्यथा तैरुपचर्यमाणा
हन्युः समेतान् धृतराष्ट्रपुत्रान् ।
तैर्विप्रकारं च निशम्य कार्ये
सुहृज्जनास्तान् परिवारयेयुः ।। २१ ।।

यदि अब भी धृतराष्ट्रके पुत्र इनके साथ विपरीत व्यवहार ही करते रहेंगे—इनका राज्य नहीं लौटायेंगे, तो पाण्डव उन सबको मार डालेंगे। कौरवलोग पाण्डवोंके कार्यमें विघ्न डाल रहे हैं और उनकी बुराईपर ही तुले हुए हैं; यह बात निश्चितरूपसे जान लेनेपर सुहृदों और सम्बन्धियोंको उचित है कि वे उन दुष्ट कौरवोंको (इस प्रकार अत्याचार करनेसे) रोकें ।। २१ ।।

युद्धेन बाधेयुरिमांस्तथैव
तैर्बाध्यमाना युधि तांश्च हन्युः ।
तथापि नेमेऽल्पतया समर्था-
स्तेषां जयायेति भवेन्मतं वः ।। २२ ।।

यदि धृतराष्ट्रके पुत्र इस प्रकार युद्ध छेड़कर इन पाण्डवोंको सतायेंगे, तो उनके बाध्य करनेपर ये भी डटकर युद्धमें उनका सामना करेंगे और उन्हें मार गिरायेंगे। सम्भव है, आपलोग यह सोचते हों कि ये पाण्डव अल्पसंख्यक होनेके कारण उनपर विजय पानेमें समर्थ नहीं हैं ।। २२ ।।

समेत्य सर्वे सहिताः सुहृद्भि-
स्तेषां विनाशाय यतेयुरेव ।
दुर्योधनस्यापि मतं यथाव-
न्न ज्ञायते किं नु करिष्यतीति ।। २३ ।।

तथापि ये सब लोग अपने हितैषी सुहृदोंके साथ मिलकर शत्रुओंके विनाशके लिये प्रयत्न तो करेंगे ही। (अतः इन्हें आपलोग दुर्बल न समझें) युद्धका भी निश्चय कैसे किया जाय; क्योंकि दुर्योधनके भी मतका अभी ठीक-ठीक पता नहीं है कि वह क्या करेगा? ।। २३ ।।

अज्ञायमाने च मते परस्य
किं स्यात् समारभ्यतमं मतं वः ।
तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः
शुचिः कुलीनः पुरुषोऽप्रमत्तः ।। २४ ।।

शत्रुपक्षका विचार जाने बिना आपलोग कोई ऐसा निश्चय कैसे कर सकते हैं? जिसे अवश्य ही कार्यरूपमें परिणत किया जा सके। अतः मेरा विचार है कि यहाँसे कोई धर्मशील, पवित्रात्मा, कुलीन और सावधान पुरुष दूत बनकर वहाँ जाय ।। २४ ।।

दूतः समर्थः प्रशमाय तेषां
राज्यार्धदानाय युधिष्ठिरस्य ।

वह दूत ऐसा होना चाहिये, जो उनके जोश तथा रोषको शान्त करनेमें समर्थ हो और उन्हें युधिष्ठिरको इनका आधा राज्य दे देनेके लिये विवश कर सके ।। २४½ ।।

निशम्य वाक्यं तु जनार्दनस्य

धर्मार्थयुक्तं मधुरं समं च ।। २५ ।।
समाददे वाक्यमथाग्रजोऽस्य
सम्पूज्य वाक्यं तदतीव राजन् ।। २६ ।।

राजन्! भगवान् श्रीकृष्णका धर्म और अर्थसे युक्त, मधुर एवं उभयपक्षके लिये समानरूपसे हितकर वचन सुनकर उनके बड़े भाई बलरामजीने उस भाषणकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके अपना वक्तव्य आरम्भ किया ।। २५-२६ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें (द्रुपदके) पुरोहितका यात्राविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ।। १ ।।

द्वितीयोऽध्यायः

बलरामजीका भाषण

बलदेव उवाच

श्रुतं भवद्भिर्गदपूर्वजस्य
वाक्यं यथा धर्मवदर्थवच्च ।
अजातशत्रोश्च हितं हितं च
दुर्योधनस्यापि तथैव राज्ञः ।। १ ।।

बलदेवजी बोले—सज्जनो! गदाग्रज श्रीकृष्णने जो कुछ धर्मानुकूल तथा अर्थशास्त्रसम्मत सम्भाषण किया है, उसे आप सब लोगोंने सुना है। इसीमें अजातशत्रु युधिष्ठिरका भी हित है तथा ऐसा करनेसे ही राजा दुर्योधनकी भलाई है ।। १ ।।

अर्धं हि राज्यस्य विसृज्य वीराः
कुन्तीसुतास्तस्य कृते यतन्ते ।
प्रदाय चार्धं धृतराष्ट्रपुत्रः
सुखी सहास्माभिरतीव मोदेत् ।। २ ।।

वीर कुन्तीकुमार आधा राज्य छोड़कर केवल आधेके लिये ही प्रयत्नशील हैं। दुर्योधन भी पाण्डवोंको आधा राज्य देकर हमारे साथ स्वयं भी सुखी और प्रसन्न होगा ।। २ ।।

लब्ध्वा हि राज्यं पुरुषप्रवीराः
सम्यक्प्रवृत्तेषु परेषु चैव ।
ध्रुवं प्रशान्ताः सुखमाविशेयु-
स्तेषां प्रशान्तिश्च हितं प्रजानाम् ।। ३ ।।

पुरुषोंमें श्रेष्ठ वीर पाण्डव आधा राज्य पाकर दूसरे पक्षकी ओरसे अच्छा बर्ताव होनेपर अवश्य ही शान्त (लड़ाई-झगड़ेसे दूर) रहकर कहीं सुखपूर्वक निवास करेंगे। इससे कौरवोंको शान्ति मिलेगी और प्रजावर्गका भी हित होगा ।। ३ ।।

दुर्योधनस्यापि मतं च वेत्तुं
वक्तुं च वाक्यानि युधिष्ठिरस्य ।
प्रियं च मे स्याद् यदि तत्र कश्चिद्
व्रजेच्छमार्थं कुरुपाण्डवानाम् ।। ४ ।।

यदि दुर्योधनका भी विचार जाननेके लिये, युधिष्ठिरके संदेशको उसके कानोंतक पहुँचानेके लिये तथा कौरव-पाण्डवोंमें शान्ति स्थापित करनेके लिये कोई दूत जाय, तो यह मेरे लिये बड़ी प्रसन्नताकी बात होगी ।। ४ ।।

स भीष्ममामन्त्र्य कुरुप्रवीरं

वैचित्रवीर्यं च महानुभावम् ।
द्रोणं सपुत्रं विदुरं कृपं च
गान्धारराजं च ससूतपुत्रम् ।। ५ ।।
सर्वे च येऽन्ये धृतराष्ट्रपुत्रा
बलप्रधाना निगमप्रधानाः ।
स्थिताश्च धर्मेषु तथा स्वकेषु
लोकप्रवीराः श्रुतकालवृद्धाः ।। ६ ।।
एतेषु सर्वेषु समागतेषु
पौरेषु वृद्धेषु च संगतेषु ।
ब्रवीतु वाक्यं प्रणिपातयुक्तं
कुन्तीसुतस्यार्थकरं यथा स्यात् ।। ७ ।।

वह दूत वहाँ जाकर कुरुवंशके श्रेष्ठ वीर भीष्म, महानुभाव धृतराष्ट्र, द्रोण, अश्वत्थामा, विदुर, कृपाचार्य, शकुनि, कर्ण तथा दूसरे सब धृतराष्ट्रपुत्र, जो शक्तिशाली, वेदज्ञ, स्वधर्मनिष्ठ, लोकप्रसिद्ध वीर, विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध हैं, उन सबको आमन्त्रित करे और इन सबके आ जाने एवं नागरिकों तथा बड़े बूढ़ोंके सम्मिलित होनेपर वह दूत विनयपूर्वक प्रणाम करके ऐसी बात कहे, जिससे युधिष्ठिरके प्रयोजनकी सिद्धि हो ।। ५—७ ।।

सर्वास्ववस्थासु च ते न कोप्या
ग्रस्तो हि सोऽर्थोबलमाश्रितैस्तैः ।
प्रियाभ्युपेतस्य युधिष्ठिरस्य
द्यूते प्रसक्तस्य हृतं च राज्यम् ।। ८ ।।

किसी भी दशामें कौरवोंको उत्तेजित या कुपित नहीं करना चाहिये, क्योंकि उन्होंने बलवान् होकर ही पाण्डवोंके राज्यपर अधिकार जमाया है। (युधिष्ठिर भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि) ये जूएको प्रिय मानकर उसमें आसक्त हो गये थे। तभी इनके राज्यका अपहरण हुआ है ।। ८ ।।

निवार्यमाणश्च कुरुप्रवीरः
सर्वैः सुहृद्भिर्ह्ययमप्यतज्ज्ञः ।
स दीव्यमानः प्रतिदीव्य चैनं
गान्धारराजस्य सुतं मताक्षम् ।। ९ ।।
हित्वा हि कर्णं च सुयोधनं च
समाह्वयद् देवितुमाजमीढः ।
दुरोदरास्तत्र सहस्रशोऽन्ये
युधिष्ठिरो यान् विषहेत जेतुम् ।। १० ।।
उत्सृज्य तान् सौबलमेव चायं

समाह्वयत् तेन जितोऽक्षवत्याम् ।

अजमीढवंशी कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर जूएका खेल नहीं जानते थे। इसीलिये समस्त सुहृदोंने इन्हें मना किया था, (परंतु इन्होंने किसीकी बात नहीं मानी।) दूसरी ओर गान्धारराजका पुत्र शकुनि जूएके खेलमें निपुण था। यह जानते हुए भी ये उसीके साथ बारंबार खेलते रहे। इन्होंने कर्ण और दुर्योधनको छोड़कर शकुनिको ही अपने साथ जूआ खेलनेके लिये ललकारा था। उस सभामें दूसरे भी हजारों जुआरी मौजूद थे, जिन्हें युधिष्ठिर जीत सकते थे। परंतु उन सबको छोड़कर इन्होंने सुबलपुत्रको ही बुलाया। इसीलिये उस जूएमें इनकी हार हुई ।। ९-१० $\frac{१}{२}$ ।।

स दीव्यमानः प्रतिदेवनेन
अक्षेषु नित्यं तु पराङ्मुखेषु ।। ११ ।।
संरम्भमाणो विजितः प्रसह्य
तत्रापराधः शकुनेर्न कश्चित् ।

जब ये खेलने लगे और प्रतिपक्षीकी ओरसे फेंके हुए पासे जब बराबर इनके प्रतिकूल पड़ने लगे, तब ये और भी रोषावेशमें आकर खेलने लगे। इन्होंने हठपूर्वक खेल जारी रखा और अपनेको हराया, इसमें शकुनिका कोई अपराध नहीं है ।। ११ $\frac{१}{२}$ ।।

तस्मात् प्रणम्यैव वचो ब्रवीतु
वैचित्रवीर्यं बहुसामयुक्तम् ।। १२ ।।
तथा हि शक्यो धृतराष्ट्रपुत्रः
स्वार्थे नियोक्तुं पुरुषेण तेन ।

इसलिये जो दूत यहाँसे भेजा जाय, वह धृतराष्ट्रको प्रणाम करके अत्यन्त विनयके साथ सामनीतियुक्त वचन कहे। ऐसा करनेसे ही धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको वह पुरुष अपने प्रयोजनकी सिद्धिमें लगा सकता है ।। १२ $\frac{१}{२}$ ।।

अयुद्धमाकाङ्क्षत कौरवाणां
साम्नैव दुर्योधनमाह्वयध्वम् ।। १३ ।।
साम्ना जितोऽर्थोऽर्थकरो भवेत
युद्धेऽनयो भविता नेह सोऽर्थः ।। १४ ।।

कौरव पाण्डवोंमें परस्पर युद्ध हो, ऐसी आकांक्षा न करो—ऐसा कोई कदम न उठाओ। सन्धि या समझौतेकी भावनासे ही दुर्योधनको आमन्त्रित करो। मेल-मिलापसे समझा-बुझाकर जो प्रयोजन सिद्ध किया जाता है, वही परिणाममें हितकारी होता है। युद्धमें तो दोनों पक्षकी ओरसे अन्याय अर्थात् अनीतिका ही बर्ताव किया जाता है और अन्यायसे इस जगत्में किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो सकती ।। १३-१४ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवत्येव मधुप्रवीरे
शिनिप्रवीरः सहसोत्पपात ।
तच्चापि वाक्यं परिनिन्द्य तस्य
समाददे वाक्यमिदं समन्युः ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मधुवंशके प्रमुख वीर बलदेवजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि शिनिवंशके श्रेष्ठ शूरमा सात्यकि सहसा उछलकर खड़े हो गये। उन्होंने कुपित होकर बलभद्रजीके भाषणकी कड़ी आलोचना करते हुए इस प्रकार कहना आरम्भ किया ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बलदेववाक्ये द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें बलदेववाक्यविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ।। २ ।।

तृतीयोऽध्यायः

सात्यकिके वीरोचित उद्गार

सात्यकिरुवाच

यादृशः पुरुषस्यात्मा तादृशं सम्प्रभाषते ।
यथारूपोऽन्तरात्मा ते तथारूपं प्रभाषसे ।। १ ।।

सात्यकिने कहा—बलरामजी! मनुष्यका जैसा हृदय होता है, वैसी ही बात उसके मुखसे निकलती है। आपका भी जैसा अन्तःकरण है, वैसा ही आप भाषण दे रहे हैं ।। १ ।।

सन्ति वै पुरुषाः शूराः सन्ति कापुरुषास्तथा ।
उभावेतौ दृढौ पक्षौ दृश्येते पुरुषान् प्रति ।। २ ।।

संसारमें शूरवीर पुरुष भी हैं और कापुरुष (कायर) भी। पुरुषोंमें ये दोनों पक्ष निश्चितरूपसे देखे जाते हैं ।।

एकस्मिन्नेव जायेते कुले क्लीबमहाबलौ ।
फलाफलवती शाखे यथैकस्मिन् वनस्पतौ ।। ३ ।।

जैसे एक ही वृक्षमें कोई शाखा फलवती होती है और कोई फलहीन। इसी प्रकार एक ही कुलमें दो प्रकारकी संतान उत्पन्न होती है, एक नपुंसक और दूसरी महान् बलशाली ।। ३ ।।

नाभ्यसूयामि ते वाक्यं ब्रुवतो लाङ्गलध्वज ।
ये तु शृण्वन्ति ते वाक्यं तानसूयामि माधव ।। ४ ।।

अपनी ध्वजामें हलका चिह्न धारण करनेवाले मधुकुलरत्न! आप जो कुछ कह रहे हैं, उसमें मैं दोष नहीं निकाल रहा हूँ, जो लोग आपकी बातें चुप-चाप सुन रहे हैं, उन्हींको मैं दोषी मानता हूँ ।। ४ ।।

कथं हि धर्मराजस्य दोषमल्पमपि ब्रुवन् ।
लभते परिषन्मध्ये व्याहर्तुमकुतोभयः ।। ५ ।।

भला, कोई भी मनुष्य भरी सभामें निर्भय होकर धर्मराज युधिष्ठिरपर थोड़ा-सा भी दोषारोपण करे, तो वह कैसे बोलनेका अवसर पा सकता है? ।। ५ ।।

समाहूय महात्मानं जितवन्तोऽक्षकोविदाः ।
अनक्षज्ञं यथाश्रद्धं तेषु धर्मजयः कुतः ।। ६ ।।

महात्मा युधिष्ठिर जूआ खेलना नहीं जानते थे, तो भी जूएके खेलमें निपुण धूर्तोंने उन्हें अपने घर बुलाकर अपने विश्वासके अनुसार हराया अथवा जीता है। यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कैसे कही जा सकती है? ।। ६ ।।

यदि कुन्तीसुतं गेहे क्रीडन्तं भ्रातृभिः सह ।
अभिगम्य जयेयुस्ते तत् तेषां धर्मतो भवेत् ।
समाहूय तु राजानं क्षत्रधर्मरतं सदा ।। ७ ।।
निकृत्या जितवन्तस्ते किं नु तेषां परं शुभम् ।

कथं प्रणिपतेच्चायमिह कृत्वा पणं परम् ।। ८ ।।

यदि भाइयोंसहित कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने घरपर जूआ खेलते होते और ये कौरव वहाँ जाकर उन्हें हरा देते, तो यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कही जा सकती थी। परंतु उन्होंने सदा क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले राजा युधिष्ठिरको बुलाकर छल और कपटसे उन्हें पराजित किया है। क्या यही उनका परम कल्याणमय कर्म कहा जा सकता है? ये राजा युधिष्ठिर अपनी वनवासविषयक प्रतिज्ञा तो पूर्ण ही कर चुके हैं, अब किस लिये उनके आगे मस्तक झुकायें—क्यों प्रणाम अथवा विनय करें? ।। ७-८ ।।

वनवासाद् विमुक्तस्तु प्राप्तः पैतामहं पदम् ।

यद्ययं पापवित्तानि कामयेत युधिष्ठिरः ।। ९ ।।

एवमप्ययमत्यन्तं परान् नार्हति याचितुम् ।

वनवासके बन्धनसे मुक्त होकर अब ये अपने बाप-दादोंके राज्यको पानेके न्यायतः अधिकारी हो गये हैं। यदि युधिष्ठिर अन्यायसे भी अपना धन, अपना राज्य लेनेकी इच्छा करें, तो भी अत्यन्त दीन बनकर शत्रुओंके सामने हाथ फैलाने या भीख माँगनेके योग्य नहीं हैं ।।

कथं च धर्मयुक्तास्ते न च राज्यं जिहीर्षवः ।। १० ।।

निवृत्तवासान् कौन्तेयान् य आहुर्विदिता इति ।

कुन्तीके पुत्र वनवासकी अवधि पूरी करके जब लौटे हैं, तब कौरव यह कहने लगे हैं कि हमने तो इन्हें समय पूर्ण होनेसे पहले ही पहचान लिया है। ऐसी दशामें यह कैसे कहा जाय कि कौरव धर्ममें तत्पर हैं और पाण्डवोंके राज्यका अपहरण नहीं करना चाहते हैं ।। १० १/२ ।।

अनुनीता हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।। ११ ।।

न व्यवस्यन्ति पाण्डूनां प्रदातुं पैतृकं वसु ।

वे भीष्म, द्रोण और विदुरके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी पाण्डवोंको उनका पैतृक धन वापस देनेका निश्चय अथवा प्रयास नहीं कर रहे हैं ।। ११ १/२ ।।

अहं तु ताञ्छितैर्बाणैरनुनीय रणे बलात् ।। १२ ।।

पादयोः पातयिष्यामि कौन्तेयस्य महात्मनः ।

मैं तो रणभूमिमें पैने बाणोंसे उन्हें बलपूर्वक मनाकर महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके चरणोंमें गिरा दूँगा ।।

अथ ते न व्यवस्यन्ति प्रणिपाताय धीमतः ।। १३ ।।

गमिष्यन्ति सहामात्या यमस्य सदनं प्रति ।

यदि वे परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरके चरणोंमें गिरनेका निश्चय नहीं करेंगे, तो अपने मन्त्रियोंसहित उन्हें यमलोककी यात्रा करनी पड़ेगी ।। १३ १/२ ।।

न हि ते युयुधानस्य संरब्धस्य युयुत्सतः ।। १४ ।।

वेगं समर्थाः संसोढुं वज्रस्येव महीधराः ।

जैसे बड़े-बड़े पर्वत भी वज्रका वेग सहन करनेमें समर्थ नहीं हैं, उसी प्रकार युद्धकी इच्छा रखनेवाले और क्रोधमें भरे हुए मुझ सात्यकिके प्रहार-वेगको सहन करनेकी सामर्थ्य उनमेंसे किसीमें भी नहीं है ।। १४ १/२ ।।

को हि गाण्डीवधन्वानं कश्च चक्रायुधं युधि ।। १५ ।।
मां चापि विषहेत् क्रुद्धं कश्च भीमं दुरासदम् ।
यमौ च दृढधन्वानौ यमकालोपमद्युती ।
विराटद्रुपदौ वीरौ यमकालोपमद्युती ।। १६ ।।
को जिजीविषुरासादेद् धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।

कौरवदलमें ऐसा कौन है, जो जीवनकी इच्छा रखते हुए भी युद्धभूमिमें गाण्डीवधन्वा अर्जुन, चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्ण, क्रोधमें भरे हुए मुझ सात्यकि, दुर्धर्ष वीर भीमसेन, यम और कालके समान तेजस्वी दृढ़ धनुर्धर नकुल-सहदेव, यम और कालको भी अपने तेजसे तिरस्कृत करनेवाले वीरवर विराट और द्रुपदका तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नका भी सामना कर सकता है? ।। १५-१६ १/२ ।।

पञ्चैतान् पाण्डवेयांस्तु द्रौपद्याः कीर्तिवर्धनान् ।। १७ ।।
समप्रमाणान् पाण्डूनां समवीर्यान् मदोत्कटान् ।
सौभद्रं च महेष्वासममरैरपि दुःसहम् ।। १८ ।।
गदप्रद्युम्नसाम्बांश्च कालसूर्यानलोपमान् ।

द्रौपदीकी कीर्तिको बढ़ानेवाले ये पाँचों पाण्डव-कुमार अपने पिताके समान ही डील-डौलवाले, वैसे ही पराक्रमी तथा उन्हींके समान रणोन्मत्त शूरवीर हैं। महान् धनुर्धर सुभद्राकुमार अभिमन्युका वेग तो देवताओंके लिये भी दुःसह है, गद, प्रद्युम्न और साम्ब—ये काल, सूर्य और अग्निके समान अजेय हैं—इन सबका सामना कौन कर सकता है? ।। १७-१८ १/२ ।।

ते वयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रं शकुनिना सह ।। १९ ।।
कर्णं चैव निहत्याजावभिषेक्ष्याम पाण्डवम् ।

हमलोग शकुनिसहित धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको तथा कर्णको भी युद्धमें मारकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका राज्याभिषेक करेंगे ।। १९ १/२ ।।

नाधर्मो विद्यते कश्चिच्छत्रून् हत्वाऽऽततायिनः ।। २० ।।
अधर्म्यमयशस्यं च शात्रवाणां प्रयाचनम् ।

आततायी शत्रुओंका वध करनेमें कोई पाप नहीं शत्रुओंके सामने याचना करना ही अधर्म और अपयशकी बात है ।। २० १/२ ।।

हृद्गतस्तस्य यः कामस्तं कुरुध्वमतन्द्रिताः ।। २१ ।।
निसृष्टं धृतराष्ट्रेण राज्यं प्राप्नोतु पाण्डवः ।

अद्य पाण्डुसुतो राज्यं लभतां वा युधिष्ठिरः ।। २२ ।।
निहता वा रणे सर्वे स्वप्स्यन्ति वसुधातले ।। २३ ।।

अतः पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके मनमें जो अभिलाषा है, उसीकी आपलोग आलस्य छोड़कर सिद्धि करें। धृतराष्ट्र राज्य लौटा दें और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर उसे ग्रहण करें। अब पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको राज्य मिल जाना चाहिये, अन्यथा समस्त कौरव युद्धमें मारे जाकर रणभूमिमें सदाके लिये सो जायँगे ।। २१—२३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि सात्यकिक्रोधवाक्ये तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें सात्यकिका क्रोधपूर्ण वचनसम्बन्धी तीसरा अध्याय पूरा हुआ ।। ३ ।।

चतुर्थोऽध्यायः

राजा द्रुपदकी सम्मति

द्रुपद उवाच

एवमेतन्महाबाहो भविष्यति न संशयः ।
न हि दुर्योधनो राज्यं मधुरेण प्रदास्यति ।। १ ।।
अनुवर्त्स्यति तं चापि धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ।
भीष्मद्रोणौ च कार्पण्यान्मौर्ख्याद् राधेयसौबलौ ।। २ ।।

(सात्यकिकी बात सुनकर) द्रुपदने कहा—महाबाहो! तुम्हारा कहना ठीक है। इसमें संदेह नहीं कि ऐसा ही होगा; क्योंकि दुर्योधन मधुर व्यवहारसे राज्य नहीं देगा। अपने उस पुत्रके प्रति आसक्त रहनेवाले धृतराष्ट्र भी उसीका अनुसरण करेंगे। भीष्म और द्रोणाचार्य दीनतावश तथा कर्ण और शकुनि मूर्खतावश दुर्योधनका साथ देंगे ।। १-२ ।।

बलदेवस्य वाक्यं तु मम ज्ञाने न युज्यते ।
एतद्धि पुरुषेणाग्रे कार्यं सुनयमिच्छता ।। ३ ।।
न तु वाच्यो मृदुवचो धार्तराष्ट्रः कथंचन ।
न हि मार्दवसाध्योऽसौ पापबुद्धिर्मतो मम ।। ४ ।।

बलदेवजीका कथन मेरी समझमें ठीक नहीं जान पड़ता। मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ, वही सुनीतिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सबसे पहले करना चाहिये। धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे मधुर अथवा नम्रतापूर्ण वचन कहना किसी प्रकार उचित नहीं है। मेरा ऐसा मत है कि वह पापपूर्ण विचार रखनेवाला है, अतः मृदु व्यवहारसे वशमें आनेवाला नहीं है ।। ३-४ ।।

गर्दभे मार्दवं कुर्याद् गोषु तीक्ष्णं समाचरेत् ।
मृदु दुर्योधने वाक्यं यो ब्रूयात् पापचेतसि ।। ५ ।।

जो पापात्मा दुर्योधनके प्रति मृदु वचन बोलेगा, वह मानो गदहेके प्रति कोमलतापूर्ण व्यवहार करेगा और गायोंके प्रति कठोर बर्ताव ।। ५ ।।

मृदुं वै मन्यते पापो भाषमाणमशक्तिकम् ।
जितमर्थं विजानीयादबुधो मार्दवे सति ।। ६ ।।

पापी एवं मूर्ख मनुष्य मृदु वचन बोलनेवालेको शक्तिहीन समझता है और कोमलताका बर्ताव करनेपर यह मानने लगता है कि मैंने इसके धनपर विजय पा ली ।। ६ ।।

एतच्चैव करिष्यामो यत्नश्च क्रियतामिह ।
प्रस्थापयाम मित्रेभ्यो बलान्युद्योजयन्तु नः ।। ७ ।।

(हम आपके सामने जो प्रस्ताव ला रहे हैं;) इसीको सम्पन्न करेंगे और इसीके लिये यहाँ प्रयत्न किया जाना चाहिये। हमें अपने मित्रोंके पास यह संदेश भेजना चाहिये कि वे हमारे

लिये सैन्य-संग्रहका उद्योग करें ।। ७ ।।

शल्यस्य धृष्टकेतोश्च जयत्सेनस्य वा विभो ।

केकयानां च सर्वेषां दूता गच्छन्तु शीघ्रगाः ।। ८ ।।

भगवन्! हमारे शीघ्रगामी दूत शल्य, धृष्टकेतु, जयत्सेन और समस्त केकय राजकुमारोंके पास जायँ ।। ८ ।।

स च दुर्योधनो नूनं प्रेषयिष्यति सर्वशः ।

पूर्वाभिपन्नाः सन्तश्च भजन्ते पूर्वचोदनम् ।। ९ ।।

निश्चय ही दुर्योधन भी सबके यहाँ संदेश भेजेगा। श्रेष्ठ राजा जब किसीके द्वारा पहले सहायताके लिये निमन्त्रित हो जाते हैं, तब प्रथम निमन्त्रण देनेवालेकी ही सहायता करते हैं ।। ९ ।।

तत् त्वरध्वं नरेन्द्राणां पूर्वमेव प्रचोदने ।

महद्धि कार्यं वोढव्यमिति मे वर्तते मतिः ।। १० ।।

अतः सभी राजाओंके पास पहले ही अपना निमन्त्रण पहुँच जाय; इसके लिये शीघ्रता करो। मैं समझता हूँ, हम सब लोगोंको महान् कार्यका भार वहन करना है ।। १० ।।

शल्यस्य प्रेष्यतां शीघ्रं ये च तस्यानुगा नृपाः ।

भगदत्ताय राज्ञे च पूर्वसागरवासिने ।। ११ ।।

राजा शल्य तथा उनके अनुगामी नरेशोंके पास शीघ्र दूत भेजे जायँ। पूर्व समुद्रके तटवर्ती राजा भगदत्तके पास भी दूत भेजना चाहिये ।। ११ ।।

अमितौजसे तथोग्राय हार्दिक्यायान्धकाय च ।

दीर्घप्रज्ञाय शूराय रोचमानाय वा विभो ।। १२ ।।

भगवन्! इसी प्रकार अमितौजा, उग्र, हार्दिक्य (कृतवर्मा), अन्धक, दीर्घप्रज्ञ तथा शूरवीर रोचमानके पास भी दूतोंको भेजना आवश्यक है ।। १२ ।।

आनीयतां बृहन्तश्च सेनाबिन्दुश्च पार्थिवः ।

सेनजित् प्रतिविन्ध्यश्च चित्रवर्मा सुवास्तुकः ।। १३ ।।

बाह्लीको मुञ्जकेशश्च चैद्याधिपतिरेव च ।

सुपार्श्वश्च सुबाहुश्च पौरवश्च महारथः ।। १४ ।।

शकानां पह्लवानां च दरदानां च ये नृपाः ।

सुरारिश्च नदीजश्च कर्णवेष्टश्च पार्थिवः ।। १५ ।।

नीलश्च वीरधर्मा च भूमिपालश्च वीर्यवान् ।

दुर्जयो दन्तवक्त्रश्च रुक्मी च जनमेजयः ।। १६ ।।

आषाढो वायुवेगश्च पूर्वपाली च पार्थिवः ।

भूरितेजा देवकश्च एकलव्यः सहात्मजैः ।। १७ ।।

कारूषकाश्च राजानः क्षेमधूर्तिश्च वीर्यवान् ।

काम्बोजा ऋषिका ये च पश्चिमानूपकाश्च ये ।। १८ ।।
जयत्सेनश्च काश्यश्च तथा पञ्चनदा नृपाः ।
क्राथपुत्रश्च दुर्धर्षः पार्वतीयाश्च ये नृपाः ।। १९ ।।
जानकिश्च सुशर्मा च मणिमान् योतिमत्सकः ।
पांशुराष्ट्राधिपश्चैव धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ।। २० ।।
तुण्डश्च दण्डधारश्च बृहत्सेनश्च वीर्यवान् ।
अपराजितो निषादश्च श्रेणिमान् वसुमानपि ।। २१ ।।
बृहद्बलो महौजाश्च बाहुः परपुरञ्जयः ।
समुद्रसेनो राजा च सह पुत्रेण वीर्यवान् ।। २२ ।।
उद्भवः क्षेमकश्चैव वाटधानश्च पार्थिवः ।
श्रुतायुश्च दृढायुश्च शाल्वपुत्रश्च वीर्यवान् ।। २३ ।।
कुमारश्च कलिङ्गानामीश्वरो युद्धदुर्मदः ।
एतेषां प्रेष्यतां शीघ्रमेतद्धि मम रोचते ।। २४ ।।

बृहन्तको भी बुलाया जाय। राजा सेनाबिन्दु, सेनजित्, प्रतिविन्ध्य, चित्रवर्मा, सुवास्तुक, बाह्लीक, मुंजकेश, चैद्यराज, सुपार्श्व, सुबाहु, महारथी पौरव, शकनरेश, पह्लवराज तथा दरददेशके नरेश भी निमन्त्रित किये जाने चाहिये। सुरारि, नदीज, भूपाल कर्णवेष्ट, नील, वीरधर्मा, पराक्रमी भूमिपाल, दुर्जय दन्तवक्त्र, रुक्मी, जनमेजय, आषाढ, वायुवेग, राजा पूर्वपाली, भूरितेजा, देवक, पुत्रोंसहित एकलव्य, करूषदेशके बहुत-से नरेश, पराक्रमी क्षेमधूर्ति, काम्बोजनरेश, ऋषिकदेशके राजा, पश्चिम द्वीपवासी नरेश, जयत्सेन, काश्य, पंचनद प्रदेशके राजा, दुर्धर्ष क्राथपुत्र, पर्वतीय नरेश, राजा जनकके पुत्र, सुशर्मा, मणिमान्, योतिमत्सक, पांशुराज्यके अधिपति, पराक्रमी धृष्टकेतु, तुण्ड, दण्डधार, वीर्यशाली बृहत्सेन, अपराजित, निषादराज, श्रेणिमान्, वसुमान्, बृहद्बल, महौजा, शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले बाहु, पुत्रसहित पराक्रमी राजा समुद्रसेन, उद्भव, क्षेमक, राजा वाटधान, श्रुतायु, दृढायु, पराक्रमी शाल्व-पुत्र, कुमार तथा युद्धदुर्मद कलिंगराज—इन सबके पास शीघ्र ही रण-निमन्त्रण भेजा जाय; मुझे यही ठीक जान पड़ता है ।। १३—२४ ।।

अयं च ब्राह्मणो विद्वान् मम राजन् पुरोहितः ।
प्रेष्यतां धृतराष्ट्राय वाक्यमस्मै प्रदीयताम् ।। २५ ।।

मत्स्यराज! ये मेरे पुरोहित विद्वान् ब्राह्मण हैं, इन्हें धृतराष्ट्रके पास भेजिये और वहाँके लिये उचित संदेश दीजिये ।। २५ ।।

यथा दुर्योधनो वाच्यो यथा शान्तनवो नृपः ।
धृतराष्ट्रो यथा वाच्यो द्रोणश्च रथिनां वरः ।। २६ ।।

दुर्योधनसे क्या कहना है? शान्तनुनन्दन भीष्मजीसे किस प्रकार बातचीत करनी है? धृतराष्ट्रको क्या संदेश देना है? तथा रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे किस प्रकार वार्तालाप करना है? यह सब उन्हें समझा दीजिये ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि द्रुपदवाक्ये चतुर्थोऽध्यायः ।। ४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें द्रुपदवाक्यविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ।। ४ ।।

पञ्चमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका द्वारकागमन, विराट और द्रुपदके संदेशसे राजाओंका पाण्डवपक्षकी ओरससे युद्धके लिये आगमन

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं वाक्यं सोमकानां धुरंधरे ।

अर्थसिद्धिकरं राज्ञः पाण्डवस्यामितौजसः ।। १ ।।

(तत्पश्चात् भगवान्) श्रीकृष्णने कहा—सभासदो! सोमकवंशके धुरंधर वीर महाराज द्रुपदने जो बात कही है, वह उन्हींके योग्य है। इसीसे अमित तेजस्वी पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरके अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो सकती है ।। १ ।।

एतच्च पूर्वं कार्यं नः सुनीतमभिकाङ्क्षताम् ।

अन्यथा ह्याचरन् कर्म पुरुषः स्यात् सुबालिशः ।। २ ।।

हमलोग सुनीतिकी इच्छा रखनेवाले हैं; अतः हमें सबसे पहले यही कार्य करना चाहिये। जो अवसरके विपरीत आचरण करता है, वह मनुष्य अत्यन्त मूर्ख माना जाता है ।। २ ।।

किं तु सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं कुरुपाण्डुषु ।

यथेष्टं वर्तमानेषु पाण्डवेषु च तेषु च ।। ३ ।।

परंतु हमलोगोंका कौरवों और पाण्डवोंसे एक-सा सम्बन्ध है। पाण्डव और कौरव दोनों ही हमारे साथ यथायोग्य अनुकूल बर्ताव करते हैं ।। ३ ।।

ते विवाहार्थमानीता वयं सर्वे तथा भवान् ।

कृते विवाहे मुदिता गमिष्यामो गृहान् प्रति ।। ४ ।।

इस समय हम और आप सब लोग विवाहोत्सवमें निमन्त्रित होकर आये हैं। विवाहकार्य सम्पन्न हो गया; अतः अब हम प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने घरोंको लौट जायँगे ।। ४ ।।

भवान् वृद्धतमो राज्ञां वयसा च श्रुतेन च ।

शिष्यवत् ते वयं सर्वे भवामेह न संशयः ।। ५ ।।

आप समस्त राजाओंमें अवस्था तथा शास्त्रज्ञान दोनों ही दृष्टियोंसे सबकी अपेक्षा बड़े हैं। इसमें संदेह नहीं कि हम सब लोग आपके शिष्यके समान हैं ।। ५ ।।

भवन्तं धृतराष्ट्रश्च सततं बहु मन्यते ।

आचार्ययोः सखा चासि द्रोणस्य च कृपस्य च ।। ६ ।।

राजा धृतराष्ट्र भी सदा आपको विशेष आदर देते हैं, आचार्य द्रोण और कृप दोनोंके आप सखा हैं ।। ६ ।।

स भवान् प्रेषयत्वद्य पाण्डवार्थकरं वचः ।
सर्वेषां निश्चितं तन्नः प्रेषयिष्यति यद् भवान् ।। ७ ।।

अतः आप ही आज पाण्डवोंकी कार्य-सिद्धिके अनुकूल संदेश भेजिये। आप जो भी संदेश भेजेंगे, वह हम सब लोगोंका निश्चित मत होगा ।। ७ ।।

यदि तावच्छमं कुर्यान्न्यायेन कुरुपुङ्गवः ।
न भवेत् कुरुपाण्डूनां सौभ्रात्रेण महान् क्षयः ।। ८ ।।

यदि कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन न्यायके अनुसार शान्ति स्वीकार करेगा, तो कौरव और पाण्डवोंमें परस्पर बन्धुजनोचित सौहार्दवश महान् संहार न होगा ।। ८ ।।

अथ दर्पान्वितो मोहान्न कुर्याद् धृतराष्ट्रजः ।
अन्येषां प्रेषयित्वा च पश्चादस्मान् समाह्वये ।। ९ ।।

यदि धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन मोहवश घमंडमें आकर हमारा प्रस्ताव न स्वीकार करे, तो आप दूसरे राजाओंको युद्धका निमन्त्रण भेजकर सबके बाद हमलोगोंको आमन्त्रित कीजियेगा ।। ९ ।।

ततो दुर्योधनो मन्दः सहामात्यः सबान्धवः ।
निष्ठामापत्स्यते मूढः क्रुद्धे गाण्डीवधन्वनि ।। १० ।।

फिर तो गाण्डीवधन्वा अर्जुनके कुपित होनेपर मन्दबुद्धि मूढ दुर्योधन अपने मन्त्रियों और बन्धुजनोंके साथ सर्वथा नष्ट हो जायगा ।। १० ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्कृत्य वार्ष्णेयं विराटः पृथिवीपतिः ।
गृहान् प्रस्थापयामास सगणं सहबान्धवम् ।। ११ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा विराटने सेवकवृन्द तथा बान्धवोंसहित वृष्णिकुलनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका सत्कार करके उन्हें द्वारका जानेके लिये विदा किया ।। ११ ।।

द्वारकां तु गते कृष्णे युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
चक्रुः सांग्रामिकं सर्वं विराटश्च महीपतिः ।। १२ ।।

श्रीकृष्णके द्वारका चले जानेपर युधिष्ठिर आदि पाण्डव तथा राजा विराट युद्धकी सारी तैयारियाँ करने लगे ।। १२ ।।

ततः सम्प्रेषयामास विराटः सह बान्धवैः ।
सर्वेषां भूमिपालानां द्रुपदश्च महीपतिः ।। १३ ।।

बन्धुओंसहित राजा विराट तथा महाराज द्रुपदने मिल-कर सब राजाओंके पास युद्धका निमन्त्रण भेजा ।।

वचनात् कुरुसिंहानां मत्स्यपाञ्चालयोश्च ते ।

समाजग्मुर्महीपालाः सम्प्रहृष्टा महाबलाः ।। १४ ।।

कुरुकुलके सिंह पाण्डव, मत्स्यनरेश विराट तथा पांचालराज द्रुपदके संदेशसे (दूर-दूरके) महाबली नरेश बड़े हर्ष और उत्साहमें भरकर वहाँ आने लगे ।। १४ ।।

तच्छ्रुत्वा पाण्डुपुत्राणां समागच्छन्महद् बलम् ।

धृतराष्ट्रसुताश्चापि समानिन्युर्महीपतीन् ।। १५ ।।

पाण्डवोंके यहाँ विशाल सेना एकत्र हो रही है; यह सुनकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंने भी भूमिपालोंको बुलाना आरम्भ कर दिया ।। १५ ।।

समाकुला मही राजन् कुरुपाण्डवकारणात् ।

तदा समभवत् कृत्स्ना सम्प्रयाणे महीक्षिताम् ।। १६ ।।

संकुला च तदा भूमिश्चतुरङ्गबलान्विता ।

राजन्! इस प्रकार कौरवों तथा पाण्डवोंके उद्देश्यसे दूर-दूरके नरेश अपनी सेना लेकर प्रस्थान करने लगे। इनकी चतुरंगिणी सेनासे सारी पृथ्वी व्याप्त हुई-सी जान पड़ने लगी ।। १६½ ।।

बलानि तेषां वीराणामागच्छन्ति ततस्ततः ।। १७ ।।

चालयन्तीव गां देवीं सपर्वतवनामिमाम् ।

चारों ओरसे उन वीरोंके जो सैनिक आ रहे थे, वे पर्वतों और वनोंसहित इस सारी पृथ्वीको प्रकम्पित-सी कर रहे थे ।। १७½ ।।

ततः प्रज्ञावयोवृद्धं पाञ्चाल्यः स्वपुरोहितम् ।

कुरुभ्यः प्रेषयामास युधिष्ठिरमते स्थितः ।। १८ ।।

तदनन्तर पांचालनरेशने युधिष्ठिरकी सम्मतिके अनुसार बुद्धि और अवस्थामें भी बढ़े-चढ़े अपने पुरोहितको कौरवोंके पास भेजा ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने पञ्चमोऽध्यायः ।। ५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहितप्रस्थानविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५ ।।

षष्ठोऽध्यायः

द्रुपदका पुरोहितको दौत्यकर्मके लिये अनुमति देना तथा पुरोहितका हस्तिनापुरको प्रस्थान

द्रुपद उवाच

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नसः श्रेष्ठा नरेष्वपि द्विजातयः ।। १ ।।

राजा द्रुपदने (पुरोहितसे) कहा—पुरोहितजी! समस्त भूतोंमें प्राणधारी श्रेष्ठ हैं। प्राणधारियोंमें भी बुद्धिजीवी श्रेष्ठ हैं। बुद्धिजीवी प्राणियोंमें भी मनुष्य और मनुष्योंमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ माने गये हैं ।। १ ।।

द्विजेषु वैद्याः श्रेयांसो वैद्येषु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः ।। २ ।।

ब्राह्मणोंमें विद्वान्, विद्वानोंमें सिद्धान्तके जानकार, सिद्धान्तके ज्ञाताओंमें भी तदनुसार आचरण करनेवाले पुरुष तथा उनमें भी ब्रह्मवेत्ता श्रेष्ठ हैं ।। २ ।।

स भवान् कृतबुद्धीनां प्रधान इति मे मतिः ।
कुलेन च विशिष्टोऽसि वयसा च श्रुतेन च ।। ३ ।।

मेरा ऐसा विश्वास है कि आप सिद्धान्तवेत्ताओंमें प्रमुख हैं। आपका कुल तो श्रेष्ठ है ही, अवस्था तथा शास्त्र-ज्ञानमें भी आप बढ़े-चढ़े हैं ।। ३ ।।

प्रज्ञया सदृशश्चासि शुक्रेणाङ्गिरसेन च ।
विदितं चापि ते सर्वं यथावृत्तः स कौरवः ।। ४ ।।

आपकी बुद्धि शुक्राचार्य और बृहस्पतिके समान है। दुर्योधनका आचार-विचार जैसा है, वह सब भी आपको ज्ञात ही है ।। ४ ।।

पाण्डवश्च यथावृत्तः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धृतराष्ट्रस्य विदिते वञ्चिताः पाण्डवाः परैः ।। ५ ।।

कुन्तीपुत्र पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका आचार-विचार भी आपलोगोंसे छिपा नहीं है। धृतराष्ट्रकी जानकारीमें शत्रुओंने पाण्डवोंको ठगा है ।। ५ ।।

विदुरेणानुनीतोऽपि पुत्रमेवानुवर्तते ।
शकुनिर्बुद्धिपूर्वं हि कुन्तीपुत्रं समाह्वयत् ।। ६ ।।
अनक्षज्ञं मताक्षः सन् क्षत्रवृत्ते स्थितं शुचिम् ।

विदुरजीके अनुनय-विनय करनेपर भी धृतराष्ट्र अपने पुत्रका ही अनुसरण करते हैं। शकुनिने स्वयं जूएके खेलमें प्रवीण होकर यह जानते हुए भी कि युधिष्ठिर जूएके खिलाड़ी नहीं हैं, वे क्षत्रियधर्मपर चलनेवाले शुद्धात्मा पुरुष हैं, उन्हें समझ-बूझकर जूएके लिये बुलाया ।। ६½ ।।

ते तथा वञ्चयित्वा तु धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।। ७ ।।
न कस्याञ्चिदवस्थायां राज्यं दास्यन्ति वै स्वयम् ।

उन सबने मिलकर धर्मराज युधिष्ठिरको ठगा है। अब वे किसी भी अवस्थामें स्वयं राज्य नहीं लौटायेंगे ।।

भवांस्तु धर्मसंयुक्तं धृतराष्ट्रं ब्रुवन् वचः ।। ८ ।।
मनांसि तस्य योधानां ध्रुवमावर्तयिष्यति ।

परंतु आप राजा धृतराष्ट्रसे धर्मयुक्त बातें कहकर उनके योद्धाओंका मन निश्चय ही अपनी ओर फेर लेंगे ।। ८½ ।।

विदुरश्चापि तद् वाक्यं साधयिष्यति तावकम् ।। ९ ।।
भीष्मद्रोणकृपादीनां भेदं संजनयिष्यति ।

दुरजी भी वहाँ आपके वचनोंका समर्थन करेंगे तथा आप भीष्म, द्रोण एवं कृपाचार्य आदिमें भेद उत्पन्न कर देंगे ।। ९½ ।।

अमात्येषु च भिन्नेषु योधेषु विमुखेषु च ।। १० ।।
पुनरेकत्रकरणं तेषां कर्म भविष्यति ।

जब मन्त्रियोंमें फूट पड़ जायगी और योद्धा भी विमुख होकर चल देंगे, तब उनका (प्रधान) कार्य होगा—पुनः नूतन सेनाका संग्रह और संगठन ।। १०½ ।।

एतस्मिन्नन्तरे पार्थाः सुखमेकाग्रबुद्धयः ।। ११ ।।
सेनाकर्म करिष्यन्ति द्रव्याणां चैव संचयम् ।

इसी बीचमें एकाग्रचित्तवाले कुन्तीकुमार अनायास ही सेनाका संगठन और द्रव्यका संग्रह कर लेंगे ।। ११½ ।।

विद्यमानेषु च स्वेषु लम्बमाने तथा त्वयि ।। १२ ।।
न तथा ते करिष्यन्ति सेनाकर्म न संशयः ।

जब वहाँ हमारे स्वजन उपस्थित रहेंगे और आप भी वहाँ रहकर लौटनेमें विलम्ब करते रहेंगे, तब निस्संदेह वे सैन्यसंग्रहका कार्य उतने अच्छे ढंगसे नहीं कर सकेंगे ।। १२½ ।।

एतत् प्रयोजनं चात्र प्राधान्येनोपलभ्यते ।। १३ ।।
संगत्या धृतराष्ट्रश्च कुर्याद् धर्म्यं वचस्तव ।

वहाँ आपके जानेका यही प्रयोजन प्रधान-रूपसे दिखायी देता है। यह भी सम्भव है कि आपकी संगतिसे धृतराष्ट्रका मन बदल जाय और वे आपकी धर्मानुकूल बात स्वीकार कर लें ।। १३½ ।।

स भवान् धर्मयुक्तश्च धर्म्यं तेषु समाचरन् ।। १४ ।।
कृपालुषु परिक्लेशान् पाण्डवीयान् प्रकीर्तयन् ।
वृद्धेषु कुलधर्मं च ब्रुवन् पूर्वैरनुष्ठितम् ।। १५ ।।
विभेत्स्यति मनांस्येषामिति मे नात्र संशयः ।

आप धर्मपरायण तो हैं ही, वहाँ धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए कौरवकुलमें जो कृपालु वृद्ध पुरुष हैं, उनके समक्ष पूर्वपुरुषोंद्वारा आचरित कुलधर्मका प्रतिपादन एवं पाण्डवोंके क्लेशोंका वर्णन कीजियेगा। इस प्रकार आप उनका मन दुर्योधनकी ओरसे फोड़ लेंगे, इसमें मुझे कोई संशय नहीं है ।। १४-१५½ ।।

न च तेभ्यो भयं तेऽस्ति ब्राह्मणो ह्यसि वेदवित् ।। १६ ।।
दूतकर्मणि युक्तश्च स्थविरश्च विशेषतः ।

आपको उनसे कोई भय नहीं है; क्योंकि आप वेदवेत्ता ब्राह्मण हैं। विशेषतः दूतकर्ममें नियुक्त और वृद्ध हैं ।। १६½ ।।

स भवान् पुष्ययोगेन मुहूर्तेन जयेन च ।
कौरवेयान् प्रयात्वाशु कौन्तेयस्यार्थसिद्धये ।। १७ ।।

अतः आप पुष्य नक्षत्रसे युक्त जय नामक मुहूर्तमें कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके कार्यकी सिद्धिके लिये कौरवोंके पास शीघ्र जाइये ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथानुशिष्टः प्रययौ द्रुपदेन महात्मना ।
पुरोधा वृत्तसम्पन्नो नगरं नागसाह्वयम् ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महामना राजा द्रुपदके द्वारा इस प्रकार अनुशासित होकर सदाचार-सम्पन्न पुरोहितने हस्तिनापुरको प्रस्थान किया ।। १८ ।।

शिष्यैः परिवृतो विद्वान् नीतिशास्त्रार्थकोविदः ।
पाण्डवानां हितार्थाय कौरवान् प्रति जग्मिवान् ।। १९ ।।

वे विद्वान् तथा नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्रके विशेषज्ञ थे। वे पाण्डवोंके हितके लिये शिष्योंके साथ कौरवोंकी (राजधानीकी) ओर गये थे ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने षष्ठोऽध्यायः ।। ६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहितप्रस्थानविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ।। ६ ।।

सप्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधन तथा अर्जुन दोनोंको सहायता देना

वैशम्पायन उवाच

पुरोहितं ते प्रस्थाप्य नगरं नागसाह्वयम् ।
दूतान् प्रस्थापयामासुः पार्थिवेभ्यस्ततस्ततः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पुरोहितको हस्तिनापुर भेजकर पाण्डवलोग यत्र-तत्र राजाओंके यहाँ अपने दूतोंको भेजने लगे ।। १ ।।

प्रस्थाप्य दूतानन्यत्र द्वारकां पुरुषर्षभः ।
स्वयं जगाम कौरव्यः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।। २ ।।

अन्य सब स्थानोंमें दूत भेजकर कुरुकुलनन्दन कुन्तीपुत्र नरश्रेष्ठ धनंजय स्वयं द्वारकापुरीको गये ।। २ ।।

गते द्वारवतीं कृष्णे बलदेवे च माधवे ।
सह वृष्ण्यन्धकैः सर्वैर्भोजैश्च शतशस्तदा ।। ३ ।।
सर्वमागमयामास पाण्डवानां विचेष्टितम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रणिहितैश्चरैः ।। ४ ।।

जब मधुकुलनन्दन श्रीकृष्ण और बलभद्र सैकड़ों वृष्णि, अन्धक और भोजवंशी यादवोंको साथ ले द्वारकापुरीकी ओर चले थे, तभी धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनने अपने नियुक्त किये हुए गुप्तचरोंसे पाण्डवोंकी सारी चेष्टाओंका पता लगा लिया था ।। ३-४ ।।

स श्रुत्वा माधवं यान्तं सदश्वैरनिलोपमैः ।
बलेन नातिमहता द्वारकामभ्ययात् पुरीम् ।। ५ ।।

जब उसने सुना कि श्रीकृष्ण विराटनगरसे द्वारकाको जा रहे हैं, तब वह वायुके समान वेगवान् उत्तम अश्वों तथा एक छोटी-सी सेनाके साथ द्वारकापुरीकी ओर चल दिया ।। ५ ।।

तमेव दिवसं चापि कौन्तेयः पाण्डुनन्दनः ।
आनर्तनगरीं रम्यां जगामाशु धनंजयः ।। ६ ।।

कुन्तीकुमार पाण्डुनन्दन अर्जुनने भी उसी दिन शीघ्रतापूर्वक रमणीय द्वारकापुरीकी ओर प्रस्थान किया ।।

तौ यात्वा पुरुषव्याघ्रौ द्वारकां कुरुनन्दनौ ।
सुप्तं ददृशतुः कृष्णं शयानं चाभिजग्मतुः ।। ७ ।।

कुरुवंशका आनन्द बढ़ानेवाले उन दोनों नरवीरोंने द्वारकामें पहुँचकर देखा, श्रीकृष्ण शयन कर रहे हैं। तब वे दोनों सोये हुए श्रीकृष्णके पास गये ।। ७ ।।

ततः शयाने गोविन्दे प्रविवेश सुयोधनः ।

उच्छीर्षतश्च कृष्णस्य निषसाद वरासने ।। ८ ।।

श्रीकृष्णके शयनकालमें पहले दुर्योधनने उनके भवनमें प्रवेश किया और उनके सिरहानेकी ओर रखे हुए एक श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठ गया ।। ८ ।।

ततः किरीटी तस्यानुप्रविवेश महामनाः ।
पश्चाच्चैव स कृष्णस्य प्रह्वोऽतिष्ठत् कृताञ्जलिः ।। ९ ।।

तत्पश्चात् महामना किरीटधारी अर्जुनने श्रीकृष्णके शयनागारमें प्रवेश किया। वे बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़े हुए श्रीकृष्णके चरणोंकी ओर खड़े रहे ।। ९ ।।

प्रतिबुद्धः स वार्ष्णेयो ददर्शाग्रे किरीटिनम् ।
स तयोः स्वागतं कृत्वा यथावत् प्रतिपूज्य तौ ।। १० ।।
तदागमनजं हेतुं पप्रच्छ मधुसूदनः ।
ततो दुर्योधनः कृष्णमुवाच प्रहसन्निव ।। ११ ।।

जागनेपर वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्णने पहले अर्जुनको ही देखा। मधुसूदनने उन दोनोंका यथायोग्य आदर-सत्कार करके उनसे उनके आगमनका कारण पूछा। तब दुर्योधनने भगवान् श्रीकृष्णसे हँसते हुएसे कहा— ।।

विग्रहेऽस्मिन् भवान् साह्यं मम दातुमिहार्हति ।
समं हि भवतः सख्यं मम चैवार्जुनेऽपि च ।। १२ ।।
तथा सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं त्वयि माधव ।
अहं चाभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदन ।। १३ ।।
पूर्वं चाभिगतं सन्तो भजन्ते पूर्वसारिणः ।
त्वं च श्रेष्ठतमो लोके सतामद्य जनार्दन ।
सततं सम्मतश्चैव सद्वृत्तमनुपालय ।। १४ ।।

दुर्योधन और अर्जुनका श्रीकृष्णसे युद्धके लिये सहायता माँगना

'माधव! (पाण्डवोंके साथ हमारा) जो युद्ध होनेवाला है, उसमें आप मुझे सहायता दें। आपकी मेरे तथा अर्जुनके साथ एक-सी मित्रता है एवं हमलोगोंका आपके साथ सम्बन्ध भी समान ही है और मधुसूदन! आज मैं ही आपके पास पहले आया हूँ। पूर्वपुरुषोंके सदाचारका अनुसरण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष पहले आये हुए प्रार्थीकी ही सहायता करते हैं। जनार्दन! आप इस समय संसारके सत्पुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं और सभी सर्वदा आपको सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। अतः आप सत्पुरुषोंके ही आचारका पालन करें' ।। १२—१४ ।।

श्रीकृष्ण उवाच

भवानभिगतः पूर्वमत्र मे नास्ति संशयः ।
दृष्टस्तु प्रथमं राजन् मया पार्थो धनंजयः ।। १५ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन्! इसमें संदेह नहीं कि आप ही मेरे यहाँ पहले आये हैं, परंतु मैंने पहले कुन्तीनन्दन अर्जुनको ही देखा है ।। १५ ।।

तव पूर्वाभिगमनात् पूर्वं चाप्यस्य दर्शनात् ।
साहाय्यमुभयोरेव करिष्यामि सुयोधन ।। १६ ।।

सुयोधन! आप पहले आये हैं और अर्जुनको मैंने पहले देखा है; इसलिये मैं दोनोंकी ही सहायता करूँगा ।। १६ ।।

प्रवारणं तु बालानां पूर्वं कार्यमिति श्रुतिः ।
तस्मात् प्रवारणं पूर्वमर्हः पार्थो धनंजयः ।। १७ ।।

शास्त्रकी आज्ञा है कि पहले बालकोंको ही उनकी अभीष्ट वस्तु देनी चाहिये; अतः अवस्थामें छोटे होनेके कारण पहले कुन्तीपुत्र अर्जुन ही अपनी अभीष्ट वस्तु पानेके अधिकारी हैं ।। १७ ।।

मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत् ।
नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः ।। १८ ।।

मेरे पास दस करोड़ गोपोंकी विशाल सेना है, जो सब-के-सब मेरे जैसे ही बलिष्ठ शरीरवाले हैं। उन सबकी 'नारायण' संज्ञा है। वे सभी युद्धमें डटकर लोहा लेनेवाले हैं ।। १८ ।।

ते वा युधि दुराधर्षा भवन्त्वेकस्य सैनिकाः ।
अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः ।। १९ ।।

एक ओर तो वे दुर्धर्ष सैनिक युद्धके लिये उद्यत रहेंगे और दूसरी ओरसे अकेला मैं रहूँगा; परंतु मैं न तो युद्ध करूँगा और न कोई शस्त्र ही धारण करूँगा ।।

आभ्यामन्यतरं पार्थ यत् ते हृद्यतरं मतम् ।
तद् वृणीतां भवानग्रे प्रवार्यस्त्वं हि धर्मतः ।। २० ।।

अर्जुन! इन दोनोंमेंसे कोई एक वस्तु, जो तुम्हारे मनको अधिक प्रिय जान पड़े, तुम पहले चुन लो; क्योंकि धर्मके अनुसार पहले तुम्हें ही अपनी मनचाही वस्तु चुननेका अधिकार है ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम् ।। २१ ।।
नारायणममित्रघ्नं कामाज्जातमजं नृषु ।
सर्वक्षत्रस्य पुरतो देवदानवयोरपि ।। २२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार धनंजयने संग्रामभूमिमें युद्ध न करनेवाले उन भगवान् श्रीकृष्णको ही (अपना सहायक) चुना, जो साक्षात् शत्रुहन्ता नारायण हैं और अजन्मा होते हुए भी स्वेच्छासे देवता, दानव तथा समस्त क्षत्रियोंके सम्मुख मनुष्योंमें अवतीर्ण हुए हैं ।। २१-२२ ।।

दुर्योधनस्तु तत् सैन्यं सर्वमावरयत् तदा ।
सहस्राणां सहस्रं तु योधानां प्राप्य भारत ।। २३ ।।
कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा सम्प्राप परमां मुदम् ।
दुर्योधनस्तु तत् सैन्यं सर्वमादाय पार्थिवः ।। २४ ।।
ततोऽभ्ययाद् भीमबलो रौहिणेयं महाबलः ।
सर्वं चागमने हेतुं स तस्मै संन्यवेदयत् ।
प्रत्युवाच ततः शौरिर्धार्तराष्ट्रमिदं वचः ।। २५ ।।

जनमेजय! तब दुर्योधनने वह सारी सेना माँग ली, जो अनेक सहस्र सैनिकोंकी सहस्रों टोलियोंमें संगठित थी। उन योद्धाओंको पाकर और श्रीकृष्णको ठगा गया समझकर राजा दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसका बल भयंकर था। वह सारी सेना लेकर महाबली रोहिणीनन्दन बलरामजीके पास गया और उसने उन्हें अपने आनेका सारा कारण बताया। तब शूरवंशी बलरामजीने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको इस प्रकार उत्तर दिया ।। २३—२५ ।।

बलदेव उवाच

विदितं ते नरव्याघ्र सर्वं भवितुमर्हति ।
यन्मयोक्तं विराटस्य पुरा वैवाहिके तदा ।। २६ ।।

बलदेवजी बोले—पुरुषसिंह! पहले राजा विराटके यहाँ विवाहोत्सवके अवसरपर मैंने जो कुछ कहा था, वह सब तुम्हें मालूम हो गया होगा ।। २६ ।।

निगृह्योक्तो हृषीकेशस्त्वदर्थं कुरुनन्दन ।
मया सम्बन्धकं तुल्यमिति राजन् पुनः पुनः ।। २७ ।।
न च तद् वाक्यमुक्तं वै केशवं प्रत्यपद्यत ।
न चाहमुत्सहे कृष्णं विना स्थातुमपि क्षणम् ।। २८ ।।

कुरुनन्दन! तुम्हारे लिये मैंने श्रीकृष्णको बाध्य करके कहा था कि हमारे साथ दोनों पक्षोंका समानरूपसे सम्बन्ध है। राजन्! मैंने वह बात बार-बार दुहरायी, परंतु श्रीकृष्णको जँची नहीं और मैं श्रीकृष्ण-को छोड़कर एक क्षण भी अन्यत्र कहीं ठहर नहीं सकता ।।

नाहं सहायः पार्थस्य नापि दुर्योधनस्य वै ।
इति मे निश्चिता बुद्धिर्वासुदेवमवेक्ष्य ह ।। २९ ।।

अतः मैं श्रीकृष्णकी ओर देखकर मन-ही-मन इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि मैं न तो अर्जुनकी सहायता करूँगा और न दुर्योधनकी ही ।। २९ ।।

जातोऽसि भारते वंशे सर्वपार्थिवपूजिते ।
गच्छ युध्यस्व धर्मेण क्षात्रेण पुरुषर्षभ ।। ३० ।।

पुरुषरत्न! तुम समस्त राजाओंद्वारा सम्मानित भरत-वंशमें उत्पन्न हुए हो। जाओ, क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध करो ।। ३० ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्तस्तु तदा परिष्वज्य हलायुधम् ।
कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा युद्धान्मेने जितं जयम् ।। ३१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बलभद्रजीके ऐसा कहनेपर दुर्योधनने उन्हें हृदयसे लगाया और श्रीकृष्णको ठगा गया जानकर युद्धसे अपनी निश्चित विजय समझ ली ।। ३१ ।।

सोऽभ्ययात् कृतवर्माणं धृतराष्ट्रसुतो नृपः ।
कृतवर्मा ददौ तस्य सेनामक्षौहिणीं तदा ।। ३२ ।।

तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन कृतवर्माके पास गया। कृतवर्माने उसे एक अक्षौहिणी सेना दी ।।

स तेन सर्वसैन्येन भीमेन कुरुनन्दनः ।
वृतः परिययौ हृष्टः सुहृदः सम्प्रहर्षयन् ।। ३३ ।।

उस सारी भयंकर सेनाके द्वारा घिरा हुआ कुरुनन्दन दुर्योधन अपने सुहृदोंका हर्ष बढ़ाता हुआ बड़ी प्रसन्नताके साथ हस्तिनापुरको लौट गया ।। ३३ ।।

ततः पीताम्बरधरो जगत्स्रष्टा जनार्दनः ।

गते दुर्योधने कृष्णः किरीटिनमथाब्रवीत् ।
अयुध्यमानः कां बुद्धिमास्थायाहं वृतस्त्वया ।। ३४ ।।

दुर्योधनके चले जानेपर पीताम्बरधारी जगत्स्रष्टा जनार्दन श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—‘पार्थ! मैं तो युद्ध करूँगा नहीं; फिर तुमने क्या सोच-समझकर मुझे चुना है?’ ।। ३४ ।।

अर्जुन उवाच

भवान् समर्थस्तान् सर्वान् निहन्तुं नात्र संशयः ।
निहन्तुमहमप्येकः समर्थः पुरुषर्षभ ।। ३५ ।।

अर्जुन बोले—भगवन्! आप अकेले ही उन सबको नष्ट करनेमें समर्थ हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। पुरुषोत्तम! (आपकी ही कृपासे) मैं भी अकेला ही उन सब शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हूँ ।। ३५ ।।

भवांस्तु कीर्तिमाँल्लोके तद् यशस्त्वां गमिष्यति ।
यशसां चाहमप्यर्थी तस्मादसि मया वृतः ।। ३६ ।।

परंतु आप संसारमें यशस्वी हैं। आप जहाँ भी रहेंगे, वह यश आपका ही अनुसरण करेगा। मुझे भी यशकी इच्छा है ही; इसीलिये मैंने आपका वरण किया है ।। ३६ ।।

सारथ्यं तु त्वया कार्यमिति मे मानसं सदा ।
चिररात्रेप्सितं कामं तद् भवान् कर्तुमर्हति ।। ३७ ।।

मेरे मनमें बहुत दिनोंसे यह अभिलाषा थी कि आपको अपना सारथि बनाऊँ—अपने जीवनरथकी बागडोर आपके हाथोंमें सौंप दूँ। मेरी इस चिरकालिक अभिलाषाको आप पूर्ण करें ।। ३७ ।।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। (गीता ५।१८)

संजयकी श्रीकृष्ण एवं पाण्डवोंसे भेंट

कौरव-सभामें विराट् रूप

संजयको दिव्य दृष्टि

सबमें भगवत्-दर्शन

भक्तोंके द्वारा प्रेमसे दिये हुए पत्र, पुष्प, फल, जल आदिको भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर ग्रहण करते हैं!

भीष्म और अर्जुनका युद्ध

भीष्मपितामहकी सेवामें श्रीकृष्णसहित पाण्डव

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं पार्थ यत् स्पर्धसि मया सह ।
सारथ्यं ते करिष्यामि कामः सम्पद्यतां तव ।। ३८ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पार्थ! तुम जो (शत्रुओंपर विजय पानेमें) मेरे साथ स्पर्धा रखते हो, यह तुम्हारे लिये ठीक ही है। मैं तुम्हारा सारथ्य करूँगा। तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण हो ।। ३८ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रमुदितः पार्थः कृष्णेन सहितस्तदा ।
वृतो दशार्हप्रवरैः पुनरायाद् युधिष्ठिरम् ।। ३९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार (अपनी इच्छा पूर्ण होनेसे) प्रसन्न हुए अर्जुन श्रीकृष्णके सहित मुख्य-मुख्य दशार्हवंशी यादवोंसे घिरे हुए पुनः युधिष्ठिरके पास आये ।। ३९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि कृष्णसारथ्यस्वीकारे सप्तमोऽध्यायः ।। ७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें श्रीकृष्णका सारथ्यस्वीकारविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७ ।।

अष्टमोऽध्यायः

शल्यका दुर्योधनके सत्कारसे प्रसन्न हो उसे वर देना और युधिष्ठिरसे मिलकर उन्हें आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

शल्यः श्रुत्वा तु दूतानां सैन्येन महता वृतः ।
अभ्ययात् पाण्डवान् राजन् सह पुत्रैर्महारथैः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंके दूतोंके मुखसे उनका संदेश सुनकर राजा शल्य अपने महारथी पुत्रोंके साथ विशाल सेनासे घिरकर पाण्डवोंके पास चले ।। १ ।।

तस्य सेनानिवेशोऽभूदध्यर्धमिव योजनम् ।
तथा हि विपुलां सेनां बिभर्ति स नरर्षभः ।। २ ।।

नरश्रेष्ठ शल्य इतनी अधिक सेनाका भरण-पोषण करते थे कि उसका पड़ाव पड़नेपर आधी योजन भूमि घिर जाती थी ।। २ ।।

अक्षौहिणीपती राजन् महावीर्यपराक्रमः ।
विचित्रकवचाः शूरा विचित्रध्वजकार्मुकाः ।। ३ ।।
विचित्राभरणाः सर्वे विचित्ररथवाहनाः ।
विचित्रस्रग्धराः सर्वे विचित्राम्बरभूषणाः ।। ४ ।।
स्वदेशवेषाभरणा वीराः शतसहस्रशः ।
तस्य सेनाप्रणेतारो बभूवुः क्षत्रियर्षभाः ।। ५ ।।

राजन्! महान् बलवान् और पराक्रमी शल्य अक्षौहिणी सेनाके स्वामी थे। सैकड़ों और हजारों वीर क्षत्रियशिरोमणि उनकी विशाल वाहिनीका संचालन करनेवाले सेनापति थे। वे सब-के-सब शौर्य-सम्पन्न, अद्भुत कवच धारण करनेवाले तथा विचित्र ध्वज एवं धनुषसे सुशोभित थे। उन सबके अंगोंमें विचित्र आभूषण शोभा दे रहे थे। सभीके रथ और वाहन विचित्र थे। सबके गलेमें विचित्र मालाएँ सुशोभित थीं। सबके वस्त्र और अलंकार अद्भुत दिखायी देते थे। उन सबने अपने-अपने देशकी वेश-भूषा धारण कर रखी थी ।। ३—५ ।।

व्यथयन्निव भूतानि कम्पयन्निव मेदिनीम् ।
शनैर्विश्रामयन् सेनां स ययौ येन पाण्डवः ।। ६ ।।

राजा शल्य समस्त प्राणियोंको व्यथित और पृथ्वीको कम्पित-से करते हुए अपनी सेनाको धीरे-धीरे विभिन्न स्थानोंपर ठहराकर विश्राम देते हुए उस मार्गपर चले, जिससे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके पास शीघ्र पहुँच सकते थे ।। ६ ।।

ततो दुर्योधनः श्रुत्वा महात्मानं महारथम् ।
उपायान्तमभिद्रुत्य स्वयमानर्च भारत ।। ७ ।।

भरतनन्दन! उन्हीं दिनों दुर्योधनने महारथी एवं महामना राजा शल्यका आगमन सुनकर स्वयं आगे बढ़कर (मार्गमें ही) उनका सेवा-सत्कार प्रारम्भ कर दिया ।। ७ ।।

कारयामास पूजार्थं तस्य दुर्योधनः सभाः ।
रमणीयेषु देशेषु रत्नचित्राः स्वलंकृताः ।। ८ ।।

दुर्योधनने राजा शल्यके स्वागत-सत्कारके लिये रमणीय प्रदेशोंमें बहुत-से सभाभवन तैयार कराये, जिनकी दीवारोंमें रत्न जड़े हुए थे। उन भवनोंको सब प्रकारसे सजाया गया था ।। ८ ।।

शिल्पिभिर्विविधैश्चैव क्रीडास्तत्र प्रयोजिताः ।
तत्र वस्त्राणि माल्यानि भक्ष्यं पेयं च सत्कृतम् ।। ९ ।।

नाना प्रकारके शिल्पियोंने उनमें अनेकानेक क्रीड़ा-विहारके स्थान बनाये थे। वहाँ भाँति-भाँतिके वस्त्र, मालाएँ, खाने-पीनेके सामान तथा सत्कारकी अन्यान्य वस्तुएँ रखी गयी थीं ।। ९ ।।

कूपाश्च विविधाकारा मनोहर्षविवर्धनाः ।
वाप्यश्च विविधाकारा औदकानि गृहाणि च ।। १० ।।

अनेक प्रकारके कुएँ तथा भाँति-भाँतिकी बावड़ियाँ बनायी गयी थीं, जो हृदयके हर्षको बढ़ा रही थीं। बहुत-से ऐसे गृह बने थे, जिनमें जलकी विशेष सुविधा सुलभ की गयी थी ।। १० ।।

स ताः सभाः समासाद्य पूज्यमानो यथामरः ।
दुर्योधनस्य सचिवैर्देशे देशो समन्ततः ।। ११ ।।

सब ओर विभिन्न स्थानोंमें बने हुए उन सभाभवनोंमें पहुँचकर राजा शल्य दुर्योधनके मन्त्रियोंद्वारा देवताओं-की भाँति पूजित होते थे ।। ११ ।।

आजगाम सभामन्यां देवावसथवर्चसम् ।
स तत्र विषयैर्युक्तः कल्याणैरतिमानुषैः ।। १२ ।।

इस तरह (यात्रा करते हुए) शल्य किसी दूसरे सभाभवनमें गये, जो देवमन्दिरोंके समान प्रकाशित होता था। वहाँ उन्हें अलौकिक कल्याणमय भोग प्राप्त हुए ।।

मेनेऽभ्यधिकमात्मानमवमेने पुरंदरम् ।
पप्रच्छ स ततः प्रेष्यान् प्रहृष्टः क्षत्रियर्षभः ।। १३ ।।

उस समय उन क्षत्रियशिरोमणि नरेशने अपने-आपको सबसे अधिक सौभाग्यशाली समझा। उन्हें देवराज इन्द्र भी अपनेसे तुच्छ प्रतीत हुए। उस समय अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्होंने सेवकोंसे पूछा— ।। १३ ।।

युधिष्ठिरस्य पुरुषाः केऽत्र चक्रुः सभा इमाः ।

आनीयन्तां सभाकाराः प्रदेयार्हा हि मे मताः ।। १४ ।।

'युधिष्ठिरके किन आदमियोंने ये सभाभवन बनाये हैं। उन सबको बुलाओ। मैं उन्हें पुरस्कार देनेके योग्य मानता हूँ ।। १४ ।।

प्रसादमेषां दास्यामि कुन्तीपुत्रोऽनुमन्यताम् ।
दुर्योधनाय तत् सर्वं कथयन्ति स्म विस्मिताः ।। १५ ।।

'मैं इन सबको अपनी प्रसन्नताके फलस्वरूप कुछ पुरस्कार दूँगा, कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको भी मेरे इस व्यवहारका अनुमोदन करना चाहिये।' यह सुनकर सब सेवकोंने विस्मित हो दुर्योधनसे वे सारी बातें बतायीं ।। १५ ।।

सम्प्रहृष्टो यदा शल्यो दिदित्सुरपि जीवितम् ।
गूढो दुर्योधनस्तत्र दर्शयामास मातुलम् ।। १६ ।।

जब हर्षमें भरे हुए राजा शल्य (अपने प्रति किये गये उपकारके बदले) प्राणतक देनेको तैयार हो गये, तब गुप्तरूपसे वहीं छिपा हुआ दुर्योधन मामा शल्यके सामने गया ।। १६ ।।

तं दृष्ट्वा मद्रराजश्च ज्ञात्वा यत्नं च तस्य तम् ।
परिष्वज्याब्रवीत् प्रीत इष्टोऽर्थो गृह्यतामिति ।। १७ ।।

उसे देखकर तथा उसीने यह सारी तैयारी की है, यह जानकर मद्रराजने प्रसन्नतापूर्वक दुर्योधनको हृदयसे लगा लिया और कहा—'तुम अपनी अभीष्ट वस्तु मुझसे माँग लो' ।। १७ ।।

दुर्योधन उवाच

सत्यवाग् भव कल्याण वरो वै मम दीयताम् ।
सर्वसेनाप्रणेता वै भवान् भवितुमर्हति ।। १८ ।।

दुर्योधनने कहा—कल्याणस्वरूप महानुभाव! आपकी बात सत्य हो। आप मुझे अवश्य वर दीजिये। मैं चाहता हूँ कि आप मेरी सम्पूर्ण सेनाके अधिनायक हो जायँ ।। १८ ।।

(यथैव पाण्डवास्तुभ्यं तथैव भवते ह्यहम् ।
अनुमान्यं च पाल्यं च भक्तं च भज मां विभो ।।

आपके लिये जैसे पाण्डव हैं, वैसा ही मैं हूँ। प्रभो! मैं आपका भक्त होनेके कारण आपके द्वारा समादृत और पालित होने योग्य हूँ। अतः मुझे अपनाइये।

शल्य उवाच

एवमेतन्महाराज यथा वदसि पार्थिव ।
एवं ददामि ते प्रीत एवमेतद् भविष्यति ।।)

शल्यने कहा—महाराज! तुम्हारा कहना ठीक है। भूपाल! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही वर तुम्हें प्रसन्नतापूर्वक देता हूँ। यह ऐसा ही होगा—मैं तुम्हारी सेनाका अधिनायक

बनूँगा।

वैशम्पायन उवाच

कृतमित्यब्रवीच्छल्यः किमन्यत् क्रियतामिति ।
कृतमित्येव गान्धारिः प्रत्युवाच पुनः पुनः ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उस समय शल्यने दुर्योधनसे कहा—'तुम्हारी यह प्रार्थना तो स्वीकार कर ली। अब और कौन-सा कार्य करूँ?' यह सुनकर गान्धारीनन्दन दुर्योधनने बार-बार यही कहा कि मेरा तो सब काम आपने पूरा कर दिया ।। १९ ।।

शल्य उवाच

गच्छ दुर्योधन पुरं स्वकमेव नरर्षभ ।
अहं गमिष्ये द्रष्टुं वै युधिष्ठिरमरिंदमम् ।। २० ।।

शल्य बोले—नरश्रेष्ठ दुर्योधन! अब तुम अपने नगरको जाओ। मैं शत्रुदमन युधिष्ठिरसे मिलने जाऊँगा ।।

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं राजन् क्षिप्रमेष्ये नराधिप ।
अवश्यं चापि द्रष्टव्यः पाण्डवः पुरुषर्षभः ।। २१ ।।

नरेश्वर! मैं युधिष्ठिरसे मिलकर शीघ्र ही लौट आऊँगा। पाण्डुपुत्र नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे मिलना भी अत्यन्त आवश्यक है ।। २१ ।।

दुर्योधन उवाच

क्षिप्रमागम्यतां राजन् पाण्डवं वीक्ष्य पार्थिव ।
त्वय्यधीनाः स्म राजेन्द्र वरदानं स्मरस्व नः ।। २२ ।।

दुर्योधनने कहा—राजन्! पृथ्वीपते! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे मिलकर आप शीघ्र चले आइये। राजेन्द्र! हम आपके ही अधीन हैं। आपने हमें जो वरदान दिया है, उसे याद रखियेगा ।। २२ ।।

शल्य उवाच

क्षिप्रमेष्यामि भद्रं ते गच्छस्व स्वपुरं नृप ।
परिष्वज्य तथान्योन्यं शल्यदुर्योधनावुभौ ।। २३ ।।

शल्य बोले—नरेश्वर! तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपने नगरको जाओ। मैं शीघ्र आऊँगा।

ऐसा कहकर राजा शल्य तथा दुर्योधन दोनों एक-दूसरेसे गले मिलकर विदा हुए ।। २३ ।।

स तथा शल्यमामन्त्र्य पुनरायात् स्वकं पुरम् ।
शल्यो जगाम कौन्तेयानाख्यातुं कर्म तस्य तत् ।। २४ ।।

इस प्रकार शल्यसे आज्ञा लेकर दुर्योधन पुनः अपने नगरको लौट आया और शल्य कुन्तीकुमारोंसे दुर्योधनकी वह करतूत सुनानेके लिये युधिष्ठिरके पास गये ।। २४ ।।

उपप्लव्यं स गत्वा तु स्कन्धावारं प्रविश्य च ।
पाण्डवानथ तान् सर्वान् शल्यस्तत्र ददर्श ह ।। २५ ।।

विराटनगरके उपप्लव्य नामक प्रदेशमें जाकर वे पाण्डवोंकी छावनीमें पहुँचे और वहीं उन सब पाण्डवोंसे मिले ।। २५ ।।

समेत्य च महाबाहुः शल्यः पाण्डुसुतैस्तदा ।
पाद्यमर्घ्यं च गां चैव प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ।। २६ ।।

पाण्डुपुत्रोंसे मिलकर महाबाहु शल्यने उनके द्वारा विधिपूर्वक दिये हुए पाद्य, अर्घ्य और गौको ग्रहण किया ।।

ततः कुशलपूर्वं हि मद्रराजोऽरिसूदनः ।
प्रीत्या परमया युक्तः समाश्लिष्यद् युधिष्ठिरम् ।। २७ ।।
तथा भीमार्जुनौ हृष्टौ स्वस्रीयौ च यमावुभौ ।

तत्पश्चात् शत्रुसूदन मद्रराज शल्यने कुशल-प्रश्नके अनन्तर बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा युधिष्ठिरको हृदयसे लगाया। इसी प्रकार उन्होंने हर्षमें भरे हुए दोनों भाई भीमसेन और

अर्जुनको तथा अपनी बहिनके दोनों जुड़वे पुत्रों—नकुल-सहदेवको भी गले लगाया ।।

(द्रौपदी च सुभद्रा च अभिमन्युश्च भारत ।
समेत्य च महाबाहुं शल्यं पाण्डुसुतस्तदा ।।
कृताञ्जलिरदीनात्मा धर्मात्मा शल्यमब्रवीत् ।

भारत! तदनन्तर द्रौपदी, सुभद्रा तथा अभिमन्युने महाबाहु शल्यके पास आकर उन्हें प्रणाम किया। उस समय उदारचेता धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने दोनों हाथ जोड़कर शल्यसे कहा। *युधिष्ठिर उवाच*

स्वागतं तेऽस्तु वै राजन्नेतदासनमास्यताम् ।।

युधिष्ठिर बोले—राजन्! आपका स्वागत है। इस आसनपर विराजिये।

वैशम्पायन उवाच

ततो न्यषीदच्छल्यश्च काञ्चने परमासने ।
कुशलं पाण्डवोऽपृच्छच्छल्यं सर्वसुखावहम् ।।
स तैः परिवृतः सर्वैः पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ।)
आसने चोपविष्टस्तु शल्यः पार्थमुवाच ह ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब राजा शल्य सुवर्णके श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान हुए। उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने सबको सुख देनेवाले शल्यसे कुशलसमाचार पूछा। उन समस्त धर्मात्मा पाण्डवोंसे घिरकर आसनपर बैठे हुए राजा शल्य कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले— ।। २८ ।।

कुशलं राजशार्दूल कच्चित् ते कुरुनन्दन ।
अरण्यवासाद् दिष्ट्यासि विमुक्तो जयतां वर ।। २९ ।।

'नृपतिश्रेष्ठ कुरुनन्दन! तुम कुशलसे तो हो न? विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ नरेश! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम वनवासके कष्टसे छुटकारा पा गये ।। २९ ।।

सुदुष्करं कृतं राजन् निर्जने वसता त्वया ।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र कृष्णया चानया सह ।। ३० ।।

'राजन्! तुमने अपने भाइयों तथा इस द्रुपदकुमारी कृष्णाके साथ निर्जन वनमें निवास करके अत्यन्त दुष्कर कार्य किया है ।। ३० ।।

अज्ञातवासं घोरं च वसता दुष्करं कृतम् ।
दुःखमेव कुतः सौख्यं भ्रष्टराज्यस्य भारत ।। ३१ ।।

'भारत! भयंकर अज्ञातवास करके तो तुमलोगोंने और भी दुष्कर कार्य सम्पन्न किया है। जो अपने राज्यसे वंचित हो गया हो, उसे तो कष्ट ही उठाना पड़ता है, सुख कहाँसे मिल सकता है? ।। ३१ ।।

दुःखस्यैतस्य महतो धार्तराष्ट्रकृतस्य वै ।

अवाप्स्यसि सुखं राजन् हत्वा शत्रून् परंतप ।। ३२ ।।

‘शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! दुर्योधनके दिये हुए इस महान् दुःखके अन्तमें अब तुम शत्रुओंको मारकर सुखके भागी होओगे ।। ३२ ।।

विदितं ते महाराज लोकतन्त्रं नराधिप ।
तस्माल्लोभकृतं किंचित् तव तात न विद्यते ।। ३३ ।।

‘महाराज! नरेश्वर! तुम्हें लोकतन्त्रका सम्यक् ज्ञान है। तात! इसीलिये तुममें लोभजनित कोई भी बर्ताव नहीं है ।।

राजर्षीणां पुराणानां मार्गमन्विच्छ भारत ।
दाने तपसि सत्ये च भव तात युधिष्ठिर ।। ३४ ।।

‘भारत! प्राचीन राजर्षियोंके मार्गका अनुसरण करो। तात युधिष्ठिर! तुम सदा दान, तपस्या और सत्यमें ही संलग्न रहो ।। ३४ ।।

क्षमा दमश्च सत्यं च अहिंसा च युधिष्ठिर ।
अद्भुतश्च पुनर्लोकस्त्वयि राजन् प्रतिष्ठितः ।। ३५ ।।

‘राजा युधिष्ठिर! क्षमा, इन्द्रियसंयम, सत्य, अहिंसा तथा अद्भुत लोक—ये सब तुममें प्रतिष्ठित हैं ।। ३५ ।।

मृदुर्वदान्यो ब्रह्मण्यो दाता धर्मपरायणः ।
धर्मास्ते विदिता राजन् बहवो लोकसाक्षिकाः ।। ३६ ।।

‘महाराज! तुम कोमल, उदार, ब्राह्मणभक्त, दानी तथा धर्मपरायण हो। संसार जिनका साक्षी है, ऐसे बहुत-से धर्म तुम्हें ज्ञात हैं ।। ३६ ।।

सर्वं जगदिदं तात विदितं ते परंतप ।
दिष्ट्या कृच्छ्रमिदं राजन् पारितं भरतर्षभ ।। ३७ ।।

‘तात! परंतप! तुम्हें इस सम्पूर्ण जगत्का तत्त्व ज्ञात है। भरतश्रेष्ठ नरेश! तुम इस महान् संकटसे पार हो गये, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ।। ३७ ।।

दिष्ट्या पश्यामि राजेन्द्र धर्मात्मानं सहानुगम् ।
निस्तीर्णं दुष्करं राजंस्त्वां धर्मनिचयं प्रभो ।। ३८ ।।

‘राजेन्द्र! तुम धर्मात्मा एवं धर्मकी निधि हो। राजन्! तुमने भाइयोंसहित अपनी दुष्कर प्रतिज्ञा पूरी कर ली है और इस अवस्थामें मैं तुम्हें देख रहा हूँ; यह मेरा अहोभाग्य है’ ।। ३८ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽस्याकथयद् राजा दुर्योधनसमागमम् ।
तच्च शुश्रूषितं सर्वं वरदानं च भारत ।। ३९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! तदनन्तर राजा शल्यने दुर्योधनके मिलने, सेवा-शुश्रूषा करने और उसे अपने वरदान देनेकी सारी बातें कह सुनायीं ।। ३९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

सुकृतं ते कृतं राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
दुर्योधनस्य यद् वीर त्वया वाचा प्रतिश्रुतम् ।। ४० ।।

युधिष्ठिर बोले—वीर महाराज! आपने प्रसन्नचित्त होकर जो दुर्योधनको उसकी सहायताका वचन दे दिया, वह अच्छा ही किया ।। ४० ।।

एकं त्विच्छामि भद्रं ते क्रियमाणं महीपते ।
राजन्नकर्तव्यमपि कर्तुमर्हसि सत्तम ।। ४१ ।।
ममत्ववेक्षया वीर शृणु विज्ञापयामि ते ।
भवानिह च सारथ्ये वासुदेवसमो युधि ।। ४२ ।।

परंतु पृथ्वीपते! आपका कल्याण हो। मैं आपके द्वारा अपना भी एक काम कराना चाहता हूँ। साधु शिरोमणे! वह न करने योग्य होनेपर भी मेरी ओर देखते हुए आपको अवश्य करना चाहिये। वीरवर! सुनिये; मैं वह कार्य आपको बता रहा हूँ। महाराज! आप इस भूतलपर संग्राममें सारथिका काम करनेके लिये वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके समान माने ये हैं ।। ४१-४२ ।।

कर्णार्जुनाभ्यां सम्प्राप्ते द्वैरथे राजसत्तम ।
कर्णस्य भवता कार्यं सारथ्यं नात्र संशयः ।। ४३ ।।

नृपशिरोमणे! जब कर्ण और अर्जुनके द्वैरथयुद्धका अवसर प्राप्त होगा, उस समय आपको ही कर्णके सारथिका काम करना पड़ेगा; इसमें तनिक भी संशय नहीं है ।।

तत्र पाल्योऽर्जुनो राजन् यदि मत्प्रियमिच्छसि ।
तेजोवधश्च ते कार्यः सौतेरस्मज्जयावहः ।। ४४ ।।
अकर्तव्यमपि ह्येतत् कर्तुमर्हसि मातुल ।

राजन्! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं, तो उस युद्धमें आपको अर्जुनकी रक्षा करनी होगी। आपका कार्य इतना ही होगा कि आप कर्णका उत्साह भंग करते रहें। वही कर्णसे हमें विजय दिलानेवाला होगा। मामाजी! मेरे लिये यह न करने योग्य कार्य भी करें ।। ४४ $\frac{१}{२}$ ।।

शल्य उवाच

शृणु पाण्डव ते भद्रं यद् ब्रवीषि महात्मनः ।
तेजोवधनिमित्तं मां सूतपुत्रस्य सङ्गमे ।। ४५ ।।
अहं तस्य भविष्यामि संग्रामे सारथिर्ध्रुवम् ।
वासुदेवेन हि समं नित्यं मां स हि मन्यते ।। ४६ ।।

शल्य बोले—पाण्डुनन्दन! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी बात सुनो! युद्धमें महामना सूतपुत्र कर्णके तेज और उत्साहको नष्ट करनेके लिये तुम जो मुझसे अनुरोध करते हो, वह ठीक है। यह निश्चय है कि मैं उस युद्धमें उसका सारथि होऊँगा। स्वयं कर्ण भी सदा मुझे सारथिकर्ममें भगवान् श्रीकृष्णके समान समझता है ।। ४५-४६ ।।

तस्याहं कुरुशार्दूल प्रतीपमहितं वचः ।
ध्रुवं संकथयिष्यामि योद्धुकामस्य संयुगे ।। ४७ ।।
यथा स हृतदर्पश्च हृततेजाश्च पाण्डव ।
भविष्यति सुखं हन्तुं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। ४८ ।।

कुरुश्रेष्ठ! जब कर्ण रणभूमिमें अर्जुनके साथ युद्धकी इच्छा करेगा, उस समय मैं अवश्य ही उसके प्रतिकूल अहितकर वचन बोलूँगा, जिससे उसका अभिमान और तेज नष्ट हो जायगा और वह युद्धमें सुखपूर्वक मारा जा सकेगा। पाण्डुनन्दन! मैं तुमसे यह सत्य कहता हूँ ।। ४७-४८ ।।

एवमेतत् करिष्यामि यथा तात त्वमात्थ माम् ।
यच्चान्यदपि शक्ष्यामि तत् करिष्यामि ते प्रियम् ।। ४९ ।।

तात! तुम मुझसे जो कुछ कह रहे हो, यह अवश्य पूर्ण करूँगा। इसके सिवा और भी जो कुछ मुझसे हो सकेगा, तुम्हारा वह प्रिय कार्य अवश्य करूँगा ।। ४९ ।।

यच्च दुःखं त्वया प्राप्तं द्यूते वै कृष्णया सह ।
परुषाणि च वाक्यानि सूतपुत्रकृतानि वै ।। ५० ।।
जटासुरात् परिक्लेशः कीचकाच्च महाद्युते ।
द्रौपद्याधिगतं सर्वं दमयन्त्या यथाशुभम् ।। ५१ ।।
सर्वं दुःखमिदं वीर सुखोदर्कं भविष्यति ।
नात्र मन्युस्त्वया कार्यो विधिर्हि बलवत्तरः ।। ५२ ।।

महातेजस्वी वीरवर युधिष्ठिर! तुमने द्यूतसभामें द्रौपदीके साथ जो दुःख उठाया है, सूतपुत्र कर्णने तुम्हें जो कठोर बातें सुनायी हैं तथा पूर्वकालमें दमयन्तीने जैसे अशुभ (दुःख) भोगा था, उसी प्रकार द्रौपदीने जटासुर तथा कीचकसे जो महान् क्लेश प्राप्त किया है, यह सभी दुःख भविष्यमें तुम्हारे लिये सुखके रूपमें परिवर्तित हो जायगा। इसके लिये तुम्हें खेद नहीं करना चाहिये; क्योंकि विधाताका विधान अति प्रबल होता है ।। ५०—५२ ।।

दुःखानि हि महात्मानः प्राप्नुवन्ति युधिष्ठिर ।
देवैरपि हि दुःखानि प्राप्तानि जगतीपते ।। ५३ ।।

युधिष्ठिर! महात्मा पुरुष भी समय-समयपर दुःख पाते हैं। पृथ्वीपते! देवताओंने भी बहुत दुःख उठाये हैं ।।

इन्द्रेण श्रूयते राजन् सभार्येण महात्मना ।
अनुभूतं महद् दुःखं देवराजेन भारत ।। ५४ ।।

भरतवंशी नरेश! सुना जाता है कि पत्नीसहित महामना देवराज इन्द्रने भी महान् दुःख भोगा है ।। ५४ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि शल्यवाक्ये अष्टमोऽध्यायः ।। ८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें शल्यवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८ ।।

नवमोऽध्यायः

इन्द्रके द्वारा त्रिशिराका वध, वृत्रासुरकी उत्पत्ति, उसके साथ इन्द्रका युद्ध तथा देवताओंकी पराजय

युधिष्ठिर उवाच

कथमिन्द्रेण राजेन्द्र सभार्येण महात्मना ।
दुःखं प्राप्तं परं घोरमेतदिच्छामि वेदितुम् ।। १ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—राजेन्द्र! पत्नीसहित महामना इन्द्रने कैसे अत्यन्त भयंकर दुःख प्राप्त किया था? यह मैं जानना चाहता हूँ ।। १ ।।

शल्य उवाच

शृणु राजन् पुरावृत्तमितिहासं पुरातनम् ।
सभार्येण यथा प्राप्तं दुःखमिन्द्रेण भारत ।। २ ।।

शल्यने कहा—भरतवंशी नरेश! यह पूर्वकालमें घटित पुरातन इतिहास है। पत्नीसहित इन्द्रने जिस प्रकार महान् दुःख प्राप्त किया था, वह बताता हूँ, सुनो ।। २ ।।

त्वष्टा प्रजापतिर्ह्यासीद् देवश्रेष्ठो महातपाः ।
स पुत्रं वै त्रिशिरसमिन्द्रद्रोहात् किलासृजत् ।। ३ ।।

त्वष्टा नामसे प्रसिद्ध एक प्रजापति थे, जो देवताओमें श्रेष्ठ और महान् तपस्वी माने जाते थे। कहते हैं, उन्होंने इन्द्रके प्रति द्रोहबुद्धि हो जानेके कारण ही एक तीन सिरवाला पुत्र उत्पन्न किया ।। ३ ।।

ऐन्द्रं स प्रार्थयत् स्थानं विश्वरूपो महाद्युतिः ।
तैस्त्रिभिर्वदनैर्घोरैः सूर्येन्दुज्वलनोपमैः ।। ४ ।।

उस महातेजस्वी बालकका नाम था विश्वरूप। वह सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निके समान तेजस्वी एवं भयंकर अपने उन तीनों मुखोंद्वारा इन्द्रका स्थान पानेकी प्रार्थना करता था ।। ४ ।।

वेदानेकेन सोऽधीते सुरामेकेन चापिबत् ।
एकेन च दिशः सर्वाः पिबन्निव निरीक्षते ।। ५ ।।

वह अपने एक मुखसे वेदोंका स्वाध्याय करता, दूसरेसे सुरा पीता और तीसरेसे सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर इस प्रकार देखता था, मानो उन्हें पी जायगा ।। ५ ।।

स तपस्वी मृदुर्दान्तो धर्मे तपसि चोद्यतः ।
तपस्तस्य महत् तीव्रं सुदुश्चरमरिंदम ।। ६ ।।

शत्रुदमन! त्वष्टाका वह पुत्र कोमल स्वभाववाला, तपस्वी, जितेन्द्रिय तथा धर्म और तपस्याके लिये सदा उद्यत रहनेवाला था। उसका बड़ा भारी तीव्र तप दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर था ।। ६ ।।

तस्य दृष्ट्वा तपोवीर्यं सत्यं चामिततेजसः ।
विषादमगमच्छक्र इन्द्रोऽयं मा भवेदिति ।। ७ ।।

उस अमिततेजस्वी बालकका तपोबल तथा सत्य देखकर इन्द्रको बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगे, 'कहीं यह इन्द्र न हो जाय ।। ७ ।।

कथं सज्जेच्च भोगेषु न च तप्येन्महत् तपः ।
विवर्धमानस्त्रिशिराः सर्वं हि भुवनं ग्रसेत् ।। ८ ।।

'क्या उपाय किया जाय, जिससे यह भोगोंमें आसक्त हो जाय और भारी तपस्यामें प्रवृत्त न हो? क्योंकि यह वृद्धिको प्राप्त हुआ त्रिशिरा तीनों लोकोंको अपना ग्रास बना लेगा' ।। ८ ।।

इति संचिन्त्य बहुधा बुद्धिमान् भरतर्षभ ।
आज्ञापयत् सोऽप्सरसस्त्वष्टृपुत्रप्रलोभने ।। ९ ।।

भरतश्रेष्ठ! इस तरह बहुत सोच-विचार करके बुद्धिमान् इन्द्रने त्वष्टाके पुत्रको लुभानेके लिये अप्सराओं-को आज्ञा दी— ।। ९ ।।

यथा स सज्जेत् त्रिशिराः कामभोगेषु वै भृशम् ।
क्षिप्रं कुरुत गच्छध्वं प्रलोभयत मा चिरम् ।। १० ।।

'अप्सराओ! जिस प्रकार त्रिशिरा कामभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हो जाय, शीघ्र वैसा ही यत्न करो। जाओ, उसे लुभाओ, विलम्ब न करो ।। १० ।।

शृङ्गारवेषाः सुश्रोण्यो हारैर्युक्ता मनोहरैः ।
हावभावसमायुक्ताः सर्वाः सौन्दर्यशोभिताः ।। ११ ।।
प्रलोभयत भद्रं वः शमयध्वं भयं मम ।
अस्वस्थं ह्यात्मनाऽऽत्मानं लक्षयामि वराङ्गनाः ।
भयं तन्मे महाघोरं क्षिप्रं नाशयताबलाः ।। १२ ।।

'सुन्दरियो! तुम सब शृंगारके अनुरूप वेष धारण करके मनोहर हारोंसे विभूषित, हाव-भावसे संयुक्त तथा सौन्दर्यसे सुशोभित हो विश्वरूपको लुभाओ। तुम्हारा कल्याण हो, मेरे भयको शान्त करो। वरांगनाओ! मैं अपने आपको अस्वस्थचित्त देख रहा हूँ, अतः अबलाओ! तुम मेरे इस अत्यन्त घोर भयका शीघ्र निवारण करो' ।। ११-१२ ।।

अप्सरस ऊचुः

तथा यत्नं करिष्यामः शक्र तस्य प्रलोभने ।
यथा नावाप्स्यसि भयं तस्माद् बलनिषूदन ।। १३ ।।

अप्सराएँ बोलीं—शक्र! बलनिषूदन! हमलोग विश्वरूपको लुभानेके लिये ऐसा यत्न करेंगी, जिससे उनकी ओरसे आपको कोई भय नहीं प्राप्त होगा ।। १३ ।।

निर्दहन्निव चक्षुर्भ्यां योऽसावास्ते तपोनिधिः ।
तं प्रलोभयितुं देव गच्छामः सहिता वयम् ।। १४ ।।
यतिष्यामो वशे कर्तुं व्यपनेतुं च ते भयम् ।

देव! जो तपोनिधि विश्वरूप अपने दोनों नेत्रोंसे सबको दग्ध करते हुए-से विराज रहे हैं, उन्हें प्रलोभनमें डालनेके लिये हम सब अप्सराएँ एक साथ जा रही हैं। वहाँ उन्हें वशमें करने तथा आपके भयको दूर हटानेके लिये हम पूर्ण प्रयत्न करेंगी ।। १४ $\frac{१}{२}$ ।।

शल्य उवाच

इन्द्रेण तास्त्वनुज्ञाता जग्मुस्त्रिशिरसोऽन्तिकम् ।
तत्र ता विविधैर्भावैर्लोभयन्त्यो वराङ्गनाः ।। १५ ।।
नित्यं संदर्शयामासुस्तथैवाङ्गेषु सौष्ठवम् ।
नाभ्यगच्छत् प्रहर्षं ताः स पश्यन् सुमहातपाः ।। १६ ।।
इन्द्रियाणि वशे कृत्वा पूर्वसागरसंनिभः ।

शल्य बोले—राजन्! इन्द्रकी आज्ञा पाकर वे सब अप्सराएँ त्रिशिराके समीप गयीं। वहाँ उन सुन्दरियोंने भाँति-भाँतिके हाव-भावोंद्वारा उन्हें लुभानेका प्रयत्न किया तथा प्रतिदिन विश्वरूपको अपने अंगोंके सौन्दर्यका दर्शन कराया। तथापि वे महातपस्वी महर्षि उन सबको देखते हुए हर्ष आदि विकारोंको नहीं प्राप्त हुए; अपितु वे इन्द्रियोंको वशमें करके पूर्वसागरके समान शान्तभावसे बैठे रहे ।। १५-१६ $\frac{१}{२}$ ।।

तास्तु यत्नं परं कृत्वा पुनः शक्रमुपस्थिताः ।। १७ ।।
कृताञ्जलिपुटाः सर्वा देवराजमथाब्रुवन् ।
न स शक्यः सुदुर्धर्षो धैर्याच्चालयितुं प्रभो ।। १८ ।।
यत् ते कार्यं महाभाग क्रियतां तदनन्तरम् ।

वे सब अप्सराएँ (त्रिशिराको विचलित करनेका) पूरा प्रयत्न करके पुनः देवराज इन्द्रकी सेवामें उपस्थित हुईं और हाथ जोड़कर बोलीं—'प्रभो! वे त्रिशिरा बड़े दुर्धर्ष तपस्वी हैं, उन्हें धैर्यसे विचलित नहीं किया जा सकता। महाभाग! अब आपको जो कुछ करना हो, उसे कीजिये' ।। १७-१८½ ।।

सम्पूज्याप्सरसः शक्रो विसृज्य च महामतिः ।। १९ ।।
चिन्तयामास तस्यैव वधोपायं युधिष्ठिर ।

युधिष्ठिर! तब परम बुद्धिमान् इन्द्रने अप्सराओंका आदर-सत्कार करके उन्हें विदा कर दिया और वे त्रिशिराके वधका उपाय सोचने लगे ।। १९½ ।।

स तूष्णीं चिन्तयन् वीरो देवराजः प्रतापवान् ।। २० ।।
विनिश्चितमतिर्धीमान् वधे त्रिशिरसोऽभवत् ।

प्रतापी वीर बुद्धिमान् देवराज इन्द्र चुपचाप सोचते हुए त्रिशिराके वधके विषयमें एक निश्चयपर पहुँच गये ।।

वज्रमस्य क्षिपाम्यद्य स क्षिप्रं न भविष्यति ।। २१ ।।
शत्रुः प्रवृद्धो नोपेक्ष्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा।

(उन्होंने सोचा—) 'आज मैं त्रिशिरापर वज्रका प्रहार करूँगा, जिससे वह तत्काल नष्ट हो जायगा। बलवान् पुरुषको दुर्बल होनेपर भी बढ़ते हुए अपने शत्रुकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये' ।। २१$\frac{१}{२}$ ।।

शास्त्रबुद्ध्या विनिश्चित्य कृत्वा बुद्धिं वधे दृढाम् ।। २२ ।।
अथ वैश्वानरनिभं घोररूपं भयावहम् ।
मुमोच वज्रं संक्रुद्धः शक्रस्त्रिशिरसं प्रति ।। २३ ।।
स पपात हतस्तेन वज्रेण दृढमाहतः ।
पर्वतस्येव शिखरं प्रणुन्नं मेदिनीतले ।। २४ ।।

शास्त्रयुक्त बुद्धिसे त्रिशिराके वधका दृढ़ निश्चय करके क्रोधमें भरे हुए इन्द्रने अग्निके समान तेजस्वी, घोर एवं भयंकर वज्रको त्रिशिराकी ओर चला दिया। उस वज्रकी गहरी चोट खाकर त्रिशिरा मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो वज्रके आघातसे टूटा हुआ पर्वतका शिखर भूतलपर पड़ा हो ।। २२—२४ ।।

तं तु वज्रहतं दृष्ट्वा शयानमचलोपमम् ।
न शर्म लेभे देवेन्द्रो दीपितस्तस्य तेजसा ।। २५ ।।

त्रिशिराको वज्रके प्रहारसे प्राणशून्य होकर पर्वतकी भाँति पृथ्वीपर पड़ा देखकर भी देवराज इन्द्रको शान्ति नहीं मिली। वे उनके तेजसे संतप्त हो रहे थे ।। २५ ।।

हतोऽपि दीप्ततेजाः स जीवन्निव हि दृश्यते ।
घातितस्य शिरांस्याजौ जीवन्तीवाद्भुतानि वै ।। २६ ।।

क्योंकि वे मारे जानेपर भी अपने तेजसे उद्दीप्त होकर जीवित-से दिखायी देते थे। युद्धमें मारे हुए त्रिशिराके तीनों सिर जीते-जागते-से अद्भुत प्रतीत हो रहे थे ।।

ततोऽतिभीतगात्रस्तु शक्र आस्ते विचारयन् ।
अथाजगाम परशुं स्कन्धेनादाय वर्धकिः ।। २७ ।।

इससे अत्यन्त भयभीत हो इन्द्र भारी सोच-विचारमें पड़ गये। इसी समय एक बढ़ई कंधेपर कुल्हाड़ी लिये उधर आ निकला ।। २७ ।।

तदरण्यं महाराज यत्रास्तेऽसौ निपातितः ।
स भीतस्तत्र तक्षाणं घटमानं शचीपतिः ।। २८ ।।
अपश्यदब्रवीच्चैनं सत्वरं पाकशासनः ।
क्षिप्रं छिन्धि शिरांस्यस्य कुरुष्व वचनं मम ।। २९ ।।

महाराज! वह बढ़ई उसी वनमें आया, जहाँ त्रिशिराको मार गिराया गया था। डरे हुए शचीपति इन्द्रने वहाँ अपना काम करते हुए बढ़ईको देखा। देखते ही पाकशासन इन्द्रने तुरंत उससे कहा—'बढ़ई! तू शीघ्र इस शवके तीनों मस्तकोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे। मेरी इस आज्ञाका पालन कर' ।। २८-२९ ।।

तक्षोवाच

महास्कन्धो भृशं ह्येष परशुर्न भविष्यति ।
कर्तुं चाहं न शक्ष्यामि कर्म सद्भिर्विगर्हितम् ।। ३० ।।

बढ़ईने कहा—इसके कंधे तो बड़े भारी और विशाल हैं। मेरी यह कुल्हाड़ी इसपर काम नहीं देगी और इस प्रकार किसी प्राणीकी हत्या करना तो साधु पुरुषों द्वारा निन्दित पापकर्म है, अतः मैं इसे नहीं कर सकूँगा ।। ३० ।।

इन्द्र उवाच

मा भैस्त्वं शीघ्रमेतद् वै कुरुष्व वचनं मम ।
मत्प्रसादाद्धि ते शस्त्रं वज्रकल्पं भविष्यति ।। ३१ ।।

इन्द्रने कहा—बढ़ई! तू भय न कर। शीघ्र मेरी इस आज्ञाका पालन कर। मेरे प्रसादसे तेरी यह कुल्हाड़ी वज्रके समान हो जायगी ।। ३१ ।।

तक्षोवाच

कं भवन्तमहं विद्यां घोरकर्माणमद्य वै ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन कथयस्व मे ।। ३२ ।।

बढ़ईने पूछा—आज इस प्रकार भयानक कर्म करनेवाले आप कौन हैं, यह मैं कैसे समझूँ? मैं आपका परिचय सुनना चाहता हूँ। यह यथार्थरूपसे बताइये ।।

इन्द्र उवाच

अहमिन्द्रो देवराजस्तक्षन् विदितमस्तु ते ।
कुरुष्वैतद् यथोक्तं मे तक्षन् मात्र विचारय ।। ३३ ।।

इन्द्रने कहा—बढ़ई! तुझे मालूम होना चाहिये कि मैं देवराज इन्द्र हूँ। मैंने जो कुछ कहा है, उसे शीघ्र पूरा कर। इस विषयमें कुछ विचार न कर ।। ३३ ।।

तक्षोवाच

क्रूरेण नापत्रपसे कथं शक्रेह कर्मणा ।
ऋषिपुत्रमिमं हत्वा ब्रह्महत्याभयं न ते ।। ३४ ।।

बढ़ईने कहा—देवराज! इस क्रूर कर्मसे आपको यहाँ लज्जा कैसे नहीं आती है? इस ऋषिकुमारकी हत्या करनेसे जो ब्रह्महत्याका पाप लगेगा, क्या उसका भय आपको नहीं

है? ।। ३४ ।।

शक्र उवाच

पश्चाद् धर्मं चरिष्यामि पावनार्थं सुदुश्चरम् ।
शत्रुरेष महावीर्यो वज्रेण निहतो मया ।। ३५ ।।

इन्द्रने कहा—यह मेरा महान् शक्तिशाली शत्रु था, जिसे मैंने वज्रसे मार डाला है। इसके बाद ब्रह्महत्यासे अपनी शुद्धि करनेके लिये मैं किसी ऐसे धर्मका अनुष्ठान करूँगा, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर हो ।। ३५ ।।

अद्यापि चाहमुद्विग्नस्तक्षन्नस्माद् बिभेमि वै ।
क्षिप्रं छिन्धि शिरांसि त्वं करिष्येऽनुग्रहं तव ।। ३६ ।।

बढ़ई! यद्यपि यह मारा गया है, तो भी अभीतक मुझे इसका भय बना हुआ है। तू शीघ्र इसके मस्तकोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे। मैं तेरे ऊपर अनुग्रह करूँगा ।।

शिरः पशोस्ते दास्यन्ति भागं यज्ञेषु मानवाः ।
एष तेऽनुग्रहस्तक्षन् क्षिप्रं कुरु मम प्रियम् ।। ३७ ।।

मनुष्य हिंसाप्रधान तामस यज्ञोंमें पशुका सिर तेरे भागके रूपमें देंगे। बढ़ई! यह तेरे ऊपर मेरा अनुग्रह है। अब तू जल्दी मेरा प्रिय कार्य कर ।। ३७ ।।

शल्य उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु तक्षा स महेन्द्रवचनात् तदा ।
शिरांस्यथ त्रिशिरसः कुठारेणाच्छिनत् तदा ।। ३८ ।।

शल्य कहते हैं—राजन्! यह सुनकर बढ़ईने उस समय महेन्द्रकी आज्ञाके अनुसार कुठारसे त्रिशिराके तीनों सिरोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ।। ३८ ।।

निकृत्तेषु ततस्तेषु निष्क्रामन्नण्डजास्त्वथ ।
कपिञ्जलास्तित्तिराश्च कलविङ्काश्च सर्वशः ।। ३९ ।।

कट जानेपर उनके अंदरसे तीन प्रकारके पक्षी बाहर निकले, कपिंजल, तीतर और गौरैये ।। ३९ ।।

येन वेदानधीते स्म पिबते सोममेव च ।
तस्माद् वक्त्राद् विनिश्चेरुः क्षिप्रं तस्य कपिञ्जलाः ।। ४० ।।

जिस मुखसे वे वेदोंका पाठ करते तथा केवल सोमरस पीते थे, उससे शीघ्रतापूर्वक कपिंजल पक्षी बाहर निकले थे ।। ४० ।।

येन सर्वा दिशो राजन् पिबन्निव निरीक्षते ।
तस्माद् वक्त्राद् विनिश्चेरुस्तित्तिरास्तस्य पाण्डव ।। ४१ ।।

युधिष्ठिर! जिसके द्वारा वे सम्पूर्ण दिशाओंको इस प्रकार देखते थे, मानो पी जायँगे, उस मुखसे तीतर पक्षी निकले ।। ४१ ।।

यत् सुरापं तु तस्यासीद् वक्त्रं त्रिशिरसस्तदा ।
कलविङ्काः समुत्पेतुः श्येनाश्च भरतर्षभ ।। ४२ ।।

भरतश्रेष्ठ! त्रिशिराका जो मुख सुरापान करनेवाला था, उससे गौरैये तथा बाज नामक पक्षी प्रकट हुए ।। ४२ ।।

ततस्तेषु निकृत्तेषु विज्वरो मघवानथ ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टस्तक्षापि स्वगृहान् ययौ ।। ४३ ।।

उन तीनों सिरोंके कट जानेपर इन्द्रकी मानसिक चिन्ता दूर हो गयी। वे प्रसन्न होकर स्वर्गको लौट गये तथा बढ़ई भी अपने घर चला गया ।। ४३ ।।

(तक्षापि स्वगृहं गत्वा नैव शंसति कस्यचित् ।
अथैनं नाभिजानन्ति वर्षमेकं तथागतम् ।।
अथ संवत्सरे पूर्णे भूताः पशुपतेः प्रभो ।
समाक्रोशन्त मघवान् नः प्रभुर्ब्रह्महा इति ।।
तत इन्द्रो व्रतं घोरमाचरत् पाकशासनः ।
तपसा च स संयुक्तः सह देवैर्मरुद्गणैः ।।
समुद्रेषु पृथिव्यां च वनस्पतिषु स्त्रीषु च ।
विभज्य ब्रह्महत्यां च तान् वरैरप्ययोजयत् ।।
वरदस्तु वरं दत्त्वा पृथिव्यै सागराय च ।
वनस्पतिभ्यः स्त्रीभ्यश्च ब्रह्महत्यां नुनोद ताम् ।।
ततस्तु शुद्धो भगवान् देवैर्लोकैश्च पूजितः ।
इन्द्रस्थानमुपातिष्ठत् पूज्यमानो महर्षिभिः ।।)

उस बढ़ईने भी अपने घर जाकर किसीसे कुछ नहीं कहा। तदनन्तर इन्द्रने ऐसा काम किया है, यह एक वर्षतक किसीको मालूम नहीं हुआ। युधिष्ठिर! वर्ष पूर्ण होनेपर भगवान् पशुपतिके भूतगण यह हल्ला मचाने लगे कि हमारे स्वामी इन्द्र ब्रह्महत्यारे हैं। तब पाकशासन इन्द्रने ब्रह्महत्यासे मुक्ति पानेके लिये कठिन व्रतका आचरण किया। वे देवताओं तथा मरुद्गणोंके साथ तपस्यामें संलग्न हो गये। उन्होंने समुद्र, पृथ्वी, वृक्ष तथा स्त्रीसमुदायको अपनी ब्रह्महत्या बाँटकर उन सबको अभीष्ट वरदान दिया। इस प्रकार वरदायक इन्द्रने पृथ्वी, समुद्र, वनस्पति तथा स्त्रियोंको वर देकर उस ब्रह्महत्याको दूर किया। तदनन्तर शुद्ध होकर भगवान् इन्द्र देवताओं, मनुष्यों तथा महर्षियोंसे पूजित होते हुए अपने इन्द्रपदपर आसीन हुए।

मेने कृतार्थमात्मानं हत्वा शत्रुं सुरारिहा ।
त्वष्टा प्रजापतिः श्रुत्वा शक्रेणाथ हतं सुतम् ।। ४४ ।।
क्रोधसंरक्तनयन इदं वचनमब्रवीत् ।

दैत्योंका संहार करनेवाले इन्द्रने शत्रुको मारकर अपने आपको कृतार्थ माना। इधर त्वष्टा प्रजापतिने जब यह सुना कि इन्द्रने मेरे पुत्रको मार डाला है, तब उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं और वे इस प्रकार बोले ।। ४४ १/२ ।।

त्वष्टोवाच

तप्यमानं तपो नित्यं क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम् ।
विनापराधेन यतः पुत्रं हिंसितवान् मम ।। ४५ ।।

त्वष्टाने कहा—मेरा पुत्र सदा क्षमाशील, संयमी और जितेन्द्रिय रहकर तपस्यामें लगा हुआ था, तो भी इन्द्रने बिना किसी अपराधके उसकी हत्या की है ।। ४५ ।।

तस्माच्छक्रविनाशाय वृत्रमुत्पादयाम्यहम् ।
लोकाः पश्यन्तु मे वीर्यं तपसश्च बलं महत् ।। ४६ ।।

अतः मैं भी देवेन्द्रके विनाशके लिये वृत्रासुरको उत्पन्न करूँगा। आज संसारके लोग मेरा पराक्रम तथा मेरी तपस्याका महान् बल देखें ।। ४६ ।।

स च पश्यतु देवेन्द्रो दुरात्मा पापचेतनः ।
उपस्पृश्य ततः क्रुद्धस्तपस्वी सुमहायशाः ।। ४७ ।।
अग्नौ हुत्वा समुत्पाद्य घोरं वृत्रमुवाच ह ।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व प्रभावात् तपसो मम ।। ४८ ।।

साथ ही वह पापात्मा और दुरात्मा देवेन्द्र भी मेरा महान् तपोबल देख ले। ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए तपस्वी एवं महायशस्वी त्वष्टाने आचमन करके अग्निमें आहुति दे घोर रूपवाले वृत्रासुरको उत्पन्न करके उससे कहा—‘इन्द्रशत्रो! तू मेरी तपस्याके प्रभावसे खूब बढ़ जा’ ।। ४७-४८ ।।

सोऽवर्धत दिवं स्तब्ध्वा सूर्यवैश्वानरोपमः ।
किं करोमीति चोवाच कालसूर्य इवोदितः ।। ४९ ।।

उनके इतना कहते ही सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी वृत्रासुर सारे आकाशको आक्रान्त करके बहुत बड़ा हो गया। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो प्रलयकालका सूर्य उदित हुआ हो। उसने पूछा—‘पिताजी! मैं क्या करूँ?’ ।। ४९ ।।

शक्रं जहीति चाप्युक्तो जगाम त्रिदिवं ततः ।
ततो युद्धं समभवद् वृत्रवासवयोर्महत् ।। ५० ।।

तब त्वष्टाने कहा—'इन्द्रको मार डालो।' उनके ऐसा कहनेपर वृत्रासुर स्वर्गलोकमें गया। तदनन्तर वृत्रासुर तथा इन्द्रमें बड़ा भारी युद्ध छिड़ गया ।। ५० ।।

संक्रुद्धयोर्महाघोरं प्रसक्तं कुरुसत्तम ।
ततो जग्राह देवेन्द्रं वृत्रो वीरः शतक्रतुम् ।। ५१ ।।
अपावृत्याक्षिपद् वक्त्रे शक्रं कोपसमन्वितः ।
ग्रस्ते वृत्रेण शक्रे तु सम्भ्रान्तास्त्रिदिवेश्वराः ।। ५२ ।।

कुरुश्रेष्ठ! वे दोनों क्रोधमें भरे हुए थे। उनमें अत्यन्त घोर संग्राम होने लगा। तदनन्तर कुपित हुए वीर वृत्रासुरने शतक्रतु इन्द्रको पकड़ लिया और मुँह बाकर उन्हें उसके भीतर डाल लिया। वृत्रासुरके द्वारा इन्द्रके ग्रस लिये जानेपर सम्पूर्ण श्रेष्ठ देवता घबरा गये ।। ५१-५२ ।।

असृजंस्ते महासत्त्वा जृम्भिकां वृत्रनाशिनीम् ।
विजृम्भमाणस्य ततो वृत्रस्यास्यादपावृतात् ।। ५३ ।।
स्वान्यङ्गान्यभिसंक्षिप्य निष्क्रान्तो बलनाशनः ।
ततः प्रभृति लोकस्य जृम्भिका प्राणसंश्रिता ।। ५४ ।।

तब उन महासत्त्वशाली देवताओंने जँभाईकी सृष्टि की, जो वृत्रासुरका नाश करनेवाली थी। जँभाई लेते समय जब वृत्रासुरने अपना मुख फैलाया, तब बलनाशक इन्द्र अपने अंगोंको समेटकर बाहर निकल आये। तभीसे सब लोगोंके प्राणोंमें जृम्भाशक्तिका निवास हो गया ।। ५३-५४ ।।

जहृषुश्च सुराः सर्वे शक्रं दृष्ट्वा विनिःसृतम् ।
ततः प्रववृते युद्धं वृत्रवासवयोः पुनः ।। ५५ ।।

इन्द्रको उसके मुखसे निकला हुआ देख सब देवता बड़े प्रसन्न हुए। तदनन्तर वृत्रासुर तथा इन्द्रमें पुनः युद्ध होने लगा ।। ५५ ।।

संरब्धयोस्तदा घोरं सुचिरं भरतर्षभ ।
यदा व्यवर्धत रणे वृत्रो बलसमन्वितः ।। ५६ ।।
त्वष्टुस्तेजोबलाविद्धस्तदा शक्रो न्यवर्तत ।
निवृत्ते च तदा देवा विषादमगमन् परम् ।। ५७ ।।

भरतश्रेष्ठ! क्रोधमें भरे हुए उन दोनों वीरोंका वह भयानक संग्राम बहुत देरतक चलता रहा। वृत्रासुर त्वष्टाके तेज और बलसे व्याप्त हो जब युद्धमें अधिक बलशाली हो बढ़ने लगा, तब इन्द्र युद्धसे विमुख हो गये। इन्द्रके विमुख होनेपर सब देवताओंको बड़ा दुःख हुआ ।। ५६-५७ ।।

समेत्य सह शक्रेण त्वष्टुस्तेजोविमोहिताः ।
आमन्त्रयन्त ते सर्वे मुनिभिः सह भारत ।। ५८ ।।
किं कार्यमिति वै राजन् विचिन्त्य भयमोहिताः ।
जग्मुः सर्वे महात्मानं मनोभिर्विष्णुमव्ययम् ।
उपविष्टा मन्दराग्रये सर्वे वृत्रवधेप्सवः ।। ५९ ।।

भारत! त्वष्टाके तेजसे मोहित हुए सब देवता देवराज इन्द्र तथा ऋषियोंसे मिलकर सलाह करने लगे कि अब हमें क्या करना चाहिये? राजन्! भयसे मोहित हुए सब देवता बहुत देरतक सोच-विचार करके मन-ही-मन अविनाशी परमात्मा भगवान् विष्णुकी शरणमें गये और वे वृत्रासुरके वधकी इच्छासे मन्दराचलके शिखरपर ध्यानस्थ होकर बैठ गये ।। ५८-५९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रविजये नवमोऽध्यायः ।। ९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्रविजयविषयक नौवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल ६५ श्लोक हैं।]

दशमोऽध्यायः

इन्द्रसहित देवताओंका भगवान् विष्णुकी शरणमें जाना और इन्द्रका उनके आज्ञानुसार वृत्रासुरसे संधि करके अवसर पाकर उसे मारना एवं ब्रह्महत्याके भयसे जलमें छिपना

इन्द्र उवाच

सर्वं व्याप्तमिदं देवा वृत्रेण जगदव्ययम् ।
न ह्यस्य सदृशं किंचित् प्रतिघाताय यद् भवेत् ।। १ ।।

इन्द्र बोले—देवताओ! वृत्रासुरने इस सम्पूर्ण जगत्को आक्रान्त कर लिया है। इसके योग्य कोई ऐसा अस्त्र-शस्त्र नहीं है, जो इसका विनाश कर सके ।। १ ।।

समर्थो ह्यभवं पूर्वमसमर्थोऽस्मि साम्प्रतम् ।
कथं नु कार्यं भद्रं वो दुर्धर्षः स हि मे मतः ।। २ ।।

पहले मैं सब प्रकारसे सामर्थ्यशाली था; किंतु इस समय असमर्थ हो गया हूँ। आपलोगोंका कल्याण हो। बताइये, कैसे क्या काम करना चाहिये? मुझे तो वृत्रासुर दुर्जय प्रतीत हो रहा है ।। २ ।।

तेजस्वी च महात्मा च युद्धे चामितविक्रमः ।
ग्रसेत् त्रिभुवनं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ।। ३ ।।

वह तेजस्वी और महाकाय है। युद्धमें उसके बल-पराक्रमकी कोई सीमा नहीं है। वह चाहे तो देवता, असुर और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकीको अपना ग्रास बना सकता है ।। ३ ।।

तस्माद् विनिश्चयमिमं शृणुध्वं त्रिदिवौकसः ।
विष्णोः क्षयमुपागम्य समेत्य च महात्मना ।
तेन सम्मन्त्र्य वेत्स्यामो वधोपायं दुरात्मनः ।। ४ ।।

अतः देवताओ! इस विषयमें मेरे इस निश्चयको सुनो। हमलोग भगवान् विष्णुके धाममें चलें और उन परमात्मासे मिलकर उन्हींसे सलाह करके उस दुरात्माके वधका उपाय जानें ।। ४ ।।

शल्य उवाच

एवमुक्ते मघवता देवाः सर्षिगणास्तदा ।
शरण्यं शरणं देवं जग्मुर्विष्णुं महाबलम् ।। ५ ।।

शल्य बोले—राजन्! इन्द्रके ऐसा कहनेपर ऋषियोंसहित सम्पूर्ण देवता सबके शरणदाता अत्यन्त बलशाली भगवान् विष्णुकी शरणमें गये ।। ५ ।।

ऊचुश्च सर्वे देवेशं विष्णुं वृत्रभयार्दिताः ।
त्रयो लोकास्त्वया क्रान्तास्त्रिभिर्विक्रमणैः पुरा ।। ६ ।।

वे सब-के-सब वृत्रासुरके भयसे पीड़ित थे। उन्होंने देवेश्वर भगवान् विष्णुसे इस प्रकार कहा—'प्रभो! आपने पूर्वकालमें अपने तीन डगोंद्वारा सम्पूर्ण त्रिलोकी-को माप लिया था ।। ६ ।।

अमृतं चाहृतं विष्णो दैत्याश्च निहता रणे ।
बलिं बद्ध्वा महादैत्यं शक्रो देवाधिपः कृतः ।। ७ ।।

'विष्णो! आपने ही (मोहिनी अवतार धारण करके) दैत्योंके हाथसे अमृत छीना एवं युद्धमें उन सबका संहार किया तथा महादैत्य बलिको बाँधकर इन्द्रको देवताओंका राजा बनाया ।। ७ ।।

त्वं प्रभुः सर्वदेवानां त्वया सर्वमिदं ततम् ।
त्वं हि देवो महादेव सर्वलोकनमस्कृतः ।। ८ ।।

‘आप ही सम्पूर्ण देवताओंके स्वामी हैं। आपसे ही यह समस्त चराचर जगत् व्याप्त है। महादेव! आप ही अखिलविश्ववन्दित देवता हैं ।। ८ ।।

गतिर्भव त्वं देवानां सेन्द्राणाममरोत्तम ।
जगद् व्याप्तमिदं सर्वं वृत्रेणासुरसूदन ।। ९ ।।

सुरश्रेष्ठ! आप इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय हों। असुरसूदन! वृत्रासुरने इस सम्पूर्ण जगत्को आक्रान्त कर लिया है ।। ९ ।।

विष्णुरुवाच

अवश्यं करणीयं मे भवतां हितमुत्तमम् ।
तस्मादुपायं वक्ष्यामि यथासौ न भविष्यति ।। १० ।।

भगवान् विष्णु बोले—देवताओ! मुझे तुमलोगोंका उत्तम हित अवश्य करना है। अतः तुम सबको एक उपाय बताऊँगा, जिससे वृत्रासुरका अन्त होगा ।। १० ।।

गच्छध्वं सर्षिगन्धर्वा यत्रासौ विश्वरूपधृक् ।
साम तस्य प्रयुञ्जध्वं तत एनं विजेष्यथ ।। ११ ।।

तुमलोग ऋषियों और गन्धर्वोंके साथ वहीं जाओ, जहाँ विश्वरूपधारी वृत्रासुर विद्यमान है। तुमलोग उसके साथ संधि कर लो, तभी उसे जीत सकोगे ।। ११ ।।

भविष्यति जयो देवाः शक्रस्य मम तेजसा ।
अदृश्यश्च प्रवेक्ष्यामि वज्रे ह्यस्यायुधोत्तमे ।। १२ ।।

देवताओ! मेरे तेजसे इन्द्रकी विजय होगी। मैं इनके उत्तम आयुध वज्रमें अदृश्यभावसे प्रवेश करूँगा ।। १२ ।।

गच्छध्वमृषिभिः सार्धं गन्धर्वैश्च सुरोत्तमाः ।
वृत्रस्य सह शक्रेण सन्धिं कुरुत मा चिरम् ।। १३ ।।

देवेश्वरगण! तुमलोग ऋषियों तथा गन्धर्वोंके साथ जाओ और इन्द्रके साथ वृत्रासुरकी संधि कराओ। इसमें विलम्ब न करो ।। १३ ।।

शल्य उवाच

एवमुक्ते तु देवेन ऋषयस्त्रिदशास्तथा ।
ययुः समेत्य सहिताः शक्रं कृत्वा पुरःसरम् ।। १४ ।।

शल्य कहते हैं—राजन्! भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर ऋषि तथा देवता एक साथ मिलकर देवेन्द्रको आगे करके वृत्रासुरके पास गये ।। १४ ।।

समीपमेत्य च यदा सर्व एव महौजसः ।
तं तेजसा प्रज्वलितं प्रतपन्तं दिशो दश ।। १५ ।।
ग्रसन्तमिव लोकांस्त्रीन् सूर्याचन्द्रमसौ यथा ।
ददृशुस्ते ततो वृत्रं शक्रेण सह देवताः ।। १६ ।।

समस्त महाबली देवता जब वृत्रासुरके समीप आये, तब वह अपने तेजसे प्रज्वलित होकर दसों दिशाओंको तपा रहा था, मानो सूर्य और चन्द्रमा अपना प्रकाश बिखेर रहे हों। इन्द्रके साथ सम्पूर्ण देवताओंने वृत्रासुरको देखा। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो तीनों लोकोंको अपना ग्रास बना लेगा ।। १५-१६ ।।

ऋषयोऽथ ततोऽभ्येत्य वृत्रमूचुः प्रियं वचः ।
व्याप्तं जगदिदं सर्वं तेजसा तव दुर्जय ।। १७ ।।

उस समय वृत्रासुरके पास आकर ऋषियोंने उससे यह प्रिय वचन कहा—'दुर्जय वीर! तुम्हारे तेजसे यह सारा जगत् व्याप्त हो रहा है ।। १७ ।।

न च शक्नोषि निर्जेतुं वासवं बलिनां वर ।
युध्यतोश्चापि वां कालो व्यतीतः सुमहानिह ।। १८ ।।

'बलवानोंमें श्रेष्ठ वृत्र! इतनेपर भी तुम इन्द्रको जीत नहीं सकते। तुम दोनोंको युद्ध करते बहुत समय बीत गया है ।। १८ ।।

पीड्यन्ते च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः ।
सख्यं भवतु ते वृत्र शक्रेण सह नित्यदा ।। १९ ।।

'देवता, असुर तथा मनुष्योंसहित सारी प्रजा इस युद्धसे पीड़ित हो रही है। अतः वृत्रासुर! हम चाहते हैं कि इन्द्रके साथ तुम्हारी सदाके लिये मैत्री हो जाय ।। १९ ।।

अवाप्स्यसि सुखं त्वं च शक्रलोकांश्च शाश्वतान् ।
ऋषिवाक्यं निशम्याथ वृत्रः स तु महाबलः ।। २० ।।
उवाच तानृषीन् सर्वान् प्रणम्य शिरसासुरः ।
सर्वे यूयं महाभागा गन्धर्वाश्चैव सर्वशः ।। २१ ।।
यद् ब्रूथ तच्छ्रुतं सर्वं ममापि शृणुतानघाः ।
संधिः कथं वै भविता मम शक्रस्य चोभयोः ।
तेजसोर्हि द्वयोर्देवाः सख्यं वै भविता कथम् ।। २२ ।।

'इससे तुम्हें सुख मिलेगा और इन्द्रके सनातन लोकोंपर भी तुम्हारा अधिकार रहेगा।' ऋषियोंकी यह बात सुनकर महाबली वृत्रासुरने उन सबको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'महाभाग देवताओ! महर्षियो तथा गन्धर्वो! आप सब लोग जो कुछ कह रहे हैं, वह सब मैंने सुन लिया। निष्पाप देवगण! अब मेरी भी बात आपलोग सुनें। मुझमें और इन्द्रमें संधि कैसे होगी? दो तेजस्वी पुरुषोंमें मैत्रीका सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होगा?' ।। २०—२२ ।।

ऋषय ऊचुः

सकृत् सतां संगतं लिप्सितव्यं
ततः परं भविता भव्यमेव ।

नातिक्रामेत् सत्पुरुषेण संगतं
तस्मात् सतां संगतं लिप्सितव्यम् ।। २३ ।।

ऋषि बोले—एक बार साधु पुरुषोंकी संगतिकी अभिलाषा अवश्य रखनी चाहिये। साधु पुरुषोंका संग प्राप्त होनेपर उससे परम कल्याण ही होगा। साधु पुरुषोंके संगकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। अतः संतोंका रंग मिलनेकी अवश्य इच्छा करे ।। २३ ।।

दृढं सतां संगतं चापि नित्यं
ब्रूयाच्चार्थं ह्यर्थकृच्छ्रेषु धीरः ।
महार्थवत् सत्पुरुषेण संगतं
तस्मात् सन्तं न जिघांसेत धीरः ।। २४ ।।

सज्जनोंका रंग सुदृढ़ एवं चिरस्थायी होता है। धीर संत-महात्मा संकटके समय हितकर कर्तव्यका ही उपदेश देते हैं। साधु पुरुषोंका संग महान् अभीष्ट वस्तुओंका साधक होता है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह सज्जनोंको नष्ट करनेकी इच्छा न करे ।। २४ ।।

इन्द्रः सतां सम्मतश्च निवासश्च महात्मनाम् ।
सत्यवादी ह्यनिन्द्यश्च धर्मवित् सूक्ष्मनिश्चयः ।। २५ ।।

इन्द्र सत्पुरुषोंके सम्माननीय हैं। महात्मा पुरुषोंके आश्रय हैं। वे सत्यवादी, अनिन्दनीय, धर्मज्ञ तथा सूक्ष्म बुद्धिवाले हैं ।। २५ ।।

तेन ते सह शक्रेण संधिर्भवतु नित्यदा ।
एवं विश्वासमागच्छ मा तेऽभूद् बुद्धिरन्यथा ।। २६ ।।

ऐसे इन्द्रके साथ तुम्हारी सदाके लिये संधि हो जाय। इस प्रकार तुम उनका विश्वास प्राप्त करो। तुम्हें इसके विपरीत कोई विचार नहीं करना चाहिये ।। २६ ।।

शल्य उवाच

महर्षिवचनं श्रुत्वा तानुवाच महाद्युतिः ।
अवश्यं भगवन्तो मे माननीयास्तपस्विनः ।। २७ ।।

शल्य कहते हैं—राजन्! महर्षियोंकी यह बात सुनकर महातेजस्वी वृत्रने उनसे कहा—‘भगवन्! आप-जैसे तपस्वी महात्मा अवश्य ही मेरे लिये सम्माननीय हैं ।।

ब्रवीमि यदहं देवास्तत् सर्वं क्रियते यदि ।
ततः सर्वं करिष्यामि यदूचुर्मां द्विजर्षभाः ।। २८ ।।

‘देवताओ! मैं अभी जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब यदि आपलोग स्वीकार कर लें, तो इन श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंने मुझे जो आदेश दिये हैं, उन सबका मैं अवश्य पालन करूँगा ।। २८ ।।

न शुष्केण न चार्द्रेण नाश्मना न च दारुणा ।
न शस्त्रेण न चास्त्रेण न दिवा न तथा निशि ।। २९ ।।

वध्यो भवेयं विप्रेन्द्राः शक्रस्य सह दैवतैः ।
एवं मे रोचते सन्धिः शक्रेण सह नित्यदा ।। ३० ।।

'विप्रवरो! मैं देवताओंसहित इन्द्रके द्वारा न सूखी वस्तुसे; न गीली वस्तुसे; न पत्थरसे, न लकड़ीसे; न शस्त्रसे, न अस्त्रसे; न दिनमें और न रातमें ही मारा जाऊँ। इस शर्तपर देवेन्द्रके साथ सदाके लिये मेरी संधि हो तो मैं उसे पसंद करता हूँ' ।। २९-३० ।।

बाढमित्येव ऋषयस्तमूचुर्भरतर्षभ ।
एवंवृत्ते तु संधाने वृत्रः प्रमुदितोऽभवत् ।। ३१ ।।

भरतश्रेष्ठ! तब ऋषियोंने उससे 'बहुत अच्छा' कहा। इस प्रकार संधि हो जानेपर वृत्रासुरको बड़ी प्रसन्नता हुई ।। ३१ ।।

युक्तः सदाभवच्चापि शक्रो हर्षसमन्वितः ।
वृत्रस्य वधसंयुक्तानुपायानन्वचिन्तयत् ।। ३२ ।।

इन्द्र भी हर्षमें भरकर सदा उससे मिलने लगे, परंतु वे वृत्रके वधसम्बन्धी उपायोंको ही सोचते रहते थे ।।

छिद्रान्वेषी समुद्विग्नः सदा वसति देवराट् ।
स कदाचित् समुद्रान्ते समपश्यन्महासुरम् ।। ३३ ।।

वृत्रासुरके छिद्रकी (उसे मारनेके अवसरकी) खोज करते हुए देवराज इन्द्र सदा उद्विग्न रहते थे। एक दिन उन्होंने समुद्रके तटपर उस महान् असुरको देखा ।।

संध्याकाल उपावृत्ते मुहूर्ते चातिदारुणे ।
ततः संचिन्त्य भगवान् वरदानं महात्मनः ।। ३४ ।।
संध्येयं वर्तते रौद्रा न रात्रिर्दिवसं न च ।
वृत्रश्चावश्यवध्योऽयं मम सर्वहरो रिपुः ।। ३५ ।।
यदि वृत्रं न हन्म्यद्य वञ्चयित्वा महासुरम् ।
महाबलं महाकायं न मे श्रेयो भविष्यति ।। ३६ ।।

उस समय अत्यन्त दारुण संध्याकालका मुहूर्त उपस्थित था। भगवान् इन्द्रने परमात्मा श्रीविष्णुके वरदानका विचार करके सोचा—'यह भयंकर संध्या उपस्थित है, इस समय न रात है, न दिन है, अतः अभी इस वृत्रासुरका अवश्य वध कर देना चाहिये; क्योंकि यह मेरा सर्वस्व हर लेनेवाला शत्रु है। यदि इस महाबली, महाकाय और महान् असुर वृत्रको धोखा देकर मैं अभी नहीं मार डालता हूँ, तो मेरा भला न होगा' ।। ३४—३६ ।।

एवं संचिन्तयन्नेव शक्रो विष्णुमनुस्मरन् ।
अथ फेनं तदापश्यत् समुद्रे पर्वतोपमम् ।। ३७ ।।

इस प्रकार सोचते हुए ही इन्द्र भगवान् विष्णुका बार-बार स्मरण करने लगे। इसी समय उनकी दृष्टि समुद्रमें उठते हुए पर्वताकार फेनपर पड़ी ।। ३७ ।।

नायं शुष्को न चार्द्रोऽयं न च शस्त्रमिदं तथा ।

एनं क्षेप्स्यामि वृत्रस्य क्षणादेव नशिष्यति ।। ३८ ।।

उसे देखकर इन्द्रने मन-ही-मन यह विचार किया कि यह न सूखा है न आर्द्र, न अस्त्र है न शस्त्र, अतः इसीको वृत्रासुरपर छोड़ूँगा, जिससे वह क्षणभरमें नष्ट हो जायगा ।। ३८ ।।

सवज्रमथ फेनं तं क्षिप्रं वृत्रे निसृष्टवान् ।
प्रविश्य फेनं तं विष्णुरथ वृत्रं व्यनाशयत् ।। ३९ ।।

यह सोचकर इन्द्रने तुरंत ही वृत्रासुरपर वज्रसहित फेनका प्रहार किया। उस समय भगवान् विष्णुने उस फेनमें प्रवेश करके वृत्रासुरको नष्ट कर दिया ।। ३९ ।।

निहते तु ततो वृत्रे दिशो वितिमिराऽभवन् ।
प्रववौ च शिवो वायुः प्रजाश्च जहृषुस्तथा ।। ४० ।।

वृत्रासुरके मारे जानेपर सम्पूर्ण दिशाओंका अन्धकार दूर हो गया, शीतल-सुखद वायु चलने लगी और सम्पूर्ण प्रजामें हर्ष छा गया ।। ४० ।।

ततो देवाः सगन्धर्वा यक्षरक्षोमहोरगाः ।
ऋषयश्च महेन्द्रं तमस्तुवन् विविधैः स्तवैः ।। ४१ ।।

तदनन्तर देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महानाग तथा ऋषि भाँति-भाँतिके स्तोत्रोंद्वारा महेन्द्रकी स्तुति करने लगे ।। ४१ ।।

नमस्कृतः सर्वभूतैः सर्वभूतान्यसान्त्वयत् ।

हत्वा शत्रुं प्रहृष्टात्मा वासवः सह दैवतैः ।। ४२ ।।

शत्रुको मारकर देवताओंसहित इन्द्रका हृदय हर्षसे भर गया। समस्त प्राणियोंने उन्हें नमस्कार किया और उन्होंने उन सबको सान्त्वना दी ।। ४२ ।।

विष्णुं त्रिभुवनश्रेष्ठं पूजयामास धर्मवित् ।
ततो हते महावीर्ये वृत्रे देवभयंकरे ।। ४३ ।।
अनृतेनाभिभूतोऽभूच्छक्रः परमदुर्मनाः ।
त्रैशीर्षयाभिभूतश्च स पूर्वं ब्रह्महत्यया ।। ४४ ।।

तत्पश्चात् धर्मज्ञ देवराजने तीनों लोकोंके श्रेष्ठ आराध्यदेव भगवान् विष्णुका पूजन किया। इस प्रकार देवताओंको भय देनेवाले महापराक्रमी वृत्रासुरके मारे जानेपर विश्वासघातरूपी असत्यसे अभिभूत होकर इन्द्र मन-ही-मन बहुत दुःखी हो गये। त्रिशिराके वधसे उत्पन्न हुई ब्रह्महत्याने तो उन्हें पहलेसे ही घेर रखा था ।। ४३-४४ ।।

सोऽन्तमाश्रित्य लोकानां नष्टसंज्ञो विचेतनः ।
न प्राज्ञायत देवेन्द्रस्त्वभिभूतः स्वकल्मषैः ।। ४५ ।।

वे सम्पूर्ण लोकोंकी अन्तिम सीमापर जाकर बेसुध और अचेत होकर रहने लगे। वहाँ अपने ही पापोंसे पीड़ित हुए देवेन्द्रका किसीको पता न चला ।। ४५ ।।

प्रतिच्छन्नोऽवसच्चाप्सु चेष्टमान इवोरगः ।
ततः प्रणष्टे देवेन्द्रे ब्रह्महत्याभयार्दिते ।। ४६ ।।
भूमिः प्रध्वस्तसंकाशा निर्वृक्षा शुष्ककानना ।
विच्छिन्नस्रोतसो नद्यः सरांस्यनुदकानि च ।। ४७ ।।

वे जलमें विचरनेवाले सर्पकी भाँति पानीमें ही छिपकर रहने लगे। ब्रह्महत्याके भयसे पीड़ित होकर जब देवराज इन्द्र अदृश्य हो गये, तब यह पृथ्वी नष्ट-सी हो गयी। यहाँके वृक्ष उजड़ गये, जंगल सूख गये, नदियोंका स्रोत छिन्न-भिन्न हो गया और सरोवरोंका जल सूख गया ।। ४६-४७ ।।

संक्षोभश्चापि सत्त्वानामनावृष्टिकृतोऽभवत् ।
देवाश्चापि भृशं त्रस्तास्तथा सर्वे महर्षयः ।। ४८ ।।

सब जीवोंमें अनावृष्टिके कारण क्षोभ उत्पन्न हो गया। देवता तथा सम्पूर्ण महर्षि भी अत्यन्त भयभीत हो गये ।। ४८ ।।

अराजकं जगत् सर्वमभिभूतमुपद्रवः ।
ततो भीताऽभवन् देवाः को नो राजा भवेदिति ।। ४९ ।।
दिवि देवर्षयश्चापि देवराजविनाकृताः ।
न स्म कश्चन देवानां राज्ये वै कुरुते मतिम् ।। ५० ।।

सम्पूर्ण जगत्में अराजकताके कारण भारी उपद्रव होने लगे। स्वर्गमें देवराज इन्द्रके न होनेसे देवता तथा देवर्षि भी भयभीत होकर सोचने लगे—'अब हमारा राजा कौन होगा?'

देवताओंमेंसे कोई भी स्वर्गका राजा बननेका विचार नहीं करता था ।। ४९-५० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि वृत्रवधे इन्द्रविजयो नाम दशमोऽध्यायः ।। १० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें वृत्रवधके प्रसंगमें इन्द्रविजयविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १० ।।

एकादशोऽध्यायः

देवताओं तथा ऋषियोंके अनुरोधसे राजा नहुषका इन्द्रके पदपर अभिषिक्त होना एवं काम-भोगमें आसक्त होना और चिन्तामें पड़ी हुई इन्द्राणीको बृहस्पतिका आश्वासन

शल्य उवाच

ऋषयोऽथाब्रुवन् सर्वे देवाश्च त्रिदिवेश्वराः ।
अयं वै नहुषः श्रीमान् देवराज्येऽभिषिच्यताम् ।। १ ।।
तेजस्वी च यशस्वी च धार्मिकश्चैव नित्यदा ।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार (स्वर्गमें अराजकता हो जानेपर) ऋषियों, सम्पूर्ण देवताओं एवं देवेश्वरोंने परस्पर मिलकर कहा—‘ये जो श्रीमान् नहुष हैं, इन्हींको देवराजके पदपर अभिषिक्त किया जाय; क्योंकि ये तेजस्वी, यशस्वी तथा नित्य-निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं’ ।। १ $\frac{१}{२}$ ।।

ते गत्वा त्वब्रुवन् सर्वे राजा नो भव पार्थिव ।। २ ।।
स तानुवाच नहुषो देवानृषिगणांस्तथा ।
पितृभिः सहितान् राजन् परीप्सन् हितमात्मनः ।। ३ ।।

ऐसा निश्चय करके वे सब लोग राजा नहुषके पास जाकर बोले—‘पृथिवीपते! आप हमारे राजा होइये’—राजन्! तब नहुषने पितरोंसहित उन देवताओं तथा ऋषियोंसे अपने हितकी इच्छासे कहा— ।। २-३ ।।

दुर्बलोऽहं न मे शक्तिर्भवतां परिपालने ।
बलवाञ्जायते राजा बलं शक्रे हि नित्यदा ।। ४ ।।

'मैं तो दुर्बल हूँ, मुझमें आपलोगोंकी रक्षा करनेकी शक्ति नहीं है। बलवान् पुरुष ही राजा होता है। इन्द्रमें ही बलकी नित्य सत्ता है' ।। ४ ।।

तमब्रुवन् पुनः सर्वे देवा ऋषिपुरोगमाः ।
अस्माकं तपसा युक्तः पाहि राज्यं त्रिविष्टपे ।। ५ ।।
परस्परभयं घोरमस्माकं हि न संशयः ।
अभिषिच्यस्व राजेन्द्र भव राजा त्रिविष्टपे ।। ६ ।।

यह सुनकर सम्पूर्ण देवता तथा ऋषि पुनः उनसे बोले—'राजेन्द्र! आप हमारी तपस्यासे संयुक्त हो स्वर्गके राज्यका पालन कीजिये। हमलोगोंमें प्रत्येकको एक-दूसरेसे घोर भय बना रहता है, इसमें संशय नहीं है। अतः आप अपना अभिषेक कराइये और स्वर्गके राजा होइये ।। ५-६ ।।

देवदानवयक्षाणामृषीणां रक्षसां तथा ।
पितृगन्धर्वभूतानां चक्षुर्विषयवर्तिनाम् ।। ७ ।।
तेज आदास्यसे पश्यन् बलवांश्च भविष्यसि ।
धर्मं पुरस्कृत्य सदा सर्वलोकाधिपो भव ।। ८ ।।

‘देवता, दानव, यक्ष, ऋषि, राक्षस, पितर, गन्धर्व और भूत—जो भी आपके नेत्रोंके सामने आ जायँगे, उन्हें देखते ही आप उनका तेज हर लेंगे और बलवान् हो जायँगे। अतः सदा धर्मको सामने रखते हुए आप सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति होइये ।। ७-८ ।।

ब्रह्मर्षींश्चापि देवांश्च गोपायस्व त्रिविष्टपे ।
अभिषिक्तः स राजेन्द्र ततो राजा त्रिविष्टपे ।। ९ ।।

‘आप स्वर्गमें रहकर ब्रह्मर्षियों तथा देवताओंका पालन कीजिये।’ युधिष्ठिर! तदनन्तर राजा नहुषका स्वर्गमें इन्द्रके पदपर अभिषेक हुआ ।। ९ ।।

धर्मं पुरस्कृत्य तदा सर्वलोकाधिपोऽभवत् ।
सुदुर्लभं वरं लब्ध्वा प्राप्य राज्यं त्रिविष्टपे ।। १० ।।
धर्मात्मा सततं भूत्वा कामात्मा समपद्यत ।

धर्मको आगे रखकर उस समय राजा नहुष सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति हो गये। वे परम दुर्लभ वर पाकर स्वर्गके राज्यको हस्तगत करके निरन्तर धर्मपरायण रहते हुए भी कामभोगमें आसक्त हो गये ।। १० १/२ ।।

देवोद्यानेषु सर्वेषु नन्दनोपवनेषु च ।। ११ ।।
कैलासे हिमवत्पृष्ठे मन्दरे श्वेतपर्वते ।
सह्ये महेन्द्रे मलये समुद्रेषु सरित्सु च ।। १२ ।।
अप्सरोभिः परिवृतो देवकन्यासमावृतः ।
नहुषो देवराजोऽथ क्रीडन् बहुविधं तदा ।। १३ ।।
शृण्वन् दिव्या बहुविधाः कथाः श्रुतिमनोहराः ।
वादित्राणि च सर्वाणि गीतं च मधुरस्वनम् ।। १४ ।।

देवराज नहुष सम्पूर्ण देवोद्यानोंमें, नन्दनवनके उपवनोंमें, कैलासमें, हिमालयके शिखरपर, मन्दराचल, श्वेतगिरि, सह्य, महेन्द्र तथा मलयपर्वतपर एवं समुद्रों और सरिताओंमें, अप्सराओं तथा देवकन्याओंके साथ भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करते थे, कानों और मनको आकर्षित करनेवाली नाना प्रकारकी दिव्य कथाएँ सुनते थे तथा सब प्रकारके वाद्यों और मधुर स्वरसे गाये जानेवाले गीतोंका आनन्द लेते थे ।। ११—१४ ।।

विश्वावसुर्नारदश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
ऋतवः षट् च देवेन्द्रं मूर्तिमन्त उपस्थिताः ।। १५ ।।

विश्वावसु, नारद, गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदाय तथा छहों ऋतुएँ शरीर धारण करके देवेन्द्रकी सेवामें उपस्थित होती थीं ।। १५ ।।

मारुतः सुरभिर्वाति मनोज्ञः सुखशीतलः ।
एवं च क्रीडतस्तस्य नहुषस्य दुरात्मनः ।। १६ ।।
सम्प्राप्ता दर्शनं देवी शक्रस्य महिषी प्रिया ।

उनके लिये वायु मनोहर, सुखद, शीतल और सुगन्धित होकर बहते थे। इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए दुरात्मा राजा नहुषकी दृष्टि एक दिन देवराज इन्द्रकी प्यारी महारानी शचीपर पड़ी ।। १६½ ।।

स तां संदृश्य दुष्टात्मा प्राह सर्वान् सभासदः ।। १७ ।।
इन्द्रस्य महिषी देवी कस्मान्मां नोपतिष्ठति ।
अहमिन्द्रोऽस्मि देवानां लोकानां च तथेश्वरः ।। १८ ।।
आगच्छतु शची मह्यं क्षिप्रमद्य निवेशनम् ।

उन्हें देखकर दुष्टात्मा नहुषने समस्त सभासदोंसे कहा—‘इन्द्रकी महारानी शची मेरी सेवामें क्यों नहीं उपस्थित होतीं? मैं देवताओंका इन्द्र हूँ और सम्पूर्ण लोकोंका अधीश्वर हूँ। अतः शचीदेवी आज मेरे महलमें शीघ्र पधारें’ ।। १७-१८½ ।।

तच्छ्रुत्वा दुर्मना देवी बृहस्पतिमुवाच ह ।। १९ ।।
रक्ष मां नहुषाद् ब्रह्मंस्त्वामस्मि शरणं गता ।
सर्वलक्षणसम्पन्नां ब्रह्मंस्त्वं मां प्रभाषसे ।। २० ।।
देवराजस्य दयितामत्यन्तं सुखभागिनीम् ।
अवैधव्येन युक्तां चाप्येकपत्नीं पतिव्रताम् ।। २१ ।।

यह सुनकर शचीदेवी मन-ही-मन बहुत दुःखी हुईं और बृहस्पतिसे बोलीं—‘ब्रह्मन्! मैं आपकी शरणमें आयी हूँ, आप नहुषसे मेरी रक्षा कीजिये। विप्रवर! आप मुझसे कहा करते हैं कि तुम समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, देवराज इन्द्रकी प्राणवल्लभा, अत्यन्त सुखभागिनी, सौभाग्यवती, एकपत्नी और पतिव्रता हो ।। १९—२१ ।।

उक्तवानसि मां पूर्वमृतां तां कुरु वै गिरम् ।
नोक्तपूर्वं च भगवन् वृथा ते किंचिदीश्वर ।। २२ ।।
तस्मादेतद् भवेत् सत्यं त्वयोक्तं द्विजसत्तम ।

‘भगवन्! आपने पहले जो वैसी बातें कही हैं, अपनी उन वाणियोंको सत्य कीजिये। देवगुरो! आपके मुखसे पहले कभी कोई व्यर्थ या असत्य वचन नहीं निकला है, अतः द्विजश्रेष्ठ! आपका यह पूर्वोक्त वचन भी सत्य होना चाहिये’ ।। २२½ ।।

बृहस्पतिरथोवाच शक्राणीं भयमोहिताम् ।। २३ ।।
यदुक्तासि मया देवि सत्यं तद् भविता ध्रुवम् ।
द्रक्ष्यसे देवराजानमिन्द्रं शीघ्रमिहागतम् ।। २४ ।।
न भेतव्यं च नहुषात् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
समानयिष्ये शक्रेण न चिराद् भवतीमहम् ।। २५ ।।

यह सुनकर बृहस्पतिने भयसे व्याकुल हुई इन्द्राणीसे कहा—‘देवि! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह सब अवश्य सत्य होगा। तुम शीघ्र ही देवराज इन्द्रको यहाँ आया हुआ देखोगी। नहुषसे तुम्हें डरना नहीं चाहिये। मैं सच्ची बात कहता हूँ, थोड़े ही दिनोंमें तुम्हें इन्द्रसे मिला दूँगा’ ।। २३—२५ ।।

अथ शुश्राव नहुषः शक्राणीं शरणं गताम् ।
बृहस्पतेरङ्गिरसश्चुक्रोध स नृपस्तदा ।। २६ ।।

जब राजा नहुषने सुना कि इन्द्राणी अंगिराके पुत्र बृहस्पतिकी शरणमें गयी है, तब वे बहुत कुपित हुए ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीभये एकादशोऽध्यायः ।। ११ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणीभयविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११ ।।

द्वादशोऽध्यायः

देवता-नहुष-संवाद, बृहस्पतिके द्वारा इन्द्राणीकी रक्षा तथा इन्द्राणीका नहुषके पास कुछ समयकी अवधि माँगनेके लिये जाना

शल्य उवाच

क्रुद्धं तु नहुषं दृष्ट्वा देवा ऋषिपुरोगमाः ।
अब्रुवन् देवराजानं नहुषं घोरदर्शनम् ।। १ ।।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! देवराज नहुषको क्रोधमें भरे हुए देख देवतालोग ऋषियोंको आगे करके उनके पास गये। उस समय उनकी दृष्टि बड़ी भयंकर प्रतीत होती थी। देवताओं तथा ऋषियोंने कहा— ।। १ ।।

देवराज जहि क्रोधं त्वयि क्रुद्धे जगद् विभो ।
त्रस्तं सासुरगन्धर्वं सकिन्नरमहोरगम् ।। २ ।।

'देवराज! आप क्रोध छोड़ें। प्रभो! आपके कुपित होनेसे असुर, गन्धर्व, किन्नर और महानागगणोंसहित सम्पूर्ण जगत् भयभीत हो उठा है ।। २ ।।

जहि क्रोधमिमं साधो न कुप्यन्ति भवद्विधाः ।
परस्य पत्नी सा देवी प्रसीदस्व सुरेश्वर ।। ३ ।।

'साधो! आप इस क्रोधको त्याग दीजिये। आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुष दूसरोंपर कोप नहीं करते हैं। अतः प्रसन्न होइये। सुरेश्वर! शची देवी दूसरे इन्द्रकी पत्नी हैं ।। ३ ।।

निवर्तय मनः पापात् परदाराभिमर्शनात् ।
देवराजोऽसि भद्रं ते प्रजा धर्मेण पालय ।। ४ ।।

'परायी स्त्रियोंका स्पर्श पापकर्म है। उससे मनको हटा लीजिये। आप देवताओंके राजा हैं। आपका कल्याण हो। आप धर्मपूर्वक प्रजाका पालन कीजिये' ।। ४ ।।

एवमुक्तो न जग्राह तद्वचः काममोहितः ।
अथ देवानुवाचेदमिन्द्रं प्रति सुराधिपः ।। ५ ।।

उनके ऐसा कहनेपर भी काममोहित नहुषने उनकी बात नहीं मानी। उस समय देवेश्वर नहुषने इन्द्रके विषयमें देवताओंसे इस प्रकार कहा— ।। ५ ।।

अहल्या धर्षिता पूर्वमृषिपत्नी यशस्विनी ।
जीवतो भर्तुरिन्द्रेण स वः किं न निवारितः ।। ६ ।।

'देवताओ! जब इन्द्रने पूर्वकालमें यशस्विनी ऋषि-पत्नी अहल्याका उसके पति गौतमके जीते-जी सतीत्व नष्ट किया था, उस समय आपलोगोंने उन्हें क्यों नहीं

रोका? ।। ६ ।।

बहूनि च नृशंसानि कृतानीन्द्रेण वै पुरा ।
वैधर्म्याण्युपधाश्चैव स वः किं न निवारितः ।। ७ ।।

'प्राचीनकालमें इन्द्रने बहुत-से क्रूरतापूर्ण कर्म किये हैं। अनेक अधार्मिक कृत्य तथा छल-कपट उनके द्वारा हुए हैं। उन्हें आपलोगोंने क्यों नहीं रोका था? ।। ७ ।।

उपतिष्ठतु देवी मामेतदस्या हितं परम् ।
युष्माकं च सदा देवाः शिवमेवं भविष्यति ।। ८ ।।

'शची देवी मेरी सेवामें उपस्थित हों। इसीमें इनका परम हित है तथा देवताओ! ऐसा होनेपर ही सदा तुम्हारा कल्याण होगा' ।। ८ ।।

देवा ऊचुः

इन्द्राणीमानयिष्यामो यथेच्छसि दिवस्पते ।
जहि क्रोधमिमं वीर प्रीतो भव सुरेश्वर ।। ९ ।।

देवता बोले—स्वर्गलोकके स्वामी वीर देवेश्वर! आपकी जैसी इच्छा है, उसके अनुसार हमलोग इन्द्राणीको आपकी सेवामें ले आयेंगे। आप यह क्रोध छोड़िये और प्रसन्न होइये ।। ९ ।।

शल्य उवाच

इत्युक्त्वा तं तदा देवा ऋषिभिः सह भारत ।
जग्मुर्बृहस्पतिं वक्तुमिन्द्राणीं चाशुभं वचः ।। १० ।।

शल्यने कहा—युधिष्ठिर! नहुषसे ऐसा कहकर उस समय सब देवता ऋषियोंके साथ इन्द्राणीसे यह अशुभ वचन कहनेके लिये बृहस्पतिजीके पास गये ।।

जानीमः शरणं प्राप्तामिन्द्राणीं तव वेश्मनि ।
दत्ताभयां च विप्रेन्द्र त्वया देवर्षिसत्तम ।। ११ ।।

उन्होंने कहा—'देवर्षिप्रवर! विप्रेन्द्र! हमें पता लगा है कि इन्द्राणी आपकी शरणमें आयी हैं और आपके ही भवनमें रह रही हैं। आपने उन्हें अभय-दान दे रखा है ।। ११ ।।

ते त्वां देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च महाद्युते ।
प्रसादयन्ति चेन्द्राणी नहुषाय प्रदीयताम् ।। १२ ।।

'महाद्युते! अब ये देवता, गन्धर्व तथा ऋषि आपको इस बातके लिये प्रसन्न करा रहे हैं कि आप इन्द्राणीको राजा नहुषकी सेवामें अर्पण कर दीजिये ।। १२ ।।

इन्द्राद् विशिष्टो नहुषो देवराजो महाद्युतिः ।
वृणोत्विमं वरारोहा भर्तृत्वे वरवर्णिनी ।। १३ ।।

'इस समय महातेजस्वी नहुष देवताओंके राजा हैं। अतः इन्द्रसे बढ़कर हैं। सुन्दर रूप-रंगवाली शची इन्हें अपना पति स्वीकार कर लें' ।। १३ ।।

एवमुक्ता तु सा देवी बाष्पमुत्सृज्य सस्वनम् ।
उवाच रुदती दीना बृहस्पतिमिदं वचः ।। १४ ।।

देवताओंके यह बात कहनेपर शची देवी आँसू बहाती हुई फूट-फूटकर रोने लगीं और दीन-भावसे बृहस्पतिजीको सम्बोधित करके इस प्रकार बोलीं— ।। १४ ।।

नाहमिच्छामि नहुषं पतिं देवर्षिसत्तम ।
शरणागतास्मि ते ब्रह्मंस्त्रायस्व महतो भयात् ।। १५ ।।

'देवर्षियोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणदेव! मैं नहुषको अपना पति बनाना नहीं चाहती; इसीलिये आपकी शरणमें आयी हूँ। आप इस महान् भयसे मेरी रक्षा कीजिये' ।। १५ ।।

बृहस्पतिरुवाच

शरणागतं न त्यजेयमिन्द्राणि मम निश्चयः ।
धर्मज्ञां सत्यशीलां च न त्यजेयमनिन्दिते ।। १६ ।।

बृहस्पतिने कहा—इन्द्राणी! मैं शरणागतका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा दृढ़ निश्चय है। अनिन्दिते! तुम धर्मज्ञ और सत्यशील हो; अतः मैं तुम्हारा त्याग नहीं करूँगा ।। १६ ।।

नाकार्यं कर्तुमिच्छामि ब्राह्मणः सन् विशेषतः ।
श्रुतधर्मा सत्यशीलो जानन् धर्मानुशासनम् ।। १७ ।।
नाहमेतत् करिष्यामि गच्छध्वं वै सुरोत्तमाः ।
अस्मिंश्चार्थे पुरा गीतं ब्रह्मणा श्रूयतामिदम् ।। १८ ।।

विशेषतः ब्राह्मण होकर मैं यह न करने योग्य कार्य नहीं कर सकता। मैंने धर्मकी बातें सुनी हैं और सत्यको अपने स्वभावमें उतार लिया है। शास्त्रोंमें जो धर्मका उपदेश किया गया है, उसे भी जानता हूँ; अतः मैं यह पापकर्म नहीं करूँगा! सुरश्रेष्ठगण! आपलोग लौट जायँ। इस विषयमें ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जो गीत गाया था, वह इस प्रकार है, सुनिये ।। १७-१८ ।।

न तस्य बीजं रोहति रोहकाले
न तस्य वर्षं वर्षति वर्षकाले ।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे
न स त्रातारं लभते त्राणमिच्छन् ।। १९ ।।

'जो भयभीत होकर शरणमें आये हुए प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसका बोया हुआ बीज समयपर नहीं जमता है। उसके यहाँ ठीक समयपर वर्षा नहीं होती और वह जब कभी अपनी रक्षा चाहता है, तो उसे कोई रक्षक नहीं मिलता है ।। १९ ।।

मोघमन्नं विन्दति चाप्यचेताः
स्वर्गाल्लोकाद् भ्रश्यति नष्टचेष्टः ।

भीतं प्रपन्नं प्रददाति यो वै
न तस्य हव्यं प्रतिगृह्णन्ति देवाः ।। २० ।।

'जो भयभीत शरणागतको शत्रुके हाथमें सौंप देता है, वह दुर्बलचित्त मानव जो अन्न ग्रहण करता है, वह व्यर्थ हो जाता है। उसके सारे उद्यम नष्ट हो जाते हैं और वह स्वर्गलोकसे नीचे गिर जाता है। इतना ही नहीं, देवतालोग उसके दिये हुए हविष्यको स्वीकार नहीं करते हैं ।। २० ।।

प्रमीयते चास्य प्रजा ह्यकाले
सदा विवासं पितरोऽस्य कुर्वते ।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे
सेन्द्रा देवाः प्रहरन्त्यस्य वज्रम् ।। २१ ।।

'उसकी संतान अकालमें ही मर जाती है। उसके पितर सदा नरकमें निवास करते हैं। जो भयभीत शरणागतको शत्रुके हाथमें दे देता है, उसपर इन्द्र आदि देवता वज्रका प्रहार करते हैं' ।। २१ ।।

एतदेवं विजानन् वै न दास्यामि शचीमिमाम् ।
इन्द्राणीं विश्रुतां लोके शक्रस्य महिषीं प्रियाम् ।। २२ ।।

इस प्रकार ब्रह्माजीके उपदेशके अनुसार शरणागतके त्यागसे होनेवाले अधर्मको मैं निश्चितरूपसे जानता हूँ; अतः जो सम्पूर्ण विश्वमें इन्द्रकी पत्नी तथा देवराजकी प्यारी पटरानीके रूपमें विख्यात हैं, उन्हीं इन शची देवीको मैं नहुषके हाथमें नहीं दूँगा ।। २२ ।।

अस्या हितं भवेद् यच्च मम चापि हितं भवेत् ।
क्रियतां तत् सुरश्रेष्ठा न हि दास्याम्यहं शचीम् ।। २३ ।।

श्रेष्ठ देवताओ! जो इनके लिये हितकर हो, जिससे मेरा भी हित हो, वह कार्य आपलोग करें। मैं शचीको कदापि नहीं दूँगा ।। २३ ।।

शल्य उवाच

अथ देवाः सगन्धर्वा गुरुमाहुरिदं वचः ।
कथं सुनीतं नु भवेन्मन्त्रयस्व बृहस्पते ।। २४ ।।

शल्य कहते हैं—राजन्! तब देवताओं तथा गन्धर्वोंने गुरुसे इस प्रकार कहा—'बृहस्पते! आप ही सलाह दीजिये कि किस उपायका अवलम्बन करनेसे शुभ परिणाम होगा?' ।। २४ ।।

बृहस्पतिरुवाच

नहुषं याचतां देवी किंचित् कालान्तरं शुभा ।
इन्द्राणी हितमेतद्धि तथास्माकं भविष्यति ।। २५ ।।

बृहस्पतिजीने कहा—देवगण! शुभलक्षणा शची देवी नहुषसे कुछ समयकी अवधि माँगें। इसीसे इनका और हमारा भी हित होगा ।। २५ ।।

बहुविघ्नः सुराः कालः कालः कालं नयिष्यति ।

गर्वितो बलवांश्चापि नहुषो वरसंश्रयात् ।। २६ ।।

देवताओ! समय अनेक प्रकारके विघ्नोंसे भरा होता है। इस समय नहुष आपलोगोंके वरदानके प्रभावसे बलवान् और गर्वीला हो गया है। काल ही उसे कालके गालमें पहुँचा देगा ।। २६ ।।

शल्य उवाच

ततस्तेन तथोक्ते तु प्रीता देवास्तथाब्रुवन् ।

ब्रह्मन् साध्विदमुक्तं ते हितं सर्वदिवौकसाम् ।। २७ ।।

शल्य कहते हैं—राजन्! उनके इस प्रकार सलाह देनेपर देवता बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन्! आपने बहुत अच्छी बात कही है। इसीमें सम्पूर्ण देवताओंका हित है ।। २७ ।।

एवमेतद् द्विजश्रेष्ठ देवी चेयं प्रसाद्यताम् ।

ततः समस्ता इन्द्राणीं देवाश्चाग्निपुरोगमाः ।

ऊचुर्वचनमव्यग्रा लोकानां हितकाम्यया ।। २८ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! इसी बातके लिये शची देवीको राजी कीजिये।' तदनन्तर अग्नि आदि सब देवता इन्द्राणीके पास जा समस्त लोकोंके हितके लिये शान्तभावसे इस प्रकार बोले ।। २८ ।।

देवा ऊचुः

त्वया जगदिदं सर्वं धृतं स्थावरजङ्गमम् ।

एकपत्न्यसि सत्या च गच्छस्व नहुषं प्रति ।। २९ ।।

क्षिप्रं त्वामभिकामश्च विनशिष्यति पापकृत् ।

नहुषो देवि शक्रश्च सुरैश्वर्यमवाप्स्यति ।। ३० ।।

देवता बोले—देवि! यह समस्त चराचर जगत् तुमने ही धारण कर रखा है, क्योंकि तुम पतिव्रता और सत्यपरायणा हो। अतः तुम नहुषके पास चलो। देवेश्वरि! तुम्हारी कामना करनेके कारण पापी नहुष शीघ्र नष्ट हो जायगा और इन्द्र पुनः अपने देवसाम्राज्यको प्राप्त कर लेंगे ।।

एवं विनिश्चयं कृत्वा इन्द्राणी कार्यसिद्धये ।

अभ्यगच्छत सव्रीडा नहुषं घोरदर्शनम् ।। ३१ ।।

अपनी कार्य-सिद्धिके लिये ऐसा निश्चय करके इन्द्राणी भयंकर दृष्टिवाले नहुषके पास बड़े संकोचके साथ गयी ।। ३१ ।।

दृष्ट्वा तां नहुषश्चापि वयोरूपसमन्विताम् ।
समहृष्यत दुष्टात्मा कामोपहतचेतनः ।। ३२ ।।

नयी अवस्था और सुन्दर रूपसे सुशोभित इन्द्राणीको देखकर दुष्टात्मा नहुष बहुत प्रसन्न हुआ। कामभावनासे उसकी बुद्धि मारी गयी थी ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीकालावधियाचने द्वादशोऽध्यायः ।। १२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणीकी नहुषसे समययाचनासे सम्बन्ध रखनेवाला बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२ ।।

त्रयोदशोऽध्यायः

नहुषका इन्द्राणीको कुछ कालकी अवधि देना, इन्द्रका ब्रह्महत्यासे उद्धार तथा शचीद्वारा रात्रिदेवीकी उपासना

शल्य उवाच

अथ तामब्रवीद् दृष्ट्वा नहुषो देवराट् तदा ।
त्रयाणामपि लोकानामहमिन्द्रः शुचिस्मिते ।। १ ।।
भजस्व मां वरारोहे पतित्वे वरवर्णिनि ।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! उस समय देवराज नहुषने इन्द्राणीको देखकर कहा—'शुचिस्मिते! मैं तीनों लोकोंका स्वामी इन्द्र हूँ। उत्तम रूप-रंगवाली सुन्दरी! तुम मुझे अपना पति बना लो' ।। १½ ।।

एवमुक्ता तु सा देवी नहुषेण पतिव्रता ।। २ ।।
प्रावेपत भयोद्विग्ना प्रवाते कदली यथा ।
प्रणम्य सा हि ब्रह्माणं शिरसा तु कृताञ्जलिः ।। ३ ।।
देवराजमथोवाच नहुषं घोरदर्शनम् ।
कालमिच्छाम्यहं लब्धुं त्वत्तः कंचित् सुरेश्वर ।। ४ ।।

नहुषके ऐसा कहनेपर पतिव्रता देवी शची भयसे उद्विग्न हो तेज हवामें हिलनेवाले केलेके वृक्षकी भाँति काँपने लगीं। उन्होंने मस्तक झुकाकर ब्रह्माजीको प्रणाम किया और भयंकर दृष्टिवाले देवराज नहुषसे हाथ जोड़कर कहा—'देवेश्वर! मैं आपसे कुछ समयकी अवधि लेना चाहती हूँ ।। २—४ ।।

न हि विज्ञायते शक्रः किं वा प्राप्तः क्व वा गतः ।
तत्त्वमेतत् तु विज्ञाय यदि न ज्ञायते प्रभो ।। ५ ।।
ततोऽहं त्वामुपस्थास्ये सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
एवमुक्तः स इन्द्राण्या नहुषः प्रीतिमानभूत् ।। ६ ।।

'अभी यह पता नहीं है कि देवेन्द्र किस अवस्थामें पड़े हैं? अथवा कहाँ चले गये हैं? प्रभो! इसका ठीक-ठीक पता लगानेपर यदि कोई बात मालूम नहीं हो सकी, तो मैं आपकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगी। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ।' इन्द्राणीके ऐसा कहनेपर नहुषको बड़ी प्रसन्नता हुई ।। ५-६ ।।

नहुष उवाच

एवं भवतु सुश्रोणि यथा मामिह भाषसे ।
ज्ञात्वा चागमनं कार्यं सत्यमेतदनुस्मरेः ।। ७ ।।

नहुष बोले—सुन्दरी! तुम मुझसे यहाँ जैसा कह रही हो ऐसा ही हो। इसके अनुसार पता लगाकर तुम्हें मेरे पास आ जाना चाहिये; इस सत्यको सदा याद रखना ।।

नहुषेण विसृष्टा च निश्चक्राम ततः शुभा ।
बृहस्पतिनिकेतं च सा जगाम यशस्विनी ।। ८ ।।

नहुषसे विदा लेकर शुभलक्षणा यशस्विनी शची उस स्थानसे निकली और पुनः बृहस्पतिजीके भवनमें चली गयी ।।

तस्याः संश्रुत्य च वचो देवाश्चाग्निपुरोगमाः ।
चिन्तयामासुरेकाग्राः शक्रार्थं राजसत्तम ।। ९ ।।

नृपश्रेष्ठ! इन्द्राणीकी बात सुनकर अग्नि आदि सब देवता एकाग्रचित्त होकर इन्द्रकी खोज करनेके लिये आपसमें विचार करने लगे ।। ९ ।।

देवदेवेन सङ्गम्य विष्णुना प्रभविष्णुना ।
ऊचुश्चैनं समुद्विग्ना वाक्यं वाक्यविशारदाः ।। १० ।।

फिर बातचीतमें कुशल देवगण सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके कारणभूत देवाधिदेव भगवान् विष्णुसे मिले और भयसे उद्विग्न हो उनसे इस प्रकार बोले— ।। १० ।।

ब्रह्मवध्याभिभूतो वै शक्रः सुरगणेश्वरः ।
गतिश्च नस्त्वं देवेश पूर्वजो जगतः प्रभुः ।। ११ ।।

'देवेश्वर! देवसमुदायके स्वामी इन्द्र ब्रह्महत्यासे अभिभूत होकर कहीं छिप गये हैं। भगवन्! आप ही हमारे आश्रय और सम्पूर्ण जगत्‌के पूर्वज तथा प्रभु हैं ।।

रक्षार्थं सर्वभूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ।
त्वद्वीर्यनिहते वृत्रे वासवो ब्रह्महत्यया ।। १२ ।।
वृतः सुरगणश्रेष्ठ मोक्षं तस्य विनिर्दिश ।

'आपने समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये विष्णुरूप धारण किया है। यद्यपि वृत्रासुर आपकी ही शक्तिसे मारा गया है तथापि इन्द्रको ब्रह्महत्याने आक्रान्त कर लिया है। सुरगणश्रेष्ठ! अब आप ही उनके उद्धारका उपाय बताइये' ।।

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा देवानां विष्णुरब्रवीत् ।। १३ ।।
मामेव यजतां शक्रः पावयिष्यामि वज्रिणम् ।
पुण्येन हयमेधेन मामिष्ट्वा पाकशासनः ।। १४ ।।
पुनरेष्यति देवानामिन्द्रत्वमकुतोभयः ।
स्वकर्मभिश्च नहुषो नाशं यास्यति दुर्मतिः ।। १५ ।।
किंचित् कालमिदं देवा मर्षयध्वमतन्द्रिताः ।

देवताओंकी यह बात सुनकर भगवान् विष्णु बोले—'इन्द्र यज्ञोंद्वारा केवल मेरी ही आराधना करें, इससे मैं वज्रधारी इन्द्रको पवित्र कर दूँगा। पाकशासन इन्द्र पवित्र अश्वमेध यज्ञके द्वारा मेरी आराधना करके पुनः निर्भय हो देवेन्द्र-पदको प्राप्त कर लेंगे और खोटी बुद्धिवाला नहुष अपने कर्मोंसे ही नष्ट हो जायगा। देवताओ! तुम आलस्य छोड़कर कुछ कालतक और यह कष्ट सहन करो' ।। १३—१५ १/२ ।।

श्रुत्वा विष्णोः शुभां सत्यां वाणींताममृतोपमाम् ।। १६ ।।
ततः सर्वे सुरगणाः सोपाध्यायाः सहर्षिभिः ।
यत्र शक्रो भयोद्विग्नस्तं देशमुपचक्रमुः ।। १७ ।।

भगवान् विष्णुकी यह शुभ, सत्य तथा अमृतके समान मधुर वाणी सुनकर गुरु तथा महर्षियोंसहित सब देवता उस स्थानपर गये, जहाँ भयसे व्याकुल हुए इन्द्र छिपकर रहते थे ।। १६-१७ ।।

तत्राश्वमेधः सुमहान् महेन्द्रस्य महात्मनः ।
ववृते पावनार्थं वै ब्रह्महत्यापहो नृप ।। १८ ।।

नरेश्वर! वहाँ महात्मा महेन्द्रकी शुद्धिके लिये एक महान् अश्वमेध-यज्ञका अनुष्ठान हुआ, जो ब्रह्महत्याको दूर करनेवाला था ।। १८ ।।

विभज्य ब्रह्महत्यां तु वृक्षेषु च नदीषु च ।
पर्वतेषु पृथिव्यां च स्त्रीषु चैव युधिष्ठिर ।। १९ ।।

युधिष्ठिर! इन्द्रने वृक्ष, नदी, पर्वत, पृथ्वी और स्त्री-समुदायमें ब्रह्महत्याको बाँट दिया ।। १९ ।।

संविभज्य च भूतेषु विसृज्य च सुरेश्वरः ।
विज्वरो धूतपाप्मा च वासवोऽभवदात्मवान् ।। २० ।।

इस प्रकार समस्त भूतोंमें ब्रह्महत्याका विभाजन करके देवेश्वर इन्द्रने उसे त्याग दिया और स्वयं मनको वशमें करके वे निष्पाप तथा निश्चिन्त हो गये ।। २० ।।

अकम्पन्नहुषं स्थानाद् दृष्ट्वा बलनिषूदनः ।
तेजोघ्नं सर्वभूतानां वरदानाच्च दुःसहम् ।। २१ ।।

परंतु बल नामक दानवका नाश करनेवाले इन्द्र जब अपना स्थान ग्रहण करनेके लिये स्वर्गलोकमें आये, तब उन्होंने देखा—नहुष देवताओंके वरदानसे अपनी दृष्टिमात्रसे समस्त प्राणियोंके तेजको नष्ट करनेमें समर्थ और दुःसह हो गया है। यह देखकर वे काँप उठे ।। २१ ।।

ततः शचीपतिर्देवः पुनरेव व्यनश्यत ।
अदृश्यः सर्वभूतानां कालाकाङ्क्षी चचार ह ।। २२ ।।

तदनन्तर शचीपति इन्द्रदेव पुनः सबकी आँखोंसे ओझल हो गये तथा अनुकूल समयकी प्रतीक्षा करते हुए समस्त प्राणियोंसे अदृश्य रहकर विचरने लगे ।।

प्रणष्टे तु ततः शक्रे शची शोकसमन्विता ।
हा शक्रेति तदा देवी विललाप सुदुःखिता ।। २३ ।।

इन्द्रके पुनः अदृश्य हो जानेपर शची देवी शोकमें डूब गयीं और अत्यन्त दुःखी हो 'हा इन्द्र! हा इन्द्र' कहती हुई विलाप करने लगीं ।। २३ ।।

यदि दत्तं यदि हुतं गुरवस्तोषिता यदि ।
एकभर्तृत्वमेवास्तु सत्यं यद्यस्ति वा मयि ।। २४ ।।

तत्पश्चात् वे इस प्रकार बोलीं—'यदि मैंने दान दिया हो, होम किया हो, गुरुजनोंको संतुष्ट रखा हो तथा मुझमें सत्य विद्यमान हो, तो मेरा पातिव्रत्य सुरक्षित रहे ।। २४ ।।

पुण्यां चेमामहं दिव्यां प्रवृत्तामुत्तरायणे ।
देवीं रात्रिं नमस्यामि सिध्यतां मे मनोरथः ।। २५ ।।

'उत्तरायणके दिन जो यह पुण्य एवं दिव्य रात्रि आ रही है, उसकी अधिष्ठात्री देवी रात्रिको मैं नमस्कार करती हूँ, मेरा मनोरथ सफल हो' ।। २५ ।।

प्रयता च निशां देवीमुपातिष्ठत तत्र सा ।
पतिव्रतात्वात् सत्येन सोपश्रुतिमथाकरोत् ।। २६ ।।
यत्रास्ते देवराजोऽसौ तं देशं दर्शयस्व मे ।
इत्याहोपश्रुतिं देवीं सत्यं सत्येन दृश्यते ।। २७ ।।

ऐसा कहकर शचीने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर रात्रि देवीकी उपासना की। पतिव्रता तथा सत्यपरायणा होनेके कारण उन्होंने उपश्रुति नामवाली रात्रिदेवीका आवाहन

किया और उनसे कहा—‘देवि! जहाँ देवराज इन्द्र हों, वह स्थान मुझे दिखाइये। सत्यका सत्यसे ही दर्शन होता है’ ।। २६-२७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि उपश्रुतियाचने त्रयोदशोऽध्यायः ।। १३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें उपश्रुतिसे प्रार्थनाविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३ ।।

चतुर्दशोऽध्यायः

उपश्रुति देवीकी सहायतासे इन्द्राणीकी इन्द्रसे भेंट

शल्य उवाच

अथैनां रूपिणी साध्वीमुपातिष्ठदुपश्रुतिः ।
तां वयोरूपसम्पन्नां दृष्ट्वा देवीमुपस्थिताम् ।। १ ।।
इन्द्राणी सम्प्रहृष्टात्मा सम्पूज्यैनामथाब्रवीत् ।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं का त्वं ब्रूहि वरानने ।। २ ।।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर उपश्रुति देवी मूर्तिमती होकर साध्वी शचीदेवीके पास आयीं। नूतन वय तथा मनोहर रूपसे सुशोभित उपश्रुति देवीको उपस्थित हुई देख इन्द्राणीका मन प्रसन्न हो गया। उन्होंने उनका पूजन करके कहा—'सुमुखि! मैं आपको जानना चाहती हूँ, बताइये, आप कौन हैं?' ।। १-२ ।।

उपश्रुतिरुवाच

उपश्रुतिरहं देवि तवान्तिकमुपागता ।
दर्शनं चैव सम्प्राप्ता तव सत्येन भाविनि ।। ३ ।।

उपश्रुति बोलीं—देवि! मैं उपश्रुति हूँ और तुम्हारे पास आयी हूँ। भामिनि! तुम्हारे सत्यसे प्रभावित होकर मैंने तुम्हें दर्शन दिया है ।। ३ ।।

पतिव्रता च युक्ता च यमेन नियमेन च ।
दर्शयिष्यामि ते शक्रं देवं वृत्रनिषूदनम् ।। ४ ।।

तुम पतिव्रता होनेके साथ ही यम और नियमसे संयुक्त हो, अतः मैं तुम्हें वृत्रासुरनिषूदन इन्द्रदेवका दर्शन कराऊँगी ।। ४ ।।

क्षिप्रमन्वेहि भद्रं ते द्रक्ष्यसे सुरसत्तमम् ।
ततस्तां प्रहितां देवीमिन्द्राणी सा समन्वगात् ।। ५ ।।

तुम्हारा कल्याण हो। तुम शीघ्र मेरे पीछे-पीछे चली आओ। तुम्हें सुरश्रेष्ठ देवराजके दर्शन होंगे। ऐसा कहकर उपश्रुति देवी वहाँसे चल दीं; फिर इन्द्राणी भी उनके पीछे हो लीं ।। ५ ।।

देवारण्यान्यतिक्रम्य पर्वतांश्च बहूंस्ततः ।
हिमवन्तमतिक्रम्य उत्तरं पार्श्वमागमत् ।। ६ ।।
समुद्रं च समासाद्य बहुयोजनविस्तृतम् ।
आससाद महाद्वीपं नानाद्रुमलतावृतम् ।। ७ ।।

देवताओंके अनेकानेक वन, बहुतसे पर्वत तथा हिमालयको लाँघकर उपश्रुति देवी उसके उत्तर भागमें जा पहुँचीं। तदनन्तर अनेक योजनोंतक फैले हुए समुद्रके पास पहुँचकर उन्होंने एक महाद्वीपमें प्रवेश किया, जो नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित था ।। ६-७ ।।

तत्रापश्यत् सरो दिव्यं नानाशकुनिभिर्वृतम् ।
शतयोजनविस्तीर्णं तावदेवायतं शुभम् ।। ८ ।।

वहाँ एक दिव्य सरोवर दिखायी दिया, जिसमें अनेक प्रकारके जल-पक्षी निवास करते थे। वह सुन्दर सरोवर सौ योजन लंबा और उतना ही चौड़ा था ।। ८ ।।

तत्र दिव्यानि पद्मानि पञ्चवर्णानि भारत ।
षट्पदैरुपगीतानि प्रफुल्लानि सहस्रशः ।। ९ ।।

भारत! उसके भीतर सहस्रों कमल खिले हुए थे, जो पाँच रंगके दिखायी देते थे। उनपर मँडराते हुए भौंरे गुनगुना रहे थे ।। ९ ।।

सरसस्तस्य मध्ये तु पद्मिनी महती शुभा ।
गौरेणोन्नतनालेन पद्मेन महता वृता ।। १० ।।

उक्त सरोवरके मध्यभागमें एक बहुत बड़ी सुन्दर कमलिनी थी, जिसे एक ऊँची नालवाले गौर वर्णके विशाल कमलने घेर रखा था ।। १० ।।

पद्मस्य भित्त्वा नालं च विवेश सहिता तया ।
बिसतन्तुप्रविष्टं च तत्रापश्यच्छतक्रतुम् ।। ११ ।।

उपश्रुति देवीने उस कमलनालको चीरकर इन्द्राणी सहित उस कमलके भीतर प्रवेश किया और वहीं एक तन्तुमें घुसकर छिपे हुए शतक्रतु इन्द्रको देखा ।। ११ ।।

तं दृष्ट्वा च सुसूक्ष्मेण रूपेणावस्थितं प्रभुम् ।
सूक्ष्मरूपधरा देवी बभूवोपश्रुतिश्च सा ।। १२ ।।

अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे अवस्थित भगवान् इन्द्रको वहाँ देखकर देवी उपश्रुति तथा इन्द्राणीने भी सूक्ष्म रूप धारण कर लिया ।। १२ ।।

इन्द्रं तुष्टाव चेन्द्राणी विश्रुतैः पूर्वकर्मभिः ।
स्तूयमानस्ततो देवः शचीमाह पुरन्दरः ।। १३ ।।

इन्द्राणीने पहलेके विख्यात कर्मोंका बखान करके इन्द्रदेवका स्तवन किया। अपनी स्तुति सुनकर इन्द्रदेवने शचीसे कहा— ।। १३ ।।

किमर्थमसि सम्प्राप्ता विज्ञातश्च कथं त्वहम् ।
ततः सा कथयामास नहुषस्य विचेष्टितम् ।। १४ ।।

'देवि! तुम किसलिये यहाँ आयी हो और तुम्हें कैसे मेरा पता लगा है?' तब इन्द्राणीने नहुषकी कुचेष्टाका वर्णन किया ।। १४ ।।

इन्द्रत्वं त्रिषु लोकेषु प्राप्य वीर्यसमन्वितः ।
दर्पाविष्टश्च दुष्टात्मा मामुवाच शतक्रतो ।। १५ ।।
उपतिष्ठेति स क्रूरः कालं च कृतवान् मम ।
यदि न त्रास्यसि विभो करिष्यति स मां वशे ।। १६ ।।

'शतक्रतो! तीनों लोकोंके इन्द्रका पद पाकर नहुष बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो घमंडमें भर गया है। उस दुष्टात्माने मुझसे भी कहा है कि तू मेरी सेवामें उपस्थित हो। उस क्रूर नरेशने मेरे लिये कुछ समयकी अवधि दी है। प्रभो! यदि आप मेरी रक्षा नहीं करेंगे तो वह पापी मुझे अपने वशमें कर लेगा ।। १५-१६ ।।

एतेन चाहं सम्प्राप्ता द्रुतं शक्र तवान्तिकम् ।
जहि रौद्रं महाबाहो नहुषं पापनिश्चयम् ।। १७ ।।

'महाबाहु इन्द्र! इसी कारण मैं शीघ्रतापूर्वक आपके निकट आयी हूँ। पापपूर्ण विचार रखनेवाले उस भयानक नहुषको आप मार डालिये ।। १७ ।।

प्रकाशयात्मनाऽऽत्मानं दैत्यदानवसूदन ।
तेजः समाप्नुहि विभो देवराज्यं प्रशाधि च ।। १८ ।।

‘दैत्यदानवसूदन प्रभो! अब आप अपने आपको प्रकाशमें लाइये, तेज प्राप्त कीजिये और देवताओंके राज्यका शासन अपने हाथमें लीजिये’ ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीन्द्रस्तवे चतुर्दशोऽध्यायः ।। १४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणीद्वारा इन्द्रका स्तुतिविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४ ।।

पञ्चदशोऽध्यायः

इन्द्रकी आज्ञासे इन्द्राणीके अनुरोधपर नहुषका ऋषियोंको अपना वाहन बनाना तथा बृहस्पति और अग्निका संवाद

शल्य उवाच

एवमुक्तः स भगवाञ्छच्या तां पुनरब्रवीत् ।
विक्रमस्य न कालोऽयं नहुषो बलवत्तरः ।। १ ।।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! शचीदेवीके ऐसा कहनेपर भगवान् इन्द्रने पुनः उनसे कहा—'देवि! यह पराक्रम करनेका समय नहीं है। आजकल नहुष बहुत बलवान् हो गया है ।। १ ।।

विवर्धितश्च ऋषिभिर्हव्यकव्यैश्च भाविनि ।
नीतिमत्र विधास्यामि देवि तां कर्तुमर्हसि ।। २ ।।

'भामिनि! ऋषियोंने हव्य और कव्य देकर उसकी शक्तिको बहुत बढ़ा दिया है। अतः मैं यहाँ नीतिसे काम लूँगा। देवि! तुम उसी नीतिका पालन करो ।। २ ।।

गुह्यं चैतत् त्वया कार्यं नाख्यातव्यं शुभे क्वचित् ।
गत्वा नहुषमेकान्ते ब्रवीहि च सुमध्यमे ।। ३ ।।
ऋषियानेन दिव्येन मामुपैहि जगत्पते ।
एवं तव वशे प्रीता भविष्यामीति तं वद ।। ४ ।।

'शुभे! तुम्हें गुप्तरूपसे यह कार्य करना है। कहीं (भी इसे) प्रकट न करना। सुमध्यमे! तुम एकान्तमें नहुषके पास जाकर कहो—जगत्पते! आप दिव्य ऋषियानपर बैठकर मेरे पास आइये। ऐसा होनेपर मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके वशमें हो जाऊँगी' ।। ३-४ ।।

इत्युक्ता देवराजेन पत्नी सा कमलेक्षणा ।
एवमस्त्वित्यथोक्त्वा तु जगाम नहुषं प्रति ।। ५ ।।

देवराजके इस प्रकार आदेश देनेपर उनकी कमलनयनी पत्नी शची 'एवमस्तु' कहकर नहुषके पास गयीं ।। ५ ।।

नहुषस्तां ततो दृष्ट्वा सस्मितो वाक्यमब्रवीत् ।
स्वागतं ते वरारोहे किं करोमि शुचिस्मिते ।। ६ ।।

उन्हें देखकर नहुष मुसकराया और इस प्रकार बोला—'वरारोहे! तुम्हारा स्वागत है। शुचिस्मिते! कहो, तुम्हारी क्या सेवा करूँ? ।। ६ ।।

भक्तं मां भज कल्याणि किमिच्छसि मनस्विनि ।
तव कल्याणि यत् कार्यं तत् करिष्ये सुमध्यमे ।। ७ ।।

'कल्याणि! मैं तुम्हारा भक्त हूँ, मुझे स्वीकार करो। मनस्विनि! तुम क्या चाहती हो? सुमध्यमे! तुम्हारा जो भी कार्य होगा, उसे मैं सिद्ध करूँगा ।। ७ ।।

न च व्रीडा त्वया कार्या सुश्रोणि मयि विश्वसेः ।
सत्येन वै शपे देवि करिष्ये वचनं तव ।। ८ ।।

'सुश्रोणि! तुम्हें मुझसे लज्जा नहीं करनी चाहिये। मुझपर विश्वास करो। देवि! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, तुम्हारी प्रत्येक आज्ञाका पालन करूँगा' ।। ८ ।।

इन्द्राण्युवाच

यो मे कृतस्त्वया कालस्तमाकाङ्क्षे जगत्पते ।
ततस्त्वमेव भर्ता मे भविष्यसि सुराधिप ।। ९ ।।

इन्द्राणी बोलीं—जगत्पते! आपके साथ जो मेरी शर्त हो चुकी है, उसे मैं पूर्ण करना चाहती हूँ। सुरेश्वर! फिर तो आप ही मेरे पति होंगे ।। ९ ।।

कार्यं च हृदि मे यत् तद् देवराजावधारय ।
वक्ष्यामि यदि मे राजन् प्रियमेतत् करिष्यसि ।। १० ।।
वाक्यं प्रणयसंयुक्तं ततः स्यां वशगा तव ।

देवराज! मेरे हृदयमें एक कार्यकी अभिलाषा है, उसे बताती हूँ, सुनिये। राजन्! यदि आप मेरे इस प्रिय कार्यको पूर्ण कर देंगे, प्रेमपूर्वक कही हुई मेरी यह बात मान लेंगे तो मैं आपके अधीन हो जाऊँगी ।। १० १/२ ।।

इन्द्रस्य वाजिनो वाहा हस्तिनोऽथ रथास्तथा ।। ११ ।।
इच्छाम्यहमथापूर्वं वाहनं ते सुराधिप ।
यन्न विष्णोर्न रुद्रस्य नासुराणां न रक्षसाम् ।। १२ ।।

सुरेश्वर! पहले जो इन्द्र थे, उनके वाहन हाथी, घोड़े तथा रथ आदि रहे हैं, परंतु आपका वाहन उनसे सर्वथा विलक्षण—अपूर्व हो, ऐसी मेरी इच्छा है। वह वाहन ऐसा होना चाहिये, जो भगवान् विष्णु, रुद्र, असुर तथा राक्षसोंके भी उपयोगमें न आया हो ।। ११-१२ ।।

वहन्तु त्वां महाभागा ऋषयः संगता विभो ।
सर्वे शिबिकया राजन्नेतद्धि मम रोचते ।। १३ ।।

प्रभो! महाभाग सप्तर्षि एकत्र होकर शिबिकाद्वारा आपका वहन करें। राजन्! यही मुझे अच्छा लगता है ।।

नासुरेषु न देवेषु तुल्यो भवितुमर्हसि ।
सर्वेषां तेज आदत्से स्वेन वीर्येण दर्शनात् ।
न ते प्रमुखतः स्थातुं कश्चिच्छक्नोति वीर्यवान् ।। १४ ।।

आप अपने पराक्रमसे तथा दृष्टिपात करनेमात्रसे सबका तेज हर लेते हैं। देवताओं तथा असुरोंमें कोई भी आपकी समानता करनेवाला नहीं है। कोई कितना ही शक्तिशाली

क्यों न हो, आपके सामने ठहर नहीं सकता है ।। १४ ।।

शल्य उवाच

एवमुक्तस्तु नहुषः प्राहृष्यत तदा किल ।
उवाच वचनं चापि सुरेन्द्रस्तामनिन्दिताम् ।। १५ ।।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! इन्द्राणीके ऐसा कहनेपर देवराज नहुष बड़े प्रसन्न हुए और उस सती-साध्वी देवीसे इस प्रकार बोले ।। १५ ।।

नहुष उवाच

अपूर्वं वाहनमिदं त्वयोक्तं वरवर्णिनि ।
दृढं मे रुचितं देवि त्वद्वशोऽस्मि वरानने ।। १६ ।।

नहुषने कहा—सुन्दरि! तुमने तो यह अपूर्व वाहन बताया। देवि! मुझे भी वही सवारी अधिक पसंद है। सुमुखि! मैं तुम्हारे वशमें हूँ ।। १६ ।।

न ह्यल्पवीर्यो भवति यो वाहान् कुरुते मुनीन् ।
अहं तपस्वी बलवान् भूतभव्यभवत्प्रभुः ।। १७ ।।

जो ऋषियोंको भी अपना वाहन बना सके, उस पुरुषमें थोड़ी शक्ति नहीं होती है। मैं तपस्वी, बलवान् तथा भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंका स्वामी हूँ ।। १७ ।।

मयि क्रुद्धे जगन्न स्यान्मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
देवदानवगन्धर्वाः किन्नरोरगराक्षसाः ।। १८ ।।
न मे क्रुद्धस्य पर्याप्ताः सर्वे लोकाः शुचिस्मिते ।
चक्षुषा यं प्रपश्यामि तस्य तेजो हराम्यहम् ।। १९ ।।

मेरे कुपित होनेपर यह संसार मिट जायगा। मुझपर ही सब कुछ टिका हुआ है। शुचिस्मिते! यदि मैं क्रोधमें भर जाऊँ तो यह देवता, दानव, गन्धर्व, किन्नर, नाग, राक्षस और सम्पूर्ण लोक मेरा सामना नहीं कर सकते हैं। मैं अपनी आँखसे जिसको देख लेता हूँ, उसका तेज हर लेता हूँ ।। १८-१९ ।।

तस्मात् ते वचनं देवि करिष्यामि न संशयः ।
सप्तर्षयो मां वक्ष्यन्ति सर्वे ब्रह्मर्षयस्तथा ।
पश्य माहात्म्ययोगं मे ऋद्धिं च वरवर्णिनि ।। २० ।।

अतः देवि! मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा, इसमें संशय नहीं है। सम्पूर्ण सप्तर्षि और ब्रह्मर्षि मेरी पालकी ढोयेंगे। वरवर्णिनि! मेरे माहात्म्य तथा समृद्धिको तुम प्रत्यक्ष देख लो ।। २० ।।

शल्य उवाच

एवमुक्त्वा तु तां देवीं विसृज्य च वराननाम् ।

विमाने योजयित्वा च ऋषीन् नियममास्थितान् ।। २१ ।।

अब्रह्मण्यो बलोपेतो मत्तो मदबलेन च ।

कामवृत्तः स दुष्टात्मा वाहयामास तानृषीन् ।। २२ ।।

शल्य कहते हैं—राजन्! सुन्दर मुखवाली शची देवीसे ऐसा कहकर नहुषने उन्हें विदा कर दिया और यम-नियमका पालन करनेवाले बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंका अपमान करके अपनी पालकीमें जोत दिया। वह ब्राह्मणद्रोही नरेश बल पाकर उन्मत्त हो गया था। मद और बलसे गर्वित हो स्वेच्छाचारी दुष्टात्मा नहुषने उन महर्षियोंको अपना वाहन बनाया ।। २१-२२ ।।

नहुषेण विसृष्टा च बृहस्पतिमथाब्रवीत् ।

समयोऽल्पावशेषो मे नहुषेणेह यः कृतः ।। २३ ।।

उधर नहुषसे विदा लेकर इन्द्राणी बृहस्पतिके यहाँ गयीं और इस प्रकार बोलीं—'देवगुरो! नहुषने मेरे लिये जो समय निश्चित किया है, उसमें थोड़ा ही शेष रह गया है ।। २३ ।।

शक्रं मृगय शीघ्रं त्वं भक्तायाः कुरु मे दयाम् ।

बाढमित्येव भगवान् बृहस्पतिरुवाच ताम् ।। २४ ।।

'आप शीघ्र इन्द्रका पता लगाइये। मैं आपकी भक्त हूँ। मुझपर दया कीजिये।' तब भगवान् बृहस्पतिने 'बहुत अच्छा' कहकर उनसे इस प्रकार कहा— ।। २४ ।।

न भेतव्यं त्वया देवि नहुषाद् दुष्टचेतसः ।

न ह्येष स्थास्यति चिरं गत एष नराधमः ।। २५ ।।

'देवि! तुम दुष्टात्मा नहुषसे डरो मत। यह नराधम अब अधिक समयतक यहाँ ठहर नहीं सकेगा। इसे गया हुआ ही समझो ।। २५ ।।

अधर्मज्ञो महर्षीणां वाहनाच्च ततः शुभे ।

इष्टिं चाहं करिष्यामि विनाशायास्य दुर्मतेः ।। २६ ।।

शक्रं चाधिगमिष्यामि मा भैस्त्वं भद्रमस्तु ते ।

'शुभे! यह पापी धर्मको नहीं जानता। अतः महर्षियोंको अपना वाहन बनानेके कारण शीघ्र नीचे गिरेगा। इसके सिवा मैं भी इस दुर्बुद्धि नहुषके विनाशके लिये एक यज्ञ करूँगा। साथ ही इन्द्रका भी पता लगाऊँगा। तुम डरो मत। तुम्हारा कल्याण होगा' ।। २६½ ।।

ततः प्रज्वाल्य विधिवज्जुहाव परमं हविः ।। २७ ।।

बृहस्पतिर्महातेजा देवराजोपलब्धये ।

हुत्वाग्निं सोऽब्रवीद् राजञ्छक्रमन्विष्यतामिति ।। २८ ।।

तदनन्तर महातेजस्वी बृहस्पतिने देवराजकी प्राप्तिके लिये विधिपूर्वक अग्निको प्रज्वलित करके उसमें उत्तम हविष्यकी आहुति दी। राजन्! अग्निमें आहुति देकर उन्होंने अग्निदेवसे कहा—'आप इन्द्रदेवका पता लगाइये' ।। २७-२८ ।।

तस्माच्च भगवान् देवः स्वयमेव हुताशनः ।
स्त्रीवेषमद्भुतं कृत्वा तत्रैवान्तरधीयत ।। २९ ।।

उस हवनकुण्डसे साक्षात् भगवान् अग्निदेव प्रकट होकर अद्भुत स्त्रीवेष धारण करके वहीं अन्तर्धान हो गये ।। २९ ।।

स दिशः प्रदिशश्चैव पर्वतानि वनानि च ।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च विचिन्त्याथ मनोगतिः ।
निमेषान्तरमात्रेण बृहस्पतिमुपागमत् ।। ३० ।।

मनके समान तीव्र गतिवाले अग्निदेव सम्पूर्ण दिशाओं, विदिशाओं, पर्वतों और वनोंमें तथा भूतल और आकाशमें भी इन्द्रकी खोज करके पलभरमें बृहस्पतिके पास लौट आये ।। ३० ।।

अग्निरुवाच

बृहस्पते न पश्यामि देवराजमिह क्वचित् ।
आपः शेषताः सदा चापः प्रवेष्टुं नोत्सहाम्यहम् ।। ३१ ।।

अग्निदेव बोले—बृहस्पते! मैं देवराजको तो इस संसारमें कहीं नहीं देख रहा हूँ, केवल जल शेष रह गया है, जहाँ उनकी खोज नहीं की है। परंतु मैं कभी भी जलमें प्रवेश करनेका साहस नहीं कर सकता ।। ३१ ।।

न मे तत्र गतिर्ब्रह्मन् किमन्यत् करवाणि ते ।

तमब्रवीद् देवगुरुरपो विश महाद्युते ।। ३२ ।।

ब्रह्मन्! जलमें मेरी गति नहीं है। इसके सिवा तुम्हारा दूसरा कौन कार्य मैं करूँ? तब देवगुरुने कहा—'महाद्युते! आप जलमें भी प्रवेश कीजिये' ।। ३२ ।।

अग्निरुवाच

नापः प्रवेष्टुं शक्ष्यामि क्षयो मेऽत्र भविष्यति ।

शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि स्वस्ति तेऽस्तु महाद्युते ।। ३३ ।।

अग्निदेव बोले—मैं जलमें नहीं प्रवेश कर सकूँगा; क्योंकि उसमें मेरा विनाश हो जायगा। महातेजस्वी बृहस्पते! मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ। तुम्हारा कल्याण हो (मुझे जलमें जानेके लिये न कहो)। ।। ३३ ।।

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।

तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ।। ३४ ।।

जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय तथा पत्थरसे लोहेकी उत्पत्ति हुई है। इनका तेज सर्वत्र काम करता है। परंतु अपने कारणभूत पदार्थोंमें आकर बुझ जाता है ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बृहस्पत्यग्निसंवादे पञ्चदशोऽध्यायः ।। १५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें बृहस्पति-अग्निसंवादविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५ ।।

षोडशोऽध्यायः

बृहस्पतिद्वारा अग्नि और इन्द्रका स्तवन तथा बृहस्पति एवं लोकपालोंकी इन्द्रसे बातचीत

बृहस्पतिरुवाच

त्वमग्ने सर्वदेवानां मुखं त्वमसि हव्यवाट् ।
त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि साक्षिवत् ।। १ ।।

बृहस्पति बोले—अग्निदेव! आप सम्पूर्ण देवताओंके मुख हैं। आप ही देवताओंको हविष्य पहुँचानेवाले हैं। आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें साक्षीकी भाँति गूढ़भावसे विचरते हैं ।। १ ।।

त्वामाहुरेकं कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ।
त्वया त्यक्तं जगच्चेदं सद्यो नश्येद्धुताशन ।। २ ।।

विद्वान् पुरुष आपको एक बताते हैं। फिर वे ही आपको तीन प्रकारका कहते हैं। हुताशन! आपके त्याग देनेपर यह सम्पूर्ण जगत् तत्काल नष्ट हो जायगा ।। २ ।।

कृत्वा तुभ्यं नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम् ।
गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम् ।। ३ ।।

ब्राह्मणलोग आपकी पूजा और वन्दना करके अपनी पत्नियों तथा पुत्रोंके साथ अपने कर्मोंद्वारा प्राप्त चिरस्थायी स्वर्गीय सुख लाभ करते हैं ।। ३ ।।

त्वमेवाग्ने हव्यवाहस्त्वमेव परमं हविः ।
यजन्ति सत्रैस्त्वामेव यज्ञैश्च परमाध्वरे ।। ४ ।।

अग्ने! आप ही हविष्यको वहन करनेवाले देवता हैं। आप ही उत्कृष्ट हवि हैं। याज्ञिक विद्वान् पुरुष बड़े-बड़े यज्ञोंमें अवान्तर सत्रों और यज्ञोंद्वारा आपकी ही आराधना करते हैं ।। ४ ।।

सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान् हव्यवाह
प्राप्ते काले पचसि पुनः समिद्धः ।
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूति-
स्त्वमेवाग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा ।। ५ ।।

हव्यवाहन! आप ही सृष्टिके समय इन तीनों लोकोंको उत्पन्न करके प्रलयकाल आनेपर पुनः प्रज्वलित हो इन सबका संहार करते हैं। अग्ने! आप ही सम्पूर्ण विश्वके उत्पत्तिस्थान हैं और आप ही पुनः इसके प्रलयकालमें आधार होते हैं ।। ५ ।।

त्वामग्ने जलदानाहुर्विद्युतश्च मनीषिणः ।

दहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः ॥ ६ ॥

अग्निदेव! मनीषी पुरुष आपको ही मेघ और विद्युत् कहते हैं। आपसे ही ज्वालाएँ निकलकर सम्पूर्ण भूतोंको दग्ध करती हैं ॥ ६ ॥

त्वय्यापो निहिताः सर्वास्त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित् त्रिषु लोकेषु पावक ॥ ७ ॥

पावक! आपमें ही सारा जल संचित है। आपमें ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है। तीनों लोकोंमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो ॥ ७ ॥

स्वयोनिं भजते सर्वो विशस्वापोऽविशङ्कितः ।
अहं त्वां वर्धयिष्यामि ब्राह्मैर्मन्त्रैः सनातनैः ॥ ८ ॥

समस्त पदार्थ अपने-अपने कारणमें प्रवेश करते हैं। अतः आप भी निःशंक होकर जलमें प्रवेश कीजिये। मैं सनातन वेदमन्त्रोंद्वारा आपको बढ़ाऊँगा ॥ ८ ॥

एवं स्तुतो हव्यवाट् स भगवान् कविरुत्तमः ।
बृहस्पतिमथोवाच प्रीतिमान् वाक्यमुत्तमम् ।
दर्शयिष्यामि ते शक्रं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ९ ॥

इस प्रकार स्तुति की जानेपर हविष्य वहन करनेवाले श्रेष्ठ एवं सर्वज्ञ भगवान् अग्निदेव प्रसन्न होकर बृहस्पतिसे यह उत्तम वचन बोले—'ब्रह्मन्! मैं आपको इन्द्रका दर्शन कराऊँगा, यह मैं आपसे सत्य कह रहा हूँ' ॥ ९ ॥

शल्य उवाच

प्रविश्यापस्ततो वह्निः ससमुद्राः सपल्वलाः ।
आससाद सरस्तच्च गूढो यत्र शतक्रतुः ॥ १० ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर अग्निदेव छोटे गड्ढेसे लेकर बड़े-से-बड़े समुद्रतकके जलमें प्रवेश करके पता लगाते हुए क्रमशः उस सरोवरमें जा पहुँचे, जहाँ इन्द्र छिपे हुए थे ॥ १० ॥

अथ तत्रापि पद्मानि विचिन्वन् भरतर्षभ ।
अपश्यत् स तु देवेन्द्रं बिसमध्यगतं स्थितम् ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ! उसमें भी कमलोंके भीतर खोज करते हुए अग्निदेवने एक कमलके नालमें बैठे हुए देवेन्द्रको देखा ॥ ११ ॥

आगत्य च ततस्तूर्णं तमाचष्ट बृहस्पतेः ।
अणुमात्रेण वपुषा पद्मतन्त्वाश्रितं प्रभुम् ॥ १२ ॥

वहाँसे तुरंत लौटकर अग्निदेवने बृहस्पतिको बताया कि भगवान् इन्द्र सूक्ष्म शरीर धारण करके एक कमलनालका आश्रय लेकर रहते हैं ॥ १२ ॥

गत्वा देवर्षिगन्धर्वैः सहितोऽथ बृहस्पतिः ।

पुराणैः कर्मभिर्देवं तुष्टाव बलसूदनम् ।। १३ ।।

तब बृहस्पतिजीने देवर्षियों और गन्धर्वोंके साथ वहाँ जाकर बलसूदन इन्द्रके पुरातन कर्मोंका वर्णन करते हुए उनकी स्तुति की— ।। १३ ।।

महासुरो हतः शक्र नमुचिर्दारुणस्त्वया ।
शम्बरश्च बलश्चैव तथोभौ घोरविक्रमौ ।। १४ ।।

'इन्द्र! आपने अत्यन्त भयंकर नमुचि नामक महान् असुरको मार गिराया है। शम्बर और बल दोनों भयंकर पराक्रमी दानव थे; परंतु उन्हें भी आपने मार डाला ।। १४ ।।

शतक्रतो विवर्धस्व सर्वाञ्छत्रून् निषूदय ।
उत्तिष्ठ शक्र सम्पश्य देवर्षींश्च समागतान् ।। १५ ।।

'शतक्रतो! आप अपने तेजस्वी स्वरूपसे बढ़िये और समस्त शत्रुओंका संहार कीजिये। इन्द्रदेव! उठिये और यहाँ पधारे हुए देवर्षियोंका दर्शन कीजिये ।। १५ ।।

महेन्द्र दानवान् हत्वा लोकास्त्रातास्त्वया विभो ।
अपां फेनं समासाद्य विष्णुतेजोऽतिबृंहितम् ।
त्वया वृत्रो हतः पूर्वं देवराज जगत्पते ।। १६ ।।

'प्रभो महेन्द्र! आपने कितने ही दानवोंका वध करके समस्त लोकोंकी रक्षा की है। जगदीश्वर देवराज! भगवान् विष्णुके तेजसे अत्यन्त शक्तिशाली बने हुए समुद्रफेनको लेकर आपने पूर्वकालमें वृत्रासुरका वध किया ।। १६ ।।

त्वं सर्वभूतेषु शरण्य ईड्य-
स्त्वया समं विद्यते नेह भूतम् ।
त्वया धार्यन्ते सर्वभूतानि शक्र
त्वं देवानां महिमानं चकर्थ ।। १७ ।।

'आप सम्पूर्ण भूतोंमें स्तवन करने योग्य और सबके शरणदाता हैं। आपकी समानता करनेवाला जगत्में दूसरा कोई प्राणी नहीं है। शक्र! आप ही सम्पूर्ण भूतोंको धारण करते हैं और आपने ही देवताओंकी महिमा बढ़ायी है ।। १७ ।।

पाहि सर्वांश्च लोकांश्च महेन्द्र बलमाप्नुहि ।
एवं संस्तूयमानश्च सोऽवर्धत शनैः शनैः ।। १८ ।।

'महेन्द्र! आप शक्ति प्राप्त कीजिये और सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा कीजिये।' इस प्रकार स्तुति की जानेपर देवराज इन्द्र धीरे-धीरे बढ़ने लगे ।। १८ ।।

स्वं चैव वपुरास्थाय बभूव स बलान्वितः ।
अब्रवीच्च गुरुं देवो बृहस्पतिमवस्थितम् ।। १९ ।।

अपने पूर्व शरीरको प्राप्त करके वे बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो गये। तत्पश्चात् इन्द्रने वहाँ खड़े हुए अपने गुरु बृहस्पतिसे कहा— ।। १९ ।।

किं कार्यमवशिष्टं वो हतस्त्वाष्ट्रो महासुरः ।

वृत्रश्च सुमहाकायो यो वै लोकाननाशयत् ।। २० ।।

'ब्रह्मन्! त्वष्टाका पुत्र विशालकाय महासुर वृत्र, जो सम्पूर्ण लोकोंका विनाश कर रहा था, मेरे द्वारा मारा गया; अब आपलोगोंका कौन-सा बचा हुआ कार्य करूँ?' ।। २० ।।

बृहस्पतिरुवाच

मानुषो नहुषो राजा देवर्षिगणतेजसा ।
देवराज्यमनुप्राप्तः सर्वान् नो बाधते भृशम् ।। २१ ।।

बृहस्पति बोले—देवेन्द्र! मनुष्य-लोकका राजा नहुष देवर्षियोंके प्रभावसे देवताओंका राज्य पा गया है, जो हम सब लोगोंको बड़ा कष्ट दे रहा है ।। २१ ।।

इन्द्र उवाच

कथं च नहुषो राज्यं देवानां प्राप दुर्लभम् ।
तपसा केन वा युक्तः किंवीर्यो वा बृहस्पते ।। २२ ।।
(तत् सर्वं कथयध्वं मे यथेन्द्रत्वमुपेयिवान् ।)

इन्द्र बोले—बृहस्पते! नहुषने देवताओंका दुर्लभ राज्य कैसे प्राप्त किया? वह किस तपस्यासे संयुक्त है? अथवा उसमें कितना बल और पराक्रम है? उसे किस प्रकार इन्द्रपदकी प्राप्ति हुई है? ये सारी बातें आप सब लोग मुझे बताइये ।। २२ ।।

बृहस्पतिरुवाच

देवा भीताः शक्रमकामयन्त
त्वया त्यक्तं महदैन्द्रं पदं तत् ।
तदा देवाः पितरोऽथर्षयश्च
गन्धर्वमुख्याश्च समेत्य सर्वे ।। २३ ।।
गत्वाब्रुवन् नहुषं तत्र शक्र
त्वं नो राजा भव भुवनस्य गोप्ता ।
तानब्रवीन्नहुषो नास्मि शक्त
आप्यायध्वं तपसा तेजसा माम् ।। २४ ।।

बृहस्पति बोले—शक्र! आपने जब उस महान् इन्द्र-पदका परित्याग कर दिया, तब देवतालोग भयभीत होकर दूसरे किसी इन्द्रकी कामना करने लगे। तब देवता, पितर, ऋषि तथा मुख्य गन्धर्व—सब मिलकर राजा नहुषके पास गये। शक्र! वहाँ उन्होंने नहुषसे इस प्रकार कहा—'आप हमारे राजा होइये और सम्पूर्ण विश्वकी रक्षा कीजिये।' यह सुनकर नहुषने उनसे कहा—'मुझमें इन्द्र बननेकी शक्ति नहीं है, अतः आपलोग अपने तप और तेजसे मुझे आप्यायित (पुष्ट) कीजिये' ।। २३-२४ ।।

एवमुक्तैर्वर्धितश्चापि देवै

राजाभवन्नहुषो घोरवीर्यः ।
त्रैलोक्ये च प्राप्य राज्यं महर्षीन्
कृत्वा वाहान् याति लोकान् दुरात्मा ।। २५ ।।

उसके ऐसा कहनेपर देवताओंने उसे तप और तेजसे बढ़ाया। फिर भयंकर पराक्रमी राजा नहुष स्वर्गका राजा बन गया। इस प्रकार त्रिलोकीका राज्य पाकर वह दुरात्मा नहुष महर्षियोंको अपना वाहन बनाकर सब लोकोंमें घूमता है ।। २५ ।।

तेजोहरं दृष्टिविषं सुघोरं
मा त्वं पश्येर्नहुषं वै कदाचित् ।
देवाश्च सर्वे नहुषं भृशार्ता
न पश्यन्ते गूढरूपाश्चरन्तः ।। २६ ।।

वह देखनेमात्रसे सबका तेज हर लेता है। उसकी दृष्टिमें भयंकर विष है। वह अत्यन्त घोर स्वभावका हो गया है। तुम नहुषकी ओर कभी देखना नहीं। सब देवता भी अत्यन्त पीड़ित हो गूढरूपसे विचरते रहते हैं; परंतु नहुषकी ओर कभी देखते नहीं हैं ।। २६ ।।

शल्य उवाच

एवं वदत्यङ्गिरसां वरिष्ठे
बृहस्पतौ लोकपालः कुबेरः ।
वैवस्वतश्चैव यमः पुराणो
देवश्च सोमो वरुणश्चाजगाम ।। २७ ।।

शल्य कहते हैं—राजन्! अंगिराके पुत्रोंमें श्रेष्ठ बृहस्पति जब ऐसा कह रहे थे, उसी समय लोकपाल कुबेर, सूर्यपुत्र यम, पुरातन देवता चन्द्रमा तथा वरुण भी वहाँ आ पहुँचे ।। २७ ।।

ते वै समागम्य महेन्द्रमूचु-
र्दिष्ट्या त्वाष्ट्रो निहतश्चैव वृत्रः ।
दिष्ट्या च त्वां कुशलिनमक्षतं च
पश्यामो वै निहतारिं च शक्र ।। २८ ।।

वे सब देवराज इन्द्रसे मिलकर बोले—‘शक्र! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपने त्वष्टाके पुत्र वृत्रासुरका वध किया। हमलोग आपको शत्रुका वध करनेके पश्चात् सकुशल और अक्षत देखते हैं, यह भी बड़े आनन्दकी बात है’ ।। २८ ।।

स तान् यथावच्च हि लोकपालान्
समेत्य वै प्रीतमना महेन्द्रः ।
उवाच चैनान् प्रतिभाष्य शक्रः
संचोदयिष्यन्नहुषस्यान्तरेण ।। २९ ।।

उन लोकपालोंसे यथायोग्य मिलकर महेन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उन सबको सम्बोधित करके राजा नहुषके भीतर बुद्धिभेद उत्पन्न करनेके लिये प्रेरणा देते हुए कहा — ।। २९ ।।

राजा देवानां नहुषो घोररूप-
स्तत्र साह्यं दीयतां मे भवद्भिः ।
ते चाब्रुवन् नहुषो घोररूपो
दृष्टीविषस्तस्य बिभीम ईश ।। ३० ।।

'इन देवताओंका राजा नहुष बड़ा भयंकर हो रहा है। उसे स्वर्गसे हटानेके कार्यमें आपलोग मेरी सहायता करें।' यह सुनकर उन्होंने उत्तर दिया—'देवेश्वर! नहुष तो बड़ा भयंकर रूपवाला है। उसकी दृष्टिमें विष है। अतः हमलोग उससे डरते हैं ।। ३० ।।

त्वं चेद् राजानं नहुषं पराजये-
स्ततो वयं भागमर्हाम शक्र ।
इन्द्रोऽब्रवीद् भवतु भवानपां पति-
र्यमः कुबेरश्च मयाभिषेकम् ।। ३१ ।।
सम्प्राप्नुवन्त्वद्य सहैव दैवतै
रिपुं जयाम तं नहुषं घोरदृष्टिम् ।
ततः शक्रं ज्वलनोऽप्याह भागं
प्रयच्छ मह्यं तव साह्यं करिष्ये ।
तमाह शक्रो भविताग्ने तवापि
चेन्द्राग्न्योर्वै भाग एको महाक्रतौ ।। ३२ ।।

'शक्र! यदि आप हमारी सहायतासे राजा नहुषको पराजित करनेके लिये उद्यत हैं तो हम भी यज्ञमें भाग पानेके अधिकारी हों।' इन्द्रने कहा—'वरुणदेव! आप जलके स्वामी हों, यमराज और कुबेर भी मेरे द्वारा अपने-अपने पदपर अभिषिक्त हों। देवताओंसहित हम सब लोग भयंकर दृष्टिवाले अपने शत्रु नहुषको परास्त करेंगे।' तब अग्निने भी इन्द्रसे कहा —'प्रभो! मुझे भी भाग दीजिये, मैं आपकी सहायता करूँगा।' तब इन्द्रने उनसे कहा —'अग्निदेव! महायज्ञमें इन्द्र और अग्निका एक सम्मिलित भाग होगा, जिसपर तुम्हारा भी अधिकार रहेगा' ।। ३२ ।।

शल्य उवाच

एवं संचिन्त्य भगवान् महेन्द्रः पाकशासनः ।
कुबेरं सर्वयक्षाणां धनानां च प्रभुं तथा ।। ३३ ।।

शल्य कहते हैं—राजन्! इस प्रकार सोच-विचारकर पाकशासन भगवान् महेन्द्रने कुबेरको सम्पूर्ण यक्षों तथा धनका अधिपति बना दिया ।। ३३ ।।

वैवस्वतं पितॄणां च वरुणं चाप्यपां तथा ।
आधिपत्यं ददौ शक्रः संचिन्त्य वरदस्तथा ।। ३४ ।।

इसी प्रकार वरदायक इन्द्रने खूब सोच-समझकर वैवस्वत यमको पितरोंका तथा वरुणको जलका स्वामित्व प्रदान किया ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रवरुणादिसंवादे षोडशोऽध्यायः ।। १६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्रवरुणादिसंवादविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ३४$\frac{१}{२}$ श्लोक हैं।]

सप्तदशोऽध्यायः

अगस्त्यजीका इन्द्रसे नहुषके पतनका वृत्तान्त बताना

शल्य उवाच

अथ संचिन्तयानस्य देवराजस्य धीमतः ।
नहुषस्य वधोपायं लोकपालैः सदैवतैः ।। १ ।।
तपस्वी तत्र भगवानगस्त्यः प्रत्यदृश्यत ।
सोऽब्रवीदर्च्य देवेन्द्रं दिष्ट्या वै वर्धते भवान् ।। २ ।।
विश्वरूपविनाशेन वृत्रासुरवधेन च ।
दिष्ट्याद्य नहुषो भ्रष्टो देवराज्यात् पुरंदर ।
दिष्ट्या हतारिं पश्यामि भवन्तं बलसूदन ।। ३ ।।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! जिस समय बुद्धिमान् देवराज इन्द्र देवताओं तथा लोकपालोंके साथ बैठकर नहुषके वधका उपाय सोच रहे थे, उसी समय वहाँ तपस्वी भगवान् अगस्त्य दिखायी दिये। उन्होंने देवेन्द्रकी पूजा करके कहा—'सौभाग्यकी बात है कि आप विश्वरूपके विनाश तथा वृत्रासुरके वधसे निरन्तर अभ्युदयशील हो रहे हैं। बलसूदन पुरंदर! यह भी सौभाग्यकी ही बात है कि आज नहुष देवताओंके राज्यसे भ्रष्ट हो गये। बलसूदन! सौभाग्यसे ही मैं आपको शत्रुहीन देख रहा हूँ' ।। १—३ ।।

इन्द्र उवाच

स्वागतं ते महर्षेऽस्तु प्रीतोऽहं दर्शनात् तव ।
पाद्यमाचमनीयं च गामर्घ्यं च प्रतीच्छ मे ।। ४ ।।

इन्द्र बोले—महर्षे! आपका स्वागत है, आपके दर्शनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता मिली है, आपकी सेवामें यह पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा गौ समर्पित है। आप मेरी दी हुई ये सब वस्तुएँ ग्रहण कीजिये ।। ४ ।।

शल्य उवाच

पूजितं चोपविष्टं तमासने मुनिसत्तमम् ।
पर्यपृच्छत देवेशः प्रहृष्टो ब्राह्मणर्षभम् ।। ५ ।।
एतदिच्छामि भगवन् कथ्यमानं द्विजोत्तम ।
परिभ्रष्टः कथं स्वर्गान्नहुषः पापनिश्चयः ।। ६ ।।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य जब पूजा ग्रहण करके आसनपर विराजमान हुए, उस समय देवेश्वर इन्द्रने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन विप्रशिरोमणिसे पूछा

—‘भगवन्! द्विजश्रेष्ठ! मैं आपके शब्दोंमें यह सुनना चाहता हूँ कि पापपूर्ण विचार रखनेवाला नहुष स्वर्गसे किस प्रकार भ्रष्ट हुआ है?’ ।।

नहुषका स्वर्गसे पतन

अगस्त्य उवाच

शृणु शक्र प्रियं वाक्यं यथा राजा दुरात्मवान् ।
स्वर्गाद् भ्रष्टो दुराचारो नहुषो बलदर्पितः ।। ७ ।।

अगस्त्यजीने कहा—इन्द्र! बलके घमंडमें भरा हुआ दुराचारी और दुरात्मा राजा नहुष जिस प्रकार स्वर्गसे भ्रष्ट हुआ है, वह प्रिय समाचार सुनो ।। ७ ।।

श्रमार्ताश्च वहन्तस्तं नहुषं पापकारिणम् ।
देवर्षयो महाभागास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।। ८ ।।

महाभाग देवर्षि तथा निर्मल अन्तःकरणवाले ब्रह्मर्षि पापाचारी नहुषका बोझ ढोते-ढोते परिश्रमसे पीड़ित हो गये थे ।। ८ ।।

पप्रच्छुर्नहुषं देव संशयं जयतां वर ।
य इमे ब्रह्मणा प्रोक्ता मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम् ।। ९ ।।
एते प्रमाणं भवत उताहो नेति वासव ।
नहुषो नेति तानाह तमसा मूढचेतनः ।। १० ।।

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ इन्द्र! उस समय उन महर्षियोंने नहुषसे एक संदेह पूछा—'देवेन्द्र! गौओंके प्रोक्षणके विषयमें जो ये मन्त्र वेदमें बताये गये हैं, इन्हें आप प्रामाणिक मानते हैं या नहीं।' नहुषकी बुद्धि तमोमय अज्ञानके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही थी। उसने महर्षियोंको उत्तर देते हुए कहा—'मैं इन वेदमन्त्रोंको प्रमाण नहीं मानता' ।। ९-१० ।।

ऋषय ऊचुः

अधर्मे सम्प्रवृत्तस्त्वं धर्मं न प्रतिपद्यसे ।
प्रमाणमेतदस्माकं पूर्वं प्रोक्तं महर्षिभिः ।। ११ ।।

ऋषिगण बोले—तुम अधर्ममें प्रवृत्त हो रहे हो, इसलिये धर्मका तत्त्व नहीं समझते हो। पूर्वकालमें महर्षियोंने इन सब मन्त्रोंको हमारे लिये प्रमाणभूत बताया है ।। ११ ।।

अगस्त्य उवाच

ततो विवदमानः स मुनिभिः सह वासव ।
अथ मामस्पृशन्मूर्ध्नि पादेनाधर्मपीडितः ।। १२ ।।

अगस्त्यजी कहते हैं—इन्द्र! तब नहुष मुनियोंके साथ विवाद करने लगा और अधर्मसे पीड़ित होकर उस पापीने मेरे मस्तकपर पैरसे प्रहार किया ।। १२ ।।

तेनाभूद्धततेजाश्च निःश्रीकश्च महीपतिः ।
ततस्तं तमसाऽऽविग्नमवोचं भृशपीडितम् ।। १३ ।।

इससे उसका सारा तेज नष्ट हो गया। वह राजा श्रीहीन हो गया। तब तमोगुणमें डूबकर अत्यन्त पीड़ित हुए नहुषसे मैंने इस प्रकार कहा— ।। १३ ।।

यस्मात् पूर्वैः कृतं राजन् ब्रह्मर्षिभिरनुष्ठितम् ।
अदुष्टं दूषयसि मे यच्च मूर्ध्न्यस्पृशः पदा ।। १४ ।।

यच्चापि त्वमृषीन् मूढ ब्रह्मकल्पान् दुरासदान् ।। १५ ।।
वाहान् कृत्वा वाहयसि तेन स्वर्गाद्धतप्रभः ।
ध्वंस पाप परिभ्रष्टः क्षीणपुण्यो महीतले ।। १६ ।।

'राजन्! पूर्वकालके ब्रह्मर्षियोंने जिसका अनुष्ठान किया है—जिसे प्रमाणभूत माना है, उस निर्दोष वेदमतको जो तुम सदोष बताते हो—उसे अप्रामाणिक मानते हो, इसके सिवा तुमने जो मेरे सिरपर लात मारी है तथा पापात्मा मूढ़! जो तुम ब्रह्माजीके समान दुर्धर्ष तेजस्वी ऋषियोंको वाहन बनाकर उनसे अपनी पालकी ढुलवा रहे हो, इससे तेजोहीन हो गये हो। तुम्हारा पुण्य क्षीण हो गया है। अतः स्वर्गसे भ्रष्ट होकर तुम पृथ्वीपर गिरो ।। १४—१६ ।।

दशवर्षसहस्राणि सर्परूपधरो महान् ।
विचरिष्यसि पूर्णेषु पुनः स्वर्गमवाप्स्यसि ।। १७ ।।

'वहाँ दस हजार वर्षोंतक तुम महान् सर्पका रूप धारण करके विचरोगे और उतने वर्ष पूर्ण हो जानेपर पुनः स्वर्गलोक प्राप्त कर लोगे' ।। १७ ।।

एवं भ्रष्टो दुरात्मा स देवराज्याद‍रिंदम ।
दिष्ट्या वर्धामहे शक्र हतो ब्राह्मणकण्टकः ।। १८ ।।

शत्रुदमन शक्र! इस प्रकार दुरात्मा नहुष देवताओंके राज्यसे भ्रष्ट हो गया। ब्राह्मणोंका कण्टक मारा गया। सौभाग्यकी बात है कि अब हमलोगोंकी वृद्धि हो रही है ।।

त्रिविष्टपं प्रपद्यस्व पाहि लोकाञ्छचीपते ।
जितेन्द्रियो जितामित्रः स्तूयमानो महर्षिभिः ।। १९ ।।

शचीपते! अब आप अपनी इन्द्रियों और शत्रुओंपर विजय पा गये हैं। महर्षिगण आपकी स्तुति करते हैं, अतः आप स्वर्गलोकमें चलें और तीनों लोकोंकी रक्षा करें ।। १९ ।।

शल्य उवाच

ततो देवा भृशं तुष्टा महर्षिगणसंवृताः ।
पितरश्चैव यक्षाश्च भुजगा राक्षसास्तथा ।। २० ।।
गन्धर्वा देवकन्याश्च सर्वे चाप्सरसां गणाः ।
सरांसि सरितः शैलाः सागराश्च विशाम्पते ।। २१ ।।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर महर्षियोंसे घिरे हुए देवता, पितर, यक्ष, नाग, राक्षस, गन्धर्व, देवकन्याएँ तथा समस्त अप्सराएँ बहुत प्रसन्न हुईं। सरिताएँ, सरोवर, शैल और समुद्र भी बहुत संतुष्ट हुए ।। २०-२१ ।।

उपागम्याब्रुवन् सर्वे दिष्ट्या वर्धसि शत्रुहन् ।
हतश्च नहुषः पापो दिष्ट्यागस्त्येन धीमता ।
दिष्ट्या पापसमाचारः कृतः सर्पो महीतले ।। २२ ।।

वे सब लोग इन्द्रके पास आकर बोले—‘शत्रुहन्! आपका अभ्युदय हो रहा है, यह सौभाग्यकी बात है। बुद्धिमान् अगस्त्यजीने पापी नहुषको मार डाला और उस पापाचारीको पृथ्वीपर सर्प बना दिया, यह भी हमारे लिये बड़े हर्ष तथा सौभाग्यकी बात है’ ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रागस्त्यसंवादे नहुषभ्रंशे सप्तदशोऽध्यायः ।। १७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्र और अगस्त्यके संवादके प्रसंगमें नहुषके पतनसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७ ।।

अष्टादशोऽध्यायः

इन्द्रका स्वर्गमें जाकर अपने राज्यका पालन करना, शल्यका युधिष्ठिरको आश्वासन देना और उनसे विदा लेकर दुर्योधनके यहाँ जाना

शल्य उवाच

ततः शक्रः स्तूयमानो गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
ऐरावतं समारुह्य द्विपेन्द्रं लक्षणैर्युतम् ।। १ ।।
पावकः सुमहातेजा महर्षिश्च बृहस्पतिः ।
यमश्च वरुणश्चैव कुबेरश्च धनेश्वरः ।। २ ।।
सर्वैर्देवैः परिवृतः शक्रो वृत्रनिषूदनः ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च यातस्त्रिभुवनं प्रभुः ।। ३ ।।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! तत्पश्चात् वृत्रासुरको मारनेवाले भगवान् इन्द्र गन्धर्वों और अप्सराओंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए उत्तम लक्षणोंसे युक्त गजराज ऐरावतपर आरूढ़ हो महान् तेजस्वी अग्निदेव, महर्षि बृहस्पति, यम, वरुण, धनाध्यक्ष कुबेर, सम्पूर्ण देवता, गन्धर्वगण तथा अप्सराओंसे घिरकर स्वर्ग-लोकको चले ।। १—३ ।।

स समेत्य महेन्द्राण्या देवराजः शतक्रतुः ।
मुदा परमया युक्तः पालयामास देवराट् ।। ४ ।।

सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्र अपनी महारानी शचीसे मिलकर अत्यन्त आनन्दित हो स्वर्गका पालन करने लगे ।। ४ ।।

ततः स भगवांस्तत्र अङ्गिराः समदृश्यत ।
अथर्ववेदमन्त्रैश्च देवेन्द्रं समपूजयत् ।। ५ ।।

तदनन्तर वहाँ भगवान् अंगिराने दर्शन दिया और अथर्ववेदके मन्त्रोंसे देवेन्द्रका पूजन किया ।। ५ ।।

ततस्तु भगवानिन्द्रः संहृष्टः समपद्यत ।
वरं च प्रददौ तस्मै अथर्वाङ्गिरसे तदा ।। ६ ।।

इससे भगवान् इन्द्र उनपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उस समय अथर्वांगिरसको यह वर दिया— ।। ६ ।।

अथर्वाङ्गिरसो नाम वेदेऽस्मिन् वै भविष्यति ।
उदाहरणमेतद्धि यज्ञभागं च लप्स्यसे ।। ७ ।।

‘ब्रह्मन्! आप इस अथर्ववेदमें अथर्वांगिरस नामसे विख्यात होंगे और आपको यज्ञभाग भी प्राप्त होगा। इस विषयमें मेरा यह वचन ही उदाहरण (प्रमाण) होगा’ ।। ७ ।।

एवं सम्पूज्य भगवानथर्वाङ्गिरसं तदा ।
व्यसर्जयन्महाराज देवराजः शतक्रतुः ।। ८ ।।

महाराज युधिष्ठिर! इस प्रकार देवराज भगवान् इन्द्रने उस समय अथर्वांगिरसकी पूजा करके उन्हें विदा कर दिया ।। ८ ।।

सम्पूज्य सर्वांस्त्रिदशानृषींश्चापि तपोधनान् ।
इन्द्रः प्रमुदितो राजन् धर्मेणापालयत् प्रजाः ।। ९ ।।

राजन्! इसके बाद सम्पूर्ण देवताओं तथा तपोधन महर्षियोंकी पूजा करके देवराज इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हो धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करने लगे ।। ९ ।।

एवं दुःखमनुप्राप्तमिन्द्रेण सह भार्यया ।
अज्ञातवासश्च कृतः शत्रूणां वधकाङ्क्षया ।। १० ।।

युधिष्ठिर! इस प्रकार पत्नीसहित इन्द्रने बारंबार दुःख उठाया और शत्रुओंके वधकी इच्छासे अज्ञातवास भी किया ।। १० ।।

नात्र मन्युस्त्वया कार्यो यत् क्लिष्टोऽसि महावने ।
द्रौपद्या सह राजेन्द्र भ्रातृभिश्च महात्मभिः ।। ११ ।।

राजेन्द्र! तुमने अपने महामना भाइयों तथा द्रौपदीके साथ महान् वनमें रहकर जो क्लेश सहन किया है, उसके लिये तुम्हें अनुताप नहीं करना चाहिये ।। ११ ।।

एवं त्वमपि राजेन्द्र राज्यं प्राप्स्यसि भारत ।
वृत्रं हत्वा यथा प्राप्तः शक्रः कौरवनन्दन ।। १२ ।।

भरतवंशी कुरुकुलनन्दन महाराज! जैसे इन्द्रने वृत्रासुरको मारकर अपना राज्य प्राप्त किया था, इसी प्रकार तुम भी अपना राज्य प्राप्त करोगे ।। १२ ।।

दुराचारश्च नहुषो ब्रह्मद्विट् पापचेतनः ।
अगस्त्यशापाभिहतो विनष्टः शाश्वतीः समाः ।। १३ ।।
एवं तव दुरात्मानः शत्रवः शत्रुसूदन ।
क्षिप्रं नाशं गमिष्यन्ति कर्णदुर्योधनादयः ।। १४ ।।

शत्रुसूदन! दुराचारी, ब्राह्मणद्रोही और पापात्मा नहुष जिस प्रकार अगस्त्यके शापसे ग्रस्त होकर अनन्त वर्षोंके लिये नष्ट हो गया, इसी प्रकार तुम्हारे दुरात्मा शत्रु कर्ण और दुर्योधन आदि शीघ्र ही विनाशके मुखमें चले जायँगे ।। १३-१४ ।।

ततः सागरपर्यन्तां भोक्ष्यसे मेदिनीमिमाम् ।
भ्रातृभिः सहितो वीर द्रौपद्या च सहानया ।। १५ ।।

वीर! तत्पश्चात् तुम अपने भाइयों तथा इस द्रौपदीके साथ समुद्रोंसे घिरे हुए इस समस्त भूमण्डलका राज्य भोगोगे ।। १५ ।।

उपाख्यानमिदं शक्रविजयं वेदसम्मितम् ।
राज्ञा व्यूढेष्वनीकेषु श्रोतव्यं जयमिच्छता ।। १६ ।।

शत्रुओंकी सेना जब मोर्चा बाँधकर खड़ी हो, उस समय विजयकी अभिलाषा रखनेवाले राजाको यह ‘इन्द्रविजय’ नामक वेदतुल्य उपाख्यान अवश्य सुनना चाहिये ।। १६ ।।

तस्मात् संश्रावयामि त्वां विजयं जयतां वर ।
संस्तूयमाना वर्धन्ते महात्मानो युधिष्ठिर ।। १७ ।।

अतः विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! मैंने तुम्हें यह ‘इन्द्रविजय’ नामक उपाख्यान सुनाया है; क्योंकि जब महात्मा देवताओंकी स्तुति-प्रशंसा की जाती है, तब वे मानवकी उन्नति करते हैं ।। १७ ।।

क्षत्रियाणामभावोऽयं युधिष्ठिर महात्मनाम् ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ।। १८ ।।

युधिष्ठिर! दुर्योधनके अपराधसे तथा भीमसेन और अर्जुनके बलसे यह महामना क्षत्रियोंके संहारका अवसर उपस्थित हो गया है ।। १८ ।।

आख्यानमिन्द्रविजयं य इदं नियतः पठेत् ।
धूतपाप्मा जितस्वर्गः परत्रेह च मोदते ।। १९ ।।

जो पुरुष नियमपरायण हो इस इन्द्रविजय नामक उपाख्यानका पाठ करता है, वह पापरहित हो स्वर्गपर विजय पाता तथा इहलोक और परलोकमें भी सुखी होता है ।। १९ ।।

न चारिजं भयं तस्य नापुत्रो वा भवेन्नरः ।
नापदं प्राप्नुयात् कांचिद् दीर्घमायुश्च विन्दति ।
सर्वत्र जयमाप्नोति न कदाचित् पराजयम् ।। २० ।।

वह मनुष्य कभी संतानहीन नहीं होता, उसे शत्रुजनित भय नहीं सताता, उसपर कोई आपत्ति नहीं आती, वह दीर्घायु होता है, उसे सर्वत्र विजय प्राप्त होती है तथा कभी उसकी पराजय नहीं होती है ।। २० ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितो राजा शल्येन भरतर्षभ ।
पूजयामास विधिवच्छल्यं धर्मभृतां वरः ।। २१ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! शल्यके इस प्रकार आश्वासन देनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने उनका विधिपूर्वक पूजन किया ।। २१ ।।

श्रुत्वा तु शल्यवचनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
प्रत्युवाच महाबाहुर्मद्रराजमिदं वचः ।। २२ ।।

शल्यकी बात सुनकर कुन्तीपुत्र महाबाहु युधिष्ठिर मद्रराजसे यह वचन बोले — ।। २२ ।।

भवान् कर्णस्य सारथ्यं करिष्यति न संशयः ।

तत्र तेजोवधः कार्यः कर्णस्यार्जुनसंस्तवः ।। २३ ।।

'मामाजी! जब अर्जुनके साथ कर्णका युद्ध होगा, उस समय आप कर्णका सारथ्य करेंगे, इसमें संशय नहीं है। उस समय आप अर्जुनकी प्रशंसा करके कर्णके तेज और उत्साहका नाश करें (यही मेरा अनुरोध है)' ।।

शल्य उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा मां सम्प्रभाषसे ।

यच्चान्यदपि शक्ष्यामि तत् करिष्याम्यहं तव ।। २४ ।।

शल्य बोले—राजन्! तुम जैसा कह रहे हो, ऐसा ही करूँगा और भी (तुम्हारे हितके लिये) जो कुछ मुझसे हो सकेगा, वह सब तुम्हारे लिये करूँगा ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्त्वामन्त्र्य कौन्तेयाञ्छल्यो मद्राधिपस्तदा ।

जगाम सबलः श्रीमान् दुर्योधनमरिंदम ।। २५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन जनमेजय! तदनन्तर समस्त कुन्तीकुमारोंसे विदा लेकर श्रीमान् मद्रराज शल्य अपनी सेनाके साथ दुर्योधनके यहाँ चले गये ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि शल्यगमने अष्टादशोऽध्यायः ।। १८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें शल्यगमनविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८ ।।

एकोनविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर और दुर्योधनके यहाँ सहायताके लिये आयी हुई सेनाओंका संक्षिप्त विवरण

वैशम्पायन उवाच

युयुधानस्ततो वीरः सात्वतानां महारथः ।
महता चतुरङ्गेण बलेनागाद् युधिष्ठिरम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सात्वतवंशके महारथी वीर युयुधान (सात्यकि) विशाल चतुरंगिणी सेना साथ लेकर युधिष्ठिरके पास आये ।।

तस्य योधा महावीर्या नानादेशसमागताः ।
नानाप्रहरणा वीराः शोभयाञ्चक्रिरे बलम् ।। २ ।।

उनके सैनिक बड़े पराक्रमी वीर थे। विभिन्न देशोंसे उनका आगमन हुआ था। वे भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र लिये उस सेनाकी शोभा बढ़ा रहे थे ।। २ ।।

परश्वधैर्भिन्दिपालैः शूलतोमरमुद्गरैः ।
परिघैर्यष्टिभिः पाशैः करवालैश्च निर्मलैः ।। ३ ।।
खड्गकार्मुकनिर्व्यूहैः शरैश्च विविधैरपि ।
तैलधौतैः प्रकाशद्भिस्तदशोभत वै बलम् ।। ४ ।।

फरसे, भिन्दिपाल, शूल, तोमर, मुद्गर, परिघ, यष्टि, पाश, निर्मल तलवार, खड्ग*, धनुषसमूह तथा भाँति-भाँतिके बाण आदि अस्त्र-शस्त्र तेलमें धुले होनेके कारण चमचमा रहे थे, जिनसे वह सेना सुशोभित हो रही थी ।।

तस्य मेघप्रकाशस्य सौवर्णैः शोभितस्य च ।
बभूव रूपं सैन्यस्य मेघस्येव सविद्युतः ।। ५ ।।

सात्यकिकी वह सेना (हाथियोंके समूहके कारण तथा काली वर्दी पहननेसे) मेघोंके समान काली दिखायी देती थी। सैनिकोंके सुनहरे आभूषणोंसे सुशोभित हो वह ऐसी जान पड़ती थी, मानो बिजलियोंसहित मेघोंकी घटा छा रही हो ।। ५ ।।

अक्षौहिणी तु सा सेना तदा यौधिष्ठिरं बलम् ।
प्रविश्यान्तर्दधे राजन् सागरं कुनदी यथा ।। ६ ।।

राजन्! वह एक अक्षौहिणी सेना युधिष्ठिरकी विशाल वाहिनीमें समाकर उसी प्रकार विलीन हो गयी, जैसे कोई छोटी नदी समुद्रमें मिल गयी हो ।। ६ ।।

तथैवाक्षौहिणीं गृह्य चेदीनामृषभो बली ।
धृष्टकेतुरुपागच्छत् पाण्डवानमितौजसः ।। ७ ।।

इसी प्रकार महाबली चेदिराज धृष्टकेतु अपनी एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर अमित तेजस्वी पाण्डवोंके पास आये ।। ७ ।।

मागधश्च जयत्सेनो जारासन्धिर्महाबलः ।
अक्षौहिण्यैव सैन्यस्य धर्मराजमुपागमत् ।। ८ ।।

मागध वीर जयत्सेन और जरासंधका महाबली पुत्र सहदेव—ये दोनों एक अक्षौहिणी सेनाके साथ धर्मराज युधिष्ठिरके पास आये थे ।। ८ ।।

तथैव पाण्ड्यो राजेन्द्र सागरानूपवासिभिः ।
वृतो बहुविधैर्योधैर्युधिष्ठिरमुपागमत् ।। ९ ।।

राजेन्द्र! इसी प्रकार समुद्रतटवर्ती जलप्राय देशके निवासी अनेक प्रकारके सैनिकोंसे घिरे हुए पाण्ड्यनरेश युधिष्ठिरके पक्षमें पधारे थे ।। ९ ।।

तस्य सैन्यमतीवासीत् तस्मिन् बलसमागमे ।
प्रेक्षणीयतरं राजन् सुवेषं बलवत् तदा ।। १० ।।

राजन्! उस सैन्य-समागमके समय युधिष्ठिरकी सुन्दर वेश-भूषासे विभूषित तथा प्रबल सेना, जिसकी संख्या बहुत अधिक थी, देखने ही योग्य जान पड़ती थी ।। १० ।।

द्रुपदस्याप्यभूत् सेना नानादेशसमागतैः ।
शोभिता पुरुषैः शूरैः पुत्रैश्चास्य महारथैः ।। ११ ।।

द्रुपदकी सेना तो वहाँ पहलेसे ही उपस्थित थी, जो विभिन्न देशोंसे आये हुए शूरवीर पुरुषों तथा द्रुपदके महारथी पुत्रोंसे सुशोभित थी ।। ११ ।।

तथैव राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ।
पर्वतीयैर्महीपालैः सहितः पाण्डवानियात् ।। १२ ।।

इसी प्रकार मत्स्यनरेश सेनापति विराट भी पर्वतीय राजाओंके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये प्रस्तुत थे ।। १२ ।।

इतश्चेतश्च पाण्डूनां समाजग्मुर्महात्मनाम् ।
अक्षौहिण्यस्तु सप्तैता विविधध्वजसंकुलाः ।। १३ ।।
युयुत्समानाः कुरुभिः पाण्डवान् समहर्षयन् ।

महात्मा पाण्डवोंके पास इधर-उधरसे सात अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं, जो नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त दिखायी देती थीं। ये सब सेनाएँ कौरवोंसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाती थीं ।। १३ १/२ ।।

तथैव धार्तराष्ट्रस्य हर्षं समभिवर्धयन् ।। १४ ।।
भगदत्तो महीपालः सेनामक्षौहिणीं ददौ ।
तस्य चीनैः किरातैश्च काञ्चनैरिव संवृतम् ।। १५ ।।
बभौ बलमनाधृष्यं कर्णिकारवनं यथा ।

इसी प्रकार राजा भगदत्तने दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए उसे एक अक्षौहिणी सेना प्रदान की। सुनहरे शरीरवाले चीन और किरात देशके योद्धाओंसे भरी हुई भगदत्तकी दुर्धर्ष सेना (खिले हुए) कनेरके जंगल-सी जान पड़ती थी ।। १४-१५ १/२ ।।

तथा भूरिश्रवाः शूरः शल्यश्च कुरुनन्दन ।। १६ ।।
दुर्योधनमुपायातावक्षौहिण्या पृथक् पृथक् ।

कुरुनन्दन! इसी प्रकार शूरवीर भूरिश्रवा तथा राजा शल्य पृथक्-पृथक् एक-एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर दुर्योधनके पास आये ।। १६ १/२ ।।

कृतवर्मा च हार्दिक्यो भोजान्धकुकुरैः सह ।। १७ ।।
अक्षौहिण्यैव सेनाया दुर्योधनमुपागमत् ।

हृदिकपुत्र कृतवर्मा भी भोज, अन्धक तथा कुकुरवंशी वीरोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर दुर्योधनके पास आया ।। १७ १/२ ।।

तस्य तैः पुरुषव्याघ्रैर्वनमालाधरैर्बलम् ।। १८ ।।
अशोभत यथा मत्तैर्वनं प्रक्रीडितैर्गजैः ।

उन वनमालाधारी पुरुषसिंहोंसे कृतवर्माकी सेना उसी प्रकार सुशोभित हुई, जैसे क्रीड़ापरायण मतवाले हाथियोंसे कोई (विशाल) वन शोभा पा रहा हो ।। १८ १/२ ।।

जयद्रथमुखाश्चान्ये सिन्धुसौवीरवासिनः ।। १९ ।।
आजग्मुः पृथिवीपालाः कम्पयन्त इवाचलान् ।

जयद्रथ आदि अन्य राजा, जो सिन्धु और सौवीरदेशके निवासी थे, पर्वतोंको कँपाते हुए-से दुर्योधनके पास आये ।। १९½ ।।

तेषामक्षौहिणी सेना बहुला विबभौ तदा ।। २० ।।
विधूयमानो वातेन बहुरूप इवाम्बुदः ।

उनकी वह एक अक्षौहिणी विशाल सेना उस समय हवासे उड़ाये जाते हुए अनेक रूपवाले मेघके समान प्रतीत होती थी ।। २०½ ।।

सुदक्षिणश्च काम्बोजो यवनैश्च शकैस्तथा ।। २१ ।।
उपाजगाम कौरव्यमक्षौहिण्या विशाम्पते ।
तस्य सेनासमावायः शलभानामिवाबभौ ।। २२ ।।
स च सम्प्राप्य कौरव्यं तत्रैवान्तर्दधे तदा ।

राजन्! कम्बोजनरेश सुदक्षिण भी यवनों और शकोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लिये दुर्योधनके पास आया। उसका सैन्य-समूह टिड्डियोंके दल-सा जान पड़ता था। वह सारा सैन्य-समुदाय कौरव-सेनामें आकर विलीन हो गया ।। २१-२२½ ।।

तथा माहिष्मतीवासी नीलो नीलायुधैः सह ।। २३ ।।
महीपालो महावीर्यैर्दक्षिणापथवासिभिः ।

इसी प्रकार माहिष्मती पुरीके निवासी राजा नील भी दक्षिण देशके रहनेवाले श्यामवर्णके शस्त्रधारी महापराक्रमी सैनिकोंके साथ दुर्योधनके पक्षमें आये ।।

आवन्त्यौ च महीपालौ महाबलसुसंवृतौ ।। २४ ।।
अक्षौहिण्या च कौरव्यं दुर्योधनमुपागतौ ।

अवन्तीदेशके दोनों राजा विन्द और अनुविन्द भी पृथक्-पृथक् एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए दुर्योधनके पास आये ।। २४½ ।।

केकयाश्च नरव्याघ्राः सोदर्याः पञ्च पार्थिवाः ।। २५ ।।
संहर्षयन्तः कौरव्यमक्षौहिण्या समाद्रवन् ।

केकयदेशके पुरुषसिंह पाँच नरेश, जो परस्पर सगे भाई थे, दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आ पहुँचे ।। २५½ ।।

ततस्ततस्तु सर्वेषां भूमिपानां महात्मनाम् ।। २६ ।।
तिस्रोऽन्याः समवर्तन्त वाहिन्यो भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर इधर-उधरसे समस्त महामना नरेशोंकी तीन अक्षौहिणी सेनाएँ और आ पहुँचीं ।।

एवमेकादशावृत्ताः सेना दुर्योधनस्य ताः ।। २७ ।।
युयुत्समानाः कौन्तेयान् नानाध्वजसमाकुलाः ।

इस प्रकार दुर्योधनके पास सब मिलाकर ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयीं, जो भाँति-भाँतिकी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित थीं और कुन्तीकुमारोंसे युद्ध करनेका उत्साह रखती थीं ।। २७½ ।।

न हास्तिनपुरे राजन्नवकाशोऽभवत् तदा ।। २८ ।।
राज्ञां स्वबलमुख्यानां प्राधान्येनापि भारत ।

राजन्! दुर्योधनकी अपनी सेनाके जो प्रधान-प्रधान राजा थे, उनके भी ठहरनेके लिये हस्तिनापुरमें स्थान नहीं रह गया था ।। २८½ ।।

ततः पञ्चनदं चैव कृत्स्नं च कुरुजाङ्गलम् ।। २९ ।।
तथा रोहितकारण्यं मरुभूमिश्च केवला ।
अहिच्छत्रं कालकूटं गङ्गाकूलं च भारत ।। ३० ।।
वारणं वाटधानं च यामुनश्चैव पर्वतः ।
एष देशः सुविस्तीर्णः प्रभूतधनधान्यवान् ।। ३१ ।।

इसलिये भारत! पंचनद प्रदेश, सम्पूर्ण कुरुजांगल देश, रोहितकवन (रोहतक), समस्त मरुभूमि, अहिच्छत्र, कालकूट, गंगातट, वारण, वाटधान तथा यामुनपर्वत—यह प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न सुविस्तृत प्रदेश कौरवोंकी सेनासे भलीभाँति घिर गया ।। २९—३१ ।।

बभूव कौरवेयाणां बलेनातीव संवृतः ।
तत्र सैन्यं तथा युक्तं ददर्श स पुरोहितः ।। ३२ ।।
यः स पाञ्चालराजेन प्रेषितः कौरवान् प्रति ।। ३३ ।।

पांचालराज द्रुपदने अपने जिन पुरोहित ब्राह्मणको कौरवोंके पास भेजा था, उन्होंने वहाँ पहुँचकर उस विशाल सेनाके जमावको देखा ।। ३२-३३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितसैन्यदर्शने एकोनविंशोऽध्यायः ।। १९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहितके द्वारा सैन्यदर्शनविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९ ।।

---

* ‘खड्ग’ दुधारी तलवारको कहते हैं।

(संजययानपर्व)

विंशोऽध्यायः

द्रुपदके पुरोहितका कौरवसभामें भाषण

वैशम्पायन उवाच

स च कौरव्यमासाद्य द्रुपदस्य पुरोहितः ।
सत्कृतो धृतराष्ट्रेण भीष्मेण विदुरेण च ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर द्रुपदके पुरोहित कौरवनरेशके पास पहुँचकर राजा धृतराष्ट्र, भीष्म तथा विदुरजीद्वारा सम्मानित हुए ।। १ ।।

सर्वं कौशल्यमुक्त्वाऽऽदौ पृष्ट्वा चैवमनामयम् ।
सर्वसेनाप्रणेतॄणां मध्ये वाक्यमुवाच ह ।। २ ।।

उन्होंने पहले (अपने पक्षके लोगोंका) सारा कुशलसमाचार बताकर धृतराष्ट्र आदिके स्वास्थ्यका समाचार पूछा, फिर सम्पूर्ण सेनानायकोंके समक्ष इस प्रकार कहा— ।। २ ।।

सर्वैर्भवद्भिर्विदितो राजधर्मः सनातनः ।
वाक्योपादानहेतोस्तु वक्ष्यामि विदिते सति ।। ३ ।।

'आप सब लोग सनातन राजधर्मको अच्छी तरह जानते हैं। जाननेपर भी स्वयं इसलिये कुछ कह रहा हूँ कि अन्तमें कुछ आपलोगोंके मुखसे भी सुननेका अवसर मिले ।। ३ ।।

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च सुतावेकस्य विश्रुतौ ।
तयोः समानं द्रविणं पैतृकं नात्र संशयः ।। ४ ।।
धृतराष्ट्रस्य ये पुत्राः प्राप्तं तैः पैतृकं वसु ।
पाण्डुपुत्राः कथं नाम न प्राप्ताः पैतृकं वसु ।। ५ ।।

'राजा धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनों एक ही पिताके सुविख्यात पुत्र हैं। पैतृक सम्पत्तिमें दोनोंका समान अधिकार है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। धृतराष्ट्रके जो पुत्र हैं, उन्होंने तो पैतृक धन प्राप्त कर लिया, परंतु पाण्डवोंको वह पैतृक सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो? ।। ४-५ ।।

एवंगते पाण्डवेयैर्विदितं वः पुरा यथा ।

न प्राप्तं पैतृकं द्रव्यं धृतराष्ट्रेण संवृतम् ।। ६ ।।

'धृतराष्ट्रने सारा धन अपने अधिकारमें कर लिया; इसलिये पाण्डुपुत्रोंको पैतृक धन नहीं मिला है, यह बात आपलोग पहलेसे ही जानते हैं ।। ६ ।।

प्राणान्तिकैरप्युपायैः प्रयतद्भिरनेकशः ।
शेषवन्तो न शकिता नेतुं वै यमसादनम् ।। ७ ।।

'उसके बाद दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र-पुत्रोंने प्राणान्तकारी उपायोंद्वारा अनेक बार पाण्डवोंको नष्ट करनेका प्रयत्न किया; परंतु इनकी आयु शेष थी, इसलिये वे इन्हें यमलोक न पहुँचा सके ।। ७ ।।

पुनश्च वर्धितं राज्यं स्वबलेन महात्मभिः ।
छद्मनापहृतं क्षुद्रैर्धार्तराष्ट्रैः ससौबलैः ।। ८ ।।

'फिर महात्मा पाण्डवोंने अपने बाहुबलसे नूतन राज्यकी प्रतिष्ठा करके उसे बढ़ा लिया; परंतु शकुनि-सहित क्षुद्र धृतराष्ट्र-पुत्रोंने जूएमें छल-कपटका आश्रय ले उसका हरण कर लिया ।। ८ ।।

तदप्यनुमतं कर्म यथायुक्तमनेन वै ।
वासिताश्च महारण्ये वर्षाणीह त्रयोदश ।। ९ ।।

'तत्पश्चात् धृतराष्ट्रने भी उस द्यूतकर्मका अनुमोदन किया और उन्होंने जैसा आदेश दिया, उसके अनुसार पाण्डव महान् वनमें तेरह वर्षोंतक* निवास करनेके लिये विवश हुए ।। ९ ।।

सभायां क्लेशितैर्वीरैः सहभार्यैस्तथा भृशम् ।
अरण्ये विविधाः क्लेशाः सम्प्राप्तास्तैः सुदारुणाः ।। १० ।।

'पत्नीसहित वीर पाण्डवोंको कौरव-सभामें भारी क्लेश पहुँचाया गया तथा वनमें भी उन्हें नाना प्रकारके भयंकर कष्ट भोगने पड़े ।। १० ।।

तथा विराटनगरे योन्यन्तरगतैरिव ।
प्राप्तः परमसंक्लेशो यथा पापैर्महात्मभिः ।। ११ ।।

'इतना ही नहीं, दूसरी योनिमें पड़े हुए पापियोंकी तरह विराटनगरमें भी इन महात्माओंको महान् क्लेश सहन करना पड़ा है ।। ११ ।।

ते सर्वं पृष्ठतः कृत्वा तत् सर्वं पूर्वकिल्बिषम् ।
सामैव कुरुभिः सार्धमिच्छन्ति कुरुपुङ्गवाः ।। १२ ।।

'पहलेके किये हुए इन सब अत्याचारोंको भुलाकर वे कुरुश्रेष्ठ पाण्डव अब भी इन कौरवोंके साथ मेल-जोल ही रखना चाहते हैं ।। १२ ।।

तेषां च वृत्तमाज्ञाय वृत्तं दुर्योधनस्य च ।
अनुनेतुमिहार्हन्ति धार्तराष्ट्रं सुहृज्जनाः ।। १३ ।।

‘पाण्डवोंके आचार-व्यवहारको तथा दुर्योधनके बर्तावको जानकर (उभयपक्षका हित चाहनेवाले) सुहृदोंका यह कर्तव्य है कि वे दुर्योधनको समझावें ।। १३ ।।

न हि ते विग्रहं वीराः कुर्वन्ति कुरुभिः सह ।
अविनाशेन लोकस्य काङ्क्षन्ते पाण्डवाः स्वकम् ।। १४ ।।

‘वीर पाण्डव कौरवोंके साथ युद्ध नहीं कर रहे हैं, वे जनसंहार किये बिना ही अपना राज्य पाना चाहते हैं ।। १४ ।।

यश्चापि धार्तराष्ट्रस्य हेतुः स्याद् विग्रहं प्रति ।
स च हेतुर्न मन्तव्यो बलीयांसस्तथा हि ते ।। १५ ।।

‘दुर्योधन जिस हेतुको सामने रखकर युद्धके लिये उत्सुक है, उसे यथार्थ नहीं मानना चाहिये; क्योंकि पाण्डव इन कौरवोंसे अधिक बलिष्ठ हैं ।। १५ ।।

अक्षौहिण्यश्च सप्तैव धर्मपुत्रस्य संगताः ।
युयुत्समानाः कुरुभिः प्रतीक्षन्तेऽस्य शासनम् ।। १६ ।।

‘धर्मपुत्र युधिष्ठिरके पास सात अक्षौहिणी सेनाएँ भी एकत्र हो गयी हैं, जो कौरवोंके साथ युद्धकी अभिलाषा रखकर उनके आदेशभरकी प्रतीक्षा कर रही हैं ।। १६ ।।

अपरे पुरुषव्याघ्राः सहस्राक्षौहिणीसमाः ।
सात्यकिर्भीमसेनश्च यमौ च सुमहाबलौ ।। १७ ।।

‘इसके सिवा सात्यकि, भीमसेन तथा महाबली नकुल-सहदेव आदि जो दूसरे पुरुषसिंह वीर हैं, वे अकेले हजार अक्षौहिणी सेनाओंके समान हैं ।। १७ ।।

एकादशैताः पृतना एकतश्च समागताः ।
एकतश्च महाबाहुर्बहुरूपी धनंजयः ।। १८ ।।

‘ये कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एक ओरसे आवें और दूसरी ओर केवल अनेक रूपधारी* महाबाहु अर्जुन हों, तो वे अकेले ही इन सबके लिये पर्याप्त हैं ।। १८ ।।

यथा किरीटी सर्वाभ्यः सेनाभ्यो व्यतिरिच्यते ।
एवमेव महाबाहुर्वासुदेवो महाद्युतिः ।। १९ ।।

‘जैसे किरीटधारी अर्जुन अकेले ही इन सब सेनाओंसे बढ़कर हैं, उसी प्रकार महातेजस्वी महाबाहु श्रीकृष्ण भी हैं ।। १९ ।।

बहुलत्वं च सेनानां विक्रमं च किरीटिनः ।
बुद्धिमत्त्वं च कृष्णस्य बुद्ध्वा युध्येत को नरः ।। २० ।।

‘युधिष्ठिरकी सेनाओंके बाहुल्य, किरीटधारी अर्जुनके पराक्रम तथा भगवान् श्रीकृष्णकी बुद्धिमत्ताको जान लेनेपर कौन मनुष्य पाण्डवोंके साथ युद्ध कर सकता है? ।। २० ।।

ते भवन्तो यथाधर्मं यथासमयमेव च ।
प्रयच्छन्तु प्रदातव्यं मा वः कालोऽत्यगादयम् ।। २१ ।।

‘अतः आपलोग अपने धर्म और पहले की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार पाण्डवोंको उनका आधा राज्य, जो उन्हें मिलना ही चाहिये, दे दीजिये। कहीं ऐसा न हो कि यह सुन्दर अवसर आपलोगोंके हाथसे निकल जाय’ ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि पुरोहितयाने विंशोऽध्यायः ।। २० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें पुरोहितका यात्राविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २० ।।

---

* बारह वर्षका वनवास एवं एक वर्षका अज्ञातवास दोनों मिलाकर तेरह वर्ष समझने चाहिये।

* यहाँ अनेक रूपधारी शब्दका यह तात्पर्य है कि अर्जुन इतने वेगसे युद्ध करते थे कि वे रणभूमिमें अनेक-से दिखायी देते थे। द्रोणपर्वके ८९ वें अध्यायमें युद्धके प्रसंगमें ऐसा वर्णन भी मिलता है—

अयं पार्थः कुतः पार्थ एष पार्थ इति प्रभो । तव सैन्येषु योधानां पार्थभूतमिवाभवत् ।।
अन्योन्यमपि चाजघ्नुरात्मानमपि चापरे । पार्थभूतममन्यन्त जगत् कालेन मोहिताः ।।

महाराज! आपके सैनिकोंको सब ओर अर्जुन-ही-अर्जुन दिखायी देते थे। वे बार-बार ‘अर्जुन यह है, अर्जुन कहाँ है? अर्जुन वह खड़ा है’ इस प्रकार चिल्ला उठते थे। इस भ्रममें पड़कर उनमेंसे कोई-कोई तो आपसमें और कोई अपनेपर ही प्रहार कर बैठते थे। उस समय कालके वशीभूत हो वे सारे संसारको अर्जुनमय ही देखने लगे थे।

एकविंशोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा द्रुपदके पुरोहितकी बातका समर्थन करते हुए अर्जुनकी प्रशंसा करना, इसके विरुद्ध कर्णके आक्षेपपूर्ण वचन तथा धृतराष्ट्रद्वारा भीष्मकी बातका समर्थन करते हुए दूतको सम्मानित करके विदा करना

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा प्रज्ञावृद्धो महाद्युतिः ।
सम्पूज्यैनं यथाकालं भीष्मो वचनमब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पुरोहितकी यह बात सुनकर बुद्धिमें बढ़े-चढ़े महातेजस्वी भीष्मने समयके अनुरूप उनकी पूजा करके इस प्रकार कहा— ।। १ ।।

दिष्ट्या कुशलिनः सर्वे सह दामोदरेण ते ।
दिष्ट्या सहायवन्तश्च दिष्ट्या धर्मे च ते रताः ।। २ ।।

‘ब्रह्मन्! सब पाण्डव भगवान् श्रीकृष्णके साथ सकुशल हैं, यह सौभाग्यकी बात है। उनके बहुत-से सहायक हैं और वे धर्ममें भी तत्पर हैं, यह और भी सौभाग्य तथा हर्षका विषय है ।। २ ।।

दिष्ट्या च संधिकामास्ते भ्रातरः कुरुनन्दनाः ।
दिष्ट्या न युद्धमनसः पाण्डवाः सह बान्धवैः ।। ३ ।।

‘कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले पाँचों भाई पाण्डव सन्धिकी इच्छा रखते हैं, यह सौभाग्यका विषय है। वे अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ युद्धमें मन नहीं लगा रहे हैं, यह भी सौभाग्यकी बात है ।। ३ ।।

भवता सत्यमुक्तं तु सर्वमेतन्न संशयः ।
अतितीक्ष्णं तु ते वाक्यं ब्राह्मण्यादिति मे मतिः ।। ४ ।।

‘आपने जितनी बातें कही हैं, वे सब सत्य है; इसमें संशय नहीं है। परंतु आपकी बातें बड़ी तीखी हैं। यह तीक्ष्णता ब्राह्मण-स्वभावके कारण ही है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है ।। ४ ।।

असंशयं क्लेशितास्ते वने चेह च पाण्डवाः ।
प्राप्ताश्च धर्मतः सर्वं पितुर्धनमसंशयम् ।। ५ ।।

‘निस्संदेह पाण्डवोंको वनमें और यहाँ भी कष्ट उठाना पड़ा है। उन्हें धर्मतः अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति पानेका अधिकार प्राप्त हो चुका है; इसमें भी कोई संशय नहीं है ।। ५ ।।

किरीटी बलवान् पार्थः कृतास्त्रश्च महारथः ।
को हि पाण्डुसुतं युद्धे विषहेत धनंजयम् ।। ६ ।।

'कुन्तीपुत्र किरीटधारी महारथी अर्जुन बलवान् तथा अस्त्रविद्यामें निपुण हैं। कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें पाण्डुपुत्र अर्जुनका वेग सह सके? ।। ६ ।।

अपि वज्रधरः साक्षात् किमुतान्ये धनुर्भृतः ।
त्रयाणामपि लोकानां समर्थ इति मे मतिः ।। ७ ।।

'साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी युद्धमें उनका सामना नहीं कर सकते; फिर दूसरे धनुर्धरोंकी बात ही क्या है? मेरा तो ऐसा विश्वास है कि अर्जुन तीनों लोकोंका सामना करनेमें समर्थ हैं' ।। ७ ।।

भीष्मे ब्रुवति तद् वाक्यं धृष्टमाक्षिप्य मन्युना ।
दुर्योधनं समालोक्य कर्णो वचनमब्रवीत् ।। ८ ।।

भीष्मजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि कर्णने दुर्योधनकी ओर देखकर क्रोधसे धृष्टतापूर्वक आक्षेप करते हुए (भीष्मजीके कथनकी अवहेलना करके) यह बात कही — ।। ८ ।।

न तत्राविदितं ब्रह्मँल्लोके भूतेन केनचित् ।

पुनरुक्तेन किं तेन भाषितेन पुनः पुनः ।। ९ ।।

'ब्रह्मन्! इस लोकमें जो घटना बीत चुकी है, वह किसीको अज्ञात नहीं है, उसको दोहरानेसे या बारंबार उसपर भाषण देनेसे क्या लाभ है? ।। ९ ।।

दुर्योधनार्थे शकुनिर्द्यूते निर्जितवान् पुरा ।
समयेन गतोऽरण्यं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।। १० ।।

'पहलेकी बात है, शकुनिने दुर्योधनके लिये पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको द्यूत-क्रीड़ामें परास्त किया था और वे उस जूएकी शर्तके अनुसार वनमें गये थे ।। १० ।।

स तं समयमाश्रित्य राज्यं नेच्छति पैतृकम् ।
बलमाश्रित्य मत्स्यानां पञ्चालानां च मूर्खवत् ।। ११ ।।

'युधिष्ठिर उस शर्तका पालन करके अपना पैतृक राज्य चाहते हों, ऐसी बात नहीं है। वे तो मूर्खोंकी भाँति मत्स्य और पांचाल देशकी सेनाके भरोसे राज्य लेना चाहते हैं ।। ११ ।।

दुर्योधनो भयाद् विद्वन् न दद्यात् पादमन्ततः ।
धर्मतस्तु महीं कृत्स्नां प्रदद्याच्छत्रवेऽपि च ।। १२ ।।

'विद्वन्! दुर्योधन किसीके भयसे अपने राज्यका आधा कौन कहे चौथाई भाग भी नहीं देंगे; परंतु धर्मानुसार तो वे शत्रुको भी समूची पृथ्वीतक दे सकते हैं ।। १२ ।।

यदि काङ्क्षन्ति ते राज्यं पितृपैतामहं पुनः ।
यथाप्रतिज्ञं कालं तं चरन्तु वनमाश्रिताः ।। १३ ।।

'यदि पाण्डव अपने बाप-दादोंका राज्य लेना चाहते हैं तो पूर्व-प्रतिज्ञाके अनुसार उतने समयतक पुनः वनमें निवास करें ।। १३ ।।

ततो दुर्योधनस्याङ्के वर्तन्तामकुतोभयाः ।
अधार्मिकीं तु मा बुद्धिं मौर्ख्यात् कुर्वन्तु केवलात् ।। १४ ।।

'तत्पश्चात् वे दुर्योधनके आश्रयमें निर्भय होकर रह सकते हैं। केवल मूर्खतावश वे अपनी बुद्धिको अधर्मपरायण न बनावें ।। १४ ।।

अथ ते धर्ममुत्सृज्य युद्धमिच्छन्ति पाण्डवाः ।
आसाद्येमान् कुरुश्रेष्ठान् स्मरिष्यन्ति वचो मम ।। १५ ।।

'यदि पाण्डव धर्मको त्यागकर युद्ध ही करना चाहते हैं तो इन कुरुश्रेष्ठ वीरोंसे भिड़नेपर मेरी बात याद करेंगे' ।।

भीष्म उवाच

किं नु राधेय वाचा ते कर्म तत् स्मर्तुमर्हसि ।
एक एव यदा पार्थः षड्रथाञ्जितवान् युधि ।। १६ ।।

भीष्मजी बोले—राधानन्दन! तू जो इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, इससे क्या होगा? तुझे पार्थका वह पराक्रम याद करना चाहिये, जब कि विराटनगरके युद्धमें उन्होंने

अकेले ही सम्पूर्ण सेनासहित छः अतिरथियोंको जीत लिया था ।। १६ ।।

बहुशो जीयमानस्य कर्म दृष्टं तदैव ते ।
न चेदेवं करिष्यामो यदयं ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
ध्रुवं युधि हतास्तेन भक्षयिष्याम पांसुकान् ।। १७ ।।

तेरा पराक्रम तो उसी समय देखा गया था, जब कि अनेक बार उनके सामने जाकर तुझे परास्त होना पड़ा। इन ब्राह्मणदेवताने जो कुछ कहा है, यदि हमलोग तदनुसार कार्य नहीं करेंगे तो यह निश्चय है कि युद्धमें पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथसे आहत होकर हमें धूल खानी पड़ेगी ।। १७ ।।

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्ततो भीष्ममनुमान्य प्रसाद्य च ।
अवभर्त्स्य च राधेयमिदं वचनमब्रवीत् ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर धृतराष्ट्रने कर्णको डाँटकर भीष्मजीका सम्मान किया और उन्हें राजी करके इस प्रकार कहा— ।। १८ ।।

अस्मद्धितं वाक्यमिदं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ।
पाण्डवानां हितं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ।। १९ ।।

‘शान्तनुनन्दन भीष्मने हमारे लिये यह हितकर बात कही है। इसमें पाण्डवोंका तथा सम्पूर्ण जगत्‌का भी हित है ।। १९ ।।

चिन्तयित्वा तु पार्थेभ्यः प्रेषयिष्यामि संजयम् ।
स भवान् प्रति यात्वद्य पाण्डवानेव मा चिरम् ।। २० ।।

‘ब्रह्मन्! अब मैं कुछ सोच-विचारकर पाण्डवोंके पास संजयको भेजूँगा। आप पुनः पाण्डवोंके पास ही पधारें, विलम्ब न करें’ ।। २० ।।

स तं सत्कृत्य कौरव्यः प्रेषयामास पाण्डवान् ।
सभामध्ये समाहूय संजयं वाक्यमब्रवीत् ।। २१ ।।

तदनन्तर राजा धृतराष्ट्रने उन ब्राह्मणका सत्कार करके उन्हें पाण्डवोंके पास वापस भेजा और सभामें संजयको बुलाकर यह बात कही ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि पुरोहितयाने एकविंशोऽध्यायः ।। २१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें पुरोहितकी यात्राविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१ ।।

द्वाविंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका संजयसे पाण्डवोंके प्रभाव और प्रतिभाका वर्णन करते हुए उसे संदेश देकर पाण्डवोंके पास भेजना

धृतराष्ट्र उवाच

प्राप्तानाहुः संजय पाण्डुपुत्रा-
नुपप्लव्ये तान् विजानीहि गत्वा ।
अजातशत्रुं च सभाजयेथा
दिष्ट्याऽऽनह्य स्थानमुपस्थितस्त्वम् ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—संजय! लोग कहते हैं कि पाण्डव उपप्लव्य नामक स्थानमें आ गये हैं। तुम वहाँ जाकर उनका समाचार जानो। अजातशत्रु युधिष्ठिरसे आदरपूर्वक मिलकर कहना, सौभाग्यकी बात है कि आप सन्नद्ध होकर अपने योग्य स्थानपर आ पहुँचे हैं ।।

सर्वान् वदेः संजय स्वस्तिमन्तः
कृच्छ्रं वासमतदर्हान् निरुष्य ।
तेषां शान्तिर्विद्यतेऽस्मासु शीघ्रं
मिथ्यापेतानामुपकारिणां सताम् ।। २ ।।

संजय! सब पाण्डवोंसे कहना कि हमलोग सकुशल हैं। पाण्डवलोग मिथ्यासे दूर रहनेवाले, परोपकारी तथा साधु पुरुष हैं। वे वनवासका कष्ट भोगनेयोग्य नहीं थे, तो भी उन्होंने वनवासका नियम पूरा कर लिया है। इतनेपर भी हमारे ऊपर उनका क्रोध शीघ्र ही शान्त हो गया है ।। २ ।।

नाहं क्वचित् संजय पाण्डवानां
मिथ्यावृत्तिं काञ्चन जात्वपश्यम् ।
सर्वां श्रियं ह्यात्मवीर्येण लब्धां
पर्याकार्षुः पाण्डवा मह्यमेव ।। ३ ।।

संजय! मैंने कभी कहीं पाण्डवोंमें थोड़ी-सी भी मिथ्या वृत्ति नहीं देखी है। पाण्डवोंने अपने पराक्रमसे प्राप्त हुई सारी सम्पत्ति मेरे ही अधीन कर दी थी ।। ३ ।।

दोषं ह्येषां नाध्यगच्छं परीच्छन्
नित्यं कंचिद् येन गर्हेय पार्थान् ।
धर्मार्थाभ्यां कर्म कुर्वन्ति नित्यं
सुखप्रिये नानुरुध्यन्ति कामात् ।। ४ ।।

मैंने सदा ढूँढ़ते रहनेपर भी कुन्तीपुत्रोंका कोई ऐसा दोष नहीं देखा है, जिससे उनकी निन्दा करूँ। वे सदा धर्म और अर्थके लिये ही कर्म करते हैं, कामनावश मानसिक प्रीति और स्त्री-पुत्रादि प्रिय वस्तुओंमें नहीं फँसते हैं—कामभोगमें आसक्त होकर धर्मका परित्याग नहीं करते हैं ।। ४ ।।

धर्मं शीतं क्षुत्पिपासे तथैव
निद्रां तन्द्रीं क्रोधहर्षौ प्रमादम् ।
धृत्या चैव प्रज्ञया चाभिभूय
धर्मार्थयोगात् प्रयतन्ति पार्थाः ।। ५ ।।

पाण्डव घाम-शीत, भूख-प्यास, निद्रा-तन्द्रा, क्रोध-हर्ष तथा प्रमादको धैर्य एवं विवेकपूर्ण बुद्धिके द्वारा जीतकर धर्म और अर्थके लिये ही प्रयत्नशील बने रहते हैं ।। ५ ।।

त्यजन्ति मित्रेषु धनानि काले
न संवासाज्जीर्यति तेषु मैत्री ।
यथार्हमानार्थकरा हि पार्था-
स्तेषां द्वेष्टा नास्त्याजमीढस्य पक्षे ।। ६ ।।
अन्यत्र पापाद् विषमान्मन्दबुद्धे-
र्दुर्योधनात् क्षुद्रतराच्च कर्णात् ।
(पुत्रो मह्यं मृत्युवशं जगाम
दुर्योधनः संजय रागबुद्धिः ।
भागं हर्तुं घटते मन्दबुद्धि-
र्महात्मनां संजय दीप्ततेजसाम् ।।)
तेषां हीमौ हीनसुखप्रियाणां
महात्मनां संजनयतो हि तेजः ।। ७ ।।

वे समय पड़नेपर मित्रोंको उनकी सहायताके लिये धन देते हैं। दीर्घकालिक प्रवाससे भी उनकी मैत्री क्षीण नहीं होती है। कुन्तीके पुत्र सबका यथायोग्य सत्कार करनेवाले हैं। अजमीढवंशी हम कौरवोंके पक्षमें पापी, बेईमान तथा मन्दबुद्धि दुर्योधन एवं अत्यन्त क्षुद्र स्वभाववाले कर्णको छोड़कर दूसरा कोई भी उनसे द्वेष रखनेवाला नहीं है। संजय! मेरा पुत्र दुर्योधन कालके अधीन हो गया है; क्योंकि उसकी बुद्धि रागसे दूषित है। वह मूर्ख अत्यन्त तेजस्वी महात्मा पाण्डवोंके स्वत्वको दबा लेनेकी चेष्टा कर रहा है। केवल दुर्योधन और कर्ण ही सुख और प्रियजनोंसे बिछुड़े हुए महामना पाण्डवोंके मनमें क्रोध उत्पन्न करते रहते हैं ।। ६-७ ।।

उत्थानवीर्यः सुखमेधमानो
दुर्योधनः सुकृतं मन्यते तत् ।
तेषां भागं यच्च मन्येत बालः

शक्यं हर्तुं जीवतां पाण्डवानाम् ।। ८ ।।

दुर्योधन आरम्भमें ही पराक्रम दिखानेवाला है, (अन्ततक उसे निभा नहीं सकता;) क्योंकि वह सुखमें ही पलकर बड़ा हुआ है। वह इतना मूर्ख है कि पाण्डवोंके जीते-जी उनका भाग हर लेना सरल समझता है। इतना ही नहीं, वह इस कुकर्मको उत्तम कर्म भी मानने लगा है ।। ८ ।।

यस्यार्जुनः पदवीं केशवश्च
वृकोदरः सात्यकोऽजातशत्रोः ।
माद्रीपुत्रौ सृंजयाश्चापि यान्ति
पुरा युद्धात् साधु तस्य प्रदानम् ।। ९ ।।

अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन, सात्यकि, नकुल, सहदेव और सम्पूर्ण सृंजयवंशी वीर जिनके पीछे चलते हैं, उन युधिष्ठिरको युद्धके पहले ही उनका राज्यभाग दे देनेमें भलाई है ।। ९ ।।

स ह्येवैकः पृथिवीं सव्यसाची
गाण्डीवधन्वा प्रणुदेद् रथस्थः ।
तथा जिष्णुः केशवोऽप्यप्रधृष्यो
लोकत्रयस्याधिपतिर्महात्मा ।। १० ।।
तिष्ठेत कस्तस्य मर्त्यः पुरस्ताद्
यः सर्वलोकेषु वरेण्य एकः ।
पर्जन्यघोषान् प्रवपञ्छरौघान्
पतङ्गसङ्घानिव शीघ्रवेगान् ।। ११ ।।

गाण्डीवधारी सव्यसाची अर्जुन रथमें बैठकर अकेले ही सारी पृथ्वीको जीत सकते हैं। इसी प्रकार विजयशील एवं दुर्धर्ष महात्मा श्रीकृष्ण भी तीनों लोकोंको जीतकर उनके अधिपति हो सकते हैं। जो समस्त लोकोंमें एकमात्र सर्वश्रेष्ठ वीर हैं, जो मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर शब्द करनेवाले तथा टिड्डियोंके दलकी भाँति तीव्र वेगसे चलनेवाले बाणसमूहोंकी वर्षा करते हैं, उन वीरवर अर्जुनके सामने कौन मनुष्य ठहर सकता है? ।। १०-११ ।।

दिशं ह्युदीचीमपि चोत्तरान् कुरून्
गाण्डीवधन्वैकरथो जिगाय ।
धनं चैषामाहरत् सव्यसाची
सेनानुगान् द्रविडांश्चैव चक्रे ।। १२ ।।

गाण्डीव धनुष धारण करके एकमात्र रथपर आरूढ़ हो सव्यसाची अर्जुनने न केवल उत्तर-दिशापर विजय पायी थी, अपितु उत्तर कुरुदेशको भी जीत लिया था और उन सबकी

धन-सम्पत्ति जीतकर ले आये थे। उन्होंने द्रविड़ोंको भी जीतकर अपनी सेनाका अनुगामी बनाया था ।। १२ ।।

यश्चैव देवान् खाण्डवे सव्यसाची
गाण्डीवधन्वा प्रजिगाय सेन्द्रान् ।
उपाहरत् पाण्डवो जातवेदसे
यशो मानं वर्धयन् पाण्डवानाम् ।। १३ ।।

गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले पाण्डुपुत्र सव्यसाची अर्जुन वे ही हैं, जिन्होंने खाण्डववनमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंपर विजय पायी थी और पाण्डवोंके यश तथा सम्मानकी वृद्धि करते हुए अग्निदेवको वह वन उपहारके रूपमें अर्पित किया था ।। १३ ।।

गदाभृतां नास्ति समोऽत्र भीमा-
द्धस्त्यारोहो नास्ति समश्च तस्य ।
रथेऽर्जुनादाहुरहीनमेनं
बाह्वोर्बलेनायुतनागवीर्यम् ।। १४ ।।

गदाधारियोंमें इस भूतलपर भीमसेनके समान दूसरा कोई नहीं है और न उनके-जैसा कोई हाथीसवार ही है। रथमें बैठकर युद्ध करनेकी कलामें भी वे अर्जुनसे कम नहीं बताये जाते हैं और बाहुबलमें तो वे दस हजार हाथियोंके समान शक्तिशाली हैं ।। १४ ।।

सुशिक्षितः कृतवैरस्तरस्वी
दहेत् क्षुद्रांस्तरसा धार्तराष्ट्रान् ।
सदात्यमर्षी न बलात् स शक्यो
युद्धे जेतुं वासवेनापि साक्षात् ।। १५ ।।

अस्त्र-विद्यामें उन्हें अच्छी शिक्षा मिली है। वे बड़े वेगशाली वीर हैं। उनके साथ मेरे पुत्रोंने वैर ठान रखा है और वे सदा अत्यन्त अमर्षमें भरे रहते हैं; अतः यदि युद्ध हुआ तो भीमसेन मेरे क्षुद्र स्वभाववाले पुत्रोंको वेगपूर्वक (अपनी कोपाग्निसे) जलाकर भस्म कर देंगे। साक्षात् इन्द्र भी उन्हें युद्धमें बलपूर्वक परास्त नहीं कर सकते ।। १५ ।।

सुचेतसौ बलिनौ शीघ्रहस्तौ
सुशिक्षितौ भ्रातरौ फाल्गुनेन ।
श्येनौ यथा पक्षिपूगान् रुजन्तौ
माद्रीपुत्रौ शेषयेतां न शत्रून् ।। १६ ।।

माद्रीनन्दन नकुल और सहदेव भी शुद्धचित्त और बलवान् हैं। अस्त्र-संचालनमें उनके हाथोंकी फुर्ती देखने ही योग्य है। स्वयं अर्जुनने अपने उन दोनों भाइयोंको युद्धकी अच्छी शिक्षा दी है। जैसे दो बाज पक्षियोंके समुदायको (सर्वथा) नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार वे दोनों भाई शत्रुओंसे भिड़कर उन्हें जीवित नहीं छोड़ सकते ।। १६ ।।

एतद् बलं पूर्णमस्माकमेवं

यत् सत्यं तान् प्राप्य नास्तीति मन्ये ।
तेषां मध्ये वर्तमानस्तरस्वी
धृष्टद्युम्नः पाण्डवानामिहैकः ।। १७ ।।
सहामात्यः सोमकानां प्रबर्हः
संत्यक्तात्मा पाण्डवार्थे श्रुतो मे ।
अजातशत्रुं प्रसहेत कोऽन्यो
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ।। १८ ।।

यह ठीक है कि हमारी सेना सब प्रकारसे परिपूर्ण है तथापि मेरा यह विश्वास है कि यह पाण्डवोंका सामना पड़नेपर नहींके बराबर है। पाण्डवोंके पक्षमें धृष्टद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् योद्धा है, जो सोमकवंशका श्रेष्ठ राजकुमार है। मैंने सुना है, उसने पाण्डवोंके लिये मन्त्रियोंसहित अपने शरीरको निछावर कर दिया है। जिन अजातशत्रु युधिष्ठिरके अगुआ अथवा नेता वृष्णिवंशके सिंह भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उनका वेग दूसरा कौन सह सकता है? ।। १७-१८ ।।

सहोषितश्चरितार्थो वयःस्थो
मात्स्येयानामधिपो वै विराटः ।
स वै सपुत्रः पाण्डवार्थे च शश्वद्
युधिष्ठिरं भक्त इति श्रुतं मे ।। १९ ।।

मत्स्यदेशके राजा विराट भी अपने पुत्रोंके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये सदा उद्यत रहते हैं। मैंने सुना है कि वे युधिष्ठिरके बड़े भक्त हैं। कारण यह है कि अज्ञातवासके समय वे युधिष्ठिरके साथ एक वर्ष रहे हैं और युधिष्ठिरके द्वारा उनके गोधनकी रक्षा हुई है। अवस्थामें वृद्ध होनेपर भी वे युद्धमें नौजवान-से जान पड़ते हैं ।। १९ ।।

अवरुद्धा रथिनः केकयेभ्यो
महेष्वासा भ्रातरः पञ्च सन्ति ।
केकयेभ्यो राज्यमाकाङ्क्षमाणा
युद्धार्थिनश्चानुवसन्ति पार्थान् ।। २० ।।

केकयदेशसे बाहर निकाले हुए पाँच भाई केकयराजकुमार महान् धनुर्धर एवं रथी वीर हैं। वे पाण्डवोंके सहयोगसे केकयदेशके राजाओंसे पुनः अपना राज्य लेना चाहते हैं, इसलिये उनकी ओरसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर उन्हींके साथ रह रहे हैं ।। २० ।।

सर्वांश्च वीरान् पृथिवीपतीनां
समागतान् पाण्डवार्थे निविष्टान् ।
शूरानहं भक्तिमतः शृणोमि
प्रीत्या युक्तान् संश्रितान् धर्मराजम् ।। २१ ।।

मैं यह भी सुनता हूँ कि राजाओंमें जितने वीर हैं, वे सब पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर उनकी छावनीमें रहते हैं। वे सब-के-सब शौर्यसम्पन्न, युधिष्ठिरके प्रति भक्ति रखनेवाले, प्रसन्नचित्त एवं धर्मराजके आश्रित हैं ।। २१ ।।

गिर्याश्रया दुर्गनिवासिनश्च
योधाः पृथिव्यां कुलजातिशुद्धाः ।
म्लेच्छाश्च नानायुधवीर्यवन्तः
समागताः पाण्डवार्थे निविष्टाः ।। २२ ।।

पर्वतोंपर रहनेवाले, दुर्गम भूमिमें निवास करनेवाले एवं समतल भूमिके निवासी योद्धा, जो कुल और जातिकी दृष्टिसे बहुत शुद्ध हैं, वे तथा म्लेच्छ भी नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं और उनके शिविरमें निवास करते हैं ।। २२ ।।

पाण्ड्यश्च राजा समितीन्द्रकल्पो
योधप्रवीरैर्बहुभिः समेतः ।
समागतः पाण्डवार्थे महात्मा
लोकप्रवीरोऽप्रतिवीर्यतेजाः ।। २३ ।।

पाण्ड्यदेशके महामना राजा, जो संसारके सुविख्यात वीर, अनुपम पराक्रम और तेजसे सम्पन्न तथा युद्धमें देवराज इन्द्रके समान हैं, पाण्डवोंकी सहायताके लिये बहुत-से प्रमुख योद्धाओंके साथ पधारे हैं ।। २३ ।।

अस्त्रं द्रोणादर्जुनाद् वासुदेवात्
कृपाद् भीष्माद् येन वृतं शृणोमि ।
यं तं कार्ष्णिप्रतिममाहुरेकं
स सात्यकिः पाण्डवार्थे निविष्टः ।। २४ ।।

जिसने द्रोणाचार्य, अर्जुन, श्रीकृष्ण, कृपाचार्य तथा भीष्मसे भी अस्त्रविद्या सीखी है तथा जिस एकमात्र वीरको श्रीकृष्णपुत्र प्रद्युम्नके समान पराक्रमी बताया जाता है, वह सात्यकि भी, सुनता हूँ, पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर टिका हुआ है ।। २४ ।।

उपाश्रिताश्चेदिकरूषकाश्च
सर्वोद्योगैर्भूमिपालाः समेताः ।
तेषां मध्ये सूर्यमिवातपन्तं
श्रिया वृतं चेदिपतिं ज्वलन्तम् ।। २५ ।।
अस्तम्भनीयं युधि मन्यमानो
ज्यां कर्षतां श्रेष्ठतमं पृथिव्याम् ।
सर्वोत्साहं क्षत्रियाणां निहत्य
प्रसह्य कृष्णस्तरसा सम्ममर्द ।। २६ ।।

(युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें) चेदि और करूषदेशके भूपाल सब प्रकारकी तैयारीसे संगठित होकर आये थे। उन सबके बीचमें चेदिराज शिशुपाल अपनी दिव्य शोभासे तपते हुए सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा था। युद्धमें उसके वेगको रोकना असम्भव था। धनुषकी प्रत्यंचा खींचनेवाले भूमण्डलके सभी योद्धाओंमें शिशुपाल एक श्रेष्ठतम वीर था। यह सब समझकर भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ चेदिदेशीय क्षत्रियोंके सम्पूर्ण उत्साहको नष्ट करके हठपूर्वक बड़े वेगसे शिशुपालको मार डाला ।। २५-२६ ।।

यशोमानौ वर्धयन् पाण्डवानां
पुराभिनच्छिशुपालं समीक्ष्य ।
यस्य सर्वे वर्धयन्ति स्म मानं
करूषराजप्रमुखा नरेन्द्राः ।। २७ ।।

करूषराज आदि सब नरेश जिसका सम्मान बढ़ाते थे, उस शिशुपालकी ओर दृष्टिपात करके पाण्डवोंके यश और मानकी वृद्धिके उद्देश्यसे श्रीकृष्णने उसे पहले ही मार डाला ।। २७ ।।

तमसह्यं केशवं तत्र मत्वा
सुग्रीवयुक्तेन रथेन कृष्णम् ।
सम्प्राद्रवंश्चेदिपतिं विहाय
सिंहं दृष्ट्वा क्षुद्रमृगा इवान्ये ।। २८ ।।

सुग्रीव आदि घोड़ोंसे जुते हुए रथपर आरूढ़ होनेवाले श्रीकृष्णको असह्य मानकर चेदिराज शिशुपालके सिवा दूसरे भूपाल उसी प्रकार पलायन कर गये, जैसे सिंहको देखते ही जंगलके क्षुद्र पशु भाग जाते हैं ।। २८ ।।

यस्तं प्रतीपस्तरसा प्रत्युदीया-
दाशंसमानो द्वैरथे वासुदेवम् ।
सोऽशेत कृष्णेन हतः परासु-
र्वातेनेवोन्मथितः कर्णिकारः ।। २९ ।।

जिसने द्वैरथ-युद्धमें विजयकी आशा रखकर भगवान् श्रीकृष्णका विरोधी हो बड़े वेगसे उनपर धावा किया, वह शिशुपाल श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर प्राणशून्य हो सदाके लिये इस प्रकार धरतीपर सो गया, मानो कनेरका वृक्ष हवाके वेगसे उखड़कर धराशायी हो गया हो ।। २९ ।।

पराक्रमं मे यदवेदयन्त
तेषामर्थे संजय केशवस्य ।
अनुस्मरंस्तस्य कर्माणि विष्णो-
र्गावल्गणे नाधिगच्छामि शान्तिम् ।। ३० ।।

संजय! पाण्डवोंके लिये किये हुए श्रीकृष्णके उस पराक्रमका वृत्तान्त मेरे गुप्तचरोंने मुझे बताया था। गावल्गणे! श्रीहरिके उन वीरोचित कर्मोंको बारंबार याद करके मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ।। ३० ।।

न जातु ताञ्छत्रुरन्यः सहेत
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ।
प्रवेपते मे हृदयं भयेन
श्रुत्वा कृष्णावेकरथे समेतौ ।। ३१ ।।

जिनके अग्रगामी वृष्णिसिंह भगवान् वासुदेव हैं, उन पाण्डवोंका आक्रमण कभी भी दूसरा कोई शत्रु नहीं सह सकता। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों एक रथपर एकत्र हो गये हैं, यह सुनकर तो मेरा हृदय भयसे काँप उठता है ।। ३१ ।।

न चेद् गच्छेत् संगरं मन्दबुद्धि-
स्ताभ्यां लभेच्छर्म तदा सुतो मे ।
नो चेत् कुरून् संजय निर्दहेता-
मिन्द्राविष्णू दैत्यसेनां यथैव ।। ३२ ।।

संजय! यदि मेरा मन्दबुद्धि पुत्र उन दोनोंसे युद्ध करनेके लिये न जाय, तभी वह कल्याणका भागी हो सकता है। अन्यथा वे दोनों वीर कौरवोंको उसी प्रकार भस्म कर देंगे, जैसे इन्द्र और विष्णु दैत्यसेनाका संहार कर डालते हैं ।। ३२ ।।

मतो हि मे शक्रसमो धनंजयः
सनातनो वृष्णिवीरश्च विष्णुः ।
धर्मारामो ह्रीनिषेवस्तरस्वी
कुन्तीपुत्रः पाण्डवोऽजातशत्रुः ।। ३३ ।।
दुर्योधनेन निकृतो मनस्वी
नो चेत् क्रुद्धः प्रदहेद् धार्तराष्ट्रान् ।
नाहं तथा ह्यर्जुनाद् वासुदेवाद्
भीमाद् वाहं यमयोर्वा बिभेमि ।। ३४ ।।
यथा राज्ञः क्रोधदीप्तस्य सूत
मन्योरहं भीततरः सदैव ।
महातपा ब्रह्मचर्येण युक्तः
संकल्पोऽयं मानसस्तस्य सिद्ध्येत् ।। ३५ ।।

मुझे तो अर्जुन इन्द्रके समान प्रतीत होते हैं और वृष्णिवीर श्रीकृष्ण सनातन विष्णु जान पड़ते हैं। कुन्तीनन्दन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर धर्माचरणमें ही सुख मानते हैं। वे लज्जाशील और बलशाली हैं। उनके मनमें किसीके प्रति कभी शत्रुभाव नहीं पैदा हुआ है। नहीं तो वे मनस्वी युधिष्ठिर दुर्योधनके द्वारा छल-कपटके शिकार होनेपर क्रोध करके मेरे सभी पुत्रोंको

जलाकर भस्म कर देते। संजय! मैं अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन तथा नकुल-सहदेवसे भी उतना नहीं डरता, जितना कि क्रोधसे तमतमाये हुए राजा युधिष्ठिरके कोपसे। उनके रोषसे मैं सदा ही अत्यन्त भयभीत रहता हूँ; क्योंकि वे महान् तपस्वी और ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न हैं, इसलिये उनके मनमें जो संकल्प होगा, वह सिद्ध होकर ही रहेगा ।। ३३—३५ ।।

तस्य क्रोधं संजयाहं समीक्ष्य
स्थाने जानन् भृशमस्म्यद्य भीतः ।
स गच्छ शीघ्रं प्रहितो रथेन
पाञ्चालराजस्य चमूनिवेशनम् ।। ३६ ।।
अजातशत्रुं कुशलं स्म पृच्छेः
पुनः पुनः प्रीतियुक्तं वदेस्त्वम् ।
जनार्दनं चापि समेत्य तात
महामात्रं वीर्यवतामुदारम् ।। ३७ ।।
अनामयं मद्वचनेन पृच्छे-
र्धृतराष्ट्रः पाण्डवैः शान्तिमीप्सुः ।
न तस्य किंचिद् वचनं न कुर्यात्
कुन्तीपुत्रो वासुदेवस्य सूत ।। ३८ ।।

संजय! मैं उनके क्रोधको देखकर और उसे उचित जानकर आज बहुत डरा हुआ हूँ। मेरे द्वारा भेजे हुए तुम रथपर बैठकर शीघ्र ही पांचालराज द्रुपदकी छावनीमें जाकर वहाँ अत्यन्त प्रेमपूर्वक अजातशत्रु युधिष्ठिरसे वार्तालाप करना और बारंबार उनका कुशल-मंगल पूछना। तात! तुम बलवानोंमें श्रेष्ठ महाभाग भगवान् श्रीकृष्णसे भी मिलकर मेरी ओरसे उनका कुशल-समाचार पूछना और यह बताना कि धृतराष्ट्र पाण्डवोंके साथ शान्तिपूर्ण बर्ताव चाहते हैं। सूत! कुन्तीकुमार युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णाकी कोई भी बात टाल नहीं सकते ।। ३६—३८ ।।

प्रियश्चैषामात्मसमश्च कृष्णो
विद्वांश्चैषां कर्मणि नित्ययुक्तः ।
समानीतान् पाण्डवान् सृंजयांश्च
जनार्दनं युयुधानं विराटम् ।। ३९ ।।
अनामयं मद्वचनेन पृच्छेः
सर्वांस्तथा द्रौपदेयांश्च पञ्च ।
यद् यत् तत्र प्राप्तकालं परेभ्य-
स्त्वं मन्येथा भारतानां हितं च ।
तद् भाषेथाः संजय राजमध्ये
न मूर्च्छयेद् यन्न च युद्धहेतुः ।। ४० ।।

क्योंकि श्रीकृष्ण इनको आत्माके समान प्रिय हैं। श्रीकृष्ण विद्वान् हैं और सदा पाण्डवोंके हितके कार्यमें लगे रहते हैं। संजय! तुम वहाँ एकत्र हुए पाण्डवों तथा सृंजयवंशी क्षत्रियोंसे और श्रीकृष्ण, सात्यकि, राजा विराट एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंसे भी मेरी ओरसे स्वास्थ्यका समाचार पूछना। इसके सिवा जैसा अवसर हो और जिसमें तुम्हें भरतवंशियोंका हित प्रतीत हो, वैसी बातें पाण्डवपक्षके लोगोंसे कहना। राजाओंके बीचमें ऐसा कोई वचन न कहना, जो उनके क्रोधको बढ़ाने तथा युद्धका कारण बने ।। ३९-४० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि धृतराष्ट्रसंदेशे द्वाविंशोऽध्यायः ।। २२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें धृतराष्ट्रसंदेशविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४१ श्लोक हैं।]

त्रयोविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरसे मिलकर उनकी कुशल पूछना एवं युधिष्ठिरका संजयसे कौरवपक्षका कुशल-समाचार पूछते हुए उससे सारगर्भित प्रश्न करना

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रस्य संजयः ।
उपप्लव्यं ययौ द्रष्टुं पाण्डवानमितौजसः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रकी बात सुनकर संजय अमित तेजस्वी पाण्डवोंसे मिलनेके लिये उपप्लव्य गया ।। १ ।।

स तु राजानमासाद्य कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभिवाद्य ततः पूर्वं सूतपुत्रोऽभ्यभाषत ।। २ ।।

वहाँ पहले कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके पास जाकर सूतपुत्र संजयने उन्हें प्रणाम किया और उनसे बातचीत प्रारम्भ की ।। २ ।।

गावल्गणिः संजयः सूतसूनु-
रजातशत्रुमवदत् प्रतीतः ।
दिष्ट्या राजंस्त्वामरोगं प्रपश्ये
सहायवन्तं च महेन्द्रकल्पम् ।। ३ ।।

गवल्गणनन्दन सूतपुत्र संजयने प्रसन्न होकर अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मैं देवराज इन्द्रके समान आपको अपने सहायकोंके साथ स्वस्थ एवं सकुशल देख रहा हूँ ।। ३ ।।

अनामयं पृच्छति त्वाऽऽम्बिकेयो
वृद्धो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी ।
कच्चिद् भीमः कुशली पाण्डवाग्रयो
धनंजयस्तौ च माद्रीतनूजौ ।। ४ ।।

'वृद्ध एवं बुद्धिमान् अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्रने आपका कुशल-समाचार पूछा है। भीमसेन, पाण्डवप्रवर अर्जुन तथा वे दोनों माद्रीकुमार नकुल-सहदेव कुशलसे तो हैं न? ।। ४ ।।

कच्चित् कृष्णा द्रौपदी राजपुत्री
सत्यव्रता वीरपत्नी सपुत्रा ।
मनस्विनी यत्र च वाञ्छसि त्व-

मिष्टान् कामान् भारत स्वस्तिकामः ।। ५ ।।

'सत्यव्रतका पालन करनेवाली वीरपत्नी द्रुपदकुमारी राजपुत्री मनस्विनी कृष्णा अपने पुत्रोंसहित कुशलपूर्वक है न? भारत! इनके सिवा आप जिन-जिनके कल्याणकी इच्छा रखते हैं तथा जिन अभीष्ट भोगोंको बनाये रखना चाहते हैं, वे आत्मीय जन तथा धन-वैभव-वाहन आदि भोगोपकरण सकुशल हैं न?' ।। ५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

गावल्गणे संजय स्वागतं ते
प्रीयामहे ते वयं दर्शनेन ।
अनामयं प्रतिजाने तवाहं
सहानुजैः कुशली चास्मि विद्वन् ।। ६ ।।

युधिष्ठिर बोले—गवल्गणकुमार संजय! तुम्हारा स्वागत है। तुम्हें देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है। विद्वन्! मैं अपने भाइयोंसहित कुशलसे हूँ तथा तुम्हें अपने आरोग्यकी सूचना दे रहा हूँ ।। ६ ।।

चिराददिदं कुशलं भारतस्य
श्रुत्वा राज्ञः कुरुवृद्धस्य सूत ।
मन्ये साक्षाद् दृष्टमहं नरेन्द्रं
दृष्ट्वैव त्वां संजय प्रीतियोगात् ।। ७ ।।

सूत! कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भरतनन्दन महाराज धृतराष्ट्रका यह कुशल-समाचार दीर्घकालके बाद सुनकर और प्रेमपूर्वक तुम्हें भी देखकर मैं यह अनुभव करता हूँ कि आज मुझे साक्षात् महाराज धृतराष्ट्रका ही दर्शन हुआ है ।। ७ ।।

पितामहो नः स्थविरो मनस्वी
महाप्राज्ञः सर्वधर्मोपपन्नः ।
स कौरव्यः कुशली तात भीष्मो
यथापूर्वं वृत्तिरस्त्यस्य कच्चित् ।। ८ ।।

तात! मनस्वी, परम ज्ञानी तथा समस्त धर्मोंके ज्ञानसे सम्पन्न हमारे बूढ़े पितामह कुरुवंशी भीष्मजी तो कुशलसे हैं न? हमलोगोंपर उनका स्नेहभाव तो पूर्ववत् बना हुआ है न? ।। ८ ।।

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
वैचित्रवीर्यः कुशली महात्मा ।
महाराजो बाह्लिकः प्रातिपेयः
कच्चिद् विद्वान् कुशली सूतपुत्र ।। ९ ।।

संजय! क्या अपने पुत्रोंसहित विचित्रवीर्यनन्दन महामना राजा धृतराष्ट्र सकुशल हैं? प्रतीपके विद्वान् पुत्र महाराज बाह्लीक तो कुशलपूर्वक हैं न? ।। ९ ।।

स सोमदत्तः कुशली तात कच्चिद्
भूरिश्रवाः सत्यसंधः शलश्च ।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च विप्रो
महेष्वासाः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ।। १० ।।

तात! सोमदत्त, भूरिश्रवा, सत्यप्रतिज्ञ शल, पुत्रसहित द्रोणाचार्य और विप्रश्रेष्ठ कृपाचार्य—ये महाधनुर्धर वीर स्वस्थ तो हैं न? ।। १० ।।

सर्वे कुरुभ्यः स्पृहयन्ति संजय
धनुर्धरा ये पृथिव्यां प्रधानाः ।
महाप्राज्ञाः सर्वशास्त्रावदाता
धनुर्भृता मुख्यतमाः पृथिव्याम् ।। ११ ।।

संजय! क्या पृथ्वीके ये महान् धनुर्धर, जो परम बुद्धिमान्, समस्त शास्त्रोंके ज्ञानसे उज्ज्वल तथा भू-मण्डलके धनुर्धरोंमें प्रधान हैं, कौरवोंसे स्नेह-भाव रखते हैं? ।। ११ ।।

कच्चिन्मानं तात लभन्त एते
धनुर्भृतः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ।
येषां राष्ट्रे निवसति दर्शनीयो
महेष्वासः शीलवान् द्रोणपुत्रः ।। १२ ।।

तात! जिनके राष्ट्रमें दर्शनीय, शीलवान् तथा महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा निवास करता है, उन कौरवोंके बीच क्या पूर्वोक्त धनुर्धर विद्वान् आदर पाते हैं? क्या ये कौरव भी नीरोग हैं? ।। १२ ।।

वैश्यापुत्रः कुशली तात कच्चि-
न्महाप्राज्ञो राजपुत्रो युयुत्सुः ।
कर्णोऽमात्यः कुशली तात कच्चित्
सुयोधनो यस्य मन्दो विधेयः ।। १३ ।।

तात! क्या राजा धृतराष्ट्रकी वैश्यजातीय पत्नीके पुत्र महाज्ञानी राजकुमार युयुत्सु सकुशल हैं? संजय! मूढ़ दुर्योधन सदा जिसकी आज्ञाके अधीन रहता है, वह मन्त्री कर्ण भी कुशलपूर्वक है न? ।। १३ ।।

स्त्रियो वृद्धा भारतानां जनन्यो
महानस्यो दासभार्याश्च सूत ।
वध्वः पुत्रा भागिनेया भगिन्यो
दौहित्रा वा कच्चिदप्यव्यलीकाः ।। १४ ।।

सूत! भरतवंशियोंकी माताएँ, बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ, रसोई बनानेवाली सेविकाएँ, दासियाँ, बहुएँ, पुत्र, भानजे, बहिनें और पुत्रियोंके पुत्र—ये सभी निष्कपट-भावसे रहते हैं न? ।। १४ ।।

कच्चिद् राजा ब्राह्मणानां यथावत्
प्रवर्तते पूर्ववत् तात वृत्तिम् ।
कच्चिद् दायान् मामकान् धार्तराष्ट्रो
द्विजातीनां संजय नोपहन्ति ।। १५ ।।

तात! क्या राजा दुर्योधन पहलेकी भाँति ब्राह्मणोंको जीविका देनेमें यथोचित रीतिसे तत्पर रहता है? संजय! मैंने ब्राह्मणोंको वृत्तिके रूपमें जो गाँव आदि दिये थे, उन्हें वह छीनता तो नहीं है? ।। १५ ।।

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्र
उपेक्षते ब्राह्मणातिक्रमान् वै ।
स्वर्गस्य कच्चिन्न तथा वर्त्मभूता-
मुपेक्षते तेषु सदैव वृत्तिम् ।। १६ ।।

पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र ब्राह्मणोंके प्रति किये गये अपराधोंकी उपेक्षा तो नहीं करते? ब्राह्मणोंको जो सदा वृत्ति दी जाती है, वह स्वर्गलोकमें पहुँचनेका मार्ग है; अतः राजा उस वृत्तिकी उपेक्षा या अवहेलना तो नहीं करते हैं? ।। १६ ।।

एतज्ज्योतिश्चोत्तमं जीवलोके
शुक्लं प्रजानां विहितं विधात्रा ।
ते चेद् दोषं न नियच्छन्ति मन्दाः
कृत्स्नो नाशो भविता कौरवाणाम् ।। १७ ।।

ब्राह्मणोंको दी हुई जीविकावृत्तिकी रक्षा परलोकको प्रकाशित करनेवाली उत्तम ज्योति है और इस जीव-जगत्में वह उज्ज्वल यशका विस्तार करनेवाली है। यह नियम विधाताने ही प्रजाके हितके लिये रच रखा है। यदि मन्दबुद्धि कौरव लोभवश ब्राह्मणोंकी जीविका-वृत्तिके अपहरणरूप दोषको काबूमें नहीं रखेंगे तो कौरवकुलका सर्वथा विनाश हो जायगा ।। १७ ।।

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
बुभूषते वृत्तिममात्यवर्गे ।
कच्चिन्न भेदेन जिजीविषन्ति
सुहृद्रूपा दुर्हृदैश्चैकमत्यात् ।। १८ ।।

क्या पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र मन्त्रिवर्गको भी जीवन-निर्वाहके योग्य वृत्ति देनेकी इच्छा रखते हैं? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि वे भेदसे जीविका चलाना चाहते हों (शत्रुओंने उन्हें

फोड़ लिया हो और वे उन्हींके दिये हुए धनसे जीवन-निर्वाह करना चाहते हों)। वे सुहृद्‌के रूपमें रहते हुए भी एकमत होकर शत्रु तो नहीं बन गये हैं? ।। १८ ।।

कच्चिन्न पापं कथयन्ति तात
ते पाण्डवानां कुरवः सर्व एव ।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च वीरो
नास्मासु पापानि वदन्ति कच्चित् ।। १९ ।।

तात संजय! कहीं सब कौरव मिलकर पाण्डवोंके किसी दोषकी चर्चा तो नहीं करते हैं? पुत्रसहित द्रोणाचार्य और वीर कृपाचार्य हमलोगोंपर किन्हीं दोषोंका आरोप तो नहीं करते हैं? ।। १९ ।।

कच्चिद् राज्ये धृतराष्ट्रं सपुत्रं
समेत्याहुः कुरवः सर्व एव ।
कच्चिद् दृष्ट्वा दस्युसङ्घान् समेतान्
स्मरन्ति पार्थस्य युधां प्रणेतुः ।। २० ।।

क्या कभी सब कौरव एकत्र हो पुत्रसहित धृतराष्ट्रके पास जाकर हमें राज्य देनेके विषयमें कुछ कहते हैं? क्या राज्यमें लुटेरोंके दलोंको देखकर वे कभी संग्रामविजयी अर्जुनको भी याद करते हैं? ।। २० ।।

मौर्वीभुजाग्रप्रहितान् स्म तात
दोधूयमानेन धनुर्गुणेन ।
गाण्डीवनुन्नान् स्तनयित्नुघोषा-
नजिह्मगान् कच्चिदनुस्मरन्ति ।। २१ ।।

संजय! प्रत्यंचाको बारंबार हिलाकर और कानोंतक खींचकर अँगुलियोंके अग्रभागसे जिनका संधान किया जाता है तथा जो गाण्डीव धनुषसे छूटकर मेघकी गर्जनाके समान सनसनाते हुए सीधे लक्ष्यतक पहुँच जाते हैं, अर्जुनके उन बाणोंको कौरवलोग बराबर याद करते हैं न? ।। २१ ।।

न चापश्यं कंचिदहं पृथिव्यां
योधं समं वाधिकमर्जुनेन ।
यस्यैकषष्टिर्निशितास्तीक्ष्णधाराः
सुवाससः सम्मतो हस्तवापः ।। २२ ।।

मैंने इस पृथ्वीपर अर्जुनसे बढ़कर या उनके समान दूसरे किसी योद्धाको नहीं देखा है; क्योंकि जब वे एक बार अपने हाथोंसे धनुषपर शर-संधान करते हैं, तब उससे सुन्दर पंख और पैनी धारवाले इकसठ तीखे बाण प्रकट होते हैं ।। २२ ।।

गदापाणिर्भीमसेनस्तरस्वी
प्रवेपयञ्छत्रुसङ्घाननीके ।

नागः प्रभिन्न इव नड्वलेषु
चंक्रम्यते कच्चिदेनं स्मरन्ति ।। २३ ।।

जैसे मस्तकसे मदकी धारा बहानेवाला गजराज सरकंडोंसे भरे हुए स्थानोंमें निर्भय विचरता है, उसी प्रकार वेगशाली वीर भीमसेन हाथमें गदा लिये रणभूमिमें शत्रुसमुदायको कम्पित करते हुए विचरण करते हैं। क्या कौरवलोग उन्हें भी कभी याद करते हैं? ।। २३ ।।

माद्रीपुत्रः सहदेवः कलिङ्गान्
समागतानजयद् दन्तकूरे ।
वामेनास्यन् दक्षिणेनैव यो वै
महाबलं कच्चिदेनं स्मरन्ति ।। २४ ।।

जिसमें दाँत पीसकर अस्त्र-शस्त्र चलाये जाते हैं, उस भयंकर युद्धमें माद्रीनन्दन सहदेवने दाहिने और बायें हाथसे बाणोंकी वर्षा करके अपना सामना करनेके लिये आये हुए कलिंगदेशीय योद्धाओंको परास्त किया था। क्या इस महाबली वीरको भी कौरव कभी याद करते हैं? ।। २४ ।।

पुरा जेतुं नकुलः प्रेषितोऽयं
शिबींस्त्रिगर्तान् संजय पश्यतस्ते ।
दिशं प्रतीचीं वशमानयन्मे
माद्रीसुतं कच्चिदेनं स्मरन्ति ।। २५ ।।

संजय! पहले राजसूययज्ञमें तुम्हारे सामने ही शिबि और त्रिगर्तदेशके वीरोंको जीतनेके लिये इस नकुलको भेजा गया था; परंतु इसने सारी पश्चिम दिशाको जीतकर मेरे अधीन कर दिया। क्या कौरव इस वीर माद्रीकुमारका भी स्मरण करते हैं? ।। २५ ।।

पराभवो द्वैतवने य आसीद्
दुर्मन्त्रिते घोषयात्रागतानाम् ।
यत्र मन्दाञ्छत्रुवशं प्रयाता-
नमोचयद् भीमसेनो जयश्च ।। २६ ।।

कर्णकी खोटी सलाहके अनुसार घोषयात्रामें गये हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंकी द्वैतवनमें जो पराजय हुई थी, उसमें वे सभी मन्दबुद्धि कौरव शत्रुओंके अधीन हो गये थे। उस समय भीमसेन और अर्जुनने ही उन्हें बन्धनसे मुक्त किया था ।। २६ ।।

अहं पश्चादर्जुनमभ्यरक्षं
माद्रीपुत्रौ भीमसेनोऽप्यरक्षत् ।
गाण्डीवधन्वा शत्रुसङ्घानुदस्य
स्वस्त्यागमत् कच्चिदेनं स्मरन्ति ।। २७ ।।

उस युद्धमें मैंने पीछे रहकर यज्ञके द्वारा अर्जुनकी रक्षा की थी और भीमसेनने नकुल तथा सहदेवका संरक्षण किया था। गाण्डीवधारी अर्जुनने शत्रुओंके समुदायको मार गिराया

था और स्वयं सकुशल लौट आये थे। क्या कौरव कभी उनकी याद करते हैं? ।। २७ ।।

न कर्मणा साधुनैकेन नूनं
सुखं शक्यं वै भवतीह संजय ।
सर्वात्मना परिजेतं वयं चे-
न्न शक्नुमो धृतराष्ट्रस्य पुत्रम् ।। २८ ।।

संजय! यदि हम धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको सभी उपायोंसे नहीं जीत सकते तो केवल एक अच्छे व्यवहारसे ही उसे सुखपूर्वक जीतना हमारे लिये निश्चय ही सम्भव नहीं है ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रयोविंशोऽध्यायः ।। २३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरप्रश्नविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३ ।।

चतुर्विंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको उनके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए उन्हें राजा धृतराष्ट्रका संदेश सुनानेकी प्रतिज्ञा करना

संजय उवाच

यथाऽऽत्थ मे पाण्डव तत् तथैव
कुरून् कुरुश्रेष्ठ जनं च पृच्छसि ।
अनामयास्तात मनस्विनस्ते
कुरुश्रेष्ठान् पृच्छसि पार्थ यांस्त्वम् ।। १ ।।

संजय बोला—कुरुश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन! आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वह बिलकुल ठीक है। कौरवों तथा अन्य लोगोंके विषयमें आप जो कुछ पूछ रहे हैं, वह बताता हूँ, सुनिये। तात! कुन्तीनन्दन! आपने जिन श्रेष्ठ कुरुवंशियोंके कुशल-समाचार पूछे हैं, वे सभी मनस्वी पुरुष स्वस्थ और सानन्द हैं ।। १ ।।

सन्त्येव वृद्धाः साधवो धार्तराष्ट्रे
सन्त्येव पापाः पाण्डव तस्य विद्धि ।
दद्याद् रिपुभ्योऽपि हि धार्तराष्ट्रः
कुतो दायाँल्लोपयेद् ब्राह्मणानाम् ।। २ ।।

पाण्डव! धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनके पास जैसे बहुत-से पापी रहते हैं, उसी प्रकार उसके यहाँ साधुस्वभाववाले वृद्ध पुरुष भी रहते ही हैं। आप इस बातको सत्य समझें। दुर्योधन तो शत्रुओंको भी धन देता है, फिर वह ब्राह्मणोंकी जीविकाका लोप तो कर ही कैसे सकता है? ।। २ ।।

यद् युष्माकं वर्तते सौनधर्म्य-
मद्रुग्धेषु द्रुग्धवत् तन्न साधु ।
मित्रध्रुक् स्याद् धृतराष्ट्रः सपुत्रो
युष्मान् द्विषन् साधुवृत्तानसाधुः ।। ३ ।।

आपलोगोंने दुर्योधनके प्रति कभी द्रोहका भाव नहीं रखा है, तो भी वह आपके प्रति जो क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता है—द्रोही पुरुषोंके समान ही आचरण करता है, (दुर्योधनके लिये) यह उचित नहीं है। आप-जैसे साधु-स्वभाव लोगोंसे द्वेष करनेपर तो पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र असाधु और मित्रद्रोही ही समझे जायँगे ।।

न चानुजानाति भृशं च तप्यते
शोचत्यन्तः स्थविरोऽजातशत्रो ।

शृणोति हि ब्राह्मणानां समेत्य
मित्रद्रोहः पातकेभ्यो गरीयान् ।। ४ ।।

अजातशत्रो! राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंको आपसे द्वेष करनेकी आज्ञा नहीं देते; बल्कि आपके प्रति उनके द्रोहकी बात सुनकर वे मन-ही-मन अत्यन्त संतप्त होते तथा शोक किया करते हैं? क्योंकि वे अपने यहाँ पधारे हुए ब्राह्मणोंसे मिलकर सदा उनसे यही सुना करते हैं कि मित्रद्रोह सब पापोंसे बढ़कर है ।। ४ ।।

स्मरन्ति तुभ्यं नरदेव संयुगे
युद्धे च जिष्णोश्च युधां प्रणेतुः ।
समुत्कृष्टे दुन्दुभिशङ्खशब्दे
गदापाणिं भीमसेनं स्मरन्ति ।। ५ ।।

नरदेव! कौरवगण युद्धकी चर्चा चलनेपर आपको तथा वीराग्रणी अर्जुनको भी स्मरण करते हैं। युद्धकालमें जब दुन्दुभि और शंखकी ध्वनि गूँज उठती है, उस समय उन्हें गदापाणि भीमसेनकी बहुत याद आती है ।। ५ ।।

माद्रीसुतौ चापि रणाजिमध्ये
सर्वा दिशः सम्पतन्तौ स्मरन्ति ।
सेनां वर्षन्तौ शरवर्षैरजस्रं
महारथौ समरे दुष्प्रकम्पौ ।। ६ ।।

समरांगणमें जिन्हें हराना तो दूरकी बात है, विचलित या कम्पित करना भी अत्यन्त कठिन है, जो शत्रुसेनापर निरन्तर बाणोंकी वर्षा करते हैं और संग्राममें सम्पूर्ण दिशाओंमें आक्रमण करते हैं, उन महारथी माद्रीकुमार नकुल-सहदेवको भी कौरव सदा याद करते हैं ।। ६ ।।

न त्वेव मन्ये पुरुषस्य राज-
न्ननागतं ज्ञायते यद् भविष्यम् ।
त्वं चेत् तथा सर्वधर्मोपपन्नः
प्राप्तः क्लेशं पाण्डव कृच्छ्ररूपम् ।
त्वमेवैतत् कृच्छ्रगतश्च भूयः
समीकुर्याः प्रज्ञयाजातशत्रो ।। ७ ।।

पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर! मेरा यह विश्वास है कि मनुष्यका भविष्य जबतक वह सामने नहीं आता, किसीको ज्ञात नहीं होता; क्योंकि आप-जैसे सर्वधर्मसम्पन्न पुरुष भी अत्यन्त भयंकर क्लेशमें पड़ गये। अजातशत्रो! संकटमें पड़नेपर भी आप ही अपनी बुद्धिसे विचारकर इस झगड़ेकी शान्तिके लिये पुनः कोई सरल उपाय ढूँढ़ निकालिये ।। ७ ।।

न कामार्थं संत्यजेयुर्हि धर्मं

पाण्डोः सुताः सर्वं एवेन्द्रकल्पाः ।

त्वमेवैतत् प्रज्ञयाजातशत्रो

समीकुर्या येन शर्माप्नुयुस्ते ।। ८ ।।

धार्तराष्ट्राः पाण्डवाः सृंजयाश्च

ये चाप्यन्ये संनिविष्टा नरेन्द्राः ।

पाण्डुके सभी पुत्र इन्द्रके समान पराक्रमी हैं। वे किसी भी स्वार्थके लिये कभी धर्मका त्याग नहीं करते। अतः अजातशत्रो! आप ही इस समस्याको हल कीजिये, जिससे धृतराष्ट्रके सभी पुत्र, पाण्डव, सृंजयवंशी क्षत्रिय तथा अन्य नरेश, जो आकर सेनाकी छावनीमें टिके हुए हैं, कल्याणके भागी हों ।। ८$\frac{१}{२}$ ।।

यन्माब्रवीद् धृतराष्ट्रो निशाया-

मजातशत्रो वचनं पिता ते ।। ९ ।।

सहामात्यः सहपुत्रश्च राजन्

समेत्य तां वाचमिमां निबोध ।। १० ।।

महाराज युधिष्ठिर! आपके ताऊ धृतराष्ट्रने रातके समय मुझसे आपलोगोंके लिये जो संदेश कहा था, उसे आप मन्त्रियों और पुत्रोंसहित मेरे इन शब्दोंमें सुनिये ।। ९-१० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि संजयवाक्ये चतुर्विंशोऽध्यायः ।। २४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४ ।।

पञ्चविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको धृतराष्ट्रका संदेश सुनाना एवं अपनी ओरसे भी शान्तिके लिये प्रार्थना करना

युधिष्ठिर उवाच

समागताः पाण्डवाः सृंजयाश्च
जनार्दनो युयुधानो विराटः ।
यत् ते वाक्यं धृतराष्ट्रानुशिष्टं
गावल्गणे ब्रूहि तत् सूतपुत्र ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—गवल्गणकुमार सूतपुत्र संजय! यहाँ पाण्डव, सृंजय, भगवान् श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा राजा विराट—सब एकत्र हुए हैं। राजा धृतराष्ट्रने तुम्हारे द्वारा जो संदेश भेजा है, उसे कहो ।। १ ।।

संजय उवाच

अजातशत्रुं च वृकोदरं च
धनंजयं माद्रवतीसुतौ च ।
आमन्त्रये वासुदेवं च शौरिं
युयुधानं चेकितानं विराटम् ।। २ ।।
पञ्चालानामधिपं चैव वृद्धं
धृष्टद्युम्नं पार्षतं याज्ञसेनिम् ।
सर्वे वाचं शृणुतेमां मदीयां
वक्ष्यामि यां भूतिमिच्छन् कुरूणाम् ।। ३ ।।

संजय बोला—मैं अजातशत्रु युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण, सात्यकि, चेकितान, विराट, पांचालदेशके बूढ़े नरेश द्रुपद तथा उनके पुत्र पृषतवंशी धृष्टद्युम्नको भी आमन्त्रित करता हूँ। मैं कौरवोंकी भलाई चाहता हुआ जो कुछ कह रहा हूँ, मेरी उस वाणीको आप सब लोग सुनें ।। २-३ ।।

शमं राजा धृतराष्ट्रोऽभिनन्द-
न्नयोजयत् त्वरमाणो रथं मे ।
सभ्रातृपुत्रस्वजनस्य राज्ञ-
स्तद् रोचतां पाण्डवानां शमोऽस्तु ।। ४ ।।

राजा धृतराष्ट्र शान्तिका आदर करते हैं (युद्ध नहीं चाहते)। उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ मेरे लिये शीघ्रतापूर्वक रथ तैयार कराया और मुझे यहाँ भेजा। मैं चाहता हूँ कि भाई,

पुत्र तथा स्वजनोंसहित राजा धृतराष्ट्रका यह शान्तिसंदेश पाण्डवोंको रुचिकर प्रतीत हो और दोनों पक्षोंमें सन्धि स्थापित हो जाय ।। ४ ।।

सर्वैर्धर्मैः समुपेतास्तु पार्थाः
संस्थानेन मार्दवेनार्जवेन ।
जाताः कुले ह्यनृशंसा वदान्या
ह्रीनिषेवाः कर्मणां निश्चयज्ञाः ।। ५ ।।

कुन्तीके पुत्रो! आपलोग अपने दिव्य शरीर, दयालु एवं कोमल स्वभाव और सरलता आदि गुणों तथा सम्पूर्ण धर्मोंसे युक्त हैं। आपलोगोंका उत्तम कुलमें जन्म हुआ है। आपलोगोंमें क्रूरताका सर्वथा अभाव है। आपलोग उदार, लज्जाशील और कर्मोंके परिणामको जाननेवाले हैं ।। ५ ।।

न युज्यते कर्म युष्मासु हीनं
सत्त्वं हि वस्तादृशं भीमसेनाः ।
उद्भासते ह्यञ्जनबिन्दुवत् त-
च्छुभ्रे वस्त्रे यद् भवेत् किल्बिषं वः ।। ६ ।।

भयंकर सैन्यसंग्रह करनेवाले पाण्डवो! आपलोगोंमें ऐसा सत्त्वगुण भरा है कि आपके द्वारा कोई नीच कर्म बन ही नहीं सकता। यदि आपलोगोंमें कोई दोष होता तो वह सफेद वस्त्रमें काले दागकी भाँति चमक उठता (छिप नहीं सकता) ।। ६ ।।

सर्वक्षयो दृश्यते यत्र कृत्स्नः
पापोदयो निरयोऽभावसंस्थः ।
कस्तत् कुर्याज्जातु कर्म प्रजानन्
पराजयो यत्र समो जयश्च ।। ७ ।।

जिसमें सबका विनाश दिखायी देता है, जिससे पूर्णतः पापका उदय होता है, जो नरकका हेतु है, जिसके अन्तमें अभाव ही हाथ लगता है और जिसमें जय तथा पराजय दोनों समान हैं, उस युद्ध-जैसे कठोर कर्मके लिये कौन समझदार मनुष्य कभी उद्योग करेगा? ।। ७ ।।

ते वै धन्या यैः कृतं ज्ञातिकार्यं
ते वै पुत्राः सुहृदो बान्धवाश्च ।
उपक्रुष्टं जीवितं संत्यजेयु-
र्यतः कुरूणां नियतो वैभवः स्यात् ।। ८ ।।

जिन्होंने जाति और कुटुम्बके हितकर कार्योंका साधन किया है, वे धन्य हैं। वे ही पुत्र, मित्र तथा बान्धव कहलानेयोग्य हैं। कौरवोंको चाहिये कि वे निन्दित जीवनका परित्याग कर दें, जिससे कौरवकुलका अभ्युदय अवश्यम्भावी हो ।। ८ ।।

ते चेत् कुरूननुशिष्याथ पार्था
निर्णीय सर्वान् द्विषतो निगृह्य ।
समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याद्
यज्जीवध्वं ज्ञातिवधे न साधु ।। ९ ।।

कुन्तीकुमारो! यदि आपलोग समस्त कौरवोंको निश्चित रूपसे अपना शत्रु मानकर उन्हें दण्ड देंगे, कैद करेंगे अथवा उनका वध कर डालेंगे तो उस दशामें आपका जो जीवन होगा, वह आपके द्वारा कुटुम्बीजनोंका वध होनेके कारण अच्छा नहीं समझा जायगा। वह निन्दित जीवन तो मृत्युके समान ही होगा ।। ९ ।।

को ह्येव युष्मान् सह केशवेन
सचेकितानान् पार्षतबाहुगुप्तान् ।
ससात्यकीन् विषहेत प्रजेतुं
लब्ध्वापि देवान् सचिवान् सहेन्द्रान् ।। १० ।।

भगवान् श्रीकृष्ण, चेकितान और सात्यकि आपलोगोंके सहायक हैं। आपलोग महाराज द्रुपदके बाहुबलसे सुरक्षित हैं। ऐसी दशामें इन्द्रसहित समस्त देवताओंको अपने सहायकके रूपमें पाकर भी कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो आपलोगोंको जीतनेका साहस करेगा? ।। १० ।।

को वा कुरून् द्रोणभीष्माभिगुप्ता-
नश्वत्थाम्ना शल्यकृपादिभिश्च ।

रणे विजेतुं विषहेत राजन्
राधेयगुप्तान् सह भूमिपालैः ।। ११ ।।

राजन्! इसी प्रकार द्रोणाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा, शल्य, कृपाचार्य आदि वीरों तथा अन्य राजाओंसहित कर्णके द्वारा सुरक्षित कौरवोंको युद्धमें जीतनेका साहस कौन कर सकता है? ।। ११ ।।

महद् बलं धार्तराष्ट्रस्य राज्ञः
को वै शक्तो हन्तुमक्षीयमाणः ।
सोऽहं जये चैव पराजये च
निःश्रेयसं नाधिगच्छामि किञ्चित् ।। १२ ।।

राजा दुर्योधनके पास विशाल वाहिनी एकत्र हो गयी है। कौन ऐसा वीर है जो स्वयं क्षीण न होकर उस सेनाका विनाश कर सके? मैं तो इस युद्धमें किसी भी पक्षकी जय हो या पराजय, कोई कल्याणकी बात नहीं देखता हूँ ।। १२ ।।

कथं हि नीचा इव दौष्कुलेया
निर्धर्मार्थं कर्म कुर्युश्च पार्थाः ।
सोऽहं प्रसाद्य प्रणतो वासुदेवं
पञ्चालानामधिपं चैव वृद्धम् ।। १३ ।।
कृताञ्जलिः शरणं वः प्रपद्ये
कथं स्वस्ति स्यात् कुरुसृंजयानाम् ।
न ह्येवमेवं वचनं वासुदेवो
धनंजयो वा जातु किंचिन्न कुर्यात् ।। १४ ।।

भला! कुन्तीके पुत्र नीच कुलमें उत्पन्न हुए दूसरे अधम मनुष्योंके समान ऐसा (निन्दित) कर्म कैसे कर सकते हैं? जिससे न तो धर्मकी सिद्धि होनेवाली है और न अर्थकी ही। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं तथा वृद्ध पांचालराज द्रुपद भी उपस्थित हैं। मैं इन सबको प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ, हाथ जोड़कर आपलोगोंकी शरणमें आया हूँ। आप स्वयं विचार करें कि कुरु तथा संृजय-वंशका कल्याण कैसे हो? मुझे विश्वास है कि भगवान् श्रीकृष्ण अथवा अर्जुन इस प्रकार प्रार्थनापूर्वक कही हुई मेरी किसी भी बातको ठुकरा नहीं सकते ।। १३-१४ ।।

प्राणान् दद्याद् याचमानः कुतोऽन्य-
देतद् विद्वन् साधनार्थं ब्रवीमि ।
एतद् राज्ञो भीष्मपुरोगमस्य
मतं यद् वः शान्तिरिहोत्तमा स्यात् ।। १५ ।।

इतना ही नहीं, मेरे माँगनेपर अर्जुन अपने प्राणतक दे सकते हैं, फिर दूसरी किसी वस्तुके लिये तो कहना ही क्या है? विद्वान् राजा युधिष्ठिर! मैं संधि-कार्यकी सिद्धिके लिये

ही यह सब कह रहा हूँ। भीष्म तथा राजा धृतराष्ट्रको भी यही अभिमत है और इसीसे आप सब लोगोंको उत्तम शान्ति प्राप्त हो सकती है ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये पञ्चविंशोऽध्यायः ।। २५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५ ।।

षड्विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका संजयको इन्द्रप्रस्थ लौटानेसे ही शान्ति होना सम्भव बतलाना

युधिष्ठिर उवाच

कां नु वाचं संजय मे शृणोषि
युद्धैषिणीं येन युद्धाद् बिभेषि ।
अयुद्धं वै तात युद्धाद् गरीयः
कस्तल्लब्ध्वा जातु युद्ध्येत सूत ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—संजय! तुमने मेरी कौन-सी ऐसी बात सुनी है, जिससे मेरी युद्धकी इच्छा व्यक्त हुई है, जिसके कारण तुम युद्धसे भयभीत हो रहे हो? तात! युद्ध करनेकी अपेक्षा युद्ध न करना ही श्रेष्ठ है। सूत! युद्ध न करनेका अवसर पाकर भी कौन मनुष्य कभी युद्धमें प्रवृत्त होगा? ।। १ ।।

अकुर्वतश्चेत् पुरुषस्य संजय
सिद्ध्येत् संकल्पो मनसा यं यमिच्छेत् ।
न कर्म कुर्याद् विदितं ममैत-
दन्यत्र युद्धाद् बहु यल्लघीयः ।। २ ।।

संजय! यदि कर्म न करनेपर भी पुरुषका संकल्प सिद्ध हो जाता—वह मनसे जिस-जिस वस्तुको चाहता, वह-वह उसे मिल जाती तो कोई भी मनुष्य कर्म नहीं करता, यह बात मुझे अच्छी तरह मालूम है। युद्ध किये बिना यदि थोड़ा भी लाभ प्राप्त होता हो तो उसे बहुत समझना चाहिये ।। २ ।।

कुतो युद्धं जातु नरोऽवगच्छेत्
को देवशप्तो हि वृणीत युद्धम् ।
सुखैषिणः कर्म कुर्वन्ति पार्था
धर्मादहीनं यच्च लोकस्य पथ्यम् ।। ३ ।।

मनुष्य कभी भी किसलिये युद्धका विचार करेगा? किसे देवताओंने शाप दे रखा है, जो जान-बूझकर युद्धका वरण करेगा? कुन्तीके पुत्र सुखकी इच्छा रखकर वही कर्म करते हैं, जो धर्मके विपरीत न हो तथा जिससे सब लोगोंका भला होता हो ।। ३ ।।

धर्मोदयं सुखमाशंसमानाः
कृच्छ्रोपायं तत्त्वतः कर्म दुःखम् ।
सुखं प्रेप्सुर्विजिघांसुश्च दुःखं

य इन्द्रियाणां प्रीतिरसानुगामी ।। ४ ।।

हमलोग वही सुख चाहते हैं, जो धर्मकी प्राप्ति करानेवाला हो। जो इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले विषय-रसका अनुगामी होता है, वह सुखको पाने और दुःखको नष्ट करनेकी इच्छासे कर्म करता है; परंतु वास्तवमें उसका सारा कर्म दुःखरूप ही है; क्योंकि वह कष्टदायक उपायोंसे ही साध्य है ।। ४ ।।

कामाभिध्या स्वशरीरं दुनोति
यया प्रमुक्तो न करोति दुःखम् ।
यथेध्यमानस्य समिद्धतेजसो
भूयो बलं वर्धते पावकस्य ।। ५ ।।
कामार्थलाभेन तथैव भूयो
न तृप्यते सर्पिषेवाग्निरिद्धः ।

विषयोंका चिन्तन अपने शरीरको पीड़ा देता है। जो विषय-चिन्तनसे सर्वथा मुक्त है, वह कभी दुःखका अनुभव नहीं करता। जैसे प्रज्वलित अग्निमें ईंधन डालनेसे उसका बल बहुत अधिक बढ़ जाता है, उसी प्रकार विषयभोग और धनका लाभ होनेसे मनुष्यकी तृष्णा और अधिक बढ़ जाती है। घीसे शान्त न होनेवाली प्रज्वलित अग्निकी भाँति मानव कभी विषयभोग और धनसे तृप्त नहीं होता है ।। ५½ ।।

सम्पश्येमं भोगचयं महान्तं
सहास्माभिर्धृतराष्ट्रस्य राज्ञः ।। ६ ।।

हमलोगोंसहित राजा धृतराष्ट्रके पास यह भोगोंकी विशाल राशि संचित हो गयी है। परंतु देखो (इतनेपर भी उनकी तृप्ति नहीं होती) ।। ६ ।।

नाश्रेयानीश्वरो विग्रहाणां
नाश्रेयान् वै गीतशब्दं शृणोति ।
नाश्रेयान् वै सेवते माल्यगन्धान्
न चाप्यश्रेयाननुलेपनानि ।। ७ ।।
नाश्रेयान् वै प्रावारान् संविवस्ते
कथं त्वस्मान् सम्प्रणुदेत् कुरुभ्यः ।
अत्रैव स्यादबुधस्यैव कामः
प्रायः शरीरे हृदयं दुनोति ।। ८ ।।

जो पुण्यात्मा नहीं है, वह संग्रामोंमें विजयी नहीं होता। जो पुण्यात्मा नहीं है, वह अपना यशोगान नहीं सुनता। जिसने पुण्य नहीं किया है, वह मालाएँ और गन्ध नहीं धारण कर सकता। जो पुण्यात्मा नहीं है, वह चन्दन आदि अवलेपनका भी उपयोग नहीं कर सकता। जिसने पुण्य नहीं किया है, वह अच्छे कपड़े नहीं धारण करता। यदि राजा धृतराष्ट्र पुण्यवान् न होते, तो हमलोगोंको कुरुदेशसे दूर कैसे कर देते? तथापि यह भोगतृष्णा

अज्ञानी दुर्योधन आदिके ही योग्य है, जो प्रायः (सभीके) शरीरोंके भीतर अन्तःकरणको पीड़ा देती रहती है ।। ७-८ ।।

स्वयं राजा विषमस्थः परेषु
सामस्थ्यमन्विच्छति तन्न साधु ।
यथाऽऽत्मनः पश्यति वृत्तमेव
तथा परेषामपि सोऽभ्युपैतु ।। ९ ।।

राजा धृतराष्ट्र स्वयं तो विषम-बर्तावमें लगे हुए हैं; परंतु दूसरोंमें समतापूर्ण बर्ताव देखना चाहते हैं, यह अच्छी बात नहीं है। वे जैसा अपना बर्ताव देखते हैं, वैसा ही दूसरोंका भी देखें ।। ९ ।।

आसन्नमग्निं तु निदाघकाले
गम्भीरकक्षे गहने विसृज्य ।
यथा विवृद्धं वायुवशेन शोचेत्
क्षेमं मुमुक्षुः शिशिरव्यपाये ।। १० ।।
प्राप्तैश्वर्यो धृतराष्ट्रोऽद्य राजा
लालप्यते संजय कस्य हेतोः ।
प्रगृह्य दुर्बुद्धिमनार्जवे रतं
पुत्रं मन्दं मूढममन्त्रिणं तु ।। ११ ।।

संजय! जैसे कोई मनुष्य शिशिर-ऋतु बीतनेपर ग्रीष्म-ऋतुकी दोपहरीमें बहुत घास-फूससे भरे हुए गहन वनमें आग लगा दे और जब हवा चलनेसे वह आग सब ओर फैलकर अपने निकट आ जाय, तब उसकी ज्वालासे अपने-आपको बचानेके लिये वह कुशल-क्षेमकी इच्छा रखकर बार-बार शोक करने लगे, उसी प्रकार आज राजा धृतराष्ट्र सारा ऐश्वर्य अपने अधिकारमें करके खोटी बुद्धिवाले, उद्दण्ड, भाग्यहीन, मूर्ख और किसी अच्छे मन्त्रीकी सलाहके अनुसार न चलनेवाले अपने पुत्र दुर्योधनका पक्ष लेकर अब किसलिये (दीनकी भाँति) विलाप करते हैं? ।। १०-११ ।।

अनाप्तवच्चाप्ततमस्य वाचः
सुयोधनो विदुरस्यावमत्य ।
सुतस्य राजा धृतराष्ट्रः प्रियैषी
सम्बुध्यमानो विशतेऽधर्ममेव ।। १२ ।।

अपने पुत्र दुर्योधनका प्रिय चाहनेवाले राजा धृतराष्ट्र अपने सबसे अधिक विश्वासपात्र विदुरजीके वचनोंको अविश्वसनीय-से समझकर उनकी अवहेलना करके जान-बूझकर अधर्मके ही पथका आश्रय ले रहे हैं ।। १२ ।।

मेधाविनं ह्यर्थकामं कुरूणां
बहुश्रुतं वाग्मिनं शीलवन्तम् ।

स तं राजा धृतराष्ट्रः कुरुभ्यो
न सस्मार विदुरं पुत्रकाम्यात् ।। १३ ।।

बुद्धिमान्, कौरवोंके अभीष्टकी सिद्धि चाहनेवाले, बहुश्रुत विद्वान्, उत्तम वक्ता तथा शीलवान् विदुरजीका भी राजा धृतराष्ट्रने कौरवोंके हितके लिये पुत्रस्नेहकी लालसासे आदर नहीं किया ।। १३ ।।

मानघ्नस्यासौ मानकामस्य चेर्षोः
संरम्भिणश्चार्थधर्मातिगस्य ।
दुर्भाषिणो मन्युवशानुगस्य
कामात्मनो दौर्हृदैर्भावितस्य ।। १४ ।।
अनेयस्याश्रेयसो दीर्घमन्यो-
र्मित्रद्रुहः संजय पापबुद्धेः ।
सुतस्य राजा धृतराष्ट्रः प्रियैषी
प्रपश्यमानः प्राजहाद् धर्मकामौ ।। १५ ।।

संजय! दूसरोंका मान मिटाकर अपना मान चाहनेवाले, ईर्ष्यालु, क्रोधी, अर्थ और धर्मका उल्लंघन करनेवाले, कटुवचन बोलनेवाले, क्रोध और दीनताके वशवर्ती, कामात्मा (भोगासक्त), पापियोंसे प्रशंसित, शिक्षा देनेके अयोग्य, भाग्यहीन, अधिक क्रोधी, मित्रद्रोही तथा पापबुद्धि पुत्र दुर्योधनका प्रिय चाहनेवाले राजा धृतराष्ट्रने समझते हुए भी धर्म और कामका परित्याग किया है ।। १४-१५ ।।

तदैव मे संजय दीव्यतोऽभू-
न्मतिः कुरूणामागतः स्यादभावः ।
काव्यां वाचं विदुरो भाषमाणो
न विन्दते यद् धार्तराष्ट्रात् प्रशंसाम् ।। १६ ।।

संजय! जिस समय मैं जूआ खेल रहा था, उसी समयकी बात है, विदुरजी शुक्रनीतिके अनुसार युक्ति-युक्त वचन कह रहे थे, तो भी दुर्योधनकी ओरसे उन्हें प्रशंसा नहीं प्राप्त हुई। तभी मेरे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ था कि सम्भवतः कौरवोंका विनाशकाल समीप आ गया है ।। १६ ।।

क्षत्तुर्यदा नान्ववर्तन्त बुद्धिं
कृच्छ्रं कुरून् सूत तदाभ्याजगाम ।
यावत् प्रज्ञामन्ववर्तन्त तस्य
तावत् तेषां राष्ट्रवृद्धिर्बभूव ।। १७ ।।

सूत! जबतक कौरव विदुरजीकी बुद्धिके अनुसार बर्ताव करते और चलते थे, तबतक सदा उनके राष्ट्रकी वृद्धि ही होती रही। जबसे उन्होंने विदुरजीसे सलाह लेना छोड़ दिया, तभीसे उनपर विपत्ति आ पड़ी है ।। १७ ।।

तदर्थलुब्धस्य निबोध मेऽद्य
ये मन्त्रिणो धार्तराष्ट्रस्य सूत ।
दुःशासनः शकुनिः सूतपुत्रो
गावल्गणे पश्य सम्मोहमस्य ।। १८ ।।

गवल्गणपुत्र संजय! धनके लोभी दुर्योधनके जो-जो मन्त्री हैं, उनके नाम आज तुम मुझसे सुन लो। दुःशासन, शकुनि तथा सूतपुत्र कर्ण—ये ही उसके मन्त्री हैं। उसका मोह तो देखो ।। १८ ।।

सोऽतं न पश्यामि परीक्षमाणः
कथं स्वस्ति स्यात् कुरुसंजयानाम् ।
आत्तैश्वर्यो धृतराष्ट्रः परेभ्यः
प्रव्राजिते विदुरे दीर्घदृष्टौ ।। १९ ।।
आशंसते वै धृतराष्ट्रः सपुत्रो
महाराज्यमसपत्नं पृथिव्याम् ।
तस्मिञ्छमः केवलं नोपलभ्यः
सर्वं स्वकं मद्‌गते मन्यतेऽर्थम् ।। २० ।।

मैं बहुत सोचने-विचारनेपर भी कोई ऐसा उपाय नहीं देखता, जिससे कुरु तथा सृंजयवंश दोनोंका कल्याण हो। धृतराष्ट्र हम शत्रुओंसे ऐश्वर्य छीनकर दूरदर्शी विदुरको देशसे निर्वासित करके अपने पुत्रोंसहित भूमण्डलका निष्कण्टक साम्राज्य प्राप्त करनेकी आशा लगाये बैठे हैं। ऐसे लोभी नरेशके साथ केवल संधि ही बनी रहेगी, (युद्ध आदिका अवसर नहीं आयेगा) यह सम्भव नहीं जान पड़ता; क्योंकि हमलोगोंके वन चले जानेपर वे हमारे सारे धनको अपना ही मानने लगे हैं ।। १९-२० ।।

यत् तत् कर्णो मन्यते पारणीयं
युद्धे गृहीतायुधमर्जुनं वै ।
आसंश्च युद्धानि पुरा महान्ति
कथं कर्णो नाभवद् द्वीप एषाम् ।। २१ ।।

कर्ण जो ऐसा समझता है कि युद्धमें धनुष उठाये हुए अर्जुनको जीत लेना सहज है, वह उसकी भूल है। पहले भी तो बड़े-बड़े युद्ध हो चुके हैं। उनमें कर्ण इन कौरवोंका आश्रयदाता क्यों न हो सका? ।। २१ ।।

कर्णश्च जानाति सुयोधनश्च
द्रोणश्च जानाति पितामहश्च ।
अन्ये च ये कुरवस्तत्र सन्ति
यथार्जुनान्नास्त्यपरो धनुर्धरः ।। २२ ।।

अर्जुनसे बढ़कर दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है—इस बातको कर्ण जानता है, दुर्योधन जानता है, आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म जानते हैं तथा अन्य जो-जो कौरव वहाँ रहते हैं, वे सब भी जानते हैं ।। २२ ।।

जानन्त्येतत् कुरवः सर्व एव
ये चाप्यन्ये भूमिपालाः समेताः ।
दुर्योधने राज्यमिहाभवद् यथा
अरिंदमे फाल्गुने विद्यमाने ।। २३ ।।

समस्त कौरव तथा वहाँ एकत्र हुए अन्य भूपाल भी इस बातको जानते हैं कि शत्रुदमन अर्जुनके उपस्थित रहते हुए दुर्योधनने किस उपायसे पाण्डवोंका राज्य प्राप्त किया (अर्थात् उन्होंने अपनी वीरतासे नहीं, अपितु छलपूर्वक जूएके द्वारा ही हमारा राज्य लिया) ।। २३ ।।

तेनानुबन्धं मन्यते धार्तराष्ट्रः
शक्यं हर्तुं पाण्डवानां ममत्वम् ।
किरीटिना तालमात्रायुधेन
तद्वेदिना संयुगं तत्र गत्वा ।। २४ ।।

राज्य आदिपर जो पाण्डवोंका ममत्व है, उसे हर लेना क्या दुर्योधन सरल समझता है? इसके लिये उसे उन किरीटधारी अर्जुनके साथ युद्धभूमिमें उतरना पड़ेगा, जो चार हाथ लंबा धनुष धारण करते हैं और धनुर्वेदके प्रकाण्ड विद्वान् हैं ।। २४ ।।

गाण्डीवविस्फारितशब्दमाजा-
वशृण्वाना धार्तराष्ट्रा ध्रियन्ते ।
क्रुद्धं न चेदीक्षते भीमसेनं
सुयोधनो मन्यते सिद्धमर्थम् ।। २५ ।।

धृतराष्ट्रके पुत्र तभीतक जीवित हैं, जबतक कि वे युद्धमें गाण्डीव धनुषका टंकारघोष नहीं सुन रहे हैं। दुर्योधन जबतक क्रोधमें भरे हुए भीमसेनको नहीं देख रहा है, तभीतक अपने राज्यप्राप्तिसम्बन्धी मनोरथको सिद्ध हुआ समझे ।। २५ ।।

इन्द्रोऽप्येतन्नोत्सहेत् तात हर्तु-
मैश्वर्यं नो जीवति भीमसेने ।
धनंजये नकुले चैव सूत
तथा वीरे सहदेवे सहिष्णौ ।। २६ ।।

तात संजय! जबतक भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहनशील वीर सहदेव जीवित हैं, तबतक इन्द्र भी हमारे ऐश्वर्यका अपहरण नहीं कर सकता ।। २६ ।।

स चेदेतां प्रतिपद्येत बुद्धिं
वृद्धो राजा सह पुत्रेण सूत ।

एवं रणे पाण्डवकोपदग्धा

न नश्येयुः संजय धार्तराष्ट्राः ।। २७ ।।

सूत! यदि राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके साथ यह अच्छी तरह समझ लेंगे कि पाण्डवोंको राज्य न देनेमें कुशल नहीं है तो धृतराष्ट्रके सभी पुत्र समरांगणमें पाण्डवोंकी क्रोधाग्निसे दग्ध होकर नष्ट होनेसे बच जायँगे ।। २७ ।।

जानासि त्वं क्लेशमस्मासु वृत्तं

त्वां पूजयन् संजयाहं क्षमेयम् ।

यच्चास्माकं कौरवैर्भूतपूर्वं

या नो वृत्तिर्धार्तराष्ट्रे तदाऽऽसीत् ।। २८ ।।

संजय! हमलोगोंको कौरवोंके कारण पहले कितना क्लेश उठाना पड़ा है, यह तुम भलीभाँति जानते हो तथापि मैं तुम्हारा आदर करते हुए उनके सब अपराधोंको क्षमा कर सकता हूँ। दुर्योधन आदि कौरवोंने पहले हमारे साथ कैसा बर्ताव किया है और उस समय हमलोगोंका उनके साथ कैसा बर्ताव रहा है, यह भी तुमसे छिपा नहीं है ।। २८ ।।

अद्यापि तत् तत्र तथैव वर्ततां

शान्तिं गमिष्यामि यथा त्वमात्थ ।

इन्द्रप्रस्थे भवतु ममैव राज्यं

सुयोधनो यच्छतु भारताग्रयः ।। २९ ।।

अब भी वह सब कुछ पहलेके ही समान हो सकता है। जैसा तुम कह रहे हो, उसके अनुसार मैं शान्ति धारण कर लूँगा। परंतु इन्द्रप्रस्थमें पूर्ववत् मेरा ही राज्य रहे और भरतवंशशिरोमणि सुयोधन मेरा वह राज्य मुझे लौटा दे ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः ।। २६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६ ।।

सप्तविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको युद्धमें दोषकी सम्भावना बतलाकर उन्हें युद्धसे उपरत करनेका प्रयत्न करना

संजय उवाच

धर्मनित्या पाण्डव ते विचेष्टा
लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ ।
महाश्रावं जीवितं चाप्यनित्यं
सम्पश्य त्वं पाण्डव मा व्यनीनशः ।। १ ।।

संजय बोला—पाण्डुनन्दन! आपकी प्रत्येक चेष्टा सदा धर्मके अनुसार ही होती है। कुन्तीकुमार! आपकी वह धर्मयुक्त चेष्टा लोकमें तो विख्यात है ही, देखनेमें भी आ रही है। यद्यपि यह जीवन अनित्य है तथापि इससे महान् सुयशकी प्राप्ति हो सकती है। पाण्डव! आप जीवनकी उस अनित्यतापर दृष्टिपात करें और अपनी कीर्तिको नष्ट न होने दें ।। १ ।।

न चेद् भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो ।
भैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ।। २ ।।

अजातशत्रो! यदि कौरव युद्ध किये बिना आपको राज्यका भाग न दें, तो भी अन्धक और वृष्णिवंशी क्षत्रियोंके राज्यमें भीख माँगकर जीवन-निर्वाह कर लेना मैं आपके लिये श्रेष्ठ समझता हूँ; परंतु युद्ध करके राज्य लेना अच्छा नहीं समझता ।। २ ।।

अल्पकालं जीवितं यन्मनुष्ये
महास्रावं नित्यदुःखं चलं च ।
भूयश्च तद् यशसो नानुरूपं
तस्मात् पापं पाण्डव मा कृथास्त्वम् ।। ३ ।।

मनुष्यका जो यह जीवन है, वह बहुत थोड़े समयतक रहनेवाला है। इसको क्षीण करनेवाले महान् दोष इसे प्राप्त होते रहते हैं। यह सदा दुःखमय और चंचल है। अतः पाण्डुनन्दन! आप युद्धरूपी पाप न कीजिये। वह आपके सुयशके अनुरूप नहीं है ।। ३ ।।

कामा मनुष्यं प्रसजन्त एते
धर्मस्य ये विघ्नमूलं नरेन्द्र ।
पूर्वं नरस्तान् मतिमान् प्रणिघ्न-
ल्लोँके प्रशंसां लभतेऽनवद्याम् ।। ४ ।।

नरेन्द्र! जो धर्माचरणमें विघ्न डालनेकी मूल कारण हैं, वे कामनाएँ प्रत्येक मनुष्यको अपनी ओर खींचती हैं। अतः बुद्धिमान् मनुष्य पहले उन कामनाओंको नष्ट करता है, तदनन्तर जगत्‌में निर्मल प्रशंसाका भागी होता है ।। ४ ।।

निबन्धनी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ
तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव ।
धर्मं तु यः प्रवृणीते स बुद्धः
कामे गृध्नो हीयतेऽर्थानुरोधात् ।। ५ ।।

कुन्तीनन्दन! इस संसारमें धनकी तृष्णा ही बन्धनमें डालनेवाली है। जो धनकी तृष्णामें फँसता है, उसका धर्म भी नष्ट हो जाता है। जो धर्मका वरण करता है, वही ज्ञानी है। भोगोंकी इच्छा करनेवाला मनुष्य तो धनमें आसक्त होनेके कारण धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है ।। ५ ।।

धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं
महाप्रतापः सवितेव भाति ।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां
लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः ।। ६ ।।

तात! धर्म, अर्थ और काम तीनोंमें धर्मको प्रधान मानकर तदनुसार चलनेवाला पुरुष महाप्रतापी होकर सूर्यकी भाँति चमक उठता है; परंतु जो धर्मसे हीन है और जिसकी बुद्धि पापमें ही लगी हुई है, वह मनुष्य इस सारी पृथ्वीको पाकर भी कष्ट ही भोगता रहता है ।। ६ ।।

वेदोऽधीतश्चरितं ब्रह्मचर्यं
यज्ञैरिष्टं ब्राह्मणेभ्यश्च दत्तम् ।
परं स्थानं मन्यमानेन भूय
आत्मा दत्तो वर्षपूगं सुखेभ्यः ।। ७ ।।

आपने परलोकपर विश्वास करके वेदोंका अध्ययन, ब्रह्मचर्यका पालन एवं यज्ञोंका अनुष्ठान किया है तथा ब्राह्मणोंको दान दिया है और अनन्त वर्षोंतक वहाँके सुख भोगनेके लिये अपने-आपको भी समर्पित कर दिया है ।। ७ ।।

सुखप्रिये सेवमानोऽतिवेलं
योगाभ्यासे यो न करोति कर्म ।
वित्तक्षये हीनसुखोऽतिवेलं
दुःखं शेते कामवेगप्रणुन्नः ।। ८ ।।

जो मनुष्य भोग तथा प्रिय (पुत्रादि)-का निरन्तर सेवन करते हुए योगाभ्यासोपयोगी कर्मका सेवन नहीं करता, वह धनका क्षय हो जानेपर सुखसे वंचित हो कामवेगसे अत्यन्त विक्षुब्ध होकर सदा दुःखशय्यापर शयन करता रहता है ।। ८ ।।

एवं पुनर्ब्रह्मचर्याप्रसक्तो
हित्वा धर्मं यः प्रकरोत्यधर्मम् ।
अश्रद्दधत् परलोकाय मूढो
हित्वा देहं तप्यते प्रेत्य मन्दः ।। ९ ।।

जो ब्रह्मचर्यपालनमें प्रवृत्त न हो धर्मका त्याग करके अधर्मका आचरण करता है तथा जो मूढ़ परलोकपर विश्वास नहीं रखता है, वह मन्दभाग्य मानव शरीर त्यागनेके पश्चात् परलोकमें बड़ा कष्ट पाता है ।। ९ ।।

न कर्मणां विप्रणाशोऽस्त्यमुत्र
पुण्यानां वाप्यथवा पापकानाम् ।
पूर्वं कर्तुर्गच्छति पुण्यपापं
पश्चात् त्वेनमनुयात्येव कर्ता ।। १० ।।

पुण्य अथवा पाप किन्हीं भी कर्मोंका परलोकमें नाश नहीं होता है। पहले कर्ताके पुण्य और पाप परलोकमें जाते हैं, फिर उन्हींके पीछे-पीछे कर्ता जाता है ।। १० ।।

न्यायोपेतं ब्राह्मणेभ्योऽथ दत्तं
श्रद्धापूतं गन्धरसोपपन्नम् ।
अन्वाहार्येषूत्तमदक्षिणेषु
तथारूपं कर्म विख्यायते ते ।। ११ ।।

लोकमें आपके कर्म इस रूपमें विख्यात हैं कि आपने उत्तम दक्षिणायुक्त वृद्धिश्राद्ध आदिके अवसरोंपर ब्राह्मणोंको न्यायोपार्जित प्रचुर धन एवं श्रद्धासहित उत्तम गन्धयुक्त, सुस्वादु एवं पवित्र अन्नका दान किया है ।। ११ ।।

इह क्षेत्रे क्रियते पार्थ कार्यं
न वै किञ्चित् क्रियते प्रेत्य कार्यम् ।
कृतं त्वया पारलौक्यं च कर्म
पुण्यं महत् सद्भिरतिप्रशस्तम् ।। १२ ।।

कुन्तीनन्दन! इस शरीरके रहते हुए ही कोई भी सत्कर्म किया जा सकता है। मरनेके बाद कोई कार्य नहीं किया जा सकता। आपने तो परलोकमें सुख देनेवाला महान् पुण्यकर्म किया है, जिसकी साधु पुरुषोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है ।। १२ ।।

जहाति मृत्युं च जरां भयं च
न क्षुत्पिपासे मनसोऽप्रियाणि ।
न कर्तव्यं विद्यते तत्र किञ्चि-
दन्यत्र वै चेन्द्रियप्रीणनाद्धि ।। १३ ।।

(पुण्यात्मा) मनुष्य (स्वर्गलोकमें जाकर) मृत्यु, बुढ़ापा तथा भय त्याग देता है। वहाँ उसे मनके प्रतिकूल भूख-प्यासका कष्ट भी नहीं सहन करना पड़ता है। परलोकमें

इन्द्रियोंको सुख पहुँचानेके सिवा दूसरा कोई कर्तव्य नहीं रह जाता है* ।। १३ ।।

एवंरूपं कर्मफलं नरेन्द्र
मात्रावहं हृदयस्य प्रियेण ।
स क्रोधजं पाण्डव हर्षजं च
लोकावुभौ मा प्रहासीश्चिराय ।। १४ ।।

नरेन्द्र! इस प्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाले विषयसे कर्मफलकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये। पाण्डुनन्दन! आप क्रोधजनित नरक और हर्षजनित स्वर्ग—इन दोनों लोकोंमें कभी न जायँ; (अपितु सनातन मोक्ष-सुखके लिये निष्काम कर्म अथवा ज्ञानयोगका ही साधन करें) ।। १४ ।।

अन्तं गत्वा कर्मणां मा प्रजह्याः
सत्यं दमं चार्जवमानृशंस्यम् ।
अश्वमेधं राजसूयं तथेज्याः
पापस्यान्तं कर्मणो मा पुनर्गाः ।। १५ ।।

इस तरह (ज्ञानाग्निके द्वारा) कर्मोंको दग्ध करके सत्य, दम, आर्जव (सरलता) तथा अनृशंसता (दया) इन सद्गुणोंका कभी त्याग न करें। अश्वमेध, राजसूय और अन्य यज्ञोंको भी न छोड़ें, परंतु युद्ध-जैसे पापकर्मके निकट फिर कभी न जायँ ।। १५ ।।

तच्चेदेवं द्वेषरूपेण पार्थाः
करिष्यध्वं कर्म पापं चिराय ।
निवसध्वं वर्षपूगान् वनेषु
दुःखं वासं पाण्डवा धर्म एव ।। १६ ।।

कुन्तीकुमारो! यदि आपलोगोंको राज्यके लिये चिरस्थायी विद्वेषके रूपमें युद्धरूप पापकर्म ही करना है, तब तो मैं यही कहूँगा कि आप बहुत वर्षोंतक दुःखमय वनवासका ही कष्ट भोगते रहें। पाण्डवो! वह वनवास ही आपके लिये धर्मरूप होगा ।। १६ ।।

अप्रव्रज्येमा स्म हित्वाऽऽपुरस्ता-
दात्माधीनं यद् बलं ह्येतदासीत् ।
नित्यं च वश्याः सचिवास्तवेमे
जनार्दनो युयुधानश्च वीरः ।। १७ ।।

पहले (द्यूतक्रीड़ाके समय ही) हमलोग बलपूर्वक इन्हें अपने वशमें रखकर वनमें गये बिना ही यहाँ रह सकते थे; क्योंकि आज जो सेना एकत्र हुई है, यह पहले भी अपने ही लोगोंके अधीन थी और ये भगवान् श्रीकृष्ण तथा वीरवर सात्यकि सदासे ही आपलोगोंके (प्रेमके कारण) वशीभूत एवं आपके सहायक रहे हैं ।।

मत्स्यो राजा रुक्मरथः सपुत्रः
प्रहारिभिः सह वीरैर्विराटः ।

राजानश्च ये विजिताः पुरस्तात्
त्वामेव ते संश्रयेयुः समस्ताः ।। १८ ।।

प्रहार करनेमें कुशल वीर सैनिकों तथा पुत्रोंके साथ सुवर्णमय रथसे सुशोभित मत्स्यदेशके राजा विराट तथा दूसरे भी बहुत-से नरेश, जिन्हें पहले आपलोगोंने युद्धमें जीता था, वे सब-के-सब संग्राममें आपका ही पक्ष लेते ।। १८ ।।

महासहायः प्रतपन् बलस्थः
पुरस्कृतो वासुदेवार्जुनाभ्याम् ।
वरान् हनिष्यन् द्विषतो रङ्गमध्ये
व्यनेष्यथा धार्तराष्ट्रस्य दर्पम् ।। १९ ।।

उस समय आप महान् सहायकोंसे सम्पन्न और बलशाली थे, आप श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके आगे-आगे चलकर शत्रुओंपर आक्रमण कर सकते थे। समरांगणमें अपने महान् शत्रुओंका संहार करते हुए आप दुर्योधनके घमंडको चूर-चूर कर सकते थे ।। १९ ।।

बलं कस्माद् वर्धयित्वा परस्य
निजान् कस्मात् कर्शयित्वा सहायान् ।
निरुष्य कस्माद् वर्षपूगान् वनेषु
युयुत्ससे पाण्डव हीनकालम् ।। २० ।।

पाण्डुनन्दन! फिर क्या कारण है कि आपने शत्रुकी शक्तिको बढ़नेका अवसर दिया? किसलिये अपने सहायकोंको दुर्बल बनाया और क्यों बारह वर्षोंतक वनमें निवास किया? फिर आज जब वह अनुकूल अवसर बीत चुका है, आपको युद्ध करनेकी इच्छा क्यों हुई है? ।। २० ।।

अप्राज्ञो वा पाण्डव युध्यमानो-
ऽधर्मज्ञो वा भूतिमथोऽभ्युपैति ।
प्रज्ञावान् वा बुध्यमानोऽपि धर्मं
संस्तम्भाद् वा सोऽपि भूतेरपैति ।। २१ ।।

पाण्डुकुमार! अज्ञानी अथवा पापी मनुष्य भी युद्ध करके सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है और बुद्धिमान् अथवा धर्मज्ञ पुरुष भी दैवी बाधाके कारण पराजित होकर ऐश्वर्यसे हाथ धो बैठता है ।। २१ ।।

नाधर्मे ते धीयते पार्थ बुद्धि-
र्न संरम्भात् कर्म चकर्थ पापम् ।
आत्थ किं तत् कारणं यस्य हेतोः
प्रज्ञाविरुद्धं कर्म चिकीर्षसीदम् ।। २२ ।।

कुन्तीनन्दन! आपकी बुद्धि कभी अधर्ममें नहीं लगती तथा आपने क्रोधमें आकर भी कभी पापकर्म नहीं किया है, तो बताइये, कौन-सा ऐसा (प्रबल) कारण है, जिसके लिये

अब आप अपनी बुद्धिके विरुद्ध यह युद्ध-जैसा पापकर्म करना चाहते हैं? ।। २२ ।।

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
यशोमुषं पापफलोदयं वा ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ।। २३ ।।

महाराज! जो बिना व्याधिके ही उत्पन्न होता है, स्वादमें कड़ुआ है, जिसके कारण सिरमें दर्द होने लगता है, जो यशका नाशक और पापरूप फलको प्रकट करनेवाला है, जो सज्जन पुरुषोंके ही पीने योग्य है, जिसे असाधु पुरुष नहीं पीते हैं, उस क्रोधको आप पी लीजिये और शान्त हो जाइये ।। २३ ।।

पापानुबन्धं को नु तं कामयेत
क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः ।
यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्याद्
यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात् ।। २४ ।।

जो पापकी जड़ है, उस क्रोधकी इच्छा कौन करेगा? आपकी दृष्टिमें तो क्षमा ही सबसे श्रेष्ठ वस्तु है, वे भोग नहीं, जिनके लिये शान्तनुनन्दन भीष्म तथा पुत्रसहित आचार्य द्रोणकी हत्या की जाय ।। २४ ।।

कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो
विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च ।
एतान् हत्वा कीदृशं तत् सुखं स्याद्
यद् विन्देथास्तदनु ब्रूहि पार्थ ।। २५ ।।

कुन्तीनन्दन! ऐसा कौन-सा सुख हो सकता है, जिसे आप कृपाचार्य, शल्य, भूरिश्रवा, विकर्ण, विविंशति, कर्ण तथा दुर्योधन—इन सबका वध करके पाना चाहते हैं, कृपया बताइये ।। २५ ।।

लब्ध्वापीमां पृथिवीं सागरान्तां
जरामृत्यू नैव हि त्वं प्रजह्याः ।
प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राज-
न्नेवं विद्वान् नैव युद्धं कुरु त्वम् ।। २६ ।।

राजन्! समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीको पाकर भी आप जरा-मृत्यु, प्रिय-अप्रिय तथा सुख-दुःखसे पिण्ड नहीं छुड़ा सकते। आप इन सब बातोंको अच्छी तरह जानते हैं; अतः मेरी प्रार्थना है कि आप युद्ध न करें ।। २६ ।।

अमात्यानां यदि कामस्य हेतो-
रेवं युक्तं कर्म चिकीर्षसि त्वम् ।
अपक्रामेः स्वं प्रदायैव तेषां

मा गास्त्वं वै देवयानात् पथोऽद्य ।। २७ ।।

यदि आप अपने मन्त्रियोंकी इच्छासे ही ऐसा पापमय युद्ध करना चाहते हैं तो अपना सर्वस्व उन मन्त्रियोंको ही देकर वानप्रस्थ ग्रहण कर लीजिये; परंतु अपने कुटुम्बका वध करके देवयानमार्गसे भ्रष्ट न होइये ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि संजयवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ।। २७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७ ।।

---

* देवयोनि भोगयोनि है, कर्मयोनि नहीं। उसमें नवीन कर्म करनेके लिये देवता बाध्य नहीं हैं।

अष्टाविंशोऽध्यायः

संजयको युधिष्ठिरका उत्तर

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं संजय सत्यमेतद्
धर्मो वरः कर्मणां यत् त्वमात्थ ।
ज्ञात्वा तु मां संजय गर्हयेस्त्वं
यदि धर्मं यद्यधर्मं चरेयम् ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—संजय! सब प्रकारके कर्मोंमें धर्म ही श्रेष्ठ है। यह जो तुमने कहा है, वह बिलकुल ठीक है। इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं है; परंतु मैं धर्म कर रहा हूँ या अधर्म, इस बातको पहले अच्छी तरह जान लो; फिर मेरी निन्दा करना ।। १ ।।

यत्राधर्मो धर्मरूपाणि धत्ते
धर्मः कृत्स्नो दृश्यतेऽधर्मरूपः ।
बिभ्रद् धर्मो धर्मरूपं तथा च
विद्वांसस्तं सम्प्रपश्यन्ति बुद्ध्या ।। २ ।।

कहीं तो अधर्म ही धर्मका रूप धारण कर लेता है, कहीं पूर्णतया धर्म ही अधर्म दिखायी देता है तथा कहीं धर्म अपने वास्तविक स्वरूपको ही धारण किये रहता है। विद्वान् पुरुष अपनी बुद्धिसे विचार करके उसके असली रूपको देख और समझ लेते हैं ।। २ ।।

एवं तथैवापदि लिङ्गमेतद्
धर्माधर्मौ नित्यवृत्ती भजेताम् ।
आद्यं लिङ्गं यस्य तस्य प्रमाण-
मापद्धर्मं संजय तं निबोध ।। ३ ।।

इस प्रकार जो यह विभिन्न वर्णोंका अपना-अपना लक्षण (लिंग) (जैसे ब्राह्मणके लिये अध्ययनाध्यापन आदि, क्षत्रियके लिये शौर्य आदि तथा वैश्यके लिये कृषि आदि) है, वह ठीक उसी प्रकार उस-उस वर्णके लिये धर्मरूप है और वही दूसरे वर्णके लिये अधर्मरूप है। इस प्रकार यद्यपि धर्म और अधर्म सदा सुनिश्चितरूपसे रहते हैं तथापि आपत्तिकालमें वे दूसरे वर्णके लक्षणको भी अपना लेते हैं। प्रथम वर्ण ब्राह्मणका जो विशेष लक्षण (याजन और अध्यापन आदि) है, वह उसीके लिये प्रमाणभूत है (क्षत्रिय आदिको आपत्तिकालमें भी याजन और अध्यापन आदिका आश्रय नहीं लेना चाहिये)। संजय! आपद्धर्मका क्या स्वरूप है, उसे तुम (शास्त्रके वचनोंद्वारा) जानो ।। ३ ।।

लुप्तायां तु प्रकृतौ येन कर्म
निष्पादयेत् तत् परीप्सेद् विहीनः ।

प्रकृतिस्थश्चापदि वर्तमान
उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयैतौ ।। ४ ।।

प्रकृति (जीविकाके साधन)-का सर्वथा लोप हो जानेपर जिस वृत्तिका आश्रय लेनेसे (जीवनकी रक्षा एवं) सत्कर्मोंका अनुष्ठान हो सके, जीविकाहीन पुरुष उसे अवश्य अपनानेकी इच्छा करे। संजय! जो प्रकृतिस्थ (स्वाभाविक स्थितिमें स्थित) होकर भी आपद्धर्मका आश्रय लेता है, वह (अपनी लोभवृत्तिके कारण) निन्दनीय होता है तथा जो आपत्तिग्रस्त होनेपर भी (उस समयके अनुरूप शास्त्रोक्त साधनको अपनाकर) जीविका नहीं चलाता है, वह (जीवन और कुटुम्बकी रक्षा न करनेके कारण) गर्हणीय होता है। इस प्रकार ये दोनों तरहके लोग निन्दाके पात्र होते हैं ।। ४ ।।

अविनाशमिच्छतां ब्राह्मणानां
प्रायश्चित्तं विहितं यद् विधात्रा ।
सम्पश्येथाः कर्मसु वर्तमानान्
विकर्मस्थान् संजय गर्हयेस्त्वम् ।। ५ ।।

सूत! (जीविकाका मुख्य साधन न होनेपर) ब्राह्मणोंका नाश न हो जाय, ऐसी इच्छा रखनेवाले विधाताने जो (उनके लिये अन्य वर्णोंकी वृत्तिसे जीविका चलाकर अन्तमें) प्रायश्चित्त करनेका विधान किया है, उसपर दृष्टिपात करो। फिर यदि हम आपत्तिकालमें भी (स्वाभाविक) कर्मोंमें ही लगे हों और आपत्तिकाल न होनेपर भी अपने वर्णके विपरीत कर्मोंमें स्थित हो रहे हों तो उस दशामें हमें देखकर तुम (अवश्य) हमारी निन्दा करो ।। ५ ।।

मनीषिणां सत्त्वविच्छेदनाय
विधीयते सत्सु वृत्तिः सदैव ।
अब्राह्मणाः सन्ति तु ये न वैद्याः
सर्वोत्सङ्गं साधु मन्येत तेभ्यः ।। ६ ।।

मनीषी पुरुषोंको सत्त्व आदिके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये सदा ही सत्पुरुषोंका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करना चाहिये, यह उनके लिये शास्त्रीय विधान है। परंतु जो ब्राह्मण नहीं हैं तथा जिनकी ब्रह्मविद्यामें निष्ठा नहीं है, उन सबके लिये सबके समीप अपने धर्मके अनुसार ही जीविका चलानी चाहिये ।। ६ ।।

तदध्वानः पितरो ये च पूर्वे
पितामहा ये च तेभ्यः परेऽन्ये ।
यज्ञैषिणो ये च हि कर्म कुर्यु-
र्नान्यं ततो नास्तिकोऽस्मीति मन्ये ।। ७ ।।

यज्ञकी इच्छा रखनेवाले मेरे पूर्व पिता-पितामह आदि तथा उनके भी पूर्वज उसी मार्गपर चलते रहे (जिसकी मैंने ऊपर चर्चा की है) तथा जो कर्म करते हैं, वे भी उसी मार्गसे

चलते आये हैं। मैं भी नास्तिक नहीं हूँ, इसलिये उसी मार्गपर चलता हूँ; उसके सिवा दूसरे मार्गपर विश्वास नहीं रखता हूँ ।। ७ ।।

यत् किंचनेदं वित्तमस्यां पृथिव्यां
यद् देवानां त्रिदशानां परं यत् ।
प्राजापत्यं त्रिदिवं ब्रह्मलोकं
नाधर्मतः संजय कामयेयम् ।। ८ ।।

संजय! इस धरातलपर जो कुछ भी धन-वैभव विद्यमान है, नित्य यौवनसे युक्त रहनेवाले देवताओंके यहाँ जो धनराशि है, उससे भी उत्कृष्ट जो प्रजापतिका धन है तथा जो स्वर्गलोक एवं ब्रह्मलोकका सम्पूर्ण वैभव है, वह सब मिल रहा हो, तो भी मैं उसे अधर्मसे लेना नहीं चाहूँगा ।। ८ ।।

धर्मेश्वरः कुशलो नीतिमांश्चा-
प्युपासिता ब्राह्मणानां मनीषी ।
नानाविधांश्चैव महाबलांश्च
राजन्यभोजाननुशास्ति कृष्णः ।। ९ ।।
यदि ह्यहं विसृजन् साम गर्ह्यो
नियुध्यमानो यदि जह्यां स्वधर्मम् ।
महायशाः केशवस्तद् ब्रवीतु
वासुदेवस्तूभयोरर्थकामः ।। १० ।।

यहाँ धर्मके स्वामी, कुशल नीतिज्ञ, ब्राह्मणभक्त और मनीषी भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हैं, जो नाना प्रकारके महान् बलशाली क्षत्रियों तथा भोजवंशियोंका शासन करते हैं। यदि मैं सामनीति अथवा संधिका परित्याग करके निन्दाका पात्र होता होऊँ या युद्धके लिये उद्यत होकर अपने धर्मका उल्लंघन करता होऊँ तो ये महायशस्वी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अपने विचार प्रकट करें; क्योंकि ये दोनों पक्षोंका हित चाहनेवाले हैं ।।

शैनेयोऽयं चेदयश्चान्धकाश्च
वार्ष्णेयभोजाः कुकुराः सृंजयाश्च ।
उपासीना वासुदेवस्य बुद्धिं
निगृह्य शत्रून् सुहृदो नन्दयन्ति ।। ११ ।।

ये सात्यकि, ये चेदिदेशके लोग, ये अन्धक, वृष्णि, भोज, कुकुर तथा सृंजयवंशके क्षत्रिय इन्हीं भगवान् वासुदेवकी सलाहसे चलकर अपने शत्रुओंको बंदी बनाते और सुहृदोंको आनन्दित करते हैं ।। ११ ।।

वृष्ण्यन्धका ह्युग्रसेनादयो वै
कृष्णप्रणीताः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।
मनस्विनः सत्यपरायणाश्च

महाबला यादवा भोगवन्तः ।। १२ ।।

श्रीकृष्णकी बतायी हुई नीतिके अनुसार बर्ताव करनेसे वृष्णि और अन्धकवंशके सभी उग्रसेन आदि क्षत्रिय इन्द्रके समान शक्तिशाली हो गये हैं तथा सभी यादव मनस्वी, सत्यपरायण, महान् बलशाली और भोगसामग्रीसे सम्पन्न हुए हैं ।। १२ ।।

काश्यो बभ्रुः श्रियमुत्तमां गतो
लब्ध्वा कृष्णं भ्रातरमीशितारम् ।
यस्मै कामान् वर्षति वासुदेवो
ग्रीष्मात्यये मेघ इव प्रजाभ्यः ।। १३ ।।

(पौण्ड्रक वासुदेवके छोटे भाई) काशीनरेश बभ्रु श्रीकृष्णको ही शासक बन्धुके रूपमें पाकर उत्तम राज्यलक्ष्मीके अधिकारी हुए हैं। भगवान् श्रीकृष्ण बभ्रुके लिये समस्त मनोवांछित भोगोंकी वर्षा उसी प्रकार करते हैं, जैसे वर्षाकालमें मेघ प्रजाओंके लिये जलकी वृष्टि करता है ।। १३ ।।

ईदृशोऽयं केशवस्तात विद्वान्
विद्धि ह्येनं कर्मणां निश्चयज्ञम् ।
प्रियश्च नः साधुतमश्च कृष्णो
नातिक्रामे वचनं केशवस्य ।। १४ ।।

तात संजय! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे प्रभावशाली और विद्वान् हैं। ये प्रत्येक कर्मका अन्तिम परिणाम जानते हैं। ये हमारे सबसे बढ़कर प्रिय तथा श्रेष्ठतम पुरुष हैं। मैं इनकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकता ।। १४ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ।। २८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरवचनसम्बन्धी अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८ ।।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

संजयकी बातोंका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीकृष्णका उसे धृतराष्ट्रके लिये चेतावनी देना

वासुदेव उवाच

अविनाशं संजय पाण्डवाना-
मिच्छाम्यहं भूतिमेषां प्रियं च ।
तथा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सूत
समाशंसे बहुपुत्रस्य वृद्धिम् ।। १ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—सूत संजय! मैं जिस प्रकार पाण्डवोंको विनाशसे बचाना, उनको ऐश्वर्य दिलाना तथा उनका प्रिय करना चाहता हूँ, उसी प्रकार अनेक पुत्रोंसे युक्त राजा धृतराष्ट्रका भी अभ्युदय चाहता हूँ ।। १ ।।

कामो हि मे संजय नित्यमेव
नान्यद् ब्रूयां तान् प्रति शाम्यतेति ।
राज्ञश्च हि प्रियमेतच्छृणोमि
मन्ये चैतत् पाण्डवानां समक्षम् ।। २ ।।

सूत! मेरी भी सदा यही अभिलाषा है कि दोनों पक्षोंमें शान्ति बनी रहे। 'कुन्तीकुमारो! कौरवोंसे संधि करो, उनके प्रति शान्त बने रहो,' इसके सिवा दूसरी कोई बात मैं पाण्डवोंके सामने नहीं कहता हूँ। राजा युधिष्ठिरके मुँहसे भी ऐसा ही प्रिय वचन सुनता हूँ और स्वयं भी इसीको ठीक मानता हूँ ।। २ ।।

सुदुष्करस्तत्र शमो हि नूनं
प्रदर्शितः संजय पाण्डवेन ।
यस्मिन् गृद्धो धृतराष्ट्रः सपुत्रः
कस्मादेषां कलहो नावमूर्च्छेत् ।। ३ ।।

संजय! जैसा कि पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने प्रकट किया है, राज्यके प्रश्नोंको लेकर दोनों पक्षोंमें शान्ति बनी रहे, यह अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है। पुत्रों-सहित धृतराष्ट्र (इनके स्वत्वरूप) जिस राज्यमें आसक्त होकर उसे लेनेकी इच्छा करते हैं, उसके लिये इन कौरव-पाण्डवोंमें कलह कैसे नहीं बढ़ेगा? ।। ३ ।।

न त्वं धर्मं विचारं संजयेह
मत्तश्च जानासि युधिष्ठिराच्च ।
अथो कस्मात् संजय पाण्डवस्य
उत्साहिनः पूरयतः स्वकर्म ।। ४ ।।
यथाऽऽख्यातमावसतः कुटुम्बे
पुरा कस्मात् साधुविलोपमात्थ ।
अस्मिन् विधौ वर्तमाने यथाव-
दुच्चावचा मतयो ब्राह्मणानाम् ।। ५ ।।

संजय! तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मुझसे और युधिष्ठिरसे धर्मका लोप नहीं हो सकता, तो भी जो उत्साहपूर्वक स्वधर्मका पालन करते हैं तथा शास्त्रोंमें जैसा बताया गया है, उसके अनुसार ही कुटुम्ब (गृहस्थाश्रम)-में रहते हैं, उन्हीं पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके धर्मलोपकी चर्चा या आशंका तुमने पहले किस आधारपर की है? गृहस्थ आश्रममें रहनेकी जो शास्त्रोक्त विधि है, उसके होते हुए भी इसके ग्रहण अथवा त्यागके विषयमें वेदज्ञ ब्राह्मणोंके भिन्न-भिन्न विचार हैं ।। ४-५ ।।

कर्मणाऽऽहुः सिद्धिमेके परत्र
हित्वा कर्म विद्यया सिद्धिमेके ।
नाभुञ्जानो भक्ष्यभोज्यस्य तृप्येद्
विद्वानपीह विहितं ब्राह्मणानाम् ।। ६ ।।

कोई तो (गृहस्थाश्रममें रहकर) कर्मयोगके द्वारा ही परलोकमें सिद्धि-लाभ होनेकी बात बताते हैं,* दूसरे लोग कर्मको त्यागकर ज्ञानके द्वारा ही सिद्धि (मोक्ष)-का प्रतिपादन करते हैं।

आकाशचारी भगवान् सूर्यदेव

विद्वान् पुरुष भी इस जगत्में भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंको भोजन किये बिना तृप्त नहीं हो सकता, अतएव विद्वान् ब्राह्मणके लिये भी क्षुधानिवृत्तिके लिये भोजन करनेका विधान है ।। ६ ।।

या वै विद्याः साधयन्तीह कर्म
तासां फलं विद्यते नेतरासाम् ।
तत्रेह वै दृष्टफलं तु कर्म
पीत्वोदकं शाम्यति तृष्णयाऽऽर्तः ।। ७ ।।

जो विद्याएँ कर्मका सम्पादन करती हैं, उन्हींका फल दृष्टिगोचर होता है, दूसरी विद्याओंका नहीं। विद्या तथा कर्ममें भी कर्मका ही फल यहाँ प्रत्यक्ष दिखायी देता है। प्याससे पीड़ित मनुष्य जल पीकर ही शान्त होता है (उसे जानकर नहीं; अतः गृहस्थाश्रममें रहकर सत्कर्म करना ही श्रेष्ठ है) ।। ७ ।।

सोऽयं विधिर्विहितः कर्मणैव
संवर्तते संजय तत्र कर्म ।
तत्र योऽन्यत् कर्मणः साधु मन्ये-
न्मोघं तस्यालपितं दुर्बलस्य ।। ८ ।।

संजय! ज्ञानका विधान भी कर्मको साथ लेकर ही है; अतः ज्ञानमें भी कर्म विद्यमान है। जो कर्मसे भिन्न कर्मोंके त्यागको श्रेष्ठ मानता है, वह दुर्बल है, उसका कथन व्यर्थ ही है ।। ८ ।।

कर्मणामी भान्ति देवाः परत्र
कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा ।
अहोरात्रे विदधत् कर्मणैव
अतन्द्रितो नित्यमुदेति सूर्यः ।। ९ ।।

ये देवता कर्मसे ही स्वर्गलोकमें प्रकाशित होते हैं। वायुदेव कर्मको अपनाकर ही सम्पूर्ण जगत्में विचरण करते हैं तथा सूर्यदेव आलस्य छोड़कर कर्म-द्वारा ही दिन-रातका विभाग करते हुए प्रतिदिन उदित होते हैं ।। ९ ।।

मासार्धमासानथ नक्षत्रयोगा-
नतन्द्रितश्चन्द्रमाश्चाभ्युपैति ।
अतन्द्रितो दहते जातवेदाः
समिध्यमानः कर्म कुर्वन् प्रजाभ्यः ।। १० ।।

चन्द्रमा भी आलस्य त्यागकर (कर्मके द्वारा ही) मास, पक्ष तथा नक्षत्रोंका योग प्राप्त करते हैं; इसी प्रकार जातवेदा (अग्निदेव) भी आलस्यरहित होकर प्रजाके लिये कर्म करते हुए ही प्रज्वलित होकर दाह-क्रिया सम्पन्न करते हैं ।। १० ।।

अतन्द्रिता भारमिमं महान्तं

बिभर्ति देवी पृथिवी बलेन ।
अतन्द्रिताः शीघ्रमपो वहन्ति
संतर्पयन्त्यः सर्वभूतानि नद्यः ।। ११ ।।

पृथ्वीदेवी भी आलस्यशून्य हो (कर्ममें तत्पर रहकर ही) बलपूर्वक विश्वके इस महान् भारको ढोती हैं। ये नदियाँ भी आलस्य छोड़कर (कर्मपरायण हो) सम्पूर्ण प्राणियोंको तृप्त करती हुई शीघ्रतापूर्वक जल बहाया करती हैं ।। ११ ।।

अतन्द्रितो वर्षति भूरितेजाः
संनादयन्नन्तरिक्षं दिशश्च ।
अतन्द्रितो ब्रह्मचर्यं चचार
श्रेष्ठत्वमिच्छन् बलभिद् देवतानाम् ।। १२ ।।

जिन्होंने देवताओंमें श्रेष्ठ स्थान पानेकी इच्छासे तन्द्रारहित होकर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया था, वे महातेजस्वी बलसूदन इन्द्र भी आलस्य छोड़कर (कर्मपरायण होकर ही) मेघगर्जनाद्वारा आकाश तथा दिशाओंको गुँजाते हुए समय-समयपर वर्षा करते हैं ।।

हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि
तेन शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप ।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो
दमं तितिक्षां समतां प्रियं च ।। १३ ।।
एतानि सर्वाण्युपसेवमानः
स देवराज्यं मघवान् प्राप मुख्यम् ।
बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार
समाहितः संशितात्मा यथावत् ।। १४ ।।
हित्वा सुखं प्रतिरुध्येन्द्रियाणि
तेन देवानामगमद् गौरवं सः ।
तथा नक्षत्राणि कर्मणामुत्र भान्ति
रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे ।। १५ ।।

इन्द्रने सुख तथा मनको प्रिय लगनेवाली वस्तुओंका त्याग करके सत्कर्मके बलसे ही देवताओंमें ऊँची स्थिति प्राप्त की। उन्होंने सावधान होकर सत्य, धर्म, इन्द्रियसंयम, सहिष्णुता, समदर्शिता तथा सबको प्रिय लगनेवाले उत्तम बर्तावका पालन किया था। इन समस्त सद्‌गुणोंका सेवन करनेके कारण ही इन्द्रको देवसम्राट्‌का श्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार बृहस्पतिजीने भी नियमपूर्वक समाहित एवं संयतचित्त होकर सुखका परित्याग करके समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते हुए ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया था। इसी सत्कर्मके प्रभावसे उन्होंने देवगुरुका सम्मानित पद प्राप्त किया है। आकाशके सारे नक्षत्र

सत्कर्मके ही प्रभावसे परलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं। रुद्र, आदित्य, वसु तथा विश्वदेवगण भी कर्मबलसे ही महत्त्वको प्राप्त हुए हैं ।। १३—१५ ।।

यमो राजा वैश्रवणः कुबेरो
गन्धर्वयक्षाप्सरसश्च सूत ।
ब्रह्मविद्यां ब्रह्मचर्यं क्रियां च
निषेवमाणा ऋषयोऽमुत्र भान्ति ।। १६ ।।

सूत! यमराज, विश्रवाके पुत्र कुबेर, गन्धर्व, यक्ष तथा अप्सराएँ भी अपने-अपने कर्मोंके प्रभावसे ही स्वर्गमें विराजमान हैं। ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मचर्यकर्मका सेवन करनेवाले महर्षि भी कर्मबलसे ही परलोकमें प्रकाशमान हो रहे हैं ।। १६ ।।

जानन्निमं सर्वलोकस्य धर्मं
विप्रेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशां च ।
स कस्मात् त्वं जानतां ज्ञानवान् सन्
व्यायच्छसे संजय कौरवार्थे ।। १७ ।।

संजय! तुम श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सम्पूर्ण लोकोंके इस सुप्रसिद्ध धर्मको जानते हो। तुम ज्ञानियोंमें भी श्रेष्ठ ज्ञानी हो, तो भी तुम कौरवोंकी स्वार्थसिद्धिके लिये क्यों वाग्जाल फैला रहे हो? ।।

आम्नायेषु नित्यसंयोगमस्य
तथाश्वमेधे राजसूये च विद्धि ।
संयुज्यते धनुषा वर्मणा च
हस्त्यश्वाद्यै रथशस्त्रैश्च भूयः ।। १८ ।।
ते चेदिमे कौरवाणामुपाय-
मवगच्छेयुरवधेनैव पार्थाः ।
धर्मत्राणं पुण्यमेषां कृतं स्या-
दार्ये वृत्ते भीमसेनं निगृह्य ।। १९ ।।

राजा युधिष्ठिरका वेद-शास्त्रोंके साथ स्वाध्यायके रूपमें सदा सम्बन्ध बना रहता है। इसी प्रकार अश्वमेध तथा राजसूय आदि यज्ञोंसे भी इनका सदा लगाव है। ये धनुष और कवचसे भी संयुक्त हैं। हाथी-घोड़े आदि वाहनों, रथों और अस्त्र-शस्त्रोंकी भी इनके पास कमी नहीं है। ये कुन्तीपुत्र यदि कौरवोंका वध किये बिना ही अपने राज्यकी प्राप्तिका कोई दूसरा उपाय जान लेंगे, तो भीमसेनको आग्रहपूर्वक आर्य पुरुषोंके द्वारा आचरित सद्व्यवहारमें लगाकर धर्मरक्षारूप पुण्यका ही सम्पादन करेंगे, तुम ऐसा (भलीभाँति) समझ लो ।। १८-१९ ।।

ते चेत् पित्र्ये कर्मणि वर्तमाना
आपद्येरन् दिष्टवशेन मृत्युम् ।

यथाशक्त्या पूरयन्तः स्वकर्म
तदप्येषां निधनं स्यात् प्रशस्तम् ।। २० ।।

पाण्डव अपने बाप-दादोंके कर्म—क्षात्रधर्म (युद्ध आदि)-में प्रवृत्त हो यथाशक्ति अपने कर्तव्यका पालन करते हुए यदि दैववश मृत्युको भी प्राप्त हो जायँ तो इनकी वह मृत्यु उत्तम ही मानी जायगी ।। २० ।।

उताहो त्वं मन्यसे शाम्यमेव
राज्ञां युद्धे वर्तते धर्मतन्त्रम् ।
अयुद्धे वा वर्तते धर्मतन्त्रं
तथैव ते वाचमिमां शृणोमि ।। २१ ।।

यदि तुम शान्ति धारण करना ही ठीक समझते हो तो बताओ, युद्धमें प्रवृत्त होनेसे राजाओंके धर्मका ठीक-ठीक पालन होता है या युद्ध छोड़कर भाग जानेसे? क्षत्रियधर्मका विचार करते हुए तुम जो कुछ भी कहोगे, मैं तुम्हारी वही बात सुननेको उद्यत हूँ ।।

चातुर्वर्ण्यस्य प्रथमं संविभाग-
मवेक्ष्य त्वं संजय स्वं च कर्म ।
निशम्याथो पाण्डवानां च कर्म
प्रशंस वा निन्द वा या मतिस्ते ।। २२ ।।

संजय! तुम पहले ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके विभाग तथा उनमेंसे प्रत्येक वर्णके अपने-अपने कर्मको देख लो। फिर पाण्डवोंके वर्तमान कर्मपर दृष्टिपात करो; तत्पश्चात् जैसा तुम्हारा विचार हो, उसके अनुसार इनकी प्रशंसा अथवा निन्दा करना ।। २२ ।।

अधीयीत ब्राह्मणो वै यजेत
दद्यादीयात् तीर्थमुख्यानि चैव ।
अध्यापयेद् याजयेच्चापि याज्यान्
प्रतिग्रहान् वा विहितान् प्रतीच्छेत् ।। २३ ।।

ब्राह्मण अध्ययन, यज्ञ एवं दान करे तथा प्रधान-प्रधान तीर्थोंकी यात्रा करे, शिष्योंको पढ़ावे और यजमानोंका यज्ञ करावे अथवा शास्त्रविहित प्रतिग्रह (दान) स्वीकार करे ।। २३ ।।

(अधीयीत क्षत्रियोऽथो यजेत
दद्याद् दानं न तु याचेत किंचित् ।
न याजयेन्नापि चाध्यापयीत
एष स्मृतः क्षत्रधर्मः पुराणः ।।)

इसी प्रकार क्षत्रिय स्वाध्याय, यज्ञ और दान करे। किसीसे किसी भी वस्तुकी याचना न करे। वह न तो दूसरोंका यज्ञ करावे और न अध्यापनका ही कार्य करे; यही धर्मशास्त्रोंमें क्षत्रियोंका प्राचीन धर्म बताया गया है।

तथा राजन्यो रक्षणं वै प्रजानां
कृत्वा धर्मेणाप्रमत्तोऽथ दत्त्वा ।
यज्ञैरिष्ट्वा सर्ववेदानधीत्य
दारान् कृत्वा पुण्यकृदावसेद् गृहान् ।। २४ ।।
स धर्मात्मा धर्ममधीत्य पुण्यं
यदिच्छया व्रजति ब्रह्मलोकम् ।

इसके सिवा क्षत्रिय धर्मके अनुसार सावधान रहकर प्रजाजनोंकी रक्षा करे, दान दे, यज्ञ करे, सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके विवाह करे और पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ गृहस्थाश्रममें रहे। इस प्रकार वह धर्मात्मा क्षत्रिय धर्म एवं पुण्यका सम्पादन करके अपनी इच्छाके अनुसार ब्रह्मलोकको जाता है ।। २४ १/२ ।।

वैश्योऽधीत्य कृषिगोरक्षपण्यै-
र्वित्तं चिन्वन् पालयन्नप्रमत्तः ।। २५ ।।
प्रियं कुर्वन् ब्राह्मणक्षत्रियाणां
धर्मशीलः पुण्यकृदावसेद् गृहान् ।

वैश्य अध्ययन करके कृषि, गोरक्षा तथा व्यापारद्वारा धनोपार्जन करते हुए सावधानीके साथ उसकी रक्षा करे। ब्राह्मणों और क्षत्रियोंका प्रिय करते हुए धर्मशील एवं पुण्यात्मा होकर वह गृहस्थाश्रममें निवास करे ।।

परिचर्या वन्दनं ब्राह्मणानां
नाधीयीत प्रतिषिद्धोऽस्य यज्ञः ।
नित्योत्थितो भूतयेऽतन्द्रितः स्या-
देवं स्मृतः शूद्रधर्मः पुराणः ।। २६ ।।

शूद्र ब्राह्मणोंकी सेवा तथा वन्दना करे, वेदोंका स्वाध्याय न करे। उसके लिये यज्ञका भी निषेध है। वह सदा उद्योगी और आलस्यरहित होकर अपने कल्याणके लिये चेष्टा करे। इस प्रकार शूद्रोंका प्राचीन धर्म बताया गया है ।। २६ ।।

एतान् राजा पालयन्नप्रमत्तो
नियोजयन् सर्ववर्णान् स्वधर्मे ।
अकामात्मा समवृत्तिः प्रजासु
नाधार्मिकाननुरुध्येत कामान् ।। २७ ।।

राजा सावधानीके साथ इन सब वर्णोंका पालन करते हुए ही इन्हें अपने-अपने धर्ममें लगावे। वह कामभोगमें आसक्त न होकर समस्त प्रजाओंके साथ समानभावसे बर्ताव करे और पापपूर्ण इच्छाओंका कदापि अनुसरण न करे ।। २७ ।।

श्रेयांस्तस्माद् यदि विद्येत कश्चि-
दभिज्ञातः सर्वधर्मोपपन्नः ।

स तं द्रष्टुमनुशिष्यात् प्रजानां
न चैतद् बुध्येदिति तस्मिन्नसाधुः ।। २८ ।।

यदि राजाको यह ज्ञात हो जाय कि उसके राज्यमें कोई सर्वधर्मसम्पन्न श्रेष्ठ पुरुष निवास करता है तो वह उसीको प्रजाके गुण-दोषका निरीक्षण करनेके लिये नियुक्त करे तथा उसके द्वारा पता लगवावे कि मेरे राज्यमें कोई पापकर्म करनेवाला तो नहीं है ।। २८ ।।

यदा गृध्येत् परभूतौ नृशंसो
विधिप्रकोपाद् बलमाददानः ।
ततो राज्ञामभवद् युद्धमेतत्
तत्र जातं वर्म शस्त्रं धनुश्च ।। २९ ।।

जब कोई क्रूर मनुष्य दूसरेकी धन-सम्पत्तिमें लालच रखकर उसे ले लेनेकी इच्छा करता है और विधाताके कोपसे (परपीडनके लिये) सेना-संग्रह करने लगता है, उस समय राजाओंमें युद्धका अवसर उपस्थित होता है। इस युद्धके लिये ही कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुषका आविष्कार हुआ है ।। २९ ।।

इन्द्रेणैतद् दस्युवधाय कर्म
उत्पादितं वर्म शस्त्रं धनुश्च ।। ३० ।।

स्वयं देवराज इन्द्रने ऐसे लुटेरोंका वध करनेके लिये कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुषका आविष्कार किया है ।। ३० ।।

तत्र पुण्यं दस्युवधेन लभ्यते
सोऽयं दोषः कुरुभिस्तीव्ररूपः ।
अधर्मज्ञैर्धर्ममबुध्यमानैः
प्रादुर्भूतः संजय साधु तन्न ।। ३१ ।।

(राजाओंको) लुटेरोंका वध करनेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है। संजय! कौरवोंमें यह लुटेरेपनका दोष तीव्ररूपसे प्रकट हो गया है, जो अच्छा नहीं है। वे अधर्मके तो पूरे पण्डित हैं; परंतु धर्मकी बात बिलकुल नहीं जानते ।। ३१ ।।

तत्र राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
धर्म्यं हरेत् पाण्डवानामकस्मात् ।
नावेक्षन्ते राजधर्मं पुराणं
तदन्वयाः कुरवः सर्व एव ।। ३२ ।।

राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके साथ मिलकर सहसा पाण्डवोंके धर्मतः प्राप्त उनके पैतृक राज्यका अपहरण करनेको उतारू हो गये हैं। अन्य समस्त कौरव भी उन्हींका अनुसरण कर रहे हैं। वे प्राचीन राजधर्मकी ओर नहीं देखते ।। ३२ ।।

स्तेनो हरेद् यत्र धनं ह्यदृष्टः

प्रसह्य वा यत्र हरेत दृष्टः ।
उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयैतौ
किं वै पृथक्त्वं धृतराष्ट्रस्य पुत्रे ।। ३३ ।।

चोर छिपा रहकर धन चुरा ले जाय अथवा सामने आकर डाका डाले, दोनों ही दशाओंमें वे चोर-डाकू निन्दाके ही पात्र होते हैं। संजय! तुम्हीं कहो, धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन और उन चोर-डाकुओंमें क्या अन्तर है? ।। ३३ ।।

सोऽयं लोभान्मन्यते धर्ममेतं
यमिच्छति क्रोधवशानुगामी ।
भागः पुनः पाण्डवानां निविष्ट-
स्तं नः कस्मादाददीरन् परे वै ।। ३४ ।।

दुर्योधन क्रोधके वशीभूत हो उसके अनुसार चलनेवाला है और वह लोभसे राज्यको ले लेना चाहता है। इसे वह धर्म मान रहा है; परंतु वह तो पाण्डवोंका भाग है, जो कौरवोंके यहाँ धरोहरके रूपमें रखा गया है। संजय! हमारे उस भागको हमसे शत्रुता रखनेवाले कौरव कैसे ले सकते हैं? ।। ३४ ।।

अस्मिन् पदे युध्यतां नो वधोऽपि
श्लाघ्यः पित्र्यं परराज्याद् विशिष्टम् ।
एतान् धर्मान् कौरवाणां पुराणा-
नाचक्षीथाः संजय राजमध्ये ।। ३५ ।।

सूत! इस राज्यभागकी प्राप्तिके लिये युद्ध करते हुए हमलोगोंका वध हो जाय तो वह भी हमारे लिये स्पृहणीय ही है। बाप-दादोंका राज्य पराये राज्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। संजय! तुम राजाओंकी मण्डलीमें राजाओंके इन प्राचीन धर्मोंका कौरवोंके समक्ष वर्णन करना ।। ३५ ।।

एते मदान्मृत्युवशाभिपन्नाः
समानीता धार्तराष्ट्रेण मूढाः ।
इदं पुनः कर्म पापीय एव
सभामध्ये पश्य वृत्तं कुरूणाम् ।। ३६ ।।

दुर्योधनने जिन्हें युद्धके लिये बुलवाया है, वे मूर्ख राजा बलके मदसे मोहित होकर मौतके फंदेमें फँस गये हैं। संजय! भरी सभामें कौरवोंने जो यह अत्यन्त पापपूर्ण कर्म किया था, उनके इस दुराचारपर दृष्टि डालो ।। ३६ ।।

प्रियां भार्यां द्रौपदीं पाण्डवानां
यशस्विनीं शीलवृत्तोपपन्नाम् ।
यदुपैक्षन्त कुरवो भीष्ममुख्याः
कामानुगेनोपरुद्धां व्रजन्तीम् ।। ३७ ।।

पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी यशस्विनी द्रौपदी जो शील और सदाचारसे सम्पन्न है, रजस्वला-अवस्थामें सभाके भीतर लायी जा रही थी, परंतु भीष्म आदि प्रधान कौरवोंने भी उसकी ओरसे उपेक्षा दिखायी ।। ३७ ।।

तं चेत् तदा ते सकुमारवृद्धा
अवारयिष्यन् कुरवः समेताः ।
मम प्रियं धृतराष्ट्रोऽकरिष्यत्
पुत्राणां च कृतमस्याभविष्यत् ।। ३८ ।।

यदि बालकसे लेकर बूढ़ेतक सभी कौरव उस समय दुःशासनको रोक देते तो राजा धृतराष्ट्र मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करते तथा उनके पुत्रोंका भी प्रिय मनोरथ सिद्ध हो जाता ।। ३८ ।।

दुःशासनः प्रातिलोम्यान्निनाय
सभामध्ये श्वशुराणां च कृष्णाम् ।
सा तत्र नीता करुणं व्यपेक्ष्य
नान्यं क्षत्तुर्नाथमवाप किंचित् ।। ३९ ।।

दुःशासन मर्यादाके विपरीत द्रौपदीको सभाके भीतर श्वशुरजनोंके समक्ष घसीट ले गया। द्रौपदीने वहाँ जाकर कातरभावसे चारों ओर करुणदृष्टि डाली, परंतु उसने वहाँ विदुरजीके सिवा और किसीको अपना रक्षक नहीं पाया ।। ३९ ।।

कार्पण्यादेव सहितास्तत्र भूपा
नाशक्नुवन् प्रतिवक्तुं सभायाम् ।
एकः क्षत्ता धर्म्यमर्थं ब्रुवाणो
धर्मबुद्ध्या प्रत्युवाचाल्पबुद्धिम् ।। ४० ।।

उस समय सभामें बहुत-से भूपाल एकत्रित थे, परंतु अपनी कायरताके कारण वे उस अन्यायका प्रतिवाद न कर सके। एकमात्र विदुरजीने अपना धर्म समझकर मन्दबुद्धि दुर्योधनसे धर्मानुकूल वचन कहकर उसके अन्यायका विरोध किया ।। ४० ।।

अबुद्ध्वा त्वं धर्ममेतं सभाया-
मथेच्छसे पाण्डवस्योपदेष्टुम् ।
कृष्णा त्वेतत् कर्म चकार शुद्धं
सुदुष्करं तत्र सभां समेत्य ।। ४१ ।।
येन कृच्छ्रात् पाण्डवानुज्जहार
तथाऽऽत्मानं नौरिव सागरौघात् ।
यत्राब्रवीत् सूतपुत्रः सभायां
कृष्णां स्थितां श्वशुराणां समीपे ।। ४२ ।।
न ते गतिर्विद्यते याज्ञसेनि

प्रपद्य दासी धार्तराष्ट्रस्य वेश्म ।
पराजितास्ते पतयो न सन्ति
पतिं चान्यं भाविनि त्वं वृणीष्व ।। ४३ ।।

संजय! द्यूतसभामें जो अन्याय हुआ था, उसे भुलाकर तुम पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको धर्मका उपदेश देना चाहते हो। द्रौपदीने उस दिन सभामें जाकर अत्यन्त दुष्कर और पवित्र कार्य किया कि उसने पाण्डवों तथा अपनेको महान् संकटसे बचा लिया; ठीक उसी तरह, जैसे नौका समुद्रकी अगाध जलराशिमें डूबनेसे बचा लेती है। उस सभामें कृष्णा श्वशुरजनोंके समीप खड़ी थी, तो भी सूतपुत्र कर्णने उसे अपमानित करते हुए कहा—'याज्ञसेनि! अब तेरे लिये दूसरी गति नहीं है, तू दासी बनकर दुर्योधनके महलमें चली जा। पाण्डव जूएमें अपनेको हार चुके हैं, अतः अब वे तेरे पति नहीं रहे। भाविनि! अब तू किसी दूसरेको अपना पति वरण कर ले' ।। ४१—४३ ।।

यो बीभत्सोर्हृदये प्रोत आसी-
दस्थिच्छिन्दन् मर्मघाती सुघोरः ।
कर्णाच्छरो वाङ्मयस्तिग्मतेजाः
प्रतिष्ठितो हृदये फाल्गुनस्य ।। ४४ ।।

कर्णके मुखसे निकला हुआ वह अत्यन्त घोर कटुवचनरूपी बाण मर्मपर चोट पहुँचानेवाला था। वह कानके रास्तेसे भीतर जाकर हड्डियोंको छेदता हुआ अर्जुनके हृदयमें धँस गया। तीखी कसक पैदा करनेवाला वह वाग्बाण आज भी अर्जुनके हृदयमें गड़ा हुआ है (और इनके कलेजेको साल रहा है) ।। ४४ ।।

कृष्णाजिनानि परिधित्समानान्
दुःशासनः कटुकान्यभ्यभाषत् ।
एते सर्वे षण्ढतिला विनष्टाः
क्षयं गता नरकं दीर्घकालम् ।। ४५ ।।

जिस समय पाण्डव वनमें जानेके लिये कृष्ण-मृगचर्म धारण करना चाहते थे, उस समय दुःशासनने उनके प्रति कितनी ही कड़वी बातें कहीं—'ये सब-के-सब हीजड़े अब नष्ट हो गये, चिरकालके लिये नरकके गर्तमें गिर गये' ।। ४५ ।।

गान्धारराजः शकुनिर्निकृत्या
यदब्रवीद् द्यूतकाले स पार्थम् ।
पराजितो नन्दनः किं तवास्ति
कृष्णया त्वं दीव्य वै याज्ञसेन्या ।। ४६ ।।

गान्धारराज शकुनिने द्यूतक्रीड़ाके समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे शठतापूर्वक यह बात कही थी कि अब तो तुम अपने छोटे भाईको भी हार गये, अब तुम्हारे पास क्या है? इसलिये इस समय तुम द्रुपदनन्दिनी कृष्णाको दाँवपर रखकर जूआ खेलो ।। ४६ ।।

जानासि त्वं संजय सर्वमेतद्
द्यूते वाक्यं गर्ह्यमेवं यथोक्तम् ।
स्वयं त्वहं प्रार्थये तत्र गन्तुं
समाधातुं कार्यमेतद् विपन्नम् ।। ४७ ।।

संजय! (कहाँतक गिनाऊँ,) जूएके समय जितने और जैसे निन्दनीय वचन कहे गये थे, वे सब तुम्हें ज्ञात हैं, तथापि इस बिगड़े हुए कार्यको बनानेके लिये मैं स्वयं हस्तिनापुर चलना चाहता हूँ ।। ४७ ।।

अहापयित्वा यदि पाण्डवार्थं
शमं कुरूणामपि चेच्छकेयम् ।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महोदयं
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ।। ४८ ।।

यदि पाण्डवोंका स्वार्थ नष्ट किये बिना ही मैं कौरवोंके साथ इनकी संधि करानेमें सफल हो सका तो मेरे द्वारा यह परम पवित्र और महान् अभ्युदयका कार्य सम्पन्न हो जायगा तथा कौरव भी मौतके फंदेसे छूट जायँगे ।। ४८ ।।

अपि मे वाचं भाषमाणस्य काव्यां
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्राम् ।
अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः समक्षं
मां च प्राप्तं कुरवः पूजयेयुः ।। ४९ ।।

मैं वहाँ जाकर शुक्रनीतिके अनुसार धर्म और अर्थसे युक्त ऐसी बातें कहूँगा, जो हिंसावृत्तिको दबानेवाली होंगी। क्या धृतराष्ट्रके पुत्र मेरी उन बातोंपर विचार करेंगे? क्या कौरवगण अपने सामने उपस्थित होनेपर मेरा सम्मान करेंगे? ।। ४९ ।।

अतोऽन्यथा रथिना फाल्गुनेन
भीमेन चैवाहवदंशितेन ।
परासिक्तान् धार्तराष्ट्रांश्च विद्धि
प्रदह्यमानान् कर्मणा स्वेन पापान् ।। ५० ।।

संजय! यदि ऐसा नहीं हुआ—कौरवोंने इसके विपरीत भाव दिखाया तो समझ लो कि रथपर बैठे हुए अर्जुन और युद्धके लिये कवच धारण करके तैयार हुए भीमसेनके द्वारा पराजित होकर धृतराष्ट्रके वे सभी पापात्मा पुत्र अपने ही कर्मदोषसे दग्ध हो जायँगे ।। ५० ।।

पराजितान् पाण्डवेयांस्तु वाचो
रौद्रा रूक्षा भाषते धार्तराष्ट्रः ।
गदाहस्तो भीमसेनोऽप्रमत्तो
दुर्योधनं स्मारयिता हि काले ।। ५१ ।।

द्यूतके समय जब पाण्डव हार गये थे, तब दुर्योधनने उनके प्रति बड़ी भयानक और कड़वी बातें कही थीं; अतः सदा सावधान रहनेवाले भीमसेन युद्धके समय गदा हाथमें लेकर दुर्योधनको उन बातोंकी याद दिलायेंगे ।।

सुयोधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः ।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ।। ५२ ।।

दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्षके समान है, कर्ण उस वृक्षका स्कन्ध, शकुनि शाखा और दुःशासन समृद्ध फल-पुष्प है। अज्ञानी राजा धृतराष्ट्र ही इसके मूल (जड़) हैं ।।

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
माद्रीपुत्रौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं त्वहं ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ।। ५३ ।।

युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष हैं। अर्जुन (उस वृक्षके) स्कन्ध, भीमसेन शाखा और माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव इसके समृद्ध फल-पुष्प हैं। मैं, वेद और ब्राह्मण ही इस वृक्षके मूल (जड़) हैं ।। ५३ ।।

वनं राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
व्याघ्रास्ते वै संजय पाण्डुपुत्राः ।
सिंहाभिगुप्तं न वनं विनश्येत्
सिंहो न नश्येत वनाभिगुप्तः ।। ५४ ।।

संजय! पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र एक वन हैं और पाण्डव उस वनमें निवास करनेवाले व्याघ्र हैं। सिंहोंसे रक्षित वन नष्ट नहीं होता एवं वनमें रहकर सुरक्षित सिंह नष्ट नहीं होता उस वनका उच्छेद न करो ।। ५४ ।।

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम् ।
तस्माद् व्याघ्रो वनं रक्षेद् वनं व्याघ्रं च पालयेत् ।। ५५ ।।

क्योंकि वनसे बाहर निकला हुआ व्याघ्र मारा जाता है और बिना व्याघ्रके वनको सब लोग आसानीसे काट लेते हैं। अतः व्याघ्र वनकी रक्षा करे और वन व्याघ्रकी ।। ५५ ।।

लताधर्मा धार्तराष्ट्राः शालाः संजय पाण्डवाः ।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ।। ५६ ।।

संजय! धृतराष्ट्रके पुत्र लताओंके समान हैं और पाण्डव शाल-वृक्षोंके समान। कोई भी लता किसी महान् वृक्षका आश्रय लिये बिना कभी नहीं बढ़ती है (अतः पाण्डवोंका आश्रय लेकर ही धृतराष्ट्रपुत्र बढ़ सकते हैं) ।। ५६ ।।

स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिंदमाः ।

यत् कृत्यं धृतराष्ट्रस्य तत् करोतु नराधिपः ।। ५७ ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीपुत्र धृतराष्ट्रकी सेवा करनेके लिये भी उद्यत हैं और युद्धके लिये भी। अब राजा धृतराष्ट्रका जो कर्तव्य हो, उसका वे पालन करें ।। ५७ ।।

स्थिताः शमे महात्मानः पाण्डवा धर्मचारिणः ।

योधाः समर्थास्तद् विद्वन्नाचक्षीथा यथातथम् ।। ५८ ।।

विद्वन् संजय! धर्मका आचरण करनेवाले महात्मा पाण्डव शान्तिके लिये भी तैयार हैं और युद्ध करनेमें भी समर्थ हैं। इन दोनों अवस्थाओंको समझकर तुम राजा धृतराष्ट्रसे यथार्थ बातें कहना ।। ५८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि कृष्णवाक्ये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ।। २९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यसम्बन्धी उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५९ श्लोक हैं।]

---

* इस प्रकार यद्यपि गृहस्थाश्रममें रहने और संन्यास लेनेका भी शास्त्रद्वारा ही विधान किया गया है, तथापि अन्य आश्रमोंमें प्राप्त होनेवाले ज्ञानकी उपलब्धि तो गृहस्थाश्रममें भी हो सकती है, परंतु गृहस्थ-साध्य यज्ञादि पुण्यकर्म आश्रमान्तरोंमें नहीं हो सकते; अतः सम्पूर्ण धर्मोंकी सिद्धिका स्थान गृहस्थाश्रम ही है।

त्रिंशोऽध्यायः

संजयकी विदाई तथा युधिष्ठिरका संदेश

संजय उवाच

आमन्त्रये त्वां नरदेवदेव
गच्छाम्यहं पाण्डव स्वस्ति तेऽस्तु ।
कच्चिन्न वाचा वृजिनं हि किंचि-
दुच्चारितं मे मनसोऽभिषङ्गात् ।। १ ।।

संजयने कहा—नरदेवदेव पाण्डुनन्दन! आपका कल्याण हो। अब मैं आपसे विदा लेता और हस्तिनापुरको जाता हूँ। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि मैंने मानसिक आवेगके कारण वाणीद्वारा कोई ऐसी बात कह दी हो, जिससे आपको कष्ट हुआ हो? ।। १ ।।

जनार्दनं भीमसेनार्जुनौ च
माद्रीसुतौ सात्यकिं चेकितानम् ।
आमन्त्र्य गच्छामि शिवं सुखं वः
सौम्येन मां पश्यत चक्षुषा नृपाः ।। २ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, सात्यकि तथा चेकितानसे भी आज्ञा लेकर मैं जा रहा हूँ। आपलोगोंको सुख और कल्याणकी प्राप्ति हो। राजाओ! आप मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखें ।। २ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अनुज्ञातः संजय स्वस्ति गच्छ
न नः स्मरस्यप्रियं जातु विद्वन् ।
विद्मश्च त्वां ते च वयं च सर्वे
शुद्धात्मानं मध्यगतं सभास्थम् ।। ३ ।।

युधिष्ठिर बोले—संजय! मैं तुम्हें जानेकी अनुमति देता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम जाओ। विद्वन्! तुम कभी हमलोगोंका अनिष्ट-चिन्तन नहीं करते हो। इसलिये कौरव तथा हमलोग सभी तुम्हें शुद्धचित्त एवं मध्यस्थ सदस्य समझते हैं ।। ३ ।।

आप्तो दूतः संजय सुप्रियोऽसि
कल्याणवाक् शीलवांस्तृप्तिमांश्च ।
न मुह्येस्त्वं संजय जातु मत्या
न च क्रुद्ध्येरुच्यमानो दुरुक्तैः ।। ४ ।।

संजय! तुम विश्वसनीय दूत और हमारे अत्यन्त प्रिय हो। तुम्हारी बातें कल्याणकारिणी होती हैं। तुम शीलवान् और संतोषी हो। तुम्हारी बुद्धि कभी मोहित नहीं होती और कटु वचन सुनकर भी तुम कभी क्रोध नहीं करते हो ।। ४ ।।

न मर्मगां जातु वक्तासि रूक्षां
नोपश्रुतिं कटुकां नोत मुक्ताम् ।
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्रा-
मेतां वाचं तव जानीम सूत ।। ५ ।।

सूत! तुम्हारे मुखसे कभी कोई ऐसी बात नहीं निकलती, जो कड़वी होनेके साथ ही मर्मपर आघात करनेवाली हो। तुम नीरस और अप्रासंगिक बात भी नहीं बोलते। हम अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारा यह कथन धर्मानुकूल होनेके कारण मनोहर, अर्थयुक्त तथा हिंसाकी भावनासे रहित है ।। ५ ।।

त्वमेव नः प्रियतमोऽसि दूत
इहागच्छेद् विदुरो वा द्वितीयः ।
अभीक्ष्णदृष्टोऽसि पुरा हि नस्त्वं
धनंजयस्यात्मसमः सखासि ।। ६ ।।

संजय! तुम्हीं हमारे अत्यन्त प्रिय हो। जान पड़ता है, दूसरे विदुरजी ही (दूत बनकर) यहाँ आ गये हैं। पहले भी तुम हमसे बारंबार मिलते रहे हो और धनंजयके तो तुम अपने आत्माके समान प्रिय सखा हो ।। ६ ।।

इतो गत्वा संजय क्षिप्रमेव
उपातिष्ठेथा ब्राह्मणान् ये तदर्हाः ।
विशुद्धवीर्यांश्चरणोपपन्नाः
कुले जाताः सर्वधर्मोपपन्नाः ।। ७ ।।

संजय! यहाँसे जाकर तुम शीघ्र ही जो आदर और सम्मानके योग्य हैं, उन विशुद्ध शक्तिशाली, ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न, कुलीन तथा सर्वधर्म-सम्पन्न ब्राह्मणोंको हमारी ओरसे प्रणाम कहना ।। ७ ।।

स्वाध्यायिनो ब्राह्मणा भिक्षवश्च
तपस्विनो ये च नित्या वनेषु ।
अभिवाद्या वै मद्वचनेन वृद्धा-
स्तथेतरेषां कुशलं वदेथाः ।। ८ ।।

स्वाध्यायशील ब्राह्मणों, संन्यासियों तथा सदा वनमें निवास करनेवाले तपस्वी मुनियों एवं बड़े-बूढ़े लोगोंसे हमारी ओरसे प्रणाम कहना और दूसरे लोगोंसे भी कुशल-समाचार पूछना ।। ८ ।।

पुरोहितं धृतराष्ट्रस्य राज्ञ-

स्तथाऽऽचार्यानृत्विजो ये च तस्य ।
तैश्च त्वं तात सहितैर्यथार्हं
संगच्छेथाः कुशलेनैव सूत ।। ९ ।।

तात संजय! राजा धृतराष्ट्रके पुरोहित, आचार्य तथा उनके ऋत्विजोंसे भी (उनके साथ भेंट होनेपर) तुम (हमारी ओरसे) कुशल-मंगलका समाचार पूछते हुए ही मिलना ।। ९ ।।

(ततोऽव्यग्रस्तन्मनाः प्राञ्जलिश्च
कुर्या नमो मद्वचनेन तेभ्यः ।)

तदनन्तर शान्तभावसे उन्हींकी ओर मनकी वृत्तियोंको एकाग्र करके हाथ जोड़कर मेरे कहनेसे उन सबको प्रणाम निवेदन करना।

अश्रोत्रिया ये च वसन्ति वृद्धा
मनस्विनः शीलबलोपपन्नाः ।
आशंसन्तोऽस्माकमनुस्मरन्तो
यथाशक्ति धर्ममात्रां चरन्तः ।। १० ।।
श्लाघस्व मां कुशलिनं स्म तेभ्यो
ह्यनामयं तात पृच्छेर्जघन्यम् ।

तात! जो अश्रोत्रिय (शूद्र) वृद्ध पुरुष मनस्वी तथा शील और बलसे सम्पन्न हैं एवं हस्तिनापुरमें निवास करते हैं, जो यथाशक्ति कुछ धर्मका आचरण करते हुए हमलोगोंके प्रति शुभ कामना रखते हैं और बारंबार हमें याद करते हैं, उन सबसे हमलोगोंका कुशल-समाचार निवेदन करना। तत्पश्चात् उनके स्वास्थ्यका समाचार पूछना ।। १० $\frac{१}{२}$ ।।

ये जीवन्ति व्यवहारेण राष्ट्रे
पशूंश्च ये पालयन्तो वसन्ति ।। ११ ।।
(कृषीवला बिभ्रति ये च लोकं
तेषां सर्वेषां कुशलं स्म पृच्छेः ।)

जो कौरव-राज्यमें व्यापारसे जीविका चलाते हैं, पशुओंका पालन करते हुए निवास करते हैं तथा जो खेती करके सब लोगोंका भरण-पोषण करते हैं, उन सब वैश्योंका भी कुशल-समाचार पूछना ।। ११ ।।

आचार्य इष्टो नयगो विधेयो
वेदानभीप्सन् ब्रह्मचर्यं चचार ।
योऽस्त्रं चतुष्पात् पुनरेव चक्रे
द्रोणः प्रसन्नोऽभिवाद्यस्त्वयासौ ।। १२ ।।

जिन्होंने वेदोंकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये पहले ब्रह्मचर्यका पालन किया। तत्पश्चात् मन्त्र, उपचार, प्रयोग तथा संहार—इन चार पादोंसे युक्त अस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त की, वे

सबके प्रिय, नीतिज्ञ, विनयी तथा सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाले आचार्य द्रोण भी हमारे अभिवादनके योग्य हैं, तुम उनसे भी मेरा प्रणाम कहना ।। १२ ।।

अधीतविद्यश्चरणोपपन्नो
योऽस्त्रं चतुष्पात् पुनरेव चक्रे ।
गन्धर्वपुत्रप्रतिमं तरस्विनं
तमश्वत्थामानं कुशलं स्म पृच्छेः ।। १३ ।।

जो वेदाध्ययनसम्पन्न तथा सदाचारयुक्त हैं, जिन्होंने चारों पादोंसे युक्त अस्त्रविद्याकी शिक्षा पायी है, जो गन्धर्वकुमारके समान वेगशाली वीर हैं, उन आचार्यपुत्र अश्वत्थामाका भी कुशल-समाचार पूछना ।। १३ ।।

शारद्वतस्यावसथं स्म गत्वा
महारथस्यात्मविदां वरस्य ।
त्वं मामभीक्ष्णं परिकीर्तयन् वै
कृपस्य पादौ संजय पाणिना स्पृशेः ।। १४ ।।

संजय! तदनन्तर आत्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महारथी कृपाचार्यके घर जाकर बारंबार मेरा नाम लेते हुए अपने हाथसे उनके दोनों चरणोंका स्पर्श करना ।। १४ ।।

यस्मिन् शौर्यमानृशंस्यं तपश्च
प्रज्ञा शीलं श्रुतिसत्त्वे धृतिश्च ।
पादौ गृहीत्वा कुरुसत्तमस्य
भीष्मस्य मां तत्र निवेदयेथाः ।। १५ ।।

जिनमें वीरत्व, दया, तपस्या, बुद्धि, शील, शास्त्रज्ञान, सत्त्व और धैर्य आदि सद्गुण विद्यमान हैं, उन कुरुश्रेष्ठ पितामह भीष्मके दोनों चरण पकड़कर मेरा प्रणाम निवेदन करना ।। १५ ।।

प्रज्ञाचक्षुर्यः प्रणेता कुरूणां
बहुश्रुतो वृद्धसेवी मनीषी ।
तस्मै राज्ञे स्थविरायाभिवाद्य
आचक्षीथाः संजय मामरोगम् ।। १६ ।।

संजय! जो कौरवगणोंके नेता, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, बड़े बूढ़ोंके सेवक और बुद्धिमान् हैं, उन वृद्ध नरेश प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्रको मेरा प्रणाम निवेदन करके यह बताना कि युधिष्ठिर नीरोग और सकुशल है ।। १६ ।।

ज्येष्ठः पुत्रो धृतराष्ट्रस्य मन्दो
मूर्खः शठः संजय पापशीलः ।
यस्यापवादः पृथिवीं याति सर्वां
सुयोधनं कुशलं तात पृच्छेः ।। १७ ।।

तात संजय! जो धृतराष्ट्रका ज्येष्ठ पुत्र, मन्दबुद्धि, मूर्ख, शठ और पापाचारी है तथा जिसकी निन्दा सारी पृथ्वीमें फैल रही है, उस सुयोधनसे भी मेरी ओरसे कुशल-मंगल पूछना ।। १७ ।।

भ्राता कनीयानपि तस्य मन्द-
स्तथाशीलः संजय सोऽपि शश्वत् ।
महेष्वासः शूरतमः कुरूणां
दुःशासनः कुशलं तात वाच्यः ।। १८ ।।

तात संजय! जो दुर्योधनका छोटा भाई है तथा उसीके समान मूर्ख और सदा पापमें संलग्न रहनेवाला है, कुरुकुलके उस महाधनुर्धर एवं विख्यात वीर दुःशासनसे भी कुशल पूछकर मेरा कुशल-समाचार कहना ।। १८ ।।

यस्य कामो वर्तते नित्यमेव
नान्यः शमाद् भारतानामिति स्म ।
स बाह्लिकानामृषभो मनीषी
त्वयाभिवाद्यः संजय साधुशीलः ।। १९ ।।

संजय! भरतवंशियोंमें परस्पर शान्ति बनी रहे, इसके सिवा दूसरी कोई कामना जिनके हृदयमें कभी नहीं होती है, जो बाह्लीकवंशके श्रेष्ठ पुरुष हैं, उन साधु स्वभाववाले बुद्धिमान् बाह्लीकको भी तुम मेरा प्रणाम निवेदन करना ।। १९ ।।

गुणैरनेकैः प्रवरैश्च युक्तो
विज्ञानवान् नैव च निष्ठुरो यः ।
स्नेहादमर्षं सहते सदैव
स सोमदत्तः पूजनीयो मतो मे ।। २० ।।

जो अनेक श्रेष्ठ गुणोंसे विभूषित और ज्ञानवान् हैं, जिनमें निष्ठुरताका लेशमात्र भी नहीं है, जो स्नेहवश सदा ही हमलोगोंका क्रोध सहन करते रहते हैं, वे सोमदत्त भी मेरे लिये पूजनीय हैं ।। २० ।।

अर्हत्तमः कुरुषु सौमदत्तिः
स नो भ्राता संजय मत्सखा च ।
महेष्वासो रथिनामुत्तमोऽर्हः
सहामात्यः कुशलं तस्य पृच्छेः ।। २१ ।।

संजय! सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा कुरुकुलमें पूज्यतम पुरुष माने गये हैं। वे हमलोगोंके निकट सम्बन्धी और मेरे प्रिय सखा हैं। रथी वीरोंमें उनका बहुत ऊँचा स्थान है। वे महान् धनुर्धर तथा आदरणीय वीर हैं। तुम मेरी ओरसे मन्त्रियोंसहित उनका कुशल-समाचार पूछना ।। २१ ।।

ये चैवान्ये कुरुमुख्या युवानः

पुत्राः पौत्रा भ्रातरश्चैव ये नः ।
यं यमेषां मन्यसे येन योग्यं
तत् तत् प्रोच्यानामयं सूत वाच्याः ।। २२ ।।

संजय! इनके सिवा और भी जो कुरुकुलके प्रधान नवयुवक हैं, जो हमारे पुत्र, पौत्र और भाई लगते हैं, इनमेंसे जिस-जिसको तुम जिस व्यवहारके योग्य समझो, उससे वैसी ही बात कहकर उन सबसे बताना कि पाण्डवलोग स्वस्थ और सानन्द हैं ।। २२ ।।

ये राजानः पाण्डवायोधनाय
समानीता धार्तराष्ट्रेण केचित् ।
वशातयः शाल्वकाः केकयाश्च
तथाम्बष्ठा ये त्रिगर्ताश्च मुख्याः ।। २३ ।।
प्राच्योदीच्या दाक्षिणात्याश्च शूरा-
स्तथा प्रतीच्याः पर्वतीयाश्च सर्वे ।
अनृशंसाः शीलवृत्तोपपन्ना-
स्तेषां सर्वेषां कुशलं सूत पृच्छेः ।। २४ ।।

दुर्योधनने हम पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेके लिये जिन-जिन राजाओंको बुलाया है। वे वशाति, शाल्व, केकय, अम्बष्ठ तथा त्रिगर्तदेशके प्रधान वीर, पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाके शौर्यसम्पन्न योद्धा तथा समस्त पर्वतीय नरेश वहाँ उपस्थित हैं। वे लोग दयालु तथा शील और सदाचारसे सम्पन्न हैं। संजय! तुम मेरी ओरसे उन सबका कुशल-मंगल पूछना ।। २३-२४ ।।

हस्त्यारोहा रथिनः सादिनश्च
पदातयश्चार्यसङ्घा महान्तः ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म नित्य-
मनामयं परिपृच्छेः समग्रान् ।। २५ ।।

जो हाथीसवार, रथी, घुड़सवार, पैदल तथा बड़े-बड़े सज्जनोंके समुदाय वहाँ उपस्थित हैं, उन सबसे मुझे सकुशल बताकर उनका भी आरोग्य-समाचार पूछना ।। २५ ।।

तथा राज्ञो ह्यर्थयुक्तानमात्यान्
दौवारिकान् ये च सेनां नयन्ति ।
आयव्ययं ये गणयन्ति नित्य-
मर्थांश्च ये महतश्चिन्तयन्ति ।। २६ ।।

जो राजाके हितकर कार्योंमें लगे हुए मन्त्री, द्वारपाल, सेनानायक, आय-व्ययनिरीक्षक तथा निरन्तर बड़े-बड़े कार्यों एवं प्रश्नोंपर विचार करनेवाले हैं, उनसे भी कुशल-समाचार पूछना ।। २६ ।।

वृन्दारकं कुरुमध्येष्वमूढं

महाप्रज्ञं सर्वधर्मोपपन्नम् ।
न तस्य युद्धं रोचते वै कदाचिद्
वैश्यापुत्रं कुशलं तात पृच्छेः ।। २७ ।।

तात! जो समस्त कौरवोंमें श्रेष्ठ, महाबुद्धिमान्, ज्ञानी तथा सब धर्मोंसे सम्पन्न हैं, जिसे कौरव और पाण्डवोंका युद्ध कभी अच्छा नहीं लगता, उस वैश्यापुत्र युयुत्सुका भी मेरी ओरसे कुशल-मंगल पूछना ।। २७ ।।

निकर्तने देवने योऽद्वितीय-
श्छन्नोपधः साधुदेवी मताक्षः ।
यो दुर्जयो देवरथेन संख्ये
स चित्रसेनः कुशलं तात वाच्यः ।। २८ ।।

तात! जो धनके अपहरण और द्यूतक्रीड़ामें अद्वितीय है, छलको छिपाये रखकर अच्छी तरहसे जूआ खेलता है, पासे फेंकनेकी कलामें प्रवीण है तथा जो युद्धमें दिव्य रथारूढ़ वीरके लिये भी दुर्जय है, उस चित्रसेनसे भी कुशल-समाचार पूछना और बताना ।। २८ ।।

गान्धारराजः शकुनिः पर्वतीयो
निकर्तने योऽद्वितीयोऽक्षदेवी ।
मानं कुर्वन् धार्तराष्ट्रस्य सूत
मिथ्याबुद्धेः कुशलं तात पृच्छेः ।। २९ ।।

तात संजय! जो जूआ खेलकर पराये धनका अपहरण करनेकी कलामें अपना सानी नहीं रखता तथा दुर्योधन-का सदा सम्मान करता है, उस मिथ्याबुद्धि पर्वतनिवासी गान्धारराज शकुनिकी भी कुशल पूछना ।। २९ ।।

यः पाण्डवानेकरथेन वीरः
समुत्सहत्यप्रधृष्यान् विजेतुम् ।
यो मुह्यतां मोहयिताद्वितीयो
वैकर्तनः कुशलं तस्य पृच्छेः ।। ३० ।।

जो अद्वितीय वीर एकमात्र रथकी सहायतासे अजेय पाण्डवोंको भी जीतनेका उत्साह रखता है तथा जो मोहमें पड़े हुए धृतराष्ट्रके पुत्रोंको और भी मोहित करनेवाला है, उस वैकर्तन कर्णकी भी कुशल पूछना ।। ३० ।।

स एव भक्तः स गुरुः स भर्ता
स वै पिता स च माता सुहृच्च ।
अगाधबुद्धिर्विदुरो दीर्घदर्शी
स नो मन्त्री कुशलं तं स्म पृच्छेः ।। ३१ ।।

अगाधबुद्धि दूरदर्शी विदुरजी हमलोगोंके प्रेमी, गुरु, पालक, पिता-माता और सुहृद् हैं, वे ही हमारे मन्त्री भी हैं। संजय! तुम मेरी ओरसे उनकी भी कुशल पूछना ।।

वृद्धाः स्त्रियो याश्च गुणोपपन्ना
ज्ञायन्ते नः संजय मातरस्ताः ।
ताभिः सर्वाभिः सहिताभिः समेत्य
स्त्रीभिर्वृद्धाभिरभिवादं वदेथाः ।। ३२ ।।

संजय! राजघरानेमें जो सद्‌गुणवती वृद्धा स्त्रियाँ हैं, वे सब हमारी माताएँ लगती हैं। उन सब वृद्धा स्त्रियोंसे एक साथ मिलकर तुम उनसे हमारा प्रणाम निवेदन करना ।। ३२ ।।

कच्चित् पुत्रा जीवपुत्राः सुसम्यग्
वर्तन्ते वो वृत्तिमनृशंसरूपाः ।
इति स्मोक्त्वा संजय ब्रूहि पश्चा-
दजातशत्रुः कुशली सपुत्रः ।। ३३ ।।

संजय! उन बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंसे इस प्रकार कहना—'माताओ! आपके पुत्र आपके साथ उत्तम बर्ताव करते हैं न? उनमें क्रूरता तो नहीं आ गयी है? उन सबके दीर्घायु पुत्र हो गये हैं न?' इस प्रकार कहकर पीछे यह बताना कि आपका बालक अजातशत्रु युधिष्ठिर पुत्रोंसहित सकुशल है ।। ३३ ।।

या नो भार्याः संजय वेत्थ तत्र
तासां सर्वासां कुशलं तात पृच्छेः ।
सुसंगुप्ताः सुरभयोऽनवद्याः
कच्चिद् गृहानावसथाप्रमत्ताः ।। ३४ ।।
कच्चिद् वृत्तिं श्वशुरेषु भद्राः
कल्याणीं वर्तध्वमनृशंसरूपाम् ।
यथा च वः स्युः पतयोऽनुकूला-
स्तथा वृत्तिमात्मनः स्थापयध्वम् ।। ३५ ।।

तात संजय! हस्तिनापुरमें हमारे भाइयोंकी जो स्त्रियाँ हैं, उन सबको तो तुम जानते ही हो। उन सबकी कुशल पूछना और कहना क्या तुमलोग सर्वथा सुरक्षित रहकर निर्दोष जीवन बिता रही हो? तुम्हें आवश्यक सुगन्ध आदि प्रसाधन-सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं न? तुम घरमें प्रमादशून्य होकर रहती हो न? भद्र महिलाओ! क्या तुम अपने श्वशुरजनोंके प्रति क्रूरतारहित कल्याणकारी बर्ताव करती हो तथा जिस प्रकार तुम्हारे पति अनुकूल बने रहें, वैसे व्यवहार और सद्भावको अपने हृदयमें स्थान देती हो? ।। ३४-३५ ।।

या नः स्नुषाः संजय वेत्थ तत्र
प्राप्ताः कुलेभ्यश्च गुणोपपन्नाः ।
प्रजावत्यो ब्रूहि समेत्य ताश्च
युधिष्ठिरो वोऽभ्यवदत् प्रसन्नः ।। ३६ ।।

संजय! तुम वहाँ उन स्त्रियोंको भी जानते हो, जो हमारी पुत्रवधुएँ लगती हैं, जो उत्तम कुलोंसे आयी हैं तथा सर्वगुणसम्पन्न और संतानवती हैं। वहाँ जाकर उनसे कहना —'बहुओ! युधिष्ठिर प्रसन्न होकर तुमलोगों-का कुशल-समाचार पूछते थे' ।। ३६ ।।

कन्याः स्वजेथाः सदनेषु संजय
अनामयं मद्वचनेन पृष्ट्वा ।
कल्याणा वः सन्तु पतयोऽनुकूला
यूयं पतीनां भवतानुकूलाः ।। ३७ ।।

संजय! राजमहलमें जो छोटी-छोटी बालिकाएँ हैं, उन्हें हृदयसे लगाना और मेरी ओरसे उनका आरोग्य-समाचार पूछकर उन्हें कहना—'पुत्रियो! तुम्हें कल्याणकारी पति प्राप्त हों और वे तुम्हारे अनुकूल बने रहें। साथ ही तुम भी पतियोंके अनुकूल बनी रहो' ।। ३७ ।।

अलंकृता वस्त्रवत्यः सुगन्धा
अबीभत्साः सुखिता भोगवत्यः ।
लघु यासां दर्शनं वाक् च लघ्वी
वेशस्त्रियः कुशलं तात पृच्छेः ।। ३८ ।।

तात संजय! जिनका दर्शन मनोहर और बातें मनको प्रिय लगनेवाली होती हैं, जो वेश-भूषासे अलंकृत, सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित, उत्तम सुगन्ध धारण करनेवाली, घृणित व्यवहारसे रहित, सुखशालिनी और भोग-सामग्रीसे सम्पन्न हैं, उन वेश (शृंगार) धारण करानेवाली स्त्रियोंकी भी कुशल पूछना ।। ३८ ।।

दास्यः स्युर्या ये च दासाः कुरूणां
तदाश्रया बहवः कुब्जखञ्जाः ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्यो-
ऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ।। ३९ ।।

कौरवोंके जो दास-दासियाँ हों तथा उनके आश्रित जो बहुत-से कुबड़े और लँगड़े मनुष्य रहते हों, उन सबसे मुझे सकुशल बताकर अन्तमें मेरी ओरसे उनकी भी कुशल पूछना ।। ३९ ।।

कच्चिद् वृत्तिं वर्तते वै पुराणीं
कच्चिद् भोगान् धार्तराष्ट्रो ददाति ।
अंगहीनान् कृपणान् वामनान् वा
यानानृशंस्यो धृतराष्ट्रो बिभर्ति ।। ४० ।।

(और कहना—) क्या राजा धृतराष्ट्र दयावश जिन अंगहीनों, दीनों और बौने मनुष्योंका पालन करते हैं, उन्हें दुर्योधन भरण-पोषणकी सामग्री देता है? क्या वह उनकी प्राचीन जीविका-वृत्तिका निर्वाह करता है? ।। ४० ।।

अन्धांश्च सर्वान् स्थविरांस्तथैव

हस्त्याजीवा बहवो येऽत्र सन्ति ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्यो-
ऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ।। ४१ ।।

हस्तिनापुरमें जो बहुत-से हाथीवान हैं तथा जो अन्धे और बूढ़े हैं, उन सबको मेरी कुशल बताकर अन्तमें मेरी ओरसे उनके भी आरोग्य आदिका समाचार पूछना ।।

मा भैष्ट दुःखेन कुजीवितेन
नूनं कृतं परलोकेषु पापम् ।
निगृह्य शत्रून् सुहृदोऽनुगृह्य
वासोभिरन्नेन च वो भरिष्ये ।। ४२ ।।

साथ ही उन्हें आश्वासन देते हुए मेरा यह संदेश सुना देना। तुम्हें जो दुःख प्राप्त होता है अथवा कुत्सित जीवन बिताना पड़ता है, इसके कारण तुमलोग भयभीत न होना। निश्चय ही यह दूसरे जन्मोंमें किये हुए पापका फल प्रकट हुआ है। मैं कुछ ही दिनोंमें अपने शत्रुओंको कैद करके हितैषी सुहृदोंपर अनुग्रह करते हुए अन्न और वस्त्रद्वारा तुमलोगोंका भरण-पोषण करूँगा ।। ४२ ।।

सन्त्येव मे ब्राह्मणेभ्यः कृतानि
भावीन्यथो नो बत वर्तयन्ति ।
तान् पश्यामि युक्तरूपांस्तथैव
तामेव सिद्धिं श्रावयेथा नृपं तम् ।। ४३ ।।

राजा दुर्योधनसे कहना, मैंने कुछ ब्राह्मणोंके लिये वार्षिक जीविका-वृत्तियाँ नियत कर रखी थीं, किंतु खेद है कि तुम्हारे कर्मचारीगण उन्हें ठीकसे नहीं चला रहे हैं। मैं उन ब्राह्मणोंको पुनः पूर्ववत् उन्हीं वृत्तियोंसे युता देखना चाहता हूँ। तुम किसी दूतके द्वारा मुझे यह समाचार सुना दो कि उन वृत्तियोंका अब यथावत्‌रूपसे पालन होने लगा है ।। ४३ ।।

ये चानाथा दुबलाः सर्वकाल-
मात्मन्येव प्रयतन्तेऽथ मूढाः ।
तांश्चापि त्वं कृपणान् सर्वथैव
ह्यस्मद्वाक्यात् कुशलं तात पृच्छेः ।। ४४ ।।

संजय! जो अनाथ, दुर्बल एवं मूर्खजन सदा अपने शरीरका पोषण करनेके लिये ही प्रयत्न करते हैं, तुम मेरे कहनेसे उन दीनजनोंके पास भी जाकर सब प्रकारसे उनका कुशल-समाचार पूछना ।। ४४ ।।

ये चाप्यन्ये संश्रिता धार्तराष्ट्रान्
नानादिग्भ्योऽभ्यागताः सूतपुत्र ।
दृष्ट्वा तांश्चैवार्हतश्चापि सर्वान्
सम्पृच्छेथाः कुशलं चाव्ययं च ।। ४५ ।।

सूतपुत्र! इनके सिवा विभिन्न दिशाओंसे आये हुए दूसरे-दूसरे लोग धृतराष्ट्रपुत्रोंका आश्रय लेकर रहते हैं। उन सब माननीय पुरुषोंसे भी मिलकर उनकी कुशल और क्या वे जीवित बचे रहेंगे, इस सम्बन्धमें भी प्रश्न करना ।। ४५ ।।

एवं सर्वानागताभ्यागतांश्च
राज्ञो दूतान् सर्वदिग्भ्योऽभ्युपेतान् ।
पृष्ट्वा सर्वान् कुशलं तांश्च सूत
पश्चादहं कुशली तेषु वाच्यः ।। ४६ ।।

इस प्रकार वहाँ सब दिशाओंसे पधारे हुए राजदूतों तथा अन्य सब अभ्यागतोंसे कुशल-मंगल पूछकर अन्तमें उनसे मेरा कुशल-समाचार भी निवेदन करना ।। ४६ ।।

न हीदृशाः सन्त्यपरे पृथिव्यां
ये योधका धार्तराष्ट्रेण लब्धाः ।
धर्मस्तु नित्यो मम धर्म एव
महाबलः शत्रुनिबर्हणाय ।। ४७ ।।

यद्यपि दुर्योधनने जिन योद्धाओंका संग्रह किया है, वैसे वीर इस भूमण्डलमें दूसरे नहीं हैं, तथापि धर्म ही नित्य है और मेरे पास शत्रुओंका नाश करनेके लिये धर्मका ही सबसे महान् बल है ।। ४७ ।।

इदं पुनर्वचनं धार्तराष्ट्रं
सुयोधनं संजय श्रावयेथाः ।
यस्ते शरीरे हृदयं दुनोति
कामः कुरूनसपत्नोऽनुशिष्याम् ।। ४८ ।।
न विद्यते युक्तिरेतस्य काचि-
न्नैवंविधाः स्याम यथा प्रियं ते ।
ददस्व वा शक्रपुरीं ममैव
युध्यस्व वा भारतमुख्य वीर ।। ४९ ।।

संजय! दुर्योधनको तुम मेरी यह बात पुनः सुना देना—‘तुम्हारे शरीरके भीतर मनमें जो यह अभिलाषा उत्पन्न हुई है कि मैं कौरवोंका निष्कण्टक राज्य करूँ, वह तुम्हारे हृदयको पीड़ा-मात्र दे रही है। उसकी सिद्धिका कोई उपाय नहीं है। हम ऐसे पौरुषहीन नहीं हैं कि तुम्हारा यह प्रिय कार्य होने दें। भरतवंशके प्रमुख वीर! तुम इन्द्रप्रस्थपुरी फिर मुझे ही लौटा दो अथवा युद्ध करो’ ।। ४८-४९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि युधिष्ठिरसंदेशे त्रिंशोऽध्यायः ।। ३० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरसंदेशविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३० ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं।]

एकत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका मुख्य-मुख्य कुरुवंशियोंके प्रति संदेश

युधिष्ठिर उवाच

उत सन्तमसन्तं वा बालं वृद्धं च संजय ।
उताबलं बलीयांसं धाता प्रकुरुते वशे ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—संजय! साधु-असाधु, बालक-वृद्ध तथा निर्बल एवं बलिष्ठ—सबको विधाता अपने वशमें रखता है ।। १ ।।

उत बालाय पाण्डित्यं पण्डितायोत बालताम् ।
ददाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन् ।। २ ।।

वही सबका नियन्ता है और प्राणियोंके पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार उन्हें सब प्रकारका फल देता है। वही मूर्खको विद्वान् और विद्वान्‌को मूर्ख बना देता है ।। २ ।।

बलं जिज्ञासमानस्य आचक्षीथा यथातथम् ।
अथ मन्त्रं मन्त्रयित्वा याथातथ्येन हृष्टवत् ।। ३ ।।

दुर्योधन अथवा धृतराष्ट्र यदि मेरे बल और सेनाका समाचार पूछें तो तुम उन्हें सब ठीक-ठीक बता देना। जिससे वे प्रसन्न होकर आपसमें सलाह करके यथार्थरूपसे अपने कर्तव्यका निश्चय कर सकें ।। ३ ।।

गावल्गणे कुरून् गत्वा धृतराष्ट्रं महाबलम् ।
अभिवाद्योपसंगृह्य ततः पृच्छेरनामयम् ।। ४ ।।

संजय! तुम कुरुदेशमें जाकर मेरी ओरसे महाबली धृतराष्ट्रको प्रणाम करके उनके दोनों पैर पकड़ लेना और उनसे स्वास्थ्यका समाचार पूछना ।। ४ ।।

ब्रूयाश्चैनं त्वमासीनं कुरुभिः परिवारितम् ।
तवैव राजन् वीर्येण सुखं जीवन्ति पाण्डवाः ।। ५ ।।

तत्पश्चात् कौरवोंसे घिरकर बैठे हुए इन महाराज धृतराष्ट्रसे कहना—'राजन्! पाण्डवलोग आपकी ही सामर्थ्यसे सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं ।। ५ ।।

तव प्रसादाद् बालास्ते प्राप्ता राज्यमरिंदम ।
राज्ये तान् स्थापयित्वाग्रे नोपेक्षस्व विनश्यतः ।। ६ ।।

'शत्रुदमन नरेश! जब वे बालक थे, तब आपकी ही कृपासे उन्हें राज्य मिला था। पहले उन्हें राज्यपर बिठाकर अब अपने ही आगे उन्हें नष्ट होते देख उपेक्षा न कीजिये' ।।

सर्वमप्येतदेकस्य नालं संजय कस्यचित् ।
तात संहत्य जीवामो द्विषतां मा वशं गमः ।। ७ ।।

संजय! उन्हें यह भी बताना कि 'तात! यह सारा राज्य किसी एकके ही लिये पर्याप्त हो, ऐसी बात नहीं है। हम सब लोग मिलकर एक साथ रहकर सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह करें, इसके विपरीत करके आप शत्रुओंके वशमें न पड़ें' ।। ७ ।।

तथा भीष्मं शान्तनवं भारतानां पितामहम् ।
शिरसाभिवदेथास्त्वं मम नाम प्रकीर्तयन् ।। ८ ।।
अभिवाद्य च वक्तव्यस्ततोऽस्माकं पितामहः ।
भवता शन्तनोर्वंशो निमग्नः पुनरुद्‌धृतः ।। ९ ।।
स त्वं कुरु तथा तात स्वमतेन पितामह ।
यथा जीवन्ति ते पौत्राः प्रीतिमन्तः परस्परम् ।। १० ।।

इसी तरह भरतवंशियोंके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मजीको भी मेरा नाम लेते हुए सिर झुकाकर प्रणाम करना और प्रणामके पश्चात् हमारे उन पितामहसे इस प्रकार कहना—'दादाजी! आपने शान्तनुके डूबते हुए वंशका पुनरुद्धार किया था। अब फिर अपनी बुद्धिसे विचार करके कोई ऐसा काम कीजिये, जिससे आपके सभी पौत्र परस्पर प्रेमपूर्वक जीवन बिता सकें' ।। ८—१० ।।

तथैव विदुरं ब्रूयाः कुरूणां मन्त्रधारिणम् ।
अयुद्धं सौम्य भाषस्व हितकामो युधिष्ठिरे ।। ११ ।।

संजय! इसी प्रकार कौरवोंके मन्त्री विदुरजीसे कहना—'सौम्य! आप युद्ध न होनेकी ही सलाह दें; क्योंकि आप युधिष्ठिरका हित चाहनेवाले हैं' ।। ११ ।।

अथ दुर्योधनं ब्रूया राजपुत्रममर्षणम् ।
मध्ये कुरूणामासीनमनुनीय पुनः पुनः ।। १२ ।।

तदनन्तर कौरवोंकी सभामें बैठे हुए अमर्षमें भरे रहनेवाले राजकुमार दुर्योधनसे बार-बार अनुनय-विनय करके कहना— ।। १२ ।।

अपापां यदुपैक्षस्त्वं कृष्णामेतां सभागताम् ।
तत् दुःखमतितिक्षाम मा वधिष्म कुरूनिति ।। १३ ।।

'तुमने द्रौपदीको बिना किसी अपराधके सभामें बुलाकर जो उसका तिरस्कार किया, उस दुःखको हमलोगोंने इसलिये चुपचाप सह लिया है कि हमें कौरवोंका वध न करना पड़े ।। १३ ।।

एवं पूर्वापरान् क्लेशानतितिक्षन्त पाण्डवाः ।
बलीयांसोऽपि सन्तो यत् तत् सर्वं कुरवो विदुः ।। १४ ।।

'इसी प्रकार पाण्डवोंने अत्यन्त बलिष्ठ होते हुए भी जो (तुम्हारे दिये हुए) पहले और पीछेके सभी क्लेशोंको सहन किया है, उसे सब कौरव जानते हैं ।। १४ ।।

यन्नः प्राव्राजयः सौम्य अजिनैः प्रतिवासितान् ।
तद् दुःखमतितिक्षाम मा वधिष्म कुरूनिति ।। १५ ।।

'सौम्य! तुमने हमलोगोंको मृगछाला पहनाकर जो वनमें निर्वासित कर दिया, उस दुःखको भी हम इसलिये सह लेते हैं कि हमें कौरवोंका वध न करना पड़े ।। १५ ।।

यत् कुन्तीं समतिक्रम्य कृष्णां केशेष्वधर्षयत् ।
दुःशासनस्तेऽनुमते तच्चास्माभिरुपेक्षितम् ।। १६ ।।

'तुम्हारी अनुमतिसे दुःशासनने माता कुन्तीकी उपेक्षा करके जो द्रौपदीके केश पकड़ लिये, उस अपराधकी भी हमने इसीलिये उपेक्षा कर दी है ।। १६ ।।

अथोचितं स्वकं भागं लभेमहि परंतप ।
निवर्तय परद्रव्याद् बुद्धिं गृद्धां नरर्षभ ।। १७ ।।

'परंतप! परंतु अब हम अपना उचित भाग निश्चय ही लेंगे। नरश्रेष्ठ! तुम दूसरोंके धनसे अपनी लोभयुक्त बुद्धि हटा लो ।। १७ ।।

शान्तिरेवं भवेद् राजन् प्रीतिश्चैव परस्परम् ।
राज्यैकदेशमपि नः प्रयच्छ शममिच्छताम् ।। १८ ।।

'राजन्! इस प्रकार हमलोगोंमें परस्पर शान्ति एवं प्रीति बनी रह सकती है। हम शान्ति चाहते हैं; भले ही तुम हमें राज्यका एक हिस्सा ही दे दो ।। १८ ।।

अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दीं वारणावतम् ।
अवसानं भवत्वत्र किंचिदेकं च पञ्चमम् ।। १९ ।।

'अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत तथा पाँचवाँ कोई भी एक गाँव दे दो। इसीपर युद्धकी समाप्ति हो जायगी ।। १९ ।।

भ्रातॄणां देहि पञ्चानां पञ्च ग्रामान् सुयोधन ।
शान्तिर्नोऽस्तु महाप्राज्ञ ज्ञातिभिः सह संजय ।। २० ।।

'सुयोधन! हम पाँच भाइयोंको पाँच गाँव दे दो।' महाप्राज्ञ संजय! ऐसा हो जानेपर अपने कुटुम्बीजनोंके साथ हमलोगोंकी शान्ति बनी रहेगी ।। २० ।।

भ्राता भ्रातरमन्वेतु पिता पुत्रेण युज्यताम् ।
स्मयमानाः समायान्तु पञ्चालाः कुरुभिः सह ।। २१ ।।
अक्षतान् कुरुपाञ्चालान् पश्येयमिति कामये ।
सर्वे सुमनसस्तात शाम्याम भरतर्षभ ।। २२ ।।

'भाई-भाईसे मिले और पिता पुत्रसे मिले। पांचालदेशीय क्षत्रिय कुरुवंशियोंके साथ मुसकराते हुए मिलें। मेरी यही कामना है कि कौरवों तथा पांचालोंको अक्षतशरीर देखूँ। तात! भरतश्रेष्ठ दुर्योधन! हम सब लोग प्रसन्नचित्त होकर शान्त हो जायँ, ऐसी चेष्टा करो' ।। २१-२२ ।।

अलमेव शमायास्मि तथा युद्धाय संजय ।
धर्मार्थयोरलं चाहं मृदवे दारुणाय च ।। २३ ।।

संजय! मैं शान्ति रखनेमें भी समर्थ हूँ और युद्ध करनेमें भी। धर्म और अर्थके विषयका भी मुझे ठीक-ठीक ज्ञान है। मैं समयानुसार कोमल भी हो सकता हूँ और कठोर भी ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि युधिष्ठिरसंदेशे एकत्रिंशोऽध्यायः ।। ३१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरसंदेशविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३१ ।।

द्वात्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा कौरवोंके लिये संदेश देना, संजयका हस्तिनापुर जा धृतराष्ट्रसे मिलकर उन्हें युधिष्ठिरका कुशल-समाचार कहकर धृतराष्ट्रके कार्यकी निन्दा करना

वैशम्पायन उवाच

(धर्मराजस्य तु वचः श्रुत्वा पार्थो धनंजयः ।
उवाच संजयं तत्र वासुदेवस्य शृण्वतः ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराज युधिष्ठिरकी बात सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते हुए वहाँ संजयसे इस प्रकार कहा।

अर्जुन उवाच

पितामहं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च संजय ।
द्रोणं सपुत्रं शल्यं च महाराजं च बाह्लिकम् ।।
विकर्णं सोमदत्तं च शकुनिं चापि सौबलम् ।
विविंशतिं चित्रसेनं जयत्सेनं च संजय ।।
भगदत्तं तथा चैव शूरं रणकृतां वरम् ।।
ये चाप्यन्ये कुरवस्तत्र सन्ति
राजानश्चेद् भूमिपालाः समेताः ।
युयुत्सवः पार्थिवाः सैन्धवाश्च
समानीता धार्तराष्ट्रेण सूत ।।
यथान्यायं कुशलं वन्दनं च
समागमे मद्वचनेन वाच्याः ।
ततो ब्रूयाः संजय राजमध्ये
दुर्योधनं पापकृतां प्रधानम् ।।

अर्जुन बोले—संजय! शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, धृतराष्ट्र, पुत्रसहित द्रोणाचार्य, महाराज शल्य, बाह्लीक, विकर्ण, सोमदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, विविंशति, चित्रसेन, जयत्सेन तथा योद्धाओंमें श्रेष्ठ शूरवीर भगदत्त—इन सबसे और दूसरे भी जो कौरव वहाँ रहते हैं, युद्धकी इच्छासे जो-जो राजा वहाँ एकत्र हुए हैं तथा दुर्योधनने जिन-जिन भूमिपालों और सिंधुदेशीय वीरोंको बुला रखा है, उन सबसे भी यथोचित रीतिसे मिलकर मेरी ओरसे कुशल और अभिवादन कहना। तत्पश्चात् राजाओंकी मण्डलीमें पापियोंके सिरमौर दुर्योधनको मेरा संदेश सुना देना।

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रतिष्ठाप्य धनंजयस्तं
ततोऽर्थवद् धर्मवच्चैव पार्थः ।
उवाच वाक्यं स्वजनप्रहर्षं
वित्रासनं धृतराष्ट्रात्मजानाम् ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार कुन्तीपुत्र धनंजयने संजयको जानेकी अनुमति देकर अर्थ और धर्मसे युक्त बात कही, जो स्वजनोंको हर्ष देनेवाली तथा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको भयभीत करनेवाली थी।

अर्जुनेन समादिष्टस्तथेत्युक्त्वा तु संजयः ।
पार्थानामन्त्रयामास केशवं च यशस्विनम् ।।)

अर्जुनके इस प्रकार आदेश देनेपर संजयने 'तथास्तु' कहकर उसे शिरोधार्य किया। तत्पश्चात् उसने अन्य कुन्तीकुमारों तथा यशस्वी भगवान् श्रीकृष्णसे जानेकी अनुमति माँगी।

अनुज्ञातः पाण्डवेन प्रययौ संजयस्तदा ।
शासनं धृतराष्ट्रस्य सर्वं कृत्वा महात्मनः ।। १ ।।

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर संजय महामना राजा धृतराष्ट्रके सम्पूर्ण आदेशोंका पालन करके उस समय वहाँसे प्रस्थित हुए ।। १ ।।

सम्प्राप्य हास्तिनपुरं शीघ्रमेव प्रविश्य च ।
अन्तःपुरं समास्थाय द्वाःस्थं वचनमब्रवीत् ।। २ ।।

हस्तिनापुर पहुँचकर उन्होंने शीघ्र ही राजभवनमें प्रवेश किया और अन्तःपुरके निकट जाकर द्वारपालसे कहा— ।। २ ।।

आचक्ष्व धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां समुपागतम् ।
सकाशात् पाण्डुपुत्राणां संजयं मा चिरं कृथाः ।। ३ ।।

'द्वारपाल! तुम राजा धृतराष्ट्रको मेरे आनेकी सूचना दो और कहो—'पाण्डवोंके पाससे संजय आया है।' विलम्ब न करो ।। ३ ।।

जागर्ति चेदभिवदेस्त्वं हि द्वाःस्थ
प्रविशेयं विदितो भूमिपस्य ।
निवेद्यमत्रात्ययिकं हि मेऽस्ति
द्वाःस्थोऽथ श्रुत्वा नृपतिं जगाम ।। ४ ।।

'द्वारपाल! यदि महाराज जागते हों तो तुम उन्हें मेरा प्रणाम कहना। उनकी सूचना मिल जानेपर मैं भीतर प्रवेश करूँगा। मुझे उनसे एक आवश्यक निवेदन करना है।' यह सुनकर द्वारपाल महाराजके पास गया और इस प्रकार बोला ।। ४ ।।

द्वाःस्थ उवाच

संजयोऽथ भूमिपते नमस्ते
दिदृक्षया द्वारमुपागतस्ते ।
प्राप्तो दूतः पाण्डवानां सकाशात्
प्रशाधि राजन् किमयं करोतु ।। ५ ।।

द्वारपालने कहा—महाराज! आपको नमस्कार है। पाण्डवोंके पाससे लौटे हुए दूत संजय आपके दर्शनकी इच्छासे द्वारपर खड़े हैं। राजन्! आज्ञा दीजिये, ये संजय क्या करें? ।। ५ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

आचक्ष्व मां कुशलिनं कल्पमस्मै
प्रवेश्यतां स्वागतं संजयाय ।
न चाहमेतस्य भवाम्यकल्पः
स मे कस्माद् द्वारि तिष्ठेच्च सक्तः ।। ६ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—द्वारपाल! संजयका स्वागत है। उसे कहो कि मैं सकुशल हूँ, अतः इस समय उससे भेंट करनेको तैयार हूँ। उसे भीतर ले आओ। उससे मिलनेमें मुझे कभी भी अड़चन नहीं होती। फिर वह दरवाजेपर सटकर क्यों खड़ा है? ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रविश्यानुमते नृपस्य
महद् वेश्म प्राज्ञशूरार्यगुप्तम् ।
सिंहासनस्थं पार्थिवमाससाद
वैचित्रवीर्यं प्राञ्जलिः सूतपुत्रः ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार राजाकी आज्ञा पाकर सूतपुत्र संजयने बुद्धिमान्, शूरवीर तथा श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुरक्षित विशाल राजभवनमें प्रवेश किया और सिंहासनपर बैठे हुए विचित्रवीर्यनन्दन महाराज धृतराष्ट्रके पास जा हाथ जोड़कर कहा ।। ७ ।।

संजय उवाच

संजयोऽहं भूमिपते नमस्ते
प्राप्तोऽस्मि गत्वा नरदेव पाण्डवान् ।
अभिवाद्य त्वां पाण्डुपुत्रो मनस्वी
युधिष्ठिरः कुशलं चान्वपृच्छत् ।। ८ ।।

संजय बोला—भूपाल! आपको नमस्कार है। नरदेव! मैं संजय हूँ और पाण्डवोंके पास जाकर लौटा हूँ। उदारचित्त पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने आपको प्रणाम करके आपकी कुशल पूछी है ।। ८ ।।

स ते पुत्रान् पृच्छति प्रीयमाणः
कच्चित् पुत्रैः प्रीयसे नप्तृभिश्च ।
तथा सुहृद्भिः सचिवैश्च राजन्
ये चापि त्वामुपजीवन्ति तैश्च ।। ९ ।।

उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ आपके पुत्रोंका समाचार पूछा है। राजन्! आप अपने पुत्रों, नातियों, सुहृदों, मन्त्रियों तथा जो आपके आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं, उन सबके साथ आनन्दपूर्वक हैं न? ।। ९ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

अभिनन्द्य त्वां तात वदामि संजय
अजातशत्रुं च सुखेन पार्थम् ।
कच्चित् स राजा कुशली सपुत्रः
सहामात्यः सानुजः कौरवाणाम् ।। १० ।।

धृतराष्ट्रने कहा—तात संजय! मैं तुम्हारा स्वागत करके पूछता हूँ कि कुन्तीनन्दन अजातशत्रु युधिष्ठिर सुखसे हैं न? क्या कौरवोंके राजा युधिष्ठिर अपने पुत्र, मन्त्री तथा छोटे भाइयोंसहित सकुशल हैं? ।। १० ।।

संजय उवाच

सहामात्यः कुशली पाण्डुपुत्रो
बुभूषते यच्च तेऽग्रेऽऽत्मनोऽभूत् ।
निर्णिक्तधर्मार्थकरो मनस्वी
बहुश्रुतो दृष्टिमाञ्छीलवांश्च ।। ११ ।।

संजयने कहा—पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने मन्त्रियोंसहित सकुशल हैं और पहले आपके सामने जो उनका राज्य और धन आदि उन्हें प्राप्त था, उसे पुनः वापस लेना चाहते हैं। वे विशुद्धभावसे धर्म और अर्थका सेवन करनेवाले, मनस्वी, विद्वान्, दूरदर्शी और शीलवान् हैं ।। ११ ।।

परो धर्मात् पाण्डवस्यानृशंस्यं
धर्मः परो वित्तचयान्मतोऽस्य ।
सुखप्रिये धर्महीनेऽनपार्थेऽ-
नुरुध्यते भारत तस्य बुद्धिः ।। १२ ।।

भारत! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी दृष्टिमें अन्य धर्मोंकी अपेक्षा दया ही परम धर्म है। वे धनसंग्रहकी अपेक्षा धर्मपालनको ही श्रेष्ठ मानते हैं। उनकी बुद्धि धर्मविहीन एवं निष्प्रयोजन सुख तथा प्रिय वस्तुओंका अनुसरण नहीं करती है ।। १२ ।।

परप्रयुक्तः पुरुषो विचेष्टते
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
इमं दृष्ट्वा नियमं पाण्डवस्य
मन्ये परं कर्म दैवं मनुष्यात् ।। १३ ।।

महाराज! सूतमें बँधी हुई कठपुतली जिस प्रकार दूसरोंसे प्रेरित होकर ही नृत्य करती है, उसी प्रकार मनुष्य परमात्माकी प्रेरणासे ही प्रत्येक कार्यके लिये चेष्टा करता है। पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके इस कष्टको देखकर मैं यह मानने लगा हूँ कि मनुष्यके पुरुषार्थकी अपेक्षा दैव (ईश्वरीय) विधान ही बलवान् है ।। १३ ।।

इमं च दृष्ट्वा तव कर्मदोषं
पापोदर्कं घोरमवर्णरूपम् ।
यावत् परः कामयतेऽतिवेलं
तावन्नरोऽयं लभते प्रशंसाम् ।। १४ ।।

आपका कर्मदोष अत्यन्त भयंकर, अवर्णनीय तथा भविष्यमें पाप एवं दुःखकी प्राप्ति करानेवाला है। इसे भी देखकर मैं इसी निश्चयपर पहुँचा हूँ कि परमात्माका विधान ही प्रधान है। जबतक विधाता चाहता है, तभीतक यह मनुष्य सीमित समयतक ही प्रशंसा पाता है ।। १४ ।।

अजातशत्रुस्तु विहाय पापं
जीर्णां त्वचं सर्प इवासमर्थाम् ।
विरोचतेऽहार्यवृत्तेन वीरो
युधिष्ठिरस्त्वयि पापं विसृज्य ।। १५ ।।

जैसे सर्प पुरानी केंचुलको, जो शरीरमें ठहर नहीं सकती, उतारकर चमक उठता है, उसी प्रकार अजातशत्रु वीर युधिष्ठिर पापका परित्याग करके और उस पापको आपपर ही छोड़कर अपने स्वाभाविक सदाचारसे सुशोभित हो रहे हैं ।। १५ ।।

हन्तात्मनः कर्म निबोध राजन्
धर्मार्थयुक्तादार्यवृत्तादपेतम् ।
उपक्रोशं चेह गतोऽसि राजन्
भूयश्च पापं प्रसजेदमुत्र ।। १६ ।।

महाराज! जरा आप अपने कर्मपर तो ध्यान दीजिये। धर्म और अर्थसे युक्त जो श्रेष्ठ पुरुषोंका व्यवहार है, आपका बर्ताव उससे सर्वथा विपरीत है। राजन्! इसीके कारण इस

लोकमें आपकी निन्दा हो रही है और पुनः परलोकमें भी आपको पापमय नरकका दुःख भोगना पड़ेगा ।। १६ ।।

स त्वमर्थं संशयितं विना तै-
राशंससे पुत्रवशानुगोऽस्य ।
अधर्मशब्दश्च महान् पृथिव्यां
नेदं कर्म त्वत्समं भारताग्रय ।। १७ ।।

भरतवंशशिरोमणे! आप इस समय अपने पुत्रोंके वशमें होकर पाण्डवोंको अलग करके अकेले उनकी सारी सम्पत्ति ले लेना चाहते हैं; पहले तो इसकी सफलतामें ही संदेह है। (और यदि आप सफल हो भी जायँ तो) इस भूमण्डलमें इस अधर्मके कारण आपकी बड़ी भारी निन्दा होगी। अतः यह कार्य कदापि आपके योग्य नहीं है ।। १७ ।।

हीनप्रज्ञो दौष्कुलेयो नृशंसो
दीर्घं वैरी क्षत्रविद्यास्वधीरः ।
एवंधर्मानापदः संश्रयेयु-
र्हीनवीर्यो यश्च भवेदशिष्टः ।। १८ ।।

जो लोग बुद्धिहीन, नीच कुलमें उत्पन्न, क्रूर, दीर्घकालतक वैरभाव बनाये रखनेवाले, क्षत्रियोचित युद्धविद्यामें अनभिज्ञ, पराक्रमहीन और अशिष्ट होते हैं, ऐसे ही स्वभावके लोगोंपर आपत्तियाँ आती हैं ।। १८ ।।

कुले जातो बलवान् यो यशस्वी
बहुश्रुतः सुखजीवी यतात्मा ।
धर्माधर्मौ ग्रथितौ यो बिभर्ति
स ह्यस्य दिष्टस्य वशादुपैति ।। १९ ।।

जो कुलीन, बलवान्, यशस्वी, बहुज्ञ विद्वान्, सुखजीवी और मनको वशमें रखनेवाला है तथा जो परस्पर गुँथे हुए धर्म और अधर्मको धारण करता है, वही भाग्यवश अभीष्ट गुण-सम्पत्ति प्राप्त करता है ।। १९ ।।

कथं हि मन्त्राग्रयधरो मनीषी
धर्मार्थयोरापदि सम्प्रणेता ।
एवं युक्तः सर्वमन्त्रैरहीनो
नरो नृशंसं कर्म कुर्यादमूढः ।। २० ।।

आप श्रेष्ठ मन्त्रियोंका सेवन करनेवाले हैं, स्वयं भी बुद्धिमान् हैं, आपत्तिकालमें धर्म और अर्थका उचित-रूपसे प्रयोग करते हैं, सब प्रकारकी अच्छी सलाहोंसे भी आप युक्त हैं। फिर आप-जैसे साधनसम्पन्न विद्वान् पुरुष ऐसा क्रूरतापूर्ण कार्य कैसे कर सकते हैं? ।। २० ।।

तव ह्यमी मन्त्रविदः समेत्य

समासते कर्मसु नित्ययुक्ताः ।
तेषामयं बलवान् निश्चयश्च
कुरुक्षये नियमेनोदपादि ।। २१ ।।

सदा कर्मोंमें नियुक्त किये हुए ये आपके मन्त्रवेत्ता मन्त्री कर्ण आदि एकत्र होकर बैठक किया करते हैं। इन्होंने (पाण्डवोंको राज्य न देनेका) जो प्रबल निश्चय कर लिया है, यह अवश्य ही कौरवोंके भावी विनाशका कारण बन गया है ।। २१ ।।

अकालिकं कुरवो नाभविष्यन्
पापेन चेत् पापमजातशत्रुः ।
इच्छेज्जातु त्वयि पापं विसृज्य
निन्दा चेयं तव लोकेऽभविष्यत् ।। २२ ।।

राजन्! यदि अजातशत्रु युधिष्ठिर (आपको ही दोषी ठहराकर) आपपर ही सारे पापों (दोषों)-का भार डालकर (आपकी ही भाँति) पापके बदले पाप करनेकी इच्छा कर लें तो सारे कौरव असमयमें ही नष्ट हो जायँ और संसारमें केवल आपकी निन्दा फैल जाय ।। २२ ।।

किमन्यत्र विषयादीश्वराणां
यत्र पार्थः परलोकं स्म द्रष्टुम् ।
अत्यक्रामत् स तथा सम्मतः स्या-
न्न संशयो नास्ति मनुष्यकारः ।। २३ ।।

ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो लोकपालोंके अधिकार-से बाहर हो? तभी तो अर्जुन (इन्द्रकील पर्वतपर लोकपालोंसे मिलकर एवं उनसे अस्त्र प्राप्त करके भू और भुवर्लोकको लाँघकर) स्वर्गलोकको देखनेके लिये गये थे। इस प्रकार लोकपालोंद्वारा सम्मानित होनेपर भी यदि उन्हें कष्ट भोगना पड़ता है तो निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि दैवबलके सामने मनुष्यका पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है ।। २३ ।।

एतान् गुणान् कर्मकृतानवेक्ष्य
भावाभावौ वर्तमानावनित्यौ ।
बलिर्हि राजा पारमविन्दमानो
नान्यत् कालात् कारणं तत्र मेने ।। २४ ।।

ये शौर्य, विद्या आदि गुण अपने पूर्वकर्मके अनुसार ही प्राप्त होते हैं और प्राणियोंकी वर्तमान उन्नति तथा अवनति भी अनित्य हैं। यह सब सोचकर राजा बलिने जब इसका पार नहीं पाया, तब यही निश्चय किया कि इस विषयमें काल (दैव)-के सिवा और कोई कारण नहीं है ।। २४ ।।

चक्षुःश्रोत्रे नासिका त्वक् च जिह्वा
ज्ञानस्यैतान्यायतनानि जन्तोः ।

तानि प्रीतान्येव तृष्णाक्षयान्ते
तान्यव्यथो दुःखहीनः प्रणुद्यात् ।। २५ ।।

आँख, कान, नाक, त्वचा तथा जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ समस्त प्राणियोंके रूप आदि विषयोंके ज्ञानके स्थान (कारण) हैं। तृष्णाका अन्त होनेके पश्चात् ये सदा प्रसन्न ही रहती हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह व्यथा और दुःखसे रहित हो तृष्णाकी निवृत्तिके लिये उन इन्द्रियोंको अपने वशमें करे ।। २५ ।।

न त्वेव मन्ये पुरुषस्य कर्म
संवर्तते सुप्रयुक्तं यथावत् ।
मातुः पितुः कर्मणाभिप्रसूतः
संवर्धते विधिवद् भोजनेन ।। २६ ।।

कहते हैं, केवल पुरुषार्थका अच्छे ढंगसे प्रयोग होनेपर भी वह उत्तम फल देनेवाला होता है, जैसे माता-पिताके प्रयत्नसे उत्पन्न हुआ पुत्र विधिपूर्वक भोजनादिद्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है; परंतु मैं इस मान्यतापर विश्वास नहीं करता (क्योंकि इस विषयमें दैव ही प्रधान है) ।। २६ ।।

प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राजन्
निन्दाप्रशंसे च भजन्त एव ।
परस्त्वेनं गर्हयतेऽपराधे
प्रशंसते साधुवृत्तं तमेव ।। २७ ।।

राजन्! इस जगत्में प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा—ये मनुष्यको प्राप्त होते ही रहते हैं। इसीलिये लोग अपराध करनेपर अपराधीकी निन्दा करते हैं और जिसका बर्ताव उत्तम होता है, उस साधु पुरुषकी ही प्रशंसा करते हैं ।। २७ ।।

स त्वां गर्हे भारतानां विरोधा-
दन्तो नूनं भवितायं प्रजानाम् ।
नो चेदिदं तव कर्मापराधात्
कुरून् दहेत् कृष्णवर्त्मेव कक्षम् ।। २८ ।।

अतः आप जो भरतवंशमें विरोध फैलाते हैं, इसके कारण मैं तो आपकी निन्दा करता हूँ; क्योंकि इस कौरव-पाण्डवविरोधसे निश्चय ही समस्त प्रजाओंका विनाश होगा। यदि आप मेरे कथनानुसार कार्य नहीं करेंगे तो आपके अपराधसे अर्जुन समस्त कौरववंशको उसी प्रकार दग्ध कर डालेंगे, जैसे आग घास-फूसके समूहको जला देती है ।। २८ ।।

त्वमेवैको जातु पुत्रस्य राजन्
वशं गत्वा सर्वलोके नरेन्द्र ।
कामात्मनः श्लाघनो द्यूतकाले
नागाः शमं पश्य विपाकमस्य ।। २९ ।।

राजन्! महाराज! समस्त संसारमें एकमात्र आप ही अपने स्वेच्छाचारी पुत्रकी प्रशंसा करते हुए उसके अधीन होकर द्यूतक्रीड़ाके समय जो उसकी प्रशंसा करते थे तथा (राज्यका लोभ छोड़कर) शान्त न हो सके, उसका अब यह भयंकर परिणाम अपनी आँखों देख लीजिये ।। २९ ।।

अनाप्तानां संग्रहात् त्वं नरेन्द्र
तथाऽऽप्तानां निग्रहाच्चैव राजन् ।
भूमिं स्फीतां दुर्बलत्वादनन्ता-
मशक्तस्त्वं रक्षितुं कौरवेय ।। ३० ।।

नरेन्द्र! आपने ऐसे लोगों (शकुनि-कर्ण आदि)-को इकट्ठा कर लिया है, जो विश्वासके योग्य नहीं हैं तथा विश्वसनीय पुरुषों (पाण्डवों)-को आपने दण्ड दिया है, अतः कुरुकुलनन्दन! अपनी इस (मानसिक) दुर्बलताके कारण आप अनन्त एवं समृद्धिशालिनी पृथिवीकी रक्षा करनेमें कभी समर्थ नहीं हो सकते ।।

अनुज्ञातो रथवेगावधूतः
श्रान्तोऽभिपद्ये शयनं नृसिंह ।
प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया-
मजातशत्रोर्वचनं समेताः ।। ३१ ।।

नरश्रेष्ठ! इस समय रथके वेगसे हिलने-डुलनेके कारण मैं थक गया हूँ, यदि आज्ञा हो तो सोनेके लिये जाऊँ। प्रातःकाल जब सभी कौरव सभामें एकत्र होंगे, उस समय वे अजातशत्रु युधिष्ठिरके वचन सुनेंगे ।।

धृतराष्ट्र उवाच

अनुज्ञातोऽस्यावसथं परेहि
प्रपद्यस्व शयनं सूतपुत्र ।
प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया-
मजातशत्रोर्वचनं त्वयोक्तम् ।। ३२ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—सूतपुत्र! मैं आज्ञा देता हूँ, तुम अपने घर जाओ और शयन करो। सबेरे सब कौरव सभामें एकत्र हो तुम्हारे मुखसे अजातशत्रु युधिष्ठिरके संदेशको सुनेंगे ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे द्वात्रिंशोऽध्यायः ।। ३२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ३९ $\frac{1}{2}$ श्लोक हैं।]

(प्रजागरपर्व)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः*

धृतराष्ट्र-विदुर-संवाद

वैशम्पायन उवाच

द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
विदुरं द्रष्टुमिच्छामि तमिहानय मा चिरम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! [संजयके चले जानेपर] महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने द्वारपालसे कहा—'मैं विदुरसे मिलना चाहता हूँ। उन्हें यहाँ शीघ्र बुला लाओ' ।।

प्रहितो धृतराष्ट्रेण दूतः क्षत्तारमब्रवीत् ।
ईश्वरस्त्वां महाराजो महाप्राज्ञ दिदृक्षति ।। २ ।।

विदुर और धृतराष्ट्र

धृतराष्ट्रका भेजा हुआ वह दूत जाकर विदुरसे बोला—‘महामते! हमारे स्वामी महाराज धृतराष्ट्र आपसे मिलना चाहते हैं’ ।। २ ।।

एवमुक्तस्तु विदुरः प्राप्य राजनिवेशनम् ।
अब्रवीद् धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां प्रतिवेदय ।। ३ ।।

उसके ऐसा कहनेपर विदुरजी राजमहलके पास जाकर बोले—‘द्वारपाल! धृतराष्ट्रको मेरे आनेकी सूचना दे दो’ ।। ३ ।।

द्वाःस्थ उवाच

विदुरोऽयमनुप्राप्तो राजेन्द्र तव शासनात् ।
द्रष्टुमिच्छति ते पादौ किं करोतु प्रशाधि माम् ।। ४ ।।

द्वारपालने जाकर कहा—महाराज! आपकी आज्ञासे विदुरजी यहाँ आ पहुँचे हैं, वे आपके चरणोंका दर्शन करना चाहते हैं। मुझे आज्ञा दीजिये, उन्हें क्या कार्य बताया जाय? ।। ४ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

प्रवेशय महाप्राज्ञं विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
अहं हि विदुरस्यास्य नाकल्पो जातु दर्शने ।। ५ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—महाबुद्धिमान् दूरदर्शी विदुरको भीतर ले आओ, मुझे इस विदुरसे मिलनेमें कभी भी अड़चन नहीं है ।। ५ ।।

द्वाःस्थ उवाच

प्रविशान्तःपुरं क्षत्तर्महाराजस्य धीमतः ।
नहि ते दर्शनेऽकल्पो जातु राजाब्रवीद्धि माम् ।। ६ ।।

द्वारपाल विदुरके पास आकर बोला—विदुरजी! आप बुद्धिमान् महाराज धृतराष्ट्रके अन्तःपुरमें प्रवेश कीजिये। महाराजने मुझसे कहा है कि मुझे विदुरसे मिलनेमें कभी अड़चन नहीं है ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं चिन्तयानं नराधिपम् ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर विदुर धृतराष्ट्रके महलके भीतर जाकर चिन्तामें पड़े हुए राजासे हाथ जोड़कर बोले— ।। ७ ।।

विदुरोऽहं महाप्राज्ञ सम्प्राप्तस्तव शासनात् ।
यदि किंचन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम् ।। ८ ।।

'महाप्राज्ञ! मैं विदुर हूँ, आपकी आज्ञासे यहाँ आया हूँ। यदि मेरे करनेयोग्य कुछ काम हो तो मैं उपस्थित हूँ, मुझे आज्ञा कीजिये' ।। ८ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

संजयो विदुर प्राज्ञो गर्हयित्वा च मां गतः ।
अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति ।। ९ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! बुद्धिमान् संजय आया था, वह मुझे बुरा-भला कहकर चला गया है। कल सभामें वह अजातशत्रु युधिष्ठिरके वचन सुनायेगा ।। ९ ।।

तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया ।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत् प्रजागरम् ।। १० ।।

आज मैं उस कुरुवीर युधिष्ठिरकी बात न जान सका—यही मेरे अंगोंको जला रहा है और इसीने मुझे अबतक जगा रखा है ।। १० ।।

जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि ।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ।। ११ ।।

तात! मैं चिन्तासे जलता हुआ अभीतक जग रहा हूँ। मेरे लिये जो कल्याणकी बात समझो, वह कहो; क्योंकि हमलोगोंमें तुम्हीं धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण हो ।। ११ ।।

यतः प्राप्तः संजयः पाण्डवेभ्यो
न मे यथावन्मनसः प्रशान्तिः ।
सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृतिं गतानि
किं वक्ष्यतीत्येव मेऽद्य प्रचिन्ता ।। १२ ।।

संजय जबसे पाण्डवोंके यहाँसे लौटकर आया है, तबसे मेरे मनको पूर्ण शान्ति नहीं मिलती। सभी इन्द्रियाँ विकल हो रही हैं। कल वह क्या कहेगा, इसी बातकी मुझे इस समय बड़ी भारी चिन्ता हो रही है ।। १२ ।।

विदुर उवाच

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम् ।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः ।। १३ ।।

विदुरजी बोले—राजन्! जिसका बलवान्के साथ विरोध हो गया है, उस साधनहीन दुर्बल मनुष्यको, जिसका सब कुछ हर लिया गया है, उसको, कामीको तथा चोरको रातमें नींद नहीं आती ।। १३ ।।

कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप ।
कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन् न परितप्यसे ।। १४ ।।

नरेन्द्र! कहीं आपका भी इन महान् दोषोंसे सम्पर्क तो नहीं हो गया है? कहीं पराये धनके लोभसे तो आप कष्ट नहीं पा रहे हैं? ।। १४ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः ।

अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसम्मतः ।। १५ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! मैं तुम्हारे धर्मयुक्त तथा कल्याण करनेवाले सुन्दर वचन सुनना चाहता हूँ; क्योंकि इस राजर्षिवंशमें केवल तुम्हीं विद्वानोंके भी माननीय हो ।। १५ ।।

विदुर उवाच

(राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत् ।

प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ।।

विदुरजी बोले—महाराज धृतराष्ट्र! श्रेष्ठ लक्षणोंसे सम्पन्न राजा युधिष्ठिर तीनों लोकोंके स्वामी हो सकते हैं। वे आपके आज्ञाकारी थे, पर आपने उन्हें वनमें भेज दिया।

विपरीततरश्च त्वं भागधेये न सम्मतः ।

अर्चिषां प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः ।।

आप धर्मात्मा और धर्मके जानकार होते हुए भी आँखोंकी ज्योतिसे हीन होनेके कारण उन्हें पहचान न सके, इसीसे उनके अत्यन्त विपरीत हो गये और उन्हें राज्यका भाग देनेमें आपकी सम्मति नहीं हुई।

आनृशंस्यादनुक्रोशाद् धर्मात् सत्यात् पराक्रमात् ।

गुरुत्वात् त्वयि सम्प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्षते ।।

युधिष्ठिरमें क्रूरताका अभाव, दया, धर्म, सत्य तथा पराक्रम है; वे आपमें पूज्यबुद्धि रखते हैं। इन्हीं सद्‌गुणोंके कारण वे सोच-विचारकर चुपचाप बहुत-से क्लेश सह रहे हैं।

दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा ।

एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ।।

आप दुर्योधन, शकुनि, कर्ण तथा दुःशासन-जैसे अयोग्य व्यक्तियोंपर राज्यका भार रखकर कैसे कल्याण चाहते हैं?

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।

यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ।।)

अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान, उद्योग, दुःख सहनेकी शक्ति और धर्ममें स्थिरता—ये गुण जिस मनुष्यको पुरुषार्थसे च्युत नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है।

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।

अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम् ।। १६ ।।

जो अच्छे कर्मोंका सेवन करता और बुरे कर्मोंसे दूर रहता है, साथ ही जो आस्तिक और श्रद्धालु है, उसके वे सद्‌गुण पण्डित होनेके लक्षण हैं ।। १६ ।।

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीः स्तम्भो मान्यमानिता ।

यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ।। १७ ।।

क्रोध, हर्ष, गर्व, लज्जा, उद्दण्डता तथा अपनेको पूज्य समझना—ये भाव जिसको पुरुषार्थसे भ्रष्ट नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है ।। १७ ।।

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे ।

कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ।। १८ ।।

दूसरे लोग जिसके कर्तव्य, सलाह और पहलेसे किये हुए विचारको नहीं जानते, बल्कि काम पूरा होनेपर ही जानते हैं, वही पण्डित कहलाता है ।। १८ ।।

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः ।

समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ।। १९ ।।

सर्दी-गरमी, भय-अनुराग, सम्पत्ति अथवा दरिद्रता—ये जिसके कार्यमें विघ्न नहीं डालते, वही पण्डित कहलाता है ।। १९ ।।

यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते ।

कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते ।। २० ।।

जिसकी लौकिक बुद्धि धर्म और अर्थका ही अनुसरण करती है और जो भोगको छोड़कर पुरुषार्थका ही वरण करता है, वही पण्डित कहलाता है ।। २० ।।

यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्ति च कुर्वते ।

न किंचिदवमन्यन्ते नराः पण्डितबुद्धयः ।। २१ ।।

विवेकपूर्ण बुद्धिवाले पुरुष शक्तिके अनुसार काम करनेकी इच्छा रखते हैं और करते भी हैं तथा किसी वस्तुको तुच्छ समझकर उसकी अवहेलना नहीं करते ।। २२ ।।

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासम्पृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे
तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ।। २२ ।।

विद्वान् पुरुष किसी विषयको देरतक सुनता है; किंतु शीघ्र ही समझ लेता है, समझकर कर्तव्यबुद्धिसे पुरुषार्थमें प्रवृत्त होता है—कामनासे नहीं, बिना पूछे दूसरेके विषयमें व्यर्थ कोई बात नहीं कहता है। उसका यह स्वभाव पण्डितकी मुख्य पहचान है ।। २२ ।।

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ।। २३ ।।

पण्डितोंकी-सी बुद्धि रखनेवाले मनुष्य दुर्लभ वस्तुकी कामना नहीं करते, खोयी हुई वस्तुके विषयमें शोक करना नहीं चाहते और विपत्तिमें पड़कर घबराते नहीं हैं ।। २३ ।।

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः ।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ।। २४ ।।

जो पहले निश्चय करके फिर कार्यका आरम्भ करता है, कार्यके बीचमें नहीं रुकता, समयको व्यर्थ नहीं जाने देता और चित्तको वशमें रखता है, वही पण्डित कहलाता है ।। २४ ।।

आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते ।
हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ ।। २५ ।।

भरतकुलभूषण! पण्डितजन श्रेष्ठ कर्मोंमें रुचि रखते हैं, उन्नतिके कार्य करते हैं तथा भलाई करनेवालोंमें दोष नहीं निकालते ।। २५ ।।

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तृप्यते ।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ।। २६ ।।

जो अपना आदर होनेपर हर्षके मारे फूल नहीं उठता, अनादरसे संतप्त नहीं होता तथा गंगाजीके ह्रद (गहरे गर्त)-के समान जिसके चित्तको क्षोभ नहीं होता, वही पण्डित कहलाता है ।। २६ ।।

तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते ।। २७ ।।

जो सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंकी असलियतका ज्ञान रखनेवाला, सब कार्योंके करनेका ढंग जाननेवाला तथा मनुष्योंमें सबसे बढ़कर उपायका जानकार है, वह मनुष्य पण्डित कहलाता है ।। २७ ।।

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।

आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ।। २८ ।।

जिसकी वाणी कहीं रुकती नहीं, जो विचित्र ढंगसे बातचीत करता है, तर्कमें निपुण और प्रतिभाशाली है तथा जो ग्रन्थके तात्पर्यको शीघ्र बता सकता है, वह पण्डित कहलाता है ।। २८ ।।

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ।। २९ ।।

जिसकी विद्या बुद्धिका अनुसरण करती है और बुद्धि विद्याका तथा जो शिष्ट पुरुषोंकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता, वही पण्डितकी संज्ञा पा सकता है ।। २९ ।।

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ।। ३० ।।

बिना पढ़े ही गर्व करनेवाले, दरिद्र होकर भी बड़े-बड़े मनोरथ करनेवाले और बिना काम किये ही धन पानेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको पण्डितलोग मूर्ख कहते हैं ।। ३० ।।

स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ।
मिथ्या चरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ।। ३१ ।।

जो अपना कर्तव्य छोड़कर दूसरेके कर्तव्यका पालन करता है तथा मित्रके साथ असत् आचरण करता है, वह मूर्ख कहलाता है ।। ३१ ।।

अकामान् कामयति यः कामयानान् परित्यजेत् ।
बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ।। ३२ ।।

जो न चाहनेवालोंको चाहता है और चाहनेवालोंको त्याग देता है तथा जो अपनेसे बलवान्‌के साथ वैर बाँधता है, उसे मूढ़ विचारका मनुष्य कहते हैं ।। ३२ ।।

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ।। ३३ ।।

जो शत्रुको मित्र बनाता और मित्रसे द्वेष करते हुए उसे कष्ट पहुँचाता है तथा सदा बुरे कर्मोंका आरम्भ किया करता है, उसे मूढ़ चित्तवाला कहते हैं ।। ३३ ।।

संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ।। ३४ ।।

भरतश्रेष्ठ! जो अपने कामोंको व्यर्थ ही फैलाता है, सर्वत्र संदेह करता है तथा शीघ्र होनेवाले काममें भी देर लगाता है, वह मूढ है ।। ३४ ।।

श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति ।
सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम् ।। ३५ ।।

जो पितरोंका श्राद्ध और देवताओंका पूजन नहीं करता तथा जिसे सुहृद् मित्र नहीं मिलता, उसे मूढ चित्तवाला कहते हैं ।। ३५ ।।

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।

अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ।। ३६ ।।

मूढ चित्तवाला अधम मनुष्य बिना बुलाये ही भीतर चला आता है, बिना पूछे ही बहुत बोलता है तथा अविश्वसनीय मनुष्यपर भी विश्वास करता है ।। ३६ ।।

परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा ।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ।। ३७ ।।

स्वयं दोषयुक्त बर्ताव करते हुए भी जो दूसरेपर उसके दोष बताकर आक्षेप करता है तथा जो असमर्थ होते हुए भी व्यर्थका क्रोध करता है, वह मनुष्य महामूर्ख है ।। ३७ ।।

आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम् ।
अलभ्यमिच्छन् नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ।। ३८ ।।

जो अपने बलको न समझकर बिना काम किये ही धर्म और अर्थसे विरुद्ध तथा न पानेयोग्य वस्तुकी इच्छा करता है, वह पुरुष इस संसारमें मूढबुद्धि कहलाता है ।।

अशिष्यं शास्ति यो राजन् यश्च शून्यमुपासते* ।
कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम् ।। ३९ ।।

राजन्! जो अनधिकारीको उपदेश देता और शून्यकी उपासना करता है तथा जो कृपणका आश्रय लेता है, उसे मूढ चित्तवाला कहते हैं ।। ३९ ।।

अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पण्डित उच्यते ।। ४० ।।

जो बहुत धन, विद्या तथा ऐश्वर्यको पाकर भी उद्दण्डतापूर्वक नहीं चलता, वह पण्डित कहलाता है ।। ४० ।।

एकः सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम् ।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः ।। ४१ ।।

जो अपनेद्वारा भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंको बाँटे बिना अकेले ही उत्तम भोजन करता और अच्छा वस्त्र पहनता है, उससे बढ़कर क्रूर कौन होगा? ।। ४१ ।।

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ।। ४२ ।।

मनुष्य अकेला पाप कर (-के धन कमा)-ता है और (उस धनका) उपभोग बहुत-से लोग करते हैं। उपभोग करनेवाले तो दोषसे छूट जाते हैं, पर उसका कर्ता दोषका भागी होता है ।। ४२ ।।

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद् राष्ट्रं सराजकम् ।। ४३ ।।

किसी धनुर्धर वीरके द्वारा छोड़ा हुआ बाण सम्भव है, एकको भी मारे या न मारे। परन्तु बुद्धिमान्‌द्वारा प्रयुक्त की हुई बुद्धि राजाके साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्रका विनाश कर सकती है ।। ४३ ।।

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु ।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ।। ४४ ।।

एक (बुद्धि)-से दो (कर्तव्य और अकर्तव्य)का निश्चय करके चार (साम, दान, भेद, दण्ड)-से तीन (शत्रु, मित्र तथा उदासीन)-को वशमें कीजिये। पाँच (इन्द्रियों)-को जीतकर छः (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रयरूप) गुणोंको जानकर तथा सात (स्त्री, जूआ, मृगया, मद्य, कठोर वचन, दण्डकी कठोरता और अन्यायसे धनोपार्जन)-को छोड़कर सुखी हो जाइये ।। ४४ ।।

एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लवः ।। ४५ ।।

विषका रस एक (पीनेवाले)-को ही मारता है, शस्त्रसे एकका ही वध होता है; किंतु (गुप्त) मन्त्रणाका प्रकाशित होना राष्ट्र और प्रजाके साथ ही राजाका भी विनाश कर डालता है ।। ४५ ।।

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान् न चिन्तयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ।। ४६ ।।

अकेले स्वादिष्ट भोजन न करे, अकेला किसी विषयका निश्चय न करे, अकेला रास्ता न चले और बहुत-से लोग सोये हों तो उनमें अकेला न जागता रहे ।। ४६ ।।

एकमेवाद्वितीयं तद् यद् राजन् नावबुध्यसे ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ।। ४७ ।।

राजन्! जैसे समुद्रके पार जानेके लिये नाव ही एकमात्र साधन है, उसी प्रकार स्वर्गके लिये सत्य ही एकमात्र सोपान है, दूसरा नहीं; किंतु आप इसे नहीं समझ रहे हैं ।। ४७ ।।

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ।। ४८ ।।

क्षमाशील पुरुषोंमें एक ही दोषका आरोप होता है, दूसरेकी तो सम्भावना ही नहीं है। वह दोष यह है कि क्षमाशील मनुष्यको लोग असमर्थ समझ लेते हैं ।।

सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ।। ४९ ।।

किंतु क्षमाशील पुरुषका वह दोष नहीं मानना चाहिये; क्योंकि क्षमा बहुत बड़ा बल है। क्षमा असमर्थ मनुष्योंका गुण तथा समर्थोंका भूषण है ।। ४९ ।।

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ।। ५० ।।

इस जगत्में क्षमा वशीकरणरूप है। भला, क्षमासे क्या नहीं सिद्ध होता? जिसके हाथमें शान्तिरूपी तलवार है, उसका दुष्ट पुरुष क्या कर लेंगे? ।। ५० ।।

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।

अक्षमावान् परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ।। ५१ ।।

तृणरहित स्थानमें गिरी हुई आग अपने-आप बुझ जाती है। क्षमाहीन पुरुष अपनेको तथा दूसरेको भी दोषका भागी बना लेता है ।। ५१ ।।

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ।। ५२ ।।

केवल धर्म ही परम कल्याणकारक है, एकमात्र क्षमा ही शान्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। एक विद्या ही परम संतोष देनेवाली है और एकमात्र अहिंसा ही सुख देनेवाली है ।। ५२ ।।

(पृथिव्यां सागरान्तायां द्वाविमौ पुरुषाधमौ ।
गृहस्थश्च निरारम्भः सारम्भश्चैव भिक्षुकः ।।)

समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीमें ये दो प्रकारके अधम पुरुष हैं—अकर्मण्य गृहस्थ और कर्मोंमें लगा हुआ संन्यासी।

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ।। ५३ ।।

बिलमें रहनेवाले जीवोंको जैसे साँप खा जाता है, उसी प्रकार यह पृथ्वी शत्रुसे विरोध न करनेवाले राजा और परदेश सेवन न करनेवाले ब्राह्मण—इन दोनोंको खा जाती है ।। ५३ ।।

द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन् परुषं किंचिदसतोऽनर्चयंस्तथा ।। ५४ ।।

जरा भी कठोर न बोलना और दुष्ट पुरुषोंका आदर न करना—इन दो कर्मोंका करनेवाला मनुष्य इस लोकमें विशेष शोभा पाता है ।। ५४ ।।

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ।। ५५ ।।

दूसरी स्त्रीद्वारा चाहे गये पुरुषकी कामना करनेवाली स्त्रियाँ तथा दूसरोंके द्वारा पूजित मनुष्यका आदर करनेवाले पुरुष—ये दो प्रकारके लोग दूसरोंपर विश्वास करके चलनेवाले होते हैं ।। ५५ ।।

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ।। ५६ ।।

जो निर्धन होकर भी बहुमूल्य वस्तुकी इच्छा रखता और असमर्थ होकर भी क्रोध करता है—ये दोनों ही अपने लिये तीक्ष्ण काँटोंके समान हैं एवं अपने शरीरको सुखानेवाले हैं ।। ५६ ।।

द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ।। ५७ ।।

दो ही अपने विपरीत कर्मके कारण शोभा नहीं पाते—अकर्मण्य गृहस्थ और प्रपंचमें लगा हुआ संन्यासी ।।

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ।। ५८ ।।

राजन्! ये दो प्रकारके पुरुष स्वर्गके भी ऊपर स्थान पाते हैं—शक्तिशाली होनेपर भी क्षमा करनेवाला और निर्धन होनेपर भी दान देनेवाला ।। ५८ ।।

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ।। ५९ ।।

न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए धनके दो ही दुरुपयोग समझने चाहिये—अपात्रको देना और सत्पात्रको न देना ।। ५९ ।।

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम् ।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ।। ६० ।।

जो धनी होनेपर भी दान न दे और दरिद्र होनेपर भी कष्ट सहन न कर सके—इन दो प्रकारके मनुष्योंको गलेमें मजबूत पत्थर बाँधकर पानीमें डुबा देना चाहिये ।। ६० ।।

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ।। ६१ ।।

पुरुषश्रेष्ठ! ये दो प्रकारके पुरुष सूर्यमण्डलको भेदकर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं—योगयुक्त संन्यासी और संग्राममें शत्रुओंके सम्मुख युद्ध करके मारा गया योद्धा ।। ६१ ।।

त्रयो न्याया मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ ।
कनीयान् मध्यमः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः ।। ६२ ।।

भरतश्रेष्ठ! मनुष्योंकी कार्यसिद्धिके लिये उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीन प्रकारके न्यायानुकूल उपाय सुने जाते हैं, ऐसा वेदवेत्ता विद्वान् जानते हैं ।। ६२ ।।

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः ।
नियोजयेद् यथावत् तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ।। ६३ ।।

राजन्! उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीन प्रकारके पुरुष होते हैं; इनको यथायोग्य तीन ही प्रकारके कर्मोंमें लगाना चाहिये ।। ६३ ।।

त्रय एवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः ।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद् धनम् ।। ६४ ।।

राजन्! तीन ही धनके अधिकारी नहीं माने जाते—स्त्री, पुत्र तथा दास। ये जो कुछ कमाते हैं, वह धन उसीका होता है, जिसके अधीन ये रहते हैं ।। ६४ ।।

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम् ।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ।। ६५ ।।

दूसरेके धनका हरण, दूसरेकी स्त्रीका संसर्ग तथा सुहृद् मित्रका परित्याग—ये तीनों ही दोष (मनुष्यके आयु, धर्म तथा कीर्तिका) क्षय करनेवाले होते हैं ।। ६५ ।।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ।। ६६ ।।

काम, क्रोध और लोभ—ये आत्माका नाश करनेवाले नरकके तीन दरवाजे हैं; अतः इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ।। ६६ ।।

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत ।
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात् त्रीणि चैकं च तत्समम् ।। ६७ ।।

भारत! वरदान पाना, राज्यकी प्राप्ति और पुत्रका जन्म—ये तीन एक ओर और शत्रुके कष्टसे छूटना—यह एक ओर; वे तीन और यह एक बराबर ही हैं ।।

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम् ।
त्रीनेतांश्छरणं प्राप्तान् विषमेऽपि न संत्यजेत् ।। ६८ ।।

भक्त, सेवक तथा मैं आपका ही हूँ, ऐसा कहनेवाले—इन तीन प्रकारके शरणागत मनुष्योंको संकट पड़नेपर भी नहीं छोड़ना चाहिये ।। ६८ ।।

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन
वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात् ।
अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्या-
न्न दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ।। ६९ ।।

थोड़ी बुद्धिवाले, दीर्घसूत्री, जल्दबाज और स्तुति करनेवाले लोगोंके साथ गुप्त सलाह नहीं करनी चाहिये। ये चारों महाबली राजाके लिये त्यागनेयोग्य बताये गये हैं। विद्वान् पुरुष ऐसे लोगोंको पहचान ले ।। ६९ ।।

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे ।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः
सदा दरिद्रो भगिनी चानपत्या ।। ७० ।।

तात! गृहस्थधर्ममें स्थित आप लक्ष्मीवान्के घरमें चार प्रकारके मनुष्योंको सदा रहना चाहिये—अपने कुटुम्बका बूढ़ा, संकटमें पड़ा हुआ उच्च कुलका मनुष्य, धनहीन मित्र और बिना संतानकी बहिन ।। ७० ।।

चत्वार्याह महाराज साद्यस्कानि बृहस्पतिः ।
पृच्छते त्रिदशेन्द्राय तानीमानि निबोध मे ।। ७१ ।।

महाराज! इन्द्रके पूछनेपर उनसे बृहस्पतिजीने जिन चारोंको तत्काल फल देनेवाला बताया था, उन्हें आप मुझसे सुनिये— ।। ७१ ।।

देवतानां च संकल्पमनुभावं च धीमताम् ।

विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम् ।। ७२ ।।

देवताओंका संकल्प, बुद्धिमानोंका प्रभाव, विद्वानों-की नम्रता और पापियोंका विनाश ।। ७२ ।।

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ।। ७३ ।।

चार कर्म भयको दूर करनेवाले हैं; किंतु वे ही यदि ठीक तरहसे सम्पादित न हों, तो भय प्रदान करते हैं। वे कर्म हैं—आदरके साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्वक मौनका पालन, आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदरके साथ यज्ञका अनुष्ठान ।। ७३ ।।

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः ।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ।। ७४ ।।

भरतश्रेष्ठ! पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु—मनुष्यको इन पाँच अग्नियोंकी बड़े यत्नसे सेवा करनी चाहिये ।। ७४ ।।

पञ्चैव पूजयँल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम् ।
देवान् पितॄन् मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ।। ७५ ।।

देवता, पितर, मनुष्य, संन्यासी और अतिथि—इन पाँचोंकी पूजा करनेवाला मनुष्य शुद्ध यश प्राप्त करता है ।। ७५ ।।

पञ्च त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि ।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः ।। ७६ ।।

राजन्! आप जहाँ-जहाँ जायँगे, वहाँ-वहाँ मित्र, शत्रु, उदासीन, आश्रय देनेवाले तथा आश्रय पानेवाले—ये पाँच आपके पीछे लगे रहेंगे ।। ७६ ।।

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्यच्छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम् ।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ।। ७७ ।।

पाँच ज्ञानेन्द्रियोंवाले पुरुषकी यदि एक भी इन्द्रिय छिद्र (दोष)-युक्त हो जाय तो उससे उसकी बुद्धि इस प्रकार बाहर निकल जाती है, जैसे मशकके छेदसे पानी ।। ७७ ।।

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ।। ७८ ।।

ऐश्वर्य या उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको नींद, तन्द्रा (ऊँघना), डर, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता (जल्दी हो जानेवाले काममें अधिक देर लगानेकी आदत)—इन छः दुर्गुणोंको त्याग देना चाहिये ।। ७८ ।।

षडिमान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ।। ७९ ।।

अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ।। ८० ।।

उपदेश न देनेवाले आचार्य, मन्त्रोच्चारण न करनेवाले होता, रक्षा करनेमें असमर्थ राजा, कटु वचन बोलनेवाली स्त्री, ग्राममें रहनेकी इच्छावाले ग्वाले तथा वनमें रहनेकी इच्छावाले नाई—इन छःको उसी भाँति छोड़ दे, जैसे समुद्रकी सैर करनेवाला मनुष्य छिद्रयुक्त नावका परित्याग कर देता है ।। ७९-८० ।।

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ।। ८१ ।।

मनुष्यको कभी भी सत्य, दान, कर्मण्यता, अनसूया (गुणोंमें दोष दिखानेकी प्रवृत्तिका अभाव), क्षमा तथा धैर्य—इन छः गुणोंका त्याग नहीं करना चाहिये ।। ८१ ।।

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ।। ८२ ।।

राजन्! धनकी प्राप्ति, नित्य नीरोग रहना, स्त्रीका अनुकूल तथा प्रियवादिनी होना, पुत्रका आज्ञाके अंदर रहना तथा धन पैदा करानेवाली विद्याका ज्ञान—ये छः बातें इस मनुष्यलोकमें सुखदायिनी होती हैं ।। ८२ ।।

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति ।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ।। ८३ ।।

मनमें नित्य रहनेवाले छः शत्रु (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य)-को जो वशमें कर लेता है, वह जितेन्द्रिय पुरुष पापोंसे ही लिप्त नहीं होता, फिर उनसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थोंसे युक्त होनेकी तो बात ही क्या है? ।। ८३ ।।

षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते ।
चौराः प्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः ।। ८४ ।।
प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः ।
राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः ।। ८५ ।।

निम्नांकित छः प्रकारके मनुष्य छः प्रकारके लोगोंसे अपनी जीविका चलाते हैं, सातवेंकी उपलब्धि नहीं होती। चोर असावधान पुरुषसे, वैद्य रोगीसे, कामोन्मत्त स्त्रियाँ कामियोंसे, पुरोहित यजमानोंसे, राजा झगड़नेवालोंसे तथा विद्वान् पुरुष मूर्खोंसे अपनी जीविका चलाते हैं ।।

षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्तमनवेक्षणात् ।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसंगतिः ।। ८६ ।।

मुहूर्त* भर भी देख-रेख न करनेसे गौ, सेवा, खेती, स्त्री, विद्या तथा शूद्रोंसे मेल—ये छः चीजें नष्ट हो जाती हैं ।। ८६ ।।

षडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।
आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम् ।। ८७ ।।
नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम् ।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम् ।। ८८ ।।

ये छः प्रायः सदा अपने पूर्व उपकारीका सम्मान नहीं करते हैं—शिक्षा समाप्त हो जानेपर शिष्य आचार्यका, विवाहित बेटे माताका, कामवासनाकी शान्ति हो जानेपर पुरुष स्त्रीका, कृतकार्य मनुष्य सहायकका, नदीकी दुर्गम धारा पार कर लेनेवाले पुरुष नावका तथा रोगी पुरुष रोग छूटनेके बाद वैद्यका ।। ८७-८८ ।।

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः
सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः ।
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ।। ८९ ।।

राजन्! नीरोग रहना, ऋणी न होना, परदेशमें न रहना, अच्छे लोगोंके साथ मेल होना, अपनी वृत्तिसे जीविका चलाना और निर्भय होकर रहना—ये छः मनुष्यलोकके सुख हैं ।। ८९ ।।

ईर्षी घृणी नसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ।। ९० ।।

ईर्ष्या करनेवाला, घृणा करनेवाला, असंतोषी, क्रोधी, सदा शंकित रहनेवाला और दूसरेके भाग्यपर जीवन-निर्वाह करनेवाला—ये छः सदा दुःखी रहते हैं ।।

सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वराः ।। ९१ ।।
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पञ्चमम् ।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ।। ९२ ।।

स्त्रीविषयक आसक्ति, जूआ, शिकार, मद्यपान, वचनकी कठोरता, अत्यन्त कठोर दण्ड देना और धनका दुरुपयोग करना—ये सात दुःखदायी दोष राजाको सदा त्याग देने चाहिये। इनसे दृढ़मूल राजा भी प्रायः नष्ट हो जाते हैं ।। ९१-९२ ।।

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः ।
ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ।। ९३ ।।
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति ।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति ।। ९४ ।।
नैनान् स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति ।

एतान् दोषान् नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत् ।। ९५ ।।

विनाशके मुखमें पड़नेवाले मनुष्यके आठ पूर्वचिह्न हैं—प्रथम तो वह ब्राह्मणोंसे द्वेष करता है, फिर उनके विरोधका पात्र बनता है, ब्राह्मणोंका धन हड़प लेता है, उनको मारना चाहता है, ब्राह्मणोंकी निन्दामें आनन्द मानता है, उनकी प्रशंसा सुनना नहीं चाहता, यज्ञ-यागादिमें उनका स्मरण नहीं करता तथा कुछ माँगनेपर उनमें दोष निकालने लगता है। इन सब दोषोंको बुद्धिमान् मनुष्य समझे और समझकर त्याग दे ।। ९३—९५ ।।

अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत ।
वर्तमानानि दृश्यन्ते तान्येव स्वसुखान्यपि ।। ९६ ।।
समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः ।
पुत्रेण च परिष्वङ्गः संनिपातश्च मैथुने ।। ९७ ।।
समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः ।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि ।। ९८ ।।

भारत! मित्रोंसे समागम, अधिक धनकी प्राप्ति, पुत्रका आलिंगन, मैथुनमें संलग्न होना, समयपर प्रिय वचन बोलना, अपने वर्गके लोगोंमें उन्नति, अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति और जनसमाजमें सम्मान—ये आठ हर्षके सार दिखायी देते हैं और ये ही अपने लौकिक सुखके भी साधन होते हैं ।। ९६—९८ ।।

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ।। ९९ ।।

बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रियनिग्रह, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, अधिक न बोलना, शक्तिके अनुसार दान और कृतज्ञता—ये आठ गुण पुरुषकी ख्याति बढ़ा देते हैं ।। ९९ ।।

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ।। १०० ।।

जो विद्वान् पुरुष [आँख, कान आदि] नौ दरवाजे-वाले, तीन (सत्त्व, रज तथा तमरूपी) खंभोंवाले, पाँच (ज्ञानेन्द्रियरूप) साक्षीवाले, आत्माके निवासस्थान इस शरीररूपी गृहको तत्त्वसे जानता है, वह बहुत बड़ा ज्ञानी है ।। १०० ।।

दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान् ।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ।। १०१ ।।
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ।। १०२ ।।

महाराज धृतराष्ट्र! दस प्रकारके लोग धर्मके तत्त्वको नहीं जानते, उनके नाम सुनो। नशेमें मतवाला, असावधान, पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, जल्दबाज, लोभी, भयभीत

और कामी—ये दस हैं। अतः इन सब लोगोंमें विद्वान् पुरुष आसक्त न होवे ।। १०१-१०२ ।।

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पुत्रार्थमसुरेन्द्रेण गीतं चैव सुधन्वना ।। १०३ ।।

इसी विषयमें असुरोंके राजा प्रह्लादने सुधन्वाके साथ अपने पुत्रके प्रति कुछ उपदेश दिया था। नीतिज्ञलोग उस पुरातन इतिहासका उदाहरण देते हैं ।। १०३ ।।

यः काममन्यू प्रजहाति राजा
पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च ।
विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी
तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ।। १०४ ।।

जो राजा काम और क्रोधका त्याग करता है और सुपात्रको धन देता है, विशेषज्ञ है, शास्त्रोंका ज्ञाता और कर्तव्यको शीघ्र पूरा करनेवाला है, उस (-के व्यवहार और वचनों)-को सब लोग प्रमाण मानते हैं ।। १०४ ।।

जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्
विज्ञातदोषेषु दधाति दण्डम् ।
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च
तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ।। १०५ ।।

जो मनुष्योंमें विश्वास उत्पन्न करना जानता है, जिनका अपराध प्रमाणित हो गया है उन्हींको जो दण्ड देता है, जो दण्ड देनेकी न्यूनाधिक मात्रा तथा क्षमाका उपयोग जानता है, उस राजाकी सेवामें सम्पूर्ण सम्पत्ति चली आती है ।। १०५ ।।

सुदुर्बलं नावजानाति कंचिद्
युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः
काले च यो विक्रमते स धीरः ।। १०६ ।।

जो किसी दुर्बलका अपमान नहीं करता, सदा सावधान रहकर शत्रुके साथ बुद्धिपूर्वक व्यवहार करता है, बलवानोंके साथ युद्ध पसंद नहीं करता तथा समय आनेपर पराक्रम दिखाता है, वही धीर है ।। १०६ ।।

प्राप्यापदं न व्यथते कदाचि-
दुद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।
दुःखं च काले सहते महात्मा
धुरन्धरस्तस्य जिताः सपत्नाः ।। १०७ ।।

जो धुरन्धर महापुरुष आपत्ति पड़नेपर कभी दुःखी नहीं होता, बल्कि सावधानीके साथ उद्योगका आश्रय लेता है तथा समयपर दुःख सहता है, उसके शत्रु तो पराजित ही

हैं ।। १०७ ।।

अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः
पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम् ।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं
न सेवते यश्च सुखी सदैव ।। १०८ ।।

जो घर छोड़कर निरर्थक विदेशवास, पापियोंसे मेल, परस्त्रीगमन, पाखण्ड, चोरी, चुगलखोरी तथा मदिरापान—इन सबका सेवन नहीं करता, वह सदा सुखी रहता है ।। १०८ ।।

न संरम्भेणारभते त्रिवर्ग-
माकारितः शंसति तत्त्वमेव ।
न मित्रार्थे रोचयते विवादं
नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः ।। १०९ ।।
न योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च
न दुर्बलः प्रातिभाव्यं करोति ।
नात्याह किंचित् क्षमते विवादं
सर्वत्र तादृग् लभते प्रशंसाम् ।। ११० ।।

जो क्रोध या उतावलीके साथ धर्म, अर्थ तथा कामका आरम्भ नहीं करता, पूछनेपर यथार्थ बात ही बतलाता है, मित्रके लिये झगड़ा नहीं पसंद करता, आदर न पानेपर क्रुद्ध नहीं होता, विवेक नहीं खो बैठता, दूसरोंके दोष नहीं देखता, सबपर दया करता है, असमर्थ होते हुए किसीकी जमानत नहीं देता, बढ़कर नहीं बोलता तथा विवादको सह लेता है, ऐसा मनुष्य सब जगह प्रशंसा पाता है ।। १०९-११० ।।

यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषं
न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान् ।
न मूर्च्छितः कटुकान्याह किंचित्
प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ।। १११ ।।

जो कभी उद्दण्डका-सा वेष नहीं बनाता, दूसरोंके सामने अपने पराक्रमकी श्लाघा भी नहीं करता, क्रोधसे व्याकुल होनेपर भी कटुवचन नहीं बोलता, उस मनुष्यको लोग सदा ही प्यारा बना लेते हैं ।। १११ ।।

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं
न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं
तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ।। ११२ ।।

जो शान्त हुई वैरकी आगको फिर प्रज्वलित नहीं करता, गर्व नहीं करता, हीनता नहीं दिखाता तथा 'मैं विपत्तिमें पड़ा हूँ' ऐसा सोचकर अनुचित काम नहीं करता, उस उत्तम आचरणवाले पुरुषको आर्यजन सर्वश्रेष्ठ कहते हैं ।। ११२ ।।

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ।। ११३ ।।

जो अपने सुखमें प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखके समय हर्ष नहीं मानता और दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सज्जनोंमें सदाचारी कहलाता है ।। ११३ ।।

देशाचारान् समयाञ्जातिधर्मान्
बुभूषते यः स परावरज्ञः ।
स यत्र तत्राभिगतः सदैव
महाजनस्याधिपत्यं करोति ।। ११४ ।।

जो मनुष्य देशके व्यवहार, अवसर तथा जातियोंके धर्मोंको तत्त्वसे जानना चाहता है, उसे उत्तम-अधमका विवेक हो जाता है। वह जहाँ कहीं भी जाता है, सदा महान् जनसमूहपर अपनी प्रभुता स्थापित कर लेता है ।। ११४ ।।

दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यं
राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम् ।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं
यः प्रज्ञावान् वर्जयेत् स प्रधानः ।। ११५ ।।

जो बुद्धिमान् दम्भ, मोह, मात्सर्य, पापकर्म, राजद्रोह, चुगलखोरी, समूहसे वैर और मतवाले, पागल तथा दुर्जनोंसे विवाद छोड़ देता है, वह श्रेष्ठ है ।। ११५ ।।

दानं होमं दैवतं मङ्गलानि
प्रायश्चित्तान् विविधाँल्लोकवादान् ।
एतानि यः कुरुते नैत्यकानि
तस्योत्थानं देवता राधयन्ति ।। ११६ ।।

जो दान, होम, देवपूजन, मांगलिक कर्म, प्रायश्चित्त तथा अनेक प्रकारके लौकिक आचार—इन नित्य किये जानेयोग्य कर्मोंको करता है, देवतालोग उसके अभ्युदयकी सिद्धि करते हैं ।। ११६ ।।

समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः
समैः सख्यं व्यवहारं कथां च ।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति
विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ।। ११७ ।।

जो अपने बराबरवालोंके साथ विवाह, मित्रता, व्यवहार तथा बातचीत करता है, हीन पुरुषोंके साथ नहीं और गुणोंमें बढ़े-चढ़े पुरुषोंको सदा आगे रखता है, उस विद्वान्‌की नीति श्रेष्ठ नीति है ।। ११७ ।।

मितं भुङ्‌क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा ।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सं-
स्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ।। ११८ ।।

जो अपने आश्रितजनोंको बाँटकर थोड़ा ही भोजन करता है, बहुत अधिक काम करके भी थोड़ा सोता है तथा माँगनेपर जो मित्र नहीं है, उन्हें भी धन देता है, उस मनस्वी पुरुषको सारे अनर्थ दूरसे ही छोड़ देते हैं ।।

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य
नान्ये जनाः कर्म जानन्ति किंचित्‌ ।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च
नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः ।। ११९ ।।

जिसके अपनी इच्छाके अनुकूल और दूसरोंकी इच्छाके विरुद्ध कार्यको दूसरे लोग कुछ भी नहीं जान पाते, मन्त्र गुप्त रहने और अभीष्ट कार्यका ठीक-ठीक सम्पादन होनेके कारण उसका थोड़ा भी काम बिगड़ने नहीं पाता ।। ११९ ।।

यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः
सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्धभावः ।
अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये
महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः ।। १२० ।।

जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंको शान्ति प्रदान करनेमें तत्पर, सत्यवादी, कोमल, दूसरोंको आदर देनेवाला तथा पवित्र विचारवाला होता है, वह अच्छी खानसे निकले और चमकते हुए श्रेष्ठ रत्नकी भाँति अपनी जातिवालोंमें अधिक प्रसिद्धि पाता है ।। १२० ।।

य आत्मनापत्रपते भृशं नरः
स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत ।
अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितः
स तेजसा सूर्य इवावभासते ।। १२१ ।।

जो स्वयं ही अधिक लज्जाशील है, वह सब लोगोंमें श्रेष्ठ समझा जाता है। वह अपने अनन्त तेज, शुद्ध हृदय एवं एकाग्रतासे युक्त होनेके कारण कान्तिमें सूर्यके समान शोभा पाता है ।। १२१ ।।

वने जाताः शापदग्धस्य राज्ञः
पाण्डोः पुत्राः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पाः ।

त्वयैव बाला वर्धिताः शिक्षिताश्च
तवादेशं पालयन्त्यम्बिकेय ।। १२२ ।।

अम्बिकानन्दन! (मृगरूपधारी किंदम ऋषिके) शापसे दग्ध राजा पाण्डुके जो पाँच पुत्र वनमें उत्पन्न हुए, वे पाँच इन्द्रोंके समान शक्तिशाली हैं, उन्हें आपने ही बचपनसे पाला और शिक्षा दी है; वे भी आपकी आज्ञाका पालन करते रहते हैं ।। १२२ ।।

प्रदायैषामुचितं तात राज्यं
सुखी पुत्रैः सहितो मोदमानः ।
न देवानां नापि च मानुषाणां
भविष्यसि त्वं तर्कणीयो नरेन्द्र ।। १२३ ।।

तात! उन्हें उनका न्यायोचित राज्यभाग देकर आप अपने पुत्रोंके साथ आनन्दित होते हुए सुख भोगिये। नरेन्द्र! ऐसा करनेपर आप देवताओं तथा मनुष्योंकी आलोचनाके विषय नहीं रह जायँगे ।। १२३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुर-नीतिवाक्यविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३३ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल १२९ श्लोक हैं।]

---

* इस ३३ वें अध्यायसे प्रारम्भ होकर ४० वें अध्यायतक 'विदुरनीति' है।

* यहाँ 'उपास्ते' के स्थानपर 'उपासते' यह प्रयोग आर्ष समझना चाहिये।

* मुहूर्त शब्दका अर्थ दो घड़ी होता है। एक घड़ी २४ मिनटकी मानी जाती है।

चतुस्त्रिंऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीके नीतियुक्त वचन

धृतराष्ट्र उवाच

जाग्रतो दह्यमानस्य यत् कार्यमनुपश्यसि ।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—तात! मैं चिन्तासे जलता हुआ अभीतक जाग रहा हूँ; तुम मेरे करनेयोग्य जो कार्य समझो, उसे बताओ; क्योंकि हमलोगोंमें तुम्हीं धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण हो ।। १ ।।

त्वं मां यथावद् विदुर प्रशाधि
प्रज्ञापूर्वं सर्वमजातशत्रोः ।
यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्त्व
श्रेयस्करं ब्रूहि तद् वै कुरूणाम् ।। २ ।।

उदारचित्त विदुर! तुम अपनी बुद्धिसे विचारकर मुझे ठीक-ठीक उपदेश करो। जो बात युधिष्ठिरके लिये हितकर और कौरवोंके लिये कल्याणकारी समझो, वह सब अवश्य बताओ ।। २ ।।

पापाशङ्की पापमेवानुपश्यन्
पृच्छामि त्वां व्याकुलेनात्मनाहम् ।
कवे तन्मे ब्रूहि सर्वं यथाव-
न्मनीषितं सर्वमजातशत्रोः ।। ३ ।।

विद्वन्! मेरे मनमें अनिष्टकी आशंका बनी रहती है, इसलिये मैं सर्वत्र अनिष्ट ही देखता हूँ, अतः व्याकुल हृदयसे मैं तुमसे पूछ रहा हूँ—अजातशत्रु युधिष्ठिर क्या चाहते हैं, सो सब ठीक-ठीक बताओ ।। ३ ।।

विदुर उवाच

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
अपृष्टस्तस्य तद् ब्रूयाद् यस्य नेच्छेत् पराभवम् ।। ४ ।।

विदुरजीने कहा—राजन्! मनुष्यको चाहिये कि वह जिसकी पराजय नहीं चाहता, उसको बिना पूछे भी अच्छी अथवा बुरी, कल्याण करनेवाली या अनिष्ट करनेवाली—जो भी बात हो, बता दे ।। ४ ।।

तस्माद् वक्ष्यामि ते राजन् हितं यत् स्यात् कुरून् प्रति ।
वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ।। ५ ।।

इसलिये राजन्! जिससे समस्त कौरवोंका हित हो, मैं वही बात आपसे कहूँगा। मैं जो कल्याणकारी एवं धर्मयुक्त वचन कह रहा हूँ, उन्हें आप ध्यान देकर सुनें ।।

मिथ्योपेतानि कर्माणि सिध्येयुर्यानि भारत ।

अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः ।। ६ ।।

भारत! असत् उपायों (अन्यायपूर्वक युद्ध एवं द्यूत) आदिका प्रयोग करके जो कपटपूर्ण कार्य सिद्ध होते हैं, उनमें आप मन मत लगाइये ।। ६ ।।

तथैव योगविहितं यत् तु कर्म न सिध्यति ।

उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः ।। ७ ।।

इसी प्रकार अच्छे उपायोंका उपयोग करके सावधानीके साथ किया गया कोई कर्म यदि सफल न हो तो बुद्धिमान् पुरुषको उसके लिये मनमें ग्लानि नहीं करनी चाहिये ।। ७ ।।

अनुबन्धानपेक्षेत सानुबन्धेषु कर्मसु ।

सम्प्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ।। ८ ।।

किसी प्रयोजनसे किये गये कर्मोंमें पहले प्रयोजनको समझ लेना चाहिये। खूब सोच-विचारकर काम करना चाहिये, जल्दबाजीसे किसी कामका आरम्भ नहीं करना चाहिये ।। ८ ।।

अनुबन्धं च सम्प्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम् ।

उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ।। ९ ।।

धीर मनुष्यको उचित है कि पहले कर्मोंका प्रयोजन, परिणाम तथा अपनी उन्नतिका विचार करके फिर काम आरम्भ करे या न करे ।। ९ ।।

यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये ।

कोशे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठते ।। १० ।।

जो राजा स्थिति, लाभ, हानि, खजाना, देश तथा दण्ड आदिकी मात्राको नहीं जानता, वह राज्यपर स्थिर नहीं रह सकता ।। १० ।।

यस्त्वेतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति ।

युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्यमधिगच्छति ।। ११ ।।

जो इनके प्रमाणोंको उपर्युक्त प्रकारसे ठीक-ठीक जानता है तथा धर्म और अर्थके ज्ञानमें दत्तचित्त रहता है, वह राज्यको प्राप्त करता है ।। ११ ।।

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम् ।

श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ।। १२ ।।

'अब तो राज्य प्राप्त ही हो गया'—ऐसा समझ-कर अनुचित बर्ताव नहीं करना चाहिये। उद्दण्डता सम्पत्तिको उसी प्रकार नष्ट कर देती है, जैसे सुन्दर रूपको बुढ़ापा ।।

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो बडिशमायसम् ।

लोभाभिपाती ग्रसते नानुबन्धमवेक्षते ।। १३ ।।

जैसे मछली बढ़िया खाद्य वस्तुसे ढकी हुई लोहेकी काँटीको लोभमें पड़कर निगल जाती है, उससे होनेवाले परिणामपर विचार नहीं करती (अतएव मर जाती है) ।। १३ ।।

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
हितं च परिणामे यत् तदाद्यं भूतिमिच्छता ।। १४ ।।

अतः अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको वही वस्तु खानी (या ग्रहण करनी) चाहिये, (जो परिणाममें अनिष्टकर न हो अर्थात्) जो खानेयोग्य हो तथा खायी जा सके, खाने (या ग्रहण करने)-पर पच सके और पच जानेपर हितकारी हो ।। १४ ।।

वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः ।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ।। १५ ।।

जो पेड़से कच्चे फलोंको तोड़ता है, वह उन फलोंसे रस तो पाता नहीं, परंतु उस वृक्षके बीजका नाश हो जाता है ।। १५ ।।

यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम् ।
फलाद् रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ।। १६ ।।

परंतु जो समयपर पके हुए फलको ग्रहण करता है, वह फलसे रस पाता है और उस बीजसे पुनः फल प्राप्त करता है ।। १६ ।।

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ।। १७ ।।

जैसे भौंरा फूलोंकी रक्षा करता हुआ ही उनके मधुका ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाजनोंको कष्ट दिये बिना ही उनसे धन ले ।। १७ ।।

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ।। १८ ।।

जैसे माली बगीचेमें एक-एक फूल तोड़ता है, उसकी जड़ नहीं काटता, उसी प्रकार राजा प्रजाकी रक्षापूर्वक उनसे कर ले। कोयला बनानेवालेकी तरह जड़से नहीं काटे ।। १८ ।।

किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः ।
इति कर्माणि संचिन्त्य कुर्याद् वा पुरुषो न वा ।। १९ ।।

इसे करनेसे मेरा क्या लाभ होगा और न करनेसे क्या हानि होगी—इस प्रकार कर्मोंके विषयमें भलीभाँति विचार करके फिर मनुष्य (कर्म) करे या न करे ।। १९ ।।

अनारभ्या भवन्त्यर्थाः केचिन्नित्यं तथागताः ।
कृतः पुरुषकारो हि भवेद् येषु निरर्थकः ।। २० ।।

कुछ ऐसे व्यर्थ कार्य हैं, जो नित्य अप्राप्त होनेके कारण आरम्भ करनेयोग्य नहीं होते; क्योंकि उनके लिये किया हुआ पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जाता है ।। २० ।।

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।

न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ।। २१ ।।

जिसकी प्रसन्नताका कोई फल नहीं और क्रोध भी व्यर्थ है, उसको प्रजा स्वामी बनाना नहीं चाहती—जैसे स्त्री नपुंसकको पति नहीं बनाना चाहती ।। २१ ।।

कांश्चिदर्थान् नरः प्राज्ञो लघुमूलान् महाफलान् ।
क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान् ।। २२ ।।

जिनका मूल (साधन) छोटा और फल महान् हो, बुद्धिमान् पुरुष उनको शीघ्र ही आरम्भ कर देता है; वैसे कामोंमें वह विघ्न नहीं आने देता ।। २२ ।।

ऋजु पश्यति यः सर्वं चक्षुषानुपिबन्निव ।
आसीनमपि तूष्णीकमनुरज्यन्ति तं प्रजाः ।। २३ ।।

जो राजा इस प्रकार प्रेमके साथ कोमल दृष्टिसे देखता है, मानो आँखोंसे पीना चाहता है, वह चुपचाप बैठा भी रहे, तो भी प्रजा उससे अनुराग रखती है ।।

सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद् दुरारुहः ।
अपक्वः पक्वसंकाशो न तु शीर्येत कर्हिचित् ।। २४ ।।

राजा वृक्षकी भाँति अच्छी तरह फूलने (प्रसन्न रहने) पर भी फलसे खाली रहे (अधिक देनेवाला न हो)। यदि फलसे युक्त (देनेवाला) हो तो भी जिसपर चढ़ा न जा सके, ऐसा (पहुँचके बाहर) होकर रहे। कच्चा (कम शक्तिवाला) होनेपर भी पके (शक्तिसम्पन्न)-की भाँति अपनेको प्रकट करे। ऐसा करनेसे वह नष्ट नहीं होता ।। २४ ।।

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ।। २५ ।।

जो राजा नेत्र, मन, वाणी और कर्म—इन चारोंसे प्रजाको प्रसन्न करता है, उसीसे प्रजा प्रसन्न रहती है ।। २५ ।।

यस्मात् त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव ।
सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ।। २६ ।।

जैसे व्याधसे हरिन भयभीत होते हैं, उसी प्रकार जिससे समस्त प्राणी डरते हैं, वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य पाकर भी प्रजाजनोंके द्वारा त्याग दिया जाता है ।। २६ ।।

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान् स्वेन कर्मणा ।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ।। २७ ।।

अन्यायमें स्थित हुआ राजा बाप-दादोंका राज्य पाकर भी अपने कर्मोंसे उसे इस तरह भ्रष्ट कर देता है, जैसे हवा बादलको छिन्न-भिन्न कर देती है ।। २७ ।।

धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः ।
वसुधा वसुसम्पूर्णा वर्धते भूतिवर्धिनी ।। २८ ।।

परम्परासे सज्जन पुरुषोंद्वारा किये हुए धर्मका आचरण करनेवाले राजाके राज्यकी पृथ्वी धन-धान्यसे पूर्ण होकर उन्नतिको प्राप्त होती है और उसके ऐश्वर्यको बढ़ाती

है ।। २८ ।।

अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठतः ।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ।। २९ ।।

जो राजा धर्मको छोड़ता और अधर्मका अनुष्ठान करता है, उसकी राज्यभूमि आगपर रखे हुए चमड़ेकी भाँति संकुचित हो जाती है ।। २९ ।।

य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने ।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ।। ३० ।।

दूसरे राष्ट्रोंका नाश करनेके लिये जिस प्रकारका प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकारकी तत्परता अपने राज्यकी रक्षाके लिये करनी चाहिये ।। ३० ।।

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ।। ३१ ।।

धर्मसे ही राज्य प्राप्त करे और धर्मसे ही उसकी रक्षा करे; क्योंकि धर्ममूलक राज्यलक्ष्मीको पाकर न तो राजा उसे छोड़ता है और न वही राजाको छोड़ती है ।। ३१ ।।

अप्युन्मत्तात् प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः ।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव काञ्चनम् ।। ३२ ।।

निरर्थक बोलनेवाले, पागल तथा बकवाद करनेवाले बच्चेसे भी सब ओरसे उसी भाँति सार बात ग्रहण करनी चाहिये, जैसे पत्थरोंमेंसे सोना लिया जाता है ।। ३२ ।।

सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः ।
संचिन्वन् धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ।। ३३ ।।

जैसे शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाला अनाज-का एक-एक दाना चुगता रहता है, उसी प्रकार धीर पुरुषको जहाँ-तहाँसे भावपूर्ण वचनों, सूक्तियों और सत्कर्मोंका संग्रह करते रहना चाहिये ।। ३३ ।।

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ।। ३४ ।।

गौएँ गन्धसे, ब्राह्मणलोग वेदोंसे, राजा गुप्तचरोंसे और अन्य साधारण लोग आँखोंसे देखा करते हैं ।।

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा ।
अथ या सुदुहा राजन् नैव तां वितुदन्त्यपि ।। ३५ ।।

राजन्! जो गाय बड़ी कठिनाईसे दुहने देती है, वह बहुत क्लेश उठाती है; किंतु जो आसानीसे दूध देती है, उसे लोग कष्ट नहीं देते ।। ३५ ।।

यदतप्तं प्रणमति न तत् संतापयन्त्यपि ।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत् संनमयन्त्यपि ।। ३६ ।।

जो धातु बिना गरम किये मुड़ जाते हैं, उन्हें आगमें नहीं तपाते। जो काठ स्वयं झुका होता है, उसे कोई झुकानेका प्रयत्न नहीं करता ।। ३६ ।।

एतयोपमया धीरः संनमेत बलीयसे ।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ।। ३७ ।।

इस दृष्टान्तके अनुसार बुद्धिमान् पुरुषको अधिक बलवान्के सामने झुक जाना चाहिये; जो अधिक बलवान्के सामने झुकता है, वह मानो इन्द्रको प्रणाम करता है ।। ३७ ।।

पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मन्त्रिबान्धवाः ।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ।। ३८ ।।

पशुओंके रक्षक या स्वामी हैं बादल, राजाओंके सहायक हैं मन्त्री, स्त्रियोंके बन्धु (रक्षक) हैं पति और ब्राह्मणोंके बान्धव हैं वेद ।। ३८ ।।

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ।। ३९ ।।

सत्यसे धर्मकी रक्षा होती है, योगसे विद्या सुरक्षित होती है, सफाईसे (सुन्दर) रूपकी रक्षा होती है और सदाचारसे कुलकी रक्षा होती है ।। ३९ ।।

मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः ।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च स्त्रियो रक्ष्याः कुचैलतः ।। ४० ।।

भलीभाँति सँभालकर रखनेसे नाजकी रक्षा होती है, फेरनेसे घोड़े सुरक्षित रहते हैं, बारंबार देख-भाल करनेसे गौओंकी तथा मैले वस्त्रोंसे स्त्रियोंकी रक्षा होती है ।। ४० ।।

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः ।
अन्त्येष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ।। ४१ ।।

मेरा ऐसा विचार है कि सदाचारसे हीन मनुष्यका केवल ऊँचा कुल मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि नीच कुलमें उत्पन्न मनुष्यका भी सदाचार श्रेष्ठ माना जाता है ।। ४१ ।।

य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये ।
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ।। ४२ ।।

जो दूसरोंके धन, रूप, पराक्रम, कुलीनता, सुख, सौभाग्य और सम्मानपर डाह करता है, उसका यह रोग असाध्य है ।। ४२ ।।

अकार्यकरणाद् भीतः कार्याणां च विवर्जनात् ।
अकाले मन्त्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत् पिबेत् ।। ४३ ।।

न करनेयोग्य काम करनेसे, करनेयोग्य काममें प्रमाद करनेसे तथा कार्यसिद्धि होनेके पहले ही मन्त्र प्रकट हो जानेसे डरना चाहिये और जिससे नशा चढ़े, ऐसी मादक वस्तु नहीं पीनी चाहिये ।। ४३ ।।

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः ।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ।। ४४ ।।

विद्याका मद, धनका मद और तीसरा ऊँचे कुलका मद है। ये घमंडी पुरुषोंके लिये तो मद हैं, परंतु ये (विद्या, धन और कुलीनता) ही सज्जन पुरुषोंके लिये दमके साधन हैं ।। ४४ ।।

असन्तोऽभ्यर्थिताः सद्भिः क्वचित्कार्ये कदाचन ।
मन्यन्ते सन्तमात्मानमसन्तमपि विश्रुतम् ।। ४५ ।।

कभी किसी कार्यमें सज्जनोंद्वारा प्रार्थित होनेपर दुष्टलोग अपनेको प्रसिद्ध दुष्ट जानते हुए भी सज्जन मानने लगते हैं ।। ४५ ।।

गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः ।
असतां च गतिः सन्तो न त्वसन्तः सतां गतिः ।। ४६ ।।

मनस्वी पुरुषोंको सहारा देनेवाले संत हैं; संतोंके भी सहारे संत ही हैं, दुष्टोंको भी सहारा देनेवाले संत हैं, पर दुष्टलोग संतोंको सहारा नहीं देते ।। ४६ ।।

जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता ।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ।। ४७ ।।

अच्छे वस्त्रवाला सभाको जीतता (अपना प्रभाव जमा लेता) है; जिसके पास गौ है, वह (दूध, घी, मक्खन, खोवा आदि पदार्थोंके आस्वादनसे) मीठे स्वादकी आकांक्षाको जीत लेता है, सवारीसे चलनेवाला मार्गको जीत लेता (तय कर लेता) है और शीलस्वभाववाला पुरुष सबपर विजय पा लेता है ।। ४७ ।।

शीलं प्रधानं पुरुषे तद् यस्येह प्रणश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः ।। ४८ ।।

पुरुषमें शील ही प्रधान है; जिसका वही नष्ट हो जाता है, इस संसारमें उसका जीवन, धन और बन्धुओंसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।। ४८ ।।

आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम् ।
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ ।। ४९ ।।

भरतश्रेष्ठ! धनोन्मत्त (तामस स्वभाववाले) पुरुषोंके भोजनमें मांसकी, मध्यम श्रेणीवालोंके भोजनमें गोरसकी तथा दरिद्रोंके भोजनमें तेलकी प्रधानता होती है ।। ४९ ।।

सम्पन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा ।
क्षुत् स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा ।। ५० ।।

दरिद्र पुरुष सदा स्वादिष्ट भोजन ही करते हैं; क्योंकि भूख उनके भोजनमें (विशेष) स्वाद उत्पन्न कर देती है और वह भूख धनियोंके लिये सर्वथा दुर्लभ है ।। ५० ।।

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
जीर्यन्त्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ।। ५१ ।।

राजन्! संसारमें धनियोंको प्रायः भोजनको पचानेकी शक्ति नहीं होती, किंतु दरिद्रोंके पेटमें काठ भी पच जाते हैं ।। ५१ ।।

अवृत्तिर्भयमन्त्यानां मध्यानां मरणाद् भयम् ।
उत्तमानां तु मर्त्यानामवमानात् परं भयम् ।। ५२ ।।

अधम पुरुषोंको जीविका न होनेसे भय लगता है, मध्यम श्रेणीके मनुष्योंको मृत्युसे भय होता है; परंतु उत्तम पुरुषोंको अपमानसे ही महान् भय होता है ।। ५२ ।।

ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः ।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नापतित्वा विबुध्यते ।। ५३ ।।

यों तो (मादक वस्तुओंके) पीनेका नशा आदि भी नशा ही है, किंतु ऐश्वर्यका नशा तो बहुत ही बुरा है; क्योंकि ऐश्वर्यके मदसे मतवाला पुरुष भ्रष्ट हुए बिना होशमें नहीं आता ।। ५३ ।।

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु वर्तमानैरनिग्रहैः ।
तैरयं ताप्यते लोको नक्षत्राणि ग्रहैरिव ।। ५४ ।।

वशमें न होनेके कारण विषयोंमें रमनेवाली इन्द्रियोंसे यह संसार उसी भाँति कष्ट पाता है, जैसे सूर्य आदि ग्रहोंसे नक्षत्र तिरस्कृत हो जाते हैं ।। ५४ ।।

यो जितः पञ्चवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा ।
आपदस्तस्य वर्धन्ते शुक्लपक्ष इवोडुराट् ।। ५५ ।।

जो मनुष्य जीवोंको वशमें करनेवाली सहज पाँच इन्द्रियोंसे जीत लिया गया, उसकी आपत्तियाँ शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति बढ़ती हैं ।। ५५ ।।

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते ।
अमित्रान् वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ।। ५६ ।।

इन्द्रियोंसहित मनको जीते बिना ही जो मन्त्रियोंको जीतनेकी इच्छा करता है या मन्त्रियोंको अपने अधीन किये बिना शत्रुको जीतना चाहता है, उस अजितेन्द्रिय पुरुषको सब लोग त्याग देते हैं ।। ५६ ।।

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण यो जयेत् ।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ।। ५७ ।।

जो पहले इन्द्रियोंसहित मनको ही शत्रु समझकर जीत लेता है, उसके बाद यदि वह मन्त्रियों तथा शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करे तो उसे सफलता मिलती है ।। ५७ ।।

वश्येन्द्रियं जितात्मानं धृतदण्डं विकारिषु ।
परीक्ष्य कारिणं धीरमत्यन्तं श्रीर्निषेवते ।। ५८ ।।

इन्द्रियों तथा मनको जीतनेवाले, अपराधियोंको दण्ड देनेवाले और जाँच-परखकर काम करनेवाले धीर पुरुषकी लक्ष्मी अत्यन्त सेवा करती है ।। ५८ ।।

रथः शरीरं पुरुषस्य राज-
न्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-

दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ।। ५९ ।।

राजन्! मनुष्यका शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है और इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं। इनको वशमें करके सावधान रहनेवाला चतुर एवं धीर पुरुष काबूमें किये हुए घोड़ोंसे रथीकी भाँति सुखपूर्वक संसारपथका अतिक्रमण करता है ।। ५९ ।।

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ।। ६० ।।

शिक्षा न पाये हुए तथा काबूमें न आनेवाले घोड़े जैसे मूर्ख सारथिको मार्गमें मार गिराते हैं, वैसे ही ये इन्द्रियाँ वशमें न रहनेपर पुरुषको मार डालनेमें भी समर्थ होती हैं ।। ६० ।।

अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थं चैवाप्यनर्थतः ।
इन्द्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखम् ।। ६१ ।।

इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण अर्थको अनर्थ और अनर्थको अर्थ समझकर अज्ञानी पुरुष बहुत बड़े दुःखको भी सुख मान बैठता है ।। ६१ ।।

धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ।। ६२ ।।

जो धर्म और अर्थका परित्याग करके इन्द्रियोंके वशमें हो जाता है, वह शीघ्र ही ऐश्वर्य, प्राण, धन तथा स्त्रीसे भी हाथ धो बैठता है ।। ६२ ।।

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः ।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः ।। ६३ ।।

जो अधिक धनका स्वामी होकर भी इन्द्रियोंपर अधिकार नहीं रखता, वह इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण ही ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है ।। ६३ ।।

आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।। ६४ ।।

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको अपने अधीनकर अपनेसे ही अपने आत्माको जाननेकी इच्छा करे; क्योंकि आत्मा ही अपना बन्धु और आत्मा ही अपना शत्रु है ।। ६४ ।।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनैवात्माऽऽत्मना जितः ।
स एव नियतो बन्धुः स एवानियतो रिपुः ।। ६५ ।।

जिसने स्वयं अपने आत्माको ही जीत लिया है, उसका आत्मा ही उसका बन्धु है। वही आत्मा जीता गया होनेपर सच्चा बन्धु और वही न जीता हुआ होनेपर शत्रु है ।। ६५ ।।

क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुरू ।
कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुम्पतः ।। ६६ ।।

राजन्! जिस प्रकार सूक्ष्म छेदवाले जालमें फँसी हुई दो बड़ी-बड़ी मछलियाँ मिलकर जालको काट डालती हैं, उसी प्रकार ये काम और क्रोध—दोनों विवेकको लुप्त कर देते हैं ।। ६६ ।।

समवेक्ष्येह धर्मार्थौ सम्भारान् योऽधिगच्छति ।
स वै सम्भृतसम्भारः सततं सुखमेधते ।। ६७ ।।

जो इस जगत्में धर्म तथा अर्थका विचार करके विजयसाधन-सामग्रीका संग्रह करता है, वही उस सामग्रीसे युक्त होनेके कारण सदा सुखपूर्वक समृद्धिशाली होता रहता है ।। ६७ ।।

यः पञ्चाभ्यन्तराञ्छत्रूनविजित्य मनोमयान् ।
जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ।। ६८ ।।

जो चित्तके विकारभूत पाँच इन्द्रियरूपी भीतरी शत्रुओंको जीते बिना ही दूसरे शत्रुओंको जीतना चाहता है, उसे शत्रु पराजित कर देते हैं ।। ६८ ।।

दृश्यन्ते हि महात्मानो बध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
इन्द्रियाणामनीशत्वाद् राजानो राज्यविभ्रमैः ।। ६९ ।।

इन्द्रियोंपर अधिकार न होनेके कारण बड़े-बड़े साधु भी अपने कर्मोंसे तथा राजालोग राज्यके भोग-विलासोंसे बँधे रहते हैं ।। ६९ ।।

असंत्यागात् पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात् ।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावात्
तस्मात् पापैः सह सन्धिं न कुर्यात् ।। ७० ।।

पापाचारी दुष्टोंका त्याग न करके उनके साथ मिले रहनेसे निरपराध सज्जनोंको भी उन (पापियों)-के समान ही दण्ड प्राप्त होता है, जैसे सूखी लकड़ीमें मिल जानेसे गीली भी जल जाती है; इसलिये दुष्ट पुरुषोंके साथ कभी मेल न करे ।। ७० ।।

निजानुत्पततः शत्रून् पञ्च पञ्चप्रयोजनान् ।
यो मोहान्न निगृह्णाति तमापद् ग्रसते नरम् ।। ७१ ।।

जो पाँच विषयोंकी ओर दौड़नेवाले अपने पाँच इन्द्रियरूपी शत्रुओंको मोहके कारण वशमें नहीं करता, उस मनुष्यको विपत्ति ग्रस लेती है ।। ७१ ।।

अनसूयाऽऽर्जवं शौचं संतोषः प्रियवादिता ।
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ।। ७२ ।।

गुणोंमें दोष न देखना, सरलता, पवित्रता, संतोष, प्रिय वचन बोलना, इन्द्रियदमन, सत्यभाषण तथा सरलता—ये गुण दुरात्मा पुरुषोंमें नहीं होते ।। ७२ ।।

आत्मज्ञानमसंरम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
वाक् चैव गुप्ता दानं च नैतान्यन्त्येषु भारत ।। ७३ ।।

भारत! आत्मज्ञान, अक्रोध, सहनशीलता, धर्म-परायणता, वचनकी रक्षा तथा दान—ये गुण अधम पुरुषोंमें नहीं होते ।। ७३ ।।

आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसन्त्यबुधा बुधान् ।

वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते ।। ७४ ।।

मूर्ख मनुष्य विद्वानोंको गाली और निन्दासे कष्ट पहुँचाते हैं। गाली देनेवाला पापका भागी होता है और क्षमा करनेवाला पापसे मुक्त हो जाता है ।। ७४ ।।

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ।। ७५ ।।

दुष्ट पुरुषोंका बल है हिंसा, राजाओंका बल है दण्ड देना, स्त्रियोंका बल है सेवा और गुणवानोंका बल है क्षमा ।। ७५ ।।

वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहु भाषितुम् ।। ७६ ।।

राजन्! वाणीका पूर्ण संयम तो बहुत कठिन माना ही गया है; परंतु विशेष अर्थयुक्त और चमत्कारपूर्ण वाणी भी अधिक नहीं बोली जा सकती (इसलिये अत्यन्त दुष्कर होनेपर भी वाणीका संयम करना ही उचित है) ।। ७६ ।।

अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता ।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ।। ७७ ।।

राजन्! मधुर शब्दोंमें कही हुई बात अनेक प्रकारसे कल्याण करती है; किंतु वही यदि कटु शब्दोंमें कही जाय तो महान् अनर्थका कारण बन जाती है ।। ७७ ।।

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ।। ७८ ।।

बाणोंसे बिंधा हुआ तथा फरसेसे काटा हुआ वन भी अंकुरित हो जाता है; किंतु कटु वचन कहकर वाणीसे किया हुआ भयानक घाव नहीं भरता ।। ७८ ।।

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ।। ७९ ।।

कर्णि, नालीक और नाराच नामक बाणोंको शरीरसे निकाल सकते हैं, परंतु कटु वचनरूपी बाण नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि वह हृदयके भीतर धँस जाता है ।।

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः ।। ८० ।।

कटु वचनरूपी बाण मुखसे निकलकर दूसरोंके मर्मस्थानपर ही चोट करते हैं; उनसे आहत मनुष्य रात-दिन घुलता रहता है। अतः विद्वान् पुरुष दूसरोंपर उनका प्रयोग न करे ।। ८० ।।

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ।। ८१ ।।

देवतालोग जिसे पराजय देते हैं, उसकी बुद्धिको पहले ही हर लेते हैं; इससे वह नीच कर्मोंपर ही अधिक दृष्टि रखता है ।। ८१ ।।

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ।। ८२ ।।

विनाशकाल उपस्थित होनेपर बुद्धि मलिन हो जाती है; फिर तो न्यायके समान प्रतीत होनेवाला अन्याय हृदयसे बाहर नहीं निकलता ।। ८२ ।।

सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्षभ ।
पाण्डवानां विरोधेन न चैनानवबुध्यसे ।। ८३ ।।

भरतश्रेष्ठ! आपके पुत्रोंकी वह बुद्धि पाण्डवोंके प्रति विरोधसे व्याप्त हो गयी है; आप इन्हें पहचान नहीं रहे हैं ।। ८३ ।।

राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ।
शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ।। ८४ ।।

महाराज धृतराष्ट्र! जो राजलक्षणोंसे सम्पन्न होनेके कारण त्रिभुवनका भी राजा हो सकता है, वह आपका आज्ञाकारी युधिष्ठिर ही इस पृथ्वीका शासक होनेयोग्य है ।।

अतीत्य सर्वान् पुत्रांस्ते भागधेयपुरस्कृतः ।
तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्त्ववित् ।। ८५ ।।

वह धर्म तथा अर्थके तत्त्वको जाननेवाला, तेज और बुद्धिसे युक्त, पूर्ण सौभाग्यशाली तथा आपके सभी पुत्रोंसे बढ़-चढ़कर है ।। ८५ ।।

अनुक्रोशादानृशंस्याद् योऽसौ धर्मभृतां वरः ।
गौरवात् तव राजेन्द्र बहून् क्लेशांस्तितिक्षति ।। ८६ ।।

राजेन्द्र! धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर दया, सौम्यभाव तथा आपके प्रति गौरव-बुद्धिके कारण बहुत कष्ट सह रहा है ।। ८६ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुर-नीतिवाक्यविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३४ ।।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

विदुरके द्वारा केशिनीके लिये सुधन्वाके साथ विरोचनके विवादका वर्णन करते हुए धृतराष्ट्रको धर्मोपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रूहि भूयो महाबुद्धे धर्मार्थसहितं वचः ।
शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिर्विचित्राणीह भाषसे ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—महाबुद्धे! तुम पुनः धर्म और अर्थसे युक्त बातें कहो। इन्हें सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती। इस विषयमें तुम विलक्षण बातें कह रहे हो ।।

विदुर उवाच

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ।। २ ।।

विदुरजी बोले—राजन्! सब तीर्थोंमें स्नान और सब प्राणियोंके साथ कोमलताका बर्ताव—ये दोनों एक समान हैं; अथवा कोमलताके बर्तावका विशेष महत्त्व है ।। २ ।।

आर्जवं प्रतिपद्यस्व पुत्रेषु सततं विभो ।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ।। ३ ।।

विभो! आप अपने पुत्र कौरव, पाण्डव दोनोंके साथ (समानरूपसे) कोमलताका बर्ताव कीजिये। ऐसा करनेसे इस लोकमें महान् सुयश प्राप्त करके मरनेके पश्चात् लोकमें आप स्वर्गलोकमें जायँगे ।। ३ ।।

यावत् कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोके प्रगीयते ।
तावत् स पुरुषव्याघ्र स्वर्गलोके महीयते ।। ४ ।।

पुरुषश्रेष्ठ! इस लोकमें जबतक मनुष्यकी पावन कीर्तिका गान किया जाता है, तबतक वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ।। ४ ।।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विरोचनस्य संवादं केशिन्यर्थे सुधन्वना ।। ५ ।।

इस विषयमें उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें 'केशिनी' के लिये सुधन्वाके साथ विरोचनके विवादका वर्णन है ।। ५ ।।

स्वयंवरे स्थिता कन्या केशिनी नाम नामतः ।
रूपेणाप्रतिमा राजन् विशिष्टपतिकाम्यया ।। ६ ।।

राजन्! एक समयकी बात है, केशिनी नामवाली एक अनुपम सुन्दरी कन्या सर्वश्रेष्ठ पतिको वरण करनेकी इच्छासे स्वयंवर-सभामें उपस्थित हुई ।। ६ ।।

विरोचनोऽथ दैतेयस्तदा तत्राजगाम ह ।
प्राप्तुमिच्छंस्ततस्तत्र दैत्येन्द्रं प्राह केशिनी ।। ७ ।।

उसी समय दैत्यकुमार विरोचन उसे प्राप्त करनेकी इच्छासे वहाँ आया। तब केशिनीने वहाँ दैत्यराजसे इस प्रकार बातचीत की ।। ७ ।।

केशिन्युवाच

किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांसो दितिजाः स्विद् विरोचन ।
अथ केन स्म पर्यङ्कं सुधन्वा नाधिरोहति ।। ८ ।।

केशिनी बोली—विरोचन! ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं या दैत्य? यदि ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं तो सुधन्वा ब्राह्मण ही मेरी शय्यापर क्यों न बैठे? अर्थात् मैं सुधन्वासे ही विवाह क्यों न करूँ? ।। ८ ।।

विरोचन उवाच

प्राजापत्यास्तु वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः ।
अस्माकं खल्विमे लोकाः के देवाः के द्विजातयः ।। ९ ।।

विरोचनने कहा—केशिनी! हम प्रजापतिकी श्रेष्ठ संतानें हैं, अतः सबसे उत्तम हैं। यह सारा संसार हमलोगोंका ही है। हमारे सामने देवता क्या हैं? और ब्राह्मण कौन चीज हैं? ।। ९ ।।

केशिन्युवाच

इहैवावां प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन ।
सुधन्वा प्रातरागन्ता पश्येयं वां समागतौ ।। १० ।।

केशिनी बोली—विरोचन! इसी जगह हम दोनों प्रतीक्षा करें; कल प्रातःकाल सुधन्वा यहाँ आवेगा। फिर मैं तुम दोनोंको एकत्र उपस्थित देखूँगी ।। १० ।।

विरोचन उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे ।
सुधन्वानं च मां चैव प्रातर्द्रष्टासि संगतौ ।। ११ ।।

विरोचन बोला—कल्याणी! तुम जैसा कहती हो, वही करूँगा। भीरु! प्रातःकाल तुम मुझे और सुधन्वाको एक साथ उपस्थित देखोगी ।। ११ ।।

विदुर उवाच

अतीतायां च शर्वर्यामुदिते सूर्यमण्डले ।
अथाजगाम तं देशं सुधन्वा राजसत्तम ।
विरोचनो यत्र विभो केशिन्या सहितः स्थितः ।। १२ ।।

विदुरजी कहते हैं—राजाओंमें श्रेष्ठ धृतराष्ट्र! इसके बाद जब रात बीती और सूर्यमण्डलका उदय हुआ, उस समय सुधन्वा उस स्थानपर आया, जहाँ विरोचन केशिनीके साथ उपस्थित था ।। १२ ।।

सुधन्वा च समागच्छत् प्राह्रादिं केशिनीं तथा ।
समागतं द्विजं दृष्ट्वा केशिनी भरतर्षभ ।
प्रत्युत्थायासनं तस्मै पाद्यमर्घ्यं ददौ पुनः ।। १३ ।।

भरतश्रेष्ठ! सुधन्वा प्रह्लादकुमार विरोचन और केशिनीके पास आया। ब्राह्मणको आया देख केशिनी उठ खड़ी हुई और उसने उसे आसन, पाद्य और अर्घ्य निवेदन किया ।। १३ ।।

सुधन्वोवाच

अन्वालभे हिरण्मयं प्राह्लादे ते वरासनम् ।
एकत्वमुपसम्पन्नो न त्वासेऽहं त्वया सह ।। १४ ।।

सुधन्वा बोला—प्रह्लादनन्दन! मैं तुम्हारे इस सुवर्णमय सुन्दर सिंहासनको केवल छू लेता हूँ, तुम्हारे साथ इसपर बैठ नहीं सकता; क्योंकि ऐसा होनेसे हम दोनों एक समान हो जायँगे ।। १४ ।।

विरोचन उवाच

तवार्हते तु फलकं कूर्चं वाप्यथवा बृसी ।
सुधन्वन् न त्वमर्होऽसि मया सह समासनम् ।। १५ ।।

विरोचनने कहा—सुधन्वन्! तुम्हारे लिये तो पीढ़ा, चटाई या कुशका आसन उचित है; तुम मेरे साथ बराबरके आसनपर बैठनेयोग्य हो ही नहीं ।। १५ ।।

सुधन्वोवाच

पितापुत्रौ सहासीतां द्वौ विप्रौ क्षत्रियावपि ।
वृद्धौ वैश्यौ च शूद्रौ च न त्वन्यावितरेतरम् ।। १६ ।।

सुधन्वाने कहा—विरोचन! पिता और पुत्र एक साथ एक आसनपर बैठ सकते हैं; दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वृद्ध, दो वैश्य और दो शूद्र भी एक साथ बैठ सकते हैं; किंतु दूसरे कोई दो व्यक्ति परस्पर एक साथ नहीं बैठ सकते ।। १६ ।।

पिता हि ते समासीनमुपासीतैव मामधः ।
बालः सुखैधितो गेहे न त्वं किंचन बुध्यसे ।। १७ ।।

तुम्हारे पिता प्रह्लाद नीचे बैठकर ही उच्चासनपर आसीन हुए मुझ सुधन्वाकी सेवा किया करते हैं। तुम अभी बालक हो, घरमें सुखसे पले हो; अतः तुम्हें इन बातोंका कुछ भी ज्ञान नहीं है ।। १७ ।।

विरोचन उवाच

हिरण्यं च गवाश्वं च यद् वित्तमसुरेषु नः ।
सुधन्वन् विपणे तेन प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ।। १८ ।।

विरोचन बोला—सुधन्वन्! हम असुरोंके पास जो कुछ भी सोना, गौ, घोड़ा आदि धन है, उसकी मैं बाजी लगाता हूँ; हम-तुम दोनों चलकर जो इस विषयके जानकार हों, उनसे पूछें कि हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है? ।। १८ ।।

सुधन्वोवाच

हिरण्यं च गवाश्वं च तवैवास्तु विरोचन ।
प्राणयोस्तु पणं कृत्वा प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ।। १९ ।।

सुधन्वा बोला—विरोचन! सुवर्ण, गाय और घोड़ा तुम्हारे ही पास रहें। हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाकर जो जानकार हों, उनसे पूछें ।। १९ ।।

विरोचन उवाच

आवां कुत्र गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते ।
न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित् ।। २० ।।

विरोचनने कहा—अच्छा, प्राणोंकी बाजी लगानेके पश्चात् हम दोनों कहाँ चलेंगे? मैं तो न देवताओंके पास जा सकता हूँ और न कभी मनुष्योंसे ही निर्णय करा सकता हूँ ।। २० ।।

सुधन्वोवाच

पितरं ते गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते ।
पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रह्रादो नानृतं वदेत् ।। २१ ।।

सुधन्वा बोला—प्राणोंकी बाजी लग जानेपर हम दोनों तुम्हारे पिताके पास चलेंगे। [मुझे विश्वास है कि] प्रह्लाद अपने बेटेके (जीवनके) लिये भी झूठ नहीं बोल सकते हैं ।। २१ ।।

विदुर उवाच

एवं कृतपणौ क्रुद्धौ तत्राभिजग्मतुस्तदा ।
विरोचनसुधन्वानौ प्रह्रादो यत्र तिष्ठति ।। २२ ।।

विदुरजी कहते हैं—राजन्! इस तरह बाजी लगाकर परस्पर क्रुद्ध हो विरोचन और सुधन्वा दोनों उस समय वहाँ गये, जहाँ प्रह्लाद थे ।। २२ ।।

प्रह्राद उवाच

इमौ तौ सम्प्रदृश्येते याभ्यां न चरितं सह ।
आशीविषाविव क्रुद्धावेकमार्गाविहागतौ ।। २३ ।।

प्रह्लादने (मन-ही-मन) कहा—जो कभी भी एक साथ नहीं चले थे, वे ही दोनों ये सुधन्वा और विरोचन आज साँपकी तरह क्रुद्ध होकर एक ही राहसे आते दिखायी देते हैं ।। २३ ।।

किं वै सहैवं चरथो न पुरा चरथः सह ।
विरोचनैतत् पृच्छामि किं ते सख्यं सुधन्वना ।। २४ ।।

[फिर प्रकटरूपमें विरोचनसे कहा—] विरोचन! मैं तुमसे पूछता हूँ, क्या सुधन्वाके साथ तुम्हारी मित्रता हो गयी है? फिर कैसे एक साथ आ रहे हो? पहले तो तुम दोनों कभी

एक साथ नहीं चलते थे ।। २४ ।।

विरोचन उवाच

न मे सुधन्वना सख्यं प्राणयोर्विपणावहे ।
प्रह्राद तत्त्वं पृच्छामि मा प्रश्नमनृतं वदेः ।। २५ ।।

विरोचन बोला—पिताजी! सुधन्वाके साथ मेरी मित्रता नहीं हुई है। हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाये आ रहे हैं। मैं आपसे यथार्थ बात पूछता हूँ। मेरे प्रश्नका झूठा उत्तर न दीजियेगा ।। २५ ।।

प्रह्राद उवाच

उदकं मधुपर्कं वाप्यानयन्तु सुधन्वने ।
ब्रह्मन्नभ्यर्चनीयोऽसि श्वेता गौः पीवरी कृता ।। २६ ।।

प्रह्लादने कहा—सेवको! सुधन्वाके लिये जल और मधुपर्क भी लाओ। [फिर सुधन्वासे कहा—] ब्रह्मन्! तुम मेरे पूजनीय अतिथि हो, मैंने तुम्हें दान करनेके लिये खूब मोटी-ताजी सफेद गौ रख रखी है ।। २६ ।।

सुधन्वोवाच

उदकं मधुपर्कं च पथिष्वेवार्पितं मम ।
प्रह्राद त्वं तु मे तथ्यं प्रश्नं प्रब्रूहि पृच्छतः ।
किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांस उताहो स्विद् विरोचनः ।। २७ ।।

सुधन्वा बोला—प्रह्लाद! जल और मधुपर्क तो मुझे मार्गमें ही मिल गया है। तुम तो जो मैं पूछ रहा हूँ, उस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दो—ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं अथवा विरोचन? ।। २७ ।।

प्रह्राद उवाच

पुत्र एको मम ब्रह्मंस्त्वं च साक्षादिहास्थितः ।
तयोर्विवदतोः प्रश्नं कथमस्मद्विधो वदेत् ।। २८ ।।

प्रह्लाद बोले—ब्रह्मन्! मेरे एक ही पुत्र है और इधर तुम स्वयं उपस्थित हो; भला, तुम दोनोंके विवादमें मेरे-जैसा मनुष्य कैसे निर्णय दे सकता है? ।।

सुधन्वोवाच

गां प्रदद्यास्त्वौरसाय यद्वान्यत् स्यात् प्रियं धनम् ।
द्वयोर्विवदतोस्तथ्यं वाच्यं च मतिमंस्त्वया ।। २९ ।।

सुधन्वा बोला—मतिमन्! तुम्हारे पास गौ तथा दूसरा जो कुछ भी प्रिय धन हो, वह सब अपने औरस पुत्र विरोचनको दे दो; परंतु हम दोनोंके विवादमें तो तुम्हें ठीक-ठीक उत्तर

देना ही चाहिये ।। २९ ।।

प्रह्राद उवाच

अथ यो नैव प्रब्रूयात् सत्यं वा यदि वानृतम् ।

एतत् सुधन्वन् पृच्छामि दुर्विवक्ता स्म किं वसेत् ।। ३० ।।

प्रह्लादने कहा—सुधन्वन्! अब मैं तुमसे यह बात पूछता हूँ—जो सत्य न बोले अथवा असत्य निर्णय करे, ऐसे दुष्ट वक्ताकी क्या स्थिति होती है? ।। ३० ।।

सुधन्वोवाच

यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री यां चैवाक्षपराजितः ।

यां च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स्म तां वसेत् ।। ३१ ।।

सुधन्वा बोला—सौतवाली स्त्री, जूएमें हारे हुए जुआरी और भार ढोनेसे व्यथित शरीरवाले मनुष्यकी रातमें जो स्थिति होती है, वही स्थिति उलटा न्याय देनेवाले वक्ताकी भी होती है ।। ३१ ।।

नगरे प्रतिरुद्धः सन् बहिर्द्वारि बुभुक्षितः ।

अमित्रान् भूयसः पश्येद् यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।। ३२ ।।

जो झूठा निर्णय देता है, वह राजा नगरमें कैद होकर बाहरी दरवाजेपर भूखका कष्ट उठाता हुआ बहुत-से शत्रुओंको देखता है ।। ३२ ।।

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।

शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ।। ३३ ।।

(अपने स्वार्थके वशीभूत हो) पशुके लिये झूठ बोलनेसे पाँच, गौके लिये झूठ बोलनेपर दस, घोड़ेके लिये असत्य-भाषण करनेपर सौ पीढ़ियोंको और मनुष्यके लिये झूठ बोलनेपर एक हजार पीढ़ियोंको मनुष्य नरकमें गिराता है ।। ३३ ।।

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।

सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदेः ।। ३४ ।।

सुवर्णके लिये झूठ बोलनेवाला अपनी भूत और भविष्य सभी पीढ़ियोंको नरकमें गिराता है। पृथ्वी तथा स्त्रीके लिये झूठ कहनेवाला तो अपना सर्वनाश ही कर लेता है; इसलिये तुम भूमि या स्त्रीके लिये कभी झूठ न बोलना ।। ३४ ।।

प्रह्राद उवाच

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन ।

मातास्य श्रेयसी मातुस्तस्मात् त्वं तेन वै जितः ।। ३५ ।।

प्रह्लादने कहा—विरोचन! सुधन्वाके पिता अंगिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं, सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है, इसकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ है; अतः तुम आज सुधन्वाके द्वारा जीते गये ।।

विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव ।
सुधन्वन् पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम् ।। ३६ ।।

विरोचन! अब सुधन्वा तुम्हारे प्राणोंका स्वामी है। सुधन्वन्! अब यदि तुम दे दो तो मैं विरोचनको पाना चाहता हूँ ।। ३६ ।।

सुधन्वोवाच

यद् धर्ममवृणीथास्त्वं न कामादनृतं वदीः ।
पुनर्ददामि ते पुत्रं तस्मात् प्रह्लाद दुर्लभम् ।। ३७ ।।

सुधन्वा बोला—प्रह्लाद! तुमने धर्मको ही स्वीकार किया है, स्वार्थवश झूठ नहीं कहा है; इसलिये अब तुम्हारे इस दुर्लभ पुत्रको फिर तुम्हें दे रहा हूँ ।। ३७ ।।

एष प्रह्लाद पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः ।
पादप्रक्षालनं कुर्यात् कुमार्याः संनिधौ मम ।। ३८ ।।

प्रह्लाद! तुम्हारे इस पुत्र विरोचनको मैंने पुनः तुम्हें दे दिया; किंतु अब यह कुमारी केशिनीके निकट चलकर मेरे पैर धोवे ।। ३८ ।।

विदुर उवाच

तस्माद् राजेन्द्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि ।
मा गमः ससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमब्रुवन् ।। ३९ ।।

विदुरजी कहते हैं—इसलिये राजेन्द्र! आप पृथ्वीके लिये झूठ न बोलें। बेटेके स्वार्थवश सच्ची बात न कहकर पुत्र और मन्त्रियोंके साथ विनाशके मुखमें न जायँ ।। ३९ ।।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम् ।। ४० ।।

देवतालोग चरवाहोंकी तरह डंडा लेकर किसीका पहरा नहीं देते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे उत्तम बुद्धिसे युक्त कर देते हैं ।। ४० ।।

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः ।। ४१ ।।

मनुष्य जैसे-जैसे कल्याणमें मन लगाता है, वैसे-ही-वैसे उसके सारे अभीष्ट सिद्ध होते हैं—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है ।। ४१ ।।

प्रह्लादजीका न्याय

आत्रेय मुनि और साध्यगण

नैनं छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ।। ४२ ।।

कपटपूर्ण व्यवहार करनेवाले मायावीको वेद पापोंसे मुक्त नहीं करते; किंतु जैसे पंख निकल आनेपर चिड़ियोंके बच्चे घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार वेद भी अन्तकालमें उस (मायावी)-को त्याग देते हैं ।। ४२ ।।

मद्यपानं कलहं, पूगवैरं
भार्यापत्योरन्तरं ज्ञातिभेदम् ।
राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं
वर्ज्यान्याहुर्यश्च पन्थाः प्रदुष्टः ।। ४३ ।।

शराब पीना, कलह, समूहके साथ वैर, पति-पत्नीमें भेद पैदा करना, कुटुम्बवालोंमें भेदबुद्धि उत्पन्न करना, राजाके साथ द्वेष, स्त्री और पुरुषमें विवाद और बुरे रास्ते—ये सब त्याग देनेयोग्य बताये गये हैं ।। ४३ ।।

सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं
शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च ।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च
नैतान् साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त ।। ४४ ।।

हस्तरेखा देखनेवाला, चोरी करके व्यापार करनेवाला, जुआरी, वैद्य, शत्रु, मित्र और नर्तक—इन सातोंको कभी भी गवाह न बनावे ।। ४४ ।।

मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ।
एतानि चत्वार्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ।। ४५ ।।

आदरके साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्वक मौनका पालन, आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदरके साथ यज्ञका अनुष्ठान—ये चार कर्म भयको दूर करनेवाले हैं; किंतु वे ही यदि ठीक तरहसे सम्पादित न हों तो भय प्रदान करनेवाले होते हैं ।। ४५ ।।

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुक् पारदारिकः ।। ४६ ।।
भ्रूणहा गुरुतल्पी च यश्च स्यात् पानपो द्विजः ।
अतितीक्ष्णश्च काकश्च नास्तिको वेदनिन्दकः ।। ४७ ।।
स्रुवप्रग्रहणो व्रात्यः कीनाशश्चात्मवानपि ।
रक्षेत्युक्तश्च यो हिंस्यात् सर्वे ब्रह्महभिः समाः ।। ४८ ।।

घरमें आग लगानेवाला, विष देनेवाला, जारज संतानकी कमाई खानेवाला, सोमरस बेचनेवाला, शस्त्र बनानेवाला, चुगली करनेवाला, मित्रद्रोही, परस्त्रीलम्पट, गर्भकी हत्या करनेवाला, गुरुस्त्रीगामी, ब्राह्मण होकर शराब पीनेवाला, अधिक तीखे स्वभाववाला, कौएकी तरह कायँ-कायँ करनेवाला, नास्तिक, वेदकी निन्दा करनेवाला, ग्रामपुरोहित, व्रात्य*, क्रूर तथा शक्तिमान् होते हुए भी 'मेरी रक्षा करो', इस प्रकार कहनेवाले शरणागतका जो वध करता है—ये सब-के-सब ब्रह्म-हत्यारोंके समान हैं ।। ४६—४८ ।।

तृणोल्कया ज्ञायते जातरूपं
वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः ।
शूरो भयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीरः
कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ।। ४९ ।।

जलती हुई आगसे सुवर्णकी पहचान होती है, सदाचारसे सत्पुरुषकी, व्यवहारसे श्रेष्ठ पुरुषकी, भय प्राप्त होनेपर शूरकी, आर्थिक कठिनाईमें धीरकी और कठिन आपत्तिमें शत्रु एवं मित्रकी परीक्षा होती है ।। ४९ ।।

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया ।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ।। ५० ।।

बुढ़ापा (सुन्दर) रूपको, आशा धीरताको, मृत्यु प्राणोंको, असूया (गुणोंमें दोष देखनेका स्वभाव) धर्माचरणको, क्रोध लक्ष्मीको, नीच पुरुषोंकी सेवा सत्स्वभावको, काम लज्जाको और अभिमान सर्वस्वको नष्ट कर देता है ।। ५० ।।

श्रीर्मङ्गलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् सम्प्रवर्धते ।
दाक्ष्यात् तु कुरुते मूलं संयमात् प्रतितिष्ठति ।। ५१ ।।

शुभ कर्मोंसे लक्ष्मीकी उत्पत्ति होती है, प्रगल्भतासे वह बढ़ती है, चतुरतासे जड़ जमा लेती है और संयमसे सुरक्षित रहती है ।। ५१ ।।

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ।। ५२ ।।

आठ गुण पुरुषकी शोभा बढ़ाते हैं—बुद्धि, कुलीनता, दम, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, बहुत न बोलना, यथाशक्ति दान देना और कृतज्ञ होना ।। ५२ ।।

एतान् गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं

सर्वान् गुणानेष गुणो विभाति ।। ५३ ।।

तात! एक गुण ऐसा है, जो इन सभी महत्त्वपूर्ण गुणोंपर हठात् अधिकार जमा लेता है। जिस समय राजा किसी मनुष्यका सत्कार करता है, उस समय यह एक ही गुण (राजसम्मान) सभी गुणोंसे बढ़कर शोभा पाता है ।। ५३ ।।

अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके
स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि ।
चत्वार्येषामन्ववेतानि सद्भि-
श्चत्वारि चैषामनुयान्ति सन्तः ।। ५४ ।।

राजन्! मनुष्यलोकमें ये आठ गुण स्वर्गलोकका दर्शन करानेवाले हैं; इनमेंसे चार तो संतोंके साथ नित्य सम्बद्ध हैं—उनमें सदा विद्यमान रहते हैं और चारका सज्जन पुरुष अनुसरण करते हैं ।। ५४ ।।

यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च
चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।
दमः सत्यमार्जवमानृशंस्यं
चत्वार्येतान्यनुयान्ति सन्तः ।। ५५ ।।

यज्ञ, दान, शास्त्रोंका अध्ययन और तप—ये चार सज्जनोंके साथ नित्य सम्बद्ध हैं और इन्द्रियनिग्रह, सत्य, सरलता तथा कोमलता—इन चारोंका संतलोग अनुसरण करते हैं ।। ५५ ।।

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ।। ५६ ।।

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और निर्लोभता—ये धर्मके आठ प्रकारके मार्ग बताये गये हैं ।। ५६ ।।

तत्र पूर्वचतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ।। ५७ ।।

इनमेंसे पहले चारोंका तो कोई (दम्भी पुरुष भी) दम्भके लिये सेवन कर सकता है, परंतु अन्तिम चार तो जो महात्मा नहीं हैं, उनमें रह ही नहीं सकते ।। ५७ ।।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ।। ५८ ।।

जिस सभामें बड़े-बूढ़े नहीं, वह सभा नहीं; जो धर्मकी बात न कहें, वे बूढ़े नहीं; जिसमें सत्य नहीं, वह धर्म नहीं और जो कपटसे पूर्ण हो, वह सत्य नहीं है ।। ५८ ।।

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।

शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ।। ५९ ।।

सत्य, विनयकी मुद्रा, शास्त्रज्ञान, विद्या, कुलीनता, शील, बल, धन, शूरता और चमत्कारपूर्ण बात कहना—ये दस स्वर्गके हेतु हैं ।। ५९ ।।

पापं कुर्वन् पापकीर्तिः पापमेवाश्नुते फलम् ।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यन्तमश्नुते ।। ६० ।।

पापकीर्तिवाला निन्दित मनुष्य पापाचरण करता हुआ पापके फलको ही प्राप्त करता है और पुण्य कीर्तिवाला (प्रशंसित) मनुष्य पुण्य करता हुआ अत्यन्त पुण्यफलका ही उपभोग करता है ।। ६० ।।

तस्मात् पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ।। ६१ ।।

इसलिये प्रशंसित व्रतका आचरण करनेवाले पुरुषको पाप नहीं करना चाहिये; क्योंकि बारंबार किया हुआ पाप बुद्धिको नष्ट कर देता है ।। ६१ ।।

नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः ।। ६२ ।।

जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह मनुष्य सदा पाप ही करता रहता है। इसी प्रकार बारंबार किया हुआ पुण्य बुद्धिको बढ़ाता है ।। ६२ ।।

वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यं स्थानं स्म गच्छति ।
तस्मात् पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः ।। ६३ ।।

जिसकी बुद्धि बढ़ जाती है, वह मनुष्य सदा पुण्य ही करता है। इस प्रकार पुण्यकर्मा मनुष्य पुण्य करता हुआ पुण्यलोकको ही जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह सदा एकाग्रचित्त होकर पुण्यका ही सेवन करे ।। ६३ ।।

असूयको दन्दशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः ।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात् पापमाचरन् ।। ६४ ।।

गुणोंमें दोष देखनेवाला, मर्मपर आघात करने-वाला, निर्दयी, शत्रुता करनेवाला और शठ मनुष्य पापका आचरण करता हुआ शीघ्र ही महान् कष्टको प्राप्त होता है ।। ६४ ।।

अनसूयुः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन् सदा ।
न कृच्छ्रं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते ।। ६५ ।।

दोषदृष्टिसे रहित शुद्ध बुद्धिवाला पुरुष सदा शुभकर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ महान् सुखको प्राप्त होता है और सर्वत्र उसका सम्मान होता है ।। ६५ ।।

प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः ।
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ।। ६६ ।।

जो बुद्धिमान् पुरुषोंसे सद्बुद्धि प्राप्त करता है, वही पण्डित है; क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष ही धर्म और अर्थको प्राप्तकर अनायास ही अपनी उन्नति करनेमें समर्थ होता है ।। ६६ ।।

दिवसेनैव तत् कुर्याद् येन रात्रौ सुखं वसेत् ।
अष्टमासेन तत् कुर्याद् येन वर्षाः सुखं वसेत् ।। ६७ ।।

दिनभरमें ही वह कार्य कर ले, जिससे रातमें सुखसे रह सके और आठ महीनोंमें वह कार्य कर ले, जिससे वर्षाके चार महीने सुखसे व्यतीत कर सके ।। ६७ ।।

पूर्वे वयसि तत् कुर्याद् येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवेन तत् कुर्याद् येन प्रेत्य सुखं वसेत् ।। ६८ ।।

पहली अवस्थामें वह काम करे, जिससे वृद्धावस्थामें सुखपूर्वक रह सके और जीवनभर वह कार्य करे, जिससे मरनेके बाद भी (परलोकमें) सुखसे रह सके ।। ६८ ।।

जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्यां च गतयौवनाम् ।
शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम् ।। ६९ ।।

सज्जन पुरुष पच जानेपर अन्नकी, (निष्कलंक) यौवन बीत जानेपर स्त्रीकी, संग्राम जीत लेनेपर शूरकी और संसारसागरको पार कर लेनेपर तपस्वीकी प्रशंसा करते हैं ।। ६९ ।।

धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते ।
असंवृतं तद् भवति ततोऽन्यदवदीर्यते ।। ७० ।।

अधर्मसे प्राप्त हुए धनके द्वारा जो दोष छिपाया जाता है, वह तो छिपता नहीं; (परंतु दोष छिपानेके कारण) उससे भिन्न और नया दोष प्रकट हो जाता है ।। ७० ।।

गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् ।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ।। ७१ ।।

अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले शिष्योंके शासक गुरु हैं, दुष्टोंके शासक राजा हैं और छिपे-छिपे पाप करनेवालोंके शासक सूर्यपुत्र यमराज हैं ।। ७१ ।।

ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च महात्मनाम् ।
प्रभवो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ।। ७२ ।।

ऋषि, नदी, वंश एवं महात्माओंका तथा स्त्रियोंके दुश्चरित्रका उत्पत्तिस्थान नहीं जाना जा सकता ।। ७२ ।।

द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी ।
क्षत्रियः शीलभाग् राजंश्चिरं पालयते महीम् ।। ७३ ।।

राजन्! ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजामें संलग्न रहनेवाला, दाता, कुटुम्बीजनोंके प्रति कोमलताका बर्ताव करने-वाला और शीलवान् राजा चिरकालतक पृथ्वीका पालन करता है ।। ७३ ।।

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।

शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ।। ७४ ।।

शूर, विद्वान् और सेवाधर्मको जाननेवाले—ये तीन प्रकारके मनुष्य पृथ्वीरूप लतासे सुवर्णरूपी पुष्पका संचय करते हैं ।। ७४ ।।

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ।। ७५ ।।

भारत! बुद्धिसे विचारकर किये हुए कर्म श्रेष्ठ होते हैं, बाहुबलसे किये जानेवाले कर्म मध्यम श्रेणीके हैं, जंघासे किये जानेवाले कार्य अधम हैं और भार ढोनेका काम महान् अधम है ।। ७५ ।।

दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा ।
कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ।। ७६ ।।

राजन्! अब आप दुर्योधन, शकुनि, मूर्ख दुःशासन तथा कर्णपर राज्यका भार रखकर उन्नति कैसे चाहते हैं? ।। ७६ ।।

सर्वैर्गूणैरुपेतास्तु पाण्डवा भरतर्षभ ।
पितृवत् त्वयि वर्तन्ते तेषु वर्तस्व पुत्रवत् ।। ७७ ।।

भरतश्रेष्ठ! पाण्डव तो सभी उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हैं और आपमें पिताका-सा भाव रखकर बर्ताव करते हैं; आप भी उनपर पुत्रभाव रखकर उचित बर्ताव कीजिये ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ।। ३५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुर-नीतिवाक्यविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३५ ।।

---

* यज्ञोपवीतहीन पिताका पुत्र, उपनयन-संस्कारका समय व्यतीत होनेपर भी यज्ञोपवीतरहित, विवाहित होनेपर भी यज्ञोपवीतहीन—ये तीन प्रकारके ‘व्रात्य’ कहे गये हैं।

षट्त्रिंशोऽध्यायः

दत्तात्रेय और साध्यदेवताओंके संवादका उल्लेख करके महाकुलीन लोगोंका लक्षण बतलाते हुए विदुरका धृतराष्ट्रको समझाना

विदुर उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आत्रेयस्य च संवादं साध्यानां चेति नः श्रुतम् ।। १ ।।

विदुरजी कहते हैं—राजन्! इस विषयमें लोग दत्तात्रेय और साध्यदेवताओंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं; यह मेरा भी सुना हुआ है ।। १ ।।

चरन्तं हंसरूपेण महर्षिं संशितव्रतम् ।
साध्या देवा महाप्राज्ञं पर्यपृच्छन्त वै पुरा ।। २ ।।

प्राचीनकालकी बात है, उत्तम व्रतवाले महाबुद्धिमान् महर्षि दत्तात्रेयजी हंस (परमहंस)-रूपसे विचर रहे थे; उस समय साध्यदेवताओंने उनसे पूछा ।। २ ।।

साध्या ऊचुः

साध्या देवा वयमेते महर्षे
दृष्ट्वा भवन्तं न शक्नुमोऽनुमातुम् ।
श्रुतेन धीरो बुद्धिमांस्त्वं मतो नः
काव्यां वाचं वक्तुमर्हस्युदाराम् ।। ३ ।।

साध्य बोले—महर्षे! हम सब लोग साध्यदेवता हैं, केवल आपको देखकर हम आपके विषयमें कुछ अनुमान नहीं कर सकते। हमें तो आप शास्त्रज्ञानसे युक्त, धीर एवं बुद्धिमान् जान पड़ते हैं; अतः हमलोगोंको अपनी विद्वत्तापूर्ण उदार वाणी सुनानेकी कृपा करें ।। ३ ।।

हंस उवाच

एतत् कार्यममराः संश्रुतं मे

धृतिः शर्मः सत्यधर्मानुवृत्तिः ।

ग्रन्थिं विनीय हृदयस्य सर्वं

प्रियाप्रिये चात्मसमं नयीत ।। ४ ।।

परमहंसने कहा—साध्यदेवताओ! मैंने सुना है कि धैर्य-धारण, मनोनिग्रह तथा सत्य-धर्मोंका पालन ही कर्तव्य है; इसके द्वारा पुरुषको चाहिये कि हृदयकी सारी गाँठ खोलकर प्रिय और अप्रियको अपने आत्माके समान समझे ।। ४ ।।

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः ।

आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ।। ५ ।।

दूसरोंसे गाली सुनकर भी स्वयं उन्हें गाली न दे। (गालीको) सहन करनेवालेका रोका हुआ क्रोध ही गाली देनेवालेको जला डालता है और उसके पुण्यको भी ले लेता है ।। ५ ।।

नाक्रोशी स्यान्नावमानी परस्य

मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी ।

न चाभिमानी न च हीनवृत्तो

रूक्षां वाचं रुषतीं वर्जयीत ।। ६ ।।

दूसरोंको न तो गाली दे और न उनका अपमान करे, मित्रोंसे द्रोह तथा नीच पुरुषोंकी सेवा न करे, सदाचारसे हीन एवं अभिमानी न हो, रूखी तथा रोषभरी वाणीका परित्याग करे ।। ६ ।।

मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्
रूक्षा वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम् ।
तस्माद् वाचमुषतीं रूक्षरूपां
धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ।। ७ ।।

इस जगत्में रूखी बातें मनुष्योंके मर्मस्थान, हड्डी, हृदय तथा प्राणोंको दग्ध करती रहती हैं; इसलिये धर्मानुरागी पुरुष जलानेवाली रूखी बातोंका सदाके लिये परित्याग कर दे ।। ७ ।।

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम् ।। ८ ।।

जिसकी वाणी रूखी और स्वभाव कठोर है, जो मर्मस्थानपर आघात करता और वाग्बाणोंसे मनुष्योंको पीड़ा पहुँचाता है, उसे ऐसा समझना चाहिये कि वह मनुष्योंमें महादरिद्र है और वह अपने मुखमें दरिद्रता अथवा मौतको बाँधे हुए ढो रहा है ।। ८ ।।

परश्चेदेनमभिविध्येत बाणै-
र्भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कदीप्तैः ।
स विध्यमानोऽप्यतिदह्यमानो
विद्यात् कविः सुकृतं मे दधाति ।। ९ ।।

यदि दूसरा कोई इस मनुष्यको अग्नि और सूर्यके समान दग्ध करनेवाले अत्यन्त तीखे वाग्बाणोंसे बहुत चोट पहुँचावे तो वह विद्वान् पुरुष चोट खाकर अत्यन्त वेदना सहते हुए भी ऐसा समझे कि वह मेरे पुण्योंको पुष्ट कर रहा है ।। ९ ।।

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ।। १० ।।

जैसे वस्त्र जिस रंगमें रँगा जाय, वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार यदि कोई सज्जन, असज्जन, तपस्वी अथवा चोरकी सेवा करता है तो वह उन्हींके वशमें हो जाता है—उसपर उन्हींका रंग चढ़ जाता है ।। १० ।।

अतिवादं न प्रवदेन्न वादयेद्

योऽनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत् ।
हन्तुं च यो नेच्छति पापकं वै
तस्मै देवाः स्पृहयन्त्यागताय ।। ११ ।।

जो स्वयं किसीके प्रति बुरी बात नहीं कहता, दूसरोंसे भी नहीं कहलाता, बिना मार खाये स्वयं न तो किसीको मारता है और न दूसरोंसे ही मरवाता है, मार खाकर भी अपराधीको जो मारना नहीं चाहता, (स्वर्गमें) देवता भी उसके आगमनकी बाट जोहते रहते हैं ।। ११ ।।

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम् ।
प्रियं वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ।। १२ ।।

बोलनेसे न बोलना ही अच्छा बताया गया है, (यह वाणीकी प्रथम विशेषता है और यदि बोलना ही पड़े तो) सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है यानी मौनकी अपेक्षा भी अधिक लाभप्रद है। (सत्य और) प्रिय बोलना वाणीकी तीसरी विशेषता है। यदि सत्य और प्रियके साथ ही धर्मसम्मत भी कहा जाय, तो वह वचनकी चौथी विशेषता है। (इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है) ।। १२ ।।

यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ।। १३ ।।

मनुष्य जैसे लोगोंके साथ रहता है, जैसे लोगोंकी सेवा करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही हो जाता है ।। १३ ।।

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते ।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ।। १४ ।।

मनुष्य जिन-जिन विषयोंसे मनको हटाता जाता है, उन-उनसे उसकी मुक्ति होती जाती है; इस प्रकार यदि सब ओरसे निवृत्ति हो जाय तो उसे लेशमात्र दुःखका भी कभी अनुभव नहीं होता ।। १४ ।।

न जीयते चानुजिगीषतेऽन्यान्
न वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च ।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो
न शोचते हृष्यति नैव चायम् ।। १५ ।।

जो न तो स्वयं किसीसे जीता जाता, न दूसरोंको जीतनेकी इच्छा करता है, न किसीके साथ वैर करता और न दूसरोंको चोट पहुँचाना चाहता है, जो निन्दा और प्रशंसामें समानभाव रखता है, वह हर्ष-शोकसे परे हो जाता है ।। १५ ।।

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः ।

सत्यवादी मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपूरुषः ।। १६ ।।

जो सबका कल्याण चाहता है, किसीके अकल्याण-की बात मनमें भी नहीं लाता, जो सत्यवादी, कोमल और जितेन्द्रिय है, वह उत्तम पुरुष माना गया है ।। १६ ।।

नानर्थकं सान्त्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च ।
रन्ध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपूरुषः ।। १७ ।।

जो झूठी सान्त्वना नहीं देता, देनेकी प्रतिज्ञा करके दे ही देता है, दूसरोंके दोषोंको जानता है, वह मध्यम श्रेणीका पुरुष है ।। १७ ।।

दुःशासनस्तूपहतोऽभिशस्तो
नावर्तते मन्युवशात् कृतघ्नः ।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा
कलाश्चैता अधमस्येह पुंसः ।। १८ ।।

जिसका शासन अत्यन्त कठोर हो, जो अनेक दोषोंसे दूषित हो, कलंकित हो, जो क्रोधवश किसीकी बुराई करनेसे नहीं हटता हो, दूसरोंके किये हुए उपकारको नहीं मानता हो, जिसकी किसीके साथ मित्रता नहीं हो तथा जो दुरात्मा हो—ये अधम पुरुषके भेद हैं ।। १८ ।।

न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशङ्कितः ।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः ।। १९ ।।

जो अपने ही ऊपर संदेह होनेके कारण दूसरोंसे भी कल्याण होनेका विश्वास नहीं करता, मित्रोंको भी दूर रखता है, वह अवश्य ही अधम पुरुष है ।। १९ ।।

उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान् ।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः ।। २० ।।

जो अपनी ऐश्वर्यवृद्धि चाहता है, वह उत्तम पुरुषोंकी ही सेवा करे, समय आ पड़नेपर मध्यम पुरुषोंकी भी सेवा कर ले, परंतु अधम पुरुषोंकी सेवा कदापि न करे ।। २० ।।

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन
नित्योत्थानात् प्रज्ञया पौरुषेण ।
न त्वेव सम्यग् लभते प्रशंसां
न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ।। २१ ।।

मनुष्य दुष्ट पुरुषोंके बलसे, निरन्तरके उद्योगसे, बुद्धिसे तथा पुरुषार्थसे धन भले ही प्राप्त कर ले; परंतु इससे उत्तम कुलीन पुरुषोंके सम्मान और सदाचारको वह पूर्णरूपसे कदापि नहीं प्राप्त कर सकता ।। २१ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

महाकुलेभ्यः स्पृहयन्ति देवा

धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च ।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं
भवन्ति वै कानि महाकुलानि ।। २२ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! धर्म और अर्थके अनुष्ठानमें परायण एवं बहुश्रुत देवता भी उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषोंकी इच्छा करते हैं। इसलिये मैं तुमसे यह प्रश्न करता हूँ कि महान् (उत्तम) कुलीन कौन हैं? ।। २२ ।।

विदुर उवाच

तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः
पुण्या विवाहाः सततान्नदानम् ।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति
सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ।। २३ ।।

विदुरजी बोले—राजन्! जिनमें तप, इन्द्रियसंयम, वेदोंका स्वाध्याय, यज्ञ, पवित्र विवाह, सदा अन्नदान और सदाचार—ये सात गुण वर्तमान हैं, उन्हें महान् (उत्तम) कुलीन कहते हैं ।। २३ ।।

येषां हि वृत्तं व्यथते न योनि-
श्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम् ।
ते कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां
त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि ।। २४ ।।

जिनका सदाचार शिथिल नहीं होता, जो अपने दोषोंसे माता-पिताको कष्ट नहीं पहुँचाते, प्रसन्नचित्तसे धर्मका आचरण करते हैं तथा असत्यका परित्याग कर अपने कुलकी विशेष कीर्ति चाहते हैं, वे ही महान् कुलीन हैं ।। २४ ।।

अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ।। २५ ।।

यज्ञ न होनेसे, निन्दित कुलमें विवाह करनेसे, वेदका त्याग और धर्मका उल्लंघन करनेसे उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं ।। २५ ।।

देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ।। २६ ।।

देवताओंके धनका नाश, ब्राह्मणके धनका अपहरण और ब्राह्मणोंकी मर्यादाका उल्लंघन करनेसे उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं ।। २६ ।।

ब्राह्मणानां परिभवात् परिवादाच्च भारत ।
कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च ।। २७ ।।

भारत! ब्राह्मणोंके अनादर और निन्दासे तथा धरोहर रखी हुई वस्तुको छिपा लेनेसे अच्छे कुल भी निन्दनीय हो जाते हैं ।। २७ ।।

कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः ।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ।। २८ ।।

गौओं, मनुष्यों और धनसे सम्पन्न होकर भी जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे अच्छे कुलोंकी गणनामें नहीं आ सकते ।। २८ ।।

वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः ।। २९ ।।

थोड़े धनवाले कुल भी यदि सदाचारसे सम्पन्न हैं तो वे अच्छे कुलोंकी गणनामें आ जाते हैं और महान् यश प्राप्त करते हैं ।। २९ ।।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ।। ३० ।।

सदाचारकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये; धन तो आता और जाता रहता है। धन क्षीण हो जानेपर भी सदाचारी मनुष्य क्षीण नहीं माना जाता; किंतु जो सदाचारसे भ्रष्ट हो गया, उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये ।। ३० ।।

गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया ।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ।। ३१ ।।

जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे गौओं, पशुओं, घोड़ों तथा हरी-भरी खेतीसे सम्पन्न होनेपर भी उन्नति नहीं कर पाते ।। ३१ ।।

मा नः कुले वैरकृत् कश्चिदस्तु
राजामात्यो मा परस्वापहारी ।
मित्रद्रोही नैकृतिकोऽनृती वा
पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः ।। ३२ ।।

हमारे कुलमें कोई वैर करनेवाला न हो, दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाला राजा अथवा मन्त्री न हो और मित्रद्रोही, कपटी तथा असत्यवादी न हो। इसी प्रकार माता-पिता, देवता एवं अतिथियों-को भोजन करानेसे पहले भोजन करनेवाला भी न हो ।। ३२ ।।

यश्च नो ब्राह्मणान् हन्याद् यश्च नो ब्राह्मणान् द्विषेत् ।
न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् पितॄन् ।। ३३ ।।

हमलोगोंमेंसे जो ब्राह्मणोंकी हत्या करे, ब्राह्मणोंके साथ द्वेष करे तथा पितरोंको पिण्डदान एवं तर्पण न करे, वह हमारी सभामें न प्रवेश करे ।। ३३ ।।

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ।। ३४ ।।

तृणका आसन, पृथ्वी, जल और चौथी मीठी वाणी—सज्जनोंके घरमें इन चार चीजोंकी कभी कमी नहीं होती ।। ३४ ।।

श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम् ।
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम् ।। ३५ ।।

महाप्राज्ञ राजन्! पुण्यकर्म करनेवाले धर्मात्मा पुरुषोंके यहाँ ये (उपर्युक्त वस्तुएँ) बड़ी श्रद्धाके साथ सत्कारके लिये उपस्थित की जाती हैं ।। ३५ ।।

सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यन्दनो वै
शक्तो वोढुं न तथान्ये महीजाः ।
एवं युक्ता भारसहा भवन्ति
महाकुलीना न तथान्ये मनुष्याः ।। ३६ ।।

नृपवर! रथ छोटा-सा होनेपर भी भार ढो सकता है, किंतु दूसरे काठ बड़े-बड़े होनेपर भी ऐसा नहीं कर सकते। इसी प्रकार उत्तम कुलमें उत्पन्न उत्साही पुरुष भार सह सकते हैं, दूसरे मनुष्य वैसे नहीं होते ।। ३६ ।।

न तन्मित्रं यस्य कोपाद् बिभेति
यद् वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम् ।
यस्मिन् मित्रे पितरीवाश्वसीत
तद् वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ।। ३७ ।।

जिसके कोपसे भयभीत होना पड़े तथा शंकित होकर जिसकी सेवा की जाय, वह मित्र नहीं है। मित्र तो वही है, जिसपर पिताकी भाँति विश्वास किया जा सके; दूसरे तो साथीमात्र हैं ।। ३७ ।।

यः कश्चिदप्यसम्बद्धो मित्रभावेन वर्तते ।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत् परायणम् ।। ३८ ।।

पहलेसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी जो मित्रताका बर्ताव करे, वही बन्धु, वही मित्र, वही सहारा और वही आश्रय है ।। ३८ ।।

चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः ।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ।। ३९ ।।

जिसका चित्त चंचल है, जो वृद्धोंकी सेवा नहीं करता, उस अनिश्चितमति पुरुषके लिये मित्रोंका संग्रह स्थायी नहीं होता ।। ३९ ।।

चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम् ।
अर्थाः समभिवर्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा ।। ४० ।।

जैसे सूखे सरोवरके ऊपर ही हंस मँड़राकर रह जाते हैं, उसके भीतर नहीं प्रवेश करते, उसी प्रकार जिसका चित्त चंचल है, जो अज्ञानी और इन्द्रियोंका गुलाम है, अर्थ उसको त्याग देते हैं ।। ४० ।।

अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्ततः ।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा ।। ४१ ।।

दुष्ट पुरुषोंका स्वभाव मेघके समान चंचल होता है, वे सहसा क्रोध कर बैठते हैं और अकारण ही प्रसन्न हो जाते हैं ।। ४१ ।।

सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान् नोपभुञ्जते ।। ४२ ।।

जो मित्रोंसे सत्कार पाकर और उनकी सहायतासे कृतकार्य होकर भी उनके नहीं होते, ऐसे कृतघ्नोंके मरनेपर उनका मांस मांसभोजी जन्तु भी नहीं खाते ।।

अर्चयेदेव मित्राणि सति वासति वा धने ।
नानर्थयन् प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम् ।। ४३ ।।

धन हो या न हो, मित्रोंसे कुछ भी न माँगते हुए उनका सत्कार तो करे ही। मित्रोंके सार-असारकी परीक्षा न करे ।।

संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते बलम् ।
संतापाद् भ्रश्यते ज्ञानं संतापाद् व्याधिमृच्छति ।। ४४ ।।

संताप (शोक)-से रूप नष्ट होता है, संतापसे बल नष्ट होता है, संतापसे ज्ञान नष्ट होता है और संतापसे मनुष्य रोगको प्राप्त होता है ।। ४४ ।।

अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते ।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मा स्म शोके मनः कृथाः ।। ४५ ।।

अभीष्ट वस्तु शोक करनेसे नहीं मिलती; उससे तो केवल शरीर संतप्त होता है और शत्रु प्रसन्न होते हैं। इसलिये आप मनमें शोक न करें ।। ४५ ।।

पुनर्नरो म्रियते जायते च
पुनर्नरो हीयते वर्धते च ।
पुनर्नरो याचति याच्यते च
पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ।। ४६ ।।

मनुष्य बार-बार मरता और जन्म लेता है, बार-बार क्षय और वृद्धिको प्राप्त होता है, बार-बार स्वयं दूसरेसे याचना करता है और दूसरे उससे याचना करते हैं तथा बारंबार वह दूसरोंके लिये शोक करता है और दूसरे उसके लिये शोक करते हैं ।। ४६ ।।

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति
तस्माद् धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ।। ४७ ।।

सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये क्रमशः सबको प्राप्त होते रहते हैं; इसलिये धीर पुरुषको इनके लिये हर्ष और शोक नहीं करना चाहिये ।। ४७ ।।

चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि
तेषां यद् यद् वर्धते यत्र यत्र ।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य
छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः ।। ४८ ।।

ये छः इन्द्रियाँ बहुत ही चंचल हैं; इनमेंसे जो-जो इन्द्रिय जिस-जिस विषयकी ओर बढ़ती है, वहाँ-वहाँ बुद्धि उसी प्रकार क्षीण होती है, जैसे फूटे घड़ेसे पानी सदा चू जाता है ।। ४८ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया ।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ।। ४९ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! सूक्ष्म धर्मसे बँधे हुए, शिखासे सुशोभित होनेवाले राजा युधिष्ठिरके साथ मैंने मिथ्या व्यवहार किया है; अतः वे युद्ध करके मेरे मूर्ख पुत्रोंका नाश कर डालेंगे ।। ४९ ।।

नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः ।
यत् तत् पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते ।। ५० ।।

महामते! यह सब कुछ सदा ही भयसे उद्विग्न है, मेरा यह मन भी भयसे उद्विग्न है; इसलिये जो उद्वेगशून्य और शान्त पद (मार्ग) हो, वही मुझे बताओ ।। ५० ।।

विदुर उवाच

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छान्तिं पश्यामि तेऽनघ ।। ५१ ।।

विदुरजी बोले—पापशून्य नरेश! विद्या, तप, इन्द्रियनिग्रह और लोभत्यागके सिवा और कोई आपके लिये शान्तिका उपाय मैं नहीं देखता ।। ५१ ।।

बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत् ।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति ।। ५२ ।।

बुद्धिसे मनुष्य अपने भयको दूर करता है, तपस्यासे महत्पदको प्राप्त होता है, गुरुशुश्रूषासे ज्ञान और योगसे शान्ति पाता है ।। ५२ ।।

अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः ।। ५३ ।।

मोक्षकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य दानके पुण्यका आश्रय नहीं लेते, वेदके पुण्यका भी आश्रय नहीं लेते; किंतु निष्कामभावसे राग-द्वेषसे रहित हो इस लोकमें विचरते रहते हैं ।। ५३ ।।

स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः ।

तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते ।। ५४ ।।

सम्यक् अध्ययन, न्यायोचित युद्ध, पुण्यकर्म और अच्छी तरह की हुई तपस्याके अन्तमें सुखकी वृद्धि होती है ।। ५४ ।।

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना
न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते ।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति
न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ।। ५५ ।।

राजन्! आपसमें फूट रखनेवाले लोग अच्छे बिछौनोंसे युक्त पलंग पाकर भी कभी सुखकी नींद नहीं सोने पाते; उन्हें स्त्रियोंके पास रहकर तथा सूत-मागधोंद्वारा की हुई स्तुति सुनकर भी प्रसन्नता नहीं होती ।। ५५ ।।

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं
न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ।। ५६ ।।

जो परस्पर भेदभाव रखते हैं, वे कभी धर्मका आचरण नहीं करते। वे सुख भी नहीं पाते। उन्हें गौरव नहीं प्राप्त होता तथा उन्हें शान्तिकी वार्ता भी नहीं सुहाती ।। ५६ ।।

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम् ।
भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं
न विद्यते किंचिदन्यद् विनाशात् ।। ५७ ।।

हितकी बात भी कही जाय तो उन्हें अच्छी नहीं लगती। उनके योगक्षेमकी भी सिद्धि नहीं हो पाती। राजन्! भेदभाववाले पुरुषोंकी विनाशके सिवा और कोई गति नहीं है ।। ५७ ।।

सम्पन्नं गोषु सम्भाव्यं सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः ।
सम्भाव्यं चापलं स्त्रीषु सम्भाव्यं ज्ञातितो भयम् ।। ५८ ।।

जैसे गौओंमें दूध, ब्राह्मणमें तप और युवती स्त्रियोंमें चंचलताका होना अधिक सम्भाव है, उसी प्रकार अपने जाति-बन्धुओंसे भय होना भी सम्भव ही है ।। ५८ ।।

तन्तवः प्यायिता नित्यं तनवो बहुलाः समाः ।
बहून् बहुत्वादायासान् सहन्तीत्युपमा सताम् ।। ५९ ।।

नित्य सींचकर बढ़ायी हुई पतली लताएँ बहुत होनेके कारण बहुत वर्षोंतक नाना प्रकारके झोंके सहती हैं; यही बात सत्पुरुषोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। (वे दुर्बल होनेपर भी सामूहिक शक्तिसे बलवान् हो जाते हैं) ।। ५९ ।।

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च ।

धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ।। ६० ।।

भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र! जलती हुई लकड़ियाँ अलग-अलग होनेपर धुआँ फेंकती हैं और एक साथ होनेपर प्रज्वलित हो उठती हैं। इसी प्रकार जातिबन्धु भी (आपसमें) फूट होनेपर दुःख उठाते और एकता होनेपर सुखी रहते हैं ।। ६० ।।

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च ।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ।। ६१ ।।

धृतराष्ट्र! जो लोग ब्राह्मणों, स्त्रियों, जातिवालों और गौओंपर ही शूरता प्रकट करते हैं, वे डंठलसे पके हुए फलोंकी भाँति नीचे गिरते हैं ।। ६१ ।।

महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः ।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ।। ६२ ।।

यदि वृक्ष अकेला है तो वह बलवान्, दृढ़मूल तथा बहुत बड़ा होनेपर भी एक ही क्षणमें आँधीके द्वारा बलपूर्वक शाखाओंसहित धराशायी किया जा सकता है ।। ६२ ।।

अथ ये सहिता वृक्षाः सङ्घशः सुप्रतिष्ठिताः ।
ते हि शीघ्रतमान् वातान् सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ।। ६३ ।।

किंतु जो बहुत-से वृक्ष एक साथ रहकर समूहके रूपमें खड़े हैं, वे एक-दूसरेके सहारे बड़ी-से-बड़ी आँधीको भी सह सकते हैं ।। ६३ ।।

एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम् ।। ६४ ।।

इसी प्रकार समस्त गुणोंसे सम्पन्न मनुष्यको भी अकेले होनेपर शत्रु अपनी शक्तिके अंदर समझते हैं, जैसे अकेले वृक्षको वायु ।। ६४ ।।

अन्योन्यसमुपष्टम्भादन्योन्यापाश्रयेण च ।
ज्ञातयः सम्प्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ।। ६५ ।।

किंतु परस्पर मेल होनेसे और एकसे दूसरेको सहारा मिलनेसे जातिवाले लोग इस प्रकार वृद्धिको प्राप्त होते हैं, जैसे तालाबमें कमल ।। ६५ ।।

अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः ।
येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः ।। ६६ ।।

ब्राह्मण, गौ, कुटुम्बी, बालक, स्त्री, अन्नदाता और शरणागत—ये अवध्य होते हैं ।। ६६ ।।

न मनुष्ये गुणः कश्चिद् राजन् सधनतामृते ।
अनातुरत्वाद् भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ।। ६७ ।।

राजन्! आपका कल्याण हो, मनुष्यमें धन और आरोग्यको छोड़कर दूसरा कोई गुण नहीं है; क्योंकि रोगी तो मुर्देके समान है ।। ६७ ।।

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि

पापानुबन्धं परुषं तीक्ष्णमुष्णम् ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ।। ६८ ।।

महाराज! जो बिना रोगके उत्पन्न, कड़वा, सिरमें दर्द पैदा करनेवाला, पापसे सम्बद्ध, कठोर, तीखा और गरम है, जो सज्जनोंद्वारा पान करनेयोग्य है और जिसे दुर्जन नहीं पी सकते—उस क्रोधको आप पी जाइये और शान्त होइये ।। ६८ ।।

रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते
न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम् ।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव
न बुध्यन्ते धनभोगान् न सौख्यम् ।। ६९ ।।

रोगसे पीड़ित मनुष्य मधुर फलोंका आदर नहीं करते, विषयोंमें भी उन्हें कुछ सुख या सार नहीं मिलता। रोगी सदा ही दुःखी रहते हैं; वे न तो धनसम्बधी भोगोंका और न सुखका ही अनुभव करते हैं ।। ६९ ।।

पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे
द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन् ।
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां
कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति ।। ७० ।।

राजन्! पहले जूएमें द्रौपदीको जीती गयी देखकर मैंने आपसे कहा था—‘आप द्यूतक्रीड़ामें आसक्त दुर्योधनको रोकिये, विद्वान्‌लोग इस प्रवंचनाके लिये मना करते हैं।’ किंतु आपने मेरा कहना नहीं माना ।।

न तद् बलं यन्मृदुना विरुध्यते
सूक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्यः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्री-
र्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ।। ७१ ।।

वह बल नहीं, जिसका मृदुल स्वभावके साथ विरोध हो; सूक्ष्म धर्मका शीघ्र ही सेवन करना चाहिये। क्रूरतापूर्वक उपार्जित लक्ष्मी नश्वर होती है, यदि वह मृदुलतापूर्वक बढ़ायी गयी हो तो पुत्र-पौत्रों-तक स्थिर रहती है ।। ७१ ।।

धार्तराष्ट्राः पाण्डवान् पालयन्तु
पाण्डोः सुतास्तव पुत्रांश्च पान्तु ।
एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या
जीवन्तु राजन् सुखिनः समृद्धाः ।। ७२ ।।

राजन्! आपके पुत्र पाण्डवोंकी रक्षा करें और पाण्डुके पुत्र आपके पुत्रोंकी रक्षा करें। सभी कौरव एक-दूसरेके शत्रुको शत्रु और मित्रको मित्र समझें। सबका एक ही कर्तव्य हो,

सभी सुखी और समृद्धिशाली होकर जीवन व्यतीत करें ।। ७२ ।।

मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य
त्वय्याधीनं कुरुकुलमाजमीढ ।
पार्थान् बालान् वनवासप्रतप्तान्
गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्षन् ।। ७३ ।।

अजमीढकुलनन्दन! इस समय आप ही कौरवोंके आधारस्तम्भ हैं, कुरुवंश आपके ही अधीन है। तात! कुन्तीके पुत्र अभी बालक हैं और वनवाससे बहुत कष्ट पा चुके हैं; इस समय उनका पालन करके अपने यशकी रक्षा कीजिये ।। ७३ ।।

संधत्स्व त्वं कौरव पाण्डुपुत्रै-
र्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयन्तु ।
सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे
दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेन्द्र ।। ७४ ।।

कुरुराज! आप पाण्डवोंसे संधि कर लें, जिससे शत्रुओंको आपका छिद्र देखनेका अवसर न मिले। नरदेव! समस्त पाण्डव सत्यपर डटे हुए हैं; अब आप अपने पुत्र दुर्योधनको रोकिये ।। ७४ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुर-हितवाक्यविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३६ ।।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीका हितोपदेश

विदुर उवाच

सप्तदशेमान् राजेन्द्र मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
वैचित्रवीर्य पुरुषानाकाशं मुष्टिभिर्घ्नतः ।। १ ।।
दानवेन्द्रस्य च धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत् ।
अथो मरीचिनः पादानग्राह्यान् गृह्णतस्तथा ।। २ ।।

विदुरजी कहते हैं—राजेन्द्र! विचित्रवीर्यनन्दन! स्वायम्भुव मनुने इन सत्रह प्रकारके पुरुषोंको आकाशपर मुक्कोंसे प्रहार करनेवाले, न झुकाये जा सकनेवाले, वर्षाकालीन इन्द्रधनुषको झुकानेकी चेष्टा करनेवाले तथा पकड़में न आनेवाली सूर्यकी किरणोंको पकड़नेका प्रयास करनेवाले बतलाया है (अर्थात् इनके सभी उद्यमोंको निष्फल कहा है) ।। १-२ ।।

यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्येद्
यश्चातिवेलं भजते द्विषन्तम् ।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते
यश्चायाच्यं याचते कत्थते च ।। ३ ।।
यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं
यश्चाबलो बलिना नित्यवैरी ।
अश्रद्दधानाय च यो ब्रवीति
यश्चाकाम्यं कामयते नरेन्द्र ।। ४ ।।
वध्यावहासं श्वशुरो मन्यते यो
वध्वा वसन्नभयो मानकामः ।
परक्षेत्रे निर्वपति स्वबीजं
स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम् ।। ५ ।।
यश्चापि लब्ध्वा न स्मरामीति वादी
दत्त्वा च यः कत्थति याच्यमानः ।
यश्चासतः सत्त्वमुपानयीत
एतान् नयन्ति निरयं पाशहस्ताः ।। ६ ।।

पाश हाथमें लिये यमराजके दूत इन सत्रह पुरुषोंको नरकमें ले जाते हैं, जो शासनके अयोग्य पुरुषपर शासन करता है, मर्यादाका उल्लंघन करके संतुष्ट होता है, शत्रुकी सेवा करता है, रक्षणके अयोग्य स्त्रीकी रक्षा करनेका प्रयत्न करता तथा उसके द्वारा अपने

कल्याणका अनुभव करता है, याचना करनेके अयोग्य पुरुषसे याचना करता है तथा आत्मप्रशंसा करता है, अच्छे कुलमें उत्पन्न होकर भी नीच कर्म करता है, दुर्बल होकर भी सदा बलवान्से वैर रखता है, श्रद्धाहीनको उपदेश करता है, न चाहनेयोग्य (शास्त्रनिषिद्ध) वस्तुको चाहता है, श्वशुर होकर पुत्रवधूके साथ परिहास पसंद करता है तथा पुत्रवधूसे एकान्तवास करके भी निर्भय होकर समाजमें अपनी प्रतिष्ठा चाहता है, परस्त्रीमें अपने वीर्यका आधान करता है, मर्यादाके बाहर स्त्रीकी निन्दा करता है, किसीसे कोई वस्तु पाकर भी 'याद नहीं है' ऐसा कहकर उसे दबाना चाहता है, माँगनेपर दान देकर उसके लिये अपनी श्लाघा करता है और झूठको सही साबित करनेका प्रयास करता है ।। ३—६ ।।

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ।। ७ ।।

जो मनुष्य अपने साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये—यही नीतिधर्म है। कपटका आचरण करनेवालेके साथ कपटपूर्ण बर्ताव करे और अच्छा बर्ताव करनेवालेके साथ साधुभावसे ही बर्ताव करना चाहिये ।। ७ ।।

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया ।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा
क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः ।। ८ ।।

बुढ़ापा रूपका, आशा धैर्यका, मृत्यु प्राणोंका, दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि धर्माचरणका, काम लज्जाका, नीच पुरुषोंकी सेवा सदाचारका, क्रोध लक्ष्मीका और अभिमान सर्वस्वका ही नाश कर देता है ।। ८ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा ।
नाप्नोत्यथ च तत् सर्वमायुः केनेह हेतुना ।। ९ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! जब सभी वेदोंमें पुरुषको सौ वर्षकी आयुवाला बताया गया है, तब वह किस कारणसे अपनी पूर्ण आयुको नहीं पाता? ।। ९ ।।

विदुर उवाच

अतिमानोऽतिवादश्च तथात्यागो नराधिप ।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ।। १० ।।
एत एवासयस्तीक्ष्णा कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम् ।
एतानि मानवान् घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ।। ११ ।।

विदुरजी बोले—राजन्! आपका कल्याण हो। अत्यन्त अभिमान, अधिक बोलना, त्यागका अभाव, क्रोध, अपना ही पेट पालनेकी चिन्ता और मित्रद्रोह—ये छः तीखी तलवारें देहधारियोंकी आयुको काटती हैं। ये ही मनुष्योंका वध करती हैं, मृत्यु नहीं ।। १०-११ ।।

विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः ।
वृषलीपतिर्द्विजो यश्च पानपश्चैव भारत ।। १२ ।।
आदेशकृद् वृत्तिहन्ता द्विजानां प्रेषकश्च यः ।
शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महणः समाः ।
एतैः समेत्य कर्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः ।। १३ ।।

भारत! जो अपने ऊपर विश्वास करनेवाले पुरुषकी स्त्रीके साथ समागम करता है, जो गुरुस्त्रीगामी है, ब्राह्मण होकर शूद्रा स्त्रीके साथ विवाह करता है, शराब पीता है तथा जो ब्राह्मणपर आदेश चलानेवाला, ब्राह्मणोंकी जीविका नष्ट करनेवाला, ब्राह्मणोंको सेवाकार्यके लिये इधर-उधर भेजनेवाला और शरणागतकी हिंसा करनेवाला है—ये सब-के-सब ब्रह्महत्यारेके समान हैं; इनका संग हो जानेपर प्रायश्चित्त करे—यह वेदोंकी आज्ञा है ।। १२-१३ ।।

गृहीतवाक्यो नयविद् वदान्यः
शेषान्नभोक्ता ह्यविहिंसकश्च ।
नानर्थकृत्याकुलितः कृतज्ञः
सत्यो मृदुः स्वर्गमुपैति विद्वान् ।। १४ ।।

बड़ोंकी आज्ञा माननेवाला, नीतिज्ञ, दाता, यज्ञशेष अन्नका भोजन करनेवाला, हिंसारहित, अनर्थपूर्ण कार्योंसे दूर रहनेवाला, कृतज्ञ, सत्यवादी और कोमल स्वभाववाला विद्वान् स्वर्गगामी होता है ।। १४ ।।

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।। १५ ।।

राजन्! सदा प्रिय वचन बोलनेवाले मनुष्य तो सहजमें ही मिल सकते हैं; किंतु जो अप्रिय होता हुआ हितकारी हो, ऐसे वचनके वक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं ।। १५ ।।

यो हि धर्मं समाश्रित्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ।। १६ ।।

जो धर्मका आश्रय लेकर तथा स्वामीको प्रिय लगेगा या अप्रिय—इसका विचार छोड़कर अप्रिय होनेपर भी हितकी बात कहता है, उसीसे राजाको सच्ची सहायता मिलती है ।। १६ ।।

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।। १७ ।।

कुलकी रक्षाके लिये एक मनुष्यका, ग्रामकी रक्षाके लिये कुलका, देशकी रक्षाके लिये गाँवका और आत्माके कल्याणके लिये सारी पृथ्वीका त्याग कर देना चाहिये ।।

आपदर्थे धन रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ।। १८ ।।

आपत्तिके लिये धनकी रक्षा करे, धनके द्वारा भी स्त्रीकी रक्षा करे और स्त्री एवं धन दोनोंके द्वारा सदा अपनी रक्षा करे ।। १८ ।।

द्यूतमेतत् पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ।। १९ ।।

पूर्वकालमें जूआ खेलना मनुष्योंमें वैर डालनेका कारण देखा गया है; अतः बुद्धिमान् मनुष्य हँसीके लिये भी जूआ न खेले ।। १९ ।।

उक्तं मया द्यूतकालेऽपि राजन्
नेदं युक्तं वचनं प्रातिपेय ।
तदौषधं पथ्यमिवातुरस्य
न रोचते तव वैचित्रवीर्य ।। २० ।।

प्रतीपनन्दन! विचित्रवीर्यकुमार! राजन्! मैंने जूएका खेल आरम्भ होते समय भी कहा था कि यह ठीक नहीं है, किंतु रोगीको जैसे दवा और पथ्य अच्छे नहीं लगते, उसी तरह मेरी वह बात भी आपको अच्छी नहीं लगी ।। २० ।।

काकैरिमांश्चित्रबर्हान् मयूरान्
पराजयेथाः पाण्डवान् धार्तराष्ट्रैः ।
हित्वा सिंहान् क्रोष्टुकान् गूहमानः
प्राप्ते काले शोचिता त्वं नरेन्द्र ।। २१ ।।

नरेन्द्र! आप कौओंके समान अपने पुत्रोंके द्वारा विचित्र पंखवाले मोरोंके सदृश पाण्डवोंको पराजित करनेका प्रयत्न कर रहे हैं; सिंहोंको छोड़कर सियारोंकी रक्षा कर रहे हैं; समय आनेपर आपको इसके लिये पश्चात्ताप करना पड़ेगा ।। २१ ।।

यस्तात न क्रुध्यति सर्वकालं
भृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य ।
तस्मिन् भृत्या भर्तरि विश्वसन्ति
न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ।। २२ ।।

तात! जो स्वामी सदा हितसाधनमें लगे रहनेवाले अपने भक्त सेवकपर कभी क्रोध नहीं करता, उसपर भृत्यगण विश्वास करते हैं और उसे आपत्तिके समय भी नहीं छोड़ते ।। २२ ।।

न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन
राज्यं धनं संजिघृक्षेदपूर्वम् ।

त्यजन्ति ह्येनं वञ्चिता वै विरुद्धाः
स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः ।। २३ ।।

सेवकोंकी जीविका बंद करके दूसरोंके राज्य और धनके अपहरणका प्रयत्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि अपनी जीविका छिन जानेसे भोगोंसे वंचित होकर पहलेके प्रेमी मन्त्री भी उस समय विरोधी बन जाते हैं और राजाका परित्याग कर देते हैं ।। २३ ।।

कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वा-
ण्यायव्यये चानुरूपां च वृत्तिम् ।
संगृह्णीयादनुरूपान् सहायान्
सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि ।। २४ ।।

पहले कर्तव्य एवं आय-व्यय और उचित वेतन आदिका निश्चय करके फिर सुयोग्य सहायकोंका संग्रह करे, क्योंकि कठिनसे कठिन कार्य भी सहायकोंद्वारा साध्य होते हैं ।। २४ ।।

अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः
सर्वाणि कार्याणि करोत्यतन्द्री ।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः
शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोऽनुकम्प्यः ।। २५ ।।

जो सेवक स्वामीके अभिप्रायको समझकर आलस्यरहित हो समस्त कार्योंको पूरा करता है, जो हितकी बात कहनेवाला, स्वामिभक्त, सज्जन और राजाकी शक्तिको जाननेवाला है, उसे अपने समान समझकर उसपर कृपा करनी चाहिये ।। २५ ।।

वाक्यं तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः
प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः ।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलवादी
त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः ।। २६ ।।

जो सेवक स्वामीके आज्ञा देनेपर उनकी बातका आदर नहीं करता, किसी काममें लगाये जानेपर अस्वीकार कर देता है, अपनी बुद्धिपर गर्व करने और प्रतिकूल बोलनेवाले उस भृत्यको शीघ्र ही त्याग देना चाहिये ।।

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं
सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः ।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं
दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ।। २७ ।।

अहंकाररहित, कायरताशून्य, शीघ्र काम पूरा करनेवाला, दयालु, शुद्धहृदय, दूसरोंके बहकावेमें न आनेवाला, नीरोग और उदार वचनवाला—इन आठ गुणोंसे युक्त मनुष्यको ‘दूत’ बनानेयोग्य बताया गया है ।।

न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे
गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले ।
न चत्वरे निशि तिष्ठेन्निगूढो
न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ।। २८ ।।

सावधान मनुष्य विश्वास करके असमयमें कभी किसी दूसरेके घर न जाय, रातमें छिपकर चौराहेपर न खड़ा हो और राजा जिस स्त्रीको चाहता हो, उसे प्राप्त करनेका यत्न न करे ।। २८ ।।

न निह्नवं मन्त्रगतस्य गच्छेत्
संसृष्टमन्त्रस्य कुसङ्गतस्य ।
न च ब्रूयान्नाश्वसिमि त्वयीति
सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ।। २९ ।।

दुष्ट सहायकोंवाला राजा जब बहुत लोगोंके साथ मन्त्रणा-समितिमें बैठकर सलाह ले रहा हो, उस समय उसकी बातका खण्डन न करे; 'मैं तुमपर विश्वास नहीं करता' ऐसा भी न कहे, अपितु कोई युक्तिसंगत बहाना बनाकर वहाँसे हट जाय ।। २९ ।।

घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः
पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव
व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ।। ३० ।।

अधिक दयालु राजा, व्यभिचारिणी स्त्री, राजकर्मचारी, पुत्र, भाई, छोटे बच्चोंवाली विधवा, सैनिक और जिसका अधिकार छीन लिया गया हो, वह पुरुष—इन सबके साथ लेन-देनका व्यवहार न करे ।। ३० ।।

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ।। ३१ ।।

ये आठ गुण पुरुषकी शोभा बढ़ाते हैं—बुद्धि, कुलीनता, शास्त्रज्ञान, इन्द्रियनिग्रह, पराक्रम, अधिक न बोलनेका स्वभाव, यथाशक्ति दान और कृतज्ञता ।। ३१ ।।

एतान् गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान् गुणानेष गुणो बिभर्ति ।। ३२ ।।

तात! एक गुण ऐसा है, जो इन सभी महत्त्वपूर्ण गुणोंपर हठात् अधिकार कर लेता है। राजा जिस समय किसी मनुष्यका सत्कार करता है, उस समय यह गुण (राजसम्मान)

उपर्युक्त सभी गुणोंसे बढ़कर शोभा पाता है ।। ३२ ।।

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते
बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च
श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ।। ३३ ।।

नित्य स्नान करनेवाले मनुष्यको बल, रूप, मधुरस्वर, उज्जवल वर्ण, कोमलता, सुगन्ध, पवित्रता, शोभा, सुकुमारता और सुन्दरी स्त्रियाँ—ये दस लाभ प्राप्त होते हैं ।। ३३ ।।

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते
आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च ।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं
न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ।। ३४ ।।

थोड़ा भोजन करनेवालेको निम्नांकित छः गुण प्राप्त होते हैं—आरोग्य, आयु, बल और सुख तो मिलते ही हैं, उसकी संतान उत्तम होती है तथा 'यह बहुत खानेवाला है' ऐसा कहकर लोग उसपर आक्षेप नहीं करते ।। ३४ ।।

अकर्मशीलं च महाशनं च
लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
अदेशकालज्ञमनिष्टवेष-
मेतान् गृहे न प्रतिवासयेत ।। ३५ ।।

अकर्मण्य, बहुत खानेवाले, सब लोगोंसे वैर करनेवाले, अधिक मायावी, क्रूर, देश-कालका ज्ञान न रखनेवाले और निन्दित वेष धारण करनेवाले मनुष्यको कभी अपने घरमें न ठहरने दे ।। ३५ ।।

कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च
वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्न-
मेतान् भृशार्तोऽपि न जातु याचेत् ।। ३६ ।।

बहुत दुःखी होनेपर भी कृपण, गाली बकनेवाले, मूर्ख, जंगलमें रहनेवाले, धूर्त, नीचसेवी, निर्दयी, वैर बाँधनेवाले और कृतघ्नसे कभी सहायताकी याचना नहीं करनी चाहिये ।। ३६ ।।

संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं
नित्यानृतं चादृढभक्तिकं च ।
विसृष्टरागं पटुमानिनं चा-
प्येतान् न सेवेत नराधमान् षट् ।। ३७ ।।

क्लेशप्रद कर्म करनेवाले, अत्यन्त प्रमादी, सदा असत्यभाषण करनेवाले, अस्थिर भक्तिवाले, स्नेहसे रहित, अपनेको चतुर माननेवाले—इन छः प्रकारके अधम पुरुषोंकी सेवा न करे ।। ३७ ।।

सहायबन्धना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबन्धनाः ।
अन्योन्यबन्धनावेतौ विनान्योन्यं न सिद्ध्यतः ।। ३८ ।।

धनकी प्राप्ति सहायककी अपेक्षा रखती है और सहायक धनकी अपेक्षा रखते हैं; ये दोनों एक-दूसरेके आश्रित हैं, परस्परके सहयोग बिना इनकी सिद्धि नहीं होती ।। ३८ ।।

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा
वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय कांचित् ।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा
अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत् ।। ३९ ।।

पुत्रोंको उत्पन्न कर उन्हें ऋणके भारसे मुक्त करके उनके लिये किसी जीविकाका प्रबन्ध कर दे; अपनी सभी कन्याओंका योग्य वरके साथ विवाह कर दे तत्पश्चात् वनमें मुनिवृत्तिसे रहनेकी इच्छा करे ।। ३९ ।।

हितं यत् सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम् ।
तत् कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ।। ४० ।।

जो सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये हितकर और अपने लिये भी सुखद हो, उसे ईश्वरार्पणबुद्धिसे करे; सम्पूर्ण सिद्धियोंका यही मूलमन्त्र है ।। ४० ।।

वृद्धिः प्रभावस्तेजश्च सत्त्वमुत्थानमेव च ।
व्यवसायश्च यस्य स्यात् तस्यावृत्तिभयं कुतः ।। ४१ ।।

जिसमें बढ़नेकी शक्ति, प्रभाव, तेज, पराक्रम, उद्योग और (अपने कर्तव्यका) निश्चय है, उसे अपनी जीविकाके नाशका भय कैसे हो सकता है? ।। ४१ ।।

पश्य दोषान् पाण्डवैर्विग्रहे त्वं
यत्र व्यथेयुरपि देवाः सशक्राः ।
पुत्रैर्वैरं नित्यमुद्विग्नवासो
यशःप्रणाशो द्विषतां च हर्षः ।। ४२ ।।

पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेमें जो दोष हैं, उनपर दृष्टि डालिये; उनसे संग्राम छिड़ जानेपर इन्द्र आदि देवताओंको भी कष्ट ही उठाना पड़ेगा। इसके सिवा पुत्रोंके साथ वैर, नित्य उद्वेगपूर्ण जीवन, कीर्तिका नाश और शत्रुओंको आनन्द होगा ।। ४२ ।।

भीष्मस्य कोपस्तव चैवेन्द्रकल्प
द्रोणस्य राज्ञश्च युधिष्ठिरस्य ।
उत्सादयेल्लोकमिमं प्रवृद्धः
श्वेतो ग्रहस्तिर्यगिवापतन् खे ।। ४३ ।।

इन्द्रके समान पराक्रमी महाराज! आकाशमें तिरछा उदित हुआ धूमकेतु जैसे सारे संसारमें अशान्ति और उपद्रव खड़ा कर देता है, उसी तरह भीष्म, आप, द्रोणाचार्य और राजा युधिष्ठिरका बढ़ा हुआ कोप इस संसारका संहार कर सकता है ।। ४३ ।।

तव पुत्रशतं चैव कर्णः पञ्च च पाण्डवाः ।
पृथिवीमनुशासेयुरखिलां सागराम्बराम् ।। ४४ ।।

आपके सौ पुत्र, कर्ण और पाँच पाण्डव—ये सब मिलकर समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन कर सकते हैं ।। ४४ ।।

धार्तराष्ट्रा वनं राजन् व्याघ्राः पाण्डुसुता मताः ।
मा वनं छिन्धि सव्याघ्रं मा व्याघ्रान् नीनशन् वनात् ।। ४५ ।।

राजन्! आपके पुत्र वनके समान हैं और पाण्डव उसमें रहनेवाले व्याघ्र हैं। आप व्याघ्रोंसहित समस्त वनको नष्ट न कीजिये तथा वनसे उन व्याघ्रोंको दूर न भगाइये ।। ४५ ।।

न स्याद् वनमृते व्याघ्रान् व्याघ्रा न स्युर्ऋते वनम् ।
वनं हि रक्ष्यते व्याघ्रैर्व्याघ्रान् रक्षति काननम् ।। ४६ ।।

व्याघ्रोंके बिना वनकी रक्षा नहीं हो सकती तथा वनके बिना व्याघ्र नहीं रह सकते; क्योंकि व्याघ्र वनकी रक्षा करते हैं और वन व्याघ्रोंकी ।। ४६ ।।

न तथेच्छन्ति कल्याणान् परेषां वेदितुं गुणान् ।
यथैषां ज्ञातुमिच्छन्ति नैर्गुण्यं पापचेतसः ।। ४७ ।।

जिनका मन पापोंमें लगा रहता है, वे लोग दूसरोंके कल्याणमय गुणोंको जाननेकी वैसी इच्छा नहीं रखते, जैसी कि उनके अवगुणोंको जाननेकी रखते हैं ।। ४७ ।।

अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ।। ४८ ।।

जो अर्थकी पूर्ण सिद्धि चाहता हो, उसे पहले धर्मका ही आचरण करना चाहिये। जैसे स्वर्गसे अमृत दूर नहीं होता, उसी प्रकार धर्मसे अर्थ अलग नहीं होता ।। ४८ ।।

यस्यात्मा विरतः पापात् कल्याणे च निवेशितः ।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ।। ४९ ।।

जिसकी बुद्धि पापसे हटाकर कल्याणमें लगा दी गयी है, उसने संसारमें जो भी प्रकृति और विकृति है—उस सबको जान लिया है ।। ४९ ।।

यो धर्ममर्थं कामं च यथाकालं निषेवते ।
धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विन्दति ।। ५० ।।

जो समयानुसार धर्म, अर्थ और कामका सेवन करता है, वह इस लोक और परलोकमें भी धर्म, अर्थ और कामको प्राप्त करता है ।। ५० ।।

संनियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः ।

स श्रियो भाजनं राजन् यश्चापत्सु न मुह्यति ।। ५१ ।।

राजन्! जो क्रोध और हर्षके उठे हुए वेगको रोक लेता है और आपत्तिमें भी मोहको प्राप्त नहीं होता, वही राजलक्ष्मीका अधिकारी होता है ।। ५१ ।।

बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे ।
यत् तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ।। ५२ ।।
अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते ।
तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः ।। ५३ ।।
यत् त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम् ।
अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ।। ५४ ।।
येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत ।
यद् बलानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञाबलमुच्यते ।। ५५ ।।

राजन्! आपका कल्याण हो, मनुष्योंमें सदा पाँच प्रकारका बल होता है; उसे सुनिये। जो बाहुबल नामक प्रथम बल है, वह निकृष्ट बल कहलाता है; मन्त्रीका मिलना दूसरा बल है; मनीषीलोग धनके लाभको तीसरा बल बताते हैं और राजन्! जो बाप-दादोंसे प्राप्त हुआ मनुष्यका स्वाभाविक बल (कुटुम्बका बल) है, वह 'अभिजात' नामक चौथा बल है। भारत! जिससे इन सभी बलोंका संग्रह हो जाता है तथा जो सब बलोंमें श्रेष्ठ बल है, वह पाँचवाँ 'बुद्धिका बल' कहलाता है ।।

महते योऽपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः ।
तेन वैरं समासज्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।। ५६ ।।

जो मनुष्यका बहुत बड़ा अपकार कर सकता है, उस पुरुषके साथ वैर ठानकर इस विश्वासपर निश्चिन्त न हो जाय कि मैं उससे दूर हूँ (वह मेरा कुछ नहीं कर सकता) ।। ५६ ।।

स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु ।
भोगेष्वायुषि विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ।। ५७ ।।

ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा, जो स्त्री, राजा, साँप, पड़े हुए पाठ, सामर्थ्यशाली व्यक्ति, शत्रु, भोग और आयुपर पूर्ण विश्वास कर सकता है? ।। ५७ ।।

प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जन्तो-
श्चिकित्सकाः सन्ति न चौषधानि ।
न होममन्त्रा न च मङ्गलानि
नाथर्वणा नाप्यगदाः सुसिद्धाः ।। ५८ ।।

जिसको बुद्धिके बाणसे मारा गया है, उस जीवके लिये न कोई वैद्य है, न दवा है, न होम, न मन्त्र, न कोई मांगलिक कार्य, न अथर्ववेदोक्त प्रयोग और न भलीभाँति सिद्ध जड़ी-बूटी ही है ।। ५८ ।।

सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत ।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतितेजसः ।। ५९ ।।

भारत! मनुष्योंको चाहिये कि वह साँप, अग्नि, सिंह और अपने कुलमें उत्पन्न व्यक्तिका अनादर न करे; क्योंकि ये सभी बड़े तेजस्वी होते हैं ।। ५९ ।।

अग्निस्तेजो महल्लोके गूढस्तिष्ठति दारुषु ।
न चोपयुङ्क्ते तद् दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः ।। ६० ।।

संसारमें अग्नि एक महान् तेज है, वह काठमें छिपी रहती है; किंतु जबतक दूसरे लोग उसे प्रज्वलित न कर दें, तबतक वह उस काठको नहीं जलाती ।।

स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते ।
तद् दारु च वनं चान्यन्निर्दहत्याशु तेजसा ।। ६१ ।।

वही अग्नि यदि काष्ठसे मथकर उद्दीप्त कर दी जाती है तो वह अपने तेजसे उस काठको, जंगलको तथा दूसरी वस्तुओंको भी जल्दी ही जला डालती है ।। ६१ ।।

एवमेव कुले जाताः पावकोपमतेजसः ।
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ।। ६२ ।।

इसी प्रकार अपने कुलमें उत्पन्न वे अग्निके समान तेजस्वी पाण्डव क्षमाभावसे युक्त और विकारशून्य हो काष्ठमें छिपी अग्निकी तरह गुप्तरूपसे (अपने गुण एवं प्रभावको छिपाये हुए) स्थित हैं ।। ६२ ।।

लताधर्मा त्वं सपुत्रः शालाः पाण्डुसुता मताः ।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ।। ६३ ।।

अपने पुत्रोंसहित आप लताके समान हैं और पाण्डव महान् शालवृक्षके सदृश हैं; महान् वृक्षका आश्रय लिये बिना लता कभी बढ़ नहीं सकती ।। ६३ ।।

वनं राजंस्तव पुत्रोऽऽम्बिकेय
सिंहान् वने पाण्डवांस्तात विद्धि ।
सिंहैर्विहीनं हि वनं विनश्येत्
सिंहा विनश्येयुर्ऋते वनेन ।। ६४ ।।

राजन्! अम्बिकानन्दन! आपके पुत्र एक वन हैं और पाण्डवोंको उसके भीतर रहनेवाले सिंह समझिये। तात! सिंहसे सूना हो जानेपर वन नष्ट हो जाता है और वनके बिना सिंह भी नष्ट हो जाते हैं ।। ६४ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये सप्तत्रिंशोऽध्यायः ।। ३७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुर-हितवाक्यविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३७ ।।

अष्टात्रिंशोऽध्याय:

विदुरजीका नीतियुक्त उपदेश

विदुर उवाच

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ।। १ ।।

विदुरजी कहते हैं—राजन्! जब कोई (माननीय) वृद्ध पुरुष निकट आता है, उस समय नवयुवक व्यक्तिके प्राण ऊपरको उठने लगते हैं; फिर जब वह वृद्धके स्वागतमें उठकर खड़ा होता और प्रणाम करता है, तब प्राणोंको पुनः वास्तविक स्थितिमें प्राप्त करता है ।। १ ।।

पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय
आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां
ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः ।। २ ।।

धीर पुरुषको चाहिये, जब कोई साधु पुरुष अतिथिके रूपमें घरपर आवे, तब पहले आसन देकर एवं जल लाकर उसके चरण पखारे, फिर उसकी कुशल पूछकर अपनी स्थिति बतावे, तदनन्तर आवश्यकता समझकर अन्न भोजन करावे ।। २ ।।

यस्योदकं मधुपर्कं च गां च
न मन्त्रवित् प्रतिगृह्णाति गेहे ।
लोभाद् भयादथ कार्पण्यतो वा
तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः ।। ३ ।।

वेदवेत्ता ब्राह्मण जिसके घर दाताके लोभ, भय या कंजूसीके कारण जल, मधुपर्क और गौको नहीं स्वीकार करता, श्रेष्ठ पुरुषोंने उस गृहस्थका जीवन व्यर्थ बताया है ।। ३ ।।

चिकित्सकः शल्यकर्तावकीर्णी
स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च ।
सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च
भृशं प्रियोऽप्यतिथिर्नोदकार्हः ।। ४ ।।

वैद्य, चीरफाड़ करनेवाला (जर्राह), ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट, चोर, क्रूर, शराबी, गर्भहत्यारा, सेनाजीवी और वेदविक्रेता—ये यद्यपि पैर धोनेके योग्य नहीं हैं, तथापि यदि अतिथि होकर आवें तो विशेष प्रिय यानी आदरके योग्य होते हैं ।। ४ ।।

अविक्रयं लवणं पक्वमन्नं
दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च ।

तिला मांसं फलमूलानि शाकं

रक्तं वासः सर्वगन्धा गुडाश्च ।। ५ ।।

नमक, पका हुआ अन्न, दही, दूध, मधु, तेल, घी, तिल, मांस, फल, मूल, साग, लाल कपड़ा, सब प्रकारकी गन्ध और गुड़—इतनी वस्तुएँ बेचने योग्य नहीं हैं ।। ५ ।।

अरोषणो यः समलोष्टाश्मकाञ्चनः

प्रहीणशोको गतसन्धिविग्रहः ।

निन्दाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये

त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ।। ६ ।।

जो क्रोध न करनेवाला, लोष्ट*, पत्थर और सुवर्ण-को एक-सा समझनेवाला, शोकहीन, सन्धि-विग्रहसे रहित, निन्दा-प्रशंसासे शून्य, प्रिय-अप्रियका त्याग करनेवाला तथा उदासीन है, वही भिक्षुक (संन्यासी) है ।। ६ ।।

नीवारमूलेङ्गुदशाकवृत्तिः

सुसंयतात्माग्निकार्येषु चोद्यः ।

वने वसन्नतिथिष्वप्रमत्तो

धुरन्धरः पुण्यकृदेष तापसः ।। ७ ।।

जो नीवार (जंगली चावल), कन्द-मूल, इंगुदीपाल और साग खाकर निर्वाह करता है, मनको वशमें रखता है, अग्निहोत्र करता है, वनमें रहकर भी अतिथिसेवामें सदा सावधान रहता है, वही पुण्यात्मा तपस्वी (वानप्रस्थी) श्रेष्ठ माना गया है ।। ७ ।।

अपकृत्य बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।

दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ।। ८ ।।

बुद्धिमान् पुरुषकी बुराई करके इस विश्वासपर निश्चिन्त न रहे कि मैं दूर हूँ। बुद्धिमान्‌की (बुद्धिरूप) बाँहें बड़ी लंबी होती हैं, सताया जानेपर वह उन्हीं बाँहोंसे बदला लेता है ।। ८ ।।

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।

विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ।। ९ ।।

जो विश्वासका पात्र नहीं है, उसका तो विश्वास करे ही नहीं; किंतु जो विश्वासपात्र है, उसपर भी अधिक विश्वास न करे। विश्वाससे जो भय उत्पन्न होता है, वह मूलका भी उच्छेद कर डालता है ।। ९ ।।

अनीर्षुर्गुप्तदारश्च संविभागी प्रियंवदः ।

श्लक्ष्णो मधुरवाक् स्त्रीणां न चासां वशगो भवेत् ।। १० ।।

मनुष्यको चाहिये कि वह ईर्ष्यारहित, स्त्रियोंका रक्षक, सम्पत्तिका न्यायपूर्वक विभाग करनेवाला, प्रियवादी, स्वच्छ तथा स्त्रियोंके निकट मीठे वचन बोलनेवाला हो, परंतु उनके वशमें कभी न हो ।। १० ।।

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद् रक्ष्या विशेषतः ।। ११ ।।

स्त्रियाँ घरकी लक्ष्मी कही गयी हैं। ये अत्यन्त सौभाग्यशालिनी, आदरके योग्य, पवित्र तथा घरकी शोभा हैं; अतः इनकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये ।। ११ ।।

पितुरन्तःपुरं दद्यान्मातुर्दद्यान्महानसम् ।
गोषु चात्मसमं दद्यात् स्वयमेव कृषिं व्रजेत् ।। १२ ।।
भृत्यैर्वाणिज्यचारं च पुत्रैः सेवेत च द्विजान् ।

अन्तःपुरकी रक्षाका कार्य पिताको सौंप दे, रसोईघरका प्रबन्ध माताके हाथमें दे दे, गौओंकी सेवामें अपने समान व्यक्तिको नियुक्त करे और कृषिका कार्य स्वयं ही करे। इसी प्रकार सेवकोंद्वारा वाणिज्य—व्यापार करे और पुत्रोंके द्वारा ब्राह्मणोंकी सेवा करे ।। १२½ ।।

अद्भयोऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।। १३ ।।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ।

जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे लोहा पैदा हुआ है। इनका तेज सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी अपने उत्पत्तिस्थानमें शान्त हो जाता है ।। १३½ ।।

नित्यं सन्तः कुले जाताः पावकोपमतेजसः ।। १४ ।।
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ।

अच्छे कुलमें उत्पन्न, अग्निके समान तेजस्वी, क्षमाशील और विकारशून्य संत पुरुष सदा काष्ठमें अग्निकी भाँति शान्तभावसे स्थित रहते हैं ।। १४½ ।।

यस्य मन्त्रं न जानन्ति बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ।। १५ ।।
स राजा सर्वतश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते ।

जिस राजाकी मन्त्रणाको उसके बहिरंग एवं अन्तरंग कोई भी मनुष्य नहीं जानते, सब ओर दृष्टि रखनेवाला वह राजा चिरकालतक ऐश्वर्यका उपभोग करता है ।। १५½ ।।

करिष्यन् न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ।। १६ ।।
धर्मकामार्थकार्याणि तथा मन्त्रो न भिद्यते ।

धर्म, काम और अर्थसम्बन्धी कार्योंको करनेसे पहले न बतावे, करके ही दिखावे। ऐसा करनेसे अपनी मन्त्रणा दूसरोंपर प्रकट नहीं होती ।। १६½ ।।

गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।। १७ ।।
अरण्ये निःशलाके वा तत्र मन्त्रोऽभिधीयते ।

पर्वतकी चोटी अथवा राजमहलपर चढ़कर एकान्त स्थानमें जाकर या जंगलमें तृण आदिसे अनावृत स्थानपर मन्त्रणा करनी चाहिये ।। १७½ ।।

नासुहृत् परमं मन्त्रं भारतार्हति वेदितुम् ।। १८ ।।
अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान् ।

भारत! जो मित्र न हो, मित्र होनेपर भी पण्डित न हो, पण्डित होनेपर भी जिसका मन वशमें न हो, वह अपनी गुप्त मन्त्रणा जाननेके योग्य नहीं है ।। १८½ ।।

नापरीक्ष्य महीपालः कुर्यात् सचिवमात्मनः ।। १९ ।।

अमात्ये ह्यर्थलिप्सा च मन्त्ररक्षणमेव च ।
कृतानि सर्वकार्याणि यस्य पारिषदा विदुः ।। २० ।।

धर्मे चार्थे च कामे च स राजा राजसत्तमः ।
गूढमन्त्रस्य नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ।। २१ ।।

राजा अच्छी तरह परीक्षा किये बिना किसीको अपना मन्त्री न बनावे; क्योंकि धनकी प्राप्ति और मन्त्रकी रक्षाका भार मन्त्रीपर ही रहता है। जिसके धर्म, अर्थ और कामविषयक सभी कार्योंको पूर्ण होनेके बाद ही सभासदगण जान पाते हैं, वही राजा समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है। अपने मन्त्रको गुप्त रखनेवाले उस राजाको निस्संदेह सिद्धि प्राप्त होती है ।। १९—२१ ।।

अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति ।
स तेषां विपरिभ्रंशाद् भ्रंश्यते जीवितादपि ।। २२ ।।

जो मोहवश बुरे (शास्त्रनिषिद्ध) कर्म करता है, वह उन कार्योंका विपरीत परिणाम होनेसे अपने जीवनसे भी हाथ धो बैठता है ।। २२ ।।

कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ।। २३ ।।

उत्तम कर्मोंका अनुष्ठान तो सुख देनेवाला होता है, किंतु उन्हींका अनुष्ठान न किया जाय तो वह पश्चात्तापका कारण माना गया है ।। २३ ।।

अनधीत्य यथा वेदान् न विप्रः श्राद्धमर्हति ।
एवमश्रुतषाड्गुण्यो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ।। २४ ।।

जैसे वेदोंको पढ़े बिना ब्राह्मण श्राद्धकर्म करवानेका अधिकारी नहीं होता, उसी प्रकार (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय नामक) छः गुणोंको जाने बिना कोई गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकारी नहीं होता ।। २४ ।।

स्थानवृद्धिक्षयज्ञस्य षाड्गुण्यविदितात्मनः ।
अनवज्ञातशीलस्य स्वाधीना पृथिवी नृप ।। २५ ।।

राजन्! जो सन्धि, विग्रह आदि छः गुणोंकी जानकारीके कारण प्रसिद्ध है, स्थिति, वृद्धि और ह्रासको जानता है तथा जिसके स्वभावकी सब लोग प्रशंसा करते हैं, उसी राजाके अधीन पृथ्वी रहती है ।। २५ ।।

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षिणः ।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ।। २६ ।।

जिसके क्रोध और हर्ष व्यर्थ नहीं जाते, जो आवश्यक कार्योंकी स्वयं देखभाल करता है और खजानेकी भी स्वयं जानकारी रखता है, उसकी पृथ्वी पर्याप्त धन देनेवाली ही होती है ।। २६ ।।

नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः ।
भृत्येभ्यो विसृजेदर्थान् नैकः सर्वहरो भवेत् ।। २७ ।।

भूपतिको चाहिये कि अपने 'राजा' नामसे और राजोचित 'छत्र' के धारणसे संतुष्ट रहे। सेवकोंको पर्याप्त धन दे, सब अकेला ही न हड़प ले ।। २७ ।।

ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद भर्ता वेद स्त्रियं तथा ।
अमात्यं नृपतिर्वेद राजा राजानमेव च ।। २८ ।।

ब्राह्मणको ब्राह्मण जानता है, स्त्रीको उसका पति जानता है, मन्त्रीको राजा जानता है और राजाको भी राजा ही जानता है ।। २८ ।।

न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः ।
न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद् बले सति ।
अहताद्धि भयं तस्माज्जायते नचिरादिव ।। २९ ।।

वशमें आये हुए वधके योग्य शत्रुको कभी छोड़ना नहीं चाहिये। यदि अपना बल अधिक न हो तो नम्र होकर उसके पास समय बिताना चाहिये और बल होनेपर उसे मार ही डालना चाहिये; क्योंकि यदि शत्रु मारा न गया तो उससे शीघ्र ही भय उपस्थित होता है ।।

दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च ।
नियन्तव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ।। ३० ।।

देवता, ब्राह्मण, राजा, वृद्ध, बालक और रोगीपर होनेवाले क्रोधको प्रयत्नपूर्वक सदा रोकना चाहिये ।। ३० ।।

निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम् ।
कीर्तिं च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ।। ३१ ।।

मूर्खोंद्वारा सेवित निरर्थक कलहका बुद्धिमान् पुरुषको त्याग कर देना चाहिये। ऐसा करनेसे उसे लोकमें यश मिलता है और अनर्थका सामना नहीं करना पड़ता ।।

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ।। ३२ ।।

जिसके प्रसन्न होनेका कोई फल नहीं तथा जिसका क्रोध भी व्यर्थ होता है, ऐसे राजाको प्रजा उसी भाँति नहीं चाहती, जैसे स्त्री नपुंसक पतिको ।। ३२ ।।

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ।। ३३ ।।

बुद्धिसे धन प्राप्त होता है और मूर्खता दरिद्रताका कारण है—ऐसा कोई नियम नहीं है। संसारचक्रके वृत्तान्तको केवल विद्वान् पुरुष ही जानते हैं, दूसरेलोग नहीं ।। ३३ ।।

विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत ।
धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते ।। ३४ ।।

भारत! मूर्ख मनुष्य विद्या, शील, अवस्था, बुद्धि, धन और कुलमें बड़े माननीय पुरुषोंका सदा अनादर किया करता है ।। ३४ ।।

अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम् ।
अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ।। ३५ ।।

जिसका चरित्र निन्दनीय है, जो मूर्ख, गुणोंमें दोष देखनेवाला, अधार्मिक, बुरे वचन बोलनेवाला और क्रोधी है, उसके ऊपर शीघ्र ही अनर्थ (संकट) टूट पड़ते हैं ।।

अविसंवादनं दानं समयस्याव्यतिक्रमः ।
आवर्तयन्ति भूतानि सम्यक्प्रणिहिता च वाक् ।। ३६ ।।

ठगी न करना, दान देना, प्रतिज्ञाका उल्लंघन न करना और अच्छी तरह कही हुई बात—ये सब सम्पूर्ण भूतोंको अपना बना लेते हैं ।। ३६ ।।

अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः ।
अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् ।। ३७ ।।

किसीको भी धोखा न देनेवाला, चतुर, कृतज्ञ, बुद्धिमान् और कोमल स्वभाववाला राजा खजाना समाप्त हो जानेपर भी सहायकोंको पा जाता है अर्थात् उसे सहायक मिल जाते हैं ।। ३७ ।।

धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ।। ३८ ।।

धैर्य, मनोनिग्रह, इन्द्रियसंयम, पवित्रता, दया, कोमल वाणी और मित्रसे द्रोह न करना—ये सात बातें लक्ष्मीको बढ़ानेवाली हैं ।। ३८ ।।

असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः ।
तादृङ्नराधिपो लोके वर्जनीयो नराधिप ।। ३९ ।।

राजन्! जो अपने आश्रितोंमें धनका ठीक-ठीक बँटवारा नहीं करता तथा जो दुष्ट स्वभाववाला, कृतघ्न और निर्लज्ज है, ऐसा राजा इस लोकमें त्याग देनेयोग्य है ।। ३९ ।।

न च रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि ।
यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यन्तरं जनम् ।। ४० ।।

जो स्वयं दोषी होकर भी निर्दोष आत्मीय व्यक्तिको कुपित करता है, वह सर्पयुक्त घरमें रहनेवाले मनुष्यकी भाँति रातमें सुखसे नहीं सो सकता ।। ४० ।।

येषु दुष्टेषु दोषः स्याद् योगक्षेमस्य भारत ।
सदा प्रसादनं तेषां देवतानामिवाचरेत् ।। ४१ ।।

भारत! जिनके ऊपर दोषारोपण करनेसे योगक्षेममें बाधा आती हो, उन लोगोंको देवताकी भाँति सदा प्रसन्न रखना चाहिये ।। ४१ ।।

येऽर्थाः स्त्रीषु समायुक्ताः प्रमत्तपतितेषु च ।
ये चानार्ये समासक्ताः सर्वे ते संशयं गताः ।। ४२ ।।

जो धन आदि पदार्थ स्त्री, प्रमादी, पतित और नीच पुरुषोंके हाथमें सौंप दिये जाते हैं, वे संशयमें पड़ जाते हैं ।। ४२ ।।

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता ।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन् नद्यामश्मप्लवा इव ।। ४३ ।।

राजन्! जहाँका शासन स्त्री, जुआरी और बालकके हाथमें होता है, वहाँके लोग नदीमें पत्थरकी नावपर बैठनेवालोंकी भाँति विवश होकर विपत्तिके समुद्रमें डूब जाते हैं ।। ४३ ।।

प्रयोजनेषु ये सक्ता न विशेषेषु भारत ।
तानहं पण्डितान् मन्ये विशेषा हि प्रसङ्गिनः ।। ४४ ।।

भारत! जो लोग जितना आवश्यक है, उतने ही काममें लगे रहते हैं, अधिकमें हाथ नहीं डालते, उन्हें मैं पण्डित मानता हूँ; क्योंकि अधिकमें हाथ डालना संघर्षका कारण होता है ।। ४४ ।।

यं प्रशंसन्ति कितवा यं प्रशंसन्ति चारणाः ।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो न स जीवति मानवः ।। ४५ ।।

(केवल) जुआरी जिसकी प्रशंसा करते हैं, नर्तक जिसकी प्रशंसाका गान करते हैं और वेश्याएँ जिसकी बड़ाई किया करती हैं, वह मनुष्य जीता ही मुर्देके समान है ।। ४५ ।।

हित्वा तान् परमेष्वासान् पाण्डवानमितौजसः ।
आहितं भारतैश्वर्यं त्वया दुर्योधने महत् ।। ४६ ।।

भारत! आपने उन महान् धनुर्धर और अत्यन्त तेजस्वी पाण्डवोंको छोड़कर यह महान् ऐश्वर्यका भार दुर्योधनके ऊपर रख दिया है ।। ४६ ।।

तं द्रक्ष्यसि परिभ्रष्टं तस्मात् त्वमचिरादिव ।
ऐश्वर्यमदसम्मूढं बलिं लोकत्रयादिव ।। ४७ ।।

इसलिये आप शीघ्र ही उस ऐश्वर्यमदसे मूढ दुर्योधनको त्रिभुवनके साम्राज्यसे गिरे हुए बलिकी भाँति इस राज्यसे भ्रष्ट होते देखियेगा ।। ४७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये अष्टात्रिंशोऽध्यायः ।। ३८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३८ ।।

---

* मिट्टी और गोबरको मिलाकर कच्चे घरोंको जो लीपा-पोता जाता है, उससे बचे हुए व्यर्थ लोंदेको ‘लोष्ट’ कहते हैं।

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीका नीतियुक्त उपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे कृतोऽयं
तस्माद् वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम् ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! यह पुरुष ऐश्वर्यकी प्राप्ति और नाशमें स्वतन्त्र नहीं है। ब्रह्माने धागेसे बँधी हुई कठपुतलीकी भाँति इसे प्रारब्धके अधीन कर रखा है; इसलिये तुम कहते चलो, मैं सुननेके लिये धैर्य धारण किये बैठा हूँ ।। १ ।।

विदुर उवाच

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत ।। २ ।।

विदुरजी बोले—भारत! समयके विपरीत यदि बृहस्पति भी कुछ बोलें तो उनका अपमान ही होगा और उनकी बुद्धिकी भी अवज्ञा ही होगी ।। २ ।।

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।
मन्त्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ।। ३ ।।

संसारमें कोई मनुष्य दान देनेसे प्रिय होता है, दूसरा प्रिय वचन बोलनेसे प्रिय होता है और तीसरा मन्त्र तथा औषधके बलसे प्रिय होता है; किंतु जो वास्तवमें प्रिय है, वह तो सदा प्रिय ही है ।। ३ ।।

द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः ।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ।। ४ ।।

जिससे द्वेष हो जाता है, वह न साधु, न विद्वान् और न बुद्धिमान् ही जान पड़ता है। प्रिय व्यक्ति (मित्र आदि)-के तो सभी कर्म शुभ ही प्रतीत होते हैं और शत्रुके सभी कार्य पापमय ।। ४ ।।

उक्तं मया जातमात्रेऽपि राजन्
दुर्योधनं त्यज पुत्रं त्वमेकम् ।
तस्य त्यागात् पुत्रशतस्य वृद्धि-
रस्यात्यागात् पुत्रशतस्य नाशः ।। ५ ।।

राजन्! दुर्योधनके जन्म लेते ही मैंने कहा था कि केवल इसी एक पुत्रको आप त्याग दें। इसके त्यागसे सौ पुत्रोंकी वृद्धि होगी और इसका त्याग न करनेसे सौ पुत्रोंका नाश होगा ।। ५ ।।

न वृद्धिर्बहु मन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहु मन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ।। ६ ।।

जो वृद्धि भविष्यमें नाशका कारण बने, उसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये और उस क्षयका भी बहुत आदर करना चाहिये, जो आगे चलकर अभ्युदयका कारण हो ।।

न स क्षयो महाराज यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ।
क्षयः स त्विह मन्तव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत् ।। ७ ।।

महाराज! वास्तवमें जो क्षय वृद्धिका कारण होता है, वह क्षय नहीं है; किंतु उस लाभको भी क्षय ही मानना चाहिये, जिसे पानेसे बहुत-से लाभोंका नाश हो जाय ।। ७ ।।

समृद्धा गुणतः केचिद् भवन्ति धनतोऽपरे ।
धनवृद्धान् गुणैर्हीनान् धृतराष्ट्र विवर्जय ।। ८ ।।

धृतराष्ट्र! कुछ लोग गुणसे समृद्ध होते हैं और कुछ लोग धनसे। जो धनके धनी होते हुए भी गुणोंसे हीन हैं, उन्हें सर्वथा त्याग दीजिये ।। ८ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वं त्वमायतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसम्मतम् ।
न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः ।। ९ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! तुम जो कुछ कह रहे हो, परिणाममें हितकर है; बुद्धिमान् लोग इसका अनुमोदन करते हैं। यह भी ठीक है कि जिस ओर धर्म होता है, उसी पक्षकी जीत होती है, तो भी मैं अपने बेटेका त्याग नहीं कर सकता ।। ९ ।।

विदुर उवाच

अतीवगुणसम्पन्नो न जातु विनयान्वितः ।
सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते ।। १० ।।

विदुरजी बोले—राजन्! जो अधिक गुणोंसे सम्पन्न और विनयी है, वह प्राणियोंका तनिक भी संहार होते देख उसकी कभी उपेक्षा नहीं कर सकता ।। १० ।।

परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च ।
परस्परविरोधे च यतन्ते सततोत्थिताः ।। ११ ।।
सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद् भयम् ।
अर्थादाने महान् दोषः प्रदाने च महद् भयम् ।। १२ ।।

जो दूसरोंकी निन्दामें ही लगे रहते हैं, दूसरोंको दुःख देने और आपसमें फूट डालनेके लिये सदा उत्साहके साथ प्रयत्न करते हैं, जिनका दर्शन दोषसे भरा (अशुभ) है और

जिनके साथ रहनेमें भी बहुत बड़ा खतरा है, ऐसे लोगोंसे धन लेनेमें महान् दोष है और उन्हें देनेमें बहुत बड़ा भय है ।। ११-१२ ।।

ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः ।
ये पापा इति विख्याताः संवासे परिगर्हिताः ।। १३ ।।

दूसरोंमें फूट डालनेका जिनका स्वभाव है, जो कामी, निर्लज्ज, शठ और प्रसिद्ध पापी हैं, वे साथ रखनेके अयोग्य—निन्दित माने गये हैं ।। १३ ।।

युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्ये नरास्तान् विवर्जयेत् ।
निवर्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नीचे प्रणश्यति ।। १४ ।।
या चैव फलनिर्वृत्तिः सौहृदे चैव यत् सुखम् ।

उपर्युक्त दोषोंके अतिरिक्त और भी जो महान् दोष हैं, उनसे युक्त मनुष्योंका त्याग कर देना चाहिये। सौहार्दभाव निवृत्त हो जानेपर नीच पुरुषोंका प्रेम नष्ट हो जाता है, उस सौहार्दसे होनेवाले फलकी सिद्धि और सुखका भी नाश हो जाता है ।। १४½ ।।

यतते चापवादाय यत्नमारभते क्षये ।। १५ ।।
अल्पेऽप्यपकृते मोहान्न शान्तिमधिगच्छति ।

फिर वह नीच पुरुष निन्दा करनेके लिये यत्न करता है, थोड़ा भी अपराध हो जानेपर मोहवश विनाशके लिये उद्योग आरम्भ कर देता है। उसे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती ।। १५½ ।।

तादृशैः संगतं नीचैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ।। १६ ।।
निशम्य निपुणं बुद्ध्या विद्वान् दूराद् विवर्जयेत् ।

वैसे नीच, क्रूर तथा अजितेन्द्रिय पुरुषोंसे होनेवाले संगपर अपनी बुद्धिसे पूर्ण विचार करके विद्वान् पुरुष उसे दूरसे ही त्याग दे ।। १६½ ।।

यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम् ।। १७ ।।
स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्यमश्नुते ।

जो अपने कुटुम्बी, दरिद्र, दीन तथा रोगीपर अनुग्रह करता है, वह पुत्र और पशुओंसे वृद्धिको प्राप्त होता और अनन्त कल्याणका अनुभव करता है ।।

ज्ञातयो वर्धनीयास्तैर्य इच्छन्त्यात्मनः शुभम् ।। १८ ।।
कुलवृद्धिं च राजेन्द्र तस्मात् साधु समाचर ।

राजेन्द्र! जो लोग अपने भलेकी इच्छा करते हैं, उन्हें अपने जाति-भाइयोंको उन्नतिशील बनाना चाहिये; इसलिये आप भलीभाँति अपने कुलकी वृद्धि करें ।।

श्रेयसा योक्ष्यते राजन् कुर्वाणो ज्ञातिसत्क्रियाम् ।। १९ ।।

राजन्! जो अपने कुटुम्बीजनोंका सत्कार करता है, वह कल्याणका भागी होता है ।। १९ ।।

विगुणा ह्यपि संरक्ष्या ज्ञातयो भरतर्षभ ।

किं पुनर्गुणवन्तस्ते त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणः ।। २० ।।

भरतश्रेष्ठ! अपने कुटुम्बके लोग गुणहीन हों, तो भी उनकी रक्षा करनी चाहिये। फिर जो आपके कृपाभिलाषी एवं गुणवान् हैं, उनकी तो बात ही क्या है ।। २० ।।

प्रसादं कुरु वीराणां पाण्डवानां विशाम्पते ।
दीयन्तां ग्रामकाः केचित् तेषां वृत्त्यर्थमीश्वर ।। २१ ।।

राजन्! आप समर्थ हैं, वीर पाण्डवोंपर कृपा कीजिये और उनकी जीविकाके लिये कुछ गाँव दे दीजिये ।। २१ ।।

एवं लोके यशः प्राप्तं भविष्यति नराधिप ।
वृद्धेन हि त्वया कार्यं पुत्राणां तात शासनम् ।। २२ ।।

नरेश्वर! ऐसा करनेसे आपको इस संसारमें यश प्राप्त होगा। तात! आप वृद्ध हैं, इसलिये आपको अपने पुत्रोंपर शासन करना चाहिये ।। २२ ।।

मया चापि हितं वाच्यं विद्धि मां त्वद्धितैषिणम् ।
ज्ञातिभिर्विग्रहस्तात न कर्तव्यः शुभार्थिना ।
सुखानि सह भोज्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ ।। २३ ।।

भरतश्रेष्ठ! मुझे भी आपके हितकी ही बात कहनी चाहिये। आप मुझे अपना हितैषी समझें। तात! शुभ चाहनेवालेको अपने जाति-भाइयोंके साथ झगड़ा नहीं करना चाहिये; बल्कि उनके साथ मिलकर सुखका उपभोग करना चाहिये ।। २३ ।।

सम्भोजनं संकथनं सम्प्रीतिश्च परस्परम् ।
ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कदाचन ।। २४ ।।

जाति-भाइयोंके साथ परस्पर भोजन, बातचीत एवं प्रेम करना ही कर्तव्य है; उनके साथ कभी विरोध नहीं करना चाहिये ।। २४ ।।

ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च ।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ।। २५ ।।

इस जगत्में जाति-भाई ही तारते और जाति-भाई ही डुबाते भी हैं। उनमें जो सदाचारी हैं, वे तो तारते हैं और दुराचारी डुबा देते हैं ।। २५ ।।

सुवृत्तो भव राजेन्द्र पाण्डवान् प्रति मानद ।
अधर्षणीयः शत्रूणां तैर्वृतस्त्वं भविष्यसि ।। २६ ।।

राजेन्द्र! आप पाण्डवोंके प्रति सद्व्यवहार करें। मानद! उनसे सुरक्षित होकर आप शत्रुओंके लिये दुर्धर्ष हो जायँ ।। २६ ।।

श्रीमन्तं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति ।
दिग्धहस्तं मृग इव स एनस्तस्य विन्दति ।। २७ ।।

विषैले बाण हाथमें लिये हुए व्याधके पास पहुँचकर जैसे मृगको कष्ट भोगना पड़ता है, उसी प्रकार जो जातीय बन्धु अपने धनी बन्धुके पास पहुँचकर दुःख पाता है, उसके

पापका भागी वह धनी होता है ।। २७ ।।

पश्चादपि नरश्रेष्ठ तव तापो भविष्यति ।
तान् वा हतान् सुतान् वापि श्रुत्वा तदनुचिन्तय ।। २८ ।।

नरश्रेष्ठ! आप पाण्डवोंको अथवा अपने पुत्रोंको मारे गये सुनकर पीछे संताप करेंगे; अतः इस बातका पहले ही विचार कर लीजिये ।। २८ ।।

येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा ।
आदावेव न तत् कुर्यादध्रुवे जीविते सति ।। २९ ।।

इस जीवनका कोई ठिकाना नहीं है अतएव जिस कर्मके करनेसे (अन्तमें) खटियापर बैठकर पछताना पड़े, उसको पहलेसे ही नहीं करना चाहिये ।। २९ ।।

न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात् ।
शेषसम्प्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ।। ३० ।।

शुक्राचार्यके सिवा दूसरा कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो नीतिका उल्लंघन नहीं करता; अतः जो बीत गया, सो बीत गया, शेष कर्तव्यका विचार (आप-जैसे) बुद्धिमान् पुरुषोंपर ही निर्भर है ।। ३० ।।

दुर्योधनेन यद्येतत् पापं तेषु पुराकृतम् ।
त्वया तत् कुलवृद्धेन प्रत्यानेयं नरेश्वर ।। ३१ ।।

नरेश्वर! दुर्योधनने पहले यदि पाण्डवोंके प्रति यह अपराध किया है तो आप इस कुलमें बड़े-बूढ़े हैं; आपके द्वारा उसका मार्जन हो जाना चाहिये ।। ३१ ।।

तांस्त्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः ।
भविष्यसि नरश्रेष्ठ पूजनीयो मनीषिणाम् ।। ३२ ।।

नरश्रेष्ठ! यदि आप उनको राजपदपर स्थापित कर देंगे तो संसारमें आपका कलंक धुल जायगा और आप बुद्धिमान् पुरुषोंके माननीय हो जायँगे ।। ३२ ।।

सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिन्त्य यः ।
अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति ।। ३३ ।।

जो धीर पुरुषोंके वचनोंके परिणामपर विचार करके उन्हें कार्यरूपमें परिणत करता है, वह चिरकालतक यशका भागी बना रहता है ।। ३३ ।।

असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि ।
उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ।। ३४ ।।

अत्यन्त कुशल विद्वानोंके द्वारा भी उपदेश किया हुआ ज्ञान व्यर्थ ही है, यदि उससे कर्तव्यका ज्ञान न हुआ अथवा ज्ञान होनेपर भी उसका अनुष्ठान न हुआ ।। ३४ ।।

पापोदयफलं विद्वान् यो नारभति वर्धते ।
यस्तु पूर्वकृतं पापमविमृश्यानुवर्तते ।
अगाधपङ्के दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ।। ३५ ।।

जो विद्वान् पापरूप फल देनेवाले कर्मोंका आरम्भ नहीं करता, वह बढ़ता है; किंतु जो पूर्वमें किये हुए पापोंका विचार न करके उन्हींका अनुसरण करता है, वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्य अगाध कीचड़से भरे हुए घोर नरकमें गिराया जाता है ।। ३५ ।।

मन्त्रभेदस्य षट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत् ।
अर्थसंततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ।। ३६ ।।
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसम्भवम् ।
दुष्टामात्येषु विश्रम्भं दूताच्चाकुशलादपि ।। ३७ ।।

बुद्धिमान् पुरुष मन्त्रभेदके इन छः द्वारोंको जाने और धनको रक्षित रखनेकी इच्छासे इन्हें सदा बंद रखे—मादक वस्तुओंका सेवन, निद्रा, आवश्यक बातोंकी जानकारी न रखना, अपने नेत्र-मुख आदिका विकार, दुष्ट मन्त्रियोंपर विश्वास और कार्यमें अकुशल दूतपर भी भरोसा रखना ।। ३६-३७ ।।

द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृप ।
त्रिवर्गाचरणे युक्तः स शत्रूनधितिष्ठति ।। ३८ ।।

राजन्! जो इन द्वारोंको जानकर सदा बंद किये रहता है, वह अर्थ, धर्म और कामके सेवनमें लगा रहकर शत्रुओंको वशमें कर लेता है ।। ३८ ।।

न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा ।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ।। ३९ ।।

बृहस्पतिके समान मनुष्य भी शास्त्रज्ञान अथवा वृद्धोंकी सेवा किये बिना धर्म और अर्थका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते ।। ३९ ।।

नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृण्वति ।
अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनग्निकम् ।। ४० ।।

समुद्रमें गिरी हुई वस्तु विनाशको प्राप्त हो जाती है; जो सुनता नहीं, उससे कही हुई बात भी विनष्ट हो जाती है; अजितेन्द्रिय पुरुषका शास्त्रज्ञान और राखमें किया हुआ हवन भी नष्ट ही है ।। ४० ।।

मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्ध्या सम्पाद्य चासकृत् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वाथ विज्ञाय प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ।। ४१ ।।

बुद्धिमान् पुरुष बुद्धिसे जाँचकर अपने अनुभवसे बारंबार उनकी योग्यताका निश्चय करे; फिर दूसरोंसे सुनकर और स्वयं देखकर भलीभाँति विचार करके विद्वानोंके साथ मित्रता करे ।। ४१ ।।

अकीर्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः ।
हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ।। ४२ ।।

विनयभाव अपयशका नाश करता है, पराक्रम अनर्थको दूर करता है, क्षमा सदा ही क्रोधका नाश करती है और सदाचार कुलक्षणका अन्त करता है ।।

परिच्छदेन क्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया ।
परीक्षेत कुलं राजन् भोजनाच्छादनेन च ।। ४३ ।।

राजन्! नाना प्रकारके परिच्छद*, माता, घर, सेवा-शुश्रूषा और भोजन तथा वस्त्रके द्वारा कुलकी परीक्षा करे ।। ४३ ।।

उपस्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न विद्यते ।
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः ।। ४४ ।।

देहाभिमानसे रहित पुरुषके पास भी यदि न्याय-युक्त पदार्थ स्वतः उपस्थित हो तो वह उसका विरोध नहीं करता, फिर कामासक्त मनुष्यके लिये तो कहना ही क्या है? ।। ४४ ।।

प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम् ।
मित्रवन्तं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ।। ४५ ।।

जो विद्वानोंकी सेवामें रहनेवाला, वैद्य, धार्मिक, देखनेमें सुन्दर, मित्रोंसे युक्त तथा मधुरभाषी हो, ऐसे सुहृद्की सर्वथा रक्षा करनी चाहिये ।। ४५ ।।

दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लङ्घयेत् ।
धर्मापेक्षी मृदुर्ह्रीमान् स कुलीनशताद् वरः ।। ४६ ।।

अधम कुलमें उत्पन्न हुआ हो या उत्तम कुलमें—जो मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता, धर्मकी अपेक्षा रखता है, कोमल स्वभाववाला तथा सलज्ज है, वह सैकड़ों कुलीनोंसे बढ़कर है ।। ४६ ।।

ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा ।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ।। ४७ ।।

जिन दो मनुष्योंका चित्तसे चित्र, गुप्त रहस्यसे गुप्त रहस्य और बुद्धिसे बुद्धि मिल जाती है, उनकी मित्रता कभी नष्ट नहीं होती ।। ४७ ।।

दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव ।
विवर्जयीत मेधावी तस्मिन् मैत्री प्रणश्यति ।। ४८ ।।

मेधावी पुरुषको चाहिये कि तृणसे ढँके हुए कुएँकी भाँति दुर्बुद्धि एवं विचारशक्तिसे हीन पुरुषका परित्याग कर दे; क्योंकि उसके साथ की हुई मित्रता नष्ट हो जाती है ।। ४८ ।।

अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च ।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद् बुधः ।। ४९ ।।

विद्वान् पुरुषको उचित है कि अभिमानी, मूर्ख, क्रोधी, साहसिक और धर्महीन पुरुषोंके साथ मित्रता न करे ।। ४९ ।।

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम् ।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ।। ५० ।।

मित्र तो ऐसा होना चाहिये, जो कृतज्ञ, धार्मिक, सत्यवादी, उदार, दृढ़ अनुराग रखनेवाला, जितेन्द्रिय, मर्यादाके भीतर रहनेवाला और मैत्रीका त्याग न करनेवाला हो ।। ५० ।।

इन्द्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनापि विशिष्यते ।
अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद् दैवतान्यपि ।। ५१ ।।

इन्द्रियोंको सर्वथा रोक रखना तो मृत्युसे भी बढ़कर कठिन है और उन्हें बिलकुल खुली छोड़ देना देवताओंका भी नाश कर देता है ।। ५१ ।।

मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः ।
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानना ।। ५२ ।।

सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति कोमलताका भाव, गुणोंमें दोष न देखना, क्षमा, धैर्य और मित्रोंका अपमान न करना—ये सब गुण आयुको बढ़ानेवाले हैं—ऐसा विद्वान्‌लोग कहते हैं ।। ५२ ।।

अपनीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीषते ।
मतिमास्थाय सुदृढां तदकापुरुषव्रतम् ।। ५३ ।।

जो नष्ट हुए धनको स्थिर बुद्धिका आश्रय ले अच्छी नीतिसे पुनः लौटा लानेकी इच्छा करता है, वह वीर पुरुषोंका-सा आचरण करता है ।। ५३ ।।

आयत्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते ।। ५४ ।।

जो आनेवाले दुःखको रोकनेका उपाय जानता है, वर्तमानकालिक कर्तव्यके पालनमें दृढ़ निश्चय रखनेवाला है और अतीतकालमें जो कर्तव्य शेष रह गया है, उसे भी जानता है, वह मनुष्य कभी अर्थसे हीन नहीं होता ।। ५४ ।।

कर्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते ।
तदेवापहरत्येनं तस्मात् कल्याणमाचरेत् ।। ५५ ।।

मनुष्य मन, वाणी और कर्मसे जिसका निरन्तर सेवन करता है, वह कार्य उस पुरुषको अपनी ओर खींच लेता है। इसलिये सदा कल्याणकारी कार्योंको ही करे ।। ५५ ।।

मङ्गलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम् ।
भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ।। ५६ ।।

मांगलिक पदार्थोंका स्पर्श, चित्तवृत्तियोंका निरोध, शास्त्रका अभ्यास, उद्योगशीलता, सरलता और सत्पुरुषों-का बारंबार दर्शन—से सब कल्याणकारी हैं ।। ५६ ।।

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च ।
महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्त्यमश्नुते ।। ५७ ।।

उद्योगमें लगे रहना—उससे विरक्त न होना धन, लाभ और कल्याणका मूल है। इसलिये उद्योग न छोड़नेवाला मनुष्य महान् हो जाता है और अनन्त सुखका उपभोग करता

है ।। ५७ ।।

नातः श्रीमत्तरं किंचिदन्यत् पथ्यतमं मतम् ।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा ।। ५८ ।।

तात समर्थ पुरुषके लिये सब जगह और सब समयमें क्षमाके समान हितकारक और अत्यन्त श्रीसम्पन्न बनानेवाला उपाय दूसरा नहीं माना गया है ।। ५८ ।।

क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान् धर्मकारणात् ।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता ।। ५९ ।।

जो शक्तिहीन है, वह तो सबपर क्षमा करे ही; जो शक्तिमान् है, वह भी धर्मके लिये क्षमा करे तथा जिसकी दृष्टिमें अर्थ और अनर्थ दोनों समान हैं, उसके लिये तो क्षमा सदा ही हितकारिणी होती है ।। ५९ ।।

यत् सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ।। ६० ।।

जिस सुखका सेवन करते रहनेपर भी मनुष्य धर्म और अर्थसे भ्रष्ट नहीं होता, उसका यथेष्ट सेवन करे; किंतु मूढव्रत (निद्रा-प्रमादादिका सेवन) न करे ।। ६० ।।

दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च ।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ।। ६१ ।।

जो दुःखसे पीड़ित, प्रमादी, नास्तिक, आलसी, अजितेन्द्रिय और उत्साहरहित हैं, उनके यहाँ लक्ष्मीका वास नहीं होता ।। ६१ ।।

आर्जवेन नरं युक्तमार्जवात् सव्यपत्रपम् ।
अशक्तं मन्यमानास्तु धर्षयन्ति कुबुद्धयः ।। ६२ ।।

दुष्ट बुद्धिवाले लोग सरलतासे युक्त और सरलताके ही कारण लज्जाशील मनुष्यको अशक्त मानकर उसका तिरस्कार करते हैं ।। ६२ ।।

अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम् ।
प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ।। ६३ ।।

अत्यन्त श्रेष्ठ, अतिशय दानी, अतीव शूरवीर, अधिक व्रत-नियमोंका पालन करनेवाले और बुद्धिके घमंडमें चूर रहनेवाले मनुष्यके पास लक्ष्मी भयके मारे नहीं जाती ।। ६३ ।।

न चातिगुणवत्स्वेषा नात्यन्तं निर्गुणेषु च ।
नैषा गुणाम् कामयते नैर्गुण्यान्नानुरज्यते ।
उन्मत्ता गौरिवान्धा श्रीः क्वचिदेवावतिष्ठते ।। ६४ ।।

लक्ष्मी न तो अत्यन्त गुणवानोंके पास रहती है और न बहुत निर्गुणोंके पास। यह न तो बहुत-से गुणोंको चाहती है और न गुणहीनताके प्रति ही अनुराग रखती है। उन्मत्त गौकी भाँति यह अन्धी लक्ष्मी कहीं-कहीं ही ठहरती है ।। ६४ ।।

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुवम् ।

रतिपुत्रफला नारी दत्तभुक्तफलं धनम् ।। ६५ ।।

वेदोंका फल है अग्निहोत्र करना, शास्त्राध्ययनका फल है सुशीलता और सदाचार, स्त्रीका फल है रतिसुख और पुत्रकी प्राप्ति तथा धनका फल है दान और उपभोग ।। ६५ ।।

अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।
न स तस्य फलं प्रेत्य भुङ्क्तेऽर्थस्य दुरागमात् ।। ६६ ।।

जो अधर्मके द्वारा कमाये हुए धनसे पारलौकिक कर्म करता है, वह मरनेके पश्चात् उसके फलको नहीं पाता; क्योंकि उसका धन बुरे रास्तेसे आया होता है ।।

कान्तारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु सम्भ्रमे ।
उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्त्ववतां भयम् ।। ६७ ।।

घोर जंगलमें, दुर्गम मार्गमें, कठिन आपत्तिके समय, घबराहटमें और प्रहारके लिये शस्त्र उठे रहनेपर भी सत्त्व-सम्पन्न अर्थात् आत्मबलसे युक्त पुरुषोंको भय नहीं होता ।। ६७ ।।

उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृतिः ।
समीक्ष्य च समारम्भो विद्धि मूलं भवस्य तु ।। ६८ ।।

उद्योग, संयम, दक्षता, सावधानी, धैर्य, स्मृति और सोच-विचारकर कार्यारम्भ करना—इन्हें उन्नतिका मूल-मन्त्र समझिये ।। ६८ ।।

तपो बलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ।। ६९ ।।

तपस्वियोंका बल है तप, वेदवेत्ताओंका बल है वेद, पापियोंका बल है हिंसा और गुणवानोंका बल है क्षमा ।। ६९ ।।

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः ।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ।। ७० ।।

जल, मूल, फल, दूध, घी, ब्राह्मणकी इच्छापूर्ति, गुरुका वचन और औषध—ये आठ व्रतके नाशक नहीं होते ।। ७० ।।

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात् कामादन्यः प्रवर्तते ।। ७१ ।।

जो अपने प्रतिकूल जान पड़े, उसे दूसरोंके प्रति भी न करे। थोड़ेमें धर्मका यही स्वरूप है। इसके विपरीत जिसमें कामनासे प्रवृत्ति होती है, वह तो अधर्म है ।। ७१ ।।

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ।। ७२ ।।

अक्रोधसे क्रोधको जीते, असाधुको सद्-व्यवहारसे वशमें करे, कृपणको दानसे जीते और झूठ-पर सत्यसे विजय प्राप्त करे ।। ७२ ।।

स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चण्डे पुरुषमानिनि ।

चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके ।। ७३ ।।

स्त्रीलम्पट, आलसी, डरपोक, क्रोधी, पुरुषत्वके अभिमानी, चोर, कृतघ्न और नास्तिकका विश्वास नहीं करना चाहिये ।। ७३ ।।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशो बलम् ।। ७४ ।।

जो नित्य गुरुजनोंको प्रणाम करता है और वृद्ध पुरुषोंकी सेवामें लगा रहता है, उसकी कीर्ति, आयु, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं ।। ७४ ।।

अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा ।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः ।। ७५ ।।

जो धन अत्यन्त क्लेश उठानेसे, धर्मका उल्लंघन करनेसे अथवा शत्रुके सामने सिर झुकानेसे प्राप्त होता हो, उसमें आप मन न लगाइये ।। ७५ ।।

अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम् ।
निराहाराः प्रजाः शोच्याः शोच्यं राष्ट्रमराजकम् ।। ७६ ।।

विद्याहीन पुरुष, संतानोत्पत्तिरहित स्त्रीप्रसंग, आहार न पानेवाली प्रजा और बिना राजाके राष्ट्रके लिये शोक करना चाहिये ।। ७६ ।।

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा ।
असम्भोगो जरा स्त्रीणां वाक्शल्यं मनसो जरा ।। ७७ ।।

अधिक राह चलना देहधारियोंके लिये दुःखरूप बुढ़ापा है, बराबर पानी गिरना पर्वतोंका बुढ़ापा है, सम्भोगसे वंचित रहनेका दुःख स्त्रियोंके लिये बुढ़ापा है और वचन-रूपी बाणोंका आघात मनके लिये बुढ़ापा है ।। ७७ ।।

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ।। ७८ ।।
मलं पृथिव्या बाह्लीकाः पुरुषस्यानृतं मलम् ।
कौतूहलमला साध्वी विप्रवासमलाः स्त्रियः ।। ७९ ।।

अभ्यास न करना वेदोंका मल है; ब्राह्मणोचित नियमोंका पालन न करना ब्राह्मणका मल है, बाह्लीकदेश (बलखबुखारा) पृथ्वीका मल है तथा झूठ बोलना पुरुषका मल है, क्रीड़ा एवं हास-परिहासकी उत्सुकता पतिव्रता स्त्रीका मल है और पतिके बिना परदेशमें रहना स्त्रीमात्रका मल है ।। ७८-७९ ।।

सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु ।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ।। ८० ।।

सोनेका मल है चाँदी, चाँदीका मल है राँगा, राँगेका मल है सीसा और सीसेका भी मल है मैलापन ।। ८० ।।

न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत् स्त्रियः ।
नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ।। ८१ ।।

अधिक सोकर नींदको जीतनेका प्रयास न करे, कामोपभोगके द्वारा स्त्रीको जीतनेकी इच्छा न करे, लकड़ी डालकर आगको जीतनेकी आशा न रखे और अधिक पीकर मदिरा पीनेकी आदतको जीतनेका प्रयास न करे ।। ८१ ।।

यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः ।
अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ।। ८२ ।।

जिसका मित्र धन-दानके द्वारा वशमें आ चुका है, शत्रु युद्धमें जीत लिये गये हैं और स्त्रियाँ खान-पानके द्वारा वशीभूत हो चुकी हैं, उसका जीवन सफल है अर्थात् सुखमय है ।। ८२ ।।

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा ।
धृतराष्ट्र विमुञ्चेच्छां न कथञ्चिन्न जीव्यते ।। ८३ ।।

जिनके पास हजार (रुपये) हैं, वे भी जीवित हैं तथा जिनके पास सौ (रुपये) हैं, वे भी जीवित हैं; अतः महाराज धृतराष्ट्र! आप अधिकका लोभ छोड़ दीजिये, इससे भी किसी तरह जीवन नहीं रहेगा, यह बात नहीं है ।। ८३ ।।

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति पश्यन् न मुह्यति ।। ८४ ।।

इस पृथ्वीपर जो भी धान, जौ, सोना, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब-के-सब एक पुरुषके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं (अर्थात् उनसे किसीकी भी तृप्ति नहीं हो सकती)। ऐसा विचार करनेवाला मनुष्य मोहमें नहीं पड़ता ।। ८४ ।।

राजन् भूयो ब्रवीमि त्वां पुत्रेषु सममाचर ।
समता यदि ते राजन् स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ।। ८५ ।।

राजन्! मैं फिर कहता हूँ, यदि आपका अपने पुत्रों और पाण्डवोंमें समानभाव है तो उन सभी पुत्रोंके साथ एक-सा बर्ताव कीजिये ।। ८५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ३९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३९ ।।

---

* हाथी, घोड़े, रथ आदि।

चत्वारिंशोऽध्यायः

धर्मकी महत्ताका प्रतिपादन तथा ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके धर्मका संक्षिप्त वर्णन

विदुर उवाच

योऽभ्यर्चितः सद्भिरसज्जमानः
करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा ।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति सन्त-
मलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः ।। १ ।।

विदुरजी कहते हैं—राजन्! जो सज्जन पुरुषोंसे आदर पाकर आसक्तिरहित हो अपनी शक्तिके अनुसार (न्यायपूर्वक) अर्थ-साधन करता रहता है, उस श्रेष्ठ पुरुषको शीघ्र ही सुयशकी प्राप्ति होती है; क्योंकि संत जिसपर प्रसन्न होते हैं, वह सदा सुखी रहता है ।। १।।

महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं
यः संत्यजत्यनपाकृष्ट एव ।
सुखं सुदुःखान्यवमुच्य शेते
जीर्णां त्वचं सर्प इवावमुच्य ।। २ ।।

जो अधर्मसे उपार्जित महान् धनराशिको भी उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना ही त्याग देता है, वह जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुलको छोड़ता है, उसी प्रकार दुःखोंसे मुक्त हो सुखपूर्वक शयन करता है ।। २ ।।

अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ।। ३ ।।

झूठ बोलकर उन्नति करना, राजाके पासतक चुगली करना, गुरुजनपर भी झूठा दोषारोपण करनेका आग्रह करना—ये तीन कार्य ब्रह्महत्याके समान हैं ।।

असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः ।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ।। ४ ।।

गुणोंमें दोष देखना एकदम मृत्युके समान है, निन्दा करना लक्ष्मीका वध है तथा सेवाका अभाव, उतावलापन और आत्मप्रशंसा—ये तीन विद्याके शत्रु हैं ।।

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च ।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ।। ५ ।।

आलस्य, मद-मोह, चंचलता, गोष्ठी, उद्दण्डता, अभिमान और स्वार्थत्यागका अभाव—ये सात विद्यार्थियों-के लिये सदा ही दोष माने गये हैं ।। ५ ।।

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ।। ६ ।।

सुख चाहनेवालेको विद्या कहाँसे मिले? विद्या चाहनेवालेके लिये सुख नहीं है; सुखकी चाह हो तो विद्याको छोड़े और विद्या चाहे तो सुखका त्याग करे ।।

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ।। ७ ।।

ईंधनसे आगकी, नदियोंसे समुद्रकी, समस्त प्राणियोंसे मृत्युकी और पुरुषोंसे कुलटा स्त्रीकी कभी तृप्ति नहीं होती ।। ७ ।।

आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः
क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्यता ।
अपालनं हन्ति पशूंश्च राज-
न्नेकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ।। ८ ।।

आशा धैर्यको, यमराज समृद्धिको, क्रोध लक्ष्मीको, कृपणता यशको और सार-सँभालका अभाव पशुओंको नष्ट कर देता है, परंतु राजन्! ब्राह्मण यदि अकेला ही क्रुद्ध हो जाय तो सम्पूर्ण राष्ट्रका नाश कर देता है ।। ८ ।।

अजाश्च कांस्यं रजतं च नित्यं
मध्वाकर्षः शकुनिः श्रोत्रियश्च ।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीन
एतानि ते सन्तु गृहे सदैव ।। ९ ।।

बकरियाँ, काँसेका पात्र, चाँदी, मधु, धनुष, पक्षी, वेदवेत्ता ब्राह्मण, बूढ़ा कुटुम्बी और विपत्तिग्रस्त कुलीन पुरुष—ये सब आपके घरमें सदा मौजूद रहें ।। ९ ।।

अजोक्षा चन्दनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी ।
विषमौदुम्बरं शङ्खः स्वर्णनाभोऽथ रोचना ।। १० ।।
गृहे स्थापयितव्यानि धन्यानि मनुरब्रवीत् ।
देवब्राह्मणपूजार्थमतिथीनां च भारत ।। ११ ।।

भारत! मनुजीने कहा है कि देवता, ब्राह्मण तथा अतिथियोंकी पूजाके लिये बकरी, बैल, चन्दन, वीणा, दर्पण, मधु, घी, जल, ताँबेके बर्तन, शंख, शालग्राम और गोरोचन—ये सब वस्तुएँ घरपर रखनी चाहिये ।। १०-११ ।।

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि
पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम् ।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्

धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ।। १२ ।।

नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये

जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।

त्यक्त्वानित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये

संतुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ।। १३ ।।

तात! अब मैं तुम्हें यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपरि पुण्यजनक बात बता रहा हूँ— कामनासे, भयसे, लोभसे तथा इस जीवनके लिये भी कभी धर्मका त्याग न करे। धर्म नित्य है, किंतु सुख-दुःख अनित्य हैं। जीव नित्य है, पर इसका कारण अनित्य है। आप अनित्यको छोड़कर नित्यमें स्थित होइये और संतोष धारण कीजिये; क्योंकि संतोष ही सबसे बड़ा लाभ है ।। १२-१३ ।।

महाबलान् पश्य महानुभावान्

प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम् ।

राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान्

गतान् नरेन्द्रान् वशमन्तकस्य ।। १४ ।।

धन-धान्यादिसे परिपूर्ण पृथ्वीका शासन करके अन्तमें समस्त राज्य और विपुल भोगोंको यहीं छोड़कर यमराजके वशमें गये हुए बड़े-बड़े बलवान् एवं महानुभाव राजाओंकी ओर दृष्टि डालिये ।। १४ ।।

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या

उत्क्षिप्य राजन् स्वगृहान्निर्हरन्ति ।

तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति

चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति ।। १५ ।।

राजन्! जिसको बड़े कष्टसे पाला-पोसा था, वही पुत्र जब मर जाता है, तब मनुष्य उसे उठाकर तुरंत अपने घरसे बाहर कर देते हैं। पहले तो उसके लिये बाल छितराये करुणाभरे स्वरमें विलाप करते हैं, फिर साधारण काष्ठकी भाँति उसे जलती चितामें झोंक देते हैं ।। १५ ।।

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते

वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।

द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र

पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ।। १६ ।।

मरे हुए मनुष्यका धन दूसरे लोग भोगते हैं, उसके शरीरकी धातुओंको पक्षी खाते हैं या आग जलाती है। यह मनुष्य पुण्य-पापसे बँधा हुआ इन्हीं दोनोंके साथ परलोकमें गमन करता है ।। १६ ।।

उत्सृज्य विनिवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।

अपुष्पानफलान् वृक्षान् यथा तात पतत्रिणः ।। १७ ।।

तात! बिना फल-फूलके वृक्षको जैसे पक्षी छोड़ देते हैं, उसी प्रकार उस प्रेतको उसके जातिवाले, सुहृद् और पुत्र चितामें छोड़कर लौट आते हैं ।। १७ ।।

अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयंकृतम् ।
तस्मात् तु पुरुषो यत्नाद् धर्मं संचिनुयाच्छनैः ।। १८ ।।

अग्निमें डाले हुए उस पुरुषके पीछे तो केवल उसका अपना किया हुआ बुरा या भला कर्म ही जाता है। इसलिये पुरुषको चाहिये कि वह धीरे-धीरे प्रयत्नपूर्वक धर्मका ही संग्रह करे ।। १८ ।।

अस्माल्लोकादूर्ध्वममुष्य चाधो
महत् तमस्तिष्ठति ह्यन्धकारम् ।
तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां
बुध्यस्व मा त्वां प्रलभेत राजन् ।। १९ ।।

इस लोक और परलोकसे ऊपर और नीचेतक सर्वत्र अज्ञानरूप महान् अन्धकार फैला हुआ है। वह इन्द्रियोंको महान् मोहमें डालनेवाला है। राजन्! आप इसको जान लीजिये, जिससे यह आपका स्पर्श न कर सके ।। १९ ।।

इदं वचः शक्ष्यसि चेद् यथाव-
न्निशम्य सर्वं प्रतिपत्तुमेव ।
यशः परं प्राप्स्यसि जीवलोके
भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति ।। २० ।।

मेरी इस बातको सुनकर यदि आप सब ठीक-ठीक समझ सकेंगे तो इस मनुष्यलोकमें आपको महान् यश प्राप्त होगा और इहलोक तथा परलोकमें आपके लिये भय नहीं रहेगा ।। २० ।।

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था
सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः ।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा
पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ।। २१ ।।

भारत! यह जीवात्मा एक नदी है। इसमें पुण्य ही तीर्थ है। सत्यस्वरूप परमात्मासे इसका उद्गम हुआ है। धैर्य ही इसके किनारे हैं। दया इसकी लहरें हैं। पुण्यकर्म करनेवाला मनुष्य इसमें स्नान करके पवित्र होता है; क्योंकि लोभरहित आत्मा सदा पवित्र ही है ।। २१ ।।

कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ।। २२ ।।

काम-क्रोधादिरूप ग्राहसे भरी, पाँच इन्द्रियोंके जलसे पूर्ण इस संसारनदीके जन्म-मरणरूप दुर्गम प्रवाहको धैर्यकी नौका बनाकर पार कीजिये ।। २२ ।।

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं
विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम् ।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य
यः सम्पृच्छेन्न स मुह्येत् कदाचित् ।। २३ ।।

जो बुद्धि, धर्म, विद्या और अवस्थामें बड़े अपने बन्धुको आदर-सत्कारसे प्रसन्न करके उससे कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें प्रश्न करता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता ।। २३ ।।

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ।। २४ ।।

शिश्न और उदरकी धैर्यसे रक्षा करे अर्थात् कामवेग और भूखकी ज्वालाको धैर्यपूर्वक सहे। इसी प्रकार हाथ-पैरकी नेत्रोंसे, नेत्र और कानोंकी मनसे तथा मन और वाणीकी सत्कर्मोंसे रक्षा करे ।। २४ ।।

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी ।
सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन्
न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ।। २५ ।।

जो प्रतिदिन जलसे स्नान-संध्या-तर्पण आदि करता है, नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहता है, नित्य स्वाध्याय करता है, पतितोंका अन्न त्याग देता है, सत्य बोलता और गुरुकी सेवा करता है, वह ब्राह्मण कभी ब्रह्मलोकसे भ्रष्ट नहीं होता ।। २५ ।।

अधीत्य वेदान् परिसंस्तीर्य चाग्नी-
निष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च ।
गोब्राह्मणार्थं शस्त्रपूतान्तरात्मा
हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ।। २६ ।।

वेदोंको पढ़कर, अग्निहोत्रके लिये अग्निके चारों ओर कुश बिछाकर नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यजन कर और प्रजाजनोंका पालन करके गौ और ब्राह्मणोंके हितके लिये संग्राममें मृत्युको प्राप्त हुआ क्षत्रिय शस्त्रसे अन्तःकरण पवित्र हो जानेके कारण ऊर्ध्वलोकको जाता है ।। २६ ।।

वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च
धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च ।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं
प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ।। २७ ।।

वैश्य यदि वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करके ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा आश्रितजनोंको समय-समयपर धन देकर उनकी सहायता करे और यज्ञोंद्वारा तीनों* अग्नियोंके पवित्र धूमकी सुगन्ध लेता रहे तो वह मरनेके पश्चात् स्वर्गलोकमें दिव्य सुख भोगता है ।। २७ ।।

ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः
क्रमेणैतान् न्यायतः पूजयानः ।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप-
स्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुङ्क्ते ।। २८ ।।

शूद्र यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी क्रमसे न्यायपूर्वक सेवा करके इन्हें संतुष्ट करता है तो वह व्यथासे रहित हो पापोंसे मुक्त होकर देह-त्यागके पश्चात् स्वर्गसुखका उपभोग करता है ।। २८ ।।

चातुर्वर्ण्यस्यैष धर्मस्तवोक्तो
हेतुं चानुब्रुवतो मे निबोध ।
क्षात्राद् धर्माद्धीयते पाण्डुपुत्र-
स्तं त्वं राजन् राजधर्मे नियुङ्क्ष्व ।। २९ ।।

महाराज! आपसे यह मैंने चारों वर्णोंका धर्म बताया है; इसे बतानेका कारण भी सुनिये। आपके कारण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर क्षत्रियधर्मसे गिर रहे हैं, अतः आप उन्हें पुनः राजधर्ममें नियुक्त कीजिये ।। २९ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

एवमेतद् यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा ।
ममापि च मतिः सौम्य भवत्येवं यथाऽऽत्थ माम् ।। ३० ।।

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! तुम प्रतिदिन मुझे जिस प्रकार उपदेश दिया करते हो, वह बहुत ठीक है। सौम्य! तुम मुझसे जो कुछ भी कहते हो, ऐसा ही मेरा भी विचार है ।।

सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान् प्रति मे सदा ।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ।। ३१ ।।

यद्यपि मैं पाण्डवोंके प्रति सदा ऐसी ही बुद्धि रखता हूँ, तथापि दुर्योधनसे मिलनेपर फिर बुद्धि पलट जाती है ।। ३१ ।।

न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित् ।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ।। ३२ ।।

प्रारब्धका उल्लंघन करनेकी शक्ति किसी भी प्राणीमें नहीं है। मैं तो प्रारब्धको ही अचल मानता हूँ, उसके सामने पुरुषार्थ तो व्यर्थ है ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४० ।।

---

* गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि—ये तीन अग्नियाँ हैं।

(सनत्सुजातपर्व)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

विदुरजीके द्वारा स्मरण करनेपर आये हुए सनत्सुजात ऋषिसे धृतराष्ट्रको उपदेश देनेके लिये उनकी प्रार्थना

धृतराष्ट्र उवाच

अनुक्तं यदि ते किंचिद् वाचा विदुर विद्यते ।
तन्मे शुश्रूषतो ब्रूहि विचित्राणि हि भाषसे ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! यदि तुम्हारी वाणीसे कुछ और कहना शेष रह गया हो तो कहो, मुझे उसे सुननेकी बड़ी इच्छा है; क्योंकि तुम्हारे कहनेका ढंग विलक्षण है ।। १ ।।

विदुर उवाच

धृतराष्ट्र कुमारो वै यः पुराणः सनातनः ।
सनत्सुजातः प्रोवाच मृत्युर्नास्तीति भारत ।। २ ।।

विदुरने कहा—भरतवंशी धृतराष्ट्र! कुमार ‘सनत्सुजात’ नामसे विख्यात जो (ब्रह्माजीके पुत्र) परम प्राचीन सनातन ऋषि हैं, उन्होंने (एक बार) कहा था—‘मृत्यु है ही नहीं’ ।। २ ।।

स ते गुह्यान् प्रकाशांश्च सर्वान् हृदयसंश्रयान् ।
प्रवक्ष्यति महाराज सर्वबुद्धिमतां वरः ।। ३ ।।

महाराज! वे समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं, वे ही आपके हृदयमें स्थित व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकारके प्रश्नोंका उत्तर देंगे ।। ३ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

किं त्वं न वेद तद् भूयो यन्मे ब्रूयात् सनातनः ।
त्वमेव विदुर ब्रूहि प्रज्ञाशेषोऽस्ति चेत् तव ।। ४ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! क्या तुम उस तत्त्वको नहीं जानते, जिसे अब पुनः सनातन ऋषि मुझे बतावेंगे? यदि तुम्हारी बुद्धि कुछ भी काम देती हो तो तुम्हीं मुझे उपदेश करो ।। ४ ।।

विदुर उवाच

शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे ।
कुमारस्य तु या बुद्धिर्वेद तां शाश्वतीमहम् ।। ५ ।।

विदुर बोले—राजन्! मेरा जन्म शूद्रा स्त्रीके गर्भसे हुआ है, अतः (मेरा अधिकार न होनेसे) इसके अतिरिक्त और कोई उपदेश देनेका मैं साहस नहीं कर सकता, किंतु कुमार सनत्सुजातकी बुद्धि सनातन है, मैं उसे जानता हूँ ।। ५ ।।

ब्राह्मीं हि योनिमापन्नः सुगुह्यमपि यो वदेत् ।
न तेन गर्ह्यो देवानां तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ।। ६ ।।

ब्राह्मणयोनिमें जिसका जन्म हुआ है, वह यदि गोपनीय तत्त्वका प्रतिपादन कर दे तो देवताओंकी निन्दाका पात्र नहीं बनता। इसी कारण मैं आपको ऐसा कह रहा हूँ ।। ६ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रवीहि विदुर त्वं मे पुराणं तं सनातनम् ।
कथमेतेन देहेन स्यादिहैव समागमः ।। ७ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! उन परम प्राचीन सनातन ऋषिका पता मुझे बताओ। भला, इसी देहसे यहाँ ही उनका समागम कैसे हो सकता है? ।। ७ ।।

श्रीसनत्सुजात और महाराज धृतराष्ट्र

वैशम्पायन उवाच

चिन्तयामास विदुरस्तमृषिं शंसितव्रतम् ।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास भारत ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर विदुरजीने उत्तम व्रतवाले उन सनातन ऋषिका स्मरण किया। उन्होंने भी यह जानकर कि विदुर मेरा स्मरण कर रहे हैं, प्रत्यक्ष दर्शन दिया ।। ८ ।।

स चैनं प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
सुखोपविष्टं विश्रान्तमथैनं विदुरोऽब्रवीत् ।। ९ ।।

विदुरने शास्त्रोक्त विधिसे पाद्य, अर्घ्य एवं मधुपर्क आदि अर्पण करके उनका स्वागत किया। इसके बाद जब वे सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करने लगे, तब विदुरने उनसे कहा — ।। ९ ।।

भगवन् संशयः कश्चिद् धृतराष्ट्रस्य मानसः ।
यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि ।। १० ।।

‘भगवन्! धृतराष्ट्रके हृदयमें कुछ संशय है, जिसका समाधान मेरे द्वारा किया जाना उचित नहीं है। आप ही इस विषयका निरूपण करनेयोग्य हैं’ ।। १० ।।

यं श्रुत्वायं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखातिगो भवेत् ।
लाभालाभौ प्रियद्वेष्यौ यथैनं न जरान्तकौ ।। ११ ।।
विषहेरन् भयामर्षौ क्षुत्पिपासे मदोद्भवौ ।
अरतिश्चैव तन्द्री च कामक्रोधौ क्षयोदयौ ।। १२ ।।

जिसे सुनकर ये नरेश सब दुःखोंसे पार हो जायँ और लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय, जरा-मृत्यु, भय-अमर्ष, भूख-प्यास, मद-ऐश्वर्य, चिन्ता-आलस्य, काम-क्रोध तथा अवनति-उन्नति—ये इन्हें कष्ट न पहुँचा सकें ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि विदुरकृतसनत्सुजातप्रार्थने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें विदुरजीके द्वारा सनत्सुजातकी प्रार्थनाविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४१ ।।

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

सनत्सुजातजीके द्वारा धृतराष्ट्रके विविध प्रश्नोंका उत्तर

वैशम्पायन उवाच

ततो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी
सम्पूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत् ।
सनत्सुजातं रहिते महात्मा
पप्रच्छ बुद्धिं परमां बुभूषन् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर बुद्धिमान् एवं महामना राजा धृतराष्ट्रने विदुरके कहे हुए उस वचनका भलीभाँति आदर करके उत्कृष्ट ज्ञानकी इच्छासे एकान्तमें सनत्सुजात मुनिसे प्रश्न किया ।। १ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यदिदं शृणोमि
न मृत्युरस्तीति तव प्रवादम् ।
देवासुरा ह्याचरन् ब्रह्मचर्य-
ममृत्यवे तत् कतरन्नु सत्यम् ।। २ ।।

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी! मैं यह सुना करता हूँ कि मृत्यु है ही नहीं, ऐसा आपका सिद्धान्त है। साथ ही यह भी सुना है कि देवता और असुरोंने मृत्युसे बचनेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया था। इन दोनोंमें कौन-सी बात यथार्थ है? ।। २ ।।

सनत्सुजात उवाच

अमृत्युः कर्मणा केचिन्मृत्युर्नास्तीति चापरे ।
शृणु मे ब्रुवतो राजन् यथैतन्मा विशङ्किथाः ।। ३ ।।

सनत्सुजातने कहा—राजन्! (इस विषयमें दो पक्ष हैं) मृत्यु है और वह (ब्रह्मचर्यपालनरूप) कर्मसे दूर होती है—यह एक पक्ष है और 'मृत्यु है ही नहीं'—यह दूसरा पक्ष है। परंतु यह बात जैसी है, वह मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो और मेरे कथनमें संदेह न करना ।। ३ ।।

उभे सत्ये क्षत्रियैतस्य विद्धि
मोहान्मृत्युः सम्मतोऽयं कवीनाम् ।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि
तथाप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ।। ४ ।।

क्षत्रिय! इस प्रश्नके उक्त दोनों ही पहलुओंको सत्य समझो। कुछ विद्वानोंने मोहवश इस मृत्युकी सत्ता स्वीकार की है; किंतु मेरा कहना तो यह है कि प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद ही अमृत है ।। ४ ।।

प्रमादाद् वै असुराः पराभव-
न्नप्रमादाद् ब्रह्मभूताः सुराश्च ।
नैव मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जन्तून्
न ह्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ।। ५ ।।

प्रमादके ही कारण असुरगण (आसुरी सम्पत्तिवाले) मृत्युसे पराजित हुए और अप्रमादसे ही देवगण (दैवी सम्पत्तिवाले) ब्रह्मस्वरूप हुए। यह निश्चय है कि मृत्यु व्याघ्रके समान प्राणियोंका भक्षण नहीं करती, क्योंकि उसका कोई रूप देखनेमें नहीं आता ।। ५ ।।

यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहु-
रात्मावसन्नममृतं ब्रह्मचर्यम् ।
पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः
शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम् ।। ६ ।।

कुछ लोग इस प्रमादसे भिन्न 'यम' को मृत्यु कहते हैं और हृदयसे दृढ़तापूर्वक पालन किये हुए ब्रह्मचर्यको ही अमृत मानते हैं। यमदेव पितृलोकमें राज्य-शासन करते हैं। वे पुण्यात्माओंके लिये मंगलमय और पापियोंके लिये अमंगलमय हैं ।। ६ ।।

अस्यादेशान्निःसरते नराणां
क्रोधः प्रमादो लोभरूपश्च मृत्युः ।
अहंगतेनैव चरन् विमार्गान्
न चात्मनो योगमुपैति कश्चित् ।। ७ ।।

इन यमकी आज्ञासे ही क्रोध, प्रमाद और लोभरूपी मृत्यु मनुष्योंके विनाशमें प्रवृत्त होती है। अहंकारके वशीभूत होकर विपरीत मार्गपर चलता हुआ कोई भी मनुष्य परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर पाता ।। ७ ।।

ते मोहितास्तद्वशे वर्तमाना
इतः प्रेतास्तत्र पुनः पतन्ति ।
ततस्तान् देवा अनुविप्लवन्ते
अतो मृत्युर्मरणाख्यामुपैति ।। ८ ।।

मनुष्य (क्रोध, प्रमाद और लोभसे) मोहित होकर अहंकारके अधीन हो इस लोकसे जाकर पुनः-पुनः जन्म-मरणके चक्करमें पड़ते हैं। मरनेके बाद उनके मन, इन्द्रिय और प्राण भी साथ जाते हैं। शरीरसे प्राणरूपी इन्द्रियोंका वियोग होनेके कारण मृत्यु 'मरण' संज्ञाको प्राप्त होती है ।। ८ ।।

कर्मोदये कर्मफलानुरागा-
स्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम् ।
सदर्थयोगानवगमात् समन्तात्
प्रवर्तते भोगयोगेन देही ।। ९ ।।

प्रारब्ध कर्मका उदय होनेपर कर्मके फलमें आसक्ति रखनेवाले लोग (देहत्यागके पश्चात्) परलोकका अनुगमन करते हैं; इसीलिये वे मृत्युको पार नहीं कर पाते। देहाभिमानी जीव परमात्मसाक्षात्कारके उपायको न जाननेसे विषयोंके उपभोगके कारण सब ओर (नाना प्रकारकी योनियोंमें) भटकता रहता है ।। ९ ।।

तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां
मिथ्यार्थयोगस्य गतिर्हि नित्या ।
मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा

स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात् ।। १० ।।

इस प्रकार विषयोंका जो भोग है, वह अवश्य ही इन्द्रियोंको महान् मोहमें डालनेवाला है और इन झूठे विषयोंमें राग रखनेवाले मनुष्यकी उनकी ओर प्रवृत्ति होनी स्वाभाविक है। मिथ्याभोगोंमें आसक्ति होनेसे जिसके अन्तःकरणकी ज्ञानशक्ति नष्ट हो गयी है, वह सब ओर विषयोंका ही चिन्तन करता हुआ मन-ही-मन उनका आस्वादन करता है ।। १० ।।

अभिध्या वै प्रथमं हन्ति लोकान्
कामक्रोधावनुगृह्याशु पश्चात् ।
एते बालान् मृत्यवे प्रापयन्ति
धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम् ।। ११ ।।

पहले तो विषयोंका चिन्तन ही लोगोंको मारे डालता है। इसके बाद वह काम और क्रोधको साथ लेकर पुनः जल्दी ही प्रहार करता है। इस प्रकार ये विषय-चिन्तन (काम और क्रोध) ही विवेकहीन मनुष्यों-को मृत्युके निकट पहुँचाते हैं; परंतु जो स्थिर बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे धैर्यसे मृत्युके पार हो जाते हैं ।। ११ ।।

सोऽभिध्यायन्नुत्पतितान् निहन्या-
दनादरेणाप्रतिबुध्यमानः ।
नैनं मृत्युर्मृत्युरिवात्ति भूत्वा
एवं विद्वान् यो विनिहन्ति कामान् ।। १२ ।।

(अतः जो मृत्युको जीतनेकी इच्छा रखता है,) उसे चाहिये कि परमात्माका ध्यान करके विषयोंको तुच्छ मानकर उन्हें कुछ भी न गिनते हुए उनकी कामनाओंको उत्पन्न होते ही नष्ट कर डाले। इस प्रकार जो विद्वान् विषयोंकी इच्छाको मिटा देता है, उसको [साधारण प्राणियोंकी] मृत्युकी भाँति मृत्यु नहीं मारती (अर्थात् वह जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है) ।। १२ ।।

कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति ।
कामान् व्युदस्य धुनुते यत् किंचित् पुरुषो रजः ।। १३ ।।

कामनाओंके पीछे चलनेवाला मनुष्य कामनाओंके साथ ही नष्ट हो जाता है; परंतु ज्ञानी पुरुष कामनाओंका त्याग कर देनेपर जो कुछ भी जन्म-मरणरूप दुःख है, उन सबको वह नष्ट कर देता है ।। १३ ।।

तमोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रदृश्यते ।
मुह्यन्त इव धावन्ति गच्छन्तः श्वभ्रवत् सुखम् ।। १४ ।।

काम ही समस्त प्राणियोंके लिये मोहक होनेके कारण तमोमय और अज्ञानरूप है तथा नरकके समान दुःखदायी देखा जाता है। जैसे मद्यपानसे मोहित हुए पुरुष चलते-चलते गड्ढेकी ओर दौड़ पड़ते हैं, वैसे ही कामी पुरुष भागोंमें सुख मानकर उनकी ओर दौड़ते हैं ।। १४ ।।

अमूढवृत्तेः पुरुषस्येह कुर्यात्
किं वै मृत्युस्तार्ण इवास्य व्याघ्रः ।
अमन्यमानः क्षत्रिय किंचिदन्य-
न्नाधीयीत निर्णुदन्निवास्य चायुः ।। १५ ।।

जिसके चित्तकी वृत्तियाँ विषयभोगोंसे मोहित नहीं हुई हैं, उस ज्ञानी पुरुषका इस लोकमें तिनकोंके बनाये हुए व्याघ्रके समान मृत्यु क्या बिगाड़ सकती है? इसलिये राजन्! विषयभोगोंके मूल कारणरूप अज्ञानको नष्ट करनेकी इच्छासे दूसरे किसी भी सांसारिक पदार्थको कुछ भी न गिनकर उसका चिन्तन त्याग देना चाहिये ।। १५ ।।

स क्रोधलोभौ मोहवानन्तरात्मा
स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः ।
एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा
ज्ञाने तिष्ठन् न बिभेतीह मृत्योः ।
विनश्यते विषये तस्य मृत्यु-
र्मृत्योर्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः ।। १६ ।।

यह जो तुम्हारे शरीरके भीतर अन्तरात्मा है, मोहके वशीभूत होकर यही क्रोध, लोभ (प्रमाद) और मृत्युरूप हो जाता है। इस प्रकार मोहसे होनेवाली मृत्युको जानकर जो ज्ञाननिष्ठ हो जाता है, वह इस लोकमें मृत्युसे कभी नहीं डरता। उसके समीप आकर मृत्यु उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे मृत्युके अधिकारमें आया हुआ मरणधर्मा मनुष्य ।। १६ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

यानेवाहुरिज्यया साधुलोकान्
द्विजातीनां पुण्यतमान् सनातनान् ।
तेषां परार्थं कथयन्तीह वेदा
एतद् विद्वान् नोपैति कथं नु कर्म ।। १७ ।।

धृतराष्ट्र बोले—द्विजातियोंके लिये यज्ञोंद्वारा जिन पवित्रतम सनातन एवं श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति बतायी गयी है, यहाँ वेद उन्हींको परम पुरुषार्थ कहते हैं। इस बातको जाननेवाला विद्वान् उत्तम कर्मोंका आश्रय क्यों न ले ।। १७ ।।

सनत्सुजात उवाच

एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र
तत्रार्थजातं च वदन्ति वेदाः ।
अनीह आयाति परं परात्मा
प्रयाति मार्गेण निहत्य मार्गान् ।। १८ ।।

सनत्सुजातने कहा—राजन्! अज्ञानी पुरुष इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोकोंमें गमन करता है तथा वेद कर्मके बहुत-से प्रयोजन भी बताते हैं; परंतु जो निष्काम पुरुष है, वह ज्ञानमार्गके द्वारा अन्य सभी मार्गोंका बाध करके परमात्मस्वरूप होता हुआ ही परमात्माको प्राप्त होता है ।। १८ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं पुराणं
स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण ।
किं वास्य कार्यमथवा सुखं च
तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्वं यथावत् ।। १९ ।।

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! यदि वह परमात्मा ही क्रमशः इस सम्पूर्ण जगत्के रूपमें प्रकट होता है तो उस अजन्मा और पुरातन पुरुषपर कौन शासन करता है? अथवा उसे इस रूपमें आनेकी क्या आवश्यकता है और क्या सुख मिलता है?—यह सब मुझे ठीक-ठीक बताइये ।। १९ ।।

सनत्सुजात उवाच

दोषो महानत्र विभेदयोगे
ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः ।
तथास्य नाधिक्यमपैति किंचि-
दनादियोगेन भवन्ति पुंसः ।। २० ।।

सनत्सुजातने कहा—तुम्हारे इस प्रश्नके अनुसार जीव और ब्रह्मका विशेष भेद प्राप्त होता है, जिसे स्वीकार कर लेनेपर वेदविरोधरूप महान् दोषकी प्राप्ति होती है। अतएव अनादि मायाके सम्बन्धसे जीवोंका कामसुख आदिसे सम्बन्ध होता रहता है। ऐसा होनेपर भी जीवकी महत्ता नष्ट नहीं होती; क्योंकि मायाके सम्बन्धसे जीवके देहादि पुनः उत्पन्न होते रहते हैं ।। २० ।।

य एतद् वा भगवान् स नित्यो
विकारयोगेन करोति विश्वम् ।
तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते
तथार्थयोगे च भवन्ति वेदाः ।। २१ ।।

जो नित्यस्वरूप भगवान् हैं, वे ही परब्रह्म मायाके सहयोगसे इस विश्वब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं। वह माया उन्हीं परब्रह्मकी शक्ति है। महात्मा पुरुष इसे मानते हैं। इस प्रकारके अर्थके प्रतिपादनमें वेद भी प्रमाण हैं ।। २१ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

येऽस्मिन् धर्मान् नाचरन्तीह केचित्
तथा धर्मान् केचिदिहाचरन्ति ।
धर्मः पापेन प्रतिहन्यते स्वि-
दुताहो धर्मः प्रतिहन्ति पापम् ।। २२ ।।

धृतराष्ट्र बोले—इस जगत्‌में कुछ लोग ऐसे हैं, जो धर्मका आचरण नहीं करते तथा कुछ लोग उसका आचरण करते हैं, अतः धर्म पापके द्वारा नष्ट होता है या धर्म ही पापको नष्ट कर देता है? ।। २२ ।।

सनत्सुजात उवाच

उभयमेव तत्रोपयुज्यते फलं धर्मस्यैवेतरस्य च ।। २३ ।।

सनत्सुजातने कहा—राजन्! धर्म और पाप दोनोंके पृथक्-पृथक् फल होते हैं और उन दोनोंका ही उपभोग करना पड़ता है ।। २३ ।।

तस्मिन् स्थितो वाप्युभयं हि नित्यं
ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम् ।
तथान्यथा पुण्यमुपैति देही
तथागतं पापमुपैति सिद्धम् ।। २४ ।।

किंतु परमात्मामें स्थित होनेपर विद्वान् पुरुष उस (परमात्माके) ज्ञानके द्वारा अपने पूर्वकृत पाप और पुण्य दोनोंका नाश कर देता है; यह बात सदा प्रसिद्ध है। यदि ऐसी स्थिति नहीं हुई तो देहाभिमानी मनुष्य कभी पुण्यफलको प्राप्त करता है और कभी क्रमशः प्राप्त हुए पूर्वोपार्जित पापके फलका अनुभव करता है ।। २४ ।।

गत्वोभयं कर्मणा युज्यतेऽस्थिरं
शुभस्य पापस्य स चापि कर्मणा ।
धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान्
धर्मो बलीयानिति तस्य सिद्धिः ।। २५ ।।

इस प्रकार पुण्य और पापके जो स्वर्ग-नरकरूप दो अस्थिर फल हैं, उनका भोग करके वह (इस जगत्‌में जन्म ले) पुनः तदनुसार कर्मोंमें लग जाता है; किंतु कर्मोंके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष निष्कामधर्मरूप कर्मके द्वारा अपने पूर्वपापका यहाँ ही नाश कर देता है। इस प्रकार धर्म ही अत्यन्त बलवान् है। इसलिये निष्कामभावसे धर्माचरण करनेवालोंको समयानुसार अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है ।। २५ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

यानिहाहुः स्वस्य धर्मस्य लोकान्
द्विजातीनां पुण्यकृतां सनातनान् ।
तेषां क्रमान् कथय ततोऽपि चान्यान्

नैतद् विद्वन् वेत्तुमिच्छामि कर्म ।। २६ ।।

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! पुण्यकर्म करनेवाले द्विजातियोंको अपने-अपने धर्मके फलस्वरूप जिन सनातन लोकोंकी प्राप्ति बतायी गयी है, उनका क्रम बतलाइये तथा उनसे भिन्न जो अन्यान्य लोक हैं, उनका भी निरूपण कीजिये। अब मैं सकाम कर्मकी बात नहीं जानना चाहता ।। २६ ।।

सनत्सुजात उवाच

येषां व्रतेऽथ विस्पर्धा बले बलवतामिव ।
ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य ब्रह्मलोकप्रकाशकाः ।। २७ ।।

सनत्सुजातने कहा—जैसे दो बलवान् वीरोंमें अपना बल बढ़ानेके निमित्त एक-दूसरेसे स्पर्धा रहती है, उसी प्रकार जो निष्कामभावसे यम-नियमादिके पालनमें दूसरोंसे बढ़नेका प्रयास करते हैं, वे ब्राह्मण यहाँसे मरकर जानेके बाद ब्रह्मलोकमें अपना प्रकाश फैलाते हैं ।। २७ ।।

येषां धर्मे च विस्पर्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम् ।
ते ब्राह्मणा इतो मुक्ताः स्वर्गं यान्ति त्रिविष्टपम् ।। २८ ।।

जिनकी धर्मके पालनमें स्पर्धा है, उनके लिये वह ज्ञानका साधन है; किंतु वे ब्राह्मण (यदि सकाम-भावसे उसका अनुष्ठान करें) तो मृत्युके पश्चात् यहाँसे देवताओंके निवासस्थान स्वर्गमें जाते हैं ।। २८ ।।

तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जनाः ।
नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यन्तरं जनम् ।। २९ ।।
यत्र मन्येत भूयिष्ठं प्रावृषीव तृणोपलम् ।
अन्नं पानं ब्राह्मणस्य तज्जीवेन्नानुसंज्वरेत् ।। ३० ।।

ब्राह्मणके सम्यक् आचारकी वेदवेत्ता पुरुष प्रशंसा करते हैं, किंतु जो धर्मपालनमें बहिर्मुख है, उसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये। जो (निष्कामभावपूर्वक) धर्मका पालन करनेसे अन्तर्मुख हो गया है, ऐसे पुरुषको श्रेष्ठ समझना चाहिये। जैसे वर्षा-ऋतुमें तृण-घास आदिकी बहुतायत होती है, उसी प्रकार जहाँ ब्राह्मणके योग्य अन्न-पान आदिकी अधिकता मालूम पड़े, उसी देशमें रहकर वह जीवननिर्वाह करे। भूख-प्याससे अपनेको कष्ट नहीं पहुँचावे ।। २९-३० ।।

यत्राकथयमानस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम् ।
अतिरिक्तमिवाकुर्वन् स श्रेयान् नेतरो जनः ।। ३१ ।।

किंतु जहाँ अपना माहात्म्य प्रकाशित न करनेपर भय और अमंगल प्राप्त हो, वहाँ रहकर भी जो अपनी विशेषता प्रकट नहीं करता, वही श्रेष्ठ पुरुष है; दूसरा नहीं ।। ३१ ।।

यो वा कथयमानस्य ह्यात्मानं नानुसंज्वरेत् ।

ब्रह्मास्वं नोपभुञ्जीत तदन्नं सम्मतं सताम् ।। ३२ ।।

जो किसीको आत्मप्रशंसा करते देख जलता नहीं तथा ब्राह्मणके स्वत्वका उपभोग नहीं करता, उसके अन्नको स्वीकार करनेमें सत्पुरुषोंकी सम्मति है ।। ३२ ।।

यथा स्वं वान्तमश्नाति शवा वै नित्यमभूतये ।
एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपसेवनात् ।। ३३ ।।

जैसे कुत्ता अपना वमन किया हुआ भी खा लेता है, उसी प्रकार जो अपने (ब्राह्मणत्वके) प्रभावका प्रदर्शन करके जीविका चलाते हैं, वे ब्राह्मण वमनका भोजन करनेवाले हैं और इससे उनकी सदा ही अवनति होती है ।। ३३ ।।

नित्यमज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः ।
ज्ञातीनां तु वसन् मध्ये तं विदुर्ब्राह्मणं बुधाः ।। ३४ ।।

जो कुटुम्बीजनोंके बीचमें रहकर भी अपनी साधनाको उनसे सदा गुप्त रखनेका प्रयत्न करता है, ऐसे ब्राह्मणोंको ही विद्वान् पुरुष ब्राह्मण मानते हैं ।। ३४ ।।

को ह्यनन्तरमात्मानं ब्राह्मणो हन्तुमर्हति ।
निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वैतविवर्जितम् ।। ३५ ।।

इस प्रकार जो भेदशून्य, चिह्नरहित, अविचल, शुद्ध एवं सब प्रकारके द्वैतसे रहित आत्मा है, उसके स्वरूपको जाननेवाला कौन ब्रह्मवेत्ता पुरुष उसका हनन (अधःपतन) करना चाहेगा? ।। ३५ ।।

तस्माद्धि क्षत्रियस्यापि ब्रह्मावसति पश्यति ।। ३६ ।।

इसलिये उपर्युक्तरूपसे जीवन बितानेवाला क्षत्रिय भी ब्रह्मके स्वरूपका अनुभव करता है तथा ब्रह्मको प्राप्त होता है ।। ३६ ।।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ।। ३७ ।।

जो उक्त प्रकारसे वर्तमान आत्माको उसके विपरीत रूपसे समझता है, आत्माका अपहरण करनेवाले उस चोरने कौन-सा पाप नहीं किया? ।। ३७ ।।

अश्रान्तः स्यादनादाता सम्मतो निरुपद्रवः ।
शिष्टो न शिष्टवत् स स्याद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित् कविः ।। ३८ ।।

जो कर्तव्य-पालनमें कभी थकता नहीं, दान नहीं लेता, सत्पुरुषोंमें सम्मानित और उपद्रवरहित है तथा शिष्ट होकर भी शिष्टताका विज्ञापन नहीं करता, वही ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता एवं विद्वान् है ।। ३८ ।।

अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या दैवे तथा क्रतौ ।
ते दुर्धर्षा दुष्प्रकम्प्यास्तान् विद्याद् ब्रह्मणस्तनुम् ।। ३९ ।।

जो लौकिक धनकी दृष्टिसे निर्धन होकर भी दैवी सम्पत्ति तथा यज्ञ-उपासना आदिसे सम्पन्न हैं, वे दुर्धर्ष हैं और किसी भी विषयसे चलायमान नहीं होते। उन्हें ब्रह्मकी साक्षात्

मूर्ति समझना चाहिये ।। ३९ ।।

सर्वान् स्विष्टकृतो देवान् विद्याद् य इह कश्चन ।
न समानो ब्राह्मणस्य तस्मिन् प्रयतते स्वयम् ।। ४० ।।

यदि कोई इस लोकमें अभीष्ट सिद्ध करनेवाले सम्पूर्ण देवताओंको जान ले, तो भी वह ब्रह्मवेत्ताके समान नहीं होता; क्योंकि वह तो अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिये ही प्रयत्न कर रहा है ।। ४० ।।

यमप्रयतमानं तु मानयन्ति स मानितः ।
न मान्यमानो मन्येत न मान्यमभिसंज्वरेत् ।। ४१ ।।

जो दूसरोंसे सम्मान पाकर भी अभिमान न करे और सम्माननीय पुरुषको देखकर जले नहीं तथा प्रयत्न न करनेपर भी विद्वान्‌लोग जिसे आदर दें, वही वास्तवमें सम्मानित है ।। ४१ ।।

लोकः स्वभाववृत्तिर्हि निमेषोन्मेषवत् सदा ।
विद्वांसो मानयन्तीह इति मन्येत मानितः ।। ४२ ।।

जगत्‌में जब विद्वान् पुरुष आदर दें, तब सम्मानित व्यक्तिको ऐसा मानना चाहिये कि आँखोंको खोलने-मीचनेके समान अच्छे लोगोंकी यह स्वाभाविक वृत्ति है, जो आदर देते हैं ।। ४२ ।।

अधर्मनिपुणा मूढा लोके मायाविशारदाः ।
न मान्यं मानयिष्यन्ति मान्यानामवमानिनः ।। ४३ ।।

किंतु इस संसारमें जो अधर्ममें निपुण, छल-कपटमें चतुर और माननीय पुरुषोंका अपमान करनेवाले मूढ़ मनुष्य हैं, वे आदरणीय व्यक्तियोंका भी आदर नहीं करते ।। ४३ ।।

न वै मानं च मौनं च सहितौ वसतः सदा ।
अयं हि लोको मानस्य असौ मौनस्य तद् विदुः ।। ४४ ।।

यह निश्चित है कि मान और मौन सदा एक साथ नहीं रहते; क्योंकि मानसे इस लोकमें सुख मिलता है और मौनसे परलोकमें। ज्ञानीजन इस बातको जानते हैं ।। ४४ ।।

श्रीः सुखस्येह संवासः सा चापि परिपन्थिनी ।
ब्राह्मी सुदुर्लभा श्रीर्हि प्रज्ञाहीनेन क्षत्रिय ।। ४५ ।।

राजन्! लोकमें ऐश्वर्यरूपा लक्ष्मी सुखका घर मानी गयी है, पर वह भी (कल्याणमार्गमें) लुटेरोंकी भाँति विघ्न डालनेवाली है; किंतु ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मी प्रज्ञाहीन मनुष्यके लिये सर्वथा दुर्लभ है ।। ४५ ।।

द्वाराणि तस्येह वदन्ति सन्तो
बहुप्रकाराणि दुराधराणि ।
सत्यार्जवे ह्रीर्दमशौचविद्या
यथा न मोहप्रतिबोधनानि ।। ४६ ।।

संत पुरुष यहाँ उस बहाज्ञानमयी लक्ष्मीकी प्राप्तिके अनेकों द्वार बतलाते हैं, जो कि मोहको जगानेवाले नहीं हैं तथा जिनको कठिनतासे धारण किया जाता है। उनके नाम हैं—सत्य, सरलता, लज्जा, दम, शौच और विद्या ।। ४६ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४२ ।।

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मज्ञानमें उपयोगी मौन, तप, त्याग, अप्रमाद एवं दम आदिके लक्षण तथा मदादि दोषोंका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

कस्यैष मौनः कतरन्नु मौनं
प्रब्रूहि विद्वन्निह मौनभावम् ।
मौनेन विद्वानुत याति मौनं
कथं मुने मौनमिहाचरन्ति ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! यह मौन किसका नाम है? [वाणीका संयम और परमात्माका स्वरूप] इन दोनोंमेंसे कौन-सा मौन है? यहाँ मौनभावका वर्णन कीजिये। क्या विद्वान् पुरुष मौनके द्वारा मौनरूप परमात्माको प्राप्त होता है? मुने! संसारमें लोग मौनका आचरण किस प्रकार करते हैं? ।। १ ।।

सनत्सुजात उवाच

यतो न वेदा मनसा सहैन-
मनुप्रविशन्ति ततोऽथमौनम् ।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं
स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ।। २ ।।

सनत्सुजातने कहा—राजन्! जहाँ मनके सहित वाणीरूप वेद नहीं पहुँच पाते, उस परमात्माका ही नाम मौन है; इसलिये वही मौनस्वरूप है। वैदिक तथा लौकिक शब्दोंका जहाँसे प्रादुर्भाव हुआ है, वे परमेश्वर तन्मयतापूर्वक ध्यान करनेसे प्रकाशमें आते हैं ।। २ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

ऋचो यजूंषि यो वेद सामवेदं च वेद यः ।
पापानि कुर्वन् पापेन लिप्यते किं न लिप्यते ।। ३ ।।

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! जो ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदको जानता है तथा पाप करता है, वह उस पापसे लिप्त होता है या नहीं? ।। ३ ।।

सनत्सुजात उवाच

नैनं सामान्यृचो वापि न यजूंष्यविचक्षणम् ।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ।। ४ ।।

सनत्सुजातने कहा—राजन्! मैं तुमसे असत्य नहीं कहता; ऋक्, साम अथवा यजुर्वेद कोई भी पाप करनेवाले अज्ञानीकी उसके पापकर्मसे रक्षा नहीं करते ।। ४ ।।

नच्छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ।। ५ ।।

जो कपटपूर्वक धर्मका आचरण करता है, उस मिथ्याचारीका वेद पापोंसे उद्धार नहीं करते। जैसे पंख निकल आनेपर पक्षी अपना घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अन्तकालमें वेद भी उसका परित्याग कर देते हैं ।। ५ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

न चेद् वेदा विना धर्मं त्रातुं शक्ता विचक्षण ।
अथ कस्मात् प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः ।। ६ ।।

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! यदि धर्मके बिना वेद रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं, तो वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पवित्र होनेका प्रलाप* चिरकालसे क्यों चला आता है? ।। ६ ।।

सनत्सुजात उवाच

तस्यैव नामादिविशेषरूपै-
रिदं जगद् भाति महानुभाव ।
निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदा-
स्तद् विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति ।। ७ ।।

सनत्सुजातने कहा—महानुभाव! परब्रह्म परमात्माके ही नाम आदि विशेष रूपोंसे इस जगत्की प्रतीति होती है। यह बात वेद अच्छी तरह निर्देश करके कहते हैं, किंतु वास्तवमें उसका स्वरूप इस विश्वसे विलक्षण बताया जाता है ।। ७ ।।

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या
ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान् ।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्
संजायते ज्ञानविदीपितात्मा ।। ८ ।।

उसीकी प्राप्तिके लिये वेदमें तप और यज्ञोंका प्रतिपादन किया गया है। इन तप और यज्ञोंके द्वारा उस श्रोत्रिय विद्वान् पुरुषको पुण्यकी प्राप्ति होती है। फिर उस निष्काम कर्मरूप पुण्यसे पापको नष्ट कर देनेके पश्चात् उसका अन्तःकरण ज्ञानसे प्रकाशित हो जाता है ।। ८ ।।

ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वा-
नथान्यथा वर्गफलानुकाङ्क्षी ।

अस्मिन् कृतं तत् परिगृह्य सर्व-
ममुत्र भुङ्क्त्वा पुनरेति मार्गम् ।। ९ ।।

तब वह विद्वान् पुरुष ज्ञानसे परमात्माको प्राप्त होता; किंतु इसके विपरीत जो भोगाभिलाषी पुरुष धर्म, अर्थ, और कामरूप त्रिवर्गफलकी इच्छा रखते हैं, वे इस लोकमें किये हुए सभी कर्मोंको साथ ले जाकर उन्हें परलोकमें भोगते हैं तथा भोग समाप्त होनेपर पुनः इस संसारमार्गमें लौट आते हैं ।। ९ ।।

अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते ।
ब्राह्मणानामिमे लोका ऋद्धे तपसि तिष्ठताम् ।। १० ।।

इस लोकमें जो तपस्या (सकामभावसे) की जाती है, उसका फल परलोकमें भोगा जाता है; परंतु जो ब्रह्मोपासक इस लोकमें निष्कामभावसे गुरुतर तपस्या करते हैं, वे इसी लोकमें तत्त्वज्ञानरूप फल प्राप्त करते हैं (और मुक्त हो जाते हैं)। इस प्रकार एक ही तपस्या ऋद्ध और समृद्धके भेदसे दो प्रकारकी है ।।

धृतराष्ट्र उवाच

कथं समृद्धमसमृद्धं तपो भवति केवलम् ।
सनत्सुजात तद् ब्रूहि यथा विद्याम तद् वयम् ।। ११ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—सनत्सुजातजी! विशुद्ध भावयुक्त केवल तप ऐसा प्रभावशाली बढ़ा-चढ़ा कैसे हो जाता है? यह इस प्रकार कहिये, जिससे हम उसे समझ लें ।। ११ ।।

सनत्सुजात उवाच

निष्कल्मषं तपस्त्वेतत् केवलं परिचक्षते ।
एतत् समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम् ।। १२ ।।

सनत्सुजातने कहा—राजन्! यह तप सब प्रकारसे निर्दोष होता है। इसमें भोगवासनारूप दोष नहीं रहता। इसलिये यह विशुद्ध कहा जाता है और इसीलिये यह विशुद्ध तप सकाम तपकी अपेक्षा फलकी दृष्टिसे भी बहुत बढ़ा-चढ़ा होता है ।। १२ ।।

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय ।
तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः ।। १३ ।।

राजन्! तुम जिस (तपस्या)-के विषयमें मुझसे पूछ रहे हो, यह तपस्या ही सारे जगत्का मूल है; वेदवेत्ता विद्वान् इस (निष्काम) तपसे ही परम अमृत मोक्षको प्राप्त होते हैं ।। १३ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषं तपः ।
सनत्सुजात येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम् ।। १४ ।।

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी! मैंने दोषरहित तपस्याका महत्त्व सुना। अब तपस्याके जो दोष हैं, उन्हें बताइये, जिससे मैं इस सनातन गोपनीय ब्रह्मतत्त्वको जान सकूँ ।। १४ ।।

सनत्सुजात उवाच

क्रोधादयो द्वादश यस्य दोषा-
स्तथा नृशंसानि दशत्रि राजन् ।
धर्मादयो द्वादशैते पितॄणां
शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानाम् ।। १५ ।।

सनत्सुजातने कहा—राजन्! तपस्याके क्रोध आदि बारह दोष हैं तथा तेरह प्रकारके नृशंस मनुष्य होते हैं। मन्वादिशास्त्रोंमें कथित ब्राह्मणोंके धर्म आदि बारह गुण प्रसिद्ध हैं ।। १५ ।।

क्रोधः कामो लोभमोहौ विधित्सा
कृपासूये मानशोकौ स्पृहा च ।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा
वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम् ।। १६ ।।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, चिकीर्षा, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा—मनुष्योंमें रहनेवाले ये बारह दोष मनुष्योंके लिये सदा ही त्याग देनेयोग्य हैं ।। १६ ।।

एकैकः पर्युपास्ते ह मनुष्यान् मनुजर्षभ ।
लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः ।। १७ ।।

नरश्रेष्ठ! जैसे व्याध मृगोंको मारनेका छिद्र (अवसर) देखता हुआ उनकी टोहमें लगा रहता है, उसी प्रकार इनमेंसे एक-एक दोष मनुष्योंका छिद्र देखकर उनपर आक्रमण करता है ।। १७ ।।

विकत्थनः स्पृहयालुर्मनस्वी
बिभ्रत् कोपं चपलोऽरक्षणश्च ।
एतान् पापाः षण्नराः पापधर्मान्
प्रकुर्वते नो त्रसन्तः सुदुर्गे ।। १८ ।।

अपनी बहुत बड़ाई करनेवाले, लोलुप, तनिक-से भी अपमानको सहन न करनेवाले, निरन्तर क्रोधी, चंचल और आश्रितोंकी रक्षा नहीं करनेवाले—ये छः प्रकारके मनुष्य पापी हैं। महान् संकटमें पड़नेपर भी ये निडर होकर इन पापकर्मोंका आचरण करते हैं ।।

सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी
दत्तानुतापी कृपणो बलीयान् ।
वर्गप्रशंसी वनितासु द्वेष्टा

एते परे सप्त नृशंसवर्गाः ।। १९ ।।

सम्भोगमें ही मन लगानेवाले, विषमता रखनेवाले, अत्यन्त मानी, दान देकर पश्चात्ताप करनेवाले, अत्यन्त कृपण, अर्थ और कामकी प्रशंसा करनेवाले तथा स्त्रियोंके द्वेषी—ये सात और पहलेके छः कुल तेरह प्रकारके मनुष्य नृशंसवर्ग (क्रूर-समुदाय) कहे गये हैं ।।

धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया ।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च
व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य ।। २० ।।

धर्म, सत्य, इन्द्रियनिग्रह, तप, मत्सरताका अभाव, लज्जा, सहनशीलता, किसीके दोष न देखना, यज्ञ करना, दान देना, धैर्य और शास्त्रज्ञान—ये ब्राह्मण-के बारह व्रत हैं ।। २० ।।

यस्त्वेतेभ्यः प्रभवेद् द्वादशभ्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वार्थितो य-
स्तस्य स्वमस्तीति स वेदितव्यः ।। २१ ।।

जो इन बारह व्रतों (गुणों)-पर अपना प्रभुत्व रखता है, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीके मनुष्योंको अपने अधीन कर सकता है। इनमेंसे तीन, दो या एक गुणसे भी जो युक्त है, उसके पास सभी प्रकारका धन है, ऐसा समझना चाहिये ।। २१ ।।

दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम् ।
तानि सत्यमुखान्याहुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।। २२ ।।

दम, त्याग और अप्रमाद—इन तीन गुणोंमें अमृत-का वास है। जो मनीषी (बुद्धिमान्) ब्राह्मण हैं, वे कहते हैं कि इन गुणोंका मुख सत्यस्वरूप परमात्माकी ओर है (अर्थात् ये परमात्माकी प्राप्तिके साधन हैं) ।।

दमो ह्यष्टादशगुणः प्रतिकूलं कृताकृते ।
अनृतं चाभ्यसूया च कामार्थौ च तथा स्पृहा ।। २३ ।।
क्रोधः शोकस्तथा तृष्णा लोभः पैशुन्यमेव च ।
मत्सरश्च विहिंसा च परितापस्तथारतिः ।। २४ ।।
अपस्मारश्चातिवादस्तथा सम्भावनाऽऽत्मनि ।
एतैर्विमुक्तो दोषैर्यः स दान्तः सद्भिरुच्यते ।। २५ ।।

दम अठारह गुणोंवाला है। (निम्नांकित अठारह दोषोंके त्यागको ही अठारह गुण समझना चाहिये)—कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें विपरीत धारणा, असत्य-भाषण, गुणोंमें दोषदृष्टि, स्त्रीविषयक कामना, सदा धनोपार्जनमें ही लगे रहना, भोगेच्छा, क्रोध, शोक, तृष्णा, लोभ, चुगली करनेकी आदत, डाह, हिंसा, संताप, शास्त्रमें अरति, कर्तव्यकी

विस्मृति, अधिक बकवाद और अपनेको बड़ा समझना—इन दोषोंसे जो मुक्त है, उसीको सत्पुरुष दाना (जितेन्द्रिय) कहते हैं ।।

मदोऽष्टादशदोषः स्यात् त्यागो भवति षड्विधः ।
विपर्ययाः स्मृता एते मददोषा उदाहृताः ।। २६ ।।
श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागस्तृतीयो दुष्करो भवेत् ।
तेन दुःखं तरत्येव भिन्नं तस्मिन् जितं कृते ।। २७ ।।

मदमें अठारह दोष हैं; ऊपर जो दमके विपर्यय सूचित किये गये हैं, वे ही मदके दोष बताये गये हैं। त्याग छः प्रकारका होता है, वह छहों प्रकारका त्याग अत्यन्त उत्तम है; किंतु इनमें तीसरा अर्थात् कामत्याग बहुत ही कठिन है, इसके द्वारा मनुष्य त्रिविध दुःखोंको निश्चय ही पार कर जाता है। कामका त्याग कर देनेपर सब कुछ जीत लिया जाता है ।। २६-२७ ।।

श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः श्रियं प्राप्य न हृष्यति ।
इष्टापूर्ते द्वितीयं स्यान्नित्यवैराग्ययोगतः ।। २८ ।।
कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः ।
अप्यवाच्यं वदन्त्येतं स तृतीयो गुणः स्मृतः ।। २९ ।।

राजेन्द्र! छः प्रकारका जो सर्वश्रेष्ठ त्याग है, उसे बताते हैं। लक्ष्मीको पाकर हर्षित न होना—यह प्रथम त्याग है; यज्ञ-होमादिमें तथा कुएँ, तालाब और बगीचे आदि बनानेमें धन खर्च करना दूसरा त्याग है और सदा वैराग्यसे युक्त रहकर कामका त्याग करना—यह तीसरा त्याग कहा गया है। महर्षिलोग इसे अनिर्वचनीय मोक्षका उपाय कहते हैं। अतः यह तीसरा त्याग विशेष गुण माना गया है ।। २८-२९ ।।

त्यक्तैर्द्रव्यैर्यद् भवति नोपयुक्तैश्च कामतः ।
न च द्रव्यैस्तद् भवति नोपयुक्तैश्च कामतः ।। ३० ।।

(वैराग्यपूर्वक) पदार्थोंके त्यागसे जो निष्कामता आती है, वह स्वेच्छापूर्वक उनका उपभोग करनेसे नहीं आती। अधिक धन-सम्पत्तिके संग्रहसे निष्कामता नहीं सिद्ध होती तथा कामनापूर्तिके लिये उसका उपभोग करनेसे भी कामका त्याग नहीं होता ।। ३० ।।

न च कर्मस्वसिद्धेषु दुःखं तेन च न ग्लपेत् ।
सर्वैरेव गुणैर्युक्तो द्रव्यवानपि यो भवेत् ।। ३१ ।।

जो पुरुष सब गुणोंसे युक्त और धनवान् हो, यदि उसके किये हुए कर्म सिद्ध न हों तो उनके लिये दुःख एवं ग्लानि न करे ।। ३१ ।।

अप्रिये च समुत्पन्ने व्यथां जातु न गच्छति ।
इष्टान् पुत्रांश्च दारांश्च न याचेत कदाचन ।। ३२ ।।

कोई अप्रिय घटना हो जाय तो कभी व्यथाको न प्राप्त हो (यह चौथा त्याग है)। अपने अभीष्ट पदार्थ—स्त्री-पुत्रादिकी कभी याचना न करे (यह पाँचवाँ त्याग है) ।। ३२ ।।

अर्हते याचमानाय प्रदेयं तच्छुभं भवेत् ।
अप्रमादी भवेदेतैः स चाप्यष्टगुणो भवेत् ।। ३३ ।।
सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च ।
अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च तथा संग्रहमेव च ।। ३४ ।।

सुयोग्य याचकके आ जानेपर उसे दान करे (यह छठा त्याग है)। इन सबसे कल्याण होता है। इन त्यागमय गुणोंसे मनुष्य अप्रमादी होता है। उस अप्रमादके भी आठ गुण माने गये हैं—सत्य, ध्यान, अध्यात्मविषयक विचार, समाधान, वैराग्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ।। ३३-३४ ।।

एवं दोषा मदस्योक्तास्तान् दोषान् परिवर्जयेत् ।
तथा त्यागोऽप्रमादश्च स चाप्यष्टगुणो मतः ।। ३५ ।।

ये आठ गुण त्याग और अप्रमाद दोनोंके ही समझने चाहिये। इसी प्रकार जो मदके अठारह दोष पहले बताये गये हैं, उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। प्रमादके आठ दोष हैं, उन्हें भी त्याग देना चाहिये ।।

अष्टौ दोषाः प्रमादस्य तान् दोषान् परिवर्जयेत् ।
इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्यो मनसश्चैव भारत ।
अतीतानागतेभ्यश्च मुक्त्युपेतः सुखी भवेत् ।। ३६ ।।

भारत! पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन—इनकी अपने-अपने विषयोंमें जो भोगबुद्धिसे प्रवृत्ति होती है, छः तो ये ही प्रमादविषयक दोष हैं और भूतकालकी चिन्ता तथा भविष्यकी आशा—दो दोष ये हैं। इन आठ दोषोंसे मुक्त पुरुष सुखी होता है ।। ३६ ।।

सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ।। ३७ ।।

राजेन्द्र! तुम सत्यस्वरूप हो जाओ, सत्यमें ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। वे दम, त्याग और अप्रमाद आदि गुण भी सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं; सत्यमें ही अमृतकी प्रतिष्ठा है ।। ३७ ।।

निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाचरेत् ।
एतद् धातृकृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम् ।। ३८ ।।
दोषैरेतैर्वियुक्तस्तु गुणैरेतैः समन्वितः ।
एतत् समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम् ।। ३९ ।।
यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र संक्षेपात् प्रब्रवीमि ते ।
एतत् पापहरं पुण्यं जन्ममृत्युजरापहम् ।। ४० ।।

दोषोंको निवृत्त करके ही यहाँ तप और व्रतका आचरण करना चाहिये, यह विधाताका बनाया हुआ नियम है। सत्य ही श्रेष्ठ पुरुषोंका व्रत है। मनुष्यको उपर्युक्त दोषोंसे रहित और गुणोंसे युक्त होना चाहिये। ऐसे पुरुषका ही विशुद्ध तप अत्यन्त समृद्ध होता है। राजन्!

तुमने जो मुझसे पूछा है, वह मैंने संक्षेपसे बता दिया। यह तप जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाके कष्टको दूर करनेवाला, पापहारी तथा परम पवित्र है ।। ३८—४० ।।

धृतराष्ट्र उवाच

आख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कथ्यते जनः ।
तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथा परे ।। ४१ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—मुने! इतिहास-पुराण जिनमें पाँचवाँ है, उन सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा कुछ लोगोंका विशेषरूपसे नाम लिया जाता है (अर्थात् वे पंचवेदी कहलाते हैं), दूसरे लोग चतुर्वेदी और त्रिवेदी कहे जाते हैं ।। ४१ ।।

द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्च तथा परे ।
तेषां तु कतरः स स्याद् यमहं वेद वै द्विजम् ।। ४२ ।।

इसी प्रकार कुछ लोग द्विवेदी, एकवेदी तथा अनृच* कहलाते हैं। इनमेंसे कौन-से ऐसे हैं, जिन्हें मैं निश्चितरूपसे ब्राह्मण समझूँ? ।। ४२ ।।

सनत्सुजात उवाच

एकस्य वेदस्याज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः ।
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः ।। ४३ ।।

सनत्सुजातने कहा—राजन्! सृष्टिके आदिमें वेद एक ही थे, परंतु न समझनेके कारण (एक ही वेदके) बहुत-से विभाग कर दिये गये हैं। उस सत्यस्वरूप एक वेदके सारतत्त्व परमात्मामें तो कोई बिरला ही स्थित होता है ।। ४३ ।।

एवं वेदमविज्ञाय प्राज्ञोऽहमिति मन्यते ।
दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेतत् प्रवर्तते ।। ४४ ।।

इस प्रकार वेदके तत्त्वको न जानकर भी कुछ लोग 'मैं विद्वान् हूँ' ऐसा मानने लगते हैं; फिर उनकी दान, अध्ययन और यज्ञादि कर्मोंमें (सांसारिक सुखकी प्राप्तिरूप फलके) लोभसे प्रवृत्ति होती है ।। ४४ ।।

सत्यात् प्रच्यवमानानां संकल्पश्च तथा भवेत् ।
ततो यज्ञः प्रतायेत सत्यस्यैवावधारणात् ।। ४५ ।।

वास्तवमें जो सत्यस्वरूप परमात्मासे च्युत हो गये हैं, उन्हींका वैसा संकल्प होता है। फिर सत्यरूप वेदके प्रामाण्यका निश्चय करके ही उनके द्वारा यज्ञोंका विस्तार (अनुष्ठान) किया जाता है ।। ४५ ।।

मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा ।
संकल्पसिद्धः पुरुषः संकल्पानधितिष्ठति ।। ४६ ।।

किसीका यज्ञ मनसे, किसीका वाणीसे तथा किसीका क्रियाके द्वारा सम्पादित होता है। सत्यसंकल्प पुरुष संकल्पके अनुसार ही लोकोंको प्राप्त होता है ।। ४६ ।।

अनैभृत्येन चैतस्य दीक्षितव्रतमाचरेत् ।
नामैतद् धातुनिर्वृत्तं सत्यमेव सतां परम् ।। ४७ ।।

किंतु जबतक संकल्प सिद्ध न हो, तबतक दीक्षित व्रतका आचरण अर्थात् यज्ञादि कर्म करते रहना चाहिये। यह दीक्षित नाम **'दक्षि व्रतादेशे'** इस धातुसे बना है। सत्पुरुषोंके सत्यस्वरूप परमात्मा ही सबसे बढ़कर हैं ।। ४७ ।।

ज्ञानं वै नाम प्रत्यक्षं परोक्षं जायते तपः ।
विद्याद् बहु पठन्तं तु द्विजं वै बहुपाठिनम् ।। ४८ ।।

क्योंकि परमात्माके ज्ञानका फल प्रत्यक्ष है और तपका फल परोक्ष है (इसलिये ज्ञानका ही आश्रय लेना चाहिये)। बहुत पढ़नेवाले ब्राह्मणको केवल बहुपाठी (बहुज्ञ) समझना चाहिये ।। ४८ ।।

तस्मात् क्षत्रिय मा मंस्था जल्पितेनैव वै द्विजम् ।
य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ।। ४९ ।।

इसलिये महाराज! केवल बातें बनानेसे ही किसीको ब्राह्मण न मान लेना। जो सत्यस्वरूप परमात्मासे कभी पृथक् नहीं होता, उसीको तुम ब्राह्मण समझो ।। ४९ ।।

छन्दांसि नाम क्षत्रिय तान्यथर्वा
पुरा जगौ महर्षिसङ्घ एषः ।
छन्दोविदस्ते य उत नाधीतवेदा
न वेदवेद्यस्य विदुर्हि तत्त्वम् ।। ५० ।।

राजन्! अथर्वा मुनि एवं महर्षिसमुदायने पूर्व-कालमें जिनका गान किया है, वे ही छन्द (वेद) हैं। किंतु सम्पूर्ण वेद पढ़ लेनेपर भी जो वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य परमात्माके तत्त्वको नहीं जानते, वे वास्तवमें वेदके विद्वान् नहीं हैं ।। ५० ।।

छन्दांसि नाम द्विपदां वरिष्ठ
स्वच्छन्दयोगेन भवन्ति तत्र ।
छन्दोविदस्तेन च तानधीत्य
गता न वेदस्य न वेद्यमार्याः ।। ५१ ।।

नरश्रेष्ठ! छन्द (वेद) उस परमात्मामें स्वच्छन्द सम्बन्धसे स्थित (स्वतःप्रमाण) हैं। इसलिये उनका अध्ययन करके ही वेदवेत्ता आर्यजन वेद्यरूप परमात्माके तत्त्वको प्राप्त हुए हैं ।। ५१ ।।

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
कश्चित् त्वेतान् बुध्यते वापि राजन् ।
यो वेद वेदान् न स वेद वेद्यं
सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम् ।। ५२ ।।

राजन्! वास्तवमें वेदके तत्त्वको जाननेवाला कोई नहीं है अथवा यों समझो कि कोई बिरला ही उनका रहस्य जान पाता है। जो केवल वेदके वाक्योंको जानता है, वह वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य परमात्माको नहीं जानता; किंतु जो सत्यमें स्थित है, वह वेदवेद्य परमात्माको जानता है ।।

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम् ।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं
यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम् ।। ५३ ।।

जाननेवालोंमेंसे कोई भी वेदोंको अर्थात् उनके रहस्यको जाननेवाला नहीं है; क्योंकि जाननेमें आनेवाले मन-बुद्धि आदिके द्वारा न तो कोई वेदके रहस्यको जान पाता है और न जाननेयोग्य परमात्मतत्त्वको ही। जो मनुष्य केवल कर्म-विधायक वेदको जानता है; वह तो बुद्धिद्वारा जाननेमें आनेवाले पदार्थोंको ही जानता है; किंतु जो बुद्धिद्वारा जाननेयोग्य पदार्थोंको जानता है, वह (सकामी पुरुष) वास्तविक तत्त्व परब्रह्म परमात्माको नहीं जानता ।। ५३ ।।

यो वेद वेदान् स च वेद वेद्यं
न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः ।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं
ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति ।। ५४ ।।

जो महापुरुष वेदोंके रहस्यको जानता है, वह जाननेयोग्य परमात्माको भी जानता है; परंतु उस (जाननेवाले)-को न तो वेदोंके शब्दोंको जाननेवाला जानता है और न वेद ही जानते हैं। तथापि वेदके रहस्यको जाननेवाले जो ब्रह्मवेत्ता महापुरुष हैं, वे उस वेदके द्वारा ही वेदके रहस्यको जान लेते हैं (अर्थात् वेदोंका कथन इतना गुप्त है कि केवल शब्दज्ञानसे उसका रहस्य एवं उसमें वर्णित परमात्मतत्त्व समझमें नहीं आता। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर सद्गुरु या प्रभुकी कृपासे ही साधक उसे समझ पाता है) ।। ५४ ।।

धामांशभागस्य तथा हि वेदा
यथा च शाखा हि महीरुहस्य ।
संवेदने चैव यथाऽऽमनन्ति
तस्मिन् हि सत्ये परमात्मनोऽर्थे ।। ५५ ।।

द्वितीयाके चन्द्रमाकी सूक्ष्म कलाको बतानेके लिये जैसे वृक्षकी शाखाकी ओर संकेत किया जाता है, उसी प्रकार उस सत्यस्वरूप परमात्माका ज्ञान करानेके लिये ही वेदोंका भी उपयोग किया जाता है; ऐसा विद्वान् पुरुष मानते हैं ।। ५५ ।।

अभिजानामि ब्राह्मणं व्याख्यातारं विचक्षणम् ।
यश्छिन्नविचिकित्सः स व्याचष्टे सर्वसंशयान् ।। ५६ ।।

मैं तो उसीको ब्राह्मण समझता हूँ, जो परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला और वेदोंकी यथार्थ व्याख्या करनेवाला हो, जिसके अपने संदेह मिट गये हों और जो दूसरोंके भी सम्पूर्ण संशयोंको मिटा सके ।। ५६ ।।

नास्य पर्येषणं गच्छेत् प्राचीनं नोत दक्षिणम् ।
नार्वाचीनं कुतस्तिर्यङ्नादिशं तु कथञ्चन ।। ५७ ।।

इस आत्माकी खोज करनेके लिये पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तरकी ओर जानेकी आवश्यकता नहीं है; फिर आग्नेय आदि कोणोंकी तो बात ही क्या है? इसी प्रकार दिग्विभागसे रहित प्रदेशमें भी उसे नहीं ढूँढ़ना चाहिये ।। ५७ ।।

तस्य पर्येषणं गच्छेत् प्रत्यर्थिषु कथञ्चन ।
अविचिन्वन्निमं वेदे तपः पश्यति तं प्रभुम् ।। ५८ ।।

आत्माका अनुसंधान अनात्मपदार्थोंमें तो किसी तरह करे ही नहीं, वेदके वाक्योंमें भी न ढूँढ़कर केवल तपके द्वारा उस प्रभुका साक्षात्कार करे ।। ५८ ।।

तूष्णीम्भूत उपासीत न चेष्टेन्मनसापि च ।
उपावर्तस्व तद् ब्रह्म अन्तरात्मनि विश्रुतम् ।। ५९ ।।

वागादि इन्द्रियोंकी सब प्रकारकी चेष्टासे रहित होकर परमात्माकी उपासना करे, मनसे भी कोई चेष्टा न करे। राजन्! तुम भी अपने हृदयाकाशमें स्थित उस विख्यात परमेश्वरकी बुद्धिपूर्वक उपासना करो ।। ५९ ।।

मौनान्न स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः ।
स्वलक्षणं तु यो वेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ।। ६० ।।

मौन रहने अथवा जंगलमें निवास करनेमात्रसे कोई मुनि नहीं होता। जो अपने आत्माके स्वरूपको जानता है, वही श्रेष्ठ मुनि कहलाता है ।। ६० ।।

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते ।
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत् तथा ।। ६१ ।।

सम्पूर्ण अर्थोंको व्याकृत (प्रकट) करनेके कारण ज्ञानी पुरुष 'वैयाकरण' कहलाता है। यह समस्त अर्थोंका प्रकटीकरण मूलभूत ब्रह्मसे ही होता है, अतः वही मुख्य वैयाकरण है; विद्वान् पुरुष भी इसी प्रकार अर्थोंको व्याकृत (व्यक्त) करता है, इसलिये वह भी वैयाकरण है ।। ६१ ।।

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः ।
सत्ये वै ब्राह्मणस्तिष्ठंस्तद् विद्वान् सर्वविद् भवेत् ।। ६२ ।।

जो (योगी) सम्पूर्ण लोकोंको प्रत्यक्ष देख लेता है, वह मनुष्य उन सब लोकोंका द्रष्टा कहलाता है; परंतु जो एकमात्र सत्यस्वरूप ब्रह्ममें ही स्थित है, वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण सर्वज्ञ होता है ।। ६२ ।।

धर्मादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति ।

वेदानां चानुपूर्व्येण एतद् बुद्ध्या ब्रवीमि ते ।। ६३ ।।

राजन्! पूर्वोक्त धर्म आदिमें स्थित होनेसे तथा वेदोंका क्रमसे (विधिवत्) अध्ययन करनेसे भी मनुष्य इसी प्रकार परमात्माका साक्षात्कार करता है। यह बात अपनी बुद्धिद्वारा निश्चय करके मैं तुम्हें बता रहा हूँ ।। ६३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४३ ।।

---

* **'ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते ।'** (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदसे पवित्र होकर ब्राह्मण ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है;) इत्यादि वेदवचन वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पवित्र एवं निष्पाप होनेकी बात कहते हैं।

* जिन्होंने ऋगादि वेदोंका अध्ययन नहीं किया है, वे अनूच कहलाते हैं।

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्मका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यामिमां परां त्वं
ब्राह्मीं वाचं वदसे विश्वरूपाम् ।
परां हि कामेन सुदुर्लभां कथां
प्रब्रूहि मे वाक्यमिदं कुमार ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—सनत्सुजातजी! आप जिस सर्वोत्तम और सर्वरूपा ब्रह्मसम्बन्धिनी विद्याका उपदेश कर रहे हैं, कामी पुरुषोंके लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है। कुमार! मेरा तो यह कहना है कि आप इस उत्कृष्ट विषयका पुनः प्रतिपादन करें ।। १ ।।

सनत्सुजात उवाच

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं
यन्मां पृच्छन्नतिहृष्यतीव ।
बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या
विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या ।। २ ।।

सनत्सुजातने कहा—राजन्! तुम जो मुझसे बारंबार प्रश्न करते समय अत्यन्त हर्षित हो उठते हो, सो इस प्रकार जल्दबाजी करनेसे ब्रह्मकी उपलब्धि नहीं होती। बुद्धिमें मनके लय हो जानेपर सब वृत्तियोंका विरोध करनेवाली जो स्थिति है, उसका नाम है ब्रह्मविद्या और वह ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे ही उपलब्ध होती है ।। २ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

अत्यन्तविद्यामिति यत् सनातनीं
ब्रवीषि त्वं ब्रह्मचर्येण सिद्धाम् ।
अनारभ्यां वसतीह कार्यकाले
कथं ब्राह्मण्यममृतत्वं लभेत ।। ३ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—जो कर्मोंद्वारा आरम्भ होनेयोग्य नहीं है तथा कार्यके समयमें भी जो इस आत्मामें ही रहती है, उस अनन्त ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली इस सनातन विद्याको यदि आप ब्रह्मचर्यसे ही प्राप्त होनेयोग्य बता रहे हैं तो मुझ-जैसे लोग ब्रह्मसम्बन्धी अमृतत्व (मोक्ष)-को कैसे पा सकते हैं? ।। ३ ।।

सनत्सुजात उवाच

अव्यक्तविद्यामभिधास्ये पुराणीं
बुद्ध्या च तेषां ब्रह्मचर्येण सिद्धाम् ।
यां प्राप्यैनं मर्त्यलोकं त्यजन्ति
या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या ।। ४ ।।

सनत्सुजातजी बोले—अब मैं (सच्चिदानन्दघन) अव्यक्त ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली उस पुरातन विद्याका वर्णन करूँगा, जो मनुष्योंको बुद्धि और ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त होती है, जिसे पाकर विद्वान् पुरुष इस मरणधर्मा शरीरको सदाके लिये त्याग देते हैं तथा जो वृद्ध गुरुजनोंमें नित्य विद्यमान रहती है ।। ४ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रह्मचर्येण या विद्या शक्या वेदितुमञ्जसा ।
तत् कथं ब्रह्मचर्यं स्यादेतद् ब्रह्मन् ब्रवीहि मे ।। ५ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—ब्रह्मन्! यदि वह ब्रह्मविद्या ब्रह्मचर्यके द्वारा ही सुगमतासे जानी जा सकती है तो पहले मुझे यही बताइये कि ब्रह्मचर्यका पालन कैसे होता है? ।। ५ ।।

सनत्सुजात उवाच

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य
भूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम् ।। ६ ।।

सनत्सुजातजी बोले—जो लोग आचार्यके आश्रममें प्रवेश कर अपनी सेवासे उनके अन्तरंग भक्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, वे यहीं शास्त्रकार हो जाते हैं और देहत्यागके पश्चात् परम योगरूप परमात्माको प्राप्त होते हैं ।। ६ ।।

अस्मिँल्लोके वै जयन्तीह कामान्
ब्राह्मीं स्थितिं ह्यनुतितिक्षमाणाः ।
त आत्मानं निर्हरन्तीह देहा-
न्मुञ्जादिषीकामिव सत्त्वसंस्थाः ।। ७ ।।

इस जगत्में जो लोग वर्तमान स्थितिमें रहते हुए ही सम्पूर्ण कामनाओंको जीत लेते हैं और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेके लिये ही नाना प्रकारके द्वन्द्वोंको सहन करते हैं, वे सत्त्वगुणमें स्थित हो यहाँ ही मूँजसे सींककी भाँति इस देहसे आत्माको (विवेकद्वारा) पृथक् कर लेते हैं ।। ७ ।।

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत ।
आचार्यशास्ता या जातिः सा पुण्या साजरामरा ।। ८ ।।

भारत! यद्यपि माता और पिता—ये ही दोनों इस शरीरको जन्म देते हैं, तथापि आचार्यके उपदेशसे जो जन्म प्राप्त होता है, वह परम पवित्र और अजर-अमर है ।। ८ ।।

यः प्रावृणोत्यवितथेन वर्णा-
नृतं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ।। ९ ।।

जो परमार्थतत्त्वके उपदेशसे सत्यको प्रकट करके अमरत्व प्रदान करते हुए ब्राह्मणादि वर्णोंकी रक्षा करते हैं, उन आचार्यको पिता-माता ही समझना चाहिये तथा उनके किये हुए उपकारका स्मरण करके कभी उनसे द्रोह नहीं करना चाहिये ।। ९ ।।

गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत
स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः ।
मानं न कुर्यान्नादधीत रोष-
मेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः ।। १० ।।

ब्रह्मचारी शिष्यको चाहिये कि वह नित्य गुरुको प्रणाम करे, बाहर-भीतरसे पवित्र हो प्रमाद छोड़कर स्वाध्यायमें मन लगावे, अभिमान न करे, मनमें क्रोधको स्थान न दे। यह ब्रह्मचर्यका पहला चरण है ।। १० ।।

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः ।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ।। ११ ।।

जो शिष्यकी वृत्तिके क्रमसे ही जीवन-निर्वाह करता हुआ पवित्र हो विद्या प्राप्त करता है, उसका यह नियम भी ब्रह्मचर्यव्रतका पहला ही पाद कहलाता है ।।

आचार्यस्य प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि ।
कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते ।। १२ ।।

अपने प्राण और धन लगाकर भी मन, वाणी तथा कर्मसे आचार्यका प्रिय करे, यह दूसरा पाद कहलाता है ।। १२ ।।

समा गुरौ यथा वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत् ।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ।। १३ ।।

गुरुके प्रति शिष्यका जैसा श्रद्धा और सम्मानपूर्ण बर्ताव हो, वैसा ही गुरुकी पत्नी और पुत्रके साथ भी होना चाहिये। यह भी ब्रह्मचर्यका द्वितीय पाद ही कहलाता है ।।

आचार्येणात्मकृतं विजानन्
ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन ।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः
स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ।। १४ ।।

आचार्यने जो अपना उपकार किया, उसे ध्यानमें रखकर तथा उससे जो प्रयोजन सिद्ध हुआ, उसका भी विचार करके मन-ही-मन प्रसन्न होकर शिष्य आचार्यके प्रति जो ऐसा भाव रखता है कि इन्होंने मुझे बड़ी उन्नत अवस्थामें पहुँचा दिया—यह ब्रह्मचर्यका तीसरा पाद है ।। १४ ।।

नाचार्यस्यानपाकृत्य प्रवासं
प्राज्ञः कुर्वीत नैतदहं करोमि ।
इतीव मन्येत न भाषयेत
स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्यस्य पादः ।। १५ ।।

आचार्यके उपकारका बदला चुकाये बिना अर्थात् गुरुदक्षिणा आदिके द्वारा उन्हें संतुष्ट किये बिना विद्वान् शिष्य वहाँसे अन्यत्र न जाय। [दक्षिणा देकर या गुरुकी सेवा करके] कभी मनमें ऐसा विचार न लावे कि मैं गुरुका उपकार कर रहा हूँ तथा मुँहसे भी कभी ऐसी बात न निकाले। यह ब्रह्मचर्यका चौथा पाद है ।। १५ ।।

कालेन पादं लभते तथार्थं
ततश्च पादं गुरुयोगतश्च ।
उत्साहयोगेन च पादमृच्छे-
च्छास्त्रेण पादं च ततोऽभियाति ।। १६ ।।

सनातनी विद्याके कुछ अंशको तथा उसके मर्मको तो मनुष्य समयके योगसे प्राप्त करता है, कुछ अंशको गुरुके सम्बन्धसे तथा कुछ अंशको अपने उत्साहके सम्बन्धसे और कुछ अंशको परस्पर शास्त्रके विचारसे प्राप्त करता है ।। १६ ।।

धर्मादयो द्वादश यस्य रूप-
मन्यानि चाङ्गानि तथा बलं च ।
आचार्ययोगे फलतीति चाहु-
र्ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यम् ।। १७ ।।

पूर्वोक्त धर्मादि बारह गुण जिसके स्वरूप हैं तथा और भी जो धर्मके अंग एवं सामर्थ्य हैं, वे भी जिसके स्वरूप हैं, वह ब्रह्मचर्य आचार्यके सम्बन्धसे प्राप्त वेदार्थके ज्ञानसे सफल होता है, ऐसा कहा जाता है ।।

एवं प्रवृत्तो यदुपालभेत वै
धनमाचार्याय तदनुप्रयच्छेत् ।
सतां वृत्तिं बहुगुणामेवमेति
गुरोः पुत्रे भवति च वृत्तिरेषा ।। १८ ।।

इस तरह ब्रह्मचर्यपालनमें प्रवृत्त हुए ब्रह्मचारीको चाहिये कि जो कुछ भी धन (जीवननिर्वाहयोग्य वस्तुएँ) भिक्षामें प्राप्त हो, उसे आचार्यको अर्पण कर दे। ऐसा करनेसे

वह शिष्य सत्पुरुषोंके अनेक गुणोंसे युक्त आचारको प्राप्त होता है। गुरुपुत्रके प्रति भी उसकी यही भावना रहनी चाहिये ।। १८ ।।

एवं वसन् सर्वतो वर्धतीह
बहून् पुत्राँल्लभते च प्रतिष्ठाम् ।
वर्षन्ति चास्मै प्रदिशो दिशश्च
वसन्त्यस्मिन् ब्रह्मचर्ये जनाश्च ।। १९ ।।

ऐसी वृत्तिसे गुरुगृहमें रहनेवाले शिष्यकी इस संसारमें सब प्रकारसे उन्नति होती है। वह (गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके) बहुत-से पुत्र और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। सम्पूर्ण दिशा-विदिशाएँ उसके लिये सुखकी वर्षा करती हैं तथा उसके निकट बहुत-से दूसरे लोग ब्रह्मचर्यपालनके लिये निवास करते हैं ।। १९ ।।

एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमाप्नुवन् ।
ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मलोकं मनीषिणः ।। २० ।।

इस ब्रह्मचर्यके पालनसे ही देवताओंने देवत्व प्राप्त किया और महान् सौभाग्यशाली मनीषी ऋषियोंने ब्रह्मलोकको प्राप्त किया ।। २० ।।

गन्धर्वाणामनेनैव रूपमप्सरसामभूत् ।
एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्योऽप्यह्नाय जायते ।। २१ ।।

इसीके प्रभावसे गन्धर्वों और अप्सराओंको दिव्य रूप प्राप्त हुआ। इस ब्रह्मचर्यके ही प्रतापसे सूर्यदेव समस्त लोकोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ होते हैं ।।

आकाङ्क्ष्यार्थस्य संयोगाद् रसभेदार्थिनामिव ।
एवं ह्येते समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे ।। २२ ।।

रसभेदरूप चिन्तामणिसे याचना करनेवालोंको जैसे उनके अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी मनोवांछित वस्तु प्रदान करनेवाला है। ऐसा समझकर ये ऋषि-देवता आदि ब्रह्मचर्यके पालनसे वैसे भावको प्राप्त हुए ।। २२ ।।

य आश्रयेत् पावयेच्चापि राजन्
सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः ।
एतेन वै बाल्यमभ्येति विद्वान्
मृत्युं तथा स जयत्यन्तकाले ।। २३ ।।

राजन्! जो इस ब्रह्मचर्यका आश्रय लेता है, वह ब्रह्मचारी यम-नियमादि तपका आचरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण शरीरको भी पवित्र बना लेता है तथा इससे विद्वान् पुरुष निश्चय ही अबोध बालककी भाँति राग-द्वेषसे शून्य हो जाता है और अन्त समयमें वह मृत्युको भी जीत लेता है ।। २३ ।।

अन्तवतः क्षत्रिय ते जयन्ति
लोकान् जनाः कर्मणा निर्मलेन ।

ब्रह्मैव विद्वांस्तेन चाभ्येति सर्वं
नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ।। २४ ।।

राजन्! सकाम पुरुष अपने पुण्यकर्मोंके द्वारा नाशवान् लोकोंको ही प्राप्त करते हैं; किंतु जो ब्रह्मको जाननेवाला विद्वान् है, वही उस ज्ञानके द्वारा सर्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। मोक्षके लिये ज्ञानके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।। २४ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो
कृष्णमथाञ्जनं काद्रवं वा ।
सद्ब्रह्मणः पश्यति योऽत्र विद्वान्
कथं रूपं तदमृतमक्षरं पदम् ।। २५ ।।

धृतराष्ट्र बोले—विद्वान् पुरुष यहाँ सत्यस्वरूप परमात्माके जिस अमृत एवं अविनाशी परमपदका साक्षात्कार करते हैं, उसका रूप कैसा है? क्या वह सफेद-सा, लाल-सा, काजल-सा काला या सुवर्ण-जैसे पीले रंगका प्रतीत होता है? ।। २५ ।।

सनत्सुजात उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो
कृष्णमायसमर्कवर्णम् ।
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे
नैतत् समुद्रे सलिलं बिभर्ति ।। २६ ।।

सनत्सुजातने कहा—यद्यपि श्वेत, लाल, काले, लोहेके सदृश अथवा सूर्यके समान प्रकाशमान अनेकों प्रकारके रूप प्रतीत होते हैं, तथापि ब्रह्मका वास्तविक रूप न पृथ्वीमें है, न आकाशमें। समुद्रका जल भी उस रूपको नहीं धारण करता ।। २६ ।।

न तारकासु न च विद्युदाश्रितं
न चाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य ।
न चापि वायौ न च देवतासु
नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्ये ।। २७ ।।

इस ब्रह्मका वह रूप न तारोंमें है, न बिजलीके आश्रित है और न बादलोंमें ही दिखायी देता है। इसी प्रकार वायु, देवगण, चन्द्रमा और सूर्यमें भी वह नहीं देखा जाता ।।

नैवर्क्षु तन्न यजुष्षु नाप्यथर्वसु
न दृश्यते वै विमलेषु सामसु ।
रथन्तरे बार्हद्रथे वापि राजन्
महाव्रते नैव दृश्येद् ध्रुवं तत् ।। २८ ।।

राजन्! ऋग्वेदकी ऋचाओंमें, यजुर्वेदके मन्त्रोंमें, अथर्ववेदके सूक्तोंमें तथा विशुद्ध सामवेदमें भी वह नहीं दृष्टिगोचर होता। रथन्तर और बार्हद्रथ नामक साममें तथा महान् व्रतमें भी उसका दर्शन नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्म नित्य है ।। २८ ।।

अपारणीयं तमसः परस्तात्
तदन्तकोऽप्येति विनाशकाले ।
अणीयो रूपं क्षुरधारया समं
महच्च रूपं तद् वै पर्वतेभ्यः ।। २९ ।।

ब्रह्मके उस स्वरूपका कोई पार नहीं पा सकता। वह अज्ञानरूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत है। महाप्रलयमें सबका अन्त करनेवाला काल भी उसीमें लीन हो जाता है। वह रूप अस्तुरेकी धारके समान अत्यन्त सूक्ष्म और पर्वतोंसे भी महान् है (अर्थात् वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और महान्से भी महान् है) ।। २९ ।।

सा प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद् ब्रह्म तद् यशः ।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात् प्रलयं यान्ति तत्र हि ।। ३० ।।

वही सबका आधार है, वही अमृत है, वही लोक, वही यश तथा वही ब्रह्म है। सम्पूर्ण भूत उसीसे प्रकट हुए और उसीमें लीन होते हैं ।। ३० ।।

अनामयं तन्महदुद्यतं यशो
वाचो विकारं कवयो वदन्ति ।
यस्मिन् जगत् सर्वमिदं प्रतिष्ठितं
ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ।। ३१ ।।

विद्वान् कहते हैं, कार्यरूप जगत् वाणीका विकारमात्र है; किंतु जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है, वह ब्रह्म रोग, शोक और पापसे रहित है और उसका महान् यश सर्वत्र फैला हुआ है। उस नित्य कारण-स्वरूप ब्रह्मको जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४४ ।।

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

गुण-दोषोंके लक्षणोंका वर्णन और ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन

सनत्सुजात उवाच

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मानः परासुता ।
ईर्ष्या मोहो विधित्सा च कृपासूया जुगुप्सुता ।। १ ।।
द्वादशैते महादोषा मनुष्यप्राणनाशनाः ।

सनत्सुजातजी कहते हैं—राजन्! शोक, क्रोध, लोभ, काम, मान, अत्यन्त निद्रा, ईर्ष्या, मोह, तृष्णा, कायरता, गुणोंमें दोष देखना और निन्दा करना—ये बारह महान् दोष मनुष्योंके प्राणनाशक हैं ।। १½ ।।

एकैकमेते राजेन्द्र मनुष्यान् पर्युपासते ।
यैराविष्टो नरः पापं मूढसंज्ञो व्यवस्यति ।। २ ।।

राजेन्द्र! क्रमशः एकके पीछे दूसरा आकर ये सभी दोष मनुष्योंको प्राप्त होते जाते हैं, जिनके वशमें होकर मूढ़बुद्धि मानव पापकर्म करने लगता है ।। २ ।।

स्पृहयालुरुग्रः परुषो वा वदान्यः
क्रोधं बिभ्रन्मनसा वै विकत्थी ।
नृशंसधर्माः षडिमे जना वै
प्राप्याप्यर्थं नोत सभाजयन्ते ।। ३ ।।

लोलुप, क्रूर, कठोरभाषी, कृपण, मन-ही-मन क्रोध करनेवाले और अधिक आत्मप्रशंसा करनेवाले—ये छः प्रकारके मनुष्य निश्चय ही क्रूर कर्म करनेवाले होते हैं। ये प्राप्त हुई सम्पत्तिका उचित उपयोग नहीं करते ।। ३ ।।

सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी
दत्त्वा विकत्थी कृपणो दुर्बलश्च ।
बहुप्रशंसी वन्दितद्विट् सदैव
सप्तैवोक्ताः पापशीला नृशंसाः ।। ४ ।।

सम्भोगमें मन लगानेवाले, विषमता रखनेवाले, अत्यन्त अभिमानी, दान देकर आत्मश्लाघा करनेवाले, कृपण, असमर्थ होकर भी अपनी बहुत बड़ाई करनेवाले और सम्मान्य पुरुषोंसे सदा द्वेष रखनेवाले—ये सात प्रकारके मनुष्य ही पापी और क्रूर कहे गये हैं ।। ४ ।।

धर्मश्च सत्यं च तपो दमश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया ।
दानं श्रुतं चैव धृतिः क्षमा च

महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ ५ ॥

धर्म, सत्य, तप, इन्द्रियसंयम, डाह न करना, लज्जा, सहनशीलता, किसीके दोष न देखना, दान, शास्त्रज्ञान, धैर्य और क्षमा—ये ब्राह्मणके बारह महान् व्रत हैं ॥ ५ ॥

यो नैतेभ्यः प्रच्यवेद् द्वादशभ्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वान्वितो यो
नास्य स्वमस्तीति च वेदितव्यम् ॥ ६ ॥

जो इन बारह व्रतोंसे कभी च्युत नहीं होता, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर शासन कर सकता है। इनमेंसे तीन, दो या एक गुणसे भी जो युक्त है, उसका अपना कुछ भी नहीं होता—ऐसा समझना चाहिये (अर्थात् उसकी किसी भी वस्तुमें ममता नहीं होती) ॥ ६ ॥

दमस्त्यागोऽथाप्रमाद इत्येतेष्वमृतं स्थितम् ।
एतानि ब्रह्ममुख्यानां ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियनिग्रह, त्याग और अप्रमाद—इनमें अमृतकी स्थिति है। ब्रह्म ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, उन बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके ये ही मुख्य साधन हैं ॥ ७ ॥

सद् वासद् वा परीवादो ब्राह्मणस्य न शस्यते ।
नरकप्रतिष्ठास्ते वै स्युर्य एवं कुर्वते जनाः ॥ ८ ॥

सच्ची हो या झूठी, दूसरोंकी निन्दा करना ब्राह्मणको शोभा नहीं देता। जो लोग दूसरोंकी निन्दा करते हैं, वे अवश्य ही नरकमें पड़ते हैं ॥ ८ ॥

मदोऽष्टादशदोषः स स्यात् पुरा योऽप्रकीर्तितः ।
लोकद्वेष्यं प्रातिकूल्यमभ्यसूया मृषा वचः ॥ ९ ॥

मदके अठारह दोष हैं, जो पहले सूचित करके भी स्पष्टरूपसे नहीं बताये गये थे—लोकविरोधी कार्य करना, शास्त्रके प्रतिकूल आचरण करना, गुणियोंपर दोषारोपण, असत्यभाषण ॥ ९ ॥

कामक्रोधौ पारतन्त्र्यं परिवादोऽथ पैशुनम् ।
अर्थहानिर्विवादश्च मात्सर्यं प्राणिपीडनम् ॥ १० ॥

काम, क्रोध, पराधीनता, दूसरोंके दोष बताना, चुगली करना, धनका (दुरुपयोगसे) नाश, कलह, डाह, प्राणियोंको कष्ट पहुँचाना ॥ १० ॥

ईर्ष्या मोदोऽतिवादश्च संज्ञानाशोऽभ्यसूयिता ।
तस्मात् प्राज्ञो न माद्येत सदा ह्येतद् विगर्हितम् ॥ ११ ॥

ईर्ष्या, हर्ष, बहुत बकवाद, विवेकशून्यता तथा गुणोंमें दोष देखनेका स्वभाव। इसलिये विद्वान् पुरुषको मदके वशीभूत नहीं होना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंने इस मदको सदा ही निन्दित बताया है ॥ ११ ॥

सौहृदे वै षड् गुणा वेदितव्याः

प्रिये हृष्यन्त्यप्रिये च व्यथन्ते ।
स्यादात्मनः सुचिरं याचते यो
ददात्ययाच्यमपि देयं खलु स्यात् ।
इष्टान् पुत्रान् विभवान् स्वांश्चदारा-
नभ्यर्थितश्चार्हति शुद्धभावः ।। १२ ।।

सौहार्द (मित्रता)-के छः गुण हैं, जो अवश्य ही जाननेयोग्य हैं। सुहृद्का प्रिय होनेपर हर्षित होना और अप्रिय होनेपर कष्टका अनुभव करना—ये दो गुण हैं। तीसरा गुण यह है कि अपना जो कुछ चिरसंचित धन है, उसे मित्रके माँगनेपर दे डाले। मित्रके लिये अयाच्य वस्तु भी अवश्य देनेयोग्य हो जाती है और तो क्या, सुहृद्के माँगनेपर वह शुद्धभावसे अपने प्रिय पुत्र, वैभव तथा पत्नीको भी उसके हितके लिये निछावर कर देता है ।। १२ ।।

त्यक्तद्रव्यः संवसेन्नेह कामाद्
भुङ्क्ते कर्म स्वाशिषं बाधते च ।। १३ ।।

मित्रको धन देकर उसके यहाँ प्रत्युपकार पानेकी कामनासे निवास न करे—यह चौथा गुण है। अपने परिश्रमसे उपार्जित धनका उपभोग करे (मित्रकी कमाईपर अव-लम्बित न रहे)—यह पाँचवाँ गुण है तथा मित्रकी भलाईके लिये अपने भलेकी परवा न करे—यह छठा गुण है ।। १३ ।।

द्रव्यवान् गुणवानेवं त्यागी भवति सात्त्विकः ।
पञ्च भूतानि पञ्चभ्यो निवर्तयति तादृशः ।। १४ ।।

जो धनी गृहस्थ इस प्रकार गुणवान्, त्यागी और सात्त्विक होता है, वह अपनी पाँचों इन्द्रियोंसे पाँचों विषयोंको हटा देता है ।। १४ ।।

एतत् समृद्धमप्यूर्ध्वं तपो भवति केवलम् ।
सत्त्वात् प्रच्यवमानानां संकल्पेन समाहितम् ।। १५ ।।

जो (वैराग्यकी कमीके कारण) सत्त्वसे भ्रष्ट हो गये हैं, ऐसे मनुष्योंके दिव्य लोकोंकी प्राप्तिके संकल्पसे संचित किया हुआ यह इन्द्रियनिग्रहरूप तप समृद्ध होनेपर भी केवल ऊर्ध्वलोकोंकी प्राप्तिका कारण होता है [मुक्तिका नहीं] ।। १५ ।।

यतो यज्ञाः प्रवर्धन्ते सत्यस्यैवावरोधनात् ।
मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा ।। १६ ।।

क्योंकि सत्यस्वरूप ब्रह्मका बोध न होनेसे ही इन सकाम यज्ञोंकी वृद्धि होती है। किसीका यज्ञ मनसे, किसीका वाणीसे और किसीका क्रियाके द्वारा सम्पन्न होता है ।। १६ ।।

संकल्पसिद्धं पुरुषमसंकल्पोऽधितिष्ठति ।
ब्राह्मणस्य विशेषण किञ्चान्यदपि मे शृणु ।। १७ ।।

संकल्पसिद्ध अर्थात् सकामपुरुषसे संकल्परहित यानी निष्कामपुरुषकी स्थिति ऊँची होती है; किंतु ब्रह्मवेत्ताकी स्थिति उससे भी विशिष्ट है। इसके सिवा एक बात और बताता हूँ, सुनो ।। १७ ।।

अध्यापयेन्महदेतद् यशस्यं
वाचो विकाराः कवयो वदन्ति ।
अस्मिन् योगे सर्वमिदं प्रतिष्ठितं
ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ।। १८ ।।

यह महत्त्वपूर्ण शास्त्र परम यशरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है, इसे शिष्योंको अवश्य पढ़ाना चाहिये। परमात्मासे भिन्न यह सारा दृश्य-प्रपंच वाणीका विकारमात्र है—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। इस योगशास्त्रमें यह परमात्मविषयक सम्पूर्ण ज्ञान प्रतिष्ठित है; इसे जो जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं ।। १८ ।।

न कर्मणा सुकृतेनैव राजन्
सत्यं जयेज्जुहुयाद् वा यजेद् वा ।
नैतेन बालोऽमृत्युमभ्येति राजन्
रतिं चासौ न लभत्यन्तकाले ।। १९ ।।

राजन्! (निष्कामभावके बिना किये हुए) केवल पुण्यकर्मके द्वारा सत्यस्वरूप ब्रह्मको नहीं जीता जा सकता। अथवा जो हवन या यज्ञ किया जाता है, उससे भी अज्ञानी पुरुष अमरत्व—मुक्तिको नहीं पा सकता तथा अन्तकालमें उसे शान्ति भी नहीं मिलती ।। १९ ।।

तूष्णीमेक उपासीत चेष्टेत मनसापि न ।
तथा संस्तुतिनिन्दाभ्यां प्रीतिरोषौ विवर्जयेत् ।। २० ।।

इसलिये सब प्रकारकी चेष्टासे रहित होकर एकान्तमें उपासना करे, मनसे भी कोई चेष्टा न होने दे तथा स्तुतिमें राग और निन्दामें द्वेष न करे ।। २० ।।

अत्रैव तिष्ठन् क्षत्रिय ब्रह्माविशति पश्यति ।
वेदेषु चानुपूर्व्येण एतद् विद्वन् ब्रवीमि ते ।। २१ ।।

राजन्! उपर्युक्त साधन करनेसे मनुष्य यहाँ ही ब्रह्मका साक्षात्कार करके उसमें विलीन हो जाता है। विद्वन्! वेदोंमें क्रमशः विचार करके जो मैंने जाना है, वही तुम्हें बता रहा हूँ ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४५ ।।

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

परमात्माके स्वरूपका वर्णन और योगीजनोंके द्वारा उनके साक्षात्कारका प्रतिपादन

सनत्सुजात उवाच

यत् तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद् यशः ।
तद् वै देवा उपासते तस्मात् सूर्यो विराजते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। १ ।।

सनत्सुजातजी कहते हैं—राजन्! जो शुद्ध ब्रह्म है, वह महान् ज्योतिर्मय, देदीप्यमान एवं विशाल यशरूप है। सब देवता उसीकी उपासना करते हैं। उसीके प्रकाशसे सूर्य प्रकाशित होते हैं, उस सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं ।। १ ।।

शुक्राद् ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुक्रेण वर्धते ।
तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्येऽतप्तं तपति तापनम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। २ ।।

शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्मसे हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति होती है तथा उसीसे वह वृद्धिको प्राप्त होता है। वह शुद्ध ज्योतिर्मय ब्रह्म ही सूर्यादि सम्पूर्ण ज्योतियोंके भीतर स्थित होकर सबको प्रकाशित कर रहा है और तपा रहा है; वह स्वयं सब प्रकारसे अतप्त और स्वयंप्रकाश है, उसी सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं ।। २ ।।

अपोऽथ अद्भ्यः सलिलस्य मध्ये
उभौ देवौ शिश्रियातेऽन्तरिक्षे ।
अतन्द्रितः सवितुर्विवस्वा-
नुभौ बिभर्ति पृथिवीं दिवं च ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। ३ ।।

जलकी भाँति एकरस परब्रह्म परमात्मामें स्थित पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे अत्यन्त स्थूल पांचभौतिक शरीरके हृदयाकाशमें दो देव—ईश्वर और जीव उसको आश्रय बनाकर रहते हैं। सबको उत्पन्न करनेवाला सर्वव्यापी परमात्मा सदैव जाग्रत् रहता है। वही इन दोनोंको तथा पृथ्वी और द्युलोकको भी धारण करता है। उस सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं ।। ३ ।।

उभौ च देवौ पृथिवीं दिवं च

दिशः शुक्रो भुवनं बिभर्ति ।
तस्माद् दिशः सरितश्च स्रवन्ति
तस्मात् समुद्रा विहिता महान्ताः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। ४ ।।

उक्त दोनों देवताओंको, पृथ्वी और आकाशको, सम्पूर्ण दिशाओंको तथा समस्त लोकसमुदायको वह शुद्ध ब्रह्म ही धारण करता है। उसी परब्रह्मसे दिशाएँ प्रकट हुई हैं, उसीसे सरिताएँ प्रवाहित होती हैं तथा उसीसे बड़े-बड़े समुद्र प्रकट हुए हैं। उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं ।। ४ ।।

चक्रे रथस्य तिष्ठन्तोऽध्रुवस्याव्ययकर्मणः ।
केतुमन्तं वहन्त्यश्वास्तं दिव्यमजरं दिवि ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। ५ ।।

जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका संघात—शरीर विनाशशील है, जिसके कर्म अपने-आप नष्ट होनेवाले नहीं हैं, ऐसे इस शरीररूप रथके चक्रकी भाँति इसे घुमानेवाले कर्मसंस्कारसे युक्त मनमें जुते हुए इन्द्रियरूप घोड़े उस हृदयाकाशमें स्थित ज्ञानस्वरूप दिव्य अविनाशी जीवात्माको जिस सनातन परमेश्वरके निकट ले जाते हैं, उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं[१] ।। ५ ।।

न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् ।
मनीषयाथो मनसा हृदा च
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। ६ ।।

उस परमात्माका स्वरूप किसी दूसरेकी तुलनामें नहीं आ सकता; उसे कोई चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकता। जो निश्चयात्मिका बुद्धिसे, मनसे और हृदयसे उसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। उस सनातन भगवान्‌का योगीजन साक्षात्कार करते हैं[२] ।। ६ ।।

द्वादशपूगां सरितं पिबन्तो देवरक्षिताम् ।
मध्वीक्षन्तश्च ते तस्याः संचरन्तीह घोराम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। ७ ।।

जो दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन बारहके समुदायसे युक्त है तथा जो परमात्मासे सुरक्षित है, उस संसाररूप भयंकर नदीके विषयरूप मधुर जलको

देखने और पीनेवाले लोग उसीमें गोता लगाते रहते हैं। इससे मुक्त करनेवाले उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ।। ७ ।।

तदर्धमासं पिबति संचित्य भ्रमरो मधु ।
ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। ८ ।।

जैसे शहदकी मक्खी आधे मासतक शहदका संग्रह करके फिर आधे मासतक उसे पीती रहती है, उसी प्रकार यह भ्रमणशील संसारी जीव इस जन्ममें किये हुए संचित कर्मको परलोकमें (विभिन्न योनियोंमें) भोगता है। परमात्माने समस्त प्राणियोंके लिये उनके कर्मानुसार कर्मफलभोगरूप हविकी अर्थात् समस्त भोग-पदार्थोंकी व्यवस्था कर रखी है। उस सनातन भगवान्का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ।। ८ ।।

हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपद्य ह्यपक्षकाः ।
ते तत्र पक्षिणो भूत्वा प्रपतन्ति यथा दिशम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। ९ ।।

जिसके विषयरूपी पत्ते स्वर्णके समान मनोरम दिखायी पड़ते हैं, उस संसाररूपी अश्वत्थवृक्षपर आरूढ़ होकर पंखहीन जीव कर्मरूपी पंख धारणकर अपनी वासनाके अनुसार विभिन्न योनियोंमें पड़ते हैं अर्थात् एक योनिसे दूसरी योनिमें गमन करते हैं; किंतु योगीजन उस सनातन परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ।। ९ ।।

पूर्णात् पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णात् पूर्णानि चक्रिरे ।
हरन्ति पूर्णात् पूर्णानि पूर्णमेवावशिष्यते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। १० ।।

पूर्ण परमेश्वरसे पूर्ण—चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं, पूर्ण सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही वे पूर्ण प्राणी चेष्टा करते हैं, फिर पूर्णसे ही पूर्णब्रह्ममें उनका उपसंहार (विलय) होता है तथा अन्तमें एकमात्र पूर्णब्रह्म ही शेष रह जाता है। उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ।। १० ।।

तस्माद् वै वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रयतः सदा ।
तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्मिंश्च प्राण आततः ।। ११ ।।

उस पूर्णब्रह्मसे ही वायुका आविर्भाव हुआ है और उसीमें वह चेष्टा करता है। उसीसे अग्नि और सोमकी उत्पत्ति हुई है तथा उसीमें यह प्राण विस्तृत हुआ है ।।

सर्वमेव ततो विद्यात् तत् तद् वक्तुं न शक्नुमः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। १२ ।।

कहाँतक गिनावें, हम अलग-अलग वस्तुओंका नाम बतानेमें असमर्थ हैं। तुम इतना ही समझो कि सब कुछ उस परमात्मासे ही प्रकट हुआ है। उस सनातन भगवान्‌का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ।। १२ ।।

अपानं गिरति प्राणः प्राणं गिरति चन्द्रमाः ।
आदित्यो गिरते चन्द्रमादित्यं गिरते परः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। १३ ।।

अपानको प्राण अपनेमें विलीन कर लेता है, प्राणको चन्द्रमा, चन्द्रमाको सूर्य और सूर्यको परमात्मा अपनेमें विलीन कर लेता है; उस सनातन परमेश्वरका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ।। १३ ।।

एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
तं चेत् संततमूर्ध्वाय न मृत्युर्नामृतं भवेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। १४ ।।

इस संसार-सलिलसे ऊपर उठा हुआ हंसरूप परमात्मा अपने एक पाद (जगत्)-को ऊपर नहीं उठा रहा है; यदि उसे भी वह ऊपर उठा ले तो सबका बन्ध और मोक्ष सदाके लिये मिट जाय। उस सनातन परमेश्वरका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ।। १४ ।।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
लिङ्गस्य योगेन स याति नित्यम् ।
तमीशमीड्यमनुकल्पमाद्यं
पश्यन्ति मूढा न विराजमानम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। १५ ।।

हृदयदेशमें स्थित वह अंगुष्ठमात्र जीवात्मा सूक्ष्म (वहीं अन्तर्यामीरूपसे स्थित) शरीरके सम्बन्धसे सदा जन्म-मरणको प्राप्त होता है। उस सबके शासक, स्तुतिके योग्य, सर्वसमर्थ, सबके आदिकारण एवं सर्वत्र विराज-मान परमात्माको मूढ़ जीव नहीं देख पाते; किंतु योगीजन उस सनातन परमेश्वरका साक्षात्कार करते हैं ।। १५ ।।

असाधना वापि ससाधना वा
समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु ।
समानमेतदमृतस्येतरस्य
मुक्तास्तत्र मध्व उत्सं समापुः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। १६ ।।

कोई साधनसम्पन्न हों या साधनहीन, वह ब्रह्म सब मनुष्योंमें समानरूपसे देखा जाता है। वह (अपनी ओरसे) बद्ध और मुक्त दोनोंके ही लिये समान है।

अन्तर इतना ही है कि इन दोनोंमेंसे जो मुक्त पुरुष हैं, वे ही आनन्दके मूलस्रोत परमात्माको प्राप्त होते हैं (दूसरे नहीं), उसी सनातन भगवान्‌का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ।। १६ ।।

उभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति
तदा हुतं चाहुतमग्निहोत्रम् ।
मा ते ब्राह्मी लघुतामादधीत
प्रज्ञानं स्यान्नाम धीरा लभन्ते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। १७ ।।

ज्ञानी पुरुष ब्रह्मविद्याके द्वारा इस लोक और परलोक दोनोंके तत्त्वको जानकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। उस समय उसके द्वारा यदि अग्निहोत्र आदि कर्म न भी हुए हों तो भी वे पूर्ण हुए समझे जाते हैं। राजन्! यह ब्रह्मविद्या तुममें लघुता न आने दे तथा इसके द्वारा तुम्हें वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो, जिसे धीर पुरुष ही प्राप्त करते हैं। उसी ब्रह्मविद्याके द्वारा योगीलोग उस सनातन परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ।। १७ ।।

एवंरूपो महात्मा स पावकं पुरुषो गिरन् ।
यो वै तं पुरुषं वेद तस्येहार्थो न रिष्यते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। १८ ।।

जो ऐसा महात्मा पुरुष है, वह भोक्ताभावको अपनेमें विलीन करके उस पूर्ण परमेश्वरको जान लेता है। इस लोकमें उसका प्रयोजन नष्ट नहीं होता [अर्थात् वह कृतकृत्य हो जाता है]। उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ।। १८ ।।

यः सहस्रं सहस्राणां पक्षान् संतत्य सम्पतेत् ।
मध्यमे मध्य आगच्छेदपि चेत् स्यान्मनोजवः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। १९ ।।

कोई मनके समान वेगवाला ही क्यों न हो और दस लाख भी पंख लगाकर क्यों न उड़े, अन्तमें उसे हृदयस्थित परमात्मामें ही आना पड़ेगा। उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ।। १९ ।।

न दर्शने तिष्ठति रूपमस्य
पश्यन्ति चैनं सुविशुद्धसत्त्वाः ।
हितो मनीषी मनसा न तप्यते
ये प्रव्रजेयुरमृतास्ते भवन्ति ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। २० ।।

इस परमात्माका स्वरूप सबके प्रत्यक्ष नहीं होता; जिनका अन्तःकरण विशुद्ध है, वे ही इसे देख पाते हैं। जो सबके हितैषी और मनको वशमें करनेवाले हैं तथा जिनके मनमें कभी दुःख नहीं होता एवं जो संसारके सब सम्बन्धोंका सर्वथा त्याग कर देते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ।। २० ।।

गूहन्ति सर्पा इव गह्वराणि
स्वशिक्षया स्वेन वृत्तेन मर्त्याः ।
तेषु प्रमुह्यन्ति जना विमूढा
यथाध्वानं मोहयन्ते भयाय ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। २१ ।।

जैसे साँप बिलोंका आश्रय ले अपनेको छिपाये रहते हैं, उसी प्रकार दम्भी मनुष्य अपनी शिक्षा और व्यवहारकी आड़में अपने दोषोंको छिपाये रखते हैं। जैसे ठग रास्ता चलनेवालोंको भयमें डालनेके लिये दूसरा रास्ता बतलाकर मोहित कर देते हैं, मूर्ख मनुष्य उनपर विश्वास करके अत्यन्त मोहमें पड़ जाते हैं; इसी प्रकार जो परमात्माके मार्गमें चलनेवाले हैं, उन्हें भी दम्भी पुरुष भयमें डालनेके लिये मोहित करनेकी चेष्टा करते हैं, किंतु योगीजन भगवत्कृपासे उनके फंदेमें न आकर उस सनातन परमात्माका ही साक्षात्कार करते हैं ।। २१ ।।

नाहं सदासत्कृतः स्यां न मृत्यु-
र्न चामृत्युरमृतं मे कुतः स्यात् ।
सत्यानृते सत्यसमानबन्धे
सतश्च योनिरसतश्चैक एव ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। २२ ।।

राजन्! मैं कभी किसीके असत्कारका पात्र नहीं होता। न मेरी मृत्यु होती है न जन्म, फिर मोक्ष किसका और कैसे हो [क्योंकि मैं नित्यमुक्त ब्रह्म हूँ]। सत्य और असत्य सब कुछ मुझ सनातन समब्रह्ममें स्थित हैं। एकमात्र मैं ही सत् और असत्की उत्पत्तिका स्थान हूँ। मेरे स्वरूपभूत उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ।। २२ ।।

न साधुना नोत असाधुना वा-
समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु ।
समानमेतदमृतस्य विद्या-
देवंयुक्तो मधु तद् वै परीप्सेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। २३ ।।

परमात्माका न तो साधुकर्मसे सम्बन्ध है और न असाधुकर्मसे। यह विषमता तो देहाभिमानी मनुष्योंमें ही देखी जाती है। ब्रह्मका स्वरूप सर्वत्र समान ही समझना चाहिये। इस प्रकार ज्ञानयोगसे युक्त होकर आनन्दमय ब्रह्मको ही पानेकी इच्छा करनी चाहिये। उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ।। २३ ।।

नास्यातिवादा हृदयं तापयन्ति
नानधीतं नाहुतमग्निहोत्रम् ।
मनो ब्राह्मी लघुतामादधीत
प्रज्ञां चास्मै नाम धीरा लभन्ते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। २४ ।।

इस ब्रह्मवेत्ता पुरुषके हृदयको निन्दाके वाक्य संतप्त नहीं करते। 'मैंने स्वाध्याय नहीं किया, अग्निहोत्र नहीं किया' इत्यादि बातें भी उसके मनमें तुच्छ भाव नहीं उत्पन्न करतीं। ब्रह्मविद्या शीघ्र ही उसे वह स्थिरबुद्धि प्रदान करती है, जिसे धीर पुरुष ही प्राप्त करते हैं। उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ।। २४ ।।

एवं यः सर्वभूतेषु आत्मानमनुपश्यति ।
अन्यत्रान्यत्र युक्तेषु किं स शोचेत् ततः परम् ।। २५ ।।

इस प्रकार जो समस्त भूतोंमें परमात्माको निरन्तर देखता है, वह ऐसी दृष्टि प्राप्त होनेके अनन्तर अन्यान्य विषयभोगोंमें आसक्त मनुष्योंके लिये क्या शोक करे? ।।

यथोदपाने महति सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
एवं सर्वेषु वेदेषु आत्मानमनुजानतः ।। २६ ।।

जैसे सब ओर जलसे परिपूर्ण बड़े जलाशयके प्राप्त होनेपर जलके लिये अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार आत्मज्ञानीके लिये सम्पूर्ण वेदोंमें कुछ भी प्राप्त करनेयोग्य शेष नहीं रह जाता ।।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो महात्मा
न दृश्यते सौहृदि संनिविष्टः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितश्च
स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ।। २७ ।।

यह अंगुष्ठमात्र अन्तर्यामी परमात्मा सबके हृदयके भीतर स्थित है, किंतु सबको दिखायी नहीं देता। वह अजन्मा, चराचरस्वरूप और दिन-रात सावधान रहनेवाला है। जो उसे जान लेता है, वह ज्ञानी परमानन्दमें निमग्न हो जाता है ।। २७ ।।

अहमेव स्मृतो माता पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः ।
आत्माहमपि सर्वस्य यच्च नास्ति यदस्ति च ।। २८ ।।

धृतराष्ट्र! मैं ही सबकी माता और पिता माना गया हूँ, मैं ही पुत्र हूँ और सबका आत्मा भी मैं ही हूँ। जो है, वह भी और जो नहीं है, वह भी मैं ही हूँ ।। २८ ।।

पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत ।
ममैव यूयामात्मस्था न मे यूयं न वो वयम् ।। २९ ।।

भारत! मैं ही तुम्हारा बूढ़ा पितामह, पिता और पुत्र भी हूँ। तुम सब लोग मेरी ही आत्मामें स्थित हो, फिर भी (वास्तवमें) न तुम हमारे हो और न हम तुम्हारे हैं ।। २९ ।।

आत्मैव स्थानं मम जन्म चात्मा
ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितोऽहं
मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ।। ३० ।।

आत्मा ही मेरा स्थान है और आत्मा ही मेरा जन्म (उद्गम) है। मैं सबमें ओतप्रोत और अपनी अजर (नित्य-नूतन) महिमामें स्थित हूँ। मैं अजन्मा, चराचर-स्वरूप तथा दिन-रात सावधान रहनेवाला हूँ। मुझे जानकर ज्ञानी पुरुष परम प्रसन्न हो जाता है ।। ३० ।।

अणोरणीयान् सुमनाः सर्वभूतेषु जाग्रति ।
पितरं सर्वभूतेषु पुष्करे निहितं विदुः ।। ३१ ।।

परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तथा विशुद्ध मनवाला है। वही सब भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रकाशित है। सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयकमलमें स्थित उस परमपिताको ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४६ ।।

---

१. प्रस्तुत रूपकका कठोपनिषद्‌के प्रथम अध्यायकी तीसरी वल्लीके तीसरेसे लेकर नवें श्लोकतक विस्तृत विवरण मिलता है।

२. इससे प्रायः मिलता-जुलता एक श्लोक कठोपनिषद्‌में मिलता है—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् । हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।

(२।९।३)

(यानसंधिपर्व)

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

पाण्डवोंके यहाँसे लौटे हुए संजयका कौरवसभामें आगमन

वैशम्पायन उवाच

एवं सनत्सुजातेन विदुरेण च धीमता ।
सार्धं कथयतो राज्ञः सा व्यतीयाय शर्वरी ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार महर्षि सनत्सुजात और बुद्धिमान् विदुरजीके साथ बातचीत करते हुए राजा धृतराष्ट्रकी सारी रात बीत गयी ।। १ ।।

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां राजानः सर्व एव ते ।
सभामाविविशुर्हृष्टाः सूतस्योपदिदृक्षया ।। २ ।।

वह रात बीतनेपर जब प्रभातकाल आया, तब सब राजालोग सूतपुत्र संजयको देखनेके लिये बड़े हर्षके साथ सभामें आये ।। २ ।।

शुश्रूषमाणाः पार्थानां वाचो धर्मार्थसंहिताः ।
धृतराष्ट्रमुखाः सर्वे ययू राजसभां शुभाम् ।। ३ ।।
सुधावदातां विस्तीर्णां कनकाजिरभूषिताम् ।
चन्द्रप्रभां सुरुचिरां सिक्तां चन्दनवारिणा ।। ४ ।।

धृतराष्ट्र आदि समस्त कौरवोंने भी पाण्डवोंकी धर्मार्थयुक्त बातें सुननेकी इच्छासे उस सुन्दर एवं विशाल राजसभामें प्रवेश किया, जो चूनेसे पुती होनेके कारण अत्यन्त उज्ज्वल दिखायी देती थी। सुवर्णमय प्रांगण उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह सभा चन्द्रमाकी श्वेत रश्मियोंके समान प्रकाशित हो रही थी। वह देखनेमें अत्यन्त मनोहर थी और उसके भीतर चन्दनमिश्रित जलसे छिड़काव किया गया था ।। ३-४ ।।

रुचिरैरासनैस्तीर्णां काञ्चनैर्दारवैरपि ।
अश्मसारमयैर्दान्तैः स्वास्तीर्णैः सोत्तरच्छदैः ।। ५ ।।

उस राजसभामें सुवर्ण, काष्ठ, मणि तथा हाथीदाँतके बने हुए सुन्दर-सुन्दर आसन सुरुचिपूर्ण ढंगसे बिछे हुए थे और उनके ऊपर चादरें फैला दी गयी थीं ।। ५ ।।

भीष्मो द्रोणः कृपः शल्यः कृतवर्मा जयद्रथः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाह्लिकः ।। ६ ।।
विदुरश्च महाप्राज्ञो युयुत्सुश्च महारथः ।

सर्वे च सहिताः शूराः पार्थिवा भरतर्षभ ।। ७ ।।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां शुभाम् ।

भरतश्रेष्ठ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, शल्य, कृतवर्मा, जयद्रथ, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, परम बुद्धिमान् विदुर, महारथी युयुत्सु तथा अन्य सभी शूरवीर नरेश धृतराष्ट्रको आगे करके उस सुन्दर सभामें एक साथ प्रविष्ट हुए ।। ६-७ १/२ ।।

दुःशासनश्चित्रसेनः शकुनिश्चापि सौबलः ।। ८ ।।
दुर्मुखो दुःसहः कर्ण उलूकोऽथ विविंशतिः ।
कुरुराजं पुरस्कृत्य दुर्योधनममर्षणम् ।। ९ ।।
विविशुस्तां सभां राजन् सुराः शक्रसदो यथा ।

राजन्! दुःशासन, चित्रसेन, सुबलपुत्र शकुनि, दुर्मुख, दुःसह, कर्ण, उलूक और विविंशति—इन सबने अमर्षमें भरे हुए कुरुराज दुर्योधनको आगे करके उस राजसभामें ठीक वैसे ही प्रवेश किया, जैसे देवतालोग इन्द्रकी सभामें प्रवेश करते हैं ।। ८-९ १/२ ।।

आविशद्भिस्तदा राजञ्शूरैः परिघबाहुभिः ।। १० ।।
शुशुभे सा सभा राजन् सिंहैरिव गिरेर्गुहा ।

जनमेजय! उस समय परिघके समान सुदृढ़ भुजाओंवाले उन शूरवीर नरेशोंके प्रवेश करनेसे वह सभा उसी प्रकार शोभा पाने लगी, जैसे सिंहोंके प्रवेश करनेसे पर्वतकी कन्दरा सुशोभित होती है ।। १० १/२ ।।

ते प्रविश्य महेष्वासाः सभां सर्वे महौजसः ।। ११ ।।
आसनानि विचित्राणि भेजिरे सूर्यवर्चसः ।

महान् धनुष धारण करनेवाले तथा सूर्यके समान कान्तिमान् उन समस्त महातेजस्वी नरेशोंने सभामें प्रवेश करके वहाँ बिछे हुए विचित्र आसनोंको सुशोभित किया ।। ११ १/२ ।।

आसनस्थेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ।। १२ ।।
द्वाःस्थो निवेदयामास सूतपुत्रमुपस्थितम् ।
अयं स रथ आयाति योऽयासीत् पाण्डवान् प्रति ।। १३ ।।
दूतो नस्तूर्णमायातः सैन्धवैः साधुवाहिभिः ।

भारत! जब वे सब राजा आकर यथायोग्य आसनोंपर बैठ गये, तब द्वारपालने सूचना दी कि संजय राजसभाके द्वारपर उपस्थित हैं। यह वही रथ आ रहा है, जो पाण्डवोंके पास भेजा गया था। रथको अच्छी तरह वहन करनेवाले सिन्धुदेशीय घोड़ोंसे जुते हुए इस रथपर हमारे दूत संजय शीघ्र आ पहुँचे हैं ।। १२-१३ १/२ ।।

उपेयाय स तु क्षिप्रं रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ।
प्रविवेश सभां पूर्णां महीपालैर्महात्मभिः ।। १४ ।।

द्वारपालके इतना कहते ही कानोंमें कुण्डल धारण किये संजय रथसे नीचे उतरकर राजसभाके निकट आया और महामना महीपालोंसे भरी हुई उस सभाके भीतर प्रविष्ट हुआ ।। १४ ।।

संजय उवाच

प्राप्तोऽस्मि पाण्डवान् गत्वा तं विजानीत कौरवाः ।
यथावयः कुरून् सर्वान् प्रतिनन्दन्ति पाण्डवाः ।। १५ ।।

संजयने कहा—कौरवो! आपको विदित होना चाहिये कि मैं पाण्डवोंके यहाँ जाकर लौटा हूँ। पाण्डवलोग अवस्थाक्रमके अनुसार सभी कौरवोंका अभिनन्दन करते हैं ।। १५ ।।

अभिवादयन्ति वृद्धांश्च वयस्यांश्च वयस्यवत् ।
यूनश्चाभ्यवदन् पार्थाः प्रतिपूज्य यथावयः ।। १६ ।।

उन्होंने बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम कहलाया है। जो समवयस्क हैं, उनके साथ मित्रोचित बर्तावका संदेश दिया है तथा नवयुवकोंको भी उनकी अवस्थाके अनुसार सम्मान देकर उनसे प्रेमालापकी इच्छा प्रकट की है ।। १६ ।।

यथाहं धृतराष्ट्रेण शिष्टः पूर्वमितो गतः ।
अब्रुवं पाण्डवान् गत्वा तन्निबोधत पार्थिवाः ।। १७ ।।
(अब्रूतां तत्र धर्मेण वासुदेवधनंजयौ ।)

पहले यहाँसे जाते समय महाराज धृतराष्ट्रने मुझे जैसा उपदेश दिया था, पाण्डवोंके पास जाकर मैंने वैसी ही बातें कही हैं। राजाओ! अब भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने जो धर्मके अनुकूल उत्तर दिया है, उसे आपलोग ध्यान देकर सुनें ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयप्रत्यागमने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४७ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १७½ श्लोक हैं।]

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

संजयका कौरवसभामें अर्जुनका संदेश सुनाना

धृतराष्ट्र उवाच

पृच्छामि त्वां संजय राजमध्ये
किमब्रवीद् वाक्यमदीनसत्त्वः ।
धनंजयस्तात युधां प्रणेता
दुरात्मनां जीवितच्छिन्महात्मा ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—संजय! मैं इन राजाओंके बीच तुमसे यह पूछ रहा हूँ कि अनेक युद्धोंके संचालक तथा दुरात्माओंके जीवनका नाश करनेवाले उदारहृदय महात्मा अर्जुनने हमारे लिये कौन-सा संदेश भेजा है? ।। १ ।।

संजय उवाच

दुर्योधनो वाचमिमां शृणोतु
यदब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानः ।
युधिष्ठिरस्यानुमते महात्मा
धनंजयः शृण्वतः केशवस्य ।। २ ।।

संजय बोला—राजन्! युधिष्ठिरकी आज्ञासे युद्धके लिये उद्यत हुए महात्मा अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते-सुनते जो बात कही है, उसे दुर्योधन सुनें ।। २ ।।

अन्वत्रस्तो बाहुवीर्यं विदान
उपह्वरे वासुदेवस्य धीरः ।
अवोचन्मां योत्स्यमानः किरीटी
मध्ये ब्रूया धार्तराष्ट्रं कुरूणाम् ।। ३ ।।
संशृण्वतस्तस्य दुर्भाषिणो वै
दुरात्मनः सूतपुत्रस्य सूत ।
यो योद्धुमाशंसति मां सदैव
मन्दप्रज्ञः कालपक्वोऽतिमूढः ।। ४ ।।
ये वै राजानः पाण्डवायोधनाय
समानीताः शृण्वतां चापि तेषाम् ।
यथा समग्रं वचनं मयोक्तं
सहामात्यं श्रावयेथा नृपं तत् ।। ५ ।।

अपने बाहुबलको अच्छी तरह जाननेवाले धीर-वीर किरीटधारी अर्जुनने भावी युद्धके लिये उद्यत हो भगवान् श्रीकृष्णके समीप मुझसे इस प्रकार कहा है—'संजय! जो कालके

गालमें जानेवाला, मन्दबुद्धि एवं महामूर्ख सदा मेरे साथ युद्ध करनेके लिये डींग हाँकता रहता है, उस कटुभाषी दुरात्मा सूतपुत्र कर्णको सुनाकर तथा और भी जो-जो राजालोग पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेके लिये बुलाये गये हैं, उन सबको सुनाते हुए तुम कौरवोंकी मण्डलीमें मेरे द्वारा कही हुई सारी बातें मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनसे इस प्रकार कहना, जिससे वह अच्छी तरह सुन ले'— ।। ३—५ ।।

यथा नूनं देवराजस्य देवाः
शुश्रूषन्ते वज्रहस्तस्य सर्वे ।
तथाशृण्वन् पाण्डवाः सृंजयाश्च
किरीटिना वाचमुक्तां समर्थाम् ।। ६ ।।

जैसे सब देवता वज्रधारी देवराज इन्द्रकी बातें सुनना चाहते हैं, निश्चय ही उसी प्रकार समस्त सृंजय और पाण्डव अर्जुनकी मुझसे कही हुई ओजभरी बातें सुन रहे थे ।। ६ ।।

इत्यब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानो
गाण्डीवधन्वा लोहितपद्मनेत्रः ।
न चेद् राज्यं मुञ्चति धार्तराष्ट्रो
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ।। ७ ।।
अस्ति नूनं कर्म कृतं पुरस्ता-
दनिर्विष्टं पापकं धार्तराष्ट्रैः ।

उस समय गाण्डीवधारी अर्जुन युद्धके लिये उत्सुक जान पड़ते थे। उनके कमलसदृश नेत्र लाल हो गये थे। उन्होंने इस प्रकार कहा—'यदि दुर्योधन अजमीढकुलनन्दन महाराज युधिष्ठिरका राज्य नहीं छोड़ता है तो निश्चय ही धृतराष्ट्रके पुत्रोंका पूर्वजन्ममें किया हुआ कोई ऐसा पापकर्म प्रकट हुआ है, जिसका फल उन्हें भोगना है ।। ७½ ।।

येषां युद्धं भीमसेनार्जुनाभ्यां
तथाश्विभ्यां वासुदेवेन चैव ।। ८ ।।
शैनेयेन ध्रुवमात्तायुधेन
धृष्टद्युम्नेनाथ शिखण्डिना च ।
युधिष्ठिरेणेन्द्रकल्पेन चैव
योऽपध्यानान्निर्दहेद् गां दिवं च ।। ९ ।।

तभी तो उनका भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण, अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित सात्यकि, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा इन्द्रके समान तेजस्वी उन महाराज युधिष्ठिरके साथ युद्ध होनेवाला है, जो अनिष्टचिन्तन करते ही पृथ्वी तथा स्वर्गलोकको भी भस्म कर सकते हैं ।। ८-९ ।।

तैश्चेद् योद्धुं मन्यते धार्तराष्ट्रो
निर्वृत्तोऽर्थःसकलःपाण्डवानाम् ।

मा तत् कार्षीः पाण्डवस्यार्थहेतो-
रुपैहि युद्धं यदि मन्यसे त्वम् ।। १० ।।

यदि दुर्योधन चाहता है कि इन सब वीरोंके साथ कौरवोंका युद्ध हो तो ठीक है, इससे पाण्डवोंका सारा मनोरथ सिद्ध हो जायगा। तुम केवल पाण्डवोंके लाभके लिये संधि कराने या आधा राज्य दिलानेकी चेष्टा न करना। उस दशामें यदि ठीक समझो तो उससे कह देना —'दुर्योधन! तुम युद्धभूमिमें ही उतरो ।। १० ।।

यां तां वने दुःखशय्यामवात्सीत्
प्रव्राजितः पाण्डवो धर्मचारी ।
आप्नोतु तां दुःखतरामनर्था-
मन्त्यां श्य्यां धार्तराष्ट्रः परासुः ।। ११ ।।

धर्मात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने वनमें निर्वासित होकर जिस दुःखशय्यापर शयन किया है, दुर्योधन अपने प्राणोंका त्याग करके उससे भी अधिक दुःख-दायिनी और अनर्थकारिणी मृत्युकी अन्तिम शय्याको ग्रहण करे ।। ११ ।।

ह्रिया ज्ञानेन तपसा दमेन
शौर्येणाथो धर्मगुप्त्या धनेन ।
अन्यायवृत्तिः कुरुपाण्डवेया-
नध्यातिष्ठेद् धार्तराष्ट्रो दुरात्मा ।। १२ ।।

अन्यायपूर्ण बर्ताव करनेवाले दुरात्मा दुर्योधनको उचित है कि वह लज्जा, ज्ञान, तपस्या, इन्द्रियसंयम, शौर्य, धर्मरक्षा आदि गुणों तथा धनके द्वारा कौरव-पाण्डवोंपर अधिकार प्राप्त करे (सद्गुणोंद्वारा सबके हृदयको जीते, अन्यायसे शासन करना असम्भव है) ।। १२ ।।

मायोपधः प्रणिपातार्जवाभ्यां
तपोदमाभ्यां धर्मगुप्त्या बलेन ।
सत्यं ब्रुवन् प्रतिपन्नो नृपो न-
स्तितिक्षमाणः क्लिश्यमानोऽतिवेलम् ।। १३ ।।

हमारे महाराज युधिष्ठिर नम्रता, सरलता, तप, इन्द्रिय-संयम, धर्मरक्षा और बल—इन सभी गुणोंसे सम्पन्न हैं। वे बहुत दिनोंसे अनेक प्रकारके क्लेश उठाते हुए भी सदा सत्य ही बोलते हैं तथा कौरवोंके कपटपूर्ण व्यवहारों तथा वचनोंको सहन करते रहते हैं ।। १३ ।।

यदा ज्येष्ठः पाण्डवः संशितात्मा
क्रोधं यत्तं वर्षपूगान् सुघोरम् ।
अवस्रष्टा कुरुषूद्वृत्तचेता-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। १४ ।।

परंतु अपने मनको शुद्ध एवं संयत रखनेवाले ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर जिस समय उत्तेजित हो अनेक वर्षोंसे दबे हुए अपने अत्यन्त भयंकर क्रोधको कौरवोंपर छोड़ेंगे, उस समय जो भयानक युद्ध होगा, उसे देखकर दुर्योधनको पछताना पड़ेगा ।। १४ ।।

कृष्णवर्त्मेव ज्वलितः समिद्धो
यथा दहेत् कक्षमग्निर्निदाघे ।
एवं दग्धा धार्तराष्ट्रस्य सेनां
युधिष्ठिरः क्रोधदीप्तोऽन्ववेक्ष्य ।। १५ ।।

जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें प्रज्वलित अग्नि सब ओरसे धधक उठती और घास-फूस एवं जंगलोंको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार क्रोधसे तमतमाये हुए युधिष्ठिर दुर्योधनकी सेनाको अपने दृष्टिपातमात्रसे दग्ध कर देंगे ।। १५ ।।

यदा द्रष्टा भीमसेनं रथस्थं
गदाहस्तं क्रोधविषं वमन्तम् ।
अमर्षणं पाण्डवं भीमवेगं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। १६ ।।

जिस समय दुर्योधन हाथमें गदा लिये रथपर बैठे हुए भयानक वेगवाले अमर्षशील पाण्डुनन्दन भीमसेनको क्रोधरूप विष उगलते देखेगा, उस समय युद्धके परिणामको सोचकर उसे महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा ।। १६ ।।

सेनाग्रगं दंशितं भीमसेनं
स्वालक्षणं वीरहणं परेषाम् ।
घ्नन्तं चमूमन्तकसंनिकाशं
तदा स्मर्ता वचनस्यातिमानी ।। १७ ।।

जब भीमसेन कवच धारण करके शत्रुपक्षके वीरोंका नाश करते हुए अपने पक्षके लोगोंके लिये भी अलक्षित हो सेनाके आगे-आगे तीव्र वेगसे बढ़ेंगे और यमराजके समान विपक्षी सेनाका संहार करने लगेंगे, उस समय अत्यन्त अभिमानी दुर्योधनको मेरी ये बातें याद आयेंगी ।। १७ ।।

यदा द्रष्टा भीमसेनेन नागान्
निपातितान् गिरिकूटप्रकाशान् ।
कुम्भैरिवासृग्वमतो भिन्नकुम्भां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। १८ ।।

जब भीमसेन पर्वताकार प्रतीत होनेवाले बड़े-बड़े गजराजोंको गदाके आघातसे उनका कुम्भस्थल विदीर्ण करके मार गिरायेंगे और वे मानो घड़ोंसे खून उँड़ेल रहे हों, इस प्रकार मस्तकसे रक्तकी धारा बहाने लगेंगे, उस समय दुर्योधन जब यह दृश्य देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा भारी पश्चात्ताप होगा ।। १८ ।।

महासिंहो गाव इव प्रविश्य
गदापाणिर्धार्तराष्ट्रानुपेत्य ।
यदा भीमो भीमरूपो निहन्ता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। १९ ।।

जब भयंकर रूपधारी भीमसेन हाथमें गदा लिये तुम्हारी सेनामें घुसकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके पास जाकर उनका उसी प्रकार संहार करने लगेंगे, जैसे महान् सिंह गौओंके झुंडमें घुसकर उन्हें दबोच लेता है, तब दुर्योधनको युद्धके लिये बड़ा पछतावा होगा ।। १९ ।।

महाभये वीतभयः कृतास्त्रः
समागमे शत्रुबलावमर्दी ।
सकृद् रथेनाप्रतिमान् रथौघान्
पदातिसंघान् गदयाभिनिघ्नन् ।। २० ।।
शैक्येन नागांस्तरसा विगृह्णन्
यदा छेत्ता धार्तराष्ट्रस्य सैन्यम् ।
छिन्दन् वनं परशुनेव शूर-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। २१ ।।

जो भारी-से-भारी भय आनेपर भी निर्भय रहते हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है तथा जो संग्रामभूमिमें शत्रुसेनाको रौंद डालते हैं, वे ही शूरवीर भीमसेन जब एकमात्र रथपर आरूढ़ हो गदाके आघातसे असंख्य रथसमूहों तथा पैदल सैनिकोंको मौतके घाट उतारते और छींकोंके समान फंदोंमें बड़े-बड़े नागोंको फँसाकर मरे हुए बछड़ोंके समान उन्हें बलपूर्वक घसीटते हुए दुर्योधनकी सेनाको वैसे ही छिन्न-भिन्न करने लगेंगे, जैसे कोई फरसेसे जंगल काट रहा हो, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र मन-ही-मन यह सोचकर पछतायेगा कि मैंने युद्ध छेड़कर बड़ी भारी भूल की है ।। २०-२१ ।।

तृणप्रायं ज्वलनेनेव दग्धं
ग्रामं यथा धार्तराष्ट्रान् समीक्ष्य ।
पक्वं सस्यं वैद्युतेनेव दग्धं
परासिक्तं विपुलं स्वं बलौघम् ।। २२ ।।
हतप्रवीरं विमुखं भयार्तं
पराङ्मुखं प्रायशोऽधृष्टयोधम् ।
शस्त्रार्चिषा भीमसेनेन दग्धं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। २३ ।।

जब दुर्योधन यह देखेगा कि जैसे घास-फूसके झोपड़ोंका गाँव आगसे जलकर खाक हो जाता है, उसी प्रकार धृतराष्ट्रके अन्य सभी पुत्र भीमसेनकी क्रोधाग्निसे दग्ध हो गये, मेरी विशाल वाहिनी बिजलीकी आगसे जली हुई पकी खेतीके समान नष्ट हो गयी, उसके मुख्य-

मुख्य वीर मारे गये, सैनिकोंने पीठ दिखा दी, सभी भयसे पीड़ित हो रणभूमिसे भाग निकले, प्रायः समस्त योद्धा साहस अथवा धृष्टता खो बैठे तथा भीमसेनके अस्त्र-शस्त्रोंकी आगसे सब कुछ स्वाहा हो गया; उस समय उसे युद्धके लिये बड़ा पछतावा होगा ।। २२-२३ ।।

उपासंगानाचरेद् दक्षिणेन
वराङ्गानां नकुलश्चित्रयोधी ।
यदा रथाग्रयो रथिनः प्रणेता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। २४ ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ और विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले नकुल जब दाहिने हाथमें लिये हुए खड्गसे तुम्हारे सैनिकोंके मस्तक काट-काटकर धरतीपर उनके ढेर लगाने लगेंगे और रथी योद्धाओंको यमलोक भेजना प्रारम्भ करेंगे, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धका परिणाम सोचकर शोकसे संतप्त हो उठेगा ।। २४ ।।

सुखोचितो दुःखशय्यां वनेषु
दीर्घं कालं नकुलो यामशेत ।
आशीविषः क्रुद्ध इवोद्वमन् विषं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। २५ ।।

सुख भोगनेके योग्य वीरवर नकुलने दीर्घकाल-तक वनोंमें रहकर जिस दुःख-शय्यापर शयन किया है, उसका स्मरण करके जब वह क्रोधमें भरे हुए विषैले सर्पकी भाँति विष उगलने लगेगा, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको युद्ध छेड़नेके कारण पछताना पड़ेगा ।। २५ ।।

त्यक्तात्मानः पार्थिवा योधनाय
समादिष्टा धर्मराजेन सूत ।
रथैः शुभ्रैः सैन्यमभिद्रवन्तो
दृष्ट्वा पश्चात् तप्स्यते धार्तराष्ट्रः ।। २६ ।।

संजय! धर्मराज युधिष्ठिरके द्वारा युद्धके लिये आदेश पाकर उनके लिये प्राण देनेको उद्यत रहनेवाले भूमण्डलके नरेश जब तेजस्वी रथोंपर आरूढ़ होकर कौरव-सेनापर आक्रमण करेंगे, उस समय उन्हें देखकर दुर्योधनको युद्धके लिये अत्यन्त पश्चात्ताप करना पड़ेगा ।। २६ ।।

शिशून् कृतास्त्रानशिशुप्रकाशान्
यदा द्रष्टा कौरवः पञ्च शूरान् ।
त्यक्त्वा प्राणान् कौरवानाद्रवन्त-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। २७ ।।

जो अवस्थामें बालक होते हुए भी अस्त्र-शस्त्रोंकी पूर्ण शिक्षा पाकर युद्धमें नवयुवकोंके समान पराक्रम प्रकाशित करते हैं, द्रौपदीके वे पाँचों शूरवीर पुत्र प्राणोंका मोह छोड़कर जब कौरव-सेनापर टूट पड़ेंगे और कुरुराज दुर्योधन जब उन्हें उस अवस्थामें देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेकी भूलके कारण भारी पश्चात्ताप होगा ।। २७ ।।

यदा गतोद्वाहमकूजनाक्षं
सुवर्णतारं रथमुत्तमाश्वैः ।
दान्तैर्युक्तं सहदेवोऽधिरूढः
शिरांसि राज्ञां क्षेप्स्यते मार्गणौघैः ।। २८ ।।
महाभये सम्प्रवृत्ते रथस्थं
विवर्तमानं समरे कृतास्त्रम् ।
सर्वा दिशः सम्पतन्तं समीक्ष्य
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। २९ ।।

जब सहदेव उत्तम जातिके सुशिक्षित घोड़ोंसे जुते हुए अपनी इच्छाके अनुकूल चलनेवाले तथा पहियोंकी धुरीसे तनिक भी आवाज न करनेवाले रथपर, जो अलातचक्रकी भाँति घूमनेके कारण सोनेके गोलाकार तारके समान प्रतीत होता है, आरूढ़ हो अपने बाणसमूहोंद्वारा विपक्षी राजाओंके मस्तक काट-काटकर गिराने लगेंगे और इस प्रकार महान् भयका वातावरण छा जानेपर रथपर बैठे हुए अस्त्रवेत्ता सहदेव समरभूमिमें डटे रहकर जब सभी दिशाओंमें शत्रुओंपर आक्रमण करेंगे, उस दशामें उन्हें देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके मनमें युद्धका परिणाम सोचकर महान् पश्चात्ताप होगा ।। २८-२९ ।।

ह्रीनिषेवो निपुणः सत्यवादी
महाबलः सर्वधर्मोपपन्नः ।
गान्धारिमार्च्छंस्तुमुले क्षिप्रकारी
क्षेप्ता जनान् सहदेवस्तरस्वी ।। ३० ।।
यदा द्रष्टा द्रौपदेयान् महेषून्
शूरान् कृतास्त्रान् रथयुद्धकोविदान् ।
आशीविषान् घोरविषानिवायत-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ३१ ।।

लज्जाशील, युद्धकुशल, सत्यवादी, महाबली, सर्वधर्मसम्पन्न, वेगवान् तथा शीघ्रतापूर्वक बाण चलानेवाले सहदेव जब घमासान युद्धमें शकुनिपर आक्रमण करके शत्रुओंके सैनिकोंका संहार करने लगेंगे तथा जब दुर्योधन महाधनुर्धर शूरवीर अस्त्रविद्यामें निपुण तथा रथयुद्धकी कलामें कुशल द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको भयंकर विषवाले विषधर सर्पोंकी भाँति आक्रमण करते देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेकी भूलपर भारी पश्चात्ताप होगा ।। ३०-३१ ।।

यदाभिमन्युः परवीरघाती
शरैः परान् मेघ इवाभिवर्षन् ।
विगाहिता कृष्णसमः कृतास्त्र-

स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ३२ ।।

अभिमन्यु साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके समान पराक्रमी तथा अस्त्रविद्यामें निपुण है, वह शत्रुपक्षके वीरोंका संहार करनेमें समर्थ है। जिस समय वह मेघके समान बाणोंकी बौछार करता हुआ शत्रुओंकी सेनामें प्रवेश करेगा, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धके लिये मन-ही-मन बहुत ही संतप्त होगा ।। ३२ ।।

यदा द्रष्टा बालमबालवीर्यं
द्विषच्चमूं मृत्युमिवोत्पतन्तम् ।
सौभद्रमिन्द्रप्रतिमं कृतास्त्रं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ३३ ।।

सुभद्राकुमार अवस्थामें यद्यपि बालक है, तथापि उसका पराक्रम युवकोंके समान है। वह इन्द्रके समान शक्तिशाली तथा अस्त्रविद्यामें पारंगत है। जिस समय वह शत्रुसेनापर विकराल कालके समान आक्रमण करेगा, उस समय उसे देखकर दुर्योधनको युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ।। ३३ ।।

प्रभद्रकाः शीघ्रतरा युवानो
विशारदाः सिंहसमानवीर्याः ।
यदा क्षेप्तारो धार्तराष्ट्रान् ससैन्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ३४ ।।

अस्त्र-संचालनमें शीघ्रता दिखानेवाले, युद्धविशारद तथा सिंहके समान पराक्रमी प्रभद्रकदेशीय नवयुवक जब सेनासहित धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार भगायेंगे, उस समय दुर्योधनको यह सोचकर बड़ा पश्चात्ताप होगा कि मैंने क्यों युद्ध छेड़ा? ।। ३४ ।।

वृद्धौ विराटद्रुपदौ महारथौ
पृथक् चमूभ्यामभिवर्तमानौ ।
यदा द्रष्टारौ धार्तराष्ट्रान् ससैन्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ३५ ।।

जिस समय वृद्ध महारथी राजा विराट और द्रुपद अपनी पृथक्-पृथक् सेनाओंके साथ आक्रमण करके सैनिकोंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंपर दृष्टि डालेंगे, उस समय दुर्योधनको युद्धका परिणाम सोचकर महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा ।। ३५ ।।

यदा कृतास्त्रो द्रुपदः प्रचिन्वन्
शिरांसि यूनां समरे रथस्थः ।
क्रुद्धः शरैश्छेत्स्यति चापमुक्तै-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ३६ ।।

जब अस्त्रविद्यामें निपुण राजा द्रुपद कुपित हो रथपर बैठकर समरभूमिमें अपने धनुषसे छोड़े हुए बाणोंद्वारा विपक्षी युवकोंके मस्तकोंको चुन-चुनकर काटने लगेंगे, उस

समय दुर्योधनको इस युद्धके कारण भारी पछतावा होगा ।। ३६ ।।

यदा विराटः परवीरघाती

रणान्तरे शत्रुचमूं प्रवेष्टा ।

मत्स्यैः सार्धमनृशंसरूपै-

स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ३७ ।।

जब शत्रु-वीरोंका संहार करनेवाले राजा विराट सौम्य स्वरूपवाले मत्स्यदेशीय योद्धाओंको साथ लेकर रणभूमिमें शत्रुसेनाके भीतर प्रवेश करेंगे, उस समय दुर्योधन युद्ध छेड़नेका परिणाम सोचकर शोकसे संतप्त हो उठेगा ।। ३७ ।।

ज्येष्ठं मात्स्यमनृशंसार्यरूपं

विराटपुत्रं रथिनं पुरस्तात् ।

यदा द्रष्टा दंशितं पाण्डवार्थे

तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ३८ ।।

सौम्य तथा श्रेष्ठ स्वरूपवाले राजा विराटके ज्येष्ठ पुत्र मत्स्यदेशीय महारथी श्वेतको जब दुर्योधन पाण्डवोंके हितके लिये कवच धारण किये देखेगा, तब उसे युद्धका परिणाम सोचकर मन-ही-मन बड़ा कष्ट होगा ।। ३८ ।।

रणे हते कौरवाणां प्रवीरे

शिखण्डिना सत्तमे शान्तनूजे ।

न जातु नः शत्रवो धारयेयु-

रसंशयं सत्यमेतद् ब्रवीमि ।। ३९ ।।

कौरववंशके प्रमुख वीर शान्तनुनन्दन साधुशिरो-मणि भीष्मजी जब युद्धमें शिखण्डीके हाथसे मार दिये जायँगे, उस समय हमारे शत्रु कौरव कभी हमलोगोंका वेग नहीं सह सकेंगे, यह मैं सत्य कहता हूँ, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ।। ३९ ।।

यदा शिखण्डी रथिनः प्रचिन्वन्

भीष्मं रथेनाभियाता वरूथी ।

दिव्यैर्हयैरवमृद्नन् रथौघां-

स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ४० ।।

जब शिखण्डी अपने रथकी रक्षाके साधनोंसे सम्पन्न हो रथियोंको चुन-चुनकर मारता तथा दिव्य अश्वोंद्वारा रथसमूहोंको रौंदता हुआ रथारूढ़ हो भीष्मपर आक्रमण करेगा, उस समय दुर्योधनको युद्ध छिड़ जानेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ।। ४० ।।

यदा द्रष्टा सृंजयानामनीके

धृष्टद्युम्नं प्रमुखे रोचमानम् ।

अस्त्रं यस्मै गुह्यमुवाच धीमान्

द्रोणस्तदा तप्स्यति धार्तराष्ट्रः ।। ४१ ।।

जिसे परम बुद्धिमान् आचार्य द्रोणने अस्त्रविद्याके गोपनीय रहस्यकी भी शिक्षा दी है, वह धृष्टद्युम्न जब सृंजयवंशी वीरोंकी सेनाके अग्रभागमें प्रकाशित होगा और उसे उस दशामें दुर्योधन देखेगा, तब वह अत्यन्त संतप्त हो उठेगा ।। ४१ ।।

यदा स सेनापतिरप्रमेयः
परामृद्नन्निषुभिर्धार्तराष्ट्रान् ।
द्रोणं रणे शत्रुसहोऽभियाता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ४२ ।।

जब शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ अपरिमित शक्तिशाली सेनापति धृष्टद्युम्न अपने बाणोंद्वारा धृतराष्ट्र-पुत्रोंको कुचलता हुआ आचार्य द्रोणपर आक्रमण करेगा, उस समय युद्धका परिणाम सोचकर दुर्योधन बहुत पछतायेगा ।। ४२ ।।

ह्रीमान् मनीषी बलवान् मनस्वी
स लक्ष्मीवान् सोमकानां प्रबर्हः ।
न जातु तं शत्रवोऽन्ये सहेरन्
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ।। ४३ ।।

सोमकवंशका वह प्रमुख वीर धृष्टद्युम्न लज्जाशील, बलवान्, बुद्धिमान्, मनस्वी तथा वीरोचित शोभासे सम्पन्न है। इसी प्रकार वृष्णिवंशमें सिंहके समान पराक्रमी वीरवर सात्यकि जिनके अगुआ हैं, उनके वेगको दूसरे शत्रु कदापि नहीं सह सकते ।। ४३ ।।

इदं च ब्रूया मा वृणीष्वेति लोके
युद्धेऽद्वितीयं सचिवं रथस्थम् ।
शिनेर्नप्तारं प्रवृणीम सात्यकिं
महाबलं वीतभयं कृतास्त्रम् ।। ४४ ।।

तुम दुर्योधनसे यह भी कह देना कि अब संसारमें जीवित रहकर तुम राज्य भोगनेकी इच्छा न करो। हमने युद्धके लिये अद्वितीय वीर, महान् बलवान्, निर्भय तथा अस्त्रविद्यामें निपुण शिनिपौत्र रथारूढ़ सात्यकिको अपना सहायक चुन लिया है ।। ४४ ।।

महोरस्को दीर्घबाहुः प्रमाथी
युद्धेऽद्वितीयः परमास्त्रवेदी ।
शिनेर्नप्ता तालमात्रायुधोऽयं
महारथो वीतभयः कृतास्त्रः ।। ४५ ।।

शिनिके पौत्र महारथी सात्यकि चार हाथ लंबा धनुष धारण करते हैं। उनकी छाती चौड़ी और भुजाएँ बड़ी हैं। वे अद्वितीय वीर हैं और युद्धमें शत्रुओंको मथ डालते हैं। उन्हें उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान है। वे निर्भय तथा अस्त्रविद्याके पारंगत विद्वान् हैं ।। ४५ ।।

यदा शिनीनामधिपो मयोक्तः
शरैः परान् मेघ इव प्रवर्षन् ।

प्रच्छादयिष्यत्यरिहा योधमुख्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ४६ ।।

जब मेरे कहनेसे शिनिप्रवर शत्रुमर्दन सात्यकि शत्रुओंपर मेघकी भाँति बाणोंकी झड़ी लगाते हुए मुख्य-मुख्य योद्धाओंको आच्छादित कर देंगे, उस समय दुर्योधन युद्धका परिणाम सोचकर बहुत पछतायेगा ।।

यदा धृतिं कुरुते योत्स्यमानः
स दीर्घबाहुर्दृढधन्वा महात्मा ।
सिंहस्येव गन्धमाघ्राय गावः
संचेष्टन्ते शत्रवोऽस्माद् रणाग्रे ।। ४७ ।।

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले दीर्घबाहु महामना सात्यकि जब युद्धके लिये उत्सुक हो समरभूमिमें डट जाते हैं, उस समय जैसे सिंहकी गन्ध पाकर गौएँ इधर-उधर भागने लगती हैं, उसी प्रकार शत्रु युद्धके मुहानेपर इनके पास आकर तुरंत भाग खड़े होते हैं ।। ४७ ।।

स दीर्घबाहुर्दृढधन्वा महात्मा
भिन्द्याद् गिरीन् संहरेत् सवलोकान् ।
अस्त्रे कृती निपुणः क्षिप्रहस्तो
दिवि स्थितः सूर्य इवाभिभाति ।। ४८ ।।

‘विशालबाहु, दृढ़ धनुर्धर, युद्धकुशल और हाथोंकी फुर्ती दिखानेवाले अस्त्रवेत्ता सात्यकि पर्वतोंको विदीर्ण कर सकते हैं और सम्पूर्ण लोकोंका संहार करनेमें समर्थ हैं। वे आकाशमें विद्यमान सूर्यदेवकी भाँति प्रकाशित होते हैं ।। ४८ ।।

चित्रः सूक्ष्मः सुकृतो यादवस्य
अस्त्रे योगो वृष्णिसिंहस्य भूयान् ।
यथाविधं योगमाहुः प्रशस्तं
सर्वैर्गुणैः सात्यकिस्तैरुपेतः ।। ४९ ।।

‘युद्धनिपुण वीर पुरुष जैसे-जैसे अस्त्रोंकी उपलब्धिको प्रशंसाके योग्य मानते हैं, उन सबसे तथा समस्त वीरोचित गुणोंसे वृष्णिसिंह सात्यकि सम्पन्न हैं। उन यदुकुल-तिलकको बहुत-से उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त है। उनका वह अस्त्रयोग विचित्र, सूक्ष्म और भलीभाँति अभ्यासमें लाया हुआ है ।। ४९ ।।

हिरण्मयं श्वेतहयैश्चतुर्भि-
र्यदा युक्तं स्यन्दनं माधवस्य ।
द्रष्टा युद्धे सात्यकेर्धार्तराष्ट्र-
स्तदा तप्स्यत्यकृतात्मा स मन्दः ।। ५० ।।

‘जब युद्धमें मधुवंशी सात्यकिके चार श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमय रथको पापात्मा मन्दबुद्धि दुर्योधन देखेगा, तब उसे अवश्य संताप होगा ।। ५० ।।

यदा रथं हेममणिप्रकाशं
श्वेताश्वयुक्तं वानरकेतुमुग्रम् ।
द्रष्टा ममाप्यास्थितं केशवेन
तदा तप्स्यत्यकृतात्मा स मन्दः ।। ५१ ।।

'जब सुवर्ण और मणियोंसे प्रकाशित होनेवाले मेरे भयंकर रथको जिसमें चार श्वेत अश्व जुते होंगे, जिसपर वानरध्वजा फहरा रही होगी तथा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण जिसपर बैठकर सारथिका कार्य सँभालते होंगे, अकृतात्मा मन्दबुद्धि दुर्योधन देखेगा, तब मन ही-मन संतप्त हो उठेगा ।। ५१ ।।

यदा मौर्व्यास्तलनिष्पेषमुग्रं
महाशब्दं वज्रनिष्पेषतुल्यम् ।
विधूयमानस्य महारणे मया
स गाण्डिवस्य श्रोष्यति मन्दबुद्धिः ।। ५२ ।।
तदा मूढो धृतराष्ट्रस्य पुत्र-
स्तप्ता युद्धे दुर्मतिर्दुःसहायः ।
दृष्ट्वा सैन्यं बाणवर्षान्धकारे
प्रभज्यन्तं गोकुलवद् रणाग्रे ।। ५३ ।।

'महान् संग्रामके समय जब मैं गाण्डीव धनुषकी डोरी खीचूँगा, उस समय मेरे हाथोंकी रगड़से वज्रपातके समान अत्यन्त भयंकर आवाज होगी, मन्दबुद्धि दुर्योधन जब गाण्डीवकी उस उग्र टंकारको सुनेगा तथा रणस्थलीके अग्रभागमें मेरी बाण-वर्षासे फैले हुए अन्धकारमें इधर-उधर भागती हुई गौओंकी भाँति अपनी सेनाको युद्धसे पलायन करती देखेगा, तब दुष्ट सहायकोंसे युक्त उस दुर्बुद्धि एवं मूढ़ धृतराष्ट्रपुत्रके मनमें बड़ा संताप होगा ।। ५२-५३ ।।

बलाहकादुच्चरतः सुभीमान्
विद्युत्स्फुलिङ्गानिव घोररूपान् ।
सहस्रघ्नान् द्विषतां सङ्गरेषु
अस्थिच्छिदो मर्मभिदः सुपुङ्खान् ।। ५४ ।।
यदा द्रष्टा ज्यामुखाद् बाणसंघान्
गाण्डीवमुक्तानापततः शिताग्रान् ।
हयान् गजान् वर्मिणश्चाददानां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ५५ ।।

'मेरे गाण्डीव धनुषकी प्रत्यंचासे छोड़े हुए तीखी धारवाले सुन्दर पंखोंसे युक्त भयंकर बाणसमूह मेघसे निकली हुई अत्यन्त भयानक विद्युत्की चिनगारियोंके समान जब युद्धभूमिमें शत्रुओंपर पड़ेंगे और उनकी हड्डियोंको काटते तथा मर्मस्थानोंको विदीर्ण करते हुए सहस्र-सहस्र सैनिकोंको मौतके घाट उतारने लगेंगे, साथ ही कितने ही घोड़ों, हाथियों

तथा कवचधारी योद्धाओंके प्राण लेना प्रारम्भ करेंगे, उस समय जब धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन यह सब देखेगा, तब युद्ध छेड़नेकी भूलके कारण वह बहुत पछतायेगा ।। ५४-५५ ।।

यदा मन्दः परबाणान् विमुक्तान्
ममेषुभिर्ह्रियमाणान् प्रतीपम् ।
तिर्यग्विध्याच्छिद्यमानान् पृषत्कै-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ५६ ।।

'युद्धमें दूसरे योद्धा जो बाण चलायेंगे, उन्हें मेरे बाण टक्कर लेकर पीछे लौटा देंगे। साथ ही मेरे दूसरे बाण शत्रुओंके शरसमूहको तिर्यग्भावसे विद्ध करके टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे। जब मन्दबुद्धि दुर्योधन यह सब देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ।। ५६ ।।

यदा विपाठा मद्भुजविप्रमुक्ता
द्विजाः फलानीव महीरुहाग्रात् ।
प्रचेतार उत्तमाङ्गानि यूनां
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ५७ ।।

'जब मेरे बाहुबलसे छूटे हुए विपाठ नामक बाण युवक योद्धाओंके मस्तकोंको उसी प्रकार काट-काटकर ढेर लगाने लगेंगे, जैसे पक्षी वृक्षोंके अग्रभागसे फल गिराकर उनके ढेर लगा देते हैं, उस समय यह सब देखकर दुर्योधनको बड़ा पश्चात्ताप होगा ।। ५७ ।।

यदा द्रष्टा पततः स्यन्दनेभ्यो
महागजेभ्योऽश्वगतान् सुयोधनान् ।
शरैर्हतान् पातितांश्चैव रङ्गे
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ५८ ।।

'जब दुर्योधन देखेगा कि उसके रथोंसे, बड़े-बड़े गजोंसे और घोड़ोंकी पीठपरसे भी असंख्य योद्धा मेरे बाणोंद्वारा मारे जाकर समरांगणमें गिरते चले जा रहे हैं, तब उसे युद्धके लिये भारी पछतावा होगा ।। ५८ ।।

असम्प्राप्तानस्त्रपथं परस्य
तदा द्रष्टा नश्यतो धार्तराष्ट्रान् ।
अकुर्वतः कर्म युद्धे समन्तात्
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ५९ ।।

'दुर्योधनको जब यह दिखायी देगा कि उसके दूसरे भाई शत्रुओंकी बाण-वर्षाके निकट न जाकर उसे दूरसे देखकर ही अदृश्य हो रहे हैं, युद्धमें कोई पराक्रम नहीं कर पा रहे हैं, तब वह लड़ाई छेड़नेके कारण मन-ही-मन बहुत पछतायेगा ।। ५९ ।।

पदातिसंघान् रथसंघान् समन्ताद्
व्यात्ताननः काल इवाततेषुः ।

प्रणोत्स्यामि ज्वलितैर्बाणवर्षैः
शत्रूंस्तदा तप्स्यति मन्दबुद्धिः ।। ६० ।।

'जब मैं सायकोंकी अविच्छिन्न वर्षा करते हुए मुख फैलाये खड़े हुए कालकी भाँति अपने प्रज्वलित बाणोंकी बौछारोंसे शत्रुपक्षके झुंड-के-झुंड पैदलों तथा रथियोंके समूहोंको छिन्न-भिन्न करने लगूँगा, उस समय मन्दबुद्धि दुर्योधनको बड़ा संताप होगा ।। ६० ।।

सर्वा दिशः सम्पतता रथेन
रजोध्वस्तं गाण्डिवेन प्रकृत्तम् ।
यदा द्रष्टा स्वबलं सम्प्रमूढं
तदा पश्चात् तप्स्यति मन्दबुद्धिः ।। ६१ ।।

'मन्दबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र जब यह देखेगा कि सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़नेवाले मेरे रथके द्वारा उड़ायी हुई धूलिसे आच्छादित हो उसकी सारी सेना धराशायी हो रही है और मेरे गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा उसके समस्त सैनिक छिन्न-भिन्न होते चले जा रहे हैं, तब उसे बड़ा पछतावा होगा ।। ६१ ।।

कान्दिग्भूतं छिन्नगात्रं विसंज्ञं
दुर्योधनो द्रक्ष्यति सर्वसैन्यम् ।
हताश्ववीराग्र्यनरेन्द्रनागं
पिपासितं श्रान्तपत्रं भयार्तम् ।। ६२ ।।
आर्तस्वरं हन्यमानं हतं च
विकीर्णकेशास्थिकपालसंघम् ।
प्रजापतेः कर्म यथार्थनिश्चितं
तदा दृष्ट्वा तप्स्यति मन्दबुद्धिः ।। ६३ ।।

'दुर्योधन अपनी आँखों यह देखेगा कि उसकी सारी सेना (भयसे भागने लगी है और उस)-को यह भी नहीं सूझता है कि किस दिशाकी ओर जाऊँ? कितने ही योद्धाओंके अंग-प्रत्यंग छिन्न-भिन्न हो गये हैं। समस्त सैनिक अचेत हो रहे हैं। हाथी, घोड़े तथा वीराग्रगण्य नरेश मार डाले गये हैं। सारे वाहन थक गये हैं और सभी योद्धा प्यास तथा भयसे पीड़ित हो रहे हैं। बहुतेरे सैनिक आर्त स्वरसे रो रहे हैं, कितने ही मारे गये और मारे जा रहे हैं। बहुतोंके केश, अस्थि तथा कपालसमूह सब ओर बिखरे पड़े हैं। मानो विधाताका यथार्थ निश्चित विधान हो, इस प्रकार यह सब कुछ होकर ही रहेगा। यह सब देखकर उस समय मन्दबुद्धि दुर्योधनके मनमें बड़ा पश्चात्ताप होगा ।। ६२-६३ ।।

यदा रथे गाण्डिवं वासुदेवं
दिव्यं शङ्खं पाञ्चजन्यं हयांश्च ।
तूणावक्षय्यौ देवदत्तं च मां च
द्रष्टा युद्धे धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।। ६४ ।।

'जब धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन रथपर मेरे गाण्डीव धनुषको, सारथि भगवान् श्रीकृष्णको, उनके दिव्य पांचजन्य शंखको, रथमें जुते हुए दिव्य घोड़ोंको, बाणोंसे भरे हुए दो अक्षय तूणीरोंको, मेरे देवदत्त नामक शंखको और मुझको भी देखेगा, उस समय युद्धका परिणाम सोचकर उसे बड़ा संताप होगा ।। ६४ ।।

उद्वर्तयन् दस्युसङ्घान् समेतान्
प्रवर्तयन् युगमन्यद् युगान्ते ।
यदा धक्ष्याम्यग्निवत् कौरवेयां-
स्तदा तप्ता धृतराष्ट्रः सपुत्रः ।। ६५ ।।

'जिस समय युद्धके लिये एकत्र हुए इन डाकुओंके दलोंका संहार करके प्रलयकालके पश्चात् युगान्तर उपस्थित करता हुआ मैं अग्निके समान प्रज्वलित होकर कौरवोंको भस्म करने लगूँगा, उस समय पुत्रोंसहित महाराज धृतराष्ट्रको बड़ा संताप होगा ।। ६५ ।।

सभ्राता वै सहसैन्यः सभृत्यो
भ्रष्टैश्वर्यः क्रोधवशोऽल्पचेताः ।
दर्पस्यान्ते निहतो वेपमानः
पश्चान्मन्दस्तप्स्यति धार्तराष्ट्रः ।। ६६ ।।

'सदा क्रोधके वशमें रहनेवाला अल्पबुद्धि मूढ़ दुर्योधन जब भाई, भृत्यगण तथा सेनाओंसहित ऐश्वर्यसे भ्रष्ट एवं आहत होकर काँपने लगेगा, उस समय सारा घमंड चूर-चूर हो जानेपर उसे (अपने कुकृत्योंके लिये) बड़ा पश्चात्ताप होगा ।। ६६ ।।

पूर्वाह्णे मां कृतजप्यं कदाचिद्
विप्रः प्रोवाचोदकान्ते मनोज्ञम् ।
कर्तव्यं ते दुष्करं कर्म पार्थ
योद्धव्यं ते शत्रुभिः सव्यसाचिन् ।। ६७ ।।
इन्द्रो वा ते हरिमान् वज्रहस्तः
पुरस्ताद् यातु समरेऽरीन् विनिघ्नन् ।
सुग्रीवयुक्तेन रथेन वा ते
पश्चात् कृष्णो रक्षतु वासुदेवः ।। ६८ ।।

'एक दिनकी बात है, मैं पूर्वाह्णकालमें संध्या-वन्दन एवं गायत्रीजप करके आचमनके पश्चात् बैठा हुआ था, उस समय एक ब्राह्मणने आकर एकान्तमें मुझसे यह मधुर वचन कहा—'कुन्तीनन्दन! तुम्हें दुष्कर कर्म करना है। सव्यसाचिन्! तुम्हें अपने शत्रुओंके साथ युद्ध करना होगा। बोलो, क्या चाहते हो? इन्द्र उच्चैःश्रवा घोड़ेपर बैठकर वज्र हाथमें लिये तुम्हारे आगे-आगे समरभूमिमें शत्रुओंका नाश करते हुए चलें अथवा सुग्रीव आदि अश्वोंसे जुते हुए रथपर बैठकर वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण पीछेकी ओरसे तुम्हारी रक्षा करें ।। ६७-६८ ।।

वव्रे चाहं वज्रहस्तान्महेन्द्रा-
दस्मिन् युद्धे वासुदेवं सहायम् ।
स मे लब्धो दस्युवधाय कृष्णो
मन्ये चैतद् विहितं दैवतैर्मे ।। ६९ ।।

'उस समय मैंने वज्रपाणि इन्द्रको छोड़कर इस युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णको अपना सहायक चुना था, इस प्रकार इन डाकुओंके वधके लिये मुझे श्रीकृष्ण मिल गये हैं। मालूम होता है, देवताओंने ही मेरे लिये ऐसी व्यवस्था कर रखी है ।। ६९ ।।

अयुद्ध्यमानो मनसापि यस्य
जयं कृष्णः पुरुषस्याभिनन्देत् ।
एवं सर्वान् स व्यतीयादमित्रान्
सेन्द्रान् देवान् मानुषे नास्ति चिन्ता ।। ७० ।।

'भगवान् श्रीकृष्ण युद्ध न करके मनसे भी जिस पुरुषकी विजयका अभिनन्दन करेंगे, वह अपने समस्त शत्रुओंको, भले ही वे इन्द्र आदि देवता ही क्यों न हों, पराजित कर देता है, फिर मनुष्य-शत्रुके लिये तो चिन्ता ही क्या है? ।। ७० ।।

स बाहुभ्यां सागरमुत्तितीर्षे-
न्महोदधिं सलिलस्याप्रमेयम् ।

तेजस्विनं कृष्णमत्यन्तशूरं
युद्धेन यो वासुदेवं जिगीषेत् ।। ७१ ।।

'जो युद्धके द्वारा अत्यन्त शौर्यसम्पन्न तेजस्वी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको जीतनेकी इच्छा करता है, वह अनन्त अपार जलनिधि समुद्रको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करना चाहता है ।। ७१ ।।

गिरिं य इच्छेत् तु तलेन भेत्तुं
शिलोच्चयं श्वेतमतिप्रमाणम् ।
तस्यैव पाणिः सनखो विशीर्ये-
न्न चापि किंचित् स गिरेस्तु कुर्यात् ।। ७२ ।।

'जो अत्यन्त विशाल प्रस्तरराशिपूर्ण श्वेत कैलास-पर्वतको हथेलीसे मारकर विदीर्ण करना चाहता है, उस मनुष्यका नखसहित हाथ ही छिन्न-भिन्न हो जायगा। वह उस पर्वतका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता ।। ७२ ।।

अग्निं समिद्धं शमयेद् भुजाभ्यां
चन्द्रं च सूर्यं च निवारयेत ।
हरेद् देवानाममृतं प्रसह्य
युद्धेन यो वासुदेवं जिगीषेत् ।। ७३ ।।

'जो युद्धके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णको जीतना चाहता है, वह प्रज्वलित अग्निको दोनों हाथोंसे बुझानेकी चेष्टा करता है, चन्द्रमा और सूर्यकी गतिको रोकना चाहता है तथा हठपूर्वक देवताओंका अमृत हर लानेका प्रयत्न करता है ।। ७३ ।।

यो रुक्मिणीमेकरथेन भोजा-
नुत्साद्य राज्ञः समरे प्रसह्य ।
उवाह भार्यां यशसा ज्वलन्तीं
यस्यां जज्ञे रौक्मिणेयो महात्मा ।। ७४ ।।

'जिन्होंने एकमात्र रथकी सहायतासे युद्धमें भोजवंशी राजाओंको बलपूर्वक पराजित करके (रूप, सौन्दर्य और) सुयशके द्वारा प्रकाशित होनेवाली उस परम सुन्दरी रुक्मिणीको पत्नीरूपसे ग्रहण किया, जिसके गर्भसे महामना प्रद्युम्नका जन्म हुआ है ।। ७४ ।।

अयं गान्धारांस्तरसा सम्प्रमथ्य
जित्वा पुत्रान् नग्नजितः समग्रान् ।
बद्धं मुमोच विनदन्तं प्रसह्य
सुदर्शनं वै देवतानां ललामम् ।। ७५ ।।

'इन श्रीकृष्णने ही गान्धारदेशीय योद्धाओंको अपने वेगसे कुचलकर राजा नग्नजित्के समस्त पुत्रोंको पराजित किया और वहाँ कैदमें पड़कर क्रन्दन करते हुए राजा सुदर्शनको, जो देवताओंके भी आदरणीय हैं, बन्धनमुक्त किया ।। ७५ ।।

अयं कपाटेन जघान पाण्ड्यं
तथा कलिङ्गान् दन्तकूरे ममर्द ।
अनेन दग्धा वर्षपूगान् विनाथा
वाराणसी नगरी सम्बभूव ।। ७६ ।।

‘इन्होंने पाण्ड्यनरेशको किंवाड़के पल्लेसे मार डाला, भयंकर युद्धमें कलिंगदेशीय योद्धाओंको कुचल डाला तथा इन्होंने ही काशीपुरीको इस प्रकार जलाया था कि वह बहुत वर्षोंतक अनाथ पड़ी रही ।। ७६ ।।

अयं स्म युद्धे मन्यतेऽन्यैरजेयं
तमेकलव्यं नाम निषादराजम् ।
वेगेनैव शैलमभिहत्य जम्भः
शेते स कृष्णेन हतः परासुः ।। ७७ ।।

‘ये भगवान् श्रीकृष्ण उस निषादराज एकलव्यको सदा युद्धके लिये ललकारा करते थे, जो दूसरोंके लिये अजेय था; परंतु वह श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर प्राणशून्य हो सदाके लिये रणशय्यामें सो रहा है, ठीक उसी तरह, जैसे जम्भ नामक दैत्य स्वयं ही वेगपूर्वक पर्वतपर आघात करके प्राणशून्य हो महानिद्रामें निमग्न हो गया था ।। ७७ ।।

तथोग्रसेनस्य सुतं सुदुष्टं
वृष्ण्यन्धकानां मध्यगतं सभास्थम् ।
अपातयद् बलदेवद्वितीयो
हत्वा ददौ चोग्रसेनाय राज्यम् ।। ७८ ।।

‘उग्रसेनका पुत्र कंस बड़ा दुष्ट था। वह जब भरी सभामें वृष्णि और अन्धकवंशी क्षत्रियोंके बीचमें बैठा हुआ था, श्रीकृष्णने बलदेवजीके साथ वहाँ जाकर उसे मार गिराया। इस प्रकार कंसका वध करके इन्होंने मथुराका राज्य उग्रसेनको दे दिया ।। ७८ ।।

अयं सौभं योधयामास खस्थं
विभीषणं मायया शाल्वराजम् ।
सौभद्वारि प्रत्यगृह्णाच्छतघ्नीं
दोर्भ्यां क एनं विषहेत मर्त्यः ।। ७९ ।।

‘इन्होंने सौभ नामक विमानपर बैठे हुए तथा मायाके द्वारा अत्यन्त भयंकर रूप धारण करके आये हुए आकाशमें स्थित शाल्वराजके साथ युद्ध किया और सौभ विमानके द्वारपर लगी हुई शतघ्नीको अपने दोनों हाथोंसे पकड़ लिया था। फिर इनका वेग कौन मनुष्य सह सकता है? ।। ७९ ।।

प्राग्ज्योतिषं नाम बभूव दुर्गं
पुरं घोरमसुराणामसह्यम् ।
महाबलो नरकस्तत्र भौमो

जहारादित्या मणिकुण्डले शुभे ।। ८० ।।

'असुरोंका प्राग्ज्योतिषपुर नामसे प्रसिद्ध एक भयंकर किला था, जो शत्रुओंके लिये सर्वथा अजेय था। वहाँ भूमिपुत्र महाबली नरकासुर निवास करता था, जिसने देवमाता अदितिके सुन्दर मणिमय कुण्डल हर लिये थे ।।

न तं देवाः सह शक्रेण शेकुः
समागता युधि मृत्योरभीताः ।
दृष्ट्वा च तं विक्रमं केशवस्य
बलं तथैवास्त्रमवारणीयम् ।। ८१ ।।
जानन्तोऽस्य प्रकृतिं केशवस्य
न्ययोजयन् दस्युवधाय कृष्णम् ।
स तत् कर्म प्रतिशुश्राव दुष्कर-
मैश्वर्यवान् सिद्धिषु वासुदेवः ।। ८२ ।।

'मृत्युके भयसे रहित देवता इन्द्रके साथ उसका सामना करनेके लिये आये, परंतु नरकासुरको युद्धमें पराजित न कर सके। तब देवताओंने भगवान् श्रीकृष्णके अनिवार्य बल, पराक्रम और अस्त्रको देखकर तथा इनकी दयालु एवं दुष्टदमनकारिणी प्रकृतिको जानकर इन्हींसे पूर्वोक्त डाकू नरकासुरका वध करनेकी प्रार्थना की, तब समस्त कार्योंकी सिद्धिमें समर्थ भगवान् श्रीकृष्णने वह दुष्कर कार्य पूर्ण करना स्वीकार किया ।। ८१-८२ ।।

निर्मोचने षट् सहस्राणि हत्वा
संच्छिद्य पाशान् सहसा क्षुरान्तान् ।
मुरं हत्वा विनिहत्यौघरक्षो
निर्मोचनं चापि जगाम वीरः ।। ८३ ।।

'फिर वीरवर श्रीकृष्णने निर्मोचन नगरकी सीमापर जाकर सहसा छः हजार लोहमय पाश काट दिये, जो तीखी धारवाले थे। फिर मुर दैत्यका वध और राक्षस-समूहका नाश करके निर्मोचन नगरमें प्रवेश किया ।। ८३ ।।

तत्रैव तेनास्य बभूव युद्धं
महाबलेनातिबलस्य विष्णोः ।
शेते स कृष्णेन हतः परासु-
र्वातेनेवोन्मथितः कर्णिकारः ।। ८४ ।।

'वहीं उस महाबली नरकासुरके साथ अत्यन्त बलशाली भगवान् श्रीकृष्णका युद्ध हुआ। श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर वह प्राणोंसे हाथ धो बैठा और आँधीके उखाड़े हुए कनेरवृक्षकी भाँति सदाके लिये रणभूमिमें सो गया ।। ८४ ।।

आहृत्य कृष्णो मणिकुण्डले ते
हत्वा च भौमं नरकं मुरं च ।

श्रिया वृतो यशसा चैव विद्वान्

प्रत्याजगामाप्रतिमप्रभावः ।। ८५ ।।

'इस प्रकार अनुपम प्रभावशाली विद्वान् श्रीकृष्ण भूमिपुत्र नरकासुर तथा मुरका वध करके देवी अदितिके वे दोनों मणिमय कुण्डल वहाँसे लेकर विजयलक्ष्मी और उज्ज्वल यशसे सुशोभित हो अपनी पुरीमें लौट आये ।। ८५ ।।

अस्मै वराण्यददंस्तत्र देवा

दृष्ट्वा भीमं कर्म कृतं रणे तत् ।

श्रमश्च ते युध्यमानस्य न स्या-

दाकाशे चाप्सु च ते क्रमः स्यात् ।। ८६ ।।

शस्त्राणि गात्रे न च ते क्रमेर-

न्नित्येव कृष्णश्च ततः कृतार्थः ।

एवंरूपे वासुदेवेऽप्रमेये

महाबले गुणसम्पत् सदैव ।। ८७ ।।

'युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णका वह भयंकर पराक्रम देखकर देवताओंने वहाँ इन्हें इस प्रकार वर दिये—'केशव! युद्ध करते समय आपको कभी थकावट न हो, आकाश और जलमें भी आप अप्रतिहत गतिसे विचरें और आपके अंगोंमें कोई भी अस्त्र-शस्त्र चोट न पहुँचा सके।' इस प्रकार वर पाकर श्रीकृष्ण पूर्णतः कृतकार्य हो गये हैं। इन असीम शक्तिशाली महाबली वासुदेवमें समस्त गुण-सम्पत्ति सदैव विद्यमान है ।। ८६-८७ ।।

तमसह्यं विष्णुमनन्तवीर्य-

माशंसते धार्तराष्ट्रो विजेतुम् ।

सदा ह्येनं तर्कयते दुरात्मा

तच्चाप्ययं सहतेऽस्मान् समीक्ष्य ।। ८८ ।।

'ऐसे अनन्त पराक्रमी और अजेय श्रीकृष्णको धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन जीत लेनेकी आशा करता है। वह दुरात्मा सदैव इनका अनिष्ट करनेके विषयमें सोचता रहता है, परंतु हमलोगोंकी ओर देखकर उसके इस अपराधको भी ये भगवान् सहते चले जा रहे हैं ।। ८८ ।।

पर्यागतं मम कृष्णस्य चैव

यो मन्यते कलहं सम्प्रसह्य ।

शक्यं हर्तुं पाण्डवानां ममत्वं

तद् वेदिता संयुगं तत्र गत्वा ।। ८९ ।।

'दुर्योधन मानता है कि मुझमें और श्रीकृष्णमें हठात् कलह करा दिया जा सकता है। पाण्डवोंका श्रीकृष्णके प्रति जो ममत्व (अपनापन) है, उसे मिटा दिया जा सकता है; परंतु

कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें पहुँचनेपर उसे इन सब बातोंका ठीक-ठीक पता चल जायगा ।। ८९ ।।

नमस्कृत्वा शान्तनवाय राज्ञे
द्रोणायाथो सहपुत्राय चैव ।
शारद्वतायाप्रतिद्वन्द्विने च
योत्स्याम्यहं राज्यमभीप्समानः ।। ९० ।।

'मैं शान्तनुनन्दन महाराज भीष्मको, आचार्य द्रोणको, गुरुभाई अश्वत्थामाको और जिनका सामना कोई नहीं कर सकता, उन वीरवर कृपाचार्यको भी प्रणाम करके राज्य पानेकी इच्छा लेकर अवश्य युद्ध करूँगा ।। ९० ।।

धर्मेणाप्तं निधनं तस्य मन्ये
यो योत्स्यते पाण्डवैः पापबुद्धिः ।
मिथ्या ग्लहे निर्जिता वै नृशंसैः
संवत्सरान् वै द्वादश राजपुत्राः ।। ९१ ।।

'जो पापबुद्धि मानव पाण्डवोंके साथ युद्ध करेगा, धर्मकी दृष्टिसे उसकी मृत्यु निकट आ गयी है, ऐसा मेरा विश्वास है। कारण कि इन क्रूर स्वभाववाले कौरवोंने हम सब लोगोंको कपटद्यूतमें जीतकर बारह वर्षोंके लिये वनमें निर्वासित कर दिया था; यद्यपि हम भी राजाके ही पुत्र थे ।। ९१ ।।

वासः कृच्छ्रो विहितश्चाप्यरण्ये
दीर्घं कालं चैकमज्ञातवर्षम् ।
ते हि कस्माज्जीवतां पाण्डवानां
नन्दिष्यन्ते धार्तराष्ट्राः पदस्थाः ।। ९२ ।।

'हम वनमें दीर्घकालतक बड़े कष्ट सहकर रहे हैं और एक वर्षतक हमें अज्ञातवास करना पड़ा है। ऐसी दशामें पाण्डवोंके जीते-जी वे कौरव अपने पदोंपर प्रतिष्ठित रहकर कैसे आनन्द भोगते रहेंगे? ।। ९२ ।।

ते चेदस्मान् युध्यमानाञ्जयेयु-
र्देवैर्महेन्द्रप्रमुखैः सहायैः ।
धर्मादधर्मश्चरितो गरीयां-
स्ततो ध्रुवं नास्ति कृतं च साधु ।। ९३ ।।

'यदि इन्द्र आदि देवताओंकी सहायता पाकर भी धृतराष्ट्रपुत्र हमें युद्धमें जीत लेंगे तो यह मानना पड़ेगा कि धर्मकी अपेक्षा पापाचारका ही महत्त्व अधिक है और संसारसे पुण्यकर्मका अस्तित्व निश्चय ही उठ गया ।। ९३ ।।

न चेदिमं पुरुषं कर्मबद्धं
न चेदस्मान् मन्यतेऽसौ विशिष्टान् ।

आशंसेऽहं वासुदेवद्वितीयो
दुर्योधनं सानुबन्धं निहन्तुम् ।। ९४ ।।

'यदि दुर्योधन मनुष्यको कर्मोंके बन्धनसे बँधा हुआ नहीं मानता है अथवा यदि वह हमलोगोंको अपनेसे श्रेष्ठ तथा प्रबल नहीं समझता है, तो भी मैं यह आशा करता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णको अपना सहायक बनाकर मैं दुर्योधनको उसके सगे-सम्बन्धियों-सहित मार डालूँगा ।। ९४ ।।

न चेदिदं कर्म नरेन्द्र वन्ध्यं
न चेद् भवेत् सुकृतं निष्फलं वा ।
इदं च तच्चाभिसमीक्ष्य नूनं
पराजयो धार्तराष्ट्रस्य साधुः ।। ९५ ।।

'राजन्! यदि मनुष्यका किया हुआ यह पापकर्म निष्फल नहीं होता अथवा पुण्यकर्मोंका फल मिले बिना नहीं रहता तो मैं दुर्योधनके वर्तमान और पहलेके किये हुए पापकर्मका विचार करके निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि धृतराष्ट्रपुत्रकी पराजय अनिवार्य है और इसीमें जगत्की भलाई है ।। ९५ ।।

प्रत्यक्षं वः कुरवो यद् ब्रवीमि
युध्यमाना धार्तराष्ट्रा न सन्ति ।
अन्यत्र युद्धात् कुरवो यदि स्यु-
र्न युद्धे वै शेष इहास्ति कश्चित् ।। ९६ ।।

'कौरवो! मैं तुमलोगोंके समक्ष यह स्पष्टरूपसे बता देना चाहता हूँ कि धृतराष्ट्रके पुत्र यदि युद्धभूमिमें उतरे तो जीवित नहीं बचेंगे। कौरवोंके जीवनकी रक्षा तभी हो सकती है, जब वे युद्धसे दूर रहें। युद्ध छिड़ जानेपर तो उनमेंसे कोई भी यहाँ शेष नहीं रहेगा ।। ९६ ।।

हत्वा त्वहं धार्तराष्ट्रान् सकर्णान्
राज्यं कुरूणामवजेता समग्रम् ।
यद् वः कार्यं तत् कुरुध्वं यथास्व-
मिष्टान् दारानात्मभोगान् भजध्वम् ।। ९७ ।।

'मैं कर्णसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका वध करके कुरुदेशका सम्पूर्ण राज्य जीत लूँगा, अतः तुम्हारा जो-जो कर्तव्य शेष हो, उसे पूरा कर लो। अपने वैभवके अनुसार प्रियतमा पत्नियोंके साथ सुख भोग लो और अपने शरीरके लिये भी जो अभीष्ट भोग हों, उनका उपभोग कर लो ।। ९७ ।।

अप्येवं नो ब्राह्मणाः सन्ति वृद्धा
बहुश्रुताः शीलवन्तः कुलीनाः ।
सांवत्सरा ज्योतिषि चाभियुक्ता
नक्षत्रयोगेषु च निश्चयज्ञाः ।। ९८ ।।

'हमारे पास कितने ही ऐसे वृद्ध ब्राह्मण विद्यमान हैं, जो अनेक शास्त्रोंके विद्वान्, सुशील, उत्तम कुलमें उत्पन्न, वर्षके शुभाशुभ फलोंको जाननेवाले, ज्योतिष-शास्त्रके मर्मज्ञ तथा ग्रह-नक्षत्रोंके योगफलका निश्चित-रूपसे ज्ञान रखनेवाले हैं ।। ९८ ।।

उच्चावचं दैवयुक्तं रहस्यं
दिव्याः प्रश्ना मृगचक्रा मुहूर्ताः ।
क्षयं महान्तं कुरुसृंजयानां
निवेदयन्ते पाण्डवानां जयं च ।। ९९ ।।

'वे दैवसम्बन्धी उन्नति एवं अवनतिके फलदायक रहस्य बता सकते हैं। प्रश्नोंके अलौकिक ढंगसे उत्तर देते हैं, जिससे भविष्य घटनाओंका ज्ञान हो जाता है। वे शुभाशुभ फलोंका वर्णन करनेके लिये सर्वतोभद्र आदि चक्रोंका भी अनुसंधान करते हैं और मुहूर्तशास्त्रके तो वे पण्डित ही हैं। वे सब लोग निश्चितरूपसे यह निवेदन करते हैं कि कौरवों और सृंजयवंशके लोगोंका बड़ा भारी संहार होनेवाला है और इस महायुद्धमें पाण्डवोंकी विजय होगी ।। ९९ ।।

यथा हि नो मन्यतेऽजातशत्रुः
संसिद्धार्थो द्विषतां निग्रहाय ।
जनार्दनश्चाप्यपरोक्षविद्यो
न संशयं पश्यति वृष्णिसिंहः ।। १०० ।।

'अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर मानते हैं, मैं अपने शत्रुओंका दमन करनेमें निश्चय सफल होऊँगा। वृष्णिवंशके पराक्रमी वीर भगवान् श्रीकृष्णको भी सारी विद्याओंका अपरोक्ष ज्ञान है। वे भी हमारे इस मनोरथके सिद्ध होनेमें कोई संदेह नहीं देखते हैं ।। १०० ।।

अहं तथैवं खलु भाविरूपं
पश्यामि बुद्ध्या स्वयमप्रमत्तः ।
दृष्टिश्च मे न व्यथते पुराणी
संयुध्यमाना धार्तराष्ट्रा न सन्ति ।। १०१ ।।

'मैं भी स्वयं प्रमादशून्य होकर अपनी बुद्धिसे भावीका ऐसा ही स्वरूप देखता हूँ। मेरी चिरंतन दृष्टि कभी तिरोहित नहीं होती। उसके अनुसार मैं यह निश्चितरूपसे कह सकता हूँ कि युद्धभूमिमें उतरनेपर धृतराष्ट्रके पुत्र जीवित नहीं रह सकते ।। १०१ ।।

अनालब्धं जृम्भति गाण्डिवं धनु-
रनाहता कम्पति मे धनुर्ज्या ।
बाणाश्च मे तूणमुखाद् विसृत्य
मुहुर्मुहुर्गन्तुमुशन्ति चैव ।। १०२ ।।

‘गाण्डीव धनुष बिना स्पर्श किये ही तना जा रहा है, मेरे धनुषकी डोरी बिना खींचे ही हिलने लगी है और मेरे बाण बार-बार तरकससे निकलकर शत्रुओंकी ओर जानेके लिये उतावले हो रहे हैं ।। १०२ ।।

खड्गः कोशान्निःसरति प्रसन्नो
हित्वेव जीर्णामुरगस्त्वचं स्वाम् ।
ध्वजे वाचो रौद्ररूपा भवन्ति
कदा रथो योक्ष्यते ते किरीटिन् ।। १०३ ।।

‘चमचमाती हुई तलवार म्यानसे इस प्रकार निकल रही है, मानो सर्प अपनी पुरानी केंचुल छोड़कर चमकने लगा हो तथा मेरी ध्वजापर यह भयंकर वाणी गूँजती रहती है कि अर्जुन! तुम्हारा रथ युद्धके लिये कब जोता जायगा ।। १०३ ।।

गोमायुसंघाश्च नदन्ति रात्रौ
रक्षांस्यथो निष्पतन्त्यन्तरिक्षात् ।
मृगाः शृगालाः शितिकण्ठाश्च काका
गृध्रा बकाश्चैव तरक्षवश्च ।। १०४ ।।

‘रातमें गीदड़ोंके दल कोलाहल मचाते हैं, राक्षस आकाशसे पृथिवीपर टूटे पड़ते हैं तथा हिरण, सियार, मोर, कौआ, गीध, बगुला और चीते मेरे रथके समीप दौड़े आते हैं ।। १०४ ।।

सुवर्णपत्राश्च पतन्ति पश्चाद्
दृष्ट्वा रथं श्वेतहयप्रयुक्तम् ।
अहं ह्येकः पार्थिवान् सर्वयोधान्
शरान् वर्षन् मृत्युलोकं नयेयम् ।। १०५ ।।

‘श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए मेरे रथको देखकर सुवर्ण-पत्र नामक पक्षी पीछेसे टूटे पड़ते हैं। इससे जान पड़ता है, मैं अकेला बाणोंकी वर्षा करके समस्त राजाओं और योद्धाओंको यमलोक पहुँचा दूँगा ।। १०५ ।।

समाददानः पृथगस्त्रमार्गान्
यथाग्निरिद्धो गहनं निदाघे ।
स्थूणाकर्णं पाशुपतं महास्त्रं
ब्राह्मं चास्त्रं यच्च शक्रोऽप्यदान्मे ।। १०६ ।।
वधे धृतो वेगवतः प्रमुञ्चन्
नाहं प्रजाः किंचिदिहावशिष्ये ।
शान्तिं लप्स्ये परमो ह्येष भावः
स्थिरो मम ब्रूहि गावल्गणे तान् ।। १०७ ।।

‘जैसे गर्मीमें प्रज्वलित हुई आग जब वनको जलाने लगती है, तब किसी भी वृक्षको बाकी नहीं छोड़ती, उसी प्रकार मैं शत्रुओंके वधके लिये सुसज्जित हो अस्त्रसंचालनकी विभिन्न रीतियोंका आश्रय ले स्थूणाकर्ण, महान् पाशुपतास्त्र, ब्रह्मास्त्र तथा जिसे इन्द्रने मुझे दिया था, उस इन्द्रास्त्रका भी प्रयोग करूँगा और वेगशाली बाणोंकी वर्षा करके इस युद्धमें किसीको भी जीवित नहीं छोड़ूँगा। ऐसा करनेपर ही मुझे शान्ति मिलेगी। संजय! तुम उनसे स्पष्ट कह देना कि मेरा यह दृढ़ और उत्तम निश्चय है ।। १०६-१०७ ।।

ये वैजय्याः समरे सूत लब्ध्वा
देवानपीन्द्रप्रमुखान् समेतान् ।
तैर्मन्यते कलहं सम्प्रसह्य
स धार्तराष्ट्रः पश्यत मोहमस्य ।। १०८ ।।

‘सूत! जो पाण्डव समरभूमिमें इन्द्र आदि समस्त देवताओंको भी पाकर उन्हें पराजित किये बिना नहीं रहेंगे, उन्हीं हम पाण्डवोंके साथ यह दुर्योधन हठपूर्वक युद्ध करना चाहता है, इसका मोह तो देखो ।। १०८ ।।

वृद्धो भीष्मः शान्तनवः कृपश्च
द्रोणः सपुत्रो विदुरश्च धीमान् ।
एते सर्वे यद् वदन्ते तदस्तु
आयुष्मन्तः कुरवः सन्तु सर्वे ।। १०९ ।।

‘फिर भी मैं चाहता हूँ कि बूढ़े पितामह शान्तनु-नन्दन भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और बुद्धिमान् विदुर—ये सब लोग मिलकर जैसा कहें, वही हो। समस्त कौरव दीर्घायु बने रहें ।। १०९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि अर्जुनवाक्यनिवेदने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें अर्जुनवाक्यनिवेदनविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४८ ।।

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मका दुर्योधनको संधिके लिये समझाते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महिमा बताना एवं कर्णपर आक्षेप करना, कर्णकी आत्मप्रशंसा, भीष्मके द्वारा उसका पुनः उपहास एवं द्रोणाचार्यद्वारा भीष्मजीके कथनका अनुमोदन

वैशम्पायन उवाच

समवेतेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ।
दुर्योधनमिदं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! वहाँ एकत्र हुए उन समस्त राजाओंकी मण्डलीमें शान्तनुनन्दन भीष्मने दुर्योधनसे यह बात कही— ।। १ ।।

बृहस्पतिश्चोशना च ब्रह्माणं पर्युपस्थितौ ।
मरुतश्च सहेन्द्रेण वसवश्चाग्निना सह ।। २ ।।
आदित्याश्चैव साध्याश्च ये च सप्तर्षयो दिवि ।
विश्वावसुश्च गन्धर्वः शुभाश्चाप्सरसां गणाः ।। ३ ।।

एक समयकी बात है, बृहस्पति और शुक्राचार्य ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुए। उनके साथ इन्द्रसहित मरुद्गण, अग्नि, वसुगण, आदित्य, साध्य, सप्तर्षि, विश्वावसु गन्धर्व और श्रेष्ठ अप्सराएँ भी वहाँ मौजूद थीं ।। २-३ ।।

नमस्कृत्योपजग्मुस्ते लोकवृद्धं पितामहम् ।
परिवार्य च विश्वेशं पर्यासत दिवौकसः ।। ४ ।।

ये सब देवता संसारके बड़े-बूढ़े पितामह ब्रह्माजीके पास गये और उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् उन लोकेश्वरको सब ओरसे घेरकर बैठ गये ।। ४ ।।

तेषां मनश्च तेजश्चाप्याददानाविवौजसा ।
पूर्वदेवौ व्यतिक्रान्तौ नरनारायणावृषी ।। ५ ।।

इसी समय पुरातन देवता नर-नारायण ऋषि उधर आ निकले और अपनी कान्ति तथा ओजसे उन सबके चित्त और तेजका अपहरण-सा करते हुए उस स्थानको लाँघकर चले गये ।। ५ ।।

बृहस्पतिस्तु पप्रच्छ ब्रह्माणं काविमाविति ।
भवन्तं नोपतिष्ठेते तौ नः शंस पितामह ।। ६ ।।

यह देख बृहस्पतिजीने ब्रह्माजीसे पूछा—'पितामह! ये दोनों कौन हैं, जिन्होंने आपका अभिनन्दन भी नहीं किया। हमें इनका परिचय दीजिये' ।। ६ ।।

ब्रह्मोवाच

यावेतौ पृथिवीं द्यां च भासयन्तौ तपस्विनौ ।
ज्वलन्तौ रोचमानौ च व्याप्यातीतौ महाबलौ ।। ७ ।।
नरनारायणावेतौ लोकाल्लोकं समास्थितौ ।
ऊर्जितौ स्वेन तपसा महासत्त्वपराक्रमौ ।। ८ ।।

ब्रह्माजी बोले—बृहस्पते! ये जो दोनों महान् शक्तिशाली तपस्वी पृथ्वी और आकाशको प्रकाशित करते हुए हमलोगोंका अतिक्रमण करके आगे बढ़ गये हैं, नर और नारायण हैं। ये अपने तेजसे प्रज्वलित और कान्तिसे प्रकाशित हो रहे हैं। इनका धैर्य और पराक्रम महान् है। ये अपनी तपस्यासे अत्यन्त प्रभावशाली होनेके कारण भूलोकसे ब्रह्मलोकमें आये हैं ।। ७-८ ।।

एतौ हि कर्मणा लोकं नन्दयामासतुर्ध्रुवम् ।

द्विधाभूतौ महाप्राज्ञौ विद्धि ब्रह्मन् परंतपौ ।
असुराणां विनाशाय देवगन्धर्वपूजितौ ।। ९ ।।

इन्होंने अपने सत्कर्मोंसे निश्चय ही सम्पूर्ण लोकोंका आनन्द बढ़ाया है। ब्रह्मन्! ये दोनों अत्यन्त बुद्धिमान् और शत्रुओंको संताप देनेवाले हैं। इन्होंने एक होते हुए भी असुरोंका विनाश करनेके लिये दो शरीर धारण किये हैं। देवता और गन्धर्व सभी इनकी पूजा करते हैं ।। ९ ।।

वैशम्पायन उवाच

जगाम शक्रस्तच्छ्रुत्वा यत्र तौ तेपतुस्तपः ।
सार्धं देवगणैः सर्वैर्बृहस्पतिपुरोगमैः ।। १० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर इन्द्र बृहस्पति आदि सब देवताओंके साथ उस स्थानपर गये जहाँ उन दोनों ऋषियोंने तपस्या की थी ।। १० ।।

तदा देवासुरे युद्धे भये जाते दिवौकसाम् ।
अयाचत महात्मानौ नरनारायणौ वरम् ।। ११ ।।

उन दिनों देवासुर-संग्राम उपस्थित था और उसमें देवताओंको महान् भय प्राप्त हुआ था; अतः उन्होंने उन दोनों महात्मा नर-नारायणसे वरदान माँगा ।। ११ ।।

तावब्रूतां वृणीष्वेति तदा भरतसत्तम ।
अथैतावब्रवीच्छक्रः साह्यं नः क्रियतामिति ।। १२ ।।

भरतश्रेष्ठ! देवताओंकी प्रार्थना सुनकर उस समय उन दोनों ऋषियोंने इन्द्रसे कहा—‘तुम्हारी जो इच्छा हो, उसके अनुसार वर माँगो।’ तब इन्द्रने उनसे कहा—‘भगवन्! आप हमारी सहायता करें’ ।। १२ ।।

ततस्तौ शक्रमब्रूतां करिष्यावो यदिच्छसि ।
ताभ्यां च सहितः शक्रो विजिग्ये दैत्यदानवान् ।। १३ ।।

तब नर-नारायण ऋषियोंने इन्द्रसे कहा—‘देवराज! तुम जो कुछ चाहते हो, वह हम करेंगे।’ फिर उन दोनोंको साथ लेकर इन्द्रने समस्त दैत्यों और दानवोंपर विजय पायी ।। १३ ।।

नर इन्द्रस्य संग्रामे हत्वा शत्रून् परंतपः ।
पौलोमान् कालखञ्जांश्च सहस्राणि शतानि च ।। १४ ।।

एक समय शत्रुओंको संताप देनेवाले नरस्वरूप अर्जुनने युद्धमें इन्द्रसे शत्रुता रखनेवाले सैकड़ों और हजारों पौलोम एवं कालखंज नामक दानवोंका संहार किया ।। १४ ।।

एष भ्रान्ते रथे तिष्ठन् भल्लेनापाहरच्छिरः ।
जम्भस्य ग्रसमानस्य तदा ह्यर्जुन आहवे ।। १५ ।।

उस समय ये नरस्वरूप अर्जुन सब ओर चक्कर लगानेवाले रथपर बैठे हुए थे, तो भी इन्होंने सबको अपना ग्रास बनानेवाले जम्भ नामक असुरका मस्तक अपने एक भल्लसे काट गिराया ।। १५ ।।

एष पारे समुद्रस्य हिरण्यपुरमारुजत् ।
जित्वा षष्टिं सहस्राणि निवातकवचान् रणे ।। १६ ।।

इन्होंने ही संग्राममें साठ हजार निवातकवचोंको पराजित करके समुद्रके उस पार बसे हुए दैत्योंके हिरण्यपुर नामक नगरको तहस-नहस कर डाला ।। १६ ।।

एष देवान् सहेन्द्रेण जित्वा परपुरञ्जयः ।
अतर्पयन्महाबाहुरर्जुनो जातवेदसम् ।। १७ ।।

शत्रुओंके नगरपर विजय पानेवाले इन महाबाहु अर्जुनने खाण्डवदाहके समय इन्द्रसहित समस्त देवताओंको जीतकर अग्निदेवको पूर्णतः तृप्त किया था ।। १७ ।।

नारायणस्तथैवात्र भूयसोऽन्याञ्जघान ह ।
एवमेतौ महावीर्यौ तौ पश्यत समागतौ ।। १८ ।।

इसी प्रकार नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने भी खाण्डवदाहके समय दूसरे बहुत-से हिंसक प्राणियोंको यमलोक पहुँचाया था। इस प्रकार ये दोनों महान् पराक्रमी हैं। दुर्योधन! इस समय ये दोनों एक-दूसरेसे मिल गये हैं, इस बातको तुमलोग अच्छी तरह देख और समझ लो ।। १८ ।।

वासुदेवार्जुनौ वीरौ समवेतौ महारथौ ।
नरनारायणौ देवौ पूर्वदेवाविति श्रुतिः ।। १९ ।।

परस्पर मिले हुए महारथी वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन पुरातन देवता नर और नारायण ही हैं; यह बात विख्यात है ।। १९ ।।

अजेयौ मानुषे लोके सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ।
एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः ।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम् ।। २० ।।

इस मनुष्यलोकमें इन्हें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी नहीं जीत सकते। ये श्रीकृष्ण नारायण हैं और अर्जुन नर माने गये हैं। नारायण और नर दोनों एक ही सत्ता हैं, परंतु लोकहितके लिये दो शरीर धारण करके प्रकट हुए हैं ।। २० ।।

एतौ हि कर्मणा लोकानश्नुवातेऽक्षयान् ध्रुवान् ।
तत्र तत्रैव जायेते युद्धकाले पुनः पुनः ।। २१ ।।

ये दोनों अपने सत्कर्मके प्रभावसे अक्षय एवं ध्रुवलोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं। लोकहितके लिये जब-जब जहाँ-जहाँ युद्धका अवसर आता है, तब-तब वहाँ-वहाँ ये बार-बार अवतार ग्रहण करते हैं ।। २१ ।।

तस्मात् कर्मैव कर्तव्यमिति होवाच नारदः ।

एतद्धि सर्वमाचष्ट वृष्णिचक्रस्य वेदवित् ।। २२ ।।

दुष्टोंका दमन करके साधु पुरुषों एवं धर्मका संरक्षण ही इनका कर्तव्य है, ये सारी बातें वेदोंके ज्ञाता नारदजीने समस्त वृष्णिवंशियोंके सम्मुख कही थीं ।।

शङ्खचक्रगदाहस्तं यदा द्रक्ष्यसि केशवम् ।
पर्याददानं चास्त्राणि भीमधन्वानमर्जुनम् ।। २३ ।।
सनातनौ महात्मानौ कृष्णावेकरथे स्थितौ ।
दुर्योधन तदा तात स्मर्तासि वचनं मम ।। २४ ।।

वत्स दुर्योधन! जब तुम देखोगे कि दोनों सनातन महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन एक ही रथपर बैठे हैं, श्रीकृष्णके हाथमें शंख, चक्र और गदा है और भयंकर धनुष धारण करनेवाले अर्जुन निरन्तर नाना प्रकारके अस्त्र लेते और छोड़ते जा रहे हैं, तब तुम्हें मेरी बातें याद आयेंगी ।। २३-२४ ।।

नोचेदयमभावः स्यात् कुरूणां प्रत्युपस्थितः ।
अर्थाच्च तात धर्माच्च तव बुद्धिरुपप्लुता ।। २५ ।।

यदि तुमने मेरी बात नहीं मानी तो समझ लो, कौरवोंका विनाश अवश्य ही उपस्थित हो जायगा। तात! तुम्हारी बुद्धि अर्थ और धर्म दोनोंसे भ्रष्ट हो गयी है ।। २५ ।।

न चेद् ग्रहीष्यसे वाक्यं श्रोतासि सुबहून् हतान् ।
तवैव हि मतं सर्वे कुरवः पर्युपासते ।। २६ ।।

यदि मेरा कहना नहीं मानोगे तो एक दिन सुनोगे कि हमारे बहुत-से सगे-सम्बन्धी मार डाले गये; क्योंकि सब कौरव तुम्हारे ही मतका अनुसरण करते हैं ।। २६ ।।

त्रयाणामेव च मतं तत् त्वमेकोऽनुमन्यसे ।
रामेण चैव शप्तस्य कर्णस्य भरतर्षभ ।। २७ ।।
दुर्जातेः सूतपुत्रस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
तथा क्षुद्रस्य पापस्य भ्रातुर्दुःशासनस्य च ।। २८ ।।

भरतश्रेष्ठ! एक तुम्हीं ऐसे हो, जो कि परशुरामजीके द्वारा अभिशप्त खोटी जातिवाले सूतपुत्र कर्ण एवं सुबलपुत्र शकुनि तथा अपने नीच एवं पापात्मा भाई दुःशासन—इन तीनोंके मतका अनुमोदन एवं अनुसरण करते हो ।। २७-२८ ।।

कर्ण उवाच

नैवमायुष्मता वाच्यं यन्मामात्थ पितामह ।
क्षत्रधर्मे स्थितो ह्यस्मि स्वधर्मादनपेयिवान् ।। २९ ।।

कर्ण बोला—पितामह! आपने मेरे प्रति जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, वे अनुचित हैं। आप-जैसे वृद्ध पुरुषको ऐसी बातें मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये। मैं क्षत्रियधर्ममें स्थित हूँ और अपने धर्मसे कभी भ्रष्ट नहीं हुआ हूँ ।। २९ ।।

किं चान्यन्मयि दुर्वृत्तं येन मां परिगर्हसे ।
न हि मे वृजिनं किंचिद् धार्तराष्ट्रा विदुः क्वचित् ।। ३० ।।
नाचरं वृजिनं किंचिद् धार्तराष्ट्रस्य नित्यशः ।

मुझमें कौन-सा ऐसा दुराचार है जिसके कारण आप मेरी निन्दा करते हैं। महाराज धृतराष्ट्रके पुत्रोंने कभी मेरा कोई पापाचार देखा या जाना हो ऐसी बात नहीं है। मैंने दुर्योधनका कभी कोई अनिष्ट नहीं किया है ।। ३०½ ।।

अहं हि पाण्डवान् सर्वान् हनिष्यामि रणे स्थितान् ।। ३१ ।।
प्राग्विरुद्धैः शमं सद्भिः कथं वा क्रियते पुनः ।

मैं युद्धभूमिमें खड़े होनेपर समस्त पाण्डवोंको अवश्य मार डालूँगा। जो लोग पहले अपने विरोधी रहे हों, उनके साथ पुनः संधि कैसे की जा सकती है? ।। ३१½ ।।

राज्ञो हि धृतराष्ट्रस्य सर्वं कार्यं प्रियं मया ।
तथा दुर्योधनस्यापि स हि राज्ये समाहितः ।। ३२ ।।

मुझे जिस प्रकार राजा धृतराष्ट्रका समस्त प्रिय कार्य करना चाहिये, उसी प्रकार दुर्योधनका भी करना उचित है; क्योंकि अब वे ही राज्यपर प्रतिष्ठित हैं ।।

वैशम्पायन उवाच

कर्णस्य तु वचः श्रुत्वा भीष्मः शान्तनवः पुनः ।
धृतराष्ट्रं महाराज सम्भाष्येदं वचोऽब्रवीत् ।। ३३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! कर्णकी बात सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने राजा धृतराष्ट्रको सम्बोधित करके पुनः इस प्रकार कहा— ।। ३३ ।।

यदयं कत्थते नित्यं हन्ताहं पाण्डवानिति ।
नायं कलापि सम्पूर्णा पाण्डवानां महात्मनाम् ।। ३४ ।।

‘राजन्! यह कर्ण जो प्रतिदिन यह डींग हाँका करता है कि मैं पाण्डवोंको मार डालूँगा, वह व्यर्थ है। मेरी रायमें यह महात्मा पाण्डवोंकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है ।। ३४ ।।

अनयो योऽयमागन्ता पुत्राणां ते दुरात्मनाम् ।
तदस्य कर्म जानीहि सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ।। ३५ ।।

‘तुम्हारे दुरात्मा पुत्रोंपर अन्यायके फलस्वरूप जो यह महान् संकट आनेवाला है, वह सब इस दूषित बुद्धिवाले सूतपुत्र कर्णकी ही करतूत समझो ।। ३५ ।।

एतमाश्रित्य पुत्रस्ते मन्दबुद्धिः सुयोधनः ।
अवामन्यत तान् वीरान् देवपुत्रानरिंदमान् ।। ३६ ।।

'तुम्हारे मन्दबुद्धि पुत्र दुर्योधनने इसीका सहारा लेकर शत्रुओंका दमन करनेवाले उन वीर देवपुत्र पाण्डवोंका अपमान किया है ।। ३६ ।।

किं चाप्येतेन तत्कर्म कृतपूर्वं सुदुष्करम् ।
तैर्यथा पाण्डवैः सर्वैरेकैकेन कृतं पुरा ।। ३७ ।।

'आजसे पहले समस्त पाण्डवोंने मिलकर अथवा उनमेंसे एक-एकने अलग-अलग जैसे-जैसे दुष्कर पराक्रम किये हैं, वैसा कौन-सा कठिन पुरुषार्थ इस सूतपुत्रने पहले कभी किया है? ।। ३७ ।।

दृष्ट्वा विराटनगरे भ्रातरं निहतं प्रियम् ।
धनंजयेन विक्रम्य किमनेन तदा कृतम् ।। ३८ ।।

'जब विराटनगरमें अर्जुनने अपना पराक्रम दिखाते हुए इसके सामने ही इसके प्यारे भाईको मार डाला था, तब इसने सब कुछ अपनी आँखोंसे देखकर भी अर्जुनका क्या बिगाड़ लिया? ।। ३८ ।।

सहितान् हि कुरून् सर्वानभियातो धनंजयः ।
प्रमथ्य चाच्छिनद् वासः किमयं प्रोषितस्तदा ।। ३९ ।।

‘जब धनंजयने अकेले ही समस्त कौरवोंपर आक्रमण किया और सबको मूर्च्छित करके उनके वस्त्र छीन लिये थे, उस समय यह कर्ण क्या कहीं परदेश चला गया था? ।। ३९ ।।

गन्धर्वैर्घोषयात्रायां ह्रियते यत् सुतस्तव ।

क्व तदा सूतपुत्रोऽभूद् य इदानीं वृषायते ।। ४० ।।

‘घोषयात्राके समय जब गन्धर्वलोग तुम्हारे पुत्रको कैद करके लिये जा रहे थे, उस समय यह सूतपुत्र कहाँ था? जो इस समय साँड़की तरह डँकार रहा है ।। ४० ।।

ननु तत्रापि भीमेन पार्थेन च महात्मना ।

यमाभ्यामेव संगम्य गन्धर्वास्ते पराजिताः ।। ४१ ।।

‘वहाँ भी तो महात्मा भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेवने ही मिलकर उन गन्धर्वोंको परास्त किया था ।।

एतान्यस्य मृषोक्तानि बहूनि भरतर्षभ ।

विकत्थनस्य भद्रं ते सदा धर्मार्थलोपिनः ।। ४२ ।।

‘भरतश्रेष्ठ! तुम्हारा भला हो। यह कर्ण व्यर्थ ही शेखी बघारता रहता है। इसकी कही हुई बहुत-सी बातें इसी तरह झूठी हैं। यह तो धर्म और अर्थ—दोनोंका ही लोप करनेवाला है ।। ४२ ।।

भीष्मस्य तु वचः श्रुत्वा भारद्वाजो महामनाः ।

धृतराष्ट्रमुवाचेदं राजमध्येऽभिपूजयन् ।। ४३ ।।

भीष्मजीकी यह बात सुनकर महामना द्रोणाचार्यने समस्त राजाओंके मध्यमें उनकी प्रशंसा करते हुए राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार कहा— ।। ४३ ।।

यदाह भरतश्रेष्ठो भीष्मस्तत् क्रियतां नृप ।

न काममर्थलिप्सूनां वचनं कर्तुमर्हसि ।। ४४ ।।

‘नरेश्वर! भरतकुलतिलक भीष्मजीने जो कहा है, वही कीजिये। जो लोग अर्थ और कामके लोभी हैं, उनकी बातें आपको नहीं माननी चाहिये ।। ४४ ।।

पुरा युद्धात् साधु मन्ये पाण्डवैः सह संगतम् ।

यद् वाक्यमर्जुनेनोक्तं संजयेन निवेदितम् ।। ४५ ।।

सर्वं तदपि जानामि करिष्यति च पाण्डवः ।

‘मैं तो युद्धसे पहले पाण्डवोंके साथ संधि करना ही अच्छा समझता हूँ। अर्जुनने जो बात कही है और संजयने उनका जो संदेश यहाँ सुनाया है, मैं वह सब जानता और समझता हूँ। पाण्डुनन्दन अर्जुन वैसा करके ही रहेंगे ।। ४५½ ।।

न ह्यस्य त्रिषु लोकेषु सदृशोऽस्ति धनुर्धरः ।। ४६ ।।

‘तीनों लोकोंमें अर्जुनके समान कोई धनुर्धर नहीं है ।। ४६ ।।

अनादृत्य तु तद् वाक्यमर्थवद् द्रोणभीष्मयोः ।

ततः स संजयं राजा पर्यपृच्छत पाण्डवान् ।। ४७ ।।

द्रोणाचार्य और भीष्मकी बातें सार्थक और सारगर्भित थीं, तथापि उनकी अवहेलना करके राजा धृतराष्ट्र पुनः संजयसे पाण्डवोंका समाचार पूछने लगे ।। ४७ ।।

तदैव कुरवः सर्वे निराशा जीवितेऽभवन् ।
भीष्मद्रोणौ यदा राजा न सम्यगनुभाषते ।। ४८ ।।

जब राजा धृतराष्ट्रने भीष्म और द्रोणाचार्यसे भी अच्छी तरह वार्तालाप नहीं किया, तभी समस्त कौरव अपने जीवनसे निराश हो गये ।। ४८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ४९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें भीष्मद्रोणवचनविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४९ ।।

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयद्वारा युधिष्ठिरके प्रधान सहायकोंका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

किमसौ पाण्डवो राजा धर्मपुत्रोऽभ्यभाषत ।
श्रुत्वेह बहुलाः सेनाः प्रीत्यर्थं नः समागताः ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! हमारी प्रसन्नता और सहायताके लिये यहाँ हस्तिनापुरमें बहुत-सी सेना एकत्र हो गयी है, यह समाचार सुनकर पाण्डवराज धर्मपुत्र युधिष्ठिरने क्या कहा? ।। १ ।।

किमसौ चेष्टते सूत योत्स्यमानो युधिष्ठिरः ।
के वास्य भ्रातृपुत्राणां पश्यन्त्याज्ञेप्सवो मुखम् ।। २ ।।

सूत! भविष्यमें होनेवाले युद्धके लिये उद्यत होकर राजा युधिष्ठिर कैसी तैयारी कर रहे हैं? उनके भाइयों और पुत्रोंमेंसे कौन-कौन-से लोग उनसे किसी कार्यके लिये आज्ञा पानेकी इच्छासे उनका मुँह जोहते रहते हैं? ।। २ ।।

के स्विदेनं वारयन्ति युद्धाच्छाम्येति वा पुनः ।
निकृत्या कोपितं मन्दैर्धर्मज्ञं धर्मचारिणम् ।। ३ ।।

युधिष्ठिर धर्मके ज्ञाता हैं और धर्मके आचरणमें सदा तत्पर रहते हैं। मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंने अपने कपटपूर्ण बर्तावसे उन्हें कुपित कर दिया है। वहाँ कौन-कौन ऐसे हैं, जो उन्हें बारंबार शान्त रहनेकी सलाह देकर युद्धसे रोकते हैं? ।। ३ ।।

संजय उवाच

राज्ञो मुखमुदीक्षन्ते पञ्चालाः पाण्डवैः सह ।
युधिष्ठिरस्य भद्रं ते स सर्वाननुशास्ति च ।। ४ ।।

संजयने कहा—महाराज! आपका कल्याण हो। पांचाल और पाण्डव सभी राजा युधिष्ठिरके मुखकी ओर देखते रहते हैं और वे उन सबको विभिन्न कार्योंके लिये आज्ञा देते हैं ।। ४ ।।

पृथग्भूताः पाण्डवानां पञ्चालानां रथव्रजाः ।
आयान्तमभिनन्दन्ति कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।। ५ ।।

जब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर सामने आते हैं, तब पाण्डवों तथा पांचालोंके रथसमूह पृथक्-पृथक् श्रेणियोंमें खड़े होकर उनका अभिनन्दन करते हैं ।। ५ ।।

नभः सूर्यमिवोद्यन्तं कौन्तेयं दीप्ततेजसम् ।
पञ्चालाः प्रतिनन्दन्ति तेजोराशिमिवोदितम् ।। ६ ।।

जैसे आकाश उदयकालमें उद्दीप्त तेजस्वी सूर्यदेवका अभिनन्दन करता है, उसी प्रकार, मानो तेजके पुंजका उदय होता हो, इस तरह दिखायी देनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरका समस्त पांचालगण अभिनन्दन करते हैं ।। ६ ।।

आगोपालाविपालाश्च नन्दमाना युधिष्ठिरम् ।
पञ्चालाः केकया मत्स्याः प्रतिनन्दन्ति पाण्डवम् ।। ७ ।।

ग्वालिये और गड़रियोंसे लेकर पांचाल, केकय और मत्स्यदेशोंके राजवंशतक सभी लोग पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरका सम्मान करते हैं ।। ७ ।।

ब्राह्मण्यो राजपुत्र्यश्च विशां दुहितरश्च याः ।
क्रीडन्त्योऽभिसमायान्ति पार्थं संनद्धमीक्षितुम् ।। ८ ।।

ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्योंकी कन्याएँ भी खेलती-खेलती युद्धके लिये सुसज्जित युधिष्ठिरको देखनेके लिये उनके पास आ जाती हैं ।। ८ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

संजयाचक्ष्व येनास्मान् पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।
धृष्टद्युम्नस्य सैन्येन सोमकानां बलेन च ।। ९ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! बताओ, पाण्डवलोग धृष्टद्युम्नकी सेना तथा अन्यान्य सोमकवंशियोंकी विशाल वाहिनीके सिवा और किस-किसकी सहायता पाकर हमलोगोंके साथ युद्ध करनेको उद्यत हुए हैं? ।। ९ ।।

वैशम्पायन उवाच

गावल्गणिस्तु तत्पृष्टः सभायां कुरुसंसदि ।
निःश्वस्य सुभृशं दीर्घं मुहुः संचिन्तयन्निव ।। १० ।।
तत्रानिमित्ततो दैवात् सूतं कश्मलमाविशत् ।
तदाऽऽचचक्षे विदुरः सभायां राजसंसदि ।। ११ ।।
संजयोऽयं महाराज मूर्च्छितः पतितो भुवि ।
वाचं न सृजते कांचिद्धीनप्रज्ञोऽल्पचेतनः ।। १२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कौरवोंकी सभामें राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार पूछनेपर संजय बारंबार लम्बी साँस खींचते हुए दीर्घकालतक गहरी चिन्तामें निमग्न-से हो गये और सहसा बिना किसी विशेष कारणके ही वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। तब विदुरजीने उस राजसभामें धृतराष्ट्रसे कहा—'महाराज! ये संजय मूर्च्छित होकर धरतीपर गिर पड़े हैं। इनकी बुद्धि और चेतना लुप्त-सी हो रही है, अतः अभी कुछ बोल नहीं सकते' ।। १०—१२ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

अपश्यत् संजयो नूनं कुन्तीपुत्रान् महारथान् ।
तैरस्य पुरुषव्याघ्रैर्भृशमुद्वेजितं मनः ।। १३ ।।

धृतराष्ट्र बोले—निश्चय ही संजयने महारथी कुन्तीपुत्रोंको देखा है। जान पड़ता है, उन पुरुषसिंह पाण्डवोंने इसके मनको अत्यन्त उद्विग्न कर दिया है ।।

वैशम्पायन उवाच

संजयश्चेतनां लब्ध्वा प्रत्याश्वस्येदमब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रं महाराज सभायां कुरुसंसदि ।। १४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इतनेमें ही संजयको चेत हो आया और वे आश्वस्त होकर कौरव-सभामें धृतराष्ट्रसे बोले ।। १४ ।।

संजय उवाच

दृष्टवानस्मि राजेन्द्र कुन्तीपुत्रान् महारथान् ।
मत्स्यराजगृहावासनिरोधेनावकर्शितान् ।। १५ ।।

संजयने कहा—राजेन्द्र! मैंने महारथी कुन्तीपुत्रोंका दर्शन किया है। वे अज्ञातवासके समय मत्स्यनरेश विराटके घरमें छिपकर रहनेके कारण अत्यन्त दुबले हो गये हैं ।। १५ ।।

शृणु यैर्हि महाराज पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।
धृष्टद्युम्नेन वीरेण युद्धे वस्तेऽभ्ययुञ्जत ।। १६ ।।

महाराज! पाण्डवोंने जिन लोगोंकी सहायता पाकर युद्धके लिये तैयारी की है, उनका परिचय देता हूँ, सुनिये। पहली बात यह है कि उन्हें वीरवर धृष्टद्युम्नका पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, जिससे सबल होकर उन पाण्डवोंने आपलोगोंपर चढ़ाई करनेकी तैयारी की है ।।

यो नैव रोषान्न भयान्न लोभान्नार्थकारणात् ।
न हेतुवादाद् धर्मात्मा सत्यं जह्यात् कदाचन ।। १७ ।।
यः प्रमाणं महाराज धर्मे धर्मभृतां वरः ।
अजातशत्रुणा तेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।। १८ ।।

महाराज! जो धर्मात्मा न रोषसे, न भयसे, न लोभसे, न अर्थके लिये और न बहाना बनाकर ही कभी सत्यका परित्याग कर सकते हैं, जो धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं और धर्मके विषयमें प्रमाण माने जाते हैं, उन अजातशत्रुके प्रभावसे पाण्डवोंने युद्धकी तैयारी की है ।।

यस्य बाहुबले तुल्यः पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।
यो वै सर्वान् महीपालान् वशे चक्रे धनुर्धरः ।
यः काशीनङ्गमगधान् कलिङ्गांश्च युधाजयत् ।। १९ ।।
तेन वो भीमसेनेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।

बाहुबलमें जिनकी समानता करनेवाला इस भूमण्डलमें दूसरा कोई नहीं है, जिन्होंने केवल धनुष धारण करके युद्धमें काशी, अंग, मगध और कलिंग आदि देशोंके समस्त भूपालोंको जीतकर अपने वशमें कर लिया था, उन भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमण करनेका उद्योग आरम्भ किया है ।। १९ $\frac{१}{२}$ ।।

यस्य वीर्येण सहसा चत्वारो भुवि पाण्डवाः ।। २० ।।
निःसृत्य जतुगेहाद् वै हिडिम्बात् पुरुषादकात् ।
यश्चैषामभवद् द्वीपः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।। २१ ।।
याज्ञसेनीमथो यत्र सिन्धुराजोऽपकृष्टवान् ।
तत्रैषामभवद् द्वीपः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।। २२ ।।
यश्च तान् संगतान् सर्वान् पाण्डवान् वारणावते ।
दह्यतो मोचयामास तेन वस्तेऽभ्ययुज्जत ।। २३ ।।

जिनके बल और पराक्रमसे चारों पाण्डव सहसा लाक्षाभवनसे निकलकर इस पृथ्वीपर जीवित बच गये, जिन्होंने मनुष्यभक्षी राक्षस हिडिम्बसे अपने भाइयोंकी रक्षा की, उस संकटके समय जो कुन्तीकुमार भीम इन पाण्डवोंके लिये द्वीपके समान आश्रयदाता हो गये, जब सिन्धुराज जयद्रथने द्रौपदीका अपहरण किया था, उस समय भी जिन कुन्तीकुमार वृकोदरने उन सबको द्वीपकी भाँति आश्रय दिया था तथा जिन्होंने वारणावत नगरमें एकत्र हुए समस्त पाण्डवोंको लाक्षागृहकी आगमें जलनेसे बचा लिया था, उन्हीं भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंके साथ युद्धकी तैयारी की है ।।

कृष्णायां चरता प्रीतिं येन क्रोधवशा हताः ।
प्रविश्य विषमं घोरं पर्वतं गन्धमादनम् ।। २४ ।।
यस्य नागायुतैर्वीर्यं भुजयोः सारमर्पितम् ।
तेन वो भीमसेनेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।। २५ ।।

जिन्होंने द्रौपदीपर अपना प्रेम जताते हुए अत्यन्त दुर्गम एवं भयंकर गन्धमादन पर्वतकी भूमिमें प्रवेश करके क्रोधवश नामवाले राक्षसोंको मार डाला, जिनकी दोनों भुजाओंमें दस हजार हाथियोंके समान बल है, उन्हीं भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमणका उद्योग किया है ।। २४-२५ ।।

कृष्णद्वितीयो विक्रम्य तुष्ट्यर्थं जातवेदसः ।
अजयद् यः पुरा वीरो युध्यमानं पुरंदरम् ।। २६ ।।
यः स साक्षान्महादेवं गिरिशं शूलपाणिनम् ।
तोषयामास युद्धेन देवदेवमुमापतिम् ।। २७ ।।
यश्च सर्वान् वशे चक्रे लोकपालान् धनुर्धरः ।
तेन वो विजयेनाजौ पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।। २८ ।।

जिन वीरशिरोमणिने पहले केवल भगवान् श्रीकृष्णके साथ जाकर अग्निदेवकी तृप्तिके लिये पराक्रम करके अपने साथ युद्ध करनेवाले देवराज इन्द्रको भी पराजित कर दिया, जिन्होंने युद्धके द्वारा पर्वतपर शयन करनेवाले तथा हाथोंमें त्रिशूल लिये रहनेवाले साक्षात् देवाधिदेव महादेव उमापतिको भी संतुष्ट किया था तथा जिन धनुर्धर वीरने समस्त लोकपालोंको भी हराकर अपने वशमें कर लिया, उन्हीं अर्जुनके बलपर पाण्डवलोग युद्धमें आपलोगोंसे भिड़नेको तैयार हैं ।। २६—२८ ।।

यः प्रतीचीं दिशं चक्रे वशे म्लेच्छगणायुताम् ।
स तत्र नकुलो योद्धा चित्रयोधी व्यवस्थितः ।। २९ ।।
तेन वो दर्शनीयेन वीरेणातिधनुर्भृता ।
माद्रीपुत्रेण कौरव्य पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।। ३० ।।

कुरुनन्दन! जिन्होंने सहस्रों म्लेच्छोंसे भरी हुई पश्चिम दिशाको जीतकर अपने अधीन कर लिया था, वे विचित्र रीतिसे युद्ध करनेमें कुशल योद्धा नकुल उधरसे युद्धके लिये तैयार खड़े हैं। माद्रीकुमार नकुल महान् धनुर्धर और अत्यन्त दर्शनीय वीर हैं। उनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमणकी तैयारी की है ।। २९-३० ।।

यः काशीनङ्गमगन् कलिङ्गांश्च युधाजयत् ।
तेन वः सहदेवेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।। ३१ ।।

जिन्होंने युद्धमें काशी, अंग, मगध तथा कलिंग-देशके राजाओंको पराजित किया है, उन वीरवर सहदेवके बलसे पाण्डव आपलोगोंसे भिड़नेके लिये तैयार हुए हैं ।। ३१ ।।

यस्य वीर्येण सदृशाश्चत्वारो भुवि मानवाः ।
अश्वत्थामा धृष्टकेतू रुक्मी प्रद्युम्न एव च ।। ३२ ।।
तेन वः सहदेवेन युद्धं राजन् महात्ययम् ।
यवीयसा नृवीरेण माद्रीनन्दिकरेण च ।। ३३ ।।

राजन्! इस भूमण्डलमें अश्वत्थामा, धृष्टकेतु, रुक्मी तथा प्रद्युम्न—ये चार पुरुष ही बल और पराक्रममें जिनकी समानता कर सकते हैं, जो माद्रीको आनन्द प्रदान करनेवाले तथा पाण्डवोंमें सबसे छोटे हैं, उन नरश्रेष्ठ वीर सहदेवके साथ आपलोगोंका महान् विनाशकारी युद्ध होनेवाला है ।। ३२-३३ ।।

तपश्चचार या घोरं काशिकन्या पुरा सती ।
भीष्मस्य वधमिच्छन्ती प्रेत्यापि भरतर्षभ ।। ३४ ।।
पाञ्चालस्य सुता जज्ञे दैवाच्च स पुनः पुमान् ।
स्त्रीपुंसोः पुरुषव्याघ्र यः स वेद गुणागुणान् ।। ३५ ।।

भरतश्रेष्ठ! पूर्वकालमें काशिराजकी जिस सती-साध्वी कन्या अम्बाने भीष्मजीके वधकी इच्छासे घोर तपस्या की थी, वही मृत्युके पश्चात् पांचालराज द्रुपदकी पुत्री होकर

उत्पन्न हुई, परंतु दैववश वह फिर पुरुष हो गयी। वह वीर पांचालकुमार स्त्री और पुरुष दोनों शरीरोंके गुण और अवगुणको जानता है ।। ३४-३५ ।।

यः कलिङ्गान् समापेदे पाञ्चाल्यो युद्धदुर्मदः ।
शिखण्डिना वः कुरवः कृतास्त्रेणाभ्ययुञ्जत ।। ३६ ।।

कौरवो! वह द्रुपदकुमार युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाला है। उसीने कलिंगदेशीय क्षत्रियोंको पराजित किया था। उस अस्त्रवेत्ता वीरका नाम शिखण्डी है, जिसके बलपर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ।। ३६ ।।

यं यक्षः पुरुषं चक्रे भीष्मस्य निधनेच्छया ।
महेष्वासेन रौद्रेण पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।। ३७ ।।

जिसे स्थूणाकर्ण यक्षने पुरुष बना दिया था, भीष्मके वधकी इच्छा रखनेवाले उस भयंकर एवं महाधनुर्धर शिखण्डीके बलपर पाण्डव आपसे युद्ध करनेको तैयार हैं ।।

महेष्वासा राजपुत्रा भ्रातरः पञ्च केकयाः ।
आमुक्तकवचाः शूरास्तैश्च वस्तेऽभ्ययुञ्जत ।। ३८ ।।

केकयदेशके पाँच राजकुमार जो परस्पर भाई हैं, सदा कवच बाँधे युद्धके लिये उद्यत रहते हैं। वे महान् धनुर्धर शूरवीर हैं। उनके बलपर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ।। ३८ ।।

यो दीर्घबाहुः क्षिप्रास्त्रो धृतिमान् सत्यविक्रमः ।
तेन वो वृष्णिवीरेण युयुधानेन संगरः ।। ३९ ।।

जिनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं, जो बड़ी शीघ्रतासे अस्त्र-संचालन करते हैं तथा जो धीर एवं सत्यपराक्रमी हैं, उन वृष्णिवीर सात्यकिके साथ आपलोगोंका संग्राम होनेवाला है ।। ३९ ।।

य आसीच्छरणं काले पाण्डवानां महात्मनाम् ।
रणे तेन विराटेन भविता वः समागमः ।। ४० ।।

जो अज्ञातवासके समय महात्मा पाण्डवोंके आश्रयदाता थे, उन राजा विराटके साथ भी आपलोगोंका युद्ध होगा ।। ४० ।।

यः स काशिपती राजा वाराणस्यां महारथः ।
स तेषामभवद् योद्धा तेन वस्तेऽभ्ययुञ्जत ।। ४१ ।।

काशिदेशके अधिपति महारथी नरेश जो वाराणसीपुरीमें रहते हैं, पाण्डवोंकी ओरसे युद्ध करनेको तैयार हैं। उनको साथ लेकर पाण्डव आपलोगोंपर आक्रमण करनेके लिये तैयार हैं ।। ४१ ।।

शिशुभिर्दुर्जयैः संख्ये द्रौपदेयैर्महात्मभिः ।
आशीविषसमस्पर्शैः पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।। ४२ ।।

द्रौपदीके महामना पुत्र देखनेमें बालक होनेपर भी समरभूमिमें दुर्जय हैं। उन्हें छेड़ना विषधर सर्पोंको छू लेनेके समान है। उनके बलपर भी पाण्डव आपलोगोंसे भिड़नेकी तैयारी कर रहे हैं ।। ४२ ।।

यः कृष्णसदृशो वीर्ये युधिष्ठिरसमो दमे ।
तेनाभिमन्युना संख्ये पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।। ४३ ।।

जो पराक्रममें भगवान् श्रीकृष्णके समान और इन्द्रियसंयममें युधिष्ठिरके तुल्य हैं, उन अभिमन्युको साथ लेकर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ।।

यश्चैवाप्रतिमो वीर्ये धृष्टकेतुर्महायशाः ।
दुःसहः समरे क्रुद्धः शैशुपालिर्महारथः ।। ४४ ।।
तेन वश्चेदिराजेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।
अक्षौहिण्या परिवृतः पाण्डवान् योऽभिसंश्रितः ।। ४५ ।।

जिसके पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं है, शिशुपालका वह महारथी पुत्र महायशस्वी धृष्टकेतु समरभूमिमें कुपित होनेपर शत्रुओंके लिये दुःसह हो उठता है। उस चेदिराजके साथ पाण्डवलोग आपपर आक्रमण करनेकी तैयारी कर रहे हैं। उसने एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आकर पाण्डवोंका पक्ष ग्रहण किया है ।। ४४-४५ ।।

यः संश्रयः पाण्डवानां देवानामिव वासवः ।
तेन वो वासुदेवेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।। ४६ ।।

जैसे इन्द्र देवताओंके आश्रयदाता हैं, उसी प्रकार जो पाण्डवोंको शरण देनेवाले हैं, उन भगवान् वासुदेवके साथ पाण्डवोंने आपपर आक्रमण करनेकी तैयारी की है ।। ४६ ।।

तथा चेदिपतेर्भ्राता शरभो भरतर्षभ ।
करकर्षेण सहितस्ताभ्यां वस्तेऽभ्ययुञ्जत ।। ४७ ।।

भरतश्रेष्ठ! चेदिराजके भाई शरभ (अपने अनुज) करकर्षके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं। उन दोनोंको साथ लेकर उन्होंने आपसे युद्ध करनेका उद्योग किया है ।। ४७ ।।

जारासंधिः सहदेवो जयत्सेनश्च तावुभौ ।
युद्धेऽप्रतिरथौ वीरौ पाण्डवार्थे व्यवस्थितौ ।। ४८ ।।

जरासंधपुत्र सहदेव और जयत्सेन दोनों युद्धमें अपना सानी नहीं रखते हैं। वे दोनों मागध वीर पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर डटे हुए हैं ।। ४८ ।।

द्रुपदश्च महातेजा बलेन महता वृतः ।
त्यक्तात्मा पाण्डवार्थाय योत्स्यमानो व्यवस्थितः ।। ४९ ।।

महातेजस्वी राजा द्रुपद विशाल सेनाके साथ आये हैं और पाण्डवोंके लिये अपने शरीर और प्राणोंकी परवा न करके युद्ध करनेके लिये उद्यत हैं ।। ४९ ।।

एते चान्ये च बहवः प्राच्योदीच्या महीक्षितः ।

शतशो यानुपाश्रित्य धर्मराजो व्यवस्थितः ।। ५० ।।

ये तथा और भी बहुत-से पूर्व तथा उत्तर-दिशाओंमें रहनेवाले नरेश सैकड़ोंकी संख्यामें आकर वहाँ डटे हुए हैं, जिनका आश्रय लेकर महाराज युधिष्ठिर युद्धके लिये तैयार हैं ।। ५० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५० ।।

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेनके पराक्रमसे डरे हुए धृतराष्ट्रका विलाप

धृतराष्ट्र उवाच

सर्व एते महोत्साहा ये त्वया परिकीर्तिताः ।
एकतस्त्वेव ते सर्वे समेता भीम एकतः ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! तुमने जिन लोगोंके नाम बताये हैं, ये सभी बड़े उत्साही वीर हैं। इनमें भी जितने लोग वहाँ एकत्र हुए हैं, वे सब एक ओर और भीमसेन एक ओर ।। १ ।।

भीमसेनाद्धि मे भूयो भयं संजायते महत् ।
क्रुद्धादमर्षणात् तात व्याघ्रादिव महारुरोः ।। २ ।।

तात! मुझे क्रोधमें भरे हुए अमर्षशील भीमसेनसे बड़ा डर लगता है; ठीक उसी तरह, जैसे महान् मृगको किसी व्याघ्रसे सदा भय बना रहता है ।। २ ।।

जागर्मि रात्रयः सर्वा दीर्घमुष्णं च निःश्वसन् ।
भीतो वृकोदरात् तात सिंहात् पशुरिवापरः ।। ३ ।।

वत्स! सिंहसे डरे हुए दूसरे पशुकी भाँति मैं भीमसेनसे भयभीत हो रातभर गर्म-गर्म लंबी साँसें खींचता हुआ जागता रहता हूँ ।। ३ ।।

न हि तस्य महाबाहोः शक्रप्रतिमतेजसः ।
सैन्येऽस्मिन् प्रतिपश्यामि य एनं विषहेद् युधि ।। ४ ।।

महाबाहु भीम इन्द्रके समान तेजस्वी है। मैं अपनी सेनामें किसीको भी ऐसा नहीं देखता, जो भीमका सामना कर सके—युद्धमें इसके वेगको सह सके ।। ४ ।।

अमर्षणश्च कौन्तेयो दृढवैरश्च पाण्डवः ।
अनर्महासी सोन्मादस्तिर्यक्प्रेक्षी महास्वनः ।। ५ ।।

कुन्तीकुमार पाण्डुपुत्र भीम असहनशील तथा वैरको दृढ़तापूर्वक पकड़े रखनेवाला है। उसकी की हुई हँसी भी हँसीके लिये नहीं होती, वह उसे सत्य कर दिखाता है। उसका स्वभाव उद्धत है। वह टेढ़ी निगाहसे देखता और बड़े जोरसे गर्जना करता है ।। ५ ।।

महावेगो महोत्साहो महाबाहुर्महाबलः ।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ।। ६ ।।

वह महान् वेगशाली, अत्यन्त उत्साही, विशाल-बाहु और महाबली है। वह युद्ध करके मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंको अवश्य मार डालेगा ।। ६ ।।

ऊरुग्राहगृहीतानां गदां बिभ्रद् वृकोदरः ।
कुरूणामृषभो युद्धे दण्डपाणिरिवान्तकः ।। ७ ।।

मेरे पुत्र भी बड़े दुराग्रही हैं, अतः हाथमें गदा लिये कुरुश्रेष्ठ वृकोदर भीम दण्डपाणि यमराजकी भाँति युद्धमें इनका निश्चय ही वध कर डालेगा ।। ७ ।।

अष्टास्त्रिमायसीं घोरां गदां काञ्चनभूषणाम् ।
मनसाहं प्रपश्यामि ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ।। ८ ।।

मैं मनकी आँखोंसे देख रहा हूँ, भीमसेनकी स्वर्णभूषित भयंकर गदा, जो लोहेकी बनी हुई और आठ कोनोंसे युक्त है, ब्रह्मदण्डके समान उठी हुई है ।। ८ ।।

यथा मृगाणां यूथेषु सिंहो जातबलश्चरेत् ।
मामकेषु तथा भीमो बलेषु विचरिष्यति ।। ९ ।।

जैसे बलवान् सिंह मृगोंके यूथोंमें निःशंक विचरण करता है, उसी प्रकार भीमसेन मेरी विशाल वाहिनियोंमें बेखटके विचरेगा ।। ९ ।।

सर्वेषां मम पुत्राणां स एकः क्रूरविक्रमः ।
बह्वाशी विप्रतीपश्च बाल्येऽपि रभसः सदा ।। १० ।।

बाल्यकालमें भी मेरे सब पुत्रोंमें एकमात्र वह भीमसेन ही क्रूर पराक्रमी, बहुत अधिक खानेवाला, सबके प्रतिकूल चलनेवाला तथा सदा अत्यन्त वेगशाली था ।। १० ।।

उद्वेपते मे हृदयं ये मे दुर्योधनादयः ।
बाल्येऽपि तेन युध्यन्तो वारणेनेव मर्दिताः ।। ११ ।।

उसकी याद आते ही मेरा हृदय काँपने लगता है। मेरे दुर्योधन आदि पुत्र बचपनमें भी जब उसके साथ खेल-कूदमें लड़ते थे, तब वह गजराजकी भाँति इन सबको मसल देता था ।। ११ ।।

तस्य वीर्येण संक्लिष्टा नित्यमेव सुता मम ।
स एव हेतुर्भेदस्य भीमो भीमपराक्रमः ।। १२ ।।

मेरे पुत्र उसके बल-पराक्रमसे सदा ही कष्टमें पड़े रहते थे। भयंकर पराक्रमी भीमसेन ही इस फूटकी जड़ है ।। १२ ।।

ग्रसमानमनीकानि नरवारणवाजिनाम् ।
पश्यामीवाग्रतो भीमं क्रोधमूर्च्छितमाहवे ।। १३ ।।

मुझे अपने सामने दीख-सा रहा है कि भीमसेन युद्धमें क्रोधसे मूर्च्छित हो मनुष्य, हाथी और घोड़ोंकी (समस्त) सेनाओंको कालका ग्रास बनाता जा रहा है ।। १३ ।।

अस्त्रे द्रोणार्जुनसमं वायुवेगसमं जवे ।
महेश्वरसमं क्रोधे को हन्याद् भीममाहवे ।। १४ ।।

वह अस्त्रविद्यामें द्रोणाचार्य तथा अर्जुनके समान है, वेगमें वायुकी समानता करता है एवं क्रोधमें महेश्वरके तुल्य है। ऐसे भीमको युद्धमें कौन मार सकता है? ।। १४ ।।

संजयाचक्ष्व मे शूरं भीमसेनममर्षणम् ।
अतिलाभं तु मन्येऽहं यत् तेन रिपुघातिना ।। १५ ।।
तदैव न हताः सर्वे पुत्रा मम मनस्विना ।

संजय! मुझे अमर्षमें भरे हुए शूरवीर भीमसेनका समाचार सुनाओ। मैं तो यही सबसे बड़ा लाभ मानता हूँ कि उस शत्रुघाती मनस्वी वीरने (जब द्यूतक्रीड़ा हो रही थी) उसी समय मेरे सब पुत्रोंको नहीं मार डाला ।। १५½ ।।

येन भीमबला यक्षा राक्षसाश्च पुरा हताः ।। १६ ।।

कथं तस्य रणे वेगं मानुषः प्रसहिष्यति ।

जिसने पूर्वकालमें भयंकर बलशाली यक्षों तथा राक्षसोंका वध किया है, युद्धमें उसका वेग कोई मनुष्य कैसे सह सकेगा? ।। १६½ ।।

न स जातु वशे तस्थौ मम बाल्येऽपि संजय ।। १७ ।।

किं पुनर्मम दुष्पुत्रैः क्लिष्टः सम्प्रति पाण्डवः ।

संजय! पाण्डुकुमार भीमसेन बचपनमें भी कभी मेरे वशमें नहीं रहा; फिर जब मेरे दुष्ट पुत्रोंने उसे बार-बार कष्ट दिया है, तब वह इस समय मेरे वशमें कैसे हो सकता है? ।। १७½ ।।

निष्ठुरो रोषणोऽत्यर्थं भज्येतापि न संनमेत् ।

तिर्यक्प्रेक्षी संहतभ्रूः कथं शाम्येद् वृकोदरः ।। १८ ।।

वह क्रूर और क्रोधी है। टूट भले ही जाय, पर झुक नहीं सकेगा। सदा टेढ़ी निगाहसे ही देखता है। उसकी भौंहें क्रोधके कारण परस्पर गुँथी रहती हैं। ऐसा भीमसेन कैसे शान्त हो सकेगा? ।। १८ ।।

शूरस्तथाप्रतिबलो गौरस्ताल इवोन्नतः ।

प्रमाणतो भीमसेनः प्रादेशेनाधिकोऽर्जुनात् ।। १९ ।।

गोरे रंगका वह शूरवीर भीमसेन ताड़के समान ऊँचा है। ऊँचाईमें वह अर्जुनसे एक बित्ता अधिक है, बलमें उसकी समता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ।। १९ ।।

जवेन वाजिनोऽत्येति बलेनात्येति कुञ्जरान् ।

अव्यक्तजल्पी मध्वक्षो मध्यमः पाण्डवो बली ।। २० ।।

वह स्पष्ट नहीं बोलता। उसकी आँखें सदा मधुके समान पिंगलवर्णकी दिखायी देती हैं। वह महाबली मध्यम पाण्डव अपने वेगसे घोड़ोंको भी लाँघ सकता है और बलसे हाथियोंको भी पराजित कर सकता है ।। २० ।।

इति बाल्ये श्रुतः पूर्वं मया व्यासमुखात् पुरा ।

रूपतो वीर्यतश्चैव याथातथ्येन पाण्डवः ।। २१ ।।

मैंने बाल्यकालमें ही व्यासजीके मुखसे पहले इस पाण्डुपुत्रके अद्भुत रूप और पराक्रमका यथार्थ वर्णन सुना था ।। २१ ।।

आयसेन स दण्डेन रथान् नागान् नरान् हयान् ।

हनिष्यति रणे क्रुद्धो रौद्रः क्रूरपराक्रमः ।। २२ ।।

निष्ठुर पराक्रम प्रकट करनेवाला यह भयंकर भीमसेन समरभूमिमें कुपित होकर लौहदंडसे मेरे रथों, हाथियों, पैदल मनुष्यों और घोड़ोंका भी संहार कर डालेगा ।। २२ ।।

अमर्षी नित्यसंरब्धो भीमः प्रहरतां वरः ।

मया तात प्रतीपानि कुर्वन् पूर्वं विमानितः ।। २३ ।।

तात संजय! सदा क्रोधमें भरा रहनेवाला अमर्षशील भीमसेन प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें सबसे श्रेष्ठ है। मेरे पुत्रोंके प्रतिकूल आचरण करते समय मैंने पहले कई बार उसका अपमान किया है ।। २३ ।।

निष्कर्णामायसीं स्थूलां सुपार्श्वां काञ्चनीं गदाम् ।

शतघ्नीं शतनिर्ह्रादां कथं शक्ष्यन्ति मे सुताः ।। २४ ।।

उसकी लोहेकी गदा सीधी, मोटी, सुन्दर पार्श्वभागवाली और सुवर्णसे विभूषित है, वह शत-शत वज्रपातके समान बड़े जोरसे आवाज करती और एक ही चोटमें सैकड़ोंको मार डालती है। मेरे बेटे उसका आघात कैसे सह सकेंगे? ।। २४ ।।

अपारमप्लवागाधं समुद्रं शरवेगिनम् ।

भीमसेनमयं दुर्गं तात मन्दास्तितीर्षवः ।। २५ ।।

तात! भीमसेन एक दुर्गम अपार समुद्र है, इसे पार करनेके लिये न तो कोई नौका है और न इसकी कहीं थाह ही है; बाण ही इसका वेग है, तो भी मेरे मूर्ख पुत्र इस भीमसेनमय दुर्गम समुद्रको पार करना चाहते हैं ।। २५ ।।

क्रोशतो मे न शृण्वन्ति बालाः पण्डितमानिनः ।

विषमं न हि मन्यन्ते प्रपातं मधुदर्शिनः ।। २६ ।।

मैं चीखता-चिल्लाता रह जाता हूँ, परंतु अपनेको पण्डित समझनेवाले ये मूर्ख पुत्र मेरी बात नहीं सुनते हैं। ये केवल वृक्षकी ऊँची शाखामें लगे हुए शहदको देखते हैं, वहाँसे गिरनेका जो भयानक खटका है, उसकी ओर इनका ध्यान नहीं है ।। २६ ।।

संयुगं ये गमिष्यन्ति नररूपेण मृत्युना ।

नियतं चोदिता धात्रा सिंहेनेव महामृगाः ।। २७ ।।

जैसे महान् मृग सिंहसे भिड़ जायँ, उसी प्रकार जो लोग उस मनुष्यरूपी यमराजके साथ लड़नेके लिये युद्धभूमिमें उतरेंगे, उन्हें विधाताने ही मृत्युके लिये प्रेरित करके भेजा है, ऐसा मानना चाहिये ।। २७ ।।

शैक्यां तात चतुष्किष्कुं षडस्रिममितौजसम् ।

प्रहितां दुःखसंस्पर्शां कथं शक्ष्यन्ति मे सुताः ।। २८ ।।

तात संजय! भीमसेनकी गदा छींकेपर रखनेयोग्य, चार हाथ लंबी और छः कोणोंसे विभूषित है। उस अत्यन्त तेजस्विनी गदाका स्पर्श भी दुःखदायक है। जब भीम उसे मेरे पुत्रोंपर चलायेगा, तब वे उसका आघात कैसे सह सकेंगे? ।। २८ ।।

गदां भ्रामयतस्तस्य भिन्दतो हस्तिमस्तकान् ।

सृक्किणी लेलिहानस्य बाष्पमुत्सृजतो मुहुः ।। २९ ।।
उद्दिश्य नागान् पततः कुर्वतो भैरवान् रवान् ।
प्रतीपं पततो मत्तान् कुञ्जरान् प्रतिगर्जतः ।। ३० ।।
विगाह्य रथमार्गेषु वरानुद्दिश्य निघ्नतः ।
अग्नेः प्रज्वलितस्येव अपि मुच्येत मे प्रजा ।। ३१ ।।

भीमसेन जब क्रोधजनित आँसू बहाता और बारंबार अपने ओष्ठप्रान्तको चाटता हुआ गदा घुमा-घुमाकर हाथियोंके मस्तक विदीर्ण करने लगेगा, सामने भयंकर गर्जना करनेवाले गजराजोंको लक्ष्य करके उनकी ओर दौड़ेगा, प्रतिकूल दिशाकी ओर भागनेवाले मदोन्मत्त हाथियोंकी गर्जनाके उत्तरमें स्वयं भी सिंहनाद करेगा और मेरे रथियोंकी सेनाओंमें घुसकर श्रेष्ठ वीरोंको चुन-चुनकर मारने लगेगा, उस समय अग्निके समान प्रज्वलित होनेवाले भीमके हाथसे मेरे पुत्र कैसे जीवित बचेंगे? ।। २९—३१ ।।

वीथीं कुर्वन् महाबाहुर्द्रावयन् मम वाहिनीम् ।
नृत्यन्निव गदापाणिर्युगान्तं दर्शयिष्यति ।। ३२ ।।

महाबाहु भीम मेरी सेनामें घुसकर अपने रथके लिये रास्ता बनाता, मेरी विशाल वाहिनीको खदेड़ता और हाथमें गदा लिये नृत्य-सा करता हुआ जब आगे बढ़ेगा, तब प्रलयकालका दृश्य उपस्थित कर देगा ।। ३२ ।।

प्रभिन्न इव मातङ्गः प्रभञ्जन् पुष्पितान् द्रुमान् ।
प्रवेक्ष्यति रणे सेनां पुत्राणां मे वृकोदरः ।। ३३ ।।

जैसे मदकी धारा बहानेवाला मतवाला हाथी फूले हुए वृक्षोंको तोड़ता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार भीमसेन समरभूमिमें मेरे पुत्रोंकी सेनाके भीतर प्रवेश करेगा ।। ३३ ।।

कुर्वन् रथान् विपुरुषान् विसारथिहयध्वजान् ।
आरुजन् पुरुषव्याघ्रो रथिनः सादिनस्तथा ।। ३४ ।।
गङ्गावेग इवानूपांस्तीरजान् विविधान् द्रुमान् ।
प्रभङ्क्ष्यति रणे सेनां पुत्राणां मम संजय ।। ३५ ।।

संजय! वह पुरुषसिंह भीम रथोंको रथी, सारथि, अश्व तथा ध्वजाओंसे शून्य कर देगा एवं रथियों और घुड़सवारोंके अंग-भंग कर डालेगा। जैसे गंगाजीका बढ़ता हुआ वेग जलमय प्रदेशमें स्थित हुए नाना प्रकारके तटवर्ती वृक्षोंको गिराकर नष्ट कर देता है, उसी प्रकार भीम युद्धभूमिमें आकर मेरे पुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालेगा ।। ३४-३५ ।।

दिशो नूनं गमिष्यन्ति भीमसेनभयार्दिताः ।
मम पुत्राश्च भृत्याश्च राजानश्चैव संजय ।। ३६ ।।

संजय! निश्चय ही भीमसेनके भयसे पीड़ित हो मेरे पुत्र, सेवक तथा सहायक नरेश विभिन्न दिशाओंमें भाग जायँगे ।। ३६ ।।

येन राजा महावीर्यः प्रविश्यान्तःपुरं पुरा ।

वासुदेवसहायेन जरासंधो निपातितः ।। ३७ ।।
कृत्स्नेयं पृथिवी देवी जरासंधेन धीमता ।
मागधेन्द्रेण बलिना वशे कृत्वा प्रतापिता ।। ३८ ।।

परम बुद्धिमान् और बलवान् महाबली मगधराज जरासंधने यह सारी पृथिवी अपने वशमें करके इसे पीड़ा देना प्रारम्भ किया था, परंतु भीमसेनने भगवान् श्रीकृष्णके साथ उसके अन्तःपुरमें जाकर उस महापराक्रमी नरेशको मार गिराया ।। ३७-३८ ।।

भीष्मप्रतापात् कुरवो नयेनान्धकवृष्णयः ।
यन्न तस्य वशे जग्मुः केवलं दैवमेव तत् ।। ३९ ।।

भीष्मजीके प्रतापसे कुरुवंशी और नीतिबलसे अंधक-वृष्णिवंशके लोग जो जरासंधके वशमें नहीं पड़े, वह केवल दैवयोग था ।। ३९ ।।

स गत्वा पाण्डुपुत्रेण तरसा बाहुशालिना ।
अनायुधेन वीरेण निहतः किं ततोऽधिकम् ।। ४० ।।

परंतु अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले वीर पाण्डुपुत्र भीमने वेगपूर्वक वहाँ जाकर बिना किसी अस्त्र-शस्त्रके ही उस जरासंधको यमलोक पहुँचा दिया, इससे बढ़कर पराक्रम और क्या होगा? ।। ४० ।।

दीर्घकालसमासक्तं विषमाशीविषो यथा ।
स मोक्ष्यति रणे तेजः पुत्रेषु मम संजय ।। ४१ ।।

संजय! जैसे विषधर सर्प बहुत दिनोंसे संचित किये हुए विषको किसीपर उगलता है, उसी प्रकार भीमसेन भी दीर्घकालसे संचित अपने तेजको रणभूमिमें मेरे पुत्रोंपर छोड़ेगा ।। ४१ ।।

महेन्द्र इव वज्रेण दानवान् देवसत्तमः ।
भीमसेनो गदापाणिः सूदयिष्यति मे सुतान् ।। ४२ ।।

जैसे देवश्रेष्ठ इन्द्र वज्रसे दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार हाथमें गदा लिये भीमसेन मेरे पुत्रोंका संहार कर डालेगा ।। ४२ ।।

अविषह्यमनावार्यं तीव्रवेगपराक्रमम् ।
पश्यामीवातिताम्राक्षमापतन्तं वृकोदरम् ।। ४३ ।।

उसका आक्रमण दुःसह है। उसकी गतिको कोई रोक नहीं सकता। उसका वेग और पराक्रम तीव्र है। मैं प्रत्यक्ष देख-सा रहा हूँ कि वह भीम क्रोधसे अत्यन्त लाल आँखें किये इधर ही दौड़ा आ रहा है ।। ४३ ।।

अगदस्याप्यधनुषो विरथस्य विवर्मणः ।
बाहुभ्यां युद्धयमानस्य कस्तिष्ठेदग्रतः पुमान् ।। ४४ ।।

यदि वह गदा, धनुष, रथ और कवचको छोड़कर केवल दोनों भुजाओंसे युद्ध करे तो भी उसके सामने कौन पुरुष ठहर सकता है? ।। ४४ ।।

भीष्मो द्रोणश्च विप्रोऽयं कृपः शारद्वतस्तथा ।
जानन्त्येते यथैवाहं वीर्यज्ञस्तस्य धीमतः ।। ४५ ।।

उस बुद्धिमान् भीमके बल और पराक्रमको जैसे मैं जानता हूँ, उसी प्रकार ये भीष्म, विप्रवर द्रोणाचार्य तथा शरद्वान्‌के पुत्र कृप भी जानते हैं ।। ४५ ।।

आर्यव्रतं तु जानन्तः संगरान्तं विधित्सवः ।
सेनामुखेषु स्थास्यन्ति मामकानां नरर्षभाः ।। ४६ ।।

तथापि ये नरश्रेष्ठ शिष्ट पुरुषोंके व्रतको जानते हैं, इसलिये युद्धमें प्राणत्याग करनेकी इच्छासे मेरे पुत्रोंकी सेनाके अग्रभागमें डटे रहेंगे ।। ४६ ।।

बलीयः सर्वतो दिष्टं पुरुषस्य विशेषतः ।
पश्यन्नपि जयं तेषां न नियच्छामि यत् सुतान् ।। ४७ ।।

पुरुषका भाग्य ही सबसे विशेष प्रबल है, क्योंकि मैं पाण्डवोंकी विजय समझकर भी अपने पुत्रोंको रोक नहीं पाता हूँ ।। ४७ ।।

ते पुराणं महेष्वासा मार्गमैन्द्रं समास्थिताः ।
त्यक्ष्यन्ति तुमुले प्राणान् रक्षन्तः पार्थिवं यशः ।। ४८ ।।

धृतराष्ट्रकी सभामें संजय पाण्डवोंका सन्देश सुना रहे हैं

भीमसेनका बल बखानते हुए धृतराष्ट्रका विलाप

वे महाधनुर्धर भीष्म आदि पुरातन स्वर्गीय मार्गका आश्रय ले पार्थिव यशकी रक्षा करते हुए घमासान युद्धमें अपने प्राण त्याग देंगे ।। ४८ ।।

यथैषां मामकास्तात तथैषां पाण्डवा अपि ।

पौत्रा भीष्मस्य शिष्याश्च द्रोणस्य च कृपस्य च ।। ४९ ।।

तात! इनके लिये जैसे मेरे पुत्र हैं, वैसे ही पाण्डव भी हैं। दोनों ही भीष्मके पौत्र तथा द्रोण और कृपके शिष्य हैं ।। ४९ ।।

यदस्मदाश्रयं किंचिद् दत्तमिष्टं च संजय ।

तस्यापचितिमार्यत्वात् कर्तारः स्थविरास्त्रयः ।। ५० ।।

संजय! भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य—ये तीनों वृद्ध श्रेष्ठ पुरुष हैं; अतः हमारे आश्रयमें रहकर इन्होंने जो कुछ भी दान-यज्ञ आदि किया है, ये उसका बदला चुकायेंगे (युद्धमें दुर्योधनका ही साथ देंगे) ।। ५० ।।

आददानस्य शस्त्रं हि क्षत्रधर्मं परीप्सतः ।

निधनं क्षत्रियस्याजौ वरमेवाहुरुत्तमम् ।। ५१ ।।

जो अस्त्र-शस्त्र धारण करके क्षात्रधर्मकी रक्षा करना चाहता है, उस क्षत्रियके लिये संग्राममें होनेवाली मृत्युको ही श्रेष्ठ एवं उत्तम माना गया है ।। ५१ ।।

स वै शोचामि सर्वान् वै ये युयुत्सन्ति पाण्डवैः ।

विक्रुष्टं विदुरेणादौ तदेतद् भयमागतम् ।। ५२ ।।

जो लोग पाण्डवोंसे युद्ध करना चाहते हैं, उन सबके लिये मुझे बड़ा शोक हो रहा है। विदुरने पहले ही उच्चस्वरसे जिसकी घोषणा की थी, वही यह भय आज आ पहुँचा है ।। ५२ ।।

न तु मन्ये विघाताय ज्ञानं दुःखस्य संजय ।

भवत्यतिबलं ह्येतज्ज्ञानस्याप्युपघातकम् ।। ५३ ।।

संजय! मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि ज्ञान दुःखका नाश नहीं कर सकता, अपितु प्रबल दुःख ही ज्ञानका भी नाश करनेवाला बन जाता है ।। ५३ ।।

ऋषयो ह्यपि निर्मुक्ताः पश्यन्तो लोकसंग्रहान् ।

सुखैर्भवन्ति सुखिनस्तथा दुःखेन दुःखिताः ।। ५४ ।।

जीवन्मुक्त महर्षि भी लोकव्यवहारकी ओर दृष्टि रखकर सुखके साधनोंसे सुखी और दुःखसे दुःखी होते हैं ।। ५४ ।।

किं पुनर्मोहमासक्तस्तत्र तत्र सहस्रधा ।

पुत्रेषु राज्यदारेषु पौत्रेष्वपि च बन्धुषु ।। ५५ ।।

फिर जो पुत्र, राज्य, पत्नी, पौत्र तथा बन्धु-बान्धवोंमें जहाँ-तहाँ सहस्रों प्रकारसे मोहवश आसक्त हो रहा है, उसकी तो बात ही क्या है? ।। ५५ ।।

संशये तु महत्यस्मिन् किं नु मे क्षममुत्तरम् ।

विनाशं ह्येव पश्यामि कुरूणामनुचिन्तयन् ।। ५६ ।।

इस महान् संकटके विषयमें मैं क्या उचित प्रतीकार कर सकता हूँ? मुझे तो बार-बार विचार करनेपर कौरवोंका विनाश ही दिखायी पड़ता है ।। ५६ ।।

द्यूतप्रमुखमाभाति कुरूणां व्यसनं महत् ।
मन्देनैश्वर्यकामेन लोभात् पापमिदं कृतम् ।। ५७ ।।

द्यूतक्रीड़ा आदिकी घटनाएँ ही कौरवोंपर भारी विपत्ति लानेका कारण प्रतीत होती हैं। ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले मूर्ख दुर्योधनने लोभवश यह पाप किया है ।। ५७ ।।

मन्ये पर्यायधर्मोऽयं कालस्यात्यन्तगामिनः ।
चक्रे प्रधिरिवासक्तो नास्य शक्यं पलायितुम् ।। ५८ ।।

मैं समझता हूँ कि अत्यन्त तीव्र गतिसे चलनेवाले कालका ही यह क्रमशः प्राप्त होनेवाला नियम है। इस कालचक्रमें उसकी नेमिके समान मैं जुड़ा हुआ हूँ, अतः मेरे लिये इससे दूर भागना सम्भव नहीं है ।। ५८ ।।

किंनु कुर्यां कथं कुर्यां क्व नु गच्छामि संजय ।
एते नश्यन्ति कुरवो मन्दाः कालवशं गताः ।। ५९ ।।

संजय! क्या करूँ, कैसे करूँ और कहाँ चला जाऊँ? ये मूर्ख कौरव कालके वशीभूत होकर नष्ट होना चाहते हैं ।। ५९ ।।

अवशोऽहं तदा तात पुत्राणां निहते शते ।
श्रोष्यामि निनदं स्त्रीणां कथं मां मरणं स्पृशेत् ।। ६० ।।

तात! मेरे सौ पुत्र यदि युद्धमें मारे गये, तब विवश होकर मैं इनकी अनाथ स्त्रियोंका करुण क्रन्दन सुनूँगा। हाय! मेरी मृत्यु किस प्रकार हो सकती है? ।। ६० ।।

यथा निदाघे ज्वलनः समिद्धो
दहेत् कक्षं वायुना चोद्यमानः ।
गदाहस्तः पाण्डवो वै तथैव
हन्ता मदीयान् सहितोऽर्जुनेन ।। ६१ ।।

जैसे गर्मीमें प्रज्वलित हुई अग्नि हवाका सहारा पाकर घास-फूस एवं जंगलको भी जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनसहित पाण्डुनन्दन भीम गदा हाथमें लेकर मेरे सब पुत्रोंको मार डालेगा ।। ६१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपवमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५१ ।।

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रद्वारा अर्जुनसे प्राप्त होनेवाले भयका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

यस्य वै नानृता वाचः कदाचिदनुशुश्रुम ।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद् योद्धा यस्य धनंजयः ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! जिनके मुँहसे कभी कोई झूठ बात निकलती हमने नहीं सुनी है तथा जिनके पक्षमें धनंजय-जैसे योद्धा हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरको (भूमण्डलका कौन कहे,) तीनों लोकोंका राज्य भी प्राप्त हो सकता है ।। १ ।।

तस्यैव च न पश्यामि युधि गाण्डीवधन्वनः ।
अनिशं चिन्तयानोऽपि यः प्रतीयाद् रथेन तम् ।। २ ।।

मैं निरन्तर सोचने-विचारनेपर भी युद्धमें गाण्डीवधारी अर्जुनका ही सामना करनेवाले किसी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो रथपर आरूढ़ हो उनके सम्मुख जा सके ।।

अस्यतः कर्णिनालीकान् मार्गणान् हृदयच्छिदः ।
प्रत्येता न समः कश्चिद् युधि गाण्डीवधन्वनः ।। ३ ।।

जो हृदयको विदीर्ण कर देनेवाले कर्णी और नालीक आदि बाणोंकी निरन्तर वर्षा करते हैं, उन गाण्डीवधन्वा अर्जुनका युद्धमें सामना करनेवाला कोई भी समकक्ष योद्धा नहीं है ।। ३ ।।

द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि वीरौ नरर्षभौ ।
कृतास्त्रौ बलिनां श्रेष्ठौ समरेष्वपराजितौ ।। ४ ।।
महान् स्यात् संशयो लोके न त्वस्ति विजयो मम ।
घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः ।। ५ ।।

यदि बलवानोंमें श्रेष्ठ, अस्त्रविद्याके पारंगत विद्वान् तथा युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले, मनुष्योंमें अग्रगण्य वीरवर द्रोणाचार्य और कर्ण अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ें तो भी मुझे अर्जुनपर विजय प्राप्त होनेमें महान् संदेह रहेगा। मैं तो देखता हूँ मेरी विजय होगी ही नहीं; क्योंकि कर्ण दयालु और प्रमादी है और आचार्य द्रोण वृद्ध होनेके साथ ही अर्जुनके गुरु हैं ।। ४-५ ।।

समर्थो बलवान् पार्थो दृढधन्वा जितक्लमः ।
भवेत् सुतुमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजयः ।। ६ ।।

कुन्तीपुत्र अर्जुन समर्थ और बलवान् हैं। उनका धनुष भी सुदृढ़ है। वे आलस्य और थकावटको जीत चुके हैं, अतः उनके साथ जो अत्यन्त भयंकर युद्ध छिड़ेगा, उसमें सब प्रकारसे उनकी ही विजय होगी ।। ६ ।।

सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद् यशः ।
अपि सर्वामरैश्वर्यं त्यजेयुर्न पुनर्जयम् ।। ७ ।।

समस्त पाण्डव अस्त्रविद्याके ज्ञाता, शूरवीर तथा महान् यशको प्राप्त हैं। वे समस्त देवताओंका ऐश्वर्य छोड़ सकते हैं, परंतु अपनी विजयसे मुँह नहीं मोड़ेंगे ।। ७ ।।

वधे नूनं भवेच्छान्तिस्तयोर्वा फाल्गुनस्य च ।
न तु हन्तार्जुनस्यास्ति जेता चास्य न विद्यते ।। ८ ।।
मन्युस्तस्य कथं शाम्येन्मन्दान् प्रति य उत्थितः ।

निश्चय ही द्रोणाचार्य और कर्णका वध हो जानेपर हमारे पक्षके लोग शान्त हो जायँगे अथवा अर्जुनके मारे जानेपर पाण्डव शान्त हो बैठेंगे, परंतु अर्जुनका वध करने-वाला तो कोई है ही नहीं, उन्हें जीतनेवाला भी संसारमें कोई नहीं है। मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंके प्रति उनके हृदयमें जो क्रोध जाग उठा है, वह कैसे शान्त होगा? ।। ८ १/२ ।।

अन्येऽप्यस्त्राणि जानन्ति जीयन्ते च जयन्ति च ।। ९ ।।
एकान्तविजयस्त्वेव श्रूयते फाल्गुनस्य ह ।

दूसरे योद्धा भी अस्त्र चलाना जानते हैं, परंतु वे कभी हारते हैं और कभी जीतते भी हैं। केवल अर्जुन ही ऐसे हैं, जिनकी निरन्तर विजय ही सुनी जाती है ।।

त्रयस्त्रिंशत् समाहूय खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ।। १० ।।
जिगाय च सुरान् सर्वान् नास्य विद्मः पराजयम् ।

खाण्डवदाहके समय अर्जुनने (मुख्य-मुख्य) तैंतीस* देवताओंको युद्धके लिये ललकारकर अग्नि-देवको तृप्त किया और सभी देवताओंको जीत लिया। उनकी कभी पराजय हुई हो, इसका पता हमें आजतक नहीं लगा ।। १० १/२ ।।

यस्य यन्ता हृषीकेशः शीलवृत्तसमो युधि ।। ११ ।।
ध्रुवस्तस्य जयस्तात यथेन्द्रस्य जयस्तथा ।

तात! साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण, जिनका स्वभाव और आचार-व्यवहार भी अर्जुनके ही समान है, अर्जुनका रथ हाँकते हैं, अतः इन्द्रकी विजयकी भाँति उनकी भी विजय निश्चित है ।। ११ १/२ ।।

कृष्णावेकरथे यत्तावधिज्यं गाण्डिवं धनुः ।। १२ ।।
युगपत् त्रीणि तेजांसि समेतान्यनुशुश्रुम ।

श्रीकृष्ण और अर्जुन एक रथपर उपस्थित हैं और गाण्डीव धनुषकी प्रत्यंचा चढ़ी हुई है, इस प्रकार ये तीनों तेज एक ही साथ एकत्र हो गये हैं, यह हमारे सुननेमें आया है ।। १२ १/२ ।।

नैवास्ति नो धनुस्तादृक् न योद्धा न च सारथिः ।। १३ ।।
तच्च मन्दा न जानन्ति दुर्योधनवशानुगाः ।

हमलोगोंके यहाँ न तो वैसा धनुष है, न अर्जुन-जैसा पराक्रमी योद्धा है और न श्रीकृष्णके समान सारथि ही है, परंतु दुर्योधनके वशीभूत हुए मेरे मूर्ख पुत्र इस बातको नहीं समझ पाते ।। १३½ ।।

शेषयेदशनिर्दीप्तो विपतन् मूर्ध्नि संजय ।। १४ ।।
न तु शेषं शरास्तात कुर्युरस्ताः किरीटिना ।

तात संजय! अपने तेजसे जलता हुआ वज्र किसीके मस्तकपर पड़कर सम्भव है, उसके जीवनको बचा दे, परंतु किरीटधारी अर्जुनके चलाये हुए बाण जिसे लग जायँगे, उसे जीवित नहीं छोड़ेंगे ।। १४½ ।।

अपि चास्यन्निवाभाति निघ्नन्निव धनंजयः ।। १५ ।।
उद्धरन्निव कायेभ्यः शिरांसि शरवृष्टिभिः ।

मुझे तो वीर धनंजय युद्धमें बाणोंको चलाते, योद्धाओंके प्राण लेते और अपनी बाणवर्षाद्वारा उनके शरीरोंसे मस्तकोंको काटते हुए-से प्रतीत हो रहे हैं ।।

अपि बाणमयं तेजः प्रदीप्तमिव सर्वतः ।। १६ ।।
गाण्डीवोत्थं दहेताजौ पुत्राणां मम वाहिनीम् ।

क्या गाण्डीव धनुषसे प्रकट हुआ बाणमय तेज सब ओर प्रज्वलित-सा होकर मेरे पुत्रोंकी (विशाल) वाहिनीको युद्धमें जलाकर भस्म कर डालेगा? ।। १६½ ।।

अपि सारथ्यघोषेण भयार्ता सव्यसाचिनः ।। १७ ।।
वित्रस्ता बहुधा सेना भारती प्रतिभाति मे ।

मुझे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि श्रीकृष्णके रथ-संचालनकी आवाज सुनकर भरतवंशियोंकी यह सेना सव्यसाची अर्जुनके भयसे पीड़ित और नाना प्रकारसे आतंकित हो जायगी ।। १७½ ।।

यथा कक्षं महानग्निः प्रदहेत् सर्वतश्चरन् ।
महार्चिरनिलोद्धूतस्तद्वद् धक्ष्यति मामकान् ।। १८ ।।

जैसे वायुके वेगसे बढ़ी हुई आग सब ओर फैलकर प्रचण्ड लपटोंसे युक्त हो घास-फूस अथवा जंगलको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार अर्जुन मेरे पुत्रोंको दग्ध कर डालेंगे ।। १८ ।।

यदोद्वमन् निशितान् बाणसंघां-
स्तानाततायी समरे किरीटी ।
सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा
यथा भवेत् तद्वदपारणीयः ।। १९ ।।

जिस समय शस्त्रपाणि किरीटधारी अर्जुन समर-भूमिमें रोषपूर्वक पैने बाणसमूहोंकी वर्षा करेंगे, उस समय विधाताके रचे हुए सर्वसंहारक कालके समान उनसे पार पाना असम्भव हो जायगा ।। १९ ।।

तदा ह्यभीक्ष्णं सुबहून् प्रकारान्
श्रोतास्मि तानावसथे कुरूणाम् ।
तेषां समन्ताच्च तथा रणाग्रे
क्षयः किलायं भरतानुपैति ।। २० ।।

उस समय मैं महलोंमें बैठा हुआ बार-बार कौरवोंकी विविध अवस्थाओंकी कथा सुनता रहूँगा। अहो! युद्धके मुहानेपर निश्चय ही सब ओरसे यह भरतवंशका विनाश आ पहुँचा है ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५२ ।।

---

[*] कुछ विद्वान् **'त्रयस्त्रिंशत् समाऽऽहूय'** ऐसा पाठ मानकर आर्ष संधिकी कल्पना करके यह अर्थ करते हैं कि तैंतीस वर्षकी अवस्था बीत जानेपर अर्जुनने अग्निदेवको खाण्डववनमें बुलाकर तृप्त किया था।

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कौरवसभामें धृतराष्ट्रका युद्धसे भय दिखाकर शान्तिके लिये प्रस्ताव करना

धृतराष्ट्र उवाच

यथैव पाण्डवाः सर्वे पराक्रान्ता जिगीषवः ।
तथैवाभिसरास्तेषां त्यक्तात्मानो जये धृताः ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! जैसे समस्त पाण्डव पराक्रमी और विजयके अभिलाषी हैं, उसी प्रकार उनके सहायक भी विजयके लिये कटिबद्ध तथा उनके लिये अपने प्राण निछावर करनेको तैयार हैं ।। १ ।।

त्वमेव हि पराक्रान्तानाचक्षीथाः परान् मम ।
पञ्चालान् केकयान् मत्स्यान् मागधान् वत्सभूमिपान् ।। २ ।।

तुमने ही मेरे निकट पराक्रमशाली पांचाल, केकय, मत्स्य, मागध तथा वत्सदेशीय उत्कृष्ट भूमिपालोंके नाम लिये हैं—(ये सभी पाण्डवोंकी विजय चाहते हैं) ।। २ ।।

यश्च सेन्द्रानिमाँल्लोकानिच्छन् कुर्याद् वशे बली ।
स स्रष्टा जगतः कृष्णः पाण्डवानां जये धृतः ।। ३ ।।

इनके सिवा जो इच्छा करते ही इन्द्र आदि देवताओंसहित इन सम्पूर्ण लोकोंको अपने वशमें कर सकते हैं, वे जगत्स्रष्टा महाबली भगवान् श्रीकृष्ण भी पाण्डवोंको विजय दिलानेका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं ।।

समस्तामर्जुनाद् विद्यां सात्यकिः क्षिप्रमाप्तवान् ।
शैनेयः समरे स्थाता बीजवत् प्रवपञ्छरान् ।। ४ ।।

शिनिके पौत्र सात्यकिने थोड़े ही समयमें अर्जुनसे उनकी सारी अस्त्रविद्या सीख ली थी। इस युद्धमें वे भी बीजकी भाँति बाणोंको बोते हुए पाण्डवपक्षकी ओरसे खड़े होंगे ।। ४ ।।

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः क्रूरकर्मा महारथः ।
मामकेषु रणं कर्ता बलेषु परमास्त्रवित् ।। ५ ।।

उत्तम अस्त्रोंका ज्ञाता और क्रूरतापूर्ण पराक्रम प्रकट करनेवाला पांचालराजकुमार महारथी धृष्टद्युम्न भी मेरी सेनाओंमें घुसकर युद्ध करेगा ।। ५ ।।

युधिष्ठिरस्य च क्रोधादर्जुनस्य च विक्रमात् ।
यमाभ्यां भीमसेनाच्च भयं मे तात जायते ।। ६ ।।
अमानुषं मनुष्येन्द्रैर्जालं विततमन्तरा ।

न मे सैन्यास्तरिष्यन्ति ततः क्रोशामि संजय ।। ७ ।।

तात संजय! मुझे युधिष्ठिरके क्रोधसे, अर्जुनके पराक्रमसे, दोनों भाई नकुल और सहदेवसे तथा भीमसेनसे बड़ा भय लगता है। संजय! इन नरेशोंके द्वारा मेरी सेनाके भीतर जब अलौकिक अस्त्रोंका जाल-सा बिछा दिया जायगा, तब मेरे सैनिक उसे पार नहीं कर सकेंगे; इसीलिये मैं बिलख रहा हूँ ।। ६-७ ।।

दर्शनीयो मनस्वी च लक्ष्मीवान् ब्रह्मवर्चसी ।
मेधावी सुकृतप्रज्ञो धर्मात्मा पाण्डुनन्दनः ।। ८ ।।
मित्रामात्यैः सुसम्पन्नः सम्पन्नो युद्धयोजकैः ।
भ्रातृभिः श्वशुरैर्वीरैरुपपन्नो महारथैः ।। ९ ।।
धृत्या च पुरुषव्याघ्रो नैभृत्येन च पाण्डवः ।
अनृशंसो वदान्यश्च ह्रीमान् सत्यपराक्रमः ।। १० ।।
बहुश्रुतः कृतात्मा च वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।
तं सर्वगुणसम्पन्नं समिद्धमिव पावकम् ।। ११ ।।
तपन्तमभि को मन्दः पतिष्यति पतङ्गवत् ।
पाण्डवाग्निमनावार्यं मुमूर्षुर्नष्टचेतनः ।। १२ ।।

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर दर्शनीय, मनस्वी, लक्ष्मीवान्, ब्रह्मर्षियोंके समान तेजस्वी, मेधावी, सुनिश्चित बुद्धिसे युक्त, धर्मात्मा, मित्रों तथा मन्त्रियोंसे सम्पन्न, युद्धके लिये उद्योगशील सैनिकोंसे संयुक्त, महारथी भाइयों और वीरशिरोमणि श्वशुरोंसे सुरक्षित, धैर्यवान्, मन्त्रणाको गुप्त रखनेवाले, पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी, दयालु, उदार, लज्जाशील, यथार्थ पराक्रमसे सम्पन्न, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, मनको वशमें रखनेवाले, वृद्धसेवी तथा जितेन्द्रिय हैं। इस प्रकार सर्वगुणसम्पन्न और प्रज्वलित अग्निके समान ताप देनेवाले उन युधिष्ठिरके सम्मुख युद्ध करनेके लिये कौन मूर्ख जा सकेगा? कौन अचेत एवं मरणासन्न मनुष्य पतंगोंकी भाँति दुर्निवार पाण्डवरूपी अग्निमें जान-बूझकर गिरेगा? ।। ८—१२ ।।

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया ।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ।। १३ ।।

राजा युधिष्ठिर सूक्ष्म और एक स्थानमें अवरुद्ध अग्निके समान हैं। मैंने मिथ्या व्यवहारसे उनका तिरस्कार किया है, अतः वे युद्ध करके मेरे मूर्ख पुत्रोंका अवश्य विनाश कर डालेंगे ।। १३ ।।

तैरयुद्धं साधु मन्ये कुरवस्तन्निबोधत ।
युद्धे विनाशः कृत्स्नस्य कुलस्य भविता ध्रुवम् ।। १४ ।।
एषा मे परमा बुद्धिर्यया शाम्यति मे मनः ।
यदि त्वयुद्धमिष्टं वो वयं शान्त्यै यतामहे ।। १५ ।।

कौरवो! मैं पाण्डवोंके साथ युद्ध न होना ही अच्छा मानता हूँ। तुमलोग इसे अच्छी तरह समझ लो। यदि युद्ध हुआ तो समस्त कुरुकुलका विनाश अवश्यम्भावी है। मेरी बुद्धिका यही सर्वोत्तम निश्चय है। इसीसे मेरे मनको शान्ति मिलती है। यदि तुम्हें भी युद्ध न होना ही अभीष्ट हो तो हम शान्तिके लिये प्रयत्न करें ।। १४-१५ ।।

न तु नः क्लिश्यमानानामुपेक्षेत युधिष्ठिरः ।
जुगुप्सति ह्यधर्मेण मामेवोद्दिश्य कारणम् ।। १६ ।।

युधिष्ठिर हमें (युद्धकी चर्चासे) क्लेशमें पड़े देख हमारी उपेक्षा नहीं कर सकते। वे तो मुझे ही अधर्मपूर्वक कलह बढ़ानेमें कारण मानकर मेरी निन्दा करते हैं (फिर मेरे ही द्वारा शान्तिप्रस्ताव उपस्थित किये जानेपर वे क्यों नहीं सहमत होंगे?) ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५३ ।।

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको उनके दोष बताते हुए दुर्योधनपर शासन करनेकी सलाह देना

संजय उवाच

एवमेतन्महाराज यथा वदसि भारत ।
युद्धे विनाशः क्षत्रस्य गाण्डीवेन प्रदृश्यते ।। १ ।।

संजयने कहा—महाराज! आप जैसा कह रहे हैं, वही ठीक है। भारत! युद्धमें तो गाण्डीव धनुषके द्वारा क्षत्रियसमुदायका विनाश ही दिखायी देता है ।। १ ।।

इदं तु नाभिजानामि तव धीरस्य नित्यशः ।
यत् पुत्रवशमागच्छेस्तत्त्वज्ञः सव्यसाचिनः ।। २ ।।

परंतु सदासे बुद्धिमान् माने जानेवाले आपके सम्बन्धमें मैं यह नहीं समझ पाता हूँ कि आप सव्यसाची अर्जुनके बल-पराक्रमको अच्छी तरह जानते हुए भी क्यों अपने पुत्रोंके अधीन हो रहे हैं? ।। २ ।।

नैष कालो महाराज तव शश्वत् कृतागसः ।
त्वया ह्येवादितः पार्था निकृता भरतर्षभ ।। ३ ।।

भरतकुलभूषण महाराज! आप (स्वभावसे ही) पाण्डवोंका अपराध करनेवाले हैं। इस कारण इस समय आपके द्वारा जो विचार व्यक्त किया गया है, यह सदा स्थिर रहनेवाला नहीं है। आपने आरम्भसे ही कुन्तीपुत्रोंके साथ कपटपूर्ण बर्ताव किया है ।। ३ ।।

पिता श्रेष्ठः सुहृद् यश्च सम्यक् प्रणिहितात्मवान् ।
आस्थेयं हि हितं तेन न द्रोग्धा गुरुरुच्यते ।। ४ ।।

जो पिताके पदपर प्रतिष्ठित है, श्रेष्ठ सुहृद् है और मनमें भलीभाँति सावधानी रखनेवाला है, उसे अपने आश्रितोंका हितसाधन ही करना चाहिये। द्रोह रखनेवाला पुरुष पिता अथवा गुरुजन नहीं कहला सकता ।। ४ ।।

इदं जितमिदं लब्धमिति श्रुत्वा पराजितान् ।
द्यूतकाले महाराज स्मयसे स्म कुमारवत् ।। ५ ।।

महाराज! द्यूतक्रीड़ाके समय जब आप अपने पुत्रोंके मुखसे सुनते कि यह जीता, यह पाया तथा पाण्डवोंकी पराजय हो रही है, तब आप बालकोंकी तरह मुसकरा उठते थे ।। ५ ।।

परुषाण्युच्यमानांश्च पुरा पार्थानुपेक्षसे ।
कृत्स्नं राज्यं जयन्तीति प्रपातं नानुपश्यसि ।। ६ ।।

उस समय पाण्डवोंके प्रति कितनी ही कठोर बातें कही जा रही थीं, परंतु मेरे पुत्र सारा राज्य जीतते चले जा रहे हैं, यह जानकर आप उनकी उपेक्षा करते जाते थे। यह सब इनके भावी विनाश या पतनका कारण होगा, इसकी ओर आपकी दृष्टि नहीं जाती थी ।। ६ ।।

पित्र्यं राज्यं महाराज कुरवस्ते सजाङ्गलाः ।
अथ वीरैर्जितामुर्वीमखिलां प्रत्यपद्यथाः ।। ७ ।।

महाराज! कुरुजांगल देश ही आपका पैतृक राज्य है, किंतु शेष सारी पृथ्वी उन वीर पाण्डवोंने ही जीती है, जिसे आप पा गये हैं ।। ७ ।।

बाहुवीर्यार्जिता भूमिस्तव पार्थैर्निवेदिता ।
मयेदं कृतमित्येव मन्यसे राजसत्तम ।। ८ ।।

नृपश्रेष्ठ! कुन्तीपुत्रोंने अपने बाहुबलसे जीतकर यह भूमि आपकी सेवामें समर्पित की है, परंतु आप उसे अपनी जीती मानते हैं ।। ८ ।।

ग्रस्तान् गन्धर्वराजेन मज्जतो ह्यप्लवेऽम्भसि ।
आनिनाय पुनः पार्थः पुत्रांस्ते राजसत्तम ।। ९ ।।

राजशिरोमणे! (घोषयात्राके समय) गन्धर्वराज चित्रसेनने आपके पुत्रोंको कैद कर लिया था। वे सब-के-सब बिना नावके पानीमें डूब रहे थे, उस समय उन्हें अर्जुन ही पुनः छुड़ाकर ले आये थे ।। ९ ।।

कुमारवच्च स्मयसे द्यूते विनिकृतेषु यत् ।
पाण्डवेषु वने राजन् प्रव्रजत्सु पुनः पुनः ।। १० ।।

राजन्! पाण्डवलोग जब द्यूतक्रीड़ामें छले गये और हारकर वनमें जाने लगे, उस समय आप बच्चोंकी तरह बार-बार मुसकराकर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे ।।

प्रवर्षतः शरव्रातानर्जुनस्य शितान् बहून् ।
अप्यर्णवा विशुष्येयुः किं पुनर्मांसयोनयः ।। ११ ।।

जब अर्जुन असंख्य तीखे बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगेंगे, उस समय समुद्र भी सूख जा सकते हैं, फिर हाड़-मांसके शरीरोंसे पैदा हुए प्राणियोंकी तो बात ही क्या है? ।। ११ ।।

अस्यतां फाल्गुनः श्रेष्ठो गाण्डीवं धनुषां बरम् ।
केशवः सर्वभूतानामायुधानां सुदर्शनम् ।। १२ ।।
वानरो रोचमानश्च केतुः केतुमतां वरः ।

बाण चलानेवाले वीरोंमें अर्जुन श्रेष्ठ हैं, धनुषोंमें गाण्डीव उत्तम है, समस्त प्राणियोंमें भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं, आयुधोंमें सुदर्शन चक्र श्रेष्ठ है और पताकावाले ध्वजोंमें वानरसे उपलक्षित ध्वज ही श्रेष्ठ एवं प्रकाशमान है ।। १२ $\frac{१}{२}$ ।।

एवमेतानि स रथे वहञ्छ्वेतहयो रणे ।। १३ ।।
क्षपयिष्यति नो राजन् कालचक्रमिवोद्यतम् ।

राजन्! इस प्रकार इन सभी श्रेष्ठतम वस्तुओंको अपने साथ लिये हुए जब श्वेत घोड़ोंवाले अर्जुन रथपर आरूढ़ हो रणभूमिमें उपस्थित होंगे, उस समय ऊपर उठे हुए कालचक्रके समान वे हम सब लोगोंका संहार कर डालेंगे ।। १३½ ।।

तस्याद्य वसुधा राजन् निखिला भरतर्षभ ।। १४ ।।
यस्य भीमार्जुनौ योधौ स राजा राजसत्तम ।

राजाओंमें श्रेष्ठ भरतभूषण महाराज! अब तो यह सारी पृथ्वी उसीके अधिकारमें रहेगी, जिसकी ओरसे भीमसेन और अर्जुन-जैसे योद्धा लड़नेवाले होंगे। वही राजा होगा ।। १४½ ।।

तथा भीमहतप्रायां मज्जन्तीं तव वाहिनीम् ।। १५ ।।
दुर्योधनमुखा दृष्ट्वा क्षयं यास्यन्ति कौरवाः ।

आपकी सेनाके अधिकांश वीर भीमसेनके हाथों मारे जायँगे और दुर्योधन आदि कौरव विपत्तिके समुद्रमें डूबती हुई इस सेनाको देखते-देखते स्वयं भी नष्ट हो जायँगे ।। १५½ ।।

न भीमार्जुनयोर्भीता लप्स्यन्ते विजयं विभो ।। १६ ।।
तव पुत्रा महाराज राजानश्चानुसारिणः ।

प्रभो! महाराज! आपके पुत्र तथा इनका साथ देनेवाले नरेश भीमसेन और अर्जुनसे भयभीत होकर कभी विजय नहीं पा सकेंगे ।। १६½ ।।

मत्स्यास्त्वामद्य नार्चन्ति पञ्चालाश्च सकेकयाः ।। १७ ।।
शाल्वेयाः शूरसेनाश्च सर्वे त्वामवजानते ।
पार्थं ह्येते गताः सर्वे वीर्यज्ञास्तस्य धीमतः ।। १८ ।।

मत्स्यदेशके क्षत्रिय अब आपका आदर नहीं करते हैं। पांचाल, केकय, शाल्व तथा शूरसेन देशोंके सभी राजा एवं राजकुमार आपकी अवहेलना करते हैं। वे सब परम बुद्धिमान् अर्जुनके पराक्रमको जानते हैं, अतः उन्हींके पक्षमें मिल गये हैं ।। १७-१८ ।।

भक्त्या ह्यस्य विरुध्यन्ते तव पुत्रैः सदैव ते ।
अनर्हानेव तु वधे धर्मयुक्तान् विकर्मणा ।। १९ ।।
योऽक्लेशयत् पाण्डुपुत्रान् यो विद्वेष्ट्यधुनापि वै ।
सर्वोपायैर्नियन्तव्यः सानुगः पापपूरुषः ।। २० ।।
तव पुत्रो महाराज नानुशोचितुमर्हसि ।
द्यूतकाले मया चोक्तं विदुरेण च धीमता ।। २१ ।।

युधिष्ठिरके प्रति भक्ति रखनेके कारण वे सब सदा ही आपके पुत्रोंके साथ विरोध रखते हैं। महाराज! जो सदा धर्ममें तत्पर रहनेके कारण वध (और क्लेश पाने)-के कदापि योग्य नहीं थे, उन पाण्डुपुत्रोंको जिसने सदा विपरीत बर्तावसे कष्ट पहुँचाया है और जो इस समय भी उनके प्रति द्वेषभाव ही रखता है, आपके उस पापी पुत्र दुर्योधनको ही सभी उपायोंसे साथियोंसहित काबूमें रखना चाहिये। आप बारंबार इस तरह शोक न करें। द्यूतक्रीड़ाके

समय मैंने तथा परम बुद्धिमान् विदुरजीने भी आपको यही सलाह दी थी, (परंतु आपने ध्यान नहीं दिया) ।। १९—२१ ।।

यदिदं ते विलपितं पाण्डवान् प्रति भारत ।
अनीशेनेव राजेन्द्र सर्वमेतन्निरर्थकम् ।। २२ ।।

राजेन्द्र! आपने जो पाण्डवोंके बल-पराक्रमकी चर्चा करके असमर्थकी भाँति विलाप किया है, यह सब व्यर्थ है ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५४ ।।

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रको धैर्य देते हुए दुर्योधनद्वारा अपने उत्कर्ष और पाण्डवोंके अपकर्षका वर्णन

दुर्योधन उवाच

न भेतव्यं महाराज न शोच्या भवता वयम् ।
समर्थाः स्म पराञ्जेतुं बलिनः समरे विभो ।। १ ।।

दुर्योधन बोला—महाराज! आप डरें नहीं; आपके द्वारा हमलोग शोक करनेयोग्य नहीं हैं। प्रभो! हम बलवान् और शक्तिशाली हैं तथा समरभूमिमें शत्रुओंको जीतनेकी शक्ति रखते हैं ।। १ ।।

वने प्रव्राजितान् पार्थान् यदाऽऽयान्मधुसूदनः ।
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना ।। २ ।।
केकया धृष्टकेतुश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
राजानश्चान्वयुः पार्थान् बहवोऽन्येऽनुयायिनः ।। ३ ।।

पाण्डवोंको जब हमने वनमें भेज दिया, उस समय शत्रुओंके राष्ट्रोंको धूलमें मिला देनेवाले विशाल सैन्यसमूहके साथ श्रीकृष्ण यहाँ आये थे। उनके साथ केकयराजकुमार, धृष्टकेतु, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न तथा और भी बहुत-से नरेश, जो पाण्डवोंके अनुयायी हैं, यहाँतक पधारे थे ।। २-३ ।।

इन्द्रप्रस्थस्य चादूरात् समाजग्मुर्महारथाः ।
व्यगर्हयंश्च संगम्य भवन्तं कुरुभिः सह ।। ४ ।।

वे सभी महारथी इन्द्रप्रस्थके निकटतक आये और परस्पर मिलकर समस्त कौरवोंसहित आपकी निन्दा करने लगे ।। ४ ।।

ते युधिष्ठिरमासीनमजिनैः प्रतिवासितम् ।
कृष्णप्रधानाः संहत्य पर्युपासन्त भारत ।। ५ ।।
प्रत्यादानं च राज्यस्य कार्यमूचुर्नराधिपाः ।
भवतः सानुबन्धस्य समुच्छेदं चिकीर्षवः ।। ६ ।।

भारत! वे नरेश श्रीकृष्णकी प्रधानतामें संगठित हो वनमें विराजमान मृगचर्मधारी युधिष्ठिरके समीप जाकर बैठे और सगे-सम्बन्धियोंसहित आपका मूलोच्छेद कर डालनेकी इच्छा रखकर कहने लगे—'धृतराष्ट्रके हाथसे राज्यको लौटा लेना ही कर्तव्य है' ।। ५-६ ।।

श्रुत्वा चैवं मयोक्तास्तु भीष्मद्रोणकृपास्तदा ।
ज्ञातिक्षयभयाद् राजन् भीतेन भरतर्षभ ।। ७ ।।
न ते स्थास्यन्ति समये पाण्डवा इति मे मतिः ।
समुच्छेदं हि नः कृत्स्नं वासुदेवश्चिकीर्षति ।। ८ ।।

भरतश्रेष्ठ! उनके इस निश्चयको सुनकर मैंने कुटुम्बीजनोंके वधकी आशंकासे भयभीत हो भीष्म, द्रोण और कृपाचार्यसे इस प्रकार निवेदन किया—'तात! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पाण्डवलोग अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर नहीं रहेंगे; क्योंकि वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हम सब लोगोंका पूर्णतः विनाश कर डालना चाहते हैं ।।

ऋते च विदुरात् सर्वे यूयं वध्या मता मम ।
धृतराष्ट्रस्तु धर्मज्ञो न वध्यः कुरुसत्तमः ।। ९ ।।

'केवल विदुरजीको छोड़कर आप सब लोग मार डालनेके योग्य समझे गये हैं, यह बात मुझे मालूम हुई है। कुरुश्रेष्ठ धृतराष्ट्र धर्मज्ञ हैं, यह सोचकर उनका भी वध नहीं किया जायगा ।। ९ ।।

समुच्छेदं च कृत्स्नं नः कृत्वा तात जनार्दनः ।
एकराज्यं कुरूणां स्म चिकीर्षति युधिष्ठिरे ।। १० ।।

'तात! श्रीकृष्ण हमारा सर्वनाश करके कौरवोंका एक राज्य बनाकर उसे युधिष्ठिरको सौंपना चाहते हैं ।।

तत्र किं प्राप्तकालं नः प्रणिपातः पलायनम् ।
प्राणान् वा सम्परित्यज्य प्रतियुध्यामहे परान् ।। ११ ।।

'ऐसी अवस्थामें इस समय हमारा क्या कर्तव्य है? हम उनके चरणोंपर गिरें, पीठ दिखाकर भाग जायँ अथवा प्राणोंका मोह छोड़कर शत्रुओंका सामना करें ।। ११ ।।

प्रतियुद्धे तु नियतः स्यादस्माकं पराजयः ।
युधिष्ठिरस्य सर्वे हि पार्थिवा वशवर्तिनः ।। १२ ।।
विरक्तराष्ट्राश्च वयं मित्राणि कुपितानि नः ।
धिक्कृताः पार्थिवैः सर्वैः स्वजनेन च सर्वशः ।। १३ ।।

'उनके साथ युद्ध होनेपर हमारी पराजय निश्चित है; क्योंकि इस समय समस्त भूपाल राजा युधिष्ठिरके अधीन हैं। इस राज्यमें रहनेवाले सब लोग हमसे घृणा करते हैं। हमारे मित्र भी कुपित हो गये हैं। सम्पूर्ण नरेश और आत्मीयजन सभी हमें धिक्कार रहे हैं ।। १२-१३ ।।

प्रणिपाते न दोषोऽस्ति सन्धिर्नः शाश्वतीः समाः ।
पितरं त्वेव शोचामि प्रज्ञानेत्रं जनाधिपम् ।। १४ ।।

'(मैं समझता हूँ,) इस समय नतमस्तक हो जानेमें कोई दोष नहीं है। इससे हमलोगोंमें सदाके लिये शान्ति हो जायगी, केवल अपने प्रज्ञाचक्षु पिता महाराज धृतराष्ट्रके लिये ही मुझे शोक हो रहा है ।। १४ ।।

मत्कृते दुःखमापन्नं क्लेशं प्राप्तमनन्तकम् ।
कृतं हि तव पुत्रैश्च परेषामवरोधनम् ।
मत्प्रियार्थं पुरैवैतद् विदितं ते नरोत्तम ।। १५ ।।

'उन्होंने मेरे लिये अनन्त क्लेश और दुःख सहन किये हैं।' नरश्रेष्ठ पिताजी! आपके पुत्रों तथा मेरे भाइयोंने केवल मेरी प्रसन्नताके लिये शत्रुओंको सदा ही सताया है; ये सब बातें आप पहलेसे ही जानते हैं ।।

ते राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सामात्यस्य महारथाः ।
वैरं प्रतिकरिष्यन्ति कुलोच्छेदेन पाण्डवाः ।। १६ ।।

'इसलिये वे महारथी पाण्डव मन्त्रियोंसहित महाराज धृतराष्ट्रके कुलका समूलोच्छेद करके अपने वैरका बदला लेंगे' ।। १६ ।।

ततो द्रोणोऽब्रवीद् भीष्मः कृपो द्रौणिश्च भारत ।
मत्वा मां महतीं चिन्तामास्थितं व्यथितेन्द्रियम् ।। १७ ।।
अभिद्रुग्धाः परे चेन्नो न भेतव्यं परंतप ।
असमर्थाः परे जेतुमस्मान् युधि समास्थितान् ।। १८ ।।

भारत! मेरी यह बात सुनकर आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामाने मुझे बड़ी भारी चिन्तामें पड़कर सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे व्यथित हुआ जान आश्वासन देते हुए कहा—'परंतप! यदि शत्रुपक्षके लोग हमसे द्रोह रखते हैं तो तुम्हें डरना नहीं चाहिये। शत्रुलोग युद्धमें उपस्थित होनेपर हमें जीतनेमें असमर्थ हैं ।। १७-१८ ।।

एकैकशः समर्थाः स्मो विजेतुं सर्वपार्थिवान् ।
आगच्छन्तु विनेष्यामो दर्पमेषां शितैः शरैः ।। १९ ।।

'हममेंसे एक-एक वीर भी समस्त राजाओंको जीतनेकी शक्ति रखता है। शत्रुलोग आवें तो सही, हम अपने पैने बाणोंसे उनका घमंड चूर-चूर कर देंगे' ।। १९ ।।

पुरैकेन हि भीष्मेण विजिताः सर्वपार्थिवाः ।
मृते पितर्यतिक्रुद्धो रथेनैकेन भारत ।। २० ।।

भारत! पहलेकी बात है, अपने पिता शान्तनुकी मृत्युके पश्चात् भीष्मजीने किसी समय अत्यन्त क्रोधमें भरकर एकमात्र रथकी सहायतासे अकेले ही सब राजाओंको जीत लिया था ।। २० ।।

जघान सुबहूंस्तेषां संरब्धः कुरुसत्तमः ।
ततस्ते शरणं जग्मुर्देवव्रतमिमं भयात् ।। २१ ।।

रोषमें भरे हुए कुरुश्रेष्ठ भीष्मने जब उनमेंसे बहुत-से राजाओंको मार डाला, तब वे डरके मारे पुनः इन्हीं देवव्रत (भीष्म)-की शरणमें आये ।। २१ ।।

स भीष्मः सुसमर्थोऽयमस्माभिः सहितो रणे ।
परान् विजेतुं तस्मात् ते व्येतु भीर्भरतर्षभ ।। २२ ।।

भरतश्रेष्ठ! वे ही पूर्ण सामर्थ्यशाली भीष्म युद्धमें शत्रुओंको जीतनेके लिये हमारे साथ हैं; अतः आपका भय दूर हो जाना चाहिये ।। २२ ।।

इत्येषां निश्चयो ह्यासीत् तत्कालेऽमिततेजसाम् ।

पुरा परेषां पृथिवी कृत्स्नाऽऽसीद् वशवर्तिनी ।। २३ ।।
अस्मान् पुनरमी नाद्य समर्था जेतुमाहवे ।
छिन्नपक्षाः परे ह्यद्य वीर्यहीनाश्च पाण्डवाः ।। २४ ।।

इन अमिततेजस्वी भीष्म आदिने उसी समय युद्धमें हमारा साथ देनेका दृढ़ निश्चय कर लिया था। पहले यह सारी पृथ्वी हमारे शत्रुओंके काबूमें थी, किंतु अब हमारे हाथमें आ गयी है। हमारे ये शत्रु अब हमें युद्धमें जीतनेकी शक्ति नहीं रखते। सहायकोंके अभावमें पाण्डव पंख कटे हुए पक्षीके समान असहाय एवं पराक्रमशून्य हो गये हैं ।। २३-२४ ।।

अस्मत्संस्था च पृथिवी वर्तते भरतर्षभ ।
एकार्थाः सुखदुःखेषु समानीताश्च पार्थिवाः ।। २५ ।।

भरतश्रेष्ठ! इस समय यह पृथ्वी हमारे अधिकारमें है। हमने जिन राजाओंको यहाँ बुलाया है, ये सब सुख और दुःखमें भी हमारे साथ एक-सा प्रयोजन रखते हैं—हमारे सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख मानते हैं ।। २५ ।।

अप्यग्निं प्रविशेयुस्ते समुद्रं वा परंतप ।
मदर्थं पार्थिवाः सर्वे तद् विद्धि कुरुसत्तम ।। २६ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले कुरुश्रेष्ठ! निश्चित मानिये, ये सब समागत नरेश मेरे लिये जलती आगमें भी प्रवेश कर सकते हैं और समुद्रमें भी कूद सकते हैं ।। २६ ।।

उन्मत्तमिव चापि त्वां प्रहसन्तीह दुःखितम् ।
विलपन्तं बहुविधं भीतं परविकत्थने ।। २७ ।।

इतनेपर भी आप शत्रुओंकी मिथ्या प्रशंसा सुनकर पागल-से हो उठे हैं और दुःखी एवं भयभीत होकर नाना प्रकारसे विलाप कर रहे हैं। यह सब देखकर ये राजालोग यहाँ हँस रहे हैं ।। २७ ।।

एषां ह्येकैकशो राज्ञां समर्थः पाण्डवान् प्रति ।
आत्मानं मन्यते सर्वो व्येतु ते भयमागतम् ।। २८ ।।

इन राजाओंमेंसे प्रत्येक अपने-आपको पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेमें समर्थ मानता है; अतः आपके मनमें जो भय आ गया है, वह निकल जाना चाहिये ।। २८ ।।

जेतुं समग्रां सेनां मे वासवोऽपि न शक्नुयात् ।
हन्तुक्षय्यरूपेयं ब्रह्मणोऽपि स्वयम्भुवः ।। २९ ।।

मेरी सम्पूर्ण सेनाको इन्द्र भी नहीं जीत सकते। स्वयम्भू ब्रह्माजी भी इसका नाश नहीं कर सकते ।।

युधिष्ठिरः पुरं हित्वा पञ्च ग्रामान् स याचति ।
भीतो हि मामकात् सैन्यात् प्रभावाच्चैव मे विभो ।। ३० ।।

प्रभो! युधिष्ठिर तो मेरी सेना तथा प्रभावसे इतने डर गये हैं कि राजधानी या नगर लेनेकी बात छोड़कर अब पाँच गाँव माँगने लगे हैं ।। ३० ।।

समर्थं मन्यसे यच्च कुन्तीपुत्रं वृकोदरम् ।
तन्मिथ्या न हि मे कृत्स्नं प्रभावं वेत्सि भारत ।। ३१ ।।

भारत! आप जो कुन्तीकुमार भीमको बहुत शक्तिशाली मान रहे हैं, वह भी मिथ्या ही है; क्योंकि आप मेरे प्रभावको पूर्णरूपसे नहीं जानते हैं ।। ३१ ।।

मत्समो हि गदायुद्धे पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।
नासीत् कश्चिदतिक्रान्तो भविता न च कश्चन ।। ३२ ।।

गदायुद्धमें मेरी समानता करनेवाला इस पृथ्वीपर न तो कोई है, न भूतकालमें कोई हुआ था और न भविष्यमें ही कोई होगा ।। ३२ ।।

युक्तो दुःखोषितश्चाहं विद्यापारगतस्तथा ।
तस्मान्न भीमान्नान्येभ्यो भयं मे विद्यते क्वचित् ।। ३३ ।।

गदायुद्धका मेरा अभ्यास बहुत अच्छा है। मैंने गुरुके समीप क्लेशसहनपूर्वक रहकर अस्त्रविद्या सीखी है और उसमें मैं पारंगत हो गया हूँ। अतः भीमसेनसे या दूसरे योद्धाओंसे मुझे कभी कोई भय नहीं है ।। ३३ ।।

दुर्योधनसमो नास्ति गदायामिति निश्चयः ।
संकर्षणस्य भद्रं ते यत् तदैनमुपावसम् ।। ३४ ।।

आपका कल्याण हो। बलरामजीका भी यही निश्चय है कि गदायुद्धमें दुर्योधनके समान दूसरा कोई नहीं है। यह बात उन्होंने उस समय कही थी, जब मैं उनके पास रहकर गदाकी शिक्षा ले रहा था ।। ३४ ।।

युद्धे संकर्षणसमो बलेनाभ्यधिको भुवि ।
गदाप्रहारं भीमो मे न जातु विषहेद् युधि ।। ३५ ।।

मैं युद्धमें बलरामजीके समान हूँ और बलमें इस भूतलपर सबसे बढ़कर हूँ। युद्धमें भीमसेन मेरी गदाका प्रहार कभी नहीं सह सकते ।। ३५ ।।

एकं प्रहारं यं दद्यां भीमाय रुषितो नृप ।
स एवैनं नयेद् घोरः क्षिप्रं वैवस्वतक्षयम् ।। ३६ ।।

महाराज! मैं रोषमें भरकर भीमसेनपर गदाका जो एक बार प्रहार करूँगा, वह अत्यन्त भयंकर एक ही आघात उन्हें शीघ्र ही यमलोक पहुँचा देगा ।। ३६ ।।

इच्छेयं च गदाहस्तं राजन् द्रष्टुं वृकोदरम् ।
सुचिरं प्रार्थितो ह्येष मम नित्यं मनोरथः ।। ३७ ।।

राजन्! मैं चाहता हूँ कि युद्धमें गदा हाथमें लिये हुए भीमसेनको अपने सामने देखूँ। मैंने दीर्घकालसे अपने मनमें सदा इसी मनोरथके सिद्ध होनेकी इच्छा रखी है ।।

गदया निहतो ह्याजौ मया पार्थो वृकोदरः ।
विशीर्णगात्रः पृथिवीं परासुः प्रपतिष्यति ।। ३८ ।।

युद्धमें मेरी गदासे आहत हुए कुन्तीपुत्र भीमसेनका शरीर छिन्न-भिन्न हो जायगा और वे प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर पड़ जायँगे ।। ३८ ।।

गदाप्रहाराभिहतो हिमवानपि पर्वतः ।
सकृन्मया विदीर्येत गिरिः शतसहस्रधा ।। ३९ ।।

यदि मैं एक बार अपनी गदाका आघात कर दूँ तो हिमालय पर्वत भी लाखों टुकड़ोंमें विदीर्ण हो जायगा ।। ३९ ।।

स चाप्येतद् विजानाति वासुदेवार्जुनौ तथा ।
दुर्योधनसमो नास्ति गदायामिति निश्चयः ।। ४० ।।

भीमसेन भी इस बातको जानते हैं। श्रीकृष्ण और अर्जुनको भी यह ज्ञात है। यह निश्चित है कि गदायुद्धमें दुर्योधनके समान दूसरा कोई नहीं है ।। ४० ।।

तत् ते वृकोदरमयं भयं व्येतु महाहवे ।
व्यपनेष्याम्यहं ह्येनं मा राजन् विमना भव ।। ४१ ।।

अतः राजन्! भीमसेनसे जो आपको भय हो रहा है, वह दूर हो जाना चाहिये। मैं महायुद्धमें उन्हें मार गिराऊँगा। इसलिये आप मनमें खेद न करें ।। ४१ ।।

तस्मिन् मया हते क्षिप्रमर्जुनं बहवो रथाः ।
तुल्यरूपा विशिष्टाश्च क्षेप्स्यन्ति भरतर्षभ ।। ४२ ।।

भरतश्रेष्ठ! मेरे द्वारा भीमसेनके मारे जानेपर (हमारे पक्षके) बहुत-से रथी जो अर्जुनके समान या उनसे भी बढ़कर हैं, उनके ऊपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगेंगे ।। ४२ ।।

भीष्मो द्रोणः कृपो द्रौणिः कर्णो भूरिश्रवास्तथा ।
प्राग्ज्योतिषाधिपः शल्यः सिन्धुराजो जयद्रथः ।। ४३ ।।
एकैक एषां शक्तस्तु हन्तुं भारत पाण्डवान् ।
समेतास्तु क्षणेनैतान् नेष्यन्ति यमसादनम् ।

भारत! भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त, मद्रराज शल्य तथा सिन्धुराज जयद्रथ—इनमेंसे एक-एक वीर समस्त पाण्डवोंको मारनेकी शक्ति रखता है। यदि ये सब एक साथ मिल जायँ तो क्षणभरमें उन सबको यमलोक पहुँचा देंगे ।। ४३ $\frac{1}{2}$ ।।

समग्रा पार्थिवी सेना पार्थमेकं धनंजयम् ।। ४४ ।।
कस्मादशक्ता निर्जेतुमिति हेतुर्न विद्यते ।

राजाओंकी समस्त सेना एकमात्र अर्जुनको परास्त करनेमें असमर्थ कैसे होगी? इसके लिये कोई कारण नहीं है ।। ४४ $\frac{1}{2}$ ।।

शरव्रातैस्तु भीष्मेण शतशो निचितोऽवशः ।। ४५ ।।
द्रोणद्रौणिकृपैश्चैव गन्ता पार्थो यमक्षयम् ।

भीष्म, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्यके चलाये हुए सैकड़ों बाण-समूहोंसे विद्ध होकर कुन्तीपुत्र अर्जुनको विवशतापूर्वक यमलोकमें जाना पड़ेगा ।।

पितामहोऽपि गाङ्गेयः शान्तनोरधि भारत ।। ४६ ।।
ब्रह्मर्षिसदृशो जज्ञे देवैरपि सुदुःसहः ।

भरतनन्दन! हमारे पितामह गंगापुत्र भीष्मजी तो अपने पिता शान्तनुसे भी बढ़कर पराक्रमी हैं। ये ब्रह्मर्षियोंके समान प्रभावसे सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए हैं। इनका वेग देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुःसह है ।। ४६½ ।।

न हन्ता विद्यते चापि राजन् भीष्मस्य कश्चन ।। ४७ ।।
पित्रा ह्युक्तः प्रसन्नेन नाकामस्त्वं मरिष्यसि ।

राजन्! भीष्मजीको मारनेवाला तो कोई है ही नहीं; क्योंकि उनके पिताने प्रसन्न होकर उन्हें यह वरदान दिया है कि तुम अपनी इच्छाके बिना नहीं मरोगे ।। ४७½ ।।

ब्रह्मर्षेश्च भरद्वाजाद् द्रोणो द्रोण्यामजायत ।। ४८ ।।
द्रोणाज्जज्ञे महाराज द्रौणिश्च परमास्त्रवित् ।

दूसरे वीर आचार्य द्रोण हैं, जो ब्रह्मर्षि भरद्वाजके वीर्यसे कलशमें उत्पन्न हुए हैं। महाराज! इन्हीं आचार्य द्रोणसे वीर अश्वत्थामाकी उत्पत्ति हुई है, जो अस्त्र-विद्याके बहुत बड़े पण्डित हैं ।। ४८½ ।।

कृपश्चाचार्यमुख्योऽयं महर्षेर्गौतमादपि ।। ४९ ।।
शरस्तम्बोद्भवः श्रीमानवध्य इति मे मतिः ।

आचार्योंमें प्रधान कृप भी महर्षि गौतमके अंशसे सरकण्डोंके समूहमें उत्पन्न हुए हैं। ये श्रीमान् आचार्यपाद अवध्य हैं, ऐसा मेरा विश्वास है ।। ४९½ ।।

अयोनिजास्त्रयो ह्येते पिता माता च मातुलः ।। ५० ।।
अश्वत्थाम्नो महाराज स च शूरः स्थितो मम ।
सर्व एते महाराज देवकल्पा महारथाः ।। ५१ ।।

महाराज! अश्वत्थामाके ये पिता, माता और मामा तीनों ही अयोनिज हैं। अश्वत्थामा भी शूरवीर एवं मेरे पक्षमें स्थित हैं। राजन्! ये सभी योद्धा देवताओंके समान पराक्रमी एवं महारथी हैं ।। ५०-५१ ।।

शक्रस्यापि व्यथां कुर्युः संयुगे भरतर्षभ ।
नैतेषामर्जुनः शक्त एकैकं प्रति वीक्षितुम् ।। ५२ ।।

भरतश्रेष्ठ! ये चारों वीर युद्धमें देवराज इन्द्रको भी पीड़ा दे सकते हैं। अर्जुन तो इनमेंसे किसी एककी ओर भी आँख उठाकर देख नहीं सकते ।। ५२ ।।

सहितास्तु नरव्याघ्रा हनिष्यन्ति धनंजयम् ।
भीष्मद्रोणकृपाणां च तुल्यः कर्णो मतो मम ।। ५३ ।।

ये नरश्रेष्ठ जब एक साथ होकर युद्ध करेंगे, तब अर्जुनको अवश्य मार डालेंगे। भीष्म, द्रोण और कृप—इन तीनोंके समान पराक्रमी तो अकेला कर्ण ही है, यह मेरी मान्यता है ।। ५३ ।।

अनुज्ञातश्च रामेण मत्समोऽसीति भारत ।
कुण्डले रुचिरे चास्तां कर्णस्य सहजे शुभे ।। ५४ ।।

भारत! परशुरामजीने कर्णको (शिक्षा देनेके पश्चात् घर लौटनेकी) आज्ञा देते हुए यह कहा था कि तुम (अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें) मेरे समान हो। इसके सिवा कर्णको जन्मके साथ ही दो सुन्दर और कल्याणकारी कुण्डल प्राप्त हुए थे ।। ५४ ।।

ते शच्यर्थं महेन्द्रेण याचितः स परंतपः ।
अमोघया महाराज शक्त्या परमभीमया ।। ५५ ।।

परंतु देवराज इन्द्रने शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरवर कर्णसे शचीके लिये वे दोनों कुण्डल माँग लिये। महाराज! कर्णने बदलेमें अत्यन्त भयंकर एवं अमोघ शक्ति लेकर वे कुण्डल दिये थे ।। ५५ ।।

तस्य शक्त्योपगूढस्य कस्माज्जीवेद् धनंजयः ।
विजयो मे ध्रुवं राजन् फलं पाणाविवाहितम् ।। ५६ ।।

इस प्रकार उस अमोघ शक्तिसे सुरक्षित कर्णके सामने युद्धके लिये आकर अर्जुन कैसे जीवित रह सकते हैं? राजन्! हाथपर रखे हुए फलकी भाँति विजयकी प्राप्ति तो मुझे अवश्य ही होगी ।। ५६ ।।

अभिव्यक्तः परेषां च कृत्स्नो भुवि पराजयः ।
अह्ना ह्येकेन भीष्मोऽयं प्रयुतं हन्ति भारत ।। ५७ ।।

भारत! इस पृथ्वीपर मेरे शत्रुओंकी पूर्णतः पराजय तो इसीसे स्पष्ट है कि ये पितामह भीष्म प्रतिदिन दस हजार विपक्षी योद्धाओंका संहार करेंगे ।। ५७ ।।

तत्समाश्च महेष्वासा द्रोणद्रौणिकृपा अपि ।
संशप्तकानां वृन्दानि क्षत्रियाणां परंतप ।। ५८ ।।
अर्जुनं वयमस्मान् वा निहन्यात् कपिकेतनः ।
तं चालमिति मन्यन्ते सव्यसाचिवधे धृताः ।। ५९ ।।
पार्थिवाः स भवांस्तेभ्यो ह्यकस्माद् व्यथते कथम् ।

परंतप! द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य भी उन्हींके समान महाधनुर्धर हैं। इनके सिवा 'संशप्तक' नामक क्षत्रियोंके समूह भी मेरे ही पक्षमें हैं; जो यह कहते हैं कि या तो हमलोग अर्जुनको मार डालेंगे या कपिध्वज अर्जुन ही हमें मार डालेंगे, तभी हमारे उनके युद्धकी समाप्ति होगी। वे सब नरेश अर्जुनके वधका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं और उसके लिये अपनेको पर्याप्त समझते हैं। ऐसी दशामें आप उन पाण्डवोंसे भयभीत हो अकस्मात् व्यथित क्यों हो उठते हैं? ।। ५८-५९ १/२ ।।

भीमसेने च निहते कोऽन्यो युध्येत भारत ।। ६० ।।

परेषां तन्ममाचक्ष्व यदि वेत्थ परंतप ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतनन्दन! अर्जुन और भीमसेनके मारे जानेपर शत्रुओंके दलमें दूसरा कौन ऐसा वीर है, जो युद्ध कर सकेगा? यदि आप किसीको जानते हों तो बताइये ।। ६०½ ।।

पञ्च ते भ्रातरः सर्वे धृष्टद्युम्नोऽथ सात्यकिः ।। ६१ ।।

परेषां सप्त ये राजन् योधाः सारं बलं मतम् ।

राजन्! पाँचों भाई पाण्डव, धृष्टद्युम्न और सात्यकि—ये कुल सात योद्धा ही शत्रु-पक्षके सारभूत बल माने जाते हैं ।। ६१½ ।।

अस्माकं तु विशिष्टा ये भीष्मद्रोणकृपादयः ।। ६२ ।।

द्रौणिर्वैकर्तनः कर्णः सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः ।

प्राग्ज्योतिषाधिपः शल्य आवन्त्यौ च जयद्रथः ।। ६३ ।।

दुःशासनो दुर्मुखश्च दुःसहश्च विशाम्पते ।

श्रुतायुश्चित्रसेनश्च पुरुमित्रो विविंशतिः ।। ६४ ।।

शलो भूरिश्रवाश्चैव विकर्णश्च तवात्मजः ।

प्रजानाथ! हमलोगोंके पक्षमें जो विशिष्ट योद्धा हैं, उनकी संख्या अधिक है; यथा—भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि, अश्वत्थामा, वैकर्तन कर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त, शल्य, अवन्तीके दोनों राजकुमार विन्द और अनुविन्द, जयद्रथ, दुःशासन, दुर्मुख, दुःसह, श्रुतायु, चित्रसेन, पुरुमित्र, विविंशति, शल, भूरिश्रवा तथा आपका पुत्र विकर्ण। (इस प्रकार अपने पक्षके प्रमुख वीरोंकी संख्या शत्रुओंके प्रमुख वीरोंसे तीन गुनी अधिक है) ।। ६२—६४½ ।।

अक्षौहिण्यो हि मे राजन् दशैका च समाहृताः ।

न्यूनाः परेषां सप्तैव कस्मान्मे स्यात् पराजयः ।। ६५ ।।

महाराज! अपने यहाँ ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ संगृहीत हो गयी हैं, परंतु शत्रुओंके पक्षमें हमसे बहुत कम कुल सात अक्षौहिणी सेनाएँ हैं; फिर मेरी पराजय कैसे हो सकती है? ।। ६५ ।।

बलं त्रिगुणतो हीनं योध्यं प्राह बृहस्पतिः ।

परेभ्यस्त्रिगुणा चेयं मम राजन्ननीकिनी ।। ६६ ।।

राजन्! बृहस्पतिका कथन है कि शत्रुओंकी सेना अपनेसे एक तिहाई भी कम हो तो उसके साथ अवश्य युद्ध करना चाहिये। परंतु मेरी यह सेना तो शत्रुओंकी अपेक्षा चार अक्षौहिणी अधिक है, इसलिये यह अन्तर मेरी सम्पूर्ण सेनाकी एक तिहाईसे भी अधिक है ।। ६६ ।।

गुणहीनं परेषां च बहु पश्यामि भारत ।

गुणोदयं बहुगुणमात्मनश्च विशाम्पते ।। ६७ ।।

भारत! प्रजानाथ! मैं देख रहा हूँ कि शत्रुओंका बल हमारी अपेक्षा अनेक प्रकारसे गुणहीन (न्यूनतम) है, परंतु मेरा अपना बल सब प्रकारसे बहुत अधिक एवं गुणशाली है ।। ६७ ।।

एतत् सर्वं समाज्ञाय बलाग्रयं मम भारत ।
न्यूनतां पाण्डवानां च न मोहं गन्तुमर्हसि ।। ६८ ।।

भरतनन्दन! इन सभी दृष्टियोंसे मेरा बल अधिक है और पाण्डवोंका बहुत कम है, यह जानकर आप व्याकुल एवं अधीर न हों ।। ६८ ।।

इत्युक्त्वा संजयं भूयः पर्यपृच्छत भारत ।
विवित्सुः प्राप्तकालानि ज्ञात्वा परपुरंजयः ।। ६९ ।।

जनमेजय! ऐसा कहकर शत्रुनगरविजयी दुर्योधनने शत्रुओंकी स्थिति जान लेनेके पश्चात् समयोचित कर्तव्योंकी जानकारीके लिये पुनः संजयसे प्रश्न किया ।। ६९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि दुर्योधनवाक्ये पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५५ ।।

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयद्वारा अर्जुनके ध्वज एवं अश्वोंका तथा युधिष्ठिर आदिके घोड़ोंका वर्णन

दुर्योधन उवाच

अक्षौहिणीः सप्त लब्ध्वा राजभिः सह संजय ।
किंस्विदिच्छति कौन्तेयो युद्धप्रेप्सुर्युधिष्ठिरः ।। १ ।।

दुर्योधनने पूछा—संजय! यह तो बताओ, सात अक्षौहिणी सेना पाकर राजाओंसहित कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर युद्धकी इच्छासे अब कौन-सा कार्य करना चाहते हैं? ।। १ ।।

संजय उवाच

अतीव मुदितो राजन् युद्धप्रेप्सुर्युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ यमावपि न बिभ्यतः ।। २ ।।

संजयने कहा—राजन्! युधिष्ठिर युद्धकी अभिलाषा लेकर मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो रहे हैं। भीमसेन, अर्जुन तथा दोनों भाई नकुल-सहदेव भी भयभीत नहीं हैं ।। २ ।।

रथं तु दिव्यं कौन्तेयः सर्वा विभ्राजयन् दिशः ।
मन्त्रं जिज्ञासमानः सन् बीभत्सुः समयोजयत् ।। ३ ।।

कुन्तीकुमार अर्जुनने तो अस्त्रप्रयोगसम्बन्धी मन्त्रकी परीक्षाके लिये अपने दिव्य रथकी प्रभासे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए उसे जोत रखा था ।।

तमपश्याम संनद्धं मेघं विद्युद्युतं यथा ।
समन्तात् समभिध्याय हृष्यमाणोऽभ्यभाषत ।। ४ ।।

उस समय स्वर्णमय कवच धारण किये अर्जुन हमें बिजलीके प्रकाशसे सुशोभित मेघके समान दिखायी दे रहे थे। उन्होंने सब ओरसे उन मन्त्रोंका सम्यक् चिन्तन करके हर्षसे उल्लसित होकर मुझसे कहा— ।।

पूर्वरूपमिदं पश्य वयं जेष्याम संजय ।
बीभत्सुर्मां यथोवाच तथावैम्यहमप्युत ।। ५ ।।

'संजय! हमलोग युद्धमें अवश्य विजयी होंगे। उस विजयका यह पूर्वचिह्न अभीसे प्रकट हो रहा है। तुम भी देख लो।' राजन्! अर्जुनने मुझसे जैसा कहा था, वैसा ही मैं भी समझता हूँ ।। ५ ।।

दुर्योधन उवाच

प्रशंसस्यभिनन्दंस्तान् पार्थानक्षपराजितान् ।
अर्जुनस्य रथे ब्रूहि कथमश्वाः कथं ध्वजाः ।। ६ ।।

दुर्योधन बोला—संजय! तुम तो जूएमें हारे हुए कुन्तीपुत्रोंका अभिनन्दन करते हुए उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगे। बताओ तो सही, अर्जुनके रथमें कैसे घोड़े और कैसे ध्वज हैं? ।। ६ ।।

संजय उवाच

भौमनः सह शक्रेण बहुचित्रं विशाम्पते ।
रूपाणि कल्पयामास त्वष्टा धाता सदा विभो ।। ७ ।।

संजयने कहा—प्रजानाथ! विश्वकर्मा त्वष्टा तथा प्रजापतिने इन्द्रके साथ मिलकर अर्जुनके रथकी ध्वजामें अनेक प्रकारके रूपोंकी रचना की है ।। ७ ।।

ध्वजे हि तस्मिन् रूपाणि चक्रुस्ते देवमायया ।
महाधनानि दिव्यानि महान्ति च लघूनि च ।। ८ ।।

उन तीनोंने देवमायाके द्वारा उस ध्वजमें छोटी-बड़ी अनेक प्रकारकी बहुमूल्य एवं दिव्य मूर्तियोंका निर्माण किया है ।। ८ ।।

भीमसेनानुरोधाय हनूमान् मारुतात्मजः ।
आत्मप्रतिकृतिं तस्मिन् ध्वज आरोपयिष्यति ।। ९ ।।

भीमसेनके अनुरोधकी रक्षाके लिये पवननन्दन हनुमान्‌जी उस ध्वजमें युद्धके समय अपने स्वरूपको स्थापित करेंगे ।। ९ ।।

सर्वा दिशो योजनमात्रमन्तरं
स तिर्यगूर्ध्वं च रुरोध वै ध्वजः ।
न सज्जतेऽसौ तरुभिः संवृतोऽपि
तथा हि माया विहिता भौमनेन ।। १० ।।

उस ध्वजने एक योजनतक सम्पूर्ण दिशाओं तथा अगल-बगल एवं ऊपरके अवकाशको व्याप्त कर रखा था। विश्वकर्माने ऐसी माया रच रखी है कि वह ध्वज वृक्षोंसे आवृत अथवा अवरुद्ध होनेपर भी कहीं अटकता नहीं है ।। १० ।।

यथाऽऽकाशे शक्रधनुः प्रकाशते
न चैकवर्णं न च विद्मि किं नु तत् ।
तथा ध्वजो विहितो भौमनेन
बह्वाकारं दृश्यते रूपमस्य ।। ११ ।।

जैसे आकाशमें बहुरंगा इन्द्रधनुष प्रकाशित होता है और यह समझमें नहीं आता कि वह क्या है? ठीक ऐसा ही विश्वकर्माका बनाया हुआ वह रंग-बिरंगा ध्वज है। उसका रूप अनेक प्रकारका दिखायी देता है ।।

यथाग्निधूमो दिवमेति रुद्ध्वा
वर्णान् बिभ्रत् तैजसांश्चित्ररूपान् ।
तथा ध्वजो विहितो भौमनेन
न चेद् भारो भविता नोत रोधः ।। १२ ।।

जैसे अग्निसहित धूम विचित्र तेजोमय आकार और रंग धारण करके सब ओर फैलकर ऊपर आकाशकी ओर बढ़ता जाता है, उसी प्रकार विश्वकर्माने उस ध्वजका निर्माण किया है। उसके कारण रथपर कोई भार नहीं बढ़ता है और न उसकी गतिमें कहीं कोई रुकावट ही पैदा होती है ।। १२ ।।

श्वेतास्तस्मिन् वातवेगाः सदश्वा
दिव्या युक्ताश्चित्ररथेन दत्ताः ।
भुव्यन्तरिक्षे दिवि वा नरेन्द्र
येषां गतिर्हीयते नात्र सर्वा ।
शतं यत् तत् पूर्यते नित्यकालं
हतं हतं दत्तवरं पुरस्तात् ।। १३ ।।

अर्जुनके उस रथमें वायुके समान वेगशाली दिव्य एवं उत्तम जातिके श्वेत अश्व जुते हुए हैं, जिन्हें गन्धर्वराज चित्ररथने दिया था। नरेन्द्र! पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग आदि किसी भी स्थानमें उन अश्वोंकी पूर्ण गति क्षीण या अवरुद्ध नहीं होती है। उस रथमें पूरे सौ घोड़े सदा

जुते रहते हैं। उनमेंसे यदि कोई मारा जाता है तो पहलेके दिये हुए वरके प्रभावसे नया घोड़ा उत्पन्न होकर उसके स्थानकी पूर्ति कर देता है ।। १३ ।।

तथा राज्ञो दन्तवर्णा बृहन्तो
रथे युक्ता भान्ति तद्वीर्यतुल्याः ।
ऋक्षप्रख्या भीमसेनस्य वाहा
रथे वायोस्तुल्यवेगा बभूवुः ।। १४ ।।

राजा युधिष्ठिरके रथमें भी वैसे ही शक्तिशाली श्वेतवर्णके विशाल अश्व जुते हुए हैं, जो अत्यन्त सुशोभित होते हैं। भीमसेनके घोड़ोंका रंग रीछके समान काला है। वे उनके रथमें जोते जानेपर वायुके समान तीव्र वेगसे चलते हैं ।। १४ ।।

कल्माषाङ्गास्तित्तिरिचित्रपृष्ठा
भ्रात्रा दत्ताः प्रीयता फाल्गुनेन ।
भ्रातुर्वीरस्य स्वैस्तुरङ्गैर्विशिष्टा
मुदा युक्ताः सहदेवं वहन्ति ।। १५ ।।

अर्जुनने प्रसन्न होकर अपने छोटे भाई सहदेवको जो अश्व प्रदान किये थे, जिनके सम्पूर्ण अंग विचित्र रंगके हैं और पृष्ठभाग भी तीतर पक्षीके समान चितकबरे प्रतीत होते हैं तथा जो वीर भाई अर्जुनके अपने अश्वोंकी अपेक्षा भी उत्कृष्ट हैं, ऐसे सुन्दर अश्व बड़ी प्रसन्नताके साथ सहदेवके रथका भार वहन करते हैं ।। १५ ।।

माद्रीपुत्रं नकुलं त्वाजमीढ
महेन्द्रदत्ता हरयो वाजिमुख्याः ।
समा वायोर्बलवन्तस्तरस्विनो
वहन्ति वीरं वृत्रशत्रुं यथेन्द्रम् ।। १६ ।।

अजमीढकुलनन्दन! देवराज इन्द्रके दिये हुए हरे रंगके उत्तम घोड़े, जो वायुके समान बलवान् तथा वेगवान् हैं, माद्रीकुमार वीर नकुलके रथका भार वहन करते हैं। ठीक उसी तरह, जैसे पहले वे वृत्रशत्रु देवेन्द्रका भार वहन किया करते थे ।। १६ ।।

तुल्याश्चैभिर्वयसा विक्रमेण
महाजवाश्चित्ररूपाः सदश्वाः ।
सौभद्रादीन् द्रौपदेयान् कुमारान्
वहन्त्यश्वा देवदत्ता बृहन्तः ।। १७ ।।

अवस्था और बल-पराक्रममें पूर्वोक्त अश्वोंके ही समान महान् वेगशाली, विचित्र रूप-रंगवाले उत्तम जातिके अश्व सुभद्रानन्दन अभिमन्युसहित द्रौपदीके पुत्रोंका भार वहन करते हैं। वे विशाल अश्व भी देवताओंके दिये हुए हैं ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५६ ।।

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्याय:

संजयद्वारा पाण्डवोंकी युद्धविषयक तैयारीका वर्णन, धृतराष्ट्रका विलाप, दुर्योधनद्वारा अपनी प्रबलताका प्रतिपादन, धृतराष्ट्रका उसपर अविश्वास तथा संजयद्वारा धृष्टद्युम्नकी शक्ति एवं संदेशका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

कांस्तत्र संजयापश्य: प्रीत्यर्थेन समागतान् ।
ये योत्स्यन्ते पाण्डवार्थे पुत्रस्य मम वाहिनीम् ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! तुमने वहाँ युधिष्ठिरकी प्रसन्नताके लिये आये हुए किन-किन राजाओंको देखा था, जो पाण्डवोंके हितके लिये मेरे पुत्रकी सेनाके साथ युद्ध करेंगे? ।। १ ।।

संजय उवाच

मुख्यमन्धकवृष्णीनामपश्यं कृष्णमागतम् ।
चेकितानं च तत्रैव युयुधानं च सात्यकिम् ।। २ ।।

संजयने कहा—राजन्! मैंने वहाँ देखा कि वृष्णि और अन्धकवंशके प्रधान पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण पधारे हुए हैं। वहाँ चेकितान और युयुधान सात्यकि भी उपस्थित हैं ।। २ ।।

पृथगक्षौहिणीभ्यां तु पाण्डवानभिसंश्रितौ ।
महारथौ समाख्यातावुभौ पुरुषमानिनौ ।। ३ ।।

अपनेको पौरुषशाली वीर माननेवाले वे दोनों विख्यात महारथी अलग-अलग एक-एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं ।। ३ ।।

अक्षौहिण्याथ पाञ्चाल्यो दशभिस्तनयैर्वृत: ।
सत्यजित्प्रमुखैर्वीरैर्धृष्टद्युम्नपुरोगमै: ।। ४ ।।
द्रुपदो वर्धयन् मानं शिखण्डिपरिपालित: ।
उपायात् सर्वसैन्यानां प्रतिच्छाद्य तदा वपु: ।। ५ ।।

पांचालनरेश द्रुपद धृष्टद्युम्न और सत्यजित् आदि दस वीर पुत्रोंके साथ शिखण्डीद्वारा सुरक्षित हो कवच आदिसे सम्पूर्ण सैनिकोंके शरीरोंको आच्छादित करके उन सबकी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ युधिष्ठिरका मान बढ़ानेके लिये वहाँ आये हुए हैं ।। ४-५ ।।

विराट: सह पुत्राभ्यां शङ्खेनैवोत्तरेण च ।

सूर्यदत्तादिभिर्वीरैर्मदिराक्षपुरोगमैः ।। ६ ।।
सहितः पृथिवीपालो भ्रातृभिस्तनयैस्तथा ।
अक्षौहिण्यैव सैन्यानां वृतः पार्थं समाश्रितः ।। ७ ।।

राजा विराट अपने दो पुत्रों शंख और उत्तरको साथ लिये, सूर्यदत्त और मदिराक्ष आदि वीर भ्राताओं और अन्य पुत्रोंके साथ एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरकी सहायताके लिये उपस्थित हैं ।।

जारासंधिर्मागधश्च धृष्टकेतुश्च चेदिराट् ।
पृथक् पृथगनुप्राप्तौ पृथगक्षौहिणीवृतौ ।। ८ ।।

जरासंधकुमार मगधनरेश सहदेव तथा चेदिराज धृष्टकेतु—ये दोनों भी अलग-अलग एक-एक अक्षौहिणी सेना लेकर आये हैं ।। ८ ।।

केकया भ्रातरः पञ्च सर्वे लोहितकध्वजाः ।
अक्षौहिणीपरिवृताः पाण्डवानभिसंश्रिताः ।। ९ ।।

लाल रंगकी ध्वजावाले जो पाँचों भाई केकयराजकुमार हैं, वे सभी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पाण्डवोंकी सेवामें उपस्थित हुए हैं ।। ९ ।।

एतानेतावतस्तत्र तानपश्यं समागतान् ।
ये पाण्डवार्थे योत्स्यन्ति धार्तराष्ट्रस्य वाहिनीम् ।। १० ।।

मैंने इन सबको इतनी सेनाओंके साथ वहाँ आया हुआ देखा है। ये लोग पाण्डवोंके हितके लिये दुर्योधनकी सेनाके साथ युद्ध करेंगे ।। १० ।।

यो वेद मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम् ।
स तत्र सेनाप्रमुखे धृष्टद्युम्नो महारथः ।। ११ ।।

जो मनुष्यों, देवताओं, गन्धर्वों तथा असुरोंकी भी व्यूहरचना-प्रणालीको जानते हैं, वे महारथी धृष्टद्युम्न पाण्डवपक्षकी सेनाके अग्रभागमें (सेनापति होकर) रहेंगे ।। ११ ।।

भीष्मः शान्तनवो राजन् भागः क्लृप्तः शिखण्डिनः ।
तं विराटोऽनुसंयाता सार्धं मत्स्यैः प्रहारिभिः ।। १२ ।।

राजन्! शान्तनुनन्दन भीष्मजीके वधका कार्य शिखण्डीको सौंपा गया है। राजा विराट मत्स्यदेशीय योद्धाओंके साथ शिखण्डीकी सहायताके लिये उसका अनुसरण करेंगे ।। १२ ।।

ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य भागो मद्राधिपो बली ।
तौ तु तत्राब्रुवन् केचिद् विषमौ नो मताविति ।। १३ ।।

बलवान् मद्रनरेश ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरके हिस्सेमें पड़े हैं—युधिष्ठिर ही उनके साथ युद्ध करेंगे। परंतु यह बँटवारा सुनकर कुछ लोग वहाँ बोल उठे थे कि ये दोनों तो हमें परस्पर समान शक्तिशाली नहीं जान पड़ते ।। १३ ।।

दुर्योधनः सहसुतः सार्धं भ्रातृशतेन च ।

प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भीमसेनस्य भागतः ।। १४ ।।

अपने सौ भाइयों तथा पुत्रोंसहित दुर्योधन और पूर्व एवं दक्षिण-दिशाके कौरवसैनिक भीमसेनका भाग नियत किये गये हैं ।। १४ ।।

अर्जुनस्य तु भागेन कर्णो वैकर्तनो मतः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सैन्धवश्च जयद्रथः ।। १५ ।।

वैकर्तन कर्ण, अश्वत्थामा, विकर्ण और सिंधुराज जयद्रथ—ये सब अर्जुनके हिस्सेमें पड़े हैं ।। १५ ।।

अशक्याश्चैव ये केचित् पृथिव्यां शूरमानिनः ।
सर्वांस्तानर्जुनः पार्थः कल्पयामास भागतः ।। १६ ।।

इनके सिवा और भी अपनेको शूरवीर माननेवाले जो कोई नरेश इस भूमण्डलमें अजेय माने जाते हैं, उन सबको कुन्तीकुमार अर्जुनने अपना भाग निश्चित किया है ।। १६ ।।

महेष्वासा राजपुत्रा भ्रातरः पञ्च केकयाः ।
केकयानेव भागेन कृत्वा योत्स्यन्ति संयुगे ।। १७ ।।

पाँच भाई केकयराजकुमार भी महान् धनुर्धर हैं। वे समरांगणमें अपने विरोधी केकयदेशीय योद्धाओंको ही अपना भाग (वध्य वैरी) मानकर युद्ध करेंगे ।। १७ ।।

तेषामेव कृतो भागो मालवाः शाल्वकास्तथा ।
त्रिगर्तानां चैव मुख्यौ यौ तौ संशप्तकाविति ।। १८ ।।

मालव, शाल्व तथा त्रिगर्तदेशके सैनिक और संशप्तक—सेनाके दो प्रमुख वीर भी उन केकयराज-कुमारोंके ही भाग नियत किये गये हैं ।। १८ ।।

दुर्योधनसुताः सर्वे तथा दुःशासनस्य च ।
सौभद्रेण कृतो भागो राजा चैव बृहद्बलः ।। १९ ।।

दुर्योधन तथा दुःशासनके सभी पुत्र और राजा बृहद्बल सुभद्रानन्दन अभिमन्युके हिस्सेमें पड़े हैं ।। १९ ।।

द्रौपदेया महेष्वासाः सुवर्णविकृतध्वजाः ।
धृष्टद्युम्नमुखा द्रोणमभियास्यन्ति भारत ।। २० ।।

भरतनन्दन! सुवर्णनिर्मित ध्वजाओंसे युक्त महाधनुर्धर द्रौपदीपुत्र भी धृष्टद्युम्नके साथ द्रोणपर आक्रमण करेंगे ।।

चेकितानः सोमदत्तं द्वैरथे योद्धुमिच्छति ।
भोजं तु कृतवर्माणं युयुधानो युयुत्सति ।। २१ ।।

चेकितान द्वैरथ-संग्राममें सोमदत्तके साथ युद्ध करना चाहते हैं। सात्यकि भोजवंशी कृतवर्माके साथ युद्ध करनेको उत्सुक हैं ।। २१ ।।

सहदेवस्तु माद्रेयः शूरः संक्रन्दनो युधि ।
स्वमंशं कल्पयामास श्यालं ते सुबलात्मजम् ।। २२ ।।

महाराज! युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी शूरवीर माद्रीनन्दन सहदेवने आपके साले सुबलपुत्र शकुनिको अपना भाग निश्चित किया है ।। २२ ।।

उलूकं चैव कैतव्यं ये च सारस्वता गणाः ।
नकुलः कल्पयामास भागं माद्रवतीसुतः ।। २३ ।।

उस धूर्त जुआरी शकुनिका पुत्र जो उलूक है तथा जो सारस्वतप्रदेशके सैनिक हैं, उन सबको माद्रीकुमार नकुलने अपना भाग नियत किया है ।। २३ ।।

ये चान्ये पार्थिवा राजन् प्रत्युद्यास्यन्ति सङ्गरे ।
समाह्वानेन तांश्चापि पाण्डुपुत्रा अकल्पयन् ।। २४ ।।

राजन्! दूसरे भी जो-जो नरेश (आपकी ओरसे) युद्धमें पदार्पण करेंगे, उन सबका भी नाम ले-लेकर पाण्डवोंने उन्हें अपना भाग निश्चित किया है ।। २४ ।।

एवमेषामनीकानि प्रविभक्तानि भागशः ।
यत् ते कार्यं सपुत्रस्य क्रियतां तदकालिकम् ।। २५ ।।

इस प्रकार पाण्डवोंकी सेनाएँ पृथक्-पृथक् भागोंमें बँटी हुई हैं। अब पुत्रोंसहित आपका जो कर्तव्य हो, उसे अविलम्ब पूरा करें ।। २५ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

न सन्ति सर्वे पुत्रा मे मूढा दुर्द्यूतदेविनः ।
येषां युद्धं बलवता भीमेन रणमूर्धनि ।। २६ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! समरभूमिके प्रमुख भागमें बलवान् भीमसेनके साथ जिनका युद्ध होनेवाला है, वे कपटपूर्ण जूआ खेलनेवाले मेरे सभी मूर्ख पुत्र अब नहींके बराबर हैं ।। २६ ।।

राजानः पार्थिवाः सर्वे प्रोक्षिताः कालधर्मणा ।
गाण्डीवाग्निं प्रवेक्ष्यन्ति पतङ्गा इव पावकम् ।। २७ ।।

भूमण्डलके समस्त राजाओंका वध करनेके लिये मानो कालधर्मा यमराजने उनका प्रोक्षण (संस्कार) किया है; अतः जैसे पतंग आगमें गिरते हैं, वैसे ही ये सब नरेश गाण्डीव धनुषकी आगमें समा जायँगे ।। २७ ।।

विद्रुतां वाहिनीं मन्ये कृतवैरैर्महात्मभिः ।
तां रणे केऽनुयास्यन्ति प्रभग्नां पाण्डवैर्युधि ।। २८ ।।

मैं तो समझता हूँ; जिनका हमलोगोंके साथ वैर ठन गया है, वे महात्मा पाण्डव समरांगणमें हमारी विशाल सेनाको अवश्य मार भगायेंगे। उनके द्वारा खदेड़ी हुई उस सेनाका अनुसरण अथवा सहयोग कौन कर सकेंगे? ।। २८ ।।

सर्वे ह्यतिरथाः शूराः कीर्तिमन्तः प्रतापिनः ।
सूर्यपावकयोस्तुल्यास्तेजसा समितिञ्जयाः ।। २९ ।।

समस्त पाण्डव अतिरथी शूरवीर, यशस्वी, प्रतापी, युद्धविजयी तथा अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी हैं ।।

येषां युधिष्ठिरो नेता गोप्ता च मधुसूदनः ।
योधौ च पाण्डवौ वीरौ सव्यसाचिवृकोदरौ ।। ३० ।।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
सात्यकिर्द्रुपदश्चैव धृष्टकेतुश्च सानुजः ।। ३१ ।।
उत्तमौजाश्च पाञ्चाल्यो युधामन्युश्च दुर्जयः ।
शिखण्डी क्षत्रदेवश्च तथा वैराटिरुत्तरः ।। ३२ ।।
काशयश्चेदयश्चैव मत्स्याः सर्वे च सृंजयाः ।
विराटपुत्रो बभ्रुश्च पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः ।। ३३ ।।
येषामिन्द्रोऽप्यकामानां न हरेत् पृथिवीमिमाम् ।
वीराणां रणधीराणां ये भिन्द्युः पर्वतानपि ।। ३४ ।।
तान् सर्वगुणसम्पन्नानमनुष्यप्रतापिनः ।
क्रोशतो मम दुष्पुत्रो योद्धुमिच्छति संजय ।। ३५ ।।

संजय! युधिष्ठिर जिनके नेता हैं, भगवान् मधुसूदन जिनके रक्षक हैं, पाण्डुपुत्र वीरवर अर्जुन और भीमसेन जिनके प्रमुख योद्धा हैं, नकुल, सहदेव, पृषद्वंशी धृष्टद्युम्न, सात्यकि, द्रुपद, धृष्टकेतु, सुकेतु, पांचालदेशीय उत्तमौजा, दुर्जय युधामन्यु, शिखण्डी, क्षत्रदेव, विराटकुमार उत्तर, काशि, चेदि तथा मत्स्यदेशके सैनिक, सृंजयवंशी क्षत्रिय, विराटकुमार बभ्रु तथा पांचालदेशीय प्रभद्रकगण जिनके पक्षमें युद्धके लिये उद्यत हैं, जिनकी इच्छाके बिना देवराज इन्द्र भी इस पृथ्वीका अपहरण नहीं कर सकते, जो वीर तथा रणधीर हैं, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण कर सकते हैं, जिनका प्रताप देवताओंके समान है तथा जो समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं, उन्हीं पाण्डवोंके साथ मेरा दुष्ट पुत्र दुर्योधन मेरे चीखते-चिल्लाते हुए भी युद्ध करना चाहता है ।। ३०—३५ ।।

दुर्योधन उवाच

उभौ स्व एकजातीयौ तथोभौ भूमिगोचरौ ।
अथ कस्मात् पाण्डवानामेकतो मन्यसे जयम् ।। ३६ ।।

दुर्योधन बोला—पिताजी! हम कौरव तथा पाण्डव दोनों एक ही जातिके हैं और दोनों इसी भूमिपर रहते हैं। फिर एकमात्र पाण्डवोंकी ही विजय होगी, यह धारणा आपने कैसे बना ली? ।। ३६ ।।

पितामहं च द्रोणं च कृपं कर्णं च दुर्जयम् ।
जयद्रथं सोमदत्तमश्वत्थामानमेव च ।। ३७ ।।
सुतेजसो महेष्वासानिन्द्रोऽपि सहितोऽमरैः ।

अशक्तः समरे जेतुं किं पुनस्तात पाण्डवाः ।। ३८ ।।

तात! पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, दुर्जय वीर कर्ण, जयद्रथ, सोमदत्त तथा अश्वत्थामा, ये सभी उत्तम तेजस्वी और महान् धनुर्धर हैं। देवताओंसहित इन्द्र भी इन्हें युद्धमें जीत नहीं सकते; फिर पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है? ।। ३७-३८ ।।

सर्वे च पृथिवीपाला मदर्थे तात पाण्डवान् ।
आर्याः शस्त्रभृतः शूराः समर्थाः प्रतिबाधितुम् ।। ३९ ।।

तात! ये सभी भूपाल श्रेष्ठ, शस्त्रधारी और शूरवीर होनेके साथ ही मेरे लिये पाण्डवोंको पीड़ा देनेमें समर्थ हैं ।। ३९ ।।

न मामकान् पाण्डवास्ते समर्थाः प्रतिवीक्षितुम् ।
पराक्रान्तो ह्यहं पाण्डून् सपुत्रान् योद्धुमाहवे ।। ४० ।।

पाण्डव मेरे पक्षके इन वीरोंकी ओर आँख उठाकर देखनेमें भी समर्थ नहीं हैं। पुत्रोंसहित पाण्डवोंके साथ मैं अकेला ही समरांगणमें युद्ध करनेकी शक्ति रखता हूँ ।।

मत्प्रियं पार्थिवाः सर्वे ये चिकीर्षन्ति भारत ।
ते तानावारयिष्यन्ति ऐणेयानिव तन्तुना ।। ४१ ।।

भरतनन्दन! जो भूपाल मेरा प्रिय करना चाहते हैं, वे सब उन पाण्डवोंको आगे बढ़नेसे उसी प्रकार रोक देंगे, जैसे फन्देसे हिरनके बच्चोंको रोका जाता है ।।

महता रथवंशेन शरजालैश्च मामकैः ।
अभिद्रुता भविष्यन्ति पञ्चालाः पाण्डवैः सह ।। ४२ ।।

मेरे पक्षकी विशाल रथसेना तथा मेरे सैनिकोंके बाणसमूहोंसे आहत होकर पांचाल और पाण्डव भाग खड़े होंगे ।। ४२ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

उन्मत्त इव मे पुत्रो विलपत्येष संजय ।
न हि शक्तो रणे जेतुं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।। ४३ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! मेरा यह पुत्र पागलके समान प्रलाप कर रहा है। यह युद्धमें धर्मराज युधिष्ठिरको कभी जीत नहीं सकता ।। ४३ ।।

जानाति हि यथा भीष्मः पाण्डवानां यशस्विनाम् ।
बलवत्तां सपुत्राणां धर्मज्ञानां महात्मनाम् ।। ४४ ।।
यतो नारोचयदयं विग्रहं तैर्महात्मभिः ।

पुत्रोंसहित धर्मज्ञ एवं यशस्वी महात्मा पाण्डव कितने बलशाली हैं, इस बातको भीष्मजी अच्छी तरह जानते हैं। इसीलिये उन्हें उन महात्माओंके साथ युद्ध छेड़नेकी बात पसंद नहीं आयी ।। ४४ १/२ ।।

किं तु संजय मे ब्रूहि पुनस्तेषां विचेष्टितम् ।। ४५ ।।

कस्तांस्तरस्विनो भूयः संदीपयति पाण्डवान् ।
अर्चिष्मतो महेष्वासान् हविषा पावकानिव ।। ४६ ।।

संजय! तुम पुनः मेरे सामने पाण्डवोंकी चेष्टाका वर्णन करो। कौन ऐसा वीर है, जो वेगशाली और तेजस्वी महाधनुर्धर पाण्डवोंको बार-बार उसी प्रकार उत्तेजित किया करता है, जैसे घीकी आहुति डालनेसे आग प्रज्वलित हो उठती है ।। ४५-४६ ।।

संजय उवाच

धृष्टद्युम्नः सदैवैतान् संदीपयति भारत ।
युद्ध्यध्वमिति मा भैष्ट युद्धाद् भरतसत्तमाः ।। ४७ ।।

संजयने कहा—भारत! धृष्टद्युम्न सदा ही इन पाण्डवोंको उत्तेजित करते रहते हैं। वे कहते हैं—'भरतकुलभूषण पाण्डवो! आपलोग युद्ध करें, उससे तनिक भी भयभीत न हों ।। ४७ ।।

ये केचित् पार्थिवास्तत्र धार्तराष्ट्रेण संवृताः ।
युद्धे समागमिष्यन्ति तुमुले शस्त्रसंकुले ।। ४८ ।।
तान् सर्वानाहवे क्रुद्धान् सानुबन्धान् समागतान् ।
अहमेकः समादास्ये तिमिर्मत्स्यानिवौदकान् ।। ४९ ।।

'धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके द्वारा एकत्र किये हुए जो-जो नरेश अस्त्र-शस्त्रोंकी मारकाटसे व्याप्त हुए भयानक संग्राममें मेरे सामने आयेंगे, वे कितने ही क्रोधमें भरे हुए क्यों न हों, सगे-सम्बन्धियोंसहित रणभूमिमें आये हुए उन सभी राजाओंको मैं अकेला ही उसी प्रकार वशमें कर लूँगा, जैसे तिमि नामक महामत्स्य जलकी दूसरी मछलियोंको निगल जाता है ।।

भीष्मं द्रोणं कृपं कर्णं द्रौणिं शल्यं सुयोधनम् ।
एतांश्चापि निरोत्स्यामि वेलेव मकरालयम् ।। ५० ।।

'भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, शल्य तथा दुर्योधन—इन सबको मैं उसी भाँति आगे बढ़नेसे रोक दूँगा, जैसे किनारा समुद्रको रोके रखता है' ।। ५० ।।

तथा ब्रुवन्तं धर्मात्मा प्राह राजा युधिष्ठिरः ।
तव धैर्यं च वीर्यं च पञ्चालाः पाण्डवैः सह ।। ५१ ।।
सर्वे समधिरूढाः स्म संग्रामान्नः समुद्धर ।
जानामि त्वां महाबाहो क्षत्रधर्मे व्यवस्थितम् ।। ५२ ।।
समर्थमेकं पर्याप्तं कौरवाणां विनिग्रहे ।
पुरस्तादुपयातानां कौरवाणां युयुत्सताम् ।। ५३ ।।

इस प्रकार बोलते हुए धृष्टद्युम्नसे धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने कहा—'महाबाहो! पाण्डवोंसहित समस्त पांचाल वीर तुम्हारे धैर्य और पराक्रमका ही आश्रय लेकर युद्धके लिये उद्यत हुए हैं, इसलिये तुम्हीं इस संग्रामसे हमलोगोंका उद्धार करो। मैं जानता हूँ कि

तुम क्षत्रियधर्ममें प्रतिष्ठित हो और युद्धकी इच्छासे सामने आये हुए समस्त कौरवोंको अकेले ही कैद कर लेनेकी पूरी शक्ति रखते हो ।। ५१—५३ ।।

भवता यद् विधातव्यं तन्नः श्रेयः परंतप ।
संग्रामादपयातानां भग्नानां शरणैषिणाम् ।। ५४ ।।
पौरुषं दर्शयञ्शूरो यस्तिष्ठेदग्रतः पुमान् ।
क्रीणीयात् तं सहस्रेण इति नीतिमतां मतम् ।। ५५ ।।

'परंतप! तुम जो कुछ करोगे, वही हमारे लिये मंगलकारी होगा। जो वीर पुरुष अपना पौरुष प्रकट करते हुए युद्धभूमिसे पराजित होकर भागे हुए शरणार्थी सैनिकोंके सामने खड़ा होता (और उनके भयका निवारण करता) है, उसे सहस्रोंकी सम्पत्ति देकर भी खरीद ले (अपने पक्षमें कर ले); यही नीतिज्ञ पुरुषोंका मत है ।। ५४-५५ ।।

स त्वं शूरश्च वीरश्च विक्रान्तश्च नरर्षभ ।
भयार्तानां परित्राता संयुगेषु न संशयः ।। ५६ ।।

'नरश्रेष्ठ! इसमें संदेह नहीं कि तुम शूर, वीर और पराक्रमी हो तथा युद्धमें भयसे पीड़ित हुए सैनिकोंकी रक्षा कर सकते हो' ।। ५६ ।।

एवं ब्रुवति कौन्तेये धर्मात्मनि युधिष्ठिरे ।
धृष्टद्युम्न उवाचेदं मां वचो गतसाध्वसम् ।
सर्वाञ्जनपदान् सूत योधा दुर्योधनस्य ये ।। ५७ ।।
सबाह्लिकान् कुरून् ब्रूयाः प्रातिपेयाञ्शरद्वतः ।
सूतपुत्रं तथा द्रोणं सहपुत्रं जयद्रथम् ।। ५८ ।।
दुःशासनं विकर्णं च तथा दुर्योधनं नृपम् ।
भीष्मं च ब्रूहि गत्वा त्वमाशु गच्छ च मा चिरम् ।। ५९ ।।

धर्मात्मा कुन्तीकुमार युधिष्ठिर जब इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय धृष्टद्युम्नने मुझसे भयरहित यह वचन कहा—'सूत! वहाँ दुर्योधनके जितने योद्धा हैं, उनसे, समस्त देशवासियोंसे, बाह्लीक आदि प्रतीपवंशी कौरवोंसे, शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यसे, सूतपुत्र कर्णसे, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामासे तथा जयद्रथ, दुःशासन, विकर्ण, राजा दुर्योधन और भीष्मसे भी शीघ्र जाकर मेरा यह संदेश कहो। अभी जाओ, विलम्ब मत करो ।।

युधिष्ठिरः साधुनैवाभ्युपेयो
मा वो वधीदर्जुनो देवगुप्तः ।
राज्यं दद्ध्वं धर्मराजस्य तूर्णं
याचध्वं वै पाण्डवं लोकवीरम् ।। ६० ।।

(वह संदेश इस प्रकार है—) 'कौरवो! राजा युधिष्ठिर सद्व्यवहारसे ही वशमें किये जा सकते हैं (युद्धसे नहीं)। ऐसा अवसर न आने दो कि देवताओंद्वारा सुरक्षित वीरवर अर्जुन

तुमलोगोंका वध कर डालें। धर्मराज युधिष्ठिरको शीघ्र उनका राज्य सौंप दो और विश्वविख्यात वीर पाण्डुकुमार अर्जुनसे क्षमा-याचना करो ।। ६० ।।

नैतादृशो हि योधोऽस्ति पृथिव्यामिह कश्चन ।
यथाविधः सव्यसाची पाण्डवः सत्यविक्रमः ।। ६१ ।।

'सव्यसाची पाण्डुपुत्र अर्जुन जैसे सत्यपराक्रमी हैं, वैसा योद्धा इस भूमण्डलमें दूसरा कोई नहीं है ।। ६१ ।।

देवैर्हि सम्भृतो दिव्यो रथो गाण्डीवधन्वनः ।
न स जेयो मनुष्येण मा स्म कृद्ध्वं मनो युधि ।। ६२ ।।

'गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले वीर अर्जुनका दिव्य रथ देवताओंद्वारा सुरक्षित है। कोई भी मनुष्य उन्हें जीत नहीं सकता, अतः तुमलोग अपने मनको युद्धकी ओर न जाने दो' ।। ६२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५७ ।।

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको संधिके लिये समझाना, दुर्योधनका अहंकारपूर्वक पाण्डवोंसे युद्ध करनेका ही निश्चय तथा धृतराष्ट्रका अन्य योद्धाओंको युद्धसे भय दिखाना

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्रतेजा ब्रह्मचारी कौमारादपि पाण्डवः ।
तेन संयुगमेष्यन्ति मन्दा विलपतो मम ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर क्षात्र-तेजसे सम्पन्न हैं। उन्होंने कुमारावस्थासे ही विधि-पूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन किया है, परंतु मेरे ये मूर्ख पुत्र मेरे विलापकी ओर ध्यान न देकर उन्हीं युधिष्ठिरके साथ युद्ध छेड़नेवाले हैं ।। १ ।।

दुर्योधन निवर्तस्व युद्धाद् भरतसत्तम ।
न हि युद्धं प्रशंसन्ति सर्वावस्थमरिंदम ।। २ ।।

भरतकुलभूषण शत्रुदमन दुर्योधन! तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ। श्रेष्ठ पुरुष किसी भी दशामें युद्धकी प्रशंसा नहीं करते हैं ।। २ ।।

अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम् ।
प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचितमरिंदम ।। ३ ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर! तुम पाण्डवोंको उनका यथोचित राज्यभाग दे दो। बेटा! मन्त्रियों-सहित तुम्हारे जीवननिर्वाहके लिये तो आधा राज्य ही पर्याप्त है ।। ३ ।।

एतद्धि कुरवः सर्वे मन्यन्ते धर्मसंहितम् ।
यत् त्वं प्रशान्तिं मन्येथाः पाण्डुपुत्रैर्महात्मभिः ।। ४ ।।

समस्त कौरव यही धर्मानुकूल समझते हैं कि तुम महात्मा पाण्डवोंके साथ (संधि करके आपसमें) शान्ति बनाये रखनेकी बात स्वीकार कर लो ।। ४ ।।

अङ्गेमां समवेक्षस्व पुत्र स्वामेव वाहिनीम् ।
जात एष तवाभावस्त्वं तु मोहान्न बुध्यसे ।। ५ ।।

वत्स! तुम इस अपनी ही सेनाकी ओर दृष्टिपात करो। यह तुम्हारा विनाशकाल ही उपस्थित हुआ है, परंतु तुम मोहवश इस बातको समझ नहीं रहे हो ।। ५ ।।

न त्वहं युद्धमिच्छामि नैतदिच्छति बाह्लिकः ।
न च भीष्मो न च द्रोणो नाश्वत्थामा न संजयः ।। ६ ।।
न सोमदत्तो न शलो न कृपो युद्धमिच्छति ।
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयो भूरिश्रवास्तथा ।। ७ ।।

देखो, न तो मैं युद्ध करना चाहता हूँ, न बाह्लीक इसकी इच्छा रखते हैं और न भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, संजय, सोमदत्त, शल तथा कृपाचार्य ही युद्ध करना चाहते हैं। सत्यव्रत, पुरुमित्र, जय और भूरिश्रवा भी युद्धके पक्षमें नहीं हैं ।। ६-७ ।।

येषु सम्प्रतितिष्ठेयुः कुरवः पीडिताः परैः ।

ते युद्धं नाभिनन्दन्ति तत् तुभ्यं तात रोचताम् ।। ८ ।।

शत्रुओंसे पीड़ित होनेपर कौरवसैनिक जिनके आश्रयमें खड़े हो सकते हैं, वे ही लोग युद्धका अनुमोदन नहीं कर रहे हैं। तात! उनके इस विचारको तुम्हें भी पसंद करना चाहिये ।। ८ ।।

न त्वं करोषि कामेन कर्णः कारयिता तव ।

दुःशासनश्च पापात्मा शकुनिश्चापि सौबलः ।। ९ ।।

(मैं जानता हूँ,) तुम अपनी इच्छासे युद्ध नहीं कर रहे हो, अपितु पापात्मा दुःशासन, कर्ण तथा सुबल-पुत्र शकुनि ही तुमसे यह कार्य करा रहे हैं ।। ९ ।।

दुर्योधन उवाच

नाहं भवति न द्रोणे नाश्वत्थाम्नि न संजये ।

न भीष्मे न च काम्बोजे न कृपे न च बाह्लिके ।। १० ।।

सत्यव्रते पुरुमित्रे भूरिश्रवसि वा पुनः ।

अन्येषु वा तावकेषु भारं कृत्वा समाह्वयम् ।। ११ ।।

दुर्योधन बोला—पिताजी! मैंने आप, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, संजय, भीष्म, काम्बोजनरेश, कृपाचार्य, बाह्लीक, सत्यव्रत, पुरुमित्र, भूरिश्रवा अथवा आपके अन्यान्य योद्धाओंपर सारा बोझ रखकर पाण्डवोंको युद्धके लिये आमन्त्रित नहीं किया है ।। १०-११ ।।

अहं च तात कर्णश्च रणयज्ञं वितत्य वै ।

युधिष्ठिरं पशुं कृत्वा दीक्षितौ भरतर्षभ ।। १२ ।।

तात! भरतश्रेष्ठ! मैंने तथा कर्णने रणयज्ञका विस्तार करके युधिष्ठिरको बलिपशु बनाकर उस यज्ञकी दीक्षा ले ली है ।। १२ ।।

रथो वेदी स्रुवः खड्गो गदा स्रुक् कवचोऽजिनम् ।

चातुर्होत्रं च धुर्या मे शरा दर्भा हविर्यशः ।। १३ ।।

इसमें रथ ही वेदी है, खड्ग स्रुवा है, गदा स्रुक् है, कवच मृगचर्म है, रथका भार वहन करनेवाले मेरे चारों घोड़े ही चार होता हैं, बाण कुश हैं और यश ही हविष्य है ।। १३ ।।

आत्मयज्ञेन नृपते इष्ट्वा वैवस्वतं रणे ।

विजित्य च समेष्यावो हतामित्रौ श्रिया वृतौ ।। १४ ।।

नरेश्वर! हम दोनों समरांगणमें अपने इस यज्ञके द्वारा यमराजका यजन करके शत्रुओंको मारकर विजयी हो विजयलक्ष्मीसे शोभा पाते हुए पुनः राजधानीमें लौटेंगे ।। १४ ।।

अहं च तात कर्णश्च भ्राता दुःशासनश्च मे ।
एते वयं हनिष्यामः पाण्डवान् समरे त्रयः ।। १५ ।।

तात! मैं, कर्ण तथा भाई दुःशासन—हम तीन ही समरभूमिमें पाण्डवोंका संहार कर डालेंगे ।। १५ ।।

अहं हि पाण्डवान् हत्वा प्रशास्ता पृथिवीमिमाम् ।
मां वा हत्वा पाण्डुपुत्रा भोक्तारः पृथिवीमिमाम् ।। १६ ।।

या तो मैं ही पाण्डवोंको मारकर इस पृथ्वीका शासन करूँगा या पाण्डव ही मुझे मारकर भूमण्डलका राज्य भोगेंगे ।। १६ ।।

त्यक्तं मे जीवितं राज्यं धनं सर्वं च पार्थिव ।
न जातु पाण्डवैः सार्धं वसेयमहमच्युत ।। १७ ।।

राज्यच्युत न होनेवाले महाराज! मैं जीवन, राज्य, धन—सब कुछ छोड़ सकता हूँ, परंतु पाण्डवोंके साथ मिलकर कदापि नहीं रह सकता ।। १७ ।।

यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण मारिष ।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ।। १८ ।।

पूज्य पिताजी! तीखी सूईके अग्रभागसे जितनी भूमि बिंध सकती है, उतनी भी मैं पाण्डवोंको नहीं दे सकता ।। १८ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वान् वस्तात शोचामि त्यक्तो दुर्योधनो मया ।
ये मन्दमनुयास्यध्वं यान्तं वैवस्वतक्षयम् ।। १९ ।।

धृतराष्ट्र बोले—तात कौरवगण! दुर्योधनको तो मैंने त्याग दिया। यमलोकको जाते हुए उस मूर्खका तुम लोगोंमेंसे जो अनुसरण करेंगे मैं उन सभी लोगोंके लिये शोकमें पड़ा हूँ ।। १९ ।।

रुरूणामिव यूथेषु व्याघ्राः प्रहरतां वराः ।
वरान् वरान् हनिष्यन्ति समेता युधि पाण्डवाः ।। २० ।।

प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ व्याघ्र जैसे रुरु नामक मृगोंके झुंडोंमें घुसकर बड़ों-बड़ोंको मार डालते हैं, उसी प्रकार योद्धाओंमें अग्रगण्य पाण्डव युद्धमें एकत्र होकर कौरवोंके प्रधान-प्रधान वीरोंका वध कर डालेंगे ।। २० ।।

प्रतीपमिव मे भाति युयुधानेन भारती ।
व्यस्ता सीमन्तिनी ग्रस्ता प्रमृष्टा दीर्घबाहुना ।। २१ ।।

मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि पुरुषसे तिरस्कृत हुई नारीकी भाँति इस भरतवंशियोंकी सेनाको विशाल बाँहोंवाले वीर सात्यकिने अपने अधिकारमें करके रौंद डाला है और वह अब विपरीत दिशाकी ओर अस्त-व्यस्त दशामें भागी जा रही है ।। २१ ।।

सम्पूर्णं पूरयन् भूयो धनं पार्थस्य माधवः ।
शैनेयः समरे स्थाता बीजवत् प्रवपञ्शरान् ।। २२ ।।

मधुवंशी सात्यकि युधिष्ठिरके भरे-पूरे बल-वैभवको और भी बढ़ाते हुए, जैसे किसान खेतोंमें बीज बोता है, उसी प्रकार समरभूमिमें बाण बिखेरते हुए खड़े होंगे ।। २२ ।।

सेनामुखे प्रयुद्धानां भीमसेनो भविष्यति ।
तं सर्वे संश्रयिष्यन्ति प्राकारमकुतोभयम् ।। २३ ।।

सेनामें समस्त पाण्डव योद्धाओंके आगे भीमसेन खड़े होंगे और समस्त योद्धा उन्हें भयरहित प्राकार (चहारदीवारी)-के समान मानकर उन्हींका आश्रय लेंगे ।। २३ ।।

यदा द्रक्ष्यसि भीमेन कुञ्जरान् विनिपातितान् ।
विशीर्णदन्तान् गिर्याभान् भिन्नकुम्भान् सशोणितान् ।। २४ ।।
तानभिप्रेक्ष्य संग्रामे विशीर्णानिव पर्वतान् ।
भीतो भीमस्य संस्पर्शात् स्मर्तासि वचनस्य मे ।। २५ ।।

जब तुम देखोगे कि भीमसेनने पर्वताकार गजराजोंके दाँत तोड़ एवं कुम्भस्थल विदीर्ण करके उन्हें रक्तरंजित दशामें धराशायी कर दिया है और वे रणभूमिमें टूट-फूटकर गिरे हुए पर्वतोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे हैं, तब उन सबपर दृष्टिपात करके भीमसेनके स्पर्शसे भी भयभीत होकर मेरी कही हुई बातोंको याद करोगे ।। २४-२५ ।।

निर्दग्धं भीमसेनेन सैन्यं रथहयद्विपम् ।
गतिमग्नेरिव प्रेक्ष्य स्मर्तासि वचनस्य मे ।। २६ ।।

भीमसेन जब घोड़े, रथ और हाथियोंसे भरी हुई सारी कौरव-सेनाको अपनी क्रोधाग्निसे दग्ध करने लगेंगे, उस समय अग्निके समान उनका प्रबल वेग देखकर तुम्हें मेरी बातें याद आयेंगी ।। २६ ।।

महद् वो भयमागामि न चेच्छाम्यथ पाण्डवैः ।
गदया भीमसेनेन हताः शममुपैष्यथ ।। २७ ।।

तुमलोगोंपर बहुत बड़ा भय आनेवाला है। मैं नहीं चाहता कि पाण्डवोंके साथ तुम्हारा युद्ध हो। यदि हो गया तो तुमलोग भीमसेनकी गदासे मारे जाकर सदाके लिये शान्त हो जाओगे ।। २७ ।।

महावनमिवच्छिन्नं यदा द्रक्ष्यसि पातितम् ।
बलं कुरूणां भीमेन तदा स्मर्तासि मे वचः ।। २८ ।।

काटकर गिराये हुए विशाल वनकी भाँति जब तुम कौरवसेनाको भीमसेनके द्वारा मार गिरायी हुई देखोगे, तब तुम्हें मेरे वचनोंका स्मरण हो आयेगा ।। २८ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा राजा तु सर्वांस्तान् पृथिवीपतीन् ।
अनुभाष्य महाराज पुनः पप्रच्छ संजयम् ।। २९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रने वहाँ बैठे हुए समस्त भूपालोंसे उपर्युक्त बातें कहकर उन्हें समझा-बुझाकर पुनः संजयसे पूछा ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि
धृतराष्ट्रवाक्येऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५८ ।।

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रके पूछनेपर उन्हें श्रीकृष्ण और अर्जुनके अन्तःपुरमें कहे हुए संदेश सुनाना

धृतराष्ट्र उवाच

यदब्रूतां महात्मानौ वासुदेवधनंजयौ ।
तन्मे ब्रूहि महाप्राज्ञ शुश्रूषे वचनं तव ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—महाप्राज्ञ संजय! महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने जो कुछ कहा हो, वह मुझे बताओ; मैं तुम्हारे मुखसे उनके संदेश सुनना चाहता हूँ ।। १ ।।

संजय उवाच

शृणु राजन् यथा दृष्टौ मया कृष्णधनंजयौ ।
ऊचतुश्चापि यद् वीरौ तत् ते वक्ष्यामि भारत ।। २ ।।

संजयने कहा—भरतवंशी नरेश! सुनिये। मैंने वीरवर श्रीकृष्ण और अर्जुनको जैसे देखा है और उन्होंने जो संदेश दिया है, वह आपको बता रहा हूँ ।।

पादाङ्गुलीरभिप्रेक्षन् प्रयतोऽहं कृताञ्जलिः ।
शुद्धान्तं प्राविशं राजन्नाख्यातुं नरदेवयोः ।। ३ ।।

राजन्! मैं नरदेव श्रीकृष्ण और अर्जुनसे आपका संदेश सुनानेके लिये मनको पूर्णतः संयममें रखकर अपने पैरोंकी अंगुलियोंपर ही दृष्टि लगाये और हाथ जोड़े हुए उनके अन्तःपुरमें गया ।। ३ ।।

नैवाभिमन्युर्न यमौ तं देशमभियान्ति वै ।
यत्र कृष्णौ च कृष्णा च सत्यभामा च भामिनी ।। ४ ।।

जहाँ श्रीकृष्ण, अर्जुन, द्रौपदी और मानिनी सत्यभामा विराज रही थीं, उस स्थानमें कुमार अभिमन्यु तथा नकुल-सहदेव भी नहीं जा सकते थे ।। ४ ।।

उभौ मध्वासवक्षीबावुभौ चन्दनरूषितौ ।
स्रग्विणौ वरवस्त्रौ तौ दिव्याभरणभूषितौ ।। ५ ।।

वे दोनों मित्र मधुर पेय पीकर आनन्दविभोर हो रहे थे। उन दोनोंके श्रीअंग चन्दनसे चर्चित थे। वे सुन्दर वस्त्र और मनोहर पुष्पमाला धारण करके दिव्य आभूषणोंसे विभूषित थे ।। ५ ।।

नैकरत्नविचित्रं तु काञ्चनं महदासनम् ।
विविधास्तरणाकीर्णं यत्रासातामरिंदमौ ।। ६ ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों वीर जिस विशाल आसनपर बैठे थे, वह सोनेका बना हुआ था। उसमें अनेक प्रकारके रत्न जटित होनेके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसपर भाँति-भाँतिके सुन्दर बिछौने बिछे हुए थे ।। ६ ।।

अर्जुनोत्सङ्गगौ पादौ केशवस्योपलक्षये ।
अर्जुनस्य च कृष्णायां सत्यायां च महात्मनः ।। ७ ।।

मैंने देखा, श्रीकृष्णके दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें थे और महात्मा अर्जुनका एक पैर द्रौपदीकी तथा दूसरा सत्यभामाकी गोदमें था ।। ७ ।।

काञ्चनं पादपीठं तु पार्थो मे प्रादिशत् तदा ।
तदहं पाणिना स्पृष्ट्वा ततो भूमावुपाविशम् ।। ८ ।।

कुन्तीकुमार अर्जुनने उस समय मुझे बैठनेके लिये एक सोनेके पादपीठ (पैर रखनेके पीढ़े)-की ओर संकेत कर दिया। परंतु मैं हाथसे उसका स्पर्शमात्र करके पृथ्वीपर ही बैठ गया ।। ८ ।।

ऊर्ध्वरेखातलौ पादौ पार्थस्य शुभलक्षणौ ।
पादपीठादपहृतौ तत्रापश्यमहं शुभौ ।। ९ ।।

बैठ जानेपर वहाँ मैंने पादपीठसे हटाये हुए अर्जुनके दोनों सुन्दर चरणोंको (ध्यानपूर्वक) देखा। उनके तलुओंमें ऊर्ध्वगामिनी रेखाएँ दृष्टिगोचर हो रही थीं और वे दोनों पैर शुभसूचक विविध लक्षणोंसे सम्पन्न थे ।।

श्यामौ बृहन्तौ तरुणौ शालस्कन्धाविवोद्‌गतौ ।
एकासनगतौ दृष्ट्वा भयं मां महदाविशत् ।। १० ।।

श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों श्यामवर्ण, बड़े डील-डौलवाले, तरुण तथा शालवृक्षके स्कन्धोंके समान उन्नत हैं। उन दोनोंको एक आसनपर बैठे देख मेरे मनमें बड़ा भय समा गया ।। १० ।।

इन्द्रविष्णुसमावेतौ मन्दात्मा नावबुद्ध्यते ।
संश्रयाद् द्रोणभीष्माभ्यां कर्णस्य च विकत्थनात् ।। ११ ।।

मैंने सोचा, इन्द्र और विष्णुके समान अचिन्त्य शक्तिशाली इन दोनों वीरोंको मन्दबुद्धि दुर्योधन नहीं समझ पाता है। वह द्रोणाचार्य और भीष्मका भरोसा करके तथा कर्णकी डींगभरी बातें सुनकर मोहित हो रहा है ।। ११ ।।

निदेशस्थाविमौ यस्य मानसस्तस्य सेत्स्यते ।
संकल्पो धर्मराजस्य निश्चयो मे तदाभवत् ।। १२ ।।

ये दोनों महात्मा जिनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरका मानसिक संकल्प अवश्य सिद्ध होगा; यही उस समय मेरा निश्चय हुआ था ।। १२ ।।

सत्कृतश्चान्नपानाभ्यामासीनो लब्धसत्क्रियः ।

अञ्जलिं मूर्ध्नि संधाय तौ संदेशमचोदयम् ।। १३ ।।

तत्पश्चात् अन्न और जलके द्वारा मेरा सत्कार किया गया। यथोचित आदर-सत्कार पाकर जब मैं बैठा, तब माथेपर अंजलि जोड़कर मैंने उन दोनोंसे आपका संदेश कह सुनाया ।। १३ ।।

धनुर्गुणकिणाङ्केन पाणिना शुभलक्षणम् ।
पादमानमयन् पार्थः केशवं समचोदयत् ।। १४ ।।

तब अर्जुनने जिसमें धनुषकी डोरीकी रगड़से चिह्न बन गया था, उस हाथसे भगवान् श्रीकृष्णके शुभसूचक लक्षणोंसे युक्त चरणको धीरे-धीरे दबाते हुए उन्हें मुझको उत्तर देनेके लिये प्रेरित किया ।। १४ ।।

इन्द्रकेतुरिवोत्थाय सर्वाभरणभूषितः ।
इन्द्रवीर्योपमः कृष्णः संविष्टो माभ्यभाषत ।। १५ ।।
वाचं स वदतां श्रेष्ठो ह्लादिनीं वचनक्षमाम् ।
त्रासिनीं धार्तराष्ट्राणां मृदुपूर्वां सुदारुणाम् ।। १६ ।।

तदनन्तर इन्द्रके समान पराक्रमी तथा समस्त आभूषणोंसे विभूषित वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण इन्द्रध्वजके समान उठ बैठे और मुझसे पहले तो मृदुल एवं मनको आह्लाद प्रदान करनेवाली प्रवचनयोग्य वाणी बोले। फिर वह वाणी अत्यन्त दारुणरूपमें प्रकट हुई, जो आपके पुत्रोंके लिये भय उपस्थित करनेवाली थी ।।

वाचं तां वचनार्हस्य शिक्षाक्षरसमन्विताम् ।
अश्रौषमहमिष्टार्थां पश्चाद्धृदयहारिणीम् ।। १७ ।।

तत्पश्चात् बातचीतमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णकी वह वाणी मेरे सुननेमें आयी, जिसका एक-एक अक्षर शिक्षाप्रद था। वह अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेवाली तथा मनको मोह लेनेवाली थी ।। १७ ।।

वासुदेव उवाच

संजयेदं वचो ब्रूया धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
कुरुमुख्यस्य भीष्मस्य द्रोणस्यापि च शृण्वतः ।। १८ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—संजय! जब कुरुकुलके प्रधान पुरुष भीष्म तथा आचार्य द्रोण भी सुन रहे हों, उसी समय तुम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रसे यह बात कहना ।। १८ ।।

आवयोर्वचनात् सूत ज्येष्ठानप्यभिवादयन् ।
यवीयसश्च कुशलं पश्चात् पृष्ट्वैवमुत्तरम् ।। १९ ।।

सूत! हम दोनोंकी ओरसे पहले तुम हमसे बड़ी अवस्थावाले श्रेष्ठ पुरुषोंको प्रणाम कहना और जो लोग अवस्थामें हमसे छोटे हों, उनकी कुशल पूछना। इसके बाद हमारा यह उत्तर सुना देना— ।। १९ ।।

यजध्वं विविधैर्यज्ञैर्विप्रेभ्यो दत्त दक्षिणाः ।
पुत्रैर्दारैश्च मोदध्वं महद् वो भयमागतम् ।। २० ।।

'कौरवो! नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान आरम्भ करो, ब्राह्मणोंको दक्षिणाएँ दो, पुत्रों और स्त्रियोंसे मिल-जुलकर आनन्द भोग लो; क्योंकि तुम्हारे ऊपर बहुत बड़ा भय आ पहुँचा है ।। २० ।।

अर्थांस्त्यजत पात्रेभ्यः सुतान् प्राप्नुत कामजान् ।
प्रियं प्रियेभ्यश्चरत राजा हि त्वरते जये ।। २१ ।।

'तुम सुपात्र व्यक्तियोंको धनका दान दे लो, अपनी इच्छाके अनुसार पुत्र पैदा कर लो तथा अपने प्रेमीजनोंका प्रिय कार्य सिद्ध कर लो; क्योंकि राजा युधिष्ठिर अब तुमलोगोंपर विजय पानेके लिये उतावले हो रहे हैं ।। २१ ।।

ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति ।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ।। २२ ।।

'जिस समय कौरवसभामें द्रौपदीका वस्त्र खींचा जा रहा था, मैं हस्तिनापुरसे बहुत दूर था। उस समय कृष्णाने आर्तभावसे 'गोविन्द' कहकर जो मुझे पुकारा था, उसका मेरे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है और यह ऋण बढ़ता ही जा रहा है। (अपराधी कौरवोंका संहार किये बिना) उसका भार मेरे हृदयसे दूर नहीं हो सकता ।।

तेजोमयं दुराधर्षं गाण्डीवं यस्य कार्मुकम् ।
मद्द्वितीयेन तेनेह वैरं वः सव्यसाचिना ।। २३ ।।

'जिनके पास अजेय तेजस्वी गाण्डीव नामक धनुष है और जिनका मित्र या सहायक दूसरा मैं हूँ, उन्हीं सव्यसाची अर्जुनके साथ यहाँ तुमने वैर बढ़ाया है ।। २३ ।।

मद्द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमिच्छति ।
यो न कालपरीतो वाप्यपि साक्षात् पुरंदरः ।। २४ ।।

'जिसको कालने सब ओरसे घेर न लिया हो, ऐसा कौन पुरुष, भले ही वह साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, उस अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहता है, जिसका सहायक दूसरा मैं हूँ ।। २४ ।।

बाहुभ्यामुद्वहेद् भूमिं दहेत् क्रुद्ध इमाः प्रजाः ।
पातयेत् त्रिदिवाद् देवान् योऽर्जुनं समरे जयेत् ।। २५ ।।

'जो अर्जुनको युद्धमें जीत ले, वह अपनी दोनों भुजाओंपर इस पृथ्वीको उठा सकता है, कुपित होकर इन समस्त प्रजाओंको भस्म कर सकता है, और सम्पूर्ण देवताओंको स्वर्गसे नीचे गिरा सकता है ।। २५ ।।

देवासुरमनुष्येषु यक्षगन्धर्वभोगिषु ।
न तं पश्याम्यहं युद्धे पाण्डवं योऽभ्ययाद् रणे ।। २६ ।।

‘देवताओं, असुरों, मनुष्यों, यक्षों, गन्धर्वों तथा नागोंमें भी मुझे कोई ऐसा वीर नहीं दिखायी देता, जो पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना कर सके ।। २६ ।।

यत् तद् विराटनगरे श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।। २७ ।।

‘विराटनगरमें अकेले अर्जुन और बहुत-से कौरवोंका जो अद्भुत और महान् संग्राम सुना जाता है, वही मेरे उपर्युक्त कथनकी सत्यताका पर्याप्त प्रमाण है ।। २७ ।।

एकेन पाण्डुपुत्रेण विराटनगरे यदा ।
भग्नाः पलायत दिशः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।। २८ ।।

‘जब विराटनगरमें एकमात्र पाण्डुकुमार अर्जुनसे पराजित हो तुमलोगोंने भागकर विभिन्न दिशाओंकी शरण ली थी, वह एक ही दृष्टान्त अर्जुनकी प्रबलताका पर्याप्त प्रमाण है ।। २८ ।।

बलं वीर्यं च तेजश्च शीघ्रता लघुहस्तता ।
अविषादश्च धैर्यं च पार्थान्नान्यत्र विद्यते ।। २९ ।।

‘बल, पराक्रम, तेज, शीघ्रकारिता, हाथोंकी फुर्ती, विषादहीनता तथा धैर्य—ये सभी सद्‌गुण कुन्तीपुत्र अर्जुनके सिवा (एक साथ) दूसरे किसी पुरुषमें नहीं हैं’ ।। २९ ।।

इत्यब्रवीद्‌धृषीकेशः पार्थमुद्धर्षयन् गिरा ।
गर्जन् समयवर्षीव गगने पाकशासनः ।। ३० ।।

जैसे इन्द्र आकाशमें गर्जता हुआ समयपर वर्षा करता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपनी वाणीसे आनन्दित करते हुए उपर्युक्त बात कही ।। ३० ।।

केशवस्य वचः श्रुत्वा किरीटी श्वेतवाहनः ।
अर्जुनस्तन्महद् वाक्यमब्रवीद् रोमहर्षणम् ।। ३१ ।।

भगवान् श्रीकृष्णका वचन सुनकर किरीटधारी श्वेतवाहन अर्जुनने भी उसी रोमांचकारी महावाक्यको दुहरा दिया ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयेन श्रीकृष्णवाक्यकथने एकोनषष्टितमोऽध्यायः ।। ५९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयद्वारा श्रीकृष्णके संदेशका कथनविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५९ ।।

षष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके द्वारा कौरव-पाण्डवोंकी शक्तिका तुलनात्मक वर्णन

वैशम्पायन उवाच

संजयस्य वचः श्रुत्वा प्रज्ञाचक्षुर्जनेश्वरः ।
ततः संख्यातुमारेभे तद्वचो गुणदोषतः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! संजयकी बात सुनकर प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रने उसके वचनके गुण-दोषका विवेचन आरम्भ किया ।। १ ।।

प्रसंख्याय च सौक्ष्म्येण गुणदोषान् विचक्षणः ।
यथावन्मतितत्त्वेन जयकामः सुतान् प्रति ।। २ ।।
बलाबलं विनिश्चित्य याथातथ्येन बुद्धिमान् ।
(यदा तु मेने भूयिष्ठं तद्वचो गुणदोषतः ।
पुनरेव कुरूणां च पाण्डवानां च बुद्धिमान् ।।)
शक्तिं संख्यातुमारेभे तदा वै मनुजाधिपः ।। ३ ।।

अपने पुत्रोंकी विजय चाहनेवाले विद्वान् एवं बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने बुद्धितत्त्वके द्वारा उक्त वचनके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गुण-दोषोंकी यथावत् समीक्षा करके दोनों पक्षोंकी प्रबलता एवं निर्बलताका यथार्थरूपसे निश्चय कर लिया। तत्पश्चात् जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि गुण-दोषकी दृष्टिसे श्रीकृष्णका कथन सर्वोत्कृष्ट है, तब उन बुद्धिमान् नरेशने पुनः कौरवों और पाण्डवोंकी शक्तिपर विचार करना आरम्भ किया ।।

देवमानुषयोः शक्त्या तेजसा चैव पाण्डवान् ।
कुरून् शक्त्याल्पतरया दुर्योधनमथाब्रवीत् ।। ४ ।।

पाण्डवोंमें दैवी शक्ति, मानवी शक्ति तथा तेज—इन सभी दृष्टियोंसे उत्कृष्टता प्रतीत हुई और कौरव-पक्षकी शक्ति अल्प जान पड़ी, इस प्रकार विचार करके धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा— ।। ४ ।।

दुर्योधनेयं चिन्ता मे शश्वन्न व्युपशाम्यति ।
सत्यं ह्येतदहं मन्ये प्रत्यक्षं नानुमानतः ।। ५ ।।

‘वत्स दुर्योधन! मेरी यह चिन्ता कभी दूर नहीं होती है, क्योंकि तुम्हारा पक्ष दुर्बल है। मैं यह बात अनुमानसे नहीं कहता हूँ; प्रत्यक्ष देख रहा हूँ; अतः इसीको सत्य मानता हूँ ।। ५ ।।

(ईदृशेऽभिनिविष्टस्य पृथिवीक्षयकारके ।

अधर्म्ये चायशस्ये वा कार्ये महति दारुणे ।।
पाण्डवैर्विग्रहस्तात सर्वथा मे न रोचते ।।)

'तुम ऐसे कार्यके लिये दुराग्रह करते हो, जो समस्त भूमण्डलका विनाश करनेवाला है। यह अधर्मकारक तो है ही, अपयशकी भी वृद्धि करनेवाला है; इसके सिवा यह अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कर्म है। तात! तुम्हारा पाण्डवोंके साथ युद्ध छेड़ना मुझे किसी भी तरह अच्छा नहीं लग रहा है।

आत्मजेषु परं स्नेहं सर्वभूतानि कुर्वते ।
प्रियाणि चैषां कुर्वन्ति यथाशक्ति हितानि च ।। ६ ।।

'संसारके समस्त प्राणी अपने पुत्रोंपर अत्यन्त स्नेह करते हैं तथा अपनी शक्तिके अनुसार इनका प्रिय एवं हितसाधन करते हैं ।। ६ ।।

एवमेवोपकर्तॄणां प्रायशो लक्षयामहे ।
इच्छन्ति बहुलं सन्तः प्रतिकर्तुं महत् प्रियम् ।। ७ ।।

'इसी प्रकार प्रायः यह भी देखता हूँ कि साधु पुरुष उपकारी मनुष्योंके उपकारका बदला चुकानेके लिये उनका बारंबार महान् प्रिय कार्य करना चाहते हैं ।।

अग्निः साचिव्यकर्ता स्यात् खाण्डवे तत्कृतं स्मरन् ।
अर्जुनस्यापि भीमेऽस्मिन् कुरुपाण्डुसमागमे ।। ८ ।।

'कौरव-पाण्डवोंके इस भयंकर संग्राममें अग्निदेव भी खाण्डववनमें अर्जुनके किये हुए उपकारको याद करके उनकी सहायता अवश्य करेंगे ।। ८ ।।

जातिगृद्ध्याभिपन्नाश्च पाण्डवानामनेकशः ।
धर्मादयः समेष्यन्ति समाहूता दिवौकसः ।। ९ ।।

'इसके सिवा पाण्डवोंका जन्म अनेक देवताओंसे हुआ है, इसलिये वे धर्म आदि देवता युधिष्ठिर आदिके बुलानेपर उनकी सहायताके लिये अवश्य पधारेंगे ।। ९ ।।

भीष्मद्रोणकृपादीनां भयादशनिसंनिभम् ।
रिरक्षिषन्तः संरम्भं गमिष्यन्तीति मे मतिः ।। १० ।।

'भीष्म, द्रोण और कृप आदिके भयसे पाण्डवोंकी रक्षा चाहते हुए देवतालोग भीष्म आदिपर वज्रके समान भयंकर क्रोध करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है ।। १० ।।

ते देवैः सहिताः पार्था न शक्याः प्रतिवीक्षितुम् ।
मानुषेण नरव्याघ्रा वीर्यवन्तोऽस्त्रपारगाः ।। ११ ।।

'नरश्रेष्ठ पाण्डव अस्त्रविद्याके पारंगत और पराक्रमी तो हैं ही, देवताओंका सहयोग भी प्राप्त कर चुके हैं; अतः कोई मनुष्य उनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता ।। ११ ।।

दुरासदं यस्य दिव्यं गाण्डीवं धनुरुत्तमम् ।
वारुणौ चाक्षयौ दिव्यौ शरपूर्णौ महेषुधी ।। १२ ।।

वानरश्च ध्वजो दिव्यो निःसङ्गो धूमवद्‌गतिः ।
रथश्च चतुरन्तायां यस्य नास्ति समः क्षितौ ।। १३ ।।
महामेघनिभश्चापि निर्घोषः श्रूयते जनैः ।
महाशनिसमः शब्दः शात्रवाणां भयंकरः ।। १४ ।।
यं चातिमानुषं वीर्ये कृत्स्नो लोको व्यवस्यति ।
देवानामपि जेतारं यं विदुः पार्थिवा रणे ।। १५ ।।
शतानि पञ्च चैवेषून् यो गृह्णन् नैव दृश्यते ।
निमेषान्तरमात्रेण मुञ्चन् दूरं च पातयन् ।। १६ ।।
यमाह भीष्मो द्रोणश्च कृपो द्रौणिस्तथैव च ।
मद्रराजस्तथा शल्यो मध्यस्था ये च मानवाः ।। १७ ।।
युद्धायावस्थितं पार्थं पार्थिवैरतिमानुषैः ।
अशक्यं नरशार्दूलं पराजेतुमरिंदमम् ।। १८ ।।
क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्च बाणशतानि यः ।
सदृशं बाहुवीर्येण कार्तवीर्यस्य पाण्डवम् ।। १९ ।।
तमर्जुनं महेष्वासं महेन्द्रोपेन्द्रविक्रमम् ।
निघ्नन्तमिव पश्यामि विमर्देऽस्मिन् महाहवे ।। २० ।।

'जिसके पास उत्तम एवं दुर्धर्ष दिव्य गाण्डीव धनुष है, वरुणके दिये हुए बाणोंसे भरे दो दिव्य अक्षय तूणीर हैं, जिसका दिव्य वानरध्वज कहीं भी अटकता नहीं है—धूमकी भाँति अप्रतिहत गतिसे सर्वत्र जा सकता है, समुद्रपर्यन्त समूची पृथ्वीपर जिसके रथकी समानता करनेवाला दूसरा कोई रथ नहीं है, जिसके रथका घर्घर शब्द सब लोगोंको महान् मेघोंकी गर्जनाके समान सुनायी पड़ता है तथा वज्रकी गड़गड़ाहटके समान शत्रुसैनिकोंके मनमें भयका संचार कर देता है, जिसे सब लोग अलौकिक पराक्रमी मानते हैं, समस्त राजा भी जिसे युद्धमें देवताओंतकको पराजित करनेमें समर्थ समझते हैं, जो पलक मारते-मारते पाँच सौ बाणोंको हाथमें लेता, छोड़ता और दूरस्थ लक्ष्योंको भी मार गिराता है; किंतु यह सब करते समय कोई भी जिसे देख नहीं पाता है; जिसके विषयमें भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, मद्रराज शल्य तथा तटस्थ मनुष्य भी ऐसा कहते हैं कि युद्धके लिये खड़े हुए शत्रुदमन नरश्रेष्ठ अर्जुनको पराजित करना अमानुषिक शक्ति रखनेवाले भूमिपालोंके लिये भी असम्भव है। जो एक वेगसे पाँच सौ बाण चलाता है तथा जो बाहुबलमें कार्तवीर्य अर्जुनके समान है; इन्द्र और विष्णुके समान पराक्रमी उस महाधनुर्धर पाण्डुनन्दन अर्जुनको मैं इस महासमरमें शत्रु-सेनाओंका संहार करता हुआ-सा देख रहा हूँ ।। १२-२० ।।

इत्येवं चिन्तयत् कृत्स्नमहोरात्राणि भारत ।
अनिद्रो निःसुखश्चास्मि कुरूणां शमचिन्तया ।। २१ ।।

‘भारत! मैं दिन-रात यही सब सोचते-सोचते नींद नहीं ले पाता हूँ। कुरुवंशियोंमें कैसे शान्ति बनी रहे—इस चिन्तासे मेरा सारा सुख छिन गया है ।। २१ ।।

क्षयोदयोऽयं सुमहान् कुरूणां प्रत्युपस्थितः ।
अस्य चेत् कलहस्यान्तः शमादन्यो न विद्यते ।। २२ ।।
शमो मे रोचते नित्यं पार्थैस्तात न विग्रहः ।
कुरुभ्यो हि सदा मन्ये पाण्डवान् शक्तिमत्तरान् ।। २३ ।।

‘कौरवोंके लिये यह महान् विनाशका अवसर उपस्थित हुआ है। तात! यदि इस कलहका अन्त करनेके लिये संधिके सिवा और कोई उपाय नहीं है तो मुझे सदा संधिकी ही बात अच्छी लगती है; कुन्तीपुत्रोंके साथ युद्ध छेड़ना ठीक नहीं है। मैं सदा पाण्डवोंको कौरवोंसे अधिक शक्तिशाली मानता हूँ’ ।। २२-२३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रविवेचने षष्टितमोऽध्यायः ।। ६० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रके द्वारा कौरव-पाण्डवोंकी शक्तिका विवेचनसम्बन्धी साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६० ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ ½ श्लोक मिलाकर कुल २५ ½ श्लोक हैं।]

एकषष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनद्वारा आत्मप्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

पितुरेतद् वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः ।
आधाय विपुलं क्रोधं पुनरेवेदमब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पिताकी यह बात सुनकर अत्यन्त असहिष्णु दुर्योधनने भीतर-ही-भीतर भारी क्रोध करके पुनः इस प्रकार कहा— ।। १ ।।

अशक्या देवसचिवाः पार्थाः स्युरिति यद् भवान् ।
मन्यते तद् भयं व्येतु भवतो राजसत्तम ।। २ ।।

'नृपश्रेष्ठ! आप जो ऐसा मानते हैं कि कुन्तीके पुत्रोंको जीतना असम्भव है, क्योंकि देवता उनके सहायक हैं, यह ठीक नहीं है। आपके मनसे यह भय निकल जाना चाहिये ।। २ ।।

अकामद्वेषसंयोगलोभद्रोहाच्च भारत ।
उपेक्षया च भावानां देवा देवत्वमाप्नुवन् ।। ३ ।।

'भरतनन्दन! काम (राग), द्वेष, संयोग (ममता), लोभ और द्रोह (क्रोध)-रूपी दोषोंसे रहित होनेके कारण तथा दूषित भावोंकी उपेक्षा कर देनेके कारण ही देवताओंने देवत्व प्राप्त किया है ।। ३ ।।

इति द्वैपायनो व्यासो नारदश्च महातपाः ।
जामदग्न्यश्च रामो नः कथामकथयत् पुरा ।। ४ ।।

'यह बात पूर्वकालमें द्वैपायन व्यासजी, महातपस्वी नारदजी तथा जमदग्निनन्दन परशुरामजीने हमलोगोंको बतायी थी ।। ४ ।।

नैव मानुषवद् देवाः प्रवर्तन्ते कदाचन ।
कामात् क्रोधात् तथा लोभाद् द्वेषाच्च भरतर्षभ ।। ५ ।।

'भरतश्रेष्ठ! देवता मनुष्योंकी भाँति काम, क्रोध, लोभ और द्वेषभावसे किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होते हैं ।।

यदा ह्यग्निश्च वायुश्च धर्म इन्द्रोऽश्विनावपि ।
कामयोगात् प्रवर्तेरन् न पार्था दुःखमाप्नुयुः ।। ६ ।।

'यदि अग्नि, वायु, धर्म, इन्द्र तथा दोनों अश्विनी-कुमार भी कामनाके वशीभूत होकर सब कार्योंमें प्रवृत्त होने लग जाते, तब तो कुन्तीपुत्रोंको कभी दुःख उठाना ही नहीं पड़ता ।। ६ ।।

तस्मान्न भवता चिन्ता कार्यैषा स्यात् कथंचन ।

दैवेष्वपेक्षका ह्येते शश्वद् भावेषु भारत ।। ७ ।।

'अतः भरतनन्दन! आप किसी प्रकार भी ऐसी चिन्ता न करें, क्योंकि देवता सदा दिव्यभाव—शम आदिकी ही अपेक्षा रखते हैं, काम, क्रोध आदि आसुरभावोंकी नहीं ।। ७ ।।

अथ चेत् कामसंयोगाद् द्वेषो लोभश्च लक्ष्यते ।
देवेषु दैवप्रामाण्यान्नैषां तद् विक्रमिष्यति ।। ८ ।।

'तथापि यदि देवताओंमें कामनावश द्वेष और लोभ लक्षित होता है तो (उनमें देवत्वका अभाव हो जानेके कारण) उनकी वह शक्ति हमलोगोंपर कोई प्रभाव नहीं दिखा सकेगी, क्योंकि देवोंमें देवभावकी प्रधानता है ।। ८ ।।

मयाभिमन्त्रितः शश्वज्जातवेदाः प्रशाम्यति ।
दिधक्षुः सकलाँल्लोकान् परिक्षिप्य समन्ततः ।। ९ ।।

'(वैसे तो मुझमें भी दैवबल है ही;) यदि मैं अभिमन्त्रित कर दूँ तो सदा सम्पूर्ण लोकोंको जलाकर भस्म कर डालनेकी इच्छासे प्रज्वलित हुई आग भी सब ओरसे सिमटकर बुझ जायगी ।। ९ ।।

यद् वा परमकं तेजो येन युक्ता दिवौकसः ।
ममाप्यनुपमं भूयो देवेभ्यो विद्धि भारत ।। १० ।।

'भारत! यदि कोई ऐसा उत्कृष्ट तेज है, जिससे देवता युक्त हैं तो मुझे भी देवताओंसे ही अनुपम तेज प्राप्त हुआ है, यह आप अच्छी तरह जान लें ।। १० ।।

विदीर्यमाणां वसुधां गिरीणां शिखराणि च ।
लोकस्य पश्यतो राजन् स्थापयाम्यभिमन्त्रणात् ।। ११ ।।

'राजन्! मैं सब लोगोंके देखते-देखते विदीर्ण होती हुई पृथ्वी तथा टूटकर गिरते हुए पर्वत-शिखरोंको भी मन्त्रबलसे अभिमन्त्रित करके पहलेकी भाँति स्थापित कर सकता हूँ ।। ११ ।।

चेतनाचेतनस्यास्य जङ्गमस्थावरस्य च ।
विनाशाय समुत्पन्नमहं घोरं महास्वनम् ।। १२ ।।
अश्मवर्षं च वायुं च शमयामीह नित्यशः ।
जगतः पश्यतोऽभीक्ष्णं भूतानामनुकम्पया ।। १३ ।।

'इस चेतन-अचेतन और स्थावर-जंगम जगत्के विनाशके लिये प्रकट हुई महान् कोलाहलकारी भयंकर शिलावृष्टि अथवा आँधीको भी मैं सदा समस्त प्राणियोंपर दया करके सबके देखते-देखते यहीं शान्त कर सकता हूँ ।। १२-१३ ।।

स्तम्भितास्वप्सु गच्छन्ति मया रथपदातयः ।
देवासुराणां भावानामहमेकः प्रवर्तिता ।। १४ ।।

'मेरे द्वारा स्तम्भित किये हुए जलके ऊपर रथ और पैदल सेनाएँ चल सकती हैं। एकमात्र मैं ही दैव तथा आसुर शक्तियोंको प्रकट करनेमें समर्थ हूँ ।। १४ ।।

अक्षौहिणीभिर्यान् देशान् यामि कार्येण केनचित् ।
तत्राश्वा मे प्रवर्तन्ते यत्र यत्राभिकामये ।। १५ ।।

'मैं किसी कार्यके उद्देश्यसे जिन-जिन देशोंमें अनेक अक्षौहिणी सेनाएँ लेकर जाता हूँ, उनमें जहाँ-जहाँ मेरी इच्छा होती है, उन सभी स्थानोंमें मेरे घोड़े (अप्रतिहत गतिसे) विचरते हैं ।। १५ ।।

भयानकानि विषये व्यालादीनि न सन्ति मे ।
मन्त्रगुप्तानि भूतानि न हिंसन्ति भयंकराः ।। १६ ।।

'मेरे राज्यमें सर्प आदि भयंकर जीव-जन्तु नही हैं। यदि कोई भयंकर प्राणी हों तो भी वे मेरे मन्त्रोंद्वारा सुरक्षित जीव-जन्तुओंकी कभी हिंसा नहीं करते हैं ।।

निकामवर्षी पर्जन्यो राजन् विषयवासिनाम् ।
धर्मिष्ठाश्च प्रजाः सर्वा ईतयश्च न सन्ति मे ।। १७ ।।

'महाराज! मेरे राज्यमें रहनेवाली प्रजाओंके लिये बादल प्रचुर जल बरसाता है, सम्पूर्ण प्रजाएँ धर्ममें तत्पर रहती हैं तथा मेरे राष्ट्रमें अनावृष्टि और अतिवृष्टि आदि किसी प्रकारका भी उपद्रव नहीं है ।। १७ ।।

अश्विनावथ वाय्वग्नी मरुद्भिः सह वृत्रहा ।
धर्मश्चैव मया द्विष्टान् नोत्सहन्तेऽभिरक्षितुम् ।। १८ ।।

'जिनसे मैं द्वेष रखता हूँ, उनकी रक्षाका साहस अश्विनीकुमार, वायु, अग्नि, मरुद्‍गणोंसहित इन्द्र तथा धर्ममें भी नहीं है ।। १८ ।।

यदि ह्येते समर्थाः स्युर्मद्‍द्विषस्त्रातुमञ्जसा ।
न स्म त्रयोदश समाः पार्था दुःखमवाप्नुयुः ।। १९ ।।

'यदि ये लोग अनायास ही मेरे शत्रुओंकी रक्षा करनेमें समर्थ होते तो कुन्तीके पुत्र तेरह वर्षोंतक कष्ट नहीं भोगते ।। १९ ।।

नैव देवा न गन्धर्वा नासुरा न च राक्षसाः ।
शक्तास्त्रातुं मया द्विष्टं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। २० ।।

'पिताजी! मैं आपसे यह सत्य कहता हूँ कि देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस भी मेरे शत्रुकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं ।। २० ।।

यदभिध्याम्यहं शश्वच्छुभं वा यदि वाशुभम् ।
नैतद् विपन्नपूर्वं मे मित्रेष्वरिषु चोभयोः ।। २१ ।।

'मैं अपने मित्रों और शत्रुओं—दोनोंके विषयमें शुभ या अशुभ जैसा भी चिन्तन करता हूँ, वह पहले कभी निष्फल नहीं हुआ है ।। २१ ।।

भविष्यतीदमिति वा यद् ब्रवीमि परंतप ।

नान्यथा भूतपूर्वं च सत्यवागिति मां विदुः ।। २२ ।।

'शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज! मैं जो बात मुँहसे कह देता हूँ कि यह इसी प्रकार होगा, मेरा वह कथन पहले कभी भी मिथ्या नहीं हुआ है। इसीलिये लोग मुझे सत्यवादी मानते हैं ।। २२ ।।

लोकसाक्षिकमेतन्मे माहात्म्यं दिक्षु विश्रुतम् ।
आश्वासनार्थं भवतः प्रोक्तं न श्लाघया नृप ।। २३ ।।

'राजन्! मेरा यह माहात्म्य सब लोगोंकी आँखोंके समक्ष है; सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रसिद्ध है। मैंने आपके आश्वासनके लिये ही इसकी यहाँ चर्चा की है, आत्मप्रशंसा करनेके लिये नहीं ।। २३ ।।

न ह्यहं श्लाघनो राजन् भूतपूर्वः कदाचन ।
असदाचरितं ह्येतद् यदात्मानं प्रशंसति ।। २४ ।।

'महाराज! आजसे पहले मैंने कभी भी आत्मप्रशंसा नहीं की है; क्योंकि मनुष्य जो अपनी प्रशंसा करता है, यह अच्छे पुरुषोंका कार्य नहीं है ।। २४ ।।

पाण्डवांश्चैव मत्स्यांश्च पञ्चालान् केकयैः सह ।
सात्यकिं वासुदेवं च श्रोतासि विजितान् मया ।। २५ ।।

'आप किसी दिन सुनेंगे कि मैंने पाण्डवोंको, मत्स्यदेशके योद्धाओंको, केकयोंसहित पांचालोंको तथा सात्यकि और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको भी जीत लिया है ।। २५ ।।

सरितः सागरं प्राप्य यथा नश्यन्ति सर्वशः ।
तथैव ते विनङ्क्ष्यन्ति मामासाद्य सहान्वयाः ।। २६ ।।

'जैसे नदियाँ समुद्रमें मिलकर सब प्रकारसे अपना अस्तित्व खो बैठती हैं, उसी प्रकार वे पाण्डव आदि योद्धा मेरे पास आनेपर अपने कुल-परिवारसहित नष्ट हो जायँगे ।। २६ ।।

परा बुद्धिः परं तेजो वीर्यं च परमं मम ।
परा विद्या पते योगो मम तेभ्यो विशिष्यते ।। २७ ।।

'मेरी बुद्धि उत्तम है, तेज उत्कृष्ट है, बल-पराक्रम महान् है, विद्या बड़ी है तथा उद्योग भी सबसे बढ़कर है। ये सारी वस्तुएँ पाण्डवोंकी अपेक्षा मुझमें अधिक हैं ।। २७ ।।

पितामहश्च द्रोणश्च कृपः शल्यः शलस्तथा ।
अस्त्रेषु यत् प्रजानन्ति सर्वं तन्मयि विद्यते ।। २८ ।।

'पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, शल्य तथा शल—ये लोग अस्त्रविद्याके विषयमें जो कुछ जानते हैं, वह सारा ज्ञान मुझमें विद्यमान है' ।। २८ ।।

इत्युक्ते संजयं भूयः पमेर्यपृच्छत भारतः ।
ज्ञात्वा युयुत्सोः कार्याणि प्राप्तकालमरिंदम ।। २९ ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले जनमेजय! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर भरतनन्दन धृतराष्ट्रने युद्धकी इच्छा रखनेवाले दुर्योधनके अभिप्रायको समझकर पुनः संजयसे समयोचित प्रश्न

किया ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि दुर्योधनवाक्ये एकषष्टितमोऽध्यायः ।। ६१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६१ ।।

द्विषष्टितमोऽध्यायः

कर्णकी आत्मप्रशंसा, भीष्मके द्वारा उसपर आक्षेप, कर्णका सभा त्यागकर जाना और भीष्मका उसके प्रति पुनः आक्षेपयुक्त वचन कहना

वैशम्पायन उवाच

तथा तु पृच्छन्तमतीव पार्थं
वैचित्रवीर्यं तमचिन्तयित्वा ।
उवाच कर्णो धृतराष्ट्रपुत्रं
प्रहर्षयन् संसदि कौरवाणाम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विचित्र-वीर्यनन्दन धृतराष्ट्रको पहलेकी ही भाँति कुन्तीकुमार अर्जुनके विषयमें बारंबार प्रश्न करते देख उनकी कोई परवा न करके कर्णने कौरवसभामें दुर्योधनको हर्षित करते हुए कहा— ।। १ ।।

मिथ्या प्रतिज्ञाय मया यदस्त्रं
रामात् कृतं ब्रह्ममयं पुरस्तात् ।
विज्ञाय तेनास्मि तदैवमुक्त-
स्ते नान्तकाले प्रतिभास्यतीति ।। २ ।।

'राजन्! मैंने पूर्वकालमें झूठे ही अपनेको ब्राह्मण बताकर परशुरामजीसे जब ब्रह्मास्त्रकी शिक्षा प्राप्त कर ली, तब उन्होंने मेरा यथार्थ परिचय जानकर मुझसे इस प्रकार कहा—'कर्ण! अन्त समय आनेपर तुम्हें इस ब्रह्मास्त्रका स्मरण नहीं रहेगा' ।। २ ।।

महापराधे ह्यपि यन्न तेन
महर्षिणाहं गुरुणा च शप्तः ।
शक्तः प्रदग्धुं ह्यपि तिग्मतेजाः
ससागरामप्यवनिं महर्षिः ।। ३ ।।

'यद्यपि मेरे द्वारा उन महर्षिका महान् अपराध हुआ था, तथापि उन गुरुदेवने जो मुझे शाप नहीं दिया, यह उनका मेरे ऊपर बहुत बड़ा अनुग्रह है। अन्यथा वे प्रचण्ड तेजस्वी महामुनि समुद्रसहित सारी पृथ्वीको भी दग्ध कर सकते हैं ।। ३ ।।

प्रसादितं ह्यस्य मया मनोऽभू-
च्छुश्रूषया स्वेन च पौरुषेण ।
तदस्ति चास्त्रं मम सावशेषं
तस्मात् समर्थोऽस्मि ममैष भारः ।। ४ ।।

'मैंने अपने पुरुषार्थ तथा सेवा-शुश्रूषासे उनके मनको प्रसन्न कर लिया था। वह ब्रह्मास्त्र अब भी मेरे पास है। मेरी आयु भी अभी शेष है; अतः मैं पाण्डवोंको जीतनेमें समर्थ हूँ। यह सारा भार मुझपर छोड़ दिया जाय ।। ४ ।।

निमेषमात्रात् तमृषेः प्रसाद-
मवाप्य पाञ्चालकरूषमत्स्यान् ।
निहत्य पार्थान् सह पुत्रपौत्रै-
र्लोकानहं शस्त्रजितान् प्रपत्स्ये ।। ५ ।।

'महर्षि परशुरामका कृपाप्रसाद पाकर मैं पलक मारते-मारते पांचाल, करूष तथा मत्स्यदेशीय योद्धाओं और कुन्तीकुमारोंको पुत्र-पौत्रोंसहित मारकर शस्त्रद्वारा जीते हुए पुण्यलोकोंमें जाऊँगा ।। ५ ।।

पितामहस्तिष्ठतु ते समीपे
द्रोणश्च सर्वे च नरेन्द्रमुख्याः ।
यथा प्रधानेन बलेन गत्वा
पार्थान् हनिष्यामि ममैष भारः ।। ६ ।।

'पितामह भीष्म आपके ही पास रहें, आचार्य द्रोण तथा समस्त मुख्य-मुख्य भूपाल भी आपके ही समीप रहें। मैं अपनी प्रधान सेनाके साथ जाकर अकेले ही सब कुन्तीकुमारोंको मार डालूँगा। इसका सारा भार मुझपर रहा' ।। ६ ।।

एवं ब्रुवन्तं तमुवाच भीष्मः
किं कत्थसे कालपरीतबुद्धे ।
न कर्ण जानासि यथा प्रधाने
हते हताः स्युर्धृतराष्ट्रपुत्राः ।। ७ ।।

कर्णको ऐसी बातें करते देख भीष्मजीने उससे कहा—'कर्ण! क्यों अपनी वीरताकी डींग हाँक रहा है? जान पड़ता है, कालने तेरी बुद्धिको ग्रस लिया है। क्या तू नहीं जानता कि युद्धमें तुझ प्रधान वीरके मारे जानेपर सारे धृतराष्ट्रपुत्र ही मृतप्राय हो जायँगे ।। ७ ।।

यत् खाण्डवं दाहयता कृतं हि
कृष्णद्वितीयेन धनंजयेन ।
श्रुत्वैव तत् कर्म नियन्तुमात्मा
युक्तस्त्वया वै सहबान्धवेन ।। ८ ।।

'श्रीकृष्णसहित अर्जुनने खाण्डववनका दाह करते समय जो पराक्रम किया था, उसे सुनकर ही बान्धवों-सहित तुझे अपने मनपर काबू रखना उचित था ।। ८ ।।

यां चापि शक्तिं त्रिदशाधिपस्ते
ददौ महात्मा भगवान् महेन्द्रः ।
भस्मीकृतां तां समरे विशीर्णां

चक्राहतां द्रक्ष्यसि केशवेन ।। ९ ।।

'देवेश्वर महात्मा भगवान् महेन्द्रने तुझे जो शक्ति प्रदान की है, वह भगवान् केशवके चलाये हुए चक्रसे आहत हो समरभूमिमें छिन्न-भिन्न एवं दग्ध हो जायगी। इसे तू अपनी आँखों देख लेगा ।। ९ ।।

यस्ते शरः सर्पमुखो विभाति
सदाग्र्यमाल्यैर्महितः प्रयत्नात् ।
स पाण्डुपुत्राभिहतः शरौघैः
सह त्वया यास्यति कर्ण नाशम् ।। १० ।।

'तेरे पास जो सर्पमुख बाण प्रकाशित होता है और तू प्रयत्नपूर्वक सदा ही पुष्पमाला आदि श्रेष्ठ उपचारोंद्वारा जिसकी पूजा किया करता है, वह पाण्डुपुत्र अर्जुनके बाणसमूहोंसे छिन्न-भिन्न होकर तेरे साथ ही नष्ट हो जायगा ।। १० ।।

बाणस्य भौमस्य च कर्ण हन्ता
किरीटिनं रक्षति वासुदेवः ।
यस्त्वादृशानां च वरीयसां च
हन्ता रिपूणां तुमुले प्रगाढे ।। ११ ।।

'कर्ण! बाणासुर और भौमासुरका वध करनेवाले वे वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण किरीटधारी अर्जुनकी रक्षा करते हैं, जो तेरे-जैसे तथा तुझसे भी प्रबल शत्रुओंका भयंकर संग्राममें विनाश कर सकते हैं' ।।

कर्ण उवाच

असंशयं वृष्णिपतिर्यथोक्त-
स्तथा च भूयांश्च ततो महात्मा ।
अहं यदुक्तः परुषं तु किञ्चित्
पितामहस्तस्य फलं शृणोतु ।। १२ ।।

कर्ण बोला—इसमें संदेह नहीं कि वृष्णिकुलके स्वामी महात्मा श्रीकृष्णका जैसा प्रभाव बताया गया है, वे वैसे ही हैं। बल्कि उससे भी बढ़कर हैं। परंतु मेरे प्रति जो किंचित् कटुवचनका प्रयोग किया गया है; उसका परिणाम क्या होगा? यह पितामह भीष्म मुझसे सुन लें ।।

न्यस्यामि शस्त्राणि न जातु संख्ये
पितामहो द्रक्ष्यति मां सभायाम् ।
त्वयि प्रशान्ते तु मम प्रभावं
द्रक्ष्यन्ति सर्वे भुवि भूमिपालाः ।। १३ ।।

मैं अपने अस्त्र-शस्त्र रख देता हूँ। अब कभी पितामह मुझे इस सभामें अथवा युद्धभूमिमें नहीं देखेंगे। भीष्म! आपके शान्त हो जानेपर ही समस्त भूपाल रणभूमिमें मेरा प्रभाव देखेंगे ।। १३ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा स महाधनुष्मान्
हित्वा सभां स्वं भवनं जगाम ।
भीष्मस्तु दुर्योधनमेव राजन्
मध्ये कुरूणां प्रहसन्नुवाच ।। १४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर महाधनुर्धर कर्ण सभा त्यागकर अपने घर चला गया। उस समय भीष्मने कौरवसभामें उसकी हँसी उड़ाते हुए दुर्योधनसे कहा— ।। १४ ।।

सत्यप्रतिज्ञः किल सूतपुत्र-
स्तथा स भारं विषहेत कस्मात् ।
व्यूहं प्रतिव्यूह्य शिरांसि भित्त्वा
लोकक्षयं पश्यत भीमसेनात् ।। १५ ।।

'सूतपुत्र कर्ण कैसा सत्यप्रतिज्ञ निकला (पहले पाण्डवोंको जीतनेकी प्रतिज्ञा करके अब युद्धसे मुँह मोड़कर भाग गया), भला वैसा महान् भार वह कैसे सँभाल सकता था? अब तुमलोग पाण्डव-सेनाके व्यूहका सामना करनेके लिये अपनी सेनाका भी व्यूह बनाकर युद्ध करो और परस्पर एक-दूसरेके मस्तक काटकर भीमसेनके हाथों सारे संसारका संहार देखो ।। १५ ।।

आवन्त्यकालिङ्गजयद्रथेषु
चेदिध्वजे तिष्ठति बाह्लिके च ।
अहं हनिष्यामि सदा परेषां
सहस्रशश्चायुतशश्च योधान् ।। १६ ।।

'(कर्ण कहता था)—अवन्तीनरेश, कलिंगराज, जयद्रथ, चेदिश्रेष्ठ वीर तथा बाह्लिकके रहते हुए भी मैं सदा अकेला ही शत्रुओंके सहस्र-सहस्र एवं अयुत-अयुत योद्धाओंका संहार कर डालूँगा ।। १६ ।।

यदैव रामे भगवत्यनिन्द्ये
ब्रह्म ब्रुवाणः कृतवांस्तदस्त्रम् ।
तदैव धर्मश्च तपश्च नष्टं
वैकर्तनस्याधमपूरुषस्य ।। १७ ।।

'जिस समय अनिन्दनीय भगवान् परशुरामजीके समीप कर्णने अपनेको ब्राह्मण बताकर ब्रह्मास्त्रकी शिक्षा ली, उसी समय उस नराधम सूतपुत्रके धर्म और तपका नाश हो गया' ।। १७ ।।

तथोक्तवाक्ये नृपतीन्द्र भीष्मे
निक्षिप्य शस्त्राणि गते च कर्णे ।
वैचित्रवीर्यस्य सुतोऽल्पबुद्धि-
र्दुर्योधनः शान्तनवं बभाषे ।। १८ ।।

जनमेजय! जब भीष्मजीने ऐसी बात कही और कर्ण हथियार फेंककर चला गया, उस समय मन्दबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने शान्तनुनन्दन भीष्मसे इस प्रकार कहा ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि कर्णभीष्मवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ।। ६२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें कर्ण और भीष्मके वचनविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६२ ।।

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनद्वारा अपने पक्षकी प्रबलताका वर्णन करना और विदुरका दमकी महिमा बताना

दुर्योधन उवाच

सदृशानां मनुष्येषु सर्वेषां तुल्यजन्मनाम् ।
कथमेकान्ततस्तेषां पार्थानां मन्यसे जयम् ।। १ ।।

दुर्योधन बोला—पितामह! मनुष्योंमें हम और पाण्डव शिक्षाकी दृष्टिसे समान हैं, हमारा जन्म भी एक ही कुलमें हुआ है; फिर आप यह कैसे मानते हैं कि युद्धमें एकमात्र कुन्तीकुमारोंकी ही विजय होगी ।। १ ।।

वयं च तेऽपि तुल्या वै वीर्येण च पराक्रमैः ।
समेन वयसा चैव प्रातिभेन श्रुतेन च ।। २ ।।

बल, पराक्रम, समवयस्कता, प्रतिभा और शास्त्रज्ञान—इन सभी दृष्टियोंसे हमलोग और पाण्डव समान ही हैं ।।

अस्त्रेण योधयुग्या च शीघ्रत्वे कौशले तथा ।
सर्वे स्म समजातीयाः सर्वे मानुषयोनयः ।। ३ ।।

अस्त्र-बल, योद्धाओंके संग्रह, हाथोंकी फुर्ती तथा युद्धकौशलमें भी हम और वे एक-से ही हैं, सभी समान जातिके हैं और सब-के-सब मनुष्ययोनिमें ही उत्पन्न हुए हैं ।। ३ ।।

पितामह विजानीषे पार्थेषु विजयं कथम् ।
नाहं भवति न द्रोणे न कृपे न च बाह्लिके ।। ४ ।।
अन्येषु च नरेन्द्रेषु पराक्रम्य समारभे ।

दादाजी! ऐसी दशामें भी आप कैसे जानते हैं कि विजय कुन्तीपुत्रोंकी ही होगी। मैं, आप, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, बाह्लिक तथा अन्य राजाओंके पराक्रमका भरोसा करके युद्धका आरम्भ नहीं कर रहा हूँ ।। ४ १/२ ।।

अहं वैकर्तनः कर्णो भ्राता दुःशासनश्च मे ।। ५ ।।
पाण्डवान् समरे पञ्च हनिष्यामः शितैः शरैः ।

मैं, विकर्तनपुत्र कर्ण तथा मेरा भाई दुःशासन—हम तीन ही मिलकर युद्धभूमिमें पाँचों पाण्डवोंको तीक्ष्ण बाणोंसे मार डालेंगे ।। ५ १/२ ।।

ततो राजन् महायज्ञैर्विविधैर्भूरिदक्षिणैः ।। ६ ।।
ब्राह्मणांस्तर्पयिष्यामि गोभिरश्वैर्धनेन च ।

राजन्! तदनन्तर पर्याप्त दक्षिणावाले विविध महायज्ञोंका अनुष्ठान करके गायें, घोड़े और धन दानमें देकर ब्राह्मणोंको तृप्त करूँगा ।। ६ १/२ ।।

यदा परिकरिष्यन्ति ऐणेयानिव तन्तुना ।
अतरित्रानिव जले बाहुभिर्मामका रणे ।। ७ ।।
पश्यन्तस्ते परांस्तत्र रथनागसमाकुलान् ।
तदा दर्पं विमोक्ष्यन्ति पाण्डवाः स च केशवः ।। ८ ।।

जैसे व्याध हरिणके बच्चोंको जाल या फंदेमें फँसाकर खींचते हैं और जैसे जलका प्रवाह कर्णधाररहित नौकारोहियोंको भँवरमें डुबो देता है, उसी प्रकार जब मेरे सैनिक अपने बाहुबलसे पाण्डवोंको पीड़ित करेंगे, उस समय रथ और हाथीसवारोंसे भरी हुई मेरी विशाल वाहिनीकी ओर देखते हुए वे पाण्डव और वह श्रीकृष्ण सब अपना अहंकार त्याग देंगे ।। ७-८ ।।

विदुर उवाच

इह निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ।। ९ ।।

विदुरने कहा—सिद्धान्तके जाननेवाले वृद्ध पुरुष कहते हैं कि इस संसारमें दम ही कल्याणका परम साधन है। ब्राह्मणके लिये तो विशेषरूपसे है। वही सनातनधर्म है ।। ९ ।।

तस्य दानं क्षमा सिद्धिर्यथावदुपपद्यते ।
दमो दानं तपो ज्ञानमधीतं चानुवर्तते ।। १० ।।

जो दमरूपी गुणसे युक्त है, उसीको दान, क्षमा और सिद्धिका यथार्थ लाभ प्राप्त होता है; क्योंकि दम ही दान, तपस्या, ज्ञान और स्वाध्यायका सम्पादन करता है ।।

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दम उत्तमम् ।
विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुरुषो विन्दते महत् ।। ११ ।।

दम तेजकी वृद्धि करता है। दम पवित्र एवं उत्तम साधन है। दमसे निष्पाप एवं बढ़े हुए तेजसे सम्पन्न पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ।। ११ ।।

क्रव्याद्भ्य इव भूतानामदान्तेभ्यः सदा भयम् ।
येषां च प्रतिषेधार्थं क्षत्रं सृष्टं स्वयम्भुवा ।। १२ ।।

जैसे मांसभोजी हिंसक पशुओंसे सब जीव डरते रहते हैं, उसी प्रकार अदान्त (असंयमी) पुरुषोंसे सभी प्राणियोंको सदा भय बना रहता है, जिनको हिंसा आदि दुष्कर्मोंसे रोकनेके लिये ब्रह्माजीने क्षत्रिय-जातिकी सृष्टि की है ।। १२ ।।

आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् ।
तस्य लिङ्गं प्रवक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ।। १३ ।।

चारों आश्रमोंमें दमको ही उत्तम व्रत बताया गया है। यह दम जिन पुरुषोंके अभ्यासमें आकर उनके अभ्युदयका कारण बन जाता है, उनमें प्रकट होनेवाले चिह्नोंका मैं वर्णन करता हूँ ।। १३ ।।

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो धैर्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।। १४ ।।
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः श्रद्दधानता ।
एतानि यस्य राजेन्द्र स दान्तः पुरुषः स्मृतः ।। १५ ।।

राजेन्द्र! जिस पुरुषमें क्षमा, धैर्य, अहिंसा, सम-दर्शिता, सत्य, सरलता, इन्द्रियसंयम, धीरता, मृदुता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, अक्रोध, संतोष और श्रद्धा—ये गुण विद्यमान हैं, वह पुरुष दान्त (इन्द्रियविजयी) माना गया है ।। १४-१५ ।।

कामो लोभश्च दर्पश्च मन्युर्निद्रा विकत्थनम् ।
मान ईर्ष्या च शोकश्च नैतद् दान्तो निषेवते ।
अजिह्ममशठं शुद्धमेतद् दान्तस्य लक्षणम् ।। १६ ।।

दमनशील पुरुष काम, लोभ, अभिमान, क्रोध, निद्रा, आत्मप्रशंसा, मान, ईर्ष्या तथा शोक—इन दुर्गुणोंको अपने पास नहीं फटकने देता। कुटिलता और शठताका अभाव तथा आत्मशुद्धि यह दमयुक्त पुरुषका लक्षण है ।। १६ ।।

अलोलुपस्तथाल्पेप्सुः कामानामविचिन्तिता ।
समुद्रकल्पः पुरुषः स दान्तः परिकीर्तितः ।। १७ ।।

जो निर्लोभ, कम-से-कम चाहनेवाला, भोगोंके चिन्तनसे दूर रहनेवाला तथा समुद्रके समान गम्भीर है, उस पुरुषको दान्त (इन्द्रियसंयमी) कहा गया है ।। १७ ।।

सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः ।
प्राप्येह लोके सम्मानं सुगतिं प्रेत्य गच्छति ।। १८ ।।

जो सदाचारी, शीलवान्, प्रसन्नचित्त तथा आत्मज्ञानी विद्वान् है वह इस जगत्में सम्मान पाकर मृत्युके पश्चात् उत्तम गतिका भागी होता है ।। १८ ।।

अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः ।
स वै परिणतप्रज्ञः प्रख्यातो मनुजोत्तमः ।। १९ ।।

जिसे समस्त प्राणियोंसे निर्भयता प्राप्त हो गयी हो तथा जिससे सभी प्राणियोंका भय दूर हो गया हो, वह परिपक्व बुद्धिवाला पुरुष मनुष्योंमें श्रेष्ठ कहा गया है ।। १९ ।।

सर्वभूतहितो मैत्रस्तस्मान्नोद्विजते जनः ।
समुद्र इव गम्भीरः प्रज्ञातृप्तः प्रशाम्यति ।। २० ।।

जो सम्पूर्ण भूतोंका हित चाहनेवाला और सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला है, उससे किसी भी पुरुषको उद्वेग नहीं प्राप्त होता है। जो समुद्रके समान गम्भीर एवं उत्कृष्ट ज्ञानरूपी अमृतसे तृप्त है, वही परम शान्तिका भागी होता है ।। २० ।।

कर्मणाऽऽचरितं पूर्वं सद्भिराचरितं च यत् ।
तदेवास्थाय मोदन्ते दान्ताः शमपरायणाः ।। २१ ।।

जो कर्तव्य कर्मोंद्वारा आचरित है तथा पहलेके साधुपुरुषोंके द्वारा जिसका आचरण किया गया है, उसे अपनाकर शम-दमसे सम्पन्न पुरुष सदा आनन्दमग्न रहते हैं ।। २१ ।।

नैष्कर्म्यं वा समास्थाय ज्ञानतृप्तो जितेन्द्रियः ।
कालाकाङ्क्षी चरँल्लोके ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। २२ ।।

अथवा जो ज्ञानसे तृप्त जितेन्द्रिय पुरुष नैष्कर्म्यका आश्रय लेकर कालकी प्रतीक्षा करता हुआ अनासक्तभावसे लोकमें विचरता रहता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है ।। २२ ।।

शकुनीनामिवाकाशे पदं नैवोपलभ्यते ।
एवं प्रज्ञानतृप्तस्य मुनेर्वर्त्म न दृश्यते ।। २३ ।।

जैसे आकाशमें पक्षियोंके चरणचिह्न नहीं दिखायी देते हैं, वैसे ही ज्ञानानन्दसे तृप्त मुनिका मार्ग दृष्टिगोचर नहीं होता है अर्थात् समझमें नहीं आता है ।। २३ ।।

उत्सृज्यैव गृहान् यस्तु मोक्षमेवाभिमन्यते ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य कल्पन्ते शाश्वता दिवि ।। २४ ।।

जो गृहस्थाश्रमको त्यागकर मोक्षको ही आदर देता है, उसके लिये द्युलोकमें तेजोमय सनातन स्थानकी प्राप्ति होती है ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ।। ६३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें विदुरवाक्यसम्बन्धी तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६३ ।।

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

विदुरका कौटुम्बिक कलहसे हानि बताते हुए धृतराष्ट्रको संधिकी सलाह देना

विदुर उवाच

शकुनीनामिहार्थाय पाशं भूमावयोजयत् ।
कश्चिच्छाकुनिकस्तात पूर्वेषामिति शुश्रुम ।। १ ।।

विदुरजी कहते हैं—तात! हमने पूर्वपुरुषोंके मुखसे सुन रखा है कि किसी समय एक चिड़ीमारने चिड़ियोंको फँसानेके लिये पृथ्वीपर एक जाल फैलाया ।।

तस्मिन् द्वौ शकुनौ बद्धौ युगपत् सहचारिणौ ।
तावुपादाय तं पाशं जग्मतुः खचरावुभौ ।। २ ।।

उस जालमें दो ऐसे पक्षी फँस गये, जो सदा साथ-साथ उड़ने और विचरनेवाले थे। वे दोनों पक्षी उस समय उस जालको लेकर आकाशमें उड़ चले ।।

तौ विहायसमाक्रान्तौ दृष्ट्वा शाकुनिकस्तदा ।
अन्वधावदनिर्विण्णो येन येन स्म गच्छतः ।। ३ ।।

चिड़ीमार उन दोनोंको आकाशमें उड़ते देखकर भी खिन्न या हताश नहीं हुआ। वे जिधर-जिधर गये, उधर-उधर ही वह उनके पीछे दौड़ता रहा ।। ३ ।।

तथा तमनुधावन्तं मृगयुं शकुनार्थिनम् ।
आश्रमस्थो मुनिः कश्चिद् ददर्शाथ कृताह्निकः ।। ४ ।।

उन दिनों उस वनमें कोई मुनि रहते थे, जो उस समय संध्या-वन्दन आदि नित्यकर्म करके आश्रममें ही बैठे हुए थे। उन्होंने पक्षियोंको पकड़नेके लिये उनका पीछा करते हुए उस व्याधको देखा ।। ४ ।।

तावन्तरिक्षगौ शीघ्रमनुयान्तं महीचरम् ।
श्लोकेनानेन कौरव्य पप्रच्छ स मुनिस्तदा ।। ५ ।।

कुरुनन्दन! उन आकाशचारी पक्षियोंके पीछे-पीछे भूमिपर पैदल दौड़नेवाले उस व्याधसे मुनिने निम्नांकित श्लोकके अनुसार प्रश्न किया— ।। ५ ।।

विचित्रमिदमाश्चर्यं मृगहन् प्रतिभाति मे ।
प्लवमानौ हि खचरौ पदातिरनुधावसि ।। ६ ।।

‘अरे व्याध! मुझे यह बात बड़ी विचित्र और आश्चर्यजनक जान पड़ती है कि तू आकाशमें उड़ते हुए इन दोनों पक्षियोंके पीछे पृथ्वीपर पैदल दौड़ रहा है’ ।। ६ ।।

शाकुनिक उवाच

पाशमेकमुभावेतौ सहितौ हरतो मम ।
यत्र वै विवदिष्येते तत्र मे वशमेष्यतः ।। ७ ।।

व्याध बोला—मुने! ये दोनों पक्षी आपसमें मिल गये हैं, अतः मेरे एकमात्र जालको लिये जा रहे हैं। अब ये जहाँ-कहीं एक दूसरेसे झगड़ेंगे, वहीं मेरे वशमें आ जायँगे ।। ७ ।।

विदुर उवाच

तौ विवादमनुप्राप्तौ शकुनौ मृत्युसंधितौ ।
विगृह्य च सुदुर्बुद्धी पृथिव्यां संनिपेततुः ।। ८ ।।

विदुरजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर कुछ ही देरमें कालके वशीभूत हुए वे दोनों दुर्बुद्धि पक्षी आपसमें झगड़ने लगे और लड़ते-लड़ते पृथ्वीपर गिर पड़े ।। ८ ।।

तौ युध्यमानौ संरब्धौ मृत्युपाशवशानुगौ ।
उपसृत्यापरिज्ञातो जग्राह मृगहा तदा ।। ९ ।।

जब मौतके फंदेमें फँसे हुए वे पक्षी अत्यन्त कुपित होकर एक-दूसरेसे लड़ रहे थे, उसी समय व्याधने चुपचाप उनके पास आकर उन दोनोंको पकड़ लिया ।। ९ ।।

एवं ये ज्ञातयोऽर्थेषु मिथो गच्छन्ति विग्रहम् ।
तेऽमित्रवशमायान्ति शकुनाविव विग्रहात् ।। १० ।।

इसी प्रकार जो कुटुम्बीजन धन-सम्पत्तिके लिये आपसमें कलह करते हैं, वे युद्ध करके उन्हीं दोनों पक्षियोंकी भाँति शत्रुओंके वशमें पड़ जाते हैं ।। १० ।।

सम्भोजनं संकथनं सम्प्रश्नोऽथ समागमः ।

एतानि ज्ञातिकार्याणि न विरोधः कदाचन ।। ११ ।।

साथ बैठकर भोजन करना, आपसमें प्रेमसे वार्तालाप करना, एक-दूसरेके सुख-दुःखको पूछना और सदा मिलते-जुलते रहना—ये ही भाई-बन्धुओंके काम हैं, परस्पर विरोध करना कदापि उचित नहीं है ।। ११ ।।

ये स्म काले सुमनसः सर्वे वृद्धानुपासते ।

सिंहगुप्तमिवारण्यमप्रधृष्या भवन्ति ते ।। १२ ।।

जो शुद्ध हृदयवाले मनुष्य समय-समयपर बड़े-बूढ़ोंकी सेवा एवं संग करते रहते हैं, वे सिंहसे सुरक्षित वनके समान दूसरोंके लिये दुर्धर्ष हो जाते हैं (शत्रु उनके पास आनेका साहस नहीं करते हैं) ।। १२ ।।

येऽर्थं संततमासाद्य दीना इव समासते ।

श्रियं ते सम्प्रयच्छन्ति द्विषद्भ्यो भरतर्षभ ।। १३ ।।

भरतश्रेष्ठ! जो धनको पाकर भी सदा दीनोंके समान तृष्णासे पीड़ित रहते हैं, वे (आपसमें कलह करके) अपनी सम्पत्ति शत्रुओंको दे डालते हैं ।। १३ ।।

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च ।

धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ।। १४ ।।

भरतकुलभूषण धृतराष्ट्र! जैसे जलते हुए काष्ठ अलग-अलग कर दिये जानेपर जल नहीं पाते, केवल धुआँ देते हैं और परस्पर मिल जानेपर प्रज्वलित हो उठते हैं, उसी प्रकार कुटुम्बीजन आपसी फूटके कारण अलग-अलग रहनेपर अशक्त हो जाते हैं तथा परस्पर संगठित होनेपर बलवान् एवं तेजस्वी होते हैं ।। १४ ।।

इदमन्यत् प्रवक्ष्यामि यथा दृष्टं गिरौ मया ।

श्रुत्वा तदपि कौरव्य यथा श्रेयस्तथा कुरु ।। १५ ।।

कौरवनन्दन! पूर्वकालमें किसी पर्वतपर मैंने जैसा देखा था, उसके अनुसार यह एक दूसरी बात बता रहा हूँ। इसे भी सुनकर आपको जिसमें अपनी भलाई जान पड़े, वही कीजिये ।। १५ ।।

वयं किरातैः सहिता गच्छामो गिरिमुत्तरम् ।

ब्राह्मणैर्देवकल्पैश्च विद्याजम्भकवार्तिकैः ।। १६ ।।

एक समयकी बात है, हम बहुत-से भीलों और देवोपम ब्राह्मणोंके साथ उत्तर-दिशामें गन्धमादन पर्वतपर गये थे। हमारे साथ जो ब्राह्मण थे, उन्हें मन्त्र-यन्त्रादिरूप विद्या और ओषधियोंके साधन आदिकी बातें बहुत प्रिय थीं ।। १६ ।।

कुञ्जभूतं गिरिं सर्वमभितो गन्धमादनम् ।

दीप्यमानौषधिगणं सिद्धगन्धर्वसेवितम् ।। १७ ।।

समस्त गन्धमादन पर्वत सब ओरसे कुंज-सा जान पड़ता था। वहाँ दिव्य ओषधियाँ प्रकाशित हो रही थीं। सिद्ध और गन्धर्व उस पर्वतपर निवास करते थे ।। १७ ।।

तत्रापश्याम वै सर्वे मधु पीतकमाक्षिकम् ।
मरुप्रपाते विषमे निविष्टं कुम्भसम्मितम् ।। १८ ।।

वहाँ हम सब लोगोंने देखा, पर्वतकी एक दुर्गम गुफामें जहाँसे कोई कूल-किनारा न होनेके कारण गिरनेकी ही अधिक सम्भावना रहती है, एक मधुकोष है। वह मक्खियोंका तैयार किया हुआ नहीं था। उसका रंग सुवर्णके समान पीला था और वह देखनेमें घड़ेके समान जान पड़ता था ।। १८ ।।

आशीविषै रक्ष्यमाणं कुबेरदयितं भृशम् ।
यत् प्राप्य पुरुषो मर्त्योऽप्यमरत्वं नियच्छति ।। १९ ।।
अचक्षुर्लभते चक्षुर्वृद्धो भवति वै युवा ।
इति ते कथयन्ति स्म ब्राह्मणा जम्भसाधकाः ।। २० ।।

भयंकर विषधर सर्प उस मधुकी रक्षा करते थे। कुबेरको वह मधु अत्यन्त प्रिय था। हमारे साथी औषधसाधक ब्राह्मणलोग यह बता रहे थे कि इस मधुको पाकर मरणधर्मा मनुष्य भी अमरत्व प्राप्त कर लेता है। इसको पीनेसे अंधेको दृष्टि मिल जाती है और बूढ़ा भी जवान हो जाता है ।। १९-२० ।।

ततः किरातास्तद् दृष्ट्वा प्रार्थयन्तो महीपते ।
विनेशुर्विषमे तस्मिन् ससर्पे गिरिगह्वरे ।। २१ ।।

महाराज! उस समय उस मधुका अद्भुत गुण सुनकर और उसे प्रत्यक्ष देखकर भीलोंने उसे पानेकी चेष्टा की; परंतु सर्पोंसे भरी हुई उस दुर्गम पर्वतगुहामें जाकर वे सब-के-सब नष्ट हो गये ।। २१ ।।

तथैव तव पुत्रोऽयं पृथिवीमेक इच्छति ।
मधु पश्यति सम्मोहात् प्रपातं नानुपश्यति ।। २२ ।।

इसी प्रकार आपका यह पुत्र दुर्योधन अकेला ही सारी पृथ्वीका राज्य भोगना चाहता है। यह मोहवश केवल मधुको ही देखता है, भावी पतन या विनाशकी ओर इसकी दृष्टि नहीं जाती है ।। २२ ।।

दुर्योधनो योद्धुमनाः समरे सव्यसाचिना ।
न च पश्यामि तेजोऽस्य विक्रमं वा तथाविधम् ।। २३ ।।

दुर्योधन समरभूमिमें सव्यसाची अर्जुनके साथ युद्ध करनेकी बात सोचता है, परंतु मैं इसके भीतर अर्जुनके समान तेज या पराक्रम नहीं देखता ।। २३ ।।

एकेन रथमास्थाय पृथिवी येन निर्जिता ।
भीष्मद्रोणप्रभृतयः संत्रस्ताः साधुयायिनः ।। २४ ।।

विराटनगरे भग्नाः किं तत्र तव दृश्यताम् ।
प्रतीक्षमाणो यो वीरः क्षमते वीक्षितं तव ।। २५ ।।

जिस वीरने अकेले ही रथपर बैठकर सारी पृथ्वीपर विजय पायी है, विराटनगरपर चढ़ाई करने गये हुए भीष्म और द्रोण-जैसे महान् योद्धाओंको भी जिसने भयभीत करके भगा दिया है, उसके सामने आपका पुत्र क्या पराक्रम कर सकता है? यह आप ही देखिये। आज भी वह वीर आपकी मैत्रीपूर्ण दृष्टिकी प्रतीक्षा कर रहा है और आपकी आज्ञासे वह कौरवोंका सारा अपराध क्षमा कर सकता है ।। २४-२५ ।।

द्रुपदो मत्स्यराजश्च संक्रुद्धश्च धनंजयः ।
न शेषयेयुः समरे वायुयुक्ता इवाग्नयः ।। २६ ।।

राजा द्रुपद, मत्स्यनरेश विराट और क्रोधमें भरा हुआ अर्जुन—ये तीनों वायुका सहारा पाकर प्रज्वलित हुई त्रिविध अग्नियोंके समान जब युद्धभूमिमें आक्रमण करेंगे, तब किसीको जीता नहीं छोड़ेंगे ।। २६ ।।

अङ्के कुरुष्व राजानं धृतराष्ट्र युधिष्ठिरम् ।
युध्यतोर्हि द्वयोर्युद्धे नैकान्तेन भवेज्जयः ।। २७ ।।

महाराज धृतराष्ट्र! आप राजा युधिष्ठिरको अपनी गोदमें बैठा लीजिये; क्योंकि जब दोनों पक्षोंमें युद्ध छिड़ जायगा, तब विजय किसकी होगी, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि विदुरवाक्ये चतुःषष्टितमोऽध्यायः ।। ६४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें विदुरवाक्यविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६४ ।।

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि पुत्रक ।
उत्पथं मन्यसे मार्गमनभिज्ञ इवाध्वगः ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—बेटा दुर्योधन! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसपर ध्यान दो। तुम इस समय अनजान बटोहीके समान कुमार्गको भी सुमार्ग समझ रहे हो ।। १ ।।

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां यत् तेजः प्रजिहीर्षसि ।
पञ्चानामिव भूतानां महतां लोकधारिणाम् ।। २ ।।

यही कारण है कि तुम सम्पूर्ण लोकोंके आधारस्वरूप पाँच महाभूतोंके समान पाँचों पाण्डवोंके तेजका अपहरण करनेकी इच्छा कर रहे हो ।। २ ।।

युधिष्ठिरं हि कौन्तेयं परं धर्ममिहास्थितम् ।
परां गतिमसम्प्रेत्य न त्वं जेतुमिहार्हसि ।। ३ ।।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर यहाँ उत्तम धर्मका आश्रय लेकर रहते हैं। तुम मृत्युको प्राप्त हुए बिना उन्हें जीत लोगे, यह कदापि सम्भव नहीं है ।। ३ ।।

भीमसेनं च कौन्तेयं यस्य नास्ति समो बले ।
रणान्तकं तर्जयसे महावातमिव द्रुमः ।। ४ ।।

जैसे वृक्ष प्रचण्ड आँधीको डाँट बतावे, उसी प्रकार तुम समरांगणमें कालके समान विचरनेवाले कुन्तीकुमार भीमसेनको जिसके समान बलवान् इस भूतलपर दूसरा कोई नहीं है, डराने-धमकानेका साहस करते हो ।। ४ ।।

सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं मेरुं शिखरिणामिव ।
युधि गाण्डीवधन्वानं को नु युध्येत बुद्धिमान् ।। ५ ।।

जैसे पर्वतोंमें मेरु श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त शस्त्रधारियोंमें गाण्डीवधारी अर्जुन श्रेष्ठ है। भला कौन बुद्धिमान् मनुष्य रणभूमिमें उसके साथ जूझनेका साहस करेगा? ।। ५ ।।

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः कमिवाद्य न शातयेत् ।
शत्रुमध्ये शरान् मुञ्चन् देवराडशनीमिव ।। ६ ।।

जैसे देवराज इन्द्र वज्र छोड़ते हैं, उसी प्रकार पांचाल-राजकुमार धृष्टद्युम्न शत्रुओंकी सेनापर बाणोंकी वर्षा करता है। वह अब किसे छिन्न-भिन्न नहीं कर डालेगा? ।।

सात्यकिश्चापि दुर्धर्षः सम्मतोऽन्धकवृष्णिषु ।
ध्वंसयिष्यति ते सेनां पाण्डवेयहिते रतः ।। ७ ।।

अन्धक और वृष्णिवंशका सम्माननीय योद्धा सात्यकि भी दुर्धर्ष वीर है। वह सदा पाण्डवोंके हितमें तत्पर रहता है। (युद्ध छिड़नेपर) वह तुम्हारी समस्त सेनाका संहार कर डालेगा ।। ७ ।।

यः पुनः प्रतिमानेन त्रील्लोँकानतिरिच्यते ।
तं कृष्णं पुण्डरीकाक्षं को नु युद्धयेत बुद्धिमान् ।। ८ ।।

जो तुलनामें तीनों लोकोंसे भी बढ़कर हैं, उन कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णके साथ कौन समझदार मनुष्य युद्ध करेगा? ।। ८ ।।

एकतो ह्यस्य दाराश्च ज्ञातयश्च सबान्धवाः ।
आत्मा च पृथिवी चेयमेकतश्च धनंजयः ।। ९ ।।

श्रीकृष्णके लिये एक ओर स्त्री, कुटुम्बीजन, भाई-बन्धु, अपना शरीर और यह सारा भूमण्डल है, तो दूसरी ओर अकेला अर्जुन है (अर्थात् वे अर्जुनके लिये इन सबका त्याग कर सकते हैं) ।। ९ ।।

वासुदेवोऽपि दुर्धर्षो यतात्मा यत्र पाण्डवः ।
अविषह्यं पृथिव्यापि तद् बलं यत्र केशवः ।। १० ।।

जहाँ अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला दुर्धर्ष वीर पाण्डुपुत्र अर्जुन है, वहीं वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण भी रहते हैं और जिस सेनामें साक्षात् श्रीकृष्ण विराज रहे हों, उसका वेग समस्त भूमण्डलके लिये भी असह्य हो जाता है ।। १० ।।

तिष्ठ तात सतां वाक्ये सुहृदामर्थवादिनाम् ।
वृद्धं शान्तनवं भीष्मं तितिक्षस्व पितामहम् ।। ११ ।।

तात! तुम सत्पुरुषों तथा तुम्हारे हितकी बात बतानेवाले सुहृदोंके कथनानुसार कार्य करो। वृद्ध शान्तनुनन्दन भीष्म तुम्हारे पितामह हैं। तुम उनकी प्रत्येक बात सहन करो ।। ११ ।।

मां च ब्रुवाणं शुश्रूष कुरूणामर्थदर्शिनम् ।
द्रोणं कृपं विकर्णं च महाराजं च बाह्लिकम् ।। १२ ।।
एते ह्यपि यथैवाहं मन्तुमर्हसि तांस्तथा ।
सर्वे धर्मविदो ह्येते तुल्यस्नेहाश्च भारत ।। १३ ।।

मैं भी कौरवोंके हितकी ही बात सोचता हूँ; अतः मेरी भी सुनो। आचार्य द्रोण, कृप, विकर्ण और महाराज बाह्लीक—ये भी तुम्हारे हितैषी ही हैं; अतः तुम्हें मेरे ही समान इनका भी समादर करना चाहिये। भरतनन्दन! ये सब लोग धर्मके ज्ञाता हैं और दोनों पक्षके लोगोंपर समानभावसे स्नेह रखते हैं ।। १२-१३ ।।

यत् तद् विराटनगरे सह भ्रातृभिरग्रतः ।
उत्सृज्य गाः सुसंत्रस्तं बलं ते समशीर्यत ।। १४ ।।
यच्चैव नगरे तस्मिञ्छ्रूयते महदद्भुतम् ।

एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।। १५ ।।

विराटनगरमें तुम्हारे भाइयोंसहित जो सारी सेना युद्धके लिये गयी थी, वह वहाँकी समस्त गौओंको छोड़कर अत्यन्त भयभीत हो तुम्हारे सामने ही भाग खड़ी हुई थी। उस नगरमें जो एक (अर्जुन)-का बहुतोंके साथ अत्यन्त अद्भुत युद्ध हुआ सुना जाता है; वह एक ही दृष्टान्त (उसकी प्रबलता और अजेयताके लिये) पर्याप्त है ।। १४-१५ ।।

अर्जुनस्तत् तथाकार्षीत् किं पुनः सर्व एव ते ।
स भ्रातॄनभिजानीहि वृत्त्या तं प्रतिपादय ।। १६ ।।

देखो, जब अकले अर्जुनने इतना अद्‌भुत कार्य कर डाला, तब वे सब भाई मिलकर क्या नहीं कर सकते? अतः तुम पाण्डवोंको अपना भाई ही समझो और उनकी वृत्ति (स्वत्व) उन्हें देकर उनके साथ भ्रातृत्व बढ़ाओ ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ।। ६५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६५ ।।

षट्षष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको अर्जुनका संदेश सुनाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रः सुयोधनम् ।
पुनरेव महाभागः संजयं पर्यपृच्छत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुर्योधनसे ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् महाभाग धृतराष्ट्रने संजयसे पुनः प्रश्न किया— ।। १ ।।

ब्रूहि संजय यच्छेषं वासुदेवादनन्तरम् ।
यदर्जुन उवाच त्वां परं कौतूहलं हि मे ।। २ ।।

'संजय! बताओ, भगवान् श्रीकृष्णके पश्चात् अर्जुनने जो अन्तिम संदेश दिया था, उसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है' ।। २ ।।

संजय उवाच

वासुदेववचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
उवाच काले दुर्धर्षो वासुदेवस्य शृण्वतः ।। ३ ।।

संजयने कहा—महाराज! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी बात सुनकर दुर्धर्ष वीर कुन्तीकुमार अर्जुनने उनके सुनते-सुनते यह समयोचित बात कही— ।। ३ ।।

पितामहं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च संजय ।
द्रोणं कृपं च कर्णं च महाराजं च बाह्लिकम् ।। ४ ।।
द्रौणिं च सोमदत्तं च शकुनिं चापि सौबलम् ।
दुःशासनं शलं चैव पुरुमित्रं विविंशतिम् ।। ५ ।।
विकर्णं चित्रसेनं च जयत्सेनं च पार्थिवम् ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्मुखं चापि कौरवम् ।। ६ ।।
सैन्धवं दुःसहं चैव भूरिश्रवसमेव च ।
भगदत्तं च राजानं जलसन्धं च पार्थिवम् ।। ७ ।।
ये चाप्यन्ये पार्थिवास्तत्र योद्धुं
समागताः कौरवाणां प्रियार्थम् ।
मुमूर्षवः पाण्डवाग्नौ प्रदीप्ते
समानीता धार्तराष्ट्रेण होतुम् ।। ८ ।।
यथान्यायं कौशलं वन्दनं च
समागता मद्वचनेन वाच्याः ।

इदं ब्रूयाः संजय राजमध्ये
सुयोधनं पापकृतां प्रधानम् ।। ९ ।।
अमर्षणं दुर्मतिं राजपुत्रं
पापात्मानं धार्तराष्ट्रं सुलुब्धम् ।
सर्वं ममैतद् वचनं समग्रं
सहामात्यं संजय श्रावयेथाः ।। १० ।।

'संजय! तुम शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, महाराज बाह्लीक, अश्वत्थामा, सोमदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, दुःशासन, शल, पुरुमित्र, विविंशति, विकर्ण, चित्रसेन, राजा जयत्सेन, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, कौरवयोद्धा दुर्मुख, सिंधुराज जयद्रथ, दुःसह, भूरिश्रवा, राजा भगदत्त, भूपाल जलसन्ध तथा अन्य जो-जो नरेश कौरवोंका प्रिय करनेके लिये युद्धके उद्देश्यसे वहाँ एकत्र हुए हैं, जिनकी मृत्यु बहुत ही निकट है, जिन्हें दुर्योधनने पाण्डवरूपी प्रज्वलित अग्निमें होमनेके लिये बुलाया है, उन सबसे मिलकर मेरी ओरसे यथायोग्य प्रणाम आदि कहकर उनका कुशल-मंगल पूछना। संजय! तत्पश्चात् उन राजाओंके समुदायमें ही पापात्माओंमें प्रधान, असहिष्णु, दुर्बुद्धि, पापाचारी और अत्यन्त लोभी राजकुमार दुर्योधन और उसके मन्त्रियोंको मेरी कही हुई ये सारी बातें सुनाना' ।। ४—१० ।।

एवं प्रतिष्ठाप्य धनंजयो मां
ततोऽर्थवद् धर्मवच्चापि वाक्यम् ।
प्रोवाचेदं वासुदेवं समीक्ष्य
पार्थो धीमाँल्लोहितान्तायताक्षः ।। ११ ।।

इस प्रकार मुझे हस्तिनापुर जानेकी अनुमति देकर, जिनके विशाल नेत्रोंका कोना कुछ लाल रंगका है, उन परम बुद्धिमान् कुन्तीकुमार अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन कहा— ।। ११ ।।

यथा श्रुतं ते वदतो महात्मनो
मधुप्रवीरस्य वचः समाहितम् ।
तथैव वाच्यं भवता हि मद्वचः
समागतेषु क्षितिपेषु सर्वशः ।। १२ ।।

'संजय! मधुवंशके प्रमुख वीर महात्मा श्रीकृष्णने एकाग्रचित्त होकर जो बात कही है और तुमने इसे जैसा सुना है, वह सब ज्यों-का-त्यों सुना देना। फिर समस्त समागत भूपालोंकी मण्डलीमें मेरी यह बात कहना— ।। १२ ।।

शराग्निधूमे रथनेमिनादिते
धनुःस्रुवेणास्त्रबलप्रसारिणा ।
यथा न होमः क्रियते महामृधे

समेत्य सर्वे प्रयतध्वमादृताः ।। १३ ।।

'राजाओ! महान् युद्धरूपी यज्ञमें जहाँ बाणोंके टकरानेसे पैदा होनेवाली आगका धुआँ फैलता रहता है, रथोंकी घर्घराहट ही वेदमन्त्रोंकी ध्वनिका काम देती है, (शास्त्रबलसे सम्पादित होनेवाले यज्ञकी भाँति) अस्त्रबलसे ही फैलनेवाले धनुषरूपी स्रुवाके द्वारा मुझे जिस प्रकार कौरवसैन्यरूपी हविष्यकी आहुति न देनी पड़े, उसके लिये तुम सब लोग सादर प्रयत्न करो ।। १३ ।।

न चेत् प्रयच्छध्वममित्रघातिनो
युधिष्ठिरस्य समभीप्सितं स्वकम् ।
नयामि वः साश्वपदातिकुञ्जरान्
दिशं पितॄणामशिवां शितैः शरैः ।। १४ ।।

'यदि तुमलोग शत्रुघाती महाराज युधिष्ठिरका अपना अभीष्ट राज्यभाग नहीं लौटाओगे तो मैं तुम्हें अपने तीखे बाणोंद्वारा घोड़े, पैदल तथा हाथीसवारोंसहित यमलोककी अमंगलमयी दिशामें भेज दूँगा' ।। १४ ।।

ततोऽहमामन्त्र्य तदा धनंजयं
चतुर्भुजं चैव नमस्य सत्वरः ।
जवेन सम्प्राप्त इहामरद्युते
तवान्तिकं प्रापयितुं वचो महत् ।। १५ ।।

देवताओंके समान तेजस्वी महाराज! इसके बाद मैं अर्जुनसे विदा ले चतुर्भुज भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करके उनका वह महत्त्वपूर्ण संदेश आपके पास पहुँचानेके लिये बड़े वेगसे तुरंत यहाँ चला आया हूँ ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ।। ६६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६६ ।।

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पास व्यास और गान्धारीका आगमन तथा व्यासजीका संजयको श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्बन्धमें कुछ कहनेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधने धार्तराष्ट्रे तद् वचो नाभिनन्दति ।
तूष्णीम्भूतेषु सर्वेषु समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने जब श्रीकृष्ण और अर्जुनके उस कथनका कुछ भी आदर नहीं किया और सब लोग चुप्पी साधकर रह गये, तब वहाँ बैठे हुए समस्त नरश्रेष्ठ भूपालगण वहाँसे उठकर चले गये ।। १ ।।

उत्थितेषु महाराज पृथिव्यां सर्वराजसु ।
रहिते संजयं राजा परिप्रष्टुं प्रचक्रमे ।। २ ।।
आशंसमानो विजयं तेषां पुत्रवशानुगः ।
आत्मनश्च परेषां च पाण्डवानां च निश्चयम् ।। ३ ।।

महाराज! भूमण्डलके सब राजा जब सभाभवनसे उठ गये, तब अपने पुत्रोंकी विजय चाहनेवाले तथा उन्हींके वशमें रहनेवाले राजा धृतराष्ट्रने वहाँ एकान्तमें अपनी, दूसरोंकी और पाण्डवोंकी जय-पराजयके विषयमें संजयका निश्चित मत जाननेके लिये उनसे कुछ और बातें पूछनी प्रारम्भ की ।। २-३ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

गावल्गणे ब्रूहि नः सारफल्गु
स्वसेनायां यावदिहास्ति किंचित् ।
त्वं पाण्डवानां निपुणं वेत्थ सर्वं
किमेषां ज्यायः किमु तेषां कनीयः ।। ४ ।।

धृतराष्ट्र बोले—गवल्गणपुत्र संजय! यहाँ अपनी सेनामें जो कुछ भी प्रबलता या दुर्बलता है, उसका हमसे वर्णन करो। इसी प्रकार पाण्डवोंकी भी सारी बातें तुम अच्छी तरह जानते हो, अतः बताओ; ये किन बातोंमें बढ़े-चढ़े हैं और उनमें कौन-कौन-सी त्रुटियाँ हैं? ।। ४ ।।

त्वमेतयोः सारवित् सर्वदर्शी
धर्मार्थयोर्निपुणो निश्चयज्ञः ।
स मे पृष्टः संजय ब्रूहि सर्वं

युध्यमानाः कतरेऽस्मिन् न सन्ति ।। ५ ।।

संजय! तुम इन दोनों पक्षोंके बलाबलको जाननेवाले, सर्वदर्शी, धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण तथा निश्चित सिद्धान्तके ज्ञाता हो; अतः मेरे पूछनेपर सब बातें साफ-साफ कहो। युद्धमें प्रवृत्त होनेपर किस पक्षके लोग इस लोकमें जीवित नहीं रह सकते? ।। ५ ।।

संजय उवाच

न त्वां ब्रूयां रहिते जातु किंचि-
दसूया हि त्वां प्रविशेत राजन् ।
आनयस्व पितरं महाव्रतं
गान्धारीं च महिषीमाजमीढ ।। ६ ।।

संजयने कहा—राजन्! एकान्तमें तो मैं आपसे कभी कोई बात नहीं कह सकता, क्योंकि इससे आपके हृदयमें दोषदर्शनकी भावना उत्पन्न होगी। अजमीढनन्दन! आप अपने महान् व्रतधारी पिता व्यासजी और महारानी गान्धारीको भी यहाँ बुलवा लीजिये ।। ६ ।।

तौ तेऽसूयां विनयेतां नरेन्द्र
धर्मज्ञौ तौ निपुणौ निश्चयज्ञौ ।
तयोस्तु त्वां संनिधौ तद् वदेयं
कृत्स्नं मतं केशवपार्थयोर्यत् ।। ७ ।।

नरेन्द्र! वे दोनों धर्मके ज्ञाता, विचारकुशल तथा सिद्धान्तको समझनेवाले हैं; अतः वे आपकी दोषदृष्टिका निवारण करेंगे। उन दोनोंके समीप मैं आपको श्रीकृष्ण और अर्जुनका जो विचार है, वह पूरा-पूरा बता दूँगा ।। ७ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तेन च गान्धारी व्यासश्चात्राजगाम ह ।
आनीतौ विदुरेणेह सभां शीघ्रं प्रवेशितौ ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! संजयके ऐसा कहनेपर (धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे) गान्धारी तथा महर्षि व्यास वहाँ आये। विदुरजी उन्हें यहाँ बुलाकर ले आये और सभाभवनमें शीघ्र ही उनका प्रवेश कराया ।। ८ ।।

ततस्तन्मतमाज्ञाय संजयस्यात्मजस्य च ।
अभ्युपेत्य महाप्राज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।। ९ ।।

तदनन्तर परम ज्ञानी श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास सभा-भवनमें पहुँचकर संजय तथा अपने पुत्र धृतराष्ट्रके उस विचारको जानकर इस प्रकार बोले— ।। ९ ।।

व्यास उवाच

सम्पृच्छते धृतराष्ट्राय संजय
आचक्ष्व सर्वं यावदेषोऽनुयुङ्क्ते ।
सर्वं यावत् वेत्थ तस्मिन् यथावद्
याथातथ्यं वासुदेवेऽर्जुने च ।। १० ।।

व्यासजीने कहा—संजय! धृतराष्ट्र तुमसे जो कुछ जानना चाहते हैं, वह सब इन्हें बताओ। ये भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके विषयमें जो कुछ पूछते हैं, वह सब, जितना तुम जानते हो, उसके अनुसार यथार्थरूपसे कहो ।। १० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि व्यासगान्धार्यागमने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ।। ६७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें व्यास और गान्धारीके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६७ ।।

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा बतलाना

संजय उवाच

अर्जुनो वासुदेवश्च धन्विनौ परमार्चितौ ।
कामादन्यत्र सम्भूतौ सर्वभावाय सम्मितौ ।। १ ।।

संजयने कहा—राजन्! अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्ण दोनों बड़े सम्मानित धनुर्धर हैं। वे (यद्यपि सदा साथ रहनेवाले नर और नारायण हैं, तथापि) लोककल्याणकी कामनासे पृथक्-पृथक् प्रकट हुए हैं और सब कुछ करनेमें समर्थ हैं ।। १ ।।

व्यामान्तरं समास्थाय यथामुक्तं मनस्विनः ।
चक्रं तद् वासुदेवस्य मायया वर्तते विभो ।। २ ।।

प्रभो! उदारचेता भगवान् वासुदेवका सुदर्शन नामक चक्र उनकी मायासे अलक्षित होकर उनके पास रहता है। उसके मध्यभागका विस्तार लगभग साढ़े तीन हाथका है। वह भगवान्‌के संकल्पके अनुसार (विशाल एवं तेजस्वी रूप धारण करके शत्रुसंहारके लिये) प्रयुक्त होता है ।। २ ।।

सापह्नवं कौरवेषु पाण्डवानां सुसम्मतम् ।
सारासारबलं ज्ञातुं तेजःपुञ्जावभासितम् ।। ३ ।।

कौरवोंपर उसका प्रभाव प्रकट नहीं है। पाण्डवोंको वह अत्यन्त प्रिय है। वह सबके सार-असारभूत बलको जाननेमें समर्थ और तेजःपुंजसे प्रकाशित होनेवाला है ।।

नरकं शम्बरं चैव कंसं चैद्यं च माधवः ।
जितवान् घोरसंकाशान् क्रीडन्निव महाबलः ।। ४ ।।

महाबली भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त भयंकरप्रतीत होनेवाले नरकासुर, शम्बरसुर, कंस तथा शिशुपालको भी खेल-ही-खेलमें जीत लिया ।। ४ ।।

पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव पुरुषोत्तमः ।
मनसैव विशिष्टात्मा नयत्यात्मवशं वशी ।। ५ ।।

पूर्णतः स्वाधीन एवं श्रेष्ठस्वरूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मनके संकल्पमात्रसे ही भूतल, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकको भी अपने अधीन कर सकते हैं ।। ५ ।।

भूयो भूयो हि यद् राजन् पृच्छसे पाण्डवान् प्रति ।
सारासारबलं ज्ञातुं तत् समासेन मे शृणु ।। ६ ।।

राजन्! आप जो बारंबार पाण्डवोंके विषयमें, उनके सार या असारभूत बलको जाननेके लिये मुझसे पूछते रहते हैं, वह सब आप मुझसे संक्षेपमें सुनिये ।।

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः ।

सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ।। ७ ।।

एक ओर सम्पूर्ण जगत् हो और दूसरी ओर अकेले भगवान् श्रीकृष्ण हों तो सारभूत बलकी दृष्टिसे वे भगवान् जनार्दन ही सम्पूर्ण जगत्से बढ़कर सिद्ध होंगे ।।

भस्म कुर्याज्जगदिदं मनसैव जनार्दनः ।
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम् ।। ८ ।।

श्रीकृष्ण अपने मानसिक संकल्पमात्रसे इस सम्पूर्ण जगत्को भस्म कर सकते हैं; परंतु उन्हें भस्म करनेमें यह सारा जगत् समर्थ नहीं हो सकता ।। ८ ।।

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः ।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ।। ९ ।।

जिस ओर सत्य, धर्म, लज्जा और सरलता है, उसी ओर भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं और जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ।। ९ ।।

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः ।
विचेष्टयति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः ।। १० ।।

समस्त प्राणियोंके आत्मा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण खेल-सा करते हुए ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकका संचालन करते हैं ।। १० ।।

स कृत्वा पाण्डवान् सत्रं लोकं सम्मोहयन्निव ।
अधर्मनिरतान् मूढान् दग्धुमिच्छति ते सुतान् ।। ११ ।।

वे इस समय समस्त लोकको मोहित-सा करते हुए पाण्डवोंके मिससे आपके अधर्मपरायण मूढ़ पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं ।। ११ ।।

कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः ।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम् ।। १२ ।।

ये भगवान् केशव ही अपनी योगशक्तिसे निरन्तर कालचक्र, संसारचक्र तथा युगचक्रको घुमाते रहते हैं ।। १२ ।।

कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च ।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। १३ ।।

मैं आपसे यह सच कहता हूँ कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु तथा चराचर जगत्के स्वामी एवं शासक हैं ।। १३ ।।

ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः ।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः ।। १४ ।।

महायोगी श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्के स्वामी एवं ईश्वर होते हुए भी खेतीको बढ़ानेवाले किसानकी भाँति सदा नये-नये कर्मोंका आरम्भ करते रहते हैं ।। १४ ।।

तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः ।
ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः ।। १५ ।।

भगवान् केशव अपनी मायाके प्रभावसे सब लोगोंको मोहमें डाले रहते हैं; किंतु जो मनुष्य केवल उन्हींकी शरण ले लेते हैं, वे उनकी मायासे मोहित नहीं होते हैं ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्येऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ।। ६८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६८ ।।

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको श्रीकृष्ण-प्राप्ति एवं तत्त्वज्ञानका साधन बताना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं त्वं माधवं वेत्थ सर्वलोकमहेश्वरम् ।
कथमेनं न वेदाहं तन्ममाचक्ष्व संजय ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! मधुवंशी भगवान् श्रीकृष्ण समस्त लोकोंके महान् ईश्वर हैं, इस बातको तुम कैसे जानते हो? और मैं इन्हें इस रूपमें क्यों नहीं जानता? इसका रहस्य मुझे बताओ ।। १ ।।

संजय उवाच

शृणु राजन् न ते विद्या मम विद्या न हीयते ।
विद्याहीनस्तमोध्वस्तो नाभिजानाति केशवम् ।। २ ।।

संजयने कहा—राजन्! सुनिये, आपको तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं है और मेरी ज्ञानदृष्टि कभी लुप्त नहीं होती है। जो मनुष्य तत्त्वज्ञानसे शून्य है और जिसकी बुद्धि अज्ञानान्धकारसे विनष्ट हो चुकी है, वह श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता ।। २ ।।

विद्यया तात जानामि त्रियुगं मधुसूदनम् ।
कर्तारमकृतं देवं भूतानां प्रभवाप्ययम् ।। ३ ।।

तात! मैं ज्ञानदृष्टिसे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाश करनेवाले त्रियुगस्वरूप भगवान् मधुसूदनको, जो सबके कर्ता हैं, परंतु किसीके कार्य नहीं हैं, जानता हूँ ।। ३ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

गावल्गणेऽत्र का भक्तिर्या ते नित्या जनार्दने ।
यया त्वमभिजानासि त्रियुगं मधुसूदनम् ।। ४ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! भगवान् श्रीकृष्णमें जो तुम्हारी नित्य भक्ति है, उसका स्वरूप क्या है? जिससे तुम त्रियुगस्वरूप भगवान् मधुसूदनके तत्त्वको जानते हो ।। ४ ।।

संजय उवाच

मायां न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्ममाचरे ।
शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम् ।। ५ ।।

संजयने कहा—महाराज! आपका कल्याण हो। मैं कभी माया (छल-कपट)-का सेवन नहीं करता। व्यर्थ (पाखण्डपूर्ण) धर्मका आचरण नहीं करता। भगवान्‌की भक्तिसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है; अतः मैं शास्त्रके वचनोंसे भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको यथावत् जानता हूँ ।। ५ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन हृषीकेशं प्रपद्यस्व जनार्दनम् ।
आप्तो नः संजयस्तात शरणं गच्छ केशवम् ।। ६ ।।

यह सुनकर धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा—बेटा दुर्योधन! संजय हमलोगोंका विश्वासपात्र है। इसकी बातोंपर श्रद्धा करके तुम सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रेरक जनार्दन भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय लो; उन्हींकी शरणमें जाओ ।। ६ ।।

दुर्योधन उवाच

भगवान् देवकीपुत्रो लोकांश्चेन्निहनिष्यति ।
प्रवदन्नर्जुने सख्यं नाहं गच्छेऽद्य केशवम् ।। ७ ।।

दुर्योधन बोला—पिताजी! माना कि देवकीनन्दन श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं और वे इच्छा करते ही सम्पूर्ण लोकोंका संहार कर डालेंगे, तथापि वे अपनेको अर्जुनका मित्र बताते हैं; अतः अब मैं उनकी शरणमें नहीं जाऊँगा ।। ७ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

अवाग् गान्धारि पुत्रस्ते गच्छत्येष सुदुर्मतिः ।
ईर्षुर्दुरात्मा मानी च श्रेयसां वचनातिगः ।। ८ ।।

तब धृतराष्ट्रने गान्धारीसे कहा—गान्धारी! तुम्हारा दुर्बुद्धि, दुरात्मा, ईर्ष्यालु और अभिमानी पुत्र श्रेष्ठ पुरुषोंकी आज्ञाका उल्लंघन करके नरककी ओर जा रहा है ।। ८ ।।

गान्धार्युवाच

ऐश्वर्यकाम दुष्टात्मन् वृद्धानां शासनातिग ।
ऐश्वर्यजीविते हित्वा पितरं मां च बालिश ।। ९ ।।
वर्धयन् दुर्हृदां प्रीतिं मां च शोकेन वर्धयन् ।
निहतो भीमसेनेन स्मर्तासि वचनं पितुः ।। १० ।।

गान्धारी बोली—दुष्टात्मा दुर्योधन! तू ऐश्वर्यकी इच्छा रखकर अपने बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञाका उल्लंघन करता है! अरे मूर्ख! इस ऐश्वर्य, जीवन, पिता और मुझ माताको भी त्यागकर शत्रुओंकी प्रसन्नता और मेरा शोक बढ़ाता हुआ जब तू भीमसेनके हाथों मारा जायगा, उस समय तुझे पिताकी बातें याद आयेंगी ।। ९-१० ।।

व्यास उवाच

प्रियोऽसि राजन् कृष्णस्य धृतराष्ट्र निबोध मे ।
यस्य ते संजयो दूतो यस्त्वां श्रेयसि योक्ष्यते ।। ११ ।।

तदनन्तर व्यासजीने कहा—राजा धृतराष्ट्र! मेरी बातोंपर ध्यान दो। वास्तवमें तुम श्रीकृष्णके प्रिय हो, तभी तो तुम्हें संजय-जैसा दूत मिला है, जो तुम्हें कल्याण-साधनमें लगायेगा ।। ११ ।।

जानात्येष हृषीकेशं पुराणं यच्च वै परम् ।
शुश्रूषमाणमेकाग्रं मोक्ष्यते महतो भयात् ।। १२ ।।

यह संजय पुराणपुरुष भगवान् श्रीकृष्णको जानता है और उनका जो परमतत्त्व है, वह भी इसे ज्ञात है। यदि तुम एकाग्रचित्त होकर इसकी बातें सुनोगे तो यह तुम्हें महान् भयसे मुक्त कर देगा ।। १२ ।।

वैचित्रवीर्य पुरुषाः क्रोधहर्षसमावृताः ।
सिता बहुविधैः पाशैर्ये न तुष्टाः स्वकैर्धनैः ।। १३ ।।
यमस्य वशमायान्ति काममूढाः पुनः पुनः ।
अन्धनेत्रा यथैवान्धा नीयमानाः स्वकर्मभिः ।। १४ ।।

विचित्रवीर्यकुमार! जो मनुष्य अपने धनसे संतुष्ट नहीं हैं और काम आदि विविध प्रकारके बन्धनोंसे बँधकर हर्ष और क्रोधके वशीभूत हो रहे हैं, वे काममोहित पुरुष अंधोंके नेतृत्वमें चलनेवाले अंधोंकी भाँति अपने कर्मोंद्वारा प्रेरित होकर बारंबार यमराजके वशमें आते हैं ।। १३-१४ ।।

एष एकायनः पन्था येन यान्ति मनीषिणः ।
तं दृष्ट्वा मृत्युमत्येति महांस्तत्र न सज्जति ।। १५ ।।

यह ज्ञानमार्ग एकमात्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। जिसपर मनीषी (ज्ञानी) पुरुष चलते हैं, उस मार्गको देख या जान लेनेपर मनुष्य जन्म-मृत्युरूप संसारको लाँघ जाता है और वह महात्मा पुरुष कभी इस संसारमें आसक्त नहीं होता है ।। १५ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

अङ्ग संजय मे शंस पन्थानमकुतोभयम् ।
येन गत्वा हृषीकेशं प्राप्नुयां सिद्धिमुत्तमाम् ।। १६ ।।

धृतराष्ट्र बोले—वत्स संजय! तुम मुझे वह निर्भय मार्ग बताओ, जिससे चलकर मैं सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी परममोक्षस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त कर सकूँ ।। १६ ।।

संजय उवाच

नाकृतात्मा कृतात्मानं जातु विद्याज्जनार्दनम् ।
आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।। १७ ।।

संजयने कहा—महाराज! जिसने अपने मनको वशमें नहीं किया है, वह कभी नित्यसिद्ध परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको नहीं पा सकता। अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें किये बिना दूसरा कोई कर्म उन परमात्माकी प्राप्तिका उपाय नहीं हो सकता ।। १७ ।।

इन्द्रियाणामुदीर्णानां कामत्यागोऽप्रमादतः ।
अप्रमादोऽविहिंसा च ज्ञानयोनिरसंशयम् ।। १८ ।।

विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियोंकी भोग-कामनाओंका पूर्ण सावधानीके साथ त्याग कर देना, प्रमादसे दूर रहना तथा किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना—ये तीन निश्चय ही तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हैं ।। १८ ।।

इन्द्रियाणां यमे यत्तो भव राजन्नतन्द्रितः ।
बुद्धिश्च ते मा च्यवतु नियच्छैनां यतस्ततः ।। १९ ।।

राजन्! आप आलस्य छोड़कर इन्द्रियोंके संयममें तत्पर हो जाइये और अपनी बुद्धिको जैसे भी सम्भव हो, नियन्त्रणमें रखिये, जिससे वह अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट न हो ।। १९ ।।

एतज्ज्ञानं विदुर्विप्रा ध्रुवमिन्द्रियधारणम् ।
एतज्ज्ञानं च पन्थाश्च येन यान्ति मनीषिणः ।। २० ।।

इन्द्रियोंको दृढ़तापूर्वक संयममें रखना चाहिये। विद्वान् ब्राह्मण इसीको ज्ञान मानते हैं। यह ज्ञान ही वह मार्ग है, जिससे मनीषी पुरुष चलते हैं ।। २० ।।

अप्राप्यः केशवो राजन्निन्द्रियैरजितैर्नृभिः ।
आगमाधिगमाद् योगाद् वशी तत्त्वे प्रसीदति ।। २१ ।।

राजन्! मनुष्य अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये बिना भगवान् श्रीकृष्णको नहीं पा सकते। जिसने शास्त्रज्ञान और योगके प्रभावसे अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर रखा है, वही तत्त्वज्ञान पाकर प्रसन्न होता है ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ।। ६९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६९ ।।

सप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके विभिन्न नामोंकी व्युत्पत्तियोंका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

भूयो मे पुण्डरीकाक्षं संजयाचक्ष्व पृच्छतः ।
नामकर्मार्थवित् तात प्राप्नुयां पुरुषोत्तमम् ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! तुम भगवान् श्रीकृष्णके नाम और कर्मोंका अभिप्राय जानते हो, अतः मेरे प्रश्नके अनुसार एक बार पुनः कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णका वर्णन करो ।। १ ।।

संजय उवाच

श्रुतं मे वासुदेवस्य नामनिर्वचनं शुभम् ।
यावत् तत्राभिजानेऽहमप्रमेयो हि केशवः ।। २ ।।

संजयने कहा—राजन्! मैंने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके नामोंकी मंगलमयी व्युत्पत्ति सुन रखी है, उसमें जितना मुझे स्मरण है, उतना बता रहा हूँ। वास्तवमें तो भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंकी पहुँचसे परे हैं ।। २ ।।

वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद् देवयोनितः ।
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्त्वाद् विष्णुरुच्यते ।। ३ ।।

भगवान् समस्त प्राणियोंके निवासस्थान हैं तथा वे सब भूतोंमें वास करते हैं, इसलिये 'वसु' हैं एवं देवताओंकी उत्पत्तिके स्थान होनेसे और समस्त देवता उनमें वास करते हैं, इसलिये उन्हें 'देव' कहा जाता है। अतएव उनका नाम 'वासुदेव' है, ऐसा जानना चाहिये। बृहत् अर्थात् व्यापक होनेके कारण वे ही 'विष्णु' कहलाते हैं ।। ३ ।।

मौनाद् ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम् ।
सर्वतत्त्वमयत्वाच्च मधुहा मधुसूदनः ।। ४ ।।

भारत! मौन, ध्यान और योगसे उनका बोध अथवा साक्षात्कार होता है; इसलिये आप उन्हें 'माधव' समझें। मधु शब्दसे प्रतिपादित पृथ्वी आदि सम्पूर्ण तत्त्वोंके उपादान एवं अधिष्ठान होनेके कारण मधुसूदन श्रीकृष्णको 'मधुहा' कहा गया है ।। ४ ।।

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः ।। ५ ।।

'कृष्' धातु सत्ता अर्थका वाचक है और 'ण' शब्द आनन्द अर्थका बोध कराता है, इन दोनों भावोंसे युक्त होनेके कारण यदुकुलमें अवतीर्ण हुए नित्य आनन्दस्वरूप श्रीविष्णु 'कृष्ण' कहलाते हैं ।। ५ ।।

पुण्डरीकं परं धाम नित्यमक्षयमव्ययम् ।
तद्भावात् पुण्डरीकाक्षो दस्युत्रासाज्जनार्दनः ॥ ६ ॥

नित्य, अक्षय, अविनाशी एवं परम भगवद्धामका नाम पुण्डरीक है। उसमें स्थित होकर जो अक्षतभावसे विराजते हैं, वे भगवान् 'पुण्डरीकाक्ष' कहलाते हैं। (अथवा पुण्डरीक—कमलके समान उनके अक्षि—नेत्र हैं, इसलिये उनका नाम पुण्डरीकाक्ष है)। दस्युजनोंको त्रास (अर्दन या पीड़ा) देनेके कारण उनको 'जनार्दन' कहते हैं ॥

यतः सत्त्वान्न च्यवते यच्च सत्त्वान्न हीयते ।
सत्त्वतः सात्वतस्तस्मादार्षभाद् वृषभेक्षणः ॥ ७ ॥

वे सत्यसे कभी च्युत नहीं होते और न सत्त्वसे अलग ही होते हैं, इसलिये सद्भावके सम्बन्धसे उनका नाम 'सात्वत' है। आर्ष कहते हैं वेदको, उससे भासित होनेके कारण भगवान्‌का एक नाम 'आर्षभ' है। आर्षभके योगसे ही वे 'वृषभेक्षण' कहलाते हैं (वृषभका अर्थ है वेद, वही ईक्षण—नेत्रके समान उनका ज्ञापक है; इस व्युत्पत्तिके अनुसार वृषभेक्षण नामकी सिद्धि होती है) ॥

न जायते जनित्रायमजस्तस्मादनीकजित् ।
देवानां स्वप्रकाशत्वाद् दमाद् दामोदरो विभुः ॥ ८ ॥

शत्रुसेनाओंपर विजय पानेवाले ये भगवान् श्रीकृष्ण किसी जन्मदाताके द्वारा जन्म ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये 'अज' कहलाते हैं। देवता स्वयंप्रकाशरूप होते हैं, अतः उत्कृष्ट रूपसे प्रकाशित होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णको 'उदर' कहा गया है और दम (इन्द्रियसंयम) नामक गुणसे सम्पन्न होनेके कारण उनका नाम 'दाम' है। इस प्रकार दाम और उदर—इन दोनों शब्दोंके संयोगसे वे 'दामोदर' कहलाते हैं ॥ ८ ॥

हर्षात् सुखात् सुखैश्वर्याद्धृषीकेशत्वमश्नुते ।
बाहुभ्यां रोदसी बिभ्रन्महाबाहुरिति स्मृतः ॥ ९ ॥

वे हर्ष अर्थात् सुखसे युक्त होनेके कारण हृषीक हैं और सुख-ऐश्वर्यसे सम्पन्न होनेके कारण 'ईश' कहे गये हैं। इस प्रकार वे भगवान् 'हृषीकेश' नाम धारण करते हैं। अपनी दोनों बाहुओंद्वारा भगवान् इस पृथ्वी और आकाशको धारण करते हैं, इसलिये उनका नाम 'महाबाहु' है ॥ ९ ॥

अधो न क्षीयते जातु यस्मात् तस्मादधोक्षजः ।
नराणामयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण कभी नीचे गिरकर क्षीण नहीं होते, अतः ('अधो न क्षीयते जातु'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार) 'अधोक्षज' कहलाते हैं। वे नरों (जीवात्माओं)-के अयन (आश्रय) हैं, इसलिये उन्हें 'नारायण' भी कहते हैं ॥ १० ॥

पूरणात् सदनाच्चापि ततोऽसौ पुरुषोत्तमः ।
असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात् ॥ ११ ॥

सर्वस्य च सदा ज्ञानात् सर्वमेतं प्रचक्षते ।

वे सर्वत्र परिपूर्ण हैं तथा सबके निवासस्थान हैं, इसलिये ‘पुरुष’ हैं और सब पुरुषोंमें उत्तम होनेके कारण उनकी ‘पुरुषोत्तम’ संज्ञा है। वे सत् और असत् सबकी उत्पत्ति और लयके स्थान हैं तथा सर्वदा उन सबका ज्ञान रखते हैं; इसलिये उन्हें ‘सर्व’ कहते हैं ।। ११ १/२ ।।

सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् ।। १२ ।।
सत्यात् सत्यं तु गोविन्दस्तस्मात् सत्योऽपि नामतः ।

श्रीकृष्ण सत्यमें प्रतिष्ठित हैं और सत्य उनमें प्रतिष्ठित है। वे भगवान् गोविन्द सत्यसे भी उत्कृष्ट सत्य हैं। अतः उनका एक नाम ‘सत्य’ भी है ।। १२ १/२ ।।

विष्णुर्विक्रमणाद् देवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते ।। १३ ।।
शाश्वतत्वादनन्तश्च गोविन्दो वेदनाद् गवाम् ।

विक्रमण (वामनावतारमें तीनों लोकोंको आक्रान्त) करनेके कारण वे भगवान् ‘विष्णु’ कहलाते हैं। वे सबपर विजय पानेसे ‘जिष्णु’, शाश्वत (नित्य) होनेसे ‘अनन्त’ तथा गौओं (इन्द्रियों)-के ज्ञाता और प्रकाशक होनेके कारण (गां विन्दति) इस व्युत्पत्तिके अनुसार ‘गोविन्द’ कहलाते हैं ।। १३ १/२ ।।

अतत्त्वं कुरुते तत्त्वं तेन मोहयते प्रजाः ।। १४ ।।

वे अपनी सत्ता-स्फूर्ति देकर असत्यको भी सत्य-सा कर देते हैं और इस प्रकार सारी प्रजाको मोहमें डाल देते हैं ।। १४ ।।

एवंविधो धर्मनित्यो भगवान् मधुसूदनः ।
आगन्ता हि महाबाहुरानृशंस्यार्थमच्युतः ।। १५ ।।

निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले उन भगवान् मधुसूदनका स्वरूप ऐसा ही है। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले महाबाहु श्रीकृष्ण कौरवोंपर कृपा करनेके लिये यहाँ पधारनेवाले हैं ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ।। ७० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७० ।।

एकसप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके द्वारा भावद्‌गुणगान

धृतराष्ट्र उवाच

चक्षुष्मतां वै स्पृहयामि संजय
द्रक्ष्यन्ति ये वासुदेवं समीपे ।
विभ्राजमानं वपुषा परेण
प्रकाशयन्तं प्रदिशो दिशश्च ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! जो लोग परम उत्तम श्रीअंगोंसे सुशोभित तथा दिशा-विदिशाओंको प्रकाशित करते हुए वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका निकटसे दर्शन करेंगे, उन सफल नेत्रोंवाले मनुष्योंके सौभाग्यको पानेकी मैं भी अभिलाषा रखता हूँ ।। १ ।।

ईरयन्तं भारतीं भारताना-
मभ्यर्चनीयां शङ्करीं सृंजयानाम् ।
बुभूषद्भिर्ग्रहणीयामनिन्द्यां
परासूनामग्रहणीयरूपाम् ।। २ ।।

भगवान् अत्यन्त मनोहर वाणीमें जो प्रवचन करेंगे, वह भरतवंशियों तथा सृंजयोंके लिये कल्याणकारी तथा आदरणीय होगा। ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंके लिये भगवान्‌की वह वाणी अनिन्द्य और शिरोधार्य होगी; परंतु जो मृत्युके निकट पहुँच चुके हैं, उन्हें वह अग्राह्य प्रतीत होगी ।। २ ।।

समुद्यन्तं सात्वतमेकवीरं
प्रणेतारमृषभं यादवानाम् ।
निहन्तारं क्षोभणं शात्रवाणां
मुञ्चन्तं च द्विषतां वै यशांसि ।। ३ ।।

संसारके अद्वितीय वीर, सात्वतकुलके श्रेष्ठ पुरुष, यदुवंशियोंके माननीय नेता, शत्रुपक्षके योद्धाओंको क्षुब्ध करके उनका संहार करनेवाले तथा वैरियोंके यशको बलपूर्वक छीन लेनेवाले वे भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ उदित होंगे (और नेत्रवाले लोग उनका दर्शन करके धन्य हो जायँगे) ।। ३ ।।

द्रष्टारो हि कुरवस्तं समेता
महात्मानं शत्रुहणं वरेण्यम् ।
ब्रुवन्तं वाचमनृशंसरूपां
वृष्णिश्रेष्ठं मोहयन्तं मदीयान् ।। ४ ।।

महात्मा, शत्रुहन्ता तथा सबके वरण करनेयोग्य वे वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्ण यहाँ आकर कृपापूर्ण कोमल वाक्य बोलेंगे और हमारे पक्षवर्ती राजाओंको मोहित करेंगे; इस अवस्थामें समस्त कौरव उन्हें देखेंगे ।। ४ ।।

ऋषिं सनातनतमं विपश्चितं
वाचः समुद्रं कलशं यतीनाम् ।
अरिष्टनेमिं गरुडं सुपर्णं
हरिं प्रजानां भुवनस्य धाम ।। ५ ।।
सहस्रशीर्षं पुरुषं पुराण-
मनादिमध्यान्तमनन्तकीर्तिम् ।
शुक्रस्य धातारमजं च नित्यं
परं परेषां शरणं प्रपद्ये ।। ६ ।।

जो अत्यन्त सनातन ऋषि, ज्ञानी, वाणीके समुद्र और प्रयत्नशील साधकोंको कलशके जलकी भाँति सुलभ होनेवाले हैं, जिनके चरण समस्त विघ्नोंका निवारण करनेवाले हैं, सुन्दर पंखोंसे युक्त गरुड़ जिनके स्वरूप हैं, जो प्रजाजनोंके पाप-ताप हर लेनेवाले तथा जगत्के आश्रय हैं, जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो पुराणपुरुष हैं, जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जो अक्षय कीर्तिसे सुशोभित, बीज एवं वीर्यको धारण करनेवाले, अजन्मा, नित्य तथा परात्पर परमेश्वर हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण लेता हूँ ।। ५-६ ।।

त्रैलोक्यनिर्माणकरं जनित्रं
देवासुराणामथ नागरक्षसाम् ।
नराधिपानां विदुषां प्रधान-
मिन्द्रानुजं तं शरणं प्रपद्ये ।। ७ ।।

जो तीनों लोकोंका निर्माण करनेवाले हैं, जिन्होंने देवताओं, असुरों, नागों तथा राक्षसोंको भी जन्म दिया है तथा जो ज्ञानी नरेशोंके प्रधान हैं, इन्द्रके छोटे भाई वामन-स्वरूप उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये एकसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७१ ।।

(भगवद्यानपर्व)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका श्रीकृष्णसे अपना अभिप्राय निवेदन करना, श्रीकृष्णका शान्तिदूत बनकर कौरवसभामें जानेके लिये उद्यत होना और इस विषयमें उन दोनोंका वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

संजये प्रतियाते तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
(अर्जुनं भीमसेनं च माद्रीपुत्रौ च भारत ।
विराटद्रुपदौ चैव केकयानां महारथान् ।।
अब्रवीदुपसङ्गम्य शङ्खचक्रगदाधरम् ।।
अभियाचामहे गत्वा प्रयातुं कुरुसंसदम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! इधर संजयके चले जानेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भीमसेन, अर्जुन, माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, विराट, द्रुपद तथा केकयदेशीय महारथियोंके पास जाकर कहा—‘हमलोग शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके पास चलकर उनसे कौरवसभामें जानेके लिये प्रार्थना करें’।

यथा भीष्मेण द्रोणेन बाह्लीकेन च धीमता ।।
अन्यैश्च कुरुभिः सार्धं न युध्येमहि संयुगे ।

‘वे वहाँ जाकर ऐसा प्रयत्न करें, जिससे हमें भीष्म, द्रोण, बुद्धिमान् बाह्लीक तथा अन्य कुरुवंशियोंके साथ रणक्षेत्रमें युद्ध न करना पड़े।

एष नः प्रथमः कल्प एतन्नः श्रेय उत्तमम् ।।
एवमुक्ताः सुमनसस्तेऽभिजग्मुर्जनार्दनम् ।

‘यही हमारा पहला ध्येय है और यही हमारे लिये परम कल्याणकी बात है।’ राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर वे सब लोग प्रसन्नचित्त होकर भगवान् श्रीकृष्णके समीप गये।

पाण्डवैः सह राजानो मरुत्वन्तमिवामराः ।।
तदा च दुःसहाः सर्वे सदस्यास्ते नरर्षभाः ।

उस समय शत्रुओंके लिये दुःसह प्रतीत होनेवाले वे सभी नरश्रेष्ठ सभासद् भूपालगण पाण्डवोंके साथ श्रीकृष्णके निकट उसी प्रकार गये, जैसे देवता इन्द्रके पास जाते हैं।

जनार्दनं समासाद्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।।)
अभ्यभाषत दाशार्हमृषभं सर्वसात्वताम् ।। १ ।।

समस्त यदुवंशियोंमें श्रेष्ठ दशार्हकुलनन्दन जनार्दन श्रीकृष्णके पास पहुँचकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा— ।। १ ।।

अयं स कालः सम्प्राप्तो मित्राणां मित्रवत्सल ।
न च त्वदन्यं पश्यामि यो न आपत्सु तारयेत् ।। २ ।।

'मित्रवत्सल श्रीकृष्ण! मित्रोंकी सहायताके लिये यही उपयुक्त अवसर आया है। मैं आपके सिवा दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो इस विपत्तिसे हमलोगोंका उद्धार करे ।। २ ।।

त्वां हि माधवमाश्रित्य निर्भया मोघदर्पितम् ।
धार्तराष्ट्रं सहामात्यं स्वयं समनुयुङ्क्ष्महे ।। ३ ।।

'आप माधवकी शरणमें आकर हम सब लोग निर्भय हो गये हैं और व्यर्थ ही घमंड दिखानेवाले धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन तथा उसके मन्त्रियोंको हम स्वयं युद्धके लिये ललकार रहे हैं ।। ३ ।।

यथा हि सर्वास्वापत्सु पासि वृष्णीनरिंदम ।

तथा ते पाण्डवा रक्ष्याः पाह्यस्मान् महतो भयात् ।। ४ ।।

'शत्रुदमन! जैसे आप वृष्णिवंशियोंकी सब प्रकारकी आपत्तियोंसे रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आपको पाण्डवोंकी भी रक्षा करनी चाहिये। प्रभो! इस महान् भयसे आप हमारी रक्षा कीजिये' ।। ४ ।।

श्रीभगवानुवाच

अयमस्मि महाबाहो ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ।
करिष्यामि हि तत् सर्वं यत् त्वं वक्ष्यसि भारत ।। ५ ।।

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो! यह मैं आपकी सेवाके लिये सर्वदा प्रस्तुत हूँ। आप जो कुछ कहना चाहते हों, कहें। भारत! आप जो-जो कहेंगे, वह सब कार्य मैं निश्चय ही पूर्ण करूँगा ।। ५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं ते धृतराष्ट्रस्य सपुत्रस्य चिकीर्षितम् ।
एतद्धि सकलं कृष्ण संजयो मां यदब्रवीत् ।। ६ ।।
तन्मतं धृतराष्ट्रस्य सोऽस्यात्मा विवृतान्तरः ।
यथोक्तं दूत आचष्टे वध्यः स्यादन्यथा ब्रुवन् ।। ७ ।।

युधिष्ठिरने कहा—श्रीकृष्ण! पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र क्या करना चाहते हैं, यह सब तो आपने सुन ही लिया। संजयने मुझसे जो कुछ कहा है, वह धृतराष्ट्रका ही मत है। संजय धृतराष्ट्रका अभिन्नस्वरूप होकर आया था। उसने उन्हींके मनोभावको प्रकाशित किया है। दूत संजय स्वामीकी कही हुई बातको ही दुहराया है; क्योंकि यदि वह उसके विपरीत कुछ कहता तो वधके योग्य माना जाता ।। ६-७ ।।

अप्रदानेन राज्यस्य शान्तिमस्मासु मार्गति ।
लुब्धः पापेन मनसा चरन्नसममात्मनः ।। ८ ।।

राजा धृतराष्ट्रको राज्यका बड़ा लोभ है। उनके मनमें पाप बस गया है। अतः वे अपने अनुरूप व्यवहार न करके राज्य दिये बिना ही हमारे साथ संधिका मार्ग ढूँढ़ रहे हैं ।। ८ ।।

यत् तद् द्वादश वर्षाणि वनेषु ह्युषिता वयम् ।
छद्मना शरदं चैकां धृतराष्ट्रस्य शासनात् ।। ९ ।।
स्थाता नः समये तस्मिन् धृतराष्ट्र इति प्रभो ।
नाहास्म समयं कृष्ण तद्धि नो ब्राह्मणा विदुः ।। १० ।।

प्रभो! हम तो यही समझकर कि धृतराष्ट्र अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहेंगे, उन्हींकी आज्ञासे बारह वर्ष वनमें रहे और एक वर्ष अज्ञातवास किया। श्रीकृष्ण! हमने अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं की है; इस बातको हमारे साथ रहनेवाले सभी ब्राह्मण जानते हैं ।। ९-१० ।।

गृद्धो राजा धृतराष्ट्रः स्वधर्मं नानुपश्यति ।
वश्यत्वात् पुत्रगृद्धित्वान्मन्दस्यान्वेति शासनम् ।। ११ ।।

परंतु राजा धृतराष्ट्र तो लोभमें डूबे हुए हैं। वे अपने धर्मकी ओर नहीं देखते हैं। पुत्रोंमें आसक्त होकर सदा उन्हींके अधीन रहनेके कारण वे अपने मूर्ख पुत्र दुर्योधनकी ही आज्ञाका अनुसरण करते हैं ।। ११ ।।

सुयोधनमते तिष्ठन् राजास्मासु जनार्दन ।
मिथ्या चरति लुब्धः सन् चरन् हि प्रियमात्मनः ।। १२ ।।

जनार्दन! उनका लोभ इतना बढ़ गया है कि वे दुर्योधनकी ही हाँ-में-हाँ मिलाते हैं और अपना ही प्रिय कार्य करते हुए हमारे साथ मिथ्या व्यवहार कर रहे हैं ।। १२ ।।

इतो दुःखतरं किं नु यदहं मातरं ततः ।
संविधातुं न शक्नोमि मित्राणां वा जनार्दन ।। १३ ।।

जनार्दन! इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या हो सकती है कि मैं अपनी माता तथा मित्रोंका भी अच्छी तरह भरण-पोषणतक नहीं कर सकता ।। १३ ।।

काशिभिश्चेदिपञ्चालैर्मत्स्यैश्च मधुसूदन ।
भवता चैव नाथेन पञ्च ग्रामा वृता मया ।। १४ ।।

मधुसूदन! यद्यपि काशी, चेदि, पांचाल और मत्स्यदेशके वीर हमारे सहायक हैं और आप हमलोगोंके रक्षक और स्वामी हैं; (आपलोगोंकी सहायतासे हम सारा राज्य ले सकते हैं) तथापि मैंने केवल पाँच ही गाँव माँगे थे ।। १४ ।।

अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दी वारणावतम् ।
अवसानं च गोविन्द कञ्चिदेवात्र पञ्चमम् ।। १५ ।।
पञ्च नस्तात दीयन्तां ग्रामा वा नगराणि वा ।
वसेम सहिता येषु मा च नो भरता नशन् ।। १६ ।।

गोविन्द! मैंने धृतराष्ट्रसे यही कहा था कि तात! आप हमें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत और अन्तिम पाँचवाँ कोई-सा भी गाँव जिसे आप देना चाहें, दे दें। इस प्रकार हमारे लिये पाँच गाँव या नगर दे दें; जिनमें हम पाँचों भाई एक साथ मिलकर रह सकें और हमारे कारण भरतवंशियोंका नाश न हो ।। १५-१६ ।।

न च तानपि दुष्टात्मा धार्तराष्ट्रोऽनुमन्यते ।
स्वाम्यमात्मनि मत्वासावतो दुःखतरं नु किम् ।। १७ ।।

परंतु दुष्टात्मा दुर्योधन सबपर अपना ही अधिकार मानकर उन पाँच गाँवोंको भी देनेकी बात नहीं स्वीकार कर रहा है। इससे बढ़कर कष्टकी बात और क्या हो सकती है? ।। १७ ।।

कुले जातस्य वृद्धस्य परवित्तेषु गृद्ध्यतः ।
लोभः प्रज्ञानमाहन्ति प्रज्ञा हन्ति हता ह्रियम् ।। १८ ।।

मनुष्य उत्तम कुलमें जन्म लेकर और वृद्ध होनेपर भी यदि दूसरोंके धनको लेना चाहता है तो वह लोभ उसकी विचारशक्तिको नष्ट कर देता है। विचारशक्ति नष्ट होनेपर उसकी लज्जाको भी नष्ट कर देती है ।। १८ ।।

ह्रीर्हता बाधते धर्मं धर्मो हन्ति हतः श्रियम् ।
श्रीर्हता पुरुषं हन्ति पुरुषस्याधनं वधः ।। १९ ।।

नष्ट हुई लज्जा धर्मको नष्ट कर देती है। नष्ट हुआ धर्म मनुष्यकी सम्पत्तिका नाश कर देता है और नष्ट हुई सम्पत्ति उस मनुष्यका विनाश कर देती है, क्योंकि धनका अभाव ही मनुष्यका वध है ।। १९ ।।

अधनाद्धि निवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदो द्विजाः ।
अपुष्पादफलाद् वृक्षाद् यथा कृष्ण पतत्त्रिणः ।। २० ।।

श्रीकृष्ण! धनहीन पुरुषसे उसके भाई-बन्धु, सुहृद् और ब्राह्मणलोग भी उसी प्रकार मुँह मोड़ लेते हैं, जैसे पक्षी पुष्प और फलसे हीन वृक्षको छोड़कर उड़ जाते हैं ।। २० ।।

एतच्च मरणं तात यन्मत्तः पतितादिव ।
ज्ञातयो विनिवर्तन्ते प्रेतसत्त्वादिवासवः ।। २१ ।।

तात! जैसे पतित मनुष्यके निकटसे लोग दूर भागते हैं और जैसे मृत शरीरसे प्राण निकल जाते हैं, उसी प्रकार मेरे कुटुम्बीजन भी जो मुझसे मुँह मोड़ रहे हैं, यही मेरे लिये मरण है ।। २१ ।।

नातः पापीयसीं काञ्चिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत् ।
यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ।। २२ ।।

जहाँ आज और कल सबेरेके लिये भोजन नहीं दिखायी देता, उस दरिद्रतासे बढ़कर दूसरी कोई दुःखदायिनी अवस्था नहीं है; यह शम्बरका कथन है ।। २२ ।।

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः ।। २३ ।।

धनको उत्तम धर्मका साधक बताया गया है। धनमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। संसारमें धनी मनुष्य ही जीवन धारण करते हैं। जो निर्धन हैं, वे तो मरे हुएके ही समान हैं ।। २३ ।।

ये धनादपकर्षन्ति नरं स्वबलमास्थिताः ।
ते धर्ममर्थं कामं च प्रमथ्नन्ति नरं च तम् ।। २४ ।।

जो लोग अपने बलमें स्थित होकर किसी मनुष्यको धनसे वंचित कर देते हैं, वे उसके धर्म, अर्थ और कामको तो नष्ट करते ही हैं, उस मनुष्यको भी नष्ट कर देते हैं ।। २४ ।।

एतामवस्थां प्राप्यैके मरणं वव्रिरे जनाः ।
ग्रामायैके वनायैके नाशायैके प्रवव्रजुः ।। २५ ।।

इस निर्धन अवस्थाको पाकर कितने ही मनुष्योंने मृत्युका वरण किया है। कुछ लोग गाँव छोड़कर दूसरे गाँवमें जा बसे हैं, कितने ही जंगलोंमें चले गये हैं और कितने ही मनुष्य

प्राण देनेके लिये घरसे निकल पड़े हैं ।। २५ ।।

उन्मादमेके पुष्यन्ति यान्त्यन्ये द्विषतां वशम् ।
दास्यमेके च गच्छन्ति परेषामर्थहेतुना ।। २६ ।।

कितने लोग पागल हो जाते हैं, बहुत-से शत्रुओंके वशमें पड़ जाते हैं और कितने ही मनुष्य धनके लिये दूसरोंकी दासता स्वीकार कर लेते हैं ।। २६ ।।

आपदेवास्य मरणात् पुरुषस्य गरीयसी ।
श्रियो विनाशस्तद्धयस्य निमित्तं धर्मकामयोः ।। २७ ।।

धन-सम्पत्तिका नाश मनुष्यके लिये भारी विपत्ति ही है। वह मृत्युसे भी बढ़कर है, क्योंकि सम्पत्ति ही मनुष्यके धर्म और कामकी सिद्धिका कारण है ।। २७ ।।

यदस्य धर्म्यं मरणं शाश्वतं लोकवर्त्म तत् ।
समन्तात् सर्वभूतानां न तदत्येति कश्चन ।। २८ ।।

मनुष्यकी जो धर्मानुकूल मृत्यु है, वह परलोकके लिये सनातन मार्ग है। सम्पूर्ण प्राणियोंमेंसे कोई भी उस मृत्युका सब ओरसे उल्लंघन नहीं कर सकता ।। २८ ।।

न तथा बाध्यते कृष्ण प्रकृत्या निर्धनो जनः ।
यथा भद्रां श्रियं प्राप्य तया हीनः सुखैधितः ।। २९ ।।

श्रीकृष्ण! जो जन्मसे ही निर्धन रहा है, उसे उस दरिद्रताके कारण उतना कष्ट नहीं पहुँचता, जितना कि कल्याणमयी सम्पत्तिको पाकर सुखमें ही पले हुए पुरुषको उस सम्पत्तिसे वंचित होनेपर होता है ।। २९ ।।

स तदाऽऽत्मापराधेन सम्प्राप्तो व्यसनं महत् ।
सेन्द्रान् गर्हयते देवान् नात्मानं च कथञ्चन ।। ३० ।।

यद्यपि वह मनुष्य उस समय अपने ही अपराधसे भारी संकटमें पड़ता है, तथापि वह इसके लिये इन्द्र आदि देवताओंकी ही निन्दा करता है; अपनेको किसी प्रकार भी दोष नहीं देता है ।। ३० ।।

न चास्य सर्वशास्त्राणि प्रभवन्ति निबर्हणे ।
सोऽभिक्रुध्यति भृत्यानां सुहृदश्चाभ्यसूयति ।। ३१ ।।

उस समय सम्पूर्ण शास्त्र भी उसके इस संकटको टालनेमें समर्थ नहीं होते। वह सेवकोंपर कुपित होता और सगे-सम्बन्धियोंके दोष देखने लगता है ।। ३१ ।।

तं तदा मन्युरेवैति स भूयः सम्प्रमुह्यति ।
स मोहवशमापन्नः क्रूरं कर्म निषेवते ।। ३२ ।।

निर्धन अवस्थामें मनुष्यको केवल क्रोध आता है, जिससे वह पुनः मोहाच्छन्न हो जाता—विवेकशक्ति खो बैठता है। मोहके वशीभूत होकर वह क्रूरतापूर्ण कर्म करने लगता है ।। ३२ ।।

पापकर्मतया चैव संकरं तेन पुष्यति ।

संकरो नरकायैव सा काष्ठा पापकर्मणाम् ।। ३३ ।।

इस प्रकार पापकर्मोंमें प्रवृत्त होनेके कारण वह वर्णसंकर संतानोंका पोषक होता है और वर्णसंकर केवल नरककी ही प्राप्ति कराता है। पापियोंकी यही अन्तिम गति है ।। ३३ ।।

न चेत् प्रबुध्यते कृष्ण नरकायैव गच्छति ।
तस्य प्रबोधः प्रज्ञैव प्रज्ञाचक्षुस्तरिष्यति ।। ३४ ।।

श्रीकृष्ण! यदि उसे फिरसे कर्तव्यका बोध नहीं होता, तो वह नरककी दिशामें ही बढ़ता जाता है। कर्तव्यका बोध करानेवाली प्रज्ञा ही है। जिसे प्रज्ञारूपी नेत्र प्राप्त हैं, वह निश्चय ही संकटसे पार हो जायगा ।। ३४ ।।

प्रज्ञालाभे हि पुरुषः शास्त्राण्येवान्ववेक्षते ।
शास्त्रनिष्ठः पुनर्धर्मं तस्य ह्रीरङ्गमुत्तमम् ।। ३५ ।।
ह्रीमान् हि पापं प्रद्वेष्टि तस्य श्रीरभिवर्धते ।
श्रीमान् स यावत् भवति तावद् भवति पूरुषः ।। ३६ ।।

प्रज्ञाकी प्राप्ति होनेपर पुरुष केवल शास्त्रवचनोंपर ही दृष्टि रखता है। शास्त्रमें निष्ठा होनेपर वह पुनः धर्म करता है। धर्मका उत्तम अंग है लज्जा, जो धर्मके साथ ही आ जाती है। लज्जाशील मनुष्य पापसे द्वेष रखकर उससे दूर हो जाता है। अतः उसकी धन-सम्पत्ति बढ़ने लगती है। जो जितना ही श्रीसम्पन्न है, वह उतना ही पुरुष माना जाता है ।। ३५-३६ ।।

धर्मनित्यः प्रशान्तात्मा कार्ययोगवहः सदा ।
नाधर्मे कुरुते बुद्धिं न च पापे प्रवर्तते ।। ३७ ।।

सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाला पुरुष शान्तचित्त होकर नित्य-निरन्तर सत्कर्मोंमें लगा रहता है। वह कभी अधर्ममें मन नहीं लगाता और न पापमें ही प्रवृत्त होता है ।। ३७ ।।

अह्रीको वा विमूढो वा नैव स्त्री न पुनः पुमान् ।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति यथा शूद्रस्तथैव सः ।। ३८ ।।

जो निर्लज्ज अथवा मूर्ख है, वह न तो स्त्री है और न पुरुष ही है। उसका धर्म-कर्ममें अधिकार नहीं है। वह शूद्रके समान है ।। ३८ ।।

ह्रीमानवति देवांश्च पितृनात्मानमेव च ।
तेनामृतत्वं व्रजति सा काष्ठा पुण्यकर्मणाम् ।। ३९ ।।

लज्जाशील पुरुष देवताओंकी, पितरोंकी तथा अपनी भी रक्षा करता है। इससे वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। वही पुण्यात्मा पुरुषोंकी परम गति है ।। ३९ ।।

तदिदं मयि ते दृष्टं प्रत्यक्षं मधुसूदन ।
यथा राज्यात् परिभ्रष्टो वसामि वसतीरिमाः ।। ४० ।।

मधुसूदन! यह सब आपने मुझमें प्रत्यक्ष देखा है कि मैं किस प्रकार राज्यसे भ्रष्ट हुआ और कितने कष्टके साथ इन दिनों रह रहा हूँ ।। ४० ।।

ते वयं न श्रियं हातुमलं न्यायेन केनचित् ।
अत्र नो यतमानानां वधश्चेदपि साधु तत् ।। ४१ ।।

अतः हमलोग किसी भी न्यायसे अपनी पैतृक सम्पत्तिका परित्याग करनेयोग्य नहीं हैं। इसके लिये प्रयत्न करते हुए यदि हमलोगोंका वध हो जाय तो वह भी अच्छा ही है ।। ४१ ।।

तत्र नः प्रथमः कल्पो यद् वयं ते च माधव ।
प्रशान्ताः समभूताश्च श्रियं तामश्नुवीमहि ।। ४२ ।।

माधव! इस विषयमें हमारा पहला ध्येय यही है कि हम और कौरव आपसमें संधि करके शान्तभावसे रहकर उस सम्पत्तिका समानरूपसे उपभोग करें ।। ४२ ।।

तत्रैषा परमा काष्ठा रौद्रकर्मक्षयोदया ।
यद् वयं कौरवान् हत्वा तानि राष्ट्राण्यवाप्नुमः ।। ४३ ।।

दूसरा पक्ष यह है कि हम कौरवोंको मारकर सारा राज्य अपने अधिकारमें कर लें; परंतु यह भयंकर क्रूरतापूर्ण कर्मकी पराकाष्ठा होगी (क्योंकि इस दशामें कितने ही निरपराध मनुष्योंका संहार करनेके पश्चात् हमारी विजय होगी) ।। ४३ ।।

ये पुनः स्युरसम्बद्धा अनार्याः कृष्ण शत्रवः ।
तेषामप्यवधः कार्यः किं पुनर्ये स्युरीदृशाः ।। ४४ ।।

श्रीकृष्ण! जिनका अपने साथ कोई सम्बन्ध न हो तथा जो सर्वथा नीच एवं शत्रुभाव रखनेवाले हों, उनका भी वध करना उचित नहीं है। फिर जो सगे-सम्बन्धी, श्रेष्ठ और सुहृद् हैं, ऐसे लोगोंका वध कैसे उचित हो सकता है? ।। ४४ ।।

ज्ञातयश्चैव भूयिष्ठाः सहाया गुरवश्च नः ।
तेषां वधोऽतिपापीयान् किं नो युद्धेऽस्ति शोभनम् ।। ४५ ।।

हमारे विरोधियोंमें अधिकांश हमारे भाई-बन्धु, सहायक और गुरुजन हैं। उनका वध तो बहुत बड़ा पाप है। युद्धमें अच्छी बात क्या है? (कुछ नहीं) ।।

पापः क्षत्रियधर्मोऽयं वयं च क्षत्रबन्धवः ।
स नः स्वधर्मोऽधर्मो वा वृत्तिरन्या विगर्हिता ।। ४६ ।।

क्षत्रियोंका यह (युद्धरूप) धर्म पापरूप ही है। हम भी क्षत्रिय ही हैं, अतः वह हमारा स्वधर्म पाप होनेपर भी हमें तो करना ही होगा, क्योंकि उसे छोड़कर दूसरी किसी वृत्तिको अपनाना भी निन्दाकी बात होगी ।। ४६ ।।

शूद्रः करोति शुश्रूषां वैश्या वै पण्यजीविकाः ।
वयं वधेन जीवामः कपालं ब्राह्मणैर्वृतम् ।। ४७ ।।

शूद्र सेवाका कार्य करता है, वैश्य व्यापारसे जीविका चलाते हैं, हम क्षत्रिय युद्धमें दूसरोंका वध करके जीवन-निर्वाह करते हैं और ब्राह्मणोंने अपनी जीविकाके लिये भिक्षापात्र चुन लिया है ।। ४७ ।।

क्षत्रियः क्षत्रियं हन्ति मत्स्यो मत्स्येन जीवति ।
श्वा श्वानं हन्ति दाशार्ह पश्य धर्मो यथागतः ।। ४८ ।।

क्षत्रिय क्षत्रियको मारता है, मछली मछलीको खाकर जीती है और कुत्ता कुत्तेको काटता है। दशार्हनन्दन! देखिये; यही परम्परासे चला आनेवाला धर्म है ।। ४८ ।।

युद्धे कृष्ण कलिर्नित्यं प्राणाः सीदन्ति संयुगे ।
बलं तु नीतिमाधाय युध्ये जयपराजयौ ।। ४९ ।।

श्रीकृष्ण! युद्धमें सदा कलह ही होता है और उसीके कारण प्राणोंका नाश होता है। मैं तो नीतिबलका ही आश्रय लेकर युद्ध करूँगा। फिर ईश्वरकी इच्छाके अनुसार जय हो या पराजय ।। ४९ ।।

नात्मच्छन्देन भूतानां जीवितं मरणं तथा ।
नाप्यकाले सुखं प्राप्यं दुःखं वापि यदूत्तम ।। ५० ।।

प्राणियोंके जीवन और मरण अपनी इच्छाके अनुसार नहीं होते हैं (यही दशा जय और पराजयकी भी है)। यदुश्रेष्ठ! किसीको सुख अथवा दुःखकी प्राप्ति भी असमयमें नहीं होती है ।। ५० ।।

एको ह्यपि बहून् हन्ति घ्नन्त्येकं बहवोऽप्युत ।
शूरं कापुरुषो हन्ति अयशस्वी यशस्विनम् ।। ५१ ।।

युद्धमें एक योद्धा भी बहुत-से सैनिकोंका संहार कर डालता है तथा बहुत-से योद्धा मिलकर भी किसी एकको ही मार पाते हैं। कभी कायर शूरवीरको मार देता है और अयशस्वी पुरुष यशस्वी वीरको पराजित कर देता है ।। ५१ ।।

जयो नैवोभयोर्दृष्टो नोभयोश्च पराजयः ।
तथैवापचयो दृष्टो व्यपयाने क्षयव्ययौ ।। ५२ ।।

न तो कहीं दोनों पक्षोंकी विजय होती देखी गयी है और न दोनोंकी पराजय ही दृष्टिगोचर हुई है। हाँ, दोनोंके धन-वैभवका नाश अवश्य देखा गया है। यदि कोई पक्ष पीठ दिखाकर भाग जाय, तो उसे भी धन और जन दोनोंकी हानि उठानी पड़ती है ।। ५२ ।।

सर्वथा वृजिनं युद्धं को घ्नन् न प्रतिहन्यते ।
हतस्य च हृषीकेश समौ जयपराजयौ ।। ५३ ।।

इससे सिद्ध होता है कि युद्ध सर्वथा पापरूप ही है। दूसरोंको मारनेवाला कौन ऐसा पुरुष है, जो बदलेमें स्वयं भी मारा न जाता हो? हृषीकेश! जो युद्धमें मारा गया, उसके लिये तो विजय और पराजय दोनों समान हैं ।। ५३ ।।

पराजयश्च मरणान्मन्ये नैव विशिष्यते ।

यस्य स्याद् विजयः कृष्ण तस्याप्यपचयो ध्रुवम् ।। ५४ ।।

श्रीकृष्ण! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि पराजय मृत्युसे अच्छी वस्तु नहीं है। जिसकी विजय होती है, उसे भी निश्चय ही धन-जनकी भारी हानि उठानी पड़ती है ।। ५४ ।।

अन्ततो दयितं घ्नन्ति केचिदप्यपरे जनाः ।
तस्याङ्ग बलहीनस्य पुत्रान् भ्रातॄनपश्यतः ।। ५५ ।।
निर्वेदो जीविते कृष्ण सर्वतश्चोपजायते ।

युद्ध समाप्त होनेतक कितने ही विपक्षी सैनिक विजयी योद्धाके अनेक प्रियजनोंको मार डालते हैं। जो विजय पाता है, वह भी (कुटुम्ब और धनसम्बन्धी) बलसे शून्य हो जाता है और कृष्ण! जब वह युद्धमें मारे गये अपने पुत्रों और भाइयोंको नहीं देखता है, तो वह सब ओरसे विरक्त हो जाता है; उसे अपने जीवनसे भी वैराग्य हो जाता है ।। ५५½ ।।

ये ह्येव धीरा ह्रीमन्त आर्याः करुणवेदिनः ।। ५६ ।।
त एव युद्धे हन्यन्ते यवीयान् मुच्यते जनः ।
हत्वाप्यनुशयो नित्यं परानपि जनार्दन ।। ५७ ।।

जो लोग धीर-वीर, लज्जाशील, श्रेष्ठ और दयालु हैं, वे ही प्रायः युद्धमें मारे जाते हैं और अधम श्रेणीके मनुष्य जीवित बच जाते हैं। जनार्दन! शत्रुओंको मारनेपर भी उनके लिये सदा मनमें पश्चात्ताप बना रहता है ।। ५६-५७ ।।

अनुबन्धश्च पापोऽत्र शेषश्चाप्यवशिष्यते ।
शेषो हि बलमासाद्य न शेषमनुशेषयेत् ।। ५८ ।।
सर्वोच्छेदे च यतते वैरस्यान्तविधित्सया ।

भागे हुए शत्रुका पीछा करना अनुबन्ध कहलाता है, यह भी पापपूर्ण कार्य है। मारे जानेवाले शत्रुओंमेंसे कोई-कोई बचा रह जाता है। वह अवशिष्ट शत्रु शक्तिका संचय करके विजेताके पक्षमें जो लोग बचे हैं, उनमेंसे किसीको जीवित नहीं छोड़ना चाहता। वह शत्रुका अन्त कर डालनेकी इच्छासे विरोधी दलको सम्पूर्णरूपसे नष्ट कर देनेका प्रयत्न करता है ।। ५८½ ।।

जयो वैरं प्रसृजति दुःखमास्ते पराजितः ।। ५९ ।।
सुखं प्रशान्तः स्वपिति हित्वा जयपराजयौ ।

विजयकी प्राप्ति भी चिरस्थायी शत्रुताकी सृष्टि करती है। पराजित पक्ष बड़े दुःखसे समय बिताता है। जो किसीसे शत्रुता न रखकर शान्तिका आश्रय लेता है, वह जय-पराजयकी चिन्ता छोड़कर सुखसे सोता है ।। ५९½ ।।

जातवैरश्च पुरुषो दुःखं स्वपिति नित्यदा ।। ६० ।।
अनिवृत्तेन मनसा ससर्प इव वेश्मनि ।

किसीसे वैर बाँधनेवाला पुरुष सर्पयुक्त गृहमें रहनेवालेकी भाँति उद्विग्नचित्त होकर सदा दुःखकी नींद सोता है ।। ६०½ ।।

उत्सादयति यः सर्वं यशसा स विमुच्यते ।। ६१ ।।
अकीर्तिं सर्वभूतेषु शाश्वतीं सोऽधिगच्छति ।

जो शत्रुके कुलमें आबालवृद्ध सभी पुरुषोंका उच्छेद कर डालता है, वह वीरोचित यशसे वंचित हो जाता है। वह समस्त प्राणियोंमें सदा बनी रहनेवाली अपकीर्ति (निन्दा)-का भागी होता है ।। ६१ ½ ।।

न हि वैराणि शाम्यन्ति दीर्घकालधृतान्यपि ।। ६२ ।।
आख्यातारश्च विद्यन्ते पुमांश्चेद् विद्यते कुले ।

दीर्घकालतक मनमें दबाये रखनेपर भी वैरकी आग सर्वथा बुझ नहीं पाती; क्योंकि यदि कोई उस कुलमें विद्यमान है, तो उससे पूर्वघटित वैर बढ़ानेवाली घटनाओंको बतानेवाले बहुत-से लोग मिल जाते हैं ।।

न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति ।। ६३ ।।
हविषाग्निर्यथा कृष्ण भूय एवाभिवर्धते ।

केशव! जैसे घी डालनेपर आग बुझनेके बजाय और अधिक प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार वैर करनेसे वैरकी आग शान्त नहीं होती, अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है ।। ६३ ½ ।।

अतोऽन्यथा नास्ति शान्तिर्नित्यमन्तरमन्ततः ।। ६४ ।।
अन्तरं लिप्समानानामयं दोषो निरन्तरः ।

(क्योंकि दोनों पक्षोंमें सदा कोई-न-कोई छिद्र मिलनेकी सम्भावना रहती है) इसलिये दोनों पक्षोंमेंसे एकका सर्वथा नाश हुए बिना पूर्णतः शान्ति नहीं प्राप्त होती है। जो लोग छिद्र ढूँढ़ते रहते हैं, उनके सामने यह दोष निरन्तर प्रस्तुत रहता है ।। ६४ ½ ।।

पौरुषे यो हि बलवानाधिर्हृदयबाधनः ।
तस्य त्यागेन वा शान्तिर्मरणेनापि वा भवेत् ।। ६५ ।।

यदि अपनेमें पुरुषार्थ है, तो पूर्ववैरको याद करके जो हृदयको पीड़ा देनेवाली प्रबल चिन्ता सदा बनी रहती है, उसे वैराग्यपूर्वक त्याग देनेसे ही शान्ति मिल सकती है; अथवा मर जानेसे ही उस चिन्ताका निवारण हो सकता है ।।

अथवा मूलघातेन द्विषतां मधुसूदन ।
फलनिर्वृत्तिरिद्धा स्यात् तन्नृशंसतरं भवेत् ।। ६६ ।।

अथवा शत्रुओंको समूल नष्ट कर देनेसे ही अभीष्ट फलकी सिद्धि हो सकती है। परंतु मधुसूदन! यह बड़ी क्रूरताका कार्य होगा ।। ६६ ।।

या तु त्यागेन शान्तिः स्यात् तदृते वध एव सः ।
संशयाच्च समुच्छेदाद् द्विषतामात्मनस्तथा ।। ६७ ।।

राज्यको त्याग देनेसे उसके बिना जो शान्ति मिलती है, वह भी वधके ही समान है। क्योंकि उस दशामें शत्रुओंसे सदा यह संदेह बना रहता है कि ये अवसर देखकर प्रहार करेंगे

और धन-सम्पत्तिसे वंचित होनेके कारण अपने विनाशकी सम्भावना भी रहती ही है ।। ६७ ।।

न च त्यक्तुं तदिच्छामो न चेच्छामः कुलक्षयम् ।
अत्र या प्रणिपातेन शान्तिः सैव गरीयसी ।। ६८ ।।

अतः हमलोग न तो राज्य त्यागना चाहते हैं और न कुलके विनाशकी ही इच्छा रखते हैं। यदि नम्रता दिखानेसे भी शान्ति हो जाय तो वही सबसे बढ़कर है ।।

सर्वथा यतमानानामयुद्धमभिकाङ्क्षताम् ।
सान्त्वे प्रतिहते युद्धं प्रसिद्धं नापराक्रमः ।। ६९ ।।

यद्यपि हम युद्धकी इच्छा न रखकर साम, दान और भेद सभी उपायोंसे राज्यकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर रहे हैं, तथापि यदि हमारी सामनीति असफल हुई तो युद्ध ही हमारा प्रधान कर्तव्य होगा, हम पराक्रम छोड़कर बैठ नहीं सकते ।। ६९ ।।

प्रतिघातेन सान्त्वस्य दारुणं सम्प्रवर्तते ।
तच्छुनामिव सम्पाते पण्डितैरुपलक्षितम् ।। ७० ।।

जब शान्तिके प्रयत्नोंमें बाधा आती है, तब भयंकर युद्ध स्वतः आरम्भ हो जाता है। पण्डितोंने इस युद्धकी उपमा कुत्तोंके कलहसे दी है ।। ७० ।।

लाङ्गूलचालनं क्ष्वेडा प्रतिवाचो विवर्तनम् ।
दन्तदर्शनमारावस्ततो युद्धं प्रवर्तते ।। ७१ ।।

कुत्ते पहले पूँछ हिलाते हैं, फिर गुर्राते और गर्जते हैं। तत्पश्चात् एक-दूसरेके निकट पहुँचते हैं। फिर दाँत दिखाना और भूकना आरम्भ करते हैं। तत्पश्चात् उनमें युद्ध होने लगता है ।। ७१ ।।

तत्र यो बलवान् कृष्ण जित्वा सोऽत्ति तदामिषम् ।
एवमेव मनुष्येषु विशेषो नास्ति कश्चन ।। ७२ ।।

श्रीकृष्ण! उनमें जो बलवान् होता है, वही उस मांसको खाता है, जिसके लिये कि उनमें लड़ाई हुई थी। यही दशा मनुष्योंकी है। इनमें कोई विशेषता नहीं है* ।। ७२ ।।

सर्वथा त्वेतदुचितं दुर्बलेषु बलीयसाम् ।
अनादरोऽविरोधश्च प्रणिपाती हि दुर्बलः ।। ७३ ।।

यह सर्वथा उचित है कि बलवानोंकी दुर्बलोंके प्रति आदरबुद्धि न हो। वे उसका विरोध भी नहीं करते। दुर्बल वही है, जो सदा झुकनेके लिये तैयार रहे ।। ७३ ।।

पिता राजा च वृद्धश्च सर्वथा मानमर्हति ।
तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च धृतराष्ट्रो जनार्दन ।। ७४ ।।

जनार्दन! पिता, राजा और वृद्ध सर्वथा समादरके ही योग्य हैं। अतः धृतराष्ट्र हमारे लिये सदा माननीय एवं पूजनीय हैं ।। ७४ ।।

पुत्रस्नेहश्च बलवान् धृतराष्ट्रस्य माधव ।

स पुत्रवशमापन्नः प्रणिपातं प्रहास्यति ।। ७५ ।।

माधव! धृतराष्ट्रमें अपने पुत्रके प्रति प्रबल आसक्ति है। वे पुत्रके वशमें होनेके कारण कभी झुकना नहीं स्वीकार करेंगे ।। ७५ ।।

तत्र किं मन्यसे कृष्ण प्राप्तकालमनन्तरम् ।
कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेमहि माधव ।। ७६ ।।

माधव श्रीकृष्ण! ऐसे समयमें आप क्या उचित समझते हैं? हम कैसा बर्ताव करें, जिससे हमें अर्थ और धर्मसे भी वंचित न होना पड़े? ।। ७६ ।।

ईदृशेऽत्यर्थकृच्छ्रेऽस्मिन् कमन्यं मधुसूदन ।
उपसम्प्रष्टुमर्हामि त्वामृते पुरुषोत्तम ।। ७७ ।।

पुरुषोत्तम मधुसूदन! ऐसे महान् संकटके समय हम आपको छोड़कर और किससे सलाह ले सकते हैं ।।

प्रियश्च प्रियकामश्च गतिज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
को हि कृष्णास्ति नस्त्वादृक् सर्वनिश्चयवित् सुहृत् ।। ७८ ।।

श्रीकृष्ण! आपके समान हमारा प्रिय, हितैषी, समस्त कर्मोंके परिणामको जाननेवाला और सभी बातोंमें एक निश्चित सिद्धान्त रखनेवाला सुहृद् कौन है? ।। ७८ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजं जनार्दनः ।
उभयोरेव वामर्थे यास्यामि कुरुसंसदम् ।। ७९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—'राजन्! मैं दोनों पक्षोंके हितके लिये कौरवोंकी सभामें जाऊँगा ।। ७९ ।।

शमं तत्र लभेयं चेद् युष्मदर्थमहापयन् ।
पुण्यं मे सुमहद् राजंश्चरितं स्यान्महाफलम् ।। ८० ।।

'वहाँ जाकर आपके लाभमें किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचाते हुए यदि मैं दोनों पक्षोंमें संधि करा सका, तो समझूँगा कि मेरे द्वारा यह महान् फलदायक एवं बहुत बड़ा पुण्यकर्म सम्पन्न हो गया ।। ८० ।।

मोचयेयं मृत्युपाशात् संरब्धान् कुरुसंजयान् ।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च सर्वां च पृथिवीमिमाम् ।। ८१ ।।

'ऐसा होनेपर एक-दूसरेके प्रति रोषमें भरे हुए इन कौरवों, सृंजयों, पाण्डवों और धृतराष्ट्रपुत्रोंको तथा इस सारी पृथ्वीको भी मानो मैं मौतके फंदेसे छुड़ा लूँगा' ।। ८१ ।।

युधिष्ठिर उवाच

न ममैतन्मतं कृष्ण यत् त्वं यायाः कुरून् प्रति ।

सुयोधनः सूक्तमपि न करिष्यति ते वचः ।। ८२ ।।

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण! मेरा यह विचार नहीं है कि आप कौरवोंके यहाँ जायँ; क्योंकि आपकी कही हुई अच्छी बातोंको भी दुर्योधन नहीं मानेगा ।। ८२ ।।

समेतं पार्थिवं क्षत्रं दुर्योधनवशानुगम् ।
तेषां मध्यावतरणं तव कृष्ण न रोचये ।। ८३ ।।

इसके सिवा इस समय दुर्योधनके वशमें रहनेवाले भूमण्डलके सभी क्षत्रिय वहाँ एकत्र हुए हैं। उनके बीचमें आपका जाना मुझे अच्छा नहीं लगता ।। ८३ ।।

न हि नः प्रीणयेद् द्रव्यं न देवत्वं कुतः सुखम् ।
न च सर्वामरैश्वर्यं तव द्रोहेण माधव ।। ८४ ।।

माधव! यदि दुर्योधनने द्रोहवश आपके साथ कोई अनुचित बर्ताव किया, तो धन, सुख, देवत्व तथा सम्पूर्ण देवताओंका ऐश्वर्य भी हमें प्रसन्न नहीं कर सकेगा ।। ८४ ।।

श्रीभगवानुवाच

जानाम्येतां महाराज धार्तराष्ट्रस्य पापताम् ।
अवाच्यास्तु भविष्यामः सर्वलोके महीक्षिताम् ।। ८५ ।।

श्रीभगवान्‌ने कहा—महाराज! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन कितना पापाचारी है, यह मैं जानता हूँ, तथापि वहाँ जाकर संधिके लिये प्रयत्न करनेपर हम सब लोग सम्पूर्ण जगत्‌के राजाओंकी दृष्टिमें निन्दाके पात्र न होंगे ।। ८५ ।।

न चापि मम पर्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः ।
क्रुद्धस्य संयुगे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः ।। ८६ ।।

(मेरे तिरस्कारके भयसे भी आप चिन्तित न हों, क्योंकि) जैसे क्रोधमें भरे हुए सिंहके सामने दूसरे पशु नहीं ठहर सकते हैं, उसी प्रकार यदि मैं कोप करूँ, तो संसारके सारे भूपाल मिलकर भी युद्धमें मेरे सामने खड़े नहीं हो सकते हैं ।। ८६ ।।

अथ चेत् ते प्रवर्तन्ते मयि किञ्चिदसाम्प्रतम् ।
निर्दहेयं कुरून् सर्वानिति मे धीयते मतिः ।। ८७ ।।

यदि वे मेरे साथ थोड़ा-सा भी अनुचित बर्ताव करेंगे, तो मैं उन समस्त कौरवोंको जलाकर भस्म कर डालूँगा; यह मेरा निश्चित विचार है ।। ८७ ।।

न जातु गमनं पार्थ भवेत् तत्र निरर्थकम् ।
अर्थप्राप्तिः कदाचित् स्यादन्ततो वाप्यवाच्यता ।। ८८ ।।

अतः कुन्तीनन्दन! मेरा वहाँ जाना कदापि निरर्थक नहीं होगा। सम्भव है, वहाँ अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धि हो जाय और यदि काम न बना, तो भी हम निन्दासे तो बच ही जायँगे ।। ८८ ।।

युधिष्ठिर उवाच

यत् तुभ्यं रोचते कृष्ण स्वस्ति प्राप्नुहि कौरवान् ।
कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामि पुनरागतम् ।। ८९ ।।

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण! आपकी जैसी रुचि हो, वही कीजिये। आपका कल्याण हो। आप प्रसन्नतापूर्वक कौरवोंके पास जाइये। आशा है, मैं पुनः आपको अपने कार्यमें सफल होकर यहाँ सकुशल लौटा हुआ देखूँगा ।। ८९ ।।

विष्वक्सेन कुरून् गत्वा भरताञ्छमय प्रभो ।
यथा सर्वे सुमनसः सह स्याम सुचेतसः ।। ९० ।।

विष्वक्सेन प्रभो! आप कुरुदेशमें जाकर भरत-वंशियोंको शान्त कीजिये, जिससे हम सब लोग शुद्ध हृदयसे प्रसन्नचित्त होकर एक साथ रह सकें ।। ९० ।।

भ्राता चासि सखा चासि बीभत्सोर्मम च प्रियः ।
सौहृदेनाविशङ्क्योऽसि स्वस्ति प्राप्नुहि भूतये ।। ९१ ।।

आप हमलोगोंके भाई और मित्र हैं। अर्जुनके तथा मेरे भी प्रीतिभाजन हैं। आपके सौहार्दके विषयमें हमारे मनमें कोई शंका नहीं है। अतः आप उभय पक्षोंकी भलाईके लिये वहाँ जाइये। आपका कल्याण हो ।। ९१ ।।

अस्मान् वेत्थ परान् वेत्थ वेत्थार्थान् वेत्थ भाषितुम् ।
यद् यदस्मद्धितं कृष्ण तत् तद् वाच्यः सुयोधनः ।। ९२ ।।

श्रीकृष्ण! आप हमको जानते हैं, कौरवोंको भी जानते हैं, हम दोनोंके स्वार्थोंसे भी आप अपरिचित नहीं हैं और बातचीत कैसे करनी चाहिये, यह भी आपको अच्छी तरह ज्ञात है। अतः जिस-जिस बातसे हमारा हित हो, वह सब आप दुर्योधनको बतावें ।। ९२ ।।

यद् यद् धर्मेण संयुक्तमुपपद्योद्धितं वचः ।
तत् तत् केशव भाषेथाः सान्त्वं वा यदि वेतरत् ।। ९३ ।।

केशव! जो-जो बात धर्मसंगत, युक्तियुक्त और हितकर हो, वह सब कोमल हो या कठोर, आप अवश्य कहें ।। ९३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि युधिष्ठिरकृतकृष्णप्रेरणे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें युधिष्ठिरद्वारा श्रीकृष्णको प्रेरणाविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७२ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ १/२ श्लोक मिलाकर कुल ९८ १/२ श्लोक हैं।]

---

* कुत्तोंके दुम हिलानेके समान राजाओंका ध्वज-कम्पन है, उनके गुर्रानेकी जगह उनका सिंहनाद है। कुत्ते जो एक-दूसरेको देखकर गर्जते हैं, उसी प्रकार दो विरोधी क्षत्रिय एक-दूसरेके प्रति उत्तर-प्रत्युत्तरके रूपमें आक्षेपजनक बातें कहते हैं। एक-दूसरेके निकट जाना दोनोंमें समानरूपसे होता है। राजालोग क्रोधमें आकर जो दाँतोंसे होठ चबाते हैं, यही

कुत्तोंके समान उनका दाँत दिखाना है। विकट गर्जन-तर्जन भूकना है और युद्ध करना ही कुत्तोंके समान लड़ना है। राज्यकी प्राप्ति ही वह मांसका टुकड़ा है, जिसके लिये उनमें लड़ाई होती है।

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको युद्धके लिये प्रोत्साहन देना

श्रीभगवानुवाच

संजयस्य श्रुतं वाक्यं भवतश्च श्रुतं मया ।
सर्वं जानाम्यभिप्रायं तेषां च भवतश्च यः ।। १ ।।

श्रीभगवान् बोले—राजन्! मैंने संजयकी और आपकी भी बातें सुनी हैं। कौरवोंका क्या अभिप्राय है, वह सब मैं जानता हूँ और आपका जो विचार है, उससे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ ।। १ ।।

तव धर्माश्रिता बुद्धिस्तेषां वैराश्रया मतिः ।
यदयुद्धेन लभ्येत तत् ते बहुमतं भवेत् ।। २ ।।

आपकी बुद्धि धर्ममें स्थित है और उनकी बुद्धिने शत्रुताका आश्रय ले रखा है। आप तो बिना युद्ध किये जो कुछ मिल जाय, उसीको बहुत समझेंगे ।। २ ।।

न चैवं नैष्ठिकं कर्म क्षत्रियस्य विशाम्पते ।
आहुराश्रमिणः सर्वे न भैक्षं क्षत्रियश्चरेत् ।। ३ ।।

परंतु महाराज! यह क्षत्रियका नैष्ठिक (स्वाभाविक) कर्म नहीं है। सभी आश्रमोंके श्रेष्ठ पुरुषोंका यह कथन है कि क्षत्रियको भीख नहीं माँगनी चाहिये ।। ३ ।।

जयो वधो वा संग्रामे धात्राऽऽदिष्टः सनातनः ।
स्वधर्मः क्षत्रियस्यैष कार्पण्यं न प्रशस्यते ।। ४ ।।

उसके लिये विधाताने यही सनातन कर्तव्य बताया है कि वह संग्राममें विजय प्राप्त करे अथवा वहीं प्राण दे दे। यही क्षत्रियका स्वधर्म है। दीनता अथवा कायरता उसके लिये प्रशंसाकी वस्तु नहीं है ।। ४ ।।

न हि कार्पण्यमास्थाय शक्या वृत्तिर्युधिष्ठिर ।
विक्रमस्व महाबाहो जहि शत्रून् परंतप ।। ५ ।।

महाबाहु युधिष्ठिर! दीनताका आश्रय लेनेसे क्षत्रियकी जीविका नहीं चल सकती। शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज! अब पराक्रम दिखाइये और शत्रुओंका संहार कीजिये ।। ५ ।।

अतिगृद्धाः कृतस्नेहा दीर्घकालं सहोषिताः ।
कृतमित्राः कृतबला धार्तराष्ट्राः परंतप ।। ६ ।।

परंतप! धृतराष्ट्रके पुत्र बड़े लोभी हैं। इधर उन्होंने बहुत-से मित्र-राजाओंका संग्रह कर लिया है और उनके साथ दीर्घकालतक रहकर अपने प्रति उनका स्नेह भी बढ़ा लिया है। (शिक्षा और अभ्यास आदिके द्वारा भी) उन्होंने विशेष शक्तिका संचय कर लिया है ।। ६ ।।

न पर्यायोऽस्ति यत् साम्यं त्वयि कुर्युर्विशाम्पते ।
बलवत्तां हि मन्यन्ते भीष्मद्रोणकृपादिभिः ।। ७ ।।

अतः प्रजानाथ! ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे (वे आपको आधा राज्य देकर) आपके प्रति समता (सन्धि) स्थापित करें। भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि उनके पक्षमें हैं, इसलिये वे अपनेको आपसे अधिक बलवान् समझते हैं ।। ७ ।।

यावच्च मार्दवेनैतान् राजन्नुपचरिष्यसि ।
तावदेते हरिष्यन्ति तव राज्यमरिंदम ।। ८ ।।

अतः शत्रुदमन राजन्! जबतक आप इनके साथ नर्मीका बर्ताव करेंगे, तबतक ये आपके राज्यका अपहरण करनेकी ही चेष्टा करेंगे ।। ८ ।।

नानुक्रोशान्न कार्पण्यान्न च धर्मार्थकारणात् ।
अलं कर्तुं धार्तराष्ट्रास्तव काममरिंदम ।। ९ ।।

शत्रुमर्दन नरेश! आप यह न समझें कि धृतराष्ट्रके पुत्र आपपर कृपा करके या अपनेको दीन-दुर्बल मानकर अथवा धर्म एवं अर्थकी ओर दृष्टि रखकर आपका मनोरथ पूर्ण कर देंगे ।। ९ ।।

एतदेव निमित्तं ते पाण्डवास्तु यथा त्वयि ।
नान्वतप्यन्त कौपीनं तावत् कृत्वापि दुष्करम् ।। १० ।।

पाण्डुनन्दन! कौरवोंके सन्धि न करनेका सबसे बड़ा कारण या प्रमाण तो यही है कि उन्होंने आपको कौपीन धारण कराकर तथा उतने दीर्घकालतकके लिये वनवासका दुष्कर कष्ट देकर भी कभी इसके लिये पश्चात्ताप नहीं किया ।। १० ।।

पितामहस्य द्रोणस्य विदुरस्य च धीमतः ।
ब्राह्मणानां च साधूनां राज्ञश्च नगरस्य च ।। ११ ।।
पश्यतां कुरुमुख्यानां सर्वेषामेव तत्त्वतः ।
दानशीलं मृदुं दान्तं धर्मशीलमनुव्रतम् ।। १२ ।।
यत् त्वामुपधिना राजन् द्यूते वञ्चितवांस्तदा ।
न चापत्रपते तेन नृशंसः स्वेन कर्मणा ।। १३ ।।

राजन्! आप दानशील, कोमलस्वभाव, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, स्वभावतः धर्मपरायण तथा सबके हैं, तो भी क्रूर दुर्योधनने उस समय पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, बुद्धिमान् विदुर, साधु, ब्राह्मण, राजा धृतराष्ट्र, नगरनिवासी जनसमुदाय तथा कुरुकुलके सभी श्रेष्ठ पुरुषोंके देखते-देखते आपको जूएमें छलसे ठग लिया और अपने उस कुकृत्यके लिये वह अबतक लज्जाका अनुभव नहीं करता है ।। ११—१३ ।।

तथाशीलसमाचारे राजन् मा प्रणयं कृथाः ।
वध्यास्ते सर्वलोकस्य किं पुनस्तव भारत ।। १४ ।।

राजन्! ऐसे कुटिलस्वभाव और खोटे आचरणवाले दुर्योधनके प्रति आप प्रेम न दिखावें। भारत! धृतराष्ट्रके वे पुत्र तो सभी लोगोंके वध्य हैं; फिर आप उनका वध करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है? ।। १४ ।।

वाग्भिस्त्वप्रतिरूपाभिरतुदत् त्वां सहानुजम् ।
श्लाघमानः प्रहृष्टः सन् भ्रातृभिः सह भाषते ।। १५ ।।
एतावत् पाण्डवानां हि नास्ति किंचिदिह स्वकम् ।
नामधेयं च गोत्रं च तदप्येषां न शिष्यते ।। १६ ।।

(क्या आप वह दिन भूल गये, जब कि) दुर्योधनने भाइयोंसहित आपको अपने अनुचित वचनोंद्वारा मार्मिक पीड़ा पहुँचायी थी। वह अत्यन्त हर्षसे फूलकर अपनी मिथ्या प्रशंसा करता हुआ अपने भाइयोंके साथ कहता था—'अब पाण्डवोंके पास इस संसारमें 'अपनी' कहनेके लिये इतनी-सी भी कोई वस्तु नहीं रह गयी है। केवल नाम और गोत्र बचा है, परंतु वह भी शेष नहीं रहेगा' ।। १५-१६ ।।

कालेन महता चैषां भविष्यति पराभवः ।
प्रकृतिं ते भजिष्यन्ति नष्टप्रकृतयो मयि ।। १७ ।।

'दीर्घकालके पश्चात् इनकी भारी पराजय होगी। इनकी स्वाभाविक शूरता-वीरता आदि नष्ट हो जायगी और ये मेरे पास ही प्राणत्याग करेंगे' ।। १७ ।।

दुःशासनेन पापेन तदा द्यूते प्रवर्तिते ।
अनाथवत् तदा देवी द्रौपदी सुदुरात्मना ।। १८ ।।
आकृष्य केशे रुदती सभायां राजसंसदि ।
भीष्मद्रोणप्रमुखतो गौरिति व्याहृता मुहुः ।। १९ ।।

उन दिनों जब जूएका खेल चल रहा था, अत्यन्त दुरात्मा पापी दुःशासन अनाथकी भाँति रोती-कलपती हुई महारानी द्रौपदीको उनके केश पकड़कर राजसभामें घसीट लाया और भीष्म तथा द्रोणाचार्य आदिके समक्ष उसने उनका उपहास करते हुए बारंबार उसे 'गाय' कहकर पुकारा ।। १८-१९ ।।

भवता वारिताः सर्वे भ्रातरो भीमविक्रमाः ।
धर्मपाशनिबद्धाश्च न किंचित् प्रतिपेदिरे ।। २० ।।

यद्यपि आपके भाई भयंकर पराक्रम प्रकट करनेमें समर्थ थे, तथापि आपने इन्हें रोक दिया, इसलिये धर्मबन्धनमें बँधे होनेके कारण ये उस समय उस अन्यायका कुछ भी प्रतीकार न कर सके ।। २० ।।

एताश्चान्याश्च परुषा वाचः स समुदीरयन् ।
श्लाघते ज्ञातिमध्ये स्म त्वयि प्रव्रजिते वनम् ।। २१ ।।

जब आप वनकी ओर जाने लगे, उस समय भी वह बन्धु-बान्धवोंके बीचमें ऊपर कही हुई तथा और भी बहुत-सी कठोर बातें कहकर अपनी प्रशंसा करता रहा ।। २१ ।।

ये तत्रासन् समानीतास्ते दृष्ट्वा त्वामनागसम् ।
अश्रुकण्ठा रुदन्तश्च सभायामासते तदा ।। २२ ।।

जो लोग वहाँ बुलाये गये थे, वे सभी नरेश आपको निरपराध देखकर रोते और आँसू बहाते हुए रुँधे हुए कण्ठसे उस समय चुपचाप सभामें बैठे रहे ।।

न चैनमभ्यनन्दंस्ते राजानो ब्राह्मणैः सह ।
सर्वे दुर्योधनं तत्र निन्दन्ति स्म सभासदः ।। २३ ।।

ब्राह्मणोंसहित उन राजाओंने वहाँ दुर्योधनकी प्रशंसा नहीं की। उस समय सभी सभासद् उसकी निन्दा ही कर रहे थे ।। २३ ।।

कुलीनस्य च या निन्दा वधो वामित्रकर्शन ।
महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा कुजीविका ।। २४ ।।

शत्रुसूदन! कुलीन पुरुषकी निन्दा हो या वध—इनमेंसे वध ही उसके लिये अत्यन्त गुणकारक है; निन्दा नहीं। निन्दा तो जीवनको घृणित बना देती है ।।

तदैव निहतो राजन् यदैव निरपत्रपः ।
निन्दितश्च महाराज पृथिव्यां सर्वराजभिः ।। २५ ।।

महाराज! जब इस भूमण्डलके सभी राजाओंने निन्दा की, उसी समय उस निर्लज्ज दुर्योधनकी एक प्रकारसे मृत्यु हो गयी ।। २५ ।।

ईषत् कार्यो वधस्तस्य यस्य चारित्रमीदृशम् ।
प्रस्कन्देन प्रतिस्तब्धश्छिन्नमूल इव द्रुमः ।। २६ ।।

जिसका चरित्र इतना गिरा हुआ है, उसका वध करना तो बहुत साधारण कार्य है। जिसकी जड़ कट गयी हो और जो गोल वेदीके आधारपर खड़ा हो, उस वृक्षकी भाँति दुर्योधनके भी धराशायी होनेमें अब अधिक विलम्ब नहीं है ।। २६ ।।

वध्यः सर्प इवानार्यः सर्वलोकस्य दुर्मतिः ।
जह्येनं त्वममित्रघ्न मा राजन् विचिकित्सिथाः ।। २७ ।।

खोटी बुद्धिवाला दुराचारी दुर्योधन दुष्ट सर्पकी भाँति सब लोगोंके लिये वध्य है। शत्रुओंका नाश करनेवाले महाराज! आप दुविधामें न पड़ें, इस दुष्टको अवश्य मार डालें ।। २७ ।।

सर्वथा त्वत्क्षमं चैतद् रोचते च ममानघ ।
यत् त्वं पितरि भीष्मे च प्रणिपातं समाचरेः ।। २८ ।।

निष्पाप नरेश! आप जो पितृतुल्य धृतराष्ट्र तथा पितामह भीष्मके प्रति प्रणाम एवं नम्रतापूर्ण बर्ताव करते हैं, वह सर्वथा आपके योग्य है। मैं भी इसे पसंद करता हूँ ।। २८ ।।

अहं तु सर्वलोकस्य गत्वा छेत्स्यामि संशयम् ।
येषामस्ति द्विधाभावो राजन् दुर्योधनं प्रति ।। २९ ।।

राजन्! दुर्योधनके सम्बन्धमें जिन लोगोंका मन दुविधामें है—जो लोग उसके अच्छे या बुरे होनेका निर्णय नहीं कर सके हैं, उन सब लोगोंका संदेह मैं वहाँ जाकर दूर कर दूँगा ।। २९ ।।

मध्ये राज्ञामहं तत्र प्रातिपौरुषिकान् गुणान् ।
तव संकीर्तयिष्यामि ये च तस्य व्यतिक्रमाः ।। ३० ।।

मैं राजसभामें जुटे हुए भूपालोंकी मण्डलीमें आपके सर्वसाधारण गुणोंका वर्णन और दुर्योधनके दोषों तथा अपराधोंका उद्‌घाटन करूँगा ।। ३० ।।

ब्रुवतस्तत्र मे वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
निशम्य पार्थिवाः सर्वे नानाजनपदेश्वराः ।। ३१ ।।
त्वयि सम्प्रतिपत्स्यन्ते धर्मात्मा सत्यवागिति ।
तस्मिंश्चाधिगमिष्यन्ति यथा लोभादवर्तत ।। ३२ ।।

मेरे मुखसे धर्म और अर्थसे संयुक्त हितकर वचन सुनकर नाना जनपदोंके स्वामी समस्त भूपाल आपके विषयमें यह निश्चितरूपसे समझ लेंगे कि युधिष्ठिर धर्मात्मा तथा सत्यवादी हैं और दुर्योधनके सम्बन्धमें भी उन्हें यह निश्चय हो जायगा कि उसने लोभसे प्रेरित होकर ही सारा अनुचित बर्ताव किया है ।। ३१-३२ ।।

गर्हयिष्यामि चैवैनं पौरजानपदेष्वपि ।
वृद्धबालानुपादाय चातुर्वर्ण्ये समागते ।। ३३ ।।

मैं वहाँ आये हुए चारों वर्णोंके आबालवृद्ध जनसमुदायको अपनाकर उनके सामने तथा पुरवासियों और देशवासियोंके समक्ष भी इस दुर्योधनकी निन्दा करूँगा ।। ३३ ।।

शमं वै याचमानस्त्वं नाधर्मं तत्र लप्स्यसे ।
कुरून् विगर्हयिष्यन्ति धृतराष्ट्रं च पार्थिवाः ।। ३४ ।।

वहाँ शान्तिके लिये याचना करनेपर आप अधर्मके भी भागी न होंगे। सब राजा कौरवोंकी तथा धृतराष्ट्रकी ही निन्दा करेंगे ।। ३४ ।।

तस्मिँल्लोकपरित्यक्ते किं कार्यमवशिष्यते ।
हते दुर्योधने राजन् यदन्यत् क्रियतामिति ।। ३५ ।।

सब लोग दुर्योधनको अन्यायी समझकर त्याग देंगे और वह निन्दनीय होनेके कारण नष्टप्राय हो जायगा। उस दशामें आपका दूसरा कौन-सा कार्य शेष रह जाता है जिसे सम्पन्न किया जाय ।। ३५ ।।

यात्वा चाहं कुरून् सर्वान् युष्मदर्थमहापयन् ।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं लक्षयिष्ये च चेष्टितम् ।। ३६ ।।

वहाँ पहुँचकर आपके स्वार्थकी सिद्धिमें तनिक भी त्रुटि न आने देते हुए मैं समस्त कौरवोंसे सन्धिस्थापनके लिये प्रयत्न करूँगा और उनकी चेष्टाओंपर दृष्टि रखूँगा ।। ३६ ।।

कौरवाणां प्रवृत्तिं च गत्वा युद्धाधिकारिकाम् ।

निशम्य विनिवर्तिष्ये जयाय तव भारत ।। ३७ ।।

भारत! मैं जाकर कौरवोंकी युद्धविषयक तैयारीकी बातें जान-सुनकर आपकी विजयके लिये पुनः यहाँ लौट आऊँगा ।। ३७ ।।

सर्वथा युद्धमेवाहमाशंसामि परैः सह ।
निमित्तानि हि सर्वाणि तथा प्रादुर्भवन्ति मे ।। ३८ ।।

मुझे तो शत्रुओंके साथ सर्वथा युद्ध होनेकी ही सम्भावना हो रही है; क्योंकि मेरे सामने ऐसे ही लक्षण (शकुन) प्रकट हो रहे हैं ।। ३८ ।।

मृगाः शकुन्ताश्च वदन्ति घोरं
हस्त्यश्वमुख्येषु निशामुखेषु ।
घोराणि रूपाणि तथैव चाग्नि-
र्वर्णान् बहून् पुष्यति घोररूपान् ।। ३९ ।।

मृग (पशु) और पक्षी भयंकर शब्द कर रहे हैं। प्रदोषकालमें प्रमुख हाथियों और घोड़ोंके समुदायमें बड़ी भयानक आकृतियाँ प्रकट होती हैं। इसी प्रकार अग्निदेव भी नाना प्रकारके भयजनक वर्णों (रंगों)-को धारण करते हैं ।। ३९ ।।

मनुष्यलोकक्षयकृत् सुघोरो
नो चेदनुप्राप्त इहान्तकः स्यात् ।
शस्त्राणि यन्त्रं कवचान् रथांश्च
नागान् हयांश्च प्रतिपादयित्वा ।। ४० ।।
योधाश्च सर्वे कृतनिश्चयास्ते
भवन्तु हस्त्यश्वरथेषु यत्ताः ।
सांग्रामिकं ते यदुपार्जनीयं
सर्वं समग्रं कुरु तन्नरेन्द्र ।। ४१ ।।

यदि मनुष्यलोकका संहार करनेवाली अत्यन्त भयंकर मृत्यु इनको नहीं प्राप्त हुई होती, तो ऐसी बातें देखनेमें नहीं आतीं। अतः नरेन्द्र! आपके समस्त योद्धा युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके भाँति-भाँतिके शस्त्र, यन्त्र, कवच, रथ, हाथी और घोड़ोंको सुसज्जित कर लें तथा उन हाथियों, घोड़ों एवं रथोंपर सवार हो युद्ध करनेके निमित्त सदा तैयार रहें। इसके सिवा आपको युद्धोपयोगी जिन समस्त वस्तुओंका संग्रह करना है उन सबका भी आप संग्रह कर लीजिये ।। ४०-४१ ।।

दुर्योधनो न ह्यलमद्य दातुं
जीवंस्तवैतन्नृपते कथंचित् ।
यत् ते पुरस्तादभवत् समृद्धं
द्यूते हृतं पाण्डवमुख्य राज्यम् ।। ४२ ।।

पाण्डवप्रवर! नरेश्वर! यह निश्चय मानिये, आपके पास पहले जो समृद्धिशाली राज्य-वैभव था और जिसे आपने जूएमें खो दिया था, वह सारा राज्य अब दुर्योधन अपने जीते-जी आपको कभी नहीं दे सकता ।। ४२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७३ ।।

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेनका शान्तिविषयक प्रस्ताव

भीम उवाच

यथा यथैव शान्तिः स्यात् कुरूणां मधुसूदन ।
तथा तथैव भाषेथा मा स्म युद्धेन भीषयेः ।। १ ।।

भीमसेन बोले—मधुसूदन! आप कौरवोंके बीचमें वैसी ही बातें कहें, जिससे हमलोगोंमें शान्ति स्थापित हो सके। युद्धकी बात सुनाकर उन्हें भयभीत न कीजियेगा ।। १ ।।

अमर्षी जातसंरम्भः श्रेयोद्वेषी महामनाः ।
नोग्रं दुर्योधनो वाच्यः साम्नैवैनं समाचरेः ।। २ ।।

दुर्योधन असहनशील, क्रोधमें भरा रहनेवाला, श्रेयका विरोधी और मनमें बड़े-बड़े हौसले रखनेवाला है। अतः उसके प्रति कठोर बात न कहियेगा, उसे सामनीतिके द्वारा ही समझानेका प्रयत्न कीजियेगा ।। २ ।।

प्रकृत्या पापसत्त्वश्च तुल्यचेतास्तु दस्युभिः ।
ऐश्वर्यमदमत्तश्च कृतवैरश्च पाण्डवैः ।। ३ ।।

दुर्योधन स्वभावसे ही पापात्मा है। उसके हृदयमें डाकुओंके समान क्रूरता भरी रहती है। वह ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो गया है और पाण्डवोंके साथ सदा वैर बाँधे रखता है ।। ३ ।।

अदीर्घदर्शी निष्ठूरी क्षेप्ता क्रूरपराक्रमः ।
दीर्घमन्युरनेयश्च पापात्मा निकृतिप्रियः ।। ४ ।।

वह अदूरदर्शी, निष्ठुर वचन बोलनेवाला, परनिन्दक, क्रूर पराक्रमी, दीर्घकालतक क्रोधको मनमें संचित रखनेवाला, शिक्षा देने या सन्मार्गपर ले जाया जानेकी योग्यतासे रहित, पापात्मा तथा शठतासे प्रेम रखनेवाला है ।। ४ ।।

म्रियेतापि न भज्येत नैव जह्यात् स्वकं मतम् ।
तादृशेन शमः कृष्ण मन्ये परमदुष्करः ।। ५ ।।

श्रीकृष्ण! वह मर जायगा, किंतु झुक न सकेगा। अपनी टेक नहीं छोड़ेगा। मैं समझता हूँ, ऐसे दुराग्रही मनुष्यके साथ संधि स्थापित करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है ।। ५ ।।

सुहृदामप्यवाचीनस्त्यक्तधर्मा प्रियानृतः ।
प्रतिहन्त्येव सुहृदां वाचश्चैव मनांसि च ।। ६ ।।

दुर्योधन हितैषी सुहृदोंके भी विपरीत आचरण करनेवाला है। उसने धर्मको तो त्याग ही दिया है, झूठको भी प्रिय मानकर अपना लिया है। वह मित्रोंकी भी बातोंका खण्डन करता

है और उनके हृदयको चोट पहुँचाता है ।। ६ ।।

स मन्युवशमापन्नः स्वभावं दुष्टमास्थितः ।

स्वभावात् पापमभ्येति तृणैश्छन्न इवोरगः ।। ७ ।।

उसने क्रोधके वशीभूत होकर दुष्ट स्वभावका आश्रय ले रखा है। वह तिनकोंमें छिपे सर्पकी भाँति स्वभावतः दूसरोंकी हिंसा करता है ।। ७ ।।

दुर्योधनो हि यत्सेनः सर्वथा विदितस्तव ।

यच्छीलो यत्स्वभावश्च यद्बलो यत्पराक्रमः ।। ८ ।।

भगवन्! दुर्योधनकी सेना जैसी है, उसका शील और स्वभाव जैसा है, उसका बल और पराक्रम जिस प्रकारका है, वह सब कुछ आपको सब प्रकारसे ज्ञात है ।। ८ ।।

पुरा प्रसन्नाः कुरवः सहपुत्रास्तथा वयम् ।

इन्द्रज्येष्ठा इवाभूम मोदमानाः सबान्धवाः ।। ९ ।।

पूर्वकालमें पुत्र तथा बन्धु-बान्धवोंसहित कौरव और हमलोग इन्द्र आदि देवताओंकी भाँति परस्पर मिलकर बड़ी प्रसन्नता और आनन्दके साथ रहते थे ।।

दुर्योधनस्य क्रोधेन भरता मधुसूदन ।

धक्ष्यन्ते शिशिरापाये वनानीव हुताशनैः ।। १० ।।

परंतु मधुसूदन! जैसे शिशिरके अन्तमें (ग्रीष्मकाल आनेपर) वन दावानलसे जलने लगते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण भरतवंशी इस समय दुर्योधनकी क्रोधाग्निसे जलनेवाले हैं ।। १० ।।

अष्टादशेमे राजानः प्रख्याता मधुसूदन ।

ये समुच्चिच्छिदुर्ज्ञातीन् सुहृदश्च सबान्धवान् ।। ११ ।।

श्रीकृष्ण! आगे बताये जानेवाले ये अठारह विख्यात नरेश हैं, जिन्होंने बन्धु-बान्धवोंसहित कुटुम्बीजनों तथा हितैषी सुहृदोंका संहार कर डाला था ।। ११ ।।

असुराणां समृद्धानां ज्वलतामिव तेजसा ।

पर्यायकाले धर्मस्य प्राप्ते कलिरजायत ।। १२ ।।

हैहयानां मुदावर्तो नीपानां जनमेजयः ।

बहुलस्तालजंघानां कृमीणामुद्धतो वसुः ।। १३ ।।

अजबिन्दुः सुवीराणां सुराष्ट्राणां रुषर्द्धिकः ।

अर्कजश्च बलीहानां चीनानां धौतमूलकः ।। १४ ।।

हयग्रीवो विदेहानां वरयुश्च महौजसाम् ।

बाहुः सुन्दरवंशानां दीप्ताक्षाणां पुरूरवाः ।। १५ ।।

सहजश्चेदिमत्स्यानां प्रवीराणां वृषध्वजः ।

धारणश्चन्द्रवत्सानां मुकुटानां विगाहनः ।। १६ ।।

शमश्च नन्दिवेगानामित्येते कुलपांसनाः ।

युगान्ते कृष्ण सम्भूताः कुले कुपुरुषाधमाः ।। १७ ।।

जैसे धर्मके विप्लवका समय उपस्थित होनेपर तेजसे प्रज्वलित होनेवाले समृद्धिशाली असुरोंमें भयंकर कलह उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार हैहयवंशमें मुदावर्त, नीपकुलमें जनमेजय, तालजंघोंके वंशमें बहुल, कृमिकुलमें उद्दण्ड वसु, सुवीरोंके वंशमें अजबिंदु, सुराष्ट्रकुलमें रुषर्द्धिक, बलीहवंशमें अर्कज, चीनोंके कुलमें धौतमूलक, विदेहवंशमें हयग्रीव, महौजा नामक क्षत्रियोंके कुलमें वरयु, सुन्दरवंशी क्षत्रियोंमें बाहु, दीप्ताक्षकुलमें पुरूरवा, चेदि और मत्स्यदेशमें सहज, प्रवीरवंशमें वृषध्वज, चन्द्रवत्सकुलमें धारण, मुकुटवंशमें विगाहन तथा नन्दिवेगकुलमें शम—ये सभी कुलांगार एवं नराधम क्षत्रिय युगान्तकाल आनेपर ऊपर बताये अनुसार भिन्न-भिन्न कुलोंमें प्रकट हुए थे ।। १२—१७ ।।

अप्ययं नः कुरूणां स्याद् युगान्ते कालसम्भृतः ।

दुर्योधनः कुलाङ्गारो जघन्यः पापपूरुषः ।। १८ ।।

पूर्वोक्त (अठारह) राजाओंकी भाँति यह कुलांगार, नीच एवं पापपुरुष दुर्योधन भी इस द्वापरयुगके अन्तमें कालसे प्रेरित हो हमारे कुरुकुलके विनाशका कारण होकर उत्पन्न हुआ है ।। १८ ।।

तस्मान्मृदु शनैर्ब्रूया धर्मार्थसहितं हितम् ।

कामानुबन्धबहुलं नोग्रमुग्रपराक्रम ।। १९ ।।

अतः भयंकर पराक्रमी श्रीकृष्ण! आप उससे जो कुछ भी कहें, कोमल एवं मधुर वाणीमें धीरे-धीरे कहें। आपका कथन धर्म एवं अर्थसे युक्त तथा हितकर हो। उसमें तनिक भी उग्रता न आने पावे। साथ ही इसका भी ध्यान रखें कि आपकी अधिकांश बातें उसकी रुचिके अनुकूल हों ।। १९ ।।

अपि दुर्योधनं कृष्ण सर्वे वयमधश्चराः ।

नीचैर्भूत्वानुयास्यामो मा स्म नो भरतानशन् ।। २० ।।

भगवन्! हम सब लोग नीचे पैदल चलकर अत्यन्त नम्र होकर दुर्योधनका अनुसरण करते रहेंगे; परंतु हमारे कारणसे भरतवंशियोंका नाश न हो ।। २० ।।

अप्युदासीनवृत्तिः स्याद् यथा नः कुरुभिः सह ।

वासुदेव तथा कार्यं न कुरूननयः स्पृशेत् ।। २१ ।।

वासुदेव! हमारा कौरवोंके साथ उदासीनभाव एवं तटस्थताका बर्ताव भी जैसे बना रहे, वैसा ही प्रयत्न आपको करना चाहिये। किसी प्रकार भी कौरवोंको अन्यायका स्पर्श नहीं होना चाहिये ।। २१ ।।

वाच्यः पितामहो वृद्धो ये च कृष्ण सभासदः ।

भ्रातॄणामस्तु सौभ्रात्रं धार्तराष्ट्रः प्रशाम्यताम् ।। २२ ।।

श्रीकृष्ण! आप वहाँ बूढ़े पितामह भीष्मजी तथा अन्य सभासदोंसे ऐसा करनेके लिये ही कहें, जिससे सब भाइयोंमें सौहार्द बना रहे और दुर्योधन भी शान्त हो जाय ।। २२ ।।

अहमेतद् ब्रवीम्येवं राजा चैव प्रशंसति ।
अर्जुनो नैव युद्धार्थी भूयसी हि दयार्जुने ।। २३ ।।

मैं इस प्रकार शान्ति-स्थापनके लिये कह रहा हूँ। राजा युधिष्ठिर भी शान्तिकी ही प्रशंसा करते हैं और अर्जुन भी युद्धके इच्छुक नहीं हैं; क्योंकि अर्जुनमें बहुत अधिक दया भरी हुई है ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमवाक्ये चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमवाक्यविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७४ ।।

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका भीमसेनको उत्तेजित करना

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाबाहुः केशवः प्रहसन्निव ।
अभूतपूर्वं भीमस्य मार्दवोपहितं वचः ।। १ ।।
गिरेरिव लघुत्वं तच्छीतत्वमिव पावके ।
मत्वा रामानुजः शौरिः शार्ङ्गधन्वा वृकोदरम् ।। २ ।।
संतेजयंस्तदा वाग्भिर्मातरिश्वेव पावकम् ।
उवाच भीममासीनं कृपयाभिपरिप्लुतम् ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीमसेनके मुखसे यह अभूतपूर्व मृदुतापूर्ण वचन सुनकर महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण हँसने-से लगे। जैसे पर्वतमें लघुता आ जाय और अग्निमें शीतलता प्रकट हो जाय, उसी प्रकार उनमें यह नम्रताका प्रादुर्भाव हुआ था। यह सोचकर शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले रामानुज श्रीकृष्ण अपने पास बैठे हुए वृकोदर भीमसेनको, जो उस समय दयासे द्रवित हो रहे थे, अपने वचनोंद्वारा उसी प्रकार उत्तेजित करते हुए बोले, मानो वायु अग्निको उद्दीप्त कर रही हो ।। १—३ ।।

श्रीभगवानुवाच

त्वमन्यदा भीमसेन युद्धमेव प्रशंससि ।
वधाभिनन्दिनः क्रूरान् धार्तराष्ट्रान् मिमर्दिषुः ।। ४ ।।

श्रीभगवान् बोले—भैया भीमसेन! आजके सिवा और दिन तो तुम हिंसासे ही प्रसन्न होनेवाले क्रूर धृतराष्ट्रपुत्रोंको मसल डालनेकी इच्छा मनमें लेकर सदा युद्धकी ही प्रशंसा किया करते थे ।। ४ ।।

न च स्वपिषि जागर्षि न्युब्जः शेषे परंतप ।
घोरामशान्तां रुषतीं सदा वाचं प्रभाषसे ।। ५ ।।

परंतप! (इन्हीं विचारोंमें डूबे रहनेके कारण) तुम रातमें सोते भी नहीं थे, जागते ही रहते थे। कभी सोना ही पड़ा, तो औंधे-मुँह लेट जाते और सदा घोर, अशान्त तथा रोषभरी बातें ही तुम्हारे मुँहसे निकलती थीं ।। ५ ।।

निःश्वसन्नग्निवत् तेन संतप्तः स्वेन मन्युना ।
अप्रशान्तमना भीम सधूम इव पावकः ।। ६ ।।

भीम! तुम बारंबार लंबी साँस खींचते हुए अपने ही क्रोधसे उसी प्रकार संतप्त होते थे, जैसे आग अपने ही तेजसे तपी रहती है। धुएँसे व्याप्त हुई अग्निकी भाँति तुम्हारे नित्य-निरन्तर अशान्ति छायी रहती थी ।। ६ ।।

एकान्ते निःश्वसञ्छेषे भारार्त इव दुर्बलः ।
अपि त्वां केचिदुन्मत्तं मन्यन्तेऽतद्विदो जनाः ।। ७ ।।

भारी बोझसे पीड़ित दुर्बल मनुष्यकी भाँति तुम एकान्तमें बैठकर जोर-जोरसे साँस खींचते रहते थे। इसीलिये तुम्हें कुछ लोग, जो इस बातको नहीं जानते हैं, पागल मानते हैं ।। ७ ।।

आरुज्य वृक्षान् निर्मूलान् गजः परिरुजन्निव ।

निघ्नन् पद्भिः क्षितिं भीम निष्टनन् परिधावसि ।। ८ ।।

भीम! जैसे हाथी वृक्षोंको जड़-मूलसहित उखाड़कर उन्हें पैरोंकी ठोकरोंसे टूक-टूक कर डालता है, उसी प्रकार तुम भी पैरोंसे पृथ्वीपर आघात करते हुए जोर-जोरसे गर्जते और चारों ओर दौड़ते थे ।। ८ ।।

नास्मिञ्जनेऽभिरमसे रहः क्षिपसि पाण्डव ।
नान्यं निशि दिवा चापि कदाचिदभिनन्दसि ।। ९ ।।

पाण्डुनन्दन! तुम कभी इस जनसमुदायमें प्रसन्नताका अनुभव नहीं करते थे; सदा एकान्तमें ही बैठकर कालक्षेप करते थे। दिन हो या रात, तुम कभी किसी दूसरेका अभिनन्दन नहीं करते थे ।। ९ ।।

अकस्मात् स्मयमानश्च रहस्यास्से रुदन्निव ।
जान्वोर्मूर्धानमाधाय चिरमास्से प्रमीलितः ।। १० ।।

कभी सहसा हँस पड़ते और कभी एकान्त स्थानमें रोते हुए-से प्रतीत होते थे और कभी घुटनोंपर मस्तक रखकर दीर्घकालतक नेत्र बंद किये बैठे रहते थे ।। १० ।।

भ्रुकुटिं च पुनः कुर्वन्नोष्ठौ च विदशन्निव ।
अभीक्ष्णं दृश्यसे भीम सर्वं तन्मन्युकारितम् ।। ११ ।।

भीमसेन! मैंने बार-बार तुम्हें भौंहें टेढ़ी करके दोनों ओठोंको चबाते हुए-से देखा है। यह सब तुम्हारे क्रोधकी करतूत है ।। ११ ।।

यथा पुरस्तात् सविता दृश्यते शुक्रमुच्चरन् ।
यथा च पश्चान्निर्मुक्तो ध्रुवं पर्येति रश्मिवान् ।। १२ ।।
तथा सत्यं ब्रवीम्येतन्नास्ति तस्य व्यतिक्रमः ।
हन्ताहं गदयाभ्येत्य दुर्योधनममर्षणम् ।। १३ ।।
इति स्म मध्ये भ्रातॄणां सत्येनालभसे गदाम् ।
तस्य ते प्रशमे बुद्धिर्ध्रियतेऽद्य परंतप ।। १४ ।।

तुम अपने भाइयोंके बीचमें सत्यकी शपथ खाकर बार-बार गदा छूते हुए यह कहते थे—‘जैसे सूर्यदेव पूर्वदिशामें उदित होते हुए अपने तेजोमण्डलको प्रकट करते दिखायी देते हैं और पश्चिमदिशामें वे ही अंशुमाली अस्ताचलको जाकर निश्चितरूपसे मेरुपर्वतकी परिक्रमा करते हैं, उनके इस नियममें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता; उसी प्रकार मैं यह सच कहता हूँ कि अमर्षशील दुर्योधनके पास जाकर अपनी गदासे उसके प्राण ले लूँगा। मेरे इस कथनमें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।’ परंतप! ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले तुम-जैसे वीरशिरोमणिकी बुद्धि आज शान्ति-स्थापनमें लग रही है; (यह आश्चर्यकी बात है!) ।। १२—१४ ।।

अहो युद्धाभिकाङ्क्षाणां युद्धकाल उपस्थिते ।
चेतांसि विप्रतीपानि यत् त्वां भीर्भीम विन्दति ।। १५ ।।

अहो! युद्धका अवसर उपस्थित होनेपर पहलेसे युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले लोगोंके विचार भी इतने बदल जाते हैं कि वे विपरीत सोचने लगते हैं। भीमसेन! जान पड़ता है, इसीलिये तुम्हें भी युद्धसे भय होने लगा है ।। १५ ।।

अहो पार्थ निमित्तानि विपरीतानि पश्यसि ।
स्वप्नान्ते जागरान्ते च तस्मात् प्रशममिच्छसि ।। १६ ।।

कुन्तीनन्दन! बड़े विस्मयकी बात है कि तुम्हें सोते और जागतेमें उलटे परिणामकी सूचना देनेवाले अपशकुन दिखायी देते हैं। इसीसे तुम शान्तिकी इच्छा प्रकट कर रहे हो ।। १६ ।।

अहो नाशंससे किञ्चित् पुंस्त्वं क्लीब इवात्मनि ।
कश्मलेनाभिपन्नोऽसि तेन ते विकृतं मनः ।। १७ ।।

अहो! कायर और नपुंसककी भाँति इस समय तुम अपनेमें कुछ भी पुरुषार्थ नहीं मानते। तुम्हारे ऊपर मोह छा गया है, जिससे तुम्हारी मानसिक दशा बिगड़ गयी है ।।

उद्वेपते ते हृदयं मनस्ते प्रतिसीदति ।
ऊरुस्तम्भगृहीतोऽसि तस्मात् प्रशममिच्छसि ।। १८ ।।

जान पड़ता है कि तुम्हारा हृदय काँपता है, मन शिथिल होता जाता है, तुम्हारी जाँघें मानो अकड़ गयी हैं; इसीलिये तुम शान्ति चाहते हो ।। १८ ।।

अनित्यं किल मर्त्यस्य पार्थ चित्तं चलाचलम् ।
वातवेगप्रचलिता अष्ठीला शाल्मलेरिव ।। १९ ।।

पार्थ! कहते हैं कि मनुष्यका चित्त सदा एक निश्चयपर अटल नहीं रहता। वह हवाके वेगसे हिलती हुई सेंमलके फलकी गाँठके समान डाँवाडोल रहता है ।। १९ ।।

तवैषा विकृता बुद्धिर्गवां वागिव मानुषी ।
मनांसि पाण्डुपुत्राणां मज्जयत्यप्लवानिव ।। २० ।।

यदि गौएँ मनुष्योंकी बोली बोलें, तो वह जैसे बिगड़ी हुई होगी, उसी प्रकार तुम्हारी यह बुद्धि विकृत होकर अगाध समुद्रमें नावके बिना डूबनेवाले मनुष्योंकी भाँति पाण्डवोंके मनको चिन्तामग्न किये देती है ।। २० ।।

इदं मे महदाश्चर्यं पर्वतस्येव सर्पणम् ।
यदीदृशं प्रभाषेथा भीमसेनासमं वचः ।। २१ ।।

भीमसेन! तुम जो बात कह रहे हो, वह तुम्हारे योग्य कदापि नहीं है। जैसे पर्वतका चलना आश्चर्यकी बात है, उसी प्रकार तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह शान्ति-प्रस्ताव मुझे महान् आश्चर्यमें डाल रहा है ।। २१ ।।

स दृष्ट्वा स्वानि कर्माणि कुले जन्म च भारत ।
उत्तिष्ठस्व विषादं मा कृथा वीर स्थिरो भव ।। २२ ।।

भारत! तुम अपने कर्मोंकी ओर देखकर और जिस कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, उसपर भी दृष्टिपात करके खड़े हो जाओ। वीरवर! विषाद न करो और अपने क्षत्रियोचित कर्मपर डट जाओ ।। २२ ।।

न चैतदनुरूपं ते यत् ते ग्लानिररिंदम ।
यदोजसा न लभते क्षत्रियो न तदश्नुते ।। २३ ।।

शत्रुदमन! तुम्हारे चित्तमें जो ग्लानि उत्पन्न हुई है, यह तुम्हारे-जैसे शूरवीरके योग्य कदापि नहीं है; क्योंकि क्षत्रिय जिसे ओज एवं पराक्रमसे प्राप्त नहीं करता, उसे अपने उपयोगमें नहीं लाता है ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमोत्तेजकश्रीकृष्णवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमोत्तेजकश्रीकृष्णवाक्यविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७५ ।।

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेनका उत्तर

वैशम्पायन उवाच

तथोक्तो वासुदेवेन नित्यमन्युरमर्षणः ।
सदश्ववत् समाधावद् बभाषे तदनन्तरम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर सदा क्रोध और अमर्षमें भरे रहनेवाले भीमसेन पहले सुशिक्षित घोड़ेकी भाँति सरपट भागने लगे (जल्दी-जल्दी बोलने लगे); फिर धीरे-धीरे बोले ।। १ ।।

भीमसेन उवाच

अन्यथा मां चिकीर्षन्तमन्यथा मन्यसेऽच्युत ।
प्रणीतभावमत्यर्थं युधि सत्यपराक्रमम् ।। २ ।।
वेत्सि दाशार्ह सत्यं मे दीर्घकालं सहोषितः ।

भीमसेनने कहा—अच्युत! मैं करना तो कुछ और चाहता हूँ, परंतु आप समझ कुछ और ही रहे हैं। दशार्हनन्दन! आप दीर्घकालतक मेरे साथ रहे हैं। अतः मेरे विषयमें यह सच्ची जानकारी रखते ही होंगे कि मेरा युद्धमें अत्यन्त अनुराग है और मेरा पराक्रम भी मिथ्या नहीं है ।। २½ ।।

उत वा मां न जानासि प्लवन् ह्रद इवाप्लवे ।। ३ ।।
तस्मादनभिरूपाभिर्वाग्भिर्मां त्वं समर्च्छसि ।

अथवा यह भी सम्भव है कि बिना नौकाके अगाध सरोवरमें तैरनेवाले पुरुषको जैसे उसकी गहराईका पता नहीं चलता, उसी तरह आप मुझे अच्छी तरह न जानते हों। इसीलिये आप अनुचित वचनोंद्वारा मुझपर आक्षेप कर रहे हैं ।। ३½ ।।

कथं हि भीमसेनं मां जानन् कश्चन माधव ।। ४ ।।
ब्रूयादप्रतिरूपाणि यथा मां वक्तुमर्हसि ।

माधव! मुझ भीमसेनको अच्छी तरह जाननेवाला कोई भी मनुष्य मेरे प्रति ऐसे अयोग्य वचन, जैसे आप कह रहे हैं, कैसे कह सकता है? ।। ४½ ।।

तस्मादिदं प्रवक्ष्यामि वचनं वृष्णिनन्दन ।। ५ ।।
आत्मनः पौरुषं चैव बलं च न समं परैः ।

वृष्णिकुलनन्दन! इसीलिये मैं आपसे अपने उस पौरुष तथा बलका वर्णन करना चाहता हूँ, जिसकी समानता दूसरे लोग नहीं कर सकते ।। ५½ ।।

सर्वथानार्यकर्मैतत् प्रशंसा स्वयमात्मनः ।। ६ ।।

अतिवादापविद्धस्तु वक्ष्यामि बलमात्मनः ।

यद्यपि स्वयं अपनी प्रशंसा करना सर्वथा नीच पुरुषोंका ही कार्य है, तथापि आपने जो मेरे सम्मानके विपरीत बातें कहकर मेरा तिरस्कार किया है, उससे पीड़ित होकर मैं अपने बलका बखान करता हूँ ।। ६ १/२ ।।

पश्येमे रोदसी कृष्ण ययोरासन्निमाः प्रजाः ।। ७ ।।
अचले चाप्रतिष्ठे चाप्यनन्ते सर्वमातरौ ।

श्रीकृष्ण! आप इस भूतल और स्वर्गलोकपर दृष्टिपात करें। इन्हीं दोनोंके भीतर ये समस्त प्रजाजन निवास करते हैं। ये दोनों सबके माता-पिता हैं। इन्हें अचल एवं अनन्त माना गया है। ये दूसरोंके आधार होते हुए भी स्वयं आधारशून्य हैं ।। ७ १/२ ।।

यदीमे सहसा क्रुद्धे समेयातां शिले इव ।। ८ ।।
अहमेते निगृह्णीयां बाहुभ्यां सचराचरे ।

यदि ये दोनों लोक सहसा कुपित होकर दो शिलाओंकी भाँति परस्पर टकराने लगें, तो मैं चराचर प्राणियोंसहित इन्हें अपनी दोनों भुजाओंसे रोक सकता हूँ ।। ८ १/२ ।।

पश्यैतदन्तरं बाह्वोर्महापरिघयोरिव ।। ९ ।।
य एतत् प्राप्य मुच्येत न तं पश्यामि पूरुषम् ।

लोहेके विशाल परिघोंकी भाँति मेरी इन मोटी भुजाओंका मध्यभाग कैसा है, यह देख लीजिये। मैं ऐसे किसी वीर पुरुषको नहीं देखता, जो इनके भीतर आकर फिर जीवित निकल जाय ।। ९ १/२ ।।

हिमवांश्च समुद्रश्च वज्री वा बलभित् स्वयम् ।। १० ।।
मयाभिपन्नं त्रायेरन् बलमास्थाय न त्रयः ।

जो मेरी पकड़में आ जायगा, उसे हिमालय पर्वत, विशाल महासागर तथा बल नामक दैत्यका विनाश करनेवाले साक्षात् वज्रधारी इन्द्र—ये तीनों अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी बचा नहीं सकते ।। १० १/२ ।।

युद्धार्हान् क्षत्रियान् सर्वान् पाण्डवेष्वाततायिनः ।। ११ ।।
अधः पादतलेनैतानधिष्ठास्यामि भूतले ।

पाण्डवोंके प्रति आततायी बने हुए इन समस्त क्षत्रियोंको, जो युद्धके लिये उद्यत हुए हैं, मैं नीचे पृथ्वीपर गिराकर पैरोंतले रौंद डालूँगा ।। ११ १/२ ।।

न हि त्वं नाभिजानासि मम विक्रममच्युत ।। १२ ।।
यथा मया विनिर्जित्य राजानो वशगाः कृताः ।

अच्युत! मैंने राजाओंको जिस प्रकार युद्धमें जीतकर अपने अधीन किया था, मेरे उस पराक्रमसे आप अपरिचित नहीं हैं ।। १२ १/२ ।।

अथ चेन्मां न जानासि सूर्यस्येवोद्यतः प्रभाम् ।। १३ ।।
विगाढे युधि सम्बाधे वेत्स्यसे मां जनार्दन ।

जनार्दन! यदि कदाचित् आप मुझे या मेरे पराक्रमको न जानते हों तो जब भयंकर संहारकारी घमासान युद्ध प्रारम्भ होगा, उस समय उगते हुए सूर्यकी प्रभाके समान आप मुझे अवश्य जान लेंगे ।। १३ $\frac{1}{2}$ ।।

परुषैराक्षिपसि किं व्रणं पूतिमिवोन्नयन् ।। १४ ।।

पके हुए घावको चाकूसे चीरने या उकसानेवाले पुरुषके समान आप मुझे अपने कठोर वचनोंद्वारा तिरस्कृत क्यों कर रहे हैं? ।। १४ ।।

यथामति ब्रवीम्येतद् विद्धि मामधिकं ततः ।
द्रष्टासि युधि सम्बाधे प्रवृत्ते वैशसेऽहनि ।। १५ ।।

मैं अपनी बुद्धिके अनुसार यहाँ जो कुछ कह रहा हूँ, उससे भी बढ़-चढ़कर मुझे समझें। जिस समय योद्धाओंसे खचाखच भरे हुए युद्धमें भयानक मारकाट मचेगी, उस दिन मुझे देखियेगा ।। १५ ।।

मया प्रणुन्नान् मातङ्गान् रथिनः सादिनस्तथा ।
तथा नरानभिक्रुद्धं निघ्नन्तं क्षत्रियर्षभान् ।। १६ ।।
द्रष्टा मां त्वं च लोकश्च विकर्षन्तं वरान् वरान् ।

जब (घमासान युद्धमें) मैं कुपित होकर मतवाले हाथियों, रथियों तथा घुड़सवारोंको धराशायी करना और फेंकना आरम्भ करूँगा एवं दूसरे श्रेष्ठ क्षत्रियवीरोंका वध करने लगूँगा, उस समय आप और दूसरे लोग भी मुझे देखेंगे कि मैं किस प्रकार चुन-चुनकर प्रधान-प्रधान वीरोंका संहार कर रहा हूँ ।। १६ $\frac{1}{2}$ ।।

न मे सीदन्ति मज्जानो न ममोद्वेपते मनः ।। १७ ।।
सर्वलोकादभिक्रुद्धान्न भयं विद्यते मम ।
किं तु सौहृदमेवैतत् कृपया मधुसूदन ।
सर्वांस्तितिक्षे संक्लेशान् मा स्म नो भरता नशन् ।। १८ ।।

मेरी मज्जा शिथिल नहीं हो रही है और न मेरा हृदय ही काँप रहा है। मधुसूदन! यदि समस्त संसार अत्यन्त कुपित होकर मुझपर आक्रमण करे, तो भी उससे मुझे भय नहीं है; किंतु मैंने जो शान्तिका प्रस्ताव किया है, यह तो केवल मेरा सौहार्द ही है। मैं दयावश सारे क्लेश सह लेनेको तैयार हूँ और चाहता हूँ कि हमारे कारण भरतवंशियोंका नाश न हो ।। १७-१८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमसेनवाक्ये षट्सप्ततितमोऽध्यायः ।। ७६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमसेनवाक्यसम्बन्धी छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७६ ।।

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका भीमसेनको आश्वासन देना

श्रीभगवानुवाच

भावं जिज्ञासमानोऽहं प्रणयादिदमब्रुवम् ।
न चाक्षेपान्न पाण्डित्यान्न क्रोधान्न विवक्षया ।। १ ।।

श्रीभगवान् बोले—भीमसेन! मैंने तो तुम्हारा मनोभाव जाननेके लिये ही प्रेमसे ये बातें कही हैं, तुमपर आक्षेप करने, पण्डिताई दिखाने, क्रोध प्रकट करने या व्याख्यान देनेकी इच्छासे कुछ नहीं कहा है ।।

वेदाहं तव माहात्म्यमुत ते वेद यद् बलम् ।
उत ते वेद कर्माणि न त्वां परिभवाम्यहम् ।। २ ।।

मैं तुम्हारे माहात्म्यको जानता हूँ। तुममें जो बल और पराक्रम है, उससे भी परिचित हूँ और तुमने जो बड़े-बड़े पराक्रम किये हैं, वे भी मुझसे छिपे नहीं हैं; अतः मैं तुम्हारा तिरस्कार नहीं करता ।। २ ।।

यथा चात्मनि कल्याणं सम्भावयसि पाण्डव ।
सहस्रगुणमप्येतत् त्वयि सम्भावयाम्यहम् ।। ३ ।।

पाण्डुनन्दन! तुम अपनेमें जैसे कल्याणकारी गुणकी सम्भावना करते हो, उससे भी सहस्रगुने सद्‌गुणोंकी सम्भावना तुममें मैं करता हूँ ।। ३ ।।

यादृशे च कुले जन्म सर्वराजाभिपूजिते ।
बन्धुभिश्च सुहृद्भिश्च भीम त्वमसि तादृशः ।। ४ ।।

भीमसेन! समस्त राजाओंद्वारा सम्मानित जैसे प्रतिष्ठित कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, अपने बन्धुओं और सुहृदोंसहित तुम वैसी ही प्रतिष्ठाके योग्य हो ।।

जिज्ञासन्तो हि धर्मस्य संदिग्धस्य वृकोदर ।
पर्यायं नाध्यवस्यन्ति देवमानुषयोर्जनाः ।। ५ ।।

वृकोदर! देवधर्म (प्रारब्ध) और मानुषधर्म (पुरुषार्थ)-का स्वरूप संदिग्ध है। लोग दैव और पुरुषार्थ दोनोंके परिणामको जानना चाहते हैं, परंतु किसी निश्चयतक पहुँच नहीं पाते ।। ५ ।।

स एव हेतुर्भूत्वा हि पुरुषस्यार्थसिद्धिषु ।
विनाशेऽपि स एवास्य संदिग्धं कर्म पौरुषम् ।। ६ ।।

क्योंकि उपर्युक्त पुरुषार्थ ही कभी पुरुषकी कार्य-सिद्धिमें कारण बनकर कभी विनाशका भी हेतु बन जाता है। इस प्रकार जैसे दैवका फल संदिग्ध है, वैसे ही पुरुषार्थका भी फल संदिग्ध है ।। ६ ।।

अन्यथा परिदृष्टानि कविभिर्दोषदर्शिभिः ।
अन्यथा परिवर्तन्ते वेगा इव नभस्वतः ।। ७ ।।

दोषदर्शी विद्वानोंद्वारा अन्य रूपमें देखे या विचारे हुए कर्म वायुके वेगोंकी भाँति बदलकर किसी दूसरे ही रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं ।। ७ ।।

सुमन्त्रितं सुनीतं च न्यायतश्चोपपादितम् ।
कृतं मानुष्यकं कर्म दैवेनापि विरुध्यते ।। ८ ।।

अच्छी तरह विचारपूर्वक निश्चित किये हुए, उत्तम नीतिसे युक्त तथा न्यायपूर्वक सम्पादित किये हुए मानव-सम्बन्धी पुरुषार्थसाध्य कर्म भी कभी दैववश बाधित हो जाते हैं—उनकी सिद्धिमें विघ्न पड़ जाता है ।। ८ ।।

दैवमप्यकृतं कर्म पौरुषेण विहन्यते ।
शीतमुष्णं तथा वर्षं क्षुत्पिपासे च भारत ।। ९ ।।

भारत! दैवकृत कार्य भी समाप्त होनेसे पहले पुरुषार्थद्वारा नष्ट कर दिया जाता है। जैसे शीतका निवारण वस्त्रसे, गरमीका व्यजनसे, वर्षाका छत्रसे और भूख-प्यासका निवारण अन्न और जलसे हो जाता है ।। ९ ।।

यदन्यद् दिष्टभावस्य पुरुषस्य स्वयंकृतम् ।
तस्मादनुपरोधश्च विद्यते तत्र लक्षणम् ।। १० ।।

प्रारब्धके अतिरिक्त जो पुरुषका स्वयं अपना किया हुआ कर्म है, उससे भी फलकी सिद्धि होती है। इस विषयमें यथेष्ट उदाहरण मिलते हैं ।। १० ।।

लोकस्य नान्यतो वृत्तिः पाण्डवान्यत्र कर्मणः ।
एवंबुद्धिः प्रवर्तेत फलं स्यादुभयान्वये ।। ११ ।।

पाण्डुनन्दन! पुरुषार्थको छोड़कर दूसरे किसी साधनसे—केवल दैवसे मनुष्यका जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता। ऐसा विचारकर उसे कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये। फिर प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनोंके सम्बन्धसे फलकी प्राप्ति होगी ।। ११ ।।

य एवं कृतबुद्धिः स कर्मस्वेव प्रवर्तते ।
नासिद्धौ व्यथते तस्य न सिद्धौ हर्षमश्नुते ।। १२ ।।

जो अपनी बुद्धिमें ऐसा निश्चय करके कर्मोंमें ही प्रवृत्त होता है, वह फलकी सिद्धि न होनेपर दुःखी नहीं होता और फलकी प्राप्ति होनेपर भी हर्षका अनुभव नहीं करता ।। १२ ।।

तत्रेयमनुमात्रा मे भीमसेन विवक्षिता ।
नैकान्तसिद्धिर्वक्तव्या शत्रुभिः सह संयुगे ।। १३ ।।

भीमसेन! मुझे इस विषयमें अपना यह निश्चय बताना अभीष्ट है कि युद्धमें शत्रुओंके साथ भिड़नेपर अवश्य ही विजय प्राप्त होगी, यह नहीं कहा जा सकता ।। १३ ।।

नातिप्रहीणरश्मिः स्यात् तथा भावविपर्यये ।

विषादमर्च्छेद् ग्लानिं वाप्येतमर्थं ब्रवीमि ते ।। १४ ।।

मनोभाव बदल जाय अथवा प्रारब्धके अनुसार कोई विपरीत घटना घटित हो जाय, तो भी सहसा अपने तेज और उत्साहको सर्वथा नहीं छोड़ना चाहिये। विषाद एवं ग्लानिका अनुभव नहीं करना चाहिये—यह बात भी मैंने तुम्हें आवश्यक समझकर बतायी है ।।

श्वोभूते धृतराष्ट्रस्य समीपं प्राप्य पाण्डव ।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं युष्मदर्थमहापयन् ।। १५ ।।

पाण्डुनन्दन! कल सबेरे मैं राजा धृतराष्ट्रके समीप जाकर तुमलोगोंके स्वार्थकी सिद्धिमें तनिक भी बाधा न पहुँचाते हुए दोनों पक्षोंमें संधि करानेका प्रयत्न करूँगा ।। १५ ।।

शमं चेत् ते करिष्यन्ति ततोऽनन्तं यशो मम ।
भवतां च कृतः कामस्तेषां च श्रेय उत्तमम् ।। १६ ।।

यदि वे संधि स्वीकार कर लेंगे तो मुझे अक्षय यशकी प्राप्ति होगी। तुमलोगोंका मनोरथ भी पूर्ण होगा और कौरवोंका भी परम कल्याण होगा ।। १६ ।।

ते चेदभिनिवेक्ष्यन्ते नाभ्युपैष्यन्ति मे वचः ।
कुरवो युद्धमेवात्र घोरं कर्म भविष्यति ।। १७ ।।

यदि वे कौरव युद्धका ही आग्रह दिखायेंगे और मेरे संधिविषयक प्रस्तावको ठुकरा देंगे, तब यहाँ युद्ध ही होगा, जो भयंकर कर्म है ।। १७ ।।

अस्मिन् युद्धे भीमसेन त्वयि भारः समाहितः ।
धूरर्जुनेन धार्या स्याद् वोढव्य इतरो जनः ।। १८ ।।

भीमसेन! इस युद्धमें सारा भार तुम्हारे ऊपर ही रखा जायगा एवं अर्जुन इस भारको धारण करेगा। अन्य लोगोंका भार भी तुम्हीं दोनोंको ढोना है ।। १८ ।।

अहं हि यन्ता बीभत्सोर्भविता संयुगे सति ।
धनंजयस्यैष कामो न हि युद्धं न कामये ।। १९ ।।

युद्ध आरम्भ होनेपर मैं अर्जुनका सारथि बनूँगा। यही अर्जुनकी इच्छा है। तुम यह न समझो कि मैं युद्ध होने देना नहीं चाहता ।। १९ ।।

तस्मादाशङ्कमानोऽहं वृकोदर मतिं तव ।
गदतः क्लीबया वाचा तेजस्ते समदीदिपम् ।। २० ।।

वृकोदर! इसीलिये जब तुम कायरतापूर्ण वचनोंद्वारा शान्तिका प्रस्ताव करने लगे, तब मुझे तुम्हारे युद्धविषयक विचारके बदल जानेका संदेह हुआ, जिसके कारण पूर्वोक्त बातें कहकर मैंने तुम्हारे तेजको उद्दीप्त किया ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७७ ।।

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका कथन

अर्जुन उवाच

उक्तं युधिष्ठिरेणैव यावद् वाच्यं जनार्दन ।
तव वाक्यं तु मे श्रुत्वा प्रतिभाति परंतप ।। १ ।।
नैव प्रशममत्र त्वं मन्यसे सुकरं प्रभो ।
लोभाद् वा धृतराष्ट्रस्य दैन्याद् वा समुपस्थितात् ।। २ ।।

तदनन्तर अर्जुनने कहा—जनार्दन! मुझे जो कुछ कहना था, वह सब तो महाराज युधिष्ठिरने ही कह दिया। शत्रुओंको संतप्त करनेवाले प्रभो! आपकी बात सुनकर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आप धृतराष्ट्रके लोभ तथा हमारी प्रस्तुत दीनताके कारण संधि करानेका कार्य सरल नहीं समझ रहे हैं ।। १-२ ।।

अफलं मन्यसे वापि पुरुषस्य पराक्रमम् ।
न चान्तरेण कर्माणि पौरुषेण फलोदयः ।। ३ ।।

अथवा आप मनुष्यके पराक्रमको निष्फल मानते हैं; क्योंकि पूर्वजन्मके कर्म (प्रारब्ध)-के बिना केवल पुरुषार्थसे किसी फलकी प्राप्ति नहीं होती ।। ३ ।।

तदिदं भाषितं वाक्यं तथा च न तथैव तत् ।
न चैतदेवं द्रष्टव्यमसाध्यमपि किंचन ।। ४ ।।

आपने जो बात कही है, वह ठीक है; परंतु सदा वैसा ही हो, यह नहीं कहा जा सकता। किसी भी कार्यको असाध्य नहीं समझना चाहिये ।। ४ ।।

किं चैतन्मन्यसे कृच्छ्रमस्माकमवसादकम् ।
कुर्वन्ति तेषां कर्माणि येषां नास्ति फलोदयः ।। ५ ।।

आप ऐसा मानते हैं कि हमारा यह वर्तमान कष्ट ही हमें पीड़ित करनेवाला है; परंतु वास्तवमें हमारे शत्रुओंके किये हुए वे कार्य ही हमें कष्ट दे रहे हैं, जिनका उनके लिये भी कोई विशेष फल नहीं है ।। ५ ।।

सम्पाद्यमानं सम्यक् च स्यात् कर्म सफलं प्रभो ।
स तथा कृष्ण वर्तस्व यथा शर्म भवेत् परैः ।। ६ ।।

प्रभो! जिस कार्यको अच्छी तरह किया जाय, वह सफल हो सकता है। श्रीकृष्ण! आप ऐसा ही प्रयत्न करें, जिससे शत्रुओंके साथ हमारी संधि हो जाय ।। ६ ।।

पाण्डवानां कुरूणां च भवान् नः प्रथमः सुहृत् ।
सुराणामसुराणां च यथा वीर प्रजापतिः ।। ७ ।।

वीरवर! जैसे प्रजापति ब्रह्माजी देवताओं तथा असुरोंके भी प्रधान हितैषी हैं, उसी प्रकार आप हम पाण्डवों तथा कौरवोंके भी प्रधान सुहृद् हैं ।। ७ ।।

कुरूणां पाण्डवानां च प्रतिपत्स्व निरामयम् ।
अस्मद्धितमनुष्ठानं मन्ये तव न दुष्करम् ।। ८ ।।

इसलिये आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे कौरवों तथा पाण्डवोंके भी दुःखका निवारण हो जाय। मेरा विश्वास है कि हमारे लिये हितकर कार्य करना आपके लिये दुष्कर नहीं है ।। ८ ।।

एवं च कार्यतामेति कार्यं तव जनार्दन ।
गमनादेवमेव त्वं करिष्यसि जनार्दन ।। ९ ।।

जनार्दन! ऐसा करना आपके लिये अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है। प्रभो! आप वहाँ जानेमात्रसे यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेंगे ।। ९ ।।

चिकीर्षितमथान्यत् ते तस्मिन् वीर दुरात्मनि ।
भविष्यति च तत् सर्वं यथा तव चिकीर्षितम् ।। १० ।।

वीर! उस दुरात्मा दुर्योधनके प्रति आपको कुछ और करना अभीष्ट हो, तो जैसी आपकी इच्छा होगी, वह सब कार्य उसी रूपमें सम्पन्न होगा ।। १० ।।

शर्म तैः सह वा नोऽस्तु तव वा यच्चिकीर्षितम् ।
विचार्यमाणो यः कामस्तव कृष्ण स नो गुरुः ।
न स नार्हति दुष्टात्मा वधं ससुतबान्धवः ।। ११ ।।
येन धर्मसुते दृष्टा न सा श्रीरुपमर्षिता ।
यच्चाप्यपश्यतोपायं धर्मिष्ठं मधुसूदन ।। १२ ।।
उपायेन नृशंसेन हृता दुर्द्यूतदेविना ।

श्रीकृष्ण! कौरवोंके साथ हमारी संधि हो अथवा आप जो कुछ करना चाहते हों, वही हो। विचार करनेपर हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि आपकी जो इच्छा हो, वही हमारे लिये गौरव तथा समादरकी वस्तु है। वह दुष्टात्मा दुर्योधन अपने पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंसहित वधके ही योग्य है, जो धर्मपुत्र युधिष्ठिरके पास आयी हुई सम्पत्ति देखकर उसे सहन न कर सका। इतना ही नहीं, जब कपटद्यूतका आश्रय लेनेवाले उस क्रूरात्माने किसी धर्मसम्मत उपाय युद्ध आदिको अपने लिये सफलता देनेवाला नहीं देखा, तब कपटपूर्ण उपायसे उस सम्पत्तिका अपहरण कर लिया ।। ११-१२½ ।।

कथं हि पुरुषो जातः क्षत्रियेषु धनुर्धरः ।। १३ ।।
समाहूतो निवर्तेत प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते ।

क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ कोई भी धनुर्धर पुरुष किसीके द्वारा युद्धके लिये आमन्त्रित होनेपर कैसे पीछे हट सकता है? भले ही वैसा करनेपर उसके लिये प्राण-त्यागका संकट भी उपस्थित हो जाय ।। १३½ ।।

अधर्मेण जितान् दृष्ट्वा वने प्रव्रजितांस्तथा ।। १४ ।।
वध्यतां मम वार्ष्णेय निर्गतोऽसौ सुयोधनः ।

वृष्णिकुलनन्दन! हमलोग अधर्मपूर्वक जूएमें पराजित किये गये और वनमें भेज दिये गये। यह सब देखकर मैंने मन-ही-मन पूर्णरूपसे निश्चय कर लिया था कि दुर्योधन मेरे द्वारा वधके योग्य है ।। १४ $\frac{1}{2}$ ।।

न चैतदद्भुतं कृष्ण मित्रार्थे यच्चिकीर्षसि ।
क्रिया कथं च मुख्या स्यान्मृदुना चेतरेण वा ।। १५ ।।

श्रीकृष्ण! आप मित्रोंके हितके लिये जो कुछ करना चाहते हैं, वह आपके लिये अद्भुत नहीं है। मृदु अथवा कठोर, जिस उपायसे भी सम्भव हो किसी तरह अपना मुख्य कार्य सफल होना चाहिये ।। १५ ।।

अथवा मन्यसे ज्यायान् वधस्तेषामनन्तरम् ।
तदेव क्रियतामाशु न विचार्यमतस्त्वया ।। १६ ।।

अथवा यदि आप अब कौरवोंका वध ही श्रेष्ठ मानते हों तो वही शीघ्र-से-शीघ्र किया जाय। फिर इसके सिवा और किसी बातपर आपको विचार नहीं करना चाहिये ।।

जानासि हि यथैतेन द्रौपदी पापबुद्धिना ।
परिक्लिष्टा सभामध्ये तच्च तस्योपमर्षितम् ।। १७ ।।

आप जानते हैं, इस पापात्मा दुर्योधनने भरी सभामें द्रुपदकुमारी कृष्णाको कितना कष्ट पहुँचाया था, परंतु हमने उसके इस महान् अपराधको भी चुपचाप सह लिया था ।। १७ ।।

स नाम सम्यग् वर्तेत पाण्डवेष्विति माधव ।
न मे संजायते बुद्धिर्बीजमुप्तमिवोषरे ।। १८ ।।

माधव! वही दुर्योधन अब पाण्डवोंके साथ अच्छा बर्ताव करेगा, ऐसी बात मेरी बुद्धिमें जँच नहीं रही है। उसके साथ संधिका सारा प्रयत्न ऊसरमें बोये हुए बीजकी भाँति व्यर्थ ही है ।। १८ ।।

तस्माद् यन्मन्यसे युक्तं पाण्डवानां हितं च यत् ।
तथाऽऽशु कुरु वार्ष्णेय यन्नः कार्यमनन्तरम् ।। १९ ।।

अतः वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्ण! आप पाण्डवोंके लिये अबसे करनेयोग्य जो उचित एवं हितकर कार्य मानते हों, वही यथासम्भव शीघ्र आरम्भ कीजिये ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि अर्जुनवाक्येऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७८ ।।

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अर्जुनको उत्तर देना

श्रीभगवानुवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ।
पाण्डवानां कुरूणां च प्रतिपत्स्ये निरामयम् ।। १ ।।

श्रीभगवान् बोले—महाबाहु पाण्डुकुमार! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही करना उचित है। मैं वही करनेका प्रयत्न करूँगा, जिससे कौरव तथा पाण्डव—दोनोंका संकट दूर हो—दोनों सुखी हो सकें ।। १ ।।

सर्वं त्विदं ममायत्तं बीभत्सो कर्मणोर्द्वयोः ।
क्षेत्रं हि रसवच्छुद्धं कर्मणैवोपपादितम् ।। २ ।।
ऋते वर्षान्न कौन्तेय जातु निर्वर्तयेत् फलम् ।

अर्जुन! इसमें संदेह नहीं कि शान्ति और युद्ध—इन दोनों कार्योंमेंसे किसी एकको हितकर समझकर अपनानेका सारा दायित्व मेरे हाथमें आ गया है; तथापि (इसमें प्रारब्धकी अनुकूलता अपेक्षित है) कुन्तीनन्दन! जुताई और सिंचाई करके कितना ही शुद्ध और सरस बनाया हुआ खेत क्यों न हो, कभी-कभी वर्षाके बिना वह अच्छी उपज नहीं दे सकता ।। २ $\frac{1}{2}$ ।।

तत्र वै पौरुषं ब्रूयुरासेकं यत्र कारितम् ।। ३ ।।
तत्र चापि ध्रुवं पश्येच्छोषणं दैवकारितम् ।

जिस खेतमें जुताई और सिंचाई की गयी है, वहाँ यह पुरुषार्थ ही किया गया है; परंतु वहाँ भी दैववश सूखा पड़ गया, यह निश्चितरूपसे देखा जाता है। [अतः पुरुषार्थकी सफलताके लिये प्रारब्धकी अनुकूलता आवश्यक है] ।।

तदिदं निश्चितं बुद्ध्या पूर्वैरपि महात्मभिः ।। ४ ।।
दैवे च मानुषे चैव संयुक्तं लोककारणम् ।

इसलिये पूर्वकालके महात्माओंने अपनी बुद्धि-द्वारा यही निश्चय किया है कि लोकहितका साधन दैव तथा पुरुषार्थ दोनोंपर निर्भर है ।। ४ $\frac{1}{2}$ ।।

अहं हि तत् करिष्यामि परं पुरुषकारतः ।। ५ ।।
दैवं तु न मया शक्यं कर्म कर्तुं कथंचन ।

मैं पुरुषार्थसे जितना हो सकता है, उतना संधि-स्थापनके लिये अधिक-से-अधिक प्रयत्न करूँगा; परंतु प्रारब्धके विधानको किसी प्रकार भी टाल देना या बदल देना मेरे लिये सम्भव नहीं है ।। ५ $\frac{1}{2}$ ।।

स हि धर्मं च लोकं च त्यक्त्वा चरति दुर्मतिः ।। ६ ।।

न हि संतप्यते तेन तथारूपेण कर्मणा ।

दुर्बुद्धि दुर्योधन सदा धर्म और लोकाचारको छोड़कर ही चलता है; परंतु इस प्रकार धर्म और लोकके विरुद्ध कार्य करके भी वह उससे संतप्त नहीं होता ।। ६ १/२ ।।

तथापि बुद्धिं पापिष्ठां वर्धयन्त्यस्य मन्त्रिणः ।। ७ ।।

शकुनिः सूतपुत्रश्च भ्राता दुःशासनस्तथा ।

इतनेपर भी उसके मन्त्री शकुनि, सूतपुत्र कर्ण तथा भाई दुःशासन—ये उसकी अत्यन्त पापपूर्ण बुद्धिको बढ़ावा देते रहते हैं ।। ७ १/२ ।।

स हि त्यागेन राज्यस्य न शमं समुपैष्यति ।। ८ ।।

अन्तरेण वधं पार्थ सानुबन्धः सुयोधनः ।

कुन्तीनन्दन! अपने सगे-सम्बन्धियोंसहित दुर्योधन जबतक मारा नहीं जायगा, तबतक वह राज्यभाग देकर कदापि संधि नहीं करेगा ।। ८ १/२ ।।

न चापि प्रणिपातेन त्यक्तुमिच्छति धर्मराट् ।

याच्यमानश्च राज्यं स न प्रदास्यति दुर्मतिः ।। ९ ।।

धर्मराज युधिष्ठिर भी नम्रतापूर्वक संधिके लिये अपना राज्य छोड़ना नहीं चाहते हैं। उधर दुर्बुद्धि दुर्योधन माँगनेपर भी राज्य नहीं देगा ।। ९ ।।

न तु मन्ये स तद् वाच्यो यद् युधिष्ठिरशासनम् ।

उक्तं प्रयोजनं यत् तु धर्मराजेन भारत ।। १० ।।

तथा पापस्तु तत् सर्वं न करिष्यति कौरवः ।

तस्मिंश्चाक्रियमाणेऽसौ लोके वध्यो भविष्यति ।। ११ ।।

भरतनन्दन! धर्मराज युधिष्ठिरने केवल पाँच गाँवोंको माँगनेके लिये जो आज्ञा दी है तथा नम्रतापूर्ण वचनोंमें जो संधिका प्रयोजन बताया है, वह सब दुर्योधनसे कहना उचित नहीं है—ऐसा मैं मानता हूँ; क्योंकि वह कुरुकुलकलंक पापात्मा उन सब बातों—को कभी स्वीकार नहीं करेगा। हमलोगोंका प्रस्ताव स्वीकार न करनेपर वह इस जगत्में अवश्य ही वधके योग्य हो जायगा ।। १०-११ ।।

मम चापि स वध्यो हि जगतश्चापि भारत ।

येन कौमारके यूयं सर्वे विप्रकृताः सदा ।। १२ ।।

विप्रलुप्तं च वो राज्यं नृशंसेन दुरात्मना ।

न चोपशाम्यते पापः श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ।। १३ ।।

भारत! जिसने तुम सब लोगोंको कुमारावस्थामें भी सदा नाना प्रकारके कष्ट दिये हैं, जिस दुरात्मा एवं निर्दयीने तुम्हारे राज्यका भी अपहरण कर लिया है तथा जो पापी दुर्योधन युधिष्ठिरके पास सम्पत्ति देखकर शान्त नहीं रह सकता है, वह मेरे और समस्त संसारके लिये भी वध्य है ।। १२-१३ ।।

असकृच्चाप्यहं तेन त्वत्कृते पार्थ भेदितः ।

न मया तद् गृहीतं च पापं तस्य चिकीर्षितम् ।। १४ ।।

कुन्तीनन्दन! उसने मुझे भी तुम्हारी ओरसे फोड़नेके लिये अनेक बार चेष्टा की है; परंतु मैंने उसके पापपूर्ण प्रस्तावको कभी स्वीकार नहीं किया है ।। १४ ।।

जानासि हि महाबाहो त्वमप्यस्य परं मतम् ।
प्रियं चिकीर्षमाणं च धर्मराजस्य मामपि ।। १५ ।।

महाबाहो! तुम जानते ही हो कि दुर्योधनकी भी मेरे विषयमें यही निश्चित धारणा है कि मैं धर्मराज युधिष्ठिरका प्रिय करना चाहता हूँ ।। १५ ।।

संजानंस्तस्य चात्मानं मम चैव परं मतम् ।
अजानन्निव मां कस्मादर्जुनाद्याभिशङ्कसे ।। १६ ।।

अर्जुन! इस प्रकार तुम दुर्योधनके मनकी भावना तथा मेरे दृढ़ निश्चयको जानते हुए भी आज अनजानकी भाँति क्यों मुझपर संदेह कर रहे हो? ।। १६ ।।

यच्चापि परमं दिव्यं तच्चाप्यनुगतं त्वया ।
विधानं विहितं पार्थ कथं शर्म भवेत् परैः ।। १७ ।।

कुन्तीकुमार! जो देवताओंका परम दिव्य (भूभार उतारनेके लिये) निश्चित विधान है, उससे भी तुम सर्वथा परिचित हो। फिर शत्रुओंके साथ संधि कैसे हो सकती है? ।। १७ ।।

यत् तु वाचा मया शक्यं कर्मणा वापि पाण्डव ।
करिष्ये तदहं पार्थ न त्वाशंसे शमं परैः ।। १८ ।।

पाण्डुनन्दन! मेरे द्वारा वाणी और प्रयत्नसे जो कुछ हो सकता है, वह मैं अवश्य करूँगा; परंतु पार्थ! मुझे यह तनिक भी आशा नहीं है कि शत्रुओंके साथ संधि हो जायगी ।। १८ ।।

कथं गोहरणे ह्युक्तो नैतच्छर्म तथा हितम् ।
याच्यमानो हि भीष्मेण संवत्सरगतेऽध्वनि ।। १९ ।।

विराटनगरमें गोहरणके समय तुम्हारे अज्ञातवासका वर्ष पूरा हो चुका था। उस समय भीष्मजीने मार्गमें दुर्योधनसे याचना की कि तुम पाण्डवोंको उनका राज्य देकर उनसे मेल कर लो, परंतु यह कल्याण और हितकी बात भी उसने किसी प्रकार स्वीकार नहीं की ।।

तदैव ते पराभूता यदा संकल्पितास्त्वया ।
लवशः क्षणशश्चापि न च तुष्टः सुयोधनः ।। २० ।।

जब तुमने कौरवोंको पराजित करनेका संकल्प किया, उसी समय वे पराजित हो गये। परंतु दुर्योधन तुमलोगोंपर क्षणभरके लिये किंचिन्मात्र भी संतुष्ट नहीं है ।। २० ।।

सर्वथा तु मया कार्यं धर्मराजस्य शासनम् ।
विभाव्यं तस्य भूयश्च कर्म पापं दुरात्मनः ।। २१ ।।

मुझे वहाँ जाकर सबसे पहले धर्मराजकी आज्ञाके अनुसार संधिके लिये सब प्रकारसे प्रयत्न करना है। यदि यह सफल न हुआ तो फिर मुझे यह विचार करना होगा कि दुरात्मा

दुर्योधनको उसके पापकर्मका दण्ड कैसे दिया जाय? ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये एकोनाशीतितमोऽध्यायः ।। ७९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक उन्नासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७९ ।।

अशीतितमोऽध्यायः

नकुलका निवेदन

नकुल उवाच

उक्तं बहुविधं वाक्यं धर्मराजेन माधव ।
धर्मज्ञेन वदान्येन श्रुतं चैव हि तत् त्वया ।। १ ।।

नकुल बोले—माधव! धर्मज्ञ और उदार धर्मराजने बहुत-सी बातें कही हैं और आपने उन्हें सुना है ।। १ ।।

मतमाज्ञाय राज्ञश्च भीमसेनेन माधव ।
संशमो बाहुवीर्यं च ख्यापितं माधवात्मनः ।। २ ।।

यदुकुलभूषण! राजाका मत जानकर भाई भीमसेनने भी पहले संधिस्थापनकी, फिर अपने बाहुबलकी बात बतायी है ।। २ ।।

तथैव फाल्गुनेनापि यदुक्तं तत् त्वया श्रुवम् ।
आत्मनश्च मतं वीर कथितं भवतासकृत् ।। ३ ।।

वीर! इसी प्रकार अर्जुनने भी जो कुछ कहा है, वह भी आपने सुन ही लिया है। आपका जो अपना मत है, उसे भी आपने अनेक बार प्रकट किया है ।।

सर्वमेतदतिक्रम्य श्रुत्वा परमतं भवान् ।
यत् प्राप्तकालं मन्येथास्तत् कुर्याः पुरुषोत्तम ।। ४ ।।

परंतु पुरुषोत्तम! इन सब बातोंको पीछे छोड़कर और विपक्षियोंके मतको अच्छी तरह सुनकर आपको समयके अनुसार जो कर्तव्य उचित जान पड़े, वही कीजियेगा ।। ४ ।।

तस्मिंस्तस्मिन् निमित्ते हि मतं भवति केशव ।
प्राप्तकालं मनुष्येण क्षमं कार्यमरिंदम ।। ५ ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले केशव! भिन्न-भिन्न कारण उपस्थित होनेपर मनुष्योंके विचार भी भिन्न-भिन्न प्रकारके हो जाते हैं; अतः मनुष्यको वही कार्य करना चाहिये, जो उसके योग्य और समयोचित हो ।। ५ ।।

अन्यथा चिन्तितो ह्यर्थः पुनर्भवति सोऽन्यथा ।
अनित्यमतयो लोके नराः पुरुषसत्तम ।। ६ ।।

पुरुषश्रेष्ठ! किसी वस्तुके विषयमें सोचा कुछ और जाता है और हो कुछ और ही जाता है। संसारके मनुष्य स्थिर विचारवाले नहीं होते हैं ।। ६ ।।

अन्यथा बुद्धयो ह्यासन्नस्मासु वनवासिषु ।
अदृश्येष्वन्यथा कृष्ण दृश्येषु पुनरन्यथा ।। ७ ।।

श्रीकृष्ण! जब हम वनमें निवास करते थे, उस समय हमारे विचार कुछ और ही थे, अज्ञातवासके समय वे बदलकर कुछ और हो गये और उस अवधिको पूर्ण करके जब हम सबके सामने प्रकट हुए हैं, तबसे हमलोगोंका विचार कुछ और हो गया है ।। ७ ।।

अस्माकमपि वार्ष्णेय वने विचरतां तदा ।
न तथा प्रणयो राज्ये यथा सम्प्रति वर्तते ।। ८ ।।

वृष्णिनन्दन! वनमें विचरते समय राज्यके विषयमें हमारा वैसा आकर्षण नहीं था, जैसा इस समय है ।।

निवृत्तवनवासान् नः श्रुत्वा वीर समागताः ।
अक्षौहिण्यो हि सप्तेमास्त्वत्प्रसादाज्जनार्दन ।। ९ ।।

वीर जनार्दन! हमलोग वनवासकी अवधि पूरी करके आ गये हैं; यह सुनकर आपकी कृपासे ये सात अक्षौहिणी सेनाएँ यहाँ एकत्र हो गयी हैं ।। ९ ।।

इमान् हि पुरुषव्याघ्रानचिन्त्यबलपौरुषान् ।
आत्तशस्त्रान् रणे दृष्ट्वा न व्यथेदिह कः पुमान् ।। १० ।।

यहाँ जो पुरुषसिंह वीर उपस्थित हैं, इनके बल और पौरुष अचिन्त्य हैं। रणभूमिमें इन्हें अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित देखकर किस पुरुषका हृदय भयभीत न हो उठेगा? ।। १० ।।

स भवान् कुरुमध्ये तं सान्त्वपूर्वं भयोत्तरम् ।
ब्रूयाद् वाक्यं यथा मन्दो न व्यथेत सुयोधनः ।। ११ ।।

आप कौरवोंके बीचमें उससे पहले सान्त्वनापूर्ण बातें कहियेगा और अन्तमें युद्धका भय भी दिखाइयेगा, जिससे मूर्ख दुर्योधनके मनमें व्यथा न हो ।। ११ ।।

युधिष्ठिरं भीमसेनं बीभत्सुं चापराजितम् ।
सहदेवं च मां चैव त्वां च रामं च केशव ।। १२ ।।
सात्यकिं च महावीर्यं विराटं च सहात्मजम् ।
द्रुपदं च सहामात्यं धृष्टद्युम्नं च माधव ।। १३ ।।
काशिराजं च विक्रान्तं धृष्टकेतुं च चेदिपम् ।
मांसशोणितभृन्मर्त्यः प्रतियुध्येत को युधि ।। १४ ।।

केशव! अपने शरीरमें मांस और रक्तका बोझ बढ़ानेवाला कौन ऐसा मनुष्य है, जो युद्धमें युधिष्ठिर, भीमसेन, किसीसे पराजित न होनेवाले अर्जुन, सहदेव, बलराम, महापराक्रमी सात्यकि, पुत्रोंसहित विराट, मन्त्रियोंसहित द्रुपद, धृष्टद्युम्न, पराक्रमी काशिराज, चेदिनरेश धृष्टकेतु तथा आपका और मेरा सामना कर सके? ।। १२—१४ ।।

स भवान् गमनादेव साधयिष्यत्यसंशयम् ।
इष्टमर्थं महाबाहो धर्मराजस्य केवलम् ।। १५ ।।

महाबाहो! आप वहाँ केवल जानेमात्रसे धर्मराजके अभीष्ट मनोरथको सिद्ध कर देंगे; इसमें संशय नहीं है ।।

विदुरश्चैव भीष्मश्च द्रोणश्च सहबाह्लिकः ।
श्रेयः समर्था विज्ञातुमुच्यमानास्त्वयानघ ।। १६ ।।

निष्पाप श्रीकृष्ण! विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा बाह्लीक—ये आपके बतानेपर कल्याणकारी मार्गको समझनेमें समर्थ हैं ।। १६ ।।

ते चैनमनुनेष्यन्ति धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
तं च पापसमाचारं सहामात्यं सुयोधनम् ।। १७ ।।

ये लोग राजा धृतराष्ट्र तथा मन्त्रियोंसहित पापाचारी दुर्योधनको (समझा-बुझाकर) राहपर लायँगे ।। १७ ।।

श्रोता चार्थस्य विदुरस्त्वं च वक्ता जनार्दन ।
कमिवार्थं निवर्तन्तं स्थापयेतां न वर्त्मनि ।। १८ ।।

जनार्दन! जहाँ विदुरजी किसी प्रयोजनको सुनें और आप उसका प्रतिपादन करें, वहाँ आप दोनों मिलकर किस बिगड़ते हुए कार्यको सिद्धिके मार्गपर नहीं ला देंगे? ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि नकुलवाक्ये अशीतितमोऽध्यायः ।। ८० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें नकुलवाक्यविषयक असीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८० ।।

एकाशीतितमोऽध्यायः

युद्धके लिये सहदेव तथा सात्यकिकी सम्मति और समस्त योद्धाओंका समर्थन

सहदेव उवाच

यदेतत् कथितं राज्ञा धर्म एष सनातनः ।
यथा च युद्धमेव स्यात् तथा कार्यमरिंदम ।। १ ।।

सहदेव बोले—शत्रुदमन श्रीकृष्ण! महाराज युधिष्ठिरने यहाँ जो कुछ कहा है, यह सनातनधर्म है; परंतु मेरा कथन यह है कि आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे युद्ध होकर ही रहे ।। १ ।।

यदि प्रशममिच्छेयुः कुरवः पाण्डवैः सह ।
तथापि युद्धं दाशार्ह योजयेथाः सहैव तैः ।। २ ।।

दशार्हनन्दन! यदि कौरव पाण्डवोंके साथ संधि करना चाहें, तो भी आप उनके साथ युद्धकी ही योजना बनाइयेगा ।। २ ।।

कथं नु दृष्ट्वा पाञ्चालीं तथा कृष्ण सभागताम् ।
अवधेन प्रशाम्येत मम मन्युः सुयोधने ।। ३ ।।

श्रीकृष्ण! पांचालराजकुमारी द्रौपदीको वैसी दशामें सभाके भीतर लायी गयी देखकर दुर्योधनके प्रति बढ़ा हुआ मेरा क्रोध उसका वध किये बिना कैसे शान्त हो सकता है? ।। ३ ।।

यदि भीमार्जुनौ कृष्ण धर्मराजश्च धार्मिकः ।
धर्ममुत्सृज्य तेनाहं योद्धुमिच्छामि संयुगे ।। ४ ।।

श्रीकृष्ण! यदि भीमसेन, अर्जुन तथा धर्मराज युधिष्ठिर धर्मका ही अनुसरण करते हैं तो मैं उस धर्मको छोड़कर रणभूमिमें दुर्योधनके साथ युद्ध ही करना चाहता हूँ ।। ४ ।।

सात्यकिरुवाच

सत्यमाह महाबाहो सहदेवो महामतिः ।
दुर्योधनवधे शान्तिस्तस्य कोपस्य मे भवेत् ।। ५ ।।

सात्यकिने कहा—महाबाहो! परम बुद्धिमान् सहदेव ठीक कहते हैं। दुर्योधनके प्रति बढ़ा हुआ मेरा क्रोध उसके वधसे ही शान्त होगा ।। ५ ।।

न जानासि यथा दृष्ट्वा चीराजिनधरान् वने ।
तवापि मन्युरुद्भूतो दुःखितान् प्रेक्ष्य पाण्डवान् ।। ६ ।।

क्या आप भूल गये हैं; जब कि वनमें वल्कल और मृगचर्म धारण करके दुःखी हुए पाण्डवोंको देखकर आपका भी क्रोध उमड़ आया था? ।। ६ ।।

तस्मान्माद्रीसुतः शूरो यदाह रणकर्कशः ।
वचनं सर्वयोधानां तन्मतं पुरुषोत्तम ।। ७ ।।

अतः पुरुषोत्तम! युद्धमें कठोरता दिखानेवाले माद्रीनन्दन शूरवीर सहदेवने जो बात कही है, वही हम सम्पूर्ण योद्धाओंका मत है ।। ७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं वदति वाक्यं तु युयुधाने महामतौ ।
सुभीमः सिंहनादोऽभूद् योधानां तत्र सर्वशः ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! परम बुद्धिमान् सात्यकिके ऐसा कहते ही वहाँ सब ओरसे समस्त योद्धाओंका अत्यन्त भयंकर सिंहनाद शुरू हो गया ।। ८ ।।

सर्वे हि सर्वशो वीरास्तद्वचः प्रत्यपूजयन् ।
साधु साध्विति शैनेयं हर्षयन्तो युयुत्सवः ।। ९ ।।

युद्धकी इच्छा रखनेवाले उन सभी वीरोंने साधु-साधु कहकर सात्यकिका हर्ष बढ़ाते हुए उनके वचनकी सर्वथा भूरि-भूरि प्रशंसा की ।। ९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि सहदेवसात्यकिवाक्ये एकाशीतितमोऽध्यायः ।। ८१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें सहदेव-सात्यकिवाक्यविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८१ ।।

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

द्रौपदीका श्रीकृष्णसे अपना दुःख सुनाना और श्रीकृष्णका उसे आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम् ।
कृष्णा दाशार्हमासीनमब्रवीच्छोककर्शिता ।। १ ।।
सुता द्रुपदराजस्य स्वसितायतमूर्धजा ।
सम्पूज्य सहदेवं च सात्यकिं च महारथम् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सिरपर अत्यन्त काले और लम्बे केश धारण करनेवाली द्रुपदराजकुमारी कृष्णा राजा युधिष्ठिरके धर्म और अर्थसे युक्त हितकर वचन सुनकर शोकसे कातर हो उठी और महारथी सात्यकि तथा सहदेवकी प्रशंसा करके वहाँ बैठे हुए दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णसे कुछ कहनेको उद्यत हुई ।।

भीमसेनं च संशान्तं दृष्ट्वा परमदुर्मनाः ।
अश्रुपूर्णेक्षणा वाक्यमुवाचेदं मनस्विनी ।। ३ ।।

भीमसेनको अत्यन्त शान्त देख मनस्विनी द्रौपदीके मनमें बड़ा दुःख हुआ। उसकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोली— ।। ३ ।।

विदितं ते महाबाहो धर्मज्ञ मधुसूदन ।
यथा निकृतिमास्थाय भ्रंशिताः पाण्डवाः सुखात् ।। ४ ।।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण सामात्येन जनार्दन ।
यथा च संजयो राज्ञा मन्त्रं रहसि श्रावितः ।। ५ ।।
युधिष्ठिरस्य दाशार्ह तच्चापि विदितं तव ।
यथोक्तः संजयश्चैव तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ।। ६ ।।

धर्मके ज्ञाता महाबाहु मधुसूदन! आपको तो मालूम ही है कि मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने किस प्रकार शठताका आश्रय लेकर पाण्डवोंको सुखसे वंचित कर दिया। दशार्हनन्दन! राजा धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरसे कहनेके लिये संजयको एकान्तमें जो मन्त्र (अपना विचार) सुनाकर यहाँ भेजा था, वह भी आपको ज्ञात ही है तथा धर्मराजने संजयसे जैसी बातें कही थीं, उन सबको भी आपने सुन ही लिया है ।। ४—६ ।।

पञ्च नस्तात दीयन्तां ग्रामा इति महाद्युते ।
अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दीं वारणावतम् ।। ७ ।।
अवसानं महाबाहो कञ्चिदेकं च पञ्चमम् ।

इति दुर्योधनो वाच्यः सुहृदश्चास्य केशव ।। ८ ।।

महातेजस्वी केशव! (इन्होंने संजयसे इस प्रकार कहा था—) संजय! तुम दुर्योधन और उसके सुहृदोंके सामने मेरी यह माँग रख देना—'तात! तुम हमें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत तथा अन्तिम पाँचवाँ कोई एक गाँव—इन पाँच गाँवोंको ही दे दो' ।।

न चापि ह्यकरोद् वाक्यं श्रुत्वा कृष्ण सुयोधनः ।
युधिष्ठिरस्य दाशार्ह श्रीमतः संधिमिच्छतः ।। ९ ।।

दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण! संधिकी इच्छा रखनेवाले श्रीमान् युधिष्ठिरका यह (नम्रतापूर्ण) वचन सुनकर भी उसे दुर्योधनने स्वीकार नहीं किया ।। ९ ।।

अप्रदानेन राज्यस्य यदि कृष्ण सुयोधनः ।
संधिमिच्छेन्न कर्तव्यं तत्र गत्वा कथञ्चन ।। १० ।।

भगवन्! आपके वहाँ जानेपर यदि दुर्योधन राज्य दिये बिना ही संधि करना चाहे तो आप इसे किसी तरह स्वीकार न कीजियेगा ।। १० ।।

शक्ष्यन्ति हि महाबाहो पाण्डवाः सृंजयैः सह ।
धार्तराष्ट्रबलं घोरं क्रुद्धं प्रतिसमासितुम् ।। ११ ।।

महाबाहो! पाण्डवलोग सृंजय वीरोंके साथ क्रोधमें भरी हुई दुर्योधनकी भयंकर सेनाका अच्छी तरह सामना कर सकते हैं ।। ११ ।।

न हि साम्ना न दानेन शक्योऽर्थस्तेषु कश्चन ।
तस्मात् तेषु न कर्तव्या कृपा ते मधुसूदन ।। १२ ।।

मधुसूदन! कौरवोंके प्रति साम और दाननीतिका प्रयोग करनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। अतः उनपर आपको कभी कृपा नहीं करनी चाहिये ।।

साम्ना दानेन वा कृष्ण ये न शाम्यन्ति शत्रवः ।
योक्तव्यस्तेषु दण्डः स्वाज्जीवितं परिरक्षता ।। १३ ।।

श्रीकृष्ण! अपने जीवनकी रक्षा करनेवाले पुरुषको चाहिये कि जो शत्रु साम और दानसे शान्त न हों, उनपर दण्डका प्रयोग करे ।। १३ ।।

तस्मात् तेषु महादण्डः क्षेप्तव्यः क्षिप्रमच्युत ।
त्वया चैव महाबाहो पाण्डवैः सह सृंजयैः ।। १४ ।।

अतः महाबाहु अच्युत! आपको तथा सृंजयोंसहित पाण्डवोंको उचित है कि वे उन शत्रुओंको शीघ्र ही महान् दण्ड दें ।। १४ ।।

एतत् समर्थं पार्थानां तव चैव यशस्करम् ।
क्रियमाणं भवेत् कृष्ण क्षत्रस्य च सुखावहम् ।। १५ ।।

यही कुन्तीकुमारोंके योग्य कार्य है। श्रीकृष्ण! यदि यह किया जाय तो आपके भी यशका विस्तार होगा और समस्त क्षत्रियसमुदायको भी सुख मिलेगा ।।

क्षत्रियेण हि हन्तव्यः क्षत्रियो लोभमास्थितः ।

अक्षत्रियो वा दाशार्ह स्वधर्ममनुतिष्ठता ।। १६ ।।

दशार्हनन्दन! अपने धर्मका पालन करनेवाले क्षत्रियको चाहिये कि वह लोभका आश्रय लेनेवाले मनुष्यको भले ही वह क्षत्रिय हो या अक्षत्रिय, अवश्य मार डाले ।।

अन्यत्र ब्राह्मणात् तात सर्वपापेष्ववस्थितात् ।
गुरुर्हि सर्ववर्णानां ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक् ।। १७ ।।

तात! ब्राह्मणोंके सिवा दूसरे वर्णोंपर ही यह नियम लागू होता है। ब्राह्मण सब पापोंमें डूबा हो, तब भी उसे प्राणदण्ड नहीं देना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मण सब वर्णोंका गुरु तथा दानमें दी हुई वस्तुओंका सर्वप्रथम भोक्ता है अर्थात् पहला पात्र है ।। १७ ।।

यथावध्ये वध्यमाने भवेद् दोषो जनार्दन ।
स वध्यस्यावधे दृष्ट इति धर्मविदो विदुः ।। १८ ।।

जनार्दन! जैसे अवध्यका वध करनेपर महान् दोष लगता है, उसी प्रकार वध्यका वध न करनेसे भी दोषकी प्राप्ति होती है। यह बात धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं ।।

यथा त्वां न स्पृशेदेष दोषः कृष्ण तथा कुरु ।
पाण्डवैः सह दाशार्हैः सृंजयैश्च ससैनिकैः ।। १९ ।।

श्रीकृष्ण! आप सैनिकोंसहित सृंजयों, पाण्डवों तथा यादवोंके साथ ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे आपको यह दोष न छू सके ।। १९ ।।

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि विश्रम्भेण जनार्दन ।
का तु सीमन्तिनी मादृक् पृथिव्यामस्ति केशव ।। २० ।।

जनार्दन! आपपर अत्यन्त विश्वास होनेके कारण मैं अपनी कही हुई बातको पुनः दुहराती हूँ। केशव! इस पृथ्वीपर मेरे समान स्त्री कौन होगी? ।। २० ।।

सुता द्रुपदराजस्य वेदिमध्यात् समुत्थिता ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी तव कृष्ण प्रिया सखी ।। २१ ।।

मैं महाराज द्रुपदकी पुत्री हूँ। यज्ञवेदीके मध्य-भागसे मेरा जन्म हुआ है। श्रीकृष्ण! मैं वीर धृष्टद्युम्नकी बहिन और आपकी प्रिय सखी हूँ ।। २१ ।।

आजमीढकुलं प्राप्ता स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः ।
महिषी पाण्डुपुत्राणां पञ्चेन्द्रसमवर्चसाम् ।। २२ ।।

मैं परम प्रतिष्ठित अजमीढ़कुलमें ब्याहकर आयी हूँ। महात्मा राजा पाण्डुकी पुत्रवधू तथा पाँच इन्दोंके समान तेजस्वी पाण्डुपुत्रोंकी पटरानी हूँ ।। २२ ।।

सुता मे पञ्चभिर्वीरैः पञ्च जाता महारथाः ।
अभिमन्युर्यथा कृष्ण तथा ते तव धर्मतः ।। २३ ।।

पाँच वीर पतियोंसे मैंने पाँच महारथी पुत्रोंको जन्म दिया है। श्रीकृष्ण! जैसे अभिमन्यु आपका भानजा है, उसी प्रकार मेरे पुत्र भी धर्मतः आपके भानजे ही हैं ।। २३ ।।

साहं केशग्रहं प्राप्ता परिक्लिष्टा सभां गता ।

पश्यतां पाण्डुपुत्राणां त्वयि जीवति केशव ।। २४ ।।

केशव! इतनी सम्मानित और सौभाग्यशालिनी होनेपर भी मैं पाण्डवोंके देखते-देखते और आपके जीते-जी केश पकड़कर सभामें लायी गयी और मेरा बारंबार अपमान किया गया एवं मुझे क्लेश दिया गया ।। २४ ।।

जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पञ्चालेष्वथ वृष्णिषु ।
दासीभूतास्मि पापानां सभामध्ये व्यवस्थिता ।। २५ ।।

पाण्डवों, पांचालों और यदुवंशियोंके जीते-जी मैं पापी कौरवोंकी दासी बनी और उसी रूपमें सभाके बीच मुझे उपस्थित होना पड़ा ।। २५ ।।

निरमर्षेष्वचेष्टेषु प्रेक्षमाणेषु पाण्डुषु ।
पाहि मामिति गोविन्द मनसा चिन्तितोऽसि मे ।। २६ ।।

पाण्डव यह सब कुछ देख रहे थे, तो भी न तो इनका क्रोध ही जागा और न इन्होंने मुझे उनके हाथसे छुड़ानेकी चेष्टा ही की। उस समय मैंने (अत्यन्त असहाय होकर) मन-ही-मन आपका चिन्तन किया और कहा—‘गोविन्द! मेरी रक्षा कीजिये’ (प्रभो! तब आपने ही कृपा करके मेरी लाज बचायी) ।। २६ ।।

यत्र मां भगवान् राजा श्वशुरो वाक्यमब्रवीत् ।
वरं वृणीष्व पाञ्चालि वरार्हासि मता मम ।। २७ ।।

उस सभामें मेरे ऐश्वर्यशाली श्वशुर राजा धृतराष्ट्रने मुझे (आदर देते हुए) कहा—‘पांचालराजकुमारी! मैं तुम्हें अपनी ओरसे मनोवांछित वर पानेके योग्य मानता हूँ। तुम कोई वर माँगो’ ।। २७ ।।

अदासाः पाण्डवाः सन्तु सरथाः सायुधा इति ।
मयोक्ते यत्र निर्मुक्ता वनवासाय केशव ।। २८ ।।

तब मैंने उनसे कहा—‘पाण्डव रथ और आयुधों-सहित दासभावसे मुक्त हो जायँ।’ केशव! मेरे इतना कहनेपर ये लोग वनवासका कष्ट भोगनेके लिये दासभावसे मुक्त हुए थे ।। २८ ।।

एवंविधानां दुःखानामभिज्ञोऽसि जनार्दन ।
त्रायस्व पुण्डरीकाक्ष सभर्तृज्ञातिबान्धवान् ।। २९ ।।

जनार्दन! हमलोगोंपर ऐसे-ऐसे महान् दुःख आते रहे हैं, जिन्हें आप अच्छी तरह जानते हैं। कमलनयन! पति, कुटुम्बी तथा बान्धवजनोंसहित हमलोगोंकी आप रक्षा करें ।। २९ ।।

नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः ।
स्नुषा भवामि धर्मेण साहं दासीकृता बलात् ।। ३० ।।

श्रीकृष्ण! मैं धर्मतः भीष्म और धृतराष्ट्र दोनोंकी पुत्रवधू हूँ, तो भी उनके सामने ही मुझे बलपूर्वक दासी बनाया गया ।। ३० ।।

धिक् पार्थस्य धनुष्मत्तां भीमसेनस्य धिग् बलम् ।

यत्र दुर्योधनः कृष्ण मुहूर्तमपि जीवति ।। ३१ ।।

भगवन्! ऐसी दशामें यदि दुर्योधन एक मुहूर्त भी जीवित रहता है तो अर्जुनके धनुषधारण और भीमसेनके बलको धिक्कार है ।। ३१ ।।

यदि तेऽहमनुग्राह्या यदि तेऽस्ति कृपा मयि ।
धार्तराष्ट्रेषु वै कोपः सर्वः कृष्ण विधीयताम् ।। ३२ ।।

श्रीकृष्ण! यदि मैं आपकी अनुग्रहभाजन हूँ, यदि मुझपर आपकी कृपा है तो आप धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर पूर्णरूपसे क्रोध कीजिये ।। ३२ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा मृदुसंहारं वृजिनाग्रं सुदर्शनम् ।
सुनीलमसितापाङ्गी सर्वगन्धाधिवासितम् ।। ३३ ।।
सर्वलक्षणसम्पन्नं महाभुजगवर्चसम् ।
केशपक्षं वरारोहा गृह्य वामेन पाणिना ।। ३४ ।।
पद्माक्षी पुण्डरीकाक्षमुपेत्य गजगामिनी ।
अश्रुपूर्णेक्षणा कृष्णा कृष्णं वचनमब्रवीत् ।। ३५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर सुन्दर अंगोंवाली, श्यामलोचना, कमलनयनी एवं गजगामिनी द्रुपदकुमारी कृष्णा अपने उन केशोंको, जो देखनेमें अत्यन्त सुन्दर, घुँघराले, अत्यन्त काले, एकत्र आबद्ध होनेपर भी कोमल, सब प्रकारकी सुगन्धोंसे सुवासित, सभी शुभ लक्षणोंसे सुशोभित तथा विशाल सर्पके समान कान्तिमान् थे, बाँयें हाथमें लेकर कमलनयन श्रीकृष्णके पास गयी और नेत्रोंमें आँसू भरकर इस प्रकार बोली — ।। ३३—३५ ।।

अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः ।
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां संधिमिच्छता ।। ३६ ।।

'कमललोचन श्रीकृष्ण! शत्रुओंके साथ संधिकी इच्छासे आप जो-जो कार्य या प्रयत्न करें, उन सबमें दुःशासनके हाथोंसे खींचे हुए इन केशोंको याद रखें ।।

यदि भीमार्जुनौ कृष्ण कृपणौ संधिकामुकौ ।
पिता मे योत्स्यते वृद्धः सह पुत्रैर्महारथैः ।। ३७ ।।

'श्रीकृष्ण! यदि भीमसेन और अर्जुन कायर होकर कौरवोंके साथ संधिकी कामना करने लगे हैं, तो मेरे वृद्ध पिताजी अपने महारथी पुत्रोंके साथ शत्रुओंसे युद्ध करेंगे ।।

पञ्च चैव महावीर्याः पुत्रा मे मधुसूदन ।
अभिमन्युं पुरस्कृत्य योत्स्यन्ते कुरुभिः सह ।। ३८ ।।

'मधुसूदन! मेरे पाँच महापराक्रमी पुत्र भी वीर अभिमन्युको प्रधान बनाकर कौरवोंके साथ संग्राम करेंगे ।।

दुःशासनभुजं श्यामं संछिन्नं पांसुगुण्ठितम् ।
यद्यहं तु न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ।। ३९ ।।

‘यदि मैं दुःशासनकी साँवली भुजाको कटकर धूलमें लोटती न देखूँ तो मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी? ।।

त्रयोदश हि वर्षाणि प्रतीक्षन्त्या गतानि मे ।
विधाय हृदये मन्युं प्रदीप्तमिव पावकम् ।। ४० ।।

‘प्रज्वलित अग्निके समान इस प्रचण्ड क्रोधको हृदयमें रखकर प्रतीक्षा करते मुझे तेरह वर्ष बीत गये हैं ।।

विदीर्यते मे हृदयं भीमवाक्छल्यपीडितम् ।
योऽयमद्य महाबाहुर्धर्ममेवानुपश्यति ।। ४१ ।।

‘आज भीमसेनके संधिके लिये कहे गये वचन मेरे हृदयमें बाणके समान लगे हैं, जिनसे पीड़ित होकर मेरा कलेजा फटा जा रहा है। हाय! ये महाबाहु आज (मेरे अपमानको भुलाकर) केवल धर्मका ही ध्यान धर रहे हैं ।।

इत्युक्त्वा बाष्परुद्धेन कण्ठेनायतलोचना ।
रुरोद कृष्णा सोत्कम्पं सस्वरं बाष्पगद्गदम् ।। ४२ ।।
स्तनौ पीनायतश्रोणी सहितावभिवर्षती ।
द्रवीभूतमिवात्युष्णं मुञ्चन्ती वारि नेत्रजम् ।। ४३ ।।

इतना कहनेके बाद पीन एवं विशाल नितम्बोंवाली विशाललोचना द्रुपदकुमारी कृष्णाका कण्ठ आँसुओंसे रुँध गया। वह काँपती हुई अश्रुगद्गद वाणीमें फूट-फूटकर रोने लगी। उसके परस्पर सटे हुए स्तनोंपर नेत्रोंसे गरम-गरम आँसुओंकी वर्षा होने लगी; मानो वह अपने भीतरकी द्रवीभूत क्रोधाग्निको ही उन वाष्पबिन्दुओंके रूपमें बिखेर रही हो ।। ४२-४३ ।।

तामुवाच महाबाहुः केशवः परिसान्त्वयन् ।
अचिराद् द्रक्ष्यसे कृष्णे रुदतीर्भरतस्त्रियः ।। ४४ ।।

तब महाबाहु केशवने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—‘कृष्णे! तुम शीघ्र ही भरतवंशकी दूसरी स्त्रियोंको भी इसी प्रकार रुदन करते देखोगी ।। ४४ ।।

एवं ता भीरु रोत्स्यन्ति निहतज्ञातिबान्धवाः ।
हतमित्रा हतबला येषां क्रुद्धासि भामिनि ।। ४५ ।।

‘भामिनि! जिनपर तुम कुपित हुई हो, उन विपक्षियोंकी स्त्रियाँ भी अपने कुटुम्बी, बन्धु-बान्धव, मित्रवृन्द तथा सेनाओंके मारे जानेपर इसी तरह रोयेंगी ।।

अहं च तत् करिष्यामि भीमार्जुनयमैः सह ।
युधिष्ठिरनियोगेन दैवाच्च विधिनिर्मितात् ।। ४६ ।।

‘महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञा तथा विधाताके रचे हुए अदृष्टसे प्रेरित हो भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवको साथ लेकर मैं भी वही करूँगा, जो तुम्हें अभीष्ट है ।।

धार्तराष्ट्राः कालपक्वा न चेच्छृण्वन्ति मे वचः ।

शेष्यन्ते निहता भूमौ श्वशृगालादनीकृताः ।। ४७ ।।

‘यदि कालके गालमें जानेवाले धृतराष्ट्रपुत्र मेरी बात नहीं सुनेंगे तो मारे जाकर धरतीपर लोटेंगे और कुत्तों तथा सियारोंके भोजन बन जायँगे ।। ४७ ।।

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा फलेत् ।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत् ।। ४८ ।।

‘हिमालय पर्वत अपनी जगहसे टल जाय, पृथ्वीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ तथा नक्षत्रोंसहित आकाश टूट पड़े, परंतु मेरी यह बात झूठी नहीं हो सकती ।। ४८ ।।

सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे बाष्पो निगृह्यताम् ।
हतामित्रञ्श्रिया युक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन् ।। ४९ ।।

‘कृष्णे! अपने आँसुओंको रोको। मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, तुम शीघ्र ही देखोगी कि सारे शत्रु मार डाले गये और तुम्हारे पति राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न हैं’ ।। ४९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि द्रौपदीकृष्णसंवादे द्वयशीतितमोऽध्यायः ।। ८२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें द्रौपदी-कृष्णसंवादविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८२ ।।

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका हस्तिनापुरको प्रस्थान, युधिष्ठिरका माता कुन्ती एवं कौरवोंके लिये संदेश तथा श्रीकृष्णको मार्गमें दिव्य महर्षियोंका दर्शन

अर्जुन उवाच

कुरूणामद्य सर्वेषां भवान् सुहृदनुत्तमः ।
सम्बन्धी दयितो नित्यमुभयोः पक्षयोरपि ।। १ ।।

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण! आजकल आप ही समस्त कौरवोंके सर्वोत्तम सुहृद् तथा दोनों पक्षोंके नित्य प्रिय सम्बन्धी हैं ।। १ ।।

पाण्डवैर्धार्तराष्ट्राणां प्रतिपाद्यमनामयम् ।
समर्थः प्रशमं चैव कर्तुमर्हसि केशव ।। २ ।।

केशव! पाण्डवोंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका मंगल सम्पादन करना आपका कर्तव्य है। आप उभयपक्षमें संधि करानेकी शक्ति भी रखते हैं ।। २ ।।

त्वमितः पुण्डरीकाक्ष सुयोधनममर्षणम् ।
शान्त्यर्थं भ्रातरं ब्रूया यत् तद् वाच्यममित्रहन् ।। ३ ।।

शत्रुओंका नाश करनेवाले कमलनयन श्रीकृष्ण! आप यहाँसे जाकर हमारे अमर्षशील भ्राता दुर्योधनसे ऐसी बातें करें, जो शान्तिस्थापनमें सहायक हों ।। ३ ।।

त्वया धर्मार्थयुक्तं चेदुक्तं शिवमनामयम् ।
हितं नादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ।। ४ ।।

यदि वह मूर्ख आपकी कही हुई धर्म और अर्थसे युक्त, संतापनाशक, कल्याणकारी एवं हितकर बातें नहीं मानेगा तो अवश्य ही उसे कालके गालमें जाना पड़ेगा ।।

श्रीभगवानुवाच

धर्म्यमस्मद्धितं चैव कुरूणां यदनामयम् ।
एष यास्यामि राजानं धृतराष्ट्रमभीप्सया ।। ५ ।।

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन! जो धर्मसंगत, हमलोगोंके लिये हितकर तथा कौरवोंके लिये भी मंगलकारक हो, वही कार्य करनेके लिये मैं राजा धृतराष्ट्रके समीप यात्रा करूँगा ।। ५ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यपेततमसि सूर्ये विमलवद्गते ।

मैत्रे मुहूर्ते सम्प्राप्ते मृद्वर्चिषि दिवाकरे ।। ६ ।।
कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे ।
स्फीतसस्यसुखे काले कल्पः सत्त्ववतां वरः ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर जब रात्रिका अन्धकार दूर हुआ और निर्मल आकाशमें सूर्यदेवके उदित होनेपर उनकी कोमल किरणें सब ओर फैल गयीं। कार्तिक मासके रेवती नक्षत्रमें 'मैत्र' नामक मुहूर्त उपस्थित होनेपर सत्त्वगुणी पुरुषोंमें श्रेष्ठ एवं समर्थ श्रीकृष्णने यात्रा आरम्भ की। उन दिनों शरद्-ऋतुका अन्त और हेमन्तका आरम्भ हो रहा था। सब ओर खूब उपजी हुई खेती लहलहा रही थी ।।

मङ्गल्याः पुण्यनिर्घोषा वाचः शृण्वंश्च सूनृताः ।
ब्राह्मणानां प्रतीतानामृषीणामिव वासवः ।। ८ ।।
कृत्वा पौर्वाह्णिकं कृत्यं स्नातः शुचिरलंकृतः ।
उपतस्थे विवस्वन्तं पावकं च जनार्दनः ।। ९ ।।
ऋषभं पृष्ठ आलभ्य ब्राह्मणानभिवाद्य च ।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा पश्यन् कल्याणमग्रतः ।। १० ।।
तत् प्रतिज्ञाय वचनं पाण्डवस्य जनार्दनः ।
शिनेर्नप्तारमासीनमभ्यभाषत सात्यकिम् ।। ११ ।।

भगवान् जनार्दनने सबसे पहले प्रातःकाल ऋषियोंके मुखसे मंगलपाठ सुननेवाले देवराज इन्द्रकी भाँति विश्वस्त ब्राह्मणोंके मुखसे परम मधुर मंगलकारक पुण्याहवाचन सुनते हुए स्नान किया। फिर उन्होंने पवित्र तथा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो स्वन्ध्यावन्दन, सूर्योपस्थान एवं अग्निहोत्र आदि पूर्वाह्णकृत्य सम्पन्न किये। इसके बाद बैलकी पीठ छूकर ब्राह्मणोंको नमस्कार किया और अग्निकी परिक्रमा करके अपने सामने प्रस्तुत की हुई कल्याणकारक वस्तुओंका दर्शन किया। तदनन्तर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी बातोंपर विचार करके जनार्दनने अपने पास बैठे हुए शिनिपौत्र सात्यकिसे इस प्रकार कहा— ।। ८—११ ।।

रथ आरोप्यतां शङ्खश्चक्रं च गदया सह ।
उपासंगाश्च शक्त्यश्च सर्वप्रहरणानि च ।। १२ ।।

'युयुधान! मेरे रथपर शंख, चक्र, गदा, तूणीर, शक्ति तथा अन्य सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लाकर रख दो ।।

दुर्योधनश्च दुष्टात्मा कर्णश्च सहसौबलः ।
न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा ।। १३ ।।

'कोई अत्यन्त बलवान् क्यों न हो; उसे अपने दुर्बल शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; (उससे सतर्क रहना चाहिये।) फिर दुर्योधन, कर्ण और शकुनि तो दुष्टात्मा ही हैं। उनसे तो सावधान रहनेकी अत्यन्त आवश्यकता है ।। १३ ।।

ततस्तन्मतमाज्ञाय केशवस्य पुरःसराः ।
प्रसस्रुर्योजयिष्यन्तो रथं चक्रगदाभृतः ।। १४ ।।

तब चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके अभिप्रायको जानकर उनके आगे चलनेवाले सेवक रथ जोतनेके लिये दौड़ पड़े ।। १४ ।।

तं दीप्तमिव कालाग्निमाकाशगमिवाशुगम् ।
सूर्यचन्द्रप्रकाशाभ्यां चक्राभ्यां समलंकृतम् ।। १५ ।।

वह रथ प्रलयकालीन अग्निके समान दीप्तिमान्, विमानके सदृश शीघ्रगामी तथा सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी दो गोलाकार चक्रोंसे सुशोभित था ।। १५ ।।

अर्धचन्द्रैश्च चन्द्रैश्च मत्स्यैः समृगपक्षिभिः ।
पुष्पैश्च विविधैश्चित्रं मणिरत्नैश्च सर्वशः ।। १६ ।।

अर्धचन्द्र, चन्द्र, मत्स्य, मृग, पक्षी, नाना प्रकारके पुष्प तथा सभी तरहके मणि-रत्नोंसे चित्रित एवं जटित होनेके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी ।। १६ ।।

तरुणादित्यसंकाशं बृहन्तं चारुदर्शनम् ।
मणिहेमविचित्राङ्गं सुध्वजं सुपताकिनम् ।। १७ ।।

वह तरुण सूर्यके समान प्रकाशमान, विशाल तथा देखनेमें मनोहर था। उसके सभी भागोंमें मणि एवं सुवर्ण जड़े हुए थे। उस रथकी ध्वजा बहुत ही सुन्दर थी और उसपर उत्तम पताका फहरा रही थी ।। १७ ।।

सूपस्करमनाधृष्यं वैयाघ्रपरिवारणम् ।
यशोघ्नं प्रत्यमित्राणां यदूनां नन्दिवर्धनम् ।। १८ ।।

उसमें सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री सुन्दर ढंगसे रखी गयी थी। उसपर व्याघ्रचर्मका आवरण (पर्दा) शोभा पाता था। वह रथ शत्रुओंके लिये दुर्धर्ष तथा उनके सुयशका नाश करनेवाला था। साथ ही उससे यदुवंशियोंके आनन्दकी वृद्धि होती थी ।। १८ ।।

वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः ।
स्नातैः सम्पादयामासुः सम्पन्नैः सर्वसम्पदा ।। १९ ।।

श्रीकृष्णके सेवकोंने शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प तथा बलाहक नामवाले चारों घोड़ोंको नहला-धुलाकर सब प्रकारके बहुमूल्य आभूषणोंद्वारा सुसज्जित करके उस रथमें जोत दिया ।। १९ ।।

महिमानं तु कृष्णस्य भूय एवाभिवर्धयन् ।
सुघोषः पतगेन्द्रेण ध्वजेन युयुजे रथः ।। २० ।।

इस प्रकार वह रथ श्रीकृष्णकी महत्ताको और अधिक बढ़ाता हुआ गरुड़चिह्नित ध्वजसे संयुक्त हो बड़ी शोभा पा रहा था। चलते समय उसके पहियोंसे गम्भीर ध्वनि होती थी ।। २० ।।

तं मेरुशिखरप्रख्यं मेघदुन्दुभिनिःस्वनम् ।

आरुरोह रथं शौरिर्विमानमिव कामगम् ।। २१ ।।

मेरुपर्वतके शिखरोंकी भाँति सुनहरी प्रभासे सुशोभित तथा मेघ और दुन्दुभियोंके समान गम्भीर नाद करनेवाले उस रथपर, जो इच्छानुसार चलनेवाले विमानके समान प्रतीत होता था, भगवान् श्रीकृष्ण आरूढ़ हुए ।। २१ ।।

ततः सात्यकिमारोप्य प्रययौ पुरुषोत्तमः ।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च रथघोषेण नादयन् ।। २२ ।।

तदनन्तर सात्यकिको भी उसी रथपर बैठाकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने रथकी गम्भीर ध्वनिसे पृथ्वी और आकाशको गुँजाते हुए वहाँसे प्रस्थान किया ।। २२ ।।

व्यपोढाभ्रस्ततः कालः क्षणेन समपद्यत ।
शिवश्चानुववौ वायुः प्रशान्तमभवद् रजः ।। २३ ।।

तत्पश्चात् उस समय क्षणभरमें ही आकाशमें घिरे हुए बादल छिन्न-भिन्न हो अदृश्य हो गये। शीतल, सुखद एवं अनुकूल वायु चलने लगी तथा धूलका उड़ना बंद हो गया ।। २३ ।।

प्रदक्षिणानुलोमाश्च मङ्गल्या मृगपक्षिणः ।
प्रयाणे वासुदेवस्य बभूवुरनुयायिनः ।। २४ ।।

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी उस यात्राके समय मंगलसूचक मृग और पक्षी उनके दाहिने तथा अनुकूल दिशामें जाते हुए उनका अनुसरण करने लगे ।। २४ ।।

मङ्गल्यार्थप्रदैः शब्दैरन्ववर्तन्त सर्वशः ।
सारसाः शतपत्राश्च हंसाश्च मधुसूदनम् ।। २५ ।।

सारस, शतपत्र तथा हंस पक्षी सब ओरसे मंगलसूचक शब्द करते हुए मधुसूदन श्रीकृष्णके पीछे-पीछे जाने लगे ।। २५ ।।

मन्त्राहुतिमहाहोमैर्हूयमानश्च पावकः ।
प्रदक्षिणमुखो भूत्वा विधूमः समपद्यत ।। २६ ।।

मन्त्रपाठपूर्वक दी जानेवाली आहुतियोंसे युक्त बड़े-बड़े होमयज्ञोंद्वारा हविष्य पाकर अग्निदेव प्रदक्षिण-क्रमसे उठनेवाली लपटोंके साथ प्रज्वलित हो धूमरहित हो गये ।। २६ ।।

वसिष्ठो वामदेवश्च भूरिद्युम्नो गयः क्रथः ।
शुक्रनारदवाल्मीका मरुत्तः कुशिको भृगुः ।। २७ ।।
देवब्रह्मर्षयश्चैव कृष्णं यदुसुखावहम् ।
प्रदक्षिणमवर्तन्त सहिता वासवानुजम् ।। २८ ।।

वसिष्ठ, वामदेव, भूरिद्युम्न, गय, क्रथ, शुक्र, नारद, वाल्मीकि, मरुत्त, कुशिक तथा भृगु आदि देवर्षियों तथा ब्रह्मर्षियोंने एक साथ आकर यदुकुलको सुख देनेवाले इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की ।। २७-२८ ।।

एवमेतैर्महाभागैर्महर्षिगणसाधुभिः ।
पूजितः प्रययौ कृष्णः कुरूणां सदनं प्रति ।। २९ ।।

इस प्रकार इन महाभाग महर्षियों तथा साधु-महात्माओंसे सम्मानित हो श्रीकृष्णने कुरुकुलकी राजधानी हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थान किया ।। २९ ।।

तं प्रयान्तमनुप्रायात् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।। ३० ।।
चेकितानश्च विक्रान्तो धृष्टकेतुश्च चेदिपः ।
द्रुपदः काशिराजश्च शिखण्डी च महारथः ।। ३१ ।।
धृष्टद्युम्नः सपुत्रश्च विराटः केकयैः सह ।
संसाधनार्थं प्रययुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।। ३२ ।।

क्षत्रियशिरोमणे! श्रीकृष्णके जाते समय उन्हें पहुँचानेके लिये कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उनके पीछे-पीछे चले। साथ ही भीमसेन, अर्जुन, माद्रीके दोनों पुत्र पाण्डुकुमार नकुल-सहदेव, पराक्रमी चेकितान, चेदिराज धृष्टकेतु, द्रुपद, काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, पुत्रों और केकयोंसहित राजा विराट—ये सभी क्षत्रिय अभीष्ट कार्यकी सिद्धि एवं शिष्टाचारका पालन करनेके लिये उनके पीछे गये ।। ३०—३२ ।।

ततोऽनुव्रज्य गोविन्दं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
राज्ञां सकाशे द्युतिमानुवाचेदं वचस्तदा ।। ३३ ।।

इस प्रकार गोविन्दके पीछे कुछ दूर जाकर तेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने राजाओंके समीप उनसे कुछ कहनेका विचार किया ।। ३३ ।।

यो वै न कामान्न भयान्न लोभान्नार्थकारणात् ।
अन्यायमनुवर्तेत स्थिरबुद्धिरलोलुपः ।। ३४ ।।
धर्मज्ञो धृतिमान् प्राज्ञः सर्वभूतेषु केशवः ।
ईश्वरः सर्वभूतानां देवदेवः सनातनः ।। ३५ ।।

जो कभी कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा अन्य किसी प्रयोजनके कारण भी अन्यायका अनुसरण नहीं कर सकते, जिनकी बुद्धि स्थिर है, जो लोभ-रहित, धर्मज्ञ, धैर्यवान्, विद्वान् तथा सम्पूर्ण भूतोंके भीतर विराजमान हैं, वे भगवान् केशव देवताओंके भी देवता, सनातन परमेश्वर तथा समस्त प्राणियोंके ईश्वर हैं ।। ३४-३५ ।।

तं सर्वगुणसम्पन्नं श्रीवत्सकृतलक्षणम् ।
सम्परिष्वज्य कौन्तेयः संदेष्टुमुपचक्रमे ।। ३६ ।।

उन्हीं सर्वगुणसम्पन्न श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगाकर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने निम्नांकित संदेश देना आरम्भ किया ।। ३६ ।।

युधिष्ठिर उवाच

या सा बाल्यात् प्रभृत्यस्मान् पर्यवर्धयताबला ।
उपवासतपःशीला सदा स्वस्त्ययने रता ।। ३७ ।।
देवतातिथिपूजासु गुरुशुश्रूषणे रता ।
वत्सला प्रियपुत्रा च प्रियास्माकं जनार्दन ।। ३८ ।।
सुयोधनभयाद् या नोऽत्रायतामित्रकर्शन ।
महतो मृत्युसम्बाधादुद्धध्रे नौरिवार्णवात् ।। ३९ ।।
अस्मत्कृते च सततं यया दुःखानि माधव ।
अनुभूतान्यदुःखार्हा तां स्म पृच्छेरनामयम् ।। ४० ।।

युधिष्ठिर बोले—शत्रुओंका संहार करनेवाले जनार्दन! अबला होकर भी जिसने बाल्यकालसे ही हमें पाल-पोसकर बड़ा किया है, उपवास और तपस्यामें संलग्न रहना जिसका स्वभाव बन गया है, जो सदा कल्याणसाधनमें ही लगी रहती है, देवताओं और अतिथियोंकी पूजामें तथा गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषामें जिसका अटूट अनुराग है, जो पुत्रवत्सला एवं पुत्रोंको प्यार करनेवाली है, जिसके प्रति हम पाँचों भाइयोंका अत्यन्त प्रेम है, जिसने दुर्योधनके भयसे हमारी रक्षा की है, जैसे नौका मनुष्यको समुद्रमें डूबनेसे बचाती

है, उसी प्रकार जिसने मृत्युके महान् संकटसे हमारा उद्धार किया है और माधव! जिसने हमलोगोंके कारण सदा दुःख ही भोगे हैं, उस दुःख न भोगनेके योग्य हमारी माता कुन्तीसे मिलकर आप उसका कुशल-समाचार अवश्य पूछें ।। ३७—४० ।।

भृशमाश्वासयेश्चैनां पुत्रशोकपरिप्लुताम् ।
अभिवाद्य स्वजेथास्त्वं पाण्डवान् परिकीर्तयन् ।। ४१ ।।

आप हम पाण्डवोंका समाचार बताते हुए हमारी माँसे मिलियेगा और प्रणाम करके पुत्रशोकसे पीड़ित हुई उस देवीको बहुत-बहुत आश्वासन दीजियेगा ।।

ऊढात् प्रभृति दुःखानि श्वशुराणामरिंदम ।
निकारानतदर्हा च पश्यन्ती दुःखमश्नुते ।। ४२ ।।

शत्रुदमन! उसने विवाह करनेसे लेकर ही अपने श्वशुरके घरमें आकर नाना प्रकारके दुःख और कष्ट ही देखे तथा अनुभव किये हैं और इस समय भी वह वहाँ कष्ट ही भोगती है ।। ४२ ।।

अपि जातु स कालः स्यात् कृष्ण दुःखविपर्ययः ।
यदहं मातरं क्लिष्टां सुखं दद्यामरिंदम ।। ४३ ।।

शत्रुनाशक श्रीकृष्ण! क्या कभी वह समय भी आयेगा, जब हमारे सब दुःख दूर हो जायँगे और हमलोग दुःखमें पड़ी हुई अपनी माताको सुख दे सकेंगे? ।। ४३ ।।

प्रव्रजन्तोऽनुधावन्तीं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
रुदतीमपहायैनामगच्छाम वयं वनम् ।। ४४ ।।

जब हम वनको जा रहे थे, उस समय पुत्रस्नेहसे व्याकुल हो वह कातरभावसे रोती हुई हमारे पीछे-पीछे दौड़ी आ रही थी, परंतु हमलोग उसे वहीं छोड़कर वनमें चले गये ।। ४४ ।।

न नूनं म्रियते दुःखैः सा चेज्जीवति केशव ।
तथा पुत्रादिभिर्गाढमार्ता ह्यानर्तसत्कृत ।। ४५ ।।

आनर्तदेशके सम्मानित वीर केशव! यह निश्चित नहीं है कि मनुष्य दुःखोंसे घबराकर मर ही जाता हो। इसलिये कदाचित् वह जीवित हो, तो भी पुत्रोंकी चिन्तासे अत्यन्त पीड़ित ही होगी ।। ४५ ।।

अभिवाद्याथ सा कृष्ण त्वया मद्वचनाद् विभो ।
धृतराष्ट्रश्च कौरव्यो राजानश्च वयोऽधिकाः ।। ४६ ।।
भीष्मं द्रोणं कृपं चैव महाराजं च बाह्लिकम् ।
द्रौणिं च सोमदत्तं च सर्वांश्च भरतान् प्रति ।। ४७ ।।
विदुरं च महाप्राज्ञं कुरूणां मन्त्रधारिणम् ।
अगाधबुद्धिं मर्मज्ञं स्वजेथा मधुसूदन ।। ४८ ।।

प्रभो! मधुसूदन श्रीकृष्ण! आप माताको प्रणाम करके मेरे कथनानुसार धृतराष्ट्र, दुर्योधन, अन्यान्य वयोवृद्ध नरेश, भीष्म, द्रोण, कृप, महाराज बाह्लीक, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, सोमदत्त, समस्त भरतवंशी क्षत्रिय-वृन्द तथा कौरवोंके मन्त्रकी रक्षा करनेवाले, मर्मवेत्ता, अगाधबुद्धि एवं महाज्ञानी विदुरके पास जाकर इन सबको हृदयसे लगाइयेगा— ।। ४६—४८ ।।

इत्युक्त्वा केशवं तत्र राजमध्ये युधिष्ठिरः ।
अनुज्ञातो निववृते कृष्णं कृत्वा प्रदक्षिणम् ।। ४९ ।।

राजाओंके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर उनकी परिक्रमा करके आज्ञा ले लौट पड़े ।।

व्रजन्नेव तु बीभत्सुः सखायं पुरुषर्षभम् ।
अब्रवीत् परवीरघ्नं दाशार्हमपराजितम् ।। ५० ।।

परंतु अर्जुनने पीछे-पीछे जाते हुए ही शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अपराजित नरश्रेष्ठ अपने सखा दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्णसे कहा— ।। ५० ।।

यदस्माकं विभो वृत्तं पुरा वै मन्त्रनिश्चये ।
अर्धराज्यस्य गोविन्द विदितं सर्वराजसु ।। ५१ ।।

'गोविन्द! पहले जब हमलोगोंमें गुप्त मन्त्रणा हुई थी, उस समय एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँचकर हमने आधा राज्य लेकर ही संधि करनेका निर्णय किया था; इस बातको सभी राजा जानते हैं ।। ५१ ।।

तच्चेद् दद्यादसंगेन सत्कृत्यानवमन्य च ।
प्रियं मे स्यान्महाबाहो मुच्येरन् महतो भयात् ।। ५२ ।।

'महाबाहो! यदि दुर्योधन लोभ छोड़कर अनादर न करके सत्कारपूर्वक हमें आधा राज्य लौटा दे तो मेरा प्रिय कार्य सम्पन्न हो जाय तथा समस्त कौरव महान् भयसे छुटकारा पा जायँ ।। ५२ ।।

अतश्चेदन्यथा कर्ता धार्तराष्ट्रोऽनुपायवित् ।
अन्तं नूनं करिष्यामि क्षत्रियाणां जनार्दन ।। ५३ ।।

'जनार्दन! यदि समुचित उपायको न जाननेवाला धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन इसके विपरीत आचरण करेगा तो मैं निश्चय ही उसके पक्षमें आये हुए समस्त क्षत्रियोंका संहार कर डालूँगा' ।। ५३ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते पाण्डवेन समहृष्यद् वृकोदरः ।
मुहुर्मुहुः क्रोधवशात् प्रावेपत च पाण्डवः ।। ५४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डुनन्दन अर्जुनके ऐसा कहनेपर पाण्डव भीमसेनको बड़ा हर्ष हुआ। वे क्रोधवश बारंबार काँपने लगे ।। ५४ ।।

वेपमानश्च कौन्तेयः प्राक्रोशन्महतो रवान् ।
धनंजयवचः श्रुत्वा हर्षोत्सिक्तमना भृशम् ।। ५५ ।।

काँपते-काँपते ही कुन्तीकुमार भीमसेन बड़े जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे। अर्जुनकी पूर्वोक्त बातें सुनकर उनका हृदय अत्यन्त हर्ष और उत्साहसे भर गया था ।। ५५ ।।

तस्य तं निनदं श्रुत्वा सम्प्रावेपन्त धन्विनः ।
वाहनानि च सर्वाणि शकृन्मूत्रे प्रसुस्रुवुः ।। ५६ ।।

उनका वह सिंहनाद सुनकर समस्त धनुर्धर भयके मारे थरथर काँपने लगे। उनके सभी वाहनोंने मल-मूत्र कर दिये ।। ५६ ।।

इत्युक्त्वा केशवं तत्र तथा चोक्त्वा विनिश्चयम् ।
अनुज्ञातो निववृते परिष्वज्य जनार्दनम् ।। ५७ ।।

इस प्रकार श्रीकृष्णसे वार्तालाप करके उन्हें अपना निश्चय बता गले मिलकर अर्जुन श्रीकृष्णसे आज्ञा ले लौट आये ।। ५७ ।।

तेषु राजसु सर्वेषु निवृत्तेषु जनार्दनः ।
तूर्णमभ्यगमद्धृष्टः शैब्यसुग्रीववाहनः ।। ५८ ।।

उन सब राजाओंके लौट जानेपर शैब्य और सुग्रीव आदिसे युक्त रथपर चलनेवाले जनार्दन श्रीकृष्ण बड़े हर्षके साथ तीव्र गतिसे आगे बढ़े ।। ५८ ।।

ते हया वासुदेवस्य दारुकेण प्रचोदिताः ।
पन्थानमाचेमुरिव ग्रसमाना इवाम्बरम् ।। ५९ ।।

दारुकके हाँकनेपर भगवान् वासुदेवके वे अश्व इतने वेगसे चलने लगे, मानो समस्त मार्गको पी रहे हों और आकाशको ग्रस लेना चाहते हों ।। ५९ ।।

अथापश्यन्महाबाहुर्ऋषीनध्वनि केशवः ।
ब्राह्मया श्रिया दीप्यमानान् स्थितानुभयतः पथि ।। ६० ।।

तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने मार्गमें कुछ महर्षियोंको उपस्थित देखा, जो रास्तेके दोनों ओर खड़े थे और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित हो रहे थे ।। ६० ।।

सोऽवतीर्य रथात् तूर्णमभिवाद्य जनार्दनः ।
यथावृत्तानृषीन् सर्वानभ्यभाषत पूजयन् ।। ६१ ।।

तब भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत ही रथसे उतर पड़े और पूर्वोक्तरूपसे खड़े हुए उन समस्त महर्षियोंको प्रणाम करके उनका समादर करते हुए बोले— ।। ६१ ।।

कच्चिल्लोकेषु कुशलं कच्चिद् धर्मः स्वनुष्ठितः ।
ब्राह्मणानां त्रयो वर्णाः कच्चित् तिष्ठन्ति शासने ।। ६२ ।।
(पितृदेवातिथिभ्यश्च कच्चित् पूजा स्वनिष्ठिता ।)

'महात्माओ! सम्पूर्ण लोकोंमें कुशल तो है न? क्या धर्मका अच्छी तरह अनुष्ठान हो रहा है? क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण ब्राह्मणोंकी आज्ञाके अधीन रहते हैं न? क्या पितरों, देवताओं और अतिथियोंकी पूजा भलीभाँति सम्पन्न हो रही है?' ।। ६२ ।।

तेभ्यः प्रयुज्य तां पूजां प्रोवाच मधुसूदनः ।
भगवन्तः क्व संसिद्धाः का वीथी भवतामिह ।। ६३ ।।
किं वा कार्यं भगवतामहं किं करवाणि वः ।
केनार्थेनोपसम्प्राप्ता भगवन्तो महीतलम् ।। ६४ ।।

तत्पश्चात् उन महर्षियोंकी पूजा करके भगवान् मधुसूदनने फिर उनसे पूछा—'महात्माओ! आपने कहाँ सिद्धि प्राप्त की है? आपलोगोंका यहाँ कौन-सा मार्ग है? अथवा आपलोगोंका क्या कार्य है? भगवन्! मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ? किस प्रयोजनसे आपलोग इस भूतलपर पधारे हैं?' ।। ६३-६४ ।।

(एवमुक्ताः केशवेन मुनयः संशितव्रताः ।
नारदप्रमुखाः सर्वे प्रत्यनन्दन्त केशवम् ।।

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कठोर व्रत धारण करनेवाले नारद आदि सब महर्षि उनका अभिनन्दन करने लगे।

अधःशिराः सर्पमाली महर्षिः स हि देवलः ।

अर्वावसुः सुजानुश्च मैत्रेयः शुनको बली ।।

बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनस्तथा ।

आयोदधौम्यो धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ ।।

दामोष्णीषस्त्रिषवणः पर्णादो घटजानुकः ।

मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्योऽथ शालिकः ।।

शीलवानशनिर्धाता शून्यपालोऽकृतव्रणः ।

श्वेतकेतुः कहोलश्च रामश्चैव महातपाः ।।)

(नारदजीके अतिरिक्त जो महर्षि वहाँ उपस्थित थे, उनके नाम इस प्रकार हैं—) अधःशिरा, सर्पमाली, महर्षि देवल, अर्वावसु, सुजानु, मैत्रेय, शुनक, बली, दल्भपुत्र बक, स्थूलशिरा, पराशरनन्दन श्रीकृष्णद्वैपायन, आयोदधौम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य, कौशिक, दामोष्णीष त्रिषवण, पर्णाद, घटजानुक, मौंजायन, वायुभक्ष, पाराशर्य, शालिक, शीलवान्, अशनि, धाता, शून्यपाल, अकृतव्रण, श्वेतकेतु, कहोल एवं महातपस्वी परशुराम।

तमब्रवीज्जामदग्न्य उपेत्य मधुसूदनम् ।

परिष्वज्य च गोविन्दं सुरासुरपतेः सखा ।। ६५ ।।

उस समय देवराज तथा दैत्यराजके भी सखा जमदग्निनन्दन परशुरामने मधुसूदन श्रीकृष्णके पास जाकर उन्हें हृदयसे लगाया और इस प्रकार कहा— ।।

देवर्षयः पुण्यकृतो ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः ।

राजर्षयश्च दाशार्ह मानयन्तस्तपस्विनः ।

देवासुरस्य द्रष्टारः पुराणस्य महामते ।। ६६ ।।

समेतं पार्थिवं क्षत्रं दिदृक्षन्तश्च सर्वतः ।

सभासदश्च राजानस्त्वां च सत्यं जनार्दनम् ।। ६७ ।।

एतन्महत् प्रेक्षणीयं द्रष्टुं गच्छाम केशव ।

धर्मार्थसहिता वाचः श्रोतुमिच्छाम माधव ।। ६८ ।।

त्वयोच्यमानाः कुरुषु राजमध्ये परंतप ।

'महामते केशव! जिन्होंने पुरातन देवासुरसंग्रामको भी अपनी आँखोंसे देखा है, वे पुण्यात्मा देवर्षिगण, अनेक शास्त्रोंके विद्वान् ब्रह्मर्षिगण तथा आपका सम्मान करनेवाले तपस्वी राजर्षिगण सम्पूर्ण दिशाओंसे एकत्र हुए भूमण्डलके क्षत्रियनरेशोंको, सभामें बैठे हुए भूपालों-को तथा सत्यस्वरूप आप भगवान् जनार्दनको देखना चाहते हैं। इस परम दर्शनीय वस्तुका दर्शन करनेके लिये ही हम हस्तिनापुरमें चल रहे हैं। शत्रुओंको संताप देनेवाले माधव! वहाँ कौरवों तथा अन्य राजाओंकी मण्डलीमें आपके द्वारा कही जानेवाली धर्म और अर्थसे युक्त बातोंको हम सुनना चाहते हैं ।। ६६—६८½ ।।

भीष्मद्रोणादयश्चैव विदुरश्च महामतिः ।। ६९ ।।

त्वं च यादवशार्दूल सभायां वै समेष्यथ ।

'यदुकुलसिंह! वहाँ कौरवसभामें भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख व्यक्ति, परम बुद्धिमान् विदुर तथा आप पधारेंगे ।। ६९ $\frac{1}{2}$ ।।

तव वाक्यानि दिव्यानि तथा तेषां च माधव ।। ७० ।।

श्रोतुमिच्छाम गोविन्द सत्यानि च हितानि च ।

'गोविन्द! माधव! उस सभामें आपके तथा भीष्म आदिके मुखसे जो दिव्य, सत्य एवं हितकर वचन प्रकट होंगे, उन सबको हमलोग सुनना चाहते हैं ।। ७० $\frac{1}{2}$ ।।

आपृष्टोऽसि महाबाहो पुनर्द्रक्ष्यामहे वयम् ।। ७१ ।।

याह्यविघ्नेन वै वीर द्रक्ष्यामस्त्वां सभागतम् ।

आसीनमासने दिव्ये बलतेजःसमाहितम् ।। ७२ ।।

'महाबाहो! अब हमलोग आपसे पूछकर विदा ले रहे हैं, पुनः आपका दर्शन करेंगे। वीर! आपकी यात्रा निर्विघ्न हो। जब सभामें पधारकर आप दिव्य आसनपर बैठे होंगे, उसी समय बल और तेजसे सम्पन्न आपके श्रीअंगोंका हम पुनः दर्शन करेंगे' ।। ७१-७२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णप्रस्थाने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ।। ८३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णप्रस्थानविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८३ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ $\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल ७७ $\frac{1}{2}$ श्लोक हैं।]

चतुरशीतितमोऽध्यायः

मार्गके शुभाशुभ शकुनोंका वर्णन तथा मार्गमें लोगोंद्वारा सत्कार पाते हुए श्रीकृष्णका वृकस्थल पहुँचकर वहाँ विश्राम करना

वैशम्पायन उवाच

प्रयान्तं देवकीपुत्रं परवीररुजो दश ।
महारथा महाबाहुमन्वयुः शस्त्रपाणयः ।। १ ।।
पदातीनां सहस्रं च सादिनां च परंतप ।
भोज्यं च विपुलं राजन् प्रेष्याश्च शतशोऽपरे ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! महाबाहु श्रीकृष्णके प्रस्थान करते समय विपक्षी वीरोंपर विजय पानेवाले शस्त्रधारी दस महारथी, एक हजार पैदल योद्धा, एक हजार घुड़सवार, प्रचुर खाद्य-सामग्री तथा दूसरे सैकड़ों सेवक उनके साथ गये ।। १-२ ।।

जनमेजय उवाच

कथं प्रयातो दाशार्हो महात्मा मधुसूदनः ।
कानि वा व्रजतस्तस्य निमित्तानि महौजसः ।। ३ ।।

जनमेजयने पूछा—दशार्हकुलतिलक महात्मा मधुसूदनने किस प्रकार यात्रा की? उन महातेजस्वी श्रीकृष्णके जाते समय कौन-कौन-से भले-बुरे शकुन प्रकट हुए थे? ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्य प्रयाणे यान्यासन् निमित्तानि महात्मनः ।
तानि मे शृणु सर्वाणि दैवान्यौत्पातिकानि च ।। ४ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! महात्मा श्रीकृष्णके प्रस्थान करते समय जो दिव्य शकुन और उत्पातसूचक अपशकुन प्रकट हुए थे, मुझसे उन सबका वर्णन सुनो ।। ४ ।।

अनभ्रेऽशनिनिर्घोषः सविद्युत् समजायत ।
अन्वगेव च पर्जन्यः प्रावर्षद् विघने भृशम् ।। ५ ।।

बिना बादलके ही आकाशमें बिजलीसहित वज्रकी गड़गड़ाहट सुनायी देने लगी। उसके साथ ही पर्जन्यदेवताने मेघोंकी घटा न होनेपर भी प्रचुर जलकी वर्षा की ।। ५ ।।

प्रत्यगूहुर्महानद्यः प्राङ्मुखाः सिन्धुसप्तमाः ।
विपरीता दिशः सर्वा न प्राज्ञायत किंचन ।। ६ ।।

पूर्वकी ओर बहनेवाली सिन्धु आदि बड़ी-बड़ी नदियोंका प्रवाह उलटकर पश्चिमकी ओर हो गया। सारी दिशाएँ विपरीत प्रतीत होने लगीं। कुछ भी समझमें नहीं आता था ।। ६ ।।

प्राज्वलन्नग्नयो राजन् पृथिवी समकम्पत ।
उदपानाश्च कुम्भाश्च प्रासिञ्चञ्छतशो जलम् ।। ७ ।।

राजन्! सब ओर आग जलने लगी। धरती डोलने लगी। सैकड़ों जलाशय और कलश छलक-छलककर जल गिराने लगे ।। ७ ।।

तमःसंवृतमप्यासीत् सर्वं जगदिदं तथा ।
न दिशो नादिशो राजन् प्रज्ञायन्ते स्म रेणुना ।। ८ ।।

राजन्! यह सारा संसार धूलके कारण अन्धकारसे आच्छन्न-सा हो गया। कौन दिशा है, कौन दिशा नहीं है—इसका ज्ञान नहीं हो पाता था ।। ८ ।।

प्रादुरासीन्महाञ्छब्दः खे शरीरमदृश्यत ।
सर्वेषु राजन् देशेषु तदद्भुतमिवाभवत् ।। ९ ।।

महाराज! फिर बड़े जोरसे कोलाहल होने लगा। आकाशमें सब ओर मनुष्यकी-सी आकृति दिखायी देने लगी। सम्पूर्ण देशोंमें यह अद्भुत-सी बात दिखायी दी ।। ९ ।।

प्रामथ्नाद्धास्तिनपुरं वातो दक्षिणपश्चिमः ।
आरुजन् गणशो वृक्षान् परुषोऽशनिनिःस्वनः ।। १० ।।

दक्षिण-पश्चिमसे आँधी उठी और हस्तिनापुरको मथने लगी। उसने झुंड-के-झुंड वृक्षोंको तोड़-उखाड़कर धराशायी कर दिया। वज्रपातका-सा कठोर शब्द होने लगा (इस प्रकारके उत्पात हस्तिनापुरके आस-पास घटित होते थे) ।। १० ।।

यत्र यत्र च वार्ष्णेयो वर्तते पथि भारत ।
तत्र तत्र सुखो वायुः सर्वं चासीत् प्रदक्षिणम् ।। ११ ।।

भारत! वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण मार्गमें जहाँ-जहाँ रहते थे, वहाँ-वहाँ सुखदायिनी वायु चलती थी और सभी शुभ शकुन उनके दाहिने भागमें प्रकट होते थे ।। ११ ।।

ववर्ष पुष्पवर्षं च कमलानि च भूरिशः ।
समश्च पन्था निर्दुःखो व्यपेतकुशकण्टकः ।। १२ ।।

उनपर फूलोंकी और बहुत-से खिले हुए कमलोंकी भी वृष्टि होती तथा सारा मार्ग कुश-कण्टकसे शून्य और समतल होकर क्लेश और दुःखसे रहित हो जाता था ।। १२ ।।

संस्तुतो ब्राह्मणैर्गीर्भिस्तत्र तत्र सहस्रशः ।
अर्च्यते मधुपर्कैश्च वसुभिश्च वसुप्रदः ।। १३ ।।

सहस्रों ब्राह्मण विभिन्न स्थानोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते तथा मधुपर्कद्वारा उनकी पूजा करते थे। धनदाता भगवान्ने भी उन सबको यथेष्ट धन दिया ।।

तं किरन्ति महात्मानं वन्यैः पुष्पैः सुगन्धिभिः ।
स्त्रियः पथि समागम्य सर्वभूतहिते रतम् ।। १४ ।।

मार्गमें कितनी ही स्त्रियाँ आकर सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत रहनेवाले उन महात्मा श्रीकृष्णके ऊपर वनके सुगन्धित फूलोंकी वर्षा करती थीं ।। १४ ।।

स शालिभवनं रम्यं सर्वसस्यसमाचितम् ।
सुखं परमधर्मिष्ठमभ्यगाद् भरतर्षभ ।। १५ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समय धर्मकार्यके लिये अत्यन्त उपयोगी तथा सम्पूर्ण सस्य-सम्पत्तिसे भरे हुए अगहनी धानके मनोहर खेत देखते हुए भगवान् बड़े सुखसे यात्रा कर रहे थे ।। १५ ।।

पश्यन् बहुपशून् ग्रामान् रम्यान् हृदयतोषणान् ।
पुराणि च व्यतिक्रामन् राष्ट्राणि विविधानि च ।। १६ ।।

रास्तेमें कितने ही ऐसे गाँव मिलते, जिनमें बहुत-से पशुओंका पालन-पोषण होता था। वे देखनेमें अत्यन्त सुन्दर और मनको संतोष देनेवाले थे। उन सबको देखते और अनेकानेक नगरों एवं राष्ट्रोंको लाँघते हुए वे आगे बढ़ते चले गये ।। १६ ।।

नित्यं हृष्टाः सुमनसो भारतैरभिरक्षिताः ।
नोद्विग्नाः परचक्राणां व्यसनानामकोविदाः ।। १७ ।।

उपप्लव्यादथायान्तं जनाः पुरनिवासिनः ।
पथ्यतिष्ठन्त सहिता विष्वक्सेनदिदृक्षया ।। १८ ।।

इधर उपप्लव्य नगरसे आते हुए भगवान् श्रीकृष्णको देखनेकी इच्छासे अनेक नागरिक रास्तेमें एक साथ खड़े थे। भरतवंशियोंद्वारा सुरक्षित होनेके कारण वे सदा हर्ष एवं उल्लाससे भरे रहते थे। उनका मन बहुत प्रसन्न था। उन्हें शत्रुओंकी सेनाओंसे उद्विग्न होनेका अवसर नहीं आता था। दुःख और संकट कैसा होता है, इसको वे जानते ही नहीं थे ।। १७-१८ ।।

ते तु सर्वे समायान्तमग्निमिद्धमिव प्रभुम् ।
अर्चयामासुरर्चार्हं देशातिथिमुपस्थितम् ।। १९ ।।

उन सबने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी और अपने देशके पूजनीय अतिथि भगवान् श्रीकृष्णको समीप आते देख निकट जाकर उनका यथावत् पूजन किया ।।

वृकस्थलं समासाद्य केशवः परवीरहा ।
प्रकीर्णरश्मावादित्ये व्योम्नि वै लोहितायति ।। २० ।।
अवतीर्य रथात् तूर्णं कृत्वा शौचं यथाविधि ।
रथमोचनमादिश्य संध्यामुपविवेश ह ।। २१ ।।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण जब वृकस्थलमें पहुँचे, उस समय नाना किरणोंसे मण्डित सूर्य अस्त होने लगे और पश्चिमके आकाशमें लाली छा गयी। तब भगवान्ने शीघ्र ही रथसे उतरकर उसे खोलनेकी आज्ञा दी और विधिपूर्वक शौच-स्नान करके वे संध्योपासना करने लगे ।। २०-२१ ।।

दारुकोऽपि हयान् मुक्त्वा परिचर्य च शास्त्रतः ।
मुमोच सर्वयोक्त्रादि मुक्त्वा चैतानवासृजत् ।। २२ ।।

दारुकने भी घोड़ोंको खोलकर शास्त्रविधिके अनुसार उनकी परिचर्या की और उनका सारा साज-बाज उतार दिया तथा उन्हें बन्धनमुक्त करके छोड़ दिया ।। २२ ।।

अभ्यतीत्य तु तत् सर्वमुवाच मधुसूदनः ।
युधिष्ठिरस्य कार्यार्थमिह वत्स्यामहे क्षपाम् ।। २३ ।।

संध्या-वन्दन आदि सारा कार्य समाप्त करके मधुसूदन श्रीकृष्णने कहा—‘युधिष्ठिरका कार्य सिद्ध करनेके लिये आज रातमें हमलोग यहीं रहेंगे’ ।। २३ ।।

तस्य तन्मतमाज्ञाय चक्रुरावसथं नराः ।
क्षणेन चान्नपानानि गुणवन्ति समार्जयन् ।। २४ ।।

उनका यह विचार जानकर सेवकोंने वहीं डेरे डाल दिये। क्षणभरमें उन्होंने खाने-पीनेके उत्तमोत्तम पदार्थ प्रस्तुत कर दिये ।। २४ ।।

तस्मिन् ग्रामे प्रधानास्तु य आसन् ब्राह्मणा नृप ।
आर्याः कुलीना ह्रीमन्तो ब्राह्मीं वृत्तिमनुष्ठिताः ।। २५ ।।

राजन्! उस गाँवमें जो प्रमुख ब्राह्मण रहते थे, वे श्रेष्ठ, कुलीन, लज्जाशील और ब्राह्मणोचित वृत्तिका पालन करनेवाले थे ।। २५ ।।

तेऽभिगम्य महात्मानं हृषीकेशमरिंदमम् ।
पूजां चक्रुर्यथान्यायमाशीर्मङ्गलसंयुताम् ।। २६ ।।

उन्होंने शत्रुदमन महात्मा हृषीकेशके पास जाकर आशीर्वाद तथा मंगलपाठपूर्वक उनका यथोचित पूजन किया ।।

ते पूजयित्वा दाशार्हं सर्वलोकेषु पूजितम् ।
न्यवेदयन्त वेश्मानि रत्नवन्ति महात्मने ।। २७ ।।

सर्वलोकपूजित दशार्हनन्दन श्रीकृष्णकी पूजा करके उन्होंने उन महात्माको अपने रत्नसम्पन्न गृह समर्पित कर दिये अर्थात् अपने-अपने घरोंमें ठहरनेके लिये प्रभुसे प्रार्थना की ।। २७ ।।

तान् प्रभुः कृतमित्युक्त्वा सत्कृत्य च यथार्हतः ।
अभ्येत्य चैषां वेश्मानि पुनरायात् सहैव तैः ।। २८ ।।

तब भगवान्ने यह कहकर कि यहाँ ठहरनेके लिये पर्याप्त स्थान है, उनका यथायोग्य सत्कार किया और (उनके संतोषके लिये) उन सबके घरोंपर जाकर पुनः उनके साथ ही लौट आये ।। २८ ।।

सुमृष्टं भोजयित्वा च ब्राह्मणांस्तत्र केशवः ।
भुक्त्वा च सह तैः सर्वैरवसत् तां क्षपां सुखम् ।। २९ ।।

तत्पश्चात् केशवने वहीं उन ब्राह्मणोंको सुस्वादु अन्न भोजन कराया, फिर स्वयं भी भोजन करके उन सबके साथ उस रातमें वहाँ सुखपूर्वक निवास किया ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णप्रयाणे चतुरशीतितमोऽध्यायः ।। ८४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका हस्तिनापुरको प्रस्थानविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८४ ।।

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्र आदिकी अनुमतिसे श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये मार्गमें विश्रामस्थान बनवाना

वैशम्पायन उवाच

तथा दूतैः समाज्ञाय प्रयान्तं मधुसूदनम् ।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् भीष्ममर्चयित्वा महाभुजम् ।। १ ।।
द्रोणं च संजयं चैव विदुरं च महामतिम् ।
दुर्योधनं सहामात्यं हृष्टरोमाब्रवीदिदम् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दूतोंके द्वारा भगवान् मधुसूदनके आगमनका समाचार जानकर धृतराष्ट्रके शरीरमें रोमांच हो आया। उन्होंने महाबाहु भीष्म, द्रोण, संजय तथा परम बुद्धिमान् विदुरका यथावत् सत्कार करके मन्त्रियोंसहित दुर्योधनसे इस प्रकार कहा— ।। १-२ ।।

अद्भुतं महदाश्चर्यं श्रूयते कुरुनन्दन ।
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च कथयन्ति गृहे गृहे ।। ३ ।।
सत्कृत्याचक्षते चान्ये तथैवान्ये समागताः ।
पृथग्वादाश्च वर्तन्ते चत्वरेषु सभासु च ।। ४ ।।

'कुरुनन्दन! एक अद्भुत और अत्यन्त आश्चर्यकी बात सुनायी देती है। घर-घरमें स्त्री-बालक और बूढ़े इसीकी चर्चा करते हैं। जो यहाँके निवासी हैं, वे तथा जो बाहरसे आये हुए हैं, वे भी आदरपूर्वक उसी बातको कहते हैं। चौराहोंपर और सभाओंमें भी पृथक्-पृथक् वही चर्चा चलती है ।। ३-४ ।।

उपायास्यति दाशार्हः पाण्डवार्थे पराक्रमी ।
स नो मान्यश्च पूज्यश्च सर्वथा मधुसूदनः ।। ५ ।।

'वह बात यह है कि पाण्डवोंकी ओरसे परम पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधारेंगे। वे मधुसूदन हमलोगोंके माननीय तथा सब प्रकारसे पूजनीय हैं ।। ५ ।।

तस्मिन् हि यात्रा लोकस्य भूतानामीश्वरो हि सः ।
तस्मिन् धृतिश्च वीर्यं च प्रज्ञा चौजश्च माधवे ।। ६ ।।

'सम्पूर्ण लोकोंका जीवन उन्हींपर निर्भर है, क्योंकि वे सम्पूर्ण भूतोंके अधीश्वर हैं। उन माधवमें धैर्य, पराक्रम, बुद्धि और तेज सब कुछ है ।। ६ ।।

स मान्यतां नरश्रेष्ठः स हि धर्मः सनातनः ।
पूजितो हि सुखाय स्यादसुखः स्यादपूजितः ।। ७ ।।

'उन नरश्रेष्ठ श्रीकृष्णका यहाँ सम्मान होना चाहिये; क्योंकि वे सनातन धर्मस्वरूप हैं। सम्मानित होनेपर वे हमारे लिये सुखदायक होंगे और सम्मानित न होनेपर हमारे दुःखके कारण बन जायँगे ।। ७ ।।

स चेत् तुष्यति दाशार्ह उपचारैररिंदमः ।
कृष्णात् सर्वानभिप्रायान् प्राप्स्यामः सर्वराजसु ।। ८ ।।

'शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण यदि हमारे सत्कार-साधनोंसे संतुष्ट हो जायँगे, तब हम समस्त राजाओंमें उनसे अपने सारे मनोरथ प्राप्त कर लेंगे ।। ८ ।।

तस्य पूजार्थमद्यैव संविधत्स्व परंतप ।
सभाः पथि विधीयन्तां सर्वकामसमन्विताः ।। ९ ।।

'परंतप! तुम श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये आजसे ही तैयारी करो। मार्गमें अनेक विश्रामस्थान बनवाओ और उनमें सब प्रकारकी मनोनुकूल उपभोग-सामग्री प्रस्तुत करो ।। ९ ।।

यथा प्रीतिर्महाबाहो त्वयि जायेत तस्य वै ।
तथा कुरुष्व गान्धारे कथं वा भीष्म मन्यसे ।। १० ।।

'महाबाहु गान्धारीनन्दन! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे श्रीकृष्णके हृदयमें तुम्हारे प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाय। अथवा भीष्मजी! इस विषयमें आपकी क्या सम्मति है?' ।। १० ।।

ततो भीष्मादयः सर्वे धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
ऊचुः परममित्येवं पूजयन्तोऽस्य तद् वचः ।। ११ ।।

तब भीष्म आदि सब लोगोंने उस प्रस्तावकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए राजा धृतराष्ट्रसे कहा—'बहुत उत्तम बात है' ।। ११ ।।

तेषामनुमतं ज्ञात्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
सभावास्तूनि रम्याणि प्रदेष्टुमुपचक्रमे ।। १२ ।।

उन सबकी अनुमति जानकर राजा दुर्योधनने उस समय जगह-जगह सुन्दर सभामण्डप तथा विश्रामस्थान बनवानेके लिये आदेश जारी किया ।। १२ ।।

ततो देशेषु देशेषु रमणीयेषु भागशः ।
सर्वरत्नसमाकीर्णाः सभाश्चक्रुरनेकशः ।। १३ ।।

तब कारीगरोंने विभिन्न रमणीय प्रदेशोंमें अलग-अलग सब प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न अनेक विश्राम-स्थान बनाये ।। १३ ।।

आसनानि विचित्राणि युतानि विविधैर्गुणैः ।
स्त्रियो गन्धानलंकारान् सूक्ष्माणि वसनानि च ।। १४ ।।
गुणवन्त्यन्नपानानि भोज्यानि विविधानि च ।
माल्यानि च सुगन्धीनि तानि राजा ददौ ततः ।। १५ ।।

नाना प्रकारके गुणोंसे युक्त विचित्र आसन, स्त्रियाँ, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, महीन वस्त्र, गुणकारक अन्न और पेय पदार्थ, भाँति-भाँतिके भोजन तथा सुगन्धित पुष्पमालाएँ आदि वस्तुओंको राजा दुर्योधनने उन स्थानोंमें रखवाया ।। १४-१५ ।।

विशेषतश्च वासार्थं सभां ग्रामे वृकस्थले ।
विदधे कौरवो राजा बहुरत्नां मनोरमाम् ।। १६ ।।

विशेषतः वृकस्थल नामक ग्राममें निवास करनेके लिये कुरुराज दुर्योधनने जो विश्रामस्थान बनवाया था, वह बड़ा मनोरम तथा प्रचुर रत्नराशिसे सम्पन्न था ।। १६ ।।

एतद् विधाय वै सर्वं देवार्हमतिमानुषम् ।
आचख्यौ धृतराष्ट्राय राजा दुर्योधनस्तदा ।। १७ ।।

मनुष्योंके लिये अत्यन्त दुर्लभ यह सब देवोचित व्यवस्था करके राजा दुर्योधनने धृतराष्ट्रको इसकी सूचना दे दी ।। १७ ।।

ताः सभाः केशवः सर्वा रत्नानि विविधानि च ।
असमीक्ष्यैव दाशार्ह उपायात् कुरुसद्म तत् ।। १८ ।।

परंतु यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण उन विश्रामस्थानों तथा नाना प्रकारके रत्नोंकी ओर दृष्टिपाततक न करके कौरवोंके निवासस्थान हस्तिनापुरकी ओर बढ़ते चले गये ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मार्गे सभानिर्माणे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ।। ८५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मार्गमें विश्रामस्थलनिर्माणविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८५ ।।

षडशीतितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका भगवान् श्रीकृष्णकी अगवानी करके उन्हें भेंट देने एवं दुःशासनके महलमें ठहरानेका विचार प्रकट करना

धृतराष्ट्र उवाच

उपप्लव्यादिह क्षत्तरुपायातो जनार्दनः ।
वृकस्थले निवसति स च प्रातरिहैष्यति ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! मुझे सूचना मिली है कि भगवान् श्रीकृष्ण उपप्लव्यसे यहाँके लिये प्रस्थित हो गये हैं, आज वृकस्थलमें ठहरे हैं तथा कल सबेरे ही इस नगरमें पहुँच जायँगे ।। १ ।।

आहुकानामधिपतिः पुरोगः सर्वसात्वताम् ।
महामना महावीर्यो महासत्त्वो जनार्दनः ।। २ ।।

भगवान् जनार्दन आहुकवंशी क्षत्रियोंके अधिपति तथा समस्त सात्वतों (यादवों)-के अगुआ हैं। उनका हृदय महान् है, पराक्रम भी महान् है तथा वे महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न हैं ।।

स्फीतस्य वृष्णिराष्ट्रस्य भर्ता गोप्ता च माधवः ।
त्रयाणामपि लोकानां भगवान् प्रपितामहः ।। ३ ।।

वे भगवान् माधव समृद्धिशाली यादव गणराष्ट्रके पोषक तथा संरक्षक हैं। पितामहके भी जनक होनेके कारण वे तीनों लोकोंके प्रपितामह हैं ।। ३ ।।

वृष्ण्यन्धकाः सुमनसो यस्य प्रज्ञामुपासते ।
आदित्या वसवो रुद्रा यथा बुद्धिं बृहस्पतेः ।। ४ ।।

जैसे आदित्य, वसु तथा रुद्रगण बृहस्पतिकी बुद्धिका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार वृष्णि और अन्धकवंशके लोग प्रसन्नचित्त होकर श्रीकृष्णकी ही बुद्धिके आश्रित रहते हैं ।। ४ ।।

तस्मै पूजां प्रयोक्ष्यामि दाशार्हाय महात्मने ।
प्रत्यक्षं तव धर्मज्ञ तां मे कथयतः शृणु ।। ५ ।।

धर्मज्ञ विदुर! मैं तुम्हारे सामने ही उन महात्मा श्रीकृष्णको जो पूजा दूँगा, उसे बताता हूँ, सुनो ।। ५ ।।

एकवर्णैः सुक्लृप्ताङ्गैर्बाह्लिजातैर्हयोत्तमैः ।
चतुर्युक्तान् रथांस्तस्मै रौक्मान् दास्यामि षोडश ।। ६ ।।

एक रंगके, सुदृढ़ अंगोंवाले तथा बाह्लीकदेशमें उत्पन्न हुए उत्तम जातिके चार-चार घोड़ोंसे जुते हुए सोलह सुवर्णमय रथ मैं श्रीकृष्णको भेंट करूँगा ।। ६ ।।

नित्यप्रभिन्नान् मातङ्गानीषादन्तान् प्रहारिणः ।
अष्टानुचरमेकैकमष्टौ दास्यामि कौरव ।। ७ ।।

कुरुनन्दन! इनके सिवा मैं उन्हें आठ मतवाले हाथी भी दूँगा, जिनके मस्तकोंसे सदा मद चूता रहता है, जिनके दाँत ईषादण्डके समान प्रतीत होते हैं तथा जो शत्रुओंपर प्रहार करनेमें कुशल हैं और जिन आठों गजराजोंमेंसे प्रत्येकके साथ आठ-आठ सेवक हैं ।। ७ ।।

दासीनामप्रजातानां शुभानां रुक्मवर्चसाम् ।
शतमस्मै प्रदास्यामि दासानामपि तावताम् ।। ८ ।।

साथ ही मैं उन्हें सुवर्णकी-सी कान्तिवाली परम सुन्दरी सौ ऐसी दासियाँ दूँगा, जिनसे किसी संतानकी उत्पत्ति नहीं हुई है। दासियोंके ही बराबर दास भी दूँगा ।। ८ ।।

आविकं च सुखस्पर्शं पार्वतीयैरुपाहृतम् ।
तदप्यस्मै प्रदास्यामि सहस्राणि दशाष्ट च ।। ९ ।।

मेरे यहाँ पर्वतीयोंसे भेंटमें मिले हुए भेड़के ऊनसे बने हुए (असंख्य) कम्बल हैं, जो स्पर्श करनेपर बड़े मुलायम जान पड़ते हैं; उनमेंसे अठारह हजार कम्बल भी मैं श्रीकृष्णको उपहारमें दूँगा ।। ९ ।।

अजिनानां सहस्राणि चीनदेशोद्भवानि च ।
तान्यप्यस्मै प्रदास्यामि यावदर्हति केशवः ।। १० ।।

चीनदेशमें उत्पन्न हुए सहस्रों मृगचर्म मेरे भण्डारमें सुरक्षित हैं; उनमेंसे श्रीकृष्ण जितने लेना चाहेंगे, उतने सब-के-सब उन्हें अर्पित कर दूँगा ।। १० ।।

दिवा रात्रौ च भात्येष सुतेजा विमलो मणिः ।
तमप्यस्मै प्रदास्यामि तमर्हति हि केशवः ।। ११ ।।

मेरे पास यह एक अत्यन्त तेजस्वी निर्मल मणि है, जो दिन तथा रातमें भी प्रकाशित होती है, इसे भी मैं श्रीकृष्णको ही दूँगा; क्योंकि वे ही इसके योग्य हैं ।।

एकेनाभिपतत्यह्ना योजनानि चतुर्दश ।
यानमश्वतरीयुक्तं दास्ये तस्मै तदप्यहम् ।। १२ ।।

मेरे पास खच्चरियोंसे युक्त एक रथ है, जो एक दिनमें चौदह योजनतक चला जाता है, वह भी मैं उन्हींको अर्पित करूँगा ।। १२ ।।

यावन्ति वाहनान्यस्य यावन्तः पुरुषाश्च ते ।
ततोऽष्टगुणमप्यस्मै भोज्यं दास्याम्यहं सदा ।। १३ ।।

श्रीकृष्णके साथ जितने वाहन और जितने सेवक आयेंगे उन सबको औसतसे आठगुना भोजन मैं प्रत्येक समय देता रहूँगा ।। १३ ।।

मम पुत्राश्च पौत्राश्च सर्वे दुर्योधनादृते ।
प्रत्युद्यास्यन्ति दाशार्हं रथैर्मृष्टैः स्वलंकृताः ।। १४ ।।

दुर्योधनके सिवा मेरे सभी पुत्र और पौत्र वस्त्र-आभूषणोंसे विभूषित हो स्वच्छ-सुन्दर रथोंपर बैठकर श्रीकृष्णकी अगवानीके लिये जायँगे ।। १४ ।।

स्वलंकृताश्च कल्याण्यः पादैरेव सहस्रशः ।
वारमुख्या महाभागं प्रत्युद्यास्यन्ति केशवम् ।। १५ ।।

सहस्रों सुन्दरी वारांगनाएँ सुन्दर वेषभूषासे सज-धजकर महाभाग केशवकी अगवानीके लिये पैदल ही जायँगी ।। १५ ।।

नगरादपि याः काश्चिद् गमिष्यन्ति जनार्दनम् ।
द्रष्टुं कन्याश्च कल्याण्यस्ताश्च यास्यन्त्यनावृताः ।। १६ ।।

जनार्दनका दर्शन करनेके लिये इस नगरसे जो भी कोई पर्दा न रखनेवाली कल्याणमयी कन्याएँ जाना चाहेंगी, वे जा सकेंगी ।। १६ ।।

सस्त्रीपुरुषबालं च नगरं मधुसूदनम् ।
उदीक्षतां महात्मानं भानुमन्तमिव प्रजाः ।। १७ ।।

जैसे प्रजा सूर्यदेवका दर्शन करती है, उसी प्रकार स्त्री, पुरुष और बालकोंसहित यह सारा नगर महात्मा मधुसूदनका दर्शन करे ।। १७ ।।

महाध्वजपताकाश्च क्रियन्तां सर्वतो दिशः ।
जलावसिक्तो विरजाः पन्थास्तस्येति चान्वशात् ।। १८ ।।

'नगरमें चारों ओर विशाल ध्वजाएँ और पताकाएँ फहरा दी जायँ और श्रीकृष्ण जिसपर आ रहे हों, उस राजपथपर जलका छिड़काव करके उसे धूलरहित बना दिया जाय' इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रने आदेश दिया ।। १८ ।।

दुःशासनस्य च गृहं दुर्योधनगृहाद् वरम् ।
तदद्य क्रियतां क्षिप्रं सुसम्मृष्टमलंकृतम् ।। १९ ।।

इतना कहकर वे फिर बोले—दुःशासनका महल दुर्योधनके राजभवनसे भी श्रेष्ठ है। उसीको आज झाड़-पोंछकर सब प्रकारसे सुसज्जित कर दिया जाय ।। १९ ।।

एतद्धि रुचिराकारैः प्रासादैरुपशोभितम् ।
शिवं च रमणीयं च सर्वर्तुसुमहाधनम् ।। २० ।।

यह महल सुन्दर आकारवाले भवनोंसे सुशोभित, कल्याणकारी, रमणीय, सभी ऋतुओंके वैभवसे सम्पन्न तथा अनन्त धनराशिसे समृद्ध है ।। २० ।।

सर्वमस्मिन् गृहे रत्नं मम दुर्योधनस्य च ।
यद् यदर्हति वार्ष्णेयस्तत् तद् देयमसंशयम् ।। २१ ।।

मेरे और दुर्योधनके पास जो भी रत्न हैं, वे सब इसी घरमें रखे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण उनमेंसे जो-जो रत्न लेना चाहें, वे सब उन्हें निःसंदेह दे दिये जायँ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

विदुरका धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन करनेके लिये समझाना

विदुर उवाच

राजन् बहुमतश्चासि त्रैलोक्यस्यापि सत्तमः ।
सम्भावितश्च लोकस्य सम्मतश्चासि भारत ।। १ ।।

विदुरजी बोले—राजन्! आप तीनों लोकोंके श्रेष्ठतम पुरुष हैं और सर्वत्र आपका बहुत सम्मान होता है। भारत! इस लोकमें भी आपकी बड़ी प्रतिष्ठा और सम्मान है ।। १ ।।

यत् त्वमेवंगते ब्रूयाः पश्चिमे वयसि स्थितः ।
शास्त्राद् वा सुप्रतर्काद् वा सुस्थिरः स्थविरो ह्यसि ।। २ ।।

इस समय आप अन्तिम अवस्था (बुढ़ापे)-में स्थित हैं। ऐसी स्थितिमें आप जो कुछ कह रहे हैं, वह शास्त्रसे अथवा लौकिक युक्तिसे भी ठीक ही है। इस सुस्थिर विचारके कारण ही आप वास्तवमें स्थविर (वृद्ध) हैं ।। २ ।।

लेखा शशिनि भाः सूर्ये महोर्मिरिव सागरे ।
धर्मस्त्वयि तथा राजन्निति व्यवसिताः प्रजाः ।। ३ ।।

राजन्! जैसे चन्द्रमामें कला है, सूर्यमें प्रभा है और समुद्रमें उत्ताल तरंगें हैं, उसी प्रकार आपमें धर्मकी स्थिति है। यह समस्त प्रजा निश्चितरूपसे जानती है ।।

सदैव भावितो लोको गुणौघैस्तव पार्थिव ।
गुणानां रक्षणे नित्यं प्रयतस्व सबान्धवः ।। ४ ।।

भूपाल! आपके सद्‌गुणसमूहसे सदा ही इस जगत्‌की उन्नति एवं प्रतिष्ठा हो रही है। अतः आप अपने बन्धु-बान्धवोंसहित सदा ही इन सद्‌गुणोंकी रक्षाके लिये प्रयत्न कीजिये ।। ४ ।।

आर्जवं प्रतिपद्यस्व मा बाल्याद् बहु नीनशः ।
राजन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च सुहृदश्चैव सुप्रियान् ।। ५ ।।

राजन्! आप सरलताको अपनाइये। मूर्खतावश कुटिलताका आश्रय ले अपने अत्यन्त प्रिय पुत्रों, पौत्रों तथा सुहृदोंका महान् सर्वनाश न कीजिये ।। ५ ।।

यत् त्वमिच्छसि कृष्णाय राजन्नतिथये बहु ।
एतदन्यच्च दाशार्हः पृथिवीमपि चार्हति ।। ६ ।।

नरेश्वर! श्रीकृष्णको अतिथिरूपमें पाकर आप जो उन्हें बहुत-सी वस्तुएँ देना चाहते हैं, उन सबके साथ-साथ वे आपसे इस समूची पृथ्वीके भी पानेके अधिकारी हैं ।। ६ ।।

न तु त्वं धर्ममुद्दिश्य तस्य वा प्रियकारणात् ।
एतद् दित्ससि कृष्णाय सत्येनात्मानमालभे ।। ७ ।।

मैं सत्यकी शपथ खाकर अपने शरीरको छूकर कहता हूँ कि आप धर्मपालनके उद्देश्यसे अथवा श्रीकृष्णका प्रिय करनेके लिये उन्हें वे सब वस्तुएँ नहीं देना चाहते हैं ।। ७ ।।

मायैषा सत्यमेवैतच्छद्मैतद् भूरिदक्षिण ।
जानामि त्वन्मतं राजन् गूढं बाह्येन कर्मणा ।। ८ ।।

यज्ञोंमें बहुत-सी दक्षिणा देनेवाले महाराज! मैं सच कहता हूँ। यह सब आपकी माया और प्रवंचनामात्र है। आपके इन बाह्यव्यवहारोंमें छिपा हुआ जो आपका वास्तविक अभिप्राय है, उसे मैं समझता हूँ ।। ८ ।।

पञ्च पञ्चैव लिप्सन्ति ग्रामकान् पाण्डवा नृप ।
न च दित्ससि तेभ्यस्तांस्तच्छमं न करिष्यसि ।। ९ ।।

नरेन्द्र! बेचारे पाँचों भाई पाण्डव आपसे केवल पाँच गाँव ही पाना चाहते हैं; परंतु आप उन्हें वे गाँव भी नहीं देना चाहते हैं। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि आप (सन्धिद्वारा) शान्तिस्थापन नहीं करेंगे ।। ९ ।।

अर्थेन तु महाबाहुं वार्ष्णेयं त्वं जिहीर्षसि ।
अनेन चाप्युपायेन पाण्डवेभ्यो बिभेत्स्यसि ।। १० ।।

आप तो धन देकर महाबाहु श्रीकृष्णको अपने पक्षमें लाना चाहते हैं और इस उपायसे आप यह आशा रखते हैं कि आप उन्हें पाण्डवोंकी ओरसे फोड़ लेंगे ।। १० ।।

न च वित्तेन शक्योऽसौ नोद्यमेन न गर्हया ।
अन्यो धनंजयात् कर्तुमेतत् तत्त्वं ब्रवीमि ते ।। ११ ।।

परंतु मैं आपको असली बात बताये देता हूँ; आप धन देकर अथवा दूसरा कोई उद्योग या निन्दा करके श्रीकृष्णको अर्जुनसे पृथक् नहीं कर सकते ।। ११ ।।

वेद कृष्णस्य माहात्म्यं वेदास्य दृढभक्तिताम् ।
अत्याज्यमस्य जानामि प्राणैस्तुल्यं धनंजयम् ।। १२ ।।

मैं श्रीकृष्णके माहात्म्यको जानता हूँ। श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनकी जो सुदृढ़ भक्ति है, उससे भी परिचित हूँ। अतः मैं यह निश्चितरूपसे जानता हूँ कि श्रीकृष्ण अपने प्राणोंके समान प्रिय सखा अर्जुनको कभी त्याग नहीं सकते ।। १२ ।।

अन्यत् कुम्भादपां पूर्णादन्यत् पादावसेचनात् ।
अन्यत् कुशलसम्प्रश्नान्नैषिष्यति जनार्दनः ।। १३ ।।

इसलिये आपकी दी हुई वस्तुओंमेंसे जलसे भरे हुए कलश, पैर धोनेके लिये जल और कुशल-प्रश्नको छोड़कर दूसरी किसी वस्तुको श्रीकृष्ण नहीं स्वीकार करेंगे ।। १३ ।।

यत् त्वस्य प्रियमातिथ्यं मानार्हस्य महात्मनः ।

तदस्मै क्रियतां राजन् मानार्होऽसौ जनार्दनः ।। १४ ।।

राजन्! सम्माननीय महात्मा श्रीकृष्णका जो परम प्रिय आतिथ्य है, वह तो कीजिये ही; क्योंकि वे भगवान् जनार्दन सबके द्वारा सम्मान पानेके योग्य हैं ।। १४ ।।

आशंसमानः कल्याणं कुरूनभ्येति केशवः ।
येनैव राजन्नर्थेन तदेवास्मा उपाकुरु ।। १५ ।।

महाराज! भगवान् केशव उभयपक्षके कल्याणकी इच्छा लेकर जिस प्रयोजनसे इस कुरुदेशमें आ रहे हैं, वही उन्हें उपहारमें दीजिये ।। १५ ।।

शममिच्छति दाशार्हस्तव दुर्योधनस्य च ।
पाण्डवानां च राजेन्द्र तदस्य वचनं कुरु ।। १६ ।।

राजेन्द्र! दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण आप, दुर्योधन तथा पाण्डवोंमें संधि कराकर शान्ति स्थापित करना चाहते हैं। अतः उनके इस कथनका पालन कीजिये (इसीसे वे संतुष्ट होंगे) ।। १६ ।।

पितासि राजन् पुत्रास्ते वृद्धस्त्वं शिशवः परे ।
वर्तस्व पितृवत् तेषु वर्तन्ते ते हि पुत्रवत् ।। १७ ।।

महाराज! आप पिता हैं और पाण्डव आपके पुत्र हैं। आप वृद्ध हैं और वे शिशु हैं। आप उनके प्रति पिताके समान स्नेहपूर्ण बर्ताव कीजिये। वे आपके प्रति सदा ही पुत्रोंकी भाँति श्रद्धा- भक्ति रखते हैं ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुरवाक्ये सप्ताशीतितमोऽध्यायः ।। ८७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुरवाक्यविषयक सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८७ ।।

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका श्रीकृष्णके विषयमें अपने विचार कहना एवं उसकी कुमन्त्रणासे कुपित हो भीष्मजीका सभासे उठ जाना

दुर्योधन उवाच

यदाह विदुरः कृष्णे सर्वं तत् सत्यमच्युते ।
अनुरक्तो ह्यसंहार्यः पार्थान् प्रति जनार्दनः ।। १ ।।

दुर्योधन बोला—पिताजी! अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले श्रीकृष्णके सम्बन्धमें विदुरजी जो कुछ कहते हैं, वह सब कुछ ठीक है। जनार्दन श्रीकृष्णका कुन्तीके पुत्रोंके प्रति अटूट अनुराग है; अतः उन्हें उनकी ओरसे फोड़ा नहीं जा सकता ।। १ ।।

यत् तत् सत्कारसंयुक्तं देयं वसु जनार्दने ।
अनेकरूपं राजेन्द्र न तद् देयं कदाचन ।। २ ।।

राजेन्द्र! आप जो जनार्दनको सत्कारपूर्वक बहुत-सा धन-रत्न भेंट करना चाहते हैं, वह कदापि उन्हें न दें ।। २ ।।

देशः कालस्तथायुक्तो न हि नार्हति केशवः ।
मंस्यत्यधोक्षजो राजन् भयादर्चति मामिति ।। ३ ।।

मैं इसलिये नहीं कहता कि श्रीकृष्ण उन वस्तुओंके अधिकारी नहीं हैं; अपितु इस दृष्टिसे मना कर रहा हूँ कि वर्तमान देश-काल इस योग्य नहीं है कि उनका विशेष सत्कार किया जाय। राजन्! इस समय तो श्रीकृष्ण यही समझेंगे कि यह डरके मारे मेरी पूजा कर रहा है ।। ३ ।।

अवमानश्च यत्र स्यात् क्षत्रियस्य विशाम्पते ।
न तत् कुर्याद् बुधः कार्यमिति मे निश्चिता मतिः ।। ४ ।।

प्रजानाथ! जहाँ क्षत्रियका अपमान होता हो, वहाँ समझदार क्षत्रियको वैसा कार्य नहीं करना चाहिये। यह मेरा निश्चित विचार है ।। ४ ।।

स हि पूज्यतमो लोके कृष्णः पृथुललोचनः ।
त्रयाणामपि लोकानां विदितं मम सर्वथा ।। ५ ।।

विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण इस लोकमें ही नहीं, तीनों लोकोंमें सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण परम पूजनीय पुरुष हैं, यह बात मुझे सब प्रकारसे विदित है ।। ५ ।।

न तु तस्मै प्रदेयं स्यात् तथा कार्यगतिः प्रभो ।
विग्रहः समुपारब्धो न हि शाम्यत्यविग्रहात् ।। ६ ।।

प्रभो! तथापि मेरा मत है कि इस समय उन्हें कुछ नहीं देना चाहिये; क्योंकि ऐसी ही कार्यप्रणाली प्राप्त है। जब कलह आरम्भ हो गया है, तब अतिथिसत्कारद्वारा प्रेम दिखानेमात्रसे उसकी शान्ति नहीं हो सकती ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भीष्मः कुरुपितामहः ।
वैचित्रवीर्यं राजानमिदं वचनमब्रवीत् ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुर्योधनकी यह बात सुनकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्म विचित्र-वीर्यकुमार राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार बोले— ।। ७ ।।

सत्कृतोऽसत्कृतो वापि न क्रुद्धयेत जनार्दनः ।
नालमेनमवज्ञातुं नावज्ञेयो हि केशवः ।। ८ ।।

'राजन्! श्रीकृष्णका कोई सत्कार करे या न करे, इससे वे कुपित नहीं होंगे, परंतु वे अवहेलनाके योग्य कदापि नहीं हैं; अतः कोई भी उनका अपमान या अवहेलना नहीं कर सकता ।। ८ ।।

यत् तु कार्यं महाबाहो मनसा कार्यतां गतम् ।
सर्वोपायैर्न तच्छक्यं केनचित् कर्तुमन्यथा ।। ९ ।।

'महाबाहो! श्रीकृष्ण जिस कार्यको करनेकी बात अपने मनमें ठान लेते हैं, उसे कोई सारे उपाय करके भी उलट नहीं सकता ।। ९ ।।

स यद् ब्रूयान्महाबाहुस्तत् कार्यमविशङ्कया ।
वासुदेवेन तीर्थेन क्षिप्रं संशाम्य पाण्डवैः ।। १० ।।

'अतः महाबाहु श्रीकृष्ण जो कुछ कहें, उसे निःशंक होकर करना चाहिये। वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको मध्यस्थ बनाकर तुम शीघ्र ही पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ।। १० ।।

धर्म्यमर्थ्यं च धर्मात्मा ध्रुवं वक्ता जनार्दनः ।
तस्मिन् वाच्याः प्रिया वाचो भवता बान्धवैः सह ।। ११ ।।

'धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ कहेंगे, वह निश्चय ही धर्म और अर्थके अनुकूल होगा। अतः तुम्हें अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ उनसे प्रिय वचन ही बोलना चाहिये' ।। ११ ।।

दुर्योधन उवाच

न पर्यायोऽस्ति यद् राजन् श्रियं निष्केवलामहम् ।
तैः सहेमामुपाश्नीयां यावज्जीवं पितामह ।। १२ ।।

दुर्योधन बोला—पितामह! नरेश्वर! अब इस बातकी कोई सम्भावना नहीं है कि मैं जीवनभर पाण्डवोंके साथ मिलकर इस सारी सम्पत्तिका उपभोग करूँ ।। १२ ।।

इदं तु सुमहत् कार्यं शृणु मे यत् समर्थितम् ।

परायणं पाण्डवानां नियच्छामि जनार्दनम् ।। १३ ।।

इस समय मैंने जो यह महान् कार्य करनेका निश्चय किया है, उसे सुनिये। पाण्डवोंके सबसे बड़े सहारे श्रीकृष्णको यहाँ आनेपर मैं कैद कर लूँगा ।। १३ ।।

तस्मिन् बद्धे भविष्यन्ति वृष्णयः पृथिवी तथा ।
पाण्डवाश्च विधेया मे स च प्रातरिहैष्यति ।। १४ ।।

उनके कैद हो जानेपर समस्त यदुवंशी, इस भूमण्डलका राज्य तथा पाण्डव भी मेरी आज्ञाके अधीन हो जायँगे। श्रीकृष्ण कल सबेरे यहाँ आ ही जायँगे ।।

अत्रोपायान् यथा सम्यङ् न बुद्ध्येत जनार्दनः ।
न चापायो भवेत् कश्चित् तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ।। १५ ।।

अतः इस विषयमें जो अच्छे उपाय हों, जिनसे श्रीकृष्णको इन बातोंका पता न लगे और मेरे इस मन्तव्यमें कोई विघ्न न पड़ सके, उन्हें आप मुझे बताइये ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा घोरं कृष्णाभिसंहितम् ।
धृतराष्ट्रः सहामात्यो व्यथितो विमनाभवत् ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णसे छल करनेके विषयमें दुर्योधनकी वह भयंकर बात सुनकर धृतराष्ट्र अपने मन्त्रियोंके साथ बहुत दुःखी और उदास हो गये ।। १६ ।।

ततो दुर्योधनमिदं धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् वचः ।
मैवं वोचः प्रजापाल नैष धर्मः सनातनः ।। १७ ।।

तदनन्तर धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा—‘प्रजापालक दुर्योधन! तुम ऐसी बात मुँहसे न निकालो। यह सनातन धर्म नहीं है ।। १७ ।।

दूतश्च हि हृषीकेशः सम्बन्धी च प्रियश्च नः ।
अपापः कौरवेयेषु स कथं बन्धमर्हति ।। १८ ।।

‘श्रीकृष्ण इस समय दूत बनकर आ रहे हैं। वे हमारे प्रिय और सम्बन्धी भी हैं तथा उन्होंने कौरवोंका कोई अपराध भी नहीं किया है। ऐसी दशामें वे कैद करनेके योग्य कैसे हो सकते हैं?’ ।। १८ ।।

भीष्म उवाच

परीतस्तव पुत्रोऽयं धृतराष्ट्र सुमन्दधीः ।
वृणोत्यनर्थं नैवार्थं याच्यमानः सुहृज्जनैः ।। १९ ।।

यह सुनकर भीष्मजीने कहा—धृतराष्ट्र! तुम्हारा यह मन्दबुद्धि पुत्र कालके वशमें हो गया है। यह अपने हितैषी सुहृदोंके कहने-समझानेपर भी अनर्थको ही अपना रहा है; अर्थको नहीं ।। १९ ।।

इममुत्पथि वर्तन्तं पापं पापानुबन्धिनम् ।
वाक्यानि सुहृदां हित्वा त्वमप्यस्यानुवर्तसे ।। २० ।।

तुम भी सगे-सम्बन्धियोंकी बातें न मानकर कुमार्गपर चलनेवाले इस पापासक्त पापात्माका ही अनुसरण करते हो ।। २० ।।

कृष्णमक्लिष्टकर्माणमासाद्यायं सुदुर्मतिः ।
तव पुत्रः सहामात्यः क्षणेन न भविष्यति ।। २१ ।।

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्णसे भिड़कर तुम्हारा यह दुर्बुद्धि पुत्र अपने मन्त्रियोंसहित क्षणभरमें नष्ट हो जायगा ।। २१ ।।

पापस्यास्य नृशंसस्य त्यक्तधर्मस्य दुर्मतेः ।
नोत्सहेऽनर्थसंयुक्ताः श्रोतुं वाचः कथंचन ।। २२ ।।

इसने धर्मका सर्वथा त्याग कर दिया है। अब मैं इस दुर्बुद्धि, पापी एवं क्रूर दुर्योधनकी अनर्थभरी बातें किसी प्रकार भी नहीं सुनना चाहता ।। २२ ।।

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठो वृद्धः परममन्युमान् ।
उत्थाय तस्मात् प्रातिष्ठद् भीष्मः सत्यपराक्रमः ।। २३ ।।

ऐसा कहकर भरतश्रेष्ठ सत्यपराक्रमी वृद्ध पितामह भीष्म अत्यन्त कुपित हो उस सभाभवनसे उठकर चले गये ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दुर्योधनवाक्ये अष्टाशीतितमोऽध्यायः ।। ८८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८८ ।।

एकोननवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका स्वागत, धृतराष्ट्र तथा विदुरके घरोंपर उनका आतिथ्य

वैशम्पायन उवाच

प्रातरुत्थाय कृष्णस्तु कृतवान् सर्वमाह्निकम् ।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः प्रययौ नगरं प्रति ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! (उधर वृकस्थलमें) प्रातःकाल उठकर भगवान् श्रीकृष्णने सारा नित्यकर्म पूर्ण किया। फिर ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेकर वे हस्तिनापुरकी ओर चले ।। १ ।।

तं प्रयान्तं महाबाहुमनुज्ञाप्य महाबलम् ।
पर्यवर्तन्त ते सर्वे वृकस्थलनिवासिनः ।। २ ।।

तब वहाँसे जाते हुए महाबाहु महाबली श्रीकृष्णकी आज्ञा ले सम्पूर्ण वृकस्थलनिवासी वहाँसे लौट गये ।।

धार्तराष्ट्रास्तमायान्तं प्रत्युज्जग्मुः स्वलंकृताः ।
दुर्योधनादृते सर्वे भीष्मद्रोणकृपादयः ।। ३ ।।

दुर्योधनके सिवा धृतराष्ट्रके सभी पुत्र तथा भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि यथायोग्य वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हो हस्तिनापुरकी ओर आते हुए श्रीकृष्णकी अगवानीके लिये गये ।। ३ ।।

पौराश्च बहुला राजन् हृषीकेशं दिदृक्षवः ।
यानैर्बहुविधैरन्यैः पद्भिरेव तथा परे ।। ४ ।।

राजन्! श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये बहुत-से नागरिक भी नाना प्रकारकी सवारियोंपर बैठकर तथा अन्य कुछ लोग पैदल ही चलकर गये ।। ४ ।।

स वै पथि समागम्य भीष्मेणाक्लिष्टकर्मणा ।
द्रोणेन धार्तराष्ट्रैश्च तैर्वृतो नगरं ययौ ।। ५ ।।

अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले भीष्म तथा द्रोणाचार्यसे मार्गमें ही मिलकर धृतराष्ट्रपुत्रोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्णने नगरमें प्रवेश किया ।। ५ ।।

कृष्णसम्माननार्थं च नगरं समलंकृतम् ।
बभूव राजमार्गश्च बहुरत्नसमाचितः ।। ६ ।।

श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये हस्तिनापुरको खूब सजाया गया था। वहाँका राजमार्ग भी अनेक प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित किया गया था ।। ६ ।।

न च कश्चिद् गृहे राजंस्तदाऽऽसीद् भरतर्षभ ।
न स्त्री न वृद्धो न शिशुर्वासुदेवदिदृक्षया ।। ७ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समय भगवान् वासुदेवके दर्शनकी तीव्र इच्छाके कारण स्त्री, बालक अथवा वृद्ध कोई भी घरमें नहीं ठहर सका ।। ७ ।।

राजमार्गे नरास्तस्मिन् संस्तुवन्त्यवनिं गताः ।
तस्मिन् काले महाराज हृषीकेशप्रवेशने ।। ८ ।।

महाराज! जब श्रीकृष्ण नगरमें प्रवेश कर रहे थे, तब राजमार्गमें भूमिपर खड़े हुए मनुष्य उनकी स्तुति करने लगे ।। ८ ।।

आवृतानि वरस्त्रीभिर्गृहाणि सुमहान्त्यपि ।
प्रचलन्तीव भारेण दृश्यन्ते स्म महीतले ।। ९ ।।

(भगवान् श्रीकृष्णको देखनेके लिये एकत्रित हुई) सुन्दरी स्त्रियोंसे भरे हुए बड़े-बड़े महल भी उनके भारसे इस भूतलपर विचलित होते-से दिखायी देते थे ।। ९ ।।

तथा च गतिमन्तस्ते वासुदेवस्य वाजिनः ।
प्रणष्टगतयोऽभूवन् राजमार्गे नरैर्वृते ।। १० ।।

वहाँकी प्रधान सड़क लोगोंसे ऐसी खचाखच भर गयी थी कि श्रीकृष्णके वेगपूर्वक चलनेवाले घोड़ोंकी गति भी अवरुद्ध हो गयी ।। १० ।।

स गृहं धृतराष्ट्रस्य प्राविशच्छत्रुकर्शनः ।
पाण्डुरं पुण्डरीकाक्षः प्रासादैरुपशोभितम् ।। ११ ।।

शत्रुओंको क्षीण करनेवाले कमलनयन श्रीकृष्णने राजा धृतराष्ट्रके अट्टालिकाओंसे सुशोभित उज्ज्वल भवनमें प्रवेश किया ।। ११ ।।

तिस्रः कक्ष्या व्यतिक्रम्य केशवो राजवेश्मनः ।
वैचित्रवीर्यं राजानमभ्यगच्छदरिंदमः ।। १२ ।।

उस राजभवनकी तीन ड्यौढ़ियोंको पार करके शत्रुसूदन केशव विचित्रवीर्यकुमार राजा धृतराष्ट्रके समीप गये ।। १२ ।।

अभ्यागच्छति दाशार्हे प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
सहैव द्रोणभीष्माभ्यामुदतिष्ठन्महायशाः ।। १३ ।।

श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र द्रोणाचार्य तथा भीष्मजीके साथ ही अपने आसनसे उठकर खड़े हो गये ।। १३ ।।

कृपश्च सोमदत्तश्च महाराजश्च बाह्लिकः ।
आसनेभ्योऽचलन् सर्वे पूजयन्तो जनार्दनम् ।। १४ ।।

धृतराष्ट्रके द्वारा श्रीकृष्णका स्वागत

कृपाचार्य, सोमदत्त तथा महाराज बाह्लिक—ये सब लोग जनार्दनका सम्मान करते हुए अपने आसनोंसे उठ गये ।। १४ ।।

ततो राजानमासाद्य धृतराष्ट्रं यशस्विनम् ।
स भीष्मं पूजयामास वार्ष्णेयो वाग्भिरञ्जसा ।। १५ ।।

तब वृष्णिनन्दन श्रीकृष्णने यशस्वी राजा धृतराष्ट्रसे मिलकर अपने उत्तम वचनोंद्वारा भीष्मजीका आदर किया ।। १५ ।।

तेषु धर्मानुपूर्वीं तां प्रयुज्य मधुसूदनः ।
यथावयः समीयाय राजभिः सह माधवः ।। १६ ।।

यदुकुलतिलक मधुसूदन उन सबकी धर्मानुकूल पूजा करके अवस्थाक्रमके अनुसार वहाँ आये हुए समस्त राजाओंसे मिले ।। १६ ।।

अथ द्रोणं सबाह्लीकं सपुत्रं च यशस्विनम् ।
कृपं च सोमदत्तं च समीयाय जनार्दनः ।। १७ ।।

तत्पश्चात् जनार्दन पुत्रसहित यशस्वी द्रोणाचार्य, बाह्लीक, कृपाचार्य तथा सोमदत्तसे मिले ।। १७ ।।

तत्रासीदूर्जितं मृष्टं काञ्चनं महदासनम् ।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य तत्रोपाविशदच्युतः ।। १८ ।।

वहाँ एक स्वच्छ और जगमगाता हुआ सुवर्णका विशाल सिंहासन रखा हुआ था। धृतराष्ट्रकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्ण उसीपर विराजमान हुए ।। १८ ।।

अथ गां मधुपर्कं चाप्युदकं च जनार्दने ।
उपजह्रुर्यथान्यायं धृतराष्ट्रपुरोहिताः ।। १९ ।।

तदनन्तर धृतराष्ट्रके पुरोहितलोग भगवान् जनार्दनके आतिथ्यसत्कारके लिये उत्तम गौ, मधुपर्क तथा जल ले आये ।। १९ ।।

कृतातिथ्यस्तु गोविन्दः सर्वान् परिहसन् कुरून् ।
आस्ते साम्बन्धिकं कुर्वन् कुरुभिः परिवारितः ।। २० ।।

उनका आतिथ्य ग्रहण करके भगवान् गोविन्द हँसते हुए कौरवोंके साथ बैठ गये और सबसे अपने सम्बन्धके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते हुए कौरवोंसे घिरे हुए कुछ देर बैठे रहे ।। २० ।।

सोऽर्चितो धृतराष्ट्रेण पूजितश्च महायशाः ।
राजानं समनुज्ञाप्य निरक्रामदरिंदमः ।। २१ ।।

धृतराष्ट्रसे पूजित एवं सम्मानित हो महायशस्वी शत्रुदमन श्रीकृष्ण उनकी अनुज्ञा ले उस राजभवनसे बाहर निकले ।। २१ ।।

तैः समेत्य यथान्यायं कुरुभिः कुरुसंसदि ।
विदुरावसथं रम्यमुपातिष्ठत माधवः ।। २२ ।।

फिर कौरवसभामें यथायोग्य सबसे मिल-जुलकर यदुवंशी श्रीकृष्णने विदुरजीके रमणीय गृहमें पदार्पण किया ।। २२ ।।

विदुरः सर्वकल्याणैरभिगम्य जनार्दनम् ।
अर्चयामास दाशार्हं सर्वकामैरुपस्थितम् ।। २३ ।।

विदुरजीने अपने घर पधारे हुए दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके निकट जाकर समस्त मनोवांछित भोगों तथा सम्पूर्ण मांगलिक वस्तुओंद्वारा उनका पूजन किया (और इस प्रकार कहा—) ।। २३ ।।

या मे प्रीतिः पुष्कराक्ष त्वद्दर्शनसमुद्भवा ।
सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ।। २४ ।।

'कमलनयन! आपके दर्शनसे मुझे जो प्रसन्नता हुई है, उसका आपसे क्या वर्णन किया जाय; आप तो समस्त देहधारियोंके अन्तर्यामी आत्मा हैं (आपसे क्या छिपा है?)' ।। २४ ।।

कृतातिथ्यं तु गोविन्दं विदुरः सर्वधर्मवित् ।
कुशलं पाण्डुपुत्राणामपृच्छन्मधुसूदनम् ।। २५ ।।

मधुसूदन श्रीकृष्ण जब उनका आतिथ्य ग्रहण कर चुके, तब सब धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने उनसे पाण्डवोंका कुशल-समाचार पूछा ।। २५ ।।

प्रीयमाणस्य सुहृदो विदुरो बुद्धिसत्तमः ।
धर्मार्थनित्यस्य सतो गतरोषस्य धीमतः ।। २६ ।।
तस्य सर्वं सविस्तारं पाण्डवानां विचेष्टितम् ।
क्षत्तुराचष्ट दाशार्हः सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान् ।। २७ ।।

विदुरजी बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ थे। सब कुछ प्रत्यक्ष देखनेवाले श्रीकृष्णने सदा धर्ममें ही तत्पर रहनेवाले, रोषशून्य प्रेमी सुहृद् बुद्धिमान् विदुरसे पाण्डवोंकी सारी चेष्टाएँ विस्तारपूर्वक कह सुनायीं ।। २६-२७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रगृहप्रवेशपूर्वकं श्रीकृष्णस्य विदुरगृहप्रवेशे एकोननवतितमोऽध्यायः ।। ८९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका धृतराष्ट्रगृहमें प्रवेशपूर्वक विदुरके गृहमें पदार्पणविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८९ ।।

नवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कुन्तीके समीप जाना एवं युधिष्ठिरका कुशल-समाचार पूछकर अपने दु:खोंका स्मरण करके विलाप करती हुई कुन्तीको आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

अथोपगम्य विदुरमपराह्ने जनार्दनः ।
पितृष्वसारं स पृथामभ्यगच्छदरिंदमः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! शत्रुदमन श्रीकृष्ण विदुरजीसे मिलनेके पश्चात् तीसरे पहरमें अपनी बुआ कुन्तीदेवीके पास गये ।। १ ।।

सा दृष्ट्वा कृष्णमायान्तं प्रसन्नादित्यवर्चसम् ।
कण्ठे गृहीत्वा प्राक्रोशत् स्मरन्ती तनयान् पृथा ।। २ ।।

निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी श्रीकृष्णको आते देख कुन्तीदेवी उनके गले लग गयीं और अपने पुत्रोंको याद करके फूट-फूटकर रोने लगीं ।। २ ।।

तेषां सत्त्ववतां मध्ये गोविन्दं सहचारिणम् ।
चिरस्य दृष्ट्वा वार्ष्णेयं बाष्पमाहारयत् पृथा ।। ३ ।।

अपने उन शक्तिशाली पुत्रोंके बीचमें रहकर उनके साथ विचरनेवाले वृष्णिकुलनन्दन गोविन्दको दीर्घकालके पश्चात् देखकर कुन्तीदेवी आँसुओंकी वर्षा करने लगीं ।। ३ ।।

साब्रवीत् कृष्णमासीनं कृतातिथ्यं युधां पतिम् ।
बाष्पगद्गदपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता ।। ४ ।।

उन्होंने योद्धाओंके स्वामी श्रीकृष्णका अतिथि-सत्कार किया। जब वे आतिथ्य ग्रहण करके आसनपर विराजमान हुए, तब सूखे मुँह और अश्रुगद्गद कण्ठसे कुन्तीदेवी इस प्रकार बोलीं— ।। ४ ।।

ये ते बाल्यात् प्रभृत्येव गुरुशुश्रूषणे रताः ।
परस्परस्य सुहृदः सम्मताः समचेतसः ।
निकृत्या भ्रंशिता राज्याज्जनार्हा निर्जनं गताः ।। ५ ।।

'वत्स! मेरे पुत्र पाण्डव, जो बाल्यकालसे ही गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषामें तत्पर रहते, परस्पर स्नेह रखते, सर्वत्र सम्मान पाते और मनमें सबके प्रति समानभाव रखते थे, शत्रुओंकी शठताके शिकार होकर राज्यसे हाथ धो बैठे और जनसमुदायमें रहनेयोग्य होकर भी निर्जन वनमें चले गये ।। ५ ।।

विनीतक्रोधहर्षाश्च ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ।

त्यक्त्वा प्रियसुखे पार्था रुदतीमपहाय माम् ।। ६ ।।

'मेरे बेटे हर्ष और क्रोधको जीत चुके थे। वे ब्राह्मणोंका हित-साधन करनेवाले तथा सत्यवादी थे; तथापि (शत्रुओंके अन्यायसे विवश हो) प्रियजन एवं सुखभोगसे मुँह मोड़ मुझे रोती-बिलखती छोड़कर वे वनकी ओर चल दिये ।। ६ ।।

अहार्षुश्च वनं यान्तः समूलं हृदयं मम ।

अतदर्हा महात्मानः कथं केशव पाण्डवाः ।। ७ ।।

'केशव! वन जाते समय महात्मा पाण्डव मेरे हृदयको जड़-मूलसहित खींचकर अपने साथ ले गये। वे वनवासके योग्य कदापि नहीं थे। फिर उन्हें यह कष्ट कैसे प्राप्त हुआ? ।। ७ ।।

ऊषुर्महावने तात सिंहव्याघ्रगजाकुले ।

बाला विहीनाः पित्रा ते मया सततलालिताः ।। ८ ।।

अपश्यन्तश्च पितरौ कथमूषुर्महावने ।

'तात! वे बचपनमें ही पिताके प्यारसे वंचित हो गये थे। मैंने ही सदा उनका लालन-पालन किया। मेरे पुत्र सिंह, व्याघ्र और हाथियोंसे भरे हुए उस विशाल वनमें कैसे रहे होंगे? माता-पिताको न देखते हुए उन्होंने उस महान् वनमें किस प्रकार निवास किया होगा? ।।

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गैर्वेणुनिस्वनैः ।। ९ ।।

पाण्डवाः समबोध्यन्त बाल्यात् प्रभृति केशव ।

'केशव! बाल्यावस्थासे ही पाण्डव शंख और दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनिसे, मृदंगोंके मधुर नादसे तथा बाँसुरीकी सुरीली तानसे जगाये जाते थे ।। ९½ ।।

ये स्म वारणशब्देन हयानां ह्रेषितेन च ।। १० ।।

रथनेमिनिनादैश्च व्यबोध्यन्त तदा गृहे ।

शङ्खभेरीनिनादेन वेणुवीणानुनादिना ।। ११ ।।

पुण्याहघोषमिश्रेण पूज्यमाना द्विजातिभिः ।

वस्त्रै रत्नैरलंकारैः पूजयन्तो द्विजन्मनः ।। १२ ।।

गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिर्ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।

अर्चितैरर्चनार्हैश्च स्तुवद्भिरभिनन्दिताः ।। १३ ।।

प्रासादाग्रेष्वबोध्यन्त राङ्कवाजिनशायिनः ।

क्रूरं च निनदं श्रुत्वा श्वापदानां महावने ।। १४ ।।

न स्मोपयान्ति निद्रां ते न तदर्हा जनार्दन ।

'जब वे अपनी राजधानीमें ऊँची अट्टालिकाओंके भीतर रंकुमृगके चर्मसे बने हुए बिछौनोंसे युक्त सुकोमल शय्याओंपर शयन करते थे, उन दिनों हाथियोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हिनहिनाने तथा रथके पहियोंके घर्घरानेसे उनकी निद्रा टूटती थी। शंख और भेरीकी तुमुल ध्वनि तथा वेणु और वीणाके मधुर स्वरसे उन्हें जगाया जाता था। साथ ही ब्राह्मणलोग पुण्याहवाचनके पवित्र घोषसे उनका समादर करते थे। वे महात्मा ब्राह्मणोंके मंगलमय आशीर्वाद सुनकर उठते थे। पूजित और पूजनीय पुरुष भी उनके गुण गा-गाकर अभिनन्दन किया करते थे एवं उठकर वे रत्नों, वस्त्रों एवं अलंकारोंके द्वारा ब्राह्मणोंकी पूजा करते थे। जनार्दन! वे ही पाण्डव उस विशाल वनमें हिंसक जन्तुओंके क्रूरतापूर्ण शब्द सुनकर अच्छी तरह नींद भी नहीं ले पाते रहे होंगे, यद्यपि इस दुरवस्थाके योग्य वे कभी नहीं थे ।। १०—१४ १/२ ।।

भेरीमृदङ्गनिनदैः शङ्खवैणवनिस्वनैः ।। १५ ।।
स्त्रीणां गीतनिनादैश्च मधुरैर्मधुसूदन ।
वन्दिमागधसूतैश्च स्तुवद्भिर्बोधिताः कथम् ।। १६ ।।
महावनेष्वबोध्यन्त श्वापदानां रुतेन च ।

'मधुसूदन! जो भेरी एवं मृदंगके नादसे, शंख एवं वेणुकी ध्वनिसे तथा स्त्रियोंके गीतोंके मधुर शब्द तथा सूत, मागध एवं वन्दीजनोंद्वारा की हुई स्तुति सुनकर जागते थे, वे ही बड़े-बड़े जंगलोंमें हिंसक जन्तुओंके कठोर शब्द सुनकर किस प्रकार नींद तोड़ते रहे होंगे? ।।

ह्रीमान् सत्यधृतिर्दान्तो भूतानामनुकम्पिता ।। १७ ।।
कामद्वेषौ वशे कृत्वा सतां वर्त्मानुवर्तते ।
अम्बरीषस्य मान्धातुर्ययातेर्नहुषस्य च ।। १८ ।।
भरतस्य दिलीपस्य शिबेरौशीनरस्य च ।
राजर्षीणां पुराणानां धुरं धत्ते दुरुद्वहाम् ।। १९ ।।
शीलवृत्तोपसम्पन्नो धर्मज्ञः सत्यसंगरः ।
राजा सर्वगुणोपेतस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ।। २० ।।
अजातशत्रुर्धर्मात्मा शुद्धजाम्बूनदप्रभः ।
श्रेष्ठः कुरुषु सर्वेषु धर्मतः श्रुतवृत्ततः ।
प्रियदर्शो दीर्घभुजः कथं कृष्ण युधिष्ठिरः ।। २१ ।।

'श्रीकृष्ण! जो लज्जाशील, सत्यको धारण करनेवाले, जितेन्द्रिय तथा सब प्राणियोंपर दया करनेवाले हैं; जो काम (राग) एवं द्वेषको वशमें करके सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करते हैं; जो अम्बरीष, मान्धाता, ययाति, नहुष, भरत, दिलीप एवं उशीनरपुत्र शिबि आदि प्राचीन राजर्षियोंके सदाचारपालनरूप धारण करनेमें कठिन धर्मकी धुरीको धारण करते हैं; जिनमें शील और सदाचारकी सम्पत्ति भरी हुई है, जो धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और

सर्वगुणसम्पन्न होनेके कारण इस भूमण्डलके ही नहीं, तीनों लोकोंके भी राजा हो सकते हैं; जिनका मन सदा धर्ममें ही लगा रहता है, जो धर्मशास्त्रज्ञान और सदाचार सभी दृष्टियोंसे समस्त कौरवोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं; जिनकी अंगकान्ति शुद्ध जाम्बूनद सुवर्णके समान गौर है, जो देखनेमें सभीको प्रिय लगते हैं; वे महाबाहु अजातशत्रु युधिष्ठिर इस समय कैसे हैं? ।। १७—२१ ।।

यः स नागायुतप्राणो वातरंहा महाबलः ।
सामर्षः पाण्डवो नित्यं प्रियो भ्रातुः प्रियंकरः ।। २२ ।।
कीचकस्य तु सज्ञातेर्यो हन्ता मधुसूदन ।
शूरः क्रोधवशानां च हिडिम्बस्य बकस्य च ।। २३ ।।
पराक्रमे शक्रसमो मातरिश्वसमो बले ।
महेश्वरसमः क्रोधे भीमः प्रहरतां वरः ।। २४ ।।
क्रोधं बलममर्षं च यो निधाय परंतपः ।
जितात्मा पाण्डवोऽमर्षी भ्रातुस्तिष्ठति शासने ।। २५ ।।
तेजोराशिं महात्मानं वरिष्ठममितौजसम् ।
भीमं प्रदर्शनेनापि भीमसेनं जनार्दन ।। २६ ।।
तं ममाचक्ष्व वार्ष्णेय कथमद्य वृकोदरः ।
आस्ते परिघबाहुः स मध्यमः पाण्डवो बली ।। २७ ।।

'मधुसूदन! जो पाण्डुनन्दन महाबली भीम दस हजार हाथियोंके समान शक्तिशाली है, जिसका वेग वायुके समान है, जो असहिष्णु होते हुए भी अपने भाईको सदा ही प्रिय है और भाइयोंका प्रिय करनेमें ही लगा रहता है, जिसने भाई-बन्धुओंसहित कीचकका विनाश किया है, जिस शूरवीरके हाथसे क्रोधवश नामक राक्षसोंका, हिडिम्बासुर तथा बकका भी संहार हुआ है, जो पराक्रममें इन्द्र, बलमें वायुदेव तथा क्रोधमें महेश्वरके समान है, जो प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें सर्वश्रेष्ठ एवं भयंकर है, शत्रुओंको संताप देनेवाला जो पाण्डुपुत्र भीम अपने भीतर क्रोध, बल और अमर्षको रखते हुए भी मनको काबूमें रखकर सदा भाईकी आज्ञाके अधीन रहता है, जो स्वभावतः अमर्षशील है, जिसमें तेजकी राशि संचित है, जो महात्मा, सर्वश्रेष्ठ, अमिततेजस्वी तथा देखनेमें भी भयंकर है, वृष्णिनन्दन जनार्दन! उस मेरे द्वितीय पुत्र भीमसेनका समाचार बताओ। इस समय परिघके समान सुदृढ़ भुजाओंवाला मेरा मँझला पुत्र पाण्डुकुमार भीमसेन कैसे है? ।। २२—२७ ।।

अर्जुनेनार्जुनो यः स कृष्ण बाहुसहस्रिणा ।
द्विबाहुः स्पर्धते नित्यमतीतेनापि केशव ।। २८ ।।
क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्च बाणशतानि यः ।
इष्वस्त्रे सदृशो राज्ञः कार्तवीर्यस्य पाण्डवः ।। २९ ।।
तेजसाऽऽदित्यसदृशो महर्षिसदृशो दमे ।

क्षमया पृथिवीतुल्यो महेन्द्रसमविक्रमः ।। ३० ।।
आधिराज्यं महद् दीप्तं प्रथितं मधुसूदन ।
आहृतं येन वीर्येण कुरूणां सर्वराजसु ।। ३१ ।।
यस्य बाहुबलं सर्वे पाण्डवाः पर्युपासते ।
स सर्वरथिनां श्रेष्ठः पाण्डवः सत्यविक्रमः ।। ३२ ।।
यं गत्वाभिमुखः संख्ये न जीवन् कश्चिदाव्रजेत् ।
यो जेता सर्वभूतानामजेयो जिष्णुरच्युत ।। ३३ ।।
योऽपाश्रयः पाण्डवानां देवानामिव वासवः ।
स ते भ्राता सखा चैव कथमद्य धनंजयः ।। ३४ ।।

'श्रीकृष्ण! जो अर्जुन दो भुजाओंसे युक्त होकर भी सदा प्राचीनकालके सहस्र भुजाधारी कार्तवीर्य अर्जुनके साथ स्पर्धा रखता है; केशव! जो एक ही वेगसे पाँच सौ बाण चलाता है, जो पाण्डव अर्जुन धनुर्विद्यामें राजा कार्तवीर्यके समान ही समझा जाता है, जिसका तेज सूर्यके समान है, जो इन्द्रियसंयममें महर्षियोंके, क्षमामें पृथ्वीके और पराक्रममें देवराज इन्द्रके समान है; मधुसूदन! कौरवोंका यह विशाल साम्राज्य, जो सम्पूर्ण राजाओंमें प्रख्यात एवं प्रकाशित हो रहा है, जिसे अर्जुनने ही अपने पराक्रमसे बढ़ाया है; समस्त पाण्डव जिसके बाहुबलका भरोसा रखते हैं; जो सम्पूर्ण रथियोंमें श्रेष्ठ तथा सत्यपराक्रमी है, संग्राममें जिसके सम्मुख जाकर कोई जीवित नहीं लौटता है, अच्युत! जो सम्पूर्ण भूतोंको जीतनेमें समर्थ, विजयशील एवं अजेय है तथा जैसे देवताओंके आश्रय इन्द्र हैं, उसी प्रकार जो समस्त पाण्डवोंका अवलम्ब है, वह तुम्हारा भाई और मित्र अर्जुन इस समय कैसे है? ।। २८—३४ ।।

दयावान् सर्वभूतेषु ह्रीनिषेवो महास्त्रवित् ।
मृदुश्च सुकुमारश्च धार्मिकश्च प्रियश्च मे ।। ३५ ।।
सहदेवो महेष्वासः शूरः समितिशोभनः ।
भ्रातॄणां कृष्ण शुश्रूषुर्धर्मार्थकुशलो युवा ।। ३६ ।।
सदैव सहदेवस्य भ्रातरो मधुसूदन ।
वृत्तं कल्याणवृत्तस्य पूजयन्ति महात्मनः ।। ३७ ।।
ज्येष्ठोपचायिनं वीरं सहदेवं युधां पतिम् ।
शुश्रूषुं मम वार्ष्णेय माद्रीपुत्रं प्रचक्ष्व मे ।। ३८ ।।

'मधुसूदन श्रीकृष्ण! जो समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु, लज्जाशील, महान् अस्त्रवेत्ता, कोमल, सुकुमार, धार्मिक तथा मुझे विशेष प्रिय है; जो महाधनुर्धर शूरवीर सहदेव रणभूमिमें शोभा पानेवाला, सभी भाइयोंका सेवक, धर्म और अर्थके विवेचनमें कुशल तथा युवावस्थासे युक्त है; कल्याणकारी आचारवाले जिस महात्मा सहदेवके आचार-व्यवहारकी

सभी भाई प्रशंसा करते हैं, जो बड़े भाईके प्रति अनुरक्त, युद्धोंका नेता और मेरी सेवामें तत्पर रहनेवाला है; उस माद्रीकुमार वीर सहदेवका समाचार मुझे बताओ ।। ३५—३८ ।।

सुकुमारो युवा शूरो दर्शनीयश्च पाण्डवः ।
भ्रातृणां चैव सर्वेषां प्रियः प्राणो बहिश्चरः ।। ३९ ।।
चित्रयोधी च नकुलो महेष्वासो महाबलः ।
कच्चित् सकुशली कृष्ण वत्सो मम सुखैधितः ।। ४० ।।

‘श्रीकृष्ण! जो सुकुमार, युवक, शौर्यसम्पन्न तथा दर्शनीय है, जो सभी भाइयोंके बाहर विचरनेवाला प्रिय प्राणस्वरूप है, जिसमें युद्धकी विचित्र कला शोभा पाती है, वह महान् धनुर्धर, महाबली एवं मुझसे पला हुआ मेरा पुत्र पाण्डुनन्दन नकुल सकुशल तो है न? ।। ३९-४० ।।

सुखोचितमदुःखार्हं सुकुमारं महारथम् ।
अपि जातु महाबाहो पश्येयं नकुलं पुनः ।। ४१ ।।

‘महाबाहो! क्या मैं सुख-भोगके योग्य, दुःख भोगनेके अयोग्य एवं सुकुमार महारथी नकुलको फिर कभी देख सकूँगी? ।। ४१ ।।

पक्ष्मसम्पातजे काले नकुलेन विनाकृता ।
न लभामि धृतिं वीर साद्य जीवामि पश्य माम् ।। ४२ ।।

‘वीर! आँखोंकी पलकें गिरनेमें जितना समय लगता है, उतनी देर भी नकुलसे अलग रहनेपर मैं धैर्य खो बैठती थी; परंतु अब इतने दिनोंसे उसे न देखकर भी जी रही हूँ। देखो, मैं कितनी निर्मम हूँ ।। ४२ ।।

सर्वैः पुत्रैः प्रियतरा द्रौपदी मे जनार्दन ।
कुलीना रूपसम्पन्ना सर्वैः समुदिता गुणैः ।। ४३ ।।

‘जनार्दन! द्रुपदकुमारी कृष्णा मुझे अपने सभी पुत्रोंसे अधिक प्रिय है। वह कुलीन, अनुपम सुन्दरी तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न है ।। ४३ ।।

पुत्रलोकात् पतिलोकं वृण्वाना सत्यवादिनी ।
प्रियान् पुत्रान् परित्यज्य पाण्डवाननुरुध्यते ।। ४४ ।।

‘पुत्रलोकसे पतिलोकको श्रेष्ठ समझकर उसका वरण करनेवाली सत्यवादिनी द्रौपदी अपने प्यारे पुत्रोंको भी त्यागकर पाण्डवोंका अनुसरण करती है ।। ४४ ।।

महाभिजनसम्पन्ना सर्वकामैः सुपूजिता ।
ईश्वरी सर्वकल्याणी द्रौपदी कथमच्युत ।। ४५ ।।

‘अच्युत! मैंने सब प्रकारकी वस्तुएँ देकर जिसका समादर किया है, वह परम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई सर्वकल्याणी महारानी द्रौपदी इन दिनों कैसी दशामें है? ।। ४५ ।।

पतिभिः पञ्चभिः शूरैरग्निकल्पैः प्रहारिभिः ।
उपपन्ना महेष्वासैर्द्रौपदी दुःखभागिनी ।। ४६ ।।

'हाय! जो महाधनुर्धर, शूरवीर, युद्धकुशल तथा अग्नितुल्य तेजस्वी पाँच पतियोंसे युक्त है, वह द्रुपदकुमारी कृष्णा भी दुःखभागिनी हो गयी ।। ४६ ।।

चतुर्दशमिदं वर्षं यन्नापश्यमरिंदम ।
पुत्रादिभिः परिद्यूनां द्रौपदीं सत्यवादिनीम् ।। ४७ ।।

'शत्रुदमन! यह चौदहवाँ वर्ष बीत रहा है। इतने दिनोंसे मैंने पुत्रोंके बिछोहसे संतप्त हुई सत्यवादिनी द्रौपदीको नहीं देखा है ।। ४७ ।।

न नूनं कर्मभिः पुण्यैरश्नुते पुरुषः सुखम् ।
द्रौपदी चेत् तथावृत्ता नाश्नुते सुखमव्ययम् ।। ४८ ।।

'यदि वैसे सदाचार और सत्कर्मोंसे युक्त द्रुपदकुमारी अक्षय सुख नहीं पा रही है, तब तो निश्चय ही यह कहना पड़ेगा कि मनुष्य पुण्यकर्मोंसे सुख नहीं पाता है ।। ४८ ।।

न प्रियो मम कृष्णाया बीभत्सुर्न युधिष्ठिरः ।
भीमसेनो यमौ वापि यदपश्यं सभागताम् ।। ४९ ।।
न मे दुःखतरं किंचिद् भूतपूर्वं ततोऽधिकम् ।

'युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव भी मुझे द्रौपदीसे अधिक प्रिय नहीं हैं। उसी द्रौपदीको मैंने भरी सभामें लायी गयी देखा, उससे बढ़कर महान् दुःख मुझे पहले कभी नहीं हुआ था ।। ४९½ ।।

स्त्रीधर्मिणीं द्रौपदीं यच्छ्वशुराणां समीपगाम् ।। ५० ।।
आनायितामनार्येण क्रोधलोभानुवर्तिना ।
सर्वे प्रैक्षन्त कुरव एकवस्त्रां सभागताम् ।। ५१ ।।

'क्रोध और लोभके वशीभूत हुए दुष्ट दुर्योधनने रजस्वलावस्थामें एकवस्त्रधारिणी द्रौपदीको सभामें बुलवाया और उसे श्वशुरजनोंके समीप खड़ी कर दिया। उस समय सभी कौरवोंने उसे देखा था ।। ५०-५१ ।।

तत्रैव धृतराष्ट्रश्च महाराजश्च बाह्लिकः ।
कृपश्च सोमदत्तश्च निर्विण्णाः कुरवस्तथा ।। ५२ ।।

'वहीं राजा धृतराष्ट्र, महाराज बाह्लीक, कृपाचार्य, सोमदत्त तथा अन्यान्य कौरव खेदमें भरे हुए बैठे थे ।।

तस्यां संसदि सर्वेषां क्षत्तारं पूजयाम्यहम् ।
वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया ।। ५३ ।।

'मैं तो उस कौरवसभामें सबसे अधिक आदर विदुरजीको देती हूँ, (जिन्होंने द्रौपदीके प्रति किये जानेवाले अन्यायका प्रकटरूपमें विरोध किया था।) मनुष्य अपने सदाचारसे ही श्रेष्ठ होता है, धन और विद्यासे नहीं ।। ५३ ।।

तस्य कृष्ण महाबुद्धेर्गम्भीरस्य महात्मनः ।
क्षत्तुः शीलमलंकारो लोकान् विष्टभ्य तिष्ठति ।। ५४ ।।

‘श्रीकृष्ण! परम बुद्धिमान् गम्भीरस्वभाव महात्मा विदुरका शील ही आभूषण है, जो सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त (विख्यात) करके स्थित है’ ।। ५४ ।।

वैशम्पायन उवाच

सा शोकार्ता च हृष्टा च दृष्ट्वा गोविन्दमागतम् ।
नानाविधानि दुःखानि सर्वाण्येवान्वकीर्तयत् ।। ५५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्णको आया हुआ देख कुन्तीदेवी शोकातुर तथा आनन्दित हो अपने ऊपर आये हुए नाना प्रकारके सम्पूर्ण दुःखोंका पुनः वर्णन करने लगीं— ।। ५५ ।।

पूर्वैराचरितं यत् तत् कुराजभिररिंदम ।
अक्षद्यूतं मृगवधः कच्चिदेषां सुखावहम् ।। ५६ ।।

‘शत्रुदमन श्रीकृष्ण! पहलेके दुष्ट राजाओंने जो जूआ और शिकारकी परिपाटी चला दी है, वह क्या इन सबके लिये सुखावह सिद्ध हुई है? (अपितु कदापि नहीं।) ।। ५६ ।।

तन्मां दहति यत् कृष्णा सभायां कुरुसंनिधौ ।
धार्तराष्ट्रैः परिक्लिष्टा यथा न कुशलं तथा ।। ५७ ।।

‘सभामें कौरवोंके समीप धृतराष्ट्रके पुत्रोंने द्रौपदीको जो ऐसा कष्ट पहुँचाया है, जिससे किसीका मंगल नहीं हो सकता, वह अपमान मेरे हृदयको दग्ध करता रहता है ।। ५७ ।।

निर्वासनं च नगरात् प्रव्रज्या च परंतप ।
नानाविधानां दुःखानामभिज्ञास्मि जनार्दन ।। ५८ ।।

‘परंतप जनार्दन! पाण्डवोंका नगरसे निकाला जाना तथा उनका वनमें रहनेके लिये बाध्य होना आदि नाना प्रकारके दुःखोंका मैं अनुभव कर चुकी हूँ ।। ५८ ।।

अज्ञातचर्या बालानामवरोधश्च माधव ।
न मे क्लेशतमं तत् स्यात् पुत्रैः सह परंतप ।। ५९ ।।

‘परंतप माधव! मेरे बालकोंको अज्ञातभावसे रहना पड़ा है और अब राज्य न मिलनेसे उनकी जीविकाका भी अवरोध हो गया है। पुत्रोंके साथ मुझे इतना महान् क्लेश नहीं प्राप्त होना चाहिये ।। ५९ ।।

दुर्योधनेन निकृता वर्षमद्य चतुर्दशम् ।
दुःखादपि सुखं नः स्याद् यदि पुण्यफलक्षयः ।। ६० ।।

‘दुर्योधनने मेरे पुत्रोंको कपटद्यूतके द्वारा राज्यसे वंचित कर दिया। उन्हें इस दुरवस्थामें रहते आज चौदहवाँ वर्ष बीत रहा है। यदि सुख भोगनेका अर्थ है पुण्यके फलका क्षय होना, तब तो पापके फलस्वरूप दुःख भोग लेनेके कारण अब हमें भी दुःखके बाद सुख मिलना ही चाहिये ।। ६० ।।

न मे विशेषो जात्वासीद् धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवैः ।

तेन सत्येन कृष्ण त्वां हतामित्रं श्रिया वृतम् ।
अस्माद् विमुक्तं संग्रामात् पश्येयं पाण्डवैः सह ।। ६१ ।।
नैव शक्याः पराजेतुं सर्वं ह्येषां तथाविधम् ।

‘श्रीकृष्ण! मेरे मनमें पाण्डवों तथा धृतराष्ट्रपुत्रोंके प्रति कभी भेदभाव नहीं था। इस सत्यके प्रभावसे निश्चय ही मैं देखूँगी कि तुम भावी संग्राममें शत्रुओंको मारकर पाण्डवोंसहित संकटसे मुक्त हो गये तथा राज्यलक्ष्मीने तुमलोगोंका ही वरण किया है। पाण्डवोंमें ऐसे सभी गुण मौजूद हैं, जिनके ही कारण शत्रु इन्हें परास्त नहीं कर सकते ।। ६१ १/२ ।।

पितरं त्वेव गर्हेयं नात्मानं न सुयोधनम् ।। ६२ ।।
येनाहं कुन्तिभोजाय धनं वृत्तैरिवार्पिता ।

‘मैं जो कष्ट भोग रही हूँ, इसके लिये न अपनेको दोष देती हूँ, न दुर्योधनको; अपितु पिताकी ही निन्दा करती हूँ, जिन्होंने मुझे राजा कुन्तिभोजके हाथमें उसी प्रकार दे दिया, जैसे विख्यात दानी पुरुष याचकको साधारण धन देते हैं ।। ६२ १/२ ।।

बालां मामार्यकस्तुभ्यं क्रीडन्तीं कन्दुहस्तिकाम् ।। ६३ ।।
अदात् तु कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ।

‘मैं अभी बालिका थी, हाथमें गेंद लेकर खेलती फिरती थी; उसी अवस्थामें तुम्हारे पितामहने मित्रधर्मका पालन करते हुए अपने सखा महात्मा कुन्तिभोजके हाथमें मुझे दे दिया ।। ६३ १/२ ।।

साहं पित्रा च निकृता श्वशुरैश्च परंतप ।
अत्यन्तदुःखिता कृष्ण किं जीवितफलं मम ।। ६४ ।।

‘परंतप श्रीकृष्ण! इस प्रकार मेरे पिता तथा श्वशुरोंने भी मेरे साथ वंचनापूर्ण बर्ताव किया है। इससे मैं अत्यन्त दुःखी हूँ। मेरे जीवित रहनेसे क्या लाभ? ।। ६४ ।।

यन्मां वागब्रवीन्नक्तं सूतके सव्यसाचिनः ।
पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चास्य दिवं स्पृशेत् ।। ६५ ।।
हत्वा कुरून् महाजन्ये राज्यं प्राप्य धनंजयः ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति ।। ६६ ।।

‘अर्जुनके जन्मकालमें जब मैं सूतिकागृहमें थी, उस रात्रिमें आकाशवाणीने मुझसे यह कहा था—‘भद्रे! तेरा यह पुत्र सारी पृथ्वीको जीत लेगा। इसका यश स्वर्गलोक-तक फैल जायगा। यह महान् संग्राममें कौरवोंका संहार करके राज्यपर अधिकार कर लेगा, फिर अपने भाइयोंके साथ तीन अश्वमेधयज्ञोंका अनुष्ठान करेगा’ ।। ६५-६६ ।।

नाहं तामभ्यसूयामि नमो धर्माय वेधसे ।
कृष्णाय महते नित्यं धर्मो धारयति प्रजाः ।। ६७ ।।

'मैं इस आकाशवाणीको दोष नहीं देती, अपितु महाविष्णुस्वरूप धर्मको ही नमस्कार करती हूँ। वही इस जगत्‌का स्रष्टा है। धर्म ही सदा समस्त प्रजाको धारण करता है ।। ६७ ।।

धर्मश्चेदस्ति वार्ष्णेय यथा वागभ्यभाषत ।
त्वं चापि तत् तथा कृष्ण सर्वं सम्पादयिष्यसि ।। ६८ ।।

'वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण! यदि धर्म है तो तुम भी वह सब काम पूरा कर लोगे, जिसे उस समय आकाशवाणीने बताया था ।। ६८ ।।

न मां माधव वैधव्यं नार्थनाशो न वैरता ।
तथा शोकाय दहति यथा पुत्रैर्विनाभवः ।। ६९ ।।

'माधव! वैधव्य, धनका नाश तथा कुटुम्बीजनोंके साथ बढ़ा हुआ वैरभाव इनसे मुझे उतना शोक नहीं होता, जितना कि पुत्रोंका विरह मुझे शोकदग्ध कर रहा है ।। ६९ ।।

याहं गाण्डीवधन्वानं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
धनंजयं न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ।। ७० ।।

'समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ गाण्डीवधारी अर्जुनको जबतक मैं नहीं देख रही हूँ, तबतक मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी? ।। ७० ।।

इतश्चतुर्दशं वर्षं यन्नापश्यं युधिष्ठिरम् ।
धनंजयं च गोविन्द यमौ तं च वृकोदरम् ।। ७१ ।।

'गोविन्द! चौदहवाँ वर्ष है, जबसे कि मैं युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवको नहीं देख पा रही हूँ ।। ७१ ।।

जीवनाशं प्रणष्टानां श्राद्धं कुर्वन्ति मानवाः ।
अर्थतस्ते मम मृतास्तेषां चाहं जनार्दन ।। ७२ ।।

'जनार्दन! जो लोग प्राणोंका नाश होनेसे अदृश्य होते हैं, उनके लिये मनुष्य श्राद्ध करते हैं। यदि मृत्युका अर्थ अदृश्य हो जाना ही है तो मेरे लिये पाण्डव मर गये हैं और मैं भी उनके लिये मर चुकी हूँ ।। ७२ ।।

ब्रूया माधव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
भूयांस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः ।। ७३ ।।

'माधव! तुम धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरसे कहना—'बेटा! तुम्हारे धर्मकी बड़ी हानि हो रही है। तुम उसे व्यर्थ नष्ट न करो' ।। ७३ ।।

पराश्रया वासुदेव या जीवति धिगस्तु ताम् ।
वृत्तेः कार्पण्यलब्धाया अप्रतिष्ठैव ज्यायसी ।। ७४ ।।

'वासुदेव! जो स्त्री दूसरोंके आश्रित होकर जीवन-निर्वाह करती है, उसे धिक्कार है। दीनतासे प्राप्त हुई जीविकाकी अपेक्षा तो मर जाना ही उत्तम है ।। ७४ ।।

अथो धनंजयं ब्रूया नित्योद्युक्तं वृकोदरम् ।

यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ।। ७५ ।।

‘श्रीकृष्ण! तुम अर्जुन तथा युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले भीमसेनसे कहना कि क्षत्राणी जिस प्रयोजनके लिये पुत्र उत्पन्न करती है, उसे पूरा करनेका यह समय आ गया है ।। ७५ ।।

अस्मिंश्चेदागते काले मिथ्या चातिक्रमिष्यति ।
लोकसम्भाविताः सन्तः सुनृशंसं करिष्यथ ।। ७६ ।।
नृशंसेन च वो युक्तांस्त्यजेयं शाश्वतीः समाः ।
काले हि समनुप्राप्ते त्यक्तव्यमपि जीवनम् ।। ७७ ।।

‘यदि ऐसा समय आनेपर भी तुम युद्ध नहीं करोगे तो यह व्यर्थ बीत जायगा। तुमलोग इस जगत्के सम्मानित पुरुष हो। यदि तुम कोई अत्यन्त घृणित कर्म कर डालोगे तो उस नृशंस कर्मसे युक्त होनेके कारण मैं तुम्हें सदाके लिये त्याग दूँगी। पुत्रो! तुम्हें तो समय आनेपर अपने प्राणोंको भी त्याग देनेके लिये उद्यत रहना चाहिये ।। ७६-७७ ।।

माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ क्षत्रधर्मरतौ सदा ।
विक्रमेणार्जितान् भोगान् वृणीतं जीवितादपि ।। ७८ ।।

‘गोविन्द! तुम सदा क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले माद्रीनन्दन नकुल-सहदेवसे भी कहना—‘पुत्रो! तुम प्राणोंकी बाजी लगाकर भी पराक्रमसे प्राप्त किये हुए भोगोंको ही ग्रहण करना ।। ७८ ।।

विक्रमाधिगता ह्यर्थाः क्षत्रधर्मेण जीवतः ।
मनो मनुष्यस्य सदा प्रीणन्ति पुरुषोत्तम ।। ७९ ।।

‘पुरुषोत्तम! क्षत्रियधर्मसे जीवननिर्वाह करनेवाले मनुष्यके मनको पराक्रमसे प्राप्त हुआ धन ही सदा संतुष्ट रखता है ।। ७९ ।।

गत्वा ब्रूहि महाबाहो सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
अर्जुनं पाण्डवं वीरं द्रौपद्याः पदवीं चर ।। ८० ।।

‘महाबाहो! तुम पाण्डवोंके पास जाकर सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन वीर अर्जुनसे कहना कि तुम द्रौपदीके बताये हुए मार्गपर चलो ।। ८० ।।

विदितौ हि तवात्यन्तं क्रुद्धौ तौ तु यथान्तकौ ।
भीमार्जुनौ नयेतां हि देवानपि परां गतिम् ।। ८१ ।।

‘श्रीकृष्ण! तुम तो जानते ही हो; यदि भीमसेन और अर्जुन अत्यन्त कुपित हो जायँ तो वे यमराजके समान होकर देवताओंको भी मृत्युके मुखमें पहुँचा सकते हैं ।। ८१ ।।

तयोश्चैतदवज्ञानं यत् सा कृष्णा सभां गता ।
दुःशासनश्च कर्णश्च परुषाण्यभ्यभाषताम् ।। ८२ ।।
दुर्योधनो भीमसेनमभ्यगच्छन्मनस्विनम् ।
पश्यतां कुरुमुख्यानां तस्य द्रक्ष्यति यत् फलम् ।। ८३ ।।

‘द्रौपदीको जो सभामें उपस्थित होना पड़ा तथा दुःशासन और कर्णने जो उसके प्रति कठोर बातें कहीं, यह सब भीमसेन और अर्जुनका ही अपमान है। दुर्योधनने प्रधान-प्रधान कौरवोंके सामने मनस्वी भीमसेनका अपमान किया है। इसका जो फल मिलेगा, उसे वह देखेगा ।। ८२-८३ ।।

न हि वैरं समासाद्य प्रशाम्यति वृकोदरः ।
सुचिरादपि भीमस्य न हि वैरं प्रशाम्यति ।
यावदन्तं न नयति शात्रवाञ्छत्रुकर्शनः ।। ८४ ।।

‘भीमसेन वैर हो जानेपर कभी शान्त नहीं होता। भीमसेनका वैर तबतक दीर्घकालके बाद भी समाप्त नहीं होता है, जबतक वह शत्रुपक्षका संहार नहीं कर डालता ।। ८४ ।।

न दुःखं राज्यहरणं न च द्यूते पराजयः ।
प्रव्राजनं तु पुत्राणां न मे तद् दुःखकारणम् ।। ८५ ।।
यत् तु सा बृहती श्यामा एकवस्त्रा सभां गता ।
अशृणोत् परुषा वाचः किं नु दुःखतरं ततः ।। ८६ ।।

‘राज्य छिन गया, यह कोई दुःखका कारण नहीं है। जूएमें हार जाना भी दुःखका कारण नहीं है। मेरे पुत्रोंको वनमें भेज दिया गया, इससे भी मुझे दुःख नहीं हुआ है; परंतु मेरी श्रेष्ठ सुन्दरी वधूको एक वस्त्र धारण किये जो सभामें जाना पड़ा और दुष्टोंकी कठोर बातें सुननी पड़ीं, इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या हो सकती है? ।। ८५-८६ ।।

स्त्रीधर्मिणी वरारोहा क्षत्रधर्मरता सदा ।
नाभ्यगच्छत् तदा नाथं कृष्णा नाथवती सती ।। ८७ ।।

‘सदा क्षत्रियधर्ममें अनुराग रखनेवाली मेरी सर्वांगसुन्दरी बहू कृष्णा उस समय रजस्वला थी। वह सनाथ होती हुई भी वहाँ किसीको अपना नाथ (रक्षक) न पा सकी ।। ८७ ।।

यस्या मम सपुत्रायास्त्वं नाथो मधुसूदन ।
रामश्च बलिनां श्रेष्ठः प्रद्युम्नश्च महारथः ।। ८८ ।।
साहमेवंविधं दुःखं सहेऽद्य पुरुषोत्तम ।
भीमे जीवति दुर्धर्षे विजये चापलायिनि ।। ८९ ।।

‘पुरुषोत्तम! मधुसूदन! पुत्रोंसहित जिस कुन्तीके बलवानोंमें श्रेष्ठ बलराम, महारथी प्रद्युम्न तथा तुम रक्षक हो; युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले विजयी अर्जुन और दुर्धर्ष भीमसेन-सरीखे जिसके पुत्र जीवित हैं, वही मैं ऐसे-ऐसे दुःख सह रही हूँ’ ।। ८८-८९ ।।

वैशम्पायन उवाच

तत आश्वासयामास पुत्राधिभिरभिप्लुताम् ।
पितृष्वसारं शोचन्तीं शौरिः पार्थसखः पृथाम् ।। ९० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अर्जुनके मित्र भगवान् श्रीकृष्णने पुत्रोंकी चिन्ताओंमें डूबकर शोक करती हुई अपनी बुआ कुन्तीको इस प्रकार आश्वासन दिया ।। ९० ।। *वासुदेव उवाच*

का तु सीमन्तिनी त्वादृक् लोकेष्वस्ति पितृष्वसः ।
शूरस्य राज्ञो दुहिता आजमीढकुलं गता ।। ९१ ।।

भगवान् वासुदेव बोले—बुआ! संसारमें तुम-जैसी सौभाग्यशालिनी नारी दूसरी कौन है? तुम राजा शूरसेनकी पुत्री हो और महाराज अजमीढके कुलमें ब्याहकर आयी हो ।। ९१ ।।

महाकुलीना भवती ह्रदाद् ह्रदमिवागता ।
ईश्वरी सर्वकल्याणी भर्त्रा परमपूजिता ।। ९२ ।।

तुम एक उच्च कुलकी कन्या हो और दूसरे उच्च कुलमें ब्याही गयी हो; मानो कमलिनी एक सरोवरसे दूसरे सरोवरमें आयी हो। एक दिन तुम सर्वकल्याणी महारानी थीं; तुम्हारे पतिदेवने सदा तुम्हारा विशेष सम्मान किया है ।। ९२ ।।

वीरसूर्वीरपत्नी त्वं सर्वैः समुदिता गुणैः ।
सुखदुःखे महाप्राज्ञे त्वादृशी सोढुमर्हति ।। ९३ ।।

तुम वीरपत्नी, वीरजननी तथा समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न हो। महाप्राज्ञे! तुम्हारी-जैसी विवेकशील स्त्रीको सुख और दुःख चुपचाप सहने चाहिये ।। ९३ ।।

निद्रातन्द्रे क्रोधहर्षौ क्षुत्पिपासे हिमातपौ ।
एतानि पार्था निर्जित्य नित्यं वीरसुखे रताः ।। ९४ ।।

तुम्हारे सभी पुत्र निद्रा, तन्द्रा (आलस्य), क्रोध, हर्ष, भूख-प्यास तथा सर्दी-गरमी इन सबको जीतकर सदा वीरोचित सुखका उपभोग करते हैं ।। ९४ ।।

त्यक्तग्राम्यसुखाः पार्था नित्यं वीरसुखप्रियाः ।
न तु स्वल्पेन तुष्येयुर्महोत्साहा महाबलाः ।। ९५ ।।

तुम्हारे पुत्रोंने ग्राम्यसुखको त्याग दिया है, वीरोचित सुख ही उन्हें सदा प्रिय है। वे महान् उत्साही और महाबली हैं; अतः थोड़े-से ऐश्वर्यसे संतुष्ट नहीं हो सकते ।। ९५ ।।

अन्तं धीरा निषेवन्ते मध्यं ग्राम्यसुखप्रियाः ।
उत्तमांश्च परिक्लेशान् भोगांश्चातीव मानुषान् ।। ९६ ।।
अन्तेषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे ।
अन्तप्राप्तिं सुखं प्राहुर्दुःखमन्तरमेतयोः ।। ९७ ।।

धीर पुरुष भोगोंकी अन्तिम स्थितिका सेवन करते हैं। ग्राम्य विषयभोगोंमें आसक्त पुरुष भोगोंकी मध्य स्थितिका ही सेवन करते हैं। वे धीर पुरुष कर्तव्यपालनके रूपमें प्राप्त बड़े-से-बड़े क्लेशोंको सहर्ष सहन करके अन्तमें मनुष्यातीत भोगोंमें रमण करते हैं।

महापुरुषोंका कहना है कि अन्तिम (सुख-दुःखसे अतीत) स्थितिकी प्राप्ति ही वास्तविक सुख है तथा सुख-दुःखके बीचकी स्थिति ही दुःख है ।। ९६-९७ ।।

अभिवादयन्ति भवतीं पाण्डवाः सह कृष्णया ।
आत्मानं च कुशलिनं निवेद्याहुरनामयम् ।। ९८ ।।

बुआ! द्रौपदीसहित पाण्डवोंने तुम्हें प्रणाम कहलाया है और अपनेको सकुशल बताकर अपनी स्वस्थता भी सूचित की है ।। ९८ ।।

अरोगान् सर्वसिद्धार्थान् क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पाण्डवान् ।
ईश्वरान् सर्वलोकस्य हतामित्रान् श्रिया वृतान् ।। ९९ ।।

तुम शीघ्र ही देखोगी; पाण्डव नीरोग अवस्थामें तुम्हारे सामने उपस्थित हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो गये हैं और वे अपने शत्रुओंका संहार करके साम्राज्य-लक्ष्मीसे संयुक्त हो सम्पूर्ण जगत्‌के शासकपदपर प्रतिष्ठित हैं ।। ९९ ।।

एवमाश्वासिता कुन्ती प्रत्युवाच जनार्दनम् ।
पुत्रादिभिरभिध्वस्ता निगृह्याबुद्धिजं तमः ।। १०० ।।

इस प्रकार आश्वासन पाकर पुत्रों आदिसे दूर पड़ी हुई कुन्तीदेवीने अज्ञानजनित मोहका निरोध करके भगवान् जनार्दनसे कहा ।। १०० ।।

कुन्त्युवाच

यद् यत् तेषां महाबाहो पथ्यं स्यान्मधुसूदन ।
यथा यथा त्वं मन्येथाः कुर्याः कृष्ण तथा तथा ।। १०१ ।।

कुन्ती बोली—महाबाहु मधुसूदन श्रीकृष्ण! जो पाण्डवोंके लिये हितकर हो तथा जैसे-जैसे कार्य करना तुम्हें उचित जान पड़े, वैसे-वैसे करो ।। १०१ ।।

अविलोपेन धर्मस्य अनिकृत्या परंतप ।
प्रभावज्ञास्मि ते कृष्ण सत्यस्याभिजनस्य च ।। १०२ ।।

परंतप श्रीकृष्ण! धर्मका लोप न करते हुए, छल और कपटसे दूर रहकर समयोचित कार्य करना चाहिये। मैं तुम्हारी सत्यपरायणता और कुल-मर्यादाका भी प्रभाव जानती हूँ ।। १०२ ।।

व्यवस्थायां च मित्रेषु बुद्धिविक्रमयोस्तथा ।
त्वमेव नः कुले धर्मस्त्वं सत्य त्वं तपो महत् ।। १०३ ।।
त्वं त्राता त्वं महद् ब्रह्म त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
यथैवात्थ तथैवैतत् त्वयि सत्यं भविष्यति ।। १०४ ।।

प्रत्येक कार्यकी व्यवस्थामें, मित्रोंके संग्रहमें तथा बुद्धि और पराक्रममें भी जो तुम्हारा अद्भुत प्रभाव है, उससे मैं परिचित हूँ। हमारे कुलमें तुम्हीं धर्म हो, तुम्हीं सत्य हो, तुम्हीं

महान् तप हो, तुम्हीं रक्षक और तुम्हीं परब्रह्म परमात्मा हो। सब कुछ तुममें ही प्रतिष्ठित है। तुम जो कुछ कहते हो, वह सब तुम्हारे संनिधानमें सत्य होकर ही रहेगा ।। १०३-१०४ ।।

(कुरूणां पाण्डवानां च लोकानां चापराजित ।
सर्वस्यैतस्य वार्ष्णेय गतिस्त्वमसि माधव ।।
प्रभावो बुद्धिवीर्यं च तादृशं तव केशव ।)

किसीसे पराजित न होनेवाले वृष्णिनन्दन माधव! कौरवोंके, पाण्डवोंके तथा इस सम्पूर्ण जगत्के तुम्हीं आश्रय हो। केशव! तुम्हारा प्रभाव तथा तुम्हारा बुद्धिबल भी तुम्हारे अनुरूप ही है। *वैशम्पायन उवाच*

तामामन्त्र्य च गोविन्दः कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।
प्रातिष्ठत महाबाहुर्दुर्योधनगृहान् प्रति ।। १०५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महाबाहु गोविन्द कुन्तीदेवीकी परिक्रमा करके उनसे आज्ञा ले दुर्योधनके घरकी ओर चल दिये ।। १०५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णकुन्तीसंवादे नवतितमोऽध्यायः ।। ९० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-कुन्ती-संवादविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९० ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके १ $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल १०६ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं।]

एकनवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधनके घर जाना एवं उसके निमन्त्रणको अस्वीकार करके विदुरजीके घरपर भोजन करना

वैशम्पायन उवाच

पृथामामन्त्र्य गोविन्दः कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।
दुर्योधनगृहं शौरिरभ्यगच्छदरिंदमः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शत्रुओंका दमन करनेवाले शूरनन्दन श्रीकृष्ण कुन्तीकी परिक्रमा करके एवं उनकी आज्ञा ले दुर्योधनके घर गये ।। १ ।।

लक्ष्म्या परमया युक्तं पुरन्दरगृहोपमम् ।
विचित्रैरासनैर्युक्तं प्रविवेश जनार्दनः ।। २ ।।

वह घर इन्द्रभवनके समान उत्तम शोभासे सम्पन्न था। उसमें यथास्थान विचित्र आसन सजाकर रखे गये थे। श्रीकृष्णने उस गृहमें प्रवेश किया ।। २ ।।

तस्य कक्ष्या व्यतिक्रम्य तिस्रो द्वाःस्थैरवारितः ।
ततोऽभ्रघनसंकाशं गिरिकूटमिवोच्छ्रितम् ।। ३ ।।
श्रिया ज्वलन्तं प्रासादमारुरोह महायशाः ।

द्वारपालोंने रोक-टोक नहीं की। उस राजभवनकी तीन ड्योढ़ियाँ पार करके महायशस्वी श्रीकृष्ण एक ऐसे प्रासादपर आरूढ़ हुए, जो आकाशमें छाये हुए शरद्-ऋतुके बादलोंके समान श्वेत, पर्वतशिखरके समान ऊँचा तथा अपनी अद्भुत प्रभासे प्रकाशमान था ।। ३ $\frac{१}{२}$ ।।

तत्र राजसहस्रैश्च कुरुभिश्चाभिसंवृतम् ।। ४ ।।
धार्तराष्ट्रं महाबाहुं ददर्शासीनमासने ।

वहाँ उन्होंने सिंहासनपर बैठे हुए धृतराष्ट्रपुत्र महाबाहु दुर्योधनको देखा, जो सहस्रों राजाओं तथा कौरवोंसे घिरा हुआ था ।। ४ $\frac{१}{२}$ ।।

दुःशासनं च कर्णं च शकुनिं चापि सौबलम् ।। ५ ।।
दुर्योधनसमीपे तानासनस्थान् ददर्श सः ।

दुर्योधनके पास ही दुःशासन, कर्ण तथा सुबलपुत्र शकुनि—ये भी आसनोंपर बैठे थे। श्रीकृष्णने उनको भी देखा ।। ५ $\frac{१}{२}$ ।।

अभ्यागच्छति दाशार्हे धार्तराष्ट्रो महायशाः ।। ६ ।।
उदतिष्ठत् सहामात्यः पूजयन् मधुसूदनम् ।

दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी दुर्योधन मधुसूदनका सम्मान करते हुए मन्त्रियोंसहित उठकर खड़ा हो गया ।। ६½ ।।

समेत्य धार्तराष्ट्रेण सहामात्येन केशवः ।। ७ ।।
राजभिस्तत्र वार्ष्णेयः समागच्छद् यथावयः ।

मन्त्रियोंसहित दुर्योधनसे मिलकर वृष्णिकुलभूषण केशव अवस्थाके अनुसार वहाँ सभी राजाओंसे यथायोग्य मिले ।। ७½ ।।

तत्र जाम्बूनदमयं पर्यङ्कं सुपरिष्कृतम् ।। ८ ।।
विविधास्तरणास्तीर्णमभ्युपाविशदच्युतः ।

उस राजसभामें सुन्दर रत्नोंसे विभूषित एक सुवर्णमय पर्यंक रखा हुआ था, जिसपर भाँति-भाँतिके बिछौने बिछे हुए थे। भगवान् श्रीकृष्ण उसीपर विराजमान हुए ।। ८½ ।।

तस्मिन् गां मधुपर्कं चाप्युदकं च जनार्दने ।। ९ ।।
निवेदयामास तदा गृहान् राज्यं च कौरवः ।

उस समय कुरुराजने जनार्दनकी सेवामें गौ, मधुपर्क, जल, गृह तथा राज्य सब कुछ निवेदन कर दिया ।। ९½ ।।

तत्र गोविन्दमासीनं प्रसन्नादित्यवर्चसम् ।। १० ।।
उपासांचक्रिरे सर्वे कुरवो राजभिः सह ।

उस पर्यंकपर बैठे हुए भगवान् गोविन्द निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी प्रतीत हो रहे थे। उस समय राजाओंसहित समस्त कौरव उनके पास आकर बैठ गये ।। १० ½ ।।

ततो दुर्योधनो राजा वार्ष्णेयं जयतां वरम् ।। ११ ।।

न्यमन्त्रयद् भोजनेन नाभ्यनन्दच्च केशवः ।

तदनन्तर राजा दुर्योधनने विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णको भोजनके लिये निमन्त्रित किया; परंतु केशवने उस निमन्त्रणको स्वीकार नहीं किया ।। ११ ½ ।।

ततो दुर्योधनः कृष्णमब्रवीत् कुरुसंसदि ।। १२ ।।

मृदुपूर्वं शठोदर्कं कर्णमाभाष्य कौरवः ।

तब कुरुराज दुर्योधनने कर्णसे सलाह लेकर कौरवसभामें श्रीकृष्णसे पूछा। पूछते समय उसकी वाणीमें पहले तो मृदुता थी, परंतु अन्तमें शठता प्रकट होने लगी थी ।। १२ ½ ।।

कस्मादन्नानि पानानि वासांसि शयनानि च ।। १३ ।।

त्वदर्थमुपनीतानि नाग्रहीस्त्वं जनार्दन ।

(दुर्योधन बोला—) जनार्दन! आपके लिये अन्न, जल, वस्त्र और शय्या आदि जो वस्तुएँ प्रस्तुत की गयीं, उन्हें आपने ग्रहण क्यों नहीं किया? ।। १३ ½ ।।

उभयोश्चाददाः साह्यमुभयोश्च हिते रतः ।। १४ ।।

सम्बन्धी दयितश्चासि धृतराष्ट्रस्य माधव ।

त्वं हि गोविन्द धर्मार्थौ वेत्थ तत्त्वेन सर्वशः ।

तत्र कारणमिच्छामि श्रोतुं चक्रगदाधर ।। १५ ।।

आपने तो दोनों पक्षोंको ही सहायता दी है, आप उभयपक्षके हित-साधनमें तत्पर हैं। माधव! महाराज धृतराष्ट्रके आप प्रिय सम्बन्धी भी हैं। चक्र और गदा धारण करनेवाले गोविन्द! आपको धर्म और अर्थका सम्पूर्णरूपसे यथार्थ ज्ञान भी है; फिर मेरा आतिथ्य ग्रहण न करनेका क्या कारण है; यह मैं सुनना चाहता हूँ ।। १४-१५ ।।

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तो गोविन्दः प्रत्युवाच महामनाः ।

उद्यन्मेघस्वनः काले प्रगृह्य विपुलं भुजम् ।। १६ ।।

अलघूकृतमग्रस्तमनिरस्तमसंकुलम् ।

राजीवनेत्रो राजानं हेतुमद् वाक्यमुत्तमम् ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार पूछे जानेपर उस समय महामनस्वी कमलनयन श्रीकृष्णने अपनी विशाल भुजा ऊपर उठाकर राजा दुर्योधनको सजल जलधरके समान गम्भीर वाणीमें उत्तर देना आरम्भ किया। उनका वह वचन परम उत्तम,

युक्तिसंगत, दैन्य-रहित प्रत्येक अक्षरकी स्पष्टतासे सुशोभित तथा स्थान-भ्रष्टता एवं संकीर्णता आदि दोषोंसे रहित था ।। १६-१७ ।।

कृतार्था भुञ्जते दूताः पूजां गृह्णन्ति चैव ह ।
कृतार्थं मां सहामात्यं समर्चिष्यसि भारत ।। १८ ।।

'भारत! ऐसा नियम है कि दूत अपना प्रयोजन सिद्ध होनेपर ही भोजन और सम्मान स्वीकार करते हैं। तुम भी मेरा उद्देश्य सिद्ध हो जानेपर ही मेरा और मेरे मन्त्रियोंका सत्कार करना' ।। १८ ।।

एवमुक्तः प्रत्युवाच धार्तराष्ट्रो जनार्दनम् ।
न युक्तं भवतास्मासु प्रतिपत्तुमसाम्प्रतम् ।। १९ ।।

यह सुनकर दुर्योधनने जनार्दनसे कहा—'आपको हमलोगोंके साथ ऐसा अनुचित बर्ताव नहीं करना चाहिये' ।। १९ ।।

कृतार्थं वाकृतार्थं च त्वां वयं मधुसूदन ।
यतामहे पूजयितुं दाशार्ह न च शक्नुमः ।। २० ।।

'दशार्हनन्दन मधुसूदन! आपका उद्देश्य सफल हो या न हो, हमलोग तो आपके सम्मानका प्रयत्न करते ही हैं; किंतु हमें सफलता नहीं मिल रही है ।। २० ।।

न च तत् कारणं विद्मो यस्मिन् नो मधुसूदन ।
पूजां कृतां प्रीयमाणैर्नामंस्थाः पुरुषोत्तम ।। २१ ।।

'मधुदैत्यका विनाश करनेवाले पुरुषोत्तम! हमें ऐसा कोई कारण नहीं जान पड़ता, जिसके होनेसे आप हमारी प्रेमपूर्वक अर्पित की हुई पूजा ग्रहण न कर सकें ।। २१ ।।

वैरं नो नास्ति भवता गोविन्द न च विग्रहः ।
स भवान् प्रसमीक्ष्यैतन्नेदृशं वक्तुमर्हति ।। २२ ।।

'गोविन्द! आपके साथ हमलोगोंका न तो कोई वैर है और न झगड़ा ही है। इन सब बातोंका विचार करके आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये' ।। २२ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच धार्तराष्ट्रं जनार्दनः ।
अभिवीक्ष्य सहामात्यं दाशार्हः प्रहसन्निव ।। २३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर दशार्हकुलभूषण जनार्दनने मन्त्रियोंसहित दुर्योधनकी ओर देखकर हँसते हुए-से उत्तर दिया ।। २३ ।।

नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नार्थकारणात् ।
न हेतुवादाल्लोभाद् वा धर्मं जह्यां कथंचन ।। २४ ।।

'राजन्! मैं कामसे, क्रोधसे, द्वेषसे, स्वार्थवश, बहानेबाजी अथवा लोभसे भी किसी प्रकार धर्मका त्याग नहीं कर सकता ।। २४ ।।

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः ।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम् ।। २५ ।।

‘किसीके घरका अन्न या तो प्रेमके कारण भोजन किया जाता है या आपत्तिमें पड़नेपर। नरेश्वर! प्रेम तो तुम नहीं रखते और किसी आपत्तिमें हम नहीं पड़े हैं ।। २५ ।।

अकस्माद् द्वेष्टि वै राजन् जन्मप्रभृति पाण्डवान् ।
प्रियानुवर्तिनो भ्रातॄन् सर्वैः समुदितान् गुणैः ।। २६ ।।

‘राजन्! पाण्डव तुम्हारे भाई ही हैं, वे अपने प्रेमियोंका साथ देनेवाले और समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न हैं, तथापि तुम जन्मसे ही उनके साथ अकारण ही द्वेष करते हो ।। २६ ।।

अकस्माच्चैव पार्थानां द्वेषणं नोपपद्यते ।
धर्मे स्थिताः पाण्डवेयाः कस्तान् किं वक्तुमर्हति ।। २७ ।।

‘बिना कारण ही कुन्तीपुत्रोंके साथ द्वेष रखना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है। पाण्डव सदा अपने धर्ममें स्थित रहते हैं, अतः उनके विरुद्ध कौन क्या कह सकता है? ।। २७ ।।

यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु ।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ।। २८ ।।

‘जो पाण्डवोंसे द्वेष करता है, वह मुझसे भी द्वेष करता है और जो उनके अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है। तुम मुझे धर्मात्मा पाण्डवोंके साथ एकरूप हुआ ही समझो ।। २८ ।।

कामक्रोधानुवर्ती हि यो मोहाद् विरुरुत्सति ।
गुणवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुः पुरुषाधमम् ।। २९ ।।

‘जो काम और क्रोधके वशीभूत होकर मोहवश किसी गुणवान् पुरुषके साथ विरोध करना चाहता है, उसे पुरुषोंमें अधम कहा गया है ।। २९ ।।

यः कल्याणगुणान् ज्ञातीन् मोहाल्लोभाद् दिदृक्षते ।
सोऽजितात्माजितक्रोधो न चिरं तिष्ठति श्रियम् ।। ३० ।।

‘जो कल्याणमय गुणोंसे युक्त अपने कुटुम्बीजनोंको मोह[१] और लोभ[२]की दृष्टिसे देखना चाहता है, वह अपने मन और क्रोधको न जीतनेवाला पुरुष दीर्घकालतक राजलक्ष्मीका उपभोग नहीं कर सकता ।। ३० ।।

अथ यो गुणसम्पन्नान् हृदयस्याप्रियानपि ।
प्रियेण कुरुते वश्यांश्चिरं यशसि तिष्ठति ।। ३१ ।।

‘जो अपने मनको प्रिय न लगनेवाले गुणवान् व्यक्तियोंको भी अपने प्रिय व्यवहारद्वारा वशमें कर लेता है, वह दीर्घकालतक यशस्वी बना रहता है ।। ३१ ।।

(द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत् ।

पाण्डवान् द्विषसे राजन् मम प्राणा हि पाण्डवाः ।।)

'जो द्वेष रखता हो, उसका अन्न नहीं खाना चाहिये। द्वेष रखनेवालेको खिलाना भी नहीं चाहिये। राजन्! तुम पाण्डवोंसे द्वेष रखते हो और पाण्डव मेरे प्राण हैं।

सर्वमेतन्न भोक्तव्यमन्नं दुष्टाभिसंहितम् ।
क्षत्तुरेकस्य भोक्तव्यमिति मे धीयते मतिः ।। ३२ ।।

'तुम्हारा यह सारा अन्न दुर्भावनासे दूषित है। अतः मेरे भोजन करनेयोग्य नहीं है। मेरे लिये तो यहाँ केवल विदुरका ही अन्न खानेयोग्य है। यह मेरी निश्चित धारणा है' ।। ३२ ।।

एवमुक्त्वा महाबाहुर्दुर्योधनममर्षणम् ।
निश्चक्राम ततः शुभ्राद् धार्तराष्ट्रनिवेशनात् ।। ३३ ।।

अमर्षशील दुर्योधनसे ऐसा कहकर महाबाहु श्रीकृष्ण उसके भव्य भवनसे बाहर निकले ।। ३३ ।।

निर्याय च महाबाहुर्वासुदेवो महामनाः ।
निवेशाय ययौ वेश्म विदुरस्य महात्मनः ।। ३४ ।।

वहाँसे निकलकर महामना महाबाहु भगवान् वासुदेव ठहरनेके लिये महात्मा विदुरके भवनमें गये ।। ३४ ।।

तमभ्यगच्छद् द्रोणश्च कृपो भीष्मोऽथ बाह्लिकः ।
कुरवश्च महाबाहुं विदुरस्य गृहे स्थितम् ।। ३५ ।।
त ऊचुर्माधवं वीरं कुरवो मधुसूदनम् ।
निवेदयामो वार्ष्णेय सरत्नांस्ते गृहान् वयम् ।। ३६ ।।

उस समय द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म, बाह्लीक तथा अन्य कौरवोंने भी महाबाहु श्रीकृष्णका अनुसरण किया। विदुरके घरमें ठहरे हुए यदुवंशी वीर मधुसूदनसे वे सब कौरव बोले—'वृष्णिनन्दन! हमलोग रत्न-धनसे सम्पन्न अपने घरोंको आपकी सेवामें समर्पित करते हैं' ।। ३५-३६ ।।

तानुवाच महातेजाः कौरवान् मधुसूदनः ।
सर्वे भवन्तो गच्छन्तु सर्वा मेऽपचितिः कृता ।। ३७ ।।

तब महातेजस्वी मधुसूदनने कौरवोंसे कहा—'आप सब लोग अपने घरोंको जायँ; आपके द्वारा मेरा सारा सम्मान सम्पन्न हो गया' ।। ३७ ।।

यातेषु कुरुषु क्षत्ता दाशार्हमपराजितम् ।
अभ्यर्चयामास तदा सर्वकामैः प्रयत्नवान् ।। ३८ ।।

कौरवोंके चले जानेपर विदुरजीने कभी पराजित न होनेवाले दशार्हनन्दन श्रीकृष्णको समस्त मनोवांछित वस्तुएँ समर्पित करके प्रयत्नपूर्वक उनका पूजन किया ।।

ततः क्षत्तान्नपानानि शुचीनि गुणवन्ति च ।
उपाहरदनेकानि केशवाय महात्मने ।। ३९ ।।

तदनन्तर उन्होंने अनेक प्रकारके पवित्र एवं गुणकारक अन्न-पान महात्मा केशवको अर्पित किये ।।

तैस्तर्पयित्वा प्रथमं ब्राह्मणान् मधुसूदनः ।
वेदविद्भ्यो ददौ कृष्णः परमद्रविणान्यपि ।। ४० ।।

मधुसूदनने उस अन्न-पानसे पहले ब्राह्मणोंको तृप्त किया, फिर उन्होंने उन वेदवेत्ताओंको श्रेष्ठ धन भी दिया ।। ४० ।।

ततोऽनुयायिभिः सार्धं मरुद्भिरिव वासवः ।
विदुरान्नानि बुभुजे शुचीनि गुणवन्ति च ।। ४१ ।।

तदनन्तर देवताओंसहित इन्द्रकी भाँति अनुचरोंसहित भगवान् श्रीकृष्णने विदुरजीके पवित्र एवं गुणकारक अन्न-पान ग्रहण किये ।। ४१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णदुर्योधनसंवादे एकनवतितमोऽध्यायः ।। ९१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-दुर्योधन-संवादविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९१ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं।]

---

१. जो दुष्ट नहीं है, उसे भी दुष्ट समझना मोह है।
२. दूसरेके धनको हर लेनेकी इच्छाका नाम लोभ है।

द्विनवतितमोऽध्यायः

विदुरजीका धृतराष्ट्रपुत्रोंकी दुर्भावना बताकर श्रीकृष्णको उनके कौरवसभामें जानेका अनौचित्य बतलाना

वैशम्पायन उवाच

तं भुक्तवन्तमाश्वस्तं निशायां विदुरोऽब्रवीत् ।
नेदं सम्यग् व्यवसितं केशवागमनं तव ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! रातमें जब भगवान् श्रीकृष्ण भोजन करके विश्राम कर रहे थे, उस समय विदुरजीने उनसे कहा—'केशव! आपने जो यहाँ आनेका विचार किया, यह मेरी समझमें अच्छा नहीं हुआ ।।

अर्थधर्मातिगो मन्दः संरम्भी च जनार्दन ।
मानघ्नो मानकामश्च वृद्धानां शासनातिगः ।। २ ।।

'जनार्दन! मन्दमति दुर्योधन धर्म और अर्थ दोनोंका उल्लंघन कर चुका है। वह क्रोधी, दूसरोंके सम्मानको नष्ट करनेवाला और स्वयं सम्मान चाहनेवाला है। उसने बड़े-बूढ़े गुरुजनोंके आदेशको भी ठुकरा दिया है ।। २ ।।

धर्मशास्त्रातिगो मूढो दुरात्मा प्रग्रहं गतः ।
अनेयः श्रेयसां मन्दो धार्तराष्ट्रो जनार्दन ।। ३ ।।

'प्रभो! मूढ़ धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन धर्मशास्त्रोंकी भी आज्ञा नहीं मानता; सदा अपना ही हठ रखता है। उस दुरात्माको सन्मार्गपर ले आना असम्भव है ।। ३ ।।

कामात्मा प्राज्ञमानी च मित्रध्रुक् सर्वशङ्कितः ।
अकर्ता चाकृतज्ञश्च त्यक्तधर्मा प्रियानृतः ।। ४ ।।

'उसका मन भोगोंमें आसक्त है, वह अपनेको पण्डित मानता, मित्रोंके साथ द्रोह करता और सबको संदेहकी दृष्टिसे देखता है। वह स्वयं तो किसीका उपकार करता ही नहीं, दूसरोंके किये हुए उपकारको भी नहीं मानता। वह धर्मको त्यागकर असत्यसे ही प्रेम करने लगा है ।। ४ ।।

मूढश्चाकृतबुद्धिश्च इन्द्रियाणामनीश्वरः ।
कामानुसारी कृत्येषु सर्वेष्वकृतनिश्चयः ।। ५ ।।

'उसमें विवेकका सर्वथा अभाव है, उसकी बुद्धि किसी एक निश्चयपर नहीं रहती तथा वह अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखनेमें असमर्थ है। वह अपनी इच्छाओंका अनुसरण करनेवाला तथा सभी कार्योंमें अनिश्चित विचार रखनेवाला है ।। ५ ।।

एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्दोषैरेव समन्वितः ।

त्वयोच्यमानः श्रेयोऽपि संरम्भान्न ग्रहीष्यति ।। ६ ।।

'ये तथा और भी बहुत-से दोष उसमें भरे हुए हैं। आप उसे हितकी बात बतायेंगे, तो भी वह क्रोधवश उसे स्वीकार नहीं करेगा ।। ६ ।।

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे जयद्रथे ।
भूयसीं वर्तते वृत्तिं न शमे कुरुते मनः ।। ७ ।।

'वह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा तथा जयद्रथपर अधिक भरोसा रखता है, अतः उसके मनमें संधि करनेका विचार ही नहीं होता है ।। ७ ।।

निश्चितं धार्तराष्ट्राणां सकर्णानां जनार्दन ।
भीष्मद्रोणमुखान् पार्था न शक्ताः प्रतिवीक्षितुम् ।। ८ ।।

'जनार्दन! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रों तथा कर्णकी यह निश्चित धारणा है कि कुन्तीके पुत्र भीष्म एवं द्रोणाचार्य आदि वीरोंकी ओर देखनेमें भी समर्थ नहीं हैं ।। ८ ।।

सेनासमुदयं कृत्वा पार्थिवं मधुसूदन ।
कृतार्थं मन्यते बाल आत्मानमविचक्षणः ।। ९ ।।

'मधुसूदन! मूर्ख एवं बुद्धिहीन दुर्योधन राजाओंकी सेना एकत्र करके अपने-आपको कृतकृत्य मानता है ।।

एकः कर्णः पराञ्जेतुं समर्थ इति निश्चितम् ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः स शमं नोपयास्यति ।। १० ।।

'दुर्बुद्धि दुर्योधनको तो इस बातका भी दृढ़ विश्वास है कि अकेला कर्ण ही शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ है; इसलिये वह कदापि संधि नहीं करेगा ।। १० ।।

संविच्च धार्तराष्ट्राणां सर्वेषामेव केशव ।
शमे प्रयतमानस्य तव सौभ्रात्रकाङ्क्षिणः ।। ११ ।।
न पाण्डवानामस्माभिः प्रतिदेयं यथोचितम् ।
इति व्यवसितास्तेषु वचनं स्यान्निरर्थकम् ।। १२ ।।

'केशव! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंने यह पक्का विचार कर लिया है कि हमें पाण्डवोंको उनका यथोचित राज्यभाग नहीं देना चाहिये। यही उनका दृढ़ निश्चय है। इधर आप संधिके लिये प्रयत्न करते हुए उनमें उत्तम भ्रातृभाव जगाना चाहते हैं; परंतु उन दुष्टोंके प्रति आप जो कुछ भी कहेंगे, वह सब व्यर्थ ही होगा ।। ११-१२ ।।

यत्र सूक्तं दुरुक्तं च समं स्यान्मधुसूदन ।
न तत्र प्रलपेत् प्राज्ञो बधिरेष्विव गायनः ।। १३ ।।

'मधुसूदन! जहाँ अच्छी और बुरी बातोंका एक-सा ही परिणाम हो, वहाँ विद्वान् पुरुषको कुछ नहीं कहना चाहिये। वहाँ कोई बात कहना बहरोंके आगे राग अलापनेके समान व्यर्थ ही है ।। १३ ।।

अविजानत्सु मूढेषु निर्मर्यादेषु माधव ।

न त्वं वाक्यं ब्रुवन् युक्तश्चाण्डालेषु द्विजो यथा ।। १४ ।।

'माधव! जैसे चाण्डालोंके बीचमें किसी विद्वान् ब्राह्मणका उपदेश देना उचित नहीं है, उसी प्रकार उन मर्यादारहित मूर्ख और अज्ञानियोंके समीप आपका कुछ भी कहना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ।। १४ ।।

सोऽयं बलस्थो मूढश्च न करिष्यति ते वचः ।
तस्मिन् निरर्थकं वाक्यमुक्तं सम्पत्स्यते तव ।। १५ ।।

'मूढ़ दुर्योधन सैन्यसंग्रह करके अपनेको शक्तिशाली समझता है। वह आपकी बात नहीं मानेगा। उसके प्रति कहा हुआ आपका प्रत्येक वाक्य निरर्थक होगा ।। १५ ।।

तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां पापचेतसाम् ।
तव मध्यावतरणं मम कृष्ण न रोचते ।। १६ ।।
दुर्बुद्धीनामशिष्टानां बहूनां दुष्टचेतसाम् ।
प्रतीपं वचनं मध्ये तव कृष्ण न रोचते ।। १७ ।।

'श्रीकृष्ण! वे सभी पापपूर्ण विचार लेकर बैठे हुए हैं; अतः उनके बीचमें आपका जाना मुझे अच्छा नहीं लगता है। वे सब-के-सब दुर्बुद्धि, अशिष्ट और दुष्टचित्त हैं। उनकी संख्या भी बहुत है। श्रीकृष्ण! आप उनके बीचमें जाकर कोई प्रतिकूल बात कहें, यह मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ।। १६-१७ ।।

अनुपासितवृद्धत्वाच्छ्रियो दर्पाच्च मोहितः ।
वयोदर्पादमर्षाच्च न ते श्रेयो ग्रहीष्यति ।। १८ ।।

'दुर्योधनने कभी वृद्ध पुरुषोंका सेवन नहीं किया है। वह राजलक्ष्मीके घमण्डसे मोहित है। इसके सिवा उसे अपनी युवावस्थापर भी गर्व है और वह पाण्डवोंके प्रति सदा अमर्षमें भरा रहता है। अतः आपकी हितकर बात भी वह नहीं मानेगा ।। १८ ।।

बलं बलवदप्यस्य यदि वक्ष्यसि माधव ।
त्वय्यस्य महती शङ्का न करिष्यति ते वचः ।। १९ ।।

'माधव! दुर्योधनके पास प्रबल सैन्यबल है। इसके सिवा आपपर उसे महान् संदेह है। अतः आप यदि उससे अच्छी बात कहेंगे, तो भी वह आपकी बात नहीं मानेगा ।। १९ ।।

नेदमद्य युधा शक्यमिन्द्रेणापि सहामरैः ।
इति व्यवसिताः सर्वे धार्तराष्ट्रा जनार्दन ।। २० ।।

'जनार्दन! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको यह दृढ़ विश्वास है कि देवताओंसहित इन्द्र भी इस समय युद्धके द्वारा हमारी इस सेनाको परास्त नहीं कर सकते ।।

तेष्वेवमुपपन्नेषु कामक्रोधानुवर्तिषु ।
समर्थमपि ते वाक्यमसमर्थं भविष्यति ।। २१ ।।

'जो इस प्रकार निश्चय किये बैठे हैं और काम-क्रोधके ही पीछे चलनेवाले हैं, उनके प्रति आपका युक्तियुक्त एवं सार्थक वचन भी निरर्थक एवं असफल हो जायगा ।। २१ ।।

मध्ये तिष्ठन् हस्त्यनीकस्य मन्दो
रथाश्वयुक्तस्य बलस्य मूढः ।
दुर्योधनो मन्यते वीतभीतिः
कृत्स्ना मयेयं पृथिवी जितेति ।। २२ ।।

'रथियों और घुड़सवारोंसे युक्त हाथियोंकी सेनाके बीचमें खड़ा होकर भयसे रहित हुआ मन्दबुद्धि मूढ़ दुर्योधन यह समझता है कि यह सारी पृथ्वी मैंने जीत ली ।। २२ ।।

आशंसते वै धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
महाराज्यमसपत्नं पृथिव्याम् ।
तस्मिञ्छमः केवलो नोपलभ्यो
बद्धं सन्तं मन्यते लब्धमर्थम् ।। २३ ।।

'धृतराष्ट्रका वह ज्येष्ठ पुत्र भूमण्डलका शत्रुरहित साम्राज्य पानेकी आशा रखता है। वह मन-ही-मन यह संकल्प भी करता है कि जूएमें प्राप्त हुआ यह धन एवं राज्य अब मेरे ही अधिकारमें आबद्ध रहे; अतः उसके प्रति केवल संधिका प्रयत्न सफल न होगा ।। २३ ।।

पर्यस्तेयं पृथिवी कालपक्वा
दुर्योधनार्थे पाण्डवान् योद्धुकामाः ।
समागताः सर्वयोधाः पृथिव्यां
राजानश्च क्षितिपालैः समेताः ।। २४ ।।

'जान पड़ता है, अब यह पृथ्वी कालसे परिपक्व होकर नष्ट होनेवाली है; क्योंकि राजाओंके साथ भूमण्डलके समस्त क्षत्रिय योद्धा दुर्योधनके लिये पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे यहाँ एकत्र हुए हैं ।। २४ ।।

सर्वे चैते कृतवैराः पुरस्तात्
त्वया राजानो हृतसाराश्च कृष्ण ।
तवोद्वेगात् संश्रिता धार्तराष्ट्रान्
सुसंहताः सह कर्णेन वीराः ।। २५ ।।

'श्रीकृष्ण! ये सब-के-सब वे ही भूपाल हैं, जिन्होंने पहले आपके साथ वैर ठाना था और जिनका सार-सर्वस्व आपने हर लिया था। ये लोग आपके भयसे धृतराष्ट्रपुत्रोंकी शरणमें आये हैं तथा कर्णके साथ संगठित हो वीरता दिखानेको उद्यत हुए हैं ।। २५ ।।

त्यक्तात्मानः सह दुर्योधनेन
हृष्टा योद्धुं पाण्डवान् सर्वयोधाः ।
तेषां मध्ये प्रविशेथा यदि त्वं
न तन्मतं मम दाशार्ह वीर ।। २६ ।।

'ये सब योद्धा दुर्योधनके साथ मिल गये हैं और अपने प्राणोंका मोह छोड़कर हर्ष एवं उत्साहके साथ पाण्डवोंसे युद्ध करनेको तैयार हैं। दशार्हवंशी वीर! ऐसे विरोधियोंके बीचमें

यदि आप जानेको उद्यत हैं तो यह मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ।। २६ ।।

तेषां समुपविष्टानां बहूनां दुष्टचेतसाम् ।
कथं मध्यं प्रपद्येथाः शत्रूणां शत्रुकर्शन ।। २७ ।।
सर्वथा त्वं महाबाहो देवैरपि दुरुत्सहः ।
प्रभावं पौरुषं बुद्धिं जानामि तव शत्रुहन् ।। २८ ।।
या मे प्रीतिः पाण्डवेषु भूयः सा त्वयि माधव ।
प्रेम्णा च बहुमानाच्च सौहृदाच्च ब्रवीम्यहम् ।। २९ ।।

‘शत्रुसूदन! जहाँ दुष्टतापूर्ण विचार लिये बहुसंख्यक शत्रु बैठे हों, वहाँ उनके बीच आप कैसे जाना चाहते हैं? शत्रुहन्ता महाबाहु श्रीकृष्ण! यद्यपि सम्पूर्ण देवता भी सर्वथा आपके सामने टिक नहीं सकते हैं तथा आपका जो प्रभाव, पुरुषार्थ और बुद्धिबल है, उसे भी मैं जानता हूँ; तथापि माधव! पाण्डवोंपर जो मेरा प्रेम है, वही और उससे भी बढ़कर आपके प्रति है। अतः प्रेम, अधिक आदर और सौहार्दसे प्रेरित होकर मैं यह बात कह रहा हूँ ।। २७—२९ ।।

या मे प्रीतिः पुष्कराक्ष त्वद्दर्शनसमुद्भवा ।
सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ।। ३० ।।

‘कमलनयन! आपके दर्शनसे आपके प्रति मेरा जो प्रेम उमड़ आया है, उसका आपसे क्या वर्णन किया जाय? आप समस्त देहधारियोंके अन्तर्यामी आत्मा हैं (अतः स्वयं ही सब कुछ देखते और जानते हैं)’ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णविदुरसंवादे द्विनवतितमोऽध्यायः ।। ९२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-विदुरसंवादविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९२ ।।

त्रिनवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कौरव-पाण्डवोंमें संधिस्थापनके प्रयत्नका औचित्य बताना

(वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा प्रश्रितं पुरुषोत्तमः ।
इदं होवाच वचनं भगवान् मधुसूदनः ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विदुरका यह प्रेम और विनयसे युक्त वचन सुनकर पुरुषोत्तम भगवान् मधुसूदनने यह बात कही।

श्रीभगवानुवाच

यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयाद् विचक्षणः ।
यथा वाच्यस्त्वद्विधेन भवता मद्विधः सुहृत् ।। १ ।।
धर्मार्थयुक्तं तथ्यं च यथा त्वय्युपपद्यते ।
तथा वचनमुक्तोऽस्मि त्वयैतत् पितृमातृवत् ।। २ ।।

श्रीभगवान् बोले—विदुरजी! एक महान् बुद्धिमान् पुरुष जैसी बात कह सकता है, विद्वान् मनुष्य जैसी सलाह दे सकता है, आप-जैसे हितैषी पुरुषके लिये मेरे-जैसे सुहृद्से जैसी बात कहनी उचित है और आपके मुखसे जैसा धर्म और अर्थसे युक्त सत्य वचन निकलना चाहिये, आपने माता-पिताके समान स्नेहपूर्वक वैसी ही बात मुझसे कही है ।। १-२ ।।

सत्यं प्राप्तं च युक्तं वाप्येवमेव यथाऽऽत्थ माम् ।
शृणुष्वागमने हेतुं विदुरावहितो भव ।। ३ ।।

आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वही सत्य, समयोचित और युक्तिसंगत है। तथापि विदुरजी! यहाँ मेरे आनेका जो कारण है, उसे सावधान होकर सुनिये ।।

दौरात्म्यं धार्तराष्ट्रस्य क्षत्रियाणां च वैरताम् ।
सर्वमेतदहं जानन् क्षत्तः प्राप्तोऽद्य कौरवान् ।। ४ ।।

विदुरजी! मैं धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी दुष्टता और क्षत्रिय योद्धाओंके वैरभाव—इन सब बातोंको जानकर ही आज कौरवोंके पास आया हूँ ।। ४ ।।

पर्यस्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम् ।
यो मोचयेन्मृत्युपाशात् प्राप्नुयाद् धर्ममुत्तमम् ।। ५ ।।

अश्व, रथ और हाथियोंसहित यह सारी पृथ्वी विनष्ट होना चाहती है। जो इसे मृत्युपाशसे छुड़ानेका प्रयत्न करेगा, उसे ही उत्तम धर्म प्राप्त होगा ।। ५ ।।

धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः ।
प्राप्तो भवति तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः ।। ६ ।।

मनुष्य यदि अपनी शक्तिभर किसी धर्म-कार्यको करनेका प्रयत्न करते हुए भी उसमें सफलता न प्राप्त कर सके, तो भी उसे उसका पुण्य तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। इस विषयमें मुझे संदेह नहीं है ।। ६ ।।

मनसा चिन्तयन् पापं कर्मणा नातिरोचयन् ।
न प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्मविदो विदुः ।। ७ ।।

इसी प्रकार यदि मनुष्य मनसे पापका चिन्तन करते हुए भी उसमें रुचि न होनेके कारण उसे क्रियाद्वारा सम्पादित न करे, तो उसे उस पापका फल नहीं मिलता है। ऐसा धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं ।। ७ ।।

सोऽहं यतिष्ये प्रशमं क्षत्तः कर्तुममायया ।
कुरूणां सृञ्जयानां च संग्रामे विनशिष्यताम् ।। ८ ।।

अतः विदुरजी! मैं युद्धमें मर मिटनेको उद्यत हुए कौरवों तथा सृंजयोंमें संधि करानेका निश्छलभावसे प्रयत्न करूँगा ।। ८ ।।

सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता ।
कर्णदुर्योधनकृता सर्वे ह्येते तदन्वयाः ।। ९ ।।

यह अत्यन्त भयंकर आपत्ति कर्ण और दुर्योधनद्वारा ही उपस्थित की गयी है; क्योंकि ये सभी नरेश इन्हीं दोनोंका अनुसरण करते हैं। अतः इस विपत्तिका प्रादुर्भाव कौरवपक्षमें ही हुआ है ।। ९ ।।

व्यसने क्लिश्यमानं हि यो मित्रं नाभिपद्यते ।
अनुनीय यथाशक्ति तै नृशंसं विदुर्बुधाः ।। १० ।।

जो किसी व्यसन या विपत्तिमें पड़कर क्लेश उठाते हुए मित्रको यथाशक्ति समझा-बुझाकर उसका उद्धार नहीं करता है, उसे विद्वान् पुरुष निर्दय एवं क्रूर मानते हैं ।। १० ।।

आकेशग्रहणान्मित्रमकार्यात् संनिवर्तयन् ।
अवाच्यः कस्यचिद् भवति कृतयत्नो यथाबलम् ।। ११ ।।

जो अपने मित्रको उसकी चोटी पकड़कर भी बुरे कार्यसे हटानेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है, वह किसीकी निन्दाका पात्र नहीं होता है ।। ११ ।।

तत् समर्थं शुभं वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
धार्तराष्ट्रः सहामात्यो ग्रहीतुं विदुरार्हति ।। १२ ।।

अतः विदुरजी! दुर्योधन और उसके मन्त्रियोंको मेरी शुभ, हितकर, युक्तियुक्त तथा धर्म और अर्थके अनुकूल बात अवश्य माननी चाहिये ।। १२ ।।

हितं हि धार्तराष्ट्राणां पाण्डवानां तथैव च ।
पृथिव्यां क्षत्रियाणां च यतिष्येऽहममायया ।। १३ ।।

मैं तो निष्कपटभावसे धृतराष्ट्रके पुत्रों, पाण्डवों तथा भूमण्डलके सभी क्षत्रियोंके हितका ही प्रयत्न करूँगा ।। १३ ।।

हिते प्रयतमानं मां शङ्केद् दुर्योधनो यदि ।
हृदयस्य च मे प्रीतिरानृण्यं च भविष्यति ।। १४ ।।

इस प्रकार हितसाधनके लिये प्रयत्न करनेपर भी यदि दुर्योधन मुझपर शंका करेगा तो भी मेरे मनको तो प्रसन्नता ही होगी और मैं अपने कर्तव्यके भारसे उऋण हो जाऊँगा ।। १४ ।।

ज्ञातीनां हि मिथो भेदे यन्मित्रं नाभिपद्यते ।
सर्वयत्नेन माध्यस्थ्यं न तन्मित्रं विदुर्बुधाः ।। १५ ।।

भाई-बन्धुओंमें परस्पर फूट होनेका अवसर आनेपर जो मित्र सर्वथा प्रयत्न करके उनमें मेल करानेके लिये मध्यस्थता नहीं करता, उसे विद्वान् पुरुष मित्र नहीं मानते हैं ।। १५ ।।

न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठा मूढा ह्यसुहृदस्तथा ।
शक्तो नावारयत् कृष्णः संरब्धान् कुरुपाण्डवान् ।। १६ ।।

संसारके पापी, मूढ़ और शत्रुभाव रखनेवाले लोग मेरे विषयमें यह न कहें कि श्रीकृष्णने समर्थ होते हुए भी क्रोधसे भरे हुए कौरव-पाण्डवोंको युद्धसे नहीं रोका (इसलिये भी मैं संधि करानेका प्रयत्न करूँगा) ।। १६ ।।

उभयोः साधयन्नर्थमहमागत इत्युत ।
तत्र यत्नमहं कृत्वा गच्छेयं नृष्ववाच्यताम् ।। १७ ।।

मैं दोनों पक्षोंका स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ। इसके लिये पूरा प्रयत्न कर लेनेपर मैं लोगोंमें निन्दाका पात्र नहीं बनूँगा ।। १७ ।।

मम धर्मार्थयुक्तं हि श्रुत्वा वाक्यमनामयम् ।
न चेदादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ।। १८ ।।

यदि मूर्ख दुर्योधन मेरे कष्टनिवारक एवं धर्म तथा अर्थके अनुकूल वचनोंको सुनकर भी उन्हें ग्रहण नहीं करेगा तो उसे दुर्भाग्यके अधीन होना पड़ेगा ।। १८ ।।

अहापयन् पाण्डवार्थं यथाव-
च्छमं कुरूणां यदि चाचरेयम् ।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महात्मन्
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ।। १९ ।।

महात्मन्! यदि मैं पाण्डवोंके स्वार्थमें बाधा न आने देकर कौरवों तथा पाण्डवोंमें यथायोग्य संधि करा सकूँगा तो मेरे द्वारा यह महान् पुण्यकर्म बन जायगा और कौरव भी मृत्युके पाशसे मुक्त हो जायँगे ।। १९ ।।

अपि वाचं भाषमाणस्य काव्यां

धर्मासमामर्थवतीमहिंस्राम् ।
अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः शमार्थं
मां च प्राप्तं कुरवः पूजयेयुः ।। २० ।।

मैं शान्तिके लिये विद्वानोंद्वारा अनुमोदित धर्म और अर्थके अनुकूल हिंसारहित बात कहूँगा। यदि धृतराष्ट्रके पुत्र मेरी बातपर ध्यान देंगे तो उसे अवश्य मानेंगे तथा कौरव भी मुझे वास्तवमें शान्तिस्थापनके लिये ही आया हुआ जान मेरा आदर करेंगे ।। २० ।।

न चापि मम पर्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः ।
क्रुद्धस्य प्रमुखे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः ।। २१ ।।

जैसे क्रोधमें भरे हुए सिंहके सामने दूसरे पशु नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार यदि मैं कुपित हो जाऊँ तो ये समस्त राजालोग एक साथ मिलकर भी मेरा सामना करनेमें समर्थ न होंगे ।। २१ ।। *वैशम्पायन उवाच*

इत्येवमुक्त्वा वचनं वृष्णीनामृषभस्तदा ।
शयने सुखसंस्पर्शे शिश्ये यदुसुखावहः ।। २२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यदुकुलको सुख देनेवाले वृष्णिवंशविभूषण श्रीकृष्ण विदुरजीसे उपर्युक्त बात कहकर स्पर्शमात्रसे सुख देनेवाली शय्यापर सो गये ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये त्रिनवतितमोऽध्यायः ।। ९३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९३ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं।]

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

दुर्योधन एवं शकुनिके द्वारा बुलाये जानेपर भगवान् श्रीकृष्णका रथपर बैठकर प्रस्थान एवं कौरवसभामें प्रवेश और स्वागतके पश्चात् आसनग्रहण

वैशम्पायन उवाच

तथा कथयतोरेव तयोर्बुद्धिमतोस्तदा ।
शिवा नक्षत्रसम्पन्ना सा व्यतीयाय शर्वरी ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय बुद्धिमान् श्रीकृष्ण तथा विदुरके इस प्रकार वार्तालाप करते हुए ही वह नक्षत्रोंसे सुशोभित मंगलमयी रात्रि बहुत-सी व्यतीत हो चुकी थी ।। १ ।।

धर्मार्थकामयुक्ताश्च विचित्रार्थपदाक्षराः ।
शृण्वतो विविधा वाचो विदुरस्य महात्मनः ।। २ ।।
कथाभिरनुरूपाभिः कृष्णस्यामिततेजसः ।
अकामस्येव कृष्णस्य सा व्यतीयाय शर्वरी ।। ३ ।।

महात्मा श्रीकृष्ण धर्म, अर्थ और कामके विषयमें अनेक प्रकारकी बातें कहते रहे। उनकी वाणीके पद, अर्थ और अक्षर बड़े विचित्र थे; अतः महात्मा विदुर भगवान्‌की कही हुई उन विविध वार्ताओंको प्रसन्नता-पूर्वक सुनते रहे। इस प्रकार अमिततेजस्वी श्रीकृष्ण और विदुर दोनों ही एक-दूसरेकी मनोनुकूल कथावार्तामें इतने तन्मय थे कि बिना इच्छाके ही उनकी वह रात्रि बहुत-सी व्यतीत हो गयी थी ।। २-३ ।।

ततस्तु स्वरसम्पन्ना बहवः सूतमागधाः ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः केशवं प्रत्यबोधयन् ।। ४ ।।

तदनन्तर मधुर स्वरसे युता बहुत-से सूत और मागध शंख और दुन्दुभियोंके घोषसे भगवान् श्रीकृष्णको जगाने लगे ।। ४ ।।

तत उत्थाय दाशार्ह ऋषभः सर्वसात्वताम् ।
सर्वमावश्यकं चक्रे प्रातःकार्यं जनार्दनः ।। ५ ।।

तब समस्त यदुवंशियोंके शिरोमणि दशार्हनन्दन श्रीकृष्णने शय्यासे उठकर प्रातःकालका समस्त आवश्यक कर्म क्रमशः सम्पन्न किया ।। ५ ।।

कृतोदकानुजप्यः स हुताग्निः समलंकृतः ।
ततश्चादित्यमुद्यन्तमुपातिष्ठत माधवः ।। ६ ।।

संध्या-तर्पण और जप करके अग्निहोत्र करनेके पश्चात् माधवने अलंकृत होकर उदयकालमें सूर्यका उपस्थान किया ।। ६ ।।

अथ दुर्योधनः कृष्णं शकुनिश्चापि सौबलः ।
संध्यां तिष्ठन्तमभ्येत्य दाशार्हमपराजितम् ।। ७ ।।
आचक्षेतां तु कृष्णस्य धृतराष्ट्रं सभागतम् ।
कुरूंश्च भीष्मप्रमुखान् राज्ञः सर्वांश्च पार्थिवान् ।। ८ ।।
त्वामर्थयन्ते गोविन्द दिवि शक्रमिवामराः ।
तावभ्यनन्दद् गोविन्दः साम्ना परमवल्गुना ।। ९ ।।

इसी समय राजा दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनि भी संध्योपासनामें लगे हुए अपराजित वीर दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके पास आये और उनसे इस प्रकार बोले—'गोविन्द! महाराज धृतराष्ट्र सभामें आ गये हैं। भीष्म आदि कौरव तथा अन्य समस्त भूपाल भी वहाँ उपस्थित हैं। जैसे स्वर्गमें देवता इन्द्रका आवाहन करते हैं, इसी प्रकार भीष्म आदि सब लोग आपसे वहाँ दर्शन देनेकी प्रार्थना करते हैं।' यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने परम मधुर सान्त्वनापूर्ण वचनद्वारा उन दोनोंका अभिनन्दन किया ।। ७—९ ।।

ततो विमल आदित्ये ब्राह्मणेभ्यो जनार्दनः ।
ददौ हिरण्यं वासांसि गाश्चाश्वांश्च परंतपः ।। १० ।।
विसृज्य बहुरत्नानि दाशार्हमपराजितम् ।
तिष्ठन्तमुपसंगम्य ववन्दे सारथिस्तदा ।। ११ ।।

तदनन्तर निर्मल सूर्यदेवका उदय हो जानेपर शत्रुओंको संताप देनेवाले भगवान् जनार्दनने ब्राह्मणोंको सुवर्ण, वस्त्र, गौ तथा घोड़े दान किये। अनेक प्रकारके रत्नोंका दान करके खड़े हुए उन अपराजित दाशार्ह वीरके पास जाकर सारथिने उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया ।। १०-११ ।।

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना ।
हयोत्तमयुजा शीघ्रमुपातिष्ठत दारुकः ।। १२ ।।

इसके बाद क्षुद्र घण्टिकाओंसे विभूषित और उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए चमकीले विशाल रथके साथ दारुक शीघ्र ही भगवान्‌की सेवामें उपस्थित हुआ ।। १२ ।।

(तस्मै रथवरो युक्तः शुशुभे लोकविश्रुतः ।
वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः ।।

भगवान्‌के लिये जोतकर खड़ा किया हुआ वह विश्वविख्यात श्रेष्ठ रथ बड़ी शोभा पा रहा था। उसमें शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामवाले चार घोड़े जुते हुए थे।

शैब्यस्तु शुकपत्राभः सुग्रीवः किंशुकप्रभः ।
मेघपुष्पो मेघवर्णः पाण्डुरस्तु बलाहकः ।।

उनमेंसे शैब्यका रंग तोतेकी पाँखके समान हरा था। सुग्रीव पलासके फूलकी भाँति लाल था। मेघपुष्पकी कान्ति मेघोंके ही समान थी और बलाहक सफेद था।

दक्षिणं चावहच्छैब्यः सुग्रीवः सव्यतोऽवहत् ।

पृष्ठवाहौ तयोरास्तां मेघपुष्पबलाहकौ ।।

शैब्य दाहिने भागमें जुतकर उस रथका वहन करता था और सुग्रीव बाँयें भागमें। मेघपुष्प और बलाहक क्रमशः इनके पीछे जुते हुए थे।

वैनतेयः स्थितस्तस्यां प्रभाकरमिव स्पृशन् ।

तस्य सत्त्ववतः केतौ भुजगारिरशोभत ।।

सत्वगुणके अधिष्ठानस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके रथमें लगे हुए ध्वजदण्डकी उस पताकामें सूर्यका स्पर्श करते हुए-से सर्पशत्रु विनतानन्दन गरुड विराज रहे थे।

तस्य कीर्तिमतस्तेन भास्वरेण विराजता ।

शुशुभे स्यन्दनश्रेष्ठः पतगेन्द्रेण केतुना ।।

कीर्तिमान् श्रीकृष्णका वह श्रेष्ठ रथ उस उज्ज्वल एवं प्रकाशमान गरुडध्वजके द्वारा बड़ी शोभा पा रहा था।

रुक्मजालैः पताकाभिः सौवर्णेन च केतुना ।

बभूव स रथश्रेष्ठः कालसूर्य इवोदितः ।।

सोनेकी जालियों, पताकाओं तथा सुवर्णमय ध्वजके द्वारा भगवान्‌का वह उत्तम रथ प्रलयकालमें उदित हुए सूर्यके समान उद्भासित हो रहा था।

पक्षिध्वजवितानैश्च रुक्मजालकृतान्तरैः ।

दण्डमार्गविभागैश्च सुकृतैर्विश्वकर्मणा ।।

प्रवालमणिहेमैश्च मुक्तावैडूर्यभूषणैः ।

किङ्किणीशतसङ्घैश्च वालजालकृतान्तरैः ।।

कार्तस्वरमयीभिश्च पद्मिनीभिरलंकृतः ।

शुशुभे स्यन्दनश्रेष्ठस्तापनीयैश्च पादपैः ।।

व्याघ्रसिंहवराहैश्च गोवृषैर्मृगपक्षिभिः ।

ताराभिर्भास्करैश्चापि वारणैश्च हिरण्मयैः ।।

वज्राङ्कुशविमानैश्च कूबरावृत्तसंधिषु ।)

उस रथके गरुडध्वज, चँदोवे, स्वर्णजालविभूषित मध्यभाग तथा पृथक्-पृथक् दण्डमार्गोंका विश्वकर्माने सुन्दर ढंगसे निर्माण किया था। प्रवाल (मूँगा), मणि, सुवर्ण, वैदूर्य, मुक्ता आदि विविध आभूषणों, शत-शत क्षुद्रघण्टिकाओं तथा वालमणिकी झालरोंसे उस रथके अन्तःप्रदेश सुसज्जित किये गये थे। सुवर्णमय कमलिनियों, तपाये हुए सुवर्णके ही वृक्षों तथा व्याघ्र, सिंह, वराह, वृषभ, मृग, पक्षी, तारा, सूर्य और हाथियोंकी स्वर्णमयी

प्रतिमाओंसे उस श्रेष्ठ रथकी अत्यन्त शोभा हो रही थी। कूबर (युगंधर)-की गोलाकार संधियोंमें वज्र, अंकुश तथा विमानकी आकृतियोंसे उस रथको विभूषित किया गया था।

तमुपस्थितमाज्ञाय रथं दिव्यं महामनाः ।
महाभ्रघननिर्घोषं सर्वरत्नविभूषितम् ।। १३ ।।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा ब्राह्मणांश्च जनार्दनः ।
कौस्तुभं मणिमामुच्य श्रिया परमया ज्वलन् ।। १४ ।।
कुरुभिः संवृतः कृष्णो वृष्णिभिश्चाभिरक्षितः ।
आतिष्ठत रथं शौरिः सर्वयादवनन्दनः ।। १५ ।।

महान् सजल मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर शब्द करनेवाले तथा सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित हुए उस दिव्य रथको उपस्थित जान अग्नि एवं ब्राह्मणोंको दाहिने करके, गलेमें कौस्तुभमणि डालकर, अपनी उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित होते हुए, कौरवोंसे घिरकर एवं वृष्णिवंशी वीरोंसे सुरक्षित हो समस्त यादवोंको आनन्द प्रदान करनेवाले महामना शूरनन्दन जनार्दन श्रीकृष्ण उस रथपर आरूढ़ हुए ।। १३—१५ ।।

अन्वारुरोह दाशार्हं विदुरः सर्वधर्मवित् ।
सर्वप्राणभृतां श्रेष्ठं सर्वबुद्धिमतां वरम् ।। १६ ।।

समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ और सम्पूर्ण बुद्धिमानोंमें उत्तम दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके पश्चात् समस्त धर्मोंके ज्ञाता विदुरजी भी उस रथपर जा बैठे ।। १६ ।।

ततो दुर्योधनः कृष्णं शकुनिश्चापि सौबलः ।
द्वितीयेन रथेनैनमन्वयातां परंतपम् ।। १७ ।।

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनि भी दूसरे रथपर बैठकर चले ।। १७ ।।

सात्यकिः कृतवर्मा च वृष्णीनां चापरे रथाः ।
पृष्ठतोऽनुययुः कृष्णं गजैरश्वैः रथैरपि ।। १८ ।।

सात्यकि, कृतवर्मा तथा वृष्णिवंशके दूसरे रथी भी हाथी, घोड़ों तथा रथोंपर बैठकर श्रीकृष्णके पीछे-पीछे गये ।। १८ ।।

तेषां हेमपरिष्कारैर्युक्ताः परमवाजिभिः ।
गच्छतां घोषिणश्चित्ररथा राजन् विरेजिरे ।। १९ ।।

राजन्! उन सबके जाते समय सोनेके आभूषणोंसे विभूषित, उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए एवं गम्भीर घोषयुक्त उनके विचित्र रथ बड़ी शोभा पा रहे थे ।। १९ ।।

सम्मृष्टसंसिक्तरजः प्रतिपेदे महापथम् ।
राजर्षिचरितं काले कृष्णो धीमाञ्छ्रिया ज्वलन् ।। २० ।।

अपनी दिव्य कान्तिसे प्रकाशित होनेवाले परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण यथासमय उस विशाल राजपथपर जा पहुँचे, जिसपर पूर्वकालके राजर्षि यात्रा करते थे। वहाँकी धूल झाड़ दी गयी थी और सर्वत्र जलसे छिड़काव किया गया था ।। २० ।।

श्रीकृष्णका कौरवसभामें प्रवेश

ततः प्रयाते दाशार्हे प्रावाद्यन्तैकपुष्कराः ।

शङ्खाश्च दध्मिरे तत्र वाद्यान्यन्यानि यानि च ।। २१ ।।

भगवान् श्रीकृष्णके प्रस्थान करनेपर ढोल, शंख तथा दूसरे-दूसरे बाजे एक साथ बज उठे ।। २१ ।।

प्रवीराः सर्वलोकस्य युवानः सिंहविक्रमाः ।
परिवार्य रथं शौरेरगच्छन्त परंतपाः ।। २२ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले, सिंहके समान पराक्रमी तथा सम्पूर्ण जगत्के प्रख्यात तरुण वीर भगवान् श्रीकृष्णके रथको घेरकर चलते थे ।। २२ ।।

ततोऽन्ये बहुसाहस्रा विचित्राद्भुतवाससः ।
असिप्रासायुधधराः कृष्णस्यासन् पुरःसराः ।। २३ ।।

श्रीकृष्णके आगे चलनेवाले सैनिकोंकी संख्या कई सहस्र थी। उन सबने विचित्र एवं अद्भुत वस्त्र धारण कर रखे थे। उनके हाथोंमें खड्ग और प्रास आदि आयुध शोभा पाते थे ।। २३ ।।

गजाः पञ्चशतास्तत्र रथाश्चासन् सहस्रशः ।
प्रयान्तमन्वयुर्वीरं दाशार्हमपराजितम् ।। २४ ।।

किसीसे पराजित न होनेवाले दशार्हवंशी वीर भगवान् श्रीकृष्णके पीछे उस यात्राके समय पाँच सौ हाथी और सहस्रों रथ जा रहे थे ।। २४ ।।

पुरं कुरूणां संवृत्तं द्रष्टुकामं जनार्दनम् ।
सबालवृद्धं सस्त्रीकं रथ्यागतमरिंदम ।। २५ ।।

शत्रुदमन जनमेजय! उस समय भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये बालक, वृद्ध तथा स्त्रियोंसहित कौरवोंका सारा नगर सड़कपर आ गया था ।। २५ ।।

वेदिकामाश्रिताभिश्च समाक्रान्तान्यनेकशः ।
प्रचलन्तीव भारेण योषिद्भिर्भवनान्युत ।। २६ ।।

छतोंके सड़ककी ओरवाले भागपर बैठी हुई झुंड-की-झुंड स्त्रियोंके भारसे मानो हस्तिनापुरके वे सारे भवन कम्पित-से हो रहे थे ।। २६ ।।

स पूज्यमानः कुरुभिः संशृण्वन् मधुराः कथाः ।
यथार्हं प्रतिसत्कुर्वन् प्रेक्षमाणः शनैर्ययौ ।। २७ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कौरवोंसे सम्मानित होते हुए, उनकी मीठी-मीठी बातें सुनते हुए और यथायोग्य उनका भी सत्कार करते हुए धीरे-धीरे सबकी ओर देखते जा रहे थे ।। २७ ।।

ततः सभां समासाद्य केशवस्यानुयायिनः ।
सशङ्खैर्वेणुनिर्घोषैर्दिशः सर्वा व्यनादयन् ।। २८ ।।

कौरवसभाके समीप पहुँचकर श्रीकृष्णके अनुगामी सेवकोंने शंख और वेणु आदि वाद्योंकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजा दिया ।। २८ ।।

ततः सा समितिः सर्वा राज्ञाममिततेजसाम् ।

सम्प्राकम्पत हर्षेण कृष्णागमनकाङ्क्षया ।। २९ ।।

तत्पश्चात् अमिततेजस्वी राजाओंकी वह सारी सभा भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी आकांक्षाके कारण हर्षोल्लाससे चंचल हो उठी ।। २९ ।।

ततोऽभ्याशगते कृष्णे समहृष्यन् नराधिपाः ।

श्रुत्वा तं रथनिर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम् ।। ३० ।।

आसाद्य तु सभाद्वारमृषभः सर्वसात्वताम् ।

अवतीर्य रथाच्छौरिः कैलासशिखरोपमात् ।। ३१ ।।

नवमेघप्रतीकाशां ज्वलन्तीमिव तेजसा ।

महेन्द्रसदनप्रख्यां प्रविवेश सभां ततः ।। ३२ ।।

श्रीकृष्णके निकट आनेपर उनके रथका मेघगर्जनाके समान गम्भीर घोष सुनकर सभी नरेश रोमांचित हो उठे। सभाके द्वारपर पहुँचकर सर्वयादवशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने कैलासशिखरके समान समुज्ज्वल रथसे नीचे उतरकर नूतन मेघके समान श्याम तथा तेजसे प्रज्वलित-सी होनेवाली इन्द्रभवनतुल्य उस कौरव-सभाके भीतर प्रवेश किया ।। ३०—३२ ।।

पाणौ गृहीत्वा विदुरं सात्यकिं च महायशाः ।

ज्योतींष्यादित्यवद् राजन् कुरून् प्राच्छादयञ्छ्रिया ।। ३३ ।।

राजन्! जैसे सूर्य अपनी प्रभासे आकाशके तारोंको तिरोहित कर देते हैं, उसी प्रकार महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्ण अपनी दिव्य कान्तिसे कौरवोंको आच्छादित करते हुए विदुर और सात्यकिका हाथ पकड़े सभामें आये ।। ३३ ।।

अग्रतो वासुदेवस्य कर्णदुर्योधनावुभौ ।

वृष्णयः कृतवर्मा चाप्यासन् कृष्णस्य पृष्ठतः ।। ३४ ।।

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके आगे-आगे कर्ण और दुर्योधन थे और उनके पीछे कृतवर्मा तथा अन्य वृष्णिवंशी वीर थे ।। ३४ ।।

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य भीष्मद्रोणादयस्ततः ।

आसनेभ्योऽचलन् सर्वे पूजयन्तो जनार्दनम् ।। ३५ ।।

उस समय भीष्म और द्रोणाचार्य आदि सब लोग भगवान् श्रीकृष्णका सम्मान करनेके लिये राजा धृतराष्ट्रको आगे करके अपने आसनोंसे उठकर आगे बढ़े ।। ३५ ।।

अभ्यागच्छति दाशार्हे प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः ।

सहैव द्रोणभीष्माभ्यामुदतिष्ठन्महायशाः ।। ३६ ।।

दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र भीष्म और द्रोणाचार्यके साथ ही उठ गये थे ।। ३६ ।।

उत्तिष्ठति महाराजे धृतराष्ट्रे जनेश्वरे ।
तानि राजसहस्राणि समुत्तस्थुः समन्ततः ।। ३७ ।।

महाराज धृतराष्ट्रके उठनेपर वहाँ चारों ओर बैठे हुए सहस्रों नरेश उठकर खड़े हो गये ।। ३७ ।।

आसनं सर्वतोभद्रं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।
कृष्णार्थे कल्पितं तत्र धृतराष्ट्रस्य शासनात् ।। ३८ ।।

राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके लिये सुवर्णभूषित सर्वतोभद्र नामक सिंहासन रखा गया था ।। ३८ ।।

स्मयमानस्तु राजानं भीष्मद्रोणौ च माधवः ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा राज्ञश्चान्यान् यथावयः ।। ३९ ।।

उस समय धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्णने मुसकराते हुए राजा धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा अवस्थाके अनुसार अन्य राजाओंसे भी वार्तालाप किया ।। ३९ ।।

तत्र केशवमानर्चुः सम्यगभ्यागतं सभाम् ।
राजानः पार्थिवाः सर्वे कुरवश्च जनार्दनम् ।। ४० ।।

वहाँ सभामें पधारे हुए भगवान् श्रीकृष्णका भूमण्डलके राजाओं तथा सभी कौरवोंने भलीभाँति पूजन किया ।। ४० ।।

तत्र तिष्ठन् स दाशार्हो राजमध्ये परंतपः ।
अपश्यदन्तरिक्षस्थानृषीन् परपुरंजयः ।
ततस्तानभिसम्प्रेक्ष्य नारदप्रमुखानृषीन् ।। ४१ ।।
अभ्यभाषत दाशार्हो भीष्मं शान्तनवं शनैः ।
पार्थिवीं समितिं द्रष्टुमृषयोऽभ्यागता नृप ।। ४२ ।।

राजाओंके बीचमें खड़े हुए शत्रुनगरविजयी परंतप श्रीकृष्णने देखा कि आकाशमें कुछ ऋषि-मुनि खड़े हैं। उन नारद आदि महर्षियोंको देखकर श्रीकृष्णने धीरेसे शान्तनुनन्दन भीष्मसे कहा— 'नरेश्वर! इस राजसभाको देखनेके लिये ऋषिगण पधारे हैं ।। ४१-४२ ।।

निमन्त्र्यन्तामासनैश्च सत्कारेण च भूयसा ।
नैतेष्वनुपविष्टेषु शक्यं केनचिदासितुम् ।। ४३ ।।

'इन्हें अत्यन्त सत्कारपूर्वक आसन देकर निमन्त्रित किया जाय, क्योंकि इनके बैठे बिना कोई भी बैठ नहीं सकता ।। ४३ ।।

पूजा प्रयुज्यतामाशु मुनीनां भावितात्मनाम् ।
ऋषीञ्छान्तनवो दृष्ट्वा सभाद्वारमुपस्थितान् ।। ४४ ।।
त्वरमाणस्ततो भृत्यानासनानीत्यचोदयत् ।

'पवित्र अन्तःकरणवाले इन मुनियोंकी शीघ्र पूजा की जानी चाहिये।' शान्तनुनन्दन भीष्मने मुनियोंको देखकर सभाद्वारपर स्थित हुए राजकर्मचारियोंको बड़ी उतावलीके साथ आज्ञा दी—'अरे! आसन लाओ' ।। ४४ $\frac{१}{२}$ ।।

आसनान्यथ मृष्टानि महान्ति विपुलानि च ।। ४५ ।।
मणिकाञ्चनचित्राणि समाजह्रुस्ततस्ततः ।

तब सेवकोंने इधर-उधरसे मणि एवं सुवर्ण जड़े हुए शुद्ध, विशाल एवं विस्तृत आसन लाकर रख दिये ।। ४५ $\frac{१}{२}$ ।।

तेषु तत्रोपविष्टेषु गृहीतार्घ्येषु भारत ।। ४६ ।।
निषसादासने कृष्णो राजानश्च यथासनम् ।

भारत! अर्घ्य ग्रहण करके जब ऋषिलोग उन आसनोंपर बैठ गये, तब भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्य राजाओंने भी अपना-अपना आसन ग्रहण किया ।। ४६ $\frac{१}{२}$ ।।

दुःशासनः सात्यकये ददावासनमुत्तमम् ।। ४७ ।।
विविंशतिर्ददौ पीठं काञ्चनं कृतवर्मणे ।

दुःशासनने सात्यकिको उत्तम आसन दिया एवं विविंशतिने कृतवर्माको स्वर्णमय आसन प्रदान किया ।। ४७ $\frac{१}{२}$ ।।

अविदूरे तु कृष्णस्य कर्णदुर्योधनावुभौ ।। ४८ ।।

एकासने महात्मानौ निषीदतुरमर्षणौ ।

अमर्षमें भरे हुए महामना कर्ण और दुर्योधन दोनों एक आसनपर श्रीकृष्णके पास ही बैठे थे ।। ४८½ ।।

गान्धारराजः शकुनिर्गान्धारैरभिरक्षितः ।। ४९ ।।

निषसादासने राजा सहपुत्रो विशाम्पते ।

जनमेजय! गान्धारदेशीय सैनिकोंसे सुरक्षित पुत्रसहित गान्धारराज शकुनि भी एक आसनपर बैठा था ।। ४९½ ।।

विदुरो मणिपीठे तु शुक्लस्पर्ध्याजिनोत्तरे ।। ५० ।।

संस्पृशन्नासनं शौरेर्महामतिरुपाविशत् ।

परम बुद्धिमान् विदुर भगवान् श्रीकृष्णके आसनका स्पर्श करते हुए एक मणिमय चौकीपर, जिसके ऊपर श्वेत रंगका स्पृहणीय मृगचर्म बिछाया गया था, बैठे थे ।। ५०½ ।।

चिरस्य दृष्ट्वा दाशार्हं राजानः सर्व एव ते ।। ५१ ।।

अमृतस्येव नातृप्यन् प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ।

सब राजा दीर्घकालके पश्चात् दशार्हकुलभूषण भगवान् जनार्दनको देखकर उन्हींकी ओर एकटक दृष्टि लगाये रहे, मानो अमृत पी रहे हों। इस प्रकार उन्हें तृप्ति ही नहीं होती थी ।। ५१½ ।।

अतसीपुष्पसंकाशः पीतवासा जनार्दनः ।। ५२ ।।

व्यभ्राजत सभामध्ये हेम्नीवोपहितो मणिः ।। ५३ ।।

अलसीके फूलकी भाँति मनोहर श्याम कान्तिवाले पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण उस सभाके मध्यभागमें स्वर्ण-पात्रमें रखी हुई नीलमणिके समान शोभा पा रहे थे ।।

ततस्तूष्णीं सर्वमासीद् गोविन्दगतमानसम् ।

न तत्र कश्चित् किञ्चिद् वा व्याजहार पुमान् क्वचित् ।। ५४ ।।

उस समय वहाँ सबका मन भगवान् गोविन्दमें ही लगा हुआ था। अतः सभी चुपचाप बैठे थे। कोई मनुष्य कहीं कुछ भी बोल नहीं रहा था ।। ५४ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णसभाप्रवेशे चतुर्नवतितमोऽध्यायः ।। ९४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका सभामें प्रवेशविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९४ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक मिलाकर कुल ६४½ श्लोक हैं।]

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

कौरवसभामें श्रीकृष्णका प्रभावशाली भाषण

वैशम्पायन उवाच

तेष्वासीनेषु सर्वेषु तूष्णीम्भूतेषु राजसु ।
वाक्यमभ्याददे कृष्णः सुदंष्ट्रो दुन्दुभिस्वनः ।। १ ।।
जीमूत इव घर्मान्ते सर्वां संश्रावयन् सभाम् ।
धृतराष्ट्रमभिप्रेक्ष्य समभाषत माधवः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब सभामें सब राजा मौन होकर बैठ गये, तब सुन्दर दन्तावलिसे सुशोभित तथा दुन्दुभिके समान गम्भीर स्वरवाले यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्णने बोलना आरम्भ किया। जैसे ग्रीष्म-ऋतुके अन्तमें बादल गर्जता है, उसी प्रकार उन्होंने गम्भीर गर्जनाके साथ सारी सभाको सुनाते हुए धृतराष्ट्रकी ओर देखकर इस प्रकार कहा ।। १-२ ।। *श्रीभगवानुवाच*

कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत ।
अप्रणाशेन वीराणामेतद् याचितुमागतः ।। ३ ।।

श्रीभगवान् बोले—भरतनन्दन! मैं आपसे यह प्रार्थना करनेके लिये यहाँ आया हूँ कि क्षत्रियवीरोंका संहार हुए बिना ही कौरवों और पाण्डवोंमें शान्तिस्थापन हो जाय ।। ३ ।।

राजन् नान्यत् प्रवक्तव्यं तव नैःश्रेयसं वचः ।
विदितं ह्येव ते सर्वं वेदितव्यमरिंदम ।। ४ ।।

शत्रुदमन नरेश! मुझे इसके सिवा दूसरी कोई कल्याणकारक बात आपसे नहीं कहनी है; क्योंकि जाननेयोग्य जितनी बातें हैं, वे सब आपको विदित ही हैं ।। ४ ।।

इदं ह्यद्य कुलं श्रेष्ठं सर्वराजसु पार्थिव ।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नं सर्वैः समुदितं गुणैः ।। ५ ।।

भूपाल! इस समय समस्त राजाओंमें यह कुरुवंश ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें शास्त्र एवं सदाचारका पूर्णतः आदर एवं पालन किया जाता है। यह कौरवकुल समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न है ।। ५ ।।

कृपानुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं च भारत ।
तथाऽऽर्जवं क्षमा सत्यं कुरुष्वेतद् विशिष्यते ।। ६ ।।

भारत! कुरुवंशियोंमें कृपा[१], अनुकम्पा[२], करुणा[३], अनृशंसता[४], सरलता, क्षमा और सत्य—ये सद्‌गुण अन्य राजवंशोंकी अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं ।। ६ ।।

तस्मिन्नेवंविधे राजन् कुले महति तिष्ठति ।
त्वन्निमित्तं विशेषेण नेह युक्तमसाम्प्रतम् ।। ७ ।।

राजन्! ऐसे उत्तम गुणसम्पन्न एवं अत्यन्त प्रतिष्ठित कुलके होते हुए भी यदि इसमें आपके कारण कोई अनुचित कार्य हो, तो यह ठीक नहीं है ।। ७ ।।

त्वं हि धारयिता श्रेष्ठः कुरूणां कुरुसत्तम ।
मिथ्या प्रचरतां तात बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च ।। ८ ।।

तात कुरुश्रेष्ठ! यदि कौरवगण बाहर और भीतर (प्रकट और गुप्तरूपसे) मिथ्या आचरण (असद्‌व्यवहार) करने लगें, तो आप ही उन्हें रोककर सन्मार्गमें स्थापित करनेवाले हैं ।। ८ ।।

ते पुत्रास्तव कौरव्य दुर्योधनपुरोगमाः ।
धर्मार्थौ पृष्ठतः कृत्वा प्रचरन्ति नृशंसवत् ।। ९ ।।

कुरुनन्दन! दुर्योधनादि आपके पुत्र धर्म और अर्थको पीछे करके क्रूर मनुष्योंके समान आचरण करते हैं ।। ९ ।।

अशिष्टा गतमर्यादा लोभेन हृतचेतसः ।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु तद् वेत्थ पुरुषर्षभ ।। १० ।।

पुरुषरत्न! ये अपने ही श्रेष्ठ बन्धुओंके साथ अशिष्टतापूर्ण बर्ताव करते हैं। लोभने इनके हृदय-को ऐसा वशीभूत कर लिया है कि इन्होंने धर्मकी मर्यादा तोड़ दी है। इस बातको आप अच्छी तरह जानते हैं ।। १० ।।

सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता ।
उपेक्ष्यमाणा कौरव्य पृथिवीं घातयिष्यति ।। ११ ।।

कुरुश्रेष्ठ! इस समय यह अत्यन्त भयंकर आपत्ति कौरवोंमें ही प्रकट हुई है। यदि इसकी उपेक्षा की गयी तो यह समस्त भूमण्डलका विध्वंस कर डालेगी ।। ११ ।।

शक्या चेयं शमयितुं त्वं चेदिच्छसि भारत ।
न दुष्करो ह्यत्र शमो मतो मे भरतर्षभ ।। १२ ।।

भारत! यदि आप चाहते हों तो इस भयानक विपत्तिका अब भी निवारण किया जा सकता है। भरतश्रेष्ठ! इन दोनों पक्षोंमें शान्ति स्थापित होना मैं कठिन कार्य नहीं मानता हूँ ।। १२ ।।

त्वय्यधीनः शमो राजन् मयि चैव विशाम्पते ।
पुत्रान् स्थापय कौरव्य स्थापयिष्याम्यहं परान् ।। १३ ।।

प्रजापालक कौरवनरेश! इस समय इन दोनों पक्षोंमें संधि कराना आपके और मेरे अधीन है। आप अपने पुत्रोंको मर्यादामें रखिये और मैं पाण्डवोंको नियन्त्रणमें रखूँगा ।। १३ ।।

आज्ञा तव हि राजेन्द्र कार्या पुत्रैः सहान्वयैः ।
हितं बलवदप्येषां तिष्ठतां तव शासने ।। १४ ।।

राजेन्द्र! आपके पुत्रोंको चाहिये कि वे अपने अनुयायियोंके साथ आपकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करें। आपके शासनमें रहनेसे ही इनका महान् हित हो सकता है ।। १४ ।।

तव चैव हितं राजन् पाण्डवानामथो हितम् ।
शमे प्रयतमानस्य तव शासनकाङ्क्षिणः ।। १५ ।।

राजन्! यदि आप अपने पुत्रोंपर शासन करना चाहें और संधिके लिये प्रयत्न करें तो इसीमें आपका भी हित है और इसीसे पाण्डवोंका भी भला हो सकता है ।। १५ ।।

स्वयं निष्फलमालक्ष्य संविधत्स्व विशाम्पते ।
सहायभूता भरतास्तवैव स्युर्जनेश्वर ।। १६ ।।

प्रजानाथ! पाण्डवोंके साथ वैर और विवादका कोई अच्छा परिणाम नहीं हो सकता; यह विचारकर आप स्वयं ही संधिके लिये प्रयत्न करें। जनेश्वर! ऐसा करनेसे भरतवंशी पाण्डव आपके ही सहायक होंगे ।। १६ ।।

धर्मार्थयोस्तिष्ठ राजन् पाण्डवैरभिरक्षितः ।
न हि शक्यास्तथाभूता यत्नादपि नराधिप ।। १७ ।।

राजन्! आप पाण्डवोंसे सुरक्षित होकर धर्म और अर्थका अनुष्ठान कीजिये। नरेन्द्र! आपको पाण्डवोंके समान संरक्षक प्रयत्न करनेपर भी नहीं मिल सकते ।। १७ ।।

न हि त्वां पाण्डवैर्जेतुं रक्ष्यमाणं महात्मभिः ।
इन्द्रोऽपि देवैः सहितः प्रसहेत कुतो नृपः ।। १८ ।।

महात्मा पाण्डवोंसे सुरक्षित होनेपर आपको देवताओंसहित इन्द्र भी नहीं जीत सकते, फिर दूसरे किसी राजाकी तो बात ही क्या है? ।। १८ ।।

यत्र भीष्मश्च द्रोणश्च कृपः कर्णो विविंशतिः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः ।। १९ ।।
सैन्धवश्च कलिङ्गश्च काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
युधिष्ठिरो भीमसेनः सव्यसाची यमौ तथा ।। २० ।।
सात्यकिश्च महातेजा युयुत्सुश्च महारथः ।
को नु तान् विपरीतात्मा युद्ध्येत भरतर्षभ ।। २१ ।।

भरतश्रेष्ठ! जिस पक्षमें भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, सिन्धुराज जयद्रथ, कलिंगराज, काम्बोजनरेश सुदक्षिण तथा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, महातेजस्वी सात्यकि तथा महारथी युयुत्सु हों; उस पक्षके योद्धाओंसे कौन विपरीत बुद्धिवाला राजा युद्ध कर सकता है? ।। १९—२१ ।।

लोकस्येश्वरतां भूयः शत्रुभिश्चाप्यधृष्यताम् ।
प्राप्स्यसि त्वममित्रघ्न सहितः कुरुपाण्डवैः ।। २२ ।।

शत्रुसूदन नरेश! कौरव और पाण्डवोंके साथ रहनेपर आप पुनः सम्पूर्ण जगत्के सम्राट् होकर शत्रुओंके लिये अजेय हो जायँगे ।। २२ ।।

तस्य ते पृथिवीपालास्त्वत्समाः पृथिवीपते ।
श्रेयांसश्चैव राजानः संधास्यन्ते परंतप ।। २३ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले भूपाल! उस दशामें जो राजा आपके समान या आपसे बड़े हैं, वे भी आपके साथ संधि कर लेंगे ।। २३ ।।

स त्वं पुत्रैश्च पौत्रैश्च पितृभिर्भ्रातृभिस्तथा ।
सुहृद्भिः सर्वतो गुप्तः सुखं शक्ष्यसि जीवितुम् ।। २४ ।।

इस प्रकार आप अपने पुत्र, पौत्र, पिता, भाई और सुहृदोंद्वारा सर्वथा सुरक्षित रहकर सुखसे जीवन बिता सकेंगे ।। २४ ।।

एतानेव पुरोधाय सत्कृत्य च यथा पुरा ।
अखिलां भोक्ष्यसे सर्वां पृथिवीं पृथिवीपते ।। २५ ।।

पृथ्वीपते! यदि आप पहलेकी भाँति इन पाण्डवोंका ही सत्कार करके इन्हें आगे रखें तो इस सारी पृथ्वीका उपभोग करेंगे ।। २५ ।।

एतैर्हि सहितः सर्वैः पाण्डवैः स्वैश्च भारत ।
अन्यान् विजेष्यसे शत्रूनेष स्वार्थस्तवाखिलः ।। २६ ।।

भारत! इन समस्त पाण्डवों तथा अपने पुत्रोंके साथ रहकर आप दूसरे शत्रुओंपर भी विजय प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार आपके सम्पूर्ण स्वार्थकी सिद्धि होगी ।। २६ ।।

तैरेवोपार्जितां भूमिं भोक्ष्यसे च परंतप ।
यदि सम्पत्स्यसे पुत्रैः सहामात्यैर्नराधिप ।। २७ ।।

शत्रुसंतापी नरेश! यदि आप मन्त्रियोंसहित अपने समस्त पुत्रों (पाण्डवों और कौरवों)-से मिलकर रहेंगे तो उन्हींके द्वारा जीती हुई इस पृथ्वीका राज्य भोगेंगे ।। २७ ।।

संयुगे वै महाराज दृश्यते सुमहान् क्षयः ।
क्षये चोभयतो राजन् कं धर्ममनुपश्यसि ।। २८ ।।

महाराज! युद्ध छिड़नेपर तो महान् संहार ही दिखायी देता है। राजन्! इस प्रकार दोनों पक्षका विनाश करानेमें आप कौन-सा धर्म देखते हैं? ।। २८ ।।

पाण्डवैर्निहतैः संख्ये पुत्रैर्वापि महाबलैः
यद् विन्देथाः सुखं राजंस्तद् ब्रूहि भरतर्षभ ।। २९ ।।

भरतश्रेष्ठ! यदि पाण्डव युद्धमें मारे गये अथवा आपके महाबली पुत्र ही नष्ट हो गये तो उस दशामें आपको कौन-सा सुख मिलेगा? यह बताइये ।। २९ ।।

शूराश्च हि कृतास्त्राश्च सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः ।
पाण्डवास्तावकाश्चैव तान् रक्ष महतो भयात् ।। ३० ।।

पाण्डव तथा आपके पुत्र सभी शूरवीर, अस्त्रविद्याके पारंगत तथा युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं। आप इन सबकी महान् भयसे रक्षा कीजिये ।। ३० ।।

न पश्येम कुरून् सर्वान् पाण्डवांश्चैव संयुगे ।

क्षीणानुभयतः शूरान् रथिनो रथिभिर्हतान् ।। ३१ ।।

युद्धके परिणामपर विचार करनेसे हमें समस्त कौरव और पाण्डव नष्टप्राय दिखायी देते हैं। दोनों ही पक्षोंके शूरवीर रथी रथियोंसे ही मारे जाकर नष्ट हो जायँगे ।। ३१ ।।

समवेताः पृथिव्यां हि राजानो राजसत्तम ।
अमर्षवशमापन्ना नाशयेयुरिमाः प्रजाः ।। ३२ ।।

नृपश्रेष्ठ! भूमण्डलके समस्त राजा यहाँ एकत्र हो अमर्षमें भरकर इन प्रजाओंका नाश करेंगे ।। ३२ ।।

त्राहि राजन्निमं लोकं न नश्येयुरिमाः प्रजाः ।
त्वयि प्रकृतिमापन्ने शेषः स्यात् कुरुनन्दन ।। ३३ ।।

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले नरेश! आप इस जगत्की रक्षा कीजिये; जिससे इन समस्त प्रजाओंका नाश न हो। आपके प्रकृतिस्थ होनेपर ये सब लोग बच जायँगे ।। ३३ ।।

शुक्ला वदान्या ह्रीमन्त आर्याः पुण्याभिजातयः ।
अन्योन्यसचिवा राजंस्तान् पाहि महतो भयात् ।। ३४ ।।

राजन्! ये सब नरेश शुद्ध, उदार, लज्जाशील, श्रेष्ठ, पवित्र कुलोंमें उत्पन्न और एक-दूसरेके सहायक हैं। आप इन सबकी महान् भयसे रक्षा कीजिये ।। ३४ ।।

शिवेनेमे भूमिपालाः समागम्य परस्परम् ।
सह भुक्त्वा च पीत्वा च प्रतियान्तु यथागृहम् ।। ३५ ।।

आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे ये भूपाल परस्पर मिलकर तथा एक साथ खा-पीकर कुशलपूर्वक अपने-अपने घरको वापस लौटें ।। ३५ ।।

सुवाससः स्रग्विणश्च सत्कृता भरतर्षभ ।
अमर्षं च निराकृत्य वैराणि च परंतप ।। ३६ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतकुलभूषण! ये राजालोग उत्तम वस्त्र और सुन्दर हार पहनकर अमर्ष और वैरको मनसे निकालकर यहाँसे सत्कारपूर्वक विदा हों ।। ३६ ।।

हार्दं यत् पाण्डवेष्वासीत् प्राप्तेऽस्मिन्नायुषः क्षये ।
तदेव ते भवत्वद्य संधत्स्व भरतर्षभ ।। ३७ ।।

भरतश्रेष्ठ! अब आपकी आयु भी क्षीण हो चली है; इस बुढ़ापेमें आपका पाण्डवोंके ऊपर वैसा ही स्नेह बना रहे, जैसा पहले था; अतः संधि कर लीजिये ।। ३७ ।।

बाला विहीनाः पित्रा ते त्वयैव परिवर्धिताः ।
तान् पालय यथान्यायं पुत्रांश्च भरतर्षभ ।। ३८ ।।

भरतर्षभ! पाण्डव बाल्यावस्थामें ही पितासे बिछुड़ गये थे। आपने ही उन्हें पाल-पोसकर बड़ा किया; अतः उनका और अपने पुत्रोंका न्यायपूर्वक पालन कीजिये ।। ३८ ।।

भवतैव हि रक्ष्यास्ते व्यसनेषु विशेषतः ।
मा ते धर्मस्तथैवार्थो नश्येत भरतर्षभ ।। ३९ ।।

भरतभूषण! आपको ही पाण्डवोंकी सदा रक्षा करनी चाहिये। विशेषतः संकटके अवसरपर तो आपके लिये उनकी रक्षा अत्यन्त आवश्यक है ही। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डवोंसे वैर बाँधनेके कारण आपके धर्म और अर्थ दोनों नष्ट हो जायँ ।। ३९ ।।

आहुस्त्वां पाण्डवा राजन्नभिवाद्य प्रसाद्य च ।
भवतः शासनाद् दुःखमनुभूतं सहानुगैः ।। ४० ।।

राजन्! पाण्डवोंने आपको प्रणाम करके प्रसन्न करते हुए यह संदेश कहलाया है—‘तात! आपकी आज्ञासे अनुचरोंसहित हमने भारी दुःख सहन किया है ।। ४० ।।

द्वादशेमानि वर्षाणि वने निर्व्युषितानि नः ।
त्रयोदशं तथाज्ञातैः सजने परिवत्सरम् ।। ४१ ।।

‘बारह वर्षोंतक हमने निर्जन वनमें निवास किया है और तेरहवाँ वर्ष जनसमुदायसे भरे हुए नगरमें अज्ञात रहकर बिताया है ।। ४१ ।।

स्थाता नः समये तस्मिन् पितेति कृतनिश्चयाः ।
नाहास्म समयं तात तच्च नो ब्राह्मणा विदुः ।। ४२ ।।

‘तात! आप हमारे ज्येष्ठ पिता हैं, अतः हमारे विषयमें की हुई अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहेंगे (अर्थात् वनवाससे लौटनेपर हमारा राज्य हमें प्रसन्नतापूर्वक लौटा देंगे)—ऐसा निश्चय करके ही हमने वनवास और अज्ञातवासकी शर्तको कभी नहीं तोड़ा है, इस बातको हमारे साथ रहे हुए ब्राह्मणलोग जानते हैं ।। ४२ ।।

तस्मिन् नः समये तिष्ठ स्थितानां भरतर्षभ ।
नित्यं संक्लेशिता राजन् स्वराज्यांशं लभेमहि ।। ४३ ।।

‘भरतवंशशिरोमणे! हम उस प्रतिज्ञापर दृढ़तापूर्वक स्थित रहे हैं; अतः आप भी हमारे साथ की हुई अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहें। राजन्! हमने सदा क्लेश उठाया है; अब हमें हमारा राज्यभाग प्राप्त होना चाहिये ।। ४३ ।।

त्वं धर्ममर्थं संजानन् सम्यङ्नस्त्रातुमर्हसि ।
गुरुत्वं भवति प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्ष्महे ।। ४४ ।।
स भवान् मातृपितृवदस्मासु प्रतिपद्यताम् ।

‘आप धर्म और अर्थके ज्ञाता हैं; अतः हमलोगोंकी रक्षा कीजिये। आपमें गुरुत्व देखकर— आप गुरुजन हैं, यह विचार करके (आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये) हम बहुत-से क्लेश चुपचाप सहते जा रहे हैं; अब आप भी हमारे ऊपर माता-पिताकी भाँति स्नेहपूर्ण बर्ताव कीजिये ।। ४४ १/२ ।।

गुरोर्गरीयसी वृत्तिर्या च शिष्यस्य भारत ।। ४५ ।।
वर्तामहे त्वयि च तां त्वं च वर्तस्व नस्तथा ।

‘भारत! गुरुजनोंके प्रति शिष्य एवं पुत्रोंका जो बर्ताव होना चाहिये, हम आपके प्रति उसीका पालन करते हैं। आप भी हमलोगोंपर गुरुजनोचित स्नेह रखते हुए तदनुरूप बर्ताव कीजिये ।। ४५१/२ ।।

पित्रा स्थापयितव्या हि वयमुत्पथमास्थिताः ।। ४६ ।।
संस्थापय पथिष्वस्मांस्तिष्ठ धर्मे सुवर्त्मनि ।

‘हम पुत्रगण यदि कुमार्गपर जा रहे हों तो पिताके नाते आपका कर्तव्य है कि हमें सन्मार्गमें स्थापित करें। इसलिये आप स्वयं धर्मके सुन्दर मार्गपर स्थित होइये और हमें भी धर्मके मार्गपर ही लाइये’ ।। ४६१/२ ।।

आहुश्चेमां परिषदं पुत्रास्ते भरतर्षभ ।। ४७ ।।
धर्मज्ञेषु सभासत्सु नेह युक्तमसाम्प्रतम् ।

भरतश्रेष्ठ! आपके पुत्र पाण्डवोंने इस सभाके लिये भी यह संदेश दिया है—‘आप समस्त सभासद्‌गण धर्मके ज्ञाता हैं। आपके रहते हुए यहाँ कोई अयोग्य कार्य हो, यह उचित नहीं है ।। ४७१/२ ।।

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।। ४८ ।।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ।

‘जहाँ सभासदोंके देखते-देखते अधर्मके द्वारा धर्मका और मिथ्याके द्वारा सत्यका गला घोंटा जाता हो, वहाँ वे सभासद् नष्ट हुए माने जाते हैं ।। ४८१/२ ।।

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्र प्रपद्यते ।। ४९ ।।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ।
धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान् ।। ५० ।।

‘जिस सभामें अधर्मसे विद्ध हुआ धर्म प्रवेश करता है और सभासद्‌गण उस अधर्मरूपी काँटेको काटकर निकाल नहीं देते हैं, वहाँ उस काँटेसे सभासद् ही विद्ध होते हैं (अर्थात् उन्हें ही अधर्मसे लिप्त होना पड़ता है)। जैसे नदी अपने तटपर उगे हुए वृक्षोंको गिराकर नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वह अधर्मविद्ध धर्म ही उन सभासदोंका नाश कर डालता है’ ।। ४९-५० ।।

ये धर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते ।
ते सत्यमाहुर्धर्म्यं च न्याय्यं च भरतर्षभ ।। ५१ ।।

भरतश्रेष्ठ! जो पाण्डव सदा धर्मकी ओर ही दृष्टि रखते हैं और उसीका विचार करके चुपचाप बैठे हैं, वे जो आपसे राज्य लौटा देनेका अनुरोध करते हैं, वह सत्य, धर्मसम्मत और न्यायसंगत है ।। ५१ ।।

शक्यं किमन्यद् वक्तुं ते दानादन्यज्जनेश्वर ।
ब्रुवन्तु ते महीपालाः सभायां ये समासते ।। ५२ ।।
धर्मार्थौ सम्प्रधार्यैव यदि सत्यं ब्रवीम्यहम् ।

प्रमुञ्चेमान् मृत्युपाशात् क्षत्रियान् पुरुषर्षभ ।। ५३ ।।

जनेश्वर! आपसे पाण्डवोंका राज्य लौटा देनेके सिवा दूसरी कौन-सी बात यहाँ कही जा सकती है। इस सभामें जो भूमिपाल बैठे हैं, वे धर्म और अर्थका विचार करके स्वयं बतावें, मैं ठीक कहता हूँ या नहीं। पुरुषरत्न! आप इन क्षत्रियोंको मौतके फंदेसे छुड़ाइये ।। ५२-५३ ।।

प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ मा मन्युवशमन्वगाः ।

पित्र्यं तेभ्यः प्रदायांशं पाण्डवेभ्यो यथोचितम् ।। ५४ ।।

ततः सपुत्रः सिद्धार्थो भुङ्क्ष्व भोगान् परंतप ।

भरतश्रेष्ठ! शान्त हो जाइये, क्रोधके वशीभूत न होइये। परंतप! पाण्डवोंको यथोचित पैतृक राज्यभाग देकर अपने पुत्रोंके साथ सफलमनोरथ हो मनोवांछित भोग भोगिये ।। ५४ $\frac{१}{२}$ ।।

अजातशत्रुं जानीषे स्थितं धर्मे सतां सदा ।। ५५ ।।

सपुत्रे त्वयि वृत्तिं च वर्तते यां नराधिप ।

दाहितश्च निरस्तश्च त्वामेवोपाश्रितः पुनः ।। ५६ ।।

नरेश्वर! आप जानते हैं कि अजातशत्रु युधिष्ठिर सदा सत्पुरुषोंके धर्मपर स्थित हैं। उनका पुत्रोंसहित आपके प्रति जो बर्ताव है, उससे भी आप अपरिचित नहीं हैं। आपलोगोंने उन्हें लाक्षागृहकी आगमें जलवाया तथा राज्य और देशसे निकाल दिया; तो भी वे पुनः आपकी ही शरणमें आये हैं ।। ५५-५६ ।।

इन्द्रप्रस्थं त्वयैवासौ सपुत्रेण विवासितः ।

स तत्र विवसन् सर्वान् वशमानीय पार्थिवान् ।। ५७ ।।

त्वन्मुखानकरोद् राजन् न च त्वामत्यवर्तत ।

पुत्रोंसहित आपने ही युधिष्ठिरको यहाँसे निकालकर इन्द्रप्रस्थका निवासी बनाया। वहाँ रहकर उन्होंने समस्त राजाओंको अपने वशमें किया और उन्हें आपका मुखापेक्षी बना दिया। राजन्! तो भी युधिष्ठिरने कभी आपकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं किया ।। ५७ $\frac{१}{२}$ ।।

तस्यैवं वर्तमानस्य सौबलेन जिहीर्षता ।। ५८ ।।

राष्ट्राणि धनधान्यं च प्रयुक्तः परमोपधिः ।

ऐसे साधु बर्ताववाले युधिष्ठिरके राज्य तथा धन-धान्यका अपहरण कर लेनेकी इच्छासे सुबलपुत्र शकुनिने जूएके बहाने अपना महान् कपटजाल फैलाया ।।

स तामवस्थां सम्प्राप्य कृष्णां प्रेक्ष्य सभागताम् ।। ५९ ।।

क्षत्रधर्मादमेयात्मा नाकम्पत युधिष्ठिरः ।

उस दयनीय अवस्थामें पहुँचकर अपनी महारानी कृष्णाको सभामें (तिरस्कारपूर्वक) लायी गयी देखकर भी महामना युधिष्ठिर अपने क्षत्रियधर्मसे विचलित नहीं हुए ।।

अहं तु तव तेषां च श्रेय इच्छामि भारत ।। ६० ।।

धर्मादर्थात् सुखाच्चैव मा राजन् नीनशः प्रजाः ।
अनर्थमर्थं मन्वानोऽप्यर्थं चानर्थमात्मनः ।। ६१ ।।

भारत! मैं तो आपका और पाण्डवोंका भी कल्याण ही चाहता हूँ। राजन्! आप समस्त प्रजाको धर्म, अर्थ और सुखसे वंचित न कीजिये। इस समय आप अनर्थको ही अर्थ और अर्थको ही अपने लिये अनर्थ मान रहे हैं ।। ६०-६१ ।।

लोभेऽतिप्रसृतान् पुत्रान् निगृह्णीष्व विशाम्पते ।
स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिंदमाः ।
यत् ते पथ्यतमं राजंस्तस्मिंस्तिष्ठ परंतप ।। ६२ ।।

प्रजानाथ! आपके पुत्र लोभमें अत्यन्त आसक्त हो गये हैं, उन्हें काबूमें लाइये। राजन्! शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीके पुत्र आपकी सेवाके लिये भी तैयार हैं और युद्धके लिये भी प्रस्तुत हैं। परंतप! जो आपके लिये विशेष हितकर जान पड़े, उसी मार्गका अवलम्बन कीजिये ।। ६२ ।।

वैशम्पायन उवाच

तद् वाक्यं पार्थिवाः सर्वे हृदयैः समपूजयन् ।
न तत्र कश्चिद् वक्तुं हि वाचं प्राक्रामदग्रतः ।। ६३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णके उस कथनका समस्त राजाओंने हृदयसे आदर किया। वहाँ उसके उत्तरमें कोई भी कुछ कहनेके लिये अग्रसर न हो सका ।। ६३ ।। **इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये पञ्चनवतितमोऽध्यायः ।। ९५ ।।**

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कौरवसभामें श्रीकृष्णवाक्यविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९५ ।।

---

१. दुसरोंको सुख पहुँचानेकी सहज भावनाका नाम ‘कृपा’ है।
२. दूसरोंका दुःख देखकर द्रवित होना एवं काँप उठना ‘अनुकम्पा’ कहलाता है।
३. दूसरोंके दुःखको दूर करनेका भाव ‘करुणा’ है।
४. क्रूरताका सर्वथा अभाव ‘अनृशंसता’ कहलाता है।

षण्णवतितमोऽध्यायः

परशुरामजीका दम्भोद्भवकी कथाद्वारा नर-नारायणस्वरूप अर्जुन और श्रीकृष्णका महत्त्व वर्णन करना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन्नभिहिते वाक्ये केशवेन महात्मना ।
स्तिमिता हृष्टरोमाण आसन् सर्वे सभासदः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा श्रीकृष्णके ऐसी बात कहनेपर सम्पूर्ण सभासद् चकित हो गये। उनके अंगोंमें रोमांच हो आया ।। १ ।।

कश्चिदुत्तरमेतेषां वक्तुं नोत्सहते पुमान् ।
इति सर्वे मनोभिस्ते चिन्तयन्ति स्म पार्थिवाः ।। २ ।।

वे सब भूपाल मन-ही-मन यह सोचने लगे कि भगवान्के इन वचनोंका उत्तर कोई भी मनुष्य नहीं दे सकता है ।। २ ।।

तथा तेषु च सर्वेषु तूष्णीम्भूतेषु राजसु ।
जामदग्न्य इदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ।। ३ ।।

इस प्रकार उन सब राजाओंके मौन ही रह जानेपर जमदग्निनन्दन परशुरामने कौरवसभामें इस प्रकार कहा— ।। ३ ।।

इमां मे सोपमां वाचं शृणु सत्यामशङ्कितः ।
तां श्रुत्वा श्रेय आदत्स्व यदि साध्विति मन्यसे ।। ४ ।।

‘राजन्! तुम निःशंक होकर मेरी यह उदाहरणयुक्त बात सुनो। सुनकर यदि इसे कल्याणकारी और उत्तम समझो तो स्वीकार करो ।। ४ ।।

राजा दम्भोद्भवो नाम सार्वभौमः पुराभवत् ।
अखिलां बुभुजे सर्वां पृथिवीमिति नः श्रुतम् ।। ५ ।।

'पूर्वकालकी बात है, दम्भोद्भव नामसे प्रसिद्ध एक सार्वभौम सम्राट् इस सम्पूर्ण अखण्ड भूमण्डलका राज्य भोगते थे; यह हमारे सुननेमें आया है ।। ५ ।।

स स्म नित्यं निशापाये प्रातरुत्थाय वीर्यवान् ।
ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्चैव पृच्छन्नास्ते महारथः ।। ६ ।।

'वे महारथी और पराक्रमी नरेश प्रतिदिन रात बीतनेपर प्रातःकाल उठकर ब्राह्मणों और क्षत्रियोंसे इस प्रकार पूछा करते थे— ।। ६ ।।

अस्ति कश्चिद् विशिष्टो वा मद्विधो वा भवेद् युधि ।
शूद्रो वैश्यः क्षत्रियो वा ब्राह्मणो वापि शस्त्रभृत् ।। ७ ।।

'क्या इस जगत्में कोई ऐसा शस्त्रधारी शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण है, जो युद्धमें मुझसे बढ़कर अथवा मेरे समान भी हो सके? ।। ७ ।।

इति ब्रुवन्नन्वचरत् स राजा पृथिवीमिमाम् ।
दर्पेण महता मत्तः कंचिदन्यमचिन्तयन् ।। ८ ।।

‘इसी प्रकार पूछते हुए वे राजा दम्भोद्भव महान् गर्वसे उन्मत्त हो दूसरे किसीको कुछ भी न समझते हुए इस पृथ्वीपर विचरने लगे ।। ८ ।।

तं च वैद्या अकृपणा ब्राह्मणाः सर्वतोऽभयाः ।
प्रत्यषेधन्त राजानं श्लाघमानं पुनः पुनः ।। ९ ।।

‘उस समय सर्वथा निर्भय, उदार एवं विद्वान् ब्राह्मणोंने बारंबार आत्मप्रशंसा करनेवाले उन नरेशको मना किया ।।

निषिध्यमानोऽप्यसकृत् पृच्छत्येव स वै द्विजान् ।
अतिमानं श्रिया मत्तं तमूचुर्ब्राह्मणास्तदा ।। १० ।।
तपस्विनो महात्मानो वेदप्रत्ययदर्शिनः ।
उदीर्यमाणं राजानं क्रोधदीप्ता द्विजातयः ।। ११ ।।

‘उनके मना करनेपर भी वे ब्राह्मणोंसे बार-बार प्रश्न करते ही रहे। उनका अहंकार बहुत बढ़ गया था। वे धन-वैभवके मदसे मतवाले हो गये थे। राजाको यही (बारंबार) प्रश्न दुहराते देख वेदके सिद्धान्तका साक्षात्कार करनेवाले महामना तपस्वी ब्राह्मण क्रोधसे तमतमा उठे और उनसे इस प्रकार बोले— ।। १०-११ ।।

अनेकजयिनौ संख्ये यौ वै पुरुषसत्तमौ ।
तयोस्त्वं न समो राजन् भवितासि कदाचन ।। १२ ।।

‘राजन्! दो ऐसे पुरुषरत्न हैं, जिन्होंने युद्धमें अनेक योद्धाओंपर विजय पायी है। तुम कभी उनके समान न हो सकोगे’ ।। १२ ।।

एवमुक्तः स राजा तु पुनः पप्रच्छ तान् द्विजान् ।
क्व तौ वीरौ क्वजन्मानौ किंकर्माणौ च कौ च तौ ।। १३ ।।

‘उनके ऐसा कहनेपर राजाने पुनः उन ब्राह्मणोंसे पूछा—‘वे दोनों वीर कहाँ हैं? उनका जन्म किस स्थानमें हुआ है? उनके कर्म कौन-कौन-से हैं और उनके नाम क्या हैं?’ ।। १३ ।।

ब्राह्मणा ऊचुः

नरो नारायणश्चैव तापसाविति नः श्रुतम् ।
आयातौ मानुषे लोके ताभ्यां युध्यस्व पार्थिव ।। १४ ।।

ब्राह्मण बोले—भूपाल! हमने सुना है कि वे नर-नारायण नामवाले तपस्वी हैं और इस समय मनुष्यलोकमें आये हैं। तुम उन्हीं दोनोंके साथ युद्ध करो ।। १४ ।।

श्रूयेते तौ महात्मानौ नरनारायणावुभौ ।
तपो घोरमनिर्देश्यं तप्येते गन्धमादने ।। १५ ।।

सुना है, वे दोनों महात्मा नर और नारायण गन्धमादन पर्वतपर ऐसी घोर तपस्या कर रहे हैं, जिसका वाणीद्वारा वर्णन नहीं हो सकता ।। १५ ।।

स राजा महतीं सेनां योजयित्वा षडङ्गिनीम् ।
अमृष्यमाणः सम्प्रायाद् यत्र तावपराजितौ ।। १६ ।।

राजाको यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने (रथ, हाथी, घोड़े, पैदल, शकट और ऊँट—इन) छः अंगोंसे युक्त विशाल सेनाको सुसज्जित करके उस स्थानकी यात्रा की, जहाँ कभी पराजित न होनेवाले वे दोनों महात्मा विद्यमान थे ।। १६ ।।

स गत्वा विषमं घोरं पर्वतं गन्धमादनम् ।
मार्गमाणोऽन्वगच्छत् तौ तापसौ वनमाश्रितौ ।। १७ ।।

राजा उनकी खोज करते हुए दुर्गम एवं भयंकर गन्धमादन पर्वतपर गये और वनमें स्थित उन तपस्वी महात्माओंके पास जा पहुँचे ।। १७ ।।

तौ दृष्ट्वा क्षुत्पिपासाभ्यां कृशौ धमनिसंततौ ।
शीतवातातपैश्चैव कर्शितौ पुरुषोत्तमौ ।। १८ ।।

वे दोनों पुरुषरत्न भूख-प्याससे दुर्बल हो गये थे। उनके सारे अंगोंमें फैली हुई नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं। वे सर्दी-गरमी और हवाका कष्ट सहते-सहते अत्यन्त कृशकाय हो रहे थे ।। १८ ।।

अभिगम्योपसंगृह्य पर्यपृच्छदनामयम् ।
तमर्चित्वा मूलफलैरासनेनोदकेन च ।। १९ ।।
न्यमन्त्रयेतां राजानं किं कार्यं क्रियतामिति ।
ततस्तामानुपूर्वीं स पुनरेवान्वकीर्तयत् ।। २० ।।

निकट जाकर उनके चरणोंमें नमस्कार करके दम्भोद्भवने उन दोनोंका कुशल-समाचार पूछा। तब नर और नारायणने राजाका स्वागत-सत्कार करके आसन, जल और फल-मूल देकर उन्हें भोजनके लिये निमन्त्रित किया। तदनन्तर पूछा कि हम आपकी क्या सेवा करें? यह सुनकर उन्होंने अपना सारा वृत्तान्त पुनः अक्षरशः सुना दिया ।। १९-२० ।।

बाहुभ्यां मे जिता भूमिर्निहताः सर्वशत्रवः ।
भवद्भ्यां युद्धमाकाङ्क्षन्नुपयातोऽस्मि पर्वतम् ।। २१ ।।
आतिथ्यं दीयतामेतत् काङ्क्षितं मे चिरं प्रति ।

और कहा—'मैंने अपने बाहुबलसे सारी पृथ्वीको जीत लिया है तथा सम्पूर्ण शत्रुओंका संहार कर डाला है। अब आप दोनोंसे युद्ध करनेकी इच्छा लेकर इस पर्वतपर आया हूँ। यही मेरा चिरकालसे अभिलषित मनोरथ है। आप अतिथि-सत्कारके रूपमें इसे ही पूर्ण कर दीजिये ।। २१ १/२ ।।

नरनारायणावूचतुः

अपेतक्रोधलोभोऽयमाश्रमो राजसत्तम ।। २२ ।।
न ह्यस्मिन्नाश्रमे युद्धं कुतः शस्त्रं कुतोऽनृजुः ।
अन्यत्र युद्धमाकाङ्क्ष बहवः क्षत्रियाः क्षितौ ।। २३ ।।

नर-नारायण बोले—नृपश्रेष्ठ! हमारा यह आश्रम क्रोध और लोभसे रहित है। इस आश्रममें कभी युद्ध नहीं होता, फिर अस्त्र-शस्त्र और कुटिल मनोवृत्तिका मनुष्य यहाँ कैसे रह सकता है? इस पृथ्वीपर बहुत-से क्षत्रिय हैं, अतः आप कहीं और जाकर युद्धकी अभिलाषा पूर्ण कीजिये ।। २२-२३ ।।

राम उवाच

उच्यमानस्तथापि स्म भूय एवाभ्यभाषत ।

पुनः पुनः क्षम्यमाणः सान्त्व्यमानश्च भारत ।। २४ ।।

दम्भोद्भवो युद्धमिच्छन्नाह्वयत्येव तापसौ ।

परशुरामजी कहते हैं—भारत! उन दोनों महात्माओंने बारंबार ऐसा कहकर राजासे क्षमा माँगी और उन्हें विविध प्रकारसे सान्त्वना दी। तथापि दम्भोद्भव युद्धकी इच्छासे उन दोनों तापसोंको कहते और ललकारते ही रहे ।। २४½ ।।

ततो नरस्त्विषीकाणां मुष्टिमादाय भारत ।। २५ ।।

अब्रवीदेहि युद्धयस्व युद्धकामुक क्षत्रिय ।

सर्वशस्त्राणि चादत्स्व योजयस्व च वाहिनीम् ।। २६ ।।

(संनह्यस्व च वर्माणि यानि चान्यानि सन्ति ते ।)

अहं हि ते विनेष्यामि युद्धश्रद्धामितः परम् ।

(यदाह्वयसि दर्पेण ब्राह्मणप्रमुखाञ्जनान् ।।)

भरतनन्दन! तब महात्मा नरने हाथमें एक मुट्ठी सींक लेकर कहा—'युद्ध चाहनेवाले क्षत्रिय! आ, युद्ध कर। अपने सारे अस्त्र-शस्त्र ले ले। सारी सेनाको तैयार कर ले, कवच बाँध ले, तेरे पास और भी जितने साधन हों, उन सबसे सम्पन्न हो जा। तू बड़े घमंडमें आकर ब्राह्मण आदि सभी वर्णके लोगोंको ललकारता फिरता है; इसलिये मैं आजसे तेरे युद्धविषयक निश्चयको दूर किये देता हूँ' ।। २५-२६ ।।

दम्भोद्भव उवाच

यद्येतदस्त्रमस्मासु युक्तं तापस मन्यसे ।। २७ ।।

एतेनापि त्वया योत्स्ये युद्धार्थी ह्यहमागतः ।

दम्भोद्भवने कहा—तापस! यदि आप यही अस्त्र हमारे लिये उपयुक्त मानते हैं तो मैं इसके होनेपर भी आपके साथ युद्ध अवश्य करूँगा; क्योंकि मैं युद्धके लिये ही यहाँ आया हूँ ।। २७½ ।।

राम उवाच

इत्युक्त्वा शरवर्षेण सर्वतः समवाकिरत् ।। २८ ।।

दम्भोद्भवस्तापसं तं जिघांसुः सहसैनिकः ।

परशुरामजी कहते हैं—ऐसा कहकर सैनिकोंसहित दम्भोद्भवने तपस्वी नरको मार डालनेकी इच्छासे सब ओरसे उनपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। २८½ ।।

तस्य तानस्यतो घोरानिषून् परतनुच्छिदः ।। २९ ।।

कदर्थीकृत्य स मुनिरिषीकाभिः समार्पयत् ।

उनके भयंकर बाण शत्रुके शरीरको छिन्न-भिन्न कर देनेवाले थे; परंतु मुनिने उन बाणोंका प्रहार करनेवाले दम्भोद्भवकी कोई परवा न करके सींकोंसे ही उनको बींध डाला ।। २९ $\frac{१}{२}$ ।।

ततोऽस्मै प्रासृजद् घोरमैषीकमपराजितः ।। ३० ।।

अस्त्रमप्रतिसंधेयं तदद्भुतमिवाभवत् ।

तब किसीसे पराजित न होनेवाले महर्षि नरने उनके ऊपर भयंकर ऐषीकास्त्रका प्रयोग किया; जिसका निवारण करना असम्भव था। यह एक अद्भुत-सी घटना हुई ।। ३० $\frac{१}{२}$ ।।

तेषामक्षीणि कर्णांश्च नासिकाश्चैव मायया ।। ३१ ।।

निमित्तवेधी स मुनिरिषीकाभिः समार्पयत् ।

इस प्रकार लक्ष्यवेध करनेवाले नर मुनिने मायाद्वारा सींकके बाणोंसे ही दम्भोद्भवके सैनिकोंकी आँखों, कानों और नासिकाओंको बींध डाला ।। ३१ $\frac{१}{२}$ ।।

स दृष्ट्वा श्वेतमाकाशमिषीकाभिः समाचितम् ।। ३२ ।।

पादयोर्न्यपतद् राजा स्वस्ति मेऽस्त्विति चाब्रवीत् ।

राजा दम्भोद्भव सींकोंसे भरे हुए समूचे आकाशको श्वेतवर्ण हुआ देखकर मुनिके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'भगवन्! मेरा कल्याण हो' ।। ३२ $\frac{१}{२}$ ।।

तमब्रवीन्नरो राजन् शरण्यः शरणैषिणाम् ।। ३३ ।।

ब्रह्मण्यो भव धर्मात्मा मा च स्मैवं पुनः कृथाः ।

'राजन्! शरण चाहनेवालोंको शरण देनेवाले भगवान् नरने उनसे कहा—'आजसे तुम ब्राह्मणहितैषी और धर्मात्मा बनो। फिर कभी ऐसा साहस न करना ।। ३३ $\frac{१}{२}$ ।।

नैतादृक् पुरुषो राजन् क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ।। ३४ ।।

मनसा नृपशार्दूल भवेत् परपुरंजयः ।

'नरेश्वर! नृपश्रेष्ठ! शत्रुनगरविजयी वीर पुरुष क्षत्रियधर्मको स्मरण रखते हुए कभी मनसे भी ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता, जैसा कि तुमने किया है ।।

मा च दर्पसमाविष्टः क्षेप्सीः कांश्चित् कथंचन ।। ३५ ।।

अल्पीयांसं विशिष्टं वा तत् ते राजन् समाहितम् ।

'राजन्! आजसे फिर कभी घमंडमें आकर अपनेसे बड़े या छोटे किन्हीं राजाओंपर किसी प्रकार भी आक्षेप न करना। इस बातके लिये मैंने तुम्हें सावधान कर दिया ।।

कृतप्रज्ञो वीतलोभो निरहंकार आत्मवान् ।। ३६ ।।

दान्तः क्षान्तो मृदुः सौम्यः प्रजाः पालय पार्थिव ।

मा स्म भूयः क्षिपेः कंचिदविदित्वा बलाबलम् ।। ३७ ।।

'भूपाल! तुम विनीतबुद्धि, लोभशून्य, अहंकाररहित, मनस्वी, जितेन्द्रिय, क्षमाशील, कोमलस्वभाव और सौम्य होकर प्रजाका पालन करो। फिर कभी दूसरोंके बलाबलको जाने बिना किसीपर आक्षेप न करना ।। ३६-३७ ।।

अनुज्ञातः स्वस्ति गच्छ मैवं भूयः समाचरेः ।
कुशलं ब्राह्मणान् पृच्छेरावयोर्वचनाद् भृशम् ।। ३८ ।।

'मैंने तुम्हें आज्ञा दे दी, तुम्हारा कल्याण हो, जाओ। फिर ऐसा बर्ताव न करना। विशेषतः हम दोनोंके कहनेसे तुम ब्राह्मणोंसे उनका कुशल-समाचार पूछते रहना' ।। ३८ ।।

ततो राजा तयोः पादावभिवाद्य महात्मनोः ।
प्रत्याजगाम स्वपुरं धर्मं चैवाचरद् भृशम् ।। ३९ ।।

तदनन्तर राजा दम्भोद्भव उन दोनों महात्माओंके चरणोंमें प्रणाम करके अपनी राजधानीमें लौट आये और विशेषरूपसे धर्मका आचरण करने लगे ।। ३९ ।।

सुमहच्चापि तत् कर्म तन्नरेण कृतं पुरा ।
ततो गुणैः सुबहुभिः श्रेष्ठो नारायणोऽभवत् ।। ४० ।।

इस प्रकार पूर्वकालमें महात्मा नरने वह महान् कर्म किया था। उनसे भी बहुत गुणोंके कारण भगवान् नारायण श्रेष्ठ हैं ।। ४० ।।

तस्माद् यावद् धनुःश्रेष्ठे गाण्डीवेऽस्त्रं न युज्यते ।
तावत् त्वं मानमुत्सृज्य गच्छ राजन् धनंजयम् ।। ४१ ।।

अतः राजन्! जबतक श्रेष्ठ धनुष गाण्डीवपर (दिव्य) अस्त्रोंका संधान नहीं किया जाता, तबतक ही तुम अभिमान छोड़कर अर्जुनसे मिल जाओ ।। ४१ ।।

काकुदीकं शुकं नाकमक्षिसंतर्जनं तथा ।
संतानं नर्तकं घोरमास्यमोदकमष्टमम् ।। ४२ ।।

काकुदीक (प्रस्वापन), शुक (मोहन), नाक (उन्मादन), अक्षिसंतर्जन (त्रासन), संतान (दैवत), नर्तक (पैशाच), घोर (राक्षस) और आस्यमोदक (याम्य)* —ये आठ प्रकारके अस्त्र हैं ।। ४२ ।।

एतैर्विद्धाः सर्व एव मरणं यान्ति मानवाः ।
कामक्रोधौ लोभमोहौ मदमानौ तथैव च ।। ४३ ।।
मात्सर्याहंकृती चैव क्रमादेव उदाहृताः ।

इन अस्त्रोंसे विद्ध होनेपर सभी मनुष्य मृत्युको प्राप्त होते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, मात्सर्य और अहंकार—ये क्रमशः आठ दोष बताये गये हैं, जिनके प्रतीकस्वरूप उपयुक्त आठ अस्त्र हैं ।। ४३ १/२ ।।

उन्मत्ताश्च विचेष्टन्ते नष्टसंज्ञा विचेतसः ।। ४४ ।।
स्वपन्ति च प्लवन्ते च छर्दयन्ति च मानवाः ।
मूत्रयन्ते च सततं रुदन्ति च हसन्ति च ।। ४५ ।।

इन अस्त्रोंके प्रयोगसे कुछ लोग उन्मत्त हो जाते हैं और वैसी ही चेष्टाएँ करने लगते हैं। कितनोंको सुध-बुध नहीं रह जाती, वे अचेत हो जाते हैं। कई मनुष्य सोने लगते हैं। कुछ

उछलते-कूदते और छींकते हैं। कितने ही मल-मूत्र करने लग जाते हैं और कुछ लोग निरंतर रोते-हँसते रहते हैं ।। ४४-४५ ।।

निर्माता सर्वलोकानामीश्वरः सर्वकर्मवित् ।
यस्य नारायणो बन्धुरर्जुनो दुःसहो युधि ।। ४६ ।।

राजन्! सम्पूर्ण लोकोंका निर्माण करनेवाले ईश्वर एवं सब कर्मोंके ज्ञाता नारायण जिनके बन्धु (सहायक) हैं, वे नरस्वरूप अर्जुन युद्धमें दुःसह हैं (क्योंकि उन्हें उपर्युक्त सभी अस्त्रोंका अच्छा ज्ञान है) ।। ४६ ।।

कस्तमुत्सहते जेतुं त्रिषु लोकेषु भारत ।
वीरं कपिध्वजं जिष्णुं यस्य नास्ति समो युधि ।। ४७ ।।

भारत! युद्धभूमिमें जिनकी समानता कोई भी नहीं कर सकता, उन विजयशील वीर कपिध्वज अर्जुनको जीतनेका साहस तीनों लोकोंमें कौन कर सकता है? ।।

असंख्येया गुणाः पार्थे तद्विशिष्टो जनार्दनः ।
त्वमेव भूयो जानासि कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ।। ४८ ।।
नरनारायणौ यौ तौ तावेवार्जुनकेशवौ ।
विजानीहि महाराज प्रवीरौ पुरुषोत्तमौ ।। ४९ ।।

महाराज! अर्जुनमें असंख्य गुण हैं एवं भगवान् जनार्दन तो उनसे भी बढ़कर हैं। तुम भी कुन्तीपुत्र अर्जुनको अच्छी तरह जानते हो। जो दोनों महात्मा नर और नारायणके नामसे प्रसिद्ध हैं, वे ही अर्जुन और श्रीकृष्ण हैं। तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि वे दोनों पुरुषरत्न सर्वश्रेष्ठ वीर हैं ।। ४८-४९ ।।

यद्येतदेवं जानासि न च मामभिशङ्कसे ।
आर्यां मतिं समास्थाय शाम्य भारत पाण्डवैः ।। ५० ।।

भारत! यदि तुम इस बातको इस रूपमें जानते हो और मुझपर तुम्हें तनिक भी संदेह नहीं है तो मेरे कहनेसे श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय लेकर पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ।। ५० ।।

अथ चेन्मन्यसे श्रेयो न मे भेदो भवेदिति ।
प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ मा च युद्धे मनः कृथाः ।। ५१ ।।

भरतश्रेष्ठ! यदि तुम्हारी यह इच्छा हो कि हमलोगोंमे फूट न हो और इसीमें तुम अपना कल्याण समझो, तब तो संधि करके शान्त हो जाओ और युद्धमें मन न लगाओ ।।

भवतां च कुरुश्रेष्ठ कुलं बहुमतं भुवि ।
तत् तथैवास्तु भद्रं ते स्वार्थमेवोपचिन्तय ।। ५२ ।।

कुरुश्रेष्ठ! तुम्हारा कुल इस पृथ्वीपर बहुत प्रतिष्ठित है। वह उसी प्रकार सम्मानित बना रहे और तुम्हारा कल्याण हो, इसके लिये अपने वास्तविक स्वार्थका ही चिन्तन करो ।। ५२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दम्भोद्भवोपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः ।। ९६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दम्भोद्भवका कथाविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९६ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५३ श्लोक हैं।]

---

* जिस अस्त्रसे अभिभूत होकर योद्धा रथ और हाथी आदिके ककुद् (पृष्ठभाग)-पर ही सोते रह जाते हैं, उसका नाम काकुदीक एवं प्रस्वापन है। जैसे शुक पानीके ऊपर रखी हुई बाँसकी नलिकाको पकड़कर भयसे चिल्लाता रहता है, उसी प्रकार जिससे मोहित हुए योद्धा बिना भयके ही भय देखकर घोड़े और रथ आदिके पाँवोंसे चिपट जाते हैं; उस अस्त्रका नाम शुक अथवा मोहन है। जिस अस्त्रसे भ्रान्तचित्त होकर मनुष्यको नाक (स्वर्ग)-लोक दिखायी देने लगे, वह नाक या उन्मादन कहलाता है। जिसके प्रहारसे विद्ध होकर लोग त्रासके कारण मल-मूत्र करने लगते हैं, वह अक्षिसंतर्जन अथवा त्रासन नामक अस्त्र है। संतान अथवा दैवत अस्त्र वह है, जिसके प्रयोगसे अविच्छिन्नरूपसे अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा होने लगती है। जिसके प्रयोगसे मनुष्य वेदनाके मारे नाच उठता है, वह नर्तक या पैशाच अस्त्र है। भयानक संहारकारी अस्त्रको घोर अथवा राक्षस कहा गया है। जिससे आहत होकर लोग मुँहमें पत्थर रखकर मरनेके लिये निकल पड़ते हैं, वह आस्यमोदक अथवा याम्य नामक अस्त्र है। (भारतभावदीपटीका)

सप्तनवतितमोऽध्यायः

कण्व मुनिका दुर्योधनको संधिके लिये समझाते हुए मातलिका उपाख्यान आरम्भ करना *वैशम्पायन उवाच*

जामदग्न्यवचः श्रुत्वा कण्वोऽपि भगवानृषिः ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जमदग्निनन्दन परशुरामका यह वचन सुनकर भगवान् कण्व मुनिने भी कौरवसभामें दुर्योधनसे यह बात कही ।। १ ।।

कण्व उवाच

अक्षयश्चाव्ययश्चैव ब्रह्मा लोकपितामहः ।
तथैव भगवन्तौ तौ नरनारायणावृषी ।। २ ।।

कण्व बोले—राजन्! जैसे लोकपितामह ब्रह्मा अक्षय और अविनाशी हैं, उसी प्रकार वे दोनों भगवान् नर-नारायण ऋषि भी हैं ।। २ ।।

आदित्यानां हि सर्वेषां विष्णुरेकः सनातनः ।
अजय्यश्चाव्ययश्चैव शाश्वतः प्रभुरीश्वरः ।। ३ ।।

अदितिके सभी पुत्रोंमें अथवा सम्पूर्ण आदित्योंमें एकमात्र भगवान् विष्णु ही अजेय, अविनाशी, नित्य विद्यमान एवं सर्वसमर्थ सनातन परमेश्वर हैं ।। ३ ।।

निमित्तमरणाश्चान्ये चन्द्रसूर्यौ मही जलम् ।
वायुरग्निस्तथाऽऽकाशं ग्रहास्तारागणास्तथा ।। ४ ।।

अन्य सब लोग तो किसी-न-किसी निमित्तसे मृत्युको प्राप्त होते ही हैं। चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, ग्रह तथा नक्षत्र—ये सभी नाशवान् हैं ।। ४ ।।

ते च क्षयान्ते जगतो हित्वा लोकत्रयं सदा ।
क्षयं गच्छन्ति वै सर्वे सृज्यन्ते च पुनः पुनः ।। ५ ।।

जगत्का विनाश होनेके पश्चात् ये चन्द्र, सूर्य आदि तीनों लोकोंका सदाके लिये परित्याग करके नष्ट हो जाते हैं। फिर सृष्टिकालमें इन सबकी बारंबार सृष्टि होती है ।। ५ ।।

मुहूर्तमरणास्त्वन्ये मानुषा मृगपक्षिणः ।
तैर्यग्योन्याश्च ये चान्ये जीवलोकचरास्तथा ।। ६ ।।

इनके सिवा ये दूसरे जो मनुष्य, पशु, पक्षी तथा जीवलोकमें विचरनेवाले अन्यान्य तिर्यग्योनिके प्राणी हैं, वे अल्पकालमें ही कालके गालमें चले जाते हैं ।।

भूयिष्ठेन तु राजानः श्रियं भुक्त्वाऽऽयुषः क्षये ।
तरुणाः प्रतिपद्यन्ते भोक्तुं सुकृतदुष्कृते ।। ७ ।।

राजालोग भी प्रायः राजलक्ष्मीका उपभोग करके आयुकी समाप्ति होनेपर मृत्यु होनेके पश्चात् अपने पाप-पुण्यका फल भोगनेके लिये पुनः नूतन जन्म ग्रहण करते हैं ।। ७ ।।

स भवान् धर्मपुत्रेण शमं कर्तुमिहार्हति ।
पाण्डवाः कुरवश्चैव पालयन्तु वसुंधराम् ।। ८ ।।

राजन्! आपको धर्मपुत्र युधिष्ठिरके साथ संधि कर लेनी चाहिये। मैं चाहता हूँ कि पाण्डव तथा कौरव दोनों मिलकर इस पृथ्वीका पालन करें ।। ८ ।।

बलवानहमित्येव न मन्तव्यं सुयोधन ।
बलवन्तो बलिभ्यो हि दृश्यन्ते पुरुषर्षभ ।। ९ ।।

पुरुषरत्न सुयोधन! तुम्हें यह नहीं मानना चाहिये कि मैं ही सबसे अधिक बलवान् हूँ; क्योंकि संसारमें बलवानोंसे भी बलवान् पुरुष देखे जाते हैं ।। ९ ।।

न बलं बलिनां मध्ये बलं भवति कौरव ।
बलवन्तो हि ते सर्वे पाण्डवा देवविक्रमाः ।। १० ।।

कुरुनन्दन! बलवानोंके बीचमें सैनिकबलको बल नहीं समझा जाता है। समस्त पाण्डव देवताओंके समान पराक्रमी हैं; अतः वे ही तुम्हारी अपेक्षा बलवान् हैं ।।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मातलेर्दातुकामस्य कन्यां मृगयतो वरम् ।। ११ ।।

इस प्रसंगमें कन्यादान करनेके लिये वर ढूँढ़नेवाले मातलिके इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ।।

मतस्त्रैलोक्यराजस्य मातलिर्नाम सारथिः ।
तस्यैकैव कुले कन्या रूपतो लोकविश्रुता ।। १२ ।।

त्रिलोकीनाथ इन्द्रके प्रिय सारथिका नाम मातलि है। उनके कुलमें उन्हींकी एक कन्या थी; जो अपने रूपके कारण सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात थी ।। १२ ।।

गुणकेशीति विख्याता नाम्ना सा देवरूपिणी ।
श्रिया च वपुषा चैव स्त्रियोऽन्याः सातिरिच्यते ।। १३ ।।

वह देवरूपिणी कन्या गुणकेशीके नामसे प्रसिद्ध थी। गुणकेशी अपनी शोभा तथा सुन्दर शरीरकी दृष्टिसे उस समयकी सम्पूर्ण स्त्रियोंसे श्रेष्ठ थी ।। १३ ।।

तस्याः प्रदानसमयं मातलिः सह भार्यया ।
ज्ञात्वा विममृशे राजंस्तत्परः परिचिन्तयन् ।। १४ ।।

राजन्! उसके विवाहका समय आया जान मातलिने एकाग्रचित्त हो उसीके विषयमें चिन्तन करते हुए अपनी पत्नीके साथ विचार-विमर्श किया ।। १४ ।।

धिक् खल्वलघुशीलानामुच्छ्रितानां यशस्विनाम् ।
नराणां मृदुसत्त्वानां कुले कन्याप्ररोहणम् ।। १५ ।।

'जिनका शीलस्वभाव श्रेष्ठ है, जो ऊँचे कुलमें उत्पन्न हुए यशस्वी तथा कोमल अन्तःकरणवाले हैं; ऐसे लोगोंके कुलमें कन्याका उत्पन्न होना दुःखकी ही बात है ।।

मातुः कुलं पितृकुलं यत्र चैव प्रदीयते ।
कुलत्रयं संशयितं कुरुते कन्यका सताम् ।। १६ ।।

'कन्या मातृकुलको, पितृकुलको तथा जहाँ वह ब्याही जाती है, उस कुलको—सत्पुरुषोंके इन तीनों कुलोंको संशयमें डाल देती है ।। १६ ।।

देवमानुषलोकौ द्वौ मानुषेणैव चक्षुषा ।
अवगाह्यैव विचितौ न च मे रोचते वरः ।। १७ ।।

'मैंने मानवदृष्टिके अनुसार देवलोक तथा मनुष्यलोक दोनोंमें अच्छी तरह घूम-फिरकर कन्याके लिये वरका अन्वेषण किया है, पर वहाँ कोई भी वर मुझे पसंद नहीं आ रहा है' ।। १७ ।।

कण्व उवाच

न देवान् नैव दितिजान् न गन्धर्वान् न मानुषान् ।
अरोचयद् वरकृते तथैव बहुलानृषीन् ।। १८ ।।

कण्व मुनि कहते हैं—मातलिने वरके लिये बहुत-से देवताओं, दैत्यों, गन्धर्वों और मनुष्यों तथा ऋषियोंको भी देखा; परंतु कोई उन्हें पसंद नहीं आया ।। १८ ।।

भार्ययानु स सम्मन्त्र्य सह रात्रौ सुधर्मया ।
मातलिर्नागलोकाय चकार गमने मतिम् ।। १९ ।।

तब उन्होंने रातमें अपनी पत्नी सुधर्माके साथ सलाह करके नागलोकमें जानेका विचार किया ।। १९ ।।

न मे देवमनुष्येषु गुणकेश्याः समो वरः ।
रूपतो दृश्यते कश्चिन्नागेषु भविता ध्रुवम् ।। २० ।।

वे अपनी पत्नीसे बोले—'देवि! देवताओं और मनुष्योंमें तो गुणकेशीके योग्य कोई रूपवान् वर नहीं दिखायी देता। नागलोकमें कोई-न-कोई उसके योग्य वर अवश्य होगा' ।। २० ।।

इत्यामन्त्र्य सुधर्मां स कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।
कन्यां शिरस्युपाघ्राय प्रविवेश महीतलम् ।। २१ ।।

सुधर्मासे ऐसी सलाह करके मातलिने इष्टदेवकी परिक्रमा की और कन्याका मस्तक सूँघकर रसातलमें प्रवेश किया ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे सप्तनवतितमोऽध्यायः ।। ९७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके वर खोजनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९७ ।।

अष्टनवतितमोऽध्यायः

मातलिका अपनी पुत्रीके लिये वर खोजनेके निमित्त नारदजीके साथ वरुणलोकमें भ्रमण करते हुए अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएँ देखना

कण्व उवाच

मातलिस्तु व्रजन् मार्गे नारदेन महर्षिणा ।
वरुणं गच्छता द्रष्टुं समागच्छद् यदृच्छया ।। १ ।।

कण्व मुनि कहते हैं—राजन्! उसी समय महर्षि नारद वरुणदेवतासे मिलनेके लिये उधर जा रहे थे। नागलोकके मार्गमें जाते हुए मातलिकी नारदजीके साथ अकस्मात् भेंट हो गयी ।। १ ।।

नारदोऽथाब्रवीदेनं क्व भवान् गन्तुमुद्यतः ।
स्वेन वा सूत कार्येण शासनाद् वा शतक्रतोः ।। २ ।।

नारदजीने उनसे पूछा—देवसारथे! तुम कहाँ जानेको उद्यत हुए हो? तुम्हारी यह यात्रा किसी निजी कार्यसे अथवा देवेन्द्रके आदेशसे हुई है? ।। २ ।।

मातलिर्नारदेनैवं सम्पृष्टः पथि गच्छता ।
यथावत् सर्वमाचष्ट स्वकार्यं नारदं प्रति ।। ३ ।।

मार्गमें जाते हुए नारदजीके इस प्रकार पूछनेपर मातलिने उनसे अपना सारा कार्य यथावत्‌रूपसे बताया ।।

तमुवाचाथ स मुनिर्गच्छावः सहिताविति ।
सलिलेशदिदृक्षार्थमहमप्युद्यतो दिवः ।। ४ ।।

तब उन मुनिने मातलिसे कहा—‘हम दोनों साथ-साथ चलें। मैं भी जलके स्वामी वरुणदेवका दर्शन करनेकी इच्छासे देवलोकसे आ रहा हूँ ।। ४ ।।

अहं ते सर्वमाख्यास्ये दर्शयन् वसुधातलम् ।
दृष्ट्वा तत्र वरं कंचिद् रोचयिष्याव मातले ।। ५ ।।

‘मैं तुम्हें पृथ्वीके नीचेके लोकोंको दिखाते हुए वहाँकी सब वस्तुओंका परिचय दूँगा। मातले! वहाँ हम दोनों किसी योग्य वरको देखकर पसंद करेंगे’ ।। ५ ।।

अवगाह तु तौ भूमिमुभौ मातलिनारदौ ।
ददृशाते महात्मानौ लोकपालमपाम्पतिम् ।। ६ ।।

तदनन्तर मातलि और नारद दोनों महात्मा पृथ्वीके भीतर प्रवेश करके जलके स्वामी लोकपाल वरुणके समीप गये ।। ६ ।।

तत्र देवर्षिसदृशीं पूजां स प्राप नारदः ।
महेन्द्रसदृशीं चैव मातलिः प्रत्यपद्यत ।। ७ ।।

नारदजीको वहाँ देवर्षियोंके योग्य और मातलिको देवराज इन्द्रके समान आदर-सत्कार प्राप्त हुआ ।। ७ ।।

तावुभौ प्रीतमनसौ कार्यवन्तौ निवेद्य ह ।
वरुणेनाभ्यनुज्ञातौ नागलोकं विचेरतुः ।। ८ ।।

तत्पश्चात् उन दोनोंने प्रसन्नचित्त होकर वरुणदेवतासे अपना कार्य निवेदन किया और उनकी आज्ञा लेकर वे नागलोकमें विचरने लगे ।। ८ ।।

नारदः सर्वभूतानामन्तर्भूमिनिवासिनाम् ।
जानंश्चकार व्याख्यानं यन्तुः सर्वमशेषतः ।। ९ ।।

नारदजी पाताललोकमें निवास करनेवाले सभी प्राणियोंको जानते थे। अतः उन्होंने इन्द्रसारथि मातलिको वहाँकी सब वस्तुओंके विषयमें विस्तारपूर्वक बताना आरम्भ किया ।। ९ ।। *नारद उवाच*

दृष्टस्ते वरुणः सूत पुत्रपौत्रसमावृतः ।
पश्योदकपतेः स्थानं सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ।। १० ।।

नारदजीने कहा—सूत! तुमने पुत्रों और पौत्रोंसे घिरे हुए वरुणदेवताका दर्शन किया है। देखो, यह जलेश्वर वरुणका समृद्धिशाली निवासस्थान है। इसका नाम है, सर्वतोभद्र ।। १० ।।

एष पुत्रो महाप्राज्ञो वरुणस्येह गोपतेः ।
एष वै शीलवृत्तेन शौचेन च विशिष्यते ।। ११ ।।

ये गोपति वरुणके परम बुद्धिमान् पुत्र हैं; जो अपने उत्तम स्वभाव, सदाचार और पवित्रताके कारण अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं ।। ११ ।।

एषोऽस्य पुत्रोऽभिमतः पुष्करः पुष्करेक्षणः ।
रूपवान् दर्शनीयश्च सोमपुत्र्या वृतः पतिः ।। १२ ।।

वरुणदेवके इन प्रिय पुत्रका नाम पुष्कर है। इनके नेत्र विकसित कमलके समान सुशोभित हैं। ये रूपवान् तथा दर्शनीय हैं। इसीलिये सोमकी पुत्रीने इनका पतिरूपसे वरण किया है ।। १२ ।।

ज्योत्स्नाकालीति यामाहुर्द्वितीयां रूपतः श्रियम् ।
अदित्याश्चैव यः पुत्रो ज्येष्ठः श्रेष्ठः कृतः स्मृतः ।। १३ ।।

सोमकी जो दूसरी पुत्री हैं, वे ज्योत्स्नाकालीके नामसे प्रसिद्ध हैं तथा रूपमें साक्षात् लक्ष्मीके समान जान पड़ती हैं। उन्होंने अदितिदेवीके ज्येष्ठ पुत्र सूर्यदेवको अपना श्रेष्ठ पति बनाया एवं माना है ।। १३ ।।

भवनं वारुणं पश्य यदेतत् सर्वकाञ्चनम् ।

यत् प्राप्य सुरतां प्राप्ताः सुराः सुरपतेः सखे ।। १४ ।।

महेन्द्रमित्र! देखो, यह वरुणदेवताका भवन है, जो सब ओरसे सुवर्णका ही बना हुआ है। यहाँ पहुँचकर ही देवगण वास्तवमें देवत्वलाभ करते हैं ।। १४ ।।

एतानि हृतराज्यानां दैतेयानां स्म मातले ।
दीप्यमानानि दृश्यन्ते सर्वप्रहरणान्युत ।। १५ ।।

मातले! जिनके राज्य छीन लिये गये हैं, उन दैत्योंके ये देदीप्यमान सम्पूर्ण आयुध दिखायी देते हैं ।। १५ ।।

अक्षयाणि किलैतानि विवर्तन्ते स्म मातले ।
अनुभावप्रयुक्तानि सुरैरवजितानि ह ।। १६ ।।

देवसारथे! ये सारे अस्त्र-शस्त्र अक्षय हैं और प्रहार करनेपर शत्रुको आहत करके पुनः अपने स्वामीके हाथमें लौट आते हैं। पहले दैत्यलोग अपनी शक्तिके अनुसार इनका प्रयोग करते थे, परंतु अब देवताओंने इन्हें जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया है ।। १६ ।।

अत्र राक्षसजात्यश्च दैत्यजात्यश्च मातले ।
दिव्यप्रहरणाश्चासन् पूर्वदैवतनिर्मिताः ।। १७ ।।

मातले! इन स्थानोंमें राक्षस और दैत्यजातिके लोग रहते हैं। यहाँ दैत्योंके बनाये हुए बहुत-से दिव्यास्त्र भी रहे हैं ।। १७ ।।

अग्निरेष महार्चिष्माञ्जागर्ति वारुणे ह्रदे ।
वैष्णवं चक्रमाविद्धं विधूमेन हविष्मता ।। १८ ।।

ये महातेजस्वी अग्निदेव वरुणदेवताके सरोवरमें प्रकाशित होते हैं। इन धूमरहित अग्निदेवने भगवान् विष्णुके सुदर्शनचक्रको भी अवरुद्ध कर दिया था ।। १८ ।।

एष गाण्डीमयश्चापो लोकसंहारसम्भृतः ।
रक्ष्यते दैवतैर्नित्यं यतस्तद् गाण्डिवं धनुः ।। १९ ।।

वज्रकी गाँठको 'गाण्डी' कहा गया है। यह धनुष उसीका बना हुआ है, इसलिये गाण्डीव कहलाता है। जगत्का संहार करनेके लिये इसका निर्माण हुआ है। देवतालोग सदा इसकी रक्षा करते हैं ।। १९ ।।

एष कृत्ये समुत्पन्ने तत् तद् धारयते बलम् ।
सहस्रशतसंख्येन प्राणेन सततं ध्रुवः ।। २० ।।

यह धनुष आवश्यकता पड़नेपर लाखगुनी शक्तिसे सम्पन्न हो वैसे-वैसे ही बलको भी धारण करता है और सदा अविचल बना रहता है ।। २० ।।

अशास्यानपि शास्त्येष रक्षोबन्धुषु राजसु ।
सृष्टः प्रथमतश्चण्डो ब्रह्मणा ब्रह्मवादिना ।। २१ ।।

ब्रह्मवादी ब्रह्माजीने पहले इस प्रचण्ड धनुषका निर्माण किया था। यह राक्षससदृश राजाओंमेंसे अदम्य नरेशोंका भी दमन कर डालता है ।। २१ ।।

एतच्छस्त्रं नरेन्द्राणां महच्चक्रेण भासितम् ।
पुत्राः सलिलराजस्य धारयन्ति महोदयम् ।। २२ ।।

यह धनुष राजाओंके लिये एक महान् अस्त्र है और चक्रके समान उद्भासित होता रहता है। इस महान् अभ्युदयकारी धनुषको जलेश वरुणके पुत्र धारण करते हैं ।। २२ ।।

एतत् सलिलराजस्यच्छत्रं छत्रगृहे स्थितम् ।
सर्वतः सलिलं शीतं जीमूत इव वर्षति ।। २३ ।।

और यह सलिलराज वरुणका छत्र है, जो छत्रगृहमें रखा हुआ है। यह छत्र मेघकी भाँति सब ओरसे शीतल जल बरसाता रहता है ।। २३ ।।

एतच्छत्रात् परिभ्रष्टं सलिलं सोमनिर्मलम् ।
तमसा मूर्च्छितं भाति येन नार्च्छति दर्शनम् ।। २४ ।।

इस छत्रसे गिरा हुआ चन्द्रमाके समान निर्मल जल अन्धकारसे आच्छन्न रहता है, जिससे दृष्टिपथमें नहीं आता है ।। २४ ।।

बहून्यद्भुतरूपाणि द्रष्टव्यानीह मातले ।
तव कार्यावरोधस्तु तस्माद् गच्छाव मा चिरम् ।। २५ ।।

मातले! इस वरुणलोकमें देखनेयोग्य बहुत-सी अद्भुत वस्तुएँ हैं; परंतु सबको देखनेसे तुम्हारे कार्यमें रुकावट पड़ेगी, इसलिये हमलोग शीघ्र ही यहाँसे नागलोकमें चलें ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे अष्टनवतितमोऽध्यायः ।। ९८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरका खोजविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९८ ।।

एकोनशततमोऽध्यायः

नारदजीके द्वारा पाताललोकका प्रदर्शण

नारद उवाच

एतत् तु नागलोकस्य नाभिस्थाने स्थितं पुरम् ।
पातालमिति विख्यातं दैत्यदानवसेवितम् ।। १ ।।
इदमद्भिः समं प्राप्ता ये केचिद् भुवि जङ्गमाः ।
प्रविशन्तो महानादं नदन्ति भयपीडिताः ।। २ ।।

नारदजी बोले—मातले! यह जो नागलोकके नाभिस्थान (मध्यभाग)-में स्थित नगर दिखायी देता है, इसे पाताल कहते हैं। इस नगरमें दैत्य और दानव निवास करते हैं। यहाँ जो कोई भूतलके जंगम प्राणी जलके साथ बहकर आ जाते हैं, वे इस पातालमें पहुँचनेपर भयसे पीड़ित हो बड़े जोरसे चीत्कार करने लगते हैं ।। १-२ ।।

अत्रासुरोऽग्निः सततं दीप्यते वारिभोजनः ।
व्यापारेण धृतात्मानं निबद्धं समबुध्यत ।। ३ ।।

यहाँ जलका ही आहार करनेवाली आसुर अग्नि सदा उद्दीप्त रहती है। उसे यत्नपूर्वक मर्यादामें स्थापित किया गया है। वह अग्नि अपने-आपको देवताओं-द्वारा नियन्त्रित समझती है; इसलिये सब ओर फैल नहीं पाती ।। ३ ।।

अत्रामृतं सुरैः पीत्वा निहितं निहतारिभिः ।
अतः सोमस्य हानिश्च वृद्धिश्चैव प्रदृश्यते ।। ४ ।।

देवताओंने अपने शत्रुओंका संहार करके अमृत पीकर उसका अवशिष्ट भाग यहीं रख दिया था। इसीलिये अमृतमय सोमकी हानि और वृद्धि देखी जाती है ।। ४ ।।

अत्रादित्यो हयशिराः काले पर्वणि पर्वणि ।
उत्तिष्ठति सुवर्णाख्यो वाग्भिरापूरयञ्जगत् ।। ५ ।।

यहाँ अदितिनन्दन हयग्रीव विष्णु सुवर्णमय कान्ति धारण करके प्रत्येक पर्वपर वेदध्वनिके द्वारा जगत्को परिपूर्ण करते हुए ऊपरको उठते हैं ।। ५ ।।

यस्मादलं समस्तास्ताः पतन्ति जलमूर्तयः ।
तस्मात् पातालमित्येव ख्यायते पुरमुत्तमम् ।। ६ ।।

जलस्वरूप जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब वहाँ पर्याप्तरूपसे गिरती हैं, इसलिये (**‘पतन्ति अलम्’** इस व्युत्पतिके अनुसार पात+अलम्—इन दोनों शब्दोंके योगसे) यह उत्तम नगर ‘पाताल’ कहलाता है ।। ६ ।।

ऐरावणोऽस्मात् सलिलं गृहीत्वा जगतो हितः ।
मेघेष्वामुञ्चते शीतं यन्महेन्द्रः प्रवर्षति ।। ७ ।।

जगत्‌का हित करनेवाला और समुद्रसे उत्पन्न होनेवाला वर्षाकालीन वायु यहींसे शीतल जल लेकर मेघोंमें स्थापित करता है, जिसे देवराज इन्द्र भूतलपर बरसाते हैं ।। ७ ।।

अत्र नानाविधाकारास्तिमयो नैकरूपिणः ।

अप्सु सोमप्रभां पीत्वा वसन्ति जलचारिणः ।। ८ ।।

नाना प्रकारकी आकृति तथा भाँति-भाँतिके रूपवाले जलचारी तिमि (ह्वेल) मत्स्य चन्द्रमाकी किरणोंका पान करते हुए यहाँ जलमें निवास करते हैं ।। ८ ।।

अत्र सूर्यांशुभिर्भिन्नाः पातालतलमाश्रिताः ।

मृता हि दिवसे सूत पुनर्जीवन्ति वै निशि ।। ९ ।।

मातले! ये पातालनिवासी जीव-जन्तु यहाँ दिनमें सूर्यकी किरणोंसे संतप्त हो मृतप्राय अवस्थामें पहुँच जाते हैं; परंतु रात होनेपर अमृतमयी चन्द्ररश्मियोंके सम्पर्कसे पुनः जी उठते हैं ।। ९ ।।

उदयन् नित्यशश्चात्र चन्द्रमा रश्मिबाहुभिः ।

अमृतं स्पृश्य संस्पर्शात् संजीवयति देहिनः ।। १० ।।

वहाँ प्रतिदिन उदय लेनेवाले चन्द्रमा अपनी किरणमयी भुजाओंसे अमृतका स्पर्श कराकर उसके द्वारा यहाँके मरणासन्न जीवोंको जीवन प्रदान करते हैं ।। १० ।।

अत्र तेऽधर्मनिरता बद्धाः कालेन पीडिताः ।

दैतेया निवसन्ति स्म वासवेन हृतश्रियः ।। ११ ।।

इन्द्रने जिनकी सम्पत्ति हर ली है, वे अधर्मपरायण दैत्य कालसे बद्ध एवं पीड़ित होकर इसी स्थानमें निवास करते हैं ।। ११ ।।

अत्र भूतपतिर्नाम सर्वभूतमहेश्वरः ।

भूतये सर्वभूतानामचरत् तप उत्तमम् ।। १२ ।।

सर्वभूतमहेश्वर भगवान् भूतनाथने सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिये यहाँ उत्तम तपस्या की थी ।। १२ ।।

अत्र गोव्रतिनो विप्राः स्वाध्यायाम्नायकर्शिताः ।

त्यक्तप्राणा जितस्वर्गा निवसन्ति महर्षयः ।। १३ ।।

वेदपाठसे दुर्बल हुए तथा प्राणोंकी परवा न करके तपस्याद्वारा स्वर्गलोकपर विजय पानेवाले गोव्रतधारी ब्राह्मण महर्षिगण यहाँ निवास करते हैं ।। १३ ।।

यत्रतत्रशयो नित्यं येन केनचिदाशितः ।

येन केनचिदाच्छन्नः स गोव्रत इहोच्यते ।। १४ ।।

जो जहाँ कहीं भी सो लेता है, जिस किसी फल-मूल आदिसे भोजनका कार्य चला लेता है तथा वल्कल आदि जिस किसी वस्तुसे भी शरीरको ढक लेता है, वही यहाँ ‘गोव्रतधारी’ कहलाता है ।। १४ ।।

ऐरावणो नागराजो वामनः कुमुदोऽञ्जनः ।

प्रसूताः सुप्रतीकस्य वंशे वारणसत्तमाः ।। १५ ।।

यहाँ नागराज ऐरावत, वामन, कुमुद और अंजन नामक श्रेष्ठ गज सुप्रतीकके वंशमें उत्पन्न हुए हैं ।।

पश्य यद्यत्र ते कश्चिद् रोचते गुणतो वरः ।
वरयिष्यामि तं गत्वा यत्नमास्थाय मातले ।। १६ ।।

मातले! देखो, यदि यहाँ तुम्हें कोई गुणवान् वर पसंद हो तो मैं चलकर यत्नपूर्वक उसका वरण करूँगा ।। १६ ।।

अण्डमेतज्जले न्यस्तं दीप्यमानमिव श्रिया ।
आ प्रजानां निसर्गाद् वै नोद्भिद्यति न सर्पति ।। १७ ।।

जलके भीतर यह एक अण्डा रखा हुआ है, जो यहाँ अपनी प्रभासे उद्भासित-सा हो रहा है। जबसे प्रजाजनोंकी सृष्टि आरम्भ हुई है, तबसे लेकर अबतक यह अण्डा न तो फूटता है और न अपने स्थानसे इधर-उधर जाता ही है ।। १७ ।।

नास्य जातिं निसर्गं वा कथ्यमानं शृणोमि वै ।
पितरं मातरं चापि नास्य जानाति कश्चन ।। १८ ।।

इसकी जाति अथवा स्वभावके विषयमें कभी किसीको कुछ कहते नहीं सुना है। इसके पिता और माताको भी कोई नहीं जानता है ।। १८ ।।

अतः किल महानग्निरन्तकाले समुत्थितः ।
धक्ष्यते मातले सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।। १९ ।।

मातले! कहते हैं, प्रलयकालमें इस अण्डेके भीतरसे बड़ी भारी आग प्रकट होगी, जो चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीको भस्म कर डालेगी ।। १९ ।।

मातलिस्त्वब्रवीच्छ्रुत्वा नारदस्याथ भाषितम् ।
न मेऽत्र रोचते कश्चिदन्यतो व्रज माचिरम् ।। २० ।।

नारदजीका यह भाषण सुनकर मातलिने कहा—‘यहाँ मुझे कोई भी वर पसंद नहीं आया; अतः शीघ्र ही अन्यत्र कहीं चलिये’ ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे एकोनशततमोऽध्यायः ।। ९९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरका खोजविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९९ ।।

शततमोऽध्यायः

हिरण्यपुरका दिग्दर्शन और वर्णन

नारद उवाच

हिरण्यपुरमित्येतत् ख्यातं पुरवरं महत् ।
दैत्यानां दानवानां च मायाशतविचारिणाम् ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—मातले! यह हिरण्यपुर नामक श्रेष्ठ एवं विशाल नगर है जहाँ सैकड़ों मायाओंके साथ विचरनेवाले दैत्यों और दानवोंका निवासस्थान है ।। १ ।।

अनल्पेन प्रयत्नेन निर्मितं विश्वकर्मणा ।
मयेन मनसा सृष्टं पातालतलमाश्रितम् ।। २ ।।

असुरोंके विश्वकर्मा मयने अपने मानसिक संकल्पके अनुसार महान् प्रयत्न करके पाताललोकके भीतर इस नगरका निर्माण किया है ।। २ ।।

अत्र मायासहस्राणि विकुर्वाणा महौजसः ।
दानवा निवसन्ति स्म शूरा दत्तवराः पुरा ।। ३ ।।

यहाँ सहस्रों मायाओंका प्रयोग करनेवाले और महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न वे शूरवीर दानव निवास करते हैं, जिन्हें पूर्वकालमें अवध्य होनेका वरदान प्राप्त हो चुका है ।। ३ ।।

नैते शक्रेण नान्येन यमेन वरुणेन वा ।
शक्यन्ते वशमानेतुं तथैव धनदेन च ।। ४ ।।

इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर तथा और कोई देवता भी इन्हें वशमें नहीं कर सकता ।। ४ ।।

असुराः कालखञ्जाश्च तथा विष्णुपदोद्भवाः ।
नैर्ऋता यातुधानाश्च ब्रह्मपादोद्भवाश्च ये ।। ५ ।।
दंष्ट्रिणो भीमवेगाश्च वातवेगपराक्रमाः ।
मायावीर्योपसम्पन्ना निवसन्त्यत्र मातले ।। ६ ।।

मातले! भगवान् विष्णुके चरणोंसे उत्पन्न हुए कालखंज नामक असुर तथा ब्रह्माजीके पैरोंसे प्रकट हुए बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले, भयंकर वेगसे युक्त, प्रगतिशील पवनके समान पराक्रमी एवं मायाबलसे सम्पन्न नैर्ऋत और यातुधान इस नगरमें निवास करते हैं ।। ५-६ ।।

निवातकवचा नाम दानवा युद्धदुर्मदाः ।
जानासि च यथा शक्रो नैतान् शक्नोति बाधितुम् ।। ७ ।।

यहीं निवातकवच नामक दानव निवास करते हैं, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़ते हैं। तुम तो जानते ही हो कि इन्द्र भी इन्हें पराजित करनेमें समर्थ नहीं हो रहे हैं ।। ७ ।।

बहुशो मातले त्वं च तव पुत्रश्च गोमुखः ।
निर्भग्नो देवराजश्च सहपुत्रः शचीपतिः ।। ८ ।।

मातले! तुम, तुम्हारा पुत्र गोमुख तथा पुत्रसहित शचीपति देवराज इन्द्र अनेक बार इनके सामनेसे मैदान छोड़कर भाग चुके हैं ।। ८ ।।

पश्य वेश्मानि रौक्माणि मातले राजतानि च ।
कर्मणा विधियुक्तेन युक्तान्युपगतानि च ।। ९ ।।

मातले! देखो, इनके ये सोने और चाँदीके भवन कितनी शोभा पा रहे हैं। इनका निर्माण शिल्पशास्त्रीय विधानके अनुसार हुआ है तथा ये सभी महल एक-दूसरेसे सटे हुए हैं ।। ९ ।।

वैदूर्यमणिचित्राणि प्रवालरुचिराणि च ।
अर्कस्फटिकशुभ्राणि वज्रसारोज्ज्वलानि च ।। १० ।।

इन सबमें वैदूर्यमणि जड़ी हुई है, जिससे इनकी विचित्र शोभा हो रही है। स्थान-स्थानपर मूँगोंसे सुसज्जित होनेके कारण इनका सौन्दर्य अधिक बढ़ गया है। आकके फूल और स्फटिकमणिके समान ये उज्ज्वल दिखायी देते हैं तथा उत्तम हीरोंसे जटित होनेके कारण इनकी दीप्ति अधिक बढ़ गयी है ।। १० ।।

पार्थिवानीव चाभान्ति पद्मरागमयानि च ।
शैलानीव च दृश्यन्ते दारवाणीव चाप्युत ।। ११ ।।

इनमेंसे कुछ तो मिट्टीके बने हुए-से जान पड़ते हैं, कुछ पद्मरागमणिद्वारा निर्मित प्रतीत होते हैं, कुछ मकान पत्थरोंके और कुछ लकड़ियोंके बने हुए-से दिखायी देते हैं ।। ११ ।।

सूर्यरूपाणि चाभान्ति दीप्ताग्निसदृशानि च ।
मणिजालविचित्राणि प्रांशूनि निबिडानि च ।। १२ ।।

ये सूर्य तथा प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे हैं। मणियोंकी झालरोंसे इनकी विचित्र छटा दृष्टिगोचर हो रही है। ये सभी भवन ऊँचे और घने हैं ।। १२ ।।

नैतानि शक्यं निर्देष्टुं रूपतो द्रव्यतस्तथा ।
गुणतश्चैव सिद्धानि प्रमाणगुणवन्ति च ।। १३ ।।

हिरण्यपुरके ये भवन कितने सुन्दर हैं और किन-किन द्रव्योंसे बने हुए हैं, इसका निरूपण नहीं किया जा सकता। अपने उत्तम गुणोंके कारण इनकी बड़ी प्रसिद्धि है। लंबाई-चौड़ाई तथा सर्वगुणसम्पन्नताकी दृष्टिसे ये सभी प्रशंसाके योग्य हैं ।। १३ ।।

आक्रीडान् पश्य दैत्यानां तथैव शयनान्युत ।
रत्नवन्ति महार्हाणि भाजनान्यासनानि च ।। १४ ।।

देखो, दैत्योंके उद्यान एवं क्रीड़ास्थान कितने सुन्दर हैं! इनकी शय्याएँ भी इनके अनुरूप ही हैं। इनके उपयोगमें आनेवाले पात्र और आसन भी रत्नजटित एवं बहुमूल्य हैं ।। १४ ।।

जलदाभांस्तथा शैलांस्तोयप्रस्रवणानि च ।
कामपुष्पफलांश्चापि पादपान् कामचारिणः ।। १५ ।।

यहाँके पर्वत मेघोंकी घटाके समान जान पड़ते हैं। वहाँसे जलके झरने गिर रहे हैं। इन वृक्षोंकी ओर दृष्टिपात करो, ये सभी इच्छानुसार फल और फूल देनेवाले तथा कामचारी हैं ।। १५ ।।

मातले कश्चिदत्रापि रुचिरस्ते वरो भवेत् ।
अथवान्यां दिशं भूमेर्गच्छाव यदि मन्यसे ।। १६ ।।

मातले! यहाँ भी तुम्हें कोई सुन्दर वर प्राप्त हो सकता है अथवा तुम्हारी राय हो, तो इस भूमिकी किसी दूसरी दिशाकी ओर चलें ।। १६ ।।

मातलिस्त्वब्रवीदेनं भाषमाणं तथाविधम् ।
देवर्षे नैव मे कार्यं विप्रियं त्रिदिवौकसाम् ।। १७ ।।

तब ऐसी बातें करनेवाले नारदजीसे मातलिने कहा—'देवर्षे! मुझे कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जो देवताओंको अप्रिय लगे ।। १७ ।।

नित्यानुषक्तवैरा हि भ्रातरो देवदानवाः ।
परपक्षेण सम्बन्धं रोचयिष्याम्यहं कथम् ।। १८ ।।

'यद्यपि देवता और दानव परस्पर भाई ही हैं, तथापि इनमें सदा वैरभाव बना रहता है। ऐसी दशामें मैं शत्रुपक्षके साथ अपनी पुत्रीका सम्बन्ध कैसे पसंद करूँगा? ।। १८ ।।

अन्यत्र साधु गच्छाव द्रष्टुं नार्हामि दानवान् ।
जानामि तव चात्मानं हिंसात्मकमनं तथा ।। १९ ।।

'इसलिये अच्छा यही होगा कि हमलोग किसी दूसरी जगह चलें। मैं दानवोंसे साक्षात्कार भी नहीं कर सकता। मैं यह भी जानता हूँ कि आपके मनमें हिंसात्मक कार्य (युद्ध)-का अवसर उपस्थित करनेकी प्रबल इच्छा रहती है' ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे शततमोऽध्यायः ।। १०० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरका खोजविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०० ।।

एकाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़लोक तथा गरुड़की संतानोंका वर्णन

नारद उवाच

अयं लोकः सुपर्णानां पक्षिणां पन्नगाशिनाम् ।
विक्रमे गमने भारे नैषामस्ति परिश्रमः ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—मातले! यह सर्पभोजी गरुड़वंशी पक्षियोंका लोक है, जिन्हें पराक्रम प्रकट करने, दूरतक उड़ने और महान् भार ढोनेमें तनिक भी परिश्रम नहीं होता ।। १ ।।

वैनतेयसुतैः सूत षड्भिस्ततमिदं कुलम् ।
सुमुखेन सुनाम्ना च सुनेत्रेण सुवर्चसा ।। २ ।।
सुरुचा पक्षिराजेन सुबलेन च मातले ।
वर्धितानि प्रसृत्या वै विनताकुलकर्तृभिः ।। ३ ।।
पक्षिराजाभिजात्यानां सहस्राणि शतानि च ।
कश्यपस्य ततो वंशे जातैर्भूतिविवर्धनैः ।। ४ ।।

देवसारथि मातले! यहाँ विनतानन्दन गरुड़के छः पुत्रोंने अपनी वंशपरम्पराका विस्तार किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—सुमुख, सुनामा, सुनेत्र, सुवर्चा, सुरुच तथा पक्षिराज सुबल। विनताके वंशकी वृद्धि करनेवाले, कश्यपकुलमें उत्पन्न हुए तथा ऐश्वर्यका विस्तार करनेवाले इन छहों पक्षियोंने गरुड़-जातिकी सैकड़ों और सहस्रों शाखाओंका विस्तार किया है ।। २—४ ।।

सर्वे ह्येते श्रिया युक्ताः सर्वे श्रीवत्सलक्षणाः ।
सर्वे श्रियमभीप्सन्तो धारयन्ति बलान्युत ।। ५ ।।

ये सभी श्रीसम्पन्न तथा श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित हैं। सभी धन-सम्पत्तिकी कामना रखते हुए अपने भीतर अनन्त बल धारण करते हैं ।। ५ ।।

कर्मणा क्षत्रियाश्चैते निर्घृणा भोगिभोजिनः ।
ज्ञातिसंक्षयकर्तृत्वाद् ब्राह्मण्यं न लभन्ति वै ।। ६ ।।

ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होकर भी ये कर्मसे क्षत्रिय हैं। इनमें दया नहीं होती है। ये सर्पोंको ही अपना आहार बनाते हैं। इस प्रकार अपने भाई-बन्धुओं (नागों)-का संहार करनेके कारण इन्हें ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं है ।। ६ ।।

नामानि चैषां वक्ष्यामि यथा प्राधान्यतः शृणु ।
मातले श्लाघ्यमेतद्धि कुलं विष्णुपरिग्रहम् ।। ७ ।।

मातले! अब मैं इनके कुछ प्रधान व्यक्तियोंके नाम बताऊँगा, तुम श्रवण करो। इनका कुल भगवान् विष्णुका पार्षद होनेके कारण प्रशंसनीय है ।। ७ ।।

दैवतं विष्णुरेतेषां विष्णुरेव परायणम् ।
हृदि चैषां सदा विष्णुर्विष्णुरेव सदा गतिः ।। ८ ।।

भगवान् विष्णु ही इनके देवता हैं। वे ही इनके परम आश्रय हैं। भगवान् विष्णु इनके हृदयमें सदा विराजते हैं और वे विष्णु ही सदा इनकी गति हैं ।। ८ ।।

सुवर्णचूडो नागाशी दारुणश्चण्डतुण्डकः ।
अनिलश्चानलश्चैव विशालाक्षोऽथ कुण्डली ।। ९ ।।
पङ्कजिद् वज्रविष्कम्भो वैनतेयोऽथ वामनः ।
वातवेगो दिशाचक्षुर्निमेषोऽनिमिषस्तथा ।। १० ।।
त्रिरावः सप्तरावश्च वाल्मीकिर्द्वीपकस्तथा ।
दैत्यद्वीपः सरिद्द्वीपः सारसः पद्मकेतनः ।। ११ ।।
सुमुखश्चित्रकेतुश्च चित्रबर्हस्तथानघः ।
मेषहृत् कुमुदो दक्षः सर्पान्तः सहभोजनः ।। १२ ।।
गुरुभारः कपोतश्च सूर्यनेत्रश्चिरान्तकः ।
विष्णुधर्मा कुमारश्च परिबर्हो हरिस्तथा ।। १३ ।।
सुस्वरो मधुपर्कश्च हेमवर्णस्तथैव च ।
मालयो मातरिश्वा च निशाकरदिवाकरौ ।। १४ ।।
एते प्रदेशमात्रेण मयोक्ता गरुडात्मजाः ।
प्राधान्यतस्ते यशसा कीर्तिताः प्राणिनश्च ये ।। १५ ।।

सुवर्णचूड, नागाशी, दारुण, चण्डतुण्डक, अनिल, अनल, विशालाक्ष, कुण्डली, पंकजित्, वज्रविष्कम्भ, वैनतेय, वामन, वातवेग, दिशाचक्षु, निमेष, अनिमिष, त्रिराव, सप्तराव, वाल्मीकि, द्वीपक, दैत्यद्वीप, सरिद्द्वीप, सारस, पद्मकेतन, सुमुख, चित्रकेतु, चित्रबर्ह, अनघ, मेषहृत्, कुमुद, दक्ष, सर्पान्त, सहभोजन, गुरुभार, कपोत, सूर्यनेत्र, चिरान्तक, विष्णुधर्मा, कुमार, परिबर्ह, हरि, सुस्वर, मधुपर्क, हेमवर्ण, मालय, मातरिश्वा, निशाकर तथा दिवाकर। इस प्रकार संक्षेपसे मैंने इन मुख्य-मुख्य गरुड़-संतानोंका वर्णन किया है। ये सभी यशस्वी तथा महाबली बताये गये हैं ।। ९—१५ ।।

यद्यत्र न रुचिः काचिदेहि गच्छाव मातले ।
तं नयिष्यामि देशं त्वां वरं यत्रोपलप्स्यसे ।। १६ ।।

मातले! यदि इनमें तुम्हारी कोई रुचि न हो तो आओ, अन्यत्र चलें। अब मैं तुम्हें उस स्थानपर ले जाऊँगा, जहाँ तुम्हें कोई-न-कोई वर अवश्य मिल जायगा ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे एकाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरका खोजविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०१ ।।

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

सुरभि और उसकी संतानोंके साथ रसातलके सुखका वर्णन

नारद उवाच

इदं रसातलं नाम सप्तमं पृथिवीतलम् ।
यत्रास्ते सुरभिर्माता गवाममृतसम्भवा ।। १ ।।

नारदजी बोले—मातले! यह पृथ्वीका सातवाँ तल है, जिसका नाम रसातल है। यहाँ अमृतसे उत्पन्न हुई गोमाता सुरभि निवास करती हैं ।। १ ।।

क्षरन्ती सततं क्षीरं पृथिवीसारसम्भवम् ।
षण्णां रसानां सारेण रसमेकमनुत्तमम् ।। २ ।।

ये सुरभि पृथ्वीके सारतत्त्वसे प्रकट, छः रसोंके सारभागसे संयुक्त एवं सर्वोत्तम, अनिर्वचनीय एकरसरूप क्षीरको सदा अपने स्तनोंसे प्रवाहित करती रहती हैं ।।

अमृतेनाभितृप्तस्य सारमुद्गिरतः पुरा ।
पितामहस्य वदनादुदतिष्ठदनिन्दिता ।। ३ ।।

पूर्वकालमें जब ब्रह्मा अमृतपान करके तृप्त हो उसका सारभाग अपने मुखसे निकाल रहे थे, उसी समय उनके मुखसे अनिन्दिता सुरभिका प्रादुर्भाव हुआ था ।।

यस्याः क्षीरस्य धाराया निपतन्त्या महीतले ।
ह्रदः कृतः क्षीरनिधिः पवित्रं परमुच्यते ।। ४ ।।

पृथ्वीपर निरन्तर गिरती हुई उस सुरभिके क्षीरकी धारासे एक अनन्त ह्रद बन गया, जिसे ‘क्षीरसागर’ कहते हैं। वह परम पवित्र है ।। ४ ।।

पुष्पितस्येव फेनेन पर्यन्तमनुवेष्टितम् ।
पिबन्तो निवसन्त्यत्र फेनपा मुनिसत्तमाः ।। ५ ।।

क्षीरसागरसे जो फेन उत्पन्न होता है, वह पुष्पके समान जान पड़ता है। वह फेन क्षीरसमुद्रके तटपर फैला रहता है, जिसे पीते हुए फेनपसंज्ञक बहुत-से मुनिश्रेष्ठ इस रसातलमें निवास करते हैं ।। ५ ।।

फेनपा नाम ते ख्याताः फेनाहाराश्च मातले ।
उग्रे तपसि वर्तन्ते येषां बिभ्यति देवताः ।। ६ ।।

मातले! फेनका आहार करनेके कारण वे महर्षिगण ‘फेनप’ नामसे विख्यात हैं। वे बड़ी कठोर तपस्यामें संलग्न रहते हैं। उनसे देवतालोग भी डरते हैं ।। ६ ।।

अस्याश्चतस्रो धेन्वोऽन्या दिक्षु सर्वासु मातले ।

निवसन्ति दिशां पाल्यो धारयन्त्यो दिशः स्म ताः ।। ७ ।।

मातले! सुरभिकी पुत्रीस्वरूपा चार अन्य धेनुएँ हैं, जो सब दिशाओंमें निवास करती हैं। वे दिशाओंका धारण-पोषण करनेवाली हैं ।। ७ ।।

पूर्वां दिशं धारयते सुरूपा नाम सौरभी ।

दक्षिणां हंसिका नाम धारयत्यपरां दिशम् ।। ८ ।।

सुरूपा नामवाली धेनु पूर्वदिशाको धारण करती है तथा उससे भिन्न दक्षिणदिशाका हंसिका नामवाली धेनु धारण-पोषण करती है ।। ८ ।।

पश्चिमा वारुणी दिक् च धार्यते वै सुभद्रया ।

महानुभावया नित्यं मातले विश्वरूपया ।। ९ ।।

मातले! महाप्रभावशालिनी विश्वरूपा सुभद्रा नामवाली सुरभिकन्याके द्वारा वरुणदेवकी पश्चिमदिशा धारण की जाती है ।। ९ ।।

सर्वकामदुघा नाम धेनुर्धारयते दिशम् ।

उत्तरां मातले धर्म्यां तथैलविलसंज्ञिताम् ।। १० ।।

चौथी धेनुका नाम सर्वकामदुघा है। मातले! वह धर्मयुक्त कुबेरसम्बन्धिनी उत्तरदिशाका धारण-पोषण करती है ।। १० ।।

आसां तु पयसा मिश्रं पयो निर्मथ्य सागरे ।

मन्थानं मन्दरं कृत्वा देवैरसुरसंहितैः ।। ११ ।।

उद्धृता वारुणी लक्ष्मीरमृतं चापि मातले ।

उच्चैःश्रवाश्चाश्वराजो मणिरत्नं च कौस्तुभम् ।। १२ ।।

देवसारथे! देवताओंने असुरोंसे मिलकर मन्दराचलको मथानी बनाकर इन्हीं धेनुओंके दूधसे मिश्रित क्षीरसागरकी दुग्धराशिका मन्थन किया और उससे वारुणी, लक्ष्मी एवं अमृतको प्रकट किया। तत्पश्चात् उस समुद्रामन्थनसे अश्वराज उच्चैःश्रवा तथा मणिरत्न कौस्तुभका भी प्रादुर्भाव हुआ था ।। ११-१२ ।।

सुधाहारेषु च सुधां स्वधाभोजिषु च स्वधाम् ।

अमृतं चामृताशेषु सुरभी क्षरते पयः ।। १३ ।।

सुरभि अपने स्तनोंसे जो दूध बहाती है, वह सुधाभोजी लोगोंके लिये सुधा, स्वधाभोजी पितरोंके लिये स्वधा तथा अमृतभोजी देवताओंके लिये अमृतरूप है ।।

अत्र गाथा पुरा गीता रसातलनिवासिभिः ।

पौराणी श्रूयते लोके गीयते या मनीषिभिः ।। १४ ।।

यहाँ रसातलनिवासियोंने पूर्वकालमें जो पुरातन गाथा गायी थी, वह अब भी लोकमें सुनी जाती है और मनीषी पुरुष उसका गान करते हैं ।। १४ ।।

न नागलोके न स्वर्गे न विमाने त्रिविष्टपे ।

परिवासः सुखस्तादृग् रसातलतले यथा ।। १५ ।।

वह गाथा इस प्रकार है—‘नागलोक, स्वर्गलोक तथा स्वर्गलोकके विमानमें निवास करना भी वैसा सुखदायक नहीं होता, जैसा रसातलमें रहनेसे सुख प्राप्त होता है’ ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १०२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरका खोजविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०२ ।।

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

नागलोकके नागोंका वर्णन और मातलिका नागकुमार सुमुखके साथ अपनी कन्याको ब्याहनेका निश्चय

नारद उवाच

इयं भोगवती नाम पुरी वासुकिपालिता ।
यादृशी देवराजस्य पुरीवर्यामरावती ।। १ ।।

नारदजी बोले—मातले! यह नागराज वासुकि-द्वारा सुरक्षित उनकी भोगवती नामक पुरी है। देवराज इन्द्रकी सर्वश्रेष्ठ नगरी अमरावतीकी तरह ही यह भी सुख-समृद्धिसे सम्पन्न है ।। १ ।।

एष शेषः स्थितो नागो येनेयं धार्यते सदा ।
तपसा लोकमुख्येन प्रभावसहिता मही ।। २ ।।

ये शेषनाग स्थित हैं, जो अपने लोकप्रसिद्ध तपोबलसे प्रभावसहित इस सारी पृथ्वीको सदा सिरपर धारण करते हैं ।। २ ।।

श्वेताचलनिभाकारो दिव्याभरणभूषितः ।
सहस्रं धारयन् मूर्ध्ना ज्वालाजिह्वो महाबलः ।। ३ ।।

भगवान् शेषका शरीर कैलास पर्वतके समान श्वेत है। ये सहस्र मस्तक धारण करते हैं। इनकी जिह्वा अग्निकी ज्वालाके समान जान पड़ती है। ये महाबली अनन्त दिव्य आभूषणोंसे विभूषित होते हैं ।। ३ ।।

इह नानाविधाकारा नानाविधविभूषणाः ।
सुरसायाः सुता नागा निवसन्ति गतव्यथाः ।। ४ ।।

यहाँ सुरसाके पुत्र नागगण शोक-संतापसे रहित होकर निवास करते हैं। इनके रूप-रंग और आभूषण अनेक प्रकारके हैं ।। ४ ।।

मणिस्वस्तिकचक्राङ्काः कमण्डलुकलक्षणाः ।
सहस्रसंख्या बलिनः सर्वे रौद्राः स्वभावतः ।। ५ ।।

ये सभी नाग सहस्रोंकी संख्यामें यहाँ रहते हैं। ये सब-के-सब अत्यन्त बलवान् तथा स्वभावसे ही भयंकर हैं। इनमेंसे किन्हींके शरीरमें मणिका, किन्हींके स्वस्तिकका, किन्हींके चक्रका और किन्हींके शरीरमें कमण्डलुका चिह्न है ।। ५ ।।

सहस्रशिरसः केचित् केचित् पञ्चशताननाः ।
शतशीर्षास्तथा केचित् केचित् त्रिशिरसोऽपि च ।। ६ ।।

कुछ नागोंके एक सहस्र सिर होते हैं, किन्हींके पाँच सौ, किन्हींके एक सौ और किन्हींके तीन ही सिर होते हैं ।। ६ ।।

द्विपञ्चशिरसः केचित् केचित् सप्तमुखास्तथा ।
महाभोगा महाकायाः पर्वताभोगभोगिनः ।। ७ ।।

कोई दो सिरवाले, कोई पाँच सिरवाले और कोई सात मुखवाले होते हैं। किन्हींके बड़े-बड़े फन, किन्हींके दीर्घ शरीर और किन्हींके पर्वतके समान स्थूल शरीर होते हैं ।।

बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
नागानामेकवंशानां यथाश्रेष्ठं तु मे शृणु ।। ८ ।।

यहाँ एक-एक वंशके नागोंकी कई हजार, कई लाख तथा कई अर्बुद संख्या है। मैं जेठे-छोटेके क्रमसे इनका संक्षिप्त परिचय देता हूँ, सुनो ।। ८ ।।

वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनंजयौ ।
कालियो नहुषश्चैव कम्बलाश्वतरावुभौ ।। ९ ।।
बाह्यकुण्डो मणिर्नागस्तथैवापूरणः खगः ।
वामनश्चैलपत्रश्च कुकुरः कुकुणस्तथा ।। १० ।।
आर्यको नन्दकश्चैव तथा कलशपोतकौ ।
कैलासकः पिञ्जरको नागश्चैरावतस्तथा ।। ११ ।।
सुमनोमुखो दधिमुखः शङ्खो नन्दोपनन्दकौ ।
आप्तः कोटरकश्चैव शिखी निष्ठूरिकस्तथा ।। १२ ।।
तित्तिरिर्हस्तिभद्रश्च कुमुदो माल्यपिण्डकः ।
द्वौ पद्मौ पुण्डरीकश्च पुष्पो मुद्गरपर्णकः ।। १३ ।।
करवीरः पीठरकः संवृत्तो वृत्त एव च ।
पिण्डारो बिल्वपत्रश्च मूषिकादः शिरीषकः ।। १४ ।।
दिलीपः शङ्खशीर्षश्च ज्योतिष्कोऽथापराजितः ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च कुहुरः कृशकस्तथा ।। १५ ।।
विरजा धारणश्चैव सुबाहुर्मुखरो जयः ।
बधिरान्धौ विशुण्डिश्च विरसः सुरसस्तथा ।। १६ ।।
एते चान्ये च बहवः कश्यपस्यात्मजाः स्मृताः ।
मातले पश्य यद्यत्र कश्चित् ते रोचते वरः ।। १७ ।।

वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, कालिय, नहुष, कम्बल, अश्वतर, बाह्यकुण्ड, मणिनाग, आपूरण, खग, वामन, एलपत्र, कुकुर, कुकुण, आर्यक, नन्दक, कलश, पोतक, कैलासक, पिंजरक, ऐरावत, सुमनोमुख, दधिमुख, शंख, नन्द, उपनन्द, आप्त, कोटरक, शिखी, निष्ठूरिक, तित्तिरि, हस्तिभद्र, कुमुद, माल्यपिण्डक, पद्मनामक दो नाग, पुण्डरीक, पुष्प, मुद्गरपर्णक, करवीर, पीठरक, संवृत्त, वृत्त, पिण्डार, बिल्वपत्र, मूषिकाद, शिरीषक,

दिलीप, शंखशीर्ष, ज्योतिष्क, अपराजित, कौरव्य, धृतराष्ट्र, कुहुर, कृशक, विरजा, धारण, सुबाहु, मुखर, जय, बधिर, अन्ध, विशुण्डि, विरस तथा सुरस—ये और दूसरे बहुत-से नाग कश्यपके वंशज हैं। मातले! यदि यहाँ कोई वर तुम्हें पसंद हो तो देखो ।। ९—१७ ।।

कण्व उवाच

मातलिस्त्वेकमव्यग्रः सततं संनिरीक्ष्य वै ।
पप्रच्छ नारदं तत्र प्रीतिमानिव चाभवत् ।। १८ ।।

कण्व मुनि कहते हैं—राजन्! तब मातलि स्थिरतापूर्वक एक नागका निरन्तर निरीक्षण करके प्रसन्न-से हो उठे और उन्होंने नारदजीसे पूछा ।। १८ ।।

मातलिरुवाच

स्थितो य एष पुरतः कौरव्यस्यार्यकस्य तु ।
द्युतिमान् दर्शनीयश्च कस्यैष कुलनन्दनः ।। १९ ।।

मातलिने कहा—देवर्षे! यह जो कौरव्य और आर्यकके आगे कान्तिमान् और दर्शनीय नागकुमार खड़ा है, किसके कुलको आनन्दित करनेवाला है? ।।

कः पिता जननी चास्य कतमस्यैष भोगिनः ।
वंशस्य कस्यैष महान् केतुभूत इव स्थितः ।। २० ।।

इसके पिता-माता कौन हैं? यह किस नागका पौत्र है तथा किसके वंशकी महान् ध्वजके समान शोभा बढ़ा रहा है? ।। २० ।।

प्रणिधानेन धैर्येण रूपेण वयसा च मे ।
मनः प्रविष्टो देवर्षे गुणकेश्याः पतिर्वरः ।। २१ ।।

देवर्षे! यह अपनी एकाग्रता, धैर्य, रूप तथा तरुण अवस्थाके कारण मेरे मनमें समा गया है। यही गुणकेशीका श्रेष्ठ पति होनेके योग्य है ।। २१ ।।

कण्व उवाच

मातलिं प्रीतमनसं दृष्ट्वा सुमुखदर्शनात् ।
निवेदयामास तदा माहात्म्यं जन्म कर्म च ।। २२ ।।

कण्व मुनि कहते हैं—राजन्! मातलिको सुमुखके दर्शनसे प्रसन्नचित्त देखकर नारदजीने उस समय उस नागकुमारके जन्म, कर्म और महत्त्वका परिचय देना आरम्भ किया ।। २२ ।।

नारद उवाच

ऐरावतकुले जातः सुमुखो नाम नागराट् ।
आर्यकस्य मतः पौत्रो दौहित्रो वामनस्य च ।। २३ ।।

नारदजी बोले—मातले! यह नागराज सुमुख है, जो ऐरावतके कुलमें उत्पन्न हुआ है। यह आर्यकका पौत्र और वामनका दौहित्र है ।। २३ ।।

एतस्य हि पिता नागश्चिकुरो नाम मातले ।
नचिराद् वैनतेयेन पञ्चत्वमुपपादितः ।। २४ ।।

सूत! इसके पिता नागराज चिकुर थे, जिन्हें थोड़े ही दिन पहले गरुड़ने अपना ग्रास बना लिया है ।। २४ ।।

ततोऽब्रवीत् प्रीतमना मातलिर्नारदं वचः ।
एष मे रुचितस्तात जामाता भुजगोत्तमः ।। २५ ।।

तब मातलिने प्रसन्नचित्त होकर नारदजीसे कहा—‘तात! यह श्रेष्ठ नाग मुझे अपना जामाता बनानेके योग्य जँच गया ।। २५ ।।

क्रियतामत्र यत्नो वै प्रीतिमानस्म्यनेन वै ।
अस्मै नागाय वै दातुं प्रियां दुहितरं मुने ।। २६ ।।

‘मैं इससे बहुत प्रसन्न हूँ। आप इसीके लिये यत्न कीजिये। मुने! मैं इसी नागको अपनी प्यारी पुत्री देना चाहता हूँ’ ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १०३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरका खोजविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०३ ।।

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका नागराज आर्यकके सम्मुख सुमुखके साथ मातलिकी कन्याके विवाहका प्रस्ताव एवं मातलिका नारदजी, सुमुख एवं आर्यकके साथ इन्द्रके पास आकर उनके द्वारा सुमुखको दीर्घायु प्रदान कराना तथा सुमुख-गुणकेशी-विवाह

(कण्व उवाच

मातलेर्वचनं श्रुत्वा नारदो मुनिसत्तमः ।
अब्रवीन्नागराजानमार्यकं कुरुनन्दन ।।)

कण्व मुनि कहते हैं—कुरुनन्दन! मातलिकी बात सुनकर मुनिश्रेष्ठ नारदने नागराज आर्यकसे कहा।

नारद उवाच

सूतोऽयं मातलिर्नाम शक्रस्य दयितः सुहृत् ।
शुचिः शीलगुणोपेतस्तेजस्वी वीर्यवान् बली ।। १ ।।

नारदजी बोले—नागराज! ये इन्द्रके प्रिय सखा और सारथि मातलि हैं। इनमें पवित्रता, सुशीलता और समस्त सद्‌गुण भरे हुए हैं। ये तेजस्वी होनेके साथ ही बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं ।। १ ।।

शक्रस्यायं सखा चैव मन्त्री सारथिरेव च ।
अल्पान्तरप्रभावश्च वासवेन रणे रणे ।। २ ।।

इन्द्रके मित्र, मन्त्री और सारथि सब कुछ यही हैं। प्रत्येक युद्धमें ये इन्द्रके साथ रहते हैं। इनका प्रभाव इन्द्रसे कुछ ही कम है ।। २ ।।

अयं हरिसहस्रेण युक्तं जैत्रं रथोत्तमम् ।
देवासुरेषु युद्धेषु मनसैव नियच्छति ।। ३ ।।

ये देवासुर-संग्राममें सहस्र घोड़ोंसे जुते हुए देवराजके विजयशील श्रेष्ठ रथका अपने मानसिक संकल्पसे ही (संचालन और) नियन्त्रण करते हैं ।। ३ ।।

अनेन विजितानश्वैर्दोर्भ्यां जयति वासवः ।
अनेन बलभित् पूर्वं प्रहृते प्रहरत्युत ।। ४ ।।

ये अपने अश्वोंद्वारा जिन शत्रुओंको जीत लेते हैं, उन्हींको देवराज इन्द्र अपने बाहुबलसे पराजित करते हैं। पहले इनके द्वारा प्रहार हो जानेपर ही बलनाशक इन्द्र शत्रुओंपर प्रहार

करते हैं ।। ४ ।।

अस्य कन्या वरारोहा रूपेणासदृशी भुवि ।
सत्यशीलगुणोपेता गुणकेशीति विश्रुता ।। ५ ।।

इनके एक सुन्दरी कन्या है, जिसके रूपकी समानता भूमण्डलमें कहीं नहीं है। उसका नाम है गुणकेशी। वह सत्य, शील और सद्‌गुणोंसे सम्पन्न है ।।

तस्यास्य यत्नाच्चरतस्त्रैलोक्यममरद्युते ।
सुमुखो भवतः पौत्रो रोचते दुहितुः पतिः ।। ६ ।।

देवोपम कान्तिवाले नागराज! ये मातलि बड़े प्रयत्नसे कन्याके लिये वर ढूँढ़नेके निमित्त तीनों लोकोंमें विचरते हुए यहाँ आये हैं। आपका पौत्र सुमुख इन्हें अपनी कन्याका पति होनेयोग्य प्रतीत हुआ है; उसीको इन्होंने पसंद किया है ।। ६ ।।

यदि ते रोचते सम्यग् भुजगोत्तम मा चिरम् ।
क्रियतामार्यक क्षिप्रं बुद्धिः कन्यापरिग्रहे ।। ७ ।।

नागप्रवर आर्यक! यदि आपको भी यह सम्बन्ध भलीभाँति रुचिकर जान पड़े तो शीघ्र ही इनकी पुत्रीको ब्याह लानेका निश्चय कीजिये ।। ७ ।।

यथा विष्णुकुले लक्ष्मीर्यथा स्वाहा विभावसोः ।
कुले तव तथैवास्तु गुणकेशी सुमध्यमा ।। ८ ।।

जैसे भगवान् विष्णुके घरमें लक्ष्मी और अग्निके घरमें स्वाहा शोभा पाती हैं, उसी प्रकार सुन्दरी गुणकेशी तुम्हारे कुलमें प्रतिष्ठित हो ।। ८ ।।

पौत्रस्यार्थे भवांस्तस्माद् गुणकेशीं प्रतीच्छतु ।
सदृशीं प्रतिरूपस्य वासवस्य शचीमिव ।। ९ ।।

अतः आप अपने पौत्रके लिये गुणकेशीको स्वीकार करें। जैसे इन्द्रके अनुरूप शची हैं, उसी प्रकार आपके सुयोग्य पौत्रके योग्य गुणकेशी है ।। ९ ।।

पितृहीनमपि ह्येनं गुणतो वरयामहे ।
बहुमानाच्च भवतस्तथैवैरावतस्य च ।। १० ।।
सुमुखस्य गुणैश्चैव शीलशौचदमादिभिः ।

आपके और ऐरावतके प्रति हमारे हृदयमें विशेष सम्मान है और यह सुमुख भी शील, शौच और इन्द्रियसंयम आदि गुणोंसे सम्पन्न है, इसलिये इसके पितृहीन होनेपर भी हम गुणोंके कारण इसका वरण करते हैं ।। १० १/२ ।।

अभिगम्य स्वयं कन्यामयं दातुं समुद्यतः ।। ११ ।।
मातलिस्तस्य सम्मानं कर्तुमर्हो भवानपि ।

ये मातलि स्वयं चलकर कन्यादान करनेको उद्यत हैं। आपको भी इनका सम्मान करना चाहिये ।। ११ १/२ ।।

कण्व उवाच

स तु दीनः प्रहृष्टश्च प्राह नारदमार्यकः ।। १२ ।।

कण्व मुनि कहते हैं—कुरुनन्दन! तब नागराज आर्यक प्रसन्न होकर दीनभावसे बोले— ।। १२ ।।

आर्यक उवाच

व्रियमाणे तथा पौत्रे पुत्रे च निधनं गते ।
कथमिच्छामि देवर्षे गुणकेशीं स्नुषां प्रति ।। १३ ।।

आर्यक पुनः बोले—'देवर्षे! मेरा पुत्र मारा गया और पौत्रका भी उसी प्रकार मृत्युने वरण किया है; अतः मैं गुणकेशीको बहू बनानेकी इच्छा कैसे करूँ? ।। १३ ।।

न मे नैतद् बहुमतं महर्षे वचनं तव ।
सखा शक्रस्य संयुक्तः कस्यायं नेप्सितो भवेत् ।। १४ ।।

महर्षे! मेरी दृष्टिमें आपके इस वचनका कम आदर नहीं है और ये मातलि तो इन्द्रके साथ रहनेवाले उनके सखा हैं; अतः ये किसको प्रिय नहीं लगेंगे? ।।

कारणस्य तु दौर्बल्याच्चिन्तयामि महामुने ।
अस्य देहकरस्तात मम पुत्रो महाद्युते ।। १५ ।।
भक्षितो वैनतेयेन दुःखार्तास्तेन वै वयम् ।
पुनरेव च तेनोक्तं वैनतेयेन गच्छता ।
मासेनान्येन सुमुखं भक्षयिष्य इति प्रभो ।। १६ ।।
ध्रुवं तथा तद् भविता जानीमस्तस्य निश्चयम् ।
तेन हर्षः प्रणष्टो मे सुपर्णवचनेन वै ।। १७ ।।

परंतु माननीय महामुने! कारणकी दुर्बलतासे मैं चिन्तामें पड़ा रहता हूँ। महाद्युते! इस बालकका पिता, जो मेरा पुत्र था, गरुड़का भोजन बन गया। इस दुःखसे हमलोग पीड़ित हैं। प्रभो! जब गरुड़ यहाँसे जाने लगे, तब पुनः यह कहते गये कि दूसरे महीनेमें मैं सुमुखको भी खा जाऊँगा। अवश्य ही ऐसा ही होगा; क्योंकि हम गरुड़के निश्चयको जानते हैं। गरुड़के उस कथनसे मेरी हँसी-खुशी नष्ट हो गयी है ।। १५—१७ ।।

कण्व उवाच

मातलिस्त्वब्रवीदेनं बुद्धिरत्र कृता मया ।
जामातृभावेन वृतः सुमुखस्तव पुत्रजः ।। १८ ।।

कण्व मुनि कहते हैं—राजन्! तब मातलिने आर्यकसे कहा—'मैंने इस विषयमें एक विचार किया है। यह तो निश्चय ही है कि मैंने आपके पौत्रको जामाताके पदपर वरण कर लिया ।। १८ ।।

सोऽयं मया च सहितो नारदेन च पन्नगः ।

त्रिलोकेशं सुरपतिं गत्वा पश्यतु वासवम् ।। १९ ।।

'अतः यह नागकुमार मेरे और नारदजीके साथ त्रिलोकीनाथ देवराज इन्द्रके पास चलकर उनका दर्शन करे ।। १९ ।।

शेषेणैवास्य कार्येण प्रज्ञास्याम्यहमायुषः ।

सुपर्णस्य विघाते च प्रयतिष्यामि सत्तम ।। २० ।।

'साधुशिरोमणे! तदनन्तर मैं अवशिष्ट कार्यद्वारा इसकी आयुके विषयमें जानकारी प्राप्त करूँगा और इस बातकी भी चेष्टा करूँगा कि गरुड़ इसे न मार सकें ।। २० ।।

सुमुखश्च मया सार्धं देवेशमभिगच्छतु ।

कार्यसंसाधनार्थाय स्वस्ति तेऽस्तु भुजंगम ।। २१ ।।

'नागराज! आपका कल्याण हो। सुमुख अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये मेरे साथ देवराज इन्द्रके पास चले' ।। २१ ।।

ततस्ते सुमुखं गृह्य सर्व एव महौजसः ।

ददृशुः शक्रमासीनं देवराजं महाद्युतिम् ।। २२ ।।

तदनन्तर उन सभी महातेजस्वी सज्जनोंने सुमुखको साथ लेकर परम कान्तिमान् देवराज इन्द्रका दर्शन किया, जो स्वर्गके सिंहासनपर विराजमान थे ।। २२ ।।

संगत्या तत्र भगवान् विष्णुरासीच्चतुर्भुजः ।

ततस्तत् सर्वमाचख्यौ नारदो मातलिं प्रति ।। २३ ।।

दैवयोगसे वहाँ चतुर्भुज भगवान् विष्णु भी उपस्थित थे। तदनन्तर देवर्षि नारदने मातलिसे सम्बन्ध रखनेवाला सारा वृत्तान्त कह सुनाया ।। २३ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः पुरंदरं विष्णुरुवाच भुवनेश्वरम् ।

अमृतं दीयतामस्मै क्रियताममरैः समः ।। २४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तत्पश्चात् भगवान् विष्णुने लोकेश्वर इन्द्रसे कहा—'देवराज! तुम सुमुखको अमृत दे दो और इसे देवताओंके समान बना दो ।।

मातलिर्नारदश्चैव सुमुखश्चैव वासव ।

लभन्तां भवतः कामात् काममेतं यथेप्सितम् ।। २५ ।।

'वासव! इस प्रकार मातलि, नारद और सुमुख—ये सभी तुमसे इच्छानुसार अमृतका दान पाकर अपना यह अभीष्ट मनोरथ पूर्ण कर लें' ।। २५ ।।

पुरंदरोऽथ संचिन्त्य वैनतेयपराक्रमम् ।

विष्णुमेवाब्रवीदेनं भवानेव ददात्विति ।। २६ ।।

तब देवराज इन्द्रने गरुड़के पराक्रमका विचार करके भगवान् विष्णुसे कहा—'आप ही इसे उत्तम आयु प्रदान कीजिये' ।। २६ ।।

विष्णुरुवाच

ईशस्त्वं सर्वलोकानां चराणामचराश्च ये ।
त्वया दत्तमदत्तं कः कर्तुमुत्सहते विभो ।। २७ ।।

भगवान् विष्णु बोले—प्रभो! तुम सम्पूर्ण जगत्‌में जितने भी चराचर प्राणी हैं, उन सबके ईश्वर हो। तुम्हारी दी हुई आयुको बिना दी हुई करने (मिटाने)-का साहस कौन कर सकता है? ।। २७ ।।

प्रादाच्छक्रस्ततस्तस्मै पन्नगायायुरुत्तमम् ।
न त्वेनममृतप्राशं चकार बलवृत्रहा ।। २८ ।।

तब इन्द्रने उस नागको अच्छी आयु प्रदान की, परंतु बलासुर और वृत्रासुरका विनाश करनेवाले इन्द्रने उसे अमृतभोजी नहीं बनाया ।। २८ ।।

लब्ध्वा वरं तु सुमुखः सुमुखः सम्बभूव ह ।
कृतदारो यथाकामं जगाम च गृहान् प्रति ।। २९ ।।

इन्द्रका वर पाकर सुमुखका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। वह विवाह करके इच्छानुसार अपने घरको चला गया ।। २९ ।।

नारदस्त्वार्यकश्चैव कृतकार्यौ मुदा युतौ ।
अभिजग्मतुरभ्यर्च्य देवराजं महाद्युतिम् ।। ३० ।।

नारद और आर्यक दोनों ही कृतकृत्य हो महातेजस्वी देवराजकी अर्चना करके प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने स्थानको चले गये ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ।। १०४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरका खोजविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०४ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३१ श्लोक हैं।]

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुके द्वारा गरुड़का गर्वभंजन तथा दुर्योधनद्वारा कण्व मुनिके उपदेशकी अवहेलना

कण्व उवाच

गरुडस्तत्र शुश्राव यथावृत्तं महाबलः ।
आयुःप्रदानं शक्रेण कृतं नागस्य भारत ।। १ ।।

कण्व मुनि कहते हैं—भारत! महाबली गरुड़ने यह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुना कि इन्द्रने सुमुख नागको दीर्घायु प्रदान की है ।। १ ।।

पक्षवातेन महता रुद्ध्वा त्रिभुवनं खगः ।
सुपर्णः परमक्रुद्धो वासवं समुपाद्रवत् ।। २ ।।

यह सुनते ही आकाशचारी गरुड़ अत्यन्त क्रुद्ध हो अपने पंखोंकी प्रचण्ड वायुसे तीनों लोकोंको कम्पित करते हुए इन्द्रके समीप दौड़े आये ।। २ ।।

गरुड उवाच

भगवन् किमवज्ञानाद् वृत्तिः प्रतिहता मम ।
कामकारवरं दत्त्वा पुनश्चलितवानसि ।। ३ ।।

गरुड बोले—भगवन्! आपने अवहेलना करके मेरी जीविकामें क्यों बाधा पहुँचायी है? एक बार मुझे इच्छानुसार कार्य करनेका वरदान देकर अब फिर उससे विचलित क्यों हुए हैं? ।। ३ ।।

निसर्गात् सर्वभूतानां सर्वभूतेश्वरेण मे ।
आहारो विहितो धात्रा किमर्थं वार्यते त्वया ।। ४ ।।

समस्त प्राणियोंके स्वामी विधाताने सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि करते समय मेरा आहार निश्चित कर दिया था। फिर आप किसलिये उसमें बाधा उपस्थित करते हैं? ।। ४ ।।

वृतश्चैष महानागः स्थापितः समयश्च मे ।
अनेन च मया देव भर्तव्यः प्रसवो महान् ।। ५ ।।

देव! मैंने उस महानागको अपने भोजनके लिये चुन लिया था। इसके लिये समय भी निश्चित कर दिया था और उसीके द्वारा मुझे अपने विशाल परिवारका भरण-पोषण करना था ।। ५ ।।

एतस्मिंस्तु तथाभूते नान्यं हिंसितुमुत्सहे ।
क्रीडसे कामकारेण देवराज यथेच्छकम् ।। ६ ।।

वह नाग जब दीर्घायु हो गया, तब अब मैं उसके बदलेमें दूसरेकी हिंसा नहीं कर सकता। देवराज! आप स्वेच्छाचारको अपनाकर मनमाने खेल कर रहे हैं ।। ६ ।।

सोऽहं प्राणान् विमोक्ष्यामि तथा परिजनो मम ।
ये च भृत्या मम गृहे प्रीतिमान् भव वासव ।। ७ ।।

वासव! अब मैं प्राण त्याग दूँगा। मेरे परिवारमें तथा मेरे घरमें जो भरण-पोषण करनेयोग्य प्राणी हैं, वे भी भोजनके अभावमें प्राण दे देंगे। अब आप अकेले संतुष्ट होइये ।। ७ ।।

एतच्चैवाहमर्हामि भूयश्च बलवृत्रहन् ।
त्रैलोकस्येश्वरो योऽहं परभृत्यत्वमागतः ।। ८ ।।

बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले देवराज! मैं इसी व्यवहारके योग्य हूँ; क्योंकि तीनों लोकोंका शासन करनेमें समर्थ होकर भी मैंने दूसरेकी सेवा स्वीकार की है ।। ८ ।।

त्वयि तिष्ठति देवेश न विष्णुः कारणं मम ।
त्रैलोक्यराज राज्यं हि त्वयि वासव शाश्वतम् ।। ९ ।।

देवेश्वर! त्रिलोकीनाथ! आपके रहते भगवान् विष्णु भी मेरी जीविका रोकनेमें कारण नहीं हो सकते; क्योंकि वासव! तीनों लोकोंके राज्यका भार सदा आपके ही ऊपर है ।। ९ ।।

ममापि दक्षस्य सुता जननी कश्यपः पिता ।
अहमप्युत्सहे लोकान् समन्ताद् वोढुमञ्जसा ।। १० ।।

मेरी माता भी प्रजापति दक्षकी पुत्री हैं। मेरे पिता भी महर्षि कश्यप ही हैं। मैं भी अनायास ही सम्पूर्ण लोकोंका भार वहन कर सकता हूँ ।। १० ।।

असह्यं सर्वभूतानां ममापि विपुलं बलम् ।
मयापि सुमहत् कर्म कृतं दैतेयविग्रहे ।। ११ ।।

मुझमें भी वह विशाल बल है, जिसे समस्त प्राणी एक साथ मिलकर भी सह नहीं सकते। मैंने भी दैत्योंके साथ युद्ध छिड़नेपर महान् पराक्रम प्रकट किया है ।। ११ ।।

श्रुतश्रीः श्रुतसेनश्च विवस्वान् रोचनामुखः।
प्रसृतः कालकाक्षश्च मयापि दितिजा हताः ।। १२ ।।

मैंने भी श्रुतश्री, श्रुतसेन, विवस्वान्, रोचनामुख, प्रसृत और कालकाक्ष नामक दैत्योंको मारा है ।। १२ ।।

यत् तु ध्वजस्थानगतो यत्नात् परिचराम्यहम् ।
वहामि चैवानुजं ते तेन मामवमन्यसे ।। १३ ।।

तथापि मैं जो रथकी ध्वजामें रहकर यत्नपूर्वक आपके छोटे भाई (विष्णु)-की सेवा करता और उनको वहन करता हूँ, इसीसे आप मेरी अवहेलना करते हैं ।।

कोऽन्यो भार सहो ह्यस्ति कोऽन्योऽस्ति बलवत्तरः ।

मया योऽहं विशिष्टः सन् वहामीमं सबान्धवम् ।। १४ ।।

मेरे सिवा दूसरा कौन है, जो भगवान् विष्णुका महान् भार सह सके? कौन मुझसे अधिक बलवान् है? मैं सबसे विशिष्ट शक्तिशाली होकर भी बन्धु-बान्धवोंसहित इन विष्णुभगवान्‌का भार वहन करता हूँ ।। १४ ।।

अवज्ञाय तु यत् तेऽहं भोजनाद् व्यपरोपितः ।
तेन मे गौरवं नष्टं त्वत्तश्चास्माच्च वासव ।। १५ ।।

वासव! आपने मेरी अवज्ञा करके जो मेरा भोजन छीन लिया है, उसके कारण मेरा सारा गौरव नष्ट हो गया तथा इसमें कारण हुए हैं आप और ये श्रीहरि ।।

अदित्यां य इमे जाता बलविक्रमशालिनः ।
त्वमेषां किल सर्वेषां बलेन बलवत्तरः ।। १६ ।।

विष्णो! अदितिके गर्भसे जो ये बल और पराक्रमसे सुशोभित देवता उत्पन्न हुए हैं, इन सबमें बलकी दृष्टिसे अधिक शक्तिशाली आप ही हैं ।। १६ ।।

सोऽहं पक्षैकदेशेन वहामि त्वां गतक्लमः ।
विमृश त्वं शनैस्तात को न्वत्र बलवानिति ।। १७ ।।

तात! आपको मैं अपनी पाँखके एक देशमें बिठाकर बिना किसी थकावटके ढोता रहता हूँ। धीरेसे आप ही विचार करें कि यहाँ कौन सबसे अधिक बलवान् है? ।। १७ ।।

कण्व उवाच

स तस्य वचनं श्रुत्वा खगस्योदर्कदारुणम् ।
अक्षोभ्यं क्षोभयंस्तार्क्ष्यमुवाच रथचक्रभृत् ।। १८ ।।
गरुत्मन् मन्यसेऽऽत्मानं बलवन्तं सुदुर्बलम् ।
अलमस्मत्समक्षं ते स्तोतुमात्मानमण्डज ।। १९ ।।

कण्व मुनि कहते हैं—राजन्! गरुड़की ये बातें भयंकर परिणाम उपस्थित करनेवाली थीं। उन्हें सुनकर रथांगपाणि श्रीविष्णुने किसीसे क्षुब्ध न होनेवाले पक्षिराजको क्षुब्ध करते हुए कहा—‘गरुत्मन्! तुम हो तो अत्यन्त दुर्बल, परंतु अपने-आपको बड़ा भारी बलवान् मानते हो। अण्डज! मेरे सामने फिर कभी अपनी प्रशंसा न करना ।। १८-१९ ।।

त्रैलोक्यमपि मे कृत्स्नमशक्तं देहधारणे ।
अहमेवात्मनाऽऽत्मानं वहामि त्वां च धारये ।। २० ।।

‘सारी त्रिलोकी मिलकर भी मेरे शरीरका भार वहन करनेमें असमर्थ है। मैं ही अपने द्वारा अपने-आपको ढोता हूँ और तुमको भी धारण करता हूँ ।। २० ।।

इमं तावन्ममैकं त्वं बाहुं सव्येतरं वह ।
यद्येनं धारयस्येकं सफलं ते विकत्थितम् ।। २१ ।।

‘अच्छा, पहले तुम मेरी केवल दाहिनी भुजाका भार वहन करो। यदि इस एकको ही धारण कर लोगे तो तुम्हारी यह सारी आत्मप्रशंसा सफल समझी जायगी’ ।। २१ ।।

ततः स भगवांस्तस्य स्कन्धे बाहुं समासजत् ।
निपपात स भारार्तो विह्वलो नष्टचेतनः ।। २२ ।।

इतना कहकर भगवान् विष्णुने गरुड़के कंधेपर अपनी दाहिनी बाँह रख दी। उसके बोझसे पीड़ित एवं विह्वल होकर गरुड़ गिर पड़े। उनकी चेतना भी नष्ट-सी हो गयी ।। २२ ।।

यावान् हि भारः कृत्स्नायाः पृथिव्याः पर्वतैः सह ।
एकस्या देहशाखायास्तावद् भारममन्यत ।। २३ ।।

पर्वतोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीका जितना भार हो सकता है, उतना ही उस एक बाँहका भार है, यह गरुड़को अनुभव हुआ ।। २३ ।।

न त्वेनं पीडयामास बलेन बलवत्तरः ।
ततो हि जीवितं तस्य न व्यनीनशदच्युतः ।। २४ ।।

अत्यन्त बलशाली भगवान् अच्युतने गरुड़को बलपूर्वक दबाया नहीं था; इसीलिये उनके जीवनका नाश नहीं हुआ ।। २४ ।।

व्यात्तास्यः स्रस्तकायश्च विचेता विह्वलः खगः ।
मुमोच पत्राणि तदा गुरुभारप्रपीडितः ।। २५ ।।

उस महान् भारसे अत्यन्त पीड़ित हो गरुड़ने मुँह बा दिया। उनका सारा शरीर शिथिल हो गया। उन्होंने अचेत और विह्वल होकर अपने पंख छोड़ दिये ।। २५ ।।

स विष्णुं शिरसा पक्षी प्रणम्य विनतासुतः ।
विचेता विह्वलो दीनः किंचिद् वचनमब्रवीत् ।। २६ ।।

तदनन्तर अचेत एवं विह्वल हुए विनतापुत्र पक्षिराज गरुड़ने भगवान् विष्णुके चरणोंमें प्रणाम किया और दीनभावसे कुछ कहा— ।। २६ ।।

भगवल्लोँकसारस्य सदृशेन वपुष्मता ।
भुजेन स्वैरमुक्तेन निष्पिष्टोऽस्मि महीतले ।। २७ ।।

‘भगवन्! संसारके मूर्तिमान् सारतत्त्व-सदृश आपकी इस भुजाके द्वारा, जिसे आपने स्वाभाविक ही मेरे ऊपर रख दिया था, मैं पिसकर पृथ्वीपर गिर गया हूँ ।। २७ ।।

क्षन्तुमर्हसि मे देव विह्वलस्याल्पचेतसः ।
बलदाहविदग्धस्य पक्षिणो ध्वजवासिनः ।। २८ ।।

‘देव! मैं आपकी ध्वजामें रहनेवाला एक साधारण पक्षी हूँ। इस समय आपके बल और तेजसे दग्ध होकर व्याकुल और अचेत-सा हो गया हूँ। आप मेरे अपराधको क्षमा करें ।। २८ ।।

न हि ज्ञातं बलं देव मया ते परमं विभो ।

तेन मन्ये ह्यहं वीर्यमात्मनो न समं परैः ।। २९ ।।

'विभो! मुझे आपके महान् बलका पता नहीं था। देव! इसीसे मैं अपने बल और पराक्रमको दूसरोंके समान ही नहीं, उनसे बहुत बढ़-चढ़कर मानता था' ।।

ततश्चक्रे स भगवान् प्रसादं वै गरुत्मतः ।
मैवं भूय इति स्नेहात् तदा चैनमुवाच ह ।। ३० ।।

गरुड़के ऐसा कहनेपर भगवान्ने उनपर कृपादृष्टि की और उस समय स्नेहपूर्वक उनसे कहा—'फिर कभी इस प्रकार घमंड न करना' ।। ३० ।।

पादाङ्गुष्ठेन चिक्षेप सुमुखं गरुडोरसि ।
ततःप्रभृति राजेन्द्र सह सर्पेण वर्तते ।। ३१ ।।

राजेन्द्र! तत्पश्चात् भगवान्ने अपने पैरके अँगूठेसे सुमुख नागको उठाकर गरुड़के वक्षःस्थलपर रख दिया। तभीसे गरुड़ उस सर्पको सदा साथ लिये रहते हैं ।।

एवं विष्णुबलाक्रान्तो गर्वनाशमुपागतः ।
गरुडो बलवान् राजन् वैनतेयो महायशाः ।। ३२ ।।

राजन्! इस प्रकार महायशस्वी बलवान् विनतानन्दन गरुड़ भगवान् विष्णुके बलसे आक्रान्त हो अपना अहंकार छोड़ बैठे ।। ३२ ।।

कण्व उवाच

तथा त्वमपि गान्धारे यावत् पाण्डुसुतान् रणे ।
नासादयसि तान् वीरांस्तावज्जीवसि पुत्रक ।। ३३ ।।

कण्व मुनि कहते हैं—गान्धारीनन्दन वत्स दुर्योधन! इसी तरह तुम भी जबतक रणभूमिमें उन वीर पाण्डवोंको अपने सामने नहीं पाते, तभीतक जीवन धारण करते हो ।। ३३ ।।

भीमः प्रहरतां श्रेष्ठो वायुपुत्रो महाबलः ।
धनंजयश्चेन्द्रसुतो न हन्यातां तु कं रणे ।। ३४ ।।

योद्धाओंमें श्रेष्ठ महाबली भीम वायुके पुत्र हैं। अर्जुन भी इन्द्रके पुत्र हैं। ये दोनों मिलकर युद्धमें किसे नहीं मार डालेंगे? ।। ३४ ।।

विष्णुर्वायुश्च शक्रश्च धर्मस्तौ चाश्विनावुभौ ।
एते देवास्त्वया केन हेतुना वीक्षितुं क्षमाः ।। ३५ ।।

धर्मस्वरूप विष्णु, वायु, इन्द्र और वे दोनों अश्विनीकुमार—इतने देवता तुम्हारे विरुद्ध हैं। तुम किस कारणसे इन देवताओंकी ओर देखनेका भी साहस कर सकते हो? ।। ३५ ।।

तदलं ते विरोधेन शमं गच्छ नृपात्मज ।
वासुदेवेन तीर्थेन कुलं रक्षितुमर्हसि ।। ३६ ।।

अतः राजकुमार! इस विरोधसे तुम्हें कुछ मिलनेवाला नहीं है। पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। भगवान् श्रीकृष्णको सहायक बनाकर इनके द्वारा तुम्हें अपने कुलकी रक्षा करनी चाहिये ।। ३६ ।।

प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य नारदोऽयं महातपाः ।
माहात्म्यस्य तदा विष्णोः सोऽयं चक्रगदाधरः ।। ३७ ।।

इन महातपस्वी नारदजीने उस समय भगवान् विष्णुके माहात्म्यको प्रत्यक्ष देखा था। वे चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णु ही ये 'श्रीकृष्ण' हैं ।।

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनस्तु तच्छ्रुत्वा निःश्वसन् भृकुटीमुखः ।
राधेयमभिसम्प्रेक्ष्य जहास स्वनवत् तदा ।। ३८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कण्वका वह कथन सुनकर दुर्योधनकी भौंहें तन गयीं। वह लम्बी साँस खींचता हुआ राधानन्दन कर्णकी ओर देखकर जोर-जोरसे हँसने लगा ।। ३८ ।।

कदर्थीकृत्य तद् वाक्यमृषेः कण्वस्य दुर्मतिः ।
ऊरुं गजकराकारं ताडयन्निदमब्रवीत् ।। ३९ ।।

उस दुर्बुद्धिने कण्व मुनिके वचनोंकी अवहेलना करके हाथीकी सूँड़के समान चढ़ाव-उतारवाली अपनी मोटी जाँघपर हाथ पीटकर इस प्रकार कहा— ।। ३९ ।।

यथैवेश्वरसृष्टोऽस्मि यद् भावि या च मे गतिः ।
तथा महर्षे वर्तामि किं प्रलापः करिष्यति ।। ४० ।।

'महर्षे! मुझे ईश्वरने जैसा बनाया है, जो होनहार और जैसी मेरी अवस्था है, उसीके अनुसार मैं बर्ताव करता हूँ। आपलोगोंका यह प्रलाप क्या करेगा?' ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरका खोजविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०५ ।।

षडधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका दुर्योधनको समझाते हुए धर्मराजके द्वारा विश्वामित्रजीकी परीक्षा तथा गालवके विश्वामित्रसे गुरुदक्षिणा माँगनेके लिये हठका वर्णन

जनमेजय उवाच

अनर्थे जातनिर्बन्धं परार्थे लोभमोहितम् ।
अनार्यकेष्वभिरतं मरणे कृतनिश्चयम् ।। १ ।।
ज्ञातीनां दुःखकर्तारं बन्धूनां शोकवर्धनम् ।
सुहृदां क्लेशदातारं द्विषतां हर्षवर्धनम् ।। २ ।।
कथं नैनं विमार्गस्थं वारयन्तीह बान्धवाः ।
सौहृदाद् वा सुहृत् स्निग्धो भगवान् वा पितामहः ।। ३ ।।

जनमेजयने कहा—भगवन्! दुर्योधनका अनर्थकारी कार्योंमें ही अधिक आग्रह था। पराये धनके प्रति अधिक लोभ रखनेके कारण वह मोहित हो गया था। दुर्जनोंमें ही उसका अनुराग था। उसने मरनेका ही निश्चय कर लिया था। वह कुटुम्बीजनोंके लिये दुःख-दायक और भाई-बन्धुओंके शोकको बढ़ानेवाला था। सुहृदोंको क्लेश पहुँचाता और शत्रुओंका हर्ष बढ़ाता था। ऐसे कुमार्गपर चलनेवाले इस दुर्योधनको उसके भाई-बन्धु रोकते क्यों नहीं थे? कोई सुहृद्, स्नेही अथवा पितामह भगवान् व्यास उसे सौहार्दवश मना क्यों नहीं करते थे? ।। १—३ ।।

वैशम्पायन उवाच

उक्तं भगवता वाक्यमुक्तं भीष्मेण यत् क्षमम् ।
उक्तं बहुविधं चैव नारदेनापि तच्छृणु ।। ४ ।।

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! भगवान् वेदव्यासने भी दुर्योधनसे उसके हितकी बात कही। भीष्मजीने भी जो उचित कर्तव्य था, वह बताया। इसके सिवा नारदजीने भी नाना प्रकारके उपदेश दिये। वह सब तुम सुनो ।। ४ ।।

नारद उवाच

दुर्लभो वै सुहृच्छ्रोता दुर्लभश्च हितः सुहृत् ।
तिष्ठते हि सुहृद् यत्र न बन्धुस्तत्र तिष्ठते ।। ५ ।।

नारदजीने कहा—अकारण हित चाहनेवाले सुहृद्की बातोंको जो मन लगाकर सुने, ऐसा श्रोता दुर्लभ है। हितैषी सुहृद् भी दुर्लभ ही है; क्योंकि महान् संकटमें सुहृद् ही खड़ा

हो सकता है, वहाँ भाई-बन्धु नहीं ठहर सकते ।। ५ ।।

श्रोतव्यमपि पश्यामि सुहृदां कुरुनन्दन ।

न कर्तव्यश्च निर्बन्धो निर्बन्धो हि सुदारुणः ।। ६ ।।

कुरुनन्दन! मैं देखता हूँ कि तुम्हें अपने सुहृदोंके उपदेशको सुननेकी विशेष आवश्यकता है; अतः तुम्हें किसी एक बातका दुराग्रह नहीं रखना चाहिये। आग्रहका परिणाम बड़ा भयंकर होता है ।। ६ ।।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।

यथा निर्बन्धतः प्राप्तो गालवेन पराजयः ।। ७ ।।

इस विषयमें विज्ञ पुरुष इस पुरातन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि महर्षि गालवने हठ या दुराग्रहके कारण पराजय प्राप्त की थी ।।

विश्वामित्रं तपस्यन्तं धर्मो जिज्ञासया पुरा ।

अभ्यगच्छत् स्वयं भूत्वा वसिष्ठो भगवानृषिः ।। ८ ।।

पहलेकी बात है, साक्षात् धर्मराज महर्षि भगवान् वसिष्ठका रूप धारण करके तपस्यामें लगे हुए विश्वामित्रके पास उनकी परीक्षा लेनेके लिये आये ।। ८ ।।

सप्तर्षीणामन्यतमं वेषमास्थाय भारत ।

बुभुक्षुः क्षुभितो राजन्नाश्रमं कौशिकस्य तु ।। ९ ।।

भारत! धर्म सप्तर्षियोंमेंसे एक (वसिष्ठजी)-का वेष धारण करके भूखसे पीड़ित हो भोजनकी इच्छासे विश्वामित्रके आश्रमपर आये ।। ९ ।।

विश्वामित्रोऽथ सम्भ्रान्तः श्रपयामास वै चरुम् ।

परमान्नस्य यत्नेन न च तं प्रत्यपालयत् ।। १० ।।

विश्वामित्रजीने बड़ी उतावलीके साथ उनके लिये उत्तम भोजन देनेकी इच्छासे यत्नपूर्वक चरुपाक बनाना आरम्भ किया; परंतु ये अतिथिदेवता उनकी प्रतीक्षा न कर सके ।। १० ।।

अन्नं तेन तदा भुक्तमन्यैर्दत्तं तपस्विभिः ।

अथ गृह्यान्नमत्युष्णं विश्वामित्रोऽप्युपागमत् ।। ११ ।।

उन्होंने जब दूसरे तपस्वी मुनियोंका दिया हुआ अन्न खा लिया, तब विश्वामित्रजी भी अत्यन्त उष्ण भोजन लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए ।। ११ ।।

भुक्तं मे तिष्ठ तावत् त्वमित्युक्त्वा भगवान् ययौ ।

विश्वामित्रस्ततो राजन् स्थित एव महाद्युतिः ।। १२ ।।

उस समय भगवान् धर्म यह कहकर कि मैंने भोजन कर लिया, अब तुम रहने दो, वहाँसे चल दिये। राजन्! तब महातेजस्वी विश्वामित्र मुनि वहाँ उसी अवस्थामें खड़े ही रह गये ।। १२ ।।

भक्तं प्रगृह्य मूर्ध्ना वै बाहुभ्यां संशितव्रतः ।

स्थितः स्थाणुरिवाभ्याशे निश्चेष्टो मारुताशनः ।। १३ ।।

कठोर व्रतका पालन करनेवाले विश्वामित्रने दोनों हाथोंसे उस भोजनपात्रको थामकर माथेपर रख लिया और आश्रमके समीप ही ठूँठे पेड़की भाँति वे निश्चेष्ट खड़े रहे। उस अवस्थामें केवल वायु ही उनका आहार था ।। १३ ।।

तस्य शुश्रूषणे यत्नमकरोद् गालवो मुनिः ।
गौरवाद् बहुमानाच्च हार्देन प्रियकाम्यया ।। १४ ।।

उन दिनों उनके प्रति गौरवबुद्धि, विशेष आदर-सम्मानका भाव तथा प्रेम-भक्ति होनेके कारण उनकी प्रसन्नताके लिये गालव मुनि यत्नपूर्वक उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते थे ।। १४ ।।

अथ वर्षशते पूर्णे धर्मः पुनरुपागमत् ।
वासिष्ठं वेषमास्थाय कौशिकं भोजनेप्सया ।। १५ ।।

तदनन्तर सौ वर्ष पूर्ण होनेपर पुनः धर्मदेव वसिष्ठ मुनिका वेष धारण करके भोजनकी इच्छासे विश्वामित्र मुनिके पास आये ।। १५ ।।

स दृष्ट्वा शिरसा भक्तं ध्रियमाणं महर्षिणा ।
तिष्ठता वायुभक्षेण विश्वामित्रेण धीमता ।। १६ ।।
प्रतिगृह्य ततो धर्मस्तथैवोष्णं तथा नवम् ।
भुक्त्वा प्रीतोऽस्मि विप्रर्षे तमुक्त्वा स मुनिर्गतः ।। १७ ।।

उन्होंने देखा कि परम बुद्धिमान् महर्षि विश्वामित्र केवल वायु पीकर रहते हुए सिरपर भोजनपात्र रखे खड़े हैं। यह देखकर धर्मने वह भोजन ले लिया। वह अन्न उसी प्रकार तुरंतकी तैयार की हुई रसोईके समान गरम था। उसे खाकर वे बोले—'ब्रह्मर्षे! मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ।' ऐसा कहकर मुनिवेषधारी धर्मदेव चले गये ।। १६-१७ ।।

क्षत्रभावादपगतो ब्राह्मणत्वमुपागतः ।
धर्मस्य वचनात् प्रीतो विश्वामित्रस्तदाभवत् ।। १८ ।।

क्षत्रियत्वसे ऊँचे उठकर ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए विश्वामित्रको धर्मके वचनसे उस समय बड़ी प्रसन्नता हुई ।। १८ ।।

विश्वामित्रस्तु शिष्यस्य गालवस्य तपस्विनः ।
शुश्रूषया च भक्त्या च प्रीतिमानित्युवाच ह ।। १९ ।।

वे अपने शिष्य तपस्वी गालव मुनिकी सेवा-शुश्रूषा तथा भक्तिसे संतुष्ट होकर बोले — ।। १९ ।।

अनुज्ञातो मया वत्स यथेष्टं गच्छ गालव ।
इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं गालवो मुनिसत्तमम् ।। २० ।।
प्रीतो मधुरया वाचा विश्वामित्रं महाद्युतिम् ।
दक्षिणाः काः प्रयच्छामि भवते गुरुकर्मणि ।। २१ ।।

'वत्स गालव! अब मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, जाओ।' उनके इस प्रकार आदेश देनेपर गालवने प्रसन्नता प्रकट करते हुए मधुर वाणीमें महातेजस्वी मुनिवर विश्वामित्रसे इस प्रकार पूछा—'भगवन्! मैं आपको गुरुदक्षिणाके रूपमें क्या दूँ? ।।

दक्षिणाभिरुपेतं हि कर्म सिद्ध्यति मानद ।
दक्षिणानां हि दाता वै अपवर्गेण युज्यते ।। २२ ।।

'मानद! दक्षिणायुक्त कर्म ही सफल होता है। दक्षिणा देनेवाले पुरुषको ही सिद्धि प्राप्त होती है ।।

स्वर्गे क्रतुफलं तद्धि दक्षिणा शान्तिरुच्यते ।
किमाहरामि गुर्वर्थं ब्रवीतु भगवानिति ।। २३ ।।

'दक्षिणा देनेवाला मनुष्य ही स्वर्गमें यज्ञका फल पाता है। वेदमें दक्षिणाको ही शान्तिप्रद बताया गया है। अतः पूज्य गुरुदेव! बतावें कि मैं क्या गुरुदक्षिणा ले आऊँ? ।। २३ ।।

जानानस्तेन भगवाञ्जितः शुश्रूषणेन वै ।
विश्वामित्रस्तमसकृद् गच्छ गच्छेत्यचोदयत् ।। २४ ।।

गालवकी सेवा-शुश्रूषासे भगवान् विश्वामित्र उनके वशमें हो गये थे। अतः उनके उपकारको समझते हुए विश्वामित्रने उनसे बार-बार कहा—'जाओ, जाओ' ।।

असकृद् गच्छ गच्छेति विश्वामित्रेण भाषितः ।
किं ददानीति बहुशो गालवः प्रत्यभाषत ।। २५ ।।

उनके द्वारा बारंबार 'जाओ, जाओ' की आज्ञा मिलनेपर भी गालवने अनेक बार आग्रहपूर्वक पूछा—'मैं आपको क्या गुरुदक्षिणा दूँ?' ।। २५ ।।

निर्बन्धतस्तु बहुशो गालवस्य तपस्विनः ।
किंचिदागतसंरम्भो विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ।। २६ ।।

तपस्वी गालवके बहुत आग्रह करनेपर विश्वामित्रको कुछ क्रोध आ गया; अतः उन्होंने इस प्रकार कहा— ।।

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
अष्टौ शतानि मे देहि गच्छ गालव मा चिरम् ।। २७ ।।

'गालव! तुम मुझे चन्द्रमाके समान श्वेत रंगवाले ऐसे आठ सौ घोड़े दो, जिनके कान एक ओरसे श्याम वर्णके हों। जाओ, देर न करो' ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते
षडधिकशततमोऽध्यायः ।। १०६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ छठाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०६ ।।

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

गालवकी चिन्ता और गरुड़का आकर उन्हें आश्वासन देना

नारद उवाच

एवमुक्तस्तदा तेन विश्वामित्रेण धीमता ।
नास्ते न शेते नाहारं कुरुते गालवस्तदा ।। १ ।।

नारदजीने कहा—राजन्! उस समय परम बुद्धिमान् विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर गालव मुनि तबसे न कहीं बैठते, न सोते और न भोजन ही करते थे ।। १ ।।

त्वगस्थिभूतो हरिणश्चिन्ताशोकपरायणः ।
शोचमानोऽतिमात्रं स दह्यमानश्च मन्युना ।
गालवो दुःखितो दुःखाद् विललाप सुयोधन ।। २ ।।

वे चिन्ता और शोकमें डूबे रहनेके कारण पाण्डुवर्णके हो गये। उनके शरीरमें अस्थि-चर्ममात्र ही शेष रह गये थे। सुयोधन! अत्यन्त शोक करते और चिन्ताकी आगमें दग्ध होते हुए दुःखी गालव मुनि दुःखसे विलाप करने लगे— ।। २ ।।

कुतः पुष्टानि मित्राणि कुतोऽर्थाः संचयः कुतः ।
हयानां चन्द्रशुभ्राणां शतान्यष्टौ कुतो मम ।। ३ ।।

'मेरे ऐसे मित्र कहाँ, जो धनसे पुष्ट हों? मुझे कहाँसे धन प्राप्त होगा? कहाँ मेरे लिये धन संग्रह करके रखा हुआ है? और कहाँसे मुझे चन्द्रमाके समान श्वेतवर्णवाले आठ सौ घोड़े प्राप्त होंगे? ।। ३ ।।

कुतो मे भोजने श्रद्धा सुखश्रद्धा कुतश्च मे ।
श्रद्धा मे जीवितस्यापि छिन्ना किं जीवितेन मे ।। ४ ।।

'ऐसी दशामें मुझे भोजनकी रुचि कहाँसे हो? सुख भोगनेकी इच्छा कहाँसे हो? और इस जीवनसे भी मुझे क्या प्रयोजन है? इस जीवनको सुरक्षित रखनेके लिये मेरा जो उत्साह था, वह भी नष्ट हो गया ।। ४ ।।

अहं पारे समुद्रस्य पृथिव्या वा परम्परात् ।
गत्वाऽऽत्मानं विमुञ्चामि किं फलं जीवितेन मे ।। ५ ।।

'मैं समुद्रके उस पार अथवा पृथ्वीसे बहुत दूर जाकर इस शरीरको त्याग दूँगा। अब मेरे जीवित रहनेसे क्या लाभ है? ।। ५ ।।

अधनस्याकृतार्थस्य त्यक्तस्य विविधैः फलैः ।
ऋणं धारयमाणस्य कुतः सुखमनीहया ।। ६ ।।

'जो निर्धन है, जिसके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि नहीं हुई है तथा जो नाना प्रकारके शुभ कर्मफलोंसे वंचित होकर केवल ऋणका बोझ ढो रहा है, ऐसे मनुष्यको बिना उद्यमके

जीवन धारण करनेसे क्या सुख होगा? ।। ६ ।।

सुहृदां हि धनं भुक्त्वा कृत्वा प्रणयमीप्सितम् ।
प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवितान्मरणं वरम् ।। ७ ।।

'जो इच्छानुसार प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करके सुहृदोंका धन भोगकर उनका प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ हो, उसके जीनेसे मर जाना ही अच्छा है ।। ७ ।।

प्रतिश्रुत्य करिष्येति कर्तव्यं तदकुर्वतः ।
मिथ्यावचनदग्धस्य इष्टापूर्तं प्रणश्यति ।। ८ ।।

'जो 'करूँगा' ऐसा कहकर किसी कार्यको पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ले, परंतु आगे चलकर उस कर्तव्यका पालन न कर सके, उस असत्यभाषणसे दग्ध हुए पुरुषके 'इष्ट' और 'आपूर्त' सभी नष्ट हो जाते हैं ।। ८ ।।

न रूपमनृतस्यास्ति नानृतस्यास्ति संततिः ।
नानृतस्याधिपत्यं च कुत एव गतिः शुभा ।। ९ ।।

'सत्यसे शून्य मनुष्यका जीवन नहींके बराबर है। मिथ्यावादीको संतति नहीं प्राप्त होती। झूठेको प्रभुत्व नहीं मिलता, फिर उसे शुभ गति कैसे प्राप्त हो सकती है? ।। ९ ।।

कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम् ।
अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ।। १० ।।

'कृतघ्न मनुष्यको सुयश कहाँ? स्थान या प्रतिष्ठा कहाँ और सुख भी कहाँ है? कृतघ्न मानव अविश्वसनीय होता है, उसका कभी उद्धार नहीं होता है ।। १० ।।

न जीवत्यधनः पापः कुतः पापस्य तन्त्रणम् ।
पापो ध्रुवमवाप्नोति विनाशं नाशयन् कृतम् ।। ११ ।।

'निर्धन एवं पापी मनुष्यका जीवन वास्तवमें जीवन नहीं है। पापी मनुष्य अपने कुटुम्बका पोषण भी कैसे कर सकता है? पापात्मा (निर्धन) पुरुष अपने पुण्य कर्मोंका नाश करता हुआ स्वयं भी निश्चय ही नष्ट हो जाता है ।। ११ ।।

सोऽहं पापः कृतघ्नश्च कृपणश्चानृतोऽपि च ।
गुरोर्यः कृतकार्यः संस्तत् करोमि न भाषितम् ।। १२ ।।

'मैं पापी, कृतघ्न, कृपण और मिथ्यावादी हूँ, जिसने गुरुसे तो अपना काम करा लिया, परंतु स्वयं जो उन्हें देनेकी प्रतिज्ञा की है, उसकी पूर्ति नहीं कर पा रहा हूँ ।। १२ ।।

सोऽहं प्राणान् विमोक्ष्यामि कृत्वा यत्नमनुत्तमम् ।
अर्थिता न मया काचित् कृतपूर्वा दिवौकसाम् ।
मानयन्ति च मां सर्वे त्रिदशा यज्ञसंस्तरे ।। १३ ।।

'अतः मैं कोई उत्तम प्रयत्न करके अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगा। मैंने आजसे पहले देवताओंसे भी कभी कोई याचना नहीं की है। सब देवता यज्ञमें मेरा समादर करते हैं ।। १३ ।।

अहं तु विबुधश्रेष्ठं देवं त्रिभुवनेश्वरम् ।
विष्णुं गच्छाम्यहं कृष्णं गतिं गतिमतां वरम् ।। १४ ।।

'अब मैं त्रिभुवनके स्वामी एवं जंगम जीवोंके सर्वश्रेष्ठ आश्रय सुरश्रेष्ठ सच्चिदानन्दघन भगवान् विष्णुकी शरणमें जाता हूँ ।। १४ ।।

भोगा यस्मात् प्रतिष्ठन्ते व्याप्य सर्वान् सुरासुरान् ।
प्रणतो द्रष्टुमिच्छामि कृष्णं योगिनमव्ययम् ।। १५ ।।

'जिनकी कृपासे समस्त देवताओं और असुरोंको भी यथेष्ट भोग प्राप्त होते हैं, उन्हीं अविनाशी योगी भगवान् विष्णुका मैं प्रणतभावसे दर्शन करना चाहता हूँ' ।। १५ ।।

एवमुक्ते सखा तस्य गरुडो विनतात्मजः ।
दर्शयामास तं प्राह संहृष्टः प्रियकाम्यया ।। १६ ।।

गालवके इस प्रकार कहनेपर उनके सखा विनतानन्दन गरुड़ने अत्यन्त प्रसन्न होकर उनका प्रिय करनेकी इच्छासे उन्हें दर्शन दिया और इस प्रकार कहा— ।। १६ ।।

सुहृद् भवान् मम मतः सुहृदां च मतः सुहृत् ।
ईप्सितेनाभिलाषेण योक्तव्यो विभवे सति ।। १७ ।।

'गालव! तुम मेरे प्रिय सुहृद् हो और मेरे सुहृदोंके भी प्रिय सुहृद् हो। सुहृदोंका यह कर्तव्य है कि यदि उनके पास धन-वैभव हो तो वे उसका अपने सुहृद्का अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उपयोग करें ।। १७ ।।

विभवश्चास्ति मे विप्र वासवावरजो द्विज ।
पूर्वमुक्तस्त्वदर्थं च कृतः कामश्च तेन मे ।। १८ ।।

'ब्रह्मन्! मेरे सबसे बड़े वैभव हैं इन्द्रके छोटे भाई भगवान् विष्णु। मैंने पहले तुम्हारे लिये उनसे निवेदन किया था और उन्होंने मेरी इस प्रार्थनाको स्वीकार करके मेरा मनोरथ पूर्ण किया था ।। १८ ।।

स भवानेतु गच्छाव नयिष्ये त्वां यथासुखम् ।
देशं पारं पृथिव्या वा गच्छ गालव मा चिरम् ।। १९ ।।

'अतः आओ' हम दोनों चलें। गालव! मैं तुम्हें सुखपूर्वक ऐसे देशमें पहुँचा दूँगा, जो पृथ्वीके अन्तर्गत तथा समुद्रके उस पार है। चलो, विलम्ब न करो' ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ।। १०७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०७ ।।

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़का गालवसे पूर्व दिशाका वर्णन करना

सुपर्ण उवाच

अनुशिष्टोऽस्मि देवेन गालवाज्ञातयोनिना ।
ब्रूहि कामं तु कां यामि द्रष्टुं प्रथमतो दिशम् ।। १ ।।

गरुड़ने कहा—गालव! अनादिदेव भगवान् विष्णुने मुझे आज्ञा दी है कि मैं तुम्हारी सहायता करूँ। अतः तुम अपनी इच्छाके अनुसार बताओ कि मैं सबसे पहले किस दिशाकी ओर चलूँ? ।। १ ।।

पूर्वां वा दक्षिणां वाहमथवा पश्चिमां दिशम् ।
उत्तरां वा द्विजश्रेष्ठ कुतो गच्छामि गालव ।। २ ।।

द्विजश्रेष्ठ गालव! बोलो, मैं पूर्व, दक्षिण, पश्चिम अथवा उत्तरमेंसे किस दिशाकी ओर चलूँ? ।। २ ।।

यस्यामुदयते पूर्वं सर्वलोकप्रभावनः ।
सविता यत्र संध्यायां साध्यानां वर्तते तपः ।। ३ ।।
यस्यां पूर्वं मतिर्याता यया व्याप्तमिदं जगत् ।
चक्षुषी यत्र धर्मस्य यत्र चैष प्रतिष्ठितः ।। ४ ।।
कृतं यतो हुतं हव्यं सर्पते सर्वतोदिशम् ।
एतद् द्वारं द्विजश्रेष्ठ दिवसस्य तथाध्वनः ।। ५ ।।

विप्रवर! जिस दिशामें सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न एवं प्रभावित करनेवाले भगवान् सूर्य प्रथम उदित होते हैं, जिस दिशामें संध्याके समय साध्यगण तपस्या करते हैं, जिस दिशामें (गायत्रीजपके द्वारा) पहले वह बुद्धि प्राप्त हुई है, जिसने सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है, धर्मके युगल-नेत्रस्वरूप चन्द्रमा और सूर्य पहले जिस दिशामें उदित होते हैं और (प्रायः पूर्वाभिमुख होकर धर्मानुष्ठान किये जानेके कारण) जहाँ धर्म प्रतिष्ठित हुआ है तथा जिस दिशामें पवित्र हविष्यका हवन करनेपर वह आहुति सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल जाती है, वही यह पूर्वदिशा दिन एवं सूर्यमार्गका द्वार है ।।

अत्र पूर्वं प्रसूता वै दाक्षायण्यः प्रजाः स्त्रियः ।
यस्यां दिशि प्रवृद्धाश्च कश्यपस्यात्मसम्भवाः ।। ६ ।।

इसी दिशामें प्रजापति दक्षकी अदिति आदि कन्याओं-ने सबसे पहले प्रजावर्गको उत्पन्न किया था और इसीमें प्रजापति कश्यपकी संतानें वृद्धिको प्राप्त हुई हैं ।। ६ ।।

अदोमूला सुराणां श्रीर्यत्र शक्रोऽभ्यषिच्यत ।

सुरराज्येन विप्रर्षे देवैश्चात्र तपश्चितम् ।। ७ ।।

ब्रह्मर्षे! देवताओंकी लक्ष्मीका मूलस्थान पूर्व दिशा ही है। इसीमें इन्द्रका देवसम्राट्के पदपर प्रथम अभिषेक हुआ है और इसी दिशामें देवताओंने तपस्या की है ।। ७ ।।

एतस्मात् कारणाद् ब्रह्मन् पूर्वेत्येषा दिगुच्यते ।
यस्मात् पूर्वतरे काले पूर्वमेवावृता सुरैः ।। ८ ।।
अत एव च सर्वेषां पूर्वामाशां प्रचक्षते ।

ब्रह्मन्! इन्हीं सब कारणोंसे इस दिशाको 'पूर्वा' कहते हैं; क्योंकि अत्यन्त पूर्वकालमें पहले यही दिशा देवताओंसे आवृत हुई थी, अतएव इसे सबकी आदि दिशा कहते हैं ।। ८ $\frac{१}{२}$ ।।

पूर्वं सर्वाणि कार्याणि दैवानि सुखमीप्सता ।। ९ ।।

सुखकी अभिलाषा रखनेवाले लोगोंको देवसम्बन्धी सारे कार्य पहले इसी दिशामें करने चाहिये ।। ९ ।।

अत्र वेदाञ्जगौ पूर्वं भगवाँल्लोकभावनः ।
अत्रैवोक्ता सवित्राऽऽसीत् सावित्री ब्रह्मवादिषु ।। १० ।।

लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माने पहले इसी दिशामें वेदोंका गान किया था और सविता देवताने ब्रह्मवादी मुनियोंको यहीं सावित्रीमन्त्रका उपदेश किया था ।। १० ।।

अत्र दत्तानि सूर्येण यजूंषि द्विजसत्तम ।
अत्र लब्धवरः सोमः सुरैः क्रतुषु पीयते ।। ११ ।।

द्विजश्रेष्ठ! इसी दिशामें सूर्यदेवने महर्षि याज्ञवल्क्यको शुक्लयजुर्वेदके मन्त्र दिये थे और इसी दिशामें देवतालोग यज्ञोंमें उस सोमरसका पान करते हैं, जो उन्हें वरदानमें प्राप्त हो चुका है ।। ११ ।।

अत्र तृप्ता हुतवहाः स्वां योनिमुपभुञ्जते ।
अत्र पातालमाश्रित्य वरुणः श्रियमाप च ।। १२ ।।

इसी दिशामें यज्ञोंद्वारा तृप्त हुए अग्निगण अपने योनिस्वरूप जलका उपभोग करते हैं। यहीं वरुणने पातालका आश्रय लेकर लक्ष्मीको प्राप्त किया था ।।

अत्र पूर्वं वसिष्ठस्य पौराणस्य द्विजर्षभ ।
सूतिश्चैव प्रतिष्ठा च निधनं च प्रकाशते ।। १३ ।।

द्विजश्रेष्ठ! इसी दिशामें पुरातन महर्षि वसिष्ठकी उत्पत्ति हुई है। यहीं उन्हें प्रतिष्ठा (सप्तर्षियोंमें स्थान)-की प्राप्ति हुई है और इसी दिशामें उन्हें निमिके शापसे देहत्याग करना पड़ा है ।। १३ ।।

ओङ्कारस्यात्र जायन्ते सृतयो दशतीर्दश ।
पिबन्ति मुनयो यत्र हविर्धूमं स्म धूमपाः ।। १४ ।।

इसी दिशामें प्रणव अर्थात् वेदकी सहस्रों शाखाएँ प्रकट हुई हैं और उसीमें धूमपायी महर्षिगण हविष्यके धूमका पान करते हैं ।। १४ ।।

प्रोक्षिता यत्र बहवो वराहाद्या मृगा वने ।

शक्रेण यज्ञभागार्थे दैवतेषु प्रकल्पिताः ।। १५ ।।

इसी दिशामें देवराज इन्द्रने यज्ञभागकी सिद्धिके लिये वनमें जंगली सूअर आदि हिंसक पशुओंको प्रोक्षित करके देवताओंको सौंपा था ।। १५ ।।

अत्राहिताः कृतघ्नाश्च मानुषाश्चासुराश्च ये ।

उदयंस्तान् हि सर्वान् वै क्रोधाद्धन्ति विभावसुः ।। १६ ।।

इस दिशामें उदित होनेवाले भगवान् सूर्य जो दूसरोंका अहित करनेवाले एवं कृतघ्न मनुष्य और असुर होते हैं, उन सबका क्रोधपूर्वक विनाश करते (उनकी आयु क्षीण कर देते) हैं ।। १६ ।।

एतद् द्वारं त्रिलोकस्य स्वर्गस्य च सुखस्य च ।

एष पूर्वो दिशां भागो विशावोऽत्र यदीच्छसि ।। १७ ।।

गालव! यह पूर्व दिग्विभाग ही त्रिलोकीका, स्वर्गका और सुखका भी द्वार है। तुम्हारी इच्छा हो तो हम दोनों इसमें प्रवेश करें ।। १७ ।।

प्रियं कार्यं हि मे तस्य यस्यास्मि वचने स्थितः ।

ब्रूहि गालव यास्यामि शृणु चाप्यपरां दिशम् ।। १८ ।।

मैं जिनकी आज्ञाके अधीन हूँ, उन भगवान् विष्णुका प्रिय कार्य मुझे अवश्य करना है; अतः गालव! बताओ, क्या मैं पूर्व दिशामें चलूँ अथवा दूसरी दिशाका भी वर्णन सुन लो ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०८ ।।

नवाधिकशततमोऽध्यायः

दक्षिणदिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

इयं विवस्वता पूर्वं श्रौतेन विधिना किल ।
गुरवे दक्षिणा दत्ता दक्षिणेत्युच्यते च दिक् ।। १ ।।

गरुड़ कहते हैं—गालव! यह प्रसिद्ध है कि पूर्वकालमें भगवान् सूर्यने वेदोक्त विधिके अनुसार यज्ञ करके आचार्य कश्यपको दक्षिणारूपसे इस दिशाका दान किया था, इसीलिये इसे दक्षिण दिशा कहते हैं ।।

अत्र लोकत्रयस्यास्य पितृपक्षः प्रतिष्ठितः ।
अत्रोष्मपाणां देवानां निवासः श्रूयते द्विज ।। २ ।।

ब्रह्मन्! तीनों लोकोंके पितृगण इसी दिशामें प्रतिष्ठित हैं तथा 'ऊष्मप' नामक देवताओंका निवास भी इसी दिशामें सुना जाता है ।। २ ।।

अत्र विश्वे सदा देवाः पितृभिः सार्धमासते ।
इज्यमानाः स्म लोकेषु सम्प्राप्तास्तुल्यभागताम् ।। ३ ।।

पितरोंके साथ विश्वेदेवगण सदा दक्षिण दिशामें ही वास करते हैं। वे समस्त लोकोंमें पूजित हो श्राद्धमें पितरोंके समान ही भाग प्राप्त करते हैं ।। ३ ।।

एतद् द्वितीयं देवस्य द्वारमाचक्षते द्विज ।
त्रुटिशो लवशश्चापि गण्यते कालनिश्चयः ।। ४ ।।

विप्रवर! विद्वान् पुरुष इस दक्षिण दिशाको धर्म-देवताका दूसरा द्वार कहते हैं। यहीं (चित्रगुप्त आदिके द्वारा) 'त्रुटि' और 'लव' आदि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कालांशों-पर दृष्टि रखते हुए प्राणियोंकी आयुकी निश्चित गणना की जाती है ।। ४ ।।

अत्र देवर्षयो नित्यं पितृलोकर्षयस्तथा ।
तथा राजर्षयः सर्वे निवसन्ति गतव्यथाः ।। ५ ।।

देवर्षि, पितृलोकके ऋषि तथा समस्त राजर्षिगण दुःखरहित हो सदा इसी दिशामें निवास करते हैं ।। ५ ।।

अत्र धर्मश्च सत्यं च कर्म चात्र निगद्यते ।
गतिरेषा द्विजश्रेष्ठ कर्मणामवसायिनाम् ।। ६ ।।

द्विजश्रेष्ठ! इसी दिशामें (रहकर चित्रगुप्त आदिके द्वारा धर्मराजके निकट प्राणियोंके) धर्म, सत्य तथा साधारण कर्मोंके विषयमें कहा जाता है। मृत प्राणी तथा उनके कर्म इसी दिशाका आश्रय लेते हैं ।। ६ ।।

एषा दिक् सा द्विजश्रेष्ठ यां सर्वः प्रतिपद्यते ।

वृता त्वनवबोधेन सुखं तेन न गम्यते ।। ७ ।।

विप्रवर! यह वह दिशा है, जिसमें मृत्युके पश्चात् सभी प्राणियोंको जाना पड़ता है। यह सदा अज्ञानान्धकारसे आवृत रहती है, इसलिये इसमें सुखपूर्वक यात्रा सम्भव नहीं हो पाती है ।। ७ ।।

नैर्ऋतानां सहस्राणि बहून्यत्र द्विजर्षभ ।
सृष्टानि प्रतिकूलानि द्रष्टव्यान्यकृतात्मभिः ।। ८ ।।

द्विजश्रेष्ठ! ब्रह्माजीने इस दिशामें प्रतिकूल स्वभाव एवं आचरणवाले सहस्रों राक्षसोंकी सृष्टि की है, जिनका दर्शन अशुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषोंको ही होता है ।। ८ ।।

अत्र मन्दरकुञ्जेषु विप्रर्षिसदनेषु च ।
गायन्ति गाथा गन्धर्वाश्चित्तबुद्धिहरा द्विज ।। ९ ।।

ब्रह्मन्! इसी दिशामें गन्धर्वगण मन्दराचलके कुंजों और ब्रह्मर्षियोंके आश्रमोंमें मन और बुद्धिको आकर्षित करनेवाली गाथाओंका गान करते हैं ।। ९ ।।

अत्र सामानि गाथाभिः श्रुत्वा गीतानि रैवतः ।
गतदारो गतामात्यो गतराज्यो वनं गतः ।। १० ।।

पूर्वकालमें यहीं राजा रैवत गाथाओंके रूपमें सामगान सुनते-सुनते अपनी स्त्री, मन्त्री तथा राज्यसे भी वियुक्त हो वनमें चले गये थे* ।। १० ।।

अत्र सावर्णिना चैव यवक्रीतात्मजेन च ।
मर्यादा स्थापिता ब्रह्मन् यां सूर्यो नातिवर्तते ।। ११ ।।

ब्रह्मन्! इस दिशामें सावर्णि मनु तथा यवक्रीतके पुत्रने सूर्यकी गतिके लिये मर्यादा (सीमा) स्थापित की थी, जिसका सूर्यदेव कभी उल्लंघन नहीं करते हैं ।।

अत्र राक्षसराजेन पौलस्त्येन महात्मना ।
रावणेन तपश्चीर्त्वा सुरेभ्योऽमरता वृता ।। १२ ।।

पुलस्त्यवंशी राक्षसराज महामना रावणने इसी दिशामें तपस्या करके देवताओंसे अवध्य होनेका वरदान प्राप्त किया था ।। १२ ।।

अत्र वृत्तेन वृत्रोऽपि शक्रशत्रुत्वमीयिवान् ।
अत्र सर्वासवः प्राप्ताः पुनर्गच्छन्ति पञ्चधा ।। १३ ।।

इसी दिशामें घटित हुई घटनाके कारण वृत्रासुर देवराज इन्द्रका शत्रु बन बैठा था। दक्षिण दिशामें ही आकर सबके प्राण पुनः (प्राण-अपान आदिके भेदसे) पाँच भागोंमें बँट जाते हैं (अर्थात् प्राणी नूतन देह धारण करते हैं) ।। १३ ।।

अत्र दुष्कृतकर्माणो नराः पच्यन्ति गालव ।
अत्र वैतरणी नाम नदी वितरणैर्वृता ।। १४ ।।

गालव! इसी दिशामें पापाचारी मनुष्य नरकोंकी आगमें पकाये जाते हैं। दक्षिणमें ही वह वैतरणी नदी है, जो वैतरणी नरकके अधिकारी पापियोंसे घिरी रहती है ।। १४ ।।

अत्र गत्वा सुखस्यान्तं दुःखस्यान्तं प्रपद्यते ।
अत्रावृत्तो दिनकरः सुरसं क्षरते पयः ।। १५ ।।
काष्ठां चासाद्य वासिष्ठीं हिममुत्सृजते पुनः ।

मनुष्य इसी दिशामें जाकर सुख और दुःखके अन्तको प्राप्त होता है। इसी दक्षिण दिशामें लौटनेपर (अर्थात् उत्तरायणके अन्तिम भागमें पहुँचकर दक्षिणायनके आरम्भमें आनेपर जब कि वर्षा ऋतु रहती है,) सूर्यदेव सुस्वादु जलकी वर्षा करते हैं। फिर वसिष्ठ मुनिके द्वारा सेवित उत्तर दिशामें पहुँचकर (अर्थात् उत्तरायणके प्रारम्भमें जब कि शिशिर ऋतु रहती है,) वे ओले गिराते हैं ।। १५$\frac{१}{२}$ ।।

अत्राहं गालव पुरा क्षुधार्तः परिचिन्तयन् ।। १६ ।।
लब्धवान् युध्यमानौ द्वौ बृहन्तौ गजकच्छपौ ।

गालव! पूर्वकालकी बात है, मैं भूखसे पीड़ित होकर भारी चिन्तामें पड़ गया था, परंतु इसी दिशामें आनेपर दो विशाल प्राणी—हाथी और कछुआ मेरे हाथ लग गये, जो आपसमें लड़ रहे थे ।। १६$\frac{१}{२}$ ।।

अत्र चक्रधनुर्नाम सूर्याज्जातो महानृषिः ।। १७ ।।
विदुर्यं कपिलं देवं येनार्ताः सगरात्मजाः ।

सूर्यके समान तेजस्वी महर्षि कर्दमसे उत्पन्न हुए 'चक्रधनु' नामक महर्षि इसी दिशामें रहते थे, जिन्हें सब लोग 'कपिलदेव'के नामसे जानते हैं। उन्होंने ही सगरके पुत्रोंको भस्म कर दिया था ।। १७$\frac{१}{२}$ ।।

अत्र सिद्धाः शिवा नाम ब्राह्मणा वेदपारगाः ।। १८ ।।
अधीत्य सकलान् वेदाल्लँभिरे मोक्षमक्षयम् ।

इसी दिशामें 'शिव' नामसे प्रसिद्ध कुछ सिद्ध ब्राह्मण रहते थे, जो वेदोंके पारंगत पण्डित थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके (तत्त्वज्ञानद्वारा) अक्षय मोक्ष प्राप्त कर लिया ।। १८$\frac{१}{२}$ ।।

अत्र भोगवती नाम पुरी वासुकिपालिता ।। १९ ।।
तक्षकेण च नागेन तथैवैरावतेन च ।

दक्षिणमें ही वासुकिद्वारा पालित तथा तक्षक एवं ऐरावत नागद्वारा सुरक्षित भोगवती नामक पुरी है ।।

अत्र निर्याणकालेऽपि तमः सम्प्राप्यते महत् ।। २० ।।
अभेद्यं भास्करेणापि स्वयं वा कृष्णवर्त्मना ।

मृत्युके पश्चात् इस दिशामें जानेवाले प्राणीको ऐसे घोर अन्धकारका सामना करना पड़ता है, जो साक्षात् अग्नि एवं सूर्यके लिये भी अभेद्य है ।। २०$\frac{१}{२}$ ।।

एष तस्यापि ते मार्गः परिचार्यस्य गालव ।
ब्रूहि मे यदि गन्तव्यं प्रतीचीं शृणु चापराम् ।। २१ ।।

गालव! तुम मेरे द्वारा परिचर्या पाने (सेवा ग्रहण करने)-के योग्य हो, अतः तुम्हें यह दक्षिण मार्ग बताया है; यदि इस दिशामें चलना हो तो मुझसे कहो अथवा अब तीसरी पश्चिम दिशाका वर्णन सुनो ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते नवाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०९ ।।

---

* एक समय राजा रैवत अपनी पुत्रीके साथ उसके लिये वरका अनुसंधान करने ब्रह्माजीके पास गये थे। वहाँसे लौटते समय उन्होंने मन्दराचलके पुण्य प्रदेशोंमें गन्धर्वोंका सामगान सुना और कुछ देर ठहर गये। वहाँका थोड़ा-सा भी समय मनुष्यलोकके महान् कालके बराबर होता है। राजा जब लौटकर राजधानीमें आये; तब सत्ययुग और त्रेता बीतकर द्वापरका अन्तिम भाग व्यतीत हो रहा था। मन्त्री और परिवारके सभी लोग कालके गालमें जा चुके थे। उन दिनों उनकी राजधानी कुशस्थलीके स्थानपर दिव्य द्वारकापुरीका निर्माण हो चुका था। राजाने अपनी पुत्री रेवतीका विवाह बलरामजीसे कर दिया और स्वयं वे वनमें तपस्या करनेके लिये चले गये।

दशाधिकशततमोऽध्यायः

पश्चिमदिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

इयं दिग् दयिता राज्ञो वरुणस्य तु गोपतेः ।
सदा सलिलराजस्य प्रतिष्ठा चादिरेव च ।। १ ।।

गरुड़ कहते हैं—गालव! यह जो सामनेकी दिशा है, जलके स्वामी दिक्पाल राजा वरुणको सदा ही अत्यन्त प्रिय है। यही उनका आश्रय और उत्पत्ति-स्थान है ।। १ ।।

अत्र पश्चादहः सूर्यो विसर्जयति गाः स्वयम् ।
पश्चिमेत्यभिविख्याता दिगियं द्विजसत्तम ।। २ ।।

द्विजश्रेष्ठ! दिनके पश्चात् सूर्यदेव इसी दिशामें स्वयं अपनी किरणोंका विसर्जन करते हैं, इसलिये यह 'पश्चिम' के नामसे विख्यात है ।। २ ।।

यादसामत्र राज्येन सलिलस्य च गुप्तये ।
कश्यपो भगवान् देवो वरुणं स्माभ्यषेचयत् ।। ३ ।।

पूर्वकालमें भगवान् कश्यपदेवने जल-जन्तुओंका आधिपत्य और जलकी रक्षा करनेके लिये इसी दिशामें वरुणका अभिषेक किया था ।। ३ ।।

अत्र पीत्वा समस्तान् वै वरुणस्य रसांस्तु षट् ।
जायते तरुणः सोमः शुक्लस्यादौ तमिस्रहा ।। ४ ।।

अन्धकारका नाश करनेवाले चन्द्रमा वरुणके निकट रहकर छः प्रकारके सम्पूर्ण रसोंका पान करके शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको इसी दिशामें नूतनताको प्राप्त होकर उदित होते हैं ।। ४ ।।

अत्र पश्चात् कृता दैत्या वायुना संयतास्तदा ।
निःश्वसन्तो महावातैरर्दिताः सुषुपुर्द्विज ।। ५ ।।

ब्रह्मन्! पूर्वकालमें वायुदेवने अपने महान् वेगसे यहाँ युद्धमें दैत्योंको पराङ्मुख, आबद्ध और पीड़ित किया था, जिससे वे लंबी साँस छोड़ते हुए धराशायी हो गये थे ।।

अत्र सूर्यं प्रणयिनं प्रतिगृह्णाति पर्वतः ।
अस्तो नाम यतः संध्या पश्चिमा प्रतिसर्पति ।। ६ ।।

इसी दिशामें अस्ताचल है, जो अपने प्रीतिपात्र सूर्यदेवको प्रतिदिन ग्रहण करता है। यहींसे पश्चिम संध्याका प्रसार होता है ।। ६ ।।

अतो रात्रिश्च निद्रा च निर्गता दिवसक्षये ।
जायते जीवलोकस्य हर्तुमर्धमिवायुषः ।। ७ ।।

इसी दिशासे दिनके अन्तमें मानो जीव-जगत्‌की आधी आयु हर लेनेके लिये रात्रि एवं निद्राका प्राकट्य होता है ।। ७ ।।

अत्र देवीं दितिं सुप्तामात्मप्रसवधारिणीम् ।
विगर्भामकरोच्छक्रो यत्र जातो मरुद्गणः ।। ८ ।।

इसी दिशामें देवराज इन्द्रने सोयी हुई गर्भवती दितिदेवीके (उदरमें प्रवेश करके उसके) गर्भका उच्छेद किया था, जिससे मरुद्‌गणोंकी उत्पत्ति हुई ।। ८ ।।

अत्र मूलं हिमवतो मन्दरं याति शाश्वतम् ।
अपि वर्षसहस्रेण न चास्यान्तोऽधिगम्यते ।। ९ ।।

इसी दिशामें हिमालयका मूलभाग सदा मन्दराचलतक फैलकर उसका स्पर्श करता है। सहस्रों वर्षोंमें भी इसका अन्त पाना असम्भव है ।। ९ ।।

अत्र काञ्चनशैलस्य काञ्चनाम्बुरुहस्य च ।
उदधेस्तीरमासाद्य सुरभिः क्षरते पयः ।। १० ।।

इसी दिशामें सुवर्णमय पर्वत मन्दराचल तथा स्वर्णमय कमलोंसे सुशोभित क्षीरसागरके तटपर पहुँचकर सुरभिदेवी अपने दूधका निर्झर बहाती हैं ।। १० ।।

अत्र मध्ये समुद्रस्य कबन्धः प्रतिदृश्यते ।
स्वर्भानोः सूर्यकल्पस्य सोमसूर्यौ जिघांसतः ।। ११ ।।

पश्चिमदिशामें ही समुद्रके भीतर सूर्यके समान तेजस्वी उस राहुका कबन्ध (धड़) दिखायी देता है, जो सूर्य और चन्द्रमाको मार डालनेकी इच्छा रखता है ।। ११ ।।

सुवर्णशिरसोऽप्यत्र हरिरोम्णः प्रगायतः ।
अदृश्यस्याप्रमेयस्य श्रूयते विपुलो ध्वनिः ।। १२ ।।

इसी दिशामें पिंगलवर्णके केशोंसे सुशोभित, अप्रमेय प्रभावशाली एवं अदृश्यमूर्ति मुनिवर सुवर्णशिरा सामगान करते हैं। उनके उस गीतकी विपुल ध्वनि स्पष्ट सुनायी देती है ।। १२ ।।

अत्र ध्वजवती नाम कुमारी हरिमेधसः ।
आकाशे तिष्ठ तिष्ठेति तस्थौ सूर्यस्य शासनात् ।। १३ ।।

इसी दिशामें हरिमेधा मुनिकी कुमारी कन्या ध्वजवती निवास करती है, जो सूर्यदेवकी 'ठहरो', 'ठहरो' इस आज्ञासे आकाशमें स्थित है ।। १३ ।।

अत्र वायुस्तथा वह्निरापः खं चापि गालव ।
आह्निकं चैव नैशं च दुःखं स्पर्शं विमुञ्चति ।। १४ ।।

गालव! वायु, अग्नि, जल और आकाश—ये सब इस दिशामें रात्रि और दिनके दुःखदायी स्पर्शका परित्याग करते हैं (अर्थात् यहाँ इनका स्पर्श सदा सुखद ही होता है) ।। १४ ।।

अतःप्रभृति सूर्यस्य तिर्यगावर्तते गतिः ।

अत्र ज्योतींषि सर्वाणि विशन्त्यादित्यमण्डलम् ।। १५ ।।

इसी दिशासे सूर्यदेव तिरछी गतिसे चक्कर लगाना आरम्भ करते हैं। यहीं सम्पूर्ण ज्योतियाँ सूर्यमण्डलमें प्रवेश करती हैं ।। १५ ।।

अष्टाविंशतिरात्रं च चङ्क्रम्य सह भानुना ।
निष्पतन्ति पुनः सूर्यात् सोमसंयोगयोगतः ।। १६ ।।

अभिजित्सहित अट्ठाईस नक्षत्रोंमेंसे प्रत्येक अट्ठाईसवें दिन सूर्यके साथ विचरण करके अमावस्याके बाद फिर सूर्यमण्डलसे पृथक् हो जाता है ।। १६ ।।

अत्र नित्यं स्रवन्तीनां प्रभवः सागरोदयः ।
अत्र लोकत्रयस्यापस्तिष्ठन्ति वरुणालये ।। १७ ।।

इसी दिशासे उन अधिकांश नदियोंका प्राकट्य हुआ है, जिनके जलसे समुद्रकी पूर्ति होती रहती है। यहींके वरुणालयमें त्रिभुवनके लिये उपयोगी जलराशि संचित है ।। १७ ।।

अत्र पन्नगराजस्याप्यनन्तस्य निवेशनम् ।
अनादिनिधनस्यात्र विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ।। १८ ।।

यहीं नागराज अनन्तका निवास तथा आदि-अन्तसे रहित भगवान् विष्णुका सर्वोत्कृष्ट स्थान है ।।

अत्रानलसखस्यापि पवनस्य निवेशनम् ।
महर्षेः कश्यपस्यात्र मारीचस्य निवेशनम् ।। १९ ।।

इसी दिशामें अग्निदेवके सखा वायुदेवका भवन तथा मरीचिनन्दन महर्षि कश्यपका आश्रम है ।। १९ ।।

एष ते पश्चिमो मार्गो दिग्द्वारेण प्रकीर्तितः ।
ब्रूहि गालव गच्छावो बुद्धिः का द्विजसत्तम ।। २० ।।

द्विजश्रेष्ठ गालव! इस प्रकार मैंने तुम्हें संक्षेपसे पश्चिमका मार्ग बताया है। अब बताओ, तुम्हारा क्या विचार है? हम दोनों किस दिशाकी ओर चलें? ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते दशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११० ।।

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

उत्तर दिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

यस्मादुत्तार्यते पापाद् यस्मान्निःश्रेयसोऽश्नुते ।
अस्मादुत्तारणबलादुत्तरेत्युच्यते द्विज ।। १ ।।

गरुड़ कहते हैं—गालव! इस मार्गसे जानेपर मनुष्यका पापसे उद्धार हो जाता है और वह कल्याणमय स्वर्गीय सुखोंका उपभोग करता है; अतः इस उत्तारण (संसारसागरसे पार उतारने)-के बलसे इस दिशाको उत्तरदिशा कहते हैं ।। १ ।।

उत्तरस्य हिरण्यस्य परिवापश्च गालव ।
मार्गः पश्चिमपूर्वाभ्यां दिग्भ्यां वै मध्यमः स्मृतः ।। २ ।।

गालव! यह उत्तर दिशा उत्कृष्ट सुवर्ण आदि निधियोंकी अधिष्ठान है (इसलिये भी इसका नाम उत्तर है)। यह उत्तर मार्ग पश्चिम और पूर्व दिशाओंका मध्यवर्ती बताया गया है ।। २ ।।

अस्यां दिशि वरिष्ठायामुत्तरायां द्विजर्षभ ।
नासौम्यो नाविधेयात्मा नाधर्मो वसते जनः ।। ३ ।।

द्विजश्रेष्ठ! इस गौरवशालिनी दिशामें ऐसे लोगोंका वास नहीं है, जो सौम्य स्वभावके न हों, जिन्होंने अपने मनको वशमें न किया हो तथा जो धर्मका पालन न करते हों ।। ३ ।।

अत्र नारायणः कृष्णो जिष्णुश्चैव नरोत्तमः ।
बदर्यामाश्रमपदे तथा ब्रह्मा च शाश्वतः ।। ४ ।।

इसी दिशामें बदरिकाश्रमतीर्थ है, जहाँ सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीनारायण, विजयशील नरश्रेष्ठ नर और सनातन ब्रह्माजी निवास करते हैं ।। ४ ।।

अत्र वै हिमवत्पृष्ठे नित्यमास्ते महेश्वरः ।
प्रकृत्या पुरुषः सार्धं युगान्ताग्निसमप्रभः ।। ५ ।।

उत्तरमें ही हिमालयके शिखरपर प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी अन्तर्यामी भगवान् महेश्वर भगवती उमाके साथ नित्य निवास करते हैं ।। ५ ।।

न स दृश्यो मुनिगणैस्तथा देवैः सवासवैः ।
गन्धर्वयक्षसिद्धैर्वा नरनारायणादृते ।। ६ ।।

वे भगवान् नर और नारायणके सिवा और किसीकी दृष्टिमें नहीं आते। समस्त मुनिगण, गन्धर्व, यक्ष, सिद्ध अथवा देवताओंसहित इन्द्र भी उनका दर्शन नहीं कर पाते हैं ।। ६ ।।

अत्र विष्णुः सहस्राक्षः सहस्रचरणोऽव्ययः ।
सहस्रशिरसः श्रीमानेकः पश्यति मायया ।। ७ ।।

यहाँ सहस्रों नेत्रों, सहस्रों चरणों और सहस्रों मस्तकोंवाले एकमात्र अविनाशी श्रीमान् भगवान् विष्णु ही उन मायाविशिष्ट महेश्वरका साक्षात्कार करते हैं ।।

अत्र राज्येन विप्राणां चन्द्रमाश्चाभ्यषिच्यत ।
अत्र गङ्गां महादेवः पतन्तीं गगनाच्च्युताम् ।। ८ ।।
प्रतिगृह्य ददौ लोके मानुषे ब्रह्मवित्तम ।

उत्तर दिशामें ही चन्द्रमाका द्विजराजके पदपर अभिषेक हुआ था। वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ गालव! यहीं आकाशसे गिरती हुई गंगाको महादेवजीने अपने मस्तकपर धारण किया और उन्हें मनुष्यलोकमें छोड़ दिया ।।

अत्र देव्या तपस्तप्तं महेश्वरपरीप्सया ।। ९ ।।
अत्र कामश्च रोषश्च शैलश्चोमा च सम्बभुः ।

यहीं पार्वतीदेवीने भगवान् महेश्वरको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये कठोर तपस्या की थी और इसी दिशामें महादेवजीको मोहित करनेके लिये काम प्रकट हुआ। फिर उसके ऊपर भगवान् शंकरका क्रोध हुआ। उस अवसरपर गिरिराज हिमालय और उमा भी वहाँ विद्यमान थीं (इस प्रकार ये सब लोग वहाँ एक ही समयमें प्रकाशित हुए) ।। ९ १/२ ।।

अत्र राक्षसयक्षाणां गन्धर्वाणां च गालव ।। १० ।।
आधिपत्येन कैलासे धनदोऽप्यभिषेचितः ।
अत्र चैत्ररथं रम्यमत्र वैखानसाश्रमः ।। ११ ।।

गालव! इसी दिशामें कैलास पर्वतपर राक्षस, यक्ष और गन्धर्वोंका आधिपत्य करनेके लिये धनदाता कुबेरका अभिषेक हुआ था। उत्तर दिशामें ही रमणीय चैत्ररथवन और वैखानस ऋषियोंका आश्रम है ।। १०-११ ।।

अत्र मन्दाकिनी चैव मन्दरश्च द्विजर्षभ ।
अत्र सौगन्धिकवनं नैर्ऋतैरभिरक्ष्यते ।। १२ ।।

द्विजश्रेष्ठ! यहीं मन्दाकिनी नदी और मन्दराचल हैं। इसी दिशामें राक्षसगण सौगन्धिकवनकी रक्षा करते हैं ।। १२ ।।

शाद्वलं कदलीस्कन्धमत्र संतानका नगाः ।
अत्र संयमनित्यानां सिद्धानां स्वैरचारिणाम् ।। १३ ।।
विमानान्यनुरूपाणि कामभोग्यानि गालव ।

यहीं हरी-हरी घासोंसे सुशोभित कदलीवन है और यहीं कल्पवृक्ष शोभा पाते हैं। गालव! इसी दिशामें सदा संयम-नियमका पालन करनेवाले स्वच्छन्दचारी सिद्धोंके इच्छानुसार भोगोंसे सम्पन्न एवं मनोनुकूल विमान विचरते हैं ।। १३ १/२ ।।

अत्र ते ऋषयः सप्त देवी चारुन्धती तथा ।। १४ ।।
अत्र तिष्ठति वै स्वातिरत्रास्या उदयः स्मृतः ।

इसी दिशामें अरुन्धतीदेवी और सप्तर्षि प्रकाशित होते हैं। इसीमें स्वाती नक्षत्रका निवास है और यहीं उसका उदय होता है ।। १४½ ।।

अत्र यज्ञं समासाद्य ध्रुवं स्थाता पितामहः ।। १५ ।।

ज्योतींषि चन्द्रसूर्यौ च परिवर्तन्ति नित्यशः ।

इसी दिशामें ब्रह्माजी यज्ञानुष्ठानमें प्रवृत्त होकर नियमितरूपसे निवास करते हैं। नक्षत्र, चन्द्रमा तथा सूर्य भी सदा इसीमें परिभ्रमण करते हैं ।। १५½ ।।

अत्र गङ्गामहाद्वारं रक्षन्ति द्विजसत्तम ।। १६ ।।

धामा नाम महात्मानो मुनयः सत्यवादिनः ।

न तेषां ज्ञायते मूर्तिर्नाकृतिर्न तपश्चितम् ।। १७ ।।

परिवर्तसहस्राणि कामभोज्यानि गालव ।

द्विजश्रेष्ठ! इसी दिशामें धाम नामसे प्रसिद्ध सत्यवादी महात्मा मुनि श्रीगंगामहाद्वारकी रक्षा करते हैं। उनकी मूर्ति, आकृति तथा संचित तपस्याका परिमाण किसीको ज्ञात नहीं होता है। गालव! वे सहस्रों युगान्तकालतककी आयु इच्छानुसार भोगते हैं ।।

यथा यथा प्रविशति तस्मात् परतरं नरः ।। १८ ।।

तथा तथा द्विजश्रेष्ठ प्रविलीयति गालव ।

नैतत् केनचिदन्येन गतपूर्वं द्विजर्षभ ।। १९ ।।

ऋते नारायणं देवं नरं वा जिष्णुमव्ययम् ।

अत्र कैलासमित्युक्तं स्थानमैलविलस्य तत् ।। २० ।।

द्विजश्रेष्ठ! मनुष्य ज्यों-ज्यों गंगामहाद्वारसे आगे बढ़ता है, वैसे-ही-वैसे वहाँकी हिमराशिमें गलता जाता है। विप्रवर गालव! साक्षात् भगवान् नारायण तथा विजयशील अविनाशी महात्मा नरको छोड़कर दूसरा कोई मनुष्य पहले कभी गंगामहाद्वारसे आगे नहीं गया है। इसी दिशामें कैलासपर्वत है, जो कुबेरका स्थान बताया गया है ।। १८—२० ।।

अत्र विद्युत्प्रभा नाम जज्ञिरेऽप्सरसो दश ।

अत्र विष्णुपदं नाम क्रमता विष्णुना कृतम् ।। २१ ।।

त्रिलोकविक्रमे ब्रह्मन्नुत्तरां दिशमाश्रितम् ।

अत्र राज्ञा मरुत्तेन यज्ञेनेष्टं द्विजोत्तम ।। २२ ।।

उशीरबीजे विप्रर्षे यत्र जाम्बूनदं सरः ।

यहीं विद्युत्प्रभा नामसे प्रसिद्ध दस अप्सराएँ उत्पन्न हुई थीं। ब्रह्मन्! त्रिलोकीको नापते समय भगवान् विष्णुने इसी दिशामें अपना चरण रखा था। उत्तर दिशामें भगवान् विष्णुका वह चरणचिह्न (हरिकी पैंड़ी) आज भी मौजूद है। द्विजश्रेष्ठ! ब्रह्मर्षे! उत्तर-दिशाके ही उशीरबीज नामक स्थानमें, जहाँ सुवर्णमय सरोवर है, राजा मरुत्तने यज्ञ किया था ।। २१-२२½ ।।

जीमूतस्यात्र विप्रर्षेरुपतस्थे महात्मनः ।। २३ ।।

साक्षाद्धैमवतः पुण्यो विमलः कनकाकरः ।

इसी दिशामें ब्रह्मर्षि महात्मा जीमूतके समक्ष हिमालयकी पवित्र एवं निर्मल स्वर्णनिधि (सोनेकी खान) प्रकट हुई थी ।। २३ १/२ ।।

ब्राह्मणेषु च यत् कृत्स्नं स्वन्तं कृत्वा धनं महत् ।। २४ ।।

वव्रे धनं महर्षिः स जैमूतं तद् धनं ततः ।

उस सम्पूर्ण विशाल धनराशिको उन्होंने ब्राह्मणोंमें बाँटकर उसका सदुपयोग किया और ब्राह्मणोंसे यह वर माँगा कि यह धन मेरे नामसे प्रसिद्ध हो। इस कारण वह धन 'जैमूत' नामसे प्रसिद्ध हुआ ।। २४ १/२ ।।

अत्र नित्यं दिशाम्पालाः सायम्प्रातर्द्विजर्षभ ।। २५ ।।

कस्य कार्यं किमिति वै परिक्रोशन्ति गालव ।

विप्रवर गालव! यहाँ प्रतिदिन सबेरे और संध्याके समय सभी दिक्पाल एकत्र हो उच्च स्वरसे यह पूछते हैं कि किसको क्या काम है? ।। २५ १/२ ।।

एवमेषा द्विजश्रेष्ठ गुणैरन्यैर्दिगुत्तरा ।। २६ ।।

उत्तरेति परिख्याता सर्वकर्मसु चोत्तरा ।

द्विजश्रेष्ठ! इन सब कारणोंसे तथा अन्यान्य गुणोंके कारण यह दिशा उत्कृष्ट है और समस्त शुभ कर्मोंके लिये भी यही उत्तम मानी गयी है। इसलिये इसे उत्तर कहते हैं ।। २६ १/२ ।।

एता विस्तरशस्तात तव संकीर्तिता दिशः ।। २७ ।।

चतस्रः क्रमयोगेन कामाशां गन्तुमिच्छसि ।

तात! इस प्रकार मैंने क्रमशः चारों दिशाओंका तुम्हारे सामने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कहो, किस दिशामें चलना चाहते हो? ।। २७ १/२ ।।

उद्यतोऽहं द्विजश्रेष्ठ तव दर्शयितुं दिशः ।

पृथिवीं चाखिलां ब्रह्मंस्तस्मादारोह मां द्विज ।। २८ ।।

द्विजश्रेष्ठ! मैं तुम्हें सम्पूर्ण पृथ्वी तथा समस्त दिशाओंका दर्शन करानेके लिये उद्यत हूँ; अतः तुम मेरी पीठपर बैठ जाओ ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ।। १११ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १११ ।।

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़की पीठपर बैठकर पूर्व दिशाकी ओर जाते हुए गालवका उनके वेगसे व्याकुल होना

गालव उवाच

गरुत्मन् भुजगेन्द्रारे सुपर्ण विनतात्मज ।
नय मां तार्क्ष्य पूर्वेण यत्र धर्मस्य चक्षुषी ।। १ ।।

गालवने कहा—गरुत्मन्! भुजगराजशत्रो! सुपर्ण! विनतानन्दन! तार्क्ष्य! तुम मुझे पूर्व दिशाकी ओर ले चलो, जहाँ धर्मके नेत्रस्वरूप सूर्य और चन्द्रमा प्रकाशित होते हैं ।। १ ।।

पूर्वमेतां दिशं गच्छ या पूर्वं परिकीर्तिता ।
देवतानां हि सांनिध्यमत्र कीर्तितवानसि ।। २ ।।
अत्र सत्यं च धर्मश्च त्वया सम्यक् प्रकीर्तितः ।
इच्छेयं तु समागन्तुं समस्तैर्देवतैरहम् ।
भूयश्च तान् सुरान् द्रष्टुमिच्छेयमरुणानुज ।। ३ ।।

जिस दिशाका तुमने सबसे पहले वर्णन किया है, उसी दिशाकी ओर पहले चलो; क्योंकि उस दिशामें तुमने देवताओंका सांनिध्य बताया है तथा वहीं सत्य और धर्मकी स्थितिका भी भलीभाँति प्रतिपादन किया है। अरुणके छोटे भाई गरुड़! मैं सम्पूर्ण देवताओंसे मिलना और पुनः उन सबका दर्शन करना चाहता हूँ ।।

नारद उवाच

तमाह विनतासूनुरारोहस्वेति वै द्विजम् ।
आरुरोहाथ स मुनिर्गरुडं गालवस्तदा ।। ४ ।।

नारदजी कहते हैं—तब विनतानन्दन गरुड़ने विप्रवर गालवसे कहा—'तुम मेरे ऊपर चढ़ जाओ।' तब गालव मुनि गरुड़की पीठपर जा बैठे ।। ४ ।।

गालव उवाच

क्रममाणस्य ते रूपं दृश्यते पन्नगाशन ।
भास्करस्येव पूर्वाह्णे सहस्रांशोर्विवस्वतः ।। ५ ।।

गालवने कहा—सर्वभोजी गरुड़! पूर्वाह्णकालमें सहस्र किरणोंसे सुशोभित भुवनभास्कर सूर्यका स्वरूप जैसा दिखायी देता है, आकाशमें उड़ते समय तुम्हारा स्वरूप भी वैसा ही दृष्टिगोचर होता है ।। ५ ।।

पक्षवातप्रणुन्नानां वृक्षाणामनुगामिनाम् ।
प्रस्थितानामिव समं पश्यामीह गतिं खग ।। ६ ।।

खेचर! तुम्हारे पंखोंकी हवासे उखड़कर ये वृक्ष पीछे-पीछे चले आ रहे हैं। मैं इनकी भी ऐसी तीव्र गति देख रहा हूँ, मानो ये भी हमलोगोंके साथ चलनेके लिये प्रस्थित हुए हों ।। ६ ।।

ससागरवनामुर्वीं सशैलवनकाननाम् ।
आकर्षन्निव चाभासि पक्षवातेन खेचर ।। ७ ।।

आकाशचारी गरुड़! तुम अपने पंखोंके वेगसे उठी हुई वायुद्वारा समुद्रकी जलराशि, पर्वत, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीको अपनी ओर खींचते-से जान पड़ते हो ।। ७ ।।

समीननागनक्रं च खमिवारोप्यते जलम् ।
वायुना चैव महता पक्षवातेन चानिशम् ।। ८ ।।

पाँखोंके हिलानेसे निरन्तर उठती हुई प्रचण्ड वायुके वेगसे मत्स्य, जलहस्ती तथा मगरोंसहित समुद्रका जल तुम्हारे द्वारा मानो आकाशमें उछाल दिया जाता है ।। ८ ।।

तुल्यरूपाननान् मत्स्यांस्तथा तिमितिमिंगिलान् ।
नागाश्वनरवक्त्रांश्च पश्याम्युन्मथितानिव ।। ९ ।।

जिनके आकार और मुख एक-से हैं ऐसे मत्स्योंको, तिमि और तिमिंगिलोंको तथा हाथी, घोड़े और मनुष्योंके समान मुखवाले जल-जन्तुओंको मैं उन्मथित हुए-से देखता हूँ ।। ९ ।।

महार्णवस्य च रवैः श्रोत्रे मे बधिरे कृते ।
न शृणोमि न पश्यामि नात्मनो वेद्मि कारणम् ।। १० ।।

महासागरकी इन भीषण गर्जनाओंने मेरे कान बहरे कर दिये हैं। मैं न तो सुन पाता हूँ, न देख पाता हूँ और न अपने बचावका कोई उपाय ही समझ पाता हूँ ।। १० ।।

शनैः स तु भवान् यातु ब्रह्मवध्यामनुस्मरन् ।
न दृश्यते रविस्तात न दिशो न च खं खग ।। ११ ।।

तात गरुड़! तुमसे कहीं ब्रह्महत्या न हो जाय, इसका ध्यान रखते हुए धीरे-धीरे चलो। मुझे इस समय न तो सूर्य दिखायी देते हैं, न दिशाएँ सूझती हैं और न आकाश ही दृष्टिगोचर होता है ।। ११ ।।

तम एव तु पश्यामि शरीरं ते न लक्षये ।
मणीव जात्यौ पश्यामि चक्षुषी तेऽहमण्डज ।। १२ ।।

मुझे केवल अन्धकार ही दिखायी देता है। मैं तुम्हारे शरीरको नहीं देख पाता हूँ। अण्डज! तुम्हारी दोनों आँखें मुझे उत्तम जातिकी दो मणियोंके समान चमकती दिखायी देती हैं ।। १२ ।।

शरीरं तु न पश्यामि तव चैवात्मनश्च ह ।
पदे पदे तु पश्यामि शरीरादग्निमुत्थितम् ।। १३ ।।

मैं न तो तुम्हारे शरीरको देखता हूँ और न अपने शरीरको। मुझे पग-पगपर तुम्हारे अंगोंसे आगकी लपटें उठती दिखायी देती हैं ।। १३ ।।

स मे निर्वाप्य सहसा चक्षुषी शाम्य ते पुनः ।
तन्नियच्छ महावेगं गमने विनतात्मज ।। १४ ।।

विनतानन्दन! तुम उस आगको सहसा बुझाकर पुनः अपने दोनों नेत्रोंको भी शान्त करो और तुम्हारी गतिमें जो इतना महान् वेग है, इसे रोको ।। १४ ।।

न मे प्रयोजनं किंचिद् गमने पन्नगाशन ।
संनिवर्त महाभाग न वेगं विषहामि ते ।। १५ ।।

गरुड़ इस यात्रासे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, अतः लौट चलो। महाभाग! मैं तुम्हारे वेगको नहीं सह सकता ।। १५ ।।

गुरवे संश्रुतानीह शतान्यष्टौ हि वाजिनाम् ।
एकतः श्यामकर्णानां शुभ्राणां चन्द्रवर्चसाम् ।। १६ ।।

मैंने गुरुको ऐसे आठ सौ घोड़े देनेकी प्रतिज्ञा की है, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे युक्त हों और जिनके कान एक ओरसे श्याम रंगके हों ।। १६ ।।

तेषां चैवापवर्गाय मार्गं पश्यामि नाण्डज ।
ततोऽयं जीवितत्यागे दृष्टो मार्गो मयाऽऽत्मनः ।। १७ ।।

किंतु अण्डज! उन घोड़ोंके दिये जानेका कोई मार्ग मुझे नहीं दिखायी देता है। इसीलिये मैंने अपने जीवनके परित्यागका ही मार्ग चुना है ।। १७ ।।

नैव मेऽस्ति धनं किंचिन्न धनेनान्वितः सुहृत् ।
न चार्थेनापि महता शक्यमेतद् व्यपोहितुम् ।। १८ ।।

मेरे पास थोड़ा भी धन नहीं है, कोई धनी मित्र भी नहीं है और यह कार्य ऐसा है कि प्रचुर धनराशिका व्यय करनेसे भी सिद्ध नहीं हो सकता ।। १८ ।।

नारद उवाच

एवं बहु च दीनं च ब्रुवाणं गालवं तदा ।
प्रत्युवाच व्रजन्नेव प्रहसन् विनतात्मजः ।। १९ ।।

नारदजी कहते हैं—इस प्रकार बहुत दीन वचन बोलते हुए महर्षि गालवसे विनतानन्दन गरुड़ने चलते हुए ही हँसकर कहा— ।। १९ ।।

नातिप्रज्ञोऽसि विप्रर्षे योऽऽत्मानं त्यक्तुमिच्छसि ।
न चापि कृत्रिमः कालः कालो हि परमेश्वरः ।। २० ।।

‘ब्रह्मर्षे! यदि तुम अपने प्राणोंका परित्याग करना चाहते हो तो विशेष बुद्धिमान् नहीं हो; क्योंकि मृत्यु कृत्रिम नहीं होती (उसका अपनी इच्छासे निर्माण नहीं किया जा सकता)। वह तो परमेश्वरका ही स्वरूप है ।। २० ।।

किमहं पूर्वमेवेह भवता नाभिचोदितः ।
उपायोऽत्र महानस्ति येनैतदुपपद्यते ।। २१ ।।

‘तुमने पहले ही मुझसे यह बात क्यों नहीं कह दी? मेरी दृष्टिमें एक महान् उपाय है, जिससे यह कार्य सिद्ध हो सकता है ।। २१ ।।

तदेष ऋषभो नाम पर्वतः सागरान्तिके ।
अत्र विश्रम्य भुक्त्वा च निवर्तिष्याव गालव ।। २२ ।।

‘गालव! समुद्रके निकट यह ऋषभ नामक पर्वत है, जहाँ विश्राम और भोजन करके हम दोनों लौट चलेंगे’ ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११२ ।।

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

ऋषभ पर्वतके शिखरपर महर्षि गालव और गरुड़की तपस्विनी शाण्डिलीसे भेंट तथा गरुड़ और गालवका गुरुदक्षिणा चुकानेके विषयमें परस्पर विचार

नारद उवाच

ऋषभस्य ततः शृङ्गं निपत्य द्विजपक्षिणौ ।
शाण्डिलीं ब्राह्मणीं तत्र ददृशाते तपोऽन्विताम् ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर गालव और गरुड़ने ऋषभ पर्वतके शिखरपर उतरकर वहाँ तपस्विनी शाण्डिली ब्राह्मणीको देखा ।। १ ।।

अभिवाद्य सुपर्णस्तु गालवश्चाभिपूज्य ताम् ।
तया च स्वागतेनोक्तौ विष्टरे संनिषीदतुः ।। २ ।।

गरुड़ने उसे प्रणाम किया और गालवने उसका आदर-सम्मान किया। तदनन्तर उसने भी उन दोनोंका स्वागत करके उन्हें आसनपर बैठनेके लिये कहा। उसकी आज्ञा पाकर वे दोनों वहाँ आसनपर बैठ गये ।।

सिद्धमन्नं तया दत्तं बलिमन्त्रोपबृंहितम् ।
भुक्त्वा तृप्तावुभौ भूमौ सुप्तौ तावनुमोहितौ ।। ३ ।।

तपस्विनीने उन्हें बलिवैश्वदेवसे बचा हुआ अभिमन्त्रित सिद्धान्न अर्पण किया। उसे खाकर वे दोनों तृप्त हो गये और भूमिपर ही सो गये। तत्पश्चात् निद्राने उन्हें अचेत कर दिया ।। ३ ।।

मुहूर्तात् प्रतिबुद्धस्तु सुपर्णो गमनेप्सया ।
अथ भ्रष्टतनूजाङ्गमात्मानं ददृशे खगः ।। ४ ।।

दो ही घड़ीके बाद मनमें वहाँसे जानेकी इच्छा लेकर गरुड़ जाग उठे। उठनेपर उन्होंने अपने शरीरको दोनों पंखोंसे रहित देखा ।। ४ ।।

मांसपिण्डोपमोऽभूत् स मुखपादान्वितः खगः ।
गालवस्तं तथा दृष्ट्वा विमनाः पर्यपृच्छत ।। ५ ।।

आकाशचारी गरुड़ मुख और हाथोंसे युक्त होते हुए भी उन पंखोंके बिना मांसके लोंदे-से हो गये। उन्हें उस दशामें देखकर गालवका मन उदास हो गया और उन्होंने पूछा — ।। ५ ।।

किमिदं भवता प्राप्तमिहागमनजं फलम् ।
वासोऽयमिह कालं तु कियन्तं नौ भविष्यति ।। ६ ।।

'सखे! तुम्हें यहाँ आनेका यह क्या फल मिला? इस अवस्थामें हम दोनोंको यहाँ कितने समयतक रहना पड़ेगा? ।। ६ ।।

किं नु ते मनसा ध्यातमशुभं धर्मदूषणम् ।
न ह्ययं भवतः स्वल्पो व्यभिचारो भविष्यति ।। ७ ।।

'तुमने अपने मनमें कौन-सा अशुभ चिन्तन किया है, जो धर्मको दूषित करनेवाला रहा है। मैं समझता हूँ, तुम्हारे द्वारा यहाँ कोई थोड़ा धर्मविरुद्ध कार्य नहीं हुआ होगा' ।। ७ ।।

सुपर्णोऽथाब्रवीद् विप्रं प्रध्यातं वै मया द्विज ।
इमां सिद्धामितो नेतुं तत्र यत्र प्रजापतिः ।। ८ ।।
यत्र देवो महादेवो यत्र विष्णुः सनातनः ।
यत्र धर्मश्च यज्ञश्च तत्रेयं निवसेदिति ।। ९ ।।

तब गरुड़ने विप्रवर गालवसे कहा—'ब्रह्मन्! मैंने तो अपने मनमें यही सोचा था कि इस सिद्ध तपस्विनीको वहाँ पहुँचा दूँ, जहाँ प्रजापति ब्रह्मा हैं, जहाँ महादेवजी हैं, जहाँ सनातन भगवान् विष्णु हैं तथा जहाँ धर्म एवं यज्ञ है, वहीं इसे निवास करना चाहिये ।। ८-९ ।।

सोऽहं भगवतीं याचे प्रणतः प्रियकाम्यया ।
मयैतन्नाम प्रध्यातं मनसा शोचता किल ।। १० ।।

'अतः मैं भगवती शाण्डिलीके चरणोंमें पड़कर यह प्रार्थना करता हूँ कि मैंने अपने चिन्तनशील मनके द्वारा आपका प्रिय करनेकी इच्छासे ही यह बात सोची है ।। १० ।।

तदेवं बहुमानात् ते मयेहानीप्सितं कृतम् ।
सुकृतं दुष्कृतं वा त्वं माहात्म्यात् क्षन्तुमर्हसि ।। ११ ।।

'आपके प्रति विशेष आदरका भाव होनेसे ही मैंने इस स्थानपर ऐसा चिन्तन किया है, जो सम्भवतः आपको अभीष्ट नहीं रहा है। मेरे द्वारा यह पुण्य हुआ हो या पाप, अपने ही माहात्म्यसे आप मेरे इस अपराधको क्षमा कर दें' ।। ११ ।।

सा तौ तदाब्रवीत् तुष्टा पतगेन्द्रद्विजर्षभौ ।
न भेतव्यं सुपर्णोऽसि सुपर्ण त्यज सम्भ्रमम् ।। १२ ।।

यह सुनकर तपस्विनी बहुत संतुष्ट हुई। उसने उस समय पक्षिराज गरुड़ और विप्रवर गालवसे कहा—'सुपर्ण! तुम्हारे पंख और भी सुन्दर हो जायँगे; अतः तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये। तुम घबराहट छोड़ो ।। १२ ।।

निन्दितास्मि त्वया वत्स न च निन्दां क्षमाम्यहम् ।
लोकेभ्यः सपदि भ्रश्येद् यो मां निन्देत पापकृत् ।। १३ ।।

'वत्स! तुमने मेरी निन्दा की है, मैं निन्दा नहीं सहन करती हूँ। जो पापी मेरी निन्दा करेगा, वह पुण्यलोकोंसे तत्काल भ्रष्ट हो जायगा ।। १३ ।।

हीनयालक्षणैः सर्वैस्तथानिन्दितया मया ।

आचारं प्रतिगृह्णन्त्या सिद्धिः प्राप्तेयमुत्तमा ।। १४ ।।

'समस्त अशुभ लक्षणोंसे हीन और अनिन्दित रहकर सदाचारका पालन करते हुए ही मैंने यह उत्तम सिद्धि प्राप्त की है ।। १४ ।।

आचारः फलते धर्ममाचारः फलते धनम् ।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम् ।। १५ ।।

'आचार ही धर्मको सफल बनाता है, आचार ही धनरूपी फल देता है, आचारसे मनुष्यको सम्पत्ति प्राप्त होती है और आचार ही अशुभ लक्षणोंका भी नाश कर देता है ।। १५ ।।

तदायुष्मन् खगपते यथेष्टं गम्यतामितः ।
न च ते गर्हणीयाहं गर्हितव्याः स्त्रियः क्वचित् ।। १६ ।।

'अतः आयुष्मन् पक्षिराज! अब तुम यहाँसे अपने अभीष्ट स्थानको जाओ। आजसे तुम्हें मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिये। मेरी ही क्यों, कहीं किसी भी स्त्रीकी निन्दा करनी उचित नहीं है ।। १६ ।।

भवितासि यथापूर्वं बलवीर्यसमन्वितः ।
बभूवतुस्ततस्तस्य पक्षौ द्रविणवत्तरौ ।। १७ ।।

'अब तुम पहलेकी ही भाँति बल और पराक्रमसे सम्पन्न हो जाओगे।' शाण्डिलीके इतना कहते ही गरुड़की पाँखें पहलेसे भी अधिक शक्तिशाली हो गयीं ।। १७ ।।

अनुज्ञातस्तु शाण्डिल्या यथागतमुपागमत् ।
नैव चासादयामास तथारूपांस्तुरंगमान् ।। १८ ।।

तत्पश्चात् शाण्डिलीकी आज्ञा ले वे जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। वे गालवके बताये अनुसार श्यामकर्ण घोड़े नहीं पा सके ।। १८ ।।

विश्वामित्रोऽथ तं दृष्ट्वा गालवं चाध्वनि स्थितः ।
उवाच वदतां श्रेष्ठो वैनतेयस्य संनिधौ ।। १९ ।।

इधर गालवको राहमें आते देख वक्ताओंमें श्रेष्ठ विश्वामित्रजी खड़े हो गये और गरुड़के समीप उनसे इस प्रकार बोले— ।। १९ ।।

यस्त्वया स्वयमेवार्थः प्रतिज्ञातो मम द्विज ।
तस्य कालोऽपवर्गस्य यथा वा मन्यते भवान् ।। २० ।।

'ब्रह्मन्! तुमने स्वयं ही जिस धनको देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे देनेका समय आ गया है। फिर तुम जैसा ठीक समझो, करो ।। २० ।।

प्रतीक्षिष्याम्यहं कालमेतावन्तं तथा परम् ।
यथा संसिध्यते विप्र स मार्गस्तु निशाम्यताम् ।। २१ ।।

मैं इतने ही समयतक और तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा। ब्रह्मन्! जिस प्रकार तुम्हें सफलता मिल सके, उस मार्गका विचार करो' ।। २१ ।।

सुपर्णोऽथाब्रवीद् दीनं गालवं भृशदुःखितम् ।
प्रत्यक्षं खल्विदानीं मे विश्वामित्रो यदुक्तवान् ।। २२ ।।
तदागच्छ द्विजश्रेष्ठ मन्त्रयिष्याव गालव ।
नादत्त्वा गुरवे शक्यं कृत्स्नमर्थं त्वयाऽऽसितुम् ।। २३ ।।

तदनन्तर दीन और अत्यन्त दुःखी हुए गालव मुनिसे गरुड़ने कहा—'द्विजश्रेष्ठ गालव! विश्वामित्रजीने मेरे सामने जो कुछ कहा है, आओ, उसके विषयमें हम दोनों सलाह करें। तुम्हें अपने गुरुको उनका सारा धन चुकाये बिना चुप नहीं बैठना चाहिये' ।। २२-२३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११३ ।।

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़ और गालवका राजा ययातिके यहाँ जाकर गुरुको देनेके लिये श्यामकर्ण घोड़ोंकी याचना करना

नारद उवाच

अथाह गालवं दीनं सुपर्णः पततां वरः ।
निर्मितं वह्निना भूमौ वायुना शोधितं तथा ।
यस्माद्धिरण्मयं सर्वं हिरण्यं तेन चोच्यते ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड़ने दीन-दुःखी गालव मुनिसे इस प्रकार कहा—'पृथ्वीके भीतर जो उसका सारतत्त्व है, उसे तपाकर अग्निने जिसका निर्माण किया है और उस अग्निको उद्दीप्त करनेवाली वायुने जिसका शोधन किया है, उस सुवर्णको हिरण्य कहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् हिरण्यप्रधान है; इसलिये भी उसे हिरण्य कहते हैं' ।। १ ।।

धत्ते धारयते चेदमेतस्मात् कारणाद् धनम् ।
तदेतत् त्रिषु लोकेषु धनं तिष्ठति शाश्वतम् ।। २ ।।

'वह इस जगत्‌को स्वयं तो धारण करता ही है, दूसरोंसे भी धारण कराता है। इस कारण उस सुवर्णका नाम धन, है। यह धन तीनों लोकोंमें सदा स्थित रहता है ।। २ ।।

नित्यं प्रोष्ठपदाभ्यां च शुक्रे धनपतौ तथा ।
मनुष्येभ्यः समादत्ते शुक्रश्चित्तार्जितं धनम् ।। ३ ।।
अजैकपादहिर्बुध्न्यै रक्ष्यते धनदेन च ।
एवं न शक्यते लब्धुमलब्धव्यं द्विजर्षभ ।
ऋते च धनमश्वानां नावाप्तिर्विद्यते तव ।। ४ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! पूर्वभाद्रपद और उत्तरभाद्रपद इन दो नक्षत्रोंमेंसे किसी एकके साथ शुक्रवारका योग हो तो अग्निदेव कुबेरके लिये अपने संकल्पसे धनका निर्माण करके उसे मनुष्योंको दे देते हैं। पूर्वभाद्रपदके देवता अजैकपाद्, उत्तरभाद्रपदके देवता अहिर्बुध्न्य और कुबेर—ये तीनों उस धनकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार किसीको भी ऐसा धन नहीं मिल सकता, जो प्रारब्धवश उसे मिलनेवाला न हो और धनके बिना तुम्हें श्यामकर्ण घोड़ोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।। ३-४ ।।

स त्वं याचात्र राजानं कंचिद् राजर्षिवंशजम् ।
अपीड्य राजा पौरान् हि यो नौ कुर्यात् कृतार्थिनौ ।। ५ ।।

‘इसलिये मेरी राय यह है कि तुम राजर्षियोंके कुलमें उत्पन्न हुए किसी ऐसे राजाके पास चलकर धनके लिये याचना करो, जो पुरवासियोंको पीड़ा दिये बिना ही हम दोनोंको धन देकर कृतार्थ कर सके ।। ५ ।।

अस्ति सोमान्ववाये मे जातः कश्चिन्नृपः सखा ।
अभिगच्छावहे तं वै तस्यास्ति विभवो भुवि ।। ६ ।।

‘चन्द्रवंशमें उत्पन्न एक राजा हैं, जो मेरे मित्र हैं। हम दोनों उन्हींके पास चलें। इस भूतलपर उनके पास अवश्य ही धन है ।। ६ ।।

ययातिर्नाम राजर्षिर्नाहुषः सत्यविक्रमः ।
स दास्यति मया चोक्तो भवता चार्थितः स्वयम् ।। ७ ।।

‘मेरे उन मित्रका नाम है राजर्षि ययाति, जो महाराज नहुषके पुत्र हैं। वे सत्यपराक्रमी वीर हैं। तुम्हारे माँगने और मेरे कहनेपर वे स्वयं ही तुम्हें धन देंगे ।।

विभवश्चास्य सुमहानासीद् धनपतेरिव ।
एवं गुरुधनं विद्वन् दानेनैव विशोधय ।। ८ ।।

‘उनके पास धनाध्यक्ष कुबेरकी भाँति महान् वैभव रहा है। विद्वन्! इस प्रकार दान लेकर ही तुम गुरुदक्षिणाका ऋण चुका दो’ ।। ८ ।।

तथा तौ कथयन्तौ च चिन्तयन्तौ च यत् क्षमम् ।
प्रतिष्ठाने नरपतिं ययातिं प्रत्युपस्थितौ ।। ९ ।।

इस प्रकार परस्पर बातें करते और उचित कर्तव्यको मन-ही-मन सोचते हुए वे दोनों प्रतिष्ठानपुरमें राजा ययातिके दरबारमें उपस्थित हुए ।। ९ ।।

प्रतिगृह्य च सत्कारैरर्घ्यपाद्यादिकं वरम् ।
पृष्टश्चागमने हेतुमुवाच विनतासुतः ।। १० ।।

राजाके द्वारा सत्कारपूर्वक दिये हुए श्रेष्ठ अर्घ्य-पाद्य आदि ग्रहण करके विनतानन्दन गरुड़ने उनके पूछनेपर अपने आगमनका प्रयोजन इस प्रकार बताया— ।। १० ।।

अयं मे नाहुष सखा गालवस्तपसो निधिः ।
विश्वामित्रस्य शिष्योऽभूद् वर्षाण्ययुतशो नृप ।। ११ ।।

‘नहुषनन्दन! ये तपोनिधि गालव मेरे मित्र हैं। राजन्! ये दस हजार वर्षोंतक महर्षि विश्वामित्रके शिष्य रहे हैं ।। ११ ।।

सोऽयं तेनाभ्यनुज्ञात उपकारेप्सया द्विजः ।
तमाह भगवन् किं ते ददानि गुरुदक्षिणाम् ।। १२ ।।

‘विश्वामित्रजीने (इनकी सेवाके बदले) इनका भी उपकार करनेकी इच्छासे इन्हें घर जानेकी आज्ञा दे दी। तब इन्होंने उनसे पूछा—‘भगवन्! मैं आपको क्या गुरुदक्षिणा दूँ? ।। १२ ।।

असकृत् तेन चोक्तेन किंचिदागतमन्युना ।

अयमुक्तः प्रयच्छेति जानता विभवं लघु ।। १३ ।।
एकतः श्यामकर्णानां शुभ्राणां शुद्धजन्मनाम् ।
अष्टौ शतानि मे देहि हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।। १४ ।।
गुर्वर्थो दीयतामेष यदि गालव मन्यसे ।
इत्येवमाह सक्रोधो विश्वामित्रस्तपोधनः ।। १५ ।।

'इनके बार-बार आग्रह करनेपर विश्वामित्रजीको कुछ क्रोध आ गया; अतः इनके पास धनका अभाव है, यह जानते हुए भी उन्होंने इनसे कहा—'लाओ, गुरुदक्षिणा दो। गालव! मुझे अच्छी जातिमें उत्पन्न हुए ऐसे आठ सौ घोड़े दो, जिनकी अंगकान्ति चन्द्रमाके समान उज्ज्वल और कान एक ओरसे श्याम रंगके हों। गालव! यदि तुम मेरी बात मानो तो यही गुरुदक्षिणा ला दो।' तपोधन विश्वामित्रने यह बात कुपित होकर ही कही थी ।। १३—१५ ।।

सोऽयं शोकेन महता तप्यमानो द्विजर्षभः ।
अशक्तः प्रतिकर्तुं तद् भवन्तं शरणं गतः ।। १६ ।।

'अतः ये द्विजश्रेष्ठ गालव महान् शोकसे संतप्त हो गुरुदक्षिणा चुकानेमें असमर्थ हो गये हैं और इसीलिये आपकी शरणमें आये हैं ।। १६ ।।

प्रतिगृह्य नरव्याघ्र त्वत्तो भिक्षां गतव्यथः ।
कृत्वापवर्गं गुरवे चरिष्यति महत् तपः ।। १७ ।।

'पुरुषसिंह! आपसे भिक्षा ग्रहण करके गुरुको पूर्वोक्त धन देकर ये क्लेशरहित हो महान् तपमें संलग्न हो जायँगे ।। १७ ।।

तपसः संविभागेन भवन्तमपि योक्ष्यते ।
स्वेन राजर्षितपसा पूर्णं त्वां पूरयिष्यति ।। १८ ।।

अपनी तपस्याके एक अंशसे ये आपको भी संयुक्त करेंगे। यद्यपि आप अपनी राजर्षिजनोचित तपस्यासे पूर्ण हैं, तथापि ये अपने ब्राह्म तपसे आपको और भी परिपूर्ण करेंगे ।। १८ ।।

यावन्ति रोमाणि हये भवन्तीह नरेश्वर ।
तावन्तो वाजिनो लोकान् प्राप्नुवन्ति महीपते ।। १९ ।।

'नरेश्वर! भूपाल! यहाँ (दान किये हुए) घोड़ेके शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, दान करनेवाले लोगोंको (परलोकमें) उतने ही घोड़े प्राप्त होते हैं ।। १९ ।।

पात्रं प्रतिग्रहस्यायं दातुं पात्रं तथा भवान् ।
शङ्खे क्षीरमिवासिक्तं भवत्वेतत् तथोपमम् ।। २० ।।

'ये गालव दान लेनेके सुयोग्य पात्र हैं और आप दान करनेके श्रेष्ठ अधिकारी हैं। जैसे शंखमें दूध रखा गया हो, उसी प्रकार इनके हाथमें दिए हुए आपके इस दानकी शोभा होगी' ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालव चरित्रविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११४ ।।

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा ययातिका गालवको अपनी कन्या देना और गालवका उसे लेकर अयोध्यानरेशके यहाँ जाना

नारद उवाच

एवमुक्तः सुपर्णेन तथ्यं वचनमुत्तमम् ।
विमृश्यावहितो राजा निश्चित्य च पुनः पुनः ।। १ ।।
यष्टा क्रतुसहस्राणां दाता दानपतिः प्रभुः ।
ययातिः सर्वकाशीश इदं वचनमब्रवीत् ।। २ ।।

नारदजी कहते हैं—गरुड़ने जब इस प्रकार यथार्थ और उत्तम बात कही, तब सहस्रों यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले, दाता, दानपति, प्रभावशाली तथा राजोचित तेजसे प्रकाशित होनेवाले सम्पूर्ण नरेशोंके स्वामी महाराज ययातिने सावधानीके साथ बारंबार विचार करके एक निश्चयपर पहुँचकर इस प्रकार कहा ।। १-२ ।।

दृष्ट्वा प्रियसखं तार्क्ष्यं गालवं च द्विजर्षभम् ।
निदर्शनं च तपसो भिक्षां श्लाघ्यां च कीर्तिताम् ।। ३ ।।
अतीत्य च नृपानन्यानादित्यकुलसम्भवान् ।
मत्सकाशमनुप्राप्तावेतां बुद्धिमवेक्ष्य च ।। ४ ।।

राजाने पहले अपने प्रिय मित्र गरुड़ तथा तपस्याके मूर्तिमान् स्वरूप विप्रवर गालवको अपने यहाँ उपस्थित देख और उनकी बतायी हुई स्पृहणीय भिक्षाकी बात सुनकर मनमें इस प्रकार विचार किया—

‘ये दोनों सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए दूसरे अनेक राजाओंको छोड़कर मेरे पास आये हैं।’ ऐसा विचारकर वे बोले— ।। ३-४ ।।

अद्य मे सफलं जन्म तारितं चाद्य मे कुलम् ।
अद्यायं तारितो देशो मम तार्क्ष्य त्वयानघ ।। ५ ।।

‘निष्पाप गरुड़! आज मेरा जन्म सफल हो गया। आज मेरे कुलका उद्धार हो गया और आज आपने मेरे इस सम्पूर्ण देशको भी तार दिया ।। ५ ।।

वक्तुमिच्छामि तु सखे यथा जानासि मां पुरा ।
न तथा वित्तवानस्मि क्षीणं वित्तं च मे सखे ।। ६ ।।

‘सखे! फिर भी मैं एक बात कहना चाहता हूँ। आप पहलेसे मुझे जैसा धनवान् समझते हैं, वैसा धनसम्पन्न अब मैं नहीं रह गया हूँ। मित्र! मेरा वैभव इन दिनों क्षीण हो गया है ।। ६ ।।

न च शक्तोऽस्मि ते कर्तुं मोघमागमनं खग ।
न चाशामस्य विप्रर्षेर्वितथीकर्तुमुत्सहे ।। ७ ।।

'आकाशचारी गरुड़! इस दशामें भी मैं आपके आगमनको निष्फल करनेमें असमर्थ हूँ और इन ब्रह्मर्षिकी आशाको भी मैं विफल करना नहीं चाहता ।। ७ ।।

तत् तु दास्यामि यत् कार्यमिदं सम्पादयिष्यति ।
अभिगम्य हताशो हि निवृत्तो दहते कुलम् ।। ८ ।।

'अतः मैं एक ऐसी वस्तु दूँगा, जो इस कार्यका सम्पादन कर देगी। अपने पास आकर कोई याचक हताश हो जाय तो वह लौटनेपर आशा भंग करनेवाले राजाके समूचे कुलको दग्ध कर देता है ।। ८ ।।

नातः परं वैनतेय किंचित् पापिष्ठमुच्यते ।
यथाशानाशनाल्लोके देहि नास्तीति वा वचः ।। ९ ।।

'विनतानन्दन! लोकमें कोई 'दीजिये' कहकर कुछ माँगे और उससे यह कह दिया जाय कि जाओ मेरे पास नहीं है, इस प्रकार याचककी आशाको भंग करनेसे जितना पाप लगता है, इससे बढ़कर पापकी दूसरी कोई बात नहीं कही जाती है ।। ९ ।।

हताशो ह्यकृतार्थः सन् हतः सम्भावितो नरः ।
हिनस्ति तस्य पुत्रांश्च पौत्रांश्चाकुर्वतो हितम् ।। १० ।।

'कोई श्रेष्ठ मनुष्य जब कहीं याचना करके हताश एवं असफल होता है, तब वह मरे हुएके समान हो जाता है और अपना हित न करनेवाले धनीके पुत्रों तथा पौत्रोंका नाश कर डालता है ।। १० ।।

तस्माच्चतुर्णां वंशानां स्थापयित्री सुता मम ।
इयं सुरसुतप्रख्या सर्वधर्मोपचायिनी ।। ११ ।।

'अतः मेरी जो यह पुत्री है, यह चार कुलोंकी स्थापना करनेवाली है। इसकी कान्ति देवकन्याके समान है। यह सम्पूर्ण धर्मोंकी वृद्धि करनेवाली है ।। ११ ।।

सदा देवमनुष्याणामसुराणां च गालव ।
काङ्क्षिता रूपतो बाला सुता मे प्रतिगृह्यताम् ।। १२ ।।

'गालव! इसके रूप-सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर देवता, मनुष्य तथा असुर सभी लोग सदा इसे पानेकी अभिलाषा रखते हैं; अतः आप मेरी इस पुत्रीको ही ग्रहण कीजिये ।। १२ ।।

अस्याः शुल्कं प्रदास्यन्ति नृपा राज्यमपि ध्रुवम् ।
किं पुनः श्यामकर्णानां हयानां द्वे चतुःशते ।। १३ ।।

'इसके शुल्कके रूपमें राजालोग निश्चय ही अपना राज्य भी आपको दे देंगे; फिर आठ सौ श्यामकर्ण घोड़ोंकी तो बात ही क्या है? ।। १३ ।।

स भवान् प्रतिगृह्णातु ममैतां माधवीं सुताम् ।
अहं दौहित्रवान् स्यां वै वर एष मम प्रभो ।। १४ ।।

‘अतः प्रभो! आप मेरी इस पुत्री माधवीको ग्रहण करें और मुझे यह वर दें कि मैं दौहित्रवान् (नातियोंसे युक्त) होऊँ’ ।। १४ ।।

प्रतिगृह्य च तां कन्यां गालवः सह पक्षिणा ।
पुनर्द्रक्ष्याव इत्युक्त्वा प्रतस्थे सह कन्यया ।। १५ ।।

तब गरुड़सहित गालवने उस कन्याको लेकर कहा—‘अच्छा, हम फिर कभी मिलेंगे।’ राजासे ऐसा कहकर गालव मुनि कन्याके साथ वहाँसे चल दिये ।।

उपलब्धमिदं द्वारमश्वानामिति चाण्डजः ।
उक्त्वा गालवमापृच्छ्य जगाम भवनं स्वकम् ।। १६ ।।

तदनन्तर गरुड़ भी यह कहकर कि अब तुम्हें घोड़ोंकी प्राप्तिका यह द्वार प्राप्त हो गया, गालवसे विदा ले अपने घरको चले गये ।। १६ ।।

गते पतगराजे तु गालवः सह कन्यया ।
चिन्तयानः क्षमं दाने राज्ञां वै शुल्कतोऽगमत् ।। १७ ।।

पक्षिराज गरुड़के चले जानेपर गालव उस कन्याके साथ यह सोचते हुए चल दिये कि राजाओंमेंसे कौन ऐसा नरेश है, जो इस कन्याका शुल्क देनेमें समर्थ हो ।।

सोऽगच्छन्मनसेक्ष्वाकुं हर्यश्वं राजसत्तमम् ।
अयोध्यायां महावीर्यं चतुरङ्गबलान्वितम् ।। १८ ।।

वे मन-ही-मन विचार करके अयोध्यामें इक्ष्वाकुवंशी नृपतिशिरोमणि महापराक्रमी हर्यश्वके पास गये, जो चतुरंगिणी सेनासे सम्पन्न थे ।। १८ ।।

कोशधान्यबलोपेतं प्रियपौरं द्विजप्रियम् ।
प्रजाभिकामं शाम्यन्तं कुर्वाणं तप उत्तमम् ।। १९ ।।

वे कोष, धन-धान्य और सैनिकबल—सबसे सम्पन्न थे। पुरवासी प्रजा उन्हें बहुत ही प्रिय थी। ब्राह्मणोंके प्रति उनका अधिक प्रेम था। वे प्रजावर्गके हितकी इच्छा रखते थे। उनका मन भोगोंसे विरक्त एवं शान्त था। वे उत्तम तपस्यामें लगे हुए थे ।। १९ ।।

तमुपागम्य विप्रः स हर्यश्वं गालवोऽब्रवीत् ।
कन्येयं मम राजेन्द्र प्रसवैः कुलवर्धिनी ।। २० ।।
इयं शुल्केन भार्यार्थं हर्यश्व प्रतिगृह्यताम् ।
शुल्कं ते कीर्तयिष्यामि तच्छ्रुत्वा सम्प्रधार्यताम् ।। २१ ।।

राजा हर्यश्वके पास जाकर विप्रवर गालवने कहा—‘राजेन्द्र! मेरी यह कन्या अपनी संतानोंद्वारा वंशकी वृद्धि करनेवाली है। तुम शुल्क देकर इसे अपनी पत्नी बनानेके लिये ग्रहण करो। हर्यश्व! मैं तुम्हें पहले इसका शुल्क बताऊँगा। उसे सुनकर तुम अपने कर्तव्यका निश्चय करो’ ।। २०-२१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११५ ।।

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

हर्यश्वका दो सौ श्यामकर्ण घोड़े देकर ययातिकन्याके गर्भसे वसुमना नामक पुत्र उत्पन्न करना और गालवका इस कन्याके साथ वहाँसे प्रस्थान

नारद उवाच

हर्यश्वस्त्वब्रवीद् राजा विचिन्त्य बहुधा ततः ।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य प्रजाहेतोर्नृपोत्तमः ।। १ ।।
उन्नतेषून्नता षट्सु सूक्ष्मा सूक्ष्मेषु पञ्चसु ।
गम्भीरा त्रिषु गम्भीरेष्वियं रक्ता च पञ्चसु ।। २ ।।

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर नृपतिश्रेष्ठ राजा हर्यश्वने उस कन्याके विषयमें बहुत सोच-विचारकर संतानोत्पादनकी इच्छासे गरम-गरम लम्बी साँस खींचकर मुनिसे इस प्रकार कहा—'द्विजश्रेष्ठ! इस कन्याके छः अंग जो ऊँचे होने चाहिये, ऊँचे हैं। पाँच अंग जो सूक्ष्म होने चाहिये, सूक्ष्म हैं। तीन अंग जो गम्भीर होने चाहिये, गम्भीर हैं तथा इसके पाँच अंग रक्तवर्णके हैं ।।

(श्रोण्यौ ललाटमूरू च घ्राणं चेति षडुन्नतम् ।
सूक्ष्माण्यङ्गुलिपर्वाणि केशरोमनखत्वचः ।।
स्वरः सत्त्वं च नाभिश्च त्रिगम्भीरं प्रचक्षते ।
पाणिपादतले रक्ते नेत्रान्तौ च नखानि च ।।)

'दो नितम्ब, दो जाँघें, ललाट और नासिका—ये छः अंग ऊँचे हैं। अंगुलियोंके पर्व, केश, रोम, नख और त्वचा—ये पाँच अंग सूक्ष्म हैं। स्वर, अन्तःकरण तथा नाभि—ये तीन गम्भीर कहे जा सकते हैं तथा हथेली, पैरोंके तलवे, दक्षिण नेत्रप्रान्त, वाम नेत्रप्रान्त तथा नख—ये पाँच अंग रक्तवर्णके हैं।

बहुदेवासुरालोका बहुगन्धर्वदर्शना ।
बहुलक्षणसम्पन्ना बहुप्रसवधारिणी ।। ३ ।।

'यह बहुत-से देवताओं तथा असुरोंके लिये भी दर्शनीय है। इसे गन्धर्वविद्या (संगीत)-का भी अच्छा ज्ञान है। यह बहुत-से शुभ लक्षणोंद्वारा सुशोभित तथा अनेक संतानोंको जन्म देनेमें समर्थ है ।। ३ ।।

समर्थेयं जनयितुं चक्रवर्तिनमात्मजम् ।
ब्रूहि शुल्कं द्विजश्रेष्ठ समीक्ष्य विभवं मम ।। ४ ।।

'विप्रवर! आपकी यह कन्या चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ है; अतः आप मेरे वैभवको देखते हुए इसके लिये समुचित शुल्क बताइये' ।। ४ ।।

गालव उवाच

एकतः श्यामकर्णानां शतान्यष्टौ प्रयच्छ मे ।
हयानां चन्द्रशुभ्राणां देशजानां वपुष्मताम् ।। ५ ।।
ततस्तव भवित्रीयं पुत्राणां जननी शुभा ।
अरणीव हुताशानां योनिरायतलोचना ।। ६ ।।

गालवने कहा—राजन्! आप मुझे अच्छे देश और अच्छी जातिमें उत्पन्न हृष्ट-पुष्ट अंगोंवाले आठ सौ ऐसे घोड़े प्रदान कीजिये, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे विभूषित हों तथा उनके कान एक ओरसे श्यामवर्णके हों। यह शुल्क चुका देनेपर मेरी यह विशाल नेत्रोंवाली शुभलक्षणा कन्या अग्नियोंको प्रकट करनेवाली अरणीकी भाँति आपके तेजस्वी पुत्रोंकी जननी होगी ।। ५-६ ।।

नारद उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा हर्यश्वः काममोहितः ।
उवाच गालवं दीनो राजर्षिर्ऋषिसत्तमम् ।। ७ ।।

नारदजी कहते हैं—यह वचन सुनकर काममोहित हुए राजर्षि महाराज हर्यश्व मुनिश्रेष्ठ गालवसे अत्यन्त दीन होकर बोले— ।। ७ ।।

द्वे मे शते संनिहिते हयानां यद्विधास्तव ।
एष्टव्याः शतशस्त्वन्ये चरन्ति मम वाजिनः ।। ८ ।।

'ब्रह्मन्! आपको जैसे घोड़े लेने अभीष्ट हैं, वैसे तो मेरे यहाँ इन दिनों दो ही सौ घोड़े मौजूद हैं; किंतु दूसरी जातिके कई सौ घोड़े यहाँ विचरते हैं ।। ८ ।।

सोऽहमेकमपत्यं वै जनयिष्यामि गालव ।
अस्यामेतं भवान् कामं सम्पादयतु मे वरम् ।। ९ ।।

'अतः गालव! मैं इस कन्यासे केवल एक संतान उत्पन्न करूँगा। आप मेरे इस श्रेष्ठ मनोरथको पूर्ण करें' ।।

एतच्छ्रुत्वा तु सा कन्या गालवं वाक्यमब्रवीत् ।
मम दत्तो वरः कश्चित् केनचिद् ब्रह्मवादिना ।। १० ।।
प्रसूत्यन्ते प्रसूत्यन्ते कन्यैव त्वं भविष्यसि ।
स त्वं ददस्व मां राजे प्रतिगृह्य हयोत्तमान् ।। ११ ।।

यह सुनकर उस कन्याने महर्षि गालवसे कहा—'मुने! मुझे किन्हीं वेदवादी महात्माने यह एक वर दिया था कि तुम प्रत्येक प्रसवके अन्तमें फिर कन्या ही हो जाओगी। अतः आप दो सौ उत्तम घोड़े लेकर मुझे राजाको सौंप दें ।। १०-११ ।।

नृपेभ्यो हि चतुर्भ्यस्ते पूर्णान्यष्टौ शतानि मे ।
भविष्यन्ति तथा पुत्रा मम चत्वार एव च ।। १२ ।।

'इस प्रकार चार राजाओंसे दो-दो सौ घोड़े लेनेपर आपके आठ सौ घोड़े पूरे हो जायँगे और मेरे भी चार ही पुत्र होंगे ।। १२ ।।

क्रियतामुपसंहारो गुर्वर्थं द्विजसत्तम ।
एषा तावन्मम प्रज्ञा यथा वा मन्यसे द्विज ।। १३ ।।

'विप्रवर! इसी तरह आप गुरुदक्षिणाके लिये धनका संग्रह करें, यही मेरी मान्यता है। फिर आप जैसा ठीक समझें, वैसा करें' ।। १३ ।।

एवमुक्तस्तु स मुनिः कन्यया गालवस्तदा ।
हर्यश्वं पृथिवीपालमिदं वचनमब्रवीत् ।। १४ ।।

कन्याके ऐसा कहनेपर उस समय गालव मुनिने भूपाल हर्यश्वसे यह बात कही — ।। १४ ।।

इयं कन्या नरश्रेष्ठ हर्यश्व प्रतिगृह्यताम् ।
चतुर्भागेन शुल्कस्य जनयस्वैकमात्मजम् ।। १५ ।।

'नरश्रेष्ठ हर्यश्व! नियत शुल्कका चौथाई भाग देकर आप इस कन्याको ग्रहण करें और इसके गर्भसे केवल एक पुत्र उत्पन्न कर लें' ।। १५ ।।

प्रतिगृह्य स तां कन्यां गालवं प्रतिनन्द्य च ।
समये देशकाले च लब्धवान् सुतमीप्सितम् ।। १६ ।।

तब राजाने गालव मुनिका अभिनन्दन करके उस कन्याको ग्रहण किया और उचित देश-कालमें उसके-द्वारा एक मनोवांछित पुत्र प्राप्त किया ।। १६ ।।

ततो वसुमना नाम वसुभ्यो वसुमत्तरः ।
वसुप्रख्यो नरपतिः स बभूव वसुप्रदः ।। १७ ।।

तदनन्तर उनका वह पुत्र वसुमनाके नामसे विख्यात हुआ। वह वसुओंके समान कान्तिमान् तथा उनकी अपेक्षा भी अधिक धन-रत्नोंसे सम्पन्न और धनका खुले हाथ दान करनेवाला नरेश हुआ ।। १७ ।।

अथ काले पुनर्धीमान् गालवः प्रत्युपस्थितः ।
उपसंगम्य चोवाच हर्यश्वं प्रीतमानसम् ।। १८ ।।

तत्पश्चात् उचित समयपर बुद्धिमान् गालव पुनः वहाँ उपस्थित हुए और प्रसन्नचित्त राजा हर्यश्वसे मिलकर इस प्रकार बोले— ।। १८ ।।

जातो नृप सुतस्तेऽयं बालो भास्करसंनिभः।
कालो गन्तुं नरश्रेष्ठ भिक्षार्थमपरं नृपम् ।। १९ ।।

'नरश्रेष्ठ नरेश! आपको यह सूर्यके समान तेजस्वी पुत्र प्राप्त हो गया। अब इस कन्याके साथ घोड़ोंकी याचना करनेके लिये दूसरे राजाके यहाँ जानेका अवसर उपस्थित हुआ

है’ ।। १९ ।।

हर्यश्वः सत्यवचने स्थितः स्थित्वा च पौरुषे ।

दुर्लभत्वाद्धयानां च प्रददौ माधवीं पुनः ।। २० ।।

राजा हर्यश्व सत्य वचनपर दृढ़ रहनेवाले थे। उन्होंने पुरुषार्थमें समर्थ होकर भी छः सौ श्यामकर्ण घोड़े दुर्लभ होनेके कारण माधवीको पुनः लौटा दिया ।।

माधवी च पुनर्दीप्तां परित्यज्य नृपश्रियम् ।

कुमारी कामतो भूत्वा गालवं पृष्ठतोऽन्वयात् ।। २१ ।।

माधवी पुनः इच्छानुसार कुमारी होकर अयोध्याकी उज्ज्वल राजलक्ष्मीका परित्याग करके गालव मुनिके पीछे-पीछे चली गयी ।। २१ ।।

त्वय्येव तावत् तिष्ठन्तु हया इत्युक्तवान् द्विजः ।

प्रययौ कन्यया सार्धं दिवोदासं प्रजेश्वरम् ।। २२ ।।

जाते समय ब्राह्मणने राजा हर्यश्वसे कहा—‘महाराज! आपके दिये हुए दो सौ श्यामकर्ण घोड़े अभी आपके ही पास धरोहरके रूपमें रहें।’ ऐसा कहकर गालव मुनि उस राजकन्याके साथ राजा दिवोदासके यहाँ गये ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११६ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं।]

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

दिवोदासका ययातिकन्या माधवीके गर्भसे प्रतर्दन नामक पुत्र उत्पन्न करना

गालव उवाच

महावीर्यो महीपालः काशीनामीश्वरः प्रभुः ।
दिवोदास इति ख्यातो भैमसेनिर्नराधिपः ।। १ ।।
तत्र गच्छावहे भद्रे शनैरागच्छ मा शुचः ।
धार्मिकः संयमे युक्तः सत्ये चैव जनेश्वरः ।। २ ।।

मार्गमें गालवने राजकन्या माधवीसे कहा—भद्रे! काशीके अधिपति भीमसेनकुमार शक्तिशाली राजा दिवोदास महापराक्रमी एवं विख्यात भूमिपाल हैं। उन्हींके पास हम दोनों चलें। तुम धीरे-धीरे चली आओ। मनमें किसी प्रकारका शोक न करो। राजा दिवोदास धर्मात्मा, संयमी तथा सत्य-परायण हैं ।। १-२ ।।

नारद उवाच

तमुपागम्य स मुनिर्न्यायतस्तेन सत्कृतः ।
गालवः प्रसवस्यार्थे तं नृपं प्रत्यचोदयत् ।। ३ ।।

नारदजी कहते हैं—राजा दिवोदासके यहाँ जानेपर गालव मुनिका उनके द्वारा यथोचित सत्कार किया गया। तदनन्तर गालवने पूर्ववत् उन्हें भी शुल्क देकर उस कन्यासे एक संतान उत्पन्न करनेके लिये प्रेरित किया ।। ३ ।।

दिवोदास उवाच

श्रुतमेतन्मया पूर्वं किमुक्त्वा विस्तरं द्विज ।
काङ्क्षितो हि मयैषोऽर्थः श्रुत्वैव द्विजसत्तम ।। ४ ।।

दिवोदास बोले—ब्रह्मन्! यह सब वृत्तान्त मैंने पहलेसे ही सुन रखा है। अब इसे विस्तारपूर्वक कहनेकी क्या आवश्यकता है? द्विजश्रेष्ठ! आपके प्रस्तावको सुनते ही मेरे मनमें यह पुत्रोत्पादनकी अभिलाषा जाग उठी है ।। ४ ।।

एतच्च मे बहुमतं यदुत्सृज्य नराधिपान् ।
मामेवमुपयातोऽसि भावि चैतदसंशयम् ।। ५ ।।

यह मेरे लिये बड़े सम्मानकी बात है कि आप दूसरे राजाओंको छोड़कर मेरे पास इस रूपमें प्रार्थी होकर आये हैं। निःसंदेह ऐसा ही भावी है ।। ५ ।।

स एव विभवोऽस्माकमश्वानामपि गालव ।
अहमप्येकमेवास्यां जनयिष्यामि पार्थिवम् ।। ६ ।।

गालव! मेरे पास भी दो ही सौ श्यामकर्ण घोड़े हैं; अतः मैं भी इसके गर्भसे एक ही राजकुमारको उत्पन्न करूँगा ।। ६ ।।

तथेत्युक्त्वा द्विजश्रेष्ठः प्रादात् कन्यां महीपतेः ।
विधिपूर्वां च तां राजा कन्यां प्रतिगृहीतवान् ।। ७ ।।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर विप्रवर गालवने वह कन्या राजाको दे दी। राजाने भी उसका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया ।। ७ ।।

रेमे स तस्यां राजर्षिः प्रभावत्यां यथा रविः ।
स्वाहायां च यथा वह्निर्यथा शच्यां च वासवः ।। ८ ।।
यथा चन्द्रश्च रोहिण्यां यथा धूमोर्णया यमः ।
वरुणश्च यथा गौर्यां यथा चर्द्धयां धनेश्वरः ।। ९ ।।
यथा नारायणो लक्ष्म्यां जाह्नव्यां च यथोदधिः ।
यथा रुद्रश्च रुद्राण्यां यथा वेद्यां पितामहः ।। १० ।।
अदृश्यन्त्यां च वासिष्ठो वसिष्ठश्चाक्षमालया ।
च्यवनश्च सुकन्यायां पुलस्त्यः संध्यया यथा ।। ११ ।।
अगस्त्यश्चापि वैदर्भ्यां सावित्र्यां सत्यवान् यथा ।
यथा भृगुः पुलोमायामदित्यां कश्यपो यथा ।। १२ ।।
रेणुकायां यथाऽऽर्चीको हैमवत्यां च कौशिकः ।
बृहस्पतिश्च तारायां शुक्रश्च शतपर्वणा ।। १३ ।।
यथा भूम्यां भूमिपतिरुर्वश्यां च पुरूरवाः ।
ऋचीकः सत्यवत्यां च सरस्वत्यां यथा मनुः ।। १४ ।।
शकुन्तलायां दुष्यन्तो धृत्यां धर्मश्च शाश्वतः ।
दमयन्त्यां नलश्चैव सत्यवत्यां च नारदः ।। १५ ।।
जरत्कारुर्जरत्कार्वां पुलस्त्यश्च प्रतीच्यया ।
मेनकायां यथोर्णायुस्तुम्बुरुश्चैव रम्भया ।। १६ ।।
वासुकिः शतशीर्षायां कुमार्यां च धनंजयः ।
वैदेह्यां च यथा रामो रुक्मिण्यां च जनार्दनः ।। १७ ।।
तथा तु रममाणस्य दिवोदासस्य भूपतेः ।
माधवी जनयामास पुत्रमेकं प्रतर्दनम् ।। १८ ।।

राजर्षि दिवोदास माधवीमें अनुरक्त होकर उसके साथ रमण करने लगे। जैसे सूर्य प्रभावतीके, अग्नि स्वाहाके, देवेन्द्र शचीके, चन्द्रमा रोहिणीके, यमराज धूमोर्णाके, वरुण गौरीके, कुबेर ऋद्धिके, नारायण लक्ष्मीके, समुद्र गंगाके, रुद्रदेव रुद्राणीके, पितामह ब्रह्मा वेदीके, वसिष्ठनन्दन शक्ति अदृश्यन्तीके, वसिष्ठ अक्षमाला (अरुन्धती)-के, च्यवन सुकन्याके, पुलस्त्य संध्याके, अगस्त्य विदर्भराजकुमारी लोपामुद्राके, सत्यवान् सावित्रीके,

भृगु पुलोमाके, कश्यप अदितिके, जमदग्नि रेणुकाके, कुशिकवंशी विश्वामित्र हैमवतीके, बृहस्पति ताराके, शुक्र शतपर्वाके, भूमिपति भूमिके, पुरूरवा उर्वशीके, ऋचीक सत्यवतीके, मनु सरस्वतीके, दुष्यन्त शकुन्तलाके, सनातन धर्मदेव धृतिके, नल दमयन्तीके, नारद सत्यवतीके, जरत्कारु मुनि नागकन्या जरत्कारुके, पुलस्त्य प्रतीच्याके, ऊर्णायु मेनकाके, तुम्बुरु रम्भाके, वासुकि शतशीर्षाके, धनंजय कुमारीके, श्रीरामचन्द्रजी विदेहनन्दिनी सीताके तथा भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणी देवीके साथ रमण करते हैं, उसी प्रकार अपने साथ रमण करनेवाले राजा दिवोदासके वीर्यसे माधवीने प्रतर्दन नामक एक पुत्र उत्पन्न किया ।। ८—१८ ।।

अथाजगाम भगवान् दिवोदासं स गालवः ।
समये समनुप्राप्ते वचनं चेदमब्रवीत् ।। १९ ।।

तदनन्तर समय आनेपर भगवान् गालव मुनि पुनः दिवोदासके पास आये और उनसे इस प्रकार बोले— ।।

निर्यातयतु मे कन्यां भवांस्तिष्ठन्तु वाजिनः ।
यावदन्यत्र गच्छामि शुल्कार्थं पृथिवीपते ।। २० ।।

‘पृथ्वीनाथ! अब आप मुझे राजकन्याको लौटा दें। आपके दिये हुए घोड़े अभी आपके ही पास रहें। मैं इस समय शुल्क प्राप्त करनेके लिये अन्यत्र जा रहा हूँ’ ।। २० ।।

दिवोदासोऽथ धर्मात्मा समये गालवस्य ताम् ।
कन्यां निर्यातयामास स्थितः सत्ये महीपतिः ।। २१ ।।

धर्मात्मा राजा दिवोदास अपनी की हुई सत्य प्रतिज्ञा पर अटल रहनेवाले थे; अतः उन्होंने गालवको वह कन्या लौटा दी ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११७ ।।

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

उशीनरका ययातिकन्या माधवीके गर्भसे शिबि नामक पुत्र उत्पन्न करना, गालवका उस कन्याको साथ लेकर जाना और मार्गमें गरुड़का दर्शन करना

नारद उवाच

तथैव तां श्रियं त्यक्त्वा कन्या भूत्वा यशस्विनी ।
माधवी गालवं विप्रमभ्ययात् सत्यसंगरा ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर वह यशस्विनी राजकन्या माधवी सत्यके पालनमें तत्पर हो काशी-नरेशकी उस राजलक्ष्मीको त्यागकर विप्रवर गालवके साथ चली गयी ।। १ ।।

गालवो विमृशन्नेव स्वकार्यगतमानसः ।
जगाम भोजनगरं द्रष्टुमौशीनरं नृपम् ।। २ ।।

गालवका मन अपने कार्यकी सिद्धिके चिन्तनमें लगा था। उन्होंने मन-ही-मन कुछ सोचते हुए राजा उशीनरसे मिलनेके लिये भोजनगरकी यात्रा की ।। २ ।।

तमुवाचाथ गत्वा स नृपतिं सत्यविक्रमम् ।
इयं कन्या सुतौ द्वौ ते जनयिष्यति पार्थिवौ ।। ३ ।।

उन सत्यपराक्रमी नरेशके पास जाकर गालवने उनसे कहा—'राजन्! यह कन्या आपके लिये पृथ्वीका शासन करनेमें समर्थ दो पुत्र उत्पन्न करेगी ।। ३ ।।

अस्यां भवानवाप्तार्थो भविता प्रेत्य चेह च ।
सोमार्कप्रतिसंकाशौ जनयित्वा सुतौ नृप ।। ४ ।।

'नरेश्वर! इसके गर्भसे सूर्य और चन्द्रमाके समान दो तेजस्वी पुत्र पैदा करके आप लोक और परलोकमें भी पूर्णकाम होंगे ।। ४ ।।

शुल्कं तु सर्वधर्मज्ञ हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
एकतः श्यामकर्णानां देयं मह्यं चतुःशतम् ।। ५ ।।

'समस्त धर्मोंके ज्ञाता भूपाल! आप इस कन्याके शुल्कके रूपमें मुझे ऐसे चार सौ अश्व प्रदान करें, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे सुशोभित तथा एक ओरसे श्यामवर्णके कानोंवाले हों ।। ५ ।।

गुर्वर्थोऽयं समारम्भो न हयैः कृत्यमस्ति मे ।
यदि शक्यं महाराज क्रियतामविचारितम् ।। ६ ।।

'मैंने गुरुदक्षिणा देनेके लिये यह उद्योग आरम्भ किया है अन्यथा मुझे इन घोड़ोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। महाराज! यदि आपके लिये यह शुल्क देना सम्भव हो तो कोई

अन्यथा विचार न करके यह कार्य सम्पन्न कीजिये ।। ६ ।।

अनपत्योऽसि राजर्षे पुत्रौ जनय पार्थिव ।
पितॄन् पुत्रप्लवेन त्वमात्मानं चैव तारय ।। ७ ।।

'राजर्षे! पृथ्वीपते! आप संतानहीन हैं। अतः इससे दो पुत्र उत्पन्न कीजिये और पुत्ररूपी नौकाद्वारा पितरोंका तथा अपना भी उद्धार कीजिये ।। ७ ।।

न पुत्रफलभोक्ता हि राजर्षे पात्यते दिवः ।
न याति नरकं घोरं यथा गच्छन्त्यनात्मजाः ।। ८ ।।

'राजर्षे! पुत्रजनित पुण्यफलका उपभोग करनेवाला मनुष्य कभी स्वर्गसे नीचे नहीं गिराया जाता और संतानहीन मनुष्य जिस प्रकार घोर नरकमें पड़ते हैं, उस प्रकार वह नहीं पड़ता' ।। ८ ।।

एतच्चान्यच्च विविधं श्रुत्वा गालवभाषितम् ।
उशीनरः प्रतिवचो ददौ तस्य नराधिपः ।। ९ ।।

गालवकी कही हुई ये तथा और भी बहुत-सी बातें सुनकर राजा उशीनरने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया— ।। ९ ।।

श्रुतवानस्मि ते वाक्यं यथा वदसि गालव ।
विधिस्तु बलवान् ब्रह्मन् प्रवणं हि मनो मम ।। १० ।।

'विप्रवर गालव! आप जैसा कहते हैं, वे सब बातें मैंने सुन लीं। परंतु विधाता प्रबल है। मेरा मन इससे संतान उत्पन्न करनेके लिये उत्सुक हो रहा है ।। १० ।।

शते द्वे तु ममाश्वानामीदृशानां द्विजोत्तम ।
इतरेषां सहस्राणि सुबहूनि चरन्ति मे ।। ११ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! आपको जिनकी आवश्यकता है, ऐसे अश्व तो मेरे पास दो ही सौ हैं। दूसरी जातिके तो कई सहस्र घोड़े मेरे यहाँ विचरते हैं ।। ११ ।।

अहमप्येकमेवास्यां जनयिष्यामि गालव ।
पुत्रं द्विज गतं मार्गं गमिष्यामि परैरहम् ।। १२ ।।

'अतः ब्रह्मर्षि गालव! मैं भी इस कन्याके गर्भसे एक ही पुत्र उत्पन्न करूँगा। दूसरे लोग जिस मार्गपर चले हैं, उसीपर मैं भी चलूँगा ।। १२ ।।

मूल्येनापि समं कुर्यां तवाहं द्विजसत्तम ।
पौरजानपदार्थं तु ममार्थो नात्मभोगतः ।। १३ ।।

'द्विजप्रवर! मैं घोड़ोंका मूल्य देकर आपका सारा शुल्क चुका दूँ, यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि मेरा धन पुरवासियों तथा जनपदनिवासियोंके लिये है, अपने उपभोगमें लानेके लिये नहीं ।। १३ ।।

कामतो हि धनं राजा पारक्यं यः प्रयच्छति ।
न स धर्मेण धर्मात्मन् युज्यते यशसा न च ।। १४ ।।

'धर्मात्मन्! जो राजा पराये धनका अपनी इच्छाके अनुसार दान करता है, उसे धर्म और यशकी प्राप्ति नहीं होती है ।। १४ ।।

सोऽहं प्रतिग्रहीष्यामि ददात्वेतां भवान् मम ।
कुमारीं देवगर्भाभामेकपुत्रभवाय मे ।। १५ ।।

'अतः आप देवकन्याके समान सुन्दरी इस राजकुमारीको केवल एक पुत्र उत्पन्न करनेके लिये मुझे दें। मैं इसे ग्रहण करूँगा' ।। १५ ।।

तथा तु बहुधा कन्यामुक्तवन्तं नराधिपम् ।
उशीनरं द्विजश्रेष्ठो गालवः प्रत्यपूजयत् ।। १६ ।।

इस प्रकार भाँति-भाँतिकी न्याययुक्त बातें कहनेवाले राजा उशीनरकी विप्रवर गालवने भूरि-भूरि प्रशंसा की ।। १६ ।।

उशीनरं प्रतिग्राह्य गालवः प्रययौ वनम् ।
रेमे स तां समासाद्य कृतपुण्य इव श्रियम् ।। १७ ।।

उशीनरको वह कन्या सौंपकर गालव मुनि वनको चले गये। जैसे पुण्यात्मा पुरुष राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करे, उसी प्रकार उस राजकन्याको पाकर राजा उशीनर उसके साथ रमण करने लगे ।। १७ ।।

कन्दरेषु च शैलानां नदीनां निर्झरेषु च ।
उद्यानेषु विचित्रेषु वनेषूपवनेषु च ।। १८ ।।
हर्म्येषु रमणीयेषु प्रासादशिखरेषु च ।
वातायनविमानेषु तथा गर्भगृहेषु च ।। १९ ।।

उन्होंने पर्वतोंकी कन्दराओंमें, नदियोंके सुरम्य तटोंपर, झरनोंके आस-पास, विचित्र उद्यानोंमें, वनों और उपवनोंमें, रमणीय अट्टालिकाओंमें, प्रासादशिखरोंपर, वायु-के मार्गसे उड़नेवाले विमानोंपर तथा पृथ्वीके भीतर बने हुए गर्भगृहोंमें माधवीके साथ विहार किया ।।

ततोऽस्य समये जज्ञे पुत्रो बालरविप्रभः ।
शिबिर्नाम्नाभिविख्यातो यः स पार्थिवसत्तमः ।। २० ।।

तदनन्तर यथासमय उसके गर्भसे राजाको एक पुत्र प्राप्त हुआ, जो बालसूर्यके समान तेजस्वी था। वही बड़ा होनेपर नृपश्रेष्ठ महाराज शिबिके नामसे विख्यात हुआ ।। २० ।।

उपस्थाय स तं विप्रो गालवः प्रतिगृह्य च ।
कन्यां प्रयातस्तां राजन् दृष्टवान् विनतात्मजम् ।। २१ ।।

राजन्! तत्पश्चात् विप्रवर गालव राजाके दरबारमें उपस्थित हुए और उस कन्याको वापस लेकर वहाँसे चल दिये। मार्गमें उन्हें विनतानन्दन गरुड़ दिखायी दिये ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११८ ।।

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

गालवका छः सौ घोड़ोंके साथ माधवीको विश्वामित्रजीकी सेवामें देना और उनके द्वारा उसके गर्भसे अष्टक नामक पुत्रकी उत्पत्ति होनेके बाद उस कन्याको ययातिके यहाँ लौटा देना

नारद उवाच

गालवं वैनतेयोऽथ प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
दिष्ट्या कृतार्थं पश्यामि भवन्तमिह वै द्विज ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—उस समय विनतानन्दन गरुड़ने गालव मुनिसे हँसते हुए कहा—'ब्रह्मन्! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मैं तुम्हें यहाँ कृतकृत्य देख रहा हूँ' ।।

गालवस्तु वचः श्रुत्वा वैनतेयेन भाषितम् ।
चतुर्भागावशिष्टं तदाचख्यौ कार्यमस्य हि ।। २ ।।

गरुड़की कही हुई यह बात सुनकर गालव बोले—'अभी गुरुदक्षिणाका एक चौथाई भाग बाकी रह गया है, जिसे शीघ्र पूरा करना है' ।। २ ।।

सुपर्णस्त्वब्रवीदेनं गालवं वदतां वरः ।
प्रयत्नस्ते न कर्तव्यो नैष सम्पत्स्यते तव ।। ३ ।।

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ गरुड़ने गालवसे कहा—'अब तुम्हें इसके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण नहीं होगा ।। ३ ।।

पुरा हि कान्यकुब्जे वै गाधेः सत्यवतीं सुताम् ।
भार्यार्थेऽवरयत् कन्यामृचीकस्तेन भाषितः ।। ४ ।।

'पूर्वकालकी बात है, कान्यकुब्जमें राजा गाधिकी कुमारी पुत्री सत्यवतीको अपनी पत्नी बनानेके लिये ऋचीक मुनिने राजासे उसे माँगा। तब राजाने ऋचीकसे कहा— ।। ४ ।।

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
भगवन् दीयतां मह्यं सहस्रमिति गालव ।। ५ ।।
ऋचीकस्तु तथेत्युक्त्वा वरुणस्यालयं गतः ।
अश्वतीर्थे हयाँल्लब्ध्वा दत्तवान् पार्थिवाय वै ।। ६ ।।

'भगवन्! मुझे कन्याके शुल्करूपमें एक हजार ऐसे घोड़े दीजिये, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् हों तथा एक ओरसे उनके कान श्याम रंगके हों' गालव! तब ऋचीक मुनि

'तथास्तु' कहकर वरुणके लोकमें गये और वहाँ अश्वतीर्थमें वैसे घोड़े प्राप्त करके उन्होंने राजा गाधिको दे दिये ।। ५-६ ।।

इष्ट्वा ते पुण्डरीकेण दत्ता राज्ञा द्विजातिषु ।
तेभ्यो द्वे द्वे शते क्रीत्वा प्राप्ते तैः पार्थिवैस्तदा ।। ७ ।।

'राजाने पुण्डरीक नामक यज्ञ करके वे सभी घोड़े ब्राह्मणोंको दक्षिणारूपमें बाँट दिये। तदनन्तर राजाओंने उनसे दो-दो सौ घोड़े खरीदकर अपने पास रख लिये ।। ७ ।।

अपराण्यपि चत्वारि शतानि द्विजसत्तम ।
नीयमानानि संतारे हृतान्यासन् वितस्तया ।। ८ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! मार्गमें एक जगह नदीको पार करना पड़ा। इन छः सौ घोड़ोंके साथ चार सौ और थे। नदी पार करनेके लिये ले जाये जाते समय वे चार सौ घोड़े वितस्ता (झेलम)-की प्रखर धारामें बह गये ।। ८ ।।

एवं न शक्यमप्राप्यं प्राप्तुं गालव कर्हिचित् ।
इमामश्वशताभ्यां वै द्वाभ्यां तस्मै निवेदय ।। ९ ।।
विश्वामित्राय धर्मात्मन् षड्भिरश्वशतैः सह ।
ततोऽसि गतसम्मोहः कृतकृत्यो द्विजोत्तम ।। १० ।।

'गालव! इस प्रकार इस देशमें इन छः सौ घोड़ोंके सिवा दूसरे घोड़े अप्राप्य हैं। अतः उन्हें कहीं भी पाना असम्भव है। मेरी राय यह है कि शेष दो सौ घोड़ोंके बदले यह कन्या ही विश्वामित्रजीको समर्पित कर दो। धर्मात्मन्! इन छः सौ घोड़ोंके साथ विश्वामित्रजीकी सेवामें इस कन्याको ही दे दो। द्विजश्रेष्ठ! ऐसा करनेसे तुम्हारी सारी घबराहट दूर हो जायगी और तुम सर्वथा कृतकृत्य हो जाओगे' ।। ९-१० ।।

गालवस्तं तथेत्युक्त्वा सुपर्णसहितस्ततः ।
आदायाश्वांश्च कन्यां च विश्वामित्रमुपागमत् ।। ११ ।।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर गालव गरुड़के साथ वे (छः सौ) घोड़े और वह कन्या लेकर विश्वामित्रजीके पास आये ।। ११ ।।

अश्वानां काङ्क्षितार्थानां षडिमानि शतानि वै ।
शतद्वयेन कन्येयं भवता प्रतिगृह्यताम् ।। १२ ।।

आकर उन्होंने कहा—'गुरुदेव! आप जैसे चाहते थे, वैसे ही ये छः सौ घोड़े आपकी सेवामें प्रस्तुत हैं और शेष दो सौके बदले आप इस कन्याको ग्रहण करें ।। १२ ।।

अस्यां राजर्षिभिः पुत्रा जाता वै धार्मिकास्त्रयः ।
चतुर्थं जनयत्वेकं भवानपि नरोत्तमम् ।। १३ ।।

'राजर्षियोंने इसके गर्भसे तीन धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न किये हैं। अब आप भी एक नरश्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न कीजिये, जिसकी संख्या चौथी होगी ।। १३ ।।

पूर्णान्येवं शतान्यष्टौ तुरगाणां भवन्तु ते ।

भवतो ह्यनृणो भूत्वा तपः कुर्यां यथासुखम् ।। १४ ।।

'इस प्रकार आपके आठ सौ घोड़ोंकी संख्या पूरी हो जाय और मैं आपसे उऋण होकर सुखपूर्वक तपस्या करूँ, ऐसी कृपा कीजिये' ।। १४ ।।

विश्वामित्रस्तु तं दृष्ट्वा गालवं सह पक्षिणा ।
कन्यां च तां वरारोहामिदमित्यब्रवीद् वचः ।। १५ ।।

विश्वामित्रने गरुड़सहित गालवकी ओर देखकर इस परम सुन्दरी कन्यापर भी दृष्टिपात किया और इस प्रकार कहा— ।। १५ ।।

किमियं पूर्वमेवेह न दत्ता मम गालव ।
पुत्रा ममैव चत्वारो भवेयुः कुलभावनाः ।। १६ ।।

'गालव! तुमने पहले ही इसे यहीं क्यों नहीं दे दिया, जिससे मुझे ही वंशप्रवर्तक चार पुत्र प्राप्त हो जाते ।।

प्रतिगृह्णामि ते कन्यामेकपुत्रफलाय वै ।
अश्वाश्चाश्रममासाद्य चरन्तु मम सर्वशः ।। १७ ।।

'अच्छा, अब मैं एक पुत्ररूपी फलकी प्राप्तिके लिये तुमसे इस कन्याको ग्रहण करता हूँ। ये घोड़े मेरे आश्रममें आकर सब ओर चरें' ।। १७ ।।

स तया रममाणोऽथ विश्वामित्रो महाद्युतिः ।
आत्मजं जनयामास माधवीपुत्रमष्टकम् ।। १८ ।।

इस प्रकार महातेजस्वी विश्वामित्र मुनिने उसके साथ रमण करते हुए यथासमय उसके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न किया। माधवीके उस पुत्रका नाम अष्टक था ।। १८ ।।

जातमात्रं सुतं तं च विश्वामित्रो महामुनिः ।
संयोज्यार्थैस्तथा धर्मैरश्वैस्तैः समयोजयत् ।। १९ ।।

पुत्रके उत्पन्न होते ही महामुनि विश्वामित्रने उसे धर्म, अर्थ तथा उन अश्वोंसे सम्पन्न कर दिया ।। १९ ।।

अथाष्टकः पुरं प्रायात् तदा सोमपुरप्रभम् ।
निर्यात्य कन्यां शिष्याय कौशिकोऽपि वनं ययौ ।। २० ।।

तदनन्तर अष्टक चन्द्रपुरीके समान प्रकाशित होनेवाली विश्वामित्रजीकी राजधानीमें गया और विश्वामित्र भी अपने शिष्य गालवको वह कन्या लौटाकर वनमें चले गये ।।

गालवोऽपि सुपर्णेन सह निर्यात्य दक्षिणाम् ।
मनसातिप्रतीतेन कन्यामिदमुवाच ह ।। २१ ।।
जातो दानपतिः पुत्रस्त्वया शूरस्तथापरः ।
सत्यधर्मरतश्चान्यो यज्वा चापि तथापरः ।। २२ ।।
तदागच्छ वरारोहे तारितस्ते पिता सुतैः ।
चत्वारश्चैव राजानस्तथा चाहं सुमध्यमे ।। २३ ।।

गरुड़सहित गालव भी गुरुदक्षिणा देकर मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट हो राजकन्या माधवीसे इस प्रकार बोले—‘सुन्दरी! तुम्हारा पहला पुत्र दानपति, दूसरा शूरवीर, तीसरा सत्यधर्मपरायण और चौथा यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला होगा। सुमध्यमे! तुमने इन पुत्रोंके द्वारा अपने पिताको तो तारा ही है, उन चार राजाओंका भी उद्धार कर दिया है। अतः अब हमारे साथ आओ’ ।।

गालवस्त्वभ्यनुज्ञाय सुपर्णं पन्नगाशनम् ।
पितुर्निर्यात्य तां कन्यां प्रययौ वनमेव ह ।। २४ ।।

ऐसा कहकर सर्पभोजी गरुड़से आज्ञा ले उस राजकन्याको पुनः उसके पिता ययातिके यहाँ लौटाकर गालव वनमें ही चले गये ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। ११९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११९ ।।

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

माधवीका वनमें जाकर तप करना तथा ययातिका स्वर्गमें जाकर सुखभोगके पश्चात् मोहवश तेजोहीन होना

नारद उवाच

स तु राजा पुनस्तस्याः कर्तुकामः स्वयंवरम् ।
उपगम्याश्रमपदं गङ्गायमुनसंगमे ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर राजा ययाति पुनः माधवीके स्वयंवरका विचार करके गंगा-यमुनाके संगम-पर बने हुए अपने आश्रममें जाकर रहने लगे ।। १ ।।

गृहीतमाल्यदामां तां रथमारोप्य माधवीम् ।
पूरुर्यदुश्च भगिनीमाश्रमे पर्यधावताम् ।। २ ।।

फिर हाथमें हार लिये बहिन माधवीको रथपर बिठाकर पूरु और यदु—ये दोनों भाई आश्रमपर गये ।।

नागयक्षमनुष्याणां गन्धर्वमृगपक्षिणाम् ।
शैलद्रुमवनौकानामासीत् तत्र समागमः ।। ३ ।।

उस स्वयंवरमें नाग, यक्ष, मनुष्य, गन्धर्व, पशु, पक्षी तथा पर्वत, वृक्ष और वनोंमें निवास करनेवाले प्राणियोंका शुभागमन हुआ ।। ३ ।।

नानापुरुषदेश्यानामीश्वरैश्च समाकुलम् ।
ऋषिभिर्ब्रह्मकल्पैश्च समन्तादावृतं वनम् ।। ४ ।।

प्रयागका वह वन अनेक जनपदोंके राजाओंसे व्याप्त हो गया और ब्रह्माजीके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षियोंने उस स्थानको सब ओरसे घेर लिया ।। ४ ।।

निर्दिश्यमानेषु तु सा वरेषु वरवर्णिनी ।
वरानुत्क्रम्य सर्वांस्तान् वरं वृतवती वनम् ।। ५ ।।

उस समय जब माधवीको वहाँ आये हुए वरोंका परिचय दिया जाने लगा, तब उस वरवर्णिनी कन्याने सारे वरोंको छोड़कर तपोवनका ही वररूपमें वरण कर लिया ।। ५ ।।

अवतीर्य रथात् कन्या नमस्कृत्य च बन्धुषु ।
उपगम्य वनं पुण्यं तपस्तेपे ययातिजा ।। ६ ।।

ययातिनन्दिनी कुमारी माधवी रथसे उतरकर अपने पिता, भाई, बन्धु आदि कुटुम्बियोंको नमस्कार करके पुण्य तपोवनमें चली गयी और वहाँ तपस्या करने लगी ।। ६ ।।

उपवासैश्च विविधैर्दीक्षाभिर्नियमैस्तथा ।

आत्मनो लघुतां कृत्वा बभूव मृगचारिणी ।। ७ ।।

वह उपवासपूर्वक विविध प्रकारकी दीक्षाओं तथा नियमोंका पालन करती हुई अपने मनको राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित करके वनमें मृगीके समान विचरने लगी ।। ७ ।।

वैदूर्याङ्कुरकल्पानि मृदूनि हरितानि च ।
चरन्तीश्लक्ष्णशष्पाणि तिक्तानि मधुराणि च ।। ८ ।।
स्रवन्तीनां च पुण्यानां सुरसानि शुचीनि च ।
पिबन्ती वारिमुख्यानि शीतानि विमलानि च ।। ९ ।।
वनेषु मृगवासेषु व्याघ्रविप्रोषितेषु च ।
दावाग्निविप्रयुक्तेषु शून्येषु गहनेषु च ।। १० ।।
चरन्ती हरिणैः सार्धं मृगीव वनचारिणी ।
चचार विपुलं धर्मं ब्रह्मचर्येण संवृतम् ।। ११ ।।

इस क्रमसे माधवी वैदूर्यमणिके अंकुरोंके समान सुशोभित, कोमल, चिकनी, तिक्त, मधुर एवं हरी-हरी घास चरती, पवित्र नदियोंके शुद्ध, शीतल, निर्मल एवं सुस्वादु जल पीती और मृगोंके आवासभूत, व्याघ्ररहित एवं दावानलशून्य निर्जन वनोंमें मृगोंके साथ वनचारिणी मृगीकी भाँति विचरण करती थी। उसने ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक महान् धर्मका आचरण किया ।। ८—११ ।।

ययातिरपि पूर्वेषां राज्ञां वृत्तमनुष्ठितः ।
बहुवर्षसहस्रायुर्युयुजे कालधर्मणा ।। १२ ।।

राजा ययाति भी पूर्ववर्ती राजाओंके सदाचारका पालन करते हुए अनेक सहस्र वर्षोंकी आयु पूरी करके मृत्युको प्राप्त हुए ।। १२ ।।

पूरुर्यदुश्च द्वौ वंशे वर्धमानौ नरोत्तमौ ।
ताभ्यां प्रतिष्ठितो लोके परलोके च नाहुषः ।। १३ ।।

उनके (पुत्रोंमेंसे) दो पुत्र नरश्रेष्ठ पूरु और यदु उस कुलमें अभ्युदयशील थे। उन्हीं दोनोंसे नहुषपुत्र ययाति इस लोक और परलोकमें भी प्रतिष्ठित हुए ।।

महीपते नरपतिर्ययातिः स्वर्गमास्थितः ।
महर्षिकल्पो नृपतिः स्वर्गाग्र्यफलभुग् विभुः ।। १४ ।।

राजन्! महाराज ययाति महर्षियोंके समान पुण्यात्मा एवं तपस्वी थे। वे स्वर्गमें जाकर वहाँके श्रेष्ठ फलका उपभोग करने लगे ।। १४ ।।

बहुवर्षसहस्राख्ये काले बहुगुणे गते ।
राजर्षिषु निषण्णेषु महीयस्सु महर्धिषु ।। १५ ।।
अवमेने नरान् सर्वान् देवानृषिगणांस्तथा ।
ययातिर्मूढविज्ञानो विस्मयाविष्टचेतनः ।। १६ ।।

इस प्रकार वहाँ अनेक गुणोंसे युक्त कई हजार वर्षोंका समय व्यतीत हो गया। ययातिका चित्त अपना स्वर्गीय वैभव देखकर स्वयं ही आश्चर्यचकित हो उठा। उनकी बुद्धिपर मोह छा गया और वे महान् समृद्धिशाली महत्तम राजर्षियोंके अपने समीप बैठे होनेपर भी सम्पूर्ण देवताओं, मनुष्यों तथा महर्षियोंकी भी अवहेलना करने लगे ।। १५-१६ ।।

ततस्तं बुबुधे देवः शक्रो बलनिषूदनः ।
ते च राजर्षयः सर्वे धिग्धिगित्येवमब्रुवन् ।। १७ ।।

तदनन्तर बलसूदन इन्द्रदेवको ययातिकी इस अवस्थाका पता लग गया। वे सम्पूर्ण राजर्षिगण भी उस समय ययातिको धिक्कारने लगे ।। १७ ।।

विचारश्च समुत्पन्नो निरीक्ष्य नहुषात्मजम् ।
को न्वयं कस्य वा राज्ञः कथं वा स्वर्गमागतः ।। १८ ।।

नहुषपुत्र ययातिको देखकर स्वर्गवासियोंमें यह विचार खड़ा हो गया—'यह कौन है? किस राजाका पुत्र है? और कैसे स्वर्गमें आ गया है? ।। १८ ।।

कर्मणा केन सिद्धोऽयं क्व वानेन तपश्चितम् ।
कथं वा ज्ञायते स्वर्गे केन वा ज्ञायतेऽप्युत ।। १९ ।।

'इसे किस कर्मसे सिद्धि प्राप्त हुई है? इसने कहाँ तपस्या की है? स्वर्गमें किस प्रकार इसे जाना जाय अथवा कौन यहाँ इसको जानता है?' ।। १९ ।।

एवं विचारयन्तस्ते राजानं स्वर्गवासिनः ।
दृष्ट्वा पप्रच्छुरन्योन्यं ययातिं नृपतिं प्रति ।। २० ।।

इस प्रकार विचार करते हुए स्वर्गवासी ययातिके विषयमें एक-दूसरेकी ओर देखकर प्रश्न करने लगे ।। २० ।।

विमानपालाः शतशः स्वर्गद्वाराभिरक्षिणः ।
पृष्टा आसनपालाश्च न जानीमेत्यथाब्रुवन् ।। २१ ।।

सैकड़ों विमानरक्षकों, स्वर्गके द्वारपालों तथा सिंहासनके रक्षकोंसे पूछा गया; किंतु सबने यही उत्तर दिया—'हम इन्हें नहीं जानते' ।। २१ ।।

सर्वे ते ह्यावृतज्ञाना नाभ्यजानन्त तं नृपम् ।
स मुहूर्तादथ नृपो हतौजाश्चाभवत् तदा ।। २२ ।।

उन सबके ज्ञानपर पर्दा पड़ गया था; अतः वे उन राजाको नहीं पहचान सके। फिर तो दो ही घड़ीमें राजा ययातिका तेज नष्ट हो गया ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिमोहे विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसंगमें ययातिमोहविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२० ।।

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

ययातिका स्वर्गलोकसे पतन और उनके दौहित्रों, पुत्री तथा गालव मुनिका उन्हें पुनः स्वर्गलोकमें पहुँचानेके लिये अपना-अपना पुण्य देनेके लिये उद्यत होना

नारद उवाच

अथ प्रचलितः स्थानादासनाच्च परिच्युतः ।
कम्पितेनेव मनसा धर्षितः शोकवह्निना ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् ययाति अपने सिंहासनसे गिरकर उस स्वर्गीय स्थानसे भी विचलित हो गये। उनका हृदय काँप-सा उठा और शोकाग्नि उन्हें दग्ध करने लगी ।। १ ।।

म्लानस्रग्भ्रष्टविज्ञानः प्रभ्रष्टमुकुटाङ्गदः ।
विघूर्णन् स्रस्तसर्वाङ्गः प्रभ्रष्टाभरणाम्बरः ।। २ ।।

उन्होंने जो दिव्य कुसुमोंकी माला पहन रखी थी, वह मुरझा गयी। उनकी ज्ञानशक्ति लुप्त होने लगी। मुकुट और बाजूबन्द शरीरसे अलग हो गये। उन्हें चक्कर आने लगा। उनके सारे अंग शिथिल हो गये और वस्त्र तथा आभूषण भी खिसक-खिसककर गिरने लगे ।। २ ।।

अदृश्यमानस्तान् पश्यन्नपश्यंश्च पुनः पुनः ।
शून्यः शून्येन मनसा प्रपतिष्यन् महीतलम् ।। ३ ।।
किं मया मनसा ध्यातमशुभं धर्मदूषणम् ।
येनाहं चलितः स्थानादिति राजा व्यचिन्तयत् ।। ४ ।।

वे अन्धकारसे आवृत होनेके कारण स्वयं स्वर्गवासियोंको नहीं दिखायी देते थे; परंतु वे उन्हें बार-बार देखते और कभी नहीं भी देख पाते थे। पृथ्वीपर गिरनेसे पहले शून्य-से होकर शून्य हृदयसे राजा यह चिन्ता करने लगे कि मैंने अपने मनसे किस धर्मदूषक अशुभ वस्तुका चिन्तन किया है, जिसके कारण मुझे अपने स्थानसे भ्रष्ट होना पड़ा है ।। ३-४ ।।

ते तु तत्रैव राजानः सिद्धाश्चाप्सरसस्तथा ।
अपश्यन्त निरालम्बं तं ययातिं परिच्युतम् ।। ५ ।।

स्वर्गके राजर्षि, सिद्ध और अप्सरा—सभीने स्वर्गसे भ्रष्ट हो अवलम्बशून्य हुए राजा ययातिको देखा ।। ५ ।।

अथैत्य पुरुषः कश्चित् क्षीणपुण्यनिपातकः ।
ययातिमब्रवीद् राजन् देवराजस्य शासनात् ।। ६ ।।

राजन्! इतनेमें ही पुण्यरहित पुरुषोंको स्वर्गसे नीचे गिरानेवाला कोई पुरुष देवराजकी आज्ञासे वहाँ आकर ययातिसे इस प्रकार बोला— ।। ६ ।।

अतीव मदमत्तस्त्वं न कंचिन्नावमन्यसे ।

मानेन भ्रष्टः स्वर्गस्ते नार्हस्त्वं पार्थिवात्मज ।। ७ ।।

'राजपुत्र! तुम अत्यन्त मदमत्त हो और कोई भी ऐसा महान् पुरुष यहाँ नहीं है, जिसका तुम तिरस्कार न करते हो। इस मानके कारण ही तुम अपने स्थानसे गिर रहे हो। अब तुम यहाँ रहनेके योग्य नहीं हो ।। ७ ।।

न च प्रज्ञायसे गच्छ पतस्वेति तमब्रवीत् ।

पतेयं सत्स्विति वचस्त्रिरुक्त्वा नहुषात्मजः ।। ८ ।।

'तुम्हें यहाँ कोई नहीं जानता है; अतः जाओ, नीचे गिरो।' जब उसने ऐसा कहा, तब नहुषपुत्र ययाति तीन बार ऐसा कहकर नीचे जाने लगे कि मैं सत्पुरुषोंके बीचमें गिरूँ ।।

पतिष्यंश्चिन्तयामास गतिं गतिमतां वरः ।

एतस्मिन्नेव काले तु नैमिषे पार्थिवर्षभान् ।। ९ ।।

चतुरोऽपश्यत नृपस्तेषां मध्ये पपात ह ।

जंगम प्राणियोंमें श्रेष्ठ ययाति गिरते समय अपनी गतिके विषयमें चिन्ता कर रहे थे। इसी समय उन्होंने नैमिषारण्यमें चार श्रेष्ठ राजाओंको देखा और उन्हींके बीचमें वे गिरने लगे ।। ९ $\frac{1}{2}$ ।।

प्रतर्दनो वसुमनाः शिबिरौशीनरोऽष्टकः ।। १० ।।

वाजपेयेन यज्ञेन तर्पयन्ति सुरेश्वरम् ।

वहाँ प्रतर्दन, वसुमना, औशीनर शिबि तथा अष्टक—ये चार नरेश वाजपेययज्ञके द्वारा देवेश्वर श्रीहरिको तृप्त करते थे ।। १० $\frac{1}{2}$ ।।

तेषामध्वरजं धूमं स्वर्गद्वारमुपस्थितम् ।। ११ ।।

ययातिरुपजिघ्रन् वै निपपात महीं प्रति ।

उनके यज्ञका धूम मानो स्वर्गका द्वार बनकर उपस्थित हुआ था। ययाति उसीको सूँघते हुए पृथ्वीकी ओर गिर रहे थे ।। ११ $\frac{1}{2}$ ।।

भूमौ स्वर्गे च सम्बद्धां नदीं धूममयीमिव ।

गङ्गां गामिव गच्छन्तीमालम्ब्य जगतीपतिः ।। १२ ।।

श्रीमत्स्ववभृथाग्र्येषु चतुर्षु प्रतिबन्धुषु ।

मध्ये निपतितो राजा लोकपालोपमेषु सः ।। १३ ।।

भूतलसे स्वर्गतक धूममयी नदी-सी प्रवाहित हो रही थी, मानो आकाशगंगा भूमिपर जा रही हों। भूपाल ययाति उसी धूमलेखाका अवलम्बन करके लोकपालोंके समान तेजस्वी तथा अवभृथ स्नानसे पवित्र अपने चारों सम्बन्धियोंके बीचमें गिरे ।। १२-१३ ।।

चतुर्षु हुतकल्पेषु राजसिंहमहाग्निषु ।

पपात मध्ये राजर्षिर्ययातिः पुण्यसंक्षये ।। १४ ।।

वे चारों श्रेष्ठ राजा उन चार विशाल अग्नियोंके समान तेजस्वी थे, जो हविष्यकी आहुति पाकर प्रज्वलित हो रहे हों। राजर्षि ययाति अपना पुण्य क्षीण होनेपर उन्हींके मध्यभागमें गिरे ।। १४ ।।

तमाहुः पार्थिवाः सर्वे दीप्यमानमिव श्रिया ।
को भवान् कस्य वा बन्धुर्देशस्य नगरस्य वा ।। १५ ।।
यक्षो वाप्यथवा देवो गन्धर्वो राक्षसोऽपि वा ।
न हि मानुषरूपोऽसि को वार्थः काङ्क्ष्यते त्वया ।। १६ ।।

अपनी दिव्य कान्तिसे उद्भासित होनेवाले उन महाराजसे सभी भूपालोंने पूछा—‘आप कौन हैं? किसके भाई-बन्धु हैं तथा किस देश और नगरमें आपका निवास-स्थान है? आप यक्ष हैं या देवता? गन्धर्व हैं या राक्षस? आपका स्वरूप मनुष्यों-जैसा नहीं है। बताइये, आप कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं’ ।। १५-१६ ।।

ययातिरुवाच

ययातिरस्मि राजर्षिः क्षीणपुण्यश्च्युतो दिवः ।
पतेयं सत्स्विति ध्यायन् भवत्सु पतितस्ततः ।। १७ ।।

ययातिने कहा—मैं राजर्षि ययाति हूँ। अपना पुण्य क्षीण होनेके कारण स्वर्गसे नीचे गिर गया हूँ। गिरते समय मेरे मनमें यह चिन्तन चल रहा था कि मैं सत्पुरुषोंके बीचमें गिरूँ। अतः आपलोगोंके बीचमें आ पड़ा हूँ ।। १७ ।।

राजान ऊचुः

सत्यमेतद् भवतु ते काङ्क्षितं पुरुषर्षभ ।
सर्वेषां नः क्रतुफलं धर्मश्च प्रतिगृह्यताम् ।। १८ ।।

वे राजा बोले—पुरुषशिरोमणे! आपका यह मनोरथ सफल हो। आप हम सब लोगोंके यज्ञोंका फल और धर्म ग्रहण करें ।। १८ ।।

ययातिरुवाच

नाहं प्रतिग्रहधनो ब्राह्मणः क्षत्रियो ह्यहम् ।
न च मे प्रवणा बुद्धिः परपुण्यविनाशने ।। १९ ।।

ययातिने कहा—प्रतिग्रह ही जिसका धन है, वह ब्राह्मण मैं नहीं हूँ। मैं तो क्षत्रिय हूँ। अतः मेरी बुद्धि पराये पुण्यका (ग्रहण करके उनका पुण्य) क्षय करनेके लिये उद्यत नहीं है ।। १९ ।।

नारद उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु मृगचर्याक्रमागताम् ।

माधवीं प्रेक्ष्य राजानस्तेऽभिवाद्येदमब्रुवन् ।। २० ।।

किमागमनकृत्यं ते किं कुर्मः शासनं तव ।

आज्ञाप्या हि वयं सर्वे तव पुत्रास्तपोधने ।। २१ ।।

नारदजी कहते हैं—इसी समय उन राजाओंने अपनी माता माधवीको देखा, जो मृगोंकी भाँति उन्हींके साथ विचरती हुई क्रमशः वहाँ आ पहुँची थी। उसे प्रणाम करके राजाओंने इस प्रकार पूछा—‘तपोधने! यहाँ आपके पधारनेका क्या प्रयोजन है? हम आपकी किस आज्ञाका पालन करें? हम सभी आपके पुत्र हैं; अतः हमें आप योग्य सेवाके लिये आज्ञा प्रदान करें’ ।।

तेषां तद् भाषितं श्रुत्वा माधवी परया मुदा ।

पितरं समुपागच्छद् ययातिं सा ववन्द च ।। २२ ।।

उनकी ये बातें सुनकर माधवीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह अपने पिता ययातिके पास गयी और उसने उन्हें प्रणाम किया ।। २२ ।।

स्पृष्ट्वा मूर्धनि तान् पुत्रांस्तापसी वाक्यमब्रवीत् ।

दौहित्रास्तव राजेन्द्र मम पुत्रा न ते पराः ।। २३ ।।

तदनन्तर तपस्विनी माधवीने उन पुत्रोंके सिरपर हाथ रखकर अपने पितासे कहा—‘राजेन्द्र! ये सभी आपके दौहित्र (नाती) और मेरे पुत्र हैं, पराये नहीं हैं ।।

इमे त्वां तारयिष्यन्ति दृष्टमेतत् पुरातने ।

अहं ते दुहिता राजन् माधवी मृगचारिणी ।। २४ ।।

‘ये आपको तार देंगे। दौहित्रोंके द्वारा मातामह (नाना)-का यह उद्धार पुरातन वेदशास्त्रमें स्पष्ट देखा गया है। राजन्! मैं आपकी पुत्री माधवी हूँ और इस तपोवनमें मृगोंके समान जीवनचर्या बनाकर विचरती हूँ ।।

मयाप्युपचितो धर्मस्ततोऽर्धं प्रतिगृह्यताम् ।

यस्माद् राजन् नराः सर्वे अपत्यफलभागिनः ।। २५ ।।

तस्मादिच्छन्ति दौहित्रान् यथा त्वं वसुधाधिप ।

‘पृथ्वीनाथ! मैंने भी महान् धर्मका संचय किया है। उसका आधा भाग आप ग्रहण करें। राजन्! सब मनुष्य अपनी संतानोंके किये हुए सत्कर्मोंके फलके भागी होते हैं। इसीलिये वे दौहित्रोंकी इच्छा करते हैं, जैसे आपने की थी’ ।। २५१/२ ।।

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे शिरसा जननीं तदा ।। २६ ।।

अभिवाद्य नमस्कृत्य मातामहमथाब्रुवन् ।

उच्चैरनुपमैः स्निग्धैः स्वरैरापूर्य मेदिनीम् ।। २७ ।।

मातामहं नृपतयस्तारयन्तो दिवश्च्युतम् ।

तब उन सभी राजाओंने अपनी माताके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और स्वर्गभ्रष्ट नानाको भी नमस्कार करके अपने उच्च, अनुपम और स्नेहपूर्ण स्वरसे पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए उन्हें तारनेके उद्देश्यसे उनसे कुछ कहनेका विचार किया ।। २६-२७ $\frac{१}{२}$ ।।

अथ तस्मादुपगतो गालवोऽप्याह पार्थिवम् ।
तपसो मेऽष्टभागेन स्वर्गमारोहतां भवान् ।। २८ ।।

इसी बीचमें उस वनसे गालव मुनि भी वहाँ आ पहुँचे तथा राजासे इस प्रकार बोले—‘महाराज! आप मेरी तपस्याका आठवाँ भाग लेकर उसके बलसे स्वर्गलोकमें पहुँच जायँ’ ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिस्वर्गभ्रंशे एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसंगमें ययातिका स्वर्गलोकसे पतनविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२१ ।।

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्संग एवं दौहित्रोंके पुण्यदानसे ययातिका पुनः स्वर्गारोहण

नारद उवाच

प्रत्यभिज्ञातमात्रोऽथ सद्भिस्तैर्नरपुङ्गवः ।
समारुरोह नृपतिरस्पृशन् वसुधातलम् ।
ययातिर्दिव्यसंस्थानो बभूव विगतज्वरः ।। १ ।।
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ।
दिव्यगन्धगुणोपेतो न पृथ्वीमस्पृशत् पदा ।। २ ।।

नारदजी कहते हैं—उन सत्पुरुषोंके द्वारा पहचाने जानेमात्रसे नरश्रेष्ठ राजा ययाति पृथ्वीतलका स्पर्श न करते हुए ऊपरकी ओर उठने लगे। उस समय उनकी आकृति दिव्य हो गयी थी। वे शोक और चिन्तासे रहित थे। उन्होंने दिव्य हार और दिव्य वस्त्र धारण कर रखे थे। दिव्य आभूषण उनके अंगोंकी शोभा बढ़ा रहे थे तथा वे दिव्य सुगन्धसे सुवासित हो रहे थे। वे अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं कर रहे थे ।। १-२ ।।

ततो वसुमनाः पूर्वमुच्चैरुच्चारयन् वचः ।
ख्यातो दानपतिर्लोके व्याजहार नृपं तदा ।। ३ ।।

तदनन्तर लोकमें दानपतिके नामसे विख्यात राजा वसुमना पहले उच्चस्वरसे शब्दोंका उच्चारण करते हुए महाराज ययातिसे इस प्रकार बोले— ।। ३ ।।

प्राप्तवानस्मि यल्लोके सर्ववर्णेष्वगर्हया ।
तदप्यथ च दास्यामि तेन संयुज्यतां भवान् ।। ४ ।।

‘मैंने जगत्‌में सभी वर्णोंकी निन्दासे दूर रहकर जो पुण्य प्राप्त किया है, वह भी आपको दे रहा हूँ। आप उस पुण्यसे संयुक्त हों ।। ४ ।।

यत् फलं दानशीलस्य क्षमाशीलस्य यत् फलम् ।
यच्च मे फलमाधाने तेन संयुज्यतां भवान् ।। ५ ।।

‘दानशील पुरुषको जो पुण्यफल प्राप्त होता है, क्षमाशील मनुष्यको जो फल मिलता है तथा अग्निस्थापन आदि वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानसे मुझे जिस फलकी प्राप्ति होनेवाली है, उन सभी प्रकारके पुण्यफलोंसे आप सम्पन्न हों’ ।। ५ ।।

ततः प्रतर्दनोऽप्याह वाक्यं क्षत्रियपुङ्गवः ।
यथा धर्मरतिर्नित्यं नित्यं युद्धपरायणः ।। ६ ।।
प्राप्तवानस्मि यल्लोके क्षत्रवंशोद्भवं यशः ।

वीरशब्दफलं चैव तेन संयुज्यतां भवान् ।। ७ ।।

तदनन्तर क्षत्रियशिरोमणि प्रतर्दनने यह बात कही—'मैं जिस प्रकार सदा धर्ममें तत्पर रहा हूँ, सर्वदा न्याययुक्त युद्धमें संलग्न होता आया हूँ तथा संसारमें मैंने जो क्षत्रियवंशके अनुरूप यश एवं वीर शब्दके योग्य पुण्यफलका अर्जन किया है, उससे आप संयुक्त हों' ।।

शिबिरौशीनरो धीमानुवाच मधुरां गिरम् ।
यथा बालेषु नारीषु वैहार्येषु तथैव च ।। ८ ।।
संगरेषु निपातेषु तथा तद्व्यसनेषु च ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे तेन सत्येन खं व्रज ।। ९ ।।
यथा प्राणांश्च राज्यं च राजन् कामसुखानि च ।
त्यजेयं न पुनः सत्यं तेन सत्येन खं व्रज ।। १० ।।
यथा सत्येन मे धर्मो यथा सत्येन पावकः ।
प्रीतः शतक्रतुश्चैव तेन सत्येन खं व्रज ।। ११ ।।

तत्पश्चात् उशीनरपुत्र बुद्धिमान् शिबिने मधुर वाणीमें कहा—'मैंने बालकोंमें, स्त्रियोंमें, हास-परिहासके योग्य सम्बन्धियोंमें, युद्धमें, आपत्तियोंमें तथा संकटोंमें भी पहले कभी असत्यभाषण नहीं किया है। उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये। राजन्! मैं अपने प्राण, राज्य एवं मनोवांछित सुखभोगको भी त्याग सकता हूँ, परंतु सत्यको नहीं छोड़ सकता। उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये। यदि मेरे सत्यसे धर्मदेव संतुष्ट हैं, यदि मेरे सत्यसे अग्निदेव प्रसन्न हैं तथा यदि मेरे सत्यभाषणसे देवराज इन्द्र भी तृप्त हुए हैं तो उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्गलोक-में जाइये' ।।

अष्टकस्त्वथ राजर्षिः कौशिको माधवीसुतः ।
अनेकशतयज्वानं नाहुषं प्राप्य धर्मवित् ।। १२ ।।

इसके बाद माधवीके छोटे पुत्र कुशिकवंशी धर्मज्ञ राजर्षि अष्टकने कई सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले नहुषनन्दन ययातिके पास जाकर कहा— ।। १२ ।।

शतशः पुण्डरीका मे गोसवाश्चरिताः प्रभो ।
क्रतवो वाजपेयाश्च तेषां फलमवाप्नुहि ।। १३ ।।
न मे रत्नानि न धनं न तथान्ये परिच्छदाः ।
क्रतुष्वनुपयुक्तानि तेन सत्येन खं व्रज ।। १४ ।।

'प्रभो! मैंने सैकड़ों पुण्डरीक, गोसव तथा वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान किया है। आप उन सबका फल प्राप्त करें। मेरे पास कोई भी रत्न, धन अथवा अन्य सामग्री ऐसी नहीं है, जिसका मैंने यज्ञोंमें उपयोग न किया हो। इस सत्य कर्मके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये' ।। १३-१४ ।।

यथा यथा हि जल्पन्ति दौहित्रास्तं नराधिपम् ।
तथा तथा वसुमतीं त्यक्त्वा राजा दिवं ययौ ।। १५ ।।

ययातिके दौहित्र जैसे-जैसे उनके प्रति उपर्युक्त बातें कहते थे, वैसे-ही-वैसे वे महाराज इस भूतलको छोड़ते हुए स्वर्गलोककी ओर बढ़ते चले गये थे ।। १५ ।।

एवं सर्वे समस्तैस्ते राजानः सुकृतैस्तदा ।

ययातिं स्वर्गतो भ्रष्टं तारयामासुरञ्जसा ।। १६ ।।

इस प्रकार अपने सम्पूर्ण सत्कर्मोंके द्वारा उन सब राजाओंने स्वर्गसे गिरे हुए राजा ययातिको अनायास ही तार दिया ।। १६ ।।

दौहित्राः स्वेन धर्मेण यज्ञदानकृतेन वै ।

चतुर्षु राजवंशेषु सम्भूताः कुलवर्धनाः ।

मातामहं महाप्राज्ञं दिवमारोपयन्त ते ।। १७ ।।

अपने वंशकी वृद्धि करनेवाले ययातिके वे चारों दौहित्र चार राजवंशोंमें उत्पन्न हुए थे। उन्होंने अपने यज्ञ-दानादिजनित धर्मसे उन महाप्राज्ञ मातामह ययातिको स्वर्गलोकमें पहुँचा दिया ।। १७ ।।

राजान ऊचुः

राजधर्मगुणोपेताः सर्वधर्मगुणान्विताः ।

दौहित्रास्ते वयं राजन् दिवमारोह पार्थिव ।। १८ ।।

वे राजा बोले—राजन्! पृथ्वीपते! हम राजधर्म तथा राजोचित गुणोंसे युक्त, सम्पूर्ण धर्मों तथा समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न आपके दौहित्र हैं। आप हमारे पुण्य लेकर स्वर्गलोकपर आरूढ़ होइये ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिस्वर्गारोहणे द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसंगमें ययातिका स्वर्गारोहणविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२२ ।।

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

स्वर्गलोकमें ययातिका स्वागत, ययातिके पूछनेपर ब्रह्माजीका अभिमानको ही पतनका कारण बताना तथा नारदजीका दुर्योधनको समझाना

नारद उवाच

सद्भिरारोपितः स्वर्गं पार्थिवैर्भूरिदक्षिणैः ।
अभ्यनुज्ञाय दौहित्रान् ययातिर्दिवमास्थितः ।। १ ।।

नारदजी कहते हैं—प्रचुर दक्षिणा देनेवाले उन श्रेष्ठ राजाओंने राजा ययातिको स्वर्गपर आरूढ़ कर दिया। राजा ययाति अपने उन दौहित्रोंको विदा देकर स्वर्गलोकमें जा पहुँचे ।। १ ।।

अभिवृष्टश्च वर्षेण नानापुष्पसुगन्धिना ।
परिष्वक्तश्च पुण्येन वायुना पुण्यगन्धिना ।। २ ।।

वहाँ उनके ऊपर नाना प्रकारके सुगन्धयुक्त पुष्पोंकी वर्षा हुई। पवित्र सौरभसे सुवासित पावन समीर उनका सब ओरसे आलिंगन कर रहा था ।। २ ।।

ययातिका स्वर्गारोहण

अचलं स्थानमासाद्य दौहित्रफलनिर्जितम् ।

कर्मभिः स्वैरुपचितो जज्वाल परया श्रिया ।। ३ ।।

दौहित्रोंके पुण्यफलसे प्राप्त हुए अविचल स्थानको पाकर अपने सत्कर्मोंसे बढ़े हुए राजा ययाति उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित होने लगे ।। ३ ।।

उपगीतोपनृत्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
प्रीत्या प्रतिगृहीतश्च स्वर्गे दुन्दुभिनिःस्वनैः ।। ४ ।।

गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदायोंने ‘उनके सुयशका’ गान करते हुए उनके समीप नृत्य करके उन्हें प्रसन्न किया। स्वर्गलोकमें दुन्दुभि आदि वाद्योंकी गम्भीर ध्वनिके साथ अत्यन्त प्रेमपूर्वक उनको अपनाया गया ।।

अभिष्टुतश्च विविधैर्देवराजर्षिचारणैः ।
अर्चितश्चोत्तमार्घ्येण दैवतैरभिनन्दितः ।। ५ ।।

नाना प्रकारके देवर्षियों, राजर्षियों तथा चारणोंने उनका स्तवन किया। देवताओंने उत्तम अर्घ्य निवेदन करके उनका पूजन और अभिनन्दन किया ।। ५ ।।

प्राप्तः स्वर्गफलं चैव तमुवाच पितामहः ।
निर्वृतं शान्तमनसं वचोभिस्तर्पयन्निव ।। ६ ।।

इस प्रकार ययातिने उत्तम स्वर्गफल पाया तदनन्तर संतुष्ट एवं शान्तचित्त हुए ययातिको अपने मधुर वचनोंद्वारा पूर्णतः तृप्त करते हुए-से पितामह ब्रह्माजी उनसे इस प्रकार बोले — ।। ६ ।।

चतुष्पादस्त्वया धर्मश्चितो लोक्येन कर्मणा ।
अक्षयस्तव लोकोऽयं कीर्तिश्चैवाक्षया दिवि ।। ७ ।।

‘राजन्! तुमने लोकहितकारी सत्कर्मद्वारा चारों चरणोंसे युक्त धर्मका संग्रह किया; अतः तुम्हें यह अक्षय स्वर्गलोक प्राप्त हुआ और स्वर्गमें तुम्हारी क्षीण न होनेवाली कीर्ति फैल गयी ।। ७ ।।

पुनस्त्वयैव राजर्षे सुकृतेन विघातितम् ।
आवृतं तमसा चेतः सर्वेषां स्वर्गवासिनाम् ।। ८ ।।
येन त्वां नाभिजानन्ति ततोऽज्ञातोऽसि पातितः ।
प्रीत्यैव चासि दौहित्रैस्तारितस्त्वमिहागतः ।। ९ ।।

‘राजर्षे! फिर तुम्हींने ‘अभिमानपूर्ण बर्तावसे’ अपने पुण्यका नाश किया था। उस समय समस्त स्वर्गवासियोंका चित्त तमोगुणसे व्याप्त हो गया था, जिससे वे तुम्हें नहीं जानते या नहीं पहचानते थे; अतः सबके लिये अज्ञात होनेके कारण तुम स्वर्गसे नीचे गिरा दिये गये। फिर तुम्हारे दौहित्रोंने प्रेमपूर्वक तुम्हें तार दिया है, जिससे तुम पुनः यहाँ आ गये हो ।। ८-९ ।।

स्थानं च प्रतिपन्नोऽसि कर्मणा स्वेन निर्जितम् ।
अचलं शाश्वतं पुण्यमुत्तमं ध्रुवमव्ययम् ।। १० ।।

‘अब तुमने अपने (दौहित्रोंद्वारा प्राप्त) कर्मसे जीते हुए अविचल, शाश्वत, पुण्यमय, उत्तम, ध्रुव तथा अविनाशी स्थान प्राप्त किया है’ ।। १० ।।

ययातिरुवाच

भगवन् संशयो मेऽस्ति कश्चित् तं छेत्तुमर्हसि ।
न ह्यन्यमहमर्हामि प्रष्टुं लोकपितामह ।। ११ ।।

ययाति बोले—भगवन्! मेरे मनमें कोई संदेह है, जिसका निवारण आप ही कर सकते हैं। लोकपितामह! मैं इस प्रश्नको और किसीके सामने रखना उचित नहीं समझता ।। ११ ।।

बहुवर्षसहस्रान्तं प्रजापालनवर्धितम् ।
अनेकक्रतुदानौघैरर्जितं मे महत् फलम् ।। १२ ।।
कथं तदल्पकालेन क्षीणं येनास्मि पातितः ।
भगवन् वेत्थ लोकांश्च शाश्वतान् मम निर्मितान् ।
कथं नु मम तत् सर्वं विप्रणष्टं महाद्युते ।। १३ ।।

मैंने कई हजार वर्षोंतक अनेकानेक यज्ञों और दानोंके द्वारा जिस महान् पुण्यफलका उपार्जन किया था और जिसे प्रजापालनरूपी धर्मके द्वारा उत्तरोत्तर बढ़ाया था, वह सब थोड़े ही समयमें नष्ट कैसे हो गया? जिससे मैं यहाँसे नीचे गिरा दिया गया। भगवन्! महाद्युते! मुझे मेरे सत्कर्मोंद्वारा जो सनातन लोक प्राप्त हुए थे, उन्हें आप जानते हैं। मेरा वह सारा पुण्य सहसा नष्ट कैसे हो गया? ।। १२-१३ ।।

पितामह उवाच

बहुवर्षसहस्रान्तं प्रजापालनवर्धितम् ।
अनेकक्रतुदानौघैर्यत् त्वयोपार्जितं फलम् ।। १४ ।।
तदनेनैव दोषेण क्षीणं येनासि पातितः ।
अभिमानेन राजेन्द्र धिक्कृतः स्वर्गवासिभिः ।। १५ ।।

ब्रह्माजी बोले—राजेन्द्र! तुमने कई हजार वर्षोंतक अनेकानेक यज्ञों और दानोंके द्वारा जिस पुण्यफलका उपार्जन किया और प्रजापालनरूपी धर्मके द्वारा जिसे उत्तरोत्तर बढ़ाया, वह सब इस अभिमानरूपी दोषके कारण ही नष्ट हो गया था, जिससे तुम नीचे गिराये गये। तुम्हारे अभिमानके ही कारण स्वर्गलोकके निवासियोंने तुम्हें धिक्कार दिया था ।। १४-१५ ।।

नायं मानेन राजर्षे न बलेन न हिंसया ।
न शाठ्येन न मायाभिर्लोको भवति शाश्वतः ।। १६ ।।

राजर्षे! यह पुण्यलोक न अभिमानसे, न बलसे, न हिंसासे, न शठतासे और न भाँति-भाँतिकी मायाओंसे ही सुस्थिर होता है ।। १६ ।।

नावमान्यास्त्वया राजन्नधमोत्कृष्टमध्यमाः ।

न हि मानप्रदग्धानां कश्चिदस्ति शमः क्वचित् ।। १७ ।।

राजन्! तुम्हें ऊँचे, नीचे एवं मध्यम वर्गके लोगोंका कभी अपमान नहीं करना चाहिये। जो लोग अभिमानकी आगमें जल रहे हैं, उनके उस संतापको शान्त करनेका कहीं कोई उपाय नहीं है ।। १७ ।।

पतनारोहणमिदं कथयिष्यन्ति ये नराः ।
विषमाण्यपि ते प्राप्तास्तरिष्यन्ति न संशयः ।। १८ ।।

जो मनुष्य तुम्हारे स्वर्गसे गिरने और पुनः आरूढ़ होनेके इस वृत्तान्तको आपसमें कहें-सुनेंगे, वे संकटमें पड़नेपर भी उससे पार हो जायँगे; इसमें संशय नहीं है ।।

नारद उवाच

एष दोषोऽभिमानेन पुरा प्राप्तो ययातिना ।
निर्बध्नतातिमात्रं च गालवेन महीपते ।। १९ ।।

नारदजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार पूर्वकालमें राजा ययाति अपने अभिमानके कारण संकटमें पड़ गये थे और अत्यन्त आग्रह एवं हठके कारण महर्षि गालवको भी महान् क्लेश सहन करना पड़ा था ।। १९ ।।

श्रोतव्यं हितकामानां सुहृदां हितमिच्छताम् ।
न कर्तव्यो हि निर्बन्धो निर्बन्धो हि क्षयोदयः ।। २० ।।

अतः तुम्हें तुम्हारे हितकी इच्छा रखनेवाले सुहृदोंकी बात अवश्य सुननी और माननी चाहिये। दुराग्रह कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह विनाशके पथपर ले जानेवाला है ।। २० ।।

तस्मात् त्वमपि गान्धारे मानं क्रोधं च वर्जय ।
संधत्स्व पाण्डवैर्वीर संरम्भं त्यज पार्थिव ।। २१ ।।

अतः गान्धारीनन्दन! तुम भी अभिमान और क्रोधको त्याग दो। वीर नरेश! तुम पाण्डवोंसे संधि कर लो और क्रोधके आवेशको सदाके लिये छोड़ दो ।।

(स भवान् सुहृदां पथ्यं वचो गृह्णातु मानृतम् ।
समर्थैर्विग्रहं कृत्वा विषमस्थो भविष्यसि ।।)

तुम अपने सुहृदोंके हितकर वचन मान लो। असत्य आचरणको न अपनाओ, अन्यथा शक्तिशाली पाण्डवोंके साथ युद्ध ठानकर तुम बड़े भारी संकटमें पड़ जाओगे।

ददाति यत् पार्थिव यत् करोति
यद् वा तपस्तप्यति यज्जुहोति ।
न तस्य नाशोऽस्ति न चापकर्षो
नान्यस्तदश्नाति स एव कर्ता ।। २२ ।।

भूपाल! मनुष्य जो दान देता है, जो कर्म करता है, जो तपस्यामें प्रवृत्त होता है और जो होम-यज्ञ आदिका अनुष्ठान करता है, उसके इस कर्मका न तो नाश होता है और न उसमें कोई कमी ही होती है। उसके कर्मको दूसरा कोई नहीं भोगता। कर्ता स्वयं ही अपने शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगता है ।। २२ ।।

इदं महाख्यानमनुत्तमं हितं
बहुश्रुतानां गतरोषरागिणाम् ।
समीक्ष्य लोके बहुधा प्रधारितं
त्रिवर्गदृष्टिः पृथिवीमुपाश्नुते ।। २३ ।।

यह महत्त्वपूर्ण उपाख्यान उन महापुरुषोंका है, जो अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता तथा रोष और रागसे रहित थे। यह सबके लिये परम उत्तम और हितकर है। लोकमें इसपर नाना प्रकारसे विचार करके निश्चित किये हुए सिद्धान्तको अपनाकर धर्म, अर्थ और कामपर दृष्टि रखनेवाला पुरुष इस पृथ्वीका उपभोग करता है ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२३ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं।]

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके अनुरोधसे भगवान् श्रीकृष्णका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

भगवन्नेवमेवैतद् यथा वदसि नारद ।
इच्छामि चाहमप्येवं न त्वीशो भगवन्नहम् ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—भगवन् नारद! आप जैसा कहते हैं, वह ठीक है। मैं भी यही चाहता हूँ; परंतु मेरा कोई वश नहीं चलता है ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः कृष्णमभ्यभाषत कौरवः ।
स्वर्ग्यं लोक्यं च मामात्थ धर्म्यं न्याय्यं च केशव ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! नारदजीसे ऐसा कहकर धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—‘केशव! आपने मुझसे जो बात कही है, वह इहलोक और स्वर्गलोकमें हितकर, धर्मसम्मत और न्यायसंगत है ।। २ ।।

न त्वहं स्ववशस्तात क्रियमाणं न मे प्रियम् ।
(न मंस्यन्ते दुरात्मानः पुत्रा मम जनार्दन ।)
अङ्ग दुर्योधनं कृष्ण मन्दं शास्त्रातिगं मम ।। ३ ।।
अनुनेतुं महाबाहो यतस्व पुरुषोत्तम ।

‘तात जनार्दन! मैं अपने वशमें नहीं हूँ। जो कुछ किया जा रहा है, वह मुझे प्रिय नहीं है। किंतु क्या कहूँ? मेरे दुरात्मा पुत्र मेरी बात नहीं मानेंगे। प्रिय श्रीकृष्ण! महाबाहु पुरुषोत्तम! शास्त्रकी आज्ञाका उल्लंघन करनेवाले मेरे इस मूर्ख पुत्र दुर्योधनको आप ही समझा-बुझाकर राहपर लानेका प्रयत्न कीजिये ।। ३ १/२ ।।

न शृणोति महाबाहो वचनं साधुभाषितम् ।। ४ ।।
गान्धार्याश्च हृषीकेश विदुरस्य च धीमतः ।
अन्येषां चैव सुहृदां भीष्मादीनां हितैषिणाम् ।। ५ ।।

‘महाबाहु हृषीकेश! यह सत्पुरुषोंकी कही हुई बातें नहीं सुनता है। गान्धारी, बुद्धिमान् विदुर तथा हित चाहनेवाले भीष्म आदि अन्यान्य सुहृदोंकी भी बातें नहीं सुनता है ।। ४-५ ।।

स त्वं पापमतिं क्रूरं पापचित्तमचेतनम् ।
अनुशाधि दुरात्मानं स्वयं दुर्योधनं नृपम् ।। ६ ।।

सुहृत्कार्यं तु सुमहत् कृतं ते स्याज्जनार्दन ।

'जनार्दन! दुरात्मा राजा दुर्योधनकी बुद्धि पापमें लगी हुई है। यह पापका ही चिन्तन करनेवाला, क्रूर और विवेकशून्य है। आप ही इसे समझाइये। यदि आप इसे संधिके लिये राजी कर लें तो आपके द्वारा सुहृदोंका यह बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न हो जायगा' ।।

ततोऽभ्यावृत्य वार्ष्णेयो दुर्योधनममर्षणम् ।। ७ ।।

अब्रवीन्मधुरां वाचं सर्वधर्मार्थतत्त्ववित् ।

तब सम्पूर्ण धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले वृष्णिनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अमर्षशील दुर्योधनकी ओर घूमकर मधुर वाणीमें उससे बोले— ।। ७२ १/२ ।।

दुर्योधन निबोधेदं मद्वाक्यं कुरुसत्तम ।। ८ ।।

शर्मार्थं ते विशेषेण सानुबन्धस्य भारत ।

'कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन! तुम मेरी यह बात सुनो। भारत! मैं विशेषतः सगे-सम्बन्धियोंसहित तुम्हारे कल्याणके लिये ही तुम्हें कुछ परामर्श दे रहा हूँ ।। ८ १/२ ।।

महाप्राज्ञकुले जातः साध्वेतत् कर्तुमर्हसि ।। ९ ।।

श्रुतवृत्तोपसम्पन्नः सर्वैः समुदितो गुणैः ।

'तुम परम ज्ञानी महापुरुषोंके कुलमें उत्पन्न हुए हो। स्वयं भी शास्त्रोंके ज्ञान तथा सद्व्यवहारसे सम्पन्न हो। तुममें सभी उत्तम गुण विद्यमान हैं; अतः तुम्हें मेरी यह अच्छी सलाह अवश्य माननी चाहिये ।। ९ १/२ ।।

दौष्कुलेया दुरात्मानो नृशंसा निरपत्रपाः ।। १० ।।

त एतदीदृशं कुर्युर्यथा त्वं तात मन्यसे ।

'तात! जिसे तुम ठीक समझते हो, ऐसा अधम कार्य तो वे लोग करते हैं, जो नीच कुलमें उत्पन्न हुए हैं तथा जो दुष्टचित्त, क्रूर एवं निर्लज्ज हैं ।। १० १/२ ।।

धर्मार्थयुक्ता लोकेऽस्मिन् प्रवृत्तिर्लक्ष्यते सताम् ।। ११ ।।

असतां विपरीता तु लक्ष्यते भरतर्षभ ।

'भरतश्रेष्ठ! इस जगत्में सत्पुरुषोंका व्यवहार धर्म और अर्थसे युक्त देखा जाता है और दुष्टोंका बर्ताव ठीक इसके विपरीत दृष्टिगोचर होता है ।। ११ १/२ ।।

विपरीता त्वियं वृत्तिरसकृल्लक्ष्यते त्वयि ।। १२ ।।

अधर्मश्चानुबन्धोऽत्र घोरः प्राणहरो महान् ।

अनिष्टश्चानिमित्तश्च न च शक्यश्च भारत ।। १३ ।।

'तुम्हारे भीतर यह विपरीत वृत्ति बारंबार देखनेमें आती है। भारत! इस समय तुम्हारा जो दुराग्रह है, वह अधर्ममय ही है। उसके होनेका कोई समुचित कारण भी नहीं है। यह भयंकर हठ अनिष्टकारक तथा महान् प्राणनाशक है। तुम इसे सफल बना सको, यह सम्भव नहीं है ।। १२-१३ ।।

तमनर्थं परिहरन्नात्मश्रेयः करिष्यसि ।

भ्रातॄणामथ भृत्यानां मित्राणां च परंतप ।। १४ ।।

‘परंतप! यदि तुम उस अनर्थकारी दुराग्रहको छोड़ दो तो अपने कल्याणके साथ ही भाइयों, सेवकों तथा मित्रोंका भी महान् हित-साधन करोगे ।। १४ ।।

अधर्म्यादयशस्याच्च कर्मणस्त्वं प्रमोक्ष्यसे ।
प्राज्ञैः शूरैर्महोत्साहैरात्मवद्भिर्बहुश्रुतैः ।। १५ ।।
संधत्स्व पुरुषव्याघ्र पाण्डवैर्भरतर्षभ ।

‘ऐसा करनेपर तुम्हें अधर्म और अपयशकी प्राप्ति करानेवाले कर्मसे छुटकारा मिल जायगा। अतः भरतकुल-भूषण पुरुषसिंह! तुम ज्ञानी, परम उत्साही, शूरवीर, मनस्वी एवं अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ।। १५$\frac{१}{२}$ ।।

तद्धितं च प्रियं चैव धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।। १६ ।।
पितामहस्य द्रोणस्य विदुरस्य महामतेः ।
कृपस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ।। १७ ।।
अश्वत्थाम्नो विकर्णस्य संजयस्य विविंशतेः ।
ज्ञातीनां चैव भूयिष्ठं मित्राणां च परंतप ।। १८ ।।

‘यही परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको भी प्रिय एवं हितकर जान पड़ता है। परंतप! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, महामति विदुर, कृपाचार्य, सोमदत्त, बुद्धिमान् बाह्लीक, अश्वत्थामा, विकर्ण, संजय, विविंशति तथा अन्यान्य कुटुम्बीजनों एवं मित्रोंको भी यही अधिक प्रिय है ।। १६—१८ ।।

शमे शर्म भवेत् तात सर्वस्य जगतस्तथा ।
ह्रीमानसि कुले जातः श्रुतवाननृशंसवान् ।
तिष्ठ तात पितुः शास्त्रे मातुश्च भरतर्षभ ।। १९ ।।

‘तात! संधि होनेपर ही सम्पूर्ण जगत्‌का भला हो सकता है। तुम श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न, लज्जाशील, शास्त्रज्ञ और क्रूरतासे रहित हो। अतः भरतश्रेष्ठ! तुम पिता और माताके शासनके अधीन रहो ।। १९ ।।

एतच्छ्रेयो हि मन्यन्ते पिता यच्छास्ति भारत ।
उत्तमापद्गतः सर्वः पितुः स्मरति शासनम् ।। २० ।।

‘भारत! पिता जो कुछ शिक्षा देते हैं, उसीको श्रेष्ठ पुरुष अपने लिये कल्याणकारी मानते हैं। भारी आपत्तिमें पड़नेपर सब लोग अपने पिताके उपदेशका ही स्मरण करते हैं ।। २० ।।

रोचते ते पितुस्तात पाण्डवैः सह संगमः ।
सामात्यस्य कुरुश्रेष्ठ तत् तुभ्यं तात रोचताम् ।। २१ ।।

‘तात! मन्त्रियोंसहित तुम्हारे पिताको पाण्डवोंके साथ संधि कर लेना ही अच्छा जान पड़ता है। कुरुश्रेष्ठ! यही तुम्हें भी पसंद आना चाहिये ।। २१ ।।

श्रुत्वा यः सुहृदां शास्त्रं मर्त्यो न प्रतिपद्यते ।
विपाकान्ते दहत्येनं किम्पाकमिव भक्षितम् ।। २२ ।।

'जो मनुष्य सुहृदोंके मुखसे शास्त्रसम्मत उपदेश सुनकर भी उसे स्वीकार नहीं करता है, उसका यह अस्वीकार उसे परिणाममें उसी प्रकार शोकदग्ध करता है, जैसे खाया हुआ इन्द्रायण फल पाचनके अन्तमें दाह उत्पन्न करनेवाला होता है ।। २२ ।।

यस्तु निःश्रेयसं वाक्यं मोहान्न प्रतिपद्यते ।
स दीर्घसूत्रो हीनार्थः पश्चात्तापेन युज्यते ।। २३ ।।

'जो मोहवश अपने हितकी बात नहीं मानता है, वह दीर्घसूत्री मनुष्य अपने स्वार्थसे भ्रष्ट होकर केवल पश्चात्तापका भागी होता है ।। २३ ।।

यस्तु निःश्रेयसं श्रुत्वा प्राक् तदेवाभिपद्यते ।
आत्मनो मतमुत्सृज्य स लोके सुखमेधते ।। २४ ।।

'जो मानव अपने कल्याणकी बात सुनकर अपने मतका आग्रह छोड़कर पहले उसीको ग्रहण करता है, वह संसारमें सुखपूर्वक उन्नतिशील होता है ।। २४ ।।

योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते ।
शृणोति प्रतिकूलानि द्विषतां वशमेति सः ।। २५ ।।

'जो अपनी ही भलाई चाहनेवाले अपने सुहृद्के वचनोंको मनके प्रतिकूल होनेके कारण नहीं सहन करता है और उन असुहृदोंके प्रतिकूल कहे हुए वचनोंको ही सुनता है, वह शत्रुओंके अधीन हो जाता है ।। २५ ।।

सतां मतमतिक्रम्य योऽसतां वर्तते मते ।
शोचन्ते व्यसने तस्य सुहृदो नचिरादिव ।। २६ ।।

'जो मनुष्य सत्पुरुषोंकी सम्मतिका उल्लंघन करके दुष्टोंके मतके अनुसार चलता है, उसके सुहृद् उसे शीघ्र ही विपत्तिमें पड़ा देख शोकके भागी होते हैं ।।

मुख्यानमात्यानुत्सृज्य योनिहीनान् निषेवते ।
स घोरामापदं प्राप्य नोत्तारमधिगच्छति ।। २७ ।।

'जो अपने मुख्य मन्त्रियोंको छोड़कर नीच प्रकृतिके लोगोंका सेवन करता है, वह भयंकर विपत्तिमें फँसकर अपने उद्धारका कोई मार्ग नहीं देख पाता है ।। २७ ।।

योऽसत्सेवी वृथाचारो न श्रोता सुहृदां सताम् ।
परान् वृणीते स्वान् द्वेष्टि तं गौस्त्यजति भारत ।। २८ ।।

'भारत! जो दुष्ट पुरुषोंका संग करनेवाला और मिथ्याचारी होकर अपने श्रेष्ठ सुहृदोंकी बात नहीं सुनता है, दूसरोंको अपनाता और आत्मीयजनोंसे द्वेष रखता है, उसे यह पृथ्वी त्याग देती है ।। २८ ।।

स त्वं विरुध्य तैर्वीरैरन्येभ्यस्त्राणमिच्छसि ।
अशिष्टेभ्योऽसमर्थेभ्यो मूढेभ्यो भरतर्षभ ।। २९ ।।

‘भरतश्रेष्ठ! तुम उन वीर पाण्डवोंसे विरोध करके दूसरे अशिष्ट, असमर्थ और मूढ़ मनुष्योंसे अपनी रक्षा चाहते हो ।। २९ ।।

को हि शक्रसमान् ज्ञातीनतिक्रम्य महारथान् ।
अन्येभ्यस्त्राणमाशंसेत् त्वदन्यो भुवि मानवः ।। ३० ।।

‘इस भूतलपर तुम्हारे सिवा दूसरा कौन मनुष्य है, जो इन्द्रके समान पराक्रमी एवं महारथी बन्धु-बान्धवोंको त्यागकर दूसरोंसे अपनी रक्षाकी आशा करेगा? ।। ३० ।।

जन्मप्रभृति कौन्तेया नित्यं विनिकृतास्त्वया ।
न च ते जातु कुप्यन्ति धर्मात्मानो हि पाण्डवाः ।। ३१ ।।

‘तुमने जन्मसे ही कुन्तीपुत्रोंके साथ सदा शठतापूर्ण बर्ताव किया है, परंतु वे इसके लिये कभी कुपित नहीं हुए हैं; क्योंकि पाण्डव धर्मात्मा हैं ।। ३१ ।।

मिथ्योपचरितास्तात जन्मप्रभृति बान्धवाः ।
त्वयि सम्यङ्महाबाहो प्रतिपन्ना यशस्विनः ।। ३२ ।।

‘तात महाबाहो! यद्यपि तुमने अपने ही भाई पाण्डवोंके साथ जन्मसे ही छल-कपटका बर्ताव किया है, तथापि वे यशस्वी पाण्डव तुम्हारे प्रति सदा सद्भाव ही रखते आये हैं ।। ३२ ।।

त्वयापि प्रतिपत्तव्यं तथैव भरतर्षभ ।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु मा मन्युवशमन्वगाः ।। ३३ ।।

‘भरतश्रेष्ठ! तुम्हें भी अपने उन श्रेष्ठ बन्धुओंके प्रति वैसा ही बर्ताव करना चाहिये। तुम क्रोधके वशीभूत न होओ ।। ३३ ।।

त्रिवर्गयुक्तः प्राज्ञानामारम्भो भरतर्षभ ।
धर्मार्थावनुरुध्यन्ते त्रिवर्गासम्भवे नराः ।। ३४ ।।

‘भरतभूषण! विद्वान् एवं बुद्धिमान् पुरुषोंका प्रत्येक कार्य धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंकी सिद्धिके अनुकूल ही होता है। यदि तीनोंकी सिद्धि असम्भव हो तो बुद्धिमान् मानव धर्म और अर्थका ही अनुसरण करते हैं ।। ३४ ।।

पृथक् च विनिविष्टानां धर्मं धीरोऽनुरुध्यते ।
मध्यमोऽर्थं कलिं बालः काममेवानुरुध्यते ।। ३५ ।।

‘पृथक्-पृथक् स्थित हुए धर्म, अर्थ और काममेंसे किसी एकको चुनना हो तो धीर पुरुष धर्मका ही अनुसरण करता है, मध्यम श्रेणीका मनुष्य कलहके कारणभूत अर्थको ही ग्रहण करता है और अधम श्रेणीका अज्ञानी पुरुष कामको ही पाना चाहता है ।। ३५ ।।

इन्द्रियैः प्राकृतो लोभाद् धर्मं विप्रजहाति यः ।
कामार्थावनुपायेन लिप्समानो विनश्यति ।। ३६ ।।

‘जो अधम मनुष्य इन्द्रियोंके वशीभूत होकर लोभवश धर्मको छोड़ देता है, वह अयोग्य उपायोंसे अर्थ और कामकी लिप्सामें पड़कर नष्ट हो जाता है ।।

कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः कामो वापि कदाचन ।। ३७ ।।

'जो अर्थ और काम प्राप्त करना चाहता हो, उसे पहले धर्मका ही आचरण करना चाहिये; क्योंकि अर्थ या काम कभी धर्मसे पृथक् नहीं होता है ।। ३७ ।।

उपायं धर्ममेवाहुस्त्रिवर्गस्य विशाम्पते ।
लिप्समानो हि तेनाशु कक्षेऽग्निरिव वर्धते ।। ३८ ।।

'प्रजानाथ! विद्वान् पुरुष धर्मको ही त्रिवर्गकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय बताते हैं। अतः जो धर्मके द्वारा अर्थ और कामको पाना चाहता है, वह शीघ्र ही उसी प्रकार उन्नतिकी दिशामें आगे बढ़ जाता है, जैसे सूखे तिनकोंमें लगी हुई आग बढ़ जाती है ।। ३८ ।।

स त्वं तातानुपायेन लिप्ससे भरतर्षभ ।
आधिराज्यं महद् दीप्तं प्रथितं सर्वराजसु ।। ३९ ।।

'तात भरतश्रेष्ठ! तुम समस्त राजाओंमें विख्यात इस विशाल एवं उज्ज्वल साम्राज्यको अनुचित उपायसे पाना चाहते हो ।। ३९ ।।

आत्मानं तक्षति ह्येष वनं परशुना यथा ।
यः सम्यग्वर्तमानेषु मिथ्या राजन् प्रवर्तते ।। ४० ।।

'राजन्! जो उत्तम व्यवहार करनेवाले सत्पुरुषोंके साथ असद्व्यवहार करता है, वह कुल्हाड़ीसे जंगलकी भाँति उस दुर्व्यवहारसे अपने-आपको ही काटता है ।।

न तस्य हि मतिं छिन्द्याद् यस्य नेच्छेत् पराभवम् ।
अविच्छिन्नमतेरस्य कल्याणे धीयते मतिः ।
आत्मवान् नावमन्येत त्रिषु लोकेषु भारत ।। ४१ ।।
अप्यन्यं प्राकृतं किंचित् किमु तान् पाण्डवर्षभान् ।
अमर्षवशमापन्नो न किंचिद् बुध्यते जनः ।। ४२ ।।

'मनुष्य जिसका पराभव न करना चाहे, उसकी बुद्धिका उच्छेद न करे। जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं हुई है, उसी पुरुषका मन कल्याणकारी कार्योंमें प्रवृत्त होता है। भरतनन्दन! मनस्वी पुरुषको चाहिये कि वह तीनों लोकोंमें किसी प्राकृत (निम्न श्रेणीके) पुरुषका भी अपमान न करे, फिर इन श्रेष्ठ पाण्डवोंके अपमान-की तो बात ही क्या है? ईर्ष्याके वशमें रहनेवाला मनुष्य किसी बातको ठीकसे समझ नहीं पाता ।। ४१-४२ ।।

छिद्यते ह्याततं सर्वं प्रमाणं पश्य भारत ।
श्रेयस्ते दुर्जनात् तात पाण्डवैः सह संगतम् ।। ४३ ।।

'भरतनन्दन! देखो, ईर्ष्यालु मनुष्यके समक्ष प्रस्तुत किये हुए सम्पूर्ण विस्तृत प्रमाण भी उच्छिन्न-से हो जाते हैं। तात! किसी दुष्ट मनुष्यका साथ करनेकी अपेक्षा पाण्डवोंके साथ मेल-मिलाप रखना तुम्हारे लिये विशेष कल्याणकारी है ।। ४३ ।।

तैर्हि सम्प्रीयमाणस्त्वं सर्वान् कामानवाप्स्यसि ।

पाण्डवैर्निर्मितां भूमिं भुञ्जानो राजसत्तम ।। ४४ ।।

पाण्डवान् पृष्ठतः कृत्वा त्राणमाशंससेऽन्यतः ।

'पाण्डवोंसे प्रेम रखनेपर तुम सम्पूर्ण मनोरथोंको प्राप्त कर लोगे। नृपश्रेष्ठ! तुम पाण्डवोंद्वारा स्थापित राज्यका उपभोग कर रहे हो, तो भी उन्हींको पीछे करके अर्थात् उनकी अवहेलना करके दूसरोंसे अपनी रक्षाकी आशा रखते हो ।। ४४½ ।।

दुःशासने दुर्विषहे कर्णे चापि ससौबले ।। ४५ ।।

एतेष्वैश्वर्यमाधाय भूतिमिच्छसि भारत ।

'भारत! तुम दुःशासन, दुर्विषह, कर्ण और शकुनि-इन सबपर अपने ऐश्वर्यका भार रखकर उन्नतिकी इच्छा रखते हो? ।। ४५½ ।।

न चैते तव पर्याप्ता ज्ञाने धर्मार्थयोस्तथा ।। ४६ ।।

विक्रमे चाप्यपर्याप्ताः पाण्डवान् प्रति भारत ।

'भरतनन्दन! ये तुम्हें ज्ञान, धर्म और अर्थकी प्राप्ति करानेमें समर्थ नहीं हैं और पाण्डवोंके सामने पराक्रम प्रकट करनेमें भी ये असमर्थ ही हैं ।। ४६½ ।।

न हीमे सर्वराजानः पर्याप्ताः सहितास्त्वया ।। ४७ ।।

क्रुद्धस्य भीमसेनस्य प्रेक्षितुं मुखमाहवे ।

'तुम्हारे सहित ये सब राजालोग भी युद्धमें कुपित हुए भीमसेनके मुखकी ओर आँख उठाकर देख ही नहीं सकते हैं ।। ४७½ ।।

इदं संनिहितं तात समग्रं पार्थिवं बलम् ।। ४८ ।।

अयं भीष्मस्तथा द्रोणः कर्णश्चायं तथा कृपः ।

भूरिश्रवाः सौमदत्तिरश्वत्थामा जयद्रथः ।। ४९ ।।

अशक्ताः सर्व एवैते प्रतियोद्धुं धनंजयम् ।

'तात! तुम्हारे निकट जो यह समस्त राजाओंकी सेना एकत्र हुई है, यह तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा, अश्वत्थामा और जयद्रथ—ये सभी मिलकर भी अर्जुनका सामना करनेमें समर्थ नहीं हैं ।। ४८-४९½ ।।

अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये सर्वैरपि सुरासुरैः ।

मानुषैरपि गन्धर्वैर्मा युद्धे चेत आधिथाः ।। ५० ।।

'सम्पूर्ण देवता और असुर भी युद्धमें अर्जुनको जीत नहीं सकते। वे समस्त मनुष्यों और गन्धर्वोंके द्वारा भी अजेय हैं, अतः तुम युद्धका विचार मत करो ।। ५० ।।

दृश्यतां वा पुमान् कश्चित् समग्रे पार्थिवे बले ।

योऽर्जुनं समरे प्राप्य स्वस्तिमानाव्रजेद् गृहान् ।। ५१ ।।

'राजाओंकी इन सम्पूर्ण सेनाओंमें किसी ऐसे पुरुषपर दृष्टिपात तो करो, जो युद्धमें अर्जुनका सामना करके कुशलपूर्वक अपने घर लौट सके? ।। ५१ ।।

किं ते जनक्षयेणेह कृतेन भरतर्षभ ।

यस्मिञ्जिते जितं तत् स्यात् पुमानेकः स दृश्यताम् ।। ५२ ।।

'भरतश्रेष्ठ! यह नरसंहार करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा? तुम अपने पक्षमें किसी ऐसे पुरुषको ढूँढ़ निकालो, जो उस अर्जुनपर विजय पा सके, जिसके जीते जानेपर तुम्हारे पक्षकी विजय मान ली जाय ।। ५२ ।।

यः स देवान् सगन्धर्वान् सयक्षासुरपन्नगान् ।
अजयत् खाण्डवप्रस्थे कस्तं युध्येत मानवः ।। ५३ ।।

'जिन्होंने खाण्डववनमें गन्धर्वों, यक्षों, असुरों और नागोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको जीत लिया था, उन अर्जुनके साथ कौन मनुष्य युद्ध कर सकेगा? ।। ५३ ।।

तथा विराटनगरे श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।। ५४ ।।

'इसके सिवा विराटनगरमें जो बहुत-से महारथी योद्धाओंके साथ एक अर्जुनके युद्धकी अत्यन्त अद्भुत घटना सुनी जाती है, वह एक ही युद्धके भावी परिणामको बतानेके लिये पर्याप्त है ।। ५४ ।।

युद्धे येन महादेवः साक्षात् संतोषितः शिवः ।
तमजेयमनाधृष्यं विजेतुं जिष्णुमच्युतम् ।
आशंससीह समरे वीरमर्जुनमूर्जितम् ।। ५५ ।।

'जिन्होंने युद्धमें साक्षात् महादेव शिवको अपने पराक्रमसे संतुष्ट किया है, अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले उन अजेय, दुर्धर्ष एवं विजयशील बलशाली वीर अर्जुनको तुम युद्धमें जीतनेकी आशा रखते हो, यह बड़े आश्चर्यकी बात है! ।। ५५ ।।

मद् द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमर्हति ।
युद्धे प्रतीपमायान्तमपि साक्षात् पुरंदरः ।। ५६ ।।

'फिर मैं जिसका सारथि बनकर साथ रहूँ और वह अर्जुन प्रतिपक्षी होकर युद्धके लिये आये, उस समय साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हों, कौन अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहेगा? ।। ५६ ।।

बाहुभ्यामुद्वहेद् भूमिं दहेत् क्रुद्ध इमाः प्रजाः ।
पातयेत् त्रिदिवाद् देवान् योऽर्जुनं समरे जयेत् ।। ५७ ।।

'जो समरभूमिमें अर्जुनको जीत सकता है, वह मानो अपनी दोनों भुजाओंपर पृथ्वीको उठा सकता है, कुपित होनेपर इस समस्त प्रजाको दग्ध कर सकता है और देवताओंको स्वर्गसे नीचे गिरा सकता है ।। ५७ ।।

पश्य पुत्रांस्तथा भ्रातॄञ्ज्ञातीन् सम्बन्धिनस्तथा ।
त्वत्कृते न विनश्येयुरिमे भरतसत्तमाः ।। ५८ ।।

'दुर्योधन! अपने इन पुत्रों, भाइयों, कुटुम्बीजनों और सगे-सम्बन्धियोंकी ओर तो देखो। ये श्रेष्ठ भरत-वंशी तुम्हारे कारण नष्ट न हो जायँ ।। ५८ ।।

अस्तु शेषं कौरवाणां मा पराभूदिदं कुलम् ।
कुलघ्न इति नोच्येथा नष्टकीर्तिर्नराधिप ।। ५९ ।।

'नरेश्वर! कौरववंश बचा रहे, इस कुलका पराभव न हो और तुम भी अपनी कीर्तिका नाश करके कुलघाती न कहलाओ ।। ५९ ।।

त्वामेव स्थापयिष्यन्ति यौवराज्ये महारथाः ।
महाराज्येऽपि पितरं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।। ६० ।।

'महारथी पाण्डव तुम्हींको युवराजके पदपर स्थापित करेंगे और तुम्हारे पिता राजा धृतराष्ट्रको महाराजके पदपर बनाये रखेंगे ।। ६० ।।

मा तात श्रियमायान्तीमवमंस्थाः समुद्यताम् ।
अर्धं प्रदाय पार्थेभ्यो महतीं श्रियमाप्नुहि ।। ६१ ।।

'तात! अपने घरमें आनेको उद्यत हुई राजलक्ष्मीका अपमान न करो। कुन्तीके पुत्रोंको आधा राज्य देकर स्वयं विशाल सम्पत्तिका उपभोग करो ।। ६१ ।।

पाण्डवैः संशमं कृत्वा कृत्वा च सुहृदां वचः ।
सम्प्रीयमाणो मित्रैश्च चिरं भद्राण्यवाप्स्यसि ।। ६२ ।।

'पाण्डवोंके साथ संधि करके और अपने हितैषी सुहृदोंकी बात मानकर मित्रोंके साथ प्रसन्नता-पूर्वक रहते हुए तुम दीर्घकालतक कल्याणके भागी बने रहोगे' ।। ६२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भगवद्वाक्ये चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भगवद्वाक्यसम्बन्धी एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२४ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६२ ½ श्लोक हैं।]

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म, द्रोण, विदुर और धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो दुर्योधनममर्षणम् ।
केशवस्य वचः श्रुत्वा प्रोवाच भरतर्षभ ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णका पूर्वोक्त वचन सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने ईर्ष्या और क्रोधमें भरे रहनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा — ।। १ ।।

कृष्णेन वाक्यमुक्तोऽसि सुहृदां शममिच्छता ।
अन्वपद्यस्व तत् तात मा मन्युवशमन्वगाः ।। २ ।।

'तात! भगवान् श्रीकृष्णने सुहृदोंमें परस्पर शान्ति बनाये रखनेकी इच्छासे जो बात कही है, उसे स्वीकार करो। क्रोधके वशीभूत न होओ ।। २ ।।

अकृत्वा वचनं तात केशवस्य महात्मनः ।
श्रेयो न जातु न सुखं न कल्याणमवाप्स्यसि ।। ३ ।।

'तात! महात्मा केशवकी बात न माननेसे तुम कभी श्रेय, सुख और कल्याण नहीं पा सकोगे ।। ३ ।।

धर्म्यमर्थ्यं महाबाहुराह त्वां तात केशवः ।
तदर्थमभिपद्यस्व मा राजन् नीनशः प्रजाः ।। ४ ।।

'वत्स! महाबाहु केशवने तुमसे धर्म और अर्थके अनुकूल ही बात कही है। राजन्! तुम उसे स्वीकार कर लो; प्रजाका विनाश न करो ।। ४ ।।

ज्वलितां त्वमिमां लक्ष्मीं भारतीं सर्वराजसु ।
जीवतो धृतराष्ट्रस्य दौरात्म्याद् भ्रंशयिष्यसि ।। ५ ।।

'बेटा! यह भरतवंशकी राजलक्ष्मी समस्त राजाओंमें प्रकाशित हो रही है; किंतु मैं देखता हूँ कि तुम अपनी दुष्टताके कारण इसे धृतराष्ट्रके जीते-जी ही नष्ट कर दोगे ।। ५ ।।

आत्मानं च सहामात्यं सपुत्रभ्रातृबान्धवम् ।
अहमित्यनया बुद्ध्या जीविताद् भ्रंशयिष्यसि ।। ६ ।।

'साथ ही अपनी इस अहंकारयुक्त बुद्धिके कारण तुम पुत्र, भाई, बान्धवजन तथा मन्त्रियोंसहित अपने-आपको भी जीवनसे वंचित कर दोगे ।। ६ ।।

अतिक्रामन् केशवस्य तथ्यं वचनमर्थवत् ।
पितुश्च भरतश्रेष्ठ विदुरस्य च धीमतः ।। ७ ।।
मा कुलघ्नः कुपुरुषो दुर्मतिः कापथं गमः ।

मातरं पितरं चैव मा मज्जीः शोकसागरे ।। ८ ।।

'भरतश्रेष्ठ! केशवका वचन सत्य और सार्थक है। तुम उनके, अपने पिताके तथा बुद्धिमान् विदुरके वचनोंकी अवहेलना करके कुमार्गपर न चलो। कुलघाती, कुपुरुष और कुबुद्धिसे कलंकित न बनो तथा माता-पिताको शोकके समुद्रमें न डुबाओ' ।। ७-८ ।।

अथ द्रोणोऽब्रवीत् तत्र दुर्योधनमिदं वचः ।
अमर्षवशमापन्नं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।। ९ ।।

तदनन्तर रोषके वशीभूत होकर बारंबार लंबी साँस खींचनेवाले दुर्योधनसे द्रोणाचार्यने इस प्रकार कहा— ।। ९ ।।

धर्मार्थयुक्तं वचनमाह त्वां तात केशवः ।
तथा भीष्मः शान्तनवस्तज्जुषस्व नराधिप ।। १० ।।

'तात! भगवान् श्रीकृष्ण और शान्तनुनन्दन भीष्मने धर्म और अर्थसे युक्त बात कही है। नरेश्वर! तुम उसे स्वीकार करो ।। १० ।।

प्राज्ञौ मेधाविनौ दान्तावर्थकामौ बहुश्रुतौ ।
आहतुस्त्वां हितं वाक्यं तज्जुषस्व नराधिप ।। ११ ।।

'राजन्! ये दोनों महापुरुष विद्वान्, मेधावी, जितेन्द्रिय, तुम्हारा भला चाहनेवाले और अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। इन्होंने तुमसे हितकी ही बात कही है, अतः तुम इसका सेवन करो ।। ११ ।।

अनुतिष्ठ महाप्राज्ञ कृष्णभीष्मौ यदूचतुः ।
(मा वचो लघुबुद्धीनां समास्थास्त्वं परंतप ।)
माधवं बुद्धिमोहेन मावमंस्थाः परंतप ।। १२ ।।

'महामते! श्रीकृष्ण और भीष्मने जो कुछ कहा है, उसका पालन करो। परंतप! तुम तुच्छ बुद्धिवाले लोगोंकी बातपर आस्था मत रखो। शत्रुदमन! अपनी बुद्धिके मोहसे माधवका तिरस्कार न करो ।। १२ ।।

ये त्वां प्रोत्साहयन्त्येते नैते कृत्याय कर्हिचित् ।
वैरं परेषां ग्रीवायां प्रतिमोक्ष्यन्ति संयुगे ।। १३ ।।

'जो लोग तुम्हें युद्धके लिये उत्साहित कर रहे हैं, ये कभी तुम्हारे काम नहीं आ सकते। ये युद्धका अवसर आनेपर वैरका बोझ दूसरेके कंधेपर डाल देंगे ।।

मा जीघनः प्रजाः सर्वाः पुत्रान् भ्रातॄंस्तथैव च ।
वासुदेवार्जुनौ यत्र विद्ध्यजेयानलं हि तान् ।। १४ ।।

'समस्त प्रजाओं, पुत्रों और भाइयोंकी हत्या न कराओ। जिनकी ओर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं, उन्हें युद्धमें अजेय समझो ।। १४ ।।

एतच्चैव मतं सत्यं सुहृदोः कृष्णभीष्मयोः ।
यदि नादास्यसे तात पश्चात् तप्स्यसि भारत ।। १५ ।।

'तात! भरतनन्दन! तुम्हारा वास्तविक हित चाहनेवाले श्रीकृष्ण और भीष्मका यही यथार्थ मत है। यदि तुम इसे ग्रहण नहीं करोगे तो पीछे पछताओगे ।। १५ ।।

यथोक्तं जामदग्न्येन भूयानेष ततोऽर्जुनः ।
कृष्णो हि देवकीपुत्रो देवैरपि सुदुःसहः ।
किं ते सुखप्रियेणेह प्रोक्तेन भरतर्षभ ।। १६ ।।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यथेच्छसि तथा कुरु ।
न हि त्वामुत्सहे वक्तुं भूयो भरतसत्तम ।। १७ ।।

'जमदग्निनन्दन परशुरामजीने जैसा बताया है, ये अर्जुन उससे भी महान् हैं और देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण तो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुःसह हैं। भरतश्रेष्ठ! तुम्हें सुखद और प्रिय लगनेवाली अधिक बातें कहनेसे क्या लाभ? ये सब बातें जो हमें कहनी थीं, मैंने कह दीं। अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो। भरतवंशविभूषण! अब तुमसे और कुछ कहनेके लिये मेरे मनमें उत्साह नहीं है' ।। १६-१७ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् वाक्यान्तरे वाक्यं क्षत्तापि विदुरोऽब्रवीत् ।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य धार्तराष्ट्रममर्षणम् ।। १८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब द्रोणाचार्य अपनी बात कह रहे थे, उसी समय विदुरजी भी अमर्षमें भरे हुए धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी ओर देखकर बीचमें ही कहने लगे— ।। १८ ।।

दुर्योधन न शोचामि त्वामहं भरतर्षभ ।
इमौ तु वृद्धौ शोचामि गान्धारीं पितरं च ते ।। १९ ।।

'भरतभूषण दुर्योधन! मैं तुम्हारे लिये शोक नहीं करता। मुझे तो तुम्हारे इन बूढ़े माता-पिता गान्धारी और धृतराष्ट्रके लिये भारी शोक हो रहा है ।। १९ ।।

यावनाथौ चरिष्येते त्वया नाथेन दुर्हृदा ।
हतमित्रौ हतामात्यौ लूनपक्षाविवाण्डजौ ।। २० ।।

'क्योंकि ये दोनों तुम-जैसे दुष्ट सहायकके कारण मित्रों और मन्त्रियोंके मारे जानेपर पंख कटे हुए पक्षियोंकी भाँति अनाथ (असहाय) होकर विचरेंगे ।।

भिक्षुकौ विचरिष्येते शोचन्तौ पृथिवीमिमाम् ।
कुलघ्नमीदृशं पापं जनयित्वा कुपूरुषम् ।। २१ ।।

'तुम्हारे-जैसे पापी और कुलघाती कुपुरुष पुत्रको जन्म देनेके कारण ये दोनों शोकमग्न हो भिक्षुककी भाँति इस पृथ्वीपर इधर-उधर भटकते फिरेंगे' ।। २१ ।।

अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ।
आसीनं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितम् ।। २२ ।।

तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्रने राजाओंसे घिरकर भाइयोंके साथ बैठे हुए दुर्योधनसे कहा — ।। २२ ।।

दुर्योधन निबोधेदं शौरिणोक्तं महात्मना ।
आदत्स्व शिवमत्यन्तं योगक्षेमवदव्ययम् ।। २३ ।।

'दुर्योधन! मेरी इस बातपर ध्यान दो। महात्मा श्रीकृष्णने जो बात बतायी है, वह अत्यन्त कल्याणकारक, योगक्षेमकी प्राप्ति करानेवाली तथा दीर्घकालतक स्थिर रहनेवाली है, तुम इसे स्वीकार करो ।। २३ ।।

अनेन हि सहायेन कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा ।
इष्टान् सर्वानभिप्रायान् प्राप्स्यामः सर्वराजसु ।। २४ ।।

'अनायास ही महान् कर्म करनेवाले इन भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे हमलोग समस्त राजाओंमें सम्मानित रहकर अपने सभी अभीष्ट मनोरथोंको प्राप्त कर लेंगे ।। २४ ।।

सुसंहतः केशवेन तात गच्छ युधिष्ठिरम् ।
चर स्वस्त्ययनं कृत्स्नं भरतानामनामयम् ।। २५ ।।

'तात! भगवान् श्रीकृष्णसे मिलकर तुम युधिष्ठिरके पास जाओ और पूर्णरूपसे मंगल सम्पादन करो, जिससे भरतवंशियोंको कोई क्षति न उठानी पड़े ।। २५ ।।

वासुदेवेन तीर्थेन तात गच्छस्व संशमम् ।
कालप्राप्तमिदं मन्ये मा त्वं दुर्योधनातिगाः ।। २६ ।।

'तात! भगवान् श्रीकृष्णको मध्यस्थ बनाकर अब शान्ति धारण करो। मैं तुम्हारे लिये यही समयोचित कर्तव्य मानता हूँ। दुर्योधन! तुम मेरी इस आज्ञाका उल्लंघन न करो ।।

शमं चेद् याचमानं त्वं प्रत्याख्यास्यसि केशवम् ।
त्वदर्थमभिजल्पन्तं न तवास्त्यपराभवः ।। २७ ।।

'यदि तुम शान्तिके लिये प्रार्थना करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका जो तुम्हारे हितकी बात बता रहे हैं, तिरस्कार करोगे—इनकी आज्ञा नहीं मानोगे तो तुम्हारा पराभव हुए बिना नहीं रह सकता' ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मादिवाक्ये पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म आदिके वचनोंसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२५ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका आधा श्लोक मिलाकर कुल २७½ श्लोक हैं।]

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और द्रोणका दुर्योधनको पुनः समझाना

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रवचः श्रुत्वा भीष्मद्रोणौ समव्यथौ ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमूचतुः शासनातिगम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धृतराष्ट्रका कथन सुनकर युद्धमें जनसंहारकी सम्भावनासे समान-रूपसे दुःखका अनुभव करनेवाले भीष्म और द्रोणाचार्यने गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लंघन करनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा— ।। १ ।।

यावत् कृष्णावसंनद्धौ यावत् तिष्ठति गाण्डिवम् ।
यावद् धौम्यो न मेधाग्नौ जुहोतीह द्विषद्बलम् ।। २ ।।
यावन्न प्रेक्षते क्रुद्धः सेनां तव युधिष्ठिरः ।
ह्रीनिषेवो महेष्वासस्तावच्छाम्यतु वैशसम् ।। ३ ।।

'वत्स! जबतक श्रीकृष्ण और अर्जुन कवच धारण करके युद्धके लिये उद्यत नहीं होते हैं, जबतक गाण्डीव धनुष घरमें रखा हुआ है, जबतक धौम्य मुनि यज्ञाग्निमें शत्रुओंकी सेनाके विनाशके लिये आहुति नहीं डालते हैं और जबतक लज्जाशील महाधनुर्धर युधिष्ठिर तुम्हारी सेनापर क्रोधपूर्ण दृष्टि नहीं डालते हैं, तभीतक यह भावी जनसंहार शान्त हो जाना चाहिये ।। २-३ ।।

यावन्न दृश्यते पार्थः स्वेऽप्यनीके व्यवस्थितः ।
भीमसेनो महेष्वासस्तावच्छाम्यतु वैशसम् ।। ४ ।।

'जबतक कुन्तीपुत्र महाधनुर्धर भीमसेन अपनी सेनाके अग्रभागमें खड़े नहीं दिखायी देते हैं, तभीतक यह मार-काटका संकल्प शान्त हो जाना चाहिये ।। ४ ।।

यावन्न चरते मार्गान् पृतनामभिधर्षयन् ।
भीमसेनो गदापाणिस्तावत् संशाम्य पाण्डवैः ।। ५ ।।

'दुर्योधन! जबतक हाथमें गदा लिये भीमसेन तुम्हारी सेनाका संहार करते हुए युद्धके विभिन्न मार्गोंमें विचरण नहीं कर रहे हैं, तभीतक तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ।। ५ ।।

यावन्न शातयत्याजौ शिरांसि गजयोधिनाम् ।
गदया वीरघातिन्या फलानीव वनस्पतेः ।। ६ ।।
कालेन परिपक्वानि तावच्छाम्यतु वैशसम् ।

'जबतक भीमसेन अपनी वीरघातिनी गदाके द्वारा समयानुसार पके हुए वृक्षके फलोंकी भाँति संग्राम-भूमिमें गजारोही योद्धाओंके मस्तकोंको काट-काटकर नहीं गिरा रहे हैं, तभीतक तुम्हारा युद्धविषयक संकल्प शान्त हो जाना चाहिये ।। ६$\frac{१}{२}$ ।।

नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।। ७ ।।
विराटश्च शिखण्डी च शैशुपालिश्च दंशिताः ।
यावन्न प्रविशन्त्येते नक्रा इव महार्णवम् ।। ८ ।।
कृतास्त्राः क्षिप्रमस्यन्तस्तावच्छाम्यतु वैशसम् ।

'नकुल, सहदेव, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, विराट, शिखण्डी तथा शिशुपालपुत्र धृष्टकेतु—ये अस्त्रविद्यामें निपुण महान् वीर कवच धारण करके महासागरमें घुसे हुए ग्राहोंकी भाँति तुम्हारी सेनाके भीतर जबतक प्रवेश नहीं करते हैं, तभीतक यह जनसंहारका संकल्प शान्त हो जाना चाहिये ।। ७-८ $\frac{1}{2}$ ।।

यावन्न सुकुमारेषु शरीरेषु महीक्षिताम् ।। ९ ।।
गार्ध्रपत्राः पतन्त्युग्रास्तावच्छाम्यतु वैशसम् ।

'जबतक इन भूमिपालोंके सुकुमार शरीरोंपर गीधकी पाँखोंसे युक्त भयंकर बाण नहीं गिर रहे हैं, तभीतक युद्धका संकल्प शान्त हो जाय ।। ९ $\frac{1}{2}$ ।।

चन्दनागुरुदिग्धेषु हारनिष्कधरेषु च ।
नोरःसु यावद् योधानां महेष्वासैर्महेषवः ।। १० ।।
कृतास्त्रैः क्षिप्रमस्यद्भिर्दूरपातिभिरायसाः ।
अभिलक्ष्यैर्निपात्यन्ते तावच्छाम्यतु वैशसम् ।। ११ ।।

'सामने आते ही लक्ष्यको मार गिरानेवाले, शीघ्रतापूर्वक बाण चलाने और दूरतकका लक्ष्य बींधनेवाले, अस्त्रविद्याके पारंगत महाधनुर्धर विपक्षी वीर जबतक तुम्हारे योद्धाओंके चन्दन और अगुरुसे चर्चित तथा हार और निष्क धारण करनेवाले वक्षःस्थलोंपर विशाल बाणोंकी वर्षा नहीं करते, तभीतक तुम्हें युद्धका विचार त्याग देना चाहिये ।। १०-११ ।।

अभिवादयमानं त्वां शिरसा राजकुञ्जरः ।
पाणिभ्यां प्रतिगृह्णातु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। १२ ।।

'हम चाहते हैं कि नृपश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम करते देख दोनों हाथोंसे पकड़ (कर हृदयसे लगा) लें ।। १२ ।।

ध्वजाङ्कुशपताकाङ्कं दक्षिणं ते सुदक्षिणः ।
स्कन्धे निक्षिपतां बाहुं शान्तये भरतर्षभ ।। १३ ।।

'भरतश्रेष्ठ! उत्तम दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिर ध्वजा, अंकुश और पताकाओंके चिह्नसे सुशोभित अपनी दाहिनी भुजाको जगत्‌में शान्ति स्थापित करनेके लिये तुम्हारे कंधेपर रखें ।। १३ ।।

रत्नौषधिसमेतेन रक्ताङ्गुलितलेन च ।
उपविष्टस्य पृष्ठं ते पाणिना परिमार्जतु ।। १४ ।।

'तथा तुम्हें पास बिठाकर रत्न एवं ओषधियोंसे युक्त लाल हथेलीवाले हाथसे तुम्हारी पीठको धीरे-धीरे सहलायें ।।

शालस्कन्धो महाबाहुस्त्वां स्वजानो वृकोदरः ।
साम्नाभिवदतां चापि शान्तये भरतर्षभ ।। १५ ।।

'भरतभूषण! शालवृक्षके तनेके समान ऊँचे डील-डौलवाले महाबाहु भीमसेन भी शान्तिके लिये तुम्हें हृदयसे लगाकर तुमसे मीठी-मीठी बातें करें ।। १५ ।।

अर्जुनेन यमाभ्यां च त्रिभिस्तैरभिवादितः ।
मूर्ध्नि तान् समुपाघ्राय प्रेम्णाभिवद पार्थिव ।। १६ ।।

'राजन्! अर्जुन और नकुल-सहदेव—ये तीनों भाई तुम्हें प्रणाम करें और तुम उनके मस्तक सूँघकर उनके साथ प्रेमपूर्वक वार्तालाप करो ।। १६ ।।

दृष्ट्वा त्वां पाण्डवैर्वीरैर्भ्रातृभिः सह संगतम् ।
यावदानन्दजाश्रूणि प्रमुञ्चन्तु नराधिपाः ।। १७ ।।

'तुम्हें अपने वीर भाई पाण्डवोंके साथ मिला हुआ देख ये सब नरेश अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहायें ।। १७ ।।

घुष्यतां राजधानीषु सर्वसम्पन्महीक्षिताम् ।
पृथिवी भ्रातृभावेन भुज्यतां विज्वरो भव ।। १८ ।।

'राजाओंकी सभी राजधानियोंमें यह घोषणा करा दी जाय कि कौरव-पाण्डवोंका सारा झगड़ा समाप्त होकर परस्पर प्रेमपूर्वक उनका समस्त कार्य सम्पन्न हो गया। फिर तुम और युधिष्ठिर परस्पर भ्रातृभाव रखते हुए इस राज्यका समानरूपसे उपभोग करो, तुम्हारी सारी चिन्ताएँ दूर हो जायँ' ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म और द्रोणके वाक्यसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२६ ।।

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णको दुर्योधनका उत्तर, उसका पाण्डवोंको राज्य न देनेका निश्चय

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा दुर्योधनो वाक्यमप्रियं कुरुसंसदि ।
प्रत्युवाच महाबाहुं वासुदेवं यशस्विनम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कौरवसभामें यह अप्रिय वचन सुनकर दुर्योधनने यशस्वी महाबाहु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको इस प्रकार उत्तर दिया— ।।

प्रसमीक्ष्य भवानेतद् वक्तुमर्हति केशव ।
मामेव हि विशेषेण विभाष्य परिगर्हसे ।। २ ।।

'केशव! आपको अच्छी तरह सोच-विचारकर ऐसी बातें कहनी चाहिये। आप तो विशेषरूपसे मुझे ही दोषी ठहराकर मेरी निन्दा कर रहे हैं ।। २ ।।

भक्तिवादेन पार्थानामकस्मान्मधुसूदन ।
भवान् गर्हयते नित्यं किं समीक्ष्य बलाबलम् ।। ३ ।।

'मधुसूदन! आप पाण्डवोंके प्रेमकी दुहाई देकर जो अकारण ही सदा हमारी निन्दा करते रहते हैं, इसका क्या कारण है? क्या आप हमलोगोंके बलाबलका विचार करके ऐसा करते हैं? ।। ३ ।।

भवान् क्षत्ता च राजा वाप्याचार्यो वा पितामहः ।
मामेव परिगर्हन्ते नान्यं कंचन पार्थिवम् ।। ४ ।।

'मैं देखता हूँ, आप, विदुरजी, पिताजी, आचार्य अथवा पितामह भीष्म सभी लोग केवल मुझपर ही दोषारोपण करते हैं; दूसरे किसी राजापर नहीं ।। ४ ।।

न चाहं लक्षये कंचिद् व्यभिचारमिहात्मनः ।
अथ सर्वे भवन्तो मां विद्विषन्ति सराजकाः ।। ५ ।।

'परंतु मुझे यहाँ अपना कोई दोष नहीं दिखायी देता है। इधर राजा धृतराष्ट्रसहित आप सब लोग अकारण ही मुझसे द्वेष रखने लगे हैं ।। ५ ।।

न चाहं कंचिदत्यर्थमपराधमरिंदम ।
विचिन्तयन् प्रपश्यामि सुसूक्ष्ममपि केशव ।। ६ ।।

'शत्रुदमन केशव! मैं अत्यन्त सोच-विचारकर दृष्टि डालता हूँ, तो भी मुझे अपना कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अपराध भी नहीं दृष्टिगोचर होता है ।। ६ ।।

प्रियाभ्युपगते द्यूते पाण्डवा मधुसूदन ।

जिताः शकुनिना राज्यं तत्र किं मम दुष्कृतम् ।। ७ ।।

'मधुसूदन! पाण्डवोंको जूएका खेल बड़ा प्रिय था। इसीलिये वे उसमें प्रवृत्त हुए। फिर यदि मामा शकुनिने उनका राज्य जीत लिया तो इसमें मेरा क्या अपराध हो गया? ।। ७ ।।

यत् पुनर्द्रविणं किंचित् तत्राजीयन्त पाण्डवाः ।
तेभ्य एवाभ्यनुज्ञातं तत् तदा मधुसूदन ।। ८ ।।

'मधुसूदन! उस जूएमें पाण्डवोंने जो कुछ भी धन हारा था, वह सब उसी समय उन्हींको लौटा दिया गया था ।। ८ ।।

अपराधो न चास्माकं यत् ते द्यूते पराजिताः ।
अजेया जयतां श्रेष्ठ पार्थाः प्रव्राजिता वनम् ।। ९ ।।

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण! यदि अजेय पाण्डव जूएमें पुनः पराजित हो गये और वनमें जानेको विवश हुए तो यह हमलोगोंका अपराध नहीं है ।। ९ ।।

केन वाप्यपराधेन विरुद्धयन्त्यरिभिः सह ।
अशक्ताः पाण्डवाः कृष्ण प्रहृष्टाः प्रत्यमित्रवत् ।। १० ।।

'कृष्ण! हमारे किस अपराधसे असमर्थ पाण्डव शत्रुओंके साथ मिलकर हमारा विरोध करते हैं और ऐसा करके भी सहज शत्रुकी भाँति प्रसन्न हो रहे हैं ।। १० ।।

किमस्माभिः कृतं तेषां कस्मिन् वा पुनरागसि ।
धार्तराष्ट्रान् जिघांसन्ति पाण्डवाः सृंजयैः सह ।। ११ ।।

'हमने उनका क्या बिगाड़ा है? वे पाण्डव हमारे किस अपराधपर सृंजयोंके साथ मिलकर हम धृतराष्ट्र-पुत्रोंका वध करना चाहते हैं? ।। ११ ।।

न चापि वयमुग्रेण कर्मणा वचनेन वा ।
प्रभ्रष्टाः प्रणमामेह भयादपि शतक्रतुम् ।। १२ ।।

'हमलोग किसीके भयंकर कर्म अथवा भयानक वचनसे भयभीत हो क्षत्रियधर्मसे च्युत होकर साक्षात् इन्द्रके सामने भी नतमस्तक नहीं हो सकते ।। १२ ।।

न च तं कृष्ण पश्यामि क्षत्रधर्ममनुष्ठितम् ।
उत्सहेत युधा जेतुं यो नः शत्रुनिबर्हण ।। १३ ।।

'शत्रुओंका संहार करनेवाले श्रीकृष्ण! मैं क्षत्रिय-धर्मका अनुष्ठान करनेवाले किसी भी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो युद्धमें हम सब लोगोंको जीतनेका साहस कर सके ।। १३ ।।

न हि भीष्मकृपद्रोणाः सकर्णा मधुसूदन ।
देवैरपि युधा जेतुं शक्याः किमुत पाण्डवैः ।। १४ ।।

'मधुसूदन! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और कर्णको तो देवता भी युद्धमें नहीं जीत सकते; फिर पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है? ।। १४ ।।

स्वधर्ममनुपश्यन्तो यदि माधव संयुगे ।
अस्त्रेण निधनं काले प्राप्स्यामः स्वर्ग्यमेव तत् ।। १५ ।।

‘माधव! अपने धर्मपर दृष्टि रखते हुए यदि हमलोग युद्धमें किसी समय अस्त्रोंके आघातसे मृत्युको प्राप्त हो जायँ तो वह भी हमारे लिये स्वर्गकी ही प्राप्ति करानेवाली होगी ।। १५ ।।

मुख्यश्चैवैष नो धर्मः क्षत्रियाणां जनार्दन ।
यच्छयीमहि संग्रामे शरतल्पगता वयम् ।। १६ ।।

‘जनार्दन! हम क्षत्रियोंका यही प्रधान धर्म है कि संग्राममें हमें बाण-शय्यापर सोनेका अवसर प्राप्त हो ।। १६ ।।

ते वयं वीरशयनं प्राप्स्यामो यदि संयुगे ।
अप्रणम्यैव शत्रूणां न नस्तप्स्यन्ति माधव ।। १७ ।।

‘अतः माधव! हम अपने शत्रुओंके सामने नतमस्तक न होकर यदि युद्धमें वीरशय्याको प्राप्त हों तो इससे हमारे भाई-बन्धुओंको संताप नहीं होगा ।। १७ ।।

कश्च जातु कुले जातः क्षत्रधर्मेण वर्तयन् ।
भयाद् वृत्तिं समीक्ष्यैवं प्रणमेदिह कर्हिचित् ।। १८ ।।

‘उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर क्षत्रियधर्मके अनुसार जीवननिर्वाह करनेवाला कौन ऐसा महापुरुष होगा, जो क्षत्रियोचित वृत्तिपर दृष्टि रखते हुए भी इस प्रकार भयके कारण कभी शत्रुके सामने मस्तक झुकायेगा? ।।

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेदिह कर्हिचित् ।। १९ ।।

‘वीर पुरुषको चाहिये कि वह सदा उद्योग ही करे, किसीके सामने नतमस्तक न हो; क्योंकि उद्योग करना ही पुरुषका कर्तव्य-पुरुषार्थ है। वीर पुरुष असमयमें ही नष्ट भले ही हो जाय, परंतु कभी शत्रुके सामने सिर न झुकावे ।। १९ ।।

इति मातङ्गवचनं परीप्सन्ति हितेप्सवः ।
धर्माय चैव प्रणमेद् ब्राह्मणेभ्यश्च मद्विधः ।। २० ।।

‘अपना हित चाहनेवाले मनुष्य मातंग मुनिके उपर्युक्त वचनको ही ग्रहण करते हैं; अतः मेरे-जैसा पुरुष केवल धर्म तथा ब्राह्मणको ही प्रणाम कर सकता है (शत्रुओंको नहीं) ।। २० ।।

अचिन्तयन् कंचिदन्यं यावज्जीवं तथाऽऽचरेत् ।
एष धर्मः क्षत्रियाणां मतमेतच्च मे सदा ।। २१ ।।

‘वह दूसरे किसीको कुछ भी न समझकर जीवनभर ऐसा ही आचरण (उद्योग) करता रहे; यही क्षत्रियोंका धर्म है और सदाके लिये मेरा मत भी यही है ।। २१ ।।

राज्यांशश्चाभ्यनुज्ञातो यो मे पित्रा पुराभवत् ।
न स लभ्यः पुनर्जातु मयि जीवति केशव ।। २२ ।।

'केशव! मेरे पिताजीने पूर्वकालमें जो राज्यभाग मेरे अधीन कर दिया है, उसे कोई मेरे जीते-जी फिर कदापि नहीं पा सकता ।। २२ ।।

यावच्च राजा ध्रियते धृतराष्ट्रो जनार्दन ।
न्यस्तशस्त्रा वयं ते वाप्युपजीवाम माधव ।
अप्रदेयं पुरा दत्तं राज्यं परवतो मम ।। २३ ।।
अज्ञानाद् वा भयाद् वापि मयि बाले जनार्दन ।
न तदद्य पुनर्लभ्यं पाण्डवैर्वृष्णिनन्दन ।। २४ ।।

'जनार्दन! जबतक राजा धृतराष्ट्र जीवित हैं, तबतक हमें और पाण्डवोंको हथियार न उठाकर शान्तिपूर्वक जीवन बिताना चाहिये। वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण! पहले भी जो पाण्डवोंको राज्यका अंश दिया गया था, वह उन्हें देना उचित नहीं था; परंतु मैं उन दिनों बालक एवं पराधीन था, अतः अज्ञान अथवा भयसे जो कुछ उन्हें दे दिया गया था, उसे अब पाण्डव पुनः नहीं पा सकते ।। २३-२४ ।।

ध्रियमाणे महाबाहौ मयि सम्प्रति केशव ।
यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव ।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ।। २५ ।।

'केशव! इस समय मुझ महाबाहु दुर्योधनके जीते-जी पाण्डवोंको भूमिका उतना अंश भी नहीं दिया जा सकता, जितना कि एक बारीक सूईकी नोकसे छिद सकता है ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दुर्योधनवाक्ये सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२७ ।।

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधनको फटकारना और उसे कुपित होकर सभासे जाते देख उसे कैद करनेकी सलाह देना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रशम्य दाशार्हः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुर्योधनकी बातें सुनकर श्रीकृष्णके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। वे कुछ विचार करके कौरवसभामें दुर्योधनसे पुनः इस प्रकार बोले— ।।

लप्स्यसे वीरशयनं काममेतदवाप्स्यसि ।
स्थिरो भव सहामात्यो विमर्दो भविता महान् ।। २ ।।

'दुर्योधन! तुझे रणभूमिमें वीर-शय्या प्राप्त होगी। तेरी यह इच्छा पूर्ण होगी। तू मन्त्रियोंसहित धैर्यपूर्वक रह। अब बहुत बड़ा नरसंहार होनेवाला है ।। २ ।।

यच्चैवं मन्यसे मूढ न मे कश्चिद् व्यतिक्रमः ।
पाण्डवेष्विति तत् सर्वं निबोधत नराधिपाः ।। ३ ।।

'मूढ़! तू जो ऐसा मानता है कि पाण्डवोंके प्रति मेरा कोई अपराध ही नहीं है तो इसके सम्बन्धमें मैं सब बातें बताता हूँ। राजाओ! आपलोग भी ध्यान देकर सुनें ।।

श्रिया संतप्यमानेन पाण्डवानां महात्मनाम् ।
त्वया दुर्मन्त्रितं द्यूतं सौबलेन च भारत ।। ४ ।।

'भारत! महात्मा पाण्डवोंकी बढ़ती हुई समृद्धिसे संतप्त होकर तूने ही शकुनिके साथ यह खोटा विचार किया था कि पाण्डवोंके साथ जूआ खेला जाय ।। ४ ।।

कथं च ज्ञातयस्तात श्रेयांसः साधुसम्मताः ।
अथान्याय्यमुपस्थातुं जिह्मेनाजिह्मचारिणः ।। ५ ।।

'तात! अन्यथा सदा सरलतापूर्ण बर्ताव करनेवाले और साधु-सम्मानित तेरे श्रेष्ठ बन्धु पाण्डव यहाँ तुम-जैसे कपटीके साथ अन्याययुक्त द्यूतके लिये कैसे उपस्थित हो सकते थे? ।। ५ ।।

अक्षद्यूतं महाप्राज्ञ सतां मतिविनाशनम् ।
असतां तत्र जायन्ते भेदाश्च व्यसनानि च ।। ६ ।।

'महामते! जूएका खेल तो सत्पुरुषोंकी बुद्धिको भी नाश करनेवाला है और यदि दुष्ट पुरुष उसमें प्रवृत्त हों तो उनमें बड़ा भारी कलह होता है तथा उन सबपर बहुत-से संकट छा जाते हैं ।। ६ ।।

तदिदं व्यसनं घोरं त्वया द्यूतमुखं कृतम् ।
असमीक्ष्य सदाचारान् सार्धं पापानुबन्धनैः ।। ७ ।।

‘तूने ही सदाचारकी ओर लक्ष्य न रखकर पापासक्त पुरुषोंके सहित भयंकर विपत्तिके कारणभूत ये द्यूतक्रीड़ा आदि कार्य किये हैं ।। ७ ।।

कश्चान्यो भ्रातृभार्यां वै विप्रकर्तुं तथार्हति ।
आनीय च सभां व्यक्तं यथोक्ता द्रौपदी त्वया ।। ८ ।।

‘तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा अधम होगा, जो अपने बड़े भाईकी पत्नीको सभामें लाकर उसके साथ वैसा अनुचित बर्ताव करेगा। जैसा कि तूने द्रौपदीके प्रति स्पष्टरूपसे न कहने योग्य बातें कहकर दुर्व्यवहार किया है ।। ८ ।।

कुलीना शीलसम्पन्ना प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।
महिषी पाण्डुपुत्राणां तथा विनिकृता त्वया ।। ९ ।।

‘द्रौपदी उत्तम कुलमें उत्पन्न, शील और सदाचारसे सम्पन्न तथा पाण्डवोंके लिये प्राणोंसे भी अधिक आदरणीय उन सबकी महारानी है। तथापि तूने उसके प्रति अत्याचार किया ।। ९ ।।

जानन्ति कुरवः सर्वे यथोक्ताः कुरुसंसदि ।
दुःशासनेन कौन्तेयाः प्रव्रजन्तः परंतपाः ।। १० ।।

‘जिस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार पाण्डव वनको जा रहे थे, उस समय दुःशासनने कौरवसभामें उनके प्रति जैसी कठोर बातें कही थीं, उन्हें सभी कौरव जानते हैं ।। १० ।।

सम्यग्वृत्तेष्वलुब्धेषु सततं धर्मचारिषु ।
स्वेषु बन्धुषु कः साधुश्चरेदेवमसाम्प्रतम् ।। ११ ।।

‘सदा धर्ममें ही तत्पर रहनेवाले लोभरहित सदाचारी अपने बन्धुओंके प्रति कौन साधु पुरुष ऐसा अयोग्य बर्ताव करेगा? ।। ११ ।।

नृशंसानामनार्याणां पुरुषाणां च भाषणम् ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च त्वया च बहुशः कृतम् ।। १२ ।।

‘दुर्योधन! तूने कर्ण और दुःशासनके साथ अनेक बार निर्दयी तथा अनार्य पुरुषोंकी-सी बातें कही हैं ।। १२ ।।

सह मात्रा प्रदग्धुं तान् बालकान् वारणावते ।
आस्थितः परमं यत्नं न समृद्धं च तत् तव ।। १३ ।।

‘तूने वारणावत नगरमें बाल्यावस्थामें पाण्डवोंको उनकी मातासहित जला डालनेका महान् प्रयत्न किया था, परंतु तेरा वह उद्देश्य सफल न हो सका ।। १३ ।।

ऊषुश्च सुचिरं कालं प्रच्छन्नाः पाण्डवास्तदा ।
मात्रा सहैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ।। १४ ।।

‘उन दिनों पाण्डव अपनी माताके साथ सुदीर्घ-कालतक एकचक्रा नगरीमें किसी ब्राह्मणके घरमें छिपे रहे ।। १४ ।।

विषेण सर्पबन्धैश्च यतिताः पाण्डवास्त्वया ।
सर्वोपायैर्विनाशाय न समृद्धं च तत् तव ।। १५ ।।

‘तूने (भीमसेनको) विष देकर, सर्पसे कटाकर और बँधे हुए हाथ-पैरोंसहित जलमें डुबाकर इन सभी उपायोंद्वारा पाण्डवोंको नष्ट कर देनेका प्रयत्न किया है, परंतु तेरा यह प्रयास भी सफल न हो सका ।। १५ ।।

एवंबुद्धिः पाण्डवेषु मिथ्यावृत्तिः सदा भवान् ।
कथं ते नापराधोऽस्ति पाण्डवेषु महात्मसु ।। १६ ।।

‘ऐसे ही विचार रखकर तू पाण्डवोंके प्रति सदा कपटपूर्ण बर्ताव करता आया है, फिर कैसे मान लिया जाय कि महात्मा पाण्डवोंके प्रति तेरा कोई अपराध ही नहीं है ।। १६ ।।

यच्चैभ्यो याचमानेभ्यः पित्र्यमंशं न दित्ससि ।
तच्च पाप प्रदातासि भ्रष्टैश्वर्यो निपातितः ।। १७ ।।

‘पापात्मन्! तू याचना करनेपर इन पाण्डवोंको जो पैतृक राज्य-भाग नहीं देना चाहता है, वही तुझे उस समय देना पड़ेगा, जब कि रणभूमिमें धराशायी होकर तू ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जायगा ।। १७ ।।

कृत्वा बहून्यकार्याणि पाण्डवेषु नृशंसवत् ।
मिथ्यावृत्तिरनार्यः सन्नद्य विप्रतिपद्यसे ।। १८ ।।

‘क्रूरकर्मी मनुष्योंकी भाँति तू पाण्डवोंके प्रति बहुत-से अयोग्य बर्ताव करके मिथ्याचारी और अनार्य होकर भी आज अपने उन अपराधोंके प्रति अनभिज्ञता प्रकट करता है ।।

मातापितृभ्यां भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
शाम्येति मुहुरुक्तोऽसि न च शाम्यसि पार्थिव ।। १९ ।।

‘माता-पिता, भीष्म, द्रोण और विदुर सबने तुझसे बार-बार कहा है कि तू संधि कर ले—शान्त हो जा, परंतु भूपाल! तू शान्त होनेका नाम ही नहीं लेता ।। १९ ।।

शमे हि सुमहाँल्लाभस्तव पार्थस्य चोभयोः ।
न च रोचयसे राजन् किमन्यद् बुद्धिलाघवात् ।। २० ।।

‘राजन्! शान्ति स्थापित होनेपर तेरा और युधिष्ठिरका दोनोंका ही महान् लाभ है, परंतु तुझे यह प्रस्ताव अच्छा नहीं लगता। इसे बुद्धिकी मन्दताके सिवा और क्या कहा जा सकता है? ।। २० ।।

न शर्म प्राप्स्यसे राजन्नुत्क्रम्य सुहृदां वचः ।
अधर्म्यमयशस्यं च क्रियते पार्थिव त्वया ।। २१ ।।

राजन्! तू हितैषी सुहृदोंकी आज्ञाका उल्लंघन करके कल्याणका भागी नहीं हो सकेगा। भूपाल! तू सदा अधर्म और अपयशका कार्य करता है' ।। २१ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति दाशार्हे दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःशासन इदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ।। २२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ये सब बातें कह रहे थे, उसी समय दुःशासनने बीचमें ही अमर्षशील दुर्योधनसे कौरवसभामें ही कहा— ।। २२ ।।

न चेत् संधास्यसे राजन् स्वेन कामेन पाण्डवैः ।
बद्ध्वा किल त्वां दास्यन्ति कुन्तीपुत्राय कौरवाः ।। २३ ।।

'राजन्! यदि आप अपनी इच्छासे पाण्डवोंके साथ संधि नहीं करेंगे तो जान पड़ता है, कौरवलोग आपको बाँधकर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके हाथमें सौंप देंगे ।। २३ ।।

वैकर्तनं त्वां च मां च त्रीनेतान् मनुजर्षभ ।
पाण्डवेभ्यः प्रदास्यन्ति भीष्मो द्रोणः पिता च ते ।। २४ ।।

'नरश्रेष्ठ! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण और पिताजी—ये कर्णको, आपको और मुझे —इन तीनोंको ही पाण्डवोंके अधिकारमें दे देंगे ।। २४ ।।

भ्रातुरेतद् वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ।
क्रुद्धः प्रातिष्ठतोत्थाय महानाग इव श्वसन् ।। २५ ।।
विदुरं धृतराष्ट्रं च महाराजं च बाह्लिकम् ।
कृपं च सोमदत्तं च भीष्मं द्रोणं जनार्दनम् ।। २६ ।।
सर्वानेताननादृत्य दुर्मतिर्निरपत्रपः ।
अशिष्टवदमर्यादो मानी मान्यावमानिता ।। २७ ।।

भाईकी यह बात सुनकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अत्यन्त कुपित हो फुफकारते हुए महान् सर्पकी भाँति लंबी साँसें खींचता हुआ वहाँसे उठकर चल दिया। वह दुर्बुद्धि, निर्लज्ज, अशिष्ट पुरुषोंकी भाँति मर्यादाशून्य, अभिमानी तथा माननीय पुरुषोंका अपमान करनेवाला था। वह विदुर, धृतराष्ट्र, महाराज बाह्लीक, कृपाचार्य, सोमदत्त, भीष्म, द्रोणाचार्य और भगवान् श्रीकृष्ण—इन सबका अनादर करके वहाँसे चल पड़ा ।। २५—२७ ।।

तं प्रस्थितमभिप्रेक्ष्य भ्रातरो मनुजर्षभम् ।
अनुजग्मुः सहामात्या राजानश्चापि सर्वशः ।। २८ ।।

नरश्रेष्ठ दुर्योधनको वहाँसे जाते देख उसके भाई, मन्त्री तथा सहयोगी नरेश सब-के-सब उठकर उसके साथ चल दिये ।। २८ ।।

सभायामुत्थितं क्रुद्धं प्रस्थितं भ्रातृभिः सह ।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ।। २९ ।।

इस प्रकार क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनको भाइयों-सहित सभासे उठकर जाते देख शान्तनुनन्दन भीष्मने कहा— ।। २९ ।।

धर्मार्थावभिसंत्यज्य संरम्भं योऽनुमन्यते ।

हसन्ति व्यसने तस्य दुर्हृदो नचिरादिव ।। ३० ।।

'जो धर्म और अर्थका परित्याग करके क्रोधका ही अनुसरण करता है, उसे शीघ्र ही विपत्तिमें पड़ा देख उसके शत्रुगण हँसी उड़ाते हैं ।। ३० ।।

दुरात्मा राजपुत्रोऽयं धार्तराष्ट्रोऽनुपायकृत् ।

मिथ्याभिमानी राज्यस्य क्रोधलोभवशानुगः ।। ३१ ।।

'राजा धृतराष्ट्रका यह दुरात्मा पुत्र दुर्योधन लक्ष्य-सिद्धिके उपायके विपरीत कार्य करनेवाला तथा क्रोध और लोभके वशीभूत रहनेवाला है। इसे राजा होनेका मिथ्या अभिमान है ।। ३१ ।।

कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन ।

सर्वे ह्यनुसृता मोहात् पार्थिवाः सह मन्त्रिभिः ।। ३२ ।।

'जनार्दन! मैं समझता हूँ कि ये समस्त क्षत्रियगण कालसे पके हुए फलकी भाँति मौतके मुँहमें जानेवाले हैं। तभी तो ये सब-के-सब मोहवश अपने मन्त्रियोंके साथ दुर्योधनका अनुसरण करते हैं' ।। ३२ ।।

भीष्मस्याथ वचः श्रुत्वा दाशार्हः पुष्करेक्षणः ।

भीष्मद्रोणमुखान् सर्वानभ्यभाषत वीर्यवान् ।। ३३ ।।

भीष्मका यह कथन सुनकर महापराक्रमी दशार्हकुलनन्दन कमलनयन श्रीकृष्णने भीष्म और द्रोण आदि सब लोगोंसे इस प्रकार कहा— ।। ३३ ।।

सर्वेषां कुरुवृद्धानां महानयमतिक्रमः ।

प्रसह्य मन्दमैश्वर्ये न नियच्छत यन्नृपम् ।। ३४ ।।

'कुरुकुलके सभी बड़े-बूढ़े लोगोंका यह बहुत बड़ा अन्याय है कि आपलोग इस मूर्ख दुर्योधनको राजाके पदपर बिठाकर अब इसका बलपूर्वक नियन्त्रण नहीं कर रहे हैं ।। ३४ ।।

तत्र कार्यमहं मन्ये कालप्राप्तमरिंदमाः ।

क्रियमाणे भवेच्छ्रेयस्तत् सर्वं शृणुतानघाः ।। ३५ ।।

'शत्रुओंका दमन करनेवाले निष्पाप कौरवो! इस विषयमें मैंने समयोचित कर्तव्यका निश्चय कर लिया है, जिसका पालन करनेपर सबका भला होगा। वह सब मैं बता रहा हूँ, आपलोग सुनें ।। ३५ ।।

प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वक्ष्यामि हितं वचः ।

भवतामानुकूल्येन यदि रोचेत भारताः ।। ३६ ।।

‘मैं तो हितकी बात बताने जा रहा हूँ। उसका आपलोगोंको भी प्रत्यक्ष अनुभव है। भरतवंशियो! यदि वह आपके अनुकूल होनेके कारण ठीक जान पड़े तो आप उसे काममें ला सकते हैं ।। ३६ ।।

भोजराजस्य वृद्धस्य दुराचारो ह्यनात्मवान् ।
जीवतः पितुरैश्वर्यं हृत्वा मृत्युवशं गतः ।। ३७ ।।

‘बूढ़े भोजराज उग्रसेनका पुत्र कंस बड़ा दुराचारी एवं अजितेन्द्रिय था। वह अपने पिताके जीते-जी उनका सारा ऐश्वर्य लेकर स्वयं राजा बन बैठा था, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह मृत्युके अधीन हो गया ।।

उग्रसेनसुतः कंसः परित्यक्तः स बान्धवैः ।
ज्ञातीनां हितकामेन मया शस्तो महामृधे ।। ३८ ।।

‘समस्त भाई-बन्धुओंने उसका त्याग कर दिया था, अतः सजातीय बन्धुओंके हितकी इच्छासे मैंने महान् युद्धमें उस उग्रसेनपुत्र कंसको मार डाला ।। ३८ ।।

आहुकः पुनरस्माभिर्ज्ञातिभिश्चापि सत्कृतः ।
उग्रसेनः कृतो राजा भोजराजन्यवर्धनः ।। ३९ ।।

‘तदनन्तर हम सब कुटुम्बीजनोंने मिलकर भोज-वंशी क्षत्रियोंकी उन्नति करनेवाले आहुक उग्रसेनको सत्कारपूर्वक पुनः राजा बना दिया ।। ३९ ।।

कंसमेकं परित्यज्य कुलार्थे सर्वयादवाः ।
सम्भूय सुखमेधन्ते भारतान्धकवृष्णयः ।। ४० ।।

‘भरतनन्दन! कुलकी रक्षाके लिये एकमात्र कंसका परित्याग करके अन्धक और वृष्णि आदि कुलोंके समस्त यादव परस्पर संगठित हो सुखसे रहते और उत्तरोत्तर उन्नति कर रहे हैं ।। ४० ।।

अपि चाप्यवदद् राजन् परमेष्ठी प्रजापतिः ।
व्यूढे देवासुरे युद्धेऽभ्युद्यतेष्वायुधेषु च ।। ४१ ।।
द्वैधीभूतेषु लोकेषु विनश्यत्सु च भारत ।
अब्रवीत् सृष्टिमान् देवो भगवाँल्लोकभावनः ।। ४२ ।।
पराभविष्यन्त्यसुरा दैतेया दानवैः सह ।
आदित्या वसवो रुद्रा भविष्यन्ति दिवौकसः ।। ४३ ।।
देवासुरमनुष्याश्च गन्धर्वोरगराक्षसाः ।
अस्मिन् युद्धे सुसंक्रुद्धा हनिष्यन्ति परस्परम् ।। ४४ ।।

‘राजन्! इसके सिवा एक और उदाहरण लीजिये। एक समय प्रजापति ब्रह्माजीने जो बात कही थी, वही बता रहा हूँ। देवता और असुर युद्धके लिये मोर्चे बाँधकर खड़े थे। सबके अस्त्र-शस्त्र प्रहारके लिये ऊपर उठ गये थे। सारा संसार दो भागोंमें बँटकर विनाशके गर्तमें गिरना चाहता था। भारत! उस अवस्थामें सृष्टिकी रचना करनेवाले लोकभावन भगवान्

ब्रह्माजीने स्पष्टरूपसे बता दिया कि इस युद्धमें दानवोंसहित दैत्यों तथा असुरोंकी पराजय होगी। आदित्य, वसु तथा रुद्र आदि देवता विजयी होंगे। देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग तथा राक्षस—ये युद्धमें अत्यन्त कुपित होकर एक-दूसरेका वध करेंगे ।। ४१—४४ ।।

इति मत्वाब्रवीद् धर्मं परमेष्ठी प्रजापतिः ।
वरुणाय प्रयच्छैतान् बद्ध्वा दैतेयदानवान् ।। ४५ ।।

'यह भावी परिणाम जानकर परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्माने धर्मराजसे यह बात कही—'तुम इन दैत्यों और दानवोंको बाँधकर वरुणदेवको सौंप दो' ।। ४५ ।।

एवमुक्तस्ततो धर्मो नियोगात् परमेष्ठिनः ।
वरुणाय ददौ सर्वान् बद्ध्वा दैतेयदानवान् ।। ४६ ।।

'उनके ऐसा कहनेपर धर्मने ब्रह्माजीकी आज्ञाके अनुसार सम्पूर्ण दैत्यों और दानवोंको बाँधकर वरुणको सौंप दिया ।। ४६ ।।

तान् बद्ध्वा धर्मपाशैश्च स्वैश्च पाशैर्जलेश्वरः ।
वरुणः सागरे यत्तो नित्यं रक्षति दानवान् ।। ४७ ।।

'तबसे जलके स्वामी वरुण उन्हें धर्मपाश एवं वारुणपाशमें बाँधकर प्रतिदिन सावधान रहकर उन दानवोंको समुद्रकी सीमामें ही रखते हैं ।। ४७ ।।

तथा दुर्योधनं कर्णं शकुनिं चापि सौबलम् ।
बद्ध्वा दुःशासनं चापि पाण्डवेभ्यः प्रयच्छथ ।। ४८ ।।

'भरतवंशियो! उसी प्रकार आपलोग दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा दुःशासनको बंदी बनाकर पाण्डवोंके हाथमें दे दें ।। ४८ ।।

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।। ४९ ।।

'समस्त कुलकी भलाईके लिये एक पुरुषको, एक गाँवके हितके लिये एक कुलको, जनपदके भलेके लिये एक गाँवको और आत्मकल्याणके लिये समस्त भूमण्डलको त्याग दे ।। ४९ ।।

राजन् दुर्योधनं बद्ध्वा ततः संशाम्य पाण्डवैः ।
त्वत्कृते न विनश्येयुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।। ५० ।।

'राजन्! आप दुर्योधनको कैद करके पाण्डवोंसे संधि कर लें। क्षत्रियशिरोमणे! ऐसा न हो कि आपके कारण समस्त क्षत्रियोंका विनाश हो जाय' ।। ५० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२८ ।।

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका गान्धारीको बुलाना और उसका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

कृष्णस्य तु वचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
विदुरं सर्वधर्मज्ञं त्वरमाणोऽभ्यभाषत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर राजा धृतराष्ट्रने सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरसे शीघ्रतापूर्वक कहा— ।। १ ।।

गच्छ तात महाप्राज्ञां गान्धारीं दीर्घदर्शिनीम् ।
आनयेह तया सार्धमनुनेष्यामि दुर्मतिम् ।। २ ।।

'तात! जाओ, परम बुद्धिमती और दूरदर्शिनी गान्धारीदेवीको यहाँ बुला लाओ। मैं उसीके साथ इस दुर्बुद्धिको समझा-बुझाकर राहपर लानेकी चेष्टा करूँगा ।।

यदि सापि दुरात्मानं शमयेद् दुष्टचेतसम् ।
अपि कृष्णस्य सुहृदस्तिष्ठेम वचने वयम् ।। ३ ।।

'यदि वह भी उस दुष्टचित्त दुरात्माको शान्त कर सके तो हमलोग अपने सुहृद् श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन कर सकते हैं ।। ३ ।।

अपि लोभाभिभूतस्य पन्थानमनुदर्शयेत् ।
दुर्बुद्धेर्दुःसहायस्य शमार्थं ब्रुवती वचः ।। ४ ।।

'दुर्योधन लोभके अधीन हो रहा है। उसकी बुद्धि दूषित हो गयी है और उसके सहायक दुष्ट स्वभावके ही हैं। सम्भव है, गान्धारी शान्तिस्थापनके लिये कुछ कहकर उसे सन्मार्गका दर्शन करा सके ।। ४ ।।

अपि नो व्यसनं घोरं दुर्योधनकृतं महत् ।
शमयेच्चिररात्राय योगक्षेमवदव्ययम् ।। ५ ।।

'यदि ऐसा हुआ तो दुर्योधनके द्वारा उपस्थित किया हुआ हमारा महान् एवं भयंकर संकट दीर्घकालके लिये शान्त हो जायगा और चिरस्थायी योगक्षेमकी प्राप्ति सुलभ होगी' ।। ५ ।।

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा विदुरो दीर्घदर्शिनीम् ।
आनयामास गान्धारीं धृतराष्ट्रस्य शासनात् ।। ६ ।।

राजाकी यह बात सुनकर विदुर धृतराष्ट्रके आदेशसे दूरदर्शिनी गान्धारीदेवीको वहाँ बुला ले आये ।। ६ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

एष गान्धारि पुत्रस्ते दुरात्मा शासनातिगः ।
ऐश्वर्यलोभादैश्वर्यं जीवितं च प्रहास्यति ॥ ७ ॥

उस समय धृतराष्ट्रने कहा—गान्धारि! तुम्हारा वह दुरात्मा पुत्र गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लंघन कर रहा है। वह ऐश्वर्यके लोभमें पड़कर राज्य और प्राण दोनों गँवा देगा ॥ ७ ॥

अशिष्टवदमर्यादः पापैः सह दुरात्मवान् ।
सभाया निर्गतो मूढो व्यतिक्रम्य सुहृद्वचः ॥ ८ ॥

मर्यादाका उल्लंघन करनेवाला वह मूढ़ दुरात्मा अशिष्ट पुरुषकी भाँति हितैषी सुहृदोंकी आज्ञाको ठुकराकर अपने पापी साथियोंके साथ सभासे बाहर निकल गया है ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा भर्तृवचनं श्रुत्वा राजपुत्री यशस्विनी ।
अन्विच्छन्ती महच्छ्रेयो गान्धारी वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पतिका यह वचन सुनकर यशस्विनी राजपुत्री गान्धारी महान् कल्याणका अनुसंधान करती हुई इस प्रकार बोली ॥

गान्धार्युवाच

आनायय सुतं क्षिप्रं राज्यकामुकमातुरम् ।
न हि राज्यमशिष्टेन शक्यं धर्मार्थलोपिना ॥ १० ॥
आप्तुमाप्तं तथापीदमविनीतेन सर्वथा ।

गान्धारीने कहा—महाराज! राज्यकी कामनासे आतुर हुए अपने पुत्रको शीघ्र बुलवाइये। धर्म और अर्थका लोप करनेवाला कोई भी अशिष्ट पुरुष राज्य नहीं पा सकता, तथापि सर्वथा उद्दण्डताका परिचय देनेवाले उस दुष्टने राज्यको प्राप्त कर लिया है ॥ १०½ ॥

त्वं ह्येवात्र भृशं गर्ह्यो धृतराष्ट्र सुतप्रियः ॥ ११ ॥
यो जानन् पापतामस्य तत्प्रज्ञामनुवर्तसे ।

महाराज! आपको अपना बेटा बहुत प्रिय है, अतः वर्तमान परिस्थितिके लिये आप ही अत्यन्त निन्दनीय हैं; क्योंकि आप उसके पापपूर्ण विचारोंको जानते हुए भी सदा उसीकी बुद्धिका अनुसरण करते हैं ॥ ११½ ॥

स एष काममन्युभ्यां प्रलब्धो लोभमास्थितः ॥ १२ ॥
अशक्योऽद्य त्वया राजन् विनिवर्तयितुं बलात् ।

राजन्! इस दुर्योधनको काम और क्रोधने अपने वशमें कर लिया है, यह लोभमें फँस गया है; अतः आज आपका इसे बलपूर्वक पीछे लौटाना असम्भव है ॥

राष्ट्रप्रदाने मूढस्य बालिशस्य दुरात्मनः ॥ १३ ॥

दुःसहायस्य लुब्धस्य धृतराष्ट्रोऽश्नुते फलम् ।

दुष्ट सहायकोंसे युक्त, मूढ़, अज्ञानी, लोभी और दुरात्मा पुत्रको अपना राज्य सौंप देनेका फल महाराज धृतराष्ट्र स्वयं भोग रहे हैं ।। १३ १/२ ।।

कथं हि स्वजने भेदमुपेक्षेत महीपतिः ।
भिन्नं हि स्वजनेन त्वां प्रहसिष्यन्ति शत्रवः ।। १४ ।।
या हि शक्या महाराज साम्ना भेदेन वा पुनः ।
निस्तर्तुमापदः स्वेषु दण्डं कस्तत्र पातयेत् ।। १५ ।।

कोई भी राजा स्वजनोंमें फैलती हुई फूटकी उपेक्षा कैसे कर सकता है? राजन्! स्वजनोंमें फूट डालकर उनसे विलग होनेवाले आपकी सभी शत्रु हँसी उड़ायेंगे। महाराज! जिस आपत्तिको साम अथवा भेदनीतिसे पार किया जा सकता है, उसके लिये आत्मीयजनोंपर दण्डका प्रयोग कौन करेगा? ।। १४-१५ ।।

वैशम्पायन उवाच

शासनाद् धृतराष्ट्रस्य दुर्योधनममर्षणम् ।
मातुश्च वचनात् क्षत्ता सभां प्रावेशयत् पुनः ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पिता धृतराष्ट्रके आदेश और माता गान्धारीकी आज्ञासे विदुर असहिष्णु दुर्योधनको पुनः सभामें बुला ले आये ।। १६ ।।

स मातुर्वचनाकाङ्क्षी प्रविवेश पुनः सभाम् ।
अभिताम्रेक्षणः क्रोधान्निःश्वसन्निव पन्नगः ।। १७ ।।

दुर्योधनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। वह फुफकारते हुए सर्पकी भाँति लंबी साँसें खींचता हुआ माताकी बात सुननेकी इच्छासे सभाभवनमें पुनः प्रविष्ट हुआ ।। १७ ।।

तं प्रविष्टमभिप्रेक्ष्य पुत्रमुत्पथमास्थितम् ।
विगर्हमाणा गान्धारी शमार्थं वाक्यमब्रवीत् ।। १८ ।।

अपने कुमार्गगामी पुत्रको पुनः सभाके भीतर आया देख गान्धारी उसकी निन्दा करती हुई शान्ति-स्थापनके लिये इस प्रकार बोली— ।। १८ ।।

दुर्योधन निबोधेदं वचनं मम पुत्रक ।
हितं ते सानुबन्धस्य तथाऽऽयत्यां सुखोदयम् ।। १९ ।।

'बेटा दुर्योधन! मेरी यह बात सुनो। जो सगे-सम्बन्धियोंसहित तुम्हारे लिये हितकारक और भविष्यमें सुखकी प्राप्ति करानेवाली है ।। १९ ।।

दुर्योधन यदाह त्वां पिता भरतसत्तम ।
भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता सुहृदां कुरु तद् वचः ।। २० ।।

'भरतश्रेष्ठ दुर्योधन! तुम्हारे पिता, पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य और विदुर तुमसे जो कुछ कहते हैं, अपने इन सुहृदोंकी वह बात मान लो ।। २० ।।

दुर्योधनको गान्धारीकी फटकार

भीष्मस्य तु पितुश्चैव मम चापचितिः कृता ।

भवेद् द्रोणमुखानां च सुहृदां शाम्यता त्वया ।। २१ ।।

'यदि तुम शान्त हो जाओगे तो तुम्हारे द्वारा भीष्मकी, पिताजीकी, मेरी तथा द्रोण आदि अन्य हितैषी सुहृदोंकी भी पूजा सम्पन्न हो जायगी ।। २१ ।।

न हि राज्यं महाप्राज्ञ स्वेन कामेन शक्यते ।
अवाप्तुं रक्षितुं वापि भोक्तुं भरतसत्तम ।। २२ ।।

'भरतश्रेष्ठ! महामते! कोई भी अपनी इच्छामात्रसे राज्यकी प्राप्ति, रक्षा अथवा उपभोग नहीं कर सकता ।।

न ह्यवश्येन्द्रियो राज्यमश्नीयाद् दीर्घमन्तरम् ।
विजितात्मा तु मेधावी स राज्यमभिपालयेत् ।। २३ ।।

'जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, वह दीर्घकालतक राज्यका उपभोग नहीं कर सकता। जिसने अपने मनको जीत लिया है, वह मेधावी पुरुष ही राज्यकी रक्षा कर सकता है ।। २३ ।।

कामक्रोधौ हि पुरुषमर्थेभ्यो व्यपकर्षतः ।
तौ तु शत्रू विनिर्जित्य राजा विजयते महीम् ।। २४ ।।

'काम और क्रोध मनुष्यको धनसे दूर खींच ले जाते हैं। उन दोनों शत्रुओंको जीत लेनेपर राजा इस पृथ्वीपर विजय पाता है ।। २४ ।।

लोकेश्वर प्रभुत्वं हि महदेतद् दुरात्मभिः ।
राज्यं नामेप्सितं स्थानं न शक्यमभिरक्षितुम् ।। २५ ।।

'जनेश्वर! यह महान् प्रभुत्व ही राज्य नामक अभीष्ट स्थान है। जिनकी अन्तरात्मा दूषित है, वे इसकी रक्षा नहीं कर सकते ।। २५ ।।

इन्द्रियाणि महत्प्रेप्सुर्नियच्छेदर्थधर्मयोः ।
इन्द्रियैर्नियतैर्बुद्धिर्वर्धतेऽग्निरिवेन्धनैः ।। २६ ।।

'महत्पदको प्राप्त करनेकी इच्छावाला पुरुष अपनी इन्द्रियोंको अर्थ और धर्ममें नियन्त्रित करे। इन्द्रियोंको जीत लेनेपर बुद्धि उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे ईंधन डालनेसे आग प्रज्वलित हो उठती है ।। २६ ।।

अविधेयानि हीमानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ।। २७ ।।

'जैसे उद्दण्ड घोड़े काबूमें न होनेपर मूर्ख सारथि-को मार्गमें ही मार डालते हैं, उसी प्रकार यदि इन इन्द्रियोंको काबूमें न रखा जाय तो ये मनुष्यका नाश करनेके लिये भी पर्याप्त हैं ।। २७ ।।

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते ।
अमित्रान् वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ।। २८ ।।

'जो पहले अपने मनको न जीतकर मन्त्रियोंको जीतनेकी इच्छा करता है अथवा मन्त्रियोंको जीते बिना शत्रुओंको जीतना चाहता है, वह विवश होकर राज्य और जीवन दोनोंसे वंचित हो जाता है ।। २८ ।।

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण योजयेत् ।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ।। २९ ।।

'अतः पहले अपने मनको ही शत्रुके स्थानपर रखकर इसे जीते। तत्पश्चात् मन्त्रियों और शत्रुओंपर विजय पानेकी इच्छा करे। ऐसा करनेसे उसकी विजय पानेकी अभिलाषा कभी व्यर्थ नहीं होती है ।। २९ ।।

वश्येन्द्रियं जितामात्यं धृतदण्डं विकारिषु ।
परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यर्थं श्रीर्निषेवते ।। ३० ।।

'जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर रखा है, मन्त्रियोंपर विजय पा ली है तथा जो अपराधियोंको दण्ड प्रदान करता है, खूब सोच-समझकर कार्य करनेवाले उस धीर पुरुषकी लक्ष्मी अत्यन्त सेवा करती है ।। ३० ।।

क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुभौ ।
कामक्रोधौ शरीरस्थौ प्रज्ञानं तौ विलुम्पतः ।। ३१ ।।

'छोटे छिद्रवाले जालसे ढकी हुई दो मछलियोंकी भाँति ये काम और क्रोध भी शरीरके भीतर ही छिपे हुए हैं, जो मनुष्यके ज्ञानको नष्ट कर देते हैं ।। ३१ ।।

याभ्यां हि देवाः स्वर्यातुः स्वर्गस्य पिदधुर्मुखम् ।
बिभ्यतोऽनुपरागस्य कामक्रोधौ स्म वर्धितौ ।। ३२ ।।

'इन्हीं दोनों (काम और क्रोध)-के द्वारा देवताओंने स्वर्गमें जानेवाले पुरुषके लिये उस लोकका दरवाजा बंद कर रखा है। वीतराग पुरुषसे डरकर ही देवताओंने स्वर्गप्राप्तिके प्रतिबन्धक काम और क्रोधकी वृद्धि की है ।।

कामं क्रोधं च लोभं च दम्भं दर्पं च भूमिपः ।
सम्यग्विजेतुं यो वेद स महीमभिजायते ।। ३३ ।।

'जो राजा काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और दर्पको अच्छी तरह जीतनेकी कला जानता है, वही इस पृथ्वीका शासन कर सकता है ।। ३३ ।।

सततं निग्रहे युक्त इन्द्रियाणां भवेन्नृपः ।
ईप्सन्नर्थं च धर्मं च द्विषतां च पराभवम् ।। ३४ ।।

'अतः अर्थ, धर्म तथा शत्रुओंका पराभव चाहनेवाले राजाको सदा अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखनेका प्रयत्न करना चाहिये ।। ३४ ।।

कामाभिभूतः क्रोधाद् वा यो मिथ्या प्रतिपद्यते ।
स्वेषु चान्येषु वा तस्य न सहाया भवन्त्युत ।। ३५ ।।

'जो राजा काम अथवा क्रोधसे अभिभूत होकर स्वजनों या दूसरोंके प्रति मिथ्या बर्ताव (कपट एवं अन्याययुक्त आचरण) करता है, उसके कोई सहायक नहीं होते हैं ।। ३५ ।।

एकीभूतैर्महाप्राज्ञैः शूरैररिनिबर्हणैः ।
पाण्डवैः पृथिवीं तात भोक्ष्यसे सहितः सुखी ।। ३६ ।।

'तात! पाण्डव परस्पर संगठित होनेके कारण एकीभूत हो गये हैं। वे परम ज्ञानी, शूरवीर तथा शत्रुसंहारमें समर्थ हैं। तुम उनके साथ मिलकर सुखपूर्वक इस पृथ्वीका राज्य भोग सकोगे ।। ३६ ।।

यथा भीष्मः शान्तनवो द्रोणश्चापि महारथः ।
आहतुस्तात तत् सत्यमजेयौ कृष्णपाण्डवौ ।। ३७ ।।

'तात! शान्तनुनन्दन भीष्म तथा महारथी द्रोणाचार्य जैसा कह रहे हैं, वह सर्वथा सत्य है। वास्तवमें श्रीकृष्ण और अर्जुन अजेय हैं ।। ३७ ।।

प्रपद्यस्व महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ।
प्रसन्नो हि सुखाय स्यादुभयोरेव केशवः ।। ३८ ।।

'अतः अनायास ही महान् कर्म करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लो; क्योंकि भगवान् केशव प्रसन्न होनेपर दोनों ही पक्षोंको सुखी बना सकते हैं ।।

सुहृदामर्थकामानां यो न तिष्ठति शासने ।
प्राज्ञानां कृतविद्यानां स नरः शत्रुनन्दनः ।। ३९ ।।

'जो मनुष्य अपना भला चाहनेवाले ज्ञानी एवं विद्वान् सुहृदोंके शासनमें नहीं रहता—उनके उपदेशके अनुसार नहीं चलता, वह शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाला होता है ।। ३९ ।।

न युद्धे तात कल्याणं न धर्मार्थौ कुतः सुखम् ।
न चापि विजयो नित्यं मा युद्धे चेत आधिथाः ।। ४० ।।

'तात! युद्ध करनेमें कल्याण नहीं है। उससे धर्म और अर्थकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर सुख तो मिल ही कैसे सकता है? युद्धमें सदा विजय ही हो, यह भी निश्चित नहीं है; अतः उसमें मन न लगाओ ।। ४० ।।

भीष्मेण हि महाप्राज्ञ पित्रा ते बाह्लिकेन च ।
दत्तोंऽशः पाण्डुपुत्राणां भेदाद् भीतैररिंदम ।। ४१ ।।

'शत्रुदमन! महाप्राज्ञ! आपसकी फूटके भयसे ही पितामह भीष्मने, तुम्हारे पिताने और महाराज बाह्लीकने भी पाण्डवोंको राज्यका भाग प्रदान किया है ।। ४१ ।।

तस्य चैतत्प्रदानस्य फलमद्यानुपश्यसि ।
यद् भुङ्क्षे पृथिवीं कृत्स्नां शूरैर्निहतकण्टकाम् ।। ४२ ।।

'उसीके देनेका आज तुम यह प्रत्यक्ष फल देखते हो कि उन शूरवीर पाण्डवोंद्वारा निष्कण्टक बनायी हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य भोग रहे हो ।। ४२ ।।

प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचितमरिंदम ।

यदीच्छसि सहामात्यो भोक्तुमर्धं प्रदीयताम् ।। ४३ ।।

'शत्रुओंका दमन करनेवाले पुत्र! यदि तुम अपने मन्त्रियोंसहित राज्य भोगना चाहते हो तो पाण्डवोंको उनका यथोचित भाग—आधा राज्य दे दो ।। ४३ ।।

अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम् ।
सुहृदां वचने तिष्ठन् यशः प्राप्स्यसि भारत ।। ४४ ।।

'भारत! भूमण्डलका आधा राज्य मन्त्रियोंसहित तुम्हारे जीवननिर्वाहके लिये पर्याप्त है। तुम सुहृदोंकी आज्ञाके अनुसार चलकर सुयश प्राप्त करोगे ।। ४४ ।।

श्रीमद्भिरात्मवद्भिस्तैर्बुद्धिमद्भिर्जितेन्द्रियैः ।
पाण्डवैर्विग्रहस्तात भ्रंशयेन्महतः सुखात् ।। ४५ ।।

'तात! श्रीमान्, मनस्वी, बुद्धिमान् तथा जितेन्द्रिय पाण्डवोंके साथ होनेवाला कलह तुम्हें महान् सुखसे वंचित कर देगा ।। ४५ ।।

निगृह्य सुहृदां मन्युं शाधि राज्यं यथोचितम् ।
स्वमंशं पाण्डुपुत्रेभ्यः प्रदाय भरतर्षभ ।। ४६ ।।

'भरतश्रेष्ठ! तुम पाण्डवोंको उनका राज्यभाग देकर सुहृदोंके बढ़ते हुए क्रोधको शान्त कर दो और अपने राज्यका यथोचित रीतिसे शासन करते रहो ।।

अलमङ्ग निकारोऽयं त्रयोदश समाः कृतः ।
शमयैनं महाप्राज्ञ कामक्रोधसमेधितम् ।। ४७ ।।

'बेटा! पाण्डवोंको जो तेरह वर्षोंके लिये निर्वासित कर दिया गया, यही उनका महान् अपकार हुआ है। महामते! तुम्हारे काम और क्रोधसे इस अपकारकी और भी वृद्धि हुई है। अब तुम संधिके द्वारा इसे शान्त कर दो ।। ४७ ।।

न चैष शक्तः पार्थानां यस्त्वमर्थमभीप्ससि ।
सूतपुत्रो दृढक्रोधो भ्राता दुःशासनश्च ते ।। ४८ ।।

'तुम जो कुन्तीके पुत्रोंका धन हड़प लेना चाहते हो, ऐसा करनेकी तुम्हारी शक्ति नहीं है। क्रोधको दृढ़तापूर्वक धारण करनेवाला सूतपुत्र कर्ण तथा तुम्हारा भाई दुःशासन—ये दोनों भी ऐसा करनेमें समर्थ नहीं हैं ।। ४८ ।।

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे भीमसेने धनंजये ।
धृष्टद्युम्ने च संक्रुद्धे न स्युः सर्वाः प्रजा ध्रुवम् ।। ४९ ।।

'जिस समय भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण तथा भीमसेन, अर्जुन और धृष्टद्युम्न—ये अत्यन्त कुपित होकर परस्पर युद्ध करेंगे, उस समय सारी प्रजाका विनाश अवश्यम्भावी है ।। ४९ ।।

अमर्षवशमापन्नो मा कुरूंस्तात जीघनः ।
एषा हि पृथिवी कृत्स्ना मा गमत् त्वत्कृते वधम् ।। ५० ।।

‘तात! तुम क्रोधके वशीभूत होकर समस्त कौरवोंका वध न कराओ। तुम्हारे लिये इस सम्पूर्ण भूमण्डलका विनाश न हो ।। ५० ।।

यच्च त्वं मन्यसे मूढ भीष्मद्रोणकृपादयः ।
योत्स्यन्ते सर्वशक्त्येति नैतदद्योपपद्यते ।। ५१ ।।

‘मूढ़! तुम जो यह समझ रहे हो कि भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि अपनी पूरी शक्ति लगाकर मेरी ओरसे युद्ध करेंगे, यह इस समय कदापि सम्भव नहीं है ।। ५१ ।।

समं हि राज्यं प्रीतिश्च स्थानं हि विदितात्मनाम् ।
पाण्डवेष्वथ युष्मासु धर्मस्त्वभ्यधिकस्ततः ।। ५२ ।।

‘क्योंकि इन आत्मज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें इस राज्यका पाण्डवों अथवा तुमलोगोंके पास रहना समान ही है। इनके हृदयमें दोनोंके लिये एक-सा ही प्रेम और स्थान है तथा राज्यसे भी बढ़कर ये धर्मको महत्त्व देते हैं ।। ५२ ।।

राजपिण्डभयादेते यदि हास्यन्ति जीवितम् ।
न हि शक्ष्यन्ति राजानं युधिष्ठिरमुदीक्षितुम् ।। ५३ ।।

‘इस राज्यका इन्होंने जो अन्न खाया है, उसके भयसे यद्यपि ये तुम्हारी ओरसे लड़कर अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे, तथापि राजा युधिष्ठिरकी ओर कभी वक्र दृष्टिसे नहीं देख सकेंगे ।। ५३ ।।

न लोभादर्थसम्पत्तिर्नराणामिह दृश्यते ।
तदलं तात लोभेन प्रशाम्य भरतर्षभ ।। ५४ ।।

‘तात भरतश्रेष्ठ! इस संसारमें केवल लोभ करनेसे किसीको धनकी प्राप्ति होती नहीं दिखायी देती; अतः लोभसे कुछ सिद्ध होनेवाला नहीं है। तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो’ ।। ५४ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गान्धारीवाक्ये एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १२९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक एक सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२९ ।।

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके षड्यन्त्रका सात्यकिद्वारा भंडाफोड़, श्रीकृष्णकी सिंहगर्जना तथा धृतराष्ट्र और विदुरका दुर्योधनको पुनः समझाना

वैशम्पायन उवाच

तत् तु वाक्यमनादृत्य सोऽर्थवन्मातृभाषितम् ।
पुनः प्रतस्थे संरम्भात् सकाशमकृतात्मनाम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! माताके कहे हुए उस नीतियुक्त वचनका अनादर करके दुर्योधन पुनः क्रोधपूर्वक वहाँसे उठकर उन्हीं अजितात्मा मन्त्रियोंके पास चला गया ।। १ ।।

ततः सभाया निर्गम्य मन्त्रयामास कौरवः ।
सौबलेन मताक्षेण राज्ञा शकुनिना सह ।। २ ।।

तत्पश्चात् सभाभवनसे निकलकर दुर्योधनने द्यूतविद्याके जानकार सुबलपुत्र राजा शकुनिके साथ गुप्तरूपसे मन्त्रणा की ।। २ ।।

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
दुःशासनचतुर्थानामिदमासीद् विचेष्टितम् ।। ३ ।।

उस समय दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा दुःशासन—इन चारोंका निश्चय इस प्रकार हुआ ।। ३ ।।

पुरायमस्मान् गृह्णाति क्षिप्रकारी जनार्दनः ।
सहितो धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ।। ४ ।।
वयमेव हृषीकेशं निगृह्णीम बलादिव ।
प्रसह्य पुरुषव्याघ्रमिन्द्रो वैरोचनिं यथा ।। ५ ।।

वे परस्पर कहने लगे—'शीघ्रतापूर्वक प्रत्येक कार्य करनेवाले श्रीकृष्ण राजा धृतराष्ट्र और भीष्मके साथ मिलकर जबतक हमें कैद करें, उसके पहले हमलोग ही बलपूर्वक इन पुरुषसिंह हृषीकेशको बन्दी बना लें। ठीक उसी तरह, जैसे इन्द्रने विरोचनपुत्र बलिको बाँध लिया था ।। ४-५ ।।

श्रुत्वा गृहीतं वार्ष्णेयं पाण्डवा हतचेतसः ।
निरुत्साहा भविष्यन्ति भग्नदंष्ट्रा इवोरगाः ।। ६ ।।

'श्रीकृष्णको कैद हुआ सुनकर पाण्डव दाँत तोड़े हुए सर्पोंके समान अचेत और हतोत्साह हो जायँगे ।।

अयं ह्येषां महाबाहुः सर्वेषां शर्म वर्म च ।
अस्मिन् गृहीते वरदे ऋषभे सर्वसात्वताम् ।। ७ ।।
निरुद्यमा भविष्यन्ति पाण्डवाः सोमकैः सह ।

'ये महाबाहु श्रीकृष्ण ही समस्त पाण्डवोंके कल्याणसाधक और कवचकी भाँति रक्षा करनेवाले हैं। सम्पूर्ण यदुवंशियोंके शिरोमणि तथा वरदायक इस श्रीकृष्णके बन्दी बना लिये जानेपर सोमकोंसहित सब पाण्डव उद्योगशून्य हो जायँगे ।। ७½ ।।

तस्माद् वयमिहैवैनं केशवं क्षिप्रकारिणम् ।। ८ ।।
क्रोशतो धृतराष्ट्रस्य बद्ध्वा योत्स्यामहे रिपून् ।

'इसलिये हम यहीं शीघ्रतापूर्वक कार्य करनेवाले केशवको राजा धृतराष्ट्रके चीखने-चिल्लानेपर भी कैद करके शत्रुओंके साथ युद्ध करें' ।। ८½ ।।

तेषां पापमभिप्रायं पापानां दुष्टचेतसाम् ।। ९ ।।
इङ्गितज्ञः कविः क्षिप्रमन्वबुद्ध्यत सात्यकिः ।

विद्वान् सात्यकि इशारेसे ही दूसरोंके मनकी बात समझ लेनेवाले थे। वे उन दुष्टचित पापियोंके उस पापपूर्ण अभिप्रायको शीघ्र ही ताड़ गये ।। ९½ ।।

तदर्थमभिनिष्क्रम्य हार्दिक्येन सहास्थितः ।। १० ।।
अब्रवीत् कृतवर्माणं क्षिप्रं योजय वाहिनीम् ।
व्यूढानीकः सभाद्वारमुपतिष्ठस्व दंशितः ।। ११ ।।

फिर उसके प्रतीकारके लिये वे सभासे बाहर निकलकर कृतवर्मासे मिले और इस प्रकार बोले—'तुम शीघ्र ही अपनी सेनाको तैयार कर लो और स्वयं भी कवच धारण करके व्यूहाकार खड़ी हुई सेनाके साथ सभाभवनके द्वारपर डटे रहो ।। १०-११ ।।

यावदाख्याम्यहं चैतत् कृष्णायाक्लिष्टकारिणे ।

'तबतक मैं अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको कौरवोंके षड्यन्त्रकी सूचना दिये देता हूँ।'

स प्रविश्य सभां वीरः सिंहो गिरिगुहामिव ।। १२ ।।
आचष्ट तमभिप्रायं केशवाय महात्मने ।
धृतराष्ट्रं ततश्चैव विदुरं चान्वभाषत ।। १३ ।।

ऐसा कहकर वीर सात्यकिने सभामें प्रवेश किया, मानो सिंह पर्वतकी कन्दरामें घुस रहा हो। वहाँ जाकर उन्होंने महात्मा केशवसे कौरवोंका अभिप्राय बताया। फिर धृतराष्ट्र और विदुरको भी इसकी सूचना दी ।।

तेषामेतमभिप्रायमाचचक्षे स्मयन्निव ।
धर्मादर्थाच्च कामाच्च कर्म साधुविगर्हितम् ।। १४ ।।
मन्दाः कर्तुमिहेच्छन्ति न चावाप्यं कथंचन ।

सात्यकिने किंचित् मुसकराते हुए-से उन कौरवोंके इस अभिप्रायको इस प्रकार बताया —‘सभासदो! कुछ मूर्ख कौरव एक ऐसा नीच कर्म करना चाहते हैं, जो धर्म, अर्थ और काम सभी दृष्टियोंसे साधुपुरुषोंद्वारा निन्दित है। यद्यपि इस कार्यमें उन्हें किसी प्रकार सफलता नहीं प्राप्त हो सकती ।। १४½ ।।

पुरा विकुर्वते मूढाः पापात्मानः समागताः ।। १५ ।।
धर्षिताः काममन्युभ्यां क्रोधलोभवशानुगाः ।

‘क्रोध और लोभके वशीभूत हो काम एवं रोषसे तिरस्कृत होकर कुछ पापात्मा एवं मूढ़ मानव यहाँ आकर भारी बखेड़ा पैदा करना चाहते हैं ।। १५½ ।।

इमं हि पुण्डरीकाक्षं जिघृक्षन्त्यल्पचेतसः ।। १६ ।।
पटेनाग्निं प्रज्वलितं यथा बाला यथा जडाः ।

‘जैसे बालक और जड बुद्धिवाले लोग जलती आगको कपड़ेमें बाँधना चाहें, उसी प्रकार ये मन्दबुद्धि कौरव इन कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको यहाँ कैद करना चाहते हैं’ ।। १६½ ।।

सात्यकेस्तद् वचः श्रुत्वा विदुरो दीर्घदर्शिवान् ।। १७ ।।
धृतराष्ट्रं महाबाहुमब्रवीत् कुरुसंसदि ।
राजन् परीतकालास्ते पुत्राः सर्वे परंतप ।। १८ ।।
अशक्यमयशस्यं च कर्तुं कर्म समुद्यताः ।

सात्यकिका यह वचन सुनकर दूरदर्शी विदुरने कौरवसभामें महाबाहु धृतराष्ट्रसे कहा —‘परंतप नरेश! जान पड़ता है, आपके सभी पुत्र सर्वथा कालके अधीन हो गये हैं। इसीलिये वे यह अकीर्तिकारक और असम्भव कर्म करनेको उतारू हुए हैं ।। १७-१८½ ।।

इमं हि पुण्डरीकाक्षमभिभूय प्रसह्य च ।। १९ ।।
निग्रहीतुं किलेच्छन्ति सहिता वासवानुजम् ।
इमं पुरुषशार्दूलमप्रधृष्यं दुरासदम् ।। २० ।।
आसाद्य न भविष्यन्ति पतङ्गा इव पावकम् ।

‘सुननेमें आया है कि वे सब संगठित होकर इन पुरुषसिंह कमलनयन श्रीकृष्णको तिरस्कृत करके हठपूर्वक कैद करना चाहते हैं। ये भगवान् कृष्ण इन्द्रके छोटे भाई और दुर्धर्ष वीर हैं। इन्हें कोई भी पकड़ नहीं सकता। इनके पास आकर सभी विरोधी जलती आगमें गिरनेवाले फतिंगोंके समान नष्ट हो जायँगे ।। १९-२०½ ।।

अयमिच्छन् हि तान् सर्वान् युध्यमानाञ्जनार्दनः ।। २१ ।।
सिंहो नागानिव क्रुद्धो गमयेद् यमसादनम् ।

‘जैसे क्रोधमें भरा हुआ सिंह हाथियोंको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार ये भगवान् श्रीकृष्ण यदि चाहें तो क्रुद्ध होनेपर समस्त विपक्षी योद्धाओंको यमलोक पहुँचा सकते हैं ।। २१½ ।।

न त्वयं निन्दितं कर्म कुर्यात् पापं कथंचन ।। २२ ।।

न च धर्मादपक्रामेदच्युतः पुरुषोत्तमः ।

'परंतु ये पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण किसी प्रकार भी निन्दित अथवा पापकर्म नहीं कर सकते और न कभी धर्मसे ही पीछे हट सकते हैं ।। २२½ ।।

(यथा वाराणसी दग्धा साश्वा सरथकुंजरा ।

सानुबन्धस्तु कृष्णेन काशीनामृषभो हतः ।।

तथा नागपुरं दग्ध्वा शङ्खचक्रगदाधरः ।

स्वयं कालेश्वरो भूत्वा नाशयिष्यति कौरवान् ।।

'श्रीकृष्णने जिस प्रकार घोड़े, रथ और हाथियोंसहित वाराणसी नगरी जला दी और काशिराजको उनके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डाला, उसी प्रकार ये शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कालेश्वर होकर हस्तिनापुरको दग्ध करके कौरवोंका नाश कर डालेंगे।

पारिजातहरं ह्येनमेकं यदुसुखावहम् ।

नाभ्यवर्तत संरब्धो वृत्रहा वसुभिः सह ।।

'यदुकुलको सुख पहुँचानेवाले श्रीकृष्ण जब अकेले पारिजातका अपहरण करने लगे, उस समय अत्यन्त कोपमें भरे हुए इन्द्रने इनके ऊपर वसुओंके साथ आक्रमण किया। परंतु वे भी इन्हें पराजित न कर सके।

प्राप्य निर्मोचने पाशान् षट् सहस्रांस्तरस्विनः ।

हृतास्ते वासुदेवेन ह्युपसंक्रम्य मौरवान् ।।

'निर्मोचन नामक स्थानमें मुर दैत्यने छः हजार शक्तिशाली पाश लगा रखे थे, जिन्हें इन वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने निकट जाकर काट डाला।

द्वारमासाद्य सौभस्य विधूय गदया गिरिम् ।

द्युमत्सेनः सहामात्यः कृष्णेन विनिपातितः ।।

'इन्हीं श्रीकृष्णने सौभके द्वारपर पहुँचकर अपनी गदासे पर्वतको विदीर्ण करते हुए मन्त्रियोंसहित द्युमत्सेनको मार गिराया था।

शेषवत्त्वात् कुरूणां तु धर्मापेक्षी तथाच्युतः ।

क्षमते पुण्डरीकाक्षः शक्तः सन् पापकर्मणाम् ।।

एते हि यदि गोविन्दमिच्छन्ति सह राजभिः ।

अद्यैवातिथयः सर्वे भविष्यन्ति यमस्य ते ।।

'अभी कौरवोंकी आयु शेष है, इसीलिये सदा धर्मपर ही दृष्टि रखनेवाले कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण इन पापाचारियोंको दण्ड देनेमें समर्थ होकर भी अभी क्षमा करते जा रहे हैं। यदि ये कौरव अपने सहयोगी राजाओंके साथ गोविन्दको बन्दी बनाना चाहते हैं तो सब-के-सब आज ही यमराजके अतिथि हो जायँगे।

यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः ।
तथा चक्रभृतः सर्वे वशमेष्यन्ति कौरवाः ।।)

‘जैसे तिनकोंके अग्रभाग सदा महाबलवान् वायुके वशमें होते हैं, उसी प्रकार समस्त कौरव चक्रधारी श्रीकृष्णके अधीन हो जायँगे’।

विदुरेणैवमुक्ते तु केशवो वाक्यमब्रवीत् ।। २३ ।।
धृतराष्ट्रमभिप्रेक्ष्य सुहृदां शृण्वतां मिथः ।
राजन्नेते यदि क्रुद्धा मां निगृह्णीयुरोजसा ।। २४ ।।
एते वा मामहं वैनाननुजानीहि पार्थिव ।

विदुरके ऐसा कहनेपर भगवान् केशवने समस्त सुहृदोंके सुनते हुए राजा धृतराष्ट्रकी ओर देखकर कहा—‘राजन्! ये दुष्ट कौरव यदि कुपित होकर मुझे बलपूर्वक पकड़ सकते हों तो आप इन्हें आज्ञा दे दीजिये। फिर देखिये, ये मुझे पकड़ पाते हैं या मैं इन्हें बन्दी बनाता हूँ ।। २३-२४½ ।।

एतान् हि सर्वान् संरब्धान् नियन्तुमहमुत्सहे ।। २५ ।।
न त्वहं निन्दितं कर्म कुर्यां पापं कथंचन ।

‘यद्यपि क्रोधमें भरे हुए इन समस्त कौरवोंको मैं बाँध लेनेकी शक्ति रखता हूँ, तथापि मैं किसी प्रकार भी कोई निन्दित कर्म अथवा पाप नहीं कर सकता ।।

पाण्डवार्थे हि लुभ्यन्तः स्वार्थान् हास्यन्ति ते सुताः ।। २६ ।।
एते चेदेवमिच्छन्ति कृतकार्यो युधिष्ठिरः ।

‘आपके पुत्र पाण्डवोंका धन लेनेके लिये लुभाये हुए हैं, परंतु इन्हें अपने धनसे भी हाथ धोना पड़ेगा। यदि ये ऐसा ही चाहते हैं, तब तो युधिष्ठिरका काम बन गया ।। २६½ ।।

अद्यैव ह्यहमेनांश्च ये चैनाननु भारत ।। २७ ।।
निगृह्य राजन् पार्थेभ्यो दद्यां किं दुष्कृतं भवेत् ।

‘भारत! मैं आज ही इन कौरवों तथा इनके अनुगामियोंको कैद करके यदि कुन्तीपुत्रोंके हाथमें सौंप दूँ तो क्या बुरा होगा? ।। २७½ ।।

इदं तु न प्रवर्तेयं निन्दितं कर्म भारत ।। २८ ।।
संनिधौ ते महाराज क्रोधजं पापबुद्धिजम् ।

‘परंतु भारत! महाराज! आपके समीप मैं क्रोध अथवा पापबुद्धिसे होनेवाला यह निन्दित कर्म नहीं प्रारम्भ करूँगा ।। २८½ ।।

एष दुर्योधनो राजन् यथेच्छति तथास्तु तत् ।। २९ ।।
अहं तु सर्वांस्तनयाननुजानामि ते नृप ।

‘नरेश्वर! यह दुर्योधन जैसा चाहता है, वैसा ही हो। मैं आपके सभी पुत्रोंको इसके लिये आज्ञा देता हूँ’ ।।

एतच्छ्रुत्वा तु विदुरं धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ।

क्षिप्रमानय तं पापं राज्यलुब्धं सुयोधनम् ।। ३० ।।
सहमित्रं सहामात्यं ससोदर्यं सहानुगम् ।
शक्नुयां यदि पन्थानमवतारयितुं पुनः ।। ३१ ।।

यह सुनकर धृतराष्ट्रने विदुरसे कहा—'तुम उस पापात्मा राज्यलोभी दुर्योधनको उसके मित्रों, मन्त्रियों, भाइयों तथा अनुगामी सेवकोंसहित शीघ्र मेरे पास बुला लाओ। यदि पुनः उसे सन्मार्गपर उतार सकूँ तो अच्छा होगा' ।। ३०-३१ ।।

ततो दुर्योधनं क्षत्ता पुनः प्रावेशयत् सभाम् ।
अकामं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितम् ।। ३२ ।।

तब विदुरजी राजाओंसे घिरे हुए दुर्योधनको उसकी इच्छा न होते हुए भी भाइयोंसहित पुनः सभामें ले आये ।। ३२ ।।

अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च राजभिश्चापि संवृतम् ।। ३३ ।।

उस समय कर्ण, दुःशासन तथा अन्य राजाओंसे भी घिरे हुए दुर्योधनसे राजा धृतराष्ट्रने कहा— ।। ३३ ।।

नृशंस पापभूयिष्ठ क्षुद्रकर्मसहायवान् ।
पापैः सहायैः संहत्य पापं कर्म चिकीर्षसि ।। ३४ ।।

'नृशंस महापापी! नीच कर्म करनेवाले ही तेरे सहायक हैं। तू उन पापी सहायकोंसे मिलकर पापकर्म ही करना चाहता है ।। ३४ ।।

अशक्यमयशस्यं च सद्भिश्चापि विगर्हितम् ।
यथा त्वादृशको मूढो व्यवस्येत् कुलपांसनः ।। ३५ ।।

'वह कर्म ऐसा है, जिसकी साधु पुरुषोंने सदा निन्दा की है। वह अपयशकारक तो है ही, तू उसे कर भी नहीं सकता; परंतु तेरे-जैसा कुलांगार और मूर्ख मनुष्य उसे करनेकी चेष्टा करता है ।। ३५ ।।

त्वमिमं पुण्डरीकाक्षमप्रधृष्यं दुरासदम् ।
पापैः सहायैः संहत्य निग्रहीतुं किलेच्छसि ।। ३६ ।।

'सुनता हूँ, तू अपने पापी सहायकोंसे मिलकर इन दुर्धर्ष एवं दुर्जय वीर कमलनयन श्रीकृष्णको कैद करना चाहता है ।। ३६ ।।

यो न शक्यो बलात् कर्तुं देवैरपि सवासवैः ।
तं त्वं प्रार्थयसे मन्द बालश्चन्द्रमसं यथा ।। ३७ ।।

'ओ मूढ़! इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी जिन्हें बलपूर्वक अपने वशमें नहीं कर सकते, उन्हींको तू बंदी बनाना चाहता है। तेरी यह चेष्टा वैसी ही है, जैसे कोई बालक चन्द्रमाको पकड़ना चाहता हो ।। ३७ ।।

देवैर्मनुष्यैर्गन्धर्वैरसुरैरुरगैश्च यः ।

न सोढुं समरे शक्यस्तं न बुद्ध्यसि केशवम् ।। ३८ ।।

'देवता, मनुष्य, गन्धर्व, असुर और नाग भी संग्रामभूमिमें जिनका वेग नहीं सह सकते, उन भगवान् श्रीकृष्णको तू नहीं जानता ।। ३८ ।।

दुर्ग्राह्यः पाणिना वायुर्दुःस्पर्शः पाणिना शशी ।
दुर्धरा पृथिवी मूर्ध्ना दुर्ग्राह्यः केशवो बलात् ।। ३९ ।।

'जैसे वायुको हाथसे पकड़ना दुष्कर है, चन्द्रमाको हाथसे छूना कठिन है और पृथ्वीको सिरपर धारण करना असम्भव है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णको बलपूर्वक पकड़ना दुष्कर है' ।। ३९ ।।

इत्युक्ते धृतराष्ट्रेण क्षत्तापि विदुरोऽब्रवीत् ।
दुर्योधनमभिप्रेत्य धार्तराष्ट्रममर्षणम् ।। ४० ।।

धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर विदुरने भी अमर्षमें भरे हुए धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके पास जाकर इस प्रकार कहा ।।

विदुर उवाच

दुर्योधन निबोधेदं वचनं मम साम्प्रतम् ।
सौभद्वारे दानवेन्द्रो द्विविदो नाम नामतः ।
शिलावर्षेण महता छादयामास केशवम् ।। ४१ ।।

विदुर बोले—दुर्योधन! इस समय मेरी बातपर ध्यान दो। सौभद्वारमें द्विविद नामसे प्रसिद्ध एक वानरोंका राजा रहता था, जिसने एक दिन पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा करके भगवान् श्रीकृष्णको आच्छादित कर दिया ।। ४१ ।।

ग्रहीतुकामो विक्रम्य सर्वयत्नेन माधवम् ।
ग्रहीतुं नाशकच्चैनं तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ।। ४२ ।।

वह पराक्रम करके सभी उपायोंसे श्रीकृष्णको पकड़ना चाहता था, परंतु इन्हें कभी पकड़ न सका। उन्हीं श्रीकृष्णको तुम बलपूर्वक अपने वशमें करना चाहते हो! ।। ४२ ।।

प्राग्ज्योतिषगतं शौरिं नरकः सह दानवैः ।
ग्रहीतुं नाशकत् तत्र तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ।। ४३ ।।

पहलेकी बात है, प्राग्ज्योतिषपुरमें गये हुए श्रीकृष्णको दानवोंसहित नरकासुरने भी वहाँ बन्दी बनानेकी चेष्टा की; परंतु वह भी वहाँ सफल न हो सका। उन्हींको तुम बलपूर्वक अपने वशमें करना चाहते हो ।। ४३ ।।

अनेकयुगवर्षायुर्निहत्य नरकं मृधे ।
नीत्वा कन्यासहस्राणि उपयेमे यथाविधि ।। ४४ ।।

अनेक युगों तथा असंख्य वर्षोंकी आयुवाले नरकासुरको युद्धमें मारकर श्रीकृष्ण उसके यहाँसे सहस्रों राजकन्याओंको (उद्धार करके) ले गये और उन सबके साथ उन्होंने

विधिपूर्वक विवाह किया ।।

निर्मोचने षट् सहस्राः पाशैर्बद्धा महासुराः ।
ग्रहीतुं नाशकंश्चैनं तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ।। ४५ ।।

निर्मोचनमें छः हजार बड़े-बड़े असुरोंको भगवान्ने पाशोंमें बाँध लिया। वे असुर भी जिन्हें बंदी न बना सके, उन्हींको तुम बलपूर्वक वशमें करना चाहते हो ।।

अनेन हि हता बाल्ये पूतना शकुनी तथा ।
गोवर्धनो धारितश्च गवार्थे भरतर्षभ ।। ४६ ।।

भरतश्रेष्ठ! इन्होंने ही बाल्यावस्थामें बकी पूतनाका वध किया था और गौओंकी रक्षाके लिये अपने हाथपर गोवर्धन पर्वतको धारण किया था ।। ४६ ।।

अरिष्टो धेनुकश्चैव चाणूरश्च महाबलः ।
अश्वराजश्च निहतः कंसश्चारिष्टमाचरन् ।। ४७ ।।

अरिष्टासुर, धेनुक, महाबली चाणूर, अश्वराज केशी और कंस भी लोकहितके विरुद्ध आचरण करनेपर श्रीकृष्णके ही हाथसे मारे गये थे ।। ४७ ।।

जरासंधश्च वक्रश्च शिशुपालश्च वीर्यवान् ।
बाणश्च निहतः संख्ये राजानश्च निषूदिताः ।। ४८ ।।

जरासंध, दंतवक्र, पराक्रमी शिशुपाल और बाणासुर भी इन्हींके हाथसे मारे गये हैं तथा अन्य बहुत-से राजाओंका भी इन्होंने ही संहार किया है ।। ४८ ।।

वरुणो निर्जितो राजा पावकश्चामितौजसा ।
पारिजातं च हरता जितः साक्षाच्छचीपतिः ।। ४९ ।।

अमित तेजस्वी श्रीकृष्णने राजा वरुणपर विजय पायी है। इन्होंने अग्निदेवको भी पराजित किया है और पारिजातहरण करते समय साक्षात् शचीपति इन्द्रको भी जीता है ।। ४९ ।।

एकार्णवे च स्वपता निहतौ मधुकैटभौ ।
जन्मान्तरमुपागम्य हयग्रीवस्तथा हतः ।। ५० ।।

इन्होंने एकार्णवके जलमें सोते समय मधु और कैटभ नामक दैत्योंको मारा था और दूसरा शरीर धारण करके हयग्रीव नामक राक्षसका भी इन्होंने ही वध किया था ।।

अयं कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे ।
यद् यदिच्छेदयं शौरिस्तत् तत् कुर्यादयत्नतः ।। ५१ ।।

ये ही सबके कर्ता हैं, इनका दूसरा कोई कर्ता नहीं है। सबके पुरुषार्थके कारण भी यही हैं। ये भगवान् श्रीकृष्ण जो-जो इच्छा करें, वह सब अनायास ही कर सकते हैं ।। ५१ ।।

तं न बुद्ध्यसि गोविन्दं घोरविक्रममच्युतम् ।
आशीविषमिव क्रुद्धं तेजोराशिमनिन्दितम् ।। ५२ ।।

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले इन भगवान् गोविन्दका पराक्रम भयंकर है। तुम इन्हें अच्छी तरह नहीं जानते। ये क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान भयानक हैं। ये सत्पुरुषोंद्वारा प्रशंसित एवं तेजकी राशि हैं ।। ५२ ।।

प्रधर्षयन् महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ।
पतङ्गोऽग्निमिवासाद्य सामात्यो न भविष्यसि ।। ५३ ।।

अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णका तिरस्कार करनेपर तुम अपने मन्त्रियोंसहित उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे, जैसे पतंग आगमें पड़कर भस्म हो जाता है ।। ५३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुरवाक्यविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३० ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८ श्लोक मिलाकर कुल ६१ श्लोक हैं।]

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका विश्वरूप दर्शन कराकर कौरवसभासे प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

विदुरेणैवमुक्तस्तु केशवः शत्रुपूगहा ।
दुर्योधनं धार्तराष्ट्रमभ्यभाषत वीर्यवान् ।। १ ।।
एकोऽहमिति यन्मोहान्मन्यसे मां सुयोधन ।
परिभूय सुदुर्बुद्धे ग्रहीतुं मां चिकीर्षसि ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विदुरजीके ऐसा कहनेपर शत्रुसमूहका संहार करनेवाले शक्तिशाली श्रीकृष्णने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—'दुर्बुद्धि दुर्योधन! तू मोहवश जो मुझे अकेला मान रहा है और इसलिये मेरा तिरस्कार करके जो मुझे पकड़ना चाहता है, यह तेरा अज्ञान है ।। १-२ ।।

इहैव पाण्डवाः सर्वे तथैवान्धकवृष्णयः ।
इहादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च महर्षिभिः ।। ३ ।।

'देख, सब पाण्डव यहीं हैं। अन्धक और वृष्णिवंशके वीर भी यहीं मौजूद हैं। आदित्यगण, रुद्रगण तथा महर्षियोंसहित वसुगण भी यहीं हैं' ।। ३ ।।

एवमुक्त्वा जहासोच्चैः केशवः परवीरहा ।
तस्य संस्मयतः शौरेर्विद्युद्रूपा महात्मनः ।। ४ ।।
अङ्गुष्ठमात्रास्त्रिदशा मुमुचुः पावकार्चिषः ।
तस्य ब्रह्मा ललाटस्थो रुद्रो वक्षसि चाभवत् ।। ५ ।।

ऐसा कहकर विपक्षी वीरोंका विनाश करनेवाले भगवान् केशव उच्चस्वरसे अट्टहास करने लगे। हँसते समय उन महात्मा श्रीकृष्णके श्रीअंगोंमें स्थित विद्युत्के समान कान्तिवाले तथा अँगूठेके बराबर छोटे शरीरवाले देवता आगकी लपटें छोड़ने लगे। उनके ललाटमें ब्रह्मा और वक्षःस्थलमें रुद्रदेव विद्यमान थे ।। ४-५ ।।

लोकपाला भुजेष्वासन्नग्निरास्यादजायत ।
आदित्याश्चैव साध्याश्च वसवोऽथाश्विनावपि ।। ६ ।।
मरुतश्च सहेन्द्रेण विश्वेदेवास्तथैव च ।
बभूवुश्चैव यक्षाश्च गन्धर्वोरगराक्षसाः ।। ७ ।।

समस्त लोकपाल उनकी भुजाओंमें स्थित थे। मुखसे अग्निकी लपटें निकलने लगीं। आदित्य, साध्य, वसु, दोनों अश्विनीकुमार, इन्द्रसहित मरुद्गण, विश्वेदेव, यक्ष, गन्धर्व, नाग

और राक्षस भी उनके विभिन्न अंगोंमें प्रकट हो गये ।। ६-७ ।।

प्रादुरास्तां तथा दोर्भ्यां संकर्षणधनंजयौ ।

दक्षिणेऽथार्जुनो धन्वी हली रामश्च सव्यतः ।। ८ ।।

उनकी दोनों भुजाओंसे बलराम और अर्जुनका प्रादुर्भाव हुआ। दाहिनी भुजामें धनुर्धर अर्जुन और बायींमें हलधर बलराम विद्यमान थे ।। ८ ।।

भीमो युधिष्ठिरश्चैव माद्रीपुत्रौ च पृष्ठतः ।

अन्धका वृष्णयश्चैव प्रद्युम्नप्रमुखास्ततः ।। ९ ।।

अग्रे बभूवुः कृष्णस्य समुद्यतमहायुधाः ।

भीमसेन, युधिष्ठिर तथा माद्रीनन्दन नकुलसहदेव भगवान्‌के पृष्ठभागमें स्थित थे। प्रद्युम्न आदि वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी योद्धा हाथोंमें विशाल आयुध धारण किये भगवान्‌के अग्रभागमें प्रकट हुए ।। ९ १/२ ।।

शङ्खचक्रगदाशक्तिशार्ङ्गलाङ्गलनन्दकाः ।। १० ।।

अदृश्यन्तोद्यतान्येव सर्वप्रहरणानि च ।

नानाबाहुषु कृष्णस्य दीप्यमानानि सर्वशः ।। ११ ।।

शंख, चक्र, गदा, शक्ति, शार्ङ्गधनुष, हल तथा नन्दक नामक खड्ग—ये ऊपर उठे हुए ही समस्त आयुध श्रीकृष्णकी अनेक भुजाओंमें देदीप्यमान दिखायी देते थे ।। १०-११ ।।

नेत्राभ्यां नस्ततश्चैव श्रोत्राभ्यां च समन्ततः ।

प्रादुरासन् महारौद्राः सधूमाः पावकार्चिषः ।। १२ ।।

उनके नेत्रोंसे, नासिकाके छिद्रोंसे और दोनों कानोंसे सब ओर अत्यन्त भयंकर धूमयुक्त आगकी लपटें प्रकट हो रही थीं ।। १२ ।।

रोमकूपेषु च तथा सूर्यस्येव मरीचयः ।

तं दृष्ट्वा घोरमात्मानं केशवस्य महात्मनः ।। १३ ।।

न्यमीलयन्त नेत्राणि राजानस्त्रस्तचेतसः ।

ऋते द्रोणं च भीष्मं च विदुरं च महामतिम् ।। १४ ।।

संजयं च महाभागमृषींश्चैव तपोधनान् ।

प्रादात् तेषां स भगवान् दिव्यं चक्षुर्जनार्दनः ।। १५ ।।

समस्त रोमकूपोंसे सूर्यके समान दिव्य किरणें छिटक रही थीं। महात्मा श्रीकृष्णके उस भयंकर स्वरूपको देखकर समस्त राजाओंके मनमें भय समा गया और उन्होंने अपने नेत्र बंद कर लिये। द्रोणाचार्य, भीष्म, परम बुद्धिमान् विदुर, महाभाग संजय तथा तपस्याके धनी महर्षियोंको छोड़कर अन्य सब लोगोंकी आँखें बंद हो गयी थीं। इन द्रोण आदिको भगवान् जनार्दनने स्वयं ही दिव्य दृष्टि प्रदान की थी (अतः वे आँख खोलकर उन्हें देखनेमें समर्थ हो सके) ।। १३—१५ ।।

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं माधवस्य सभातले ।

देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवर्षं पपात च ।। १६ ।।

उस सभाभवनमें भगवान् श्रीकृष्णका वह परम आश्चर्यमय रूप देखकर देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं और उनके ऊपर फूलोंकी वर्षा होने लगी ।। १६ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

त्वमेव पुण्डरीकाक्ष सर्वस्य जगतो हितः ।
तस्मात् त्वं यादवश्रेष्ठ प्रसादं कर्तुमर्हसि ।। १७ ।।

उस समय धृतराष्ट्रने कहा—कमलनयन! यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण! आप ही सम्पूर्ण जगत्के हितैषी हैं, अतः मुझपर भी कृपा कीजिये ।। १७ ।।

भगवन् मम नेत्राणामन्तर्धानं वृणे पुनः ।
भवन्तं द्रष्टुमिच्छामि नान्यं द्रष्टुमिहोत्सहे ।। १८ ।।

भगवन्! मेरे नेत्रोंका तिरोधान हो चुका है; परंतु आज मैं आपसे पुनः दोनों नेत्र माँगता हूँ। केवल आपका दर्शन करना चाहता हूँ; आपके सिवा और किसीको मैं नहीं देखना चाहता ।। १८ ।।

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्धृतराष्ट्रं जनार्दनः ।
अदृश्यमाने नेत्रे द्वे भवेतां कुरुनन्दन ।। १९ ।।

तब महाबाहु जनार्दनने धृतराष्ट्रसे कहा—‘कुरुनन्दन! आपको दो अदृश्य नेत्र प्राप्त हो जायँ’ ।।

तत्राद्भुतं महाराज धृतराष्ट्रश्च चक्षुषी ।
लब्धवान् वासुदेवाच्च विश्वरूपदिदृक्षया ।। २० ।।

महाराज जनमेजय! वहाँ यह अद्भुत बात हुई कि धृतराष्ट्रने भी भगवान् श्रीकृष्णसे उनके विश्वरूपका दर्शन करनेकी इच्छासे दो नेत्र प्राप्त कर लिये ।। २० ।।

लब्धचक्षुषमासीनं धृतराष्ट्रं नराधिपाः ।
विस्मिता ऋषिभिः सार्धं तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ।। २१ ।।

सिंहासनपर बैठे हुए धृतराष्ट्रको नेत्र प्राप्त हो गये, यह जानकर ऋषियोंसहित सब नरेश आश्चर्यचकित हो मधुसूदनकी स्तुति करने लगे ।। २१ ।।

चचाल च मही कृत्स्ना सागरश्चापि चुक्षुभे ।
विस्मयं परमं जग्मुः पार्थिवा भरतर्षभ ।। २२ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समय सारी पृथ्वी डगमगाने लगी, समुद्रमें खलबली पड़ गयी और समस्त भूपाल अत्यन्त विस्मित हो गये ।। २२ ।।

ततः स पुरुषव्याघ्रः संजहार वपुः स्वकम् ।
तां दिव्यामद्भुतां चित्रामृद्धिमत्तामरिंदमः ।। २३ ।।

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले पुरुषसिंह श्रीकृष्णने अपने इस स्वरूपको, उस दिव्य, अद्भुत एवं विचित्र ऐश्वर्यको समेट लिया ।। २३ ।।

ततः सात्यकिमादाय पाणौ हार्दिक्यमेव च ।

ऋषिभिस्तैरनुज्ञातो निर्ययौ मधुसूदनः ।। २४ ।।

तत्पश्चात् वे मधुसूदन ऋषियोंसे आज्ञा ले सात्यकि और कृतवर्माका हाथ पकड़े सभाभवनसे चल दिये ।।

ऋषयोऽन्तर्हिता जग्मुस्ततस्ते नारदादयः ।

तस्मिन् कोलाहले वृत्ते तदद्भुतमिवाभवत् ।। २५ ।।

उनके जाते ही नारद आदि महर्षि भी अदृश्य हो गये। वह सारा कोलाहल शान्त हो गया। यह सब एक अद्भुत-सी घटना हुई थी ।। २५ ।।

तं प्रस्थितमभिप्रेक्ष्य कौरवाः सह राजभिः ।

अनुजग्मुर्नरव्याघ्रं देवा इव शतक्रतुम् ।। २६ ।।

पुरुषसिंह श्रीकृष्णको जाते देख राजाओंसहित समस्त कौरव भी उनके पीछे-पीछे गये, मानो देवता देवराज इन्द्रका अनुसरण कर रहे हों ।। २६ ।।

अचिन्तयन्नमेयात्मा सर्वं तद् राजमण्डलम् ।

निश्चक्राम ततः शौरिः सधूम इव पावकः ।। २७ ।।

परंतु अप्रमेयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण उस समस्त नरेशमण्डलकी कोई परवा न करके धूमयुक्त अग्निकी भाँति सभाभवनसे बाहर निकल आये ।। २७ ।।

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना ।

हेमजालविचित्रेण लघुना मेघनादिना ।। २८ ।।

सूपस्करेण शुभ्रेण वैयाघ्रेण वरूथिना ।

शैब्यसुग्रीवयुक्तेन प्रत्यदृश्यत दारुकः ।। २९ ।।

बाहर आते ही शैब्य और सुग्रीव नामक घोड़ोंसे जुते हुए परम उज्ज्वल एवं विशाल रथके साथ सारथि दारुक दिखायी दिया। उस रथमें बहुत-सी क्षुद्रघंटिकाएँ शोभा पाती थीं। सोनेकी जालियोंसे उसकी विचित्र छटा दिखायी देती थी। वह शीघ्रगामी रथ चलते समय मेघके समान गम्भीर रव प्रकट करता था। उसके भीतर सब आवश्यक सामग्रियाँ सुन्दर ढंगसे सजाकर रखी गयी थीं। उसके ऊपर व्याघ्रचर्मका आवरण लगा हुआ था और रथकी रक्षाके अन्य आवश्यक प्रबन्ध भी किये गये थे ।। २८-२९ ।।

तथैव रथमास्थाय कृतवर्मा महारथः ।

वृष्णीनां सम्मतो वीरो हार्दिक्यः समदृश्यत ।। ३० ।।

इसी प्रकार वृष्णिवंशके सम्मानित वीर हृदिकपुत्र महारथी कृतवर्मा भी एक-दूसरे रथपर बैठे दिखायी दिये ।।

उपस्थितरथं शौरिं प्रयास्यन्तमरिंदमम् ।

धृतराष्ट्रो महाराजः पुनरेवाभ्यभाषत ।। ३१ ।।

शत्रुदमन भगवान् श्रीकृष्णका रथ उपस्थित है और अब ये यहाँसे चले जायँगे; ऐसा जानकर महाराज धृतराष्ट्रने पुनः उनसे कहा— ।। ३१ ।।

यावद् बलं मे पुत्रेषु पश्यस्येतज्जनार्दन ।
प्रत्यक्षं ते न ते किंचित् परोक्षं शत्रुकर्शन ।। ३२ ।।

शत्रुसूदन जनार्दन! पुत्रोंपर मेरा बल कितना काम करता है, यह आप देख ही रहे हैं। सब कुछ आपकी आँखोंके सामने है; आपसे कुछ भी छिपा नहीं है ।।

कुरूणां शममिच्छन्तं यतमानं च केशव ।
विदित्वैतामवस्थां मे नाभिशङ्कितुमर्हसि ।। ३३ ।।

'केशव! मैं भी चाहता हूँ कि कौरव-पाण्डवोंमें संधि हो जाय और मैं इसके लिये प्रयत्न भी करता रहता हूँ; परंतु मेरी इस अवस्थाको समझकर आपको मेरे ऊपर संदेह नहीं करना चाहिये ।। ३३ ।।

न मे पापोऽस्त्यभिप्रायः पाण्डवान् प्रति केशव ।
ज्ञातमेव हितं वाक्यं यन्मयोक्तः सुयोधनः ।। ३४ ।।

'केशव! पाण्डवोंके प्रति मेरा भाव पापपूर्ण नहीं है। मैंने दुर्योधनसे जो हितकी बात बतायी है, वह आपको ज्ञात ही है ।। ३४ ।।

जानन्ति कुरवः सर्वे राजानश्चैव पार्थिवाः ।
शमे प्रयतमानं मां सर्वयत्नेन माधव ।। ३५ ।।

'माधव! मैं सब उपायोंसे शान्तिस्थापनके लिये प्रयत्नशील हूँ, इस बातको ये समस्त कौरव तथा बाहरसे आये हुए राजालोग भी जानते हैं' ।। ३५ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्धृतराष्ट्रं जनार्दनः ।
द्रोणं पितामहं भीष्मं क्षत्तारं बाह्लिकं कृपम् ।। ३६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने राजा धृतराष्ट्र, आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म, विदुर, बाह्लीक तथा कृपाचार्यसे कहा— ।। ३६ ।।

प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वृत्तं कुरुसंसदि ।
यथा चाशिष्टवन्मन्दो रोषादद्य समुत्थितः ।। ३७ ।।

'कौरवसभामें जो घटना घटित हुई है, उसे आप लोगोंने प्रत्यक्ष देखा है। मूर्ख दुर्योधन किस प्रकार अशिष्टकी भाँति आज रोषपूर्वक सभासे उठ गया था ।।

वदत्यनीशमात्मानं धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
आपृच्छे भवतः सर्वान् गमिष्यामि युधिष्ठिरम् ।। ३८ ।।

'महाराज धृतराष्ट्र भी अपने-आपको असमर्थ बता रहे हैं। अतः अब मैं आप सब लोगोंसे आज्ञा चाहता हूँ। मैं युधिष्ठिरके पास जाऊँगा' ।। ३८ ।।

आमन्त्र्य प्रस्थितं शौरिं रथस्थं पुरुषर्षभ ।
अनुजग्मुर्महेष्वासाः प्रवीरा भरतर्षभाः ।। ३९ ।।

नरश्रेष्ठ जनमेजय! तत्पश्चात् रथपर बैठकर प्रस्थानके लिये उद्यत हुए भगवान् श्रीकृष्णसे पूछकर भरतवंशके महाधनुर्धर उत्कृष्ट वीर उनके पीछे कुछ दूरतक गये ।। ३९ ।।

भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता धृतराष्ट्रोऽथ बाह्लिकः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च युयुत्सुश्च महारथः ।। ४० ।।

उन वीरोंके नाम इस प्रकार हैं—भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर, धृतराष्ट्र, बाह्लीक, अश्वत्थामा, विकर्ण और महारथी युयुत्सु ।। ४० ।।

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना ।
कुरूणां पश्यतां द्रष्टुं स्वसारं स पितुर्ययौ ।। ४१ ।।

तदनन्तर किंकिणीविभूषित उस विशाल एवं उज्ज्वल रथके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण समस्त कौरवोंके देखते-देखते अपनी बुआ कुन्तीसे मिलनेके लिये गये ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विश्वरूपदर्शने एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विश्वरूपदर्शनविषयक एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३१ ।।

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके पूछनेपर कुन्तीका उन्हें पाण्डवोंसे कहनेके लिये संदेश देना

वैशम्पायन उवाच

प्रविश्याथ गृहं तस्याश्चरणावभिवाद्य च ।
आचख्यौ तत् समासेन यद् वृत्तं कुरुसंसदि ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीके घरमें जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्णने कौरवसभामें जो कुछ हुआ था, वह सब समाचार उन्हें संक्षेपसे कह सुनाया ।। १ ।।

वासुदेव उवाच

उक्तं बहुविधं वाक्यं ग्रहणीयं सहेतुकम् ।
ऋषिभिश्चैव च मया न चासौ तद् गृहीतवान् ।। २ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—बूआजी! मैंने तथा महर्षियोंने भी नाना प्रकारके युक्तियुक्त वचन, जो सर्वथा ग्रहण करनेयोग्य थे, सभामें कहे, परंतु दुर्योधनने उन्हें नहीं माना ।। २ ।।

कालपक्वमिदं सर्वं सुयोधनवशानुगम् ।
आपृच्छे भवतीं शीघ्रं प्रयास्ये पाण्डवान् प्रति ।। ३ ।।

जान पड़ता है, दुर्योधनके वशमें होकर उसीके पीछे चलनेवाला यह सारा क्षत्रियसमुदाय कालसे परिपक्व हो गया है। (अतः शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है।) अब मैं तुमसे आज्ञा चाहता हूँ, यहाँसे शीघ्र ही पाण्डवोंके पास जाऊँगा ।। ३ ।।

किं वाच्याः पाण्डवेयास्ते भवत्या वचनान्मया ।
तद् ब्रूहि त्वं महाप्राज्ञे शुश्रूषे वचनं तव ।। ४ ।।

महाप्राज्ञे! मुझे पाण्डवोंसे तुम्हारा क्या संदेश कहना होगा, उसे बताओ। मैं तुम्हारी बात सुनना चाहता हूँ ।। ४ ।।

कुन्त्युवाच

ब्रूयाः केशव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
भूयांस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः ।। ५ ।।

कुन्ती बोली—केशव! तुम धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरके पास जाकर इस प्रकार कहना —बेटा! तुम्हारे प्रजापालनरूप धर्मकी बड़ी हानि हो रही है। तुम उस धर्मपालनके अवसरको व्यर्थ न खोओ ।। ५ ।।

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः ।

अनुवाकहता बुद्धिर्धर्ममेवैकमीक्षते ।। ६ ।।

राजन्! जैसे वेदके अर्थको न जाननेवाले अज्ञ वेदपाठीकी बुद्धि केवल वेदके मन्त्रोंकी आवृत्ति करनेमें ही नष्ट हो जाती है और केवल मन्त्रपाठमात्र धर्मपर ही दृष्टि रहती है, उसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि भी केवल शान्तिधर्मको ही देखती है ।। ६ ।।

अङ्गावेक्षस्व धर्मं त्वं यथा सृष्टः स्वयम्भुवा ।
बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टा बाहुवीर्योपजीविनः ।। ७ ।।

बेटा! ब्रह्माजीने तुम्हारे लिये जैसे धर्मकी सृष्टि की है, उसीपर दृष्टिपात करो। उन्होंने अपनी दोनों भुजाओंसे क्षत्रियोंको उत्पन्न किया है, अतः क्षत्रिय बाहुबलसे ही जीविका चलानेवाले होते हैं ।। ७ ।।

क्रूराय कर्मणे नित्यं प्रजानां परिपालने ।
शृणु चात्रोपमामेकां या वृद्धेभ्यः श्रुता मया ।। ८ ।।

वे युद्धरूपी कठोर कर्मके लिये रचे गये हैं तथा सदा प्रजापालनरूपी धर्ममें प्रवृत्त होते हैं। मैं इस विषयमें एक उदाहरण देती हूँ, जिसे मैंने बड़े-बूढ़ोंके मुँहसे सुन रखा है ।। ८ ।।

मुचुकुन्दस्य राजर्षेरददात् पृथिवीमिमाम् ।
पुरा वैश्रवणः प्रीतो न चासौ तां गृहीतवान् ।। ९ ।।

पूर्वकालकी बात है, धनाध्यक्ष कुबेर राजर्षि मुचुकुन्दपर प्रसन्न होकर उन्हें ये सारी पृथ्वी दे रहे थे; परंतु उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया ।। ९ ।।

बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये ।
ततो वैश्रवणः प्रीतो विस्मितः समपद्यत ।। १० ।।

वे बोले—‘देव! मेरी इच्छा है कि मैं अपने बाहुबलसे उपार्जित राज्यका उपभोग करूँ।’ इससे कुबेर बड़े प्रसन्न और विस्मित हुए ।। १० ।।

मुचुकुन्दस्ततो राजा सोऽन्वशासद् वसुन्धराम् ।
बाहुवीर्यार्जितां सम्यक् क्षत्रधर्ममनुव्रतः ।। ११ ।।

तदनन्तर क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले राजा मुचुकुन्दने अपने बाहुबलसे प्राप्त की हुई इस पृथ्वीका न्यायपूर्वक शासन किया ।। ११ ।।

यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा विन्देत भारत ।। १२ ।।

भारत! राजाके द्वारा सुरक्षित हुई प्रजा यहाँ जिस धर्मका अनुष्ठान करती है, उसका चौथाई भाग उस राजाको मिल जाता है ।। १२ ।।

राजा चरति चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते ।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ।। १३ ।।

यदि राजा धर्मका पालन करता है तो उसे देवत्वकी प्राप्ति होती है और यदि वह अधर्म करता है तो नरकमें ही पड़ता है ।। १३ ।।

दण्डनीतिः स्वधर्मेण चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यश्च यच्छति ।। १४ ।।

राजाकी दण्डनीति यदि उसके द्वारा स्वधर्मके अनुसार प्रयुक्त हुई तो वह चारों वर्णोंको नियन्त्रणमें रखती और अधर्मसे निवृत्त करती है ।। १४ ।।

दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तते ।। १५ ।।

यदि राजा दण्डनीतिके प्रयोगमें पूर्णतः न्यायसे काम लेता है तो जगत्में 'सत्ययुग' नामक उत्तम काल आ जाता है ।। १५ ।।

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ।। १६ ।।

राजाका कारण काल है या कालका कारण राजा है, ऐसा संदेह तुम्हारे मनमें नहीं उठना चाहिये; क्योंकि राजा ही कालका कारण होता है ।। १६ ।।

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ।। १७ ।।

राजा ही सत्ययुग, त्रेता और द्वापरका स्रष्टा है। चौथे युग कलिके प्रकट होनेमें भी वही कारण है ।।

कृतस्य करणाद् राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः करणाद् राजा स्वर्गं नात्यन्तमश्नुते ।। १८ ।।

अपने सत्कर्मोंद्वारा सत्ययुग उपस्थित करनेके कारण राजाको अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति होती है। त्रेताकी प्रवृत्ति करनेसे भी उसे स्वर्गकी ही प्राप्ति होती है, किंतु वह अक्षय नहीं होता ।। १८ ।।

प्रवर्तनाद् द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्तनाद् राजा पापमत्यन्तमश्नुते ।। १९ ।।

द्वापर उपस्थित करनेसे उसे यथाभाग पुण्य और पापका फल प्राप्त होता है; परंतु कलियुगकी प्रवृत्ति करनेसे राजाको अत्यन्त पाप (कष्ट) भोगना पड़ता है ।। १९ ।।

ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
राजदोषेण हि जगत् स्पृश्यते जगतः स च ।। २० ।।

ऐसा करनेसे वह दुष्कर्मी राजा अनेक वर्षोंतक नरकमें ही निवास करता है। राजाका दोष जगत्को और जगत्का दोष राजाको प्राप्त होता है ।। २० ।।

राजधर्मानवेक्षस्व पितृपैतामहोचितान् ।
नैतद् राजर्षिवृत्तं हि यत्र त्वं स्थातुमिच्छसि ।। २१ ।।

बेटा! तुम्हारे पिता-पितामहोंने जिनका पालन किया है, उन राजधर्मोंकी ओर ही देखो। तुम जिसका आश्रय लेना चाहते हो, वह राजर्षियोंका आचार अथवा राजधर्म नहीं

है ।। २१ ।।

न हि वैक्लव्यसंसृष्ट आनृशंस्ये व्यवस्थितः ।

प्रजापालनसम्भूतं फलं किंचन लब्धवान् ।। २२ ।।

जो सदा दयाभावमें ही स्थित हो विह्वल बना रहता है, ऐसे किसी भी पुरुषने प्रजापालनजनित किसी पुण्यफलको कभी नहीं प्राप्त किया है ।। २२ ।।

न ह्येतामाशिषं पाण्डुर्न चाहं न पितामहः ।

प्रयुक्तवन्तः पूर्वं ते यया चरसि मेधया ।। २३ ।।

तुम जिस बुद्धिके सहारे चलते हो, उसके लिये न तो तुम्हारे पिता पाण्डुने, न मैंने और न पितामहने ही पहले कभी आशीर्वाद दिया था (अर्थात् तुममें वैसी बुद्धि होनेकी कामना किसीने नहीं की थी) ।। २३ ।।

यज्ञो दानं तपः शौर्यं प्रज्ञा संतानमेव च ।

माहात्म्यं बलमोजश्च नित्यमाशंसितं मया ।। २४ ।।

मैं तो सदा यही मनाती रही हूँ कि तुम्हें यज्ञ, दान, तप, शौर्य, बुद्धि, संतान, महत्त्व, बल और ओजकी प्राप्ति हो ।। २४ ।।

नित्यं स्वाहा स्वधा नित्यं दद्युर्मानुषदेवताः ।

दीर्घमायुर्धनं पुत्रान् सम्यगाराधिताः शुभाः ।। २५ ।।

कल्याणकारी ब्राह्मणोंकी भलीभाँति आराधना करनेपर वे भी सदा देवयज्ञ, पितृयज्ञ, दीर्घायु, धन और पुत्रोंकी प्राप्तिके लिये ही आशीर्वाद देते थे ।। २५ ।।

पुत्रेष्वाशासते नित्यं पितरो दैवतानि च ।

दानमध्ययनं यज्ञं प्रजानां परिपालनम् ।। २६ ।।

देवता और पितर अपने उपासकों तथा वंशजोंसे सदा दान, स्वाध्याय, यज्ञ तथा प्रजापालनकी ही आशा रखते हैं ।। २६ ।।

एतद् धर्म्यमधर्म्यं वा जन्मनैवाभ्यजायथाः ।

ते तु वैद्याः कुले जाता अवृत्त्या तात पीडिताः ।। २७ ।।

श्रीकृष्ण! मेरा यह कथन धर्मसंगत है या अधर्मयुक्त, यह तुम स्वभावसे ही जानते हो। तात! वे पाण्डव उत्तम कुलमें उत्पन्न और विद्वान् होकर भी इस समय जीविकाके अभावसे पीड़ित हैं ।। २७ ।।

यत्र दानपतिं शूरं क्षुधिताः पृथिवीचराः ।

प्राप्य तुष्टाः प्रतिष्ठन्ते धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ।। २८ ।।

भूतलपर विचरनेवाले भूखे मानव जहाँ दानपति, शूरवीर क्षत्रियके समीप पहुँचकर अन्न-पानसे पूर्णतः संतुष्ट हो अपने घरको जाते हैं, वहाँ उससे बढ़कर दूसरा धर्म क्या हो सकता है? ।। २८ ।।

दानेनान्यं बलेनान्यं तथा सूनृतया परम् ।

सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् राज्यं प्राप्येह धार्मिकः ।। २९ ।।

धर्मात्मा पुरुष यहाँ राज्य पाकर किसीको दानसे, किसीको बलसे और किसीको मधुर वाणीद्वारा संतुष्ट करे। इस प्रकार सब ओरसे आये हुए लोगोंको दान, मान आदिसे संतुष्ट करके अपना ले ।। २९ ।।

ब्राह्मणः प्रचरेद् भैक्षं क्षत्रियः परिपालयेत् ।
वैश्यो धनार्जनं कुर्याच्छूद्रः परिचरेच्च तान् ।। ३० ।।

ब्राह्मण भिक्षावृत्तिसे जीविका चलावे, क्षत्रिय प्रजाका पालन करे, वैश्य धनोपार्जन करे और शूद्र उन तीनों वर्णोंकी सेवा करे ।। ३० ।।

भैक्षं विप्रतिषिद्धं ते कृषिर्नैवोपपद्यते ।
क्षत्रियोऽसि क्षतात् त्राता बाहुवीर्योपजीविता ।। ३१ ।।

युधिष्ठिर! तुम्हारे लिये भिक्षावृत्तिका तो सर्वथा निषेध है और खेती भी तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम तो दूसरोंको क्षतिसे त्राण देनेवाले क्षत्रिय हो। तुम्हें तो बाहुबलसे ही जीविका चलानी चाहिये ।। ३१ ।।

पित्र्यमंशं महाबाहो निमग्नं पुनरुद्धर ।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनाथ नयेन वा ।। ३२ ।।

महाबाहो! तुम्हारा पैतृक राज्य-भाग शत्रुओंके हाथमें पड़कर लुप्त हो गया है। तुम साम, दान, भेद अथवा दण्डनीतिसे पुनः उसका उद्धार करो ।। ३२ ।।

इतो दुःखतरं किं नु यदहं हीनबान्धवा ।
परपिण्डमुदीक्षे वै त्वां सूत्वामित्रनन्दन ।। ३३ ।।

शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाले पाण्डव! इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है कि मैं तुम्हें जन्म देकर भी बन्धु-बान्धवोंसे हीन नारीकी भाँति जीविकाके लिये दूसरोंके दिये हुए अन्न-पिण्डकी आशा लगाये ऊपर देखती रहती हूँ ।। ३३ ।।

युद्धयस्व राजधर्मेण मा निमज्जीः पितामहान् ।
मा गमः क्षीणपुण्यस्त्वं सानुजः पापिकां गतिम् ।। ३४ ।।

अतः तुम राजधर्मके अनुसार युद्ध करो। कायर बनकर अपने बाप-दादोंका नाम मत डुबाओ और भाइयोंसहित पुण्यसे वंचित होकर पापमयी गतिको न प्राप्त होओ ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीवाक्ये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्तीवाक्यविषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३२ ।।

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीके द्वारा विदुलोपाख्यानका आरम्भ, विदुलाका रणभूमिसे भागकर आये हुए अपने पुत्रको कड़ी फटकार देकर पुनः युद्धके लिये उत्साहित करना

कुन्त्युवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विदुलायाश्च संवादं पुत्रस्य च परंतप ।। १ ।।

कुन्ती बोली—शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्ण! इस प्रसंगमें विद्वान् पुरुष विदुला और उसके पुत्रके संवाद-रूप इस पुरातन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ।।

अत्र श्रेयश्च भूयश्च यथावद् वक्तुमर्हसि ।
यशस्विनी मन्युमती कुले जाता विभावरी ।। २ ।।
क्षत्रधर्मरता दान्ता विदुला दीर्घदर्शिनी ।
विश्रुता राजसंसत्सु श्रुतवाक्या बहुश्रुता ।। ३ ।।
विदुला नाम राजन्या जगर्हे पुत्रमौरसम् ।
निर्जितं सिन्धुराजेन शयानं दीनचेतसम् ।। ४ ।।

इस इतिहासमें जो कल्याणकारी उपदेश हो, उसे तुम युधिष्ठिरके सामने यथावत् रूपसे फिर कहना। विदुला नामसे प्रसिद्ध एक क्षत्रिय महिला हो गयी हैं, जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, यशस्विनी, तेजस्विनी, मानिनी, जितेन्द्रिया, क्षत्रिय-धर्मपरायणा और दूरदर्शिनी थीं। राजाओंकी मण्डलीमें उनकी बड़ी ख्याति थी। वे अनेक शास्त्रोंको जाननेवाली और महापुरुषोंके उपदेश सुनकर उससे लाभ उठानेवाली थीं। एक समय उनका पुत्र सिन्धुराजसे पराजित हो अत्यन्त दीनभावसे घर आकर सो रहा था। राजरानी विदुलाने अपने उस औरस पुत्रको इस दशामें देखकर उसकी बड़ी निन्दा की ।।

विदुलोवाच

अनन्दन मया जात द्विषतां हर्षवर्धन ।
न मया त्वं न पित्रा च जातः क्वाभ्यागतो ह्यसि ।। ५ ।।

विदुला बोली—अरे, तू मेरे गर्भसे उत्पन्न हुआ है तो भी मुझे आनन्दित करनेवाला नहीं है। तू तो शत्रुओंका ही हर्ष बढ़ानेवाला है, इसलिये अब मैं ऐसा समझने लगी हूँ कि तू मेरी कोखसे पैदा ही नहीं हुआ। तेरे पिताने भी तुझे उत्पन्न नहीं किया; फिर तुझ-जैसा कायर कहाँसे आ गया? ।। ५ ।।

निर्मन्युश्चाप्यसंख्येयः पुरुषः क्लीबसाधनः ।

यावज्जीवं निराशोऽसि कल्याणाय धुरं वह ।। ६ ।।

तू सर्वथा क्रोधशून्य है, क्षत्रियोंमें गणना करनेयोग्य नहीं है। तू नाममात्रका पुरुष है। तेरे मन आदि सभी साधन नपुंसकोंके समान हैं। क्या तू जीवनभरके लिये निराश हो गया? अरे! अब भी तो उठ और अपने कल्याणके लिये पुनः युद्धका भार वहन कर ।। ६ ।।

माऽऽत्मानमवमन्यस्व मैनमल्पेन बीभरः ।
मनः कृत्वा सुकल्याणं मा भैस्त्वं प्रतिसंहर ।। ७ ।।

अपनेको दुर्बल मानकर स्वयं ही अपनी अवहेलना न कर, इस आत्माका थोड़े धनसे भरण-पोषण न कर, मनको परम कल्याणमय बनाकर—उसे शुभ संकल्पोंसे सम्पन्न करके निडर हो जा, भयको सर्वथा त्याग दे ।। ७ ।।

उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा शेष्वैवं पराजितः ।
अमित्रान् नन्दयन् सर्वान् निर्मानो बन्धुशोकदः ।। ८ ।।

ओ कायर! उठ, खड़ा हो, इस तरह शत्रुसे पराजित होकर घरमें शयन न कर (उद्योगशून्य न हो जा)। ऐसा करके तो तू सब शत्रुओंको ही आनन्द दे रहा है और मान-प्रतिष्ठासे वंचित होकर बन्धु-बान्धवोंको शोकमें डाल रहा है ।। ८ ।।

सुपूरा वै कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः ।
सुसंतोषः कापुरुषः स्वल्पकेनैव तुष्यति ।। ९ ।।

जैसे छोटी नदी थोड़े जलसे अनायास ही भर जाती है और चूहेकी अंजलि थोड़े अन्नसे ही भर जाती है, उसी प्रकार कायरको संतोष दिलाना बहुत सुगम है, वह थोड़ेसे ही संतुष्ट हो जाता है ।। ९ ।।

अप्यहेरारुजन् दंष्ट्रामाश्वेव निधनं व्रज ।
अपि वा संशयं प्राप्य जीवितेऽपि पराक्रमेः ।। १० ।।

तू शत्रुरूपी साँपके दाँत तोड़ता हुआ तत्काल मृत्युको प्राप्त हो जा। प्राण जानेका संदेह हो तो भी शत्रुके साथ युद्धमें पराक्रम ही प्रकट कर ।। १० ।।

अप्यरेः श्येनवच्छिद्रं पश्येस्त्वं विपरिक्रमन् ।
विनदन् वाथवा तूष्णीं व्योम्नि वापरिशङ्कितः ।। ११ ।।

आकाशमें निःशंक होकर उड़नेवाले बाज पक्षीकी भाँति रणभूमिमें निर्भय विचरता हुआ तू गर्जना करके अथवा चुप रहकर शत्रुके छिद्र देखता रह ।। ११ ।।

त्वमेवं प्रेतवच्छेषे कस्माद् वज्रहतो यथा ।
उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा स्वाप्सीः शत्रुनिर्जितः ।। १२ ।।

कायर! तू इस प्रकार बिजलीके मारे हुए मुर्देकी भाँति यहाँ क्यों निश्चेष्ट होकर पड़ा है? बस, तू खड़ा हो जा, शत्रुओंसे पराजित होकर यहाँ पड़ा मत रह ।। १२ ।।

मास्तं गमस्त्वं कृपणो विश्रूयस्व स्वकर्मणा ।
मा मध्ये मा जघन्ये त्वं माधो भूस्तिष्ठ गर्जितः ।। १३ ।।

तू दीन होकर असा न हो जा। अपने शौर्यपूर्ण कर्मसे प्रसिद्धि प्राप्त कर। तू मध्यम, अधम अथवा निकृष्टभावका आश्रय न ले, वरं युद्धभूमिमें सिंहनाद करके डट जा ।। १३ ।।

अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि विज्वल ।
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः ।। १४ ।।

तू तिन्दुककी जलती हुई लकड़ीके समान दो घड़ीके लिये भी प्रज्वलित हो उठ (थोड़ी देरके ही लिये सही, शत्रुके सामने महान् पराक्रम प्रकट कर); परंतु जीनेकी इच्छासे भूसीकी ज्वालारहित आगके समान केवल धुआँ न कर (मन्द पराक्रमसे काम न ले) ।। १४ ।।

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् ।
मा ह स्म कस्यचिद् गेहे जनि राज्ञः खरो मृदुः ।। १५ ।।

दो घड़ी भी प्रज्वलित रहना अच्छा; परंतु दीर्घकालतक धूआँ छोड़ते हुए सुलगना अच्छा नहीं। किसी भी राजाके घरमें अत्यन्त कठोर अथवा अत्यन्त कोमल स्वभावके पुरुषका जन्म न हो ।। १५ ।।

कृत्वा मानुष्यकं कर्म सृत्वाजिं यावदुत्तमम् ।
धर्मस्यानृण्यमाप्नोति न चात्मानं विगर्हते ।। १६ ।।

वीर पुरुष युद्धमें जाकर यथाशक्ति उत्तम पुरुषार्थ प्रकट करके धर्मके ऋणसे उऋण होता है और अपनी निन्दा नहीं कराता है ।। १६ ।।

अलब्ध्वा यदि वा लब्ध्वा नानुशोचति पण्डितः ।
आनन्तर्यं चारभते न प्राणानां धनायते ।। १७ ।।

विद्वान् पुरुषको अभीष्ट फलकी प्राप्ति हो या न हो, वह उसके लिये शोक नहीं करता। वह (अपनी पूरी शक्तिके अनुसार) प्राणपर्यन्त निरन्तर चेष्टा करता है और अपने लिये धनकी इच्छा नहीं करता ।। १७ ।।

उद्भावयस्व वीर्यं वा तां वा गच्छ ध्रुवां गतिम् ।
धर्मं पुत्राग्रतः कृत्वा किंनिमित्तं हि जीवसि ।। १८ ।।

बेटा! धर्मको आगे रखकर या तो पराक्रम प्रकट कर अथवा उस गतिको प्राप्त हो जा, जो समस्त प्राणियोंके लिये निश्चित है, अन्यथा किसलिये जी रहा है? ।।

इष्टापूर्तं हि ते क्लीब कीर्तिश्च सकला हता ।
विच्छिन्नं भोगमूलं ते किंनिमित्तं हि जीवसि ।। १९ ।।

कायर! तेरे इष्ट और आपूर्त कर्म नष्ट हो गये, सारी कीर्ति धूलमें मिल गयी और भोगका मूल साधन राज्य भी छिन गया, अब तू किसलिये जी रहा है? ।।

शत्रुर्निमज्जता ग्राह्यो जङ्घायां प्रपतिष्यता ।
विपरिच्छिन्नमूलोऽपि न विषीदेत् कथंचन ।। २० ।।
उद्यम्य धुरमुत्कर्षेदाजानेयकृतं स्मरन् ।

मनुष्य डूबते समय अथवा ऊँचेसे नीचे गिरते समय भी शत्रुकी टाँग अवश्य पकड़े और ऐसा करते समय यदि अपना मूलोच्छेद हो जाय तो भी किसी प्रकार विषाद न करे। अच्छी जातिके घोड़े न तो थकते हैं और न शिथिल ही होते हैं। उनके इस कार्यको स्मरण करके अपने ऊपर रखे हुए युद्ध आदिके भारको उद्योगपूर्वक वहन करे ।। २०½ ।।

कुरु सत्त्वं च मानं च विद्धि पौरुषमात्मनः ।। २१ ।।
उद्भावय कुलं मग्नं त्वत्कृते स्वयमेव हि ।

बेटा! तू धैर्य और स्वाभिमानका अवलम्बन कर। अपने पुरुषार्थको जान और तेरे कारण डूबे हुए इस वंशका तू स्वयं ही उद्धार कर ।। २१½ ।।

यस्य वृत्तं न जल्पन्ति मानवा महदद्भुतम् ।। २२ ।।
राशिवर्धनमात्रं स नैव स्त्री न पुनः पुमान् ।

जिसके महान् और अद्भुत पुरुषार्थ एवं चरित्रकी सब लोग चर्चा नहीं करते हैं, वह मनुष्य अपने द्वारा जनसंख्याकी वृद्धिमात्र करनेवाला है। मेरी दृष्टिमें न तो वह स्त्री है और न पुरुष ही है ।। २२½ ।।

दाने तपसि सत्ये च यस्य नोच्चरितं यशः ।। २३ ।।
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः ।

दान, तपस्या, सत्यभाषण, विद्या तथा धनोपार्जनमें जिसके सुयशका सर्वत्र बखान नहीं होता है, वह मनुष्य अपनी माताका पुत्र नहीं, मल-मूत्रमात्र ही है ।। २३½ ।।

श्रुतेन तपसा वापि श्रिया वा विक्रमेण वा ।। २४ ।।
जनान् योऽभिभवत्यन्यान् कर्मणा हि स वै पुमान् ।

जो शास्त्रज्ञान, तपस्या, धन-सम्पत्ति अथवा पराक्रमके द्वारा दूसरे लोगोंको पराजित कर देता है, वह उसी श्रेष्ठ कर्मके द्वारा पुरुष कहलाता है ।। २४½ ।।

न त्वेव जाल्मीं कापालीं वृत्तिमेषितुमर्हसि ।। २५ ।।
नृशंस्यामयशस्यां च दुःखां कापुरुषोचिताम् ।

तुझे हिजड़ों, कापालिकों, क्रूर मनुष्यों तथा कायरोंके लिये उचित भिक्षा आदि निन्दनीय वृत्तिका आश्रय कभी नहीं लेना चाहिये; क्योंकि वह अपयश फैलानेवाली और दुःखदायिनी होती है ।। २५½ ।।

यमेनमभिनन्देयुरमित्राः पुरुषं कृशम् ।। २६ ।।
लोकस्य समवज्ञातं निहीनासनवाससम् ।
अहोलाभकरं हीनमल्पजीवनमल्पकम् ।। २७ ।।
नेदृशं बन्धुमासाद्य बान्धवः सुखमेधते ।

जिस दुर्बल मनुष्यका शत्रुपक्षके लोग अभिनन्दन करते हों, जो सब लोगोंके द्वारा अपमानित होता हो, जिसके आसन और वस्त्र निकृष्ट श्रेणीके हों, जो थोड़े लाभसे ही संतुष्ट होकर विस्मय प्रकट करता हो, जो सब प्रकारसे हीन, क्षुद्र जीवन बितानेवाला और ओछे स्वभावका हो, ऐसे बन्धुको पाकर उसके भाई-बन्धु सुखी नहीं होते ।। २६-२७½ ।।

अवृत्त्यैव विपत्स्यामो वयं राष्ट्रात् प्रवासिताः ।। २८ ।।
सर्वकामरसैर्हीनाः स्थानभ्रष्टा अकिंचनाः ।

तेरी कायरताके कारण हमलोग इस राज्यसे निर्वासित होनेपर सम्पूर्ण मनोवांछित सुखोंसे हीन, स्थानभ्रष्ट और अकिंचन हो जीविकाके अभावमें ही मर जायँगे ।। २८½ ।।

अवल्गुकारिणं सत्सु कुलवंशस्य नाशनम् ।। २९ ।।
कलिं पुत्रप्रवादेन संजय त्वामजीजनम् ।

संजय! तू सत्पुरुषोंके बीचमें अशोभन कार्य करनेवाला है, कुल और वंशकी प्रतिष्ठाका नाश करनेवाला है। जान पड़ता है, तेरे रूपमें पुत्रके नामपर मैंने कलि-पुरुषको ही जन्म दिया है ।। २९½ ।।

निरमर्षं निरुत्साहं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ।। ३० ।।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम् ।

संसारकी कोई भी नारी ऐसे पुत्रको जन्म न दे, जो अमर्षशून्य, उत्साहहीन, बल और पराक्रमसे रहित तथा शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाला हो ।। ३०½ ।।

मा धूमाय ज्वलात्यन्तमाक्रम्य जहि शात्रवान् ।। ३१ ।।
ज्वल मूर्धन्यमित्राणां मुहूर्तमपि वा क्षणम् ।

अरे! धूमकी तरह न उठ। जोर-जोरसे प्रज्वलित हो जा और वेगपूर्वक आक्रमण करके शत्रुसैनिकोंका संहार कर डाल। तू एक मुहूर्त या एक क्षणके लिये भी वैरियोंके मस्तकपर जलती हुई आग बनकर छा जा ।। ३१½ ।।

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ।। ३२ ।।
क्षमावान् निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान् ।

जिस क्षत्रियके हृदयमें अमर्ष है और जो शत्रुओंके प्रति क्षमाभाव धारण नहीं करता, इतने ही गुणोंके कारण वह पुरुष कहलाता है। जो क्षमाशील और अमर्षशून्य है, वह क्षत्रिय न तो स्त्री है और न पुरुष ही कहलाने योग्य है ।। ३२½ ।।

संतोषो वै श्रियं हन्ति तथानुक्रोश एव च ।। ३३ ।।
अनुत्थानभये चोभे निरीहो नाश्नुते महत् ।

संतोष, दया, उद्योगशून्यता और भय—ये सम्पत्तिका नाश करनेवाले हैं। निश्चेष्ट मनुष्य कभी कोई महत्त्वपूर्ण पद नहीं पा सकता ।। ३३½ ।।

एभ्यो निकृतिपापेभ्यः प्रमुञ्चात्मानमात्मना ।। ३४ ।।
आयसं हृदयं कृत्वा मृगयस्व पुनः स्वकम् ।

पराजयके कारण जो लोकमें तेरी निन्दा और तिरस्कार हो रहे हैं, इन सब दोषोंसे तू स्वयं ही अपने-आपको मुक्त कर और अपने हृदयको लोहेके समान दृढ़ बनाकर पुनः अपने योग्य पद (राज्यवैभव)-का अनुसंधान कर ।। ३४½ ।।

परं विषहते यस्मात् तस्मात् पुरुष उच्यते ।। ३५ ।।
तमाहुर्व्यर्थनामानं स्त्रीवद् य इह जीवति ।

जो पर अर्थात् शत्रुका सामना करके उसके वेगको सह लेता है, वही उस पुरुषार्थके कारण पुरुष कहलाता है। जो इस जगत्में स्त्रीकी भाँति भीरुतापूर्ण जीवन बिताता है, उसका 'पुरुष' नाम व्यर्थ कहा गया है ।। ३५½ ।।

शूरस्योर्जितसत्त्वस्य सिंहविक्रान्तचारिणः ।। ३६ ।।
दिष्टभावं गतस्यापि विषये मोदते प्रजा ।

यदि बढ़े हुए तेज और उत्साहवाला, शूरवीर एवं सिंहके समान पराक्रमी राजा युद्धमें दैववश वीर-गतिको प्राप्त हो जाय तो भी उसके राज्यमें प्रजा सुखी ही रहती है ।। ३६½ ।।

य आत्मनः प्रियसुखे हित्वा मृगयते श्रियम् ।। ३७ ।।
अमात्यानामथो हर्षमादधात्यचिरेण सः ।। ३८ ।।

जो अपने प्रिय और सुखका परित्याग करके सम्पत्तिका अन्वेषण करता है, वह शीघ्र ही अपने मन्त्रियोंका हर्ष बढ़ाता है ।। ३७-३८ ।।

पुत्र उवाच

किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वया ।
किमाभरणकृत्यं ते किं भोगैर्जीवितेन वा ।। ३९ ।।

पुत्र बोला—माँ! यदि तू मुझे न देखे तो यह सारी पृथ्वी मिल जानेपर भी तुझे क्या सुख मिलेगा? मेरे न रहनेपर तुझे आभूषणोंकी भी क्या आवश्यकता होगी? भाँति-भाँतिके भोगों और जीवनसे भी तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? ।। ३९ ।।

मातोवाच

किमद्यकानां ये लोका द्विषन्तस्तानवाप्नुयुः ।
ये त्वादृतात्मनां लोकाः सुहृदस्तान् व्रजन्तु नः ।। ४० ।।

विदुला बोली—बेटा! आज क्या भोजन होगा? इस प्रकारकी चिन्तामें पड़े हुए दरिद्रोंके जो लोक हैं, वे हमारे शत्रुओंको प्राप्त हों और सर्वत्र सम्मानित होनेवाले पुण्यात्मा पुरुषोंके जो लोक हैं, उनमें हमारे हितैषी सुहृद् पधारें ।। ४० ।।

भृत्यैर्विहीयमानानां परपिण्डोपजीविनाम् ।
कृपणानामसत्त्वानां मा वृत्तिमनुवर्तिथाः ।। ४१ ।।

संजय! भृत्यहीन, दूसरोंके अन्नपर जीनेवाले, दीन-दुर्बल मनुष्योंकी वृत्तिका अनुसरण न कर ।। ४१ ।।

अनु त्वां तात जीवन्तु ब्राह्मणाः सुहृदस्तथा ।
पर्जन्यमिव भूतानि देवा इव शतक्रतुम् ।। ४२ ।।

तात! जैसे सब प्राणियोंकी जीविका मेघके अधीन है तथा जैसे सब देवता इन्द्रके आश्रित होकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण तथा हितैषी सुहृद् तेरे सहारे जीवन-निर्वाह करें ।। ४२ ।।

यमाजीवन्ति पुरुषं सर्वभूतानि संजय ।
पक्वं द्रुममिवासाद्य तस्य जीवितमर्थवत् ।। ४३ ।।

संजय! पके फलवाले वृक्षके समान जिस पुरुषका आश्रय लेकर सब प्राणी जीविका चलाते हैं, उसीका जीवन सार्थक है ।। ४३ ।।

यस्य शूरस्य विक्रान्तैरेधन्ते बान्धवाः सुखम् ।
त्रिदशा इव शक्रस्य साधु तस्येह जीवितम् ।। ४४ ।।

जैसे इन्द्रके पराक्रमसे सब देवता सुखी रहते हैं, उसी प्रकार जिस शूरवीर पुरुषके बल और पुरुषार्थसे उसके भाई-बन्धु सुखपूर्वक उन्नति करते हैं, इस संसारमें उसीका जीवन श्रेष्ठ है ।। ४४ ।।

स्वबाहुबलमाश्रित्य योऽभ्युज्जीवति मानवः ।
स लोके लभते कीर्तिं परत्र च शुभां गतिम् ।। ४५ ।।

जो मनुष्य अपने बाहुबलका आश्रय लेकर उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करता है, वही इस लोकमें उत्तम कीर्ति और परलोकमें शुभ गति पाता है ।। ४५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाका अपने पुत्रको उपदेशविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३३ ।।

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुलाका अपने पुत्रको युद्धके लिये उत्साहित करना

विदुलोवाच

अथैतस्यामवस्थायां पौरुषं हातुमिच्छसि ।
निहीनसेवितं मार्गं गमिष्यस्यचिरादिव ।। १ ।।

विदुला बोली—संजय! यदि तू इस दशामें पौरुषको छोड़ देनेकी इच्छा करता है तो शीघ्र ही नीच पुरुषोंके मार्गपर जा पहुँचेगा ।। १ ।।

यो हि तेजो यथाशक्ति न दर्शयति विक्रमात् ।
क्षत्रियो जीविताकाङ्क्षी स्तेन इत्येव तं विदुः ।। २ ।।

जो क्षत्रिय अपने जीवनके लोभसे यथाशक्ति पराक्रम प्रकट करके अपने तेजका परिचय नहीं देता है, उसे सब लोग चोर मानते हैं ।। २ ।।

अर्थवन्त्युपपन्नानि वाक्यानि गुणवन्ति च ।
नैव सम्प्राप्नुवन्ति त्वां मुमूर्षुमिव भेषजम् ।। ३ ।।

जैसे मरणासन्न पुरुषको कोई भी दवा लागू नहीं होती, उसी प्रकार ये युक्तियुक्त, गुणकारी और सार्थक वचन भी तेरे हृदयतक पहुँच नहीं पाते हैं (यह कितने दुःखकी बात है) ।। ३ ।।

सन्ति वै सिन्धुराजस्य संतुष्टा न तथा जनाः ।
दौर्बल्यादासते मूढा व्यसनौघप्रतीक्षिणः ।। ४ ।।

देख, सिन्धुराजकी प्रजा उससे संतुष्ट नहीं है, तथापि तेरी दुर्बलताके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो उदासीन बैठी हुई है और सिन्धुराजपर विपत्तियोंके आनेकी बाट जोह रही है ।। ४ ।।

सहायोपचितिं कृत्वा व्यवसाय्य ततस्ततः ।
अनुदुष्येयुरपरे पश्यन्तस्तव पौरुषम् ।। ५ ।।

दूसरे राजा भी तेरा पुरुषार्थ देखकर इधर-उधरसे विशेष चेष्टापूर्वक सहायक साधनोंकी वृद्धि करके सिन्धुराजके शत्रु हो सकते हैं ।। ५ ।।

तैः कृत्वा सह संघातं गिरिदुर्गालयं चर ।
काले व्यसनमाकाङ्क्षन् नैवायमजरामरः ।। ६ ।।

तू उन सबके साथ मैत्री करके यथासमय अपने शत्रु सिन्धुराजपर विपत्ति आनेकी प्रतीक्षा करता हुआ पर्वतोंकी दुर्गम गुफामें विचरता रह; क्योंकि यह सिन्धुराज कोई अजर, अमर तो है नहीं ।। ६ ।।

संजयो नामतश्च त्वं न च पश्यामि तत् त्वयि ।

अन्वर्थनामा भव मे पुत्र मा व्यर्थनामकः ।। ७ ।।

तेरा नाम तो संजय है, परंतु तुझमें इस नामके अनुसार गुण मैं नहीं देख रही हूँ। बेटा! युद्धमें विजय प्राप्त करके अपना नाम सार्थक कर, व्यर्थ संजय नाम न धारण कर ।। ७ ।।

सम्यग्दृष्टिर्महाप्राज्ञो बालं त्वां ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
अयं प्राप्य महत् कृच्छ्रं पुनर्वृद्धिं गमिष्यति ।। ८ ।।

जब तू बालक था, उस समय एक उत्तम दृष्टिवाले, परम बुद्धिमान् ब्राह्मणने तेरे विषयमें कहा था कि 'यह महान् संकटमें पड़कर भी पुनः वृद्धिको प्राप्त होगा' ।। ८ ।।

तस्य स्मरन्ती वचनमाशंसे विजयं तव ।
तस्मात् तात ब्रवीमि त्वां वक्ष्यामि च पुनः पुनः ।। ९ ।।

उस ब्राह्मणकी बातको याद करके मैं यह आशा करती हूँ कि तेरी विजय होगी। तात! इसीलिये मैं बार-बार तुझसे कहती हूँ और कहती रहूँगी ।। ९ ।।

यस्य ह्यर्थाभिनिर्वृत्तौ भवन्त्याप्यायिताः परे ।
तस्यार्थसिद्धिर्नियता नयेष्वर्थानुसारिणः ।। १० ।।

जिसके प्रयोजनकी सिद्धि होनेपर उससे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे लोग भी संतुष्ट एवं उन्नतिको प्राप्त होते हैं, नीतिमार्गपर चलकर अर्थसिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवाले उस पुरुषको निश्चय ही अपने अभीष्टकी सिद्धि होती है ।। १० ।।

समृद्धिरसमृद्धिर्वा पूर्वेषां मम संजय ।
एवं विद्वान् युद्धमना भव मा प्रत्युपाहर ।। ११ ।।

संजय! युद्धसे हमारे पूर्वजोंका अथवा मेरा कोई लाभ हो या हानि, युद्ध करना क्षत्रियोंका धर्म है, ऐसा समझकर उसीमें मन लगा, युद्ध बंद न कर ।। ११ ।।

नातः पापीयसीं कांचिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत् ।
यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ।। १२ ।।

जहाँ आजके लिये और कल सबेरेके लिये भी भोजन दिखायी नहीं देता, उससे बढ़कर महान् पापपूर्ण कोई दूसरी अवस्था नहीं है, ऐसा शम्बरासुरका कथन है ।।

पतिपुत्रवधादेतत् परमं दुःखमब्रवीत् ।
दारिद्र्यमिति यत् प्रोक्तं पर्यायमरणं हि तत् ।। १३ ।।

जिसका नाम दरिद्रता है, उसे पति और पुत्रके वधसे भी अधिक दुःखदायक बताया गया है। दरिद्रता मृत्युका समानार्थक शब्द है ।। १३ ।।

अहं महाकुले जाता ह्रदाद्ध्रदमिवागता ।
ईश्वरी सर्वकल्याणी भर्त्रा परमपूजिता ।। १४ ।।

मैं उच्चकुलमें उत्पन्न हो हंसीकी भाँति एक सरोवरसे दूसरे सरोवरमें आयी और इस राज्यकी स्वामिनी, समस्त कल्याणमय साधनोंसे सम्पन्न तथा पतिदेवके परम आदरकी पात्र हुई ।। १४ ।।

महार्हमाल्याभरणां सुमृष्टाम्बरवाससम् ।
पुरा हृष्टः सुहृद्वर्गो मामपश्यत् सुहृद्गताम् ।। १५ ।।

पूर्वकालमें मेरे सुहृदोंने जब मुझे सगे सम्बन्धियोंके बीच बहुमूल्य हार एवं आभूषणोंसे विभूषित तथा परम सुन्दर स्वच्छ वस्त्रोंसे आच्छादित देखा, तब उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ।। १५ ।।

यदा मां चैव भार्यां च द्रष्टासि भृशदुर्बलाम् ।
न तदा जीवितेनार्थो भविता तव संजय ।। १६ ।।

संजय! अब जिस समय तू मुझे और अपनी पत्नीको चिन्ताके कारण अत्यन्त दुर्बल देखेगा, उस समय तुझे जीवित रहनेकी इच्छा नहीं होगी ।। १६ ।।

दासकर्मकरान् भृत्यानाचार्यर्त्विक्पुरोहितान् ।
अवृत्त्यास्मान् प्रजहतो दृष्ट्वा किं जीवितेन ते ।। १७ ।।

जब सेवाका काम करनेवाले दास, भरण-पोषण पानेवाले कुटुम्बी, आचार्य, ऋत्विक् और पुरोहित जीविकाके अभावमें हमें छोड़कर जाने लगेंगे, उस समय उन्हें देखकर तुझे जीवन-धारणका कोई प्रयोजन नहीं दिखायी देगा ।।

यदि कृत्यं न पश्यामि तवाद्याहं यथा पुरा ।
श्लाघनीयं यशस्यं च का शान्तिर्हृदयस्य मे ।। १८ ।।

यदि पहलेके समान आज भी मैं तेरे यशकी वृद्धि करनेवाले प्रशंसनीय कर्मोंको नहीं देखूँगी तो मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी? ।। १८ ।।

नेति चेद् ब्राह्मणं ब्रूयां दीर्येत हृदयं मम ।
न ह्यहं न च मे भर्ता नेति ब्राह्मणमुक्तवान् ।। १९ ।।

यदि किसी ब्राह्मणके माँगनेपर मैं उसकी अभीष्ट वस्तुके लिये 'नाहीं' कह दूँगी तो उसी समय मेरा हृदय विदीर्ण हो जायगा। आजतक मैंने या मेरे पतिदेवने किसी ब्राह्मणसे नाहीं नहीं की है ।। १९ ।।

वयमाश्रयणीयाः स्म नाश्रितारः परस्य च ।
सान्यमासाद्य जीवन्ती परित्यक्ष्यामि जीवितम् ।। २० ।।

हम सदा लोगोंके आश्रयदाता रहे हैं, दूसरोंके आश्रित कभी नहीं रहे; परंतु अब यदि दूसरेका आश्रय लेकर जीवन धारण करना पड़े तो मैं ऐसे जीवनका परित्याग ही कर दूँगी ।। २० ।।

अपारे भव नः पारमप्लवे भव नः प्लवः ।
कुरुष्व स्थानमस्थाने मृतान् संजीवयस्व नः ।। २१ ।।

बेटा! अपार समुद्रमें डूबते हुए हमलोगोंको तू पार लगानेवाला हो। नौकाविहीन अगाध जलराशि (महान् संकट)-में तू हमारे लिये नौका हो जा। हमारे लिये कोई स्थान नहीं रह गया है, तू स्थान बन जा और हम मृतप्राय हो रहे हैं, तू हमें जीवन दान कर ।। २१ ।।

सर्वे ते शत्रवः शक्या न चेज्जीवितुमिच्छसि ।
अथ चेदीदृशीं वृत्तिं क्लीबामभ्युपपद्यसे ।। २२ ।।
निर्विण्णात्मा हतमना मुञ्चैतां पापजीविकाम् ।

यदि तुझे जीवनके प्रति अधिक आसक्ति न हो तो तू अपने सभी शत्रुओंको परास्त कर सकता है और यदि इस प्रकार विषादग्रस्त एवं हतोत्साह होकर ऐसी कायरोंकी-सी वृत्ति अपना रहा है तो तुझे इस पापपूर्ण जीविकाको त्याग देना चाहिये ।। २२ १/२ ।।

एकशत्रुवधेनैव शूरो गच्छति विश्रुतिम् ।। २३ ।।
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत ।
माहेन्द्रं च गृहं लेभे लोकानां चेश्वरोऽभवत् ।। २४ ।।

एक शत्रुका वध करनेसे ही शूरवीर पुरुष सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात हो जाता है। देवराज इन्द्र केवल वृत्रासुरका वध करके ही 'महेन्द्र' नामसे प्रसिद्ध हो गये। उन्हें रहनेके लिये इन्द्रभवन प्राप्त हुआ और वे तीनों लोकोंके अधीश्वर हो गये ।। २३-२४ ।।

नाम विश्राव्य वै संख्ये शत्रूनाहूय दंशितान् ।
सेनाग्रं चापि विद्राव्य हत्वा वा पुरुषं वरम् ।। २५ ।।
यदैव लभते वीरः सुयुद्धेन महद् यशः ।
तदैव प्रव्यथन्तेऽस्य शत्रवो विनमन्ति च ।। २६ ।।

वीर पुरुष युद्धमें अपना नाम सुनाकर, कवचधारी शत्रुओंको ललकारकर, सेनाके अग्रभागको खदेड़कर अथवा शत्रुपक्षके किसी श्रेष्ठ पुरुषका वध करके जभी उत्तम युद्धके द्वारा महान् यश प्राप्त कर लेता है, तभी उसके शत्रु व्यथित होते और उसके सामने मस्तक झुकाते हैं ।। २५-२६ ।।

त्यक्त्वाऽऽत्मानं रणे दक्षं शूरं कापुरुषा जनाः ।
अवशास्तर्पयन्ति स्म सर्वकामसमृद्धिभिः ।। २७ ।।

कायर मनुष्य विवश हो युद्धमें अपने शरीरका त्याग करके युद्धकुशल शूरवीरको सम्पूर्ण मनोरथोंकी पूर्ति करनेवाली अपनी समृद्धियोंके द्वारा तृप्त करते हैं ।। २७ ।।

राज्यं चाप्युग्रविभ्रंशं संशयो जीवितस्य वा ।
न लब्धस्य हि शत्रोर्वै शेषं कुर्वन्ति साधवः ।। २८ ।।

जिसका भयानक रूपसे पतन हुआ है, वह राज्य प्राप्त हो जाय या जीवन ही संकटमें पड़ जाय, किसी भी दशामें अपने हाथमें आये हुए शत्रुको श्रेष्ठ पुरुष शेष नहीं रहने देते हैं ।। २८ ।।

स्वर्गद्वारोपमं राज्यमथवाप्यमृतोपमम् ।
युद्धमेकायनं मत्वा पतोल्मुक इवारिषु ।। २९ ।।

युद्धको स्वर्गद्वारके सदृश उत्तम गति अथवा अमृतके सदृश राज्यकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग मानकर तू जलते हुए काठकी भाँति शत्रुओंपर टूट पड़ ।। २९ ।।

जहि शत्रून् रणे राजन् स्वधर्ममनुपालय ।
मा त्वादृशं सुकृपणं शत्रूणां भयवर्धनम् ।। ३० ।।

राजन्! तू युद्धमें शत्रुओंको मार और अपने धर्मका पालन कर। शत्रुओंका भय बढ़ानेवाले तुझ वीर पुत्रको मैं अत्यन्त दीन या कायरके रूपमें न देखूँ ।। ३० ।।

अस्मदीयैश्च शोचद्भिर्नदद्भिश्च परैर्वृतम् ।
अपि त्वां नानुपश्येयं दीनाद् दीनमिव स्थितम् ।। ३१ ।।

मैं तुझे दीनसे भी दीनके समान दयनीय अवस्थामें पड़ा हुआ तथा शोकमग्न हुए अपने पक्षके और गर्जन-तर्जन करते हुए शत्रुपक्षके लोगोंसे घिरा हुआ नहीं देखना चाहती ।। ३१ ।।

हृष्य सौवीरकन्याभिः श्लाघस्वार्थैर्यथा पुरा ।
मा च सैन्धवकन्यानामवसन्नो वशं गमः ।। ३२ ।।

तू सौवीरदेशकी कन्याओं (अपनी पत्नियों)-के साथ हर्षका अनुभव कर। पहलेकी भाँति अपने धनकी अधिकताके लिये गर्व कर। विपत्तिमें पड़कर सिन्धुदेशीय (शत्रुदेशकी) कन्याओंके वशमें न हो जा ।। ३२ ।।

युवा रूपेण सम्पन्नो विद्ययाभिजनेन च ।
यत् त्वादृशो विकुर्वीत यशस्वी लोकविश्रुतः ।। ३३ ।।
अधुर्यवच्च वोढव्ये मन्ये मरणमेव तत् ।

तू रूप, यौवन, विद्या और कुलीनतासे सम्पन्न है, यशस्वी तथा लोकमें विख्यात है। तुझ-जैसा वीर पुरुष यदि पराक्रमके अवसरपर डर जाय, भार ढोनेके समय बिना नथे हुए बैलके समान बैठ रहे या भाग जाय तो मैं इसे तेरा मरण ही समझती हूँ ।। ३३½ ।।

यदि त्वामनुपश्यामि परस्य प्रियवादिनम् ।। ३४ ।।
पृष्ठतोऽनुव्रजन्तं वा का शान्तिर्हृदयस्य मे ।

यदि मैं यह देखूँ कि तू शत्रुसे मीठी-मीठी बातें करता तथा उसके पीछे-पीछे जाता है तो मेरे हृदयमें क्या शान्ति मिलेगी? ।। ३४½ ।।

नास्मिन् जातु कुले जातो गच्छेद् योऽन्यस्य पृष्ठतः ।। ३५ ।।
न त्वं परस्यानुचरस्तात जीवितुमर्हसि ।

इस कुलमें कभी कोई ऐसा पुरुष नहीं उत्पन्न हुआ, जो दूसरेके पीछे-पीछे चला हो। तात! तू दूसरेका सेवक होकर जीवित रहनेके योग्य नहीं है ।। ३५½ ।।

अहं हि क्षत्रहृदयं वेद यत् परिशाश्वतम् ।। ३६ ।।
पूर्वैः पूर्वतरैः प्रोक्तं परैः परतरैरपि ।
शाश्वतं चाव्ययं चैव प्रजापतिविनिर्मितम् ।। ३७ ।।

स्वयं विधाताने जिसकी सृष्टि की है, प्राचीन और अत्यन्त प्राचीन पुरुषोंने जिसका वर्णन किया है, परवर्ती और अतिपरवर्ती सत्पुरुष जिसका वर्णन करेंगे तथा जो चिरन्तन

एवं अविनाशी है, उस सनातन और उत्तम क्षत्रिय-हृदयको मैं जानती हूँ ।। ३६-३७ ।।

यो वै कश्चिदिहाजातः क्षत्रियः क्षत्रकर्मवित् ।
भयाद् वृत्तिसमीक्षो वा न नमेदिह कस्यचित् ।। ३८ ।।

इस जगत्‌में जो कोई भी क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है और क्षत्रियधर्मको जाननेवाला है, वह भयसे अथवा आजीविकाकी ओर दृष्टि रखकर भी किसीके सामने नतमस्तक नहीं हो सकता ।। ३८ ।।

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ।। ३९ ।।

सदा उद्यम करे, किसीके आगे सिर न झुकावे। उद्यम ही पुरुषार्थ है। असमयमें नष्ट भले ही हो जाय, परंतु किसीके आगे नतमस्तक न हो ।। ३९ ।।

मातङ्गो मत्त इव च परीयात् सुमहामनाः ।
ब्राह्मणेभ्यो नमेन्नित्यं धर्मायैव च संजय ।। ४० ।।

संजय! महामनस्वी क्षत्रिय मदमत्त हाथीके समान सर्वत्र निर्भय विचरण करे और सदा ब्राह्मणोंको तथा धर्मको ही नमस्कार करे ।। ४० ।।

नियच्छन्नितरान् वर्णान् विनिघ्नन् सर्वदुष्कृतः ।
ससहायोऽसहायो वा यावज्जीवं तथा भवेत् ।। ४१ ।।

क्षत्रिय ससहाय हो अथवा असहाय, वह अन्य वर्ण-के लोगोंको काबूमें रखता और समस्त पापियोंको दण्ड देता हुआ जीवनभर वैसा ही उद्यमशील बना रहे ।। ४१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाका अपने पुत्रको उपदेशविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३४ ।।

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुला और उसके पुत्रका संवाद—विदुलाके द्वारा कार्यमें सफलता प्राप्त करने तथा शत्रुवशीकरणके उपायोंका निर्देश

पुत्र उवाच

कृष्णायसस्येव च ते संहत्य हृदयं कृतम् ।
मम मातस्त्वकरुणे वीरप्रज्ञे ह्यमर्षणे ।। १ ।।

पुत्र बोला—माँ! तेरा हृदय तो ऐसा जान पड़ता है, मानो काले लोहपिण्डको ठोक-पीटकर बनाया गया हो। तू मेरी माता होकर भी इतनी निर्दय है। तेरी बुद्धि वीरोंके समान है और तू सदा अमर्षमें भरी रहती है ।। १ ।।

अहो क्षत्रसमाचारो यत्र मामितरं यथा ।
नियोजयसि युद्धाय परमातेव मां तथा ।। २ ।।

अहो! क्षत्रियोंका आचार-व्यवहार कैसा आश्चर्यजनक है, जिसमें स्थित होकर तू मुझे इस प्रकार युद्धमें लगा रही है, मानो मैं दूसरेका बेटा होऊँ और तू दूसरेकी माँ हो ।। २ ।।

ईदृशं वचनं ब्रूयाद् भवती पुत्रमेकजम् ।
किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वया ।। ३ ।।

मुझ इकलौते पुत्रसे तू ऐसी निष्ठुर बात कहे, आश्चर्य है! मुझे न देखनेपर यह सारी पृथ्वी भी तुझे मिल जाय तो इससे तुझे क्या सुख मिलेगा? ।। ३ ।।

किमाभरणकृत्येन किं भोगैर्जीवितेन वा ।
मयि वा संगरहते प्रियपुत्रे विशेषतः ।। ४ ।।

मैं विशेषतः तेरा प्रिय पुत्र यदि युद्धमें मारा जाऊँ तो तुझे आभूषणोंसे, भोग-सामग्रियोंसे तथा अपने जीवनसे भी कौन-सा सुख प्राप्त होगा? ।। ४ ।।

मातोवाच

सर्वावस्था हि विदुषां तात धर्मार्थकारणात् ।
तावेवाभिसमीक्ष्याहं संजय त्वामचूचुदम् ।। ५ ।।

माता बोली—तात संजय! विद्वानोंकी सारी अवस्था भी धर्म और अर्थके निमित्त ही होती है। उन्हीं दोनोंकी ओर दृष्टि रखकर मैंने भी तुझे युद्धके लिये प्रेरित किया है ।। ५ ।।

स समीक्ष्यक्रमोपेतो मुख्यः कालोऽयमागतः ।
अस्मिंश्चेदागते काले कार्यं न प्रतिपद्यसे ।। ६ ।।
असम्भावितरूपस्त्वमानृशंस्यं करिष्यसि ।

तं त्वामयशसा स्मृष्टं न ब्रूयां यदि संजय ।। ७ ।।
खरीवात्सल्यमाहुस्तन्निःसामर्थ्यमहेतुकम् ।
सद्भिर्विगर्हितं मार्गं त्यज मूर्खनिषेवितम् ।। ८ ।।

यह तेरे लिये दर्शनीय पराक्रम करके दिखानेका मुख्य समय प्राप्त हुआ है। ऐसे समयमें भी यदि तू अपने कर्तव्यका पालन नहीं करेगा और तुझसे जैसी सम्भावना थी, उसके विपरीत स्वभावका परिचय देकर शत्रुओंके प्रति क्रूरतापूर्ण बर्ताव नहीं करेगा तो उस दशामें सब ओर तेरा अपयश फैल जायगा। संजय! ऐसे अवसरपर भी यदि मैं तुझे कुछ न कहूँ तो मेरा वह वात्सल्य गदहीके स्नेहके समान शक्तिहीन तथा निरर्थक होगा। अतः वत्स! साधु पुरुष जिसकी निन्दा करते हैं और मूर्ख मनुष्य ही जिसपर चलते हैं, उस मार्गको त्याग दे ।।

अविद्या वै महत्यस्ति यामिमां संश्रिताः प्रजाः ।
तव स्याद् यदि सद्वृत्तं तेन मे त्वं प्रियो भवेः ।। ९ ।।

प्रजाने जिसका आश्रय ले रखा है, वह तो बड़ी भारी अविद्या ही है। तू तो मुझे तभी प्रिय हो सकता है, जब तेरा आचरण सत्पुरुषोंके योग्य हो जाय ।। ९ ।।

धर्मार्थगुणयुक्तेन नेतरेण कथंचन ।
दैवमानुषयुक्तेन सद्भिराचरितेन च ।। १० ।।

धर्म, अर्थ और गुणोंसे युक्त, देवलोक तथा मनुष्यलोकमें भी उपयोगी और सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए सत्कर्मसे ही तू मेरा प्रिय हो सकता है, इसके विपरीत असत्कर्मसे किसी प्रकार भी तू मुझे प्रिय नहीं हो सकता ।। १० ।।

यो ह्येवमविनीतेन रमते पुत्र नप्तृणा ।
अनुत्थानवता चापि दुर्विनीतेन दुर्धिया ।। ११ ।।
रमते यस्तु पुत्रेण मोघं तस्य प्रजाफलम् ।
अकुर्वन्तो हि कर्माणि कुर्वन्तो निन्दितानि च ।। १२ ।।
सुखं नैवेह नामुत्र लभन्ते पुरुषाधमाः ।

बेटा! जो इस प्रकार विनयशून्य एवं अशिक्षित पौत्रसे हर्षको प्राप्त होता है तथा उद्योगरहित, दुर्विनीत एवं दुर्बुद्धि पुत्रसे सुख मानता है, उसका संतानोत्पादन व्यर्थ है; क्योंकि वे अयोग्य पुत्र-पौत्र पहले तो कर्म ही नहीं करते हैं और यदि करते हैं तो निन्दित कर्म ही करते हैं, इससे वे अधम मनुष्य न तो इस लोकमें सुख पाते हैं और न परलोकमें ही ।। ११-१२½ ।।

युद्धाय क्षत्रियः सृष्टः संजयेह जयाय च ।। १३ ।।
जयन् वा वध्यमानो वा प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम् ।
न शक्रभवने पुण्ये दिवि तद् विद्यते सुखम् ।
यदमित्रान् वशे कृत्वा क्षत्रियः सुखमश्नुते ।। १४ ।।

संजय! इस लोकमें युद्ध एवं विजयके लिये ही विधाताने क्षत्रियकी सृष्टि की है। वह विजय प्राप्त करे या युद्धमें मारा जाय, सभी दशाओंमें उसे इन्द्रलोककी प्राप्ति होती है। पुण्यमय स्वर्गलोकके इन्द्रभवनमें भी वह सुख नहीं मिलता, जिसे क्षत्रिय वीर शत्रुओंको वशमें करके सानन्द अनुभव करता है ।। १३-१४ ।।

मन्युना दह्यमानेन पुरुषेण मनस्विना ।
निकृतेनेह बहुशः शत्रून् प्रतिजिगीषया ।। १५ ।।
आत्मानं वा परित्यज्य शत्रुं वा विनिपात्य च ।
अतोऽन्येन प्रकारेण शान्तिरस्य कुतो भवेत् ।। १६ ।।

अतएव जो मनस्वी क्षत्रिय अनेक बार पराजित हो क्रोधसे दग्ध हो रहा हो, वह अवश्य ही विजयकी इच्छासे शत्रुओंपर आक्रमण करे। फिर तो वह अपने शरीरका परित्याग करके अथवा शत्रुको मार गिराकर ही शान्ति लाभ करता है। इसके सिवा दूसरे किसी प्रकारसे उसे कैसे शान्ति प्राप्त हो सकती है? ।। १५-१६ ।।

इह प्राज्ञो हि पुरुषः स्वल्पमप्रियमिच्छति ।
यस्य स्वल्पं प्रियं लोके ध्रुवं तस्याल्पमप्रियम् ।। १७ ।।

बुद्धिमान् पुरुष इस जगत्में अत्यन्त अल्पमात्रामें अप्रियकी इच्छा करता है। लोकमें जिसका प्रिय अल्प होता है, उसका अप्रिय भी निश्चय ही अल्प होगा ।।

प्रियाभावाच्च पुरुषो नैव प्राप्नोति शोभनम् ।
ध्रुवं चाभावमभ्येति गत्वा गङ्गेव सागरम् ।। १८ ।।

प्रियके अभावमें मनुष्यकी शोभा नहीं होती है। जैसे गंगा समुद्रमें जाकर विलुप्त हो जाती है, उसी प्रकार वह अभावग्रस्त पुरुष भी निश्चय ही लुप्त हो जाता है ।।

पुत्र उवाच

नेयं मतिस्त्वया वाच्या मातः पुत्रे विशेषतः ।
कारुण्यमेवात्र पश्य भूत्वेह जडमूकवत् ।। १९ ।।

पुत्रने कहा—माँ! तुझे अपने मुखसे ऐसा विचार नहीं व्यक्त करना चाहिये, अतः तुम जड और मूककी भाँति होकर मुझ अपने पुत्रको विशेषरूपसे करुणापूर्ण दृष्टिसे ही देखो ।। १९ ।।

मातोवाच

अतो मे भूयसी नन्दिर्यदेवमनुपश्यसि ।
चोद्यं मां चोदयस्येतद् भृशं वै चोदयामि ते ।। २० ।।

माता बोली—तेरे इस कथनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। तू इस प्रकार विचार तो करता है। मुझे मेरे कर्तव्य (पुत्रपर दयादृष्टि करने)-की प्रेरणा दे रहा है, इसीलिये मैं भी तुझे बार-बार तेरा कर्तव्य सुझा रही हूँ ।।

अथ त्वां पूजयिष्यामि हत्वा वै सर्वसैन्धवान् ।
अहं पश्यामि विजयं कृच्छ्रभावितमेव ते ।। २१ ।।

जब तू सिन्धुदेशके समस्त योद्धाओंको मारकर आयेगा, उस समय मैं तेरा स्वागत करूँगी। मुझे विश्वास है कि बड़े कष्टसे प्राप्त होनेवाली तेरी विजय मैं अवश्य देखूँगी ।। २१ ।।

पुत्र उवाच

अकोशस्यासहायस्य कुतः सिद्धिर्जयो मम ।
इत्यवस्थां विदित्वैतामात्मनाऽऽत्मनि दारुणाम् ।। २२ ।।
राज्याद् भावो निवृत्तो मे त्रिदिवादिव दुष्कृतेः ।
ईदृशं भवती कंचिदुपायमनुपश्यति ।। २३ ।।

पुत्र बोला—माँ! मेरे पास न तो खजाना है और न सहायता करनेवाले सैनिक ही हैं, फिर मुझे विजयरूप अभीष्टकी सिद्धि कैसे प्राप्त होगी? अपनी इस दारुण अवस्थाके विषयमें स्वयं ही विचार करके मैंने राज्यकी ओरसे अपना अनुराग उसी प्रकार दूर हटा लिया है, जैसे स्वर्गकी ओरसे पापीका भाव हट जाता है। क्या तू ऐसा कोई उपाय देख रही है, जिससे मैं विजय पा सकूँ ।।

तन्मे परिणतप्रज्ञे सम्यक् प्रब्रूहि पृच्छते ।
करिष्यामि हि तत् सर्वं यथावदनुशासनम् ।। २४ ।।

परिपक्व बुद्धिवाली माँ! मेरे इस प्रश्नके अनुसार तू कोई उत्तम उपाय बता दे। मैं तेरे सम्पूर्ण आदेशोंका यथोचित रीतिसे पालन करूँगा ।। २४ ।।

मातोवाच

पुत्र नात्मावमन्तव्यः पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
अभूत्वा हि भवन्त्यर्था भूत्वा नश्यन्ति चापरे ।
अमर्षेणैव चाप्यर्था नारब्धव्याः सुबालिशैः ।। २५ ।।

माता बोली—बेटा! पहलेकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी है—यह सोचकर तुझे अपनी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि धन-वैभव तो नष्ट होकर पुनः प्राप्त हो जाते हैं और प्राप्त होकर भी फिर नष्ट हो जाते हैं; अतः बुद्धिहीन पुरुषोंको ईर्ष्यावश ही धनकी प्राप्तिके लिये कर्मोंका आरम्भ नहीं करना चाहिये ।। २५ ।।

सर्वेषां कर्मणां तात फले नित्यमनित्यता ।
अनित्यमिति जानन्तो न भवन्ति भवन्ति च ।। २६ ।।

तात! सभी कर्मोंके फलमें सदा अनित्यता रहती है—कभी उनका फल मिलता है और कभी नहीं भी मिलता है। इस अनित्यताको जानते हुए भी बुद्धिमान् पुरुष कर्म करते हैं और वे कभी असफल होते हैं, तो कभी सफल भी हो जाते हैं ।। २६ ।।

अथ ये नैव कुर्वन्ति नैव जातु भवन्ति ते ।
ऐकगुण्यमनीहायामभावः कर्मणां फलम् ।। २७ ।।
अथ द्वैगुण्यमीहायां फलं भवति वा न वा ।

परंतु जो कर्मोंका आरम्भ ही नहीं करते, वे तो कभी अपने अभीष्टकी सिद्धिमें सफल नहीं होते, अतः कर्मोंको छोड़कर निश्चेष्ट बैठनेका यह एक ही परिणाम होता है कि मनुष्योंको कभी अभीष्ट मनोरथकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परंतु कर्मोंमें उत्साहपूर्वक लगे रहनेपर तो दोनों प्रकारके परिणामोंकी सम्भावना रहती है—कर्मोंका वांछनीय फल प्राप्त भी हो सकता है और नहीं भी ।। २७ $\frac{१}{२}$ ।।

यस्य प्रागेव विदिता सर्वार्थानामनित्यता ।। २८ ।।
नुदेद् वृद्ध्यसमृद्धी स प्रतिकूले नृपात्मज ।

राजकुमार! जिसे पहलेसे ही सभी पदार्थोंकी अनित्यताका ज्ञान होता है, वह ज्ञानी पुरुष अपने प्रतिकूल शत्रुकी उन्नति और अपनी अवनतिसे प्राप्त हुए दुःखका विचारद्वारा निवारण कर सकता है ।। २८ $\frac{१}{२}$ ।।

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु ।। २९ ।।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ।

सफलता होगी ही, ऐसा मनमें दृढ़ विश्वास लेकर निरन्तर विषादरहित होकर तुझे उठना, सजग होना और ऐश्वर्यकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंमें लग जाना चाहिये ।।

मङ्गलानि पुरस्कृत्य ब्राह्मणांश्चेश्वरैः सह ।। ३० ।।
प्राज्ञस्य नृपतेराशु वृद्धिर्भवति पुत्रक ।
अभिवर्तति लक्ष्मीस्तं प्राचीमिव दिवाकरः ।। ३१ ।।

वत्स! देवताओंसहित ब्राह्मणोंका पूजन तथा अन्यान्य मांगलिक कार्य सम्पन्न करके प्रत्येक कार्यका आरम्भ करनेवाले बुद्धिमान् राजाकी शीघ्र उन्नति होती है। जैसे सूर्य अवश्य ही पूर्वदिशाका आश्रय ले उसे प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार राजलक्ष्मी पूर्वोक्त राजाको सब ओरसे प्राप्त होकर उसे यश एवं तेजसे सम्पन्न कर देती है ।। ३०-३१ ।।

निदर्शनान्युपायांश्च बहून्युद्धर्षणानि च ।
अनुदर्शितरूपोऽसि पश्यामि कुरु पौरुषम् ।। ३२ ।।

बेटा! मैंने तुझे अनेक प्रकारके दृष्टान्त, बहुत-से उपाय और कितने ही उत्साहजनक वचन सुनाये हैं। लोकवृत्तान्तका भी बारंबार दिग्दर्शन कराया है। अब तू पुरुषार्थ कर। मैं तेरा पराक्रम देखूँगी ।। ३२ ।।

पुरुषार्थमभिप्रेतं समाहर्तुमिहार्हसि ।
क्रुद्धाँल्लुब्धान् परिक्षीणानवलिप्तान् विमानितान् ।। ३३ ।।
स्पर्धिनश्चैव ये केचित् तान् युक्त उपधारय ।
एतेन त्वं प्रकारेण महतो भेत्स्यसे गणान् ।। ३४ ।।

महावेग इवोद्धूतो मातरिश्वा बलाहकान् ।

तुझे यहाँ अभीष्ट पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिये। जो लोग सिन्धुराजपर कुपित हों, जिनके मनमें धनका लोभ हो, जो सिन्धुनरेशके आक्रमणसे सर्वथा क्षीण हो गये हों, जिन्हें अपने बल और पौरुषपर गर्व हो तथा जो तेरे शत्रुओंद्वारा अपमानित हों उनसे बदला लेनेके लिये होड़ लगाये बैठे हों, उन सबको तू सावधान होकर दान-मानके द्वारा अपने पक्षमें कर ले। इस प्रकार तू बड़े-से-बड़े समुदायको फोड़ लेगा। ठीक उसी तरह, जैसे महान् वेगशाली वायु वेगपूर्वक उठकर बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है ।। ३३-३४ $\frac{१}{२}$ ।।

तेषामग्रप्रदायी स्याः कल्योत्थायी प्रियंवदः ।। ३५ ।।

ते त्वां प्रियं करिष्यन्ति पुरो धास्यन्ति च ध्रुवम् ।

तू उन्हें अग्रिम वेतन दे दिया कर। प्रतिदिन प्रातःकाल सोकर उठ जा और सबके साथ प्रिय वचन बोल। ऐसा करनेसे वे अवश्य तेरा प्रिय करेंगे और निश्चय ही तुझे अपना अगुआ बना लेंगे ।। ३५ $\frac{१}{२}$ ।।

यदैव शत्रुर्जानीयात् सपत्नं त्यक्तजीवितम् ।

तदैवास्मादुद्विजते सर्पाद् वेश्मगतादिव ।। ३६ ।।

शत्रुको ज्यों ही यह मालूम हो जाता है कि उसका विपक्षी प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध करनेके लिये तैयार है, तभी घरमें रहनेवाले सर्पकी भाँति उसके भयसे वह उद्विग्न हो उठता है ।। ३६ ।।

तं विदित्वा पराक्रान्तं वशे न कुरुते यदि ।

निर्वादैर्निर्वदेदेनमन्ततस्तद् भविष्यति ।। ३७ ।।

यदि शत्रुको पराक्रमसम्पन्न जानकर अपनी असमर्थताके कारण उसे वशमें न कर सके तो उसे विश्वसनीय दूतोंद्वारा साम एवं दान नीतिका प्रयोग करके अनुकूल बना ले (जिससे वह आक्रमण न करके शान्त बैठा रहे)। ऐसा करनेसे अन्ततोगत्वा उसका वशीकरण हो जायगा ।। ३७ ।।

निर्वादादास्पदं लब्ध्वा धनवृद्धिर्भविष्यति ।

धनवन्तं हि मित्राणि भजन्ते चाश्रयन्ति च ।। ३८ ।।

इस प्रकार शत्रुको शान्त कर देनेसे निर्भय आश्रय प्राप्त होता है। उसे प्राप्त कर लेनेपर युद्ध आदिमें न फँसनेके कारण अपने धनकी वृद्धि होती है। फिर धनसम्पन्न राजाका बहुत-से मित्र आश्रय लेते और उसकी सेवा करते हैं ।। ३८ ।।

स्खलितार्थं पुनस्तात संत्यजन्ति च बान्धवाः ।

अप्यस्मिन् नाश्वसन्ते च जुगुप्सन्ते च तादृशम् ।। ३९ ।।

इसके विपरीत जिसका धन नष्ट हो गया है, उसके मित्र और भाई-बन्धु भी उसे त्याग देते हैं। उसपर विश्वास नहीं करते हैं तथा उसके-जैसे लोगोंकी निन्दा भी करते रहते हैं ।। ३९ ।।

शत्रुं कृत्वा यः सहायं विश्वासमुपगच्छति ।
स न सम्भाव्यमेवैतद् यद् राज्यं प्राप्नुयादिति ।। ४० ।।

जो शत्रुको सहायक बनाकर उसका विश्वास करता है, वह राज्य प्राप्त कर लेगा, इसकी कभी सम्भावना ही नहीं करनी चाहिये ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाको पुत्रका उपदेशविषयक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३५ ।।

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुलाके उपदेशसे उसके पुत्रका युद्धके लिये उद्यत होना

मातोवाच

नैव राज्ञा दरः कार्यो जातु कस्याञ्चिदापदि ।
अथ चेदपि दीर्णः स्यान्नैव वर्तेत दीर्णवत् ।। १ ।।

माता बोली—पुत्र! कैसी भी आपत्ति क्यों न आ जाय, राजाको कभी भयभीत होना या घबराना नहीं चाहिये। यदि वह डरा हुआ हो तो भी डरे हुएके समान कोई बर्ताव न करे ।। १ ।।

दीर्णं हि दृष्ट्वा राजानं सर्वमेवानुदीर्यते ।
राष्ट्रं बलममात्याश्च पृथक् कुर्वन्ति ते मतीः ।। २ ।।

राजाको भयभीत देखकर उसके पक्षके सभी लोग भयभीत हो जाते हैं। राज्यकी प्रजा, सेना और मन्त्री भी उससे भिन्न विचार रखने लगते हैं ।। २ ।।

शत्रूनेके प्रपद्यन्ते प्रजहत्यपरे पुनः ।
अन्ये तु प्रजिहीर्षन्ति ये पुरस्ताद् विमानिताः ।। ३ ।।

उनमेंसे कुछ लोग तो उस राजाके शत्रुओंकी शरणमें चले जाते हैं, दूसरे लोग उसका त्यागमात्र कर देते हैं और कुछ लोग जो पहले राजाद्वारा अपमानित हुए होते हैं, वे उस अवस्थामें उसके ऊपर प्रहार करनेकी भी इच्छा कर लेते हैं ।। ३ ।।

य एवात्यन्तसुहृदस्त एनं पर्युपासते ।
अशक्तयः स्वस्तिकामा बद्धवत्सा इडा इव ।। ४ ।।

जो लोग अत्यन्त सुहृद् होते हैं, वे ही उस संकटके समय उस राजाके पास रह जाते हैं; परंतु वे भी असमर्थ होनेके कारण बँधे हुए बछड़ेवाली गायोंकी भाँति कुछ कर नहीं पाते, केवल मन-ही-मन उसकी मंगलकामना करते रहते हैं ।। ४ ।।

शोचन्तमनुशोचन्ति पतितानिव बान्धवान् ।
अपि ते पूजिताः पूर्वमपि ते सुहृदो मताः ।। ५ ।।

जो विपत्तिकी अवस्थामें शोक करते हुए राजाके साथ-साथ स्वयं भी वैसे ही शोकमग्न हो जाते हैं, मानो उनके कोई सगे भाई-बन्धु विपन्न हो गये हों, क्या ऐसे ही लोगोंको तूने सुहृद् माना है? क्या तूने भी पहले ऐसे सुहृदोंका सम्मान किया है? ।। ५ ।।

ये राष्ट्रमभिमन्यन्ते राज्ञो व्यसनमीयुषः ।
मा दीदरस्त्वं सुहृदो मा त्वां दीर्णं प्रहासिषुः ।। ६ ।।

जो संकटमें पड़े हुए राजाके राज्यको अपना ही मानकर उसकी तथा राजाकी रक्षाके लिये कृतसंकल्प होते हैं, ऐसे सुहृदोंको तू कभी अपनेसे विलग न कर और वे भी भयभीत

अवस्थामें तेरा परित्याग न करें ।।

प्रभावं पौरुषं बुद्धिं जिज्ञासन्त्या मया तव ।
विदधत्या समाश्वासमुक्तं तेजोविवृद्धये ।। ७ ।।

मैं तेरे प्रभाव, पुरुषार्थ और बुद्धि-बलको जानना चाहती थी, अतः तुझे आश्वासन देते हुए तेरे तेज (उत्साह)-की वृद्धिके लिये मैंने उपर्युक्त बातें कही है ।।

यदेतत् संविजानासि यदि सम्यग् ब्रवीम्यहम् ।
कृत्वा सौम्यमिवात्मानं जयायोत्तिष्ठ संजय ।। ८ ।।

संजय! यदि मैं यह सब ठीक कह रही हूँ और यदि तू भी मेरी इन बातोंको ठीक समझ रहा है तो अपने-आपको उग्र-सा बनाकर विजयके लिये उठ खड़ा हो ।। ८ ।।

अस्ति नः कोशनिचयो महान् ह्यविदितस्तव ।
तमहं वेद नान्यस्तमुपसम्पादयामि ते ।। ९ ।।

अभी हमलोगोंके पास बड़ा भारी खजाना है जिसका तुझे पता नहीं है, उसे मैं ही जानती हूँ, दूसरा नहीं। वह खजाना मैं तुझे सौंपती हूँ ।। ९ ।।

सन्ति नैकतमा भूयः सुहृदस्तव संजय ।
सुखदुःखसहा वीर संग्रामादनिवर्तिनः ।। १० ।।

वीर संजय! अभी तो तेरे सैकड़ों सुहृद् हैं। वे सभी सुख-दुःखको सहन करनेवाले तथा युद्धसे पीछे न हटनेवाले हैं ।। १० ।।

तादृशा हि सहाया वै पुरुषस्य बुभूषतः ।
इष्टं जिहीर्षतः किंचित् सचिवाः शत्रुकर्शन ।। ११ ।।

शत्रुसूदन! जो पुरुष अपनी उन्नति चाहता है और शत्रुके हाथसे अपनी अभीष्ट सम्पत्तिको हर लाना चाहता है, उसके सहायक और मन्त्री पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त सुहृद् हुआ करते हैं ।। ११ ।।

यस्यास्त्वीदृशकं वाक्यं श्रुत्वापि स्वल्पचेतसः ।
तमस्त्वपागमत् तस्य सुचित्रार्थपदाक्षरम् ।। १२ ।।

(कुन्ती बोली—) श्रीकृष्ण! संजयका हृदय यद्यपि बहुत दुर्बल था तो भी विदुलाका वह विचित्र अर्थ, पद और अक्षरोंसे युक्त वचन सुनकर उसका तमोगुणजनित भय और विषाद भाग गया ।। १२ ।।

पुत्र उवाच

उदके भूरियं धार्या मर्तव्यं प्रवणे मया ।
यस्य मे भवती नेत्री भविष्यद्भूतिदर्शिनी ।। १३ ।।

पुत्र बोला—माँ! मेरा यह राज्य शत्रुरूपी जलमें डूब गया है, अब मुझे इसका उद्धार करना है, नहीं तो युद्धमें शत्रुओंका सामना करते हुए अपने प्राणोंका विसर्जन कर देना है;

जब मुझे भावी वैभवका दर्शन करानेवाली तुझ-जैसी संचालिका प्राप्त है, तब मुझमें ऐसा साहस होना ही चाहिये ।। १३ ।।

अहं हि वचनं त्वत्तः शुश्रूषुरपरापरम् ।
किंचित् किंचित् प्रतिवदंस्तूष्णीमासं मुहुर्मुहुः ।। १४ ।।

मैं बराबर तेरी नयी-नयी बातें सुनना चाहता था। इसीलिये बारंबार बीच-बीचमें कुछ-कुछ बोलकर फिर मौन हो जाता था ।। १४ ।।

अतृप्यन्नमृतस्येव कृच्छ्राल्लब्धस्य बान्धवात् ।
उद्यच्छाम्येष शत्रूणां नियमाय जयाय च ।। १५ ।।

तेरे ये अमृतके समान वचन बड़ी कठिनाईसे सुननेको मिले थे। उन्हें सुनकर मैं तृप्त नहीं होता था। यह देखो, अब मैं शत्रुओंका दमन और विजयकी प्राप्ति करनेके लिये बन्धु-बान्धवोंके साथ उद्योग कर रहा हूँ ।। १५ ।।

कुन्त्युवाच

सदश्व इव स क्षिप्तः प्रणुन्नो वाक्यसायकैः ।
तच्चकार तथा सर्वं यथावदनुशासनम् ।। १६ ।।

कुन्ती कहती है—श्रीकृष्ण! माताके वाग्बाणोंसे बिधकर और तिरस्कृत होकर चाबुककी मार खाये हुए अच्छे घोड़ेके समान संजयने माताके उस समस्त उपदेशका यथावत्‌रूपसे पालन किया ।। १६ ।।

इदमुद्धर्षणं भीमं तेजोवर्धनमुत्तमम् ।
राजानं श्रावयेन्मन्त्री सीदन्तं शत्रुपीडितम् ।। १७ ।।

यह उत्तम उपाख्यान वीरोंके लिये अत्यन्त उत्साह-वर्धक और कायरोंके लिये भयंकर है। यदि कोई राजा शत्रुसे पीड़ित होकर दुःखी एवं हताश हो रहा हो तो मन्त्रीको चाहिये कि उसे यह प्रसंग सुनाये ।। १७ ।।

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ।
महीं विजयते क्षिप्रं श्रुत्वा शत्रूंश्च मर्दति ।। १८ ।।

यह जय नामक इतिहास है। विजयकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको इसका श्रवण करना चाहिये। इसे सुनकर युद्धमें जानेवाला राजा शीघ्र ही पृथ्वीपर विजय पाता और शत्रुओंको रौंद डालता है ।। १८ ।।

इदं पुंसवनं चैव वीराजननमेव च ।
अभीक्ष्णं गर्भिणी श्रुत्वा ध्रुवं वीरं प्रजायते ।। १९ ।।

यह आख्यान पुत्रकी प्राप्ति करानेवाला है तथा साधारण पुरुषमें वीरभाव उत्पन्न करनेवाला है। यदि गर्भवती स्त्री इसे बारंबार सुने तो वह निश्चय ही वीर पुत्रको जन्म देती है ।। १९ ।।

विद्याशूरं तपःशूरं दानशूरं तपस्विनम् ।
ब्राह्मया श्रिया दीप्यमानं साधुवादे च सम्मतम् ।। २० ।।
अर्चिष्मन्तं बलोपेतं महाभागं महारथम् ।
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ।। २१ ।।
नियन्तारमसाधूनां गोप्तारं धर्मचारिणाम् ।
ईदृशं क्षत्रिया सूते वीरं सत्यपराक्रमम् ।। २२ ।।

इसे सुनकर प्रत्येक क्षत्राणी विद्याशूर, तपःशूर, दानशूर, तपस्वी, ब्राह्मी शोभासे सम्पन्न, साधुवादके योग्य, तेजस्वी, बलवान्, परम सौभाग्यशाली, महारथी, धैर्यवान्, दुर्धर्ष विजयी, किसीसे भी पराजित न होनेवाले, दुष्टोंका दमन करनेवाले, धर्मात्माओंके रक्षक तथा सत्य-पराक्रमी वीर पुत्रको उत्पन्न करती है ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासनसमाप्तौ षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाके द्वारा पुत्रको दिये जानेवाले उपदेशका समाप्तिविषयक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३६ ।।

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका पाण्डवोंके लिये संदेश देना और श्रीकृष्णका उनसे विदा लेकर उपप्लव्य नगरमें जाना

कुन्त्युवाच

अर्जुनं केशव ब्रूयास्त्वयि जाते स्म सूतके ।
उपोपविष्टा नारीभिराश्रमे परिवारिता ।। १ ।।
अथान्तरिक्षे वागासीद् दिव्यरूपा मनोरमा ।
सहस्राक्षसमः कुन्ति भविष्यत्येष ते सुतः ।। २ ।।

कुन्ती बोली—केशव! तुम अर्जुनसे जाकर कहना, तुम्हारे जन्मके समय जब मैं नारियोंसे घिरी हुई आश्रमके सूतिकागारमें बैठी थी, उसी समय आकाशमें यह दिव्यरूपा मनोरम वाणी सुनायी दी—‘कुन्ती! तेरा यह पुत्र इन्द्रके समान पराक्रमी होगा ।। १-२ ।।

एष जेष्यति संग्रामे कुरून् सर्वान् समागतान् ।
भीमसेनद्वितीयश्च लोकमुद्वर्तयिष्यति ।। ३ ।।

‘यह भीमसेनके साथ रहकर युद्धमें आये हुए समस्त कौरवोंको जीत लेगा और शत्रु-समुदायको व्याकुल कर देगा ।। ३ ।।

पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चास्य दिवं स्पृशेत् ।
हत्वा कुरूंश्च संग्रामे वासुदेवसहायवान् ।। ४ ।।
पित्र्यमंशं प्रणष्टं च पुनरप्युद्धरिष्यति ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमांस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति ।। ५ ।।

‘तेरा यह पुत्र भगवान् श्रीकृष्णके साथ रहकर इस भूमण्डलको जीत लेगा, इसका यश स्वर्गलोकतक फैल जायगा और यह संग्राममें विपक्षी कौरवोंको मारकर अपने पैतृक राज्यभागका पुनरुद्धार करेगा। यह शोभासम्पन्न बालक अपने भाइयोंके साथ तीन अश्वमेधयज्ञोंका अनुष्ठान करेगा’ ।। ४-५ ।।

स सत्यसंधो बीभत्सुः सव्यसाची यथाच्युत ।
तथा त्वमेव जानासि बलवन्तं दुरासदम् ।। ६ ।।

अच्युत! सव्यसाची अर्जुन जैसा सत्यप्रतिज्ञ है तथा उसमें जितना बल एवं दुर्जय शक्ति है, उसे तुम्हीं जानते हो ।। ६ ।।

तथा तदस्तु दाशार्ह यथा वागभ्यभाषत ।
धर्मश्चेदस्ति वार्ष्णेय तथा सत्यं भविष्यति ।। ७ ।।

दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्ण! आकाशवाणीने जैसा कहा है, वैसा ही हो, यही मेरी भी इच्छा है। वृष्णिनन्दन! यदि धर्मकी सत्ता है तो वह सब उसी रूपमें सत्य होगा ।।

त्वं चापि तत् तथा कृष्ण सर्वं सम्पादयिष्यसि ।
नाहं तदभ्यसूयामि यथा वागभ्यभाषत ।। ८ ।।

श्रीकृष्ण! तुम स्वयं भी वह सब कुछ उसी रूपमें पूर्ण करोगे। आकाशवाणीने जैसा कहा है, उसमें मैं किसी दोषकी उद्भावना नहीं करती हूँ ।। ८ ।।

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः ।
एतद् धनंजयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः ।। ९ ।।
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ।
न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः ।। १० ।।

मैं तो उस महान् धर्मको नमस्कार करती हूँ, क्योंकि धर्म ही समस्त प्रजाको धारण करता है। तुम अर्जुनसे तथा युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले भीमसेनसे भी जाकर कहना—‘क्षत्राणी जिसके लिये पुत्रको जन्म देती है, उसका यह उपयुक्त अवसर आ गया है। श्रेष्ठ मनुष्य किसीसे वैर ठन जानेपर उत्साहहीन नहीं होते’ ।। ९-१० ।।

विदिता ते सदा बुद्धिर्भीमस्य न स शाम्यति ।
यावदन्तं न कुरुते शत्रूणां शत्रुकर्शन ।। ११ ।।

शत्रुदमन श्रीकृष्ण! तुम्हें भीमसेनका विचार तो सदासे ज्ञात ही है, वह जबतक शत्रुओंका अन्त नहीं कर लेगा, तबतक शान्त नहीं होगा ।। ११ ।।

सर्वधर्मविशेषज्ञां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ।
ब्रूया माधव कल्याणीं कृष्ण कृष्णां यशस्विनीम् ।। १२ ।।
युक्तमेतन्महाभागे कुले जाते यशस्विनि ।
यन्मे पुत्रेषु सर्वेषु यथावत् त्वमवर्तिथाः ।। १३ ।।

माधव! श्रीकृष्ण! तुम सब धर्मोंको विशेषरूपसे जाननेवाली महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू कल्याणमयी, यशस्विनी द्रौपदीसे कहना—‘बेटी! तू परम सौभाग्यशाली यशस्वी कुलमें उत्पन्न हुई है। तूने मेरे सभी पुत्रोंके साथ जो धर्मानुसार यथोचित बर्ताव किया है, यह तेरे ही योग्य है’ ।। १२-१३ ।।

माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ क्षत्रधर्मरतावुभौ ।
विक्रमेणार्जितान् भोगान् वृणीतं जीवितादपि ।। १४ ।।
विक्रमाधिगता ह्यर्थाः क्षत्रधर्मेण जीवतः ।
मनो मनुष्यस्य सदा प्रीणन्ति पुरुषोत्तम ।। १५ ।।

पुरुषोत्तम! तदनन्तर क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले दोनों माद्रीकुमारोंसे भी मेरा यह संदेश कहना—‘वीरो! तुम प्राणोंकी बाजी लगाकर भी अपने पराक्रमसे प्राप्त हुए भोगोंका

ही उपभोग करो। क्षत्रियधर्मसे निर्वाह करनेवाले मनुष्यके मनको पराक्रमद्वारा प्राप्त किये हुए पदार्थ ही सदा संतुष्ट रखते हैं ।। १४-१५ ।।

यच्च वः प्रेक्षमाणानां सर्वधर्मोपचायिनाम् ।
पाञ्चाली परुषाण्युक्ता को नु तत् क्षन्तुमर्हति ।। १६ ।।

'पाण्डवो! सब प्रकारसे धर्मकी वृद्धि करनेवाले तुम सब लोगोंके देखते-देखते पांचालराजकुमारी द्रौपदीको जो कटुवचन सुनाये गये हैं, उन्हें कौन वीर क्षमा कर सकता है?' ।। १६ ।।

न राज्यहरणं दुःखं द्यूते चापि पराजयः ।
प्रव्राजनं सुतानां वा न मे तद् दुःखकारणम् ।। १७ ।।
यत्र सा बृहती श्यामा सभायां रुदती तदा ।
अश्रौषीत् परुषा वाचस्तन्मे दुःखतरं महत् ।। १८ ।।

श्रीकृष्ण! मुझे राज्यके छिन जानेका उतना दुःख नहीं है। जुएमें हारने और पुत्रोंके वनवास होनेका भी मेरे मनमें उतना महान् दुःख नहीं है, परंतु भरी सभामें मेरी सुन्दरी युवती पुत्रवधू द्रौपदीने रोते हुए जो दुर्योधनके कटुवचन सुने थे, वही मेरे लिये महान् दुःखका कारण बन गया है ।। १७-१८ ।।

स्त्रीधर्मिणी वरारोहा क्षत्रधर्मरता सदा ।
नाध्यगच्छत् तदा नाथं कृष्णा नाथवती सती ।। १९ ।।

क्षत्रियधर्ममें सदा तत्पर रहनेवाली मेरी सर्वांग-सुन्दरी सती-साध्वी बहू कृष्णा उन दिनों रजस्वला अवस्थामें थी। वह सब प्रकारसे सनाथ थी, तो भी उस दिन कौरवसभामें उसे कोई रक्षक नहीं मिला (वह अनाथ-सी रोती हुई अपमान सह रही थी) ।। १९ ।।

तं वै ब्रूहि महाबाहो सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
अर्जुनं पुरुषव्याघ्रं द्रौपद्याः पदवीं चर ।। २० ।।

महाबाहो! समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पुरुषसिंह अर्जुनसे कहना कि 'तुम द्रौपदीके इच्छित पथपर चलो' ।। २० ।।

विदितं हि तवात्यन्तं क्रुद्धाविव यमान्तकौ ।
भीमार्जुनौ नयेतां हि देवानपि परां गतिम् ।। २१ ।।

श्रीकृष्ण! तुम तो अच्छी तरह जानते ही हो कि भीमसेन और अर्जुन कुपित हो जायँ तो वे यमराज तथा अन्तकके समान भयंकर हो जाते हैं और देवताओंको भी यमलोक पहुँचा सकते हैं ।। २१ ।।

तयोश्चैतदवज्ञानं यत् सा कृष्णा सभागता ।
दुःशासनश्च यद् भीमं कटुकान्यभ्यभाषत ।। २२ ।।
पश्यतां कुरुवीराणां तच्च संस्मारयेः पुनः ।

जुएके समय द्रौपदीको जो सभामें जाना पड़ा और कौरव वीरोंके सामने ही दुर्योधन और दु:शासनने जो उसे गालियाँ दीं, वह सब भीमसेन और अर्जुनका ही तिरस्कार है। मैं पुनः उसकी याद दिला देती हूँ ।। २२ १/२ ।।

पाण्डवान् कुशलं पृच्छेः सपुत्रान् कृष्णया सह ।। २३ ।।

मां च कुशलिनीं ब्रूयास्तेषु भूयो जनार्दन ।

अरिष्टं गच्छ पन्थानं पुत्रान् मे प्रतिपालय ।। २४ ।।

जनार्दन! तुम मेरी ओरसे द्रौपदी और पुत्रोंसहित पाण्डवोंसे कुशल पूछना और फिर मुझे भी सकुशल बताना। जाओ, तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो, मेरे पुत्रोंकी रक्षा करना ।। २३-२४ ।।

वैशम्पायन उवाच

अभिवाद्याथ तां कृष्णः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।

निश्चक्राम महाबाहुः सिंहखेलगतिस्ततः ।। २५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने कुन्तीदेवीको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा भी की और फिर सिंहके समान मस्तानी चालसे वहाँसे निकल गये ।। २५ ।।

ततो विसर्जयामास भीष्मादीन् कुरुपुङ्गवान् ।

आरोप्याथ रथे कर्णं प्रायात् सात्यकिना सह ।। २६ ।।

फिर भीष्म आदि प्रधान कुरुवंशियोंको उन्होंने विदा कर दिया और कर्णको रथपर बिठाकर सात्यकिके साथ वहाँसे प्रस्थान किया ।। २६ ।।

ततः प्रयाते दाशार्हे कुरवः संगता मिथः ।

जजल्पुर्महदाश्चर्यं केशवे परमाद्भुतम् ।। २७ ।।

दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णके चले जानेपर सब कौरव आपसमें मिले और उनके अत्यन्त अद्भुत एवं महान् आश्चर्यजनक बल-वैभवकी चर्चा करने लगे ।। २७ ।।

प्रमूढा पृथिवी सर्वा मृत्युपाशवशीकृता ।

दुर्योधनस्य बालिश्यान्नैतदस्तीति चाब्रुवन् ।। २८ ।।

वे बोले—‘यह सारी पृथ्वी मृत्युपाशमें आबद्ध हो मोहाच्छन्न हो गयी है। जान पड़ता है, दुर्योधनकी मूर्खतासे इसका विनाश हो जायगा’ ।। २८ ।।

ततो निर्याय नगरात् प्रययौ पुरुषोत्तमः ।

मन्त्रयामास च तदा कर्णेन सुचिरं सह ।। २९ ।।

उधर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जब नगरसे निकलकर उपप्लव्यकी ओर चले, तब उन्होंने दीर्घकालतक कर्णके साथ मन्त्रणा की ।। २९ ।।

विसर्जयित्वा राधेयं सर्वयादवनन्दनः ।

ततो जवेन महता तूर्णमश्वानचोदयत् ।। ३० ।।

फिर राधानन्दन कर्णको विदा करके सम्पूर्ण यदुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीकृष्णने तुरंत ही बड़े वेगसे अपने रथके घोड़े हँकवाये ।। ३० ।।

ते पिबन्त इवाकाशं दारुकेण प्रचोदिताः ।

हया जग्मुर्महावेगा मनोमारुतरंहसः ।। ३१ ।।

दारुकके हाँकनेपर वे महान् वेगशाली अश्व मन और वायुके समान तीव्र गतिसे आकाशको पीते हुए-से चले ।। ३१ ।।

ते व्यतीत्य महाध्वानं क्षिप्रं श्येना इवाशुगाः ।

उच्चैर्जग्मुरुपप्लव्यं शार्ङ्गधन्वानमावहन् ।। ३२ ।।

उन्होंने शीघ्रगामी बाज पक्षीकी भाँति उस विशाल पथको तुरंत ही तै कर लिया और शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको उपप्लव्य नगरमें पहुँचा दिया ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीवाक्ये सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्तीवाक्यविषयक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३७ ।।

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और द्रोणका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

कुन्त्यास्तु वचनं श्रुत्वा भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमूचतुः शासनातिगम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीका कथन सुनकर महारथी भीष्म और द्रोणने अपनी आज्ञाका उल्लंघन करनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा— ।। १ ।।

श्रुतं ते पुरुषव्याघ्र कुन्त्याः कृष्णस्य संनिधौ ।
वाक्यमर्थवदत्युग्रमुक्तं धर्म्यमनुत्तमम् ।। २ ।।

'पुरुषसिंह! कुन्तीने श्रीकृष्णके समीप जो अर्थयुक्त, धर्मसंगत, परम उत्तम एवं अत्यन्त भयंकर बात कही है, उसे तुमने भी सुना ही होगा ।। २ ।।

तत् करिष्यन्ति कौन्तेया वासुदेवस्य सम्मतम् ।
न हि ते जातु शाम्येरन्नृते राज्येन कौरव ।। ३ ।।

'कुरुनन्दन! कुन्तीके पुत्र श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार वह सब कार्य करेंगे। अब राज्य लिये बिना वे कदापि शान्त नहीं रह सकते ।। ३ ।।

क्लेशिता हि त्वया पार्था धर्मपाशसितास्तदा ।
सभायां द्रौपदी चैव तैश्च तन्मर्षितं तव ।। ४ ।।

'तुमने द्यूतक्रीड़ाके समय धर्मके बन्धनमें बँधे हुए पाण्डवोंको तथा कौरवसभामें द्रौपदीको भी भारी क्लेश पहुँचाया था; किंतु उन्होंने तुम्हारा वह सब अपराध चुपचाप सह लिया ।। ४ ।।

कृतास्त्रं ह्यर्जुनं प्राप्य भीमं च कृतनिश्चयम् ।
गाण्डीवं चेषुधी चैव रथं च ध्वजमेव च ।। ५ ।।
नकुलं सहदेवं च बलवीर्यसमन्वितौ ।
सहायं वासुदेवं च न क्षंस्यति युधिष्ठिरः ।। ६ ।।

'अब अस्त्रविद्यामें पारंगत अर्जुन और युद्धका दृढ़ निश्चय रखनेवाले भीमसेनको पाकर गाण्डीव धनुष, अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस, दिव्य रथ और ध्वजको हस्तगत करके, बल और पराक्रमसे सम्पन्न नकुल और सहदेवको युद्धके लिये उद्यत देखकर तथा भगवान् श्रीकृष्णको भी अपनी सहायताके रूपमें पाकर युधिष्ठिर तुम्हारे पूर्व अपराधोंको क्षमा नहीं करेंगे ।। ५-६ ।।

प्रत्यक्षं ते महाबाहो यथा पार्थेन धीमता ।
विराटनगरे पूर्वं सर्वे स्म युधि निर्जिताः ।। ७ ।।

'महाबाहो! थोड़े ही दिनों पहलेकी बात है; परम बुद्धिमान् अर्जुनने विराटनगरके युद्धमें हम सब लोगोंको परास्त कर दिया था और वह सब घटना तुम्हारी आँखोंके सामने घटित हुई थी ।। ७ ।।

दानवा घोरकर्माणो निवातकवचा युधि ।
रौद्रमस्त्रं समादाय दग्धा वानरकेतुना ।। ८ ।।

'कपिध्वज अर्जुनने युद्धमें भयंकर कर्म करनेवाले निवातकवच नामक दानवोंको रुद्रदेवतासम्बन्धी पाशुपत अस्त्र लेकर दग्ध कर डाला था ।। ८ ।।

कर्णप्रभृतयश्चेमे त्वं चापि कवची रथी ।
मोक्षितो घोषयात्रायां पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।। ९ ।।
प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ।

'घोषयात्राके समय ये कर्ण आदि योद्धा तुम्हारे साथ थे। तुम स्वयं भी रथ और कवच आदिसे सम्पन्न थे, तथापि अर्जुनने ही तुम्हें गन्धर्वोंके हाथसे छुड़ाया था। उनकी शक्तिको समझनेके लिये यही उदाहरण पर्याप्त होगा। अतः भरतश्रेष्ठ! तुम अपने ही भाई पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ।। ९ १/२ ।।

रक्षेमां पृथिवीं सर्वां मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गताम् ।। १० ।।
ज्येष्ठो भ्राता धर्मशीलो वत्सलः श्लक्ष्णवाक् कविः ।
तं गच्छ पुरुषव्याघ्रं व्यपनीयेह किल्बिषम् ।। ११ ।।

'यह सारी पृथ्वी मौतकी दाढ़ोंके बीचमें जा पहुँची है। तुम संधिके द्वारा इसकी रक्षा करो। तुम्हारे बड़े भाई युधिष्ठिर धर्मात्मा, दयालु, मधुरभाषी और विद्वान् हैं। तुम अपने मनका सारा कलुष यहीं धो-बहाकर उन पुरुषसिंह युधिष्ठिरकी शरणमें जाओ ।।

दृष्टश्च त्वं पाण्डवेन व्यपनीतशरासनः ।
प्रशान्तभृकुटिः श्रीमान् कृता शान्तिः कुलस्य नः ।। १२ ।।

'जब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर यह देख लेंगे कि तुमने धनुष उतार दिया है और तुम्हारी टेढ़ी भौंहें शान्त एवं सीधी हो गयी हैं तथा तुम क्रोध त्यागकर अपनी सहज शोभासे सम्पन्न हो रहे हो, तब हमें विश्वास हो जायगा कि तुमने हमारे कुलमें शान्ति स्थापित कर दी ।। १२ ।।

तमभ्येत्य सहामात्यः परिष्वज्य नृपात्मजम् ।
अभिवादय राजानं यथापूर्वमरिंदम ।। १३ ।।

'शत्रुदमन! तुम अपने मन्त्रियोंके साथ पाण्डुकुमार राजा युधिष्ठिरके पास जाओ और पहलेहीकी भाँति उनके हृदयसे लगकर उन्हें प्रणाम करो ।। १३ ।।

अभिवादयमानं त्वां पाणिभ्यां भीमपूर्वजः ।
प्रतिगृह्णातु सौहार्दात् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।। १४ ।।

'भीमके बड़े भाई कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर तुम्हें प्रणाम करते देख सौहार्दवश अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर हृदयसे लगा लें ।। १४ ।।

सिंहस्कन्धोरुबाहुस्त्वां वृत्तायतमहाभुजः ।
परिष्वजतु बाहुभ्यां भीमः प्रहरतां वरः ।। १५ ।।

'जिनके कंधे सिंहके समान और भुजाएँ बड़ी, गोलाकार तथा अधिक मोटी हैं, वे योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमसेन भी तुम्हें अपनी दोनों भुजाओंमें भरकर छातीसे चिपका लें ।।

कम्बुग्रीवो गुडाकेशस्ततस्त्वां पुष्करेक्षणः ।
अभिवादयतां पार्थः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।। १६ ।।

'शंखके समान ग्रीवा और कमलसदृश नेत्रोंवाले निद्राविजयी कुन्तीपुत्र धनंजय तुम्हें हाथ जोड़कर प्रणाम करें ।। १६ ।।

आश्विनेयौ नरव्याघ्रौ रूपेणाप्रतिमौ भुवि ।
तौ च त्वां गुरुवत् प्रेम्णा पूजया प्रत्युदीयताम् ।। १७ ।।

'इस भूतलपर जिनके रूपकी कहीं तुलना नहीं है, वे अश्विनीकुमारोंके पुत्र नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव तुम्हारे प्रति गुरुजनोचित प्रेम और आदरका भाव लेकर तुम्हारी सेवामें उपस्थित हों ।। १७ ।।

मुञ्चन्त्वानन्दजाश्रूणि दाशार्हप्रमुखा नृपाः ।
संगच्छ भ्रातृभिः सार्धं मानं संत्यज्य पार्थिव ।। १८ ।।

'भूपाल! तुम अभिमान छोड़कर अपने उन बिछुड़े हुए भाइयोंसे मिल जाओ और यह अपूर्व मिलन देखकर श्रीकृष्ण आदि सब नरेश अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहावें ।। १८ ।।

प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां ततस्त्वं भ्रातृभिः सह ।
समालिङ्ग्य च हर्षेण नृपा यान्तु परस्परम् ।। १९ ।।

'तदनन्तर तुम अपने भाइयोंके साथ इस सारी पृथ्वीका शासन करो और ये राजा लोग एक-दूसरेसे मिल-जुलकर हर्षपूर्वक यहाँसे पधारें ।। १९ ।।

अलं युद्धेन राजेन्द्र सुहृदां शृणु वारणम् ।
ध्रुवं विनाशो युद्धे हि क्षत्रियाणां प्रदृश्यते ।। २० ।।

'राजेन्द्र! इस युद्धसे तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। तुम्हारे हितैषी सुहृद् जो तुम्हें युद्धसे रोकते हैं, उनकी वह बात सुनो और मानो; क्योंकि युद्ध छिड़ जानेपर क्षत्रियोंका निश्चय ही विनाश दिखायी दे रहा है ।। २० ।।

ज्योतींषि प्रतिकूलानि दारुणा मृगपक्षिणः ।
उत्पाता विविधा वीर दृश्यन्ते क्षत्रनाशनाः ।। २१ ।।

'वीर! ग्रह और नक्षत्र प्रतिकूल हो रहे हैं। पशु और पक्षी भयंकर शब्द कर रहे हैं तथा नाना प्रकारके ऐसे उत्पात (अपशकुन) दिखायी देते हैं, जो क्षत्रियोंके विनाशकी सूचना देते हैं ।। २१ ।।

विशेषत इहास्माकं निमित्तानि निवेशने ।

उल्काभिर्हि प्रदीप्ताभिर्बाध्यते पृतना तव ।। २२ ।।

'विशेषतः यहाँ हमारे घरमें बुरे निमित्त दृष्टिगोचर होते हैं। जलती हुई उल्काएँ गिरकर तुम्हारी सेनाको पीड़ित कर रही हैं ।। २२ ।।

वाहनान्यप्रहृष्टानि रुदन्तीव विशाम्पते ।
गृध्रास्ते पर्युपासन्ते सैन्यानि च समन्ततः ।। २३ ।।

'प्रजानाथ! हमारे सारे वाहन अप्रसन्न एवं रोते-से दिखायी देते हैं। गीध तुम्हारी सेनाओंको चारों ओरसे घेरकर बैठते हैं ।। २३ ।।

नगरं न यथापूर्वं तथा राजनिवेशनम् ।
शिवाश्चाशिवनिर्घोषा दीप्तां सेवन्ति वै दिशम् ।। २४ ।।

'इस नगर तथा राजभवनकी शोभा अब पहले-जैसी नहीं रही। सारी दिशाएँ जलती-सी प्रतीत होती हैं और उनमें अमंगलसूचक शब्द करती हुई गीदड़ियाँ फिर रही हैं ।। २४ ।।

कुरु वाक्यं पितुर्मातुरस्माकं च हितैषिणाम् ।
त्वय्यायत्तो महाबाहो शमो व्यायाम एव च ।। २५ ।।

'महाबाहो! तुम पिता, माता तथा हम हितैषियों-का कहना मानो। अब शान्तिस्थापन और युद्ध दोनों तुम्हारे ही अधीन हैं ।। २५ ।।

न चेत् करिष्यसि वचः सुहृदामरिकर्शन ।
तप्स्यसे वाहिनीं दृष्ट्वा पार्थबाणप्रपीडिताम् ।। २६ ।।

'शत्रुसूदन! यदि तुम सुहृदोंकी बातें नहीं मानोगे तो अपनी सेनाको अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होती देखकर पछताओगे ।। २६ ।।

भीमस्य च महानादं नदतः शुष्मिणो रणे ।
श्रुत्वा स्मर्तासि मे वाक्यं गाण्डीवस्य च निःस्वनम् ।
यद्येतदपसव्यं ते वचो मम भविष्यति ।। २७ ।।

'यदि हमारी ये बातें तुम्हें विपरीत जान पड़ती हैं तो जिस समय युद्धमें गर्जना करनेवाले महाबली भीमसेनका विकट सिंहनाद और अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी टंकार सुनोगे, उस समय तुम्हें ये बातें याद आयेंगी' ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म-द्रोण-वाक्यविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३८ ।।

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मसे वार्तालाप आरम्भ करके द्रोणाचार्यका दुर्योधनको पुनः संधिके लिये समझाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु विमनास्तिर्यग्दृष्टिरधोमुखः ।
संहत्य च भ्रुवोर्मध्यं न किंचिद् व्याजहार ह ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्म और द्रोणाचार्यके इस प्रकार कहनेपर दुर्योधनका मन उदास हो गया। उसने टेढ़ी आँखोंसे देखकर और भौंहोंको बीचसे सिकोड़कर मुँह नीचा कर लिया। वह उन दोनोंसे कुछ बोला नहीं ।। १ ।।

तं वै विमनसं दृष्ट्वा सम्प्रेक्ष्यान्योन्यमन्तिकात् ।
पुनरेवोत्तरं वाक्यमुक्तवन्तौ नरर्षभौ ।। २ ।।

उसे उदास देख नरश्रेष्ठ भीष्म और द्रोण एक-दूसरेकी ओर देखते हुए उसके निकट ही पुनः इस प्रकार बात करने लगे ।। २ ।।

भीष्म उवाच

शुश्रूषुमनसूयं च ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम् ।
प्रतियोत्स्यामहे पार्थमतो दुःखतरं नु किम् ।। ३ ।।

भीष्म बोले—अहो! जो गुरुजनोंकी सेवाके लिये उत्सुक, किसीके भी दोष न देखनेवाले, ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी हैं, उन्हीं युधिष्ठिरसे हमें युद्ध करना पड़ेगा; इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या होगी? ।। ३ ।।

द्रोण उवाच

अश्वत्थाम्नि यथा पुत्रे भूयो मम धनंजये ।
बहुमानः परो राजन् संनतिश्च कपिध्वजे ।। ४ ।।

द्रोणाचार्यने कहा—राजन्! मेरा अपने पुत्र अश्वत्थामाके प्रति जैसा आदर है, उससे भी अधिक अर्जुनके प्रति है। कपिध्वज अर्जुनमें मेरे प्रति बहुत विनयभाव है ।। ४ ।।

तं च पुत्रात् प्रियतमं प्रतियोत्स्ये धनंजयम् ।
क्षात्रं धर्ममनुष्ठाय धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ।। ५ ।।

मेरे पुत्रसे भी बढ़कर प्रियतम उन्हीं अर्जुनसे मुझे क्षत्रियधर्मका आश्रय लेकर युद्ध करना पड़ेगा। क्षात्र-वृत्तिको धिक्कार है! ।। ५ ।।

यस्य लोके समो नास्ति कश्चिदन्यो धनुर्धरः ।
मत्प्रसादात् स बीभत्सुः श्रेयानन्यैर्धनुर्धरैः ।। ६ ।।

मेरी ही कृपासे अर्जुन अन्य धनुर्धरोंसे श्रेष्ठ हो गये हैं। इस समय जगत्‌में उनके समान दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है ।। ६ ।।

मित्रध्रुग् दुष्टभावश्च नास्तिकोऽथानृजुः शठः ।
न सत्सु लभते पूजां यज्ञे मूर्ख इवागतः ।। ७ ।।

जैसे यज्ञमें आया हुआ मूर्ख ब्राह्मण प्रतिष्ठा नहीं पाता, उसी प्रकार जो मित्रद्रोही, दुर्भावनायुक्त, नास्तिक, कुटिल और शठ है, वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता है ।। ७ ।।

वार्यमाणोऽपि पापेभ्यः पापात्मा पापमिच्छति ।
चोद्यमानोऽपि पापेन शुभात्मा शुभमिच्छति ।। ८ ।।

पापात्मा मनुष्यको पापोंसे रोका जाय तो भी वह पाप ही करना चाहता है और जिसका हृदय शुभ संकल्पसे युक्त है, वह पुण्यात्मा पुरुष किसी पापीके द्वारा पापके लिये प्रेरित होनेपर भी शुभ कर्म करनेकी ही इच्छा रखता है ।। ८ ।।

मिथ्योपचरिता ह्येते वर्तमाना ह्यनु प्रिये ।
अहितत्वाय कल्पन्ते दोषा भरतसत्तम ।। ९ ।।

भरतश्रेष्ठ! तुमने पाण्डवोंके साथ सदा मिथ्या बर्ताव—छल-कपट ही किया है तो भी ये सदा तुम्हारा प्रिय करनेमें ही लगे रहे हैं। अतः तुम्हारे ये ईर्ष्या-द्वेष आदि दोष तुम्हारा ही अहित करनेवाले होंगे ।। ९ ।।

त्वमुक्तः कुरुवृद्धेन मया च विदुरेण च ।
वासुदेवेन च तथा श्रेयो नैवाभिमन्यसे ।। १० ।।

कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भीष्मजीने, मैंने, विदुरजीने तथा भगवान् श्रीकृष्णने भी तुमसे तुम्हारे कल्याणकी ही बात बतायी है; तथापि तुम उसे मान नहीं रहे हो ।। १० ।।

अस्ति मे बलमित्येव सहसा त्वं तितीर्षसि ।
सग्राहनक्रमकरं गङ्गावेगमिवोष्णगे ।। ११ ।।

जैसे कोई अविवेकी मनुष्य वर्षाकालमें बढ़े हुए ग्राह और मकर आदि जलजन्तुओंसे युक्त गंगाजीके वेगको दोनों बाहुओंसे तैरना चाहता हो, उसी प्रकार तुम मेरे पास बल है, ऐसा समझकर पाण्डव-सेनाको सहसा लाँघ जानेकी इच्छा रखते हो ।। ११ ।।

वास एव यथा त्यक्तं प्रावृण्वानोऽभिमन्यसे ।
स्रजं त्यक्तामिव प्राप्य लोभाद् यौधिष्ठिरीं श्रियम् ।। १२ ।।

जैसे कोई दूसरेका छोड़ा हुआ वस्त्र पहन ले और उसे अपना मानने लगे, उसी प्रकार तुम त्यागी हुई मालाकी भाँति युधिष्ठिरकी राजलक्ष्मीको पाकर अब उसे लोभवश अपनी समझते हो ।। १२ ।।

द्रौपदीसहितं पार्थं सायुधैर्भ्रातृभिर्वृतम् ।
वनस्थमपि राज्यस्थः पाण्डवं को विजेष्यति ।। १३ ।।

अपने अस्त्र-शस्त्रधारी भाइयोंसे घिरे हुए द्रौपदी-सहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर वनमें रहें तो भी उन्हें राज्यसिंहासनपर बैठा हुआ कौन नरेश युद्धमें जीत सकेगा? ।। १३ ।।

निदेशे यस्य राजानः सर्वे तिष्ठन्ति किङ्कराः ।
तमैलविलमासाद्य धर्मराजो व्यराजत ।। १४ ।।

समस्त राजा जिनकी आज्ञामें किंकरकी भाँति खड़े रहते हैं, उन्हीं राजराज कुबेरसे मिलकर धर्मराज युधिष्ठिर उनके साथ विराजमान हुए थे ।। १४ ।।

कुबेरसदनं प्राप्य ततो रत्नान्यवाप्य च ।
स्फीतमाक्रम्य ते राष्ट्रं राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः ।। १५ ।।

कुबेरके भवनमें जाकर उनसे भाँति-भाँतिके रत्न लेकर अब पाण्डव तुम्हारे समृद्धिशाली राष्ट्रपर आक्रमण करके अपना राज्य वापस लेना चाहते हैं ।। १५ ।।

दत्तं हुतमधीतं च ब्राह्मणास्तर्पिता धनैः ।
आवयोर्गतमायुश्च कृतकृत्यौ च विद्धि नौ ।। १६ ।।

हम दोनोंने तो दान, यज्ञ और स्वाध्याय कर लिये। धनसे ब्राह्मणोंको तृप्त कर लिया। अब हमारी आयु समाप्त हो चुकी है, अतः हमें तो तुम कृतकृत्य ही समझो ।। १६ ।।

त्वं तु हित्वा सुखं राज्यं मित्राणि च धनानि च ।
विग्रहं पाण्डवैः कृत्वा महद् व्यसनमाप्स्यसि ।। १७ ।।

परंतु तुम पाण्डवोंसे युद्ध ठानकर सुख, राज्य, मित्र और धन सब कुछ खोकर बड़े भारी संकटमें पड़ जाओगे ।। १७ ।।

द्रौपदी यस्य चाशास्ते विजयं सत्यवादिनी ।
तपोघोरव्रता देवी कथं जेष्यसि पाण्डवम् ।। १८ ।।

तपस्या एवं घोर व्रतका पालन करनेवाली सत्यवादिनी देवी द्रौपदी जिनकी विजयकी कामना करती है, उन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको तुम कैसे जीत सकोगे? ।। १८ ।।

मन्त्री जनार्दनो यस्य भ्राता यस्य धनंजयः ।
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठः कथं जेष्यसि पाण्डवम् ।। १९ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण जिनके मन्त्री और समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन जिनके भाई हैं, उन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको तुम कैसे जीतोगे? ।। १९ ।।

सहाया ब्राह्मणा यस्य धृतिमन्तो जितेन्द्रियाः ।
तमुग्रतपसं वीरं कथं जेष्यसि पाण्डवम् ।। २० ।।

धैर्यवान् और जितेन्द्रिय ब्राह्मण जिनके सहायक हैं, उन उग्र तपस्वी वीर पाण्डवको तुम कैसे जीत सकोगे? ।।

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि यत् कार्यं भूतिमिच्छता ।
सुहृदा मज्जमानेषु सुहृत्सु व्यसनार्णवे ।। २१ ।।

जिस समय अपने बहुत-से सुहृद् संकटके समुद्रमें डूब रहे हों, उस समय कल्याणकी इच्छा रखनेवाले एक सुहृद्का जो कर्तव्य है—उस अवसर-पर उसे जैसी बात कहनी चाहिये, वह यद्यपि पहले कही जा चुकी है, तथापि मैं उसे दुबारा कहूँगा ।। २१ ।।

अलं युद्धेन तैर्वीरैः शाम्य त्वं कुरुवृद्धये ।

मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ।। २२ ।।

राजन्! युद्धसे तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। तुम कुरुकुलकी वृद्धिके लिये उन वीर पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। पुत्रों, मन्त्रियों तथा सेनाओंसहित यमलोकमें जानेकी तैयारी न करो ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १३९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म-द्रोणवाक्यविषयक एक सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३९ ।।

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका कर्णको पाण्डवपक्षमें आ जानेके लिये समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

राजपुत्रैः परिवृतस्तथा भृत्यैश्च संजय ।
उपारोप्य रथे कर्णं निर्यातो मधुसूदनः ।। १ ।।
किमब्रवीदमेयात्मा राधेयं परवीरहा ।
कानि सान्त्वानि गोविन्दः सूतपुत्रे प्रयुक्तवान् ।। २ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! राजपुत्रों तथा सेवकोंसे घिरे हुए, शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले, अप्रमेयस्वरूप, भगवान् श्रीकृष्ण जब राधानन्दन कर्णको रथपर बिठाकर हस्तिनापुरसे बाहर निकल गये, तब उन्होंने उससे क्या कहा? गोविन्दने सूतपुत्र कर्णको क्या सान्त्वनाएँ दीं? ।।

उद्यन्मेघस्वनः काले कृष्णः कर्णमथाब्रवीत् ।
मृदु वा यदि वा तीक्ष्णं तन्ममाचक्ष्व संजय ।। ३ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कर्णको समझा रहे हैं

संजय! मेघके समान गम्भीर स्वरसे बोलनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने उस समय कर्णसे जो मधुर अथवा कठोर वचन कहा हो—वह सब मुझे बताओ ।। ३ ।।

संजय उवाच

आनुपूर्व्येण वाक्यानि तीक्ष्णानि च मृदूनि च ।
प्रियाणि धर्मयुक्तानि सत्यानि च हितानि च ।। ४ ।।
हृदयग्रहणीयानि राधेयं मधुसूदनः ।
यान्यब्रवीदमेयात्मा तानि मे शृणु भारत ।। ५ ।।

संजय बोले—भारत! अप्रमेयस्वरूप मधुसूदन श्रीकृष्णने राधानन्दन कर्णसे जो तीक्ष्ण, मधुर, प्रिय, धर्मसम्मत, सत्य, हितकर एवं हृदयग्राह्य बातें क्रमशः कही थीं, उन सबको आप मुझसे सुनिये ।। ४-५ ।।

वासुदेव उवाच

उपासितास्ते राधेय ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
तत्त्वार्थं परिपृष्टाश्च नियतेनानसूयया ।। ६ ।।

श्रीकृष्णने कहा—राधानन्दन! तुमने वेदोंके पारंगत ब्राह्मणोंकी उपासना की है। तत्त्वज्ञानके लिये संयम-नियमसे रहकर दोष-दृष्टिका परित्याग करके उन ब्राह्मणोंसे अपनी शंकाएँ पूछी हैं ।। ६ ।।

त्वमेव कर्ण जानासि वेदवादान् सनातनान् ।
त्वमेव धर्मशास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठितः ।। ७ ।।

कर्ण! सनातन वैदिक सिद्धान्त क्या है? इसे तुम अच्छी तरह जानते हो। धर्मशास्त्रोंके सूक्ष्म विषयोंके भी तुम परिनिष्ठित विद्वान् हो ।। ७ ।।

कानीनश्च सहोढश्च कन्यायां यश्च जायते ।
वोढारं पितरं तस्य प्राहुः शास्त्रविदो जनाः ।। ८ ।।

कर्ण! कन्याके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसके दो भेद बताये जाते हैं—कानीन और सहोढ। (जो विवाहसे पहले उत्पन्न होता है, वह कानीन है और जो विवाहके पहले गर्भमें आकर विवाहके बाद उत्पन्न होता है, वह सहोढ कहलाता है।) वैसे पुत्रकी माताका जिसके साथ विवाह होता है, शास्त्रज्ञोंने उसीको उसका पिता बताया है ।। ८ ।।

सोऽसि कर्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽसि धर्मतः ।
निग्रहाद् धर्मशास्त्राणामेहि राजा भविष्यसि ।। ९ ।।

कर्ण! तुम्हारा जन्म भी इसी प्रकार हुआ है; (तुम कुन्तीके ही कन्यावस्थामें उत्पन्न हुए पुत्र हो;) अतः तुम भी धर्मानुसार पाण्डुके ही पुत्र हो। इसलिये आओ, धर्मशास्त्रोंके निश्चयके अनुसार तुम्हीं राजा होओगे ।। ९ ।।

पितृपक्षे च ते पार्था मातृपक्षे च वृष्णयः ।

द्वौ पक्षावभिजानीहि त्वमेतौ पुरुषर्षभ ।। १० ।।

पिताके पक्षमें कुन्तीके सभी पुत्र तुम्हारे सहायक हैं और मातृपक्षमें समस्त वृष्णिवंशी तुम्हारे साथ हैं। पुरुषश्रेष्ठ! तुम अपने इन दोनों पक्षोंको जान लो ।। १० ।।

मया सार्धमितो यातमद्य त्वां तात पाण्डवाः ।
अभिजानन्तु कौन्तेयं पूर्वजातं युधिष्ठिरात् ।। ११ ।।

तात! मेरे साथ यहाँसे चलनेपर आज पाण्डवोंको तुम्हारे विषयमें यह पता चल जाय कि तुम कुन्तीके ही पुत्र हो और युधिष्ठिरसे भी पहले तुम्हारा जन्म हुआ है ।। ११ ।।

पादौ तव ग्रहीष्यन्ति भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
द्रौपदेयास्तथा पञ्च सौभद्रश्चापराजितः ।। १२ ।।

पाँचों भाई पाण्डव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा किसीसे परास्त न होनेवाला सुभद्राकुमार वीर अभिमन्यु—ये सभी तुम्हारे चरणोंका स्पर्श करेंगे ।। १२ ।।

राजानो राजपुत्राश्च पाण्डवार्थे समागताः ।
पादौ तव ग्रहीष्यन्ति सर्वे चान्धकवृष्णयः ।। १३ ।।

इसके सिवा, पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हुए समस्त राजा, राजकुमार तथा अन्धक और वृष्णिवंशके योद्धा भी तुम्हारे चरणोंमें नतमस्तक होंगे ।। १३ ।।

हिरण्मयांश्च ते कुम्भान् राजतान् पार्थिवांस्तथा ।
ओषध्यः सर्वबीजानि सर्वरत्नानि वीरुधः ।। १४ ।।
राजन्या राजकन्याश्चाप्यानयन्त्वाभिषेचनम् ।। १५ ।।

बहुत-से राजपुत्र और राजकन्याएँ तुम्हारे लिये सोने, चाँदी तथा मिट्टीके बने हुए कलश, औषधसमूह, सब प्रकारके बीज, सम्पूर्ण रत्न और लता आदि अभिषेक-सामग्री लेकर आयेंगी ।। १४-१५ ।।

अग्निं जुहोतु वै धौम्यः संशितात्मा द्विजोत्तमः ।
अद्य त्वामभिषिञ्चन्तु चातुर्वैद्या द्विजातयः ।। १६ ।।
पुरोहितः पाण्डवानां ब्रह्मकर्मण्यवस्थितः ।

विशुद्ध हृदयवाले द्विजश्रेष्ठ धौम्य आज तुम्हारे लिये होम करें और चारों वेदोंके विद्वान् ब्राह्मण तथा सदा ब्राह्मणोचित धर्मके पालनमें स्थित रहनेवाले पाण्डवोंके पुरोहित धौम्यजी भी तुम्हारा राज्याभिषेक करें ।। १६ १/२ ।।

तथैव भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।। १७ ।।
द्रौपदेयास्तथा पञ्च पञ्चालाश्चेदयस्तथा ।
अहं च त्वाभिषेक्ष्यामि राजानं पृथिवीपतिम् ।। १८ ।।
युवराजोऽस्तु ते राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गृहीत्वा व्यजनं श्वेतं धर्मात्मा संशितव्रतः ।। १९ ।।
उपान्वारोहतु रथं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

छत्रं च ते महाश्वेतं भीमसेनो महाबलः ।। २० ।।
अभिषिक्तस्य कौन्तेयो धारयिष्यति मूर्धनि ।

इसी प्रकार पाँचों भाई पुरुषसिंह पाण्डव, द्रौपदीके पाँचो पुत्र, पांचाल और चेदिदेशके नरेश तथा मैं—ये सब लोग तुम्हें पृथ्वीपालक सम्राट्के पदपर अभिषिक्त करेंगे। कठोर व्रतका पालन करनेवाले धर्मपुत्र धर्मात्मा कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर तुम्हारे युवराज होंगे, जो हाथमें श्वेत चँवर लेकर तुम्हारे पीछे रथपर बैठेंगे और महाबली कुन्तीकुमार भीमसेन राज्याभिषेक होनेके पश्चात् तुम्हारे मस्तकपर महान् श्वेत छत्र धारण करेंगे ।।

किङ्किणीशतनिर्घोषं वैयाघ्रपरिवारणम् ।। २१ ।।
रथं श्वेतहयैर्युक्तमर्जुनो वाहयिष्यति ।
अभिमन्युश्च ते नित्यं प्रत्यासन्नो भविष्यति ।। २२ ।।

सैकड़ों क्षुद्र घण्टिकाओंकी सुमधुर ध्वनिसे युक्त, व्याघ्रचर्मसे आच्छादित तथा श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए तुम्हारे रथको अर्जुन सारथि बनकर हाँकेंगे और अभिमन्यु सदा तुम्हारी सेवाके लिये निकट खड़ा रहेगा ।। २१-२२ ।।

नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च पञ्च ये ।
पञ्चालाश्चानुयास्यन्ति शिखण्डी च महारथः ।। २३ ।।

नकुल, सहदेव, द्रौपदीके पाँच पुत्र, पंचालदेशीय क्षत्रिय तथा महारथी शिखण्डी—ये सब तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे ।। २३ ।।

अहं च त्वानुयास्यामि सर्वे चान्धकवृष्णयः ।
दाशार्हाः परिवारास्ते दाशार्णाश्च विशाम्पते ।। २४ ।।

मैं तथा समस्त अन्धक और वृष्णिवंशके लोग भी तुम्हारा अनुसरण करेंगे। प्रजानाथ! दशार्ह तथा दशार्णकुलके समस्त क्षत्रिय तुम्हारे परिवार हो जायँगे ।। २४ ।।

भुङ्क्ष्व राज्यं महाबाहो भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ।
जपैर्होमैश्च संयुक्तो मङ्गलैश्च पृथग्विधैः ।। २५ ।।

महाबाहो! तुम अपने भाई पाण्डवोंके साथ राज्य भोगो। जप, होम तथा नाना प्रकारके मांगलिक कर्मोंमें संलग्न रहो ।। २५ ।।

पुरोगमाश्च ते सन्तु द्रविडाः सह कुन्तलैः ।
आन्ध्रास्तालचराश्चैव चूचुपा वेणुपास्तथा ।। २६ ।।

द्रविड़, कुन्तल, आन्ध्र, तालचर, चूचुप तथा वेणुप देशके लोग तुम्हारे अग्रगामी सेवक हों ।। २६ ।।

स्तुवन्तु त्वां च बहुभिः स्तुतिभिः सूतमागधाः ।
विजयं वसुषेणस्य घोषयन्तु च पाण्डवाः ।। २७ ।।

सूत, मागध और वन्दीजन नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा तुम्हारा यशोगान करें और पाण्डवलोग महाराज वसुषेण कर्णकी विजय घोषित कर दें ।। २७ ।।

स त्वं परिवृतः पार्थैर्नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
प्रशाधि राज्यं कौन्तेय कुन्तीं च प्रतिनन्दय ।। २८ ।।

कुन्तीकुमार! नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति तुम अपने अन्य भाइयोंसे घिरे रहकर राज्यका पालन और कुन्तीको आनन्दित करो ।। २८ ।।

मित्राणि ते प्रहृष्यन्तु व्यथन्तु रिपवस्तथा ।
सौभ्रात्रं चैव तेऽद्यास्तु भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ।। २९ ।।

तुम्हारे मित्र प्रसन्न हों और शत्रुओंके मनमें व्यथा हो। कर्ण! आजसे अपने भाई पाण्डवोंके साथ तुम्हारा एक अच्छे बन्धुकी भाँति स्नेहपूर्ण बर्ताव हो ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४० ।।

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णका दुर्योधनके पक्षमें रहनेके निश्चित विचारका प्रतिपादन करते हुए समरयज्ञके रूपकका वर्णन करना

कर्ण उवाच

असंशयं सौहृदान्मे प्रणयाच्चात्थ केशव ।
सख्येन चैव वार्ष्णेय श्रेयस्कामतयैव च ।। १ ।।

कर्णने कहा—केशव! आपने सौहार्द, प्रेम, मैत्री और मेरे हितकी इच्छासे जो कुछ कहा है, वह निःसंदेह ठीक है ।। १ ।।

सर्वं चैवाभिजानामि पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः ।
निश्चयाद् धर्मशास्त्राणां यथा त्वं कृष्ण मन्यसे ।। २ ।।

श्रीकृष्ण! जैसा कि आप मानते हैं, धर्मशास्त्रोंके निर्णयके अनुसार मैं धर्मतः पाण्डुका ही पुत्र हूँ। इन सब बातोंको मैं अच्छी तरह जानता और समझता हूँ ।। २ ।।

कन्या गर्भं समाधत्त भास्करान्मां जनार्दन ।
आदित्यवचनाच्चैव जातं मां सा व्यसर्जयत् ।। ३ ।।

जनार्दन! कुन्तीने कन्यावस्थामें भगवान् सूर्यके संयोगसे मुझे गर्भमें धारण किया था और मेरा जन्म हो जानेपर उन सूर्यदेवकी आज्ञासे ही मुझे जलमें विसर्जित कर दिया था ।।

सोऽस्मि कृष्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः ।
कुन्त्या त्वहमपाकीर्णो यथा न कुशलं तथा ।। ४ ।।

श्रीकृष्ण! इस प्रकार मेरा जन्म हुआ है। अतः मैं धर्मतः पाण्डुका ही पुत्र हूँ; परंतु कुन्तीदेवीने मुझे इस तरह त्याग दिया, जिससे मैं सकुशल नहीं रह सकता था ।। ४ ।।

सूतो हि मामधिरथो दृष्ट्वैवाभ्यानयद् गृहान् ।
राधायाश्चैव मां प्रादात् सौहार्दान्मधुसूदन ।। ५ ।।

मधुसूदन! उसके बाद अधिरथ नामक सूत मुझे जलमें देखते ही निकालकर अपने घर ले आये और बड़े स्नेहसे मुझे अपनी पत्नी राधाकी गोदमें दे दिया ।।

मत्स्नेहाच्चैव राधायां सद्यः क्षीरमवातरत् ।
सा मे मूत्रं पुरीषं च प्रतिजग्राह माधव ।। ६ ।।

उस समय मेरे प्रति अधिक स्नेहके कारण राधाके स्तनोंमें तत्काल दूध उतर आया। माधव! उस अवस्थामें उसीने मेरा मल-मूत्र उठाना स्वीकार किया ।। ६ ।।

तस्याः पिण्डव्यपनयं कुर्यादस्मद्विधः कथम् ।
धर्मविद् धर्मशास्त्राणां श्रवणे सततं रतः ।। ७ ।।

अतः सदा धर्मशास्त्रोंके श्रवणमें तत्पर रहनेवाला मुझ-जैसा धर्मज्ञ पुरुष राधाके मुखका ग्रास कैसे छीन सकता है? (उसका पालन-पोषण न करके उसे त्याग देनेकी क्रूरता कैसे कर सकता है?) ।। ७ ।।

तथा मामभिजानाति सूतश्चाधिरथः सुतम् ।
पितरं चाभिजानामि तमहं सौहृदात् सदा ।। ८ ।।

अधिरथ सूत भी मुझे अपना पुत्र ही समझते हैं और मैं भी सौहार्दवश उन्हें सदासे अपना पिता ही मानता आया हूँ ।। ८ ।।

स हि मे जातकर्मादि कारयामास माधव ।
शास्त्रदृष्टेन विधिना पुत्रप्रीत्या जनार्दन ।। ९ ।।
नाम वै वसुषेणेति कारयामास वै द्विजैः ।

माधव! उन्होंने मेरे जातकर्म आदि संस्कार करवाये तथा जनार्दन! उन्होंने ही पुत्रप्रेमवश शास्त्रीय विधिसे ब्राह्मणोंद्वारा मेरा 'वसुषेण' नाम रखवाया ।।

भार्याश्चोढा मम प्राप्ते यौवने तत्परिग्रहात् ।। १० ।।
तासु पुत्राश्च पौत्राश्च मम जाता जनार्दन ।
तासु मे हृदयं कृष्ण संजातं कामबन्धनम् ।। ११ ।।

श्रीकृष्ण! मेरी युवावस्था होनेपर अधिरथने सूत-जातिकी कई कन्याओंके साथ मेरा विवाह करवाया। अब उनसे मेरे पुत्र और पौत्र भी पैदा हो चुके हैं। जनार्दन! उन स्त्रियोंमें मेरा हृदय कामभावसे आसक्त रहा है ।।

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः ।
हर्षाद् भयाद् वा गोविन्द मिथ्या कर्तुं तदुत्सहे ।। १२ ।।

गोविन्द! अब मैं सम्पूर्ण पृथिवीका राज्य पाकर, सुवर्णकी राशियाँ लेकर अथवा हर्ष या भयके कारण भी वह सब सम्बन्ध मिथ्या नहीं करना चाहता ।। १२ ।।

धृतराष्ट्रकुले कृष्ण दुर्योधनसमाश्रयात् ।
मया त्रयोदश समा भुक्तं राज्यमकण्टकम् ।। १३ ।।

श्रीकृष्ण! मैंने दुर्योधनका सहारा पाकर धृतराष्ट्रके कुलमें रहते हुए तेरह वर्षोंतक अकण्टक राज्यका उपभोग किया है ।। १३ ।।

इष्टं च बहुभिर्यज्ञैः सह सूतैर्मयासकृत् ।
आवाहाश्च विवाहाश्च सह सूतैर्मया कृताः ।। १४ ।।

वहाँ मैंने सूतोंके साथ मिलकर बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया है तथा उन्हींके साथ रहकर अनेकानेक कुलधर्म एवं वैवाहिक कार्य सम्पन्न किये हैं ।। १४ ।।

मां च कृष्ण समासाद्य कृतः शस्त्रसमुद्यमः ।
दुर्योधनेन वार्ष्णेय विग्रहश्चापि पाण्डवैः ।। १५ ।।

वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण! दुर्योधनने मेरे ही भरोसे हथियार उठाने तथा पाण्डवोंके साथ विग्रह करनेका साहस किया है ।। १५ ।।

तस्माद् रणे द्वैरथे मां प्रत्युद्यातारमच्युत ।
वृतवान् परमं कृष्ण प्रतीपं सव्यसाचिनः ।। १६ ।।

अतः अच्युत! मुझे द्वैरथ युद्धमें सव्यसाची अर्जुनके विरुद्ध लोहा लेने तथा उनका सामना करनेके लिये उसने चुन लिया है ।। १६ ।।

वधाद् बन्धाद् भयाद् वापि लोभाद् वापि जनार्दन ।
अनृतं नोत्सहे कर्तुं धार्तराष्ट्रस्य धीमतः ।। १७ ।।

जनार्दन! इस समय मैं वध, बन्धन, भय अथवा लोभसे भी बुद्धिमान् धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके साथ मिथ्या व्यवहार नहीं करना चाहता ।। १७ ।।

यदि ह्यद्य न गच्छेयं द्वैरथं सव्यसाचिना ।
अकीर्तिः स्याद्धृषीकेश मम पार्थस्य चोभयोः ।। १८ ।।

हृषीकेश! अब यदि मैं अर्जुनके साथ द्वैरथ युद्ध न करूँ तो यह मेरे और अर्जुन दोनोंके लिये अपयशकी बात होगी ।। १८ ।।

असंशयं हितार्थाय ब्रूयास्त्वं मधुसूदन ।
सर्वं च पाण्डवाः कुर्युस्त्वद्वशित्वान्न संशयः ।। १९ ।।

मधुसूदन! इसमें संदेह नहीं कि आप मेरे हितके लिये ही ये सब बातें कहते हैं। पाण्डव आपके अधीन हैं; इसलिये आप उनसे जो कुछ भी कहेंगे, वह सब वे अवश्य ही कर सकते हैं ।। १९ ।।

मन्त्रस्य नियमं कुर्यास्त्वमत्र मधुसूदन ।
एतदत्र हितं मन्ये सर्वं यादवनन्दन ।। २० ।।

परंतु मधुसूदन! मेरे और आपके बीचमें जो यह गुप्त परामर्श हुआ है, उसे आप यहींतक सीमित रखें। यादवनन्दन! ऐसा करनेमें ही मैं यहाँ सब प्रकारसे हित समझता हूँ ।। २० ।।

यदि जानाति मां राजा धर्मात्मा संयतेन्द्रियः ।
कुन्त्याः प्रथमजं पुत्रं न स राज्यं ग्रहीष्यति ।। २१ ।।

अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर यदि यह जान लेंगे कि मैं (कर्ण) कुन्तीका प्रथम पुत्र हूँ, तब वे राज्य ग्रहण नहीं करेंगे ।।

प्राप्य चापि महद् राज्यं तदहं मधुसूदन ।
स्फीतं दुर्योधनायैव सम्प्रदद्यामरिंदम ।। २२ ।।

शत्रुदमन मधुसूदन! उस दशामें मैं उस समृद्धिशाली विशाल राज्यको पाकर भी दुर्योधनको ही सौंप दूँगा ।। २२ ।।

स एव राजा धर्मात्मा शाश्वतोऽस्तु युधिष्ठिरः ।

नेता यस्य हृषीकेशो योद्धा यस्य धनंजयः ।। २३ ।।

मैं भी यही चाहता हूँ कि जिनके नेता हृषीकेश और योद्धा अर्जुन हैं, वे धर्मात्मा युधिष्ठिर ही सर्वदा राजा बने रहें ।। २३ ।।

पृथिवी तस्य राष्ट्रं च यस्य भीमो महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च माधव ।। २४ ।।
धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः सात्यकिश्च महारथः ।
उत्तमौजा युधामन्युः सत्यधर्मा च सौमकिः ।। २५ ।।
चैद्यश्च चेकितानश्च शिखण्डी चापराजितः ।
इन्द्रगोपकवर्णाश्च केकया भ्रातरस्तथा ।
इन्द्रायुधसवर्णश्च कुन्तिभोजो महामनाः ।। २६ ।।
मातुलो भीमसेनस्य श्येनजिच्च महारथः ।
शङ्खः पुत्रो विराटस्य निधिस्त्वं च जनार्दन ।। २७ ।।

माधव! जनार्दन! जिनके सहायक महारथी भीम, नकुल, सहदेव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्न, महारथी सात्यकि, उत्तमौजा, युधामन्यु, सोमक-वंशी सत्यधर्मा, चेदिराज धृष्टकेतु, चेकितान, अपराजित वीर शिखण्डी, इन्द्रगोपके समान वर्णवाले पाँचों भाई केकय-राजकुमार, इन्द्रधनुषके समान रंगवाले महामना कुन्तिभोज, भीमसेनके मामा महारथी श्येनजित्, विराटपुत्र शंख तथा अक्षयनिधिके समान आप हैं, उन्हीं युधिष्ठिरके अधिकारमें यह सारा भूमण्डल तथा कौरव-राज्य रहेगा ।। २४—२७ ।।

महानयं कृष्ण कृतः क्षत्रस्य समुदानयः ।
राज्यं प्राप्तमिदं दीप्तं प्रथितं सर्वराजसु ।। २८ ।।

श्रीकृष्ण! दुर्योधनने यह क्षत्रियोंका बहुत बड़ा समुदाय एकत्र कर लिया है तथा समस्त राजाओंमें विख्यात एवं उज्ज्वल यह कुरुदेशका राज्य भी उसे प्राप्त हो गया है ।। २८ ।।

धार्तराष्ट्रस्य वार्ष्णेय शस्त्रयज्ञो भविष्यति ।
अस्य यज्ञस्य वेत्ता त्वं भविष्यसि जनार्दन ।। २९ ।।

जनार्दन! वृष्णिनन्दन! अब दुर्योधनके यहाँ एक शस्त्र-यज्ञ होगा, जिसके साक्षी आप होंगे ।। २९ ।।

आध्वर्यवं च ते कृष्ण क्रतावस्मिन् भविष्यति ।
होता चैवात्र बीभत्सुः संनद्धः स कपिध्वजः ।। ३० ।।

श्रीकृष्ण! इस यज्ञमें अध्वर्युका काम भी आपको ही करना होगा। कवच आदिसे सुसज्जित कपिध्वज अर्जुन इसमें होता बनेंगे ।। ३० ।।

गाण्डीवं स्रुक् तथा चाज्यं वीर्यं पुंसां भविष्यति ।
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं स्थूणाकर्णं च माधव ।
मन्त्रास्तत्र भविष्यन्ति प्रयुक्ताः सव्यसाचिना ।। ३१ ।।

गाण्डीव धनुष स्रुवाका काम करेगा और विपक्षी वीरोंका पराक्रम ही हवनीय घृत होगा। माधव! सव्यसाची अर्जुनद्वारा प्रयुक्त होनेवाले ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म और स्थूणाकर्ण आदि अस्त्र ही वेद-मन्त्र होंगे ।।

अनुयातश्च पितरमधिको वा पराक्रमे ।
गीतं स्तोत्रं स सौभद्रः सम्यक् तत्र भविष्यति ।। ३२ ।।

सुभद्राकुमार अभिमन्यु भी अस्त्रविद्यामें अपने पिताका ही अनुसरण करनेवाला अथवा पराक्रममें उनसे भी बढ़कर है। वह इस शस्त्रयज्ञमें उत्तम स्तोत्रगान (उद्गातृकर्म)-की पूर्ति करेगा ।। ३२ ।।

उद्गातात्र पुनर्भीमः प्रस्तोता सुमहाबलः ।
विनदन् स नरव्याघ्रो नागानीकान्तकृद् रणे ।। ३३ ।।

अभिमन्यु ही उद्गाता और महाबली नरश्रेष्ठ भीमसेन ही प्रस्तोता होंगे, जो रणभूमिमें गर्जना करते हुए शत्रुपक्षके हाथियोंकी सेनाका विनाश कर डालेंगे ।।

स चैव तत्र धर्मात्मा शश्वद् राजा युधिष्ठिरः ।
जपैर्होमैश्च संयुक्तो ब्रह्मत्वं कारयिष्यति ।। ३४ ।।

वे धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ही सदा जप और होममें संलग्न रहकर उस यज्ञमें ब्रह्माका कार्य सम्पन्न करेंगे ।। ३४ ।।

शङ्खशब्दाः समुरजा भेर्यश्च मधुसूदन ।
उत्कृष्टसिंहनादश्च सुब्रह्मण्यो भविष्यति ।। ३५ ।।

मधुसूदन! शंख, मुरज तथा भेरियोंके शब्द और उच्चस्वरसे किये हुए सिंहनाद ही सुब्रह्मण्यनाद होंगे ।।

नकुलः सहदेवश्च माद्रीपुत्रौ यशस्विनौ ।
शामित्रं तौ महावीर्यौ सम्यक् तत्र भविष्यतः ।। ३६ ।।

माद्रीके यशस्वी पुत्र महापराक्रमी नकुल-सहदेव उसमें भलीभाँति शामित्रकर्मका सम्पादन करेंगे ।। ३६ ।।

कल्माषदण्डा गोविन्द विमला रथपङ्क्तयः ।
यूपाः समुपकल्पन्तामस्मिन् यज्ञे जनार्दन ।। ३७ ।।

गोविन्द! जनार्दन! विचित्र ध्वजदण्डोंसे सुशोभित निर्मल रथपंक्तियाँ ही इस रणयज्ञमें यूपोंका काम करेंगी ।।

कर्णिनालीकनाराचा वत्सदन्तोपबृंहणाः ।
तोमराः सोमकलशाः पवित्राणि धनूंषि च ।। ३८ ।।

कर्णि, नालीक, नाराच और वत्सदन्त आदि बाण उपबृंहण (सोमाहुतिके साधनभूत चमस आदि पात्र) होंगे। तोमर सोमकलशका और धनुष पवित्रीका काम करेंगे ।। ३८ ।।

असयोऽत्र कपालानि पुरोडाशाः शिरांसि च ।

हविस्तु रुधिरं कृष्ण तस्मिन् यज्ञे भविष्यति ।। ३९ ।।

श्रीकृष्ण! उस यज्ञमें खड्ग ही कपाल, शत्रुओंके मस्तक ही पुरोडाश तथा रुधिर ही हविष्य होंगे ।। ३९ ।।

इध्माः परिधयश्चैव शक्तयो विमला गदाः ।
सदस्या द्रोणशिष्याश्च कृपस्य च शरद्वतः ।। ४० ।।

निर्मल शक्तियाँ और गदाएँ सब ओर बिखरी हुई समिधाएँ होंगी। द्रोण और कृपाचार्यके शिष्य ही सदस्यका कार्य करेंगे ।। ४० ।।

इषवोऽत्र परिस्तोमा मुक्ता गाण्डीवधन्वना ।
महारथप्रयुक्ताश्च द्रोणद्रौणिप्रचोदिताः ।। ४१ ।।

गाण्डीवधारी अर्जुनके छोड़े हुए तथा द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा एवं अन्य महारथियोंके चलाये हुए बाण यज्ञकुण्डके सब ओर बिछाये जानेवाले कुशोंका काम देंगे ।।

प्रतिप्रास्थानिकं कर्म सात्यकिस्तु करिष्यति ।
दीक्षितो धार्तराष्ट्रोऽत्र पत्नी चास्य महाचमूः ।। ४२ ।।

सात्यकि प्रतिस्थाता (अध्वर्युके दूसरे सहयोगी)-का कार्य करेंगे। धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन इस रणयज्ञकी दीक्षा लेगा और उसकी विशाल सेना ही यजमानपत्नीका काम करेगी ।। ४२ ।।

घटोत्कचोऽत्र शामित्रं करिष्यति महाबलः ।
अतिरात्रे महाबाहो वितते यज्ञकर्मणि ।। ४३ ।।

महाबाहो! इस महायज्ञका अनुष्ठान आरम्भ हो जानेपर उसके अतिरात्रयागमें (अथवा आधी रातके समय) महाबली घटोत्कच शामित्रकर्म करेगा ।। ४३ ।।

दक्षिणा त्वस्य यज्ञस्य धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
वैतानिके कर्ममुखे जातो यः कृष्ण पावकात् ।। ४४ ।।

श्रीकृष्ण! जो श्रौत यज्ञके आरम्भमें ही साक्षात् अग्निकुण्डसे प्रकट हुआ था, वह प्रतापी वीर धृष्टद्युम्न इस यज्ञकी दक्षिणाका कार्य सम्पादन करेगा ।। ४४ ।।

यदब्रुवमहं कृष्ण कटुकानि स्म पाण्डवान् ।
प्रियार्थं धार्तराष्ट्रस्य तेन तप्ये ह्यकर्मणा ।। ४५ ।।

श्रीकृष्ण! मैंने जो धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनका प्रिय करनेके लिये पाण्डवोंको बहुत-से कटुवचन सुनाये हैं, उस अयोग्य कर्मके कारण आज मुझे बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है ।। ४५ ।।

यदा द्रक्ष्यसि मां कृष्ण निहतं सव्यसाचिना ।
पुनश्चितिस्तदा चास्य यज्ञस्याथ भविष्यति ।। ४६ ।।

श्रीकृष्ण! जब आप सव्यसाची अर्जुनके हाथसे मुझे मारा गया देखेंगे, उस समय इस यज्ञका पुनश्चिति-कर्म (यज्ञके अनन्तर किया जानेवाला चयनारम्भ) सम्पन्न होगा ।।

दुःशासनस्य रुधिरं यदा पास्यति पाण्डवः ।
आनर्दं नर्दतः सम्यक् तदा सुत्यं भविष्यति ।। ४७ ।।

जब पाण्डुनन्दन भीमसेन सिंहनाद करते हुए दुःशासनका रक्त पान करेंगे, उस समय इस यज्ञका सुत्य (सोमाभिषव) कर्म पूरा होगा ।। ४७ ।।

यदा द्रोणं च भीष्मं च पाञ्चाल्यौ पातयिष्यतः ।
तदा यज्ञावसानं तद् भविष्यति जनार्दन ।। ४८ ।।

जनार्दन! जब दोनों पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्न और शिखण्डी द्रोणाचार्य और भीष्मको मार गिरायेंगे, उस समय इस रणयज्ञका अवसान (बीच-बीचमें होनेवाला विराम) कार्य सम्पन्न होगा ।। ४८ ।।

दुर्योधनं यदा हन्ता भीमसेनो महाबलः ।
तदा समाप्स्यते यज्ञो धार्तराष्ट्रस्य माधव ।। ४९ ।।

माधव! जब महाबली भीमसेन दुर्योधनका वध करेंगे, उस समय धृतराष्ट्रपुत्रका प्रारम्भ किया हुआ यह यज्ञ समाप्त हो जायगा ।। ४९ ।।

स्नुषाश्च प्रस्नुषाश्चैव धृतराष्ट्रस्य सङ्गताः ।
हतेश्वरा नष्टपुत्रा हतनाथाश्च केशव ।। ५० ।।
रुदत्यः सह गान्धार्या श्वगृध्रकुरराकुले ।
स यज्ञेऽस्मिन्नवभृथो भविष्यति जनार्दन ।। ५१ ।।

केशव! जिनके पति, पुत्र और संरक्षक मार दिये गये होंगे, वे धृतराष्ट्रके पुत्रों और पौत्रोंकी बहुएँ जब गान्धारीके साथ एकत्र होकर कुत्तों, गीधों और कुरर पक्षियोंसे भरे हुए समरांगणमें रोती हुई विचरेंगी, जनार्दन! वही उस यज्ञका अवभृथस्नान होगा ।।

विद्यावृद्धा वयोवृद्धाः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।
वृथा मृत्युं न कुर्वीरंस्त्वत्कृते मधुसूदन ।। ५२ ।।

क्षत्रियशिरोमणि मधुसूदन! तुम्हारे इस शान्ति-स्थापनके प्रयत्नसे कहीं ऐसा न हो कि विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध क्षत्रियगण व्यर्थ मृत्युको प्राप्त हों (युद्धमें शस्त्रोंसे होनेवाली मृत्युसे वंचित रह जायँ) ।। ५२ ।।

शस्त्रेण निधनं गच्छेत् समृद्धं क्षत्रमण्डलम् ।
कुरुक्षेत्रे पुण्यतमे त्रैलोक्यस्यापि केशव ।। ५३ ।।

केशव! कुरुक्षेत्र तीनों लोकोंके लिये परम पुण्यतम तीर्थ है। यह समृद्धिशाली क्षत्रियसमुदाय वहीं जाकर शस्त्रोंके आघातसे मृत्युको प्राप्त हो ।। ५३ ।।

तदत्र पुण्डरीकाक्ष निधत्स्व यदभीप्सितम् ।
यथा कार्त्स्न्येन वार्ष्णेय क्षत्रं स्वर्गमवाप्नुयात् ।। ५४ ।।

कमलनयन वृष्णिनन्दन! आप भी इसकी सिद्धिके लिये ही ऐसा मनोवांछित प्रयत्न करें, जिससे यह सारा-का-सारा क्षत्रियसमूह स्वर्गलोकमें पहुँच जाय ।। ५४ ।।

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च जनार्दन ।

तावत् कीर्तिभवः शब्दः शाश्वतोऽयं भविष्यति ।। ५५ ।।

जनार्दन! जबतक ये पर्वत और सरिताएँ रहेंगी, तबतक इस युद्धकी कीर्ति-कथा अक्षय बनी रहेगी ।।

ब्राह्मणाः कथयिष्यन्ति महाभारतमाहवम् ।

समागमेषु वार्ष्णेय क्षत्रियाणां यशोधनम् ।। ५६ ।।

वार्ष्णेय! ब्राह्मणलोग क्षत्रियोंके समाजमें इस महाभारतयुद्धका, जिसमें राजाओंके सुयशरूपी धनका संग्रह होनेवाला है, वर्णन करेंगे ।। ५६ ।।

समुपानय कौन्तेयं युद्धाय मम केशव ।

मन्त्रसंवरणं कुर्वन् नित्यमेव परंतप ।। ५७ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले केशव! आप इस मन्त्रणाको सदा गुप्त रखते हुए ही कुन्तीकुमार अर्जुनको मेरे साथ युद्ध करनेके लिये ले आवें ।। ५७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने निश्चित विचारका प्रतिपादनविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४१ ।।

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका कर्णसे पाण्डवपक्षकी निश्चित विजयका प्रतिपादन

संजय उवाच

कर्णस्य वचनं श्रुत्वा केशवः परवीरहा ।
उवाच प्रहसन् वाक्यं स्मितपूर्वमिदं यथा ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! विपक्षी वीरोंका वध करनेवाले भगवान् केशव कर्णकी उपर्युक्त बात सुनकर ठठाकर हँस पड़े और मुसकराते हुए इस प्रकार बोले ।। १ ।।

श्रीभगवानुवाच

अपि त्वां न लभेत् कर्ण राज्यलम्भोपपादनम् ।
मया दत्तां हि पृथिवीं न प्रशासितुमिच्छसि ।। २ ।।

श्रीभगवान् बोले—कर्ण! मैं जो राज्यकी प्राप्तिका उपाय बता रहा हूँ, जान पड़ता है वह तुम्हें ग्राह्य नहीं प्रतीत होता है। तुम मेरी दी हुई पृथ्वीका शासन नहीं करना चाहते हो ।। २ ।।

ध्रुवो जयः पाण्डवानामितीदं
न संशयः कश्चन विद्यतेऽत्र ।
जयध्वजो दृश्यते पाण्डवस्य
समुच्छ्रितो वानरराज उग्रः ।। ३ ।।

पाण्डवोंकी विजय अवश्यम्भावी है। इस विषयमें कोई भी संशय नहीं है। पाण्डुनन्दन अर्जुनका वानरराज हनुमान्‌से उपलक्षित वह भयंकर विजयध्वज बहुत ऊँचा दिखायी देता है ।। ३ ।।

दिव्या माया विहिता भौमनेन
समुच्छ्रिता इन्द्रकेतुप्रकाशा ।
दिव्यानि भूतानि जयावहानि
दृश्यन्ति चैवात्र भयानकानि ।। ४ ।।

विश्वकर्माने उस ध्वजमें दिव्य मायाकी रचना की है। वह ऊँची ध्वजा इन्द्रध्वजके समान प्रकाशित होती है। उसके ऊपर विजयकी प्राप्ति करानेवाले दिव्य एवं भयंकर प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं ।। ४ ।।

न सज्जते शैलवनस्पतिभ्य
ऊर्ध्वं तिर्यग्योजनमात्ररूपः ।

श्रीमान् ध्वजः कर्ण धनंजयस्य
समुच्छ्रितः पावकतुल्यरूपः ।। ५ ।।

कर्ण! धनंजयका वह अग्निके समान तेजस्वी तथा कान्तिमान् ऊँचा ध्वज एक योजन लम्बा है। वह ऊपर अथवा अगल-बगलमें पर्वतों तथा वृक्षोंसे कहीं अटकता नहीं है ।। ५ ।।

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे श्वेताश्वं कृष्णसारथिम् ।
ऐन्द्रमस्त्रं विकुर्वाणमुभे चाप्यग्निमारुते ।। ६ ।।
गाण्डीवस्य च निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ।। ७ ।।

कर्ण! जब युद्धमें मुझ श्रीकृष्णको सारथि बनाकर आये हुए श्वेतवाहन अर्जुनको तुम ऐन्द्र, आग्नेय तथा वायव्य अस्त्र प्रकट करते देखोगे और जब गाण्डीवकी वज्र-गर्जनाके समान भयंकर टंकार तुम्हारे कानोंमें पड़ेगी, उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी (केवल कलहस्वरूप भयंकर कलि ही दृष्टिगोचर होगा) ।। ६-७ ।।

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
जपहोमसमायुक्तं स्वां रक्षन्तं महाचमूम् ।। ८ ।।
आदित्यमिव दुर्धर्षं तपन्तं शत्रुवाहिनीम् ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ।। ९ ।।

जब जप और होममें लगे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको संग्राममें अपनी विशाल सेनाकी रक्षा करते तथा सूर्यके समान दुर्धर्ष होकर शत्रुसेनाको संतप्त करते देखोगे, उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी ।। ८-९ ।।

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे भीमसेनं महाबलम् ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीत्वा नृत्यन्तमाहवे ।। १० ।।
प्रभिन्नमिव मातङ्गं प्रतिद्विरदघातिनम् ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ।। ११ ।।

जब तुम युद्धमें महाबली भीमसेनको दुःशासनका रक्त पीकर नाचते तथा मदकी धारा बहानेवाले गजराजके समान उन्हें शत्रुपक्षकी गजसेनाका संहार करते देखोगे, उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी ।। १०-११ ।।

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे द्रोणं शान्तनवं कृपम् ।
सुयोधनं च राजानं सैन्धवं च जयद्रथम् ।। १२ ।।
युद्धायापततस्तूर्णं वारितान् सव्यसाचिना ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ।। १३ ।।

जब तुम देखोगे कि युद्धमें आचार्य द्रोण, शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, राजा दुर्योधन और सिन्धुराज जयद्रथ ज्यों ही युद्धके लिये आगे बढ़े हैं त्यों ही सव्यसाची अर्जुनने तुरंत

उन सबकी गति रोक दी है, तब तुम हक्के-बक्केसे रह जाओगे और उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापर कुछ भी सूझ नहीं पड़ेगा ।। १२-१३ ।।

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे माद्रीपुत्रौ महाबलौ ।
वाहिनीं धार्तराष्ट्राणां क्षोभयन्तौ गजाविव ।। १४ ।।
विगाढे शस्त्रसम्पाते परवीररथारुजौ ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ।। १५ ।।

जब युद्धस्थलमें अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार प्रगाढ़ अवस्थाको पहुँच जायगा (जोर-जोरसे होने लगेगा) और शत्रुवीरोंके रथको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले महाबली माद्रीकुमार नकुल-सहदेव दो गजराजोंकी भाँति धृतराष्ट्रपुत्रोंकी सेनाको क्षुब्ध करने लगेंगे तथा जब तुम अपनी आँखोंसे यह अवस्था देखोगे, उस समय तुम्हारे सामने न सत्ययुग होगा, न त्रेता और न द्वापर ही रह जायगा ।। १४-१५ ।।

ब्रूयाः कर्ण इतो गत्वा द्रोणं शान्तनवं कृपम् ।
सौम्योऽयं वर्तते मासः सुप्रापयवसेन्धनः ।। १६ ।।

कर्ण! तुम यहाँसे जाकर आचार्य द्रोण, शान्तनुनन्दन भीष्म और कृपाचार्यसे कहना कि ‘यह सौम्य (सुखद) मास चल रहा है। इसमें पशुओंके लिये घास और जलानेके लिये लकड़ी आदि वस्तुएँ सुगमतासे मिल सकती हैं ।। १६ ।।

सर्वौषधिवनस्फीतः फलवानल्पमक्षिकः ।
निष्पङ्को रसवत्तोयो नात्युष्णशिशिरः सुखः ।। १७ ।।

‘सब प्रकारकी ओषधियों तथा फल-फूलोंसे वनकी समृद्धि बढ़ी हुई है, धानके खेतोंमें खूब फल लगे हुए हैं, मक्खियाँ बहुत कम हो गयी हैं, धरतीपर कीचड़का नाम नहीं है। जल स्वच्छ एवं सुस्वादु प्रतीत होता है, इस सुखद समयमें न तो अधिक गरमी है और न अधिक सर्दी ही (यह मार्गशीर्षमास चल रहा है) ।।

सप्तमाच्चापि दिवसादमावास्या भविष्यति ।
संग्रामो युज्यतां तस्यां तामाहुः शक्रदेवताम् ।। १८ ।।

‘आजसे सातवें दिनके बाद अमावास्या होगी। उसके देवता इन्द्र कहे गये हैं। उसीमें युद्ध आरम्भ किया जाय’ ।। १८ ।।

तथा राज्ञो वदेः सर्वान् ये युद्धायाभ्युपागताः ।
यद् वो मनीषितं तद् वै सर्वं सम्पादयाम्यहम् ।। १९ ।।

इसी प्रकार जो युद्धके लिये यहाँ पधारे हैं, उन समस्त राजाओंसे भी कह देना ‘आपलोगोंके मनमें जो अभिलाषा है, वह सब मैं अवश्य पूर्ण करूँगा’ ।। १९ ।।

राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगाः ।
प्राप्य शस्त्रेण निधनं प्राप्स्यन्ति गतिमुत्तमाम् ।। २० ।।

दुर्योधनके वशमें रहनेवाले जितने राजा और राजकुमार हैं, वे शस्त्रोंद्वारा मृत्युको प्राप्त होकर उत्तम गति लाभ करेंगे ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे भगवद्वाक्ये द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने अभिप्रायनिवेदनके प्रसंगमें भगवद्वाक्यविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४२ ।।

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णके द्वारा पाण्डवोंकी विजय और कौरवोंकी पराजय सूचित करनेवाले लक्षणों एवं अपने स्वप्नका वर्णन

संजय उवाच

केशवस्य तु तद् वाक्यं कर्णः श्रुत्वा हितं शुभम् ।
अब्रवीदभिसम्पूज्य कृष्णं तं मधुसूदनम् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! भगवान् केशवका वह हितकर एवं कल्याणकारी वचन सुनकर कर्ण मधुसूदन श्रीकृष्णके प्रति सम्मानका भाव प्रदर्शित करते हुए इस प्रकार बोला — ।। १ ।।

जानन् मां किं महाबाहो सम्मोहयितुमिच्छसि ।
योऽयं पृथिव्याः कात्स्न्र्येन विनाशः समुपस्थितः ।। २ ।।
निमित्तं तत्र शकुनिरहं दुःशासनस्तथा ।
दुर्योधनश्च नृपतिर्धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ।। ३ ।।

'महाबाहो! आप सब कुछ जानते हुए भी मुझे मोहमें क्यों डालना चाहते हैं? यह जो इस भूतलका पूर्णरूपसे विनाश उपस्थित हुआ है, उसमें मैं, शकुनि, दुःशासन तथा धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन निमित्तमात्र हुए हैं ।। २-३ ।।

असंशयमिदं कृष्ण महद् युद्धमुपस्थितम् ।
पाण्डवानां कुरूणां च घोरं रुधिरकर्दमम् ।। ४ ।।

'श्रीकृष्ण! इसमें संदेह नहीं कि कौरवों और पाण्डवोंका यह बड़ा भयंकर युद्ध उपस्थित हुआ है, जो रक्तकी कीच मचा देनेवाला है ।। ४ ।।

राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगाः ।
रणे शस्त्राग्निना दग्धाः प्राप्स्यन्ति यमसादनम् ।। ५ ।।

'दुर्योधनके वशमें रहनेवाले जो राजा और राजकुमार हैं, वे रणभूमिमें अस्त्र-शस्त्रोंकी आगसे जलकर निश्चय ही यमलोकमें जा पहुँचेंगे ।। ५ ।।

स्वप्ना हि बहवो घोरा दृश्यन्ते मधुसूदन ।
निमित्तानि च घोराणि तथोत्पाताः सुदारुणाः ।। ६ ।।

'मधुसूदन! मुझे बहुत-से भयंकर स्वप्न दिखायी देते हैं। घोर अपशकुन तथा अत्यन्त दारुण उत्पात दृष्टिगोचर होते हैं ।। ६ ।।

पराजयं धार्तराष्ट्रे विजयं च युधिष्ठिरे ।
शंसन्त इव वार्ष्णेय विविधा रोमहर्षणाः ।। ७ ।।

‘वृष्णिनन्दन! वे रोंगटे खड़े कर देनेवाले विविध उत्पात मानो दुर्योधनकी पराजय और युधिष्ठिरकी विजय घोषित करते हैं ।। ७ ।।

प्राजापत्यं हि नक्षत्रं ग्रहस्तीक्ष्णो महाद्युतिः ।
शनैश्चरः पीडयति पीडयन् प्राणिनोऽधिकम् ।। ८ ।।

‘महातेजस्वी एवं तीक्ष्ण ग्रह शनैश्चर प्रजापति-सम्बन्धी रोहिणीनक्षत्रको पीड़ित करते हुए जगत्‌के प्राणियोंको अधिक-से-अधिक पीड़ा दे रहे हैं ।। ८ ।।

कृत्वा चाङ्गारको वक्रं ज्येष्ठायां मधुसूदन ।
अनुराधां प्रार्थयते मैत्रं संगमयन्निव ।। ९ ।।

‘मधुसूदन! मंगल ग्रह ज्येष्ठाके निकटसे वक्रगतिका आश्रय ले अनुराधा नक्षत्रपर आना चाहते हैं। जो राज्यस्थ राजाके मित्रमण्डलका विनाश-सा सूचित कर रहे हैं ।।

नूनं महद्भयं कृष्ण कुरूणां समुपस्थितम् ।
विशेषेण हि वार्ष्णेय चित्रां पीडयते ग्रहः ।। १० ।।

‘वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण! निश्चय ही कौरवोंपर महान् भय उपस्थित हुआ है। विशेषतः ‘महापात’ नामक ग्रह चित्राको पीड़ा दे रहा है (जो राजाओंके विनाशका सूचक है) ।। १० ।।

सोमस्य लक्ष्म व्यावृत्तं राहुरर्कमुपैति च ।
दिवश्चोल्काः पतन्त्येताः सनिर्घाताः सकम्पनाः ।। ११ ।।

‘चन्द्रमाका कलंक (काला चिह्न) मिट-सा गया है, राहु सूर्यके समीप जा रहा है। आकाशसे ये उल्काएँ गिर रही हैं, वज्रपातके-से शब्द हो रहे हैं और धरती डोलती-सी जान पड़ती है ।। ११ ।।

निष्टनन्ति च मातङ्गा मुञ्चन्त्यश्रूणि वाजिनः ।
पानीयं यवसं चापि नाभिनन्दन्ति माधव ।। १२ ।।

‘माधव! गजराज परस्पर टकराते और विकृत शब्द करते हैं। घोड़े नेत्रोंसे आँसू बहा रहे हैं। वे घास और पानी भी प्रसन्नतापूर्वक नहीं ग्रहण करते हैं ।। १२ ।।

प्रादुर्भूतेषु चैतेषु भयमाहुरुपस्थितम् ।
निमित्तेषु महाबाहो दारुणं प्राणिनाशनम् ।। १३ ।।

‘महाबाहो! कहते हैं, इन निमित्तों (उत्पातसूचक लक्षणों)-के प्रकट होनेपर प्राणियोंके विनाश करनेवाले दारुण भयकी उपस्थिति होती है ।। १३ ।।

अल्पे भुक्ते पुरीषं च प्रभूतमिह दृश्यते ।
वाजिनां वारणानां च मनुष्याणां च केशव ।। १४ ।।

‘केशव! हाथी, घोड़े तथा मनुष्य भोजन तो थोड़ा ही करते है; परंतु उनके पेटसे मल अधिक निकलता देखा जाता है ।। १४ ।।

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु सर्वेषु मधुसूदन ।

पराभवस्य तल्लिङ्गमिति प्राहुर्मनीषिणः ।। १५ ।।

'मधुसूदन! दुर्योधनकी समस्त सेनाओंमें ये बातें पायी जाती हैं। मनीषी पुरुष इन्हें पराजयका लक्षण कहते हैं ।। १५ ।।

प्रहृष्टं वाहनं कृष्ण पाण्डवानां प्रचक्षते ।
प्रदक्षिणा मृगाश्चैव तत् तेषां जयलक्षणम् ।। १६ ।।

'श्रीकृष्ण! पाण्डवोंके वाहन प्रसन्न बताये जाते हैं और मृग उनके दाहिनेसे जाते देखे जाते हैं; यह लक्षण उनकी विजयका सूचक है ।। १६ ।।

अपसव्या मृगाः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य केशव ।
वाचश्चाप्यशरीरिण्यस्तत् पराभवलक्षणम् ।। १७ ।।

'केशव! सभी मृग दुर्योधनके बाँयेंसे निकलते हैं और उसे प्रायः ऐसी वाणी सुनायी देती है, जिसके बोलनेवालेका शरीर नहीं दिखायी देता। यह उसकी पराजयका चिह्न है ।। १७ ।।

मयूराः पुण्यशकुना हंससारसचातकाः ।
जीवंजीवकसङ्घाश्चाप्यनुगच्छन्ति पाण्डवान् ।। १८ ।।

'मोर, शुभ शकुन सूचित करनेवाले मुर्गे, हंस, सारस, चातक तथा चकोरोंके समुदाय पाण्डवोंका अनुसरण करते हैं ।। १८ ।।

गृध्राः कङ्का बकाः श्येना यातुधानास्तथा वृकाः ।
मक्षिकाणां च सङ्घाता अनुधावन्ति कौरवान् ।। १९ ।।

'इसी प्रकार गीध, कंक, बक, श्येन (बाज), राक्षस, भेड़िये तथा मक्खियोंके समूह कौरवोंके पीछे दौड़ते हैं ।। १९ ।।

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु भेरीणां नास्ति निःस्वनः ।
अनाहताः पाण्डवानां नदन्ति पटहाः किल ।। २० ।।

'दुर्योधनकी सेनाओंमें बजानेपर भी भेरियोंके शब्द प्रकट नहीं होते हैं और पाण्डवोंके डंके बिना बजाये ही बज उठते हैं ।। २० ।।

उदपानाश्च नर्दन्ति यथा गोवृषभास्तथा ।
धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु तत् पराभवलक्षणम् ।। २१ ।।

'दुर्योधनकी सेनाओंमें कुएँ आदि जलाशय गाय-बैलोंके समान शब्द करते हैं। यह उसकी पराजयका लक्षण है ।। २१ ।।

मांसशोणितवर्षं च वृष्टं देवेन माधव ।
तथा गन्धर्वनगरं भानुमत् समुपस्थितम् ।। २२ ।।
सप्राकारं सपरिखं सवप्रं चारुतोरणम् ।
कृष्णश्च परिघस्तत्र भानुमावृत्य तिष्ठति ।। २३ ।।

‘माधव! बादल आकाशसे मांस और रक्तकी वर्षा करते हैं। अन्तरिक्षमें चहारदिवारी, खाईं, वप्र और सुन्दर फाटकोंसहित सूर्ययुक्त गन्धर्वनगर प्रकट दिखायी देता है। वहाँ सूर्यको चारों ओरसे घेरकर एक काला परिघ प्रकट होता है ।। २२-२३ ।।

उदयास्तमने संध्ये वेदयन्ती महद्भयम् ।
शिवा च वाशते घोरं तत् पराभवलक्षणम् ।। २४ ।।

‘सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों संध्याओंके समय एक गीदड़ी महान् भयकी सूचना देती हुई भयंकर आवाजमें रोती है। यह भी कौरवोंकी पराजयका लक्षण है ।। २४ ।।

एकपक्षाक्षिचरणाः पक्षिणो मधुसूदन ।
उत्सृजन्ति महद् घोरं तत् पराभवलक्षणम् ।। २५ ।।

‘मधुसूदन! एक पाँख, एक आँख और एक पैरवाले पक्षी अत्यन्त भयंकर शब्द करते हैं। यह भी कौरवपक्षकी पराजयका ही लक्षण है ।। २५ ।।

कृष्णग्रीवाश्च शकुना रक्तपादा भयानकाः ।
संध्यामभिमुखा यान्ति तत् पराभवलक्षणम् ।। २६ ।।

‘संध्याकालमें काली ग्रीवा और लाल पैरवाले भयानक पक्षी सामने आ जाते हैं, वह भी पराजयका ही चिह्न है ।। २६ ।।

ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि गुरूंश्च मधुसूदन ।
भृत्यान् भक्तिमतश्चापि तत् पराभवलक्षणम् ।। २७ ।।

‘मधुसूदन! दुर्योधन पहले ब्राह्मणोंसे द्वेष करता है; फिर गुरुजनोंसे तथा अपने प्रति भक्ति रखनेवाले भृत्योंसे भी द्रोह करने लगता है, यह उसकी पराजयका ही लक्षण है ।। २७ ।।

पूर्वा दिग् लोहिताकारा शस्त्रवर्णा च दक्षिणा ।
आमपात्रप्रतीकाशा पश्चिमा मधुसूदन ।
उत्तरा शङ्खवर्णाभा दिशां वर्णा उदाहृताः ।। २८ ।।

‘श्रीकृष्ण! पूर्व दिशा लाल, दक्षिण दिशा शस्त्रोंके समान रंगवाली (काली), पश्चिम दिशा मिट्टीके कच्चे बर्तनोंकी भाँति मटमैली तथा उत्तर दिशा शंखके समान श्वेत दिखायी देती है। इस प्रकार ये दिशाओंके पृथक्-पृथक् वर्ण बताये गये हैं ।। २८ ।।

प्रदीप्ताश्च दिशः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य माधव ।
महद् भयं वेदयन्ति तस्मिन्नुत्पातदर्शने ।। २९ ।।

‘माधव! दुर्योधनको इन उत्पातोंका दर्शन तो होता ही है। उसके लिये सारी दिशाएँ भी प्रज्वलित-सी होकर महान् भयकी सूचना दे रही हैं ।। २९ ।।

सहस्रपादं प्रासादं स्वप्नान्ते स्म युधिष्ठिरः ।
अधिरोहन् मया दृष्टः सह भ्रातृभिरच्युत ।। ३० ।।

'अच्युत! मैंने स्वप्नके अन्तिम भागमें युधिष्ठिरको एक हजार खंभोंवाले महलपर भाइयोंसहित चढ़ते देखा है ।। ३० ।।

श्वेतोष्णीषाश्च दृश्यन्ते सर्वे वै शुक्लवाससः ।
आसनानि च शुभ्राणि सर्वेषामुपलक्षये ।। ३१ ।।

'उन सबके सिरपर सफेद पगड़ी और अंगोंमें श्वेत वस्त्र शोभित दिखायी दिये हैं। मैंने उन सबके आसनोंको भी श्वेत वर्णका ही देखा है ।। ३१ ।।

तव चापि मया कृष्ण स्वप्नान्ते रुधिराविला ।
अन्त्रेण पृथिवी दृष्टा परिक्षिप्ता जनार्दन ।। ३२ ।।

'जनार्दन! श्रीकृष्ण! मैंने स्वप्नके अन्तमें आपकी इस पृथ्वीको भी रक्तसे मलिन और आँतसे लिपटी हुई देखा है ।। ३२ ।।

अस्थिसंचयमारूढश्चामितौजा युधिष्ठिरः ।
सुवर्णपात्र्यां संहृष्टो भुक्तवान् घृतपायसम् ।। ३३ ।।

'मैंने स्वप्नमें देखा, अमिततेजस्वी युधिष्ठिर सफेद हड्डियोंके ढेरपर बैठे हुए हैं और सोनेके पात्रमें रखी हुई घृतमिश्रित खीरको बड़ी प्रसन्नताके साथ खा रहे हैं ।। ३३ ।।

युधिष्ठिरो मया दृष्टो ग्रसमानो वसुन्धराम् ।
त्वया दत्तामिमां व्यक्तं भोक्ष्यते स वसुन्धराम् ।। ३४ ।।

'मैंने यह भी देखा कि युधिष्ठिर इस पृथ्वीको अपना ग्रास बनाये जा रहे हैं; अतः यह निश्चित है कि आपकी दी हुई वसुन्धराका वे ही उपभोग करेंगे ।। ३४ ।।

उच्चं पर्वतमारूढो भीमकर्मा वृकोदरः ।
गदापाणिर्नरव्याघ्रो ग्रसन्निव महीमिमाम् ।। ३५ ।।

'भयंकर कर्म करनेवाले नरश्रेष्ठ भीमसेन भी हाथमें गदा लिये ऊँचे पर्वतपर आरूढ़ हो इस पृथ्वीको ग्रसते हुए-से स्वप्नमें दिखायी दिये हैं ।। ३५ ।।

क्षपयिष्यति नः सर्वान् स सुव्यक्तं महारणे ।
विदितं मे हृषीकेश यतो धर्मस्ततो जयः ।। ३६ ।।

अतः यह स्पष्टरूपसे जान पड़ता है कि वे इस महायुद्धमें हम सब लोगोंका संहार कर डालेंगे। हृषीकेश! मुझे यह भी विदित है कि जहाँ धर्म है उसी पक्षकी विजय होती है ।। ३६ ।।

पाण्डुरं गजमारूढो गाण्डीवी स धनंजयः ।
त्वया सार्धं हृषीकेश श्रिया परमया ज्वलन् ।। ३७ ।।

'श्रीकृष्ण! इसी प्रकार गाण्डीवधारी धनंजय भी आपके साथ श्वेत गजराजपर आरूढ़ हो अपनी परम कान्तिसे प्रकाशित होते हुए मुझे स्वप्नमें दृष्टिगोचर हुए हैं ।। ३७ ।।

यूयं सर्वे वधिष्यध्वं तत्र मे नास्ति संशयः ।
पार्थिवान् समरे कृष्ण दुर्योधनपुरोगमान् ।। ३८ ।।

'अतः श्रीकृष्ण! आप सब लोग इस युद्धमें दुर्योधन आदि समस्त राजाओंका वध कर डालेंगे, इसमें मुझे संशय नहीं है ।। ३८ ।।

नकुलः सहदेवश्च सात्यकिश्च महारथः ।
शुक्लकेयूरकण्ठत्राः शुक्लमाल्याम्बरावृताः ।। ३९ ।।
अधिरूढा नरव्याघ्रा नरवाहनमुत्तमम् ।
त्रय एते मया दृष्टाः पाण्डुरच्छत्रवाससः ।। ४० ।।

'नकुल, सहदेव तथा महारथी सात्यकि—ये तीन नरश्रेष्ठ मुझे स्वप्नमें श्वेत भुजबन्द, श्वेत कण्ठहार, श्वेत वस्त्र और श्वेत मालाओंसे विभूषित हो उत्तम नरयान (पालकी)-पर चढ़े दिखायी दिये हैं। ये तीनों ही श्वेत छत्र और श्वेत वस्त्रोंसे सुशोभित थे ।। ३९-४० ।।

श्वेतोष्णीषाश्च दृश्यन्ते त्रय एते जनार्दन ।
धार्तराष्ट्रेषु सैन्येषु तान् विजानीहि केशव ।। ४१ ।।
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
रक्तोष्णीषाश्च दृश्यन्ते सर्वे माधव पार्थिवाः ।। ४२ ।।

'जनार्दन! दुर्योधनकी सेनाओंमेंसे मुझे तीन ही व्यक्ति स्वप्नमें श्वेत पगड़ीसे सुशोभित दिखायी दिये हैं। केशव! आप उनके नाम मुझसे जान लें। वे हैं—अश्वत्थामा, कृपाचार्य और यादव कृतवर्मा। माधव! अन्य सब नरेश मुझे लाल पगड़ी धारण किये दिखायी दिये हैं ।। ४१-४२ ।।

उष्ट्रप्रयुक्तमारूढौ भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
मया सार्धं महाबाहो धार्तराष्ट्रेण वा विभो ।। ४३ ।।
अगस्त्यशास्तां च दिशं प्रयाताः स्म जनार्दन ।
अचिरेणैव कालेन प्राप्स्यामो यमसादनम् ।। ४४ ।।

'महाबाहु जनार्दन! मैंने स्वप्नमें देखा, भीष्म और द्रोणाचार्य दोनों महारथी मेरे तथा दुर्योधनके साथ ऊँट जुते हुए रथपर आरूढ़ हो दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे थे। विभो! इसका फल यह होगा कि हमलोग थोड़े ही दिनोंमें यमलोक पहुँच जायँगे ।। ४३-४४ ।।

अहं चान्ये च राजानो यच्च तत् क्षत्रमण्डलम् ।
गाण्डीवाग्निं प्रवेक्ष्याम इति मे नास्ति संशयः ।। ४५ ।।

'मैं' अन्यान्य नरेश तथा वह सारा क्षत्रियसमाज सब-के-सब गाण्डीवकी अग्निमें प्रवेश कर जायँगे, इसमें संशय नहीं है ।। ४५ ।।

श्रीकृष्ण उवाच

उपस्थितविनाशेयं नूनमद्य वसुन्धरा ।
यथा हि मे वचः कर्ण नोपैति हृदयं तव ।। ४६ ।।

श्रीकृष्ण बोले—कर्ण! निश्चय ही अब इस पृथ्वीका विनाशकाल उपस्थित हो गया है; इसीलिये मेरी बात तुम्हारे हृदयतक नहीं पहुँचती है ।। ४६ ।।

सर्वेषां तात भूतानां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ।। ४७ ।।

तात! जब समस्त प्राणियोंका विनाश निकट आ जाता है, तब अन्याय भी न्यायके समान प्रतीत होकर हृदयसे निकल नहीं पाता है ।। ४७ ।।

कर्ण उवाच

अपि त्वां कृष्ण पश्याम जीवन्तोऽस्मान्महारणात् ।
समुत्तीर्णा महाबाहो वीरक्षत्रविनाशनात् ।। ४८ ।।

कर्ण बोला—महाबाहु श्रीकृष्ण! वीर क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले इस महायुद्धसे पार होकर यदि हम जीवित बच गये तो पुनः आपका दर्शन करेंगे ।। ४८ ।।

अथवा सङ्गमः कृष्ण स्वर्गे नो भविता ध्रुवम् ।
तत्रेदानीं समेष्यामः पुनः सार्धं त्वयानघ ।। ४९ ।।

अथवा श्रीकृष्ण! अब हमलोग स्वर्गमें ही मिलेंगे, यह निश्चित है। अनघ! वहाँ आजकी ही भाँति पुनः आपसे हमारी भेंट होगी ।। ४९ ।।

संजय उवाच

इत्युक्त्वा माधवं कर्णः परिष्वज्य च पीडितम् ।
विसर्जितः केशवेन रथोपस्थादवातरत् ।। ५० ।।

संजय कहते हैं—ऐसा कहकर कर्ण भगवान् श्रीकृष्णका प्रगाढ़ आलिंगन करके उनसे विदा ले रथके पिछले भागसे उतर गया ।। ५० ।।

ततः स्वरथमास्थाय जाम्बूनदविभूषितम् ।
सहास्माभिर्निववृते राधेयो दीनमानसः ।। ५१ ।।

तदनन्तर अपने सुवर्णभूषित रथपर आरूढ़ हो राधानन्दन कर्ण दीनचित्त होकर हमलोगोंके साथ लौट आया ।। ५१ ।।

ततः शीघ्रतरं प्रायात् केशवः सहसात्यकिः ।
पुनरुच्चारयन् वाणीं याहि याहीति सारथिम् ।। ५२ ।।

तदनन्तर सात्यकिसहित श्रीकृष्ण सारथिसे बार-बार ‘चलो-चलो’ ऐसा कहते हुए अत्यन्त तीव्र गतिसे उपप्लव्य नगरकी ओर चल दिये ।। ५२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे कृष्णकर्णसंवादे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने अभिप्राय निवेदनके प्रसंगमें भगवद्वाक्यविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४३ ।।

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुरकी बात सुनकर युद्धके भावी दुष्परिणामसे व्यथित हुई कुन्तीका बहुत सोच-विचारके बाद कर्णके पास जाना

वैशम्पायन उवाच

असिद्धानुनये कृष्णे कुरुभ्यः पाण्डवान् गते ।
अभिगम्य पृथां क्षत्ता शनैः शोचन्निवाब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब श्रीकृष्णका अनुनय असफल हो गया और वे कौरवोंके यहाँसे पाण्डवोंके पास चले गये, तब विदुरजी कुन्तीके पास जाकर शोकमग्न-से हो धीरे-धीरे इस प्रकार बोले— ।। १ ।।

जानासि मे जीवपुत्रि भावं नित्यमविग्रहे ।
क्रोशतो न च गृह्णीते वचनं मे सुयोधनः ।। २ ।।

'चिरंजीवी पुत्रोंको जन्म देनेवाली देवि! तुम तो जानती ही हो कि मेरी इच्छा सदासे यही रही है कि कौरवों और पाण्डवोंमें युद्ध न हो। इसके लिये मैं पुकार-पुकारकर कहता रह गया; परंतु दुर्योधन मेरी बात मानता ही नहीं है ।। २ ।।

उपपन्नो ह्यसौ राजा चेदिपाञ्चालकेकयैः ।
भीमार्जुनाभ्यां कृष्णेन युयुधानयमैरपि ।। ३ ।।

'राजा युधिष्ठिर चेदि, पांचाल तथा केकयदेशके वीर सैनिकगण, भीमसेन, अर्जुन, श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा नकुल-सहदेव आदि श्रेष्ठ सहायकोंसे सम्पन्न हैं ।। ३ ।।

उपप्लव्ये निविष्टोऽपि धर्ममेव युधिष्ठिरः ।
काङ्‌क्षते ज्ञाति सौहार्दाद् बलवान् दुर्बलो यथा ।। ४ ।।

'वे युद्धके लिये उद्यत हो उपप्लव्य नगरमें छावनी डालकर बैठे हुए हैं, तथापि भाई-बन्धुओंके सौहार्दवश धर्मकी ही आकांक्षा रखते हैं। बलवान् होकर भी दुर्बलकी भाँति संधि करना चाहते हैं ।। ४ ।।

राजा तु धृतराष्ट्रोऽयं वयोवृद्धो न शाम्यति ।
मत्तः पुत्रमदेनैव विधर्मे पथि वर्तते ।। ५ ।।

'यह राजा धृतराष्ट्र बूढ़े हो जानेपर भी शान्त नहीं हो रहे हैं। पुत्रोंके मदसे उन्मत्त हो अधर्मके मार्गपर ही चलते हैं ।। ५ ।।

जयद्रथस्य कर्णस्य तथा दुःशासनस्य च ।
सौबलस्य च दुर्बुद्ध्या मिथो भेदः प्रपत्स्यते ।। ६ ।।

‘जयद्रथ, कर्ण, दुःशासन तथा शकुनिकी खोटी बुद्धिसे कौरव-पाण्डवोंमें परस्पर फूट होकर ही रहेगी ।।

अधर्मेण हि धर्मिष्ठं कृतं वैकार्यमीदृशम् ।
येषां तेषामयं धर्मः सानुबन्धो भविष्यति ।। ७ ।।

‘(कौरवोंने चौदहवें वर्षमें पाण्डवोंको राज्य लौटा देनेकी प्रतिज्ञा करके भी उसका पालन नहीं किया।) जिन्हें ऐसा अधर्मजनित कार्य भी, जो परस्पर बिगाड़ करनेवाला है, धर्मसंगत प्रतीत होता है, उनका यह विकृत धर्म सफल होकर ही रहेगा (अधर्मका फल है दुःख और विनाश। वह उन्हें प्राप्त होगा ही) ।। ७ ।।

क्रियमाणे बलाद् धर्मे कुरुभिः को न संज्वरेत् ।
असाम्ना केशवे याते समुद्योक्ष्यन्ति पाण्डवाः ।। ८ ।।

‘कौरवोंके द्वारा धर्म मानकर किये जानेवाले इस बलात् किसको चिन्ता नहीं होगी। भगवान् श्रीकृष्ण संधिके प्रयत्नमें असफल होकर गये हैं; अतः पाण्डव भी अब युद्धके लिये महान् उद्योग करेंगे ।। ८ ।।

ततः कुरूणामनयो भविता वीरनाशनः ।
चिन्तयन् न लभे निद्रामहःसु च निशासु च ।। ९ ।।

‘इस प्रकार यह कौरवोंका अन्याय समस्त वीरोंका विनाश करनेवाला होगा। इन सब बातोंको सोचते हुए मुझे न तो दिनमें नींद आती है और न रातमें ही’ ।। ९ ।।

श्रुत्वा तु कुन्ती तद्वाक्यमर्थकामेन भाषितम् ।
सा निःश्वसन्ती दुःखार्ता मनसा विममर्श ह ।। १० ।।

विदुरजीने उभय पक्षके हितकी इच्छासे ही यह बात कही थी। इसे सुनकर कुन्ती दुःखसे आतुर हो उठी और लम्बी साँस खींचती हुई मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगी— ।। १० ।।

धिगस्त्वर्थं यत्कृतेऽयं महान् ज्ञातिवधः कृतः ।
वर्त्स्यते सुहृदां चैव युद्धेऽस्मिन् वै पराभवः ।। ११ ।।

‘अहो! इस धनको धिक्कार है, जिसके लिये परस्पर बन्धु-बान्धवोंका यह महान् संहार किया जानेवाला है। इस युद्धमें अपने सगे-सम्बन्धियोंका भी पराभव होगा ही ।। ११ ।।

पाण्डवाश्चेदिपञ्चाला यादवाश्च समागताः ।
भारतैः सह योत्स्यन्ति किं नु दुःखमतः परम् ।। १२ ।।

‘पाण्डव, चेदि, पांचाल और यादव एकत्र होकर भरतवंशियोंके साथ युद्ध करेंगे, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है? ।। १२ ।।

पश्ये दोषं ध्रुवं युद्धे तथायुद्धे पराभवम् ।
अधनस्य मृतं श्रेयो न हि ज्ञातिक्षयो जयः ।। १३ ।।

‘युद्धमें निश्चय ही मुझे बड़ा भारी दोष दिखायी देता है; परंतु युद्ध न होनेपर भी पाण्डवोंका पराभव स्पष्ट है। निर्धन होकर मृत्युको वरण कर लेना अच्छा है; परंतु बन्धु-बान्धवोंका विनाश करके विजय पाना कदापि अच्छा नहीं है ।। १३ ।।

इति मे चिन्तयन्त्या वै हृदि दुःखं प्रवर्तते ।
पितामहः शान्तनव आचार्यश्च युधां पतिः ।। १४ ।।
कर्णश्च धार्तराष्ट्रार्थं वर्धयन्ति भयं मम ।

‘यह सब सोचकर मेरे हृदयमें बड़ा दुःख हो रहा है। शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, योद्धाओंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण तथा कर्ण भी दुर्योधनके लिये ही युद्धभूमिमें उतरेंगे; अतः ये मेरे भयकी ही वृद्धि कर रहे हैं ।। १४ १/२ ।।

नाचार्यः कामवान् शिष्यैर्द्रोणो युद्ध्येत जातुचित् ।। १५ ।।
पाण्डवेषु कथं हार्दं कुर्यान्न च पितामहः ।

‘आचार्य द्रोण तो सदा हमारे हितकी इच्छा रखनेवाले हैं। वे अपने शिष्योंके साथ कभी युद्ध नहीं कर सकते। इसी प्रकार पितामह भीष्म भी पाण्डवोंके प्रति हार्दिक स्नेह कैसे नहीं रखेंगे? ।। १५ १/२ ।।

अयं त्वेको वृथादृष्टिर्धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।। १६ ।।
मोहानुवर्ती सततं पापो द्वेष्टि च पाण्डवान् ।

‘परंतु यह एकमात्र मिथ्यादर्शी कर्ण मोहवश सदा दुर्बुद्धि दुर्योधनका ही अनुसरण करनेवाला है। इसीलिये यह पापात्मा सर्वदा पाण्डवोंसे द्वेष ही रखता है ।। १६ १/२ ।।

महत्यनर्थे निर्बन्धी बलवांश्च विशेषतः ।। १७ ।।
कर्णः सदा पाण्डवानां तन्मे दहति सम्प्रति ।
आशंसे त्वद्य कर्णस्य मनोऽहं पाण्डवान् प्रति ।। १८ ।।
प्रसादयितुमासाद्य दर्शयन्ती यथातथम् ।

‘इसने सदा पाण्डवोंका बड़ा भारी अनर्थ करनेके लिये हठ ठान लिया है। साथ ही कर्ण अत्यन्त बलवान् भी है। यह बात इस समय मेरे हृदयको दग्ध किये देती है। अच्छा, आज मैं कर्णके मनको पाण्डवोंके प्रति प्रसन्न करनेके लिये उसके पास जाऊँगी और यथार्थ सम्बन्धका परिचय देती हुई उससे बातचीत करूँगी ।।

तोषितो भगवान् यत्र दुर्वासा मे वरं ददौ ।। १९ ।।
आह्वानं मन्त्रसंयुक्तं वसन्त्याः पितृवेश्मनि ।
साहमन्तःपुरे राज्ञः कुन्तिभोजपुरस्कृता ।। २० ।।
चिन्तयन्ती बहुविधं हृदयेन विदूयता ।
बलाबलं च मन्त्राणां ब्राह्मणस्य च वाग्बलम् ।। २१ ।।

‘जब मैं पिताके घर रहती थी, उन्हीं दिनों अपनी सेवाओंद्वारा मैंने भगवान् दुर्वासाको संतुष्ट किया और उन्होंने मुझे यह वर दिया कि मन्त्रोच्चारणपूर्वक आवाहन करनेपर मैं

किसी भी देवताको अपने पास बुला सकती हूँ। मेरे पिता कुन्तिभोज मेरा बड़ा आदर करते थे। मैं राजाके अन्तःपुरमें रहकर व्यथित हृदयसे मन्त्रोंके बलाबल और ब्राह्मणकी वाक्शक्तिके विषयमें अनेक प्रकारका विचार करने लगी ।। १९—२१ ।।

स्त्रीभावाद् बालभावाच्च चिन्तयन्ती पुनः पुनः ।
धात्र्या विस्रब्धया गुप्ता सखीजनवृता तदा ।। २२ ।।

'स्त्री-स्वभाव और बाल्यावस्थाके कारण मैं बार-बार इस प्रश्नको लेकर चिन्तामग्न रहने लगी। उन दिनों एक विश्वस्त धाय मेरी रक्षा करती थी और सखियाँ मुझे सदा घेरे रहती थीं' ।। २२ ।।

दोषं परिहरन्ती च पितुश्चारित्र्यरक्षिणी ।
कथं नु सुकृतं मे स्यान्नापराधवती कथम् ।। २३ ।।
भवेयमिति संचिन्त्य ब्राह्मणं तं नमस्य च ।
कौतूहलात् तु तं लब्ध्वा बालिश्यादाचरं तदा ।
कन्या सती देवमर्कमासादयमहं ततः ।। २४ ।।

'मैं अपने ऊपर आनेवाले सब प्रकारके दोषोंका निवारण करती हुई पिताकी दृष्टिमें अपने सदाचारकी रक्षा करती रहती थी। मैंने सोचा, क्या करूँ, जिससे मुझे पुण्य हो और मैं अपराधिनी न होऊँ। यह सोचकर मैंने मन-ही-मन उन ब्राह्मणदेवताको नमस्कार किया और उस मन्त्रको पाकर कौतूहल तथा अविवेकके कारण मैंने उसका प्रयोग आरम्भ कर दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि कन्यावस्थामें ही मुझे भगवान् सूर्यदेवका संयोग प्राप्त हुआ ।। २३-२४ ।।

योऽसौ कानीनगर्भो मे पुत्रवत् परिरक्षितः ।
कस्मान्न कुर्याद् वचनं पथ्यं भ्रातृहितं तथा ।। २५ ।।

'जो मेरा कानीन गर्भ है, इसे मैंने पुत्रकी भाँति अपने उदरमें पाला है। वह कर्ण अपने भाइयोंके हितके लिये कही हुई मेरी लाभदायक बात क्यों नहीं मानेगा?' ।। २५ ।।

इति कुन्ती विनिश्चित्य कार्यनिश्चयमुत्तमम् ।
कार्यार्थमभिनिश्चित्य ययौ भागीरथीं प्रति ।। २६ ।।

इस प्रकार उत्तम कर्तव्यका निश्चय करके अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धिके लिये एक निर्णयपर पहुँचकर कुन्ती भागीरथी गंगाके तटपर गयी ।। २६ ।।

आत्मजस्य ततस्तस्य घृणिनः सत्यसङ्गिनः ।
गङ्गातीरे पृथाश्रौषीद् वेदाध्ययननिःस्वनम् ।। २७ ।।

वहाँ गंगाके किनारे पहुँचकर कुन्तीने अपने दयालु और सत्यपरायण पुत्र कर्णके मुखसे वेदपाठकी गम्भीर ध्वनि सुनी ।। २७ ।।

प्राङ्मुखस्योर्ध्वबाहोः सा पर्यतिष्ठत पृष्ठतः ।
जप्यावसानं कार्यार्थं प्रतीक्षन्ती तपस्विनी ।। २८ ।।

वह अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाकर पूर्वाभिमुख हो जप कर रहा था और तपस्विनी कुन्ती उसके जपकी समाप्तिकी प्रतीक्षा करती हुई कार्यवश उसके पीछेकी ओर खड़ी रही ।। २८ ।।

अतिष्ठत् सूर्यतापार्ता कर्णस्योत्तरवाससि ।
कौरव्यपत्नी वार्ष्णेयी पद्ममालेव शुष्यती ।। २९ ।।

वृष्णिकुलनन्दिनी पाण्डुपत्नी कुन्ती वहाँ सूर्यदेवके तापसे पीड़ित हो कुम्हलाती हुई कमलमालाके समान कर्णके उत्तरीय वस्त्रकी छायामें खड़ी हो गयी ।। २९ ।।

आपृष्ठतापाज्जप्त्वा स परिवृत्य यतव्रतः ।
दृष्ट्वा कुन्तीमुपातिष्ठदभिवाद्य कृताञ्जलिः ।। ३० ।।

जबतक सूर्यदेव पीठकी ओर ताप न देने लगे (जबतक वे पूर्वसे पश्चिमकी ओर चले नहीं गये); तबतक जप करके नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाला कर्ण जब पीछेकी ओर घूमा, तब कुन्तीको सामने पाकर उसने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनके पास खड़ा हो गया ।। ३० ।।

यथान्यायं महातेजा मानी धर्मभृतां वरः ।
उत्स्मयन् प्रणतः प्राह कुन्तीं वैकर्तनो वृषः ।। ३१ ।।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ, अभिमानी और महातेजस्वी सूर्यपुत्र कर्ण जिसका दूसरा नाम वृष भी था, कुन्तीको यथोचित रीतिसे प्रणाम करके मुसकराता हुआ बोला ।। ३१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णका भेंटविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४४ ।।

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका कर्णको अपना प्रथम पुत्र बताकर उससे पाण्डवपक्षमें मिल जानेका अनुरोध

कर्ण उवाच

राधेयोऽहमाधिरथिः कर्णस्त्वामभिवादये ।
प्राप्ता किमर्थं भवती ब्रूहि किं करवाणि ते ।। १ ।।

कर्ण बोला—देवि! मैं राधा तथा अधिरथका पुत्र कर्ण हूँ और आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। आपने किसलिये यहाँतक आनेका कष्ट किया है? बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? ।। १ ।।

कुन्त्युवाच

कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाधिरथः पिता ।
नासि सूतकुले जातः कर्ण तद् विद्धि मे वचः ।। २ ।।

कुन्तीने कहा—कर्ण! तुम राधाके नहीं, कुन्तीके पुत्र हो। तुम्हारे पिता अधिरथ नहीं हैं और तुम सूतकुलमें नहीं उत्पन्न हुए हो। मेरी इस बातको ठीक मानो ।। २ ।।

कानीनस्त्वं मया जातः पूर्वजः कुक्षिणा धृतः ।
कुन्तिराजस्य भवने पार्थस्त्वमसि पुत्रक ।। ३ ।।

तुम कन्यावस्थामें मेरे गर्भसे उत्पन्न हुए प्रथम पुत्र हो। महाराज कुन्तिभोजके घरमें रहते समय मैंने तुम्हें गर्भमें धारण किया था; अतः बेटा! तुम पार्थ हो ।। ३ ।।

प्रकाशकर्मा तपनो योऽयं देवो विरोचनः ।
अजीजनत् त्वां मय्येष कर्ण शस्त्रभृतां वरम् ।। ४ ।।

कर्ण! ये जो जगत्में प्रकाश और उष्णता प्रदान करनेवाले भगवान् सूर्यदेव हैं, इन्होंने शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तुम-जैसे वीर पुत्रको मेरे गर्भसे उत्पन्न किया है ।।

कुण्डली बद्धकवचो देवगर्भः श्रिया वृतः ।
जातस्त्वमसि दुर्धर्ष मया पुत्र पितुर्गृहे ।। ५ ।।

दुर्धर्ष पुत्र! मैंने पिताके घरमें तुम्हें जन्म दिया था। तुम जन्मकालसे ही कुण्डल और कवच धारण किये देवबालकके समान शोभासम्पन्न रहे हो ।। ५ ।।

स त्वं भ्रातॄनसम्बुद्ध्य मोहाद् यदुपसेवसे ।
धार्तराष्ट्रान् न तद् युक्तं त्वयि पुत्र विशेषतः ।। ६ ।।

बेटा! तुम जो अपने भाइयोंसे अपरिचित रहकर मोहवश धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी सेवा कर रहे हो, वह तुम्हारे लिये कदापि योग्य नहीं है ।। ६ ।।

एतद् धर्मफलं पुत्र नराणां धर्मनिश्चये ।
यत् तुष्यन्त्यस्य पितरो माता चाप्येकदर्शिनी ।। ७ ।।

बेटा! धर्मशास्त्रमें मनुष्योंके लिये यही धर्मका उत्तम फल बताया गया है कि उनके पिता आदि गुरुजन तथा एकमात्र पुत्रपर ही दृष्टि रखनेवाली माता उनसे संतुष्ट रहें ।। ७ ।।

अर्जुनेनार्जितां पूर्वं हृतां लोभादसाधुभिः ।
आच्छिद्य धार्तराष्ट्रेभ्यो भुङ्क्ष्व यौधिष्ठिरीं श्रियम् ।। ८ ।।

अर्जुनने पूर्वकालमें जिसका उपार्जन किया था और दुष्टोंने लोभवश जिसे हर लिया है, युधिष्ठिरकी उस राज्यलक्ष्मीको तुम धृतराष्ट्रपुत्रोंसे छीनकर भाइयोंसहित उसका उपभोग करो ।। ८ ।।

अद्य पश्यन्ति कुरवः कर्णार्जुनसमागमम् ।
सौभ्रात्रेण समालक्ष्य संनमन्तामसाधवः ।। ९ ।।

आज उत्तम बन्धुजनोचित स्नेहके साथ कर्ण और अर्जुनका मिलन कौरवलोग देखें और इसे देखकर दुष्टलोग नतमस्तक हों ।। ९ ।।

कर्णार्जुनौ वै भवेतां यथा रामजनार्दनौ ।
असाध्यं किं तु लोके स्याद् युवयोः संहितात्मनोः ।। १० ।।

कर्ण और अर्जुन दोनों मिलकर वैसे ही बलशाली हैं जैसे बलराम और श्रीकृष्ण। बेटा! तुम दोनों हृदयसे संगठित हो जाओ तो इस जगत्में तुम्हारे लिये कौन-सा कार्य असाध्य होगा? ।। १० ।।

कर्ण शोभिष्यसे नूनं पञ्चभिर्भ्रातृभिर्वृतः ।
देवैः परिवृतो ब्रह्मा वेद्यामिव महाध्वरे ।। ११ ।।

कर्ण! जिस प्रकार महान् यज्ञकी वेदीपर देवगणोंसे घिरे हुए ब्रह्माजी सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार अपने पाँचों भाइयोंसे घिरे हुए तुम भी शोभा पाओगे ।। ११ ।।

उपपन्नो गुणैः सर्वैर्ज्येष्ठः श्रेष्ठेषु बन्धुषु ।
सूतपुत्रेति मा शब्दः पार्थस्त्वमसि वीर्यवान् ।। १२ ।।

अपने श्रेष्ठ स्वभाववाले बन्धुओंके बीचमें तुम सर्वगुणसम्पन्न ज्येष्ठ भ्राता परम पराक्रमी कुन्तीपुत्र कर्ण हो। तुम्हारे लिये सूतपुत्र शब्दका प्रयोग नहीं होना चाहिये ।। १२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णकी भेंटके प्रसंगमें एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४५ ।।

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णका कुन्तीको उत्तर तथा अर्जुनको छोड़कर शेष चारों पाण्डवोंको न मारनेकी प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

ततः सूर्यान्निश्चरितां कर्णः शुश्राव भारतीम् ।
दुरत्ययां प्रणयिनीं पितृवद् भास्करेरिताम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सूर्यमण्डलसे एक वाणी प्रकट हुई, जो सूर्यदेवकी ही कही हुई थी। उसमें पिताके समान स्नेह भरा हुआ था और वह दुर्लङ्घ्य प्रतीत होती थी। कर्णने उसे सुना ।। १ ।।

सत्यमाह पृथा वाक्यं कर्ण मातृवचः कुरु ।
श्रेयस्ते स्यान्नरव्याघ्र सर्वमाचरतस्तथा ।। २ ।।

(वह वाणी इस प्रकार थी—) ‘नरश्रेष्ठ कर्ण! कुन्ती सत्य कहती है। तुम माताकी आज्ञाका पालन करो। उसका पूर्णरूपसे पालन करनेपर तुम्हारा कल्याण होगा’ ।। २ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्य मात्रा च स्वयं पित्रा च भानुना ।
चचाल नैव कर्णस्य मतिः सत्यधृतेस्तदा ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! माता कुन्ती और पिता साक्षात् सूर्यदेवके ऐसा कहनेपर भी उस समय सच्चे धैर्यवाले कर्णकी बुद्धि विचलित नहीं हुई ।।

कर्ण उवाच

न चैतच्छ्रद्दधे वाक्यं क्षत्रिये भाषितं त्वया ।
धर्मद्वारं ममैतत् स्यान्नियोगकरणं तव ।। ४ ।।

कर्ण बोला—राजपुत्रि! तुमने जो कुछ कहा है, उसपर मेरी श्रद्धा नहीं होती। तुम्हारी इस आज्ञाका पालन करना मेरे लिये धर्मका द्वार है, इसपर भी मैं विश्वास नहीं करता ।। ४ ।।

अकरोन्मयि यत् पापं भवती सुमहात्ययम् ।
अपाकीर्णोऽस्मि यन्मातस्तद् यशः कीर्तिनाशनम् ।। ५ ।।

तुमने मेरे प्रति जो अत्याचार किया है, वह महान् कष्टदायक है। माता! तुमने जो मुझे पानीमें फेंक दिया, वह मेरे लिये यश और कीर्तिका नाशक बन गया ।। ५ ।।

अहं चेत् क्षत्रियो जातो न प्राप्तः क्षत्रसत्क्रियाम् ।
त्वत्कृते किं नु पापीयः शत्रुः कुर्यान्ममाहितम् ।। ६ ।।

यद्यपि मैं क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ था तो भी तुम्हारे कारण क्षत्रियोचित संस्कारसे वंचित रह गया। कोई शत्रु भी मेरा इससे बढ़कर कष्टदायक एवं अहितकारक कार्य और क्या कर सकता है? ।। ६ ।।

क्रियाकाले त्वनुक्रोशमकृत्वा त्वमिमं मम ।
हीनसंस्कारसमयमद्य मां समचूचुदः ।। ७ ।।

जब मेरे लिये कुछ करनेका अवसर था, उस समय तो तुमने यह दया नहीं दिखायी और आज जब मेरे संस्कारका समय बीत गया है, ऐसे समयमें तुम मुझे क्षात्रधर्मकी ओर प्रेरित करने चली हो ।। ७ ।।

न वै मम हितं पूर्वं मातृवच्चेष्टितं त्वया ।
सा मां सम्बोधयस्यद्य केवलात्महितैषिणी ।। ८ ।।

पूर्वकालमें तुमने माताके समान मेरे हितकी चेष्टा कभी नहीं की और आज केवल अपने हितकी कामना रखकर मुझे मेरे कर्तव्यका उपदेश दे रही हो ।। ८ ।।

कृष्णेन सहितात् को वै न व्यथेत धनंजयात् ।
कोऽद्य भीतं न मां विद्यात् पार्थानां समितिं गतम् ।। ९ ।।

श्रीकृष्णके साथ मिले हुए अर्जुनसे आज कौन वीर भय मानकर पीड़ित नहीं होता? यदि इस समय मैं पाण्डवोंकी सभामें सम्मिलित हो जाऊँ तो मुझे कौन भयभीत नहीं समझेगा? ।। ९ ।।

अभ्राता विदितः पूर्वं युद्धकाले प्रकाशितः ।
पाण्डवान् यदि गच्छामि किं मां क्षत्रं वदिष्यति ।। १० ।।

आजसे पहले मुझे कोई नहीं जानता था कि मैं पाण्डवोंका भाई हूँ। युद्धके समय मेरा यह सम्बन्ध प्रकाशमें आया है। इस समय यदि पाण्डवोंसे मिल जाऊँ तो क्षत्रियसमाज मुझे क्या कहेगा? ।। १० ।।

सर्वकामैः संविभक्तः पूजितश्च यथासुखम् ।
अहं वै धार्तराष्ट्राणां कुर्यां तदफलं कथम् ।। ११ ।।

धृतराष्ट्रके पुत्रोंने मुझे सब प्रकारकी मनोवांछित वस्तुएँ दी हैं और मुझे सुखपूर्वक रखते हुए सदा मेरा सम्मान किया है। उनके उस उपकारको मैं निष्फल कैसे कर सकता हूँ? ।। ११ ।।

उपनह्य परैर्वैरं ये मां नित्यमुपासते ।
नमस्कुर्वन्ति च सदा वसवो वासवं यथा ।। १२ ।।
मम प्राणेन ये शत्रूञ्शक्ताः प्रतिसमासितुम् ।
मन्यन्ते ते कथं तेषामहं छिन्द्यां मनोरथम् ।। १३ ।।

शत्रुओंसे वैर बाँधकर जो नित्य मेरी उपासना करते हैं तथा जैसे वसुगण इन्द्रको प्रणाम करते हैं, उसी प्रकार जो सदा मुझे मस्तक झुकाते हैं, मेरी ही प्राणशक्तिके भरोसे जो

शत्रुओंके सामने डटकर खड़े होनेका साहस करते हैं और इसी आशासे जो मेरा आदर करते हैं, उनके मनोरथको मैं छिन्न-भिन्न कैसे करूँ? ।। १२-१३ ।।

मया प्लवेन संग्रामं तितीर्षन्ति दुरत्ययम् ।
अपारे पारकामा ये त्यजेयं तानहं कथम् ।। १४ ।।

जो मुझको ही नौका बनाकर उसके सहारे दुर्लङ्घ्य समरसागरको पार करना चाहते हैं और मेरे ही भरोसे अपार संकटसे पार होनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें इस संकटके समयमें कैसे त्याग दूँ? ।। १४ ।।

अयं हि कालः सम्प्राप्तो धार्तराष्ट्रोपजीविनाम् ।
निर्वेष्टव्यं मया तत्र प्राणानपरिरक्षता ।। १५ ।।

दुर्योधनके आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करनेवालोंके लिये यही उपकारका बदला चुकानेके योग्य अवसर आया है। इस समय मुझे अपने प्राणोंकी रक्षा न करते हुए उनके ऋणसे उऋण होना है ।। १५ ।।

कृतार्थाः सुभृता ये हि कृत्यकाले ह्युपस्थिते ।
अनवेक्ष्य कृतं पापा विकुर्वन्त्यनवस्थिताः ।। १६ ।।
राजकिल्बिषिणां तेषां भर्तृपिण्डापहारिणाम् ।
नैवायं न परो लोको विद्यते पापकर्मणाम् ।। १७ ।।

जो किसीके द्वारा अच्छी तरह पालित-पोषित होकर कृतार्थ होते हैं; परंतु उस उपकारका बदला चुकाने-योग्य समय आनेपर जो अस्थिरचित्त पापात्मा पुरुष पूर्वकृत उपकारोंको न देखकर बदल जाते हैं, वे स्वामीके अन्नका अपहरण करनेवाले तथा उपकारी राजाके प्रति अपराधी हैं। उन पापाचारी कृतघ्नोंके लिये न तो यह लोक सुखद होता है न परलोक ही ।।

धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामर्थे योत्स्यामि ते सुतैः ।
बलं च शक्तिं चास्थाय न वै त्वय्यनृतं वदे ।। १८ ।।

मैं तुमसे झूठ नहीं बोलता। धृतराष्ट्रके पुत्रोंके लिये मैं अपनी शक्ति और बलके अनुसार तुम्हारे पुत्रोंके साथ युद्ध अवश्य करूँगा ।। १८ ।।

आनृशंस्यमथो वृत्तं रक्षन् सत्पुरुषोचितम् ।
अतोऽर्थकरमप्येतन्न करोम्यद्य ते वचः ।। १९ ।।

परंतु उस दशामें भी दयालुता तथा सज्जनोचित सदाचारकी रक्षा करता रहूँगा। इसीलिये लाभदायक होते हुए भी तुम्हारे इस आदेशको आज मैं नहीं मानूँगा ।। १९ ।।

न च तेऽयं समारम्भो मयि मोघो भविष्यति ।
वध्यान् विषह्यान् संग्रामे न हनिष्यामि ते सुतान् ।। २० ।।
युधिष्ठिरं च भीमं च यमौ चैवार्जुनादृते ।
अर्जुनेन समं युद्धमपि यौधिष्ठिरे बले ।। २१ ।।

परंतु मेरे पास आनेका जो कष्ट तुमने उठाया है, वह भी व्यर्थ नहीं होगा। संग्राममें तुम्हारे चार पुत्रोंको काबूके अंदर तथा वधके योग्य अवस्थामें पाकर भी मैं नहीं मारूँगा। वे चार हैं, अर्जुनको छोड़कर युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव। युधिष्ठिरकी सेनामें अर्जुनके साथ ही मेरा युद्ध होगा ।। २०-२१ ।।

अर्जुनं हि निहत्याजौ सम्प्राप्तं स्यात् फलं मया ।
यशसा चापि युज्येयं निहतः सव्यसाचिना ।। २२ ।।

अर्जुनको युद्धमें मार देनेपर मुझे संग्रामका फल प्राप्त हो जायगा अथवा स्वयं ही सव्यसाची अर्जुनके हाथसे मारा जाकर मैं यशका भागी बनूँगा ।। २२ ।।

न ते जातु न शिष्यन्ति पुत्राः पञ्च यशस्विनि ।
निरर्जुनाः सकर्णा वा सार्जुना वा हते मयि ।। २३ ।।

यशस्विनि! किसी भी दशामें तुम्हारे पाँच पुत्र अवश्य शेष रहेंगे। यदि अर्जुन मारे गये तो कर्णसहित और यदि मैं मारा गया तो अर्जुनसहित तुम्हारे पाँच पुत्र रहेंगे ।। २३ ।।

इति कर्णवचः श्रुत्वा कुन्ती दुःखात् प्रवेपती ।
उवाच पुत्रमाश्लिष्य कर्णं धैर्यादकम्पनम् ।। २४ ।।

कर्णकी यह बात सुनकर कुन्ती धैर्यसे विचलित न होनेवाले अपने पुत्र कर्णको हृदयसे लगाकर दुःखसे काँपती हुई बोली— ।। २४ ।।

एवं वै भाव्यमेतेन क्षयं यास्यन्ति कौरवाः ।
यथा त्वं भाषसे कर्ण दैवं तु बलवत्तरम् ।। २५ ।।

‘कर्ण! दैव बड़ा बलवान् है। तुम जैसा कहते हो वैसा ही हो। इस युद्धके द्वारा कौरवोंका संहार होगा ।।

त्वया चतुर्णां भ्रातॄणामभयं शत्रुकर्शन ।
दत्तं तत् प्रतिजानीहि संगरप्रतिमोचनम् ।। २६ ।।

‘शत्रुसूदन! तुमने अपने चार भाइयोंको अभयदान दिया है। युद्धमें उन्हें छोड़ देनेकी प्रतिज्ञापर दृढ़ रहना ।।

अनामयं स्वस्ति चेति पृथाथो कर्णमब्रवीत् ।
तां कर्णोऽथ तथेत्युक्त्वा ततस्तौ जग्मतुः पृथक् ।। २७ ।।

‘तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हें किसी प्रकारका कष्ट न हो।’ इस प्रकार जब कुन्तीने कर्णसे कहा, तब कर्णने भी ‘तथास्तु’ कहकर उसकी बात मान ली। फिर वे दोनों पृथक्-पृथक् अपने स्थानको चले गये ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णका भेंटविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४६ ।।

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पूछनेपर श्रीकृष्णका कौरवसभामें व्यक्त किये हुए भीष्मजीके वचन सुनाना

वैशम्पायन उवाच

आगम्य हास्तिनपुरादुपप्लव्यमरिंदमः ।
पाण्डवानां यथावृत्तं केशवः सर्वमुक्तवान् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने हस्तिनापुरसे उपप्लव्यमें आकर पाण्डवोंसे वहाँका सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया ।। १ ।।

सम्भाष्य सुचिरं कालं मन्त्रयित्वा पुनः पुनः ।
स्वमेव भवनं शौरिर्विश्रामार्थं जगाम ह ।। २ ।।

दीर्घकालतक बातचीत करके बारंबार गुप्त मन्त्रणा करनेके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण विश्रामके लिये अपने वासस्थानको गये ।। २ ।।

विसृज्य सर्वान् नृपतीन् विराटप्रमुखांस्तदा ।
पाण्डवा भ्रातरः पञ्च भानावस्तं गते सति ।। ३ ।।
संध्यामुपास्य ध्यायन्तस्तमेव गतमानसाः ।
आनाय्य कृष्णं दाशार्हं पुनर्मन्त्रममन्त्रयन् ।। ४ ।।

तदनन्तर सूर्यास्त होनेपर पाँचों भाई पाण्डव विराट आदि सब राजाओंको विदा करके संध्योपासना करनेके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णमें ही मन लगाकर कुछ कालतक उन्हींका ध्यान करते रहे। फिर दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णको बुलाकर वे उनके साथ गुप्त मन्त्रणा करने लगे ।।

युधिष्ठिर उवाच

त्वया नागपुरं गत्वा सभायां धृतराष्ट्रजः ।
किमुक्तः पुण्डरीकाक्ष तन्नः शंसितुमर्हसि ।। ५ ।।

युधिष्ठिर बोले—कमलनयन! आपने हस्तिनापुर जाकर कौरवसभामें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे क्या कहा, यह हमें बतानेकी कृपा करें ।। ५ ।।

वासुदेव उवाच

मया नागपुरं गत्वा सभायां धृतराष्ट्रजः ।
तथ्यं पथ्यं हितं चोक्तो न च गृह्णाति दुर्मतिः ।। ६ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन्! मैंने हस्तिनापुर जाकर कौरवसभामें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे यथार्थ लाभदायक और हितकर बात कही थी; परंतु वह दुर्बुद्धि उसे स्वीकार ही नहीं करता था ।। ६ ।।

युधिष्ठिर उवाच

तस्मिन्नुत्पथमापन्ने कुरुवृद्धः पितामहः ।
किमुक्तवान् हृषीकेश दुर्योधनममर्षणम् ।। ७ ।।

युधिष्ठिरने पूछा—हृषीकेश! दुर्योधनके कुमार्गका आश्रय लेनेपर कुरुकुलके वृद्ध पुरुष पितामह भीष्मने ईर्ष्या और अमर्षमें भरे हुए दुर्योधनसे क्या कहा? ।। ७ ।।

आचार्यो वा महाभाग भारद्वाजः किमब्रवीत् ।
पिता वा धृतराष्ट्रस्तं गान्धारी वा किमब्रवीत् ।। ८ ।।

महाभाग! भरद्वाजनन्दन आचार्य द्रोणने उस समय क्या कहा? पिता धृतराष्ट्र और माता गान्धारीने भी दुर्योधनसे उस समय क्या बात कही? ।। ८ ।।

पिता यवीयानस्माकं क्षत्ता धर्मविदां वरः ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः किमाह धृतराष्ट्रजम् ।। ९ ।।

हमारे छोटे चाचा धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ विदुरने भी, जो हम पुत्रोंके शोकसे सदा संतप्त रहते हैं, दुर्योधनसे क्या कहा? ।।

किं च सर्वे नृपतयः सभायां ये समासते ।

उक्तवन्तो यथातत्त्वं तद् ब्रूहि त्वं जनार्दन ।। १० ।।

जनार्दन! इसके सिवा जो समस्त राजालोग सभामें बैठे थे, उन्होंने अपना विचार किस रूपमें प्रकट किया? आप इन सब बातोंको ठीक-ठीक बताइये ।।

उक्तवान् हि भवान् सर्वं वचनं कुरुमुख्ययोः ।

धार्तराष्ट्रस्य तेषां हि वचनं कुरुसंसदि ।। ११ ।।

कामलोभाभिभूतस्य मन्दस्य प्राज्ञमानिनः ।

अप्रियं हृदये मह्यं तन्न तिष्ठति केशव ।। १२ ।।

कृष्ण! आपने कौरवसभामें निश्चय ही कुरुश्रेष्ठ भीष्म और धृतराष्ट्रके समीप सब बातें कह दी थीं। परंतु आपकी और उनकी उन सब बातोंको मेरे लिये हितकर होनेके कारण अपने लिये अप्रिय मानकर सम्भवतः काम और लोभसे अभिभूत मूर्ख एवं पण्डितमानी दुर्योधन अपने हृदयमें स्थान नहीं देता ।।

तेषां वाक्यानि गोविन्द श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो ।

यथा च नाभिपद्येत कालस्तात तथा कुरु ।

भवान् हि नो गतिः कृष्ण भवान् नाथो भवान् गुरुः ।। १३ ।।

गोविन्द! मैं उन सबकी कही हुई बातोंको सुनना चाहता हूँ। तात! ऐसा कीजिये, जिससे हमलोगोंका समय व्यर्थ न बीते। श्रीकृष्ण! आप ही हमलोगोंके आश्रय, आप ही रक्षक तथा आप ही गुरु हैं ।। १३ ।।

वासुदेव उवाच

शृणु राजन् यथा वाक्यमुक्तो राजा सुयोधनः ।

मध्ये कुरूणां राजेन्द्र सभायां तन्निबोध मे ।। १४ ।।

श्रीकृष्ण बोले—राजेन्द्र! मैंने कौरवसभामें राजा दुर्योधनसे जिस प्रकार बातें की हैं, वह बताता हूँ; सुनिये ।। १४ ।।

मया विश्राविते वाक्ये जहास धृतराष्ट्रजः ।

अथ भीष्मः सुसंक्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ।। १५ ।।

मैंने जब अपनी बात दुर्योधनसे सुनायी, तब वह हँसने लगा। यह देख भीष्मजी अत्यन्त कुपित हो उससे इस प्रकार बोले— ।। १५ ।।

दुर्योधन निबोधेदं कुलार्थे यद् ब्रवीमि ते ।

तच्छ्रुत्वा राजशार्दूल स्वकुलस्य हितं कुरु ।। १६ ।।

'दुर्योधन! मैं अपने कुलके हितके लिये तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो। नृपश्रेष्ठ! उसे सुनकर अपने कुलका हितसाधन करो ।। १६ ।।

मम तात पिता राजन् शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
तस्याहमेक एवासं पुत्रः पुत्रवतां वरः ।। १७ ।।

'तात! मेरे पिता शान्तनु विश्वविख्यात नरेश थे, जो पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ समझे जाते थे। राजन्! मैं उनका इकलौता पुत्र था ।। १७ ।।

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना द्वितीयः स्यात् कथं सुतः ।
एकपुत्रमपुत्रं वै प्रवदन्ति मनीषिणः ।। १८ ।।

'अतः उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'मेरे दूसरा पुत्र कैसे हो? क्योंकि मनीषी पुरुष एक पुत्रवालेको पुत्रहीन ही बताते हैं ।। १८ ।।

न चोच्छेदं कुलं यायाद् विस्तीर्येच्च कथं यशः ।
तस्याहमीप्सितं बुद्ध्वा कालीं मातरमावहम् ।। १९ ।।
प्रतिज्ञां दुष्करां कृत्वा पितुरर्थे कुलस्य च ।
अराजा चोर्ध्वरेताश्च यथा सुविदितं तव ।
प्रतीतो निवसाम्येष प्रतिज्ञामनुपालयन् ।। २० ।।

'किसी प्रकार इस कुलका उच्छेद न हो और इसके यशका सदा विस्तार होता रहे'—उनकी आन्तरिक इच्छा जानकर मैं कुलकी भलाई और पिताकी प्रसन्नताके लिये राजा न होने और जीवनभर ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) रहनेकी दुष्कर प्रतिज्ञा करके माता काली (सत्यवती)-को ले आया। ये सारी बातें तुमको अच्छी तरह ज्ञात हैं। मैं उसी प्रतिज्ञाका पालन करता हुआ सदा प्रसन्नतापूर्वक यहाँ निवास करता हूँ ।। १९-२० ।।

तस्यां जज्ञे महाबाहुः श्रीमान् कुरुकुलोद्वहः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कनीयान् मम पार्थिव ।। २१ ।।

'राजन्! सत्यवतीके गर्भसे कुरुकुलका भार वहन करनेवाले धर्मात्मा महाबाहु श्रीमान् विचित्रवीर्य उत्पन्न हुए, जो मेरे छोटे भाई थे ।। २१ ।।

स्वर्यातेऽहं पितरि तं स्वराज्ये संन्यवेशयम् ।
विचित्रवीर्यं राजानं भृत्यो भूत्वा ह्यधश्चरः ।। २२ ।।

'पिताके स्वर्गवासी हो जानेपर मैंने अपने राज्यपर राजा विचित्रवीर्यको ही बिठाया और स्वयं उनका सेवक होकर राज्यसिंहासनसे नीचे खड़ा रहा ।। २२ ।।

तस्याहं सदृशान् दारान् राजेन्द्र समुपाहरम् ।
जित्वा पार्थिवसङ्घातमपि ते बहुशः श्रुतम् ।। २३ ।।

'राजेन्द्र! उनके लिये राजाओंके समूहको जीतकर मैंने योग्य पत्नियाँ ला दीं। यह वृत्तान्त भी तुमने बहुत बार सुना होगा ।। २३ ।।

ततो रामेण समरे द्वन्द्वयुद्धमुपागमम् ।

स हि रामभयादेभिर्नागरैर्विप्रवासितः ।। २४ ।।

'तदनन्तर एक समय मैं परशुरामजीके साथ द्वन्द्वयुद्धके लिये समरभूमिमें उतरा। उन दिनों परशुरामजीके भयसे यहाँके नागरिकोंने राजा विचित्रवीर्यको इस नगरसे दूर हटा दिया था ।। २४ ।।

दारेष्वप्यतिसक्तश्च यक्ष्माणं समपद्यत ।
यदा त्वराजके राष्ट्रे न ववर्ष सुरेश्वरः ।
तदाभ्यधावन् मामेव प्रजाः क्षुद्भयपीडिताः ।। २५ ।।

'वे अपनी पत्नियोंमें अधिक आसक्त होनेके कारण राजयक्ष्माके रोगसे पीड़ित हो मृत्युको प्राप्त हो गये। तब बिना राजाके राज्यमें देवराज इन्द्रने वर्षा बंद कर दी, उस दशामें सारी प्रजा क्षुधाके भयसे पीड़ित हो मेरे ही पास दौड़ी आयी' ।। २५ ।।

प्रजा ऊचुः

उपक्षीणाः प्रजाः सर्वा राजा भव भवाय नः ।
ईतीः प्रणुद भद्रं ते शान्तनोः कुलवर्धन ।। २६ ।।

प्रजा बोली—शान्तनुके कुलकी वृद्धि करनेवाले महाराज! आपका कल्याण हो। राज्यकी सारी प्रजा क्षीण होती चली जा रही है। आप हमारे अभ्युदयके लिये राजा होना स्वीकार करें और अनावृष्टि आदि ईतियोंका भय दूर कर दें ।। २६ ।।

पीड्यन्ते ते प्रजाः सर्वा व्याधिभिर्भृशदारुणैः ।
अल्पावशिष्टा गाङ्गेय ताः परित्रातुमर्हसि ।। २७ ।।

गंगानन्दन! आपकी सारी प्रजा अत्यन्त भयंकर रोगोंसे पीड़ित है। प्रजाओंमेंसे बहुत थोड़े लोग जीवित बचे हैं। अतः आप उन सबकी रक्षा करें ।। २७ ।।

व्याधीन् प्रणुद वीर त्वं प्रजा धर्मेण पालय ।
त्वयि जीवति मा राष्ट्रं विनाशमुपगच्छतु ।। २८ ।।

वीर! आप रोगोंको हटावें और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करें। आपके जीते-जी इस राज्यका विनाश न हो जाय ।। २८ ।।

भीष्म उवाच

प्रजानां क्रोशतीनां वै नैवाक्षुभ्यत मे मनः ।
प्रतिज्ञां रक्षमाणस्य सद् वृत्तं स्मरतस्तथा ।। २९ ।।

भीष्म कहते हैं—प्रजाओंकी यह करुण पुकार सुनकर भी प्रतिज्ञाकी रक्षा और सदाचारका स्मरण करके मेरा मन क्षुब्ध नहीं हुआ ।। २९ ।।

ततः पौरा महाराज माता काली च मे शुभा ।
भृत्याः पुरोहिताचार्या ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः ।
मामूचुर्भृशसंतप्ता भव राजेति संततम् ।। ३० ।।

प्रतीपरक्षितं राष्ट्रं त्वां प्राप्य विनशिष्यति ।
स त्वमस्मद्धितार्थं वै राजा भव महामते ।। ३१ ।।

महाराज! तदनन्तर मेरी कल्याणमयी माता सत्यवती, पुरवासी, सेवक, पुरोहित, आचार्य और बहुश्रुत ब्राह्मण अत्यन्त संतप्त हो मुझसे बार-बार कहने लगे—'तुम्हीं राजा होओ, नहीं तो महाराज प्रतीपके द्वारा सुरक्षित राष्ट्र तुम्हारे निकट पहुँचकर नष्ट हो जायगा। अतः महामते! तुम हमारे हितके लिये राजा हो जाओ' ।। ३०-३१ ।।

इत्युक्तः प्राञ्जलिर्भूत्वा दुःखितो भृशमातुरः ।
तेभ्यो न्यवेदयं तत्र प्रतिज्ञां पितृगौरवात् ।। ३२ ।।

उनके ऐसा कहनेपर मैं अत्यन्त आतुर और दुःखी हो गया और मैंने हाथ जोड़कर उन सबसे पिताके महत्त्वकी ओर दृष्टि रखकर की हुई प्रतिज्ञाके विषयमें निवेदन किया ।। ३२ ।।

ऊर्ध्वरेता ह्यराजा च कुलस्यार्थे पुनः पुनः ।
विशेषतस्त्वदर्थं च धुरि मा मां नियोजय ।। ३३ ।।

फिर माता सत्यवतीसे कहा—'माँ! मैंने इस कुलकी वृद्धिके लिये और विशेषतः तुम्हें ही यहाँ ले आनेके लिये राजा न होने और नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहनेकी बारंबार प्रतिज्ञा की है। अतः तुम इस राज्यका बोझ सँभालनेके लिये मुझे नियुक्त न करो' ।। ३३ ।।

ततोऽहं प्राञ्जलिर्भूत्वा मातरं सम्प्रसादयम् ।
नाम्ब शान्तनुना जातः कौरवं वंशमुद्वहन् ।। ३४ ।।
प्रतिज्ञां वितथां कुर्यामिति राजन् पुनः पुनः ।
विशेषतस्त्वदर्थं च प्रतिज्ञां कृतवानहम् ।। ३५ ।।
अहं प्रेष्यश्च दासश्च तवाद्य सुतवत्सले ।

राजन्! तत्पश्चात् पुनः हाथ जोड़कर माताको प्रसन्न करनेके लिये मैंने विनयपूर्वक कहा—'अम्ब! मैं राजा शान्तनुसे उत्पन्न होकर कौरववंशकी मर्यादाका वहन करता हूँ। अतः अपनी की हुई प्रतिज्ञाको झूठी नहीं कर सकता।' यह बात मैंने बार-बार दुहरायी। इसके बाद फिर कहा—'पुत्रवत्सले! विशेषतः तुम्हारे ही लिये मैंने यह प्रतिज्ञा की थी। मैं तुम्हारा सेवक और दास हूँ (मुझसे वह प्रतिज्ञा तोड़नेके लिये न कहो)' ।। ३४-३५½ ।।

एवं तामनुनीयाहं मातरं जनमेव च ।। ३६ ।।
अयाचं भ्रातृदारेषु तदा व्यासं महामुनिम् ।
सह मात्रा महाराज प्रसाद्य तमृषिं तदा ।। ३७ ।।
अपत्यार्थं महाराज प्रसादं कृतवांश्च सः ।
त्रीन् स पुत्रानजनयत् तदा भरतसत्तम ।। ३८ ।।

महाराज! इस प्रकार माता तथा अन्य लोगोंको अनुनय-विनयके द्वारा अनुकूल करके माताके सहित मैंने महामुनि व्यासको प्रसन्न करके भाईकी स्त्रियोंसे पुत्र उत्पन्न करनेके

लिये उनसे प्रार्थना की। भरतकुल-भूषण! महर्षिने कृपा की और उन स्त्रियोंसे तीन पुत्र उत्पन्न किये ।। ३६—३८ ।।

अन्धः करणहीनत्वान्न वै राजा पिता तव ।
राजा तु पाण्डुरभवन्महात्मा लोकविश्रुतः ।। ३९ ।।

तुम्हारे पिता अंधे थे, अतः नेत्रेन्द्रियसे हीन होनेके कारण राजा न हो सके, तब लोकविख्यात महामना पाण्डु इस देशके राजा हुए ।। ३९ ।।

स राजा तस्य ते पुत्राः पितुर्दायाद्यहारिणः ।
मा तात कलहं कार्षी राज्यस्यार्धं प्रदीयताम् ।। ४० ।।

पाण्डु राजा थे और उनके पुत्र पाण्डव पिताकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हैं। अतः वत्स दुर्योधन! तुम कलह न करो। आधा राज्य पाण्डवोंको दे दो ।। ४० ।।

मयि जीवति राज्यं कः सम्प्रशासेत् पुमानिह ।
मावमंस्था वचो मह्यं शममिच्छामि वः सदा ।। ४१ ।।

मेरे जीते-जी मेरी इच्छाके विरुद्ध दूसरा कौन पुरुष यहाँ राज्य-शासन कर सकता है? ऐसा समझकर मेरे कथनकी अवहेलना न करो। मैं सदा तुमलोगोंमें शान्ति बनी रहनेकी शुभ कामना करता हूँ ।। ४१ ।।

न विशेषोऽस्ति मे पुत्र त्वयि तेषु च पार्थिव ।
मतमेतत् पितुस्तुभ्यं गान्धार्या विदुरस्य च ।। ४२ ।।

राजन्! मेरे लिये तुममें और पाण्डवोंमें कोई अन्तर नहीं है। तुम्हारे पिताका, गान्धारीका और विदुरका भी यही मत है ।। ४२ ।।

श्रोतव्यं खलु वृद्धानां नाभिशङ्कीर्वचो मम ।
नाशयिष्यसि मा सर्वमात्मानं पृथिवीं तथा ।। ४३ ।।

तुम्हें बड़े-बूढ़ोंकी बातें सुननी चाहिये। मेरी बातपर शंका न करो, नहीं तो तुम सबको, अपनेको और इस भूतलको भी नष्ट कर दोगे ।। ४३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भगवद्वाक्ये सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भगवद्‌वाक्यसम्बन्धी एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४७ ।।

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्य, विदुर तथा गान्धारीके युक्तियुक्त एवं महत्त्वपूर्ण वचनोंका भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा कथन

वासुदेव उवाच

भीष्मेणोक्ते ततो द्रोणो दुर्योधनमभाषत ।
मध्ये नृपाणां भद्रं ते वचनं वचनक्षमः ।। १ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! तुम्हारा कल्याण हो। भीष्मजीकी बात समाप्त होनेपर प्रवचन करनेमें समर्थ द्रोणाचार्यने राजाओंके बीचमें दुर्योधनसे इस प्रकार कहा — ।। १ ।।

प्रातीपः शान्तनुस्तात कुलस्यार्थे यथा स्थितः ।
यथा देवव्रतो भीष्मः कुलस्यार्थे स्थितोऽभवत् ।। २ ।।
तथा पाण्डुर्नरपतिः सत्यसंधो जितेन्द्रियः ।
राजा कुरूणां धर्मात्मा सुव्रतः सुसमाहितः ।। ३ ।।

'तात! जैसे प्रतीपपुत्र शान्तनु इस कुलकी भलाईमें ही लगे रहे, जैसे देवव्रत भीष्म इस कुलकी वृद्धिके लिये ही यहाँ स्थित हैं, उसी प्रकार सत्य-प्रतिज्ञ एवं जितेन्द्रिय राजा पाण्डु भी रहे हैं। वे कुरुकुलके राजा होते हुए भी सदा धर्ममें ही मन लगाये रहते थे। वे उत्तम व्रतके पालक तथा चित्तको एकाग्र रखनेवाले थे ।।

ज्येष्ठाय राज्यमददाद् धृतराष्ट्राय धीमते ।
यवीयसे तथा क्षत्त्रे कुरूणां वंशवर्धनः ।। ४ ।।

'कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले पाण्डुने अपने बड़े भाई बुद्धिमान् धृतराष्ट्रको तथा छोटे भाई विदुरको अपना राज्य धरोहररूपसे दिया ।। ४ ।।

ततः सिंहासने राजन् स्थापयित्वैनमच्युतम् ।
वनं जगाम कौरव्यो भार्याभ्यां सहितो नृपः ।। ५ ।।

'राजन्! कुरुकुलरत्न पाण्डुने अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले धृतराष्ट्रको सिंहासनपर बिठाकर स्वयं अपनी दोनों स्त्रियोंके साथ वनको प्रस्थान किया था ।। ५ ।।

नीचैः स्थित्वा तु विदुर उपास्ते स्म विनीतवत् ।
प्रेष्यवत् पुरुषव्याघ्रो वालव्यजनमुत्क्षिपन् ।। ६ ।।

'तदनन्तर पुरुषसिंह विदुर सेवककी भाँति नीचे खड़े होकर चँवर डुलाते हुए विनीतभावसे धृतराष्ट्रकी सेवामें रहने लगे ।। ६ ।।

ततः सर्वाः प्रजास्तात धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।

अन्वपद्यन्त विधिवद् यथा पाण्डुं जनाधिपम् ।। ७ ।।

'तात! तदनन्तर सारी प्रजा जैसे राजा पाण्डुके अनुगत रहती थी, उसी प्रकार विधिपूर्वक राजा धृतराष्ट्रके अधीन रहने लगी ।। ७ ।।

विसृज्य धृतराष्ट्राय राज्यं सविदुराय च ।

चचार पृथिवीं पाण्डुः सर्वां परपुरञ्जयः ।। ८ ।।

'इस प्रकार शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पाने-वाले पाण्डु विदुरसहित धृतराष्ट्रको अपना राज्य सौंपकर सारी पृथ्वीपर विचरने लगे ।। ८ ।।

कोशसंवनने दाने भृत्यानां चान्ववेक्षणे ।

भरणे चैव सर्वस्य विदुरः सत्यसङ्गरः ।। ९ ।।

'सत्यप्रतिज्ञ विदुर कोषको सँभालने, दान देने, भृत्यवर्गकी देखभाल करने तथा सबके भरण-पोषणके कार्यमें संलग्न रहते थे ।। ९ ।।

संधिविग्रहसंयुक्तो राज्ञां संवाहनक्रियाः ।

अवैक्षत महातेजा भीष्मः परपुरञ्जयः ।। १० ।।

'शत्रुनगरीको जीतनेवाले महातेजस्वी भीष्म संधि-विग्रहके कार्यमें संयुक्त हो राजाओंसे सेवा और कर आदि लेनेका काम सँभालते थे ।। १० ।।

सिंहासनस्थो नृपतिर्धृतराष्ट्रो महाबलः ।

अन्वास्यमानः सततं विदुरेण महात्मना ।। ११ ।।

'महाबली राजा धृतराष्ट्र केवल सिंहासनपर बैठे रहते और महात्मा विदुर सदा उनकी सेवामें उपस्थित रहते थे ।।

कथं तस्य कुले जातः कुलभेदं व्यवस्यसि ।

सम्भूय भ्रातृभिः सार्धं भुङ्क्ष्व भोगान् जनाधिप ।। १२ ।।

'उन्हींके वंशमें उत्पन्न होकर तुम इस कुलमें फूट क्यों डालते हो? राजन्! भाइयोंके साथ मिलकर मनोवांछित भोगोंका उपभोग करो ।। १२ ।।

ब्रवीम्यहं न कार्पण्यान्नार्थहेतोः कथंचन ।

भीष्मेण दत्तमिच्छामि न त्वया राजसत्तम ।। १३ ।।

'नृपश्रेष्ठ! मैं दीनतासे या धन पानेके लिये किसी प्रकार कोई बात नहीं कहता हूँ। मैं भीष्मका दिया हुआ पाना चाहता हूँ, तुम्हारा दिया नहीं ।। १३ ।।

नाहं त्वत्तोऽभिकाङ्क्षिष्ये वृत्त्युपायं जनाधिप ।

यतो भीष्मस्ततो द्रोणो यद् भीष्मस्त्वाह तत् कुरु ।। १४ ।।

'जनेश्वर! मैं तुमसे कोई जीविकाका साधन प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करूँगा। जहाँ भीष्म हैं, वहीं द्रोण हैं। जो भीष्म कहते हैं, उसका पालन करो ।। १४ ।।

दीयतां पाण्डुपुत्रेभ्यो राज्यार्धमरिकर्शन ।

सममाचार्यकं तात तव तेषां च मे सदा ।। १५ ।।

‘शत्रुसूदन! तुम पाण्डवोंका आधा राज्य दे दो। तात! मेरा यह आचार्यत्व तुम्हारे और पाण्डवोंके लिये सदा समान है ।। १५ ।।

अश्वत्थामा यथा मह्यं तथा श्वेतहयो मम ।
बहुना किं प्रलापेन यतो धर्मस्ततो जयः ।। १६ ।।

‘मेरे लिये जैसा अश्वत्थामा है वैसा ही श्वेत घोड़ोंवाला अर्जुन भी है। अधिक बकवाद करनेसे क्या लाभ? जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी विजय निश्चित है’ ।। १६ ।।

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते महाराज द्रोणेनामिततेजसा ।
व्याजहार ततो वाक्यं विदुरः सत्यसङ्गरः ।
पितुर्वदनमन्वीक्ष्य परिवृत्य च धर्मवित् ।। १७ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—महाराज! अमित-तेजस्वी द्रोणाचार्यके इस प्रकार कहनेपर सत्यप्रतिज्ञ धर्मज्ञ विदुरने ज्येष्ठ पिता भीष्मकी ओर घूमकर उनके मुँहकी ओर देखते हुए इस प्रकार कहा ।। १७ ।।

विदुर उवाच

देवव्रत निबोधेदं वचनं मम भाषतः ।
प्रणष्टः कौरवो वंशस्त्वयायं पुनरुद्धृतः ।। १८ ।।

विदुर बोले—देवव्रतजी! मेरी यह बात सुनिये। यह कौरववंश नष्ट हो चला था, जिसका आपने पुनः उद्धार किया था ।। १८ ।।

तन्मे विलपमानस्य वचनं समुपेक्षसे ।
कोऽयं दुर्योधनो नाम कुलेऽस्मिन् कुलपांसनः ।। १९ ।।
यस्य लोभाभिभूतस्य मतिं समनुवर्तसे ।
अनार्यस्याकृतज्ञस्य लोभेन हृतचेतसः ।। २० ।।

मैं भी उसी वंशकी रक्षाके लिये विलाप कर रहा हूँ; परंतु न जाने क्यों आप मेरे कथनकी उपेक्षा कर रहे हैं। मैं पूछता हूँ, यह कुलांगार दुर्योधन इस कुलका कौन है? जिसके लोभके वशीभूत होनेपर भी आप उसकी बुद्धिका अनुसरण कर रहे हैं। लोभने इसकी विवेकशक्ति हर ली है। इसकी बुद्धि दूषित हो गयी है तथा यह पूरा अनार्य बन गया है ।। १९-२० ।।

अतिक्रामति यः शास्त्रं पितुर्धर्मार्थदर्शिनः ।
एते नश्यन्ति कुरवो दुर्योधनकृतेन वै ।। २१ ।।

यह शास्त्रकी आज्ञाका तो उल्लंघन करता ही है। धर्म और अर्थपर दृष्टि रखनेवाले अपने पिताकी भी बात नहीं मानता है। निश्चय ही एकमात्र दुर्योधनके कारण ये समस्त कौरव नष्ट हो रहे हैं ।। २१ ।।

यथा ते न प्रणश्येयुर्महाराज तथा कुरु ।
मां चैव धृतराष्ट्रं च पूर्वमेव महामते ।। २२ ।।
चित्रकार इवालेख्यं कृत्वा स्थापितवानसि ।

महाराज! ऐसा कोई उपाय कीजिये, जिससे इनका नाश न हो। महामते! जैसे चित्रकार किसी चित्रको बनाकर एक जगह रख देता है, उसी प्रकार आपने मुझको और धृतराष्ट्रको पहलेसे ही निकम्मा बनाकर रख दिया है ।। २२½ ।।

प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा यथा संहरते तथा ।। २३ ।।
नोपेक्षस्व महाबाहो पश्यमानः कुलक्षयम् ।

महाबाहो! जैसे प्रजापति प्रजाकी सृष्टि करके पुनः उसका संहार करते हैं, उसी प्रकार आप भी अपने कुलका विनाश देखकर उसकी उपेक्षा न कीजिये ।।

अथ तेऽद्य मतिर्नष्टा विनाशे प्रत्युपस्थिते ।। २४ ।।
वनं गच्छ मया सार्धं धृतराष्ट्रेण चैव ह ।

यदि इन दिनों विनाशकाल उपस्थित होनेके कारण आपकी बुद्धि नष्ट हो गयी हो तो मेरे और धृतराष्ट्रके साथ वनमें पधारिये ।। २४½ ।।

बद्ध्वा वा निकृतिप्रज्ञं धार्तराष्ट्रं सुदुर्मतिम् ।। २५ ।।
शाधीदं राज्यमद्याशु पाण्डवैरभिरक्षितम् ।

अथवा जिसकी बुद्धि सदा छल-कपटमें ही लगी रहती है उस परम दुर्बुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको शीघ्र ही बाँधकर पाण्डवोंद्वारा सुरक्षित इस राज्यका शासन कीजिये ।। २५½ ।।

प्रसीद राजशार्दूल विनाशो दृश्यते महान् ।। २६ ।।
पाण्डवानां कुरूणां च राज्ञाममिततेजसाम् ।
विररामैवमुक्त्वा तु विदुरो दीनमानसः ।
प्रध्यायमानः स तदा निःश्वसंश्च पुनः पुनः ।। २७ ।।

नृपश्रेष्ठ! प्रसन्न होइये। पाण्डवों, कौरवों तथा अमिततेजस्वी राजाओंका महान् विनाश दृष्टिगोचर हो रहा है। ऐसा कहकर दीनचित्त विदुरजी चुप हो गये और विशेष चिन्तामें मग्न होकर उस समय बार-बार लंबी साँसें खींचने लगे ।। २६-२७ ।।

ततोऽथ राज्ञः सुबलस्य पुत्री
धर्मार्थयुक्तं कुलनाशभीता ।
दुर्योधनं पापमतिं नृशंसं
राज्ञां समक्षं सुतमाह कोपात् ।। २८ ।।

तदनन्तर राजा सुबलकी पुत्री गान्धारी अपने कुलके विनाशसे भयभीत हो क्रूर स्वभाववाले पापबुद्धि पुत्र दुर्योधनसे समस्त राजाओंके समक्ष क्रोधपूर्वक यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन बोली— ।। २८ ।।

ये पार्थिवा राजसभां प्रविष्टा
ब्रह्मर्षयो ये च सभासदोऽन्ये ।
शृण्वन्तु वक्ष्यामि तवापराधं
पापस्य सामात्यपरिच्छदस्य ।। २९ ।।

'जो-जो राजा, ब्रह्मर्षि तथा अन्य सभासद् इस राजसभाके भीतर आये हैं, वे सब लोग मन्त्री और सेवकोंसहित तुझ पापी दुर्योधनके अपराधोंको सुनें। मैं वर्णन करती हूँ ।। २९ ।।

राज्यं कुरूणामनुपूर्वभोज्यं
क्रमागतो नः कुलधर्म एषः ।
त्वं पापबुद्धेऽतिनृशंसकर्मन्
राज्यं कुरूणामनयाद् विहंसि ।। ३० ।।

'हमारे यहाँ परम्परासे चला आनेवाला कुलधर्म यही है कि यह कुरुराज्य पूर्व-पूर्व अधिकारीके कमसे उपभोगमें आवे (अर्थात् पहले पिताके अधिकारमें रहे, फिर पुत्रके, पिताके जीते-जी पुत्र राज्यका अधिकारी नहीं हो सकता); परंतु अत्यन्त क्रूर कर्म करनेवाले पापबुद्धि दुर्योधन! तू अपने अन्यायसे इस कौरवराज्यका विनाश कर रहा है ।। ३० ।।

राज्ये स्थितो धृतराष्ट्रो मनीषी
तस्यानुजो विदुरो दीर्घदर्शी ।
एतावतिक्रम्य कथं नृपत्वं
दुर्योधन प्रार्थयसेऽद्य मोहात् ।। ३१ ।।

'इस राज्यपर अधिकारीके रूपमें परम बुद्धिमान् धृतराष्ट्र और उनके छोटे भाई दूरदर्शी विदुर स्थापित किये गये थे। दुर्योधन! इन दोनोंका उल्लंघन करके तू आज मोहवश अपना प्रभुत्व कैसे जमाना चाहता है ।। ३१ ।।

राजा च क्षत्ता च महानुभावौ
भीष्मे स्थिते परवन्तौ भवेताम् ।
अयं तु धर्मज्ञतया महात्मा
न कामयेद् यो नृवरो नदीजः ।। ३२ ।।

'राजा धृतराष्ट्र और विदुर—ये दोनों महानुभाव भी भीष्मके जीते-जी पराधीन ही रहेंगे (भीष्मके रहते इन्हें राज्य लेनेका कोई अधिकार नहीं है); परंतु धर्मज्ञ होनेके कारण ये नरश्रेष्ठ महात्मा गंगानन्दन राज्य लेनेकी इच्छा ही नहीं रखते हैं ।। ३२ ।।

राज्यं तु पाण्डोरिदमप्रधृष्यं
तस्याद्य पुत्राः प्रभवन्ति नान्ये ।
राज्यं तदेतन्निखिलं पाण्डवानां
पैतामहं पुत्रपौत्रानुगामि ।। ३३ ।।

‘वास्तवमें यह दुर्धर्ष राज्य महाराज पाण्डुका है। उन्हींके पुत्र इसके अधिकारी हो सकते हैं, दूसरे नहीं। अतः यह सारा राज्य पाण्डवोंका है; क्योंकि बाप-दादोंका राज्य पुत्र-पौत्रोंके पास ही जाता है ।। ३३ ।।

यद् वै ब्रूते कुरुमुख्यो महात्मा
देवव्रतः सत्यसंधो मनीषी ।
सर्वं तदस्माभिरहत्य कार्यं
राज्यं स्वधर्मान् परिपालयद्भिः ।। ३४ ।।

‘कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष सत्यप्रतिज्ञ एवं बुद्धिमान् महात्मा देवव्रत जो कुछ कहते हैं, उसे राज्य और स्वधर्मका पालन करनेवाले हम सब लोगोंको बिना काट-छाँट किये पूर्णरूपसे मान लेना चाहिये ।। ३४ ।।

अनुज्ञया चाथ महाव्रतस्य
ब्रूयान्नृपोऽयं विदुरस्तथैव ।
कार्यं भवेत् तत् सुहृद्भिर्नियोज्यं
धर्मं पुरस्कृत्य सुदीर्घकालम् ।। ३५ ।।

‘अथवा इन महान् व्रतधारी भीष्मजीकी आज्ञासे यह राजा धृतराष्ट्र तथा विदुर भी इस विषयमें कुछ कह सकते हैं और अन्य सुहृदोंको भी धर्मको सामने रखते हुए उसीका सुदीर्घ कालतक पालन करना चाहिये ।। ३५ ।।

न्यायागतं राज्यमिदं कुरूणां
युधिष्ठिरः शास्तु वै धर्मपुत्रः ।
प्रचोदितो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
पुरस्कृतः शान्तनवेन चैव ।। ३६ ।।

‘कौरवोंके इस न्यायतः प्राप्त राज्यका धर्मपुत्र युधिष्ठिर ही शासन करें और वे राजा धृतराष्ट्र तथा शान्तनुनन्दन भीष्मसे कर्तव्यकी शिक्षा लेते रहें’ ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४८ ।।

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके प्रति धृतराष्ट्रके युक्तिसंगत वचन—पाण्डवोंको आधा राज्य देनेके लिये आदेश

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते तु गान्धार्या धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
दुर्योधनमुवाचेदं राजमध्ये जनाधिप ।। १ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! गान्धारीके ऐसा कहनेपर राजा धृतराष्ट्रने समस्त राजाओंके बीच दुर्योधनसे इस प्रकार कहा— ।। १ ।।

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि पुत्रक।
तथा तत् कुरु भद्रं ते यद्यस्ति पितृगौरवम् ।। २ ।।

'बेटा दुर्योधन! मेरी यह बात सुन। तेरा कल्याण हो। यदि तेरे मनमें पिताके लिये कुछ भी गौरव है तो तुझसे जो कुछ कहूँ, उसका पालन कर ।। २ ।।

सोमः प्रजापतिः पूर्वं कुरूणां वंशवर्धनः।
सोमाद् बभूव षष्ठोऽयं ययातिर्नहुषात्मजः ।। ३ ।।

'सबसे पहले प्रजापति सोम हुए, जो कौरववंशकी वृद्धिके आदि कारण हैं। सोमसे छठी पीढ़ीमें नहुषपुत्र ययातिका जन्म हुआ ।। ३ ।।

तस्य पुत्रा बभूवुर्हि पञ्च राजर्षिसत्तमाः।
तेषां यदुर्महातेजा ज्येष्ठः समभवत् प्रभुः ।। ४ ।।
पूरुर्यवीयांश्च ततो योऽस्माकं वंशवर्धनः।
शर्मिष्ठया सम्प्रसूतो दुहित्रा वृषपर्वणः ।। ५ ।।

'ययातिके पाँच पुत्र हुए, जो सब-के-सब श्रेष्ठ राजर्षि थे। उनमें महातेजस्वी एवं शक्तिशाली ज्येष्ठ पुत्र यदु थे और सबसे छोटे पुत्रका नाम पूरु हुआ, जिन्होंने हमारे इस वंशकी वृद्धि की है। वे वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे ।। ४-५ ।।

यदुश्च भरतश्रेष्ठ देवयान्याः सुतोऽभवत्।
दौहित्रस्तात शुक्रस्य काव्यस्यामिततेजसः ।। ६ ।।

'भरतश्रेष्ठ! यदु देवयानीके पुत्र थे। तात! वे अमित तेजस्वी शुक्राचार्यके दौहित्र लगते थे ।। ६ ।।

यादवानां कुलकरो बलवान् वीर्यसम्मतः।
अवमेने स तु क्षत्रं दर्पपूर्णः सुमन्दधीः ।। ७ ।।

'वे बलवान्, उत्तम पराक्रमसे सम्पन्न एवं यादवोंके वंशप्रवर्तक हुए थे। उनकी बुद्धि बड़ी मन्द थी और उन्होंने घमंडमें आकर समस्त क्षत्रियोंका अपमान किया था ।। ७ ।।

न चातिष्ठत् पितुः शास्त्रे बलदर्पविमोहितः ।
अवमेने च पितरं भ्रातृंश्चाप्यपराजितः ।। ८ ।।

'बलके घमंडसे वे इतने मोहित हो रहे थे कि पिताके आदेशपर चलते ही नहीं थे। किसीसे पराजित न होनेवाले यदु अपने भाइयों और पिताका भी अपमान करते थे ।। ८ ।।

पृथिव्यां चतुरन्तायां यदुरेवाभवद् बली ।
वशे कृत्वा स नृपतीन् न्यवसन्नागसाह्वये ।। ९ ।।

'चारों समुद्र जिसके अन्तमें हैं, उस भूमण्डलमें यदु ही सबसे अधिक बलवान् थे। वे समस्त राजाओंको वशमें करके हस्तिनापुरमें निवास करते थे ।। ९ ।।

तं पिता परमक्रुद्धो ययातिर्नहुषात्मजः ।
शशाप पुत्रं गान्धारे राज्याच्चापि व्यरोपयत् ।। १० ।।

'गान्धारीपुत्र! यदुके पिता नहुषनन्दन ययातिने अत्यन्त कुपित होकर यदुको शाप दे दिया और उन्हें राज्यसे भी उतार दिया ।। १० ।।

ये चैनमन्ववर्तन्त भ्रातरो बलदर्पिताः ।
शशाप तानभिक्रुद्धो ययातिस्तनयानथ ।। ११ ।।

'अपने बलका घमंड रखनेवाले जिन-जिन भाइयोंने यदुका अनुसरण किया, ययातिने कुपित होकर अपने उन पुत्रोंको भी शाप दे दिया ।। ११ ।।

यवीयांसं ततः पूरुं पुत्रं स्ववशवर्तिनम् ।
राज्ये निवेशयामास विधेयं नृपसत्तमः ।। १२ ।।

'तदनन्तर अपने अधीन रहनेवाले आज्ञापालक छोटे पुत्र पूरुको नृपश्रेष्ठ ययातिने राज्यपर बिठाया ।।

एवं ज्येष्ठोऽप्यथोत्सिक्तो न राज्यमभिजायते ।
यवीयांसोऽपि जायन्ते राज्यं वृद्धोपसेवया ।। १३ ।।

'इस प्रकार यह सिद्ध है कि ज्येष्ठ पुत्र भी यदि अहंकारी हो तो उसे राज्यकी प्राप्ति नहीं होती और छोटे पुत्र भी वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करनेसे राज्य पानेके अधिकारी हो जाते हैं ।। १३ ।।

तथैव सर्वधर्मज्ञः पितुर्मम पितामहः ।
प्रतीपः पृथिवीपालस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।। १४ ।।

'इसी प्रकार मेरे पिताके पितामह राजा प्रतीप सब धर्मोंके ज्ञाता एवं तीनों लोकोंमें विख्यात थे ।। १४ ।।

तस्य पार्थिवसिंहस्य राज्यं धर्मेण शासतः ।
त्रयः प्रजज्ञिरे पुत्रा देवकल्पा यशस्विनः ।। १५ ।।

‘धर्मपूर्वक राज्यका शासन करते हुए नृपप्रवर प्रतीपके तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो देवताओंके समान तेजस्वी और यशस्वी थे ।। १५ ।।

देवापिरभवच्छ्रेष्ठो बाह्लीकस्तदनन्तरम् ।
तृतीयः शान्तनुस्तात धृतिमान् मे पितामहः ।। १६ ।।

‘तात! उन तीनोंमें सबसे श्रेष्ठ थे देवापि। उनके बादवाले राजकुमारका नाम बाह्लीक था तथा प्रतीपके तीसरे पुत्र मेरे धैर्यवान् पितामह शान्तनु थे ।। १६ ।।

देवापिस्तु महातेजास्त्वग्दोषी राजसत्तमः ।
धार्मिकः सत्यवादी च पितुः शुश्रूषणे रतः ।। १७ ।।
पौरजानपदानां च सम्मतः साधुसत्कृतः ।
सर्वेषां बालवृद्धानां देवापिर्हृदयंगमः ।। १८ ।।

‘नृपश्रेष्ठ देवापि महान् तेजस्वी होते हुए भी चर्मरोगसे पीड़ित थे। वे धार्मिक, सत्यवादी, पिताकी सेवामें तत्पर, साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित तथा नगर एवं जनपद-निवासियोंके लिये आदरणीय थे। देवापिने बालकोंसे लेकर वृद्धोंतक सभीके हृदयमें अपना स्थान बना लिया था ।। १७-१८ ।।

वदान्यः सत्यसंधश्च सर्वभूतहिते रतः ।
वर्तमानः पितुः शास्त्रे ब्राह्मणानां तथैव च ।। १९ ।।

‘वे उदार, सत्यप्रतिज्ञ और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले थे। पिता तथा ब्राह्मणोंके आदेशके अनुसार चलते थे ।। १९ ।।

बाह्लीकस्य प्रियो भ्राता शान्तनोश्च महात्मनः ।
सौभ्रात्रं च परं तेषां सहितानां महात्मनाम् ।। २० ।।

‘वे बाह्लीक तथा महात्मा शान्तनुके प्रिय बन्धु थे। परस्पर संगठित रहनेवाले उन तीनों महामना बन्धुओंका परस्पर अच्छे भाईका-सा स्नेहपूर्ण बर्ताव था ।। २० ।।

अथ कालस्य पर्याये वृद्धो नृपतिसत्तमः ।
सम्भारानभिषेकार्थं कारयामास शास्त्रतः ।। २१ ।।

‘तदनन्तर कुछ काल बीतनेपर बूढ़े नृपश्रेष्ठ प्रतीपने शास्त्रीय विधिके अनुसार राज्याभिषेकके लिये सामग्रियोंका संग्रह कराया ।। २१ ।।

कारयामास सर्वाणि मङ्गलार्थानि वै विभुः ।
तं ब्राह्मणाश्च वृद्धाश्च पौरजानपदैः सह ।। २२ ।।
सर्वे निवारयामासुर्देवापेरभिषेचनम् ।

‘उन्होंने देवापिके मंगलके लिये सभी आवश्यक कृत्य सम्पन्न कराये; परंतु उस समय सब ब्राह्मणों तथा वृद्ध पुरुषोंने नगर और जनपदके लोगोंके साथ आकर देवापिका राज्याभिषेक रोक दिया ।। २२ $\frac{१}{२}$ ।।

स तच्छ्रुत्वा तु नृपतिरभिषेकनिवारणम् ।

अश्रुकण्ठोऽभवद् राजा पर्यशोचत चात्मजम् ।। २३ ।।

‘किंतु राज्याभिषेक रोकनेकी बात सुनकर राजा प्रतीपका गला भर आया और वे अपने पुत्रके लिये शोक करने लगे ।। २३ ।।

एवं वदान्यो धर्मज्ञः सत्यसंधश्च सोऽभवत् ।
प्रियः प्रजानामपि संस्त्वग्दोषेण प्रदूषितः ।। २४ ।।

‘इस प्रकार यद्यपि देवापि उदार, धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजाओंके प्रिय थे, तथापि पूर्वोक्त चर्मरोगके कारण दूषित मान लिये गये ।। २४ ।।

हीनाङ्गं पृथिवीपालं नाभिनन्दन्ति देवताः ।
इति कृत्वा नृपश्रेष्ठं प्रत्यषेधन् द्विजर्षभाः ।। २५ ।।

‘जो किसी अंगसे हीन हो उस राजाका देवतालोग अभिनन्दन नहीं करते हैं; इसीलिये उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने नृपप्रवर प्रतीपको देवापिका अभिषेक करनेसे मना कर दिया था ।। २५ ।।

ततः प्रव्यथिताङ्गोऽसौ पुत्रशोकसमन्वितः ।
निवारितं नृपं दृष्ट्वा देवापिः संश्रितो वनम् ।। २६ ।।

‘इससे राजाको बड़ा कष्ट हुआ। वे पुत्रके लिये शोकमग्न हो गये। राजाको रोका गया देखकर देवापि वनमें चले गये ।। २६ ।।

बाह्लीको मातुलकुलं त्यक्त्वा राज्यं समाश्रितः ।
पितृभ्रातॄन् परित्यज्य प्राप्तवान् परमर्द्धिमत् ।। २७ ।।

‘बाह्लीक परम समृद्धिशाली राज्य तथा पिता और भाइयोंको छोड़कर मामाके घर चले गये ।। २७ ।।

बाह्लीकेन त्वनुज्ञातः शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
पितर्युपरते राजन् राजा राज्यमकारयत् ।। २८ ।।

‘राजन्! तदनन्तर पिताकी मृत्यु होनेके पश्चात् बाह्लीककी आज्ञा लेकर लोकविख्यात राजा शान्तनुने राज्यका शासन किया ।। २८ ।।

तथैवाहं मतिमता परिचिन्त्येह पाण्डुना ।
ज्येष्ठः प्रभ्रंशितो राज्याद्धीनाङ्ग इति भारत ।। २९ ।।

‘भारत! इसी प्रकार मैं भी अंगहीन था; इसलिये ज्येष्ठ होनेपर भी बुद्धिमान् पाण्डु एवं प्रजाजनोंके द्वारा खूब सोच-विचारकर राज्यसे वंचित कर दिया गया ।। २९ ।।

पाण्डुस्तु राज्यं सम्प्राप्तः कनीयानपि सन् नृपः ।
विनाशे तस्य पुत्राणामिदं राज्यमरिंदम ।। ३० ।।

‘पाण्डुने अवस्थामें छोटे होनेपर भी राज्य प्राप्त किया और वे एक अच्छे राजा बनकर रहे हैं। शत्रुदमन दुर्योधन! पाण्डुकी मृत्युके पश्चात् उनके पुत्रोंका ही यह राज्य है ।। ३० ।।

मय्यभागिनि राज्याय कथं त्वं राज्यमिच्छसि ।

अराजपुत्रो ह्यस्वामी परस्वं हर्तुमिच्छसि ।। ३१ ।।

'मैं तो राज्यका अधिकारी था ही नहीं, फिर तू कैसे राज्य लेना चाहता है? जो राजाका पुत्र नहीं है, वह उसके राज्यका स्वामी नहीं हो सकता। तू पराये धनका अपहरण करना चाहता है ।। ३१ ।।

युधिष्ठिरो राजपुत्रो महात्मा
न्यायागतं राज्यमिदं च तस्य ।
स कौरवस्यास्य कुलस्य भर्ता
प्रशासिता चैव महानुभावः ।। ३२ ।।

'महात्मा युधिष्ठिर राजाके पुत्र हैं, अतः न्यायतः प्राप्त हुए इस राज्यपर उन्हींका अधिकार है। वे ही इस कौरवकुलका भरण-पोषण करनेवाले, स्वामी तथा इस राज्यके शासक हैं। उनका प्रभाव महान् है ।। ३२ ।।

स सत्यसंधः स तथाप्रमत्तः
शास्त्रे स्थितो बन्धुजनस्य साधुः ।
प्रियः प्रजानां सुहृदानुकम्पी
जितेन्द्रियः साधुजनस्य भर्ता ।। ३३ ।।

'वे सत्यप्रतिज्ञ और प्रमादरहित हैं। शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलते और भाई-बन्धुओंपर सद्भाव रखते हैं। युधिष्ठिरपर प्रजावर्गका विशेष प्रेम है। वे अपने सुहृदोंपर कृपा करनेवाले, जितेन्द्रिय तथा सज्जनोंका पालन-पोषण करनेवाले हैं ।। ३३ ।।

क्षमा तितिक्षा दम आर्जवं च
सत्यव्रतत्वं श्रुतमप्रमादः ।
भूतानुकम्पा ह्यनुशासनं च
युधिष्ठिरे राजगुणाः समस्ताः ।। ३४ ।।

'क्षमा, सहनशीलता, इन्द्रियसंयम, सरलता, सत्यपरायणता, शास्त्रज्ञान, प्रमादशून्यता, समस्त प्राणियोंपर दयाभाव तथा गुरुजनोंके अनुशासनमें रहना आदि समस्त राजोचित गुण युधिष्ठिरमें विद्यमान हैं ।। ३४ ।।

अराजपुत्रस्त्वमनार्यवृत्तो
लुब्धः सदा बन्धुषु पापबुद्धिः ।
क्रमागतं राज्यमिदं परेषां
हर्तुं कथं शक्ष्यसि दुर्विनीत ।। ३५ ।।

'तू राजाका पुत्र नहीं है। तेरा बर्ताव भी दुष्टोंके समान है। तू लोभी तो है ही, बन्धु-बान्धवोंके प्रति सदा पापपूर्ण विचार रखता है। दुर्विनीत! यह परम्परागत राज्य दूसरोंका है। तू कैसे इसका अपहरण कर सकेगा? ।। ३५ ।।

प्रयच्छ राज्यार्धमपेतमोहः

सवाहनं त्वं सपरिच्छदं च ।
ततोऽवशेषं तव जीवितस्य
सहानुजस्यैव भवेन्नरेन्द्र ।। ३६ ।।

नरेन्द्र! तू मोह छोड़कर वाहनों और अन्यान्य सामग्रियोंसहित (कम-से-कम) आधा राज्य पाण्डवों-को दे दे। तभी अपने छोटे भाइयोंके साथ तेरा जीवन बचा रह सकता है ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्यकथने एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १४९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्य कथनविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४९ ।।

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कौरवोंके प्रति साम, दान और भेदनीतिके प्रयोगकी असफलता बताकर दण्डके प्रयोगपर जोर देना

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते तु भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
गान्धार्या धृतराष्ट्रेण न वै मन्दोऽन्वबुद्ध्यत ।। १ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! भीष्म, द्रोण, विदुर, गान्धारी तथा धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर भी मन्दबुद्धि दुर्योधनको तनिक भी चेत नहीं हुआ ।। १ ।।

अवधूयोत्थितो मन्दः क्रोधसंरक्तलोचनः ।
अन्वद्रवन्त तं पश्चाद् राजानस्त्यक्तजीविताः ।। २ ।।

वह मूर्ख क्रोधसे लाल आँखें किये उन सबकी अवहेलना करके सभासे उठकर चला गया। उसीके पीछे अन्य राजा भी अपने जीवनका मोह छोड़कर सभासे उठकर चल दिये ।। २ ।।

आज्ञापयच्च राज्ञस्तान् पार्थिवान् नष्टचेतसः ।
प्रयाध्वं वै कुरुक्षेत्रं पुष्योऽद्येति पुनः पुनः ।। ३ ।।

ज्ञात हुआ है, दुर्योधनने उन विवेकशून्य राजाओं-को यह बार-बार आज्ञा दे दी कि तुम सब लोग कुरुक्षेत्रको चलो। आज पुष्य नक्षत्र है ।। ३ ।।

ततस्ते पृथिवीपालाः प्रययुः सहसैनिकाः ।
भीष्मं सेनापतिं कृत्वा संहृष्टाः कालचोदिताः ।। ४ ।।

तदनन्तर वे सभी भूपाल कालसे प्रेरित हो भीष्मको सेनापति बनाकर बड़े हर्षके साथ सैनिकों-सहित वहाँसे चल दिये हैं ।। ४ ।।

अक्षौहिण्यो दशैका च कौरवाणां समागताः ।
तासां प्रमुखतो भीष्मस्तालकेतुर्व्यरोचत ।। ५ ।।

कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ आ गयी हैं। उन सबमें प्रधान हैं भीष्मजी, जो अपने तालध्वजके साथ सुशोभित हो रहे हैं ।। ५ ।।

यदत्र युक्तं प्राप्तं च तद् विधत्स्व विशाम्पते ।
उक्तं भीष्मेण यद् वाक्यं द्रोणेन विदुरेण च ।। ६ ।।
गान्धार्या धृतराष्ट्रेण समक्षं मम भारत ।
एतत् ते कथितं राजन् यद् वृत्तं कुरुसंसदि ।। ७ ।।

प्रजानाथ! अब तुम्हें भी जो उचित जान पड़े, वह करो। भारत! कौरवसभामें भीष्म, द्रोण, विदुर, गान्धारी तथा धृतराष्ट्रने मेरे सामने जो बातें कही थीं, वे सब आपको सुना दीं। राजन्! यही वहाँका वृत्तान्त है ।। ६-७ ।।

साम्यमादौ प्रयुक्तं मे राजन् सौभ्रात्रमिच्छता ।
अभेदायास्य वंशस्य प्रजानां च विवृद्धये ।। ८ ।।

राजन्! मैंने सब भाइयोंमें उत्तम बन्धुजनोचित प्रेम बने रहनेकी इच्छासे पहले सामनीतिका प्रयोग किया था, जिससे इस वंशमें फूट न हो और प्रजाजनोंकी निरन्तर उन्नति होती रहे ।। ८ ।।

पुनर्भेदश्च मे युक्तो यदा साम न गृह्यते ।
कर्मानुकीर्तनं चैव देवमानुषसंहितम् ।। ९ ।।

जब वे सामनीति न ग्रहण कर सके, तब मैंने भेदनीतिका प्रयोग किया (उनमें फूट डालनेकी चेष्टा की)। पाण्डवोंके देव-मनुष्योचित कर्मोंका बारंबार वर्णन किया ।। ९ ।।

यदा नाद्रियते वाक्यं सामपूर्वं सुयोधनः ।
तदा मया समानीय भेदिताः सर्वपार्थिवाः ।। १० ।।

जब मैंने देखा दुर्योधन मेरे सान्त्वनापूर्ण वचनोंका पालन नहीं कर रहा है, तब मैंने सब राजाओंको बुलाकर उनमें फूट डालनेका प्रयत्न किया ।। १० ।।

अद्भुतानि च घोराणि दारुणानि च भारत ।
अमानुषाणि कर्माणि दर्शितानि मया विभो ।। ११ ।।

भारत! वहाँ मैंने बहुत-से अद्भुत, भयंकर, निष्ठुर एवं अमानुषिक कर्मोंका प्रदर्शन किया ।। ११ ।।

निर्भर्त्सयित्वा राज्ञस्तांस्तृणीकृत्य सुयोधनम् ।
राधेयं भीषयित्वा च सौबलं च पुनः पुनः ।। १२ ।।
द्यूततो धार्तराष्ट्राणां निन्दां कृत्वा तथा पुनः ।
भेदयित्वा नृपान् सर्वान् वाग्भिर्मन्त्रेण चासकृत् ।। १३ ।।
पुनः सामाभिसंयुक्तं सम्प्रदानमथाब्रुवम् ।
अभेदात् कुरुवंशस्य कार्ययोगात् तथैव च ।। १४ ।।

समस्त राजाओंको डाँट बताकर दुर्योधनको तिनकेके समान समझकर तथा राधानन्दन कर्ण और सुबलपुत्र शकुनिको बार-बार डराकर जूएसे धृतराष्ट्रपुत्रोंकी निन्दा करके वाणी तथा गुप्त मन्त्रणाद्वारा सब राजाओंके मनमें अनेक बार भेद उत्पन्न करनेके पश्चात् फिर सामसहित दानकी बात उठायी, जिससे कुरुवंशकी एकता बनी रहे और अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाय ।। १२—१४ ।।

ते शूरा धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य विदुरस्य च ।
तिष्ठेयुः पाण्डवाः सर्वे हित्वा मानमधश्चराः ।। १५ ।।

प्रयच्छन्तु च ते राज्यमनीशास्ते भवन्तु च ।
यथाऽऽह राजा गाङ्गेयो विदुरश्च हितं तव ।। १६ ।।
सर्वं भवतु ते राज्यं पञ्च ग्रामान् विसर्जय ।
अवश्यं भरणीया हि पितुस्ते राजसत्तम ।। १७ ।।

मैंने कहा—नृपश्रेष्ठ! यद्यपि पाण्डव शौर्यसे सम्पन्न हैं, तथापि वे सब-के-सब अभिमान छोड़कर भीष्म, धृतराष्ट्र और विदुरके नीचे रह सकते हैं। वे अपना राज्य भी तुम्हींको दे दें और सदा तुम्हारे अधीन होकर रहें। राजा धृतराष्ट्र, भीष्म और विदुरजीने तुम्हारे हितके लिये जैसी बात कही है, वैसा ही करो। सारा राज्य तुम्हारे ही पास रहे। तुम पाण्डवोंको पाँच ही गाँव दे दो; क्योंकि तुम्हारे पिताके लिये पाण्डवोंका भरण-पोषण करना भी परम आवश्यक है ।। १५—१७ ।।

एवमुक्तोऽपि दुष्टात्मा नैव भागं व्यमुञ्चत ।
दण्डं चतुर्थं पश्यामि तेषु पापेषु नान्यथा ।। १८ ।।

मेरे इस प्रकार कहनेपर भी उस दुष्टात्माने राज्यका कोई भाग तुम्हारे लिये नहीं छोड़ा अर्थात् देना नहीं स्वीकार किया। अब तो मैं उन पापियोंपर चौथे उपाय दण्डके प्रयोगकी ही आवश्यकता देखता हूँ, अन्यथा उन्हें मार्गपर लाना असम्भव है ।। १८ ।।

निर्याताश्च विनाशाय कुरुक्षेत्रं नराधिपाः ।
एतत् ते कथितं राजन् यद् वृत्तं कुरुसंसदि ।। १९ ।।

सब राजा अपने विनाशके लिये कुरुक्षेत्रको प्रस्थान कर चुके हैं। राजन्! कौरव-सभामें जो कुछ हुआ था, वह सारा वृत्तान्त मैंने तुमसे कह सुनाया ।। १९ ।।

न ते राज्यं प्रयच्छन्ति विना युद्धेन पाण्डव ।
विनाशहेतवः सर्वे प्रत्युपस्थितमृत्यवः ।। २० ।।

पाण्डुनन्दन! वे कौरव बिना युद्ध किये तुम्हें राज्य नहीं देंगे। उन सबके विनाशका कारण जुट गया है और उनका मृत्युकाल भी आ पहुँचा है ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५० ।।

(सैन्यनिर्याणपर्व)

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके सेनापतिका चुनाव तथा पाण्डव-सेनाका कुरुक्षेत्रमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

जनार्दनवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातॄनुवाच धर्मात्मा समक्षं केशवस्य ह ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर धर्ममें ही मन लगाये रखनेवाले धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान्‌के सामने ही अपने भाइयोंसे कहा — ।। १ ।।

श्रुतं भवद्भिर्यद् वृत्तं सभायां कुरुसंसदि ।
केशवस्यापि यद् वाक्यं तत् सर्वमवधारितम् ।। २ ।।

'कौरवसभामें जो कुछ हुआ है वह सब वृत्तान्त तुमलोगोंने सुन लिया। फिर भगवान् श्रीकृष्णने भी जो बात कही है, उसे भी अच्छी तरह समझ लिया होगा ।। २ ।।

तस्मात् सेनाविभागं मे कुरुध्वं नरसत्तमाः ।
अक्षौहिण्यश्च सप्तैताः समेता विजयाय वै ।। ३ ।।

'अतः नरश्रेष्ठ वीरो! अब तुमलोग भी अपनी सेनाका विभाग करो। ये सात अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयी हैं, जो अवश्य ही हमारी विजय करानेवाली होंगी ।। ३ ।।

तासां ये पतयः सप्त विख्यातास्तान् निबोधत ।
द्रुपदश्च विराटश्च धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ।। ४ ।।
सात्यकिश्चेकितानश्च भीमसेनश्च वीर्यवान् ।
एते सेनाप्रणेतारो वीराः सर्वे तनुत्यजः ।। ५ ।।

'इन सातों अक्षौहिणियोंके जो सात विख्यात सेनापति हैं, उनके नाम बताता हूँ, सुनो। द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सात्यकि, चेकितान और पराक्रमी भीमसेन। ये सभी वीर हमारे लिये अपने शरीरका भी त्याग कर देनेको उद्यत हैं; अतः ये ही पाण्डवसेनाके संचालक होनेयोग्य हैं ।। ४-५ ।।

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
ह्रीमन्तो नीतिमन्तश्च सर्वे युद्धविशारदाः ।। ६ ।।

'ये सब-के-सब वेदवेत्ता, शूरवीर, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, लज्जाशील, नीतिज्ञ और युद्धकुशल हैं ।। ६ ।।

इष्वस्त्रकुशलाः सर्वे तथा सर्वास्त्रयोधिनः ।
सप्तानामपि यो नेता सेनानां प्रविभागवित् ।। ७ ।।
यः सहेत रणे भीष्मं शरार्चिः पावकोपमम् ।
तं तावत् सहदेवात्र प्रब्रूहि कुरुनन्दन ।
स्वमतं पुरुषव्याघ्र को नः सेनापतिः क्षमः ।। ८ ।।

'इन सबने धनुर्वेदमें निपुणता प्राप्त की है तथा ये सब प्रकारके अस्त्रोंद्वारा युद्ध करनेमें समर्थ हैं। अब यह विचार करना चाहिये कि इन सातोंका भी नेता कौन हो? जो सभी सेना-विभागोंको अच्छी तरह जानता हो तथा युद्धमें बाणरूपी ज्वालाओंसे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी भीष्मका आक्रमण सह सकता हो। पुरुषसिंह कुरुनन्दन सहदेव! पहले तुम अपना विचार प्रकट करो। हमारा प्रधान सेनापति होनेयोग्य कौन है ।। ७-८ ।।

सहदेव उवाच

संयुक्त एकदुःखश्च वीर्यवांश्च महीपतिः ।
यं समाश्रित्य धर्मज्ञं स्वमंशमनुयुञ्ज्महे ।। ९ ।।
मत्स्यो विराटो बलवान् कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ।
प्रसहिष्यति संग्रामे भीष्मं तांश्च महारथान् ।। १० ।।

सहदेव बोले—जो हमारे सम्बन्धी हैं, दुःखमें हमारे साथ एक होकर रहनेवाले और पराक्रमी भूपाल हैं, जिन धर्मज्ञ वीरका आश्रय लेकर हम अपना राज्यभाग प्राप्त कर सकते हैं तथा जो बलवान्, अस्त्रविद्यामें निपुण और युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं, वे मत्स्यनरेश विराट संग्रामभूमिमें भीष्म तथा अन्य महारथियोंका सामना अच्छी तरह सहन कर सकेंगे ।। ९-१० ।।

वैशम्पायन उवाच

तथोक्ते सहदेवेन वाक्ये वाक्यविशारदः ।
नकुलोऽनन्तरं तस्मादिदं वचनमाददे ।। ११ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सहदेवके इस प्रकार कहनेपर प्रवचनकुशल नकुलने उनके बाद यह बात कही— ।। ११ ।।

वयसा शास्त्रतो धैर्यात् कुलेनाभिजनेन च ।
ह्रीमान् बलान्वितः श्रीमान् सर्वशास्त्रविशारदः ।। १२ ।।
वेद चास्त्रं भरद्वाजाद् दुर्धर्षः सत्यसङ्गरः ।
यो नित्यं स्पर्धते द्रोणं भीष्मं चैव महाबलम् ।। १३ ।।
श्लाघ्यः पार्थिववंशस्य प्रमुखे वाहिनीपतिः ।

पुत्रपौत्रैः परिवृतः शतशाख इव द्रुमः ।। १४ ।।
यस्तताप तपो घोरं सदारः पृथिवीपतिः ।
रोषाद् द्रोणविनाशाय वीरः समितिशोभनः ।। १५ ।।
पितेवास्मान् समाधत्ते यः सदा पार्थिवर्षभः ।
श्वशुरो द्रुपदोऽस्माकं सेनाग्रं स प्रकर्षतु ।। १६ ।।
स द्रोणभीष्मावायातौ सहेदिति मतिर्मम ।
स हि दिव्यास्त्रविद् राजा सखा चाङ्गिरसो नृपः ।। १७ ।।

'जो अवस्था, शास्त्रज्ञान, धैर्य, कुल और स्वजनसमूह सभी दृष्टियोंसे बड़े हैं, जिनमें लज्जा, बल और श्री तीनों विद्यमान हैं, जो समस्त शास्त्रोंके ज्ञानमें प्रवीण हैं, जिन्हें महर्षि भरद्वाजसे अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त हुई है, जो सत्यप्रतिज्ञ एवं दुर्धर्ष योद्धा हैं, महाबली भीष्म और द्रोणाचार्यसे सदा स्पर्धा रखते हैं, जो समस्त राजाओंके समूहकी प्रशंसाके पात्र हैं और युद्धके मुहानेपर खड़े हो समस्त सेनाओंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, बहुत-से पुत्र-पौत्रोंद्वारा घिरे रहनेके कारण जिनकी सैकड़ों शाखाओंसे सम्पन्न वृक्षकी भाँति शोभा होती है, जिन महाराजने रोषपूर्वक द्रोणाचार्यके विनाशके लिये पत्नीसहित घोर तपस्या की है, जो संग्रामभूमिमें सुशोभित होनेवाले शूरवीर हैं और हमलोगोंपर सदा ही पिताके समान स्नेह रखते हैं, वे हमारे श्वशुर भूपालशिरोमणि द्रुपद हमारी सेनाके प्रमुख भागका संचालन करें। मेरे विचारसे राजा द्रुपद ही युद्धके लिये सम्मुख आये हुए द्रोणाचार्य और भीष्मपितामहका सामना कर सकते हैं; क्योंकि वे दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता और द्रोणाचार्यके सखा हैं ।। १२—१७ ।।

माद्रीसुताभ्यामुक्ते तु स्वमते कुरुनन्दनः ।
वासविर्वासवसमः सव्यसाच्यब्रवीद् वचः ।। १८ ।।

माद्रीकुमारोंके इस प्रकार अपना विचार प्रकट करनेपर कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले इन्द्रके समान पराक्रमी, इन्द्रपुत्र सव्यसाची अर्जुनने इस प्रकार कहा— ।। १८ ।।

योऽयं तपःप्रभावेण ऋषिसंतोषणेन च ।
दिव्यः पुरुष उत्पन्नो ज्वालावर्णो महाभुजः ।। १९ ।।
धनुष्मान् कवची खड्गी रथमारुह्य दंशितः ।
दिव्यैर्हयवरैर्युक्तमग्निकुण्डात् समुत्थितः ।। २० ।।
गर्जन्निव महामेघो रथघोषेण वीर्यवान् ।
सिंहसंहननो वीरः सिंहतुल्यपराक्रमः ।। २१ ।।
सिंहोरस्कः सिंहभुजः सिंहवक्षा महाबलः ।
सिंहप्रगर्जनो वीरः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।। २२ ।।
सुभ्रूः सुदंष्ट्रः सुहनुः सुबाहुः सुमुखोऽकृशः ।
सुजत्रुः सुविशालाक्षः सुपादः सुप्रतिष्ठितः ।। २३ ।।

अभेद्यः सर्वशस्त्राणां प्रभिन्न इव वारणः ।
जज्ञे द्रोणविनाशाय सत्यवादी जितेन्द्रियः ।। २४ ।।
धृष्टद्युम्नमहं मन्ये सहेद् भीष्मस्य सायकान् ।
वज्राशनिसमस्पर्शान् दीप्तास्यानुरगानिव ।। २५ ।।

'जो अग्निकी ज्वालाके समान कान्तिमान् महाबाहु वीर अपने पिताकी तपस्याके प्रभावसे तथा महर्षियोंके कृपा-प्रसादसे उत्पन्न हुआ दिव्य पुरुष है, जो अग्निकुण्डसे कवच, धनुष और खड्ग धारण किये प्रकट हुआ और तत्काल ही दिव्य एवं उत्तम अश्वोंसे जुते हुए रथपर आरूढ़ हो युद्धके लिये सुसज्जित देखा गया था, जो पराक्रमी वीर अपने रथकी घरघराहटसे गर्जते हुए महामेघके समान जान पड़ता है, जिसके शरीरकी गठन, पराक्रम, हृदय, वक्षःस्थल, बाहु, कंधे और गर्जना—ये सभी सिंहके समान हैं, जो महाबली, महातेजस्वी और महान् वीर है, जिसकी भौंहें, दन्तपंक्ति, ठोड़ी, भुजाएँ और मुख बहुत सुन्दर हैं, जो सर्वथा हृष्ट-पुष्ट है, जिसके गलेकी हँसुली सुन्दर दिखायी देती है, जिसके बड़े-बड़े नेत्र और चरण परम सुन्दर हैं, जिसका किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे भेद नहीं हो सकता, जो मदकी धारा बहानेवाले गजराजके सदृश पराक्रमी वीर द्रोणाचार्यका विनाश करनेके लिये उत्पन्न हुआ है तथा जो सत्यवादी एवं जितेन्द्रिय है, उस धृष्टद्युम्नको ही मैं प्रधान सेनापति बनानेके योग्य मानता हूँ। पितामह भीष्मके बाण प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंके समान भयंकर हैं, उनका स्पर्श वज्र और अशनिके समान दुःसह है, वीर धृष्टद्युम्न ही उन बाणोंका आघात सह सकता है ।। १९—२५ ।।

यमदूतसमान् वेगे निपाते पावकोपमान् ।
रामेणाजौ विषहितान् वज्रनिष्पेषदारुणान् ।। २६ ।।
पुरुषं तं न पश्यामि यः सहेत महाव्रतम् ।
धृष्टद्युम्नमृते राजन्निति मे धीयते मतिः ।। २७ ।।

'पितामह भीष्मके बाण आघात करनेमें अग्निके समान तेजस्वी एवं यमदूतोंके समान प्राणोंका हरण करनेवाले हैं। वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गम्भीर शब्द करनेवाले उन बाणोंको पहले युद्धमें परशुरामजीने ही सहा था। राजन्! मैं धृष्टद्युम्नके सिवा ऐसे किसी पुरुषको नहीं देखता, जो महान् व्रतधारी भीष्मका वेग सह सके। मेरा तो यही निश्चय है ।। २६-२७ ।।

क्षिप्रहस्तश्चित्रयोधी मतः सेनापतिर्मम ।
अभेद्यकवचः श्रीमान् मातङ्ग इव यूथपः ।। २८ ।।

'जो शीघ्रतापूर्वक हस्तसंचालन करनेवाला, विचित्र पद्धतिसे युद्ध करनेमें कुशल, अभेद्य कवचसे सम्पन्न एवं यूथपति गजराजकी भाँति सुशोभित होनेवाला है, मेरी सम्मतिमें वह श्रीमान् धृष्टद्युम्न ही सेनापति होनेके योग्य है' ।। २८ ।।

(वैशम्पायन उवाच

अर्जुनेनैवमुक्ते तु भीमो वाक्यं समाददे ।।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनके ऐसा कहनेपर भीमसेनने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया।

भीमसेन उवाच

वधार्थं यः समुत्पन्नः शिखण्डी द्रुपदात्मजः ।
वदन्ति सिद्धा राजेन्द्र ऋषयश्च समागताः ।। २९ ।।
यस्य संग्राममध्ये तु दिव्यमस्त्रं प्रकुर्वतः ।
रूपं द्रक्ष्यन्ति पुरुषा रामस्येव महात्मनः ।। ३० ।।
न तं युद्धे प्रपश्यामि यो भिन्द्यात् तु शिखण्डिनम् ।
शस्त्रेण समरे राजन् संनद्धं स्यन्दने स्थितम् ।। ३१ ।।
द्वैरथे समरे नान्यो भीष्मं हन्यान्महाव्रतम् ।
शिखण्डिनमृते वीरं स मे सेनापतिर्मतः ।। ३२ ।।

भीमसेनने कहा—राजेन्द्र! द्रुपदकुमार शिखण्डी पितामह भीष्मका वध करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है। यह बात यहाँ पधारे हुए सिद्धों एवं महर्षियोंने बतायी है! संग्रामभूमिमें जब वह अपना दिव्यास्त्र प्रकट करता है, उस समय लोगोंको उसका स्वरूप महात्मा परशुरामके समान दिखायी देता है। मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो युद्धमें शिखण्डीको मार सके। राजन्! जब महाव्रती भीष्म रथपर बैठकर अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो सामने आयेंगे, उस समय द्वैरथ युद्धमें शूरवीर शिखण्डीके सिवा दूसरा कोई योद्धा उन्हें नहीं मार सकता। अतः मेरे मतमें वही प्रधान सेनापति होनेके योग्य है ।। २९—३२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

सर्वस्य जगतस्तात सारासारं बलाबलम् ।
सर्वं जानाति धर्मात्मा मतमेषां च केशवः ।। ३३ ।।

युधिष्ठिर बोले—तात! धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्‌के समस्त सारासार और बलाबलको जानते हैं तथा इस विषयमें इन सब राजाओंका क्या मत है—इससे भी ये पूर्ण परिचित हैं ।। ३३ ।।

यमाह कृष्णो दाशार्हः सोऽस्तु सेनापतिर्मम ।
कृतास्त्रोऽप्यकृतास्त्रो वा वृद्धो वा यदि वा युवा ।। ३४ ।।

अतः दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण जिसका नाम बतावें, वही हमारी सेनाका प्रधान सेनापति हो। फिर वह अस्त्र-विद्यामें निपुण हो या न हो, वृद्ध हो या युवा हो (इसकी चिन्ता अपने लोगोंको नहीं करनी चाहिये) ।। ३४ ।।

एष नो विजये मूलमेष तात विपर्यये ।

अत्र प्राणाश्च राज्यं च भावाभावौ सुखासुखे ।। ३५ ।।

तात! ये भगवान् ही हमारी विजय अथवा पराजयके मूल कारण हैं। हमारे प्राण, राज्य, भाव, अभाव तथा सुख और दुःख इन्हींपर अवलम्बित हैं ।। ३५ ।।

एष धाता विधाता च सिद्धिरत्र प्रतिष्ठिता ।
यमाह कृष्णो दाशार्हः सोऽस्तु नो वाहिनीपतिः ।। ३६ ।।

यही सबके कर्ता-धर्ता हैं। हमारे समस्त कार्योंकी सिद्धि इन्हींपर निर्भर करती है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण जिसके लिये प्रस्ताव करें, वही हमारी विशाल वाहिनीका प्रधान अधिनायक हो ।। ३६ ।।

ब्रवीतु वदतां श्रेष्ठो निशा समभिवर्तते ।
ततः सेनापतिं कृत्वा कृष्णस्य वशवर्तिनः ।। ३७ ।।
रात्रेः शेषे व्यतिक्रान्ते प्रयास्यामो रणाजिरम् ।
अधिवासितशस्त्राश्च कृतकौतुकमङ्गलाः ।। ३८ ।।

अतः वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण अपना विचार प्रकट करें। इस समय रात्रि है। हम अभी सेनापतिका निर्वाचन करके रात बीतनेपर अस्त्र-शस्त्रोंका अधिवासन (गन्ध आदि उपचारोंद्वारा पूजन), कौतुक (रक्षाबन्धन आदि) तथा मंगलकृत्य (स्वस्तिवाचन आदि) करनेके अनन्तर श्रीकृष्णके अधीन हो समरांगणकी यात्रा करेंगे ।। ३७-३८ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः ।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षो धनंजयमवेक्ष्य ह ।। ३९ ।।
ममाप्येते महाराज भवद्भिर्य उदाहृताः ।
नेतारस्तव सेनाया मता विक्रान्तयोधिनः ।। ४० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनकी ओर देखते हुए कहा—'महाराज! आपलोगोंने जिन-जिन वीरोंके नाम लिये हैं, ये सभी मेरी रायमें भी सेनापति होनेके योग्य हैं; क्योंकि ये सभी बड़े पराक्रमी योद्धा हैं ।। ३९-४० ।।

सर्व एव समर्था हि तव शत्रुं प्रबाधितुम् ।
इन्द्रस्यापि भयं ह्येते जनयेयुर्महाहवे ।। ४१ ।।
किं पुनर्धार्तराष्ट्राणां लुब्धानां पापचेतसाम् ।

'आपके शत्रुओंको परास्त करनेकी शक्ति इन सबमें विद्यमान है। ये महान् संग्राममें इन्द्रके मनमें भी भय उत्पन्न कर सकते हैं; फिर पापात्मा और लोभी धृतराष्ट्रपुत्रोंकी तो बात ही क्या है? ।। ४१ १/२ ।।

मयापि हि महाबाहो त्वत्प्रियार्थं महाहवे ।। ४२ ।।

कृतो यत्नो महांस्तत्र शमः स्यादिति भारत ।
धर्मस्य गतमानृण्यं न स्म वाच्या विवक्षताम् ।। ४३ ।।

‘महाबाहु भरतनन्दन! मैंने भी महान् युद्धकी सम्भावना देखकर तुम्हारा प्रिय करनेके लिये शान्ति-स्थापनके निमित्त महान् प्रयत्न किया था। इससे हमलोग धर्मके ऋणसे भी उऋण हो गये हैं। दूसरोंके दोष बतानेवाले लोग भी अब हमारे ऊपर दोषारोपण नहीं कर सकते ।। ४२-४३ ।।

कृतास्त्रं मन्यते बाल आत्मानमविचक्षणः ।
धार्तराष्ट्रो बलस्थं च पश्यत्यात्मानमातुरः ।। ४४ ।।

‘धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धके लिये आतुर हो रहा है। वह मूर्ख और अयोग्य होकर भी अपनेको अस्त्रविद्यामें पारंगत मानता है और दुर्बल होकर भी अपनेको बलवान् समझता है ।। ४४ ।।

युज्यतां वाहिनी साधु वधसाध्या हि मे मताः ।
न धार्तराष्ट्राः शक्ष्यन्ति स्थातुं दृष्ट्वा धनंजयम् ।। ४५ ।।
भीमसेनं च संक्रुद्धं यमौ चापि यमोपमौ ।
युयुधानद्वितीयं च धृष्टद्युम्नममर्षणम् ।। ४६ ।।
अभिमन्युं द्रौपदेयान् विराटद्रुपदावपि ।
अक्षौहिणीपतींश्चान्यान् नरेन्द्रान् भीमविक्रमान् ।। ४७ ।।

‘अतः आप अपनी सेनाको युद्धके लिये अच्छी तरहसे सुसज्जित कीजिये; क्योंकि मेरे मतमें वे शत्रुवधसे ही वशीभूत हो सकते हैं। वीर अर्जुन, क्रोधमें भरे हुए भीमसेन, यमराजके समान नकुल-सहदेव, सात्यकिसहित अमर्षशील धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, विराट, द्रुपद तथा अक्षौहिणी सेनाओंके अधिपति अन्यान्य भयंकर पराक्रमी नरेशोंको युद्धके लिये उद्यत देखकर धृतराष्ट्रके पुत्र रणभूमिमें टिक नहीं सकेंगे ।। ४५—४७ ।।

सारवद् बलमस्माकं दुष्प्रधर्षं दुरासदम् ।
धार्तराष्ट्रबलं संख्ये हनिष्यति न संशयः ।। ४८ ।।
धृष्टद्युम्नमहं मन्ये सेनापतिमरिंदम ।

‘हमारी सेना अत्यन्त शक्तिशाली, दुर्धर्ष और दुर्गम है। वह युद्धमें धृतराष्ट्रपुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालेगी, इसमें संशय नहीं है। शत्रुदमन! मैं धृष्टद्युम्नको ही प्रधान सेनापति होनेयोग्य मानता हूँ’ ।। ४८ १/२ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु कृष्णेन सम्प्राहृष्यन्नरोत्तमाः ।। ४९ ।।
तेषां प्रहृष्टमनसां नादः समभवन्महान् ।

योग इत्यथ सैन्यानां त्वरतां सम्प्रधावताम् ।। ५० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए। फिर तो युद्धके लिये 'सुसज्जित हो जाओ, सुसज्जित हो जाओ' ऐसा कहते हुए समस्त सैनिक बड़ी उतावलीके साथ दौड़-धूप करने लगे। उस समय प्रसन्न चित्तवाले उन वीरोंका महान् हर्षनाद सब ओर गूँज उठा ।। ४९-५० ।।

हयवारणशब्दाश्च नेमिघोषाश्च सर्वतः ।
शङ्खदुन्दुभिघोषाश्च तुमुलाः सर्वतोऽभवन् ।। ५१ ।।

सब ओर घोड़े, हाथी और रथोंका घोष होने लगा। सभी ओर शंख और दुन्दुभियोंकी भयानक ध्वनि गूँजने लगी ।। ५१ ।।

तदुग्रं सागरनिभं क्षुब्धं बलसमागमम् ।
रथपात्तिगजोदग्रं महोर्मिभिरिवाकुलम् ।। ५२ ।।

रथ, पैदल और हाथियोंसे भरी हुई वह भयंकर सेना उत्ताल तरंगोंसे व्याप्त महासागरके समान क्षुब्ध हो उठी ।। ५२ ।।

धावतामाह्वयानानां तनुत्राणि च बध्नताम् ।
प्रयास्यतां पाण्डवानां ससैन्यानां समन्ततः ।। ५३ ।।
गङ्गेव पूर्णा दुर्धर्षा समदृश्यत वाहिनी ।

रणयात्राके लिये उद्यत हुए पाण्डव और उनके सैनिक सब ओर दौड़ते, पुकारते और कवच बाँधते दिखायी दिये। उनकी वह विशाल वाहिनी जलसे परिपूर्ण गंगाके समान दुर्गम दिखायी देती थी ।। ५३ १/२ ।।

अग्रानीके भीमसेनो माद्रीपुत्रौ च दंशितौ ।। ५४ ।।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
प्रभद्रकाश्च पञ्चाला भीमसेनमुखा ययुः ।। ५५ ।।

सेनाके आगे-आगे भीमसेन, कवचधारी माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, सुभद्राकुमार अभिमन्यु, द्रौपदीके सभी पुत्र, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, प्रभद्रकगण और पांचालदेशीय क्षत्रिय वीर चले। इन सबने भीमसेनको अपने आगे कर लिया था ।। ५४-५५ ।।

ततः शब्दः समभवत् समुद्रस्येव पर्वणि ।
हृष्टानां सम्प्रयातानां घोषो दिवमिवास्पृशत् ।। ५६ ।।

तदनन्तर जैसे पूर्णिमाके दिन बढ़ते हुए समुद्रका कोलाहल सुनायी देता है, उसी प्रकार हर्ष और उत्साहमें भरकर युद्धके लिये यात्रा करनेवाले उन सैनिकोंका महान् घोष सब ओर फैलकर मानो स्वर्गलोकतक जा पहुँचा ।। ५६ ।।

प्रहृष्टा दंशिता योधाः परानीकविदारणाः ।
तेषां मध्ये ययौ राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।। ५७ ।।

हर्षमें भरे हुए और कवच आदिसे सुसज्जित वे समस्त सैनिक शत्रु-सेनाको विदीर्ण करनेका उत्साह रखते थे। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर समस्त सैनिकोंके बीचमें होकर चले ।। ५७ ।।

शकटापणवेशाश्च यानयुग्यं च सर्वशः ।
कोशं यन्त्रायुधं चैव ये च वैद्याश्चिकित्सकाः ।। ५८ ।।

सामान ढोनेवाली गाड़ी, बाजार, डेरे-तम्बू, रथ आदि सवारी, खजाना, यन्त्रचालित अस्त्र और चिकित्साकुशल वैद्य भी उनके साथ-साथ चले ।। ५८ ।।

फल्गु यच्च बलं किंचिद् यच्चापि कृशदुर्बलम् ।
तत् संगृह्य ययौ राजा ये चापि परिचारकाः ।। ५९ ।।

राजा युधिष्ठिरने जो कोई भी सेना सारहीन, कृशकाय अथवा दुर्बल थी, सबको एवं अन्य परिचारकोंको उपप्लव्यमें एकत्र करके वहाँसे प्रस्थान कर दिया ।। ५९ ।।

उपप्लव्ये तु पाञ्चाली द्रौपदी सत्यवादिनी ।
सह स्त्रीभिर्निववृते दासीदाससमावृता ।। ६० ।।

पांचालराजकुमारी सत्यवादिनी द्रौपदी दास-दासियोंसे घिरी हुई कुछ दूरतक महाराजके साथ गयी। फिर सभी स्त्रियोंके साथ उपप्लव्य नगरमें लौट आयी ।। ६० ।।

कृत्वा मूलप्रतीकारं गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
स्कन्धावारेण महता प्रययुः पाण्डुनन्दनाः ।। ६१ ।।

पाण्डवलोग दुर्गकी रक्षाके लिये आवश्यक स्थावर (परकोटे और खाईं आदि) तथा जंगम (पहरेदार सैनिकोंकी नियुक्ति आदि) उपायोंद्वारा स्त्रियों और धन आदिकी सुरक्षाकी समुचित व्यवस्था करके बहुत-से खेमे और तम्बू आदि साथ लेकर प्रस्थित हुए ।। ६१ ।।

ददतो गां हिरण्यं च ब्राह्मणैरभिसंवृताः ।
स्तूयमाना ययू राजन् रथैर्मणिविभूषितैः ।। ६२ ।।

राजन्! ब्राह्मणलोग चारों ओरसे घेरकर पाण्डवोंके गुण गाते और पाण्डवलोग उन्हें गौओं तथा सुवर्ण आदिका दान देते थे। इस प्रकार वे मणिभूषित रथोंपर बैठकर यात्रा कर रहे थे ।। ६२ ।।

केकया धृष्टकेतुश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ।
श्रेणिमान् वसुदानश्च शिखण्डी चापराजितः ।। ६३ ।।
हृष्टास्तुष्टाः कवचिनः सशस्त्राः समलंकृताः ।
राजानमन्वयुः सर्वे परिवार्य युधिष्ठिरम् ।। ६४ ।।

(पाँचों भाई) केकयराजकुमार, धृष्टकेतु, काशिराजके पुत्र अभिभू, श्रेणिमान्, वसुदान और अपराजित वीर शिखण्डी—ये सब लोग आभूषण और कवच धारण करके हाथोंमें शस्त्र लिये हर्ष और उल्लासमें भरकर राजा युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर उनके साथ-साथ जा रहे थे ।। ६३-६४ ।।

जघनार्धे विराटश्च याज्ञसेनिश्च सौमकिः ।
सुधर्मा कुन्तिभोजश्च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः ।। ६५ ।।
रथायुतानि चत्वारि हयाः पञ्चगुणास्तथा ।
पत्तिसैन्यं दशगुणं गजानामयुतानि षट् ।। ६६ ।।

सेनाके पिछले आधे भागमें राजा विराट, सोमकवंशी द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, सुधर्मा, कुन्तिभोज और धृष्टद्युम्नके पुत्र जा रहे थे। इनके साथ चालीस हजार रथ, दो लाख घोड़े, चार लाख पैदल और साठ हजार हाथी थे ।। ६५-६६ ।।

अनाधृष्टिश्चेकितानो धृष्टकेतुश्च सात्यकिः ।
परिवार्य ययुः सर्वे वासुदेवधनंजयौ ।। ६७ ।।

अनाधृष्टि, चेकितान, धृष्टकेतु तथा सात्यकि—ये सब लोग भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको घेरकर चल रहे थे ।। ६७ ।।

आसाद्य तु कुरुक्षेत्रं व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।
पाण्डवाः समदृश्यन्त नर्दन्तो वृषभा इव ।। ६८ ।।

इस प्रकार सेनाकी व्यूहरचना करके प्रहार करनेके लिये उद्यत हुए पाण्डवसैनिक कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर साँड़ोंके समान गर्जन करते हुए दिखायी देने लगे ।। ६८ ।।

तेऽवगाह्य कुरुक्षेत्रं शङ्खान् दध्मुररिंदमाः ।
तथैव दध्मतुः शङ्खं वासुदेवधनंजयौ ।। ६९ ।।

उन शत्रुदमन वीरोंने कुरुक्षेत्रकी सीमामें पहुँचकर अपने-अपने शंख बजाये। इसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी शंखध्वनि की ।। ६९ ।।

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
निशम्य सर्वसैन्यानि समहृष्यन्त सर्वशः ।। ७० ।।

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान पांचजन्यका गम्भीर घोष सुनकर सब ओर फैले हुए समस्त पाण्डवसैनिक हर्षसे उल्लसित एवं रोमांचित हो उठे ।। ७० ।।

शङ्खदुन्दुभिसंसृष्टः सिंहनादस्तरस्विनाम् ।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च सागरांश्चान्वनादयत् ।। ७१ ।।

शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे मिला हुआ वेगवान् वीरोंका सिंहनाद पृथ्वी, आकाश तथा समुद्रोंतक फैलकर उन सबको प्रतिध्वनित करने लगा ।। ७१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि कुरुक्षेत्रप्रवेशे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें पाण्डवसेनाका कुरुक्षेत्रमें प्रवेशविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५१ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १/२ श्लोक मिलाकर कुल ७१ १/२ श्लोक हैं।]

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रमें पाण्डव-सेनाका पड़ाव तथा शिविर-निर्माण

वैशम्पायन उवाच

ततो देशे समे स्निग्धे प्रभूतयवसेन्धने ।
निवेशयामास तदा सेनां राजा युधिष्ठिरः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने एक चिकने और समतल प्रदेशमें जहाँ घास और ईंधनकी अधिकता थी, अपनी सेनाका पड़ाव डाला ।। १ ।।

परिहृत्य श्मशानानि देवतायतनानि च ।
आश्रमांश्च महर्षीणां तीर्थान्यायतनानि च ।। २ ।।
मधुरानूषरे देशो शुचौ पुण्ये महामतिः ।
निवेशं कारयामास कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।। ३ ।।

श्मशान, देवमन्दिर, महर्षियोंके आश्रम, तीर्थ और सिद्धक्षेत्र—इन सबका परित्याग करके उन स्थानोंसे बहुत दूर ऊसररहित मनोहर शुद्ध एवं पवित्र स्थानमें जाकर कुन्तीपुत्र महामति युधिष्ठिरने अपनी सेनाको ठहराया ।। २-३ ।।

ततश्च पुनरुत्थाय सुखी विश्रान्तवाहनः ।
प्रययौ पृथिवीपालैर्वृतः शतसहस्रशः ।। ४ ।।
विद्राव्य शतशो गुल्मान् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान् ।
पर्यक्रामत् समन्ताच्च पार्थेन सह केशवः ।। ५ ।।

तत्पश्चात् समस्त वाहनोंके विश्राम कर लेनेपर स्वयं भी विश्रामसुखका अनुभव करके भगवान् श्रीकृष्ण उठे और सैकड़ों-हजारों भूमिपालोंसे घिरकर कुन्तीपुत्र अर्जुनके साथ आगे बढ़े। उन्होंने दुर्योधनके सैकड़ों सैनिक दलोंको दूर भगाकर वहाँ सब ओर विचरण करना प्रारम्भ किया ।। ४-५ ।।

शिबिरं मापयामास धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
सात्यकिश्च रथोदारो युयुधानः प्रतापवान् ।। ६ ।।

द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा प्रतापशाली एवं उदाररथी सत्यकपुत्र युयुधानने शिविर बनानेयोग्य भूमि नापी ।। ६ ।।

आसाद्य सरितं पुण्यां कुरुक्षेत्रे हिरण्वतीम् ।
सूपतीर्थां शुचिजलां शर्करापङ्कवर्जिताम् ।। ७ ।।
खानयामास परिखां केशवस्तत्र भारत ।
गुप्त्यर्थमपि चादिश्य बलं तत्र न्यवेशयत् ।। ८ ।।

विधिर्यः शिबिरस्यासीत् पाण्डवानां महात्मनाम् ।
तद्विधानि नरेन्द्राणां कारयामास केशवः ।। ९ ।।

भरतनन्दन जनमेजय! कुरुक्षेत्रमें हिरण्वती नामक एक पवित्र नदी है, जो स्वच्छ एवं विशुद्ध जलसे भरी है। उसके तटपर अनेक सुन्दर घाट हैं। उस नदीमें कंकड़, पत्थर और कीचड़का नाम नहीं है। उसके समीप पहुँचकर भगवान् श्रीकृष्णने खाईं खुदवायी और उसकी रक्षाके लिये पहरेदारोंको नियुक्त करके वहीं सेनाको ठहराया। महात्मा पाण्डवोंके लिये शिविरका निर्माण जिस विधिसे किया गया था, उसी प्रकारके भगवान् केशवने अन्य राजाओंके लिये शिविर बनवाये ।। ७—९ ।।

प्रभूततरकाष्ठानि दुराधर्षतराणि च ।
भक्ष्यभोज्यान्नपानानि शतशोऽथ सहस्रशः ।। १० ।।
शिबिराणि महार्हाणि राज्ञां तत्र पृथक् पृथक् ।
विमानानीव राजेन्द्र निविष्टानि महीतले ।। ११ ।।

राजेन्द्र! उस समय राजाओंके लिये सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें दुर्धर्ष एवं बहुमूल्य शिविर पृथक्-पृथक् बनवाये गये थे। उनके भीतर बहुत-से काष्ठों तथा प्रचुर मात्रामें भक्ष्य-भोज्य अन्न एवं पान-सामग्रीका संग्रह किया गया था। वे समस्त शिविर भूतलपर रहते हुए विमानोंके समान सुशोभित हो रहे थे ।। १०-११ ।।

तत्रासन् शिल्पिनः प्राज्ञाः शतशो दत्तवेतनाः ।
सर्वोपकरणैर्युक्ता वैद्याः शास्त्रविशारदाः ।। १२ ।।

वहाँ सैकड़ों विद्वान् शिल्पी और शास्त्रविशारद वैद्य वेतन देकर रखे गये थे, जो समस्त आवश्यक उपकरणोंके साथ वहाँ रहते थे ।। १२ ।।

ज्याधनुर्वर्मशस्त्राणां तथैव मधुसर्पिषोः ।
ससर्जरसपांसूनां राशयः पर्वतोपमाः ।। १३ ।।

प्रत्येक शिविरमें प्रत्यंचा, धनुष, कवच, अस्त्र-शस्त्र, मधु, घी तथा रालका चूरा—इन सबके पहाड़ों-जैसे ढेर लगे हुए थे ।। १३ ।।

बहूदकं सुयवसं तुषाङ्गारसमन्वितम् ।
शिबिरे शिबिरे राजा संचकार युधिष्ठिरः ।। १४ ।।

राजा युधिष्ठिरने प्रत्येक शिविरमें प्रचुर जल, सुन्दर घास, भूसी और अग्निका संग्रह करा रखा था ।। १४ ।।

महायन्त्राणि नाराचास्तोमराणि परश्वधाः ।
धनूंषि कवचादीनि ऋष्टयस्तूणसंयुताः ।। १५ ।।

बड़े-बड़े यन्त्र, नाराच, तोमर, फरसे, धनुष, कवच, ऋष्टि और तरकस—ये सब वस्तुएँ भी उन सभी शिविरोंमें संगृहीत थीं ।। १५ ।।

गजाः कण्टकसंनाहा लोहवर्मोत्तरच्छदाः ।

दृश्यन्ते तत्र गिर्याभाः सहस्रशतयोधिनः ।। १६ ।।

वहाँ लाखों योद्धाओंके साथ युद्ध करनेमें समर्थ पर्वतोंके समान विशालकाय बहुत-से हाथी दिखायी देते थे, जो काँटेदार साज-सामान, लोहेके कवच तथा लोहेकी ही झूल धारण किये हुए थे ।। १६ ।।

निविष्टान् पाण्डवांस्तत्र ज्ञात्वा मित्राणि भारत ।
अभिसस्रुर्यथादेशं सबलाः सहवाहनाः ।। १७ ।।

भारत! पाण्डवोंने कुरुक्षेत्रमें जाकर अपनी सेनाका पड़ाव डाल दिया है, यह जानकर उनसे मित्रता रखनेवाले बहुत-से राजा अपनी सेना और सवारियोंके साथ उनके पास, जहाँ वे ठहरे थे, आये ।। १७ ।।

चरितब्रह्मचर्यास्ते सोमपा भूरिदक्षिणाः ।
जयाय पाण्डुपुत्राणां समाजग्मुर्महीक्षितः ।। १८ ।।

जिन्होंने यथासमय ब्रह्मचर्यव्रतका पालन, यज्ञोंमें सोमरसका पान तथा प्रचुर दक्षिणाओंका दान किया था, ऐसे भूपालगण पाण्डवोंकी विजयके लिये कुरुक्षेत्रमें पधारे ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि शिबिरादिनिर्माणे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें शिविर आदिका निर्माणविषयक एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५२ ।।

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका सेनाको सुसज्जित होने और शिविर-निर्माण करनेके लिये आज्ञा देना तथा सैनिकोंकी रणयात्राके लिये तैयारी

जनमेजय उवाच

युधिष्ठिरं सहानीकमुपायान्तं युयुत्सया ।
संनिविष्टं कुरुक्षेत्रे वासुदेवेन पालितम् ।। १ ।।
विराटद्रुपदाभ्यां च सपुत्राभ्यां समन्वितम् ।
केकयैर्वृष्णिभिश्चैव पार्थिवैः शतशो वृतम् ।। २ ।।
महेन्द्रमिव चादित्यैरभिगुप्तं महारथैः ।
श्रुत्वा दुर्योधनो राजा किं कार्यं प्रत्यपद्यत ।। ३ ।।

जनमेजयने पूछा—मुने! दुर्योधनने जब यह सुना कि राजा युधिष्ठिर युद्धकी इच्छासे सेनाओंके साथ यात्रा करके भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित हो कुरुक्षेत्रमें पहुँच गये और वहाँ सेनाका पड़ाव डाले बैठे हैं, पुत्रोंसहित राजा विराट और द्रुपद भी उनके साथ हैं, केकयराजकुमार, वृष्णिवंशी योद्धा तथा सैकड़ों भूपाल उन्हें घेरे रहते हैं तथा वे आदित्योंसहित घिरे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति अनेक महारथी योद्धाओंद्वारा सुरक्षित हैं, तब उसने क्या किया? ।। १—३ ।।

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामते ।
सम्भ्रमे तुमुले तस्मिन् यदासीत् कुरुजाङ्गले ।। ४ ।।

महामते! कुरुक्षेत्रके उस भयंकर समारोहमें जो कुछ हुआ हो वह सब मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ।। ४ ।।

व्यथयेयुरिमे देवान् सेन्द्रानपि समागमे ।
पाण्डवा वासुदेवश्च विराटद्रुपदौ तथा ।। ५ ।।
धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः शिखण्डी च महारथः ।
युधामन्युश्च विक्रान्तो देवैरपि दुरासदः ।। ६ ।।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
कुरूणां पाण्डवानां च यद् यदासीद् विचेष्टितम् ।। ७ ।।

तपोधन! पाण्डव, भगवान् श्रीकृष्ण, विराट, द्रुपद, पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्न, महारथी शिखण्डी तथा देवताओंके लिये भी दुर्जय महापराक्रमी युधामन्यु—ये सब तो संग्राममें एकत्र होनेपर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी पीड़ित कर सकते हैं; अतः वहाँ

कौरवों तथा पाण्डवोंने जो-जो कर्म किया था वह सब विस्तारपूर्वक सुननेकी मेरी इच्छा है ।। ५—७ ।।

वैशम्पायन उवाच

प्रतियाते तु दाशार्हे राजा दुर्योधनस्तदा ।
कर्णं दुःशासनं चैव शकुनिं चाब्रवीदिदम् ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर उस समय राजा दुर्योधनने कर्ण, दुःशासन और शकुनिसे इस प्रकार कहा— ।। ८ ।।

अकृतेनैव कार्येण गतः पार्थानधोक्षजः ।
स एनान्मन्युनाऽऽविष्टो ध्रुवं धक्ष्यत्यसंशयम् ।। ९ ।।

'श्रीकृष्ण यहाँसे कृतकार्य होकर नहीं गये हैं। इसके लिये वे क्रोधमें भरकर पाण्डवोंको निश्चय ही युद्धके लिये उत्तेजित करेंगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ।। ९ ।।

इष्टो हि वासुदेवस्य पाण्डवैर्मम विग्रहः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव दाशार्हस्य मते स्थितौ ।। १० ।।

'वास्तवमें श्रीकृष्ण यही चाहते हैं कि पाण्डवोंके साथ मेरा युद्ध हो। भीमसेन और अर्जन—से दोनों भाई तो श्रीकृष्णके ही मतमें रहनेवाले हैं ।। १० ।।

अजातशत्रुरत्यर्थं भीमसेनवशानुगः ।
निकृतश्च मया पूर्वं सह सर्वैः सहोदरैः ।। ११ ।।

'अजातशत्रु युधिष्ठिर भी अधिकतर भीमसेनके वशमें रहा करते हैं। इसके सिवा मैंने पहले सब भाइयोंसहित उनका तिरस्कार भी किया है ।। ११ ।।

विराटद्रुपदौ चैव कृतवैरौ मया सह ।
तौ च सेनाप्रणेतारौ वासुदेववशानुगौ ।। १२ ।।

'विराट और द्रुपद तो मेरे साथ पहलेसे ही वैर रखते हैं। वे दोनों पाण्डव-सेनाके संचालक तथा श्रीकृष्णकी आज्ञाके अधीन रहनेवाले हैं ।। १२ ।।

भविता विग्रहः सोऽयं तुमुलो लोमहर्षणः ।
तस्मात् सांग्रामिकं सर्वं कारयध्वमतन्द्रिताः ।। १३ ।।

'अतः अब हमलोगोंका पाण्डवोंके साथ होनेवाला यह युद्ध बड़ा ही भयंकर और रोमांचकारी होगा। इसलिये राजाओ! आप सब लोग आलस्य छोड़कर युद्धकी सारी तैयारी करें ।। १३ ।।

शिबिराणि कुरुक्षेत्रे क्रियन्तां वसुधाधिपाः ।
सुपर्याप्तावकाशानि दुरादेयानि शत्रुभिः ।। १४ ।।
आसन्नजलकाष्ठानि शतशोऽथ सहस्रशः ।
अच्छेद्याहारमार्गाणि बन्धोच्छ्रयचितानि च ।। १५ ।।

‘भूमिपालो! आप कुरुक्षेत्रमें सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें ऐसे शिविर तैयार करावें, जिनमें अपनी आवश्यकताके अनुसार पर्याप्त अवकाश हों तथा शत्रुलोग जिनपर अधिकार न कर सकें। उनमें पास ही जल और काष्ठ आदि मिलनेकी सुविधाएँ हों। उनमें ऐसे मार्ग होने चाहिये जिनके द्वारा खाद्यसामग्री सुविधासे लायी जा सके और शत्रुलोग उसे नष्ट न कर सकें तथा उनके चारों तरफ किलेबन्दी कर देनी चाहिये ।। १४-१५ ।।

विविधायुधपूर्णानि पताकाध्वजवन्ति च ।
समाश्च तेषां पन्थानः क्रियन्तां नगराद् बहिः ।। १६ ।।

‘उन शिविरोंको नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे भरपूर तथा ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित रखना चाहिये। शिविरोंका जो नगर बसाया जाय, उससे बाहर अनेक सीधे तथा समतल मार्ग उन शिविरोंमें जानेके लिये बनाये जायँ ।। १६ ।।

प्रयाणं घुष्यतामद्य श्वोभूत इति मा चिरम् ।
ते तथेति प्रतिज्ञाय श्वोभूते चक्रिरे तथा ।। १७ ।।
हृष्टरूपा महात्मानो निवासाय महीक्षिताम् ।

‘आज ही यह घोषणा करा दी जाय कि कल सबेरे ही युद्धके लिये प्रस्थान करना है। इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये।’ दुर्योधनका यह आदेश सुनकर ‘बहुत अच्छा—ऐसा ही होगा’ यह प्रतिज्ञा करके महामना कर्ण आदिने अत्यन्त प्रसन्न होकर सबेरा होते ही राजाओंके निवासके लिये शिविर बनवाने आरम्भ कर दिये ।। १७½ ।।

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे तच्छ्रुत्वा राजशासनम् ।। १८ ।।
आसनेभ्यो महार्हेभ्य उदतिष्ठन्नमर्षिताः ।
बाहून् परिघसंकाशान् संस्पृशन्तः शनैः शनैः ।। १९ ।।
काञ्चनाङ्गददीप्तांश्च चन्दनागुरुभूषितान् ।

तदनन्तर वहाँ आये हुए सब नरेश राजा दुर्योधनकी यह आज्ञा सुनकर रोषावेशसे परिपूर्ण हो चन्दन और अगुरुसे चर्चित तथा सोनेके भुजबंदोंसे प्रकाशित अपनी परिघके समान मोटी भुजाओंका धीरे-धीरे स्पर्श करते हुए बहुमूल्य आसनोंसे उठकर खड़े हो गये ।। १८-१९½ ।।

उष्णीषाणि नियच्छन्तः पुण्डरीकनिभैः करैः ।
अन्तरीयोत्तरीयाणि भूषणानि च सर्वशः ।। २० ।।

उन्होंने अपने कमलसदृश करोंसे मस्तकपर पगड़ी बाँध ली; फिर धोती, चादर और सब प्रकारके आभूषण धारण कर लिये ।। २० ।।

ते रथान् रथिनः श्रेष्ठा हयांश्च हयकोविदाः ।
सज्जयन्ति स्म नागांश्च नागशिक्षास्वनुष्ठिताः ।। २१ ।।

श्रेष्ठ रथी अपने रथोंको, अश्वसंचालनकी कलामें कुशल योद्धा घोड़ोंको और हस्तिशिक्षामें निपुण सैनिक हाथियोंको सुसज्जित करने लगे ।। २१ ।।

अथ वर्माणि चित्राणि काञ्चनानि बहूनि च ।
विविधानि च शस्त्राणि चक्रुः सर्वाणि सर्वशः ।। २२ ।।

उन्होंने सोनेके बने हुए बहुत-से विचित्र कवच तथा सब प्रकारके विभिन्न अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण कर लिये ।। २२ ।।

पदातयश्च पुरुषाः शस्त्राणि विविधानि च ।
उपाजह्रुः शरीरेषु हेमचित्राण्यनेकशः ।। २३ ।।

पैदल योद्धाओंने भी अपने अंगोंमें सुवर्णजटित कवच तथा भाँति-भाँतिके अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण कर लिये ।। २३ ।।

तदुत्सव इवोदग्रं सम्प्रहृष्टनरावृतम् ।
नगरं धार्तराष्ट्रस्य भारतासीत् समाकुलम् ।। २४ ।।

जनमेजय! दुर्योधनका वह हस्तिनापुर नगर मानो वहाँ कोई उत्सव हो रहा हो, इस प्रकार समृद्ध और हर्षोत्फुल्ल मनुष्योंसे भर गया था, इससे वहाँ बड़ी हलचल मच गयी थी ।। २४ ।।

जनौघसलिलावर्तो रथनागाश्वमीनवान् ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः कोशसंचयरत्नवान् ।। २५ ।।
चित्राभरणवर्मोर्मिः शस्त्रनिर्मलफेनवान् ।
प्रासादमालाद्रिवृतो रथ्यापणमहाह्रदः ।। २६ ।।
योधचन्द्रोदयोद्भूतः कुरुराजमहार्णवः ।
व्यदृश्यत तदा राजंश्चन्द्रोदय इवोदधिः ।। २७ ।।

राजन्! जैसे चन्द्रोदयकालमें समुद्र उत्ताल तरंगोंसे व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार कुरुराज दुर्योधनरूपी महासागर सैनिक-समुदायरूपी चन्द्रमाके उदयसे अत्यन्त उल्लसित दिखायी देने लगा। सब ओर घूमता हुआ जनसमुदाय ही वहाँ जलमें उठनेवाली भँवरोंके समान जान पड़ता था। रथ, हाथी और घोड़े उसमें मछलीके समान प्रतीत होते थे। शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि ही उस कुरुराजरूपी समुद्रकी गर्जना थी। खजानोंका संग्रह ही रत्नराशिका प्रतिनिधित्व कर रहा था। योद्धाओंके विचित्र आभूषण और कवच ही उस समुद्रकी उठती हुई तरंगोंके समान जान पड़ते थे। चमकीले शस्त्र ही निर्मल फेन-से प्रतीत होते थे। महलोंकी पंक्तियाँ ही तटवर्ती पर्वत-सी जान पड़ती थीं। सड़कोंपर स्थित दूकानें ही मानो गुफाएँ थीं ।। २५—२७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि दुर्योधनसैन्यसज्जकरणे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें 'दुर्योधनका अपनी सेनाको सुसज्जित करना' इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा

हुआ ।। १५३ ।।

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भगवान् श्रीकृष्णसे अपने समयोचित कर्तव्यके विषयमें पूछना, भगवान्‌का युद्धको ही कर्तव्य बताना तथा इस विषयमें युधिष्ठिरका संताप और अर्जुनद्वारा श्रीकृष्णके वचनोंका समर्थन

वैशम्पायन उवाच

वासुदेवस्य तद् वाक्यमनुस्मृत्य युधिष्ठिरः ।
पुनः पप्रच्छ वार्ष्णेयं कथं मन्दोऽब्रवीदिदम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णके पूर्वोक्त कथनका स्मरण करके युधिष्ठिरने पुनः उनसे पूछा—‘भगवन्! मन्दबुद्धि दुर्योधनने क्यों ऐसी बात कही? ।। १ ।।

अस्मिन्नभ्यागते काले किं च नः क्षममच्युत ।
कथं च वर्तमाना वै स्वधर्मान्न च्यवेमहि ।। २ ।।

‘अच्युत! इस वर्तमान समयमें हमारे लिये क्या करना उचित है? हम कैसा बर्ताव करें? जिससे अपने धर्मसे नीचे न गिरें ।। २ ।।

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
वासुदेव मतज्ञोऽसि मम सभ्रातृकस्य च ।। ३ ।।

‘वासुदेव! दुर्योधन, कर्ण और शकुनिके तथा भाइयोंसहित मेरे विचारोंको भी आप जानते हैं ।। ३ ।।

विदुरस्यापि तद् वाक्यं श्रुतं भीष्मस्य चोभयोः ।
कुन्त्याश्च विपुलप्रज्ञ प्रज्ञा कात्स्न्र्येन ते श्रुता ।। ४ ।।

‘विदुरने और भीष्मजीने भी जो बातें कही हैं, उन्हें भी आपने सुना है। विशालबुद्धे! माता कुन्तीका विचार भी आपने पूर्णरूपसे सुन लिया है ।। ४ ।।

सर्वमेतदतिक्रम्य विचार्य च पुनः पुनः ।
क्षमं यन्नो महाबाहो तद् ब्रवीह्यविचारयन् ।। ५ ।।

‘महाबाहो! इन सब विचारोंको लाँघकर स्वयं ही इस विषयपर बारंबार विचार करके हमारे लिये जो उचित हो, उसे निःसंकोच कहिये’ ।। ५ ।।

श्रुत्वैतद् धर्मराजस्य धर्मार्थसहितं वचः ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषः कृष्णो वाक्यमथाब्रवीत् ।। ६ ।।

धर्मराजका यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर स्वरमें यह बात कही ।। ६ ।।

कृष्ण उवाच

उक्तवानस्मि यद् वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
न तु तन्निकृतिप्रज्ञे कौरव्ये प्रतितिष्ठति ।। ७ ।।

श्रीकृष्ण बोले—मैंने जो धर्म और अर्थसे युक्त हितकर बात कही है, वह छल-कपट करनेमें ही कुशल कुरुवंशी दुर्योधनके मनमें नहीं बैठती है ।। ७ ।।

न च भीष्मस्य दुर्मेधाः शृणोति विदुरस्य वा ।
मम वा भाषितं किंचित् सर्वमेवातिवर्तते ।। ८ ।।

खोटी बुद्धिवाला वह दुष्ट न भीष्मकी, न विदुरकी और न मेरी ही कोई बात सुनता है। वह सबकी सभी बातोंको लाँघ जाता है ।। ८ ।।

नैष कामयते धर्मं नैष कामयते यशः ।
जितं स मन्यते सर्वं दुरात्मा कर्णमाश्रितः ।। ९ ।।

दुरात्मा दुर्योधन कर्णका आश्रय लेकर सभी वस्तुओंको जीती हुई ही समझता है। इसीलिये न यह धर्मकी इच्छा रखता है और न यशकी ही कामना करता है ।। ९ ।।

बन्धमाज्ञापयामास मम चापि सुयोधनः ।
न च तं लब्धवान् कामं दुरात्मा पापनिश्चयः ।। १० ।।

पापपूर्ण निश्चयवाले उस दुरात्मा दुर्योधनने तो मुझे भी कैद कर लेनेकी आज्ञा दे दी थी; परंतु वह उस मनोरथको पूर्ण न कर सका ।। १० ।।

न च भीष्मो न च द्रोणो युक्तं तत्राहतुर्वचः ।
सर्वे तमनुवर्तन्ते ऋते विदुरमच्युत ।। ११ ।।

अच्युत! वहाँ भीष्म तथा द्रोणाचार्य भी सदा उचित बात नहीं कहते हैं। विदुरको छोड़कर अन्य सब लोग दुर्योधनका ही अनुसरण कर लेते हैं ।। ११ ।।

शकुनिः सौबलश्चैव कर्णदुःशासनावपि ।
त्वय्ययुक्तान्यभाषन्त मूढा मूढममर्षणम् ।। १२ ।।

सुबलपुत्र शकुनि, कर्ण और दुःशासन—इन तीनों मूर्खोंने मूढ़ और असहिष्णु दुर्योधनके समीप आपके विषयमें अनेक अनुचित बातें कही थीं ।। १२ ।।

किं च तेन मयोक्तेन यान्यभाषत कौरवः ।
संक्षेपेण दुरात्मासौ न युक्तं त्वयि वर्तते ।। १३ ।।

उन लोगोंने जो-जो बातें कहीं, उन्हें यदि मैं पुनः यहाँ दोहराऊँ तो इससे क्या लाभ है? थोड़ेमें इतना ही समझ लीजिये कि वह दुरात्मा कौरव आपके प्रति न्याययुक्त बर्ताव नहीं कर रहा है ।। १३ ।।

पार्थिवेषु न सर्वेषु य इमे तव सैनिकाः ।
यत् पापं यन्नकल्याणं सर्वं तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।। १४ ।।

इन सब राजाओंमें, जो आपकी सेनामें स्थित हैं, जो पाप और अमंगलकारक भाव नहीं है, वह सब अकेले दुर्योधनमें विद्यमान है ।। १४ ।।

न चापि वयमत्यर्थं परित्यागेन कर्हिचित् ।
कौरवैः शममिच्छामस्तत्र युद्धमनन्तरम् ।। १५ ।।

हमलोग भी बहुत अधिक त्याग करके (सर्वस्व खोकर) कभी किसी भी दशामें कौरवोंके साथ संधिकी इच्छा नहीं रखते हैं। अतः इसके बाद हमारे लिये युद्ध ही करना उचित है ।। १५ ।।

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे वासुदेवस्य भाषितम् ।
अब्रुवन्तो मुखं राज्ञः समुदैक्षन्त भारत ।। १६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन! भगवान् श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर सब राजा कुछ न बोलते हुए केवल महाराज युधिष्ठिरके मुँहकी ओर देखने लगे ।। १६ ।।

युधिष्ठिरस्त्वभिप्रायमभिलक्ष्य महीक्षिताम् ।
योगमाज्ञापयामास भीमार्जुनयमैः सह ।। १७ ।।

युधिष्ठिरने राजाओंका अभिप्राय समझकर भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवके साथ उन्हें युद्धके लिये तैयार हो जानेकी आज्ञा दे दी ।। १७ ।।

ततः किलकिलाभूतमनीकं पाण्डवस्य ह ।
आज्ञापिते तदा योगे समहृष्यन्त सैनिकाः ।। १८ ।।

उस समय युद्धके लिये तैयार होनेकी आज्ञा मिलते ही समस्त योद्धा हर्षसे खिल उठे, फिर तो पाण्डवोंके सैनिक किलकारियाँ करने लगे ।। १८ ।।

अवध्यानां वधं पश्यन् धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
निःश्वसन् भीमसेनं च विजयं चेदमब्रवीत् ।। १९ ।।

धर्मराज युधिष्ठिर यह देखकर कि युद्ध छिड़नेपर अवध्य पुरुषोंका भी वध करना पड़ेगा, खेदसे लंबी साँसें खींचते हुए भीमसेन और अर्जुनसे इस प्रकार बोले ।।

यदर्थं वनवासश्च प्राप्तं दुःखं च यन्मया ।
सोऽयमस्मानुपैत्येव परोऽनर्थः प्रयत्नतः ।। २० ।।

'जिससे बचनेके लिये मैंने वनवासका कष्ट स्वीकार किया और नाना प्रकारके दुःख सहन किये, वही महान् अनर्थ मेरे प्रयत्नसे भी टल न सका। वह हमलोगोंपर आना ही चाहता है ।। २० ।।

तस्मिन् यत्नः कृतोऽस्माभिः स नो हीनः प्रयत्नतः ।

अकृते तु प्रयत्नेऽस्मानुपावृत्तः कलिर्महान् ।। २१ ।।

'यद्यपि उसे टालनेके लिये हमारी ओरसे पूरा प्रयत्न किया गया, किंतु हमारे प्रयाससे उसका निवारण नहीं हो सका और जिसके लिये कोई प्रयत्न नहीं किया गया था, वह महान् कलह स्वतः हमारे ऊपर आ गया ।। २१ ।।

कथं ह्यवध्यैः संग्रामः कार्यः सह भविष्यति ।
कथं हत्वा गुरून् वृद्धान् विजयो नो भविष्यति ।। २२ ।।

'जो लोग मारने योग्य नहीं हैं, उनके साथ युद्ध करना कैसे उचित होगा? वृद्ध गुरुजनोंका वध करके हमें विजय किस प्रकार प्राप्त होगी? ।। २२ ।।

तच्छ्रुत्वा धर्मराजस्य सव्यसाची परंतपः ।
यदुक्तं वासुदेवेन श्रावयामास तद् वचः ।। २३ ।।

धर्मराजकी यह बात सुनकर शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी कही हुई बातोंको उनसे कह सुनाया ।। २३ ।।

उक्तवान् देवकीपुत्रः कुन्त्याश्च विदुरस्य च ।
वचनं तत् त्वया राजन् निखिलेनावधारितम् ।। २४ ।।

वे कहने लगे—'राजन्! देवकीनन्दन श्रीकृष्णने माता कुन्ती तथा विदुरजीके कहे हुए जो वचन आपको सुनाये थे, उनपर आपने पूर्णरूपसे विचार किया होगा ।। २४ ।।

न च तौ वक्ष्यतोऽधर्ममिति मे नैष्ठिकी मतिः ।
नापि युक्तं च कौन्तेय निवर्तितुमयुध्यतः ।। २५ ।।

'मेरा तो यह निश्चित मत है कि वे दोनों अधर्मकी बात नहीं कहेंगे। कुन्तीनन्दन! अब हमारे लिये युद्धसे निवृत्त हो जाना भी उचित नहीं है' ।। २५ ।।

तच्छ्रुत्वा वासुदेवोऽपि सव्यसाचिवचस्तदा ।
स्मयमानोऽब्रवीद् वाक्यं पार्थमेवमिति ब्रुवन् ।। २६ ।।

अर्जुनका यह वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण भी युधिष्ठिरसे मुसकराते हुए बोले—'हाँ, अर्जुन ठीक कहते हैं' ।। २६ ।।

ततस्ते धृतसंकल्पा युद्धाय सहसैनिकाः ।
पाण्डवेया महाराज तां रात्रिं सुखमावसन् ।। २७ ।।

महाराज जनमेजय! तदनन्तर योद्धाओंसहित पाण्डव युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके उस रातमें वहाँ सुखपूर्वक रहे ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि युधिष्ठिरार्जुनसंवादे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें युधिष्ठिर-अर्जुन-संवादविषयक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५४ ।।

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा सेनाओंका विभाजन और पृथक्-पृथक् अक्षौहिणियोंके सेनापतियोंका अभिषेक

वैशम्पायन उवाच

व्युष्टायां वै रजन्यां हि राजा दुर्योधनस्ततः ।
व्यभजत् तान्यनीकानि दश चैकं च भारत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! रात बीतनेपर जब सबेरा हुआ, तब राजा दुर्योधनने अपनी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंका विभाग किया ।। १ ।।

नरहस्तिरथाश्वानां सारं मध्यं च फल्गु च ।
सर्वेष्वेतेष्वनीकेषु संदिदेश नराधिपः ।। २ ।।

राजा दुर्योधनने पैदल, हाथी, रथ और घुड़सवार—इन सभी सेनाओंमेंसे उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणियोंको पृथक्-पृथक् करके उन्हें यथास्थान नियुक्त कर दिया ।। २ ।।

सानुकर्षाः सतूणीराः सवरूथाः सतोमराः ।
सोपासङ्गाः सशक्तीकाः सनिषङ्गाः सहर्ष्टयः ।। ३ ।।
सध्वजाः सपताकाश्च सशरासनतोमराः ।
रज्जुभिश्च विचित्राभिः सपाशाः सपरिच्छदाः ।। ४ ।।
सकचग्रहविक्षेपाः सतैलगुडवालुकाः ।
साशीविषघटाः सर्वे ससर्जरसपांसवः ।। ५ ।।
सघण्टफलकाः सर्वे सायोगुडजलोपलाः ।
सशालभिन्दिपालाश्च समधूच्छिष्टमुद्गराः ।। ६ ।।
सकाण्डदण्डकाः सर्वे ससीरविषतोमराः ।
सशूर्पपिटकाः सर्वे सदात्राङ्कुशतोमराः ।। ७ ।।
सकीलकवचाः सर्वे वासीवृक्षादनान्विताः ।
व्याघ्रचर्मपरीवारा द्वीपिचर्मावृताश्च ते ।। ८ ।।
सहर्ष्टयः सशृङ्गाश्च सप्रासविविधायुधाः ।
सकुठाराः सकुद्दालाः सतैलक्षौमसर्पिषः ।। ९ ।।

वे सब वीर अनुकर्ष (रथकी मरम्मतके लिये उसके नीचे बँधा हुआ काष्ठ), तरकस, वरूथ (रथको ढकनेका बाघ आदिका चमड़ा), उपासंग (जिन्हें हाथी या घोड़े उठा सकें, ऐसे तरकस), तोमर, शक्ति, निषंग (पैदलों-द्वारा ले जाये जानेवाले तरकस), ऋष्टि (एक प्रकारकी लोहेकी लाठी), ध्वजा, पताका, धनुष-बाण, तरह-तरहकी रस्सियाँ, पाश, बिस्तर,

कचग्रह-विक्षेप (बाल पकड़कर गिरानेका यन्त्र), तेल, गुड़, बालू, विषधर सर्पोंके घड़े, रालका चूरा, घण्टफलक (घुँघुरुओंवाली ढाल), खड्गादि लोहेके शस्त्र, औंटा हुआ गुड़का पानी, ढेले, साल, भिन्दिपाल (गोफियाँ), मोम चुपड़े हुए मुद्गर, काँटीदार लाठियाँ, हल, विष लगे हुए बाण, सूप तथा टोकरियाँ, दरात, अंकुश, तोमर, काँटेदार कवच, बसूले, आरे आदि, बाघ और गैंड़ेके चमड़ेसे मढ़े हुए रथ, ऋष्टि, सींग, प्रास, भाँति-भाँतिके आयुध, कुठार, कुदाल, तेलमें भींगे हुए रेशमी वस्त्र तथा घी लिये हुए थे ।। ३—९ ।।

रुक्मजालप्रतिच्छन्ना नानामणिविभूषिताः ।
चित्रानीकाः सुवपुषो ज्वलिता इव पावकाः ।। १० ।।

वे सभी सैनिक सोनेके जालीदार कवच धारण किये नाना प्रकारके मणिमय आभूषणोंसे विभूषित हो समस्त सेनाको ही विचित्र शोभासे सम्पन्न करते हुए अपने सुन्दर शरीरसे प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ।। १० ।।

तथा कवचिनः शूराः शस्त्रेषु कृतनिश्चयाः ।
कुलीना हययोनिज्ञाः सारथ्ये विनिवेषिताः ।। ११ ।।

इसी प्रकार जो शस्त्र-विद्याका निश्चित ज्ञान रखनेवाले, कुलीन तथा घोड़ोंकी नस्लको पहचाननेवाले थे, वे कवचधारी शूरवीर ही सारथिके कामपर नियुक्त किये गये थे ।। ११ ।।

बद्धारिष्टा बद्धकक्षा बद्धध्वजपताकिनः ।
बद्धाभरणनिर्यूहा बद्धचर्मासिपट्टिशाः ।। १२ ।।

उस सेनाके रथोंमें अमंगल निवारणके लिये यन्त्र और ओषधियाँ बाँधी गयी थीं। वे रस्सियोंसे खूब कसे गये थे। उन रथोंपर बँधी हुई ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं। उनके ऊपर छोटी-छोटी घंटियाँ बँधी थीं और कँगूरे जोड़े गये थे। उन सबमें ढाल-तलवार और पट्टिश आबद्ध थे ।। १२ ।।

चतुर्युजो रथाः सर्वे सर्वे चोत्तमवाजिनः ।
सप्रासऋष्टिकाः सर्वे सर्वे शतशरासनाः ।। १३ ।।

उन सभी रथोंमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे, वे सभी घोड़े अच्छी जातिके थे और सम्पूर्ण रथोंमें प्रास, ऋष्टि एवं सौ-सौ धनुष रखे गये थे ।। १३ ।।

धुर्ययोर्हययोरेकस्तथान्यौ पार्ष्णिसारथी ।
तौ चापि रथिनां श्रेष्ठौ रथी च हयवित् तथा ।। १४ ।।
नगराणीव गुप्तानि दुराधर्षाणि शत्रुभिः ।
आसन् रथसहस्राणि हेममालीनि सर्वशः ।। १५ ।।

प्रत्येक रथके दो-दो घोड़ोंपर एक-एक रक्षक नियुक्त था, एक-एक रथके लिये दो चक्ररक्षक नियत किये गये थे। वे दोनों ही रथियोंमें श्रेष्ठ थे तथा रथी भी अश्वसंचालनकी कलामें निपुण थे। सब ओर सुवर्णमालाओंसे अलंकृत हजारों रथ शोभा पाते थे। शत्रुओंके

लिये उनका भेदन करना अत्यन्त कठिन था। वे सब-के-सब नगरोंकी भाँति सुरक्षित थे ।। १४-१५ ।।

यथा रथास्तथा नागा बद्धकक्षाः स्वलंकृताः ।
बभूवुः सप्तपुरुषा रत्नवन्त इवाद्रयः ।। १६ ।।

जिस प्रकार रथ सजाये गये थे, उसी प्रकार हाथियोंको भी स्वर्णमालाओंसे सुसज्जित किया गया था। उन सबको रस्सोंसे कसा गया था। उनपर सात-सात पुरुष बैठे हुए थे, जिससे वे हाथी रत्नयुक्त पर्वतोंके समान जान पड़ते थे ।। १६ ।।

द्वावङ्कुशधरौ तत्र द्वावुत्तमधनुर्धरौ ।
द्वौ वरासिधरौ राजन्नेकः शक्तिपिनाकधृक् ।। १७ ।।

राजन्! उनमेंसे दो पुरुष अंकुश लेकर महावतका काम करते थे, दो उत्तम धनुर्धर योद्धा थे, दो पुरुष अच्छी तलवारें लिये रहते थे और एक पुरुष शक्ति तथा त्रिशूल धारण करता था ।। १७ ।।

गजैर्मत्तैः समाकीर्णं सर्वमायुधकोशकैः ।
तद् बभूव बलं राजन् कौरव्यस्य महात्मनः ।। १८ ।।

राजन्! महामना दुर्योधनकी वह सारी सेना ही अस्त्र-शस्त्रोंके भण्डारसे युक्त मदमत्त गजराजोंसे व्याप्त हो रही थी ।। १८ ।।

आमुक्तकवचैर्युक्तैः सपताकैः स्वलङ्कृतैः ।
सादिभिश्चोपपन्नास्तु तथा चायुतशो हयाः ।। १९ ।।

इसी प्रकार कवचधारी, युद्धके लिये उद्यत, आभूषणोंसे विभूषित तथा पताकाधारी सवारोंसे युक्त हजारों-लाखों घोड़े उस सेनामें मौजूद थे ।। १९ ।।

असंग्राहाः सुसम्पन्ना हेमभाण्डपरिच्छदाः ।
अनेकशतसाहस्राः सर्वे सादिवशे स्थिताः ।। २० ।।

वे घोड़े उछल-कूद मचाने आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण सदा अपने सवारोंके वशमें रहते थे। उन्हें अच्छी शिक्षा मिली थी। वे सुनहरे साजोंसे सुसज्जित थे। उनकी संख्या कई लाख थी ।। २० ।।

नानारूपविकाराश्च नानाकवचशस्त्रिणः ।
पदातिनो नरास्तत्र बभूविर्हेममालिनः ।। २१ ।।

उस सेनामें जो पैदल मनुष्य थे, वे भी सोनेके हारोंसे अलंकृत थे। उनके रूप-रंग, कवच और अस्त्र-शस्त्र नाना प्रकारके दिखायी देते थे ।। २१ ।।

रथस्यासन् दश गजा गजस्य दश वाजिनः ।
नरा दश हयस्यासन् पादरक्षाः समन्ततः ।। २२ ।।

एक-एक रथके पीछे दस-दस हाथी, एक-एक हाथीके पीछे दस-दस घोड़े और एक-एक घोड़ेके पीछे दस-दस पैदल सैनिक सब ओर पादरक्षक नियुक्त किये गये थे ।। २२ ।।

रथस्य नागाः पञ्चाशन्नागस्यासन् शतं हयाः ।
हयस्य पुरुषाः सप्त भिन्नसंधानकारिणः ।। २३ ।।

एक-एक रथके पीछे पचास-पचास हाथी, एक-एक हाथीके पीछे सौ-सौ घोड़े और एक-एक घोड़ेके साथ सात-सात पैदल सैनिक इस उद्देश्यसे संगठित किये गये थे कि वे समूहसे बिछुड़ी हुई दो सैनिक टुकड़ियोंको परस्पर मिला दें ।। २३ ।।

सेना पञ्चशतं नागा रथास्तावन्त एव च ।
दश सेना च पृतना पृतना दशवाहिनी ।। २४ ।।

पाँच सौ हाथियों और पाँच सौ रथोंकी एक सेना होती है। दस सेनाओंकी एक पृतना और दस पृतनाओंकी एक वाहिनी होती है ।। २४ ।।

सेना च वाहिनी चैव पृतना ध्वजिनी चमूः ।
अक्षौहिणीति पर्यायैर्निरुक्ता च वरूथिनी ।। २५ ।।

इसके सिवा सेना, वाहिनी, पृतना, ध्वजिनी, चमू, वरूथिनी और अक्षौहिणी—इन पर्यायवाची (समानार्थक) नामोंद्वारा भी सेनाका वर्णन किया गया है ।। २५ ।।

एवं व्यूढान्यनीकानि कौरवेयेण धीमता ।
अक्षौहिण्यो दशैका च संख्याताः सप्त चैव ह ।। २६ ।।

इस प्रकार बुद्धिमान् दुर्योधनने अपनी सेनाओंको व्यूहरचनापूर्वक संगठित किया था। कुरुक्षेत्रमें ग्यारह और सात मिलकर अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुईं थीं ।। २६ ।।

अक्षौहिण्यस्तु सप्तैव पाण्डवानामभूद् बलम् ।
अक्षौहिण्यो दशैका च कौरवाणामभूद् बलम् ।। २७ ।।

पाण्डवोंकी सेना केवल सात अक्षौहिणी थी और कौरवोंके पक्षमें ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयी थीं ।। २७ ।।

नराणां पञ्चपञ्चाशदेषा पत्तिर्विधीयते ।
सेनामुखं च तिस्रस्ता गुल्म इत्यभिशब्दितम् ।। २८ ।।

पचपन पैदलोंकी एक टुकड़ीको पत्ति कहते हैं। तीन पत्तियाँ मिलकर एक सेनामुख कहलाती हैं। सेनामुखका ही दूसरा नाम गुल्म है ।। २८ ।।

त्रयो गुल्मा गणस्त्वासीद् गणास्त्वयुतशोऽभवन् ।
दुर्योधनस्य सेनासु योत्स्यमानाः प्रहारिणः ।। २९ ।।

तीन गुल्मोंका एक गण होता है। दुर्योधनकी सेनाओंमें युद्ध करनेवाले पैदल योद्धाओंके ऐसे-ऐसे गण दस हजारसे भी अधिक थे ।। २९ ।।

तत्र दुर्योधनो राजा शूरान् बुद्धिमतो नरान् ।
प्रसमीक्ष्य महाबाहुश्चक्रे सेनापतींस्तदा ।। ३० ।।

उस समय वहाँ महाबाहु राजा दुर्योधनने अच्छी तरह सोच-विचारकर बुद्धिमान् एवं शूरवीर पुरुषोंको सेनापति बनाया ।। ३० ।।

पृथगक्षौहिणीनां च प्रणेतॄन् नरसत्तमान् ।
विधिवत् पूर्वमानीय पार्थिवानभ्यषेचयत् ।। ३१ ।।
कृपं द्रोणं च शल्यं च सैन्धवं च जयद्रथम् ।
सुदक्षिणं च काम्बोजं कृतवर्माणमेव च ।। ३२ ।।
द्रोणपुत्रं च कर्णं च भूरिश्रवसमेव च ।
शकुनिं सौबलं चैव बाह्लीकं च महाबलम् ।। ३३ ।।

कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा—इन श्रेष्ठ पुरुषोंको एवं मद्रराज शल्य, सिंधुराज जयद्रथ, कम्बोज-राज सुदक्षिण, कृतवर्मा, कर्ण, भूरिश्रवा, सुबलपुत्र शकुनि तथा महाबली बाह्लीक—इन राजाओंको पहले अपने सामने बुलाकर उन सबको पृथक्-पृथक् एक-एक अक्षौहिणी सेनाका नायक निश्चित करके विधि-पूर्वक उनका अभिषेक किया ।। ३१—३३ ।।

दिवसे दिवसे तेषां प्रतिवेलं च भारत ।
चक्रे स विविधाः पूजाः प्रत्यक्षं च पुनः पुनः ।। ३४ ।।

भारत! दुर्योधन प्रतिदिन और प्रत्येक वेलामें उन सेनापतियोंका बारंबार विविध प्रकारसे प्रत्यक्ष पूजन करता था ।। ३४ ।।

तथा विनियताः सर्वे ये च तेषां पदानुगाः ।
बभूवुः सैनिका राज्ञां प्रियं राज्ञश्चिकीर्षवः ।। ३५ ।।

उनके जो अनुयायी थे, उनको भी उसी प्रकार यथायोग्य स्थानोंपर नियुक्त कर दिया गया। वे राजाओंके सैनिक राजा दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर अपने-अपने कार्यमें तत्पर हो गये ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि दुर्योधनसैन्यविभागे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें दुर्योधनकी सेनाका विभागविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५५ ।।

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा भीष्मजीका प्रधान सेनापतिके पदपर अभिषेक और कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर शिविर-निर्माण

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवं भीष्मं प्राञ्जलिर्धृतराष्ट्रजः ।
सह सर्वैर्महीपालैरिदं वचनमब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन समस्त राजाओंके साथ शान्तनु-नन्दन भीष्मके पास जा हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला— ।। १ ।।

ऋते सेनाप्रणेतारं पृतना सुमहत्यपि ।
दीर्यते युद्धमासाद्य पिपीलिकपुटं यथा ।। २ ।।

'पितामह! कितनी ही बड़ी सेना क्यों न हो? किसी योग्य सेनापतिके बिना युद्धमें जाकर चींटियोंकी पंक्तिके समान छिन्न-भिन्न हो जाती है ।। २ ।।

न हि जातु द्वयोर्बुद्धिः समा भवति कर्हिचित् ।
शौर्यं च बलनेतॄणां स्पर्धते च परस्परम् ।। ३ ।।

'दो पुरुषोंकी बुद्धि कभी समान नहीं होती। यदि दोनों ओर योग्य सेनापति हों तो उनका शौर्य एक-दूसरेकी होड़में बढ़ता है ।। ३ ।।

श्रूयते च महाप्राज्ञ हैहयानमितौजसः ।
अभ्ययुर्ब्राह्मणाः सर्वे समुच्छ्रितकुशध्वजाः ।। ४ ।।

'महामते! सुना जाता है कि समस्त ब्राह्मणोंने अपनी कुशमयी ध्वजा फहराते हुए पहले कभी अमिततेजस्वी हैहयवंशके क्षत्रियोंपर आक्रमण किया था ।। ४ ।।

तानभ्ययुस्तदा वैश्याः शूद्राश्चैव पितामह ।
एकतस्तु त्रयो वर्णा एकतः क्षत्रियर्षभाः ।। ५ ।।

'पितामह! उस समय ब्राह्मणोंके साथ वैश्यों और शूद्रोंने भी उनपर धावा किया था। एक ओर तीनों वर्णके लोग थे और दूसरी ओर चुने हुए श्रेष्ठ क्षत्रिय ।। ५ ।।

ततो युद्धेष्वभज्यन्त त्रयो वर्णाः पुनः पुनः ।
क्षत्रियाश्च जयन्त्येव बहुलं चैकतो बलम् ।। ६ ।।

'तदनन्तर जब युद्ध आरम्भ हुआ, तब तीनों वर्णोंके लोग बारंबार पीठ दिखाकर भागने लगे। यद्यपि इनकी सेना अधिक थी तो भी क्षत्रियोंने एकमत होकर उनपर विजय पायी ।। ६ ।।

ततस्ते क्षत्रियानेव पप्रच्छुर्द्विजसत्तमाः ।

तेभ्यः शशंसुर्धर्मज्ञा याथातथ्यं पितामह ।। ७ ।।

'पितामह! तब उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंसे ही पूछा—हमारी पराजयका क्या कारण है? उस समय धर्मज्ञ क्षत्रियोंने उनसे यथार्थ कारण बता दिया ।। ७ ।।

वयमेकस्य शृण्वाना महाबुद्धिमतो रणे ।
भवन्तस्तु पृथक् सर्वे स्वबुद्धिवशवर्तिनः ।। ८ ।।

'वे बोले—हमलोग एक परम बुद्धिमान् पुरुषको सेनापति बनाकर युद्धमें उसीका आदेश सुनते और मानते हैं। परंतु आप सब लोग पृथक्-पृथक् अपनी ही बुद्धिके अधीन हो मनमाना बर्ताव करते हैं ।। ८ ।।

ततस्ते ब्राह्मणाश्चक्रुरेकं सेनापतिं द्विजम् ।
नये सुकुशलं शूरमजयन् क्षत्रियांस्ततः ।। ९ ।।

'यह सुनकर उन ब्राह्मणोंने एक शूरवीर एवं नीति-निपुण ब्राह्मणको सेनापति बनाया और क्षत्रियोंपर विजय प्राप्त की ।। ९ ।।

एवं ये कुशलं शूरं हितेप्सितमकल्मषम् ।
सेनापतिं प्रकुर्वन्ति ते जयन्ति रणे रिपून् ।। १० ।।

'इस प्रकार जो लोग किसी हितैषी, पापरहित तथा युद्ध-कुशल शूरवीरको सेनापति बना लेते हैं, वे संग्राममें शत्रुओंपर अवश्य विजय पाते हैं ।। १० ।।

भवानुशनसा तुल्यो हितैषी च सदा मम ।
असंहार्यः स्थितो धर्मे स नः सेनापतिर्भव ।। ११ ।।

'आप सदा मेरा हित चाहनेवाले तथा नीतिमें शुक्राचार्यके समान हैं। आपको आपकी इच्छाके बिना कोई मार नहीं सकता। आप सदा धर्ममें ही स्थित रहते हैं, अतः हमारे प्रधान सेनापति हो जाइये ।। ११ ।।

रश्मिवतामिवादित्यो वीरुधामिव चन्द्रमाः ।
कुबेर इव यक्षाणां देवानामिव वासवः ।। १२ ।।
पर्वतानां यथा मेरुः सुपर्णः पक्षिणां यथा ।
कुमार इव देवानां वसूनामिव हव्यवाट् ।। १३ ।।

'जैसे किरणोंवाले तेजस्वी पदार्थोंके सूर्य, वृक्ष और ओषधियोंके चन्द्रमा, यक्षोंके कुबेर, देवताओंके इन्द्र, पर्वतोंके मेरु, पक्षियोंके गरुड़, समस्त देवयोनियोंके कार्तिकेय और वसुओंके अग्निदेव अधिपति एवं संरक्षक हैं (उसी प्रकार आप हमारी समस्त सेनाओंके अधिनायक और संरक्षक हों) ।। १२-१३ ।।

भवता हि वंय गुप्ताः शक्रेणेव दिवौकसः ।
अनाधृष्या भविष्यामस्त्रिदशानामपि ध्रुवम् ।। १४ ।।

'इन्द्रके द्वारा सुरक्षित देवताओंकी भाँति आपके संरक्षणमें रहकर हमलोग निश्चय ही देवगणोंके लिये भी अजेय हो जायँगे ।। १४ ।।

प्रयातु नो भवानग्रे देवानामिव पावकिः ।
वयं त्वामनुयास्यामः सौरभेया इवर्षभम् ।। १५ ।।

'जैसे कार्तिकेय देवताओंके आगे-आगे चलते हैं, वैसे ही आप हमारे अगुआ हों। जैसे बछड़े साँड़के पीछे चलते हैं, उसी प्रकार हम आपका अनुसरण करेंगे' ।। १५ ।।

भीष्म उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
यथैव हि भवन्तो मे तथैव मम पाण्डवाः ।। १६ ।।

भीष्मने कहा—भारत! तुम जैसा कहते हो वह ठीक है, पर मेरे लिये जैसे तुम हो, वैसे ही पाण्डव हैं ।। १६ ।।

अपि चैव मया श्रेयो वाच्यं तेषां नराधिप ।
संयोद्धव्यं तवार्थाय यथा मे समयः कृतः ।। १७ ।।

नरेश्वर! मैं पाण्डवोंको उनके पूछनेपर अवश्य ही हितकी बात बताऊँगा और तुम्हारे लिये युद्ध करूँगा। ऐसी ही मैंने प्रतिज्ञा की है ।। १७ ।।

न तु पश्यामि योद्धारमात्मनः सदृशं भुवि ।
ऋते तस्मान्नरव्याघ्रात् कुन्तीपुत्राद् धनंजयात् ।। १८ ।।

मैं इस भूतलपर नरश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र अर्जुनके सिवा दूसरे किसी योद्धाको अपने समान नहीं देखता हूँ ।। १८ ।।

स हि वेद महाबुद्धिर्दिव्यान्यस्त्राण्यनेकशः ।
न तु मां विवृतो युद्धे जातु युध्येत पाण्डवः ।। १९ ।।

महाबुद्धिमान् पाण्डुकुमार अर्जुन अनेक दिव्यास्त्रोंका ज्ञान रखते हैं; परंतु वे मेरे सामने आकर प्रकट रूपमें कभी युद्ध नहीं कर सकते ।। १९ ।।

अहं चैव क्षणेनैव निर्मनुष्यमिदं जगत् ।
कुर्यां शस्त्रबलेनैव ससुरासुरराक्षसम् ।। २० ।।

अर्जुनकी ही भाँति मैं भी यदि चाहूँ तो अपने शस्त्रोंके बलसे देवता, मनुष्य, असुर तथा राक्षसोंसहित इस सम्पूर्ण जगत्को क्षणभरमें निर्जीव बना दूँ ।। २० ।।

न त्वेवोत्सादनीया मे पाण्डोः पुत्रा जनाधिप ।
तस्माद् योधान् हनिष्यामि प्रयोगेणायुतं सदा ।। २१ ।।
एवमेषां करिष्यामि निधनं कुरुनन्दन ।
न चेत् ते मां हनिष्यन्ति पूर्वमेव समागमे ।। २२ ।।

परंतु जनेश्वर! मैं पाण्डुके पुत्रोंकी किसी तरह हत्या नहीं करूँगा। कुरुनन्दन! यदि पाण्डव इस युद्धमें मुझे पहले ही नहीं मार डालेंगे तो मैं अपने अस्त्रोंके प्रयोगद्वारा प्रतिदिन

उनके पक्षके दस हजार योद्धाओंका वध करता रहूँगा, मैं इस प्रकार इनकी सेनाका संहार करूँगा ।। २१-२२ ।।

सेनापतिस्त्वहं राजन् समये नापरेण ते ।
भविष्यामि यथाकामं तन्मे श्रोतुमिहार्हसि ।। २३ ।।

राजन्! मैं अपनी इच्छाके अनुसार एक शर्तपर तुम्हारा सेनापति होऊँगा। उसके बदले दूसरी शर्त नहीं मानूँगा। उस शर्तको तुम मुझसे यहाँ सुन लो ।। २३ ।।

कर्णो वा युध्यतां पूर्वमहं वा पृथिवीपते ।
स्पर्धते हि सदात्यर्थं सूतपुत्रो मया रणे ।। २४ ।।

पृथ्वीपते! या तो पहले कर्ण ही युद्ध कर ले या मैं ही युद्ध करूँ; क्योंकि यह सूतपुत्र सदा युद्धमें मुझसे अत्यन्त स्पर्धा रखता है ।। २४ ।।

कर्ण उवाच

नाहं जीवति गाङ्गेये राजन् योत्स्ये कथंचन ।
हते भीष्मे तु योत्स्यामि सह गाण्डीवधन्वना ।। २५ ।।

कर्ण बोला—राजन्! मैं गंगानन्दन भीष्मके जीते-जी किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा। इनके मारे जानेपर ही गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ लड़ूँगा ।। २५ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः सेनापतिं चक्रे विधिवद् भूरिदक्षिणम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो भीष्मं सोऽभिषिक्तो व्यरोचत ।। २६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने प्रचुर दक्षिणा देनेवाले भीष्मजीका प्रधान सेनापतिके पदपर विधिपूर्वक अभिषेक किया। अभिषेक हो जानेपर उनकी बड़ी शोभा हुई ।। २६ ।।

ततो भेरीश्च शङ्खांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।
वादयामासुरव्यग्रा वादका राजशासनात् ।। २७ ।।

तदनन्तर बाजा बजानेवालोंने राजाकी आज्ञासे निर्भय होकर सैकड़ों और हजारों भेरियों तथा शंखोंको बजाया ।। २७ ।।

सिंहनादाश्च विविधा वाहनानां च निःस्वनाः ।
प्रादुरासन्ननभ्रे च वर्षं रुधिरकर्दमम् ।। २८ ।।

उस समय वीरोंके सिंहनाद तथा वाहनोंके नाना प्रकारके शब्द सब ओर गूँज उठे। बिना बादलके ही आकाशसे रक्तकी वर्षा होने लगी, जिसकी कीच जम गयी ।। २८ ।।

निर्घाताः पृथिवीकम्पा गजबृंहितनिःस्वनाः ।
आसंश्च सर्वयोधानां पातयन्तो मनांस्युत ।। २९ ।।

हाथियोंके चिग्घाड़नेके साथ ही बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान भयंकर शब्द होने लगे। धरती डोलने लगी। इन सब उत्पातोंने प्रकट होकर समस्त योद्धाओंके मानसिक उत्साहको दबा दिया ।। २९ ।।

वाचश्चाप्यशरीरिण्यो दिवश्चोल्काः प्रपेदिरे ।
शिवाश्च भयवेदिन्यो नेदुर्दीप्ततरा भृशम् ।। ३० ।।

अशुभ आकाशवाणी सुनायी देने लगी, आकाशसे उल्काएँ गिरने लगीं, भयकी सूचना देनेवाली सियारिनियाँ जोर-जोरसे अमंगलजनक शब्द करने लगीं ।। ३० ।।

सैनापत्ये यदा राजा गाङ्गेयमभिषिक्तवान् ।
तदैतान्युग्ररूपाणि बभूवुः शतशो नृप ।। ३१ ।।

नरेश्वर! राजा दुर्योधनने जब गंगानन्दन भीष्मको सेनापतिके पदपर अभिषिक्त किया, उसी समय ये सैकड़ों भयानक उत्पात प्रकट हुए ।। ३१ ।।

ततः सेनापतिं कृत्वा भीष्मं परबलार्दनम् ।
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान् गोभिर्निष्कैश्च भूरिशः ।। ३२ ।।
वर्धमानो जयाशीर्भिर्निर्ययौ सैनिकैर्वृतः ।
आपगेयं पुरस्कृत्य भ्रातृभिः सहितस्तदा ।। ३३ ।।
स्कन्धावारेण महता कुरुक्षेत्रं जगाम ह ।। ३४ ।।

इस प्रकार शत्रुसेनाको पीड़ित करनेवाले भीष्मको सेनापति बनाकर दुर्योधनने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया और उन्हें गौओं तथा सुवर्णमुद्राओंकी भूरि-भूरि दक्षिणाएँ दीं। उस समय ब्राह्मणोंने विजयसूचक आशीर्वादोंद्वारा राजाका अभ्युदय मनाया और वह सैनिकोंसे घिरकर भीष्मजीको आगे करके भाइयोंके साथ हस्तिनापुरसे बाहर निकला तथा विशाल तम्बू-शामियानोंके साथ कुरुक्षेत्रको गया ।। ३२—३४ ।।

परिक्रम्य कुरुक्षेत्रं कर्णेन सह कौरवः ।
शिबिरं मापयामास समे देशे जनाधिप ।। ३५ ।।

जनमेजय! कर्णके साथ कुरुक्षेत्रमें जाकर दुर्योधनने एक समतल प्रदेशमें शिविरके लिये भूमिको नपवाया ।। ३५ ।।

मधुरानूषरे देशे प्रभूतयवसेन्धने ।
यथैव हास्तिनपुरं तद्वच्छिबिरमाबभौ ।। ३६ ।।

ऊसररहित मनोहर प्रदेशमें जहाँ घास और ईंधनकी बहुतायत थी, दुर्योधनकी सेनाका शिविर हस्तिनापुरकी भाँति सुशोभित होने लगा ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि भीष्मसैनापत्ये षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें भीष्मका सेनापतित्वविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५६ ।।

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा अपने सेनापतियोंका अभिषेक, यदुवंशियोंसहित बलरामजीका आगमन तथा पाण्डवोंसे विदा लेकर उनका तीर्थयात्राके लिये प्रस्थान

जनमेजय उवाच

आपगेयं महात्मानं भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
पितामहं भारतानां ध्वजं सर्वमहीक्षिताम् ।। १ ।।
बृहस्पतिसमं बुद्ध्या क्षमया पृथिवीसमम् ।
समुद्रमिव गाम्भीर्ये हिमवन्तमिव स्थिरम् ।। २ ।।
प्रजापतिमिवौदार्ये तेजसा भास्करोपमम् ।
महेन्द्रमिव शत्रूणां ध्वंसनं शरवृष्टिभिः ।। ३ ।।
रणयज्ञे प्रवितते सुभीमे लोमहर्षणे ।
दीक्षितं चिररात्राय श्रुत्वा तत्र युधिष्ठिरः ।। ४ ।।
किमब्रवीन्महाबाहुः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
भीमसेनार्जुनौ वापि कृष्णो वा प्रत्यभाषत ।। ५ ।।

जनमेजयने पूछा—भगवन्! भरतवंशियोंके पितामह गंगानन्दन महात्मा भीष्म सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ थे। समस्त राजाओंमें ध्वजके समान उनका बहुत ऊँचा स्थान था। वे बुद्धिमें बृहस्पति, क्षमामें पृथ्वी, गम्भीरतामें समुद्र, स्थिरतामें हिमवान्, उदारतामें प्रजापति और तेजमें भगवान् सूर्यके समान थे। वे अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा देवराज इन्द्रके समान शत्रुओंका विध्वंस करनेवाले थे। उस समय जो अत्यन्त भयंकर तथा रोमांचकारी रणयज्ञ आरम्भ हुआ था, उसमें उन्होंने जब दीर्घकालके लिये दीक्षा ले ली, तब इस समाचारको सुननेके पश्चात् सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु युधिष्ठिरने क्या कहा? भीमसेन तथा अर्जुनने भी उसके बारेमें क्या कहा? अथवा भगवान् श्रीकृष्णने अपना मत किस प्रकार व्यक्त किया? ।। १—५ ।।

वैशम्पायन उवाच

आपद्धर्मार्थकुशलो महाबुद्धिर्युधिष्ठिरः ।
सर्वान् भ्रातॄन् समानीय वासुदेवं च शाश्वतम् ।। ६ ।।
उवाच वदतां श्रेष्ठः सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! आपद्धर्मके विषयमें कुशल, वक्ताओंमें श्रेष्ठ, परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने उस समय सम्पूर्ण भाइयों तथा सनातन भगवान् वासुदेवको बुलाकर

सान्त्वनापूर्वक इस प्रकार कहा— ।। ६½ ।।

पर्याक्रामत सैन्यानि यत्तास्तिष्ठत दंशिताः ।। ७ ।।
पितामहेन वो युद्धं पूर्वमेव भविष्यति ।
तस्मात् सप्तसु सेनासु प्रणेतॄन् मम पश्यत ।। ८ ।।

'तुम सब लोग सब ओर घूम-फिरकर अपनी सेनाओंका निरीक्षण करो और कवच आदिसे सुसज्जित होकर खड़े हो जाओ। सबसे पहले पितामह भीष्मसे तुम्हारा युद्ध होगा। इसलिये अपनी सात अक्षौहिणी सेनाओंके सेनापतियोंकी देखभाल कर लो' ।। ७-८ ।।

कृष्ण उवाच

यथार्हति भवान् वक्तुमस्मिन् काले ह्युपस्थिते ।
तथेदमर्थवद् वाक्यमुक्तं ते भरतर्षभ ।। ९ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—भरतकुलभूषण! ऐसा अवसर उपस्थित होनेपर आपको जैसी बात कहनी चाहिये, वैसी ही यह अर्थयुक्त बात आपने कही है ।। ९ ।।

रोचते मे महाबाहो क्रियतां यदनन्तरम् ।
नायकास्तव सेनायां क्रियन्तामिह सप्त वै ।। १० ।।

महाबाहो! मुझे आपकी बात ठीक लगती है; अतः इस समय जो आवश्यक कर्तव्य है, उसका पालन कीजिये। अपनी सेनाके सात सेनापतियोंको यहाँ निश्चित कर लीजिये ।। १० ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रुपदमानाय्य विराटं शिनिपुङ्गवम् ।
धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं धृष्टकेतुं च पार्थिव ।। ११ ।।
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं सहदेवं च मागधम् ।
एतान् सप्त महाभागान् वीरान् युद्धाभिकाङ्क्षिणः ।। १२ ।।
सेनाप्रणेतॄन् विधिवदभ्यषिञ्चद् युधिष्ठिरः ।
सर्वसेनापतिं चात्र धृष्टद्युम्नं चकार ह ।। १३ ।।
द्रोणान्तहेतोरुत्पन्नो य इद्धाज्जातवेदसः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा द्रुपद, विराट, सात्यकि, पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु, पांचालवीर शिखण्डी और मगधराज सहदेव—इन सात युद्धाभिलाषी महाभाग वीरोंको युधिष्ठिरने विधिपूर्वक सेनापतिके पदपर अभिषिक्त कर दिया और धृष्टद्युम्नको सम्पूर्ण सेनाओंका प्रधान सेनापति बना दिया, जो द्रोणाचार्यका अन्त करनेके लिये प्रज्वलित अग्निसे उत्पन्न हुए थे ।। ११—१३½ ।।

सर्वेषामेव तेषां तु समस्तानां महात्मनाम् ।। १४ ।।
सेनापतिपतिं चक्रे गुडाकेशं धनंजयम् ।

तदनन्तर उन्होंने निद्राविजयी वीर धनंजयको उन समस्त महामना वीर सेनापतियोंका भी अधिपति बना दिया ।। १४½ ।।

अर्जुनस्यापि नेता च संयन्ता चैव वाजिनाम् ।। १५ ।।
संकर्षणानुजः श्रीमान् महाबुद्धिर्जनार्दनः ।

अर्जुनके भी नेता और उनके घोड़ोंके भी नियन्ता हुए बलरामजीके छोटे भाई परम बुद्धिमान् श्रीमान् भगवान् श्रीकृष्ण ।। १५½ ।।

तद् दृष्ट्वोपस्थितं युद्धं समासन्नं महात्ययम् ।। १६ ।।
प्राविशद् भवनं राजन् पाण्डवानां हलायुधः ।
सहाक्रूरप्रभृतिभिर्गदसाम्बोद्धवादिभिः ।। १७ ।।
रौक्मिणेयाहुकसुतैश्चारुदेष्णपुरोगमैः ।
वृष्णिमुख्यैरधिगतैर्व्याघ्रैरिव बलोत्कटैः ।। १८ ।।
अभिगुप्तो महाबाहुर्मरुद्भिरिव वासवः ।
नीलकौशेयवसनः कैलासशिखरोपमः ।। १९ ।।
सिंहखेलगतिः श्रीमान् मदरक्तान्तलोचनः ।

राजन्! तदनन्तर उस महान् संहारकारी युद्धको अत्यन्त संनिकट और प्रायः उपस्थित हुआ देख नीले रंगका रेशमी वस्त्र पहने कैलासशिखरके समान गौर-वर्णवाले हलधारी महाबाहु श्रीमान् बलरामजीने पाण्डवोंके शिविरमें सिंहके समान लीलापूर्वक गतिसे प्रवेश किया। उनके नेत्रोंके कोने मदसे अरुण हो रहे थे। उनके साथ अक्रूर आदि यदुवंशी तथा गद, साम्ब, उद्धव, प्रद्युम्न, चारुदेष्ण तथा आहुकपुत्र आदि प्रमुख वृष्णिवंशी भी जो सिंह और व्याघ्रोंके समान अत्यन्त उत्कट बल-शाली थे, उन सबसे सुरक्षित बलरामजी वैसे ही सुशोभित हुए, मानो मरुद्गणोंके साथ महेन्द्र शोभा पा रहे हों ।।

तं दृष्ट्वा धर्मराजश्च केशवश्च महाद्युतिः ।। २० ।।
उदतिष्ठत् ततः पार्थो भीमकर्मा वृकोदरः ।
गाण्डीवधन्वा ये चान्ये राजानस्तत्र केचन ।। २१ ।।

उन्हें देखते ही धर्मराज युधिष्ठिर, महातेजस्वी श्रीकृष्ण, भयंकर कर्म करनेवाले कुन्तीपुत्र भीमसेन तथा अन्य जो कोई भी राजा वहाँ विद्यमान थे, वे सब-के-सब उठकर खड़े हो गये ।। २०-२१ ।।

पूजयांचक्रिरे ते वै समायान्तं हलायुधम् ।
ततस्तं पाण्डवो राजा करे पस्पर्श पाणिना ।। २२ ।।

हलायुध बलरामजीको आया देख सबने उनका समादर किया। तदनन्तर पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने हाथसे उनके हाथका स्पर्श किया ।। २२ ।।

वासुदेवपुरोगास्तं सर्व एवाभ्यवादयन् ।
विराटद्रुपदौ वृद्धावभिवाद्य हलायुधः ।। २३ ।।

युधिष्ठिरेण सहित उपाविशदरिंदमः ।

पाण्डवोंके डेरेमें बलरामजी

श्रीकृष्ण आदि सब लोगोंने उन्हें प्रणाम किया। तत्पश्चात् बूढ़े राजा विराट और द्रुपदको प्रणाम करके शत्रुदमन बलराम युधिष्ठिरके साथ बैठे ।। २३ १/२ ।।

ततस्तेषूपविष्टेषु पार्थिवेषु समन्ततः ।
वासुदेवमभिप्रेक्ष्य रौहिणेयोऽभ्यभाषत ।। २४ ।।

फिर उन सब राजाओंके चारों ओर बैठ जानेपर रोहिणीनन्दन बलरामने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए कहा— ।। २४ ।।

भवितायं महारौद्रो दारुणः पुरुषक्षयः ।
दिष्टमेतद् ध्रुवं मन्ये न शक्यमतिवर्तितुम् ।। २५ ।।

'जान पड़ता है यह महाभयंकर और दारुण नरसंहार होगा ही। प्रारब्धके इस विधानको मैं अटल मानता हूँ। अब इसे हटाया नहीं जा सकता ।। २५ ।।

तस्माद् युद्धात् समुत्तीर्णानपि वः ससुहृज्जनान् ।
अरोगानक्षतैर्देहैर्द्रष्टास्मीति मतिर्मम ।। २६ ।।

'इस युद्धसे पार हुए आप सब सुहृदोंको मैं अक्षत शरीरसे युक्त और नीरोग देखूँगा। ऐसा मेरा विश्वास है ।। २६ ।।

समेतं पार्थिवं क्षत्रं कालपक्वमसंशयम् ।
विमर्दश्च महान् भावी मांसशोणितकर्दमः ।। २७ ।।

'इसमें संदेह नहीं कि यहाँ जो-जो क्षत्रिय नरेश एकत्र हुए हैं, उन सबको कालने अपना ग्रास बनानेके लिये पका दिया है। महान् जनसंहार होनेवाला है। इसमें रक्त और मांसकी कीच जम जायगी ।। २७ ।।

उक्तो मया वासुदेवः पुनः पुनरुपह्वरे ।
सम्बन्धिषु समां वृत्तिं वर्तस्व मधुसूदन ।। २८ ।।
पाण्डवा हि यथास्माकं तथा दुर्योधनो नृपः ।
तस्यापि क्रियतां साह्यं स पर्येति पुनः पुनः ।। २९ ।।

'मैंने एकान्तमें श्रीकृष्णसे बार-बार कहा था कि मधुसूदन! अपने सभी सम्बन्धियोंके प्रति एक-सा बर्ताव करो; क्योंकि हमारे लिये जैसे पाण्डव हैं, वैसा ही राजा दुर्योधन है। उसकी भी सहायता करो। वह बार-बार अपने यहाँ चक्कर लगाता है ।। २८-२९ ।।

तच्च मे नाकरोद् वाक्यं त्वदर्थे मधुसूदनः ।
निर्विष्टः सर्वभावेन धनंजयमवेक्ष्य ह ।। ३० ।।

'परंतु युधिष्ठिर! तुम्हारे लिये ही मधुसूदन श्रीकृष्णने मेरी उस बातको नहीं माना है। ये अर्जुनको देखकर सब प्रकारसे उसीपर निछावर हो रहे हैं ।। ३० ।।

ध्रुवो जयः पाण्डवानामिति मे निश्चिता मतिः ।
तथा ह्यभिनिवेशोऽयं वासुदेवस्य भारत ।। ३१ ।।

'मेरा निश्चित विश्वास है कि इस युद्धमें पाण्डवोंकी अवश्य विजय होगी। भारत! श्रीकृष्णका भी ऐसा दृढ़ संकल्प है ।। ३१ ।।

न चाहमुत्सहे कृष्णमृते लोकमुदीक्षितुम् ।
ततोऽहमनुवर्तामि केशवस्य चिकीर्षितम् ।। ३२ ।।

'मैं तो श्रीकृष्णके बिना इस सम्पूर्ण जगत्की ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता; अतः ये केशव जो कुछ करना चाहते हैं, मैं उसीका अनुसरण करता हूँ ।। ३२ ।।

उभौ शिष्यौ हि मे वीरौ गदायुद्धविशारदौ ।
तुल्यस्नेहोऽस्म्यतो भीमे तथा दुर्योधने नृपे ।। ३३ ।।

'भीमसेन और दुर्योधन ये दोनों ही वीर मेरे शिष्य एवं गदायुद्धमें कुशल हैं; अतः मैं इन दोनोंपर एक-सा स्नेह रखता हूँ ।। ३३ ।।

तस्माद् यास्यामि तीर्थानि सरस्वत्या निषेवितुम् ।
न हि शक्ष्यामि कौरव्यान् नश्यमानानुपेक्षितुम् ।। ३४ ।।

'इसलिये मैं सरस्वती नदीके तटवर्ती तीर्थोंका सेवन करनेके लिये जाऊँगा; क्योंकि मैं नष्ट होते हुए कुरुवंशियोंको उस अवस्थामें देखकर उनकी उपेक्षा नहीं कर सकूँगा?' ।। ३४ ।।

एवमुक्त्वा महाबाहुरनुज्ञातश्च पाण्डवैः ।
तीर्थयात्रां ययौ रामो निर्वर्त्य मधुसूदनम् ।। ३५ ।।

ऐसा कहकर महाबाहु बलरामजी पाण्डवोंसे विदा ले मधुसूदन श्रीकृष्णको संतुष्ट करके तीर्थयात्राके लिये चले गये ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि बलरामतीर्थयात्रागमने सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें बलरामजीके तीर्थयात्राके लिये जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५७ ।।

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

रुक्मीका सहायता देनेके लिये आना; परंतु पाण्डव और कौरव दोनों पक्षोंके द्वारा कोरा उत्तर पाकर लौट जाना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भीष्मकस्य महात्मनः ।
हिरण्यरोम्णो नृपतेः साक्षादिन्द्रसखस्य वै ।। १ ।।
आकूतीनामधिपतिर्भोजस्यातियशस्विनः ।
दाक्षिणात्यपतेः पुत्रो दिक्षु रुक्मीति विश्रुतः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी समय अति यशस्वी दाक्षिणात्य देशके अधिपति भोजवंशी तथा इन्द्रके सखा हिरण्यरोमा नामवाले संकल्पोंके स्वामी महामना भीष्मकका सगा पुत्र, सम्पूर्ण दिशाओंमें विख्यात रुक्मी, पाण्डवोंके पास आया ।। १-२ ।।

यः किंपुरुषसिंहस्य गन्धमादनवासिनः ।
कृत्स्नं शिष्यो धनुर्वेदं चतुष्पादमवाप्तवान् ।। ३ ।।

जिसने गन्धमादननिवासी किंपुरुषप्रवर द्रुमका शिष्य होकर चारों पादोंसे युक्त सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की थी ।। ३ ।।

यो माहेन्द्रं धनुर्लेभे तुल्यं गाण्डीवतेजसा ।
शार्ङ्गेण च महाबाहुः सम्मितं दिव्यलक्षणम् ।। ४ ।।

जिस महाबाहुने गाण्डीवधनुषके तेजके समान ही तेजस्वी विजय नामक धनुष इन्द्रदेवतासे प्राप्त किया था। वह दिव्य लक्षणोंसे सम्पन्न धनुष शार्ङ्गधनुषकी समानता करता था ।। ४ ।।

त्रीण्येवैतनि दिव्यानि धनूंषि दिवि चारिणाम् ।
वारुणं गाण्डिवं तत्र माहेन्द्रं विजयं धनुः ।
शार्ङ्गं तु वैष्णवं प्राहुर्दिव्यं तेजोमयं धनुः ।। ५ ।।

द्युलोकमें विचरनेवाले देवताओंके ये तीन ही धनुष दिव्य माने गये हैं। उनमेंसे गाण्डीव धनुष वरुणका, विजय देवराज इन्द्रका तथा शार्ङ्ग नामक दिव्य तेजस्वी धनुष भगवान् विष्णुका बताया गया है ।। ५ ।।

धारयामास तत् कृष्णः परसेनाभयावहम् ।
गाण्डीवं पावकाल्लेभे खाण्डवे पाकशासनिः ।। ६ ।।

शत्रुसेनाको भयभीत करनेवाले उस शार्ङ्ग-धनुषको भगवान् श्रीकृष्णने धारण किया और खाण्डव-दाहके समय इन्द्रकुमार अर्जुनने साक्षात् अग्निदेवसे गाण्डीवधनुष प्राप्त

किया था ।। ६ ।।

द्रुमाद् रुक्मी महातेजा विजयं प्रत्यपद्यत ।
संछिद्य मौरवान् पाशान् निहत्य मुरमोजसा ।। ७ ।।
निर्जित्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले ।
षोडश स्त्रीसहस्राणि रत्नानि विविधानि च ।। ८ ।।
प्रतिपेदे हृषीकेशः शार्ङ्गं च धनुरुत्तमम् ।

महातेजस्वी रुक्मीने द्रुमसे विजय नामक धनुष पाया था। भगवान् श्रीकृष्णने अपने तेज और बलसे मुर दैत्यके पाशोंका उच्छेद करके भूमिपुत्र नरकासुरको जीतकर जब उसके यहाँसे अदितिके मणिमय कुण्डल वापस ले लिये और सोलह हजार स्त्रियों तथा नाना प्रकारके रत्नोंको अपने अधिकारमें कर लिया, उसी समय उन्हें शार्ङ्ग नामक उत्तम धनुष भी प्राप्त हुआ था ।। ७-८ १/२ ।।

रुक्मी तु विजयं लब्ध्वा धनुर्मेघनिभस्वनम् ।। ९ ।।
विभीषयन्निव जगत् पाण्डवानभ्यवर्तत ।

रुक्मी मेघकी गर्जनाके समान भयानक टंकार करनेवाले विजय नामक धनुषको पाकर सम्पूर्ण जगत्को भयभीत-सा करता हुआ पाण्डवोंके यहाँ आया ।। ९ १/२ ।।

नामृष्यत पुरा योऽसौ स्वबाहुबलगर्वितः ।। १० ।।
रुक्मिण्या हरणं वीरो वासुदेवेन धीमता ।

यह वही वीर रुक्मी था, जो अपने बाहुबलके घमंडमें आकर पहले परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा किये गये रुक्मिणीके अपहरणको नहीं सह सका था ।। १० १/२ ।।

कृत्वा प्रतिज्ञां नाहत्वा निवर्तिष्ये जनार्दनम् ।। ११ ।।
ततोऽन्वधावद् वार्ष्णेयं सर्वशस्त्रभृतां वरः ।

वह सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था। उसने यह प्रतिज्ञा करके कि मैं वृष्णिवंशी श्रीकृष्णको मारे बिना अपने नगरको नहीं लौटूँगा, उनका पीछा किया था ।। ११ १/२ ।।

सेनया चतुरङ्गिण्या महत्या दूरपातया ।। १२ ।।
विचित्रायुधवर्मिण्या गङ्गयेव प्रवृद्धया ।

उस समय उसके साथ विचित्र आयुधों और कवचोंसे सुशोभित, दूरतकके लक्ष्यको मार गिरानेमें समर्थ तथा बढ़ी हुई गंगाके समान विशाल चतुरंगिणी सेना थी ।। १२ १/२ ।।

स समासाद्य वार्ष्णेयं योगानामीश्वरं प्रभुम् ।। १३ ।।
व्यंसितो व्रीडितो राजन् नाजगाम स कुण्डिनम् ।

राजन्! योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके पास पहुँचकर उनसे पराजित होनेके कारण लज्जित हो वह पुनः कुण्डिनपुरको नहीं लौटा ।। १३ १/२ ।।

यत्रैव कृष्णेन रणे निर्जितः परवीरहा ।। १४ ।।
तत्र भोजकटं नाम कृतं नगरमुत्तमम् ।

भगवान् श्रीकृष्णने जहाँ युद्धमें शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले रुक्मीको हराया था, वहीं रुक्मीने भोजकट नामक उत्तम नगर बसाया ।। १४½ ।।

सैन्येन महा तेन प्रभूतगजवाजिना ।। १५ ।।

पुरं तद् भुवि विख्यातं नाम्ना भोजकटं नृप ।

राजन्! प्रचुर हाथी-घोड़ोंवाली विशाल सेनासे सम्पन्न वह भोजकट नामक नगर सम्पूर्ण भूमण्डलमें विख्यात है ।। १५½ ।।

स भोजराजः सैन्येन महता परिवारितः ।। १६ ।।

अक्षौहिण्या महावीर्यः पाण्डवान् क्षिप्रमागमत् ।

महापराक्रमी भोजराज रुक्मी एक अक्षौहिणी विशाल सेनासे घिरा हुआ शीघ्रतापूर्वक पाण्डवोंके पास आया ।। १६½ ।।

ततः स कवच धन्वी तली खड्गी शरासनी ।। १७ ।।

ध्वजेनादित्यवर्णेन प्रविवेश महाचमूम् ।

उसने कवच, धनुष, दस्ताने, खड्ग और तरकस धारण किये सूर्यके समान तेजस्वी ध्वजके साथ पाण्डवोंकी विशाल सेनामें प्रवेश किया ।। १७½ ।।

विदितः पाण्डवेयानां वासुदेवप्रियेप्सया ।। १८ ।।

युधिष्ठिरस्तु तं राजा प्रत्युद्गम्याभ्यपूजयत् ।

वह वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय करनेकी इच्छासे आया था। पाण्डवोंको उसके आगमनकी सूचना दी गयी, तब राजा युधिष्ठिरने आगे बढ़कर उसकी अगवानी की और उसका यथायोग्य आदर-सत्कार किया ।। १८½ ।।

स पूजितः पाण्डुपुत्रैर्यथान्यायं सुसंस्तुतः ।। १९ ।।

प्रतिगृह्य तु तान् सर्वान् विश्रान्तः सहसैनिकः ।

पाण्डवोंने रुक्मीका विधिपूर्वक आदर-सत्कार करके उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। रुक्मीने भी उन सबको प्रेमपूर्वक अपनाकर सैनिकोंसहित विश्राम किया ।। १९½ ।।

उवाच मध्ये वीराणां कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ।। २० ।।

सहायोऽस्मि स्थितो युद्धे यदि भीतोऽसि पाण्डव ।

करिष्यामि रणे साह्यमसह्यं तव शत्रुभिः ।। २१ ।।

तदनन्तर वीरोंके बीचमें बैठकर उसने कुन्तीकुमार अर्जुनसे कहा—'पाण्डुनन्दन! यदि तुम डरे हुए हो तो मैं युद्धमें तुम्हारी सहायताके लिये आ पहुँचा हूँ। मैं इस महायुद्धमें तुम्हारी वह सहायता करूँगा, जो तुम्हारे शत्रुओंके लिये असह्य हो उठेगी ।। २०-२१ ।।

न हि मे विक्रमे तुल्यः पुमानस्तीह कश्चन ।

हनिष्यामि रणे भागं यन्मे दास्यसि पाण्डव ।। २२ ।।

'इस जगत्में मेरे समान पराक्रमी दूसरा कोई पुरुष नहीं है। पाण्डुकुमार! तुम शत्रुओंका जो भाग मुझे सौंप दोगे, मैं समरभूमिमें उसका संहार कर डालूँगा ।। २२ ।।

अपि द्रोणकृपौ वीरौ भीष्मकर्णावथो पुनः ।

अथवा सर्व एवैते तिष्ठन्तु वसुधाधिपाः ।। २३ ।।

निहत्य समरे शत्रूंस्तव दास्यामि मेदिनीम् ।

‘मेरे हिस्सेमें द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा वीरवर भीष्म एवं कर्ण ही क्यों न हों, किसीको जीवित नहीं छोड़ूँगा अथवा यहाँ पधारे हुए ये सब राजा चुपचाप खड़े रहें। मैं अकेला ही समरभूमिमें तुम्हारे सारे शत्रुओंका वध करके तुम्हें पृथ्वीका राज्य अर्पित कर दूँगा’ ।। २३ १/२ ।।

इत्युक्तो धमराजस्य केशवस्य च संनिधौ ।। २४ ।।

शृण्वतां पार्थिवेन्द्राणामन्येषां चैव सर्वशः ।

वासुदेवमभिप्रेक्ष्य धर्मराजं च पाण्डवम् ।। २५ ।।

उवाच धीमान् कौन्तेयः प्रहस्य सखिपूर्वकम् ।

धर्मराज युधिष्ठिर तथा भगवान् श्रीकृष्णके समीप अन्य सब राजाओंके सुनते हुए रुक्मीके ऐसा कहनेपर परमबुद्धिमान् कुन्तीपुत्र अर्जुनने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिरकी ओर देखते हुए मित्रभावसे हँसकर कहा— ।। २४-२५ १/२ ।।

कौरवाणां कुले जातः पाण्डोः पुत्रो विशेषतः ।। २६ ।।

द्रोणं व्यपदिशञ्शिष्यो वासुदेवसहायवान् ।

भीतोऽस्मीति कथं ब्रूयां दधानो गाण्डिवं धनुः ।। २७ ।।

‘वीर! मैं कौरवोंके कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ। विशेषतः महाराज पाण्डुका पुत्र हूँ। आचार्य द्रोणको अपना गुरु कहता हूँ और स्वयं उनका शिष्य कहलाता हूँ। इसके सिवा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हमारे सहायक हैं और मैं अपने हाथमें गाण्डीव धनुष धारण करता हूँ। ऐसी स्थितिमें मैं अपने-आपको डरा हुआ कैसे कह सकता हूँ? ।। २६-२७ ।।

युध्यमानस्य मे वीर गन्धर्वैः सुमहाबलैः ।

सहायो घोषयात्रायां कस्तदाऽऽसीत् सखा मम ।। २८ ।।

‘वीरवर! कौरवोंकी घोषयात्राके समय जब मैंने महाबली गन्धर्वोंके साथ युद्ध किया था, उस समय कौन-सा मित्र मेरी सहायताके लिये आया था? ।। २८ ।।

तथा प्रतिभये तस्मिन् देवदानवसंकुले ।

खाण्डवे युध्यमानस्य कः सहायस्तदाभवत् ।। २९ ।।

‘खाण्डववनमें देवताओं और दानवोंसे परिपूर्ण भयंकर युद्धमें जब मैं अपने प्रतिपक्षियोंके साथ युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा कौन सहायक था? ।। २९ ।।

निवातकवचैर्युद्धे कालकेयैश्च दानवैः ।

तत्र मे युध्यमानस्य कः सहायस्तदाभवत् ।। ३० ।।

‘जब निवातकवच तथा कालकेय नामक दानवोंके साथ छिड़े हुए युद्धमें मैं अकेला ही लड़ रहा था, उस समय मेरी सहायताके लिये कौन आया था? ।। ३० ।।

तथा विराटनगरे कुरुभिः सह संगरे ।

युध्यतो बहुभिस्तत्र कः सहायोऽभवन्मम ।। ३१ ।।

‘इसी प्रकार विराटनगरमें जब कौरवोंके साथ होनेवाले संग्राममें मैं अकेला ही बहुत-से वीरोंके साथ युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा सहायक कौन था? ।। ३१ ।।

उपजीव्य रणे रुद्रं शक्रं वैश्रवणं यमम् ।

वरुणं पावकं चैव कृपं द्रोणं च माधवम् ।। ३२ ।।

धारयन् गाण्डिवं दिव्यं धनुस्तेजोमयं दृढम् ।

अक्षय्यशरसंयुक्तो दिव्यास्त्रपरिबृंहितः ।। ३३ ।।

कथमस्मद्विधो ब्रूयाद् भीतोऽस्मीति यशोहरम् ।

वचनं नरशार्दूल वज्रायुधमपि स्वयम् ।। ३४ ।।

‘मैंने युद्धमें सफलताके लिये रुद्र, इन्द्र, यम, कुबेर, वरुण, अग्नि, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य तथा भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना की है। मैं तेजस्वी, दृढ़ एवं दिव्य गाण्डीव धनुष धारण करता हूँ। मेरे पास अक्षय बाणोंसे भरे हुए तरकस मौजूद हैं और दिव्यास्त्रोंके ज्ञानसे मेरी शक्ति बढ़ी हुई है। नरश्रेष्ठ! फिर मेरे-जैसा पुरुष साक्षात् वज्रधारी इन्द्रके सामने भी ‘मैं डरा हुआ हूँ’ यह सुयशका नाश करनेवाला वचन कैसे कह सकता है? ।। ३२—३४ ।।

नास्मिभीतो महाबाहो सहायार्थश्च नास्ति मे ।

यथाकामं यथायोगं गच्छ वान्यत्र तिष्ठ वा ।। ३५ ।।

‘महाबाहो! मैं डरा हुआ नहीं हूँ तथा मुझे सहायककी भी आवश्यकता नहीं है। आप अपनी इच्छाके अनुसार जैसा उचित समझें अन्यत्र चले जाइये या यहीं रहिये’ ।। ३५ ।।

वैशम्पायन उवाच

(तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विजयस्य हि धीमतः ।)

विनिवर्त्य ततो रुक्मी सेनां सागरसंनिभाम् ।

दुर्योधनमुपागच्छत् तथैव भरतर्षभ ।। ३६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! उन परम बुद्धिमान् अर्जुनका यह वचन सुनकर रुक्मी अपनी समुद्र-सदृश विशाल सेनाको लौटाकर उसी प्रकार दुर्योधनके पास गया ।। ३६ ।।

तथैव चाभिगम्यैनमुवाच वसुधाधिपः ।

प्रत्याख्यातश्च तेनापि स तदा शूरमानिना ।। ३७ ।।

दुर्योधनसे मिलकर राजा रुक्मीने उससे भी वैसी ही बातें कहीं। तब अपनेको शूरवीर माननेवाले दुर्योधनने भी उसकी सहायता लेनेसे इन्कार कर दिया ।। ३७ ।।

द्वावेव तु महाराज तस्माद् युद्धादपेयतुः ।

रौहिणेयश्च वार्ष्णेयो रुक्मी च वसुधाधिपः ।। ३८ ।।

महाराज! उस युद्धसे दो ही वीर अलग हो गये थे—एक तो वृष्णिवंशी रोहिणीनन्दन बलराम और दूसरा राजा रुक्मी ।। ३८ ।।

गते रामे तीर्थयात्रां भीष्मकस्य सुते तथा ।
उपाविशन् पाण्डवेया मन्त्राय पुनरेव च ।। ३९ ।।

बलरामजीके तीर्थयात्रामें और भीष्मकपुत्र रुक्मीके अपने नगरको चले जानेपर पाण्डवोंने पुनः गुप्त मन्त्रणाके लिये बैठक की ।। ३९ ।।

समितिर्धर्मराजस्य सा पार्थिवसमाकुला ।
शुशुभे तारकैश्चित्रा द्यौश्चन्द्रेणेव भारत ।। ४० ।।

भारत! राजाओंसे भरी हुई धर्मराजकी वह सभा तारों और चन्द्रमासे विचित्र शोभा धारण करनेवाले आकाशकी भाँति सुशोभित हुई ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि रुक्मिप्रत्याख्याने अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ।। १५८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें रुक्मीप्रत्याख्यानविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५८ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ४० $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं]

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और संजयका संवाद

जनमेजय उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु कुरुक्षेत्रे द्विजर्षभ ।
किमकुर्वंश्च कुरवः कालेनाभिप्रचोदिताः ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! जब इस प्रकार कुरुक्षेत्रमें सेनाएँ मोर्चा बाँधकर खड़ी हो गयीं, तब कालप्रेरित कौरवोंने क्या किया? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु यत्तेषु भरतर्षभ ।
धृतराष्ट्रो महाराज संजयं वाक्यमब्रवीत् ।। २ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—भरतकुलभूषण महाराज! जब वे सभी सेनाएँ कुरुक्षेत्रमें व्यूहरचनापूर्वक डट गयीं, तब धृतराष्ट्रने संजयसे कहा— ।। २ ।।

एहि संजय सर्वं मे आचक्ष्वानवशेषतः ।
सेनानिवेशे यद् वृत्तं कुरुपाण्डवसेनयोः ।। ३ ।।

'संजय! यहाँ आओ और कौरवों तथा पाण्डवोंकी सेनाके पड़ाव पड़ जानेपर वहाँ जो कुछ हुआ हो, वह सब मुझे पूर्णरूपसे बताओ ।। ३ ।।

दिष्टमेव परं मन्ये पौरुषं चाप्यनर्थकम् ।
यदहं बुद्ध्यमानोऽपि युद्धदोषान् क्षयोदयान् ।। ४ ।।
तथापि निकृतिप्रज्ञं पुत्रं दुर्द्यूतदेविनम् ।
न शक्नोमि नियन्तुं वा कर्तुं वा हितमात्मनः ।। ५ ।।

'मैं तो समझता हूँ' दैव ही प्रबल है। उसके सामने पुरुषार्थ व्यर्थ है; क्योंकि मैं युद्धके दोषोंको अच्छी तरह जानता हूँ। वे दोष भयंकर संहार उपस्थित करनेवाले हैं, इस बातको भी समझता हूँ, तथापि ठगवि द्याके पण्डित तथा कपटद्यूत करनेवाले अपने पुत्रको न तो रोक सकता हूँ और न अपना हित-साधन ही कर सकता हूँ ।। ४-५ ।।

भवत्येव हि मे सूत बुद्धिर्दोषानुदर्शिनी ।
दुर्योधनं समासाद्य पुनः सा परिवर्तते ।। ६ ।।

'सूत! मेरी बुद्धि उपर्युक्त दोषोंको बारंबार देखती और समझती है तो भी दुर्योधनसे मिलनेपर पुनः बदल जाती है ।। ६ ।।

एवं गते वै यद् भावि तद् भविष्यति संजय ।
क्षत्रधर्मः किल रणे तनुत्यागो हि पूजितः ।। ७ ।।

'संजय! ऐसी दशामें अब जो कुछ होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा। कहते हैं, युद्धमें शरीरका त्याग करना निश्चय ही सबके द्वारा सम्मानित क्षत्रियधर्म है' ।। ७ ।।

संजय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो महाराज यथेच्छसि ।
न तु दुर्योधने दोषमिममाधातुमर्हसि ।। ८ ।।

संजयने कहा—महाराज! आपने जो कुछ पूछा है और आप जैसा चाहते हैं, वह सब आपके योग्य है; परंतु आपको युद्धका दोष दुर्योधनके माथेपर नहीं मढ़ना चाहिये ।। ८ ।।

शृणुष्वानवशेषेण वदतो मम पार्थिव ।
य आत्मनो दुश्चरितादशुभं प्राप्नुयान्नरः ।
न स कालं न वा देवानेनसा गन्तुमर्हति ।। ९ ।।

भूपाल! मैं सारी बातें बता रहा हूँ, आप सुनिये। जो मनुष्य अपने बुरे आचरणसे अशुभ फल पाता है, वह काल अथवा देवताओंपर दोषारोपण करनेका अधिकारी नहीं है ।। ९ ।।

महाराज मनुष्येषु निन्द्यं यः सर्वमाचरेत् ।
स वध्यः सर्वलोकस्य निन्दितानि समाचरन् ।। १० ।।

महाराज! जो पुरुष दूसरे मनुष्योंके साथ सर्वथा निन्दनीय व्यवहार करता है, वह निन्दित आचरण करनेवाला पापात्मा सब लोगोंके लिये वध्य है ।। १० ।।

निकारा मनुजश्रेष्ठ पाण्डवैस्त्वत्प्रतीक्षया ।
अनुभूताः सहामात्यैर्निकृतैरधिदेवने ।। ११ ।।

नरश्रेष्ठ! जूएके समय जो बारंबार छल-कपट और अपमानके शिकार हुए थे, अपने मन्त्रियोंसहित उन पाण्डवोंने केवल आपका ही मुँह देखकर सब तरहके तिरस्कार सहन किये हैं ।। ११ ।।

हयानां च गजानां च राज्ञां चामिततेजसाम् ।
वैशसं समरे वृत्तं यत् तन्मे शृणु सर्वशः ।। १२ ।।

इस समय युद्धके कारण घोड़ों, हाथियों तथा अमिततेजस्वी राजाओंका जो विनाश प्राप्त हुआ है, उसका सम्पूर्ण वृत्तान्त आप मुझसे सुनिये ।। १२ ।।

स्थिरो भूत्वा महाप्राज्ञ सर्वलोकक्षयोदयम् ।
यथाभूतं महायुद्धे श्रुत्वा चैकमना भव ।। १३ ।।

महामते! इस महायुद्धमें सम्पूर्ण लोकोंके विनाशको सूचित करनेवाला जो-जो वृत्तान्त जैसे-जैसे घटित हुआ है, वह सब स्थिर होकर सुनिये और सुनकर एकचित्त बने रहिये (व्याकुल न होइये) ।। १३ ।।

न ह्येव कर्ता पुरुषः कर्मणोः शुभपापयोः ।
अस्वतन्त्रो हि पुरुषः कार्यते दारुयन्त्रवत् ।। १४ ।।

क्योंकि मनुष्य पुण्य और पापके फलभोगकी प्रक्रियामें स्वतन्त्र कर्ता नहीं है; क्योंकि मनुष्य प्रारब्धके अधीन है, उसे तो कठपुतलीकी भाँति उस कार्यमें प्रवृत्त होना पड़ता है ।। १४ ।।

केचिदीश्वरनिर्दिष्टाः केचिदेव यदृच्छया ।
पूर्वकर्मभिरप्यन्ये त्रैधमेतत् प्रदृश्यते ।
तस्मादनर्थमापन्नः स्थिरो भूत्वा निशामय ।। १५ ।।

कोई ईश्वरकी प्रेरणासे कार्य करते हैं, कुछ लोग आकस्मिक संयोगवश कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं तथा दूसरे बहुत-से लोग अपने पूर्वकर्मोंकी प्रेरणासे कार्य करते हैं। इस प्रकार ये कार्यकी त्रिविध अवस्थाएँ देखी जाती हैं, इसलिये इस महान् संकटमें पड़कर आप स्थिरभावसे (स्वस्थ चित्त होकर) सारा वृत्तान्त सुनिये ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि संजयवाक्ये एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १५९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें संजयवाक्यविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५९ ।।

(उलूकदूतागमनपर्व)

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका उलूकको दूत बनाकर पाण्डवोंके पास भेजना और उनसे कहनेके लिये संदेश देना

संजय उवाच

हिरण्वत्यां निविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
न्यविशन्त महाराज कौरवेया यथाविधि ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! महात्मा पाण्डवोंने जब हिरण्वती नदीके तटपर अपना पड़ाव डाल दिया, तब कौरवोंने भी विधिपूर्वक दूसरे स्थानपर अपनी छावनी डाली ।। १ ।।

तत्र दुर्योधनो राजा निवेश्य बलमोजसा ।
सम्मानयित्वा नृपतीन् यस्य गुल्मांस्तथैव च ।। २ ।।

राजा दुर्योधनने वहाँ अपनी शक्तिशालिनी सेना ठहराकर समस्त राजाओंका समादर करके उन सबकी रक्षाके लिये कई गुल्म सैनिकोंकी टुकड़ियोंको तैनात कर दिया ।। २ ।।

आरक्षस्य विधिं कृत्वा योधानां तत्र भारत ।
कर्णं दुःशासनं चैव शकुनिं चापि सौबलम् ।। ३ ।।
आनाय्य नृपतिस्तत्र मन्त्रयामास भारत ।

भारत! इस प्रकार योद्धाओंके संरक्षणकी व्यवस्था करके राजा दुर्योधनने कर्ण, दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनिको बुलाकर गुप्तरूपसे मन्त्रणा की ।। ३ ।।

तत्र दुर्योधनो राजा कर्णेन सह भारत ।। ४ ।।
सम्भाषित्वा च कर्णेन भ्रात्रा दुःशासनेन च ।
सौबलेन च राजेन्द्र मन्त्रयित्वा नरर्षभ ।। ५ ।।
आहूयोपह्वरे राजन्नुलूकमिदमब्रवीत् ।

राजेन्द्र! भरतनन्दन! नरश्रेष्ठ! दुर्योधनने कर्ण, भाई दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनिसे सम्भाषण एवं सलाह करके उलूकको एकान्तमें बुलाकर उसे इस प्रकार कहा— ।। ४-५ $\frac{१}{२}$ ।।

उलूक गच्छ कैतव्य पाण्डवान् सहसोमकान् ।। ६ ।।
गत्वा मम वचो ब्रूहि वासुदेवस्य शृण्वतः ।
इदं तत् समनुप्राप्तं वर्षपूगाभिचिन्तितम् ।। ७ ।।

पाण्डवानां कुरूणां च युद्धं लोकभयंकरम् ।

द्यूतकुशल शकुनिके पुत्र उलूक! तुम सोमकों और पाण्डवोंके पास जाओ तथा वहाँ पहुँचकर वासुदेव श्रीकृष्णके सामने ही उनसे मेरा यह संदेश कहो—'कितने ही वर्षोंसे जिसका विचार चल रहा था, वह सम्पूर्ण जगत्‌के लिये अत्यन्त भयंकर कौरव-पाण्डवोंका युद्ध अब सिरपर आ पहुँचा है ।। ६-७½ ।।

यदेतत् कत्थनावाक्यं संजयो महदब्रवीत् ।। ८ ।।
वासुदेवसहायस्य गर्जतः सानुजस्य ते ।
मध्ये कुरूणां कौन्तेय तस्य कालोऽयमागतः ।। ९ ।।
यथा वः सम्प्रतिज्ञातं तत् सर्वं क्रियतामिति ।

'कुन्तीकुमार युधिष्ठिर! श्रीकृष्णकी सहायता पाकर भाइयोंसहित गर्जना करते हुए तुमने संजयसे जो आत्मश्लाघापूर्ण बातें कही थीं और जिन्हें संजयने कौरवोंकी सभामें बहुत बढ़ा-चढ़ाकर सुनाया था, उन सबको सत्य करके दिखानेका यह अवसर आ गया है। तुमलोगोंने जो-जो प्रतिज्ञाएँ की हैं, उन सबको पूर्ण करो' ।। ८-९½ ।।

ज्येष्ठं तथैव कौन्तेयं ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ।। १० ।।

उलूक! तुम मेरे कहनेसे कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरके सामने जाकर इस प्रकार कहना — ।। १० ।।

भ्रातृभिः सहितः सर्वैः सोमकैश्च सकेकयैः ।
कथं वा धार्मिको भूत्वा त्वमधर्मे मनः कृथाः ।। ११ ।।

'राजन्! तुम तो अपने सभी भाइयों, सोमकों और केकयोंसहित बड़े धर्मात्मा बनते हो। धर्मात्मा होकर अधर्ममें कैसे मन लगा रहे हो? ।। ११ ।।

य इच्छसि जगत् सर्वं नश्यमानं नृशंसवत् ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो दाता त्वमिति मे मतिः ।। १२ ।।

'मेरा तो ऐसा विश्वास था कि तुमने समस्त प्राणियोंको अभयदान दे दिया है; परंतु इस समय तुम एक निर्दय मनुष्यकी भाँति सम्पूर्ण जगत्‌का विनाश देखना चाहते हो ।। १२ ।।

श्रूयते हि पुरा गीतः श्लोकोऽयं भरतर्षभ ।
प्रह्लादेनाथ भद्रं ते हृते राज्ये तु दैवतैः ।। १३ ।।

'भरतश्रेष्ठ! तुम्हारा कल्याण हो। सुना जाता है कि पूर्वकालमें जब देवताओंने प्रह्लादका राज्य छीन लिया था, तब उन्होंने इस श्लोकका गान किया था ।। १३ ।।

यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरा ध्वज इवोच्छ्रितः ।
प्रच्छन्नानि च पापानि बैडालं नाम तद् व्रतम् ।। १४ ।।

'देवताओ! साधारण ध्वजकी भाँति जिसकी धर्ममयी ध्वजा सदा ऊँचेतक फहराती रहती है; परंतु जिसके द्वारा गुप्तरूपसे पाप भी होते रहते हैं, उसके उस व्रतको बिडालव्रत कहते हैं ।। १४ ।।

अत्र ते वर्तयिष्यामि आख्यानमिदमुत्तमम् ।
कथितं नारदेनेह पितुर्मम नराधिप ।। १५ ।।

'नरेश्वर! इस विषयमें तुम्हें यह उत्तम आख्यान सुना रहा हूँ, जिसे नारदजीने मेरे पिताजीसे कहा था ।। १५ ।।

मार्जारः किल दुष्टात्मा निश्चेष्टः सर्वकर्मसु ।
ऊर्ध्वबाहुः स्थितो राजन् गङ्गातीरे कदाचन ।। १६ ।।

'राजन्! यह प्रसिद्ध है कि किसी समय एक दुष्ट बिलाव दोनों भुजाएँ ऊपर किये गंगाजीके तटपर खड़ा रहा। वह किसी भी कार्यके लिये तनिक भी चेष्टा नहीं करता था ।। १६ ।।

स वै कृत्वा मनःशुद्धिं प्रत्ययार्थं शरीरिणाम् ।
करोमि धर्ममित्याह सर्वानेव शरीरिणः ।। १७ ।।

'इस प्रकार समस्त देहधारियोंपर विश्वास जमानेके लिये वह सभी प्राणियोंसे यही कहा करता था कि अब मैं मानसिक शुद्धि करके—हिंसा छोड़कर धर्माचरण कर रहा हूँ ।। १७ ।।

तस्य कालेन महता विश्रम्भं जग्मुरण्डजाः ।
समेत्य च प्रशंसन्ति मार्जारं तं विशाम्पते ।। १८ ।।

'राजन्! दीर्घकालके पश्चात् धीरे-धीरे पक्षियोंने उसपर विश्वास कर लिया। अब वे उस बिलावके पास आकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ।। १८ ।।

पूज्यमानस्तु तैः सर्वैः पक्षिभिः पक्षिभोजनः ।
आत्मकार्यं कृतं मेने चर्यायाश्च कृतं फलम् ।। १९ ।।

'पक्षियोंको अपना आहार बनानेवाला वह बिलाव जब उन समस्त पक्षियोंद्वारा अधिक आदर-सत्कार पाने लगा, तब उसने यह समझ लिया कि मेरा काम बन गया और मुझे धर्मानुष्ठानका भी अभीष्ट फल प्राप्त हो गया ।। १९ ।।

अथ दीर्घस्य कालस्य तं देशं मूषिका ययुः ।
ददृशुस्तं च ते तत्र धार्मिकं व्रतचारिणम् ।। २० ।।

'तदनन्तर बहुत समयके पश्चात् उस स्थानमें चूहे भी गये। वहाँ जाकर उन्होंने कठोर व्रतका पालन करनेवाले उस धर्मात्मा बिलावको देखा ।। २० ।।

कार्येण महता युक्तं दम्भयुक्तेन भारत ।
तेषां मतिरियं राजन्नासीत् तत्र विनिश्चये ।। २१ ।।

'भारत! दम्भयुक्त महान् कर्मोंके अनुष्ठानमें लगे हुए उस बिलावको देखकर उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ ।। २१ ।।

बहुमित्रा वयं सर्वे तेषां नो मातुलो ह्ययम् ।
रक्षां करोतु सततं वृद्धबालस्य सर्वशः ।। २२ ।।

'हम सब लोगोंके बहुत-से मित्र हैं, अतः अब यह बिलाव भी हमारा मामा होकर रहे और हमारे यहाँ जो वृद्ध तथा बालक हैं, उन सबकी सदा रक्षा करता रहे ।। २२ ।।

उपगम्य तु ते सर्वे बिडालमिदमब्रुवन् ।
भवत्प्रसादादिच्छामश्चर्तुं चैव यथासुखम् ।। २३ ।।
भवान् नो गतिरव्यग्रा भवान् नः परमः सुहृत् ।
ते वयं सहिताः सर्वे भवन्तं शरणं गताः ।। २४ ।।

'यह सोचकर वे सभी उस बिलावके पास गये और इस प्रकार बोले—'मामाजी! हम सब लोग आपकी कृपासे सुखपूर्वक विचरना चाहते हैं। आप ही हमारे निर्भय आश्रय हैं और आप ही हमारे परम सुहृद् हैं। हम सब लोग एक साथ संगठित होकर आपकी शरणमें आये हैं ।। २३-२४ ।।

भवान् धर्मपरो नित्यं भवान् धर्मे व्यवस्थितः ।
स नो रक्ष महाप्रज्ञ त्रिदशानिव वज्रभृत् ।। २५ ।।

'आप सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं और धर्ममें ही आपकी निष्ठा है। महामते! जैसे वज्रधारी इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप हमारा संरक्षण करें ।।

एवमुक्तस्तु तैः सर्वैर्मूषिकैः स विशाम्पते ।
प्रत्युवाच ततः सर्वान् मूषिकान् मूषिकान्तकृत् ।। २६ ।।
द्वयोर्योगं न पश्यामि तपसो रक्षणस्य च ।
अवश्यं तु मया कार्यं वचनं भवतां हितम् ।। २७ ।।

'प्रजानाथ! उन सम्पूर्ण चूहोंके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर मूषकोंके लिये यमराजस्वरूप उस बिलावने उन सबको इस प्रकार उत्तर दिया—'मैं तपस्या भी करूँ और तुम्हारी रक्षा भी—इन दोनों कार्योंका परस्पर सम्बन्ध मुझे दिखायी नहीं देता है—ये दोनों काम एक साथ नहीं चल सकते हैं। तथापि मुझे तुमलोगोंके हितकी बात भी अवश्य करनी चाहिये ।। २६-२७ ।।

युष्माभिरपि कर्तव्यं वचनं मम नित्यशः ।
तपसास्मि परिश्रान्तो दृढं नियममास्थितः ।। २८ ।।
न चापि गमने शक्तिं काञ्चित् पश्यामि चिन्तयन् ।
सोऽस्मि नेयः सदा तात नदीकूलमितः परम् ।। २९ ।।

'तुम्हें भी प्रतिदिन मेरी एक आज्ञाका पालन करना होगा। मैं तपस्या करते-करते बहुत थक गया हूँ और दृढ़तापूर्वक संयम-नियमके पालनमें लगा रहता हूँ। बहुत सोचनेपर भी मुझे अपने भीतर चलने-फिरनेकी कोई शक्ति नहीं दिखायी देती; अतः तात! तुम्हें सदा मुझे यहाँसे नदीके तटतक पहुँचाना पड़ेगा ।। २८-२९ ।।

तथेति तं प्रतिज्ञाय मूषिका भरतर्षभ ।
वृद्धबालमथो सर्वं मार्जाराय न्यवेदयन् ।। ३० ।।

'भरतश्रेष्ठ! 'बहुत अच्छा' कहकर चूहोंने बिलावकी आज्ञाका पालन करनेके लिये हामी भर ली और वृद्ध तथा बालकोंसहित अपना सारा परिवार उस बिलावको सौंप दिया ।। ३० ।।

ततः स पापो दुष्टात्मा मूषिकानथ भक्षयन् ।
पीवरश्च सुवर्णश्च दृढबन्धश्च जायते ।। ३१ ।।

'फिर तो वह पापी एवं दुष्टात्मा बिलाव प्रतिदिन चूहोंको खा-खाकर मोटा और सुन्दर होने लगा। उसके अंगोंकी एक-एक जोड़ मजबूत हो गयी ।। ३१ ।।

मूषिकाणां गणश्चात्र भृशं संक्षीयतेऽथ सः ।
मार्जारो वर्धते चापि तेजोबलसमन्वितः ।। ३२ ।।

'इधर चूहोंकी संख्या बड़े वेगसे घटने लगी और वह बिलाव तेज और बलसे सम्पन्न हो प्रतिदिन बढ़ने लगा ।। ३२ ।।

ततस्ते मूषिकाः सर्वे समेत्यान्योऽन्यमब्रुवन् ।
मातुलो वर्धते नित्यं वयं क्षीयामहे भृशम् ।। ३३ ।।

'तब वे चूहे परस्पर मिलकर एक-दूसरेसे कहने लगे—'क्यों जी! क्या कारण है कि मामा तो नित्य मोटा-ताजा होता जा रहा है और हमारी संख्या बड़े वेगसे घटती चली जा रही है' ।। ३३ ।।

ततः प्राज्ञतमः कश्चिड्डिण्डिको नाम मूषिकः ।
अब्रवीद् वचनं राजन् मूषिकाणां महागणम् ।। ३४ ।।
गच्छतां वो नदीतीरं सहितानां विशेषतः ।
पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि सहैव मातुलेन तु ।। ३५ ।।

'राजन्! उन चूहोंमें कोई डिंडिक नामवाला चूहा सबसे अधिक समझदार था। उसने मूषकोंके उस महान् समुदायसे इस प्रकार कहा—'तुम सब लोग विशेषतः एक साथ नदीके तटपर जाओ। पीछेसे मैं भी मामाके साथ ही वहाँ जाऊँगा' ।। ३४-३५ ।।

साधु साध्विति ते सर्वे पूजयांचक्रिरे तदा ।
चक्रुश्चैव यथान्यायं डिण्डिकस्य वचोऽर्थवत् ।। ३६ ।।

'तब बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर उन सबने डिंडिककी बड़ी प्रशंसा की और यथोचितरूपसे उसके सार्थक वचनोंका पालन किया ।। ३६ ।।

अविज्ञानात् ततः सोऽथ डिण्डिकं ह्युपभुक्तवान् ।
ततस्ते सहिताः सर्वे मन्त्रयामासुरञ्जसा ।। ३७ ।।

'बिलावको चूहोंकी जागरूकताका कुछ पता नहीं था। अतः वह डिंडिकको भी खा गया। तदनन्तर एक दिन सब चूहे एक साथ मिलकर आपसमें सलाह करने लगे ।। ३७ ।।

तत्र वृद्धतमः कश्चित् कोलिको नाम मूषिकः ।
अब्रवीद् वचनं राजन् ज्ञातिमध्ये यथातथम् ।। ३८ ।।

'उनमें कोलिक नामसे प्रसिद्ध कोई चूहा था, जो अपने भाई-बन्धुओंमें सबसे बूढ़ा था। उसने सब लोगोंको यथार्थ बात बतायी— ।। ३८ ।।

न मातुलो धर्मकामश्छद्ममात्रं कृता शिखा ।
न मूलफलभक्षस्य विष्ठा भवति लोमशा ।। ३९ ।।

'भाइयो! मामाको धर्माचरणकी रत्तीभर भी कामना नहीं है। उसने हम-जैसे लोगोंको धोखा देनेके लिये ही जटा बढ़ा रखी है। जो फल-मूल खानेवाला है, उसकी विष्ठामें बाल नहीं होते ।। ३९ ।।

अस्य गात्राणि वर्धन्ते गणश्च परिहीयते ।
अद्य सप्ताष्टदिवसान् डिण्डिकोऽपि न दृश्यते ।। ४० ।।

'उसके अंग दिनोंदिन हृष्ट-पुष्ट होते जाते हैं और हमारा यह दल रोज-रोज घटता जा रहा है। आज सात-आठ दिनोंसे डिंडिकका भी दर्शन नहीं हो रहा है' ।। ४० ।।

एतच्छ्रुत्वा वचः सर्वे मूषिका विप्रदुद्रुवुः ।
बिडालोऽपि स दुष्टात्मा जगामैव यथागतम् ।। ४१ ।।

'कोलिककी यह बात सुनकर सब चूहे भाग गये और वह दुष्टात्मा बिलाव भी अपना-सा मुँह लेकर जैसे आया था, वैसे चला गया ।। ४१ ।।

तथा त्वमपि दुष्टात्मन् बैडालं व्रतमास्थितः ।
चरसि ज्ञातिषु सदा बिडालो मूषिकेष्विव ।। ४२ ।।

'दुष्टात्मन्! तुमने भी इसी प्रकार बिडालव्रत धारण कर रखा है। जैसे चूहोंमें बिडालने धर्माचरणका ढोंग रच रखा था, उसी प्रकार तुम भी जाति-भाइयोंमें धर्माचारी बने फिरते हो ।। ४२ ।।

अन्यथा किल ते वाक्यमन्यथा कर्म दृश्यते ।
दम्भनार्थाय लोकस्य वेदाश्चोपशमश्च ते ।। ४३ ।।

'तुम्हारी बातें तो कुछ और हैं; परंतु कर्म कुछ और ही ढंगका दिखायी देता है। तुम्हारा वेदाध्ययन और शान्त स्वभाव लोगोंको दिखानेके लिये पाखण्डमात्र है ।। ४३ ।।

त्यक्त्वा छद्म त्विदं राजन् क्षत्रधर्मं समाश्रितः ।
कुरु कार्याणि सर्वाणि धर्मिष्ठोऽसि नरर्षभ ।। ४४ ।।

'राजन्! नरश्रेष्ठ! यदि तुम धर्मनिष्ठ हो तो यह छल-छद्म छोड़कर क्षत्रियधर्मका आश्रय ले उसीके अनुसार सब कार्य करो ।। ४४ ।।

बाहुवीर्येण पृथिवीं लब्ध्वा भरतसत्तम ।
देहि दानं द्विजातिभ्यः पितृभ्यश्च यथोचितम् ।। ४५ ।।

'भरतश्रेष्ठ! अपने बाहुबलसे इस पृथ्वीका राज्य प्राप्त करके तुम ब्राह्मणोंको दान दो और पितरोंको उनका यथोचित भाग अर्पण करो ।। ४५ ।।

क्लिष्टाया वर्षपूगांश्च मातुर्मातृहिते स्थितः ।

प्रमार्जाश्रु रणे जित्वा सम्मानं परमावह ।। ४६ ।।

'तुम्हारी माता वर्षोंसे कष्ट भोग रही है; अतः माताके हितमें तत्पर हो उसके आँसू पोंछो और युद्धमें विजय प्राप्त करके परम सम्मानके भागी बनो ।। ४६ ।।

पञ्च ग्रामा वृता यत्नान्नास्माभिरपवर्जिताः ।
युध्यामहे कथं संख्ये कोपयेम च पाण्डवान् ।। ४७ ।।

'तुमने केवल पाँच गाँव माँगे थे, परंतु हमने प्रयत्नपूर्वक तुम्हारी वह माँग इसलिये ठुकरा दी है कि पाण्डवोंको किसी प्रकार कुपित करें, जिससे संग्राम-भूमिमें उनके साथ युद्ध करनेका अवसर प्राप्त हो ।। ४७ ।।

त्वत्कृते दुष्टभावस्य संत्यागो विदुरस्य च ।
जातुषे च गृहे दाहं स्मर तं पुरुषो भव ।। ४८ ।।

'तुम्हारे लिये ही मैंने दुष्टात्मा विदुरका परित्याग कर दिया है। लाक्षागृहमें अपने जलाये जानेकी घटनाका स्मरण करो और अबसे भी मर्द बन जाओ ।। ४८ ।।

यच्च कृष्णमवोचस्त्वमायान्तं कुरुसंसदि ।
अयमस्मि स्थितो राजन् शमाय समराय च ।। ४९ ।।
तस्यायमागतः कालः समरस्य नराधिप ।
एतदर्थं मया सर्वं कृतमेतद् युधिष्ठिर ।। ५० ।।

'तुमने कौरव-सभामें आये हुए श्रीकृष्णसे जो यह संदेश दिलाया था कि 'राजन्! मैं शान्ति और युद्ध दोनोंके लिये तैयार हूँ।' नरेश्वर! उस समरका यह उपयुक्त अवसर आ गया है। युधिष्ठिर! इसीके लिये मैंने यह सब कुछ किया है ।। ४९-५० ।।

किं नु युद्धात् परं लाभं क्षत्रियो बहु मन्यते ।
किं च त्वं क्षत्रियकुले जातः सम्प्रथितो भुवि ।। ५१ ।।

'भला, क्षत्रिय युद्धसे बढ़कर दूसरे किस लाभको महत्त्व देता है? इसके सिवा, तुमने भी तो क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर इस पृथ्वीपर बड़ी ख्याति प्राप्त की है ।। ५१ ।।

द्रोणादस्त्राणि संप्राप्य कृपाच्च भरतर्षभ ।
तुल्ययोनौ समबले वासुदेवं समाश्रितः ।। ५२ ।।

'भरतश्रेष्ठ! द्रोणाचार्य और कृपाचार्यसे अस्त्र-विद्या प्राप्त करके जाति और बलमें हमारे समान होते हुए भी तुमने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका आश्रय ले रखा है (फिर तुम्हें युद्धसे क्यों डरना या पीछे हटना चाहिये?)' ।। ५२ ।।

ब्रूयास्त्वं वासुदेवं च पाण्डवानां समीपतः ।
आत्मार्थं पाण्डवार्थं च यत्ता मां प्रति योधय ।। ५३ ।।

उलूक! तुम पाण्डवोंके समीप वासुदेव श्रीकृष्णसे भी कहना—'जनार्दन! अब तुम पूरी तैयारी और तत्परताके साथ अपनी और पाण्डवोंकी भलाईके लिये मेरे साथ युद्ध करो ।। ५३ ।।

सभामध्ये च यद् रूपं मायया कृतवानसि ।
तत् तथैव पुनः कृत्वा सार्जुनो मामभिद्रव ।। ५४ ।।

'तुमने सभामें मायाद्वारा जो विकट रूप बना लिया था; उसे पुनः उसी रूपमें प्रकट करके अर्जुनके साथ मुझपर धावा बोल दो ।। ५४ ।।

इन्द्रजालं च माया वै कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य संग्रामे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ।। ५५ ।।

'इन्द्रजाल, माया अथवा भयानक कृत्या—ये युद्धमें हथियार उठाये हुए शूरवीरके क्रोध एवं सिंहनादको और भी बढ़ा देती हैं (उसे डरा नहीं सकतीं) ।। ५५ ।।

वयमप्युत्सहेम द्यां खं च गच्छेम मायया ।
रसातलं विशामोऽपि ऐन्द्रं वा पुरमेव तु ।। ५६ ।।

'हम भी मायासे आकाशमें उड़ सकते हैं, अन्तरिक्षमें जा सकते हैं तथा रसातल या इन्द्रपुरीमें भी प्रवेश कर सकते हैं ।। ५६ ।।

दर्शयेम च रूपाणि स्वशरीरे बहून्यपि ।
न तु पर्यायतः सिद्धिर्बुद्धिमाप्नोति मानुषीम् ।। ५७ ।।

'इतना ही नहीं, हम अपने शरीरमें बहुत-से रूप भी प्रकट करके दिखा सकते हैं; परंतु इन सब प्रदर्शनोंसे न तो अपने अभीष्टकी सिद्धि होती है और न अपना शत्रु ही मानवीय बुद्धि अर्थात् भयको प्राप्त हो सकता है ।। ५७ ।।

मनसैव हि भूतानि धातैव कुरुते वशे ।
यद् ब्रवीषि च वार्ष्णेय धार्तराष्ट्रानहं रणे ।। ५८ ।।
घातयित्वा प्रदास्यामि पार्थेभ्यो राज्यमुत्तमम् ।
आचचक्षे च मे सर्वं संजयस्तव भाषितम् ।। ५९ ।।

'एकमात्र विधाता ही अपने मानसिक संकल्पमात्रसे समस्त प्राणियोंको वशमें कर लेता है। वार्ष्णेय! तुम जो यह कहा करते थे कि मैं युद्धमें धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको मरवाकर उनका सारा उत्तम राज्य कुन्तीके पुत्रोंको दे दूँगा। तुम्हारा वह सारा भाषण संजयने मुझे सुना दिया था ।। ५८-५९ ।।

मद्द्वितीयेन पार्थेन वैरं वः सव्यसाचिना ।
स सत्यसंगरो भूत्वा पाण्डवार्थे पराक्रमी ।। ६० ।।

'तुमने यह भी कहा था कि 'कौरवो! मैं जिनका सहायक हूँ, उन्हीं सव्यसाची अर्जुनके साथ तुम्हारा वैर बढ़ रहा है, इत्यादि। अतः अब सत्यप्रतिज्ञ होकर पाण्डवोंके लिये पराक्रमी बनो ।। ६० ।।

युध्यस्वाद्य रणे यत्तः पश्यामः पुरुषो भव ।
यस्तु शत्रुमभिज्ञाय शुद्धं पौरुषमास्थितः ।। ६१ ।।
करोति द्विषतां शोकं स जीवति सुजीवितम् ।

'युद्धमें अब प्रयत्नपूर्वक डट जाओ। हम तुम्हारी राह देखते हैं। अपने पुरुषत्वका परिचय दो। जो पुरुष शत्रुको अच्छी तरह समझ-बूझकर विशुद्ध पुरुषार्थका आश्रय ले शत्रुओंको शोकमग्न कर देता है, वही श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करता है ।। ६१ १/२ ।।

अकस्माच्चैव ते कृष्ण ख्यातं लोके महद् यशः ।। ६२ ।।

अद्येदानीं विजानीमः सन्ति षण्ढाः सशृङ्गकाः ।

'श्रीकृष्ण! मैं देखता हूँ संसारमें अकस्मात् ही तुम्हारा महान् यश फैल गया है; परंतु अब इस समय हमें मालूम हुआ है कि जो लोग तुम्हारे पूजक हैं, वे वास्तवमें पुरुषत्वका चिह्न धारण करनेवाले हिजड़े ही हैं ।। ६२ १/२ ।।

मद्विधो नापि नृपतिस्त्वयि युक्तः कथञ्चन ।। ६३ ।।

संनाहं संयुगे कर्तुं कंसभृत्ये विशेषतः ।

'मेरे-जैसे राजाको तुम्हारे साथ, विशेषतः कंसके एक सेवकके साथ लड़नेके लिये कवच धारण करके युद्धभूमिमें उतरना किसी तरह उचित नहीं है' ।। ६३ १/२ ।।

तं च तूबरकं बालं बह्वाशिनमविद्यकम् ।। ६४ ।।

उलूक मद्वचो ब्रूहि असकृद्भीमसेनकम् ।

विराटनगरे पार्थ यस्त्वं सूदो ह्यभूः पुरा ।। ६५ ।।

बल्लवो नाम विख्यातस्तन्ममैव हि पौरुषम् ।

'उलूक! उस बिना मूँछोंके मर्द (अथवा बोझ ढोनेवाले बैल), अधिक खानेवाले, अज्ञानी और मूर्ख भीमसेनसे भी बारंबार मेरा यह संदेश कहना 'कुन्तीकुमार! पहले विराटनगरमें जो तू रसोइया बनकर रहा और बल्लवके नामसे विख्यात हुआ, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ था ।। ६४-६५ १/२ ।।

प्रतिज्ञातं भामध्ये न तन्मिथ्या त्वया पुरा ।। ६६ ।।

दुःशासनस्य रुधिरं पीयतां यदि शक्यते ।

'पहले कौरवसभामें तूने जो प्रतिज्ञा की थी, वह मिथ्या नहीं होनी चाहिये। यदि तुझमें शक्ति हो तो आकर दुःशासनका रक्त पी लेना ।। ६६ ।।

यद् ब्रवीमि च कौन्तेय धार्तराष्ट्रानहं रणे ।। ६७ ।।

निहनिष्यामि तरसा तस्य कालोऽयमागतः ।

'कुन्तीकुमार! तुम जो कहा करते हो कि मैं युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंको वेगपूर्वक मार डालूँगा, उसका यह समय आ गया है ।। ६७ १/२ ।।

त्वं हि भाज्ये पुरस्कार्यो भक्ष्ये पेये च भारत ।। ६८ ।।

क्व युद्धं क्व च भोक्तव्यं युध्यस्व पुरुषो भव ।

'भारत! तुम निरे भोजनभट्ट हो। अतः अधिक खाने-पीनेमें पुरस्कार पानेके योग्य हो। किंतु कहाँ युद्ध और कहाँ भोजन? शक्ति हो तो युद्ध करो और मर्द बनो ।। ६८ १/२ ।।

शयिष्यसे हतो भूमौ गदामालिङ्ग्य भारत ।। ६९ ।।

तद् वृथा च सभामध्ये वल्गितं ते वृकोदर ।

'भारत! युद्धभूमिमें मेरे हाथसे मारे जाकर तुम गदाको छातीसे लगाये सदाके लिये सो जाओगे। वृकोदर! तुमने सभामें जाकर जो उछल-कूद मचायी थी, वह व्यर्थ ही है' ।। ६९ ½ ।।

उलूक नकुलं ब्रूहि वचनान्मम भारत ।। ७० ।।
युध्यस्वाद्य स्थिरो भूत्वा पश्यामस्तव पौरुषम् ।
युधिष्ठिरानुरागं च द्वेषं च मयि भारत ।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं स्मरेदानीं यथातथम् ।। ७१ ।।

उलूक! नकुलसे भी कहना—'भारत! तुम मेरे कहनेसे अब स्थिरतापूर्वक युद्ध करो। हम तुम्हारा पुरुषार्थ देखेंगे। तुम युधिष्ठिरके प्रति अपने अनुरागको, मेरे प्रति बढ़े हुए द्वेषको तथा द्रौपदीके क्लेशको भी इन दिनों अच्छी तरहसे याद कर लो' ।। ७०-७१ ।।

ब्रूयास्त्वं सहदेवं च राजमध्ये वचो मम ।
युद्ध्येदानीं रणे यत्तः क्लेशान् स्मर च पाण्डव ।। ७२ ।।

उलूक! तुम राजाओंके बीच सहदेवसे भी मेरी यह बात कहना—'पाण्डुनन्दन! पहलेके दिये हुए क्लेशोंको याद कर लो और अब तत्पर होकर समरभूमिमें युद्ध करो' ।। ७२ ।।

विराटद्रुपदौ चोभौ ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ।
न दृष्टपूर्वा भर्तारो भृत्यैरपि महागुणैः ।। ७३ ।।
तथार्थपतिभिर्भृत्या यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ।
अश्लाघ्योऽयं नरपतिर्युवयोरिति चागतम् ।। ७४ ।।

'तदनन्तर विराट और द्रुपदसे भी मेरी ओरसे कहना—'विधाताने जबसे प्रजाकी सृष्टि की है, तभीसे परम गुणवान् सेवकोंने भी अपने स्वामियोंकी अच्छी तरह परख नहीं की; उनके गुण-अवगुणको भलीभाँति नहीं पहचाना। इसी प्रकार स्वामियोंने भी सेवकोंको ठीक-ठीक नहीं समझा। इसीलिये युधिष्ठिर श्रद्धाके योग्य नहीं हैं, तो भी तुम दोनों उन्हें अपना राजा मानकर उनकी ओरसे युद्धके लिये यहाँ आये हो ।। ७३-७४ ।।

ते यूयं संहता भूत्वा तद्वधार्थं ममापि च ।
आत्मार्थं पाण्डवार्थं च प्रयुद्ध्यध्वं मया सह ।। ७५ ।।

'इसलिये तुम सब लोग संगठित होकर मेरे वधके लिये प्रयत्न करो। अपनी और पाण्डवोंकी भलाईके लिये मेरे साथ युद्ध करो' ।। ७५ ।।

धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ।
एष ते समयः प्राप्तो लब्धव्यश्च त्वयापि सः ।। ७६ ।।

'फिर पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्नको भी मेरा यह संदेश सुना देना—'राजकुमार! यह तुम्हारे योग्य समय प्राप्त हुआ है। तुम्हें आचार्य द्रोण अपने सामने ही मिल जायँगे ।। ७६ ।।

द्रोणमासाद्य समरे ज्ञास्यसे हितमुत्तमम् ।
युध्यस्व ससुहृत् पापं कुरु कर्म सुदुष्करम् ।। ७७ ।।

'समरभूमिमें द्रोणाचार्यके सामने जाकर ही तुम यह जान सकोगे कि तुम्हारा उत्तम हित किस बातमें है। आओ, अपने सुहृदोंके साथ रहकर युद्ध करो और गुरुके वधका अत्यन्त दुष्कर पाप कर डालो' ।। ७७ ।।

शिखण्डिनमथो ब्रूहि उलूक वचनान्मम ।
स्त्रीति मत्वा महाबाहुर्न हनिष्यति कौरवः ।। ७८ ।।
गाङ्गेयो धन्विनां श्रेष्ठो युद्ध्येदानीं सुनिर्भयः ।
कुरु कर्म रणे यत्तः पश्यामः पौरुषं तव ।। ७९ ।।

'उलूक! इसके बाद तुम शिखण्डीसे भी मेरी यह बात कहना—'धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ गंगापुत्र कुरुवंशी महाबाहु भीष्म तुम्हें स्त्री समझकर नहीं मारेंगे; इसलिये तुम अब निर्भय होकर युद्ध करना और समरभूमिमें यत्नपूर्वक पराक्रम प्रकट करना। हम तुम्हारा पुरुषार्थ देखेंगे' ।। ७८-७९ ।।

एवमुक्त्वा ततो राजा प्रहस्योलूकमब्रवीत् ।
धनंजयं पुनर्ब्रूहि वासुदेवस्य शृण्वतः ।। ८० ।।

ऐसा कहते-कहते राजा दुर्योधन खिलखिलाकर हँस पड़ा। तत्पश्चात् उलूकसे पुनः इस प्रकार बोला—'उलूक! तुम वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके सामने ही अर्जुनसे पुनः इस प्रकार कहना— ।। ८० ।।

अस्मान् वा त्वं पराजित्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ।
अथवा निर्जितोऽस्माभी रणे वीर शयिष्यसि ।। ८१ ।।

'वीर धनंजय! या तो तुम्हीं हमलोगोंको परास्त करके इस पृथ्वीका शासन करो या हमारे ही हाथोंसे मारे जाकर रणभूमिमें सदाके लिये सो जाओ ।। ८१ ।।

राष्ट्रान्निर्वासनक्लेशं वनवासं च पाण्डव ।
कृष्णायाश्च परिक्लेश संस्मरन् पुरुषो भव ।। ८२ ।।

'पाण्डुनन्दन! राज्यसे निर्वासित होने, वनमें निवास करने तथा द्रौपदीके अपमानित होनेके क्लेशोंको याद करके अब भी तो मर्द बनो ।। ८२ ।।

यदर्थं क्षत्रिया सूते सर्वं तदिदमागतम् ।
बलं वीर्यं च शौर्यं च परं चाप्यस्त्रलाघवम् ।। ८३ ।।
पौरुषं दर्शयन् युद्धे कोपस्य कुरु निष्कृतिम् ।

'क्षत्राणी जिसके लिये पुत्र पैदा करती है, वह सब प्रयोजन सिद्ध करनेका यह समय आ गया है। तुम युद्धमें बल, पराक्रम, उत्तम शौर्य, अस्त्र-संचालनकी फुर्ती और पुरुषार्थ दिखाते हुए अपने बढ़े हुए क्रोधको (हमारे ऊपर प्रयोग करके) शान्त कर लो ।। ८३ १/२ ।।

परिक्लिष्टस्य दीनस्य दीर्घकालोषितस्य च ।

हृदयं कस्य न स्फोटेदैश्वर्याद् भ्रंशितस्य च ।। ८४ ।।

'जिसे नाना प्रकारका क्लेश दिया गया हो, दीर्घकालके लिये राज्यसे निर्वासित किया गया हो तथा जिसे राज्यसे वंचित होकर दीनभावसे जीवन बिताना पड़ा हो, ऐसे किस स्वाभिमानी पुरुषका हृदय विदीर्ण न हो जायगा? ।। ८४ ।।

कुले जातस्य शूरस्य परवित्तेष्वगृध्यतः ।
आस्थितं राज्यमाक्रम्य कोपं कस्य न दीपयेत् ।। ८५ ।।

'जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, शूरवीर तथा पराये धनके प्रति लोभ न रखनेवाला हो, उसके राज्यको यदि कोई दबा बैठा हो तो वह किस वीरके क्रोधको उद्दीप्त न कर देगा? ।। ८५ ।।

यत् तदुक्तं महद् वाक्यं कर्मणा तद् विभाव्यताम् ।
अकर्मणा कत्थितेन सन्तः कुपुरुषं विदुः ।। ८६ ।।

'तुमने जो बड़ी-बड़ी बातें कही हैं, उन्हें कार्यरूपमें परिणत करके दिखाओ। जो क्रियाद्वारा कुछ न करके केवल मुँहसे बातें बनाता है, उसे सज्जन पुरुष कायर मानते हैं ।। ८६ ।।

अमित्राणां वशे स्थानं राज्यं च पुनरुद्धर ।
द्वावर्थौ युद्धकामस्य तस्मात् तत् कुरु पौरुषम् ।। ८७ ।।

'तुम्हारा स्थान और राज्य शत्रुओंके हाथमें पड़ा है, उसका पुनरुद्धार करो। युद्धकी इच्छा रखनेवाले पुरुषके ये दो ही प्रयोजन होते हैं; अतः उनकी सिद्धिके लिये पुरुषार्थ करो ।। ८७ ।।

पराजितोऽसि द्यूतेन कृष्णा चानायिता सभाम् ।
शक्योऽमर्षो मनुष्येण कर्तुं पुरुषमानिना ।। ८८ ।।

'तुम जूएमें पराजित हुए और तुम्हारी स्त्री द्रौपदीको सभामें लाया गया। अपनेको पुरुष माननेवाले किसी भी मनुष्यको इन बातोंके लिये भारी अमर्ष हो सकता है ।।

द्वादशैव तु वर्षाणि वने धिष्ण्याद् विवासितः ।
संवत्सरं विराटस्य दास्यमास्थाय चोषितः ।। ८९ ।।

'तुम बारह वर्षोंतक राज्यसे निर्वासित होकर वनमें रहे हो और एक वर्षतक तुम्हें विराटका दास होकर रहना पड़ा है ।। ८९ ।।

राष्ट्रान्निर्वासनक्लेशं वनवासं च पाण्डव ।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ।। ९० ।।

'पाण्डुनन्दन! राज्यसे निर्वासनका, वनवासका और द्रौपदीके अपमानका क्लेश याद करके तो मर्द बनो ।। ९० ।।

अप्रियाणां च वचनं प्रब्रुवत्सु पुनः पुनः ।
अमर्षं दर्शयस्व त्वममर्षो ह्येव पौरुषम् ।। ९१ ।।

‘हमलोग बार-बार तुमलोगोंके प्रति अप्रिय वचन कहते हैं। तुम हमारे ऊपर अपना अमर्ष तो दिखाओ; क्योंकि अमर्ष ही पौरुष है ।। ९१ ।।

क्रोधो बलं तथा वीर्यं ज्ञानयोगोऽस्त्रलाघवम् ।
इह ते दृश्यतां पार्थ युद्ध्यस्व पुरुषो भव ।। ९२ ।।

‘पार्थ! यहाँ लोग तुम्हारे क्रोध, बल, वीर्य, ज्ञानयोग और अस्त्र चलानेकी फुर्ती आदि गुणोंको देखें। युद्ध करो और अपने पुरुषत्वका परिचय दो ।। ९२ ।।

लोहाभिसारो निर्वृत्तः कुरुक्षेत्रमकर्दमम् ।
पुष्टास्तेऽश्वा भृता योधाः श्वो युद्ध्यस्व सकेशवः ।। ९३ ।।

‘अब लोहमय अस्त्र-शस्त्रोंको बाहर निकालकर तैयार करनेका कार्य पूरा हो चुका है। कुरुक्षेत्रकी कीच भी सूख गयी है। तुम्हारे घोड़े खूब हृष्ट-पुष्ट हैं और सैनिकोंका भी तुमने अच्छी तरह भरण-पोषण किया है; अतः कल सबेरेसे ही श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ।। ९३ ।।

असमागम्य भीष्मेण संयुगे किं विकत्थसे ।
आरुरुक्षुर्यथा मन्दः पर्वतं गन्धमादनम् ।। ९४ ।।
एवं कत्थसि कौन्तेय अकत्थन् पुरुषो भव ।

‘अभी युद्धमें भीष्मजीके साथ मुठभेड़ किये बिना तुम क्यों अपनी झूठी प्रशंसा करते हो? कुन्तीनन्दन! जैसे कोई शक्तिहीन एवं मन्दबुद्धि पुरुष गन्धमादन पर्वतपर चढ़ना चाहता हो, उसी प्रकार तुम भी अपनी झूठी बड़ाई करते हो। मिथ्या आत्मप्रशंसा न करके पुरुष बनो’ ।। ९४ १/२ ।।

सूतपुत्रं सदुर्धर्षं शल्यं च बलिनां बरम् ।। ९५ ।।
द्रोणं च बलिनां श्रेष्ठं शचीपतिसमं युधि ।
अजित्वा संयुगे पार्थ राज्यं कथमिहेच्छसि ।। ९६ ।।

‘पार्थ! अत्यन्त दुर्जय वीर सूतपुत्र कर्ण, बलवानोंमें श्रेष्ठ शल्य तथा युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी एवं बलवानोंमें अग्रगण्य द्रोणाचार्यको युद्धमें परास्त किये बिना तुम यहाँ राज्य कैसे लेना चाहते हो? ।। ९५-९६ ।।

ब्राह्मे धनुषि चाचार्यं वेदयोरन्तगं द्वयोः ।
युधि धुर्यमविक्षोभ्यमनीकचरमच्युतम् ।। ९७ ।।
द्रोणं महाद्युतिं पार्थ जेतुमिच्छसि तन्मृषा ।
न हि शुश्रुम वातेन मेरुमुन्मथितं गिरिम् ।। ९८ ।।

‘कुन्तीपुत्र! आचार्य द्रोण ब्राह्मवेद और धनुर्वेद इन दोनोंके पारंगत पण्डित हैं। ये युद्धका भार वहन करनेमें समर्थ, अक्षोभ्य, सेनाके मध्यभागमें विचरनेवाले तथा युद्धके मैदानसे पीछे न हटनेवाले हैं। इन महातेजस्वी द्रोणको जो तुम जीतनेकी इच्छा रखते हो,

वह मिथ्या साहसमात्र है। वायुने सुमेरु पर्वतको उखाड़ फेंका हो, यह कभी हमारे सुननेमें नहीं आया है (इसी प्रकार तुम्हारे लिये भी आचार्यको जीतना असम्भव है) ।। ९७-९८ ।।

अनिलो वा वहेन्मेरुं द्यौर्वापि निपतेन्महीम् ।

युगं वा परिवर्तेत यद्येवं स्याद् यथाऽऽत्थ माम् ।। ९९ ।।

'तुमने मुझसे जो कुछ कहा है, वह यदि सत्य हो जाय, तब तो हवा मेरुको उठा ले, स्वर्गलोक इस पृथ्वीपर गिर पड़े अथवा युग ही बदल जाय ।। ९९ ।।

को ह्यस्ति जीविताकाङ्क्षी प्राप्येममरिमर्दनम् ।

पार्थो वा इतरो वापि कोऽन्यःस्वस्ति गृहान् व्रजेत् ।। १०० ।।

'अर्जुन हो या दूसरा कोई, जीवनकी इच्छा रखने-वाला कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें इन शत्रुदमन आचार्यके पास पहुँचकर कुशलपूर्वक घरको लौट सके? ।। १०० ।।

कथमाभ्यामभिध्यातः संस्पृष्टो दारुणेन वा ।

रणे जीवन् प्रमुच्येत पदा भूमिमुपस्पृशन् ।। १०१ ।।

'ये दोनों द्रोण और भीष्म जिसे मारनेका निश्चय कर लें अथवा उनके भयानक अस्त्र आदिसे जिसके शरीरका स्पर्श हो जाय, ऐसा कोई भी भूतल-निवासी मरणधर्मा मनुष्य युद्धमें जीवित कैसे बच सकता है? ।। १०१ ।।

किं दर्दुरः कूपशयो यथेमां
न बुध्यसे राजचमूं समेताम् ।
दुराधर्षां देवचमूप्रकाशां
गुप्तां नरेन्द्रैस्त्रिदशैरिव द्याम् ।। १०२ ।।
प्राच्यैः प्रतीच्यैरथ दाक्षिणात्यै-
रुदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च ।
शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमध्यदेश्यै-
र्म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्रकाञ्चयैः ।। १०३ ।।

'जैसे देवता स्वर्गकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओंके नरेश तथा काम्बोज, शक, खश, शास्त्र, मत्स्य, कुरु और मध्यप्रदेशके सैनिक एवं म्लेच्छ, पुलिन्द, द्रविड़, आन्ध और कांचीदेशीय योद्धा जिस सेनाकी रक्षा करते हैं, जो देवताओंकी सेनाके समान दुर्धर्ष एवं संगठित है, कौरवराजकी (समुद्रतुल्य) उस सेनाको क्या तुम कूपमण्डूककी भाँति अच्छी तरह समझ नहीं पाते? ।। १०२-१०३ ।।

नानाजनौघं युधि सम्प्रवृद्धं
गाङ्गं यथा वेगमपारणीयम् ।
मां च स्थितं नागबलस्य मध्ये
युयुत्ससे मन्द किमल्पबुद्धे ।। १०४ ।।

‘ओ अल्पबुद्धि मूढ़ अर्जुन! जिसका वेग युद्धकालमें गंगाके वेगके समान बढ़ जाता है और जिसे पार करना असम्भव है, नाना प्रकारके जनसमुदायसे भरी हुई मेरी उस विशाल वाहिनीके साथ तथा गजसेनाके बीचमें खड़े हुए मुझ दुर्योधनके साथ भी तुम युद्धकी इच्छा कैसे रखते हो? ।। १०४ ।।

अक्षय्याविषुधी चैव अग्निदत्तं च ते रथम् ।
जानीमो हि रणे पार्थ केतुं दिव्यं च भारत ।। १०५ ।।

‘भारत! हम अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारे पास अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस हैं, अग्निदेवका दिया हुआ दिव्य रथ है और युद्धकालमें उसपर दिव्य ध्वजा फहराने लगती है ।। १०५ ।।

अकत्थमानो युद्धयस्व कत्थसेऽर्जुन किं बहु ।
पर्यायात् सिद्धिरेतस्य नैतत् सिध्यति कत्थनात् ।। १०६ ।।

‘अर्जुन! बातें न बनाकर युद्ध करो। बहुत शेखी क्यों बघारते हो? विभिन्न प्रकारोंसे युद्ध करनेपर ही राज्यकी सिद्धि हो सकती है। झूठी आत्मप्रशंसा करनेसे इस कार्यमें सफलता नहीं मिल सकती ।। १०६ ।।

यदीदं कत्थनाल्लोके सिध्येत् कर्म धनंजय ।
सर्वे भवेयुः सिद्धार्थाः कत्थने को हि दुर्गतः ।। १०७ ।।

‘धनंजय! यदि जगत्‌में अपनी झूठी प्रशंसा करनेसे ही अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाती, तब तो सब लोग सिद्धकाम हो जाते; क्योंकि बातें बनानेमें कौन दरिद्र और दुर्बल होगा? ।। १०७ ।।

जानामि ते वासुदेवं सहायं
जानामि ते गाण्डिवं तालमात्रम् ।
जानाम्यहं त्वादृशो नास्ति योद्धा
जानानस्ते राज्यमेतद्धरामि ।। १०८ ।।

‘मैं जानता हूँ कि तुम्हारे सहायक वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हैं, मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे पास चार हाथ लंबा गाण्डीव धनुष है तथा मुझे यह भी मालूम है कि तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई योद्धा नहीं है; यह सब जानकर भी मैं तुम्हारे इस राज्यका अपहरण करता हूँ ।। १०८ ।।

न तु पर्यायधर्मेण सिद्धिं प्राप्नोति मानवः ।
मनसैवानुकूलानि धातैव कुरुते वशे ।। १०९ ।।

‘कोई भी मनुष्य नाममात्रके धर्मद्वारा सिद्धि नहीं पाता, केवल विधाता ही मानसिक संकल्पमात्रसे सबको अपने अनुकूल और अधीन कर लेता है ।। १०९ ।।

त्रयोदश समा भुक्तं राज्यं विलपतस्तव ।
भूयश्चैव प्रशासिष्ये त्वां निहत्य सबान्धवम् ।। ११० ।।

‘तुम रोते-बिलखते रह गये और मैंने तेरह वर्षोंतक तुम्हारा राज्य भोगा। अब भाइयोंसहित तुम्हारा वध करके आगे भी मैं ही इस राज्यका शासन करूँगा ।। ११० ।।

क्व तदा गाण्डिवं तेऽभूद् यत् त्वं दासपणैर्जितः ।

क्व तदा भीमसेनस्य बलमासीच्च फाल्गुन ।। १११ ।।

‘दास अर्जुन! जब तुम जूएके दाँवपर जीत लिये गये, उस समय तुम्हारा गाण्डीव धनुष कहाँ था? भीमसेनका बल भी उस समय कहाँ चला गया था? ।। १११ ।।

सगदाद् भीमसेनाद् वा फाल्गुनाद् वा सगाण्डिवात् ।

न वै मोक्षस्तदाभूद् वो विना कृष्णामनिन्दिताम् ।। ११२ ।।

‘गदाधारी भीमसेन अथवा गाण्डीवधारी अर्जुनसे भी उस समय सती साध्वी द्रौपदीका सहारा लिये बिना तुमलोगोंका दासभावसे उद्धार न हो सका ।। ११२ ।।

सा वो दास्ये समापन्नान् मोचयामास पार्षती ।

अमानुष्यं समापन्नान् दासकर्मण्यवस्थितान् ।। ११३ ।।

‘तुम सब लोग अमनुष्योचित दीन दशाको प्राप्त हो दासभावमें स्थित थे। उस समय द्रुपदकुमारी कृष्णाने ही दासताके संकटमें पड़े हुए तुम सब लोगोंको छुड़ाया था ।।

अवोचं यत् षण्ढतिलानहं वस्तथ्यमेव तत् ।

धृता हि वेणी पार्थेन विराटनगरे तदा ।। ११४ ।।

‘मैंने जो उन दिनों तुमलोगोंको हिजड़ा या नपुंसक कहा था, वह ठीक ही निकला; क्योंकि अज्ञातवासके समय विराटनगरमें अर्जुनको अपने सिरपर स्त्रियोंकी भाँति वेणी धारण करनी पड़ी ।। ११४ ।।

सूदकर्मणि विश्रान्तं विराटस्य महानसे ।

भीमसेनेन कौन्तेय यत् तु तन्मम पौरुषम् ।। ११५ ।।

‘कुन्तीकुमार! तुम्हारे भाई भीमसेनको राजा विराटके रसोईघरमें रसोइयेके काममें ही संलग्न रहकर जो भारी श्रम उठाना पड़ा, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ है ।। ११५ ।।

एवमेव सदा दण्डं क्षत्रियाः क्षत्रिये दधुः ।

वेणीं कृत्वा षण्ढवेषः कन्यां नर्तितवानसि ।। ११६ ।।

‘इसी प्रकार सदासे ही क्षत्रियोंने अपने विरोधी क्षत्रियको दण्ड दिया है। इसीलिये तुम्हें भी सिरपर वेणी रखाकर और हिजड़ोंका वेष बनाकर राजाके अन्तःपुरमें लड़कियोंको नचानेका काम करना पड़ा ।।

न भयाद् वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन ।

राज्यं प्रतिप्रदास्यामि युद्धयस्व सहकेशवः ।। ११७ ।।

‘फाल्गुन! श्रीकृष्णके या तुम्हारे भयसे मैं राज्य नहीं लौटाऊँगा। तुम श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ।। ११७ ।।

न माया हीन्द्रजालं वा कुहका वापि भीषणा ।

आत्तशस्त्रस्य संग्रामे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ।। ११८ ।।

'माया, इन्द्रजाल अथवा भयानक छलना संग्रामभूमिमें हथियार उठाये हुए वीरके क्रोध और सिंहनादको ही बढ़ाती हैं (उसे भयभीत नहीं कर सकती हैं) ।। ११८ ।।

वासुदेवसहस्रं वा फाल्गुनानां शतानि वा ।
आसाद्य माममोघेषुं द्रविष्यन्ति दिशो दश ।। ११९ ।।

'हजारों श्रीकृष्ण और सैकड़ों अर्जुन भी अमोघ बाणोंवाले मुझ वीरके पास आकर दसों दिशाओंमें भाग जायँगे ।। ११९ ।।

संयुगं गच्छ भीष्मेण भिन्धि वा शिरसा गिरिम् ।
तरस्व वा महागाधं बाहुभ्यां पुरुषोदधिम् ।। १२० ।।

'तुम भीष्मके साथ युद्ध करो या सिरसे पहाड़ फोड़ो या सैनिकोंके अत्यन्त गहरे महासागरको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करो ।। १२० ।।

शारद्वतमहामीनं विविंशतिमहोरगम् ।
बृहद्बलमहोद्वेलं सौमदत्तितिमिङ्गिलम् ।। १२१ ।।

'हमारे सैन्यरूपी महासमुद्रमें कृपाचार्य महा-मत्स्यके समान हैं, विविंशति उसके भीतर रहनेवाला महान् सर्प है, बृहद्बल उसके भीतर उठनेवाले विशाल ज्वारके समान है, भूरिश्रवा तिमिंगिल नामक मत्स्यके स्थानमें है ।। १२१ ।।

भीष्मवेगमपर्यन्तं द्रोणग्राहदुरासदम् ।
कर्णशल्यझषावर्तं काम्बोजवडवामुखम् ।। १२२ ।।

'भीष्म उसके असीम वेग हैं, द्रोणाचार्यरूपी ग्राहके होनेसे इस सैन्यसागरमें प्रवेश करना अत्यन्त दुष्कर है, कर्ण और शल्य क्रमशः मत्स्य तथा आवर्त (भँवर)-का काम करते हैं और काम्बोजराज सुदक्षिण इसमें बड़वानल हैं ।। १२२ ।।

दुःशासनौघं शलशल्यमत्स्यं
सुषेणचित्रायुधनागनक्रम् ।
जयद्रथाद्रिं पुरुमित्रगाधं
दुर्मर्षणोदं शकुनिप्रपातम् ।। १२३ ।।

'दुःशासन उसके तीव्र प्रवाहके समान है, शल और शल्य मत्स्य हैं, सुषेण और चित्रायुध नाग और मकरके समान हैं, जयद्रथ पर्वत है, पुरुमित्र उसकी गम्भीरता है, दुर्मर्षण जल है और शकुनि प्रपात (झरने)-का काम देता है ।। १२३ ।।

शस्त्रौघमक्षय्यमभिप्रवृद्धं
यदावगाह्य श्रमनष्टचेताः ।
भविष्यसि त्वं हतसर्वबान्धव-
स्तदा मनस्ते परितापमेष्यति ।। १२४ ।।

‘भाँति-भाँतिके शस्त्र इस सैन्यसागरके जल-प्रवाह हैं। यह अक्षय होनेके साथ ही खूब बढ़ा हुआ है। इसमें प्रवेश करनेपर अधिक श्रमके कारण जब तुम्हारी चेतना नष्ट हो जायगी, तुम्हारे समस्त बन्धु मार दिये जायँगे, उस समय तुम्हारे मनको बड़ा संताप होगा ।। १२४ ।।

तदा मनस्ते त्रिदिवादिवाशुचे-
र्निवर्तिता पार्थ महीप्रशासनात् ।
प्रशाम्य राज्यं हि सुदुर्लभं त्वया
बुभूषितः स्वर्ग इवातपस्विना ।। १२५ ।।

‘पार्थ! जैसे अपवित्र मनुष्यका मन स्वर्गकी ओरसे निवृत्त हो जाता है (क्योंकि उसके लिये स्वर्गकी प्राप्ति असम्भव है), उसी प्रकार तुम्हारा मन भी उस समय इस पृथ्वीपर राज्यशासन करनेसे निराश होकर निवृत्त हो जायगा। अर्जुन! शान्त होकर बैठ जाओ। राज्य तुम्हारे लिये अत्यन्त दुर्लभ है। जिसने तपस्या नहीं की है, वह जैसे स्वर्ग पाना चाहे, उसी प्रकार तुमने भी राज्यकी अभिलाषा की है ।। १२५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि दुर्योधनवाक्ये षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६० ।।

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके शिविरमें पहुँचकर उलूकका भरी सभामें दुर्योधनका संदेश सुनाना

संजय उवाच

सेनानिवेशं सम्प्राप्तः कैतव्यः पाण्डवस्य ह ।
समागतः पाण्डवेयैर्युधिष्ठिरमभाषत ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर जुआ री शकुनिका पुत्र उलूक पाण्डवोंकी छावनीमें जाकर उनसे मिला और युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोला— ।। १ ।।

अभिज्ञो दूतवाक्यानां यथोक्तं ब्रुवतो मम ।
दुर्योधनसमादेशं श्रुत्वा न क्रोद्धुमर्हसि ।। २ ।।

'राजन्! आप दूतके वचनोंका मर्म जाननेवाले हैं। दुर्योधनने जो संदेश दिया है, उसे मैं ज्यों-का-त्यों दोहरा दूँगा। उसे सुनकर आपको मुझपर क्रोध नहीं करना चाहिये' ।। २ ।।

युधिष्ठिर उवाच

उलूक न भयं तेऽस्ति ब्रूहि त्वं विगतज्वरः ।
यन्मतं धार्तराष्ट्रस्य लुब्धस्यादीर्घदर्शिनः ।। ३ ।।

युधिष्ठिरने कहा—उलूक! तुम्हें (तनिक भी) भय नहीं है। तुम निश्चिन्त होकर लोभी और अदूरदर्शी दुर्योधनका अभिप्राय सुनाओ ।। ३ ।।

ततो द्युतिमतां मध्ये पाण्डवानां महात्मनाम् ।
सृञ्जयानां च मत्स्यानां कृष्णस्य च यशस्विनः ।। ४ ।।
द्रुपदस्य सपुत्रस्य विराटस्य च संनिधौ ।
भूमिपानां च सर्वेषां मध्ये वाक्यं जगाद ह ।। ५ ।।

(संजय कहते हैं—) तब वहाँ बैठे हुए तेजस्वी महात्मा पाण्डवों, सृंजयों, मत्स्यों, यशस्वी श्रीकृष्ण तथा पुत्रोंसहित द्रुपद और विराटके समीप समस्त राजाओंके बीचमें उलूकने यह बात कही ।। ४-५ ।।

उलूक उवाच

इदं त्वामब्रवीद् राजा धार्तराष्ट्रो महामनाः ।
शृण्वतां कुरुवीराणां तन्निबोध युधिष्ठिर ।। ६ ।।

उलूक बोला—महाराज युधिष्ठिर! महामना धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने कौरववीरोंके समक्ष आपको यह संदेश कहलाया है, इसे सुनिये ।। ६ ।।

पराजितोऽसि द्यूतेन कृष्णा चानायिता सभाम् ।

शक्योऽमर्षो मनुष्येण कर्तुं पुरुषमानिना ।। ७ ।।

'तुम जुएमें हारे और तुम्हारी पत्नी द्रौपदीको सभामें लाया गया। इस दशामें अपनेको पुरुष माननेवाला प्रत्येक मनुष्य क्रोध कर सकता है ।। ७ ।।

द्वादशैव तु वर्षाणि वने धिष्ण्याद् विवासितः ।
संवत्सरं विराटस्य दास्यमास्थाय चोषितः ।। ८ ।।

'बारह वर्षोंतक तुम राज्यसे निर्वासित होकर वनमें रहे और एक वर्षतक तुम्हें राजा विराटका दास बनकर रहना पड़ा ।। ८ ।।

अमर्षं राज्यहरणं वनवासं च पाण्डव ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ।। ९ ।।

'पाण्डुनन्दन! तुम अपने अमर्षको, राज्यके अपहरणको, वनवासको और द्रौपदीको दिये गये क्लेशको भी याद करके मर्द बनो ।। ९ ।।

अशक्तेन च यच्छप्तं भीमसेनेन पाण्डव ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीयतां यदि शक्यते ।। १० ।।

पाण्डुपुत्र! तुम्हारे भाई भीमसेनने उस समय कुछ करनेमें असमर्थ होनेके कारण जो दुर्वचन कहा था, उसे याद करके वे आवें और यदि शक्ति हो, तो दुःशासनका रक्त पीयें ।। १० ।।

लोहाभिसारो निर्वृत्तः कुरुक्षेत्रमकर्दमम् ।
समः पन्था भृतास्तेऽश्वाः श्वो युध्यस्व सकेशवः ।। ११ ।।

'लोहेके अस्त्र-शस्त्रोंको बाहर निकालकर उन्हें तैयार करने आदिका कार्य पूरा हो गया है, कुरुक्षेत्रकी कीचड़ सूख गयी है, मार्ग बराबर हो गया है और तुम्हारे अश्व भी खूब पले हुए हैं; अतः कल सबेरेसे ही श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ।। ११ ।।

असमागम्य भीष्मेण संयुगे किं विकत्थसे ।
आरुरुक्षुर्यथा मन्दः पर्वतं गन्धमादनम् ।। १२ ।।
एवं कत्थसि कौन्तेय अकत्थन् पुरुषो भव ।

'युद्धक्षेत्रमें भीष्मका सामना किये बिना ही तुम क्यों अपनी झूठी प्रशंसा करते हो? कुन्तीनन्दन! जैसे कोई अशक्त एवं मन्दबुद्धि पुरुष गन्धमादन पर्वतपर चढ़नेकी इच्छा करे, उसी प्रकार तुम भी अपने बारेमें बड़ी-बड़ी बातें किया करते हो। बातें न बनाओ; पुरुष बनो (पुरुषत्वका परिचय दो) ।। १२½ ।।

सूतपुत्रं सदुर्धर्षं शल्यं च बलिनां वरम् ।। १३ ।।
द्रोणं च बलिनां श्रेष्ठं शचीपतिसमं युधि ।
अजित्वा संयुगे पार्थ राज्यं कथमिहेच्छसि ।। १४ ।।

'पार्थ! अत्यन्त दुर्जय वीर सूतपुत्र कर्ण, बलवानोंमें श्रेष्ठ शल्य तथा युद्धमें शचीपति इन्द्रके समान पराक्रमी महाबली द्रोणको युद्धमें जीते बिना तुम यहाँ राज्य कैसे लेना चाहते

हो? ।। १३-१४ ।।

ब्राह्मे धनुषि चाचार्यं वेदयोरन्तगं द्वयोः ।
युधि धुर्यमविक्षोभ्यमनीकचरमच्युतम् ।। १५ ।।
द्रोणं महाद्युतिं पार्थ जेतुमिच्छसि तन्मृषा ।
न हि शुश्रुम वातेन मेरुमुन्मथितं गिरिम् ।। १६ ।।

'आचार्य द्रोण ब्राह्मवेद और धनुर्वेद दोनोंके पारंगत पण्डित हैं। वे युद्धका भार वहन करनेमें समर्थ, अक्षोभ्य, सेनाके मध्यमें विचरनेवाले तथा संग्रामभूमिसे कभी पीछे न हटनेवाले हैं। पार्थ! तुम उन्हीं महातेजस्वी द्रोणको जो जीतनेकी इच्छा करते हो, वह व्यर्थ दुःसाहस-मात्र है। वायुने कभी सुमेरु पर्वतको उखाड़ फेंका हो, यह कभी हमारे सुननेमें नहीं आया ।। १५-१६ ।।

अनिलो वा वहेन्मेरुं द्यौर्वापि निपतेन्महीम् ।
युगं वा परिवर्तेत यद्येवं स्याद् यथाऽऽत्थ माम् ।। १७ ।।

'तुम जैसा मुझसे कहते हो, वैसा ही यदि सम्भव हो जाय, तब तो वायु भी सुमेरु पर्वतको उठा ले, स्वर्गलोक पृथ्वीपर गिर पड़े अथवा युग ही बदल जाय ।। १७ ।।

को ह्यस्ति जीविताकाङ्क्षी प्राप्येममरिमर्दनम् ।
गजो वाजी रथो वापि पुनः स्वस्ति गृहान् व्रजेत् ।। १८ ।।

'जीवित रहनेकी इच्छावाला कौन ऐसा हाथीसवार, घुड़सवार अथवा रथी है, जो इन शत्रुमर्दन द्रोणसे भिड़कर कुशलपूर्वक अपने घरको लौट सके? ।। १८ ।।

कथमाभ्यामभिध्यातः संस्पृष्टो दारुणेन वा ।
रणे जीवन् विमुच्येत पदा भूमिमुपस्पृशन् ।। १९ ।।

'भीष्म और द्रोणने जिसे मारनेका निश्चय कर लिया हो अथवा जो युद्धमें इनके भयंकर अस्त्रोंसे छू गया हो, ऐसा कौन भूतलनिवासी जीवित बच सकता है? ।। १९ ।।

किं दर्दुरः कूपशयो यथेमां
न बुध्यसे राजचमूं समेताम् ।
दुराधर्षां देवचमूप्रकाशां
गुप्तां नरेन्द्रैस्त्रिदशैरिव द्याम् ।। २० ।।
प्राच्यैः प्रतीच्यैरथ दाक्षिणात्यै-
रुदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च ।
शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमुख्यदेश्यै-
र्म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्रकाञ्च्यैः ।। २१ ।।

'जैसे देवता स्वर्गकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओंके नरेश तथा काम्बोज, शक, खश, शाल्व, मत्स्य, कुरु और मध्यप्रदेशके सैनिक एवं म्लेच्छ, पुलिन्द, द्रविड़, आन्ध्र और कांचीदेशीय योद्धा जिस सेनाकी रक्षा करते हैं, जो

देवताओंकी सेनाके समान दुर्धर्ष एवं संगठित है, कौरवराजकी उस (समुद्रतुल्य) सेनाको क्या तुम कूपमण्डूककी भाँति अच्छी तरह समझ नहीं पाते? ।। २०-२१ ।।

नानाजनौघं युधि सम्प्रवृद्धं
गाङ्गं यथा वेगमपारणीयम् ।
मां च स्थितं नागबलस्य मध्ये
युयुत्ससे मन्द किमल्पबुद्धे ।। २२ ।।

'अल्पबुद्धि मूढ़ युधिष्ठिर! जिसका वेग युद्धकालमें गंगाके वेगके समान बढ़ जाता है और जिसे पार करना असम्भव है, नाना प्रकारके जनसमुदायसे भरी हुई मेरी उस विशाल वाहिनीके साथ तथा गजसेनाके बीचमें खड़े हुए मुझ दुर्योधनके साथ भी तुम युद्धकी इच्छा कैसे रखते हो?' ।। २२ ।।

इत्येवमुक्त्वा राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभ्यावृत्य पुनर्जिष्णुमुलूकः प्रत्यभाषत ।। २३ ।।

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर उलूक अर्जुनकी ओर मुड़ा और तत्पश्चात् उनसे भी इस प्रकार कहने लगा— ।। २३ ।।

अकत्थमानो युध्यस्व कत्थसेऽर्जुन किं बहु ।
पर्यायात् सिद्धिरेतस्य नैतत् सिध्यति कत्थनात् ।। २४ ।।

'अर्जुन! बातें न बनाकर युद्ध करो। बहुत आत्मप्रशंसा क्यों करते हो? विभिन्न प्रकारोंसे युद्ध करनेपर ही राज्यकी सिद्धि हो सकती है। झूठी आत्मप्रशंसा करनेसे इस कार्यमें सफलता नहीं मिल सकती ।। २४ ।।

यदीदं कत्थनाल्लोके सिध्येत् कर्म धनंजय ।
सर्वे भवेयुः सिद्धार्थाः कत्थने को हि दुर्गतः ।। २५ ।।

'धनंजय! यदि जगत्‌में अपनी झूठी प्रशंसा करनेसे ही अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाती, तब तो सब लोग सिद्धकाम हो जाते; क्योंकि बातें बनानेमें कौन दरिद्र और दुर्बल होगा? ।। २५ ।।

जानामि ते वासुदेवं सहायं
जानामि ते गाण्डिवं तालमात्रम् ।
जानाम्येतत् त्वादृशो नास्ति योद्धा
जानानस्ते राज्यमेतद्धरामि ।। २६ ।।

'मैं जानता हूँ कि तुम्हारे सहायक वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हैं, मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे पास चार हाथ लंबा गाण्डीव धनुष है तथा मुझे यह भी मालूम है कि तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई योद्धा नहीं है; यह सब जानकर भी मैं तुम्हारे इस राज्यका अपहरण करता हूँ ।। २६ ।।

न तु पर्यायधर्मेण राज्यं प्राप्नोति मानुषः ।

मनसैवानुकूलानि विधाता कुरुते वशे ।। २७ ।।

'कोई भी मनुष्य नाममात्रके धर्मद्वारा राज्य नहीं पाता; केवल विधाता ही मानसिक संकल्पमात्रसे सबको अपने अनुकूल और अधीन कर लेता है ।। २७ ।।

त्रयोदश समा भुक्तं राज्यं विलपतस्तव ।
भूयश्चैव प्रशासिष्ये निहत्य त्वां सबान्धवम् ।। २८ ।।

'तुम रोते-बिलखते रह गये और मैंने तेरह वर्षोंतक तुम्हारा राज्य भोगा। अब भाइयोंसहित तुम्हारा वध करके आगे भी मैं ही इस राज्यका शासन करूँगा ।। २८ ।।

क्व तदा गाण्डिवं तेऽभूद् यत् त्वं दास पणैर्जितः ।
क्व तदा भीमसेनस्य बलमासीच्च फाल्गुन ।। २९ ।।

'दास अर्जुन! जब तुमलोग जूएके दाँवपर जीत लिये गये, उस समय तुम्हारा गाण्डीव धनुष कहाँ था? भीमसेनका बल भी उस समय कहाँ चला गया था? ।। २९ ।।

सगदाद् भीमसेनाद् वा पार्थाद् वापि सगाण्डिवात् ।
न वै मोक्षस्तदा वोऽभूद् विना कृष्णामनिन्दिताम् ।। ३० ।।

'गदाधारी भीमसेन अथवा गाण्डीवधारी अर्जुनसे भी उस समय सती साध्वी द्रौपदीका सहारा लिये बिना तुमलोगोंका दासभावसे उद्धार न हो सका ।। ३० ।।

सा वो दास्ये समापन्नान् मोक्षयामास पार्षती ।
अमानुष्यं समापन्नान् दासकर्मण्यवस्थितान् ।। ३१ ।।

'तुम सब लोग अमनुष्योचित दीन दशाको प्राप्त हो दासभावमें स्थित थे। उस समय उस द्रुपदकुमारी कृष्णाने ही दासताके संकटमें पड़े हुए तुम सब लोगोंको छुड़ाया था ।। ३१ ।।

अवोचं यत् षण्ढतिलानहं वस्तथ्यमेव तत् ।
धृता हि वेणी पार्थेन विराटनगरे तदा ।। ३२ ।।

'मैंने जो उन दिनों तुमलोगोंको हिजड़ा या नपुंसक कहा था, वह ठीक ही निकला; क्योंकि अज्ञातवासके समय विराटनगरमें अर्जुनको अपने सिरपर स्त्रियोंकी भाँति वेणी धारण करनी पड़ी ।। ३२ ।।

सूदकर्मणि च श्रान्तं विराटस्य महानसे ।
भीमसेनेन कौन्तेय यच्च तन्मम पौरुषम् ।। ३३ ।।

'कुन्तीकुमार! तुम्हारे भाई भीमसेनको राजा विराटके रसोईघरमें रसोइयेके काममें ही संलग्न रहकर जो भारी श्रम उठाना पड़ा, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ है ।। ३३ ।।

एवमेतत् सदा दण्डं क्षत्रियाः क्षत्रिये दधुः ।
वेणीं कृत्वा षण्ढवेषः कन्यां नर्तितवानसि ।। ३४ ।।

'इसी प्रकार सदासे ही क्षत्रियोंने अपने विरोधी क्षत्रियको दण्ड दिया है। इसीलिये तुम्हें भी सिरपर वेणी रखाकर और हिजड़ोंका वेष बनाकर राजा विराटकी कन्याको नचानेका

काम करना पड़ा ।। ३४ ।।

न भयाद् वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन ।
राज्यं प्रतिप्रदास्यामि युद्ध्यस्व सहकेशवः ।। ३५ ।।

'फाल्गुन! श्रीकृष्णके या तुम्हारे भयसे मैं राज्य नहीं लौटाऊँगा। तुम श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ।। ३५ ।।

न माया हीन्द्रजालं वा कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य मे युद्धे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ।। ३६ ।।

'माया, इन्द्रजाल अथवा भयानक छलना संग्रामभूमिमें हथियार उठाये हुए मुझ दुर्योधनके क्रोध और सिंहनादको ही बढ़ाती हैं (मुझे भयभीत नहीं कर सकती हैं) ।। ३६ ।।

वासुदेवसहस्रं वा फाल्गुनानां शतानि वा ।
आसाद्य माममोघेषुं द्रविष्यन्ति दिशो दश ।। ३७ ।।

'हजारों श्रीकृष्ण और सैकड़ों अर्जुन भी अमोघ बाणोंवाले मुझ वीरके पास आकर दसों दिशाओंमें भाग जायँगे ।। ३७ ।।

संयुगं गच्छ भीष्मेण भिन्धि वा शिरसा गिरिम् ।
तरेमं वा महागाधं बाहुभ्यां पुरुषोदधिम् ।। ३८ ।।

'तुम भीष्मके साथ युद्ध करो या सिरसे पहाड़ फोड़ो या सैनिकोंके अत्यन्त गहरे महासागरको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करो ।। ३८ ।।

शारद्वतमहामीनं विविंशतिमहोरगम् ।
बृहद्बलमहोद्वलं सौमदत्तितिमिङ्गिलम् ।। ३९ ।।

'हमारे सैन्यरूपी महासमुद्रमें कृपाचार्य महामत्स्यके समान हैं, विविंशति उसके भीतर रहनेवाला महासर्प है, बृहद्‌बल उसके भीतर उठनेवाले महान् ज्वारके समान हैं, भूरिश्रवा तिमिंगिल नामक मत्स्यके स्थानमें हैं ।। ३९ ।।

भीष्मवेगमपर्यन्तं द्रोणग्राहदुरासदम् ।
कर्णशल्यझषावर्तं काम्बोजवडवामुखम् ।। ४० ।।

'भीष्म उसके असीम वेग हैं, द्रोणाचार्यरूपी ग्राहके होनेसे इस सैन्यसागरमें प्रवेश करना अत्यन्त दुष्कर है, कर्ण और शल्य मत्स्य तथा आवर्त (भँवर)-का काम करते हैं और काम्बोजराज सुदक्षिण इसमें बड़वानल हैं ।। ४० ।।

दुःशासनौघं शलशल्यमत्स्यं
सुषेणचित्रायुधनागनक्रम् ।
जयद्रथाद्रिं पुरुमित्रगाधं
दुर्मर्षणोदं शकुनिप्रपातम् ।। ४१ ।।

'दुःशासन इसके तीव्र प्रवाहके समान है, शल और शल्य मत्स्य हैं, सुषेण और चित्रायुध नाग और मकरके समान हैं, जयद्रथ पर्वत है, पुरुमित्र उसकी गम्भीरता है, दुर्मर्षण

जल है और शकुनि प्रपात (झरने)-का काम देता है ।। ४१ ।।

शस्त्रौघमक्षय्यमतिप्रवृद्धं
यदावगाह्य श्रमनष्टचेताः ।
भविष्यसि त्वं हतसर्वबान्धव-
स्तदा मनस्ते परितापमेष्यति ।। ४२ ।।

'भाँति-भाँतिके शस्त्र इस सैन्यसागरके जलप्रवाह हैं। यह अक्षय होनेके साथ ही खूब बढ़ा हुआ है। इसमें प्रवेश करनेपर अधिक श्रमके कारण जब तुम्हारी चेतना नष्ट हो जायगी, तुम्हारे समस्त बन्धु मार दिये जायँगे, उस समय तुम्हारे मनको बड़ा संताप होगा ।। ४२ ।।

तदा मनस्ते त्रिदिवादिवाशुचे-
र्निवर्तिता पार्थ महीप्रशासनात् ।
प्रशाम्य राज्यं हि सुदुर्लभं त्वया
बुभूषितः स्वर्ग इवातपस्विना ।। ४३ ।।

'पार्थ! जैसे अपवित्र मनुष्यका मन स्वर्गकी ओरसे निवृत्त हो जाता है, क्योंकि उसके लिये स्वर्गकी प्राप्ति असम्भव है, उसी प्रकार तुम्हारा मन भी उस समय इस पृथ्वीके राज्य-शासनसे निराश होकर निवृत्त हो जायगा। अर्जुन! शान्त होकर बैठ जाओ। राज्य तुम्हारे लिये अत्यन्त दुर्लभ है। जिसने तपस्या नहीं की है, वह जैसे स्वर्ग पाना चाहे, उसी प्रकार तुमने भी राज्यकी अभिलाषा की है' ।। ४३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि उलूकवाक्ये एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें उलूकवाक्यविषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६१ ।।

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षकी ओरसे दुर्योधनको उसके संदेशका उत्तर

संजय उवाच

उलूकस्त्वर्जुनं भूयो यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ।
आशीविषमिव क्रुद्धं तुदन् वाक्यशलाकया ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! उलूकने विषधर सर्पके समान क्रोधमें भरे हुए अर्जुनको अपने वाग्बाणोंसे और भी पीड़ा देते हुए दुर्योधनकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं ।। १ ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रुषिताः पाण्डवा भृशम् ।
प्रागेव भृशसंक्रुद्धाः कैतव्येनापि धर्षिताः ।। २ ।।

उसकी बात सुनकर पाण्डवोंको बड़ा रोष हुआ। एक तो वे पहलेसे ही अधिक क्रुद्ध थे, दूसरे जुआरी शकुनिके बेटेने भी उनका बड़ा तिरस्कार किया ।। २ ।।

आसनेषूदतिष्ठन्त बाहूंश्चैव प्रचिक्षिपुः ।
आशीविषा इव क्रुद्धा वीक्षांचक्रुः परस्परम् ।। ३ ।।

वे आसनोंसे उठकर खड़े हो गये और अपनी भुजाओंको इस प्रकार हिलाने लगे, मानो प्रहार करनेके लिये उद्यत हों। वे विषैले सर्पोंके समान अत्यन्त कुपित हो एक-दूसरेकी ओर देखने लगे ।। ३ ।।

अवाक्शिरा भीमसेनः समुदैक्षत केशवम् ।
नेत्राभ्यां लोहितान्ताभ्यामाशीविष इव श्वसन् ।। ४ ।।

भीमसेनने फुफकारते हुए विषधर नागकी भाँति लंबी साँसें खींचते हुए सिर नीचे किये लाल नेत्रोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखा ।। ४ ।।

आर्तं वातात्मजं दृष्ट्वा क्रोधेनाभिहतं भृशम् ।
उत्स्मयन्निव दाशार्हः कैतव्यं प्रत्यभाषत ।। ५ ।।

वायुपुत्र भीमको क्रोधसे अत्यन्त पीड़ित और आहत देख दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णने उलूकसे मुसकराते हुए-से कहा— ।। ५ ।।

प्रयाहि शीघ्रं कैतव्य ब्रूयाश्चैव सुयोधनम् ।
श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत् ते तथास्तु तत् ।। ६ ।।

‘जुआरी शकुनिके पुत्र उलूक! तू शीघ्र लौट जा और दुर्योधनसे कह दे—‘पाण्डवोंने तुम्हारा संदेश सुना और उसके अर्थको समझकर स्वीकार किया। युद्धके विषयमें जैसा तुम्हारा मत है, वैसा ही हो’ ।। ६ ।।

एवमुक्त्वा महाबाहुः केशवो राजसत्तम ।

पुनरेव महाप्राज्ञं युधिष्ठिरमुदैक्षत ।। ७ ।।

नृपश्रेष्ठ! ऐसा कहकर महाबाहु केशवने पुनः परम बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरकी ओर देखा ।। ७ ।।

सृञ्जयानां च सर्वेषां कृष्णस्य च यशस्विनः ।
द्रुपदस्य सपुत्रस्य विराटस्य च संनिधौ ।। ८ ।।
भूमिपानां च सर्वेषां मध्ये वाक्यं जगाद ह ।
उलूकोऽप्यर्जुनं भूयो यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ।। ९ ।।
आशीविषमिव क्रुद्धं तुदन् वाक्यशलाकया ।
कृष्णादींश्चैव तान् सर्वान् यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ।। १० ।।

फिर उलूकने भी समस्त संजयवंशी क्षत्रियसमुदाय, यशस्वी श्रीकृष्ण तथा पुत्रोंसहित द्रुपद और विराटके समीप सम्पूर्ण राजाओंकी मण्डलीमें शेष बातें कहीं। उसने विषधर सर्पके सदृश कुपित हुए अर्जुनको पुनः अपने वाग्बाणोंसे पीड़ा देते हुए दुर्योधनकी कही हुई सब बातें कह सुनायीं। साथ ही श्रीकृष्ण आदि अन्य सब लोगोंसे कहनेके लिये भी उसने जो-जो संदेश दिये थे, उन्हें भी उन सबको यथावत्‌रूपसे सुना दिया ।। ८—१० ।।

उलूकस्य तु तद् वाक्यं पापं दारुणमीरितम् ।
श्रुत्वा विचुक्षुभे पार्थो ललाटं चाप्यमार्जयत् ।। ११ ।।

उलूकके कहे हुए उस पापपूर्ण दारुण वचनको सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुनको बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने हाथसे ललाटका पसीना पोंछा ।। ११ ।।

तदवस्थं तदा दृष्ट्वा पार्थं सा समितिर्नृप ।
नामृष्यन्त महाराज पाण्डवानां महारथाः ।। १२ ।।

नरेश्वर! अर्जुनको उस अवस्थामें देखकर राजाओंकी वह समिति तथा पाण्डव महारथी सहन न कर सके ।।

अधिक्षेपेण कृष्णस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
श्रुत्वा ते पुरुषव्याघ्राः क्रोधाज्जज्वलुरच्युताः ।। १३ ।।

राजन्! महात्मा अर्जुन तथा श्रीकृष्णके प्रति आक्षेपपूर्ण वचन सुनकर वे पुरुषसिंह शूरवीर क्रोधसे जल उठे ।। १३ ।।

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः ।
केकया भ्रातरः पञ्च राक्षसश्च घटोत्कचः ।। १४ ।।
द्रौपदेयाभिमन्युश्च धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ।
भीमसेनश्च विक्रान्तो यमजौ च महारथौ ।। १५ ।।
उत्पेतुरासनात् सर्वे क्रोधसंरक्तलोचनाः ।
बाहून् प्रगृह्य रुचिरान् रक्तचन्दनरूषितान् ।
अङ्गदैः पारिहार्यैश्च केयूरैश्च विभूषितान् ।। १६ ।।

दन्तान् दन्तेषु निष्पिष्य सृक्किणी परिलेलिहन् ।

धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, महारथी सात्यकि, पाँच भाई केकयराजकुमार, राक्षस घटोत्कच, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, अभिमन्यु, राजा धृष्टकेतु, पराक्रमी भीमसेन तथा महारथी नकुल-सहदेव—ये सब-के-सब क्रोधसे लाल आँखें किये अपने आसनोंसे उछलकर खड़े हो गये और अंगद, पारिहार्य (मोतियोंके गुच्छों) तथा केयूरोंसे विभूषित एवं लाल चन्दनसे चर्चित अपनी सुन्दर भुजाओंको थामकर दाँतोंपर दाँत रगड़ते हुए ओठोंके दोनों कोने चाटने लगे ।। १४—१६ $\frac{१}{२}$ ।।

तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।। १७ ।।

उदतिष्ठत् स वेगेन क्रोधेन प्रज्वलन्निव ।

उद्वृत्य सहसा नेत्रे दन्तान् कटकटाय्य च ।। १८ ।।

हस्तं हस्तेन निष्पिष्य उलूकं वाक्यमब्रवीत् ।

उनकी आकृति और भावको जानकर कुन्तीपुत्र वृकोदर बड़े वेगसे उठे और क्रोधसे जलते हुएके समान सहसा आँखें फाड़-फाड़कर देखते, दाँत कट-कटाते और हाथ-से-हाथ रगड़ते हुए उलूकसे इस प्रकार बोले— ।। १७-१८ $\frac{१}{२}$ ।।

अशक्तानामिवास्माकं प्रोत्साहननिमित्तकम् ।। १९ ।।

श्रुतं ते वचनं मूर्ख यत् त्वां दुर्योधनोऽब्रवीत् ।

'ओ मूर्ख! दुर्योधनने तुझसे जो कुछ कहा है, वह तेरा वचन हमने सुन लिया। मानो हम असमर्थ हों और तू हमें प्रोत्साहन देनेके निमित्त यह सब कुछ कह रहा हो ।। १९ $\frac{१}{२}$ ।।

तन्मे कथयते मन्द शृणु वाक्यं दुरासदम् ।। २० ।।

सर्वक्षत्रस्य मध्ये तं यद् वक्ष्यसि सुयोधनम् ।

शृण्वतः सूतपुत्रस्य पितुश्च त्वं दुरात्मनः ।। २१ ।।

'मूर्ख उलूक! अब तू मेरी कही हुई दुःसह बातें सुन और समस्त राजाओंकी मण्डलीमें सूतपुत्र कर्ण और अपने दुरात्मा पिता शकुनिके सामने दुर्योधनको सुना देना — ।। २०-२१ ।।

अस्माभिः प्रीतिकामैस्तु भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः ।

मर्षितं ते दुराचार तत् त्वं न बहु मन्यसे ।। २२ ।।

'दुराचारी दुर्योधन! हमलोगोंने सदा अपने बड़े भाईको प्रसन्न रखनेकी इच्छासे तेरे बहुत-से अत्याचारोंको चुपचाप सह लिया है; परंतु तू इन बातोंको अधिक महत्त्व नहीं दे रहा है ।। २२ ।।

प्रेषितश्चहृषीकेशः शमाकाङ्क्षी कुरून् प्रति ।

कुलस्य हितकामेन धर्मराजेन धीमता ।। २३ ।।

'बुद्धिमान् धर्मराजने कौरवकुलके हितकी इच्छासे शान्ति चाहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको कौरवोंके पास भेजा था ।। २३ ।।

त्वं कालचोदितो नूनं गन्तुकामो यमक्षयम् ।
गच्छस्वाहवमस्माभिस्तच्च श्वो भविता ध्रुवम् ।। २४ ।।

'परंतु तू निश्चय ही कालसे प्रेरित हो यमलोकमें जाना चाहता है (इसीलिये संधिकी बात नहीं मान सका)। अच्छा, हमारे साथ युद्धमें चल। कल निश्चय ही युद्ध होगा ।। २४ ।।

मयापि च प्रतिज्ञातो वधः सभ्रातृकस्य ते ।
स तथा भविता पाप नात्र कार्या विचारणा ।। २५ ।।

'पापात्मन्! मैंने भी जो तेरे और तेरे भाइयोंके वधकी प्रतिज्ञा की है, वह उसी रूपमें पूर्ण होगी। इस विषयमें तुझे कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ।। २५ ।।

वेलामतिक्रमेत् सद्यः सागरो वरुणालयः ।
पर्वताश्च विशीर्येयुर्मयोक्तं न मृषा भवेत् ।। २६ ।।

'वरुणालय समुद्र शीघ्र ही अपनी सीमाका उल्लंघन कर जाय और पर्वत जीर्ण-शीर्ण होकर बिखर जायँ, परंतु मेरी कही हुई बात झूठी नहीं हो सकती ।। २६ ।।

सहायस्ते यदि यमः कुबेरो रुद्र एव वा ।
यथाप्रतिज्ञं दुर्बुद्धे प्रकरिष्यन्ति पाण्डवाः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पाता चास्मि यथेप्सितम् ।। २७ ।।

'दुर्बुद्धे! तेरी सहायताके लिये यमराज, कुबेर अथवा भगवान् रुद्र ही क्यों न आ जायँ, पाण्डव अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार सब कार्य अवश्य करेंगे। मैं अपनी इच्छाके अनुसार दुःशासनका रक्त अवश्य पीऊँगा ।। २७ ।।

यश्चेह प्रतिसंरब्धः क्षत्रियो माभियास्यति ।
अपि भीष्मं पुरस्कृत्य तं नेष्यामि यमक्षयम् ।। २८ ।।

'उस समय साक्षात् भीष्मको भी आगे करके जो कोई भी क्षत्रिय क्रोधपूर्वक मेरे ऊपर धावा करेगा, उसे उसी क्षण यमलोक पहुँचा दूँगा ।। २८ ।।

यच्चैतदुक्तं वचनं मया क्षत्रस्य संसदि ।
यथैतद् भविता सत्यं तथैवात्मानमालभे ।। २९ ।।

'मैंने क्षत्रियोंकी सभामें यह बात कही है, जो अवश्य सत्य होगी। यह मैं अपनी सौगन्ध खाकर कहता हूँ' ।। २९ ।।

भीमसेनवचः श्रुत्वा सहदेवोऽप्यमर्षणः ।
क्रोधसंरक्तनयनस्ततो वाक्यमुवाच ह ।। ३० ।।

भीमसेनका वचन सुनकर सहदेवका भी अमर्ष जाग उठा। तब उन्होंने भी क्रोधसे आँखें लाल करके यह बात कही— ।। ३० ।।

शौटीरशूरसदृशमनीकजनसंसदि ।
शृणु पाप वचो मह्यं यद्वाच्यो हि पिता त्वया ।। ३१ ।।

‘ओ पापी! मैं इन वीर सैनिकोंकी सभामें गर्वीले शूरवीरके योग्य वचन बोल रहा हूँ। तू इसे सुन ले और अपने पिताके पास जाकर सुना दे ।। ३१ ।।

नास्माकं भविता भेदः कदाचित् कुरुभिः सह ।

धृतराष्ट्रस्य सम्बन्धो यदि न स्यात् त्वया सह ।। ३२ ।।

‘यदि धृतराष्ट्रका तेरे साथ सम्बन्ध न होता, तो कभी कौरवोंके साथ हमलोगोंकी फूट नहीं होती ।। ३२ ।।

त्वं तु लोकविनाशाय धृतराष्ट्रकुलस्य च ।

उत्पन्नो वैरपुरुषः स्वकुलघ्नश्च पापकृत् ।। ३३ ।।

‘तू सम्पूर्ण जगत् तथा धृतराष्ट्रकुलके विनाशके लिये पापाचारी मूर्तिमान् वैरपुरुष होकर उत्पन्न हुआ है। तू अपने कुलका भी नाश करनेवाला है ।। ३३ ।।

जन्मप्रभृति चास्माकं पिता ते पापपूरुषः ।

अहितानि नृशंसानि नित्यशः कर्तुमिच्छति ।। ३४ ।।

‘उलूक! तेरा पापात्मा पिता जन्मसे ही हम—लोगोंके प्रति प्रतिदिन क्रूरतापूर्ण अहितकर बर्ताव करना चाहता है ।। ३४ ।।

तस्य वैरानुषङ्गस्य गन्तास्म्यन्तं सुदुर्गमम् ।

अहमादौ निहत्य त्वां शकुनेः सम्प्रपश्यतः ।। ३५ ।।

ततोऽस्मि शकुनिं हन्तामिषतां सर्वधन्विनाम् ।

‘इसलिये मैं शकुनिके देखते-देखते सबसे पहले तेरा वध करके सम्पूर्ण धनुर्धरोंके सामने शकुनिको भी मार डालूँगा और इस प्रकार अत्यन्त दुर्गम शत्रुतासे पार हो जाऊँगा’ ।। ३५ ।।

भीमस्य वचनं श्रुत्वा सहदेवस्य चोभयोः ।। ३६ ।।

उवाच फाल्गुनो वाक्यं भीमसेनं स्मयन्निव ।

भीमसेन न ते सन्ति येषां वैरं त्वया सह ।। ३७ ।।

मन्दा गृहेषु सुखिनो मृत्युपाशवशं गताः ।

भीमसेन और सहदेव दोनोंके वचन सुनकर अर्जुनने भीमसेनसे मुसकराते हुए कहा—‘आर्य भीम! जिनका आपके साथ वैर ठन गया है, वे घरमें बैठकर सुखका अनुभव करनेवाले मूर्ख कौरव कालके पाशमें बँध गये हैं (अर्थात् उनका जीवन नहींके बराबर है) ।। ३६-३७ ।।

उलूकश्च न ते वाच्यः परुषं पुरुषोत्तम ।। ३८ ।।

दूताः किमपराध्यन्ते यथोक्तस्यानुभाषिणः ।

‘पुरुषोत्तम! आपको इस उलूकसे कोई कठोर बात नहीं कहनी चाहिये। बेचारे दूतोंका क्या अपराध है? वे तो कही हुई बातका अनुवादमात्र करनेवाले हैं’ ।। ३८ ।।

एवमुक्त्वा महाबाहुर्भीमं भीमपराक्रमम् ।। ३९ ।।

धृष्टद्युम्नमुखान् वीरान् सुहृदः समभाषत ।

भयंकर पराक्रमी भीमसेनसे ऐसा कहकर महाबाहु अर्जुनने धृष्टद्युम्न आदि वीर सुहृदोंसे कहा— ।। ३९ ।।

श्रुतं वस्तस्पापस्य धार्तराष्ट्रस्य भाषितम् ।। ४० ।।
कुत्सनं वासुदेवस्य मम चैव विशेषतः ।
श्रुत्वा भवन्तः संरब्धा अस्माकं हितकाम्यया ।। ४१ ।।

'बन्धुओ! आपलोगोंने उस पापी दुर्योधनकी बात सुनी है न? इसमें उसके द्वारा विशेषतः मेरी और भगवान् श्रीकृष्णकी निन्दा की गयी है। आपलोग हमारे हितकी कामना रखते हैं, इसलिये इस निन्दाको सुनकर कुपित हो उठे हैं ।। ४०-४१ ।।

प्रभावाद् वासुदेवस्य भवतां च प्रयत्नतः ।
समग्रं पार्थिवं क्षत्रं सर्वं न गणयाम्यहम् ।। ४२ ।।

'परंतु भगवान् वासुदेवके प्रभाव और आपलोगोंके प्रयत्नसे मैं इस समस्त भूमण्डलके सम्पूर्ण क्षत्रियोंको भी कुछ नहीं गिनता हूँ ।। ४२ ।।

भवद्भिः समनुज्ञातो वाक्यमस्य यदुत्तरम् ।
उलूके प्रापयिष्यामि यद् वक्ष्यति सुयोधनम् ।। ४३ ।।

'यदि आपलोगोंकी आज्ञा हो तो मैं इस बातका उत्तर उलूकको दे दूँ, जिसे यह दुर्योधनको सुना देगा ।। ४३ ।।

श्वोभूते कत्थितस्यास्य प्रतिवाक्यं चमूमुखे ।
गाण्डीवेनाभिधास्यामि क्लीबा हि वचनोत्तराः ।। ४४ ।।

'अथवा आपकी सम्मति हो, तो कल सबेरे सेनाके मुहानेपर उसकी इन शेखीभरी बातोंका ठीक-ठीक उत्तर गाण्डीव धनुषद्वारा दे दूँगा; क्योंकि केवल बातोंमें उत्तर देनेवाले तो नपुंसक होते हैं' ।। ४४ ।।

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे प्रशशंसुर्धनंजयम् ।
तेन वाक्योपचारेण विस्मिता राजसत्तमाः ।। ४५ ।।

अर्जुनकी इस प्रवचन-शैलीसे सभी श्रेष्ठ भूपाल आश्चर्यचकित हो उठे और वे सब-के-सब उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ।। ४५ ।।

अनुनीय च तान् सर्वान् यथामान्यं यथावयः ।
धर्मराजस्तदा वाक्यं तत्प्राप्यं प्रत्यभाषत ।। ४६ ।।

तदनन्तर धर्मराजने उन समस्त राजाओंको उनकी अवस्था और प्रतिष्ठाके अनुसार अनुनय-विनय करके शान्त किया और दुर्योधनको देनेयोग्य जो संदेश था, उसे इस प्रकार कहा— ।। ४६ ।।

आत्मानमवमन्वानो न हि स्यात् पार्थिवोत्तमः ।
तत्रोत्तरं प्रवक्ष्यामि तव शुश्रूषणे रतः ।। ४७ ।।

‘उलूक! कोई भी श्रेष्ठ राजा शान्त रहकर अपनी अवज्ञा सहन नहीं कर सकता। मैंने तुम्हारी बात ध्यान देकर सुनी है। अब मैं तुम्हें उत्तर देता हूँ, उसे सुनो’ ।। ४७ ।।

उलूकं भरतश्रेष्ठ सामपूर्वमथोर्जितम् ।
दुर्योधनस्य तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभः ।। ४८ ।।
अतिलोहितनेत्राभ्यामाशीविष इव श्वसन् ।
स्मयमान इव क्रोधात् सृक्किणी परिसंलिहन् ।। ४९ ।।
जनार्दनमभिप्रेक्ष्य भ्रातृंश्चैवेदमब्रवीत् ।
अभ्यभाषत कैतव्यं प्रगृह्य विपुलं भुजम् ।। ५० ।।

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! इस प्रकार युधिष्ठिरने उलूकसे पहले मधुर वचन बोलकर फिर ओजस्वी शब्दोंमें उत्तर दिया। (उलूकके मुखसे) पहले दुर्योधनके पूर्वोक्त संदेशको सुनकर भरतकुलभूषण युधिष्ठिर रोषसे अत्यन्त लाल हुए नेत्रोंद्वारा देखते हुए विषधर सर्पके समान उच्छ्वास लेने लगे। फिर ओठोंके दोनों कोनोंको चाटते हुए वे श्रीकृष्ण तथा भाइयोंकी ओर देखकर बोलनेको प्रस्तुत हुए। वे अपनी विशाल भुजा ऊपर उठा धूर्त जुआरी शकुनिके पुत्र उलूकसे मुसकराते हुए-से बोले— ।। ४८—५० ।।

उलूक गच्छ कैतव्य ब्रूहि तात सुयोधनम् ।
कृतघ्नं वैरपुरुषं दुर्मतिं कुलपांसनम् ।। ५१ ।।

‘जुआरी शकुनिके पुत्र तात उलूक! तुम जाओ और वैरके मूर्तिमान् स्वरूप उस कृतघ्न, दुर्बुद्धि एवं कुलांगार दुर्योधनसे इस प्रकार कह दो— ।। ५१ ।।

पाण्डवेषु सदा पाप नित्यं जिह्मं प्रवर्तसे ।
स्ववीर्याद् यः पराक्रम्य पाप आह्वयते परान् ।
अभीतः पूरयन् वाक्यमेष वै क्षत्रियः पुमान् ।। ५२ ।।

‘पापी दुर्योधन! तू पाण्डवोंके साथ सदा कुटिल बर्ताव करता आ रहा है। पापात्मन्! जो किसीसे भयभीत न होकर अपने वचनोंका पालन करता है और अपने ही बाहुबलसे पराक्रम प्रकट करके शत्रुओंको युद्धके लिये बुलाता है, वही पुरुष क्षत्रिय है ।। ५२ ।।

स पापः क्षत्रियो भूत्वा अस्मानाहूय संयुगे ।
मान्यामान्यान् पुरस्कृत्य युद्धं मा गाः कुलाधम ।। ५३ ।।

‘कुलाधम! तू पापी है! देख, क्षत्रिय होकर और हमलोगोंको युद्धके लिये बुलाकर ऐसे लोगोंको आगे करके रणभूमिमें न आना, जो हमारे माननीय वृद्ध गुरुजन और स्नेहास्पद बालक हों ।। ५३ ।।

आत्मवीर्यं समाश्रित्य भृत्यवीर्यं च कौरव ।
आह्वयस्व रणे पार्थान् सर्वथा क्षत्रियो भव ।। ५४ ।।

‘कुरुनन्दन! तू अपने तथा भरणीय सेवकवर्गके बल और पराक्रमका आश्रय लेकर ही कुन्तीके पुत्रोंका युद्धके लिये आह्वान कर। सब प्रकारसे क्षत्रियत्वका परिचय दे ।। ५४ ।।

परवीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयते परान् ।
अशक्तः स्वयमादातुमेतदेव नपुंसकम् ।। ५५ ।।

'जो स्वयं सामना करनेमें असमर्थ होनेके कारण दूसरोंके पराक्रमका भरोसा करके शत्रुओंको युद्धके लिये ललकारता है, उसका यह कार्य उसकी नपुंसकताका ही सूचक है ।। ५५ ।।

स त्वं परेषां वीर्येण आत्मानं बहु मन्यसे ।
कथमेवमशक्तस्त्वमस्मान् समभिगर्जसि ।। ५६ ।।

'तू तो दूसरोंके ही बलसे अपने-आपको बहुत अधिक शक्तिशाली मानता है; परंतु ऐसा असमर्थ होकर तू हमारे सामने गर्जना कैसे कर रहा है?' ।। ५६ ।।

श्रीकृष्ण उवाच

मद्वचश्चापि भूयस्ते वक्तव्यः स सुयोधनः ।
श्व इदानीं प्रपद्येथाः पुरुषो भव दुर्मते ।। ५७ ।।

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उलूक! इसके बाद तू दुर्योधनसे मेरी यह बात भी कह देना—'दुर्मते! अब कल ही तू रणभूमिमें आ जा और अपने पुरुषत्वका परिचय दे ।। ५७ ।।

मन्यसे यच्च मूढ त्वं न योत्स्यति जनार्दनः ।
सारथ्येन वृतः पार्थैरिति त्वं न बिभेषि च ।। ५८ ।।

'मूढ़! तू जो यह समझता है कि कुन्तीके पुत्रोंने श्रीकृष्णसे सारथि बननेका अनुरोध किया है, अतः वे युद्ध नहीं करेंगे। सम्भवतः इसीलिये तू मुझसे डर नहीं रहा है ।। ५८ ।।

जघन्यकालमप्येतन्न भवेत् सर्वपार्थिवान् ।
निर्दहेयमहं क्रोधात् तृणानीव हुताशनः ।। ५९ ।।

'परंतु याद रख, मैं चाहूँ, तो इन सम्पूर्ण नरेशोंको अपनी क्रोधाग्निसे उसी प्रकार भस्म कर सकता हूँ, जैसे आग घास-फूसको जला डालती है। किंतु युद्धके अन्ततक मुझे ऐसा करनेका अवसर न मिले; यही मेरी इच्छा है ।।

युधिष्ठिरनियोगात् तु फाल्गुनस्य महात्मनः ।
करिष्ये युध्यमानस्य सारथ्यं विजितात्मनः ।। ६० ।।

'राजा युधिष्ठिरके अनुरोधसे मैं जितेन्द्रिय महात्मा अर्जुनके युद्ध करते समय उनके सारथिका काम अवश्य करूँगा ।। ६० ।।

यद्युत्पतसि लोकांस्त्रीन् यद्याविशसि भूतलम् ।
तत्र तत्रार्जुनरथं प्रभाते द्रक्ष्यसे पुनः ।। ६१ ।।

'अब तू यदि तीनों लोकोंसे ऊपर उड़ जाय अथवा धरतीमें समा जाय, तो भी (तू जहाँ-जहाँ जायगा), वहाँ-वहाँ कल प्रातःकाल अर्जुनका रथ पहुँचा हुआ देखेगा ।। ६१ ।।

यच्चापि भीमसेनस्य मन्यसे मोघभाषितम् ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीतमद्यावधारय ।। ६२ ।।

‘इसके सिवा, तू जो भीमसेनकी कही हुई बातोंको व्यर्थ मानने लगा है, यह ठीक नहीं है। तू आज ही निश्चितरूपसे समझ ले कि भीमसेनने दुःशासनका रक्त पी लिया ।। ६२ ।।

न त्वां समीक्षते पार्थो नापि राजा युधिष्ठिरः ।
न भीमसेनो न यमौ प्रतिकूलप्रभाषिणम् ।। ६३ ।।

‘तू पाण्डवोंके विपरीत कटुभाषण करता जा रहा है, परंतु अर्जुन, राजा युधिष्ठिर, भीमसेन तथा नकुल-सहदेव तुझे कुछ भी नहीं समझते हैं’ ।। ६३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूताभिगमनपर्वणि कृष्णादिवाक्ये द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूताभिगमनपर्वमें श्रीकृष्ण आदिके वचनविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६२ ।।

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाँचों पाण्डवों, विराट, द्रुपद, शिखण्डी और धृष्टद्युम्नका संदेश लेकर उलूकका लौटना और उलूककी बात सुनकर दुर्योधनका सेनाको युद्धके लिये तैयार होनेका आदेश देना

संजय उवाच

दुर्योधनस्य तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभ ।
नेत्राभ्यामतिताम्राभ्यां कैतव्यं समुदैक्षत ।। १ ।।
स केशवमभिप्रेक्ष्य गुडाकेशो महायशाः ।
अभ्यभाषत कैतव्यं प्रगृह्य विपुलं भुजम् ।। २ ।।

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! दुर्योधनके पूर्वोक्त वचनको सुनकर महायशस्वी अर्जुनने क्रोधसे लाल आँखें करके शकुनिकुमार उलूककी ओर देखा। तत्पश्चात् अपनी विशाल भुजाको ऊपर उठाकर श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए उन्होंने कहा— ।। १-२ ।।

स्ववीर्यं यः समाश्रित्य समाह्वयति वै परान् ।
अभीतो युध्यते शत्रून् स वै पुरुष उच्यते ।। ३ ।।

'जो अपने ही बल-पराक्रमका भरोसा करके शत्रुओंको ललकारता है और उनके साथ निर्भय होकर युद्ध करता है, वही पुरुष कहलाता है ।। ३ ।।

परवीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयते परान् ।
क्षत्रबन्धुरशक्तत्वाल्लोके स पुरुषाधमः ।। ४ ।।

'जो दूसरेके बल-पराक्रमका आश्रय ले शत्रुओंको युद्धके लिये बुलाता है, वह क्षत्रबन्धु असमर्थ होनेके कारण लोकमें पुरुषाधम कहा गया है ।। ४ ।।

स त्वं परेषां वीर्येण मन्यसे वीर्यमात्मनः ।
स्वयं कापुरुषो मूढ परांश्च क्षेप्तुमिच्छसि ।। ५ ।।

'मूढ़! तू दूसरोंके पराक्रमसे ही अपनेको बल-पराक्रमसे सम्पन्न मानता है और स्वयं कायर होकर दूसरोंपर आक्षेप करना चाहता है ।। ५ ।।

यस्त्वं वृद्धं सर्वराज्ञां हितबुद्धिं जितेन्द्रियम् ।
मरणाय महाप्रज्ञं दीक्षयित्वा विकत्थसे ।। ६ ।।

'जो समस्त राजाओंमें वृद्ध, सबके प्रति हितबुद्धि रखनेवाले, जितेन्द्रिय तथा महाज्ञानी हैं, उन्हीं पितामहको तू मरणके लिये रणकी दीक्षा दिलाकर अपनी बहादुरीकी बातें करता है ।। ६ ।।

भावस्ते विदितोऽस्माभिर्दुर्बुद्धे कुलपांसन ।

न हनिष्यन्ति गाङ्गेयं पाण्डवा घृणयेति हि ।। ७ ।।

'खोटी बुद्धिवाले कुलांगार! तेरा मनोभाव हमने समझ लिया है। तू जानता है कि पाण्डवलोग दयावश गंगानन्दन भीष्मका वध नहीं करेंगे ।। ७ ।।

यस्य वीर्यं समाश्रित्य धार्तराष्ट्र विकत्थसे ।
हन्तास्मि प्रथमं भीष्मं मिषतां सर्वधन्विनाम् ।। ८ ।।

'धृतराष्ट्रपुत्र! तू जिनके पराक्रमका आश्रय लेकर बड़ी-बड़ी बातें बनाता है, उन पितामह भीष्मको ही मैं सबसे पहले तेरे समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते मार डालूँगा ।। ८ ।।

कैतव्य गत्वा भरतान् समेत्य
सुयोधनं धार्तराष्ट्रं वदस्व ।
तथेत्युवाचार्जुनः सव्यसाची
निशाव्यपाये भविता विमर्दः ।। ९ ।।

'उलूक! तू भरतवंशियोंके यहाँ जाकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे कह दे कि सव्यसाची अर्जुनने 'बहुत अच्छा' कहकर तेरी चुनौती स्वीकार कर ली है। आजकी रात बीतते ही युद्ध आरम्भ हो जायगा ।। ९ ।।

यद् वाब्रवीद् वाक्यमदीनसत्त्वो
मध्ये कुरून् हर्षयन् सत्यसंधः ।
अहं हन्ता सृञ्जयानामनीकं
शाल्वेयकांश्चेति ममैष भारः ।। १० ।।
हन्यामहं द्रोणमृतेऽपि लोकं
न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः ।
ततो हि ते लब्धतमं च राज्य-
मापद्‌गताः पाण्डवाश्चेति भावः ।। ११ ।।

'सत्यप्रतिज्ञ और महान् शक्तिशाली भीष्मजीने कौरवसैनिकोंके बीचमें उनका हर्ष बढ़ाते हुए जो यह कहा था कि मैं सृंजय वीरोंकी सेनाका तथा शाल्वदेशके सैनिकोंका भी संहार कर डालूँगा। इन सबके मारनेका भार मेरे ही ऊपर है। दुर्योधन! मैं द्रोणाचार्यके बिना भी सम्पूर्ण जगत्‌का संहार कर सकता हूँ; अतः तुम्हें पाण्डवोंसे कोई भय नहीं है। भीष्मके इस वचनसे ही तूने अपने मनमें यह धारणा बना ली है कि राज्य मुझे ही प्राप्त होगा और पाण्डव भारी विपत्तिमें पड़ जायँगे ।।

स दर्पपूर्णो न समीक्षसे त्व-
मनर्थमात्मन्यपि वर्तमानम् ।
तस्मादहं ते प्रथमं समूहे
हन्ता समक्षं कुरुवृद्धमेव ।। १२ ।।

'इसीलिये तू घमंडमें भरकर अपने ऊपर आये हुए वर्तमान संकटको नहीं देख पाता है, अतः मैं सबसे पहले तेरे सेनासमूहमें प्रवेश करके कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भीष्मका ही तेरी आँखोंके सामने वध करूँगा ।। १२ ।।

सूर्योदये युक्तसेनः प्रतीक्ष्य
ध्वजी रथी रक्ष तं सत्यसंधम् ।
अहं हि वः पश्यतां द्वीपमेनं
भीष्मं रथात् पातयिष्यामि बाणैः ।। १३ ।।

'तू सूर्योदयके समय सेनाको सुसज्जित करके ध्वज और रथसे सम्पन्न हो सब ओर दृष्टि रखते हुए सत्यप्रतिज्ञ भीष्मकी रक्षा कर। मैं तेरे सैनिकोंके देखते-देखते तेरे लिये आश्रय बने हुए इन भीष्मजीको बाणोंद्वारा मारकर रथसे नीचे गिरा दूँगा ।। १३ ।।

श्वोभूते कत्थनावाक्यं विज्ञास्यति सुयोधनः ।
आचितं शरजालेन मया दृष्ट्वा पितामहम् ।। १४ ।।

'कल सबेरे पितामहको मेरे द्वारा चलाये हुए बाणोंके समूहसे व्याप्त देखकर दुर्योधनको अपनी बढ़-बढ़कर कही हुई बातोंका परिणाम ज्ञात होगा ।। १४ ।।

यदुक्तश्च सभामध्ये पुरुषो ह्रस्वदर्शनः ।
क्रुद्धेन भीमसेनेन भ्राता दुःशासनस्तव ।। १५ ।।
अधर्मज्ञो नित्यवैरी पापबुद्धिर्नृशंसकृत् ।
सत्यां प्रतिज्ञामचिराद् द्रक्ष्यसे तां सुयोधन ।। १६ ।।

'सुयोधन! क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने उस क्षुद्र विचारवाले, अधर्मज्ञ, नित्य वैरी, पापबुद्धि और क्रूरकर्मा तेरे भाई दुःशासनके प्रति जो बात कही है, उस प्रतिज्ञाको तू शीघ्र ही सत्य हुई देखेगा ।। १५-१६ ।।

अभिमानस्य दर्पस्य क्रोधपारुष्ययोस्तथा ।
नैष्ठुर्यस्यावलेपस्य आत्मसम्भावनस्य च ।। १७ ।।
नृशंसतायास्तैक्ष्ण्यस्य धर्मविद्वेषणस्य च ।
अधर्मस्यातिवादस्य वृद्धातिक्रमणस्य च ।। १८ ।।
दर्शनस्य च वक्रस्य कृत्स्नस्यापनयस्य च ।
द्रक्ष्यसि त्वं फलं तीव्रमचिरेण सुयोधन ।। १९ ।।

'दुर्योधन! तू अभिमान, दर्प, क्रोध, कटुभाषण, निष्ठुरता, अहंकार, आत्मप्रशंसा, क्रूरता, तीक्ष्णता, धर्मविद्वेष, अधर्म, अतिवाद, वृद्ध पुरुषोंके अपमान तथा टेढ़ी आँखोंसे देखनेका और अपने समस्त अन्याय एवं अत्याचारोंका घोर फल शीघ्र ही देखेगा ।। १७—१९ ।।

वासुदेवद्वितीये हि मयि क्रुद्धे नराधम ।
आशा ते जीविते मूढ राज्ये वा केन हेतुना ।। २० ।।

'मूढ़ नराधम! भगवान् श्रीकृष्णके साथ मेरे कुपित होनेपर तू किस कारणसे जीवन तथा राज्यकी आशा करता है? ।। २० ।।

शान्ते भीष्मे तथा द्रोणे सूतपुत्रे च पातिते ।
निराशो जीविते राज्ये पुत्रेषु च भविष्यसि ।। २१ ।।

'भीष्म, द्रोणाचार्य तथा सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर तू अपने जीवन, राज्य तथा पुत्रोंकी रक्षाकी ओरसे निराश हो जायगा ।। २१ ।।

भ्रातृणां निधनं श्रुत्वा पुत्राणां च सुयोधन ।
भीमसेनेन निहतो दुष्कृतानि स्मरिष्यसि ।। २२ ।।

'सुयोधन! तू अपने भाइयों और पुत्रोंका मरण सुनकर और भीमसेनके हाथसे स्वयं भी मारा जाकर अपने पापोंको याद करेगा ।। २२ ।।

न द्वितीयां प्रतिज्ञां हि प्रतिजानामि कैतव ।
सत्यं ब्रवीम्यहं ह्येतत् सर्वं सत्यं भविष्यति ।। २३ ।।
युधिष्ठिरोऽपि कैतव्यमुलूकमिदमब्रवीत् ।
उलूक मद्वचो ब्रूहि गत्वा तात सुयोधनम् ।। २४ ।।

'शकुनिपुत्र! मैं दूसरी बार प्रतिज्ञा करना नहीं जानता। तुझसे सच्ची बात कहता हूँ। यह सब कुछ सत्य होकर रहेगा।' तत्पश्चात् युधिष्ठिरने भी धूर्त जुआरीके पुत्र उलूकसे इस प्रकार कहा—'वत्स उलूक! तू दुर्योधनके पास जाकर मेरी यह बात कहना — ।। २३-२४ ।।

स्वेन वृत्तेन मे वृत्तं नाधिगन्तुं त्वमर्हसि ।
उभयोरन्तरं वेद सूनृतानृतयोरपि ।। २५ ।।

'सुयोधन! तुझे अपने आचरणके अनुसार ही मेरे आचरणको नहीं समझना चाहिये। मैं दोनोंके बर्तावका तथा सत्य और झूठका भी अन्तर समझता हूँ ।। २५ ।।

न चाहं कामये पापमपि कीटपिपीलयोः ।
किं पुनर्ज्ञातिषु वधं कामयेयं कथंचन ।। २६ ।।

'मैं तो कीड़ों और चींटियोंको भी कष्ट पहुँचाना नहीं चाहता; फिर अपने भाई-बन्धुओं अथवा कुटुम्बी-जनोंके वधकी कामना किसी प्रकार भी कैसे कर सकता हूँ? ।। २६ ।।

एतदर्थं मया तात पञ्च ग्रामा वृताः पुरा ।
कथं तव सुदुर्बुद्धे न प्रेक्षे व्यसनं महत् ।। २७ ।।

'तात! इसीलिये पहले मैंने केवल पाँच ही गाँव माँगे थे। दुर्बुद्धे! मेरे ऐसा करनेका यही उद्देश्य था कि किसी तरह तेरे ऊपर महान् संकट आया हुआ न देखूँ ।। २७ ।।

स त्वं कामपरीतात्मा मूढभावाच्च कत्थसे ।
तथैव वासुदेवस्य न गृह्णासि हितं वचः ।। २८ ।।

'परंतु तेरा मन लोभ और तृष्णामें डूबा हुआ है। तू मूर्खताके कारण अपनी झूठी प्रशंसा करता है और भगवान् श्रीकृष्णके हितकारक वचनको भी नहीं मान रहा है ।। २८ ।।

किं चेदानीं बहूक्तेन युध्यस्व सह बान्धवैः ।

'अब इस समय अधिक कहनेसे क्या लाभ? तू अपने भाई-बन्धुओंके साथ आकर युद्ध कर' ।। २८ ।।

मम विप्रियकर्तारं कैतव्य ब्रूहि कौरवम् ।। २९ ।।
श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत् ते तथास्तु तत् ।

'उलूक! तू मेरा अप्रिय करनेवाले दुर्योधनसे कहना—'तेरा संदेश सुना और उसका अभिप्राय समझ लिया। तेरी जैसी इच्छा है, वैसा ही हो' ।। २९ ।।

भीमसेनस्तता वाक्यं भूय आह नृपात्मजम् ।। ३० ।।
उलूक मद्वचो ब्रूहि दुर्मतिं पापपूरुषम् ।
शठं नैकृतिकं पापं दुराचारं सुयोधनम् ।। ३१ ।।

तदनन्तर भीमसेनने पुनः राजकुमार उलूकसे यह बात कही—'उलूक! तू दुर्बुद्धि, पापात्मा, शठ, कपटी, पापी तथा दुराचारी दुर्योधनसे मेरी यह बात भी कह देना — ।। ३०-३१ ।।

गृध्रोदरे वा वस्तव्यं पुरे वा नागसाह्वये ।
प्रतिज्ञातं मया तच्च सभामध्ये नराधम ।। ३२ ।।
कर्ताहं तद् वचः सत्यं सत्येनैव शपामि ते ।

'नराधम! तुझे या तो मरकर गीधके पेटमें निवास करना चाहिये या हस्तिनापुरमें जाकर छिप जाना चाहिये। मैंने सभामें जो प्रतिज्ञा की है, उसे अवश्य सत्य कर दिखाऊँगा। यह बात मैं सत्यकी ही शपथ खाकर तुझसे कहता हूँ ।। ३२ ।।

दुःशासनस्य रुधिरं हत्वा पास्याम्यहं मृधे ।। ३३ ।।
सक्थिनी तव भङ्क्त्वैव हत्वा हि तव सोदरान् ।
सर्वेषां धार्तराष्ट्राणामहं मृत्युः सुयोधन ।। ३४ ।।

'मैं युद्धमें दुःशासनको मारकर उसका रक्त पीऊँगा और तेरे सारे भाइयोंको मारकर तेरी जाँघें भी तोड़कर ही रहूँगा। सुयोधन! मैं धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंकी मृत्यु हूँ ।। ३३-३४ ।।

सर्वेषां राजपुत्राणामभिमन्युरसंशयम् ।
कर्मणा तोषयिष्यामि भूयश्चैव वचः शृणु ।। ३५ ।।

'इसी प्रकार सारे राजकुमारोंकी मृत्युका कारण अभिमन्यु होगा, इसमें संशय नहीं है। मैं अपने पराक्रमद्वारा तुझे अवश्य संतुष्ट करूँगा। तू मेरी एक बात और सुन ले ।। ३५ ।।

हत्वा सुयोधन त्वां वै सहितं सर्वसोदरैः ।
आक्रमिष्ये पदा मूर्ध्नि धर्मराजस्य पश्यतः ।। ३६ ।।

'सुयोधन! तुझे समस्त भाइयोंसहित मारकर धर्मराज युधिष्ठिरके देखते-देखते तेरे मस्तकको पैरसे कुचल दूँगा' ।। ३६ ।।

नकुलस्तु ततो वाक्यमिदमाह महीपते ।
उलूक ब्रूहि कौरव्यं धार्तराष्ट्रं सुयोधनम् ।। ३७ ।।
श्रुतं ते गदतो वाक्यं सर्वमेव यथातथम् ।
तथा कर्तास्मि कौरव्य यथा त्वमनुशास्सि माम् ।। ३८ ।।

जनमेजय! तत्पश्चात् नकुलने भी इस प्रकार कहा—'उलूक! तू कुरुकुलकलंक धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन-से कहना, तेरी कही हुई सारी बातें मैंने यथार्थरूपसे सुन लीं। कौरव! तू मुझे जैसा उपदेश दे रहा है, उसके अनुसार ही मैं सब कुछ करूँगा' ।। ३७-३८ ।।

सहदेवोऽपि नृपते इदमाह वचोऽर्थवत् ।
सुयोधन मतिर्या ते वृथैषा ते भविष्यति ।। ३९ ।।
शोचिष्यसे महाराज सपुत्रज्ञातिबान्धवः ।
इमं च क्लेशमस्माकं हृष्टो यत् त्वं विकत्थसे ।। ४० ।।

राजन्! तदनन्तर सहदेवने भी यह सार्थक वचन कहा—'महाराज दुर्योधन! आज जो तेरी बुद्धि है, वह व्यर्थ हो जायगी। इस समय हमारे इस महान् क्लेशका जो तू हर्षोत्फुल्ल होकर वर्णन कर रहा है, इसका फल यह होगा कि तू अपने पुत्र, कुटुम्बी तथा बन्धुजनोंसहित शोकमें डूब जायगा' ।। ३९-४० ।।

विराटद्रुपदौ वृद्धावुलूकमिदमूचतुः ।
दासभावं नियच्छेव साधोरिति मतिः सदा ।
तौ च दासावदासौ वा पौरुषं यस्य यादृशम् ।। ४१ ।।

तदनन्तर बूढ़े राजा विराट और द्रुपदने उलूकसे इस प्रकार कहा—'उलूक! तू दुर्योधनसे कहना, राजन्! हम दोनोंका विचार सदा यही रहता है कि हम साधु पुरुषोंके दास हो जायँ। वे दोनों हम विराट और द्रुपद दास हैं या अदास; इसका निर्णय युद्धमें जिसका जैसा पुरुषार्थ होगा, उसे देखकर किया जायगा' ।। ४१ ।।

शिखण्डी तु ततो वाक्यमुलूकमिदमब्रवीत् ।
वक्तव्यो भवता राजा पापेष्वभिरतः सदा ।। ४२ ।।

तत्पश्चात् शिखण्डीने उलूकसे इस प्रकार कहा—'उलूक! सदा पापमें ही तत्पर रहनेवाले अपने राजाके पास जाकर तू इस प्रकार कहना— ।। ४२ ।।

पश्य त्वं मां रणे राजन् कुर्वाणं कर्म दारुणम् ।
यस्य वीर्यं समासाद्य मन्यसे विजयं युधि ।। ४३ ।।
तमहं पातयिष्यामि रथात् तव पितामहम् ।

'राजन्! तुम संग्राममें मुझे भयानक कर्म करते हुए देखना। जिसके पराक्रमका भरोसा करके तुम युद्धमें अपनी विजय हुई मानते हो, तुम्हारे उस पितामहको मैं रथसे मार

गिराऊँगा ।। ४३ ।।

अहं भीष्मवधात् सृष्टो नूनं धात्रा महात्मना ।। ४४ ।।
सोऽहं भीष्मं हनिष्यामि मिषतां सर्वधन्विनाम् ।

'निश्चय ही महामना विधाताने भीष्मके वधके लिये ही मेरी सृष्टि की है। अतः मैं समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते भीष्मको मार डालूँगा' ।। ४४ ।।

धृष्टद्युम्नोऽपि कैतव्यमुलूकमिदमब्रवीत् ।। ४५ ।।
सुयोधनो मम वचो वक्तव्यो नृपतेः सुतः ।
अहं द्रोणं हनिष्यामि सगणं सहबान्धवम् ।। ४६ ।।

इसके बाद धृष्टद्युम्नने भी कितवकुमार उलूकसे यह बात कही—'उलूक! तू राजपुत्र दुर्योधनसे मेरी यह बात कह देना, मैं द्रोणाचार्यको उनके गणों और बन्धु-बान्धवोंसहित मार डालूँगा ।। ४५-४६ ।।

अवश्यं च मया कार्यं पूर्वेषां चरितं महत् ।
कर्ता चाहं तथा कर्म यथा नान्यः करिष्यति ।। ४७ ।।

'मुझे अपने पूर्वजोंके महान् चरित्रका अनुकरण अवश्य करना चाहिये। अतः मैं युद्धमें वह पराक्रम कर दिखाऊँगा, जैसा दूसरा कोई नहीं करेगा' ।। ४७ ।।

तमब्रवीद् धर्मराजः कारुण्यार्थं वचो महत् ।
नाहं ज्ञातिवधं राजन् कामयेयं कथंचन ।। ४८ ।।

तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने करुणावश फिर यह महत्त्वपूर्ण बात कही—'राजन्! मैं किसी प्रकार भी अपने कुटुम्बियोंका वध नहीं कराना चाहता ।। ४८ ।।

तवैव दोषाद् दुर्बुद्धे सर्वमेतत् त्वनावृतम् ।
स गच्छ मा चिरं तात उलूक यदि मन्यसे ।। ४९ ।।
इह वा तिष्ठ भद्रं ते वयं हि तव बान्धवाः ।

'किंतु दुर्बुद्धे! यह सब कुछ तेरे ही दोषसे प्राप्त हुआ है। तात उलूक! तेरी इच्छा हो, तो शीघ्र चला जा। अथवा तेरा कल्याण हो, तू यहीं रह; क्योंकि हम भी तेरे भाई-बन्धु ही हैं' ।। ४९ ।।

उलूकस्तु तो राजन् धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।। ५० ।।
आमन्त्र्य प्रययौ तत्र यत्र राजा सुयोधनः ।

जनमेजय! तदनन्तर उलूक धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे विदा ले जहाँ राजा दुर्योधन था, वहीं चला गया ।। ५० ।।

उलूकस्तत आगम्य दुर्योधनममर्षणम् ।। ५१ ।।
अर्जुनस्य समादेशं यथोक्तं सर्वमब्रवीत् ।
वासुदेवस्य भीमस्य धर्मराजस्य पौरुषम् ।। ५२ ।।

वहाँ आकर उलूकने अमर्षशील दुर्योधनको अर्जुनका सारा संदेश ज्यों-का-त्यों सुना दिया। इसी प्रकार उसने भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन और धर्मराज युधिष्ठिरकी पुरुषार्थभरी बातोंका भी वर्णन किया ।। ५१-५२ ।।

नकुलस्य विराटस्य द्रुपदस्य च भारत ।
सहदेवस्य च वचो धृष्टद्युम्नशिखण्डिनोः ।
केशवार्जुनयोर्वाक्यं यथोक्तं सर्वमब्रवीत् ।। ५३ ।।

भारत! फिर उसने नकुल, सहदेव, विराट, द्रुपद, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके भी सारे वचनोंको ज्यों-का-त्यों कह दिया ।। ५३ ।।

कैतव्यस्य तु तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभः ।
दुःशासनं च कर्णं च शकुनिं चापि भारत ।। ५४ ।।

भारत! उलूकका वह कथन सुनकर भरतश्रेष्ठ दुर्योधनने दुःशासन, कर्ण तथा शकुनिसे कहा— ।। ५४ ।।

आज्ञापयत राज्ञश्च बलं मित्रबलं तथा ।
यथा प्रागुदयात् सर्वे युक्तास्तिष्ठन्त्वनीकिनः ।। ५५ ।।

'बन्धुओ! राजाओं तथा मित्रोंकी सेनाओंको आज्ञा दे दो, जिससे समस्त सैनिक कल सूर्योदयसे पूर्व ही तैयार होकर युद्धके मैदानमें डट जायँ' ।। ५५ ।।

ततः कर्णसमादिष्टा दूताः संत्वरिता रथैः ।
उष्ट्रवामीभिरप्यन्ये सदश्वैश्च महाजवैः ।। ५६ ।।
तूर्णं परिययुः सेनां कृत्स्नां कर्णस्य शासनात् ।
आज्ञापयन्तो राज्ञश्च योगः प्रागुदयादिति ।। ५७ ।।

तत्पश्चात् कर्णके भेजे हुए दूत बड़ी उतावलीके साथ रथों, ऊँट-ऊँटनियों तथा अत्यन्त वेगशाली अच्छे-अच्छे घोड़ोंपर सवार हो तीव्र गतिसे सम्पूर्ण सेनाओंमें गये और कर्णके आदेशके अनुसार सबको राजाकी यह आज्ञा सुनाने लगे कि कल सूर्योदयसे पहले ही युद्धके लिये तैयार हो जाना चाहिये ।। ५६-५७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि उलूकापयाने त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें उलूकके लौट जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६३ ।।

चतु:षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डव-सेनाका युद्धके मैदानमें जाना और धृष्टद्युम्नके द्वारा योद्धाओंकी अपने-अपने योग्य विपक्षियोंके साथ युद्ध करनेके लिये नियुक्ति

संजय उवाच

उलूकस्य वचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
सेनां निर्यापयामास धृष्टद्युम्नपुरोगमाम् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! इधर उलूककी बातें सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भी धृष्टद्युम्नके नेतृत्वमें अपनी सेनाका युद्धके लिये प्रस्थान कराया ।। १ ।।

पदातिनीं नागवतीं रथिनीमश्ववृन्दिनीम् ।
चतुर्विधबलां भीमामकम्प्यां पृथिवीमिव ।। २ ।।

उसमें पैदल, हाथी, रथ और अश्वसमूह भी थे। इस प्रकार वह चतुरंगिणी सेना बड़ी भयंकर और पृथ्वीके समान अविचल थी ।। २ ।।

भीमसेनादिभिर्गुप्तां सार्जुनैश्च महारथैः ।
धृष्टद्युम्नवशां दुर्गां सागरस्तिमितोपमाम् ।। ३ ।।

अर्जुन और भीमसेन आदि महारथी उसकी रक्षा करते थे। वह दुर्गम सेना धृष्टद्युम्नके अधीन थी और प्रशान्त एवं स्थिर समुद्रके समान जान पड़ती थी ।। ३ ।।

तस्यास्त्वग्रे महेष्वासः पाञ्चाल्यो युद्धदुर्मदः ।
द्रोणप्रेप्सुरनीकानि धृष्टद्युम्नो व्यकर्षत ।। ४ ।।

उसके आगे-आगे रणदुर्मद पांचालराजकुमार महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न चल रहे थे, जो सदा आचार्य द्रोणसे युद्ध करनेकी इच्छा रखते थे। वे सारी सेनाको अपने पीछे खींचे लिये जाते थे ।। ४ ।।

यथाबलं यथोत्साहं रथिनः समुपादिशत् ।
अर्जुनं सूतपुत्राय भीमं दुर्योधनाय च ।। ५ ।।

उन्होंने जिस वीरका जैसा बल और उत्साह था, उसका विचार करते हुए अपने रथियोंको योग्य प्रतिपक्षीके साथ युद्ध करनेका आदेश दिया। अर्जुनको सूतपुत्र कर्णका और भीमसेनको दुर्योधनका सामना करनेके लिये नियुक्त किया ।। ५ ।।

धृष्टकेतुं च शल्याय गौतमायोत्तमौजसम् ।
अश्वत्थाम्ने च नकुलं शैब्यं च कृतवर्मणे ।। ६ ।।
सैन्धवाय च वार्ष्णेयं युयुधानं समादिशत् ।

शिखण्डिनं च भीष्माय प्रमुखे समकल्पयत् ।। ७ ।।

धृष्टकेतुको शल्यसे, उत्तमौजाको कृपाचार्यसे, नकुलको अश्वत्थामासे, शैब्यको कृतवर्मासे, वृष्णिवंशी सात्यकिको सिन्धुराज जयद्रथसे और शिखण्डीको भीष्मसे मुख्यतः युद्ध करनेका आदेश दिया ।। ६-७ ।।

सहदेवं शकुनये चेकितानं शलाय वै ।

द्रौपदेयांस्तथा पञ्च त्रिगर्तेभ्यः समादिशत् ।। ८ ।।

सहदेवको शकुनिका, चेकितानको शलका और द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको त्रिगर्तोंका सामना करनेके लिये नियत कर दिया ।। ८ ।।

वृषसेनाय सौभद्रं शेषाणां च महीक्षिताम् ।

स समर्थं हि तं मेने पार्थादभ्यधिकं रणे ।। ९ ।।

कर्णपुत्र वृषसेन तथा शेष राजाओंके साथ युद्ध करने-का काम सुभद्राकुमार अभिमन्युको सौंपा, क्योंकि वे उसे युद्धमें अर्जुनसे भी अधिक शक्तिशाली समझते थे ।। ९ ।।

एवं विभज्य योधांस्तान् पृथक् च सह चैव ह ।

ज्वालावर्णो महेष्वासो द्रोणमंशमकल्पयत् ।। १० ।।

धृष्टद्युम्नो महेष्वासः सेनापतिपतिस्ततः ।

इस प्रकार समस्त योद्धाओंका पृथक्-पृथक् और एक साथ विभाजन करके सेनापतियोंके प्रति प्रज्वलित अग्निके समान कान्तिमान् महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यको अपने हिस्सेमें रखा ।। १० ।।

विधिवद् व्यूह्य मेधावी युद्धाय धृतमानसः ।। ११ ।।

यथोद्दिष्टानि सैन्यानि पाण्डवानामयोजयत् ।

जयाय पाण्डुपुत्राणां यत्तस्तस्थौ रणाजिरे ।। १२ ।।

उनके मनमें युद्धके लिये दृढ निश्चय था। मेधावी धृष्टद्युम्नने पाण्डवोंकी पूर्वोक्त सेनाओंकी विधिपूर्वक व्यूहरचना करके उन सबको युद्धके लिये नियुक्त किया। तत्पश्चात् वे पाण्डवोंकी विजयके लिये संनद्ध होकर समरांगणमें खड़े हुए ।। ११-१२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि सेनापतिनियोगे चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें सेनापतिके द्वारा सैनिकोंकी युद्धमें नियुक्तिविषयक एक सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६४ ।।

पाण्डवोंकी विशाल सेना

(रथातिरथसंख्यानपर्व)

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके पूछनेपर भीष्मका कौरवपक्षके रथियों और अतिरथियोंका परिचय देना

धृतराष्ट्र उवाच

प्रतिज्ञाते फाल्गुनेन वधे भीष्मस्य संयुगे ।
किमकुर्वत मे मन्दाः पुत्रा दुर्योधनादयः ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! जब अर्जुनने युद्धभूमिमें भीष्मका वध करनेकी प्रतिज्ञा कर ली, तब दुर्योधन आदि मेरे मूर्ख पुत्रोंने क्या किया? ।। १ ।।

हतमेव हि पश्यामि गाङ्गेयं पितरं रणे ।
वासुदेवसहायेन पार्थेन दृढधन्वना ।। २ ।।

अर्जुन सुदृढ़ धनुष धारण करते हैं। इसके सिवा भगवान् श्रीकृष्ण उनके सहायक हैं; अतः मैं रणभूमिमें अपने पिता गंगानन्दन भीष्मको उनके द्वारा मारा गया ही मानता हूँ ।। २ ।।

स चापरिमितप्रज्ञस्तच्छ्रुत्वा पार्थभाषितम् ।
किमुक्तवान् महेष्वासो भीष्मः प्रहरतां वरः ।। ३ ।।

अर्जुनकी उस प्रतिज्ञाको सुनकर अमित बुद्धिमान् योद्धाओंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर भीष्मने क्या कहा? ।। ३ ।।

सैनापत्यं च सम्प्राप्य कौरवाणां धुरन्धरः ।
किमचेष्टत गाङ्गेयो महाबुद्धिपराक्रमः ।। ४ ।।

कौरवकुलका भार वहन करनेवाले परम बुद्धिमान् और पराक्रमी गंगापुत्र भीष्मने सेनापतिका पद प्राप्त करनेके पश्चात् युद्धके लिये कौन-सी चेष्टा की? ।। ४ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत् संजयस्तस्मै सर्वमेव न्यवेदयत् ।
यथोक्तं कुरुवृद्धेन भीष्मेणामिततेजसा ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर संजयने अमिततेजस्वी कुरुवृद्ध भीष्मने जैसा कहा था, वह सब कुछ राजा धृतराष्ट्रको बताया ।। ५ ।।

संजय उवाच

सैनापत्यमनुप्राप्य भीष्मः शान्तनवो नृप ।
दुर्योधनमुवाचेदं वचनं हर्षयन्निव ।। ६ ।।

संजय बोले—नरेश्वर! सेनापतिका पद प्राप्त करके शान्तनुनन्दन भीष्मने दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए-से उससे यह बात कही— ।। ६ ।।

नमस्कृत्य कुमाराय सेनान्ये शक्तिपाणये ।
अहं सेनापतिस्तेऽद्य भविष्यामि न संशयः ।। ७ ।।

'राजन्! मैं हाथमें शक्ति धारण करनेवाले देवसेनापति कुमार कार्तिकेयको नमस्कार करके अब तुम्हारी सेनाका अधिपति होऊँगा, इसमें संशय नहीं है ।। ७ ।।

सेनाकर्मण्यभिज्ञोऽस्मि व्यूहेषु विविधेषु च ।
कर्म कारयितुं चैव भृतानप्यभृतांस्तथा ।। ८ ।।

'मुझे सेनासम्बन्धी प्रत्येक कर्मका ज्ञान है। मैं नाना प्रकारके व्यूहोंके निर्माणमें भी कुशल हूँ। तुम्हारी सेनामें जो वेतनभोगी अथवा वेतन न लेनेवाले मित्रसेनाके सैनिक हैं, उन सबसे यथायोग्य काम करा लेनेकी भी कला मुझे ज्ञात है ।। ८ ।।

यात्रायाने च युद्धे च तथा प्रशमनेषु च ।
भृशं वेद महाराज यथा वेद बृहस्पतिः ।। ९ ।।

'महाराज! मैं युद्धके लिये यात्रा करने, युद्ध करने तथा विपक्षीके चलाये हुए अस्त्रोंका प्रतीकार करनेके विषयमें जैसा बृहस्पति जानते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण आवश्यक बातोंकी विशेष जानकारी रखता हूँ ।। ९ ।।

व्यूहानां च समारम्भान् दैवगान्धर्वमानुषान् ।
तैरहं मोहयिष्यामि पाण्डवान् व्येतु ते ज्वरः ।। १० ।।

'मुझे देवता, गन्धर्व और मनुष्य—तीनोंकी ही व्यूहरचनाका ज्ञान है। उनके द्वारा मैं पाण्डवोंको मोहित कर दूँगा। अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ।। १० ।।

सोऽहं योत्स्यामि तत्त्वेन पालयंस्तव वाहिनीम् ।
यथावच्छास्त्रतो राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ।। ११ ।।

'राजन्! मैं तुम्हारी सेनाकी रक्षा करता हुआ शास्त्रीय विधानके अनुसार यथार्थरूपसे पाण्डवोंके साथ युद्ध करूँगा। अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जाय' ।। ११ ।।

दुर्योधन उवाच

विद्यते मे न गाङ्गेय भयं देवासुरेष्वपि ।
समस्तेषु महाबाहो सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। १२ ।।

दुर्योधन बोला—महाबाहु गंगानन्दन! मैं आपसे सत्य कहता हूँ, मुझे सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंसे भी कभी भय नहीं होता है ।। १२ ।।

किं पुनस्त्वयि दुर्धर्षे सैनापत्ये व्यवस्थिते ।
द्रोणे च पुरुषव्याघ्रे स्थिते युद्धाभिनन्दिनि ।। १३ ।।

फिर जब आप-जैसे दुर्धर्ष वीर हमारे सेनापतिके पदपर स्थित हैं तथा युद्धका अभिनन्दन करनेवाले पुरुष-सिंह द्रोणाचार्य-जैसे योद्धा मेरे लिये युद्धभूमिमें उपस्थित हैं, तब तो मुझे भय हो ही कैसे सकता है? ।। १३ ।।

भवद्भ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां स्थिताभ्यां विजये मम ।
न दुर्लभं कुरुश्रेष्ठ देवराज्यमपि ध्रुवम् ।। १४ ।।

कुरुश्रेष्ठ! जब आप दोनों पुरुषप्रवर वीर मेरी विजयके लिये यहाँ खड़े हैं, तब तो अवश्य ही मेरे लिये देवताओंका राज्य भी दुर्लभ नहीं है ।। १४ ।।

रथसंख्यां तु कार्त्स्न्येन परेषामात्मनस्तथा ।
तथैवातिरथानां च वेत्तुमिच्छामि कौरव ।। १५ ।।
पितामहो हि कुशलः परेषामात्मनस्तथा ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वैः सहैभिर्वसुधाधिपैः ।। १६ ।।

कुरुनन्दन! आप शत्रुओंके तथा अपने पक्षके रथियों और अतिरथियोंकी संख्याको पूर्णरूपसे जानते हैं, अतः मैं भी आपसे इस विषयकी जानकारी प्राप्त करना चाहता हूँ; क्योंकि पितामह शत्रुपक्ष तथा अपने पक्षकी सभी बातोंके ज्ञानमें निपुण हैं, अतः मैं इन सब राजाओंके साथ आपके मुँहसे इस विषयको सुनना चाहता हूँ ।। १५-१६ ।।

भीष्म उवाच

गान्धारे शृणु राजेन्द्र रथसंख्यां स्वके बले ।
ये रथाः पृथिवीपाल तथैवातिरथाश्च ये ।। १७ ।।

भीष्म बोले—राजेन्द्र गान्धारीनन्दन! तुम अपनी सेनाके रथियोंकी संख्या श्रवण करो। भूपाल! तुम्हारी सेनामें जो रथी और अतिरथी हैं, उन सबका वर्णन करता हूँ ।। १७ ।।

बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
रथानां तव सेनायां यथामुख्यं तु मे शृणु ।। १८ ।।

तुम्हारी सेनामें रथियोंकी संख्या अनेक सहस्र, लक्ष और अर्बुदों (करोड़ों)-तक पहुँच जाती है; तथापि उनमें जो प्रधान-प्रधान हैं, उनके नाम मुझसे सुनो ।। १८ ।।

भवानग्रे रथोदारः सह सर्वैः सहोदरैः ।
दुःशासनप्रभृतिभिर्भ्रातृभिः शतसम्मितैः ।। १९ ।।

सबसे पहले अपने दुःशासन आदि सौ सहोदर भाइयोंके साथ तुम्हीं बहुत बड़े उदार रथी हो ।। १९ ।।

सर्वे कृतप्रहरणाश्छेदभेदविशारदाः ।

रथोपस्थे गजस्कन्धे गदाप्रासासिचर्मणि ।। २० ।।

तुम सब लोग अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा छेदन-भेदनमें कुशल हो। रथपर और हाथीकी पीठपर बैठकर भी युद्ध कर सकते हो। गदा, प्रास तथा ढाल-तलवारके प्रयोगमें भी कुशल हो ।। २० ।।

संयन्तारः प्रहर्तारः कृतास्त्रा भारसाधनाः ।
इष्वस्त्रे द्रोणशिष्याश्च कृपस्य च शरद्वतः ।। २१ ।।

तुमलोग रथके संचालन और अस्त्रोंके प्रहारमें भी निपुण हो। अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा भार उठानेमें भी समर्थ हो। धनुष-बाणकी विद्यामें तो तुमलोग द्रोणाचार्य और कृपाचार्यके सुयोग्य शिष्य हो ।। २१ ।।

एते हनिष्यन्ति रणे पञ्चालान् युद्धदुर्मदान् ।
कृतकिल्बिषाः पाण्डवेयैर्धार्तराष्ट्रा मनस्विनः ।। २२ ।।

धृतराष्ट्रके ये सभी मनस्वी पुत्र पाण्डवोंके साथ वैर बाँधे हुए हैं; अतः युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले पांचाल योद्धाओंको ये समरभूमिमें मार डालेंगे ।। २२ ।।

तथाहं भरतश्रेष्ठ सर्वसेनापतिस्तव ।
शत्रून् विध्वंसयिष्यामि कदर्थीकृत्य पाण्डवान् ।। २३ ।।

भरतश्रेष्ठ! मैं तो तुम्हारी सम्पूर्ण सेनाका प्रधान सेनापति ही हूँ; अतः पाण्डवोंको कष्ट देकर शत्रुसेनाके सैनिकोंका संहार करूँगा ।। २३ ।।

न त्वात्मनो गुणान् वक्तुमर्हामि विदितोऽस्मि ते ।
कृतवर्मा त्वतिरथो भोजः शस्त्रभृतां वरः ।। २४ ।।

मैं अपने मुँहसे अपने ही गुणोंका बखान करना उचित नहीं समझता। तुम तो मुझे जानते ही हो। शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भोजवंशी कृतवर्मा तुम्हारे दलमें अतिरथी वीर हैं ।। २४ ।।

अर्थसिद्धिं तव रणे करिष्यति न संशयः ।
शस्त्रविद्भिरनाधृष्यो दूरपाती दृढायुधः ।। २५ ।।
हनिष्यति चमूं तेषां महेन्द्रो दानवानिव ।

ये युद्धमें तुम्हारे अभीष्ट अर्थकी सिद्धि करेंगे। इसमें संशय नहीं है। बड़े-बड़े शस्त्रवेत्ता भी इन्हें परास्त नहीं कर सकते। इनके आयुध अत्यन्त दृढ़ हैं और ये दूरके लक्ष्यको भी मार गिरानेमें समर्थ हैं। जैसे देवराज इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार ये भी पाण्डवोंकी सेनाका विनाश करेंगे ।। २५ ।।

मद्रराजो हेष्वासः शल्यो मेऽतिरथो मतः ।। २६ ।।
स्पर्धते वासुदेवेन नित्यं यो वै रणे रणे ।

महाधनुर्धर मद्रराज शल्यको भी मैं अतिरथी मानता हूँ, जो प्रत्येक युद्धमें सदा भगवान् श्रीकृष्णके साथ स्पर्धा रखते हैं ।। २६ ।।

भागिनेयान् निजांस्त्यक्त्वा शल्यस्तेऽतिरथो मतः ।
एष योत्स्यति संग्रामे पाण्डवांश्च महारथान् ।। २७ ।।
सागरोर्मिसमैर्बाणैः प्लावयन्निव शात्रवान् ।

ये अपने सगे भानजों नकुल-सहदेवको छोड़कर अन्य सभी पाण्डव महारथियोंसे समरभूमिमें युद्ध करेंगे। तुम्हारी सेनाके इन वीरशिरोमणि शल्यको मैं अतिरथी ही समझता हूँ। ये समुद्रकी लहरोंके समान अपने बाणोंद्वारा शत्रुपक्षके सैनिकोंको डुबाते हुए-से युद्ध करेंगे ।। २७ ।।

भीष्म-दुर्योधन-संवाद

भूरिश्रवाः कृतास्त्रश्च तव चापि हितः सुहृत् ।। २८ ।।

सौमदत्तिर्महेष्वासो रथयूथपयूथपः ।
बलक्षयममित्राणां सुमहान्तं करिष्यति ।। २९ ।।

सोमदत्तके पुत्र महाधनुर्धर भूरिश्रवा भी अस्त्र-विद्याके पण्डित और तुम्हारे हितैषी सुहृद् हैं। ये रथियोंके यूथपतियोंके भी यूथपति हैं, अतः तुम्हारे शत्रुओंकी सेनाका महान् संहार करेंगे ।। २८-२९ ।।

सिन्धुराजो महाराज मतो मे द्विगुणो रथः ।
योत्स्यते समरे राजन् विक्रान्तो रथसत्तमः ।। ३० ।।

महाराज! सिन्धुराज जयद्रथको मैं दो रथियोंके बराबर समझता हूँ। ये बड़े पराक्रमी तथा रथी योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं। राजन्! ये भी समरांगणमें पाण्डवोंके साथ युद्ध करेंगे ।। ३० ।।

द्रौपदीहरणे राजन् परिक्लिष्टश्च पाण्डवैः ।
संस्मरंस्तं परिक्लेशं योत्स्यते परवीरहा ।। ३१ ।।

नरेश्वर! द्रौपदीहरणके समय पाण्डवोंने इन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया था। उस महान् क्लेशको याद करके शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले जयद्रथ अवश्य युद्ध करेंगे ।। ३१ ।।

एतेन हि तदा राजंस्तप आस्थाय दारुणम् ।
सुदुर्लभो वरो लब्धः पाण्डवान् योद्धुमाहवे ।। ३२ ।।

राजन्! उस समय इन्होंने कठोर तपस्या करके युद्धमें पाण्डवोंसे मुठभेड़ कर सकनेका अत्यन्त दुर्लभ वर प्राप्त किया था ।। ३२ ।।

स एष रथशार्दूलस्तद् वैरं संस्मरन् रणे ।
योत्स्यते पाण्डवैस्तात प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ।। ३३ ।।

तात! ये रथियोंमें श्रेष्ठ जयद्रथ युद्धमें उस पुराने वैरको याद करके अपने दुस्त्यज प्राणोंकी भी बाजी लगाकर पाण्डवोंके साथ संग्राम करेंगे ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६५ ।।

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके रथियोंका परिचय

भीष्म उवाच

सुदक्षिणस्तु काम्बोजो रथ एकगुणो मतः ।
तवार्थसिद्धिमाकाङ्क्षन् योत्स्यते समरे परैः ।। १ ।।

भीष्मने कहा—राजन्! काम्बोजदेशके राजा सुदक्षिण एक रथी माने गये हैं। ये तुम्हारे कार्यकी सिद्धि चाहते हुए समरांगणमें शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ।। १ ।।

एतस्य रथसिंहस्य तवार्थे राजसत्तम ।
पराक्रमं यथेन्द्रस्य द्रक्ष्यन्ति कुरवो युधि ।। २ ।।

नृपश्रेष्ठ! रथियोंमें सिंहके समान पराक्रमी ये काम्बोजराज तुम्हारे लिये युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रम प्रकट करेंगे और समस्त कौरव इनके पराक्रमको देखेंगे ।। २ ।।

एतस्य रथवंशे हि तिग्मवेगप्रहारिणः ।
काम्बोजानां महाराज शलभानामिवायतिः ।। ३ ।।

महाराज! प्रचण्ड वेगसे प्रहार करनेवाले इन काम्बोजनरेशके रथियोंके समुदायमें काम्बोजदेशीय सैनिकोंकी श्रेणी टिड्डियोंके दल-सी दृष्टिगोचर होती है ।।

नीलो माहिष्मतीवासी नीलवर्मा रथस्तव ।
रथवंशेन कदनं शत्रूणां वै करिष्यति ।। ४ ।।

माहिष्मतीपुरीके निवासी राजा नील भी तुम्हारे दलके एक रथी हैं। इन्होंने नीले रंगका कवच पहन रखा है। ये अपने रथसमूहद्वारा शत्रुओंका संहार कर डालेंगे ।।

कृतवैरः पुरा चैव सहदेवेन मारिष ।
योत्स्यते सततं राजंस्तवार्थे कुरुनन्दन ।। ५ ।।

कुरुनन्दन! पूर्वकालमें सहदेवके साथ इनकी शत्रुता हो गयी थी। राजन्! ये सदा तुम्हारे शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ।। ५ ।।

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ संमतौ रथसत्तमौ ।
कृतिनौ समरे तात दृढवीर्यपराक्रमौ ।। ६ ।।

अवन्तीदेशके दोनों वीर राजकुमार विन्द और अनुविन्द श्रेष्ठ रथी माने गये हैं। तात! वे युद्धकलाके पण्डित तथा सुदृढ़ बल एवं पराक्रमसे सम्पन्न हैं ।। ६ ।।

एतौ तौ पुरुषव्याघ्रौ रिपुसैन्यं प्रधक्ष्यतः ।
गदाप्रासासिनाराचैस्तोमरैश्च करच्युतैः ।। ७ ।।

ये दोनों पुरुषसिंह अपने हाथसे छूटे हुए गदा, प्रास, खड्ग, नाराच तथा तोमरोंद्वारा शत्रुसेनाको दग्ध कर डालेंगे ।। ७ ।।

युद्धाभिकामौ समरे क्रीडन्ताविव यूथपौ ।
यूथमध्ये महाराज विचरन्तौ कृतान्तवत् ।। ८ ।।

महाराज! जैसे दो यूथपति गजराज हाथियोंके झुंडमें खेल-सा करते हुए विचरते हैं, उसी प्रकार युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले विन्द और अनुविन्द समरांगणमें यमराजके समान विचरण करते हैं ।। ८ ।।

त्रिगर्ता भ्रातरः पञ्च रथोदारा मता मम ।
कृतवैराश्च पार्थैस्ते विराटनगरे तदा ।। ९ ।।

त्रिगर्तदेशीय पाँचों भ्राताओंको मैं उदार रथी मानता हूँ। विराटनगरमें दक्षिणगोग्रहके युद्धके समय चार पाण्डवोंके साथ इनका वैर बढ़ गया था ।। ९ ।।

मकरा इव राजेन्द्र समुद्धततरङ्गिणीम् ।
गङ्गां विक्षोभयिष्यन्ति पार्थानां युधि वाहिनीम् ।। १० ।।

राजेन्द्र! जैसे ग्राहगण उत्ताल तरंगोंवाली गंगाको मथ डालते हैं, उसी प्रकार ये त्रिगर्तदेशीय पाँचों क्षत्रिय वीर पाण्डवोंकी सेनामें हलचल मचा देंगे ।। १० ।।

ते रथाः पञ्च राजेन्द्र येषां सत्यरथो मुखम् ।
एते योत्स्यन्ति संग्रामे संस्मरन्तः पुराकृतम् ।। ११ ।।
व्यलीकं पाण्डवेयेन भीमसेनानुजेन ह ।
दिशो विजयता राजन् श्वेतवाहेन भारत ।। १२ ।।

महाराज! ये पाँचों भाई रथी हैं और सत्यरथ उनमें प्रधान है। भारत! भीमसेनके छोटे भाई श्वेत घोड़ोंवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने दिग्विजयके समय जो त्रिगर्तोंका अप्रिय किया था, उस पहलेके वैरको याद रखते हुए ये पाँचों वीर संग्रामभूमिमें मन लगाकर युद्ध करेंगे ।। ११-१२ ।।

ते हनिष्यन्ति पार्थानां तानासाद्य महारथान् ।
वरान् वरान् महेष्वासान् क्षत्रियाणां धुरन्धरान् ।। १३ ।।

ये पाण्डवोंके बड़े-बड़े महारथियोंके पास जा उन महाधनुर्धर क्षत्रियशिरोमणि वीरोंका संहार कर डालेंगे ।।

लक्ष्मणस्तव पुत्रश्च तथा दुःशासनस्य च ।
उभौ तौ पुरुषव्याघ्रौ संग्रामेष्वपलायिनौ ।। १४ ।।

तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण और दुःशासनका पुत्र—ये दोनों पुरुषसिंह युद्धसे पलायन करनेवाले नहीं हैं ।। १४ ।।

तरुणौ सुकुमारौ च राजपुत्रौ तरस्विनौ ।
युद्धानां च विशेषज्ञौ प्रणेतारौ च सर्वशः ।। १५ ।।

ये दोनों तरुण और सुकुमार राजपुत्र बड़े वेगशाली हैं, अनेक युद्धोंके विशेषज्ञ हैं और सब प्रकारसे सेनानायक होनेयोग्य हैं ।। १५ ।।

रथौ तौ कुरुशार्दूल मतौ मे रथसत्तमौ ।
क्षत्रधर्मरतौ वीरौ महत् कर्म करिष्यतः ।। १६ ।।

कुरुश्रेष्ठ! ये दोनों वीर रथी तो हैं ही, रथियोंमें श्रेष्ठ भी हैं। ये क्षत्रियधर्ममें तत्पर होकर युद्धमें महान् पराक्रम करेंगे ।। १६ ।।

दण्डधारो महाराज रथ एको नरर्षभ ।
योत्स्यते तव संग्रामे स्वेन सैन्येन पालितः ।। १७ ।।

महाराज! नरश्रेष्ठ! अपनी सेनामें दण्डधार भी एक रथी हैं, जो तुम्हारे लिये संग्राममें अपनी सेनासे सुरक्षित होकर लड़ेंगे ।। १७ ।।

बृहद्बलस्तथा राजा कौसल्यो रथसत्तमः ।
रथो मम मतस्तात महावेगपराक्रमः ।। १८ ।।

तात! महान् वेग और पराक्रमसे सम्पन्न कोसलदेशके राजा बृहद्बल भी मेरी दृष्टिमें एक रथी हैं और रथियोंमें इनका स्थान बहुत ऊँचा है ।। १८ ।।

एष योत्स्यति संग्रामे स्वान् बन्धून् सम्प्रहर्षयन् ।
उग्रायुधो महेष्वासो धार्तराष्ट्रहिते रतः ।। १९ ।।

ये धृतराष्ट्रपुत्रोंके हितमें तत्पर हो भयंकर अस्त्र-शस्त्र तथा महान् धनुष धारण किये अपने बन्धुओंका हर्ष बढ़ाते हुए समरांगणमें बड़े उत्साहसे युद्ध करेंगे ।। १९ ।।

कृपः शारद्वतो राजन् रथयूथपयूथपः ।
प्रियान् प्राणान् परित्यज्य प्रधक्ष्यति रिपूंस्तव ।। २० ।।

राजन्! शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य तो रथयूथपतियोंके भी यूथपति हैं। ये अपने प्यारे प्राणोंकी परवा न करके तुम्हारे शत्रुओंको जला डालेंगे ।। २० ।।

गौतमस्य महर्षेर्य आचार्यस्य शरद्वतः ।
कार्तिकेय इवाजेयः शरस्तम्बात् सुतोऽभवत् ।। २१ ।।

गौतमवंशी महर्षि आचार्य शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य कार्तिकेयकी भाँति सरकण्डोंसे उत्पन्न हुए हैं और उन्हींकी भाँति अजेय भी हैं ।। २१ ।।

एष सेनाः सुबहुला विविधायुधकार्मुकाः ।
अग्निवत् समरे तात चरिष्यति विनिर्दहन् ।। २२ ।।

तात! ये नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं धनुष धारण करनेवाली बहुत-सी सेनाओंको अग्निके समान दग्ध करते हुए समरभूमिमें विचरण करेंगे ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि
षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६६ ।।

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके रथी, महारथी और अतिरथियोंका वर्णन

भीष्म उवाच

शकुनिर्मातुलस्तेऽसौ रथ एको नराधिप ।
प्रयुज्य पाण्डवैर्वैरं योत्स्यते नात्र संशयः ।। १ ।।

भीष्मने कहा—नरेश्वर! यह तुम्हारा मामा शकुनि भी एक रथी है। यह पाण्डवोंसे वैर बाँधकर युद्ध करेगा, इसमें संशय नहीं है ।। १ ।।

एतस्य सेना दुर्धर्षा समरे प्रतियायिनः ।
विकृतायुधभूयिष्ठा वायुवेगसमा जवे ।। २ ।।

युद्धमें डटकर शत्रुओंका सामना करनेवाले इस शकुनिकी सेना दुर्धर्ष है। इसका वेग वायुके समान है तथा यह विविध आकारवाले अनेक आयुधोंसे विभूषित है ।। २ ।।

द्रोणपुत्रो महेष्वासः सर्वानेवाति धन्विनः ।
समरे चित्रयोधी च दृढास्त्रश्च महारथः ।। ३ ।।

महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तो सभी धनुर्धरोंसे बढ़कर है। वह युद्धमें विचित्र ढंगसे शत्रुओंका सामना करनेवाला, सुदृढ़ अस्त्रोंसे सम्पन्न तथा महारथी है ।। ३ ।।

एतस्य हि महाराज यथा गाण्डीवधन्वनः ।
शरासनविनिर्मुक्ताः संसक्ता यान्ति सायकाः ।। ४ ।।

महाराज! गाण्डीवधारी अर्जुनकी भाँति इसके धनुषसे एक साथ छूटे हुए बहुत-से बाण भी परस्पर सटे हुए ही लक्ष्यतक पहुँचते हैं ।। ४ ।।

नैष शक्यो मया वीरः संख्यातुं रथसत्तमः ।
निर्दहेदपि लोकांस्त्रीनिच्छन्नेष महारथः ।। ५ ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ इस वीर पुरुषके महत्त्वकी गणना नहीं की जा सकती। यह महारथी चाहे, तो तीनों लोकोंको दग्ध कर सकता है ।। ५ ।।

क्रोधस्तेजश्च तपसा सम्भृतोऽऽश्रमवासिनाम् ।
द्रोणेनानुगृहीतश्च दिव्यैरस्त्रैरुदारधीः ।। ६ ।।

इसमें क्रोध है, तेज है और आश्रमवासी महर्षियोंके योग्य तपस्या भी संचित है। इसकी बुद्धि उदार है। द्रोणाचार्यने सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंका ज्ञान देकर इसपर महान् अनुग्रह किया है ।। ६ ।।

दोषस्त्वस्य महानेको येनैव भरतर्षभ ।
न मे रथो नातिरथो मतः पार्थिवसत्तम ।। ७ ।।

किंतु भरतश्रेष्ठ! नृपशिरोमणे! इसमें एक ही बहुत बड़ा दोष है, जिससे मैं इसे न तो अतिरथी मानता हूँ और न रथी ही ।। ७ ।।

जीवितं प्रियमत्यर्थमायुष्कामः सदा द्विजः ।
न ह्यस्य सदृशः कश्चिदुभयोः सेनयोरपि ।। ८ ।।

इस ब्राह्मणको अपना जीवन बहुत प्रिय है, अतः यह सदा दीर्घायु बना रहना चाहता है (यही इसका दोष है)। अन्यथा दोनों सेनाओंमें इसके समान शक्तिशाली कोई नहीं है ।। ८ ।।

हन्यादेकरथेनैव देवानामपि वाहिनीम् ।
वपुष्मांस्तलघोषेण स्फोटयेदपि पर्वतान् ।। ९ ।।

यह एकमात्र रथका सहारा लेकर देवताओंकी सेनाका भी संहार कर सकता है। इसका शरीर हृष्ट-पुष्ट एवं विशाल है। यह अपनी तालीकी आवाजसे पर्वतोंको भी विदीर्ण कर सकता है ।। ९ ।।

असंख्येयगुणो वीरः प्रहर्ता दारुणद्युतिः ।
दण्डपाणिरिवासह्यः कालवत् प्रचरिष्यति ।। १० ।।

इस वीरमें असंख्य गुण हैं। यह प्रहार करनेमें कुशल और भयंकर तेजसे सम्पन्न है; अतः दण्डधारी कालके समान असह्य होकर युद्धभूमिमें विचरण करेगा ।। १० ।।

युगान्ताग्निसमः क्रोधात् सिंहग्रीवो महाद्युतिः ।
एष भारतयुद्धस्य पृष्ठं संशमयिष्यति ।। ११ ।।

क्रोधमें यह प्रलयकालकी अग्निके समान जान पड़ता है। इसकी ग्रीवा सिंहके समान है। यह महातेजस्वी अश्वत्थामा महाभारत-युद्धके शेषभागका शमन करेगा ।। ११ ।।

पिता त्वस्य महातेजा वृद्धोऽपि युवभिर्वरः ।
रणे कर्म महत् कर्ता अत्र मे नास्ति संशयः ।। १२ ।।

अश्वत्थामाके पिता द्रोणाचार्य महान् तेजस्वी हैं। ये बूढ़े होनेपर भी नवयुवकोंसे अच्छे हैं। इस युद्धमें ये अपना महान् पराक्रम प्रकट करेंगे, इसमें मुझे संशय नहीं है ।। १२ ।।

अस्त्रवेगानिलोद्धूतः सेनाकक्षेन्धनोत्थितः ।
पाण्डुपुत्रस्य सैन्यानि प्रधक्ष्यति रणे धृतः ।। १३ ।।

समरभूमिमें डटे हुए द्रोणाचार्य अग्निके समान हैं। अस्त्रवेगरूपी वायुका सहारा पाकर ये उद्दीप्त होंगे और सेनारूपी घास-फूस तथा ईंधनोंको पाकर प्रज्वलित हो उठेंगे। इस प्रकार ये प्रज्वलित होकर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी सेनाओंको जलाकर भस्म कर डालेंगे ।। १३ ।।

रथयूथपयूथानां यूथपोऽयं नरर्षभः ।
भारद्वाजात्मजः कर्ता कर्म तीव्रं हितं तव ।। १४ ।।

ये नरश्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन रथयूथपतियोंके समुदायके भी यूथपति हैं। ये तुम्हारे हितके लिये तीव्र पराक्रम प्रकट करेंगे ।। १४ ।।

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामाचार्यः स्थविरो गुरुः ।
गच्छेदन्तं सृंजयानां प्रियस्त्वस्य धनंजयः ।। १५ ।।

सम्पूर्ण मूर्धाभिषिक्त राजाओंके ये आचार्य एवं वृद्ध गुरु हैं। ये सृंजयवंशी क्षत्रियोंका विनाश कर डालेंगे; परंतु अर्जुन इन्हें बहुत प्रिय हैं ।। १५ ।।

नैष जातु महेष्वासः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ।
हन्यादाचार्यकं दीप्तं संस्मृत्य गुणनिर्जितम् ।। १६ ।।

महाधनुर्धर द्रोणाचार्यका समुज्ज्वल आचार्यभाव अर्जुनके गुणोंद्वारा जीत लिया गया है। उसका स्मरण करके ये अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीपुत्र अर्जुनको कदापि नहीं मारेंगे ।। १६ ।।

श्लाघतेऽयं सदा वीर पार्थस्य गुणविस्तरैः ।
पुत्रादभ्यधिकं चैनं भारद्वाजोऽनुपश्यति ।। १७ ।।

वीर! ये आचार्य द्रोण अर्जुनके गुणोंका विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हुए सदा उनकी प्रशंसा करते हैं और उन्हें पुत्रसे भी अधिक प्रिय मानते हैं ।। १७ ।।

हन्यादेकरथेनैव देवगन्धर्वमानुषान् ।
एकीभूतानपि रणे दिव्यैरस्त्रैः प्रतापवान् ।। १८ ।।

प्रतापी द्रोणाचार्य एकमात्र रथका ही आश्रय ले रणभूमिमें एकत्र एवं एकीभूत हुए सम्पूर्ण देवताओं, गन्धर्वों और मनुष्योंको अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा नष्ट कर सकते हैं ।।

पौरवो राजशार्दूलस्तव राजन् महारथः ।
मतो मम रथोदारः परवीररथारुजः ।। १९ ।।

राजन्! तुम्हारी सेनामें जो नृपश्रेष्ठ पौरव हैं, वे मेरे मतमें रथियोंमें उदार महारथी हैं। वे विपक्षके वीर रथियोंको पीड़ा देनेमें समर्थ हैं ।। १९ ।।

स्वेन सैन्येन महता प्रतपन् शत्रुवाहिनीम् ।
प्रधक्ष्यति स पञ्चालान् कक्षमग्निगतिर्यथा ।। २० ।।

राजा पौरव अपनी विशाल सेनाके द्वारा शत्रुवाहिनीको संतप्त करते हुए पांचालोंको उसी प्रकार भस्म कर डालेंगे, जैसे आग घास-फूसको ।। २० ।।

सत्यश्रवा रथस्त्वेको राजपुत्रो बृहद्बलः ।
तव राजन् रिपुबले कालवत् प्रचरिष्यति ।। २१ ।।

राजन्! राजकुमार बृहद्बल भी एक रथी हैं। संसारमें उनकी सच्ची कीर्तिका विस्तार हुआ है। वे तुम्हारे शत्रुओंकी सेनामें कालके समान विचरेंगे ।। २१ ।।

एतस्य योधा राजेन्द्र विचित्रकवचायुधाः ।
विचरिष्यन्ति संग्रामे निघ्नन्तः शात्रवांस्तव ।। २२ ।।

राजेन्द्र! उनके सैनिक विचित्र कवच और अस्त्र-शस्त्र धारण करके तुम्हारे शत्रुओंका संहार करते हुए संग्राममभूमिमें विचरण करेंगे ।। २२ ।।

वृषसेनो रथस्तेऽग्र्यः कर्णपुत्रो महारथः ।
प्रधक्ष्यति रिपूणां ते बलं तु बलिनां वरः ।। २३ ।।

कर्णका पुत्र वृषसेन भी तुम्हारी सेनाका एक श्रेष्ठ रथी है। इसे महारथी भी कह सकते हैं। बलवानोंमें श्रेष्ठ वृषसेन तुम्हारे वैरियोंकी विशाल वाहिनीको भस्म कर डालेगा ।। २३ ।।

जलसंधो महातेजा राजन् रथवरस्तव ।
त्यक्ष्यते समरे प्राणान् माधवः परवीरहा ।। २४ ।।

राजन्! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले मधुवंशी महातेजस्वी जलसंध तुम्हारी सेनामें श्रेष्ठ रथी हैं। ये तुम्हारे लिये युद्धमें अपने प्राणतक दे डालेंगे ।। २४ ।।

एष योत्स्यति संग्रामे गजस्कन्धविशारदः ।
रथेन वा महाबाहुः क्षपयन् शत्रुवाहिनीम् ।। २५ ।।

महाबाहु जलसंध रथ अथवा हाथीकी पीठपर बैठकर युद्ध करनेमें कुशल हैं। ये संग्राममें शत्रुसेनाका संहार करते हुए लड़ेंगे ।। २५ ।।

रथ एष महाराज मतो मे राजसत्तम ।
त्वदर्थे त्यक्ष्यते प्राणान् सहसैन्यो महारणे ।। २६ ।।

महाराज! नृपश्रेष्ठ! ये मेरे मतमें रथी ही हैं और इस महायुद्धमें तुम्हारे लिये अपनी सेनासहित प्राणत्याग करेंगे ।। २६ ।।

एष विक्रान्तयोधी च चित्रयोधी च सङ्गरे ।
वीतभीश्चापि ते राजन् शत्रुभिः सह योत्स्यते ।। २७ ।।

राजन्! ये समरांगणमें महान् पराक्रम प्रकट करते हुए विचित्र ढंगसे युद्ध करनेवाले हैं। ये तुम्हारे शत्रुओंके साथ निर्भय होकर युद्ध करेंगे ।। २७ ।।

बाह्लीकोऽतिरथश्चैव समरे चानिवर्तनः ।
मम राजन् मतो युद्धे शूरो वैवस्वतोपमः ।। २८ ।।

बाह्लीक अतिरथी वीर हैं। ये युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते हैं। राजन्! मैं समरभूमिमें इन्हें यमराजके समान शूरवीर मानता हूँ ।। २८ ।।

न ह्येष समरं प्राप्य निवर्तेत कथञ्चन ।
यथा सततगो राजन् स हि हन्यात् परान् रणे ।। २९ ।।

ये रणक्षेत्रमें पहुँचकर किसी तरह पीछे पैर नहीं हटा सकते। राजन्! ये वायुके समान वेगसे रणभूमिमें शत्रुओंको मारेंगे ।। २९ ।।

सेनापतिर्महाराज सत्यवांस्ते महारथः ।
रणेष्वद्भुतकर्मा च रथी पररथारुजः ।। ३० ।।

महाराज! रथारूढ हो युद्धमें अद्भुत पराक्रम दिखाने और शत्रुपक्षके रथियोंको मार भगानेवाले तुम्हारे सेनापति सत्यवान् भी महारथी हैं ।। ३० ।।

एतस्य समरं दृष्ट्वा न व्यथास्ति कथञ्चन ।
उत्स्मयन्नुत्पतत्येष परान् रथपथे स्थितान् ।। ३१ ।।

युद्ध देखकर इनके मनमें किसी प्रकार भी भय एवं दुःख नहीं होता। ये रथके मार्गमें खड़े हुए शत्रुओंपर हँसते-हँसते कूद पड़ते हैं ।। ३१ ।।

एष चारिषु विक्रान्तः कर्म सत्पुरुषोचितम् ।
कर्ता विमर्दे सुमहत् त्वदर्थे पुरुषोत्तमः ।। ३२ ।।

पुरुषश्रेष्ठ सत्यवान् शत्रुओंपर महान् पराक्रम दिखाते हैं। ये युद्धमें तुम्हारे लिये श्रेष्ठ पुरुषोंके योग्य महान् कर्म करेंगे ।। ३२ ।।

अलम्बुषो राक्षसेन्द्रः क्रूरकर्मा महारथः ।
हनिष्यति परान् राजन् पूर्ववैरमनुस्मरन् ।। ३३ ।।

क्रूरकर्मा राक्षसराज अलम्बुष भी महारथी है। राजन्! यह पहलेके वैरको याद करके शत्रुओंका संहार करेगा ।। ३३ ।।

एष राक्षससैन्यानां सर्वेषां रथसत्तमः ।
मायावी दृढवैरश्च समरे विचरिष्यति ।। ३४ ।।

मायावी, वैरभावको दृढ़तापूर्वक सुरक्षित रखनेवाला तथा समस्त राक्षस सैनिकोंमें श्रेष्ठ रथी यह अलम्बुष संग्रामभूमिमें (निर्भय होकर) विचरेगा ।। ३४ ।।

प्राग्ज्योतिषाधिपो वीरो भगदत्तः प्रतापवान् ।
गजाङ्कुशधरश्रेष्ठो रथे चैव विशारदः ।। ३५ ।।

प्राग्ज्योतिषपुरके राजा भगदत्त बड़े वीर और प्रतापी हैं। हाथमें अंकुश लेकर हाथियोंको काबूमें रखनेवाले वीरोंमें इनका सबसे ऊँचा स्थान है। ये रथयुद्धमें भी कुशल हैं ।। ३५ ।।

एतेन युद्धमभवत् पुरा गाण्डीवधन्वनः ।
दिवसान् सुबहून् राजन्नुभयोर्जयगृद्धिनोः ।। ३६ ।।

राजन्! पहले इनके साथ गाण्डीवधारी अर्जुनका युद्ध हुआ था। उस संग्राममें दोनों अपनी-अपनी विजय चाहते हुए बहुत दिनोंतक लड़ते रहे ।। ३६ ।।

ततः सखायं गान्धारे मानयन् पाकशासनम् ।
अकरोत् संविदं तेन पाण्डवेन महात्मना ।। ३७ ।।

गान्धारीकुमार! कुछ दिनों बाद भगदत्तने अपने सखा इन्द्रका सम्मान करते हुए महात्मा पाण्डुनन्दन अर्जुनके साथ संधि कर ली थी ।। ३७ ।।

एष योत्स्यति संग्रामे गजस्कन्धविशारदः ।
ऐरावतगतो राजा देवानामिव वासवः ।। ३८ ।।

राजा भगदत्त हाथीकी पीठपर बैठकर युद्ध करनेमें अत्यन्त कुशल हैं। ये ऐरावतपर बैठे हुए देवराज इन्द्रके समान संग्राममें तुम्हारे शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ।। ३८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६७ ।।

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके रथियों और अतिरथियोंका वर्णन, कर्ण और भीष्मका रोषपूर्वक संवाद तथा दुर्योधनद्वारा उसका निवारण

भीष्म उवाच

अचलो वृषकश्चैव सहितौ भ्रातरावुभौ ।
रथौ तव दुराधर्षौ शत्रून् विध्वंसयिष्यतः ।। १ ।।

भीष्म कहते हैं—अचल और वृषक—ये साथ रहनेवाले दोनों भाई दुर्धर्ष रथी हैं, जो तुम्हारे शत्रुओंका विध्वंस कर डालेंगे ।। १ ।।

बलवन्तौ नरव्याघ्रौ दृढक्रोधौ प्रहारिणौ ।
गान्धारमुख्यौ तरुणौ दर्शनीयौ महाबलौ ।। २ ।।

गान्धारदेशके ये प्रधान वीर मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी, बलवान्, अत्यन्त क्रोधी, प्रहार करनेमें कुशल, तरुण, दर्शनीय एवं महाबली हैं ।। २ ।।

सखा ते दयितो नित्यं य एष रणकर्कशः ।
उत्साहयति राजंस्त्वां विग्रहे पाण्डवैः सह ।। ३ ।।
परुषः कत्थनो नीचः कर्णो वैकर्तनस्तव ।
मन्त्री नेता च बन्धुश्च मानी चात्यन्तमुच्छ्रितः ।। ४ ।।

राजन्! यह जो तुम्हारा प्रिय सखा कर्ण है, जो तुम्हें पाण्डवोंके साथ युद्धके लिये सदा उत्साहित करता रहता है और रणक्षेत्रमें सदा अपनी क्रूरताका परिचय देता है, बड़ा ही कटुभाषी, आत्मप्रशंसी और नीच है। यह कर्ण तुम्हारा मन्त्री, नेता और बन्धु बना हुआ है। यह अभिमानी तो है ही, तुम्हारा आश्रय पाकर बहुत ऊँचे चढ़ गया है ।। ३-४ ।।

एष नैव रथः कर्णो न चाप्यतिरथो रणे ।
वियुक्तः कवचेनैष सहजेन विचेतनः ।। ५ ।।
कुण्डलाभ्यां च दिव्याभ्यां वियुक्तः सततं घृणी ।
अभिशापाच्च रामस्य ब्राह्मणस्य च भाषणात् ।। ६ ।।
करणानां वियोगाच्च तेन मेऽर्धरथो मतः ।
नैष फाल्गुनमासाद्य पुनर्जीवन् विमोक्ष्यते ।। ७ ।।

यह कर्ण युद्धभूमिमें न तो अतिरथी है और न रथी ही कहलानेयोग्य है, क्योंकि यह मूर्ख अपने सहज कवच तथा दिव्य कुण्डलोंसे हीन हो चुका है। यह दूसरोंके प्रति सदा घृणाका भाव रखता है। परशुरामजीके अभिशापसे, ब्राह्मणकी शापोक्तिसे तथा

विजयसाधक उपर्युक्त उपकरणोंको खो देनेसे मेरी दृष्टिमें यह कर्ण अर्धरथी है। अर्जुनसे भिड़नेपर यह कदापि जीवित नहीं बच सकता ।। ५—७ ।।

ततोऽब्रवीत् पुनर्द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं न मिथ्यास्ति कदाचन ।। ८ ।।

यह सुनकर समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य भी बोल उठे—'आप जैसा कहते हैं, बिलकुल ठीक है। आपका यह मत कदापि मिथ्या नहीं है ।। ८ ।।

रणे रणेऽभिमानी च विमुखश्चापि दृश्यते ।
घृणी कर्णः प्रमादी च तेन मेऽर्धरथो मतः ।। ९ ।।

'यह प्रत्येक युद्धमें घमंड तो बहुत दिखाता है; परंतु वहाँसे भागता ही देखा जाता है। कर्ण दयालु और प्रमादी है। इसलिये मेरी रायमें भी यह अर्धरथी ही है' ।। ९ ।।

एतच्छ्रुत्वा तु राधेयः क्रोधादुत्फाल्य लोचने ।
उवाच भीष्मं राधेयस्तुदन् वाग्भिः प्रतोदवत् ।। १० ।।

यह सुनकर राधानन्दन कर्ण क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा और अपने वचनरूपी चाबुकसे पीड़ा देता हुआ भीष्मसे बोला— ।। १० ।।

पितामह यथेष्टं मां वाक्शरैरुपकृन्तसि ।
अनागसं सदा द्वेषादेवमेव पदे पदे ।। ११ ।।

'पितामह! यद्यपि मैंने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया है, तो भी सदा मुझसे द्वेष रखनेके कारण तुम इसी प्रकार पग-पगपर मुझे अपने वाग्बाणोंद्वारा इच्छानुसार चोट पहुँचाते रहते हो ।। ११ ।।

मर्षयामि च तत् सर्वं दुर्योधनकृतेन वै ।
त्वं तु मां मन्यसे मन्दं यथा कापुरुषं तथा ।। १२ ।।

'मैं दुर्योधनके कारण यह सब कुछ चुपचाप सह लेता हूँ, परंतु तुम मुझे मूर्ख और कायरके समान समझते हो ।। १२ ।।

भवानर्धरथो मह्यं मतो वै नात्र संशयः ।
सर्वस्य जगतश्चैव गाङ्गेयो न मृषा वदेत् ।। १३ ।।

'तुम मेरे विषयमें जो अर्धरथी होनेका मत प्रकट कर रहे हो, इससे सम्पूर्ण जगत्को निःसंदेह ऐसा ही प्रतीत होने लगेगा; क्योंकि सब यही जानते हैं कि गंगानन्दन भीष्म झूठ नहीं बोलते ।। १३ ।।

कुरूणामहितो नित्य न च राजावबुध्यते ।
को हि नाम समानेषु राजसूदारकर्मसु ।। १४ ।।
तेजोवधमिमं कुर्याद् विभेदयिषुराहवे ।
यथा त्वं गुणविद्वेषादपरागं चिकीर्षसि ।। १५ ।।

'तुम कौरवोंका सदा अहित करते हो; परंतु राजा दुर्योधन इस बातको नहीं समझते हैं। तुम मेरे गुणोंके प्रति द्वेष रखनेके कारण जिस प्रकार राजाओंकी मुझपर विरक्ति कराना चाहते हो, वैसा प्रयत्न तुम्हारे सिवा दूसरा कौन कर सकता है? इस समय युद्धका अवसर उपस्थित है और समान श्रेणीके उदारचरित राजा एकत्र हुए हैं; ऐसे अवसरपर आपसमें भेद (फूट) उत्पन्न करनेकी इच्छा रखकर कौन पुरुष अपने ही पक्षके योद्धाका इस प्रकार तेज और उत्साह नष्ट करेगा? ।। १४-१५ ।।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः ।
महारथत्वं संख्यातुं शक्यं क्षत्रस्य कौरव ।। १६ ।।

'कौरव! केवल बड़ी अवस्था हो जाने, बाल पक जाने, अधिक धनका संग्रह कर लेने तथा बहुसंख्यक भाई-बन्धुओंके होनेसे ही किसी क्षत्रियको महारथी नहीं गिना जा सकता ।। १६ ।।

बलज्येष्ठं स्मृतं क्षत्रं मन्त्रज्येष्ठा द्विजातयः ।
धनज्येष्ठाः स्मृता वैश्याः शूद्रास्तु वयसाधिकाः ।। १७ ।।

'क्षत्रियजातिमें जो बलमें अधिक हो, वही श्रेष्ठ माना गया है। ब्राह्मण वेदमन्त्रोंके ज्ञानसे, वैश्य अधिक धनसे और शूद्र अधिक आयु होनेसे श्रेष्ठ समझे जाते हैं ।। १७ ।।

यथेच्छकं स्वयं ब्रूया रथानतिरथांस्तथा ।
कामद्वेषसमायुक्तो मोहात् प्रकुरुते भवान् ।। १८ ।।

'तुम राग-द्वेषसे भरे हुए हो; अतः मोहवश मनमाने ढंगसे रथी-अतिरथियोंका विभाग कर रहे हो ।।

दुर्योधन महाबाहो साधु सम्यगवेक्ष्यताम् ।
त्यज्यतां दुष्टभावोऽयं भीष्मः किल्बिषकृत् तव ।। १९ ।।

'महाबाहु दुर्योधन! तुम अच्छी तरह विचार करके देख लो। ये भीष्म दुर्भावसे दूषित होकर तुम्हारी बुराई कर रहे हैं। तुम इन्हें अभी त्याग दो ।। १९ ।।

भिन्ना हि सेना नृपते दुःसंधेया भवत्युत ।
मौला हि पुरुषव्याघ्र किमु नानासमुत्थिताः ।। २० ।।

'नरेश्वर! पुरुषसिंह! एक बार सेनामें फूट पड़ जानेपर उसमें पुनः मेल कराना कठिन हो जाता है। उस दशामें मौलिक (पीढ़ियोंसे चले आनेवाले) सेवक भी हाथसे निकल जाते हैं। फिर जो भिन्न-भिन्न स्थानोंके लोग किसी एक कार्यके लिये उद्यत होकर एकत्र हुए हों, उनकी तो बात ही क्या है? ।। २० ।।

एषां द्वैधं समुत्पन्नं योधानां युधि भारत ।
तेजोवधो नः क्रियते प्रत्यक्षेण विशेषतः ।। २१ ।।

'भारत! इन योद्धाओंमें युद्धके अवसरपर दुविधा उत्पन्न हो गयी है। तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो, हमारे तेज और उत्साहकी विशेषरूपसे हत्या की जा रही है ।। २१ ।।

रथानां क्व च विज्ञानं क्व च भीष्मोऽल्पचेतनः ।
अहमावारयिष्यामि पाण्डवानामनीकिनीम् ।। २२ ।।

‘कहाँ रथियोंको समझना और कहाँ अल्पबुद्धि भीष्म? मैं अकेला ही पाण्डवोंकी सेनाको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा ।। २२ ।।

आसाद्य माममोघेषुं गमिष्यन्ति दिशो दश ।
पाण्डवाः सहपञ्चालाः शार्दूलं वृषभा इव ।। २३ ।।

‘मेरे बाण अमोघ हैं। मेरे सामने आकर पाण्डव और पांचाल उसी प्रकार दसों दिशाओंमें भाग जायँगे, जैसे सिंहको देखकर बैल भागते हैं ।। २३ ।।

क्व च युद्धं विमर्दो वा मन्त्रे सुव्याहृतानि च ।
क्व च भीष्मो गतवया मन्दात्मा कालचोदितः ।। २४ ।।

‘कहाँ युद्ध, मारकाट और गुप्त मन्त्रणामें अच्छी बातें बतानेका कार्य और कहाँ कालप्रेरित मन्दबुद्धि भीष्म, जिनकी आयु समाप्त हो चुकी है ।। २४ ।।

एकाकी स्पर्धते नित्यं सर्वेण जगता सह ।
न चान्यं पुरुषं कंचिन्मन्यते मोघदर्शनः ।। २५ ।।

‘ये अकेले ही सदा सम्पूर्ण जगत्‌के साथ स्पर्धा रखते हैं और अपनी व्यर्थ दृष्टिके कारण दूसरे किसीको पुरुष ही नहीं समझते हैं ।। २५ ।।

श्रोतव्यं खलु वृद्धानामिति शास्त्रनिदर्शनम् ।
न त्वेव ह्यतिवृद्धानां पुनर्बाला हि ते मताः ।। २६ ।।

‘वृद्धोंकी बातें सुननी चाहिये; यह शास्त्रका आदेश है। परंतु जो अत्यन्त बूढ़े हो गये हैं, उनकी बातें श्रवण करनेयोग्य नहीं हैं; क्योंकि वे तो फिर बालकोंके ही समान माने गये हैं ।। २६ ।।

अहमेको हनिष्यामि पाण्डवानामनीकिनीम् ।
सुयुद्धे राजशार्दूल यशो भीष्मं गमिष्यति ।। २७ ।।

‘नृपश्रेष्ठ! मैं इस युद्धमें अकेला ही पाण्डवोंकी सेनाका विनाश करूँगा; परंतु सारा यश भीष्मको मिल जायगा ।।

कृतः सेनापतिस्त्वेष त्वया भीष्मो नराधिप ।
सेनापतौ यशो गन्ता न तु योधान् कथंचन ।। २८ ।।

‘नरेश्वर! तुमने इन भीष्मको ही सेनापति बनाया है। विजयका यश सेनापतिको ही प्राप्त होता है; योद्धाओंको किसी प्रकार नहीं मिलता ।। २८ ।।

नाहं जीवति गाङ्गेये योत्स्ये राजन् कथंचन ।
हते भीष्मे तु योद्धास्मि सर्वैरेव महारथैः ।। २९ ।।

‘अतः राजन्! मैं भीष्मके जीते-जी किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा; परंतु भीष्मके मारे जानेपर सम्पूर्ण महारथियोंके साथ टक्कर लूँगा’ ।। २९ ।।

भीष्म उवाच

समुद्यतोऽयं भारो मे सुमहान् सागरोपमः ।
धार्तराष्ट्रस्य संग्रामे वर्षपूगाभिचिन्तितः ।। ३० ।।
तस्मिन्नभ्यागते काले प्रतप्ते लोमहर्षणे ।
मिथो भेदो न मे कार्यस्तेन जीवसि सूतज ।। ३१ ।।

भीष्मने कहा—सूतपुत्र! इस युद्धमें दुर्योधनका यह समुद्रके समान अत्यन्त गुरुतर भार मैंने अपने कंधोंपर उठाया है। जिसके लिये मैं बहुत वर्षोंसे चिन्तित हो रहा था, वह संतापदायक रोमांचकारी समय अब आकर उपस्थित हो ही गया, ऐसे अवसरमें मुझे यह पारस्परिक भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिये, इसीलिये तू अभीतक जी रहा है ।। ३०-३१ ।।

न ह्यहं त्वद्य विक्रम्य स्थविरोऽपि शिशोस्तव ।
युद्धश्रद्धामहं छिन्द्यां जीवितस्य च सूतज ।। ३२ ।।

सूतकुमार! यदि ऐसी बात न होती तो मैं वृद्ध होनेपर भी पराक्रम करके आज तुझ बालककी युद्ध-विषयक श्रद्धा और जीवनकी आशाका एक ही साथ उच्छेद कर डालता ।। ३२ ।।

जामदग्न्येन रामेण महास्त्राणि विमुञ्चता ।
न मे व्यथा कृता काचित् त्वं तु मे किं करिष्यसि ।। ३३ ।।

जमदग्निनन्दन परशुरामने मेरे ऊपर बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रयोग किया था; परंतु वे भी मुझे कोई पीड़ा न दे सके। फिर तू तो मेरा कर ही क्या लेगा? ।। ३३ ।।

कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम् ।
वक्ष्यामि तु त्वां संतप्तो निहीनकुलपांसन ।। ३४ ।।

नीचकुलांगार! साधु पुरुष अपने बलकी प्रशंसा करना कदापि अच्छा नहीं मानते हैं, तथापि तेरे व्यवहारसे संतप्त होकर मैं अपनी प्रशंसाकी बात भी कह रहा हूँ ।। ३४ ।।

समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिराजस्वयंवरे ।
निर्जित्यैकरथेनैव याः कन्यास्तरसा हृताः ।। ३५ ।।

काशिराजके यहाँ स्वयंवरमें समस्त भूमण्डलके क्षत्रियनरेश एकत्र हुए थे, परंतु मैंने केवल एक रथपर ही आरूढ़ होकर उन सबको जीतकर बलपूर्वक काशिराजकी कन्याओंका अपहरण किया था ।। ३५ ।।

ईदृशानां सहस्राणि विशिष्टानामथो पुनः ।
मयैकेन निरस्तानि ससैन्यानि रणाजिरे ।। ३६ ।।

यहाँ जो लोग एकत्र हुए हैं, ऐसे तथा इनसे भी बढ़-चढ़कर पराक्रमी हजारों नरेश वहाँ एकत्र थे; परंतु मैंने समरांगणमें अकेले ही उन सबको सेनाओंसहित परास्त कर दिया था ।। ३६ ।।

त्वां प्राप्य वैरपुरुषं कुरूणामनयो महान् ।

उपस्थितो विनाशाय यतस्व पुरुषो भव ।। ३७ ।।

तू वैरका मूर्तिमान् स्वरूप है। तेरा सहारा पाकर कुरुकुलके विनाशके लिये बहुत बड़ा अन्याय उपस्थित हो गया है। अब तू रक्षाका प्रबन्ध कर और पुरुषत्वका परिचय दे ।। ३७ ।।

युद्ध्यस्व समरे पार्थं येन विस्पर्धसे सह ।
द्रक्ष्यामि त्वां विनिर्मुक्तमस्माद् युद्धात् सुदुर्मते ।। ३८ ।।

दुर्मते! तू जिसके साथ सदा स्पर्धा रखता है, उस अर्जुनके साथ समरभूमिमें युद्ध कर। मैं देखूँगा कि तू इस संग्रामसे किस प्रकार बच पाता है? ।। ३८ ।।

तमुवाच ततो राजा धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
मां समीक्षस्व गाङ्गेय कार्यं हि महदुद्यतम् ।। ३९ ।।

तदनन्तर प्रतापी राजा दुर्योधनने भीष्मजीसे कहा—'गंगानन्दन! आप मेरी ओर देखिये; क्योंकि इस समय महान् कार्य उपस्थित है ।। ३९ ।।

चिन्त्यतामिदमेकाग्रं मम निःश्रेयसं परम् ।
उभावपि भवन्तौ मे महत् कर्म करिष्यतः ।। ४० ।।

'आप एकाग्रचित्त होकर मेरे परम कल्याणकी बात सोचिये। आप और कर्ण दोनों ही मेरा महान् कार्य सिद्ध करेंगे ।। ४० ।।

भूयश्च श्रोतुमिच्छामि परेषां रथसत्तमान् ।
ये चैवातिरथास्तत्र ये चैव रथयूथपाः ।। ४१ ।।

'अब मैं पुनः शत्रुपक्षके श्रेष्ठ रथियों, अतिरथियों तथा रथयूथपतियोंका परिचय सुनना चाहता हूँ ।। ४१ ।।

बलाबलममित्राणां श्रोतुमिच्छामि कौरव ।
प्रभातायां रजन्यां वै इदं युद्धं भविष्यति ।। ४२ ।।

'कुरुनन्दन! शत्रुओंके बलाबलको सुननेकी मेरी इच्छा है। आजकी रात बीतते ही कल प्रातःकाल यह युद्ध प्रारम्भ हो जायगा' ।। ४२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि भीष्मकर्णसंवादे अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें भीष्म-कर्णसंवादविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६८ ।।

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथी आदिका एवं उनकी महिमाका वर्णन

भीष्म उवाच

एते रथास्तवाख्यातास्तथैवातिरथा नृप ।
ये चाप्यर्धरथा राजन् पाण्डवानामतः शृणु ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर! ये तुम्हारे पक्षके रथी, अतिरथी और अर्धरथी बताये गये हैं। राजन्! अब तुम पाण्डवपक्षके रथी आदिका वर्णन सुनो ।। १ ।।

यदि कौतूहलं तेऽद्य पाण्डवानां बले नृप ।
रथसंख्यां शृणुष्व त्वं सहैभिर्वसुधाधिपैः ।। २ ।।

नरेश! अब यदि पाण्डवोंकी सेनाके विषयमें भी जानकारी करनेके लिये तुम्हारे मनमें कौतूहल हो तो इन भूमिपालोंके साथ तुम उनके रथियोंकी गणना सुनो ।।

स्वयं राजा रथोदारः पाण्डवः कुन्तिनन्दनः ।
अग्निवत् समरे तात चरिष्यति न संशयः ।। ३ ।।

तात! कुन्तीका आनन्द बढ़ानेवाले स्वयं पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर एक श्रेष्ठ रथी (महारथी) हैं। वे समरभूमिमें अग्निके समान सब ओर विचरेंगे, इसमें संशय नहीं है ।।

भीमसेनस्तु राजेन्द्र रथोऽष्टगुणसम्मितः ।
न तस्यास्ति समो युद्धे गदया सायकैरपि ।। ४ ।।
नागायुतबलो मानी तेजसा न स मानुषः ।

राजेन्द्र! भीमसेन तो अकेले आठ रथियोंके बराबर हैं। गदा और बाणोंद्वारा किये जानेवाले युद्धमें उनके समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है। उनमें दस हजार हाथियोंका बल है। वे बड़े ही मानी तथा अलौकिक तेजसे सम्पन्न हैं ।। ४ $\frac{1}{2}$ ।।

माद्रीपुत्रौ च रथिनौ द्वावेव पुरुषर्षभौ ।। ५ ।।
अश्विनाविव रूपेण तेजसा च समन्वितौ ।

माद्रीके दोनों पुत्र अश्विनीकुमारोंके समान रूपवान् और तेजस्वी हैं। वे दोनों ही पुरुषरत्न रथी हैं ।। ५ $\frac{1}{2}$ ।।

एते चमूमुपगताः स्मरन्तः क्लेशमुत्तमम् ।। ६ ।।
रुद्रवत् प्रचरिष्यन्ति तत्र मे नास्ति संशयः ।

ये चारों भाई महान् क्लेशोंका स्मरण करके तुम्हारी सेनामें घुसकर रुद्रदेवके समान संहार करते हुए विचरेंगे; इस विषयमें मुझे संशय नहीं है ।। ६ $\frac{1}{2}$ ।।

सर्व एव महात्मानः शालस्तम्भा इवोद्गताः ।। ७ ।।
प्रादेशेनाधिकाः पुम्भिरन्यैस्ते च प्रमाणतः ।

ये सभी महामना पाण्डव शालवृक्षके स्तम्भोंके समान ऊँचे हैं। उनकी ऊँचाईका मान अन्य पुरुषोंसे एक बित्ता अधिक है ।। ७½ ।।

सिंहसंहनना: सर्वे पाण्डुपुत्रा महाबला: ।। ८ ।।

चरितब्रह्मचर्याश्च सर्वे तात तपस्विन: ।

ह्रीमन्त: पुरुषव्याघ्रा व्याघ्रा इव बलोत्कटा: ।। ९ ।।

सभी पाण्डव सिंहके समान सुगठित शरीरवाले और महान् बलवान् हैं। तात! उन सबने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया है, पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी पाण्डव तपस्वी, लज्जाशील और व्याघ्रके समान उत्कट बलशाली हैं ।। ८-९ ।।

जवे प्रहारे सम्मर्दे सर्व एवातिमानुषा: ।

सर्वैर्जिता महीपाला दिग्जये भरतर्षभ ।। १० ।।

भरतश्रेष्ठ! वे वेग, प्रहार और संघर्षमें अमानुषिक शक्तिसे सम्पन्न हैं। उन सबने दिग्विजयके समय बहुत-से राजाओंपर विजय पायी है ।। १० ।।

न चैषां पुरुषा: केचिदायुधानि गदा: शरान् ।

विषहन्ति सदा कर्तुमधिज्यान्यपि कौरव ।। ११ ।।

उद्यन्तुं वा गदा गुर्वी: शरान् वा क्षेप्तुमाहवे ।

जवे लक्ष्यस्य हरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे ।। १२ ।।

बालैरपि भवन्तस्तै: सर्व एव विशेषिता: ।

कुरुनन्दन! इनके आयुधों, गदाओं और बाणोंका आघात कोई भी नहीं सह सकते हैं। इसके सिवा न तो कोई इनके धनुषपर प्रत्यंचा ही चढ़ा पाते हैं, न युद्धमें इनकी भारी गदाको ही उठा सकते हैं और न इनके बाणोंका ही प्रयोग कर सकते हैं। वेगसे चलने, लक्ष्य-भेद करने, खाने-पीने तथा धूलि-क्रीड़ा करने आदिमें उन सबने बाल्यावस्थामें भी तुम्हें पराजित कर दिया था ।। ११-१२½ ।।

एतत् सैन्यं समासाद्य सर्व एव बलोत्कटा: ।। १३ ।।

विध्वंसयिष्यन्ति रणे मा स्म तै: सह सङ्गम: ।

इस सेनामें आकर वे सभी उत्कट बलशाली हो गये हैं। युद्धमें आनेपर वे तुम्हारी सेनाका विध्वंस कर डालेंगे। मैं चाहता हूँ उनसे कहीं भी तुम्हारी मुठभेड़ न हो ।।

एकैकशस्ते सम्मर्दे हन्यु: सर्वान् महीक्षित: ।। १४ ।।

प्रत्यक्षं तव राजेन्द्र राजसूये यथाभवत् ।

उनमेंसे एक-एकमें इतनी शक्ति है कि वे समस्त राजाओंका युद्धमें संहार कर सकते हैं। राजेन्द्र! राजसूय-यज्ञमें जैसा जो कुछ हुआ था, वह सब तुमने अपनी आँखों देखा था ।। १४½ ।।

द्रौपद्याश्च परिक्लेशं द्यूते च परुषा गिर: ।। १५ ।।

ते स्मरन्तश्च संग्रामे चरिष्यन्ति च रुद्रवत् ।

द्यूतक्रीड़ाके समय द्रौपदीको जो महान् क्लेश दिया गया और पाण्डवोंके प्रति कठोर बातें सुनायी गयीं, उन सबको याद करके वे संग्रामभूमिमें रुद्रके समान विचरेंगे ।। १५½ ।।

लोहिताक्षो गुडाकेशो नारायणसहायवान् ।। १६ ।।

उभयोः सेनयोर्वीरो रथो नास्तीति तादृशः ।

लाल नेत्रोंवाले निद्राविजयी अर्जुनके सखा और सहायक नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण हैं। कौरव-पाण्डव दोनों सेनाओंमें अर्जुनके समान वीर रथी दूसरा कोई नहीं है ।। १६½ ।।

न हि देवेषु सर्वेषु नासुरेषूरगेषु च ।। १७ ।।

राक्षसेष्वथ यक्षेषु नरेषु कुत एव तु ।

भूतोऽथवा भविष्यो वा रथः कश्चिन्मया श्रुतः ।। १८ ।।

समस्त देवताओं, असुरों, नागों, राक्षसों तथा यक्षोंमें भी अर्जुनके समान कोई नहीं है; फिर मनुष्योंमें तो हो ही कैसे सकता है? भूत या भविष्यमें भी कोई ऐसा रथी मेरे सुननेमें नहीं आया है ।। १७-१८ ।।

समायुक्तो महाराज रथः पार्थस्य धीमतः ।

वासुदेवश्च संयन्ता योद्धा चैव धनंजयः ।। १९ ।।

महाराज! बुद्धिमान् अर्जुनका रथ जुता हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथि और युद्धकुशल धनंजय रथी हैं ।। १९ ।।

गाण्डीवं च धनुर्दिव्यं ते चाश्वा वातरंहसः ।

अभेद्यं कवचं दिव्यमक्षय्यौ च महेषुधी ।। २० ।।

दिव्य गाण्डीव धनुष है, वायुके समान वेगशाली अश्व हैं, अभेद्य दिव्य कव४च है तथा अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो महान् तरकस हैं ।। २० ।।

अस्त्रग्रामश्च माहेन्द्रो रौद्रः कौबेर एव च ।

याम्यश्च वारुणश्चैव गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।। २१ ।।

उस रथमें अस्त्रोंके समुदाय—महेन्द्र, रुद्र, कुबेर, यम एवं वरुणसम्बन्धी अस्त्र हैं, भयंकर दिखायी देनेवाली गदाएँ हैं ।। २१ ।।

वज्रादीनि च मुख्यानि नानाप्रहरणानि च ।

दानवानां सहस्राणि हिरण्यपुरवासिनाम् ।। २२ ।।

हतान्येकरथेनाजौ कस्तस्य सदृशो रथः ।

वज्र आदि भाँति-भाँतिके श्रेष्ठ आयुध भी उस रथमें विद्यमान हैं। अर्जुनने युद्धमें एकमात्र उस रथकी सहायतासे हिरण्यपुरमें निवास करनेवाले सहस्रों दानवोंका संहार किया है। उसके समान दूसरा कौन रथ हो सकता है? ।।

एष हन्याद्धि संरम्भी बलवान् सत्यविक्रमः ।। २३ ।।

तव सेनां महाबाहुः स्वां चैव परिपालयन् ।

ये बलवान्, सत्यपराक्रमी, महाबाहु अर्जुन क्रोधमें आकर तुम्हारी सेनाका संहार करेंगे और अपनी सेनाकी रक्षामें संलग्न रहेंगे ।। २३½ ।।

अहं चैनं प्रत्युदियामाचार्यो वा धनंजयम् ।। २४ ।।
न तृतीयोऽस्ति राजेन्द्र सेनयोरुभयोरपि ।
य एनं शरवर्षाणि वर्षन्तमुदियाद् रथी ।। २५ ।।

मैं अथवा द्रोणाचार्य ही धनंजयका सामना कर सकते हैं। राजेन्द्र! दोनों सेनाओंमें तीसरा कोई ऐसा रथी नहीं है, जो बाणोंकी वर्षा करते हुए अर्जुनके सामने जा सके ।। २४-२५ ।।

जीमूत एव घर्मान्ते महावातसमीरितः ।
समायुक्तस्तु कौन्तेयो वासुदेवसहायवान् ।
तरुणश्च कृती चैव जीर्णावावामुभावपि ।। २६ ।।

ग्रीष्म-ऋतुके अन्तमें प्रचण्ड वायुसे प्रेरित महामेघकी भाँति श्रीकृष्णसहित अर्जुन युद्धके लिये तैयार है। वह अस्त्रोंका विद्वान् और तरुण भी है। इधर हम दोनों वृद्ध हो चले हैं ।। २६ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु भीष्मस्य राज्ञां दध्वंसिरे तदा ।
काञ्चनाङ्गदिनः पीना भुजाश्चन्दनरूषिताः ।। २७ ।।
मनोभिः सह संवेगैः संस्मृत्य च पुरातनम् ।
सामर्थ्यं पाण्डवेयानां यथा प्रत्यक्षदर्शनात् ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मकी यह बात सुनकर पाण्डवोंके पुरातन बल-पराक्रमको प्रत्यक्ष देखनेकी भाँति स्मरण करके राजाओंकी सुवर्णमय भुजबंदोंसे विभूषित चन्दनचर्चित स्थूल भुजाएँ एवं मन भी आवेगयुक्त होकर शिथिल हो गये ।। २७-२८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि पाण्डवरथातिरथसंख्यायां एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १६९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें पाण्डवपक्षके रथियों और अतिरथियोंका संख्याविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६९ ।।

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथियों और महारथियोंका वर्णन तथा विराट और द्रुपदकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

द्रौपदेया महाराज सर्वे पञ्च महारथाः ।
वैराटिरुत्तरश्चैव रथोदारो मतो मम ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—महाराज! द्रौपदीके जो पाँच पुत्र हैं, वे सब-के-सब महारथी हैं। विराटपुत्र उत्तरको मैं उदार रथी मानता हूँ ।। १ ।।

अभिमन्युर्महाबाहू रथयूथपयूथपः ।
समः पार्थेन समरे वासुदेवेन चारिहा ।। २ ।।
लब्धास्त्रश्चित्रयोधी च मनस्वी च दृढव्रतः ।
संस्मरन् वै परिक्लेशं स्वपितुर्विक्रमिष्यति ।। ३ ।।

महाबाहु अभिमन्यु रथ-यूथपतियोंका भी यूथपति है। वह शत्रुनाशक वीर समरभूमिमें अर्जुन और श्रीकृष्णके समान पराक्रमी है। उसने अस्त्रविद्याकी विधिवत् शिक्षा प्राप्त की है। वह युद्धकी विचित्र कलाएँ जानता है तथा दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाला और मनस्वी है। वह अपने पिताके क्लेशको याद करके अवश्य पराक्रम दिखायेगा ।। २-३ ।।

सात्यकिर्माधवः शूरो रथयूथपयूथपः ।
एष वृष्णिप्रवीराणाममर्षी जितसाध्वसः ।। ४ ।।

मधुवंशी शूरवीर सात्यकि भी रथ-यूथपतियोंके भी यूथपति हैं। वृष्णिवंशके प्रमुख वीरोंमें ये सात्यकि बड़े ही अमर्षशील हैं। इन्होंने भयको जीत लिया है ।। ४ ।।

उत्तमौजास्तथा राजन् रथोदारो मतो मम ।
युधामन्युश्च विक्रान्तो रथोदारो मतो मम ।। ५ ।।

राजन्! उत्तमौजाको भी मैं उदार रथी मानता हूँ। पराक्रमी युधामन्यु भी मेरे मतमें एक श्रेष्ठ रथी हैं ।। ५ ।।

एतेषां बहुसाहस्रा रथा नागा हयास्तथा ।
योत्स्यन्ते ते तनूंस्त्यक्त्वा कुन्तीपुत्रप्रियेप्सया ।। ६ ।।

इनके कई हजार रथ, हाथी और घोड़े हैं, जो कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका प्रिय करनेकी इच्छासे अपने शरीरको निछावर करके युद्ध करेंगे ।। ६ ।।

पाण्डवैः सह राजेन्द्र तव सेनासु भारत ।
अग्निमारुतवद् राजन्नाह्वयन्तः परस्परम् ।। ७ ।।

भारत! राजेन्द्र! वे पाण्डवोंके साथ तुम्हारी सेनामें प्रवेश करके एक-दूसरेका आह्वान करते हुए अग्नि और वायुकी भाँति विचरेंगे ।। ७ ।।

अजेयौ समरे वृद्धौ विराटद्रुपदौ तथा ।
महारथौ महावीर्यौ मतौ मे पुरुषर्षभौ ।। ८ ।।

वृद्ध राजा विराट और द्रुपद भी युद्धमें अजेय हैं। इन दोनों महापराक्रमी नरश्रेष्ठ वीरोंको मैं महारथी मानता हूँ ।। ८ ।।

वयोवृद्धावपि हि तौ क्षत्रधर्मपरायणौ ।
यतिष्येते परं शक्त्या स्थितौ वीरगते पथि ।। ९ ।।

यद्यपि वे दोनों अवस्थाकी दृष्टिसे बहुत बूढ़े हैं, तथापि क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले वीरोंके मार्गमें स्थित हो अपनी शक्तिभर युद्ध करनेका प्रयत्न करेंगे ।। ९ ।।

सम्बन्धकेन राजेन्द्र तौ तु वीर्यबलान्वयात् ।
आर्यवृत्तौ महेष्वासौ स्नेहपाशसितावुभौ ।। १० ।।

राजेन्द्र! वे दोनों नरेश वीर्य और बलसे संयुक्त श्रेष्ठ पुरुषोंके समान सदाचारी और महान् धनुर्धर हैं। पाण्डवोंके साथ सम्बन्ध होनेके कारण वे दोनों उनके स्नेह-बन्धनमें बँधे हुए हैं ।। १० ।।

कारणं प्राप्य तु नराः सर्व एव महाभुजाः ।
शूरा वा कातरा वापि भवन्ति कुरुपुङ्गव ।। ११ ।।

कुरुश्रेष्ठ! कोई कारण पाकर प्रायः सभी महाबाहु मानव शूर अथवा कायर हो जाते हैं ।। ११ ।।

एकायनगतावेतौ पार्थिवौ दृढधन्विनौ ।
प्राणांस्त्यक्त्वा परं शक्त्या घट्टितारौ परंतप ।। १२ ।।

परंतप! दृढ़तापूर्वक धनुष धारण करनेवाले राजा विराट और द्रुपद एकमात्र वीरपथका आश्रय ले चुके हैं। वे अपने प्राणोंका त्याग करके भी पूरी शक्तिसे तुम्हारी सेनाके साथ टक्कर लेंगे ।। १२ ।।

पृथगक्षौहिणीभ्यां तावुभौ संयति दारुणौ ।
सम्बन्धिभावं रक्षन्तौ महत् कर्म करिष्यतः ।। १३ ।।

वे दोनों युद्धमें बड़े भयंकर हैं, अतः अपने सम्बन्धकी रक्षा करते हुए पृथक्-पृथक् अक्षौहिणी सेना साथ लिये महान् पराक्रम करेंगे ।। १३ ।।

लोकवीरौ महेष्वासौ त्यक्तात्मानौ च भारत ।
प्रत्ययं परिरक्षन्तौ महत् कर्म करिष्यतः ।। १४ ।।

भारत! महान् धनुर्धर तथा जगत्के सुप्रसिद्ध वीर वे दोनों नरेश अपने विश्वास और सम्मानकी रक्षा करते हुए शरीरकी परवा न करके युद्धभूमिमें महान् पुरुषार्थ प्रकट करेंगे ।। १४ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७० ।।

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथी, महारथी एवं अतिरथी आदिका वर्णन

भीष्म उवाच

पञ्चालराजस्य सुतो राजन् परपुरंजयः ।
शिखण्डी रथमुख्यो मे मतः पार्थस्य भारत ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! भरतनन्दन! पांचालराज द्रुपदका पुत्र शिखण्डी शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाला है, मैं उसे युधिष्ठिरकी सेनाका एक प्रमुख रथी मानता हूँ ।। १ ।।

एष योत्स्यति संग्रामे नाशयन् पूर्वसंस्थितम् ।
परं यशो विप्रथयंस्तव सेनासु भारत ।। २ ।।

भारत! वह तुम्हारी सेनामें प्रवेश करके अपने पूर्व अपयशका नाश तथा उत्तम सुयशका विस्तार करता हुआ बड़े उत्साहसे युद्ध करेगा ।। २ ।।

एतस्य बहुलाः सेनाः पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः ।
तेनासौ रथवंशेन महत् कर्म करिष्यति ।। ३ ।।

पाण्डव-सेनापति धृष्टद्युम्न

उसके साथ पांचालों और प्रभद्रकोंकी बहुत बड़ी सेना है। वह उन रथियोंके समूहद्वारा युद्धमें महान् कर्म कर दिखायेगा ।। ३ ।।

धृष्टद्युम्नश्च सेनानीः सर्वसेनासु भारत ।
मतो मेऽतिरथो राजन् द्रोणशिष्यो महारथः ।। ४ ।।

भारत! जो पाण्डवोंकी सम्पूर्ण सेनाका सेनापति है, वह द्रोणाचार्यका महारथी शिष्य धृष्टद्युम्न मेरे विचारसे अतिरथी है ।। ४ ।।

एष योत्स्यति संग्रामे सूदयन् वै परान् रणे ।
भगवानिव संक्रुद्धः पिनाकी युगसंक्षये ।। ५ ।।

जैसे प्रलयकालमें पिनाकधारी भगवान् रुद्र कुपित होकर प्रजाका संहार करते हैं, उसी प्रकार यह संग्राममें शत्रुओंका संहार करता हुआ युद्ध करेगा ।। ५ ।।

एतस्य तद् रथानीकं कथयन्ति रणप्रियाः ।
बहुत्वात् सागरप्रख्यं देवानामिव संयुगे ।। ६ ।।

इसके पास रथियोंकी जो देवसेनाके समान विशाल सेना है, उसकी संख्या बहुत होनेके कारण युद्धप्रेमी सैनिक रणक्षेत्रमें उसे समुद्रके समान बताते हैं ।। ६ ।।

क्षत्रधर्मा तु राजेन्द्र मतो मेऽर्धरथो नृप ।
धृष्टद्युम्नस्य तनयो बाल्यान्नातिकृतश्रमः ।। ७ ।।

राजेन्द्र! धृष्टद्युम्नका पुत्र क्षत्रधर्मा मेरी समझमें अभी अर्धरथी है। बाल्यावस्था होनेके कारण उसने अस्त्र-विद्यामें अधिक परिश्रम नहीं किया है ।। ७ ।।

शिशुपालसुतो वीरश्चेदिराजो महारथः ।
धृष्टकेतुर्महेष्वासः सम्बन्धी पाण्डवस्य ह ।। ८ ।।

शिशुपालका वीर पुत्र महाधनुर्धर चेदिराज धृष्टकेतु पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका सम्बन्धी एवं महारथी है ।। ८ ।।

एष चेदिपतिः शूरः सह पुत्रेण भारत ।
महारथानां सुकरं महत् कर्म करिष्यति ।। ९ ।।

भारत! यह शौर्यसम्पन्न चेदिराज अपने पुत्रके साथ आकर महारथियोंके लिये सहजसाध्य महान् पराक्रम कर दिखायेगा ।। ९ ।।

क्षत्रधर्मरतो मह्यं मतः परपुरंजयः ।
क्षत्रदेवस्तु राजेन्द्र पाण्डवेषु रथोत्तमः ।। १० ।।

राजेन्द्र! शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाला क्षत्रियधर्मपरायण क्षत्रदेव मेरे मतमें पाण्डवसेनाका एक श्रेष्ठ रथी है ।। १० ।।

जयन्तश्चामितौजाश्च सत्यजिच्च महारथः ।
महारथा महात्मानः सर्वे पाञ्चालसत्तमाः ।। ११ ।।
योत्स्यन्ते समरे तात संरब्धा इव कुञ्जराः ।

जयन्त, अमितौजा और महारथी सत्यजित्—ये सभी पांचालशिरोमणि महामनस्वी वीर महारथी ही हैं। तात! ये सब-के-सब क्रोधमें भरे हुए गजराजोंकी भाँति समरभूमिमें युद्ध करेंगे ।। ११ १/२ ।।

अजो भोजश्च विक्रान्तौ पाण्डवार्थे महारथौ ।। १२ ।।

योत्स्येते बलिनौ शूरौ परं शक्त्या क्षयिष्यतः ।

पाण्डवोंके लिये महान् पराक्रम करनेवाले बलवान् शूरवीर अज और भोज दोनों महारथी हैं। वे सम्पूर्ण शक्ति लगाकर युद्ध करेंगे और अपने पुरुषार्थका परिचय देंगे ।। १२ १/२ ।।

शीघ्रास्त्राश्चित्रयोद्धारः कृतिनो दृढविक्रमाः ।। १३ ।।

केकयाः पञ्च राजेन्द्र भ्रातरो दृढविक्रमाः ।

सर्वे चैव रथोदाराः सर्वे लोहितकध्वजाः ।। १४ ।।

राजेन्द्र! शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले, विचित्र योद्धा, युद्धकालमें निपुण और दृढ़ पराक्रमी जो पाँच भाई केकयराजकुमार हैं, वे सभी उदार रथी माने गये हैं। उन सबकी ध्वजा लाल रंगकी है ।। १३-१४ ।।

काशिकः सुकुमारश्च नीलो यश्चापरो नृप ।

सूर्यदत्तश्च शङ्खश्च मदिराश्वश्च नामतः ।। १५ ।।

सर्व एव रथोदाराः सर्वे चाहवलक्षणाः ।

सर्वास्त्रविदुषः सर्वे महात्मानो मता मम ।। १६ ।।

सुकुमार, काशिक, नील, सूर्यदत्त, शंख और मदिराश्व नामक ये सभी योद्धा उदार रथी हैं। युद्ध ही इन सबका शौर्यसूचक चिह्न है। मैं इन सभीको सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता और महामनस्वी मानता हूँ ।। १५-१६ ।।

वार्धक्षेमिर्महाराज मतो मम महारथः ।

चित्रायुधश्च नृपतिर्मतो मे रथसत्तमः ।। १७ ।।

महाराज! वार्धक्षेमिको मैं महारथी मानता हूँ तथा राजा चित्रायुध मेरे विचारसे श्रेष्ठ रथी हैं ।। १७ ।।

स हि संग्रामशोभी च भक्तश्चापि किरीटिनः ।

चेकितानः सत्यधृतिः पाण्डवानां महारथौ ।

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्रौ रथोदारौ मतौ मम ।। १८ ।।

चित्रायुध संग्राममें शोभा पानेवाले तथा अर्जुनके भक्त हैं। चेकितान और सत्यधृति—ये दो पुरुषसिंह पाण्डव-सेनाके महारथी हैं। मैं इन्हें रथियोंमें श्रेष्ठ मानता हूँ ।। १८ ।।

व्याघ्रदत्तश्च राजेन्द्र चन्द्रसेनश्च भारत ।

मतौ मम रथोदारौ पाण्डवानां न संशयः ।। १९ ।।

भरतनन्दन! महाराज! व्याघ्रदत्त और चन्द्रसेन—ये दो नरेश भी मेरे मतमें पाण्डवसेनाके श्रेष्ठ रथी हैं, इसमें संशय नहीं है ।। १९ ।।

सेनाबिन्दुश्च राजेन्द्र क्रोधहन्ता च नामतः ।
यः समो वासुदेवेन भीमसेनेन वा विभो ।। २० ।।
स योत्स्यति हि विक्रम्य समरे तव सैनिकैः ।

राजेन्द्र! राजा सेनाबिन्दुका दूसरा नाम क्रोधहन्ता भी है। प्रभो! वे भगवान् श्रीकृष्ण तथा भीमसेनके समान पराक्रमी माने जाते हैं। वे समरांगणमें तुम्हारे सैनिकोंके साथ पराक्रम प्रकट करते हुए युद्ध करेंगे ।। २० 1/2 ।।

मां च द्रोणं कृपं चैव यथा सम्मन्यते भवान् ।। २१ ।।
तथा स समरश्लाघी मन्तव्यो रथसत्तमः ।
काश्यः परमशीघ्रास्त्रः श्लाघनीयो नरोत्तमः ।। २२ ।।

तुम मुझको, आचार्य द्रोणको तथा कृपाचार्यको जैसा समझते हो, युद्धमें दूसरे वीरोंसे स्पर्धा रखनेवाले तथा बहुत ही फुर्तीके साथ अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करनेवाले प्रशंसनीय एवं उत्तम रथी नरश्रेष्ठ काशिराजको भी तुम्हें वैसा ही मानना चाहिये ।। २१-२२ ।।

रथ एकगुणो मह्यं ज्ञेयः परपुरंजयः ।
अयं च युधि विक्रान्तो मन्तव्योऽष्टगुणो रथः ।। २३ ।।

मेरी दृष्टिमें शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले काशिराजको साधारण अवस्थामें एक रथी समझना चाहिये; परंतु जिस समय ये युद्धमें पराक्रम प्रकट करने लगते हैं उस समय इन्हें आठ रथियोंके बराबर मानना चाहिये ।। २३ ।।

सत्यजित् समरश्लाघी द्रुपदस्यात्मजो युवा ।
गतः सोऽतिरथत्वं हि धृष्टद्युम्नेन सम्मितः ।। २४ ।।
पाण्डवानां यशस्कामः परं कर्म करिष्यति ।

द्रुपदका तरुण पुत्र सत्यजित् सदा युद्धकी स्पृहा रखनेवाला है। वह धृष्टद्युम्नके समान ही अतिरथीका पद प्राप्त कर चुका है। वह पाण्डवोंके यशोविस्तारकी इच्छा रखकर युद्धमें महान् कर्म करेगा ।। २४ 1/2 ।।

अनुरक्तश्च शूरश्च रथोऽयमपरो महान् ।। २५ ।।
पाण्ड्यराजो महावीर्यः पाण्डवानां धुरंधरः ।
दृढधन्वा महेष्वासः पाण्डवानां महारथः ।। २६ ।।

पाण्डवपक्षके धुरंधर वीर महापराक्रमी पाण्ड्यराज भी एक अन्य महारथी हैं। ये पाण्डवोंके प्रति अनुराग रखनेवाले और शूरवीर हैं। इनका धनुष महान् और सुदृढ़ है। ये पाण्डवसेनाके सम्माननीय महारथी हैं ।। २५-२६ ।।

श्रेणिमान् कौरवश्रेष्ठ वसुदानश्च पार्थिवः ।
उभावेतावतिरथौ मतौ परपुरंजयौ ।। २७ ।।

कौरवश्रेष्ठ! राजा श्रेणिमान् और वसुदान—ये दोनों वीर अतिरथी माने गये हैं। ये शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेमें समर्थ हैं ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७१ ।।

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मका पाण्डवपक्षके अतिरथी वीरोंका वर्णन करते हुए शिखण्डी और पाण्डवोंका वध न करनेका कथन

भीष्म उवाच

रोचमानो महाराज पाण्डवानां महारथः ।
योत्स्यतेऽमरवत् संख्ये परसैन्येषु भारत ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—महाराज! भारत! पाण्डवपक्षमें राजा रोचमान महारथी हैं। वे युद्धमें शत्रुसेनाके साथ देवताओंके समान पराक्रम दिखाते हुए युद्ध करेंगे ।। १ ।।

पुरुजित् कुन्तिभोजश्च महेष्वासो महाबलः ।
मातुलो भीमसेनस्य स च मेऽतिरथो मतः ।। २ ।।

कुन्तिभोजकुमार राजा पुरुजित् जो भीमसेनके मामा हैं, वे भी महाधनुर्धर और अत्यन्त बलवान् हैं। मैं उन्हें भी अतिरथी मानता हूँ ।। २ ।।

एष वीरो महेष्वासः कृती च निपुणश्च ह ।
चित्रयोधी च शक्तश्च मतो मे रथपुङ्गवः ।। ३ ।।

इनका धनुष महान् है। ये अस्त्रविद्याके विद्वान् और युद्धकुशल हैं। रथियोंमें श्रेष्ठ वीर पुरुजित् विचित्र युद्ध करनेवाले और शक्तिशाली हैं ।। ३ ।।

स योत्स्यति हि विक्रम्य मघवानिव दानवैः ।
योधा ये चास्य विख्याताः सर्वे युद्धविशारदाः ।। ४ ।।

जैसे इन्द्र दानवोंके साथ पराक्रमपूर्वक युद्ध करते हैं, उसी प्रकार वे भी शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे। उनके साथ जो सैनिक आये हैं, वे सभी युद्धकी कलामें निपुण और विख्यात वीर हैं ।। ४ ।।

भागिनेयकृते वीरः स करिष्यति संगरे ।
सुमहत् कर्म पाण्डूनां स्थितः प्रियहिते रतः ।। ५ ।।

वीर पुरुजित् पाण्डवोंके प्रिय एवं हितमें तत्पर हो अपने भानजोंके लिये युद्धमें महान् कर्म करेंगे ।। ५ ।।

भैमसेनिर्महाराज हैडिम्बो राक्षसेश्वरः ।
मतो मे बहुमायावी रथयूथपयूथपः ।। ६ ।।

महाराज! भीमसेन और हिडिम्बाका पुत्र राक्षसराज घटोत्कच बड़ा मायावी है। वह मेरे मतमें रथयूथपतियोंका भी यूथपति है ।। ६ ।।

योत्स्यते समरे तात मायावी समरप्रियः ।

ये चास्य राक्षसा वीराः सचिवा वशवर्तिनः ।। ७ ।।

उसको युद्ध करना बहुत प्रिय है। तात! वह मायावी राक्षस समरभूमिमें उत्साहपूर्वक युद्ध करेगा। उसके साथ जो वीर राक्षस एवं सचिव हैं, वे सब उसीके वशमें रहनेवाले हैं ।। ७ ।।

एते चान्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः ।
समेताः पाण्डवस्यार्थे वासुदेवपुरोगमाः ।। ८ ।।

ये तथा और भी बहुत-से वीर क्षत्रिय जो विभिन्न जनपदोंके स्वामी हैं और जिनमें श्रीकृष्णका सबसे प्रधान स्थान है, पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके लिये यहाँ एकत्र हुए हैं ।।

एते प्राधान्यतो राजन् पाण्डवस्य महात्मनः ।
रथाश्चातिरथाश्चैव ये चान्येऽर्धरथा नृप ।। ९ ।।

राजन्! ये महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके मुख्य-मुख्य रथी, अतिरथी और अर्धरथी यहाँ बताये गये हैं ।।

नेष्यन्ति समरे सेनां भीमां यौधिष्ठिरीं नृप ।
महेन्द्रेणेव वीरेण पाल्यमानां किरीटिना ।। १० ।।

नरेश्वर! देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी किरीटधारी वीरवर अर्जुनके द्वारा सुरक्षित हुई युधिष्ठिरकी भयंकर सेनाका ये उपर्युक्त वीर समरांगणमें संचालन करेंगे ।।

तैरहं समरे वीर मायाविद्भिर्जयैषिभिः ।
योत्स्यामि जयमाकाङ्क्षन्नथवा निधनं रणे ।। ११ ।।

वीर! मैं तुम्हारी ओरसे रणभूमिमें उन मायावेत्ता और विजयाभिलाषी पाण्डववीरोंके साथ अपनी विजय अथवा मृत्युकी आकांक्षा लेकर युद्ध करूँगा ।। ११ ।।

वासुदेवं च पार्थं च चक्रगाण्डीवधारिणौ ।
संध्यागताविवार्केन्दू समेष्येते रथोत्तमौ ।। १२ ।।

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण और अर्जुन रथियोंमें श्रेष्ठ हैं। वे क्रमशः सुदर्शनचक्र और गाण्डीवधनुष धारण करते हैं। वे संध्याकालीन सूर्य और चन्द्रमाकी भाँति परस्पर मिलकर जब युद्धमें पधारेंगे, उस समय मैं उनका सामना करूँगा ।। १२ ।।

ये चैव ते रथोदाराः पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः ।
सहसैन्यानहं तांश्च प्रतीयां रणमूर्धनि ।। १३ ।।

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके और भी जो-जो श्रेष्ठ रथी सैनिक हैं, उनका और उनकी सेनाओंका मैं युद्धके मुहानेपर सामना करूँगा ।। १३ ।।

एते रथाश्चातिरथाश्च तुभ्यं
यथाप्रधानं नृप कीर्तिता मया ।
तथापरे येऽर्धरथाश्च केचित्
तथैव तेषामपि कौरवेन्द्र ।। १४ ।।

राजन्! इस प्रकार मैंने तुम्हारे इन मुख्य-मुख्य रथियों और अतिरथियोंका वर्णन किया है। इनके सिवा, जो कोई अर्धरथी हैं, उनका भी परिचय दिया है। कौरवेन्द्र! इसी प्रकार पाण्डवपक्षके भी रथी आदिका दिग्दर्शन कराया गया है ।। १४ ।।

अर्जुनं वासुदेवं च ये चान्ये तत्र पार्थिवाः ।
सर्वांस्तान् वारयिष्यामि यावद् द्रक्ष्यामि भारत ।। १५ ।।

भारत! अर्जुन, श्रीकृष्ण तथा अन्य जो-जो भूपाल हैं, मैं उनमेंसे जितनोंको देखूँगा, उन सबको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा ।। १५ ।।

पाञ्चाल्यं तु महाबाहो नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा प्रतियुध्यन्तमाहवे ।। १६ ।।

परंतु महाबाहो! पांचालराजकुमार शिखण्डीको धनुषपर बाण चढ़ाये युद्धमें अपना सामना करते देखकर भी मैं नहीं मारूँगा ।। १६ ।।

लोकस्तं वेद यदहं पितुः प्रियचिकीर्षया ।
प्राप्तं राज्यं परित्यज्य ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः ।। १७ ।।

सारा जगत् यह जानता है कि मैं मिले हुए राज्यको पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे ठुकराकर ब्रह्मचर्यके पालनमें दृढ़तापूर्वक लग गया ।। १७ ।।

चित्राङ्गदं कौरवाणामाधिपत्येऽभ्यषेचयम् ।
विचित्रवीर्यं च शिशुं यौवराज्येऽभ्यषेचयम् ।। १८ ।।

माता सत्यवतीके ज्येष्ठ पुत्र चित्रांगदको कौरवोंके राज्यपर और बालक विचित्रवीर्यको युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया था ।। १८ ।।

देवव्रतत्वं विज्ञाप्य पृथिवीं सर्वराजसु ।
नैव हन्यां स्त्रियं जातु न स्त्रीपूर्वं कदाचन ।। १९ ।।

सम्पूर्ण भूमण्डलमें समस्त राजाओंके यहाँ अपने देवव्रतस्वरूपकी ख्याति कराकर मैं कभी भी किसी स्त्रीको अथवा जो पहले स्त्री रहा हो, उस पुरुषको भी नहीं मार सकता ।। १९ ।।

स हि स्त्रीपूर्वको राजन् शिखण्डी यदि ते श्रुतः ।
कन्या भूत्वा पुमान् जातो न योत्स्ये तेन भारत ।। २० ।।

राजन्! शायद तुम्हारे सुननेमें आया होगा, शिखण्डी पहले 'स्त्रीरूप' में ही उत्पन्न हुआ था; भारत! पहले कन्या होकर वह फिर पुरुष हो गया था; इसीलिये मैं उससे युद्ध नहीं करूँगा ।। २० ।।

सर्वांस्त्वन्यान् हनिष्यामि पार्थिवान् भरतर्षभ ।
यान् समेष्यामि समरे न तु कुन्तीसुतान् नृप ।। २१ ।।

भरतश्रेष्ठ! मैं अन्य सब राजाओंको, जिन्हें युद्धमें पाऊँगा, मारूँगा; परंतु कुन्तीके पुत्रोंका वध कदापि नहीं करूँगा ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७२ ।।

(अम्बोपाख्यानपर्व)

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बोपाख्यानका आरम्भ—भीष्मजीके द्वारा काशिराजकी कन्याओंका अपहरण

दुर्योधन उवाच

किमर्थं भरतश्रेष्ठ नैव हन्याः शिखण्डिनम् ।
उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा समरेष्वाततायिनम् ।। १ ।।

दुर्योधनने पूछा—भरतश्रेष्ठ! जब शिखण्डी धनुष-बाण उठाये समरमें आततायीकी भाँति आपको मारने आयेगा, उस समय उसे इस रूपमें देखकर भी आप क्यों नहीं मारेंगे? ।। १ ।।

पूर्वमुक्त्वा महाबाहो पञ्चालान् सह सोमकैः ।
हनिष्यामीति गाङ्गेय तन्मे ब्रूहि पितामह ।। २ ।।

महाबाहु गंगानन्दन! पितामह! आप पहले तो यह कह चुके हैं कि 'मैं सोमकोंसहित पंचालोंका वध करूँगा' (फिर आप शिखण्डीको छोड़ क्यों रहे हैं?) यह मुझे बताइये ।। २ ।।

भीष्म उवाच

शृणु दुर्योधन कथां सहैभिर्वसुधाधिपैः ।
यदर्थं युधि सम्प्रेक्ष्य नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।। ३ ।।

भीष्मजीने कहा—दुर्योधन! मैं जिस कारणसे समरांगणमें प्रहार करते देखकर भी शिखण्डीको नहीं मारूँगा, उसकी कथा कहता हूँ, इन भूमिपालोंके साथ सुनो ।। ३ ।।

महाराजो मम पिता शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
दिष्टान्तमाप धर्मात्मा समये भरतर्षभ ।। ४ ।।
ततोऽहं भरतश्रेष्ठ प्रतिज्ञां परिपालयन् ।
चित्राङ्गदं भ्रातरं वै महाराज्येऽभ्यषेचयम् ।। ५ ।।

भरतश्रेष्ठ! मेरे धर्मात्मा पिता लोकविख्यात महाराज शान्तनुका जब निधन हो गया, उस समय अपनी प्रतिज्ञाका पालन करते हुए मैंने भाई चित्रांगदको इस महान् राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ।। ४-५ ।।

तस्मिंश्च निधनं प्राप्ते सत्यवत्या मते स्थितः ।
विचित्रवीर्यं राजानमभ्यषिञ्चं यथाविधि ।। ६ ।।

तदनन्तर जब चित्रांगदकी भी मृत्यु हो गयी; तब माता सत्यवतीकी सम्मतिसे मैंने विधिपूर्वक विचित्रवीर्यका राजाके पदपर अभिषेक किया ।। ६ ।।

मयाभिषिक्तो राजेन्द्र यवीयानपि धर्मतः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा मामेव समुदैक्षत ।। ७ ।।

राजेन्द्र! छोटे होनेपर भी मेरे द्वारा अभिषिक्त होकर धर्मात्मा विचित्रवीर्य धर्मतः मेरी ही ओर देखा करते थे अर्थात् मेरी सम्मतिसे ही सारा राजकार्य करते थे ।। ७ ।।

तस्य दारक्रियां तात चिकीर्षुरहमप्युत ।
अनुरूपादिव कुलादित्येव च मनो दधे ।। ८ ।।

तात! तब मैंने अपने योग्य कुलसे कन्या लाकर उनका विवाह करनेका निश्चय किया ।। ८ ।।

तथाश्रौषं महाबाहो तिस्रः कन्याः स्वयंवराः ।
रूपेणाप्रतिमाः सर्वाः काशिराजसुतास्तदा ।
अम्बां चैवाम्बिकां चैव तथैवाम्बालिकामपि ।। ९ ।।

महाबाहो! उन्हीं दिनों मैंने सुना कि काशिराजकी तीन कन्याएँ हैं, जो सब-की-सब अप्रतिम रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित हैं और वे स्वयंवर-सभामें स्वयं ही पतिका चुनाव करनेवाली हैं। उनके नाम हैं अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका ।। ९ ।।

राजानश्च समाहूताः पृथिव्यां भरतर्षभ ।
अम्बा ज्येष्ठाभवत् तासामम्बिका त्वथ मध्यमा ।। १० ।।
अम्बालिका च राजेन्द्र राजकन्या यवीयसी ।
सोऽहमेकरथेनैव गतः काशिपतेः पुरीम् ।। ११ ।।

भरतश्रेष्ठ! राजेन्द्र! उन तीनोंके स्वयंवरके लिये भूमण्डलके सम्पूर्ण नरेश आमन्त्रित किये गये थे। उनमें अम्बा सबसे बड़ी थी, अम्बिका मझली थी और राजकन्या अम्बालिका सबसे छोटी थी। स्वयंवरका समाचार पाकर मैं एक ही रथके द्वारा काशिराजके नगरमें गया ।। १०-११ ।।

अपश्यं ता महाबाहो तिस्रः कन्याः स्वलंकृताः ।
राज्ञश्चैव समाहूतान् पार्थिवान् पृथिवीपते ।। १२ ।।

महाबाहो! वहाँ पहुँचकर मैंने वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हुई उन तीनों कन्याओंको देखा। पृथ्वीपते! वहाँ उसी समय आमन्त्रित होकर आये हुए सम्पूर्ण राजाओंपर भी मेरी दृष्टि पड़ी ।। १२ ।।

ततोऽहं तान् नृपान् सर्वानाहूय समरे स्थितान् ।
रथमारोपयांचक्रे कन्यास्ता भरतर्षभ ।। १३ ।।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर मैंने युद्धके लिये खड़े हुए उन समस्त राजाओंको ललकारकर उन तीनों कन्याओंको अपने रथपर बैठा लिया ।। १३ ।।

वीर्यशुल्काश्च ता ज्ञात्वा समारोप्य रथं तदा ।
अवोचं पार्थिवान् सर्वानहं तत्र समागतान् ।
भीष्मः शान्तनवः कन्या हरतीति पुनः पुनः ।। १४ ।।
ते यतध्वं परं शक्त्या सर्वे मोक्षाय पार्थिवाः ।
प्रसह्य हि हराम्येष मिषतां वो नरर्षभाः ।। १५ ।।

पराक्रम ही इन कन्याओंका शुल्क है, यह जानकर उन्हें रथपर चढ़ा लेनेके पश्चात् मैंने वहाँ आये हुए समस्त भूपालोंसे कहा—'नरश्रेष्ठ राजाओ! शान्तनुपुत्र भीष्म इन राजकन्याओंका अपहरण कर रहा है, तुम सब लोग पूरी शक्ति लगाकर इन्हें छुड़ानेका प्रयत्न करो; क्योंकि मैं तुम्हारे देखते-देखते बलपूर्वक इन्हें लिये जाता हूँ'; इस बातको मैंने बारंबार दुहराया ।। १४-१५ ।।

ततस्ते पृथिवीपालाः समुत्पेतुरुदायुधाः ।
योगो योग इति क्रुद्धाः सारथीनभ्यचोदयन् ।। १६ ।।

फिर तो वे महीपाल कुपित हो हाथमें हथियार लिये टूट पड़े और अपने सारथियोंको 'रथ तैयार करो, रथ तैयार करो' इस प्रकार आदेश देने लगे ।। १६ ।।

ते रथैर्गजसंकाशैर्गजैश्च गजयोधिनः ।
पुष्टैश्चाश्वैर्महीपालाः समुत्पेतुरुदायुधाः ।। १७ ।।

वे राजा हाथियोंके समान विशाल रथों, हाथियों और हृष्ट-पुष्ट अश्वोंपर सवार हो अस्त्र-शस्त्र लिये मुझपर आक्रमण करने लगे। उनमेंसे कितने ही हाथियोंपर सवार होकर युद्ध करनेवाले थे ।। १७ ।।

ततस्ते मां महीपालाः सर्व एव विशाम्पते ।
रथव्रातेन महता सर्वतः पर्यवारयन् ।। १८ ।।

प्रजानाथ! तदनन्तर उन सब नरेशोंने विशाल रथ-समूहद्वारा मुझे सब ओरसे घेर लिया ।। १८ ।।

तानहं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवारयम् ।
सर्वान् नृपांश्चाप्यजयं देवराडिव दानवान् ।। १९ ।।

तब मैंने भी बाणोंकी वर्षा करके चारों ओरसे उनकी प्रगति रोक दी और जैसे देवराज इन्द्र दानवोंपर विजय पाते हैं, उसी प्रकार मैंने भी उन सब नरेशोंको जीत लिया ।। १९ ।।

अपातयं शरैर्दीप्तैः प्रहसन् भरतर्षभ ।
तेषामापततां चित्रान् ध्वजान् हेमपरिष्कृतान् ।। २० ।।

भरतश्रेष्ठ! जिस समय उन्होंने आक्रमण किया उसी समय मैंने प्रज्वलित बाणोंद्वारा हँसते-हँसते उनके स्वर्णभूषित विचित्र ध्वजोंको काट गिराया ।। २० ।।

एकैकेन हि बाणेन भूमौ पातितवानहम् ।
हयांस्तेषां गजांश्चैव सारथींश्चाप्यहं रणे ।। २१ ।।

फिर एक-एक बाण मारकर मैंने समरभूमिमें उनके घोड़ों, हाथियों और सारथियोंको भी धराशायी कर दिया ।। २१ ।।

ते निवृत्ताश्च भग्नाश्च दृष्ट्वा तल्लाघवं मम ।
(प्रणिपेतुश्च सर्वे वै प्रशशंसुश्च पार्थिवाः ।
तत आदाय ताः कन्या नृपतींश्च विसृज्य तान् ।।)
अथाहं हास्तिनपुरमायां जित्वा महीक्षितः ।। २२ ।।

मेरे हाथोंकी वह फुर्ती देखकर वे पीछे हटने और भागने लगे। वे सब भूपाल नतमस्तक हो गये और मेरी प्रशंसा करने लगे। तत्पश्चात् मैं राजाओंको परास्त करके उन सबको वहीं छोड़ तीनों कन्याओंको साथ ले हस्तिनापुरमें आया ।। २२ ।।

ततोऽहं ताश्च कन्या वै भ्रातुरर्थाय भारत ।
तच्च कर्म महाबाहो सत्यवत्यै न्यवेदयम् ।। २३ ।।

महाबाहु भरतनन्दन! फिर मैंने उन कन्याओंको अपने भाईसे ब्याहनेके लिये माता सत्यवतीको सौंप दिया और अपना वह पराक्रम भी उन्हें बताया ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि कन्याहरणे त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें कन्याहरणविषयक एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७३ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं।]

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका शाल्वराजके प्रति अपना अनुराग प्रकट करके उनके पास जानेके लिये भीष्मसे आज्ञा माँगना

भीष्म उवाच

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ मातरं वीरमातरम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य दाशेयीमिदमब्रुवम् ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर मैंने वीरजननी दाशराजकी कन्या माता सत्यवतीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके इस प्रकार कहा— ।। १ ।।

इमाः काशिपतेः कन्या मया निर्जित्य पार्थिवान् ।
विचित्रवीर्यस्य कृते वीर्यशुल्का हृता इति ।। २ ।।

'माँ! ये काशिराजकी कन्याएँ हैं। पराक्रम ही इनका शुल्क था। इसलिये मैं समस्त राजाओंको जीतकर भाई विचित्रवीर्यके लिये इन्हें हर लाया हूँ' ।। २ ।।

ततो मूर्धन्युपाघ्राय पर्यश्रुनयना नृप ।
आह सत्यवती हृष्टा दिष्ट्या पुत्र जितं त्वया ।। ३ ।।

नरेश्वर! यह सुनकर माता सत्यवतीके नेत्रोंमें हर्षके आँसू छलक आये। उन्होंने मेरा मस्तक सूँघकर प्रसन्नतापूर्वक कहा—'बेटा! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम विजयी हुए' ।। ३ ।।

सत्यवत्यास्त्वनुमते विवाहे समुपस्थिते ।
उवाच वाक्यं सव्रीडा ज्येष्ठा काशिपतेः सुता ।। ४ ।।

सत्यवतीकी अनुमतिसे जब विवाहका कार्य उपस्थित हुआ, तब काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बाने कुछ लज्जित होकर मुझसे कहा— ।। ४ ।।

भीष्म त्वमसि धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
श्रुत्वा च वचनं धर्म्यं मह्यं कर्तुमिहार्हसि ।। ५ ।।

'भीष्म! तुम धर्मके ज्ञाता और सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हो। मेरी बात सुनकर मेरे साथ धर्मपूर्ण बर्ताव करना चाहिये ।। ५ ।।

मया शाल्वपतिः पूर्वं मनसाभिवृतो वरः ।
तेन चास्मि वृता पूर्वं रहस्यविदिते पितुः ।। ६ ।।

'मैंने अपने मनसे पहले शाल्वराजको अपना पति चुन लिया है और उन्होंने भी एकान्तमें मेरा वरण कर लिया है। यह पहलेकी बात है, जो मेरे पिताको भी ज्ञात नहीं है ।। ६ ।।

कथं मामन्यकामां त्वं राजधर्ममतीत्य वै ।
वासयेथा गृहे भीष्म कौरवः सन् विशेषतः ।। ७ ।।

'भीष्म! मैं दूसरेकी कामना करनेवाली राजकन्या हूँ। तुम विशेषतः कुरुवंशी होकर राजधर्मका उल्लंघन करके मुझे अपने घरमें कैसे रखोगे? ।। ७ ।।

एतद् बुद्ध्या विनिश्चित्य मनसा भरतर्षभ ।
यत् क्षमं ते महाबाहो तदिहारब्धुमर्हसि ।। ८ ।।

'महाबाहु भरतश्रेष्ठ! अपनी बुद्धि और मनसे इस विषयमें निश्चित विचार करके तुम्हें जो उचित प्रतीत हो, वही करना चाहिये ।। ८ ।।

स मां प्रतीक्षते व्यक्तं शाल्वराजो विशाम्पते ।
तस्मान्मां त्वं कुरुश्रेष्ठ समनुज्ञातुमर्हसि ।। ९ ।।

'प्रजानाथ! शाल्वराज निश्चय ही मेरी प्रतीक्षा करते होंगे; अतः कुरुश्रेष्ठ! तुम्हें मुझे उनकी सेवामें जानेकी आज्ञा देनी चाहिये ।। ९ ।।

कृपां कुरु महाबाहो मयि धर्मभृतां वर ।
त्वं हि सत्यव्रतो वीर पृथिव्यामिति नः श्रुतम् ।। १० ।।

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ! महाबाहु वीर! मुझपर कृपा करो। मैंने सुना है कि इस पृथ्वीपर तुम सत्यव्रती महात्मा हो' ।। १० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बावाक्ये चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बावाक्यविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७४ ।।

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका शाल्वके यहाँ जाना और उससे परित्यक्त होकर तापसोंके आश्रममें आना, वहाँ शैखावत्य और अम्बाका संवाद

भीष्म उवाच

ततोऽहं समनुज्ञाप्य कालीं गन्धवतीं तदा ।
मन्त्रिणश्चर्त्विजश्चैव तथैव च पुरोहितान् ।। १ ।।
समनुज्ञासिषं कन्यामम्बां ज्येष्ठां नराधिप ।

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर! तब मैंने माता गन्धवती कालीसे आज्ञा ले मन्त्रियों, ऋत्विजों तथा पुरोहितोंसे पूछकर बड़ी राजकुमारी अम्बाको जानेकी आज्ञा दे दी ।। १½ ।।

अनुज्ञाता ययौ सा तु कन्या शाल्वपतेः पुरम् ।। २ ।।
वृद्धैर्द्विजातिभिर्गुप्ता धात्र्या चानुगता तदा ।
अतीत्य च तमध्वानमासाद्य नृपतिं तथा ।। ३ ।।
सा तमासाद्य राजानं शाल्वं वचनमब्रवीत् ।
आगताहं महाबाहो त्वामुद्दिश्य महामते ।। ४ ।।

आज्ञा पाकर राजकन्या अम्बा वृद्ध ब्राह्मणोंके संरक्षणमें रहकर शाल्वराजके नगरकी ओर गयी। उसके साथ उसकी धाय भी थी। उस मार्गको लाँघकर वह राजाके यहाँ पहुँच गयी और शाल्वराजसे मिलकर इस प्रकार बोली—'महाबाहो! महामते! मैं तुम्हारे पास ही आयी हूँ ।। २—४ ।।

(अभिनन्दस्व मां राजन् सदा प्रियहिते रताम् ।
प्रतिपादय मां राजन् धर्मार्थं चैव धर्मतः ।।
त्वं हि मनसा ध्यातस्त्वया चाप्युपमन्त्रिता ।।)

'राजन्! मैं सदा तुम्हारे प्रिय और हितमें तत्पर रहनेवाली हूँ। मुझे अपनाकर आनन्दित करो। नरेश्वर! मुझे धर्मानुसार ग्रहण करके धर्मके लिये ही अपने चरणोंमें स्थान दो। मैंने मन-ही-मन सदा तुम्हारा ही चिन्तन किया है और तुमने भी एकान्तमें मेरे साथ विवाहका प्रस्ताव किया था'।

तामब्रवीच्छाल्वपतिः स्मयन्निव विशाम्पते ।
त्वयान्यपूर्वया नाहं भार्यार्थी वरवर्णिनि ।। ५ ।।

प्रजानाथ! अम्बाकी बात सुनकर शाल्वराजने मुसकराते हुए-से कहा—'सुन्दरी! तुम पहले दूसरेकी हो चुकी हो; अतः तुम्हारी-जैसी स्त्रीके साथ विवाह करनेकी मेरी इच्छा नहीं

है ।। ५ ।।

गच्छ भद्रे पुनस्तत्र सकाशं भीष्मकस्य वै ।

नाहमिच्छामि भीष्मेण गृहीतां त्वां प्रसह्य वै ।। ६ ।।

'भद्रे! तुम पुनः वहाँ भीष्मके ही पास जाओ। भीष्मने तुम्हें बलपूर्वक पकड़ लिया था, अतः अब तुम्हें मैं अपनी पत्नी बनाना नहीं चाहता ।। ६ ।।

त्वं हि भीष्मेण निर्जित्य नीता प्रीतिमती तदा ।

परामृश्य महायुद्धे निर्जित्य पृथिवीपतीन् ।। ७ ।।

'भीष्मने उस महायुद्धमें समस्त भूपालोंको हराकर तुम्हें जीता और तुम्हें उठाकर वे अपने साथ ले गये। तुम उस समय उनके साथ प्रसन्न थीं ।। ७ ।।

नाहं त्वय्यन्यपूर्वायां भार्यार्थी वरवर्णिनि ।

कथमस्मद्विधो राजा परपूर्वां प्रवेशयेत् ।। ८ ।।

नारीं विदितविज्ञानः परेषां धर्ममादिशन् ।

यथेष्टं गम्यतां भद्रे मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ।। ९ ।।

'वरवर्णिनि! जो पहले औरकी हो चुकी हो, ऐसी स्त्रीको मैं अपनी पत्नी बनाऊँ, यह मेरी इच्छा नहीं है। जिस नारीपर पहले किसी दूसरे पुरुषका अधिकार हो गया हो, उसे सारी बातोंको ठीक-ठीक जाननेवाला मेरे-जैसा राजा जो दूसरोंको धर्मका उपदेश करता है, कैसे अपने घरमें प्रविष्ट करायेगा। भद्रे! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चली जाओ। तुम्हारा यह समय यहाँ व्यर्थ न बीते' ।। ८-९ ।।

अम्बा तमब्रवीद् राजन्ननङ्गशरपीडिता ।

नैवं वद महीपाल नैतदेवं कथंचन ।। १० ।।

नास्मि प्रीतिमती नीता भीष्मेणामित्रकर्शन ।

बलान्नीतास्मि रुदती विद्राव्य पृथिवीपतीन् ।। ११ ।।

राजन्! यह सुनकर कामदेवके बाणोंसे पीड़ित हुई अम्बा शाल्वराजसे बोली —'भूपाल! तुम किसी तरह भी ऐसी बात मुँहसे न निकालो। शत्रुसूदन! मैं भीष्मके साथ प्रसन्नतापूर्वक नहीं गयी थी। उन्होंने समस्त राजाओंको खदेड़कर बलपूर्वक मेरा अपहरण किया था और मैं रोती हुई ही उनके साथ गयी थी ।। १०-११ ।।

भजस्व मां शाल्वपते भक्तां बालामनागसम् ।

भक्तानां हि परित्यागो न धर्मेषु प्रशस्यते ।। १२ ।।

'शाल्वराज! मैं निरपराध अबला हूँ। तुम्हारे प्रति अनुरक्त हूँ। मुझे स्वीकार करो; क्योंकि भक्तोंका परित्याग किसी भी धर्ममें अच्छा नहीं बताया गया है ।। १२ ।।

साहमामन्त्र्य गाङ्गेयं समरेष्वनिवर्तिनम् ।

अनुज्ञाता च तेनैव ततोऽहं भृशमागता ।। १३ ।।

'युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले गंगानन्दन भीष्मसे पूछकर, उनकी आज्ञा लेकर अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ मैं यहाँ आयी हूँ ।। १३ ।।

न स भीष्मो महाबाहुर्मामिच्छति विशाम्पते ।
भ्रातृहेतोः समारम्भो भीष्मस्येति श्रुतं मया ।। १४ ।।

'राजन्! महाबाहु भीष्म मुझे नहीं चाहते। उनका यह आयोजन अपने भाईके विवाहके लिये था, ऐसा मैंने सुना है ।। १४ ।।

भगिन्यौ मम ये नीते अम्बिकाम्बालिके नृप ।
प्रादाद् विचित्रवीर्याय गाङ्गेयो हि यवीयसे ।। १५ ।।

'नरेश्वर! भीष्म जिन मेरी दो बहिनों—अम्बिका और अम्बालिकाको हरकर ले गये थे, उन्हें उन्होंने अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यको ब्याह दिया है ।। १५ ।।

यथा शाल्वपते नान्यं वरं ध्यामि कथंचन ।
त्वामृते पुरुषव्याघ्र तथा मूर्धानमालभे ।। १६ ।।

'पुरुषसिंह शाल्वराज! मैं अपना मस्तक छूकर कहती हूँ; तुम्हारे सिवा दूसरे किसी वरका मैं किसी प्रकार भी चिन्तन नहीं करती हूँ ।। १६ ।।

न चान्यपूर्वा राजेन्द्र त्वामहं समुपस्थिता ।
सत्यं ब्रवीमि शाल्वैतत् सत्येनात्मानमालभे ।। १७ ।।

'राजेन्द्र शाल्व! मुझपर किसी भी दूसरे पुरुषका पहले कभी अधिकार नहीं रहा है। मैं स्वेच्छापूर्वक पहले-पहल तुम्हारी ही सेवामें उपस्थित हुई हूँ। यह मैं सत्य कहती हूँ और इस सत्यके द्वारा ही इस शरीरकी शपथ खाती हूँ ।। १७ ।।

भजस्व मां विशालाक्ष स्वयं कन्यामुपस्थिताम् ।
अनन्यपूर्वां राजेन्द्र त्वत्प्रसादाभिकङ्क्षणीम् ।। १८ ।।

'विशाल नेत्रोंवाले महाराज! मैंने आजसे पहले किसी दूसरे पुरुषको अपना पति नहीं समझा है। मैं तुम्हारी कृपाकी अभिलाषा रखती हूँ। स्वयं ही अपनी सेवामें उपस्थित हुई मुझ कुमारी कन्याको धर्मपत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिये' ।। १८ ।।

तामेवं भाषमाणां तु शाल्वः काशिपतेः सुताम् ।
अत्यजद् भरतश्रेष्ठ जीर्णां त्वचमिवोरगः ।। १९ ।।

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार अनुनय-विनय करती हुई काशिराजकी उस कन्याको शाल्वने उसी प्रकार त्याग दिया, जैसे सर्प पुरानी केंचुलको छोड़ देता है ।। १९ ।।

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्याच्यमानस्तया नृपः ।
नाश्रद्दधच्छाल्वपतिः कन्यायां भरतर्षभ ।। २० ।।

भरतभूषण! इस तरह नाना प्रकारके वचनोंद्वारा बार-बार याचना करनेपर भी शाल्वराजने उस कन्याकी बातोंपर विश्वास नहीं किया ।। २० ।।

ततः सा मन्युनाऽऽविष्टा ज्येष्ठा काशिपतेः सुता ।

अब्रवीत् साश्रुनयना बाष्पविप्लुतया गिरा ।। २१ ।।

तब काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बा क्रोध एवं दुःखसे व्याप्त हो नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई अश्रुगद्गद वाणीमें बोली— ।। २१ ।।

त्वया त्यक्ता गमिष्यामि यत्र तत्र विशाम्पते ।
तत्र मे गतयः सन्तु सन्तः सत्यं यथा ध्रुवम् ।। २२ ।।

'राजन्! यदि मेरी कही बात निश्चितरूपसे सत्य हो तो तुमसे परित्यक्त होनेपर मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, वहाँ-वहाँ साधु पुरुष मुझे सहारा देनेवाले हों' ।। २२ ।।

एवं तां भाषमाणां तु कन्यां शाल्वपतिस्तदा ।
परितत्याज कौरव्य करुणं परिदेवतीम् ।। २३ ।।

कुरुनन्दन! राजकन्या अम्बा करुणस्वरसे विलाप करती हुई इसी प्रकार कितनी ही बातें कहती रही; परंतु शाल्वराजने उसे सर्वथा त्याग दिया ।। २३ ।।

गच्छ गच्छेति तां शाल्वः पुनः पुनरभाषत ।
बिभेमि भीष्मात् सुश्रोणि त्वं च भीष्मपरिग्रहः ।। २४ ।।

शाल्वने बारंबार उससे कहा—'सुश्रोणि! तुम जाओ, चली जाओ, मैं भीष्मसे डरता हूँ। तुम भीष्मके द्वारा ग्रहण की हुई हो' ।। २४ ।।

एवमुक्ता तु सा तेन शाल्वेनादीर्घदर्शिना ।
निश्चक्राम पुराद् दीना रुदती कुररी यथा ।। २५ ।।

अदूरदर्शी शाल्वके ऐसा कहनेपर अम्बा कुररीकी भाँति दीनभावसे रुदन करती हुई उस नगरसे निकल गयी ।। २५ ।।

भीष्म उवाच

निष्क्रामन्ती तु नगराच्चिन्तयामास दुःखिता ।
पृथिव्यां नास्ति युवतिर्विषमस्थतरा मया ।। २६ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! नगरसे निकलते समय वह दुःखिनी नारी इस प्रकार चिन्ता करने लगी—'इस पृथ्वीपर कोई भी ऐसी युवती नहीं होगी, जो मेरे समान भारी संकटमें पड़ गयी हो ।। २६ ।।

बन्धुभिर्विप्रहीणास्मि शाल्वेन च निराकृता ।
न च शक्यं पुनर्गन्तुं मया वारणसाह्वयम् ।। २७ ।।

'भाई-बन्धुओंसे तो दूर हो ही गयी हूँ। राजा शाल्वने भी मुझे त्याग दिया है। अब मैं हस्तिनापुरमें भी नहीं जा सकती ।। २७ ।।

अनुज्ञाता तु भीष्मेण शाल्वमुद्दिश्य कारणम् ।
किं नु गर्हाम्यथात्मानमथ भीष्मं दुरासदम् ।। २८ ।।

'क्योंकि शाल्वके अनुरागको कारण बताकर मैंने भीष्मसे यहाँ आनेकी आज्ञा ली थी। अब मैं अपनी ही निन्दा करूँ या उस दुर्जय वीर भीष्मको कोसूँ? ।। २८ ।।

अथवा पितरं मूढं यो मेऽकार्षीत् स्वयंवरम् ।
मयायं स्वकृतो दोषो याहं भीष्मरथात् तदा ।। २९ ।।
प्रवृत्ते दारुणे युद्धे शाल्वार्थं नापतं पुरा ।

'अथवा अपने मूढ़ पिताको दोष दूँ, जिन्होंने मेरा स्वयंवर किया। मेरे द्वारा सबसे बड़ा दोष यह हुआ है कि पूर्वकालमें जिस समय वह भयंकर युद्ध चल रहा था, उसी समय मैं शाल्वके लिये भीष्मके रथसे कूद नहीं पड़ी ।। २९½ ।।

तस्येयं फलनिर्वृत्तिर्यदापन्नास्मि मूढवत् ।। ३० ।।
धिग् भीष्मं धिक् च मे मन्दं पितरं मूढचेतसम् ।
येनाहं वीर्यशुल्केन पण्यस्त्रीव प्रचोदिता ।। ३१ ।।

'उसीका यह फल प्राप्त हुआ है कि मैं एक मूर्ख स्त्री-की भाँति भारी आपत्तिमें पड़ गयी हूँ। भीष्मको धिक्कार है, विवेकशून्य हृदयवाले मेरे मन्दबुद्धि पिताको भी धिक्कार है, जिन्होंने पराक्रमका शुल्क नियत करके मुझे बाजारू स्त्रीकी भाँति जनसमूहमें निकलनेकी आज्ञा दी ।। ३०-३१ ।।

धिङ्मां धिक् शाल्वराजानं धिग् धातारमथापि वा ।
येषां दुर्नीतभावेन प्राप्तास्म्यापदमुत्तमाम् ।। ३२ ।।

'मुझे धिक्कार है, शाल्वराजको धिक्कार है और विधाताको भी धिक्कार है, जिनकी दुर्नीतियोंसे मैं इस भारी विपत्तिमें फँस गयी हूँ ।। ३२ ।।

सर्वथा भागधेयानि स्वानि प्राप्नोति मानवः ।
अनयस्यास्य तु मुखं भीष्मः शान्तनवो मम ।। ३३ ।।

'मनुष्य सर्वथा वही पाता है जो उसके भाग्यमें होता है। मुझपर जो यह अन्याय हुआ है, उसका मुख्य कारण शान्तनुनन्दन भीष्म हैं ।। ३३ ।।

सा भीष्मे प्रतिकर्तव्यमहं पश्यामि साम्प्रतम् ।
तपसा वा युधा वापि दुःखहेतुः स मे मतः ।। ३४ ।।

'अतः इस समय तपस्या अथवा युद्धके द्वारा भीष्मसे ही बदला लेना मुझे उचित दिखायी देता है; क्योंकि मेरे दुःखके प्रधान कारण वे ही हैं ।। ३४ ।।

को नु भीष्मं युधा जेतुमुत्सहेत महीपतिः ।
एवं सा परिनिश्चित्य जगाम नगराद् बहिः ।। ३५ ।।

'परंतु कौन ऐसा राजा है जो युद्धके द्वारा भीष्मको परास्त कर सके।' ऐसा निश्चय करके वह नगरसे बाहर चली गयी ।। ३५ ।।

आश्रमं पुण्यशीलानां तापसानां महात्मनाम् ।
ततस्तामवसद् रात्रिं तापसैः परिवारिता ।। ३६ ।।

उसने पुण्यशील तपस्वी महात्माओंके आश्रमपर जाकर वहीं वह रात बितायी। उस आश्रममें तपस्वी-लोगोंने सब ओरसे घेरकर उसकी रक्षा की थी ।। ३६ ।।

आचख्यौ च यथावृत्तं सर्वमात्मनि भारत ।
विस्तरेण महाबाहो निखिलेन शुचिस्मिता ।
हरणं च विसर्गं च शाल्वेन च विसर्जनम् ।। ३७ ।।

महाबाहु भरतनन्दन! पवित्र मुसकानवाली अम्बाने अपने ऊपर बीता हुआ सारा वृत्तान्त विस्तारपूर्वक उन महात्माओंसे बताया। किस प्रकार उसका अपहरण हुआ? कैसे भीष्मसे छुटकारा मिला? और फिर किस प्रकार शाल्वने उसे त्याग दिया, ये सारी बातें उसने कह सुनायीं ।। ३७ ।।

ततस्तत्र महानासीद् ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
शैखावत्यस्तपोवृद्धः शास्त्रे चारण्यके गुरुः ।। ३८ ।।

उस आश्रममें कठोर व्रतका पालन करनेवाले शैखावत्य नामसे प्रसिद्ध एक तपोवृद्ध श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते थे, जो शास्त्र और आरण्यक आदिकी शिक्षा देनेवाले सद्‌गुरु थे ।। ३८ ।।

आर्तां तामाह स मुनिः शैखावत्यो महातपाः ।
निःश्वसन्तीं सतीं बालां दुःखशोकपरायणाम् ।। ३९ ।।

महातपस्वी शैखावत्य मुनिने वहाँ सिसकती हुई उस दुःखशोकपरायणा सती साध्वी आर्त अबलासे कहा— ।। ३९ ।।

एवं गते तु किं भद्रे शक्यं कर्तुं तपस्विभिः ।
आश्रमस्थैर्महाभागे तपोयुक्तैर्महात्मभिः ।। ४० ।।

'भद्रे! महाभागे! ऐसी दशामें इस आश्रममें निवास करनेवाले तपःपरायण तपोधन महात्मा तुम्हारा क्या सहयोग कर सकते हैं?' ।। ४० ।।

सा त्वेनमब्रवीद् राजन् क्रियतां मदनुग्रहः ।
प्राव्राज्यमहमिच्छामि तपस्तप्स्यामि दुश्चरम् ।। ४१ ।।

राजन्! तब अम्बाने उनसे कहा—'भगवन्! मुझपर अनुग्रह कीजिये। मैं संन्यासियोंका-सा धर्म पालन करना चाहती हूँ। यहाँ रहकर दुष्कर तपस्या करूँगी ।। ४१ ।।

मयैव यानि कर्माणि पूर्वदेहे तु मूढया ।
कृतानि नूनं पापानि तेषामेतत् फलं ध्रुवम् ।। ४२ ।।

'मुझ मूढ़ नारीने अपने पूर्वजन्मके शरीरसे जो पापकर्म किये थे, अवश्य ही उन्हींका यह दुःखदायक फल प्राप्त हुआ है ।। ४२ ।।

नोत्सहे तु पुनर्गन्तुं स्वजनं प्रति तापसाः ।
प्रत्याख्याता निरानन्दा शाल्वेन च निराकृता ।। ४३ ।।

'तपस्वी महात्माओ! अब मैं अपने स्वजनोंके यहाँ फिर नहीं लौट सकती; क्योंकि राजा शाल्वने मुझे कोरा उत्तर देकर त्याग दिया है, उससे मेरा सारा जीवन आनन्दशून्य

(दुःखमय) हो गया है ।। ४३ ।।

उपदिष्टमिहेच्छामि तापस्यं वीतकल्मषाः ।

युष्माभिर्देवसंकाशैः कृपा भवतु वो मयि ।। ४४ ।।

‘निष्पाप तापसगण! मैं चाहती हूँ कि आप देवोपम साधुपुरुष मुझे तपस्याका उपदेश दें, मुझपर आपलोगोंकी कृपा हो’ ।। ४४ ।।

स तामाश्वासयत् कन्यां दृष्टान्तागमहेतुभिः ।

सान्त्वयामास कार्यं च प्रतिजज्ञे द्विजैः सह ।। ४५ ।।

तब शैखावत्य मुनिने लौकिक दृष्टान्तों, शास्त्रीय वचनों तथा युक्तियोंद्वारा उस कन्याको आश्वासन देकर धैर्य बँधाया और ब्राह्मणोंके साथ मिलकर उसके कार्य-साधनके लिये प्रयत्न करनेकी प्रतिज्ञा की ।। ४५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शैखावत्याम्बासंवादे पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शैखावत्य तथा अम्बाका संवादविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७५ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके १ १/२ श्लोक मिलकर कुल ४६ १/२ श्लोक हैं।]

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

तापसोंके आश्रममें राजर्षि होत्रवाहन और अकृतव्रणका आगमन तथा उनसे अम्बाकी बातचीत

भीष्म उवाच

ततस्ते तापसाः सर्वे कार्यवन्तोऽभवंस्तदा ।
तां कन्यां चिन्तयन्तस्ते किं कार्यमिति धर्मिणः ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वे सब धर्मात्मा तपस्वी उस कन्याके विषयमें चिन्ता करते हुए यह सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिये? उस समय वे उसके लिये कुछ करनेको उद्यत थे ।। १ ।।

केचिदाहुः पितुर्वेश्म नीयतामिति तापसाः ।
केचिदस्मदुपालम्भे मतिं चक्रुर्हि तापसाः ।। २ ।।

कुछ तपस्वी यह कहने लगे कि इस राजकन्याको इसके पिताके घर पहुँचा दिया जाय। कुछ तापसोंने मुझे उलाहना देनेका निश्चय किया ।। २ ।।

केचिच्छाल्वपतिं गत्वा नियोज्यमिति मेनिरे ।
नेति केचिद् व्यवस्यन्ति प्रत्याख्याता हि तेन सा ।। ३ ।।

कुछ लोग यह सम्मति प्रकट करने लगे कि चलकर शाल्वराजको बाध्य करना चाहिये कि वह इसे स्वीकार कर ले और कुछ लोगोंने यह निश्चय प्रकट किया था कि ऐसा होना सम्भव नहीं है; क्योंकि उसने इस कन्याको कोरा उत्तर देकर ग्रहण करनेसे इन्कार कर दिया है ।। ३ ।।

एवं गते तु किं शक्यं भद्रे कर्तुं मनीषिभिः ।
पुनरूचुश्च तां सर्वे तापसाः संशितव्रताः ।। ४ ।।

‘भद्रे! ऐसी स्थितिमें मनीषी तापस क्या कर सकते हैं?’ ऐसा कहकर वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले सभी तापस उस राजकन्यासे फिर बोले— ।। ४ ।।

अलं प्रव्रजितेनेह भद्रे शृणु हितं वचः ।
इतो गच्छस्व भद्रं ते पितुरेव निवेशनम् ।। ५ ।।
प्रतिपत्स्यति राजा स पिता ते यदनन्तरम् ।
तत्र वत्स्यसि कल्याणि सुखं सर्वगुणान्विता ।। ६ ।।

‘भद्रे! घर त्यागकर संन्यासियोंके-से धर्माचरणमें संलग्न होनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम हमारा हितकर वचन सुनो, तुम्हारा कल्याण हो। यहाँसे पिताके घरको ही चली जाओ।

इसके बाद जो आवश्यक कार्य होगा, उसे तुम्हारे पिता काशिराज सोचे-समझेंगे। कल्याणि! तुम वहाँ सर्वगुणसम्पन्न होकर सुखसे रह सकोगी ।। ५-६ ।।

न च तेऽन्या गतिर्न्याय्या भवेद् भद्रे यथा पिता ।
पतिर्वापि गतिर्नार्याः पिता वा वरवर्णिनि ।। ७ ।।

'भद्रे! तुम्हारे लिये पिताका आश्रय लेना जैसा न्यायसंगत है, वैसा दूसरा कोई सहारा नहीं है। वरवर्णिनि! नारीके लिये पति अथवा पिता ही गति (आश्रय) है ।। ७ ।।

गतिः पतिः समस्थाया विषमे च पिता गतिः ।
प्रव्रज्या हि सुदुःखेयं सुकुमार्या विशेषतः ।। ८ ।।

'सुखकी परिस्थितिमें नारीके लिये पति आश्रय होता है और संकटकालमें उसके लिये पिताका आश्रय लेना उत्तम है। विशेषतः तुम सुकुमारी हो, अतः तुम्हारे लिये यह प्रव्रज्या (गृहत्याग) अत्यन्त दुःखसाध्य है ।। ८ ।।

राजपुत्र्याः प्रकृत्या च कुमार्यास्तव भामिनि ।
भद्रे दोषा हि विद्यन्ते बहवो वरवर्णिनि ।। ९ ।।
आश्रमे वै वसन्त्यास्ते न भवेयुः पितुर्गृहे ।

'भामिनि! एक तो तुम राजकुमारी और दूसरे स्वभावतः सुकुमारी हो, अतः सुन्दरी! यहाँ आश्रममें तुम्हारे रहनेसे अनेक दोष प्रकट हो सकते हैं। पिताके घरमें वे दोष नहीं प्राप्त होंगे' ।। ९ $\frac{1}{2}$ ।।

ततस्त्वन्येऽब्रुवन् वाक्यं तापसास्तां तपस्विनीम् ।। १० ।।
त्वामिहैकाकिनीं दृष्ट्वा निर्जने गहने वने ।
प्रार्थयिष्यन्ति राजानस्तस्मान्मैवं मनः कृथाः ।। ११ ।।

तदनन्तर दूसरे तापसोंने उस तपस्विनीसे कहा—'इस निर्जन गहन वनमें तुम्हें अकेली देख कितने ही राजा तुमसे प्रणय-प्रार्थना करेंगे, अतः तुम इस प्रकार तपस्या करनेका विचार न करो' ।। १०-११ ।।

अम्बोवाच

न शक्यं काशिनगरं पुनर्गन्तुं पितुर्गृहान् ।
अवज्ञाता भविष्यामि बान्धवानां न संशयः ।। १२ ।।

अम्बा बोली—तापसो! अब मेरे लिये पुनः काशिनगरमें पिताके घर लौट जाना असम्भव है; क्योंकि वहाँ मुझे बन्धु-बान्धवोंमें अपमानित होकर रहना पड़ेगा ।। १२ ।।

उषितास्मि तथा बाल्ये पितुर्वेश्मनि तापसाः ।
नाहं गमिष्ये भद्रं वस्तत्र यत्र पिता मम ।
तपस्तप्तुमभीप्सामि तापसैः परिरक्षिता ।। १३ ।।

तापसो! मैं बाल्यावस्थामें पिताके घर रह चुकी हूँ। आपका कल्याण हो। अब मैं वहाँ नहीं जाऊँगी, जहाँ मेरे पिता होंगे। मैं आप तपस्वी जनोंद्वारा सुरक्षित होकर यहाँ तपस्या करनेकी ही इच्छा रखती हूँ ।। १३ ।।

यथा परेऽपि मे लोके न स्यादेवं महात्ययः ।
दौर्भाग्यं तापसश्रेष्ठास्तस्मात् तप्स्याम्यहं तपः ।। १४ ।।

तापसश्रेष्ठ महर्षियो! मैं तपस्या इसलिये करना चाहती हूँ, जिससे परलोकमें भी मुझे इस प्रकार महान् संकट एवं दुर्भाग्यका सामना न करना पड़े। अतः मैं तपस्या ही करूँगी ।। १४ ।।

भीष्म उवाच

इत्येवं तेषु विप्रेषु चिन्तयत्सु यथातथम् ।
राजर्षिस्तद् वनं प्राप्तस्तपस्वी होत्रवाहनः ।। १५ ।।

भीष्मजी कहते हैं—इस प्रकार वे ब्राह्मण जब यथावत् चिन्तामें मग्न हो रहे थे, उसी समय तपस्वी राजर्षि होत्रवाहन उस वनमें आ पहुँचे ।। १५ ।।

ततस्ते तापसाः सर्वे पूजयन्ति स्म तं नृपम् ।
पूजाभिः स्वागताद्याभिरासनेनोदकेन च ।। १६ ।।

तब उन सब तापसोंने स्वागत, कुशल-प्रश्न, आसन-समर्पण और जल-दान आदि अतिथि-सत्कारके उपचारोंद्वारा राजा होत्रवाहनका समादर किया ।। १६ ।।

तस्योपविष्टस्य सतो विश्रान्तस्योपशृण्वतः ।
पुनरेव कथां चक्रुः कन्यां प्रति वनौकसः ।। १७ ।।

जब वे आसनपर बैठकर विश्राम कर चुके, उस समय उनके सुनते हुए ही वे वनवासी तपस्वी पुनः उस कन्याके विषयमें बातचीत करने लगे ।। १७ ।।

अम्बायास्तां कथां श्रुत्वा काशिराज्ञश्च भारत ।
राजर्षिः स महातेजा बभूवोद्विग्नमानसः ।। १८ ।।

भारत! अम्बा और काशिराजकी यह चर्चा सुनकर महातेजस्वी राजर्षि होत्रवाहनका चित्त उद्विग्न हो उठा ।। १८ ।।

तां तथावादिनीं श्रुत्वा दृष्ट्वा च स महातपाः ।
राजर्षिः कृपयाऽऽविष्टो महात्मा होत्रवाहनः ।। १९ ।।

पूर्वोक्त रूपसे दीनतापूर्वक अपना दुःख निवेदन करनेवाली राजकन्या अम्बाकी बातें सुनकर महातपस्वी, महात्मा राजर्षि होत्रवाहन दयासे द्रवित हो गये ।। १९ ।।

स वेपमान उत्थाय मातुस्तस्याः पिता तदा ।
तां कन्यामङ्कमारोप्य पर्यश्वासयत प्रभो ।। २० ।।

वे अम्बाके नाना थे। राजन्! वे काँपते हुए उठे और उस राजकन्याको गोदमें बिठाकर उसे सान्त्वना देने लगे ।। २० ।।

स तामपृच्छत् कार्त्स्न्येन व्यसनोत्पत्तिमादितः ।
सा च तस्मै यथावृत्तं विस्तरेण न्यवेदयत् ।। २१ ।।

उन्होंने उसपर संकट आनेकी सारी बातें आरम्भसे ही पूछी और अम्बाने भी जो कुछ जैसे-जैसे हुआ था, वह सारा वृत्तान्त उनसे विस्तारपूर्वक बताया ।। २१ ।।

ततः स राजर्षिरभूद् दुःखशोकसमन्वितः ।
कार्यं च प्रतिपेदे तन्मनसा सुमहातपाः ।। २२ ।।

तब उन महातपस्वी राजर्षिने दुःख और शोकसे संतप्त हो मन-ही-मन आवश्यक कर्तव्यका निश्चय किया ।। २२ ।।

अब्रवीद् वेपमानश्च कन्यामार्तां सुदुःखितः ।
मा गाः पितुर्गृहं भद्रे मातुस्ते जनको ह्यहम् ।। २३ ।।

और अत्यन्त दुःखी हो काँपते हुए ही उन्होंने उस दुःखिनी कन्यासे इस प्रकार कहा —'भद्रे! (यदि) तू पिताके घर (नहीं जाना चाहती हो तो) न जा। मैं तेरी माँका पिता हूँ ।। २३ ।।

दुःखं छिन्द्यामहं ते वै मयि वर्तस्व पुत्रिके ।
पर्याप्तं ते मनो वत्से यदेवं परिशुष्यसि ।। २४ ।।

'बेटी! मैं तेरा दुःख दूर करूँगा, तू मेरे पास रह। वत्से! तेरे मनमें बड़ा संताप है, तभी तो इस प्रकार सूखी जा रही है ।। २४ ।।

गच्छ मद्वचनाद् रामं जामदग्न्यं तपस्विनम् ।
रामस्ते समुहद् दुःखं शोकं चैवापनेष्यति ।। २५ ।।

'तू मेरे कहनेसे तपस्यापरायण जमदग्निनन्दन परशुरामजीके पास जा। वे तेरे महान् दुःख और शोकको अवश्य दूर करेंगे ।। २५ ।।

हनिष्यति रणे भीष्मं न करिष्यति चेद् वचः ।
तं गच्छ भार्गवश्रेष्ठं कालाग्निसमतेजसम् ।। २६ ।।

'यदि भीष्म उनकी बात नहीं मानेंगे तो वे युद्धमें उन्हें मार डालेंगे। भार्गवश्रेष्ठ परशुराम प्रलय-कालकी अग्निके समान तेजस्वी हैं। तू उन्हींकी शरणमें जा ।। २६ ।।

प्रतिष्ठापयिता स त्वां समे पथि महातपाः ।
ततस्तु सुस्वरं बाष्पमुत्सृजन्ती पुनः पुनः ।। २७ ।।
अब्रवीत् पितरं मातुः सा तदा होत्रवाहनम् ।
अभिवादयित्वा शिरसा गमिष्ये तव शासनात् ।। २८ ।।

'वे महातपस्वी राम तुझे न्यायोचित मार्गपर प्रतिष्ठित करेंगे।' यह सुनकर अम्बा बारंबार आँसू बहाती हुई अपने नाना होत्रवाहनको मस्तक नवाकर प्रणाम करके मधुर

स्वरमें इस प्रकार बोली—‘नानाजी! मैं आपकी आज्ञासे वहाँ अवश्य जाऊँगी ।। २७-२८ ।।

अपि नामाद्य पश्येयमार्यं तं लोकविश्रुतम् ।
कथं च तीव्रं दुःखं मे नाशयिष्यति भार्गवः ।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं यथा यास्यामि तत्र वै ।। २९ ।।

‘परंतु मैं आज उन विश्वविख्यात श्रेष्ठ महात्माका दर्शन कैसे कर सकूँगी और वे भृगुनन्दन परशुरामजी मेरे इस दुःसह दुःखका नाश किस प्रकार करेंगे? मैं यह सब जानना चाहती हूँ, जिससे वहाँ जा सकूँ’ ।। २९ ।।

होत्रवाहन उवाच

रामं द्रक्ष्यसि भद्रे त्वं जामदग्न्यं महावने ।
उग्रे तपसि वर्तन्तं सत्यसंधं महाबलम् ।। ३० ।।

होत्रवाहन बोले—भद्रे! जमदग्निनन्दन परशुराम एक महान् वनमें उग्र तपस्या कर रहे हैं। वे महान् शक्तिशाली और सत्यप्रतिज्ञ हैं। तुझे अवश्य ही उनका दर्शन प्राप्त होगा ।। ३० ।।

महेन्द्रं वै गिरिश्रेष्ठं रामो नित्यमुपास्ति ह ।
ऋषयो वेदविद्वांसो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।। ३१ ।।

परशुरामजी सदा पर्वतश्रेष्ठ महेन्द्रपर रहा करते हैं। वहाँ वेदवेत्ता महर्षि, गन्धर्व तथा अप्सराओंका भी निवास है ।। ३१ ।।

तत्र गच्छस्व भद्रं ते ब्रूयाश्चैनं वचो मम ।
अभिवाद्य च तं मूर्ध्ना तपोवृद्धं दृढव्रतम् ।। ३२ ।।

बेटी! तेरा कल्याण हो। तू वहीं जा और उन दृढ़व्रती तपोवृद्ध महात्माको अभिवादन करके पहले उनसे मेरी बात कहना ।। ३२ ।।

ब्रूयाश्चैनं पुनर्भद्रे यत् ते कार्यं मनीषितम् ।
मयि संकीर्तिते रामः सर्वं तत् ते करिष्यति ।। ३३ ।।

भद्रे! तत्पश्चात् तेरे मनमें जो अभीष्ट कार्य है वह सब उनसे निवेदन करना। मेरा नाम लेनेपर परशुरामजी तेरा सब कार्य करेंगे ।। ३३ ।।

मम रामः सखा वत्से प्रीतियुक्तः सुहृच्च मे ।
जमदग्निसुतो वीरः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।। ३४ ।।

वत्से! सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ जमदग्निनन्दन वीरवर परशुराम मेरे सखा और प्रेमी सुहृद् हैं ।। ३४ ।।

एवं ब्रुवति कन्यां तु पार्थिवे होत्रवाहने ।
अकृतव्रणः प्रादुरासीद् रामस्यानुचरः प्रियः ।। ३५ ।।

राजा होत्रवाहन जब राजकन्या अम्बासे इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय परशुरामजीके प्रिय सेवक अकृतव्रण वहाँ प्रकट हुए ।। ३५ ।।

ततस्ते मुनयः सर्वे समुत्तस्थुः सहस्रशः ।
स च राजा वयोवृद्धः सृञ्जयो होत्रवाहनः ।। ३६ ।।

उन्हें देखते ही वे सहस्रों मुनि तथा संृजयवंशी वयोवृद्ध राजा होत्रवाहन सभी उठकर खड़े हो गये ।।

ततो दृष्ट्वा कृतातिथ्यमन्योन्यं ते वनौकसः ।
सहिता भरतश्रेष्ठ निषेदुः परिवार्य तम् ।। ३७ ।।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर उनका आदर-सत्कार किया गया; फिर वे वनवासी महर्षि एक-दूसरेकी ओर देखते हुए एक साथ उन्हें घेरकर बैठे ।। ३७ ।।

ततस्ते कथयामासुः कथास्तास्ता मनोरमाः ।
धन्या दिव्याश्च राजेन्द्र प्रीतिहर्षमुदा युताः ।। ३८ ।।

राजेन्द्र! तत्पश्चात् वे सब लोग प्रेम और हर्षके साथ दिव्य, धन्य एवं मनोरम वार्तालाप करने लगे ।। ३८ ।।

ततः कथान्ते राजर्षिर्महात्मा होत्रवाहनः ।
रामं श्रेष्ठं महर्षीणामपृच्छदकृतव्रणम् ।। ३९ ।।

बातचीत समाप्त होनेपर राजर्षि महात्मा होत्रवाहन-ने महर्षियोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीके विषयमें अकृतव्रणसे पूछा— ।। ३९ ।।

क्व सम्प्रति महाबाहो जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
अकृतव्रण शक्यो वै द्रष्टुं वेदविदां वरः ।। ४० ।।

'महाबाहु अकृतव्रण! इस समय वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और प्रतापी जमदग्निनन्दन परशुरामजीका दर्शन कहाँ हो सकता है?' ।। ४० ।।

अकृतव्रण उवाच

भवन्तमेव सततं रामः कीर्तयति प्रभो ।
सृञ्जयो मे प्रियसखो राजर्षिरिति पार्थिव ।। ४१ ।।

अकृतव्रणने कहा—राजन्! परशुरामजी तो सदा आपकी ही चर्चा किया करते हैं। उनका कहना है कि संृजयवंशी राजर्षि होत्रवाहन मेरे प्रिय सखा हैं ।। ४१ ।।

इह रामः प्रभाते श्वो भवितेति मतिर्मम ।
द्रष्टास्येनमिहायान्तं तव दर्शनकाङ्क्षया ।। ४२ ।।

मेरा विश्वास है कि कल सबेरेतक परशुरामजी यहाँ उपस्थित हो जायँगे। वे आपसे ही मिलनेके लिये आ रहे हैं। अतः आप यहीं उनका दर्शन कीजियेगा ।।

इयं च कन्या राजर्षे किमर्थं वनमागता ।

कस्य चेयं तव च का भवतीच्छामि वेदितुम् ।। ४३ ।।

राजर्षे! मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह कन्या किसलिये वनमें आयी है? यह किसकी पुत्री है और आपकी क्या लगती है? ।। ४३ ।।

होत्रवाहन उवाच

दौहित्रीयं मम विभो काशिराजसुता प्रिया ।
ज्येष्ठा स्वयंवरे तस्थौ भगिनीभ्यां सहानघ ।। ४४ ।।
इयमम्बेति विख्याता ज्येष्ठा काशिपतेः सुता ।
अम्बिकाम्बालिके कन्ये कनीयस्यौ तपोधन ।। ४५ ।।

होत्रवाहन बोले—प्रभो! यह मेरी दौहित्री (पुत्रीकी पुत्री) है। अनघ! काशिराजकी परमप्रिय ज्येष्ठ पुत्री अपनी दो छोटी बहिनोंके साथ स्वयंवरमें उपस्थित हुई थी। उनमेंसे यही अम्बा नामसे विख्यात काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री है। तपोधन! इसकी दोनों छोटी बहिनें अम्बिका और अम्बालिका कहलाती हैं ।। ४४-४५ ।।

समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिपुर्यां ततोऽभवत् ।
कन्यानिमित्तं विप्रर्षे तत्रासीदुत्सवो महान् ।। ४६ ।।

ब्रह्मर्षे! काशीपुरीमें इन्हीं कन्याओंके लिये भूमण्डलका समस्त क्षत्रियसमुदाय एकत्र हुआ था। उस अवसरपर वहाँ महान् स्वयंवरोत्सवका आयोजन किया गया था ।। ४६ ।।

ततः किल महावीर्यो भीष्मः शान्तनवो नृपान् ।
अधिक्षिप्य महातेजास्तिस्रः कन्या जहार ताः ।। ४७ ।।

कहते हैं उस अवसरपर महातेजस्वी और महा-पराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्म सब राजाओंको जीतकर इन तीनों कन्याओंको हर लाये ।। ४७ ।।

निर्जित्य पृथिवीपालानथ भीष्मो गजाह्वयम् ।
आजगाम विशुद्धात्मा कन्याभिः सह भारतः ।। ४८ ।।

भरतनन्दन भीष्मका हृदय इन कन्याओंके प्रति सर्वथा शुद्ध था। वे समस्त भूपालोंको परास्त करके कन्याओंको साथ लिये हस्तिनापुरमें आये ।। ४८ ।।

सत्यवत्यै निवेद्याथ विवाहं समनन्तरम् ।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य समाज्ञापयत प्रभुः ।। ४९ ।।

वहाँ आकर शक्तिशाली भीष्मने सत्यवतीको ये कन्याएँ सौंप दीं और इनके साथ अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यका विवाह करनेकी आज्ञा दे दी ।। ४९ ।।

तं तु वैवाहिकं दृष्ट्वा कन्येयं समुपार्जितम् ।
अब्रवीत् तत्र गाङ्गेयं मन्त्रिमध्ये द्विजर्षभ ।। ५० ।।

द्विजश्रेष्ठ! वहाँ वैवाहिक आयोजन आरम्भ हुआ देख यह कन्या मन्त्रियोंके बीचमें गंगानन्दन भीष्मसे बोली— ।। ५० ।।

मया शाल्वपतिर्वीरो मनसाभिवृतः पतिः ।
न मामर्हसि धर्मज्ञ दातुं भ्रात्रेऽन्यमानसाम् ।। ५१ ।।

'धर्मज्ञ! मैंने मन-ही-मन वीरवर शाल्वराजको अपना पति चुन लिया है; अतः मेरा मन अन्यत्र अनुरक्त होनेके कारण आपको अपने भाईके साथ मेरा विवाह नहीं करना चाहिये' ।। ५१ ।।

तच्छ्रुत्वा वचनं भीष्मः सम्मन्त्र्य सह मन्त्रिभिः ।
निश्चित्य विससर्जेमां सत्यवत्या मते स्थितः ।। ५२ ।।

अम्बाका यह वचन सुनकर भीष्मने मन्त्रियोंके साथ सलाह करके माता सत्यवतीकी सम्मति प्राप्त करके एक निश्चयपर पहुँचकर इस कन्याको छोड़ दिया ।। ५२ ।।

अनुज्ञाता तु भीष्मेण शाल्वं सौभपतिं ततः ।
कन्येयं मुदिता तत्र काले वचनमब्रवीत् ।। ५३ ।।

भीष्मकी आज्ञा पाकर यह कन्या मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो सौभ विमानके स्वामी शाल्वके यहाँ गयी और वहाँ उस समय इस प्रकार बोली— ।। ५३ ।।

विसर्जितास्मि भीष्मेण धर्मं मां प्रतिपादय ।
मनसाभिवृतः पूर्वं मया त्वं पार्थिवर्षभ ।। ५४ ।।

'नृपश्रेष्ठ! भीष्मने मुझे छोड़ दिया है; क्योंकि पूर्वकालमें मैंने अपने मनसे आपको ही पति चुन लिया था, अतः आप मुझे धर्मपालनका अवसर दें' ।। ५४ ।।

प्रत्याचख्यौ च शाल्वोऽस्याश्चारित्रस्याभिशङ्कितः ।
सेयं तपोवनं प्राप्ता तापस्येऽभिरता भृशम् ।। ५५ ।।

शाल्वराजको इसके चरित्रपर संदेह हुआ; अतः उसने इसके प्रस्तावको ठुकरा दिया है। इस कारण तपस्यामें अत्यन्त अनुरक्त होकर यह इस तपोवनमें आयी है ।। ५५ ।।

मया च प्रत्यभिज्ञाता वंशस्य परिकीर्तनात् ।
अस्य दुःखस्य चोत्पत्तिं भीष्ममेवेह मन्यते ।। ५६ ।।

इसके कुलका परिचय प्राप्त होनेसे मैंने इसे पहचाना है। यह अपने इस दुःखकी प्राप्तिमें भीष्मको ही कारण मानती है ।। ५६ ।।

अम्बोवाच

भगवन्नेवमेवेह यथाऽऽह पृथिवीपतिः ।
शरीरकर्ता मातुर्मे सृञ्जयो होत्रवाहनः ।। ५७ ।।

अम्बा बोली—भगवन्! जैसा कि मेरी माताके पिता संृजयवंशी महाराज होत्रवाहनने कहा है, ठीक ऐसी ही मेरी परिस्थिति है ।। ५७ ।।

न ह्युत्सहे स्वनगरं प्रतियातुं तपोधन ।
अपमानभयाच्चैव व्रीडया च महामुने ।। ५८ ।।

तपोधन! महामुने! लज्जा और अपमानके भयसे अपने नगरको जानेके लिये मेरे मनमें उत्साह नहीं है ।।

यत् तु मां भगवान् रामो वक्ष्यति द्विजसत्तम ।
तन्मे कार्यतमं कार्यमिति मे भगवन् मतिः ।। ५९ ।।

भगवन्! द्विजश्रेष्ठ! अब भगवान् परशुराम मुझसे जो कुछ कहेंगे, वही मेरे लिये सर्वोत्तम कर्तव्य होगा, यही मैंने निश्चय किया है ।। ५९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि होत्रवाहनाम्बासंवादे षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बा-होत्रवाहनसंवादविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७६ ।।

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अकृतव्रण और परशुरामजीकी अम्बासे बातचीत

अकृतव्रण उवाच

दुःखद्वयमिदं भद्रे कतरस्य चिकीर्षसि ।
प्रतिकर्तव्यमबले तत् त्वं वत्से वदस्व मे ।। १ ।।

अकृतव्रणने कहा—भद्रे! तुम्हें दुःख देनेवाले दो कारण (भीष्म और शाल्व) उपस्थित हैं। वत्से! तुम इन दोनोंमेंसे किससे बदला लेनेकी इच्छा रखती हो? यह मुझे बताओ ।। १ ।।

यदि सौभपतिर्भद्रे नियोक्तव्यो मतस्तव ।
नियोक्ष्यति महात्मा स रामस्त्वद्धितकाम्यया ।। २ ।।

भद्रे! यदि तुम्हारा यह विचार हो कि सौभपति शाल्वराजको ही विवाहके लिये विवश करना चाहिये तो महात्मा परशुराम तुम्हारे हितकी इच्छासे शाल्वराजको अवश्य इस कार्यमें नियुक्त करेंगे ।। २ ।।

अथापगेयं भीष्मं त्वं रामेणेच्छसि धीमता ।
रणे विनिर्जितं द्रष्टुं कुर्यात् तदपि भार्गवः ।। ३ ।।

अथवा यदि तुम गंगानन्दन भीष्मको बुद्धिमान् परशुरामजीके द्वारा युद्धमें पराजित देखना चाहती हो तो वे महात्मा भार्गव यह भी कर सकते हैं ।। ३ ।।

सृञ्जयस्य वचः श्रुत्वा तव चैव शुचिस्मिते ।
यदत्र ते भृशं कार्यं तदद्यैव विचिन्त्यताम् ।। ४ ।।

शुचिस्मिते! सृंजयवंशी राजा होत्रवाहनकी बात सुनकर और अपना विचार प्रकट करके जो कार्य तुम्हें अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हो उसका आज ही विचार कर लो ।। ४ ।।

अम्बोवाच

अपनीतास्मि भीष्मेण भगवन्नविजानता ।
नाभिजानाति मे भीष्मो ब्रह्मन् शाल्वगतं मनः ।। ५ ।।

अम्बा बोली—भगवन्! भीष्म बिना जाने-बूझे मुझे हर लाये थे। ब्रह्मन्! उन्हें इस बातका पता नहीं था कि मेरा मन शाल्वमें अनुरक्त है ।। ५ ।।

एतद् विचार्य मनसा भवानेतद् विनिश्चयम् ।
विचिनोतु यथान्यायं विधानं क्रियतां तथा ।। ६ ।।

इस बातपर मन-ही-मन विचार करके आप ही कुछ निश्चय करें और जो न्यायसंगत प्रतीत हो, वही कार्य करें ।। ६ ।।

भीष्मे वा कुरुशार्दूले शाल्वराजेऽथवा पुनः ।
उभयोरेव वा ब्रह्मन् युक्तं यत् तत् समाचर ।। ७ ।।

ब्रह्मन्! कुरुश्रेष्ठ भीष्मके साथ अथवा शाल्वराजके साथ अथवा दोनोंके ही साथ जो उचित बर्ताव हो, वह करें ।। ७ ।।

निवेदितं मया ह्येतद् दुःखमूलं यथातथम् ।
विधानं तत्र भगवन् कर्तुमर्हसि युक्तितः ।। ८ ।।

मैंने अपने दुःखके इस मूल कारणको यथार्थरूपसे निवेदन कर दिया। भगवन्! अब आप अपनी युक्तिसे ही इस विषयमें न्यायोचित कार्य करें ।। ८ ।।

अकृतव्रण उवाच

उपपन्नमिदं भद्रे यदेवं वरवर्णिनि ।
धर्मं प्रति वचो ब्रूयाः शृणु चेदं वचो मम ।। ९ ।।

अकृतव्रण बोले—भद्रे! तुम जो इस प्रकार धर्मानुकूल बात कहती हो, यही तुम्हारे लिये उचित है। वरवर्णिनि! अब मेरी यह बात सुनो ।। ९ ।।

यदि त्वामापगेयो वै न नयेद् गजसाह्वयम् ।
शाल्वस्त्वां शिरसा भीरु गृह्णीयाद् रामचोदितः ।। १० ।।

भीरु! यदि गंगानन्दन भीष्म तुम्हें हस्तिनापुर न ले जाते तो राजा शास्त्र परशुरामजीके कहनेपर तुम्हें आदरपूर्वक स्वीकार कर लेता ।। १० ।।

तेन त्वं निर्जिता भद्रे यस्मान्नीतासि भाविनि ।
संशयः शाल्वराजस्य तेन त्वयि सुमध्यमे ।। ११ ।।

परंतु भद्रे! भीष्म तुम्हें जीतकर अपने साथ ले गये। भाविनि! सुमध्यमे! यही कारण है कि शाल्वराजके मनमें तुम्हारे प्रति संशय उत्पन्न हो गया है ।। ११ ।।

भीष्मः पुरुषमानी च जितकाशी तथैव च ।
तस्मात् प्रतिक्रिया युक्ता भीष्मे कारयितुं तव ।। १२ ।।

भीष्मको अपने पुरुषार्थका अभिमान है और वे इस समय अपनी विजयसे उल्लसित हो रहे हैं। अतः भीष्मसे ही बदला लेना तुम्हारे लिये उचित होगा ।। १२ ।।

अम्बोवाच

ममाप्येष सदा ब्रह्मन् हृदि कामोऽभिवर्तते ।
घातयेयं यदि रणे भीष्ममित्येव नित्यदा ।। १३ ।।
भीष्मं वा शाल्वराजं वा यं वा दोषेण गच्छसि ।
प्रशाधि तं महाबाहो यत्कृतेऽहं सुदुःखिता ।। १४ ।।

अम्बा बोली—ब्रह्मन्! मेरे मनमें भी सदा यह इच्छा बनी रहती है कि मैं युद्धमें भीष्मका वध करा दूँ। महाबाहो! आप भीष्मको या शाल्वराजको जिसे भी दोषी समझते

हों, उसीको दण्ड दीजिये, जिसके कारण मैं अत्यन्त दुःखमें पड़ गयी हूँ ।। १३-१४ ।।

भीष्म उवाच

एवं कथयतामेव तेषां स दिवसो गतः ।
रात्रिश्च भरतश्रेष्ठ सुखशीतोष्णमारुता ।। १५ ।।

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार बातचीत करते हुए उन सब लोगोंका वह दिन बीत गया। सुखदायिनी सरदी, गरमी और हवासे युक्त रात भी समाप्त हो गयी ।। १५ ।।

ततो रामः प्रादुरासीत् प्रज्वलन्निव तेजसा ।
शिष्यैः परिवृतो राजन् जटाचीरधरो मुनिः ।। १६ ।।

राजन्! तदनन्तर अपने शिष्योंसे घिरे हुए जटावल्कलधारी मुनिवर परशुरामजी वहाँ प्रकट हुए। वे अपने तेजके कारण प्रज्वलित-से हो रहे थे ।। १६ ।।

धनुष्पाणिरदीनात्मा खड्गं बिभ्रत् परश्वधी ।
विरजा राजशार्दूल सृञ्जयं सोऽभ्ययान्नृपम् ।। १७ ।।

नृपश्रेष्ठ! उनके हृदयमें दीनताका नाम नहीं था। उन्होंने अपने हाथोंमें धनुष, खड्ग और फरसा ले रखे थे। उनके हृदयसे रजोगुण दूर हो गया था, वे राजा सृंजयके निकट आये ।। १७ ।।

ततस्तं तापसा दृष्ट्वा स च राजा महातपाः ।
तस्थुः प्राञ्जलयो राजन् सा च कन्या तपस्विनी ।। १८ ।।

राजन्! उन्हें देखकर वे तपस्वी मुनि, महातपस्वी नरेश तथा वह तपस्विनी राजकन्या—ये सब-के-सब हाथ जोड़कर खड़े हो गये ।। १८ ।।

पूजयामासुरव्यग्रा मधुपर्केण भार्गवम् ।
अर्चितश्च यथान्यायं निषसाद सहैव तैः ।। १९ ।।

फिर उन्होंने स्वस्थचित्त होकर मधुपर्कद्वारा भार्गव परशुरामजीका पूजन किया। विधिपूर्वक पूजित होनेपर वे उन्हींके साथ वहाँ बैठे ।। १९ ।।

ततः पूर्वव्यतीतानि कथयन्तौ स्म तावुभौ ।
आसातां जामदग्न्यश्च सृञ्जयश्चैव भारत ।। २० ।।

भारत! तत्पश्चात् परशुरामजी और सृंजय (होत्रवाहन) दोनों मित्र पहलेकी बीती बातें कहते हुए एक जगह बैठ गये ।। २० ।।

तथा कथान्ते राजर्षिर्भृगुश्रेष्ठं महाबलम् ।
उवाच मधुरं काले रामं वचनमर्थवत् ।। २१ ।।

बातचीतके अन्तमें राजर्षि होत्रवाहनने महाबली भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीसे मधुर वाणीमें उस समय यह अर्थयुक्त वचन कहा— ।। २१ ।।

रामेयं मम दौहित्री काशिराजसुता प्रभो ।
अस्याः शृणु यथातत्त्वं कार्यं कार्यविशारद ।। २२ ।।

'कार्यसाधनकुशल प्रभो! परशुराम! यह मेरी पुत्रीकी पुत्री काशिराजकी कन्या है। इसका कुछ कार्य है, उसे आप इसीके मुँहसे ठीक-ठीक सुन लें' ।। २२ ।।

परमं कथ्यतां चेति तां रामः प्रत्यभाषत ।
ततः साभ्यगमद् रामं ज्वलन्तमिव पावकम् ।। २३ ।।
ततोऽभिवाद्य चरणौ रामस्य शिरसा शुभौ ।
स्पृष्ट्वा पद्मदलाभाभ्यां पाणिभ्यामग्रतः स्थिता ।। २४ ।।

'बहुत अच्छा, कहो बेटी' इस प्रकार उस कन्याको जब परशुरामजीने प्रेरित किया; तब वह प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी परशुरामजीके पास आयी और उनके कल्याणकारी चरणोंको सिरसे प्रणाम करके कमलदलके समान सुशोभित होनेवाले दोनों हाथोंसे उनका स्पर्श करती हुई सामने खड़ी हो गयी ।। २३-२४ ।।

रुरोद सा शोकवती बाष्पव्याकुललोचना ।
प्रपेदे शरणं चैव शरण्यं भृगुनन्दनम् ।। २५ ।।

उसके नेत्रोंमें आँसू भर आये। वह शोकसे आतुर होकर रोने लगी और सबको शरण देनेवाले भृगुनन्दन परशुरामजीकी शरणमें गयी ।। २५ ।।

राम उवाच

यथा त्वं सृञ्जयस्यास्य तथा मे त्वं नृपात्मजे ।
ब्रूहि यत् ते मनोदुःखं करिष्ये वचनं तव ।। २६ ।।

परशुरामजी बोले—राजकुमारी! जैसे तू इन संजयकी दौहित्री है, उसी प्रकार मेरी भी है। तेरे मनमें जो दुःख है, उसे बता। मैं तेरे कथनानुसार सब कार्य करूँगा ।। २६ ।।

अम्बोवाच

भगवञ्शरणं त्वाद्य प्रपन्नास्मि महाव्रतम् ।
शोकपङ्कार्णवान्मग्नां घोरादुद्धर मां विभो ।। २७ ।।

अम्बा बोली—भगवन्! आप महान् व्रतधारी हैं। आज मैं आपकी शरणमें आयी हूँ। प्रभो! इस भयंकर शोकसागरमें डूबनेसे मुझे बचाइये ।। २७ ।।

भीष्म उवाच

तस्याश्च दृष्ट्वा रूपं च वपुश्चाभिनवं पुनः ।
सौकुमार्यं परं चैव रामश्चिन्तापरोऽभवत् ।। २८ ।।
किमियं वक्ष्यतीत्येवं विममर्श भृगूद्वहः ।
इति दध्यौ चिरं रामः कृपयाभिपरिप्लुतः ।। २९ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! उसके सुन्दर रूप, नूतन (तरुण) शरीर तथा अत्यन्त सुकुमारताको देखकर परशुरामजी चिन्तामें पड़ गये कि न जाने यह क्या कहेगी? उसके प्रति दयाभावसे परिपूर्ण हो भृगुकुलभूषण परशुराम बहुत देरतक उसीके विषयमें चिन्ता करते रहे ।। २८-२९ ।।

कथ्यतामिति सा भूयो रामेणोक्ता शुचिस्मिता ।
सर्वमेव यथातत्त्वं कथयामास भार्गवे ।। ३० ।।

तदनन्तर परशुरामजीके पुनः यह कहनेपर कि तुम अपनी बात कहो, पवित्र मुसकानवाली अम्बाने उनसे अपना सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया ।। ३० ।।

तच्छ्रुत्वा जामदग्न्यस्तु राजपुत्र्या वचस्तदा ।
उवाच तां वरारोहां निश्चित्यार्थविनिश्चयम् ।। ३१ ।।

राजकुमारी अम्बाका यह कथन सुनकर जमदग्निनन्दन परशुरामने क्या करना है, इसका निश्चय करके उस सुन्दर अंगोंवाली राजकुमारीसे कहा ।। ३१ ।।

राम उवाच

प्रेषयिष्यामि भीष्माय कुरुश्रेष्ठाय भाविनि ।
करिष्यति वचो मह्यं श्रुत्वा च स नराधिपः ।। ३२ ।।

परशुरामजी बोले—भाविनि! मैं तुझे कुरुश्रेष्ठ भीष्मके पास भेजूँगा। नरपति भीष्म सुनते ही मेरी आज्ञाका पालन करेगा ।। ३२ ।।

न चेत् करिष्यति वचो मयोक्तं जाह्नवीसुतः ।
धक्ष्याम्यहं रणे भद्रे सामात्यं शस्त्रतेजसा ।। ३३ ।।

भद्रे! यदि गंगानन्दन भीष्म मेरी बात नहीं मानेगा तो मैं युद्धमें अस्त्र-शस्त्रोंके तेजसे मन्त्रियोंसहित उसे भस्म कर डालूँगा ।। ३३ ।।

अथवा ते मतिस्तत्र राजपुत्रि न वर्तते ।
यावच्छाल्वपतिं वीरं योजयाम्यत्र कर्मणि ।। ३४ ।।

अथवा राजकुमारी! यदि वहाँ जानेका तेरा विचार न हो तो मैं वीर शाल्वराजको ही पहले इस कार्यमें नियुक्त करूँ (उसके साथ तेरा ब्याह करा दूँ) ।। ३४ ।।

अम्बोवाच

विसर्जिताहं भीष्मेण श्रुत्वैव भृगुनन्दन ।
शाल्वराजगतं भावं मम पूर्वं मनीषितम् ।। ३५ ।।

अम्बा बोली—भृगुनन्दन! शाल्वराजमें मेरा अनुराग है और मैं पहलेसे ही उन्हें पाना चाहती हूँ। यह सुनते ही भीष्मने मुझे विदा कर दिया था ।। ३५ ।।

सौभराजमुपेत्याहमवोचं दुर्वचं वचः ।
न च मां प्रत्यगृह्णात् स चारित्र्यपरिशङ्कितः ।। ३६ ।।

तब सौभराजके पास जाकर मैंने उनसे ऐसी बातें कहीं जिन्हें अपने मुँहसे कहना स्त्रीजातिके लिये अत्यन्त दुष्कर होता है; परंतु मेरे चरित्रपर संदेह हो जानेके कारण उसने मुझे स्वीकार नहीं किया ।। ३६ ।।

एतत् सर्वं विनिश्चित्य स्वबुद्धया भृगुनन्दन ।
यदत्रौपयिकं कार्यं तच्चिन्तयितुमर्हसि ।। ३७ ।।

भृगुनन्दन! इन सब बातोंपर बुद्धिपूर्वक विचार करके जो उचित प्रतीत हो, उसी कार्यकी ओर आप ध्यान दें ।। ३७ ।।

मम तु व्यसनस्यास्य भीष्मो मूलं महाव्रतः ।
येनाहं वशमानीता समुत्क्षिप्य बलात् तदा ।। ३८ ।।

मेरी इस विपत्तिका मूल कारण महान् व्रतधारी भीष्म है, जिसने उस समय बलपूर्वक मुझे उठाकर रथपर रख लिया और इस प्रकार मुझे वशमें करके वह हस्तिनापुर ले आया ।। ३८ ।।

भीष्मं जहि महाबाहो यत्कृते दुःखमीदृशम् ।
प्राप्ताहं भृगुशार्दूल चराम्यप्रियमुत्तमम् ।। ३९ ।।

महाबाहु भृगुसिंह! आप भीष्मको ही मार डालिये, जिसके कारण मुझे ऐसा दुःख प्राप्त हुआ है और मैं इस प्रकार विवश होकर अत्यन्त अप्रिय आचरणमें प्रवृत्त हुई हूँ ।। ३९ ।।

स हि लुब्धश्च नीचश्च जितकाशी च भार्गव ।
तस्मात् प्रतिक्रिया कर्तुं युक्ता तस्मै त्वयानघ ।। ४० ।।

निष्पाप भार्गव! भीष्म लोभी, नीच और विजयोल्लाससे परिपूर्ण है; अतः आपको उसीसे बदला लेना उचित है ।। ४० ।।

एष मे क्रियमाणाया भारतेन तदा विभो ।
अभवद्धृदि संकल्पो घातयेयं महाव्रतम् ।। ४१ ।।

प्रभो! भरतवंशी भीष्मने जबसे मुझे इस दशामें डाल दिया है, तबसे मेरे हृदयमें यही संकल्प उठता है कि मैं उस महान् व्रतधारीका वध करा दूँ ।। ४१ ।।

तस्मात् कामं ममाद्येमं राम सम्पादयानघ ।
जहि भीष्मं महाबाहो यथा वृत्रं पुरंदरः ।। ४२ ।।

निष्पाप महाबाहु राम! आज आप मेरी इसी कामनाको पूर्ण कीजिये। जैसे इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार आप भी भीष्मको मार डालिये ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामाम्बासंवादे सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बा-परशुराम-संवादविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७७ ।।

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बा और परशुरामजीका संवाद, अकृतव्रणकी सलाह, परशुराम और भीष्मकी रोषपूर्ण बातचीत तथा उन दोनोंका युद्धके लिये कुरुक्षेत्रमें उतरना

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तदा रामो जहि भीष्ममिति प्रभो ।
उवाच रुदतीं कन्यां चोदयन्तीं पुनः पुनः ।। १ ।।
काश्ये न कामं गृह्णामि शस्त्रं वै वरवर्णिनि ।
ऋते ब्रह्मविदां हेतोः किमन्यत् करवाणि ते ।। २ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! अम्बाके ऐसा कहनेपर कि प्रभो! भीष्मको मार डालिये। परशुरामजीने रो-रोकर बार-बार प्रेरणा देनेवाली उस कन्यासे इस प्रकार कहा—'सुन्दरी! काशिराजकुमारी! मैं अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार किसी वेदवेत्ता ब्राह्मणको आवश्यकता हो तो उसीके लिये शस्त्र उठाता हूँ। वैसा कारण हुए बिना इच्छानुसार हथियार नहीं उठाता। अतः इस प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हुए मैं तेरा दूसरा कौन-सा कार्य करूँ ।। १-२ ।।

वाचा भीष्मश्च शाल्वश्च मम राज्ञि वशानुगौ ।
भविष्यतोऽनवद्याङ्गि तत् करिष्यामि मा शुचः ।। ३ ।।

'राजकन्ये! भीष्म और शाल्व दोनों मेरी आज्ञाके अधीन होंगे। अतः निर्दोष अंगोंवाली सुन्दरी! मैं तेरा कार्य करूँगा। तू शोक न कर ।। ३ ।।

न तु शस्त्रं ग्रहीष्यामि कथंचिदपि भाविनि ।
ऋते नियोगाद् विप्राणामेष मे समयः कृतः ।। ४ ।।

'भाविनि! मैं किसी तरह ब्राह्मणोंकी आज्ञाके बिना हथियार नहीं उठाऊँगा, ऐसी मैंने प्रतिज्ञा कर रखी है' ।।

अम्बोवाच

मम दुःखं भगवता व्यपनेयं यतस्ततः ।
तच्च भीष्मप्रसूतं मे तं जहीश्वर मा चिरम् ।। ५ ।।

अम्बा बोली—भगवन्! आप जैसे हो सके वैसे ही मेरा दुःख दूर करें। वह दुःख भीष्मने पैदा किया है; अतः प्रभो! उसीका शीघ्र वध कीजिये ।। ५ ।।

राम उवाच

काशिकन्ये पुनर्ब्रूहि भीष्मस्ते चरणावुभौ ।

शिरसा वन्दनार्होऽपि ग्रहीष्यति गिरा मम ।। ६ ।।

परशुरामजी बोले—काशिराजकी पुत्री! तू पुनः सोचकर बता। यद्यपि भीष्म तेरे लिये वन्दनीय है, तथापि मेरे कहनेसे वह तेरे चरणोंको अपने सिरपर उठा लेगा ।।

अम्बोवाच

जहि भीष्मं रणे राम गर्जन्तमसुरं यथा ।
समाहूतो रणे राम मम चेदिच्छसि प्रियम् ।
प्रतिश्रुतं च यदपि तत् सत्यं कर्तुमर्हसि ।। ७ ।।

अम्बा बोली—राम! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो युद्धमें आमन्त्रित हो, असुरके समान गर्जना करनेवाले भीष्मको मार डालिये और आपने जो प्रतिज्ञा कर रखी है, उसे भी सत्य कीजिये ।। ७ ।।

भीष्म उवाच

तयोः संवदतोरेवं राजन् रामाम्बयोस्तदा ।
ऋषिः परमधर्मात्मा इदं वचनमब्रवीत् ।। ८ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! परशुराम और अम्बामें जब इस प्रकार बातचीत हो रही थी, उसी समय परम धर्मात्मा ऋषि अकृतव्रणने यह बात कही— ।। ८ ।।

शरणागतां महाबाहो कन्यां न त्यक्तुमर्हसि ।
यदि भीष्मो रणे राम समाहूतस्त्वया मृधे ।। ९ ।।
निर्जितोऽस्मीति वा ब्रूयात् कुर्याद् वा वचनं तव ।
कृतमस्या भवेत् कार्यं कन्याया भृगुनन्दन ।। १० ।।

‘महाबाहो! यह कन्या शरणमें आयी है; अतः आपको इसका त्याग नहीं करना चाहिये। भृगुनन्दन राम! यदि युद्धमें आपके बुलानेपर भीष्म सामने आकर अपनी पराजय स्वीकार करे अथवा आपकी बात ही मान ले तो इस कन्याका कार्य सिद्ध हो जायगा ।। ९-१० ।।

वाक्यं सत्यं च ते वीर भविष्यति कृतं विभो ।
इयं चापि प्रतिज्ञा ते तदा राम महामुने ।। ११ ।।
जित्वा वै क्षत्रियान् सर्वान् ब्राह्मणेषु प्रतिश्रुता ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चैव रणे यदि ।। १२ ।।
ब्रह्मद्विड् भविता तं वै हनिष्यामीति भार्गव ।
शरणार्थे प्रपन्नानां भीतानां शरणार्थिनाम् ।। १३ ।।
न शक्ष्यामि परित्यागं कर्तुं जीवन् कथंचन ।
यश्च कृत्स्नं रणे क्षत्रं विजेष्यति समागतम् ।। १४ ।।
दीप्तात्मानमहं तं च हनिष्यामीति भार्गव ।

'महामुने राम! प्रभो! ऐसा होनेसे आपकी कही हुई बात सत्य सिद्ध होगी। वीरवर भार्गव! आपने समस्त क्षत्रियोंको जीतकर ब्राह्मणोंके बीचमें यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र ब्राह्मणोंसे द्वेष करेगा तो मैं उसे निश्चय ही मार डालूँगा। साथ ही भयभीत होकर शरणमें आये हुए शरणार्थियोंका परित्याग मैं जीते-जी किसी प्रकार नहीं कर सकूँगा और जो युद्धमें एकत्र हुए सम्पूर्ण क्षत्रियोंको जीत लेगा, उस तेजस्वी पुरुषका भी मैं वध कर डालूँगा ।। ११—१४ १/२ ।।

स एवं विजयी राम भीष्मः कुरुकुलोद्वहः ।
तेन युध्यस्व संग्रामे समेत्य भृगुनन्दन ।। १५ ।।

'भृगुनन्दन राम! इस प्रकार कुरुकुलका भार वहन करनेवाला भीष्म समस्त क्षत्रियोंपर विजय पा चुका है; अतः आप संग्राममें उसके सामने जाकर युद्ध कीजिये' ।। १५ ।।

राम उवाच

स्मराम्यहं पूर्वकृतां प्रतिज्ञामृषिसत्तम ।
तथैव च चरिष्यामि यथा साम्नैव लप्स्यते ।। १६ ।।

परशुरामजी बोले—मुनिश्रेष्ठ! मुझे अपनी पहलेकी की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण है, तथापि मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि सामनीतिसे ही काम बन जाय ।। १६ ।।

कार्यमेतन्महद् ब्रह्मन् काशिकन्यामनोगतम् ।
गमिष्यामि स्वयं तत्र कन्यामादाय यत्र सः ।। १७ ।।

ब्रह्मन्! काशिराजकी कन्याके मनमें जो यह कार्य है, वह महान् है। मैं उसकी सिद्धिके लिये इस कन्याको साथ लेकर स्वयं ही वहाँ जाऊँगा, जहाँ भीष्म है ।। १७ ।।

यदि भीष्मो रणश्लाघी न करिष्यति मे वचः ।
हनिष्याम्येनमुद्रिक्तमिति मे निश्चिता मतिः ।। १८ ।।

यदि युद्धकी स्पृहा रखनेवाला भीष्म मेरी बात नहीं मानेगा तो मैं उस अभिमानीको मार डालूँगा; यह मेरा निश्चित विचार है ।। १८ ।।

न हि बाणा मयोत्सृष्टाः सज्जन्तीह शरीरिणाम् ।
कायेषु विदितं तुभ्यं पुरा क्षत्रियसंगरे ।। १९ ।।

मेरे चलाये हुए बाण देहधारियोंके शरीरमें अटकते नहीं हैं। (उन्हें विदीर्ण करके बाहर निकल जाते हैं।) यह बात तुम्हें पूर्वकालमें क्षत्रियोंके साथ होनेवाले युद्धके समय ज्ञात हो चुकी है ।। १९ ।।

एवमुक्त्वा ततो रामः सह तैर्ब्रह्मवादिभिः ।
प्रयाणाय मतिं कृत्वा समुत्तस्थौ महातपाः ।। २० ।।

ऐसा कहकर महातपस्वी परशुरामजी उन ब्रह्मवादी महर्षियोंके साथ प्रस्थान करनेका निश्चय करके उसके लिये उद्यत हो गये ।। २० ।।

ततस्ते तामुषित्वा तु रजनीं तत्र तापसाः ।
हुताग्नयो जप्तजप्याः प्रतस्थुर्मज्जिघांसया ।। २१ ।।

तत्पश्चात् रातभर वहीं रहकर प्रातःकाल संध्योपासन, गायत्री-जप और अग्निहोत्र करके वे तपस्वी मुनि मेरा वध करनेकी इच्छासे उस आश्रमसे चले ।। २१ ।।

अभ्यगच्छत् ततो रामः सह तैर्ब्रह्मवादिभिः ।
कुरुक्षेत्रं महाराज कन्यया सह भारत ।। २२ ।।

महाराज भरतनन्दन! फिर उन वेदवादी मुनियोंको साथ ले परशुरामजी राजकन्या अम्बाके साथ कुरुक्षेत्रमें आये ।।

न्यविशन्त ततः सर्वे परिगृह्य सरस्वतीम् ।
तापसास्ते महात्मानो भृगुश्रेष्ठपुरस्कृताः ।। २३ ।।

वहाँ भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीको आगे करके उन सभी तपस्वी महात्माओंने सरस्वती नदीके तटका आश्रय ले रात्रिमें निवास किया ।। २३ ।।

भीष्म उवाच

ततस्तृतीये दिवसे संदिदेश व्यवस्थितः ।
कुरु प्रियं स मे राजन् प्राप्तोऽस्मीति महाव्रतः ।। २४ ।।

भीष्मजी कहते हैं—तदनन्तर तीसरे दिन (हस्तिनापुरके बाहर) एक स्थानपर ठहरकर महान् व्रतधारी परशुरामजीने मुझे संदेश दिया—'राजन्! मैं यहाँ आया हूँ। तुम मेरा प्रिय कार्य करो' ।। २४ ।।

तमागतमहं श्रुत्वा विषयान्तं महाबलम् ।
अभ्यगच्छं जवेनाशु प्रीत्या तेजोनिधिं प्रभुम् ।। २५ ।।

तेजके भण्डार और महाबली भगवान् परशुरामको अपने राज्यकी सीमापर आया हुआ सुनकर मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ वेगपूर्वक उनके पास गया ।। २५ ।।

गां पुरस्कृत्य राजेन्द्र ब्राह्मणैः परिवारितः ।
ऋत्विग्भिर्देवकल्पैश्च तथैव च पुरोहितैः ।। २६ ।।

राजेन्द्र! उस समय एक गौको आगे करके ब्राह्मणोंसे घिरा हुआ मैं देवताओंके समान तेजस्वी ऋत्विजों तथा पुरोहितोंके साथ उनकी सेवामें उपस्थित हुआ ।। २६ ।।

स मामभिगतं दृष्ट्वा जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
प्रतिजग्राह तां पूजां वचनं चेदमब्रवीत् ।। २७ ।।

मुझे अपने समीप आया हुआ देख प्रतापी परशुरामजीने मेरी दी हुई पूजा स्वीकार की और इस प्रकार कहा ।। २७ ।।

राम उवाच

भीष्म कां बुद्धिमास्थाय काशिराजसुता तदा ।

अकामेन त्वयाऽऽनीता पुनश्चैव विसर्जिता ।। २८ ।।

परशुरामजी बोले—भीष्म! तुमने किस विचारसे उन दिनों स्वयं पत्नीकी कामनासे रहित होते हुए भी काशिराजकी इस कन्याका अपहरण किया, अपने घर ले आये और पुनः इसे निकाल बाहर किया ।। २८ ।।

विभ्रंशिता त्वया हीयं धर्मादास्ते यशस्विनी ।
परामृष्टां त्वया हीमां को हि गन्तुमिहार्हति ।। २९ ।।

तुमने इस यशस्विनी राजकुमारीको धर्मसे भ्रष्ट कर दिया है। तुम्हारे द्वारा इसका स्पर्श कर लिया गया है, ऐसी दशामें इसे दूसरा कौन ग्रहण कर सकता है? ।। २९ ।।

प्रत्याख्याता हि शाल्वेन त्वयाऽऽनीतेति भारत ।
तस्मादिमां मन्नियोगात् प्रतिगृह्णीष्व भारत ।। ३० ।।

भारत! तुम इसे हरकर लाये थे। इसी कारणसे शाल्वराजने इसके साथ विवाह करनेसे इन्कार कर दिया है; अतः अब तुम मेरी आज्ञासे इसे ग्रहण कर लो ।। ३० ।।

स्वधर्मं पुरुषव्याघ्र राजपुत्री लभत्वियम् ।
न युक्तस्त्ववमानोऽयं राज्ञां कर्तुं त्वयानघ ।। ३१ ।।

पुरुषसिंह! तुम्हें ऐसा करना चाहिये, जिससे इस राजकुमारीको स्वधर्मपालनका अवसर प्राप्त हो। अनघ! तुम्हें राजाओंका इस प्रकार अपमान करना उचित नहीं है ।। ३१ ।।

ततस्तं वै विमनसमुदीक्ष्याहमथाब्रुवम् ।
नाहमेनां पुनर्दद्यां ब्रह्मन् भ्रात्रे कथंचन ।। ३२ ।।

तब मैंने परशुरामजीको उदास देखकर इस प्रकार कहा—‘ब्रह्मन्! अब मैं इसका विवाह अपने भाईके साथ किसी प्रकार नहीं कर सकता ।। ३२ ।।

शाल्वस्याहमिति प्राह पुरा मामेव भार्गव ।
मया चैवाभ्यनुज्ञाता गतेयं नगरं प्रति ।। ३३ ।।

‘भृगुनन्दन! इसने पहले मुझसे ही आकर कहा कि मैं शाल्वकी हूँ, तब मैंने इसे जानेकी आज्ञा दे दी और यह शाल्वराजके नगरको चली गयी ।। ३३ ।।

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थलोभान्न काम्यया ।
क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम् ।। ३४ ।।

‘मैं भयसे, दयासे, धनके लोभसे तथा और किसी कामनासे भी क्षत्रियधर्मका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा स्वीकार किया हुआ व्रत है’ ।। ३४ ।।

अथ मामब्रवीद् रामः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।
न करिष्यसि चेदेतद् वाक्यं मे नरपुङ्गव ।। ३५ ।।
हनिष्यामि सहामात्यं त्वामद्येति पुनः पुनः ।

तब यह सुनकर परशुरामजीके नेत्रोंमें क्रोधका भाव व्याप्त हो गया और वे मुझसे इस प्रकार बोले—‘नरश्रेष्ठ! तुम यदि मेरी यह बात नहीं मानोगे तो आज मैं मन्त्रियोंसहित तुम्हें मार डालूँगा।’ इस बातको उन्होंने बार-बार दुहराया ।। ३५ $\frac{१}{२}$ ।।

संरम्भादब्रवीद् रामः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।। ३६ ।।

तमहं गीर्भिरिष्टाभिः पुनः पुनररिंदम ।

अयाचं भृगुशार्दूलं न चैव प्रशशाम सः ।। ३७ ।।

शत्रुदमन दुर्योधन! परशुरामजीने क्रोधभरे नेत्रोंसे देखते हुए बड़े रोषावेशमें आकर यह बात कही थी, तथापि मैं प्रिय वचनोंद्वारा उन भृगुश्रेष्ठ महात्मासे बार-बार शान्त रहनेके लिये प्रार्थना करता रहा; पर वे किसी प्रकार शान्त न हो सके ।। ३६-३७ ।।

प्रणम्य तमहं मूर्ध्ना भूयो ब्राह्मणसत्तमम् ।

अब्रुवं कारणं किं तद् यत् त्वं युद्धं मयेच्छसि ।। ३८ ।।

इष्वस्त्रं मम बालस्य भवतैव चतुर्विधम् ।

उपदिष्टं महाबाहो शिष्योऽस्मि तव भार्गव ।। ३९ ।।

तब मैंने उन ब्राह्मणशिरोमणिके चरणोंमें मस्तक झुकाकर पुनः प्रणाम किया और इस प्रकार पूछा—‘भगवन्! क्या कारण है कि आप मेरे साथ युद्ध करना चाहते हैं? बाल्यावस्थामें आपने ही मुझे चार प्रकारके धनुर्वेदकी शिक्षा दी है। महाबाहु भार्गव! मैं तो आपका शिष्य हूँ’ ।। ३८-३९ ।।

ततो मामब्रवीद् रामः क्रोधसंरक्तलोचनः ।

जानीषे मां गुरुं भीष्म गृह्णासीमां न चैव ह ।। ४० ।।

सुतां काश्यस्य कौरव्य मत्प्रियार्थं महामते ।

न हि ते विद्यते शान्तिरन्यथा कुरुनन्दन ।। ४१ ।।

तब परशुरामजीने क्रोधसे लाल आँखें करके मुझसे कहा—‘महामते भीष्म! तुम मुझे अपना गुरु तो समझते हो; परंतु मेरा प्रिय करनेके लिये काशिराजकी इस कन्याको ग्रहण नहीं करते हो; किंतु कुरुनन्दन! ऐसा किये बिना तुम्हें शान्ति नहीं मिल सकती ।। ४०-४१ ।।

गृहाणेमां महाबाहो रक्षस्व कुलमात्मनः ।

त्वया विभ्रंशिता हीयं भर्तारं नाधिगच्छति ।। ४२ ।।

‘महाबाहो! इसे ग्रहण कर लो और इस प्रकार अपने कुलकी रक्षा करो। तुम्हारे द्वारा अपनी मर्यादासे गिर जानेके कारण इसे पतिकी प्राप्ति नहीं हो रही है’ ।।

तथा ब्रुवन्तं तमहं रामं परपुरंजयम् ।

नैतदेवं पुनर्भावि ब्रह्मर्षे किं श्रमेण ते ।। ४३ ।।

ऐसी बातें करते हुए शत्रुनगरविजयी परशुरामजीसे मैंने स्पष्ट कह दिया—‘ब्रह्मर्षे! अब फिर ऐसी बात नहीं हो सकती। इस विषयमें आपके परिश्रमसे क्या होगा? ।। ४३ ।।

गुरुत्वं त्वयि सम्प्रेक्ष्य जामदग्न्य पुरातनम् ।
प्रसादये त्वां भगवंस्त्यक्तैषा तु पुरा मया ।। ४४ ।।

'जमदग्निनन्दन! भगवन्! आप मेरे प्राचीन गुरु हैं, यह सोचकर ही मैं आपको प्रसन्न करनेकी चेष्टा कर रहा हूँ। इस अम्बाको तो मैंने पहले ही त्याग दिया था ।। ४४ ।।

को जातु परभावां हि नारीं व्यालीमिव स्थिताम् ।
वासयेत गृहे जानन् स्त्रीणां दोषो महात्ययः ।। ४५ ।।

'दूसरेके प्रति अनुराग रखनेवाली नारी सर्पिणीके समान भयंकर होती है। कौन ऐसा पुरुष होगा, जो जान-बूझकर उसे कभी भी अपने घरमें स्थान देगा; क्योंकि स्त्रियोंका (परपुरुषमें अनुरागरूप) दोष महान् अनर्थका कारण होता है ।। ४५ ।।

न भयाद् वासवस्यापि धर्मं जह्यां महाव्रत ।
प्रसीद मा वा यद् वा ते कार्यं तत् कुरु मा चिरम् ।। ४६ ।।

'महान् व्रतधारी राम! मैं इन्द्रके भी भयसे धर्मका त्याग नहीं कर सकता। आप प्रसन्न हों या न हों। आपको जो कुछ करना हो, शीघ्र कर डालिये ।। ४६ ।।

अयं चापि विशुद्धात्मन् पुराणे श्रूयते विभो ।
मरुत्तेन महाबुद्धे गीतः श्लोको महात्मना ।। ४७ ।।
"गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते" ।। ४८ ।।

'विशुद्ध हृदयवाले परम बुद्धिमान् राम! पुराणमें महात्मा मरुत्तके द्वारा कहा हुआ यह श्लोक सुननेमें आता है कि यदि गुरु भी गर्वमें आकर कर्तव्य और अकर्तव्यको न समझते हुए कुपथका आश्रय ले तो उसका परित्याग कर दिया जाता है ।। ४७-४८ ।।

स त्वं गुरुरिति प्रेम्णा मया सम्मानितो भृशम् ।
गुरुवृत्तिं न जानीषे तस्माद् योत्स्यामि वै त्वया ।। ४९ ।।

'आप मेरे गुरु हैं, यह समझकर मैंने प्रेमपूर्वक आपका अधिक-से-अधिक सम्मान किया है; परंतु आप गुरुका-सा बर्ताव नहीं जानते; अतः मैं आपके साथ युद्ध करूँगा ।। ४९ ।।

गुरुं न हन्यां समरे ब्राह्मणं च विशेषतः ।
विशेषतस्तपोवृद्धमेवं क्षान्तं मया तव ।। ५० ।।

'एक तो आप गुरु हैं। उसमें भी विशेषतः ब्राह्मण हैं। उसपर भी विशेष बात यह है कि आप तपस्यामें बढ़े-चढ़े हैं। अतः आप-जैसे पुरुषको मैं कैसे मार सकता हूँ? यही सोचकर मैंने अबतक आपके तीक्ष्ण बर्तावको चुपचाप सह लिया ।। ५० ।।

उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा ब्राह्मणं क्षत्रबन्धुवत् ।
यो हन्यात् समरे क्रुद्धं युध्यन्तमपलायिनम् ।। ५१ ।।
ब्रह्महत्या न तस्य स्यादिति धर्मेषु निश्चयः ।

क्षत्रियाणां स्थितो धर्मे क्षत्रियोऽस्मि तपोधन ।। ५२ ।।

'यदि ब्राह्मण भी क्षत्रियकी भाँति धनुष-बाण उठाकर युद्धमें क्रोधपूर्वक सामने आकर युद्ध करने लगे और पीठ दिखाकर भागे नहीं तो उसे इस दशामें देखकर जो योद्धा मार डालता है, उसे ब्रह्महत्याका दोष नहीं लगता, यह धर्मशास्त्रोंका निर्णय है। तपोधन! मैं क्षत्रिय हूँ और क्षत्रियोंके ही धर्ममें स्थित हूँ ।। ५१-५२ ।।

यो यथा वर्तते यस्मिंस्तस्मिन्नेव प्रवर्तयन् ।
नाधर्मं समवाप्नोति न चाश्रेयश्च विन्दति ।। ५३ ।।

'जो जैसा बर्ताव करता है, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करनेवाला पुरुष न तो अधर्मको प्राप्त होता है और न अमंगलका ही भागी होता है ।। ५३ ।।

अर्थे वा यदि वा धर्मे समर्थो देशकालवित् ।
अर्थसंशयमापन्नः श्रेयान्निःसंशयो नरः ।। ५४ ।।

'अर्थ (लौकिक कृत्य) और धर्मके विवेचनमें कुशल तथा देश-कालके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष यदि अर्थके विषयमें संशय उत्पन्न होनेपर उसे छोड़कर संशयशून्य हृदयसे केवल धर्मका ही अनुष्ठान करे तो वह श्रेष्ठ माना गया है ।। ५४ ।।

यस्मात् संशयितेऽप्यर्थेऽयथान्यायं प्रवर्तसे ।
तस्माद् योत्स्यामि सहितस्त्वया राम महाहवे ।। ५५ ।।

'राम! 'अम्बा ग्रहण करनेयोग्य है या नहीं' यह संशयग्रस्त विषय है तो भी आप इसे ग्रहण करनेके लिये मुझसे न्यायोचित बर्ताव नहीं कर रहे हैं; इसलिये महान् समरांगणमें आपके साथ युद्ध करूँगा ।। ५५ ।।

पश्य मे बाहुवीर्यं च विक्रमं चातिमानुषम् ।
एवं गतेऽपि तु मया यच्छक्यं भृगुनन्दन ।। ५६ ।।
तत् करिष्ये कुरुक्षेत्रे योत्स्ये विप्र त्वया सह ।
द्वन्द्वे राम यथेष्टं मे सज्जीभव महाद्युते ।। ५७ ।।

'आप उस समय मेरे बाहुबल और अलौकिक पराक्रमको देखियेगा। भृगुनन्दन! ऐसी स्थितिमें भी मैं जो कुछ कर सकता हूँ, उसे अवश्य करूँगा। विप्रवर! मैं कुरुक्षेत्रमें चलकर आपके साथ युद्ध करूँगा। महातेजस्वी राम! आप द्वन्द्वयुद्धके लिये इच्छानुसार तैयारी कर लीजिये ।। ५६-५७ ।।

तत्र त्वं निहतो राम मया शरशतार्दितः ।
प्राप्स्यसे निर्जिताँल्लोकान् शस्त्रपूतो महारणे ।। ५८ ।।

'राम! उस महान् युद्धमें मेरे सैकड़ों बाणोंसे पीड़ित एवं शस्त्रपूत हो मारे जानेपर आप पुण्यकर्मोंद्वारा जीते हुए दिव्य लोकोंको प्राप्त करेंगे ।। ५८ ।।

स गच्छ विनिवर्तस्व कुरुक्षेत्रं रणप्रिय ।
तत्रैष्यामि महाबाहो युद्धाय त्वां तपोधन ।। ५९ ।।

‘युद्धप्रिय महाबाहु तपोधन! अब आप लौटिये और कुरुक्षेत्रमें ही चलिये। मैं युद्धके लिये वहीं आपके पास आऊँगा ।। ५९ ।।

अपि यत्र त्वया राम कृतं शौचं पुरा पितुः ।
तत्राहमपि हत्वा त्वां शौचं कर्तास्मि भार्गव ।। ६० ।।

‘भृगुनन्दन परशुराम! जहाँ पूर्वकालमें अपने पिताको अंजलि-दान देकर आपने आत्मशुद्धिका अनुभव किया था, वहीं मैं भी आपको मारकर आत्मशुद्धि करूँगा ।।

तत्र राम समागच्छ त्वरितं युद्धदुर्मद ।
व्यपनेष्यामि ते दर्पं पौराणं ब्राह्मणब्रुव ।। ६१ ।।

‘ब्राह्मण कहलानेवाले रणदुर्मद राम! आप तुरंत कुरुक्षेत्रमें पधारिये। मैं वहीं आकर आपके पुरातन दर्पका दलन करूँगा’ ।। ६१ ।।

यच्चापि कत्थसे राम बहुशः परिषत्सु वै ।
निर्जिताः क्षत्रिया लोके मयैकेनेति तच्छृणु ।। ६२ ।।

‘राम! आप जो बहुत बार भरी सभाओंमें अपनी प्रशंसाके लिये यह कहा करते हैं कि मैंने अकेले ही संसारके समस्त क्षत्रियोंको जीत लिया था तो उसका उत्तर सुन लीजिये ।। ६२ ।।

न तदा जातवान् भीष्मः क्षत्रियो वापि मद्विधः ।
पश्चाज्जातानि तेजांसि तृणेषु ज्वलितं त्वया ।। ६३ ।।

‘उन दिनों भीष्म अथवा मेरे-जैसा दूसरा कोई क्षत्रिय नहीं उत्पन्न हुआ था। तेजस्वी क्षत्रिय तो पीछे उत्पन्न हुए हैं। आप तो घास-फूसमें ही प्रज्वलित हुए हैं (तिनकोंके समान दुर्बल क्षत्रियोंपर ही अपना तेज प्रकट किया है) ।। ६३ ।।

यस्ते युद्धमयं दर्पं कामं च व्यपनाशयेत् ।
सोऽहं जातो महाबाहो भीष्मः परपुरंजयः ।
व्यपनेष्यामि ते दर्पं युद्धे राम न संशयः ।। ६४ ।।

‘महाबाहो! जो आपकी युद्धविषयक कामना तथा अभिमानको नष्ट कर सके, वह शत्रुनगरीपर विजय पानेवाला यह भीष्म तो अब उत्पन्न हुआ है। राम! मैं युद्धमें आपका सारा घमंड चूर-चूर कर दूँगा, इसमें संशय नहीं है’ ।। ६४ ।।

भीष्म उवाच

ततो मामब्रवीद् रामः प्रहसन्निव भारत ।
दिष्ट्या भीष्म मया सार्धं योद्धुमिच्छसि संगरे ।। ६५ ।।

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन! तब परशुरामजीने मुझसे हँसते हुए-से कहा—‘भीष्म! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम रणक्षेत्रमें मेरे साथ युद्ध करना चाहते हो ।। ६५ ।।

अयं गच्छामि कौरव्य कुरुक्षेत्रं त्वया सह ।
भाषितं ते करिष्यामि तत्रागच्छ परंतप ।। ६६ ।।
तत्र त्वां निहतं माता मया शरशताचितम् ।
जाह्नवी पश्यतां भीष्म गृध्रकङ्कबलाशनम् ।। ६७ ।।

'कुरुनन्दन! यह देखो, मैं तुम्हारे साथ युद्धके लिये कुरुक्षेत्रमें चलता हूँ। परंतप! वहीं आओ। मैं तुम्हारा कथन पूरा करूँगा। वहाँ तुम्हारी माता गंगा तुम्हें मेरे हाथसे मरकर सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त और कौओं, कंकों तथा गीधोंका भोजन बना हुआ देखेगी ।। ६६-६७ ।।

कृपणं त्वामभिप्रेक्ष्य सिद्धचारणसेविता ।
मया विनिहतं देवी रोदतामद्य पार्थिव ।। ६८ ।।

'राजन्! तुम दीन हो। आज तुम्हें मेरे हाथसे मारा गया देख सिद्ध-चारणसेविता गंगादेवी रुदन करें ।। ६८ ।।

अतदर्हा महाभागा भगीरथसुतानघा ।
या त्वामजीजनन्मन्दं युद्धकामुकमातुरम् ।। ६९ ।।

'यद्यपि वे महाभागा भगीरथपुत्री पापहीना गंगा यह दुःख देखनेके योग्य नहीं हैं, तथापि जिन्होंने तुम-जैसे युद्धकामी, आतुर एवं मूर्ख पुत्रको जन्म दिया है, उन्हें यह कष्ट भोगना ही पड़ेगा ।। ६९ ।।

एहि गच्छ मया भीष्म युद्धकामुक दुर्मद ।
गृहाण सर्वं कौरव्य रथादि भरतर्षभ ।। ७० ।।

'युद्धकी इच्छा रखनेवाले मदोन्मत्त भीष्म! आओ, मेरे साथ चलो। भरतश्रेष्ठ कुरुनन्दन! रथ आदि सारी सामग्री साथ ले लो' ।। ७० ।।

इति ब्रुवाणं तमहं राम परपुरंजयम् ।
प्रणम्य शिरसा राममेवमस्त्वित्यथाब्रुवम् ।। ७१ ।।

शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले परशुरामजीको इस प्रकार कहते देख मैंने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और 'एवमस्तु' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की ।। ७१ ।।

एवमुक्त्वा ययौ रामः कुरुक्षेत्रं युयुत्सया ।
प्रविश्य नगरं चाहं सत्यवत्यै न्यवेदयम् ।। ७२ ।।

ऐसा कहकर परशुरामजी युद्धकी इच्छासे कुरुक्षेत्रमें गये और मैंने नगरमें प्रवेश करके सत्यवतीसे यह सारा समाचार निवेदन किया ।। ७२ ।।

ततः कृतस्वस्त्ययनो मात्रा च प्रतिनन्दितः ।
द्विजातीन् वाच्य पुण्याहं स्वस्ति चैव महाद्युते ।। ७३ ।।
रथमास्थाय रुचिरं राजतं पाण्डुरैर्हयैः ।
सूपस्करं स्वधिष्ठानं वैयाघ्रपरिवारणम् ।। ७४ ।।

उपपन्नं महाशस्त्रैः सर्वोपकरणान्वितम् ।
तत्कुलीनेन वीरेण हयशास्त्रविदा रणे ।। ७५ ।।
यत्तुं सूतेन शिष्टेन बहुशो दृष्टकर्मणा ।

महातेजस्वी नरेश! उस समय स्वस्तिवाचन कराकर माता सत्यवतीने मेरा अभिनन्दन किया और मैं ब्राह्मणोंसे पुण्याहवाचन करा उनसे कल्याणकारी आशीर्वाद ले सुन्दर रजतमय रथपर आरूढ़ हुआ। उस रथमें श्वेत रंगके घोड़े जुते हुए थे। उसमें सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री सुन्दर ढंगसे रखी गयी थी। उसकी बैठक बहुत सुन्दर थी। रथके ऊपर व्याघ्रचर्मका आवरण लगाया गया था। वह रथ बड़े-बड़े शस्त्रों तथा समस्त उपकरणोंसे सम्पन्न था। युद्धमें जिसका कार्य अनेक बार देख लिया गया था, ऐसे सुशिक्षित, कुलीन, वीर तथा अश्वशास्त्रके पण्डित सारथिद्वारा उस रथका संचालन और नियन्त्रण होता था ।। ७३—७५½ ।।

दंशितः पाण्डुरेणाहं कवचेन वपुष्मता ।। ७६ ।।
पाण्डुरं कार्मुकं गृह्य प्रायां भरतसत्तम ।

भरतश्रेष्ठ! मैंने अपने शरीरपर श्वेतवर्णका कवच धारण करके श्वेत धनुष हाथमें लेकर यात्रा की ।।

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।। ७७ ।।
पाण्डुरैश्चापि व्यजनैर्वीज्यमानो नराधिप ।
शुक्लवासाः सितोष्णीषः सर्वशुक्लविभूषणः ।। ७८ ।।

नरेश्वर! उस समय मेरे मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था और मेरे दोनों ओर सफेद रंगके चँवर डुलाये जाते थे। मेरे वस्त्र, मेरी पगड़ी और मेरे समस्त आभूषण श्वेतवर्णके ही थे ।। ७७-७८ ।।

स्तूयमानो जयाशीर्भिर्निष्क्रम्य गजसाह्वयात् ।
कुरुक्षेत्रं रणक्षेत्रमुपायां भरतर्षभ ।। ७९ ।।

विजयसूचक आशीर्वादोंके साथ मेरी स्तुति की जा रही थी। भरतभूषण! उस अवस्थामें मैं हस्तिनापुरसे निकलकर कुरुक्षेत्रके समरांगणमें गया ।। ७९ ।।

ते हयाश्चोदितास्तेन सूतेन परमाहवे ।
अवहन् मां भृशं राजन् मनोमारुतरंहसः ।। ८० ।।

राजन्! मेरे घोड़े मन और वायुके समान वेगशाली थे। सारथिके हाँकनेपर उन्होंने बात-की-बातमें मुझे उस महान् युद्धके स्थानपर पहुँचा दिया ।। ८० ।।

गत्वाहं तत् कुरुक्षेत्रं स च रामः प्रतापवान् ।
युद्धाय सहसा राजन् पराक्रान्तौ परस्परम् ।। ८१ ।।

राजन्! मैं तथा प्रतापी परशुरामजी दोनों कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर युद्धके लिये सहसा एक-दूसरेको पराक्रम दिखानेके लिये उद्यत हो गये ।। ८१ ।।

ततः संदर्शनेऽतिष्ठं रामस्याතितपस्विनः ।
प्रगृह्य शङ्खप्रवरं ततः प्राधममुत्तमम् ।। ८२ ।।

तदनन्तर मैं अत्यन्त तपस्वी परशुरामजीकी दृष्टिके सामने खड़ा हुआ और अपने श्रेष्ठ शंखको हाथमें लेकर उसे जोर-जोरसे बजाने लगा ।। ८२ ।।

ततस्तत्र द्विजा राजंस्तापसाश्च वनौकसः ।
अपश्यन्त रणं दिव्यं देवाः सेन्द्रगणास्तदा ।। ८३ ।।

राजन्! उस समय वहाँ बहुत-से ब्राह्मण, वनवासी तपस्वी तथा इन्द्रसहित देवगण उस दिव्य युद्धको देखने लगे ।। ८३ ।।

ततो दिव्यानि माल्यानि प्रादुरासंस्ततस्ततः ।
वादित्राणि च दिव्यानि मेघवृन्दानि चैव ह ।। ८४ ।।

तदनन्तर वहाँ इधर-उधरसे दिव्य मालाएँ प्रकट होने लगीं और दिव्य वाद्य बज उठे। साथ ही सब ओर मेघोंकी घटाएँ छा गयीं ।। ८४ ।।

ततस्ते तापसाः सर्वे भार्गवस्यानुयायिनः ।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त परिवार्य रणाजिरम् ।। ८५ ।।

तदनन्तर परशुरामजीके साथ आये हुए वे सब तपस्वी उस संग्रामभूमिको सब ओरसे घेरकर दर्शक बन गये ।। ८५ ।।

ततो मामब्रवीद् देवी सर्वभूतहितैषिणी ।
माता स्वरूपिणी राजन् किमिदं ते चिकीर्षितम् ।। ८६ ।।

राजन्! उस समय समस्त प्राणियोंका हित चाहनेवाली मेरी माता गंगादेवी स्वरूपतः प्रकट होकर बोलीं—‘बेटा! यह तू क्या करना चाहता है? ।। ८६ ।।

गत्वाहं जामदग्न्यं तु प्रयाचिष्ये कुरूद्वह ।
भीष्मेण सह मा योत्सीः शिष्येणेति पुनः पुनः ।। ८७ ।।

‘कुरुश्रेष्ठ! मैं स्वयं जाकर जमदग्निनन्दन परशुरामजीसे बारंबार याचना करूँगी कि आप अपने शिष्य भीष्मके साथ युद्ध न कीजिये ।। ८७ ।।

मा मैवं पुत्र निर्बन्धं कुरु विप्रेण पार्थिव ।
जामदग्न्येन समरे योद्धुमित्येव भर्त्सयत् ।। ८८ ।।

‘बेटा! तू ऐसा आग्रह न कर। राजन्! विप्रवर जमदग्निनन्दन परशुरामके साथ समरभूमिमें युद्ध करनेका हठ अच्छा नहीं है।’ ऐसा कहकर वे डाँट बताने लगीं ।।

किन्न वै क्षत्रियहणो हरतुल्यपराक्रमः ।
विदितः पुत्र रामस्ते यतस्त्वं योद्धुमिच्छसि ।। ८९ ।।

अन्तमें वे फिर बोलीं—‘बेटा! क्षत्रियहन्ता परशुराम महादेवजीके समान पराक्रमी हैं। क्या तू उन्हें नहीं जानता, जो उनके साथ युद्ध करना चाहता है?’ ।। ८९ ।।

ततोऽहमब्रुवं देवीमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।

सर्वं तद् भरतश्रेष्ठ यथावृत्तं स्वयंवरे ।। ९० ।।

तब मैंने हाथ जोड़कर गंगादेवीको प्रणाम किया और स्वयंवरमें जैसी घटना घटित हुई थी, वह सब वृत्तान्त उनसे आद्योपान्त कह सुनाया ।। ९० ।।

यथा च रामो राजेन्द्र मया पूर्वं प्रचोदितः ।
काशिराजसुतायाश्च यथा कर्म पुरातनम् ।। ९१ ।।

राजेन्द्र! मैंने परशुरामजीसे पहले जो-जो बातें कही थीं तथा काशिराजकी कन्याकी जो पुरानी करतूतें थीं, उन सबको बता दिया ।। ९१ ।।

ततः सा राममभ्येत्य जननी मे महानदी ।
मदर्थं तमृषिं वीक्ष्य क्षमयामास भार्गवम् ।। ९२ ।।

तत्पश्चात् मेरी जन्मदायिनी माता गंगाने भृगुनन्दन परशुरामजीके पास जाकर मेरे लिये उनसे क्षमा माँगी ।।

भीष्मेण सह मा योत्सीः शिष्येणेति वचोऽब्रवीत् ।
स च तामाह याचन्तीं भीष्ममेव निवर्तय ।
न च मे कुरुते काममित्यहं तमुपागमम् ।। ९३ ।।

साथ ही यह भी कहा कि भीष्म आपका शिष्य है; अतः उसके साथ आप युद्ध न कीजिये। तब याचना करनेवाली मेरी मातासे परशुरामजीने कहा—'तुम पहले भीष्मको ही युद्धसे निवृत्त करो। वह मेरे इच्छानुसार कार्य नहीं कर रहा है; इसीलिये मैंने उसपर चढ़ाई की है' ।। ९३ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो गङ्गा सुतस्नेहाद् भीष्मं पुनरुपागमत् ।
न चास्याश्चाकरोद् वाक्यं क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।। ९४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब गंगादेवी पुत्रस्नेहवश पुनः भीष्मके पास आयीं। उस समय भीष्मके नेत्रोंमें क्रोध व्याप्त हो रहा था; अतः उन्होंने भी माताका कहना नहीं माना ।। ९४ ।।

अथादृश्यत धर्मात्मा भृगुश्रेष्ठो महातपाः ।
आह्वयामास च तदा युद्धाय द्विजसत्तमः ।। ९५ ।।

इतनेमें ही भृगुकुलतिलक ब्राह्मणशिरोमणि महातपस्वी धर्मात्मा परशुरामजी दिखायी दिये। उन्होंने सामने आकर युद्धके लिये भीष्मको ललकारा ।। ९५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि परशुरामभीष्मयोः कुरुक्षेत्रावतरणे अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम और भीष्मका कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये अवतरणविषयक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७८ ।।

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

संकल्पनिर्मित रथपर आरूढ़ परशुरामजीके साथ भीष्मका युद्ध प्रारम्भ करना

भीष्म उवाच

तमहं स्मयन्निव रणे प्रत्यभाषं व्यवस्थितम् ।
भूमिष्ठं नोत्सहे योद्धुं भवन्तं रथमास्थितः ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तब मैं युद्धके लिये खड़े हुए परशुरामजीसे मुसकराता हुआ-सा बोला—'ब्रह्मन्! मैं रथपर बैठा हूँ और आप भूमिपर खड़े हैं। ऐसी दशामें मैं आपके साथ युद्ध नहीं कर सकता ।। १ ।।

आरोह स्यन्दनं वीर कवचं च महाभुज ।
बधान समरे राम यदि योद्धुं मयेच्छसि ।। २ ।।

'महाबाहो! वीरवर राम! यदि आप समरभूमिमें मेरे साथ युद्ध करना चाहते हैं तो रथपर आरूढ़ होइये और कवच भी बाँध लीजिये' ।। २ ।।

ततो मामब्रवीद् रामः स्मयमानो रणाजिरे ।
रथो मे मेदिनी भीष्म वाहा वेदाः सदश्ववत् ।। ३ ।।
सूतश्च मातरिश्वा वै कवचं वेदमातरः ।
सुसंवीतो रणे ताभिर्योत्स्येऽहं कुरुनन्दन ।। ४ ।।

तब परशुरामजी समरांगणमें किंचित् मुसकराते हुए मुझसे बोले—'कुरुनन्दन भीष्म! मेरे लिये तो पृथ्वी ही रथ है, चारों वेद ही उत्तम अश्वोंके समान मेरे वाहन हैं, वायुदेव ही सारथि हैं और वेदमाताएँ (गायत्री, सावित्री और सरस्वती) ही कवच हैं। इन सबसे आवृत एवं सुरक्षित होकर मैं रणक्षेत्रमें युद्ध करूँगा' ।। ३-४ ।।

एवं ब्रुवाणो गान्धारे रामो मां सत्यविक्रमः ।
शरव्रातेन महता सर्वतः प्रत्यवारयत् ।। ५ ।।

गान्धारीनन्दन! ऐसा कहते हुए सत्यपराक्रमी परशुरामजीने मुझे सब ओरसे अपने बाणोंके महान् समुदायद्वारा आवृत कर लिया ।। ५ ।।

ततोऽपश्यं जामदग्न्यं रथमध्ये व्यवस्थितम् ।
सर्वायुधवरे श्रीमत्यद्भुतोपमदर्शने ।। ६ ।।

उस समय मैंने देखा, जमदग्निनन्दन परशुराम सम्पूर्ण श्रेष्ठ आयुधोंसे सुशोभित, तेजस्वी एवं अद्भुत दिखायी देनेवाले रथमें बैठे हैं ।। ६ ।।

मनसा विहिते पुण्ये विस्तीर्णे नगरोपमे ।

दिव्याश्वयुजि संनद्धे काञ्चनेन विभूषिते ।। ७ ।।

उसका विस्तार एक नगरके समान था। उस पुण्यरथका निर्माण उन्होंने अपने मानसिक संकल्पसे किया था। उसमें दिव्य अश्व जुते हुए थे। वह स्वर्णभूषित रथ सब प्रकारसे सुसज्जित था ।। ७ ।।

कवचेन महाबाहो सोमार्ककृतलक्ष्मणा ।
धनुर्धरो बद्धतूणो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।। ८ ।।

महाबाहो! परशुरामजीने एक सुन्दर कवच धारण कर रखा था, जिसमें चन्द्रमा और सूर्यके चिह्न बने हुए थे। उन्होंने हाथमें धनुष लेकर पीठपर तरकस बाँध रखा था और अंगुलियोंकी रक्षाके लिये गोहके चर्मके बने हुए दस्ताने पहन रखे थे ।। ८ ।।

सारथ्यं कृतवांस्तत्र युयुत्सोरकृतव्रणः ।
सखा वेदविदत्यन्तं दयितो भार्गवस्य ह ।। ९ ।।

उस समय युद्धके इच्छुक परशुरामजीके प्रिय सखा वेदवेत्ता अकृतव्रणने उनके सारथिका कार्य सम्पन्न किया ।। ९ ।।

आह्वयानः स मां युद्धे मनो हर्षयतीव मे ।
पुनः पुनरभिक्रोशन्नभियाहीति भार्गवः ।। १० ।।

भृगुनन्दन राम 'आओ, आओ' कहकर बार-बार मुझे पुकारते और युद्धके लिये मेरा आह्वान करते हुए मेरे मनको हर्ष और उत्साह-सा प्रदान कर रहे थे ।। १० ।।

तमादित्यमिवोद्यन्तमनाधृष्यं महाबलम् ।
क्षत्रियान्तकरं राममेकमेकः समासदम् ।। ११ ।।

उदयकालीन सूर्यके समान तेजस्वी, अजेय, महाबली और क्षत्रियविनाशक परशुराम अकेले ही युद्धके लिये खड़े थे। अतः मैं भी अकेला ही उनका सामना करनेके लिये गया ।। ११ ।।

ततोऽहं बाणपातेषु त्रिषु वाहान् निगृह्य वै ।
अवतीर्य धनुर्न्यस्य पदातिर्ऋषिसत्तमम् ।। १२ ।।
अभ्यागच्छं तदा राममर्चिष्यन् द्विजसत्तमम् ।
अभिवाद्य चैनं विधिवदब्रुवं वाक्यमुत्तमम् ।। १३ ।।

जब वे तीन बार मेरे ऊपर बाणोंका प्रहार कर चुके, तब मैं घोड़ोंको रोककर और धनुष रखकर रथसे उतर गया और उन ब्राह्मणशिरोमणि मुनिप्रवर परशुरामजीका समादर करनेके लिये पैदल ही उनके पास गया। जाकर विधिपूर्वक उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् यह उत्तम वचन बोला— ।। १२-१३ ।।

योत्स्ये त्वया रणे राम सदृशेनाधिकेन वा ।
गुरुणा धर्मशीलेन जयमाशास्व मे विभो ।। १४ ।।

'भगवन् परशुराम! आप मेरे समान अथवा मुझसे भी अधिक शक्तिशाली हैं। मेरे धर्मात्मा गुरु हैं। मैं इस रणक्षेत्रमें आपके साथ युद्ध करूँगा; अतः आप मुझे विजयके लिये आशीर्वाद दें' ।। १४ ।।

राम उवाच

एवमेतत् कुरुश्रेष्ठ कर्तव्यं भूतिमिच्छता ।
धर्मो ह्येष महाबाहो विशिष्टैः सह युध्यताम् ।। १५ ।।

परशुरामजीने कहा—कुरुश्रेष्ठ! अपनी उन्नतिके चाहनेवाले प्रत्येक योद्धाको ऐसा ही करना चाहिये। महाबाहो! अपनेसे विशिष्ट गुरुजनोंके साथ युद्ध करनेवाले राजाओंका यही धर्म है ।। १५ ।।

शपेयं त्वां न चेदेवमागच्छेथा विशाम्पते ।
युध्यस्व त्वं रणे यत्तो धैर्यमालम्ब्य कौरव ।। १६ ।।

प्रजानाथ! यदि तुम इस प्रकार मेरे समीप नहीं आते तो मैं तुम्हें शाप दे देता। कुरुनन्दन! तुम धैर्य धारण करके इस रणक्षेत्रमें प्रयत्नपूर्वक युद्ध करो ।। १६ ।।

न तु ते जयमाशासे त्वां विजेतुमहं स्थितः ।
गच्छ युध्यस्व धर्मेण प्रीतोऽस्मि चरितेन ते ।। १७ ।।

मैं तो तुम्हें विजयसूचक आशीर्वाद नहीं दे सकता; क्योंकि इस समय मैं तुम्हें पराजित करनेके लिये खड़ा हूँ। जाओ, धर्मपूर्वक युद्ध करो। तुम्हारे इस शिष्टाचारसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ ।। १७ ।।

ततोऽहं तं नमस्कृत्य रथमारुह्य सत्वरः ।
प्राध्मापयं रणे शङ्खं पुनर्हेमपरिष्कृतम् ।। १८ ।।

तब मैं उन्हें नमस्कार करके शीघ्र ही रथपर जा बैठा और उस युद्धभूमिमें मैंने पुनः अपने सुवर्णजटित शंखको बजाया ।। १८ ।।

ततो युद्धं समभवन्मम तस्य च भारत ।
दिवसान् सुबहून् राजन् परस्परजिगीषया ।। १९ ।।

राजन्! भरतनन्दन! तदनन्तर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे मेरा तथा परशुरामजीका युद्ध बहुत दिनोंतक चलता रहा ।। १९ ।।

स मे तस्मिन् रणे पूर्वं प्राहरत् कङ्कपत्रिभिः ।
षष्ट्या शतैश्च नवभिः शराणां नतपर्वणाम् ।। २० ।।

उस रणभूमिमें उन्होंने ही पहले मेरे ऊपर गीधकी पाँखोंसे सुशोभित तथा मुड़े हुए पर्ववाले नौ सौ साठ बाणोंद्वारा प्रहार किया ।। २० ।।

चत्वारस्तेन मे वाहाः सूतश्चैव विशाम्पते ।
प्रतिरुद्धास्तथैवाहं समरे दंशितः स्थितः ।। २१ ।।

राजन्! उन्होंने मेरे चारों घोड़ों तथा सारथिको भी अवरुद्ध कर दिया तो भी मैं पूर्ववत् कवच धारण किये उस समरभूमिमें डटा रहा ।। २१ ।।

नमस्कृत्य च देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ।
तमहं स्मयन्निव रणे प्रत्यभाषं व्यवस्थितम् ।। २२ ।।

तत्पश्चात् देवताओं और विशेषतः ब्राह्मणोंको नमस्कार कर मैं रणभूमिमें खड़े हुए परशुरामजीसे मुसकराता हुआ-सा बोला— ।। २२ ।।

आचार्यता मानिता मे निर्मर्यादे ह्यपि त्वयि ।
भूयश्च शृणु मे ब्रह्मन् सम्पदं धर्मसंग्रहे ।। २३ ।।

'ब्रह्मन्! यद्यपि आप अपनी मर्यादा छोड़े बैठे हैं तो भी मैंने सदा आपके आचार्यत्वका सम्मान किया है। धर्मसंग्रहके विषयमें मेरा जो दृढ़ विचार है, उसे आप पुनः सुन लीजिये ।। २३ ।।

ये ते वेदाः शरीरस्था ब्राह्मण्यं यच्च ते महत् ।
तपश्च ते महत् तप्तं न तेभ्यः प्रहराम्यहम् ।। २४ ।।

'विप्रवर! आपके शरीरमें जो वेद हैं, जो आपका महान् ब्राह्मणत्व है तथा आपने जो बड़ी भारी तपस्या की है, उन सबके ऊपर मैं बाणोंका प्रहार नहीं करता हूँ ।। २४ ।।

प्रहरे क्षत्रधर्मस्य यं राम त्वं समाश्रितः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियत्वं हि याति शस्त्रसमुद्यमात् ।। २५ ।।

'राम! आपने जिस क्षत्रियधर्मका आश्रय लिया है, मैं उसीपर प्रहार करूँगा; क्योंकि ब्राह्मण हथियार उठाते ही क्षत्रियभावको प्राप्त कर लेता है ।। २५ ।।

पश्य मे धनुषो वीर्यं पश्य बाह्वोर्बलं मम ।
एष ते कार्मुकं वीर छिनद्मि निशितेषुणा ।। २६ ।।

'अब आप मेरे धनुषकी शक्ति और मेरी भुजाओंका बल देखिये। वीर! मैं अपने बाणसे आपके धनुषको अभी काट देता हूँ' ।। २६ ।।

तस्याहं निशितं भल्लं चिक्षेप भरतर्षभ ।
तेनास्य धनुषः कोटिं छित्त्वा भूमावपातयम् ।। २७ ।।

भरतश्रेष्ठ! ऐसा कहकर मैंने उनके ऊपर तेज धारवाले एक भल्ल नामक बाणका प्रहार किया और उसके द्वारा उनके धनुषकी कोटि (अग्रभाग)-को काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया ।। २७ ।।

तथैव च पृषत्कानां शतानि नतपर्वणाम् ।
चिक्षेप कङ्कपत्राणां जामदग्न्यरथं प्रति ।। २८ ।।

इसी प्रकार परशुरामजीके रथकी ओर मैंने गीधकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले सौ बाण चलाये ।। २८ ।।

काये विषक्तास्तु तदा वायुना समुदीरिताः ।

चेलुः क्षरन्तो रुधिरं नागा इव च ते शराः ।। २९ ।।

वे बाण वायुद्वारा उड़ाये हुए सर्पोंकी भाँति परशुरामजीके शरीरमें धँसकर खून बहाते हुए चल दिये ।।

क्षतजोक्षितसर्वाङ्गः क्षरन् स रुधिरं रणे ।
बभौ रामस्तदा राजन् मेरुर्धातुमिवोत्सृजन् ।। ३० ।।

राजन्! उस समय उनके सारे अंग लहूलुहान हो गये। जैसे मेरु पर्वत वर्षाकालमें गेरु आदि धातुओंसे मिश्रित जलकी धार बहाता है, उसी प्रकार उस रणभूमिमें अपने अंगोंसे रक्तकी धारा बहाते हुए परशुरामजी शोभा पाने लगे ।। ३० ।।

हेमन्तान्तेऽशोक इव रक्तस्तबकमण्डितः ।
बभौ रामस्तथा राजन् प्रफुल्ल इव किंशुकः ।। ३१ ।।

राजन्! जैसे वसन्त-ऋतुमें लाल फूलोंके गुच्छोंसे अलंकृत अशोक और खिला हुआ पलाश सुशोभित होता है, परशुरामजीकी भी वैसी ही शोभा हुई ।। ३१ ।।

ततोऽन्यद् धनुरादाय रामः क्रोधसमन्वितः ।
हेमपुङ्खान् सुनिशिताञ्शरांस्तान् हि ववर्ष सः ।। ३२ ।।

तब क्रोधमें भरे हुए परशुरामजीने दूसरा धनुष लेकर सोनेकी पाँखोंसे सुशोभित अत्यन्त तीखे बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ।। ३२ ।।

ते समासाद्य मां रौद्रा बहुधा मर्मभेदिनः ।
अकम्पयन् महावेगाः सर्पानलविषोपमाः ।। ३३ ।।

वे नाना प्रकारके भयंकर बाण मुझपर चोट करके मेरे मर्मस्थानोंका भेदन करने लगे। उनका वेग महान् था। वे सर्प, अग्नि और विषके समान जान पड़ते थे। उन्होंने मुझे कम्पित कर दिया ।। ३३ ।।

तमहं समवष्टभ्य पुनरात्मानमाहवे ।
शतसंख्यैः शरैः क्रुद्धस्तदा राममवाकिरम् ।। ३४ ।।

तब मैंने पुनः अपने-आपको स्थिर करके कुपित हो उस युद्धमें परशुरामजीपर सैकड़ों बाण बरसाये ।।

स तैरग्न्यर्कसंकाशैः शरैराशीविषोपमैः ।
शितैरभ्यर्दितो रामो मन्दचेता इवाभवत् ।। ३५ ।।

वे बाण अग्नि, सूर्य तथा विषधर सर्पोंके समान भयंकर एवं तीक्ष्ण थे। उनसे पीड़ित होकर परशुरामजी अचेत-से हो गये ।। ३५ ।।

ततोऽहं कृपयाऽऽविष्टो विष्टभ्यात्मानमात्मना ।
धिग्धिगित्यब्रुवं युद्धं क्षत्रधर्मं च भारत ।। ३६ ।।

भारत! तब मैं दयासे द्रवित हो स्वयं ही अपने-आपमें धैर्य लाकर युद्ध और क्षत्रियधर्मको धिक्कार देने लगा ।। ३६ ।।

असकृच्चाब्रुवं राजन् शोकवेगपरिप्लुतः ।
अहो बत कृतं पापं मेयदं क्षत्रधर्मणा ।। ३७ ।।
गरुर्द्विजातिर्धर्मात्मा यदेवं पीडितः शरैः ।

राजन्! उस समय शोकके वेगसे व्याकुल हो मैं बार-बार इस प्रकार कहने लगा—'अहो! मुझ क्षत्रियने यह बड़ा भारी पाप कर डाला, जो कि धर्मात्मा एवं ब्राह्मण गुरुको इस प्रकार बाणोंसे पीड़ित किया' ।। ३७ 1/2 ।।

ततो न प्राहरं भूयो जामदग्न्याय भारत ।। ३८ ।।
अथावताप्य पृथिवीं पूषा दिवससंक्षये ।
जगामास्तं सहस्रांशुस्ततो युद्धमुपारमत् ।। ३९ ।।

भारत! उसके बादसे मैंने परशुरामजीपर फिर प्रहार नहीं किया। इधर सहस्र किरणोंवाले भगवान् सूर्य इस पृथ्वीको तपाकर दिनका अन्त होनेपर अस्त हो गये; इसलिये वह युद्ध बंद हो गया ।। ३८-३९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १७९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम और भीष्मका युद्धविषयक एक सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७९ ।।

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका घोर युद्ध

भीष्म उवाच

आत्मनस्तु ततः सूतो हयानां च विशाम्पते ।
मम चापनयामास शल्यान् कुशलसम्मतः ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर अपने कार्यमें कुशल एवं सम्मानित सारथिने अपने घोड़ोंके तथा मेरे भी शरीरमें चुभे हुए बाणोंको निकाला ।। १ ।।

स्नातापवृत्तैस्तुरगैर्लब्धतोयैरविह्वलैः ।
प्रभाते चोदिते सूर्ये ततो युद्धमवर्तत ।। २ ।।

घोड़े टहलाये गये और लोट-पोट कर लेनेपर नहलाये गये; फिर उन्हें पानी पिलाया गया, इस प्रकार जब वे स्वस्थ और शान्त हुए, तब प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर पुनः युद्ध आरम्भ हुआ ।। २ ।।

दृष्ट्वा मां तूर्णमायान्तं दंशितं स्यन्दने स्थितम् ।
अकरोद् रथमत्यर्थं रामः सज्जं प्रतापवान् ।। ३ ।।

मुझे रथपर बैठकर कवच धारण किये शीघ्रता-पूर्वक आते देख प्रतापी परशुरामजीने अपने रथको अत्यन्त सुसज्जित किया ।। ३ ।।

ततोऽहं राममायान्तं दृष्ट्वा समरकाङ्क्षिणम् ।
धनुः श्रेष्ठं समुत्सृज्य सहसावतरं रथात् ।। ४ ।।

तदनन्तर युद्धकी इच्छावाले परशुरामजीको आते देख मैं अपना श्रेष्ठ धनुष छोड़कर सहसा रथसे उतर पड़ा ।। ४ ।।

अभिवाद्य तथैवाहं रथमारुह्य भारत ।
युयुत्सुर्जामदग्न्यस्य प्रमुखे वीतभीः स्थितः ।। ५ ।।

भारत! पूर्ववत् गुरुको प्रणाम करके अपने रथपर आरूढ़ हो युद्धकी इच्छासे परशुरामजीके सामने मैं निर्भय होकर डट गया ।। ५ ।।

ततोऽहं शरवर्षेण महता समवाकिरम् ।
स च मां शरवर्षेण वर्षन्तं समवाकिरत् ।। ६ ।।

तदनन्तर मैंने उनपर बाणोंकी भारी वर्षा की। फिर उन्होंने भी बाणोंकी वर्षा करनेवाले मुझ भीष्मपर बहुत-से बाण बरसाये ।। ६ ।।

संक्रुद्धो जामदग्न्यस्तु पुनरेव सुतेजितान् ।
सम्प्रैषीन्मे शरान् घोरान् दीप्तास्यानुरगानिव ।। ७ ।।

तत्पश्चात् जमदग्निकुमारने पुनः अत्यन्त क्रुद्ध होकर मुझपर प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंकी भाँति तेज किये हुए भयानक बाण चलाये ।। ७ ।।

ततोऽहं निशितैर्भल्लैः शतशोऽथ सहस्रशः ।

अच्छिदं सहसा राजन्नन्तरिक्षे पुनः पुनः ।। ८ ।।

राजन्! तब मैंने सहसा तीखी धारवाले भल्ल नामक बाणोंसे आकाशमें ही उन सबके सैकड़ों और हजारों टुकड़े कर दिये। यह क्रिया बारंबार चलती रही ।। ८ ।।

ततस्त्वस्त्राणि दिव्यानि जामदग्न्यः प्रतापवान् ।

मयि प्रयोजयामास तान्यहं प्रत्यषेधयम् ।। ९ ।।

अस्त्रैरेव महाबाहो चिकीर्षन्नधिकां क्रियाम् ।

इसके पश्चात् प्रतापी परशुरामजीने मेरे ऊपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया; परंतु महाबाहो! मैंने उनसे भी अधिक पराक्रम प्रकट करनेकी इच्छा रखकर उन सब अस्त्रोंका दिव्यास्त्रोंद्वारा ही निवारण कर दिया ।। ९$\frac{१}{२}$ ।।

ततो दिवि महान् नादः प्रादुरासीत् समन्ततः ।। १० ।।

ततोऽहमस्त्रं वायव्यं जामदग्न्ये प्रयुक्तवान् ।

प्रत्याजघ्ने च तद् रामो गुह्यकास्त्रेण भारत ।। ११ ।।

उस समय आकाशमें चारों ओर बड़ा कोलाहल होने लगा। इसी समय मैंने जमदग्निकुमारपर वायव्यास्त्रका प्रयोग किया। भारत! परशुरामजीने गुह्यकास्त्रद्वारा मेरे उस अस्त्रको शान्त कर दिया ।। १०-११ ।।

ततोऽहमस्त्रमाग्नेयमनुमन्त्र्य प्रयुक्तवान् ।

वारुणेनैव तद् रामो वारयामास मे विभुः ।। १२ ।।

तत्पश्चात् मैंने मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया; किंतु भगवान् परशुरामने वारुणास्त्र चलाकर उसका निवारण कर दिया ।। १२ ।।

एवमस्त्राणि दिव्यानि रामस्याहमवारयम् ।

रामश्च मम तेजस्वी दिव्यास्त्रविदरिंदमः ।। १३ ।।

इस प्रकार मैं परशुरामजीके दिव्यास्त्रोंका निवारण करता और शत्रुओंका दमन करनेवाले दिव्यास्त्रवेत्ता तेजस्वी परशुराम भी मेरे अस्त्रोंका निवारण कर देते थे ।। १३ ।।

ततो मां सव्यतो राजन् रामः कुर्वन् द्विजोत्तमः ।

उरस्यविध्यत् संक्रुद्धो जामदग्न्यः प्रतापवान् ।। १४ ।।

राजन्! तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए प्रतापी विप्रवर परशुरामने मुझे बायें लेकर मेरे वक्षःस्थलको बाणद्वारा बींध दिया ।। १४ ।।

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ संन्यषीदं रथोत्तमे ।

ततो मां कश्मलाविष्टं सूतस्तूर्णमुदावहत् ।। १५ ।।

भरतश्रेष्ठ! उससे घायल होकर मैं उस श्रेष्ठ रथपर बैठ गया, उस समय मुझे मूर्च्छित अवस्थामें देखकर सारथि शीघ्र ही अन्यत्र हटा ले गया ।। १५ ।।

ग्लायन्तं भरतश्रेष्ठ रामबाणप्रपीडितम् ।
ततो मामपयातं वै भृशं विद्धमचेतसम् ।। १६ ।।
रामस्यानुचरा हृष्टाः सर्वे दृष्ट्वा विचुक्रुशुः ।
अकृतव्रणप्रभृतयः काशिकन्या च भारत ।। १७ ।।

भरतश्रेष्ठ! परशुरामजीके बाणसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण मुझे बड़ी व्याकुलता हो रही थी। मैं अत्यन्त घायल और अचेत होकर रणभूमिसे दूर हट गया था। भारत! इस अवस्थामें मुझे देखकर परशुरामजीके अकृतव्रण आदि सेवक तथा काशिराजकी कन्या अम्बा ये सब-के-सब अत्यन्त प्रसन्न हो कोलाहल करने लगे ।। १६-१७ ।।

ततस्तु लब्धसंज्ञोऽहं ज्ञात्वा सूतमथाब्रुवम् ।
याहि सूत यतो रामः सज्जोऽहं गतवेदनः ।। १८ ।।

इतनेहीमें मुझे चेत हो गया और सब कुछ जानकर मैंने सारथिसे कहा—‘सूत! जहाँ परशुरामजी हैं, वहीं चलो। मेरी पीड़ा दूर हो गयी है और अब मैं युद्धके लिये सुसज्जित हूँ’ ।। १८ ।।

ततो मामवहत् सूतो हयैः परमशोभितैः ।
नृत्यद्भिरिव कौरव्य मारुतप्रतिमैर्गतौ ।। १९ ।।

कुरुनन्दन! तब सारथिने अत्यन्त शोभाशाली अश्वोंद्वारा, जो वायुके समान वेगसे चलनेके कारण नृत्य करते-से जान पड़ते थे, मुझे युद्धभूमिमें पहुँचाया ।। १९ ।।

ततोऽहं राममासाद्य बाणवर्षैश्च कौरव ।
अवाकिरं सुसंरब्धः संरब्धं च जिगीषया ।। २० ।।

कौरव! तब मैंने क्रोधमें भरे हुए परशुरामजीके पास पहुँचकर उन्हें जीतनेकी इच्छासे स्वयं भी कुपित होकर उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ।। २० ।।

तानापतत एवासौ रामो बाणानजिह्मगान् ।
बाणैरेवाच्छिनत् तूर्णमेकैकं त्रिभिराहवे ।। २१ ।।

किंतु परशुरामजीने सीधे लक्ष्यकी ओर जानेवाले उन बाणोंके आते ही एक-एकको तीन-तीन बाणोंसे तुरंत काट दिया ।। २१ ।।

ततस्ते सूदिताः सर्वे मम बाणाः सुसंशिताः ।
रामबाणैर्द्विधा छिन्नाः शतशोऽथ सहस्रशः ।। २२ ।।

इस प्रकार मेरे चलाये हुए वे सब सैकड़ों और हजारों तीखे बाण परशुरामजीके सायकोंसे कटकर दो-दो टूक हो नष्ट हो गये ।। २२ ।।

ततः पुनः शरं दीप्तं सुप्रभं कालसम्मितम् ।
असृजं जामदग्न्याय रामायाहं जिघांसया ।। २३ ।।

तब मैंने पुनः जमदग्निनन्दन परशुरामकी ओर उन्हें मार डालनेकी इच्छासे एक कालाग्निके समान प्रज्वलित तथा तेजस्वी बाण छोड़ा ।। २३ ।।

तेन त्वभिहतो गाढं बाणवेगवशं गतः ।
मुमोह समरे रामो भूमौ च निपपात ह ।। २४ ।।

उसकी गहरी चोट खाकर परशुरामजी उस बाणके वेगके अधीन हो समरभूमिमें मूर्च्छित हो गये और धरतीपर गिर पड़े ।। २४ ।।

ततो हाहाकृतं सर्वं रामे भूतलमाश्रिते ।
जगद् भारत संविग्नं यथार्कपतने भवेत् ।। २५ ।।

परशुरामके पृथ्वीपर गिरते ही मानो आकाशसे सूर्य टूटकर गिरे हों, ऐसा समझकर सारा जगत् भयभीत हो हाहाकार करने लगा ।। २५ ।।

तत एनं समुद्विग्नाः सर्व एवाभिदुद्रुवुः ।
तपोधनास्ते सहसा काश्या च कुरुनन्दन ।। २६ ।।
तत एनं परिष्वज्य शनैराश्वासयंस्तदा ।
पाणिभिर्जलशीतैश्च जयाशीर्भिश्च कौरव ।। २७ ।।

कुरुनन्दन! उस समय वे तपोधन और काशिराजकी कन्या सब-के-सब अत्यन्त उद्विग्न हो सहसा उनके पास दौड़े गये और उन्हें हृदयसे लगा हाथ फेरकर तथा शीतल जल छिड़ककर विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए सान्त्वना देने लगे ।। २६-२७ ।।

ततः स विह्वलं वाक्यं राम उत्थाय चाब्रवीत् ।
तिष्ठ भीष्म हतोऽसीति बाणं संधाय कार्मुके ।। २८ ।।

तदनन्तर कुछ स्वस्थ होनेपर परशुरामजी उठ गये और धनुषपर बाण चढ़ाकर विह्वल स्वरमें बोले—'भीष्म! खड़े रहो, अब तुम मारे गये' ।। २८ ।।

स मुक्तो न्यपतत् तूर्णं सव्ये पार्श्वे महाहवे ।
येनाहं भृशमुद्विग्नो व्याघूर्णित इव द्रुमः ।। २९ ।।

उस महान् युद्धमें उनके धनुषसे छूटा हुआ वह बाण तुरंत मेरी बायीं पसलीपर पड़ा, जिससे मैं अत्यन्त उद्विग्न होकर वृक्षकी भाँति झूमने लगा ।। २९ ।।

हत्वा हयांस्ततो रामः शीघ्रास्त्रेण महाहवे ।
अवाकिरन्मां विस्रब्धो बाणैस्तैर्लोमवाहिभिः ।। ३० ।।

फिर तो परशुरामजी उस महासमरमें शीघ्र छोड़े हुए अस्त्रद्वारा मेरे घोड़ोंको मारकर निर्भय हो मेरे ऊपर पाँखसे उड़नेवाले बाणोंसे वर्षा करने लगे ।। ३० ।।

ततोऽहमपि शीघ्रास्त्रं समरप्रतिवारणम् ।
अवासृजं महाबाहो तेऽन्तराधिष्ठिताः शतः ।। ३१ ।।
रामस्य मम चैवाशु व्योमावृत्य समन्ततः ।

महाबाहो! तत्पश्चात् मैंने भी शीघ्रतापूर्वक ऐसे अस्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया, जो युद्धभूमिमें विपक्षीकी गतिको रोक देनेवाले थे। मेरे तथा परशुरामजीके बाण आकाशमें सब ओर फैलकर मध्यभागमें ही ठहर गये ।। ३१ $\frac{1}{2}$ ।।

न स्म सूर्यः प्रतपति शरजालसमावृतः ।। ३२ ।।
मातरिश्वा ततस्तस्मिन् मेघरुद्ध इवाभवत् ।

उस समय बाणोंके समूहसे आच्छादित होनेके कारण सूर्य नहीं तपता था और वायुकी गति इस प्रकार कुण्ठित हो गयी थी, मानो मेघोंसे अवरुद्ध हो गयी हो ।। ३२ $\frac{1}{2}$ ।।

ततो वायोः प्रकम्पाच्च सूर्यस्य च गभस्तिभिः ।। ३३ ।।
अभिघातप्रभावाच्च पावकः समजायत ।

उस समय वायुके कम्पन और सूर्यकी किरणोंसे समस्त बाण परस्पर टकराने लगे। उनकी रगड़से वहाँ आग प्रकट हो गयी ।। ३३ $\frac{1}{2}$ ।।

ते शराः स्वसमुत्थेन प्रदीप्ताश्चित्रभानुना ।। ३४ ।।
भूमौ सर्वे तदा राजन् भस्मभूताः प्रपेदिरे ।

राजन्! वे सभी बाण अपने ही संघर्षसे उत्पन्न हुई अग्निसे जलकर भस्म हो गये और भूमिपर गिर पड़े ।। ३४ $\frac{1}{2}$ ।।

तदा शतसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।। ३५ ।।
अयुतान्यथ खर्वाणि निखर्वाणि च कौरव ।
रामः शराणां संक्रुद्धो मयि तूर्णं न्यपातयत् ।। ३६ ।।

कौरवनरेश! उस समय परशुरामजीने अत्यन्त क्रुद्ध होकर मेरे ऊपर तुरंत ही दस हजार, लाख, दस लाख, अर्बुद, खर्ब और निखर्ब बाणोंका प्रहार किया ।।

ततोऽहं तानपि रणे शरैराशीविषोपमैः ।
संछिद्य भूमौ नृपते पातयेयं नगानिव ।। ३७ ।।

नरेश्वर! तब मैंने रणभूमिमें विषधर सर्पके समान भयंकर सायकोंद्वारा उन सब बाणोंको वृक्षोंकी भाँति भूमिपर काट गिराया ।। ३७ ।।

एवं तदभवद् युद्धं तदा भरतसत्तम ।
संध्याकाले व्यतीते तु व्यपायात् स च मे गुरुः ।। ३८ ।।

भरतभूषण! इस प्रकार वह युद्ध चलता रहा। संध्याकाल बीतनेपर मेरे गुरु रणभूमिसे हट गये ।। ३८ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम-भीष्मयुद्धविषयक एक सौ असीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८० ।।

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका युद्ध

भीष्म उवाच

समागतस्य रामेण पुनरेवातिदारुणम् ।
अन्येद्युस्तुमुलं युद्धं तदा भरतसत्तम ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! दूसरे दिन परशुरामजीके साथ भेंट होनेपर पुनः अत्यन्त भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ ।। १ ।।

ततो दिव्यास्त्रविच्छूरो दिव्यान्यस्त्राण्यनेकशः ।
अयोजयत् स धर्मात्मा दिवसे दिवसे विभुः ।। २ ।।

फिर तो दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता, शूरवीर एवं धर्मात्मा भगवान् परशुरामजी प्रतिदिन अनेक प्रकारके अलौकिक अस्त्रोंका प्रयोग करने लगे ।। २ ।।

तान्यहं तत्प्रतीघातैरस्त्रैरस्त्राणि भारत ।
व्यधमं तुमुले युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ।। ३ ।।

भारत! उस तुमुल युद्धमें अपने दुस्त्यज प्राणोंकी परवा न करके मैंने उनके सभी अस्त्रोंका विघातक अस्त्रोंद्वारा संहार कर डाला ।। ३ ।।

अस्त्रैरस्त्रेषु बहुधा हतेष्वेव च भारत ।
अक्रुध्यत महातेजास्त्यक्तप्राणः स संयुगे ।। ४ ।।

भरतनन्दन! इस प्रकार बार-बार मेरे अस्त्रोंद्वारा अपने अस्त्रोंके विनष्ट होनेपर महातेजस्वी परशुरामजी उस युद्धमें प्राणोंका मोह छोड़कर अत्यन्त कुपित हो उठे ।। ४ ।।

ततः शक्तिं प्राहिणोद् घोररूपा-
मस्त्रे रुद्धे जामदग्न्यो महात्मा ।
कालोत्सृष्टां प्रज्वलितामिवोल्कां
संदीप्ताग्रां तेजसा व्याप्य लोकम् ।। ५ ।।

इस प्रकार अपने अस्त्रोंका अवरोध होनेपर जमदग्निनन्दन महात्मा परशुरामने कालकी छोड़ी हुई प्रज्वलित उल्काके समान एक भयंकर शक्ति छोड़ी, जिसका अग्रभाग उद्दीप्त हो रहा था। वह शक्ति अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकको व्याप्त किये हुए थी ।। ५ ।।

ततोऽहं तामिषुभिर्दीप्यमानां
समायान्तीमन्तकालार्कदीप्ताम् ।
छित्त्वा त्रिधा पातयामास भूमौ
ततो ववौ पवनः पुण्यगन्धिः ।। ६ ।।

तब मैंने प्रलयकालके सूर्यकी भाँति प्रज्वलित होनेवाली उस देदीप्यमान शक्तिको अपनी ओर आती देख अनेक बाणोंद्वारा उसके तीन टुकड़े करके उसे भूमिपर गिरा दिया। फिर तो पवित्र सुगन्धसे युक्त मन्द-मन्द वायु चलने लगी ।। ६ ।।

तस्यां छिन्नायां क्रोधदीप्तोऽथ रामः
शक्तीर्घोराः प्राहिणोद् द्वादशान्याः ।
तासां रूपं भारत नोत शक्यं
तेजस्वित्वाल्लाघवाच्चैव वक्तुम् ।। ७ ।।

उस शक्तिके कट जानेपर परशुरामजी क्रोधसे जल उठे तथा उन्होंने दूसरी-दूसरी भयंकर बारह शक्तियाँ और छोड़ीं। भारत! वे इतनी तेजस्विनी तथा शीघ्रगामिनी थीं कि उनके स्वरूपका वर्णन करना असम्भव है ।। ७ ।।

किं त्वेवाहं विह्वलः सम्प्रदृश्य
दिग्भ्यः सर्वास्ता महोल्का इवाग्नेः ।
नानारूपास्तेजसोग्रेण दीप्ता
यथाऽऽदित्या द्वादश लोकसंक्षये ।। ८ ।।

प्रलयकालके बारह सूर्योंके समान भयंकर तेजसे प्रज्वलित अनेक रूपवाली तथा अग्निकी प्रचण्ड ज्वालाओंके समान धधकती हुई उन शक्तियोंको सब ओरसे आती देख मैं अत्यन्त विह्वल हो गया ।। ८ ।।

ततो जालं बाणमयं विवृत्तं
संदृश्य भित्त्वा शरजालेन राजन् ।
द्वादशेषून् प्राहिणवं रणेऽहं
ततः शक्तीरप्यधमं घोररूपाः ।। ९ ।।

राजन्! तत्पश्चात् वहाँ फैले हुए बाणमय जालको देखकर मैंने अपने बाणसमूहोंसे उसे छिन्न-भिन्न कर डाला और उस रणभूमिमें बारह सायकोंका प्रयोग किया, जिनसे उन भयंकर शक्तियोंको भी व्यर्थ कर दिया ।।

ततो राजञ्जामदग्न्यो महात्मा
शक्तीर्घोरा व्याक्षिपद्धेमदण्डाः ।
विचित्रिताः काञ्चनपट्टनद्धा
यथा महोल्का ज्वलितास्तथा ताः ।। १० ।।

राजन्! तत्पश्चात् महात्मा जमदग्निनन्दम परशुरामने स्वर्णमय दण्डसे विभूषित और भी बहुत-सी भयानक शक्तियाँ चलायीं, जो विचित्र दिखायी देती थीं, उनके ऊपर सोनेके पत्र जड़े हुए थे और वे जलती हुई बड़ी-बड़ी उल्काओंके समान प्रतीत होती थीं ।। १० ।।

ताश्चाप्युग्राश्चर्मणा वारयित्वा
खड्गेनाजौ पातयित्वा नरेन्द्र ।

बाणैर्दिव्यैर्जामदग्न्यस्य संख्ये
दिव्यानश्वानभ्यवर्षं ससूतान् ।। ११ ।।

नरेन्द्र! उन भयंकर शक्तियोंको भी मैंने ढालसे रोककर तलवारसे रणभूमिमें काट गिराया। तत्पश्चात् परशुरामजीके दिव्य घोड़ों तथा सारथिपर मैंने दिव्य बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। ११ ।।

निर्मुक्तानां पन्नगानां सरूपा
दृष्ट्वा शक्तीर्हेमचित्रा निकृत्ताः ।
प्रादुश्चक्रे दिव्यमस्त्रं महात्मा
क्रोधाविष्टो हैहयेशप्रमाथी ।। १२ ।।

केंचुलिसे छूटकर निकले हुए सर्पोंके समान आकृतिवाली उन सुवर्णजटित विचित्र शक्तियोंको कटी हुई देख हैहयराजका विनाश करनेवाले महात्मा परशुरामजीने कुपित होकर पुनः अपना दिव्य अस्त्र प्रकट किया ।।

ततः श्रेण्यः शलभानामिवोग्राः
समापेतुर्विशिखानां प्रदीप्ताः ।
समाचिनोच्चापि भृशं शरीरं
हयान् सूतं सरथं चैव मह्यम् ।। १३ ।।

फिर तो टिड्डियोंकी पंक्तियोंके समान प्रज्वलित एवं भयंकर बाणोंके समूह प्रकट होने लगे। इस प्रकार उन्होंने मेरे शरीर, रथ, सारथि और घोड़ोंको सर्वथा आच्छादित कर दिया ।। १३ ।।

रथः शरैर्मे निचितः सर्वतोऽभूत्
तथा वाहाः सारथिश्चैव राजन् ।
युगं रथेषां च तथैव चक्रे
तथैवाक्षः शरकृत्तोऽथ भग्नः ।। १४ ।।

राजन्! मेरा रथ चारों ओरसे उनके बाणोंद्वारा व्याप्त हो रहा था। घोड़ों और सारथिकी भी यही दशा थी। युग तथा ईषादण्डको भी उन्होंने उसी प्रकार बाणविद्ध कर रखा था और रथका धुरा उनके बाणोंसे कटकर टूक-टूक हो गया था ।। १४ ।।

ततस्तस्मिन् बाणवर्षे व्यतीते
शरौघेण प्रत्यवर्षं गुरुं तम् ।
स विक्षतो मार्गणैर्ब्रह्मराशि-
र्देहादसक्तं मुमुचे भूरि रक्तम् ।। १५ ।।

जब उनकी बाण-वर्षा समाप्त हुई, तब मैंने भी बदलेमें गुरुदेवपर बाणसमूहोंकी बौछार आरम्भ कर दी। वे ब्रह्मराशि महात्मा मेरे बाणोंसे क्षत-विक्षत होकर अपने शरीरसे अधिकाधिक रक्तकी धारा बहाने लगे ।। १५ ।।

यथा रामो बाणजालाभितप्त-
स्तथैवाहं सुभृशं गाढविद्धः ।
ततो युद्धं व्यरमच्चापराह्णे
भानावस्तं प्रति याते महीध्रम् ।। १६ ।।

जिस प्रकार परशुरामजी मेरे सायकसमूहोंसे संतप्त थे, उसी प्रकार मैं भी उनके बाणोंसे अत्यन्त घायल हो रहा था। तदनन्तर सायंकालमें जब सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये, तब युद्ध बंद हो गया ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि
एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८१ ।।

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका युद्ध

भीष्म उवाच

ततः प्रभाते राजेन्द्र सूर्ये विमलतां गते ।
भार्गवस्य मया सार्धं पुनर्युद्धमवर्तत ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजेन्द्र! तदनन्तर प्रातःकाल जब सूर्यदेव उदित होकर प्रकाशमें आ गये, उस समय मेरे साथ परशुरामजीका युद्ध पुनः प्रारम्भ हुआ ।। १ ।।

ततोऽभ्रान्ते रथे तिष्ठन् रामः प्रहरतां वरः ।
ववर्ष शरजालानि मयि मेघ इवाचले ।। २ ।।

तत्पश्चात् योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामजी स्थिर रथपर खड़े हो जैसे मेघ पर्वतपर जलकी बौछार करता है, उसी प्रकार मेरे ऊपर बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे ।। २ ।।

ततः सूतो मम सुहृच्छरवर्षेण ताडितः ।
अपयातो रथोपस्थान्मनो मम विषादयन् ।। ३ ।।

उस समय मेरा प्रिय सुहृद् सारथि बाणवर्षासे पीड़ित हो मेरे मनको विषादमें डालता हुआ रथकी बैठकसे नीचे गिर गया ।। ३ ।।

ततः सूतो ममात्यर्थं कश्मलं प्राविशन्महत् ।
पृथिव्यां च शराघातान्निपपात मुमोह च ।। ४ ।।

मेरे सारथिको अत्यन्त मोह छा गया था। वह बाणोंके आघातसे पृथ्वीपर गिरा और अचेत हो गया ।।

ततः सूतोऽजहात् प्राणान् रामबाणप्रपीडितः ।
मुहूर्तादिव राजेन्द्र मां च भीराविशत् तदा ।। ५ ।।

राजेन्द्र! परशुरामजीके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण दो ही घड़ीमें सूतने प्राण त्याग दिये। उस समय मेरे मनमें बड़ा भय समा गया ।। ५ ।।

ततः सूते हते तस्मिन् क्षिपतस्तस्य मे शरान् ।
प्रमत्तमनसो रामः प्राहिणोन्मृत्युसम्मितम् ।। ६ ।।

उस सारथिके मारे जानेपर मैं असावधान मनसे परशुरामजीके बाणोंको काट रहा था! इतनेहीमें परशुरामजीने मुझपर मृत्युके समान भयंकर बाण छोड़ा ।। ६ ।।

ततः सूतव्यसनिनं विप्लुतं मां स भार्गवः ।
शरेणाभ्यहनद् गाढं विकृष्य बलवद्धनुः ।। ७ ।।

उस समय मैं सारथिकी मृत्युके कारण व्याकुल था तो भी भृगुनन्दन परशुरामने अपने सुदृढ़ धनुषको जोर-जोरसे खींचकर मुझपर बाणसे गहरा आघात किया ।। ७ ।।

स मे भुजान्तरे राजन् निपत्य रुधिराशनः ।
मयैव सह राजेन्द्र जगाम वसुधातलम् ।। ८ ।।

राजेन्द्र! वह रक्त पीनेवाला बाण मेरी दोनों भुजाओंके बीच (वक्षःस्थलमें) चोट पहुँचाकर मुझे साथ लिये-दिये पृथ्वीपर जा गिरा ।। ८ ।।

मत्वा तु निहतं रामस्ततो मां भरतर्षभ ।
मेघवद् विननादोच्चैर्जहृषे च पुनः पुनः ।। ९ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समय मुझे मारा गया जानकर परशुरामजी मेघके समान गम्भीर स्वरसे गर्जना करने लगे। उनके शरीरमें बार-बार हर्षजनित रोमांच होने लगा ।। ९ ।।

तथा तु पतिते राजन् मयि रामो मुदा युतः ।
उदक्रोशन्महानादं सह तैरनुयायिभिः ।। १० ।।

राजन्! इस प्रकार मेरे धराशायी होनेपर परशुरामजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपने अनुयायियोंके साथ महान् कोलाहल मचाया ।। १० ।।

मम तत्राभवन् ये तु कुरवः पार्श्वतः स्थिताः ।
आगता अपि युद्धं तज्जनास्तत्र दिदृक्षवः ।
आर्तिं परमिकां जग्मुस्ते तदा पतिते मयि ।। ११ ।।

वहाँ मेरे पार्श्वभागमें जो कुरुवंशी क्षत्रियगण खड़े थे तथा जो लोग वहाँ युद्ध देखनेकी इच्छासे आये थे, उन सबको मेरे गिर जानेपर बड़ा दुःख हुआ ।। ११ ।।

ततोऽपश्यं पतितो राजसिंहं
द्विजानष्टौ सूर्यहुताशनाभान् ।
ते मां समन्तात् परिवार्य तस्थुः
स्वबाहुभिः परिधार्याजिमध्ये ।। १२ ।।

राजसिंह! वहाँ गिरते समय मैंने देखा कि सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी आठ ब्राह्मण आये और संग्रामभूमिमें मुझे सब ओरसे घेरकर अपनी भुजाओंपर ही मेरे शरीरको धारण करके खड़े हो गये ।। १२ ।।

रक्ष्यमाणश्च तैर्विप्रैर्नाहं भूमिमुपास्पृशम् ।
अन्तरिक्षे धृतो ह्यस्मि तैर्विप्रैर्बान्धवैरिव ।। १३ ।।

उन ब्राह्मणोंसे सुरक्षित होनेके कारण मुझे धरतीका स्पर्श नहीं करना पड़ा। मेरे सगे भाई-बन्धुओंकी भाँति उन ब्राह्मणोंने मुझे आकाशमें ही रोक लिया था ।। १३ ।।

श्वसन्निवान्तरिक्षे च जलबिन्दुभिरुक्षितः ।
ततस्ते ब्राह्मणा राजन्नब्रुवन् परिगृह्य माम् ।। १४ ।।

राजन्! आकाशमें मैं साँस लेता-सा ठहर गया था। उस समय ब्राह्मणोंने मुझपर जलकी बूँदें छिड़क दीं। फिर वे मुझे पकड़कर बोले ।। १४ ।।

मा भैरिति समं सर्वे स्वस्ति तेऽस्त्विति चासकृत् ।

ततस्तेषामहं वाग्भिस्तर्पितः सहसोत्थितः ।
मातरं सरितां श्रेष्ठामपश्यं रथमास्थिताम् ।। १५ ।।

उन सबने एक साथ ही बार-बार कहा—'तुम्हारा कल्याण हो। तुम भयभीत न हो।' उनके वचनामृतोंसे तृप्त होकर मैं सहसा उठकर खड़ा हो गया और देखा, मेरे रथपर सारथिके स्थानमें सरिताओंमें श्रेष्ठ माता गंगा बैठी हुई हैं ।। १५ ।।

हयाश्च मे संगृहीतास्तयासन्
महानद्या संयति कौरवेन्द्र ।
पादौ जनन्याः प्रतिगृह्य चाहं
तथा पितॄणां रथमभ्यरोहम् ।। १६ ।।

कौरवराज! उस युद्धमें महानदी माता गंगाने मेरे घोड़ोंकी बागडोर पकड़ रखी थी। तब मैं माताके चरणोंका स्पर्श करके और पितरोंके उद्देश्यसे भी मस्तक नवाकर उस रथपर जा बैठा ।। १६ ।।

ररक्ष सा मां सरथं हयांश्चोपस्कराणि च ।
तामहं प्राञ्जलिर्भूत्वा पुनरेव व्यसर्जयम् ।। १७ ।।

माताने मेरे रथ, घोड़ों तथा अन्यान्य उपकरणोंकी रक्षा की। तब मैंने हाथ जोड़कर पुनः माताको विदा कर दिया ।। १७ ।।

ततोऽहं स्वयमुद्यम्य हयांस्तान् वातरंहसः ।
अयुध्यं जामदग्न्येन निवृत्तेऽहनि भारत ।। १८ ।।

भारत! तदनन्तर स्वयं ही उन वायुके समान वेगशाली घोड़ोंको काबूमें करके मैं जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध करने लगा। उस समय दिन प्रायः समाप्त हो चला था ।। १८ ।।

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ वेगवन्तं महाबलम् ।
अमुञ्चं समरे बाणं रामाय हृदयच्छिदम् ।। १९ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समरभूमिमें मैंने परशुरामजीकी ओर एक प्रबल एवं वेगवान् बाण चलाया, जो हृदयको विदीर्ण कर देनेवाला था ।। १९ ।।

ततो जगाम वसुधां मम बाणप्रपीडितः ।
जानुभ्यां धनुरुत्सृज्य रामो मोहवशं गतः ।। २० ।।

मेरे उस बाणसे अत्यन्त पीड़ित हो परशुरामजीने मूर्च्छाके वशीभूत होकर धनुष छोड़ धरतीपर घुटने टेक दिये ।। २० ।।

ततस्तस्मिन् निपतिते रामे भूरिसहस्रदे ।
आवव्रुर्जलदा व्योम क्षरन्तो रुधिरं बहु ।। २१ ।।

अनेक सहस्र ब्राह्मणोंको बहुत दान करनेवाले परशुरामजीके धराशायी होनेपर अधिकाधिक रक्तकी वर्षा करते हुए बादलोंने आकाशको ढक लिया ।। २१ ।।

उल्काश्च शतशः पेतुः सनिर्घाताः सकम्पनाः ।
अर्कं च सहसा दीप्तं स्वर्भानुरभिसंवृणोत् ।। २२ ।।

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान सैकड़ों उल्कापात होने लगे। भूकम्प आ गया। अपनी किरणोंसे उद्‌भासित होनेवाले सूर्यदेवको राहुने सब ओरसे सहसा घेर लिया ।। २२ ।।

ववुश्च वाताः परुषाश्चलिता च वसुन्धरा ।
गृध्रा बलाश्च कङ्काश्च परिपेतुर्मुदा युताः ।। २३ ।।

वायु तीव्र वेगसे बहने लगी, धरती डोलने लगी, गीध, कौवे और कंक प्रसन्नतापूर्वक सब ओर उड़ने लगे ।। २३ ।।

दीप्तायां दिशि गोमायुर्दारुणं मुहुरुन्नदत् ।
अनाहता दुन्दुभयो विनेदुर्भृशनिःस्वनाः ।। २४ ।।

दिशाओंमें दाह-सा होने लगा, गीदड़ बार-बार भयंकर बोली बोलने लगा, दुन्दुभियाँ बिना बजाये ही जोर-जोरसे बजने लगीं ।। २४ ।।

एतदौत्पातिकं सर्वं घोरमासीद् भयंकरम् ।
विसंज्ञकल्पे धरणीं गते रामे महात्मनि ।। २५ ।।

इस प्रकार महात्मा परशुरामके मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिरते ही ये समस्त उत्पातसूचक अत्यन्त भयंकर अपशकुन होने लगे ।। २५ ।।

ततो वै सहसोत्थाय रामो मामभ्यवर्तत ।
पुनर्युद्धाय कौरव्य विह्वलः क्रोधमूर्च्छितः ।। २६ ।।

कुरुनन्दन! इसी समय परशुरामजी सहसा उठकर क्रोधसे मूर्च्छित एवं विह्वल हो पुनः युद्धके लिये मेरे समीप आये ।। २६ ।।

आददानो महाबाहुः कार्मुकं तालसंनिभम् ।
ततो मय्याददानं तं राममेव न्यवारयन् ।। २७ ।।
महर्षयः कृपायुक्ताः क्रोधाविष्टोऽथ भार्गवः ।
स मेऽहरदमेयात्मा शरं कालानलोपमम् ।। २८ ।।

परशुराम ताड़के समान विशाल धनुष लिये हुए थे। जब वे मेरे लिये बाण उठाने लगे, तब दयालु महर्षियोंने उन्हें रोक दिया। वह बाण कालाग्निके समान भयंकर था। अमेयस्वरूप भार्गवने कुपित होनेपर भी मुनियोंके कहनेसे उस बाणका उपसंहार कर लिया ।।

ततो रविर्मन्दमरीचिमण्डलो
जगामास्तं पांसुपुञ्जावगूढः ।
निशाव्यगाहत् सुखशीतमारुता
ततो युद्धं प्रत्यवहारयावः ।। २९ ।।

तदनन्तर मन्द किरणोंके पुंजसे प्रकाशित सूर्यदेव युद्धभूमिकी उड़ती हुई धूलोंसे आच्छादित हो अस्ताचलको चले गये। रात्रि आ गयी और सुखद शीतल वायु चलने लगी। उस समय हम दोनोंने युद्ध समाप्त कर दिया ।। २९ ।।

एवं राजन्नवहारो बभूव
ततः पुनर्विमलेऽभूत् सुघोरम् ।
कल्यं कल्यं विंशतिं वै दिनानि
तथैव चान्यानि दिनानि त्रीणि ।। ३० ।।

राजन्! इस प्रकार प्रतिदिन संध्याके समय युद्ध बंद हो जाता और प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर पुनः अत्यन्त भयंकर संग्राम छिड़ जाता था। इस प्रकार हम दोनोंके युद्ध करते-करते तेईस दिन बीत गये ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम-भीष्मयुद्धविषयक एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८२ ।।

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मको अष्टवसुओंसे प्रस्वापनास्त्रकी प्राप्ति

भीष्म उवाच

ततोऽहं निशि राजेन्द्र प्रणम्य शिरसा तदा ।
ब्राह्मणानां पितॄणां च देवतानां च सर्वशः ।। १ ।।
नक्तंचराणां भूतानां राजन्यानां विशाम्पते ।
शयनं प्राप्य रहिते मनसा समचिन्तयम् ।। २ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजेन्द्र! तदनन्तर मैं रातके समय एकान्तमें शय्यापर जाकर ब्राह्मणों, पितरों, देवताओं, निशाचरों, भूतों तथा राजर्षिगणोंको मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेके पश्चात् मन-ही-मन इस प्रकार चिन्ता करने लगा ।। १-२ ।।

जामदग्न्येन मे युद्धमिदं परमदारुणम् ।
अहानि च बहून्यद्य वर्तते सुमहात्ययम् ।। ३ ।।

आज बहुत दिन हो गये, जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ यह मेरा अत्यन्त भयंकर और महान् अनिष्टकारक युद्ध चल रहा है ।। ३ ।।

न च रामं महावीर्यं शक्नोमि रणमूर्धनि ।
विजेतुं समरे विप्रं जामदग्न्यं महाबलम् ।। ४ ।।

परंतु मैं महाबली, महापराक्रमी विप्रवर परशुरामजीको समरभूमिमें युद्धके मुहानेपर किसी तरह जीत नहीं सकता ।। ४ ।।

यदि शक्यो मया जेतुं जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
दैवतानि प्रसन्नानि दर्शयन्तु निशां मम ।। ५ ।।

यदि प्रतापी जमदग्निकुमारको जीतना मेरे लिये सम्भव हो तो प्रसन्न हुए देवगण रात्रिमें मुझे दर्शन दें ।। ५ ।।

ततो निशि च राजेन्द्र प्रसुप्तः शरविक्षतः ।
दक्षिणेनेह पार्श्वेन प्रभातसमये तदा ।। ६ ।।
ततोऽहं विप्रमुख्यैस्तैर्यैरस्मि पतितो रथात् ।
उत्थापितो धृतश्चैव मा भैरिति च सान्त्वितः ।। ७ ।।
त एव मां महाराज स्वप्नदर्शनमेत्य वै ।
परिवार्याब्रुवन् वाक्यं तन्निबोध कुरूद्वह ।। ८ ।।

राजेन्द्र! ऐसी प्रार्थना करके बाणोंसे क्षत-विक्षत हुआ मैं रात्रिके अन्तमें प्रभातके समय दाहिनी करवटसे सो गया। महाराज! कुरुश्रेष्ठ! तत्पश्चात् जिन ब्राह्मणशिरोमणियोंने रथसे गिरनेपर मुझे थाम लिया और उठाया था तथा 'डरो मत' ऐसा कहकर सान्त्वना दी थी,

उन्हीं लोगोंने मुझे सपनेमें दर्शन दे मेरे चारों ओर खड़े होकर जो बात कही थी, उसे बताता हूँ, सुनो— ।। ६—८ ।।

उत्तिष्ठ मा भैर्गाङ्गेय न भयं तेऽस्ति किंचन ।
रक्षामहे त्वां कौरव्य स्वशरीरं हि नो भवान् ।। ९ ।।

'गंगानन्दन! उठो! भयभीत न होओ। तुम्हें कोई भय नहीं है। कुरुनन्दन! हम तुम्हारी रक्षा करते हैं, क्योंकि तुम हमारे ही स्वरूप हो ।। ९ ।।

न त्वां रामो रणे जेता जामदग्न्यः कथंचन ।
त्वमेव समरे रामं विजेता भरतर्षभ ।। १० ।।

'जमदग्निकुमार परशुराम तुम्हें किसी प्रकार युद्धमें जीत नहीं सकेंगे। भरतभूषण! तुम्हीं रणक्षेत्रमें परशुरामपर विजय पाओगे ।। १० ।।

इदमस्त्रं सुदयितं प्रत्यभिज्ञास्यते भवान् ।
विदितं हि तवाप्येतत् पूर्वस्मिन् देहधारणे ।। ११ ।।
प्राजापत्यं विश्वकृतं प्रस्वापं नाम भारत ।
न हीदं वेद रामोऽपि पृथिव्यां वा पुमान् क्वचित् ।। १२ ।।

'भारत! यह प्रस्वाप नामक अस्त्र है, जिसके देवता प्रजापति हैं। विश्वकर्माने इसका आविष्कार किया है। यह तुम्हें भी परम प्रिय है। इसकी प्रयोगविधि तुम्हें स्वतः ज्ञात हो जायगी; क्योंकि पूर्वशरीरमें तुम्हें भी इसका पूर्ण ज्ञान था। परशुरामजी भी इस अस्त्रको नहीं जानते हैं। इस पृथ्वीपर कहीं किसी भी पुरुषको इसका ज्ञान नहीं है ।। ११-१२ ।।

तत् स्मरस्व महाबाहो भृशं संयोजयस्व च ।
उपस्थास्यति राजेन्द्र स्वयमेव तवानघ ।। १३ ।।

'महाबाहो! इस अस्त्रका स्मरण करो और विशेष-रूपसे इसीका प्रयोग करो। निष्पाप राजेन्द्र! यह अस्त्र स्वयं ही तुम्हारी सेवामें उपस्थित हो जायगा ।। १३ ।।

येन सर्वान् महावीर्यान् प्रशासिष्यसि कौरव ।
न च रामः क्षयं गन्ता तेनास्त्रेण नराधिप ।। १४ ।।

'कुरुनन्दन! उसके प्रभावसे तुम सम्पूर्ण महापराक्रमी नरेशोंपर शासन करोगे। राजन्! उस अस्त्रसे परशुरामका नाश नहीं होगा ।। १४ ।।

एनसा न तु संयोगं प्राप्स्यसे जातु मानद ।
स्वप्स्यते जामदग्न्योऽसौ त्वद्बाणबलपीडितः ।। १५ ।।

'इसलिये मानद! तुम्हें कभी इसके द्वारा पापसे संयोग नहीं होगा। तुम्हारे अस्त्रके प्रभावसे पीड़ित होकर जमदग्नि कुमार परशुराम चुपचाप सो जायँगे ।। १५ ।।

ततो जित्वा त्वमेवैनं पुनरुत्थापयिष्यसि ।
अस्त्रेण दयितेनाजौ भीष्म सम्बोधनेन वै ।। १६ ।।

‘भीष्म! तदनन्तर अपने उस प्रिय अस्त्रके द्वारा युद्धमें विजयी होकर तुम्हीं उन्हें सम्बोधनास्त्रद्वारा पुनः जगाकर उठाओगे ।। १६ ।।

एवं कुरुष्व कौरव्य प्रभाते रथमास्थितः ।
प्रसुप्तं वा मृतं वेति तुल्यं मन्यामहे वयम् ।। १७ ।।

‘कुरुनन्दन! प्रातःकाल रथपर बैठकर तुम ऐसा ही करो; क्योंकि हमलोग सोये अथवा मरे हुएको समान ही समझते हैं ।। १७ ।।

न च रामेण मर्तव्यं कदाचिदपि पार्थिव ।
ततः समुत्पन्नमिदं प्रस्वापं युज्यतामिति ।। १८ ।।

‘राजन्! परशुरामकी कभी मृत्यु नहीं हो सकती; अतः इस प्राप्त हुए प्रस्वाप नामक अस्त्रका प्रयोग करो’ ।।

इत्युक्त्वान्तर्हिता राजन् सर्व एव द्विजोत्तमाः ।
अष्टौ सदृशरूपास्ते सर्वे भासुरमूर्तयः ।। १९ ।।

राजन्! ऐसा कहकर वे वसुस्वरूप सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण अदृश्य हो गये। वे आठों समान रूपवाले थे। उन सबके शरीर तेजोमय प्रतीत होते थे ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि भीष्मप्रस्वापनास्त्रलाभे त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें भीष्मको प्रस्वापनास्त्रका प्राप्तिविषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८३ ।।

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म तथा परशुरामजीका एक-दूसरेपर शक्ति और ब्रह्मास्त्रका प्रयोग

भीष्म उवाच

ततो रात्रौ व्यतीतायां प्रतिबुद्धोऽस्मि भारत ।
ततः संचिन्त्य वै स्वप्नमवापं हर्षमुत्तमम् ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—भारत! तदनन्तर रात बीतनेपर जब मेरी नींद खुली, तब उस स्वप्नकी बातको सोचकर मुझे बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ ।। १ ।।

ततः समभवद् युद्धं मम तस्य च भारत ।
तुमुलं सर्वभूतानां लोमहर्षणमद्भुतम् ।। २ ।।

भारत! तदनन्तर मेरा और परशुरामजीका भयंकर युद्ध छिड़ गया, जो समस्त प्राणियोंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला और अद्भुत था ।। २ ।।

ततो बाणमयं वर्षं ववर्ष मयि भार्गवः ।
न्यवारयमहं तच्च शरजालेन भारत ।। ३ ।।

उस समय भृगुनन्दन परशुरामजीने मुझपर बाणोंकी झड़ी लगा दी। भारत! तब मैंने अपने सायकसमूहोंसे उस बाणवर्षाको रोक दिया ।। ३ ।।

ततः परमसंक्रुद्धः पुनरेव महातपाः ।
ह्यस्तनेन च कोपेन शक्तिं वै प्राहिणोन्मयि ।। ४ ।।

तब महातपस्वी परशुराम पुनः मुझपर अत्यन्त कुपित हो गये। पहले दिनका भी कोप था ही। उससे प्रेरित होकर उन्होंने मेरे ऊपर शक्ति चलायी ।। ४ ।।

इन्द्राशनिसमस्पर्शां यमदण्डसमप्रभाम् ।
ज्वलन्तीमग्निवत् संख्ये लेलिहानां समन्ततः ।। ५ ।।

उसका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान भयंकर था। उसकी प्रभा यमदण्डके समान थी और उस संग्राममें अग्निके समान प्रज्वलित हुई वह शक्ति मानो सब ओरसे रक्त चाट रही थी ।। ५ ।।

ततो भरतशार्दूल धिष्ण्यमाकाशगं यथा ।
स मामभ्यवधीत् तूर्णं जत्रुदेशे कुरूद्वह ।। ६ ।।

भरतश्रेष्ठ! कुरुकुलरत्न! फिर आकाशवर्ती नक्षत्रके समान प्रकाशित होनेवाली उस शक्तिने तुरंत आकर मेरे गलेकी हँसलीपर आघात किया ।। ६ ।।

अथास्रमस्रवद् घोरं गिरेर्गैरिकधातुवत् ।

रामेण सुमहाबाहो क्षतस्य छतजेक्षण ।। ७ ।।

लाल नेत्रोंवाले महाबाहु दुर्योधन! परशुरामजीके द्वारा किये हुए उस गहरे आघातसे भयंकर रक्तकी धारा बह चली। मानो पर्वतसे गैरिक धातुमिश्रित जलका झरना झर रहा हो ।। ७ ।।

ततोऽहं जामदग्न्याय भृशं क्रोधसमन्वितः ।
चिक्षेप मृत्युसंकाशं बाणं सर्पविषोपमम् ।। ८ ।।

तब मैंने भी अत्यन्त कुपित हो सर्पविषके समान भयंकर मृत्युतुल्य बाण लेकर परशुरामजीके ऊपर चलाया ।। ८ ।।

स तेनाभिहतो वीरो ललाटे द्विजसत्तमः ।
अशोभत महाराज सशृङ्ग इव पर्वतः ।। ९ ।।

उस बाणने विप्रवर वीर परशुरामजीके ललाटमें चोट पहुँचायी। महाराज! उसके कारण वे शिखरयुक्त पर्वतके समान शोभा पाने लगे ।। ९ ।।

स संरब्धः समावृत्य शरं कालान्तकोपमम् ।
संदधे बलवत् कृष्य घोरं शत्रुनिबर्हणम् ।। १० ।।

तब उन्होंने भी रोषमें आकर काल और यमके समान भयंकर शत्रुनाशक बाणको हाथमें ले धनुषको बलपूर्वक खींचकर उसके ऊपर रखा ।। १० ।।

स वक्षसि पपातोग्रः शरो व्याल इव श्वसन् ।
महीं राजंस्ततश्चाहमगमं रुधिराविलः ।। ११ ।।

राजन्! उनका चलाया हुआ वह भयंकर बाण फुफकारते हुए सर्पके समान सनसनाता हुआ मेरी छातीपर आकर लगा। उससे लहूलुहान होकर मैं पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। ११ ।।

सम्प्राप्य तु पुनः संज्ञां जामदग्न्याय धीमते ।
प्राहिण्वं विमलां शक्तिं ज्वलन्तीमशनीमिव ।। १२ ।।

पुनः चेतमें आनेपर मैंने बुद्धिमान् परशुरामजीके ऊपर प्रज्वलित वज्रके समान एक उज्ज्वल शक्ति चलायी ।। १२ ।।

सा तस्य द्विजमुख्यस्य निपपात भुजान्तरे ।
विह्वलश्चाभवद् राजन् वेपथुश्चैनमाविशत् ।। १३ ।।

वह शक्ति उन ब्राह्मणशिरोमणिकी दोनों भुजाओंके ठीक बीचमें जाकर लगी। राजन्! इससे वे विह्वल हो गये और उनके शरीरमें कँपकँपी आ गयी ।। १३ ।।

तत एनं परिष्वज्य सखा विप्रो महातपाः ।
अकृतव्रणः शुभैर्वाक्यैराश्वासयदनेकधा ।। १४ ।।

तब उनके महातपस्वी मित्र अकृतव्रणने उन्हें हृदयसे लगाकर सुन्दर वचनोंद्वारा अनेक प्रकारसे आश्वासन दिया ।। १४ ।।

समाश्वस्तस्ततो रामः क्रोधामर्षसमन्वितः ।

प्रादुश्चक्रे तदा ब्राह्मं परमास्त्रं महाव्रतः ।। १५ ।।

तदनन्तर महाव्रती परशुरामजी धैर्ययुक्त हो क्रोध और अमर्षमें भर गये और उन्होंने परम उत्तम ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया ।। १५ ।।

ततस्तत्प्रतिघातार्थं ब्राह्ममेवास्त्रमुत्तमम् ।
मया प्रयुक्तं जज्वाल युगान्तमिव दर्शयत् ।। १६ ।।

तब उस अस्त्रका निवारण करनेके लिये मैंने भी उत्तम ब्रह्मास्त्रका ही प्रयोग किया। मेरा वह अस्त्र प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित करता हुआ प्रज्वलित हो उठा ।। १६ ।।

तयोर्ब्रह्मास्त्रयोरासीदन्तरा वै समागमः ।
असम्प्राप्यैव रामं च मां च भारतसत्तम ।। १७ ।।

भरतवंशशिरोमणे! वे दोनों ब्रह्मास्त्र मेरे तथा परशुरामजीके पास न पहुँचकर बीचमें ही एक-दूसरेसे भिड़ गये ।। १७ ।।

ततो व्योम्नि प्रादुरभूत् तेज एव हि केवलम् ।
भूतानि चैव सर्वाणि जग्मुरार्तिं विशाम्पते ।। १८ ।।

प्रजानाथ! फिर तो आकाशमें केवल आगकी ही ज्वाला प्रकट होने लगी। इससे समस्त प्राणियोंको बड़ी पीड़ा हुई ।। १८ ।।

ऋषयश्च सगन्धर्वा देवताश्चैव भारत ।
संतापं परमं जग्मुरस्त्रतेजोऽभिपीडिताः ।। १९ ।।

भारत! उन ब्रह्मास्त्रोंके तेजसे पीड़ित होकर ऋषि, गन्धर्व तथा देवता भी अत्यन्त संतप्त हो उठे ।। १९ ।।

ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा ।
संतप्तानि च भूतानि विषादं जग्मुरुत्तमम् ।। २० ।।

फिर तो पर्वत, वन और वृक्षोंसहित सारी पृथ्वी डोलने लगी। भूतलके समस्त प्राणी संतप्त हो अत्यन्त विषाद करने लगे ।। २० ।।

प्रजज्वाल नभो राजन् धूमायन्ते दिशो दश ।
न स्थातुमन्तरिक्षे च शेकुराकाशगास्तदा ।। २१ ।।

राजन्! उस समय आकाश जल रहा था। सम्पूर्ण दिशाओंमें धूम व्याप्त हो रहा था। आकाशचारी प्राणी भी आकाशमें ठहर न सके ।। २१ ।।

ततो हाहाकृते लोके सदेवासुरराक्षसे ।
इदमन्तरमित्येवं मोक्तुकामोऽस्मि भारत ।। २२ ।।
प्रस्वापमस्त्रं त्वरितो वचनाद् ब्रह्मवादिनाम् ।
विचित्रं च तदस्त्रं मे मनसि प्रत्यभात् तदा ।। २३ ।।

तदनन्तर देवता, असुर तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण जगत्में हाहाकार मच गया। भारत! ‘यही उपयुक्त अवसर है’ ऐसा मानकर मैंने तुरंत ही प्रस्वापनास्त्रको छोड़नेका विचार

किया। फिर तो उन ब्रह्मवादी वसुओंके कथनानुसार उस विचित्र अस्त्रका मेरे मनमें स्मरण हो आया ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि परस्परब्रह्मास्त्रप्रयोगे चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परस्पर ब्रह्मास्त्रयोगविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८४ ।।

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

देवताओंके मना करनेसे भीष्मका प्रस्वापनास्त्रको प्रयोगमें न लाना तथा पितर, देवता और गंगाके आग्रहसे भीष्म और परशुरामके युद्धकी समाप्ति

भीष्म उवाच

ततो हलहलाशब्दो दिवि राजन् महानभूत् ।
प्रस्वापं भीष्म मा स्राक्षीरिति कौरवनन्दन ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! कौरवनन्दन! तदनन्तर 'भीष्म! प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग न करो' इस प्रकार आकाशमें महान् कोलाहल मच गया ।। १ ।।

अयुञ्जमेव चैवाहं तदस्त्रं भृगुनन्दने ।
प्रस्वापं मां प्रयुञ्जानं नारदो वाक्यमब्रवीत् ।। २ ।।

तथापि मैंने भृगुनन्दन परशुरामजीको लक्ष्य करके उस अस्त्रको धनुषपर चढ़ा ही लिया। मुझे प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग करते देख नारदजीने इस प्रकार कहा— ।। २ ।।

एते वियति कौरव्य दिवि देवगणाः स्थिताः ।
ते त्वां निवारयन्त्यद्य प्रस्वापं मा प्रयोजय ।। ३ ।।

'कुरुनन्दन! ये आकाशमें स्वर्गलोकके देवता खड़े हैं। ये सब-के-सब इस समय तुम्हें मना कर रहे हैं, तुम प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग न करो ।। ३ ।।

रामस्तपस्वी ब्रह्मण्यो ब्राह्मणश्च गुरुश्च ते ।
तस्यावमानं कौरव्य मा स्म कार्षीः कथंचन ।। ४ ।।

'परशुरामजी तपस्वी, ब्राह्मणभक्त, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण और तुम्हारे गुरु हैं। कुरुकुलरत्न! तुम किसी तरह भी उनका अपमान न करो' ।। ४ ।।

ततोऽपश्यं दिविष्ठान् वै तानष्टौ ब्रह्मवादिनः ।
ते मां स्मयन्तो राजेन्द्र शनकैरिदमब्रुवन् ।। ५ ।।

राजेन्द्र! तत्पश्चात् मैंने आकाशमें खड़े हुए उन आठों ब्रह्मवादी वसुओंको देखा। वे मुसकराते हुए मुझसे धीरे-धीरे इस प्रकार बोले— ।। ५ ।।

यथाऽऽह भरतश्रेष्ठ नारदस्तत् तथा कुरु ।
एतद्धि परमं श्रेयो लोकानां भरतर्षभ ।। ६ ।।

'भरतश्रेष्ठ! नारदजी जैसा कहते हैं, वैसा करो। भरतकुलतिलक! यही सम्पूर्ण जगत्के लिये परम कल्याणकारी होगा' ।। ६ ।।

ततश्च प्रतिसंहृत्य तदस्त्रं स्वापनं महत् ।

ब्रह्मास्त्रं दीपयांचक्रे तस्मिन् युधि यथाविधि ।। ७ ।।

तब मैंने उस महान् प्रस्वापनास्त्रको धनुषसे उतार लिया और उस युद्धमें विधिपूर्वक ब्रह्मास्त्रको ही प्रकाशित किया ।। ७ ।।

ततो रामो हृषितो राजसिंह
दृष्ट्वा तदस्त्रं विनिवर्तितं वै ।
जितोऽस्मि भीष्मेण सुमन्दबुद्धि-
रित्येव वाक्यं सहसा व्यमुञ्चत् ।। ८ ।।

राजसिंह! मैंने प्रस्वापनास्त्रको उतार लिया है—यह देखकर परशुरामजी बड़े प्रसन्न हुए। उनके मुखसे सहसा यह वाक्य निकल पड़ा कि 'मुझ मन्दबुद्धिको भीष्मने जीत लिया' ।। ८ ।।

ततोऽपश्यत् पितरं जामदग्न्यः
पितुस्तथा पितरं चास्य मान्यम् ।
ते तत्र चैनं परिवार्य तस्थु-
रूचुश्चैनं सान्त्वपूर्वं तदानीम् ।। ९ ।।

इसके बाद जमदग्निकुमार परशुरामने अपने पिता जमदग्निको तथा उनके भी माननीय पिता ऋचीक मुनिको देखा। वे सब पितर उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये और उस समय उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले ।। ९ ।।

पितर ऊचुः

मा स्मैवं साहसं तात पुनः कार्षीः कथंचन ।
भीष्मेण संयुगं गन्तुं क्षत्रियेण विशेषतः ।। १० ।।

पितरोंने कहा—तात! फिर कभी किसी प्रकार भी ऐसा साहस न करना। भीष्म और विशेषतः क्षत्रियके साथ युद्धभूमिमें उतरना अब तुम्हारे लिये उचित नहीं है ।। १० ।।

क्षत्रियस्य तु धर्मोऽयं यद् युद्धं भृगुनन्दन ।
स्वाध्यायो व्रतचर्याथ ब्राह्मणानां परं धनम् ।। ११ ।।

भृगुनन्दन! क्षत्रियका तो युद्ध करना धर्म ही है; किंतु ब्राह्मणोंके लिये वेदोंका स्वाध्याय तथा उत्तम व्रतोंका पालन ही परम धर्म है ।। ११ ।।

इदं निमित्ते कस्मिंश्चिदस्माभिः प्रागुदाहृतम् ।
शस्त्रधारणमत्युग्रं तच्चाकार्यं कृतं त्वया ।। १२ ।।

यह बात पहले भी किसी अवसरपर हमने तुमसे कही थी। शस्त्र उठाना अत्यन्त भयंकर कर्म है; अतः तुमने यह न करनेयोग्य कार्य ही किया है ।। १२ ।।

वत्स पर्याप्तमेतावद् भीष्मेण सह संयुगे ।
विमर्दस्ते महाबाहो व्यपयाहि रणादितः ।। १३ ।।

महाबाहो! वत्स! भीष्मके साथ युद्धमें उतरकर जो तुमने इतना विध्वंसात्मक कार्य किया है, यही बहुत हो गया। अब तुम इस संग्राममसे हट जाओ ।। १३ ।।

पर्याप्तमेतद् भद्रं ते तव कार्मुकधारणम् ।
विसर्जयैतद् दुर्धर्ष तपस्तप्यस्व भार्गव ।। १४ ।।
एष भीष्मः शान्तनवो देवैः सर्वैर्निवारितः ।
निवर्तस्व रणादस्मादिति चैव प्रसादितः ।। १५ ।।
रामेण सह मा योत्सीर्गुरुणेति पुनः पुनः ।
न हि रामो रणे जेतुं त्वया न्याय्यः कुरूद्वह ।। १६ ।।
मानं कुरुष्व गाङ्गेय ब्राह्मणस्य रणाजिरे ।

भृगुनन्दन! तुम्हारा कल्याण हो। दुर्धर्ष वीर! तुमने जो धनुष उठा लिया, यही पर्याप्त है। अब इसे त्याग दो और तपस्या करो। देखो, इन सम्पूर्ण देवताओंने शान्तनु-नन्दन भीष्मको भी रोक दिया है। वे उन्हें प्रसन्न करके यह बात कह रहे हैं कि 'तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ। परशुराम तुम्हारे गुरु हैं। तुम उनके साथ बार-बार युद्ध न करो। कुरुश्रेष्ठ! परशुरामको युद्धमें जीतना तुम्हारे लिये कदापि न्यायसंगत नहीं है। गंगानन्दन! तुम इस समरांगणमें अपने ब्राह्मणगुरुका सम्मान करो' ।। १४—१६½ ।।

वयं तु गुरवस्तुभ्यं तस्मात् त्वां वारयामहे ।। १७ ।।
भीष्मो वसूनामन्यतमो दिष्ट्या जीवसि पुत्रक ।

बेटा परशुराम! हम जो तुम्हारे गुरुजन—आदरणीय पितर हैं। इसलिये तुम्हें रोक रहे हैं। पुत्र! भीष्म वसुओंमेंसे एक वसु हैं। तुम अपना सौभाग्य ही समझो कि उनके साथ युद्ध करके अबतक जीवित हो ।। १७½ ।।

गाङ्गेयः शान्तनोः पुत्रो वसुरेष महायशाः ।। १८ ।।
कथं शक्यस्त्वया जेतुं निवर्तस्वेह भार्गव ।

भृगुनन्दन! गंगा और शान्तनुके ये महायशस्वी पुत्र भीष्म साक्षात् वसु ही हैं। इन्हें तुम कैसे जीत सकते हो? अतः यहाँ युद्धसे निवृत्त हो जाओ ।। १८½ ।।

अर्जुनः पाण्डवश्रेष्ठः पुरंदरसुतो बली ।। १९ ।।
नरः प्रजापतिर्वीरः पूर्वदेवः सनातनः ।
सव्यसाचीति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ।
भीष्ममृत्युर्यथाकालं विहितो वै स्वयम्भुवा ।। २० ।।

प्राचीन सनातन देवता और प्रजापालक वीरवर भगवान् नर इन्द्रपुत्र महाबली पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके रूपमें प्रकट होंगे तथा पराक्रमसम्पन्न होकर तीनों लोकोंमें सव्यसाचीके नामसे विख्यात होंगे। स्वयम्भू ब्रह्माजीने उन्हींको यथासमय भीष्मकी मृत्युमें कारण बनाया है ।। १९-२० ।।

भीष्म उवाच

एवमुक्तः स पितृभिः पितॄन् रामोऽब्रवीदिदम् ।

नाहं युधि निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम् ।। २१ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! पितरोंके ऐसा कहनेपर परशुरामजीने उनसे इस प्रकार कहा—'मैं युद्धमें पीठ नहीं दिखाऊँगा। यह मेरा चिरकालसे धारण किया हुआ व्रत है ।। २१ ।।

न निवर्तितपूर्वश्च कदाचिद् रणमूर्धनि ।

निवर्त्यतामापगेयः कामं युद्धात् पितामहाः ।। २२ ।।

न त्वहं विनिवर्तिष्ये युद्धादस्मात् कथंचन ।

'आजसे पहले भी मैं कभी किसी युद्धसे पीछे नहीं हटा हूँ। अतः पितामहो! आपलोग अपनी इच्छाके अनुसार पहले गंगानन्दन भीष्मको ही युद्धसे निवृत्त कीजिये। मैं किसी प्रकार पहले स्वयं ही इस युद्धसे पीछे नहीं हटूँगा' ।। २२½ ।।

ततस्ते मुनयो राजन्नृचीकप्रमुखास्तदा ।। २३ ।।

नारदेनैव सहिताः समागम्येदमब्रुवन् ।

निवर्तस्व रणात् तात मानयस्व द्विजोत्तमम् ।। २४ ।।

राजन्! तब वे ऋचीक आदि मुनि नारदजीके साथ मेरे पास आये और इस प्रकार बोले—'तात! तुम्हीं युद्धसे निवृत्त हो जाओ और द्विजश्रेष्ठ परशुरामजीका मान रखो' ।।

इत्यवोचमहं तांश्च क्षत्रधर्मव्यपेक्षया ।

मम व्रतमिदं लोके नाहं युद्धात् कदाचन ।। २५ ।।

विमुखो विनिवर्तेयं पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ।

नाहं लोभान्न कार्पण्यान्न भयान्नार्थकारणात् ।। २६ ।।

त्यजेयं शाश्वतं धर्ममिति मे निश्चिता मतिः ।

तब मैंने क्षत्रियधर्मको लक्ष्य करके उनसे कहा—'महर्षियो! संसारमें मेरा यह व्रत प्रसिद्ध है कि मैं पीठपर बाणोंकी चोट खाता हुआ कदापि युद्धसे निवृत्त नहीं हो सकता। मेरा यह निश्चित विचार है कि मैं लोभसे, कायरता या दीनतासे, भयसे अथवा किसी स्वार्थके कारण भी क्षत्रियोंके सनातन धर्मका त्याग नहीं कर सकता' ।। २५-२६½ ।।

ततस्ते मुनयः सर्वे नारदप्रमुखा नृप ।। २७ ।।

भागीरथी च मे माता रणमध्यं प्रपेदिरे ।

तथैवात्तशरो धन्वी तथैव दृढनिश्चयः ।

स्थिरोऽहमाहवे योद्धुं ततस्ते राममब्रुवन् ।। २८ ।।

समेत्य सहिता भूयः समरे भृगुनन्दनम् ।

इतना कहकर मैं पूर्ववत् धनुष-बाण लिये दृढ़ निश्चयके साथ समरभूमिमें युद्ध करनेके लिये डटा रहा। राजन्! तब वे नारद आदि सम्पूर्ण ऋषि और मेरी माता गंगा सब लोग उस रणक्षेत्रमें एकत्र हुए और पुनः एक साथ मिलकर उस समरांगणमें भृगुनन्दन परशुरामजीके पास जाकर इस प्रकार बोले— ।। २७-२८½ ।।

नावनीतं हि हृदयं विप्राणां शाम्य भार्गव ।। २९ ।।
राम राम निवर्तस्व युद्धादस्माद् द्विजोत्तम ।
अवध्यो वै त्वया भीष्मस्त्वं च भीष्मस्य भार्गव ।। ३० ।।

‘भृगुनन्दन! ब्राह्मणोंका हृदय नवनीतके समान कोमल होता है; अतः शान्त हो जाओ। विप्रवर परशुराम! इस युद्धसे निवृत्त हो जाओ। भार्गव! तुम्हारे लिये भीष्म और भीष्मके लिये तुम अवध्य हो’ ।। २९-३० ।।

एवं ब्रुवन्तस्ते सर्वे प्रतिरुध्य रणाजिरम् ।
न्यासयांचक्रिरे शस्त्रं पितरो भृगुनन्दनम् ।। ३१ ।।

इस प्रकार कहते हुए उन सब लोगोंने रणस्थलीको घेर लिया और पितरोंने भृगुनन्दन परशुरामसे अस्त्र-शस्त्र रखवा दिया ।। ३१ ।।

ततोऽहं पुनरेवाथ तानष्टौ ब्रह्मवादिनः ।
अद्राक्षं दीप्यमानान् वै ग्रहानष्टाविवोदितान् ।। ३२ ।।

इसी समय मैंने पुनः उन आठों ब्रह्मवादी वसुओंको आकाशमें उदित हुए आठ ग्रहोंकी भाँति प्रकाशित होते देखा ।। ३२ ।।

ते मां सप्रणयं वाक्यमब्रुवन् समरे स्थितम् ।
प्रैहि रामं महाबाहो गुरुं लोकहितं कुरु ।। ३३ ।।

उन्होंने समरभूमिमें डटे हुए मुझसे प्रेमपूर्वक कहा—‘महाबाहो! तुम अपने गुरु परशुरामजीके पास जाओ और जगत्‌का कल्याण करो’ ।। ३३ ।।

दृष्ट्वा निवर्तितं राम सुहृद्वाक्येन तेन वै ।
लोकानां च हितं कुर्वन्नहमप्याददे वचः ।। ३४ ।।

अपने सुहृदोंके कहनेसे परशुरामजीको युद्धसे निवृत्त हुआ देख मैंने भी लोककी भलाई करनेके लिये उन महर्षियोंकी बात मान ली ।। ३४ ।।

ततोऽहं राममासाद्य ववन्दे भृशविक्षतः ।
रामश्चाभ्युत्स्मयन् प्रेम्णा मामुवाच महातपाः ।। ३५ ।।

तदनन्तर मैंने परशुरामजीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। उस समय मेरा शरीर बहुत घायल हो गया था। महातपस्वी परशुराम मुझे देखकर मुसकराये और प्रेमपूर्वक इस प्रकार बोले— ।। ३५ ।।

त्वत्समो नास्ति लोकेऽस्मिन् क्षत्रियः पृथिवीचरः ।
गम्यतां भीष्म युद्धेऽस्मिंस्तोषितोऽहं भृशं त्वया ।। ३६ ।।

‘भीष्म! इस जगत्‌में भूतलपर विचरनेवाला कोई भी क्षत्रिय तुम्हारे समान नहीं है। जाओ, इस युद्धमें तुमने मुझे बहुत संतुष्ट किया है’ ।। ३६ ।।

मम चैव समक्षं तां कन्यामाहूय भार्गवः ।
उक्तवान् दीनया वाचा मध्ये तेषां महात्मनाम् ।। ३७ ।।

फिर मेरे सामने ही उन्होंने उस कन्याको बुलाकर उन सब महात्माओंके बीच दीनतापूर्ण वाणीमें उससे कहा ।। ३७ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि युद्धनिवृत्तौ पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें युद्धनिवृत्तिविषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८५ ।।

भीष्म और परशुरामके युद्धमें नारदजीद्वारा बीच-बचाव

षडशीत्यधिकशततमोऽध्याय:

अम्बाकी कठोर तपस्या

राम उवाच

प्रत्यक्षमेतल्लोकानां सर्वेषामेव भाविनि ।
यथाशक्त्या मया युद्धं कृतं वै पौरुषं परम् ।। १ ।।

परशुराम बोले—भाविनि! यह सब लोगोंने प्रत्यक्ष देखा है कि मैंने (तेरे लिये) पूरी शक्ति लगाकर युद्ध किया और महान् पुरुषार्थ दिखाया है ।। १ ।।

न चैवमपि शक्नोमि भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
विशेषयितुमत्यर्थमुत्तमास्त्राणि दर्शयन् ।। २ ।।

परंतु इस प्रकार उत्तमोत्तम अस्त्र प्रकट करके भी मैं शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मसे अपनी अधिक विशिष्टता नहीं दिखा सका ।। २ ।।

एषा मे परमा शक्तिरेतन्मे परमं बलम् ।
यथेष्टं गम्यतां भद्रे किमन्यद् वा करोमि ते ।। ३ ।।

मेरी अधिक-से-अधिक शक्ति, अधिक-से-अधिक बल इतना ही है। भद्रे! अब तेरी जहाँ इच्छा हो, चली जा, अथवा बता, तेरा दूसरा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ? ।। ३ ।।

भीष्ममेव प्रपद्यस्व न तेऽन्या विद्यते गतिः ।
निर्जितो ह्यस्मि भीष्मेण महास्त्राणि प्रमुञ्चता ।। ४ ।।

अब तू भीष्मकी ही शरण ले। तेरे लिये दूसरी कोई गति नहीं है; क्योंकि महान् अस्त्रोंका प्रयोग करके भीष्मने मुझे जीत लिया है ।। ४ ।।

एवमुक्त्वा ततो रामो विनिःश्वस्य महामनाः ।
तूष्णीमासीत् ततः कन्या प्रोवाच भृगुनन्दनम् ।। ५ ।।

ऐसा कहकर महामना परशुराम लंबी साँस खींचते हुए मौन हो गये। तब राजकन्या अम्बाने उन भृगुनन्दनसे कहा— ।। ५ ।।

भगवन्नेवमेवैतद् यथाऽऽह भगवांस्तथा ।
अजेयो युधि भीष्मोऽयमपि देवैरुदारधीः ।। ६ ।।

'भगवन्! आपका कहना ठीक है। वास्तवमें ये उदारबुद्धि भीष्म युद्धमें देवताओंके लिये भी अजेय हैं ।।

यथाशक्ति यथोत्साहं मम कार्यं कृतं त्वया ।
अनिवार्यं रणे वीर्यमस्त्राणि विविधानि च ।। ७ ।।

'आपने अपनी पूरी शक्ति लगाकर पूर्ण उत्साहके साथ मेरा कार्य किया है। युद्धमें ऐसा पराक्रम दिखाया है, जिसे भीष्मके सिवा दूसरा कोई रोक नहीं सकता था। इसी प्रकार

आपने नाना प्रकारके दिव्यास्त्र भी प्रकट किये हैं ।। ७ ।।

न चैव शक्यते युद्धे विशेषयितुमन्ततः ।
न चाहमेनं यास्यामि पुनर्भीष्मं कथंचन ।। ८ ।।

'परंतु अन्ततोगत्वा आप युद्धमें उनकी अपेक्षा अपनी विशेष्यता स्थापित न कर सके। मैं भी अब किसी प्रकार पुनः भीष्मके पास नहीं जाऊँगी ।। ८ ।।

गमिष्यामि तु तत्राहं यत्र भीष्मं तपोधन ।
समरे पातयिष्यामि स्वयमेव भृगूद्वह ।। ९ ।।

'भृगुश्रेष्ठ तपोधन! अब मैं वहीं जाऊँगी, जहाँ ऐसी बन सकूँ कि समरभूमिमें स्वयं ही भीष्मको मार गिराऊँ' ।। ९ ।।

एवमुक्त्वा ययौ कन्या रोषव्याकुललोचना ।
तापस्ये धृतसंकल्पा सा मे चिन्तयती वधम् ।। १० ।।

ऐसा कहकर रोषभरे नेत्रोंवाली वह राजकन्या मेरे वधके उपायका चिन्तन करती हुई तपस्याके लिये दृढ़ संकल्प लेकर वहाँसे चली गयी ।। १० ।।

ततो महेन्द्रं सह तैर्मुनिभिर्भृगुसत्तमः ।
यथाऽऽगतं तथा सोऽगान्मामुपामन्त्र्य भारत ।। ११ ।।

भारत! तदनन्तर भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी उन महर्षियोंके साथ मुझसे विदा ले जैसे आये थे, वैसे ही महेन्द्र पर्वतपर चले गये ।। ११ ।।

ततो रथं समारुह्य स्तूयमानो द्विजातिभिः ।
प्रविश्य नगरं मात्रे सत्यवत्यै न्यवेदयम् ।। १२ ।।
यथावृत्तं महाराज सा च मां प्रत्यनन्दत ।
पुरुषांश्चादिशं प्राज्ञान् कन्यावृत्तान्तकर्मणि ।। १३ ।।

महाराज! तत्पश्चात् मैंने भी ब्राह्मणके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनते हुए रथपर आरूढ़ हो हस्तिनापुरमें आकर माता सत्यवतीसे सब समाचार यथार्थरूपसे निवेदन किया। माताने भी मेरा अभिनन्दन किया। इसके बाद मैंने कुछ बुद्धिमान् पुरुषोंको उस कन्याके वृत्तान्तका पता लगानेके कार्यमें नियुक्त कर दिया ।। १२-१३ ।।

दिवसे दिवसे ह्यस्या गतिजल्पितचेष्टितम् ।
प्रत्याहरंश्च मे युक्ताः स्थिताः प्रियहिते सदा ।। १४ ।।

मेरे लगाये हुए गुप्तचर सदा मेरे प्रिय एवं हितमें संलग्न रहनेवाले थे। वे प्रतिदिन उस कन्याकी गतिविधि, बोलचाल और चेष्टाका समाचार मेरे पास पहुँचाया करते थे ।। १४ ।।

यदैव हि वनं प्रायात् सा कन्या तपसे धृता ।
तदैव व्यथितो दीनो गतचेता इवाभवम् ।। १५ ।।

जिस दिन वह कन्या तपस्याका निश्चय करके वनमें गयी, उसी दिन मैं व्यथित, दीन और अचेत-सा हो गया ।। १५ ।।

न हि मां क्षत्रियः कश्चिद् वीर्येण व्यजयद् युधि ।
ऋते ब्रह्मविदस्तात तपसा संशितव्रतात् ।। १६ ।।

तात! जो तपस्याके द्वारा कठोर व्रतका पालन करनेवाले हैं, उन ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण परशुरामजीको छोड़कर कोई भी क्षत्रिय अबतक युद्धमें मुझे पराजित नहीं कर सका है ।। १६ ।।

अपि चैतन्मया राजन् नारदेऽपि निवेदितम् ।
व्यासे चैव तथा कार्यं तौ चोभौ मामवोचताम् ।। १७ ।।
न विषादस्त्वया कार्यो भीष्म काशिसुतां प्रति ।
दैवं पुरुषकारेण को निवर्तितुमुत्सहेत् ।। १८ ।।

राजन्! मैंने यह वृत्तान्त देवर्षि नारद और महर्षि व्याससे भी निवेदन किया था। उस समय उन दोनोंने मुझसे कहा—'भीष्म! तुम्हें काशिराजकी कन्याके विषयमें तनिक भी विषाद नहीं करना चाहिये। दैवके विधानको पुरुषार्थके द्वारा कौन टाल सकता है?' ।। १७-१८ ।।

सा कन्या तु महाराज प्रविश्याश्रममण्डलम् ।
यमुनातीरमाश्रित्य तपस्तेपेऽतिमानुषम् ।। १९ ।।

महाराज! फिर उस कन्याने आश्रममण्डलमें पहुँचकर यमुनाके तटका आश्रय ले ऐसी कठोर तपस्या की, जो मानवीय शक्तिसे परे है ।। १९ ।।

निराहारा कृशा रुक्षा जटिला मलपङ्किनी ।
षण्मासान् वायुभक्षा च स्थाणुभूता तपोधना ।। २० ।।

उसने भोजन छोड़ दिया, वह दुबली तथा रुक्ष हो गयी। सिरपर केशोंकी जटा बन गयी। शरीरमें मैल और कीचड़ जम गयी। वह तपोधना कन्या छः महीनोंतक केवल वायु पीकर ठूँठे काठकी भाँति निश्चलभावसे खड़ी रही ।। २० ।।

यमुनाजलमाश्रित्य संवत्सरमथापरम् ।
उदवासं निराहारा पारयामास भाविनी ।। २१ ।।

फिर एक वर्षतक यमुनाजीके जलमें घुसकर बिना कुछ खाये-पीये वह भाविनी राजकन्या जलमें ही रहकर तपस्या करती रही ।। २१ ।।

शीर्णपर्णेन चैकेन पारयामास सा परम् ।
संवत्सरं तीव्रकोपा पादाङ्गुष्ठाग्रधिष्ठिता ।। २२ ।।

तत्पश्चात् तीव्र क्रोधसे युक्त हुई अम्बाने पैरके अँगूठेके अग्रभागपर खड़ी हो अपने-आप झड़कर गिरा हुआ केवल एक सूखा पत्ता खाकर एक वर्ष व्यतीत किया ।।

एवं द्वादश वर्षाणि तापयामास रोदसी ।
निवर्त्यमानापि च सा ज्ञातिभिर्नैव शक्यते ।। २३ ।।

इस प्रकार बारह वर्षोंतक कठोर तपस्यामें संलग्न हो उसने पृथ्वी और आकाशको संतप्त कर दिया। उसके जातिवालोंने आकर उसे उस कठोर व्रतसे निवृत्त करनेकी चेष्टा की; परंतु उन्हें सफलता न मिल सकी ।। २३ ।।

ततोऽगमद् वत्सभूमिं सिद्धचारणसेविताम् ।
आश्रमं पुण्यशीलानां तापसानां महात्मनाम् ।। २४ ।।
तत्र पुण्येषु तीर्थेषु साऽऽप्लुताङ्गी दिवानिशम् ।
व्यचरत् काशिकन्या सा यथाकामविचारिणी ।। २५ ।।

तदनन्तर वह सिद्धों और चारणोंद्वारा सेवित वत्सदेशकी भूमिमें गयी और वहाँ पुण्यशील तपस्वी महात्माओंके आश्रमोंमें विचरने लगी। काशिराजकी वह कन्या दिन-रात वहाँके पुण्य तीर्थोंमें स्नान करती और अपनी इच्छाके अनुसार सर्वत्र विचरती रहती थी ।।

नन्दाश्रमे महाराज तथोलूकाश्रमे शुभे ।
चवनस्याश्रमे चैव ब्रह्मणः स्थान एव च ।। २६ ।।
प्रयागे देवयजने देवारण्येषु चैव ह ।
भोगवत्यां महाराज कौशिकस्याश्रमे तथा ।। २७ ।।
माण्डव्यस्याश्रमे राजन् दिलीपस्याश्रमे तथा ।
रामह्रदे च कौरव्य पैलगर्गस्य चाश्रमे ।। २८ ।।
एतेषु तीर्थेषु तदा काशिकन्या विशाम्पते ।
आप्लावयत गात्राणि व्रतमास्थाय दुष्करम् ।। २९ ।।

महाराज! शुभकारक नन्दाश्रम, उलूकाश्रम, च्यवनाश्रम, ब्रह्मस्थान, देवताओंके यज्ञस्थान प्रयाग, देवारण्य, भोगवती, कौशिकाश्रम, माण्डव्याश्रम, दिलीपाश्रम, रामह्रद और पैलगर्गाश्रम—क्रमशः इन सभी तीर्थोंमें उन दिनों काशिराजकी कन्याने कठोर व्रतका आश्रय ले स्नान किया ।। २६—२९ ।।

तामब्रवीच्च कौरव्य मम माता जले स्थिता ।
किमर्थं क्लिश्यसे भद्रे तथ्यमेव वदस्व मे ।। ३० ।।

कुरुनन्दन! उस समय मेरी माता गंगाने जलमें प्रकट होकर अम्बासे कहा—‘भद्रे! तू किसलिये शरीरको इतना क्लेश देती है। मुझे ठीक-ठीक बता’ ।।

सैनामथाब्रवीद् राजन् कृताञ्जलिरनिन्दिता ।
भीष्मेण समरे रामो निर्जितश्चारुलोचने ।। ३१ ।।
कोऽन्यस्तमुत्सहेज्जेतुमुद्यतेषुं महीपतिः ।
साहं भीष्मविनाशाय तपस्तप्स्ये सुदारुणम् ।। ३२ ।।

राजन्! तब साध्वी अम्बाने हाथ जोड़कर गंगाजीसे कहा—‘चारुलोचने! भीष्मने युद्धमें परशुरामजीको परास्त कर दिया; फिर दूसरा कौन ऐसा राजा है, जो धनुष-बाण

लेकर खड़े हुए भीष्मको युद्धमें परास्त कर सके? अतः मैं भीष्मके विनाशके लिये अत्यन्त कठोर तपस्या कर रही हूँ ।। ३१-३२ ।।

विचरामि महीं देवि यथा हन्यामहं नृपम् ।
एतद् व्रतफलं देवि परमस्मिन् यथा हि मे ।। ३३ ।।

'देवि! मैं इस भूतलपर विभिन्न तीर्थोंमें इसीलिये विचर रही हूँ कि योग्य बनकर मैं स्वयं ही भीष्मको मार सकूँ। भगवति! इस जगत्‌में मेरे व्रत और तपस्याका यही सर्वोत्तम फल है, जैसा मैंने आपको बताया है' ।। ३३ ।।

ततोऽब्रवीत् सागरगा जिह्मं चरसि भाविनि ।
नैष कामोऽनवद्याङ्गि शक्यः प्राप्तुं त्वयाबले ।। ३४ ।।

तब सतरगामिनी गंगानदीने उससे कहा—'भाविनि! तू कुटिल आचरण कर रही है। सुन्दर अंगोंवाली अबले! तेरा यह मनोरथ कभी पूर्ण नहीं हो सकता ।।

यदि भीष्मविनाशाय काश्ये चरसि वै व्रतम् ।
व्रतस्था च शरीरं त्वं यदि नाम विमोक्ष्यसि ।। ३५ ।।
नदी भविष्यसि शुभे कुटिला वार्षिकोदका ।
दुस्तीर्था न तु विज्ञेया वार्षिकी नाष्टमासिकी ।। ३६ ।।

'काशिराजकन्ये! यदि भीष्मके विनाशके लिये तू प्रयत्न कर रही है और व्रतमें स्थित रहकर ही यदि तू अपना शरीर छोड़ेगी तो शुभे! तुझे टेढ़ी-मेढ़ी नदी होना पड़ेगा। केवल बरसातमें ही तेरे भीतर जल दिखायी देगा। तेरे भीतर तीर्थ या स्नानकी सुविधा बड़ी कठिनाईसे होगी। तू केवल बरसातकी नदी समझी जायगी। शेष आठ महीनोंमें तेरा पता नहीं लगेगा ।।

भीमग्राहवती घोरा सर्वभूतभयङ्करी ।
एवमुक्त्वा ततो राजन् काशिकन्यां न्यवर्तत ।। ३७ ।।
माता मम महाभागा स्मयमानेव भाविनी ।
कदाचिदष्टमे मासि कदाचिद् दशमे तथा ।
न प्राश्नीतोदकमपि पुनः सा वरवर्णिनी ।। ३८ ।।

'बरसातमें भी भयंकर ग्राहोंसे भरी रहनेके कारण तू समस्त प्राणियोंके लिये अत्यन्त भयंकर और घोरस्वरूपा बनी रहेगी।' राजन्! काशिराजकी कन्यासे ऐसा कहकर मेरी परम सौभाग्यशालिनी माता गंगा देवी मुसकराती हुई लौट गयीं। तदनन्तर वह सुन्दरी कन्या पुनः कठोर तपस्यामें प्रवृत्त हो कभी आठवें और कभी दसवें महीनेतक जल भी नहीं पीती थी ।। ३७-३८ ।।

सा वत्सभूमिं कौरव्य तीर्थलोभात् ततस्ततः ।
पतिता परिधावन्ती पुनः काशिपतेः सुता ।। ३९ ।।

कुरुनन्दन! काशिराजकी वह कन्या तीर्थसेवनके लोभसे वत्सदेशकी भूमिपर इधर-उधर दौड़ती फिरती थी ।।

सा नदी वत्सभूम्यां तु प्रथिताम्बेति भारत ।

वार्षिकी ग्राहबहुला दुस्तीर्था कुटिला तथा ।। ४० ।।

भारत! कुछ कालके पश्चात् वह वत्सदेशकी भूमिमें अम्बा नामसे प्रसिद्ध नदी हुई, जो केवल बरसातमें जलसे भरी रहती थी। उसमें बहुत-से ग्राह निवास करते थे। उसके भीतर उतरना और स्नान आदि तीर्थकृत्योंका सम्पादन बहुत ही कठिन था। वह नदी टेढ़ी-मेढ़ी होकर बहती थी ।। ४० ।।

सा कन्या तपसा तेन देहार्धेन व्यजायत ।

नदी च राजन् वत्सेषु कन्या चैवाभवत् तदा ।। ४१ ।।

राजन्! राजकन्या अम्बा उस तपस्याके प्रभावसे आधे शरीरसे तो अम्बा नामकी नदी हो गयी और आधे अंगसे वत्सदेशमें ही एक कन्या होकर प्रकट हुई ।। ४१ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बातपस्यायां षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बाका तपस्याविषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८६ ।।

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका द्वितीय जन्ममें पुनः तप करना और महादेवजीसे अभीष्ट वरकी प्राप्ति तथा उसका चिताकी आगमें प्रवेश

भीष्म उवाच

ततस्ते तापसाः सर्वे तपसे धृतनिश्चयाम् ।
दृष्ट्वा न्यवर्तयंस्तात किं कार्यमिति चाब्रुवन् ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—तात! उस जन्ममें भी उसे तपस्या करनेका ही दृढ़ निश्चय लिये देख सब तपस्वी महात्माओंने उसे रोका और पूछा—'तुझे क्या करना है?' ।। १ ।।

तानुवाच ततः कन्या तपोवृद्धानृषींस्तदा ।
निराकृतास्मि भीष्मेण भ्रंशिता पतिधर्मतः ।। २ ।।

तब उस कन्याने उन तपोवृद्ध महर्षियोंसे कहा—'भीष्मने मुझे ठुकराया है और मुझे पतिकी प्राप्ति एवं उसकी सेवारूप धर्मसे वंचित कर दिया है ।। २ ।।

वधार्थं तस्य दीक्षा मे न लोकार्थं तपोधनाः ।
निहत्य भीष्मं गच्छेयं शान्तिमित्येव निश्चयः ।। ३ ।।

'तपोधनो! मेरी यह तपकी दीक्षा पुण्यलोकोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, भीष्मका वध करनेके लिये है। मेरा यह निश्चय है कि भीष्मको मार देनेपर मेरे हृदयको शान्ति मिल जायगी ।। ३ ।।

यत्कृते दुःखवसतिमिमां प्राप्तास्मि शाश्वतीम् ।
पतिलोकाद् विहीना च नैव स्त्री न पुमानिह ।। ४ ।।
नाहत्वा युधि गाङ्गेयं निवर्तिष्ये तपोधनाः ।
एष मे हृदि संकल्पो यदिदं कथितं मया ।। ५ ।।

'जिसके कारण मैं सदाके लिये इस दुःखमयी परिस्थितिमें पड़ गयी हूँ और पतिलोकसे वंचित होकर इस जगत्में न तो स्त्री रह गयी हूँ न पुरुष ही। उस गंगापुत्र भीष्मको युद्धमें मारे बिना तपस्यासे निवृत्त नहीं होऊँगी। तपोधनो! यही मेरे हृदयका संकल्प है, जिसे मैंने स्पष्ट बता दिया ।। ४-५ ।।

स्त्रीभावे परिनिर्विण्णा पुंस्त्वार्थे कृतनिश्चया ।
भीष्मे प्रतिचिकीर्षामि नास्मि वार्येति वै पुनः ।। ६ ।।

'मुझे स्त्रीके स्वरूपसे विरक्ति हो गयी है, अतः पुरुषशरीरकी प्राप्तिके लिये दृढ़ निश्चय लेकर तपस्यामें प्रवृत्त हुई हूँ। भीष्मसे अवश्य बदला लेना चाहती हूँ, अतः आपलोग मुझे रोकें नहीं' ।। ६ ।।

तां देवो दर्शयामास शूलपाणिरुमापतिः ।
मध्ये तेषां महर्षीणां स्वेन रूपेण तापसीम् ।। ७ ।।

तब शूलपाणि उमावल्लभ भगवान् शिवने उन महर्षियोंके बीचमें अपने साक्षात् स्वरूपसे प्रकट होकर उस तपस्विनीको दर्शन दिया ।। ७ ।।

छन्द्यमाना वरेणाथ सा वव्रे मत्पराजयम् ।
हनिष्यसीति तां देवः प्रत्युवाच मनस्विनीम् ।। ८ ।।

फिर इच्छानुसार वर माँगनेका आदेश देनेपर उसने मेरी पराजयका वर माँगा। तब महादेवजीने उस मनस्विनीसे कहा—'तू अवश्य भीष्मका वध करेगी' ।। ८ ।।

ततः सा पुनरेवाथ कन्या रुद्रमुवाच ह ।
उपपद्येत कथं देव स्त्रिया युधि जयो मम ।। ९ ।।

यह सुनकर उस कन्याने भगवान् रुद्रसे पुनः पूछा—'देव! मैं तो स्त्री हूँ। मुझे युद्धमें विजय कैसे प्राप्त हो सकती है? ।। ९ ।।

स्त्रीभावेन च मे गाढं मनः शान्तमुमापते ।
प्रतिश्रुतश्च भूतेश त्वया भीष्मपराजयः ।। १० ।।

'उमापते! भूतनाथ! स्त्रीरूप होनेके कारण मेरा मन बहुत निस्तेज है। इधर आपने मेरे द्वारा भीष्मके पराजित होनेका वरदान दिया है ।। १० ।।

यथा स सत्यो भवति तथा कुरु वृषध्वज ।
यथा हन्यां समागम्य भीष्मं शान्तनवं युधि ।। ११ ।।

'वृषध्वज! आपका यह वरदान जिस प्रकार सत्य हो, वैसा कीजिये; जिससे मैं युद्धमें शान्तनुपुत्र भीष्मका सामना करके उन्हें मार सकूँ' ।। ११ ।।

तामुवाच महादेवः कन्यां किल वृषध्वजः ।
न मे वागनृतं प्राह सत्यं भद्रे भविष्यति ।। १२ ।।

तब वृषभध्वज महादेवजीने उन कन्यासे कहा—'भद्रे! मेरी वाणीने कभी झूठ नहीं कहा है; अतः मेरी बात सत्य होकर रहेगी ।। १२ ।।

हनिष्यसि रणे भीष्मं पुरुषत्वं च लप्स्यसे ।
स्मरिष्यसि च तत् सर्वं देहमन्यं गता सती ।। १३ ।।

'तू रणक्षेत्रमें भीष्मको अवश्य मारेगी और इसके लिये आवश्यकतानुसार पुरुषत्व भी प्राप्त कर लेगी। दूसरे शरीरमें जानेपर तुझे इन सब बातोंका स्मरण भी बना रहेगा ।। १३ ।।

द्रुपदस्य कुले जाता भविष्यसि महारथः ।
शीघ्रास्त्रश्चित्रयोधी च भविष्यसि सुसम्मतः ।। १४ ।।

'तु द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हो महारथी वीर होगी। तुझे शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेकी कलामें निपुणता प्राप्त होगी। साथ ही तू विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाली सम्मानित योद्धा होगी ।। १४ ।।

यथोक्तमेव कल्याणि सर्वमेतद् भविष्यति ।
भविष्यसि पुमान् पश्चात् कस्माच्चित्कालपर्ययात् ।। १५ ।।

'कल्याणि! मैंने जो कुछ कहा है, वह सब पूरा होगा। तू पहले तो कन्यारूपमें ही उत्पन्न होगी; फिर कुछ कालके पश्चात् पुरुष हो जायगी' ।। १५ ।।

एवमुक्त्वा महादेवः कपर्दी वृषभध्वजः ।
पश्यतामेव विप्राणां तत्रैवान्तरधीयत ।। १६ ।।

ऐसा कहकर जटाजूटधारी वृषभध्वज महादेवजी उन सब ब्राह्मणोंके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये ।। १६ ।।

ततः सा पश्यतां तेषां महर्षीणामनिन्दिता ।
समाहृत्य वनात् तस्मात् काष्ठानि वरवर्णिनी ।। १७ ।।
चितां कृत्वा सुमहतीं प्रदाय च हुताशनम् ।
प्रदीप्तेऽग्नौ महाराज रोषदीप्तेन चेतसा ।। १८ ।।
उक्त्वा भीष्मवधायेति प्रविवेश हुताशनम् ।
ज्येष्ठा काशिसुता राजन् यमुनामभितो नदीम् ।। १९ ।।

तदनन्तर उन महर्षियोंके देखते-देखते उस साध्वी एवं सुन्दरी कन्याने उस वनसे बहुत-सी लकड़ियोंका संग्रह किया और एक विशाल चिता बनाकर उसमें आग लगा दी। महाराज! जब आग प्रज्वलित हो गयी, तब वह क्रोधसे जलते हुए हृदयसे भीष्मके वधका संकल्प बोलकर उस आगमें प्रवेश कर गयी। राजन्! इस प्रकार काशिराजकी वह ज्येष्ठ पुत्री अम्बा दूसरे जन्ममें यमुनानदीके किनारे चिताकी आगमें जलकर भस्म हो गयी ।। १७—१९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बाहुताशनप्रवेशे सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बाका अग्निमें प्रवेशविषयक एक सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८७ ।।

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका राजा द्रुपदके यहाँ कन्याके रूपमें जन्म, राजा तथा रानीका उसे पुत्ररूपमें प्रसिद्ध करके उसका नाम शिखण्डी रखना

दुर्योधन उवाच

कथं शिखण्डी गाङ्गेय कन्या भूत्वा पुरा तदा ।
पुरुषोऽभूद् युधिश्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ।। १ ।।

दुर्योधनने पूछा—समरश्रेष्ठ गंगानन्दन पितामह! शिखण्डी पहले कन्यारूपमें उत्पन्न होकर फिर पुरुष कैसे हो गया, यह मुझे बताइये ।। १ ।।

भीष्म उवाच

भार्या तु तस्य राजेन्द्र द्रुपदस्य महीपतेः ।
महिषी दयिता ह्यासीदपुत्रा च विशाम्पते ।। २ ।।

भीष्मने कहा—प्रजापालक राजेन्द्र! राजा द्रुपदकी प्यारी पटरानीके कोई पुत्र नहीं था ।। २ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु द्रुपदो वै महीपतिः ।
अपत्यार्थे महाराज तोषयामास शङ्करम् ।। ३ ।।

महाराज! इसी समय भूपाल द्रुपदने संतानकी प्राप्तिके लिये भगवान् शंकरको संतुष्ट किया ।। ३ ।।

अस्मद्वधार्थं निश्चित्य तपो घोरं समास्थितः ।
ऋते कन्यां महादेव पुत्रो मे स्यादिति ब्रुवन् ।। ४ ।।
भगवन् पुत्रमिच्छामि भीष्मं प्रतिचिकीर्षया ।
इत्युक्तो देवदेवेन स्त्रीपुमांस्ते भविष्यति ।। ५ ।।
निवर्तस्व महीपाल नैतज्जात्वन्यथा भवेत् ।

हमलोगोंके वधके लिये पुत्र पानेका निश्चित संकल्प लेकर उन्होंने यह कहते हुए घोर तपस्या की थी कि 'महादेव! मुझे कन्या नहीं, पुत्र प्राप्त हो। भगवन्! मैं भीष्मसे बदला लेनेके लिये पुत्र चाहता हूँ'। यह सुनकर देवाधिदेव महादेवजीने कहा—'भूपाल! तुम्हें पहले कन्या प्राप्त होगी, फिर वही पुरुष हो जायगी। अब तुम लौटो। मैंने जो कहा है वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता' ।। ४-५ $\frac{१}{२}$ ।।

स तु गत्वा च नगरं भार्यामिदमुवाच ह ।। ६ ।।
कृतो यत्नो महादेवस्तपसाऽऽराधितो मया ।

कन्या भूत्वा पुमान् भावी इति चोक्तोऽस्मि शम्भुना ।। ७ ।।
पुनः पुनर्याच्यमानो दिष्टमित्यब्रवीच्छिवः ।
न तदन्यच्च भविता भवितव्यं हि तत् तथा ।। ८ ।।

तब राजा द्रुपद नगरको लौट गये और अपनी पत्नीसे इस प्रकार बोले—'देवि! मैंने बड़ा प्रयत्न किया। तपस्याके द्वारा महादेवजीकी आराधना की। तब भगवान् शंकरने प्रसन्न होकर कहा—पहले तुम्हें पुत्री होगी; फिर वही पुत्रके रूपमें परिणत हो जायगी। मैंने बार-बार केवल पुत्रके लिये याचना की; परंतु भगवान् शिवने इसे दैवका विधान बताया है और कहा—'यह बदल नहीं सकता। जो कहा गया है, वही होगा' ।। ६—८ ।।

ततः सा नियता भूत्वा ऋतुकाले मनस्विनी ।
पत्नी द्रुपदराजस्य द्रुपदं प्रविवेश ह ।। ९ ।।
लेभे गर्भं यथाकालं विधिदृष्टेन कर्मणा ।
पार्षतस्य महीपाल यथा मां नारदोऽब्रवीत् ।। १० ।।
ततो दधार सा देवी गर्भं राजीवलोचना ।

तदनन्तर द्रुपदराजकी मनस्विनी पत्नीने नियमपूर्वक रहकर द्रुपदके साथ संयोग किया। शास्त्रीय विधिसे गर्भाधान-संस्कार होनेपर यथासमय उसने गर्भ धारण किया। राजन्! जैसा कि मुझसे नारदजीने कहा था। द्रुपदकी कमलनयनी रानीने इसी प्रकार गर्भ धारण किया ।। ९-१० १/२ ।।

तां स राजा प्रियां भार्यां द्रुपदः कुरुनन्दन ।। ११ ।।
पुत्रस्नेहान्महाबाहुः सुखं पर्यचरत् तदा ।
सर्वानभिप्रायकृतान् भार्यालभत कौरव ।। १२ ।।

कुरुनन्दन! महाबाहु द्रुपदने भावी पुत्रके प्रति स्नेह होनेके कारण अपनी प्यारी पत्नीको बड़े सुखसे रखा। उसका आदर-सत्कार किया। कुरुकुलरत्न! रानीको जिन-जिन वस्तुओंकी इच्छा हुई, वे सब उनके सामने प्रस्तुत की गयीं ।। ११-१२ ।।

अपुत्रस्य सतो राज्ञो द्रुपदस्य महीपतेः ।
यथाकालं तु सा देवी महिषी द्रुपदस्य ह ।। १३ ।।
कन्यां प्रवररूपां तु प्राजायत नराधिप ।

नरेश्वर! पुत्रहीन राजा द्रुपदकी उस महारानीने समय आनेपर एक परम सुन्दरी कन्याको जन्म दिया ।। १३ १/२ ।।

अपुत्रस्य तु राज्ञः सा द्रुपदस्य मनस्विनी ।। १४ ।।
ख्यापयामास राजेन्द्र पुत्रो ह्येष ममेति वै ।

राजेन्द्र! तब पुत्रहीन राजा द्रुपदकी मनस्विनी रानीने यह घोषणा करा दी कि यह मेरा पुत्र है ।। १४ १/२ ।।

ततः स राजा द्रुपदः प्रच्छन्नाया नराधिप ।। १५ ।।

पुत्रवत् पुत्रकार्याणि सर्वाणि समकारयत् ।
रक्षणं चैव मन्त्रस्य महिषी द्रुपदस्य सा ।। १६ ।।
चकार सर्वयत्नेन ब्रुवाणा पुत्र इत्युत ।
न च तां वेद नगरे कश्चिदन्यत्र पार्षतात् ।। १७ ।।

नरेन्द्र! इसके बाद राजा द्रुपदने छिपाकर रखी हुई उस कन्याके सभी संस्कार पुत्रके ही समान कराये। द्रुपदकी रानीने सब प्रकारका प्रयत्न करके इस रहस्यको गुप्त रखनेकी व्यवस्था की। वह उस कन्याको पुत्र कहकर ही पुकारती थी। सारे नगरमें केवल द्रुपदको छोड़कर दूसरा कोई नहीं जानता था कि वह कन्या है ।। १५—१७ ।।

श्रद्दधानो हि तद्वाक्यं देवस्याच्युततेजसः ।
छादयामास तां कन्या पुमानिति च सोऽब्रवीत् ।। १८ ।।

जिनका तेज कभी क्षीण नहीं होता, उन महादेवजीके वचनोंपर श्रद्धा रखनेके कारण राजा द्रुपदने उसके कन्याभावको छिपाया और पुत्र होनेकी घोषणा कर दी ।।

जातकर्माणि सर्वाणि कारयामास पार्थिवः ।
पुंवद्विधानयुक्तानि शिखण्डीति च तां विदुः ।। १९ ।।

राजाने बालकके सम्पूर्ण जातकर्म पुत्रोचित विधानसे ही करवाये, लोग उसे 'शिखण्डी' के नामसे जानते थे ।। १९ ।।

अहमेकस्तु चारेण वचनान्नारदस्य च ।
ज्ञातवान् देववाक्येन अम्बायास्तपसा तथा ।। २० ।।

केवल मैं गुप्तचरके दिये हुए समाचारसे, नारदजीके कथनसे, महादेवजीके वरदान-वाक्यसे तथा अम्बाकी तपस्यासे शिखण्डीके कन्या होनेका वृत्तान्त जान गया था ।। २०।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शिखण्ड्युत्पत्तौ अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शिखण्डीका उत्पत्तिविषयक एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८८ ।।

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिखण्डीका विवाह तथा उसके स्त्री होनेका समाचार पाकर उसके श्वशुर दशार्णराजका महान् कोप

भीष्म उवाच

चकार यत्नं द्रुपदः सुतायाः सर्वकर्मसु ।
ततो लेख्यादिषु तथा शिल्पेषु च परंतप ।। १ ।।

भीष्म कहते हैं—तदनन्तर द्रुपदने अपनी पुत्रीको लेखनशिक्षा और शिल्पशिक्षा आदि सभी कार्योंकी योग्यता प्राप्त करानेके लिये विशेष प्रयत्न किया ।। १ ।।

इष्वस्त्रे चैव राजेन्द्र द्रोणशिष्यो बभूव ह ।
तस्य माता महाराज राजानं वरवर्णिनी ।। २ ।।
चोदयामास भार्यार्थं कन्यायाः पुत्रवत् तदा ।
ततस्तां पार्षतो दृष्ट्वा कन्यां सम्प्राप्तयौवनाम् ।
स्त्रियं मत्वा ततश्चिन्तां प्रपेदे सह भार्यया ।। ३ ।।

राजेन्द्र! धनुर्विद्याके लिये शिखण्डी द्रोणाचार्यका शिष्य हुआ। महाराज! शिखण्डीकी सुन्दरी माताने राजा द्रुपदको प्रेरित किया कि वे उसके पुत्रके लिये बहू ला दें। वह अपनी कन्याका पुत्रके समान ब्याह करना चाहती थी। द्रुपदने देखा, मेरी बेटी जवान हो गयी तो भी अबतक स्त्री ही बनी हुई है (वरदानके अनुसार पुरुष नहीं हो सकी), इससे पत्नीसहित उनके मनमें बड़ी चिन्ता हुई ।। २-३ ।।

द्रुपद उवाच

कन्या ममेयं सम्प्राप्ता यौवनं शोकवर्धिनी ।
मया प्रच्छादिता चेयं वचनाच्छूलपाणिनः ।। ४ ।।

द्रुपद बोले—देवि! मेरी यह कन्या युवावस्थाको प्राप्त होकर मेरा शोक बढ़ा रही है। मैंने भगवान् शंकरके कथनपर विश्वास करके अबतक इसके कन्याभावको छिपा रखा था ।। ४ ।।

भार्योवाच

न तन्मिथ्या महाराज भविष्यति कथंचन ।
त्रैलोक्यकर्ता कस्माद्धि वृथा वक्तुमिहार्हति ।। ५ ।।
यदि ते रोचते राजन् वक्ष्यामि शृणु मे वचः ।
श्रुत्वेदानीं प्रपद्येथाः स्वां मतिं पृषतात्मज ।। ६ ।।

रानीने कहा—महाराज! भगवान् शिवका दिया हुआ वर किसी तरह मिथ्या नहीं होगा। भला, तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले भगवान् झूठी बात कैसे कह सकते हैं? राजन्! यदि आपको अच्छा लगे तो कहूँ। मेरी बात सुनिये। पृषतनन्दन! इसे सुनकर अपनी बुद्धिके अनुसार ग्रहण करें ।। ५-६ ।।

क्रियतामस्य यत्नेन विधिवद् दारसंग्रहः ।
भविता तद्वचः सत्यमिति मे निश्चिता मतिः ।। ७ ।।

मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान्‌का वचन सत्य होगा। अतः आप प्रयत्नपूर्वक शास्त्रीय विधिके अनुसार इसका कन्याके साथ विवाह कर दें ।। ७ ।।

ततस्तौ निश्चयं कृत्वा तस्मिन् कार्येऽथ दम्पती ।
वरयांचक्रतुः कन्यां दशार्णाधिपतेः सुताम् ।। ८ ।।

इस प्रकार विवाहका निश्चय करके दोनों पति-पत्नीने दशार्णराजकी पुत्रीका अपने पुत्रके लिये वरण किया ।। ८ ।।

ततो राजा द्रुपदो राजसिंहः
सर्वान् राज्ञ कुलतः संनिशाम्य ।
दाशार्णकस्य नृपतेस्तनूजां
शिखण्डिने वरयामास दारान् ।। ९ ।।

तदनन्तर राजाओंमें श्रेष्ठ द्रुपदने समस्त राजाओंके कुल आदिका परिचय सुनकर दशार्णराजकी ही पुत्रीका शिखण्डीके लिये वरण किया ।। ९ ।।

हिरण्यवर्मेति नृपो योऽसौ दाशार्णकः स्मृतः ।
स च प्रादान्महीपालः कन्यां तस्मै शिखण्डिने ।। १० ।।

दशार्णदेशके राजाका नाम हिरण्यवर्मा था। भूपाल हिरण्यवर्माने शिखण्डीको अपनी कन्या दे दी ।। १० ।।

स च राजा दशार्णेषु महानासीत् सुदुर्जयः ।
हिरण्यवर्मा दुर्धर्षो महासेनो महामनाः ।। ११ ।।

दशार्णदेशका वह राजा हिरण्यवर्मा महान् दुर्जय और दुर्धर्ष वीर था। उसके पास विशाल सेना थी। साथ ही उसका हृदय भी विशाल था ।। ११ ।।

कृते विवाहे तु तदा सा कन्या राजसत्तम ।
यौवनं समनुप्राप्ता सा च कन्या शिखण्डिनी ।। १२ ।।
कृतदारः शिखण्डी च काम्पिल्यं पुनरागमत् ।
ततः सा वेद तां कन्यां कञ्चित् कालं स्त्रियं किल ।। १३ ।।

नृपश्रेष्ठ! हिरण्यवर्माकी पुत्री भी युवावस्थाको प्राप्त थी। इधर द्रुपदकी कन्या शिखण्डिनी भी पूर्ण युवती हो गयी थी। विवाहकार्य सम्पन्न हो जानेपर पत्नीसहित

शिखण्डी पुनः काम्पिल्य नगरमें आया। दशार्णराजकी कन्याने कुछ ही दिनोंमें यह समझ लिया कि शिखण्डी तो स्त्री है ।। १२-१३ ।।

हिरण्यवर्मणः कन्या ज्ञात्वा तां तु शिखण्डिनीम् ।
धात्रीणां च सखीनां च व्रीडमाना न्यवेदयत् ।
कन्यां पञ्चालराजस्य सुतां तां वै शिखण्डिनीम् ।। १४ ।।

हिरण्यवर्माकी पुत्रीने शिखण्डीके यथार्थ स्वरूपको जानकर अपनी धाय तथा सखियोंसे लजाते-लजाते यह गुप्त बात कह दी कि पांचालराजके पुत्र शिखण्डी वास्तवमें पुरुष नहीं, स्त्री हैं ।। १४ ।।

ततस्ता राजशार्दूल धात्र्यो दाशार्णिकास्तदा ।
जग्मुरार्तिं परां प्रेष्याः प्रेषयामासुरेव च ।। १५ ।।

नृपश्रेष्ठ! यह सुनकर दशार्णदेशकी धायोंको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने यह समाचार सूचित करनेके लिये बहुत-सी दासियोंको दशार्णराजके यहाँ भेजा ।। १५ ।।

ततो दशार्णाधिपतेः प्रेष्याः सर्वा न्यवेदयन् ।
विप्रलम्भं यथावृत्तं स च चुक्रोध पार्थिवः ।। १६ ।।

वे सब दासियाँ दशार्णराजसे सब बातें ठीक-ठीक बताती हुई बोलीं कि ‘राजा द्रुपदने बहुत बड़ा धोखा दिया है’। यह सुनकर दशार्णराज अत्यन्त कुपित हो उठे ।। १६ ।।

शिखण्ड्यपि महाराज पुंवद् राजकुले तदा ।
विजहार मुदा युक्तः स्त्रीत्वं नैवातिरोचयन् ।। १७ ।।

महाराज! शिखण्डी भी उस राजपरिवारमें पुरुषकी ही भाँति आनन्दपूर्वक घूमता-फिरता था। उसे अपना स्त्रीत्व अच्छा नहीं लगता था ।। १७ ।।

ततः कतिपयाहस्य तच्छ्रुत्वा भरतर्षभ ।
हिरण्यवर्मा राजेन्द्र रोषादार्तिं जगाम ह ।। १८ ।।

भरतश्रेष्ठ! राजेन्द्र! तदनन्तर कुछ दिनोंमें उसके स्त्री होनेका समाचार सुनकर हिरण्यवर्मा क्रोधसे पीड़ित हो गया ।। १८ ।।

ततो दाशार्णको राजा तीव्रकोपसमन्वितः ।
दूतं प्रस्थापयामास द्रुपदस्य निवेशनम् ।। १९ ।।

तदनन्तर दशार्णराजने दुःसह क्रोधसे युक्त हो राजा द्रुपदके दरबारमें दूत भेजा ।। १९ ।।

ततो द्रुपदमासाद्य दूतः काञ्चनवर्मणः ।
एक एकान्तमुत्सार्य रहो वचनमब्रवीत् ।। २० ।।

हिरण्यवर्माका वह दूत द्रुपदके पास पहुँचकर अकेला एकान्तमें सबको हटाकर केवल राजासे इस प्रकार बोला— ।। २० ।।

दाशार्णराजो राजंस्त्वामिदं वचनमब्रवीत् ।

अभिषङ्गात् प्रकुपितो विप्रलब्धस्त्वयानघ ।। २१ ।।

'निष्पाप नरेश! आपने दशार्णराजको धोखा दिया है। आपके द्वारा किये गये अपमानसे उनका क्रोध बहुत बढ़ गया है। उन्होंने आपसे कहनेके लिये यह संदेश भेजा है ।। २१ ।।

अवमन्यसे मां नृपते नूनं दुर्मन्त्रितं तव ।
यन्मे कन्यां स्वकन्यार्थे मोहाद् याचितवानसि ।। २२ ।।
तस्याद्य विप्रलम्भस्य फलं प्राप्नुहि दुर्मते ।
एष त्वां सजनामात्यमुद्धरामि स्थिरो भव ।। २३ ।।

'नरेश्वर! तुमने जो मेरा अपमान किया है, वह निश्चय ही तुम्हारे खोटे विचारका परिचय है। तुमने मोहवश अपनी पुत्रीके लिये मेरी पुत्रीका वरण किया था। दुर्मते! उस ठगी और वंचनाका फल अब तुम्हें शीघ्र ही प्राप्त होगा, धीरज रखो। मैं अभी सेवकों और मन्त्रियोंसहित तुम्हें जड़मूलसहित उखाड़ फेकता हूँ' ।। २२-२३ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि हिरण्यवर्मदूतागमने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १८९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें हिरण्यवर्माके दूतका आगमनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८९ ।।

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

हिरण्यवर्माके आक्रमणके भयसे घबराये हुए द्रुपदका अपनी महारानीसे संकटनिवारणका उपाय पूछना

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्य दूतेन द्रुपदस्य तदा नृप ।
चोरस्येव गृहीतस्य न प्रावर्तत भारती ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! दूतके ऐसा कहनेपर पकड़े गये चोरकी भाँति राजा द्रुपदके मुखसे सहसा कोई बात नहीं निकली ।। १ ।।

स यत्नमकरोत् तीव्रं सम्बन्धिन्यनुमानने ।
दूतैर्मधुरसम्भाषैर्न तदस्तीति संदिशन् ।। २ ।।

उन्होंने मधुरभाषी दूतोंके द्वारा यह संदेश देकर कि 'ऐसी बात नहीं है (आपको धोखा नहीं दिया गया है)' अपने सम्बन्धीको मनानेका दुष्कर प्रयत्न किया ।।

स राजा भूय एवाथ ज्ञात्वा तत्त्वमथागमत् ।
कन्येति पाञ्चालसुतां त्वरमाणो विनिर्ययौ ।। ३ ।।

राजा हिरण्यवर्माने जब पुनः पता लगाया तो पांचालराजकी पुत्री शिखण्डिनी कन्या ही है, यह बात ठीक जान पड़ी। इससे रुष्ट होकर उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ द्रुपदपर आक्रमण करनेका निश्चय किया ।। ३ ।।

ततः सम्प्रेषयामास मित्राणाममितौजसाम् ।
दुहितुर्विप्रलम्भं तं धात्रीणां वचनात् तदा ।। ४ ।।

तदनन्तर राजाने धायोंके कथनानुसार अपनी कन्याको द्रुपदके द्वारा धोखा दिये जानेका समाचार अमिततेजस्वी मित्र राजाओंके पास भेजा ।। ४ ।।

ततः समुदयं कृत्वा बलानां राजसत्तमः ।
अभियाने मतिं चक्रे द्रुपदं प्रति भारत ।। ५ ।।

भारत! इसके बाद नृपश्रेष्ठ हिरण्यवर्माने सैन्य-संग्रह करके राजा द्रुपदके ऊपर चढ़ाई करनेका निश्चय किया ।। ५ ।।

ततः सम्मन्त्रयामास मन्त्रिभिः स महीपतिः ।
हिरण्यवर्मा राजेन्द्र पाञ्चाल्यं पार्थिवं प्रति ।। ६ ।।

राजेन्द्र! फिर राजा हिरण्यवर्माने अपने मन्त्रियोंके साथ बैठकर परामर्श किया कि मुझे पांचालनरेशके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये ।। ६ ।।

तत्र वै निश्चितं तेषामभूद् राज्ञां महात्मनाम् ।

तथ्यं भवति चेदेतत् कन्या राजन् शिखण्डिनी ।। ७ ।।
बद्ध्वा पञ्चालराजानमानयिष्यामहे गृहम् ।
अन्यं राजानमाधाय पञ्चालेषु नरेश्वरम् ।। ८ ।।
घातयिष्याम नृपतिं पाञ्चालं सशिखण्डिनम् ।। ९ ।।

वहाँ महामना मित्र राजाओंका यह निश्चय घोषित हुआ कि राजन्! यदि यह सत्य सिद्ध हुआ कि शिखण्डी वास्तवमें पुत्र नहीं कन्या है, तब हमलोग पांचालराजको कैद करके अपने घरको ले आयेंगे और पांचालदेशके राज्यपर दूसरे किसी राजाको बिठाकर शिखण्डीसहित द्रुपदको मरवा डालेंगे ।। ७—९ ।।

तत् तथाभूतमाज्ञाय पुनर्दूतान्नराधिपः ।
प्रास्थापयत् पार्षताय निहन्मीति स्थिरो भव ।। १० ।।

फिर दूतके मुखसे उस समाचारको यथार्थ जानकर राजा हिरण्यवर्माने द्रुपदके पास दूत भेजा। स्थिर रहो (सावधान हो जाओ), मैं कुछ ही दिनोंमें तुम्हारा संहार कर डालूँगा ।। १० ।।

भीष्म उवाच

स हि प्रकृत्या वै भीतः किल्विषी च नराधिपः ।
भयं तीव्रमनुप्राप्तो द्रुपदः पृथिवीपतिः ।। ११ ।।

भीष्म कहते हैं—राजा द्रुपद उन दिनों स्वभावसे ही भीरु थे। फिर उनके द्वारा अपराध भी बन गया था। अतः उन्होंने बड़े भारी भयका अनुभव किया ।। ११ ।।

विसृज्य दूतान् दाशार्णे द्रुपदः शोकमूर्छितः ।
समेत्य भार्यां रहिते वाक्यमाह नराधिपः ।। १२ ।।

राजा द्रुपदने दशार्णनरेशके पास दूतोंको भेजकर शोकसे अधीर हो एकान्त स्थानमें अपनी पत्नीसे मिलकर इस विषयमें बातचीत करनेकी इच्छा की ।। १२ ।।

भयेन महताऽऽविष्टो हृदि शोकेन चाहतः ।
पाञ्चालराजो दयितां मातरं वै शिखण्डिनः ।। १३ ।।

पांचालराजके हृदयमें बड़ा भारी भय समा गया था। वे शोकसे पीड़ित थे। अतः उन्होंने अपनी प्यारी पत्नी शिखण्डीकी मातासे इस प्रकार कहा— ।। १३ ।।

अभियास्यति मां कोपात् सम्बन्धी सुमहाबलः ।
हिरण्यवर्मा नृपतिः कर्षमाणो वरूथिनीम् ।। १४ ।।

‘देवि! मेरे महाबली सम्बन्धी हिरण्यवर्मा क्रोधवश अपनी विशाल सेना लाकर मेरे ऊपर आक्रमण करेंगे ।। १४ ।।

किमिदानीं करिष्यावो मूढौ कन्यामिमां प्रति ।
शिखण्डी किल पुत्रस्ते कन्येति परिशङ्कितः ।। १५ ।।

‘इस समय हम दोनों क्या करें? इस कन्याके प्रश्नको लेकर हमलोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। सम्बन्धीके मनमें यह शंका दृढ़मूल हो गयी है कि तुम्हारा पुत्र शिखण्डी वास्तवमें कन्या है ।। १५ ।।

इति संचिन्त्य यत्नेन समित्रः सबलानुगः ।
वञ्चितोऽस्मीति मन्वानो मां किलोद्धर्तुमिच्छति ।। १६ ।।
किमत्र तथ्यं सुश्रोणि मिथ्या किं ब्रूहि शोभने ।
श्रुत्वा त्वत्तः शुभं वाक्यं संविधास्याम्यहं तथा ।। १७ ।।

‘यह सोचकर वे ऐसा मानने लगे हैं कि मेरे साथ धोखा किया गया है और इसलिये वे अपने मित्रों, सैनिकों तथा सेवकोंसहित आकर मुझे यत्नपूर्वक उखाड़ फेंकना चाहते हैं। सुश्रोणि! यहाँ क्या सच है और क्या झूठ? शोभने! इस बातको तुम्हीं बताओ। तुम्हारे मुखसे निकले हुए शुभ वचनको सुनकर मैं वैसा ही करूँगा ।। १६-१७ ।।

अहं हि संशयं प्राप्तो बाला चेयं शिखण्डिनी ।
त्वं च राज्ञि महत् कृच्छ्रं सम्प्राप्ता वरवर्णिनि ।। १८ ।।

‘रानी! मेरा जीवन संशयमें पड़ गया है। यह शिखण्डिनी भी बालिका ही है। सुन्दरि! तुम भी महान् संकटमें फँस गयी हो ।। १८ ।।

सा त्वं सर्वविमोक्षाय तत्त्वमाख्याहि पृच्छतः ।
तथा विदध्यां सुश्रोणि कृत्यमाशु शुचिस्मिते ।। १९ ।।

सुश्रोणि! मैं पूछ रहा हूँ। सबको संकटसे छुड़ानेके लिये कोई यथार्थ उपाय बताओ। शुचिस्मिते! मैं उस उपायको शीघ्र ही काममें लाऊँगा ।। १९ ।।

शिखण्डिनि च मा भैस्त्वं विधास्ये तत्र तत्त्वतः ।
कृपयाहं वरारोहे वञ्चितः पुत्रधर्मतः ।। २० ।।

‘सुन्दर अंगोंवाली महारानी! तुम शिखण्डीके विषयमें भय मत करो। मैं दया करके वही कार्य करूँगा, जो वस्तुतः हितकारक होगा, मैं स्वयं पुत्रधर्मसे वंचित हो गया हूँ ।।

मया दाशार्णको राजा वञ्चितः स महीपतिः ।
तदाचक्ष्व महाभागे विधास्ये तत्र यद्धितम् ।। २१ ।।

‘और मैंने दशार्णनरेश महाराज हिरण्यवर्माको भी वंचित किया है। अतः महाभागे! इस अवसरपर तुम्हारी दृष्टिमें जो हितकारक कार्य हो, उसे बताओ। मैं उसका अनुष्ठान करूँगा’ ।। २१ ।।

जानता हि नरेन्द्रेण ख्यापनार्थं परस्य वै ।
प्रकाशं चोदिता देवी प्रत्युवाच महीपतिम् ।। २२ ।।

यद्यपि राजा द्रुपद सब कुछ जानते थे तो भी दूसरे लोगोंमें अपनी निर्दोषता सिद्ध करनेके लिये महारानीसे स्पष्ट शब्दोंमें पूछा। उनके प्रश्न करनेपर रानीने राजाको इस प्रकार उत्तर दिया ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि द्रुपदप्रश्ने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें द्रुपदप्रश्नविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९० ।।

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपदपत्नीका उत्तर, द्रुपदके द्वारा नगररक्षाकी व्यवस्था और देवाराधन तथा शिखण्डिनीका वनमें जाकर स्थूणाकर्ण नामक यक्षसे अपने दुःखनिवारणके लिये प्रार्थना करना

भीष्म उवाच

ततः शिखण्डिनो माता यथातत्त्वं नराधिप ।
आचचक्षे महाबाहो भर्त्रे कन्यां शिखण्डिनीम् ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—महाबाहु नरेश्वर! तब शिखण्डीकी माताने अपने पतिसे यथार्थ रहस्य बताते हुए कहा—'यह पुत्र शिखण्डी नहीं, शिखण्डिनी नामवाली कन्या है ।। १ ।।

अपुत्रया मया राजन् सपत्नीनां भयादिदम् ।
कन्या शिखण्डिनी जाता पुरुषो वै निवेदिता ।। २ ।।

'राजन्! पुत्ररहित होनेके कारण मैंने अपनी सौतोंके भयसे इस कन्या शिखण्डिनीके जन्म लेनेपर भी इसे पुत्र ही बताया ।। २ ।।

त्वया चैव नरश्रेष्ठ तन्मे प्रीत्यानुमोदितम् ।
पुत्रकर्म कृतं चैव कन्यायाः पार्थिवर्षभ ।। ३ ।।

'नरश्रेष्ठ! आपने भी प्रेमवश मेरे इस कथनका अनुमोदन किया और महाराज! कन्या होनेपर भी आपने इसका पुत्रोचित संस्कार किया ।। ३ ।।

भार्या चोढा त्वया राजन् दशार्णाधिपतेः सुता ।
मया च प्रत्यभिहितं देववाक्यार्थदर्शनात् ।
कन्या भूत्वा पुमान् भावीत्येवं चैतदुपेक्षितम् ।। ४ ।।

'राजन्! मेरे ही कथनपर विश्वास करके आप दशार्णराजकी पुत्रीको इसकी पत्नी बनानेके लिये ब्याह लाये। महादेवजीके वरदानवाक्यपर दृष्टि रखनेके कारण मैंने इसके विषयमें पुत्र होनेकी घोषणा की थी। महादेवजीने कहा था कि पहले कन्या होगी, फिर वही पुत्र हो जायगा। इसीलिये इस वर्तमान संकटकी उपेक्षा की गयी' ।। ४ ।।

एतच्छ्रुत्वा द्रुपदो यज्ञसेनः
सर्वं तत्त्वं मन्त्रविद्भ्यो निवेद्य ।
मन्त्रं राजा मन्त्रयामास राजन्
यथायुक्तं रक्षणे वै प्रजानाम् ।। ५ ।।

यह सुनकर यज्ञसेन द्रुपदने मन्त्रियोंको सब बातें ठीक-ठीक बता दीं। राजन्! तत्पश्चात् प्रजाकी रक्षाके लिये जैसी व्यवस्था उचित है, उसके लिये उन्होंने पुनः मन्त्रियोंके साथ गुप्त मन्त्रणा की ।। ५ ।।

सम्बन्धकं चैव समर्थ्यं तस्मिन्
दाशार्णके वै नृपतौ नरेन्द्र ।
स्वयं कृत्वा विप्रलम्भं यथाव-
न्मन्त्रैकाग्रो निश्चयं वै जगाम ।। ६ ।।

नरेन्द्र! यद्यपि राजा द्रुपदने स्वयं ही वंचना की थी, तथापि दशार्णराजके साथ सम्बन्ध और प्रेम बनाये रखनेकी इच्छा करके एकाग्रचित्तसे मन्त्रणा करते हुए वे एक निश्चयपर पहुँच गये ।। ६ ।।

स्वभावगुप्तं नगरमापत्काले तु भारत ।
गोपयामास राजेन्द्र सर्वतः समलंकृतम् ।। ७ ।।

भरतनन्दन राजेन्द्र! यद्यपि वह नगर स्वभावसे ही सुरक्षित था, तथापि उस विपत्तिके समय उसको सब प्रकारसे सजा करके उन्होंने उसकी रक्षाके लिये विशेष व्यवस्था की ।। ७ ।।

आर्तिं च परमां राजा जगाम सह भार्यया ।
दशार्णपतिना सार्धं विरोधे भरतर्षभ ।। ८ ।।

भरतश्रेष्ठ! दशार्णराजके साथ विरोधकी भावना होनेपर रानीसहित राजा द्रुपदको बड़ा कष्ट हुआ ।। ८ ।।

कथं सम्बन्धिना सार्धं न मे स्वाद् विग्रहो महान् ।
इति संचिन्त्य मनसा देवतामर्चयत् तदा ।। ९ ।।

अपने सम्बन्धीके साथ मेरा महान् युद्ध कैसे टल जाय—यह मन-ही-मन विचार करके उन्होंने देवताकी अर्चना आरम्भ कर दी ।। ९ ।।

तं तु दृष्ट्वा तदा राजन् देवी देवपरं तदा ।
अर्चां प्रयुञ्जानमथो भार्या वचनमब्रवीत् ।। १० ।।

राजन्! राजा द्रुपदको देवाराधनमें तत्पर देख महारानीने पूजा चढ़ाते हुए नरेशसे इस प्रकार कहा— ।। १० ।।

देवानां प्रतिपत्तिश्च सत्या साधुमता सदा ।
किमु दुःखार्णवं प्राप्य तस्मादर्चयतां गुरून् ।। ११ ।।
दैवतानि च सर्वाणि पूज्यन्तां भूरिदक्षिणम् ।
अग्नयश्चापि हूयन्तां दाशार्णप्रतिषेधने ।। १२ ।।

‘देवताओंकी आराधना साधु पुरुषोंके लिये सदा ही सत्य (उत्तम) है। फिर जो दुःखके

समुद्रमें डूबा हुआ हो, उसके लिये तो कहना ही क्या है। अतः आप गुरुजनों और सम्पूर्ण देवताओंका पूजन करें, ब्राह्मणोंको पर्याप्त दक्षिणा दें और दशार्णराजके लौट जानेके लिये अग्नियोंमें होम करें ।। ११-१२ ।।

अयुद्धेन निवृत्तिं च मनसा चिन्तय प्रभो ।
देवतानां प्रसादेन सर्वमेतद् भविष्यति ।। १३ ।।

'प्रभो! मन-ही-मन यह चिन्तन कीजिये कि दशार्णराज बिना युद्ध किये ही लौट जायँ। देवताओंके कृपाप्रसादसे यह सब कुछ सिद्ध हो जायगा ।। १३ ।।

मन्त्रिभिर्मन्त्रितं सार्धं त्वया पृथुललोचन ।
पुरस्यास्याविनाशाय यच्च राजंस्तथा कुरु ।। १४ ।।

'विशाललोचन नरेश! आपने इस नगरकी रक्षाके लिये मन्त्रियोंके साथ जैसा विचार किया है वैसा कीजिये ।। १४ ।।

दैवं हि मानुषोपेतं भृशं सिद्ध्यति पार्थिव ।
परस्परविरोधाद्धि सिद्धिरस्ति न चैतयोः ।। १५ ।।

'भूपाल! पुरुषार्थसे संयुक्त होनेपर ही दैव विशेषरूपसे सिद्धिको प्राप्त होता है। दैव और पुरुषार्थमें परस्पर विरोध होनपर इन दोनोंकी ही सिद्धि नहीं होती ।। १५ ।।

तस्माद् विधाय नगरे विधानं सचिवैः सह ।
अर्चयस्व यथाकामं दैवतानि विशाम्पते ।। १६ ।।

'राजन्! अतः आप मन्त्रियोंके साथ नगरकी रक्षाके लिये आवश्यक व्यवस्था करके इच्छानुसार देवताओंकी अर्चना कीजिये' ।। १६ ।।

एवं संभाषमाणौ तु दृष्ट्वा शोकपरायणौ ।
शिखण्डिनी तदा कन्या व्रीडितेव तपस्विनी ।। १७ ।।
ततः सा चिन्तयामास मत्कृते दुःखितावुभौ ।
इमाविति ततश्चक्रे मतिं प्राणविनाशने ।। १८ ।।

इन दोनोंको इस प्रकार शोकमग्न होकर बातचीत करते देख उनकी तपस्विनी पुत्री शिखण्डिनी लज्जित-सी होकर इस प्रकार चिन्ता करने लगी—'ये मेरे माता और पिता दोनों मेरे ही कारण दुःखी हो रहे हैं।' ऐसा सोचकर उसने प्राण त्याग देनेका विचार किया ।। १७-१८ ।।

एवं सा निश्चयं कृत्वा भृशं शोकपरायणा ।
निर्जगाम गृहं त्यक्त्वा गहनं निर्जनं वनम् ।। १९ ।।

इस प्रकार जीवनका अन्त कर देनेका निश्चय करके वह अत्यन्त शोकमग्न हो घर छोड़कर निर्जन एवं गहन वनमें चली गयी ।। १९ ।।

यक्षेणर्द्धिमता राजन् स्थूणाकर्णेन पालितम् ।
तद्भयादेव च जनो विसर्जयति तद् वनम् ।। २० ।।

राजन्! वह वन समृद्धिशाली यक्ष स्थूणाकर्णके द्वारा सुरक्षित था। इसीके भयसे साधारण लोगोंने उस वनमें आना-जाना छोड़ दिया था ।। २० ।।

तत्र च स्थूणभवनं सुधामृत्तिकलेपनम् ।
लाजोल्लापिकधूमाढ्यमुच्चप्राकारतोरणम् ।। २१ ।।

उसके भीतर स्थूणाकर्णका विशाल भवन था, जो चूना और मिट्टीसे लीपा गया था। उसके परकोटे और फाटक बहुत ऊँचे थे। उसमें खसकी जड़के धूमकी सुगन्ध फैली हुई थी ।। २१ ।।

तत् प्रविश्य शिखण्डी सा द्रुपदस्यात्मजा नृप ।
अनश्नाना बहुतिथं शरीरमुदशोषयत् ।। २२ ।।

उस भवनमें प्रवेश करके द्रुपदपुत्री शिखण्डिनी बहुत दिनोंतक उपवास करके शरीरको सुखाती रही ।।

दर्शयामास तां यक्षः स्थूणो मार्दवसंयुतः ।
किमर्थोऽयं तवारम्भः करिष्ये ब्रूहि मा चिरम् ।। २३ ।।

स्थूणाकर्ण यक्षने उसे इस अवस्थामें देखा। देखकर उसके हृदयमें कोमल भावका उदय हुआ। फिर उसने पूछा—'भद्रे! तुम्हारा यह उपवास व्रत किसलिये है? अपना प्रयोजन शीघ्र बताओ। मैं उसे पूर्ण करूँगा' ।। २३ ।।

अशक्यमिति सा यक्षं पुनः पुनरुवाच ह ।
करिष्यामीति वै क्षिप्रं प्रत्युवाचाथ गुह्यकः ।। २४ ।।

यह सुनकर उसने यक्षसे बार-बार कहा—'यह तुम्हारे लिये असम्भव है।' तब यक्षने बार-बार उत्तर दिया—'मैं तुम्हारा मनोरथ अवश्य पूर्ण कर दूँगा ।। २४ ।।

धनेश्वरस्यानुचरो वरदोऽस्मि नृपात्मजे ।
अदेयमपि दास्यामि ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ।। २५ ।।

'राजकुमारी! मैं कुबेरका सेवक हूँ। मुझमें वर देनेकी शक्ति है, तुम्हारी जो भी इच्छा हो बताओ। मैं तुम्हें अदेय वस्तु भी दे दूँगा' ।। २५ ।।

ततः शिखण्डी तत् सर्वमखिलेन न्यवेदयत् ।
तस्मै यक्षप्रधानाय स्थूणाकर्णाय भारत ।। २६ ।।

भरतनन्दन! तब शिखण्डिनीने उस यक्षप्रवर स्थूणाकर्णसे अपना सारा वृत्तान्त विस्तारपूर्वक बताया ।। २६ ।।

शिखण्डिन्युवाच

अपुत्रो मे पिता यक्ष न चिरान्नाशमेष्यति ।
अभियास्यति सक्रोधो दशार्णाधिपतिर्हि तम् ।। २७ ।।

शिखण्डिनी बोली—यक्ष! मेरे पुत्रहीन पिता अब शीघ्र ही नष्ट हो जायँगे; क्योंकि दशार्णराज कुपित होकर उनपर आक्रमण करेंगे ।। २७ ।।

महाबलो महोत्साहः सहेमकवचो नृपः ।
तस्माद् रक्षस्व मां यक्ष मातरं पितरं च मे ।। २८ ।।

वे सुवर्णमय कवचसे युक्त नरेश महाबली और महान् उत्साही हैं—यक्ष! तुम मेरे माता-पिताकी और मेरी भी उनसे रक्षा करो ।। २८ ।।

प्रतिज्ञातो हि भवता दुःखप्रतिशमो मम ।
भवेयं पुरुषो यक्ष त्वत्प्रसादादनिन्दितः ।। २९ ।।
यावदेव स राजा वै नोपयाति पुरं मम ।
तावदेव महायक्ष प्रसादं कुरु गुह्यक ।। ३० ।।

गुह्यक! महायक्ष! तुमने मेरे दुःखनिवारणके लिये प्रतिज्ञा की है। मैं चाहती हूँ कि तुम्हारी कृपासे एक श्रेष्ठ पुरुष हो जाऊँ। जबतक राजा हिरण्यवर्मा हमारे नगरपर आक्रमण नहीं कर रहे हैं, तभीतक मुझपर कृपा करो ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि स्थूणाकर्णसमागमे एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें स्थूणाकर्णके साथ शिखण्डिनीका भेंटविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९१ ।।

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिखण्डीको पुरुषत्वकी प्राप्ति, द्रुपद और हिरण्यवर्माकी प्रसन्नता, स्थूणाकर्णको कुबेरका शाप तथा भीष्मका शिखण्डीको न मारनेका निश्चय

भीष्म उवाच

शिखण्डिवाक्यं श्रुत्वाथ स यक्षो भरतर्षभ ।
प्रोवाच मनसा चिन्त्य दैवेनोपनिपीडितः ।। १ ।।
भवितव्यं तथा तद्धि मम दुःखाय कौरव ।
भद्रे कामं करिष्यामि समयं तु निबोध मे ।। २ ।।
(स्वं ते पुंस्त्वं प्रदास्यामि स्त्रीत्वं धारयितास्मि ते ।)
किंचित् कालान्तरे दास्ये पुँल्लिङ्गं स्वमिदं तव ।
आगन्तव्यं त्वया काले सत्यं चैव वदस्व मे ।। ३ ।।

भीष्म कहते हैं—भरतश्रेष्ठ कौरव! शिखण्डिनीकी यह बात सुनकर दैवपीड़ित यक्षने मन-ही-मन कुछ सोचकर कहा—‘भद्रे! तुम जैसा कहती हो वैसा हो तो जायगा; परंतु वह मेरे दुःखका कारण होगा, तथापि मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा। इस विषयमें जो मेरी शर्त है, उसे सुनो। मैं तुम्हें अपना पुरुषत्व दूँगा और तुम्हारा स्त्रीत्व स्वयं धारण करूँगा; किंतु कुछ ही कालके लिये अपना यह पुरुषत्व तुम्हें दूँगा। उस निश्चित समयके भीतर ही तुम्हें मेरा पुरुषत्व लौटानेके लिये यहाँ आ जाना चाहिये। इसके लिये मुझे सच्चा वचन दो ।। १—३ ।।

प्रभुः संकल्पसिद्धोऽस्मि कामचारी विहङ्गमः ।
मत्प्रसादात् पुरं चैव त्राहि बन्धूंश्च केवलम् ।। ४ ।।

‘मैं सिद्धसंकल्प, सामर्थ्यशाली, इच्छानुसार सर्वत्र विचरनेवाला तथा आकाशमें भी चलनेकी शक्ति रखनेवाला हूँ। तुम मेरी कृपासे केवल अपने नगर और बन्धु-बान्धवोंकी रक्षा करो ।। ४ ।।

स्त्रीलिङ्गं धारयिष्यामि तदेवं पार्थिवात्मजे ।
सत्यं मे प्रतिजानीहि करिष्यामि प्रियं तव ।। ५ ।।

‘राजकुमारी! इस प्रकार मैं तुम्हारा स्त्रीत्व धारण करूँगा, कार्य पूर्ण हो जानेपर तुम मेरा पुरुषत्व लौटा देनेकी मुझसे सच्ची प्रतिज्ञा करो; तब मैं तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा’ ।। ५ ।।

शिखण्डिन्युवाच

प्रतिदास्यामि भगवन् पुँल्लिङ्गं तव सुव्रत ।

किञ्चित्कालान्तरं स्त्रीत्वं धारयस्व निशाचर ।। ६ ।।

शिखण्डिनी बोली—भगवन्! तुम्हारा यह पुरुषत्व मैं समयपर लौटा दूँगी। निशाचर! तुम कुछ ही समयके लिये मेरा स्त्रीत्व धारण कर लो ।। ६ ।।

प्रतियाते दशार्णे तु पार्थिवे हेमवर्मणि ।

कन्यैव हि भविष्यामि पुरुषस्त्वं भविष्यसि ।। ७ ।।

दशार्णदेशके स्वामी राजा हिरण्यवर्माके लौट जानेपर मैं फिर कन्या ही हो जाऊँगी और तुम पूर्ववत् पुरुष हो जाओगे ।। ७ ।।

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा समयं तत्र चक्राते तावुभौ नृप ।

अन्योऽन्यस्याभिसंदेहे तौ संक्रामयतां ततः ।। ८ ।।

स्त्रीलिङ्गं धारयामास स्थूणायक्षोऽथ भारत ।

यक्षरूपं च तद् दीप्तं शिखण्डी प्रत्यपद्यत ।। ९ ।।

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर! इस प्रकार बात करके उन्होंने परस्पर प्रतिज्ञा कर ली तथा उन दोनोंने एक-दूसरेके शरीरमें अपने-अपने पुरुषत्व और स्त्रीत्वका संक्रमण करा दिया। भारत! स्थूणाकर्ण यक्षने उस शिखण्डिनीके स्त्रीत्वको धारण कर लिया और शिखण्डिनीने यक्षका प्रकाशमान पुरुषत्व प्राप्त कर लिया ।। ८-९ ।।

ततः शिखण्डी पाञ्चाल्यः पुंस्त्वमासाद्य पार्थिव ।

विवेश नगरं हृष्टः पितरं च समासदत् ।। १० ।।

राजन्! इस प्रकार पुरुषत्व पाकर पांचालराजकुमार शिखण्डी बड़े हर्षके साथ नगरमें आया और अपने पितासे मिला ।। १० ।।

यथावृत्तं तु तत् सर्वमाचख्यौ द्रुपदस्य तत् ।

द्रुपदस्तस्य तच्छ्रुत्वा हर्षमाहारयत् परम् ।। ११ ।।

उसने जैसे जो वृत्तान्त हुआ था, वह सब राजा द्रुपदसे कह सुनाया। उसकी यह बात सुनकर राजा द्रुपदको अपार हर्ष हुआ ।। ११ ।।

सभार्यस्तच्च सस्मार महेश्वरवचस्तदा ।

ततः सम्प्रेषयामास दशार्णाधिपतेर्नृपः ।। १२ ।।

पुरुषोऽयं मम सुतः श्रद्धत्तां मे भवानिति ।

पत्नीसहित राजाको भगवान् महेश्वरके दिये हुए वरका स्मरण हो आया। तदनन्तर राजा द्रुपदने दशार्णराजके पास दूत भेजा और यह कहलाया कि मेरा पुत्र पुरुष है। आप मेरी इस बातपर विश्वास करें ।। १२½ ।।

अथ दाशार्णको राजा सहसाभ्यागमत् तदा ।। १३ ।।

पञ्चालराजं द्रुपदं दुःखशोकसमन्वितः ।

इधर दुःख और शोकमें डूबे हुए दशार्णराजने सहसा पांचालराज द्रुपदपर आक्रमण किया ।। १३ १/२ ।।

ततः काम्पिल्यमासाद्य दशार्णाधिपतिस्ततः ।। १४ ।।
प्रेषयामास सत्कृत्य दूतं ब्रह्मविदां वरम् ।

काम्पिल्य नगरके निकट पहुँचकर दशार्णराजने वेद-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ एक ब्राह्मणको सत्कारपूर्वक दूत बनाकर भेजा ।। १४ १/२ ।।

ब्रूहि मद्वचनाद् दूत पाञ्चाल्यं तं नृपाधमम् ।। १५ ।।
यन्मे कन्यां स्वकन्यार्थे वृतवानसि दुर्मते ।
फलं तस्यावलेपस्य द्रक्ष्यस्यद्य न संशयः ।। १६ ।।

और कहा—‘दूत! मेरे कथनानुसार राजाओंमें अधम उस पांचालनरेशसे कहिये। दुर्मते! तुमने जो अपनी कन्याके लिये मेरी कन्याका वरण किया था, उस घमंडका फल तुम्हें आज देखना पड़ेगा, इसमें संशय नहीं है’ ।। १५-१६ ।।

एवमुक्तश्च तेनासौ ब्राह्मणो राजसत्तम ।
दूतः प्रयातो नगरं दाशार्णनृपचोदितः ।। १७ ।।

नृपश्रेष्ठ! दशार्णराजका यह संदेश पाकर और उन्हींकी प्रेरणासे दूत बनकर वे ब्राह्मणदेवता काम्पिल्य नगरमें आये ।। १७ ।।

तत आसादयामास पुरोधा द्रुपदं पुरे ।
तस्मै पाञ्चालको राजा गामर्घ्यं च सुसत्कृतम् ।। १८ ।।
प्रापयामास राजेन्द्र सह तेन शिखण्डिना ।
तां पूजां नाभ्यनन्दत् स वाक्यं चेदमुवाच ह ।। १९ ।।

नगरमें आकर वे पुरोहित ब्राह्मण महाराज द्रुपदसे मिले। पांचालराजने सत्कारपूर्वक उन्हें अर्घ्य तथा गौ अर्पण की। उनके साथ राजकुमार शिखण्डी भी थे। राजेन्द्र! पुरोहितने वह पूजा ग्रहण नहीं की और इस प्रकार कहा— ।। १८-१९ ।।

यदुक्तं तेन वीरेण राज्ञा काञ्चनवर्मणा ।
यत् तेऽहमधमाचार दुहित्रास्म्यभिवञ्चितः ।। २० ।।
तस्य पापस्य करणात् फलं प्राप्नुहि दुर्मते ।
देहि युद्धं नरपते ममाद्य रणमूर्धनि ।। २१ ।।
उद्धरिष्यामि ते सद्यः सामात्यसुतबान्धवम् ।

‘राजन्! वीरवर राजा हिरण्यवर्माने जो संदेश दिया है, उसे सुनिये। पापाचारी दुर्बुद्धि नरेश! तुम्हारी पुत्रीके द्वारा मैं ठगा गया हूँ। वह पाप तुमने ही किया है; अतः उसका फल भोगो। नरेश्वर! युद्धके मैदानमें आकर मुझे युद्धका अवसर दो। मैं मन्त्री, पुत्र और बान्धवोंसहित तुम्हारे समस्त कुलको उखाड़ फेंकूँगा’ ।। २०-२१ १/२ ।।

तदुपालम्भसंयुक्तं श्रावितः किल पार्थिवः ।। २२ ।।

दशार्णपतिना चोक्तो मन्त्रिमध्ये पुरोधसा ।

इस प्रकार पुरोहितने मन्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए राजा द्रुपदसे दशार्णराजका कहा हुआ उपालम्भयुक्त संदेश सुनाया ।। २२ $\frac{1}{2}$ ।।

अभवद् भरतश्रेष्ठ द्रुपदः प्रणयानतः ।। २३ ।।

यदाह मां भवान् ब्रह्मन् सम्बन्धिवचनाद् वचः ।

अस्योत्तरं प्रतिवचो दूतो राज्ञे वदिष्यति ।। २४ ।।

भरतश्रेष्ठ! तब राजा द्रुपद प्रेमसे विनीत हो गये और इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन्! आपने मेरे सम्बन्धीके कथनानुसार जो बात मुझे सुनायी है, इसका उत्तर मेरा दूत स्वयं जाकर राजाको देगा' ।। २३-२४ ।।

ततः सम्प्रेषयामास द्रुपदोऽपि महात्मने ।

हिरण्यवर्मणे दूतं ब्राह्मणं वेदपारगम् ।। २५ ।।

तदनन्तर द्रुपदने भी महामना हिरण्यवर्माके पास वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणको दूत बनाकर भेजा ।। २५ ।।

तमागम्य तु राजानं दशार्णाधिपतिं तदा ।

तद् वाक्यमाददे राजन् यदुक्तं द्रुपदेन ह ।। २६ ।।

राजन्! उन्होंने दशार्णनरेशके पास आकर द्रुपदने जो कुछ कहा था, वह सब दुहरा दिया ।। २६ ।।

आगमः क्रियतां व्यक्तः कुमारोऽयं सुतो मम ।

मिथ्यैतदुक्तं केनापि तदश्रद्धेयमित्युत ।। २७ ।।

'राजन्! आप आकर स्पष्टरूपसे परीक्षा कर लें। मेरा यह कुमार पुत्र है (कन्या नहीं)। आपसे किसीने झूठे ही उसके कन्या होनेकी बात कह दी है, जो विश्वास करनेके योग्य नहीं है' ।। २७ ।।

ततः स राजा द्रुपदस्य श्रुत्वा
विमर्षयुक्तो युवतीर्वरिष्ठाः ।
सम्प्रेषयामास सुचारुरूपाः
शिखण्डिनं स्त्री पुमान् वेति वेत्तुम् ।। २८ ।।

राजा द्रुपदका यह उत्तर सुनकर हिरण्यवर्माने कुछ विचार किया और अत्यन्त मनोहर रूपवाली कुछ श्रेष्ठ युवतियोंको यह जाननेके लिये भेजा कि शिखण्डी स्त्री है या पुरुष ।। २८ ।।

ताः प्रेषितास्तत्त्वभावं विदित्वा
प्रीत्या राज्ञे तच्छशंसुर्हि सर्वम् ।
शिखण्डिनं पुरुषं कौरवेन्द्र

दाशार्णराजाय महानुभावम् ।। २९ ।।

कौरवराज! उन भेजी हुई युवतियोंने वास्तविक बात जानकर राजा हिरण्यवर्माको बड़ी प्रसन्नताके साथ सब कुछ बता दिया। उन्होंने दशार्णराजको यह विश्वास दिला दिया कि शिखण्डी महान् प्रभावशाली पुरुष है ।। २९ ।।

ततः कृत्वा तु राजा स आगमं प्रीतिमानथ ।
सम्बन्धिना समागम्य हृष्टो वासमुवास ह ।। ३० ।।

इस प्रकार परीक्षा करके राजा हिरण्यवर्मा बड़े प्रसन्न हुए। फिर उन्होंने सम्बन्धीसे मिलकर बड़े हर्ष और उल्लासके साथ वहाँ निवास किया ।। ३० ।।

शिखण्डिने च मुदितः प्रादाद् वित्तं जनेश्वरः ।
हस्तिनोऽश्वांश्च गाश्चैव दास्योऽथ बहुलास्तथा ।। ३१ ।।

राजाने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने जामाता शिखण्डीको भी बहुत धन, हाथी, घोड़े, गाय, बैल और दासियाँ दीं ।। ३१ ।।

पूजितश्च प्रतिययौ निर्भर्त्स्य तनयां किल ।
विनीतकिल्विषे प्रीते हेमवर्मणि पार्थिवे ।
प्रतियाते दशार्णे तु हृष्टरूपा शिखण्डिनी ।। ३२ ।।

इतना ही नहीं, उन्होंने झूठी खबर भेजनेके कारण अपनी पुत्रीको भी झिड़कियाँ दीं। फिर वे राजा द्रुपदसे सम्मानित होकर लौट गये। मनोमालिन्य दूर करके दशार्णराज हिरण्यवर्माके प्रसन्नतापूर्वक लौट जानेपर शिखण्डिनीको भी बड़ा हर्ष हुआ ।। ३२ ।।

कस्यचित् त्वथ कालस्य कुबेरो नरवाहनः ।
लोकयात्रां प्रकुर्वाणः स्थूणस्यागान्निवेशनम् ।। ३३ ।।

उधर कुछ कालके पश्चात् नरवाहन कुबेर लोकमें भ्रमण करते हुए स्थूणाकर्णके घरपर आये ।।

स तद्गृहस्योपरि वर्तमान
आलोकयामास धनाधिगोप्ता ।
स्थूणस्य यक्षस्य विवेश वेश्म
स्वलंकृतं माल्यगुणैर्विचित्रैः ।। ३४ ।।
लाज्यैश्च गन्धैश्च तथा वितानै-
रभ्यर्चितं धूपनधूपितं च ।
ध्वजैः पताकाभिरलंकृतं च
भक्ष्यान्नपेयामिषदन्तहोमम् ।। ३५ ।।

उसके घरके ऊपर आकाशमें स्थित हो धनाध्यक्ष कुबेरने उसका अच्छी तरह अवलोकन किया। स्थूणाकर्ण यक्षका वह भवन विचित्र हारोंसे सजाया गया था। खशकी और अन्य पदार्थोंकी सुगन्धसे भी अर्चित तथा चँदोवोंसे सुशोभित था। उसमें सब ओर

धूपकी सुगन्ध फैली हुई थी। अनेकानेक ध्वज और पताकाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। वहाँ भक्ष्य, भोज्य, पेय आदि सभी वस्तुएँ, जिनका दन्त और जिह्वाद्वारा उदराग्निमें हवन किया जाता है, प्रस्तुत थीं। तत्पश्चात् कुबेरने उस भवनमें प्रवेश किया ।। ३४-३५ ।।

तत् स्थानं तस्य दृष्ट्वा तु सर्वतः समलंकृतम् ।
मणिरत्नसुवर्णानां मालाभिः परिपूरितम् ।। ३६ ।।
नानाकुसुमगन्धाढ्यं सिक्तसम्मृष्टशोभितम् ।
अथाब्रवीद् यक्षपतिस्तान् यक्षाननुगांस्तदा ।। ३७ ।।
स्वलंकृतमिदं वेश्म स्थूणस्यामितविक्रमाः ।
नोपसर्पति मां चैव कस्मादद्य स मन्दधीः ।। ३८ ।।

कुबेरने उसके निवासस्थानको सब ओरसे सुसज्जित, मणि, रत्न तथा सुवर्णकी मालाओंसे परिपूर्ण, भाँति-भाँतिके पुष्पोंकी सुगन्धसे व्याप्त तथा झाड़-बुहार और धो-पोंछ देनेके कारण शोभासम्पन्न देखकर यक्षराजने स्थूणाकर्णके सेवकोंसे पूछा—'अमित पराक्रमी यक्षो! स्थूणाकर्णका यह भवन तो सब प्रकारसे सजाया हुआ दिखायी देता है (इससे सिद्ध है कि वह घरमें ही है), तथापि वह मूर्ख मेरे पास आता क्यों नहीं है? ।।

यस्माज्जानन् स मन्दात्मा मामसौ नोपसर्पति ।
तस्मात् तस्मै महादण्डो धार्यः स्यादिति मे मतिः ।। ३९ ।।

'वह मन्दबुद्धि यक्ष मुझे आया हुआ जानकर भी मेरे निकट नहीं आ रहा है; इसलिये उसे महान् दण्ड देना चाहिये, ऐसा मेरा विचार है' ।। ३९ ।।

यक्षा ऊचुः

द्रुपदस्य सुता राजन् राज्ञो जाता शिखण्डिनी ।
तस्या निमित्ते कस्मिंश्चित् प्रादात् पुरुषलक्षणम् ।। ४० ।।
अग्रहील्लक्षणं स्त्रीणां स्त्रीभूतो तिष्ठते गृहे ।
नोपसर्पति तेनासौ सव्रीडः स्त्रीसरूपवान् ।। ४१ ।।

यक्षोंने कहा—राजन्! राजा द्रुपदके यहाँ एक शिखण्डिनी नामकी कन्या उत्पन्न हुई है। उसीको किसी विशेष कारणवश इन्होंने अपना पुरुषत्व दे दिया है और उसका स्त्रीत्व स्वयं ग्रहण कर लिया है। तबसे वे स्त्रीरूप होकर घरमें ही रहते हैं। स्त्रीरूपमें होनेके कारण ही वे लज्जावश आपके पास नहीं आ रहे हैं ।।

एतस्मात् कारणाद् राजन् स्थूणो न त्वाद्य सर्पति ।
श्रुत्वा कुरु यथान्यायं विमानमिह तिष्ठताम् ।। ४२ ।।

महाराज! इसी कारणसे स्थूणाकर्ण आज आपके सामने नहीं उपस्थित हो रहे हैं। यह सुनकर आप जैसा उचित समझें, करें। आज आपका विमान यहीं रहना चाहिये ।।

आनीयतां स्थूण इति ततो यक्षाधिपोऽब्रवीत् ।

कर्तास्मि निग्रहं तस्य प्रत्युवाच पुनः पुनः ।। ४३ ।।

तब यक्षराजने कहा—'स्थूणाकर्णको यहाँ बुला ले आओ। मैं उसे दण्ड दूँगा'। यह बात उन्होंने बार-बार दुहरायी ।। ४३ ।।

सोऽभ्यगच्छत यक्षेन्द्रमाहूतः पृथिवीपते ।
स्त्रीसरूपो महाराज तस्थौ व्रीडासमन्वितः ।। ४४ ।।

राजन्! इस प्रकार बुलानेपर वह यक्ष कुबेरकी सेवामें गया। महाराज! वह स्त्रीस्वरूप धारण करनेके कारण लज्जामें डूबा हुआ उनके सामने खड़ा हो गया ।। ४४ ।।

तं शशापाथ संक्रुद्धो धनदः कुरुनन्दन ।
एवमेव भवत्वद्य स्त्रीत्वं पापस्य गुह्यकाः ।। ४५ ।।

कुरुनन्दन! उसे इस रूपमें देखकर कुबेर अत्यन्त कुपित हो उठे और शाप देते हुए बोले—'गुह्यको! इस पापी स्थूणाकर्णका यह स्त्रीत्व अब ऐसा ही बना रहे' ।।

ततोऽब्रवीद् यक्षपतिर्महात्मा
यस्माददास्त्ववमन्येह यक्षान् ।
शिखण्डिने लक्षणं पापबुद्धे
स्त्रीलक्षणं चाग्रहीः पापकर्मन् ।। ४६ ।।
अप्रवृत्तं सुदुर्बुद्धे यस्मादेतत् त्वया कृतम् ।
तस्मादद्य प्रभृत्येव स्त्री त्वं सा पुरुषस्तथा ।। ४७ ।।

तदनन्तर महात्मा यक्षराजने उस यक्षसे कहा—'पापबुद्धि और पापाचारी यक्ष! तूने यक्षोंका तिरस्कार करके यहाँ शिखण्डीको अपना पुरुषत्व दे दिया और उसका स्त्रीत्व ग्रहण कर लिया है। दुर्बुद्धे! तूने जो यह अव्यावहारिक कार्य कर डाला है, इसके कारण आजसे तू स्त्री ही बना रहे और शिखण्डी पुरुषरूपमें ही रह जाय' ।। ४६-४७ ।।

ततः प्रसादयामासुर्यक्षा वैश्रवणं किल ।
स्थूणस्यार्थे कुरुष्वान्तं शापस्येति पुनः पुनः ।। ४८ ।।

तब यक्षोंने अनुनय-विनय करके स्थूणाकर्णके लिये कुबेरको प्रसन्न किया और बारंबार आग्रहपूर्वक कहा—'भगवन्! इस शापका अन्त कर दीजिये' ।। ४८ ।।

ततो महात्मा यक्षेन्द्रः प्रत्युवाचानुगामिनः ।
सर्वान् यक्षगणांस्तात शापस्यान्तचिकीर्षया ।। ४९ ।।

तात! तब महात्मा यक्षराजने स्थूणाकर्णका अनुगमन करनेवाले उन समस्त यक्षोंसे उस शापका अन्त कर देनेकी इच्छासे इस प्रकार कहा— ।। ४९ ।।

शिखण्डिनि हते यक्षाः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यते ।
स्थूणो यक्षो निरुद्वेगो भवत्विति महामनाः ।। ५० ।।
इत्युक्त्वा भगवान् देवो यक्षराजः सुपूजितः ।
प्रययौ सहितः सर्वैर्निमेषान्तरचारिभिः ।। ५१ ।।

'यक्षो! शिखण्डीके मारे जानेपर यह स्थूणाकर्ण यक्ष अपना पूर्वरूप फिर प्राप्त कर लेगा। अतः अब इसे निर्भय हो जाना चाहिये।' ऐसा कहकर महामना भगवान् यक्षराज कुबेर उन यक्षोंद्वारा अत्यन्त पूजित हो निमेषमात्रमें ही अभीष्ट स्थानपर पहुँच जानेवाले अपने समस्त सेवकोंके साथ वहाँसे चले गये ।। ५०-५१ ।।

स्थूणस्तु शापं सम्प्राप्य तत्रैव न्यवसत् तदा ।
समये चागमत् तूर्णं शिखण्डी तं क्षपाचरम् ।। ५२ ।।

उस समय कुबेरका शाप पाकर स्थूणाकर्ण वहीं रहने लगा। शिखण्डी पूर्वनिश्चित समयपर उस निशाचर स्थूणाकर्णके पास तुरंत आ गया ।। ५२ ।।

सोऽभिगम्याब्रवीद् वाक्यं प्राप्तोऽस्मि भगवन्निति ।
तमब्रवीत् ततः स्थूणः प्रीतोऽस्मीति पुनः पुनः ।। ५३ ।।

उसके निकट जाकर शिखण्डीने कहा—'भगवन्! मैं आपकी सेवामें उपस्थित हूँ।' तब स्थूणाकर्णने उससे बारंबार कहा—'मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, बहुत प्रसन्न हूँ' ।।

आर्जवेनागतं दृष्ट्वा राजपुत्रं शिखण्डिनम् ।
सर्वमेव यथावृत्तमाचचक्षे शिखण्डिने ।। ५४ ।।

राजकुमार शिखण्डीको सरलतापूर्वक आया हुआ देख उससे यक्षने अपना सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक कह सुनाया ।। ५४ ।।

यक्ष उवाच

शप्तो वैश्रवणेनाहं त्वत्कृते पार्थिवात्मज ।
गच्छेदानीं यथाकामं चर लोकान् यथासुखम् ।। ५५ ।।

यक्षने कहा—राजकुमार! तुम्हारे लिये ही यक्षराजने मुझे शाप दे दिया है; अतः अब जाओ, इच्छानुसार सारे जगत्में सुखपूर्वक विचरो ।। ५५ ।।

दिष्टमेतत् पुरा मन्ये न शक्यमतिवर्तितुम् ।
गमनं तव चेतो हि पौलस्त्यस्य च दर्शनम् ।। ५६ ।।

मैं इसे अपना पुरातन प्रारब्ध ही मानता हूँ, जो कि तुम्हारा यहाँसे जाना और उसी समय यक्षराज कुबेरका यहाँ आकर दर्शन देना हुआ। अब इसे टाला नहीं जा सकता ।।

भीष्म उवाच

एवमुक्तः शिखण्डी तु स्थूणयक्षेण भारत ।
प्रत्याजगाम नगरं हर्षेण महता वृतः ।। ५७ ।।

भीष्म कहते हैं—भरतनन्दन! स्थूणाकर्ण यक्षके ऐसा कहनेपर शिखण्डी बड़े हर्षके साथ अपने नगरको लौट आया ।। ५७ ।।

पूजयामास विविधैर्गन्धमाल्यैर्महाधनैः ।
द्विजातीन् देवतांश्चैव चैत्यानथ चतुष्पथान् ।। ५८ ।।

द्रुपदः सह पुत्रेण सिद्धार्थेन शिखण्डिना ।
मुदं च परमां लेभे पाञ्चाल्यः सह बान्धवैः ।। ५९ ।।

पूर्ण मनोरथ होकर लौटे हुए अपने पुत्र शिखण्डीके साथ पांचालराज द्रुपदने गन्ध-माल्य आदि नाना प्रकारके बहुमूल्य उपचारोंद्वारा देवताओं, ब्राह्मणों, चैत्य (पीपल आदि धार्मिक)-वृक्षों तथा चौराहोंका पूजन किया तथा बन्धु-बान्धवोंसहित उन्हें महान् हर्ष प्राप्त हुआ ।।

शिष्यार्थं प्रददौ चाथ द्रोणाय कुरुपुङ्गव ।
शिखण्डिनं महाराज पुत्रं स्त्रीपूर्विणं तथा ।। ६० ।।

महाराज! कुरुश्रेष्ठ! द्रुपदने अपने पुत्र शिखण्डीको जो पहले कन्यारूपमें उत्पन्न हुआ था, द्रोणाचार्यकी सेवामें धनुर्वेदकी शिक्षाके लिये सौंप दिया ।। ६० ।।

प्रतिपेदे चतुष्पादं धनुर्वेदं नृपात्मजः ।
शिखण्डी सह युष्माभिर्धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।। ६१ ।।

इस प्रकार द्रुपदपुत्र शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्नने तुम सब भाइयोंके साथ ही ग्रहण, धारण, प्रयोग और प्रतीकार—इन चार पादोंसे युक्त धनुर्वेदका अध्ययन किया ।। ६१ ।।

मम त्वेतच्चरास्तात यथावत् प्रत्यवेदयन् ।
जडान्धबधिराकारा ये मुक्ता द्रुपदे मया ।। ६२ ।।

मैंने द्रुपदके नगरमें कुछ गुप्तचर नियुक्त कर दिये थे, जो गूँगे, अंधे और बहरे बनकर वहाँ रहते थे। वे ही यह सब समाचार मुझे ठीक-ठीक बताया करते थे ।। ६२ ।।

एवमेष महाराज स्त्रीपुमान् द्रुपदात्मजः ।
स सम्भूतः कुरुश्रेष्ठ शिखण्डी रथसत्तमः ।। ६३ ।।

महाराज! कुरुश्रेष्ठ! इस प्रकार यह रथियोंमें उत्तम द्रुपदकुमार शिखण्डी पहले स्त्रीरूपमें उत्पन्न होकर पीछे पुरुष हुआ था ।। ६३ ।।

ज्येष्ठा काशिपतेः कन्या अम्बानामेति विश्रुता ।
द्रुपदस्य कुले जाता शिखण्डी भरतर्षभ ।। ६४ ।।

भरतश्रेष्ठ! काशिराजकी ज्येष्ठ कन्या, जो अम्बा नामसे विख्यात थी, वही द्रुपदके कुलमें शिखण्डीके रूपमें उत्पन्न हुई है ।। ६४ ।।

नाहमेनं धनुष्पाणिं युयुत्सुं समुपस्थितम् ।
मुहूर्तमपि पश्येयं प्रहरेयं न चाप्युत ।। ६५ ।।

जब यह हाथमें धनुष लेकर युद्ध करनेकी इच्छासे मेरे सामने उपस्थित होगा, उस समय मुहूर्तभर भी न तो इसकी ओर देखूँगा और न इसपर प्रहार ही करूँगा ।। ६५ ।।

व्रतमेतन्मम सदा पृथिव्यामपि विश्रुतम् ।
स्त्रियां स्त्रीपूर्वके चैव स्त्रीनाम्नि स्त्रीसरूपिणि ।। ६६ ।।
न मुञ्चेयमहं बाणमिति कौरवनन्दन ।

कौरवनन्दन! इस भूमण्डलमें भी मेरा यह व्रत प्रसिद्ध है कि जो स्त्री हो, जो पहले स्त्री रहकर पुरुष हुआ हो, जिसका नाम स्त्रीके समान हो तथा जिसका रूप एवं वेष-भूषा स्त्रियोंके समान हो, इन सबपर मैं बाण नहीं छोड़ सकता ।। ६६ 1/2 ।।

न हन्यामहमेतेन कारणेन शिखण्डिनम् ।। ६७ ।।

एतत् तत्त्वमहं वेद जन्म तात शिखण्डिनः ।

ततो नैनं हनिष्यामि समरेष्वाततायिनम् ।। ६८ ।।

तात! इसी कारणसे मैं शिखण्डीको नहीं मार सकता। शिखण्डीके जन्मका वास्तविक वृत्तान्त मैं जानता हूँ। अतः समरभूमिमें वह आततायी होकर आवे तो भी मैं इसे नहीं मारूँगा ।। ६७-६८ ।।

यदि भीष्मः स्त्रियं हन्यात् सन्तः कुर्युर्विगर्हणम् ।

नैनं तस्माद्धनिष्यामि दृष्ट्वापि समरे स्थितम् ।। ६९ ।।

यदि भीष्म स्त्रीका वध करे तो साधु पुरुष इसकी निन्दा करेंगे, अतः शिखण्डीको समरभूमिमें खड़ा देखकर भी मैं इसे नहीं मारूँगा ।। ६९ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौरव्यो राजा दुर्योधनस्तदा ।

मुहूर्तमिव स ध्यात्वा भीष्मे युक्तममन्यत ।। ७० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सब सुनकर कुरुवंशी राजा दुर्योधनने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारकर भीष्मके लिये शिखण्डीका वध न करना उचित ही मान लिया ।। ७० ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शिखण्डिपुंस्त्वप्राप्तौ द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शिखण्डीको पुरुषत्व-प्राप्तिविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९२ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका 1/2 श्लोक मिलाकर कुल ७० 1/2 श्लोक हैं।]

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके पूछनेपर भीष्म आदिके द्वारा अपनी-अपनी शक्तिका वर्णन

संजय उवाच

प्रभातायां तु शर्वर्यां पुनरेव सुतस्तव ।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य पितामहमपृच्छत ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! जब रात बीती और प्रभात हुआ, उस समय आपके पुत्र दुर्योधनने सारी सेनाके बीचमें पुनः पितामह भीष्मसे पूछा— ।। १ ।।

पाण्डवेयस्य गाङ्गेय यदेतत् सैन्यमुद्यतम् ।
प्रभूतनरनागाश्वं महारथसमाकुलम् ।। २ ।।
भीमार्जुनप्रभृतिभिर्महेष्वासैर्महाबलैः ।
लोकपालसमैर्गुप्तं धृष्टद्युम्नपुरोगमैः ।। ३ ।।
अप्रधृष्यमनावार्यमुद्धूतमिव सागरम् ।
सेनासागरमक्षोभ्यमपि देवैर्महाहवे ।। ४ ।।

'गंगानन्दन! यह जो पाण्डवोंकी सेना युद्धके लिये उद्यत है। इसमें बहुत-से पैदल, हाथीसवार और घुड़सवार भरे हुए हैं। यह सेना बड़े-बड़े महारथियों एवं उनके विशाल रथोंसे व्याप्त है। लोकपालोंके समान महापराक्रमी एवं महाधनुर्धर भीमसेन, अर्जुन और धृष्टद्युम्न आदि वीर इस सेनाकी रक्षा करते हैं। यह उछलती हुई तरंगोंसे युक्त समुद्रकी भाँति दुर्धर्ष प्रतीत होती है। इसे आगे बढ़नेसे रोकना असम्भव है तथा बड़े-बड़े देवता भी इस महान् युद्धमें इस सैन्य-समुद्रको क्षुब्ध नहीं कर सकते ।। २—४ ।।

केन कालेन गाङ्गेय क्षपयेथा महाद्युते ।
आचार्यो वा महेष्वासः कृपो वा सुमहाबलः ।। ५ ।।
कर्णो वा समरश्लाघी द्रौणिर्वा द्विजसत्तमः ।
दिव्यास्त्रविदुषः सर्वे भवन्तो हि बले मम ।। ६ ।।

'महातेजस्वी गंगानन्दन! आप कितने समयमें इस सारी सेनाका विध्वंस कर सकते हैं? महाधनुर्धर द्रोणाचार्य, अत्यन्त बलशाली कृपाचार्य, युद्धकी स्पृहा रखनेवाले कर्ण अथवा द्विजश्रेष्ठ अश्वत्थामा कितने समयमें शत्रुसेनाका संहार कर सकते हैं; क्योंकि मेरी सेनामें आप ही सब लोग दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता हैं ।। ५-६ ।।

एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं परं कौतूहलं हि मे ।
हृदि नित्यं महाबाहो वक्तुमर्हसि तन्मम ।। ७ ।।

'महाबाहो! मैं यह जानना चाहता हूँ, इसके लिये मेरे हृदयमें सदा अत्यन्त कौतूहल बना रहता है। आप मुझे यह बतानेकी कृपा करें' ।। ७ ।।

भीष्म उवाच

अनुरूपं कुरुश्रेष्ठ त्वय्येतत् पृथिवीपते ।
बलाबलममित्राणां तेषां यदिह पृच्छसि ।। ८ ।।

भीष्मजीने कहा—कुरुश्रेष्ठ! पृथ्वीपते! तुम जो यहाँ शत्रुओंके बलाबलके विषयमें पूछ रहे हो, यह तुम्हारे योग्य ही है ।। ८ ।।

शृणु राजन् मम रणे या शक्तिः परमा भवेत् ।
शस्त्रवीर्यं रणे यच्च भुजयोश्च महाभुज ।। ९ ।।

राजन्! महाबाहो! युद्धमें जो मेरी सबसे अधिक शक्ति है, मेरे अस्त्र-शस्त्रोंका तथा दोनों भुजाओंका जितना बल है, वह सब बताता हूँ, सुनो ।। ९ ।।

आर्जवेनैव युद्धेन योद्धव्य इतरो जनः ।
मायायुद्धेन मायावी इत्येतद् धर्मनिश्चयः ।। १० ।।

साधारण लोगोंके साथ सरलभावसे ही युद्ध करना चाहिये। जो लोग मायावी हैं, उनका सामना मायायुद्धसे ही करना चाहिये। यही धर्मशास्त्रोंका निश्चय है ।। १० ।।

हन्यामहं महाभाग पाण्डवानामनीकिनीम् ।
दिवसे दिवसे कृत्वा भागं प्रागाह्निकं मम ।। ११ ।।

महाभाग! मैं प्रतिदिन पाण्डवोंकी सेनाको पहले अपने दैनिक भागमें विभक्त करके उसका वध करूँगा ।। ११ ।।

योधानां दशसाहस्रं कृत्वा भागं महाद्युते ।
सहस्रं रथिनामेकमेष भागो मतो मम ।। १२ ।।

महाद्युते! दस-दस हजार योद्धाओंका तथा एक हजार रथियोंका समूह मेरा एक भाग मानना चाहिये ।।

अनेनाहं विधानेन संनद्धः सततोत्थितः ।
क्षपयेयं महत् सैन्यं कालेनानेन भारत ।। १३ ।।

भारत! इस विधानसे मैं सदा उद्यत और संनद्ध होकर उस विशाल सेनाको इतने ही समयमें नष्ट कर सकता हूँ ।। १३ ।।

मुञ्चेयं यदि वास्त्राणि महान्ति समरे स्थितः ।
शतसाहस्रघातीनि हन्यां मासेन भारत ।। १४ ।।

भारत! यदि मैं युद्धमें स्थित होकर लाखों वीरोंका संहार करनेवाले अपने महान् अस्त्रोंका प्रयोग करने लगूँ तो एक मासमें पाण्डवोंकी सारी सेनाको नष्ट कर सकता हूँ ।। १४ ।।

संजय उवाच

श्रुत्वा भीष्मस्य तद् वाक्यं राजा दुर्योधनस्ततः ।
पर्यपृच्छत राजेन्द्र द्रोणमङ्गिरसां वरम् ।। १५ ।।
आचार्य केन कालेन पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान् ।
निहन्या इति तं द्रोणः प्रत्युवाच हसन्निव ।। १६ ।।

संजय बोले—राजेन्द्र! भीष्मका यह वचन सुनकर राजा दुर्योधनने आंगिरस ब्राह्मणोंमें सबसे श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे पूछा—'आचार्य! आप कितने समयमें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके सैनिकोंका संहार कर सकते हैं?' यह प्रश्न सुनकर द्रोणाचार्य हँसते हुए-से बोले — ।। १५-१६ ।।

स्थविरोऽस्मि महाबाहो मन्दप्राणविचेष्टितः ।
शस्त्राग्निना निर्दहेयं पाण्डवानामनीकिनीम् ।। १७ ।।

'महाबाहो! अब तो मैं बूढ़ा हो गया, मेरी प्राणशक्ति और चेष्टा कम हो गयी, तो भी अपने अस्त्र-शस्त्रोंकी अग्निसे पाण्डवोंकी विशाल वाहिनीको भस्म कर दूँगा ।।

यथा भीष्मः शान्तनवो मासेनेति मतिर्मम ।
एषा मे परमा शक्तिरेतन्मे परमं बलम् ।। १८ ।।

'जैसे शान्तनुनन्दन भीष्म एक मासमें पाण्डव-सेनाका विनाश कर सकते हैं, उसी प्रकार और उतने ही समयमें मैं भी कर सकता हूँ, ऐसा मेरा विश्वास है। यही मेरी सबसे बड़ी शक्ति है और यही मेरा अधिक-से-अधिक बल है' ।। १८ ।।

द्वाभ्यामेव तु मासाभ्यां कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् ।
द्रौणिस्तु दशरात्रेण प्रतिजज्ञे बलक्षयम् ।। १९ ।।

कृपाचार्यने दो महीनोंमें पाण्डव-सेनाके संहारकी बात कही; परंतु अश्वत्थामाने दस ही दिनोंमें शत्रुसेनाके संहारकी प्रतिज्ञा कर ली ।। १९ ।।

कर्णस्तु पञ्चरात्रेण प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ।
तच्छ्रुत्वा सूतपुत्रस्य वाक्यं सागरगासुतः ।। २० ।।
जहास सस्वनं हासं वाक्यं चेदमुवाच ह ।
न हि यावद् रणे पार्थं बाणशङ्खधनुर्धरम् ।। २१ ।।
वासुदेवसमायुक्तं रथेनायान्तमाहवे ।
समागच्छसि राधेय तेनैवमभिमन्यसे ।
शक्यमेवं च भूयश्च त्वया वक्तुं यथेष्टतः ।। २२ ।।

बड़े-बड़े अस्त्रोंके ज्ञाता कर्णने पाँच ही दिनोंमें पाण्डवसेनाको नष्ट करनेकी प्रतिज्ञा की। सूतपुत्रका यह कथन सुनकर गंगानन्दन भीष्मजी ठहाका मारकर हँस पड़े और यह वचन बोले—'राधापुत्र! जबतक युद्धभूमिमें शंख, बाण और धनुष धारण करनेवाले श्रीकृष्णसहित अर्जुनको तुम एक ही रथसे आते हुए नहीं देखते और जबतक उनके साथ

तुम्हारी मुठभेड़ नहीं होती, तभीतक ऐसा अभिमान प्रकट करते हो, तुम इच्छानुसार और भी ऐसी बहुत-सी बहकी-बहकी बातें कह सकते हो' ।। २०-२२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि भीष्मादिशक्तिकथने त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्याय ।। १९३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें भीष्म आदिके द्वारा अपनी शक्तिका वर्णनविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९३ ।।

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा अपनी, अपने सहायकोंकी तथा युधिष्ठिरकी भी शक्तिका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयः सर्वान् भ्रातॄनुपह्वरे ।
आहूय भरतश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! कौरव-सेनामें जो बातचीत हुई थी, उसका समाचार पाकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंको एकान्तमें बुलाकर इस प्रकार कहा ।। १ ।।

युधिष्ठिर उवाच

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु ये चारपुरुषा मम ।
ते प्रवृत्तिं प्रयच्छन्ति ममेमां व्युषितां निशाम् ।। २ ।।
दुर्योधनः किलापृच्छदापगेयं महाव्रतम् ।
केन कालेन पाण्डूनां हन्याः सैन्यमिति प्रभो ।। ३ ।।

युधिष्ठिर बोले—धृतराष्ट्रकी सेनामें जो मेरे गुप्तचर नियुक्त हैं, उन्होंने मुझे यह समाचार दिया है कि इसी विगत रात्रिमें दुर्योधनने महान् व्रतधारी गंगानन्दन भीष्मसे यह प्रश्न किया था कि प्रभो! आप पाण्डवोंकी सेनाका कितने समयमें संहार कर सकते हैं ।। २-३ ।।

मासेनेति च तेनोक्तो धार्तराष्ट्रः सुदुर्मतिः ।
तावता चापि कालेन द्रोणोऽपि प्रतिजज्ञिवान् ।। ४ ।।
गौतमो द्विगुणं कालमुक्तवानिति नः श्रुतम् ।
द्रौणिस्तु दशरात्रेण प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ।। ५ ।।

भीष्मजीने धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधनको यह उत्तर दिया कि मैं एक महीनेमें पाण्डव-सेनाका विनाश कर सकता हूँ। द्रोणाचार्यने भी उतने ही समयमें वैसा करनेकी प्रतिज्ञा की। कृपाचार्यने दो महीनेका समय बताया। यह बात हमारे सुननेमें आयी है तथा महान् अस्त्रवेत्ता अश्वत्थामाने दस ही दिनोंमें पाण्डव-सेनाके संहारकी प्रतिज्ञा की है ।। ४-५ ।।

तथा दिव्यास्त्रवित् कर्णः सम्पृष्टः कुरुसंसदि ।
पञ्चभिर्दिवसैर्हन्तुं ससैन्यं प्रतिजज्ञिवान् ।। ६ ।।

दिव्यास्त्रवेत्ता कर्णसे जब कौरवसभामें पूछा गया, तब उसने पाँच ही दिनोंमें हमारी सेनाको नष्ट करनेकी प्रतिज्ञा कर ली ।। ६ ।।

तस्मादहमपीच्छामि श्रोतुमर्जुन ते वचः ।
कालेन कियता शत्रून् क्षपयेरिति फाल्गुन ।। ७ ।।

अतः अर्जुन! मैं भी तुम्हारी बात सुनना चाहता हूँ। फाल्गुन! तुम कितने समयमें शत्रुओंको नष्ट कर सकते हो? ।। ७ ।।

एवमुक्तो गुडाकेशः पार्थिवेन धनंजयः ।
वासुदेवं समीक्ष्येदं वचनं प्रत्यभाषत ।। ८ ।।

राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर निद्राविजयी अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर यह बात कही—

सर्व एते महात्मानः कृतास्त्राश्चित्रयोधिनः ।
असंशयं महाराज हन्युरेव न संशयः ।। ९ ।।

'महाराज! निःसंदेह ये सभी महामना योद्धा अस्त्रविद्याके विद्वान् तथा विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले हैं। अतः उतने दिनोंमें शत्रु-सेनाको मार सकते हैं, इसमें संशय नहीं है ।। ९ ।।

अपैतु ते मनस्तापो यथा सत्यं ब्रवीम्यहम् ।
हन्यामेकरथेनैव वासुदेवसहायवान् ।। १० ।।
सामरानपि लोकांस्त्रीन् सर्वान् स्थावरजङ्गमान् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च निमेषादिति मे मतिः ।। ११ ।।

'परंतु इससे आपके मनमें संताप नहीं होना चाहिये। आपका मनस्ताप तो दूर ही हो जाना चाहिये। मैं जो सत्य बात कहने जा रहा हूँ, उसपर ध्यान दीजिये। मैं भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे युक्त हुआ एकमात्र रथको लेकर ही देवताओंसहित तीनों लोकों, सम्पूर्ण चराचर प्राणियों तथा भूत, वर्तमान और भविष्यको भी पलक मारते-मारते नष्ट कर सकता हूँ। ऐसा मेरा विश्वास है ।। १०-११ ।।

यत् तद् घोरं पशुपतिः प्रादादस्त्रं महन्मम ।
कैराते द्वन्द्वयुद्धे तु तदिदं मयि वर्तते ।। १२ ।।

'भगवान् पशुपतिने किरातवेषमें द्वन्द्वयुद्ध करते समय मुझे जो अपना भयंकर महास्त्र प्रदान किया था, वह मेरे पास मौजूद है ।। १२ ।।

यद् चुगान्ते पशुपतिः सर्वभूतानि संहरन् ।
प्रयुङ्क्ते पुरुषव्याघ्र तदिदं मयि वर्तते ।। १३ ।।

'पुरुषसिंह! प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंका संहार करते समय भगवान् पशुपति जिस अस्त्रका प्रयोग करते हैं, वही यह मेरे पास विद्यमान है ।। १३ ।।

तन्न जानाति गाङ्गेयो न द्रोणो न च गौतमः ।

न च द्रोणसुतो राजन् कुत एव तु सूतजः ।। १४ ।।

'राजन्! इसे न तो गंगानन्दन भीष्म जानते हैं, न द्रोणाचार्य जानते हैं, न कृपाचार्य जानते हैं और न द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको ही इसका पता है; फिर सूतपुत्र कर्ण तो इसे जान ही कैसे सकता है?' ।। १४ ।।

न तु युक्तं रणे हन्तुं दिव्यैरस्त्रैः पृथग्जनम् ।
आर्जवेनैव युद्धेन विजेष्यामो वयं परान् ।। १५ ।।

'परंतु युद्धमें साधारण जनोंको दिव्यास्त्रोंद्वारा मारना कदापि उचित नहीं है; अतः हमलोग सरलतापूर्ण युद्धके द्वारा ही शत्रुओंको जीतेंगे ।। १५ ।।

तथेमे पुरुषव्याघ्राः सहायास्तत्र पार्थिव ।
सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः ।। १६ ।।

'राजन्! ये सभी पुरुषसिंह जो हमारे सहायक हैं, दिव्यास्त्रोंका ज्ञान रखते हैं और सभी युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं ।। १६ ।।

वेदान्तावभृथस्नाताः सर्व एतेऽपराजिताः ।
निहन्युः समरे सेनां देवानामपि पाण्डव ।। १७ ।।

'इन सबने वेदाध्ययन समाप्त करके यज्ञान्त स्नान किया है। ये सभी कभी परास्त न होनेवाले वीर हैं। पाण्डुनन्दन! ये लोग समरभूमिमें देवताओंकी सेनाको भी नष्ट कर सकते हैं ।। १७ ।।

शिखण्डी युयुधानश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
भीमसेनो यमौ चोभौ युधामन्यूत्तमौजसौ ।। १८ ।।
विराटद्रुपदौ चोभौ भीष्मद्रोणसमौ युधि ।

'शिखण्डी, सात्यकि, द्रुपदकुमार, धृष्टद्युम्न, भीमसेन, दोनों भाई नकुल-सहदेव, युधामन्यु, उत्तमौजा तथा राजा विराट और द्रुपद भी युद्धमें भीष्म और द्रोणाचार्यकी समानता करनेवाले हैं ।। १८ १/२ ।।

शङ्खश्चैव महाबाहुर्हैडिम्बश्च महाबलः ।। १९ ।।
पुत्रोऽस्याञ्जनपर्वा तु महाबलपराक्रमः ।
शैनेयश्च महाबाहुः सहायो रणकोविदः ।। २० ।।

'महाबाहु शंख, महाबली घटोत्कच, महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न घटोत्कचपुत्र अंजनपर्वा तथा संग्रामकुशल महाबाहु सात्यकि—ये सभी आपके सहायक हैं ।। १९-२० ।।

अभिमन्युश्च बलवान् द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ।
स्वयं चापि समर्थोऽसि त्रैलोक्योत्सादनेऽपि च ।। २१ ।।

'बलवान् अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र तो आपके साथ हैं ही। आप स्वयं भी तीनों लोकोंका संहार करनेमें समर्थ हैं ।। २१ ।।

क्रोधाद् यं पुरुषं पश्येस्तथा शक्रसमद्युते ।
स क्षिप्रं न भवेद् व्यक्तमिति त्वां वेद्मि कौरव ।। २२ ।।

‘इन्द्रके समान तेजस्वी कुरुनन्दन! आप क्रोधपूर्वक जिस पुरुषको देख लें वह शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। आपके इस प्रभावको मैं जानता हूँ’ ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अर्जुनवाक्ये चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९४ ।।

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरव-सेनाका रणके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रभाते विमले धार्तराष्ट्रेण चोदिताः ।
दुर्योधनेन राजानः प्रययुः पाण्डवान् प्रति ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते है—जनमेजय! तदनन्तर निर्मल प्रभातकालमें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे प्रेरित हो सब राजा पाण्डवोंसे युद्ध करनेके लिये चले ।। १ ।।

आप्लाव्य शुचयः सर्वे स्रग्विणः शुक्लवाससः ।
गृहीतशस्त्रा ध्वजिनः स्वस्ति वाच्य हुताग्नयः ।। २ ।।

चलनेके पहले उन सबने स्नान करके शुद्ध हो श्वेत वस्त्र धारण किये, पुष्पोंकी मालाएँ पहनीं, ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया, अग्निमें आहुतियाँ दीं, फिर ध्वजा फहराते हुए हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर रणभूमिकी ओर प्रस्थित हुए ।। २ ।।

सर्वे ब्रह्मविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
सर्वे वर्मभृतश्चैव सर्वे चाहवलक्षणाः ।। ३ ।।

वे सभी वेदवेत्ता, शूरवीर तथा उत्तम विधिसे व्रतका पालन करनेवाले थे। सभी कवचधारी तथा युद्धके चिह्नोंसे सुशोभित थे ।। ३ ।।

आहवेषु पराँल्लोकान् जिगीषन्तो महाबलाः ।
एकाग्रमनसः सर्वे श्रद्दधानाः परस्परम् ।। ४ ।।

वे महाबली वीर युद्धमें पराक्रम दिखाकर उत्तम लोकोंपर विजय पाना चाहते थे। उन सबका चित्त एकाग्र था और वे सभी एक-दूसरेपर विश्वास करते थे ।। ४ ।।

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ केकया बाह्लिकैः सह ।
प्रययुः सर्व एवैते भारद्वाजपुरोगमाः ।। ५ ।।

अवन्तीदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, बाह्लीकदेशीय सैनिकोंके साथ केकयराजकुमार—ये सब द्रोणाचार्यको आगे करके चले ।। ५ ।।

अश्वत्थामा शान्तनवः सैन्धवोऽथ जयद्रथः ।
दाक्षिणात्याः प्रतीच्याश्च पर्वतीयाश्च ये नृपाः ।। ६ ।।
गान्धारराजः शकुनिः प्राच्योदीच्याश्च सर्वशः ।
शकाः किराता यवनाः शिबयोऽथ वसातयः ।। ७ ।।
स्वैः स्वैरनीकैः सहिताः परिवार्य महारथम् ।
एते महारथाः सर्वे द्वितीये निर्ययुर्बले ।। ८ ।।

अश्वत्थामा, भीष्म, सिन्धुराज जयद्रथ, दाक्षिणात्य नरेश, पाश्चात्त्य भूपाल और पर्वतीय भूपाल, गान्धारराज शकुनि तथा पूर्व और उत्तरदिशाके नरेश, शक, किरात, यवन, शिबि और वसाति भूपालगण—ये सभी महारथीलोग अपनी-अपनी सेनाओंके साथ महारथी (भीष्म)-को सब ओरसे घेरकर दूसरे सैन्य-दलके रूपमें सुसज्जित होकर निकले ।। ६—८ ।।

कृतवर्मा सहानीकस्त्रिगर्तश्च महारथः ।
दुर्योधनश्च नृपतिर्भ्रातृभिः परिवारितः ।। ९ ।।
शलो भूरिश्रवाः शल्यः कौसल्योऽथ बृहद्रथः ।
एते पश्चादनुगता धार्तराष्ट्रपुरोगमाः ।। १० ।।

सेनासहित कृतवर्मा, महारथी त्रिगर्त, भाइयोंसे घिरा हुआ महाराज दुर्योधन, शल, भूरिश्रवा, शल्य तथा कोसलराज बृहद्रथ—ये दुर्योधनको आगे करके उसके पीछे-पीछे (तृतीय सैन्यदलमें) चले ।। ९-१० ।।

ते समेत्य यथान्यायं धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
कुरुक्षेत्रस्य पश्चार्धे व्यवातिष्ठन्त दंशिताः ।। ११ ।।

धृतराष्ट्रके वे महाबली पुत्र रणक्षेत्रमें जाकर कवच आदिसे सुसज्जित हो कुरुक्षेत्रके पश्चिम भागमें यथोचितरूपसे खड़े हुए ।। ११ ।।

दुर्योधनस्तु शिबिरं कारयामास भारत ।
यथैव हास्तिनपुरं द्वितीयं समलंकृतम् ।। १२ ।।
न विशेषं विजानन्ति पुरस्य शिबिरस्य वा ।
कुशला अपि राजेन्द्र नरा नगरवासिनः ।। १३ ।।

भारत! दुर्योधनने पहलेसे ही ऐसा निवासस्थान बनवा रखा था, जो दूसरे हस्तिनापुरकी भाँति सजा हुआ था। राजेन्द्र! नगरमें निवास करनेवाले चतुर मनुष्य भी उस शिविर तथा हस्तिनापुर नामक नगरमें क्या अन्तर है, यह नहीं समझ पाते थे ।। १२-१३ ।।

तादृशान्येव दुर्गाणि राज्ञामपि महीपतिः ।
कारयामास कौरव्यः शतशोऽथ सहस्रशः ।। १४ ।।

अन्य राजाओंके लिये भी कुरुवंशी भूपालने वैसे ही सैकड़ों तथा सहस्रों दुर्ग बनवाये थे ।। १४ ।।

पञ्चयोजनमुत्सृज्य मण्डलं तद्रणाजिरम् ।
सेनानिवेशास्ते राजन्नाविशञ्छतसंघशः ।। १५ ।।

समरांगणके लिये पाँच योजनका घेरा छोड़कर सैनिकोंके ठहरनेके लिये सौ-सौकी संख्यामें कितनी ही श्रेणीबद्ध छावनियाँ डाली गयी थीं ।। १५ ।।

तत्र ते पृथिवीपाला यथोत्साहं यथाबलम् ।
विविशुः शिबिराण्यत्र द्रव्यवन्ति सहस्रशः ।। १६ ।।

उन्हीं बहुमूल्य आवश्यक सामग्रियोंसे सम्पन्न हजारों छावनियोंमें वे भूपाल अपने बल और उत्साहके अनुरूप युद्धके लिये उद्यत होकर रहते थे ।। १६ ।।

तेषां दुर्योधनो राजा ससैन्यानां महात्मनाम् ।
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम् ।। १७ ।।
सनागाश्वमनुष्याणां ये च शिल्पोपजीविनः ।
ये चान्येऽनुगतास्तत्र सूतमागधबन्दिनः ।। १८ ।।

राजा दुर्योधन सवारियों और सैनिकोंसहित उन महामना नरेशोंको परम उत्तम भक्ष्य-भोज्य पदार्थ देता था। हाथियों, अश्वों, पैदल मनुष्यों, शिल्प-जीवियों, अन्य अनुगामियों तथा सूत, मागध और बंदीजनोंको भी राजाकी ओरसे भोजन प्राप्त होता था ।। १७-१८ ।।

वणिजो गणिकाश्चारा ये चैव प्रेक्षका जनाः ।
सर्वांस्तान् कौरवो राजा विधिवत् प्रत्यवैक्षत ।। १९ ।।

वहाँ जो वणिक्, गणिकाएँ, गुप्तचर तथा दर्शक मनुष्य आते थे, उन सबकी कुरुराज दुर्योधन विधिपूर्वक देखभाल करता था ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि कौरवसैन्यनिर्याणे पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें कौरव-सेनाका युद्धके लिये प्रस्थानविषयक एक सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९५ ।।

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवसेनाका युद्धके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

तथैव राजा कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धृष्टद्युम्नमुखान् वीरांश्चोदयामास भारत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी प्रकार कुन्तीनन्दन धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने भी धृष्टद्युम्न आदि वीरोंको युद्धके लिये जानेकी आज्ञा दी ।। १ ।।

चेदिकाशिकरूषाणां नेतारं दृढविक्रमम् ।
सेनापतिममित्रघ्नं धृष्टकेतुमथादिशत् ।। २ ।।

चेदि, काशि और करूषदेशोंके अधिनायक दृढ़ पराक्रमी शत्रुनाशक सेनापति धृष्टकेतुको भी प्रस्थान करनेका आदेश दिया ।। २ ।।

विराटं द्रुपदं चैव युयुधानं शिखण्डिनम् ।
पाञ्चाल्यौ च महेष्वासौ युधामन्यूत्तमौजसौ ।। ३ ।।

विराट, द्रुपद, सात्यकि, शिखण्डी, महाधनुर्धर पांचालवीर युधामन्यु और उत्तमौजाको भी राजाका आदेश प्राप्त हुआ ।। ३ ।।

ते शूराश्चित्रवर्माणस्तप्तकुण्डलधारिणः ।
आज्यावसिक्ता ज्वलिता धिष्ण्येष्विव हुताशनाः ।। ४ ।।
अशोभन्त महेष्वासा ग्रहाः प्रज्वलिता इव ।

वे महाधनुर्धर शूरवीर विचित्र कवच और तपाये हुए सोनेके कुण्डल धारण किये वेदीपर घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुए अग्निदेवके समान तथा आकाशमें प्रकाशित होनेवाले ग्रहोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ।। ४ $\frac{१}{२}$ ।।

अथ सैन्यं यथायोगं पूजयित्वा नरर्षभः ।। ५ ।।
दिदेश तान्यनीकानि प्रयाणाय महीपतिः ।
तेषां युधिष्ठिरो राजा ससैन्यानां महात्मनाम् ।। ६ ।।
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम् ।
सगजाश्वमनुष्याणां ये च शिल्पोपजीविनः ।। ७ ।।

तदनन्तर योग्यतानुसार सम्पूर्ण सेनाका समादर करके नरश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उन सैनिकोंको प्रस्थान करनेकी आज्ञा दी और सेना तथा सवारियोंसहित उन महामना नरेशोंको उत्तमोत्तम खाने-पीनेकी वस्तुएँ देनेकी आज्ञा दी। उनके साथ जो भी हाथी, घोड़े, मनुष्य और शिल्पजीवी पुरुष थे, उन सबके लिये भोजन प्रस्तुत करनेका आदेश दिया ।। ५—७ ।।

अभिमन्युं बृहन्तं च द्रौपदेयांश्च सर्वशः ।
धृष्टद्युम्नमुखानेतान् प्राहिणोत् पाण्डुनन्दनः ।। ८ ।।

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्नको आगे करके अभिमन्यु, बृहन्त तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र—इन सबको प्रथम सेनादलके साथ भेजा ।। ८ ।।

भीमं च युयुधानं च पाण्डवं च धनंजयम् ।
द्वितीयं प्रेषयामास बलस्कन्धं युधिष्ठिरः ।। ९ ।।

भीमसेन, सात्यकि तथा पाण्डुनन्दन अर्जुनको युधिष्ठिरने द्वितीय सैन्यसमूहका नेता बनाकर भेजा ।। ९ ।।

भाण्डं समारोपयतां चरतां सम्प्रधावताम् ।
हृष्टानां तत्र योधानां शब्दो दिवमिवास्पृशत् ।। १० ।।

वहाँ हर्षमें भरे हुए कुछ योद्धा सवारियोंपर युद्धकी सामग्री चढ़ाते, कुछ इधर-उधर जाते और कुछ लोग कार्यवश दौड़-धूप करते थे। उन सबका कोलाहल मानो स्वर्गलोकको छूने लगा ।। १० ।।

स्वयमेव ततः पश्चाद् विराटद्रुपदान्वितः ।
अथापरैर्महीपालैः सह प्रायान्महीपतिः ।। ११ ।।

तत्पश्चात् राजा विराट और द्रुपदको साथ ले अन्यान्य भूपालोंसहित स्वयं राजा युधिष्ठिर चले ।। ११ ।।

भीमधन्वायनी सेना धृष्टद्युम्नेन पालिता ।
गङ्गेव पूर्णा स्तिमिता स्यन्दमाना व्यदृश्यत ।। १२ ।।

भयंकर धनुर्धरोंसे भरी हुई और धृष्टद्युम्नके द्वारा सुरक्षित हो कहीं ठहरती और कहीं आगे बढ़ती हुई वह पाण्डवसेना कहीं निश्चल और कहीं प्रवाहशील जलसे भरी गंगाके समान दिखायी देती थी ।। १२ ।।

ततः पुनरनीकानि न्ययोजयत बुद्धिमान् ।
मोहयन् धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां बुद्धिनिश्चयम् ।। १३ ।।

थोड़ी दूर जाकर बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रके पुत्रोंके बौद्धिक निश्चयमें भ्रम उत्पन्न करनेके लिये अपनी सेनाका दुबारा संगठन किया ।। १३ ।।

द्रौपदेयान् महेष्वासानभिमन्युं च पाण्डवः ।
नकुलं सहदेवं च सर्वांश्चैव प्रभद्रकान् ।। १४ ।।
दश चाश्वसहस्राणि द्विसहस्राणि दन्तिनाम् ।
अयुतं च पदातीनां रथाः पञ्चशतं तथा ।। १५ ।।
भीमसेनस्य दुर्धर्षं प्रथमं प्रादिशद् बलम् ।

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने द्रौपदीके महाधनुर्धर पुत्र, अभिमन्यु, नकुल, सहदेव, समस्त प्रभद्रक वीर, दस हजार घुड़सवार, दो हजार हाथीसवार, दस हजार पैदल तथा पाँच सौ रथी—इनके प्रथम दुर्धर्ष दलको भीमसेनकी अध्यक्षतामें दे दिया ।। १४-१५½ ।।

मध्यमे च विराटं च जयत्सेनं च पाण्डवः ।। १६ ।।
महारथौ च पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ ।
वीर्यवन्तौ महात्मानौ गदाकार्मुकधारिणौ ।। १७ ।।
अन्वयातां तदा मध्ये वासुदेवधनंजयौ ।

बीचके दलमें राजाने विराट, जयत्सेन तथा पांचालदेशीय महारथी युधामन्यु और उत्तमौजाको रखा। हाथोंमें गदा और धनुष धारण किये ये दोनों वीर (युधामन्यु-उत्तमौजा) बड़े पराक्रमी और मनस्वी थे। उस समय इन सबके मध्यभागमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन सेनाके पीछे-पीछे जा रहे थे ।। १६-१७½ ।।

बभूवुरतिसंरब्धाः कृतप्रहरणा नराः ।। १८ ।।
तेषां विंशतिसाहस्रा हयाः शूरैरधिष्ठिताः ।
पञ्च नागसहस्राणि रथवंशाश्च सर्वशः ।। १९ ।।

उस समय जो योद्धा पहले कभी युद्ध कर चुके थे, वे आवेशमें भरे हुए थे। उनमें बीस हजार घोड़े ऐसे थे जिनकी पीठपर शौर्यसम्पन्न वीर बैठे हुए थे। इन घुड़सवारोंके साथ पाँच हजार गजारोही तथा बहुत-से रथी भी थे ।। १८-१९ ।।

पदातयश्च ये शूराः कार्मुकासिगदाधराः ।
सहस्रशोऽन्वयुः पश्चादग्रतश्च सहस्रशः ।। २० ।।

धनुष, बाण, खड्ग और गदा धारण करनेवाले जो पैदल सैनिक थे, वे सहस्रोंकी संख्यामें सेनाके आगे और पीछे चलते थे ।। २० ।।

युधिष्ठिरो यत्र सैन्ये स्वयमेव बलार्णवे ।
तत्र ते पृथिवीपाला भूयिष्ठं पर्यवस्थिताः ।। २१ ।।

जिस सैन्य-समुद्रमें स्वयं राजा युधिष्ठिर थे, उसमें बहुत-से भूमिपाल उन्हें चारों ओरसे घेरकर चलते थे ।।

तत्र नागसहस्राणि हयानामयुतानि च ।
तथा रथसहस्राणि पदातीनां च भारत ।। २२ ।।

भारत! उसमें एक हजार हाथीसवार, दस हजार घुड़सवार, एक हजार रथी और कई सहस्र पैदल सैनिक थे ।।

चेकितानः स्वसैन्येन महता पार्थिवर्षभ ।
धृष्टकेतुश्च चेदीनां प्रणेता पार्थिवो ययौ ।। २३ ।।

नृपश्रेष्ठ! अपनी विशाल सेनाके साथ चेकितान तथा चेदिराज धृष्टकेतु भी उन्हींके साथ जा रहे थे ।। २३ ।।

सात्यकिश्च महेष्वासो वृष्णीनां प्रवरो रथः ।
वृतः शतसहस्रेण रथानां प्रणुदन् बली ।। २४ ।।

वृष्णिवंशके प्रमुख महारथी महान् धनुर्धर बलवान् सात्यकि एक लाख रथियोंसे घिरकर गर्जना करते हुए आगे बढ़ रहे थे ।। २४ ।।

क्षत्रदेवब्रह्मदेवौ रथस्थौ पुरुषर्षभौ ।
जघनं पालयन्तौ च पृष्ठतोऽनुप्रजग्मतुः ।। २५ ।।

क्षत्रदेव और ब्रह्मदेव ये दोनों पुरुषरत्न रथपर बैठकर सेनाके पिछले भागकी रक्षा करते हुए पीछे-पीछे जा रहे थे ।। २५ ।।

शकटापणवेशाश्च यानं युग्यं च सर्वशः ।
तत्र नागसहस्राणि हयानामयुतानि च ।
फल्गु सर्वं कलत्रं च यत्किञ्चित् कृशदुर्बलम् ।। २६ ।।
कोशसंचयवाहांश्च कोष्ठागारं तथैव च ।
गजानीकेन संगृह्य शनैः प्रायाद् युधिष्ठिरः ।। २७ ।।

इनके सिवा और भी बहुत-से छकड़े, दूकानें, वेश-भूषाके सामान, सवारियाँ, सामान ढोनेकी गाड़ी, एक सहस्र हाथी, अनेक अयुत घोड़े, अन्य छोटी-मोटी वस्तुएँ, स्त्रियाँ, कृश और दुर्बल मनुष्य, कोश-संग्रह और उनके ढोनेवाले लोग तथा कोष्ठागार आदि सब कुछ संग्रह करके राजा युधिष्ठिर धीरे-धीरे गजसेनाके साथ यात्रा कर रहे थे ।। २६-२७ ।।

तमन्वयात् सत्यधृतिः सौचित्तिर्युद्धदुर्मदः ।
श्रेणिमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य वा विभुः ।। २८ ।।
रथा विंशतिसाहस्रा ये तेषामनुयायिनः ।
हयानां दश कोट्यश्च महतां किंकिणीकिनाम् ।। २९ ।।
गजा विंशतिसाहस्रा ईषादन्ताः प्रहारिणः ।
कुलीना भिन्नकरटा मेघा इव विसर्पिणः ।। ३० ।।

उनके पीछे सुचित्तके पुत्र रणदुर्मद सत्यधृति, श्रेणिमान्, वसुदान तथा काशिराजके सामर्थ्यशाली पुत्र जा रहे थे। इन सबका अनुगमन करनेवाले बीस हजार रथी, घुँघुरुओंसे सुशोभित दस करोड़ घोड़े, ईषादण्डके समान दाँतवाले, प्रहारकुशल, अच्छी जातिमें उत्पन्न, मदस्रावी और मेघोंकी घटाके समान चलनेवाले बीस हजार हाथी थे ।।

षष्टिर्नागसहस्राणि दशान्यानि च भारत ।
युधिष्ठिरस्य यान्यासन् युधि सेना महात्मनः ।। ३१ ।।
क्षरन्त इव जीमूताः प्रभिन्नकरटामुखाः ।
राजानमन्वयुः पश्चाच्चलन्त इव पर्वताः ।। ३२ ।।

भारत! इनके सिवा, युद्धमें महात्मा युधिष्ठिरके पास निजी तौरपर सत्तर हजार हाथी और थे, जो जल बरसानेवाले बादलोंकी भाँति अपने गण्डस्थलसे मदकी धारा बहाते थे। वे

सब-के-सब जंगम पर्वतोंकी भाँति राजा युधिष्ठिरका अनुसरण कर रहे थे ।। ३१-३२ ।।

एवं तस्य बलं भीमं कुन्तीपुत्रस्य धीमतः ।
यदाश्रित्याथ युयुधे धार्तराष्ट्रं सुयोधनम् ।। ३३ ।।

इस प्रकार बुद्धिमान् कुन्तीपुत्रके पास भयंकर एवं विशाल सेना थी, जिसका आश्रय लेकर वे धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे लोहा ले रहे थे ।। ३३ ।।

ततोऽन्ये शतशः पश्चात् सहस्रायुतशो नराः ।
नर्दन्तः प्रययुस्तेषामनीकानि सहस्रशः ।। ३४ ।।

इन सबके अतिरिक्त पीछे-पीछे लाखों पैदल मनुष्य तथा उनकी सहस्रों सेनाएँ गर्जना करती हुई आगे बढ़ रही थीं ।। ३४ ।।

तत्र भेरीसहस्राणि शङ्खानामयुतानि च ।
न्यवादयन्त संहृष्टाः सहस्रायुतशो नराः ।। ३५ ।।

उस समय उस रणक्षेत्रमें लाखों मनुष्य हर्ष और उत्साहमें भरकर हजारों भेरियों तथा शंखोंकी ध्वनि कर रहे थे ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि पाण्डवसेनानिर्याणे षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १९६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें पाण्डवसेनानिर्याणविषयक एक सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९६ ।।

उद्योगपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुलयोग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	५९७८ ॥	(७८४ ।-)	१०७८ ।≡	७०५६ ।।।≡
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	६८ ॥	(५ ॥)	७॥-	७६-
उद्योगपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या				७१३३

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

भीष्मपर्व

जम्बूखण्डविनिर्माणपर्व

प्रथमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रमें उभय पक्षके सैनिकोंकी स्थिति तथा युद्धके नियमोंका निर्माण

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ।।

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत)-का पाठ करना चाहिये।

जनमेजय उवाच

कथं युयुधिरे वीराः कुरुपाण्डवसोमकाः ।
पार्थिवाः सुमहात्मानो नानादेशसमागताः ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—मुने! कौरव, पाण्डव और सोमकवीरों तथा नाना देशोंसे आये हुए अन्य महामना नरेशोंने वहाँ किस प्रकार युद्ध किया? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

यथा युयुधिरे वीराः कुरुपाण्डवसोमकाः ।
कुरुक्षेत्रे तपःक्षेत्रे शृणु त्वं पृथिवीपते ।। २ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—पृथ्वीपते! वीर कौरव, पाण्डव और सोमकोंने तपोभूमि कुरुक्षेत्रमें जिस प्रकार युद्ध किया था, उसे बताता हूँ; सुनो ।। २ ।।

तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं पाण्डवाः सहसोमकाः ।

कौरवाः समवर्तन्त जिगीषन्तो महाबलाः ।। ३ ।।

सोमकोंसहित पाण्डव तथा कौरव दोनों महाबली थे। वे एक-दूसरेको जीतनेकी आशासे कुरुक्षेत्रमें उतरकर आमने-सामने डटे हुए थे ।। ३ ।।

वेदाध्ययनसम्पन्नाः सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ।
आशंसन्तो जयं युद्धे बलेनाभिमुखा रणे ।। ४ ।।

वे सब-के-सब वेदाध्ययनसे सम्पन्न और युद्धका अभिनन्दन करनेवाले थे और संग्राममें विजयकी आशा रखकर रणभूमिमें बलपूर्वक एक-दूसरेके सम्मुख खड़े थे ।। ४ ।।

अभियाय च दुर्धर्षां धार्तराष्ट्रस्य वाहिनीम् ।
प्राङ्मुखाः पश्चिमे भागे न्यविशन्त ससैनिकाः ।। ५ ।।

पाण्डवोंके योद्धालोग अपने-अपने सैनिकोंके सहित धृतराष्ट्रपुत्रकी दुर्धर्ष सेनाके सम्मुख जाकर पश्चिमभागमें पूर्वाभिमुख होकर ठहर गये थे ।। ५ ।।

समन्तपञ्चकाद् बाह्यं शिबिराणि सहस्रशः ।
कारयामास विधिवत् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।। ६ ।।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने समन्तपंचकक्षेत्रसे बाहर यथायोग्य सहस्रों शिविर बनवाये थे ।। ६ ।।

शून्या च पृथिवी सर्वा बालवृद्धावशेषिता ।
निरश्वपुरुषेवासीद् रथकुञ्जरवर्जिता ।। ७ ।।

समस्त पृथ्वीके सभी प्रदेश नवयुवकोंसे सूने हो रहे थे। उनमें केवल बालक और वृद्ध ही शेष रह गये थे। सारी वसुधा घोड़े, हाथी, रथ और तरुण पुरुषोंसे हीन-सी हो रही थी ।। ७ ।।

यावत्तपति सूर्यो हि जम्बूद्वीपस्य मण्डलम् ।
तावदेव समायातं बलं पार्थिवसत्तम ।। ८ ।।

नृपश्रेष्ठ! सूर्यदेव जम्बूद्वीपके जितने भूमण्डलको अपनी किरणोंसे तपाते हैं, उतनी दूरकी सेनाएँ वहाँ युद्धके लिये आ गयी थीं ।। ८ ।।

एकस्थाः सर्ववर्णास्ते मण्डलं बहुयोजनम् ।
पर्याक्रामन्त देशांश्च नदीः शैलान् वनानि च ।। ९ ।।

वहाँ सभी वर्णके लोग एक ही स्थानपर एकत्र थे। युद्धभूमिका घेरा कई योजन लंबा था। उन सब लोगोंने वहाँके अनेक प्रदेशों, नदियों, पर्वतों और वनोंको सब ओरसे घेर लिया था ।। ९ ।।

तेषां युधिष्ठिरो राजा सर्वेषां पुरुषर्षभ ।
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम् ।। १० ।।

नरश्रेष्ठ! राजा युधिष्ठिरने सेना और सवारियों-सहित उन सबके लिये उत्तमोत्तम भोजन प्रस्तुत करनेका आदेश दे दिया था ।। १० ।।

शय्याश्च विविधास्तात तेषां रात्रौ युधिष्ठिरः ।
एवंवेदी वेदितव्यः पाण्डवेयोऽयमित्युत ।। ११ ।।
अभिज्ञानानि सर्वेषां संज्ञाश्चाभरणानि च ।
योजयामास कौरव्यो युद्धकाल उपस्थिते ।। १२ ।।

तात! रातके समय युधिष्ठिरने उन सबके सोनेके लिये नाना प्रकारकी शय्याओंका भी प्रबन्ध कर दिया था। युद्धकाल उपस्थित होनेपर कुरुनन्दन युधिष्ठिरने सभी सैनिकोंके पहचानके लिये उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकारके संकेत और आभूषण दे दिये थे, जिससे यह जान पड़े कि यह पाण्डवपक्षका सैनिक है ।। ११-१२ ।।

दृष्ट्वा ध्वजाग्रं पार्थस्य धार्तराष्ट्रो महामनाः ।
सह सर्वैर्महीपालैः प्रत्यव्यूहत पाण्डवम् ।। १३ ।।

कुन्तीपुत्र अर्जुनके ध्वजका अग्रभाग देखकर महामना दुर्योधनने समस्त भूपालोंके साथ पाण्डव-सेनाके विरुद्ध अपनी सेनाकी व्यूहरचना की ।। १३ ।।

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
मध्ये नागसहस्रस्य भ्रातृभिः परिवारितः ।। १४ ।।

उसके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था। वह एक हजार हाथियोंके बीचमें अपने भाइयोंसे घिरा हुआ शोभा पाता था ।। १४ ।।

दृष्ट्वा दुर्योधनं हृष्टाः पञ्चाला युद्धनन्दिनः ।
दध्मुः प्रीता महाशङ्खान् भेर्यश्च मधुरस्वनाः ।। १५ ।।

दुर्योधनको देखकर युद्धका अभिनन्दन करनेवाले पांचाल सैनिक बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्नतापूर्वक बड़े-बड़े शंखों तथा मधुर ध्वनि करनेवाली भेरियोंको बजाने लगे ।। १५ ।।

ततः प्रहृष्टां तां सेनामभिवीक्ष्याथ पाण्डवाः ।
बभूवुर्हृष्टमनसो वासुदेवश्च वीर्यवान् ।। १६ ।।

तदनन्तर अपनी सेनाको हर्ष और उल्लासमें भरी हुई देख समस्त पाण्डवोंके मनमें बड़ा हर्ष हुआ तथा पराक्रमी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण भी संतुष्ट हुए ।। १६ ।।

ततो हर्षं समागम्य वासुदेवधनंजयौ ।
दध्मतुः पुरुषव्याघ्रौ दिव्यौ शङ्खौ रथे स्थितौ ।। १७ ।।

उस समय एक ही रथपर बैठे हुए पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन आनन्दमग्न होकर अपने दिव्य शंखोंको बजाने लगे ।। १७ ।।

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं देवदत्तस्य चोभयोः ।
श्रुत्वा तु निनदं योधाः शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः ।। १८ ।।

पांचजन्य और देवदत्त दोनों शंखोंकी ध्वनि सुनकर शत्रुपक्षके बहुत-से सैनिक भयके मारे मल-मूत्र करने लगे ।। १८ ।।

यथा सिंहस्य नदतः स्वनं श्रुत्वेतरे मृगाः ।

त्रसेयुर्निनदं श्रुत्वा तथासीदत तद्बलम् ।। १९ ।।

जैसे गर्जते हुए सिंहकी आवाज सुनकर दूसरे वन्य पशु भयभीत हो जाते हैं, उसी प्रकार उन दोनोंका शंखनाद सुनकर कौरवसेनाका उत्साह शिथिल पड़ गया—वह खिन्न-सी हो गयी ।। १९ ।।

उदतिष्ठद् रजो भौमं न प्राज्ञायत किंचन ।

अस्तङ्गत इवादित्ये सैन्येन सहसाऽऽवृते ।। २० ।।

धरतीसे धूल उड़कर आकाशमें छा गयी। कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था। सेनाकी गर्दसे सहसा आच्छादित हो जानेके कारण सूर्य अस्त हो गये-से जान पड़ते थे ।। २० ।।

ववर्ष तत्र पर्जन्यो मांसशोणितवृष्टिमान् ।

दिक्षु सर्वाणि सैन्यानि तदद्भुतमिवाभवत् ।। २१ ।।

उस समय वहाँ मेघ सब दिशाओंमें समस्त सैनिकोंपर मांस और रक्तकी वर्षा करने लगे। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ।। २१ ।।

वायुस्ततः प्रादुरभून्नीचैः शर्करकर्षणः ।

विनिघ्नंस्तान्यनीकानि शतशोऽथ सहस्रशः ।। २२ ।।

तदनन्तर वहाँ नीचेसे बालू तथा कंकड़ खींचकर सब ओर बिखेरनेवाली बवंडरकी-सी वायु उठी, जिसने सैकड़ों-हजारों सैनिकोंको घायल कर दिया ।। २२ ।।

उभे सैन्ये च राजेन्द्र युद्धाय मुदिते भृशम् ।

कुरुक्षेत्रे स्थिते यत्ते सागरक्षुभितोपमे ।। २३ ।।

राजेन्द्र! कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये अत्यन्त हर्षोल्लासमें भरी हुई दोनों पक्षकी सेनाएँ दो विक्षुब्ध महासागरोंके समान एक-दूसरेके सम्मुख खड़ी थीं ।। २३ ।।

तयोस्तु सेनयोरासीदद्भुतः स तु संगमः ।

युगान्ते समनुप्राप्ते द्वयोः सागरयोरिव ।। २४ ।।

दोनों सेनाओंका वह अद्भुत समागम प्रलयकाल आनेपर परस्पर मिलनेवाले दो समुद्रोंके समान जान पड़ता था ।। २४ ।।

शून्याऽऽसीत् पृथिवी सर्वा वृद्धबालावशेषिता ।

निरश्वपुरुषेवासीद् रथकुञ्जरवर्जिता ।। २५ ।।

तेन सेनासमूहेन समानीतेन कौरवैः ।

कौरवोंद्वारा संग्रह करके वहाँ लाये हुए उस सैन्यसमूहद्वारा सारी पृथ्वी नवयुवकोंसे सूनी-सी हो रही थी। सर्वत्र केवल बालक और बूढ़े ही शेष रह गये थे। सारी वसुधा घोड़े, हाथी, रथ और तरुण पुरुषोंसे हीन-सी हो गयी थी ।। २५ $\frac{१}{२}$ ।।

ततस्ते समयं चक्रुः कुरुपाण्डवसोमकाः ।। २६ ।।

धर्मान् संस्थापयामासुर्युद्धानां भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् कौरव, पाण्डव तथा सोमकोंने परस्पर मिलकर युद्धके सम्बन्धमें कुछ नियम बनाये। युद्धधर्मकी मर्यादा स्थापित की ।। २६½ ।।

निवृत्ते विहिते युद्धे स्यात् प्रीतिर्नः परस्परम् ।। २७ ।।
यथापरं यथायोगं न च स्यात् कस्यचित् पुनः ।

वे नियम इस प्रकार हैं—चालू युद्धके बंद होनेपर संध्याकालमें हम सब लोगोंमें परस्पर प्रेम बना रहे। उस समय पुनः किसीका किसीके साथ शत्रुतापूर्ण अयोग्य बर्ताव नहीं होना चाहिये ।। २७½ ।।

वाचा युद्धप्रवृत्तानां वाचैव प्रतियोधनम् ।
निष्क्रान्ताः पृतनामध्यान्न हन्तव्याः कदाचन ।। २८ ।।
रथी च रथिना योध्यो गजेन गजधूर्गतः ।
अश्वेनाश्वी पदातिश्च पादातेनैव भारत ।। २९ ।।

जो वाग्युद्धमें प्रवृत्त हों उनके साथ वाणीद्वारा ही युद्ध किया जाय। जो सेनासे बाहर निकल गये हों उनका वध कदापि न किया जाय। भारत! रथीको रथीसे ही युद्ध करना चाहिये, इसी प्रकार हाथीसवारके साथ हाथीसवार, घुड़सवारके साथ घुड़सवार तथा पैदलके साथ पैदल ही युद्ध करे ।। २८-२९ ।।

यथायोगं यथाकामं यथोत्साहं यथाबलम् ।
समाभाष्य प्रहर्तव्यं न विश्वस्ते न विह्वले ।। ३० ।।

जिसमें जैसी योग्यता, इच्छा, उत्साह तथा बल हो उसके अनुसार ही विपक्षीको बताकर उसे सावधान करके ही उसके ऊपर प्रहार किया जाय। जो विश्वास करके असावधान हो रहा हो अथवा जो युद्धसे घबराया हुआ हो, उसपर प्रहार करना उचित नहीं है ।। ३० ।।

एकेन सह संयुक्तः प्रपन्नो विमुखस्तथा ।
क्षीणशस्त्रो विवर्मा च न हन्तव्यः कदाचन ।। ३१ ।।

जो एकके साथ युद्धमें लगा हो, शरणमें आया हो, पीठ दिखाकर भागा हो और जिसके अस्त्र-शस्त्र और कवच कट गये हों; ऐसे मनुष्यको कदापि न मारा जाय ।। ३१ ।।

न सूतेषु न धुर्येषु न च शस्त्रोपनायिषु ।
न भेरीशङ्खवादेषु प्रहर्तव्यं कथंचन ।। ३२ ।।

घोड़ोंकी सेवाके लिये नियुक्त हुए सूतों, बोझ ढोनेवालों, शस्त्र पहुँचानेवालों तथा भेरी और शंख बजानेवालोंपर कोई किसी प्रकार भी प्रहार न करे ।। ३२ ।।

एवं ते समयं कृत्वा कुरुपाण्डवसोमकाः ।
विस्मयं परमं जग्मुः प्रेक्षमाणाः परस्परम् ।। ३३ ।।

इस प्रकार नियम बनाकर कौरव, पाण्डव तथा सोमक एक-दूसरेकी ओर देखते हुए बड़े आश्चर्यचकित हुए ।। ३३ ।।

निविश्य च महात्मानस्ततस्ते पुरुषर्षभाः ।
हृष्टरूपाः सुमनसो बभूवुः सहसैनिकाः ।। ३४ ।।

तदनन्तर वे महामना पुरुषरत्न अपने-अपने स्थानपर स्थित हो सैनिकोंसहित प्रसन्नचित्त होकर हर्ष एवं उत्साहसे भर गये ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि सैन्यशिक्षणे प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूण्डविनिर्माणपर्वमें सैन्यशिक्षणविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ।। १ ।।

द्वितीयोऽध्यायः

वेदव्यासजीके द्वारा संजयको दिव्य दृष्टिका दान तथा भयसूचक उत्पातोंका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः पूर्वापरे सैन्ये समीक्ष्य भगवानृषिः ।
सर्ववेदविदां श्रेष्ठो व्यासः सत्यवतीसुतः ।। १ ।।
भविष्यति रणे घोरे भरतानां पितामहः ।
प्रत्यक्षदर्शी भगवान् भूतभव्यभविष्यवित् ।। २ ।।
वैचित्रवीर्यं राजानं स रहस्यब्रवीदिदम् ।
शोचन्तमार्तं ध्यायन्तं पुत्राणामनयं तदा ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पूर्व और पश्चिम दिशामें आमने-सामने खड़ी हुई दोनों ओरकी सेनाओंको देखकर भूत, भविष्य और वर्तमानका ज्ञान रखनेवाले, सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, भरतवंशियोंके पितामह सत्यवतीनन्दन महर्षि भगवान् व्यास, जो होनेवाले भयंकर संग्रामके भावी परिणामको प्रत्यक्ष देख रहे थे, विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्रके पास आये। वे उस समय अपने पुत्रोंके अन्यायका चिन्तन करते हुए शोकमग्न एवं आर्त हो रहे थे। व्यासजीने उनसे एकान्तमें कहा ।। १—३ ।।

व्यास उवाच

राजन् परीतकालास्ते पुत्राश्चान्ये च पार्थिवाः ।
ते हिंसन्तीव संग्रामे समासाद्येतरेतरम् ।। ४ ।।

व्यासजी बोले—राजन्! तुम्हारे पुत्रों तथा अन्य राजाओंका मृत्युकाल आ पहुँचा है। वे संग्राममें एक-दूसरेसे भिड़कर मरने-मारनेको तैयार खड़े हैं ।। ४ ।।

तेषु कालपरीतेषु विनश्यत्स्वेव भारत ।
कालपर्यायमाज्ञाय मा स्म शोके मनः कृथाः ।। ५ ।।

भारत! वे कालके अधीन होकर जब नष्ट होने लगें, तब इसे कालका चक्कर समझकर मनमें शोक न करना ।। ५ ।।

यदि चेच्छसि संग्रामे द्रष्टुमेतान् विशाम्पते ।
चक्षुर्ददानि ते पुत्र युद्धं तत्र निशामय ।। ६ ।।

राजन्! यदि संग्रामभूमिमें इन सबकी अवस्था तुम देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान करूँ। वत्स! फिर तुम (यहाँ बैठे-बैठे ही) वहाँ होनेवाले युद्धका सारा दृश्य अपनी आँखों देखो ।। ६ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

न रोचये ज्ञातिवधं द्रष्टुं ब्रह्मर्षिसत्तम ।
युद्धमेतत् त्वशेषेण शृणुयां तव तेजसा ।। ७ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—ब्रह्मर्षिप्रवर! मुझे अपने कुटुम्बीजनोंका वध देखना अच्छा नहीं लगता; परंतु आपके प्रभावसे इस युद्धका सारा वृत्तान्त सुन सकूँ, ऐसी कृपा आप अवश्य कीजिये ।। ७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन् नेच्छति द्रष्टुं संग्रामं श्रोतुमिच्छति ।
वराणामीश्वरो व्यासः संजयाय वरं ददौ ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजीने देखा, धृतराष्ट्र युद्धका दृश्य देखना तो नहीं चाहता, परंतु उसका पूरा समाचार सुनना चाहता है। तब वर देनेमें समर्थ उन महर्षिने संजयको वर देते हुए कहा— ।। ८ ।।

एष ते संजयो राजन् युद्धमेतद् वदिष्यति ।
एतस्य सर्वसंग्रामे न परोक्षं भविष्यति ।। ९ ।।

'राजन्! यह संजय आपको इस युद्धका सब समाचार बताया करेगा। सम्पूर्ण संग्रामभूमिमें कोई ऐसी बात नहीं होगी, जो इसके प्रत्यक्ष न हो ।। ९ ।।

चक्षुषा संजयो राजन् दिव्येनैव समन्वितः ।
कथयिष्यति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति ।। १० ।।

'राजन्! संजय दिव्य दृष्टिसे सम्पन्न होकर सर्वज्ञ हो जायगा और तुम्हें युद्धकी बात बतायेगा ।। १० ।।

प्रकाशं वाप्रकाशं वा दिवा वा यदि वा निशि ।
मनसा चिन्तितमपि सर्वं वेत्स्यति संजयः ।। ११ ।।

'कोई भी बात प्रकट हो या अप्रकट, दिनमें हो या रातमें अथवा वह मनमें ही क्यों न सोची गयी हो, संजय सब कुछ जान लेगा ।। ११ ।।

नैनं शस्त्राणि छेत्स्यन्ति नैनं बाधिष्यते श्रमः ।
गावल्गणिरयं जीवन् युद्धादस्माद् विमोक्ष्यते ।। १२ ।।

'इसे कोई हथियार नहीं काट सकता। इसे परिश्रम या थकावटकी बाधा भी नहीं होगी। गवल्गणका पुत्र यह संजय इस युद्धसे जीवित बच जायगा ।। १२ ।।

अहं तु कीर्तिमेतेषां कुरूणां भरतर्षभ ।
पाण्डवानां च सर्वेषां प्रथयिष्यामि मा शुचः ।। १३ ।।

'भरतश्रेष्ठ! मैं इन समस्त कौरवों और पाण्डवोंकी कीर्तिका तीनों लोकोंमें विस्तार करूँगा। तुम शोक न करो ।। १३ ।।

दिष्टमेतन्नरव्याघ्र नाभिशोचितुमर्हसि ।
न चैव शक्यं संयन्तुं यतो धर्मस्ततो जयः ।। १४ ।।

'नरश्रेष्ठ! यह दैवका विधान है। इसे कोई मेट नहीं सकता। अतः इसके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी विजय होगी' ।। १४ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् कुरूणां प्रपितामहः ।
पुनरेव महाभागो धृतराष्ट्रमुवाच ह ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर कुरुकुलके पितामह महाभाग भगवान् व्यास पुनः धृतराष्ट्रसे बोले— ।। १५ ।।

इह युद्धे महाराज भविष्यति महान् क्षयः ।
तथेह च निमित्तानि भयदान्युपलक्षये ।। १६ ।।

'महाराज! इस युद्धमें महान् नर-संहार होगा; क्योंकि मुझे इस समय ऐसे ही भयदायक अपशकुन दिखायी देते हैं ।। १६ ।।

श्येना गृध्राश्च काकाश्च कङ्काश्च सहिता बकैः ।
सम्पतन्ति नगाग्रेषु समवायांश्च कुर्वते ।। १७ ।।

'बाज, गीध, कौवे, कंक और बगुले वृक्षोंके अग्रभागपर आकर बैठते तथा अपना समूह एकत्र करते हैं ।। १७ ।।

अभ्यग्रं च प्रपश्यन्ति युद्धमानन्दिनो द्विजाः ।
क्रव्यादा भक्षयिष्यन्ति मांसानि गजवाजिनाम् ।। १८ ।।
निर्दयं चाभिवाशन्तो भैरवा भयवेदिनः ।
कङ्काः प्रयान्ति मध्येन दक्षिणामभितो दिशम् ।। १९ ।।

'ये पक्षी अत्यन्त आनन्दित होकर युद्धस्थलको बहुत निकटसे आकर देखते हैं। इससे सूचित होता है कि मांसभक्षी पशु-पक्षी आदि प्राणी हाथियों और घोड़ोंके मांस खायेंगे। भयकी सूचना देनेवाले कंक पक्षी कठोर स्वरमें बोलते हुए सेनाके बीचसे होकर दक्षिण दिशाकी ओर जाते हैं ।। १८-१९ ।।

उभे पूर्वापरे संध्ये नित्यं पश्यामि भारत ।
उदयास्तमने सूर्यं कबन्धैः परिवारितम् ।। २० ।।

'भारत! मैं प्रातः और सायं दोनों संध्याओंके समय उदय और अस्तकी वेलामें सूर्यदेवको प्रतिदिन कबन्धोंसे घिरा हुआ देखता हूँ ।। २० ।।

श्वेतलोहितपर्यन्ताः कृष्णग्रीवाः सविद्युतः ।
विवर्णाः परिघाः संधौ भानुमन्तमवारयन् ।। २१ ।।

'संध्याके समय सूर्यदेवको तिरंगे घेरोंने सब ओरसे घेर रखा था। उनमें श्वेत और लाल रंगके घेरे दोनों किनारोंपर थे और मध्यमें काले रंगका घेरा दिखायी देता था। इन घेरोंके साथ बिजलियाँ भी चमक रही थीं ।। २१ ।।

ज्वलितार्केन्दुनक्षत्रं निर्विशेषदिनक्षपम् ।

अहोरात्रं मया दृष्टं तद् भयाय भविष्यति ।। २२ ।।

'मुझे दिन और रातका समय ऐसा दिखायी दिया है जिसमें सूर्य, चन्द्रमा और तारे जलते-से जान पड़ते थे। दिन और रातमें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखायी देता था। यह लक्षण भय लानेवाला होगा ।। २२ ।।

अलक्ष्यः प्रभयाहीनः पौर्णमासीं च कार्तिकीम् ।

चन्द्रोऽभूदग्निवर्णश्च पद्मवर्णनभस्तले ।। २३ ।।

'कार्तिककी पूर्णिमाको कमलके समान नीलवर्णके आकाशमें चन्द्रमा प्रभाहीन होनेके कारण दृष्टिगोचर नहीं हो पाता था तथा उसकी कान्ति भी अग्निके समान प्रतीत होती थी ।। २३ ।।

स्वप्स्यन्ति निहता वीरा भूमिमावृत्य पार्थिवाः ।

राजानो राजपुत्राश्च शूराः परिघबाहवः ।। २४ ।।

'इसका फल यह है कि परिघके समान मोटी बाहुओंवाले बहुत-से शूरवीर नरेश तथा राजकुमार मारे जाकर पृथ्वीको आच्छादित करके रणभूमिमें शयन करेंगे ।। २४ ।।

अन्तरिक्षे वराहस्य वृषदंशस्य चोभयोः ।

प्रणादं युद्ध्यतो रात्रौ रौद्रं नित्यं प्रलक्षये ।। २५ ।।

'सूअर और बिलाव दोनों आकाशमें उछल-उछलकर रातमें लड़ते और भयानक गर्जना करते हैं। यह बात मुझे प्रतिदिन दिखायी देती है ।। २५ ।।

देवताप्रतिमाश्चैव कम्पन्ति च हसन्ति च ।

वमन्ति रुधिरं चास्यैः खिद्यन्ति प्रपतन्ति च ।। २६ ।।

'देवताओंकी मूर्तियाँ काँपती, हँसती, मुँहसे खून उगलती, खिन्न होती और गिर पड़ती हैं ।। २६ ।।

अनाहता दुन्दुभयः प्रणदन्ति विशाम्पते ।

अयुक्ताश्च प्रवर्तन्ते क्षत्रियाणां महारथाः ।। २७ ।।

'राजन्! दुन्दुभियाँ बिना बजाये बज उठती हैं और क्षत्रियोंके बड़े-बड़े रथ बिना जोते ही चल पड़ते हैं ।। २७ ।।

कोकिलाः शतपत्राश्च चाषा भासाः शुकास्तथा ।

सारसाश्च मयूराश्च वाचो मुञ्चन्ति दारुणाः ।। २८ ।।

'कोयल, शतपत्र, नीलकण्ठ, भास (चील्ह), शुक, सारस तथा मयूर भयंकर बोली बोलते हैं ।। २८ ।।

गृहीतशस्त्राः क्रोशन्ति चर्मिणो वाजिपृष्ठगाः ।

अरुणोदये प्रदृश्यन्ते शतशः शलभव्रजाः ।। २९ ।।

‘घोड़ेकी पीठपर बैठे हुए सवार हाथोंमें ढाल-तलवार लिये चीत्कार कर रहे हैं। अरुणोदयके समय टिड्डियोंके सैकड़ों दल सब ओर फैले दिखायी देते हैं ।। २९ ।।

उभे संध्ये प्रकाशेते दिशां दाहसमन्विते ।

पर्जन्यः पांसुवर्षी च मांसवर्षी च भारत ।। ३० ।।

‘दोनों संध्याएँ दिग्दाहसे युक्त दिखायी देती हैं। भारत! बादल धूल और मांसकी वर्षा करता है ।। ३० ।।

या चैषा विश्रुता राजंस्त्रैलोक्ये साधुसम्मता ।

अरुन्धती तयाप्येष वसिष्ठः पृष्ठतः कृतः ।। ३१ ।।

‘राजन्! जो अरुन्धती तीनों लोकोंमें पतिव्रताओंकी मुकुटमणिके रूपमें प्रसिद्ध हैं, उन्होंने वसिष्ठको अपने पीछे कर दिया है ।। ३१ ।।

रोहिणीं पीडयन्नेष स्थितो राजञ्शनैश्चरः ।

व्यावृत्तं लक्ष्म सोमस्य भविष्यति महद् भयम् ।। ३२ ।।

‘महाराज! यह शनैश्चर नामक ग्रह रोहिणीको पीड़ा देता हुआ खड़ा है। चन्द्रमाका चिह्न मिट-सा गया है। इससे सूचित होता है कि भविष्यमें महान् भय प्राप्त होगा ।। ३२ ।।

अनभ्रे च महाघोरः स्तनितः श्रूयते स्वनः ।

वाहनानां च रुदतां निपतन्त्यश्रुबिन्दवः ।। ३३ ।।

‘बिना बादलके ही आकाशमें अत्यन्त भयंकर गर्जना सुनायी देती है।
रोते हुए वाहनोंकी आँखोंसे आँसुओंकी बूँदें गिर रही हैं’ ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि श्रीवेदव्यासदर्शने द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें श्रीवेदव्यासदर्शनविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ।। २ ।।

तृतीयोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा अमंगलसूचक उत्पातों तथा विजयसूचक लक्षणोंका वर्णन

व्यास उवाच

खरा गोषु प्रजायन्ते रमन्ते मातृभिः सुताः ।
अनार्तवं पुष्पफलं दर्शयन्ति वनद्रुमाः ।। १ ।।

व्यासजीने कहा—राजन्! गायोंके गर्भसे गदहे पैदा होते हैं, पुत्र माताओंके साथ रमण करते हैं। वनके वृक्ष बिना ऋतुके फूल और फल प्रकट करते हैं ।। १ ।।

गर्भिण्योऽजातपुत्राश्च जनयन्ति विभीषणान् ।
क्रव्यादाः पक्षिभिश्चापि सहाश्नन्ति परस्परम् ।। २ ।।

गर्भवती स्त्रियाँ पुत्रको जन्म न देकर अपने गर्भसे भयंकर जीवोंको पैदा करती हैं। मांसभक्षी पशु भी पक्षियोंके साथ परस्पर मिलकर एक ही जगह आहार ग्रहण करते हैं ।। २ ।।

त्रिविषाणाश्चतुर्नेत्राः पञ्चपादा द्विमेहनाः ।
द्विशीर्षाश्च द्विपुच्छाश्च दंष्ट्रिणः पशवोऽशिवाः ।। ३ ।।
जायन्ते विवृतास्याश्च व्याहरन्तोऽशिवा गिरः ।

तीन सींग, चार नेत्र, पाँच पैर, दो मूत्रेन्द्रिय, दो मस्तक, दो पूँछ और अनेक दाँढ़ोंवाले अमंगलमय पशु जन्म लेते तथा मुँह फैलाकर अमंगलसूचक वाणी बोलते हैं ।। ३ $\frac{1}{2}$ ।।

त्रिपदाः शिखिनस्तार्क्ष्याश्चतुर्दंष्ट्रा विषाणिनः ।। ४ ।।
तथैवान्याश्च दृश्यने स्त्रियो वै ब्रह्मवादिनाम् ।
वैनतेयान् मयूरांश्च जनयन्ति पुरे तव ।। ५ ।।

गरुड़ पक्षीके मस्तकपर शिखा और सींग हैं। उनके तीन पैर तथा चार दाढ़ें दिखायी देती हैं। इसी प्रकार अन्य जीव भी देखे जाते हैं। वेदवादी ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ तुम्हारे नगरमें गरुड़ और मोर पैदा करती हैं ।। ४-५ ।।

गोवत्सं वडवा सूते श्वा सृगालं महीपते ।
कुक्कुरान् करभाश्चैव शुकाश्चाशुभवादिनः ।। ६ ।।

भूपाल! घोड़ी गायके बछड़ेको जन्म देती है, कुतियाके पेटसे सियार पैदा होता है, हाथी कुत्तोंको जन्म देते हैं और तोते भी अशुभसूचक बोली बोलने लगे हैं ।। ६ ।।

स्त्रियः काश्चित्प्रजायन्ते चतस्रः पञ्च कन्यकाः ।
जातमात्राश्च नृत्यन्ति गायन्ति च हसन्ति च ।। ७ ।।

कुछ स्त्रियाँ एक ही साथ चार-चार या पाँच-पाँच कन्याएँ पैदा करती हैं। वे कन्याएँ पैदा होते ही नाचती, गाती तथा हँसती हैं ।। ७ ।।

पृथग्जनस्य सर्वस्य क्षुद्रकाः प्रहसन्ति च ।
नृत्यन्ति परिगायन्ति वेदयन्तो महद् भयम् ।। ८ ।।

समस्त नीच जातियोंके घरोंमें उत्पन्न हुए काने, कुबड़े आदि बालक भी महान् भयकी सूचना देते हुए जोर-जोरसे हँसते, गाते और नाचते हैं ।। ८ ।।

प्रतिमाश्चालिखन्त्येताः सशस्त्राः कालचोदिताः ।
अन्योन्यमभिधावन्ति शिशवो दण्डपाणयः ।। ९ ।।

ये सब कालसे प्रेरित हो हाथोंमें हथियार लिये मूर्तियाँ लिखते और बनाते हैं। छोटे-छोटे बच्चे हाथमें डंडा लिये एक-दूसरेपर धावा करते हैं ।। ९ ।।

अन्योन्यमभिमृद्नन्ति नगराणि युयुत्सवः ।
पद्मोत्पलानि वृक्षेषु जायन्ते कुमुदानि च ।। १० ।।

और कृत्रिम नगर बनाकर परस्पर युद्धकी इच्छा रखते हुए उन नगरोंको रौंदकर मिट्टीमें मिला देते हैं। पद्म, उत्पल और कुमुद आदि जलीय पुष्प वृक्षोंपर पैदा होते हैं ।। १० ।।

विष्वग्वाताश्च वान्त्युग्रा रजो नाप्युपशाम्यति ।
अभीक्ष्णं कम्पते भूमिरर्कं राहुरुपैति च ।। ११ ।।

चारों ओर भयंकर आँधी चल रही है, धूलका उड़ना शान्त नहीं हो रहा है, धरती बारंबार काँप रही है तथा राहु सूर्यके निकट जा रहा है ।। ११ ।।

श्वेतो ग्रहस्तथा चित्रां समतिक्रम्य तिष्ठति ।
अभावं हि विशेषेण कुरूणां तत्र पश्यति ।। १२ ।।

केतु चित्राका अतिक्रमण करके स्वातीपर स्थित हो रहा है;* उसकी विशेषरूपसे कुरुवंशके विनाशपर ही दृष्टि है ।। १२ ।।

धूमकेतुर्महाघोरः पुष्यं चाक्रम्य तिष्ठति ।
सेनयोरशिवं घोरं करिष्यति महाग्रहः ।। १३ ।।

अत्यन्त भयंकर धूमकेतु पुष्य नक्षत्रपर आक्रमण करके वहीं स्थित हो रहा है। यह महान् उपग्रह दोनों सेनाओंका घोर अमंगल करेगा ।। १३ ।।

मघास्वङ्गारको वक्रः श्रवणे च बृहस्पतिः ।
भगं नक्षत्रमाक्रम्य सूर्यपुत्रेण पीड्यते ।। १४ ।।

मंगल वक्र होकर मघा नक्षत्रपर स्थित है, बृहस्पति श्रवण नक्षत्रपर विराजमान है तथा सूर्यपुत्र शनि पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्रपर पहुँचकर उसे पीड़ा दे रहा है ।। १४ ।।

शुक्रः प्रोष्ठपदे पूर्वे समारुह्य विरोचते ।
उत्तरे तु परिक्रम्य सहितः समुदीक्षते ।। १५ ।।

शुक्र पूर्वा भाद्रपदापर आरूढ़ हो प्रकाशित हो रहा है और सब ओर घूम-फिरकर परिघ नामक उपग्रहके साथ उत्तरा भाद्रपदा नक्षत्रपर दृष्टि लगाये हुए है ।। १५ ।।

श्वेतो ग्रहः प्रज्वलितः सधूम इव पावकः ।
ऐन्द्रं तेजस्वि नक्षत्रं ज्येष्ठामाक्रम्य तिष्ठति ।। १६ ।।

केतु नामक उपग्रह धूमयुक्त अग्निके समान प्रज्वलित हो इन्द्रदेवतासम्बन्धी तेजस्वी ज्येष्ठा नक्षत्रपर जाकर स्थित है ।। १६ ।।

ध्रुवं प्रज्वलितो घोरमपसव्यं प्रवर्तते ।
रोहिणीं पीडयत्येवमुभौ च शशिभास्करौ ।
चित्रास्वात्यन्तरे चैव विष्ठितः परुषग्रहः ।। १७ ।।

चित्रा और स्वातीके बीचमें स्थित हुआ क्रूर ग्रह राहु सदा वक्री होकर रोहिणी तथा चन्द्रमा और सूर्यको पीड़ा पहुँचाता है तथा अत्यन्त प्रज्वलित होकर ध्रुवकी बायीं ओर जा रहा है, जो घोर अनिष्टका सूचक है ।। १७ ।।

वक्रानुवक्रं कृत्वा च श्रवणं पावकप्रभः ।
ब्रह्मराशिं समावृत्य लोहिताङ्गो व्यवस्थितः ।। १८ ।।

अग्निके समान कान्तिमान् मंगल ग्रह (जिसकी स्थिति मघा नक्षत्रमें बतायी गयी है) बारंबार वक्र होकर ब्रह्मराशि (बृहस्पतिसे युक्त नक्षत्र) श्रवणको पूर्णरूपसे आवृत करके स्थित है ।। १८ ।।

सर्वसस्यपरिच्छन्ना पृथिवी सस्यमालिनी ।
पञ्चशीर्षा यवाश्चापि शतशीर्षाश्च शालयः ।। १९ ।।

(इसका प्रभाव खेतीपर अनुकूल पड़ा है) पृथ्वी सब प्रकारके अनाजके पौधोंसे आच्छादित है, शस्यकी मालाओंसे अलंकृत है, जौमें पाँच-पाँच और जड़हन धानमें सौ-सौ बालियाँ लग रही हैं ।। १९ ।।

प्रधानाः सर्वलोकस्य यास्वायत्तमिदं जगत् ।
ता गावः प्रस्नुता वत्सैः शोणितं प्रक्षरन्त्युत ।। २० ।।

जो सम्पूर्ण जगत्में माताके समान प्रधान मानी जाती हैं, यह समस्त संसार जिनके अधीन है, वे गौएँ बछड़ोंसे पिन्हा जानेके बाद अपने थनोंसे खून बहाती हैं ।। २० ।।

निश्चेरुरर्चिषश्चापात् खड्गाश्च ज्वलिता भृशम् ।
व्यक्तं पश्यन्ति शस्त्राणि संग्रामं समुपस्थितम् ।। २१ ।।

योद्धाओंके धनुषसे आगकी लपटें निकलने लगी हैं, खड्ग अत्यन्त प्रज्वलित हो उठे हैं मानो सम्पूर्ण शस्त्र स्पष्टरूपसे यह देख रहे हैं कि संग्राम उपस्थित हो गया है ।। २१ ।।

अग्निवर्णा यथा भासः शस्त्राणामुदकस्य च ।
कवचानां ध्वजानां च भविष्यति महाक्षयः ।। २२ ।।

शस्त्रोंकी, जलकी, कवचोंकी और ध्वजाओंकी कान्तियाँ अग्निके समान लाल हो गयी हैं; अतः निश्चय ही महान् जनसंहार होगा ।। २२ ।।

पृथिवी शोणितावर्ता ध्वजोडुपसमाकुला ।
कुरूणां वैशसे राजन् पाण्डवैः सह भारत ।। २३ ।।

राजन्! भरतनन्दन! जब पाण्डवोंके साथ कौरवोंका हिंसात्मक संग्राम आरम्भ हो जायगा, उस समय धरतीपर रक्तकी नदियाँ बह चलेंगी, उनमें शोणितमयी भँवरें उठेंगी तथा रथकी ध्वजाएँ उन नदियोंके ऊपर छोटी-छोटी डोंगियोंके समान सब ओर व्याप्त दिखायी देंगी ।। २३ ।।

दिक्षु प्रज्वलितास्याश्च व्याहरन्ति मृगद्विजाः ।
अत्याहितं दर्शयन्तो वेदयन्ति महद् भयम् ।। २४ ।।

चारों दिशाओंमें पशु और पक्षी प्राणान्तकारी अनर्थका दर्शन कराते हुए भयंकर बोली बोल रहे हैं। उनके मुख प्रज्वलित दिखायी देते हैं और वे अपने शब्दोंसे किसी महान् भयकी सूचना दे रहे हैं ।। २४ ।।

एकपक्षाक्षिचरणः शकुनिः खचरो निशि ।
रौद्रं वदति संरब्धः शोणितं छर्दयन्निव ।। २५ ।।

रातमें एक आँख, एक पाँख और एक पैरका पक्षी आकाशमें विचरता है और कुपित होकर भयंकर बोली बोलता है। उसकी बोली ऐसी जान पड़ती है, मानो कोई रक्त वमन कर रहा हो ।। २५ ।।

शस्त्राणि चैव राजेन्द्र प्रज्वलन्तीव सम्प्रति ।
सप्तर्षीणामुदाराणां समवच्छाद्यते प्रभा ।। २६ ।।

राजेन्द्र! सभी शस्त्र इस समय जलते-से प्रतीत होते हैं। उदार सप्तर्षियोंकी प्रभा फीकी पड़ती जाती है ।। २६ ।।

संवत्सरस्थायिनौ च ग्रहौ प्रज्वलितावुभौ ।
विशाखायाः समीपस्थौ बृहस्पतिशनैश्चरौ ।। २७ ।।

वर्षपर्यन्त एक राशिपर रहनेवाले दो प्रकाशमान ग्रह बृहस्पति और शनैश्चर तिर्यग्वेधके द्वारा विशाखा नक्षत्रके समीप आ गये हैं ।। २७ ।।

चन्द्रादित्यावुभौ ग्रस्तावेकाह्ना हि त्रयोदशीम् ।
अपर्वणि ग्रहं यातौ प्रजासंक्षयमिच्छतः ।। २८ ।।

(इस पक्षमें तो तिथियोंका क्षय होनेके कारण) एक ही दिन त्रयोदशी तिथिको बिना पर्वके ही राहुने चन्द्रमा और सूर्य दोनोंको ग्रस लिया है। अतः ग्रहणावस्थाको प्राप्त हुए वे दोनों ग्रह प्रजाका संहार चाहते हैं ।। २८ ।।

अशोभिता दिशः सर्वाः पांसुवर्षैः समन्ततः ।
उत्पातमेघा रौद्राश्च रात्रौ वर्षन्ति शोणितम् ।। २९ ।।

चारों ओर धूलकी वर्षा होनेसे सम्पूर्ण दिशाएँ शोभाहीन हो गयी हैं। उत्पातसूचक भयंकर मेघ रातमें रक्तकी वर्षा करते हैं ।। २९ ।।

कृत्तिकां पीडयंस्तीक्ष्णैर्नक्षत्रं पृथिवीपते ।
अभीक्ष्णवाता वायन्ते धूमकेतुमवस्थिताः ।। ३० ।।

राजन्! अपने तीक्ष्ण (क्रूरतापूर्ण) कर्मोंके द्वारा उपलक्षित होनेवाला राहु (चित्रा और स्वातीके बीचमें रहकर सर्वतोभद्रचक्रगतवेधके अनुसार) कृत्तिका नक्षत्रको पीड़ा दे रहा है। बारंबार धूमकेतुका आश्रय लेकर प्रचण्ड आँधी उठती रहती है ।। ३० ।।

विषमं जनयन्त्येत आक्रन्दजननं महत् ।
त्रिषु सर्वेषु नक्षत्रनक्षत्रेषु विशाम्पते ।
गृध्रः सम्पतते शीर्षं जनयन् भयमुत्तमम् ।। ३१ ।।

वह महान् युद्ध एवं विषम परिस्थिति पैदा करनेवाली है। राजन्! (अश्विनी आदि नक्षत्रोंको तीन भागोंमें बाँटनेपर जो नौ-नौ नक्षत्रोंके तीन समुदाय होते हैं, वे क्रमशः अश्वपति, गजपति तथा नरपतिके छत्र कहलाते हैं; ये ही पापग्रहसे आक्रान्त होनेपर क्षत्रियोंका विनाश सूचित करनेके कारण 'नक्षत्र-नक्षत्र' कहे गये हैं) इन तीनों अथवा सम्पूर्ण नक्षत्र-नक्षत्रोंमें शीर्षस्थानपर यदि पापग्रहसे वेध हो तो वह ग्रह महान् भय उत्पन्न करनेवाला होता है; इस समय ऐसा ही कुयोग आया है ।। ३१ ।।

चतुर्दशीं पञ्चदशीं भूतपूर्वां च षोडशीम् ।
इमां तु नाभिजानेऽहममावास्यां त्रयोदशीम् ।
चन्द्रसूर्यावुभौ ग्रस्तावेकमासीं त्रयोदशीम् ।। ३२ ।।

एक तिथिका क्षय होनेपर चौदहवें दिन, तिथिक्षय न होनेपर पंद्रहवें दिन और एक तिथिकी वृद्धि होनेपर सोलहवें दिन अमावास्याका होना तो पहले देखा गया है; परंतु इस पक्षमें जो तेरहवें दिन यह अमावास्या आ गयी है, ऐसा पहले भी कभी हुआ है, इसका स्मरण मुझे नहीं है। इस एक ही महीनेमें तेरह दिनोंके भीतर चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण दोनों लग गये ।। ३२ ।।

अपर्वणि ग्रहेणैतौ प्रजाः संक्षपयिष्यतः ।
मांसवर्षं पुनस्तीव्रमासीत् कृष्णचतुर्दशीम् ।
शोणितैर्वक्त्रसम्पूर्णा अतृप्तास्तत्र राक्षसाः ।। ३३ ।।

इस प्रकार अप्रसिद्ध पर्वमें ग्रहण लगनेके कारण ये सूर्य और चन्द्रमा प्रजाका विनाश करनेवाले होंगे। कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको बड़े जोरसे मांसकी वर्षा हुई थी। उस समय राक्षसोंका मुँह रक्तसे भरा हुआ था। वे खून पीते अघाते नहीं थे ।। ३३ ।।

प्रतिस्रोतो महानद्यः सरितः शोणितोदकाः ।
फेनायमानाः कूपाश्च कूर्दन्ति वृषभा इव ।। ३४ ।।

बड़ी-बड़ी नदियोंके जल रक्तके समान लाल हो गये हैं और उनकी धारा उलटे स्रोतकी ओर बहने लगी है। कुँओंसे फेन ऊपरको उठ रहे हैं, मानो वृषभ उछल रहे हों ।। ३४ ।।

पतन्त्युल्का सनिर्घाताः शक्राशनिसमप्रभाः ।
अद्य चैव निशां व्युष्टामनयं समवाप्स्यथ ।। ३५ ।।

बिजलीकी कड़कड़के साथ इन्द्रकी अशनिके समान प्रकाशित होनेवाली उल्काएँ गिर रही हैं। आजकी रात बीतनेपर सबेरेसे ही तुमलोगोंको अपने अन्यायका फल मिलने लगेगा ।। ३५ ।।

विनिःसृत्य महोल्काभिस्तिमिरं सर्वतोदिशम् ।
अन्योन्यमुपतिष्ठद्भिस्तत्र चोक्तं महर्षिभिः ।। ३६ ।।

सम्पूर्ण दिशाओंमें अन्धकार व्याप्त होनेके कारण बड़ी-बड़ी मशालें जलाकर घरसे निकले हुए महर्षियोंने एक-दूसरेके पास उपस्थित हो इन उत्पातोंके सम्बन्धमें अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है ।। ३६ ।।

भूमिपालसहस्राणां भूमिः पास्यति शोणितम् ।
कैलासमन्दराभ्यां तु तथा हिमवता विभो ।। ३७ ।।
सहस्रशो महाशब्दः शिखराणि पतन्ति च ।

जान पड़ता है, यह भूमि सहस्रों भूमिपालोंका रक्तपान करेगी। प्रभो! कैलास, मन्दराचल तथा हिमालयसे सहस्रों प्रकारके अत्यन्त भयानक शब्द प्रकट होते हैं और उनके शिखर भी टूट-टूटकर गिर रहे हैं ।। ३७½ ।।

महाभूता भूमिकम्पे चत्वारः सागराः पृथक् ।
वेलामुद्वर्तयन्तीव क्षोभयन्तो वसुंधराम् ।। ३८ ।।

भूकम्प होनेके कारण पृथक्-पृथक् चारों सतर वृद्धिको प्राप्त होकर वसुधामें क्षोभ उत्पन्न करते हुए अपनी सीमाको लाँघते हुए-से जान पड़ते हैं ।। ३८ ।।

वृक्षानुन्मथ्य वान्त्युग्रा वाताः शर्करकर्षिणः ।
आभग्नाः सुमहावातैरशनीभिः समाहताः ।। ३९ ।।
वृक्षाः पतन्ति चैत्याश्च ग्रामेषु नगरेषु च ।

बालू और कंकड़ खींचकर बरसानेवाले भयानक बवंडर उठकर वृक्षोंको उखाड़ डालते हैं। गाँवों तथा नगरोंमें वृक्ष और चैत्यवृक्ष प्रचण्ड आँधियों तथा बिजलीके आघातोंसे टूटकर गिर रहे हैं ।। ३९½ ।।

नीललोहितपीतश्च भवत्यग्निर्हुतो द्विजैः ।। ४० ।।
वामार्चिर्दुष्टगन्धश्च मुञ्चन् वै दारुणं स्वनम् ।
स्पर्शा गन्धा रसाश्चैव विपरीता महीपते ।। ४१ ।।

ब्राह्मणलोगोंके आहुति देनेपर प्रज्वलित हुई अग्नि काले, लाल और पीले रंगकी दिखायी देती है। उसकी लपटें वामावर्त होकर उठ रही हैं। उससे दुर्गन्ध निकलती है और

वह भयानक शब्द प्रकट करती रहती है। राजन्! स्पर्श, गन्ध तथा रस—इन सबकी स्थिति विपरीत हो गयी है ।। ४०-४१ ।।

धूमं ध्वजाः प्रमुञ्चन्ति कम्पमाना मुहुर्मुहुः ।
मुञ्चन्त्यङ्गारवर्षं च भेर्यश्च पटहास्तथा ।। ४२ ।।

ध्वज बारंबार कम्पित होकर धूआँ छोड़ते हैं। ढोल, नगाड़े अंगारोंकी वर्षा करते हैं ।। ४२ ।।

शिखराणां समृद्धानामुपरिष्टात् समन्ततः ।
वायसाश्च रुवन्त्युग्रं वामं मण्डलमाश्रिताः ।। ४३ ।।

फल-फूलसे सम्पन्न वृक्षोंकी शिखाओंपर बायीं ओरसे घूम-घूमकर सब ओर कौए बैठते हैं और भयंकर काँव-काँवका कोलाहल करते हैं ।। ४३ ।।

पक्वापक्वेति सुभृशं वावाश्यन्ते वयांसि च ।
निलीयन्ते ध्वजाग्रेषु क्षयाय पृथिवीक्षिताम् ।। ४४ ।।

बहुत-से पक्षी 'पक्वा-पक्वा' इस शब्दका बारंबार जोर-जोरसे उच्चारण करते और ध्वजाओंके अग्रभागमें छिपते हैं। यह लक्षण राजाओंके विनाशका सूचक है ।। ४४ ।।

ध्यायन्तः प्रकिरन्तश्च व्याला वेपथुसंयुताः ।
दीनास्तुरङ्गमाः सर्वे वारणाः सलिलाश्रयाः ।। ४५ ।।

दुष्ट हाथी काँपते और चिन्ता करते हुए भयके मारे मल-मूत्र त्याग कर रहे हैं, घोड़े अत्यन्त दीन हो रहे हैं और सम्पूर्ण गजराज पसीने-पसीने हो रहे हैं ।। ४५ ।।

एतच्छ्रुत्वा भवानत्र प्राप्तकालं व्यवस्यताम् ।
यथा लोकः समुच्छेदं नायं गच्छेत भारत ।। ४६ ।।

भारत! यह सुनकर (और उसके परिणामपर विचार करके) तुम इस अवसरके अनुरूप ऐसा कोई उपाय करो, जिससे यह संसार विनाशसे बच जाय ।। ४६ ।।

वैशम्पायन उवाच

पितुर्वचो निशम्यैतद् धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ।
दिष्टमेतत् पुरा मन्ये भविष्यति नरक्षयः ।। ४७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने पिता व्यासजीका यह वचन सुनकर धृतराष्ट्रने कहा—'भगवन्! मैं तो इसे पूर्वनिश्चित दैवका विधान मानता हूँ; अतः यह जनसंहार होगा ही ।। ४७ ।।

राजानः क्षत्रधर्मेण यदि वध्यन्ति संयुगे ।
वीरलोकं समासाद्य सुखं प्राप्स्यन्ति केवलम् ।। ४८ ।।

'यदि राजालोग क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्धमें मारे जायँगे तो वीरलोकको प्राप्त होकर केवल सुखके भागी होंगे ।। ४८ ।।

इह कीर्तिं परे लोके दीर्घकालं महत् सुखम् ।
प्राप्स्यन्ति पुरुषव्याघ्राः प्राणांस्त्यक्त्वा महाहवे ।। ४९ ।।

‘वे पुरुषसिंह नरेश महायुद्धमें प्राणोंका परित्याग करके इहलोकमें कीर्ति तथा परलोकमें दीर्घकालतक महान् सुख प्राप्त करेंगे’ ।। ४९ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो मुनिस्तत्त्वं कवीन्द्रो राजसत्तम ।
धृतराष्ट्रेण पुत्रेण ध्यानमन्वगमत् परम् ।। ५० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! अपने पुत्र धृतराष्ट्रके इस प्रकार यथार्थ बात कहनेपर ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ महर्षि व्यास कुछ देरतक बड़े सोच-विचारमें पड़े रहे ।। ५० ।।

स मुहूर्तं तथा ध्यात्वा पुनरेवाब्रवीद् वचः ।
असंशयं पार्थिवेन्द्र कालः संक्षिपते जगत् ।। ५१ ।।
सृजते च पुनर्लोकान् नेह विद्यति शाश्वतम् ।

दो घड़ीतक चिन्तन करनेके बाद वे पुनः इस प्रकार बोले—‘राजेन्द्र! इसमें संशय नहीं है कि काल ही इस जगत्‌का संहार करता है और वही पुनः इन सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करता है। यहाँ कोई वस्तु सदा रहनेवाली नहीं है ।। ५१½ ।।

ज्ञातीनां वै कुरूणां च सम्बन्धिसुहृदां तथा ।। ५२ ।।
धर्म्यं देशय पन्थानं समर्थो ह्यसि वारणे ।
क्षुद्रं ज्ञातिवधं प्राहुर्मा कुरुष्व ममाप्रियम् ।। ५३ ।।

‘राजन्! तुम अपने जाति-भाई, कौरवों, सगे-सम्बन्धियों तथा हितैषी-सुहृदोंको धर्मानुकूल मार्गका उपदेश करो; क्योंकि तुम उन सबको रोकनेमें समर्थ हो। जाति-वधको अत्यन्त नीच कर्म बताया गया है। वह मुझे अत्यन्त अप्रिय है। तुम यह अप्रिय कार्य न करो ।। ५२-५३ ।।

कालोऽयं पुत्ररूपेण तव जातो विशाम्पते ।
न वधः पूज्यते वेदे हितं नैव कथंचन ।। ५४ ।।

‘महाराज! यह काल तुम्हारे पुत्ररूपसे उत्पन्न हुआ है। वेदमें हिंसाकी प्रशंसा नहीं की गयी है। हिंसासे किसी प्रकार हित नहीं हो सकता ।। ५४ ।।

हन्यात् स एनं यो हन्यात् कुलधर्मं स्विकां तनुम् ।
कालेनोत्पथगन्तासि शक्ये सति यथाऽऽपदि ।। ५५ ।।

कुलधर्म अपने शरीरके ही समान है। जो इस कुलधर्मका नाश करता है, उसे वह धर्म ही नष्ट कर देता है। जबतक धर्मका पालन सम्भव है (जबतक तुमपर कोई आपत्ति नहीं आयी है), तबतक तुम कालसे प्रेरित होकर ही धर्मकी अवहेलना करके कुमार्गपर चल रहे हो, जैसा कि बहुधा लोग किसी आपत्तिमें पड़नेपर ही करते हैं ।। ५५ ।।

कुलस्यास्य विनाशाय तथैव च महीक्षिताम् ।
अनर्थो राज्यरूपेण तव जातो विशाम्पते ।। ५६ ।।

'राजन्! तुम्हारे कुलका तथा अन्य बहुत-से राजाओंका विनाश करनेके लिये यह तुम्हारे राज्यके रूपमें अनर्थ ही प्राप्त हुआ है ।। ५६ ।।

लुप्तधर्मा परेणासि धर्मं दर्शय वै सुतान् ।
किं ते राज्येन दुर्धर्ष येन प्राप्तोऽसि किल्बिषम् ।। ५७ ।।

'तुम्हारा धर्म अत्यन्त लुप्त हो गया है। अपने पुत्रोंको धर्मका मार्ग दिखाओ। दुर्धर्ष वीर! तुम्हें राज्य लेकर क्या करना है, जिसके लिये अपने ऊपर पापका बोझ लाद रहे हो? ।। ५७ ।।

यशो धर्मं च कीर्तिं च पालयन् स्वर्गमाप्स्यसि ।
लभन्तां पाण्डवा राज्यं शमं गच्छन्तु कौरवाः ।। ५८ ।।

'तुम मेरी बात माननेपर यश, धर्म और कीर्तिका पालन करते हुए स्वर्ग प्राप्त कर लोगे। पाण्डवोंको उनके राज्य प्राप्त हों और समस्त कौरव आपसमें संधि करके शान्त हो जायँ' ।। ५८ ।।

एवं ब्रुवति विप्रेन्द्रे धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
आक्षिप्य वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यं चैवाब्रवीत् पुनः ।। ५९ ।।

विप्रवर व्यासजी जब इस प्रकार उपदेश दे रहे थे, उसी समय बोलनेमें चतुर अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने बीचमें ही उनकी बात काटकर उनसे इस प्रकार कहा ।। ५९ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

यथा भवान् वेत्ति तथैव वेत्ता
भावाभावौ विदितौ मे यथार्थौ ।
स्वार्थे हि सम्मुह्यति तात लोको
मां चापि लोकात्मकमेव विद्धि ।। ६० ।।

धृतराष्ट्र बोले—तात! जैसा आप जानते हैं, उसी प्रकार मैं भी इन बातोंको समझता हूँ। भाव और अभावका यथार्थ स्वरूप मुझे भी ज्ञात है, तथापि यह संसार अपने स्वार्थके लिये मोहमें पड़ा रहता है। मुझे भी संसारसे अभिन्न ही समझें ।। ६० ।।

प्रसादये त्वामतुलप्रभावं
त्वं नो गतिर्दर्शयिता च धीरः ।
न चापि ते मद्वशगा महर्षे
न चाधर्मं कर्तुमर्हा हि मे मतिः ।। ६१ ।।

आपका प्रभाव अनुपम है। आप हमारे आश्रय, मार्गदर्शक तथा धीर पुरुष हैं। मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। महर्षे! मेरी बुद्धि भी अधर्म करना नहीं चाहती; परंतु क्या

करूँ? मेरे पुत्र मेरे वशमें नहीं हैं ।। ६१ ।।

त्वं हि धर्मप्रवृत्तिश्च यशः कीर्तिश्च भारती ।
कुरूणां पाण्डवानां च मान्यश्चापि पितामहः ।। ६२ ।।

आप ही हम भरतवंशियोंकी धर्मप्रवृत्ति, यश तथा कीर्तिके हेतु हैं। आप कौरवों और पाण्डवों—दोनोंके माननीय पितामह हैं ।। ६२ ।।

व्यास उवाच

वैचित्रवीर्य नृपते यत् ते मनसि वर्तते ।
अभिधत्स्व यथाकामं छेत्तास्मि तव संशयम् ।। ६३ ।।

व्यासजी बोले—विचित्रवीर्यकुमार! नरेश्वर! तुम्हारे मनमें जो संदेह है, उसे अपनी इच्छाके अनुसार प्रकट करो। मैं तुम्हारे संशयका निवारण करूँगा ।। ६३ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

यानि लिङ्गानि संग्रामे भवन्ति विजयिष्यताम् ।
तानि सर्वाणि भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।। ६४ ।।

धृतराष्ट्र बोले—भगवन्! युद्धमें निश्चितरूपसे विजय पानेवाले लोगोंको जो शुभ लक्षण दीख पड़ते हैं, उन सबको यथार्थरूपसे सुननेकी मेरी इच्छा है ।। ६४ ।।

व्यास उवाच

प्रसन्नभाः पावक ऊर्ध्वरश्मिः
प्रदक्षिणावर्तशिखो विधूमः ।
पुण्या गन्धाश्चाहुतीनां प्रवान्ति
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ।। ६५ ।।

व्यासजीने कहा—अग्निकी प्रभा निर्मल हो, उसकी लपटें ऊपरकी ओर दक्षिणावर्त होकर उठें और धूआँ बिलकुल न रहे; साथ ही अग्निमें जो आहुतियाँ डाली जायँ, उनकी पवित्र सुगन्ध वायुमें मिलकर सर्वत्र व्याप्त होती रहे—यह भावी विजयका स्वरूप (लक्षण) बताया गया है ।। ६५ ।।

गम्भीरघोषाश्च महास्वनाश्च
शङ्खा मृदङ्गाश्च नदन्ति यत्र ।
विशुद्धरश्मिस्तपनः शशी च
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ।। ६६ ।।

जिस पक्षमें शंखों और मृदंगोंकी गम्भीर आवाज बड़े जोर-जोरसे हो रही हो तथा जिन्हें सूर्य और चन्द्रमाकी किरणें विशुद्ध प्रतीत होती हों, उनके लिये यह भावी विजयका शुभ लक्षण बताया है ।। ६६ ।।

इष्टा वाचः प्रसृता वायसानां
सम्प्रस्थितानां च गमिष्यतां च ।
ये पृष्ठतस्ते त्वरयन्ति राजन्
ये चाग्रतस्ते प्रतिषेधयन्ति ।। ६७ ।।

जिनके प्रस्थित होनेपर अथवा प्रस्थानके लिये उद्यत होनेपर कौवोंकी मीठी आवाज फैलती है, उनकी विजय सूचित होती है। राजन्! जो कौवे पीछे बोलते हैं, वे मानो सिद्धिकी सूचना देते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़नेके लिये प्रेरित करते हैं और जो सामने बोलते हैं, वे मानो युद्धमें जानेसे रोकते हैं ।। ६७ ।।

कल्याणवाचः शकुना राजहंसाः
शुकाः क्रौञ्चाः शतपत्राश्च यत्र ।
प्रदक्षिणाश्चैव भवन्ति संख्ये
ध्रुवं जयस्तत्र वदन्ति विप्राः ।। ६८ ।।

जहाँ शुभ एवं कल्याणमयी बोली बोलनेवाले राजहंस, शुक, क्रौंच तथा शतपत्र (मोर) आदि पक्षी सैनिकोंकी प्रदक्षिणा करते हैं (दाहिने जाते हैं), उस पक्षकी युद्धमें निश्चितरूपसे विजय होती है, यह ब्राह्मणोंका कथन है ।। ६८ ।।

अलङ्कारैः कवचैः केतुभिश्च
सुखप्रणादैर्हेषितैर्वा हयानाम् ।
भ्राजिष्मती दुष्प्रतिवीक्षणीया
येषां चमूस्ते विजयन्ति शत्रून् ।। ६९ ।।

अलंकार, कवच, ध्वजा-पताका, सुखपूर्वक किये जानेवाले सिंहनाद अथवा घोड़ोंके हिनहिनानेकी आवाजसे जिनकी सेना अत्यन्त शोभायमान होती है तथा शत्रुओंको जिनकी सेनाकी ओर देखना भी कठिन जान पड़ता है, वे अवश्य अपने विपक्षियोंपर विजय पाते हैं ।। ६९ ।।

हृष्टा वाचस्तथा सत्त्वं योधानां यत्र भारत ।
न म्लायन्ति स्रजश्चैव ते तरन्ति रणोदधिम् ।। ७० ।।

भारत! जिस पक्षके योद्धाओंकी बातें हर्ष और उत्साहसे परिपूर्ण होती हैं, मन प्रसन्न रहता है तथा जिनके कण्ठमें पड़ी हुई पुष्पमालाएँ कुम्हलाती नहीं हैं, वे युद्धरूपी महासागरसे पार हो जाते हैं ।। ७० ।।

इष्टा वाचः प्रविष्टस्य दक्षिणाः प्रविविक्षतः ।
पश्चात् संधारयन्त्यर्थमग्रे च प्रतिषेधिकाः ।। ७१ ।।

जिस पक्षके योद्धा शत्रुकी सेनामें प्रवेश करनेकी इच्छा करते समय अथवा उसमें प्रवेश कर लेनेपर अभीष्ट वचन (मैं तुझे अभी मार भगाता हूँ इत्यादि शौर्यसूचक बातें) बोलते हैं और अपने रणकौशलका परिचय देते हैं, वे पीछे प्राप्त होनेवाली अपनी विजयको पहलेसे

ही निश्चित कर लेते हैं। इसके विपरीत जिन्हें शत्रुसेनामें प्रवेश करते समय सामनेसे निषेधसूचक वचन सुननेको मिलते हैं, उनकी पराजय होती है ।। ७१ ।।

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धाश्चाविकृताः शुभाः ।
सदा हर्षश्च योधानां जयतामिह लक्षणम् ।। ७२ ।।

जिनके शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि निर्विकार एवं शुभ होते हैं तथा जिन योद्धाओंके हृदयमें सदा हर्ष और उत्साह बना रहता है, उनके विजयी होनेका यही शुभ लक्षण है ।। ७२ ।।

अनुगा वायवो वान्ति तथाभ्राणि वयांसि च ।
अनुप्लवन्ति मेघाश्च तथैवेन्द्रधनूंषि च ।। ७३ ।।
एतानि जयमानानां लक्षणानि विशाम्पते ।
भवन्ति विपरीतानि मुमूर्षूणां जनाधिप ।। ७४ ।।

राजन्! हवा जिनके अनुकूल बहती है, बादल और पक्षी भी जिनके अनुकूल होते हैं, मेघ जिनके पीछे-पीछे छत्रछाया किये चलते हैं तथा इन्द्रधनुष भी जिन्हें अनुकूल दिशामें ही दृष्टिगोचर होते हैं, उन विजयी वीरोंके लिये ये विजयके शुभ लक्षण हैं। जनेश्वर! मरणासन्न मनुष्योंको इसके विपरीत अशुभ लक्षण दिखायी देते हैं ।। ७३-७४ ।।

अल्पायां वा महत्यां वा सेनायामिति निश्चयः ।
हर्षो योधगणस्यैको जयलक्षणमुच्यते ।। ७५ ।।

सेना छोटी हो या बड़ी, उसमें सम्मिलित होनेवाले सैनिकोंका एकमात्र हर्ष ही निश्चितरूपसे विजयका लक्षण बताया जाता है ।। ७५ ।।

एको दीर्णो दारयति सेनां सुमहतीमपि ।
तां दीर्णामनुदीर्यन्ते योधाः शूरतरा अपि ।। ७६ ।।

यदि सेनाका एक सैनिक भी उत्साहहीन होकर पीछे हटे तो वह अपनी ही देखा-देखी अत्यन्त विशाल सेनाको भी भगा देता है (उसके भागनेमें कारण बन जाता है)। उस सेनाके पलायन करनेपर बड़े-बड़े शूरवीर सैनिक भी भागनेको विवश होते हैं ।। ७६ ।।

दुर्निवर्त्या तदा चैव प्रभग्ना महती चमूः ।
अपामिव महावेगास्त्रस्ता मृगगणा इव ।। ७७ ।।

जब बड़ी भारी सेना भागने लगती है, तब डरकर भागे हुए मृगोंके झुंड तथा नीची भूमिकी ओर बहनेवाले जलके महान् वेगकी भाँति उसे पीछे लौटाना बहुत कठिन है ।। ७७ ।।

नैव शक्या समाधातुं संनिपाते महाचमूः ।
दीर्णामित्येव दीर्यन्ते सुविद्वांसोऽपि भारत ।। ७८ ।।

भरतनन्दन! विशाल सेनामें जब भगदड़ मच जाती है, तब उसे समझा-बुझाकर रोकना कठिन हो जाता है। सेना भाग रही है, इतना सुनकर ही बड़े-बड़े युद्धविद्याके विद्वान् भी

भागने लगते हैं ।। ७८ ।।

भीतान् भग्नांश्च सम्प्रेक्ष्य भयं भूयोऽभिवर्धते ।
प्रभग्ना सहसा राजन् दिशो विद्रवते चमूः ।। ७९ ।।

राजन्! भयभीत होकर भागते हुए सैनिकोंको देखकर अन्य योद्धाओंका भय, बहुत अधिक बढ़ जाता है; फिर तो सहसा सारी सेना हतोत्साह होकर सम्पूर्ण दिशाओंमें भागने लगती है ।। ७९ ।।

नैव स्थापयितुं शक्या शूरैरपि महाचमूः ।
सत्कृत्य महतीं सेनां चतुरङ्गां महीपतिः ।
उपायपूर्वं मेधावी यतेत सततोत्थितः ।। ८० ।।

उस समय बहुत-से शूरवीर भी उस विशाल वाहिनीको रोककर खड़ी नहीं रख सकते। इसलिये बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि वह सतत सावधान रहकर कोई-न-कोई उपाय करके अपनी विशाल चतुरंगिणी सेनाको विशेष सत्कारपूर्वक स्थिर रखनेका यत्न करे ।। ८० ।।

उपायविजयं श्रेष्ठमाहुर्भेदेन मध्यमम् ।
जघन्य एष विजयो यो युद्धेन विशाम्पते ।। ८१ ।।

राजन्! साम-दानरूप उपायसे जो विजय प्राप्त होती है, उसे श्रेष्ठ बताया गया है। भेदनीतिके द्वारा शत्रुसेनामें फूट डालकर जो विजय प्राप्त की जाती है, वह मध्यम है तथा युद्धके द्वारा मार-काट मचाकर जो शत्रुको पराजित किया जाता है, वह सबसे निम्नश्रेणीकी विजय है ।। ८१ ।।

महादोषः संनिपातस्तस्याद्यः क्षय उच्यते ।
परस्परज्ञाः संहृष्टा व्यवधूताः सुनिश्चिताः ।। ८२ ।।
पञ्चाशदपि ये शूरा मृद्‌गन्ति महतीं चमूम् ।
अपि वा पञ्च षट् सप्त विजयन्त्यनिवर्तिनः ।। ८३ ।।

युद्ध महान् दोषका भण्डार है। उन दोषोंमें सबसे प्रधान है जनसंहार। यदि एक दूसरेको जाननेवाले, हर्ष और उत्साहमें भरे रहनेवाले, कहीं भी आसक्त न होकर विजय-प्राप्तिका दृढ़ निश्चय रखनेवाले तथा शौर्यसम्पन्न पचास सैनिक भी हों तो वे बड़ी भारी सेनाको धूलमें मिला देते हैं। यदि पीछे पैर न हटानेवाले पाँच, छः और सात ही योद्धा हों तो वे भी निश्चितरूपसे विजयी होते हैं ।। ८२-८३ ।।

न वैनतेयो गरुडः प्रशंसति महाजनम् ।
दृष्ट्वा सुपर्णोऽपचितिं महत्या अपि भारत ।। ८४ ।।

भारत! सुन्दर पंखोंवाले विनतानन्दन गरुड़ विशाल सेनाका भी विनाश होता देखकर अधिक जनसमूहकी प्रशंसा नहीं करते हैं ।। ८४ ।।

न बाहुल्येन सेनाया जयो भवति नित्यशः ।

अध्रुवो हि जयो नाम दैवं चात्र परायणम् ।
जयवन्तो हि संग्रामे कृतकृत्या भवन्ति हि ।। ८५ ।।

सदा अधिक सेना होनेसे ही विजय नहीं होती है। युद्धमें जीत प्रायः अनिश्चित होती है। उसमें दैव ही सबसे बड़ा सहारा है। जो संग्राममें विजयी होते हैं, वे ही कृतकार्य होते हैं ।। ८५ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि निमित्ताख्याने तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें अमंगलसूचक उत्पातों तथा विजयसूचक लक्षणोंका वर्णनविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ।। ३ ।।

---

* राहु और केतु सदा एक-दूसरेसे सातवीं राशिपर स्थित होते हैं, किंतु उस समय दोनों एक राशिपर आ गये थे; अतः महान् अनिष्टके सूचक थे। सूर्य तुलापर थे, उनके निकट राहुके आनेका वर्णन पहले आ चुका है; फिर केतुके वहाँ पहुँचनेसे महान् दुर्योग बन गया है।

चतुर्थोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजयके द्वारा भूमिके महत्त्वका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ व्यासो धृतराष्ट्राय धीमते ।
धृतराष्ट्रोऽपि तच्छ्रुत्वा ध्यानमेवान्वपद्यत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रसे ऐसा कहकर महर्षि व्यासजी चले गये। धृतराष्ट्र भी उनके पूर्वोक्त वचन सुनकर कुछ कालतक उनपर सोच-विचार करते रहे ।। १ ।।

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः ।
संजयं संशितात्मानमपृच्छद् भरतर्षभ ।। २ ।।

भरतश्रेष्ठ! दो घड़ीतक सोचने-विचारनेके पश्चात् बारंबार लंबी साँस खींचते हुए उन्होंने विशुद्ध हृदयवाले संजयसे पूछा— ।। २ ।।

संजयेमे महीपालाः शूरा युद्धाभिनन्दिनः ।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्ति शस्त्रैरुच्चावचैरिह ।। ३ ।।
पार्थिवाः पृथिवीहेतोः समभित्यज्य जीवितम् ।
न वा शाम्यन्ति निघ्नन्तो वर्धयन्ति यमक्षयम् ।। ४ ।।
भौममैश्वर्यमिच्छन्तो न मृष्यन्ते परस्परम् ।
मन्ये बहुगुणा भूमिस्तन्ममाचक्ष्व संजय ।। ५ ।।

'संजय! पृथ्वीका पालन करनेवाले ये शूरवीर नरेश इस भूमिके लिये ही अपना जीवन निछावर करके युद्धका अभिनन्दन करते और छोटे-बड़े अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा एक-दूसरेपर घातक प्रहार करते हैं। इस भूतलके ऐश्वर्यको स्वयं ही चाहते हुए वे एक-दूसरेको सहन नहीं कर पाते हैं। परस्पर प्रहार करते हुए यमलोककी जनसंख्या बढ़ाते हैं, परंतु शान्त नहीं होते हैं। अतः मैं ऐसा मानता हूँ कि यह भूमि बहुसंख्यक गुणोंसे विभूषित है। इसलिये संजय! तुम मुझसे इस भूमिके गुणोंका ही वर्णन करो ।। ३—५ ।।

बहूनि च सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
कोट्यश्च लोकवीराणां समेताः कुरुजाङ्गले ।। ६ ।।

'कुरुक्षेत्रमें इस जगत्के कई हजार, लाख, करोड़ और अरबों वीर एकत्र हुए हैं ।। ६ ।।

देशानां च परीमाणं नगराणां च संजय ।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन यत एते समागताः ।। ७ ।।

'संजय! ये लोग जहाँ-जहाँसे आये हैं, उन देशों और नगरोंका यथार्थ परिमाण मैं तुमसे सुनना चाहता हूँ ।। ७ ।।

दिव्यबुद्धिप्रदीपेन युक्तस्त्वं ज्ञानचक्षुषा ।
प्रभावात् तस्य विप्रर्षेर्व्यासस्यामिततेजसः ।। ८ ।।

'क्योंकि तुम अमित तेजस्वी ब्रह्मर्षि व्यासजीके प्रभावसे दिव्य बुद्धिरूपी प्रदीपसे प्रकाशित ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न हो गये हो' ।। ८ ।।

संजय उवाच

यथाप्रज्ञं महाप्राज्ञ भौमान् वक्ष्यामि ते गुणान् ।
शास्त्रचक्षुरवेक्षस्व नमस्ते भरतर्षभ ।। ९ ।।

संजयने कहा—महाप्राज्ञ! मैं अपनी बुद्धिके अनुसार आपसे इस भूमिके गुणोंका वर्णन करूँगा। भरतश्रेष्ठ! आपको नमस्कार है; आप शास्त्रदृष्टिसे इस विषयको देखिये और समझिये ।। ९ ।।

द्विविधानीह भूतानि चराणि स्थावराणि च ।
त्रसानां त्रिविधा योनिरण्डस्वेदजरायुजाः ।। १० ।।

राजन्! इस पृथ्वीपर दो तरहके प्राणी उपलब्ध हैं—स्थावर और जंगम। जंगम प्राणियोंकी उत्पत्तिके तीन स्थान हैं—अण्डज, स्वेदज और जरायुज ।। १० ।।

त्रसानां खलु सर्वेषां श्रेष्ठा राजन् जरायुजाः ।
जरायुजानां प्रवरा मानवाः पशवश्च ये ।। ११ ।।

राजन्! सम्पूर्ण जंगम जीवोंमें जरायुज श्रेष्ठ माने गये हैं, जरायुजोंमें भी मनुष्य और पशु उत्तम हैं ।। ११ ।।

नानारूपधरा राजंस्तेषां भेदाश्चतुर्दश ।
वेदोक्ताः पृथिवीपाल येषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ।। १२ ।।

वे नाना प्रकारकी आकृतिवाले होते हैं। राजन्! उनके चौदह भेद हैं, जो वेदोंमें बताये गये हैं। भूपाल! उन्हींमें यज्ञोंकी प्रतिष्ठा है ।। १२ ।।

ग्राम्याणां पुरुषाः श्रेष्ठाः सिंहाश्चारण्यवासिनाम् ।
सर्वेषामेव भूतानामन्योन्येनोपजीवनम् ।। १३ ।।

ग्रामवासी पशु और मनुष्योंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं और वनवासी पशुओंमें सिंह श्रेष्ठ हैं। समस्त प्राणियोंका जीवन-निर्वाह एक-दूसरेके सहयोगसे होता है ।। १३ ।।

उद्भिज्जाः स्थावराः प्रोक्तास्तेषां पञ्चैव जातयः ।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः ।। १४ ।।

स्थावरोंको उद्भिज्ज कहते हैं। उनकी पाँच ही जातियाँ हैं—वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली और त्वक्सार (बाँस आदि)। ये सब तृणवर्गकी जातियाँ हैं ।। १४ ।।

तेषां विंशतिरेकोना महाभूतेषु पञ्चसु ।
चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा गायत्री लोकसम्मता ।। १५ ।।

ये स्थावर-जंगमरूप उन्नीस प्राणी हैं। इनके साथ पाँच महाभूतोंको गिन लेनेपर इनकी संख्या चौबीस हो जाती है। गायत्रीके भी चौबीस ही अक्षर होते हैं। इसलिये इन चौबीस भूतोंको भी लोकसम्मत गायत्री कहा गया है ।। १५ ।।

य एतां वेद गायत्रीं पुण्यां सर्वगुणान्विताम् ।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ स लोके न प्रणश्यति ।। १६ ।।

भरतश्रेष्ठ! जो लोकमें स्थित इस सर्वगुणसम्पन्न पुण्यमयी गायत्रीको यथार्थरूपसे जानता है, वह कभी नष्ट नहीं होता ।। १६ ।।

अरण्यवासिनः सप्त सप्तैषां ग्रामवासिनः ।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च महिषा वारणास्तथा ।। १७ ।।
ऋक्षाश्च वानराश्चैव सप्तारण्याः स्मृता नृप ।

नरेश्वर! उपर्युक्त चौदह प्रकारके जरायुज प्राणियोंमें वनवासी पशु सात हैं और ग्रामवासी भी सात ही हैं। सिंह, व्याघ्र, वराह, महिष, गज, रीछ और वानर—ये सात वनवासी पशु माने गये हैं ।। १७½ ।।

गौरजाविमनुष्याश्च अश्वाश्वतरगर्दभाः ।। १८ ।।
एते ग्राम्याः समाख्याताः पशवः सप्त साधुभिः ।
एते वै पशवो राजन् ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश ।। १९ ।।

गाय, बकरी, भेड़, मनुष्य, घोड़े, खच्चर और गदहे—इन सात पशुओंको साधु पुरुषोंने ग्रामवासी बताया है। राजन्! इस प्रकार ये ग्रामवासी और वनवासी मिलकर कुल चौदह पशु कहे गये हैं ।। १८-१९ ।।

भूमौ च जायते सर्वं भूमौ सर्वं विनश्यति ।
भूमिः प्रतिष्ठा भूतानां भूमिरेव परायणम् ।। २० ।।

सब कुछ इस भूमिपर ही उत्पन्न होता है और भूमिमें ही विलीन होता है। भूमि ही सब प्राणियोंकी प्रतिष्ठा और भूमि ही सबका परम आश्रय है ।। २० ।।

यस्य भूमिस्तस्य सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
तत्रातिगृद्धा राजानो विनिघ्नन्तीतरेतरम् ।। २१ ।।

जिसके अधिकारमें भूमि है, उसीके अधिकारमें सम्पूर्ण चराचर जगत् है, इसीलिये भूमिके प्रति आसक्ति रखनेवाले राजालोग एक-दूसरेको मारते हैं ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भौमगुणकथने चतुर्थोऽध्यायः ।। ४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भूमिगुणवर्णनविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ।। ४ ।।

पञ्चमोऽध्यायः

पंचमहाभूतों तथा सुदर्शनद्वीपका संक्षिप्त वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

नदीनां पर्वतानां च नामधेयानि संजय ।
तथा जनपदानां च ये चान्ये भूमिमाश्रिताः ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! नदियों, पर्वतों तथा जनपदोंके और दूसरे भी जो पदार्थ इस भूतलपर आश्रित हैं, उन सबके नाम बताओ ।। १ ।।

प्रमाणं च प्रमाणज्ञ पृथिव्या मम सर्वतः ।
निखिलेन समाचक्ष्व काननानि च संजय ।। २ ।।

प्रमाणवेत्ता संजय! तुम सारी पृथ्वीका पूरा प्रमाण (लम्बाई-चौड़ाईका माप) मुझे बताओ। साथ ही यहाँके वनोंका भी वर्णन करो ।। २ ।।

संजय उवाच

पञ्चेमानि महाराज महाभूतानि संग्रहात् ।
जगतीस्थानि सर्वाणि समान्याहुर्मनीषिणः ।। ३ ।।

संजय बोले—महाराज! इस पृथ्वीपर रहनेवाली जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब संक्षेपसे पंचमहाभूतस्वरूप हैं। इसीलिये मनीषी पुरुष उन सबको 'सम्*' कहते हैं ।। ३ ।।

भूमिरापस्तथा वायुरग्निराकाशमेव च ।
गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां भूमिः प्रधानतः ।। ४ ।।

आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि—ये पंच महाभूत हैं। आकाशसे लेकर भूमितक जो पंचमहाभूतोंका कम है, उसमें पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सब भूतोंमें एक-एक गुण अधिक होते हैं। इन सब भूतोंमें भूमिकी प्रधानता है ।। ४ ।।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
भूमेरेते गुणाः प्रोक्ता ऋषिभिस्तत्त्ववेदिभिः ।। ५ ।।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पांचोंको तत्त्ववेत्ता महर्षियोंने पृथ्वीका गुण बताया है ।। ५ ।।

चत्वारोऽप्सु गुणा राजन् गन्धस्तत्र न विद्यते ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः ।
शब्दः स्पर्शश्च वायोस्तु आकाशे शब्द एव तु ।। ६ ।।

राजन्! जलमें चार ही गुण हैं। उसमें गन्धका अभाव है। तेजके शब्द, स्पर्श तथा रूप—ये तीन गुण हैं। वायुके शब्द और स्पर्श दो ही गुण हैं और आकाशका एकमात्र शब्द ही

गुण है ।। ६ ।।

एते पञ्च गुणा राजन् महाभूतेषु पञ्चसु ।
वर्तन्ते सर्वलोकेषु येषु भूताः प्रतिष्ठिताः ।। ७ ।।

राजन्! ये पाँच गुण सम्पूर्ण लोकोंके आश्रय-भूत पंचमहाभूतोंमें रहते हैं। जिनमें समस्त प्राणी प्रतिष्ठित हैं ।। ७ ।।

अन्योन्यं नाभिवर्तन्ते साम्यं भवति वै यदा ।। ८ ।।

ये पाँचों गुण जब साम्यावस्थामें रहते हैं, तब एक-दूसरेसे संयुक्त नहीं होते हैं ।। ८ ।।

यदा तु विषमीभावमाविशन्ति परस्परम् ।
तदा देहैर्देहवन्तो व्यतिरोहन्ति नान्यथा ।। ९ ।।

जब ये विषमभावको प्राप्त होते हैं, तब एक-दूसरेसे मिल जाते हैं। उस समय ही देहधारी प्राणी अपने शरीरोंसे संयुक्त होते हैं, अन्यथा नहीं ।। ९ ।।

आनुपूर्व्या विनश्यन्ति जायन्ते चानुपूर्वशः ।
सर्वाण्यपरिमेयाणि तदेषां रूपमैश्वरम् ।। १० ।।

ये सब भूत क्रमसे नष्ट होते और क्रमसे ही उत्पन्न होते हैं (पृथ्वी आदिके क्रमसे इनका लय होता है और आकाश आदिके क्रमसे इनका प्रादुर्भाव)। ये सब अपरिमेय हैं। इनका रूप ईश्वरकृत है ।। १० ।।

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः ।
तेषां मनुष्यास्तर्केण प्रमाणानि प्रचक्षते ।। ११ ।।

भिन्न-भिन्न लोकोंमें पांचभौतिक धातु दृष्टिगोचर होते हैं। मनुष्य तर्कके द्वारा उनके प्रमाणोंका प्रतिपादन करते हैं ।। ११ ।।

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यत् तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ।। १२ ।।

परंतु जो अचिन्त्य भाव हैं, उन्हें तर्कसे सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। जो प्रकृतिसे परे है, वही अचिन्त्यस्वरूप है ।। १२ ।।

सुदर्शनं प्रवक्ष्यामि द्वीपं तु कुरुनन्दन ।
परिमण्डलो महाराज द्वीपोऽसौ चक्रसंस्थितः ।। १३ ।।

कुरुनन्दन! अब मैं सुदर्शन नामक द्वीपका वर्णन करूँगा। महाराज! वह द्वीप चक्रकी भाँति गोलाकार स्थित है ।। १३ ।।

नदीजलप्रतिच्छन्नः पर्वतैश्चाभ्रसंनिभैः ।
पुरैश्च विविधाकारै रम्यैर्जनपदैस्तथा ।। १४ ।।
वृक्षैः पुष्पफलोपेतैः सम्पन्नधनधान्यवान् ।
लवणेन समुद्रेण समन्तात् परिवारितः ।। १५ ।।

वह नाना प्रकारकी नदियोंके जलसे आच्छादित, मेघके समान उच्चतम पर्वतोंसे सुशोभित, भाँति-भाँतिके नगरों, रमणीय जनपदों तथा फल-फूलसे भरे हुए वृक्षोंसे विभूषित है। यह द्वीप भाँति-भाँतिकी सम्पदाओं तथा धन-धान्यसे सम्पन्न है। उसे सब ओरसे लवणसमुद्रने घेर रखा है ।। १४-१५ ।।

यथा हि पुरुषः पश्येदादर्शे मुखमात्मनः ।
एवं सुदर्शनद्वीपो दृश्यते चन्द्रमण्डले ।। १६ ।।

जैसे पुरुष दर्पणमें अपना मुँह देखता है, उसी प्रकार सुदर्शनद्वीप चन्द्रमण्डलमें दिखायी देता है ।। १६ ।।

द्विरंशे पिप्पलस्तत्र द्विरंशे च शशो महान् ।
सर्वौषधिसमावायः सर्वतः परिवारितः ।। १७ ।।

इसके दो अंशमें पिप्पल और दो अंशमें महान् शश दृष्टिगोचर होता है। इनके सब ओर सम्पूर्ण ओषधियोंका समुदाय फैला हुआ है ।। १७ ।।

आपस्ततोऽन्या विज्ञेयाः शेषः संक्षेप उच्यते ।
ततोऽन्य उच्यते चायमेनं संक्षेपतः शृणु ।। १८ ।।

इन सबको छोड़कर शेष स्थान जलमय समझना चाहिये। इससे भिन्न संक्षिप्त भूमिखण्ड बताया जाता है। उस खण्डका मैं संक्षेपसे वर्णन करता हूँ, उसे सुनिये ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि सुदर्शनद्वीपवर्णने पञ्चमोऽध्यायः ।। ५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें सुदर्शनद्वीपवर्णनविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५ ।।

---

* एक समान।

षष्ठोऽध्यायः

सुदर्शनके वर्ष, पर्वत, मेरुगिरि, गंगानदी तथा शशाकृतिका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

उक्तो द्वीपस्य संक्षेपो विधिवद् बुद्धिमंस्त्वया ।
तत्त्वज्ञश्चासि सर्वस्य विस्तरं ब्रूहि संजय ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—बुद्धिमान् संजय! तुमने सुदर्शन-द्वीपका विधिपूर्वक थोड़ेमें ही वर्णन कर दिया, परंतु तुम तो तत्त्वोंके ज्ञाता हो; अतः इस सम्पूर्ण द्वीपका विस्तारके साथ वर्णन करो ।। १ ।।

यावान् भूम्यवकाशोऽयं दृश्यते शशलक्षणे ।
तस्य प्रमाणं प्रब्रूहि ततो वक्ष्यसि पिप्पलम् ।। २ ।।

चन्द्रमाके शश-चिह्नमें भूमिका जितना अवकाश दृष्टिगोचर होता है, उसका प्रमाण बताओ। तत्पश्चात् पिप्पलस्थानका वर्णन करना ।। २ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवं राज्ञा स पृष्टस्तु संजयो वाक्यमब्रवीत् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार पूछनेपर संजयने कहना आरम्भ किया ।। २½ ।।

संजय उवाच

प्रागायता महाराज षडेते वर्षपर्वताः ।
अवगाढा ह्युभयतः समुद्रौ पूर्वपश्चिमौ ।। ३ ।।

संजय बोले—महाराज! पूर्वदिशासे पश्चिम दिशाकी ओर फैले हुए ये छः वर्ष पर्वत हैं, जो दोनों ओर पूर्व तथा पश्चिम समुद्रमें घुसे हुए हैं ।। ३ ।।

हिमवान् हेमकूटश्च निषधश्च नगोत्तमः ।
नीलश्च वैदूर्यमयः श्वेतश्च शशिसंनिभः ।। ४ ।।
सर्वधातुविचित्रश्च शृङ्गवान् नाम पर्वतः ।
एते वै पर्वता राजन् सिद्धचारणसेविताः ।। ५ ।।

उनके नाम इस प्रकार हैं—हिमवान्, हेमकूट, पर्वतश्रेष्ठ निषध, वैदूर्यमणिमय नीलगिरि, चन्द्रमाके समान उज्ज्वल श्वेतगिरि तथा सब धातुओंसे सम्पन्न होकर विचित्र शोभा धारण

करनेवाला शृंगवान् पर्वत। राजन्! ये छः पर्वत सिद्धों तथा चारणोंके निवास स्थान हैं ।। ४-५ ।।

एषामन्तरविष्कम्भो योजनानि सहस्रशः ।
तत्र पुण्या जनपदास्तानि वर्षाणि भारत ।। ६ ।।

भरतनन्दन! इनके बीचका विस्तार सहस्रों योजन है। वहाँ भिन्न-भिन्न वर्ष (खण्ड) हैं और उनमें बहुत-से पवित्र जनपद हैं ।। ६ ।।

वसन्ति तेषु सत्त्वानि नानाजातीनि सर्वशः ।
इदं तु भारतं वर्षं ततो हैमवतं परम् ।। ७ ।।

उनमें सब ओर नाना जातियोंके प्राणी निवास करते हैं, उनमेंसे यह भारतवर्ष है। इसके बाद हिमालयसे उत्तर हैमवतवर्ष है ।। ७ ।।

हेमकूटात् परं चैव हरिवर्षं प्रचक्षते ।
दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु ।। ८ ।।
प्रागायतो महाभाग माल्यवान् नाम पर्वतः ।
ततः परं माल्यवतः पर्वतो गन्धमादनः ।। ९ ।।

हेमकूट पर्वतसे आगे हरिवर्षकी स्थिति बतायी जाती है। महाभाग! नीलगिरिके दक्षिण और निषधपर्वतके उत्तर पूर्वसे पश्चिमकी ओर फैला हुआ माल्यवान् नामक पर्वत है। माल्यवान्से आगे गन्धमादन पर्वत है ।। ८-९ ।।

परिमण्डलस्तयोर्मध्ये मेरुः कनकपर्वतः ।
आदित्यतरुणाभासो विधूम इव पावकः ।। १० ।।

इन दोनोंके बीचमें मण्डलाकार सुवर्णमय मेरुपर्वत है, जो प्रातःकालके सूर्यके समान प्रकाशमान तथा धूमरहित अग्निके समान कान्तिमान् है ।। १० ।।

योजनानां सहस्राणि चतुरशीतिरुच्छ्रितः ।
अधस्ताच्चतुरशीतिर्योजनानां महीपते ।। ११ ।।

उसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है। राजन्! वह नीचे भी चौरासी हजार योजनतक पृथ्वीके भीतर घुसा हुआ है ।। ११ ।।

ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् च लोकानावृत्य तिष्ठति ।
तस्य पार्श्वेष्वमी द्वीपाश्चत्वारः संस्थिता विभो ।। १२ ।।

प्रभो! मेरुपर्वत ऊपर-नीचे तथा अगल-बगल सम्पूर्ण लोकोंको आवृत करके खड़ा है। उसके पार्श्वभागमें ये चार द्वीप बसे हुए हैं ।। १२ ।।

भद्राश्वः केतुमालश्च जम्बूद्वीपश्च भारत ।
उत्तराश्चैव कुरवः कृतपुण्यप्रतिश्रयाः ।। १३ ।।

भारत! उनके नाम ये हैं—भद्राश्व, केतुमाल, जम्बूद्वीप तथा उत्तरकुरु। उत्तरकुरु द्वीपमें पुण्यात्मा पुरुषोंका निवास है ।। १३ ।।

विहगः सुमुखो यस्तु सुपर्णस्यात्मजः किल ।
स वै विचिन्तयामास सौवर्णान् वीक्ष्य वायसान् ।। १४ ।।
मेरुरुत्तममध्यानामधमानां च पक्षिणाम् ।
अविशेषकरो यस्मात् तस्मादेनं त्यजाम्यहम् ।। १५ ।।

एक समय पक्षिराज गरुड़के पुत्र सुमुखने मेरु-पर्वतपर सुनहरे शरीरवाले कौवोंको देखकर सोचा कि यह सुमेरुपर्वत उत्तम, मध्यम तथा अधम पक्षियोंमें कुछ भी अन्तर नहीं रहने देता है। इसलिये मैं इसको त्याग दूँगा। ऐसा विचार करके वे वहाँसे अन्यत्र चले गये ।। १४-१५ ।।

तमादित्योऽनुपर्येति सततं ज्योतिषां वरः ।
चन्द्रमाश्च सनक्षत्रो वायुश्चैव प्रदक्षिणः ।। १६ ।।

ज्योतिर्मय ग्रहोंमें सर्वश्रेष्ठ सूर्यदेव, नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा तथा वायुदेव भी प्रदक्षिणक्रमसे सदा मेरुगिरिकी परिक्रमा करते रहते हैं ।। १६ ।।

स पर्वतो महाराज दिव्यपुष्पफलान्वितः ।
भवनैरावृतः सर्वैर्जाम्बूनदपरिष्कृतैः ।। १७ ।।

महाराज! वह पर्वत दिव्य पुष्पों और फलोंसे सम्पन्न है। वहाँके सभी भवन जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित हैं। उनसे घिरे हुए उस पर्वतकी बड़ी शोभा होती है ।। १७ ।।

तत्र देवगणा राजन् गन्धर्वासुरराक्षसाः ।
अप्सरोगणसंयुक्ताः शैले क्रीडन्ति सर्वदा ।। १८ ।।

राजन्! उस पर्वतपर देवता, गन्धर्व, असुर, राक्षस तथा अप्सराएँ सदा क्रीड़ा करती रहती हैं ।। १८ ।।

तत्र ब्रह्मा च रुद्रश्च शक्रश्चापि सुरेश्वरः ।
समेत्य विविधैर्यज्ञैर्यजन्तेऽनेकदक्षिणैः ।। १९ ।।

वहाँ ब्रह्मा, रुद्र तथा देवराज इन्द्र एकत्र हो पर्याप्त दक्षिणावाले नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं ।। १९ ।।

तुम्बुरुर्नारदश्चैव विश्वावसुर्हहा हुहूः ।
अभिगम्यामरश्रेष्ठांस्तुष्टुवुर्विविधैः स्तवैः ।। २० ।।

उस समय तुम्बुरु, नारद, विश्वावसु, हाहा और हुहू नामक गन्धर्व उन देवेश्वरोंके पास जाकर भाँति-भाँतिके स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करते हैं ।। २० ।।

सप्तर्षयो महात्मानः कश्यपश्च प्रजापतिः ।
तत्र गच्छन्ति भद्रं ते सदा पर्वणि पर्वणि ।। २१ ।।

राजन्! आपका कल्याण हो। वहाँ महात्मा सप्तर्षिगण तथा प्रजापति कश्यप प्रत्येक पर्वपर सदा पधारते हैं ।। २१ ।।

तस्यैव मूर्धन्युशनाः काव्यो दैत्यैर्महीपते ।

इमानि तस्य रत्नानि तस्येमे रत्नपर्वताः ।। २२ ।।

भूपाल! उस मेरुपर्वतके ही शिखरपर दैत्योंके साथ शुक्राचार्य निवास करते हैं। ये सब रत्न तथा ये रत्नमय पर्वत शुक्राचार्यके ही अधिकारमें हैं ।। २२ ।।

तस्मात् कुबेरो भगवांश्चतुर्थं भागमश्नुते ।
ततः कलांशं वित्तस्य मनुष्येभ्यः प्रयच्छति ।। २३ ।।

भगवान् कुबेर उन्हींसे धनका चतुर्थ भाग प्राप्त करके उसका उपभोग करते हैं और उस धनका सोलहवाँ भाग मनुष्योंको देते हैं ।। २३ ।।

पार्श्वे तस्योत्तरे दिव्यं सर्वर्तुकुसुमैश्चितम् ।
कर्णिकारवनं रम्यं शिलाजालसमुद्गतम् ।। २४ ।।

सुमेरुपर्वतके उत्तर भागमें समस्त ऋतुओंके फूलोंसे भरा हुआ दिव्य एवं रमणीय कर्णिकार (कनेर वृक्षोंका) वन है, जहाँ शिलाओंके समूह संचित हैं ।। २४ ।।

तत्र साक्षात् पशुपतिर्दिव्यैर्भूतैः समावृतः ।
उमासहायो भगवान् रमते भूतभावनः ।। २५ ।।
कर्णिकारमयीं मालां बिभ्रत्पादावलम्बिनीम् ।
त्रिभिर्नेत्रैः कृतोद्योतस्त्रिभिः सूर्यैरिवोदितैः ।। २६ ।।

वहाँ दिव्य भूतोंसे घिरे हुए साक्षात् भूतभावन भगवान् पशुपति पैरोंतक लटकनेवाली कनेरके फूलोंकी दिव्य माला धारण किये भगवती उमाके साथ विहार करते हैं। वे अपने तीनों नेत्रोंद्वारा ऐसा प्रकाश फैलाते हैं, मानो तीन सूर्य उदित हुए हों ।। २५-२६ ।।

तमुग्रतपसः सिद्धाः सुव्रताः सत्यवादिनः ।
पश्यन्ति न हि दुर्वृत्तैः शक्यो द्रष्टुं महेश्वरः ।। २७ ।।

उग्र तपस्वी एवं उत्तम व्रतोंका पालन करनेवाले सत्यवादी सिद्ध पुरुष ही वहाँ उनका दर्शन करते हैं। दुराचारी लोगोंको भगवान् महेश्वरका दर्शन नहीं हो सकता ।। २७ ।।

तस्य शैलस्य शिखरात् क्षीरधारा नरेश्वर ।
विश्वरूपापरिमिता भीमनिर्घातनिःस्वना ।। २८ ।।
पुण्या पुण्यतमैर्जुष्टा गङ्गा भागीरथी शुभा ।
प्लवन्तीव प्रवेगेन ह्रदे चन्द्रमसः शुभे ।। २९ ।।

नरेश्वर! उस मेरुपर्वतके शिखरसे दुग्धके समान श्वेतधारवाली, विश्वरूपा, अपरिमित शक्तिशालिनी, भयंकर वज्रपातके समान शब्द करनेवाली, परम पुण्यात्मा पुरुषों-द्वारा सेवित, शुभस्वरूपा पुण्यमयी भागीरथी गंगा बड़े प्रबल वेगसे सुन्दर चन्द्रकुण्डमें गिरती हैं ।। २८-२९ ।।

तया ह्युत्पादितः पुण्यः स ह्रदः सागरोपमः ।
तां धारयामास तदा दुर्धरां पर्वतैरपि ।। ३० ।।
शतं वर्षसहस्राणां शिरसैव पिनाकधृक् ।

वह पवित्र कुण्ड स्वयं गंगाजीने ही प्रकट किया है, जो अपनी अगाध जलराशिके कारण समुद्रके समान शोभा पाता है। जिन्हें अपने ऊपर धारण करना पर्वतोंके लिये भी कठिन था, उन्हीं गंगाको पिनाकधारी भगवान् शिव एक लाख वर्षोंतक अपने मस्तकपर ही धारण किये रहे ।। ३०½ ।।

मेरोस्तु पश्चिमे पार्श्वे केतुमालो महीपते ।। ३१ ।।
जम्बूखण्डस्तु तत्रैव सुमहान् नन्दनोपमः ।
आयुर्दश सहस्राणि वर्षाणां तत्र भारत ।। ३२ ।।

राजन्! मेरुके पश्चिम भागमें केतुमाल द्वीप है, वहीं अत्यन्त विशाल जम्बूखण्ड नामक प्रदेश है, जो नन्दन-वनके समान मनोहर जान पड़ता है। भारत! वहाँके निवासियोंकी आयु दस हजार वर्षोंकी होती है ।। ३१-३२ ।।

सुवर्णवर्णाश्च नराः स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः ।
अनामया वीतशोका नित्यं मुदितमानसाः ।। ३३ ।।

वहाँके पुरुष सुवर्णके समान कान्तिमान् और स्त्रियाँ अप्सराओंके समान सुन्दरी होती हैं। उन्हें कभी रोग और शोक नहीं होते। उनका चित्त सदा प्रसन्न रहता है ।। ३३ ।।

जायन्ते मानवास्तत्र निष्टप्तकनकप्रभाः ।
गन्धमादनशृङ्गेषु कुबेरः सह राक्षसैः ।। ३४ ।।
संवृतोऽप्सरसां सङ्घैर्मोदते गुह्यकाधिपः ।

वहाँ तपाये हुए सुवर्णके समान गौर कान्तिवाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं। गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर गुह्यकोंके स्वामी कुबेर राक्षसोंके साथ रहते और अप्सराओं-के समुदायोंके साथ आमोद-प्रमोद करते हैं ।। ३४½ ।।

गन्धमादनपादेषु परेष्वपरगण्डिकाः ।। ३५ ।।
एकादश सहस्राणि वर्षाणां परमायुषः ।

गन्धमादनके अन्यान्य पार्श्ववर्ती पर्वतोंपर दूसरी-दूसरी नदियाँ हैं, जहाँ निवास करनेवाले लोगोंकी आयु ग्यारह हजार वर्षोंकी होती है ।। ३५½ ।।

तत्र हृष्टा नरा राजंस्तेजोयुक्ता महाबलाः ।
स्त्रियश्चोत्पलवर्णाभाः सर्वाः सुप्रियदर्शनाः ।। ३६ ।।

राजन्! वहाँके पुरुष हृष्ट-पुष्ट, तेजस्वी और महाबली होते हैं तथा सभी स्त्रियाँ कमलके समान कान्तिमती और देखनेमें अत्यन्त मनोरम होती हैं ।। ३६ ।।

नीलात् परतरं श्वेतं श्वेताद्धैरण्यकं परम् ।
वर्षमैरावतं राजन् नानाजनपदावृतम् ।। ३७ ।।

नील पर्वतसे उत्तर श्वेतवर्ष और श्वेतवर्षसे उत्तर हिरण्यकवर्ष है। तत्पश्चात् शृंगवान् पर्वतसे आगे ऐरावत नामक वर्ष है। राजन्! वह अनेकानेक जनपदोंसे भरा हुआ है ।। ३७ ।।

धनुःसंस्थे महाराज द्वे वर्षे दक्षिणोत्तरे ।
इलावृतं मध्यमं तु पञ्च वर्षाणि चैव हि ।। ३८ ।।

महाराज! दक्षिण और उत्तरके क्रमशः भारत और ऐरावत नामक दो वर्ष धनुषकी दो कोटियोंके समान स्थित हैं और बीचमें पाँच वर्ष (श्वेत, हिरण्यक, इलावृत, हरिवर्ष तथा हैमवत) हैं। इन सबके बीचमें इलावृतवर्ष है ।। ३८ ।।

उत्तरोत्तरमेतेभ्यो वर्षमुद्रिच्यते गुणैः ।
आयुःप्रमाणमारोग्यं धर्मतः कामतोऽर्थतः ।। ३९ ।।

भारतसे आरम्भ करके ये सभी वर्ष आयुके प्रमाण, आरोग्य, धर्म, अर्थ और काम—इन सभी दृष्टियोंसे गुणोंमें उत्तरोत्तर बढ़ते गये हैं ।। ३९ ।।

समन्वितानि भूतानि तेषु वर्षेषु भारत ।
एवमेषा महाराज पर्वतैः पृथिवी चिता ।। ४० ।।

भारत! इन सब वर्षोंमें निवास करनेवाले प्राणी परस्पर मिल-जुलकर रहते हैं। महाराज! इस प्रकार यह सारी पृथ्वी पर्वतोंद्वारा स्थिर की गयी है ।। ४० ।।

हेमकूटस्तु सुमहान् कैलासो नाम पर्वतः ।
यत्र वैश्रवणो राजन् गुह्यकैः सह मोदते ।। ४१ ।।

राजन्! विशाल पर्वत हेमकूट ही कैलास नामसे प्रसिद्ध है। जहाँ कुबेर गुह्यकोंके साथ सानन्द निवास करते हैं ।। ४१ ।।

अस्त्युत्तरेण कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ।
हिरण्यशृङ्गः सुमहान् दिव्यो मणिमयो गिरिः ।। ४२ ।।

कैलाससे उत्तर मैनाक है और उससे भी उत्तर दिव्य तथा महान् मणिमय पर्वत हिरण्यशृंग है ।। ४२ ।।

तस्य पार्श्वे महद् दिव्यं शुभ्रं काञ्चनवालुकम् ।
रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ।। ४३ ।।
द्रष्टुं भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः ।

उसीके पास विशाल, दिव्य, उज्ज्वल तथा कांचनमयी बालुकासे सुशोभित रमणीय बिन्दुसरोवर है, जहाँ राजा भगीरथने भागीरथी गंगाका दर्शन करनेके लिये बहुत वर्षोंतक निवास किया था ।। ४३½ ।।

यूपा मणिमयास्तत्र चैत्याश्चापि हिरण्मयाः ।। ४४ ।।
तत्रेष्ट्वा तु गतः सिद्धिं सहस्राक्षो महायशाः ।

वहाँ बहुत-से मणिमय यूप तथा सुवर्णमय चैत्य (महल) शोभा पाते हैं। वहीं यज्ञ करके महायशस्वी इन्द्रने सिद्धि प्राप्त की थी ।। ४४½ ।।

स्रष्टा भूतपतिर्यत्र सर्वलोकैः सनातनः ।। ४५ ।।
उपास्यते तिग्मतेजा यत्र भूतैः समन्ततः ।

नरनारायणौ ब्रह्मा मनुः स्थाणुश्च पञ्चमः ।। ४६ ।।

उसी स्थानपर सब ओर सम्पूर्ण जगत्के लोग लोकस्रष्टा प्रचण्ड तेजस्वी सनातन भगवान् भूतनाथकी उपासना करते हैं। नर, नारायण, ब्रह्मा, मनु और पाँचवें भगवान् शिव वहाँ सदा स्थित रहते हैं ।। ४५-४६ ।।

तत्र दिव्या त्रिपथगा प्रथमं तु प्रतिष्ठिता ।
ब्रह्मलोकादपक्रान्ता सप्तधा प्रतिपद्यते ।। ४७ ।।

ब्रह्मलोकसे उतरकर त्रिपथगामिनी दिव्य नदी गंगा पहले उस बिन्दुसरोवरमें ही प्रतिष्ठित हुई थीं। वहींसे उनकी सात धाराएँ विभक्त हुई हैं ।। ४७ ।।

वस्वोकसारा नलिनी पावनी च सरस्वती ।
जम्बूनदी च सीता च गङ्गा सिन्धुश्च सप्तमी ।। ४८ ।।

उन धाराओंके नाम इस प्रकार हैं—वस्वोकसारा, नलिनी, पावनी सरस्वती, जम्बूनदी, सीता, गंगा और सिंधु ।। ४८ ।।

अचिन्त्या दिव्यसंकाशा प्रभोरेषैव संविधिः ।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये ।। ४९ ।।

यह (सात धाराओंका प्रादुर्भाव जगत्के उपकारके लिये) भगवान्का ही अचिन्त्य एवं दिव्य सुन्दर विधान है। जहाँ लोग कल्पके अन्ततक यज्ञानुष्ठानके द्वारा परमात्माकी उपासना करते हैं ।। ४९ ।।

दृश्यादृश्या च भवति तत्र तत्र सरस्वती ।
एता दिव्याः सप्तगङ्गास्त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ।। ५० ।।

इन सात धाराओंमें जो सरस्वती नामवाली धारा है, वह कहीं प्रत्यक्ष दिखायी देती है और कहीं अदृश्य हो जाती है। ये सात दिव्य गंगाएँ तीनों लोकोंमें विख्यात हैं ।। ५० ।।

रक्षांसि वै हिमवति हेमकूटे तु गुह्यकाः ।
सर्पा नागाश्च निषधे गोकर्णं च तपोवनम् ।। ५१ ।।

हिमालयपर राक्षस, हेमकूटपर गुह्यक तथा निषधपर्वतपर सर्प और नाग निवास करते हैं। गोकर्ण तो तपोवन है ।। ५१ ।।

देवासुराणां सर्वेषां श्वेतपर्वत उच्यते ।
गन्धर्वा निषधे नित्यं नीले ब्रह्मर्षयस्तथा ।
शृङ्गवांस्तु महाराज देवानां प्रतिसंचरः ।। ५२ ।।

श्वेतपर्वत सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंका निवासस्थान बताया जाता है। निषधगिरिपर गन्धर्व तथा नीलगिरिपर ब्रह्मर्षि निवास करते हैं। महाराज! शृंगवान् पर्वत तो केवल देवताओंकी ही विहारस्थली है ।। ५२ ।।

इत्येतानि महाराज सप्त वर्षाणि भागशः ।
भूतान्युपनिविष्टानि गतिमन्ति ध्रुवाणि च ।। ५३ ।।

राजेन्द्र! इस प्रकार स्थावर और जंगम सम्पूर्ण प्राणी इन सात वर्षोंमें विभागपूर्वक स्थित हैं ।। ५३ ।।

तेषामृद्धिर्बहुविधा दृश्यते दैवमानुषी ।
अशक्या परिसंख्यातुं श्रद्धेया तु बुभूषता ।। ५४ ।।

उनकी अनेक प्रकारकी दैवी और मानुषी समृद्धि देखी जाती है। उसकी गणना असम्भव है। कल्याणकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको उस समृद्धिपर विश्वास करना चाहिये ।। ५४ ।।

(स वै सुदर्शनद्वीपो दृश्यते शशवद् द्विधा ।)
यां तु पृच्छसि मां राजन् दिव्यामेतां शशाकृतिम् ।
पार्श्वे शशस्य द्वे वर्षे उक्ते ये दक्षिणोत्तरे ।
कर्णौ तु नागद्वीपश्च काश्यपद्वीप एव च ।। ५५ ।।

इस प्रकार वह सुदर्शनद्वीप बताया गया है, जो दो भागोंमें विभक्त होकर चन्द्रमण्डलमें प्रतिबिम्बित हो खरगोशकी-सी आकृतिमें दृष्टिगोचर होता है। राजन्! आपने जो मुझसे इस शशाकृति (खरगोशकी-सी आकृति)-के विषयमें प्रश्न किया है उसका वर्णन करता हूँ, सुनिये। पहले जो दक्षिण और उत्तरमें स्थित (भारत और ऐरावत नामक) दो द्वीप बताये गये हैं, वे ही दोनों उस शश (खरगोश)-के दो पार्श्वभाग हैं। नागद्वीप तथा काश्यपद्वीप उसके दोनों कान हैं ।। ५५ ।।

ताम्रपर्णः शिरो राजञ्छ्रीमान् मलयपर्वतः ।
एतद् द्वितीयं द्वीपस्य दृश्यते शशसंस्थितम् ।। ५६ ।।

राजन्! ताम्रवर्णके वृक्षों और पत्रोंसे सुशोभित श्रीमान् मलयपर्वत ही इसका सिर है। इस प्रकार यह सुदर्शनद्वीपका दूसरा भाग खरगोशके आकारमें दृष्टिगोचर होता है ।। ५६ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भूम्यादिपरिमाणविवरणे षष्ठोऽध्यायः ।। ६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भूमि आदि परिमाणका विवरणविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ।। ६ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १/२ श्लोक मिलाकर कुल ५६ १/२ श्लोक हैं।]

सप्तमोऽध्यायः

उत्तर कुरु, भद्राश्ववर्ष तथा माल्यवान्‌का वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

मेरोरथोत्तरं पार्श्वं पूर्वं चाचक्ष्व संजय।
निखिलेन महाबुद्धे माल्यवन्तं च पर्वतम्॥ १॥

धृतराष्ट्रने कहा—परमबुद्धिमान् संजय! तुम मेरुके उत्तर तथा पूर्वभागमें जो कुछ है, उसका पूर्ण रूपसे वर्णन करो। साथ ही माल्यवान् पर्वतके विषयमें भी जाननेयोग्य बातें बताओ॥ १॥

संजय उवाच

दक्षिणेन तु नीलस्य मेरोः पार्श्वे तथोत्तरे।
उत्तराः कुरवो राजन् पुण्याः सिद्धनिषेविताः॥ २॥

संजयने कहा—राजन्! नीलगिरिसे दक्षिण तथा मेरुपर्वतके उत्तरभागमें पवित्र उत्तर कुरुवर्ष है, जहाँ सिद्ध पुरुष निवास करते हैं॥ २॥

तत्र वृक्षा मधुफला नित्यपुष्पफलोपगाः।
पुष्पाणि च सुगन्धीनि रसवन्ति फलानि च॥ ३॥

वहाँके वृक्ष सदा पुष्प और फलसे सम्पन्न होते हैं और उनके फल बड़े मधुर एवं स्वादिष्ट होते हैं। उस देशके सभी पुष्प सुगन्धित और फल सरस होते हैं॥ ३॥

सर्वकामफलास्तत्र केचिद् वृक्षा जनाधिप।
अपरे क्षीरिणो नाम वृक्षास्तत्र नराधिप॥ ४॥
ये क्षरन्ति सदा क्षीरं षड्रसं चामृतोपमम्।
वस्त्राणि च प्रसूयन्ते फलेष्वाभरणानि च॥ ५॥

नरेश्वर! वहाँके कुछ वृक्ष ऐसे होते हैं, जो सम्पूर्ण मनोवांछित फलोंके दाता हैं। राजन्! दूसरे क्षीरी नामवाले वृक्ष हैं, जो सदा षड्विध रसोंसे युक्त एवं अमृतके समान स्वादिष्ट दुग्ध बहाते रहते हैं। उनके फलोंमें इच्छानुसार वस्त्र और आभूषण भी प्रकट होते हैं॥ ४-५॥

सर्वा मणिमयी भूमिः सूक्ष्मकाञ्चनवालुका।
सर्वर्तुसुखसंस्पर्शा निष्पङ्का च जनाधिप।
पुष्करिण्यः शुभास्तत्र सुखस्पर्शा मनोरमाः॥ ६॥

जनेश्वर! वहाँकी सारी भूमि मणिमयी है। वहाँ जो सूक्ष्म बालूके कण हैं, वे सब सुवर्णमय हैं। उस भूमिपर कीचड़का कहीं नाम भी नहीं है। उसका स्पर्श सभी ऋतुओंमें

सुखदायक होता है। वहाँके सुन्दर सरोवर अत्यन्त मनोरम होते हैं। उनका स्पर्श सुखद जान पड़ता है ।। ६ ।।

देवलोकच्युताः सर्वे जायन्ते तत्र मानवाः ।
शुक्लाभिजनसम्पन्नाः सर्वे सुप्रियदर्शनाः ।। ७ ।।

वहाँ देवलोकसे भूतलपर आये हुए समस्त पुण्यात्मा मनुष्य ही जन्म ग्रहण करते हैं। ये सभी उत्तम कुलसे सम्पन्न और देखनेमें अत्यन्त प्रिय होते हैं ।। ७ ।।

मिथुनानि च जायन्ते स्त्रियश्चाप्सरसोपमाः ।
तेषां ते क्षीरिणां क्षीरं पिबन्त्यमृतसंनिभम् ।। ८ ।।

वहाँ स्त्री-पुरुषोंके जोड़े भी उत्पन्न होते हैं। स्त्रियाँ अप्सराओंके समान सुन्दरी होती हैं। उत्तरकुरुके निवासी क्षीरी वृक्षोंके अमृततुल्य दूध पीते हैं ।। ८ ।।

मिथुनं जायते काले समं तच्च प्रवर्धते ।
तुल्यरूपगुणोपेतं समवेषं तथैव च ।। ९ ।।

वहाँ स्त्री-पुरुषोंके जोड़े एक ही साथ उत्पन्न होते और साथ-साथ बढ़ते हैं। उनके रूप, गुण और वेष सब एक-से होते हैं ।। ९ ।।

एकैकमनुरक्तं च चक्रवाकसमं विभो ।
निरामयाश्च ते लोका नित्यं मुदितमानसाः ।। १० ।।

प्रभो! वे चकवा-चकवीके समान सदा एक-दूसरेके अनुकूल बने रहते हैं। उत्तरकुरुके लोग सदा नीरोग और प्रसन्नचित्त रहते हैं ।। १० ।।

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
जीवन्ति ते महाराज न चान्योन्यं जहत्युत ।। ११ ।।

महाराज! वे ग्यारह हजार वर्षोंतक जीवित रहते हैं। एक-दूसरेका कभी त्याग नहीं करते ।। ११ ।।

भारुण्डा नाम शकुनास्तीक्ष्णतुण्डा महाबलाः ।
तान् निर्हरन्तीह मृतान् दरीषु प्रक्षिपन्ति च ।। १२ ।।

वहाँ भारुण्ड नामके महाबली पक्षी हैं, जिनकी चोंचें बड़ी तीखी होती हैं। वे वहाँके मरे हुए लोगों-की लाशें उठाकर ले जाते और कन्दराओंमें फेंक देते हैं ।। १२ ।।

उत्तराः कुरवो राजन् व्याख्यातास्ते समासतः ।
मेरोः पार्श्वमहं पूर्वं वक्ष्याम्यथ यथातथम् ।। १३ ।।

राजन्! इस प्रकार मैंने आपसे थोड़ेमें उत्तरकुरु-वर्षका वर्णन किया। अब मैं मेरुके पूर्वभागमें स्थित भद्राश्ववर्षका यथावत् वर्णन करूँगा ।। १३ ।।

तस्य मूर्धाभिषेकस्तु भद्राश्वस्य विशाम्पते ।
भद्रसालवनं यत्र कालाम्रश्च महाद्रुमः ।। १४ ।।

प्रजानाथ! भद्राश्ववर्षके शिखरपर भद्रशाल नामका एक वन है एवं वहाँ कालाम्र नामक महान् वृक्ष भी है ।। १४ ।।

कालाम्रस्तु महाराज नित्यपुष्पफलः शुभः ।
द्रुमश्च योजनोत्सेधः सिद्धचारणसेवितः ।। १५ ।।

महाराज! कालाम्रवृक्ष बहुत ही सुन्दर और एक योजन ऊँचा है। उसमें सदा फूल और फल लगे रहते हैं। सिद्ध और चारण पुरुष उसका सदा सेवन करते हैं ।। १५ ।।

तत्र ते पुरुषाः श्वेतास्तेजोयुक्ता महाबलाः ।
स्त्रियः कुमुदवर्णाश्च सुन्दर्यः प्रियदर्शनाः ।। १६ ।।

वहाँके पुरुष श्वेतवर्णके होते हैं। वे तेजस्वी और महान् बलवान् हुआ करते हैं। वहाँकी स्त्रियाँ कुमुद-पुष्पके समान गौरवर्णवाली, सुन्दरी तथा देखनेमें प्रिय होती हैं ।। १६ ।।

चन्द्रप्रभाश्चन्द्रवर्णाः पूर्णचन्द्रनिभाननाः ।
चन्द्रशीतलगात्र्यश्च नृत्यगीतविशारदाः ।। १७ ।।

उनकी अंगकान्ति एवं वर्ण चन्द्रमाके समान है। उनके मुख पूर्णचन्द्रके समान मनोहर होते हैं। उनका एक-एक अंग चन्द्ररश्मियोंके समान शीतल प्रतीत होता है। वे नृत्य और गीतकी कलामें कुशल होती हैं ।। १७ ।।

दश वर्षसहस्राणि तत्रायुर्भरतर्षभ ।
कालाम्ररसपीतास्ते नित्यं संस्थितयौवनाः ।। १८ ।।

भरतश्रेष्ठ! वहाँके लोगोंकी आयु दस हजार वर्षकी होती है। वे कालाम्रवृक्षका रस पीकर सदा जवान बने रहते हैं ।। १८ ।।

दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु ।
सुदर्शनो नाम महाञ्जम्बूवृक्षः सनातनः ।। १९ ।।

नीलगिरिके दक्षिण और निषधके उत्तर सुदर्शन नामक एक विशाल जामुनका वृक्ष है, जो सदा स्थिर रहनेवाला है ।। १९ ।।

सर्वकामफलः पुण्यः सिद्धचारणसेवितः ।
तस्य नाम्ना समाख्यातो जम्बूद्वीपः सनातनः ।। २० ।।

वह समस्त मनोवांछित फलोंको देनेवाला, पवित्र तथा सिद्धों और चारणोंका आश्रय है। उसीके नामपर यह सनातन प्रदेश जम्बूद्वीपके नामसे विख्यात है ।। २० ।।

योजनानां सहस्रं च शतं च भरतर्षभ ।
उत्सेधो वृक्षराजस्य दिवस्पृङ्मनुजेश्वर ।। २१ ।।

भरतश्रेष्ठ! मनुजेश्वर! उस वृक्षराजकी ऊँचाई ग्यारह सौ योजन है। वह (ऊँचाई) स्वर्गलोकको स्पर्श करती हुई-सी प्रतीत होती है ।। २१ ।।

अरत्नीनां सहस्रं च शतानि दश पञ्च च ।
परिणाहस्तु वृक्षस्य फलानां रसभेदिनाम् ।। २२ ।।

उसके फलोंमें जब रस आ जाता है अर्थात् जब वे पक जाते हैं, तब अपने-आप टूटकर गिर जाते हैं। उन फलोंकी लंबाई ढाई हजार अरत्नि* मानी गयी है ।। २२ ।।

पतमानानि तान्युर्वीं कुर्वन्ति विपुलं स्वनम् ।
मुञ्चन्ति च रसं राजंस्तस्मिन् रजतसंनिभम् ।। २३ ।।

राजन्! वे फल इस पृथ्वीपर गिरते समय भारी धमाकेकी आवाज करते हैं और उस भूतलपर सुवर्णसदृश रस बहाया करते हैं ।। २३ ।।

तस्या जम्ब्वाः फलरसो नदी भूत्वा जनाधिप ।
मेरुं प्रदक्षिणं कृत्वा सम्प्रयात्युत्तरान् कुरून् ।। २४ ।।

जनेश्वर! उस जम्बूके फलोंका रस नदीके रूपमें परिणत होकर मेरुगिरिकी प्रदक्षिणा करता हुआ उत्तर-कुरुवर्षमें पहुँच जाता है ।। २४ ।।

तत्र तेषां मनःशान्तिर्न पिपासा जनाधिप ।
तस्मिन् फलरसे पीते न जरा बाधते च तान् ।। २५ ।।

राजन्! फलोंके उस रसका पान कर लेनेपर वहाँके निवासियोंके मनमें पूर्ण शान्ति और प्रसन्नता रहती है। उन्हें पिपासा अथवा वृद्धावस्था कभी नहीं सताती है ।। २५ ।।

तत्र जाम्बूनदं नाम कनकं देवभूषणम् ।
इन्द्रगोपकसंकाशं जायते भास्वरं तु तत् ।। २६ ।।

उस जम्बू नदीसे जाम्बूनद नामक सुवर्ण प्रकट होता है, जो देवताओंका आभूषण है। वह इन्द्रगोपके समान लाल और अत्यन्त चमकीला होता है ।। २६ ।।

तरुणादित्यवर्णाश्च जायन्ते तत्र मानवाः ।
तथा माल्यवतः शृङ्गे दृश्यते हव्यवाट् सदा ।। २७ ।।

वहाँके लोग प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिमान् होते हैं। माल्यवान् पर्वतके शिखरपर सदा अग्निदेव प्रज्वलित दिखायी देते हैं ।। २७ ।।

नाम्ना संवर्तको नाम कालाग्निर्भरतर्षभ ।
तथा माल्यवतः शृङ्गे पूर्वपूर्वानुगण्डिका ।। २८ ।।

भरतश्रेष्ठ! वे वहाँ संवर्तक एवं कालाग्निके नामसे प्रसिद्ध हैं। माल्यवान्‌के शिखरपर पूर्व-पूर्वकी ओर नदी प्रवाहित होती है ।। २८ ।।

योजनानां सहस्राणि पञ्चषण्माल्यवानथ ।
महारजतसंकाशा जायन्ते तत्र मानवाः ।। २९ ।।

माल्यवान्‌का विस्तार पाँच-छः हजार योजन है। वहाँ सुवर्णके समान कान्तिमान् मानव उत्पन्न होते हैं ।। २९ ।।

ब्रह्मलोकच्युताः सर्वे सर्वे सर्वेषु साधवः ।
तपस्तप्यन्ति ते तीव्रं भवन्ति ह्यूर्ध्वरेतसः ।
रक्षणार्थं तु भूतानां प्रविशन्ते दिवाकरम् ।। ३० ।।

वे सब लोग ब्रह्मलोकसे नीचे आये हुए पुण्यात्मा मनुष्य हैं। उन सबका सबके प्रति साधुतापूर्ण बर्ताव होता है। वे ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) होते और कठोर तपस्या करते हैं। फिर समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये सूर्यलोकमें प्रवेश कर जाते हैं ।। ३० ।।

षष्टिस्तानि सहस्राणि षष्टिमेव शतानि च ।
अरुणस्याग्रतो यान्ति परिवार्य दिवाकरम् ।। ३१ ।।

उनमेंसे छाछठ हजार मनुष्य भगवान् सूर्यको चारों ओरसे घेरकर अरुणके आगे-आगे चलते हैं ।। ३१ ।।

षष्टिं वर्षसहस्राणि षष्टिमेव शतानि च ।
आदित्यतापतप्तास्ते विशन्ति शशिमण्डलम् ।। ३२ ।।

वे छाछठ हजार वर्षोंतक ही सूर्यदेवके तापमें तपकर अन्तमें चन्द्रमण्डलमें प्रवेश कर जाते हैं ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि माल्यवद्वर्णने सप्तमोऽध्यायः ।। ७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें माल्यवान्का वर्णनविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७ ।।

---

* पहुचीसे लेकर कनिष्ठिका अंगुलिके मूलभागतक एक मुट्ठीकी लंबाईको ‘अरत्नि’ कहते हैं।

अष्टमोऽध्यायः

रमणक, हिरण्यक, शृंगवान् पर्वत तथा ऐरावतवर्षका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

वर्षाणां चैव नामानि पर्वतानां च संजय ।
आचक्ष्व मे यथातत्त्वं ये च पर्वतवासिनः ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! तुम सभी वर्षों और पर्वतोंके नाम बताओ और जो उन पर्वतोंपर निवास करनेवाले हैं उनकी स्थितिका भी यथावत् वर्णन करो ।। १ ।।

संजय उवाच

दक्षिणेन तु श्वेतस्य निषधस्योत्तरेण तु ।
वर्षं रमणकं नाम जायन्ते तत्र मानवाः ।। २ ।।
शुक्लाभिजनसम्पन्नाः सर्वे सुप्रियदर्शनाः ।
निःसपत्नाश्च ते सर्वे जायन्ते तत्र मानवाः ।। ३ ।।

संजय बोले—राजन्! श्वेतके दक्षिण और निषधके उत्तर रमणक नामक वर्ष है। वहाँ जो मनुष्य जन्म लेते हैं, वे उत्तम कुलसे युक्त और देखनेमें अत्यन्त प्रिय होते हैं। वहाँके सब मनुष्य शत्रुओंसे रहित होते हैं ।। २-३ ।।

दश वर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च ।
जीवन्ति ते महाराज नित्यं मुदितमानसाः ।। ४ ।।

महाराज! रमणकवर्षके मनुष्य सदा प्रसन्नचित्त होकर साढ़े ग्यारह हजार वर्षोंतक जीवित रहते हैं ।। ४ ।।

दक्षिणेन तु नीलस्य निषधस्योत्तरेण तु ।
वर्षं हिरण्मयं नाम यत्र हैरण्वती नदी ।। ५ ।।

नीलके दक्षिण और निषधके उत्तर हिरण्मयवर्ष है, जहाँ हैरण्यवती नदी बहती है ।। ५ ।।

यत्र चायं महाराज पक्षिराट् पतगोत्तमः ।
यक्षानुगा महाराज धनिनः प्रियदर्शनाः ।। ६ ।।
महाबलास्तत्र जना राजन् मुदितमानसाः ।

महाराज! वहीं विहंगोंमें उत्तम पक्षिराज गरुड़ निवास करते हैं। वहाँके सब मनुष्य यक्षोंकी उपासना करनेवाले, धनवान्, प्रियदर्शन, महाबली तथा प्रसन्नचित्त होते हैं ।। ६½ ।।

एकादश सहस्राणि वर्षाणां ते जनाधिप ।। ७ ।।

आयुःप्रमाणं जीवन्ति शतानि दश पञ्च च ।

जनेश्वर! वहाँके लोग साढ़े बारह हजार वर्षोंकी आयुतक जीवित रहते हैं ।। ७½ ।।

शृङ्गाणि च विचित्राणि त्रीण्येव मनुजाधिप ।। ८ ।।
एकं मणिमयं तत्र तथैकं रौक्ममद्भुतम् ।
सर्वरत्नमयं चैकं भवनैरुपशोभितम् ।। ९ ।।

मनुजेश्वर! वहाँ शृंगवान् पर्वतके तीन ही विचित्र शिखर हैं। उनमेंसे एक मणिमय है, दूसरा अद्भुत सुवर्णमय है तथा तीसरा अनेक भवनोंसे सुशोभित एवं सर्वरत्नमय है ।। ८-९ ।।

तत्र स्वयंप्रभा देवी नित्यं वसति शाण्डिली ।
उत्तरेण तु शृङ्गस्य समुद्रान्ते जनाधिप ।। १० ।।
वर्षमैरावतं नाम तस्माच्छृङ्गमतः परम् ।
न तत्र सूर्यस्तपति न जीर्यन्ते च मानवाः ।। ११ ।।

वहाँ स्वयंप्रभा नामवाली शाण्डिली देवी नित्य निवास करती हैं। जनेश्वर! शृंगवान् पर्वतके उत्तर समुद्रके निकट ऐरावत नामक वर्ष है। अतः इन शिखरोंसे संयुक्त यह वर्ष अन्य वर्षोंकी अपेक्षा उत्तम है। वहाँ सूर्यदेव ताप नहीं देते हैं और न वहाँके मनुष्य बूढ़े ही होते हैं ।। १०-११ ।।

चन्द्रमाश्च सनक्षत्रो ज्योतिर्भूत इवावृतः ।
पद्मप्रभाः पद्मवर्णाः पद्मपत्रनिभेक्षणाः ।। १२ ।।

नक्षत्रोंसहित चन्द्रमा वहाँ ज्योतिर्मय होकर सब ओर व्याप्त-सा रहता है। वहाँके मनुष्य कमलकी-सी कान्ति तथा वर्णवाले होते हैं। उनके विशाल नेत्र कमलदलके समान सुशोभित होते हैं ।। १२ ।।

पद्मपत्रसुगन्धाश्च जायन्ते तत्र मानवाः ।
अनिष्यन्दा इष्टगन्धा निराहारा जितेन्द्रियाः ।। १३ ।।

वहाँके मनुष्योंके शरीरसे विकसित कमलदलोंके समान सुगन्ध प्रकट होती है। उनके शरीरसे पसीने नहीं निकलते। उनकी सुगन्ध प्रिय लगती है। वे आहार (भूख-प्याससे)-रहित और जितेन्द्रिय होते हैं ।। १३ ।।

देवलोकच्युताः सर्वे तथा विरजसो नृप ।
त्रयोदश सहस्राणि वर्षाणां ते जनाधिप ।। १४ ।।
आयुःप्रमाणं जीवन्ति नरा भरतसत्तम ।

वे सब-के-सब देवलोकसे च्युत (होकर वहाँ शेष पुण्यका उपभोग करते) हैं! उनमें रजोगुणका सर्वथा अभाव होता है। भरतभूषण जनेश्वर! वे तेरह हजार वर्षोंकी आयुतक जीवित रहते हैं ।। १४½ ।।

क्षीरोदस्य समुद्रस्य तथैवोत्तरतः प्रभुः ।

हरिर्वसति वैकुण्ठः शकटे कनकामये ।। १५ ।।
अष्टचक्रं हि तद् यानं भूतयुक्तं मनोजवम् ।
अग्निवर्णं महातेजो जाम्बूनदविभूषितम् ।। १६ ।।

क्षीरसागरके उत्तर तटपर भगवान् विष्णु निवास करते हैं, वे वहाँ सुवर्णमय रथपर विराजमान हैं। उस रथमें आठ पहिये लगे हैं। उसका वेग मनके समान है। वह समस्त भूतोंसे युक्त, अग्निके समान कान्तिमान्, परम तेजस्वी तथा जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित है ।। १५-१६ ।।

स प्रभुः सर्वभूतानां विभुश्च भरतर्षभ ।
संक्षेपो विस्तरश्चैव कर्ता कारयिता तथा ।। १७ ।।

भरतश्रेष्ठ! वे सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी भगवान् विष्णु ही समस्त प्राणियोंका संकोच और विस्तार करते हैं। वे ही करनेवाले और करानेवाले हैं ।। १७ ।।

पृथिव्यापस्तथाऽऽकाशं वायुस्तेजश्च पार्थिव ।
स यज्ञः सर्वभूतानामास्यं तस्य हुताशनः ।। १८ ।।

राजन्! पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश सब कुछ वे ही हैं। वे ही समस्त प्राणियोंके लिये यज्ञस्वरूप हैं। अग्नि उनका मुख है ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः संजयेन धृतराष्ट्रो महामनाः ।
ध्यानमन्वगमद् राजन् पुत्रान् प्रति जनाधिप ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! संजयके ऐसा कहनेपर महामना धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके लिये चिन्ता करने लगे ।। १९ ।।

स विचिन्त्य महातेजाः पुनरेवाब्रवीद् वचः ।
असंशयं सूतपुत्र कालः संक्षिपते जगत् ।। २० ।।

कुछ देरतक सोच-विचार करनेके पश्चात् महा-तेजस्वी धृतराष्ट्रने पुनः इस प्रकार कहा—'सूतपुत्र संजय! इसमें संदेह नहीं कि काल ही सम्पूर्ण जगत्का संहार करता है ।। २० ।।

सृजते च पुनः सर्वं विद्यते नेह शाश्वतम् ।
नरो नारायणश्चैव सर्वज्ञः सर्वभूतहृत् ।। २१ ।।
देवा वैकुण्ठमित्याहुर्नरा विष्णुमिति प्रभुम् ।। २२ ।।

'फिर वही सबकी सृष्टि करता है। यहाँ कुछ भी सदा स्थिर रहनेवाला नहीं है। भगवान् नर और नारायण समस्त प्राणियोंके सुहृद् एवं सर्वज्ञ हैं।
देवता उन्हें वैकुण्ठ और मनुष्य उन्हें शक्तिशाली विष्णु कहते हैं' ।। २१-२२ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि
धृतराष्ट्रवाक्येऽष्टमोऽध्यायः ।। ८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८ ।।

नवमोऽध्यायः

भारतवर्षकी नदियों, देशों तथा जनपदोंके नाम और भूमिका महत्त्व

धृतराष्ट्र उवाच

यदिदं भारतं वर्षं यत्रेदं मूर्च्छितं बलम् ।
यत्रातिमात्रलुब्धोऽयं पुत्रो दुर्योधनो मम ।। १ ।।
यत्र गृद्धाः पाण्डुपुत्रा यत्र मे सज्जते मनः ।
एतन्मे तत्त्वमाचक्ष्व त्वं हि मे बुद्धिमान् मतः ।। २ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! यह जो भारतवर्ष है, जिसमें यह राजाओंकी विशाल वाहिनी युद्धके लिये एकत्र हुई है, जहाँका साम्राज्य प्राप्त करनेके लिये मेरा पुत्र दुर्योधन ललचाया हुआ है, जिसे पानेके लिये पाण्डवोंके मनमें भी बड़ी इच्छा है तथा जिसके प्रति मेरा मन भी बहुत आसक्त है, उस भारतवर्षका तुम यथार्थरूपसे वर्णन करो; क्योंकि इस कार्यके लिये मेरी दृष्टिमें तुम्हीं सबसे अधिक बुद्धिमान् हो ।। १-२ ।।

संजय उवाच

न तत्र पाण्डवा गृद्धाः शृणु राजन् वचो मम ।
गृद्धो दुर्योधनस्तत्र शकुनिश्चापि सौबलः ।। ३ ।।

संजयने कहा—राजन्! आप मेरी बात सुनिये। पाण्डवोंको इस भारतवर्षके साम्राज्यका लोभ नहीं है। दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि ही उसके लिये बहुत लुभाये हुए हैं ।। ३ ।।

अपरे क्षत्रियाश्चैव नानाजनपदेश्वराः ।
ये गृद्धा भारते वर्षे न मृष्यन्ति परस्परम् ।। ४ ।।

विभिन्न जनपदोंके स्वामी जो दूसरे-दूसरे क्षत्रिय हैं, वे भी इस भारतवर्षके प्रति गृध्र-दृष्टि लगाये हुए एक-दूसरेके उत्कर्षको सहन नहीं कर पाते हैं ।। ४ ।।

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम् ।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ।। ५ ।।

भारत! अब मैं यहाँ आपसे उस भारतवर्षका वर्णन करूँगा, जो इन्द्रदेव और वैवस्वत मनुका प्रिय देश है ।। ५ ।।

पृथोस्तु राजन् वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः ।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च ।। ६ ।।
तथैव मुचुकुन्दस्य शिबेरौशीनरस्य च ।

ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा ।। ७ ।।
कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः ।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च ।। ८ ।।
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम् ।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम् ।। ९ ।।

राजन्! दुर्धर्ष महाराज! वेननन्दन पृथु, महात्मा इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द, उशीनरपुत्र शिबि, ऋषभ, इलानन्दन पुरूरवा, राजा नृग, कुशिक, महात्मा गाधि, सोमक, दिलीप तथा अन्य जो महाबली क्षत्रिय नरेश हुए हैं, उन सभीको भारतवर्ष बहुत प्रिय रहा है ।। ६—९ ।।

तत् ते वर्षं प्रवक्ष्यामि यथायथमरिंदम ।
शृणु मे गदतो राजन् यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।। १० ।।

शत्रुदमन नरेश! मैं उसी भारतवर्षका यथावत् वर्णन कर रहा हूँ। आप मुझसे जो कुछ पूछते या जानना चाहते हैं वह सब बताता हूँ, सुनिये ।। १० ।।

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षवानपि ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ।। ११ ।।

इस भारतवर्षमें महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्षवान्, विन्ध्य और पारियात्र—ये सात कुलपर्वत कहे गये हैं ।। ११ ।।

तेषां सहस्रशो राजन् पर्वतास्ते समीपतः ।
अविज्ञाताः सारवन्तो विपुलाश्चित्रसानवः ।। १२ ।।

राजन्! इनके आसपास और भी हजारों अविज्ञात पर्वत हैं, जो रत्न आदि सार वस्तुओंसे युक्त, विस्तृत और विचित्र शिखरोंसे सुशोभित हैं ।। १२ ।।

अन्ये ततोऽपरिज्ञाता ह्रस्वा ह्रस्वोपजीविनः ।
आर्या म्लेच्छाश्च कौरव्य तैर्मिश्राः पुरुषा विभो ।। १३ ।।
नदीं पिबन्ति विपुलां गङ्गां सिन्धुं सरस्वतीम् ।
गोदावरीं नर्मदां च बाहुदां च महानदीम् ।। १४ ।।
शतद्रूं चन्द्रभागां च यमुनां च महानदीम् ।
दृषद्वतीं विपाशां च विपापां स्थूलवालुकाम् ।। १५ ।।
नदीं वेत्रवतीं चैव कृष्णवेणां च निम्नगाम् ।
इरावतीं वितस्तां च पयोष्णीं देविकामपि ।। १६ ।।
वेदस्मृतां वेदवतीं त्रिदिवामिक्षुलां कृमिम् ।
करीषिणीं चित्रवाहां चित्रसेनां च निम्नगाम् ।। १७ ।।

इनसे भिन्न और भी छोटे-छोटे अपरिचित पर्वत हैं, जो छोटे-छोटे प्राणियोंके जीवन-निर्वाहका आश्रय बने हुए हैं। प्रभो! कुरुनन्दन! इस भारतवर्षमें आर्य, म्लेच्छ तथा संकर

जातिके मनुष्य निवास करते हैं। वे लोग यहाँकी जिन बड़ी-बड़ी नदियोंके जल पीते हैं, उनके नाम बताता हूँ, सुनिये। गंगा, सिन्धु, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, बाहुदा, महानदी, शतद्रू, चन्द्रभागा, महानदी यमुना, दृषद्वती, विपाशा, विपापा, स्थूलबालुका, वेत्रवती, कृष्णवेणा, इरावती, वितस्ता, पयोष्पी, देविका, वेदस्मृता, वेदवती, त्रिदिवा, इक्षुला, कृमि, करीषिणी, चित्रवाहा तथा चित्रसेना नदी ।। १३—१७ ।।

गोमतीं धूतपापां च वन्दनां च महानदीम् ।
कौशिकीं त्रिदिवां कृत्यां निचितां लोहितारणीम् ।। १८ ।।
रहस्यां शतकुम्भां च सरयूं च तथैव च ।
चर्मण्वतीं वेत्रवतीं हस्तिसोमां दिशं तथा ।। १९ ।।
शरावतीं पयोष्णीं च वेणां भीमरथीमपि ।
कावेरीं चुलुकां चापि वाणीं शतबलामपि ।। २० ।।

गोमती, धूतपापा, महानदी वन्दना, कौशिकी, त्रिदिवा, कृत्या, निचिता, लोहितारणी, रहस्या, शतकुम्भा, सरयू, चर्मण्वती, वेत्रवती, हस्तिसोमा, दिक्, शरावती, पयोष्णी, वेणा, भीमरथी, कावेरी, चुलुका, वाणी और शतबला ।। १८—२० ।।

नीवारामहितां चापि सुप्रयोगां जनाधिप ।
पवित्रां कुण्डलीं सिन्धुं राजनीं पुरमालिनीम् ।। २१ ।।
पूर्वाभिरामां वीरां च भीमामोघवतीं तथा ।
पाशाशिनीं पापहरां महेन्द्रां पाटलावतीम् ।। २२ ।।
करीषिणीमसिक्नीं च कुशचीरां महानदीम् ।
मकरीं प्रवरां मेनां हेमां घृतवतीं तथा ।। २३ ।।
पुरावतीमनुष्णां च शैब्यां कापीं च भारत ।
सदानीरामधृष्यां च कुशधारां महानदीम् ।। २४ ।।

नरेश्वर! नीवारा, अहिता, सुप्रयोगा, पवित्रा, कुण्डली, सिन्धु, राजनी, पुरमालिनी, पूर्वाभिरामा, वीरा (नीरा), भीमा, ओघवती, पाशाशिनी, पापहरा, महेन्द्रा, पाटलावती, करीषिणी, असिक्नी, महानदी कुशचीरा, मकरी, प्रवरा, मेना, हेमा, घृतवती, पुरावती, अनुष्णा, शैब्या, कापी, सदानीरा, अधृष्या और महानदी कुशधारा ।। २१—२४ ।।

सदाकान्तां शिवां चैव तथा वीरमतीमपि ।
वस्त्रां सुवस्त्रां गौरीं च कम्पनां सहिरण्वतीम् ।। २५ ।।
वरां वीरकरां चापि पञ्चमीं च महानदीम् ।
रथचित्रां ज्योतिरथां विश्वामित्रां कपिञ्जलाम् ।। २६ ।।
उपेन्द्रां बहुलां चैव कुवीरामम्बुवाहिनीम् ।
विनदीं पिञ्जलां वेणां तुङ्गवेणां महानदीम् ।। २७ ।।
विदिशां कृष्णवेणां च ताम्रां च कपिलामपि ।

खलुं सुवामां वेदाश्वां हरिश्रावां महापगाम् ।। २८ ।।
शीघ्रां च पिच्छिलां चैव भारद्वाजीं च निम्नगाम् ।
कौशिकीं निम्नगां शोणां बाहुदामथ चन्द्रमाम् ।। २९ ।।
दुर्गां चित्रशिलां चैव ब्रह्मवेध्यां बृहद्वतीम् ।
यवक्षामथ रोहीं च तथा जाम्बूनदीमपि ।। ३० ।।

सदाकान्ता, शिवा, वीरमती, वस्त्रा, सुवस्त्रा, गौरी, कम्पना, हिरण्वती, वरा, वीरकरा, महानदी पंचमी, रथचित्रा, ज्योतिरथा, विश्वामित्रा, कपिंजला, उपेन्द्रा, बहुला, कुवीरा, अम्बुवाहिनी, विनदी, पिंजला, वेणा, महानदी तुंगवेणा, विदिशा, कृष्णवेणा, ताम्रा, कपिला, खलु, सुवामा, वेदाश्वा, हरिश्रावा, महापगा, शीघ्रा, पिच्छिला, भारद्वाजी नदी, कौशिकी नदी, शोणा, बाहुदा, चन्द्रमा, दुर्गा, चित्रशिला, ब्रह्मवेध्या, बृहद्वती, यवक्षा, रोही तथा जाम्बूनदी ।। २५—३० ।।

सुनसां तमसां दासीं वसामन्यां वराणसीम् ।
नीलां घृतवतीं चैव पर्णाशां च महानदीम् ।। ३१ ।।
मानवीं वृषभां चैव ब्रह्ममेध्यां बृहद्ध्वनिम् ।
एताश्चान्याश्च बहुधा महानद्यो जनाधिप ।। ३२ ।।

सुनसा, तमसा, दासी, वसा, वराणसी, नीला, घृतवती, महानदी पर्णाशा, मानवी, वृषभा, ब्रह्ममेध्या, बृहद्ध्वनि, राजन्! ये तथा और भी बहुत-सी नदियाँ हैं ।। ३१-३२ ।।

सदा निरामयां कृष्णां मन्दगां मदवाहिनीम् ।
ब्राह्मणीं च महागौरीं दुर्गामपि च भारत ।। ३३ ।।
चित्रोपलां चित्ररथां मञ्जुलां वाहिनीं तथा ।
मन्दाकिनीं वैतरणीं कोषां चापि महानदीम् ।। ३४ ।।
शुक्तिमतीमनङ्गां च तथैव वृषसाह्वयाम् ।
लोहित्यां करतोयां च तथैव वृषकाह्वयाम् ।। ३५ ।।
कुमारीमृषिकुल्यां च मारिषां च सरस्वतीम् ।
मन्दाकिनीं सुपुण्यां च सर्वां गङ्गां च भारत ।। ३६ ।।

भारत! सदा निरामया, कृष्णा, मन्दगा, मन्दवाहिनी, ब्राह्मणी, महागौरी, दुर्गा, चित्रोत्पला, चित्ररथा, मंजुला, वाहिनी, मन्दाकिनी, वैतरणी, महानदी कोषा, शुक्तिमती, अनंगा, वृषा, लोहित्या, करतोया, वृषका, कुमारी, ऋषिकुल्या, मारिषा, सरस्वती, मन्दाकिनी, सुपुण्या, सर्वा तथा गंगा, भारत! इन नदियोंके जल भारतवासी पीते हैं ।। ३३—३६ ।।

विश्वस्य मातरः सर्वाः सर्वाश्चैव महाफलाः ।
तथा नद्यस्त्वप्रकाशाः शतशोऽथ सहस्रशः ।। ३७ ।।

राजन्! पूर्वोक्त सभी नदियाँ सम्पूर्ण विश्वकी माताएँ हैं, वे सब-की-सब महान् पुण्य फल देनेवाली हैं। इनके सिवा सैकड़ों और हजारों ऐसी नदियाँ हैं, जो लोगोंके परिचयमें नहीं आयी हैं ।। ३७ ।।

इत्येताः सरितो राजन् समाख्याता यथास्मृति ।
अत ऊर्ध्वं जनपदान् निबोध गदतो मम ।। ३८ ।।

राजन्! जहाँतक मेरी स्मरणशक्ति काम दे सकी है, उसके अनुसार मैंने इन नदियोंके नाम बताये हैं। इसके बाद अब मैं भारतवर्षके जनपदोंका वर्णन करता हूँ, सुनिये ।। ३८ ।।

तत्रेमे कुरुपाञ्चालाः शाल्वा माद्रेयजाङ्गलाः ।
शूरसेनाः पुलिन्दाश्च बोधा मालास्तथैव च ।। ३९ ।।
मत्स्याः कुशल्याः सौशल्याः कुन्तयः कान्तिकोसलाः ।
चेदिमत्स्यकरूषाश्च भोजाः सिन्धुपुलिन्दकाः ।। ४० ।।
उत्तमाश्वदशार्णाश्च मेकलाश्चोत्कलैः सह ।
पञ्चालाः कोसलाश्चैव नैकपृष्ठा धुरंधराः ।। ४१ ।।
गोधामद्रकलिङ्गाश्च काशयोऽपरकाशयः ।
जठराः कुक्कुराश्चैव सदशार्णाश्च भारत ।। ४२ ।।
कुन्तयोऽवन्तयश्चैव तथैवापरकुन्तयः ।
गोमन्ता मण्डकाः सण्डा विदर्भा रूपवाहिकाः ।। ४३ ।।
अश्मकाः पाण्डुराष्ट्राश्च गोपराष्ट्राः करीतयः ।
अधिराज्यकुशाद्याश्च मल्लराष्ट्रं च केवलम् ।। ४४ ।।

भारतमें ये कुरु-पांचाल, शाल्व, माद्रेय-जांगल, शूरसेन, पुलिन्द, बोध, माल, मत्स्य, कुशल्य, सौशल्य, कुन्ति, कान्ति, कोसल, चेदि, मत्स्य, करूष, भोज, सिन्धु-पुलिन्द, उत्तमाश्व, दशार्ण, मेकल, उत्कल, पंचाल, कोसल, नैकपृष्ठ, धुरंधर, गोधा, मद्रकलिंग, काशि, अपरकाशि, जठर, कुक्कुर, दशार्ण, कुन्ति, अवन्ति, अपरकुन्ति, गोमन्त, मन्दक, सण्ड, विदर्भ, रूपवाहिक, अश्मक, पाण्डुराष्ट्र, गोपराष्ट्र, करीति, अधिराज्य, कुशाद्य तथा मल्लराष्ट्र ।। ३९—४४ ।।

वारवास्यायवाहाश्च चक्राश्चक्रातयः शकाः ।
विदेहा मगधाः स्वक्षा मलजा विजयास्तथा ।। ४५ ।।
अङ्गा वङ्गाः कलिङ्गाश्च यकृल्लोमान एव च ।
मल्लाः सुदेष्णाः प्रह्लादा माहिकाः शशिकास्तथा ।। ४६ ।।
बाह्लिका वाटधानाश्च आभीराः कालतोयकाः ।
अपरान्ताः परान्ताश्च पञ्चालाश्चर्ममण्डलाः ।। ४७ ।।
अटवीशिखराश्चैव मेरुभूताश्च मारिष ।
उपावृत्तानुपावृत्ताः स्वराष्ट्राः केकयास्तथा ।। ४८ ।।

कुन्दापरान्ता माहेयाः कक्षाः सामुद्रनिष्कुटाः ।
अन्ध्राश्च बहवो राजन्नन्तर्गिर्यास्तथैव च ।। ४९ ।।
बहिर्गिर्याङ्गमलजा मगधा मानवर्जकाः ।
समन्तराः प्रावृषेया भार्गवाश्च जनाधिप ।। ५० ।।

वारवास्य, अयवाह, चक्र, चक्राति, शक, विदेह, मगध, स्वक्ष, मलज, विजय, अंग, वंग, कलिंग, यकृल्लोमा, मल्ल, सुदेष्ण, प्रह्लाद, माहिक, शशिक, बाह्लिक, वाटधान, आभीर, कालतोयक, अपरान्त, परान्त, पंचाल, चर्ममण्डल, अटवीशिखर, मेरुभूत, उपावृत्त, अनुपावृत्त, स्वराष्ट्र, केकय, कुन्दापरान्त, माहेय, कक्ष, सामुद्रनिष्कुट, बहुसंख्यक अन्ध्र, अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, अंगमलज, मगध, मानवर्जक, समन्तर, प्रावृषेय तथा भार्गव ।। ४५—५० ।।

पुण्ड्रा भर्गाः किराताश्च सुदृष्टा यामुनास्तथा ।
शका निषादा निषधास्तथैवानर्तनैर्ॠताः ।। ५१ ।।
दुर्गालाः प्रतिमत्स्याश्च कुन्तलाः कोसलास्तथा ।
तीरग्रहाः शूरसेना ईजिकाः कन्यकागुणाः ।। ५२ ।।
तिलभारा मसीराश्च मधुमन्तः सुकन्दकाः ।
काश्मीराः सिन्धुसौवीरा गान्धारा दर्शकास्तथा ।। ५३ ।।
अभीसारा उलूताश्च शैवला बाह्लिकास्तथा ।
दार्वी च वानवा दर्वा वातजामरथोरगाः ।। ५४ ।।
बहुवाद्याश्च कौरव्य सुदामानः सुमल्लिकाः ।
वध्राः करीषकाश्चापि कुलिन्दोपत्यकास्तथा ।। ५५ ।।
वनायवो दशापार्श्वरोमाणः कुशबिन्दवः ।
कच्छा गोपालकक्षाश्च जाङ्गलाः कुरुवर्णकाः ।। ५६ ।।
किराता बर्बराः सिद्धा वैदेहास्ताम्रलिप्तकाः ।
ओण्ड्रा म्लेच्छाः सैसिरिध्राः पार्वतीयाश्च मारिष ।। ५७ ।।

पुण्ड्र, भर्ग, किरात, सुदृष्ट, यामुन, शक, निषाद, निषध, आनर्त, नैर्ॠत, दुर्गाल, प्रतिमत्स्य, कुन्तल, कोसल, तीरग्रह, शूरसेन, ईजिक, कन्यकागुण, तिलभार, मसीर, मधुमान्, सुकन्दक, काश्मीर, सिन्धुसौवीर, गान्धार, दर्शक, अभीसार, उलूत, शैवाल, बाह्लिक, दार्वी, वानव, दर्व, वातज, आमरथ, उरग, बहुवाद्य, सुदाम, सुमल्लिक, वध्र, करीषक, कुलिन्द, उपत्यक, वनायु, दश, पार्श्वरोम, कुशबिन्दु, कच्छ, गोपालकक्ष, जांगल, कुरुवर्णक, किरात, बर्बर, सिद्ध, वैदेह, ताम्रलिप्तक, ओण्ड्र, म्लेच्छ, सैसिरिध्र और पार्वतीय इत्यादि ।। ५१—५७ ।।

अथापरे जनपदा दक्षिणा भरतर्षभ ।
द्रविडाः केरलाः प्राच्या भूषिका वनवासिकाः ।। ५८ ।।

कर्णाटका महिषका विकल्पा मूषकास्तथा ।
झिल्लिकाः कुन्तलाश्चैव सौहृदा नभकाननाः ।। ५९ ।।
कौकुट्टकास्तथा चोलाः कोङ्कणा मालवा नराः ।
समङ्गाः करकाश्चैव कुकुराङ्गारमारिषाः ।। ६० ।।
ध्वजिन्युत्सवसंकेतास्त्रिगर्ताः शाल्वसेनयः ।
व्यूकाः कोकबकाः प्रोष्ठाः समवेगवशास्तथा ।। ६१ ।।
तथैव विन्ध्यचुलिकाः पुलिन्दा वल्कलैः सह ।
मालवा बल्लवाश्चैव तथैवापरबल्लवाः ।। ६२ ।।
कुलिन्दाः कालदाश्चैव कुण्डलाः करटास्तथा ।
मूषकाः स्तनबालाश्च सनीपा घटसृंजयाः ।। ६३ ।।
अठिदाः पाशिवाटाश्च तनयाः सुनयास्तथा ।
ऋषिका विदभाः काकास्तङ्गणाः परतङ्गणाः ।। ६४ ।।
उत्तराश्चापरम्लेच्छाः क्रूरा भरतसत्तम ।
यवनाश्चीनकाम्बोजा दारुणा म्लेच्छजातयः ।। ६५ ।।

भरतश्रेष्ठ! अब जो दक्षिणदिशाके अन्यान्य जनपद हैं उनका वर्णन सुनिये—द्रविड, केरल, प्राच्य, भूषिक, वनवासिक, कर्णाटक, महिषक, विकल्प, मूषक, झिल्लिक, कुन्तल, सौहृद, नभकानन, कौकुट्टक, चोल, कोंकण, मालव, नर, समंग, करक, कुकुर, अंगार, मारिष, ध्वजिनी, उत्सव-संकेत, त्रिगर्त, शाल्वसेनि, व्यूक, कोकबक, प्रोष्ठ, समवेगवश, विन्ध्यचुलिक, पुलिन्द, वल्कल, मालव, बल्लव, अपरबल्लव, कुलिन्द, कालद, कुण्डल, करट, मूषक, स्तनबाल, सनीप, घट, सृंजय, अठिद, पाशिवाट, तनय, सुनय, ऋषिक, विदभ, काक, तंगण, परतंगण, उत्तर और क्रूर अपरम्लेच्छ, यवन, चीन तथा जहाँ भयानक म्लेच्छ-जातिके लोग निवास करते हैं, वह काम्बोज ।। ५८—६५ ।।

सकृद्ग्रहाः कुलत्थाश्च हूणाः पारसिकैः सह ।
तथैव रमणाश्चीनास्तथैव दशमालिकाः ।। ६६ ।।
क्षत्रियोपनिवेशाश्च वैश्यशूद्रकुलानि च ।
शूद्राभीराश्च दरदाः काश्मीराः पशुभिः सह ।। ६७ ।।
खाशीराश्चान्तचाराश्च पह्लवा गिरिगह्वराः ।
आत्रेयाः सभरद्वाजास्तथैव स्तनपोषिकाः ।। ६८ ।।
प्रोषकाश्च कलिङ्गाश्च किरातानां च जातयः ।
तोमरा हन्यमानाश्च तथैव करभञ्जकाः ।। ६९ ।।

सकृद्ग्रह, कुलत्थ, हूण, पारसिक, रमण-चीन, दशमालिक, क्षत्रियोंके उपनिवेश, वैश्यों और शूद्रोंके जनपद, शूद्र, आभीर, दरद, काश्मीर, पशु, खाशीर, अन्तचार, पह्लव,

गिरिगह्वर, आत्रेय, भरद्वाज, स्तनपोषिक, प्रोषक, कलिंग, किरात जातियोंके जनपद, तोमर, हन्यमान और करभंजक इत्यादि ।। ६६—६९ ।।

एते चान्ये जनपदाः प्राच्योदीच्यास्तथैव च ।
उद्देशमात्रेण मया देशाः संकीर्तिता विभो ।। ७० ।।

राजन्! ये तथा और भी पूर्व और उत्तर दिशाके जनपद एवं देश मैंने संक्षेपसे बताये हैं ।। ७० ।।

यथागुणबलं चापि त्रिवर्गस्य महाफलम् ।
दुह्येत धेनुः कामधुग् भूमिः सम्यगनुष्ठिता ।। ७१ ।।

अपने गुण और बलके अनुसार यदि अच्छी तरह इस भूमिका पालन किया जाय तो यह कामनाओंकी पूर्ति करनेवाली कामधेनु बनकर धर्म, अर्थ और काम तीनोंके महान् फलकी प्राप्ति कराती है ।। ७१ ।।

तस्यां गृद्धयन्ति राजानः शूरा धर्मार्थकोविदाः ।
ते त्यजन्त्याहवे प्राणान् वसुगृद्धास्तरस्विनः ।। ७२ ।।

इसीलिये धर्म और अर्थके काममें निपुण शूरवीर नरेश इसे पानेकी अभिलाषा रखते हैं और धनके लोभमें आसक्त हो वेगपूर्वक युद्धमें जाकर अपने प्राणोंका परित्याग कर देते हैं ।। ७२ ।।

देवमानुषकायानां कामं भूमिः परायणम् ।
अन्योन्यस्यावलुम्पन्ति सारमेया यथामिषम् ।। ७३ ।।
राजानो भरतश्रेष्ठ भोक्तुकामा वसुंधराम् ।
न चापि तृप्तिः कामानां विद्यतेऽद्यापि कस्यचित् ।। ७४ ।।

देवशरीरधारी प्राणियोंके लिये और मानवशरीर-धारी जीवोंके लिये यथेष्ट फल देनेवाली यह भूमि उनका परम आश्रय होती है। भरतश्रेष्ठ! जैसे कुत्ते मांसके टुकड़ेके लिये परस्पर लड़ते और एक-दूसरेको नोचते हैं, उसी प्रकार राजा लोग इस वसुधाको भोगनेकी इच्छा रखकर आपसमें लड़ते और लूटपाट करते हैं; किंतु आजतक किसीको अपनी कामनाओंसे तृप्ति नहीं हुई ।। ७३-७४ ।।

तस्मात् परिग्रहे भूमेर्यतन्ते कुरुपाण्डवाः ।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनैव च भारत ।। ७५ ।।

भारत! इस अतृप्तिके ही कारण कौरव और पाण्डव साम, दान, भेद और दण्डके द्वारा सम्पूर्ण वसुधापर अधिकार पानेके लिये यत्न करते हैं ।। ७५ ।।

पिता भ्राता च पुत्राश्च खं द्यौश्च नरपुङ्गव ।
भूमिर्भवति भूतानां सम्यगच्छिद्रदर्शना ।। ७६ ।।

नरश्रेष्ठ! यदि भूमिके यथार्थ स्वरूपका सम्पूर्णरूपसे ज्ञान हो जाय तो यह परमात्मासे अभिन्न होनेके कारण प्राणियोंके लिये स्वयं ही पिता, भ्राता, पुत्र, आकाशवर्ती पुण्यलोक

तथा स्वर्ग भी बन जाती है ।। ७६ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भारतीयनदीदेशादिनामकथने नवमोऽध्यायः ।। ९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भारतकी नदियों और देश आदिके नामका वर्णनविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९ ।।

दशमोऽध्यायः

भारतवर्षमें युगोंके अनुसार मनुष्योंकी आयु तथा गुणोंका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

भारतस्यास्य वर्षस्य तथा हैमवतस्य च ।
प्रमाणमायुषः सूत बलं चापि शुभाशुभम् ।। १ ।।
अनागतमतिक्रान्तं वर्तमानं च संजय ।
आचक्ष्व मे विस्तरेण हरिवर्षं तथैव च ।। २ ।।

धृतराष्ट्रने कहा—संजय! तुम भारतवर्ष और हैमवतवर्षके लोगोंके आयुका प्रमाण, बल तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमान शुभाशुभ फल बताओ। साथ ही हरिवर्षका भी विस्तारपूर्वक वर्णन करो ।। १-२ ।।

संजय उवाच

चत्वारि भारते वर्षे युगानि भरतर्षभ ।
कृतं त्रेता द्वापरं च तिष्यं च कुरुवर्धन ।। ३ ।।

संजयने कहा—कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले भरतश्रेष्ठ! भारतवर्षमें चार युग होते हैं—सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ।। ३ ।।

पूर्वं कृतयुगं नाम ततस्त्रेतायुगं प्रभो ।
संक्षेपाद् द्वापरस्याथ ततस्तिष्यं प्रवर्तते ।। ४ ।।

प्रभो! पहले सत्ययुग होता है, फिर त्रेतायुग आता है, उसके बाद द्वापरयुग बीतनेपर कलियुगकी प्रवृत्ति होती है ।। ४ ।।

चत्वारि तु सहस्राणि वर्षाणां कुरुसत्तम ।
आयुःसंख्या कृतयुगे संख्याता राजसत्तम ।। ५ ।।

कुरुश्रेष्ठ! नृपप्रवर! सत्ययुगके लोगोंकी आयुका मान चार हजार वर्ष है ।। ५ ।।

तथा त्रीणि सहस्राणि त्रेतायां मनुजाधिप ।
द्वे सहस्रे द्वापरे तु भुवि तिष्ठति साम्प्रतम् ।। ६ ।।

मनुजेश्वर! त्रेताके मनुष्योंकी आयु तीन हजार वर्षोंकी बतायी गयी है। द्वापरके लोगोंकी आयु दो हजार वर्षोंकी है, जो इस समय भूतलपर विद्यमान है ।। ६ ।।

न प्रमाणस्थितिर्ह्यस्ति तिष्येऽस्मिन् भरतर्षभ ।
गर्भस्थाश्च म्रियन्तेऽत्र तथा जाता म्रियन्ति च ।। ७ ।।

भरतश्रेष्ठ! इस कलियुगमें आयु-प्रमाणकी कोई मर्यादा नहीं है। यहाँ गर्भके बच्चे भी मरते हैं और नवजात शिशु भी मृत्युको प्राप्त होते हैं ।। ७ ।।

महाबला महासत्त्वाः प्रज्ञागुणसमन्विताः ।
प्रजायन्ते च जाताश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।। ८ ।।
जाताः कृतयुगे राजन् धनिनः प्रियदर्शनाः ।
प्रजायन्ते च जाताश्च मुनयो वै तपोधनाः ।। ९ ।।

सत्ययुगमें महाबली, महान् सत्त्वगुणसम्पन्न, बुद्धिमान्, धनवान् और प्रियदर्शन मनुष्य उत्पन्न होते हैं और सैकड़ों तथा हजारों संतानोंको जन्म देते हैं, उस समय प्रायः तपस्याके धनी महर्षिगण जन्म लेते हैं ।। ८-९ ।।

महोत्साहा महात्मानो धार्मिकाः सत्यवादिनः ।
प्रियदर्शना वपुष्मन्तो महावीर्या धनुर्धराः ।। १० ।।
वरार्हा युधि जायन्ते क्षत्रियाः शूरसत्तमाः ।
त्रेतायां क्षत्रिया राजन् सर्वे वै चक्रवर्तिनः ।। ११ ।।

राजन्! इसी प्रकार त्रेतायुगमें समस्त भूमण्डलके क्षत्रिय अत्यन्त उत्साही, महान् मनस्वी, धर्मात्मा, सत्यवादी, प्रियदर्शन, सुन्दर शरीरधारी, महापराक्रमी, धनुर्धर, वर पानेके योग्य, युद्धमें शूरशिरोमणि तथा मानवोंकी रक्षा करनेवाले होते हैं ।। १०-११ ।।

सर्ववर्णाश्च जायन्ते सदा चैव च द्वापरे ।
महोत्साहा वीर्यवन्तः परस्परजयैषिणः ।। १२ ।।

द्वापरमें सभी वर्णोंके लोग उत्पन्न होते हैं एवं वे सदा परम उत्साही, पराक्रमी तथा एक-दूसरेको जीतनेके इच्छुक होते हैं ।। १२ ।।

तेजसाल्पेन संयुक्ताः क्रोधनाः पुरुषा नृप ।
लुब्धा अनृतकाश्चैव तिष्ये जायन्ति भारत ।। १३ ।।

भरतनन्दन! कलियुगमें जन्म लेनेवाले लोग प्रायः अल्प-तेजस्वी, क्रोधी, लोभी तथा असत्यवादी होते हैं ।। १३ ।।

ईर्ष्या मानस्तथा क्रोधो मायासूया तथैव च ।
तिष्ये भवति भूतानां रागो लोभश्च भारत ।। १४ ।।

भारत! कलियुगके प्राणियोंमें ईर्ष्या, मान, क्रोध, माया, दोषदृष्टि, राग तथा लोभ आदि दोष रहते हैं ।। १४ ।।

संक्षेपो वर्तते राजन् द्वापरेऽस्मिन् नराधिप ।
गुणोत्तरं हैमवतं हरिवर्षं ततः परम् ।। १५ ।।

नरेश्वर! इस द्वापरमें भी गुणोंकी न्यूनता होती है। भारतवर्षकी अपेक्षा हैमवत तथा हरिवर्षमें उत्तरोत्तर अधिक गुण हैं ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वणि भारतवर्षे कृताद्यनुरोधेनायुर्निरूपणे दशमोऽध्यायः ।। १० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत जम्बूखण्डविनिर्माणपर्वमें भारतवर्षमें सत्ययुग आदिके अनुसार आयुका निरूपणविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १० ।।

(भूमिपर्व)

एकादशोऽध्यायः

शाकद्वीपका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

जम्बूखण्डस्त्वया प्रोक्तो यथावदिह संजय ।
विष्कम्भमस्य प्रब्रूहि परिमाणं तु तत्त्वतः ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! तुमने यहाँ जम्बूखण्डका यथावत् वर्णन किया है। अब तुम इसके विस्तार और परिमाणको ठीक-ठीक बताओ ।। १ ।।

समुद्रस्य प्रमाणं च सम्यगच्छिद्रदर्शनम् ।
शाकद्वीपं च मे ब्रूहि कुशद्वीपं च संजय ।। २ ।।

संजय! समुद्रके सम्पूर्ण परिमाणको भी अच्छी तरह समझाकर कहो। इसके बाद मुझसे शाकद्वीप और कुशद्वीपका वर्णन करो ।। २ ।।

शाल्मलिं चैव तत्त्वेन क्रौञ्चद्वीपं तथैव च ।
ब्रूहि गावल्गणे सर्वं राहोः सोमार्कयोस्तथा ।। ३ ।।

गवल्गणकुमार संजय! इसी प्रकार शाल्मलिद्वीप, क्रौंचद्वीप तथा सूर्य, चन्द्रमा एवं राहुसे सम्बन्ध रखनेवाली सब बातोंका यथार्थरूपसे प्रतिपादन करो ।। ३ ।।

संजय उवाच

राजन् सुबहवो द्वीपा यैरिदं संततं जगत् ।
सप्तद्वीपान् प्रवक्ष्यामि चन्द्रादित्यौ ग्रहं तथा ।। ४ ।।

संजय बोले—राजन्! बहुत-से द्वीप हैं, जिनसे सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है। अब मैं आपकी आज्ञाके अनुसार सात द्वीपोंका तथा चन्द्रमा, सूर्य और राहुका भी वर्णन करूँगा ।। ४ ।।

अष्टादश सहस्राणि योजनानि विशाम्पते ।
षट् शतानि च पूर्णानि विष्कम्भो जम्बुपर्वतः ।। ५ ।।
लावणस्य समुद्रस्य विष्कम्भो द्विगुणः स्मृतः ।
नानाजनपदाकीर्णो मणिविद्रुमचित्रितः ।। ६ ।।
नैकधातुविचित्रैश्च पर्वतैरुपशोभितः ।

सिद्धचारणसंकीर्णः सागरः परिमण्डलः ।। ७ ।।

राजन्! जम्बूद्वीपका विस्तार पूरे १८,६०० योजन है। इसके चारों ओर जो खारे पानीका समुद्र है, उसका विस्तार जम्बूद्वीपकी अपेक्षा दूना माना गया है। उसके तटपर तथा टापूमें बहुत-से देश और जनपद हैं। उसके भीतर नाना प्रकारके मणि और मूँगे हैं, जो उसकी विचित्रता सूचित करते हैं। अनेक प्रकारके धातुओंसे अद्भुत प्रतीत होनेवाले बहुसंख्यक पर्वत उस सागरकी शोभा बढ़ाते हैं। सिद्धों तथा चारणोंसे भरा हुआ वह लवणसमुद्र सब ओरसे मण्डलाकार है ।। ५—७ ।।

शाकद्वीपं च वक्ष्यामि यथावदिह पार्थिव ।
शृणु मे त्वं यथान्यायं ब्रुवतः कुरुनन्दन ।। ८ ।।

राजन्! अब मैं शाकद्वीपका यथावत् वर्णन आरम्भ करता हूँ। कुरुनन्दन! मेरे इस न्यायोचित कथनको आप ध्यान देकर सुनें ।। ८ ।।

जम्बूद्वीपप्रमाणेन द्विगुणः स नराधिप ।
विष्कम्भेण महाराज सागरोऽपि विभागशः ।। ९ ।।

महाराज! नरेश्वर! वह द्वीप विस्तारकी दृष्टिसे जम्बूद्वीपके परिमाणसे दूना है। भरतश्रेष्ठ! उसका समुद्र भी विभागपूर्वक उससे दूना ही है ।। ९ ।।

क्षीरोदो भरतश्रेष्ठ येन सम्परिवारितः ।
तत्र पुण्या जनपदास्तत्र न म्रियते जनः ।। १० ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समुद्रका नाम क्षीरसागर है, जिसने उक्त द्वीपको सब ओरसे घेर रखा है। वहाँ पवित्र जनपद हैं। वहाँ निवास करनेवाले लोगोंकी मृत्यु नहीं होती ।। १० ।।

कुत एव हि दुर्भिक्षं क्षमातेजोयुता हि ते ।
शाकद्वीपस्य संक्षेपो यथावद् भरतर्षभ ।। ११ ।।
उक्त एष महाराज किमन्यत् कथयामि ते ।

फिर वहाँ दुर्भिक्ष तो हो ही कैसे सकता है? उस द्वीपके निवासी क्षमाशील और तेजस्वी होते हैं। भरतश्रेष्ठ महाराज! इस प्रकार शाकद्वीपका संक्षेपसे यथावत् वर्णन किया गया है। अब और आपसे क्या कहूँ? ।। ११ १/२ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

शाकद्वीपस्य संक्षेपो यथावदिह संजय ।। १२ ।।
उक्तस्त्वया महाप्राज्ञ विस्तरं ब्रूहि तत्त्वतः ।

धृतराष्ट्र बोले—महाबुद्धिमान् संजय! तुमने यहाँ शाकद्वीपका संक्षिप्तरूपसे यथावत् वर्णन किया है। अब उसका कुछ विस्तारके साथ यथार्थ परिचय दो ।। १२ १/२ ।।

संजय उवाच

तथैव पर्वता राजन् सप्तात्र मणिभूषिताः ।। १३ ।।

रत्नाकरास्तथा नद्यस्तेषां नामानि मे शृणु ।

संजय बोले—राजन्! शाकद्वीपमें भी मणियोंसे विभूषित सात पर्वत हैं। वहाँ रत्नोंकी बहुत-सी खानें तथा नदियाँ भी हैं। उनके नाम मुझसे सुनिये ।। १३ १/२ ।।

अतीव गुणवत् सर्वं तत्र पुण्यं जनाधिप ।। १४ ।।

देवर्षिगन्धर्वयुतः प्रथमो मेरुरुच्यते ।

प्रागायतो महाराज मलयो नाम पर्वतः ।। १५ ।।

जनेश्वर! वहाँका सब कुछ परम पवित्र और अत्यन्त गुणकारी है। वहाँका प्रधान पर्वत है मेरु, जो देवर्षियों तथा गन्धर्वोंसे सेवित है। महाराज! दूसरे पर्वतका नाम मलय है, जो पूर्वसे पश्चिमकी ओर फैला हुआ है ।। १४-१५ ।।

ततो मेघाः प्रवर्तन्ते प्रभवन्ति च सर्वशः ।

ततः परेण कौरव्य जलधारो महागिरिः ।। १६ ।।

मेघ वहींसे उत्पन्न होते हैं, फिर वे सब ओर फैलकर जलकी वर्षा करनेमें समर्थ होते हैं। कुरुनन्दन! उसके बाद जलधार नामक महान् पर्वत है ।। १६ ।।

ततो नित्यमुपादत्ते वासवः परमं जलम् ।

ततो वर्षं प्रभवति वर्षकाले जनेश्वर ।। १७ ।।

जनेश्वर! इन्द्र वहींसे सदा उत्तम जल ग्रहण करते हैं। इसीलिये वर्षाकालमें वे यथेष्ट जल बरसानेमें समर्थ होते हैं ।। १७ ।।

उच्चैर्गिरी रैवतको यत्र नित्यं प्रतिष्ठिता ।

रेवती दिवि नक्षत्रं पितामहकृतो विधिः ।। १८ ।।

उसी द्वीपमें उच्चतम रैवतक पर्वत है, जहाँ आकाशमें रेवती नामक नक्षत्र नित्य प्रतिष्ठित है। यह ब्रह्माजीका रचा हुआ विधान है ।। १८ ।।

उत्तरेण तु राजेन्द्र श्यामो नाम महागिरिः ।

नवमेघप्रभः प्रांशुः श्रीमानुज्ज्वलविग्रहः ।। १९ ।।

राजेन्द्र! उसके उत्तर भागमें श्याम नामक महान् पर्वत है, जो नूतन मेघके समान श्याम शोभासे युक्त है। उसकी ऊँचाई बहुत है। उसका कान्तिमान् कलेवर परम उज्ज्वल है ।। १९ ।।

यतः श्यामत्वमापन्नाः प्रजा जनपदेश्वर ।

जनपदेश्वर! वहाँ रहनेसे ही वहाँकी प्रजा श्यामताको प्राप्त हुई है ।। १९ १/२ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

सुमहान् संशयो मेऽद्य प्रोक्तोऽयं संजय त्वया ।

प्रजाः कथं सूतपुत्र सम्प्राप्ताः श्यामतामिह ।। २० ।।

धृतराष्ट्र बोले—सूतपुत्र संजय! यह तो तुमने आज मुझसे महान् संशयकी बात कही है। भला, वहाँ रहनेमात्रसे प्रजा श्यामताको कैसे प्राप्त हो गयी? ।। २० ।।

संजय उवाच

सर्वेष्वेव महाराज द्वीपेषु कुरुनन्दन ।
गौरः कृष्णश्च वर्णौ द्वौ तयोर्वर्णान्तरं नृप ।। २१ ।।
श्यामो यस्मात् प्रवृत्तो वै तत् ते वक्ष्यामि भारत ।
आस्तेऽत्र भगवान् कृष्णस्तत्कान्त्या श्यामतां गतः ।। २२ ।।

संजयने कहा—महाराज कुरुनन्दन! सम्पूर्ण द्वीपोंमें गौर, कृष्ण तथा इन दोनों वर्णोंका सम्मिश्रण देखा जाता है। भारत! यह पर्वत जिस कारणसे श्याम होकर दूसरोंमें भी श्यामता उत्पन्न करनेवाला हुआ, वह आपको बताता हूँ। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण निवास करते हैं; अतः उन्हींकी कान्तिसे यह (स्वयं भी) श्यामताको प्राप्त हुआ है (और अपने समीप रहनेवाली प्रजामें भी श्यामता उत्पन्न कर देता है) ।। २१-२२ ।।

ततः परं कौरवेन्द्र दुर्गशैलो महोदयः ।
केसरः केसरयुतो यतो वातः प्रवर्तते ।। २३ ।।

कौरवराज! श्यामगिरिके बाद बहुत ऊँचा दुर्ग शैल है। उसके बाद केसर पर्वत है, जहाँसे चली हुई वायु केसरकी सुगन्ध लिये बहती है ।। २३ ।।

तेषां योजनविष्कम्भो द्विगुणः प्रविभागशः ।
वर्षाणि तेषु कौरव्य सप्तोक्तानि मनीषिभिः ।। २४ ।।

इन सब पर्वतोंका विस्तार दूना होता गया है। कुरुनन्दन! मनीषी पुरुषोंने उन पर्वतोंके समीप सात वर्ष बताये हैं ।। २४ ।।

महामेरुर्महाकाशो जलदः कुमुदोत्तरः ।
जलधारो महाराज सुकुमार इति स्मृतः ।। २५ ।।

महामेरु पर्वतके समीप महाकाशवर्ष है, जलद या मलयके निकट कुमुदोत्तरवर्ष है। महाराज! जलधार गिरिका पार्श्ववर्ती वर्ष सुकुमार बताया गया है ।। २५ ।।

रैवतस्य तु कौमारः श्यामस्य मणिकाञ्चनः ।
केसरस्याथ मोदाकी परेण तु महापुमान् ।। २६ ।।

रैवतक पर्वतका कुमारवर्ष तथा श्यामगिरिका मणिकांचनवर्ष है। इसी प्रकार केसरके समीपवर्ती वर्षको मोदाकी कहते हैं। उसके आगे महापुमान् नामक एक पर्वत है ।। २६ ।।

परिवार्य तु कौरव्य दैर्घ्यं ह्रस्वत्वमेव च ।
जम्बूद्वीपेन संख्यातस्तस्य मध्ये महाद्रुमः ।। २७ ।।
शाको नाम महाराज प्रजा तस्य सदानुगा ।
तत्र पुण्या जनपदाः पूज्यते तत्र शंकरः ।। २८ ।।

वह उस द्वीपकी लंबाई और चौड़ाई सबको घेरकर खड़ा है। महाराज! उसके बीचमें शाक नामक एक बड़ा भारी वृक्ष है, जो जम्बूद्वीपके समान ही विशाल है। महाराज! वहाँकी प्रजा सदा उस शाकवृक्षके ही आश्रित रहती है। वहाँ बड़े पवित्र जनपद हैं। उस द्वीपमें भगवान् शंकरकी आराधना की जाती है ।। २७-२८ ।।

तत्र गच्छन्ति सिद्धाश्च चारणा दैवतानि च ।
धार्मिकाश्च प्रजा राजंश्चत्वारोऽतीव भारत ।। २९ ।।

राजन्! भरतनन्दन! वहाँ सिद्ध, चारण और देवता जाते हैं। वहाँके चारों वर्णोंकी प्रजा अत्यन्त धार्मिक होती है ।। २९ ।।

वर्णाः स्वकर्मनिरता न च स्तेनोऽत्र दृश्यते ।
दीर्घायुषो महाराज जरामृत्युविवर्जिताः ।। ३० ।।

सभी वर्णके लोग वहाँ अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मका पालन करते हैं। वहाँ कोई चोर नहीं दिखायी देता। महाराज! उस द्वीपके निवासी दीर्घायु तथा जरा और मृत्युसे रहित होते हैं ।। ३० ।।

प्रजास्तत्र विवर्धन्ते वर्षास्विव समुद्रगाः ।
नद्यः पुण्यजलास्तत्र गङ्गा च बहुधा गता ।। ३१ ।।

जैसे वर्षा-ऋतुमें समुद्रगामिनी नदियाँ बढ़ जाती हैं, उसी प्रकार वहाँकी समस्त प्रजा सदा वृद्धिको प्राप्त होती रहती है। उस द्वीपमें अनेक पवित्र जलवाली नदियाँ बहती हैं। वहाँ गंगा भी अनेक धाराओंमें विभक्त देखी जाती हैं ।। ३१ ।।

सुकुमारी कुमारी च शीताशी वेणिका तथा ।
महानदी च कौरव्य तथा मणिजला नदी ।। ३२ ।।
चक्षुर्वर्धनिका चैव नदी भरतसत्तम ।
तत्र प्रवृत्ताः पुण्योदा नद्यः कुरुकुलोद्वह ।। ३३ ।।

कुरुनन्दन! भरतश्रेष्ठ! उस द्वीपमें सुकुमारी, कुमारी, शीताशी, वेणिका, महानदी, मणिजला तथा चक्षुर्वर्धनिका आदि पवित्र जलवाली नदियाँ बहती हैं ।। ३२-३३ ।।

सहस्राणां शतान्येव यतो वर्षति वासवः ।
न तासां नामधेयानि परिमाणं तथैव च ।। ३४ ।।
शक्यन्ते परिसंख्यातुं पुण्यास्ता हि सरिद्वराः ।
तव पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोकसम्मताः ।। ३५ ।।

वहाँ लाखों ऐसी नदियाँ हैं, जिनसे जल लेकर इन्द्र वर्षा करते हैं। उनके नाम और परिमाणकी संख्या बताना कठिन ही नहीं, असम्भव है। वे सभी श्रेष्ठ नदियाँ परम पुण्यमयी हैं। उस द्वीपमें लोकसम्मानित चार पवित्र जनपद हैं ।। ३४-३५ ।।

मङ्गाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा ।
मङ्गा ब्राह्मणभूयिष्ठाः स्वकर्मनिरता नृप ।। ३६ ।।

उनके नाम इस प्रकार हैं—मंग, मशक, मानस तथा मन्दग। नरेश्वर! उनमेंसे मंग जनपदमें अधिकतर ब्राह्मण निवास करते हैं। वे सब-के-सब अपने कर्तव्यके पालनमें तत्पर रहते हैं ।। ३६ ।।

मशकेषु तु राजन्या धार्मिकाः सर्वकामदाः ।
मानसाश्च महाराज वैश्यधर्मोपजीविनः ।। ३७ ।।
सर्वकामसमायुक्ताः शूरा धर्मार्थनिश्चिताः ।

महाराज! मशक जनपदमें सम्पूर्ण कामनाओंके देनेवाले धर्मात्मा क्षत्रिय निवास करते हैं। मानस जनपदके निवासी वैश्यवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते हैं। वे सर्वभोगसम्पन्न, शूरवीर, धर्म और अर्थको समझनेवाले एवं दृढ़निश्चयी होते हैं ।। ३७½ ।।

शूद्रास्तु मन्दगा नित्यं पुरुषा धर्मशीलिनः ।। ३८ ।।

मन्दग जनपदमें शूद्र रहते हैं। वे भी धर्मात्मा होते हैं ।। ३८ ।।

न तत्र राजा राजेन्द्र न दण्डो न च दण्डिकः ।
स्वधर्मेणैव धर्मज्ञास्ते रक्षन्ति परस्परम् ।। ३९ ।।

राजेन्द्र! वहाँ न कोई राजा है, न दण्ड है और न दण्ड देनेवाला है। वहाँके लोग धर्मके ज्ञाता हैं और स्वधर्मपालनके ही प्रभावसे एक-दूसरेकी रक्षा करते हैं ।। ३९ ।।

एतावदेव शक्यं तु तत्र द्वीपे प्रभाषितुम् ।
एतदेव च श्रोतव्यं शाकद्वीपे महौजसि ।। ४० ।।

महाराज! उस महान् तेजोमय शाकद्वीपके सम्बन्धमें इतना ही कहा जा सकता है और इतना ही सुनना चाहिये ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भूमिपर्वणि शाकद्वीपवर्णने एकादशोऽध्यायः ।। ११ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भूमिपर्वमें शाकद्वीपवर्णनविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११ ।।

द्वादशोऽध्यायः

कुश, क्रौंच और पुष्कर आदि द्वीपोंका तथा राहु, सूर्य एवं चन्द्रमाके प्रमाणका वर्णन

संजय उवाच

उत्तरेषु च कौरव्य द्वीपेषु श्रूयते कथा ।
एवं तत्र महाराज ब्रुवतश्च निबोध मे ।। १ ।।

संजय बोले—महाराज! कुरुनन्दन! इसके बादवाले द्वीपोंके विषयमें जो बातें सुनी जाती हैं, वे इस प्रकार हैं; उन्हें आप मुझसे सुनिये ।। १ ।।

घृततोयः समुद्रोऽत्र दधिमण्डोदकोऽपरः ।
सुरोदः सागरश्चैव तथान्यो जलसागरः ।। २ ।।

क्षीरोद समुद्रके बाद घृतोद समुद्र है। फिर दधिमण्डोदक समुद्र है। इनके बाद सुरोद समुद्र है, फिर मीठे पानीका सागर है ।। २ ।।

परस्परेण द्विगुणाः सर्वे द्वीपा नराधिप ।
पर्वताश्च महाराज समुद्रैः परिवारिताः ।। ३ ।।

महाराज! इन समुद्रोंसे घिरे हुए सभी द्वीप और पर्वत उत्तरोत्तर दुगुने विस्तारवाले हैं ।। ३ ।।

गौरस्तु मध्यमे द्वीपे गिरिर्मानःशिलो महान् ।
पर्वतः पश्चिमे कृष्णो नारायणसखो नृप ।। ४ ।।

नरेश्वर! इनमेंसे मध्यम द्वीपमें मनःशिला (मैनसिल)-का एक बहुत बड़ा पर्वत है; जो ‘गौर’ नामसे विख्यात है। उसके पश्चिममें ‘कृष्ण’ पर्वत है, जो नारायणको विशेष प्रिय है ।। ४ ।।

तत्र रत्नानि दिव्यानि स्वयं रक्षति केशवः ।
प्रसन्नश्चाभवत् तत्र प्रजानां व्यदधत् सुखम् ।। ५ ।।

स्वयं भगवान् केशव ही वहाँ दिव्य रत्नोंको रखते और उनकी रक्षा करते हैं। वे वहाँकी प्रजापर प्रसन्न हुए थे, इसलिये उनको सुख पहुँचानेकी व्यवस्था उन्होंने स्वयं की है ।। ५ ।।

कुशस्तम्बः कुशद्वीपे मध्ये जनपदैः सह ।
सम्पूज्यते शाल्मलिश्च द्वीपे शाल्मलिके नृप ।। ६ ।।

नरेश्वर! कुशद्वीपमें कुशोंका एक बहुत बड़ा झाड़ है, जिसकी वहाँके जनपदोंमें रहनेवाले लोग पूजा करते हैं। उसी प्रकार शाल्मलिद्वीपमें शाल्मलि (सेंमर) वृक्षकी पूजा की जाती है ।। ६ ।।

क्रौञ्चद्वीपे महाक्रौञ्चो गिरी रत्नचयाकरः ।
सम्पूज्यते महाराज चातुर्वर्ण्येन नित्यदा ।। ७ ।।

क्रौंचद्वीपमें महाक्रौंच नामक एक महान् पर्वत है, जो रत्नराशिकी खान है। महाराज! वहाँ चारों वर्णोंके लोग सदा उसीकी पूजा करते हैं ।। ७ ।।

गोमन्तः पर्वतो राजन् सुमहान् सर्वधातुकः ।
यत्र नित्यं निवसति श्रीमान् कमललोचनः ।। ८ ।।
मोक्षिभिः संस्तुतो नित्यं प्रभुर्नारायणो हरिः ।

राजन्! वहीं गोमन्त नामक विशाल पर्वत है, जो सम्पूर्ण धातुओंसे सम्पन्न है। वहाँ मोक्षकी इच्छा रखनेवाले उपासकोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए सबके स्वामी श्रीमान् कमलनयन भगवान् नारायण नित्य निवास करते हैं ।। ८½ ।।

कुशद्वीपे तु राजेन्द्र पर्वतो विद्रुमैश्चितः ।। ९ ।।
सुधामा नाम दुर्धर्षो द्वितीयो हेमपर्वतः ।

राजेन्द्र! कुशद्वीपमें सुधामा नामसे प्रसिद्ध दूसरा सुवर्णमय पर्वत है, जो मूँगोंसे भरा हुआ और दुर्गम है ।। ९½ ।।

द्युतिमान् नाम कौरव्य तृतीयः कुमुदो गिरिः ।। १० ।।
चतुर्थः पुष्पवान् नाम पञ्चमस्तु कुशेशयः ।
षष्ठो हरिगिरिर्नाम षडेते पर्वतोत्तमाः ।। ११ ।।

कौरव्य! वहीं परम कान्तिमान् कुमुद नामक तीसरा पर्वत है। चौथा पुष्पवान्, पाँचवाँ कुशेशय और छठा हरिगिरि है। ये छः कुशद्वीपके श्रेष्ठ पर्वत हैं ।। १०-११ ।।

तेषामन्तरविष्कम्भो द्विगुणः सर्वभागशः ।
औद्भिदं प्रथमं वर्षं द्वितीयं वेणुमण्डलम् ।। १२ ।।

इन पर्वतोंके बीचका विस्तार सब ओरसे उत्तरोत्तर दूना होता गया है। कुशद्वीपके पहले वर्षका नाम उद्भिद् है। दूसरेका नाम वेणुमण्डल है ।। १२ ।।

तृतीयं सुरथाकारं चतुर्थं कम्बलं स्मृतम् ।
धृतिमत् पञ्चमं वर्षं षष्ठं वर्षं प्रभाकरम् ।। १३ ।।

तीसरेका नाम सुरथाकार, चौथेका कम्बल, पाँचवेंका धृतिमान् और छठे वर्षका नाम प्रभाकर है ।। १३ ।।

सप्तमं कापिलं वर्षं सप्तैते वर्षलम्भकाः ।
एतेषु देवगन्धर्वाः प्रजाश्च जगतीश्वर ।। १४ ।।
विहरन्ते रमन्ते च न तेषु म्रियते जनः ।
न तेषु दस्यवः सन्ति म्लेच्छजात्योऽपि वा नृप ।। १५ ।।

सातवाँ वर्ष कापिल कहलाता है। ये सात वर्षसमुदाय हैं। पृथ्वीपते! इन सबमें देवता, गन्धर्व तथा मनुष्य सानन्द विहार करते हैं। उनमेंसे किसीकी मृत्यु नहीं होती है। नरेश्वर!

वहाँ लुटेरे अथवा म्लेच्छ-जातिके लोग नहीं हैं ।। १४-१५ ।।

गौरप्रायो जनः सर्वः सुकुमारश्च पार्थिव ।
अवशिष्टेषु सर्वेषु वक्ष्यामि मनुजेश्वर ।। १६ ।।

मनुजेश्वर! इन वर्षोंके सभी लोग प्रायः गोरे और सुकुमार होते हैं। अब मैं शेष सम्पूर्ण द्वीपोंके विषयमें बताता हूँ ।। १६ ।।

यथाश्रुतं महाराज तदव्यग्रमनाः शृणु ।
क्रौञ्चद्वीपे महाराज क्रौञ्चो नाम महागिरिः ।। १७ ।।

महाराज! मैंने जैसा सुन रखा है, वैसा ही सुनाऊँगा। आप शान्तचित्त होकर सुनिये। क्रौंचद्वीपमें क्रौंच नामक विशाल पर्वत है ।। १७ ।।

क्रौञ्चात् परो वामनको वामनादन्धकारकः ।
अन्धकारात् परो राजन् मैनाकः पर्वतोत्तमः ।। १८ ।।
मैनाकात् परतो राजन् गोविन्दो गिरिरुत्तमः ।
गोविन्दात् परतो राजन् निबिडो नाम पर्वतः ।। १९ ।।

राजन्! क्रौंचके बाद वामन पर्वत है, वामनके बाद अन्धकार और अन्धकारके बाद मैनाक नामक श्रेष्ठ पर्वत है। प्रभो! मैनाकके बाद उत्तम गोविन्द गिरि है। गोविन्दके बाद निबिड नामक पर्वत है ।। १८-१९ ।।

परस्तु द्विगुणस्तेषां विष्कम्भो वंशवर्धन ।
देशांस्तत्र प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ।। २० ।।

कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले महाराज! इन पर्वतोंके बीचका विस्तार उत्तरोत्तर दूना होता गया है। उनमें जो देश बसे हुए हैं, उनका परिचय देता हूँ; सुनिये ।। २० ।।

क्रौञ्चस्य कुशलो देशो वामनस्य मनोनुगः ।
मनोनुगात् परश्चोष्णो देशः कुरुकुलोद्वह ।। २१ ।।

क्रौंचपर्वतके निकट कुशल नामक देश है। वामन-पर्वतके पास मनोनुग देश है। कुरुकुलश्रेष्ठ! मनोनुगके बाद उष्ण देश आता है ।। २१ ।।

उष्णात् परः प्रावरकः प्रावारादन्धकारकः ।
अन्धकारकदेशात् तु मुनिदेशः परः स्मृतः ।। २२ ।।

उष्णके बाद प्रावरक, प्रावरकके बाद अन्धकारक और अन्धकारकके बाद उत्तम मुनिदेश बताया गया है ।। २२ ।।

मुनिदेशात् परश्चैव प्रोच्यते दुन्दुभिस्वनः ।
सिद्धचारणसंकीर्णो गौरप्रायो जनाधिप ।। २३ ।।
एते देशा महाराज देवगन्धर्वसेविताः ।

मुनिदेशके बाद जो देश है, उसे दुन्दुभिस्वन कहते हैं। वह सिद्धों और चारणोंसे भरा हुआ है। जनेश्वर! वहाँके लोग प्रायः गोरे होते हैं। महाराज! इन सभी देशोंमें देवता और गन्धर्व निवास करते हैं ।। २३½ ।।

पुष्करे पुष्करो नाम पर्वतो मणिरत्नवान् ।। २४ ।।

पुष्करद्वीपमें पुष्कर नामक पर्वत है, जो मणियों तथा रत्नोंसे भरा हुआ है ।। २४ ।।

तत्र नित्यं प्रभवति स्वयं देवः प्रजापतिः ।
तं पर्युपासते नित्यं देवाः सर्वे महर्षयः ।। २५ ।।
वाग्भिर्मनोऽनुकूलाभिः पूजयन्तो जनाधिप ।

वहाँ स्वयं प्रजापति भगवान् ब्रह्मा नित्य निवास करते हैं। जनेश्वर! सम्पूर्ण देवता और महर्षि मनोनुकूल वचनोंद्वारा प्रतिदिन उनकी पूजा करते हुए सदा उन्हींकी उपासनामें लगे रहते हैं ।। २५½ ।।

जम्बूद्वीपात् प्रवर्तन्ते रत्नानि विविधान्युत ।। २६ ।।
द्वीपेषु तेषु सर्वेषु प्रजानां कुरुसत्तम ।
ब्रह्मचर्येण सत्येन प्रजानां हि दमेन च ।। २७ ।।
आरोग्यायुःप्रमाणाभ्यां द्विगुणं द्विगुणं ततः ।

जम्बूद्वीपसे अनेक प्रकारके रत्न अन्यान्य सब द्वीपोंमें वहाँकी प्रजाओंके उपयोगके लिये भेजे जाते हैं। कुरुश्रेष्ठ! ब्रह्मचर्य, सत्य और इन्द्रियसंयमके प्रभावसे उन सब द्वीपोंकी प्रजाओंके आरोग्य और आयुका प्रमाण जम्बूद्वीपकी अपेक्षा उत्तरोत्तर दूना माना गया है ।।

एको जनपदो राजन् द्वीपेष्वेतेषु भारत ।
उक्ता जनपदा येषु धर्मश्चैकः प्रदृश्यते ।। २८ ।।

भरतवंशी नरेश! वास्तवमें इन देशोंमें एक ही जनपद है। जिन द्वीपोंमें अनेक जनपद बताये गये हैं, उनमें भी एक प्रकारका ही धर्म देखा जाता है ।। २८ ।।

ईश्वरो दण्डमुद्यम्य स्वयमेव प्रजापतिः ।
द्वीपानेतान् महाराज रक्षंस्तिष्ठति नित्यदा ।। २९ ।।

महाराज! सबके ईश्वर प्रजापति ब्रह्मा स्वयं ही दण्ड लेकर इन द्वीपोंकी रक्षा करते हुए इनमें नित्य निवास करते हैं ।। २९ ।।

स राजा स शिवो राजन् स पिता प्रपितामहः ।
गोपायति नरश्रेष्ठ प्रजाः सजडपण्डिताः ।। ३० ।।

नरश्रेष्ठ! प्रजापति ही वहाँके राजा हैं। वे कल्याणस्वरूप होकर सबका कल्याण करते हैं। राजन्! वे ही पिता और प्रपितामह हैं। जडसे लेकर चेतनतक समस्त प्रजाकी वे ही रक्षा करते हैं ।। ३० ।।

भोजनं चात्र कौरव्य प्रजाः स्वयमुपस्थितम् ।
सिद्धमेव महाबाहो तद्धि भुञ्जन्ति नित्यदा ।। ३१ ।।

महाबाहु कुरुनन्दन! यहाँकी प्रजाओंके पास सदा पका-पकाया भोजन स्वयं उपस्थित हो जाता है और उसीको खाकर वे लोग रहते हैं ।। ३१ ।।

ततः परं समा नाम दृश्यते लोकसंस्थितिः ।
चतुरस्रं महाराज त्रयस्त्रिंशत् तु मण्डलम् ।। ३२ ।।

उसके बाद समानामवाली लोगोंकी बस्ती देखी जाती है। महाराज! वह चौकोर बसी हुई है। उसमें तैंतीस मण्डल हैं ।। ३२ ।।

तत्र तिष्ठन्ति कौरव्य चत्वारो लोकसम्मताः ।
दिग्गजा भरतश्रेष्ठ वामनैरावतादयः ।। ३३ ।।

कुरुनन्दन! भरतश्रेष्ठ! वहाँ लोकविख्यात वामन, ऐरावत, सुप्रतीक और अंजन—ये चार दिग्गज रहते हैं ।।

सुप्रतीकस्तथा राजन् प्रभिन्नकरटामुखः ।
तस्याहं परिमाणं तु न संख्यातुमिहोत्सहे ।। ३४ ।।
असंख्यातः स नित्यं हि तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।

राजन्! इनमेंसे सुप्रतीक नामक गजराज, जिसके गण्डस्थलसे मदकी धारा बहती रहती है, उसका परिमाण कैसा और कितना है, यह मैं नहीं बता सकता। वह नीचे-ऊपर तथा अगल-बगलमें सब ओर फैला हुआ है। वह अपरिमित है ।। ३४ $\frac{१}{२}$ ।।

तत्र वै वायवो वान्ति दिग्भ्यः सर्वाभ्य एव हि ।। ३५ ।।
असम्बद्धा महाराज तान् निगृह्णन्ति ते गजाः ।
पुष्करैः पद्मसंकाशैर्विकसद्भिर्महाप्रभैः ।। ३६ ।।
शतधा पुनरेवाशु ते तान् मुञ्चन्ति नित्यशः ।
श्वसद्भिर्मुच्यमानास्तु दिग्गजैरिह मारुताः ।। ३७ ।।
आगच्छन्ति महाराज ततस्तिष्ठन्ति वै प्रजाः ।

वहाँ सब दिशाओंसे खुली हुई हवा आती है। उसे वे चारों दिग्गज ग्रहण करके रोक रखते हैं। फिर वे विकसित कमलसदृश परम कान्तिमान् शुण्डदण्डके अग्रभागसे उस हवाको सैकड़ों भागोंमें करके तुरंत ही सब ओर छोड़ते हैं, यह उनका नित्यका काम है। महाराज! साँस लेते हुए उन दिग्गजोंके मुखसे मुक्त होकर जो वायु यहाँ आती है, उसीसे सारी प्रजा जीवन धारण करती है ।।

धृतराष्ट्र उवाच

परो वै विस्तरोऽत्यर्थं त्वया संजय कीर्तितः ।। ३८ ।।
दर्शितं द्वीपसंस्थानमुत्तरं ब्रूहि संजय ।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! तुमने द्वीपोंकी स्थितिके विषयमें तो बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है। अब जो अन्तिम विषय—सूर्य, चन्द्रमा तथा राहुका प्रमाण बताना शेष रह गया है,

उसका वर्णन करो ।। ३८½ ।।

संजय उवाच

उक्ता द्वीपा महाराज ग्रहं वै शृणु तत्त्वतः ।। ३९ ।।
स्वर्भानोः कौरवश्रेष्ठ यावदेव प्रमाणतः ।
परिमण्डलो महाराज स्वर्भानुः श्रूयते ग्रहः ।। ४० ।।

संजय बोले—महाराज! मैंने द्वीपोंका वर्णन तो कर दिया। अब ग्रहोंका यथार्थ वर्णन सुनिये। कौरव-श्रेष्ठ! राहुकी जितनी बड़ी लंबाई-चौड़ाई सुननेमें आती है, वह आपको बताता हूँ। महाराज! सुना है कि राहु ग्रह मण्डलाकार है ।। ३९-४० ।।

योजनानां सहस्राणि विष्कम्भो द्वादशास्य वै ।
परिणाहेन षट्त्रिंशद् विपुलत्वेन चानघ ।। ४१ ।।

निष्पाप नरेश! राहु ग्रहका व्यासगत विस्तार बारह हजार योजन है और उसकी परिधिका विस्तार छत्तीस हजार योजन है ।। ४१ ।।

षष्टिमाहुः शतान्यस्य बुधाः पौराणिकास्तथा ।
चन्द्रमास्तु सहस्राणि राजन्नेकादश स्मृतः ।। ४२ ।।

पौराणिक विद्वान् उसकी विपुलता (मोटाई) छः हजार योजनकी बताते हैं। राजन्! चन्द्रमाका व्यास ग्यारह हजार योजन है ।। ४२ ।।

विष्कम्भेण कुरुश्रेष्ठ त्रयस्त्रिंशत् तु मण्डलम् ।
एकोनषष्टिविष्कम्भं शीतरश्मेर्महात्मनः ।। ४३ ।।

कुरुश्रेष्ठ! उनकी परिधि या मण्डलका विस्तार तैंतीस हजार योजन बताया गया है और महामना शीतरश्मि चन्द्रमाका वैपुल्यगत विस्तार (मोटाई) उनसठ सौ योजन है ।। ४३ ।।

सूर्यस्त्वष्टौ सहस्राणि द्वे चान्ये कुरुनन्दन ।
विष्कम्भेण ततो राजन् मण्डलं त्रिंशता समम् ।। ४४ ।।
अष्टपञ्चाशतं राजन् विपुलत्वेन चानघ ।
श्रूयते परमोदारः पतगोऽसौ विभावसुः ।। ४५ ।।

कुरुनन्दन! सूर्यका व्यासगत विस्तार दस हजार योजन है और उनकी परिधि या मण्डलका विस्तार तीस हजार योजन है तथा उनकी विपुलता अट्ठावन सौ योजनकी है। अनघ! इस प्रकार शीघ्रगामी परम उदार भगवान् सूर्यके त्रिविध विस्तारका वर्णन सुना जाता है ।। ४४-४५ ।।

एतत् प्रमाणमर्कस्य निर्दिष्टमिह भारत ।
स राहुश्छादयत्येतौ यथाकालं महत्तया ।। ४६ ।।
चन्द्रादित्यौ महाराज संक्षेपोऽयमुदाहृतः ।
इत्येतत् ते महाराज पृच्छतः शास्त्रचक्षुषा ।। ४७ ।।

सर्वमुक्तं यथातत्त्वं तस्माच्छममवाप्नुहि ।

भारत! यहाँ सूर्यका प्रमाण बताया गया, इन दोनोंसे अधिक विस्तार रखनेके कारण राहु यथासमय इन सूर्य और चन्द्रमाको आच्छादित कर लेता है। महाराज! आपके प्रश्नके अनुसार शास्त्रदृष्टिसे ग्रहोंके विषयमें संक्षेपसे बताया गया। ये सारी बातें मैंने आपके सामने यथार्थरूपसे उपस्थित की हैं। अतः आप शान्ति धारण कीजिये ।। ४६-४७½ ।।

यथोद्दिष्टं मया प्रोक्तं सनिर्माणमिदं जगत् ।। ४८ ।।

तस्मादाश्वस कौरव्य पुत्रं दुर्योधनं प्रति ।

इस जगत्का स्वरूप कैसा है और इसका निर्माण किस प्रकार हुआ है, ये सब बातें मैंने शास्त्रोक्त रीतिसे बतायी हैं; अतः कुरुनन्दन! आप अपने पुत्र दुर्योधनकी ओरसे निश्चिन्त रहिये ।। ४८½ ।।

श्रुत्वेदं भरतश्रेष्ठ भूमिपर्व मनोनुगम् ।। ४९ ।।

श्रीमान् भवति राजन्यः सिद्धार्थः साधुसम्मतः ।

आयुर्बलं च कीर्तिश्च तस्य तेजश्च वर्धते ।। ५० ।।

भरतश्रेष्ठ! जो राजा इस भूमिपर्वको मनोयोगपूर्वक सुनता है, वह श्रीसम्पन्न, सफलमनोरथ तथा श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सम्मानित होता है और उसके बल, आयु, कीर्ति तथा तेजकी वृद्धि होती है ।। ४९-५० ।।

यः शृणोति महीपाल पर्वणीदं यतव्रतः ।

प्रीयन्ते पितरस्तस्य तथैव च पितामहाः ।। ५१ ।।

भूपाल! जो मनुष्य दृढ़तापूर्वक संयम एवं व्रतका पालन करते हुए प्रत्येक पर्वके दिन इस प्रसंगको सुनता है, उसके पितर और पितामह पूर्ण तृप्त होते हैं ।। ५१ ।।

इदं तु भारतं वर्षं यत्र वर्तामहे वयम् ।

पूर्वैः प्रवर्तितं पुण्यं तत् सर्वं श्रुतवानसि ।। ५२ ।।

राजन्! जिसमें हमलोग निवास करते हैं और जहाँ हमारे पूर्वजोंने पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान किया है, यह वही भारतवर्ष है। आपने इसका पूरा-पूरा वर्णन सुन लिया है ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भूमिपर्वणि उत्तरद्वीपादिसंस्थानवर्णने द्वादशोऽध्यायः ।। १२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भूमिपर्वमें उत्तरद्वीपादिसंस्थानवर्णनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२ ।।

(श्रीमद्भगवद्गीतापर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

संजयका युद्धभूमिसे लौटकर धृतराष्ट्रको भीष्मकी मृत्युका समाचार सुनाना

वैशम्पायन उवाच

अथ गावल्गणिर्विद्वान् संयुगादेत्य भारत ।
प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य भूतभव्यभविष्यवित् ।। १ ।।
ध्यायते धृतराष्ट्राय सहसोत्पत्य दुःखितः ।
आचष्ट निहतं भीष्मं भरतानां पितामहम् ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन! तदनन्तर एक दिनकी बात है कि भूत, वर्तमान और भविष्यके ज्ञाता एवं सब घटनाओंको प्रत्यक्ष देखनेवाले गवल्गणपुत्र विद्वान् संजयने युद्धभूमिसे लौटकर सहसा चिन्तामग्न धृतराष्ट्रके पास जा अत्यन्त दुःखी होकर भरतवंशियोंके पितामह भीष्मके युद्धभूमिमें मारे जानेका समाचार बताया ।। १-२ ।।

संजय उवाच

संजयोऽहं महाराज नमस्ते भरतर्षभ ।
हतो भीष्मः शान्तनवो भरतानां पितामहः ।। ३ ।।

संजय बोले—महाराज! भरतश्रेष्ठ! आपको नमस्कार है। मैं संजय आपकी सेवामें उपस्थित हूँ। भरतवंशियोंके पितामह और महाराज शान्तनुके पुत्र भीष्मजी आज युद्धमें मारे गये ।। ३ ।।

ककुदं सर्वयोधानां धाम सर्वधनुष्मताम् ।
शरतल्पगतः सोऽद्य शेते कुरुपितामहः ।। ४ ।।

जो समस्त योद्धाओंके ध्वजस्वरूप और सम्पूर्ण धनुर्धरोंके आश्रय थे, वे ही कुरुकुलपितामह भीष्म आज बाणशय्यापर सो रहे हैं ।। ४ ।।

यस्य वीर्यं समाश्रित्य द्यूतं पुत्रस्तवाकरोत् ।
स शेते निहतो राजन् संख्ये भीष्मः शिखण्डिना ।। ५ ।।

राजन्! आपके पुत्र दुर्योधनने जिनके बाहुबलका भरोसा करके जूएका खेल किया था, वे भीष्म शिखण्डीके हाथों मारे जाकर रणभूमिमें शयन करते हैं ।। ५ ।।

यः सर्वान् पृथिवीपालान् समवेतान् महामृधे ।
जिगायैकरथेनैव काशिपूर्यां महारथः ।। ६ ।।
जामदग्न्यं रणे रामं योऽयुध्यदपसम्भ्रमः ।
न हतो जामदग्न्येन स हतोऽद्य शिखण्डिना ।। ७ ।।

जिन महारथी वीर भीष्मने काशिराजकी नगरीमें एकत्र हुए समस्त भूपालोंको अकेला ही रथपर बैठकर महान् युद्धमें पराजित कर दिया था, जिन्होंने रणभूमिमें जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ निर्भय होकर युद्ध किया था और जिन्हें परशुरामजी भी मार न सके, वे ही भीष्म आज शिखण्डीके हाथसे मारे गये ।। ६-७ ।।

महेन्द्रसदृशः शौर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये सहिष्णुत्वे धरासमः ।। ८ ।।

जो शौर्यमें देवराज इन्द्रके समान, स्थिरतामें हिमालयके समान, गम्भीरतामें समुद्रके समान और सहनशीलतामें पृथ्वीके समान थे ।। ८ ।।

शरदंष्ट्रो धनुर्वक्त्रः खड्गजिह्वो दुरासदः ।
नरसिंहः पिता तेऽद्य पाञ्चाल्येन निपातितः ।। ९ ।।

जो मनुष्योंमें सिंह थे, बाण ही जिनकी दाढ़ें थीं, धनुष जिनका फैला हुआ मुख था, तलवार ही जिनकी जिह्वा थी और इसीलिये जिनके पास पहुँचना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन था, वे ही आपके पिता भीष्म आज पांचालराजकुमार शिखण्डीके द्वारा मार गिराये गये ।। ९ ।।

पाण्डवानां महासैन्यं यं दृष्ट्वोद्यतमाहवे ।
प्रावेपत भयोद्विग्नं सिंहं दृष्ट्वेव गोगणः ।। १० ।।
परिरक्ष्य स सेनां ते दशरात्रमनीकहा ।
जगामास्तमिवादित्यः कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।। ११ ।।

जैसे गौओंका झुंड सिंहके देखते ही भयसे व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार जिन्हें युद्धमें हथियार उठाये देख पाण्डवोंकी विशाल वाहिनी भयसे उद्विग्न होकर थरथर काँपने लगती थी, वे ही शत्रुसैन्यसंहारक भीष्म दस दिनोंतक आपकी सेनाका संरक्षण करके अत्यन्त दुष्कर पराक्रम प्रकट करते हुए अन्तमें सूर्यकी भाँति अस्ताचलको चले गये ।। १०-११ ।।

यः स शक्र इवाक्षोभ्यो वर्षन् बाणान् सहस्रशः ।
जघान युधि योधानामर्बुदं दशभिर्दिनैः ।। १२ ।।
स शेते निहतो भूमौ वातभग्न इव द्रुमः ।
तव दुर्मन्त्रिते राजन् यथा नार्हः स भारत ।। १३ ।।

जिन्होंने इन्द्रकी भाँति क्षोभरहित होकर हजारों बाणोंकी वर्षा करते हुए दस दिनोंमें शत्रुपक्षके दस करोड़ योद्धाओंका संहार कर डाला, वे ही आज आँधीके उखाड़े हुए वृक्षकी

भाँति मारे जाकर युद्धभूमिमें सो रहे हैं। भरतवंशी नरेश! यह सब आपकी कुमन्त्रणाका फल है; नहीं तो भीष्मजी इस दुर्दशाके योग्य नहीं थे ।। १२-१३ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि भीष्ममृत्युश्रवणे त्रयोदशोऽध्यायः ।। १३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें भीष्ममृत्युश्रवणविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३ ।।

चतुर्दशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका विलाप करते हुए भीष्मजीके मारे जानेकी घटनाको विस्तारपूर्वक जाननेके लिये संजयसे प्रश्न करना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं कुरूणामृषभो हतो भीष्मः शिखण्डिना ।
कथं रथात् स न्यपतत् पिता मे वासवोपमः ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! कुरुकुलके श्रेष्ठतम पुरुष मेरे पितृतुल्य भीष्म शिखण्डीके हाथसे कैसे मारे गये? वे इन्द्रके समान पराक्रमी थे, वे रथसे कैसे गिरे? ।। १ ।।

कथमाचक्ष्व मे योधा हीना भीष्मेण संजय ।
बलिना देवकल्पेन गुर्वर्थे ब्रह्मचारिणा ।। २ ।।

संजय! जिन्होंने अपने पिताके संतोषके लिये आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया और जो देवताओंके समान बलवान् थे, उन्हीं भीष्मसे रहित होकर आज हमारे सैनिकोंकी कैसी अवस्था हुई है? यह बताओ ।। २ ।।

तस्मिन् हते महाप्राज्ञे महेचासे महाबले ।
महासत्त्वे नरव्याघ्रे किमु आसीन्मनस्तव ।। ३ ।।

महाज्ञानी, महाधनुर्धर, महाबली और महान् धैर्यशाली नरश्रेष्ठ भीष्मजीके मारे जानेपर तुम्हारे मनकी कैसी अवस्था हुई? ।। ३ ।।

आर्तिं परामाविशति मनः शंससि मे हतम् ।
कुरूणामृषभं वीरमकम्पं पुरुषर्षभम् ।। ४ ।।

संजय! तुम कहते हो, अकम्प्य वीर पुरुषसिंह, कुरुकुलशिरोमणि भीष्मजी मारे गये—इसे सुनकर मेरे हृदयमें बड़ी पीड़ा हो रही है ।। ४ ।।

के तं यान्तमनुप्राप्ताः के वास्यासन् पुरोगमाः ।
केऽतिष्ठन् के न्यवर्तन्त केऽन्ववर्तन्त संजय ।। ५ ।।

संजय! जिस समय वे युद्धके लिये अग्रसर हुए थे, उस समय इनके पीछे कौन गये थे अथवा उनके आगे कौन-कौन वीर थे? कौन उनके साथ युद्धमें डटे रहे? कौन युद्ध छोड़कर भाग गये? और किन लोगोंने सर्वथा उनका अनुसरण किया था? ।। ५ ।।

के शूरा रथशार्दूलमद्भुतं क्षत्रियर्षभम् ।
तथानीकं गाहमानं सहसा पृष्ठतोऽन्वयुः ।। ६ ।।

किन शूरवीरोंने शत्रुसेनामें प्रवेश करते समय रथियोंमें सिंहके समान अद्भुत पराक्रमी, क्षत्रियशिरोमणि भीष्मजीके पास सहसा पहुँचकर सदा उनके पृष्ठभागका अनुसरण

किया? ।। ६ ।।

यस्तमोऽर्क इवापोहन् परसैन्यममित्रहा ।

सहस्ररश्मिप्रतिमः परेषां भयमादधत् ।। ७ ।।

जैसे सूर्य अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार शत्रुसूदन भीष्म शत्रुसेनाका नाश करते थे। जिनका तेज सहस्र किरणोंवाले सूर्यके समान था, जिन्होंने शत्रुओंको भयभीत कर रखा था ।। ७ ।।

अकरोद् दुष्करं कर्म रणे पाण्डुसुतेषु यः ।

ग्रसमानमनीकानि य एनं पर्यवारयन् ।। ८ ।।

कृतिनं तं दुराधर्षं संजयास्य त्वमन्तिके ।

कथं शान्तनवं युद्धे पाण्डवाः प्रत्यवारयन् ।। ९ ।।

जिन्होंने युद्धमें पाण्डवोंपर दुष्कर पराक्रम किया था तथा जो उनकी सेनाका निरन्तर संहार कर रहे थे, उन अस्त्रविद्याके ज्ञाता दुर्जय वीर भीष्मजीको जिन्होंने रोका है, वे कौन हैं? संजय! तुम तो उनके पास ही थे, पाण्डवोंने युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मको किस प्रकार आगे बढ़नेसे रोका? ।। ८-९ ।।

निकृन्तन्तमनीकानि शरदंष्ट्रं मनस्विनम् ।

चापव्यात्ताननं घोरमसिजिह्वं दुरासदम् ।। १० ।।

अनर्हं पुरुषव्याघ्रं ह्रीमन्तमपराजितम् ।

पातयामास कौन्तेयः कथं तमजितं युधि ।। ११ ।।

जो शत्रुपक्षकी सेनाओंका निरन्तर उच्छेद करते थे, बाण ही जिनकी दाढ़ें थीं, धनुष ही खुला हुआ मुख था, तलवार ही जिनकी जिह्वा थी, उन भयंकर एवं दुर्धर्ष पुरुषसिंह भीष्मको कुन्तीनन्दन अर्जुनने युद्धमें कैसे मार गिराया? मनस्वी भीष्म इस प्रकार पराजयके योग्य नहीं थे। वे लज्जाशील और पराजय-शून्य थे ।।

उग्रधन्वानमुग्रेषुं वर्तमानं रथोत्तमे ।

परेषामुत्तमाङ्गानि प्रचिन्वन्तमथेषुभिः ।। १२ ।।

जो उत्तम रथपर बैठकर भयंकर धनुष और भयानक बाण लिये शत्रुओंके मस्तकोंको सायकोंद्वारा काट-काटकर उनके ढेर लगा रहे थे ।। १२ ।।

पाण्डवानां महत् सैन्यं यं दृष्ट्वोद्यतमाहवे ।

कालाग्निमिव दुर्धर्षं समचेष्टत नित्यशः ।। १३ ।।

पाण्डवोंकी विशाल सेना दुर्धर्ष कालाग्निके समान जिन्हें युद्धके लिये उद्यत देख सदा काँपने लगती थी ।। १३ ।।

परिकृष्य स सेनां तु दशरात्रमनीकहा ।

जगामास्तमिवादित्यः कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।। १४ ।।

वे ही शत्रुसूदन भीष्म दस दिनोंतक शत्रुओंकी सेनाका संहार करते हुए अत्यन्त दुष्कर पराक्रम दिखाकर सूर्यकी भाँति अस्त हो गये ।। १४ ।।

यः स शक्र इवाक्षय्यं वर्षं शरमयं क्षिपन् ।
जघान युधि योधानामर्बुदं दशभिर्दिनैः ।। १५ ।।
स शेते निहतो भूमौ वातभग्न इव द्रुमः ।
मम दुर्मन्त्रितेनाजौ यथा नार्हति भारत ।। १६ ।।

जिन्होंने इन्द्रके समान युद्धमें दस दिनोंतक अक्षय बाणोंकी वर्षा करके दस करोड़ विपक्षी सेनाओंका संहार कर डाला, वे ही भरतवंशी वीर भीष्म मेरी कुमन्त्रणाके कारण आँधीसे उखाड़े गये वृक्षकी भाँति युद्धमें मारे जाकर पृथ्वीपर शयन कर रहे हैं, वे कदापि इसके योग्य नहीं थे ।। १५-१६ ।।

कथं शान्तनवं दृष्ट्वा पाण्डवानामनीकिनी ।
प्रहर्तुमशकत् तत्र भीष्मं भीमपराक्रमम् ।। १७ ।।

शान्तनुनन्दन भीष्म तो बड़े भयंकर पराक्रमी थे, उन्हें सामने देखकर पाण्डवसेना उनपर प्रहार कैसे कर सकी? ।। १७ ।।

कथं भीष्मेण संग्रामं प्राकुर्वन् पाण्डुनन्दनाः ।
कथं च नाजयद् भीष्मो द्रोणे जीवति संजय ।। १८ ।।

संजय! पाण्डवोंने भीष्मके साथ संग्राम कैसे किया? द्रोणाचार्यके जीते-जी भीष्म विजयी कैसे नहीं हो सके? ।। १८ ।।

कृपे संनिहिते तत्र भरद्वाजात्मजे तथा ।
भीष्मः प्रहरतां श्रेष्ठः कथं स निधनं गतः ।। १९ ।।

उस युद्धमें कृपाचार्य तथा भरद्वाजपुत्र द्रोणाचार्य दोनों ही उनके निकट थे, तो भी योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म कैसे मारे गये? ।। १९ ।।

कथं चातिरथस्तेन पाञ्चाल्येन शिखण्डिना ।
भीष्मो विनिहतो युद्धे देवैरपि दुरासदः ।। २० ।।

भीष्म तो युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्जय एवं अतिरथी थे, फिर पांचालराजकुमार शिखण्डीके हाथसे वे किस प्रकार मारे गये? ।। २० ।।

यः स्पर्धते रणे नित्यं जामदग्न्यं महाबलम् ।
अजितं जामदग्न्येन शक्रतुल्यपराक्रमम् ।। २१ ।।
तं हतं समरे भीष्मं महारथकुलोदितम् ।
संजयाचक्ष्व मे वीरं येन शर्म न विद्महे ।। २२ ।।

जो रणभूमिमें महाबली जमदग्निनन्दन परशुरामसे भी टक्कर लेनेकी सदा इच्छा रखते थे, जिनका पराक्रम इन्द्रके समान था और परशुरामजी भी जिन्हें पराजित न कर सके थे;

संजय! महारथियोंके कुलमें प्रकट हुए वे महावीर भीष्म समरभूमिमें किस प्रकार मारे गये, यह मुझे बताओ; क्योंकि मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ।। २१-२२ ।।

मामकाः के महेष्वासा नाजहुः संजयाच्युतम् ।
दुर्योधनसमादिष्टाः के वीराः पर्यवारयन् ।। २३ ।।

संजय! कभी युद्धसे पीछे न हटनेवाले भीष्मजीका मेरे पक्षके किन महाधनुर्धरोंने साथ नहीं छोड़ा? दुर्योधनकी आज्ञा पाकर किन-किन वीरोंने उन्हें सब ओरसे घेर रखा था? ।। २३ ।।

यच्छिखण्डिमुखाः सर्वे पाण्डवा भीष्ममभ्ययुः ।
कच्चित् ते कुरवः सर्वे नाजहुः संजयाच्युतम् ।। २४ ।।

संजय! जब शिखण्डी आदि समस्त पाण्डव वीरोंने भीष्मपर आक्रमण किया, उस समय समस्त कौरवोंने कहीं अच्युत भीष्मका साथ छोड़ तो नहीं दिया था? ।। २४ ।।

अश्मसारमयं नूनं हृदयं सुदृढं मम ।
यच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं हतं भीष्मं न दीर्यते ।। २५ ।।

अवश्य ही मेरा यह हृदय लोहेके समान सुदृढ़ है, तभी तो पुरुषसिंह भीष्मको मारा गया सुनकर विदीर्ण नहीं होता है! ।। २५ ।।

यस्मिन् सत्यं च मेधा च नीतिश्च भरतर्षभे ।
अप्रमेयाणि दुर्धर्षे कथं स निहतो युधि ।। २६ ।।

जिन दुर्जय वीर भरतभूषण भीष्ममें सत्य, मेधा और नीति—ये तीन अप्रमेय शक्तियाँ थीं, वे युद्धमें कैसे मारे गये? ।। २६ ।।

मौर्वीघोषस्तनयित्नुः पृषत्कपृषतो महान् ।
धनुर्ह्रादमहाशब्दो महामेघ इवोन्नतः ।। २७ ।।

वे युद्धमें महान् मेघके समान ऊँचे उठे हुए थे। धनुषकी टंकार ही उनकी गर्जना थी, बाण ही उनके लिये वर्षाकी बूँदें थीं और धनुषका महान् शब्द ही बिजलीकी गड़गड़ाहटका भयंकर शब्द था ।। २७ ।।

योऽभ्यवर्षत कौन्तेयान् सपाञ्चालान् ससृंजयान् ।
निघ्नन् पररथान् वीरो दानवानिव वज्रभृत् ।। २८ ।।

वीरवर भीष्मने शत्रुपक्षके रथियों—कुन्तीकुमारों, पांचालों तथा सृंजयोंको मारते हुए उनके ऊपर उसी प्रकार बाणोंकी बौछार की, जैसे वज्रधारी इन्द्र दानवोंपर बाणवर्षा करते हैं ।। २८ ।।

इष्वस्त्रसागरं घोरं बाणग्राहं दुरासदम् ।
कार्मुकोर्मिणमक्षय्यमद्वीपं चलमप्लवम् ।। २९ ।।

उनका धनुष-बाण आदि अस्त्रसमूह भयंकर एवं दुर्गम समुद्रके समान था, बाण ही उसमें ग्राह थे, धनुष लहरोंके समान जान पड़ता था, वह अक्षय, द्वीपरहित, चंचल तथा

नौका आदि तैरनेके साधनोंसे शून्य था ।। २९ ।।

गदासिमकरावासं हयावर्तं गजाकुलम् ।

पदातिमत्स्यकलिलं शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनम् ।। ३० ।।

गदा और खड्ग आदि ही उसमें मगरके समान थे। वह अश्वरूपी भँवरोंसे भयावह प्रतीत होता था, उसमें हाथी जलहस्तीके समान प्रतीत होते थे, पैदल सेना उसमें भरे हुए मत्स्योंके समान जान पड़ती थी तथा शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि ही उस समुद्रकी गर्जना थी ।। ३० ।।

हयान् गजपदातींश्च रथांश्च तरसा बहून् ।

निमज्जयन्तं समरे परवीरापहारिणम् ।। ३१ ।।

भीष्मजी उस समुद्रमें शत्रुपक्षके हाथियों, घोड़ों, पैदलों तथा बहुसंख्यक रथोंको वेगपूर्वक डुबो रहे थे। वे समरभूमिमें शत्रुवीरोंके प्राणोंका अपहरण करनेवाले थे ।। ३१ ।।

विदह्यमानं कोपेन तेजसा च परंतपम् ।

वेलेव मकरावासं के वीराः पर्यवारयन् ।। ३२ ।।

अपने क्रोध और तेजसे दग्ध एवं प्रज्वलित-से होते हुए शत्रुसंतापी भीष्मको जैसे तट समुद्रको रोक देता है उसी प्रकार किन वीरोंने आगे बढ़नेसे रोका था ।। ३२ ।।

भीष्मो यदकरोत् कर्म समरे संजयारिहा ।

दुर्योधनहितार्थाय के तस्यास्य पुरोऽभवन् ।। ३३ ।।

केऽरक्षन् दक्षिण चक्रं भीष्मस्यामिततेजसः ।

पृष्ठतः के परान् वीरानपासेधन् यतव्रताः ।। ३४ ।।

शत्रुहन्ता भीष्मने दुर्योधनके हितके लिये समरभूमिमें जो पराक्रम किया था, वह अनुपम है। उस समय कौन-कौनसे योद्धा उनके आगे थे? किन-किन वीरोंने अमिततेजस्वी भीष्मके रथके दाहिने पहियेकी रक्षा की थी? किन लोगोंने दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए उनके पीछेकी ओर रहकर शत्रुपक्षके वीरोंको आगे बढ़नेसे रोका था? ।। ३३-३४ ।।

के पुरस्तादवर्तन्त रक्षन्तो भीष्ममन्तिके ।

केऽरक्षन्नुत्तरं चक्रं वीरा वीरस्य युध्यतः ।। ३५ ।।

कौन-कौनसे वीर निकटसे भीष्मकी रक्षा करते हुए उनके आगे खड़े थे? और किन वीरोंने युद्धमें लगे हुए शूरशिरोमणि भीष्मके बायें पहियेकी रक्षा की थी? ।। ३५ ।।

वामे चक्रे वर्तमानाः केऽघ्नन् संजय सृंजयान् ।

अग्रतोऽग्र्यमनीकेषु केऽभ्यरक्षन् दुरासदम् ।। ३६ ।।

संजय! उनके बायें चक्रकी रक्षामें तत्पर होकर किन-किन योद्धाओंने सृंजयवंशियोंका विनाश किया था? तथा किन्होंने आगे रहकर सेनाके अग्रणी दुर्जय वीर भीष्मकी सब ओरसे रक्षा की थी? ।। ३६ ।।

पार्श्वतः केऽभ्यरक्षन्त गच्छन्तो दुर्गमां गतिम् ।

समूहे के परान् वीरान् प्रत्ययुध्यन्त संजय ।। ३७ ।।

संजय! किन लोगोंने दुर्गम संग्राममें आगे बढ़ते हुए उनके पार्श्वभागका संरक्षण किया था? और किन्होंने उस सैन्यसमूहमें आगे रहकर वीरतापूर्वक शत्रुयोद्धाओंका डटकर सामना किया था? ।। ३७ ।।

रक्ष्यमाणः कथं वीरैर्गोप्यमानाश्च तेन ते ।
दुर्जयानामनीकानि नाजयंस्तरसा युधि ।। ३८ ।।

जब मेरे पक्षके बहुत-से वीर उनकी रक्षा करते थे और वे भी उन वीरोंकी रक्षामें दत्तचित्त थे, तब भी उन सब लोगोंने मिलकर शत्रुपक्षकी दुर्जय सेनाओंको कैसे वेगपूर्वक परास्त नहीं कर दिया? ।। ३८ ।।

सर्वलोकेश्वरस्येव परमेष्ठिप्रजापतेः ।
कथं प्रहर्तुमपि ते शेकुः संजय पाण्डवाः ।। ३९ ।।

संजय! भीष्मजी सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्माजीके समान अजेय थे; फिर पाण्डव उनके ऊपर कैसे प्रहार कर सके? ।। ३९ ।।

यस्मिन् द्वीपे समाश्वस्य युध्यन्ते कुरवः परैः ।
तं निमग्नं नरव्याघ्रं भीष्मं शंससि संजय ।। ४० ।।

संजय! जिन द्वीपस्वरूप भीष्मजीके आश्रयमें निर्भय एवं निश्चिन्त होकर समस्त कौरव शत्रुओंके साथ युद्ध करते थे, उन्हीं नरश्रेष्ठ भीष्मको तुम मारा गया बता रहे हो, यह कितने दुःखकी बात है? ।। ४० ।।

यस्य वीर्यं समाश्रित्य मम पुत्रो बृहद्बलः ।
न पाण्डवानगणयत् कथं स निहतः परैः ।। ४१ ।।

जिनके पराक्रमका आश्रय लेकर विशाल सेनाओंसे सम्पन्न मेरा पुत्र पाण्डवोंको कुछ नहीं गिनता था, वे शत्रुओंद्वारा किस प्रकार मारे गये? ।। ४१ ।।

यः पुरा विबुधैः सर्वैः सहाये युद्धदुर्मदः ।
काङ्क्षितो दानवान् घ्नद्भिः पिता मम महाव्रतः ।। ४२ ।।
यस्मिञ्जाते महावीर्ये शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
शोकं दैन्यं च दुःखं च प्राजहात् पुत्रलक्ष्मणि ।। ४३ ।।
प्रोक्तं परायणं प्राज्ञं स्वधर्मनिरतं शुचिम् ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञं कथं शंससि मे हतम् ।। ४४ ।।

पहलेकी बात है, दानवोंका संहार करनेवाले सम्पूर्ण देवताओंने जिन मेरे महान् व्रतधारी पिता रणदुर्मद भीष्मजीको अपना सहायक बनानेकी अभिलाषा की थी, जिन महापराक्रमी पुत्ररत्नके जन्म लेनेपर लोकविख्यात महाराज शान्तनुने शोक, दीनता और दुःखका सदाके लिये त्याग कर दिया था, जो सबके आश्रयदाता, बुद्धिमान्, स्वधर्मपरायण,

पवित्र और वेदवेदांगोंके तत्त्वज्ञ बताये गये हैं, उन्हीं भीष्मको तुम मारा गया कैसे बता रहे हो? ।।

सर्वास्त्रविनयोपेतं शान्तं दान्तं मनस्विनम् ।
हतं शान्तनवं श्रुत्वा मन्ये शेषं हतं बलम् ।। ४५ ।।

जो सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षासे सम्पन्न, शान्त, जितेन्द्रिय और मनस्वी थे, उन शान्तनुनन्दन भीष्मको मारा गया सुनकर मुझे यह विश्वास हो गया कि अब हमारी सारी सेना मार दी गयी ।। ४५ ।।

धर्मादधर्मो बलवान् सम्प्राप्त इति मे मतिः ।
यत्र वृद्धं गुरुं हत्वा राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः ।। ४६ ।।

आज मुझे निश्चितरूपसे ज्ञात हुआ कि धर्मसे अधर्म ही बलवान् है; क्योंकि पाण्डव अपने वृद्ध गुरुजनकी हत्या करके राज्य लेना चाहते हैं ।। ४६ ।।

जामदग्न्यः पुरा रामः सर्वास्त्रविदनुत्तमः ।
अम्बार्थमुद्यतः संख्ये भीष्मेण युधि निर्जितः ।। ४७ ।।
तमिन्द्रसमकर्माणं ककुदं सर्वधन्विनाम् ।
हतं शंससि मे भीष्मं किं नु दुःखमतः परम् ।। ४८ ।।

पूर्वकालमें अम्बाके लिये उद्यत होकर सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ जमदग्निनन्दन परशुराम युद्ध करनेके लिये आये थे, परंतु भीष्मने उन्हें परास्त कर दिया, उन्हीं इन्द्रके समान पराक्रमी तथा सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ भीष्मको तुम मारा गया कह रहे हो, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है? ।। ४७-४८ ।।

असकृत् क्षत्रियव्राताः संख्ये येन विनिर्जिताः ।
जामदग्न्येन वीरेण परवीरनिघातिना ।। ४९ ।।
न हतो यो महाबुद्धिः स हतोऽद्य शिखण्डिना ।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले जिन वीरवर परशुरामजीने अनेक बार समस्त क्षत्रियोंको युद्धमें परास्त किया था, उनसे भी जो मारे न जा सके, वे ही परम बुद्धिमान् उनसे भीष्म आज शिखण्डीके हाथसे मार दिये गये! ।। ४९$\frac{1}{2}$ ।।

तस्मान्नूनं महावीर्याद्भार्गवाद् युद्धदुर्मदात् ।। ५० ।।
तेजोवीर्यबलैर्भूयान् शिखण्डी द्रुपदात्मजः ।
यः शूरं कृतिनं युद्धे सर्वशास्त्रविशारदम् ।। ५१ ।।
परमास्त्रविदं वीरं जघान भरतर्षभम् ।

इससे जान पड़ता है कि महापराक्रमी युद्धदुर्मद परशुरामजीकी अपेक्षा भी तेज, पराक्रम और बलमें द्रुपदकुमार शिखण्डी निश्चय ही बहुत बढ़ा-चढ़ा है, जिसने सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण, परमास्त्रवेत्ता और शूरवीर विद्वान् भरतकुलभूषण भीष्मजीका वध कर डाला है ।।

के वीरास्तममित्रघ्नमन्वयुः शस्त्रसंसदि ।। ५२ ।।

शंस मे तद् तथा चासीद् युद्धं भीष्मस्य पाण्डवैः ।

योषेव हतवीरा मे सेना पुत्रस्य संजय ।। ५३ ।।

उस समय युद्धमें शत्रुहन्ता भीष्मजीके साथ कौन-कौनसे वीर थे? संजय! पाण्डवोंके साथ भीष्मका किस प्रकार युद्ध हुआ? यह मुझे बताओ। उन वीर सेनापतिके मारे जानेपर मेरे पुत्रकी सेना विधवा स्त्रीके समान असहाय हो गयी है ।। ५२-५३ ।।

अगोपमिव चोद्भ्रान्तं गोकुलं तद् बलं मम ।

पौरुषं सर्वलोकस्य परं यस्मिन् महाहवे ।। ५४ ।।

परासक्ते च वस्तस्मिन् कथमासीन्मनस्तदा ।

जैसे ग्वालेके बिना गौओंका समुदाय इधर-उधर भटकता फिरता है, उसी प्रकार अब मेरी सेना उद्भ्रान्त हो रही होगी। महान् युद्धके समय जिनमें सम्पूर्ण जगत्का परम पुरुषार्थ प्रकट दिखायी देता था, वे ही भीष्म जब परलोकके पथिक हो गये? उस समय तुम लोगोंके मनकी अवस्था कैसी हुई थी ।। ५४½ ।।

जीवितेऽप्यद्य सामर्थ्यं किमिवास्मासु संजय ।। ५५ ।।

घातयित्वा महावीर्यं पितरं लोकधार्मिकम् ।

अगाधे सलिले मग्नां नावं दृष्ट्वेव पारगाः ।। ५६ ।।

संजय! आज जीवित रहनेपर भी हमलोगोंमें क्या सामर्थ्य है? जगत्के विख्यात धर्मात्मा महापराक्रमी पिता भीष्मको युद्धमें मरवाकर हम उसी प्रकार शोकमें डूब गये हैं, जैसे पार जानेकी इच्छावाले पथिक नावको अगाध जलमें डूबी हुई देखकर दुःखी होते हैं ।। ५५-५६ ।।

भीष्मे हते भृशं दुःखान्मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ।

अद्रिसारमयं नूनं हृदयं मम संजय ।। ५७ ।।

यच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं हतं भीष्मं न दीर्यते ।

मैं समझता हूँ कि भीष्मजीके मारे जानेपर मेरे बेटे दुःखके कारण अत्यन्त शोकमग्न हो गये होंगे। संजय! मेरा हृदय निश्चय ही लोहेका बना हुआ है, जो पुरुषसिंह भीष्मको मारा गया सुनकर भी विदीर्ण नहीं हो रहा है ।।

यस्मिन्नस्त्राणि मेधा च नीतिश्च पुरुषर्षभे ।। ५८ ।।

अप्रमेयाणि दुर्धर्षे कथं स निहतो युधि ।

जिन पुरुषरत्न तथा दुर्धर्ष वीरशिरोमणिमें अस्त्र, बुद्धि और नीति तीन अप्रमेय शक्तियाँ थीं, वे युद्धमें कैसे मारे गये? ।। ५८½ ।।

न चास्त्रेण न शौर्येण तपसा मेधया न च ।। ५९ ।।

न धृत्या न पुनस्त्यागान्मृत्योः कश्चिद् विमुच्यते ।

जान पड़ता है कि अस्त्रसे, शौर्यसे, तपस्यासे, बुद्धिसे, धैर्यसे तथा त्यागके द्वारा भी कोई मृत्युसे छूट नहीं सकता है ।। ५९½ ।।

कालो नूनं महावीर्यः सर्वलोकदुरत्ययः ।। ६० ।।

यत्र शान्तनवं भीष्मं हतं शंससि संजय ।

संजय! निश्चय ही कालकी शक्ति बहुत बड़ी है, सम्पूर्ण जगत्‌के लिये वह दुर्लङ्घय है, जिसके अधीन होनेके कारण तुम शान्तनुनन्दन भीष्मको मारा गया बता रहे हो ।। ६०½ ।।

पुत्रशोकाभिसंतप्तो महद् दुःखमचिन्तयम् ।। ६१ ।।

आशंसेऽहं परं त्राणं भीष्माच्छान्तनुनन्दनात् ।

मुझे शान्तनुनन्दन भीष्मसे अपने पक्षके परित्राणकी बड़ी आशा थी। इस समय अपने पुत्रके शोकसे संतप्त होकर मैं महान् दुःखसे चिन्तित हो उठा हूँ ।। ६१½ ।।

यदाऽऽदित्यमिवापश्यत् पतितं भुवि संजय ।। ६२ ।।

दुर्योधनः शान्तनवं किं तदा प्रत्यपद्यत ।

संजय! जब दुर्योधनने शान्तनुनन्दन भीष्मको अस्ताचलगामी सूर्यकी भाँति पृथ्वीपर पड़ा देखा, तब उसने क्या सोचा? ।। ६२½ ।।

नाहं स्वेषां परेषां वा बुद्ध्या संजय चिन्तयन् ।। ६३ ।।

शेषं किंचित् प्रपश्यामि प्रत्यनीके महीक्षिताम् ।

संजय! जब मैं अपनी बुद्धिसे विचार करके देखता हूँ तो अपने अथवा शत्रुपक्षके राजाओंमेंसे किसीका भी जीवन इस युद्धमें शेष रहता नहीं दिखायी देता है ।। ६३½ ।।

दारुणः क्षत्रधर्मोऽयमृषिभिः सम्प्रदर्शितः ।। ६४ ।।

यत्र शान्तनवं हत्वा राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः ।

ऋषियोंने क्षत्रियोंका यह धर्म अत्यन्त कठोर निश्चित किया है, जिसमें रहते हुए पाण्डव शान्तनुनन्दन भीष्मको मारकर राज्य लेना चाहते हैं ।। ६४½ ।।

वयं वा राज्यमिच्छामो घातयित्वा महाव्रतम् ।। ६५ ।।

क्षत्रधर्मे स्थिताः पार्था नापराध्यन्ति पुत्रकाः ।

एतदार्येण कर्तव्यं कृच्छ्रास्वापत्सु संजय ।। ६६ ।।

पराक्रमः परं शक्त्या तत् तु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।

अथवा हम भी तो उन महारथी भीष्मको मरवाकर ही राज्य लेना चाहते हैं। क्षत्रियधर्ममें स्थित हुए मेरे बच्चे कुन्तीकुमारोंका कोई अपराध नहीं है। संजय! दुस्तर आपत्तिके समय श्रेष्ठ पुरुषको यही करना चाहिये, जो भीष्मजीने किया है, कि वह शक्तिके अनुसार अधिक-से-अधिक पराक्रम करे। यह गुण भीष्मजीमें पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित था ।। ६५-६६½ ।।

अनीकानि विनिघ्नन्तं ह्रीमन्तमपराजितम् ।। ६७ ।।

कथं शान्तनवं तातं पाण्डुपुत्रा न्यवारयन् ।

कथं युक्तान्यनीकानि कथं युद्धं महात्मभिः ।। ६८ ।।

भीष्मजी किसीसे पराजित न होनेवाले और लज्जाशील थे। विपक्षी सेनाओंका संहार करते हुए उन मेरे ताऊ भीष्मजीको पाण्डवोंने कैसे रोका? उन महामनस्वी वीरोंने किस प्रकार सेनाएँ संगठित कीं और किस प्रकार युद्ध किया? ।। ६७-६८ ।।

कथं वा निहतो भीष्मः पिता संजय मे परैः ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ।। ६९ ।।
दुःशासनश्च कितवो हते भीष्मे किमब्रुवन् ।

संजय! शत्रुओंने मेरे आदरणीय पिता भीष्मका किस प्रकार वध किया? दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन तथा सुबलपुत्र जुआरी शकुनिने भीष्मजीके मारे जानेपर क्या-क्या बातें कहीं? ।। ६९ १/२ ।।

यच्छरीरैरुपास्तीर्णां नरवारणवाजिनाम् ।। ७० ।।
शरशक्तिमहाखड्गतोमराक्षां महाभयाम् ।
प्राविशन् कितवा मन्दाः सभां युद्धदुरासदाम् ।। ७१ ।।
प्राणद्यूते प्रतिभये केऽदीव्यन्त नरर्षभाः ।

संजय! जहाँ मनुष्य, हाथी और घोड़ोंके शरीर बिछे हुए थे, जहाँ बाण, शक्ति, महान् खड्ग और तोमररूपी पासे फेंके जाते थे, जो युद्धके कारण दुर्गम एवं महान् भय देनेवाली थी, उस रणक्षेत्ररूपी द्यूतसभामें किन-किन मन्दबुद्धि जुआरियोंने प्रवेश किया था? जहाँ प्राणोंकी बाजी लगायी जाती थी, वह भयंकर जूएका खेल किन-किन नरश्रेष्ठ वीरोंने खेला था? ।। ७०-७१ १/२ ।।

के जीयन्ते जितास्तत्र कृतलक्ष्या निपातिताः ।। ७२ ।।
अन्ये भीष्माच्छान्तनवात् तन्ममाचक्ष्व संजय ।

संजय! शान्तनुनन्दन भीष्मके सिवा, उस युद्धमें कौन-कौन-से हार रहे थे, किन-किन लोगोंकी पराजय हुई तथा कौन-कौन वीर बाणोंके लक्ष्य बनकर मार गिराये गये? यह सब मुझे बताओ ।। ७२ १/२ ।।

न हि मे शान्तिरस्तीह श्रुत्वा देवव्रतं हतम् ।। ७३ ।।
पितरं भीमकर्माणं भीष्ममाहवशोभिनम् ।
आर्तिं मे हृदये रूढां महतीं पुत्रहानिजाम् ।। ७४ ।।
त्वं हि मे सर्पिषेवाग्निमुद्दीपयसि संजय ।

युद्धभूमिमें शोभा पानेवाले भयंकर पराक्रमी अपने ताऊ देवव्रत भीष्मको मारा गया सुनकर मेरे हृदयमें शान्ति नहीं रह गयी है। उनके मारे जानेसे मेरे पुत्रोंकी जो हानि होनेवाली है, उसके कारण मेरे मनमें भारी व्यथा जाग उठी है। संजय! तुम अपने वचनरूपी घृतकी आहुति डालकर मेरी उस चिन्ता एवं व्यथारूपी अग्निको और भी उद्दीप्त कर रहे हो ।। ७३-७४ १/२ ।।

महान्तं भारमुद्यम्य विश्रुतं सार्वलौकिकम् ।। ७५ ।।
दृष्ट्वा विनिहतं भीष्मं मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ।
श्रोष्यामि तानि दुःखानि दुर्योधनकृतान्यहम् ।। ७६ ।।

जिन्होंने सम्पूर्ण जगत्में विख्यात इस युद्धके महान् भारको अपनी भुजाओंपर उठा रखा था, उन्हीं भीष्मजीको मारा गया देख मेरे पुत्र भारी शोकमें पड़ गये होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं दुर्योधनके द्वारा प्रकट किये हुए उन दुःखोंको सुनूँगा ।। ७५-७६ ।।

तस्मान्मे सर्वमाचक्ष्व यद् वृत्तं तत्र संजय ।
यद् वृत्तं तत्र संग्रामे मन्दस्याबुद्धिसम्भवम् ।। ७७ ।।
अपनीतं सुनीतं यत् तन्ममाचक्ष्व संजय ।

इसलिये संजय! मुझसे वहाँका सारा वृत्तान्त कहो। मूर्ख दुर्योधनके अज्ञानके कारण उस युद्धमें अन्याय और न्यायकी जो-जो बातें संघटित हुई हों, उन सबका वर्णन करो ।। ७७ $\frac{१}{२}$ ।।

यत् कृतं तत्र संग्रामे भीष्मेण जयमिच्छता ।। ७८ ।।
तेजोयुक्तं कृतास्त्रेण शंस तच्चाप्यशेषतः ।

विजयकी इच्छा रखनेवाले अस्त्रवेत्ता भीष्मजीने उस युद्धमें अपनी तेजस्विताके अनुरूप जो-जो कार्य किया हो, वह सभी पूर्णरूपसे मुझे बताओ ।। ७८ $\frac{१}{२}$ ।।

तथा तदभवद् युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ।। ७९ ।।
क्रमेण येन यस्मिंश्च काले यच्च यथाभवत् ।। ८० ।।

कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंका वह युद्ध जिस समय, जिस क्रमसे और जिस रूपमें हुआ था, वह सब कहो ।। ७९-८० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि धृतराष्ट्रप्रश्ने चतुर्दशोऽध्यायः ।। १४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें धृतराष्ट्रका प्रश्नविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४ ।।

पञ्चदशोऽध्यायः

संजयका युद्धके वृत्तान्तका वर्णन आरम्भ करना—दुर्योधनका दुःशासनको भीष्मकी रक्षाके लिये समुचित व्यवस्था करनेका आदेश

संजय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो महाराज यथार्हसि ।
न तु दुर्योधने दोषमिममासंक्तुमर्हसि ।। १ ।।

संजयने कहा—महाराज! आपने जो ये बारंबार अनेक प्रश्न किये हैं, वे सर्वथा उचित और आपके योग्य ही हैं; परंतु यह सारा दोष आपको दुर्योधनके ही माथेपर नहीं मढ़ना चाहिये ।। १ ।।

य आत्मनो दुश्चरितादशुभं प्राप्नुयान्नरः ।
एनसा तेन नान्यं स उपाशङ्कितुमर्हति ।। २ ।।

जो मनुष्य अपने दुष्कर्मोंके कारण अशुभ फल भोग रहा हो, उसे उस पापकी आशंका दूसरेपर नहीं करनी चाहिये ।। २ ।।

महाराज मनुष्येषु निन्द्यं यः सर्वमाचरेत् ।
स वध्यः सर्वलोकस्य निन्दितानि समाचरन् ।। ३ ।।

महाराज! जो पुरुष मनुष्य-समाजमें सर्वथा निन्दनीय आचरण करता है, वह निन्दित कर्म करनेके कारण सब लोगोंके लिये मार डालनेयोग्य है ।। ३ ।।

निकारो निकृतिप्रज्ञैः पाण्डवैस्त्वत्प्रतीक्षया ।
अनुभूतः सहामात्यैः क्षान्तश्च सुचिरं वने ।। ४ ।।

पाण्डव आपलोगोंद्वारा अपने प्रति किये गये अपमान एवं कपटपूर्ण बर्तावको अच्छी तरह जानते थे, तथापि उन्होंने केवल आपकी ओर देखकर—आपके द्वारा न्यायोचित बर्ताव होनेकी आशा रखकर दीर्घकालतक अपने मन्त्रियोंसहित वनमें रहकर क्लेश भोगा और सब कुछ सहन किया ।। ४ ।।

हयानां च गजानां च राज्ञां चामिततेजसाम् ।
प्रत्यक्षं यन्मया दृष्टं दृष्टं योगबलेन च ।। ५ ।।
शृणु तत् पृथिवीपाल मा च शोके मनः कृथाः ।
दिष्टमेतत् पुरा नूनमिदमेव नराधिप ।। ६ ।।

भूपाल! मैंने हाथियों, घोड़ों तथा अमिततेजस्वी राजाओंके विषयमें जो कुछ अपनी आँखों देखा है और योगबलसे जिसका साक्षात्कार किया है, वह सब वृत्तान्त सुना रहा हूँ,

सुनिये। अपने मनको शोकमें न डालिये। नरेश्वर! निश्चय ही दैवका यह सारा विधान मुझे पहलेसे ही प्रत्यक्ष हो चुका है ।। ५-६ ।।

नमस्कृत्वा पितुस्तेऽहं पाराशर्याय धीमते ।
यस्य प्रसादाद् दिव्यं तत् प्राप्तं ज्ञानमनुत्तमम् ।। ७ ।।
दृष्टिश्चातीन्द्रिया राजन् दूराच्छ्रवणमेव च ।
परचित्तस्य विज्ञानमतीतानागतस्य च ।। ८ ।।
व्युत्थितोत्पत्तिविज्ञानमाकाशे च गतिः शुभा ।
अस्त्रैरसंगो युद्धेषु वरदानान्महात्मनः ।। ९ ।।
शृणु मे विस्तरेणेदं विचित्रं परमाद्भुतम् ।
भरतानामभूद् युद्धं यथा तल्लोमहर्षणम् ।। १० ।।

राजन्! जिनके कृपाप्रसादसे मुझे परम उत्तम दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है, इन्द्रियातीत विषयको भी प्रत्यक्ष देखनेवाली दृष्टि मिली है, दूरसे भी सब कुछ सुननेकी शक्ति, दूसरेके मनकी बातोंको समझ लेनेकी सामर्थ्य, भूत और भविष्यका ज्ञान, शास्त्रके विपरीत चलनेवाले मनुष्योंकी उत्पत्तिका ज्ञान, आकाशमें चलने-फिरनेकी उत्तम शक्ति तथा युद्धके समय अस्त्रोंसे अपने शरीरके अछूते रहनेका अद्भुत चमत्कार आदि बातें जिन महात्माके वरदानसे मेरे लिये सम्भव हुई हैं, उन्हीं आपके पिता पराशरनन्दन बुद्धिमान् व्यासजीको नमस्कार करके भरतवंशियोंके इस अत्यन्त अद्भुत, विचित्र एवं रोमांचकारी युद्धका वर्णन आरम्भ करता हूँ। आप मुझसे यह सब कुछ जिस प्रकार हुआ था, वह विस्तारपूर्वक सुनें ।। ७—१० ।।

तेष्वनीकेषु यत्तेषु व्यूढेषु च विधानतः ।
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमथाब्रवीत् ।। ११ ।।

महाराज! जब समस्त सेनाएँ शास्त्रीय विधिके अनुसार व्यूह-रचनापूर्वक अपने-अपने स्थानपर युद्धके लिये तैयार हो गयीं, उस समय दुर्योधनने दुःशासनसे कहा— ।। ११ ।।

दुःशासन रथास्तूर्णं युज्यन्तां भीष्मरक्षिणः ।
अनीकानि च सर्वाणि शीघ्रं त्वमनुचोदय ।। १२ ।।

‘दुःशासन! तुम भीष्मजीकी रक्षा करनेवाले रथोंको शीघ्र तैयार कराओ। सम्पूर्ण सेनाओंको भी शीघ्र उनकी रक्षाके लिये तैयार हो जानेकी आज्ञा दो ।। १२ ।।

अयं स मामभिप्राप्तो वर्षपूगाभिचिन्तितः ।
पाण्डवानां ससैन्यानां कुरूणां च समागमः ।। १३ ।।

‘मैं वर्षोंसे जिसके लिये चिन्तित था, वह यह सेनासहित कौरव-पाण्डवोंका महान् संग्राम मेरे सामने उपस्थित हो गया है ।। १३ ।।

नातः कार्यतमं मन्ये रणे भीष्मस्य रक्षणात् ।
हन्याद् गुप्तो ह्यसौ पार्थान् सोमकांश्च ससृंजयान् ।। १४ ।।

‘इस समय युद्धमें भीष्मजीकी रक्षासे बढ़कर दूसरा कोई कार्य मैं आवश्यक नहीं समझता हूँ; क्योंकि वे सुरक्षित रहें तो कुन्तीके पुत्रों, सोमकवंशियों तथा सृंजयोंको भी मार सकते हैं ।। १४ ।।

अब्रवीच्च विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
श्रूयते स्त्री ह्यसौ पूर्वं तस्माद् वर्ज्यो रणे मम ।। १५ ।।

विशुद्ध हृदयवाले पितामह भीष्म मुझसे कह चुके हैं कि ‘मैं शिखण्डीको युद्धमें नहीं मारूँगा; क्योंकि सुननेमें आया है कि वह पहले स्त्री था, अतः रणभूमिमें मेरे लिये वह सर्वथा त्याज्य है’ ।। १५ ।।

तस्माद् भीष्मो रक्षितव्यो विशेषेणेति मे मतिः ।
शिखण्डिनो वधे यत्ताः सर्वे तिष्ठन्तु मामकाः ।। १६ ।।

‘इसलिये मेरा विचार है कि इस समय हमें विशेष रूपसे भीष्मजीकी रक्षामें ही तत्पर रहना चाहिये। मेरे सारे सैनिक शिखण्डीको मार डालनेका प्रयत्न करें ।। १६ ।।

तथा प्राच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्योत्तरापथाः ।
सर्वथास्त्रेषु कुशलास्ते रक्षन्तु पितामहम् ।। १७ ।।

‘पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर दिशाके जो-जो वीर अस्त्रविद्यामें सर्वथा कुशल हों, वे ही पितामह (भीष्म)-की रक्षा करें ।। १७ ।।

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाबलम् ।
मा सिंहं जम्बुकेनेव घातयामः शिखण्डिना ।। १८ ।।

‘यदि महाबली सिंह भी अरक्षित-दशामें हो तो उसे एक भेड़िया भी मार सकता है। हमें चाहिये कि सियारके समान शिखण्डीके द्वारा सिंहसदृश भीष्मको न मरने दें ।। १८ ।।

वामं चक्रं युधामन्युरुत्तमौजाश्च दक्षिणम् ।
गोप्तारौ फाल्गुनं प्राप्तौ फाल्गुनोऽपि शिखण्डिनः ।। १९ ।।

‘अर्जुनके बायें पहियेकी रक्षा युधामन्यु और दाहिनेकी रक्षा उत्तमौजा कर रहे हैं। अर्जुनको ये दो रक्षक प्राप्त हैं और अर्जुन शिखण्डीकी रक्षा कर रहे हैं ।। १९ ।।

संरक्ष्यमाणः पार्थेन भीष्मेण च विवर्जितः ।
यथा न हन्याद् गाङ्गेयं दुःशासन तथा कुरु ।। २० ।।

‘अतः दुःशासन! भीष्मसे उपेक्षित तथा अर्जुनसे सुरक्षित होकर शिखण्डी जिस प्रकार गंगानन्दन भीष्मको न मार सके, वैसा प्रयत्न करो’ ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि दुर्योधनदुःशासनसंवादे पञ्चदशोऽध्यायः ।। १५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें दुर्योधन-दुःशासनसंवादविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १५ ।।

षोडशोऽध्यायः

दुर्योधनकी सेनाका वर्णन

संजय उवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां शब्दः समभवन्महान् ।
क्रोशतां भूमिपालानां युज्यतां युज्यतामिति ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर रात्रिके अन्तमें सबेरा होते ही 'रथ जोतो, युद्धके लिये तैयार हो जाओ।' इस प्रकार जोर-जोरसे बोलनेवाले राजाओंका महान् कोलाहल सब ओर छा गया ।। १ ।।

शङ्खदुन्दुभिघोषैश्च सिंहनादैश्च भारत ।
हयहेषितनादैश्च रथनेमिस्वनैस्तथा ।। २ ।।
गजानां बृंहतां चैव योधानां चापि गर्जताम् ।
क्ष्वेलितास्फोटितोत्क्रुष्टैस्तुमुलं सर्वतोऽभवत् ।। ३ ।।

भरतनन्दन! शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि, वीरोंके सिंहनाद, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, रथके पहियोंकी घरघराहट, हाथियोंकी गर्जना तथा गर्जते हुए योद्धाओंके सिंहनाद करने, ताल ठोंकने और जोर-जोरसे बोलने आदिकी तुमुल ध्वनि सब ओर व्याप्त हो गयी ।। २-३ ।।

उदतिष्ठन्महाराज सर्वं युक्तमशेषतः ।
सूर्योदये महत् सैन्यं कुरुपाण्डवसेनयोः ।। ४ ।।

महाराज! सूर्योदय होते-होते कौरवों और पाण्डवोंकी वह सारी विशाल सेना सम्पूर्ण रूपसे युद्धके लिये तैयार हो उठी ।। ४ ।।

राजेन्द्र तव पुत्राणां पाण्डवानां तथैव च ।
दुष्प्रधृष्याणि चास्त्राणि सशस्त्रकवचानि च ।। ५ ।।

राजेन्द्र! आपके पुत्रों तथा पाण्डवोंके दुर्दम्य अस्त्र-शस्त्र तथा कवच चमक उठे ।। ५ ।।

ततः प्रकाशे सैन्यानि समदृश्यन्त भारत ।
त्वदीयानां परेषां च शस्त्रवन्ति महान्ति च ।। ६ ।।

भारत! तब सूर्योदयके प्रकाशमें आपकी और शत्रुओंकी सारी सेनाएँ शस्त्रोंसे सुसज्जित तथा अत्यन्त विशाल दिखायी देने लगीं ।। ६ ।।

तत्र नागा रथाश्चैव जाम्बूनदपरिष्कृताः ।
विभ्राजमाना दृश्यन्ते मेघा इव सविद्युतः ।। ७ ।।

जाम्बूनद नामक सुवर्णसे विभूषित आपके हाथी और रथ बिजलियोंसहित मेघोंकी घटाके समान प्रकाशमान दिखायी देते थे ।। ७ ।।

रथानीकान्यदृश्यन्त नगराणीव भूरिशः ।
अतीव शुशुभे तत्र पिता ते पूर्णचन्द्रवत् ।। ८ ।।

बहुसंख्यक रथोंकी सेनाएँ नगरोंके समान दृष्टिगोचर हो रही थीं। उनके बीच आपके ताऊ भीष्मजी, पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे ।। ८ ।।

धनुर्भिर्ऋष्टिभिः खड्गैर्गदाभिः शक्तितोमरैः ।
योधाः प्रहरणैः शुभ्रैस्तेष्वनीकेष्ववस्थिताः ।। ९ ।।

आपकी सेनाके सैनिक धनुष, खड्ग, ऋष्टि, गदा, शक्ति और तोमर आदि चमकीले अस्त्र-शस्त्र लेकर उन सेनाओंमें खड़े थे ।। ९ ।।

गजाः पदाता रथिनस्तुरगाश्च विशाम्पते ।
व्यतिष्ठन् वागुराकाराः शतशोऽथ सहस्रशः ।। १० ।।

प्रजानाथ! हाथी, घोड़े, पैदल और रथी, शत्रुओंको बाँधनेके लिये जाल-से बनकर एक-एक जगह सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें खड़े थे ।। १० ।।

ध्वजा बहुविधाकारा व्यदृश्यन्त समुच्छ्रिताः ।
स्वेषां चैव परेषां च द्युतिमन्तः सहस्रशः ।। ११ ।।

अपने और शत्रुओंके अनेक प्रकारके ऊँचे-ऊँचे चमकीले ध्वज हजारोंकी संख्यामें दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। ११ ।।

काञ्चना मणिचित्राङ्गा ज्वलन्त इव पावकाः ।
अर्चिष्मन्तो व्यरोचन्त गजारोहाः सहस्रशः ।। १२ ।।

सुवर्णमय आभूषण पहने, मणियोंके अलंकारोंसे विचित्र अंगोंवाले, सहस्रों हाथीसवार सैनिक अपनी प्रभासे शिखाओंसहित प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ।। १२ ।।

महेन्द्रकेतवः शुभ्रा महेन्द्रसदनेष्विव ।
संनद्धास्ते प्रवीराश्च ददृशुर्युद्धकाङ्क्षिणः ।। १३ ।।

जैसे इन्द्रभवनमें देवराज इन्द्रके चमकीले ध्वज फहराते रहते हैं, उसी प्रकार कौरव-पाण्डवसेनाके ध्वज भी फहरा रहे थे। दोनों सेनाओंके प्रमुख वीर युद्धकी अभिलाषा रखकर कवच आदिसे सुसज्जित दिखायी दे रहे थे ।। १३ ।।

उद्यतैरायुधैश्चित्रास्तलबद्धाः कलापिनः ।
ऋषभाक्षा मनुष्येन्द्राश्चमूमुखगता बभुः ।। १४ ।।

उनके हथियार उठे हुए थे। वे हाथमें दस्ताने और पीठपर तरकश बाँधे सेनाके मुहानेपर खड़े हुए भूपालगण अद्भुत शोभा पा रहे थे। उनकी आँखें बैलोंकी आँखोंके समान बड़ी-बड़ी दिखायी दे रही थीं ।। १४ ।।

शकुनिः सौबलः शल्यः सैन्धवोऽथ जयद्रथः ।

विन्दानुविन्दौ कैकेयाः काम्बोजस्य सुदक्षिणः ।। १५ ।।

श्रुतायुधश्च कालिङ्गो जयत्सेनश्च पार्थिवः ।

बृहद्बलश्च कौशल्यः कृतवर्मा च सात्वतः ।। १६ ।।

दशैते पुरुषव्याघ्राः शूरा परिघबाहवः ।

अक्षौहिणीनां पतयो यज्वानो भूरिदक्षिणाः ।। १७ ।।

सुबलपुत्र शकुनि, शल्य, स्विन्धुनरेश जयद्रथ, विन्द-अनुविन्द, केकयराजकुमार, काम्बोजराज सुदक्षिण, कलिंगराज श्रुतायुध, राजा जयत्सेन, कोशलनरेश बृहद्बल तथा भोजवंशी कृतवर्मा—ये दस पुरुषसिंह शूरवीर क्षत्रिय एक-एक अक्षौहिणी सेनाके अधिनायक थे। इनकी भुजाएँ परिघोंके समान मोटी दिखायी देती थीं। इन सबने बड़े-बड़े यज्ञ किये थे और उनमें प्रचुर दक्षिणाएँ दी थीं ।। १५—१७ ।।

एते चान्ये च बहवो दुर्योधनवशानुगाः ।

राजानो राजपुत्राश्च नीतिमन्तो महारथाः ।। १८ ।।

संनद्धाः समदृश्यन्त स्वेष्वनीकेष्ववस्थिताः ।

ये तथा और भी बहुत-से नीतिज्ञ महारथी राजा और राजकुमार दुर्योधनके वशमें रहकर कवच आदिसे सुसज्जित हो अपनी-अपनी सेनाओंमें खड़े दिखायी देते थे ।। १८ $\frac{१}{२}$ ।।

बद्धकृष्णाजिनाः सर्वे बलिनो युद्धशालिनः ।। १९ ।।

हृष्टा दुर्योधनस्यार्थे ब्रह्मलोकाय दीक्षिताः ।

समर्था दश वाहिन्यः परिगृह्य व्यवस्थिताः ।। २० ।।

इन सबने काले मृगचर्म बाँध रखे थे। सभी बलवान् और युद्धभूमिमें सुशोभित होनेवाले थे और सबने दुर्योधनके हितके लिये बड़े हर्ष और उल्लासके साथ ब्रह्मलोककी दीक्षा ली थी। ये सामर्थ्यशाली दस वीर अपने सेनापतित्वमें दस सेनाओंको लेकर युद्धके लिये तैयार खड़े थे ।। १९-२० ।।

एकादशी धार्तराष्ट्रा कौरवाणां महाचमूः ।

अग्रतः सर्वसैन्यानां यत्र शान्तनवोऽग्रणीः ।। २१ ।।

ग्यारहवीं विशाल वाहिनी दुर्योधनकी थी, जिनमें अधिकांश कौरव-योद्धा थे। यह कौरव-सेना अन्य सब सेनाओंके आगे खड़ी थी। इसके अधिनायक थे शान्तनुनन्दन भीष्म ।। २१ ।।

श्वेतोष्णीषं श्वेतहयं श्वेतवर्माणमच्युतम् ।

अपश्याम महाराज भीष्मं चन्द्रमिवोदितम् ।। २२ ।।

उनके सिरपर सफेद पगड़ी शोभा पाती थी। उनके घोड़े भी सफेद ही थे। उन्होंने अपने अंगोंमें श्वेत कवच बाँध रखा था। महाराज! मर्यादासे कभी पीछे न हटनेवाले उन

भीष्मजीको मैंने अपनी श्वेतकान्तिके कारण नवोदित चन्द्रमाके समान सुशोभित देखा ।। २२ ।।

हेमतालध्वजं भीष्मं राजते स्यन्दने स्थितम् ।
श्वेताभ्र इव तीक्ष्णांशुं ददृशुः कुरुपाण्डवाः ।। २३ ।।
सृंजयाश्च महेष्वासा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।

भीष्मजी चाँदीके बने हुए सुन्दर रथपर विराजमान थे। उनकी तालचिह्नित स्वर्णमयी ध्वजा आकाशमें फहरा रही थी। उस समय कौरवों, पाण्डवों तथा धृष्टद्युम्न आदि महाधनुर्धर सृंजयवंशियोंने उन्हें सफेद बादलोंमें छिपे हुए सूर्यदेवके समान देखा ।। २३½ ।।

जृम्भमाणं महासिंहं दृष्ट्वा क्षुद्रमृगा यथा ।। २४ ।।
धृष्टद्युम्नमुखाः सर्वे समुद्विविजिरे मुहुः ।

धृष्टद्युम्न आदि सृंजयवंशी उन्हें देखकर बारंबार उद्विग्न हो उठते थे। ठीक उसी तरह, जैसे मुँह बाये हुए विशाल सिंहको देखकर क्षुद्र मृग भयसे व्याकुल हो उठते हैं ।। २४½ ।।

एकादशैताः श्रीजुष्टा वाहिन्यस्तव पार्थिव ।। २५ ।।
पाण्डवानां तथा सप्त महापुरुषपालिताः ।

भूपाल! आपकी ये ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ तथा पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाएँ वीर पुरुषोंसे सुरक्षित हो उत्तम शोभासे सम्पन्न दिखायी देती थीं ।। २५½ ।।

उन्मत्तमकरावर्तौ महाग्राहसमाकुलौ ।। २६ ।।
चुगान्ते समवेतौ द्वौ दृश्येते सागराविव ।

वे दोनों सेनाएँ प्रलयकालमें एक-दूसरेसे मिलनेवाले उन दो समुद्रोंके समान दृष्टिगोचर हो रही थीं, जिनमें मतवाले मगर और भँवरें होती हैं तथा जिनमें बड़े-बड़े ग्राह सब ओर फैले रहते हैं ।। २६½ ।।

नैव नस्तादृशो राजन् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः ।
अनीकानां समेतानां कौरवाणां तथाविधः ।। २७ ।।

राजन्! कौरवोंकी इतनी बड़ी सेनाका वैसा संगठन मैंने पहले कभी न तो देखा था और न सुना ही था ।। २७ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने षोडशोऽध्यायः ।। १६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६ ।।

सप्तदशोऽध्यायः

कौरवमहारथियोंका युद्धके लिये आगे बढ़ना तथा उनके व्यूह, वाहन और ध्वज आदिका वर्णन

संजय उवाच

यथा स भगवान् व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
तथैव सहिताः सर्वे समाजग्मुर्महीक्षितः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासने जैसा कहा था, उसीके अनुसार सब राजा कुरुक्षेत्रमें एकत्र हुए थे ।। १ ।।

मघाविषयगः सोमस्तद् दिनं प्रत्यपद्यत ।
दीप्यमानाश्च सम्पेतुर्दिवि सप्त महाग्रहाः ।। २ ।।

उस दिन चन्द्रमा मघा नक्षत्रपर था। आकाशमें सात महाग्रह अग्निके समान उद्दीप्त दिखायी दे रहे थे ।। २ ।।

द्विधाभूत इवादित्य उदये प्रत्यदृश्यत ।
ज्वलन्त्या शिखया भूयो भानुमानुदितो रविः ।। ३ ।।

उदयकालमें सूर्य दो भागोंमें बँटा हुआ-सा दिखायी देने लगा। साथ ही वह अपनी प्रचण्ड ज्वालाओंसे अधिकाधिक जाज्वल्यमान होकर उदित हुआ था ।। ३ ।।

ववाशिरे च दीप्तायां दिशि गोमायुवायसाः ।
लिप्समानाः शरीराणि मांसशोणितभोजनाः ।। ४ ।।

सम्पूर्ण दिशाओंमें दाह-सा हो रहा था और मांस तथा रक्तका आहार करनेवाले गीदड़ और कौए मनुष्यों तथा पशुओंकी लाशोंकी लालसा रखकर अमंगलसूचक शब्द कर रहे थे ।। ४ ।।

अहन्यहनि पार्थानां वृद्धः कुरुपितामहः ।
भरद्वाजात्मजश्चैव प्रातरुत्थाय संयतौ ।। ५ ।।
जयोऽस्तु पाण्डुपुत्राणामित्यूचतुररिंदमौ ।
युयुधाते तवार्थाय यथा स समयः कृतः ।। ६ ।।

कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्म तथा भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य—ये दोनों शत्रुदमन महारथी प्रतिदिन सबेरे उठकर मनको संयममें रखते हुए यही आशीर्वाद देते थे कि 'पाण्डवोंकी जय हो'; परंतु वे जैसी प्रतिज्ञा कर चुके थे, उसके अनुसार आपके लिये ही पाण्डवोंके साथ युद्ध करते थे ।। ५-६ ।।

सर्वधर्मविशेषज्ञः पिता देवव्रतस्तव ।

समानीय महीपालानिदं वचनमब्रवीत् ।। ७ ।।

उस दिन सम्पूर्ण धर्मोंके विशेषज्ञ आपके ताऊ देवव्रत भीष्मजी सब राजाओंको बुलाकर उनसे इस प्रकार बोले— ।। ७ ।।

इदं वः क्षत्रिया द्वारं स्वर्गायापावृतं महत् ।
गच्छध्वं तेन शक्रस्य ब्रह्मणः सहलोकताम् ।। ८ ।।

'क्षत्रियो! यह युद्ध तुम्हारे लिये स्वर्गका खुला हुआ विशाल द्वार है। तुमलोग इसके द्वारा इन्द्र अथवा ब्रह्माजीका सालोक्य प्राप्त करो ।। ८ ।।

एष वः शाश्वतः पन्थाः पूर्वैः पूर्वतरैः कृतः ।
सम्भावयध्वमात्मानमव्यग्रमनसो युधि ।। ९ ।।

'यह तुम्हारे पूर्ववर्ती पूर्वजोंद्वारा स्वीकार किया हुआ सनातन मार्ग है। तुम सब लोग शान्तचित्त होकर युद्धमें शौर्यका परिचय देते हुए अपने-आपको सुयश और सम्मानका भागी बनाओ ।। ९ ।।

नाभागोऽथ ययातिश्च मान्धाता नहुषो नृगः ।
संसिद्धाः परमं स्थानं गताः कर्मभिरीदृशैः ।। १० ।।

'नाभाग, ययाति, मान्धाता, नहुष और नृग ऐसे ही कर्मोंद्वारा सिद्धिको प्राप्त होकर उत्कृष्ट लोकोंमें गये हैं ।। १० ।।

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यद् व्याधिमरणं गृहे ।
यदयोनिधनं याति सोऽस्य धर्मः सनातनः ।। ११ ।।

'घरमें रोगी होकर पड़े-पड़े प्राण त्याग करना क्षत्रियके लिये अधर्म माना गया है। वह युद्धमें लोहेके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा आहत होकर जो मृत्युको अंगीकार करता है, वही उसका सनातन धर्म है' ।। ११ ।।

एवमुक्ता महीपाला भीष्मेण भरतर्षभ ।
निर्ययुः स्वान्यनीकानि शोभयन्तो रथोत्तमैः ।। १२ ।।

भरतश्रेष्ठ! भीष्मके ऐसा कहनेपर वे सभी भूपाल श्रेष्ठ रथोंद्वारा अपनी सेनाओंकी शोभा बढ़ाते हुए युद्धके लिये प्रस्थित हुए ।। १२ ।।

स तु वैकर्तनः कर्णः सामात्यः सह बन्धुभिः ।
न्यासितः समरे शस्त्रं भीष्मेण भरतर्षभ ।। १३ ।।

भरतभूषण! इस युद्धमें भीष्मने मन्त्रियों और बन्धुओंसहित कर्णके अस्त्र-शस्त्र रखवा दिये थे ।। १३ ।।

अपेतकर्णाः पुत्रास्ते राजानश्चैव तावकाः ।
निर्ययुः सिंहनादेन नादयन्तो दिशो दश ।। १४ ।।

इसलिये आपके पुत्र और अन्य नरेश बिना कर्णके ही अपने सिंहनादसे दसों दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए युद्धके लिये निकले ।। १४ ।।

श्वेतैश्छत्रैः पताकाभिर्ध्वजवारणवाजिभिः ।
तान्यनीकानि शोभन्ते रथैरथ पदातिभिः ।। १५ ।।

श्वेत छत्रों, पताकाओं, ध्वजों, हाथियों, घोड़ों, रथों और पैदल सैनिकोंसे उन समस्त सेनाओंकी बड़ी शोभा हो रही थी ।। १५ ।।

भेरीपणवशब्दैश्च दुन्दुभीनां च निःस्वनैः ।
रथनेमिनिनादैश्च बभूवाकुलिता मही ।। १६ ।।

भेरी, पणव, दुन्दुभि आदि वाद्योंकी ध्वनियों तथा रथके पहियोंके घर्घर शब्दोंसे वहाँकी सारी भूमि व्याप्त हो रही थी ।। १६ ।।

काञ्चनाङ्गदकेयूरैः कार्मुकैश्च महारथाः ।
भ्राजमाना व्यराजन्त साग्नयः पर्वता इव ।। १७ ।।

सोनेके अंगद और केयूर नामक बाहुभूषण तथा धनुष धारण किये महारथी वीर अग्नियुक्त पर्वतोंके समान सुशोभित हो रहे थे ।। १७ ।।

तालेन महता भीष्मः पञ्चतारेण केतुना ।
विमलादित्यसंकाशस्तस्थौ कुरुचमूपरि ।। १८ ।।

कौरवसेनाके प्रधान सेनापति भीष्म भी ताड़ और पाँच तारोंके चिह्नसे युक्त विशाल ध्वजा-पताकासे सुशोभित रथपर जा बैठे। उस समय वे निर्मल तेजोमय सूर्यदेवके समान प्रकाशित हो रहे थे ।। १८ ।।

ये त्वदीया महेष्वासा राजानो भरतर्षभ ।
अवर्तन्त यथादेशं राजञ्शान्तनवस्य ते ।। १९ ।।

भरतश्रेष्ठ! महाराज! आपकी सेनाके समस्त महाधनुर्धर भूपाल सेनापति भीष्मकी आज्ञाके अनुसार चलते थे ।। १९ ।।

स तु गोवासनः शैब्यः सहितः सर्वराजभिः ।
ययौ मातङ्गराजेन राजार्हेण पताकिना ।
पद्मवर्णस्त्वनीकानां सर्वेषामग्रतः स्थितः ।। २० ।।
अश्वत्थामा ययौ यत्तः सिंहलाङ्गूलकेतुना ।

गोवासनदेशके स्वामी महाराज शैब्य अपने अधीन राजाओंके साथ पताकासे सुशोभित राजोचित गजराजपर आरूढ़ हो युद्धके लिये चले। कमलके समान कान्तिमान् अश्वत्थामा सिंहकी पूँछके चिह्नसे युक्त ध्वजा-पताकावाले रथपर आरूढ़ हो समस्त सेनाओंके आगे रहकर चलने लगे ।। २०$\frac{१}{२}$ ।।

श्रुतायुधश्चित्रसेनः पुरुमित्रो विविंशतिः ।। २१ ।।
शल्यो भूरिश्रवाश्चैव विकर्णश्च महारथः ।
एते सप्त महेष्वासा द्रोणपुत्रपुरोगमाः ।। २२ ।।
स्यन्दनैर्वरवर्माणो भीष्मस्यासन् पुरोगमाः ।

श्रुतायुध, चित्रसेन, पुरुमित्र, विविंशति, शल्य, भूरिश्रवा तथा महारथी विकर्ण—ये सात महाधनुर्धर वीर रथोंपर आरूढ़ हो सुन्दर कवच धारण किये द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको अपने आगे रखकर भीष्मके आगे-आगे चल रहे थे ।। २१-२२ $\frac{१}{२}$ ।।

तेषामपि महोत्सेधाः शोभयन्तो रथोत्तमान् ।। २३ ।।
भ्राजमाना व्यरोचन्त जाम्बूनदमया ध्वजाः ।

इन सबके जाम्बूनद सुवर्णके बने हुए अत्यन्त ऊँचे ध्वज इनके श्रेष्ठ रथोंकी शोभा बढ़ाते हुए अत्यन्त प्रकाशित हो रहे थे ।। २३ $\frac{१}{२}$ ।।

जाम्बूनदमयी वेदी कमण्डलुविभूषिता ।। २४ ।।
केतुराचार्यमुख्यस्य द्रोणस्य धनुषा सह ।

आचार्यप्रवर द्रोणकी पताकापर कमण्डलुविभूषित सुवर्णमयी वेदी और धनुषके चिह्न बने हुए थे ।। २४ $\frac{१}{२}$ ।।

अनेकशतसाहस्रमनीकमनुकर्षतः ।। २५ ।।
महान् दुर्योधनस्यासीन्नागो मणिमयो ध्वजः ।

कई लाख सैनिकोंकी सेनाको अपने साथ लेकर चलनेवाले दुर्योधनका मणिमय महान् ध्वज नागचिह्नसे विभूषित था ।। २५ $\frac{१}{२}$ ।।

तस्य पौरवकालिङ्गौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।। २६ ।।
क्षेमधन्वा सुमित्रश्च तस्थुः प्रमुखतो रथाः ।

पौरव, कलिंगराज श्रुतायुध, काम्बोजराज सुदक्षिण, क्षेमधन्वा तथा सुमित्र—ये पाँच प्रधान रथी दुर्योधनके आगे-आगे चल रहे थे ।। २६ $\frac{१}{२}$ ।।

स्यन्दनेन महार्हेण केतुना वृषभेण च ।
प्रकर्षन्नेव सेनाग्रं मागधस्य कृपो ययौ ।। २७ ।।

वृषभचिह्नित ध्वजा-पताकासे युक्त बहुमूल्य रथपर बैठे हुए कृपाचार्य मगधकी श्रेष्ठ सेनाको अपने साथ लिये चल रहे थे ।। २७ ।।

तदङ्गपतिना गुप्तं कृपेण च मनस्विना ।
शारदाम्बुधरप्रख्यं प्राच्यानां सुमहद् बलम् ।। २८ ।।

अंगराज तथा मनस्वी कृपाचार्यसे सुरक्षित पूर्वदेशीय क्षत्रियोंकी वह विशाल वाहिनी शरद्ऋतुके बादलोंके समान शोभा पाती थी ।। २८ ।।

अनीकप्रमुखे तिष्ठन् वराहेण महायशाः ।
शुशुभे केतुमुख्येन राजतेन जयद्रथः ।। २९ ।।

महायशस्वी राजा जयद्रथ वराहके चिह्नसे युक्त रजतमय ध्वजा-पताकाके साथ रथपर आरूढ़ हो सेनाके अग्रभागमें खड़े हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ।। २९ ।।

शतं रथसहस्राणां तस्यासन् वशवर्तिनः ।
अष्टौ नागसहस्राणि सादिनामयुतानि षट् ।। ३० ।।

उनके अधीन एक लाख रथ, आठ हजार हाथी और साठ हजार घुड़सवार थे ।। ३० ।।

तत्सिन्धुपतिना राज्ञा पालितं ध्वजिनीमुखम् ।
अनन्तरथनागाश्वमशोभत महद् बलम् ।। ३१ ।।

सिन्धुराजके द्वारा सुरक्षित अनन्त रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई वह विशाल सेना अद्भुत शोभा पा रही थी ।। ३१ ।।

षष्ट्या रथसहस्रैस्तु नागानामयुतेन च ।
पतिः सर्वकलिङ्गानां ययौ केतुमता सह ।। ३२ ।।

कलिंगदेशका राजा श्रुतायुध अपने मित्र केतुमान्‌के साथ साठ हजार रथ और दस हजार हाथियोंको साथ लिये युद्धके लिये चला ।। ३२ ।।

तस्य पर्वतसंकाशा व्यरोचन्त महागजाः ।
यन्त्रतोमरतूणीरैः पताकाभिः सुशोभिताः ।। ३३ ।।

यन्त्र, तोमर, तूणीर तथा पताकाओंसे सुशोभित उसके विशाल गजराज पर्वतोंके समान प्रतीत होते थे ।। ३३ ।।

शुशुभे केतुमुख्येन पावकेन कलिङ्गकः ।
श्वेतच्छत्रेण निष्केण चामरव्यजनेन च ।। ३४ ।।

कलिंगराजके रथकी ध्वजापर अग्निका चिह्न बना हुआ था। वह श्वेत छत्र और चँवररूपी पंखेसे तथा पदक (कण्ठहार)-से विभूषित हो बड़ी शोभा पा रहा था ।। ३४ ।।

केतुमानपि मातङ्गं विचित्रपरमाङ्कुशम् ।
आस्थितः समरे राजन् मेघस्थ इव भानुमान् ।। ३५ ।।

राजन्! केतुमान् भी विचित्र एवं विशाल अंकुशसे युक्त गजराजपर आरूढ़ हो समरभूमिमें खड़ा हुआ मेघोंकी घटाके ऊपर प्रकाशित होनेवाले सूर्यदेवके समान जान पड़ता था ।। ३५ ।।

तेजसा दीप्यमानस्तु वारणोत्तममास्थितः ।
भगदत्तो ययौ राजा यथा वज्रधरस्तथा ।। ३६ ।।
गजस्कन्धगतावास्तां भगदत्तेन सम्मितौ ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ केतुमन्तमनुव्रतौ ।। ३७ ।।

इसी प्रकार श्रेष्ठ गजराजपर आरूढ़ हो राजा भगदत्त भी वज्रधारी इन्द्रके समान अपने तेजसे उद्दीप्त हो युद्धके लिये आगे बढ़ गये थे। अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द भी भगदत्तके समान ही तेजस्वी थे। वे दोनों भाई हाथीकी पीठपर बैठकर केतुमान्‌के पीछे-पीछे चल रहे थे ।। ३६-३७ ।।

स रथानीकवान् व्यूहो हस्त्यङ्गो नृपशीर्षवान् ।
वाजिपक्षः पतत्युग्रः प्रहसन् सर्वतोमुखः ।। ३८ ।।

राजन्! रथोंके समूहसे युक्त उस सेनाका भयंकर व्यूह सर्वतोमुखी था। वह हँसता हुआ आक्रमण-सा कर रहा था। हाथी उस व्यूहके अंग थे, राजाओंका समुदाय ही उसका मस्तक था और घोड़े उसके पंख जान पड़ते थे ।। ३८ ।।

द्रोणेन विहितो राजन् राज्ञा शान्तनवेन च ।
तथैवाचार्यपुत्रेण बाह्लीकेन कृपेण च ।। ३९ ।।

द्रोणाचार्य, राजा शान्तनुनन्दन भीष्म, आचार्यपुत्र अश्वत्थामा, बाह्लीक और कृपाचार्यने उस सैन्यव्यूहका निर्माण किया था ।। ३९ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने सप्तदशोऽध्यायः ।। १७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७ ।।

अष्टादशोऽध्यायः

कौरवसेनाका कोलाहल तथा भीष्मके रक्षकोंका वर्णन

संजय उवाच

ततो मुहूर्तात् तुमुलः शब्दो हृदयकम्पनः ।
अश्रूयत महाराज योधानां प्रयुयुत्सताम् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर दो ही घड़ीमें युद्धकी इच्छा रखनेवाले योद्धाओंका भयंकर कोलाहल सुनायी देने लगा, जो हृदयको कँपा देनेवाला था ।। १ ।।

शङ्खदुन्दुभिघोषैश्च वारणानां च बृंहितैः ।
नेमिघोषै रथानां च दीर्यतीव वसुंधरा ।। २ ।।

शंख और दुन्दुभियोंके घोष; गजराजोंकी गर्जना तथा रथोंके पहियोंकी घरघराहटसे सारी पृथ्वी विदीर्ण-सी हो रही थी ।। २ ।।

हयानां ह्रेषमाणानां योधानां चैव गर्जताम् ।
क्षणेनैव नभो भूमिः शब्देनापूरितं तदा ।। ३ ।।

घोड़ोंके हींसने और योद्धाओंके गर्जनेके शब्दोंसे एक ही क्षणमें वहाँकी पृथ्वी और आकाशका सारा प्रदेश गूँज उठा ।। ३ ।।

पुत्राणां तव दुर्धर्ष पाण्डवानां तथैव च ।
समकम्पन्त सैन्यानि परस्परसमागमे ।। ४ ।।

दुर्धर्ष नरेश! आपके पुत्रों और पाण्डवोंकी सेनाएँ एक-दूसरीके निकट आनेपर काँप उठीं ।। ४ ।।

तत्र नागा रथाश्चैव जाम्बूनदविभूषिताः ।
भ्राजमाना व्यदृश्यन्त मेघा इव सविद्युतः ।। ५ ।।

उस रणक्षेत्रमें स्वर्णभूषित रथ और हाथी बिजलियोंसे युक्त मेघोंके समान सुशोभित दिखायी देते थे ।। ५ ।।

ध्वजा बहुविधाकारास्तावकानां नराधिप ।
काञ्चनाङ्गदिनो रेजुर्ज्वलिता इव पावकाः ।। ६ ।।

नरेश्वर! आपकी सेनाके नाना प्रकारके ध्वज और सोनेके अंगद (बाजूबन्द) पहने हुए सैनिक प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ।। ६ ।।

स्वेषां चैव परेषां च समदृश्यन्त भारत ।
महेन्द्रकेतवः शुभ्रा महेन्द्रसदनेष्विव ।। ७ ।।

भारत! अपनी और शत्रुकी सेनाके चमकीले ध्वज इन्द्रभवनमें फहरानेवाले देवेन्द्रके ध्वजोंके समान दिखायी देते थे ।। ७ ।।

काञ्चनैः कवचैर्वीरा ज्वलनार्कसमप्रभैः ।
संनद्धाः समदृश्यन्त ज्वलनार्कसमप्रभाः ।। ८ ।।

अग्नि और सूर्यके समान कान्तिमान् कांचनमय कवच धारण किये वीर सैनिक अग्नि और सूर्यके ही तुल्य प्रकाशित दीख रहे थे ।। ८ ।।

कुरुयोधवरा राजन् विचित्रायुधकार्मुकाः ।
उद्यतैरायुधैश्चित्रैस्तलबद्धाः पताकिनः ।। ९ ।।

राजन्! कौरवपक्षके श्रेष्ठ योद्धा विचित्र आयुध और धनुष धारण किये बड़ी शोभा पा रहे थे। उनके विचित्र आयुध ऊपरकी ओर उठे हुए थे। उन्होंने हाथोंमें दस्ताने पहन रखे थे और उनकी पताकाएँ आकाशमें फहरा रही थीं ।। ९ ।।

ऋषभाक्षा महेष्वासाश्चमूमुखगता बभुः ।
पृष्ठगोपास्तु भीष्मस्य पुत्रास्तव नराधिप ।
दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुःसहस्तथा ।। १० ।।
विविंशतिश्चित्रसेनो विकर्णश्च महारथः ।
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयो भूरिश्रवाः शलः ।। ११ ।।
रथा विंशतिसाहस्रास्तथैषामनुयायिनः ।

सेनाके मुहानेपर खड़े हुए, वृषभके समान विशाल नेत्रोंवाले वे महाधनुर्धर वीर बड़ी शोभा पा रहे थे। नरेश्वर! भीष्मजीके पृष्ठभागकी रक्षा आपके पुत्र दुःशासन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुःसह, विविंशति, चित्रसेन, महारथी विकर्ण, सत्यव्रत, पुरुमित्र, जय, भूरिश्रवा, शल तथा इनके अनुयायी बीस हजार रथी कर रहे थे ।। १०-११ $\frac{१}{२}$ ।।

अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः ।। १२ ।।
शाल्वा मत्स्यास्तथाम्बष्ठास्त्रैगर्ताः केकयास्तथा ।
सौवीराः कैतवाः प्राच्याः प्रतीच्योदीच्यवासिनः ।। १३ ।।
द्वादशैते जनपदाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः ।
महता रथवंशेन ते ररक्षुः पितामहम् ।। १४ ।।

अभीषाह, शूरसेन, शिबि, वसाति, शाल्व, मत्स्य, अम्बष्ठ, त्रिगर्त, केकय, सौवीर, कैतव तथा पूर्व, पश्चिम एवं उत्तर प्रदेशके निवासी—इन बारह जनपदोंके समस्त शूरवीर अपना शरीर निछावर करनेको उद्यत होकर विशाल रथसमुदायके द्वारा पितामह भीष्मकी रक्षा कर रहे थे ।। १२—१४ ।।

अनीकं दशसाहस्रं कुञ्जराणां तरस्विनाम् ।
मागधो यत्र नृपतिस्तद् रथानीकमन्वयात् ।। १५ ।।

दस हजार वेगवान् हाथियोंकी सेना साथ लेकर मगधराज उपर्युक्त रथसेनाके पीछे-पीछे चल रहे थे ।।

रथानां चक्ररक्षाश्च पादरक्षाश्च दन्तिनाम् ।

अभवन् वाहिनीमध्ये शतानामयुतानि षट् ।। १६ ।।

उस विशाल वाहिनीमें रथोंके पहियों और हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेवाले सैनिक साठ लाख थे ।। १६ ।।

पादाताश्चाग्रतोऽगच्छन् धनुश्चर्मासिपाणयः ।
अनेकशतसाहस्रा नखरप्रासयोधिनः ।। १७ ।।

कुछ पैदल सैनिक, जिनकी संख्या कई लाख थी, हाथमें धनुष, ढाल और तलवार लिये आगे-आगे चल रहे थे। वे नखर (बघनखे) और प्रासद्वारा भी युद्ध करनेमें कुशल थे ।। १७ ।।

अक्षौहिण्यो दशैका च तव पुत्रस्य भारत ।
अदृश्यन्त महाराज गङ्गेव यमुनान्तरा ।। १८ ।।

भारत! महाराज! आपके पुत्रकी ये ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ यमुनामें मिली हुई गंगाके समान दिखायी देती थीं ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने अष्टादशोऽध्यायः ।। १८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८ ।।

एकोनविंशतितमोऽध्यायः

व्यूहनिर्माणके विषयमें युधिष्ठिर और अर्जुनकी बातचीत, अर्जुनद्वारा वज्रव्यूहकी रचना, भीमसेनकी अध्यक्षतामें सेनाका आगे बढ़ना

धृतराष्ट्र उवाच

अक्षौहिण्यो दशैका च व्यूढा दृष्ट्वा युधिष्ठिरः ।
कथमल्पेन सैन्येन प्रत्यव्यूहत पाण्डवः ।। १ ।।
यो वेद मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम् ।
कथं भीष्मं स कौन्तेयः प्रत्यव्यूहत संजय ।। २ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! मेरी ग्यारह अक्षौहिणियोंको व्यूहाकारमें खड़ी हुई देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने उसका सामना करनेके लिये अपनी थोड़ी-सी सेनाके द्वारा किस प्रकार व्यूह-रचना की? जो मनुष्य, देवता, गन्धर्व और असुर सभीकी व्यूहनिर्माण-विधिको जानते हैं, उन भीष्मजीके सामने कुन्तीकुमारने किस तरह अपनी सेनाका व्यूह बनाया? ।। १-२ ।।

संजय उवाच

धार्तराष्ट्राण्यनीकानि दृष्ट्वा व्यूढानि पाण्डवः ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा धर्मराजो धनंजयम् ।। ३ ।।

संजयने कहा—राजन्! आपकी सेनाओंको व्यूहाकारमें खड़ी हुई देख धर्मात्मा पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिरने अर्जुनसे कहा— ।। ३ ।।

महर्षेर्वचनात् तात वेदयन्ति बृहस्पतेः ।
संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून् ।। ४ ।।

‘तात! महर्षि बृहस्पतिके वचनसे ऐसा ज्ञात होता है कि यदि शत्रुओंकी सेना थोड़ी हो, तो अपनी सेनाको छोटे आकारमें संगठित करके युद्ध करना चाहिये और यदि अपनेसे अधिक सैनिकोंके साथ युद्ध करना हो, तो अपनी सेनाको इच्छानुसार फैलाकर खड़ी करे ।। ४ ।।

सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह ।
अस्माकं च तथा सैन्यमल्पीयः सुतरां परैः ।। ५ ।।

‘थोड़े-से सैनिकोंसे बहुतोंके साथ युद्ध करनेके लिये सूचीमुख नामक व्यूह उपयोगी हो सकता है और हमारी सेना शत्रुओंसे बहुत कम है ही ।। ५ ।।

एतद् वचनमाज्ञाय महर्षेर्व्यूह पाण्डव ।

एतच्छ्रुत्वा धर्मराजं प्रत्यभाषत पाण्डवः ।। ६ ।।

'पाण्डुनन्दन! महर्षिके इस कथनपर विचार करके तुम भी अपनी सेनाका व्यूह बनाओ।' धर्मराजकी यह बात सुनकर पाण्डुपुत्र अर्जुनने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया — ।। ६ ।।

एष व्यूहामि ते व्यूहं राजसत्तम दुर्जयम् ।
अचलं नाम वज्राख्यं विहितं वज्रपाणिना ।। ७ ।।

'नृपश्रेष्ठ! यह लीजिये, मैं आपके लिये अविचल एवं दुर्जय वज्रव्यूहकी रचना करता हूँ, जिसका आविष्कार वज्रधारी इन्द्रने किया है ।। ७ ।।

यः स वात इवोद्धूतः समरे दुःसहः परैः ।
स नः पुरो योत्स्यते वै भीमः प्रहरतां वरः ।। ८ ।।

'जो समरभूमिमें प्रचण्ड वायुकी भाँति उठकर शत्रुओंके लिये दुःसह हो उठते हैं, वे योद्धाओंमें श्रेष्ठ आर्य भीमसेन हमारे आगे रहकर युद्ध करेंगे ।। ८ ।।

तेजांसि रिपुसैन्यानां मृद्नन् पुरुषसत्तमः ।
अग्रेऽग्रणीर्योत्स्यति नो युद्धोपायविचक्षणः ।। ९ ।।

'पुरुषश्रेष्ठ भीमसेन युद्धके विविध उपायोंके ज्ञानमें निपुण हैं। वे हमारी सेनाके अगुआ होकर शत्रुसेनाके तेजको नष्ट करते हुए युद्ध करेंगे ।। ९ ।।

यं दृष्ट्वा कुरवः सर्वे दुर्योधनपुरोगमाः ।
निवर्तिष्यन्ति संत्रस्ताः सिंहं क्षुद्रमृगा यथा ।। १० ।।

'जैसे सिंहको देखते ही क्षुद्र मृग भयभीत होकर भाग उठते हैं, उसी प्रकार इन्हें देखकर दुर्योधन आदि समस्त कौरव त्रस्त होकर पीछे लौट जायँगे ।। १० ।।

तं सर्वे संश्रयिष्यामः प्राकारमकुतोभयाः ।
भीमं प्रहरतां श्रेष्ठं देवराजमिवामराः ।। ११ ।।

'जैसे देवता देवराजका आश्रय लेकर निर्भय हो जाते हैं, उसी प्रकार हमलोग योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमसेनका आश्रय लेंगे। ये हमारे लिये परकोटेका काम करेंगे। फिर हमें कहींसे कोई भय नहीं रह जायगा ।। ११ ।।

न हि सोऽस्ति पुमाँल्लोके यः संक्रुद्धं वृकोदरम् ।
द्रष्टुमत्युग्रकर्माणं विषहेत नरर्षभम् ।। १२ ।।

'संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है, जो भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले क्रोधमें भरे हुए नरश्रेष्ठ वृकोदरकी ओर देखनेका साहस कर सके ।। १२ ।।

भीमसेनो गदां बिभ्रद् वज्रसारमयीं दृढाम् ।
चरन् वेगेन महता समुद्रमपि शोषयेत् ।। १३ ।।
केकया धृष्टकेतुश्च चेकितानश्च वीर्यवान् ।

'जब भीमसेन लोहेसे बनी हुई अपनी सुदृढ़ गदा हाथोंमें ले महान् वेगसे विचरते हैं, उस समय वे समुद्रको भी सोख सकते हैं। केकयराजकुमार, धृष्टकेतु और चेकितान भी ऐसे ही पराक्रमी हैं ।। १३½ ।।

एते तिष्ठन्ति सामात्याः प्रेक्षकास्ते जनाधिप ।। १४ ।।
धृतराष्ट्रस्य दायादा इति बीभत्सुरब्रवीत् ।
भीमसेनं तदा राजन् दर्शयस्व महाबलम् ।। १५ ।।

'नरेश्वर! ये धृतराष्ट्रके पुत्र अपने मन्त्रियोंसहित आपकी ओर देख रहे हैं।' राजन्! युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर अर्जुन भीमसेनसे बोले—'अब आप इन शत्रुओंको अपना महान् बल दिखाइये' ।। १४-१५ ।।

ब्रुवाणं तु तथा पार्थं सर्वसैन्यानि भारत ।
अपूजयंस्तदा वाग्भिरनुकूलाभिराहवे ।। १६ ।।

भारत! अर्जुनके ऐसा कहनेपर उस युद्धस्थलमें समस्त सैनिकोंने अनुकूल वचनोंद्वारा उस समय उनका पूजन समादर किया ।। १६ ।।

एवमुक्त्वा महाबाहुस्तथा चक्रे धनंजयः ।
व्यूह्य तानि बलान्याशु प्रययौ फाल्गुनस्तथा ।। १७ ।।

महाबाहु अर्जुनने ऐसा कहकर उसी तरह किया; अपनी सब सेनाओंका शीघ्र ही व्यूह बनाया और रणके लिये प्रस्थान किया ।। १७ ।।

सम्प्रयातान् कुरून् दृष्ट्वा पाण्डवानां महाचमूः ।
गङ्गेव पूर्णा स्तिमिता स्पन्दमाना व्यदृश्यत ।। १८ ।।

कौरवोंको अपनी ओर आते देख पाण्डवोंकी वह विशाल सेना पहले तो भरी हुई गंगाके समान स्थिर दिखायी दी; फिर उसमें धीरे-धीरे कुछ चेष्टा दृष्टिगोचर होने लगी ।। १८ ।।

भीमसेनोऽग्रणीस्तेषां धृष्टद्युम्नश्च वीर्यवान् ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ।। १९ ।।

पाण्डवसेनामें भीमसेन सबसे आगे चलनेवाले थे। उनके साथ पराक्रमी धृष्टद्युम्न, नकुल, सहदेव तथा चेदिराज धृष्टकेतु भी थे ।। १९ ।।

विराटश्च ततः पश्चाद् राजाथाक्षौहिणीवृतः ।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च सोऽभ्यरक्षत पृष्ठतः ।। २० ।।

तत्पश्चात् राजा विराट अपने भाइयों और पुत्रोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर भीमसेनके पृष्ठभागकी रक्षा कर रहे थे ।। २० ।।

चक्ररक्षौ तु भीमस्य माद्रीपुत्रौ महाद्युतौ ।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पृष्ठगोपास्तरस्विनः ।। २१ ।।

भीमके पहियोंकी रक्षा परम तेजस्वी माद्रीकुमार नकुल-सहदेव कर रहे थे। द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा अभिमन्यु—ये वेगशाली वीर उनके पृष्ठभागकी रक्षा करते थे ।। २१ ।।

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यस्तेषां गोप्ता महारथः ।
सहितः पृतनाशूरै रथमुख्यैः प्रभद्रकैः ।। २२ ।।

पांचालराजकुमार महारथी धृष्टद्युम्न अपनी सेनाके चुने हुए शूरवीर एवं प्रधान रथी प्रभद्रकोंके साथ उन सबकी रक्षा करते थे ।। २२ ।।

शिखण्डी तु ततः पश्चादर्जुनेनाभिरक्षितः ।
यत्तो भीष्मविनाशाय प्रययौ भरतर्षभ ।। २३ ।।

भरतश्रेष्ठ! इन सबके पीछे अर्जुनद्वारा सुरक्षित शिखण्डी भीष्मका विनाश करनेके लिये उद्यत हो आगे बढ़ रहा था ।। २३ ।।

पृष्ठतोऽप्यर्जुनस्यासीद् युयुधानो महाबलः ।
चक्ररक्षौ तु पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ ।। २४ ।।

अर्जुनके पीछे महाबली सात्यकि थे। पांचाल वीर युधामन्यु और उत्तमौजा अर्जुनके रथके पहियोंकी रक्षा करते थे ।। २४ ।।

राजा तु मध्यमानीके कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
बृहद्भिः कुञ्जरैर्मत्तैश्चलद्भिरचलैरिव ।। २५ ।।

चलते-फिरते पर्वतोंके समान विशाल और मतवाले गजराजोंकी सेनाके साथ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर बीचकी सेनामें उपस्थित थे ।। २५ ।।

अक्षौहिण्याथ पाञ्चाल्यो यज्ञसेनो महामनाः ।
विराटमन्वयात् पश्चात् पाण्डवार्थं पराक्रमी ।। २६ ।।

महामना पराक्रमी पांचालराज द्रुपद पाण्डवोंके लिये एक अक्षौहिणी सेनाके सहित राजा विराटके पीछे-पीछे चल रहे थे ।। २६ ।।

तेषामादित्यचन्द्राभाः कनकोत्तमभूषणाः ।
नानाचित्रधरा राजन् रथेष्वासन् महाध्वजाः ।। २७ ।।

राजन्! उनके रथोंपर भाँति-भाँतिके बेल-बूटोंसे विभूषित स्वर्णमण्डित विशाल ध्वज सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे ।। २७ ।।

समुत्सार्य ततः पश्चाद् धृष्टद्युम्नो महारथः ।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च सोऽभ्यरक्षद् युधिष्ठिरम् ।। २८ ।।

तदनन्तर महारथी धृष्टद्युम्न अन्य लोगोंको हटाकर स्वयं भाइयों और पुत्रोंके साथ उपस्थित हो राजा युधिष्ठिरकी रक्षा करने लगे ।। २८ ।।

त्वदीयानां परेषां च रथेषु विपुलान् ध्वजान् ।
अभिभूयार्जुनस्यैको रथे तस्थौ महाकपिः ।। २९ ।।

राजन्! आपके तथा शत्रुओंके रथोपर जो बहुसंख्यक विशाल ध्वज फहरा रहे थे, उन सबको तिरस्कृत करके केवल अर्जुनके रथपर एकमात्र महान् कपिसे उपलक्षित दिव्य ध्वज शोभा पाता था ।। २९ ।।

पादातास्त्वग्रतोऽगच्छन्नसिशक्त्यृष्टिपाणयः ।
अनेकशतसाहस्रा भीमसेनस्य रक्षिणः ।। ३० ।।

भीमसेनकी रक्षाके लिये उनके आगे-आगे हाथोंमें खड्ग, शक्ति तथा ऋष्टि लिये कई लाख पैदल सैनिक चल रहे थे ।। ३० ।।

वारणा दशसाहस्राः प्रभिन्नकरटामुखाः ।
शूरा हेममयैर्जालैर्दीप्यमाना इवाचलाः ।। ३१ ।।
क्षरन्त इव जीमूता महार्हाः पद्मगन्धिनः ।
राजानमन्वयुः पश्चाज्जीमूता इव वार्षिकाः ।। ३२ ।।

राजा युधिष्ठिरके पीछे वर्षाकालके मेघोंकी भाँति तथा पर्वतोंके समान ऊँचे-ऊँचे दस हजार गजराज जा रहे थे। उनके गण्डस्थलसे फूटकर मदकी धारा बह रही थी। वे सोनेकी जालीदार झूलोंसे उद्दीप्त हो रहे थे। उनमें शौर्य भरा था। वे मेघोंके समान मदकी बूँदें बरसाते थे। उनसे कमलके समान सुगन्ध निकलती थी और वे सभी बहुमूल्य थे ।। ३१-३२ ।।

भीमसेनो गदां भीमां प्रकर्षन् परिघोपमाम् ।
प्रचकर्ष महासैन्यं दुराधर्षो महामनाः ।। ३३ ।।

दुर्जय वीर महामनस्वी भीमसेन हाथमें परिघके समान मोटी एवं भयंकर गदा लिये अपने साथ विशाल सेनाको खींचे लिये जा रहे थे ।। ३३ ।।

तमर्कमिव दुष्प्रेक्ष्यं तपन्तमिव वाहिनीम् ।
न शेकुः सर्वयोधास्ते प्रतिवीक्षितुमन्तिके ।। ३४ ।।

उस समय सूर्यकी भाँति उनकी ओर देखना कठिन हो रहा था। वे आपकी सेनाको संतप्त-सी कर रहे थे। निकट आनेपर समस्त योद्धा उनकी ओर आँख उठाकर देखनेमें भी समर्थ न हो सके ।। ३४ ।।

वज्रो नामैष स व्यूहो निर्भयः सर्वतोमुखः ।
चापविद्युद्ध्वजो घोरो गुप्तो गाण्डीवधन्वना ।। ३५ ।।

यह वज्र नामक व्यूह सर्वथा भयरहित तथा सब ओर मुखवाला था। उसके ध्वजके निकट सुवर्णभूषित धनुष विद्युत्के समान प्रकाशित होता था। गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा ही वह भयंकर व्यूह सुरक्षित था ।। ३५ ।।

यं प्रतिव्यूह्य तिष्ठन्ति पाण्डवास्तव वाहिनीम् ।
अजेयो मानुषे लोके पाण्डवैरभिरक्षितः ।। ३६ ।।

पाण्डवलोग जिस व्यूहकी रचना करके आपकी सेनाका सामना करनेके लिये खड़े थे, वह उनके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण मनुष्यलोकमें अजेय था ।। ३६ ।।

संध्यां तिष्ठत्सु सैन्येषु सूर्यस्योदयनं प्रति ।
प्रावात् सपृषतो वायुर्निरभ्रे स्तनयित्नुमान् ।। ३७ ।।

सूर्योदयके समय जब सभी सैनिक संध्योपासना कर रहे थे, बिना बादलके ही पानीकी बूँदोंके साथ हवा चलने लगी। उसके साथ मेघकी-सी गर्जना भी होती थी ।। ३७ ।।

विष्वग्वाताश्च विववुर्नीचैः शर्करकर्षिणः ।
रजश्चोद्‌धूयत महत् तम आच्छादयज्जगत् ।। ३८ ।।

वहाँ सब ओर नीचे बालू और कंकड़ बरसाती हुई तीव्र वायु बह रही थी। उस समय इतनी धूल उड़ी कि जगत्‌में घोर अन्धकार छा गया ।। ३८ ।।

पपात महती चोल्का प्राङ्‌मुखी भरतर्षभ ।
उद्यन्तं सूर्यमाहत्य व्यशीर्यत महास्वना ।। ३९ ।।

भरतश्रेष्ठ! पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बड़ी भारी उल्का गिरी और उदय होते हुए सूर्यसे टकराकर बड़े जोरकी आवाजके साथ बिखर गयी ।। ३९ ।।

अथ संनह्यमानेषु सैन्येषु भरतर्षभ ।
निष्प्रभोऽभ्युद्ययौ सूर्यः सघोषं भूश्चचाल च ।। ४० ।।

भरतभूषण! जब उभय-पक्षकी सेनाएँ युद्धके लिये पूर्णतः तैयार हो गयीं, उस समय सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी और भारी आवाजके साथ धरती काँपने लगी ।। ४० ।।

व्यशीर्यत सनादा च भूस्तदा भरतर्षभ ।
निर्घाता बहवो राजन् दिक्षु सर्वासु चाभवन् ।। ४१ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो पृथ्वी विकट नाद करती हुई फटी जा रही है। राजन्! सम्पूर्ण दिशाओंमें अनेक बार वज्रपातके समान भयानक शब्द प्रकट हुए ।। ४१ ।।

प्रादुरासीद् रजस्तीव्रं न प्राज्ञायत किंचन ।
ध्वजानां धूयमानानां सहसा मातरिश्वना ।। ४२ ।।
किङ्किणीजालबद्धानां काञ्चनस्रग्वराम्बरैः ।
महतां सपताकानामादित्यसमतेजसाम् ।। ४३ ।।
सर्वं झणझणीभूतमासीत् तालवनेष्विव ।

तीव्र वेगसे धूलकी वर्षा होने लगी। कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था। सहसा वायुके वेगसे ध्वज हिलने लगे। पताकासहित वे ध्वज सूर्यके समान तेजस्वी जान पड़ते थे। उन्हें सोनेके हार और सुन्दर वस्त्रोंसे सजाया गया था। उनमें छोटी-छोटी घंटियोंके साथ झालरें बँधी थीं, जिनके मधुर शब्द सब ओर फैल रहे थे। इस प्रकार उन महान् ध्वजोंके शब्दसे ताड़के जंगलोंकी भाँति उस रणभूमिमें सब ओर झन-झनकी आवाज हो रही थी ।।

एवं ते पुरुषव्याघ्राः पाण्डवा युद्धनन्दिनः ।। ४४ ।।
व्यवस्थिताः प्रतिव्यूह्य तव पुत्रस्य वाहिनीम् ।
ग्रसन्त इव मज्जा नो योधानां भरतर्षभ ।। ४५ ।।
दृष्ट्वाऽग्रतो भीमसेनं गदापाणिमवस्थितम् ।। ४६ ।।

इस प्रकार युद्धसे आनन्दित होनेवाले पुरुष-सिंह पाण्डव आपके पुत्रकी वाहिनीके सामने व्यूह बनाकर खड़े थे और हमारे योद्धाओंकी रक्त और मज्जा भी सुखाये देते थे। गदाधारी भीमसेनको आगे खड़ा देख हमारी सारी सेना भयभीत हो रही थी ।। ४४—४६ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि पाण्डवसैन्यव्यूहे एकोनविंशोऽध्यायः ।। १९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें पाण्डवसेनाका व्यूहनिर्माणविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९ ।।

विंशोऽध्यायः

दोनों सेनाओंकी स्थिति तथा कौरवसेनाका अभियान

धृतराष्ट्र उवाच

सूर्योदये संजय के नु पूर्वं
युयुत्सवो हृष्यमाणा इवासन् ।
मामका वा भीष्मनेत्राः समीपे
पाण्डवा वा भीमनेत्रास्तदानीम् ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! सूर्योदयके समय किस पक्षके योद्धा युद्धकी इच्छासे अधिक हर्षका अनुभव करते हुए जान पड़ते थे? भीष्मके नेतृत्वमें निकट आये हुए मेरे सैनिक अथवा भीमसेनकी अध्यक्षतामें आनेवाले पाण्डव सैनिक! उस समय कौन अधिक प्रसन्न थे? ।।

केषां जघन्यौ सोमसूर्यौ सवायू
केषां सेनां श्वापदाश्चाभषन्त ।
केषां यूनां मुखवर्णाः प्रसन्नाः
सर्वं ह्येतद् ब्रूहि तत्त्वं यथावत् ।। २ ।।

चन्द्रमा, सूर्य और वायु किनके प्रतिकूल थे? किनकी सेनाकी ओर देखकर हिंसक जन्तु भयंकर शब्द करते थे? किस पक्षके नवयुवकोंके मुखकी कान्ति प्रसन्न थी? ये सब बातें तुम मुझे ठीक-ठीक बताओ ।। २ ।।

संजय उवाच

उभे सेने तुल्यमिवोपयाते
उभे व्यूहे हृष्टरूपे नरेन्द्र ।
उभे चित्र वनराजिप्रकाशे
तथैवोभे नागरथाश्वपूर्णे ।। ३ ।।

संजय बोले—नरेन्द्र! दोनों ओरकी सेनाएँ समान रूपसे आगे बढ़ रही थीं। दोनों ओरके व्यूहमें खड़े हुए सैनिक हर्षसे उल्लसित थे। दोनों ही सेनाएँ वनश्रेणियोंके समान आश्चर्यरूप प्रतीत होती थीं और दोनों ही हाथी, रथ एवं घोड़ोंसे भरी हुई थीं ।। ३ ।।

उभे सेने बृहत्यौ भीमरूपे
तथैवोभे भारत दुर्विषह्यो ।
तथैवोभे स्वर्गजयाय सृष्टे
तथैवोभे सत्पुरुषोपजुष्टे ।। ४ ।।

भारत! दोनों ओरकी सेनाएँ विशाल, भयंकर और दुःसह थीं, मानो विधाताने दोनों सेनाओंको स्वर्गकी प्राप्तिके लिये ही रचा था। दोनोंमें ही सत्पुरुष भरे हुए थे ।। ४ ।।

पश्चान्मुखाः कुरवो धार्तराष्ट्राः
स्थिताः पार्थाः प्राङ्मुखा योत्स्यमानाः ।
दैत्येन्द्रसेनेव च कौरवाणां
देवेन्द्रसेनेव च पाण्डवानाम् ।। ५ ।।

आपके पुत्र कौरवोंका मुख पश्चिम दिशाकी ओर था और कुन्तीके पुत्र उनसे युद्ध करनेके लिये पूर्वाभिमुख खड़े थे। कौरवसेना दैत्यराजकी सेनाके समान जान पड़ती थी और पाण्डववाहिनी देवराज इन्द्रकी सेनाके तुल्य प्रतीत होती थी ।। ५ ।।

चक्रे वायुः पृष्ठतः पाण्डवानां
धार्तराष्ट्राञ्श्‍वापदा व्याहरन्त ।
गजेन्द्राणां मदगन्धांश्च तीव्रान्
न सेहिरे तव पुत्रस्य नागाः ।। ६ ।।

पाण्डवसेनाके पीछेकी ओरसे हवा चल रही थी और आपके पुत्रोंकी ओर देखकर हिंसक जन्तु बोल रहे थे। आपके पुत्रकी सेनामें जो हाथी थे, वे पाण्डवपक्षके गजराजोंके मदोंकी तीव्र गन्ध नहीं सहन कर पाते थे ।।

दुर्योधनो हस्तिनं पद्मवर्णं
सुवर्णकक्षं जालवन्तं प्रभिन्नम् ।
समास्थितो मध्यगतः कुरूणां
संस्तूयमानो वन्दिभिर्मागधैश्च ।। ७ ।।

दुर्योधन कमलके समान कान्तिवाले मदस्रावी गजराजपर बैठकर कौरवसेनाके मध्यभागमें खड़ा था। उसके हाथीपर सोनेका हौदा कसा हुआ था और पीठपर सोनेकी जाली बिछी हुई थी। उस समय बन्दी और मागधजन उसकी स्तुति कर रहे थे ।। ७ ।।

चन्द्रप्रभं श्वेतमथातपत्रं
सौवर्णस्रग् भ्राजति चोत्तमाङ्गे ।
तं सर्वतः शकुनिः पर्वतीयैः
सार्धं गान्धारैर्याति गान्धारराजः ।। ८ ।।

उसके मस्तकपर चन्द्रमाके समान कान्तिमान् श्वेत छत्र तना हुआ था और कण्ठमें सोनेकी माला सुशोभित हो रही थी। गान्धारराज शकुनि गान्धारदेशके पर्वतीय योद्धाओंके साथ आकर दुर्योधनको सब ओरसे घेरकर चल रहा था ।। ८ ।।

भीष्मोऽग्रतः सर्वसैन्यस्य वृद्धः
श्वेतच्छत्रः श्वेतधनुः सखड्गः ।
श्वेतोष्णीषः पाण्डुरेण ध्वजेन

श्वेतैरश्वैः श्वेतशैलप्रकाशैः ।। ९ ।।

हमारी सम्पूर्ण सेनाके आगे बूढ़े पितामह भीष्म थे। उनके सिरपर श्वेत रंगकी पगड़ी थी और श्वेत वर्णका ही छत्र तना हुआ था। उनके धनुष और खड्‌ग भी श्वेत ही थे। वे श्वेत शैलके समान प्रकाशित होनेवाले श्वेत घोड़ों और श्वेत ध्वजसे सुशोभित हो रहे थे ।। ९ ।।

तस्य सैन्ये धार्तराष्ट्राश्च सर्वे
बाह्लीकानामेकदेशः शलश्च ।
ये चाम्बष्ठाः क्षत्रिया ये च सिन्धो-
स्तथा सौवीराः पञ्चनदाश्च शूराः ।। १० ।।

उनकी सेनामें आपके सभी पुत्र, बाह्लीकसेनाका एक अंश, शल और अम्बष्ठ, सौवीर, सिन्धु तथा पंचनद देशके शूरवीर क्षत्रिय विद्यमान थे ।। १० ।।

शोणैर्हयै रुक्मरथो महात्मा
द्रोणो धनुष्पाणिरदीनसत्त्वः ।
आस्ते गुरुः प्रायशः सर्वराज्ञां
पश्चाच्च भूमीन्द्र इवाभियाति ।। ११ ।।

उनके पीछे प्रायः समस्त राजाओंके गुरु, उदार हृदयवाले महामना द्रोणाचार्य हाथमें धनुष लिये लाल घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमय रथमें बैठकर भूमिपालकी भाँति युद्धके लिये जा रहे थे ।। ११ ।।

वार्धक्षत्रिः सर्वसैन्यस्य मध्ये
भूरिश्रवाः पुरुमित्रो जयश्च ।
शाल्वा मत्स्याः केकयाश्चेति सर्वे
गजानीकैर्भ्रातरो योत्स्यमानाः ।। १२ ।।

वृद्धक्षत्रका पुत्र जयद्रथ, भूरिश्रवा, पुरुमित्र, जय, शाल्व और मत्स्यदेशीय क्षत्रिय तथा सब भाई केकय-राजकुमार युद्धकी इच्छासे हाथियोंके समूहोंको साथ ले सम्पूर्ण सेनाके मध्यभागमें स्थित थे ।। १२ ।।

शारद्वतश्चोत्तरधूर्महात्मा
महेष्वासो गौतमश्चित्रयोधी ।
शकैः किरातैर्यवनैः पह्लवैश्च
सार्धं चमूमुत्तरतोऽभियाति ।। १३ ।।

महान् धनुर्धर और विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले गौतमवंशीय महामना कृपाचार्य गुरुतर भार ग्रहण करके शक, किरात, यवन तथा पल्लव सैनिकोंके साथ कौरवसेनाके बाँयें भागमें होकर चल रहे थे ।। १३ ।।

महारथैर्वृष्णिभोजैः सुगुप्तं
सुराष्ट्रकैर्विहितैरात्तशस्त्रैः ।

बृहद् बलं कृतवर्माभिगुप्तं
बलं त्वदीयं दक्षिणेनाभियाति ।। १४ ।।

हाथमें हथियार लिये सुशिक्षित सुराष्ट्रदेशीय वीरों तथा वृष्णि और भोजवंशके महारथियोंद्वारा पालित विशाल सेना कृतवर्माद्वारा सुरक्षित होकर आपकी सेनाके दाहिने भागसे होकर युद्धके लिये यात्रा कर रही थी ।। १४ ।।

संशप्तकानामयुतं रथानां
मृत्युर्जयो वार्जुनस्येति सृष्टाः ।
येनार्जुनस्तेन राजन् कृतास्त्राः
प्रयातारस्ते त्रिगर्ताश्च शूराः ।। १५ ।।

'या तो हम अर्जुनपर विजय प्राप्त करेंगे अथवा हमारी मृत्यु हो जायगी' ऐसी प्रतिज्ञा करके दस हजार संशप्तक रथी तथा बहुत-से अस्त्रवेत्ता त्रिगर्तदेशीय शूरवीर जिस ओर अर्जुन थे, उसी ओर जा रहे थे ।। १५ ।।

साग्रं शतसहस्रं तु नागानां तव भारत ।
नागे नागे रथशतं शतमश्वा रथे रथे ।। १६ ।।

भारत! आपकी सेनामें एक लाखसे अधिक हाथी थे। एक-एक हाथीके साथ सौ-सौ रथ थे और एक-एक रथके साथ सौ-सौ घोड़े थे ।। १६ ।।

अश्वेऽश्वे दश धानुष्का धानुष्के शतचर्मिणः ।
एवं व्यूढान्यनीकानि भीष्मेण तव भारत ।। १७ ।।

प्रत्येक अश्वके पीछे दस-दस धनुर्धर और प्रत्येक धनुर्धरके साथ सौ-सौ पैदल सैनिक नियुक्त किये गये थे, जो ढाल-तलवार लिये रहते थे। भरतनन्दन! इस प्रकार भीष्मजीने आपकी सेनाओंका व्यूह रचा था ।। १७ ।।

संव्यूह्य मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम् ।
दिवसे दिवसे प्राप्ते भीष्मः शान्तनवोऽग्रणीः ।। १८ ।।
महारथौघविपुलः समुद्र इव घोषवान् ।
भीष्मेण धार्तराष्ट्राणां व्यूहः प्रत्यङ्मुखो युधि ।। १९ ।।

शान्तनुनन्दन सेनापति भीष्म प्रत्येक दिन मानुष, दैव, गान्धर्व और आसुर प्रणालीके अनुसार व्यूह-रचना करके सेनाके अग्रभागमें स्थित होते थे। भीष्मद्वारा रचित कौरवसेनाका वह व्यूह महारथियोंके समुदायसे सम्पन्न हो समुद्रके समान गर्जना करता था। युद्धमें उसका मुख पश्चिमकी ओर था ।। १८-१९ ।।

अनन्तरूपा ध्वजिनी नरेन्द्र
भीमा त्वदीया न तु पाण्डवानाम् ।
तां चैव मन्ये बृहतीं दुष्प्रधर्षां
यस्या नेता केशवश्चार्जुनश्च ।। २० ।।

नरेन्द्र! आपकी सेना अनन्त रूपवाली एवं भयंकर थी; पाण्डवोंकी वैसी नहीं थी। परंतु मैं तो उसी सेनाको विशाल और दुर्जय मानता हूँ, जिसके नेता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि सैन्यवर्णने विंशोऽध्यायः ।। २० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें सैन्यवर्णनविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २० ।।

एकविंशोऽध्यायः

कौरवसेनाको देखकर युधिष्ठिरका विषाद करना और ‘श्रीकृष्णकी कृपासे ही विजय होती है’ यह कहकर अर्जुनका उन्हें आश्वासन देना

संजय उवाच

बृहतीं धार्तराष्ट्रस्य सेनां दृष्ट्वा समुद्यताम् ।
विषादमगमद् राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! युद्धके लिये उद्यत हुई दुर्योधनकी विशाल सेनाको देखकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके मनमें विषाद छा गया ।। १ ।।

व्यूहं भीष्मेण चाभेद्यं कल्पितं प्रेक्ष्य पाण्डवः ।
अक्षोभ्यमिव सम्प्रेक्ष्य विवर्णोऽर्जुनमब्रवीत् ।। २ ।।

भीष्मने जिस व्यूहकी रचना की थी, उसका भेदन करना असम्भव था। उसे अक्षोभ्य-सा देखकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी अंगकान्ति फीकी पड़ गयी। वे अर्जुनसे इस प्रकार बोले— ।। २ ।।

धनंजय कथं शक्यमस्माभिर्योद्धुमाहवे ।
धार्तराष्ट्रैर्महाबाहो येषां योद्धा पितामहः ।। ३ ।।

‘महाबाहु धनंजय! जिनके प्रधान योद्धा पितामह भीष्म हैं, उन धृतराष्ट्रपुत्रोंके साथ हम समरभूमिमें कैसे युद्ध कर सकते हैं? ।। ३ ।।

अक्षोभ्योऽयमभेद्यश्च भीष्मेणामित्रकर्षिणा ।
कल्पितः शास्त्रदृष्टेन विधिना भूरिवर्चसा ।। ४ ।।

‘महातेजस्वी शत्रुसूदन भीष्मने शास्त्रीय विधिके अनुसार यह अक्षोभ्य एवं अभेद्य व्यूह रचा है ।। ४ ।।

ते वयं संशयं प्राप्ताः ससैन्याः शत्रुकर्षण ।
कथमस्मान्महाव्यूहादुत्थानं नो भविष्यति ।। ५ ।।

‘शत्रुनाशन अर्जुन! हमलोग अपनी सेनाओंके साथ प्राणसंकटकी स्थितिमें पहुँच गये हैं। इस महान् व्यूहसे हमारा उद्धार कैसे होगा?’ ।। ५ ।।

अथार्जुनोऽब्रवीत् पार्थं युधिष्ठिरममित्रहा ।
विषण्णमिव सम्प्रेक्ष्य तव राजन्ननीकिनीम् ।। ६ ।।

राजन्! तब शत्रुओंका नाश करनेवाले अर्जुनने आपकी सेनाको देखकर विषादग्रस्त-से हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको सम्बोधित करके कहा— ।। ६ ।।

प्रज्ञयाभ्यधिकाञ्शूरान् गुणयुक्तान् बहूनपि ।
जयन्त्यल्पतरा येन तन्निबोध विशाम्पते ।। ७ ।।

'प्रजानाथ! अधिक बुद्धिमान्, उत्तम गुणोंसे युक्त तथा बहुसंख्यक शूरवीरोंको भी बहुत थोड़े योद्धा जिस प्रकार जीत लेते हैं, उसे बताता हूँ, सुनिये— ।। ७ ।।

तत्र ते कारणं राजन् प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
नारदस्तमृषिर्वेद भीष्मद्रोणौ च पाण्डव ।। ८ ।।

'राजन्! आप दोषदृष्टिसे रहित हैं, अतः आपको वह युक्ति बताता हूँ। पाण्डुनन्दन! उसे केवल देवर्षि नारद, भीष्म तथा द्रोणाचार्य जानते हैं ।। ८ ।।

एनमेवार्थमाश्रित्य युद्धे देवासुरेऽब्रवीत् ।
पितामहः किल पुरा महेन्द्रादीन् दिवौकसः ।। ९ ।।

'कहते हैं, पूर्वकालमें जब देवासुर-संग्राम हो रहा था, उस समय इसी विषयको लेकर पितामह ब्रह्माने इन्द्र आदि देवताओंसे इस प्रकार कहा था— ।। ९ ।।

न तथा बलवीर्याभ्यां जयन्ति विजिगीषवः ।
यथा सत्यानृशंस्याभ्यां धर्मेणैवोद्यमेन च ।। १० ।।

'विजयकी इच्छा रखनेवाले शूरवीर अपने बल और पराक्रमसे वैसी विजय नहीं पाते, जैसी कि सत्य, सज्जनता, धर्म तथा उत्साहसे प्राप्त कर लेते हैं ।। १० ।।

त्यक्त्वाधर्मं च लोभं च मोहं चोद्यममास्थिताः ।
युद्ध्यध्वमनहंकारा यतो धर्मस्ततो जयः ।। ११ ।।

'देवताओ! अधर्म, लोभ और मोह त्यागकर उद्यमका सहारा ले अहंकारशून्य होकर युद्ध करो। जहाँ धर्म है उसी पक्षकी विजय होती है' ।। ११ ।।

एवं राजन् विजानीहि ध्रुवोऽस्माकं रणे जयः ।
यथा तु नारदः प्राह यतः कृष्णस्ततो जयः ।। १२ ।।

'राजन्! इसी नियमके अनुसार आप भी यह निश्चितरूपसे जान लें कि युद्धमें हमारी विजय अवश्यम्भावी है। जैसा कि नारदजीने कहा है, जहाँ कृष्ण हैं, वहीं विजय है ।। १२ ।।

गुणभूतो जयः कृष्णे पृष्ठतोऽभ्येति माधवम् ।
तद् यथा विजयश्चास्य सन्नतिश्चापरो गुणः ।। १३ ।।

'विजय तो श्रीकृष्णका एक गुण है, अतः वह उनके पीछे-पीछे चलता है। जैसे विजय गुण है, उसी प्रकार विनय भी उनका द्वितीय गुण है ।। १३ ।।

अनन्ततेजा गोविन्दः शत्रुपूगेषु निर्व्यथः ।
पुरुषः सनातनमयो यतः कृष्णस्ततो जयः ।। १४ ।।

'भगवान् गोविन्दका तेज अनन्त है। वे शत्रुओंके समुदायमें भी कभी व्यथित नहीं होते; क्योंकि वे सनातन पुरुष (परमात्मा) हैं। अतः जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ।।

पुरा ह्येष हरिर्भूत्वा विकुण्ठोऽकुण्ठसायकः ।
सुरासुरानवस्फूर्जन्नब्रवीत् के जयन्त्विति ।। १५ ।।

'ये श्रीकृष्ण कहीं भी प्रतिहत या अवरुद्ध न होनेवाले ईश्वर हैं। इनका बाण अमोघ है। ये ही पूर्वकालमें श्रीहरिरूपमें प्रकट हो वज्रगर्जनके समान गम्भीर वाणीमें देवताओं और असुरोंसे बोले—तुमलोगोंमेंसे किसकी विजय हो? ।। १५ ।।

कथं कृष्ण जयेमेति यैरुक्तं तत्र तैर्जितम् ।
तत् प्रसादादद्धि त्रैलोक्यं प्राप्तं शक्रादिभिः सुरैः ।। १६ ।।

'उस समय जिन लोगोंने उनका आश्रय लेकर पूछा—'कृष्ण! हमारी जीत कैसे होगी?' उन्हींकी जीत हुई। इस प्रकार श्रीकृष्णकी कृपासे ही इन्द्र आदि देवताओंने त्रिलोकीका राज्य प्राप्त किया है ।। १६ ।।

तस्य ते न व्यथां काञ्चिदिह पश्यामि भारत ।
यस्य ते जयमाशास्ते विश्वभुक् त्रिदिवेश्वरः ।। १७ ।।

'अतः भारत! मैं आपके लिये किसी प्रकारकी व्यथा या चिन्ता होनेका कारण नहीं देखता; क्योंकि देवेश्वर तथा विश्वम्भर भगवान् श्रीकृष्ण आपके लिये विजयकी आशा करते हैं' ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि युधिष्ठिरार्जुनसंवादे एकविंशोऽध्यायः ।। २१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें युधिष्ठिर-अर्जुनसंवादविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१ ।।

द्वाविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी रणयात्रा, अर्जुन और भीमसेनकी प्रशंसा तथा श्रीकृष्णका अर्जुनसे कौरवसेनाको मारनेके लिये कहना

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा स्वां सेनां समनोदयत् ।
प्रतिव्यूहन्ननीकानि भीष्मस्य भरतर्षभ ।। १ ।।

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने भीष्मजीकी सेनाका सामना करनेके लिये अपनी सेनाकी व्यूहरचना करते हुए उसे युद्धके लिये प्रेरित किया ।। १ ।।

यथोद्दिष्टान्यनीकानि प्रत्यव्यूहन्त पाण्डवाः ।
स्वर्गं परममिच्छन्तः सुयुद्धेन कुरूद्वहाः ।। २ ।।

कुरुकुलके धुरन्धर वीर पाण्डवोंने उत्तम युद्धके द्वारा उत्कृष्ट स्वर्गलोककी इच्छा रखकर शास्त्रोक्त विधिसे शत्रुके मुकाबिलेमें अपनी सेनाका व्यूह निर्माण किया ।। २ ।।

मध्ये शिखण्डिनोऽनीकं रक्षितं सव्यसाचिना ।
धृष्टद्युम्नश्चरन्नग्रे भीमसेनेन पालितः ।। ३ ।।

व्यूहके मध्यभागमें सव्यसाची अर्जुनद्वारा सुरक्षित शिखण्डीकी सेना थी और अग्रभागमें भीमसेनद्वारा पालित धृष्टद्युम्न विचरण कर रहे थे ।। ३ ।।

अनीकं दक्षिणं राजन् युयुधानेन पालितम् ।
श्रीमता सात्वताग्र्येण शक्रेणेव धनुष्मता ।। ४ ।।

राजन्! उस व्यूहके दक्षिणभागकी रक्षा इन्द्रके समान धनुर्धर सात्वतशिरोमणि श्रीमान् सात्यकि कर रहे थे ।। ४ ।।

महेन्द्रयानप्रतिमं रथं तु
सोपस्करं हाटकरत्नचित्रम् ।
युधिष्ठिरः काञ्चनभाण्डयोक्त्रं
समास्थितो नागपुरस्य मध्ये ।। ५ ।।

राजा युधिष्ठिर हाथियोंकी सेनाके बीचमें खड़े एक सुन्दर रथपर आरूढ़ हुए, जो देवराज इन्द्रके रथकी समानता कर रहा था। उस रथमें सब आवश्यक सामग्री रखी गयी थी। भाँति-भाँतिके सुवर्ण तथा रत्नोंसे विभूषित होनेके कारण उस रथकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसमें सुवर्णमय भाण्ड तथा रस्सियाँ रखी हुई थीं ।। ५ ।।

समुच्छ्रितं दन्तशलाकमस्य
सुपाण्डुरं छत्रमतीव भाति ।

प्रदक्षिणं चैनमुपाचरन्त
महर्षयः संस्तुतिभिर्महेन्द्रम् ।। ६ ।।

उस समय किसी सेवकने युधिष्ठिरके ऊपर हाथीके दाँतोंकी बनी हुई शलाकाओंसे युक्त श्वेत छत्र लगा रखा था, जिसकी बड़ी शोभा हो रही थी। कुछ महर्षिगणोंने नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा महाराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए उनकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की ।। ६ ।।

पुरोहिताः शत्रुवधं वदन्तो
ब्रह्मर्षिसिद्धाः श्रुतवन्त एनम् ।
जप्यैश्च मन्त्रैश्च महौषधीभिः
समन्ततः स्वस्त्ययनं ब्रुवन्तः ।। ७ ।।

शास्त्रोंके विद्वान् पुरोहित, ब्रह्मर्षि और सिद्धगण जप, मन्त्र तथा उत्तम ओषधियोंद्वारा सब ओरसे युधिष्ठिरके कल्याण और शत्रुओंके संहारका शुभ आशीर्वाद देने लगे ।। ७ ।।

ततः स वस्त्राणि तथैव गाश्च
फलानि पुष्पाणि तथैव निष्कान् ।
कुरूत्तमो ब्राह्मणसान्महात्मा
कुर्वन् ययौ शक्र इवामरेशः ।। ८ ।।

उस समय देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी कुरुश्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर बहुत-से वस्त्र, गाय, फल-फूल और स्वर्णमय आभूषण ब्राह्मणोंको दान करते हुए आगे बढ़ रहे थे ।। ८ ।।

सहस्रसूर्यः शतकिङ्किणीकः
परार्द्ध्यजाम्बूनदहेमचित्रः ।
रथोऽर्जुनस्याग्निरिवार्चिमाली
विभ्राजते श्वेतहयः सुचक्रः ।। ९ ।।

अर्जुनका रथ ज्वालमालाओंसे युक्त अग्निके समान शोभा पा रहा था। उसमें सूर्यकी आकृतिके सहस्रों चक्र विद्यमान थे। सैकड़ों क्षुद्र घंटिकाएँ लगी थीं। बहुमूल्य जाम्बूनद नामक सुवर्णसे भूषित होनेके कारण उस रथकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसमें श्वेत रंगके घोड़े और सुन्दर पहिये लगे थे ।। ९ ।।

तमास्थितः केशवसंगृहीतं
कपिध्वजो गाण्डिवबाणपाणिः ।
धनुर्धरो यस्य समः पृथिव्यां
न विद्यते नो भविता कदाचित् ।। १० ।।

गाण्डीव धनुष और बाण हाथमें लिये हुए कपिध्वज अर्जुन उस रथपर आरूढ़ थे। भगवान् श्रीकृष्णने उसकी बागडोर सँभाल रखी थी। अर्जुनके समान धनुर्धर इस भूतलपर न तो कोई है और न होगा ही ।। १० ।।

उद्वर्तयिष्यंस्तव पुत्रसेना-

मतीव रौद्रं स बिभर्ति रूपम् ।
अनायुधो यः सुभुजो भुजाभ्यां
नराश्वनागान् युधि भस्म कुर्यात् ।। ११ ।।

महाराज! जो सुन्दर बाहोंवाले भीमसेन बिना आयुधके केवल भुजाओंसे ही युद्धमें मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंको भस्म कर सकते हैं, उन्होंने ही आपके पुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालनेके लिये अत्यन्त रौद्र रूप धारण कर रखा है ।। ११ ।।

स भीमसेनः सहितो यमाभ्यां
वृकोदरो वीररथस्य गोप्ता ।
तं तत्र सिंहर्षभमत्तखेलं
लोके महेन्द्रप्रतिमानकल्पम् ।। १२ ।।
समीक्ष्य सेनाग्रगतं दुरासदं
संविव्यथुः पङ्कगता यथा द्विपाः ।
वृकोदरं वारणराजदर्पं
योधास्त्वदीया भयविग्नसत्त्वाः ।। १३ ।।

वृकोदर भीमसेन, नकुल और सहदेवके साथ रहकर अपने वीर रथी धृष्टद्युम्नकी रक्षा कर रहे थे। जो सिंहों और साँड़ोंके समान उन्मत्त-से होकर युद्धका खेल खेलते हैं, जिनका दर्प गजराजके समान बढ़ा हुआ है तथा जो लोकमें देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी हैं, उन्हीं दुर्धर्ष वीर भीमसेनको सेनाके अग्रभागमें उपस्थित देख आपके सैनिक भयसे उद्विग्नचित्त हो कीचड़में फँसे हुए हाथियोंकी भाँति व्यथित हो उठे ।। १२-१३ ।।

अनीकमध्ये तिष्ठन्तं राजपुत्रं दुरासदम् ।
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं गुडाकेशं जनार्दनः ।। १४ ।।

उस समय सेनाके मध्यभागमें खड़े हुए दुर्जय वीर निद्राविजयी भरतश्रेष्ठ राजकुमार अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा ।। १४ ।।

वासुदेव उवाच

य एष रोषात् प्रतपन् बलस्थो
यो नः सेनां सिंह इवेक्षते च ।
स एष भीष्मः कुरुवंशकेतु-
र्येनाहृतास्त्रिशतं वाजिमेधाः ।। १५ ।।

भगवान् वासुदेव बोले—धनंजय! ये जो अपनी सेनाके मध्यभागमें स्थित हो रोषसे तप रहे हैं और सिंहके समान हमारी सेनाकी ओर देखते हैं, ये ही कुरुकुलकेतु भीष्म हैं, जिन्होंने अबतक तीन सौ अश्वमेधयज्ञोंका अनुष्ठान किया है ।। १५ ।।

एतान्यनीकानि महानुभावं

गूहन्ति मेघा इव रश्मिमन्तम् ।
एतानि हत्वा पुरुषप्रवीर
काङ्क्षस्व युद्धं भरतर्षभेण ।। १६ ।।

जैसे बादल अंशुमाली सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार ये सारी सेनाएँ इन महानुभाव भीष्मको आच्छादित किये हुए हैं। नरवीर अर्जुन! तुम पहले इन सेनाओंको मारकर भरतकुलभूषण भीष्मजीके साथ युद्धकी अभिलाषा करो ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीकृष्णार्जुनसंवादे द्वाविंशोऽध्यायः ।। २२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवादविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२ ।।

त्रयोविंशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा दुर्गादेवीकी स्तुति, वरप्राप्ति और अर्जुनकृत दुर्गास्तवनके पाठकी महिमा

संजय उवाच

धार्तराष्ट्रबलं दृष्ट्वा युद्धाय समुपस्थितम् ।
अर्जुनस्य हितार्थाय कृष्णो वचनमब्रवीत् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—दुर्योधनकी सेनाको युद्धके लिये उपस्थित देख श्रीकृष्णने अर्जुनके हितके लिये इस प्रकार कहा ।। १ ।।

श्रीभगवानुवाच

शुचिर्भूत्वा महाबाहो संग्रामाभिमुखे स्थितः ।
पराजयाय शत्रूणां दुर्गास्तोत्रमुदीरय ।। २ ।।

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो! तुम युद्धके सम्मुख खड़े हो। पवित्र होकर शत्रुओंको पराजित करनेके लिये दुर्गा देवीकी स्तुति करो ।। २ ।।

संजय उवाच

एवमुक्तोऽर्जुनः संख्ये वासुदेवेन धीमता ।
अवतीर्य रथात् पार्थः स्तोत्रमाह कृताञ्जलिः ।। ३ ।।

संजय कहते हैं—परम बुद्धिमान् भगवान् वासुदेवके द्वारा रणक्षेत्रमें इस प्रकार आदेश प्राप्त होनेपर कुन्तीकुमार अर्जुन रथसे नीचे उतरकर दुर्गादेवीकी स्तुति करने लगे ।। ३ ।।

अर्जुन उवाच

नमस्ते सिद्धसेनानि आर्ये मन्दरवासिनि ।
कुमारि कालि कापालि कपिले कृष्णपिङ्गले ।। ४ ।।
भद्रकालि नमस्तुभ्यं महाकालि नमोऽस्तु ते ।
चण्डि चण्डे नमस्तुभ्यं तारिणि वरवर्णिनि ।। ५ ।।

अर्जुन बोले—मन्दराचलपर निवास करनेवाली सिद्धोंकी सेनानेत्री आर्ये! तुम्हें बारंबार नमस्कार है। तुम्हीं कुमारी, काली, कपाली, कपिला, कृष्णपिंगला, भद्रकाली और महाकाली आदि नामोंसे प्रसिद्ध हो; तुम्हें बारंबार प्रणाम है। दुष्टोंपर प्रचण्ड कोप करनेके कारण तुम चण्डी कहलाती हो, भक्तोंको संकटसे तारनेके कारण तारिणी हो, तुम्हारे शरीरका दिव्य वर्ण बहुत ही सुन्दर है; मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ ।। ४-५ ।।

कात्यायनि महाभागे करालि विजये जये ।

शिखिपिच्छध्वजधरे नानाभरणभूषिते ।। ६ ।।

महाभागे! तुम्हीं (सौम्य और सुन्दर रूपवाली) पूजनीया कात्यायनी हो और तुम्हीं विकराल रूपधारिणी काली हो। तुम्हीं विजया और जयाके नामसे विख्यात हो। मोरपंखकी तुम्हारी ध्वजा है। नाना प्रकारके आभूषण तुम्हारे अंगोंकी शोभा बढ़ाते हैं ।। ६ ।।

अट्टशूलप्रहरणे खड्गखेटकधारिणि ।
गोपेन्द्रस्यानुजे ज्येष्ठे नन्दगोपकुलोद्भवे ।। ७ ।।

तुम भयंकर त्रिशूल, खड्ग और खेटक आदि आयुधोंको धारण करती हो। नन्दगोपके वंशमें तुमने अवतार लिया था, इसलिये गोपेश्वर श्रीकृष्णकी तुम छोटी बहिन हो; परंतु गुण और प्रभावमें सर्वश्रेष्ठ हो ।। ७ ।।

महिषासृक्प्रिये नित्यं कौशिकि पीतवासिनि ।
अट्टहासे कोकमुखे नमस्तेऽस्तु रणप्रिये ।। ८ ।।

महिषासुरका रक्त बहाकर तुम्हें बड़ी प्रसन्नता हुई थी। तुम कुशिकगोत्रमें अवतार लेनेके कारण कौशिकी नामसे भी प्रसिद्ध हो। तुम पीताम्बर धारण करती हो। जब तुम शत्रुओंको देखकर अट्टहास करती हो, उस समय तुम्हारा मुख चक्रवाकके समान उद्दीप्त हो उठता है। युद्ध तुम्हें बहुत ही प्रिय है। मैं तुम्हें बारंबार प्रणाम करता हूँ ।। ८ ।।

उमे शाकम्भरि श्वेते कृष्णे कैटभनाशिनि ।
हिरण्याक्षि विरूपाक्षि सुधूम्राक्षि नमोऽस्तु ते ।। ९ ।।

उमा, शाकम्भरी, श्वेता, कृष्णा, कैटभनाशिनी, हिरण्याक्षी, विरूपाक्षी और सुधूम्राक्षी आदि नाम धारण करनेवाली देवि! तुम्हें अनेकों बार नमस्कार है ।। ९ ।।

वेदश्रुति महापुण्ये ब्रह्मण्ये जातवेदसि ।
जम्बूकटकचैत्येषु नित्यं सन्निहितालये ।। १० ।।

तुम वेदोंकी श्रुति हो, तुम्हारा स्वरूप अत्यन्त पवित्र है; वेद और ब्राह्मण तुम्हें प्रिय हैं। तुम्हीं जातवेदा अग्निकी शक्ति हो; जम्बू, कटक और चैत्यवृक्षोंमें तुम्हारा नित्य निवास है ।। १० ।।

त्वं ब्रह्मविद्या विद्यानां महानिद्रा च देहिनाम् ।
स्कन्दमातर्भगवति दुर्गे कान्तारवासिनि ।। ११ ।।

तुम समस्त विद्याओंमें ब्रह्मविद्या और देहधारियों-की महानिद्रा हो। भगवति! तुम कार्तिकेयकी माता हो, दुर्गम स्थानोंमें वास करनेवाली दुर्गा हो ।। ११ ।।

स्वाहाकारः स्वधा चैव कला काष्ठा सरस्वती ।
सावित्रि वेदमाता च तथा वेदान्त उच्यते ।। १२ ।।

सावित्रि! स्वाहा, स्वधा, कला, काष्ठा, सरस्वती, वेदमाता तथा वेदान्त—ये सब तुम्हारे ही नाम हैं ।। १२ ।।

स्तुतासि त्वं महादेवि विशुद्धेनान्तरात्मना ।

जयो भवतु मे नित्यं त्वत्प्रसादाद् रणाजिरे ।। १३ ।।

महादेवि! मैंने विशुद्ध हृदयसे तुम्हारा स्तवन किया है। तुम्हारी कृपासे इस रणांगणमें मेरी सदा ही जय हो ।। १३ ।।

कान्तारभयदुर्गेषु भक्तानां चालयेषु च ।
नित्यं वससि पाताले युद्धे जयसि दानवान् ।। १४ ।।

माँ! तुम घोर जंगलमें, भयपूर्ण दुर्गम स्थानोंमें, भक्तोंके घरोंमें तथा पातालमें भी नित्य निवास करती हो। युद्धमें दानवोंको हराती हो ।। १४ ।।

त्वं जम्भनी मोहिनी च माया ह्रीः श्रीस्तथैव च ।
संध्या प्रभावती चैव सावित्री जननी तथा ।। १५ ।।

तुम्हीं जम्भनी, मोहिनी, माया, ह्री, श्री, संध्या, प्रभावती, सावित्री और जननी हो ।। १५ ।।

तुष्टिः पुष्टिर्धृतिर्दीप्तिश्चन्द्रादित्यविवर्धिनी ।
भूतिर्भूतिमतां सङ्ख्ये वीक्ष्यसे सिद्धचारणैः ।। १६ ।।

तुष्टि, पुष्टि, धृति तथा सूर्य-चन्द्रमाको बढ़ानेवाली दीप्ति भी तुम्हीं हो। तुम्हीं ऐश्वर्यवानोंकी विभूति हो। युद्धभूमिमें सिद्ध और चारण तुम्हारा दर्शन करते हैं ।। १६ ।।

संजय उवाच

ततः पार्थस्य विज्ञाय भक्तिं मानववत्सला ।
अन्तरिक्षगतोवाच गोविन्दस्याग्रतः स्थिता ।। १७ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! अर्जुनके इस भक्तिभावका अनुभव करके मनुष्योंपर वात्सल्य-भाव रखनेवाली माता दुर्गा अन्तरिक्षमें भगवान् श्रीकृष्णके सामने आकर खड़ी हो गयीं और इस प्रकार बोलीं ।। १७ ।।

देव्युवाच

स्वल्पेनैव तु कालेन शत्रूञ्जेष्यसि पाण्डव ।
नरस्त्वमसि दुर्धर्ष नारायणसहायवान् ।। १८ ।।
अजेयस्त्वं रणेऽरीणामपि वज्रभृतः स्वयम् ।

देवीने कहा—पाण्डुनन्दन! तुम थोड़े ही समयमें शत्रुओंपर विजय प्राप्त करोगे। दुर्धर्ष वीर! तुम तो साक्षात् नर हो। ये साक्षात् नारायण तुम्हारे सहायक हैं। तुम रणक्षेत्रमें शत्रुओंके लिये अजेय हो। साक्षात् इन्द्र भी तुम्हें पराजित नहीं कर सकते ।। १८ ½ ।।

इत्येवमुक्त्वा वरदा क्षणेनान्तरधीयत ।। १९ ।।
लब्ध्वा वरं तु कौन्तेयो मेने विजयमात्मनः ।
आरुरोह ततः पार्थो रथं परमसम्मतम् ।। २० ।।

ऐसा कहकर वरदायिनी देवी दुर्गा वहाँसे क्षणभरमें अन्तर्धान हो गयीं। वह वरदान पाकर कुन्तीकुमार अर्जुनको अपनी विजयका विश्वास हो गया। फिर वे अपने परम सुन्दर रथपर आरूढ़ हुए ।। १९-२० ।।

कृष्णार्जुनावेकरथौ दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ।

फिर एक रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने अपने दिव्य शंख बजाये ।। २० १/२ ।।

य इदं पठते स्तोत्रं कल्य उत्थाय मानवः ।। २१ ।।
यक्षरक्षःपिशाचेभ्यो न भयं विद्यते सदा ।

जो मनुष्य सबेरे उठकर इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसे यक्ष, राक्षस और पिशाचोंसे कभी भय नहीं होता ।। २१ १/२ ।।

न चापि रिपवस्तेभ्यः सर्पाद्या ये च दंष्ट्रिणः ।। २२ ।।
न भयं विद्यते तस्य सदा राजकुलादपि ।
विवादे जयमाप्नोति बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।। २३ ।।

शत्रु तथा सर्प आदि विषैले दाँतोंवाले जीव भी उनको कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। राजकुलसे भी उन्हें कोई भय नहीं होता है। इसका पाठ करनेसे विवादमें विजय प्राप्त होती है और बंदी बन्धनसे मुक्त हो जाता है ।। २२-२३ ।।

दुर्गं तरति चावश्यं तथा चौरैर्विमुच्यते ।
संग्रामे विजयेन्नित्यं लक्ष्मीं प्राप्नोति केवलाम् ।। २४ ।।

वह दुर्गम संकटसे अवश्य पार हो जाता है। चोर भी उसे छोड़ देते हैं। वह संग्राममें सदा विजयी होता और विशुद्ध लक्ष्मी प्राप्त करता है ।। २४ ।।

आरोग्यबलसम्पन्नो जीवेद् वर्षशतं तथा ।
एतद् दृष्टं प्रसादात् तु मया व्यासस्य धीमतः ।। २५ ।।

इतना ही नहीं, इसका पाठ करनेवाला पुरुष आरोग्य और बलसे सम्पन्न हो सौ वर्षोंकी आयुतक जीवित रहता है। यह सब परम बुद्धिमान् भगवान् व्यासजीके कृपा-प्रसादसे मैंने प्रत्यक्ष देखा है ।। २५ ।।

मोहादेतौ न जानन्ति नरनारायणावृषी ।
तव पुत्रा दुरात्मानः सर्वे मन्युवशानुगाः ।। २६ ।।

राजन्! आपके सभी दुरात्मा पुत्र क्रोधके वशीभूत हो मोहवश यह नहीं जानते हैं कि ये श्रीकृष्ण और अर्जुन ही साक्षात् नर-नारायण ऋषि हैं ।। २६ ।।

प्राप्तकालमिदं वाक्यं कालपाशेन गुण्ठिताः ।
द्वैपायनो नारदश्च कण्वो रामस्तथानघः ।
अवारयंस्तव सुतं न चासौ तद् गृहीतवान् ।। २७ ।।

वे कालपाशसे बद्ध होनेके कारण इस समयोचित बातको बतानेपर भी नहीं सुनते। द्वैपायन व्यास, नारद, कण्व तथा पापशून्य परशुरामने तुम्हारे पुत्रको बहुत रोका था; परंतु

उसने उनकी बात नहीं मानी ।। २७ ।।

यत्र धर्मो द्युतिः कान्तिर्यत्र ह्रीः श्रीस्तथा मतिः ।
यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ।। २८ ।।

जहाँ न्यायोचित बर्ताव, तेज और कान्ति है, जहाँ ह्री, श्री और बुद्धि है तथा जहाँ धर्म विद्यमान है, वहीं श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि दुर्गास्तोत्रे त्रयोविंशोऽध्यायः ।। २३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें दुर्गास्तोत्रविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३ ।।

चतुर्विंशोऽध्यायः

सैनिकोंके हर्ष और उत्साहके विषयमें धृतराष्ट्र और संजयका संवाद

धृतराष्ट्र उवाच

केषां प्रहृष्टास्तत्राग्रे योधा युध्यन्ति संजय ।
उदग्रमनसः के वा के वा दीना विचेतसः ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! उस समय किस पक्षके योद्धा अत्यन्त हर्षमें भरकर पहले युद्धमें प्रवृत्त हुए? किनके मनमें उत्साह भरा था और कौन-कौन मनुष्य दीन एवं अचेत हो रहे थे? ।। १ ।।

के पूर्वं प्राहरंस्तत्र युद्धे हृदयकम्पने ।
मामकाः पाण्डवेया वा तन्ममाचक्ष्व संजय ।। २ ।।

संजय! हृदयको कम्पित कर देनेवाले संग्राममें किन्होंने पहले संग्राम किया, मेरे पुत्रोंने या पाण्डवोंने? यह मुझे बताओ ।। २ ।।

कस्य सेनासमुदये गन्धमाल्यसमुद्भवः ।
वाचः प्रदक्षिणाश्चैव योधानामभिगर्जताम् ।। ३ ।।

किसकी सेनाओंमें सुगन्धित पुष्पमाला आदिका प्रादुर्भाव हुआ? किस पक्षके गर्जते हुए योद्धाओंकी वाणी उदारतापूर्ण और उत्साहयुक्त थी? ।। ३ ।।

संजय उवाच

उभयोः सेनयोस्तत्र योधा जहृषिरे तदा ।
स्रजः समाः सुगन्धानामुभयत्र समुद्भवः ।। ४ ।।

संजयने कहा—राजन्! दोनों ही सेनाओंके योद्धा उस समय हर्षमें भरे हुए थे। उभयपक्षमें ही सुगन्ध और पुष्पहारोंका प्रादुर्भाव हुआ था ।। ४ ।।

संहतानामनीकानां व्यूढानां भरतर्षभ ।
संसर्गात् समुदीर्णानां विमर्दः सुमहानभूत् ।। ५ ।।

भरतश्रेष्ठ! संगठित, व्यूहबद्ध तथा युद्धविषयक उत्साहसे उद्यत हुए दोनों दलोंके योद्धाओंकी जब मुठभेड़ हुई, उस समय बड़ी भारी मार-काट मची थी ।। ५ ।।

वादित्रशब्दस्तुमुलः शङ्खभेरीविमिश्रितः ।
शूराणां रणशूराणां गर्जतामितरेतरम् ।
उभयोः सेनयो राजन् महान् व्यतिकरोऽभवत् ।। ६ ।।

राजन्! शंख और भेरी आदि वाद्योंका सम्मिलित भयंकर शब्द जब एक-दूसरेपर गर्जन-तर्जन करनेवाले रणवीर शूरोंके सिंहनादसे मिला, तब दोनों सेनाओंमें महान् कोलाहल एवं संघर्ष होने लगा ।। ६ ।।

अन्योन्यं वीक्षमाणानां योधानां भरतर्षभ ।

कुञ्जराणां च नदतां सैन्यानां च प्रहृष्यताम् ।। ७ ।।

भरतभूषण! एक-दूसरेकी ओर देखनेवाले योद्धाओं, गर्जते हुए हाथियों और हर्षमें भरी हुई सेनाओंका तुमुल नाद सर्वत्र व्याप्त हो रहा था ।। ७ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे चतुर्विंशोऽध्यायः ।। २४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीतापर्वमें धृतराष्ट्र-संजय-संवादविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४ ।।

पञ्चविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां प्रथमोऽध्यायः)

दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान वीरों एवं शंखध्वनिका वर्णन तथा स्वजनवधके पापसे भयभीत हुए अर्जुनका विषाद

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें एकत्र हुए युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? ।।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ।। २ ।।

संजय बोले—उस समय राजा दुर्योधनने व्यूह-रचनायुक्त पाण्डवोंकी सेनाको देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन कहा— ।। २ ।।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।। ३ ।।

‘हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ।। ३ ।।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।। ४ ।।
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ।। ५ ।।
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ।। ६ ।।

‘इस सेनामें बड़े-बड़े धनुषोंवाले तथा युद्धमें भीम और अर्जुनके समान शूरवीर सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं ।। ४—६ ।।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ।। ७ ।।

‘हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! अपने पक्षमें भी जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिये। आपकी जानकारीके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ ।। ७ ।।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ।। ८ ।।

‘आप—द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ।। ८ ।।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।। ९ ।।

‘और भी मेरे लिये जीवनकी आशा त्याग देनेवाले बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित और सब-के-सब युद्धमें चतुर हैं ।। ९ ।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।। १० ।।

‘भीष्मपितामहद्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है ।। १० ।।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।। ११ ।।

'इसलिये सब मोर्चोंपर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आपलोग सभी निःसंदेह भीष्मपितामहकी ही सब ओरसे रक्षा करें' ।। ११ ।।

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।। १२ ।।

(तब) कौरवोंमें वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वरसे सिंहकी दहाड़के समान गरजकर शंख बजाया ।। १२ ।।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।। १३ ।।

इसके पश्चात् शंख और नगारे तथा ढोल, मृदंग और नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ।। १३ ।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ।। १४ ।।

इसके अनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुनने भी अलौकिक शंख बजाये ।। १४ ।।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ।। १५ ।।

श्रीकृष्ण महाराजने पांचजन्य नामक, अर्जुनने देवदत्त नामक और भयानक कर्मवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया ।। १५ ।।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।। १६ ।।

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक और नकुल तथा सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाये ।। १६ ।।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ।। १७ ।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ।। १८ ।।

श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी एवं धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सभीने, हे राजन्! (सब ओरसे) अलग-अलग शंख बजाये ।। १७-१८ ।।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।। १९ ।।

और उस भयानक शब्दने आकाश और पृथ्वीको भी गुँजाते हुए धार्तराष्ट्रोंके यानी आपके पक्षवालोंके हृदय विदीर्ण कर दिये ।। १९ ।।

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।। २० ।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।। २१ ।।

हे राजन्! इसके बाद कपिध्वज अर्जुनने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको देखकर, उस शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराजसे यह वचन कहा—'हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये ।। २०-२१ ।।

यावदेतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ।। २२ ।।

'और जबतक कि मैं युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओंको भली प्रकार देख लूँ कि इस युद्धरूप व्यापारमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है, तबतक उसे खड़ा रखिये ।। २२ ।।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।। २३ ।।

'दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें हित चाहनेवाले जो-जो ये राजालोग इस सेनामें आये हैं, इन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूँगा' ।। २३ ।।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।। २४ ।।
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ।। २५ ।।

संजय बोले—हे धृतराष्ट्र! अर्जुनद्वारा इस प्रकार कहे हुए महाराज श्रीकृष्णचन्द्रने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने उत्तम रथको खड़ा करके इस प्रकार कहा कि 'हे पार्थ! युद्धके लिये जुटे हुए इन कौरवोंको देख'* ।। २४-२५ ।।

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातृन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ।। २६ ।।
श्वशूरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

इसके बाद पृथापुत्र अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित ताऊ-चाचोंको, दादों-परदादोंको, गुरुओंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको भी देखा ।। २६ १/२ ।।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ।। २७ ।।
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

उन उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओंको देखकर वे कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणासे युक्त होकर शोक करते हुए यह वचन बोले ।। २७ १/२ ।।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।। २८ ।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।। २९ ।।

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इस स्वजनसमुदायको देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीरमें कम्प एवं रोमांच हो रहा है ।। २८-२९ ।।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।। ३० ।।

हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिये मैं खड़ा रहनेको भी समर्थ नहीं हूँ ।। ३० ।।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।। ३१ ।।

हे केशव! मैं लक्षणोंको भी विपरीत ही देख रहा हूँ तथा युद्धमें स्वजन समुदायको मारकर कल्याण भी नहीं देखता ।। ३१ ।।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।। ३२ ।।

हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखोंको ही। हे गोविन्द! हमें ऐसे राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगोंसे और जीवनसे भी क्या लाभ है? ।।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।। ३३ ।।

हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखादि अभीष्ट हैं, वे ही ये सब धन और जीवनकी आशाको त्यागकर युद्धमें खड़े हैं ।। ३३ ।।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।। ३४ ।।

गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और उसी प्रकार दादे, मामे, ससुर, पौत्र, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं ।।

एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।। ३५ ।।

हे मधुसूदन! मुझे मारनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता; फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है? ।। ३५ ।।

निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ।। ३६ ।।

हे जनार्दन! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियोंको[१] मारकर तो हमें पाप ही लगेगा ।। ३६ ।।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।। ३७ ।।

अतएव हे माधव! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं; क्योंकि अपने ही कुटुम्बको मारकर हम कैसे सुखी होंगे? ।। ३७ ।।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।। ३८ ।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।। ३९ ।।

यद्यपि लोभसे भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको और मित्रोंसे विरोध करनेमें पापको नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन! कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे हटनेके लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये? ।। ३८-३९ ।।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।। ४० ।।

कुलके नाशसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मके नाश हो जानेपर सम्पूर्ण कुलमें पाप भी बहुत फैल जाता है[१] ।। ४० ।।

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ।। ४१ ।।

हे कृष्ण! पापके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय! स्त्रियोंके दूषित हो जानेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता

है ।। ४१ ।।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।। ४२ ।।

वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पणसे वंचित इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं ।। ४२ ।।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।। ४३ ।।

इन वर्णसंकरकारक दोषोंसे कुलघातियोंके सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं ।। ४३ ।।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।

नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।। ४४ ।।

हे जनार्दन! जिनका कुलधर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्योंका अनिश्चित कालतक नरकमें वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं ।। ४४ ।।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।

यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।। ४५ ।।

हा! शोक! हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं ।। ४५ ।।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।

धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।। ४६ ।।

यदि मुझ शस्त्ररहित एवं सामना न करनेवालेको शस्त्र हाथमें लिये धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा ।। ४६ ।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।

विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।। ४७ ।।

संजय बोले—रणभूमिमें शोकसे उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें बैठ गया ।। ४७ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।
भीष्मपर्वणि तु पञ्चविंशोऽध्यायः[२] ।। २५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं यणेशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें अर्जुनविषादयोग नामक पहला अध्याय पूरा हुआ ।। १ ।। भीष्मपर्वमें पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५ ।।

---

[*] 'कौरवोंको देख' इन शब्दोंका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि 'इस सेनामें जितने लोग हैं, प्रायः सभी तुम्हारे वंशके तथा आत्मीय स्वजन ही हैं। उनको तुम अच्छी तरह देख लो।' भगवान्‌के इसी संकेतने अर्जुनके अन्तःकरणमें छिपे हुए कुटुम्ब-स्नेहको प्रकट कर दिया, मानो अर्जुनको निमित्त बनाकर लोककल्याण करनेके लिये स्वयं भगवान्‌ने ही इन शब्दोंके द्वारा उनके हृदयमें ऐसी भावना उत्पन्न कर दी, जिसमें उन्होंने युद्ध करनेसे इन्कार कर दिया और उसके फलस्वरूप साक्षात् भगवान्‌के मुखारविन्दसे त्रिलोकपावन दिव्य गीतामृतकी ऐसी परम मधुर धारा बह निकली, जो अनन्त कालतक अनन्त जीवोंका परम कल्याण करती रहेगी।

[१]. वसिष्ठस्मृतिमें आततायीके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः । (३।१९)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको उद्यत, धन हरण करनेवाला, जमीन छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छहों ही आततायी हैं।'

[१]. पाँच हेतु ऐसे हैं, जिनके कारण मनुष्य अधर्मसे बचता है और धर्मको सुरक्षित रखनेमें समर्थ होता है—ईश्वरका भय, शास्त्रका शासन, कुलमर्यादाओंके टूटनेका डर, राज्यका कानून और शारीरिक तथा आर्थिक अनिष्टकी आशंका। इनमें ईश्वर और शास्त्र सर्वथा सत्य होनेपर भी वे श्रद्धापर निर्भर करते हैं, प्रत्यक्ष हेतु नहीं हैं। राज्यके कानून प्रजाके लिये ही प्रधानतया होते हैं; जिनके हाथोंमें अधिकार होता है, वे उन्हें प्रायः नहीं मानते। शारीरिक तथा आर्थिक अनिष्टकी आशंका अधिकतर व्यक्तिगत रूपमें हुआ करती है। एक कुल-मर्यादा ही ऐसी वस्तु है, जिसका सम्बन्ध सारे कुटुम्बके साथ रहता है। जिस समाज या कुलमें परम्परासे चली आती हुई शुभ और श्रेष्ठ मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं, वह समाज या कुल बिना लगामके मतवाले घोड़ोंके समान यथेच्छाचारी हो जाता है। यथेच्छाचार किसी भी नियमको सहन नहीं कर सकता, वह मनुष्यको उच्छृंखल बना देता है। जिस समाजके मनुष्योंमें इस प्रकारकी उच्छृंखलता आ जाती है, उस समाज या कुलमें स्वाभाविक ही सर्वत्र पाप छा जाता है।

[२]. प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिपर जो उपर्युक्त पुष्पिका दी गयी है, इसमें श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य और प्रभाव ही प्रकट किया गया है। 'ॐ तत्सत्' भगवान्‌के पवित्र नाम हैं (गीता १७।२३), स्वयं श्रीभगवान्‌के द्वारा गायी जानेके कारण इसका नाम 'श्रीमद्भगवद्गीता' है, इसमें उपनिषदोंका सारतत्त्व संगृहीत है और यह स्वयं भी उपनिषद् है, इससे इसको 'उपनिषद्' कहा गया है, निर्गुण-निराकार परमात्माके परमतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाली होनेके कारण इसका नाम 'ब्रह्मविद्या' है और जिस कर्मयोगका योगके नामसे वर्णन हुआ है, उस निष्कामभावपूर्ण कर्मयोगका तत्त्व बतलानेवाली होनेसे इसका नाम 'योगशास्त्र' है। यह साक्षात् परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तवर अर्जुनका संवाद है और इसके प्रत्येक अध्यायमें परमात्माको प्राप्त करानेवाले योगका वर्णन है, इसीसे इसके लिये 'श्रीकृष्णार्जुनसंवादे············योगो नाम' कहा गया है।

षड्विंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वितीयोऽध्यायः)

अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हुए भगवान्‌के द्वारा नित्यानित्य वस्तुके विवेचनपूर्वक सांख्ययोग, कर्मयोग एवं स्थितप्रज्ञकी स्थिति और महिमाका प्रतिपादन

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें गीतोक्त उपदेशकी प्रस्तावनाके रूपमें दोनों सेनाओंके महारथियोंका और उनकी शंखध्वनिका वर्णन करके अर्जुनका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करनेकी बात कही गयी; उसके बाद दोनों सेनाओंमें स्थित स्वजनसमुदायको देखकर शोक और मोहके कारण अर्जुनके युद्धसे निवृत्त हो जानेकी और शस्त्र-अस्त्रोंको छोड़कर विषाद करते हुए बैठ जानेकी बात कहकर उस अध्यायकी समाप्ति की गयी। ऐसी स्थितिमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे क्या बात कही और किस प्रकार उसे युद्धके लिये पुनः तैयार किया; यह सब बतलानेकी आवश्यकता होनेपर संजय अर्जुनकी स्थितिका वर्णन करते हुए दूसरे अध्यायका आरम्भ करते हैं—

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।। १ ।।

संजय बोले—इस प्रकार करुणासे व्याप्त और आँसुओंसे पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले शोकमुक्त उस अर्जुनके प्रति भगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा ।। १ ।।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।। २ ।।

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित है, न स्वर्गको देनेवाला है और न कीर्तिको करनेवाला ही है ।। २ ।।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।। ३ ।।

इसलिये हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परंतप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा ।। ३ ।।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।। ४ ।।

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! मैं रणभूमिमें किस प्रकार बाणोंसे भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके विरुद्ध लड़ूँगा? क्योंकि हे अरिसूदन! वे दोनों ही पूजनीय हैं ।।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ।। ५ ।।

इसलिये इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा ।। ५ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अपना निश्चय प्रकट कर देनेपर भी जब अर्जुनको संतोष नहीं हुआ और अपने निश्चयमें शंका उत्पन्न हो गयी, तब वे फिर कहने लगे—*

न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।। ६ ।।

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये युद्ध करना और न करना—इन दोनोंमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे मुकाबलेमें खड़े हैं ।। ६ ।।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः । यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।

(गीता २।७)

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।। ७ ।।

इसलिये कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये ।। ७ ।।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।। ८ ।।

क्योंकि भूमिमें निष्कण्टक, धन-धान्यसम्पन्न राज्यको और देवताओंके स्वामीपनेको प्राप्त होकर भी मैं उस उपायको नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके ।। ८ ।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।। ९ ।।

संजय बोले—हे राजन्! निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्द भगवान्से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गये ।। ९ ।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।। १० ।।

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज दोनों सेनाओंके बीचमें शोक करते हुए उस अर्जुनको हँसते हुए-से यह वचन बोले ।। १० ।।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त प्रकारसे चिन्तामग्न अर्जुनने जब भगवान्के शरण होकर अपने महान् शोककी निवृत्तिका उपाय पूछा और यह कहा कि इस लोक और परलोकका राज्यसुख इस शोककी निवृत्तिका उपाय नहीं है, तब अर्जुनको अधिकारी समझकर उसके शोक और मोहको सदाके लिये नष्ट करनेके उद्देश्यसे भगवान् पहले नित्य और अनित्य वस्तुके विवेचनपूर्वक सांख्ययोगकी दृष्टिसे भी युद्ध करना कर्तव्य है, ऐसा प्रतिपादन करते हुए सांख्यनिष्ठाका वर्णन करते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।। ११ ।।

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परंतु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते ।। ११ ।।

सम्बन्ध—*पहले भगवान् आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका प्रतिपादन करके आत्मदृष्टिसे उनके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—*

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।। १२ ।।

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ।। १२ ।।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।। १३ ।।

जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता। अर्थात् जैसे कुमार, युवा और जरा-अवस्थारूप स्थूल शरीरका विकार अज्ञानसे आत्मामें भासता है, वैसे ही एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होनारूप सूक्ष्म शरीरका विकार भी अज्ञानसे ही आत्मामें भासता है, इसलिये तत्त्वको जाननेवाला धीर पुरुष मोहित नहीं होता ।। १३ ।।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।। १४ ।।

हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गरमी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर ।। १४ ।।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। १५ ।।

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है ।। १५ ।।

सम्बन्ध—*बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने आत्माकी नित्यता और निर्विकारताका प्रतिपादन किया तथा चौदहवें श्लोकमें इन्द्रियोंके साथ विषयोंके संयोगोंको अनित्य बतलाया, किंतु आत्मा क्यों नित्य है और ये संयोग क्यों अनित्य हैं? इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया; अतएव इस श्लोकमें भगवान् नित्य और अनित्य वस्तुके विवेचनकी रीति बतलानेके लिये दोनोंके लक्षण बतलाते हैं—*

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।। १६ ।।

असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है[१] ।। १६ ।।

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ।। १७ ।।

नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है ।। १७ ।।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः[२] ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ।। १८ ।।

इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर ।। १८ ।।

सम्बन्ध—*अर्जुनने जो यह बात कही थी कि 'मैं इनको मारना नहीं चाहता और यदि वे मुझे मार डालें तो वह मेरे लिये क्षेमतर होगा' उसका समाधान करनेके लिये अगले श्लोकोंमें आत्माको मरने या मारनेवाला मानना अज्ञान है, यह कहते हैं—*

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।। १९ ।।

जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है ।। १९ ।।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। २० ।।

यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता[३] ।। २० ।।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।। २१ ।।

हे पृथापुत्र अर्जुन! जो पुरुष इस आत्माको नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है? ।। २१ ।।

सम्बन्ध—*यहाँ यह शंका होती है कि आत्माका जो एक शरीरसे सम्बन्ध छूटकर दूसरे शरीरसे सम्बन्ध होता है, उसमें उसे अत्यन्त कष्ट होता है; अतः उसके लिये शोक करना कैसे अनुचित है? इसपर कहते हैं—*

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। २२ ।।

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है[१] ।। २२ ।।

सम्बन्ध—*आत्माका स्वरूप दुर्विज्ञेय होनेके कारण पुनः तीन श्लोकोंद्वारा प्रकारान्तरसे उसकी नित्यता, निराकारता और निर्विकारताका प्रतिपादन करते हुए उसके विनाशकी आशंकासे शोक करना अनुचित सिद्ध करते हैं—*

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।। २३ ।।

इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता ।। २३ ।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।। २४ ।।

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है; यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसंदेह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है ।। २४ ।।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते[२] ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।। २५ ।।

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है। इससे हे अर्जुन! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करनेको योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है ।। २५ ।।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्ने आत्माको अजन्मा और अविनाशी बतलाकर उसके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया; अब दो श्लोकोंद्वारा आत्माको औपचारिकरूपसे जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी उसके लिये शोक करना अनुचित है, ऐसा सिद्ध करते हैं—*

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।। २६ ।।

किंतु यदि तू इस आत्माको सदा जन्मनेवाला तथा सदा मरनेवाला माने तो भी हे महाबाहो! तू इस प्रकार शोक करनेको योग्य नहीं है ।। २६ ।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।। २७ ।।

क्योंकि इस मान्यताके अनुसार जन्मे हुएकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुएका जन्म निश्चित है।[३] इससे भी इस बिना उपायवाले विषयमें तू शोक करनेको योग्य नहीं है ।। २७ ।।

सम्बन्ध—*अब अगले श्लोकमें यह सिद्ध करते हैं कि प्राणियोंके शरीरोंको उद्देश्य करके भी शोक करना नहीं बनता—*

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।। २८ ।।

हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; फिर ऐसी स्थितिमें क्या शोक करना है? ।। २८ ।।

सम्बन्ध—*आत्मतत्त्व अत्यन्त दुर्बोध होनेके कारण उसे समझानेके लिये भगवान्‌ने उपर्युक्त श्लोकोंद्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे उसके स्वरूपका वर्णन किया; अब अगले श्लोकमें उस आत्मतत्त्वके दर्शन, वर्णन और श्रवणकी अलौकिकता और दुर्लभताका निरूपण करते हैं—*

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।। २९ ।।

कोई एक महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है[१] और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्त्वका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करता है[२] तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्यकी भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता है[३] ।। २९ ।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।। ३० ।।

हे अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीरमें सदा ही अवध्य है। इस कारण सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये तू शोक करनेके योग्य नहीं है ।। ३० ।।

सम्बन्ध—*यहाँतक भगवान्‌ने सांख्ययोगके अनुसार अनेक युक्तियोंद्वारा नित्य शुद्ध, बुद्ध, सम, निर्विकार और अकर्ता आत्माके एकत्व, नित्यत्व, अविनाशित्व आदिका प्रतिपादन करके तथा शरीरोंको विनाशशील बतलाकर आत्माके या शरीरोंके लिये अथवा शरीर और आत्माके वियोगके लिये शोक करना अनुचित सिद्ध किया। साथ ही प्रसंगवश आत्माको जन्मने-मरनेवाला माननेपर भी शोक करनेके अनौचित्यका प्रतिपादन किया और अर्जुनको युद्ध*

करनेके लिये आज्ञा दी। अब सात श्लोकोंद्वारा क्षात्रधर्मके अनुसार शोक करना अनुचित सिद्ध करते हुए अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हैं—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।। ३१ ।।

तथा अपने धर्मको देखकर भी तू भय करनेयोग्य नहीं है यानी तुझे भय नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है ।। ३१ ।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।। ३२ ।।

हे पार्थ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रिय-लोग ही पाते हैं ।। ३२ ।।

अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।। ३३ ।।

किन्तु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्धको नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा ।। ३३ ।।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।। ३४ ।।

तथा सब लोग तेरी बहुत कालतक रहनेवाली अपकीर्तिका भी कथन करेंगे और माननीय पुरुषके लिये अपकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है ।। ३४ ।।

भयाद् रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।। ३५ ।।

और जिनकी दृष्टिमें तू पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुताको प्राप्त होगा, वे महारथीलोग तुझे भयके कारण युद्धसे हटा हुआ मानेंगे ।। ३५ ।।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।। ३६ ।।

तेरे वैरीलोग तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे बहुत-से न कहनेयोग्य वचन भी कहेंगे; उससे अधिक दुःख और क्या होगा? ।। ३६ ।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।। ३७ ।।

या तो तू युद्धमें मारा जाकर स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा संग्राममें जीतकर पृथ्वीका राज्य भोगेगा। इस कारण हे अर्जुन! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा ।। ३७ ।।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्‌ने युद्धका फल राज्यसुख या स्वर्गकी प्राप्तितक बतलाया, किंतु अर्जुनने तो पहले ही कह दिया था कि इस लोकके राज्यकी तो बात ही क्या है, मैं तो त्रिलोकीके राज्यके लिये भी अपने कुलका नाश नहीं करना चाहता; अतः जिसे राज्यसुख और स्वर्गकी इच्छा न हो उसको किस भावसे युद्ध करना चाहिये, यह बात अगले श्लोकमें बतलायी जाती है—*

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।। ३८ ।।

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ।। ३८ ।।

सम्बन्ध—*यहाँतक भगवान्‌ने सांख्ययोगके सिद्धान्तसे तथा क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्धका औचित्य सिद्ध करके अर्जुनको समतापूर्वक युद्ध करनेके लिये आज्ञा दी; अब कर्मयोगके सिद्धान्तसे युद्धका औचित्य बतलानेके लिये कर्मयोगके वर्णनकी प्रस्तावना करते हैं—*

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।। ३९ ।।

हे पार्थ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और अब तू इसको कर्मयोगके विषयमें सुन[1]—जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मोंके बन्धन-को भलीभाँति त्याग देगा यानी सर्वथा नष्ट कर डालेगा ।। ३९ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार कर्मयोगके वर्णनकी प्रस्तावना करके अब उसका रहस्यपूर्ण महत्त्व बतलाते हैं—*

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो[2] न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।। ४० ।।

इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है; बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है[3] ।। ४० ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार कर्मयोगका महत्त्व बतलाकर अब उसके आचरणकी विधि बतलानेके लिये पहले उस कर्मयोगमें परम आवश्यक जो सिद्ध कर्मयोगीकी निश्चयात्मिका स्थायी समबुद्धि है, उसका और कर्मयोगमें बाधक जो सकाम मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न बुद्धियाँ हैं, उनका भेद बतलाते हैं—*

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।। ४१ ।।

हे अर्जुन! इस कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किंतु अस्थिर विचारवाले विवेकहीन सकाम मनुष्योंकी बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती हैं ।। ४१ ।।

सम्बन्ध—*अब तीन श्लोकोंमें सकामभावको त्याज्य बतलानेके लिये सकाम मनुष्योंके स्वभाव, सिद्धान्त और आचार-व्यवहारका वर्णन करते हैं—*

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।। ४२ ।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।। ४३ ।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।। ४४ ।।

हे अर्जुन! जो भोगोंमें तमन्य हो रहे हैं, जो कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें ही प्रीति रखते हैं, जिनकी बुद्धिमें स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्गसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है—ऐसा कहनेवाले हैं, वे अविवेकी जन इस प्रकारकी जिस पुष्पित यानी दिखाऊ शोभायुक्त वाणीको कहा करते हैं जो कि जन्मरूप कर्मफल देनेवाली एवं भोग तथा ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारकी बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है, उस वाणीद्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषोंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती ।। ४२—४४ ।।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।। ४५ ।।

हे अर्जुन! वेद उपर्युक्त प्रकारसे तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं; इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनोंमें आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्यवस्तु परमात्मामें स्थित, योगक्षेमको न चाहनेवाला[१] और स्वाधीन अन्तःकरणवाला हो ।। ४५ ।।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।। ४६ ।।

सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त हो जानेपर छोटे जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मको तत्त्वसे जाननेवाले ब्राह्मणका समस्त वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रह जाता है[२] ।। ४६ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार समबुद्धिरूप कर्मयोगका और उसके फलका महत्त्व बतलाकर अब दो श्लोकोंमें भगवान् कर्मयोगका स्वरूप बतलाते हुए अर्जुनको*

कर्मयोगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।। ४७ ।।

तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है,[३] उसके फलोंमें कभी नहीं[४]। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो[५] तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो ।। ४७ ।।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।। ४८ ।।

हे धनंजय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर,[१] समत्व ही योग कहलाता है ।। ४८ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार कर्मयोगकी प्रक्रिया बतलाकर अब सकामभावकी निन्दा और समभावरूप बुद्धियोगका महत्त्व प्रकट करते हुए भगवान् अर्जुनको उसका आश्रय लेनेके लिये आज्ञा देते हैं—*

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्[२] धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।। ४९ ।।

इस समत्वरूप बुद्धियोगसे सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणीका है। इसलिये हे धनंजय! तू समबुद्धिमें ही रक्षाका उपाय ढूँढ़ अर्थात् बुद्धियोगका ही आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फलके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन हैं ।। ४९ ।।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।। ५० ।।

समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है।[३] इससे तू समत्वरूप योगमें लग जा; यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है ।। ५० ।।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्[४] ।। ५१ ।।

क्योंकि समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परमपदको प्राप्त हो जाते हैं ।। ५१ ।।

सम्बन्ध—*भगवान्‌ने कर्मयोगके आचरणद्वारा अनामय पदकी प्राप्ति बतलायी, इसपर अर्जुनको यह जिज्ञासा हो सकती है कि अनामय परम पदकी प्राप्ति मुझे कब और कैसे होगी, इसके लिये भगवान् दो श्लोकोंमें कहते हैं—*

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।। ५२ ।।

जिस कालमें तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलको भलीभाँति पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और सुननेमें आनेवाले इस लोक और परलोकसम्बन्धी सभी भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा[५] ।। ५२ ।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना[६] ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।। ५३ ।।

भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा अर्थात् तेरा परमात्मासे नित्य संयोग हो जायगा ।। ५३ ।।

सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकोंमें भगवान्ने यह बात कही कि जब तुम्हारी बुद्धि परमात्मामें निश्चल ठहर जायगी, तब तुम परमात्माको प्राप्त हो जाओगे। इसपर परमात्माको प्राप्त स्थितप्रज्ञ सिद्धयोगीके लक्षण और आचरण जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—*

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।। ५४ ।।

अर्जुन बोले—हे केशव! समाधिमें स्थित परमात्माको प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि पुरुषका क्या लक्षण है? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है? ।।

सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकमें अर्जुनने परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध योगीके विषयमें चार बातें पूछी हैं; इन चारों बातोंका उत्तर भगवान्ने अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त दिया है, बीचमें प्रसंगवश दूसरी बातें भी कही हैं। इस अगले श्लोकमें भगवान् अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें देते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।। ५५ ।।

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है[१] और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।। ५५ ।।

सम्बन्ध—*अब दो श्लोकोंमें 'स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है' इस दूसरे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है—*

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।। ५६ ।।

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं,[२] ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ।। ५६ ।।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। ५७ ।।

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है[३] उसकी बुद्धि स्थिर है ।। ५७ ।।

सम्बन्ध—*अब भगवान् 'वह कैसे बैठता है?' इस तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं —*

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। ५८ ।।

कछुआ सब ओरसे अपने अंगोंको जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये) ।। ५८ ।।

सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकमें तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञके बैठनेका प्रकार बतलाकर अब उसमें होनेवाली शंकाओंका समाधान करनेके लिये अन्य प्रकारसे किये जानेवाले इन्द्रियसंयमकी अपेक्षा स्थितप्रज्ञके इन्द्रियसंयमकी विलक्षणता दिखलाते हैं—*

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।। ५९ ।।

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है[१] ।। ५९ ।।

सम्बन्ध—*आसक्तिका नाश और इन्द्रियसंयम नहीं होनेसे क्या हानि है? इसपर कहते हैं—*

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।। ६० ।।

हे अर्जुन! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात् हर लेती हैं ।। ६० ।।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। ६१ ।।

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ।। ६१ ।।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त प्रकारसे मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेसे और भगवत्परायण न होनेसे क्या हानि है? यह बात अब दो श्लोकोंमें बतलायी जाती है—*

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।। ६२ ।।

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है ।। ६२ ।।

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।। ६३ ।।

क्रोधसे अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है ।। ६३ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार मनसहित इन्द्रियोंको वशमें न करनेवाले मनुष्यके पतनका क्रम बतलाकर अब भगवान् 'स्थितप्रज्ञ योगी कैसे चलता है' इस चौथे प्रश्नका उत्तर आरम्भ करते हुए पहले दो श्लोकोंमें जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें होते हैं, ऐसे साधकद्वारा विषयोंमें विचरण किये जानेका प्रकार और उसका फल बतलाते हैं—*

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। ६४ ।।

परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियों-द्वारा[२] विषयोंमें विचरण करता हुआ[३] अन्तःकरणकी प्रसन्नताको[१] प्राप्त होता है ।। ६४ ।।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।। ६५ ।।

अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है ।। ६५ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार मन और इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्तभावसे इन्द्रियोंद्वारा व्यवहार करनेवाले साधकको सुख, शान्ति और स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त होनेकी बात कहकर अब दो श्लोकोंद्वारा इससे विपरीत जिसके मन-इन्द्रिय जीते हुए नहीं हैं, ऐसे विषयासक्त मनुष्यमें सुख-शान्तिका अभाव दिखलाकर विषयोंके संगसे उसकी बुद्धिके विचलित हो जानेका प्रकार बतलाते हैं—*

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।। ६६ ।।

न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती[२] और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है? ।। ६६ ।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।। ६७ ।।

क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है[३] ।। ६७ ।।

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। ६८ ।।

इसलिये हे महाबाहो! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं,[४] उसीकी बुद्धि स्थिर है ।। ६८ ।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। ६९ ।।

सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है[१] और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है[२] ।। ६९ ।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।। ७० ।।

जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं,[३] वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं ।। ७० ।।

सम्बन्ध— *'स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है?' अर्जुनका यह चौथा प्रश्न परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके विषयमें ही था; किंतु यह प्रश्न आचरणविषयक होनेके कारण उसके उत्तरमें चौंसठवें श्लोकसे यहाँतक किस प्रकार आचरण करनेवाला मनुष्य शीघ्र स्थितप्रज्ञ बन सकता है, कौन नहीं बन सकता और जब मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है उस समय उसकी कैसी स्थिति होती है—ये सब बातें बतलायी गयीं। अब उस चौथे प्रश्नका स्पष्ट उत्तर देते हुए स्थितप्रज्ञ पुरुषके आचरणका प्रकार बतलाते हैं—*

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।। ७१ ।।

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है,[१] वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अर्जुनके चारों प्रश्नोंका उत्तर देनेके अनन्तर अब स्थितप्रज्ञ पुरुषकी स्थितिका महत्त्व बतलाते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—*

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।। ७२ ।।

हे अर्जुन! यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है; इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता[२] और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है ।। ७२ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।। भीष्मपर्वणि तु षड्विंशोऽध्यायः ।। २६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें सांख्ययोग

नामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ।। २ ।। भीष्मपर्वमें छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६ ।।

---

१. तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंद्वारा 'असत्' और 'सत्' का विवेचन करके जो यह निश्चय कर लेना है कि जिस वस्तुका परिवर्तन और नाश होता है, जो सदा नहीं रहती, वह असत् है—अर्थात् असत् वस्तुका विद्यमान रहना सम्भव नहीं और जिसका परिवर्तन और नाश किसी भी अवस्थामें किसी भी निमित्तसे नहीं होता, जो सदा विद्यमान रहती है, वह सत् है—अर्थात् सत्का कभी अभाव होता ही नहीं—यही तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा उन दोनोंका तत्त्व देखा जाना है।

२. पूर्व श्लोकमें जिस 'सत्' तत्त्वसे समस्त जडवर्गको व्याप्त बतलाया है, उसे 'शरीरी' कहकर तथा शरीरोंके साथ उसका सम्बन्ध दिखलाकर आत्मा और परमात्माकी एकताका प्रतिपादन किया गया है। अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक दृष्टिसे जो भिन्न-भिन्न शरीरोंको धारण करनेवाले, उनसे सम्बन्ध रखनेवाले भिन्न-भिन्न आत्मा प्रतीत होते हैं, वे वस्तुतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं, सब एक ही चेतनतत्त्व है; जैसे निद्राके समय स्वप्नकी सृष्टिमें एक पुरुषके सिवा कोई वस्तु नहीं होती, स्वप्नका समस्त नानात्व निद्राजनित होता है, जागनेके बाद पुरुष एक ही रह जाता है, वैसे ही यहाँ भी समस्त नानात्व अज्ञानजनित है, ज्ञानके अनन्तर कोई नानात्व नहीं रहता।

३. इस श्लोकमें छहों विकारोंका अभाव इस प्रकार दिखलाया गया है—आत्माको 'अजः' (अजन्मा) कहकर उसमें 'उत्पत्ति' रूप विकारका अभाव बतलाया है। 'अयं भूत्वा भूयः न भविता' अर्थात् यह जन्म लेकर फिर सत्तावाला नहीं होता, बल्कि स्वभावसे ही सत् है—यह कहकर 'अस्तित्व' रूप विकारका, 'पुराणः' (चिरकालीन और सदा एकरस रहनेवाला) कहकर 'वृद्धि' रूप विकारका, 'शाश्वतः' (सदा एकरूपमें स्थित) कहकर 'विपरिणाम' का, 'नित्यः' (अखण्ड सत्तावाला) कहकर 'क्षय' का और 'शरीरे हन्यमाने न हन्यते' (शरीरके नाशसे इसका नाश नहीं होता)—यह कहकर 'विनाश' का अभाव दिखलाया है।

१. वास्तवमें अचल और अक्रिय होनेके कारण आत्माका किसी भी हालतमें गमनागमन नहीं होता; पर जैसे घड़ेको एक मकानसे दूसरे मकानमें ले जानेके समय उसके भीतरके आकाशका अर्थात् घटाकाशका भी घटके सम्बन्धसे गमनागमन-सा प्रतीत होता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीरका गमनागमन होनेसे उसके सम्बन्धसे आत्मामें भी गमनागमनकी प्रतीति होती है। अतएव लोगोंको समझानेके लिये आत्मामें गमनागमनकी औपचारिक कल्पना की जाती है।

२. आत्माको 'अविकार्य' कहकर अव्यक्त प्रकृतिसे उसकी विलक्षणताका प्रतिपादन किया गया है। अभिप्राय यह है कि समस्त इन्द्रियाँ और अन्तःकरण प्रकृतिके कार्य हैं, वे अपनी कारणरूपा प्रकृतिको विषय नहीं कर सकते, इसलिये प्रकृति भी अव्यक्त और अचिन्त्य है; किंतु वह निर्विकार नहीं है, उसमें विकार होता है और आत्मामें कभी किसी भी अवस्थामें विकार नहीं होता। अतएव प्रकृतिसे आत्मा अत्यन्त विलक्षण है।

३. भगवान्का यह कथन उन अज्ञानियोंकी दृष्टिमें है, जो आत्माका जन्मना-मरना नित्य मानते हैं। उनके मतानुसार जो मरणधर्मा है, उसका जन्म होना निश्चित ही है; क्योंकि उस मान्यतामें किसीकी मुक्ति नहीं हो सकती। जिस वास्तविक सिद्धान्तमें मुक्ति मानी गयी है, उसमें आत्माको जन्मने-मरनेवाला भी नहीं माना गया है, जन्मना-मरना सब अज्ञानजनित है।

१. जैसे मनुष्य लौकिक दृश्य वस्तुओंको मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा इदंबुद्धिसे देखता है, आत्मदर्शन वैसा नहीं है; आत्माका देखना अद्भुत और अलौकिक है। जब एकमात्र चेतन आत्मासे भिन्न किसीकी सत्ता ही नहीं रहती, उस समय आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही अपनेको देखता है। उस दर्शनमें द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटी नहीं रहती, इसलिये वह देखना आश्चर्यकी भाँति है।

२. जितने भी उदाहरणोंसे आत्मतत्त्व समझाया जाता है, उनमेंसे कोई भी उदाहरण पूर्णरूपसे आत्मतत्त्वको समझानेवाला नहीं है। उसके किसी एक अंशको ही उदाहरणोंद्वारा समझाया जाता है;

क्योंकि आत्माके सदृश अन्य कोई वस्तु है ही नहीं, इस अवस्थामें कोई भी उदाहरण पूर्णरूपसे कैसे लागू हो सकता है? तथापि बहुत-से आश्चर्यमय संकेतोंद्वारा महापुरुष उसका लक्ष्य कराते हैं, यही उनका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करना है। वास्तवमें आत्मा वाणीका अविषय होनेके कारण स्पष्ट शब्दोंमें वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता।

३. जिसके अन्तःकरणमें पूर्ण श्रद्धा और आस्तिकभाव नहीं होता, जिसकी बुद्धि शुद्ध और सूक्ष्म नहीं होती—ऐसा मनुष्य इस आत्मतत्त्वको सुनकर भी संशय और विपरीत भावनाके कारण इसके स्वरूपको यथार्थ नहीं समझ सकता; अतएव इस आत्मतत्त्वका समझना अनधिकारीके लिये बड़ा ही दुर्लभ है।

१. इस श्लोकमें बुद्धिके साथ 'एषा' और 'इमाम्'—ये दो विशेषण देकर यह बात दिखलायी गयी है कि इस अध्यायके ३८ वें श्लोकमें कही हुई समत्वबुद्धि सांख्ययोगके अनुसार ११ वें श्लोकसे लेकर ३० वें श्लोकतक कही गयी, उसीको अब कर्मयोगके अनुसार कहना आरम्भ करते हैं।

२. इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जहाँ कामनायुक्त कर्म होता है, वहीं अच्छे-बुरे फलकी सम्भावना होती है; इसमें कामनाका सर्वथा अभाव है, इसलिये इसमें प्रत्यवाय अर्थात् विपरीत फल भी नहीं होता ।

३. भाव यह है कि निष्कामभावका परिणाम संसारसे उद्धार करना है। अतएव वह अपने परिणामको सिद्ध किये बिना न तो नष्ट होता है और न उसका कोई दूसरा फल ही हो सकता है, अन्तमें साधकको पूर्ण निष्काम बनाकर उसका उद्धार कर ही देता है।

१. अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिको योग कहते हैं और प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम क्षेम है; सांसारिक भोगोंकी कामनाका त्याग कर देनेके बाद भी शरीरनिर्वाहके लिये मनुष्यकी योगक्षेममें वासना रहा करती है, अतएव उस वासनाका भी सर्वथा त्याग करानेके लिये यहाँ अर्जुनको 'निर्योगक्षेम' होनेको कहा गया है।

२. इस दृष्टान्तका अभिप्राय यह है कि जिस मनुष्यको अमृतके समान स्वादु और गुणकारी अथाह जलसे भरा हुआ जलाशय मिल जाता है, उसको जैसे जलके लिये (वापी-कूप-तडागादि) छोटे-छोटे जलाशयोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, वैसे ही जिसको परमानन्दके समुद्र पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उसको आनन्दकी प्राप्तिके लिये वेदोक्त कर्मोंके फलरूप भोगोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। वह सर्वथा पूर्णकाम और नित्यतृप्त हो जाता है।

३. जैसे सरकारके द्वारा लोगोंको आत्मरक्षाके लिये या प्रजाकी रक्षाके लिये अपने पास नाना प्रकारके शस्त्र रखने और उनके प्रयोग करनेका अधिकार दिया जाता है और उसी समय उनके प्रयोगके नियम भी उनको बतला दिये जाते हैं, उसके बाद यदि कोई मनुष्य उस अधिकारका दुरुपयोग करता है तो उसे दण्ड दिया जाता है और उसका अधिकार भी छीन लिया जाता है, वैसे ही जीवको जन्म-मृत्युरूप संसारबन्धनसे मुक्त होनेके लिये और दूसरोंका हित करनेके लिये मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित यह मनुष्यशरीर देकर इसके द्वारा नवीन कर्म करनेका अधिकार दिया गया है। अतः जो इस अधिकारका सदुपयोग करता है, वह तो कर्मबन्धनसे छूटकर परमपदको प्राप्त हो जाता है और जो दुरुपयोग करता है, वह दण्डका भागी होता है तथा उससे वह अधिकार छीन लिया जाता है अर्थात् उसे पुनः सूकर-कूकरादि योनियोंमें ढकेल दिया जाता है। इस रहस्यको समझकर मनुष्यको इस अधिकारका सदुपयोग करना चाहिये।

४. मनुष्य कर्मोंका फल प्राप्त करनेमें कभी किसी प्रकार भी स्वतन्त्र नहीं है। उसके कौन-से कर्मका क्या फल होगा और वह फल उसको किस जन्ममें और किस प्रकार प्राप्त होगा—इसका न तो उसको कुछ पता है और न वह अपने इच्छानुसार समयपर उसे प्राप्त कर सकता है अथवा न उससे बच ही सकता है। मनुष्य चाहता कुछ और है और होता कुछ और ही है।

५. मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा किये हुए शास्त्रविहित कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति, वासना, आशा, स्पृहा और कामना करना ही कर्मफलका हेतु बनना है; क्योंकि जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्त होता है, उसीको उन कर्मोंका फल मिलता है।

१. योगमें स्थित होकर कर्म करनेके लिये कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि केवल सिद्धि और असिद्धिमें ही समत्व रखनेसे काम नहीं चलेगा, बल्कि प्रत्येक क्रियाके करते समय भी तुमको किसी भी पदार्थमें, कर्ममें या उसके फलमें अथवा किसी भी प्राणीमें विषमभाव न रखकर नित्य समभावमें स्थित रहना चाहिये।

२. जिसमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके समबुद्धिपूर्वक कर्तव्य-कर्मका अनुष्ठान किया जाता है, उस कर्मयोगका वाचक यहाँ ‘बुद्धियोगात्’ पद है; क्योंकि उनतालीसवें श्लोकमें ‘योगे त्विमां शृणु’ अर्थात् अब तुम मुझसे इस बुद्धिको योगमें सुनो, यह कहकर भगवान्‌ने कर्मयोगका वर्णन आरम्भ किया है। इसके सिवा इस श्लोकमें फल चाहनेवालोंको कृपण बतलाया गया है और अगले श्लोकमें बुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगके लिये आज्ञा दी गयी है और यह कहा गया है कि बुद्धियुक्त मनुष्य कर्मफलका त्याग करके ‘अनामय पद’ को प्राप्त हो जाता है (गीता २।५१); इस कारण भी यहाँ ‘बुद्धियोगात्’ पदका अर्थ कर्मयोग ही है।

३. जन्म-जन्मान्तरमें और इस जन्ममें किये हुए जितने भी पुण्यकर्म और पापकर्म संस्काररूपसे अन्तःकरणमें संचित रहते हैं, उन समस्त कर्मोंको समबुद्धिसे युक्त कर्मयोगी इसी लोकमें त्याग देता है—अर्थात् इस वर्तमान जन्ममें ही वह उन समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। उसका उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये उसके कर्म पुनर्जन्मरूप फल नहीं दे सकते।

४. जहाँ राग-द्वेष आदि क्लेशोंका, शुभाशुभ कर्मोंका, हर्ष-शोकादि विकारोंका और समस्त दोषोंका सर्वथा अभाव है, जो इस प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा अतीत है, जो भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न भगवान्‌का परम धाम है, जहाँ पहुँचे हुए मनुष्य वापस नहीं लौटते, उस परम धामको ‘अनामय पद’ कहते हैं।

५. इस लोक और परलोकके जितने भी भोगैश्वर्यादि आजतक देखने, सुनने और अनुभवमें आ चुके हैं, उनका नाम ‘श्रुत’ है और भविष्यमें जो देखे, सुने और अनुभव किये जा सकते हैं, उन्हें ‘श्रोतव्य’ कहते हैं। उन सबको दुःखके हेतु और अनित्य समझकर जो आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना है, यही उनसे वैराग्यको प्राप्त होना है।

६. इस लोक और परलोकके भोगैश्वर्य और उनकी प्राप्तिके साधनोंके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे बुद्धिमें विक्षिप्तता आ जाती है; इसके कारण वह एक निश्चयपर निश्चलरूपसे नहीं टिक सकती, अभी एक बातको अच्छी समझती है, तो कुछ ही समय बाद दूसरी बातको अच्छी मानने लगती है। ऐसी विक्षिप्त और अनिश्चयात्मिका बुद्धिको यहाँ ‘श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धि’ कहा गया है। यह बुद्धिका विक्षेपदोष है।

१. शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा आदि अनुकूल पदार्थोंके बने रहनेकी और प्रतिकूल पदार्थोंके नष्ट हो जानेकी जो रण-द्वेषजनित सूक्ष्म कामना है, जिसका स्वरूप विकसित नहीं होता, उसे ‘वासना’ कहते हैं। किसी अनुकूल वस्तुके अभावका बोध होनेपर जो चित्तमें ऐसा भाव होता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है, उसके बिना काम नहीं चलेगा—इस अपेक्षारूप कामनाका नाम ‘स्पृहा’ है। यह कामनाका वासनाकी अपेक्षा विकसित रूप है। जिस अनुकूल वस्तुका अभाव होता है, उसके मिलनेकी और प्रतिकूलके विनाशकी या न मिलनेकी प्रकट कामनाका नाम ‘इच्छा’ है; यह कामनाका पूर्ण विकसित रूप है और स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थ यथेष्ट प्राप्त रहते हुए भी जो उनके अधिकाधिक बढ़नेकी इच्छा है, उसको ‘तृष्णा’ कहते हैं। यह कामनाका बहुत स्थूल रूप है। इन सबका सर्वथा त्याग कर देना ही समस्त कामनाओंका भलीभाँति त्याग करना है।

२. इससे स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरण और वाणीमें आसक्ति, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी स्थितिमें किसी भी घटनासे उसके अन्तःकरणमें न तो किसी प्रकारकी आसक्ति उत्पन्न हो सकती है, न किसी प्रकारका जरा भी भय हो सकता है और न क्रोध ही हो सकता है। इस कारण उसकी वाणी भी आसक्ति, भय और क्रोधके भावोंसे रहित, शान्त और सरल होती है।

३. इससे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त शुभाशुभ वस्तुओंमेंसे किसी भी शुभ अर्थात् अनुकूल वस्तुका संयोग होनेपर स्थिरबुद्धि योगीके अन्तःकरणमें किंचिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता (गीता ५।२०)। इस कारण उसकी वाणी भी हर्षके विकारसे सर्वथा शून्य होती है, वह किसी भी अनुकूल वस्तु या प्राणीकी हर्षगर्भित स्तुति नहीं करता। एवं स्थिरबुद्धि योगीका अत्यन्त प्रतिकूल वस्तुके साथ संयोग होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें किंचिन्मात्र भी द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होता। उसका अन्तःकरण हरेक वस्तुकी प्राप्तिमें सम, शान्त और निर्विकार रहता है (गीता ५।२०)। इस कारण वह किसी भी प्रतिकूल वस्तु या प्राणीकी द्वेषपूर्ण निन्दा नहीं करता।

१. परमात्मा एक ऐसी अद्भुत, अलौकिक, दिव्य आकर्षक वस्तु है जिसके प्राप्त होनेपर इतनी तल्लीनता, मुग्धता और तन्मयता होती है कि अपना सारा आपा ही मिट जाता है; फिर किसी दूसरी वस्तुका चिन्तन कौन करे? इसीलिये परमात्माके साक्षात्कारसे आसक्तिके सर्वथा निवृत्त होनेकी बात कही गयी है।

२. उनसठवें श्लोकमें तो राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव बताया गया है और यहाँ राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषयसेवनकी बात कहकर राग-द्वेषके सर्वथा अभावकी साधना बतायी गयी है। तीसरे अध्यायके चालीसवें श्लोकमें इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन तीनोंको ही कामका अधिष्ठान बताया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियोंमें राग-द्वेष न रहनेपर भी मन या बुद्धिमें सूक्ष्मरूपसे राग-द्वेष रह सकते हैं; परंतु उनसठवें श्लोकमें 'अस्य' पदका प्रयोग करके स्थिरबुद्धि पुरुषमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव बताया गया है। वहाँ केवल इन्द्रियोंमें ही राग-द्वेषके अभावकी बात नहीं है।

३. यद्यपि बाह्य विषयोंका त्याग भी भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक है, परंतु जबतक इन्द्रियोंका संयम और राग-द्वेषका त्याग न हो, तबतक केवल बाह्य विषयोंके त्यागसे विषयोंकी पूर्ण निवृत्ति नहीं हो सकती और न कोई सिद्धि ही प्राप्त होती है तथा ऐसी बात भी नहीं है कि बाह्य विषयका त्याग किये बिना इन्द्रियसंयम हो ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्‌की पूजा, सेवा, जप और विवेक-वैराग्य आदि दूसरे उपायोंसे सहज ही इन्द्रियसंयम हो सकता है।

इसी प्रकार इन्द्रियसंयम भी भगवत्प्राप्तिमें सहायक है; परंतु इन्द्रियोंके राग-द्वेषका त्याग हुए बिना केवल इन्द्रियसंयमसे विषयोंकी पूर्णतया निवृत्ति होकर वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती और ऐसी बात भी नहीं है कि बाह्य विषयत्याग तथा इन्द्रियसंयम हुए बिना इन्द्रियोंके राग-द्वेषका त्याग हो ही न सकता हो। सत्संग, स्वाध्याय और विचारद्वारा सांसारिक भोगोंकी अनित्यताका भान होनेसे तथा ईश्वरकृपा और भजन-ध्यान आदिसे जिसकी इन्द्रियोंके राग-द्वेषका नाश हो गया है, उसके लिये बाह्य विषयोंका त्याग और इन्द्रियसंयम अनायास अपने-आप हो जाता है। जिसका इन्द्रियोंके विषयोंमें राग-द्वेष नहीं है, वह पुरुष यदि बाह्यरूपसे विषयोंका त्याग न करे तो विषयोंमें विचरण करता हुआ ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है; इसलिये इन्द्रियोंका राग-द्वेषसे रहित होना ही मुख्य है।

१. वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा बिना राग-द्वेषके व्यवहार करनेसे साधकका अन्तःकरण शुद्ध और स्वच्छ हो जाता है, इस कारण उसमें आध्यात्मिक सुख और शान्तिका अनुभव होता है (गीता १८।३७); उस सुख और शान्तिको 'प्रसन्नता' कहते हैं।

२. इससे यह दिखलाया गया है कि परम आनन्द और शान्तिके समुद्र परमात्माका चिन्तन न होनेके कारण अयुक्त मनुष्यका चित्त निरन्तर विक्षिप्त रहता है; उसमें राम-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-ईर्ष्या आदिके कारण हर समय जलन और व्याकुलता बनी रहती है। अतएव उसको शान्ति नहीं मिलती।

३. यहाँ नौकाके स्थानमें बुद्धि है, वायुके स्थानमें जिसके साथ मन रहता है, वह इन्द्रिय है, जलाशयके स्थानमें संसाररूप समुद्र है और जलके स्थानमें शब्दादि समस्त विषयोंका समुदाय है। जलमें अपने गन्तव्य स्थानकी ओर जाती हुई नौकाको प्रबल वायु दो प्रकारसे विचलित करती है—या तो उसे पथभ्रष्ट करके जलकी भीषण तरंगोंमें भटकाती है या अगाध जलमें डुबो देती है; इसी प्रकार जिसके मन-इन्द्रिय वशमें नहीं हैं, ऐसा मनुष्य यदि अपनी बुद्धिको परमात्माके स्वरूपमें निश्चल करना चाहता है तो भी उसकी इन्द्रियाँ उसके मनको आकर्षित करके उसकी बुद्धिको दो प्रकारसे विचलित करती हैं। इन्द्रियोंका बुद्धिरूप नौकाको परमात्मासे हटाकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिका उपाय सोचनेमें लगा देना, उसे भीषण तरंगोंमें भटकाना है और पापोंमें प्रवृत्त करके उसका अधःपतन करा देना, उसे डुबो देना है; परंतु जिसके मन और इन्द्रिय वशमें रहते हैं उसकी बुद्धिको वे विचलित नहीं करते, वरं बुद्धिरूप नौकाको परमात्माके पास पहुँचानेमें सहायता करते हैं। चौंसठवें और पैंसठवें श्लोकोंमें यही बात कही गयी है।

४. श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियोंके जितने भी शब्दादि विषय हैं, उन विषयोंमें बिना किसी रुकावटके प्रवृत्त हो जाना इन्द्रियोंका स्वभाव है; क्योंकि अनादिकालसे जीव इन इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता आया है, इस कारण इन्द्रियोंकी उनमें आसक्ति हो गयी है। इन्द्रियोंकी इस स्वाभाविक प्रवृत्तिको सर्वथा रोक देना, उनके विषयलोलुप स्वभावको परिवर्तित कर देना, उनमें विषयासक्तिका अभाव कर देना और मन-बुद्धिको विचलित करनेकी शक्ति न रहने देना—यही उनको उनके विषयोंसे सर्वथा निगृहीत कर लेना है। इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ वशमें की हुई होती हैं, वह पुरुष जब ध्यानकालमें इन्द्रियोंकी क्रियाओंका त्याग

कर देता है, उस समय उसकी कोई भी इन्द्रिय न तो किसी भी विषयको ग्रहण कर सकती है और न अपनी सूक्ष्म वृत्तियोंद्वारा मनमें विक्षेप ही उत्पन्न कर सकती है। उस समय वे मनमें तद्रूप-सी हो जाती हैं और व्युत्थानकालमें जब वह देखना-सुनना आदि इन्द्रियोंकी क्रिया करता रहता है, उस समय वे बिना आसक्तिके नियमितरूपसे यथायोग्य शब्दादि विषयोंका ग्रहण करती हैं। किसी भी विषयमें उसके मनको आकर्षित नहीं कर सकतीं वरं मनका ही अनुसरण करती हैं। स्थितप्रज्ञ पुरुष लोकसंग्रहके लिये जिस इन्द्रियके द्वारा जितने समयतक जिस शास्त्रसम्मत विषयका ग्रहण करना उचित समझता है, वही इन्द्रिय उतने ही समयतक उसी विषयका अनासक्तभावसे ग्रहण करती है; उसके विपरीत कोई भी इन्द्रिय किसी भी विषयको ग्रहण नहीं कर सकती। इस प्रकार जो इन्द्रियोंपर पूर्ण आधिपत्य कर लेना है, उनकी स्वतन्त्रताको सर्वथा नष्ट करके उनको अपने अनुकूल बना लेना है—यही इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे निगृहीत कर लेना है।

१. जैसे प्रकाशसे पूर्ण दिनको उल्लू अपने नेत्रदोषसे अन्धकारमय देखता है, वैसे ही अनादिसिद्ध अज्ञानके परदेसे अन्तःकरणरूप नेत्रोंकी विवेक-विज्ञानरूप प्रकाशनशक्तिके आवृत रहनेके कारण अविवेकी मनुष्य स्वयंप्रकाश नित्यबोध परमानन्दमय परमात्माको नहीं देख पाते। उस परमात्माकी प्राप्तिरूप सूर्यके प्रकाशित होनेसे जो परम शान्ति और नित्य आनन्दका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह वास्तवमें दिनकी भाँति प्रकाशमय है, तो भी परमात्माके गुण, प्रभाव, रहस्य और तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञानियोंके लिये रात्रिके समान है। उसीमें स्थितप्रज्ञ पुरुषका जो उस सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करके निरन्तर स्थित रहना है, यही उसका उस सम्पूर्ण प्राणियोंकी रात्रिमें जागना है।

२. जैसे स्वप्नसे जगे हुए मनुष्यका स्वप्नके जगत्से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही परमात्मतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीके अनुभवमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रहती। वह ज्ञानी इस दृश्य जगत्के स्थानमें इसके अधिष्ठानरूप परमात्मतत्त्वको ही देखता है, अतएव उसके लिये समस्त सांसारिक भोग और विषयानन्द रात्रिके समान हैं।

३. किसी भी जड वस्तुकी उपमा देकर स्थितप्रज्ञ पुरुषकी वास्तविक स्थितिका पूर्णतया वर्णन करना सम्भव नहीं है, तथापि उपमाद्वारा उस स्थितिके किसी अंशका लक्ष्य कराया जा सकता है। अतः समुद्रकी उपमासे यह भाव समझना चाहिये कि जिस प्रकार समुद्र 'आपूर्यमाण' यानी अथाह जलसे परिपूर्ण हो रहा है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण है; जैसे समुद्रको जलकी आवश्यकता नहीं है, वैसे ही स्थितप्रज्ञ पुरुषको भी किसी सांसारिक सुख-भोगकी तनिकमात्र भी आवश्यकता नहीं है, वह सर्वथा आप्तकाम है। जिस प्रकार समुद्रकी स्थिति अचल है, भारी-से-भारी आँधी-तूफान आनेपर या नाना प्रकारसे नदियोंके जलप्रवाह उसमें प्रविष्ट होनेपर भी वह अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता, मर्यादाका त्याग नहीं करता, उसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें स्थित योगीकी स्थिति भी सर्वथा अचल होती है, बड़े-से-बड़े सांसारिक सुख-दुःखोंका संयोग-वियोग होनेपर भी उसकी स्थितिमें जरा भी अन्तर नहीं पड़ता, वह सच्चिदानन्दघन परमात्मामें नित्य-निरन्तर अटल और एकरस स्थित रहता है।

१. मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें जो साधारण अज्ञानी मनुष्योंका आत्माभिमान रहता है, जिसके कारण वे शरीरको ही अपना स्वरूप मानते हैं, अपनेको शरीरसे भिन्न नहीं समझते, उस देहाभिमानका नाम अहंकार है; उससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'अहंकाररहित' हो जाना है।

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरको, उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री, पुत्र, भाई और बन्धु-बान्धवोंको तथा गृह, धन, ऐश्वर्य आदि पदार्थोंको, अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और उन कर्मोंके फलरूप समस्त भोगोंको साधारण मनुष्य अपना समझते हैं; इसी भावका नाम 'ममता' है और इससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'ममतारहित' हो जाना है।

किसी अनुकूल वस्तुका अभाव होनेपर मनमें जो ऐसा भाव होता है कि अमुक वस्तुकी आवश्यकता है, उसके बिना काम न चलेगा, इस अपेक्षाका नाम स्पृहा है और इससे सर्वथा रहित हो जाना ही 'स्पृहारहित' होना है।

अहंकार, ममता और स्पृहा—इन तीनोंसे उपर्युक्त प्रकारसे रहित होकर अपने वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके अनुसार केवल लोकसंग्रहके लिये इन्द्रियोंके विषयोंमें विचरना अर्थात् देखना-सुनना, खाना-पीना, सोना-जागना आदि समस्त शास्त्रविहित चेष्टा करना ही समस्त कामनाओंका त्याग करके अहंकार, ममता और स्पृहासे रहित होकर विचरना है।

२. अर्जुनके पूछनेपर पचपनवें श्लोकसे यहाँतक स्थितप्रज्ञ पुरुषकी जिस स्थितिका जगह-जगह वर्णन किया गया है, उसमें सर्वथा निर्विकार और निश्चलभावसे नित्य-निरन्तर निमग्न रहना ही उस स्थितिको प्राप्त होना है।

ईश्वर क्या है? संसार क्या है? माया क्या है? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है? मैं कौन हूँ? कहाँसे आया हूँ? मेरा क्या कर्तव्य है? और क्या कर रहा हूँ?-आदि विषयोंका यथार्थ ज्ञान न होना ही मोह है, यह मोह जीवको अनादिकालसे है, इसीके कारण यह इस संसारचक्रमें घूम रहा है। उपर्युक्त ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त पुरुषका यह अनादिसिद्ध मोह समूल नष्ट हो जाता है, अतएव फिर उसकी उत्पत्ति नहीं होती।

सप्तविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां तृतीयोऽध्यायः)

ज्ञानयोग और कर्मयोग आदि समस्त साधनोंके अनुसार कर्तव्यकर्म करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन एवं स्वधर्मपालनकी महिमा तथा कामनिरोधके उपायका वर्णन

सम्बन्ध—*दूसरे अध्यायमें भगवान्ने 'अशोच्यानन्व-शोचस्त्वम्' (गीता २।११) से लेकर 'देही नित्य-मवध्योऽयम्' (गीता २।३०) तक आत्मतत्त्वका निरूपण करते हुए सांख्ययोगका प्रतिपादन किया और 'बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' (गीता २।३९) से लेकर 'तदा योगमवाप्स्यसि' (गीता २।५३) तक समबुद्धिरूप कर्मयोगका वर्णन किया। इसके पश्चात् चौवनवें श्लोकसे अध्यायकी समाप्ति-पर्यन्त अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने समबुद्धिरूप कर्मयोगके द्वारा परमेश्वरको प्राप्त हुए स्थितप्रज्ञ सिद्ध पुरुषके लक्षण, आचरण और महत्त्वका प्रतिपादन किया। वहाँ कर्मयोगकी महिमा कहते हुए भगवान्ने सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें कर्मयोगका स्वरूप बतलाकर अर्जुनको कर्म करनेके लिये कहा, उनचासवेंमें समबुद्धिरूप कर्मयोगकी अपेक्षा सकामकर्मका स्थान बहुत ही नीचा बतलाया, पचासवेंमें समबुद्धियुक्त पुरुषकी प्रशंसा करके अर्जुनको कर्मयोगमें लगनेके लिये कहा, इक्यावनवेंमें समबुद्धियुक्त ज्ञानी पुरुषको अनामय पदकी प्राप्ति बतलायी। इस प्रसंगको सुनकर अर्जुन उसका यथार्थ अभिप्राय निश्चित नहीं कर सके। 'बुद्धि' शब्दका अर्थ 'ज्ञान' मान लेनेसे उन्हें भ्रम हो गया, भगवान्के वचनोंमें 'कर्म'की अपेक्षा 'ज्ञान' की प्रशंसा प्रतीत होने लगी एवं वे वचन उनको स्पष्ट न दिखायी देकर मिले हुए-से जान पड़ने लगे। अतएव भगवान्से उनका स्पष्टीकरण करवानेकी और अपने लिये निश्चित श्रेयःसाधन जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—*

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।। १ ।।

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! यदि आपको कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव! मुझे भयंकर कर्ममें क्यों लगाते हैं? ।। १ ।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।। २ ।।

आप मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मानो मोहित कर रहे हैं।[1] इसलिये उस एक बातको निश्चित करके कहिये, जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ ।। २ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनका निश्चित कर्तव्य भक्तिप्रधान कर्मयोग बतलानेके उद्देश्यसे पहले उनके प्रश्नका उत्तर देते हुए यह दिखलाते हैं कि मेरे वचन 'व्यामिश्र' अर्थात् 'मिले हुए' नहीं हैं वरं सर्वथा स्पष्ट और अलग-अलग हैं—*

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।। ३ ।।

श्रीभगवान् बोले—हे निष्पाप! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरेद्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे[2] और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे[3] होती है ।। ३ ।।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।। ४ ।।

मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको यानी योगनिष्ठाको प्राप्त होता है और न कर्मोंके केवल त्यागमात्रसे सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठाको ही प्राप्त होता है[1] ।।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। ५ ।।

निःसंदेह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है[2] ।। ५ ।।

सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता; इसपर यह शंका होती है कि इन्द्रियोंकी क्रियाओंको हठसे रोककर भी तो मनुष्य कर्मोंका त्याग कर सकता है। इसपर कहते हैं—*

कर्मेन्द्रियाणि[3] संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।। ६ ।।

जो मूढबुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है ।। ६ ।।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते[4] ।। ७ ।।

किंतु हे अर्जुन! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है ।। ७ ।।

सम्बन्ध—*अर्जुनने जो यह पूछा था कि आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं, उसके उत्तरमें ऊपरसे कर्मोंका त्याग करनेवाले मिथ्याचारीकी निन्दा और कर्मयोगीकी प्रशंसा करके अब उन्हें कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं—*

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।। ८ ।।

तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है[५] तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ।। ८ ।।

सम्बन्ध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म भी तो बन्धनके हेतु माने गये हैं; फिर कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ कैसे है; इसपर कहते हैं—*

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।। ९ ।।

यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्यसमुदाय कर्मोंसे बँधता है। इसलिये हे अर्जुन! तू आसक्तिसे रहित होकर उस यज्ञके निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्यकर्म कर ।। ९ ।।

सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने यह बात कही कि यज्ञके निमित्त कर्म करनेवाला मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता; इसलिये यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ किसको कहते हैं, उसे क्यों करना चाहिये और उसके लिये कर्म करनेवाला मनुष्य कैसे नहीं बँधता। अतएव इन बातोंको समझानेके लिये भगवान् ब्रह्माजीके वचनोंका प्रमाण देकर कहते हैं—*

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।। १० ।।

प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ[१] तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो ।। १० ।।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।। ११ ।।

तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे[२] ।। ११ ।।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।। १२ ।।

यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है[३] ।। १२ ।।

यज्ञशिष्टाशिनः[४] सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।। १३ ।।

पाँच महायज्ञ

यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं ।। १३ ।।

सम्बन्ध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यज्ञ न करनेसे क्या हानि है; इसपर सृष्टिचक्रको सुरक्षित रखनेके लिये यज्ञकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं—*

अन्नाद्‌ भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्‌ भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।। १४ ।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्‌ ।
तस्मात्‌ सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्‌ ।। १५ ।।

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ।। १४-१५ ।।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।। १६ ।।

हे पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके[१] अनुकूल नहीं बरतता अर्थात्‌ अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ।। १६ ।।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।। १७ ।।

परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है[२] ।। १७ ।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।। १८ ।।

क्योंकि उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ।। १८ ।।

सम्बन्ध—*यहाँतक भगवान्ने बहुत-से हेतु बतलाकर यह बात सिद्ध की कि जबतक मनुष्यको परम श्रेयरूप परमात्माकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक उसके लिये स्वधर्मका पालन करना अर्थात् अपने वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्मोंका अनुष्ठान निःस्वार्थभावसे करना अवश्यकर्तव्य है और परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके लिये किसी प्रकारका कर्तव्य न रहनेपर भी उसके मन-इन्द्रियोंद्वारा लोकसंग्रहके लिये प्रारब्धानुसार कर्म होते हैं। अब उपर्युक्त वर्णनका लक्ष्य कराते हुए भगवान् अर्जुनको अनासक्तभावसे कर्तव्यकर्म करनेके लिये आज्ञा देते हैं—*

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।। १९ ।।

इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।। १९ ।।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ।। २० ।।

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे[१]। इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है[२] ।। २० ।।

सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको लोक-संग्रहकी ओर देखते हुए कर्मोंका करना उचित बतलाया; इसपर यह जिज्ञासा होती है कि कर्म करनेसे किस प्रकार लोकसंग्रह होता है; अतः यही बात समझानेके लिये कहते हैं—*

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। २१ ।।

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है,[३] समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ।। २१ ।।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।। २२ ।।

हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ ।। २२ ।।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। २३ ।।

क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं[४] ।। २३ ।।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।। २४ ।।

इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ[५] ।। २४ ।।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।। २५ ।।

इसलिये हे भारत! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे[१] ।। २५ ।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ।। २६ ।।

परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे; किंतु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे[२] ।। २६ ।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। २७ ।।

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है[३] ।। २७ ।।

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।। २८ ।।

परंतु हे महाबाहो! गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला[१] ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता ।। २८ ।।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।। २९ ।।

प्रकृतिके गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणोंमें और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी विचलित न करे[२] ।। २९ ।।

सम्बन्ध—*अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार भगवान्‌ने उसे एक निश्चित कल्याणकारक साधन बतलानेके उद्देश्यसे चौथे श्लोकसे लेकर यहाँतक यह बात सिद्ध की कि मनुष्य किसी भी स्थितिमें क्यों न हो, उसे अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुरूप विहित कर्म करते ही रहना चाहिये। इस बातको सिद्ध करनेके लिये पूर्वश्लोकोंमें भगवान्‌ने क्रमशः निम्नलिखित बातें कही हैं—*

१-कर्म किये बिना नैष्कर्म्यसिद्धिरूप कर्मनिष्ठा नहीं मिलती (गीता ३।४)।

२-कर्मोंका त्याग कर देनेमात्रसे ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होती (गीता ३।४)।

३-एक क्षणके लिये भी मनुष्य सर्वथा कर्म किये बिना नहीं रह सकता (गीता ३।५)।

४-बाहरसे कर्मोंका त्याग करके मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहना मिथ्याचार है (गीता ३।६)।

५-मन-इन्द्रियोंको वशमें करके निष्कामभावसे कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है (गीता ३।७)।

६-कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है (गीता ३।८)।

७-बिना कर्म किये शरीरनिर्वाह भी नहीं हो सकता (गीता ३।८)।

८-यज्ञके लिये किये जानेवाले कर्म बन्धन करनेवाले नहीं, बल्कि मुक्तिके कारण हैं (गीता ३।९)।

९-कर्म करनेके लिये प्रजापतिकी आज्ञा है और निःस्वार्थभावसे उसका पालन करनेसे श्रेयकी प्राप्ति होती है (गीता ३।१०-११)।

१०-कर्तव्यका पालन किये बिना भोगोंका उपभोग करनेवाला चोर है (गीता ३।१२)।

११-कर्तव्यका पालन करके यज्ञशेषसे शरीरनिर्वाहके लिये भोजनादि करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है (गीता ३।१३)।

१२-जो यज्ञादि न करके केवल शरीरपालनके लिये भोजन पकाता है, वह पापी है (गीता ३।१३)।

१३-कर्तव्यकर्मके त्यागद्वारा सृष्टिचक्रमें बाधा पहुँचानेवाले मनुष्यका जीवन व्यर्थ और पापमय है (गीता ३।१६)।

१४-अनासक्तभावसे कर्म करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है (गीता ३।१९)।

१५-पूर्वकालमें जनकादिने भी कर्मोंद्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी (गीता ३।२०)।

१६-दूसरे मनुष्य श्रेष्ठ महापुरुषका अनुकरण करते हैं, इसलिये श्रेष्ठ महापुरुषको कर्म करना चाहिये (गीता ३।२१)।

१७-भगवान्‌को कुछ भी कर्तव्य नहीं है, तो भी वे लोकसंग्रहके लिये कर्म करते हैं (गीता ३।२२)।

१८-ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य नहीं है, तो भी उसे लोकसंग्रहके लिये कर्म करना चाहिये (गीता ३।२५)।

१९-ज्ञानीको स्वयं विहित कर्मोंका त्याग करके या कर्मत्यागका उपदेश देकर किसी प्रकार भी लोगोंको कर्तव्यकर्मसे विचलित न करना चाहिये वरं स्वयं कर्म करना और दूसरोंसे करवाना चाहिये (गीता ३।२६)।

२०-ज्ञानी महापुरुषको उचित है कि विहित कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करनेका उपदेश देकर कर्मासक्त मनुष्योंको विचलित न करे (गीता ३।२९)।

इस प्रकार कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करके अब भगवान् अर्जुनकी दूसरे श्लोकमें की हुई प्रार्थनाके अनुसार उसे परम कल्याणकी प्राप्तिका ऐकान्तिक और सर्वश्रेष्ठ निश्चित साधन बतलाते हुए युद्धके लिये आज्ञा देते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।। ३० ।।

मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके[१] आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर ।। ३० ।।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।। ३१ ।।

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं ।। ३१ ।।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ।। ३२ ।।

परंतु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ ।। ३२ ।।

सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि भगवान्के मतके अनुसार न चलनेवाला नष्ट हो जाता है। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि यदि कोई भगवान्के मतके अनुसार कर्म न करके हठपूर्वक कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे तो क्या हानि है? इसपर कहते हैं—*

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।। ३३ ।।

सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं[२]। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा? ।। ३३ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार सबको प्रकृतिके अनुसार कर्म करने पड़ते हैं, तो फिर कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।। ३४ ।।

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न[3] करनेवाले महान् शत्रु हैं ।। ३४ ।।

सम्बन्ध—*यहाँ अर्जुनके मनमें यह बात आ सकती है कि मैं यह युद्धरूप घोर कर्म न करके यदि भिक्षावृत्तिसे अपना निर्वाह करता हुआ शान्तिमय कर्मोंमें लगा रहूँ तो सहज ही राग-द्वेषसे छूट सकता हूँ; फिर आप मुझे युद्ध करनेके लिये आज्ञा क्यों दे रहे हैं; इसपर भगवान् कहते हैं—*

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।। ३५ ।।

अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है।[1] अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है[2] और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है ।। ३५ ।।

सम्बन्ध—*मनुष्यका स्वधर्मपालन करनेमें ही कल्याण है, परधर्मका सेवन और निषिद्ध कर्मोंका आचरण करनेमें सब प्रकारसे हानि है। इस बातको भलीभाँति समझ लेनेके बाद भी मनुष्य अपने इच्छा, विचार और धर्मके विरुद्ध पापाचारमें किस कारण प्रवृत्त हो जाते हैं? इस बातको जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं—*

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।। ३६ ।।

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है? ।। ३६ ।।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।। ३७ ।।

श्रीभगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है,[3] इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान ।। ३७ ।।

सम्बन्ध—*यहाँ जिज्ञासा होती है कि यह काम मनुष्यको किस प्रकार पापोंमें प्रवृत्त करता है। अतः तीन श्लोकोंद्वारा इसका समाधान करते हैं—*

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।। ३८ ।।

जिस प्रकार धूएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेरसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है[४] ।। ३८ ।।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।। ३९ ।।

और हे अर्जुन! इस अग्निके समान कभी न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य वैरीके[१] द्वारा मनुष्यका ज्ञान ढका हुआ है ।। ३९ ।।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।। ४० ।।

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके जीवात्माको मोहित करता है[२] ।।

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।। ४१ ।।

इसलिये हे अर्जुन! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले[३] महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल ।। ४१ ।।

सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकमें इन्द्रियोंको वशमें करके कामरूप शत्रुको मारनेके लिये कहा गया। इसपर यह शंका होती है कि जब इन्द्रिय, मन और बुद्धिपर कामका अधिकार है और उनके द्वारा कामने जीवात्माको मोहित कर रखा है, तब ऐसी स्थितिमें वह इन्द्रियोंको वशमें करके कामको कैसे मार सकता है। इसपर कहते हैं—*

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।। ४२ ।।

इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है[४] ।।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना[५] ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।। ४३ ।।

इस प्रकार बुद्धिसे पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके[६] हे महाबाहो! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल ।। ४३ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।।

भीष्मपर्वणि तु सप्तविंशोऽध्यायः ।। २७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ।। ३ ।। भीष्मपर्वमें सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७ ।।

---

१. भगवान्‌के वचनोंका तात्पर्य न समझनेके कारण अर्जुनको भी भगवान्‌के वचन मिले हुए-से प्रतीत होते थे; क्योंकि 'बुद्धियोगकी अपेक्षा कर्म अत्यन्त निकृष्ट है, तू बुद्धिका ही आश्रय ग्रहण कर' (गीता २।४९) इस कथनसे तो अर्जुनने समझा कि भगवान् ज्ञानकी प्रशंसा और कर्मोंकी निन्दा करते हैं और मुझे ज्ञानका आश्रय लेनेके लिये कहते हैं तथा 'बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पापोंको यहीं छोड़ देता है' (गीता २।५०) इस कथनसे यह समझा कि पुण्य-पापरूप समस्त कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवालेको भगवान् 'बुद्धियुक्त' कहते हैं। इसके विपरीत 'तेरा कर्ममें अधिकार है' (गीता २।४७) 'तू योगमें स्थित होकर कर्म कर' (गीता २।४८) इन वाक्योंसे अर्जुनने यह बात समझी कि भगवान् मुझे कर्मोंमें नियुक्त कर रहे हैं; इसके सिवा 'निस्त्रैगुण्यो भव', 'आत्मवान् भव' (गीता २।४५) आदि वाक्योंसे कर्मका त्याग और 'तस्माद् युध्यस्व भारत' (गीता २।१८), 'ततो युद्धाय युज्यस्व' (गीता २।३८), 'तस्माद् योगाय युज्यस्व' (गीता २।५०) आदि वचनोंसे उन्होंने कर्मकी प्रेरणा समझी। इस प्रकार उपर्युक्त वचनोंमें उन्हें विरोध दिखायी दिया।

२. प्रकृतिसे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (गीता ३।२८), मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे सर्वथा रहित हो जाना; किसी भी क्रियामें या उसके फलमें किंचिन्मात्र भी अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका न रहना तथा सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अपनेको अभिन्न समझकर निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाना अर्थात् ब्रह्मभूत (ब्रह्मस्वरूप) बन जाना (गीता ५।२४; ६।२७)—यह पहली निष्ठा है। इसका नाम ज्ञाननिष्ठा है।

३. वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जिन कर्मोंका शास्त्रमें विधान है, जिनका अनुष्ठान करना मनुष्यके लिये अवश्यकर्तव्य माना गया है, उन शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंका न्यायपूर्वक, अपना कर्तव्य समझकर अनुष्ठान करना; उन कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके प्रत्येक कर्मकी सिद्धि और असिद्धिमें तथा उसके फलमें सदा ही सम रहना (गीता २।४७-४८) एवं इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्त न होकर समस्त संकल्पोंका त्याग करके योगारूढ़ हो जाना (गीता ६।४)—यह कर्मयोगकी निष्ठा है तथा परमेश्वरको सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सबके सुहृद् और सबके प्रेरक समझकर और अपनेको सर्वथा उनके अधीन मानकर समस्त कर्म और उनका फल भगवान्‌के समर्पण करना (गीता ३।३०; ९।२७-२८), उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार उनकी पूजा समझकर जैसे वे करवावें, वैसे ही समस्त कर्म करना; उन कर्मोंमें या उनके फलमें किंचिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या कामना न रखना; भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना तथा निरन्तर उनके नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना (गीता १०।९; १२।६; १८।५७)—यह भक्तिप्रधान कर्मयोगकी निष्ठा है।

१. कर्मोंका आरम्भ न करने और कर्मोंका त्याग करनेकी बात कहकर अलग-अलग यह भाव दिखाया है कि कर्मयोगीके लिये विहित कर्मोंका न करना योगनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक है; किंतु सांख्ययोगीके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना सांख्यनिष्ठाकी प्राप्तिमें बाधक नहीं है, किंतु केवल उसीसे उसे सिद्धि नहीं मिलती, सिद्धिकी प्राप्तिके लिये उसे कर्तापनका त्याग करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदभावसे स्थित होना आवश्यक है। अतएव उसके लिये कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करना मुख्य बात नहीं है, भीतरी त्याग ही प्रधान है और कर्मयोगीके लिये स्वरूपसे कर्मोंका त्याग न करना विधेय है।

२. यद्यपि गुणातीत ज्ञानी पुरुषका गुणोंसे या उनके कार्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; अतः वह गुणोंके वशमें होकर कर्म करता है, यह कहना नहीं बन सकता; तथापि मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिका संघातरूप जो उसका शरीर लोगोंकी दृष्टिमें वर्तमान है, उसके द्वारा उसके और लोगोंके प्रारब्धानुसार क्रियाका होना अनिवार्य है; क्योंकि वह गुणोंका कार्य होनेसे गुणोंसे अतीत नहीं है, बल्कि उस ज्ञानीका शरीरसे सर्वथा अतीत हो जाना ही गुणातीत हो जाना है।

३. यहाँ ‘कर्मेन्द्रियाणि’ पदका पारिभाषिक अर्थ नहीं है; इसलिये जिनके द्वारा मनुष्य बाहरकी क्रिया करता है अर्थात् शब्दादि विषयोंको ग्रहण करता है, उन श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण तथा वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा—इन दसों इन्द्रियोंका वाचक है; क्योंकि गीतामें श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियोंके लिये कहीं भी ‘ज्ञानेन्द्रिय’ शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है। इसके सिवा यहाँ कर्मेन्द्रियोंका अर्थ केवल वाणी आदि पाँच इन्द्रियाँ मान लेनेसे श्रोत्र और नेत्र आदि इन्द्रियोंको रोकनेकी बात शेष रह जाती है और उसके रह जानेसे मिथ्याचारीका स्वाँग भी पूरा नहीं बनता; तथा वाणी आदि इन्द्रियोंको रोककर श्रोत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा वह क्या करता है, यह बात भी यहाँ बतलानी आवश्यक हो जाती है।

४. यहाँ ‘स विशिष्यते’ पदका अभिप्राय कर्मयोगीको पूर्ववर्णित केवल मिथ्याचारीकी अपेक्षा ही श्रेष्ठ बतलाना नहीं है; क्योंकि पूर्वश्लोकमें वर्णित मिथ्याचारी तो आसुरी सम्पदावाला दम्भी है। उसकी अपेक्षा तो सकामभावसे विहित कर्म करनेवाला मनुष्य भी बहुत श्रेष्ठ है; फिर दैवी सम्पदायुक्त कर्मयोगीको मिथ्याचारीकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाना तो किसी वेश्याकी अपेक्षा सती स्त्रीको श्रेष्ठ बतलानेकी भाँति कर्मयोगीकी स्तुतिमें निन्दा करनेके समान है। अतः यहाँ यही मानना ठीक है कि ‘स विशिष्यते’ से कर्मयोगीको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर उसकी प्रशंसा की गयी है।

५. इस कथनसे भगवान्ने अर्जुनके उस भ्रमका निराकरण किया है, जिसके कारण उन्होंने यह समझ लिया था कि भगवान्के मतमें कर्म करनेकी अपेक्षा उनका न करना श्रेष्ठ है। अभिप्राय यह है कि कर्तव्यकर्म करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होता है तथा कर्तव्यकर्मोंका त्याग करनेसे वह पापका भागी होता है एवं निद्रा, आलस्य और प्रमादमें फँसकर अधोगतिको प्राप्त होता है (गीता १४।१८); अतः कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना सर्वथा श्रेष्ठ है।

१. समस्त मनुष्योंके लिये वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके भेदसे भिन्न-भिन्न यज्ञ, दान, तप, प्राणायाम, इन्द्रियसंयम, अध्ययन-अध्यापन, प्रजापालन, युद्ध, कृषि, वाणिज्य और सेवा आदि कर्तव्यकर्मोंसे सिद्ध होनेवाला जो स्वधर्म है—उसका नाम यज्ञ है।

२. इस कथनसे ब्रह्माजीने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार अपने-अपने स्वार्थका त्याग करके एक-दूसरेको उन्नत बनानेके लिये अपने कर्तव्यका पालन करनेसे तुमलोग इस सांसारिक उन्नतिके साथ-साथ परमकल्याणरूप मोक्षको भी प्राप्त हो जाओगे। अभिप्राय यह है कि यहाँ देवताओंके लिये तो ब्रह्माजीका यह आदेश है कि मनुष्य यदि तुमलोगोंकी सेवा, पूजा, यज्ञादि न करें तो भी तुम कर्तव्य समझकर उनकी उन्नति करो और मनुष्योंके प्रति यह आदेश है कि देवताओंकी उन्नति और पुष्टिके लिये ही स्वार्थत्यागपूर्वक देवताओंकी सेवा, पूजा, यज्ञादि कर्म करो। इसके सिवा अन्य ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदिको भी निःस्वार्थभावसे स्वधर्मपालनके द्वारा सुख पहुँचाओ।

३. देवतालोग सृष्टिके आदिकालसे मनुष्योंको सुख पहुँचानेके लिये—उनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके निमित्त पशु, पक्षी, औषध, वृक्ष, तृण आदिके सहित सबकी पुष्टि कर रहे हैं और अन्न, जल, पुष्प, फल, धातु आदि मनुष्योपयोगी समस्त वस्तुएँ मनुष्योंको दे रहे हैं; जो मनुष्य उन सब वस्तुओंको उन देवताओंका ऋण चुकाये बिना—उनका न्यायोचित स्वत्व उन्हें अर्पण किये बिना स्वयं अपने काममें लाता है, वह चोर होता है।

४. सृष्टिकार्यके सुचारुरूपसे संचालनमें और सृष्टिके जीवोंका भलीभाँति भरण-पोषण होनेमें पाँच श्रेणीके प्राणियोंका परस्पर सम्बन्ध है—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और अन्य प्राणी। इन पाँचोंके सहयोगसे ही सबकी पुष्टि होती है। देवता समस्त संसारको इष्ट भोग देते हैं, ऋषि-महर्षि सबको ज्ञान देते हैं, पितरलोग संतानका भरण-पोषण करते और हित चाहते हैं, मनुष्य कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा करते हैं और पशु, पक्षी, वृक्षादि सबके सुखके साधनरूपमें अपनेको समर्पित किये रहते हैं। इन पाँचोंमें योग्यता, अधिकार और साधनसम्पन्न होनेके कारण सबकी पुष्टिका दायित्व मनुष्यपर है। इसीसे मनुष्य शास्त्रीय कर्मोंके द्वारा सबकी सेवा करता है। पंच महायज्ञसे यहाँ लोकसेवारूप शास्त्रीय सत्कर्म ही विवक्षित है। इस दृष्टिसे मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ भी कमावे, उसमें इन सबका भाग समझे; क्योंकि वह सबकी सहायता और सहयोगसे ही कमाता-खाता है। इसीलिये जो यज्ञ करनेके बाद बचे हुए अन्नको अर्थात् इन सबको उनका प्राप्य भाग देकर उससे बचे हुए अन्नको खाता है, उसीको शास्त्रकार अमृताशी (अमृत खानेवाला) बतलाते हैं।

१. मनुष्यके द्वारा की जानेवाली शास्त्रविहित क्रियाओंसे यज्ञ होता है, यज्ञसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है, अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं, पुनः उन प्राणियोंके ही अन्तर्गत मनुष्यके द्वारा किये हुए कर्मोंसे यज्ञ और यज्ञसे वृष्टि होती है। इस तरह यह सृष्टिपरम्परा सदासे चक्रकी भाँति चली आ रही है।

२. उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त महापुरुष परमात्माको प्राप्त है, अतएव उसके समस्त कर्तव्य समाप्त हो चुके हैं, वह कृतकृत्य हो गया है; क्योंकि मनुष्यके लिये जितना भी कर्तव्यका विधान किया गया है, उस सबका उद्देश्य केवलमात्र एक परम कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना है; अतएव वह उद्देश्य जिसका पूर्ण हो गया, उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रहता, उसके कर्तव्यकी समाप्ति हो जाती है।

१. राजा जनककी भाँति ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही कर्म करनेवाले अश्वपति, इक्ष्वाकु, प्रह्लाद, अम्बरीष आदि जितने भी महापुरुष हो चुके हैं, वे सब प्रधान-प्रधान महापुरुष आसक्तिरहित कर्मोंके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे तथा और भी आजतक बहुत-से महापुरुष ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करके कर्मयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं; यह कोई नयी बात नहीं है। अतः यह परमात्माकी प्राप्तिका स्वतन्त्र और निश्चित मार्ग है, इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है।

इसके अतिरिक्त कर्मोंद्वारा जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, उसे परमात्माकी कृपासे तत्त्वज्ञान अपने-आप मिल जाता है (गीता ४।३८) तथा कर्मयोगयुक्त मुनि तत्काल ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता ५।६)—इस कथनसे भी इसकी अनादिता सिद्ध होती है।

२. समस्त प्राणियोंके भरण-पोषण और रक्षणका दायित्व मनुष्यपर है; अतः अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार कर्तव्यकर्मोंका भलीभाँति आचरण करके जो दूसरे लोगोंको अपने आदर्शके द्वारा दुर्गुण-दुराचारसे हटाकर स्वधर्ममें लगाये रखना है—यही लोकसंग्रह है।

अतः कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको परम श्रेयरूप परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये तो आसक्तिसे रहित होकर कर्म करना उचित है ही, इसके सिवा लोकसंग्रहके लिये भी मनुष्यको कर्म करते रहना उचित है, उसका त्याग करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

३. श्रेष्ठ पुरुष स्वयं आचरण करके और लोगोंको शिक्षा देकर जिस बातको प्रामाणिक कर देता है अर्थात् लोगोंके अन्तःकरणमें विश्वास करा देता है कि अमुक कर्म अमुक मनुष्यको इस प्रकार करना चाहिये, उसीके अनुसार साधारण मनुष्य चेष्टा करने लग जाते हैं।

४. बहुत लोग तो मुझे बड़ा शक्तिशाली और श्रेष्ठ समझते हैं और बहुत-से मर्यादापुरुषोत्तम समझते हैं, इस कारण जिस कर्मको मैं जिस प्रकार करता हूँ, दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी उसे उसी प्रकार करते हैं अर्थात् मेरी नकल करते हैं। ऐसी स्थितिमें यदि मैं कर्तव्यकर्मोंकी अवहेलना करने लगूँ, उनमें सावधानीके साथ विधिपूर्वक न बरतूँ तो लोग भी उसी प्रकार करने लग जायँ और ऐसा करके स्वार्थ और परमार्थ दोनोंसे वंचित रह जायँ। अतएव लोगोंको कर्म करनेकी रीति सिखलानेके लिये मैं समस्त कर्मोंमें स्वयं बड़ी सावधानीके साथ विधिवत् बरतता हूँ, कभी कहीं भी जरा भी असावधानी नहीं करता।

५. जिस समय कर्तव्यभ्रष्ट हो जानेसे लोगोंमें सब प्रकारकी संकरता फैल जाती है, उस समय मनुष्य भोगपरायण और स्वार्थान्ध होकर भिन्न-भिन्न साधनोंसे एक-दूसरेका नाश करने लग जाते हैं, अपने अत्यन्त क्षुद्र और क्षणिक सुखोपभोगके लिये दूसरोंका नाश कर डालनेमें जरा भी नहीं हिचकते। इस प्रकार अत्याचार बढ़ जानेपर उसीके साथ-साथ नयी-नयी दैवी विपत्तियाँ भी आने लगती हैं, जिनके कारण सभी प्राणियोंके लिये आवश्यक खान-पान और जीवनधारणकी सुविधाएँ प्रायः नष्ट हो जाती हैं; चारों ओर महामारी, अनावृष्टि, जल-प्रलय, अकाल, अग्निकोप, भूकम्प और उल्कापात आदि उत्पात होने लगते हैं। इससे समस्त प्रजाका विनाश हो जाता है। अतः भगवान्‌ने 'मैं समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ' इस वाक्यसे यह भाव दिखलाया है कि यदि मैं शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर दूँ तो मुझे उपर्युक्त प्रकारसे लोगोंको उच्छृंखल बनाकर समस्त प्रजाका नाश करनेमें निमित्त बनना पड़े।

१. स्वाभाविक स्नेह, आसक्ति और भविष्यमें उससे सुख मिलनेकी आशा होनेके कारण माता अपने पुत्रका जिस प्रकार सच्ची हार्दिक लगन, उत्साह और तत्परताके साथ लालन-पालन करती है, उस प्रकार दूसरा कोई नहीं कर सकता; इसी तरह जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनसे प्राप्त होनेवाले भोगोंमें स्वाभाविक आसक्ति होती है और उनका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें जिसका विश्वास होता है, वह जिस प्रकार सच्ची लगनसे श्रद्धा और विधिपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंको सांगोपांग करता है, उस प्रकार जिनकी शास्त्रोंमें श्रद्धा और शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं है, वे मनुष्य नहीं कर सकते। अतएव यहाँ 'यथा' और 'तथा' का प्रयोग करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा अभाव होनेपर भी ज्ञानी महात्माओंको केवल लोकसंग्रहके लिये कर्मासक्त मनुष्योंकी भाँति ही शास्त्रविहित कर्मोंका विधिपूर्वक सांगोपांग अनुष्ठान करना चाहिये।

२. मनुष्योंको निष्काम कर्मका और तत्त्वज्ञानका उपदेश देते समय ज्ञानीको इस बातका पूरा खयाल रखना चाहिये कि उसके किसी आचार-व्यवहार और उपदेशसे उनके अन्तःकरणमें कर्तव्यकर्मोंके या शास्त्रादिके प्रति किसी प्रकारकी अश्रद्धा या संशय उत्पन्न न हो जाय; क्योंकि ऐसा हो जानेसे वे जो कुछ शास्त्रविहित कर्मोंका श्रद्धापूर्वक सकामभावसे अनुष्ठान कर रहे हैं, उसका भी ज्ञानके या निष्कामभावके नामपर परित्याग कर देंगे। इस कारण उन्नतिके बदले उनका वर्तमान स्थितिसे भी पतन हो जायगा। अतएव भगवान्‌के कहनेका यहाँ यह भाव नहीं है कि अज्ञानियोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये या निष्कामभावका तत्त्व नहीं समझाना चाहिये, उनका तो यहाँ यही कहना है कि अज्ञानियोंके

मनमें न तो ऐसा भाव उत्पन्न होने देना चाहिये कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये या तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेके बाद कर्म अनावश्यक है, न यही भाव पैदा होने देना चाहिये कि फलकी इच्छा न हो तो कर्म करनेकी जरूरत ही क्या है और न इसी भ्रममें रहने देना चाहिये कि फलासक्तिपूर्वक सकामभावसे कर्म करके स्वर्ग प्राप्त कर लेना ही बड़े-से-बड़ा पुरुषार्थ है, इससे बढ़कर मनुष्यका और कोई कर्तव्य ही नहीं है; बल्कि अपने आचरण तथा उपदेशोंद्वारा उनके अन्तःकरणसे आसक्ति और कामनाके भावोंको हटाते हुए उनको पूर्ववत् श्रद्धापूर्वक कर्म करनेमें लगाये रखना चाहिये।

३. वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे सम्बन्ध न होनेपर भी अज्ञानी मनुष्य तेईस तत्त्वोंके इस संघातमें आत्माभिमान करके उसके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंसे अपना सम्बन्ध स्थापन करके अपनेको उन कर्मोंका कर्ता मान लेता है—अर्थात् मैं निश्चय करता हूँ, मैं संकल्प करता हूँ, मैं सुनता हूँ, देखता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ, सोता हूँ, चलता हूँ—इत्यादि प्रकारसे हरेक क्रियाको अपने द्वारा की हुई समझता है।

१. त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय—इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्पर चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है। इन गुणविभाग और कर्मविभागसे आत्माको पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है।

२. कर्मोंमें लगे हुए अधिकारी सकाम मनुष्योंको 'कर्म अत्यन्त ही परिश्रमसाध्य हैं, कर्मोंमें रखा ही क्या है, यह जगत् मिथ्या है, कर्ममात्र ही बन्धनके हेतु हैं' ऐसा उपदेश देकर शास्त्रविहित कर्मोंसे हटाना या उनमें उनकी श्रद्धा और रुचि कम कर देना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा करनेसे उनके पतनकी सम्भावना है।

१. सर्वान्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और स्वरूपको समझकर उनपर विश्वास करनेवाले और निरन्तर सर्वत्र उनका चिन्तन करते रहनेवाले चित्तके द्वारा जो भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर तथा परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय, परम सुहृद् और परम दयालु समझकर, अपने अन्तःकरण और इन्द्रियोंसहित शरीरको, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और जगत्‌के समस्त पदार्थोंको भगवान्‌के जानकर उन सबमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरे द्वारा अपने इच्छानुसार यथायोग्य समस्त कर्म करवा रहे हैं, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ—इस प्रकार अपनेको सर्वथा भगवान्‌के अधीन समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींके लिये उन्हींकी प्रेरणासे जैसे वे करावें वैसे ही समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना, उन कर्मोंसे या उनके फलसे किसी प्रकारका भी अपना मानसिक सम्बन्ध न रखकर सब कुछ भगवान्‌का समझना—यही 'अध्यात्मचित्तसे समस्त कर्मोंको भगवान्‌में समर्पण कर देना' है।

२. इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस प्रकार समस्त नदियोंका जल जो स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर बहता है, उसके प्रवाहको हठपूर्वक रोका नहीं जा सकता; उसी प्रकार समस्त प्राणी अपनी-अपनी प्रकृतिके अधीन होकर प्रकृतिके प्रवाहमें पड़े हुए प्रकृतिकी ओर जा रहे हैं; इसलिये कोई भी मनुष्य हठपूर्वक सर्वथा कर्मोंका त्याग नहीं कर सकता। हाँ, जिस तरह नदीके प्रवाहको एक ओरसे दूसरी ओर घुमा दिया जा सकता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने उद्देश्यका परिवर्तन करके उस प्रवाहकी चालको बदल सकता है यानी राग-द्वेषका त्याग करके उन कर्मोंको परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक बना सकता है।

३. जिस प्रकार अपने निश्चित स्थानपर जानेके लिये राह चलनेवाले किसी मुसाफिरको मार्गमें विघ्न करनेवाले लुटेरोंसे भेंट हो जाय और वे मित्रताका-सा भाव दिखलाकर और उसके साथी गाड़ीवान आदिसे मिलकर उनके द्वारा उसकी विवेकशक्तिमें भ्रम उत्पन्न कराकर उसे मिथ्या सुखोंका प्रलोभन देकर अपनी बातोंमें फँसा लें और उसे अपने गन्तव्य स्थानकी ओर न जाने देकर उसके विपरीत जंगलमें ले जायँ और उसका सर्वस्व लूटकर उसे गहरे गड्‌ढेमें गिरा दें, उसी प्रकार ये राग-द्वेष कल्याणमार्गमें चलनेवाले साधकसे भेंट करके मित्रताका भाव दिखलाकर उसके मन और इन्द्रियोंमें प्रविष्ट हो जाते हैं और उसकी विवेकशक्तिको नष्ट करके तथा उसे सांसारिक विषयभोगोंके सुखका प्रलोभन देकर पापाचारमें प्रवृत्त कर देते हैं। इससे उसका साधन-क्रम नष्ट हो जाता है और पापोंके फलस्वरूप उसे घोर नरकोंमें पड़कर भयानक दुःखोंका उपभोग करना होता है।

१. वैश्य और क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणके विशेष धर्मोंमें अहिंसादि सद्‌गुणोंकी बहुलता है, गृहस्थकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमके धर्मोंमें सद्‌गुणोंकी बहुलता है, इसी प्रकार शूद्रकी अपेक्षा वैश्य और क्षत्रियके कर्म अधिक गुणयुक्त हैं। अतः यह भाव समझना चाहिये कि जो कर्म गुणयुक्त हों और जिनका अनुष्ठान भी पूर्णतया किया गया हो, किंतु वे अनुष्ठान करनेवालेके लिये विहित न हों, दूसरोंके लिये ही विहित हों, वैसे परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्म ही अति उत्तम है। जैसे देखनेमें कुरूप और गुणहीन होनेपर भी अपने पतिका सेवन करना ही स्त्रीके लिये कल्याणप्रद है, उसी प्रकार देखनेमें सद्‌गुणोंसे हीन होनेपर तथा अनुष्ठानमें अंग-वैगुण्य हो जानेपर भी जिसके लिये जो कर्म विहित है, वही

उसके लिये कल्याणप्रद है; फिर जो स्वधर्म सर्वगुणसम्पन्न है और जिसका सांगोपांग पालन किया जाता है, उसके विषयमें तो कहना ही क्या है?

२. किसी प्रकारकी आपत्ति आनेपर मनुष्य अपने धर्मसे न डिगे और उसके कारण उसका मरण हो जाय तो वह मरण भी उसके लिये कल्याण करनेवाला हो जाता है।

३. मनुष्यको बिना इच्छा पापोंमें नियुक्त करनेवाला न तो प्रारब्ध है और न ईश्वर ही है, यह काम ही इस मनुष्यको नाना प्रकारके भोगोंमें आसक्त करके उसे बलात् पापोंमें प्रवृत्त करता है; इसलिये यह महान् पापी है।

४. इस कथनसे यह दिखलाया गया है कि यह काम ही मल, विक्षेप और आवरण—इन तीनों दोषोंके रूपमें परिणत होकर मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित किये रहता है। यहाँ धुएँके स्थानमें 'विक्षेप' को समझना चाहिये। जिस प्रकार धूआँ चंचल होते हुए भी अग्निको ढक लेता है, उसी प्रकार 'विक्षेप' चंचल होते हुए भी ज्ञानको ढके रहता है; क्योंकि बिना एकाग्रताके अन्तःकरणमें ज्ञानशक्ति प्रकाशित नहीं हो सकती, वह दबी रहती है। मैलके स्थानमें 'मल' दोषको समझना चाहिये। जैसे दर्पणपर मैल जम जानेसे उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार पापोंके द्वारा अन्तःकरणके अत्यन्त मलिन हो जानेपर उसमें वस्तु या कर्तव्यका यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता। इस कारण मनुष्य उसका यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता एवं जेरके स्थानमें 'आवरण' को समझना चाहिये। जैसे जेरसे गर्भ सर्वथा आच्छादित रहता है, उसका कोई अंश भी दिखलायी नहीं देता, वैसे ही आवरणसे ज्ञान सर्वथा ढका रहता है। जिसका अन्तःकरण अज्ञानसे मोहित रहता है, वह मनुष्य निद्रा और आलस्यादिके सुखमें फँसकर किसी प्रकारका विचार करनेमें प्रवृत्त ही नहीं होता।

१. यहाँ 'ज्ञानी' शब्द यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले विवेकशील साधकोंका वाचक है। यह कामरूप शत्रु उन साधकोंके अन्तःकरणमें विवेक, वैराग्य और निष्कामभावको स्थिर नहीं होने देता, उनके साधनमें बाधा उपस्थित करता रहता है। इस कारण इसको ज्ञानियोंका 'नित्य वैरी' बतलाया गया है।

२. यह 'काम' मनुष्यके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रविष्ट होकर उसकी विवेकशक्तिको नष्ट कर देता है और भोगोंमें सुख दिखलाकर उसे पापोंमें प्रवृत्त कर देता है, जिससे मनुष्यका अधःपतन हो जाता है। इसलिये शीघ्र ही सचेत हो जाना चाहिये।

३. भगवान्‌के निर्गुण-निराकार तत्त्वके प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसे युक्त यथार्थ ज्ञानको 'ज्ञान' तथा सगुण-निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसे युक्त यथार्थ ज्ञानको 'विज्ञान' कहते हैं। इस ज्ञान और विज्ञानकी यथार्थ प्राप्तिके लिये हृदयमें जो आकांक्षा उत्पन्न होती है, उसको यह महान् कामरूप शत्रु अपनी मोहिनी शक्तिके द्वारा नित्य-निरन्तर दबाता रहता है अर्थात् उस आकांक्षाकी जागृतिसे उत्पन्न ज्ञान-विज्ञानके साधनोंमें बाधा पहुँचाता रहता है, इसी कारण ये प्रकट नहीं हो पाते, इसीलिये कामको उनका नाश करनेवाला बतलाया गया है।

४. आत्मा सबका आधार, कारण, प्रकाशक और प्रेरक तथा सूक्ष्म, व्यापक, श्रेष्ठ, बलवान् और नित्य चेतन होनेके कारण उसे 'अत्यन्त पर' कहा गया है।

५. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीव—इन सभीका वाचक आत्मा है। उनमेंसे सर्वप्रथम इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये इकतालीसवें श्लोकमें कहा जा चुका है। शरीर इन्द्रियोंके अन्तर्गत आ ही गया, जीवात्मा स्वयं वशमें करनेवाला है। अब बचे मन और बुद्धि, बुद्धिको मनसे बलवान् कहा है; अतः इसके द्वारा मनको वशमें किया जा सकता है। इसीलिये 'आत्मानम्' का अर्थ 'मन' और 'आत्मना' का अर्थ 'बुद्धि' किया गया है।

६. भगवान्‌ने गीताके छठे अध्यायमें मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय बतलाये हैं (गीता ६।३५)। प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें मनुष्यका स्वाभाविक राग-द्वेष रहता है, विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होते समय जब-जब राग-द्वेषका अवसर आवे, तब-तब बड़ी सावधानीके साथ बुद्धिसे विचार करते हुए राग-द्वेषके वशमें न होनेकी चेष्टा रखनेसे शनैः-शनैः राग-द्वेष कम होते चले जाते हैं। यहाँ बुद्धिसे विचारकर इन्द्रियोंके भोगोंमें दुःख और दोषोंका बार-बार दर्शन कराकर मनकी उनमें अरुचि उत्पन्न कराना 'वैराग्य' है और व्यवहारकालमें स्वार्थके त्यागकी और ध्यानके समय मनको परमेश्वरके चिन्तनमें लगानेकी चेष्टा रखना और मनको भोगोंकी प्रवृत्तिसे हटाकर परमेश्वरके चिन्तनमें बार-बार नियुक्त करना 'अभ्यास' है।

अवश्य ही आत्मामें अनन्त बल है, वह कामको मार सकता है। वस्तुतः उसीके बलको पाकर सब बलवान् और क्रियाशील होते हैं; परंतु वह अपने महान् बलको भूल रहा है और जैसे प्रबल शक्तिशाली सम्राट् अज्ञानवश अपने बलको भूलकर अपनी अपेक्षा सर्वथा बलहीन क्षुद्र नौकर-चाकरोंके अधीन होकर उनकी हाँ-में-हाँ मिला देता है, वैसे ही आत्मा भी अपनेको बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अधीन मानकर उनके कामप्रेरित उच्छृंखलतापूर्ण मनमाने कार्योंमें मूक अनुमति दे रहा है। इसीसे उन बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके अंदर छिपा हुआ काम जीवात्माको विषयोंका प्रलोभन देकर उसे संसारमें फँसाता रहता है। अतएव यह आवश्यक है कि आत्मा अपने स्वरूपको और अपनी शक्तिको पहचानकर बुद्धि, मन और

इन्द्रियोंको वशमें करे। अन्तमें इनको वशमें कर लेनेपर काम सहज ही मर सकता है। कामको मारनेका वस्तुतः अक्रिय आत्माके लिये यही तरीका है। इसलिये बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके कामको मारना चाहिये।

अष्टाविंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्थोऽध्यायः)

सगुण भगवान्‌के प्रभाव, निष्काम कर्मयोग तथा योगी महात्मा पुरुषोंके आचरण और उनकी महिमाका वर्णन करते हुए विविध यज्ञों एवं ज्ञानकी महिमाका वर्णन

सम्बन्ध—*गीताके तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकसे लेकर उनतीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने बहुत प्रकारसे विहित कर्मोंके आचरणकी आवश्यकताका प्रतिपादन करके तीसवें श्लोकमें अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोगकी विधिसे ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके भगवदर्पणबुद्धिसे कर्म करनेकी आज्ञा दी। उसके बाद इकतीसवेंसे पैंतीसवें श्लोकतक उस सिद्धान्तके अनुसार कर्म करनेवालोंकी प्रशंसा और न करनेवालोंकी निन्दा करके राग-द्वेषके वशमें न होनेके लिये कहते हुए स्वधर्मपालनपर जोर दिया। फिर छत्तीसवें श्लोकमें अर्जुनके पूछनेपर सैंतीसवेंसे अध्याय-समाप्तिपर्यन्त कामको सारे अनर्थोंका हेतु बतलाकर बुद्धिके द्वारा इन्द्रियों और मनको वशमें करके उसे मारनेकी आज्ञा दी; परंतु कर्मयोगका तत्त्व बड़ा ही गहन है, इसलिये अब भगवान् पुनः उसके सम्बन्धमे बहुत-सी बातें बतलानेके उद्देश्यसे उसीका प्रकरण आरम्भ करते हुए पहले तीन श्लोकोंमें उस कर्मयोगकी परम्परा बतलाकर उसकी अनादिता सिद्ध करते हुए प्रशंसा करते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं[१] प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।। १ ।।

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा ।। १ ।।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ।। २ ।।

हे परंतप अर्जुन! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना; किंतु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया[१] ।। २ ।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।। ३ ।।

तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखनेयोग्य विषय है[२] ।।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।। ४ ।।

अर्जुन बोले—आपका जन्म तो अर्वाचीन—अभी हालका है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है अर्थात् कल्पके आदिमें हो चुका था; तब मैं इस बातको कैसे समझूँ कि आपहीने कल्पके आदिमें सूर्यसे यह योग कहा था? ।। ४ ।।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।। ५ ।।

श्रीभगवान् बोले—हे परंतप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं[३]। उन सबको तू नहीं जानता, किंतु मैं जानता हूँ ।। ५ ।।

सम्बन्ध—*भगवान्‌के मुखसे यह बात सुनकर कि अबतक मेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, यह जाननेकी इच्छा होती है कि आपका जन्म किस प्रकार होता है और आपके जन्ममें तथा अन्य लोगोंके जन्ममें क्या भेद है। अतएव इस बातको समझानेके लिये भगवान् अपने जन्मका तत्त्व बतलाते हैं—*

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया[४] ।। ६ ।।

मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ[५] ।। ६ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे उनके जन्मका तत्त्व सुननेपर यह जिज्ञासा होती है कि आप किस-किस समय और किन-किन कारणोंसे इस*

प्रकार अवतार धारण करते हैं। इसपर भगवान् दो श्लोकोंमें अपने अवतारके अवसर, हेतु और उद्देश्य बतलाते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।। ७ ।।

हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है,[१] तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ ।। ७ ।।

परित्राणाय साधूनां[२] विनाशाय च दुष्कृताम्[३] ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।। ८ ।।

साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये[४] मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ[५] ।। ८ ।।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।। ९ ।।

हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है[६], वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता; किंतु मुझे ही प्राप्त होता है ।। ९ ।।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया[१] मामुपाश्रिताः[२] ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।। १० ।।

पहले भी जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्यप्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं[३] ।।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। ११ ।।

हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ;[४] क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं[१] ।। ११ ।।

सम्बन्ध—*यदि यह बात है, तो फिर लोग भगवान्‌को न भजकर अन्य देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं? इसपर कहते हैं—*

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ।। १२ ।।

इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहनेवाले लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं; क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है ।। १२ ।।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।। १३ ।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है।[२] इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान[३] ।।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।। १४ ।।

कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता[४] ।। १४ ।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।। १५ ।।

पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं।[१] इसलिये तू भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको ही कर ।। १५ ।।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।। १६ ।।

कर्म क्या है? और अकर्म क्या है?—इस प्रकार इसका निर्णय करनेमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिये वह कर्मतत्त्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभसे अर्थात् कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ।। १६ ।।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।। १७ ।।

कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये[२] और अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये[३] तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये;[४] क्योंकि कर्मकी गति गहन है ।। १७ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार श्रोताके अन्तःकरणमें रुचि और श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये कर्मतत्त्वको गहन एवं उसका जानना आवश्यक बतलाकर अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् कर्मका तत्त्व समझाते हैं—*

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।। १८ ।।

जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है[१] ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म-दर्शनका महत्त्व बतलाकर अब पाँच श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न शैलीसे उपर्युक्त कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म-दर्शनपूर्वक कर्म करनेवाले सिद्ध और साधक पुरुषोंकी असंगताका वर्णन करके उस विषयको स्पष्ट करते हैं—*

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं[२] तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं,[३] उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि[४] नैव किंचित् करोति सः ॥ २० ॥

जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्यतृप्त है,[५] वह कर्मोंमें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः[६] ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगोंकी सामग्रीका परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता[१] ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो[२] द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थमें सदा संतुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है—ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला[३] कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता[४] ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसे

केवल यज्ञसम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं[५] ।। २३ ।।

सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि यज्ञके लिये कर्म करनेवाले पुरुषके समस्त कर्म विलीन हो जाते हैं। वहाँ केवल अग्निमें हविका हवन करना ही यज्ञ है और उसका सम्पादन करनेके लिये की जानेवाली क्रिया ही यज्ञके लिये कर्म करना है, इतनी ही बात नहीं है; इसी भावको सुस्पष्ट करनेके लिये अब भगवान् सात श्लोकोंमें भिन्न-भिन्न योगियोंद्वारा किये जानेवाले परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका विभिन्न यज्ञोंके नामसे वर्णन करते हैं—*

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।। २४ ।।

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देना-रूप क्रिया भी ब्रह्म है[१]—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है ।। २४ ।।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।। २५ ।।

दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं[२] और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मरूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं[३] ।। २५ ।।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।। २६ ।।

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियोंको संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं[४] और दूसरे योगी लोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं[५] ।। २६ ।।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।। २७ ।।

दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्म-संयमयोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं[६] ।। २७ ।।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।। २८ ।।

कई पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं,[१] कितने ही तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले हैं[२] तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करनेवाले हैं[३] और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्याय-रूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं[१] ।। २८ ।।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।। २९ ।।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।। ३० ।।

दूसरे कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं,[२] वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं[३] तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं[४] ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं[५] ।। २९-३० ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार यज्ञ करनेवाले साधकोंकी प्रशंसा करके अब उन यज्ञोंको करनेसे होनेवाले लाभ और न करनेसे होनेवाली हानि दिखलाकर भगवान् उपर्युक्त प्रकारसे यज्ञ करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हैं—*

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।। ३१ ।।

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं[६] और यज्ञ न करनेवाले पुरुषके लिये तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है?[१] ।। ३१ ।।

सम्बन्ध—*सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने यह बात कही थी कि मैं तुम्हें वह कर्मतत्त्व बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम अशुभसे मुक्त हो जाओगे। उस प्रतिज्ञाके अनुसार अठारहवें श्लोकसे यहाँतक उस कर्मतत्त्वका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हैं—*

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।। ३२ ।।

इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान;[२] इस

प्रकार तत्त्वसे जानकर उनके अनुष्ठानद्वारा तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा ।। ३२ ।।

सम्बध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उन यज्ञोंमेंसे कौन-सा यज्ञ श्रेष्ठ है। इसपर भगवान् कहते हैं—*

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।। ३३ ।।

हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है[3] तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं[4] ।। ३३ ।।

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन[5] सेवया[6] ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।। ३४ ।।

उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ।। ३४ ।।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।। ३५ ।।

जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें[7] और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा[1] ।। ३५ ।।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।। ३६ ।।

यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा[2] ।। ३६ ।।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।। ३७ ।।

क्योंकि हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है[3] ।। ३७ ।।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।। ३८ ।।

इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है[४] ।। ३८ ।।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।। ३९ ।।

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान्[५] मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।। ३९ ।।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।। ४० ।।

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है।[१] ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है[२] ।। ४० ।।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।। ४१ ।।

किंतु हे धनंजय! जिसने कर्मयोगकी विधिसे समस्त कर्मोंका परमात्मामें अर्पण कर दिया है[३] और जिसने विवेकद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है,[४] ऐसे वशमें किये हुए अन्तःकरणवाले पुरुषको कर्म नहीं बाँधते[५] ।। ४१ ।।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।। ४२ ।।

इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशयका विवेकज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके[६] समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो जा ।। ४२ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।। ४ ।। भीष्मपर्वणि तु अष्टाविंशोऽध्यायः ।। २८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ।। ४ ।। भीष्मपर्वमें अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८ ।।

१. गीताके दूसरे अध्यायके उनचालीसवें श्लोकमें कर्मयोगका वर्णन आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्‌ने उस अध्यायके अन्ततक कर्मयोगका ही भलीभाँति प्रतिपादन किया। उसके बाद भी तीसरे अध्यायके अन्ततक प्रायः कर्मयोगका ही अंग-प्रत्यंगोंसहित प्रतिपादन किया गया। इसके सिवा इस योगकी परम्परा बतलाते हुए भगवान्‌ने यहाँ जिन 'सूर्य' और 'मनु' आदिके नाम गिनाये हैं, वे सभी गृहस्थ और कर्मयोगी ही हैं। इससे भी यहाँ 'योगम्' पदको कर्मयोगका ही वाचक मानना उपयुक्त मालूम होता है।

१. परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन हैं—सभी नित्य हैं; इनका कभी अभाव नहीं होता। जब परमेश्वर नित्य हैं, तब उनकी प्राप्तिके लिये उन्हींके द्वारा निश्चित किये हुए अनादि नियम अनित्य नहीं हो सकते। जब-जब जगत्‌का प्रादुर्भाव होता है, तब-तब भगवान्‌के समस्त नियम भी साथ-ही-साथ प्रकट हो जाते हैं और जब जगत्‌का प्रलय होता है, उस समय नियमोंका भी तिरोभाव हो जाता है; परंतु उनका अभाव कभी नहीं होता। इस प्रकार इस कर्मयोगकी अनादिता सिद्ध करनेके लिये पूर्वश्लोकमें उसे अविनाशी कहा गया है। अतएव इस श्लोकमें जो यह बात कही गयी कि वह योग बहुत कालसे नष्ट हो गया है—इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि बहुत समयसे इस पृथ्वीलोकमें उसका तत्त्व समझनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंका अभाव-सा हो गया है, इस कारण वह अप्रकाशित हो गया है, उसका इस लोकमें तिरोभाव हो गया है; यह नहीं कि उसका अभाव हो गया है।

२. इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यह योग सब प्रकारके दुःखोंसे और बन्धनोंसे छुड़ाकर परमानन्दस्वरूप मुझ परमेश्वरको सुगमतापूर्वक प्राप्त करा देनेवाला है, इसलिये अत्यन्त ही उतम और बहुत ही गोपनीय है; इसके सिवा इसका यह भाव भी है कि अपनेको सूर्यादिके प्रति इस योगका उपदेश करनेवाला बतलाकर और वही योग मैंने तुझसे कहा है, तू मेरा भक्त है—यह कहकर मैंने जो अपना ईश्वरभाव प्रकट किया है, यह बड़े रहस्यकी बात है।

३. यहाँ भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं और तुम अभी हुए हैं, पहले नहीं थे—ऐसी बात नहीं है। हमलोग अनादि और नित्य हैं। मेरा नित्य स्वरूप तो है ही; इसके अतिरिक्त मैं अनेक रूपोंमें पहले प्रकट हो चुका हूँ। इसलिये मैंने जो यह बात कही है कि यह योग पहले सूर्यसे मैंने ही कहा था, इसका यही अभिप्राय समझना चाहिये कि कल्पके आदिमें मैंने नारायणरूपसे सूर्यको यह योग कहा था।

४. भगवान्‌की शक्तिरूपा जो मूलप्रकृति है, जिसका वर्णन गीताके नवम अध्यायके सातवें और आठवें श्लोकोंमें किया गया है और जिसे चौदहवें अध्यायमें 'महद्ब्रह्म' कहा गया है, उसी 'मूलप्रकृति' का वाचक यहाँ 'स्वाम्' विशेषणके सहित 'प्रकृतिम्' पद है, तथा भगवान् अपनी जिस योगशक्तिसे समस्त जगत्‌को धारण किये हुए हैं, जिस असाधारण शक्तिसे वे नाना प्रकारके रूप धारण करके लोगोंके सम्मुख प्रकट होते हैं और जिसमें छिपे रहनेके कारण लोग उनको पहचान नहीं सकते—उसका वाचक यहाँ 'आत्ममायया' पद है।

५. इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यद्यपि मैं अजन्मा और अविनाशी हूँ—वास्तवमें मेरा जन्म और विनाश कभी नहीं होता, तो भी मैं साधारण व्यक्तिकी भाँति जन्मता और विनष्ट होता-सा प्रतीत होता हूँ; इसी तरह समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी एक साधारण व्यक्ति-सा ही प्रतीत होता हूँ। अभिप्राय यह है कि मेरे अवतारतत्त्वको न समझनेवाले लोग जब मैं मत्स्य, कच्छप, वराह और मनुष्यादि रूपमें प्रकट होता हूँ, तब मेरा जन्म हुआ मानते हैं और जब मैं अन्तर्धान हो जाता हूँ, उस समय मेरा विनाश समझ लेते हैं तथा जब मैं उस रूपमें दिव्य लीला करता हूँ, तब मुझे अपने-जैसा ही साधारण व्यक्ति समझकर मेरा तिरस्कार करते हैं (गीता ९।११)। वे बेचारे इस बातको नहीं समझ पाते कि ये सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही जगत्‌का कल्याण करनेके लिये इस रूपमें प्रकट होकर दिव्य लीला कर रहे हैं; क्योंकि मैं उस समय अपनी योगमायाके परदेमें छिपा रहता हूँ (गीता ७।२५)।

१. ऋषिकल्प, धार्मिक, ईश्वरप्रेमी, सदाचारी पुरुषों तथा निरपराधी, निर्बल प्राणियोंपर बलवान् और दुराचारी मनुष्योंका अत्याचार बढ़ जाना तथा उसके कारण लोगोंमें सद्‌गुण और सदाचारका अत्यन्त ह्रास होकर दुर्गुण और दुराचारका अधिक फैल जाना ही धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धिका स्वरूप है।

२. जो पुरुष अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि समस्त सामान्य धर्मोंका तथा यज्ञ, दान, तप एवं अध्यापन, प्रजापालन आदि अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मोंका भलीभाँति पालन करते हैं; दूसरोंका हित करना ही जिनका स्वभाव है; जो सद्गुणोंके भण्डार और सदाचारी हैं तथा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीलादिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करनेवाले भक्त हैं—उनका वाचक यहाँ 'साधु' शब्द है।

३. जो मनुष्य निरपराध, सदाचारी और भगवान्के भक्तोंपर अत्याचार करनेवाले हैं, जो झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुर्गुण और दुराचारोंके भण्डार हैं, जो नाना प्रकारसे अन्याय करके धनका संग्रह करनेवाले तथा नास्तिक हैं; भगवान् और वेद-शास्त्रोंका विरोध करना ही जिनका स्वभाव हो गया है—ऐसे आसुर स्वभाववाले दुष्ट पुरुषोंका वाचक यहाँ 'दुष्कृताम्' पद है।

४. स्वयं शास्त्रानुकूल आचरण कर, विभिन्न प्रकारसे धर्मका महत्त्व दिखलाकर और लोगोंके हृदयोंमें प्रवेश करनेवाली अप्रतिम प्रभावशालिनी वाणीके द्वारा उपदेश-आदेश देकर सबके अन्तःकरणमें वेद, शास्त्र, परलोक, महापुरुष और भगवान्पर श्रद्धा उत्पन्न कर देना तथा सद्गुणोंमें और सदाचारोंमें विश्वास तथा प्रेम उत्पन्न करवाकर लोगोंमें इन सबको दृढ़तापूर्वक भलीभाँति धारण करा देना आदि सभी बातें धर्मकी स्थापनाके अन्तर्गत हैं।

५. यद्यपि भगवान् बिना ही अवतार लिये अनायास ही सब कुछ कर सकते हैं और करते भी हैं ही; किंतु लोगोंपर विशेष दया करके अपने दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा सुगमतासे लोगोंको उद्धारका सुअवसर देनेके लिये एवं अपने प्रेमी भक्तोंका अपनी दिव्य लीलादिका आस्वादन करानेके लिये भगवान् साकाररूपसे प्रकट होते हैं। उन अवतारोंमें धारण किये हुए रूपका तथा उनके गुण, प्रभाव, नाम, माहात्म्य और दिव्य कर्मोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करके लोग सहज ही संसार-समुद्रसे पार हो सकते हैं। यह काम बिना अवतारके नहीं हो सकता।

६. सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म परमेश्वर वास्तवमें जन्म और मृत्युसे सर्वथा अतीत हैं। उनका जन्म जीवोंकी भाँति नहीं है। वे अपने भक्तोंपर अनुग्रह करके अपनी दिव्य लीलाओंके द्वारा उनके मनको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये, दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा उनको सुख पहुँचानेके लिये, संसारमें अपनी दिव्य कीर्ति फैलाकर उसके श्रवण, कीर्तन और स्मरणद्वारा लोगोंके पापोंका नाश करनेके लिये तथा जगत्में पापाचारियोंका विनाश करके धर्मकी स्थापना करनेके लिये जन्म-धारणकी केवल लीलामात्र करते हैं। उनका वह जन्म निर्दोष और अलौकिक है। जगत्का कल्याण करनेके लिये ही भगवान् इस प्रकार मनुष्यादिके रूपमें लोगोंके सामने प्रकट होते हैं; उनका वह विग्रह प्राकृत उपादानोंसे बना हुआ नहीं होता—वह दिव्य, चिन्मय, प्रकाशमान, शुद्ध और अलौकिक होता है; उनके जन्ममें गुण और कर्म-संस्कार हेतु नहीं होते; वे मायाके वशमें होकर जन्म धारण नहीं करते, किंतु अपनी प्रकृतिके अधिष्ठाता होकर योगशक्तिसे मनुष्यादिके रूपमें केवल लोगोंपर दया करके ही प्रकट होते हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना ही भगवान्के जन्मको तत्त्वसे दिव्य समझना है।

भगवान् सृष्टि-रचना और अवतार-लीलादि जितने भी कर्म करते हैं, उनमें उनका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है; केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही वे मनुष्यादि अवतारोंमें नाना प्रकारके कर्म करते हैं (गीता ३।२२-२३)। भगवान् अपनी प्रकृतिद्वारा समस्त कर्म करते हुए भी उन कर्मोंके प्रति कर्तृत्वभाव न रहनेके कारण वास्तवमें न तो कुछ भी करते हैं और न उनके बन्धनमें पड़ते हैं; भगवान्की उन कर्मोंके फलमें किंचिन्मात्र भी स्पृहा नहीं होती (गीता ४।१३-१४)। भगवान्के द्वारा जो कुछ भी चेष्टा होती है, लोकहितार्थ ही होती है (गीता ४।८); उनके प्रत्येक कर्ममें लोगोंका हित भरा रहता है। वे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी होते हुए भी सर्वसाधारणके साथ अभिमानरहित दया और प्रेमपूर्ण समताका व्यवहार करते हैं (गीता ९।२९); जो कोई मनुष्य जिस प्रकार उनको भजता है, वे स्वयं उसे उसी प्रकार भजते हैं (गीता ४।११); अपने अनन्यभक्तोंका योगक्षेम भगवान् स्वयं चलाते हैं (गीता ९।२२), उनको दिव्य ज्ञान प्रदान करते हैं (गीता १०।१०-११) और भक्तिरूपी नौकापर बैठे हुए भक्तोंका संसारसमुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेके लिये स्वयं उनके कर्णधार बन जाते हैं (गीता १२।७)। इस प्रकार भगवान्के समस्त कर्म आसक्ति, अहंकार और कामनादि दोषोंसे सर्वथा रहित निर्मल और शुद्ध तथा केवल लोगोंका कल्याण करने एवं नीति, धर्म, शुद्ध प्रेम और भक्ति आदिका जगत्में प्रचार करनेके लिये ही होते हैं; इन सब कर्मोंको करते हुए भी भगवान्का वास्तवमें उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वे उनसे सर्वथा

अतीत और अकर्ता हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना, इसमें किंचिन्मात्र भी असम्भावना या विपरीत भावना न रहकर पूर्ण विश्वास हो जाना ही भगवान्‌के कर्मोंको तत्त्वसे दिव्य समझना है।

१. भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जानेके कारण जिनको सर्वत्र एक भगवान्-ही-भगवान् दीखने लग जाते हैं, उनका वाचक 'मन्मयाः' पद है।

२. जो भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेते हैं, सर्वथा उनपर निर्भर हो जाते हैं, सदा उनमें ही संतुष्ट रहते हैं, जिनका अपने लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता और जो सब कुछ भगवान्‌का समझकर उनकी आज्ञाका पालन करनेके उद्देश्यसे उनकी सेवाके रूपमें ही समस्त कर्म करते हैं—ऐसे पुरुषोंका वाचक 'मामुपाश्रिताः' पद है।

३. यहाँ सांख्ययोगका प्रसंग नहीं है, भक्तिका प्रकरण है तथा पूर्वश्लोकमें भगवान्‌के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझनेका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया है; उसीके प्रमाणमें यह श्लोक है। इस कारण यहाँ 'ज्ञानतपसा' पदमें ज्ञानका अर्थ आत्मज्ञान न मानकर भगवान्‌के जन्म-कर्मोंको दिव्य समझ लेना ज्ञानरूप ही माना गया है। इस ज्ञानरूप तपके प्रभावसे मनुष्यका भगवान्‌में अनन्य- प्रेम हो जाता है, उसके समस्त पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं, अन्तःकरणमें सब प्रकारके दुर्गुणोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और समस्त कर्म भगवान्‌के कर्मोंकी भाँति दिव्य हो जाते हैं तथा वह कभी भगवान्‌से अलग नहीं होता, उसको भगवान् सदा ही प्रत्यक्ष रहते हैं—यही उन भक्तोंका ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त हो जाना है।

४. इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे भक्तोंके भजनके प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं। अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भक्त मेरे पृथक्-पृथक् रूप मानते हैं और अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार मेरा भजन-स्मरण करते हैं, अतएव मैं भी उनको उनकी भावनाके अनुसार उन-उन रूपोंमें ही दर्शन देता हूँ तथा वे जिस प्रकार जिस-जिस भावसे मेरी उपासना करते हैं, मैं उनके उस-उस प्रकार और उस-उस भावका ही अनुसरण करता हूँ। जो मेरा चिन्तन करता है उसका मैं चिन्तन करता हूँ, जो मेरे लिये व्याकुल होता है उसके लिये मैं भी व्याकुल हो जाता हूँ, जो मेरा वियोग सहन नहीं कर सकता मैं भी उसका वियोग नहीं सहन कर सकता। जो मुझे अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है मैं भी उसे अपना सर्वस्व अर्पण कर देता हूँ। जो ग्वाल-बालोंकी भाँति मुझे अपना सखा मानकर मेरा भजन करते हैं, उनके साथ मैं मित्रके-जैसा व्यवहार करता हूँ। जो नन्द-यशोदाकी भाँति पुत्र मानकर मेरा भजन करते हैं, उनके साथ पुत्रके-जैसा बर्ताव करके उनका कल्याण करता हूँ। इसी प्रकार रुक्मिणीकी तरह पति समझकर भजनेवालोंके साथ पति-जैसा, हनुमान्‌की भाँति स्वामी समझकर भजनेवालोंके साथ स्वामी-जैसा और गोपियोंकी भाँति माधुर्यभावसे भजनेवालोंके साथ प्रियतम-जैसा बर्ताव करके मैं उनका कल्याण करता हूँ और उनको दिव्य लीला-रसका अनुभव कराता हूँ।

१. इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि लोग मेरा अनुसरण करते हैं, इसलिये यदि मैं इस प्रकार प्रेम और सौहार्दका बर्ताव करूँगा तो दूसरे लोग भी मेरी देखा-देखी ऐसे ही निःस्वार्थभावसे एक-दूसरोंके साथ यथायोग्य प्रेम और सुहृदताका बर्ताव करेंगे। अतएव इस नीतिका जगत्‌में प्रचार करनेके लिये भी ऐसा करना मेरा कर्तव्य है।

२. अनादिकालसे जीवोंके जो जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्म हैं, जिनका फलभोग नहीं हो गया है, उन्हींके अनुसार उनमें यथायोग्य सत्त्व, रज और तमोगुणकी न्यूनाधिकता होती है। भगवान् जब सृष्टि-रचनाके समय मनुष्योंका निर्माण करते हैं, तब उन-उन गुण और कर्मोंके अनुसार उन्हें ब्राह्मणादि वर्णोंमें उत्पन्न करते हैं। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि देव, पितर और तिर्यक् आदि दूसरी-दूसरी योनियोंकी रचना भी भगवान् जीवोंके गुण और कर्मोंके अनुसार ही करते हैं। इसलिये इन सृष्टि-रचनादि कर्मोंमें भगवान्‌की किंचिन्मात्र भी विषमता नहीं है, यही भाव दिखलानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि मेरे द्वारा चारों वर्णोंकी रचना उनके गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक की गयी है।

आजकल लोग यह पूछा करते हैं कि ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग जन्मसे मानना चाहिये या कर्मसे? तो उसका उत्तर यह हो सकता है कि यद्यपि जन्म और कर्म दोनों ही वर्णके अंग होनेके कारण वर्णकी पूर्णता तो दोनोंसे ही होती है परंतु इन दोनोंमें प्रधानता जन्मकी है, इसलिये जन्मसे ही ब्राह्मणादि वर्णोंका विभाग मानना चाहिये; क्योंकि यदि माता-पिता एक वर्गके हों और किसी प्रकारसे भी जन्ममें संकरता न आवे तो सहज ही कर्ममें भी प्रायः संकरता नहीं आती; परंतु संगदोष, आहारदोष और दूषित शिक्षा-दीक्षादि

कारणोंसे कर्ममें कहीं कुछ व्यतिक्रम भी हो जाय तो जन्मसे वर्ण माननेपर वर्णरक्षा हो सकती है, तथापि कर्मशुद्धिकी कम आवश्यकता नहीं है। कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर वर्णकी रक्षा बहुत ही कठिन हो जाती है। अतः जीविका और विवाहादि व्यवहारके लिये तो जन्मकी प्रधानता तथा कल्याणकी प्राप्तिमें कर्मकी प्रधानता माननी चाहिये; क्योंकि जातिसे ब्राह्मण होनेपर भी यदि उसके कर्म ब्राह्मणोचित नहीं हैं तो उसका कल्याण नहीं हो सकता तथा सामान्य धर्मके अनुसार शम-दमादिका पालन करनेवाला और अच्छे आचरणवाला शूद्र भी यदि ब्राह्मणोचित यज्ञादि कर्म करता है और उससे अपनी जीविका चलाता है तो पापका भागी होता है।

३. इससे भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताका भाव प्रकट किया गया है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌का किसी भी कर्ममें राग-द्वेष या कर्तापन नहीं होता। वे सदा ही उन कर्मोंसे सर्वथा अतीत हैं, उनके सकाशसे उनकी प्रकृति ही समस्त कर्म करती है। इस कारण लोकव्यवहारमें भगवान् उन कर्मोंके कर्ता माने जाते हैं; वास्तवमें भगवान् सर्वथा उदासीन हैं, कर्मोंसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है (गीता ९।९-१०)।

४. उपर्युक्त वर्णनके अनुसार जो यह समझ लेना है कि विश्व-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान् वास्तवमें अकर्ता ही हैं—उन कर्मोंसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, उनके कर्मोंमें विषमता लेशमात्र भी नहीं है, कर्मफलमें उनकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति, ममता या कामना नहीं है, अतएव उनको वे कर्म बन्धनमें नहीं डाल सकते—यही भगवान्‌को उपर्युक्त प्रकारसे तत्त्वतः जानना है और इस प्रकार भगवान्‌के कर्मोंका रहस्य यथार्थरूपसे समझ लेनेवाले महात्माके कर्म भी भगवान्‌की ही भाँति ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहंकारके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये ही होते हैं; इसीलिये वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।

१. जो मनुष्य जन्म-मरणरूप संसारबन्धनसे मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करना चाहता है, जो सांसारिक भोगोंको दुःखमय और क्षणभंगुर समझकर उनसे विरक्त हो गया है और जिसे इस लोक या परलोकके भोगोंकी इच्छा नहीं है—उसे 'मुमुक्षु' कहते हैं। अर्जुन भी मुमुक्षु थे, वे कर्मबन्धनके भयसे स्वधर्मरूप कर्तव्यकर्मका त्याग करना चाहते थे; अतएव भगवान्‌ने इस श्लोकमें पूर्वकालके मुमुक्षुओंका उदाहरण देकर यह बात समझायी है कि कर्मोंको छोड़ देनेमात्रसे मनुष्य उनके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता, इसी कारण पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी मेरे कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व समझकर मेरी ही भाँति कर्मोंमें ममता, आसक्ति, फलेच्छा और अहंकारका त्याग करके निष्कामभावसे अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार उनका आचरण ही किया है।

२. साधारणतः मनुष्य यही जानते हैं कि शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका नाम कर्म है; किंतु इतना जान लेनेमात्रसे कर्मका स्वरूप नहीं जाना जा सकता, क्योंकि उसके आचरणमें भावका भेद होनेसे उसके स्वरूपमें भेद हो जाता है। अतः अपने अधिकारके अनुसार वर्णाश्रमोचित कर्तव्य-कर्मोंको आचरणमें लानेके लिये कर्मोंके तत्त्वको समझना चाहिये।

३. साधारणतः मनुष्य यही समझते हैं कि मन, वाणी और शरीरद्वारा की जानेवाली क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग कर देना ही अकर्म यानी कर्मोंसे रहित होना है; किंतु इतना समझ लेनेमात्रसे अकर्मका वास्तविक स्वरूप नहीं जाना जा सकता; क्योंकि भावके भेदसे इस प्रकारका अकर्म भी कर्म या विकर्मके रूपमें बदल जाता है। अतः किस भावसे किस प्रकार की हुई कौन-सी क्रिया या उसके त्यागका नाम अकर्म है एवं किस स्थितिमें किस मनुष्यको किस प्रकार उसका आचरण करना चाहिये, इस बातको भलीभाँति समझकर साधन करना चाहिये।

४. साधारणतः झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पापकर्मोंका नाम ही विकर्म है—यह प्रसिद्ध है; पर इतना जान लेनेमात्रसे विकर्मका स्वरूप यथार्थ नहीं जाना जा सकता, क्योंकि शास्त्रके तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञानी पुण्यको भी पाप मान लेते हैं और पापको भी पुण्य मान लेते हैं। वर्ण, आश्रम और अधिकारके भेदसे जो कर्म एकके लिये विहित होनेसे कर्तव्य (कर्म) है, वही दूसरेके लिये निषिद्ध होनेसे पाप (विकर्म) हो जाता है—जैसे सब वर्णोंकी सेवा करके जीविका चलाना शूद्रके लिये विहित कर्म है, किंतु वही ब्राह्मणके लिये निषिद्ध कर्म है; जैसे दान लेकर, वेद पढ़ाकर और यज्ञ कराकर जीविका चलाना ब्राह्मणके लिये कर्तव्य-कर्म है, किंतु दूसरे वर्णोंके लिये पाप है; जैसे गृहस्थके लिये न्यायोपार्जित द्रव्यसंग्रह करना और ऋतुकालमें स्वपत्नीगमन करना धर्म है, किंतु संन्यासीके लिये कांचन और कामिनीका दर्शन-स्पर्श करना भी पाप है। अतः झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि जो सर्वसाधारणके लिये निषिद्ध हैं

तथा अधिकारभेदसे जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके लिये निषिद्ध हैं—उन सबका त्याग करनेके लिये विकर्मके स्वरूपको भलीभाँति समझना चाहिये।

१. यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीर-निर्वाहसम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं—उन सबमें आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारका त्याग कर देनेसे वे इस लोक या परलोकमें सुख-दुःखादि फल भुगतानेके और पुनर्जन्मके हेतु नहीं बनते, बल्कि मनुष्यके पूर्वकृत समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश करके उसे संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाले होते हैं—इस रहस्यको समझ लेना ही कर्ममें अकर्म देखना है। इस प्रकार कर्ममें अकर्म देखनेवाला मनुष्य आसक्ति, फलेच्छा और ममताके त्यागपूर्वक ही विहित कर्मोंका यथायोग्य आचरण करता है। अतः वह कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, इसलिये वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है; वह परमात्माको प्राप्त है, इसलिये योगी है और उसे कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता—वह कृतकृत्य हो गया है, इसलिये वह समस्त कर्मोंको करनेवाला है।

लोकप्रसिद्धिमें मन, वाणी और शरीरके व्यापारको त्याग देनेका ही नाम अकर्म है; यह त्यागरूप अकर्म भी आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारपूर्वक किया जानेपर पुनर्जन्मका हेतु बन जाता है; इतना ही नहीं, कर्तव्यकर्मोंकी अवहेलनासे या दम्भाचारके लिये किया जानेपर तो वह विकर्म (पाप)-के रूपमें बदल जाता है—इस रहस्यको समझ लेना ही अकर्ममें कर्म देखना है।

२. स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गसुख आदि इस लोक और परलोकके जितने भी विषय (पदार्थ) हैं, उनमेंसे किसीकी किंचिन्मात्र भी इच्छा करनेका नाम 'कामना' है तथा किसी विषयको ममता, अहंकार, राग-द्वेष एवं रमणीय-बुद्धिसे स्मरण करनेका नाम 'संकल्प' है। कामना संकल्पका कार्य है और संकल्प उसका कारण है। विषयोंका स्मरण करनेसे ही उनमें आसक्ति होकर कामनाकी उत्पत्ति होती है (गीता २।६२)। जिन कर्मोंमें किसी वस्तुके संयोग-वियोगकी किंचिन्मात्र भी कामना नहीं है; जिनमें ममता, अहंकार और आसक्तिका सर्वथा अभाव है और जो केवल लोकसंग्रहके लिये चेष्टामात्र किये जाते हैं—वे सब कर्म कामना और संकल्पसे रहित हैं।

३. जैसे अग्निद्वारा भुने हुए बीज केवल नाममात्रके ही बीज रह जाते हैं, उनमें अंकुरित होनेकी शक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्निके द्वारा जो समस्त कर्मोंमें फल उत्पन्न करनेकी शक्तिका सर्वथा नष्ट हो जाना है—यही उन कर्मोंका ज्ञानरूप अग्निसे भस्म हो जाना है।

४. 'अपि' अव्ययसे यह भाव दिखलाया गया है कि ममता, अहंकार और फलासक्तिसे युक्त मनुष्य तो कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके भी कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता और यह नित्यतृप्त पुरुष समस्त कर्मोंको करता हुआ भी उनके बन्धनमें नहीं पड़ता।

५. आसक्तिका सर्वथा त्याग करके शरीरमें अहंकार और ममतासे सर्वथा रहित हो जाना और किसी भी सांसारिक वस्तुके या मनुष्यके आश्रित न होना अर्थात् अमुक वस्तु या मनुष्यसे ही मेरा निर्वाह होता है, यही आधार है, इसके बिना काम ही नहीं चल सकता—इस प्रकारके भावोंका सर्वथा अभाव हो जाना ही 'निराश्रय' हो जाना है। ऐसा हो जानेपर मनुष्यको किसी भी सांसारिक पदार्थकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं रहती, वह पूर्णकाम हो जाता है; उसे परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जानेके कारण वह निरन्तर आनन्दमें मग्न रहता है, उसकी स्थितिमें किसी भी घटनासे कभी जरा भी अन्तर नहीं पड़ता। यही उसका 'नित्यतृप्त' हो जाना है।

६. जिस मनुष्यको किसी भी सांसारिक वस्तुकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है; जो किसी भी कर्मसे या मनुष्यसे किसी प्रकारका भोग प्राप्त होनेकी किंचिन्मात्र भी आशा या इच्छा नहीं रखता; जिसने सब प्रकारकी इच्छा, कामना, वासना आदिका सर्वथा त्याग कर दिया है—उसे 'निराशीः' कहते हैं; जिसका अन्तःकरण और समस्त इन्द्रियोंसहित शरीर वशमें है—अर्थात् जिसके मन और इन्द्रिय राग-द्वेषसे रहित हो जानेके कारण उनपर शब्दादि विषयोंके संगका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता और जिसका शरीर भी जैसे वह उसे रखना चाहता है वैसे ही रहता है—वह चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी 'यतचित्तात्मा' है और जिसकी किसी भी वस्तुमें ममता नहीं है तथा जिसने समस्त भोग-सामग्रियोंके संग्रहका भलीभाँति त्याग कर दिया है, वह संन्यासी तो सर्वथा 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' है ही। इसके सिवा जो कोई दूसरे आश्रमवाला भी यदि उपर्युक्त प्रकारसे परिग्रहका त्याग कर देनेवाला है तो वह भी 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' है।

१. उपर्युक्त पुरुषको न तो यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान न करनेसे होनेवाला प्रत्यवायरूप पाप लगता है और न शरीरनिर्वाहके लिये की जानेवाली क्रियाओंमें होनेवाले पापोंसे ही उसका सम्बन्ध होता है; यही

उसका 'पाप' को प्राप्त न होना है ।

२. अनिच्छासे या परेच्छासे प्रारब्धानुसार जो अनुकूल या प्रतिकूल पदार्थकी प्राप्ति होती है, वह 'यदृच्छालाभ' है, इस यदृच्छालाभमें सदा ही आनन्द मानना, न किसी अनुकूल पदार्थकी प्राप्ति होनेपर उसमें राग करना, उसके बने रहने या बढ़नेकी इच्छा करना और न प्रतिकूलकी प्राप्तिमें द्वेष करना, उसके नष्ट हो जानेकी इच्छा करना—इस प्रकार दोनोंको ही प्रारब्ध या भगवान्का विधान समझकर निरन्तर शान्त और प्रसन्नचित्त रहना—यही 'यदृच्छालाभ' में सदा संतुष्ट रहना है।

३. यज्ञ, दान और तप आदि किसी भी कर्तव्यकर्मका निर्विघ्नतासे पूर्ण हो जाना उसकी सिद्धि है और किसी प्रकार विघ्न-बाधाके कारण उसका पूर्ण न होना ही असिद्धि है। इसी प्रकार जिस उद्देश्यसे कर्म किया जाता है, उस उद्देश्यका पूर्ण हो जाना सिद्धि है और पूर्ण न होना ही असिद्धि है। इस प्रकारकी सिद्धि और असिद्धिमें भेदबुद्धिका न होना अर्थात् सिद्धिमें हर्ष और आसक्ति आदि तथा असिद्धिमें द्वेष और शोक आदि विकारोंका न होना, दोनोंमें एक-सा भाव रहना ही सिद्धि और असिद्धिमें सम रहना है।

४. जिस प्रकार केवल शरीरसम्बन्धी कर्मोंको करनेवाला परिग्रहरहित सांख्ययोगी अन्य कर्मोंका आचरण न करनेपर भी कर्म न करनेके पापसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार कर्मयोगी विहित कर्मोंका अनुष्ठान करके भी उनसे नहीं बँधता।

५. अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यका जो शास्त्रदृष्टिसे विहित कर्तव्य है, वही उसके लिये यज्ञ है। उस शास्त्रविहित यज्ञका सम्पादन करनेके उद्देश्यसे ही जो कर्मोंका करना है—अर्थात् किसी प्रकारके स्वार्थका सम्बन्ध न रखकर केवल लोकसंग्रहरूप यज्ञकी परम्परा सुरक्षित रखनेके लिये ही जो कर्मोंका आचरण करना है, वही यज्ञके लिये कर्मोंका आचरण करना है।

उपर्युक्त प्रकारसे कर्म करनेवाले पुरुषके कर्म उसको बाँधनेवाले नहीं होते, इतना ही नहीं; किंतु जैसे किसी घासकी ढेरीमें आगमें जलाकर गिराया हुआ घास स्वयं भी चलकर नष्ट हो जाता है और उस घासकी ढेरीको भी भस्म कर देता है—वैसे ही आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अभिमानके त्यागरूप अग्निमें जलाकर किये हुए कर्म पूर्वसंचित समस्त कर्मोंके सहित विलीन हो जाते हैं, फिर उसके किसी भी कर्ममें किसी प्रकारका फल देनेकी शक्ति नहीं रहती।

१. इस यज्ञमें स्रुवा, हवि, हवन करनेवाला और हवनरूप क्रियाएँ आदि भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं होतीं; ऐसा यज्ञ करनेवाले योगीकी दृष्टिमें सब कुछ ब्रह्म ही होता है; क्योंकि वह जिस मन, बुद्धि आदिके द्वारा समस्त जगत्को ब्रह्म समझनेका अभ्यास करता है, उनको, अपनेको, इस अभ्यासरूप क्रियाको या अन्य किसी भी वस्तुको ब्रह्मसे भिन्न नहीं समझता, सबको ब्रह्मरूप ही देखता है; इसलिये उसकी उनमें किसी प्रकारकी भी भेदबुद्धि नहीं रहती।

२. ब्रह्मा, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र और वरुणादि जो शास्त्रसम्मत देव हैं—उनके लिये हवन करना, उनकी पूजा करना, उनके मन्त्रका जप करना, उनके निमित्त दान देना और ब्राह्मण-भोजन करवाना आदि समस्त कर्मोंका अपना कर्तव्य समझकर बिना ममता, आसक्ति और फलेच्छाके केवल परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शास्त्रविधिके अनुसार पूर्णतया अनुष्ठान करना ही देवताओंके पूजनरूप यज्ञका भलीभाँति अनुष्ठान करना है।

३. अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण शरीरकी उपाधिसे आत्मा और परमात्माका भेद अनादिकालसे प्रतीत हो रहा है; इस अज्ञानजनित भेद-प्रतीतिको ज्ञानके अभ्यासद्वारा मिटा देना अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे सुने हुए तत्त्वज्ञानका निरन्तर मनन और निदिध्यासन करते-करते नित्य विज्ञानानन्दघन गुणातीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदभावसे आत्माको एक कर देना—विलीन कर देना ही ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञको हवन करना है।

४. श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिकाको वशमें करके प्रत्याहार करना—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि बाहर-भीतरके विषयोंसे विवेकपूर्वक उन्हें हटाकर उपरत होना ही श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका संयमरूप अग्नियोंमें हवन करना है। इसका सुस्पष्टभाव गीताके दूसरे अध्यायके अठावनवें श्लोकमें कछुएके दृष्टान्तसे बतलाया गया है।

५. कानोंके द्वारा निन्दा और स्तुतिको या अन्य किसी प्रकारके अनुकूल या प्रतिकूल शब्दोंको सुनते हुए, नेत्रोंके द्वारा अच्छे-बुरे दृश्योंको देखते हुए, जिह्वाके द्वारा अनुकूल और प्रतिकूल रसको ग्रहण करते हुए—इसी प्रकार अन्य समस्त इन्द्रियोंद्वारा भी प्रारब्धके अनुसार योग्यतासे प्राप्त समस्त विषयोंका

अनासक्तभावसे सेवन करते हुए अन्तःकरणमें समभाव रखना, भेदबुद्धिजनित राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि विकारोंका न होने देना—अर्थात् उन विषयोंमें जो मन और इन्द्रियोंको विक्षिप्त (विचलित) करनेकी शक्ति है, उसका नाश करके उनको इन्द्रियोंमें विलीन करते रहना—यही शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करना है।

६. इस प्रकारके ध्यानयोगमें जो मनोनिग्रहपूर्वक इन्द्रियोंकी देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना, आस्वादन करना एवं ग्रहण करना, त्याग करना, बोलना और चलना-फिरना आदि तथा प्राणोंकी श्वास-प्रश्वास और हिलना-डुलना आदि समस्त क्रियाओंको विलीन करके समाधिस्थ हो जाना है—यही आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें इन्द्रियोंकी और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंका हवन करना है।

१. अपने-अपने वर्णधर्मके अनुसार न्यायसे प्राप्त द्रव्यको ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके यथायोग्य लोकसेवामें लगाना अर्थात् उपर्युक्त भावसे बावली, कुएँ, तालाब, मन्दिर, धर्मशाला आदि बनवाना; भूखे, अनाथ, रोगी, दुःखी, असमर्थ, भिक्षु आदि मनुष्योंकी यथावश्यक अन्न, वस्त्र, जल, औषध, पुस्तक आदि वस्तुओंद्वारा सेवा करना; विद्वान् तपस्वी वेदपाठी सदाचारी ब्राह्मणोंको गौ, भूमि, वस्त्र, आभूषण आदि पदार्थोंका यथायोग्य अपनी शक्तिके अनुसार दान करना—इसी तरह अन्य सब प्राणियोंको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे यथाशक्ति द्रव्यका व्यय करना 'द्रव्ययज्ञ' है।

२. परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंको पवित्र करनेके लिये ममता, आसक्ति और फलेच्छाके त्यागपूर्वक व्रत-उपवासादि करना; धर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना; मौन धारण करना; अग्नि और सूर्यके तेजको तथा वायुको सहन करना; एक वस्त्र या दो वस्त्रोंसे अधिकका त्याग कर देना; अन्नका त्याग कर देना, केवल दूध या फल खाकर ही शरीरका निर्वाह करना; वनवास करना आदि जो शास्त्रविधिके अनुसार तितिक्षासम्बन्धी क्रियाएँ हैं—उन सबका वाचक यहाँ 'तपोयज्ञ' है।

३. यहाँ योगरूप यज्ञसे यह भाव समझना चाहिये कि बहुत-से साधक परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे आसक्ति, फलेच्छा और ममताका त्याग करके अष्टांगयोगरूप यज्ञका ही अनुष्ठान किया करते हैं।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अंग हैं।

किसी भी प्राणीको किसी प्रकार किंचिन्मात्र कभी कष्ट न देना (अहिंसा); हितकी भावनासे कपटरहित प्रिय शब्दोंमें यथार्थभाषण (सत्य); किसी प्रकारसे भी किसीके स्वत्व—हकको न चुराना और न छीनना (अस्तेय); मन, वाणी और शरीरसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा-सर्वदा सब प्रकारके मैथुनोंका त्याग करना (ब्रह्मचर्य) और शरीरनिर्वाहके अतिरिक्त भोग्य-सामग्रीका कभी संग्रह न करना (अपरिग्रह)—इन पाँचोंका नाम 'यम' है।

सब प्रकारसे बाहर और भीतरकी पवित्रता रखना (शौच); प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा संतुष्ट रहना (संतोष); एकादशी आदि व्रत-उपवास करना (तप); कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन तथा ईश्वरके नाम और गुणोंका कीर्तन करना (स्वाध्याय); सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करके उनकी आज्ञाका पालन करना (ईश्वरप्रणिधान)—इन पाँचोंका नाम 'नियम' है।

सुखपूर्वक स्थिरतासे बैठनेका नाम 'आसन' है। आसन अनेकों प्रकारके हैं। उनमेंसे आत्मसंयम चाहनेवाले पुरुषके लिये सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमेंसे कोई-सा भी आसन हो, परंतु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको सीधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा भृकुटीके मध्यभागमें रखनी चाहिये। आलस्य न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते हैं। जो पुरुष जिस आसनसे सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके, उसके लिये वही आसन उत्तम है।

बाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है; इन दोनोंको रोकनेका नाम 'प्राणायाम' है।

देश, काल और संख्या (मात्रा)-के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले—ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय हैं और संकल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय हैं, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम चतुर्थ 'प्राणायाम' है।

अपने-अपने विषयोंके संयोगसे रहित होनेपर इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है।

स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर—किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना या लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

चित्तवृत्तिका गंगाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे ध्येय वस्तुमें ही लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने-आपका भी ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थितिका नाम 'समाधि' है।

१. जिन शास्त्रोंमें भगवान्के तत्त्वका, उनके गुण, प्रभाव और चरित्रोंका तथा उनके साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण स्वरूपका वर्णन है—ऐसे शास्त्रोंका अध्ययन करना, भगवान्की स्तुतिका पाठ करना, उनके नाम और गुणोंका कीर्तन करना तथा वेद और वेदांगोंका अध्ययन करना 'स्वाध्याय' है। ऐसा स्वाध्याय अर्थज्ञानके सहित होनेसे तथा ममता, आसक्ति और फलेच्छाके अभावपूर्वक किये जानेसे 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञ' कहलाता है। इस पदमें स्वाध्यायके साथ 'ज्ञान' शब्दका समास करके यह भाव दिखलाया है कि स्वाध्यायरूप कर्म भी ज्ञानयज्ञ ही है, इसलिये गीताके अध्ययनको भी भगवान्ने 'ज्ञानयज्ञ' नाम दिया है (गीता १८।७०)।

२. उपर्युक्त प्राणायामरूप यज्ञमें अग्निस्थानीय अपानवायु है और हविःस्थानीय प्राणवायु है। अतएव यह समझना चाहिये कि जिसे पूरक प्राणायाम कहते हैं, वही यहाँ अपानवायुमें प्राणवायुका हवन करना है; क्योंकि जब साधक पूरक प्राणायाम करता है तो बाहरकी वायुको नासिकाद्वारा शरीरमें ले जाता है, तब वह बाहरकी वायु हृदयमें स्थित प्राणवायुको साथ लेकर नाभिमेंसे होती हुई अपानमें विलीन हो जाती है। इस साधनमें बार-बार बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर वहीं रोका जाता है, इसलिये इसे आभ्यन्तर कुम्भक भी कहते हैं।

३. इस दूसरे प्राणायामरूप यज्ञमें अग्निस्थानीय प्राणवायु है और हविःस्थानीय अपानवायु है। अतः समझना चाहिये कि जिसे रेचक प्राणायाम कहते हैं, वही यहाँपर प्राणवायुमें अपानवायुका हवन करना है; क्योंकि जब साधक रेचक प्राणायाम करता है तो वह भीतरकी वायुको नासिकाद्वारा शरीरसे बाहर निकालकर रोकता है; उस समय पहले हृदयमें स्थित प्राणवायु बाहर आकर स्थित हो जाती है, पीछेसे अपानवायु आकर उसमें विलीन होती है। इस साधनमें बार-बार भीतरकी वायुको बाहर निकालकर वहीं रोका जाता है, इस कारणसे इसे बाह्य कुम्भक भी कहते हैं।

४. जिस प्राणायाममें प्राण और अपान—इन दोनोंकी गति रोक दी जाती है अर्थात् न तो पूरक प्राणायाम किया जाता है और न रेचक, किंतु श्वास और प्रश्वासको बंद करके प्राण-अपान आदि समस्त वायुभेदोंको अपने-अपने स्थानोंमें ही रोक दिया जाता है—वही यहाँ प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंका प्राणोंमें हवन करना है। इस साधनमें न तो बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर रोका जाता है और न भीतरकी वायुको बाहर लाकर; बल्कि अपने-अपने स्थानोंमें स्थित पंचवायु-भेदोंको वहीं रोक दिया जाता है। इसलिये इसे 'केवल कुम्भक' कहते हैं।

५. इस अध्यायमें चौबीसवें श्लोकसे लेकर यहाँतक जिन यज्ञ करनेवाले साधक पुरुषोंका वर्णन हुआ है, वे सभी ममता, आसक्ति और फलेच्छासे रहित होकर उपर्युक्त यज्ञरूप साधनोंका अनुष्ठान करके उनके द्वारा पूर्वसंचित कर्मसंस्काररूप समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश कर देनेवाले हैं; इसलिये वे यज्ञके तत्त्वको जाननेवाले हैं।

६. यहाँ भगवान्ने उपर्युक्त यज्ञके रूपकमें परमात्माकी प्राप्तिके ज्ञान, संयम, तप, योग, स्वाध्याय, प्राणायाम आदि ऐसे साधनोंका भी वर्णन किया है, जिनमें अन्नका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये यहाँ उपर्युक्त साधनोंका अनुष्ठान करनेसे साधकोंका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें जो प्रसादरूप प्रसन्नताकी उपलब्धि होती है (गीता २।६४-६५; १८।३६-३७), वही यज्ञसे बचा हुआ अमृत है; क्योंकि वह अमृतस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है तथा उस विशुद्धभावसे उत्पन्न सुखमें नित्यतृप्त रहना ही यहाँ उस अमृतका अनुभव करना है।

१. जो मनुष्य उपर्युक्त यज्ञोंमेंसे या इनके सिवा जो और भी अनेक प्रकारके साधनरूप यज्ञ शास्त्रोंमें वर्णित हैं, उनमेंसे कोई-सा भी यज्ञ—किसी प्रकार भी नहीं करता, उसको यह लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक तो कैसे सुखदायक हो सकता है—इस कथनसे यह भाव दिखलाया गया है कि उपर्युक्त

साधनोंका अधिकार पाकर भी उनमें न लगनेके कारण उसको मुक्ति तो मिलती ही नहीं, स्वर्ग भी नहीं मिलता और मुक्तिके द्वाररूप इस मनुष्यशरीरमें भी कभी शान्ति नहीं मिलती।

२. यहाँ जिन साधनरूप यज्ञोंका वर्णन किया गया है एवं इनके सिवा और भी जितने कर्तव्यकर्मरूप यज्ञ शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं, वे सब मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा ही होते हैं। उनमेंसे किसीका सम्बन्ध केवल मनसे है, किसीका मन और इन्द्रियोंसे एवं किसी-किसीका मन, इन्द्रिय और शरीर—इन सबसे है। ऐसा कोई भी यज्ञ नहीं है, जिसका इन तीनोंमेंसे किसीके साथ सम्बन्ध न हो। इसलिये साधकको चाहिये कि जिस साधनमें शरीर, इन्द्रिय और प्राणोंकी क्रियाका या संकल्प-विकल्प आदि मनकी क्रियाका त्याग किया जाता है, उस त्यागरूप साधनको भी कर्म ही समझे और उसे भी फल-कामना, आसक्ति तथा ममतासे रहित होकर ही करे; नहीं तो वह भी बन्धनका हेतु बन सकता है।

३. जिस यज्ञमें द्रव्यकी अर्थात् सांसारिक वस्तुकी प्रधानता हो, उसे द्रव्यमय यज्ञ कहते हैं। अतः अग्निमें घृत, चीनी, दही, दूध, तिल, जौ, चावल, मेवा, चन्दन, कपूर, धूप और सुगन्धयुक्त ओषधियाँ आदि हविका विधिपूर्वक हवन करना; दान देना; परोपकारके लिये कुँआ, बावली, तालाब, धर्मशाला आदि बनवाना; बलिवैश्वदेव करना आदि जितने सांसारिक पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रविहित शुभकर्म हैं—वे सब द्रव्यमय यज्ञके अन्तर्गत हैं तथा जो विवेक, विचार और आध्यात्मिक ज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले साधन हैं, वे सब ज्ञानयज्ञके अन्तर्गत हैं।

४. उपर्युक्त प्रकरणमें जितने प्रकारके साधनरूप कर्म बतलाये गये हैं तथा इनके सिवा और भी जितने शुभकर्मरूप यज्ञ वेद-शास्त्रोंमें वर्णित हैं (गीता ४।३२), वे सब कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं, इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि समस्त साधनोंका बड़े-से-बड़ा फल परमात्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करा देना है।

५. परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छासे श्रद्धा और भक्तिभावपूर्वक किसी बातको पूछना ‘परिप्रश्न’ है।

६. श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महापुरुषोंके पास निवास करना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके मानसिक भावोंको समझकर हरेक प्रकारसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना—ये सभी सेवाके अन्तर्गत हैं।

७. महापुरुषोंसे परमात्माके तत्त्वज्ञानका उपदेश पाकर आत्माको सर्वव्यापी, अनन्तस्वरूप समझना तथा समस्त प्राणियोंमें भेदबुद्धिका अभाव होकर सर्वत्र आत्मभाव हो जाना—अर्थात् जैसे स्वप्नसे जागा हुआ मनुष्य स्वप्नके जगत्‌को अपने अन्तर्गत स्मृतिमात्र देखता है, वास्तवमें अपनेसे भिन्न अन्य किसीकी सत्ता नहीं देखता, उसी प्रकार समस्त जगत्‌को अपनेसे अभिन्न और अपने अन्तर्गत समझना सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषतासे आत्माके अन्तर्गत देखना है (गीता ६।२९)।

१. सम्पूर्ण भूतोंको सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखना पूर्वोक्त आत्मदर्शनरूप स्थितिका फल है; इसीको परमपदकी प्राप्ति, निर्वाण-ब्रह्मकी प्राप्ति और परमात्मामें प्रविष्ट हो जाना भी कहते हैं।

२. यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनको यह बतलाया है कि तुम वास्तवमें पापी नहीं हो, तुम तो दैवी-सम्पदाके लक्षणोंसे युक्त (गीता १६।५) तथा मेरे प्रिय भक्त और सखा हो (गीता ४।३); तुम्हारे अंदर पाप कैसे रह सकते हैं। परंतु इस ज्ञानका इतना प्रभाव और माहात्म्य है कि यदि तुम अधिक-से-अधिक पापकर्मी होओ तो भी तुम इस ज्ञानरूप नौकाके द्वारा उन समुद्रके समान अथाह पापोंसे भी अनायास तर सकते हो। बड़े-से-बड़े पाप भी तुम्हें अटका नहीं सकते।

३. इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए समस्त कर्म संस्काररूपसे मनुष्यके अन्तःकरणमें एकत्रित रहते हैं, उनका नाम ‘संचित’ कर्म है। उनमेंसे जो वर्तमान जन्ममें फल देनेके लिये प्रस्तुत हो जाते हैं, उनका नाम ‘प्रारब्ध’ कर्म है और वर्तमान समयमें किये जानेवाले कर्मोंको ‘क्रियमाण’ कहते हैं। उपर्युक्त तत्त्वज्ञानरूप अग्निके प्रकट होते ही समस्त पूर्वसंचित संस्कारोंका अभाव हो जाता है। मन, बुद्धि और शरीरसे आत्माको असंग समझ लेनेके कारण उन मन, इन्द्रिय और शरीरादिके साथ प्रारब्ध भोगोंका सम्बन्ध होते हुए भी उन भोगोंके कारण उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोक आदि विकार नहीं हो सकते। इस कारण वे भी उसके लिये नष्ट हो जाते हैं और क्रियमाण कर्मोंमें उसका कर्तृत्वाभिमान तथा ममता, आसक्ति और वासना न रहनेके कारण उनके संस्कार नहीं बनते; इसलिये वे कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं हैं। इस प्रकार उसके समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है।

४. कितने ही कालतक कर्मयोगका आचरण करते-करते राग-द्वेषके नष्ट हो जानेसे जिसका अन्तःकरण स्वच्छ हो गया है, जो कर्मयोगमें भलीभाँति सिद्ध हो गया है; जिसके समस्त कर्म ममता, आसक्ति और फलेच्छाके बिना भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के ही लिये होते हैं—उस योग-संसिद्ध पुरुषके अन्तःकरणमें परमेश्वरके अनुग्रहसे अपने-आप उस ज्ञानका प्रकाश हो जाता है।

५. वेद, शास्त्र, ईश्वर और महापुरुषोंके वचनोंमें तथा परलोकमें जो प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास है एवं उन सबमें परम पूज्यता और उत्तमताकी भावना है—उसका नाम श्रद्धा है और ऐसी श्रद्धा जिसमें हो, उसको 'श्रद्धावान्' कहते हैं।

जबतक इन्द्रिय और मन अपने काबूमें न आ जायँ, तबतक श्रद्धापूर्वक कटिबद्ध होकर उत्तरोत्तर तीव्र अभ्यास करते रहना चाहिये; क्योंकि श्रद्धापूर्वक तीव्र अभ्यासकी कसौटी इन्द्रियसंयम ही है, जितना ही श्रद्धापूर्ण तीव्र अभ्यास किया जाता है, उत्तरोत्तर उतना ही इन्द्रियोंका संयम होता जाता है। अतएव इन्द्रिय-संयमकी जितनी कमी है, उतनी ही साधनमें कमी समझनी चाहिये और साधनमें जितनी कमी है, उतनी ही श्रद्धामें त्रुटि समझनी चाहिये।

१. वेद-शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंको तथा उनके बतलाये हुए साधनोंको ठीक-ठीक न समझ सकनेके कारण तथा जो कुछ समझमें आवे उसपर भी विश्वास न होनेके कारण जिसको हरेक विषयमें संशय होता रहता है, जो किसी प्रकार भी अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर पाता, हर हालतमें संशययुक्त रहता है, वह मनुष्य अपने मनुष्य-जीवनको व्यर्थ ही खो बैठता है।

जिसमें स्वयं विवेचन करनेकी शक्ति नहीं है, ऐसा अज्ञ मनुष्य भी यदि श्रद्धालु हो तो श्रद्धाके कारण महापुरुषोंके कथनानुसार संशयरहित होकर साधनपरायण हो सकता है और उनकी कृपासे उसका भी कल्याण हो सकता है (गीता १३।२५); परंतु जिस संशययुक्त पुरुषमें न विवेकशक्ति है और न श्रद्धा ही है, उसके संशयके नाशका कोई उपाय नहीं रह जाता; इसलिये जबतक उसमें श्रद्धा या विवेक नहीं आ जाता, उसका अवश्य पतन हो जाता है।

२. संशययुक्त मनुष्य केवल परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है इतनी ही बात नहीं है, जबतक मनुष्यमें संशय विद्यमान रहता है, वह उसका नाश नहीं कर लेता, तबतक वह न तो इस लोकमें यानी मनुष्यशरीरमें रहते हुए धन, ऐश्वर्य या यशकी प्राप्ति कर सकता है, न परलोकमें यानी मरनेके बाद स्वर्गादिकी प्राप्ति कर सकता है और न किसी प्रकारके सांसारिक सुखोंको ही भोग सकता है।

३. यहाँ 'योगसंन्यस्तकर्माणम्' का अर्थ स्वरूपसे कर्मोंका त्याग कर देनेवाला न मानकर कर्मयोगके द्वारा समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके उन सबको परमात्मामें अर्पण कर देनेवाला त्यागी (गीता ३।३०; ५।१०) मानना ही उचित है।

४. ईश्वर है या नहीं, है तो कैसा है, परलोक है या नहीं, यदि है तो कैसे है और कहाँ है, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये सब आत्मा हैं या आत्मासे भिन्न हैं, जड़ हैं या चेतन, व्यापक हैं या एकदेशीय, कर्ता-भोक्ता जीवात्मा है या प्रकृति, आत्मा एक है या अनेक, यदि वह एक है तो कैसे है और अनेक है तो कैसे, जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र, यदि परतन्त्र है तो कैसे है और किसके परतन्त्र है, कर्म-बन्धनसे छूटनेके लिये कर्मोंको स्वरूपसे छोड़ देना ठीक है या कर्मयोगके अनुसार उनका करना ठीक है, अथवा सांख्ययोगके अनुसार साधन करना ठीक है—इत्यादि जो अनेक प्रकारकी शंकाएँ तर्कशील मनुष्योंके अन्तःकरणमें उठा करती हैं, इन समस्त शंकाओंका विवेकज्ञानके द्वारा विवेचन करके एक निश्चय कर लेना अर्थात् किसी भी विषयमें संशययुक्त न रहना और अपने कर्तव्यको निर्धारित कर लेना, यही विवेकज्ञानद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर देना है।

५. जिसके मन और इन्द्रिय वशमें किये हुए हैं—अपने काबूमें हैं, उस पुरुषके शास्त्रविहित कर्म ममता, आसक्ति और कामनासे सर्वथा रहित होते हैं; इस कारण उन कर्मोंमें बन्धन करनेकी शक्ति नहीं रहती।

६. संशयका कारण अविवेक है। अतः विवेकद्वारा अविवेकका नाश होते ही उसके साथ-साथ संशयका भी नाश हो जाता है। इसका स्थान हृदय यानी अन्तःकरण है; अतः जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, उसके लिये इसका नाश करना सहज है।

अर्जुनके अन्तःकरणमें संशय विद्यमान था, उनकी विवेकशक्ति मोहके कारण कुछ दबी हुई थी; इसीसे वे अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर सकते थे और स्वधर्मरूप युद्धका त्याग करनेके लिये तैयार हो गये थे। इसलिये भगवान् यहाँ उन्हें उनके हृदयमें स्थित संशयका विवेकद्वारा छेदन करनेके लिये कहते हैं।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चमोऽध्यायः)

सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तिसहित ध्यानयोगका वर्णन

सम्बन्ध—*गीताके तीसरे और चौथे अध्यायमें अर्जुनने भगवान्‌के श्रीमुखसे अनेकों प्रकारसे कर्मयोगकी प्रशंसा सुनी और उसके सम्पादनकी प्रेरणा तथा आज्ञा प्राप्त की। साथ ही यह भी सुना कि 'कर्मयोगके द्वारा भगवत्स्वरूपका तत्त्वज्ञान अपने-आप ही हो जाता है' (गीता ४।३८); गीताके चौथे अध्यायके अन्तमें भी उन्हें भगवान्‌के द्वारा कर्मयोगके सम्पादनकी ही आज्ञा मिली। परंतु बीच-बीचमें उन्होंने भगवान्‌के श्रीमुखसे ही 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः (गीता ४।२४)' 'ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति (गीता ४।२५)' 'तद् विद्धि प्रणिपातेन (गीता ४।३४)' आदि वचनोंद्वारा ज्ञानयोग अर्थात् कर्मसंन्यासकी भी प्रशंसा सुनी। इससे अर्जुन यह निर्णय नहीं कर सके कि इन दोनोंमेंसे मेरे लिये कौन-सा साधन श्रेष्ठ है। अतएव अब भगवान्‌के श्रीमुखसे ही उसका निर्णय करानेके उद्देश्यसे अर्जुन उनसे प्रश्न करते हैं—*

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।। १ ।।

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मेरे लिये भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिये[1] ।। १ ।।

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः[2] कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ।। २ ।।

श्रीभगवान् बोले—कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है[3] ।।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ।। ३ ।।

हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझनेयोग्य है;[४] क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ।। ३ ।।

सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।। ४ ।।

उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन; क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है[१] ।। ४ ।।

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।। ५ ।।

ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है।[२] इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है ।। ५ ।।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।। ६ ।।

परंतु हे अर्जुन! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है[३] और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है[४] ।। ६ ।।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।। ७ ।।

जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है[५] और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ।। ७ ।।

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन् ।। ८ ।।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।। ९ ।।

तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी[१] तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब

इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसंदेह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ[२] ॥ ८-९ ॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार सांख्ययोगीके साधनका स्वरूप बतलाकर अब दसवें और ग्यारहवें श्लोकोंमें कर्मयोगियोंके साधनका फलसहित स्वरूप बतलाते हैं—*

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके[३] और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं[४] ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है[५] ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन् ॥ १३ ॥

अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर[६] आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—*जबकि आत्मा वास्तवमें कर्म करनेवाला भी नहीं है और इन्द्रियादिसे करवानेवाला भी नहीं है, तो फिर सब मनुष्य अपनेको कर्मोंका कर्ता क्यों मानते हैं और वे कर्मफलके भागी क्यों होते हैं? इसपर कहते हैं—*

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

परमेश्वर मनुष्योंके न तो कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं;[१] किंतु स्वभाव ही बर्त रहा है[२] ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—*जो साधक समस्त कर्मोंको और कर्मफलोंको भगवान्‌के अर्पण करके कर्मफलसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं, उनके शुभाशुभ कर्मोंके फलके भागी क्या भगवान् होते हैं? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।। १५ ।।

सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको ही ग्रहण करता है;[३] किंतु अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं[४] ।। १५ ।।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।। १६ ।।

परंतु जिनका वह अज्ञान परमात्माके तत्त्वज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है[५] ।। १६ ।।

सम्बन्ध—*यथार्थ ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होती है, यह बात संक्षेपमें कहकर अब छब्बीसवें श्लोकतक ज्ञानयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त होनेके साधन तथा परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषोंके लक्षण, आचरण, महत्त्व और स्थितिका वर्णन करनेके उद्देश्यसे पहले यहाँ ज्ञानयोगके एकान्त साधनद्वारा परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हैं—*

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।। १७ ।।

जिनका मन तद्रूप हो रहा है,[१] जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है[२] और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है,[३] ऐसे तत्परायण पुरुष[४] ज्ञानके द्वारा पापरहित[५] होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं[६] ।। १७ ।।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। १८ ।।

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं[७] ।। १८ ।।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।। १९ ।।

जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया अर्थात् वे सदाके लिये जन्म-मरणसे छूटकर जीवन्मुक्त हो गये; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं[१] ।। १९ ।।

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।। २० ।।

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो,[२] वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें

एकीभावसे नित्य स्थित है ।। २० ।।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।। २१ ।।

बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक[३] आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है;[४] तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित[५] पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है[६] ।। २१ ।।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।। २२ ।।

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं[७] और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता[१] ।। २२ ।।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।। २३ ।।

जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही[२] काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है,[३] वही पुरुष योगी है और वही सुखी है ।। २३ ।।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त प्रकारसे बाह्य विषयभोगोंको क्षणिक और दुःखोंका कारण समझकर तथा आसक्तिका त्याग करके जो काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर चुका है, अब ऐसे सांख्ययोगीकी अन्तिम स्थितिका फल-सहित वर्णन किया जाता है—*

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।। २४ ।।

जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है,[४] आत्मामें ही रमण करनेवाला है[५] तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है,[६] वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी[१] शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है[२] ।। २४ ।।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।। २५ ।।

जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं,[३] जिनके सब संशय ज्ञानके द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चलभावसे परमात्मामें स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ।। २५ ।।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां[४] यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।। २६ ।।

काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं[५] ।।

सम्बन्ध—*कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनों साधनों-द्वारा परमात्माकी प्राप्ति और परमात्माको प्राप्त महापुरुषोंके लक्षण कहे गये। उक्त दोनों ही प्रकारके साधकोंके लिये वैराग्यपूर्वक मन-इन्द्रियोंको वशमें करके ध्यानयोगका साधन करना उपयोगी है; अतः अब संक्षेपमें फलसहित ध्यानयोगका वर्णन करते हैं—*

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।। २७ ।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।। २८ ।।

बाहरके विषयभोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर[६] और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके[७] तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करके,[८] जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं[१]—ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि[२] इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है[३] ।। २७-२८ ।।

सम्बन्ध—*जो मनुष्य इस प्रकार मन, इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके कर्मयोग, सांख्ययोग या ध्यानयोगका साधन करनेमें अपनेको समर्थ नहीं समझता हो, ऐसे साधकके लिये सुगमतासे परमपदकी प्राप्ति करानेवाले भक्तियोगका संक्षेपमें वर्णन करते हैं—*

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।। २९ ।।

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला,[४] सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर[५] तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद्[६] अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है[७] ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ।। ५ ।। भीष्मपर्वणि तु एकोनत्रिंशोऽध्यायः ।। २९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें कर्मसंन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५ ।। भीष्मपर्वमें उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९ ।।

१. 'सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर ऐसा समझना कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, (गीता ३।२८) तथा निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित रहना और सर्वदा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखना (गीता ४।२४)'—यही ज्ञानयोग है—यही कर्मसंन्यास है। गीताके चौथे अध्यायमें इसी प्रकारके ज्ञानयोगकी प्रशंसा की गयी है और उसीके आधारपर अर्जुनका यह प्रश्न है।

२. मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानका और शरीर तथा समस्त संसारमें अहंता-ममताका पूर्णतया त्याग ही 'संन्यास' शब्दका अर्थ है। चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें 'संन्यास' को ही 'सांख्य' कहकर भलीभाँति स्पष्टीकरण भी कर दिया है। अतएव यहाँ 'संन्यास' शब्दका अर्थ 'सांख्ययोग' ही मानना युक्त है।

३. कर्मयोगी कर्म करते हुए भी सदा संन्यासी ही है, वह सुखपूर्वक अनायास ही संसारबन्धनसे छूट जाता है (गीता ५। ३)। उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है (गीता ५।६)। प्रत्येक अवस्थामें भगवान् उसकी रक्षा करते हैं (गीता ९। २२) और कर्मयोगका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मरणरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है (गीता २।४०)। किंतु ज्ञानयोगका साधन क्लेशयुक्त है (गीता १२।५), पहले कर्मयोगका साधन किये बिना उसका होना भी कठिन है (गीता ५। ६)। इन्हीं सब कारणोंसे ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया गया है।

४. कर्मयोगी न किसीसे द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी आकांक्षा करता है, वह द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो जाता है। वास्तवमें संन्यास भी इसी स्थितिका नाम है। जो राग-द्वेषसे रहित है, वही सच्चा संन्यासी है; क्योंकि उसे न तो संन्यास-आश्रम ग्रहण करनेकी आवश्यकता है और न सांख्ययोगकी ही। अतएव यहाँ कर्मयोगीको 'नित्यसंन्यासी' कहकर भगवान् उसका महत्त्व प्रकट करते हैं कि समस्त कर्म करते हुए भी वह सदा संन्यासी ही है और सुखपूर्वक अनायास ही कर्मबन्धनसे छूट जाता है।

१. 'सांख्ययोग' और 'कर्मयोग' दोनों ही परमार्थतत्त्वके ज्ञानद्वारा परमपदरूप कल्याणकी प्राप्तिमें हेतु हैं। इस प्रकार दोनोंका फल एक होनेपर भी जो लोग कर्मयोगका दूसरा फल मानते हैं और सांख्ययोगका दूसरा, वे फलभेदकी कल्पना करके दोनों साधनोंको पृथक्-पृथक् माननेवाले लोग बालक हैं; क्योंकि दोनोंकी साधनप्रणालीमें भेद होनेपर भी फलमें एकता होनेके कारण वस्तुतः दोनोंमें एकता ही है। दोनों निष्ठाओंका फल एक ही है, अतएव यह कहना उचित ही है कि एकमें पूर्णतया स्थित पुरुष दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है। गीताके तेरहवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने दोनोंको ही आत्मसाक्षात्कारके स्वतन्त्र साधन माना है।

२. जैसे किसी मनुष्यको भारतवर्षसे अमेरिकाको जाना है, तो वह यदि ठीक रास्तेसे होकर यहाँसे पूर्व-ही-पूर्व दिशामें जाता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा और पश्चिम-ही-पश्चिमकी ओर चलता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा। वैसे ही सांख्ययोग और कर्मयोगकी साधनप्रणालीमें परस्पर भेद होनेपर भी जो मनुष्य किसी एक साधनमें दृढ़तापूर्वक लगा रहता है, वह दोनोंके ही एकमात्र परम लक्ष्य परमात्मातक पहुँच ही जाता है।

३. जो मुमुक्षु पुरुष यह मानता है कि 'समस्त दृश्य-जगत् स्वप्नके सदृश मिथ्या है, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है; यह सारा प्रपंच मायासे उसी ब्रह्ममें अध्यारोपित है, वस्तुतः दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं; परंतु उसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, उसमें राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादि दोष वर्तमान हैं, वह यदि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्मयोगका आचरण न करके केवल अपनी मान्यताके भरोसेपर ही सांख्ययोगके साधनमें लगना चाहेगा तो उसे 'सांख्यनिष्ठा' सहज ही नहीं प्राप्त हो सकेगी।

४. जो सब कुछ भगवान्का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके भगवदाज्ञानुसार समस्त कर्तव्यकर्मोंका आचरण करता है और श्रद्धा- भक्तिपूर्वक नाम, गुण और प्रभावसहित श्रीभगवान्के स्वरूपका चिन्तन करता है, वह भक्तियुक्त कर्मयोगका साधक मुनि भगवान्की दयासे परमार्थज्ञानके द्वारा शीघ्र ही परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

५. मन और इन्द्रियाँ यदि साधकके वशमें न हों तो उनकी स्वाभाविक ही विषयोंमें प्रवृत्ति होती है और अन्तःकरणमें जबतक राग-द्वेषादि मल रहता है, तबतक सिद्धि और असिद्धिमें समभाव रहना कठिन होता है। अतएव जबतक मन और इन्द्रियाँ भलीभाँति वशमें न हो जायँ और अन्तःकरण पूर्णरूपसे परिशुद्ध न हो जाय, तबतक साधकको वास्तविक कर्मयोगी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये यह कहा गया है कि जिसमें ये सब बातें हों वही पूर्ण कर्मयोगी है और उसीको शीघ्र ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।

१. सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच क्षणभंगुर और अनित्य होनेके कारण मृगतृष्णाके जल या स्वप्नके संसारकी भाँति मायामय है, केवल एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही सत्य है; उसीमें यह सारा प्रपंच मायासे अध्यारोपित है—इस प्रकार नित्यानित्य

वस्तुके तत्त्वको समझकर जो पुरुष निरन्तर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित रहता है, वही तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी है।

२. जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य समझता है कि स्वप्नकालमें स्वप्नके शरीर, मन, प्राण और इन्द्रियोंद्वारा मुझे जिन क्रियाओंके होनेकी प्रतीति होती थी, वास्तवमें न तो वे क्रियाएँ होती थीं और न मेरा उनसे कुछ भी सम्बन्ध ही था; वैसे ही तत्त्वको समझकर निर्विकार अक्रिय परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित रहनेवाले सांख्ययोगीको भी ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण और मन आदिके द्वारा लोकदृष्टिसे की जानेवाली देखने-सुनने आदिकी समस्त क्रियाओंको करते समय यही समझना चाहिये कि ये सब मायामय मन, प्राण और इन्द्रिय ही अपने-अपने मायामय विषयोंमें विचर रहे हैं। वास्तवमें न तो कुछ हो रहा है और न मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध ही है।

३. ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमानुकूल अर्थोपार्जनसम्बन्धी और खान-पानादि शरीरनिर्वाहसम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उन सबको ममताका सर्वथा त्याग करके, सब कुछ भगवान्‌का समझकर, उन्हींके लिये उन्हींकी आज्ञा और इच्छाके अनुसार, जैसे वे करावें वैसे ही, कठपुतलीकी भाँति करना—परमात्मामें सब कर्मोंका अर्पण करना है।

४. कर्मप्रधान कर्मयोगी मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रियोंमें ममता नहीं रखते और लौकिक स्वार्थसे सर्वथा रहित होकर निष्कामभावसे ही समस्त कर्तव्यकर्म करते रहते हैं।

५. सकामभावसे किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप बार-बार देव-मनुष्यादि योनियोंमें भटकना ही बन्धन है।

६. स्वरूपसे सब कर्मोंका त्याग कर देनेपर मनुष्यकी शरीरयात्रा भी नहीं चल सकती। इसलिये मनसे—विवेकबुद्धिके द्वारा कर्तृत्व-कारयितृत्वका त्याग करना ही सांख्ययोगीका त्याग है।

१. मनुष्योंका जो कर्मोंमें कर्तापन है, वह भगवान्‌का बनाया हुआ नहीं है। अज्ञानी मनुष्य अहंकारके वशमें होकर अपनेको उनका कर्ता मान लेते हैं (गीता ३।२७)। मनुष्योंके कर्मोंकी रचना भगवान् नहीं करते, इस कथनका यह भाव है कि अमुक शुभ या अशुभ कर्म अमुक मनुष्यको करना पड़ेगा, ऐसी रचना भगवान् नहीं करते; क्योंकि ऐसी रचना यदि भगवान् कर दें तो विधि-निषेधशास्त्र ही व्यर्थ हो जाय—उसकी कोई सार्थकता ही नहीं रहे। कर्मफलके संयोगकी रचना भी भगवान् नहीं करते, इस कथनका यह भाव है कि कर्मोंके साथ सम्बन्ध मनुष्योंका ही अज्ञानवश जोड़ा हुआ है। कोई तो आसक्तिवश उनका कर्ता बनकर और कोई कर्मफलमें आसक्त होकर अपना सम्बन्ध कर्मोंके साथ जोड़ लेते हैं।

यदि इन तीनोंकी रचना भगवान्‌की की हुई होती तो मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट ही नहीं सकता, उसके उद्धारका कोई उपाय ही नहीं रह जाता। अतः साधक मनुष्यको चाहिये कि कर्मोंका कर्तापन पूर्वोक्त प्रकारसे प्रकृतिके अर्पण करके (गीता ५।८, ९) या भगवान्‌के अर्पण करके (गीता ५।१०) अथवा कर्मोंके फल और आसक्तिका सर्वथा त्याग करके (गीता ५।१२) कर्मोंसे अपना सम्बन्धविच्छेद कर ले (गीता ४।२०)। यही सब भाव दिखलानेके लिये यह कहा है कि परमेश्वर मनुष्योंके कर्तापन, कर्म और कर्मफलकी रचना नहीं करते।

२. इस कथनका यह अभिप्राय है कि सत्त्व, रज और तम तीनों गुण, राग-द्वेष आदि समस्त विकार, शुभाशुभ कर्म और उनके संस्कार, इन सबके रूपमें परिणत हुई प्रकृति अर्थात् स्वभाव ही सब कुछ करता है। प्राकृत जीवोंके साथ इसका अनादिसिद्ध संयोग है। इसीसे उनमें कर्तृत्वभाव उत्पन्न हो रहा है अर्थात् अहंकारसे मोहित होकर वे अपनेको उनका कर्ता मान लेते हैं (गीता ३।२७) तथा इसीसे कर्म और कर्मफलसे भी उनका सम्बन्ध हो जाता है और वे उनके बन्धनमें पड़ जाते हैं। वास्तवमें आत्माका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

३. सबके हृदयमें रहनेवाले (गीता १३।१७; १५।१५; १८।६१) और सम्पूर्ण जगत्‌का अपने संकल्पद्वारा संचालन करनेवाले सर्वशक्तिमान् सगुण निराकार परमेश्वर किसीके पुण्य-पापोंको ग्रहण नहीं करते। यद्यपि समस्त कर्म उन्हींकी शक्तिसे मनुष्योंद्वारा किये जाते हैं, सबको शक्ति, बुद्धि और इन्द्रियाँ आदि उनके कर्मानुसार वे ही प्रदान करते हैं; तथापि वे उनके द्वारा किये हुए कर्मोंको ग्रहण नहीं करते अर्थात् स्वयं उन कर्मोंके फलके भागी नहीं बनते।

४. यहाँ यह शंका होती है कि यदि वास्तवमें मनुष्योंका या परमेश्वरका कर्मोंसे और उनके फलसे सम्बन्ध नहीं है तो फिर संसारमें जो मनुष्य यह समझते हैं कि 'अमुक कर्म मैंने किया है', 'यह मेरा कर्म है', 'मुझे इसका फल मिलेगा', यह क्या बात है? इसी शंकाका निराकरण करनेके लिये कहते हैं कि अनादिसिद्ध अज्ञानद्वारा सब जीवोंका यथार्थ ज्ञान ढका हुआ है। इसीलिये वे अपने और परमेश्वरके स्वरूपको तथा कर्मके तत्त्वको न जाननेके कारण अपनेमें और ईश्वरमें कर्ता, कर्म और कर्मफलके सम्बन्धकी कल्पना करके मोहित हो रहे हैं।

५. जिस प्रकार सूर्य अन्धकारका सर्वथा नाश करके दृश्यमात्रको प्रकाशित कर देता है, वैसे ही यथार्थ ज्ञान भी अज्ञानका सर्वथा नाश करके परमात्माके स्वरूपको भलीभाँति प्रकाशित कर देता है। जिनको यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, वे कभी, किसी भी अवस्थामें मोहित नहीं होते।

१. सांख्ययोग (ज्ञानयोग)-का अभ्यास करनेवालेको चाहिये कि आचार्य और शास्त्रके उपदेशसे सम्पूर्ण जगत्‌को मायामय और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माको ही सत्य वस्तु समझकर तथा सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंके चिन्तनको सर्वथा छोड़कर, मनको परमात्माके स्वरूपमें निश्चल स्थित करनेके लिये उनके आनन्दमय स्वरूपका चिन्तन करे। बार-बार आनन्दकी आवृत्ति करता हुआ ऐसी धारणा करे कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, अनन्त आनन्द, सम आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, चिन्मय आनन्द, एकमात्र आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दसे भिन्न अन्य कोई वस्तु ही नहीं है इस प्रकार निरन्तर मनन करते-करते सच्चिदानन्दघन परमात्मामें मनका अभिन्नभावसे निश्चल हो जाना मनका तद्रूप होना है।

२. उपर्युक्त प्रकारसे मनके तद्रूप हो जानेपर बुद्धिमें सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपका प्रत्यक्षके सदृश निश्चय हो जाता है, उस निश्चयके अनुसार निदिध्यासन (ध्यान) करते-करते जो बुद्धिकी भिन्न सत्ता न रहकर उसका सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकाकार हो जाना है, वही बुद्धिका तद्रूप हो जाना है।

३. मन-बुद्धिके परमात्मामें एकाकार हो जानेके बाद साधककी दृष्टिसे आत्मा और परमात्माके भेदभ्रमका नाश हो जाना एवं ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटीका अभाव होकर केवलमात्र एक वस्तु सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही रह जाना तन्निष्ठ होना अर्थात् परमात्मामें एकीभावसे स्थित होना है।

४. उपर्युक्त प्रकारसे आत्मा और परमात्माके भेदभ्रमका नाश हो जानेपर जब परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता नहीं रहती, तब मन, बुद्धि, प्राण आदि सब कुछ परमात्मरूप ही हो जाते हैं। इस प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके साक्षात् अपरोक्ष ज्ञानद्वारा उनमें एकता प्राप्त कर लेना ही तत्परायण हो जाना है।

५. उपर्युक्त प्रकारके साधनसे प्राप्त यथार्थ ज्ञानके द्वारा जिनके मल, विक्षेप और आवरणरूप समस्त पाप भलीभाँति नष्ट हो गये हैं, जिनमें उन पापोंका लेशमात्र भी नहीं रहा है, जो सर्वथा पापरहित हो गये हैं, वे 'ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए पुरुष' हैं।

६. जिस पदको प्राप्त होकर योगी पुनः नहीं लौटता, जिसको सोलहवें श्लोकमें 'तत्परम्' के नामसे कहा है, गीतामें जिनका वर्णन कहीं 'अक्षय सुख', कहीं 'निर्वाण ब्रह्म', कहीं 'उत्तम सुख', कहीं 'परम गति', कहीं 'परमधाम', कहीं 'अव्ययपद' और कहीं 'दिव्य परमपुरुष' के नामसे आया है, उस यथार्थ ज्ञानके फलरूप परमात्माको प्राप्त होना ही अपुनरावृत्तिको प्राप्त होना है।

७. तत्त्वज्ञानी सिद्ध पुरुषोंका विषमभाव सर्वथा नष्ट हो जाता है। उनकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मासे अतिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता नहीं रहती, इसलिये उनका सर्वत्र समभाव हो जाता है। इसी बातको समझानेके लिये मनुष्योंमें उत्तम-से-उत्तम श्रेष्ठ ब्राह्मण, नीच-से-नीच चाण्डाल एवं पशुओंमें उत्तम गौ, मध्यम हाथी और नीच-से-नीच कुत्तेका उदाहरण देकर उनके समत्वका दिग्दर्शन कराया गया है। इन पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें विषमता सभीको करनी पड़ती है। जैसे गौका दूध सभी पीते हैं, पर कुतियाका दूध कोई भी मनुष्य नहीं पीता। वैसे ही हाथीपर सवारी की जा सकती है, कुत्तेपर नहीं की जा सकती। जो वस्तु शरीरनिर्वाहार्थ पशुओंके लिये उपयोगी होती है, वह मनुष्योंके लिये नहीं हो सकती। श्रेष्ठ ब्राह्मणके पूजन-सत्कारादि करनेकी शास्त्रोंकी आज्ञा है, चाण्डालके नहीं। अतः इनका उदाहरण देकर भगवान्‌ने यह बात समझायी है कि जिनमें व्यावहारिक विषमता अनिवार्य है, उनमें भी ज्ञानी पुरुषोंका समभाव ही रहता है। कभी किसी भी कारणसे कहीं भी उनमें विषमभाव नहीं होता।

जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ और पैर आदि अंगोंके साथ भी बर्तावमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादिके सदृश भेद रखता है, जो काम मस्तक और मुखसे लेता है, वह हाथ और पैरोंसे नहीं लेता; जो हाथ-पैरोंका काम है, वह सिरसे नहीं लेता और सब अंगोंके आदर, मान एवं शौचादिमें भी भेद रखता है, तथापि उनमें आत्मभाव-अपनापन समान होनेके कारण वह सभी अंगोंके सुख-दुःखका अनुभव समानभावसे ही करता है और सारे शरीरमें उसका प्रेम एक-सा ही रहता है, प्रेम और आत्मभावकी दृष्टिसे कहीं विषमता नहीं रहती; वैसे ही तत्त्वज्ञानी महापुरुषकी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि हो जानेके कारण लोकदृष्टिसे व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहनेपर भी उसका आत्मभाव और प्रेम सर्वत्र सम रहता है।

१. तत्त्वज्ञानी तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है। अतः उसके राग, द्वेष, मोह, ममता, अहंकार आदि समस्त अवगुणोंका और विषमभावका सर्वथा नाश होकर उसकी स्थिति समभावमें हो जाती है। समभाव ब्रह्मका ही स्वरूप है; इसलिये जिनका मन समभावमें स्थित है, वे ब्रह्ममें ही स्थित हैं।

२. जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके अनुकूल होता है, उसे लोग 'प्रिय' कहते हैं; उन अनुकूल पदार्थोंका संयोग होनेपर वह हर्षित नहीं होता। इसी प्रकार जो पदार्थ मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके प्रतिकूल होता है, उसे लोग 'अप्रिय' कहते हैं; उन प्रतिकूल पदार्थोंका संयोग होनेपर भी वह उद्विग्न यानी दुःखी नहीं होता।

३. शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि जो इन्द्रियोंके विषय हैं, उनको 'बाह्य-स्पर्श' कहते हैं; जिस पुरुषने विवेकके द्वारा अपने मनसे उनकी आसक्तिको बिलकुल नष्ट कर डाला है, जिसका समस्त भोगोंमें पूर्ण वैराग्य है और जिसकी उन सबमें उपरति हो गयी है, वह पुरुष बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला है।

४. इन्द्रियोंके भोगोंको ही सुखरूप माननेवाले मनुष्यको यह ध्यानजनित सुख नहीं मिल सकता। बाहरके भोगोंमें वस्तुतः सुख है ही नहीं; सुखका केवल आभासमात्र है। उसकी अपेक्षा वैराग्यका सुख कहीं बढ़कर है और वैराग्यसुखकी अपेक्षा भी उपरतिका सुख तो बहुत ऊँचा है; परंतु परमात्माके ध्यानमें अटल स्थिति प्राप्त होनेपर जो सुख प्राप्त होता है, वह तो इन सबसे बढ़कर है। ऐसे सुखको प्राप्त होना ही आत्मामें स्थित आनन्दको पाना है।

५. उपर्युक्त प्रकारसे जो पुरुष इन्द्रियोंके समस्त विषयोंमें आसक्तिरहित होकर उपरतिको प्राप्त हो गया है तथा परमात्माके ध्यानकी अटल स्थितिसे उत्पन्न महान् सुखका अनुभव करता है, उसे परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित कहते हैं।

६. सदा एकरस रहनेवाला परमानन्दस्वरूप अविनाशी परमात्मा ही 'अक्षय सुख' है और नित्य-निरन्तर ध्यान करते-करते उस परमात्माको जो अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष कर लेना है, यही उसका अनुभव करना है।

७. जैसे पतंग अज्ञानवश परिणाम न सोचकर दीपककी लौको सुखका कारण समझते हैं और उसे प्राप्त करनेके लिये उड़-उड़कर उसकी ओर जाते तथा उसमें पड़कर भयानक ताप सहते और अपनेको दग्ध कर डालते हैं, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य भोगोंको सुखके कारण समझकर तथा उनमें आसक्त होकर उन्हें भोगनेकी चेष्टा करते हैं और परिणाममें महान् दुःखोंको प्राप्त होते हैं। विषयोंको सुखके हेतु समझकर उन्हें भोगनेसे उनमें आसक्ति बढ़ती है, आसक्तिसे काम-क्रोधादि अनर्थोंकी उत्पत्ति होती है और फिर उनसे भाँति-भाँतिके दुर्गुण और दुराचार आ-आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका जीवन पापमय हो जाता है और उसके फलस्वरूप उन्हें इस लोक और परलोकमें नाना प्रकारके भयानक ताप और यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

विषयभोगके समय मनुष्य भ्रमवश जिन स्त्री-प्रसंगादि भोगोंको सुखका कारण समझता है, वे ही परिणाममें उसके बल, वीर्य, आयु तथा मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियोंकी शक्तिका क्षय करके और शास्त्रविरुद्ध होनेपर तो परलोकमें भीषण नरकयन्त्रणादिकी प्राप्ति कराकर महान् दुःखके हेतु बन जाते हैं।

इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि अज्ञानी मनुष्य जब दूसरेके पास अपनेसे अधिक भोग-सामग्री देखता है, तब उसके मनमें ईर्ष्याकी आग जल उठती है और वह उससे जलने लगता है।

सुखरूप समझकर भोगे हुए विषय कहीं प्रारब्धवश नष्ट हो जाते हैं तो उनके संस्कार बार-बार उनकी स्मृति कराते हैं और मनुष्य उन्हें याद कर-करके शोकमग्न होता, रोता-बिलखता और पछताता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि विषयोंके संयोगसे प्राप्त होनेवाले भोग वास्तवमें सर्वथा दुःखके ही कारण हैं, उनमें सुखका लेश भी नहीं है। अज्ञानवश भ्रमसे ही वे सुखरूप प्रतीत होते हैं (गीता १८।३८)।

१. विषय-भोग वास्तवमें अनित्य, क्षणभंगुर और दुःखरूप ही हैं, परंतु विवेकहीन अज्ञानी पुरुष इस बातको न जान-मानकर उनमें रमता है और भाँति-भाँतिके क्लेश भोगता है; किंतु बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनकी अनित्यता और क्षणभंगुरतापर विचार करता है तथा उन्हें काम-क्रोध, पाप-ताप आदि अनर्थोंमें हेतु समझता है और उनकी आसक्तिके त्यागको अक्षय सुखकी प्राप्तिमें कारण समझता है, इसलिये वह उनमें नहीं रमता।

२. इससे यह बतलाया गया है कि शरीर नाशवान् है—इसका वियोग होना निश्चित है और यह भी पता नहीं कि यह किस क्षणमें नष्ट हो जायगा; इसलिये मृत्युकाल उपस्थित होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये।

३. (पुरुषके लिये) स्त्री, (स्त्रीके लिये) पुरुष, (दोनोंहीके लिये) पुत्र, धन, मकान या स्वर्गादि जो कुछ भी देखे-सुने हुए मन और इन्द्रियोंके विषय हैं, उनमें आसक्ति हो जानेके कारण उनको प्राप्त करनेकी जो इच्छा होती है, उसका नाम 'काम' है और उसके कारण अन्तःकरणमें होनेवाले नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका जो प्रवाह है, वह कामसे उत्पन्न होनेवाला 'वेग' है। इसी प्रकार मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके प्रतिकूल विषयोंकी प्राप्ति होनेपर अथवा इष्ट-प्राप्तिकी इच्छापूर्तिमें बाधा उपस्थित होनेपर उस स्थितिके कारणभूत पदार्थ या जीवोंके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न होकर अन्तःकरणमें जो 'उत्तेजना' का भाव आता है, उसका नाम 'क्रोध' है और उस क्रोधके कारण होनेवाले नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका जो प्रवाह है, वह क्रोधसे उत्पन्न होनेवाला 'वेग' है। इन वेगोंको शान्तिपूर्वक सहन करनेकी अर्थात् इन्हें कार्यान्वित न होने देनेकी शक्ति प्राप्त कर लेना ही इनको सहन करनेमें समर्थ होना है।

४. यहाँ 'अन्तः' शब्द सम्पूर्ण जगत्के अन्तःस्थित परमात्माका वाचक है, अन्तःकरणका नहीं। इसका यह अभिप्राय है कि जो पुरुष बाह्य विषयभोगरूप सांसारिक सुखोंको स्वप्नकी भाँति अनित्य समझ लेनेके कारण उनको सुख नहीं

मानता, किंतु इन सबके अन्तःस्थित परम आनन्दस्वरूप परमात्मामें ही 'सुख' मानता है, वही 'अन्तःसुख' अर्थात् अन्तरात्मामें ही सुखवाला है।

५. जो बाह्य विषय-भोगोंमें सत्ता और सुख-बुद्धि न रहनेके कारण उनमें रमण नहीं करता, इन सबमें आसक्तिरहित होकर केवल परमात्मामें ही रमण करता है अर्थात् परमानन्दस्वरूप परमात्माका ही निरन्तर अभिन्नभावसे चिन्तन करता रहता है, वह 'अन्तराराम' अर्थात् आत्मामें ही रमण करनेवाला कहलाता है।

६. परमात्मा समस्त ज्योतियोंकी भी परम ज्योति है (गीता १३।१७)। सम्पूर्ण जगत् उसीके प्रकाशसे प्रकाशित है। जो पुरुष निरन्तर अभिन्नभावसे ऐसे परम ज्ञानस्वरूप परमात्माका अनुभव करता हुआ उसीमें स्थित रहता है, जिसकी दृष्टिमें एक विज्ञानानन्दस्वरूप परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी बाह्य दृश्य वस्तुकी भिन्न सत्ता ही नहीं रही है, वही 'अन्तर्ज्योति' अर्थात् आत्मामें ही ज्ञानवाला है।

१. सांख्ययोगका साधन करनेवाला योगी अहंकार, ममता और काम-क्रोधादि समस्त अवगुणोंका त्याग करके निरन्तर अभिन्नभावसे परमात्माका चिन्तन करते-करते जब ब्रह्मरूप हो जाता है—उसका ब्रह्मके साथ किंचिन्मात्र भी भेद नहीं रहता, तब इस प्रकारकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त सांख्ययोगी 'ब्रह्मभूत' अर्थात् सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त कहलाता है।

२. 'शान्त ब्रह्म (ब्रह्मनिर्वाण)' सच्चिदानन्दघन, निर्गुण, निराकार, निर्विकल्प एवं शान्त परमात्माका वाचक है और अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष हो जाना ही उसकी प्राप्ति है। सांख्ययोगीकी जिस अन्तिम अवस्थाका 'ब्रह्मभूत' शब्दसे निर्देश किया गया है, यह उसीका फल है। श्रुतिमें भी कहा है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक उप० ४।४।६) अर्थात् 'वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।' इसीको परम शान्तिकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी प्राप्ति, ब्रह्मप्राप्ति, मोक्षप्राप्ति और परमगतिकी प्राप्ति कहते हैं।

३. इस जन्म और जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार, राग-द्वेषादि दोष तथा उनकी वृत्तियोंके पुंज, जो मनुष्यके अन्तःकरणमें इकट्ठे रहते हैं, बन्धनमें हेतु होनेके कारण सभी कल्मष—पाप हैं। परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर इन सबका नाश हो जाता है। फिर उस पुरुषके अन्तःकरणमें दोषका लेशमात्र भी नहीं रहता।

४. यहाँ 'कामक्रोधवियुक्तानाम्' से मलदोषका, 'यतचेतसाम्' से विक्षेपदोषका और 'विदितात्मनाम्' से आवरणदोषका सर्वथा अभाव दिखलाकर परमात्माके पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी गयी है। इसलिये 'यति' शब्दका अर्थ यहाँ सांख्ययोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त आत्मसंयमी तत्त्वज्ञानी मानना उचित है।

५. परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महापुरुषोंके अनुभवमें ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, यहाँ-वहाँ, सर्वत्र नित्य-निरन्तर एक विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान हैं—एक अद्वितीय परमात्माके सिवा अन्य किसी भी पदार्थकी सत्ता ही नहीं है, इसी अभिप्रायसे कहा गया है कि उनके लिये सभी ओरसे परमात्मा ही परिपूर्ण हैं।

६. विवेक और वैराग्यके बलसे सम्पूर्ण बाह्यविषयोंको क्षणभंगुर, अनित्य, दुःखमय और दुःखोंके कारण समझकर उनके संस्काररूप समस्त चित्रोंको अन्तःकरणसे निकाल देना—उनकी स्मृतिको सर्वथा नष्ट कर देना ही बाहरके विषयोंको बाहर निकाल देना है।

७. नेत्रोंके द्वारा चारों ओर देखते रहनेसे तो ध्यानमें स्वाभाविक ही विघ्न—विक्षेप होता है और उन्हें बंद कर लेनेसे आलस्य और निद्राके वश हो जानेका भय है। इसीलिये नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थिर करनेको कहा गया है।

८. प्राण और अपानकी स्वाभाविक गति विषम है। कभी तो वे वाम नासिकामें विचरते हैं और कभी दक्षिण नासिकामें। वाममें चलनेको इडानाडीमें चलना और दक्षिणमें चलनेको पिंगलामें चलना कहते हैं। ऐसी अवस्थामें मनुष्यका चित्त चंचल रहता है। इस प्रकार विषमभावसे विचरनेवाले प्राण और अपानकी गतिको दोनों नासिकाओंमें समानभावसे कर देना उनको सम करना है। यही उनका सुषुम्णामें चलना है। सुषुम्णा नाड़ीपर चलते समय प्राण और अपानकी गति बहुत ही सूक्ष्म और शान्त रहती है। तब मनकी चंचलता और अशान्ति अपने-आप ही नष्ट हो जाती है और वह सहज ही परमात्माके ध्यानमें लग जाता है।

१. इन्द्रियाँ चाहे जब, चाहे जिस विषयमें स्वच्छन्द चली जाती हैं, मन सदा चंचल रहता है और अपनी आदतको छोड़ना ही नहीं चाहता एवं बुद्धि एक परम निश्चयपर अटल नहीं रहती—यही इनका स्वतन्त्र या उच्छृंखल हो जाना है। विवेक और वैराग्यपूर्वक अभ्यासद्वारा इन्हें सुशृंखल, आज्ञाकारी और अन्तर्मुखी या भगवन्निष्ठ बना लेना ही इनको जीतना है।

२. 'मुनि' मननशीलको कहते हैं, जो पुरुष ध्यानकालकी भाँति व्यवहारकालमें भी परमात्माकी सर्वव्यापकताका दृढ निश्चय होनेके कारण सदा परमात्माका ही मनन करता रहता है, वही 'मुनि' है।

३. जो महापुरुष उपर्युक्त साधनोंद्वारा इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, वह ध्यानकालमें या व्यवहारकालमें, शरीर रहते या शरीर छूट जानेपर, सभी अवस्थाओंमें सदा मुक्त ही है—संसारबन्धनसे सदाके लिये सर्वथा छूटकर परमात्माको प्राप्त हो चुका है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

४. अहिंसा, सत्य आदि धर्मोंका पालन, देवता, ब्राह्मण, माता-पिता आदि गुरुजनोंका सेवन-पूजन, दीन-दुःखी, गरीब और पीड़ित जीवोंकी स्नेह और आदरयुक्त सेवा और उनके दुःखनाशके लिये किये जानेवाले उपर्युक्त साधन एवं यज्ञ, दान आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, सभीका समावेश 'यज्ञ' और 'तप' शब्दोंमें समझना चाहिये। भगवान् सबके आत्मा हैं (गीता १०।२०) अतएव देवता, ब्राह्मण, दीन-दुःखी आदिके रूपमें स्थित होकर भगवान् ही समस्त सेवा-पूजादि ग्रहण कर रहे हैं। इसलिये वे ही समस्त यज्ञ और तपोंके भोक्ता हैं (गीता ९।२४)। इस प्रकार समझना ही भगवान्‌को 'यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला' समझना है।

५. इन्द्र, वरुण, कुबेर, यमराज आदि जितने भी लोकपाल हैं तथा विभिन्न ब्रह्माण्डोंमें अपने-अपने ब्रह्माण्डका नियन्त्रण करनेवाले जितने भी ईश्वर हैं, भगवान् उन सभीके स्वामी और महान् ईश्वर हैं। इसीसे श्रुतिमें कहा है —'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' 'उन ईश्वरोंके भी परम महेश्वरको' (श्वेताश्वतर उप० ६।७)। अपनी अनिर्वचनीय मायाशक्तिद्वारा भगवान् अपनी लीलासे ही सम्पूर्ण अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको यथायोग्य नियन्त्रणमें रखते हैं और ऐसा करते हुए भी वे सबसे ऊपर ही रहते हैं। इस प्रकार भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वाध्यक्ष और सर्वेश्वरेश्वर समझना ही उन्हें 'सर्वलोकमहेश्वर' समझना है।

६. भगवान् स्वाभाविक ही सबपर अनुग्रह करके सबके हितकी व्यवस्था करते हैं और बार-बार अवतीर्ण होकर नाना प्रकारके ऐसे विचित्र चरित्र करते हैं, जिन्हें गा-गाकर ही लोग तर जाते हैं। उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्‌का हित भरा रहता है। भगवान् जिनको मारते या दण्ड देते हैं, उनपर भी दया ही करते हैं, उनका कोई भी विधान दया और प्रेमसे रहित नहीं होता। इसीलिये भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं।

७. जो पुरुष इस बातको जान लेता है और विश्वास कर लेता है कि 'भगवान् मेरे अहैतुक प्रेमी हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, मेरे मंगलके लिये ही करते हैं', वह प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको दयामय परमेश्वरका प्रेम और दयासे ओतप्रोत मंगलविधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है। इसलिये उसे अटल शान्ति मिल जाती है। उसकी शान्तिमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता।

त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां षष्ठोऽध्यायः)

निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन करते हुए आत्मोद्धारके लिये प्रेरणा तथा मनोनिग्रहपूर्वक ध्यानयोग एवं योगभ्रष्टकी गतिका वर्णन

सम्बन्ध—*पाँचवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने 'कर्मसंन्यास' (सांख्ययोग) और 'कर्मयोग'—इन दोनोंमेंसे कौन-सा एक साधन मेरे लिये सुनिश्चित कल्याणप्रद है? यह बतलानेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की थी। इसपर भगवान्‌ने दोनों साधनोंको कल्याणप्रद बतलाया और फलमें दोनोंकी समानता होनेपर भी साधनमें सुगमता होनेके कारण 'कर्मसंन्यास' की अपेक्षा 'कर्मयोग'-की श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया। तदनन्तर दोनों साधनोंके स्वरूप, उनकी विधि और उनके फलका भलीभाँति निरूपण करके दोनोंके लिये ही अत्यन्त उपयोगी एवं परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान उपाय समझकर संक्षेपमें ध्यानयोगका भी वर्णन किया; परंतु दोनोंमेंसे कौन-सा साधन करना चाहिये, इस बातको न तो अर्जुनको स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा ही की गयी और न ध्यानयोगका ही अंग- प्रत्यंगोंसहित विस्तारसे वर्णन हुआ। इसलिये अब ध्यानयोगका अंगोंसहित विस्तृत वर्णन करनेके लिये छठे अध्यायका आरम्भ करते हुए सबसे पहले अर्जुनको भक्तियुक्त कर्मयोगमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।। १ ।।

श्रीभगवान् बोले—जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर[१] करनेयोग्य कर्म करता है,[२] वह संन्यासी तथा योगी है[३] और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है[४] तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है[५] ।। १ ।।

सम्बन्ध—*पहले श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्म करनेवालेको संन्यासी और योगी बतलाया। उसपर यह शंका हो सकती है कि*

यदि 'संन्यास' और 'योग' दोनों भिन्न-भिन्न स्थिति हैं तो उपर्युक्त साधक दोनोंसे सम्पन्न कैसे हो सकता है; अतः इस शंकाका निराकरण करनेके लिये दूसरे श्लोकमें 'संन्यास' और 'योग' की एकताका प्रतिपादन करते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।। २ ।।

हे अर्जुन! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसीको तू योग जान;[१] क्योंकि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ।। २ ।।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।। ३ ।।

योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुष-के लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है[२] और योगारूढ हो जानेपर उस योगारूढ पुरुषका जो सर्वसंकल्पोंका अभाव है[३] वही कल्याणमें हेतु कहा जाता है ।। ३ ।।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।। ४ ।।

जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी[४] पुरुष योगारूढ कहा जाता है ।। ४ ।।

सम्बन्ध—*परमपदकी प्राप्तिमें हेतुरूप योगारूढ-अवस्थाका वर्णन करके अब उसे प्राप्त करनेके लिये उत्साहित करते हुए भगवान् मनुष्यका कर्तव्य बतलाते हैं—*

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।। ५ ।।

अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे[५] और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है[६] ।।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।। ६ ।।

जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है,[१] उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है[२] ।। ६ ।।

सम्बन्ध—*जिसने मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको जीत लिया है, वह आप ही अपना मित्र क्यों है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये अब शरीर, इन्द्रिय और मनरूप आत्माको वशमें करनेका फल बतलाते हैं—*

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।। ७ ।।

सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भली-भाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं ।। ७ ।।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो[३] विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।। ८ ।।

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है ।। ८ ।।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।। ९ ।।

सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य[४] और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समानभाव रखनेवाला[५] अत्यन्त श्रेष्ठ है ।। ९ ।।

सम्बन्ध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जितात्मा पुरुषको परमात्माकी प्राप्तिके लिये क्या करना चाहिये, वह किस साधनसे परमात्माको शीघ्र प्राप्त कर सकता है, इसलिये ध्यानयोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—*

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः[६] ।। १० ।।

मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगावे ।। १० ।।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।। ११ ।।

शुद्ध भूमिमें,[१] जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके — ।। ११ ।।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ।। १२ ।।

उस आसनपर बैठकर, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ।। १२ ।।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।। १३ ।।

काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर[२] अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ — ।। १३ ।।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।। १४ ।।

ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित[३], भयरहित[४] तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला[५] सावधान[६] योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला[७] और मेरे परायण[१] होकर स्थित होवे ।। १४ ।।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।। १५ ।।

वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ[२] मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है[३] ।। १५ ।।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।। १६ ।।

हे अर्जुन! यह योग[४] न तो बहुत खानेवालेका, न बिलकुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाव-वालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है[५] ।।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।। १७ ।।

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका,[६] कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका[७] और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका[८] ही सिद्ध होता है ।। १७ ।।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।

निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।। १८ ।।

अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है ।। १८ ।।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।। १९ ।।

जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है[१] ।। १९ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार ध्यानयोगकी अन्तिम स्थितिको प्राप्त हुए पुरुषके और उसके जीते हुए चित्तके लक्षण बतला देनेके बाद अब तीन श्लोकोंमें ध्यानयोगद्वारा सच्चिदानन्द परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन करते हैं* —

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।। २० ।।

योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है[२] और जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ[३] सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही संतुष्ट रहता है ।। २० ।।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।। २१ ।।

इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि-द्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है;[४] उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं ।। २१ ।।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।। २२ ।।

परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता[१] और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता;[२] ।। २२ ।।

सम्बन्ध—*बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस स्थितिके महत्त्व और लक्षणोंका वर्णन किया गया, अब उस स्थितिका नाम 'योग' बतलाते हुए उसे प्राप्त करनेके लिये प्रेरणा करते हैं—*

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।। २३ ।।

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये[३]। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे[४] निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है[५] ।। २३ ।।

सम्बन्ध—*अब दो श्लोकोंमें उसी स्थितिकी प्राप्तिके लिये अभेदरूपसे परमात्माके ध्यानयोगका साधन करनेकी रीति बतलाते हैं—*

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।। २४ ।।
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनःकृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।। २५ ।।

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर[६] और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर[७]। क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो[८] तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे[१] ।। २४-२५ ।।

सम्बन्ध—*यदि किसी साधकका चित्त पूर्वाभ्यासवश बलात् विषयोंकी ओर चला जाय तो उसे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।। २६ ।।

यह स्थिर न रहनेवाला और चंचल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे[२] ।। २६ ।।

प्रशान्तमनसं[३] ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं[४] ब्रह्मभूतमकल्मषम्[५] ।। २७ ।।

क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है ।। २७ ।।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।। २८ ।।

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक[६] परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका[७] अनुभव करता है ।। २८ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अभेदभावसे साधन करनेवाले सांख्ययोगीके ध्यानका और उसके फलका वर्णन करके अब उस साधकके व्यवहारकालकी स्थितिका वर्णन करते हैं—*

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।। २९ ।।

सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला[१] तथा सबमें समभावसे देखनेवाला[२] योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है[३] ।। २९ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार सांख्ययोगका साधन करनेवाले योगीका और उसकी सर्वत्र समदर्शनरूप अन्तिम स्थितिका वर्णन करनेके बाद, अब भक्तियोगका साधन करनेवाले योगीकी अन्तिम स्थितिका और उसके सर्वत्र भगवद्दर्शनका वर्णन करते हैं—*

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। ३० ।।

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है[४] उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता[५] ।। ३० ।।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।। ३१ ।।

जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर[६] सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है,[१] वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है[२] ।। ३१ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार भक्तियोगद्वारा भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषके महत्त्वका प्रतिपादन करके अब सांख्ययोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके समदर्शनका और महत्त्वका प्रतिपादन करते हैं—*

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। ३२ ।।

हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है[३] और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है,[४] वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।। ३२ ।।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ।। ३३ ।।

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! जो यह योग[५] आपने समभावसे कहा है, मनके चंचल होनेसे मैं इसकी नित्य स्थितिको नहीं देखता हूँ[६] ।। ३३ ।।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।। ३४ ।।

क्योंकि हे श्रीकृष्ण! यह मन बड़ा चंचल, प्रमथन स्वभाववाला,[७] बड़ा दृढ़[८] और बलवान्[९] है। इसलिये उसका वशमें करना मैं वायुके रोकनेकी भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ[१] ।। ३४ ।।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। ३५ ।।

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! निःसंदेह मन चंचल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास[२] और वैराग्यसे[३] वशमें होता है ।। ३५ ।।

सम्बन्ध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि मनको वशमें न किया जाय, तो क्या हानि है; इसपर भगवान् कहते हैं—*

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।। ३६ ।।

जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है[४] और वशमें किये हुए मनवाले[५] प्रयत्नशील पुरुषद्वारा[६] साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है ।। ३६ ।।

सम्बन्ध—*योगसिद्धिके लिये मनको वशमें करना परम आवश्यक बतलाया गया। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि जिसका मन वशमें नहीं है, किंतु योगमें श्रद्धा होनेके कारण जो भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, उसकी मरनेके बाद क्या गति होती है; इसीके लिये अर्जुन पूछते हैं—*

अर्जुन उवाच

अयतिः[१] श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं[२] कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले—हे श्रीकृष्ण! जो योगमें श्रद्धा रखनेवाला है, किंतु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकालमें योगसे विचलित हो गया है,[३] ऐसा साधक योगकी सिद्धिको अर्थात् भगवत्साक्षात्कारको न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।

अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो! क्या वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता?[४] ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

हे श्रीकृष्ण! मेरे इस संशयको सम्पूर्णरूपसे छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवा दूसरा इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है[५] ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही; क्योंकि हे प्यारे! आत्मोद्धारके लिये अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता[६] ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

योगभ्रष्ट पुरुष[७] पुण्यवानोंके लोकोंको अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक निवास करके फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

सम्बन्ध—*साधारण योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गति बतलाकर अब आसक्तिरहित उच्च श्रेणीके योगभ्रष्ट पुरुषोंकी विशेष गतिका वर्णन करते हैं—*

अथवा[१] योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।। ४२ ।।

अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है; परंतु इस प्रकारका जो यह जन्म है सो संसारमें निःसंदेह अत्यन्त दुर्लभ है[२] ।।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।। ४३ ।।

वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोगको अर्थात् समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है ।। ४३ ।।

सम्बन्ध—*अब पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषकी परिस्थितिका वर्णन करते हुए योगको जाननेकी इच्छाका महत्त्व बतलाते हैं—*

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।। ४४ ।।

वह श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही निस्संदेह भगवान्‌की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकामकर्मोंके फलको उल्लंघन कर जाता है[३] ।। ४४ ।।

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।। ४५ ।।

परंतु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी[४] तो पिछले अनेक जन्मोंके संस्कारबलसे इसी जन्ममें संसिद्ध होकर[५] सम्पूर्ण पापोंसे रहित हो फिर तत्काल ही परमगतिको प्राप्त हो जाता है ।। ४५ ।।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ।। ४६ ।।

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकामकर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है,[६] इससे हे अर्जुन! तू योगी हो ।। ४६ ।।

सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकमें योगीको सर्वश्रेष्ठ बतलाकर भगवान्‌ने अर्जुनको योगी बननेके लिये कहा; किंतु ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आदि साधनोंमेंसे अर्जुनको कौन-सा साधन करना चाहिये? इस बातका स्पष्टीकरण*

नहीं किया। अतः अब भगवान् अपनेमें अनन्यप्रेम करनेवाले भक्त योगीकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनको अपनी ओर आकर्षित करते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां[१] मद्गतेनान्तरात्मना[२] ।

श्रद्धावान्भजते[३] [४] यो मां[५] स मे युक्ततमो मतः ।। ४७ ।।

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है[६] ।। ४७ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ।। ६ ।। भीष्मपर्वणि तु त्रिंशोऽध्यायः ।। ३० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें आत्मसंयमयोग नामक छठा अध्याय पूरा हुआ ।। ६ ।। भीष्मपर्वमें तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३० ।।

---

१. स्त्री, पुत्र, धन, मान और बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गसुखादि परलोकके जितने भी भोग हैं, उन सभीका समावेश 'कर्मफल' में कर लेना चाहिये। साधारण मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, किसी-न-किसी फलका आश्रय लेकर ही करता है। इसलिये उसके कर्म उसे बार-बार जन्म-मरणके चक्करमें गिरानेवाले होते हैं। अतएव इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको अनित्य, क्षणभंगुर और दुःखोंमें हेतु समझकर समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका सर्वथा त्याग कर देना ही कर्मफलके आश्रयका त्याग करना है।

२. अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जितने भी शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, दान, तप, शरीरनिर्वाह-सम्बन्धी तथा लोकसेवा आदिके लिये किये जानेवाले शुभ कर्म हैं, वे सभी करनेयोग्य कर्म हैं। उन सबको यथाविधि तथा यथायोग्य आलस्यरहित होकर अपनी शक्तिके अनुसार कर्तव्यबुद्धिसे उत्साहपूर्वक सदा करते रहना ही उनका करना है।

३. ऐसा कर्मयोगी पुरुष समस्त संकल्पोंका त्यागी होता है और उस यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो जाता है जो सांख्ययोग और कर्मयोग दोनों ही निष्ठाओंका चरम फल है, इसलिये वह 'संन्यासित्व' और 'योगित्व' दोनों ही गुणोंसे युक्त माना जाता है।

४. जिसने अग्निको त्यागकर संन्यास-आश्रमका तो ग्रहण कर लिया है; परंतु जो ज्ञानयोग (सांख्ययोग)-के लक्षणोंसे युक्त नहीं है, वह वस्तुतः संन्यासी नहीं है, क्योंकि उसने केवल अग्निका ही त्याग किया है, समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग तथा ममता, आसक्ति और देहाभिमानका त्याग नहीं किया।

५. जो सब क्रियाओंका त्याग करके ध्यान लगाकर तो बैठ गया है, परंतु जिसके अन्तःकरणमें अहंता, ममता, राग, द्वेष, कामना आदि दोष वर्तमान हैं, वह भी वास्तवमें योगी नहीं है; क्योंकि उसने भी केवल बाहरी क्रियाओंका ही त्याग किया है, ममता, अभिमान, आसक्ति, कामना और क्रोध आदिका त्याग नहीं किया।

१. यहाँ संन्यास शब्दका अर्थ है—शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनका भाव मिटाकर केवल परमात्मामें ही अभिन्नभावसे स्थित हो जाना। यह सांख्ययोगकी पराकाष्ठा है तथा 'योग' शब्दका अर्थ है—ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागद्वारा होनेवाली 'कर्मयोग' की पराकाष्ठारूप नैष्कर्म्य-सिद्धि। दोनोंमें ही संकल्पोंका सर्वथा अभाव हो जाता है और सांख्ययोगी जिस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है, कर्मयोगी भी उसीको प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनोंमें ही समस्त संकल्पोंका त्याग है और दोनोंका एक ही फल है; इसलिये दोनोंकी एकता की गयी है।

२. अपने वर्ण, आश्रम, अधिकार और स्थितिके अनुकूल जिस समय जो कर्तव्यकर्म हों, फल और आसक्तिका त्याग करके उनका आचरण करना योगारूढ-अवस्थाकी प्राप्तिमें हेतु है—इसीलिये गीताके तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें भी कहा है कि कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य नैष्कर्म्य अर्थात् योगारूढ-अवस्थाको नहीं प्राप्त हो सकता।

३. मन वशमें होकर शान्त हो जानेपर ही संकल्पोंका सर्वथा अभाव होता है। इसके अतिरिक्त कर्मोंका स्वरूपतः सर्वथा त्याग हो भी नहीं सकता। अतएव यहाँ 'शमः' का अर्थ सर्वसंकल्पोंका अभाव माना गया है।

४. यहाँ 'संकल्पोंके त्याग' का अर्थ स्फुरणामात्रका सर्वथा त्याग नहीं है, यदि ऐसा माना जाय तो योगारूढ-अवस्थाका वर्णन ही असम्भव हो जाय। इसके अतिरिक्त गीताके चौथे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है कि 'जिस महापुरुषके समस्त कर्म कामना और संकल्पके बिना ही भलीभाँति होते हैं, उसे पण्डित कहते हैं।' और वहाँ जिस महापुरुषकी ऐसी प्रशंसा की गयी है, वह योगारूढ नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसी अवस्थामें यह नहीं माना जा सकता कि संकल्परहित पुरुषके द्वारा कर्म नहीं होते। इससे यही सिद्ध होता है कि संकल्पोंके त्यागका अर्थ स्फुरणा या वृत्तिमात्रका त्याग नहीं है। ममता, आसक्ति और द्वेषपूर्वक जो सांसारिक विषयोंका चिन्तन किया जाता है, उसे 'संकल्प' कहते हैं। ऐसे संकल्पोंका पूर्णतया त्याग ही 'सर्वसंकल्पसंन्यास' है।

५. मानव-जीवनके दुर्लभ अवसरको व्यर्थ न खोकर कर्मयोग, सांख्ययोग तथा भक्तियोग आदि किसी भी साधनमें लगकर अपने जन्मको सफल बना लेना ही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है।

राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-मोह आदि दोषोंमें फँसकर भाँति- भाँतिके, दुष्कर्म करना और उनके फलस्वरूप मनुष्य-शरीरके परमफल भगवत्प्राप्तिसे वंचित रहकर पुनः शूकर-कूकरादि योनियोंमें जानेका कारण बनना अपनेको अधोगतिमें ले जाना है।

मनुष्यको कभी भी यह नहीं समझना चाहिये कि प्रारब्ध बुरा है, इसलिये मेरी उन्नति होगी ही नहीं; उसका उत्थान-पतन प्रारब्धके अधीन नहीं है, उसीके हाथमें है। मनुष्य अपने स्वभाव और कर्मोंमें जितना ही अधिक सुधार कर लेता है, वह उतना ही उन्नत होता है। स्वभाव और कर्मोंका सुधार ही उन्नति या उत्थान है तथा इसके विपरीत स्वभाव और कर्मोंमें दोषोंका बढ़ना ही अवनति या पतन है।

६. जो अपने उद्धारके लिये चेष्टा करता है, वह आप ही अपना मित्र है और जो इसके विपरीत करता है, वही अपना शत्रु है। इसलिये अपनेसे भिन्न दूसरा कोई भी अपना मित्र या शत्रु नहीं है।

१. परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्य जिन साधनोंमें अपने शरीर, इन्द्रिय और मनको लगाना चाहे, उनमें जब वे अनायास ही लग जायँ और उनके लक्ष्यसे विपरीत मार्गकी ओर ताकें ही नहीं, तब समझना चाहिये कि ये वशमें हो चुके हैं।

२. असंयमी मनुष्य स्वयं मन, इन्द्रिय आदिके वश होकर कुपथ्य करनेवाले रोगीकी भाँति अपने ही कल्याणसाधनके विपरीत आचरण करता है। वह अहंता, ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदिके कारण प्रमाद, आलस्य और विषयभोगोंमें फँसकर पाप-कर्मोंके कठिन बन्धनमें पड़ जाता है एवं अपने-आपको बार-बार नरकादिमें डालकर और नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकाकर अनन्तकालतक भीषण दुःख भोगनेके लिये बाध्य करता है। यही शत्रुकी भाँति शत्रुताका आचरण करना है।

३. जो पुरुष तरह-तरहके बड़े-से-बड़े दुःखोंके आ पड़नेपर भी अपनी स्थितिसे तनिक भी विचलित नहीं होता, जिसके अन्तःकरणमें जरा भी विकार उत्पन्न नहीं होता और जो सदा-सर्वदा अचलभावसे परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है, उसे 'कूटस्थ' कहते हैं।

४. सम्बन्ध और उपकार आदिकी अपेक्षा न करके बिना ही कारण स्वभावतः प्रेम और हित करनेवाले 'सुहृद्' कहलाते हैं तथा परस्पर प्रेम और एक-दूसरेका हित करनेवाले 'मित्र' कहलाते हैं। किसी निमित्तसे

बुरा करनेकी इच्छा या चेष्टा करनेवाला ‘वैरी’ है और स्वभावसे ही प्रतिकूल आचरण करनेके कारण जो द्वेषका पात्र हो, वह ‘द्वेष्य’ कहलाता है। परस्पर झगड़ा करनेवालोंमें मेल करानेकी चेष्टा करनेवालेको और पक्षपात छोड़कर उनके हितके लिये न्याय करनेवालेको ‘मध्यस्थ’ कहते हैं तथा उनसे किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न रखनेवालेको ‘उदासीन’ कहते हैं।

५. उपर्युक्त अत्यन्त विलक्षण स्वभाववाले मित्र, वैरी, साधु और पापी आदिके आचरण, स्वभाव और व्यवहारके भेदका जिसपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, जिसकी बुद्धिमें किसी समय, किसी भी परिस्थितिमें, किसी भी निमित्तसे राग-द्वेषपूर्वक भेदभाव नहीं आता, वही समबुद्धियुक्त पुरुष है।

६. भोग-सामग्रीके संग्रहका नाम परिग्रह है, जो उससे रहित हो उसे ‘अपरिग्रह’ कहते हैं। वह यदि गृहस्थ हो तो किसी भी वस्तुका ममतापूर्वक संग्रह न रखे और यदि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासी हो तो स्वरूपसे भी किसी प्रकारका शास्त्रप्रतिकूल संग्रह न करे। ऐसे पुरुष किसी भी आश्रमवाले हों ‘अपरिग्रह’ ही हैं।

१. ध्यानयोगका साधन करनेके लिये ऐसा स्थान होना चाहिये, जो स्वभावसे ही शुद्ध हो और झाड़-बुहारकर, लीप-पोतकर अथवा धो-पोंछकर स्वच्छ और निर्मल बना लिया गया हो। गंगा, यमुना या अन्य किसी पवित्र नदीका तीर, पर्वतकी गुफा, देवालय, तीर्थस्थान अथवा बगीचे आदि, पवित्र वायुमण्डलयुक्त स्थानोंमेंसे जो सुगमतासे प्राप्त हो सकता हो और स्वच्छ, पवित्र तथा एकान्त हो—ध्यानयोगके लिये साधकको ऐसा ही कोई एक स्थान चुन लेना चाहिये।

२. यहाँ जंघासे ऊपर और गलेसे नीचेके स्थानका नाम ‘काया’ है, गलेका नाम ‘ग्रीवा’ है और उससे ऊपरके अंगका नाम ‘सिर’ है। कमर या पेटको आगे-पीछे या दाहिने-बायें किसी ओर भी न झुकाना अर्थात् रीढ़की हड्डीको सीधी रखना, गलेको भी किसी ओर न झुकाना और सिरको भी इधर-उधर न घुमाना—इस प्रकार तीनोंको एक सूतमें सीधा रखते हुए किसी भी अंगको जरा भी न हिलने-डुलने देना—यही इन सबको ‘सम’ और ‘अचल’ धारण करना है। ध्यानयोगके साधनमें निद्रा, आलस्य, विक्षेप एवं शीतोष्णादि द्वन्द्व विघ्न माने गये हैं। इन दोषोंसे बचनेका यह बहुत ही अच्छा उपाय है। काया, सिर और गलेको सीधा तथा नेत्रोंको खुला रखनेसे आलस्य और निद्राका आक्रमण नहीं हो सकता। नाककी नोकपर दृष्टि लगाकर इधर-उधर अन्य वस्तुओंको न देखनेसे बाह्य विक्षेपोंकी सम्भावना नहीं रहती और आसनके दृढ़ हो जानेसे शीतोष्णादि द्वन्द्वोंसे भी बाधा होनेका भय नहीं रहता; इसलिये ध्यानयोगका साधन करते समय इस प्रकार आसन लगाकर बैठना बहुत ही उपयोगी है।

३. ब्रह्मचर्यका तात्त्विक अर्थ दूसरा होनेपर भी वीर्यधारण उसका एक प्रधान अर्थ है और यहाँ वीर्यधारण अर्थ ही प्रसंगानुकूल भी है। मनुष्यके शरीरमें वीर्य ही एक ऐसी अमूल्य वस्तु है, जिसका भलीभाँति संरक्षण किये बिना शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक—किसी प्रकारका भी बल न तो प्राप्त होता है और न उसका संचय ही होता है; इसीलिये ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित होनेके लिये कहा गया है।

४. ध्यान करते समय साधकको निर्भय रहना चाहिये। मनमें जरा भी भय रहेगा तो एकान्त और निर्जन स्थानमें स्वाभाविक ही चित्तमें विक्षेप हो जायगा। इसलिये साधकको उस समय मनमें यह दृढ़ सत्य धारणा कर लेनी चाहिये कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् हैं और सर्वव्यापी होनेके कारण यहाँ भी सदा हैं ही, उनके रहते किसी बातका भय नहीं है। यदि कदाचित् प्रारब्धवश ध्यान करते-करते मृत्यु हो जाय तो उससे भी परिणाममें परम कल्याण ही होगा।

५. ध्यान करते समय मनसे राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोध आदि दूषित वृत्तियोंको तथा सांसारिक संकल्प-विकल्पोंको सर्वथा दूर कर देना एवं वैराग्यके द्वारा मनको सर्वथा निर्मल और शान्त कर देना—यही ‘प्रशान्तात्मा’ होना है।

६. ध्यान करते समय साधकको निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदि विघ्नोंसे बचनेके लिये खूब सावधान रहना चाहिये। ऐसा न करनेसे मन और इन्द्रियाँ उसे धोखा देकर ध्यानमें अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित कर सकती हैं। इसी बातको दिखलानेके लिये ‘युक्त’ विशेषण दिया गया है।

७. एक जगह न रुकना और रोकते-रोकते भी बलात् विषयोंमें चले जाना मनका स्वभाव है। इस मनको भलीभाँति रोके बिना ध्यानयोगका साधन नहीं बन सकता। इसलिये ध्यानयोगीको चाहिये कि वह ध्यान करते समय मनको बाह्य विषयोंसे भलीभाँति हटाकर परम हितैषी, परम सुहृद्, परम प्रेमास्पद परमेश्वरके

गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझकर, सम्पूर्ण जगत्से प्रेम हटाकर, एकमात्र उन्हींको अपना ध्येय बनावे और अनन्यभावसे चित्तको उन्हींमें लगानेका अभ्यास करे।

१. इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मुझको ही परम गति, परमध्येय, परम आश्रय और परम महेश्वर तथा सबसे बढ़कर प्रेमास्पद मानकर निरन्तर मेरे ही आश्रित रहना और मुझीको अपना एकमात्र परम रक्षक, सहायक, स्वामी तथा जीवन, प्राण और सर्वस्व मानकर मेरे प्रत्येक विधानमें परम संतुष्ट रहना—यही मेरे (भगवान्के) परायण होना है।

२. उपर्युक्त प्रकारसे मन-बुद्धिके द्वारा निरन्तर तैलधाराकी भाँति अविच्छिन्नभावसे भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करना और उसमें अटलभावसे तन्मय हो जाना ही आत्माको परमेश्वरके स्वरूपमें लगाना है।

३. जिसे नैष्ठिकी शान्ति (गीता ५।१२), शाश्वती शान्ति (गीता ९।३१) और परा शान्ति (गीता १८।६२) कहते हैं और जिसका परमेश्वरकी प्राप्ति, परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, परम गतिकी प्राप्ति आदि नामोंसे वर्णन किया जाता है, वह शान्ति अद्वितीय, अनन्त आनन्दकी अवधि है और परम दयालु, परम सुहृद्, आनन्दनिधि, आनन्दस्वरूप भगवान्में नित्य-निरन्तर अचल और अटलभावसे निवास करती है। ध्यानयोगका साधक उसी शान्तिको प्राप्त करता है।

४. 'योग' शब्द उस 'ध्यानयोग' का वाचक है, जो सम्पूर्ण दु:खोंका आत्यन्तिक नाश करके परमानन्द और परम शान्तिके समुद्र परमेश्वरकी प्राप्ति करा देनेवाला है।

५. उचित मात्रामें नींद ली जाय तो उससे थकावट दूर होकर शरीरमें ताजगी आती है; परंतु वही नींद यदि आवश्यकतासे अधिक ली जाय तो उससे तमोगुण बढ़ जाता है, जिससे अनवरत आलस्य घेरे रहता है और स्थिर होकर बैठनेमें कष्ट मालूम होता है। इसके अतिरिक्त अधिक सोनेमें मानवजीवनका अमूल्य समय भी नष्ट होता है। इसी प्रकार सदा जागते रहनेसे थकावट बनी रहती है। कभी ताजगी नहीं आती। शरीर, इन्द्रिय और प्राण शिथिल हो जाते हैं, शरीरमें कई प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

६. खाने-पीनेकी वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिये जो अपने वर्ण और आश्रमधर्मके अनुसार सत्य और न्यायके द्वारा प्राप्त हों, शास्त्रानुकूल, सात्त्विक हों (गीता १७।८), रजोगुण और तमोगुणको बढ़ानेवाली न हों, पवित्र हों, अपनी प्रकृति, स्थिति और रुचिके प्रतिकूल न हों तथा योगसाधनमें सहायता देनेवाली हों। उनका परिमाण भी उतना ही परिमित होना चाहिये, जितना अपनी शक्ति, स्वास्थ्य और साधनकी दृष्टिसे हितकर एवं आवश्यक हो। इसी प्रकार घूमना-फिरना भी उतना ही चाहिये, जितना अपने लिये आवश्यक और हितकर हो।

७. वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और वातावरण आदिके अनुसार जिसके लिये शास्त्रमें जो कर्तव्यकर्म बतलाये गये हैं, उन्हींका नाम कर्म है। उन कर्मोंका उचित स्वरूपमें और उचित मात्रामें यथायोग्य सेवन करना ही कर्मोंमें युक्त चेष्टा करना है। जैसे ईश्वर-भक्ति, देवपूजन, दीन-दु:खियोंकी सेवा, माता-पिता-आचार्य आदि गुरुजनोंका पूजन, यज्ञ, दान, तप तथा जीविकासम्बन्धी कर्म यानी शिक्षा, पठन-पाठन-व्यापार आदि कर्म और शौच-स्नानादि क्रियाएँ—ये सभी कर्म वे ही करने चाहिये, जो शास्त्रविहित हों, साधुसम्मत हों, किसीका अहित करनेवाले न हों, स्वावलम्बनमें सहायक हों, किसीको कष्ट पहुँचाने या किसीपर भार डालनेवाले न हों और ध्यानयोगमें सहायक हों तथा इन कर्मोंका परिमाण भी उतना ही होना चाहिये, जितना जिसके लिये आवश्यक हो, जिससे न्यायपूर्वक शरीरनिर्वाह होता रहे और ध्यानयोगके लिये भी आवश्यकतानुसार पर्याप्त समय मिल जाय। ऐसा करनेसे शरीर, इन्द्रिय और मन स्वस्थ रहते हैं और ध्यानयोग सुगमतासे सिद्ध होता है।

८. दिनके समय जागते रहना, रातके समय पहले तथा पिछले पहरमें जागना और बीचके दो पहरोंमें सोना—साधारणतया इसीको उचित सोना-जागना माना जाता है।

१. यहाँ 'दीप' शब्द प्रकाशमान दीपशिखाका वाचक है। दीपशिखा चित्तकी भाँति प्रकाशमान और चंचल है, इसलिये उसीके साथ मनकी समानता है। जैसे वायु न लगनेसे दीपशिखा हिलती-डुलती नहीं, उसी प्रकार वशमें किया हुआ चित्त भी ध्यानकालमें सब प्रकारसे सुरक्षित होकर हिलता-डुलता नहीं, वह अविचल दीपशिखाकी भाँति समभावसे प्रकाशित रहता है।

२. जिस समय योगीका चित्त परमात्माके स्वरूपमें सब प्रकारसे निरुद्ध हो जाता है, उसी समय उसका चित्त संसारसे सर्वथा उपरत हो जाता है; फिर उसके अन्त:करणमें संसारके लिये कोई स्थान ही नहीं रह

जाता।

३. एक विज्ञान-आनन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही है। उसके सिवा कोई वस्तु है ही नहीं, केवल एकमात्र वही परिपूर्ण है। उसका यह ज्ञान भी उसीको है; क्योंकि वही ज्ञानस्वरूप है। वह सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवद्य है। मन, बुद्धि, अहंकार, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि जो कुछ भी हैं, सब उस ब्रह्ममें ही आरोपित हैं और वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप ही हैं। वह आनन्दमय है और अवर्णनीय है। उसका वह आनन्दमय स्वरूप भी आनन्दमय है। वह आनन्दस्वरूप पूर्ण है, नित्य है, सनातन है, अज है, अविनाशी है, परम है, चरम है, सत् है, चेतन है, विज्ञानमय है, कूटस्थ है, अचल है, ध्रुव है, अनामय है, बोधमय है, अनन्त है और शान्त है। इस प्रकार उसके आनन्दस्वरूपका चिन्तन करते हुए बार-बार ऐसी दृढ़ धारणा करते रहना चाहिये कि उस आनन्दस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यदि कोई संकल्प उठे तो उसे भी आनन्दमयसे ही निकला हुआ, आनन्दमय ही समझकर आनन्दमयमें ही विलीन कर दे। इस प्रकार धारणा करते-करते जब समस्त संकल्प आनन्दमय बोधस्वरूप परमात्मामें विलीन हो जाते हैं और एक आनन्दघन परमात्माके अतिरिक्त किसी भी संकल्पका अस्तित्व नहीं रह जाता, तब साधककी आनन्दमय परमात्मामें अचल स्थिति हो जाती है। इस प्रकार नित्य-नियमित ध्यान करते-करते अपनी और संसारकी समस्त सता जब ब्रह्मसे अभिन्न हो जाती है, जब सभी कुछ परमानन्द और परम-शान्तिस्वरूप ब्रह्म बन जाता है, तब साधकको परमात्माका वास्तविक साक्षात्कार सहज ही हो जाता है।

४. परमात्माके ध्यानसे होनेवाला सात्त्विक सुख भी इन्द्रियोंसे अतीत, बुद्धिग्राह्य और अक्षय सुखमें हेतु होनेसे अन्य सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है, किंतु वह केवल ध्यानकालमें ही रहता है, सदा एकरस नहीं रहता और वह चित्तकी ही एक अवस्थाविशेष होती है, इसलिये उसे 'आत्यन्तिक' या 'अक्षय सुख' नहीं कहा जा सकता। परमात्माका स्वरूपभूत यह सुख तो उस ध्यानजनित सुखका फल है। अतएव यह उससे अत्यन्त विलक्षण है।

१. इस स्थितिमें योगीको परमानन्द और परमशान्तिके निधान परमात्माकी प्राप्ति हो जानेसे वह पूर्णकाम हो जाता है। उसकी दृष्टिमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोग, त्रिलोकीका राज्य और ऐश्वर्य, विश्वव्यापी मान और बड़ाई आदि जितने भी सांसारिक सुखके साधन हैं, सभी क्षणभंगुर, अनित्य, रसहीन, हेय, तुच्छ और नगण्य हो जाते हैं। अतः वह संसारकी किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेयोग्य ही नहीं मानता, फिर अधिक माननेकी तो गुंजाइश ही कहाँ है।

२. शस्त्रोंद्वारा शरीरका काटा जाना, अत्यन्त दुःसह सरदी-गरमी, वर्षा और बिजली आदिसे होनेवाली शारीरिक पीड़ा, अति उत्कट रोगजनित व्यथा, प्रियसे भी प्रिय वस्तुका अचानक वियोग और संसारमें अकारण ही महान् अपमान, तिरस्कार और निन्दा आदि जितने भी महान् दुःखोंके कारण हैं, सब एक साथ उपस्थित होकर भी उसको अपनी स्थितिसे जरा भी नहीं डिगा सकते।

३. द्रष्टा और दृश्यका संयोग अर्थात् दृश्यप्रपंचसे आत्माका जो अज्ञानजनित अनादि सम्बन्ध है, वही बार-बार जन्म-मरणरूप दुःखकी प्राप्तिमें मूल कारण है। इस योगके द्वारा उसका अभाव हो जानेपर ही दुःखोंका भी सदाके लिये अभाव हो जाता है, अतः 'यत्रोपरमते चित्तम्' (गीता ६।२०) से लेकर यहाँतक जिस स्थितिका वर्णन किया गया है, उसे प्राप्त करनेके लिये सिद्ध महात्मा पुरुषोंके पास जाकर एवं शास्त्रका अभ्यास करके उसके स्वरूप, महत्त्व और साधनकी विधिको भलीभाँति जानना चाहिये।

४. साधनका फल प्रत्यक्ष न होनेके कारण थोड़ा-सा साधन करनेके बाद मनमें जो ऐसा भाव आया करता है कि 'न जाने यह काम कबतक पूरा होगा, मुझसे हो सकेगा या नहीं'—उसीका नाम 'निर्विण्णता' अर्थात् साधनसे ऊब जाना है। ऐसे भावसे रहित जो धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त है, उसे 'अनिर्विण्णचित्त' कहते हैं, अतः साधकको अपने चित्तसे निर्विण्णताका दोष सर्वथा दूर कर देना चाहिये।

५. 'निश्चय' यहाँ विश्वास और श्रद्धाका वाचक है। योगीको योगसाधनमें, उसका विधान करनेवाले शास्त्रोंमें, आचार्योंमें और योगसाधनके फलमें पूर्णरूपसे श्रद्धा और विश्वास रखना चाहिये।

६. सम्पूर्ण कामनाओंके निःशेषरूपसे त्यागका अर्थ है—किसी भी भोगमें किसी प्रकारसे भी जरा भी वासना, आसक्ति, स्पृहा, इच्छा, लालसा, आशा या तृष्णा न रहने देना। बरतनमेंसे घी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें घीकी चिकनाहट शेष रह जाती है, अथवा डिबियामेंसे कपूर, केसर या कस्तूरी निकाल लेनेपर भी जैसे उसमें उसकी गन्ध रह जाती है, वैसे ही कामनाओंका त्याग कर देनेपर भी उसका सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है। उस शेष बचे हुए सूक्ष्म अंशका भी त्याग कर देना 'कामनाका निःशेषतः त्याग' है।

७. ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें श्लोकके वर्णनके अनुसार ध्यानयोगके साधनके लिये आसनपर बैठकर योगीको यह चाहिये कि वह विवेक और वैराग्यकी सहायतासे मनके द्वारा समस्त इन्द्रियोंको सम्पूर्ण बाह्य विषयोंसे सब प्रकारसे सर्वथा हटा ले, किसी भी इन्द्रियको किसी भी विषयमें जरा भी न जाने देकर उन्हें सर्वथा अन्तर्मुखी बना दे। यही मनके द्वारा इन्द्रियसमुदायका भलीभाँति रोकना है।

८. जैसे छोटा बच्चा हाथमें कैंची या चाकू पकड़ लेता है तब माता समझा-बुझाकर और आवश्यक होनेपर डाँट-डपटकर भी धीरे-धीरे उसके हाथसे चाकू या कैंची छीन लेती है, वैसे ही विवेक और वैराग्यसे युक्त बुद्धिके द्वारा मनको सांसारिक भोगोंकी अनित्यता और क्षणभंगुरता समझाकर और भोगोंमें फँस जानेसे प्राप्त होनेवाले बन्धन और नरकादि यातनाओंका भय दिखलाकर उसे विषय-चिन्तनसे सर्वथा रहित कर देना चाहिये। यही शनैः-शनैः उपरतिको प्राप्त होना है।

१. साधक जब ध्यान करने बैठे और अभ्यासके द्वारा जब उसका मन परमात्मामें स्थिर हो जाय, तब फिर ऐसा सावधान रहे कि जिसमें मन एक क्षणके लिये भी परमात्मासे हटकर दूसरे विषयमें न जा सके। साधककी यह सजगता अभ्यासकी दृढ़तामें बड़ी सहायक होती है। प्रतिदिन ध्यान करते-करते ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़े, त्यों-ही-त्यों मनको और भी सावधानीके साथ कहीं न जाने देकर विशेषरूपसे विशेष कालतक परमात्मामें स्थिर रखे। फिर मनमें जिस किसी वस्तुकी प्रतीति हो, उसको कल्पनामात्र जानकर तुरंत ही त्याग दे। इस प्रकार चित्तमें स्फुरित वस्तुमात्रका त्याग करके क्रमशः शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी सत्ताका भी त्याग कर दे। सबका अभाव करते-करते जब समस्त दृश्य पदार्थ चित्तसे निकल जायँगे, तब सबके अभावका निश्चय करनेवाली एकमात्र वृत्ति रह जायगी। यह वृत्ति शुभ और शुद्ध है, परंतु दृढ़ धारणाके द्वारा इसका भी बाध करना चाहिये या समस्त दृश्य-प्रपंचका अभाव हो जानेके बाद यह अपने-आप ही शान्त हो जायगी; इसके बाद जो कुछ बच रहता है, वही अचिन्त्य तत्त्व है। वह केवल है और समस्त उपाधियोंसे रहित अकेला ही परिपूर्ण है। उसका न कोई वर्णन कर सकता है, न चिन्तन। अतएव इस प्रकार दृश्य-प्रपंच और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकारका अभाव करके तथा अभाव करनेवाली वृत्तिका भी अभाव करके अचिन्त्य-तत्त्वमें स्थित हो जाना ही परमात्मामें मनको स्थितकर अचिन्त्य होना है।

२. ध्यानके समय साधकको ज्यों ही पता चले कि मन अन्यत्र विषयोंमें गया, त्यों ही बड़ी सावधानी और दृढ़ताके साथ उसे रोककर तुरंत परमात्मामें लगावे। यों बार-बार विषयोंसे हटा-हटाकर उसे परमात्मामें लगानेका अभ्यास करे।

३. विवेक और वैराग्यके प्रभावसे विषय-चिन्तन छोड़कर और चंचलता तथा विक्षेपसे रहित होकर जिसका चित्त सर्वथा स्थिर और सुप्रसन्न हो गया है, ऐसे योगीको 'प्रशान्तमनाः' कहते हैं।

४. आसक्ति, स्पृहा, कामना, लोभ, तृष्णा और सकामकर्म—इन सबकी रजोगुणसे ही उत्पत्ति होती है (गीता १४।७, १२) और यही रजोगुणको बढ़ाते भी हैं। अतएव जो पुरुष इन सबसे रहित है, उसीका वाचक 'शान्तरजसम्' पद है।

५. मैं देह नहीं, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते साधककी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें दृढ़ स्थिति हो जाती है। इस प्रकार अभिन्नभावसे ब्रह्ममें स्थित पुरुषको 'ब्रह्मभूत' कहते हैं।

६. जब साधकमें देहाभिमान नहीं रहता, उसकी ब्रह्मके स्वरूपमें अभेदरूपसे स्थिति हो जाती है, तब उसको ब्रह्मकी प्राप्ति सुखपूर्वक होती ही है।

७. इसी अनन्त आनन्दको इस अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'आत्यन्तिक सुख' और गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'अक्षय सुख' बतलाया गया है।

१. सच्चिदानन्द, निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें जिसकी अभिन्नभावसे स्थिति हो गयी है, ऐसे ही ब्रह्मभूत योगीका वाचक यहाँ 'योगयुक्तात्मा' पद है। इसीका वर्णन गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' के नामसे तथा पाँचवेंके चौबीसवें, छठेके सत्ताईसवें और अठारहवेंके चौवनवें श्लोकमें 'ब्रह्मभूत' के नामसे हुआ है।

२. गीताके पाँचवें अध्यायके अठारहवें और इसी अध्यायके बत्तीसवें श्लोकोंमें ज्ञानी महात्माके समदर्शनका वर्णन आया है, उसी प्रकारसे यह योगी सबके साथ शास्त्रानुकूल यथायोग्य सद्व्यवहार करता हुआ नित्य-निरन्तर सभीमें अपने स्वरूपभूत एक ही अखण्ड चेतन आत्माको देखता है। यही उसका सबमें समभावसे देखना है।

३. एक अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सत्य तत्त्व हैं, उनसे भिन्न यह सम्पूर्ण जगत् कुछ भी नहीं है। इस रहस्यको भलीभाँति समझकर उनमें अभिन्नभावसे स्थित होकर जो स्वप्नके दृश्यवर्गमें स्वप्नद्रष्टा पुरुषकी भाँति चराचर सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक अद्वितीय आत्माको ही अधिष्ठानरूपमें परिपूर्ण देखना है अर्थात् 'एक अद्वितीय आत्मा ही इन सबके रूपमें दीख रहा है, वास्तवमें उनके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।' इस बातको जो भलीभाँति अनुभव करना है, यही सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको देखना है। इसी तरह जो समस्त चराचर प्राणियोंको आत्मामें कल्पित देखना है, यानी जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नके जगत्को या नाना प्रकारकी कल्पना करनेवाला मनुष्य कल्पित दृश्योंको अपने ही संकल्पके आधारपर अपनेमें देखता है वैसे ही देखना, सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखना है। इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्ने आत्माके साथ 'सर्वभूतस्थम्' विशेषण देकर आत्माको भूतोंमें स्थित देखनेकी बात कही, किंतु भूतोंको आत्मामें स्थित देखनेकी बात न कहकर केवल देखनेके लिये ही कहा।

४. जैसे बादलमें आकाश और आकाशमें बादल है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें भगवान् वासुदेव हैं और वासुदेवमें सम्पूर्ण भूत हैं—इस प्रकार अनुभव करना सम्पूर्ण भूतोंमें वासुदेवको और वासुदेवमें सम्पूर्ण भूतोंको देखना है; क्योंकि सम्पूर्ण चराचर जगत् उन्हींसे उत्पन्न होता है, अतएव वे ही इसके महाकारण हैं तथा जैसे बादलोंका आधार आकाश है, आकाशके बिना बादल रहें ही कहाँ? एक बादल ही क्यों—वायु, तेज, जल आदि कोई भी भूत आकाशके आश्रय बिना नहीं ठहर सकता, वैसे ही इस सम्पूर्ण चराचर विश्वके एकमात्र परमाधार परमेश्वर ही हैं (गीता १०।४२)।

अतएव जिस प्रकार एक ही चतुर बहुरूपिया नाना प्रकारके वेष धारण करके आता है और जो उस बहुरूपियेसे और उसकी बोलचाल आदिसे परिचित है, वह सभी रूपोंमें उसे पहचान लेता है, वैसे ही समस्त जगत्में जितने भी रूप हैं, सब श्रीभगवान्के ही वेष हैं। इस प्रकार जो समस्त जगत्के सब प्राणियोंमें उनको पहचान लेते हैं, वे चाहे वेष-भेदके कारण बाहरसे व्यवहारमें भेद रखें, परंतु हृदयसे तो उनकी पूजा ही करते हैं।

५. अभिप्राय यह है कि सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, औदार्य आदिके अनन्त समुद्र, रसमय और आनन्दमय भगवान्के देवदुर्लभ सच्चिदानन्दस्वरूपके साक्षात् दर्शन हो जानेके बाद भक्त और भगवान्का संयोग सदाके लिये अविच्छिन्न हो जाता है।

६. सर्वदा और सर्वत्र अपने एकमात्र इष्टदेव भगवान्का ध्यान करते-करते साधक अपनी भिन्न स्थितिको सर्वथा भूलकर इतना तन्मय हो जाता है कि फिर उसके ज्ञानमें एक भगवान्के सिवा और कुछ रह ही नहीं जाता। भगवत्प्राप्ति रूप ऐसी स्थितिको भगवान्में एकीभावसे स्थित होना कहते हैं।

१. जैसे भाप, बादल, कुहरा, बूँद और बर्फ आदिमें सर्वत्र जल भरा है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर विश्वमें एक भगवान् ही परिपूर्ण हैं—इस प्रकार जानना और प्रत्यक्ष देखना ही सब भूतोंमें स्थित भगवान्को भजना है।

२. जिस पुरुषको भगवान् श्रीवासुदेवकी प्राप्ति हो गयी है, उसको प्रत्यक्षरूपसे सब कुछ वासुदेव ही दिखलायी देता है। ऐसी अवस्थामें उस भक्तके शरीर, वचन और मनसे जो कुछ भी क्रियाएँ होती हैं, उसकी दृष्टिमें सब एकमात्र भगवान्के ही साथ होती हैं। वह हाथोंसे किसीकी सेवा करता है तो वह भगवान्की ही सेवा करता है, किसीको मधुर वाणीसे सुख पहुँचाता है तो वह भगवान्को ही सुख पहुँचाता है, किसीको देखता है तो वह भगवान्को ही देखता है, किसीके साथ कहीं जाता है तो वह भगवान्के साथ भगवान्की ओर ही जाता है। इस प्रकार वह जो कुछ भी करता है, सब भगवान्में ही और भगवान्के ही साथ करता है। इसीलिये यह कहा गया है कि वह सब प्रकारसे बरतता हुआ (सब कुछ करता हुआ) भी भगवान्में ही बरतता है।

३. जैसे मनुष्य अपने सारे अंगोंमें अपने आत्माको समभावसे देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर संसारमें अपने-आपको समभावसे देखना—अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखना है।

४. सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जानेके कारण समस्त विराट् विश्व उपर्युक्त योगीका स्वरूप बन जाता है। जगत्में उसके लिये दूसरा कुछ रहता ही नहीं। इसलिये जैसे मनुष्य अपने-आपको कभी किसी प्रकार जरा भी दुःख पहुँचाना नहीं चाहता तथा स्वाभाविक ही निरन्तर सुख पानेके लिये ही अथक चेष्टा करता रहता है और ऐसा करके न वह कभी अपनेपर अपनेको कृपा करनेवाला मानकर बदलेमें कृतज्ञता चाहता है, न कोई अहसान करता है और न अपनेको 'कर्तव्यपरायण' समझकर अभिमान ही करता है, वह अपने

सुखकी चेष्टा इसीलिये करता है कि उससे वैसा किये बिना रहा ही नहीं जाता, यह उसका सहज स्वभाव होता है; ठीक वैसे ही वह योगी समस्त विश्वको कभी किसी प्रकार किंचित् भी दुःख न पहुँचाकर सदा उसके सुखके लिये सहज स्वभावसे ही चेष्टा करता है।

५. कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग या ज्ञानयोग आदि साधनोंकी पराकाष्ठारूप समताको ही यहाँ 'योग' कहा गया है।

६. 'चंचलता' चित्तके विक्षेपको कहते हैं। विक्षेपमें प्रधान कारण हैं—राग-द्वेष। जहाँ राग-द्वेष हैं, वहाँ 'समता' नहीं रह सकती; क्योंकि 'राग-द्वेष' से 'समता' का अत्यन्त विरोध है। इसीलिये 'समता' की स्थितिमें मनकी चंचलताको बाधक माना गया है।

७. मन दीपशिखाकी भाँति चंचल तो है ही, परंतु मथानीके सदृश प्रमथनशील भी है। जैसे दूध-दहीको मथानी मथ डालती है, वैसे ही मन भी शरीर और इन्द्रियोंको बिलकुल क्षुब्ध कर देता है।

८. यह चंचल, प्रमाथी और बलवान् मन तन्तुनाग (गोह)-के सदृश अत्यन्त दृढ़ भी है। यह जिस विषयमें रमता है, उसको इतनी मजबूतीसे पकड़ लेता है कि उसके साथ तदाकार-सा हो जाता है। इसको 'दृढ़' बतलानेका यही भाव है।

९. जैसे बड़े पराक्रमी हाथीपर बार-बार अंकुश-प्रहार होनेपर भी कुछ असर नहीं होता, वह मनमानी करता ही रहता है, वैसे ही विवेकरूपी अंकुशके द्वारा बार-बार प्रहार करनेपर भी यह बलवान् मन विषयोंके बीहड़ वनसे निकलना नहीं चाहता।

१. जैसे शरीरमें निरन्तर चलनेवाले श्वासोच्छ्वासरूपी वायुके प्रवाहको हठ, विचार, विवेक और बल आदि साधनोंके द्वारा रोक लेना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार विषयोंमें निरन्तर विचरनेवाले, चंचल, प्रमथनशील, बलवान् और दृढ़ मनको रोकना भी अत्यन्त कठिन है।

२. मनको किसी लक्ष्य विषयमें तदाकार करनेके लिये, उसे अन्य विषयोंसे खींच-खींचकर बार-बार उस विषयमें लगानेके लिये किये जानेवाले प्रयत्नका नाम ही अभ्यास है। यह प्रसंग परमात्मामें मन लगानेका है, अतएव परमात्माको अपना लक्ष्य बनाकर चित्तवृत्तियोंके प्रवाहको बार-बार उन्हींकी ओर लगानेका प्रयत्न करना यहाँ 'अभ्यास' है। इसका विस्तार गीताके बारहवें अध्यायके नवें श्लोकमें देखना चाहिये।

३. इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमेंसे जब आसक्ति और समस्त कामनाओंका पूर्णतया नाश हो जाता है, तब उसे 'वैराग्य' कहते हैं।

वैराग्यकी प्राप्तिके लिये अनेकों साधन हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) संसारके पदार्थोंमें विचारके द्वारा रमणीयता, प्रेम और सुखका अभाव देखना।

(२) उन्हें जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आदि दुःख-दोषोंसे युक्त, अनित्य और भयदायक मानना।

(३) संसारके और भगवान्‌के यथार्थ तत्त्वका निरूपण करनेवाले सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करना।

(४) परम वैराग्यवान् पुरुषोंका संग करना, संगके अभावमें उनके वैराग्यपूर्ण चित्र और चरित्रोंका स्मरण, मनन करना।

(५) संसारके टूटे हुए विशाल महलों, वीरान हुए नगरों और गाँवोंके खँडहरोंको देखकर जगत्‌को क्षणभंगुर समझना।

(६) एकमात्र ब्रह्मकी ही अखण्ड, अद्वितीय सत्ताका बोध करके अन्य सबकी भिन्न सत्ताका अभाव समझना।

(७) अधिकारी पुरुषोंके द्वारा भगवान्‌के अकथनीय, गुण, प्रभाव, तत्त्व, प्रेम, रहस्य तथा उनके लीला-चरित्रोंका एवं दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यका बार-बार श्रवण करना, उन्हें जानना और उनपर पूर्ण श्रद्धा करके मुग्ध होना।

४. जो अभ्यास और वैराग्यके द्वारा अपने मनको वशमें नहीं कर लेते, उनके मनपर राग-द्वेषका अधिकार रहता है और राग-द्वेषकी प्रेरणासे वह बंदरकी भाँति संसारमें ही इधर-उधर उछलता-कूदता रहता है। जब मन भोगोंमें इतना आसक्त होता है, तब उसकी बुद्धि भी बहुशाखावाली और अस्थिर ही बनी रहती है (गीता २।४१-४४)। ऐसी अवस्थामें उसे 'समत्वयोग' की प्राप्ति नहीं हो सकती।

५. वशमें हो जानेपर चित्तकी चंचलता, प्रमथनशीलता, बलवत्ता और कठिन आग्रहकारिता दूर हो जाती है। वह सीधा, सरल और शान्त हो जाता है; फिर उसे जब, जहाँ और जितनी देरतक लगाया जाय, चुपचाप लगा रहता है। यही मनके वशमें हो जानेकी पहचान है।

६. मनके वशमें हो जानेके बाद भी यदि प्रयत्न न किया जाय—उस मनको परमात्मामें पूर्णतया लगानेका तीव्र साधन न किया जाय तो उससे समत्वयोगकी प्राप्ति अपने-आप नहीं हो जाती। अतः 'प्रयत्न' की आवश्यकता सिद्ध करनेके लिये ही प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे योगका प्राप्त होना सहज बतलाया गया है।

१. पिछले श्लोकमें जिसका मन वशमें नहीं है, उस 'असंयतात्मा' के लिये योगका प्राप्त होना कठिन बतलाया गया है। वही बात अर्जुनके इस प्रश्नका बीज है। इस कारण 'जिसका मन जीता हुआ नहीं है' ऐसे साधकके लक्ष्यसे 'अयतिः' पदका 'असंयमी' अर्थ किया गया है।

२. सब प्रकारके योगोंके परिणामरूप समभावका फल जो परमात्माकी प्राप्ति है, उसका वाचक यहाँ 'योग-संसिद्धिम्' पद है।

३. यहाँ 'योग' शब्द परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले सांख्ययोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, कर्मयोग आदि सभी साधनोंसे होनेवाले समभावका वाचक है। शरीरसे प्राणोंका वियोग होते समय जो समभावसे या परमात्माके स्वरूपसे मनका विचलित हो जाना है, यही मनका योगसे विचलित हो जाना है और इस प्रकार मनके विचलित होनेमें मनकी चंचलता, आसक्ति, कामना, शरीरकी पीड़ा और बेहोशी आदि बहुत-से कारण हो सकते हैं।

४. यहाँ अर्जुनका अभिप्राय यह है कि जीवनभर फलेच्छाका त्याग करके कर्म करनेसे स्वर्गादि भोग तो उसे मिलते नहीं और अन्त समयमें परमात्माकी प्राप्तिके साधनसे मन विचलित हो जानेके कारण भगवत्प्राप्ति भी नहीं होती। अतएव जैसे बादलका एक टुकड़ा उससे पृथक् होकर पुनः दूसरे बादलसे संयुक्त न होनेपर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, वैसे ही वह साधक स्वर्गादि लोक और परमात्मा—दोनोंकी प्राप्तिसे वंचित होकर नष्ट तो नहीं हो जाता यानी उसकी कहीं अधोगति तो नहीं होती?

५. यहाँ अर्जुन भगवान्में अपना विश्वास प्रकट करते हुए प्रार्थना कर रहे हैं कि आप सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण मर्यादाओंके निर्माता और नियन्त्रणकर्ता साक्षात् परमेश्वर हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके अनन्त जीवोंकी समस्त गतियोंके रहस्यका आपको पूरा पता है और समस्त लोक-लोकान्तरोंकी त्रिकालमें होनेवाली समस्त घटनाएँ आपके लिये सदा ही प्रत्यक्ष हैं। ऐसी अवस्थामें योगभ्रष्ट पुरुषोंकी गतिका वर्णन करना आपके लिये बहुत ही आसान बात है। जब आप स्वयं यहाँ उपस्थित हैं, तब मैं और किससे पूछूँ और वस्तुतः आपके सिवा इस रहस्यको दूसरा बतला ही कौन सकता है? अतएव कृपापूर्वक आप ही इस रहस्यको खोलकर मेरे संशयजालका छेदन कीजिये।

६. जो साधक अपनी शक्तिके अनुसार श्रद्धापूर्वक कल्याणका साधन करता है, उसकी किसी भी कारणसे कभी शूकर, कूकर, कीट, पतंग आदि नीच योनियोंकी प्राप्तिरूप या कुम्भीपाक आदि नरकोंकी प्राप्तिरूप दुर्गति नहीं हो सकती।

७. ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और कर्मयोग आदिका साधन करनेवाले जिस पुरुषका मन विक्षेप आदि दोषोंसे या विषयासक्ति अथवा रोगादिके कारण अन्तकालमें लक्ष्यसे विचलित हो जाता है, उसे 'योगभ्रष्ट' कहते हैं।

१. योगभ्रष्ट पुरुषोंमेंसे जिनके मनमें विषयासक्ति होती है, वे तो स्वर्गादि लोकोंमें जाते हैं और पवित्र धनियोंके घरोंमें जन्म लेते हैं; परंतु जो वैराग्यवान् पुरुष होते हैं, वे न तो किसी लोकमें जाते हैं और न उन्हें धनियोंके घरोंमें ही जन्म लेता पड़ता है। वे तो सीधे ज्ञानवान् सिद्ध योगियोंके घरोंमें ही जन्म लेते हैं। पूर्ववर्णित योगभ्रष्टोंसे इन्हें पृथक् करनेके लिये 'अथवा' का प्रयोग किया गया है।

२. परमार्थसाधन (योगसाधन)-की जितनी सुविधा योगियोंके कुलमें जन्म लेनेपर मिल सकती है, उतनी स्वर्गमें, श्रीमानोंके घरमें अथवा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकती। योगियोंके कुलमें तदनुकूल वातावरणके प्रभावसे मनुष्य प्रारम्भिक जीवनमें ही योगसाधनमें लग सकता है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानीके कुलमें जन्म लेनेवाला अज्ञानी नहीं रहता, यह सिद्धान्त श्रुतियोंसे भी प्रमाणित है। इसीलिये ऐसे जन्मको अत्यन्त दुर्लभ बतलाया गया है।

३. जो योगका जिज्ञासु है, योगमें श्रद्धा रखता है और उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, वह मनुष्य भी वेदोक्त सकामकर्मके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके भोगजनित सुखको पार कर जाता है तो फिर जन्म-जन्मान्तरसे योगका अभ्यास करनेवाले योगभ्रष्ट पुरुषोंके विषयमें तो कहना ही क्या है?

४. तैंतालीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि योगियोंके कुलमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष उस जन्ममें योगसिद्धिकी प्राप्तिके लिये अधिक प्रयत्न करता है। इस श्लोकमें उसी योगीको परमगतिकी प्राप्ति बतलायी जाती है, इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'योगी' को 'प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला' बतलाया गया है; क्योंकि उसके प्रयत्नका फल वहाँ उस श्लोकमें नहीं बतलाया गया था, उसे यहाँ बतलाया गया है।

५. पिछले अनेक जन्मोंमें किया हुआ अभ्यास और इस जन्मका अभ्यास दोनों ही उसे योगसिद्धिकी प्राप्ति करानेमें अर्थात् साधनकी पराकाष्ठातक पहुँचानेमें हेतु हैं, क्योंकि पूर्वसंस्कारोंके बलसे ही वह विशेष प्रयत्नके साथ इस जन्ममें साधनका अभ्यास करके साधनकी पराकाष्ठाको प्राप्त करता है।

६. सकामभावसे यज्ञ-दानादि शास्त्रविहित क्रिया करनेवालेका नाम ही 'कर्मी' है। इसमें क्रियाकी बहुलता है। तपस्वीमें क्रियाकी प्रधानता नहीं, मन और इन्द्रियके संयमकी प्रधानता है और शास्त्रज्ञानीमें शास्त्रीय बौद्धिक आलोचनाकी प्रधानता है। इसी विलक्षणताको ध्यानमें रखकर कर्मी, तपस्वी और शास्त्रज्ञानीका अलग-अलग निर्देश किया गया है।

१. गीताके चौथे अध्यायमें चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवत्प्राप्तिके जितने भी साधन यज्ञके नामसे बतलाये गये हैं, उनके अतिरिक्त और भी भगवत्प्राप्तिके जिन-जिन साधनोंका अबतक वर्णन किया गया है, उन सबकी पराकाष्ठाका नाम 'योग' होनेके कारण विभिन्न साधन करनेवाले बहुत प्रकारके 'योगी' हो सकते हैं। उन सभी प्रकारके योगियोंका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ 'योगिनाम्' पदके साथ 'अपि' पदका प्रयोग करके 'सर्वेषाम्' विशेषण दिया गया है।

२. इससे भगवान् यह दिखलाते हैं कि मुझको ही सर्वश्रेष्ठ, सर्वगुणाधार, सर्वशक्तिमान् और महान् प्रियतम जान लेनेसे जिसका मुझमें अनन्यप्रेम हो गया है और इसलिये जिसका मन-बुद्धिरूप अन्तःकरण अचल, अटल और अनन्यभावसे मुझमें ही स्थित हो गया है, उसके अन्तःकरणको 'मद्गत अन्तरात्मा' या मुझमें लगा हुआ अन्तरात्मा कहते हैं।

३. जो भगवान्की सत्तामें, उनके अवतारोंमें, उनके वचनोंमें, उनके अचिन्त्यानन्त दिव्य गुणोंमें तथा नाम और लीलामें एवं उनकी महिमा, शक्ति, प्रभाव और ऐश्वर्य आदिमें प्रत्यक्षके सदृश पूर्ण और अटल विश्वास रखता हो, उसे 'श्रद्धावान्' कहते हैं।

४. सब प्रकार और सब ओरसे अपने मन-बुद्धिको भगवान्में लगाकर परम श्रद्धा और प्रेमके साथ चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, प्रत्येक क्रिया करते अथवा एकान्तमें स्थित रहते, निरन्तर श्रीभगवान्का भजन-ध्यान करना ही 'भजते' का अर्थ है।

५. यहाँ 'माम्' पद निरतिशय ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदिके परम आश्रय, सौन्दर्य, माधुर्य और औदार्यके अनन्त समुद्र, परम दयालु, परम सुहृद्, परम प्रेमी, दिव्य अचिन्त्यानन्दस्वरूप, नित्य, सत्य, अज और अविनाशी, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वदिव्यगुणालंकृत, सर्वात्मा, अचिन्त्य महत्त्वसे महिमान्वित, चित्र-विचित्र लीलाकारी, लीलामात्रसे प्रकृतिद्वारा सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले तथा रससागर, रसमय, आनन्दकन्द, सगुण-निर्गुणरूप समग्र ब्रह्म पुरुषोत्तमका वाचक है।

६. श्रीभगवान् यहाँपर अपने प्रेमी भक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए मानो कहते हैं कि यद्यपि मुझे तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी आदि सभी प्यारे हैं और इन सबसे भी वे योगी मुझे अधिक प्यारे हैं, जो मेरी ही प्राप्तिके लिये साधन करते हैं, परंतु जो मेरे समग्ररूपको जानकर मुझसे अनन्यप्रेम करता है, केवल मुझको ही अपना परम प्रेमास्पद मानकर, किसी बातकी अपेक्षा, आकांक्षा और परवा न रखकर अपने अन्तरात्माको दिन-रात मुझमें ही लगाये रखता है, वह मेरा अपना है, मेरा ही है, उससे बढ़कर मेरा प्रियतम और कौन है? जो मेरा प्रियतम है, वही तो श्रेष्ठ है; इसलिये मेरे मनमें वही सर्वोत्तम भक्त है और वही सर्वोत्तम योगी है।

एकत्रिंशोऽध्यायः
(श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तमोऽध्यायः)
ज्ञान-विज्ञान, भगवान्‌की व्यापकता, अन्य देवताओंकी उपासना एवं भगवान्‌को प्रभावसहित न जाननेवालोंकी निन्दा और जाननेवालोंकी महिमाका कथन

सम्बन्ध—*छठे अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि—'अन्तरात्माको मुझमें लगाकर जो श्रद्धा और प्रेमके साथ मुझको भजता है, वह सब प्रकारके योगियोंमें उत्तम योगी है।' परंतु भगवान्‌के स्वरूप, गुण और प्रभावको मनुष्य जबतक नहीं जान पाता, तबतक उसके द्वारा अन्तरात्मासे निरन्तर भजन होना बहुत कठिन है; साथ ही भजनका प्रकार जानना भी आवश्यक है। इसलिये अब भगवान् अपने गुण, प्रभावके सहित समग्र स्वरूपका तथा अनेक प्रकारोंसे युक्त भक्तियोगका वर्णन करनेके लिये सातवें अध्यायका आरम्भ करते हैं और सबसे पहले दो श्लोकोंमें अर्जुनको उसे सावधानीके साथ सुननेके लिये प्रेरणा करके ज्ञान-विज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः[१] पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः[२] ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।। १ ।।

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ! अनन्यप्रेमसे मुझमें आसक्तचित्त तथा अनन्यभावसे मेरे परायण होकर योगमें लगा हुआ[३] तू जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जानेगा,[४] उसको सुन ।। १ ।।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।। २ ।।

मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानको[५] सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता[६] ।। २ ।।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।। ३ ।।

हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है[१] और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है[२] ।।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।। ४ ।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।। ५ ।।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा[३] अर्थात् मेरी जड प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरीको, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान[४] ।। ४-५ ।।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।। ६ ।।

हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं[५] और मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का मूल कारण हूँ[६] ।।

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।। ७ ।।

हे धनंजय! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मनियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है[७] ।। ७ ।।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।। ८ ।।

हे अर्जुन! मैं जलमें रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें ओंकार हूँ, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ ।। ८ ।।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।। ९ ।।

मैं पृथिवीमें पवित्र[८] गन्ध और अग्निमें तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंमें उनका जीवन हूँ और तपस्वियोंमें तप हूँ ।।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।। १० ।।

हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतोंका सनातन बीज मुझको ही जान[१]! मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तपस्वियोंका तेज हूँ[२] ।। १० ।।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।। ११ ।।

हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओंसे रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल अर्थात् शास्त्रके अनुकूल काम हूँ[3] ।। ११ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार प्रधान-प्रधान वस्तुओंमें सार-रूपसे अपनी व्यापकता बतलाते हुए भगवान्‌ने प्रकारान्तरसे समस्त जगत्‌में अपनी सर्वव्यापकता और सर्वस्वरूपता सिद्ध कर दी, अब अपनेको ही त्रिगुणमय जगत्‌का मूल कारण बतलाकर इस प्रसंगका उपसंहार करते हैं—*

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।। १२ ।।

और भी जो सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं और जो रजोगुणसे तथा तमोगुणसे होनेवाले भाव हैं, उन सबको तू 'मुझसे ही होनेवाले हैं'[4] ऐसा जान। परंतु वास्तवमें उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं[5] ।। १२ ।।

सम्बन्ध—*भगवान्‌ने यह दिखलाया कि समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है और मुझसे ही व्याप्त है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि इस प्रकार सर्वत्र परिपूर्ण और अत्यन्त समीप होनेपर भी लोग भगवान्‌को क्यों नहीं पहचानते; इसपर भगवान् कहते हैं—*

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।। १३ ।।

गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सब संसार—प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता[1] ।। १३ ।।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। १४ ।।

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात्र अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं[2] ।।

सम्बन्ध—*भगवान्‌ने मायाकी दुस्तरता दिखलाकर अपने भजनको उससे तरनेका उपाय बतलाया। इसपर यह प्रश्न उठता है कि जब ऐसी बात है, तब सब लोग निरन्तर आपका भजन क्यों नहीं करते; इसपर भगवान् कहते हैं—*

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।। १५ ।।

मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है ऐसे आसुरस्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योंमें नीच, दूषित कर्म करनेवाले मूढलोग मुझको नहीं भजते ।। १५ ।।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन[3] ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।। १६ ।।

किंतु हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी[४], आर्त,[५] जिज्ञासु[६] और ज्ञानी[७]—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं ।। १६ ।।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।। १७ ।।

उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है;[१] क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है[२] ।। १७ ।।

सम्बन्ध—*भगवान्‌ने ज्ञानी भक्तको सबसे श्रेष्ठ और अत्यन्त प्रिय बतलाया। इसपर यह शंका हो सकती है कि क्या दूसरे भक्त श्रेष्ठ और प्रिय नहीं हैं; इसपर भगवान् कहते हैं—*

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।। १८ ।।

ये सभी उदार हैं,[३] परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है[४]—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्‌गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ।। १८ ।।

बहूनां जन्मनामन्ते[५] ज्ञानवान्[६] मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।। १९ ।।

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है;[७] वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।। १९ ।।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।। २० ।।

उन-उन भोगोंकी कामनाद्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभावसे प्रेरित होकर[८] उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजते हैं अर्थात् पूजते हैं[१] ।। २० ।।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। २१ ।।

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है,[२] उस-उस भक्तकी श्रद्धाको मैं उसी देवताके प्रति स्थिर करता हूँ ।। २१ ।।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ।। २२ ।।

वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताका पूजन करता है और उस देवतासे मेरे द्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसंदेह प्राप्त करता है ।। २२ ।।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।। २३ ।।

परंतु उन अल्प बुद्धिवालोंका[३] वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं[४] ।। २३ ।।

सम्बन्ध—*जब भगवान् इतने प्रेमी और दयासागर हैं कि जिस-किसी प्रकारसे भी भजनेवालेको अपने स्वरूपकी प्राप्ति करा ही देते हैं, तो फिर सभी लोग उनको क्यों नहीं भजते, इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।। २४ ।।

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भावको न जानते हुए[५] मन-इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भाँति जन्मकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं[६] ।। २४ ।।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको[१] मामजमव्ययम् ।। २५ ।।

क्योंकि अपनी योगमायासे छिपा हुआ[२] मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है ।। २५ ।।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।। २६ ।।

हे अर्जुन! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ,[३] परंतु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता ।। २६ ।।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप ।। २७ ।।

क्योंकि हे भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे[४] सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं ।। २७ ।।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।। २८ ।।

परंतु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढनिश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं[५] ।। २८ ।।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।। २९ ।।

जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं,[६] वे पुरुष उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जानते हैं ।। २९ ।।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।। ३० ।।

एवं जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित (सबके आत्मरूप) मुझे अन्तकालमें भी जानते हैं, वे युक्तचित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं[१] अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ।। ७ ।। भीष्मपर्वणि तु एकत्रिंशोऽध्यायः ।। ३१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें ज्ञान-विज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७ ।। भीष्मपर्वमें इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३१ ।।

---

१. इस लोक और परलोकके किसी भी भोगके प्रति जिसके मनमें तनिक भी आसक्ति नहीं रह गयी है तथा जिसका मन सब ओरसे हटकर एकमात्र परम प्रेमास्पद, सर्वगुणसम्पन्न परमेश्वरमें इतना अधिक आसक्त हो गया है कि जलके जरासे वियोगमें परम व्याकुल हो जानेवाली मछलीके समान जो क्षणभर भी भगवान्‌के वियोग और विस्मरणको सहन नहीं कर सकता, वह 'मय्यासक्तमनाः' है।

२. जो पुरुष संसारके सम्पूर्ण आश्रयोंका त्याग करके समस्त आशाओं और भरोसोंसे मुँह मोड़कर एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर करता है और सर्वशक्तिमान् भगवान्‌को ही परम आश्रय तथा परम गति जानकर एकमात्र उन्हींके भरोसेपर सदाके लिये निश्चिन्त हो गया है, वह 'मदाश्रयः' है।

३. मन और बुद्धिको अचलभावसे भगवान्‌में स्थिर करके नित्य-निरन्तर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनका चिन्तन करना ही योगमें लग जाना है।

४. भगवान् नित्य हैं, सत्य हैं, सनातन हैं; वे सर्वगुणसम्पन्न, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वाधार और सर्वरूप हैं तथा स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्‌के रूपमें प्रकट होते हैं। वस्तुतः उनके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं; व्यक्त-अव्यक्त और सगुण-निर्गुण सब वे ही हैं। इस प्रकार उन भगवान्‌के स्वरूपको निर्भ्रान्त और असंदिग्धरूपसे समझ लेना ही समग्र भगवान्‌को संशयरहित जानना है।

५. भगवान्‌के निर्गुण-निराकार तत्त्वका जो प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसहित यथार्थ ज्ञान है, उसे 'ज्ञान' कहते हैं; इसी प्रकार उनके सगुण निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभावसहित यथार्थ ज्ञानका नाम 'विज्ञान' है।

६. ज्ञान और विज्ञानके द्वारा भगवान्‌के समग्र स्वरूपकी भलीभाँति उपलब्धि हो जाती है। यह विश्व-ब्रह्माण्ड तो समग्ररूपका एक क्षुद्र-सा अंशमात्र है। जब मनुष्य भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है, तब स्वभावतः ही उसके लिये कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता।

१. भगवत्कृपाके फलस्वरूप मनुष्य-शरीर प्राप्त होनेपर भी जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति और भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेमका अभाव या कमी रहनेके कारण अधिकांश मनुष्य तो इस मार्गकी ओर मुँह ही नहीं करते। जिसके पूर्वसंस्कार शुभ होते हैं, भगवान्, महापुरुष और शास्त्रोंमें जिसकी कुछ श्रद्धा-भक्ति होती है तथा पूर्वप्रण्योंके पुंजसे और भगवत्कृपासे जिसको सत्पुरुषोंका संग प्राप्त हो जाता है, हजारों मनुष्योंमेंसे ऐसा कोई बिरला ही इस मार्गमें प्रवृत्त होकर प्रयत्न करता है।

२. चेष्टाके तारतम्यसे सबका साधन एक-सा नहीं होता। अहंकार, ममत्व, कामना, आसक्ति और संगदोष आदिके कारण नाना प्रकारके विघ्न भी आते ही रहते हैं। अतएव साधन करनेवालोंमें भी बहुत थोड़े ही पुरुष ऐसे निकलते हैं, जिनकी श्रद्धा-भक्ति और साधना पूर्ण होती है और उसके फलस्वरूप इसी जन्ममें वे भगवान्‌का साक्षात्कार कर लेते हैं।

३. गीताके तेरहवें अध्यायमें भगवान्‌ने जिस अव्यक्त मूल प्रकृतिके तेईस कार्य बतलाये हैं, उसीको यहाँ आठ भेदोंमें विभक्त बतलाया है। यह 'अपरा प्रकृति' ज्ञेय तथा जड होनेके कारण ज्ञाता चेतन जीवरूपा 'परा प्रकृति' से सर्वथा भिन्न और निकृष्ट है; यही संसारकी हेतुरूप है और इसीके द्वारा जीवका बन्धन होता है। इसीलिये इसका नाम 'अपरा प्रकृति' है।

४. समस्त जीवोंके शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण तथा भोग्यवस्तुएँ और भोगस्थानमय इस सम्पूर्ण व्यक्त प्रकृतिका नाम जगत् है। ऐसा यह जगत्‌रूप जडतत्त्व चेतनतत्त्वसे व्याप्त है। अतः उसीने इसे धारण कर रखा है।

५. अचर और चर जितने भी छोटे-बड़े सजीव प्राणी हैं, उन सभी सजीव प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि इन 'अपरा' (जड) और 'परा' (चेतन) प्रकृतियोंके संयोगसे ही होती हैं। इसलिये उनकी उत्पत्तिमें ये ही दोनों कारण हैं। यही बात गीताके तेरहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके नामसे कही गयी है।

६. जैसे बादल आकाशसे उत्पन्न होते हैं, आकाशमें रहते हैं और आकाशमें ही विलीन हो जाते हैं तथा आकाश ही उनका एकमात्र कारण और आधार है, वैसे ही यह सारा विश्व भगवान्‌से ही उत्पन्न होता है, भगवान्‌में ही स्थित है और भगवान्‌में ही विलीन हो जाता है। भगवान् ही इसके एकमात्र महान् कारण और परम आधार हैं।

७. जैसे सूतकी डोरीमें उसी सूतकी गाँठें लगाकर उन्हें मनिये मानकर माला बना लेते हैं और जैसे उस डोरीमें और गाँठोंके मनियोंमें सर्वत्र केवल सूत ही व्याप्त रहता है, उसी प्रकार यह समस्त संसार भगवान्‌में गुँथा हुआ है। भगवान् ही सबमें ओतप्रोत हैं।

८. शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धसे इस प्रसंगमें इनके कारणरूप तन्मात्राओंका ग्रहण है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उनके साथ पवित्र शब्द जोड़ा गया है।

१. जो सदासे हो तथा कभी नष्ट न हो, उसे 'सनातन' कहते हैं। भगवान् ही समस्त चराचर भूत-प्राणियोंके परम आधार हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है। अतएव वे ही सबके 'सनातन बीज' हैं।

२. सम्पूर्ण पदार्थोंका निश्चय करनेवाली और मन-इन्द्रियोंको अपने शासनमें रखकर उनका संचालन करनेवाली अन्तःकरणकी जो परिशुद्ध बोधमयी शक्ति है, उसे बुद्धि कहते हैं; जिसमें वह बुद्धि अधिक होती है, उसे बुद्धिमान् कहते हैं; यह बुद्धिशक्ति भगवान्‌की अपरा प्रकृतिका ही अंश है। इसी प्रकार सब लोगोंपर प्रभाव डालनेवाली शक्तिविशेषका नाम तेजस् है; यह तेजस्तत्त्व जिसमें विशेष होता है, उसे लोग 'तेजस्वी' कहते हैं। यह तेज भी भगवान्‌की अपरा प्रकृतिका ही एक अंश है, इसलिये भगवान्‌ने इन दोनोंको अपना स्वरूप बतलाया है।

३. जिस बलमें कामना, राग, अहंकार तथा क्रोधादिका संयोग है, उस बलका वर्णन आसुरी सम्पदामें किया गया है (गीता १६।१८), अतः वह तो आसुर बल है और उसके त्यागनेकी बात कही है (गीता १८।५३)। इसी प्रकार धर्मविरुद्ध काम भी आसुरी सम्पदाका प्रधान गुण होनेसे समस्त अनर्थोंका मूल (गीता ३।३७), नरकका द्वार और त्याज्य है (गीता १६।२१)। काम-रागयुक्त 'बल' से और धर्मविरुद्ध 'काम' से विलक्षण, विशुद्ध 'बल' और विशुद्ध 'काम' ही भगवान्‌का स्वरूप है।

४. मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, तन्मात्राएँ, महाभूत और समस्त गुण-अवगुण तथा कर्म आदि जितने भी भाव हैं, सभी सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अन्तर्गत हैं। इन समस्त पदार्थोंका विकास और विस्तार भगवान्‌की 'अपरा प्रकृति' से होता है और वह प्रकृति भगवान्‌की है, अतः भगवान्‌से भिन्न नहीं है, उन्हींके लीलासंकेतसे प्रकृतिके द्वारा सबका सृजन, विस्तार और उपसंहार होता रहता है—इस प्रकार जान लेना ही उन सबको 'भगवान्‌से होनेवाले' समझना है।

५. जैसे आकाशमें उत्पन्न होनेवाले बादलोंका कारण और आधार आकाश है, परंतु आकाश उनसे सर्वथा निर्लिप्त है। बादल आकाशमें सदा नहीं रहते और अनित्य होनेसे वस्तुतः उनकी स्थिर सत्ता भी नहीं है; पर आकाश बादलोंके न रहनेपर भी सदा रहता है। जहाँ बादल नहीं है, वहाँ भी आकाश तो है ही; वह बादलोंके आश्रित नहीं है। वस्तुतः बादल भी आकाशसे भिन्न नहीं हैं, उसीमें उससे उत्पन्न होते हैं। अतएव यथार्थमें बादलोंकी भिन्न सत्ता न होनेसे आकाश किसी समय भी बादलोंमें नहीं है, वह तो सदा अपने-आपमें ही स्थित है। इसी प्रकार यद्यपि भगवान् भी समस्त त्रिगुणमय भावोंके कारण और आधार हैं, तथापि वास्तवमें वे गुण भगवान्‌में नहीं हैं और भगवान् उनमें नहीं हैं। भगवान् तो सर्वथा और सर्वदा गुणातीत हैं तथा नित्य अपने-आपमें ही स्थित हैं।

१. जगत्‌के समस्त देहाभिमानी प्राणी—यहाँतक कि मनुष्य भी—अपने-अपने स्वभाव, प्रकृति और विचारके अनुसार, अनित्य और दुःखपूर्ण इन त्रिगुणमय भावोंको ही नित्य और सुखके हेतु समझकर इनकी कल्पित रमणीयता और सुखरूपताकी केवल ऊपरसे ही दीखनेवाली चमक-दमकमें जीवनके परम लक्ष्यको भूलकर भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, स्वरूप और रहस्यके चिन्तन और ज्ञानसे विमुख हो रहे हैं। इस कारण उनकी विवेकदृष्टि इतनी स्थूल हो गयी है कि वे विषयोंके संग्रह करने और भोगनेके सिवा जीवनका अन्य कोई कर्तव्य या लक्ष्य ही नहीं समझते। इसलिये वे इन सबसे सर्वथा अतीत, अविनाशी परमात्माको नहीं जान सकते।

२. जो एकमात्र भगवान्‌को ही अपना परम आश्रय, परम गति, परम प्रिय और परम प्राप्य मानते हैं तथा सब कुछ भगवान्‌का या भगवान्‌के ही लिये है—ऐसा समझकर जो शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, गृह, कीर्ति आदिमें ममत्व और आसक्तिका त्याग करके, उन सबको भगवान्‌की ही पूजाकी सामग्री बनाकर तथा भगवान्‌के रचे हुए विधानमें सदा संतुष्ट रहकर, भगवान्‌की आज्ञाके पालनमें तत्पर और भगवान्‌के स्मरणपरायण होकर अपनेको सब प्रकारसे निरन्तर भगवान्‌में ही लगाये रखते हैं, वे शरणागत भक्त मायासे तरते हैं।

३. जन्म-जन्मान्तरसे शुभकर्म करते-करते जिनका स्वभाव सुधरकर शुभकर्मशील बन गया है और पूर्वसंस्कारोंके बलसे अथवा महत्संगके प्रभावसे जो इस जन्ममें भी भगवदाज्ञानुसार शुभकर्म ही करते हैं, उन शुभकर्म करनेवालोंको 'सुकृती' कहते हैं।

४. स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग-सुख आदि इस लोक और परलोकके भोगोंमेंसे, जिसके मनमें एककी या बहुतोंकी कामना है, परंतु कामनापूर्तिके लिये जो केवल भगवान्‌पर ही निर्भर करता है और इसके लिये जो श्रद्धा और विश्वासके साथ भगवान्‌का भजन करता है, वह 'अर्थार्थी' भक्त है। सुग्रीव-विभीषणादि भक्त अर्थार्थी माने जाते हैं, इनमें प्रधानतासे ध्रुवका नाम लिया जाता है।

५. जो शारीरिक या मानसिक संताप, विपत्ति, शत्रुभय, रोग, अपमान, चोर, डाकू और आततायियोंके अथवा हिंस्र जानवरोंके आक्रमण आदिसे घबराकर उनसे छूटनेके लिये पूर्ण विश्वासके साथ हृदयकी अडिग श्रद्धासे भगवान्‌का भजन करता है, वह 'आर्त' भक्त है। आर्त भक्तोंमें गजराज, जरासंधके बंदी राजागण आदि बहुत-से माने जाते हैं; परंतु सती द्रौपदीका नाम मुख्यतया लिया जाता है।

६. धन, स्त्री, पुत्र, गृह आदि वस्तुओंकी और रोग-संकटादिकी परवा न करके एकमात्र परमात्माको तत्त्वसे जाननेकी इच्छासे ही जो एकनिष्ठ होकर भगवान्‌की भक्ति करता है (गीता १४।२६), उस कल्याणकामी भक्तको 'जिज्ञासु' कहते हैं। जिज्ञासु भक्तोंमें परीक्षित् आदि अनेकोंके नाम हैं, परंतु उद्धवजीका नाम विशेष प्रसिद्ध है।

७. जो परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं, जिनकी दृष्टिमें एक परमात्मा ही रह गये हैं—परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और इस प्रकार परमात्माको प्राप्त कर लेनेसे जिनकी समस्त कामनाएँ निःशेषरूपसे समाप्त हो चुकी हैं, तथा ऐसी स्थितिमें जो सहजभावसे ही परमात्माका भजन करते हैं, वे 'ज्ञानी' हैं (गीता १२।१३-१९)। गीताके नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें तथा दसवें अध्यायके तीसरे और पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जिनका वर्णन है, वे निष्काम अनन्य प्रेमी साधक भक्त भी ज्ञानी भक्तोंके अन्तर्गत हैं। ज्ञानियोंमें शुकदेवजी, सनकादि, नारदजी और भीष्मजी आदि प्रसिद्ध हैं। बालक प्रह्लाद भी ज्ञानी भक्त माने जाते हैं।

१. संसार, शरीर और अपने-आपको सर्वथा भूलकर जो अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌में ही स्थित है, उसे 'नित्ययुक्त' कहते हैं और जो भगवान्‌में ही हेतुरहित और अविरल प्रेम करता है, उसे 'एकभक्ति' कहते हैं; ऐसा भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी भक्त अन्य सबसे उत्तम है।

२. जिन्होंने इस लोक और परलोकके अत्यन्त प्रिय, सुखप्रद तथा सांसारिक मनुष्योंकी दृष्टिसे दुर्लभ-से-दुर्लभ माने जानेवाले भोगों और सुखोंकी समस्त अभिलाषाओंका भगवान्‌के लिये त्याग कर दिया है, उनकी दृष्टिमें भगवान्‌का कितना महत्त्व है और उनको भगवान् कितने प्यारे हैं—दूसरे किसीके द्वारा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'ज्ञानीको' मैं अत्यन्त प्रिय हूँ।' और जिनको भगवान् अतिशय प्रिय हैं, वे भगवान्‌को तो अतिशय प्रिय होंगे ही।

३. वे सब प्रकारके भक्त इस बातका भलीभाँति निश्चय कर चुके हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं, परम दयालु हैं और परम सुहृद् हैं; हमारी आशा और आकांक्षाओंकी पूर्ति एकमात्र उन्हींसे हो सकती है। ऐसा मान और जानकर, वे अन्य सब प्रकारके आश्रयोंका त्याग करके अपने जीवनको भगवान्‌के ही भजन-स्मरण, पूजन और सेवा आदिमें लगाये रखते हैं। उनकी एक भी चेष्टा ऐसी नहीं होती, जो भगवान्‌के विश्वासमें जरा भी त्रुटि लानेवाली हो। इसलिये सबको 'उदार' कहा गया है।

४. इस कथनसे भगवान् यह भाव दिखला रहे हैं कि ज्ञानी भक्तमें और मुझमें कुछ भी अन्तर नहीं है। भक्त है सो मैं हूँ और मैं हूँ सो भक्त है।

५. जिस जन्ममें मनुष्य भगवान्‌का ज्ञानी भक्त बन जाता है, वही उसके बहुत-से जन्मोंके अन्तका जन्म है; क्योंकि भगवान्‌को इस प्रकार तत्त्वसे जान लेनेके पश्चात् उसका पुनः जन्म नहीं होता; वही उसका अन्तिम जन्म होता है।

६. भगवान्‌ने इसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें विज्ञानसहित जिस ज्ञानके जाननेकी प्रशंसा की थी, जिस प्रेमी भक्तने उस विज्ञानसहित ज्ञानको प्राप्त कर लिया है तथा तीसरे श्लोकमें जिसके लिये कहा है कि कोई एक ही मुझे तत्त्वसे जानता है, उसीके लिये यहाँ 'ज्ञानवान्' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसीलिये अठारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

७. सम्पूर्ण जगत् भगवान् वासुदेवका ही स्वरूप है, वासुदेवके सिवा और कुछ है ही नहीं, इस तत्त्वका प्रत्यक्ष और अटल अनुभव हो जाना और उसीमें नित्य स्थित रहना—यही 'सब कुछ वासुदेव है', इस प्रकारसे भगवान्‌का भजन करना है।

८. जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंसे संस्कारोंका संचय होता है और उस संस्कारसमूहसे जो प्रकृति बनती है, उसे 'स्वभाव' कहा जाता है। स्वभाव प्रत्येक जीवका भिन्न होता है। उस स्वभावके अनुसार जो अन्तःकरणमें भिन्न-भिन्न देवताओंका पूजन करनेकी भिन्न-भिन्न इच्छा उत्पन्न होती है, उसीको 'उससे प्रेरित होना' कहते हैं।

१. सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, इन्द्र, मरुत्, यमराज और वरुण आदि शास्त्रोक्त देवताओंको भगवान्‌से भिन्न समझकर, जिस देवताकी, जिस उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनामें जप, ध्यान, पूजन, नमस्कार, न्यास, हवन, व्रत, उपवास आदिके जो-जो भिन्न-भिन्न नियम हैं, उन-उन नियमोंको धारण करके बड़ी सावधानीके साथ उनका भलीभाँति पालन करते हुए उन देवताओंकी आराधना करना ही 'उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजना' है।

२. देवताओंकी सत्तामें, उनके प्रभाव और गुणोंमें तथा पूजन-प्रकार और उसके फलमें पूरा विश्वास करके श्रद्धापूर्वक जिस देवताकी जैसी मूर्तिका विधान हो, उसकी वैसे ही धातु, काष्ठ, मिट्टी, पाषाण आदिकी मूर्ति या चित्रपटकी विधिपूर्वक स्थापना करके अथवा मनके द्वारा मानसिक मूर्तिका निर्माण करके जिस मन्त्रकी जितनी संख्याके जपपूर्वक जिन सामग्रियोंसे जैसी पूजाका विधान हो, उसी मन्त्रकी उतनी ही संख्या जपकर उन्हीं सामग्रियोंसे उसी विधानसे पूजा करना, देवताओंके निमित्त अग्निमें आहुति देकर यज्ञादि करना, उनका ध्यान करना, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रत्यक्ष देवताओंका पूजन करना और इन सबको यथाविधि नमस्कारादि करना—यही 'देवताओंके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना' है।

३. देवोपासक कामनाओंके वशमें होकर, अन्य देवताओंको भगवान्‌से पृथक् मानकर, भोगवस्तुओंके लिये उनकी उपासना करते हैं, इसलिये उनको भक्तोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीके और 'अल्पबुद्धि' कहा गया है।

४. भगवान्‌के नित्य दिव्य परमधाममें निरन्तर भगवान्‌के समीप निवास करना अथवा अभेदभावसे भगवान्‌में एकत्वको प्राप्त हो जाना, दोनोंहीका नाम 'भगवत्प्राप्ति' है।

५. अपनी अनन्त दयालुता और शरणागतवत्सलताके कारण जगत्‌के प्राणियोंको अपनी शरणागतिका सहारा देनेके लिये ही भगवान् अपने अजन्मा, अविनाशी और महेश्वर स्वभाव तथा सामर्थ्यके सहित ही नाना स्वरूपोंमें प्रकट होते हैं और अपनी अलौकिक लीलाओंसे जगत्‌के प्राणियोंको परमानन्दके महान् सागरमें निमग्न कर देते हैं। भगवान्‌का यही नित्य, अनुत्तम और परमभाव है तथा इसको न समझना ही 'उनके अनुत्तम अविनाशी परमभावको न जानना' है।

६. भगवान्‌के निर्गुण-सगुण दोनों ही रूप नित्य और दिव्य हैं। मनुष्यादिके रूपमें उनका प्रादुर्भाव होना ही जन्म है और अन्तर्धान हो जाना ही परमधामगमन है। अन्य प्राणियोंकी भाँति शरीर-संयोग-वियोगरूप जन्म-मरण उनके नहीं होते। इस रहस्यको न समझनेके कारण बुद्धिहीन मनुष्य समझते हैं कि जैसे अन्य सब प्राणी जन्मसे पहले अव्यक्त थे अर्थात् उनकी कोई सत्ता नहीं थी, अब जन्म लेकर व्यक्त हुए हैं; इसी प्रकार यह श्रीकृष्ण भी जन्मसे पहले नहीं था, अब वसुदेवके घरमें जन्म लेकर व्यक्त हुआ है; अन्य मनुष्योंमें और इसमें अन्तर ही क्या है? अर्थात् कोई भेद नहीं है। यही बुद्धिहीन मनुष्यका भगवान्‌को अव्यक्तसे व्यक्त हुआ मानना है।

१. ‘लोकः’ पदका प्रयोग केवल भगवान्‌के भक्तोंको छोड़कर शेष पापी, पुण्यात्मा—सभी श्रेणीके साधारण अज्ञानी मनुष्यसमुदायके लिये किया गया है।

२. गीताके चौथे अध्यायके छठे श्लोकमें भगवान्‌ने जिसको ‘आत्ममाया’ कहा है, जिस योगशक्तिसे भगवान् दिव्य गुणोंके सहित स्वयं मनुष्यादि रूपोंमें प्रकट होते हुए भी लोकदृष्टिमें जन्म धारण करनेवाले साधारण मनुष्य-से प्रतीत होते हैं, उसी मायाशक्तिका नाम ‘योगमाया’ है। उससे वास्तवमें भगवान् आवृत नहीं होते तथापि जैसे लोगोंकी दृष्टि बादलोंसे आवृत हो जानेके कारण ऐसा कहा जाता है कि सूर्य बादलोंसे ढका गया, उसी प्रकार यहाँ भगवान्‌का अपनेको योगमायासे छिपा रहना बताना है।

३. यहाँ भगवान् यह कहते हैं कि ‘देवता, मनुष्य, पशु और कीट-पतंगादि जितने भी भूत—चराचर प्राणी हैं, वे सब अबसे पूर्व अनन्त कल्प-कल्पान्तरोंमें कब किन-किन योनियोंमें किस प्रकार उत्पन्न होकर कैसे रहे थे और उन्होंने क्या-क्या किया था तथा वर्तमान कल्पमें कौन, कहाँ, किस योनिमें किस प्रकार उत्पन्न होकर क्या कर रहे हैं और भविष्य कल्पोंमें कौन कहाँ किस प्रकार रहेंगे, इन सब बातोंको मैं जानता हूँ।’ वास्तवमें भगवान्‌के लिये भूत, भविष्य और वर्तमानकालका भेद नहीं है। उनके अखण्ड ज्ञानस्वरूपमें सभी कुछ सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष है।

४. जिनको भगवान्‌ने मनुष्यके कल्याणमार्गमें विघ्न डालनेवाले शत्रु (परिपन्थी) बतलाया है (गीता ३।३४) और काम-क्रोधके नामसे (गीता ३।३७) जिनको पापोंमें हेतु तथा मनुष्यका वैरी कहा है, उन्हीं राग-द्वेषका यहाँ ‘इच्छा’ और ‘द्वेष’ के नामसे वर्णन किया है। इन ‘इच्छा-द्वेष’ से जो हर्ष-शोक और सुख-दुःखादि द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं, वे इस जीवके अज्ञानको दृढ़ करनेमें कारण होते हैं; अतएव उन्हींका नाम ‘द्वन्द्वरूप मोह’ है।

५. भगवान्‌को ही सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबके आत्मा और परम पुरुषोत्तम समझकर बुद्धिसे उनके तत्त्वका निश्चय, मनसे उनके गुण, प्रभाव, स्वरूप और लीला-रहस्यका चिन्तन, वाणीसे उनके नाम और गुणोंका कीर्तन, सिरसे उनको नमस्कार, हाथोंसे उनकी पूजा और दीन-दुःखी आदिके रूपमें उनकी सेवा, नेत्रोंसे उनके विग्रहके दर्शन, चरणोंसे उनके मन्दिर और तीर्थादिमें जाना तथा अपनी समस्त वस्तुओंको निःशेषरूपसे केवल उनके ही अर्पण करके सब प्रकार केवल उन्हींका हो रहना—यही ‘सब प्रकारसे उनको भजना’ है।

६. यहाँ भगवान् यह कहते हैं कि ‘जो संसारके सब विषयोंके आश्रयको छोड़कर दृढ़ विश्वासके साथ एकमात्र मेरा ही आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें ही मन-बुद्धिको लगाये रखते हैं, वे मेरे शरण होकर यत्न करनेवाले हैं।’

द्वात्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टमोऽध्यायः)

ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादिके विषयमें अर्जुनके सात प्रश्न और उनका उत्तर एवं भक्तियोग तथा शुक्ल और कृष्ण मार्गोंका प्रतिपादन

सम्बन्ध—*गीताके सातवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक भगवान्ने अपने समग्ररूपका तत्त्व सुननेके लिये अर्जुनको सावधान करते हुए, उसके कहनेकी प्रतिज्ञा और जाननेवालोंकी प्रशंसा की। फिर सत्ताईसवें श्लोकतक अनेक प्रकारसे उस तत्त्वको समझाकर न जाननेके कारणको भी भलीभाँति समझाया और अन्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्के समग्र रूपको जाननेवाले भक्तकी महिमाका वर्णन करते हुए उस अध्यायका उपसंहार किया; किंतु उनतीसवें और तीसवें श्लोकोंमें वर्णित ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन छहोंका तथा प्रयाणकालमें भगवान्को जाननेकी बातका रहस्य भलीभाँति न समझनेके कारण इस आठवें अध्यायके आरम्भमें पहले दो श्लोकोंमें अर्जुन उपर्युक्त सातों विषयोंको समझनेके लिये भगवान्से सात प्रश्न करते हैं—*

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ।। १ ।।

अर्जुनने कहा—हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत नामसे क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं? ।। १ ।।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।। २ ।।

हे मधुसूदन! यहाँ अधियज्ञ कौन है? और वह इस शरीरमें कैसे है? तथा युक्तचित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हैं? ।। २ ।।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।। ३ ।।

श्रीभगवान्‌ने कहा—परम अक्षर 'ब्रह्म' है,[२] अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा 'अध्यात्म'[३] नामसे कहा जाता है तथा भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला जो त्याग है,[२] वह 'कर्म' नामसे कहा गया है ।। ३ ।।

अधिभूतं क्षरो भावः[३] पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।। ४ ।।

उत्पत्ति-विनाशधर्मवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्यमय पुरुष अधिदेव[४] है और हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! इस शरीरमें मैं वासुदेव ही अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ हूँ[५] ।।

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।। ५ ।।

जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है[६]—इसमें कुछ भी संशय नहीं है[७] ।। ५ ।।

सम्बन्ध—*यहाँ यह बात कही गयी कि भगवान्‌का स्मरण करते हुए मरनेवाला भगवान्‌को ही प्राप्त होता है। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि केवल भगवान्‌के स्मरणके सम्बन्धमें ही यह विशेष नियम है या सभीके सम्बन्धमें है; इसपर कहते हैं—*

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।। ६ ।।

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको[८] स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है[९] ।। ६ ।।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।। ७ ।।

इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर।[१] इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर[२] तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।। ७ ।।

अभ्यासयोगयुक्तेन[३] चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।। ८ ।।

हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाश-स्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है[४] ।। ८ ।।

कविं पुराणमनुशासितार

मणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।। ९ ।।
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।। १० ।।

जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता,[५] सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है ।।

सम्बन्ध—*पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌का चिन्तन करते-करते मरनेवाले साधारण मनुष्यकी गतिका संक्षेपमें वर्णन किया गया, फिर आठवेंसे दसवें श्लोकतक भगवान्‌के ‘अधियज्ञ’ नामक सगुण निराकार दिव्य अव्यक्त स्वरूपका चिन्तन करनेवाले योगियोंकी अन्तकालीन गतिके सम्बन्धमें बतलाया, अब ग्यारहवें श्लोकसे तेरहवेंतक परम अक्षर निर्गुण निराकार परब्रह्मकी उपासना करनेवाले योगियोंकी अन्तकालीन गतिका वर्णन करनेके लिये पहले उस अक्षर ब्रह्मकी प्रशंसा करके उसे बतलाते हैं—*

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।। ११ ।।

वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं,[१] आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा[२] ।।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।। १२ ।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्[३] ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ।। १३ ।।

सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर[४] तथा मनको हृद्देशमें स्थिर करके,[५] फिर उस जीते हुए मनके द्वारा प्राणको मस्तकमें स्थापित करके, परमात्मासम्बन्धी योगधारणामें स्थित होकर जो पुरुष ‘ॐ’ इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप

मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है[६] ।। १२-१३ ।।

अनन्यचेताः[७] सततं यो मां[८] स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।। १४ ।।

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ[१] ।। १४ ।।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।। १५ ।।

परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन[२] मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभंगुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते[३] ।।

सम्बन्ध—*भगवत्प्राप्त महात्मा पुरुषोंका पुनर्जन्म नहीं होता—इस कथनसे यह प्रकट होता है कि दूसरे जीवोंका पुनर्जन्म होता है। अतः यहाँ यह जाननेकी इच्छा होती है कि किस लोकतक पहुँचे हुए जीवोंको वापस लौटना पड़ता है। इसपर भगवान् कहते हैं—*

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।। १६ ।।

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त[४] सब लोक पुनरावर्ती[५] हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं ।। १६ ।।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।। १७ ।।

ब्रह्माका जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाला और रात्रिको भी एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं,[६] वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं ।।१७ ।।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।। १८ ।।

सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं[१] और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लीन हो जाते हैं[२] ।। १८ ।।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।। १९ ।।

हे पार्थ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लीन होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है[३] ।। १९ ।।

सम्बन्ध—*ब्रह्माकी रात्रिके आरम्भमें जिस अव्यक्तमें समस्त भूत लीन होते हैं और दिनका आरम्भ होते ही जिससे उत्पन्न होते हैं; वही अव्यक्त सर्वश्रेष्ठ है या उससे बढ़कर कोई दूसरा और है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।। २० ।।

उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता[१] ।। २० ।।

सम्बन्ध—*आठवें और दसवें श्लोकोंमें अधियज्ञकी उपासनाका फल परम दिव्य पुरुषकी प्राप्ति, तेरहवें श्लोकमें परम अक्षर निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाका फल परमगतिकी प्राप्ति और चौदहवें श्लोकमें सगुण-साकार भगवान् श्रीकृष्णकी उपासनाका फल भगवान्‌की प्राप्ति बतलाया गया है। इससे तीनोंमें किसी प्रकारके भेदका भ्रम न हो जाय, इस उद्देश्यसे अब सबकी एकताका प्रतिपादन करते हुए उनकी प्राप्तिके बाद पुनर्जन्मका अभाव दिखलाते हैं—*

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।। २१ ।।

जो अव्यक्त ‘अक्षर’[२] इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्तभावको परम गति[३] कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है[४] ।। २१ ।।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।। २२ ।।

हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है,[५] वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होनेयोग्य है[६] ।। २२ ।।

सम्बन्ध—*अर्जुनके सातवें प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने अन्तकालमें किस प्रकार मनुष्य परमात्माको प्राप्त होता है, यह बात भलीभाँति समझायी। प्रसंगवश यह बात भी कही कि भगवत्प्राप्ति न होनेपर ब्रह्मलोकतक पहुँचकर भी जीव आवागमनके चक्करसे नहीं छूटता; परंतु वहाँ यह बात नहीं कही गयी कि जो वापस न लौटनेवाले स्थानको प्राप्त होते हैं, वे किस रास्तेसे और कैसे जाते हैं तथा इसी प्रकार जो वापस लौटनेवाले स्थानोंको*

प्राप्त होते हैं, वे किस रास्तेसे जाते हैं। अतः उन दोनों मार्गोंका वर्णन करनेके लिये भगवान् प्रस्तावना करते हैं—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।। २३ ।।

हे अर्जुन! जिस कालमें[१] शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन[२] तो वापस न लौटनेवाली गतिको और जिस कालमें गये हुए वापस लौटनेवाली गतिको ही प्राप्त होते हैं, उस कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको कहूँगा ।। २३ ।।

अग्निर्ज्योतिरहः[३] [४] शुक्लः[५] षण्मासा उत्तरायणम्[६] ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।। २४ ।।

जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है, दिनका अभिमानी देवता है, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता[१] योगीजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको[२] प्राप्त होते हैं ।। २४ ।।

धूमो[३] रात्रिस्तथा[४] कृष्णः[५] षण्मासा दक्षिणायनम्[६] ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।। २५ ।।

जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता है, रात्रि-अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्षका अभिमानी देवता है और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्म करनेवाला योगी[१] उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको[२] प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभकर्मोंका फल भोगकर वापस आता है[३] ।। २५ ।।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ।। २६ ।।

क्योंकि जगत्के ये दो प्रकारके—शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं।[४] इनमें एकके द्वारा गया हुआ[५]—जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता, उस परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरेके द्वारा गया हुआ[६] फिर वापस आता है अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है ।। २६ ।।

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।। २७ ।।

हे पार्थ! इस प्रकार इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानकर कोई भी योगी मोहित नहीं होता।[७] इस कारण हे अर्जुन! तू सब कालमें समबुद्धिरूप योगसे युक्त हो[८] अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाला हो ।। २७ ।।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।। २८ ।।

योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर[१] वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल कहा है, उस सबको निःसंदेह उल्लंघन कर जाता है[२] और सनातन परम पदको प्राप्त होता है ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ।। ८ ।। भीष्मपर्वणि तु द्वात्रिंशोऽध्यायः ।। ३२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८ ।। भीष्मपर्वमें बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२ ।।

---

१. उनतीसवें श्लोकमें वर्णित ‘ब्रह्म’, जीवसमुदायरूप ‘अध्यात्म’, भगवान्‌का आदि संकल्परूप ‘कर्म’ तथा उपर्युक्त जडवर्गरूप ‘अधिभूत’, हिरण्यगर्भरूप ‘अधिदैव’ और अन्तर्यामीरूप ‘अधियज्ञ’—सब एक भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। यही भगवान्‌का समग्ररूप है। अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने इसी समग्ररूपको बतलानेकी प्रतिज्ञा की थी। फिर सातवें श्लोकमें ‘मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है’, बारहवेंमें ‘सात्त्विक, राजस और तामसभाव सब मुझसे ही होते हैं’ और उन्नीसवेंमें ‘सब कुछ वासुदेव ही है’ कहकर इसी समग्रका वर्णन किया है तथा यहाँ भी उपर्युक्त शब्दोंसे इसीका वर्णन करके अध्यायका उपसंहार किया गया है। इस समग्रको जान लेना अर्थात् जैसे जलके परमाणु, भाप, बादल, धूम, जल और बर्फ सभी जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—सब कुछ वासुदेव ही हैं—इस प्रकार यथार्थरूपसे अनुभव कर लेना ही समग्र ब्रह्मको या भगवान्‌को जानना है।

२. अक्षरके साथ ‘परम’ विशेषण देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि गीताके सातवें अध्यायके उनतीसवें श्लोकमें प्रयुक्त ‘ब्रह्म’ शब्द निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माका वाचक है; वेद, ब्रह्मा और प्रकृति आदिका नहीं।

१. ‘स्वो भावः स्वभावः’ इस व्युत्पत्तिके अनुसार अपने ही भावका नाम स्वभाव है। जीवरूपा भगवान्‌की चेतन परा प्रकृतिरूप आत्मतत्त्व ही जब आत्म-शब्दवाच्य शरीर, इन्द्रिय, मन-बुद्ध्यादिरूप अपरा प्रकृतिका अधिष्ठाता हो जाता है, तब उसे ‘अध्यात्म’ कहते हैं। अतएव गीताके सातवें अध्यायके उनतीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने ‘कृत्स्न’ विशेषणके साथ जो ‘अध्यात्म’ शब्दका प्रयोग किया है, उसका अर्थ ‘चेतन जीवसमुदाय’ समझना चाहिये।

२. ‘भूत’ शब्द चराचर प्राणियोंका वाचक है। इन भूतोंके भावका उद्भव और अभ्युदय जिस त्यागसे होता है, जो सृष्टि-स्थितिका आधार है, उस ‘त्याग’ का नाम ही कर्म है। महाप्रलयमें विश्वके समस्त प्राणी अपने-अपने कर्म-संस्कारोंके साथ भगवान्‌में विलीन हो जाते हैं। फिर सृष्टिके आदिमें भगवान् जब यह संकल्प करते हैं कि ‘मैं एक ही बहुत हो जाऊँ’, तब पुनः उनकी उत्पत्ति होती है। भगवान्‌का यह ‘आदि संकल्प’ ही अचेतन प्रकृतिरूप योनिमें चेतनरूप बीचकी स्थापना करना है। यही महान् विसर्जन है और इसी विसर्जन (त्याग)-का नाम ‘विसर्ग’ है।

३. अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न जो विनाशशील तत्त्व है, जिसका प्रतिक्षण क्षय होता है, उसका नाम ‘क्षरभाव’ है। इसीको गीताके तेरहवें अध्यायमें ‘क्षेत्र’ (शरीर) के नामसे और पंद्रहवें अध्यायमें ‘क्षर’ पुरुषके नामसे कहा गया है।

४. 'पुरुष' शब्द यहाँ 'प्रथम पुरुष' का वाचक है; इसीको सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति या ब्रह्मा कहते हैं। जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण विश्वका यही प्राणपुरुष है, समस्त देवता इसीके अंग हैं, यही सबका अधिष्ठाता, अधिपति और उत्पादक है; इसीसे इसका नाम 'अधिदैव' है।

५. अर्जुनने दो बातें पूछी थीं—'अधियज्ञ' कौन है? और वह इस शरीरमें कैसे है? दोनों प्रश्नोंका भगवान्ने एक ही साथ उत्तर दे दिया है। भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु हैं (गीता ५।२९; ९।२४) और समस्त फलोंका विधान वे ही करते हैं (गीता ७।२२) तथा वे ही अन्तर्यामीरूपसे सबके अंदर व्यापक हैं; इसलिये वे कहते हैं कि 'इस शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ मैं स्वयं ही हूँ।'

६. यहाँ अन्तकालका विशेष महत्त्व प्रकट किया गया है, अतः भगवान्के कहनेका यहाँ यह भाव है कि जो सदा-सर्वदा मेरा अनन्यचिन्तन करते हैं उनकी तो बात ही क्या है, जो इस मनुष्य-जन्मके अन्तिम क्षणतक भी मेरा चिन्तन करते हुए शरीर त्यागकर जाते हैं, उनको भी मेरी प्राप्ति हो जाती है।

७. अन्तकालमें भगवान्का स्मरण करनेवाला मनुष्य किसी भी देश और किसी भी कालमें क्यों न मरे एवं पहलेके उसके आचरण चाहे जैसे भी क्यों न रहे हों, उसे भगवान्की प्राप्ति निःसंदेह हो जाती है। इसमें जरा भी शंका नहीं है।

८. ईश्वर, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, मकान, जमीन आदि जितने भी चेतन और जड पदार्थ हैं, उन सबका नाम 'भाव' है। अन्तकालमें किसी भी पदार्थका चिन्तन करना, उस भावका स्मरण करना है।

९. अन्तकालमें प्रायः उसी भावका स्मरण होता है जिस भावसे चित्त सदा भावित होता है। पूर्वसंस्कार, संग, वातावरण, आसक्ति, कामना, भय और अध्ययन आदिके प्रभावसे मनुष्य जिस भावका बार-बार चिन्तन करता है, वह उसीसे भावित हो जाता है तथा मरनेके बाद सूक्ष्मरूपसे अन्तःकरणमें अंकित हुए उस भावसे भावित होता-होता समयपर उस भावको पूर्णतया प्राप्त हो जाता है। किसी मनुष्यका छायाचित्र (फोटो) लेते समय जिस क्षण फोटो (चित्र) खींचा जाता है, उस क्षणमें वह मनुष्य जिस प्रकारसे स्थित होता है, उसका वैसा ही चित्र उतर जाता है; उसी प्रकार अन्तकालमें मनुष्य जैसा चिन्तन करता है, वैसे ही रूपका फोटो उसके अन्तःकरणमें अंकित हो जाता है। उसके बाद फोटोकी भाँति अन्य सहकारी पदार्थोंकी सहायता पाकर उस भावसे भावित होता हुआ वह समयपर स्थूलरूपको प्राप्त हो जाता है।

यहाँ अन्तःकरण ही कैमरेका प्लेट है, उसमें होनेवाला स्मरण ही प्रतिबिम्ब है और अन्य सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति ही चित्र खिंचना है; अतएव जैसे चित्र लेनेवाला सबको सावधान करता है और उसकी बात न मानकर इधर-उधर हिलने-डुलनेसे चित्र बिगड़ जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंका चित्र उतारनेवाले भगवान् मनुष्यको सावधान करते हैं कि 'तुम्हारा फोटो उतरनेका समय अत्यन्त समीप है, पता नहीं वह अन्तिम क्षण कब आ जाय; इसलिये तुम सावधान हो जाओ, नहीं तो चित्र बिगड़ जायगा।' यहाँ निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करना ही सावधान होना है और परमात्माको छोड़कर अन्य किसीका चिन्तन करना ही अपने चित्रको बिगाड़ना है।

१. जो भगवान्के गुण और प्रभावको भलीभाँति जाननेवाला अनन्यप्रेमी भक्त है, जो सम्पूर्ण जगत्को भगवान्के द्वारा ही रचित और वास्तवमें भगवान्से अभिन्न तथा भगवान्की क्रीड़ास्थली समझता है, उसे प्रह्लाद और गोपियोंकी भाँति प्रत्येक परमाणुमें भगवान्के दर्शन प्रत्यक्षकी भाँति होते रहते हैं; अतएव उसके लिये तो निरन्तर भगवत्स्मरणके साथ-साथ अन्यान्य कर्म करते रहना बहुत आसान बात है तथा जिसका विषयभोगोंमें वैराग्य होकर भगवान्में मुख्य प्रेम हो गया है, जो निष्कामभावसे केवल भगवान्की आज्ञा समझकर भगवान्के लिये ही वर्णधर्मके अनुसार कर्म करता है, वह भी निरन्तर भगवान्का स्मरण करता हुआ अन्यान्य कर्म कर सकता है। जैसे अपने पैरोंका ध्यान रखती हुई नटी बाँसपर चढ़कर अनेक प्रकारके खेल दिखलाती है अथवा जैसे हैंडलपर पूरा ध्यान रखता हुआ मोटर-ड्राइवर दूसरोंसे बातचीत करता है और विपत्तिसे बचनेके लिये रास्तेकी ओर भी देखता रहता है, उसी प्रकार निरन्तर भगवान्का स्मरण करते हुए वर्णाश्रमके सब काम सुचारुरूपसे हो सकते हैं।

२. बुद्धिसे भगवान्के गुण, प्रभाव, स्वरूप, रहस्य और तत्त्वको समझकर परमश्रद्धाके साथ अटल निश्चय कर लेना और मनसे अनन्य श्रद्धा-प्रेमपूर्वक गुण, प्रभावके सहित भगवान्का निरन्तर चिन्तन करते रहना—यही मन-बुद्धिको भगवान्में समर्पित कर देना है।

३. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यानके अभ्यासका नाम 'अभ्यासयोग' है। ऐसे अभ्यासयोगके द्वारा जो चित्त भलीभाँति वशमें होकर निरन्तर अभ्यासमें ही लगा रहता है, उसे 'अभ्यासयोगयुक्त' कहते हैं।

४. इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें जिसको 'अधियज्ञ' कहा है और बाईसवें श्लोकमें जिसको 'परम पुरुष' बतलाया है, भगवान्के उस सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाले सगुण निराकार सर्वव्यापी अव्यक्त ज्ञानस्वरूपको यहाँ 'दिव्य परम

पुरुष' कहा गया है। उसका चिन्तन करते-करते उसे यथार्थरूपमें जानकर उसके साथ तद्रूप हो जाना ही उसको प्राप्त होना है।

५. परमेश्वर अन्तर्यामीरूपसे सब प्राणियोंके शुभ और अशुभ कर्मके अनुसार शासन करनेवाले होनेसे 'सबके नियन्ता' हैं।

१. वेदके जाननेवाले ज्ञानी महात्मा पुरुष कहते हैं कि यह 'अक्षर' है अर्थात् यह एक ऐसा महान् तत्त्व है, जिसका किसी भी अवस्थामें कभी भी किसी भी रूपमें क्षय नहीं होता; यह सदा अविनश्वर, एकरस और एकरूप रहता है। गीताके बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस अव्यक्त अक्षरकी उपासनाका वर्णन है, यहाँ भी यह उसीका प्रसंग है।

२. 'ब्रह्मचर्य' का वास्तविक अर्थ है, ब्रह्ममें अथवा ब्रह्मके मार्गमें संचरण करना—जिन साधनोंसे ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हुआ जा सकता है, उनका आचरण करना। ऐसे साधन ही ब्रह्मचारीके व्रत कहलाते हैं, सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना भी इन्हींके अन्तर्गत है। ये ब्रह्मचर्य-आश्रममें आश्रमधर्मके रूपमें अवश्य पालनीय हैं और साधारणतया तो अवस्थाभेदके अनुसार सभी साधकोंको यथाशक्ति उनका अवश्य पालन करना चाहिये।

यहाँ भगवान्‌ने यह प्रतिज्ञा की है कि उपर्युक्त वाक्योंमें जिस परब्रह्म परमात्माका निर्देश किया गया है, वह ब्रह्म कौन है और अन्तकालमें किस प्रकार साधन करनेवाला मनुष्य उसको प्राप्त होता है—यह बात मैं तुम्हें संक्षेपसे कहूँगा।

३. यहाँ ज्ञानयोगीके अन्तकालका प्रसंग होनेसे 'माम्' पद सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है।

४. श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रिय—इन दसों इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण होता है, इसलिये इनको 'द्वार' कहते हैं। इसके अतिरिक्त इनके रहनेके स्थानों (गोलकों)-को भी 'द्वार' कहते हैं। इन इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर अर्थात् देखने-सुनने आदिकी समस्त क्रियाओंको बंद करके, साथ ही इन्द्रियोंके गोलकोंको भी रोककर इन्द्रियोंकी वृत्तिको अन्तर्मुख कर लेना ही सब द्वारोंका संयम करना है। इसीको योगशास्त्रमें 'प्रत्याहार' कहते हैं।

५. नाभि और कण्ठ—इन दोनों स्थानोंके बीचका स्थान, जिसे हृदयकमल भी कहते हैं और जो मन तथा प्राणोंका निवासस्थान माना गया है, हृद्देश है और इधर-उधर भटकनेवाले मनको संकल्प-विकल्पोंसे रहित करके हृदयमें निरुद्ध कर देना ही उसको हृद्देशमें स्थिर करना है।

६. निर्गुण-निराकार ब्रह्मको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना, परम गतिको प्राप्त होना है। इसीको सदाके लिये आवागमनसे मुक्त होना, मुक्तिलाभ कर लेना, मोक्षको प्राप्त होना अथवा निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होना कहते हैं।

७. जिसका चित्त अन्य किसी भी वस्तुमें न लगकर निरन्तर अनन्य प्रेमके साथ केवल परम प्रेमी परमेश्वरमें ही लगा रहता हो, उसे 'अनन्यचेताः' कहते हैं।

८. यहाँ 'माम्' पद सगुण-साकार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका वाचक है; परंतु जो श्रीविष्णु और श्रीराम या भगवान्‌के दूसरे रूपको इष्ट माननेवाले हैं, उनके लिये वह रूप भी 'माम्' का ही वाच्य है तथा परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्‌के स्वरूपका अथवा उनके नाम, गुण, प्रभाव और लीला आदिका चिन्तन करते रहना ही उनका स्मरण करना है।

१. अनन्यभावसे भगवान्‌का चिन्तन करनेवाला प्रेमी भक्त जब भगवान्‌के वियोगको नहीं सह सकता तब 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४।११) के अनुसार भगवान्‌को भी उसका वियोग असह्य हो जाता है और जब भगवान् स्वयं मिलनेकी इच्छा करते हैं, तब कठिनताके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इसी हेतुसे ऐसे भक्तके लिये भगवान्‌को सुलभ बतलाया गया है।

२. अतिशय श्रद्धा और प्रेमके साथ नित्य-निरन्तर भजन-ध्यानका साधन करते-करते जब साधनकी वह पराकाष्ठारूप स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिसके प्राप्त होनेके बाद फिर कुछ भी साधन करना शेष नहीं रह जाता और तत्काल ही उसे भगवान्‌का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाता है—उस पराकाष्ठाकी स्थितिको 'परम सिद्धि' कहते हैं और भगवान्‌के जो भक्त इस परम सिद्धिको प्राप्त हैं, उन ज्ञानी भक्तोंके लिये 'महात्मा' शब्दका प्रयोग किया गया है।

३. मरनेके बाद कर्मपरवश होकर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमेंसे किसी भी योनिमें जन्म लेना ही पुनर्जन्म कहलाता है और ऐसी कोई भी योनि नहीं है, जो दुःखपूर्ण और अनित्य न हो। अतः पुनर्जन्ममें गर्भसे लेकर मृत्युपर्यन्त दुःख-ही-दुःख होनेके कारण उसे दुःखोंका घर कहा गया है और किसी भी योनिका तथा उस योनिमें प्राप्त भोगोंका संयोग सदा न रहनेवाला होनेसे उसे अशाश्वत (क्षणभंगुर) बतलाया गया है।

४. जो चतुर्मुख ब्रह्मा सृष्टिके आदिमें भगवान्‌के नाभिकमलसे उत्पन्न होकर सारी सृष्टिकी रचना करते हैं, जिनको प्रजापति, हिरण्यगर्भ और सूत्रात्मा भी कहते हैं तथा इसी अध्यायमें जिनको 'अधिदैव' कहा गया है (गीता ८।४), वे जिस ऊर्ध्वलोकमें निवास करते हैं, उस लोकविशेषका नाम 'ब्रह्मलोक' है। उपर्युक्त ब्रह्मलोकके सहित उससे नीचेके जितने भी विभिन्न लोक हैं, उन सबको पुनरावर्ती समझना चाहिये।

५. बार-बार नष्ट होना और उत्पन्न होना जिनका स्वभाव हो, उन लोकोंको ‘पुनरावर्ती’ कहते हैं।

६. यहाँ ‘युग’ शब्द ‘दिव्य युग’ का वाचक है—जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग चारों युगोंके समयको मिलानेपर होता है। यह देवताओंका युग है, इसलिये इसको ‘दिव्य युग’ कहते हैं। इस देवताओंके समयका परिमाण हमारे समयके परिमाणसे तीन सौ साठ गुना अधिक माना जाता है। अर्थात् हमारा एक वर्ष देवताओंका एक दिन-रात, हमारे तीस वर्ष देवताओंका एक महीना और हमारे तीन सौ साठ वर्ष उनका एक दिव्य वर्ष होता है। ऐसे बारह हजार दिव्य वर्षोंका एक ‘दिव्य युग’ होता है। इसे ‘महायुग’ और ‘चतुर्युगी’ भी कहते हैं। इस संख्याके जोड़नेपर हमारे ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। दिव्य वर्षोंके हिसाबसे बारह सौ दिव्य वर्षोंका हमारा कलियुग, चौबीस सौका द्वापर, छत्तीस सौका त्रेता और अड़तालीस सौ वर्षोंका सत्ययुग होता है। कुल मिलाकर १२,००० वर्ष होते हैं।

इसे दूसरी तरह समझिये। हमारे युगोंके समयका परिमाण इस प्रकार है—

कलियुग—४,३२,००० वर्ष
द्वापरयुग—८,६४,००० वर्ष (कलियुगसे दुगुना)
त्रेतायुग—१२,९६,००० वर्ष (कलियुगसे तिगुना)
सत्ययुग—१७,२८,००० वर्ष (कलियुगसे चौगुना)
कुल जोड़—४३,२०,००० वर्ष

यह एक दिव्य युग हुआ। ऐसे हजार दिव्य युगोंका अर्थात् हमारे ४,३२,००,००,००० (चार अरब बत्तीस करोड़) वर्षका ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है।

मनुस्मृतिके प्रथम अध्यायमें चौंसठवेंसे तिहत्तरवें श्लोकतक इस विषयका विशद वर्णन है। ब्रह्माके दिनको ‘कल्प’ या ‘सर्ग’ और रात्रिको प्रलय कहते हैं। ऐसे तीस दिन-रातका ब्रह्माका एक महीना, ऐसे बारह महीनोंका एक वर्ष और ऐसे सौ वर्षोंकी ब्रह्माकी पूर्णायु होती है। ब्रह्माके दिन-रात्रिका परिमाण बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार ब्रह्माका जीवन और उनका लोक भी सीमित तथा कालकी अवधिवाला है, इसलिये वह भी अनित्य ही है और जब वही अनित्य है, तब उसके नीचेके लोक और उनमें रहनेवाले प्राणियोंके शरीर अनित्य हों, इसमें तो कहना ही क्या है?

१. देव, मनुष्य, पितर, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें जितने भी व्यक्तरूपमें स्थित देहधारी चराचर प्राणी हैं, उन सबको ‘व्यक्ति’ कहा है।

प्रकृतिका जो सूक्ष्म परिणाम है, जिसको ब्रह्माका सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं, स्थूल पंचमहाभूतोंके उत्पन्न होनेसे पूर्वकी जो स्थिति है, उस सूक्ष्म अपरा प्रकृतिका नाम यहाँ ‘अव्यक्त’ है।

ब्रह्माके दिनके आगममें अर्थात् जब ब्रह्मा अपनी सुषुप्ति-अवस्थाका त्याग करके जाग्रत्-अवस्थाको स्वीकार करते हैं, तब उस सूक्ष्म प्रकृतिमें विकार उत्पन्न होता है और वह स्थूलरूपमें परिणत हो जाती है एवं उस स्थूलरूपमें परिणत प्रकृतिके साथ सब प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न रूपोंमें सम्बद्ध हो जाते हैं। यही अव्यक्तसे व्यक्तियोंका उत्पन्न होना है।

२. एक हजार दिव्य युगोंके बीत जानेपर जिस क्षणमें ब्रह्मा जाग्रत्-अवस्थाका त्याग करके सुषुप्ति-अवस्थाको स्वीकार करते हैं, उस प्रथम क्षणका नाम ब्रह्माकी रात्रिका आगम प्रवेश-काल है।

उस समय स्थूलरूपमें परिणत प्रकृति सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त हो जाती है और समस्त देहधारी प्राणी भिन्न-भिन्न स्थूल शरीरोंसे रहित होकर प्रकृतिकी सूक्ष्म अवस्थामें स्थित हो जाते हैं। यही उस अव्यक्तमें समस्त व्यक्तियोंका लय होना है।

३. अव्यक्तमें लीन हो जानेसे भूतप्राणी न तो मुक्त होते हैं और न उनकी भिन्न सत्ता ही मिटती है। इसीलिये ब्रह्माकी रात्रिका समय समाप्त होते ही वे सब पुनः अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार यथायोग्य स्थूल शरीरोंको प्राप्त करके प्रकट हो जाते हैं।

इस प्रकार यह भूतसमुदाय अनादिकालसे उत्पन्न हो-होकर लीन होता चला आ रहा है। ब्रह्माकी आयुके सौ वर्ष पूर्ण होनेपर जब ब्रह्माका शरीर भी मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है और उसके साथ-साथ सब भूतसमुदाय भी उसीमें लीन हो जाते हैं (गीता ९।७), तब भी इनके इस चक्करका अन्त नहीं आता। ये उसके बाद भी उसी तरह पुनः-पुनः उत्पन्न होते रहते हैं (गीता ९।८)। जबतक प्राणीको परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक वह बार-बार इसी प्रकार उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिमें लीन होता रहेगा।

यहाँ ब्रह्माके दिन-रातका प्रसंग होनेसे यही समझना चाहिये कि ब्रह्मा ही समस्त प्राणियोंको उनके गुण-कर्मानुसार शरीरोंसे सम्बद्ध करके बार-बार उत्पन्न करते हैं। महाप्रलयके बाद जिस समय ब्रह्माकी उत्पत्ति नहीं होती, उस समय तो सृष्टिकी रचना स्वयं भगवान् करते हैं; परंतु ब्रह्माके उत्पन्न होनेके बाद सबकी रचना ब्रह्मा ही करते हैं।

गीताके नवें अध्यायमें (श्लोक ७ से १०) और चौदहवें अध्यायमें (श्लोक ३, ४) जो सृष्टिरचनाका प्रसंग है, वह महाप्रलयके बाद महासर्गके आदिकालका है और यहाँका वर्णन ब्रह्माकी रात्रिके (प्रलयके) बाद ब्रह्माके दिनके (सर्गके) आरम्भ-समयका है।

१. अठारहवें श्लोकमें जिस 'अव्यक्त' में समस्त व्यक्तियों (भूत-प्राणियों)-का लय होना बतलाया गया है, उसीका वाचक यहाँ 'अव्यक्तात्' पद है; उस पूर्वोक्त 'अव्यक्त' से इस 'अव्यक्त' को 'पर' और 'अन्य' बतलाकर उससे इसकी अत्यन्त श्रेष्ठता और विलक्षणता सिद्ध की गयी है। अभिप्राय यह है कि दोनोंका स्वरूप 'अव्यक्त' होनेपर भी दोनों एक जातिकी वस्तु नहीं हैं। वह पहला 'अव्यक्त' जड, नाशवान् और ज्ञेय है; परंतु यह दूसरा चेतन, अविनाशी और ज्ञाता है। साथ ही यह उसका स्वामी, संचालक और अधिष्ठाता है; अतएव यह उससे अत्यन्त श्रेष्ठ और विलक्षण है। अनादि और अनन्त होनेके कारण इसे 'सनातन' कहा गया है। इसलिये यह सबके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।

२. जिसे पूर्वश्लोकमें 'सनातन अव्यक्तभाव' के नामसे और आठवें तथा दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्य पुरुष' के नामसे कहा है, उसी अधियज्ञ पुरुषको यहाँ 'अव्यक्त' और 'अक्षर' कहा है।

३. जो मुक्ति सर्वोत्तम प्राप्य वस्तु है, जिसे प्राप्त कर लेनेके बाद और कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता, उसका नाम 'परम गति' है। इसलिये जिस निर्गुण-निराकार परमात्माको 'परम अक्षर' और 'ब्रह्म' कहते हैं, उसी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको 'परम गति' कहा गया है (गीता ८।१३)।

४. अभिप्राय यह है कि भगवान्के नित्य धामकी, भगवद्भावकी और भगवान्के स्वरूपकी प्राप्तिमें कोई वास्तविक भेद नहीं है। इसी तरह अव्यक्त अक्षरकी प्राप्तिमें तथा परमगतिकी प्राप्तिमें और भगवान्की प्राप्तिमें भी वस्तुतः कोई भेद नहीं है। साधनाके भेदसे साधकोंकी दृष्टिमें फलका भेद है। इसी कारण उसका भिन्न-भिन्न नामोंसे वर्णन किया गया है। यथार्थमें वस्तुगत कुछ भी भेद न होनेके कारण यहाँ उन सबकी एकता दिखलायी गयी है।

५. जैसे वायु, तेज, जल और पृथ्वी—चारों भूत आकाशके अन्तर्गत हैं, आकाश ही उनका एकमात्र कारण और आधार है, उसी प्रकार समस्त चराचर प्राणी अर्थात् सारा जगत् परमेश्वरके ही अन्तर्गत है, परमेश्वरसे ही उत्पन्न है और परमेश्वरके ही आधारपर स्थित है तथा जिस प्रकार वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन सबमें आकाश व्याप्त है, उसी प्रकार यह सारा जगत् अव्यक्त परमेश्वरसे व्याप्त है, यही बात गीताके नवम अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विस्तारपूर्वक दिखलायी गयी है।

६. सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, परम पुरुष परमेश्वरमें ही सब कुछ समर्पण करके उनके विधानमें सदा परम संतुष्ट रहना और सब प्रकारसे अनन्य प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर उनका स्मरण करना ही अनन्यभक्ति है। इस अनन्य-भक्तिके द्वारा साधक अपने उपास्यदेव परमेश्वरके गुण, स्वभाव और तत्त्वको भलीभाँति जानकर उनमें तन्मय हो जाता है और शीघ्र ही उनका साक्षात्कार करके कृतकृत्य हो जाता है। यही साधकका उन परमेश्वरको प्राप्त कर लेना है।

१. यहाँ 'काल' शब्द उस मार्गका वाचक है, जिसमें कालाभिमानी भिन्न-भिन्न देवताओंका अपनी-अपनी सीमातक अधिकार है; क्योंकि इस अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें इसीको 'शुक्ल' और 'कृष्ण' दो प्रकारकी 'गति'के नामसे और सत्ताईसवें श्लोकमें 'सृति' के नामसे कहा है। वे दोनों ही शब्द मार्गवाचक हैं। इसके सिवा 'अग्निः', 'ज्योतिः' और 'धूमः' पद भी समयवाचक नहीं हैं। अतएव चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें आये हुए 'तत्र' पदका अर्थ 'समय' मानना उचित नहीं होगा। इसीलिये यहाँ 'काल' शब्दका अर्थ कालाभिमानी देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाला 'मार्ग' मानना ही ठीक है। संसारमें लोग जो दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके समय मरना अच्छा समझते हैं, यह समझना भी एक प्रकारसे ठीक ही है; क्योंकि उस समय उस-उस कालाभिमानी देवताओंके साथ तत्काल सम्बन्ध हो जाता है। अतः उस समय मरनेवाला योगी गन्तव्य स्थानतक शीघ्र और सुगमतासे पहुँच जाता है। पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि रात्रिके समय मरनेवाला तथा कृष्णपक्षमें और दक्षिणायनके छः महीनोंमें मरनेवाला अर्चिमार्गसे नहीं जाता; बल्कि यह समझना चाहिये कि चाहे जिस समय मरनेपर भी, वह जिस मार्गसे जानेका अधिकारी होगा, उसी मार्गसे जायगा।

२. 'योगीजन' से यह बात समझनी चाहिये कि जो साधारण मनुष्य इसी लोकमें एक योनिसे दूसरी योनिमें बदलनेवाले हैं या जो नरकादिमें जानेवाले हैं, उनकी गतिका यहाँ वर्णन नहीं है।

३. यहाँ 'ज्योतिः' पद 'अग्निः' का विशेषण है और 'अग्निः' पद अग्नि-अभिमानी देवताका वाचक है। उपनिषदोंमें इसी देवताको 'अर्चिः' कहा गया है। इसका स्वरूप दिव्य प्रकाशमय है, पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित सब देशमें इसका अधिकार है तथा उत्तरायण-मार्गमें जानेवाले अधिकारीका दिनके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। उत्तरायण मार्गसे जानेवाला जो उपासक रात्रिमें शरीर त्याग करता है, उसे यह रातभर अपने अधिकारमें रखकर दिनके उदय होनेपर दिनके अभिमानी देवताके अधीन कर देता है और जो दिनमें मरता है, उसे तुरंत ही दिनके अभिमानी देवताको सौंप देता है।

४. ‘अहः’ पद दिनके अभिमानी देवताका वाचक है, इसका स्वरूप अग्नि-अभिमानी देवताकी अपेक्षा बहुत अधिक दिव्य प्रकाशमय है। जहाँतक पृथ्वी-लोककी सीमा है अर्थात् जितनी दूरतक आकाशमें पृथ्वीके वायुमण्डलका सम्बन्ध है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायणमार्गमें जानेवाले उपासकको शुक्लपक्षके अभिमानी देवतासे सम्बन्ध करा देना ही इसका काम है। अभिप्राय यह है कि उपासक यदि कृष्णपक्षमें मरता है तो शुक्लपक्ष आनेतक उसे यह अपने अधिकारमें रखकर और यदि शुक्लपक्षमें मरता है तो तुरंत ही अपनी सीमातक ले जाकर उसे शुक्लपक्षके अभिमानी देवतासे अधीन कर देता है।

५. ‘शुक्लः’ पद शुक्लपक्षाभिमानी देवताका वाचक है। इसका स्वरूप दिनके अभिमानी देवतासे भी अधिक दिव्य प्रकाशमय है। भूलोककी सीमासे बाहर अन्तरिक्षलोकमें—जिन पितृ-लोकोंमें पंद्रह दिनके दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायणमार्गसे जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके उत्तरायणके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। यह भी पहलेवालोंकी भाँति यदि साधक दक्षिणायनमें इसके अधिकारमें आता है तो उत्तरायणका समय आनेतक उसे अपने अधिकारमें रखकर और यदि उत्तरायणमें आता है तो तुरंत ही अपनी सीमासे पार करके उत्तरायण-अभिमानी देवताके अधिकारमें सौंप देता है।

६. जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तर दिशाकी ओर चलते रहते हैं, उस छमाहीको उत्तरायण कहते हैं। उस उत्तरायण-कालाभिमानी देवताका वाचक यहाँ ‘षण्मासा उत्तरायणम्’ पद है। इसका स्वरूप शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे भी बढ़कर दिव्य प्रकाशमय है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन देवताओंके लोकोंमें छः महीनोंके दिन एवं उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका अधिकार है और उत्तरायणमार्गसे परमधामको जानेवाले अधिकारीको अपनी सीमासे पार करके, उपनिषदोंमें वर्णित—(छान्दोग्य उप० ४।१५।५ तथा ५।१०।१, २; बृहदारण्यक उप० ६।२।१५) संवत्सरके अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे आगे संवत्सरका अभिमानी देवता उसे सूर्यलोकमें पहुँचाता है। वहाँसे क्रमशः आदित्याभिमानी देवता चन्द्राभिमानी देवताके अधिकारमें और वह विद्युत्-अभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देता है। फिर वहाँपर भगवान्‌के परमधामसे भगवान्‌के पार्षद आकर उसे परमधाममें ले जाते हैं और तब उसका भगवान्‌से मिलन हो जाता है।

ध्यान रहे कि इस वर्णनमें आया हुआ ‘चन्द्र’ शब्द हमें दीखनेवाले चन्द्रलोकका और उसके अभिमानी देवताका वाचक नहीं है।

१. इस श्लोकमें ‘ब्रह्मविदः’ पद निर्गुण ब्रह्मके तत्त्वको या सगुण परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपको शास्त्र और आचार्योंके उपदेशानुसार श्रद्धापूर्वक परोक्षभावसे जाननेवाले उपासकोंका तथा निष्कामभावसे कर्म करनेवाले कर्मयोगियोंका वाचक है। यहाँका ‘ब्रह्मविदः’ पद परब्रह्म परमात्माको प्राप्त ज्ञानी महात्माओंका वाचक नहीं है; क्योंकि उनके लिये एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमनका वर्णन उपयुक्त नहीं है। श्रुतिमें भी कहा है—‘न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्ति’ (बृहदारण्यक उप० ४।४।६), ‘अत्रैव समवलीयन्ते’ (बृहदारण्यक उप० ३।२।११), ‘ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति’ (बृहदारण्यक उप० ४।४।६) अर्थात् ‘क्योंकि उसके प्राण उत्क्रान्तिको नहीं प्राप्त होते—शरीरसे निकलकर अन्यत्र नहीं जाते’, ‘यहींपर लीन हो जाते हैं’, ‘वह ब्रह्म हुआ ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।’

२. यहाँ ‘ब्रह्म’ शब्द सगुण परमेश्वरका वाचक है। उनके कभी नाश न होनेवाले नित्य धाममें, जिसे सत्यलोक, परमधाम, साकेतलोक, गोलोक, वैकुण्ठलोक आदि नामोंसे कहा है, पहुँचकर भगवान्‌को प्रत्यक्ष कर लेना ही उनको प्राप्त होना है।

३. यहाँ ‘धूमः’ पद धूमाभिमानी देवताका अर्थात् अन्धकारके अभिमानी देवताका वाचक है। उसका स्वरूप अन्धकारमय होता है। अग्नि-अभिमानी देवताकी भाँति पृथ्वीके ऊपर समुद्रसहित समस्त देशमें इसका भी अधिकार है तथा दक्षिणायन-मार्गसे जानेवाले साधकोंको रात्रि-अभिमानी देवताके पास पहुँचा देना इसका काम है। दक्षिणायन-मार्गसे जानेवाला जो साधक दिनमें मर जाता है उसे यह दिनभर अपने अधिकारमें रखकर रात्रिका आरम्भ होते ही रात्रि-अभिमानी देवताको सौंप देता है और जो रात्रिमें मरता है, उसे तुरंत ही रात्रि-अभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

४. यहाँ ‘रात्रिः’ पदको भी रात्रिके अभिमानी देवताका ही वाचक समझना चाहिये। इसका स्वरूप अन्धकारमय होता है। दिनके अभिमानी देवताकी भाँति इसका अधिकार भी जहाँतक पृथ्वीलोककी सीमा है, वहाँतक है। भेद इतना ही है कि पृथ्वीलोकमें जिस समय जहाँ दिन रहता है, वहाँ दिनके अभिमानी देवताका अधिकार रहता है और जिस समय जहाँ रात्रि रहती है, वहाँ रात्रि-अभिमानी देवताका अधिकार रहता है। दक्षिणायन-मार्गसे जानेवाले साधकको पृथ्वीलोककी सीमासे पार करके अन्तरिक्षमें कृष्णपक्षके अभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। यदि वह साधक शुक्लपक्षमें मरता है, तब तो उसे कृष्णपक्षके आनेतक अपने अधिकारमें रखकर और यदि कृष्णपक्षमें मरता है तो तुरंत ही अपने अधिकारसे पार करके कृष्णपक्षाभिमानी देवताके अधीन कर देता है।

५. कृष्णपक्षाभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'कृष्णः' पद है। इसका स्वरूप भी अन्धकारमय होता है। पृथ्वी-मण्डलकी सीमाके बाहर अन्तरिक्षलोकमें, जिन पितृलोकोंमें पंद्रह दिनका दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका भी अधिकार है। भेद इतना ही है कि जिस समय जहाँ उस लोकमें शुक्लपक्ष रहता है, वहाँ शुक्लपक्षाभिमानी देवताका अधिकार रहता है और जहाँ कृष्णपक्ष रहता है, वहाँ कृष्णपक्षाभिमानी देवताका अधिकार रहता है। दक्षिणायन-मार्गसे स्वर्गमें जानेवाले साधकोंको दक्षिणायनाभिमानी देवताके अधीन कर देना इसका काम है। जो दक्षिणायन-मार्गका अधिकारी साधक उत्तरायणके समय इसके अधिकारमें आता है, उसे दक्षिणायनका समय आनेतक अपने अधिकारमें रखकर और जो दक्षिणायनके समय आता है, उसे तुरंत ही यह अपने अधिकारसे पार करके दक्षिणायनाभिमानी देवताके पास पहुँचा देता है।

६. जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण दिशाकी ओर चलते रहते हैं, उस छमाहीको दक्षिणायन कहते हैं। उसके अभिमानी देवताका वाचक यहाँ 'दक्षिणायनम्' पद है। इसका स्वरूप भी अन्धकारमय होता है। अन्तरिक्षलोकके ऊपर जिन देवताओंके लोकोंमें छः महीनोंका दिन और छः महीनोंकी रात्रि होती है, वहाँतक इसका भी अधिकार है। भेद इतना ही है कि उत्तरायणके छः महीनोंमें उसके अभिमानी देवताका वहाँ अधिकार रहता है और दक्षिणायनके छः महीनोंमें इसका अधिकार रहता है। दक्षिणायन-मार्गसे स्वर्गमें जानेवाले साधकोंको अपने अधिकारसे पार करके उपनिषदोंमें वर्णित पितृलोकाभिमानी देवताके अधिकारमें पहुँचा देना इसका काम है। वहाँसे पितृलोकाभिमानी देवता साधकको आकाशाभिमानी देवताके पास और वह आकाशाभिमानी देवता चन्द्रमाके लोकमें पहुँचा देता है (छान्दोग्य उप० ५।१०।४ बृहदारण्यक उप० ६।२।१६)। यहाँ चन्द्रमाका लोक उपलक्षणमात्र है; अतः ब्रह्माके लोकतक जितने भी पुनरागमनशील लोक हैं, चन्द्रलोकसे उन सभीको समझ लेना चाहिये।

ध्यान रहे कि उपनिषदोंमें वर्णित यह पितृलोक वह पितृलोक नहीं है, जो अन्तरिक्षके अन्तर्गत है और जहाँ पंद्रह दिनका दिन और उतने ही समयकी रात्रि होती है।

१. स्वर्गादिके लिये पुण्यकर्म करनेवाला पुरुष भी अपनी ऐहिक भोगोंकी प्रवृत्तिका निरोध करता है, इस दृष्टिसे उसे भी 'योगी' कहना उचित है। इसके सिवा योगभ्रष्ट पुरुष भी इस मार्गसे स्वर्गमें जाकर वहाँ कुछ कालतक निवास करके वापस लौटते हैं। वे भी इसी मार्गसे जानेवालोंमें हैं। अतः उनको 'योगी' कहना उचित ही है। यहाँ 'योगी' शब्दका प्रयोग करके यह बात भी दिखलायी गयी है कि यह मार्ग पापकर्म करनेवाले तामस मनुष्योंके लिये नहीं है, उच्च लोकोंकी प्राप्तिके अधिकारी शास्त्रीय कर्म करनेवाले पुरुषोंके लिये ही है (गीता २।४२, ४३, ४४ तथा ९।२०, २१ आदि)।

२. चन्द्रमाके लोकमें उसके अभिमानी देवताका स्वरूप शीतल प्रकाशमय है। उसीके-जैसे प्रकाशमय स्वरूपका नाम 'ज्योति' है और वैसे ही स्वरूपको प्राप्त हो जाना—चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होना है। वहाँ जानेवाला साधक उस लोकमें शीतल प्रकाशमय दिव्य देवशरीर पाकर अपने पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप दिव्य भोगोंको भोगता है।

३. चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर वहाँ रहनेका नियत समय समाप्त हो जानेपर इस मृत्युलोकमें वापस आ जाना ही वहाँसे लौटना है। जिन कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग और वहाँके भोग प्राप्त होते हैं, उनका भोग समाप्त हो जानेसे जब वे क्षीण हो जाते हैं, तब प्राणीको बाध्य होकर वहाँसे वापस लौटना पड़ता है। वह चन्द्रलोकसे आकाशमें आता है, वहाँसे वायुरूप हो जाता है, फिर धूमके आकारमें परिणत हो जाता है, धूमसे बादलमें आता है, बादलसे मेघ बनता है, इसके अनन्तर जलके रूपमें पृथ्वीपर बरसता है, वहाँ गेहूँ, जौ, तिल, उड़द आदि बीजोंमें या वनस्पतियोंमें प्रविष्ट होता है। उनके द्वारा पुरुषके वीर्यमें प्रविष्ट होकर स्त्रीकी योनिमें सींचा जाता है और अपने कर्मानुसार योनिको पाकर जन्म ग्रहण करता है। (छान्दोग्य उप० ५।१०।५, ६, ७; बृहदारण्यक उप० ६।२।१६)।

४. चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते कभी-न-कभी भगवान् दया करके जीवमात्रको मनुष्यशरीर देकर अपने तथा देवताओंके लोकोंमें जानेका सुअवसर देते हैं। उस समय यदि वह जीवनका सदुपयोग करे तो दोनोंमेंसे किसी एक मार्गके द्वारा गन्तव्य स्थानको अवश्य प्राप्त कर सकता है। अतएव प्रकारान्तरसे प्राणिमात्रके साथ इन दोनों मार्गोंका सम्बन्ध है। ये मार्ग सदासे ही समस्त प्राणियोंके लिये हैं और सदैव रहेंगे। इसीलिये इनको शाश्वत कहा है। यद्यपि महाप्रलयमें जब समस्त लोक भगवान्में लीन हो जाते हैं, उस समय ये मार्ग और इनके देवता भी लीन हो जाते हैं, तथापि जब पुनः सृष्टि होती है, तब पूर्वकी भाँति ही इनका पुनः निर्माण हो जाता है। अतः इनको 'शाश्वत' कहनेमें कोई दोष नहीं है।

५. अर्थात् इसी अध्यायके २४वें श्लोकके अनुसार अर्चिमार्गसे गया हुआ योगी।

६. अर्थात् इसी अध्यायके २५वें श्लोकके अनुसार धूममार्गसे गया हुआ सकाम कर्मी।

७. योगसाधनामें लगा हुआ भी मनुष्य इन मार्गोंका तत्त्व न जाननेके कारण स्वभाववश इस लोक या परलोकके भोगोंमें आसक्त होकर साधनसे भ्रष्ट हो जाता है, यही उसका मोहित होना है; किंतु जो इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानता

है, वह फिर ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त लोकोंके भोगोंको नाशवान् और तुच्छ समझ लेनेके कारण किसी भी प्रकारके भोगोंमें आसक्त नहीं होता एवं निरन्तर परमेश्वरकी प्राप्तिके ही साधनमें लगा रहता है। यही उसका मोहित न होना है।

८. यहाँ भगवान्‌ने जो अर्जुनको सब कालमें योगयुक्त होनेके लिये कहा है, इसका यह भाव है कि मनुष्य-जीवन बहुत थोड़े ही दिनोंका है, मृत्युका कुछ भी पता नहीं है कि कब आ जाय। यदि अपने जीवनके प्रत्येक क्षणको साधनमें लगाये रखनेका प्रयत्न नहीं किया जायगा तो साधन बीच-बीचमें छूटता रहेगा और यदि कहीं साधनहीन अवस्थामें मृत्यु हो जायगी तो योगभ्रष्ट होकर पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। अतएव मनुष्यको भगवत्प्राप्तिके साधनमें नित्य-निरन्तर लगे ही रहना चाहिये।

१. इस अध्यायमें वर्णित शिक्षाको अर्थात् भगवान्‌के सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार स्वरूपकी उपासनाको, भगवान्‌के गुण, प्रभाव और माहात्म्यको एवं किस प्रकार साधन करनेसे मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, कहाँ जाकर मनुष्यको लौटना पड़ता है और कहाँ पहुँच जानेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता, इत्यादि जितनी बातें इस अध्यायमें बतलायी गयी हैं, उन सबको भलीभाँति समझ लेना ही उसे तत्त्वसे जानना है।

२. यहाँ 'वेद' शब्द अंगोंसहित चारों वेदोंका और उनके अनुकूल समस्त शास्त्रोंका, 'यज्ञ' शास्त्रविहित पूजन, हवन आदि सब प्रकारके यज्ञोंका, 'तप' व्रत, उपवास, इन्द्रियसंयम, स्वधर्मपालन आदि सभी प्रकारके शास्त्रविहित तपोंका और 'दान' अन्नदान, विद्यादान, क्षेत्रदान आदि सब प्रकारके शास्त्रविहित दान एवं परोपकारका वाचक है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सकामभावसे वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय तथा यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे जो पुण्यसंचय होता है, उस पुण्यका जो ब्रह्मलोकपर्यन्त भिन्न-भिन्न देवलोकोंकी और वहाँके भोगोंकी प्राप्तिरूप फल वेद-शास्त्रोंमें बतलाया गया है, वही पुण्यफल है। एवं जो उन सब लोकोंको और उनके भोगोंको क्षणभंगुर तथा अनित्य समझकर उनमें आसक्त न होना और उनसे सर्वथा उपरत हो जाना है, यही उनको उल्लंघन कर जाना है।

त्रयस्त्रिंशोऽध्याय:

(श्रीमद्भगवद्गीतायां नवमोऽध्याय:)

ज्ञान-विज्ञान और जगत्‌की उत्पत्तिका, आसुरी और दैवी सम्पदावालोंका, प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका, सकाम-निष्काम उपासनाका एवं भगवद्भक्तिकी महिमाका वर्णन

सम्बन्ध—*गीताके सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की थी। उसके अनुसार उस विषयका वर्णन करते हुए, अन्तमें ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्‌को जाननेकी एवं अन्तकालके भगवच्चिन्तनकी बात कही। इसपर आठवें अध्यायमें अर्जुनने उन तत्त्वोंको और अन्तकालकी उपासनाके विषयको समझनेके लिये सात प्रश्न कर दिये। उनमेंसे छः प्रश्नोंका उत्तर तो भगवान्‌ने संक्षेपमें तीसरे और चौथे श्लोकमें दे दिया, किंतु सातवें प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने जिस उपदेशका आरम्भ किया, उसमें सारा-का-सारा आठवाँ अध्याय पूरा हो गया। इस प्रकार सातवें अध्यायमें आरम्भ किये हुए विज्ञानसहित ज्ञानका सांगोपांग वर्णन न होनेके कारण उसी विषयको भलीभाँति समझानेके उद्देश्यसे भगवान् इस नवम अध्यायका आरम्भ करते हैं तथा सातवें अध्यायमें वर्णित उपदेशके साथस इसका घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलानेके लिये पहले श्लोकमे पुनः उसी विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं[3] प्रवक्ष्याम्यनसूयवे[४] ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।। १ ।।

श्रीभगवान् बोले—तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे[१] मुक्त हो जायगा ।। १ ।।

राजविद्या[२] राजगुह्यं[३] पवित्रमिदमुत्तमम्[४] ।

प्रत्यक्षावगमं[५] धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्[६] ।। २ ।।

यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम[७] और अविनाशी

है ।। २ ।।

सम्बन्ध—*जब विज्ञानसहित ज्ञानकी इतनी महिमा है और इसका साधन भी इतना सुगम है तो फिर सभी मनुष्य इसे धारण क्यों नहीं करते? इस जिज्ञासापर अश्रद्धाको ही इसमें प्रधान कारण दिखलानेके लिये भगवान् अब इसपर श्रद्धा न करनेवाले मनुष्योंकी निन्दा करते हैं—*

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।। ३ ।।

हे परंतप! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष[८] मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं ।। ३ ।।

सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकमें भगवान्ने जिस विज्ञानसहित ज्ञानका उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा की थी तथा जिसका माहात्म्य वर्णन किया था, अब उसका आरम्भ करते हुए वे सबसे पहले प्रभावके साथ अपने निराकारस्वरूपके तत्त्वका वर्णन करते हैं—*

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना[१] ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।। ४ ।।

मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत्[२] जलसे बरफके सदृश परिपूर्ण है[३] और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं[४] किंतु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ[५] ।। ४ ।।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्[६] ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।। ५ ।।

वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख[७] कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है[८] ।। ५ ।।

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।। ६ ।।

जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाशमें ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान[१] ।। ६ ।।

सम्बन्ध—*विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करते हुए भगवान्ने यहाँतक प्रभावसहित अपने निराकारस्वरूपका तत्त्व समझानेके लिये अपनेको सबमें व्यापक, सबका आधार, सबका उत्पादक, असंग और निर्विकार बतलाया। अब अपने भूतभावन स्वरूपका स्पष्टीकरण करते हुए सृष्टिरचनादि कर्मोंका तत्त्व समझाते हैं—*

सर्वभूतानि[२] कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये[३] पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।। ७ ।।

हे अर्जुन! कल्पोंके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं[४] अर्थात् प्रकृतिमें लीन होते हैं और कल्पोंके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ[५] ।। ७ ।।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।। ८ ।।

अपनी प्रकृतिको अंगीकार[६] करके स्वभावके बलसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बार-बार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ[७] ।। ८ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार जगत्-रचनादि समस्त कर्म, करते हुए भी भगवान् उन कर्मोंके बन्धनमें क्यों नहीं पड़ते, अब यही तत्त्व समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—*

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।। ९ ।।

हे अर्जुन! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते[१] ।। ९ ।।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगत् विपरिवर्तते ।। १० ।।

हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति चराचरसहित सर्वजगत्को रचती है[२] और इस हेतुसे ही यह संसार-चक्र घूम रहा है ।। १० ।।

सम्बन्ध—*अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करते हुए भगवान्ने चौथेसे छठे श्लोकतक प्रभावसहित सगुण-निराकार स्वरूपका तत्त्व समझाया। फिर सातवेंसे दसवें श्लोकतक सृष्टि-रचनादि समस्त कर्मोंमें अपनी असंगता और निर्विकारता दिखलाकर उन कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व बतलाया। अब अपने सगुण-साकार रूपका महत्त्व, उसकी भक्तिका प्रकार और उसके गुण और प्रभावका तत्त्व समझानेके लिये पहले दो श्लोकोंमें उसके प्रभावको न जाननेवाले, असुर-प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करते हैं—*

अवजानन्ति मां मूढा[३] मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।। ११ ।।

मेरे परम भावको न जाननेवाले[४] मूढलोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं[१] ।। ११ ।।

मोघाशा[२] मोघकर्माणो[३] मोघज्ञाना[४] विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ।। १२ ।।

वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिको ही धारण किये रहते हैं[५] ।। १२ ।।

सम्बन्ध—*भगवान्‌का प्रभाव न जाननेवाले आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करके अब सगुणरूपकी भक्तिका तत्त्व समझानेके लिये भगवान्‌के प्रभावको जाननेवाले, दैवी प्रकृतिके आश्रित, उच्च श्रेणीके अनन्य भक्तोंके लक्षण बतलाते हैं—*

महात्मानस्तु[६] मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।। १३ ।।

परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित[७] महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर[८] अनन्यमनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं[९] ।।

सततं[१] कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च[२] दृढव्रताः[३] ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता[४] उपासते ।। १४ ।।

वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन[५] करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम[६] करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्यप्रेमसे मेरी उपासना करते हैं[७] ।। १४ ।।

सम्बन्ध—*भगवान्‌के गुण, प्रभाव आदिको जाननेवाले अनन्यप्रेमी भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाकर अब भगवान् उनसे भिन्न श्रेणीके उपासकोंकी उपासनाका प्रकार बतलाते हैं—*

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।। १५ ।।

दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ज्ञान-यज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं,[८] और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकारसे स्थित मुझ विराट्स्वरूप परमेश्वरकी पृथक् भावसे उपासना करते हैं[९] ।। १५ ।।

सम्बन्ध—*समस्त विश्वकी उपासना भगवान्‌की ही उपासना कैसे है—यह स्पष्ट समझानेके लिये अब चार श्लोकोंद्वारा भगवान् इस बातका प्रतिपादन करते हैं कि समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है—*

अहं क्रतुरहं[१] यज्ञः[२] स्वधाहमहमौषधम्[३] ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं[४] हुतम् ।। १६ ।।

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, ओषधि मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ[५] ।। १६ ।।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ।। १७ ।।

इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला, पिता, माता,[६] पितामह,[७] जाननेयोग्य, पवित्र,[८] ओंकार[९] तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ[१०] ।। १७ ।।

गतिर्भर्ता[११] प्रभुः साक्षी निवासः शरणं[१२] सुहृत्[१३] ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्[१४] ।। १८ ।।

प्राप्त होनेयोग्य परम धाम, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी,[१] शुभाशुभक्त देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलयका हेतु, स्थितिका आधार, निधान[२] और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ[३] ।। १८ ।।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।। १९ ।।

मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, वर्षाका आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँ[४]। हे अर्जुन! मैं ही अमृत[५] और मृत्यु[६] हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ[७] ।। १९ ।।

सम्बन्ध—*तेरहवेंसे पंद्रहवें श्लोकतक अपने सगुण-निर्गुण और विराट् रूपकी उपासनाओंका वर्णन करके भगवान्ने उन्नीसवें श्लोकतक समस्त विश्वको अपना स्वरूप बतलाया। 'समस्त विश्व मेरा ही स्वरूप होनेके कारण इन्द्रादि अन्य देवोंकी उपासना भी प्रकारान्तरसे मेरी ही उपासना है, परंतु ऐसा न जानकर फलासक्तिपूर्वक पृथक्-पृथक् भावसे उपासना करनेवालोंको मेरी प्राप्ति न होकर विनाशी फल ही मिलता है।' इसी बातको दिखलानेके लिये अब दो श्लोकोंमें भगवान् उस उपासनाका फलसहित वर्णन करते हैं—*

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ।। २० ।।

तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकामकर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, पापरहित पुरुष[८] मुझको यज्ञोंके द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं; ये पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप स्वर्गलोकको[९] प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं ।। २० ।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ।। २१ ।।

वे उस विशाल[१] स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकामकर्मका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें आते हैं[२] ।। २१ ।।

अनन्याश्चिन्तयन्तो[३] मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। २२ ।।

किंतु जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं,[४] उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ[५] ।। २२ ।।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः[६] ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।। २३ ।।

हे अर्जुन! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं, किंतु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात्र अज्ञानपूर्वक है[७] ।।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।। २४ ।।

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ;[१] परंतु वे मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं ।। २४ ।।

सम्बन्ध—*भगवान्‌के भक्त आवागमनको प्राप्त नहीं होते और अन्य देवताओंके उपासक आवागमनको प्राप्त होते हैं, इसका क्या कारण है? इस जिज्ञासापर उपास्यके स्वरूप और उपासकके भावसे उपासनाके फलमें भेद होनेका नियम बतलाते हैं—*

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।। २५ ।।

देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं,[२] भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं[३] और मेरा पूजन करनेवाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं[४]। इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता ।। २५ ।।

सम्बन्ध—*भगवान्‌की भक्तिका भगवत्प्राप्तिरूप महान् फल होनेपर भी उसके साधनमें कोई कठिनता नहीं है, बल्कि उसका साधन बहुत ही सुगम है—यही* ***बात दिखलानेके लिये भगवान् कहते हैं—***

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि[१] [२] प्रयतात्मनः ।। २६ ।।

जो कोई भक्त[३] मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है,[४] उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ[५] ।। २६ ।।

सम्बन्ध—*यदि ऐसी ही बात है तो मुझे क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर भगवान् अर्जुनको उसका कर्तव्य बतलाते हैं—*

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ।। २७ ।।

हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है,[६] वह सब मेरे अर्पण कर[७] ।। २७ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार समस्त कर्मोंको आपके अर्पण करनेसे क्या होगा, इस जिज्ञासापर कहते हैं—*

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।

संन्यासयोगयुक्तात्मा[१] विमुक्तो मामुपैष्यसि ।। २८ ।।

इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मान्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा[२] ।। २८ ।।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की भक्ति करनेवालेको भगवान्‌की प्राप्ति होती है, दूसरोंको नहीं होती—इस कथनसे भगवान्‌में विषमताके दोषकी आशंका हो सकती है। अतएव उसका निवारण करते हुए भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।। २९ ।।

मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है;[३] परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ[४] ।। २९ ।।

अपि[१] चेत् सुदुराचारो[२] भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।। ३० ।।

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है[३] तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है[४] ।।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।। ३१ ।।

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है[५]। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान[६] कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता[७] ।। ३१ ।।

सम्बन्ध—*अब दो श्लोकोंमें भगवान् अच्छी-बुरी जातिके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें अभाव दिखलाते हुए शरणागतिरूप भक्तिका महत्त्व प्रतिपादन करके अर्जुनको भजन करनेकी आज्ञा देते हैं—*

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि[१] स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि[१] यान्ति परां गतिम् ।। ३२ ।।

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि[२]—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर[३] परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ।। ३२ ।।

किं पुनर्ब्राह्मणाः[१] पुण्या भक्ता[२] राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।। ३३ ।।

फिर इसमें कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर[३] ।।

सम्बन्ध—*पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने अपने भजनका महत्त्व दिखलाया और अन्तमें अर्जुनको भजन करनेके लिये कहा। अतएव अब भगवान् अपने भजनका अर्थात् शरणागतिका प्रकार बतलाते हुए अध्यायकी समाप्ति करते हैं—*

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां[४] नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।। ३४ ।।

मुझमें मनवाला हो,[५] मेरा भक्त बन,[६] मेरा पूजन करनेवाला हो,[१] मुझको प्रणाम कर[२]। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके[३] मेरे परायण[४] होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा[५] ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ।। ९ ।। भीष्मपर्वणि तु त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्में, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९ ।। भीष्मपर्वमें तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३३ ।।

३. संसारमें और शास्त्रोंमें जितने भी गुप्त रखनेयोग्य रहस्यके विषय माने गये हैं, उन सबमें समग्ररूप भगवान् पुरुषोत्तमके तत्त्व, प्रेम, गुण, प्रभाव, विभूति और महत्त्व आदिके साथ उनकी शरणागतिका स्वरूप सबसे बढ़कर गुप्त रखनेयोग्य है, यही भाव दिखलानेके लिये इसे 'गुह्यतम' कहा गया है।

४. गुणवानोंके गुणोंको न मानना, गुणोंमें दोष देखना, उनकी निन्दा करना एवं उनपर मिथ्या दोषोंका आरोपण करना 'असूया' है। जिसमें स्वभावसे ही यह 'असूया' दोष बिलकुल ही नहीं होता, उसे 'अनसूयु' कहते हैं।

१. इस श्लोकमें 'अशुभ' शब्द समस्त दुःखोंका, उनके हेतुभूत कर्मोंका, दुर्गुणोंका, जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनका और इन सबके कारणरूप अज्ञानका वाचक है। इन सबसे सदाके लिये सम्पूर्णतया छूट जाना और परमानन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त हो जाना ही 'अशुभसे मुक्त' होना है।

२. संसारमें जितनी भी ज्ञात और अज्ञात विद्याएँ हैं, यह उन सबमें बढ़कर है; जिसने इस विद्याका यथार्थ अनुभव कर लिया है उसके लिये फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। इसलिये इसे 'राजविद्या' कहा गया है।

३. इसमें भगवान्‌के सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार स्वरूपके तत्त्वका, उनके गुण, प्रभाव और महत्त्वका, उनकी उपासना-विधिका और उसके फलका भलीभाँति निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें भगवान्‌ने अपना समस्त रहस्य खोलकर यह तत्त्व समझा दिया है कि मैं जो श्रीकृष्णरूपमें तुम्हारे सामने विराजित हूँ, इस समस्त जगत्‌का कर्ता, हर्ता, सबका आधार, सर्वशक्तिमान्, परब्रह्म परमेश्वर और साक्षात् पुरुषोत्तम हूँ। तुम सब प्रकारसे मेरी शरण आ जाओ। इस प्रकारके परम गोपनीय रहस्यकी बात अर्जुन-जैसे दोषदृष्टिहीन परम श्रद्धावान् भक्तके सामने ही कही जा सकती है, हरेकके सामने नहीं। इसीलिये इसे 'राजगुह्य' बतलाया गया है।

४. यह उपदेश इतना पावन करनेवाला है कि जो कोई भी इसका श्रद्धापूर्वक श्रवण-मनन और इसके अनुसार आचरण करता है, यह उसके समस्त पापों और अवगुणोंका समूल नाश करके उसे सदाके लिये परम विशुद्ध बना देता है। इसीलिये इसे 'पवित्र' कहा गया है।

५. विज्ञानसहित इस ज्ञानका फल श्राद्धादि कर्मोंकी भाँति अदृष्ट नहीं है। साधक ज्यों-ज्यों इसकी ओर आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसके दुर्गुणों, दुराचारों और दुःखोंका नाश होकर, उसे परम शान्ति और परम सुखका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है; जिसको इसकी पूर्णरूपसे उपलब्धि हो जाती है, वह तो तुरंत ही परम सुख और परम शान्तिके समुद्र, परम प्रेमी, परम दयालु और सबके सुहृद्, साक्षात् भगवान्‌को ही प्राप्त हो जाता है। इसीलिये यह 'प्रत्यक्षावगम' है।

६. जैसे सकामकर्म अपना फल देकर समाप्त हो जाता है और जैसे सांसारिक विद्या एक बार पढ़ लेनेके बाद, यदि उसका बार-बार अभ्यास न किया जाय तो नष्ट हो जाती है—भगवान्‌का यह ज्ञान-विज्ञान वैसे नष्ट नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त इसका फल भी अविनाशी है; इसलिये इसे 'अव्यय' कहा गया है।

७. इसमें न तो किसी प्रकारके बाहरी आयोजनकी आवश्यकता है और न कोई आयास ही करना पड़ता है। सिद्ध होनेके बादकी बात तो दूर रही, साधनके आरम्भसे ही इसमें साधकोंको शान्ति और सुखका अनुभव होने लगता है। इसलिये इसे साधन करनेमें बड़ा सुगम बतलाया है।

८. पिछले श्लोकमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानका माहात्म्य बतलाया गया है और इसके आगे पूरे अध्यायमें जिसका वर्णन है, उसीका वाचक यहाँ 'अस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद है। इस प्रसंगमें वर्णन किये हुए भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव, गुण और महत्त्वको, उनकी प्राप्तिके उपायको और उसके फलको सत्य न मानकर उसमें असम्भावना और विपरीत भावना करना और उसे केवल रोचक उक्ति समझना आदि जो विश्वासविरोधिनी भावनाएँ हैं—ये जिनमें हों, वे ही श्रद्धारहित पुरुष हैं।

१. गीताके आठवें अध्यायके चौथे श्लोकमें जिसे 'अधियज्ञ', आठवें और दसवें श्लोकोंमें 'परम दिव्यपुरुष', नवें श्लोकमें 'कवि' 'पुराण' आदि, बीसवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें 'अव्यक्त अक्षर' और बाईसवें श्लोकमें भक्तिद्वारा प्राप्त होनेयोग्य 'परम पुरुष' बतलाया है, उसी सर्वव्यापी सगुण-निराकार स्वरूपके लक्ष्यसे यहाँ 'अव्यक्तमूर्तिना' पदका प्रयोग हुआ है।

२. 'यह सब जगत्' से यहाँ सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थोंके सहित समस्त ब्रह्माण्ड समझना चाहिये।

३. जैसे आकाशसे वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सुवर्णसे गहने और मिट्टीसे उसके बने हुए बर्तन व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार यह सारा विश्व इसकी रचना करनेवाले सगुण परमेश्वरके निराकाररूपसे व्याप्त है। श्रुति कहती है—

ईशावास्यमिदँ्सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । (ईशोपनिषद् १)

'इस संसारमें जो कुछ जड-चेतन पदार्थसमुदाय है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है।'

४. 'यहाँ सब भूत' से समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा उनके विषय और वासस्थानोंके सहित समस्त चराचर प्राणियोंको कहा गया है। भगवान् ही अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं; उन्होंने ही इस समस्त जगत्‌को अपने किसी अंशमें धारण कर रखा है (गीता १०।४२) और एकमात्र वे ही सबके गति, भर्ता, निवासस्थान, आश्रय, प्रभव, प्रलय, स्थान और निधान हैं (गीता ९।१८)। इस प्रकार सबकी स्थिति भगवान्‌के अधीन है। इसीलिये सब भूतोंको भगवान्‌में स्थित बतलाया गया है।

५. बादलोंमें आकाशकी भाँति समस्त जगत्‌के अंदर अणु-अणुमें व्याप्त होनेपर भी भगवान् उससे सर्वथा अतीत और सम्बन्धरहित हैं। समस्त जगत्‌का नाश होनेपर भी, बादलोंके नाश होनेपर आकाशकी भाँति, भगवान् ज्यों-के-त्यों रहते हैं। जगत्‌के नाशसे भगवान्‌का नाश नहीं होता तथा जिस जगह इस जगत्‌की गन्ध भी नहीं है, वहाँ भी भगवान् अपनी महिमामें स्थित ही हैं। यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने यह बात कही है कि वास्तवमें मैं उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ। अर्थात्र मैं अपने-आपमें ही नित्य स्थित हूँ।

६. सबके उत्पादक और सबमें व्याप्त रहते हुए तथा सबका धारण-पोषण करते हुए भी सबसे सर्वथा निर्लिप्त रहनेकी जो अद्भुत प्रभावमयी शक्ति है, जो ईश्वरके अतिरिक्त अन्य किसीमें हो ही नहीं सकती, उसीका यहाँ 'ऐश्वरम्, योगम्' इन पदोंद्वारा प्रतिपादन किया गया है। इन दो श्लोकोंमें कही हुई सभी बातोंको लक्ष्यमें रखकर भगवान्‌ने अर्जुनको अपना 'ईश्वरीय योग' देखनेके लिये कहा है।

७. यहाँ भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि 'अर्जुन! तुम मेरी असाधारण योगशक्तिका चमत्कार देखो! यह कैसा आश्चर्य है कि आकाशमें बादलोंकी भाँति समस्त जगत् मुझमें स्थित भी है और नहीं भी है। बादलोंका आधार आकाश है, परंतु बादल उसमें सदा नहीं रहते। वस्तुतः अनित्य होनेके कारण उनकी स्थिर सत्ता भी नहीं है। अतः वे आकाशमें नहीं हैं। इसी प्रकार यह सारा जगत् मेरी ही योगशक्तिसे उत्पन्न है और मैं ही इसका आधार हूँ, इसलिये तो सब भूत मुझमें स्थित हैं; परंतु ऐसा होते हुए भी मैं इनसे सर्वथा अतीत हूँ, ये मुझमें सदा नहीं रहते, इसलिये ये मुझमें स्थित नहीं हैं। अतएव जबतक मनुष्यकी दृष्टिमें जगत् है, तबतक सब कुछ मुझमें ही है; मेरे सिवा इस जगत्‌का कोई दूसरा आधार है ही नहीं। जब मेरा साक्षात् हो जाता है, तब उसकी दृष्टिमें मुझसे भिन्न कोई वस्तु रह नहीं जाती, उस समय मुझमें यह जगत् नहीं है।'

८. वास्तवमें भगवान् इस समस्त जगत्‌से अतीत हैं, यही भाव दिखलानेके लिये 'वह भूतोंमें स्थित नहीं है' ऐसा कहा गया है।

१. आकाशकी भाँति भगवान्‌को सम, निराकार, अकर्ता, अनन्त, असंग और निर्विकार तथा वायुकी भाँति समस्त चराचर भूतोंको भगवान्‌से ही उत्पन्न, उन्हींमें स्थित और उन्हींमें लीन होनेवाले बतलानेके लिये ऐसा कहा गया है। जैसे वायुकी उत्पत्ति, स्थिति और लय आकाशमें ही होनेके कारण वह कभी किसी भी अवस्थामें आकाशसे अलग नहीं रह सकता, सदा ही आकाशमें स्थित रहता है एवं ऐसा होनेपर भी आकाशका वायुसे और उसके गमनादि विकारोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वह सदा ही उससे अतीत है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय भगवान्‌के संकल्पके आधार होनेके कारण समस्त भूतसमुदाय सदा भगवान्‌में ही स्थित रहता है; तथापि भगवान् उन भूतोंसे सर्वथा अतीत हैं और भगवान्‌में सदा ही, सब प्रकारके विकारोंका सर्वथा अभाव है।

२. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, समस्त भोगवस्तु और वासस्थानके सहित चराचर प्राणियोंका वाचक 'सर्वभूतानि' पद है।

३. ब्रह्माके एक दिनको 'कल्प' कहते हैं और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है। इस अहोरात्रके हिसाबसे जब ब्रह्माके सौ वर्ष पूरे होकर ब्रह्माकी आयु समाप्त हो जाती है, उस कालका वाचक यहाँ 'कल्पक्षय' है; वही कल्पोंका अन्त है। इसीको 'महाप्रलय' भी कहते हैं।

४. समस्त जगत्‌की कारणभूता जो मूल-प्रकृति है, जिसे गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें 'महद्ब्रह्म' कहा है तथा जिसे अव्याकृत और प्रधान भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'प्रकृति' शब्द है। वह प्रकृति भगवान्‌की शक्ति है, इसी बातको दिखलानेके लिये भगवान्‌ने उसको अपनी प्रकृति बतलाया है। कल्पोंके अन्तमें समस्त शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोगसामग्री और लोकोंके सहित समस्त प्राणियोंका प्रकृतिमें लय हो जाना—अर्थात् उनके गुणकर्मोंके संस्कारसमुदायरूप कारणशरीरसहित उनका मूल-प्रकृतिमें विलीन हो जाना ही 'सब भूतोंका प्रकृतिको प्राप्त होना' है।

५. कल्पोंका अन्त होनेके बाद यानी ब्रह्माके सौ वर्षके बराबर समय पूरा होनेपर जब पुनः जीवोंके कर्मोंका फल भुगतानेके लिये जगत्‌का विस्तार करनेकी भगवान्‌में स्फुरणा होती है, उस कालका वाचक 'कल्पादि' शब्द है। इसे महासर्गका आदि भी कहते हैं। उस समय जो भगवान्‌का सब भूतोंकी उत्पत्तिके लिये अपने संकल्पके द्वारा हिरण्यगर्भ ब्रह्माको उनके लोकसहित उत्पन्न कर देना है, यही उनका सब भूतोंको रचना है।

६. सृष्टिरचनादि कार्यके लिये भगवान‍्का जो शक्तिरूपसे अपने अंदर स्थित प्रकृतिको स्मरण करना है, वही उसे अंगीकार करना है।

७. भिन्न-भिन्न प्राणियोंका जो अपने-अपने गुण और कर्मोंके अनुसार बना हुआ स्वभाव है, वही उनकी प्रकृति है। भगवान‍्की प्रकृति समष्टि-प्रकृति है और जीवोंकी प्रकृति उसीकी एक अंशभूता व्यष्टि-प्रकृति है। उस व्यष्टि-प्रकृतिके बन्धनमें पड़े रहना ही उसके बलसे परतन्त्र होना है। यहाँ भगवान‍्ने उनको बार-बार रचनेकी बात कहकर यह बात दिखलायी है कि जबतक जीव अपनी उस प्रकृतिके वशमें रहते हैं, तबतक मैं उनको बार-बार इसी प्रकार प्रत्येक कल्पके आदिमें उनके भिन्न-भिन्न गुणकर्मोंके अनुसार नाना योनियोंमें उत्पन्न करता रहता हूँ।

१. सम्पूर्ण जगत‍्की उत्पत्ति, पालन और संहार आदिके निमित्त भगवान‍्के द्वारा जितने भी कर्म होते हैं, उन कर्मोंमें या उनके फलमें भगवान‍्का किसी प्रकार भी आसक्त न होना—'आसक्तिरहित रहना' है और केवल अध्यक्षता-मात्रसे प्रकृतिद्वारा प्राणियोंके गुण-कर्मानुसार उनकी उत्पत्ति आदिके लिये की जानेवाली चेष्टामें कर्तृत्वाभिमानसे तथा पक्षपातसे रहित होकर निर्लिप्त रहना—'उन कर्मोंमें उदासीनके सदृश स्थित रहना' है। इसी कारण वे कर्म भगवान‍्को नहीं बाँधते।

२. जिस प्रकार किसान अपनी अध्यक्षतामें पृथ्वीके साथ स्वयं बीजका सम्बन्ध कर देता है, फिर पृथ्वी उन बीजोंके अनुसार भिन्न-भिन्न पौधोंको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार भगवान् अपनी अध्यक्षतामें चेतनसमूहरूप बीचका प्रकृतिरूपी भूमिके साथ सम्बन्ध कर देते हैं (गीता १४।३)। इस प्रकार जड-चेतनका संयोग कर दिये जानेपर यह प्रकृति समस्त चराचर जगत‍्को कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न कर देती है।

जहाँ भगवान‍्ने अपनेको जगत‍्का रचयिता बतलाया है, वहाँ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि वस्तुतः भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते, वे अपनी शक्ति प्रकृतिको स्वीकार करके उसीके द्वारा जगत‍्की रचना करते हैं और जहाँ प्रकृतिको सृष्टि-रचनादि कार्य करनेवाली कहा गया है, वहाँ उसीके साथ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि भगवान‍्की अध्यक्षतामें उनसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति सब कुछ करती है। जबतक उसे भगवान‍्का सहारा नहीं मिलता, तबतक वह जड-प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती। इसीलिये भगवान‍्ने आठवें श्लोकमें यह कहा है कि 'मैं अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके जगत‍्की रचना करता हूँ' और इस श्लोकमें यह कहते हैं कि 'मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति जगत‍्की रचना करती है।' वस्तुतः दो तरहकी युक्तियोंसे एक ही तत्त्व समझाया गया है।

३. गीताके सोलहवें अध्यायके चौथे तथा सातवेंसे बीसवें श्लोकतक जिनके विविध लक्षण बतलाये गये हैं, ऐसे ही आसुरी सम्पदावाले मनुष्योंके लिये 'मूढाः' पदका प्रयोग हुआ है।

४. चौथेसे छठे श्लोकतक भगवान‍्के जिस 'सर्वव्यापकत्व' आदि प्रभावका वर्णन किया गया है, जिसको 'ऐश्वर योग' कहा है तथा गीताके सातवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें जिस 'परमभाव' को न जाननेकी बात कही है, भगवान‍्के उस सर्वोतम प्रभावका ही वाचक यहाँ 'परम' विशेषणके सहित 'भाव' शब्द है। सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सबके हर्ता-कर्ता परमेश्वर ही सब जीवोंपर अनुग्रह करके सबको अपनी शरण प्रदान करने और धर्म-संस्थापन, भक्त-उद्धार आदि अनेकों लीला-कार्य करनेके लिये अपनी योगमायासे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए हैं (गीता ४।६, ७, ८)—इस रहस्यको न समझना और इसपर विश्वास न करना ही उस परम भावको न जानना है।

१. महाभारतमें भीष्मपर्वके छाछठवें अध्यायमें बतलाया है—

'सब लोकोंके महान् ईश्वर भगवान् वासुदेव सबके पूजनीय हैं। उन महान् वीर्यवान् शंख-चक्र-गदाधारी वासुदेवको मनुष्य समझकर कभी उनकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये। वे ही परम गुह्य, परम पद, परम ब्रह्म और परम यशःस्वरूप हैं। वे ही अक्षर हैं, अव्यक्त हैं, सनातन हैं, परम तेज हैं, परम सुख हैं और परम सत्य हैं। देवता, इन्द्र और मनुष्य, किसीको भी उन अमित-पराक्रमी प्रभु वासुदेवको मनुष्य मानकर उनका अनादर नहीं करना चाहिये। जो मूढमति लोग उन हृषीकेशको मनुष्य बतलाते हैं, वे नराधम हैं। जो मनुष्य इन महात्मा योगेश्वरको मनुष्यदेहधारी मानकर इनका अनादर करते हैं और जो इन चराचरके आत्मा श्रीवत्सके चिह्नवाले महान् तेजस्वी पद्मनाथ भगवान‍्को नहीं पहचानते वे तामसी प्रकृतिसे युक्त हैं। जो इन कौस्तुभ-किरीटधारी और मित्रोंको अभय करनेवाले भगवान‍्का अपमान करता है, वह अत्यन्त भयानक नरकमें पड़ता है।'

२. भगवान‍्के प्रभावको न जाननेवाले आसुर मनुष्य ऐसी निरर्थक आशाएँ करते रहते हैं, जो कभी पूर्ण नहीं होतीं (गीता १६।१० से १२); इसीलिये उनको 'मोघाशाः' कहते हैं।

३. भगवान् और शास्त्रोंपर विश्वास न करनेवाले विषयी पामर लोग शास्त्रविधिका त्याग करके अश्रद्धापूर्वक जो मनमाने यज्ञादि कर्म करते हैं, उन कर्मोंका उन्हें इस लोक या परलोकमें कुछ भी फल नहीं मिलता (गीता १६।१७, २३; १७।२८)। इसीलिये उनको 'मोघकर्माणः' कहा गया है।

४. जिनका ज्ञान व्यर्थ हो, तात्त्विक अर्थसे शून्य हो और युक्तियुक्त न हो (गीता १८।२२) उनको 'मोघज्ञानाः' कहते हैं।

५. राक्षसोंकी भाँति बिना ही कारण द्वेष करके जो दूसरोंके अनिष्ट करनेका और उन्हें कष्ट पहुँचानेका स्वभाव है, उसे 'राक्षसी प्रकृति' कहते हैं। काम और लोभके वश होकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरोंको क्लेश पहुँचाने और उनके स्वत्वहरण करनेका जो स्वभाव है, उसे 'आसुरी प्रकृति' कहते हैं और प्रमाद या मोहके कारण किसी भी प्राणीको दुःख पहुँचानेका जो स्वभाव है, उसे 'मोहिनी प्रकृति' कहते हैं। ऐसे दुष्ट स्वभावका त्याग करनेके लिये चेष्टा न करना, वरं उसीको उत्तम समझकर पकड़े रहना ही 'उसे धारण करना' है। भगवान्‌के प्रभावको न जाननेवाले मनुष्य प्रायः ऐसा ही करते हैं, इसीलिये उनको उक्त प्रकृतियोंके आश्रित बतलाया है।

६. यहाँ 'महात्मानः' पदका प्रयोग उन निष्काम अनन्यप्रेमी भगवद्भक्तोंके लिये किया गया है, जो भगवत्प्रेममें सदा सराबोर रहते हैं और भगवत्प्राप्तिके सर्वथा योग्य हैं।

७. देव अर्थात् भगवान्‌से सम्बन्ध रखनेवाले और उनकी प्राप्ति करा देनेवाले जो सात्त्विक गुण और आचरण हैं, गीताके सोलहवें अध्यायमें पहलेसे तीसरे श्लोकतक जिनका अभय आदि छब्बीस नामोंसे वर्णन किया गया है, उन सबको भलीभाँति धारण कर लेना ही 'दैवी प्रकृतिके आश्रित होना' है।

८. 'माम्' पद यहाँ भगवान्‌के सगुण पुरुषोत्तमरूपका वाचक है। उस सगुण परमेश्वरसे ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भोगसामग्री और सम्पूर्ण लोकोंके सहित समस्त चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति, पालन और संहार होता है (गीता ७।६; ९। १८; १०।२, ४, ५, ६, ८)—इस तत्त्वको सम्यक् प्रकारसे समझ लेना ही भगवान्‌को 'सब भूतोंका आदि' समझना है और वे भगवान् अजन्मा तथा अविनाशी हैं, केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही लीलासे मनुष्य आदि रूपमें प्रकट और अन्तर्धान होते हैं; उन्हींको अक्षर, अविनाशी परब्रह्म परमात्मा कहते हैं और समस्त भूतोंका नाश होनेपर भी भगवान्‌का नाश नहीं होता (गीता ८।२०)—इस बातको यथार्थतः समझना ही 'भगवान्‌को अविनाशी समझना' है।

९. जिनका मन भगवान्‌के सिवा अन्य किसी भी वस्तुमें नहीं रमता और क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग जिनको असह्य प्रतीत होता है, ऐसे भगवान्‌के अनन्यप्रेमी भक्त निरन्तर भगवान्‌को भजते रहते हैं।

१. 'सततम्' पद यहाँ 'नित्य-निरन्तर' समयका वाचक है और इसका खास सम्बन्ध उपासनाके साथ है। कीर्तन-नमस्कारादि सब उपासनाके ही अंग होनेके कारण प्रकारान्तरसे उन सबके साथ भी इसका सम्बन्ध है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के प्रेमी भक्त कभी कीर्तन करते हुए, कभी नमस्कार करते हुए, कभी सेवा आदि प्रयत्न करते हुए तथा सदा-सर्वदा भगवान्‌का चिन्तन करते हुए निरन्तर उनकी उपासना करते रहते हैं।

२. 'यतन्तः' पदका यह भाव है कि वे प्रेमी भक्त भगवान्‌की पूजा सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी सेवा और भगवान्‌के भक्तोंद्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रवण आदि उत्साह और तत्परताके साथ करते रहते हैं।

३. भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका निश्चय, उनकी श्रद्धा, उनके विचार और नियम—सभी अत्यन्त दृढ़ होते हैं। बड़ी-से-बड़ी विपत्तियों और प्रबल विघ्नोंके समूह भी उन्हें अपने साधन और विचारसे विचलित नहीं कर सकते। इसीलिये उनको 'दृढव्रताः' (दृढ निश्चयवाले) कहा गया है।

४. जो चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते और सब कुछ करते समय तथा एकान्तमें ध्यान करते समय नित्य-निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते रहते हैं, उन्हें 'नित्ययुक्ताः' कहते हैं।

५. कथा, व्याख्यान आदिके द्वारा भक्तोंके सामने भगवान्‌के गुण, प्रभाव, महिमा और चरित्र आदिका वर्णन करना; अकेले अथवा दूसरे बहुत-से लोगोंके साथ मिलकर, भगवान्‌को अपने सम्मुख समझते हुए उनके पवित्र नामोंका जप अथवा उच्चस्वरसे कीर्तन करना और दिव्य स्तोत्र तथा सुन्दर पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना आदि भगवन्नाम गुणगानसम्बन्धी सभी चेष्टाएँ कीर्तनके अन्तर्गत हैं।

६. भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाकर अर्चा-विग्रहरूप भगवान्‌को, अपने घरमें भगवान्‌की प्रतिमा या चित्रपटको, भगवान्‌के नामोंको, भगवान्‌के चरण और चरण-पादुकाओंको एवं सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर या सबके हृदयमें भगवान् विराजित हैं—ऐसा जानकर सम्पूर्ण प्राणियोंको यथायोग्य विनयपूर्वक श्रद्धा-भक्तिके साथ गद्‌गद होकर मन, वाणी और शरीरके द्वारा नमस्कार करना—यही 'भगवान्‌को प्रणाम करना' है।

७. श्रद्धा और अनन्यप्रेमके साथ उपर्युक्त साधनोंको निरन्तर करते रहना ही अनन्यप्रेमसे भगवान्‌की उपासना करना है।

८. गीताके तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस 'ज्ञानयोग' का वर्णन है, यहाँ भी 'ज्ञानयज्ञ' का वही स्वरूप है। उसके अनुसार शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें, मायामय गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा समझकर कर्तापनके अभिमानसे रहित रहना; सम्पूर्ण दृश्यवर्गको मृगतृष्णाके जलके सदृश या स्वप्नके संसारके समान अनित्य समझना तथा एक सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी सत्ता न मानकर

निरन्तर उसीका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हुए उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें नित्य अभिन्नभावसे स्थित रहनेका अभ्यास करते रहना—यही ‘ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजन करते हुए उसकी उपासना करना’ है।

९. समस्त विश्व उस भगवान्‌से ही उत्पन्न हुआ है और भगवान् ही इसमें व्याप्त हैं। अतः भगवान् स्वयं ही विश्वरूपमें स्थित हैं। इसलिये चन्द्र, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और वरुण आदि विभिन्न देवता तथा और भी समस्त प्राणी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं—ऐसा समझकर जो उन सबकी अपने कर्मोंद्वारा यथायोग्य निष्कामभावसे सेवा-पूजा करना है (गीता १८।४६)—यही ‘बहुत प्रकारसे स्थित भगवान्‌के विराट्स्वरूपकी पृथग्भावसे उपासना करना’ है।

१. श्रौत कर्मको ‘क्रतु’ कहते हैं।

२. पंचमहायज्ञादि स्मार्त कर्म ‘यज्ञ’ कहलाते हैं।

३. पितरोंके निमित्त प्रदान किया जानेवाला अन्न ‘स्वधा’ कहलाता है।

४. ‘अग्नि’ से यहाँ गार्हपत्य आहवनीय और दक्षिणाग्नि आदि सभी प्रकारके अग्नि समझने चाहिये।

५. अभिप्राय यह कि यज्ञ, श्राद्ध आदि शास्त्रीय शुभकर्ममें प्रयोजनीय समस्त वस्तुएँ, तत्सम्बन्धी मन्त्र, जिनमें यज्ञादि किये जाते हैं, वे अधिष्ठान तथा मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली तद्विषयक समस्त चेष्टाएँ—से सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं।

६. यह चराचर प्राणियोंके सहित समस्त विश्व भगवान्‌से ही उत्पन्न हुआ है, भगवान् ही इसके महाकारण हैं। इसलिये भगवान्‌ने अपनेको इसका पिता-माता कहा है।

७. जिन ब्रह्मा आदि प्रजापतियोंसे सृष्टिकी रचना होती है, उनको भी उत्पन्न करनेवाले भगवान् ही हैं; इसीलिये उन्होंने अपनेको इसका ‘पितामह’ बतलाया है।

८. जो स्वयं विशुद्ध हो और सहज ही दूसरोंके पापोंका नाश करके उन्हें भी विशुद्ध बना दे, उसे ‘पवित्र’ कहते हैं। भगवान् परम पवित्र हैं तथा भगवान्‌के दर्शन, भाषण और स्मरणसे मनुष्य परम पवित्र हो जाते हैं।

९. ‘ॐ’ भगवान्‌का नाम है, इसीको प्रणव भी कहते हैं। गीताके आठवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें इसे ब्रह्म बतलाया है तथा इसीका उच्चारण करनेके लिये कहा गया है। यहाँ नाम तथा नामीका अभेद प्रतिपादन करनेके लिये ही भगवान्‌ने अपनेको ओंकार बतलाया है।

१०. ‘ऋक्’, ‘साम’ और ‘यजुः’—ये तीनों पद तीनों वेदोंके वाचक हैं। वेदोंका प्राकट्य भगवान्‌से हुआ है तथा सारे वेदोंसे भगवान्‌का ज्ञान होता है, इसलिये सब वेदोंको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

११. प्राप्त करनेकी वस्तुका नाम ‘गति’ है। सबसे बढ़कर प्राप्त करनेकी वस्तु एकमात्र भगवान् ही हैं, इसीलिये उन्होंने अपनेको ‘गति’ कहा है। ‘परा गति’, ‘परमा गति’, ‘अविनाशी पद’ आदि नाम भी इसीके हैं।

१२. जिसकी शरण ली जाय उसे ‘शरणम्’ कहते हैं। भगवान्‌के समान शरणागतवत्सल, प्रणतपाल और शरणागतके दुःखोंका नाश करनेवाला अन्य कोई भी नहीं है। वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रत मम ।। (६।१८।३३)

अर्थात् ‘एक बार भी ‘मैं तेरा हूँ’ यों कहकर मेरी शरणमें आये हुए और मुझसे अभय चाहनेवालेको मैं सभी भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।’ इसीलिये भगवान्‌ने अपनेको ‘शरण’ कहा है।

१३. भगवान् समस्त प्राणियोंके बिना ही कारण उपकार करनेवाले परम हितैषी और सबके साथ अतिशय प्रेम करनेवाले परम बन्धु हैं, इसलिये उन्होंने अपनेको ‘सुहृत्’ कहा है।

१४. जिसका कभी नाश न हो, उसे ‘अव्यय’ कहते हैं। भगवान् समस्त चराचर भूतप्राणियोंके अविनाशी कारण हैं। सबकी उत्पत्ति उन्हींसे होती है, वे ही सबके परम आधार हैं। इसीसे उनको ‘अव्यय बीज’ कहा है। गीताके सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें उन्हींको ‘सनातन बीज’ और दसवें अध्यायके उनतालीसवें श्लोकमें ‘सब भूतोंका बीज’ बतलाया गया है।

१. भगवान् ही ईश्वरोंके महान् ईश्वर, देवताओंके परम दैवत, पतियोंके परम पति, समस्त भुवनोंके स्वामी और परम पूज्य परमदेव हैं (श्वेताश्वतर उप० ६।७)।

२. जिसमें कोई वस्तु बहुत दिनोंके लिये रखी जाती हो, उसे ‘निधान’ कहते हैं। महाप्रलयमें समस्त प्राणियोंके सहित अव्यक्त प्रकृति भगवान्‌के ही किसी एक अंशमें धरोहरकी भाँति बहुत समयतक अक्रिय-अवस्थामें स्थित रहती है, इसलिये भगवान्‌ने अपनेको ‘निधान’ कहा है।

३. इस श्लोकमें जितने भी शब्द आये हैं, सब-के-सब भगवान्‌के विशेषण हैं; अतः इस श्लोकमें पूर्वश्लोकोंकी भाँति ‘अहम्’ पदका प्रयोग नहीं किया गया।

४. इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि अपनी किरणोंद्वारा समस्त जगत्‌को उष्णता और प्रकाश प्रदान करनेवाला तथा समुद्र आदि स्थानोंसे जलको उठाकर रोक रखनेवाला तथा उसे लोकहितार्थ मेघोंके द्वारा यथासमय

यथायोग्य वितरण करनेवाला सूर्य भी मेरा ही स्वरूप है।

५. वास्तवमें अमृत तो एक भगवान् ही हैं, जिनकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्य सदाके लिये मृत्युके पाशसे मुक्त हो जाता है, इसीलिये भगवान्‌ने अपनेको 'अमृत' कहा है और इसलिये मुक्तिको भी 'अमृत' कहते हैं।

६. सबका नाश करनेवाले 'काल' को 'मृत्यु' कहते हैं। भगवान् ही यथासमय लोकोंका संहार करनेके लिये महाकालरूप धारण किये रहते हैं। वे कालके भी काल हैं। इसीलिये भगवान्‌ने 'मृत्यु' को अपना स्वरूप बतलाया है।

७. जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्माको 'सत्' कहते हैं और नाशवान् अनित्य वस्तुमात्रका नाम 'असत्' है। इन्हीं दोनोंको गीताके पंद्रहवें अध्यायमें 'अक्षर' और 'क्षर' पुरुषके नामसे कहा गया है। ये दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं, इसलिये भगवान्‌ने सत् और असत्‌को अपना स्वरूप कहा है।

८. ऋक्, यजुः और साम—इन तीनों वेदोंको 'वेदत्रयी' अथवा त्रिविद्या कहते हैं। इन तीनों वेदोंमें वर्णित नाना प्रकारके यज्ञोंकी विधि और उनके फलमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले एवं उसके अनुसार सकामकर्म करनेवाले मनुष्योंको 'त्रैविद्य' कहते हैं। यज्ञोंमें सोमलताके रसपानकी जो विधि बतलायी गयी है, उस विधिसे सोमलताके रसपान करनेवालोंको 'सोमपा' कहते हैं। उपर्युक्त वेदोक्त कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेसे जिनके स्वर्गप्राप्तिमें प्रतिबन्धकरूप पाप नष्ट हो गये हैं, उनको 'पूतपापा' कहते हैं। ये तीनों विशेषण ऐसी श्रेणीके मनुष्योंके लिये हैं, जो भगवान्‌की सर्वरूपतासे अनभिज्ञ हैं और वेदोक्त कर्मकाण्डपर प्रेम और श्रद्धा रखकर पापकर्मोंसे बचते हुए सकामभावसे यज्ञादि कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान किया करते हैं।

९. यज्ञादि पुण्यकर्मोंके फलरूपमें प्राप्त होनेवाले इन्द्रलोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने भी लोक हैं, उन सबको लक्ष्य करके श्लोकमें 'पुण्यम्' विशेषणके सहित 'सुरेन्द्रलोकम्' पदका प्रयोग किया गया है। अतः 'सुरेन्द्रलोकम्' पद इन्द्रलोकका वाचक होते हुए भी उसे उपर्युक्त सभी लोकोंका वाचक समझना चाहिये।

१. स्वर्गादि लोकोंके विस्तारका, वहाँकी भोग्य-वस्तुओंका, भोगप्रकारोंका, भोग्य-वस्तुओंकी सुखरूपताका और भोगनेयोग्य शारीरिक तथा मानसिक शक्ति और परमायु आदि सभीका अनेक प्रकारका परिमाण मृत्युलोककी अपेक्षा कहीं विशद और महान् है। इसीलिये उसको 'विशाल' कहा गया है।

२. भगवान्‌के स्वरूपतत्त्वको न जाननेवाले सकाम मनुष्य अनन्यचित्तसे भगवान्‌की शरण ग्रहण नहीं करते, भोगकामनाके वशमें होकर उपर्युक्त धर्मका आश्रय लेते हैं। इसी कारण उनके कर्मोंका फल अनित्य है और इसीलिये उन्हें फिर मर्त्यलोकमें लौटना पड़ता है।

३. जिनका संसारके समस्त भोगोंसे प्रेम हटकर केवलमात्र भगवान्‌में ही अटल और अचल प्रेम हो गया है, भगवान्‌का वियोग जिनके लिये असह्य है, जिनका भगवान्‌से भिन्न दूसरा कोई भी उपास्यदेव नहीं है और जो भगवान्‌को ही परम आश्रय, परम गति और परम प्रेमास्पद मानते हैं—ऐसे अनन्यप्रेमी एकनिष्ठ भक्तोंका विशेषण 'अनन्याः' पद है।

४. सगुण भगवान् पुरुषोत्तमके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझकर, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते और एकान्तमें साधन करते, सब समय निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे उनका चिन्तन करते हुए, उन्हींके आज्ञानुसार निष्कामभावसे उन्हींकी प्रसन्नताके लिये चेष्टा करते रहना—यही 'उनका चिन्तन करते हुए भजन करना' है।

५. अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। अतः भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जो साधन उन्हें प्राप्त है, सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उसकी रक्षा करना और जिस साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना—यही 'उन प्रेमी भक्तोंका योगक्षेम चलाना' है। भक्त प्रह्लादका जीवन इसका सुन्दर उदाहरण है। हिरण्यकशिपुद्वारा उसके साधनमें बड़े-बड़े विघ्न उपस्थित किये जानेपर भी सब प्रकारसे भगवान्‌ने उसकी रक्षा करके अन्तमें उसे अपनी प्राप्ति करवा दी।

जो पुरुष भगवान्‌के ही परायण होकर अनन्यचित्तसे उनका प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करते हुए ही सब कार्य करते हैं, अन्य किसी भी विषयकी कामना, अपेक्षा और चिन्ता नहीं करते, उनके जीवननिर्वाहका सारा भार भी भगवान्‌पर रहता है। अतः वे सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परमसुहृद् भगवान् ही अपने भक्तका लौकिक और पारमार्थिक सब प्रकारका योगक्षेम चलाते हैं।

६. वेद-शास्त्रोंमें वर्णित देवता, उनकी उपासना और स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप उसके फलपर जिनका आदरपूर्वक दृढ़ विश्वास हो, उनको यहाँ 'श्रद्धासे युक्त' कहा गया है और इस विशेषणका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो बिना श्रद्धाके दम्भपूर्वक यज्ञादि कर्मोंद्वारा देवताओंका पूजन करते हैं, वे इस श्रेणीमें नहीं आ सकते; उनकी गणना तो आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंमें है।

७. जिस कामनाकी सिद्धिके लिये जिस देवताकी पूजाका शास्त्रमें विधान है, उस देवताकी शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्मोंद्वारा श्रद्धापूर्वक पूजा करना 'दूसरे देवताओंकी पूजा करना' है। समस्त देवता भी भगवान्‌के ही अंगभूत हैं, भगवान् ही सबके

स्वामी हैं और वस्तुतः भगवान् ही उनके रूपमें प्रकट हैं—इस तत्त्वको न जानकर उन देवताओंको भगवान्से भिन्न समझकर सकामभावसे जो उनकी पूजा करना है, यही भगवान्की ‘अविधिपूर्वक’ पूजा है।

१. यह सारा विश्व भगवान्का ही विराट्रूप होनेके कारण भिन्न-भिन्न यज्ञ-पूजादि कर्मोंके भोक्तारूपमें माने जानेवाले जितने भी देवता हैं, सब भगवान्के ही अंग हैं तथा भगवान् ही उन सबके आत्मा हैं (गीता १०।२०)। अतः उन देवताओंके रूपमें भगवान् ही समस्त यज्ञादि कर्मोंके भोक्ता हैं। भगवान् ही अपनी योगशक्तिके द्वारा सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हुए सबको यथायोग्य नियममें चलाते हैं; वे ही इन्द्र, वरुण, यमराज, प्रजापति आदि जितने भी लोकपाल और देवतागण हैं—उन सबके नियन्ता हैं; इसलिये वही सबके प्रभु अर्थात् महेश्वर हैं (गीता ५।२९)।

२. देवताओंकी पूजा करना, उनकी पूजाके लिये बतलाये हुए नियमोंका पालन करना, उनके निमित्त यज्ञादिका अनुष्ठान करना, उनके मन्त्रका जप करना और उनके निमित्त ब्राह्मण-भोजन कराना—इत्यादि सभी बातें ‘देवताओंके व्रत’ हैं। इनका पालन करनेवाले मनुष्योंको अपनी उपासनाके फलस्वरूप जो उन देवताओंके लोकोंकी, उनके सदृश भोगोंकी अथवा उनके-जैसे रूपकी प्राप्ति होती है, वही देवोंको प्राप्त होना है।

पितरोंके लिये यथाविधि श्राद्ध-तर्पण करना, उनके निमित्त ब्राह्मणोंको भोजन कराना, हवन करना, जप करना, पाठ-पूजा करना तथा उनके लिये शास्त्रमें बतलाये हुए व्रत और नियमोंका भलीभाँति पालन करना आदि ‘पितरोंके व्रत’ हैं और जो मनुष्य सकामभावसे इन व्रतोंका पालन करते हैं, वे मरनेके बाद पितृलोकमें जाते हैं और वहाँ जाकर उन पितरोंके-जैसे स्वरूपको प्राप्त करके उनके-जैसे भोग भोगते हैं। यही पितरोंको प्राप्त होना है। ये भी अधिक-से-अधिक देवताओं या दिव्य पितरोंकी आयुपर्यन्त ही वहाँ रह सकते हैं। अन्तमें इनका भी पुनरागमन होता है।

यहाँ देव और पितरोंकी पूजाका निषेध नहीं समझना चाहिये। देव-पितृ-पूजा तो यथाविधि अपने-अपने वर्णाश्रमके अधिकारानुसार सबको अवश्य ही करनी चाहिये; परंतु वह पूजा यदि सकामभावसे होती है तो अपना अधिक-से-अधिक फल देकर नष्ट हो जाती है और यदि कर्तव्यबुद्धिसे भगवत् आज्ञा मानकर या भगवत्-पूजा समझकर की जाती है तो वह भगवत्प्राप्तिरूप महान् फलमें कारण होती है। इसलिये यहाँ समझना चाहिये कि देव-पितृकर्म तो अवश्य ही करें; परंतु उनमें निष्कामभाव लानेका प्रयत्न करें।

३. जो प्रेत और भूतगणोंकी पूजा करते हैं, उनकी पूजाके नियमोंका पालन करते हैं, उनके लिये हवन या दान आदि करते हैं, ऐसे मनुष्योंका जो उन-उन भूत-प्रेतादिके समान रूप, भोग आदिको प्राप्त होना है, वही उनको प्राप्त होना है। भूत-प्रेतोंकी पूजा तामसी है तथा अनिष्ट फल देनेवाली है, इसलिये उसको नहीं करना चाहिये।

४. जो पुरुष भगवान्के सगुण-निराकार अथवा साकार—किसी भी रूपका सेवन-पूजन और भजन-ध्यान आदि करते हैं, समस्त कर्म उनके अर्पण करते हैं, उनके नामका जप करते हैं, गुणानुवाद सुनते और गाते हैं तथा इसी प्रकार भगवद्भक्तिविषयक अनेक प्रकारके साधन करते हैं, वे भगवान्का पूजन करनेवाले भक्त हैं और उनका भगवान्के दिव्य लोकमें जाना, भगवान्के समीप रहना, उनके-जैसे ही दिव्य रूपको प्राप्त होना अथवा उनमें लीन हो जाना—यही भगवान्को प्राप्त होना है।

१. पत्र, पुष्प आदि कोई भी वस्तु जो प्रेमपूर्वक समर्पण की जाती है, उसे ‘भक्त्युपहृत’ कहते हैं। इसके प्रयोगसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि बिना प्रेमके दी हुई वस्तुको मैं स्वीकार नहीं करता और जहाँ प्रेम होता है तथा जिसको मुझे वस्तु अर्पण करनेमें और मेरे द्वारा उसके स्वीकार हो जानेमें सच्चा आनन्द होता है, वहाँ उस भक्तके द्वारा अर्पण की हुई वस्तु बहुत प्रेमसे स्वीकार कर लेता हूँ।

२. इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार शुद्धभावसे प्रेमपूर्वक समर्पण की हुई वस्तुओंको मैं स्वयं उस भक्तके सम्मुख प्रत्यक्ष प्रकट होकर खा लेता हूँ अर्थात् जब मनुष्यादिके रूपमें अवतीर्ण होकर संसारमें विचरता हूँ, तब तो उस रूपमें वहाँ पहुँचकर और अन्य समयमें उस भक्तके इच्छानुसार रूपमें प्रकट होकर उसकी दी हुई वस्तुका भोग लगाकर उसे कृतार्थ कर देता हूँ।

३. इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि किसी भी वर्ण, आश्रम और जातिका कोई भी मनुष्य पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मेरे अर्पण कर सकता है। बल, रूप, धन, आयु, जाति, गुण और विद्या आदिके कारण मेरी किसीमें भेदबुद्धि नहीं है; अवश्य ही अर्पण करनेवालेका भाव विदुर और शबरी आदिकी भाँति सर्वथा शुद्ध और प्रेमपूर्ण होना चाहिये।

४. यहाँ पत्र, पुष्प, फल और झलका नाम लेकर यह भाव दिखलाया गया है कि जो वस्तु साधारण मनुष्योंको बिना किसी परिश्रम, हिंसा और व्ययके अनायास मिल सकती है—ऐसी कोई भी वस्तु भगवान्के अर्पण की जा सकती है। भगवान् पूर्णकाम होनेके कारण वस्तुके भूखे नहीं हैं, उनको तो केवल प्रेमकी ही आवश्यकता है। ‘मुझ-जैसे साधारण-से-साधारण मनुष्यद्वारा अर्पण की हुई छोटी-से-छोटी वस्तु भी भगवान् सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं, यह उनकी कैसी महत्ता

है!' इस भावसे भावित होकर प्रेमविह्वलचित्तसे किसी भी वस्तुको भगवान्‌के समर्पण करना, उसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌के अर्पण करना है।

५. जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो, उसे 'शुद्धबुद्धि' कहते हैं। इसका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यदि अर्पण करनेवालेका भाव शुद्ध न हो तो बाहरसे चाहे जितने शिष्टाचारके साथ, चाहे जितनी उत्तम-से-उत्तम सामग्री मुझे अर्पण की जाय, मैं उसे कभी स्वीकार नहीं करता। मैंने दुर्योधनका निमन्त्रण अस्वीकार करके भाव शुद्ध होनेके कारण विदुरके घरपर जाकर प्रेमपूर्वक भोजन किया, सुदामाके चिउरोंका बड़ी रुचिके साथ भोग लगाया, द्रौपदीकी बटलोईमें बचे हुए 'पत्ते' को खाकर विश्वको तृप्त कर दिया, गजेन्द्रद्वारा अर्पण किये हुए 'पुष्प' को स्वयं वहाँ पहुँचकर स्वीकार किया, शबरीकी कुटियापर जाकर उसके दिये हुए 'फलों'-का भोग लगाया और रन्तिदेवके 'जल' को स्वीकार करके उसे कृतार्थ किया। इसी प्रकार प्रत्येक भक्तकी प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वस्तुको मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ।

६. इससे भगवान्‌ने सब प्रकारके कर्तव्यकर्मोंका समाहार किया है। अभिप्राय यह है कि यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त जीविकानिर्वाह आदिके लिये किये जानेवाले वर्ण, आश्रम और लोकव्यवहारके कर्म तथा भगवान्‌का भजन, ध्यान आदि जितने भी शास्त्रीय कर्म हैं, उन सबका समावेश 'यत्करोषि' में, शरीर-पालनके निमित्त किये जानेवाले खान-पान आदि कर्मोंका 'यदश्नासि' में, पूजन और हवनसम्बन्धी समस्त कर्मोंका 'यज्जुहोषि' में, सेवा और दानसम्बन्धी समस्त कर्मोंका 'यद्ददासि' में और संयम तथा तपसम्बन्धी समस्त कर्मोंका समावेश 'यत्तपस्यसि' में किया गया है (गीता १७।१४—१७)।

७. साधारण मनुष्यकी उन कर्मोंमें ममता और आसक्ति होती है तथा वह उनमें फलकी कामना रखता है। अतएव समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग कर देना और यह समझना कि समस्त जगत् भगवान्‌का है, मेरे मन, बुद्धि, शरीर तथा इन्द्रिय भी भगवान्‌के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्‌का हूँ, इसलिये मेरे द्वारा जो कुछ भी यज्ञादि कर्म किये जाते हैं, वे सब भगवान्‌के ही हैं। कठपुतलीको नचानेवाले सूत्रधारकी भाँति भगवान् ही मुझसे यह सब कुछ करवा रहे हैं। मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ—ऐसा समझकर जो भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की ही प्रसन्नताके लिये निष्कामभावसे उपर्युक्त कर्मोंका करना है, यही उन कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना है।

पहले किसी दूसरे उद्देश्यसे किये हुए कर्मोंको पीछेसे भगवान्‌को अर्पण करना, कर्म करते-करते बीचमें ही भगवान्‌के अर्पण कर देना, कर्म समाप्त होनेके साथ-साथ भगवान्‌के अर्पण कर देना अथवा कर्मोंका फल ही भगवान्‌के अर्पण करना—इस प्रकारका अर्पण करना भी भगवान्‌के ही अर्पण करना है। पहले इसी प्रकार होता है। ऐसा करते-करते ही उपर्युक्त प्रकारसे पूर्णतया भगवदर्पण होता है।

१. यहाँ 'संन्यासयोग' पद सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोगका वाचक नहीं है, किंतु पूर्वश्लोकके अनुसार समस्त कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देना ही यहाँ 'संन्यासयोग' है। इसलिये ऐसे संन्यासयोगसे जिसकी आत्मा युक्त हो, जिसके मन और बुद्धिमें पूर्वश्लोकके कथनानुसार समस्त कर्म भगवान्‌के अर्पण करनेका भाव सुदृढ़ हो गया हो, उसे 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' समझना चाहिये।

२. भिन्न-भिन्न शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार स्वर्ग, नरक और पशु, पक्षी एवं मनुष्यादि लोकोंके अंदर नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेना तथा सुख-दुःखोंका भोग करना—यही शुभाशुभ फल है, इसीको कर्मबन्धन कहते हैं; क्योंकि कर्मोंका फल भोगना ही कर्मबन्धनमें पड़ना है। उपर्युक्त प्रकारसे समस्त कर्म भगवान्‌के अर्पण कर देनेवाला मनुष्य कर्मफलरूप पुनर्जन्मसे और सुख-दुःखोंके भोगसे मुक्त हो जाता है, यही शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाना है। मरनेके बाद भगवान्‌के परमधाममें पहुँच जाना या इसी जन्ममें भगवान्‌को प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेना ही उस कर्मबन्धनसे मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त होना है।

३. इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि मैं ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे समानभावसे व्याप्त हूँ। अतएव मेरा सबमें समभाव है, किसीमें भी मेरा राग-द्वेष नहीं है। इसलिये वास्तवमें मेरा कोई भी अप्रिय या प्रिय नहीं है।

४. भगवान्‌के साकार या निराकार—किसी भी रूपका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना; उनके नाम, गुण, प्रभाव, महिमा और लीला-चरित्रोंका श्रवण, मनन और कीर्तन करना; उनको नमस्कार करना, पत्र, पुष्प आदि यथेष्ट सामग्रियोंके द्वारा उनकी प्रेमपूर्वक पूजा करना और अपने समस्त कर्म उनके समर्पण करना आदि सभी क्रियाओंका नाम भक्तिपूर्वक भगवान्‌को भजना है।

जो पुरुष इस प्रकार भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् भी उनको वैसे ही भजते हैं। वे जैसे भगवान्‌को नहीं भूलते, वैसे ही भगवान् भी उनको नहीं भूल सकते—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने उनको अपनेमें बतलाया है और उन

भक्तोंका विशुद्ध अन्तःकरण भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है, इससे उनके हृदयमें भगवान् सदा-सर्वदा प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने अपनेको उनमें बतलाया है।

जैसे समभावसे सब जगह प्रकाश देनेवाला सूर्य दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थोंमें प्रतिबिम्बित होता है, काष्ठादिमें नहीं होता, तथापि उसमें विषमता नहीं है, वैसे ही भगवान् भी भक्तोंको मिलते हैं, दूसरोंको नहीं मिलते—इसमें उनकी विषमता नहीं है, यह तो भक्तिकी ही महिमा है।

१. 'अपि' देनेका अभिप्राय यह है कि सदाचारी और साधारण पापियोंका मेरा भजन करनेसे उद्धार हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है, भजनसे अतिशय दुराचारीका भी उद्धार हो सकता है।

२. 'चेत्' अव्यय 'यदि' के अर्थमें है। इसका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि प्रायः दुराचारी मनुष्योंकी विषयोंमें और पापोंमें आसक्ति रहनेके कारण वे मुझमें प्रेम करके मेरा भजन नहीं करते, तथापि किसी पूर्व शुभ संस्कारकी जागृति, भगवद्भावमय वातावरण, शास्त्रके अध्ययन और महात्मा पुरुषोंके सत्संगसे एवं मेरे गुण, प्रभाव, महत्त्व और रहस्यका श्रवण करनेसे यदि कदाचित् दुराचारी मनुष्यकी मुझमें श्रद्धा-भक्ति हो जाय और वह मेरा भजन करने लगे तो उसका भी उद्धार हो जाता है।

३. जिनके आचरण अत्यन्त दूषित हों, खान-पान और चाल-चलन भ्रष्ट हों, अपने स्वभाव, आसक्ति और बुरी आदतसे विवश होनेके कारण जो दुराचारोंका त्याग न कर सकते हों, ऐसे मनुष्योंको अतिशय दुराचारी समझना चाहिये। ऐसे मनुष्योंका जो भगवान्के गुण, प्रभाव आदिके सुनने और पढ़नेसे या अन्य किसी कारणसे भगवान्को सर्वोतम समझ लेना और एकमात्र भगवान्का ही आश्रय लेकर अतिशय श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उन्हींको अपना इष्टदेव मान लेना है—यही उनका 'अनन्यभाक्' होना है। इस प्रकार भगवान्का भक्त बनकर जो उनके स्वरूपका चिन्तन करना, नाम, गुण, महिमा और प्रभावका श्रवण, मनन और कीर्तन करना, उनको नमस्कार करना, पत्र-पुष्प आदि यथेष्ट वस्तु उनके अर्पण करके उनका पूजन करना तथा अपने किये हुए शुभ कर्मोंको भगवान्के समर्पण करना है—यही अनन्यभाक् होकर भगवान्का भजन करना है।

४. जिसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि 'भगवान् पतितपावन, सबके सुहृद्, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु, सर्वज्ञ, सबके स्वामी और सर्वोतम हैं एवं उनका भजन करना ही मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य है; इससे समस्त पापों और पाप-वासनाओंका समूल नाश होकर भगवत्कृपासे मुझको अपने-आप ही भगवत्प्राप्ति हो जायगी।'—यह बहुत ही उत्तम और यथार्थ निश्चय है। भगवान् कहते हैं कि जिसका ऐसा निश्चय है, वह मेरा भक्त है और मेरी भक्तिके प्रतापसे वह शीघ्र ही पूर्ण धर्मात्मा हो जायगा। अतएव उसे पापी या दुष्ट न मानकर साधु ही मानना उचित है।

५. इसी जन्ममें बहुत ही शीघ्र सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर गीताके सोलहवें अध्यायके पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें वर्णित दैवी सम्पदासे युक्त हो जाना अर्थात् भगवान्की प्राप्तिका पात्र बन जाना ही शीघ्र धर्मात्मा बन जाना है और जो सदा रहनेवाली शान्ति है, जिसकी एक बार प्राप्ति हो जानेपर फिर कभी अभाव नहीं होता, जिसे नैष्ठिकी शान्ति (गीता ५।१२), निर्वाणपरमा शान्ति (गीता ६।१५) और परमा शान्ति (गीता १८।६२) कहते हैं, परमेश्वरकी प्राप्तिरूप उस शान्तिको प्राप्त हो जाना ही 'सदा रहनेवाली परम शान्ति' को प्राप्त होना है।

६. इसके प्रयोगसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि 'अर्जुन! मैंने जो तुम्हें अपनी भक्तिका और भक्तका यह महत्त्व बतलाया है, उसमें तुम्हें किंचिन्मात्र भी संशय न रखकर उसे सर्वथा सत्य समझना और दृढ़तापूर्वक धारण कर लेना चाहिये।'

७. यहाँ भगवान्के कहनेका यह अभिप्राय है कि मेरे भक्तका क्रमशः उत्थान ही होता रहता है, पतन नहीं होता। अर्थात् वह न तो अपनी स्थितिसे कभी गिरता है और न उसको नीच योनि या नरकादिकी प्राप्तिरूप दुर्गतिकी प्राप्ति होती है; वह पूर्व कथनके अनुसार क्रमशः दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा रहित होकर शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

१. यहाँ 'अपि' का दो बार प्रयोग करके भगवान्ने ऊँची-नीची जातिके कारण होनेवाली विषमताका अपनेमें सर्वथा अभाव दिखलाया है। भगवान्के कथनका यहाँ यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी अपेक्षा हीन समझे जानेवाले स्त्री, वैश्य और शूद्र एवं उनसे भी हीन समझे जानेवाले चाण्डाल आदि कोई भी हों, मेरी उनमें भेदबुद्धि नहीं है। मेरी शरण होकर जो कोई भी मुझको भजते हैं, उन्हींको परम गति मिल जाती है।

२. पूर्वजन्मोंके पापोंके कारण चाण्डालादि योनियोंमें उत्पन्न प्राणियोंको 'पापयोनि' माना गया है। इनके सिवा शास्त्रोंके अनुसार हूण, भील, खस, यवन आदि म्लेच्छ-जातिके मनुष्य भी 'पापयोनि' ही माने जाते हैं। यहाँ 'पापयोनि' शब्द इन्हीं सबका वाचक है। भगवान्की भक्तिके लिये किसी जाति या वर्णके लिये कोई रुकावट नहीं है। वहाँ तो शुद्ध प्रेमकी आवश्यकता है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् । भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ।। (११।१४।२१)

'हे उद्धव! संतोंका परमप्रिय 'आत्मा' रूप मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही वशीभूत होता हूँ। मेरी भक्ति जन्मतः चाण्डालोंको भी पवित्र कर देती है।'

यहाँ 'पापयोनयः' पदको स्त्री, वैश्य और शूद्रोंका विशेषण नहीं मानना चाहिये; क्योंकि वैश्योंकी गणना द्विजोंमें की गयी है। उनको वेद पढ़नेका और यज्ञादि वैदिक कर्मोंके करनेका शास्त्रमें पूर्ण अधिकार दिया गया है। अतः द्विज होनेके कारण वैश्योंको 'पापयोनि' कहना नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद्में जहाँ जीवोंकी कर्मानुरूप गतिका वर्णन है, यह स्पष्ट कहा गया है कि—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ।। (अध्याय ५ खण्ड १० मं० ७)

'उन जीवोंमें जो इस लोकमें रमणीय आचरणवाले अर्थात् पुण्यात्मा होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनि—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं और जो इस संसारमें कपूय (अधम) आचरणवाले अर्थात् पापकर्मा होते हैं, वे अधमयोनि अर्थात् कुत्तेकी, सूकरकी या चाण्डालकी योनिको प्राप्त करते हैं।'

इससे यह सिद्ध है कि वैश्योंकी गणना 'पापयोनि' में नहीं की जा सकती। अब रही स्त्रियोंकी बात—सों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी स्त्रियोंका अपने पतियोंके साथ यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार माना गया है। इस कारणसे उनको भी पापयोनि कहना नहीं बन सकता। सबसे बड़ी अड़चन तो यह पड़ेगी कि भगवान्‌की भक्तिसे चाण्डाल आदिको भी परमगति मिलनेकी बात, जो कि सर्वशास्त्रसम्मत है और जो भक्तिके महत्त्वको प्रकट करती है, कैसे रहेगी? अतएव 'पापयोनयः' पदको स्त्री, वैश्य और शूद्रोंका विशेषण न मानकर शूद्रोंकी अपेक्षा भी हीनजातिके मनुष्योंका वाचक मानना ही ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि भागवतमें बतलाया है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ।। (२।४।१८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन और खस आदि अधम जातिके लोग तथा इनके सिवा और भी बड़े-से-बड़े पापी मनुष्य शुद्ध हो जाते हैं, उन जगत्प्रभु भगवान् विष्णुको नमस्कार है।'

३. भगवान्‌पर पूर्ण विश्वास करके चौंतीसवें श्लोकके कथनानुसार प्रेमपूर्वक सब प्रकारसे भगवान्‌की शरण हो जाना अर्थात् उनके प्रत्येक विधानमें सदा संतुष्ट रहना, उनके नाम, रूप, गुण, लीला आदिका निरन्तर श्रवण, कीर्तन और चिन्तन करते रहना, उन्हींको अपनी गति, भर्ता, प्रभु आदि मानना, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका पूजन करना, उन्हें नमस्कार करना, उनकी आज्ञाका पालन करना और समस्त कर्म उन्हींके समर्पण कर देना आदि भगवान्‌की शरण होना है।

१. 'किम्' और 'पुनः' का प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जब उपर्युक्त अत्यन्त दुराचारी (गीता ९।३०) और चाण्डाल आदि नीच जातिके मनुष्य भी (गीता ९।३२) मेरा भजन करके परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं, तब फिर जिनके आचार-व्यवहार और वर्ण अत्यन्त उत्तम हैं, ऐसे मेरे भक्त पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षिलते मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त हो जायँ—इसमें तो कहना ही क्या है!

२. 'भक्ताः' पदका सम्बन्ध ब्राह्मण और राजर्षि दोनोंके ही साथ है; क्योंकि यहाँ भक्तिके ही कारण उनको परम गतिकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

३. मनुष्यदेह बहुत ही दुर्लभ है। यह बड़े पुण्यबलसे और खास करके भगवान्‌की कृपासे मिलता है और मिलता है केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही। इस शरीरको पाकर जो भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करता है, उसीका मनुष्य-जीवन सफल होता है। जो इसमें सुख खोजता है, वह तो असली लाभसे वंचित ही रह जाता है; क्योंकि यह सर्वथा सुखरहित है, इसमें कहीं सुखका लेश भी नहीं है। जिन विषयभोगोंके सम्बन्धको मनुष्य सुखरूप समझता है, वह बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाला होनेके कारण वस्तुतः दुःखरूप ही है। अतएव इसको सुखरूप न समझकर यह जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मिला है, उस उद्देश्यको शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्त कर लेना चाहिये; क्योंकि यह शरीर क्षणभंगुर है, पता नहीं, किस क्षण इसका नाश हो जाय! इसलिये सावधान हो जाना चाहिये। न इसे सुखरूप समझकर विषयोंमें फँसना चाहिये और न इसे नित्य समझकर भजनमें देर ही करनी चाहिये। कदाचित् अपनी असावधानीमें यह व्यर्थ ही नष्ट हो गया तो फिर सिवा पछतानेके और कुछ भी उपाय हाथमें नहीं रह जायगा। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । (केनोपनिषद् २।५)

'यदि इस मनुष्यजन्ममें परमात्माको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममें नहीं जाना तब तो बड़ी भारी हानि है।'

इसीलिये भगवान् कहते हैं कि ऐसे शरीरको पाकर नित्य-निरन्तर मेरा भजन ही करो। क्षणभर भी मुझे मत भूलो।

४. जिन परमेश्वरके सगुण, निर्गुण, निराकार, साकार आदि अनेक रूप हैं; जो विष्णुरूपसे सबका पालन करते हैं, ब्रह्मारूपसे सबकी रचना करते हैं और रुद्ररूपसे सबका संहार करते हैं; जो भगवान् युग-युगमें मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि दिव्य रूपोंमें अवतीर्ण होकर जगत्में विचित्र लीलाएँ करते हैं; जो भक्तोंकी इच्छाके अनुसार विभिन्न रूपोंमें प्रकट होकर उनको अपनी शरण प्रदान करते हैं—उन समस्त जगत्के कर्ता, हर्ता, विधाता, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वगुणसम्पन्न, परम पुरुषोत्तम, समग्र भगवान्का वाचक यहाँ 'माम्' पद है।

५. भगवान् ही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वातीत, सर्वमय, निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यके समुद्र और परम प्रेमस्वरूप हैं—इस प्रकार भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका यथार्थ परिचय हो जानेसे जब साधकको यह निश्चय हो जाता है कि एकमात्र भगवान् ही हमारे परम प्रेमास्पद हैं, तब जगत्की किसी भी वस्तुमें उसकी जरा भी रमणीयबुद्धि नहीं रह जाती। ऐसी अवस्थामें संसारके किसी दुर्लभ-से-दुर्लभ भोगमें भी उसके लिये कोई आकर्षण नहीं रहता। जब इस प्रकारकी स्थिति हो जाती है, तब स्वाभाविक ही इस लोक और परलोककी समस्त वस्तुओंसे उसका मन सर्वथा हट जाता है और वह अनन्य तथा परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्का ही चिन्तन करता रहता है। भगवान्का यह प्रेमपूर्ण चिन्तन ही उसके प्राणोंका आधार होता है, वह क्षणमात्रकी भी उनकी विस्मृतिको सहन नहीं कर सकता। जिसकी ऐसी स्थिति हो जाती है, उसीको 'भगवान्में मनवाला' कहते हैं।

६. भगवान् ही परमगति हैं, वे ही एकमात्र भर्ता और स्वामी हैं, वे ही परम आश्रय और परम आत्मीय संरक्षक हैं, ऐसा मानकर उन्हींपर निर्भर हो जाना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना, उन्हींकी आज्ञाका अनुसरण करना, भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला आदिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदिमें अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको निमग्न रखना और उन्हींकी प्रीतिके लिये प्रत्येक कार्य करना—इसीका नाम 'भगवान्का भक्त बनना' है।

१. भगवान्के मन्दिरोंमें जाकर उनके मंगलमय विग्रहका यथाविधि पूजन करना, सुविधानुसार अपने-अपने घरोंमें इष्टरूप भगवान्की मूर्ति स्थापित करके उसका विधिपूर्वक श्रद्धा और प्रेमके साथ पूजन करना, अपने हृदयमें या अन्तरिक्षमें अपने सामने भगवान्की मानसिक मूर्ति स्थापित करके उसकी मानस-पूजा करना, उनके वचनोंका, उनकी लीलाभूमिका और चित्रपट आदिका आदर-सत्कार करना, उनकी सेवाके कार्योंमें अपनेको संलग्न रखना, निष्कामभावसे यज्ञादिके अनुष्ठानके द्वारा भगवान्की पूजा करना, माता-पिता, ब्राह्मण, साधु-महात्मा और गुरुजनोंको तथा अन्य समस्त प्राणियोंको भगवान्का ही स्वरूप समझकर या अन्तर्यामीरूपसे भगवान् सबमें व्याप्त हैं, ऐसा जानकर सबका यथायोग्य पूजन, आदर-सत्कार करना और तन-मन-धनसे सबको यथायोग्य सुख पहुँचानेकी तथा सबका हित करनेकी यथार्थ चेष्टा करना—ये सभी क्रियाएँ 'भगवान्की पूजा' ही कहलाती हैं।

२. भगवान्के साकार या निराकार रूपको, उनकी मूर्तिको, चित्रपटको, उनके चरण, चरणपादुका या चरणचिह्नोंको, उनके तत्त्व, रहस्य, प्रेम, प्रभावका और उनकी मधुर लीलाओंका व्याख्यान करनेवाले सत्-शास्त्रोंको, माता-पिता, ब्राह्मण, गुरु, साधु-संत और महापुरुषोंको तथा विश्वके समस्त प्राणियोंको उन्हींका स्वरूप समझकर या अन्तर्यामीरूपसे उनको सबमें व्याप्त जानकर श्रद्धा-भक्तिसहित मन, वाणी और शरीरके द्वारा यथायोग्य प्रणाम करना—यही 'भगवान्को नमस्कार करना' है।

३. यहाँ 'आत्मा' शब्द मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके सहित शरीरका वाचक है; तथा इन सबको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्में लगा देना ही आत्माको उसमें युक्त करना है।

४. इस प्रकार सब कुछ भगवान्को समर्पण कर देना और भगवान्को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और अपना सर्वस्व समझना 'भगवान्के परायण होना' है।

५. इसी मनुष्यशरीरमें ही भगवान्का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाना, भगवान्को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रवेश कर जाना अथवा भगवान्के दिव्य लोकमें जाना, उनके समीप रहना अथवा उनके-जैसे रूप आदिको प्राप्त कर लेना—ये सभी भगवत्प्राप्ति ही हैं।

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां दशमोऽध्यायः)

भगवान्‌की विभूति और योगशक्तिका तथा प्रभावसहित भक्तियोगका कथन, अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌द्वारा अपनी विभूतियोंका और योगशक्तिका पुनः वर्णन

सम्बन्ध—*गीताके सातवें अध्यायसे लेकर नवें अध्यायतक विज्ञानसहित ज्ञानका जो वर्णन किया गया, उसके बहुत गम्भीर हो जानेके कारण अब पुनः उसी विषयको दूसरे प्रकारसे भलीभाँति समझानेके लिये दसवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले श्लोकमें भगवान् पूर्वोक्त विषयका ही पुनः वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय[६] **वक्ष्यामि हितकाम्यया ।। १ ।।**

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचनको सुन,[३] जिसे मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके लिये हितकी इच्छासे कहूँगा ।। १ ।।

सम्बन्ध—*पहले श्लोकमें भगवान्‌ने जिस विषयपर कहनेकी प्रतिज्ञा की है, उसका वर्णन आरम्भ करते हुए वे पहले पाँच श्लोकोंमें योगशब्दवाच्य प्रभावका और अपनी विभूतिका संक्षिप्त वर्णन करते हैं—*

न मे विदुः सुरगणाः[२] **प्रभवं न महर्षयः**[३] **।**

अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।। २ ।।

मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं,[४] क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ[५] ।। २ ।।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।

असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ३ ।।

जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्मरहित, अनादि और लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है,[६] वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ।।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः[७ ८ ९] क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।। ४ ।।
अहिंसा[१] समता[२] तुष्टिस्तपो[३] दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।। ५ ।।

निश्चय करनेकी शक्ति यथार्थ ज्ञान, असम्मूढता, क्षमा,[४] सत्य,[५] इन्द्रियोंका वशमें करना, मनका निग्रह तथा सुख-दुःख,[६] उत्पत्ति-प्रलय और भय-अभय[७] तथा अहिंसा, समता, संतोष तप,[८] दान,[९] कीर्ति और अपकीर्ति—ऐसे ये प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मुझसे ही होते हैं[१०] ।। ४-५ ।।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो[११] मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।। ६ ।।

सात महर्षिजन,[१] चार उनसे भी पूर्वमें होनेवाले सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु[२]—ये मुझमें भाववाले सब-के-सब मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं[१], जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है ।। ६ ।।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन[२] युज्यते नात्र संशयः ।। ७ ।।

जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूतिको[३] और योगशक्तिको[४] तत्त्वसे जानता है,[५] वह निश्चल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।। ७ ।।

सम्बन्ध—*भगवान्‌के प्रभाव और विभूतियोंके ज्ञानका फल अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतलायी गयी, अब दो श्लोकोंमें उस भक्तियोगकी प्राप्तिका क्रम बतलाते हैं—*

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।। ८ ।।

मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर[१] श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं[२] ।। ८ ।।

मच्चित्ता[३] मद्गतप्राणा[४] बोधयन्तः परस्परम्[५] ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।। ९ ।।

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही[६] निरन्तर सतुष्ट होते हैं[७] और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं[८] ।। ९ ।।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त प्रकारसे भजन करनेवाले भक्तोंके प्रति भगवान् क्या करते हैं, अगले दो श्लोकोंमें यह बतलाते हैं—*

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।। १० ।।

उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले[१] भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ[२] जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।। १० ।।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता[३] ।। ११ ।।

हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ[४] ।। ११ ।।

सम्बन्ध—*गीताके सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें अपने समग्ररूपका ज्ञान करानेवाले जिस विषयको सुननेके लिये भगवान्ने अर्जुनको आज्ञा दी थी तथा दूसरे श्लोकमें जिस विज्ञानसहित ज्ञानको पूर्णतया कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसका वर्णन भगवान्ने सातवें अध्यायमें किया। उसके बाद आठवें अध्यायमें अर्जुनके सात प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भी भगवान्ने उसी विषयका स्पष्टीकरण किया; किंतु वहाँ कहनेकी शैली दूसरी रही, इसलिये नवम अध्यायके आरम्भमें पुनः विज्ञानसहित ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसी विषयको अंग-प्रत्यंगोंसहित भलीभाँति समझाया। तदनन्तर दूसरे शब्दोंमें पुनः उसका स्पष्टीकरण करनेके लिये दसवें अध्यायके पहले श्लोकमें उसी विषयको पुनः कहनेकी प्रतिज्ञा की और पाँच श्लोकोंद्वारा अपनी योगशक्ति और विभूतियोंका वर्णन करके सातवें श्लोकमें उनके जाननेका फल अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतलायी। फिर आठवें और नवें श्लोकोंमें भक्तियोगके द्वारा भगवान्के भजनमें लगे हुए भक्तोंके भाव और आचरणका वर्णन किया और दसवें तथा ग्यारहवेंमें उसका फल अज्ञानजनित अन्धकारका नाश और भगवान्की प्राप्ति करा*

देनेवाले बुद्धियोगकी प्राप्ति बतलाकर उस विषयका उपसंहार कर दिया। इसपर भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना भगवत्प्राप्तिमें परम सहायक है, यह बात समझकर अब सात श्लोकोंमें अर्जुन पहले भगवान्‌की स्तुति करके भगवान्‌से उनकी योगशक्ति और विभूतियोंका विस्तारसहित वर्णन करनेके लिये प्रार्थना करते हैं—

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।। १२ ।।

आहुस्त्वामृषयः[५] सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।। १३ ।।

अर्जुन बोले—आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं;[१] क्योंकि आपको सब ऋषिगण[२] सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि[३] नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं[१] और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं[२] ।। १२-१३ ।।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ।। १४ ।।

हे केशव![३] जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ[४]। हे भगवन्![५] आपके लीलामय स्वरूपको न तो दानव जानते हैं न देवता ही[६] ।। १४ ।।

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ।। १५ ।।

हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले! हे भूतोंके ईश्वर! हे देवोंके देव! हे जगत्‌के स्वामी! हे पुरुषोत्तम![७] आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं[८] ।। १५ ।।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ।। १६ ।।

इसलिये आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णतासे कहनेमें समर्थ हैं, जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन सब लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं ।। १६ ।।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ।। १७ ।।

हे योगेश्वर! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन्! आप किन-किन भावोंमें मेरे द्वारा चिन्तन करनेयोग्य हैं[१] ।। १७ ।।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।। १८ ।।

हे जनार्दन![२] अपनी योगशक्तिको और विभूतिको फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये; क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती[३] अर्थात् सुननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है ।। १८ ।।

सम्बन्ध—*अर्जुनके द्वारा योग और विभूतियोंका विस्तार-पूर्वक पूर्णरूपसे वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की जानेपर भगवान् पहले अपने विस्तारकी अनन्तता बतलाकर प्रधानतासे अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ।। १९ ।।

श्रीभगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ! अब मैं जो मेरी दिव्य विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिये प्रधानतासे कहूँगा; क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है[४] ।। १९ ।।

सम्बन्ध—*अब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् बीसवेंसे उनतालीसवें श्लोकतक पहले अपनी विभूतियों-का वर्णन करते हैं—*

अहमात्मा गुडाकेश[५] सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।। २० ।।

हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ[१] तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ[२] ।। २० ।।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ।। २१ ।।

मैं अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णु[३] और ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ[४] तथा मैं उनचास वायु-देवताओंका तेज[५] और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ[६] ।। २१ ।।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ।। २२ ।।

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ,[७] देवोंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और भूतप्राणियोंकी चेतना अर्थात् जीवनी शक्ति हूँ[८] ।। २२ ।।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ।। २३ ।।

मैं एकादश रुद्रोंमें शंकर हूँ[१] और यक्ष तथा राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर हूँ। मैं आठ वसुओंमें अग्नि हूँ[२] और शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत हूँ[३] ।।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ।। २४ ।।

पुरोहितोंमें मुखिया बृहस्पति मुझको जान[४]। हे पार्थ! मैं सेनापतियोंमें स्कन्द[५] और जलाशयोंमें समुद्र हूँ ।।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।। २५ ।।

मैं महर्षियोंमें भृगु[६] और शब्दोंमें एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूँ[१]। सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ[२] और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय पहाड़ हूँ[३] ।। २५ ।।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ।। २६ ।।

मैं सब वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष,[४] देवर्षियोंमें नारद मुनि[५], गन्धर्वोंमें चित्ररथ[६] और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ[७] ।।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ।। २७ ।।

घोड़ोंमें अमृतके साथ उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथी[८] और **मनुष्योंमें राजा[१] मुझको जान ।। २७ ।।**

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।। २८ ।।

मैं शास्त्रोंमें वज्र[२] और गौओंमें कामधेनु[३] हूँ। शास्त्रोक्त रीतिसे संतानकी उत्पत्तिका हेतु कामदेव[४] हूँ और सर्पोंमें सर्पराज वासुकि[५] हूँ ।। २८ ।।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।। २९ ।।

मैं नागोंमें शेषनाग[६] और जलचरोंका अधिपति वरुणदेवता[७] हूँ और पितरोंमें अर्यमा[८] नामक पितर तथा शासन करनेवालोंमें यमराज[९] मैं हूँ ।। २९ ।।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः[१०] कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।। ३० ।।

मैं दैत्योंमें प्रह्लाद[११] और गणना करनेवालोंका समय हूँ तथा पशुओंमें मृगराज[१२] सिंह और पक्षियोंमें मैं गरुड़[१३] हूँ ।। ३० ।।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।। ३१ ।।

मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें श्रीराम[१] हूँ तथा मछलियोंमें मगर[२] हूँ और नदियोंमें श्रीभागीरथी गंगाजी हूँ[३] ।। ३१ ।।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।। ३२ ।।

हे अर्जुन! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ। मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या[४] अर्थात् ब्रह्मविद्या और परस्पर विवाद करने-वालोंका तत्त्व-निर्णयके लिये किया जानेवाला वाद[५] हूँ ।। ३२ ।।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ।। ३३ ।।

मैं अक्षरोंमें अकार[६] हूँ और समासोंमें द्वन्द्व[७] नामक समास हूँ। अक्षय काल[८] अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला विराट्स्वरूप, सबका धारण-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ ।। ३३ ।।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।। ३४ ।।

मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और उत्पन्न होनेवालोंका उत्पत्तिहेतु[१] हूँ तथा स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा[२] हूँ ।। ३४ ।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।। ३५ ।।

तथा गायन करनेयोग्य श्रुतियोंमें मैं बृहत्साम[३] और छन्दोंमें गायत्री[४] छन्द हूँ तथा महीनोंमें मार्गशीर्ष[५] और ऋतुओंमें वसन्त[६] मैं हूँ ।। ३५ ।।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।। ३६ ।।

मैं छल करनेवालोंमें जूआ[१] और प्रभावशाली पुरुषोंका प्रभाव हूँ। मैं जीतनेवालोंका विजय हूँ। निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका

सात्त्विकभाव[२] हूँ ।। ३६ ।।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।। ३७ ।।

वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव[३] अर्थात् मैं स्वयं तेरा सखा, पाण्डवोंमें धनंजय[४] अर्थात् तू, मुनियोंमें वेदव्यास[५] और कवियोंमें शुक्राचार्य कवि[६] भी मैं ही हूँ ।। ३७ ।।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्[७] ।। ३८ ।।

मैं दमन करनेवालोंका दण्ड[८] अर्थात् दमन करनेकी शक्ति हूँ, जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति[१] हूँ, गुप्त रखनेयोग्य भावोंका रक्षक मौन[२] हूँ और ज्ञानवानोंका तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ ।। ३८ ।।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ।। ३९ ।।

और हे अर्जुन! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ;[३] क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो[४] ।। ३९ ।।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।। ४० ।।

हे परंतप! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, मैंने अपनी विभूतियोंका यह विस्तार तो तेरे लिये एकदेशसे अर्थात् संक्षेपसे कहा है ।। ४० ।।

सम्बन्ध—*अठारहवें श्लोकमें अर्जुनने भगवान्‌से उनकी विभूति और योगशक्तिका वर्णन करनेकी प्रार्थना की थी, उसके अनुसार भगवान् अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अब संक्षेपमें अपनी योगशक्तिका वर्णन करते हैं—*

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ।। ४१ ।।

जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति[५] जान ।। ४१ ।।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेत तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नकांशेन स्थितो जगत् ।। ४२ ।।

अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है?[१] मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके[२] एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ ।। ४२ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ।। १० ।। भीष्मपर्वणि तु चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १० ।। भीष्मपर्वमें चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३४ ।।

---

६. 'प्रीयमाणाय' विशेषणका प्रयोग करके भगवान्ने यह दिखलाया है कि हे अर्जुन! तुम्हारा मुझमें अतिशय प्रेम है, मेरे वचनोंको तुम अमृततुल्य समझकर अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ सुनते हो; इसीलिये मैं किसी प्रकारका संकोच न करके बिना पूछे भी तुम्हारे सामने अपने परम गोपनीय गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य बार-बार खोल रहा हूँ। इसमें तुम्हारा प्रेम ही कारण है।

१. इस अध्यायमें भगवान्ने अपने गुण, प्रभाव और तत्त्वका रहस्य समझानेके लिये जो उपदेश दिया है, वही 'परम वचन' है और उसे फिरसे सुननेके लिये कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मेरी भक्तिका तत्त्व अत्यन्त ही गहन है; अतः उसे बार-बार सुनना परम आवश्यक समझकर बड़ी सावधानीके साथ श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सुनना चाहिये।

२. 'सुरगणाः' पद एकादश रुद्र, आठ वसु, बारह आदित्य, प्रजापति, उनचास मरुद्गण, अश्विनीकुमार और इन्द्र आदि जितने भी शास्त्रीय देवताओंके समुदाय हैं—उन सबका वाचक है।

३. 'महर्षयः' पदसे यहाँ सप्त महर्षियोंको समझना चाहिये।

४. भगवान्का अपने अतुलनीय प्रभावसे जगत्का सृजन, पालन और संहार करनेके लिये ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके रूपमें; दुष्टोंके विनाश, धर्मके संस्थापन तथा नाना प्रकारकी लीलाओंके द्वारा जगत्के प्राणियोंके उद्धारके लिये श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि दिव्य अवतारोंके रूपमें; भक्तोंको दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ करनेके लिये उनके इच्छानुरूप नाना रूपोंमें तथा लीलावैचित्र्यकी अनन्त धारा प्रवाहित करनेके लिये समस्त विश्वके रूपमें जो प्रकट होना है—उसीका वाचक यहाँ 'प्रभव' शब्द है। उसे देवसमुदाय और महर्षिलोग नहीं जानते, इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मैं किस-किस समय किन-किन रूपोंमें किन-किन हेतुओंसे किस प्रकार प्रकट होता हूँ—इसके रहस्यको साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, अतीन्द्रिय विषयोंको समझनेमें समर्थ देवता और महर्षिलोग भी यथार्थरूपसे नहीं जानते।

५. इस कथनसे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जिन देवता और महर्षियोंसे इस सारे जगत्की उत्पत्ति हुई है, वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं; उनका निमित्त और उपादान कारण मैं ही हूँ और उनमें जो विद्या, बुद्धि, शक्ति, तेज आदि प्रभाव हैं—वे सब भी उन्हें मुझसे ही मिलते हैं।

६. भगवान् अपनी योगमायासे नाना रूपोंमें प्रकट होते हुए भी अजन्मा हैं (गीता ४।६), अन्य जीवोंकी भाँति उनका जन्म नहीं होता, वे अपने भक्तोंको सुख देने और धर्मकी स्थापना करनेके लिये केवल जन्मधारणकी लीला किया करते हैं—इस बातको श्रद्धा और विश्वासके साथ ठीक-ठीक समझ लेना तथा इसमें जरा भी संदेह न करना—यही 'भगवान्को अजन्मा जानना' है तथा भगवान् ही सबके आदि अर्थात् महाकारण हैं, उनका आदि कोई नहीं है; वे नित्य हैं तथा सदासे हैं, अन्य पदार्थोंकी भाँति उनका किसी

कालविशेषसे आरम्भ नहीं हुआ है—इस बातको श्रद्धा और विश्वासके साथ ठीक-ठीक समझ लेना —'भगवान्‌को अनादि जानना' है। एवं जितने भी ईश्वरकोटिमें गिने जानेवाले इन्द्र, वरुण, यम, प्रजापति आदि लोकपाल हैं—भगवान् उन सबके महान् ईश्वर हैं; वे ही सबके नियन्ता, प्रेरक, कर्ता, हर्ता, सब प्रकारसे सबका भरण-पोषण और संरक्षण करनेवाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं—इस बातको श्रद्धापूर्वक संशयरहित ठीक-ठीक समझ लेना, 'भगवान्‌को लोकोंका महान् ईश्वर जानना' है।

७. कर्तव्य-अकर्तव्य, ग्राह्य-अग्राह्य और भले-बुरे आदिका निर्णय करके निश्चय करनेवाली जो वृत्ति है, उसे 'बुद्धि' कहते हैं।

८. किसी भी पदार्थको यथार्थ जान लेना 'ज्ञान' है; यहाँ 'ज्ञान' शब्द साधारण ज्ञानसे लेकर भगवान्‌के स्वरूपज्ञानतक सभी प्रकारके ज्ञानका वाचक है।

९. भोगासक्त मनुष्योंको नित्य और सुखप्रद प्रतीत होनेवाले समस्त सांसारिक भोगोंको अनित्य, क्षणिक और दुःखमूलक समझकर उनमें मोहित न होना—यही 'असम्मोह' है।

१. किसी भी प्राणीको किसी भी समय किसी भी प्रकारसे मन, वाणी या शरीरके द्वारा जरा भी कष्ट न पहुँचानेके भावको 'अहिंसा' कहते हैं।

२. सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, मित्र-शत्रु आदि जितने भी क्रिया, पदार्थ और घटना आदि विषमताके हेतु माने जाते हैं, उन सबमें निरन्तर राग-द्वेषरहित समबुद्धि रहनेके भावको 'समता' कहते हैं।

३. जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसे प्रारब्धका भोग या भगवान्‌का विधान समझकर सदा संतुष्ट रहनेके भावको 'तुष्टि' कहते हैं।

४. बुरा चाहना, बुरा करना, धनादि हर लेना, अपमान करना, आघात पहुँचाना, कड़ी जबान कहना या गाली देना, निन्दा या चुगली करना, आग लगाना, विष देना, मार डालना और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षमें क्षति पहुँचाना आदि जितने भी अपराध हैं, इनमेंसे एक या अधिक किसी प्रकारका भी अपराध करनेवाला कोई भी प्राणी क्यों न हो, अपनेमें बदला लेनेका पूरा सामर्थ्य रहनेपर भी उससे उस अपराधका किसी प्रकार भी बदला लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर देना और उस अपराधके कारण उसे इस लोक या परलोकमें कोई भी दण्ड न मिले—ऐसा भाव होना 'क्षमा' है।

५. इन्द्रिय और अन्तःकरणद्वारा जो बात जिस रूपमें देखी, सुनी और अनुभव की गयी हो, ठीक उसी रूपमें दूसरेको समझानेके उद्देश्यसे हितकर प्रिय शब्दोंमें उसको प्रकट करना 'सत्य' है।

६. 'सुख' शब्द यहाँ प्रिय (अनुकूल) वस्तुके संयोगसे और अप्रिय (प्रतिकूल)-के वियोगसे होनेवाले सब प्रकारके सुखोंका वाचक है। इसी प्रकार प्रियके वियोगसे और अप्रियके संयोगसे होनेवाले आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—सब प्रकारके दुःखोंका वाचक यहाँ 'दुःख' शब्द है।

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि प्राणियोंके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले कष्टोंको 'आधिभौतिक', अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकम्प, वज्रपात और अकाल आदि दैवीप्रकोपसे होनेवाले कष्टोंको 'आधिदैविक' और शरीर, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणमें किसी प्रकारके रोगसे होनेवाले कष्टोंको 'आध्यात्मिक' दुःख कहते हैं।

७. सर्गकालमें समस्त चराचर जगत्‌का उत्पन्न होना 'भव' है, प्रलयकालमें उसका लीन हो जाना 'अभाव' है। किसी प्रकारकी हानि या मृत्युके कारणको देखकर अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाले भावका नाम 'भय' है और सर्वत्र एक परमेश्वरको व्याप्त समझ लेनेसे अथवा अन्य किसी कारणसे भयका जो सर्वथा अभाव हो जाना है वह 'अभय' है।

८. स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना 'तप' है।

९. अपने स्वत्वको दूसरोंके हितके लिये वितरण करना 'दान' है।

१०. इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि विभिन्न प्राणियोंके उनकी प्रकृतिके अनुसार उपर्युक्त प्रकारके जितने भी विभिन्न भाव होते हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं, अर्थात् वे सब मेरी ही सहायता, शक्ति और सत्तासे होते हैं।

११. 'चत्वारः पूर्वे' से सबसे पहले होनेवाले सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चारोंको लेना चाहिये। ये भी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं और ब्रह्माजीके तप करनेपर स्वेच्छासे प्रकट हुए हैं। ब्रह्माजीने स्वयं कहा है—

तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे आदौ सनात् स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत् ।
प्राक्कल्पसम्प्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन् ।।

(श्रीमद्भागवत २।७।५)

'मैंने विविध प्रकारके लोकोंको उत्पन्न करनेकी इच्छासे जो सबसे पहले तप किया, उस मेरी अखण्डित तपस्यासे ही भगवान् स्वयं सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार 'सन' नामवाले रूपोंमें प्रकट हुए और पूर्वकल्पमें प्रलयकालके समय जो आत्मतत्त्वके ज्ञानका प्रचार इस संसारमें नष्ट हो गया था, उसका इन्होंने भलीभाँति उपदेश किया, जिससे उन मुनियोंने अपने हृदयमें आत्मतत्त्वका साक्षात्कार किया।'

१. सप्तर्षियोंके लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

एतान् भावानधीयाना ये चैत ऋषयो मताः । सप्तैते सप्तभिश्चैव गुणैः सप्तर्षयः स्मृताः ।।
दीर्घायुषो मन्त्रकृत ईश्वरा दिव्यचक्षुषः । वृद्धाः प्रत्यक्षधर्माणो गोत्रप्रवर्तकाश्च ये ।।

(वायुपुराण ६१।९३-९४)

'तथा देवर्षियोंके इन (उपर्युक्त) भावोंका जो अध्ययन (स्मरण) करनेवाले हैं, वे ऋषि माने गये हैं; इन ऋषियोंमें जो दीर्घायु, मन्त्रकर्ता, ऐश्वर्यवान्, दिव्य-दृष्टियुक्त, गुण, विद्या और आयुमें वृद्ध, धर्मका प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) करनेवाले और गोत्र चलानेवाले हैं—ऐसे सातों गुणोंसे युक्त सात ऋषियोंको ही सप्तर्षि कहते हैं।' इन्हींसे प्रजाका विस्तार होता है और धर्मकी व्यवस्था चलती है।

यहाँ जिन सप्तर्षियोंका वर्णन है, उनको भगवान्ने 'महर्षि' कहा है और उन्हें संकल्पसे उत्पन्न बतलाया है। इसलिये यहाँ उन्हींका लक्ष्य है, जो ऋषियोंसे भी उच्चस्तरके हैं। ऐसे सप्तर्षियोंका उल्लेख महाभारत-शान्तिपर्वमें मिलता है; इनके लिये साक्षात् परम पुरुष परमेश्वरने देवताओंसहित ब्रह्माजीसे कहा है—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ।।
एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः । प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः ।।

(महा०, शान्ति० ३४०।६९-७०)

'मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) द्वारा ही अपने मनसे रचे हुए हैं। ये सातों वेदके ज्ञाता हैं, इनको मैंने मुख्य वेदाचार्य बनाया है। ये प्रवृतिमार्गका संचालन करनेवाले हैं और (मेरे ही द्वारा) प्रजापतिके कर्ममें नियुक्त किये गये हैं।'

इस कल्पके सर्वप्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षि यही हैं (हरिवंश० ७।८, ९)। अतएव यहाँ सप्तर्षियोंसे इन्हींका ग्रहण करना चाहिये।

२. ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु होते हैं, प्रत्येक मनुके अधिकारकालको 'मन्वन्तर' कहते हैं। इकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक कालका एक मन्वन्तर होता है। मानवी वर्षगणनाके हिसाबसे एक मन्वन्तर तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार वर्षसे और दिव्य-वर्षगणनाके हिसाबसे आठ लाख बावन हजार वर्षसे कुछ अधिक कालका होता है (विष्णुपुराण १।३)।

सूर्यसिद्धान्तमें मन्वन्तर आदिका जो वर्णन है, उसके अनुसार इस प्रकार समझना चाहिये—

सौरमानसे ४३,२०,००० वर्षकी अथवा देवमानसे १२,००० वर्षकी एक चतुर्युगी होती है। इसीको महायुग कहते हैं। ऐसे इकहतर युगोंका एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक मन्वन्तरके अन्तमें सत्ययुगके मानकी अर्थात् १७,२८,००० वर्षकी संध्या होती है। मन्वन्तर बीतनेपर जब संध्या होती है, तब सारी पृथ्वी जलमें डूब जाती है। प्रत्येक कल्पमें (ब्रह्माके एक दिनमें) चौदह मन्वन्तर अपनी-अपनी संध्याओंके मानके सहित होते हैं। इसके सिवा कल्पके आरम्भकालमें भी एक सत्ययुगके मानकालकी संध्या होती है। इस प्रकार एक कल्पके चौदह मनुओंमें ७१ चतुर्युगीके अतिरिक्त सत्ययुगके मानकी १५ संध्याएँ होती हैं। ७१ महायुगोंके मानसे १४ मनुओंमें ९९४ महायुग होते हैं और सत्ययुगके मानकी १५ संध्याओंका काल पूरा ६ महायुगोंके समान हो जाता है। दोनोंका योग मिलानेपर पूरे एक हजार महायुग या दिव्ययुग बीत जाते हैं।

इस हिसाबसे निम्नलिखित अंकोंके द्वारा इसको समझिये—

	सौरमान या मानव वर्ष	देवमान या दिव्य वर्ष
एक चतुर्युगी (महायुग या दिव्ययुग)	४३,२०,०००	१२,०००
इकहत्तर चतुर्युगी	३०,६७,२०,०००	८,५२,०००
कल्पकी संधि	१७,२८,०००	४,८००
मन्वन्तरकी चौदह संध्या	२,४१,९२,०००	६७,२००
संधिसहित एक मन्वन्तर	३०,८४,४८,०००	८,५६,८००
चौदह संध्यासहित चौदह मन्वन्तर	४,३१,८२,७२,०००	१,१९,९६,२००
कल्पकी संधिसहित चौदह मन्वन्तर या एक कल्प	४,३२,००,००,०००	१,२०,००,०००

ब्रह्माजीका दिन ही कल्प है, इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि है। इस अहोरात्रके मानसे ब्रह्माजीकी परमायु एक सौ वर्ष है। इसे 'पर' कहते हैं। इस समय ब्रह्माजी अपनी आयुका आधा भाग अर्थात् एक परार्द्ध बिताकर दूसरे परार्द्धमें चल रहे हैं। यह उनके ५१ वें वर्षका प्रथम दिन या कल्प है। वर्तमान कल्पके आरम्भसे अबतक स्वायम्भुव आदि छः मन्वन्तर अपनी-अपनी संध्याओंसहित बीत चुके हैं, कल्पकी संध्यासमेत सात संध्याएँ बीत चुकी हैं। वर्तमान सातवें वैवस्वत मन्वन्तरके २७चतुर्युग बीत चुके हैं। इस समय अट्ठाईसवें चतुर्युगके कलियुगका संध्याकाल चल रहा है (सूर्यसिद्धान्त, मध्यमाधिकार, श्लोक १५ से २४ देखिये)।

इस २०१३ वि० तक कलियुगके ५०५७ वर्ष बीते हैं। कलियुगके आरम्भमें ३६,००० वर्ष संध्याकालका मान होता है। इस हिसाबसे अभी कलियुगकी संध्याके ३०,९४३ सौर वर्ष बीतने बाकी हैं।

प्रत्येक मन्वन्तरमें धर्मकी व्यवस्था और लोकरक्षणके लिये भिन्न-भिन्न सप्तर्षि होते हैं। एक मन्वन्तरके बीत जानेपर जब मनु बदल जाते हैं, तब उन्हींके साथ सप्तर्षि, देवता, इन्द्र और मनुपुत्र भी बदल जाते हैं। वर्तमान कल्पके मनुओंके नाम ये हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि।

श्रीमद्भातावतके आठवें स्कन्दके पहले, पाँचवें और तेरहवें अध्यायोंमें इनका विस्तारसे वर्णन पढ़ना चाहिये। विभिन्न पुराणोंमें इनके नामभेद मिलते हैं। यहाँ ये नाम श्रीमद्भागवतके अनुसार दिये गये हैं।

चौदह मनुओंका एक कल्प बीत जानेपर सब मनु भी बदल जाते हैं।

१. ये सभी भगवान्में श्रद्धा और प्रेम रखनेवाले हैं, यही भाव दिखलानेके लिये इनको मुझमें भाववाले बतलाया गया है तथा इनकी जो ब्रह्माजीसे उत्पत्ति होती है, वह वस्तुतः भगवान्से ही होती है; क्योंकि स्वयं भगवान् ही जगत्की रचनाके लिये ब्रह्माका रूप धारण करते हैं। अतएव ब्रह्माके मनसे उत्पन्न होनेवालोंको भगवान् 'अपने मनसे उत्पन्न होनेवाले' कहें तो इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है।

२. भगवान्की जो अनन्यभक्ति है (गीता ११।५५), जिसे 'अव्यभिचारिणी भक्ति' (गीता १३।१०) और 'अव्यभिचारी भक्तियोग' (गीता १४।२६) भी कहते हैं; उस 'अविचल भक्तियोग' का वाचक यहाँ 'अविकम्पेन' विशेषणके सहित 'योगेन' पद है और उसमें संलग्न रहना ही उससे युक्त हो जाना है।

३. इसी अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें भगवान्ने जिन बुद्धि आदि भावोंको और महर्षि आदिको अपनेसे उत्पन्न बतलाया है तथा गीताके सातवें अध्यायमें 'जलमें मैं रस हूँ' (७।८) एवं नवें अध्यायमें 'क्रतु मैं हूँ', यज्ञ मैं हूँ' (९।१६) इत्यादि वाक्योंसे जिन-जिन पदार्थोंका, भावोंका और देवता आदिका वर्णन किया है—उन सबका वाचक 'विभूति' शब्द है।

४. भगवान्की जो अलौकिक शक्ति है, जिसे देवता और महर्षिगण भी पूर्णरूपसे नहीं जानते (गीता १०।२, ३); जिसके कारण स्वयं सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके अभिन्न-निमित्तोपादान कारण होनेपर भी भगवान् सदा उनसे न्यारे बने रहते हैं और यह कहा जाता है कि 'न तो वे भाव भगवान्में हैं और न भगवान् ही उनमें हैं' (गीता ७।१२); जिस शक्तिसे सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार आदि समस्त कर्म करते हुए भगवान् सम्पूर्ण जगत्को नियममें चलाते हैं; जिसके कारण वे समस्त लोकोंके महान् ईश्वर, समस्त भूतोंके सुहृद्, समस्त यज्ञादिके भोक्ता, सर्वाधार और सर्वशक्तिमान् हैं; जिस शक्तिसे भगवान् इस समस्त जगत्को अपने एक अंशमें धारण किये हुए हैं (गीता १०।४२) और युग-युगमें अपने इच्छानुसार विभिन्न कार्योंके लिये अनेक रूप धारण करते हैं तथा सब कुछ करते हुए भी समस्त कर्मोंसे,

सम्पूर्ण जगत्‌से एवं जन्मादि समस्त विकारोंसे सर्वथा निर्लेप रहते हैं और गीताके नवम अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिसको 'ऐश्वर्य योग' कहा गया है—उस अद्भुत शक्ति (प्रभाव)-का वाचक यहाँ 'योग' शब्द है।

५. इस प्रकार समस्त जगत् भगवान्‌की ही रचना है और सब उन्हींके एक अंशमें स्थित हैं। इसलिये जगत्‌में जो भी वस्तु शक्तिसम्पन्न प्रतीत हो, जहाँ भी कुछ विशेषता दिखलायी दे, उसे—अथवा समस्त जगत्‌को ही भगवान्‌की विभूति अर्थात् उन्हींका स्वरूप समझना एवं उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को समस्त जगत्‌के कर्ता-हर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वाधार, परम दयालु, सबके सुहृद् और सर्वान्तर्यामी मानना —यही 'भगवान्‌की विभूति और योगको तत्त्वसे जानना' है।

१. भगवान्‌के ही योगबलसे यह सृष्टिचक्र चल रहा है; उन्हींकी शासन-शक्तिसे सूर्य, चन्द्रमा, तारागण और पृथ्वी आदि नियम-पूर्वक घूम रहे हैं; उन्हींके शासनसे समस्त प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करके अपने-अपने कर्मोंका फल भोग रहे हैं—इस प्रकारसे भगवान्‌को सबका नियन्ता और प्रवर्तक समझना ही 'सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌से चेष्टा करता है' यह समझना है।

२. उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌को सम्पूर्ण जगत्‌का कर्ता, हर्ता और प्रवर्तक समझकर अगले श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे अतिशय श्रद्धा और प्रेमपूर्वक मन, बुद्धि और समस्त इन्द्रियोंद्वारा निरन्तर भगवान्‌का स्मरण और सेवन करना ही भगवान्‌को निरन्तर भजना है।

३. भगवान्‌को ही अपना परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम आत्मीय, परम गति और परम प्रिय समझनेके कारण जिनका चित्त अनन्यभावसे भगवान्‌में लगा हुआ है (गीता ८।१४; ९।२२)। भगवान्‌के सिवा किसी भी वस्तुमें जिनकी प्रीति, आसक्ति या रमणीय बुद्धि नहीं है; जो सदा-सर्वदा ही भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका चिन्तन करते रहते हैं और जो शास्त्रविधिके अनुसार कर्म करते हुए उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, व्यवहारकालमें और ध्यानकालमें कभी क्षणमात्र भी भगवान्‌को नहीं भूलते, ऐसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले भक्तोंके लिये ही यहाँ भगवान्‌ने 'मच्चित्ताः' विशेषणका प्रयोग किया है।

४. जिनका जीवन और इन्द्रियोंकी समस्त चेष्टाएँ केवल भगवान्‌के ही लिये हैं; जिनको क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य है; जो भगवान्‌के लिये ही प्राण धारण करते हैं; खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि जितनी भी चेष्टाएँ हैं, उन सबमें जिनका अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं रह गया है—जो सब कुछ भगवान्‌के लिये ही करते हैं, उनके लिये भगवान्‌ने 'मद्गतप्राणाः' का प्रयोग किया है।

५. भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले प्रेमी भक्तोंका जो अपने-अपने अनुभवके अनुसार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, लीला, माहात्म्य और रहस्यको परस्पर नाना प्रकारकी युक्तियोंसे समझानेकी चेष्टा करना है —यही परस्पर भगवान्‌का बोध कराना है।

६. श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका कीर्तन और गायन करना तथा कथा-व्याख्यानादिद्वारा लोगोंमें प्रचार करना और उनकी स्तुति करना आदि सब भगवान्‌का कथन करना है।

७. प्रत्येक क्रिया करते हुए निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करना ही 'नित्य संतुष्ट रहना' है। इस प्रकार संतुष्ट रहनेवाले भक्तकी शान्ति, आनन्द और संतोषका कारण केवल भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूप आदिका श्रवण, मनन और कीर्तन तथा पठन-पाठन आदि ही होता है। सांसारिक वस्तुओंसे उसके आनन्द और संतोषका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

८. भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, स्वरूप, तत्त्व और रहस्यका यथायोग्य श्रवण, मनन और कीर्तन करते हुए एवं उनकी रुचि, आज्ञा और संकेतके अनुसार केवल उनमें प्रेम होनेके लिये ही प्रत्येक क्रिया करते हुए, मनके द्वारा उनको सदा-सर्वदा प्रत्यक्षवत् अपने पास समझकर निरन्तर प्रेमपूर्वक उनके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप आदि क्रीड़ा करते रहना—यही भगवान्‌में निरन्तर रमण करना है।

१. इससे यह भाव दिखलाया है कि पूर्वश्लोकमें भगवान्‌के जिन भक्तोंका वर्णन हुआ है, वे भोगोंकी कामनाके लिये भगवान्‌को भजनेवाले नहीं हैं, किंतु किसी प्रकारका भी फल न चाहकर केवल निष्काम अनन्य प्रेमभावपूर्वक ही भगवान्‌का, उस श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे, निरन्तर भजन करनेवाले हैं।

२. भगवान्‌का जो भक्तोंके अन्तःकरणमें अपने प्रभाव और महत्त्वादिके रहस्यसहित निर्गुण-निराकार तत्त्वको तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण-निराकार और साकार तत्त्वको यथार्थरूपसे समझनेकी शक्ति प्रदान करना है—वही 'बुद्धि (तत्त्वज्ञानरूप) योगका प्रदान करना' है।

3. पूर्वश्लोकमें जिसे बुद्धियोग कहा गया है; जिसके द्वारा प्रभाव और महिमा आदिके सहित निर्गुण-निराकारतत्त्वका तथा लीला, रहस्य, महत्त्व और प्रभाव आदिके सहित सगुण-निराकार और साकारतत्त्वका स्वरूप भलीभाँति जाना जाता है, ऐसे संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे रहित 'दिव्य बोध' का वाचक यहाँ 'भास्वता' विशेषणके सहित 'ज्ञानदीपेन' पद है।

4. अनादिसिद्ध अज्ञानसे उत्पन्न जो आवरणशक्ति है—जिसके कारण मनुष्य भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपको यथार्थ नहीं जानता—उसको यहाँ 'अज्ञानजनित अन्धकार' कहा है। 'उसे मैं भक्तोंके अन्तःकरणमें स्थित हुआ नष्ट कर देता हूँ' भगवान्‌के इस कथनका अभिप्राय यह है कि मैं सबके हृदयदेशमें अन्तर्यामीरूपसे सदा-सर्वदा स्थित रहता हूँ, तो भी लोग मुझे अपनेमें स्थित नहीं मानते; इसी कारण मैं उनका अज्ञानजनित अन्धकार नाश नहीं कर सकता। परंतु मेरे प्रेमी भक्त मुझे अपना अन्तर्यामी समझते हुए पूर्वश्लोकोंमें कहे हुए प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं, इस कारण उनके अज्ञानजनित अन्धकारका मैं सहज ही नाश कर देता हूँ।

5. ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ । एतत् संनियतं यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः ।।
गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नामनिर्वृत्तिरादितः । यस्मादेष स्वयम्भूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता ।।

(वायुपुराण ५९।७९, ८१)

'ऋष्' धातु गमन (ज्ञान), श्रवण, सत्य और तप—इन अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। ये सब बातें जिसके अंदर एक साथ निश्चित-रूपसे हों, उसीका नाम ब्रह्माने 'ऋषि' रखा है। गत्यर्थक 'ऋष' धातुसे ही 'ऋषि' शब्दकी निष्पत्ति हुई है और आदिकालमें चूँकि यह ऋषिवर्ग स्वयं उत्पन्न होता है, इसीलिये इसकी 'ऋषि' संज्ञा है।'

1. इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जिस निर्गुण परमात्माको 'परम ब्रह्म' कहते हैं, वे आपके ही स्वरूप हैं तथा आपका जो नित्यधाम है, वह भी सच्चिदानन्दमय दिव्य और आपसे अभिन्न होनेके कारण आपका ही स्वरूप है तथा आपके नाम, गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपोंके श्रवण, मनन और कीर्तन आदि सबको सर्वथा परम पवित्र करनेवाले हैं; इसलिये आप 'परम पवित्र' हैं।

2. यहाँ 'ऋषिगण' शब्दसे मार्कण्डेय, अंगिरा आदि समस्त ऋषियोंको समझना चाहिये। अपनी मान्यताके समर्थनमें अर्जुन उनके कथनका प्रमाण दे रहे हैं। अभिप्राय यह है कि वे लोग आपको सनातन—नित्य एकरस रहनेवाले, क्षय-विनाशरहित, दिव्य—स्वतःप्रकाश और ज्ञानस्वरूप, सबके आदिदेव तथा अजन्मा—उत्पत्तिरूप विकारसे रहित और सर्वव्यापी बतलाते हैं। अतः आप 'परम ब्रह्म', 'परम धाम' और 'परम पवित्र' हैं—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

परम सत्यवादी धर्ममूर्ति पितामह भीष्मजीने भी दुर्योधनको भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव बतलाते हुए कहा है—'भगवान् वासुदेव सब देवताओंके देवता और सबसे श्रेष्ठ हैं; ये ही धर्म हैं, धर्मज्ञ हैं, वरद हैं, सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं और ये ही कर्ता, कर्म और स्वयंप्रभु हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमान, संध्या, दिशाएँ, आकाश और सब नियमोंको इन्हीं जनार्दनने रचा है। इन महात्मा अविनाशी प्रभुने ऋषि, तप और जगत्‌की सृष्टि करनेवाले प्रजापतिको रचा। सब प्राणियोंके अग्रज संकर्षणको भी इन्होंने ही रचा। लोक जिनको 'अनन्त' कहते हैं और जिन्होंने पहाड़ोसमेत सारी पृथ्वीको धारण कर रखा है, वे शेषनाग भी इन्हींसे उत्पन्न हैं; ये ही वाराह, नृसिंह और वामनका अवतार धारण करनेवाले हैं; ये ही सबके माता-पिता हैं, इनसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है; ये ही केशव परम तेजरूप हैं और सब लोगोंके पितामह हैं, मुनिगण इन्हें हृषीकेश कहते हैं, ये ही आचार्य, पितर और गुरु हैं। ये श्रीकृष्ण जिसपर प्रसन्न होते हैं, उसे अक्षय लोककी प्राप्ति होती है। भय प्राप्त होनेपर जो इन भगवान् केशवके शरण जाता है और इनकी स्तुति करता है, वह मनुष्य परम सुखको प्राप्त होता है। जो लोग भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें चले जाते हैं, वे कभी मोहको नहीं प्राप्त होते। महान् भय (संकट)-में डूबे हुए लोगोंकी भी भगवान् जनार्दन नित्य रक्षा करते हैं।'

(महा०, भीष्म० अ० ६७)।

3. देवर्षिके लक्षण ये हैं—

.... । देवलोकप्रतिष्ठाश्च ज्ञेया देवर्षयः शुभाः ।।
देवर्षयस्तथान्ये च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् । भूतभव्यभवज्ज्ञानं सत्याभिव्याहृतं तथा ।।
सम्बुद्धास्तु स्वयं ये तु सम्बद्धा ये च वै स्वयम् । तपसेह प्रसिद्धा ये गर्भे यैश्च प्रणोदितम् ।।

मन्त्रव्याहारिणो ये च ऐश्वर्यात् सर्वगाश्च ये । इत्येते ऋषिभिर्युक्ता देवद्विजनृपास्तु ये ।।

(वायुपुराण ६१।८८, ९०, ९१, ९२)

'जिनका देवलोकमें निवास है, उन्हें शुभ देवर्षि समझना चाहिये। इनके सिवा वैसे ही जो दूसरे और भी देवर्षि हैं, उनके लक्षण कहता हूँ। भूत, भविष्यत् और वर्तमानका ज्ञान होना तथा सब प्रकारसे सत्य बोलना—देवर्षिका लक्षण है।

जो स्वयं भलीभाँति ज्ञानको प्राप्त हैं तथा जो स्वयं अपनी इच्छासे ही संसारसे सम्बद्ध हैं, जो अपनी तपस्याके कारण इस संसारमें विख्यात हैं, जिन्होंने (प्रह्लादादिको) गर्भमें ही उपदेश दिया है, जो मन्त्रोंके वक्ता हैं और ऐश्वर्य (सिद्धियों)-के बलसे सर्वत्र सब लोकोंमें बिना किसी बाधाके जा-आ सकते हैं और जो सदा ऋषियोंसे घिरे रहते हैं, वे देवता, ब्राह्मण और राजा—ये सभी देवर्षि हैं।'

देवर्षि अनेकों हैं, जिनमेंसे कुछके नाम ये हैं—

देवर्षी धर्मपुत्रौ तु नरनारायणावुभौ । बालखिल्याः क्रतोः पुत्राः कर्दमः पुलहस्य तु ।।
पर्वतो नारदश्चैव कश्यपस्यात्मजावुभौ । ऋषन्ति देवान् यस्मात्ते तस्माद् देवर्षयः स्मृताः ।।

(वायुपुराण ६१।८३, ८४, ८५)

'धर्मके दोनों पुत्र नर और नारायण, क्रतुके पुत्र बालखिल्य ऋषि, पुलहके कर्दम, पर्वत और नारद तथा कश्यपके दोनों ब्रह्मवादी पुत्र असित और वत्सल—ये चूँकि देवताओंको अधीन रख सकते हैं, इसलिये इन्हें 'देवर्षि' कहते हैं।'

१. देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास—ये चारों ही भगवान्के यथार्थ तत्त्वको जाननेवाले, उनके महान् प्रेमी भक्त और परम ज्ञानी महर्षि हैं। ये अपने कालके बहुत ही सम्मान्य तथा महान् सत्यवादी महापुरुष माने जाते हैं, इसीसे इनके नाम खास तौरपर गिनाये गये हैं और भगवान्की महिमा तो ये नित्य ही गाया करते हैं। इनके जीवनका प्रधान कार्य है भगवान्की महिमाका ही विस्तार करना। महाभारतमें भी इनके तथा अन्यान्य ऋषि-महर्षियोंके भगवान्की महिमा गानेके कई प्रसंग आये हैं।

२. इस कथनसे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि केवल उपर्युक्त ऋषिलोग ही कहते हैं, यह बात नहीं है; स्वयं आप भी मुझसे अपने अतुलनीय प्रभावकी बातें इस समय भी कह रहे हैं (गीता ४।६ से ९ तक; ५। २९; ७।७ से १२ तक; ९।४ से ११ और १६ से १९ तक; तथा १०।२, ३, ८)। अतः मैं जो आपको साक्षात् परमेश्वर समझता हूँ, यह ठीक ही है।

३. ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों शक्तियोंको क्रमशः 'क', 'अ' और 'ईश' (केश) कहते हैं और ये तीनों जिसके वपु यानी स्वरूप हों, उसे 'केशव' कहते हैं।

४. गीताके चौथे अध्यायके आरम्भसे लेकर इस अध्यायके ग्यारहवें श्लोकतक भगवान्ने जो अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, महिमा, रहस्य और ऐश्वर्य आदिकी बातें कही हैं, जिनसे श्रीकृष्णका अपनेको साक्षात् परमेश्वर स्वीकार करना सिद्ध होता है—उन समस्त वचनोंका संकेत करनेवाले 'एतत्' और 'यत्र' पद हैं तथा भगवान् श्रीकृष्णको समस्त जगत्के हर्ता, कर्ता, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सबके आदि, सबके नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, देवोंके भी देव, सच्चिदानन्दघन, साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा समझना और उनके उपदेशको सत्य मानना तथा उसमें किंचिन्मात्र भी संदेह न करना 'उन सब वचनोंको सत्य मानना' है।

५. विष्णुपुराणमें कहा है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।।

(६।५।७४)

'सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैरण्य—इन छहोंका नाम 'भग' है। ये सब जिसमें हों, उसे भगवान् कहते हैं।' वहीं यह भी कहा है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैवं भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ।।

(६।५।७८)

'उत्पत्ति और प्रलयको, भूतोंके आने और जानेको तथा विद्या और अविद्याको जो जानता है, उसे 'भगवान्' कहना चाहिये।' अतएव यहाँ अर्जुन श्रीकृष्णको 'भगवन्' सम्बोधन देकर यह भाव दिखलाते हैं कि आप सर्वैश्वर्यसम्पन्न और सर्वज्ञ, साक्षात् परमेश्वर हैं—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

६. जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेके लिये, धर्मकी स्थापना और भक्तोंको दर्शन देकर उनका उद्धार करनेके लिये, देवताओंका संरक्षण और राक्षसोंका संहार करनेके लिये एवं अन्यान्य कारणोंसे भगवान् भिन्न-भिन्न लीलामय स्वरूप धारण किया करते हैं। उन सबको देवता और दानव नहीं जानते—यह कहकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मायासे नाना रूप धारण करनेकी शक्ति रखनेवाले दानवलोग तथा इन्द्रियातीत विषयोंका प्रत्यक्ष करनेवाले देवतालोग भी आपके उन लीलामय रूपोंको, उनके धारण करनेकी दिव्य शक्ति और युक्तिको, उनके निमित्तको और उनकी लीलाओंके रहस्यको नहीं जान सकते; फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है?

७. यहाँ अर्जुनने इन पाँच सम्बोधनोंका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले, सबके नियन्ता, सबके पूजनीय, सबका पालन-पोषण करनेवाले तथा 'अपरा' और 'परा' प्रकृति नामक जो क्षर और अक्षर पुरुष हैं, उनसे उत्तम साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् हैं।

८. इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप समस्त जगत्‌के आदि हैं, आपके गुण, प्रभाव, लीला, माहात्म्य और रूप आदि अपरिमित हैं—इस कारण आपके गुण, प्रभाव, लीला, माहात्म्य, रहस्य और स्वरूप आदिको कोई भी दूसरा पुरुष पूर्णतया नहीं जान सकता, स्वयं आप ही अपने प्रभाव आदिको जानते हैं।

१. किन-किन पदार्थोंमें किस प्रकारसे निरन्तर चिन्तन करके सहज ही भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझा जा सकता है—इसके सम्बन्धमें अर्जुन पूछ रहे हैं।

२. सभी मनुष्य अपनी-अपनी इच्छित वस्तुओंके लिये जिससे याचना करें, उसे 'जनार्दन' कहते हैं।

३. इससे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आपके वचनोंमें ऐसी माधुरी भरी है, उनसे आनन्दकी वह सुधाधारा बह रही है, जिसका पान करते-करते मन कभी अघाता ही नहीं। इस दिव्य अमृतका जितना ही पान किया जाता है, उतनी ही उसकी प्यास बढ़ती जा रही है। मन करता है कि यह अमृतमय रस निरन्तर ही पीता रहूँ।

४. जब सारा जगत् भगवान्‌का स्वरूप है, तब साधारणतया तो सभी वस्तुएँ उन्हींकी विभूति हैं; परंतु वे सब-के-सब दिव्य विभूति नहीं हैं। दिव्य विभूति उन्हीं वस्तुओं या प्राणियोंको समझना चाहिये, जिनमें भगवान्‌के तेज, बल, विद्या, ऐश्वर्य, कान्ति और शक्ति आदिका विशेष विकास हो। भगवान् यहाँ ऐसी ही विभूतियोंके लिये कहते हैं कि मेरी ऐसी विभूतियाँ अनन्त हैं, अतएव सबका तो पूरा वर्णन हो ही नहीं सकता; उनमेंसे जो प्रधान-प्रधान हैं, यहाँ मैं उन्हींका वर्णन करूँगा।

विश्वमें अनन्त पदार्थों, भावों और विभिन्नजातीय प्राणियोंका विस्तार है। इन सबका यथाविधि नियन्त्रण और संचालन करनेके लिये जगत्स्रष्टा भगवान्‌के अटल नियमके द्वारा विभिन्नजातीय पदार्थों, भावों और जीवोंके विभिन्न समष्टि-विभाग कर दिये गये हैं और उन सबका ठीक नियमानुसार सृजन, पालन तथा संहारका कार्य चलता रहे—इसके लिये प्रत्येक समष्टि-विभागके अधिकारी नियुक्त हैं। रुद्र, वसु आदित्य, इन्द्र, साध्य, विश्वेदेव, मरुत्, पितृदेव, मनु और सप्तर्षि आदि इन्हीं अधिकारियोंकी विभिन्न संज्ञाएँ हैं। इनके मूर्त और अमूर्त दोनों ही रूप माने गये हैं। ये सभी भगवान्‌की विभूतियाँ हैं।

सर्वे च देवा मनवः समस्ताः सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च ।
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः ।।

(श्रीविष्णुपुराण ३।१।४६)

'सभी देवता, समस्त मनु, सप्तर्षि तथा जो मनुके पुत्र हैं और जो ये देवताओंके अधिपति इन्द्र हैं—ये सभी भगवान् विष्णुकी ही विभूतियाँ हैं।'

५. 'गुडाका' निद्राको कहते हैं। उसके स्वामीको 'गुडाकेश' कहते हैं। भगवान् अर्जुनको 'गुडाकेश' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि तुम निद्रापर विजय प्राप्त कर चुके हो; अतएव मेरे उपदेशको धारण करके अज्ञाननिद्राको भी जीत सकते हो।

१. समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित जो 'चेतन' है, जिसको परा 'प्रकृति' और 'क्षेत्रज्ञ' भी कहते हैं (गीता ७।५; १३।१), उसीको यहाँ 'सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा' बतलाया है। वह भगवान्‌का ही अंश होनेके कारण (गीता १५।७) वस्तुतः भगवत्स्वरूप ही है (गीता १३।२)। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि 'वह आत्मा मैं हूँ।'

२. यहाँ 'भूत' शब्दसे चराचर समस्त देहधारी प्राणी समझने चाहिये। ये सब प्राणी भगवान्से ही उत्पन्न होते हैं, उन्हींमें स्थित हैं और प्रलयकालमें भी उन्हींमें लीन होते हैं; भगवान् ही सबके मूल कारण और आधार हैं—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने अपनेको उन सबका आदि, मध्य और अन्त बतलाया है।

३. अदितिके धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु नामक बारह पुत्रोंको द्वादश आदित्य कहते हैं—

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च । भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ।।
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते । जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ।।

(महा०, आदि० ६५।१५-१६)

इनमें जो विष्णु हैं, वे इन सबके राजा हैं और अन्य सबसे श्रेष्ठ हैं। इसीलिये भगवान्ने विष्णुको अपना स्वरूप बतलाया है।

४. सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजली और अग्नि आदि जितने भी प्रकाशमान पदार्थ हैं, उन सबमें सूर्य प्रधान हैं; इसलिये भगवान्ने समस्त ज्योतियोंमें सूर्यको अपना स्वरूप बतलाया है।

५. उनचास मरुतोंके नाम ये हैं—'सत्त्वज्योति, आदित्य, सत्यज्योति, तिर्यग्ज्योति, सज्योति, ज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, सेनजित्, सत्यमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सत्य, ध्रुव, धर्ता, विधर्ता, विधारय, ध्वान्त, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, साक्षिप, ईदृक्, अन्यादृक्, यादृक्, प्रतिकृत्, ऋक्, समिति, संरम्भ, ईदृक्ष, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजुः, अनुदृक्, साम, मानुष और विश् (वायुपुराण ६७।१२३ से १३०)। गरुडपुराण तथा अन्यान्य पुराणोंमें कुछ नामभेद पाये जाते हैं; परंतु 'मरीचि' नाम कहीं भी नहीं मिला है। इसीलिये 'मरीचि' को मरुत् न मानकर समस्त मरुद्गणोंका तेज या किरणें माना गया है।'

दक्षकन्या मरुत्वतीसे उत्पन्न पुत्रोंको भी मरुद्गण कहते हैं (हरिवंश)। भिन्न-भिन्न मन्वन्तरोंमें भिन्न-भिन्न नामोंसे तथा विभिन्न प्रकारसे इनकी उत्पत्तिके वर्णन पुराणोंमें मिलते हैं।

दितिपुत्र उनचास मरुद्गण दिति देवीके भगवद्ध्यानरूप व्रतके तेजसे उत्पन्न हैं। उस तेजके ही कारण इनका गर्भमें विनाश नहीं हो सका था। इसलिये उनके इस तेजको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

६. अश्विनी, भरणी और कृतिका आदि जो सत्ताईस नक्षत्र हैं, उन सबके स्वामी और सम्पूर्ण तारा-मण्डलके राजा होनेसे चन्द्रमा भगवान्की प्रधान विभूति हैं। इसलिये यहाँ उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

७. ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंमें सामवेद अत्यन्त मधुर संगीतमय तथा परमेश्वरकी अत्यन्त रमणीय स्तुतियोंसे युक्त है; अतः वेदोंमें उसकी प्रधानता है। इसलिये भगवान्ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

८. समस्त प्राणियोंकी जो ज्ञानशक्ति है, जिसके द्वारा उनको दुःख-सुखका और समस्त पदार्थोंका अनुभव होता है, जो अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है, गीताके तेरहवें अध्यायके छठे श्लोकमें जिसकी गणना क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है, उस ज्ञान-शक्तिका नाम 'चेतना' है। यह प्राणियोंके समस्त अनुभवोंकी हेतुभूता प्रधान शक्ति है, इसलिये इसको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

९. हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली—ये ग्यारह रुद्र कहलाते हैं—

हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः । वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ।।
मृगव्याधश्च शर्वश्च कपाली च विशाम्पते । एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ।।

(हरिवंश० १।३।५१, ५२)

इनमें शम्भु अर्थात् शंकर सबके अधीश्वर (राजा) हैं तथा कल्याणप्रदाता और कल्याणस्वरूप हैं। इसलिये उन्हें भगवान्ने अपना स्वरूप कहा है।

२. धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—इन आठोंको वसु कहते हैं—

धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः । प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ।।

(महा०, आदि० ६६।१८)

इनमें अनल (अग्नि) वसुओंके राजा हैं और देवताओंको हवि पहुँचानेवाले हैं। इसके अतिरिक्त वे भगवान्‌के मुख भी माने जाते हैं। इसीलिये अग्नि (पावक)-को भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

३. समस्त नक्षत्र सुमेरु पर्वतकी परिक्रमा करते हैं और सुमेरु पर्वत नक्षत्र और द्वीपोंका केन्द्र तथा सुवर्ण और रत्नोंका भण्डार माना जाता है तथा उसके शिखर अन्य पर्वतोंकी अपेक्षा ऊँचे हैं। इस प्रकार शिखरवाले पर्वतोंमें प्रधान होनेसे सुमेरुको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

४. बृहस्पति देवराज इन्द्रके गुरु, देवताओंके कुलपुरोहित और विद्या-बुद्धिमें सर्वश्रेष्ठ हैं तथा संसारके समस्त पुरोहितोंमें मुख्य और अंगिरसोंके राजा माने गये हैं। इसलिये भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप कहा है।

५. स्कन्दका दूसरा नाम कार्तिकेय है। इनके छः मुख और बारह हाथ हैं। ये महादेवजीके पुत्र और देवताओंके सेनापति हैं। कहीं-कहीं इन्हें अग्निके तेजसे तथा दक्षकन्या स्वाहाके द्वारा उत्पन्न माना गया है (महाभारत, वनपर्व २२३)। इनके सम्बन्धमें महाभारत और पुराणोंमें बड़ी ही विचित्र-विचित्र कथाएँ मिलती हैं। संसारके समस्त सेनापतियोंमें ये प्रधान हैं, इसीलिये भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है।

६. महर्षि बहुत-से हैं, उनके लक्षण और उनमेंसे प्रधान दसके नाम ये हैं—

ईश्वराः स्वयमुद्भूता मानसा ब्रह्मणः सुताः । यस्मान्न हन्यते मानैर्महान् परिगतः पुरः ।।
यस्मादृषन्ति ये धीरा महान्तं सर्वतो गुणैः । तस्मान्महर्षयः प्रोक्ता बुद्धेः परमदर्शिनः ।।
भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अंगिराः पुलहः क्रतुः । मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश ।।
ब्रह्मणो मानसा ह्येत उद्भूताः स्वयमीश्वराः । प्रवर्तत ऋषेर्यस्मान्महांस्तस्मान्महर्षयः ।।

(वायुपुराण ५९।८२-८३, ८९-९०)

'ब्रह्माके ये मानस पुत्र ऐश्वर्यवान् (सिद्धियोंसे सम्पन्न) एवं स्वयं उत्पन्न हैं। परिमाणसे जिसका हनन न हो (अर्थात् जो अपरिमेय हो) और जो सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी सामने (प्रत्यक्ष) हो, वही महान् है। जो बुद्धिके पार पहुँचे हुए (भगवत्प्राप्त) विज्ञजन गुणोंके द्वारा उस महान् (परमेश्वर)-का सब ओरसे अवलम्बन करते हैं, वे इसी कारण ('महान्तम् ऋषन्ति इति महर्षयः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) महर्षि कहलाते हैं। भृगु, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य—ये दस महर्षि हैं। ये सब ब्रह्माके मनसे स्वयं उत्पन्न हुए हैं और ऐश्वर्यवान् हैं। चूँकि ऋषि (ब्रह्माजी)-से इन ऋषियोंके रूपमें स्वयं महान् (परमेश्वर) ही प्रकट हुए, इसलिये ये महर्षि कहलाये।'

महर्षियोंमें भृगुजी मुख्य हैं। ये भगवान्‌के भक्त, ज्ञानी और बड़े तेजस्वी हैं; इसीलिये इनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

१. किसी अर्थका बोध करानेवाले शब्दको 'गीः' (वाणी) कहते हैं और ओंकार (प्रणव)-को 'एक अक्षर' कहते हैं (गीता ८।१३)। जितने भी अर्थबोधक शब्द हैं, उन सबमें प्रणवकी प्रधानता है; क्योंकि 'प्रणव' भगवान्‌का नाम है (गीता १७।२३)। प्रणवके जपसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है। नाम और नामीमें अभेद माना गया है। इसलिये भगवान्‌ने 'प्रणव' को अपना स्वरूप बतलाया है।

२. जपयज्ञमें हिंसाका सर्वथा अभाव है और जपयज्ञ भगवान्‌का प्रत्यक्ष करानेवाला है। मनुस्मृतिमें भी जपयज्ञकी बहुत प्रशंसा की गयी है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः । उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ।।
(२।८५)

'विधियज्ञसे जपयज्ञ दसगुना, उपांशुजप सौगुना और मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ कहा गया है।'

इसलिये समस्त यज्ञोंमें जपयज्ञकी प्रधानता है, यह भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने जपयज्ञको अपना स्वरूप बतलाया है।

३. स्थिर रहनेवालोंको स्थावर कहते हैं। जितने भी पहाड़ हैं, सब अचल होनेके कारण स्थावर हैं। उनमें हिमालय सर्वोत्तम है। वह परम पवित्र तपोभूमि है और मुक्तिमें सहायक है। भगवान् नर और नारायण वहीं तपस्या कर चुके हैं। साथ ही, हिमालय सब पर्वतोंका राजा भी है। इसीलिये उसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

४. पीपलका वृक्ष समस्त वनस्पतियोंमें राजा और पूजनीय माना गया है। पुराणोंमें अश्वत्थका बड़ा माहात्म्य मिलता है। स्कन्दपुराणमें कहा है—

स एव विष्णुर्द्रुम एव मूर्तो महात्मभिः सेवितपुण्यमूलः । यस्याश्रयः पापसहस्रहन्ता भवेन्नृणां कामदुघो गुणाढ्यः ।।

(नागर० २४७।४४)

'यह वृक्ष मूर्तिमान् श्रीविष्णुस्वरूप है; महात्मा पुरुष इस वृक्षके पुण्यमय मूलकी सेवा करते हैं। इसका गुणोंसे युक्त और कामनादायक आश्रय मनुष्योंके हजारों पापोंका नाश करनेवाला है।' इसलिये भगवान्ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

५. देवर्षिके लक्षण इसी अध्यायके बारहवें, तेरहवें श्लोकोंकी टिप्पणीमें दिये गये हैं, उन्हें वहाँ पढ़ना चाहिये। ऐसे देवर्षियोंमें नारदजी सबसे श्रेष्ठ हैं। साथ ही वे भगवान्के परम अनन्य भक्त, महान् ज्ञानी और निपुण मन्त्रद्रष्टा हैं। इसीलिये नारदजीको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

६. गन्धर्व एक देवयोनिविशेष है; ये देवलोकमें गान, वाद्य और नाट्याभिनय किया करते हैं। स्वर्गमें ये सबसे सुन्दर और अत्यन्त रूपवान् माने जाते हैं। 'गुह्यक-लोक' से ऊपर और 'विद्याधर-लोक' से नीचे इनका 'गन्धर्व-लोक' है। देवता और पितरोंकी भाँति गन्धर्व भी दो प्रकारके होते हैं—मर्त्य और दिव्य। जो मनुष्य मरकर पुण्यबलसे गन्धर्वलोकको प्राप्त होते हैं, वे 'मर्त्य' हैं और जो कल्पके आरम्भसे ही गन्धर्व हैं, उन्हें 'दिव्य' कहते हैं। दिव्य गन्धर्वोंकी दो श्रेणियाँ हैं—'मौनेय' और 'प्राधेय'। महर्षि कश्यपकी दो पत्नियोंके नाम थे—मुनि और प्राधा। इन्हींसे अधिकांश अप्सराओं और गन्धर्वोंकी उत्पत्ति हुई। चित्ररथ दिव्य संगीतविद्याके पारदर्शी और अत्यन्त ही निपुण हैं। इसीसे भगवान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है।

७. जो सर्व प्रकारकी स्थूल और सूक्ष्म जगत्की सिद्धियोंको प्राप्त हों तथा धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य आदि श्रेष्ठ गुणोंसे पूर्णतया सम्पन्न हों, उनको सिद्ध कहते हैं। ऐसे हजारों सिद्ध हैं, जिनमें भगवान् कपिल सर्वप्रधान हैं। भगवान् कपिल साक्षात् ईश्वरके अवतार हैं। इसीलिये भगवान्ने समस्त सिद्धोंमें कपिल मुनिको अपना स्वरूप बतलाया है।

८. बहुत-से हाथियोंमें जो श्रेष्ठ हो, उसे गजेन्द्र कहते हैं। ऐसे गजेन्द्रोंमें भी ऐरावत हाथी, जो इन्द्रका वाहन है, सर्वश्रेष्ठ और 'गज' जातिका राजा माना गया है। इसकी उत्पत्ति भी उच्चैःश्रवा घोड़ेंकी भाँति समुद्रमन्थनसे ही हुई थी। इसलिये इसको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

१. शास्त्रोक्त लक्षणोंसे युक्त धर्मपरायण राजा अपनी प्रजाको पापोंसे हटाकर धर्ममें प्रवृत्त करता है और सबकी रक्षा करता है, इस कारण अन्य मनुष्योंसे राजा श्रेष्ठ माना गया है। ऐसे राजामें भगवान्की शक्ति साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक रहती है। इसीलिये भगवान्ने राजाको अपना स्वरूप कहा है।

२. जितने भी शस्त्र हैं, उन सबमें वज्र अत्यन्त श्रेष्ठ है; क्योंकि वज्रमें दधीचि ऋषिके तपका तथा साक्षात् भगवान्का तेज विराजमान है और उसे अमोघ माना गया है (श्रीमद्भागवत ६।११।१९-२०)। इसलिये वचको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

३. कामधेनु समस्त गौओंमें श्रेष्ठ दिव्य गौ है, यह देवता तथा मनुष्य सभीकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली है और इसकी उत्पत्ति भी समुद्रमन्थनसे हुई है; इसलिये भगवान्ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

४. इन्द्रियाराम मनुष्योंके द्वारा विषयसुखके लिये उपभोगमें आनेवाला काम निकृष्ट है, वह धर्मानुकूल नहीं है; परंतु शास्त्रविधिके अनुसार संतानकी उत्पत्तिके लिये इन्द्रियजयी पुरुषोंके द्वारा प्रयुक्त होनेवाला काम ही धर्मानुकूल होनेसे श्रेष्ठ है। अतः उसको भगवान्की विभूतियोंमें गिना गया है।

५. वासुकि समस्त सर्पोंके राजा और भगवान्के भक्त होनेके कारण सर्पोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं, इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

६. शेषनाग समस्त नागोंके राजा और हजार फणोंसे युक्त हैं तथा भगवान्की शय्या बनकर और नित्य उनकी सेवामें लगे रहकर उन्हें सुख पहुँचानेवाले, उनके परम अनन्यभक्त और बहुत बार भगवान्के साथ-साथ अवतार लेकर उनकी लीलामें सम्मिलित रहनेवाले हैं तथा इनकी उत्पत्ति भी भगवान्से ही मानी गयी है। इसलिये भगवान्ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है।

७. वरुण समस्त जलचरोंके और जलदेवताओंके अधिपति, लोकपाल, देवता और भगवान्के भक्त होनेके कारण सबमें श्रेष्ठ माने गये हैं। इसलिये उनको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है।

८. कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त और बर्हिषद्—ये सात दिव्य पितृगण हैं। (शिवपुराण धर्म० ६३।२) इनमें अर्यमा नामक पितर समस्त पितरोंमें प्रधान होनेसे श्रेष्ठ माने गये हैं। इसलिये उनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

९. मर्त्य और देवजगत्‌में, जितने भी नियमन करनेवाले अधिकारी हैं, यमराज उन सबमें बढ़कर हैं। इनके सभी दण्ड न्याय और धर्मसे युक्त, हितपूर्ण और पापनाशक होते हैं। ये भगवान्‌के ज्ञानी भक्त और लोकपाल भी हैं। इसीलिये भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है।

१०. यहाँ 'काल' शब्द क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास आदि नामोंसे कहे जानेवाले समयका वाचक है। यह गणितविद्याके जाननेवालोंकी गणनाका आधार है। इसलिये कालको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

११. दितिके वंशजोंको दैत्य कहते हैं। उन सबमें प्रह्लाद उत्तम माने गये हैं; क्योंकि वे सर्वसद्‌गुणसम्पन्न, परम धर्मात्मा और भगवान्‌के परम श्रद्धालु, निष्काम, अनन्यप्रेमी भक्त हैं तथा दैत्योंके राजा हैं। इसलिये भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप बतलाया है।

१२. सिंह सब पशुओंका राजा माना गया है। वह सबसे बलवान्, तेजस्वी, शूरवीर और साहसी होता है। इसलिये भगवान्‌ने सिंहको अपनी विभूतियोंमें गिना है।

१३. विनताके पुत्र गरुड़जी पक्षियोंके राजा और उन सबसे बड़े होनेके कारण पक्षियोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं। साथ ही ये भगवान्‌के वाहन, उनके परम भक्त और अत्यन्त पराक्रमी हैं। इसलिये गरुड़को भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

१. 'राम' शब्द दशरथपुत्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका वाचक है। उनको अपना स्वरूप बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीला करनेके लिये मैं ही भिन्न-भिन्न रूप धारण करता हूँ। श्रीराममें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है, स्वयं मैं ही श्रीरामरूपमें अवतीर्ण होता हूँ।

२. जितने प्रकारकी मछलियाँ होती हैं, उन सबमें मगर बहुत बड़ा और बलवान् होता है; इसी विशेषताके कारण मछलियोंमें मगरको भगवान्‌ने अपनी विभूति बतलाया है।

३. जाह्नवी अर्थात् श्रीभागीरथी गंगाजी समस्त नदियोंमें परम श्रेष्ठ हैं; ये श्रीभगवान्‌के चरणोदकसे उत्पन्न, परम पवित्र हैं। पुराण और इतिहासोंमें इनका बड़ा भारी माहात्म्य बतलाया गया है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेव कीर्तिः ।।

(८।२१।४)

'हे राजन्! वह ब्रह्माजीके कमण्डलुका जल, भगवान्‌के चरणोंको धोनेसे पवित्रतम होकर स्वर्ग-गंगा हो गया। वह गंगा आकाशसे पृथ्वीपर गिरकर अबतक तीनों लोकोंको भगवान्‌की निर्मल कीर्तिके समान पवित्र कर रही है।'

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि एक बार भगवान् विष्णु स्वयं ही द्रवरूप होकर बहने लगे थे और ब्रह्माजीके कमण्डलुमें जाकर गंगारूप हो गये थे। इस प्रकार साक्षात् ब्रह्मद्रव होनेके कारण भी गंगाजीका अत्यन्त माहात्म्य है। इसीलिये भगवान्‌ने गंगाको अपना स्वरूप बतलाया है।

४. अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या उस विद्याको कहते हैं जिसका आत्मासे सम्बन्ध है, जो आत्मतत्त्वका प्रकाश करती है और जिसके प्रभावसे अनायास ही ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है। संसारमें ज्ञात या अज्ञात जितनी भी विद्याएँ हैं, सभी इस ब्रह्मविद्यासे निकृष्ट हैं; क्योंकि उनसे अज्ञानका बन्धन टूटता नहीं, बल्कि और भी दृढ़ होता है; परंतु इस ब्रह्मविद्यासे अज्ञानकी गाँठ सदाके लिये खुल जाती है और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है। इसीसे यह सबसे श्रेष्ठ है और इसीलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

५. शास्त्रार्थके तीन स्वरूप होते हैं—जल्प, वितण्डा और वाद। उचित-अनुचितका विचार छोड़कर अपने पक्षके मण्डन और दूसरेके पक्षका खण्डन करनेके लिये जो विवाद किया जाता है, उसे 'जल्प' कहते हैं; केवल दूसरे पक्षका खण्डन करनेके लिये किये जानेवाले विवादको 'वितण्डा' कहते हैं और जो तत्त्वनिर्णयके उद्देश्यसे शुद्ध नीयतसे किया जाता है, उसे 'वाद' कहते हैं। 'जल्प' और 'वितण्डा' से द्वेष, क्रोध, हिंसा और अभिमानादि दोषोंकी उत्पत्ति होती है तथा 'वाद' से सत्यके निर्णयमें और कल्याण-

साधनमें सहायता प्राप्त होती है। 'जल्प' और 'वितण्डा' त्याज्य हैं तथा 'वाद' आवश्यकता होनेपर ग्राह्य है। इसी विशेषताके कारण भगवान्ने 'वाद' को अपनी विभूति बतलाया है।

६. स्वर और व्यंजन आदि जितने भी अक्षर हैं, उन सबमें अकार सबका आदि है और वही सबमें व्याप्त है। इसीलिये भगवान्ने उसको अपना स्वरूप बतलाया है।

७. संस्कृत-व्याकरणके अनुसार समास चार हैं—१. अव्ययीभाव, २. तत्पुरुष, ३. बहुव्रीहि और ४. द्वन्द्व। कर्मधारय और द्विगु—ये दोनों तत्पुरुषके ही अन्तर्गत हैं। द्वन्द्व समासमें दोनों पदोंके अर्थकी प्रधानता होनेके कारण वह अन्य समासोंसे श्रेष्ठ है; इसलिये भगवान्ने उसको अपनी विभूतियोंमें गिना है।

८. कालके तीन भेद हैं—

१. 'समय' वाचक काल। २. 'प्रकृति' रूप काल। महाप्रलयके बाद जितने समयतक प्रकृतिकी साम्यावस्था रहती है, वही प्रकृतिरूपी काल है। ३. नित्य शाश्वत विज्ञानानन्दघन परमात्मा।

समयवाचक स्थूल कालकी अपेक्षा तो बुद्धिकी समझमें न आनेवाला प्रकृतिरूप काल सूक्ष्म और पर है तथा इस प्रकृतिरूप कालसे भी परमात्मारूप काल अत्यन्त सूक्ष्म, परातिपर और परम श्रेष्ठ है। वस्तुतः परमात्मा देश-कालसे सर्वथा रहित हैं; परंतु जहाँ प्रकृति और उसके कार्यरूप संसारका वर्णन किया जाता है, वहाँ सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले होनेके कारण उन सबके अधिष्ठानरूप विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही वास्तविक 'काल' हैं। ये ही 'अक्षय' काल हैं।

१. जिस प्रकार मृत्युरूप होकर भगवान् सबका नाश करते हैं अर्थात् उनका शरीरसे वियोग कराते हैं, उसी प्रकार भगवान् ही उनका पुनः दूसरे शरीरोंसे सम्बन्ध कराके उन्हें उत्पन्न करते हैं—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्ने अपनेको उत्पन्न होनेवालोंका उत्पत्तिहेतु बतलाया है।

२. स्वायम्भुव मनुकी कन्या प्रसूति प्रजापति दक्षको ब्याही थीं, उनसे चौबीस कन्याएँ हुईं कीर्ति, मेधा, वृत्ति, स्मृति और क्षमा उन्हींमेंसे हैं। इनमें कीर्ति, मेधा और धृतिका विवाह धर्मसे हुआ; स्मृतिका अंगिरासे और क्षमा महर्षि पुलहको ब्याही गयीं। महर्षि भृगुकी कन्याका नाम श्री है, जो दक्षकन्या ख्यातिके गर्भसे उत्पन्न हुई थीं। इनका पाणिग्रहण भगवान् विष्णुने किया और वाक् ब्रह्माजीकी कन्या थीं। इन सातोंके नाम जिन गुणोंका निर्देश करते हैं—उन विभिन्न गुणोंकी ये सातों अधिष्ठातृदेवता हैं तथा संसारकी समस्त स्त्रियोंमें श्रेष्ठ मानी गयी हैं। इसीलिये भगवान्ने इनको अपनी विभूति बतलाया है।

३. सामवेदमें 'बृहत्साम' एक गीतिविशेष है। इसके द्वारा परमेश्वरकी इन्द्ररूपमें स्तुति की गयी है। 'अतिरात्र' यागमें यही पृष्ठस्तोत्र है तथा सामवेदके 'रथन्तर' आदि सामोंमें बृहत्साम ('बृहत्' नामक साम) प्रधान होनेके कारण सबमें श्रेष्ठ है, इसी कारण यहाँ भगवान्ने 'बृहत्साम' को अपना स्वरूप बतलाया है।

४. वेदोंकी जितनी भी छन्दोबद्ध ऋचाएँ हैं, उन सबमें गायत्रीकी ही प्रधानता है। श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण आदि शास्त्रोंमें जगह-जगह गायत्रीकी महिमा भरी है—

अभीष्टं लोकमाप्नोति प्राप्नुयात् काममीप्सितम् । गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी ।।
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम् । हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे ।।

(शंखस्मृति १२।२४-२५)

'(गायत्रीकी उपासना करनेवाला द्विज) अपने अभीष्ट लोकको पा जाता है, मनोवांछित भोग प्राप्त कर लेता है। गायत्री समस्त वेदोंकी जननी और सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाली हैं। स्वर्गलोगमें तथा पृथ्वीपर गायत्रीसे बढ़कर पवित्र करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। गायत्री देवी नरकसमुद्रमें गिरनेवालोंको हाथका सहारा देकर बचा लेनेवाली हैं।'

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं न देवः केशवात् परः । गायत्र्यास्तु परं जप्यं न भूतं न भविष्यति ।।

(बृहद्योगियाज्ञवल्क्य १०।१०)

'गंगाजीके समान तीर्थ नहीं है, श्रीविष्णुभगवान्से बढ़कर देवता नहीं है और गायत्रीसे बढ़कर जपनेयोग्य मन्त्र न हुआ, न होगा।'

गायत्रीकी इस श्रेष्ठताके कारण ही भगवान्ने उनको अपना स्वरूप बतलाया है।

५. महाभारतकालमें महीनोंकी गणना मार्गशीर्षसे ही आरम्भ होती थी (महा०, अनुशासन० १०६ और १०९)। अतः यह सब मासोंमें प्रथम मास है तथा इस मासमें किये हुए व्रत-उपवासोंका शास्त्रोंमें महान् फल बतलाया गया है। नये अन्नकी इष्टि (यज्ञ)-का भी इसी महीनेमें विधान है। वाल्मीकीय रामायणमें इसे

संवत्सरका भूषण बतलाया गया है। इस प्रकार अन्यान्य मासोंकी अपेक्षा इसमें कई विशेषताएँ हैं, इसलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

६. वसन्त सब ऋतुओंमें श्रेष्ठ और सबका राजा है। इसमें बिना ही जलके सब वनस्पतियाँ हरी-भरी और नवीन पत्रों तथा पुष्पोंसे समन्वित हो जाती हैं। इसमें न अधिक गरमी रहती है और न सरदी। इस ऋतुमें प्राय: सभी प्राणियोंको आनन्द होता है। इसीलिये भगवान्‌ने इसको अपना स्वरूप बतलाया है।

१. संसारमें उत्तम, मध्यम और नीच जितने भी जीव और पदार्थ हैं, सभीमें भगवान् व्याप्त हैं और भगवान्‌की ही सत्ता-स्फूर्तिसे सब चेष्टा करते हैं। ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो भगवान्‌की सत्ता और शक्तिसे रहित हो। ऐसे सब प्रकारके सात्त्विक, राजस और तामस जीवों एवं पदार्थोंमें जो विशेष गुण, विशेष प्रभाव और विशेष चमत्कारसे युक्त हैं, उसीमें भगवान्‌की सत्ता और शक्तिका विशेष विकास है।

इस विशेषताके कारण जिस-जिस व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया या भावका मनसे चिन्तन होने लगे, उस-उसमें भगवान्‌का ही चिन्तन करना चाहिये। इसी अभिप्रायसे छल करनेवालोंमें जूएको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बताया है। उसे उत्तम बतलाकर उसमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने तो महान् क्रूर और हिंसक सिंह और मगरको एवं सहज ही विनाश करनेवाले अग्निको तथा सर्वसंहारकारी मृत्युको भी अपना स्वरूप बतलाया है। उसका अभिप्राय यह थोड़े ही है कि कोई भी मनुष्य जाकर सिंह या मगरके साथ खेले, आगमें कूद पड़े अथवा जान-बूझकर मृत्युके मुँहमें घुस जाय। इनके करनेमें जो आपत्ति है, वही आपत्ति जूआ खेलनेमें है।

२. ये चारों ही गुण भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं, इसलिये भगवान्‌ने इनको अपना स्वरूप बतलाया है। इन चारोंको अपना स्वरूप बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव भी दिखलाया है कि तेजस्वी प्राणियोंमें जो तेज या प्रभाव है, वह वास्तवमें मेरा ही है। जो मनुष्य उसे अपनी शक्ति समझकर अभिमान करता है, वह भूल करता है। इसी प्रकार विजय प्राप्त करनेवालोंका विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विकभाव—ये सब गुण भी मेरे ही हैं। इनके निमित्तसे अभिमान करना भी बड़ी भारी मूर्खता है। इसके अतिरिक्त इस कथनमें यह भाव भी है कि जिन-जिनमें उपर्युक्त गुण हों, उनमें भगवान्‌के तेजकी अधिकता समझकर उनको श्रेष्ठ मानना चाहिये।

३. इस कथनसे भगवान्‌ने अवतार और अवतारीकी एकता दिखलायी है। कहनेका भाव यह है कि मैं अजन्मा-अविनाशी, सब भूतोंका महेश्वर, सर्वशक्तिमान्, पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम ही यहाँ वसुदेवके पुत्रके रूपमें लीलासे प्रकट हुआ हूँ (गीता ४।६)।

४. अर्जुन ही सब पाण्डवोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं। इसका कारण यह है कि नर-नारायण-अवतारमें अर्जुन नररूपसे भगवान्‌के साथ रह चुके हैं। इसके अतिरिक्त वे भगवान्‌के परम प्रिय सखा और उनके अनन्य प्रेमी भक्त हैं। इसलिये अर्जुनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् । काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ।।
अनन्य: पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च ।

(महा०, वन० १२।४६-४७)

'हे दुर्धर्ष अर्जुन! तू भगवान् नर है और मैं स्वयं हरि नारायण हूँ। हम दोनों एक समय नर और नारायण ऋषि होकर इस लोकमें आये थे। इसलिये हे अर्जुन! तू मुझसे अलग नहीं है और उसी प्रकार मैं तुझसे अलग नहीं हूँ।'

५. भगवान्‌के स्वरूपका और वेदादि शास्त्रोंका मनन करनेवालोंको 'मुनि' कहते हैं। भगवान् वेदव्यास समस्त वेदोंका भलीभाँति चिन्तन करके उनका विभाग करनेवाले, महाभारत, पुराण आदि अनेक शास्त्रोंके रचयिता, भगवान्‌के अंशावतार और सर्वसद्गुणसम्पन्न हैं। अतएव मुनिमण्डलमें उनकी प्रधानता होनेके कारण भगवान्‌ने उन्हें अपना स्वरूप बतलाया है।

६. जो पण्डित और बुद्धिमान् हो, उसे 'कवि' कहते हैं। शुक्राचार्यजी भार्गवोंके अधिपति, सब विद्याओंमें विशारद, नीतिके रचयिता, संजीवनी विद्याके जाननेवाले और कवियोंमें प्रधान हैं, इसलिये इनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

७. 'ज्ञानवताम्' पद परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका साक्षात् कर लेनेवाले यथार्थ ज्ञानियोंका वाचक है। उनका ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है। इसलिये उसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

८. दण्ड (दमन करनेकी शक्ति) धर्मका त्याग करके अधर्ममें प्रवृत्त उच्छृंखल मनुष्योंको पापाचारसे रोककर सत्कर्ममें प्रवृत्त करता है। मनुष्योंके मन और इन्द्रिय आदि भी इस दमनशक्तिके द्वारा ही वशमें होकर भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक बन सकते हैं। दमनशक्तिसे समस्त प्राणी अपने-अपने अधिकारका पालन करते हैं। इसलिये जो भी देवता, राजा और शासक आदि न्यायपूर्वक दमन करनेवाले हैं, उन सबकी उस दमनशक्तिको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

१. 'नीति' शब्द यहाँ न्यायका वाचक है। न्यायसे ही मनुष्यकी सच्ची विजय होती है। जिस राज्यमें नीति नहीं रहती, अनीतिका बर्ताव होने लगता है, वह राज्य भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। अतएव नीति अर्थात् न्याय विजयका प्रधान उपाय है। इसलिये विजय चाहनेवालोंकी नीतिको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

२. जितने भी गुप्त रखनेयोग्य भाव हैं, वे मौनसे (न बोलनेसे) ही गुप्त रह सकते हैं। बोलना बंद किये बिना उनका गुप्त रखा जाना कठिन है। इस प्रकार गोपनीय भावोंके रक्षक मौनकी प्रधानता होनेसे मौनको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है।

३. भगवान् ही समस्त चराचर भूतप्राणियोंके परम आधार हैं और उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है। अतएव वे ही सबके बीज या महान् कारण हैं। इसीसे गीताके सातवें अध्यायके दसवें श्लोकमें उन्हें सब भूतोंका 'सनातन बीज' और नवम अध्यायके अठारहवें श्लोकमें 'अविनाशी बीज' बतलाया गया है। इसीलिये भगवान्‌ने उसको यहाँ अपना स्वरूप बतलाया है।

४. इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि चर या अचर जितने भी प्राणी हैं, उन सबमें मैं व्याप्त हूँ; कोई भी प्राणी मुझसे रहित नहीं है। अतएव समस्त प्राणियोंको मेरा स्वरूप समझकर और मुझे उनमें व्याप्त समझकर जहाँ भी तुम्हारा मन जाय, वहीं तुम मेरा चिन्तन करते रहो। इस प्रकार अर्जुनके 'आपको किन-किन भावोंमें चिन्तन करना चाहिये?' (गीता १०।१७) इस प्रश्नका भी इससे उत्तर हो जाता है।

५. जिस किसी भी प्राणी या जडवस्तुमें उपर्युक्त ऐश्वर्य, शोभा, कान्ति, शक्ति, बल, तेज, पराक्रम या अन्य किसी प्रकारकी शक्ति आदि सब-के-सब या इनमेंसे कोई एक भी प्रतीत होता हो, उस प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तुको भगवान्‌के तेजका अंश समझना ही उसको भगवान्‌के तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझना है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार बिजलीकी शक्तिसे कहीं रोशनी हो रही है, कहीं पंखे चल रहे हैं, कहीं जल निकल रहा है, कहीं रेडियोंमें दूर-दूरके गाने सुनायी पड़ रहे हैं—इस प्रकार भिन्न-भिन्न अनेकों स्थानोंमें और भी बहुत कार्य हो रहे हैं; परंतु यह निश्चय है कि जहाँ-जहाँ ये कार्य होते हैं, वहाँ-वहाँ बिजलीका ही प्रभाव कार्य कर रहा है, वस्तुतः वह बिजलीके ही अंशकी अभिव्यक्ति है। उसी प्रकार जिस प्राणी या वस्तुमें जो भी किसी तरहकी विशेषता दिखलायी पड़ती है, उसमें भगवान्‌के ही तेजके अंशकी अभिव्यक्ति समझनी चाहिये।

१. इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे पूछनेपर मैंने प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन तो कर दिया, किंतु इतना ही जानना यथेष्ट नहीं है। सार बात यह है जो मैं अब तुम्हें बतला रहा हूँ, इसको तुम अच्छी प्रकार समझ लो; फिर सब कुछ अपने-आप ही समझमें आ जायगा, उसके बाद तुम्हारे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा।

२. मन, इन्द्रिय और शरीरसहित समस्त चराचर प्राणी तथा भोगसामग्री, भोगस्थान और समस्त लोकोंके सहित यह ब्रह्माण्ड भगवान्‌के किसी एक अंशमें उन्हींकी योगशक्तिसे धारण किया हुआ है, यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने इस जगत्‌के सम्पूर्ण विस्तारको अपनी योगशक्तिके एक अंशसे धारण किया हुआ बतलाया है।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामेकादशोऽध्यायः)

विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना, भगवान् और संजयद्वारा विश्वरूपका वर्णन, अर्जुनद्वारा भगवान्के विश्वरूपका देखा जाना, भयभीत हुए अर्जुनद्वारा भगवान्की स्तुति-प्रार्थना, भगवान्द्वारा विश्वरूप और चतुर्भुजरूपके दर्शनकी महिमा और केवल अनन्यभक्तिसे ही भगवान्की प्राप्तिका कथन

सम्बन्ध—*गीताके दसवें अध्यायके सातवें श्लोकतक भगवान्ने अपनी विभूति तथा योगशक्तिका और उनके जाननेके माहात्म्यका संक्षेपमें वर्णन करके ग्यारहवें श्लोकतक भक्तियोग और उसके फलका निरूपण किया। इसपर बारहवेंसे अठारहवें श्लोकतक अर्जुनने भगवान्की स्तुति करके उनसे दिव्य विभूतियोंका और योगशक्तिका विस्तृत वर्णन करनेके लिये प्रार्थना की। तब भगवान्ने चालीसवें श्लोकतक अपनी विभूतियोंका वर्णन समाप्त करके अन्तमें योगशक्तिका प्रभाव बतलाते हुए समस्त ब्रह्माण्डको अपने एक अंशमें धारण किया हुआ कहकर अध्यायका उपसंहार किया। इस प्रसंगको सुनकर अर्जुनके मनमें उस महान् स्वरूपको, जिसके एक अंशमें समस्त विश्व स्थित है, प्रत्यक्ष देखनेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी। इसीलिये इस ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें पहले चार श्लोकोंमें भगवान्की और उनके उपदेशकी प्रशंसा करते हुए अर्जुन उनसे विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करते हैं—*

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय[३] परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत् त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।। १ ।।

अर्जुन बोले—मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने जो परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन[१] अर्थात् उपदेश कहा, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है[२] ।।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ।। २ ।।

क्योंकि हे कमलनेत्र! मैंने आपसे भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है[३] ।। २ ।।

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।। ३ ।।

हे परमेश्वर![४] आप अपनेको जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है; परंतु हे पुरुषोत्तम! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे युक्त ऐश्वर-रूपको मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ[५] ।। ३ ।।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।। ४ ।।

हे प्रभो[६]! यदि मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है—ऐसा आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर! उस अविनाशी स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये[७] ।। ४ ।।

सम्बन्ध—*परम श्रद्धालु और परम प्रेमी अर्जुनके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर तीन श्लोकोंमें भगवान् अपने विश्वरूपका वर्णन करते हुए उसे देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि[१] दिव्यानि[२] नानावर्णाकृतीनि च[३] ।। ५ ।।

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ! अब तू मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकारके और नाना वर्ण तथा नाना आकृति-वाले अलौकिक रूपोंको देख ।। ५ ।।

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।। ६ ।।

हे भरतवंशी अर्जुन! मुझमें आदित्योंको अर्थात् अदितिके द्वादश पुत्रोंको, आठ वसुओंको, एकादश रुद्रोंको, दोनों अश्विनीकुमारोंको और उनचास मरुद्गणोंको देख[४] तथा और भी बहुत-से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपोंको देख ।।

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश[५] यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ।। ७ ।।

हे अर्जुन! अब[६] इस मेरे शरीरमें एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देख[७] तथा और भी जो कुछ देखना चाहता हो सो देख[८] ।। ७ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार तीन श्लोकोंमें बार-बार अपना अद्भुत रूप देखनेके लिये आज्ञा देनेपर भी जब अर्जुन भगवान्के रूपको नहीं देख सके, तब उसके न देख सकनेके कारणको जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् अर्जुनको दिव्य दृष्टि देनेकी इच्छा करके कहने लगे—*

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।। ८ ।।

परंतु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेमें निःसंदेह समर्थ नहीं है; इसीसे मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ, उससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको[१] देख ।। ८ ।।

सम्बन्ध—*अर्जुनको दिव्य दृष्टि देकर भगवान्‌ने जिस प्रकारका अपना दिव्य विराट् स्वरूप दिखलाया था, अब पाँच श्लोकोंद्वारा संजय उसका वर्णन करते हैं—*

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ।। ९ ।।

संजय बोले—हे राजन्! महायोगेश्वर और सब पापोंके नाश करनेवाले भगवान्‌ने[२] इस प्रकार कहकर उसके पश्चात् अर्जुनको परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखलाया[३] ।। ९ ।।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ।। १० ।।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।[४]
सर्वाश्चर्यमयं[५] देवमनन्तं[६] विश्वतोमुखम् ।। ११ ।।

अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त,[७] अनेक अद्भुत दर्शनोंवाले,[८] बहुत-से दिव्य भूषणोंसे युक्त[९] और बहुत-से दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए,[१०] दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए[११] और दिव्य गन्धका सारे शरीरमें लेप किये हुए, सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किये हुए विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा ।। १०-११ ।।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ।। १२ ।।

आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो[१] ।। १२ ।।

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।। १३ ।।

पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस समय अनेक प्रकारसे विभक्त अर्थात् पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण जगत्‌को देवोंके देव श्रीकृष्ण भगवान्‌के उस शरीरमें एक जगह स्थित देखा[२] ।। १३ ।।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।। १४ ।।

उसके अनन्तर वह आश्चर्यसे चकित और पुलकित-शरीर अर्जुन[३] प्रकाशमय विश्वरूप परमात्माको श्रद्धा-भक्तिसहित सिरसे प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोला[४] ।।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।। १५ ।।

अर्जुन बोले—हे देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवोंको तथा अनेक भूतोंके समुदायोंको, कमलके आसनपर विराजित ब्रह्माको, महादेवको[५] और सम्पूर्ण ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देखता हूँ[६] ।। १५ ।।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप[७] ।। १६ ।।

हे सम्पूर्ण विश्वके स्वामिन्! आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ। हे विश्वरूप! मैं आपके न अन्तको देखता हूँ, न मध्यको और न आदिको ही ।। १६ ।।

अर्जुनके प्रति भगवान्‌का विराट्‌रूप-प्रदर्शन

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
　　तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं[१] समन्ताद्
　　दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्[२] ।। १७ ।।

आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओरसे प्रकाशमान तेजके पुंज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब ओरसे अप्रमेयस्वरूप देखता हूँ ।। १७ ।।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं[३]
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता[४]
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ।। १८ ।।

आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत्के परम आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं। ऐसा मेरा मत है[५] ।। १८ ।।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य[६] [७]-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ।। १९ ।।

आपको आदि, अन्त और मध्यसे रहित, अनन्त सामर्थ्यसे युक्त, अनन्त भुजावाले,[८] चन्द्र-सूर्यरूप नेत्रोंवाले,[९] प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे इस जगत्को संतप्त करते हुए देखता हूँ ।। १९ ।।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्[१०] ।। २० ।।

हे महात्मन्! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं एवं आपके इस अलौकिक और भयंकर रूपको देखकर तीनों लोक अति व्यथाको प्राप्त हो रहे हैं ।। २० ।।

अमी[१] हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ।। २१ ।।

वे ही देवताओंके समूह आपमें प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणोंका उच्चारण करते हैं[२] तथा महर्षि और

सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं[3] ।। २१ ।।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च[4] ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा[5]
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।। २२ ।।

जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गण[6] और पितरोंका समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धोंके समुदाय हैं, वे सब ही विस्मित होकर आपको देखते हैं ।।

रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ।। २३ ।।

हे महाबाहो! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत हाथ, जंघा और पैरोंवाले, बहुत उदरोंवाले और बहुत-सी दाढ़ोंके कारण अत्यन्त विकराल महान् रूपको देखकर सब लोग व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ ।। २३ ।।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो[1] ।। २४ ।।

क्योंकि हे विष्णो! आकाशको स्पर्श करनेवाले, देदीप्यमान, अनेक वर्णोंसे युक्त तथा फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रोंसे युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धीरज और शान्ति नहीं पाता हूँ ।।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे न शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ।। २५ ।।

दाढ़ोंके कारण विकराल और प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित आपके मुखोंको देखकर मैं दिशाओंको नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पाता हूँ। इसलिये हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हों[2] ।। २५ ।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः

सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ[३]

सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ।। २६ ।।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति

दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।

केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु

संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ।। २७ ।।

वे सभी धृतराष्ट्रके पुत्र राजाओंके समुदाय-सहित आपमें प्रवेश कर रहे हैं[४] और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य[५] तथा वह कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योद्धाओंके सहित सब-के-सब आपके दाढ़ोंके कारण विकराल भयानक मुखोंमें बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें लगे हुए दीख रहे हैं ।। २६-२७ ।।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः

समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोकवीरा

विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।। २८ ।।

जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्रमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे नरलोकके वीर भी आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं[१] ।। २८ ।।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा

विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।

तथैव नाशाय विशन्ति लोका-

स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।। २९ ।।

जैसे पतंग मोहवश नष्ट होनेके लिये प्रज्वलित अग्निमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं[२] ।। २९ ।।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-

ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।

तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं

भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।। ३० ।।

आप उन सम्पूर्ण लोकोंको प्रज्वलित मुखोंद्वारा ग्रास करते हुए सब ओरसे बार-बार चाट रहे हैं। हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत्को तेजके

द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है ।। ३० ।।

सम्बन्ध—*अर्जुनने तीसरे और चौथे श्लोकोंमें भगवान्से अपने ऐश्वर्यमय रूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना की थी, उसीके अनुसार भगवान्ने अपना विश्वरूप अर्जुनको दिखलाया; परंतु भगवान्के इस भयानक उग्ररूपको देखकर अर्जुन बहुत डर गये और उनके मनमें इस बातके जाननेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी कि ये श्रीकृष्ण वस्तुतः कौन हैं तथा इस महान् उग्र स्वरूपके द्वारा अब ये क्या करना चाहते हैं। इसीलिये वे भगवान्से पूछ रहे हैं—*

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।। ३१ ।।

मुझे बतलाइये कि आप उग्ररूपवाले कौन हैं? हे देवोंमें श्रेष्ठ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइये। आदिपुरुष आपको मैं विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता[१] ।। ३१ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् अपने उग्ररूप धारण करनेका कारण बतलाते हुए प्रश्नानुसार उत्तर देते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।। ३२ ।।

श्रीभगवान् बोले—मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ।[१] इस समय इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ।[२] इसलिये जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित योद्धालोग हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करनेपर भी इन सबका नाश हो जायगा[३] ।। ३२ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा युद्ध करनेमें सब प्रकारसे लाभ दिखलाकर अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करते हुए आज्ञा देते हैं—*

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ[४] यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।। ३३ ।।

अतएव तू उठ! यश प्राप्त कर और शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग।[५] ये सब शूरवीर पहलेहीसे मेरे ही द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन्! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा[६] ।। ३३ ।।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।। ३४ ।।

द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत-से मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओंको तू मार।[१] भय मत कर।[२] निस्संदेह तू युद्धमें वैरियोंको जीतेगा। इसलिये युद्ध कर[३] ।। ३४ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे सब बातें सुननेके बाद अर्जुनकी कैसी परिस्थिति हुई और उन्होंने क्या किया—इस जिज्ञासापर संजय कहते हैं* —

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी[४] ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ।। ३५ ।।

संजय बोले—केशव भगवान्‌के इस वचनको सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर काँपता हुआ[५] नमस्कार करके, फिर भी अत्यन्त भयभीत होकर प्रणाम करके[१] भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गद्‌गद वाणीसे बोला[२] ।। ३५ ।।

सम्बन्ध—*अब छत्तीसवेंसे छियालीसवें श्लोकतक अर्जुन भगवान्‌के स्तवन, नमस्कार और क्षमायाचना-सहित प्रार्थना करते हैं*—

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ।। ३६ ।।

अर्जुन बोले—हे अन्तर्यामिन्! यह योग्य ही है कि आपके नाम, गुण और प्रभावके कीर्तनसे जगत् अति हर्षित हो रहा है और अनुरागको भी प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षसलोग दिशाओंमें भाग रहे हैं और सब सिद्धगणोंके समुदाय नमस्कार कर रहे हैं[३] ।। ३६ ।।

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।। ३७ ।।

हे महात्मन्! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार न करें; क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास![४] जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं[५] ।। ३७ ।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।। ३८ ।।

आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्‌के परम आश्रय और जाननेवाले[६] तथा जाननेयोग्य[७] और परम धाम[१] हैं। हे अनन्तरूप[२]! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है[३] ।। ३८ ।।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च[४] ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः[५]
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।। ३९ ।।

आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं। आपके लिये हजारों बार नमस्कार! नमस्कार हो!! आपके लिये फिर भी बार-बार नमस्कार! नमस्कार!! ।। ३९ ।।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।। ४० ।।

हे अनन्त सामर्थ्यवाले! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार! हे सर्वात्मन्! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार हो;[६] क्योंकि अनन्त

पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इसमे आप ही सर्वरूप हैं[७] ।। ४० ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति और प्रणाम करके अब भगवान्‌के गुण, रहस्य और माहात्म्यको यथार्थ न जाननेके कारण वाणी और क्रियाद्वारा किये गये अपराधोंको क्षमा करनेके लिये भगवान्‌से अर्जुन प्रार्थना करते हैं—*

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ।। ४१ ।।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि[८]
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत[९] तत्समक्षं
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।। ४२ ।।

आपके इस प्रभावको न जानते हुए, आप मेरे सखा हैं ऐसा मानकर प्रेमसे अथवा प्रमादसे भी मैंने 'हे कृष्ण!' 'हे यादव!' 'हे सखे!' इस प्रकार जो कुछ बिना सोचे-समझे हठात् कहा है[१] और हे अच्युत! आप जो मेरे द्वारा विनोदके लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिमें अकेले अथवा उन सखाओंके सामने भी अपमानित किये गये हैं—वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ[२] ।। ४१-४२ ।।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।। ४३ ।।

आप इस चराचर जगत्‌के पिता और सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं,[३] हे अनुपम प्रभाव-वाले! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है ।। ४३ ।।

तस्मात्[४] प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।। ४४ ।।

अतएव हे प्रभो! मैं शरीरको भलीभाँति चरणोंमें निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करने-योग्य आप ईश्वरको प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ।[५] हे देव! पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करते हैं—वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करनेयोग्य हैं[१] ।। ४४ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार भगवान्से अपने अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करके अब अर्जुन दो श्लोकोंमें भगवान्से चतुर्भुजरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना करते हैं—*

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूपं[२]
प्रसीद देवेश जगन्निवास ।। ४५ ।।

मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूपको देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भयसे अति व्याकुल भी हो रहा है,[३] इसलिये आप उस अपने चतुर्भुज विष्णुरूपको ही मुझे दिखलाइये। हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइये ।। ४५ ।।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते[४] ।। ४६ ।।

मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ,[५] इसलिये हे विश्वस्वरूप! हे सहस्रबाहो! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये[६] ।। ४६ ।।

सम्बन्ध—*अर्जुनकी प्रार्थनापर अब अगले दो श्लोकोंमें भगवान् अपने विश्वरूपकी महिमा और दुर्लभताका वर्णन करते हुए उनचासवें श्लोकमें अर्जुनको आश्वासन देकर चतुर्भुजरूप देखनेके लिये कहते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ।। ४७ ।।

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे[१] यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराट् रूप तुझको दिखलाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसीने पहले नहीं देखा था[२] ।। ४७ ।।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके[३]
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ।। ४८ ।।

हे अर्जुन! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, न दानसे, न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा देखा जा सकता हूँ[४] ।। ४८ ।।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ।। ४९ ।।

मेरे इस प्रकारके इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिये और मूढ़भाव भी नहीं होना चाहिये। तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला होकर उसी मेरे इस शंख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूपको फिर देख ।। ४९ ।।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं[१] दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ।। ५० ।।

संजय बोले—वासुदेव[२] भगवान्ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज-रूपको दिखलाया और फिर महात्मा श्रीकृष्णने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुनको धीरज दिया[३] ।। ५० ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपने विश्वरूपको संवरण करके चतुर्भुजरूपके दर्शन देनेके पश्चात् जब स्वाभाविक मानुषरूपसे युक्त होकर अर्जुनको आश्वासन दिया, तब अर्जुन सावधान होकर कहने लगे—*

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं[४] जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।। ५१ ।।

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! आपके इस अति शान्त मनुष्यरूपको देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ[१] ।। ५१ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अर्जुनके वचन सुनकर अब भगवान् दो श्लोकोंद्वारा अपने चतुर्भुज देवरूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महिमाका वर्णन करते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं[२] रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ।। ५२ ।।

श्रीभगवान् बोले—मेरा जो चतुर्भुजरूप तुमने देखा है, वह सुदुर्दर्श है अर्थात् इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं। देवता भी सदा इस रूपके दर्शनकी आकांक्षा करते रहते हैं ।। ५२ ।।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।। ५३ ।।

जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है—इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ[३] ।। ५३ ।।

सम्बन्ध—*यदि उपर्युक्त उपायोंसे आपके दर्शन नहीं हो सकते तो किस उपायसे हो सकते हैं, ऐसी जिज्ञासा होनेपर भगवान् कहते हैं—*

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।। ५४ ।।

परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये,[४] तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये ही शक्य हूँ ।। ५४ ।।

सम्बन्ध—*अनन्य भक्तिके द्वारा भगवान्‌को देखना, जानना और एकीभावसे प्राप्त करना सुलभ बतलाया जानेके कारण अनन्य भक्तिका स्वरूप जाननेकी आकांक्षा होनेपर अब अनन्य भक्तके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है —*

मत्कर्मकृन्मत्परमो[१] [२] मद्भक्तः[३] सङ्गवर्जितः[४] ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु[५] यः स मामेति पाण्डव ।। ५५ ।।

हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्ति-रहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है[६] ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ।। ११ ।। भीष्मपर्वणि तु पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ।। ३५ ।।

इस प्रकार महाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११ ।। भीष्मपर्वमें पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३५ ।।

---

३. गीताके दसवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रेम-समुद्र भगवान्‌ने 'अर्जुन! तुम्हारा मुझमें अत्यन्त प्रेम है, इसीसे मैं ये सब बातें तुम्हारे हितके लिये कह रहा हूँ' ऐसा कहकर अपना जो अलौकिक प्रभाव सुनाया, उसे सुनकर अर्जुनको महर्षियोंकी कही हुई बातोंका स्मरण हो आया। अर्जुनके हृदयपर भगवत्कृपाकी मुहर लग गयी। वे भगवत्कृपाके अपूर्व दर्शन कर आनन्दमुग्ध हो गये; क्योंकि साधकको जबतक अपने पुरुषार्थ, साधन या अपनी योग्यताका स्मरण होता है, तबतक वह भगवत्कृपाके परमलाभसे वंचित-सा ही रहता है; भगवत्कृपाके प्रभावसे वह सहज ही साधनके उच्च स्तरपर नहीं चढ़ सकता, परंतु जब उसे भगवत्कृपासे ही भगवत्कृपाका भान होता है और वह प्रत्यक्षवत् यह समझ जाता है कि जो कुछ हो रहा है, सब भगवान्‌के अनुग्रहसे ही हो रहा है, तब उसका हृदय कृतज्ञतासे भर जाता है और वह पुकार उठता है, 'ओहो, भगवन्! मैं किसी भी योग्य नहीं हूँ। मैं तो सर्वथा अनधिकारी हूँ। यह सब तो आपके अनुग्रहकी ही लीला है। 'ऐसे ही कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे अर्जुन कह रहे हैं कि भगवन्! आपने जो कुछ भी महत्त्व और प्रभावकी बातें सुनायी हैं, मैं इसका पात्र नहीं हूँ। आपने अनुग्रह करनेके लिये ही अपना यह परम गोपनीय रहस्य मुझको सुनाया है। 'मदनुग्रहाय' पदके प्रयोगका यही अभिप्राय है।

१. गीताके सातवेंसे दसवें अध्यायतक विज्ञानसहित ज्ञानके कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान्‌ने जो अपने गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपका तत्त्व और रहस्य समझाया है—उस सभी उपदेशका वाचक यहाँ 'परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन' है। जिन-जिन प्रकरणोंमें भगवान्‌ने स्पष्टरूपसे यह बतलाया है कि मैं श्रीकृष्ण जो तुम्हारे सामने विराजित हूँ, वही समस्त जगत्‌का कर्ता, हर्ता, निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, मायातीत, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वर हूँ, उन प्रकरणोंको भगवान्‌ने स्वयं 'परम गुह्य' बतलाया है। अतएव यहाँ उन्हीं विशेषणोंका लक्ष्य करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आपका यह उपदेश अवश्य ही परम गोपनीय है।

२. अर्जुन जो भगवान्‌के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको पूर्णरूपसे नहीं जानते थे—यही उनका मोह था। अब उपर्युक्त उपदेशके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य, रहस्य और स्वरूपको कुछ समझकर वे जो यह जान गये हैं कि श्रीकृष्ण ही साक्षात् परमेश्वर हैं—यही उनके मोहका नष्ट होना है।

३. इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि केवल भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयकी ही बात आपसे सुनी हो, ऐसी बात नहीं है; आपकी जो अविनाशी महिमा है, अर्थात् आप समस्त विश्वका सृजन, पालन और संहार आदि करते हुए भी वास्तवमें अकर्ता हैं, सबका नियमन करते हुए भी उदासीन हैं, सर्वव्यापी होते हुए भी उन-उन वस्तुओंके गुण-दोषसे सर्वथा निर्लिप्त हैं, शुभाशुभ कर्मोंका सुख-दुःखरूप फल देते हुए

भी निर्दयता और विषमताके दोषसे रहित हैं, प्रकृति, काल और समस्त लोक-पालोंके रूपमें प्रकट होकर सबका नियमन करनेवाले सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं—इस प्रकारके माहात्म्यको भी उन-उन प्रकरणोंमें बार-बार सुना है।

४. 'परमेश्वर' सम्बोधनसे अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप ईश्वरोंके भी महान ईश्वर हैं और सर्वसमर्थ हैं; अतएव मैं आपके जिस ऐश्वरस्वरूपके दर्शन करना चाहता हूँ, उसके दर्शन आप सहज ही करा सकते हैं।

५. असीम और अनन्त ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि ईश्वरीय गुण और प्रभाव जिसमें प्रत्यक्ष दिखलायी देते हों तथा सारा विश्व जिसके एक अंशमें हो, ऐसे रूपको यहाँ 'ऐश्वररूप' बतलाया है और 'उसे मैं देखना चाहता हूँ' इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि ऐसा अद्भुतरूप मैंने कभी नहीं देखा, आपके मुखसे उसका वर्णन सुनकर (गीता १०।४२) उसे देखनेकी मेरे मनमें अत्यन्त उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गयी है, उस रूपके दर्शन करके मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा—मैं ऐसा मानता हूँ।

६. 'प्रभो' सम्बोधनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा अन्तर्यामीरूपसे शासन करनेवाले होनेके कारण सर्वसमर्थ हैं। इसलिये यदि मैं आपके उस रूपके दर्शनका सुयोग्य अधिकारी नहीं हूँ तो आप कृपापूर्वक अपने सामर्थ्यसे मुझे सुयोग्य अधिकारी बना सकते हैं।

७. इस कथनसे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मेरे मनमें आपके उस रूपके दर्शनकी लालसा अत्यन्त प्रबल है आप अन्तर्यामी हैं, देख लें—जान लें कि मेरी वह लालसा सच्ची और उत्कट है या नहीं। यदि आप उस लालसाको सच्ची पाते हैं, तब तो प्रभो! मैं उस स्वरूपके दर्शनका अधिकारी हो जाता हूँ; क्योंकि आप तो भक्त-वांछाकल्पतरु हैं, उसके मनकी इच्छा ही देखते हैं, अन्य योग्यताको नहीं देखते। इसलिये यदि उचित समझें तो कृपा करके अपने उस स्वरूपके दर्शन मुझे कराइये।

१. 'नानाविधानि' पद बहुत-से भेदोंका बोधक है। इसका प्रयोग करके भगवान्ने विश्वरूपमें दीखनेवाले रूपोंके जातिगत भेदकी अनेकता प्रकट की है—अर्थात् देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि समस्त चराचर जीवोंके नाना भेदोंको अपनेमें देखनेके लिये कहा है।

२. अलौकिक और आश्चर्यजनक वस्तुको दिव्य कहते हैं। 'दिव्यानि' पदका प्रयोग करके भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे शरीरमें दीखनेवाले ये भिन्न-भिन्न प्रकारके असंख्य रूप सब-के-सब दिव्य हैं।

३. 'वर्ण' शब्द लाल, पीले, काले आदि विभिन्न रंगोंका और 'आकृति' शब्द अंगोंकी बनावटका वाचक है। जिन रूपोंके वर्ण और उनके अंगोंकी बनावट पृथक्-पृथक् अनेकों प्रकारकी हों, उनको 'नानावर्णाकृति' कहते हैं। उन्हींके लिये 'नानावर्णाकृतीनि'- का प्रयोग हुआ है।

४. इनका नाम लेकर भगवान्ने सभी देवताओंको अपने विराट् रूपमें देखनेके लिये अर्जुनको आज्ञा दी है। इनमेंसे आदित्य और मरुद्गणोंकी व्याख्या गीताके दसवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें तथा वसु और रुद्रोंकी तेईसवेंमें की जा चुकी है। इसलिये यहाँ उसका विस्तार नहीं किया गया है। अश्विनीकुमार दोनों भाई देव-वैद्य हैं। ये दोनों सूर्यकी पत्नी संज्ञासे उत्पन्न माने जाते हैं (विष्णुपुराण ३।२।७, अग्निपुराण २७३। ४)। कहीं इनको कश्यपके औरस पुत्र और अदितिके गर्भसे उत्पन्न (वाल्मीकीय रामायण अरण्य० १४। १४) तथा कहीं ब्रह्माके कानोंसे उत्पन्न भी माना गया है (वायुपुराण ६५।५७)। कल्पभेदसे सभी वर्णन यथार्थ हैं।

५. यहाँ अर्जुनको 'गुडाकेश' नामसे सम्बोधित करके भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि तुम निद्राके स्वामी हो, अतः सावधान होकर मेरे रूपको भलीभाँति देखो, ताकि किसी प्रकारका संशय या भ्रम न रह जाय।

६. इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि तुमने मेरे जिस रूपके दर्शन करनेकी इच्छा प्रकट की है, उसे दिखलानेमें जरा भी विलम्ब नहीं कर रहा हूँ, इच्छा प्रकट करते ही मैं अभी दिखला रहा हूँ।

७. पशु, पक्षी, कीट, पतंग और देव, मनुष्य आदि चलने-फिरनेवाले प्राणियोंको 'चर' कहते हैं तथा पहाड़, वृक्ष आदि एक जगह स्थिर रहनेवालोंको 'अचर' कहते हैं। ऐसे समस्त प्राणियोंके तथा उनके शरीर, इन्द्रिय, भोगस्थान और भोगसामग्रियोंके सहित समस्त ब्रह्माण्डका वाचक यहाँ 'चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्' शब्द है। इससे भगवान्ने अर्जुनको यह बतलाया है कि इसी मेरे शरीरके एक अंशमें तुम समस्त जगत्को स्थित देखो। अर्जुनको भगवान्ने गीताके दसवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें जो यह बात

कही थी कि मैं इस समस्त जगत्को एक अंशमें धारण किये स्थित हूँ, उसी बातको यहाँ उन्हें प्रत्यक्ष दिखला रहे हैं।

८. इस कथनसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस वर्तमान सम्पूर्ण जगत्को देखनेके अतिरिक्त और भी मेरे गुण, प्रभाव आदिके द्योतक कोई दृश्य, अपने और दूसरोंके जय-पराजयके दृश्य अथवा जो कुछ भी भूत, भविष्य और वर्तमानकी घटनाएँ देखनेकी तुम्हारी इच्छा हो, उन सबको तुम इस समय मेरे शरीरके एक अंशमें प्रत्यक्ष देख सकते हो।

१. भगवान्‌ने अर्जुनको विश्वरूपका दर्शन करनेके लिये अपने योगबलसे एक प्रकारकी योगशक्ति प्रदान की थी, जिसके प्रभावसे अर्जुनमें अलौकिक सामर्थ्यका प्रादुर्भाव हो गया—उस दिव्य रूपको देख सकनेकी योग्यता प्राप्त हो गयी। इसी योगशक्तिका नाम दिव्य दृष्टि है। ऐसी ही दिव्य दृष्टि श्रीवेदव्यासजीने संजयको भी दी थी। अर्जुनको जिस रूपके दर्शन हुए थे, वह दिव्य था। उसे भगवान्‌ने अपनी अद्भुत योगशक्तिसे ही प्रकट करके अर्जुनको दिखलाया था। अतः उसके देखनेसे ही भगवान्‌की अद्भुत योग-शक्तिके दर्शन आप ही हो गये।

२. संजयके इस कथनका भाव यह है कि श्रीकृष्ण कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, वे बड़े-से-बड़े योगेश्वर और सब पापों तथा दुःखोंके नाश करनेवाले साक्षात् परमेश्वर हैं। उन्होंने अर्जुनको अपना जो दिव्य विश्वरूप दिखलाया था, जिसका वर्णन करके मैं अभी आपको सुनाऊँगा, वह रूप बड़े-से-बड़े योगी भी नहीं दिखला सकते; उसे तो एकमात्र स्वयं परमेश्वर ही दिखला सकते हैं।

३. भगवान्‌ने अपना जो विराट् स्वरूप अर्जुनको दिखलाया था, वह अलौकिक, दिव्य, सर्वश्रेष्ठ और तेजोमय था, साधारण जगत्की भाँति पांचभौतिक पदार्थोंसे बना हुआ नहीं था; भगवान्‌ने अपने परम प्रिय भक्त अर्जुनपर अनुग्रह करके अपना अद्भुत प्रभाव उसको समझानेके लिये ही अपनी अद्भुत योगशक्तिके द्वारा उस रूपको प्रकट करके दिखलाया था।

४. चन्दन आदि जो लौकिक गन्ध हैं, उनसे विलक्षण अलौकिक गन्धको 'दिव्य गन्ध' कहते हैं। ऐसे दिव्य गन्धका अनुभव प्राकृत इन्द्रियोंसे न होकर दिव्य इन्द्रियोंद्वारा ही किया जा सकता है। जिसके समस्त अंगोंमें इस प्रकारका अत्यन्त मनोहर दिव्य गन्ध लगा हो, उसको 'दिव्यगन्धानुलेपन' कहते हैं।

५. भगवान्‌के उस विराट्‌रूपमें उपर्युक्त प्रकारसे मुख, नेत्र, आभूषण, शस्त्र, माला, वस्त्र और गन्ध आदि सभी आश्चर्यजनक थे; इसलिये उन्हें 'सर्वाश्चर्यमय' कहा गया है।

६. जो प्रकाशमय और पूज्य हों, उन्हें 'देव' कहते हैं।

७. अर्जुनने भगवान्‌का जो रूप देखा, उसके प्रधान नेत्र तो चन्द्रमा और सूर्य बतलाये गये हैं (गीता ११। १९) परंतु उसके अंदर दिखलायी देनेवाले और भी असंख्य विभिन्न मुख और नेत्र थे, इसीसे भगवान्‌को अनेक मुखों और नेत्रसे युक्त बतलाया गया है।

८. भगवान्‌के उस विराट् रूपमें अर्जुनने ऐसे असंख्य अलौकिक विचित्र दृश्य देखे थे, इसी कारण उनके लिये यह विशेषण दिया गया है।

९. जो गहने लौकिक गहनोंसे विलक्षण, तेजोमय और अलौकिक हों, उन्हें 'दिव्य' कहते हैं तथा जो रूप ऐसे असंख्य दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो, उसे 'अनेकदिव्याभरण' कहते हैं।

१०. जो आयुध अलौकिक तथा तेजोमय हों, उनको 'दिव्य' कहते हैं—जैसे भगवान् विष्णुके चक्र, गदा और धनुष आदि हैं। इस प्रकारके असंख्य दिव्य शस्त्र भगवान्‌ने अपने हाथोंमें उठा रखे थे।

११. विश्वरूप भगवान्‌ने अपने गलेमें बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर तेजोमय अलौकिक मालाएँ धारण कर रखी थीं तथा वे अनेक प्रकारके बहुत ही उत्तम तेजोमय अलौकिक वस्त्रोंसे सुसज्जित थे, इसलिये उनके लिये यह विशेषण दिया गया है।

१. इसके द्वारा विराट्‌स्वरूप भगवान्‌के दिव्य प्रकाशको निरुपम बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हजारों तारे एक साथ उदय होकर भी सूर्यकी समानता नहीं कर सकते, उसी प्रकार हजार सूर्य यदि एक साथ आकाशमें उदय हो जायँ तो उनका प्रकाश भी उस विराट्‌स्वरूप भगवान्‌के प्रकाशकी समानता नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि सूर्योंका प्रकाश अनित्य, भौतिक और सीमित है; परंतु विराट्‌स्वरूप भगवान्‌का प्रकाश नित्य, दिव्य, अलौकिक और अपरिमित है।

२. यहाँ यह भाव दिखलाया गया है कि देवता-मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग और वृक्ष आदि भोक्तृवर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग और पाताल आदि भोग्यस्थान एवं उनके भोगनेयोग्य असंख्य सामग्रियोंके भेदसे

विभक्त—इस समस्त ब्रह्माण्डको अर्जुनने भगवान्‌के शरीरके एक देशमें देखा। गीताके दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने जो यह बात कही थी कि इस सम्पूर्ण जगत्‌को मैं एक अंशमें धारण किये हुए स्थित हूँ, उसीको यहाँ अर्जुनने प्रत्यक्ष देखा।

३. इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के उस रूपको देखकर अर्जुनको इतना महान् हर्ष और आश्चर्य हुआ, जिसके कारण उसी क्षण उनका समस्त शरीर पुलकित हो गया। उन्होंने इससे पूर्व भगवान्‌का ऐसा ऐश्वर्यपूर्ण स्वरूप कभी नहीं देखा था; इसलिये इस अलौकिक रूपको देखते ही उनके हृदयपटपर सहसा भगवान्‌के अपरिमित प्रभावका कुछ अंश अंकित हो गया, भगवान्‌का कुछ प्रभाव उनकी समझमें आया। इससे उनके हर्ष और आश्चर्यकी सीमा न रही।

४. अर्जुनने जब भगवान्‌का ऐसा अनन्त आश्चर्यमय दृश्योंसे युक्त परम प्रकाशमय और असीम ऐश्वर्यसमन्वित महान् स्वरूप देखा, तब उससे वे इतने प्रभावित हुए कि उनके मनमें जो पूर्व जीवनकी मित्रताका एक भाव था, वह सहसा विलुप्त-सा हो गया; भगवान्‌की महिमाके सामने वे अपनेको अत्यन्त तुच्छ समझने लगे। भगवान्‌के प्रति उनके हृदयमें अत्यन्त पूज्यभाव जाग्रत् हो गया और उस पूज्यभावके प्रवाहने बिजलीकी तरह गति उत्पन्न करके उनके मस्तकको उसी क्षण भगवान्‌के चरणोंमें टिका दिया और वे हाथ जोड़कर बड़े ही विनम्रभावसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌का स्तवन करने लगे।

५. ब्रह्मा और शिव देवोंके भी देव हैं तथा ईश्वरकोटिमें हैं, इसलिये उनके नाम विशेषरूपसे लिये गये हैं। एवं ब्रह्माको 'कमलके आसनपर विराजित' बतलाकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं भगवान् विष्णुकी नाभिसे निकले हुए कमलपर विराजित ब्रह्माको देख रहा हूँ अर्थात् उन्हींके साथ आपके विष्णुरूपको भी आपके शरीरमें देख रहा हूँ।

६. यहाँ स्वर्ग, मर्त्य और पाताल—तीनों लोकोंके प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके समुदायकी गणना करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं त्रिभुवनात्मक समस्त विश्वको आपके शरीरमें देख रहा हूँ।

७. यहाँ अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप ही इस समस्त विश्वके कर्ता-हर्ता और सबको अपने-अपने कार्योंमें नियुक्त करनेवाले सबके अधीश्वर हैं और यह समस्त विश्व वस्तुतः आपका ही स्वरूप है, आप ही इसके निमित्त और उपादान कारण हैं।

१. अर्जुनको तो भगवान्‌ने उस रूपको देखनेके लिये ही दिव्य दृष्टि दी थी और उसीके द्वारा वे उसको देख रहे थे। इस कारण दूसरोंके लिये दुर्निरीक्ष्य होनेपर भी उनके लिये वैसी बात नहीं थी।

२. इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके गुण, प्रभाव, शक्ति और स्वरूप अप्रमेय हैं, अतः उनको कोई भी प्राणी किसी भी उपायसे पूर्णतया नहीं जान सकता।

३. जिस जाननेयोग्य परमतत्त्वको मुमुक्षु पुरुष जाननेकी इच्छा करते हैं, जिसके जाननेके लिये जिज्ञासु साधक नाना प्रकारके साधन करते हैं, गीताके आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिस परम अक्षरको ब्रह्म बतलाया गया है, उसी परम तत्त्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार परब्रह्म परमात्माका वाचक यहाँ 'वेदितव्यम्' और 'परमम्' विशेषणोंके सहित 'अक्षरम्' पद है।

४. जो सदासे चला आता हो और सदा रहनेवाला हो, उस सनातन (वैदिक) धर्मको 'शाश्वतधर्म' कहते हैं। भगवान् बार-बार अवतार लेकर उसी धर्मकी रक्षा करते हैं, इसलिये भगवान्‌को अर्जुनने 'शाश्वतधर्मगोप्ता' कहा है।

५. यहाँ अर्जुनने यह बतलाया है कि जिनका कभी नाश नहीं होता—ऐसे समस्त जगत्‌के हर्ता, कर्ता, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण विकारोंसे रहित, सनातन परम पुरुष साक्षात् परमेश्वर आप ही हैं।

६. इस अध्यायके सोलहवें श्लोकमें अर्जुन भगवान्‌के विराट् रूपको असीम बतला ही चुके थे, फिर यहाँ उसे 'अनादिमध्यान्त' कहनेका भाव यह है कि वह उत्पत्ति आदि छः विकारोंसे रहित नित्य है। यहाँ 'आदि' शब्द उत्पत्तिका, 'मध्य' उत्पत्ति और विनाशके बीचमें होनेवाले स्थिति, वृद्धि, क्षय और परिणाम—इन चारों भावविकारोंका और 'अन्त' शब्द विनाशरूप विकारका वाचक है। ये तीनों जिसमें न हों, उसे 'अनादिमध्यान्त' कहते हैं।

७. यहाँ अर्जुनने भगवान्‌को 'अनन्तवीर्य' कहकर यह भाव दिखलाया है कि आपके बल, वीर्य, सामर्थ्य और तेजकी कोई भी सीमा नहीं है।

८. इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके इस विराट् रूपमें मैं जिस ओर देखता हूँ, उसी ओर मुझे अगणित भुजाएँ दिखलायी दे रही हैं।

९. इससे अर्जुन यह अभिप्राय व्यक्त करते हैं कि आपके इस विराट्स्वरूपमें मुझे सब ओर आपके असंख्य मुख दिखलायी दे रहे हैं; उनमें जो आपका प्रधान मुख है, उस मुखपर नेत्रोंके स्थानमें मैं चन्द्रमा और सूर्यको देख रहा हूँ।

१०. समस्त विश्वके महान् आत्मा होनेसे भगवान्‌को 'महात्मन्' कहा है।

१. 'सुरसंघाः' पदके साथ परोक्षवाची 'अमी' विशेषण देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि मैं जब स्वर्गलोक गया था, तब वहाँ जिन-जिन देवसमुदायोंको मैंने देखा था—मैं आज देख रहा हूँ कि वे ही आपके इस विराट् रूपमें प्रवेश कर रहे हैं।

२. इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि शेष बचे हुए कितने ही देवता अपनी बहुत देरतक बचे रहनेकी सम्भावना न जानकर डरके मारे हाथ जोड़कर आपके नाम और गुणोंका बखान करते हुए आपको प्रसन्न करनेकी चेष्टा कर रहे हैं।

३. इससे अर्जुनने यह व्यक्त किया है कि मरीचि, अंगिरा, भृगु आदि महर्षियोंके और ज्ञाताज्ञात सिद्धजनोंके जितने भी विभिन्न समुदाय हैं, वे आपके तत्त्वका यथार्थ रहस्य जाननेवाले होनेके कारण आपके इस उग्र रूपको देखकर भयभीत नहीं हो रहे हैं; वरं समस्त जगत्‌के कल्याणके लिये प्रार्थना करते हुए अनेकों प्रकारके सुन्दर भावमय स्तोत्रोंद्वारा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक आपका स्तवन कर रहे हैं—ऐसा मैं देख रहा हूँ।

४. जो ऊष्म (गरम) अन्न खाते हों, उनको 'ऊष्मपाः' कहते हैं। मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायके दो सौ सैंतीसवें श्लोकमें कहा है कि पितरलोग गरम अन्न ही खाते हैं। अतएव यहाँ 'ऊष्मपाः' पद पितरोंके समुदायका वाचक समझना चाहिये। पितरोंके नाम गीताके दसवें अध्यायके उनतीसवें श्लोककी टिप्पणीमें बतलाये जा चुके हैं।

५. कश्यपजीकी पत्नी मुनि और प्राधासे तथा अरिष्टासे गन्धर्वोंकी उत्पत्ति मानी गयी है, ये राग-रागिनियोंके ज्ञानमें निपुण हैं और देवलोककी वाद्य-नृत्यकलामें कुशल समझे जाते हैं। यक्षोंकी उत्पत्ति महर्षि कश्यपकी खसा नामक पत्नीसे मानी गयी है। भगवान् शंकरके गणोंमें भी यक्षलोग हैं। इन यक्षोंके और उत्तम राक्षसोंके राजा कुबेर माने जाते हैं। देवताओंके विरोधी दैत्य, दानव और राक्षसोंको असुर कहते हैं। कश्यपजीकी स्त्री दितिसे उत्पन्न होनेवाले 'दैत्य' और 'दनु' से उत्पन्न होनेवाले 'दानव' कहलाते हैं। राक्षसोंकी उत्पत्ति विभिन्न प्रकारसे हुई है। कपिल आदि सिद्धजनोंको 'सिद्ध' कहते हैं। इन सबके विभिन्न अनेकों समुदायोंका वाचक यहाँ 'गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः' पद है।

६. ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु और उनचास मरुत्—इन चार प्रकारके देवताओंके समूहोंका वर्णन तो गीताके दसवें अध्यायके इक्कीसवें और तेईसवें श्लोकोंकी टिप्पणीमें तथा अश्विनीकुमारोंका ग्यारहवें अध्यायके छठे श्लोककी टिप्पणीमें किया जा चुका है—वहाँ देखना चाहिये। मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, यान, चित्ति, हय, नय, हंस, नारायण, प्रभव और विभु—ये बारह साध्यदेवता हैं—

मनोऽनुमन्ता प्राणश्च नरो यानश्च वीर्यवान् ।।
चित्तिर्हयो नयश्चैव हंसो नारायणस्तथा ।
प्रभवोऽथ विभुश्चैव साध्या द्वादश जज्ञिरे ।।

(वायुपुराण ६६।१५-१६)

और क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान्, प्रभवान् और रोचमान—ये दस विश्वेदेव हैं—

विश्वेदेवास्तु विश्वाया जज्ञिरे दश विश्रुताः ।
क्रतुर्दक्षः श्रवः सत्यः कालः कामो धुनिस्तथा ।
कुरुवान् प्रभवांश्चैव रोचमानश्च ते दश ।।

(वायुपुराण ६६।३१-३२)

१. भगवान्‌को विष्णु नामसे सम्बोधित करके अर्जुन यह दिखलाते हैं कि आप साक्षात् विष्णु ही पृथ्वीका भार उतारनेके लिये श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं। अतः आप मेरी व्याकुलताको दूर करनेके लिये इस विश्वरूपका संवरण करके विष्णुरूपसे प्रकट हो जाइये।

२. यहाँ अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि आप समस्त देवताओंके स्वामी, सर्वव्यापी और सम्पूर्ण जगत्‌के परमाधार हैं, इस बातको तो मैंने पहलेसे ही सुन रखा था और मेरा विश्वास भी था कि आप ऐसे ही हैं। आज मैंने आपका वह विराट्स्वरूप प्रत्यक्ष देख लिया। अब तो आपके 'देवेश' और 'जगन्निवास'

होनेमें कोई संदेह ही नहीं रह गया एवं प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करनेका यह भाव है कि 'प्रभो! आपका प्रभाव तो मैंने प्रत्यक्ष देख ही लिया, परंतु आपके इस विराट् रूपको देखकर मेरी बड़ी ही शोचनीय दशा हो रही है; मेरे सुख, शान्ति और धैर्यका नाश हो गया है; यहाँतक कि मुझे दिशाओंका भी ज्ञान नहीं रह गया है। अतएव दया करके अब आप अपने इस विराट्स्वरूपको शीघ्र समेट लीजिये।'

३. वीरवर कर्णसे अर्जुनकी स्वाभाविक प्रतिद्वन्द्विता थी। इसलिये उनके नामके साथ 'असौ' विशेषणका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि अपनी शूरवीरताके दर्पमें जो कर्ण सबको तुच्छ समझते थे, वे भी आज आपके विकराल मुखोंमें पड़कर नष्ट हो रहे हैं।

४. इससे अर्जुनने यह दिखलाया है कि केवल धृतराष्ट्रपुत्रोंको ही मैं आपके अंदर प्रविष्ट करते नहीं देख रहा हूँ, उन्हींके साथ मैं उन सब राजाओंके समूहोंको भी आपके अंदर प्रवेश करते देख रहा हूँ, जो दुर्योधनकी सहायता करनेके लिये आये थे।

५. पितामह भीष्म और गुरु द्रोण कौरवसेनाके सर्वप्रधान महान् योद्धा थे। अर्जुनके मतमें इनका परास्त होना या मारा जाना बहुत ही कठिन था। यहाँ उन दोनोंके नाम लेकर अर्जुन यह कह रहे हैं कि 'भगवन्! दूसरोंके लिये तो कहना ही क्या है; मैं देख रहा हूँ, भीष्म और द्रोण-सरीखे महान् योद्धा भी आपके भयानक विकराल मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं।

१. इस श्लोकमें उन भीष्म-द्रोणादि श्रेष्ठ शूरवीर पुरुषोंके प्रवेश करनेका वर्णन किया गया है, जो भगवान्की प्राप्तिके लिये साधन कर रहे थे तथा जिनको बिना ही इच्छाके युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा था और जो युद्धमें मरकर भगवान्को प्राप्त करनेवाले थे। इसी हेतुसे उनको 'नरलोकके वीर' कहा गया है। वे भौतिक युद्धमें जैसे महान् वीर थे, वैसे ही भगवत्प्राप्तिके साधनरूप आध्यात्मिक युद्धमें भी काम आदि शत्रुओंके साथ बड़ी वीरतासे लड़नेवाले थे। उनके प्रवेशमें नदी और समुद्रका दृष्टान्त देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जैसे नदियोंके जल स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर दौड़ते हैं और अन्तमें अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्र ही बन जाते हैं, वैसे ही ये शूरवीर भक्तजन भी आपकी ओर मुख करके दौड़ रहे हैं और आपके अंदर अभिन्नभावसे प्रवेश कर रहे हैं।

यहाँ मुखोंके साथ 'प्रज्वलित' विशेषण देकर यह भाव दिखलाया गया है कि जैसे समुद्रमें सब ओरसे जल-ही-जल भरा रहता है और नदियोंका जल उसमें प्रवेश करके उसके साथ एकत्वको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही आपके सब मुख भी सब ओरसे अत्यन्त ज्योतिर्मय हैं और उनमें प्रवेश करनेवाले शूरवीर भक्तजन भी आपके मुखोंकी महान् ज्योतिमें अपने बाह्यरूपको जलाकर स्वयं ज्योतिर्मय हो आपमें एकताको प्राप्त हो रहे हैं।

२. इस श्लोकमें पिछले श्लोकमें बतलाये हुए भक्तोंसे भिन्न उन समस्त साधारण लोगोंके प्रवेशका वर्णन किया गया है, जो इच्छापूर्वक युद्ध करनेके लिये आये थे; इसीलिये प्रज्वलित अग्नि और पतंगोंका दृष्टान्त देकर अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जैसे मोहमें पड़े हुए पतंग नष्ट होनेके लिये ही इच्छापूर्वक बड़े वेगसे उड़-उड़कर अग्निमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी आपके प्रभावको न जाननेके कारण मोहमें पड़े हुए हैं और अपना नाश करनेके लिये ही पतंगोंकी भाँति दौड़-दौड़कर आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं।

३. इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि यह इतना भयंकर रूप—जिसमें कौरवपक्षके और हमारे प्रायः सभी योद्धा प्रत्यक्ष नष्ट होते दिखलायी दे रहे हैं—आप मुझे किसलिये दिखला रहे हैं तथा अब निकट भविष्यमें आप क्या करना चाहते हैं—इस रहस्यको मैं नहीं जानता। अतएव अब आप कृपा करके इसी रहस्यको खोलकर बतलाइये।

१. इस कथनसे भगवान्ने अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर दिया है, जिसमें अर्जुनने यह जानना चाहा था कि आप कौन हैं। भगवान्के कथनका अभिप्राय यह है कि मैं सम्पूर्ण जगत्का सृजन, पालन और संहार करनेवाला साक्षात् परमेश्वर हूँ। अतएव इस समय मुझको तुम इन सबका संहार करनेवाला साक्षात् काल समझो।

२. इस कथनसे भगवान्ने अर्जुनके उस प्रश्नका उत्तर दिया है, जिसमें अर्जुनने यह कहा था कि 'मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता।' भगवान्के कथनका अभिप्राय यह है कि इस समय मेरी सारी चेष्टाएँ इन सब लोगोंका नाश करनेके लिये ही हो रही हैं, यही बात समझानेके लिये मैंने इस विराट् रूपके अंदर तुझको सबके नाशका भयंकर दृश्य दिखलाया है।

३. इस कथनसे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि गुरु, ताऊ, चाचे, मामे और भाई आदि आत्मीय स्वजनोंको युद्धके लिये तैयार देखकर तुम्हारे मनमें जो कायरताका भाव आ गया है और उसके कारण तुम जो युद्धसे हटना चाहते हो—यह उचित नहीं है; क्योंकि यदि तुम युद्ध करके इनको न भी मारोगे, तब भी ये बचेंगे नहीं। इनका तो मरण ही निश्चित है। जब मैं स्वयं इनका नाश करनेके लिये प्रवृत्त हूँ, तब ऐसा कोई भी उपाय नहीं है जिससे इनकी रक्षा हो सके। इसलिये तुमको युद्धसे हटना नहीं चाहिये; तुम्हारे लिये तो मेरी आज्ञाके अनुसार युद्धमें प्रवृत्त होना ही हितकर है।

अपने पक्षके योद्धागणोंका अर्जुनके द्वारा मारा जाना सम्भव नहीं है, अतएव 'तुम न मारोगे तो भी वे तो मरेंगे ही' ऐसा कथन उनके लिये नहीं बन सकता। इसीलिये भगवान्‌ने यहाँ केवल कौरवपक्षके वीरोंके विषयमें कहा है। इसके सिवा अर्जुनको उत्साहित करनेके लिये भी भगवान्‌के द्वारा ऐसा कहा जाना युक्तिसंगत है। भगवान् मानो यह समझा रहे हैं कि शत्रुपक्षके जितने भी योद्धा हैं, वे सब एक तरहसे मरे ही हुए हैं; उन्हें मारनेमें तुम्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ेगा।

४. 'तस्मात्' के साथ 'उत्तिष्ठ' क्रियाका प्रयोग करके भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जब तुम्हारे युद्ध न करनेपर भी ये सब नहीं बचेंगे, निःसंदेह मरेंगे ही, तब तुम्हारे लिये युद्ध करना ही सब प्रकारसे लाभप्रद है। अतएव तुम किसी प्रकारसे भी युद्धसे हटो मत, उत्साहके साथ खड़े हो जाओ।

५. इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस युद्धमें तुम्हारी विजय निश्चित है; अतएव शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न महान् राज्यका उपभोग करो और दुर्लभ यश प्राप्त करो, इस अवसरको हाथसे न जाने दो।

६. जो बायें हाथसे भी बाण चला सकता हो, उसे 'सव्यसाची' कहते हैं। यहाँ भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुम तो दोनों ही हाथोंसे बाण चलानेमें अत्यन्त निपुण हो, तुम्हारे लिये इन शूरवीरोंपर विजय प्राप्त करना कौन-सी बड़ी बात है। फिर इन सबको तो वस्तुतः तुम्हें मारना ही क्या पड़ेगा, तुमने प्रत्यक्ष देख ही लिया कि सब-के-सब मेरे द्वारा पहलेहीसे मारे हुए हैं। तुम्हारा तो सिर्फ नामभर होगा। अतएव अब तुम इन्हें मारनेमें जरा भी हिचको मत। मार तो मैंने रखा ही है, तुम तो केवल निमित्तमात्र बन जाओ।

निमित्तमात्र बननेके लिये कहनेका एक भाव यह भी है कि इन्हें मारनेपर तुम्हें किसी प्रकारका पाप होगा, इसकी भी सम्भावना नहीं है; क्योंकि तुम तो क्षात्रधर्मके अनुसार कर्तव्यरूपसे प्राप्त युद्धमें इन्हें मारनेमें एक निमित्तभर बनते हो। इससे पापकी बात तो दूर रही, तुम्हारे द्वारा उलटा क्षात्रधर्मका पालन होगा। अतएव तुम्हें अपने मनमें किसी प्रकारका संशय न रखकर, अहंकार और ममतासे रहित होकर उत्साहपूर्वक युद्धमें ही प्रवृत्त होना चाहिये।

१. द्रोणाचार्य धनुर्वेद तथा अन्यान्य शस्त्रास्त्र-प्रयोगकी विद्यामें अत्यन्त पारंगत और युद्धकलामें परम निपुण थे। यह बात प्रसिद्ध थी कि जबतक उनके हाथमें शस्त्र रहेगा, तबतक उन्हें कोई भी मार नहीं सकेगा। इस कारण अर्जुन उन्हें अजेय समझते थे और साथ ही गुरु होनेके कारण अर्जुन उनको मारना पाप भी मानते थे। भीष्मपितामहकी शूरता जगत्प्रसिद्ध थी। परशुराम-सरीखे अजेय वीरको भी उन्होंने छका दिया था। साथ ही पिता शान्तनुका उन्हें यह वरदान था कि उनकी बिना इच्छाके मृत्यु भी उन्हें नहीं मार सकेगी। इन सब कारणोंसे अर्जुनकी यह धारणा थी कि पितामह भीष्मपर विजय प्राप्त करना सहज कार्य नहीं है, इसीके साथ-साथ वे पितामहका अपने हाथों वध करना पाप भी समझते थे। उन्होंने कई बार कहा भी है, मैं इन्हें नहीं मारना चाहता।

जयद्रथ स्वयं बड़े वीर थे और भगवान् शंकरके भक्त होनेके कारण उनसे दुर्लभ वरदान पाकर अत्यन्त दुर्जय हो गये थे। फिर दुर्योधनकी बहिन दुःशलाके स्वामी होनेसे ये पाण्डवोंके बहनोई भी लगते थे। स्वाभाविक ही सौजन्य और आत्मीयताके कारण अर्जुन उन्हें भी मारनेमें हिचकते थे।

कर्णको भी अर्जुन किसी प्रकार भी अपनेसे कम वीर नहीं मानते थे। संसारभरमें प्रसिद्ध था कि अर्जुनके योग्य प्रतिद्वन्द्वी कर्ण ही हैं। ये स्वयं बड़े ही वीर थे और परशुरामजीके द्वारा दुर्लभ शस्त्रविद्याका इन्होंने अध्ययन किया था।

इसीलिये इन चारोंके पृथक्-पृथक् नाम लेकर और इनके अतिरिक्त भगदत्त, भूरिश्रवा और शल्यप्रभृति जिन-जिन योद्धाओंको अर्जुन बहुत बड़े वीर समझते थे और जिनपर विजय प्राप्त करना आसान नहीं समझते थे, उन सबका लक्ष्य कराते हुए उन सबको अपने द्वारा मारे हुए बतलाकर और उन्हें

मारनेके लिये आज्ञा देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि तुमको किसीपर भी विजय प्राप्त करनेमें किसी प्रकारका भी संदेह नहीं करना चाहिये। ये सभी मेरे द्वारा मारे हुए हैं। साथ ही इस बातका भी लक्ष्य करा दिया है कि तुम जो इन गुरुजनोंको मारनेमें पापकी आशंका करते थे, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि क्षत्रियधर्मानुसार इन्हें मारनेके जो तुम निमित्त बनोगे, इसमें तुम्हें कोई भी पाप नहीं होगा, वरं धर्मका ही पालन होगा। अतएव उठो और इनपर विजय प्राप्त करो।

२. इससे भगवान्‌ने अर्जुनको आश्वासन दिया है कि मेरे उग्ररूपको देखकर तुम जो इतने भयभीत और व्यथित हो रहे हो, यह ठीक नहीं है। मैं तुम्हारा प्रिय वही कृष्ण हूँ। इसलिये तुम न तो जरा भी भय करो और न संतप्त ही होओ।

३. अर्जुनके मनमें जो इस बातकी शंका थी कि न जाने युद्धमें हम जीतेंगे या हमारे ये शत्रु ही हमको जीतेंगे (गीता २।६), उस शंकाको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने ऐसा कहा है। भगवान्‌के कथनका अभिप्राय यह है कि युद्धमें निश्चय ही तुम्हारी विजय होगी, इसलिये तुम्हें उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिये।

४. अर्जुनके मस्तकपर देवराज इन्द्रका दिया हुआ सूर्यके समान प्रकाशमय दिव्य मुकुट सदा रहता था, इसीसे उनका एक नाम 'किरीटी' पड़ गया था।

स्वयं अर्जुनने विराटपुत्र उत्तरकुमारसे कहा है—

पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः । किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम् ।।

(महा०, विराट० ४४।१७)

५. इससे संजयने यह भाव दिखलाया है कि श्रीकृष्णके उस घोर रूपको देखकर अर्जुन इतने व्याकुल हो गये कि भगवान्‌के इस प्रकार आश्वासन देनेपर भी उनका डर दूर नहीं हुआ; इसलिये वे डरके मारे काँपते हुए ही भगवान्‌से उस रूपका संवरण करनेके लिये प्रार्थना करने लगे।

१. इससे संजयने यह भाव दिखलाया है कि भगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्यमय स्वरूपको देखकर उस स्वरूपके प्रति अर्जुनकी बड़ी सम्मान्य दृष्टि हो गयी थी और वे डरे हुए थे ही। इसीसे वे हाथ जोड़े हुए बार-बार भगवान्‌को नमस्कार और प्रणाम करते हुए उनकी स्तुति करने लगे।

२. इसका अभिप्राय यह है कि अर्जुन जब भगवान्‌की स्तुति करने लगे, तब आश्चर्य और भयके कारण उनका हृदय पानी-पानी हो गया, नेत्रोंमें जल भर आया, कण्ठ रुक गया और इसी कारण उनकी वाणी गद्‌गद हो गयी। फलतः उनका उच्चारण अस्पष्ट और करुणापूर्ण हो गया।

३. भगवान्‌के द्वारा प्रदान की हुई दिव्य दृष्टिसे केवल अर्जुन ही यह सब देख रहे थे, सारा जगत् नहीं। जगत्‌का हर्षित और अनुरक्त होना, राक्षसोंका डरकर भागना और सिद्धोंका नमस्कार करना—ये सब उस विराट् रूपके ही अंग हैं। अभिप्राय यह है कि यह वर्णन अर्जुनको दिखलायी देनेवाले विराट् रूपका ही है, बाहरी जगत्‌का नहीं। उनको भगवान्‌का जो विराट् रूप दीखता था, उसीके अन्दर ये सब दृश्य दिखलायी पड़ रहे थे। इसीसे अर्जुनने ऐसा कहा है।

४. यहाँ 'महात्मन्', 'अनन्त', 'देवेश' और 'जगन्निवास'—इन चार सम्बोधनोंका प्रयोग करके अर्जुनने यह भाव व्यक्त किया है कि आप समस्त चराचर प्राणियोंके महान् आत्मा हैं, अन्तरहित हैं—आपके रूप, गुण और प्रभाव आदिकी सीमा नहीं है; आप देवताओंके भी स्वामी हैं और समस्त जगत्‌के एकमात्र परमाधार हैं। यह सारा जगत् आपमें ही स्थित है तथा आप इसमें व्याप्त हैं। अतएव इन सबका आपको नमस्कार आदि करना सब प्रकारसे उचित ही है।

५. जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्माको 'सत्' और नाशवान् अनित्य वस्तुमात्रको 'असत्' कहते हैं; इन्हींको गीताके सातवें अध्यायमें परा और अपरा प्रकृति तथा पंद्रहवें अध्यायमें अक्षर और क्षर पुरुष कहा गया है। इनसे परे परम अक्षर सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्व है। अर्जुन अपने नमस्कारादिके औचित्यको सिद्ध करते हुए कह रहे हैं कि यह सब आपका ही स्वरूप है। अतएव आपको नमस्कार आदि करना सब प्रकारसे उचित है।

६. इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप इस भूत, वर्तमान और भविष्य समस्त जगत्‌को यथार्थ तथा पूर्णरूपसे जाननेवाले, सबके नित्य द्रष्टा हैं; इसलिये आप सर्वज्ञ हैं, आपके सदृश सर्वज्ञ कोई नहीं है (गीता ७।२६)।

७. इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि जो जाननेके योग्य है, जिसको जानना मनुष्यजन्मका परम उद्देश्य है, गीताके तेरहवें अध्यायमें बारहवेंसे सत्रहवें श्लोकतक जिस ज्ञेय तत्त्वका वर्णन किया गया है—वे

साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर आप ही हैं।

१. इससे अर्जुनने यह बतलाया है कि जो मुक्त पुरुषोंकी परम गति है, जिसे प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं लौटता; वह साक्षात् परम धाम आप ही हैं (गीता ८।२१)।

२. इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपके रूप असीम और अगणित हैं, उनका पार कोई पा ही नहीं सकता।

३. इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि सारे विश्वके प्रत्येक परमाणुमें आप व्याप्त हैं, इसका कोई भी स्थान आपसे रहित नहीं है।

४. इस कथनसे अर्जुनने यह दिखलाया है कि समस्त जगत्को उत्पन्न करनेवाले कश्यप, दक्षप्रजापति तथा सप्तर्षि आदिके पिता होनेसे ब्रह्मा सबके पितामह हैं और उन ब्रह्माको भी उत्पन्न करनेवाले आप हैं; इसलिये आप सबके प्रपितामह हैं। इसलिये भी आपको नमस्कार करना सर्वथा उचित ही है।

५. 'सहस्रकृत्वः' पदके सहित बार-बार 'नमः' पदके प्रयोगसे यह भाव समझना चाहिये कि अर्जुन भगवान्‌के प्रति सम्मान और अपने भयके कारण हजारों बार नमस्कार करते-करते अघाते ही नहीं हैं, वे उनको नमस्कार ही करना चाहते हैं।

६. 'सर्व' नामसे सम्बोधित करके अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आप सबके आत्मा, सर्वव्यापी और सर्वरूप हैं; इसलिये मैं आपको आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें—सभी ओरसे नमस्कार करता हूँ।

७. अर्जुन इस कथनसे भगवान्‌की सर्वताको सिद्ध करते हैं। अभिप्राय यह है कि आपने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है। विश्वमें क्षुद्रसे भी क्षुद्रतम अणुमात्र भी ऐसी कोई जगह या वस्तु नहीं है, जहाँ और जिसमें आप न हों। अतएव सब कुछ आप ही हैं। वास्तवमें आपसे पृथक् जगत् कोई वस्तु ही नहीं है, यही मेरा निश्चय है।

८. प्रेम, प्रमाद और विनोद—इन तीन कारणोंसे मनुष्य व्यवहारमें किसीके मानापमानका खयाल नहीं रखता। प्रेममें नियम नहीं रहता, प्रमादमें भूल होती है और विनोदमें वाणीकी यथार्थताका सुरक्षित रहना कठिन हो जाता है। किसी सम्मान्य पुरुषके अपमानमें ये तीनों कारण मिलकर भी हेतु हो सकते हैं और पृथक्-पृथक् भी। इनमेंसे 'प्रेम' और 'प्रमाद'—इन कारणोंके विषयमें पिछले श्लोकमें अर्जुन कह चुके हैं। यहाँ 'अवहासार्थम्' पदसे तीसरे कारण 'हँसी-मजाक' का लक्ष्य करा रहे हैं।

९. अपने महत्त्व और स्वरूपसे जिसका कभी पतन न हो, उसे 'अच्युत' कहते हैं।

१. इससे अर्जुनने यह भाव दिखलाया है कि आपकी अप्रतिम और अपार महिमाको न जाननेके कारण ही मैंने आपको अपनी बराबरीका मित्र मान रखा था, इसीलिये मैंने बातचीतमें कभी आपके महान् गौरव और सर्वपूज्य महत्त्वका खयाल नहीं रखा; अतः प्रेम या प्रमादसे मेरे द्वारा निश्चय ही बड़ी भूल हुई। बड़े-से-बड़े देवता और महर्षिगण जिन आपके चरणोंकी वन्दना करना अपना सौभाग्य समझते हैं, मैंने उन आपके साथ बराबरीका बर्ताव किया।

प्रभो! कहाँ आप और कहाँ मैं! मैं इतना मूढ़मति हो गया कि आप परम पूजनीय परमेश्वरको मैं अपना मित्र ही मानता रहा और किसी भी आदरसूचक विशेषणका प्रयोग न करके सदा बिना सोचे-समझे 'कृष्ण', 'यादव' और 'सखे' आदि कहकर आपको तिरस्कारपूर्वक पुकारता रहा।

२. यहाँ अर्जुन कह रहे हैं कि प्रभो! आपका स्वरूप और महत्त्व अचिन्त्य है। उसको पूर्णरूपसे तो कोई भी नहीं जान सकता। किसीको उसका थोड़ा-बहुत ज्ञान होता है तो वह आपकी कृपासे ही होता है। यह आपके परम अनुग्रहका ही फल है कि मैं—जो पहले आपके प्रभावको नहीं जानता था और इसीलिये आपका अनादर किया करता था—अब आपके प्रभावको कुछ-कुछ जान सका हूँ। अवश्य ही ऐसी बात नहीं है कि मैंने आपका सारा प्रभाव जान लिया है; सारा जाननेकी बात तो दूर रही—मैं तो अभी उतना भी नहीं समझ पाया हूँ, जितना आपकी दया मुझे समझा देना चाहती है। परंतु जो कुछ समझा हूँ, उसीसे मुझे यह भलीभाँति मालूम हो गया है कि आप सर्वशक्तिमान् साक्षात् परमेश्वर हैं। मैंने जो आपको अपनी बराबरीका मित्र मानकर आपसे जैसा बर्ताव किया, उसे मैं अपराध मानता हूँ और ऐसे समस्त अपराधोंके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।

३. इस कथनसे अर्जुनने अपराध क्षमा करनेके औचित्यका प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं—'भगवन्! यह सारा जगत् आपहीसे उत्पन्न है, अतएव आप ही इसके पिता हैं; संसारमें जितने भी बड़े-बड़े देवता,

महर्षि और अन्यान्य समर्थ पुरुष हैं, उन सबमें सबकी अपेक्षा बड़े ब्रह्माजी हैं; क्योंकि सबसे पहले उन्हींका प्रादुर्भाव होता है और वे ही आपके नित्य ज्ञानके द्वारा सबको यथायोग्य शिक्षा देते हैं, परंतु हे प्रभो! वे ब्रह्माजी भी आपहीसे उत्पन्न होते हैं और उनको वह ज्ञान भी आपहीसे मिलता है। अतएव हे सर्वेश्वर! सबसे बड़े, सब बड़ोंसे बड़े और सबके एकमात्र महान् गुरु आप ही हैं। समस्त जगत् जिन देवताओंकी और महर्षियोंकी पूजा करता है, उन देवताओंके और महर्षियोंके भी परम पूज्य तथा नित्य वन्दनीय ब्रह्मा आदि देवता और वसिष्ठादि महर्षि यदि क्षणभरके लिये आपके प्रत्यक्ष पूजन या स्तवनका सुअवसर पा जाते हैं तो अपनेको महान् भाग्यवान् समझते हैं। अतएव सब पूजनीयोंके भी परम पूजनीय आप ही हैं, इसलिये मुझ क्षुद्रके अपराधोंको क्षमा करना आपके लिये सभी प्रकारसे उचित है।

४. 'तस्मात्' पदका प्रयोग करके अर्जुन यह कह रहे हैं कि आप इस प्रकारके महत्त्व और प्रभावसे युक्त हैं, अतएव मुझ-जैसे दीन शरणागतपर दया करके प्रसन्न होना तो, मैं समझता हूँ, आपका स्वभाव ही है।

५. जो सबका नियमन करनेवाले स्वामी हों, उन्हें 'ईश' कहते हैं और जो स्तुतिके योग्य हों, उन्हें 'ईड्य' कहते हैं। इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग करके अर्जुन यह भाव दिखलाते हैं कि हे प्रभो! इस समस्त जगत्का नियमन करनेवाले यहाँतक कि इन्द्र, आदित्य, वरुण, कुबेर और यमराज आदि लोकनियन्ता देवताओंको भी अपने नियममें रखनेवाले आप—सबके एकमात्र महेश्वर हैं और आपके गुणगौरव तथा महत्त्वका इतना विस्तार है कि सारा जगत् सदा-सर्वदा आपका स्तवन करता रहे तब भी उसका पार नहीं पा सकता; इसलिये आप ही वस्तुतः स्तुतिके योग्य हैं। मुझमें न तो इतना ज्ञान है और न वाणीमें ही बल है कि जिससे मैं स्तवन करके आपको प्रसन्न कर सकूँ। मैं अबोध भला आपका क्या स्तवन करूँ? मैं आपका प्रभाव बतलानेमें जो कुछ भी कहूँगा वह वास्तवमें आपके प्रभावकी छायाको भी न छू सकेगा; इसलिये वह आपके प्रभावको घटानेवाला ही होगा। अतः मैं तो बस, इस शरीरको ही लकड़ीकी भाँति आपके चरणप्रान्तमें लुटाकर—समस्त अंगोंके द्वारा आपको प्रणाम करके आपकी चरणधूलिके प्रसादसे ही आपकी प्रसन्नता प्राप्त करना चाहता हूँ। आप कृपा करके मेरे सब अपराधोंको भुला दीजिये और मुझ दीनपर प्रसन्न हो जाइये।

१. यहाँ अर्जुन यह प्रार्थना कर रहे हैं कि जैसे अज्ञानमें प्रमादवश किये हुए पुत्रके अपराधोंको पिता क्षमा करता है, हँसी-मजाकमें किये हुए मित्रके अपराधोंको मित्र सहता है और प्रेमवश किये हुए प्रियतमा पत्नीके अपराधोंको पति क्षमा करता है—वैसे ही मेरे तीनों ही कारणोंसे बने हुए समस्त अपराधोंको आप क्षमा कीजिये।

२. इससे अर्जुनने यह भाव व्यक्त किया है कि आपका जो वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाला देवरूप अर्थात् विष्णुरूप है, मुझको उसी चतुर्भुजरूपके दर्शन करवाइये। यहाँ केवल 'तत्' का प्रयोग होनेसे तो यह बात भी मानी जा सकती थी कि भगवान्का जो मनुष्यावतारका रूप है, उसीको दिखलानेके लिये अर्जुन प्रार्थना कर रहे हैं; किंतु रूपके साथ 'देव' पद रहनेसे वह स्पष्ट ही मानुषरूपसे भिन्न देवसम्बन्धी रूपका वाचक हो जाता है।

३. अर्जुनने इससे यह भाव दिखलाया है कि आपके इस अलौकिक रूपमें जब मैं आपके गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यकी ओर देखकर विचार करता हूँ तब तो मुझे बड़ा भारी हर्ष होता है कि 'अहो! मैं बड़ा ही सौभाग्यशाली हूँ, जो साक्षात् परमेश्वरकी मुझ तुच्छपर इतनी अनन्त दया और ऐसा अनोखा प्रेम है कि जिससे वे कृपा करके मुझको अपना यह अलौकिक रूप दिखला रहे हैं; परंतु इसीके साथ जब आपकी भयावनी विकराल मूर्तिकी ओर मेरी दृष्टि जाती है, तब मेरा मन भयसे काँप उठता है और मैं अत्यन्त व्याकुल हो जाता हूँ।

४. अर्जुनको भगवान् जो हजारों हाथोंवाले विराट्स्वरूपसे दर्शन दे रहे हैं, उस रूपको समेटकर चतुर्भुजरूप होनेके लिये अर्जुन 'सहस्रबाहो', 'विश्वमूर्ते'—इन नामोंसे सम्बोधन करके भगवान्से प्रार्थना कर रहे हैं।

५. महाभारत-युद्धमें भगवान्ने शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी और अर्जुनके रथपर वे अपने हाथोंमें चाबुक और घोड़ोंकी लगाम थामे विराजमान थे; परंतु इस समय अर्जुन भगवान्के इस द्विभुज रूपको देखनेसे पहले उस चतुर्भुज रूपको देखना चाहते हैं, जिसके हाथोंमें गदा और चक्रादि हैं।

६. (१) यदि चतुर्भुज रूप श्रीकृष्णका स्वाभाविक रूप होता तो फिर 'गदिनम्' और 'चक्रहस्तम्' कहनेकी कोई आवश्यकता न थी, क्योंकि अर्जुन उस रूपको सदा देखते ही थे। वरं 'चतुर्भुज' कहना भी

निष्प्रयोजन था; अर्जुनका इतना ही कहना पर्याप्त होता कि मैं अभी कुछ देर पहले जो रूप देख रहा था, वही दिखलाइये।

(२) पिछले श्लोकमें 'देवरूपम्' पद आया है, जो आगे इक्यावनवें श्लोकमें आये हुए 'मानुषं रूपम्' से सर्वथा विलक्षण अर्थ रखता है; इससे भी सिद्ध है कि देवरूपसे श्रीविष्णुका ही कथन किया गया है।

(३) आगे पचासवें श्लोकमें आये हुए 'स्वकं रूपम्' के साथ 'भूयः' और 'सौम्यवपुः' के साथ 'पुनः' पद आनेसे भी यहाँ पहले चतुर्भुज और फिर द्विभुज मानुषरूप दिखलाया जाना सिद्ध होता है।

(४) आगे बावनवें श्लोकमें 'सुदुर्दर्शम्' पदसे यह दिखलाया गया है कि यह रूप अत्यन्त दुर्लभ है और फिर कहा गया है कि देवता भी इस रूपको देखनेकी नित्य आकांक्षा करते हैं। यदि श्रीकृष्णका चतुर्भुज रूप स्वाभाविक था, तब तो वह रूप मनुष्योंको भी दीखता था; फिर देवता उसकी सदा आकांक्षा क्यों करने लगे? यदि यह कहा जाय कि विश्वरूपके लिये ऐसा कहा गया है तो ऐसे घोर विश्वरूपकी देवताओंको कल्पना भी क्यों होने लगी, जिसकी दाढ़ोंमें भीष्म-द्रोणादि चूर्ण हो रहे हैं। अतएव यही प्रतीत होता है कि देवतागण वैकुण्ठवासी श्रीविष्णुरूपके दर्शनकी ही आकांक्षा करते हैं।

(५) विराट्स्वरूपकी महिमा आगे अड़तालीसवें श्लोकमें 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' इत्यादिके द्वारा गायी गयी, फिर तिरपनवें श्लोकमें 'नाहं वेदैर्न तपसा' आदिमें पुनः वैसी ही बात आती है। यदि दोनों जगह एक ही विराट् रूपकी महिमा है तो इसमें पुनरुक्ति दोष आता है; इससे भी सिद्ध है कि मानुषरूप दिखलानेके पहले भगवान्ने अर्जुनको चतुर्भुज देवरूप दिखलाया और उसीकी महिमामें तिरपनवाँ श्लोक कहा गया।

(६) इसी अध्यायके चौबीसवें और तीसवें श्लोकमें अर्जुनने 'विष्णो' पदसे भगवान्को सम्बोधित भी किया है। इससे भी उनके विष्णुरूप देखनेकी आकांक्षा प्रतीत होती है।

इन हेतुओंसे यही सिद्ध होता है कि यहाँ अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे चतुर्भुज विष्णुरूप दिखलानेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं।

१. इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मेरे इस विराट् रूपके दर्शन सब समय और सबको नहीं हो सकते। जिस समय मैं अपनी योगशक्तिसे इसके दर्शन कराता हूँ, उसी समय होते हैं। वह भी उसीको होते हैं, जिसको दिव्य दृष्टि प्राप्त हो, दूसरेको नहीं। अतएव इस रूपका दर्शन प्राप्त करना बड़े सौभाग्यकी बात है।

२. यद्यपि यशोदा माताको अपने मुखमें और भीष्मादि वीरोंको कौरवोंकी सभामें विराट् रूपोंके दर्शन कराये थे, परंतु उनमें और अर्जुनको दीखनेवाले इस विराट् रूपमें बहुत अन्तर है। तीनोंके भिन्न-भिन्न वर्णन हैं। अर्जुनको भगवान्ने जिस रूपके दर्शन कराये, उसमें भीष्म और द्रोण आदि शूरवीर भगवान्के प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश करते दीख पड़ते थे। ऐसा विराट् रूप भगवान्ने पहले कभी किसीको नहीं दिखलाया था।

३. वेद-यज्ञादिके अध्ययन, दान, तप तथा अन्यान्य विभिन्न प्रकारकी क्रियाओंका अधिकार मनुष्यलोकमें ही है और मनुष्यशरीरमें ही जीव भिन्न-भिन्न प्रकारके नवीन कर्म करके भाँति-भाँतिके अधिकार प्राप्त करता है। अन्यान्य सब लोक तो प्रधानतया भोगस्थान ही हैं। मनुष्यलोकके इसी महत्त्वको समझानेके लिये यहाँ 'नृलोके' पदका प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि जब मनुष्यलोकमें भी उपर्युक्त साधनोंद्वारा दूसरा कोई भगवान्के इस रूपको नहीं देख सकता, तब अन्यान्य लोकोंमें और बिना किसी साधनके कोई नहीं देख सकता—इसमें तो कहना ही क्या है?

४. वेदवेत्ता अधिकारी आचार्यके द्वारा अंग-उपांगोंसहित वेदोंको पढ़कर उन्हें भलीभाँति समझ लेनेका नाम 'वेदाध्ययन' है। यज्ञ-क्रियामें सुनिपुण याज्ञिक पुरुषोंकी सेवामें रहकर उनके द्वारा यज्ञविधियोंको पढ़ना और उन्हींकी अध्यक्षतामें विधिवत् किये जानेवाले यज्ञोंको प्रत्यक्ष देखकर यज्ञसम्बन्धी समस्त क्रियाओंको भलीभाँति जान लेना 'यज्ञका अध्ययन' है।

धन, सम्पत्ति, अन्न, जल, विद्या, गौ, पृथ्वी आदि किसी भी अपने स्वत्वकी वस्तुका दूसरोंके सुख और हितके लिये प्रसन्न हृदयसे जो उन्हें यथायोग्य दे देना है—इसका नाम 'दान' है।

श्रौत-स्मार्त यज्ञादिका अनुष्ठान और अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेके लिये किये जानेवाले समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको 'क्रिया' कहते हैं।

कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत, विभिन्न प्रकारके कठोर नियमोंका पालन, मन और इन्द्रियोंका विवेक और बलपूर्वक दमन तथा धर्मके लिये शारीरिक या मानसिक कठिन क्लेशोंका सहन अथवा शास्त्रविधिके

अनुसार की जानेवाली अन्य विभिन्न प्रकारकी तपस्याएँ—इन्हीं सबका नाम 'उग्र तप' है।

इन सब साधनोंके द्वारा भी अपने विराट्स्वरूपके दर्शनको असम्भव बतलाकर भगवान् उस रूपकी महत्ता प्रकट करते हुए यह कह रहे हैं कि इस प्रकारके महान् प्रयत्नोंसे भी जिसके दर्शन नहीं हो सकते, उसी रूपको तुम मेरी प्रसन्नता और कृपाके प्रसादसे प्रत्यक्ष देख रहे हो—यह तुम्हारा महान् सौभाग्य है। इस समय तुम्हें जो भय, दुःख और मोह हो रहा है—यह उचित नहीं है।

१. 'स्वकं रूपम्' का अर्थ है अपना निजी रूप। वैसे तो विश्वरूप भी भगवान् श्रीकृष्णका ही है और वह भी उनका स्वकीय ही है तथा भगवान् जिस मानुषरूपमें सबके सामने प्रकट रहते थे—वह श्रीकृष्णरूप भी उनका स्वकीय ही है; किंतु यहाँ 'रूपम्' के साथ 'स्वकम्' विशेषण देनेका अभिप्राय उक्त दोनोंसे भिन्न किसी तीसरे ही रूपका लक्ष्य करानेके लिये होना चाहिये; क्योंकि विश्वरूप तो अर्जुनके सामने प्रस्तुत था ही, उसे देखकर तो वे भयभीत हो रहे थे; अतएव उसे दिखलानेकी तो यहाँ कल्पना भी नहीं की जा सकती और मानुषरूपके लिये यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती कि उसे भगवान्ने दिखलाया (दर्शयामास); क्योंकि विश्वरूपको हटा लेनेके बाद भगवान्का जो स्वाभाविक मनुष्यावतारका रूप है, वह तो ज्यों-का-त्यों अर्जुनके सामने रहता ही; उसमें दिखलानेकी क्या बात थी, उसे तो अर्जुन स्वयं ही देख लेते। अतएव यहाँ 'स्वकम्' विशेषण और 'दर्शयामास' क्रियाके प्रयोगसे यही भाव प्रतीत होता है कि नरलीलाके लिये प्रकट किये हुए सबके सम्मुख रहनेवाले मानुषरूपसे और अपनी योगशक्तिसे प्रकट करके दिखलाये हुए विश्वरूपसे भिन्न जो नित्य वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाला भगवान्का दिव्य चतुर्भुज निजी रूप है—उसीको देखनेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी और वही रूप भगवान्ने उनको दिखलाया।

२. भगवान् श्रीकृष्ण महाराज वसुदेवजीके पुत्ररूपमें प्रकट हुए हैं और आत्मरूपसे सबमें निवास करते हैं, इसलिये उनका नाम 'वासुदेव' है।

३. जिनका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् हो, उन्हें महात्मा कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मारूप हैं, इसलिये वे महात्मा हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि अर्जुनको अपने चतुर्भुज रूपका दर्शन करानेके पश्चात् महात्मा श्रीकृष्णने सौम्य अर्थात् परम शान्त श्यामसुन्दर मानुषरूपसे युक्त होकर भयसे व्याकुल हुए अर्जुनको धैर्य दिया।

४. भगवान्का जो मानुषरूप था, वह बहुत ही मधुर, सुन्दर और शान्त था तथा पिछले श्लोकमें जो भगवान्के सौम्यवपु हो जानेकी बात कही गयी है, वह भी मानुषरूपको लक्ष्य करके ही कही गयी है—इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ 'रूपम्' के साथ 'सौम्यम्' और 'मानुषम्' इन दोनों विशेषणोंका प्रयोग किया गया है।

१. इससे अर्जुनने यह बतलाया कि मेरा मोह, भ्रम और भय दूर हो गया और मैं अपनी वास्तविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ। अर्थात् भय और व्याकुलता एवं कम्प आदि जो अनेक प्रकारके विकार मेरे मन, इन्द्रिय और शरीरमें उत्पन्न हो गये थे, उन सबके दूर हो जानेसे अब मैं पूर्ववत् स्वस्थ हो गया हूँ।

२. 'सुदुर्दर्शम्' विशेषण देकर भगवान्ने अपने चतुर्भुज दिव्यरूपके दर्शनकी दुर्लभता और उसकी महत्ता दिखलायी है तथा 'इदम्' पद निकटवर्ती वस्तुका निर्देश करानेवाला होनेसे इसके द्वारा विश्वरूपके पश्चात् दिखलाये जानेवाले चतुर्भुजरूपका संकेत किया गया है। इससे भगवान् यह बतला रहे हैं कि मेरे जिस चतुर्भुज, मायातीत, दिव्य गुणोंसे युक्त नित्यरूपके तुमने दर्शन किये हैं, उस रूपके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं; इसके दर्शन उसीको हो सकते हैं, जो मेरा अनन्य भक्त होता है और जिसपर मेरी कृपाका पूर्ण प्रकाश हो जाता है।

३. गीताके नवम अध्यायके सत्ताईसवें और अट्ठाईसवें श्लोकोंमें यह कहा गया है कि तुम जो कुछ यज्ञ करते हो, दान देते हो और तप करते हो—सब मेरे अर्पण कर दो; ऐसा करनेसे तुम सब कर्मोंसे मुक्त हो जाओगे और मुझे प्राप्त हो जाओगे तथा गीताके सत्रहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें यह बात कही गयी है कि मोक्षकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ फलकी इच्छा छोड़कर की जाती हैं; इससे यह भाव निकलता है कि यज्ञ, दान और तप मुक्तिमें और भगवान्की प्राप्तिमें अवश्य ही हेतु हैं, किंतु इस श्लोकमें भगवान्ने यह बात कही है कि मेरे चतुर्भुजरूपके दर्शन न तो वेदके अध्ययनाध्यापनसे ही हो सकते हैं और न तप, दान और यज्ञसे ही।

पर इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है; क्योंकि कर्मोंको भगवान्के अर्पण करना अनन्य भक्तिका एक अंग है। इसी अध्यायके पचपनवें श्लोकमें अनन्य भक्तिका वर्णन करते हुए भगवान्ने स्वयं 'मत्कर्मकृत्'

(मेरे लिये कर्म करनेवाला) पदका प्रयोग किया है और चौवनवें श्लोकमें यह स्पष्ट घोषणा की है कि अनन्य भक्तिके द्वारा मेरे इस स्वरूपको देखना, जानना और प्राप्त करना सम्भव है। अतएव यहाँ यह समझना चाहिये कि निष्कामभावसे भगवदर्थ और भगवदर्पणबुद्धिसे किये हुए यज्ञ, दान और तप आदि कर्म भक्तिके अंग होनेके कारण भगवान्‌की प्राप्तिमें हेतु हैं—सकामभावसे किये जानेपर नहीं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त यज्ञादि क्रियाएँ भगवान्‌का दर्शन करानेमें स्वभावसे समर्थ नहीं हैं। भगवान्‌के दर्शन तो प्रेमपूर्वक भगवान्‌के शरण होकर निष्कामभावसे कर्म करनेपर भगवत्कृपासे ही होते हैं।

४. भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाना तथा अपने मन, इन्द्रिय और शरीर एवं धन, जन आदि सर्वस्वको भगवान्‌का समझकर भगवान्‌के लिये भगवान्‌की ही सेवामें सदाके लिये लगा देना—यही अनन्य भक्ति है। इस अनन्य भक्तिको ही भगवान्‌के देखे जाने आदिमें हेतु बतलाया गया है।

यद्यपि सांख्ययोगके द्वारा भी निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है और वह सर्वथा सत्य है, परंतु सांख्ययोगके द्वारा सगुण-साकार भगवान्‌के दिव्य चतुर्भुज रूपके भी दर्शन हो जायँ, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सांख्ययोगके द्वारा साकाररूपमें दर्शन देनेके लिये भगवान् बाध्य नहीं हैं। यहाँ प्रकरण भी सगुण भगवान्‌के दर्शनका ही है। अतएव यहाँ केवल अनन्य भक्तिको ही भगवद्दर्शन आदिमें हेतु बतलाना उचित ही है।

१. जो मनुष्य स्वार्थ, ममता और आसक्तिको छोड़कर, सब कुछ भगवान्‌का समझकर, अपनेको केवल निमित्तमात्र मानता हुआ यज्ञ, दान, तप और खान-पान, व्यवहार आदि समस्त शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको निष्कामभावसे भगवान्‌की ही प्रसन्नताके लिये भगवान्‌के आज्ञानुसार करता है—वह 'मत्कर्मकृत्' अर्थात् भगवान्‌के लिये भगवान्‌के कर्मोंको करनेवाला है।

२. जो भगवान्‌को ही परम आश्रय, परम गति, एकमात्र शरण लेनेयोग्य, सर्वोत्तम, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबके सुहृद्, परम आत्मीय और अपने सर्वस्व समझता है तथा उनके किये हुए प्रत्येक विधानमें सदा सुप्रसन्न रहता है—वह 'मत्परमः' अर्थात् भगवान्‌के परायण है।

३. भगवान्‌में अनन्यप्रेम हो जानेके कारण जो भगवान्‌में ही तन्मय होकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और लीला आदिका श्रवण, कीर्तन और मनन आदि करता रहता है; इनके बिना जिसे क्षणभर भी चैन नहीं पड़ती और जो भगवान्‌के दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ निरन्तर लालायित रहता है—वह 'मद्भक्तः' अर्थात् भगवान्‌का भक्त है।

४. शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन, कुटुम्ब तथा मान-बड़ाई आदि जितने भी इस लोक और परलोकके भोग्य पदार्थ हैं, उन सम्पूर्ण जड-चेतन पदार्थोंमें जिसकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं रह गयी है; भगवान्‌को छोड़कर जिसका किसीमें भी प्रेम नहीं है—वह 'सङ्गवर्जितः' अर्थात् आसक्तिरहित है।

५. समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का ही स्वरूप समझने अथवा सबमें एकमात्र भगवान्‌को व्याप्त समझनेके कारण किसीके द्वारा कितना भी विपरीत व्यवहार किया जानेपर भी जिसके मनमें विकार नहीं होता तथा जिसका किसी भी प्राणीमें किंचिन्मात्र भी द्वेष या वैरभाव नहीं रह गया है—वह 'सर्वभूतेषु निर्वैरः' अर्थात् समस्त प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है।

६. इस कथनका भाव पिछले चौवनवें श्लोकके अनुसार सगुण भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन कर लेना, उनको भलीभाँति तत्त्वसे जान लेना और उनमें प्रवेश कर जाना है।

षट्त्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वादशोऽध्यायः)

साकार और निराकारके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय तथा भगवत्प्राप्तिके उपायका एवं भगवत्प्राप्तिवाले पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन

सम्बन्ध—*गीताके दूसरे अध्यायसे लेकर छठे अध्यायतक भगवान्‌ने जगह-जगह निर्गुण ब्रह्मकी और सगुण परमेश्वरकी उपासनाकी प्रशंसा की है। सातवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक तो विशेषरूपसे सगुण भगवान्‌की उपासनाका महत्त्व दिखलाया है। इसीके साथ पाँचवें अध्यायमें सत्रहवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक, छठे अध्यायमें चौबीसवेंसे उनतीसवेंतक, आठवें अध्यायमें ग्यारहवेंसे तेरहवेंतक तथा इसके सिवा और भी कितनी ही जगह निर्गुणकी उपासनाका महत्त्व भी दिखलाया है। आखिर ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें सगुण-साकार भगवान्‌की अनन्य भक्तिका फल भगवत्प्राप्ति बतलाकर 'मत्कर्मकृत्' से आरम्भ होनेवाले इस अन्तिम श्लोकमें सगुण-साकार-स्वरूप भगवान्‌के भक्तकी विशेषरूपसे बड़ाई की। इसपर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी और सगुण-साकार भगवान्‌की उपासना करनेवाले दोनों प्रकारके उपासकोंमें उत्तम उपासक कौन है—*

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।[१]

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं[२] **तेषां के योगवित्तमाः ।। १ ।।**

अर्जुन बोले—जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्मको ही अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं, उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं? ।। १ ।।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते[३] **मे युक्ततमा मताः ।। २ ।।**

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं,[४] वे

मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं ।। २ ।।

सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकमें सगुण-साकार परमेश्वरके उपासकोंको उत्तम योगवेत्ता बतलाया, इसपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि तो क्या निर्गुण-निराकार ब्रह्मके उपासक उत्तम योगवेत्ता नहीं हैं; इसपर कहते हैं—*

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं[१], [२] पर्युपासते ।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं[३] ध्रुवम्[४] ।। ३ ।।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः[५] ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।। ४ ।।

परंतु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे (अभिन्नभावसे) ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत[६] और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं[७] ।। ३-४ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार निर्गुण-उपासना और उसके फलका प्रतिपादन करनेके पश्चात् अब देहाभिमानियोंके लिये अव्यक्त गतिकी प्राप्तिको कठिन बतलाते हैं—*

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।। ५ ।।

उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है;[८] क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है[९] ।।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।। ६ ।।

परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले[१०] भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके[१] मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्यभक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं[२] ।। ६ ।।

भगवान्‌के द्वारा भक्तका संसारसागरसे उद्धार

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।। ७ ।।

हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ[३] ।। ७ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार पूर्वश्लोकोंमें निर्गुण-उपासनाकी अपेक्षा सगुण-उपासनाकी सुगमताका प्रतिपादन किया गया। इसलिये अब भगवान् अर्जुनको उसी प्रकार मन-बुद्धि लगाकर सगुण-उपासना करनेकी आज्ञा देते हैं—*

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।। ८ ।।

मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके अनन्तर तू मुझमें ही निवास करेगा,[४] इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।। ८ ।।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ।। ९ ।।

यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन! अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर[१] ।। ९ ।।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ।। १० ।।

यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा[२]। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा[३] ।। १० ।।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्[१] ।। ११ ।।

यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधनको करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करनेवाला होकर सब कर्मोंके फलका त्याग कर[२] ।। ११ ।।

सम्बन्ध—*छठे श्लोकसे आठवेंतक अनन्यध्यानका फलसहित वर्णन करके नवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक एक प्रकारके साधनमें असमर्थ होनेपर दूसरा साधन बतलाते हुए अन्तमें 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधनका वर्णन किया गया। इससे यह शंका हो सकती है कि 'कर्मफलत्याग' रूप साधन पूर्वोक्त अन्य साधनोंकी अपेक्षा निम्न श्रेणीका होगा; अतः ऐसी शंकाको हटानेके लिये कर्मफलके त्यागका महत्त्व अगले श्लोकमें बतलाया जाता है—*

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।। १२ ।।

मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है,[१] ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है[१] और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है;[२] क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है[३] ।। १२ ।।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अलग-अलग साधन बतलाकर उनका फल परमेश्वरकी प्राप्ति बतलाया गया, अतएव भगवान्‌को प्राप्त हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षण जाननेकी इच्छा होनेपर अब सात श्लोकोंमें उन भगवत्प्राप्त भक्तोंके लक्षण बतलाये जाते हैं—*

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।। १३ ।।
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।। १४ ।।

जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है[१] तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम[२] और क्षमावान्[३] है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है[४], मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है[५] और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है[६], वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला[७] मेरा भक्त मुझको प्रिय है[८] ।। १३-१४ ।।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो[९] यः स च मे प्रियः ।। १५ ।।

जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता[१०] और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता[१] तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है,[२] वह भक्त मुझको प्रिय है ।। १५ ।।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।। १६ ।।

जो पुरुष आकांक्षासे रहित,[३] बाहर-भीतरसे शुद्ध,[४] चतुर,[५] पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है,[६] वह सब आरम्भोंका त्यागी[७] मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।। १६ ।।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्‌क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ।। १७ ।।

जो न कभी हर्षित होता है,[८] न द्वेष करता है,[९] न शोक करता है,[१०] न कामना करता है[१] तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है,[२] वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय

है ।। १७ ।।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः[३] ।। १८ ।।

जो शत्रु-मित्रमें[४] और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है[५] और आसक्तिसे रहित है ।। १८ ।।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।

अनिकेतः[६] स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ।। १९ ।।

जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला,[७] मननशील[८] और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है[१] तथा रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है, वह स्थिरबुद्धि[२] भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है[३] ।। १९ ।।

सम्बन्ध—*परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षण बतलाकर अब उन लक्षणोंको आदर्श मानकर बड़े प्रयत्नके साथ उनका भलीभाँति सेवन करनेवाले, परम श्रद्धालु, शरणागत भक्तोंकी प्रशंसा करनेके लिये, उनको अपना अत्यन्त प्रिय बतलाकर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—*

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।

श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।। २० ।।

परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर[१] इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको[२] निष्काम प्रेम-भावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं[३] ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ।। १२ ।। भीष्मपर्वणि तु षट्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२ ।। भीष्मपर्वमें छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३६ ।।

---

१. ‘त्वाम्’ पद यद्यपि यहाँ भगवान् श्रीकृष्णका वाचक है, तथापि भिन्न-भिन्न अवतारोंमें भगवान्ने जितने सगुण रूप धारण किये हैं एवं दिव्य धाममें जो भगवान्का सगुण रूप विराजमान है—जिसे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार लोग अनेकों रूपों और नामोंसे बतलाते हैं—यहाँ ‘त्वाम्’ पदको उन सभीका वाचक मानना चाहिये; क्योंकि वे सभी भगवान् श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं। उन सगुण भगवान्का निरन्तर चिन्तन करते हुए परम श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे जो समस्त इन्द्रियोंको उनकी सेवामें लगा देना है, यही निरन्तर भजन-ध्यानमें लगे रहकर उनकी श्रेष्ठ उपासना करना है।

२. 'अक्षरम्' विशेषणके सहित 'अव्यक्तम्' पद यहाँ निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है। यद्यपि जीवात्माको भी अक्षर और अव्यक्त कहा जा सकता है, पर अर्जुनके प्रश्नका अभिप्राय उसकी उपासनासे नहीं है; क्योंकि उसके उपासकका सगुण भगवान्‌के उपासकसे उत्तम होना सम्भव नहीं है और पूर्वप्रसंगमें कहीं उसकी उपासनाका भगवान्‌ने विधान भी नहीं किया है।

३. भगवान्‌की सत्तामें, उनके अवतारोंमें, उनके वचनोंमें, उनकी शक्तिमें, उनके गुण, प्रभाव, लीला और ऐश्वर्य आदिमें अत्यन्त सम्मानपूर्वक जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास है—वही अतिशय श्रद्धा है और भक्त प्रह्लादकी भाँति सब प्रकारसे भगवान्‌पर निर्भर हो जाना ही उपर्युक्त श्रद्धासे युक्त होना है।

४. गोपियोंकी भाँति समस्त कर्म करते समय परम प्रेमास्पद, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सम्पूर्ण गुणोंके समुद्र भगवान्‌में मनको तन्मय करके उनके गुण, प्रभाव और स्वरूपका सदा-सर्वदा प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहना ही मनको एकाग्र करके निरन्तर उनके ध्यानमें स्थित रहते हुए उनको भजना है। श्रीमद्भागवतमें बतलाया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खानार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ।।

(१०।४४।१५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्‌गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं—इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली वे व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

१. जिसका निर्देश नहीं किया जा सकता हो—किसी भी युक्ति या उपमासे जिसका स्वरूप समझाया या बतलाया नहीं जा सकता हो, उसे 'अनिर्देश्य' कहते हैं।

२. जो किसी भी इन्द्रियका विषय न हो अर्थात् जो इन्द्रियोंद्वारा जाननेमें न आ सके, जिसका कोई रूप या आकृति न हो, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं।

३. जो हलन-चलनकी क्रियासे सर्वथा रहित हो, उसे 'अचल' कहते हैं।

४. जो नित्य और निश्चित हो—जिसकी सत्तामें किसी प्रकारका संशय न हो और जिसका कभी अभाव न हो, उसे 'ध्रुव' कहते हैं।

५. इससे यह भाव दिखलाया है कि उपर्युक्त प्रकारसे निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना करनेवालोंकी कहीं भेदबुद्धि नहीं रहती। समस्त जगत्‌में एक ब्रह्मसे भिन्न किसीकी सत्ता न रहनेके कारण उनकी सब जगह समबुद्धि हो जाती है।

६. जिस प्रकार अविवेकी मनुष्य अपने हितमें रत रहता है, उसी प्रकार उन निर्गुण-उपासकोंका सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मभाव हो जानेके कारण वे समानभावसे सबके हितमें रत रहते हैं।

७. इस कथनसे भगवान्‌ने ब्रह्मको अपनेसे अभिन्न बतलाते हुए यह कहा है कि उपर्युक्त उपासनाका फल जो निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति है, वह मेरी ही प्राप्ति है; क्योंकि ब्रह्म मुझसे भिन्न नहीं है और मैं ब्रह्मसे भिन्न नहीं हूँ। वह ब्रह्म मैं ही हूँ, यही भाव भगवान्‌ने गीताके चौदहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' अर्थात् मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ—इस कथनसे दिखलाया है।

८. पूर्व श्लोकोंमें जिन निर्गुण-उपासकोंका वर्णन है, उन निर्गुण-निराकार सचिदानन्दघन ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंको परिश्रम विशेष है, यह कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि निर्गुण ब्रह्मका तत्त्व बड़ा ही गहन है; जिसकी बुद्धि शुद्ध, स्थिर और सूक्ष्म होती है, जिसका शरीरमें अभिमान नहीं होता, वही उसे समझ सकता है; साधारण मनुष्योंकी समझमें यह नहीं आता। इसलिये निर्गुण-उपासनाके साधनके आरम्भकालमें परिश्रम अधिक होता है।

९. उपर्युक्त कथनसे भगवान्‌ने पूर्वार्द्धमें बतलाये हुए परिश्रमका हेतु दिखलाया है। अभिप्राय यह है कि देहमें अभिमान रहते निर्गुण ब्रह्मका तत्त्व समझमें आना बहुत कठिन है। इसलिये जिनका शरीरमें अभिमान है, उनको वैसी स्थिति बड़े परिश्रमसे प्राप्त होती है।

किंतु जो गीताके छठे अध्यायके चौबीसवेंसे सत्ताईसवें श्लोकतक निर्गुण-उपासनाका प्रकार बतलाकर अट्ठाईसवें श्लोकमें उस प्रकारका साधन करते-करते सुखपूर्वक परमात्मप्राप्तिरूप अत्यन्तानन्दका लाभ होना बतलाया है, वह कथन जिसके समस्त पाप तथा रजोगुण और तमोगुण शान्त हो गये हैं, जो 'ब्रह्मभूत' हो गया है अर्थात् जो ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित हो गया है—ऐसे पुरुषके लिये है, देहाभिमानियोंके लिये नहीं।

१०. भाँति-भाँतिके दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर भी भक्त प्रह्लादकी भाँति भगवान्‌पर निर्भर और निर्विकार रहना, उन दुःखोंको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सुखरूप ही समझना तथा भगवान्‌को ही परम प्रेमी, परम गति, परम

सुहृद् और सब प्रकारसे शरण लेनेयोग्य समझकर अपने-आपको भगवान्‌के समर्पण कर देना—यही भगवान्‌के परायण होना है।

१. कर्मोंके करनेमें अपनेको पराधीन समझकर भगवान्‌की आज्ञा और संकेतके अनुसार समस्त शास्त्रानुकूल कर्म करते रहना; उन कर्मोंमें न तो ममता और आसक्ति रखना और न उनके फलसे किसी प्रकारका सम्बन्ध रखना; प्रत्येक क्रियामें ऐसा ही भाव रखना कि मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ, मेरी कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मुझसे कठपुतलीकी भाँति समस्त कर्म करवा रहे हैं—यही समस्त कर्मोंका भगवान्‌के समर्पण करना है।

२. एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर जो भगवान्‌में स्वार्थरहित तथा अत्यन्त श्रद्धासे युक्त अनन्यप्रेम करना है—जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष नहीं है; जो सर्वथा पूर्ण और अटल है; जिसका किंचित् अंश भी भगवान्‌से भिन्न वस्तुमें नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्‌की विस्मृति असह्य हो जाती है—उस अनन्य प्रेमको 'अनन्यभक्तियोग' कहते हैं और ऐसे भक्तियोगद्वारा निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते हुए जो उनके गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण, कीर्तन, उनके नामोंका उच्चारण और जप आदि करना है—यही अनन्यभक्तियोगके द्वारा भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करते हुए उनको भजना है।

३. इस संसारमें सभी कुछ मृत्युमय है; इसमें पैदा होनेवाली एक भी चीज ऐसी नहीं है, जो कभी क्षणभरके लिये भी मृत्युके आक्रमणसे बचती हो। जैसे समुद्रमें असंख्य लहरें उठती रहती हैं, वैसे ही इस अपार संसार-सागरमें अनवरत जन्म-मृत्युरूपी तरंगे उठा करती हैं। समुद्रकी लहरोंकी गणना चाहे हो जाय; पर जबतक परमेश्वरकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक भविष्यमें जीवको कितनी बार जन्मना और मरना पड़ेगा—इसकी गणना नहीं हो सकती। इसीलिये इसको 'मृत्युरूप संसारसागर' कहते हैं।

जो भक्त मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगाकर निरन्तर भगवान्‌की उपासना करते हैं, उनको भगवान् तत्काल ही जन्म-मृत्युसे सदाके लिये छुड़ाकर अपनी प्राप्ति यहीं करा देते हैं अथवा मरनेके बाद अपने परमधाममें ले जाते हैं—अर्थात् जैसे केवट किसीको नौकामें बैठाकर नदीसे पार कर देता है, वैसे ही भक्तिरूपी नौकापर स्थित भक्तके लिये भगवान् स्वयं केवट बनकर, उसकी समस्त कठिनाइयों और विपत्तियोंको दूर करके बहुत शीघ्र उसे भीषण संसार-समुद्रके उस पार अपने परमधाममें ले जाते हैं। यही भगवान्‌का अपने उपर्युक्त भक्तको मृत्युरूप संसारसे पार कर देना है।

४. जो सम्पूर्ण चराचर संसारको व्याप्त करके सबके हृदयमें स्थित हैं और जो दयालुता, सर्वज्ञता, सुशीलता तथा सुहृदता आदि अनन्त गुणोंके समुद्र हैं, उन परम दिव्य, प्रेममय और आनन्दमय, सर्वशक्तिमान्, सर्वोत्तम, शरण लेनेके योग्य परमेश्वरके गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व तथा रहस्यको भलीभाँति समझकर उनका सदा-सर्वदा और सर्वत्र अटल निश्चय रखना—यही बुद्धिको भगवान्‌में लगाना है तथा इस प्रकार अपने परम प्रेमास्पद पुरुषोत्तम भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयोंसे आसक्तिको सर्वथा हटाकर मनको केवल उन्हींमें तन्मय कर देना और नित्य-निरन्तर उपर्युक्त प्रकारसे उनका चिन्तन करते रहना—यही मनको भगवान्‌में लगाना है। इस प्रकार जो अपने मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगा देता है, वह शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।

इसलिये भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाके तत्त्व और रहस्यको जाननेवाले महापुरुषोंका संग, उनके गुण और आचरणोंका अनुकरण तथा भोग, आलस्य और प्रमादको छोड़कर उनके बतलाये हुए मार्गका विश्वासपूर्वक तत्परताके साथ अनुसरण करना चाहिये।

१. भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌में नाना प्रकारकी युक्तियोंसे चित्तको स्थापन करनेका जो बार-बार प्रयत्न किया जाता है, उसे 'अभ्यासयोग' कहते हैं। अतः भगवान्‌के जिस नाम, रूप, गुण और लीला आदिमें साधककी श्रद्धा और प्रेम हो, उसीमें केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही बार-बार मन लगानेके लिये प्रयत्न करना अभ्यासयोगके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा करना है।

भगवान्‌में मन लगानेके साधन शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके बतलाये गये हैं, उनमेंसे निम्नलिखित कतिपय साधन सर्वसाधारणके लिये विशेष उपयोगी प्रतीत होते हैं—

(१) सूर्यके सामने आँखें मूँदनेपर मनके द्वारा सर्वत्र समभावसे जो एक प्रकाशका पुंज प्रतीत होता है, उससे भी हजारों गुना अधिक प्रकाशका पुंज भगवत्स्वरूपमें है—इस प्रकार मनसे निश्चय करके परमात्माके उस तेजोमय ज्योतिःस्वरूपमें चित्त लगानेके लिये बार-बार चेष्टा करना।

(२) जैसे दियासलाईमें अग्नि व्यापक है, वैसे ही भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं—यह समझकर जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँ ही गुण और प्रभावसहित सर्वशक्तिमान् परम प्रेमास्पद परमेश्वरके स्वरूपका प्रेमपूर्वक पुनः-पुनः चिन्तन करते रहना।

(३) जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर भगवान् विष्णु, शिव, राम और कृष्ण आदि जो भी अपने इष्टदेव हों, उनकी मानसिक या धातु आदिसे निर्मित मूर्तिमें अथवा चित्रपटमें या उनके नाम-जपमें श्रद्धा और प्रेमके साथ पुनः-

पुनः मन लगानेका प्रयत्न करना।

(४) भ्रमरके गुंजारकी तरह एकतार ओंकारकी ध्वनि करते हुए उस ध्वनिमें परमेश्वरके स्वरूपका पुनः-पुनः चिन्तन करना।

(५) स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासके साथ-साथ भगवान्‌के नामका जप नित्य-निरन्तर होता रहे—इसके लिये प्रयत्न करना।

(६) परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित्र और प्रभावके रहस्यको जाननेके लिये तद्विषयक शास्त्रोंका पुनः-पुनः अभ्यास करना।

(७) गीताके चौथे अध्यायके उनतीसवें श्लोकके अनुसार प्राणायामका अभ्यास करना।

इनमेंसे कोई-सा भी अभ्यास यदि श्रद्धा और विश्वास तथा लगनके साथ किया जाय तो क्रमशः सम्पूर्ण पापों और विघ्नोंका नाश होकर अन्तमें भगवत्प्राप्ति हो जाती है। इसलिये बड़े उत्साह और तत्परताके साथ अभ्यास करना चाहिये। साधकोंकी स्थिति, अधिकार तथा साधनकी गतिके तारतम्यसे फलकी प्राप्तिमें देर-सबेर हो सकती है। अतएव शीघ्र फल न मिले तो कठिन समझकर, ऊबकर या आलस्यके वश होकर न तो अपने अभ्यासको छोड़ना ही चाहिये और न उसमें किसी प्रकार कमी ही आने देनी चाहिये; बल्कि उसे बढ़ाते रहना चाहिये।

२. इस श्लोकमें कहे हुए 'मत्कर्म' शब्दसे उन कर्मोंको समझना चाहिये जो केवल भगवान्‌के लिये ही होते हैं या भगवत्सेवा-पूजाविषयक होते हैं तथा जिन कर्मोंमें अपना जरा भी स्वार्थ, ममत्व और आसक्ति आदिका सम्बन्ध नहीं होता। गीताके ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भी 'मत्कर्मकृत्' पदमें 'मत्कर्म' शब्द आया है, वहाँ भी इसकी व्याख्या की गयी है।

एकमात्र भगवान्‌को ही अपना परम आश्रय और परम गति मानना और केवल उन्हींकी प्रसन्नताके लिये परम श्रद्धा और अनन्य-प्रेमके साथ मन, वाणी और शरीरसे उनकी सेवा-पूजा आदि तथा यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंको अपना कर्तव्य समझकर निरन्तर करते रहना—यही उन कर्मोंके परायण होना है।

३. इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि इस प्रकार कर्मोंका करना भी मेरी प्राप्तिका एक स्वतन्त्र और सुगम साधन है। जैसे भजन-ध्यानरूपी साधन करनेवालोंको मेरी प्राप्ति होती है, वैसे ही मेरे लिये कर्म करनेवालोंको भी मैं प्राप्त हो सकता हूँ। अतएव मेरे लिये कर्म करना पूर्वोक्त साधनोंकी अपेक्षा किसी अंशमें भी निम्न श्रेणीका साधन नहीं है।

१. इस अध्यायके नवें श्लोकमें 'अभ्यासयोग' बतलाया गया है और भगवान्‌में मन-बुद्धि लगानेके लिये जितने भी साधन हैं, सभी अभ्यासयोगके अन्तर्गत आ जाते हैं—इस कारण वहाँ 'यतात्मवान्' होनेके लिये अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है और दसवें श्लोकमें भक्तियुक्त कर्मयोगका वर्णन है, उसमें भगवान्‌का आश्रय है और साधकके समस्त कर्म भी भगवदर्थ ही होते हैं; अतएव उसमें भी 'यतात्मवान्' होनेके लिये अलग कहना प्रयोजनीय नहीं है, परंतु इस श्लोकमें जो 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप कर्मयोगका साधन बतलाया गया है, इसमें मन-बुद्धिको वशमें रखे बिना काम नहीं चल सकता; क्योंकि वर्णाश्रमोचित समस्त व्यावहारिक कर्म करते हुए यदि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर आदि वशमें न हों तो उनकी भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामना हो जाना बहुत ही सहज है और ऐसा होनेपर 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधन बन नहीं सकता। इसीलिये यहाँ 'यतात्मवान्' पदका प्रयोग करके मन-बुद्धि आदिको वशमें रखनेके लिये विशेष सावधान किया गया है।

२. यज्ञ, दान, तप, सेवा और वर्णाश्रमानुसार जीविका तथा शरीरनिर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रसम्मत सभी कर्मोंको यथायोग्य करते हुए, इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिरूप जो उनका फल है, उसमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही 'सब कर्मोंका फलत्याग करना' है।

इस अध्यायके छठे श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना, दसवें श्लोकके कथनानुसार भगवान्‌के लिये भगवान्‌के कर्मोंको करना तथा इस श्लोकके कथनानुसार समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना—ये तीनों ही 'कर्मयोग' हैं और तीनोंका ही फल परमेश्वरकी प्राप्ति है, अतएव फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। केवल साधकोंकी प्रकृति, भावना और उनके साधनकी प्रणालीके भेदसे इनका भेद किया गया है। समस्त कर्मोंको भगवान्‌में अर्पण करना और भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करना—इन दोनोंमें तो भक्तिकी प्रधानता है; 'सर्वकर्मफलत्याग' में केवल फलत्यागकी प्रधानता है। यही इनका मुख्य भेद है।

सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देनेवाला पुरुष समझता है कि मैं भगवान्‌के हाथकी कठपुतली हूँ, मुझमें कुछ भी करनेकी सामर्थ्य नहीं है, मेरे मन, बुद्धि और इन्द्रियादि जो कुछ हैं—सब भगवान्‌के हैं और भगवान् ही इनसे अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, उन कर्मोंसे और उनके फलसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारके भावसे उस साधकका कर्मोंमें और उनके फलमें किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं रहता; उसे प्रारब्धानुसार जो कुछ भी सुख-दुःखोंके

भोग प्राप्त होते हैं, उन सबको वह भगवान्‌का प्रसाद समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है। अतएव उसका सबमें समभाव होकर उसे शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

भगवदर्थ कर्म करनेवाला मनुष्य पूर्वोक्त साधककी भाँति यह नहीं समझता कि 'मैं कुछ नहीं करता हूँ और भगवान् ही मुझसे सब कुछ करवा लेते हैं।' वह यह समझता है कि भगवान् मेरे परम पूज्य, परम प्रेमी और परम सुहृद् हैं; उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना ही मेरा परम कर्तव्य है। अतएव वह भगवान्‌को समस्त जगत्‌में व्याप्त समझकर उनकी सेवाके उद्देश्यसे शास्त्रद्वारा प्राप्त उनकी आज्ञाके अनुसार यज्ञ, दान और तप, वर्णाश्रमके अनुकूल आजीविका और शरीरनिर्वाहके तथा भगवान्‌की पूजा-सेवादिके कर्मोंमें लगा रहता है। उसकी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌के आज्ञानुसार और भगवान्‌की ही सेवाके उद्देश्यसे होती है (गीता ११।५५), अतः उन समस्त क्रियाओं और उनके फलोंमें उसकी आसक्ति और कामनाका अभाव होकर उसे शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

केवल 'सब कर्मोंके फलका त्याग' करनेवाला पुरुष न तो यह समझता है कि मुझसे भगवान् कर्म करवाते हैं और न यही समझता है कि मैं भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करता हूँ। वह यह समझता है कि कर्म करनेमें ही मनुष्यका अधिकार है, उसके फलमें नहीं (गीता २।४७ से ५१ तक), अतः किसी प्रकारका फल न चाहकर यज्ञ, दान, तप, सेवा तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीरनिर्वाहके खान-पान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको करना ही मेरा कर्तव्य है। अतएव वह समस्त कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देता है; इससे उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होकर उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार तीनोंके ही साधनका भगवत्प्राप्तिरूप एक फल होनेपर भी साधकोंकी मान्यता, स्वभाव और साधनप्रणालीमें भेद होनेके कारण तीन तरहके साधन अलग-अलग बतलाये गये हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि झूठ, कपट, व्यभिचार, हिंसा और चोरी आदि निषिद्ध कर्म 'सर्वकर्म' में सम्मिलित नहीं हैं। भोगोंमें आसक्ति और उनकी कामना होनेके कारण ही ऐसे पापकर्म होते हैं और उनके फलस्वरूप मनुष्यका सब तरहसे पतन हो जाता है। इसीलिये उनका स्वरूपसे ही सर्वथा त्याग कर देना बतलाया गया है और जब वैसे कर्मोंका ही सर्वथा निषेध है, तब उनके फलत्यागका तो प्रसंग ही कैसे आ सकता है!

भगवान्‌ने पहले मन-बुद्धिको अपनेमें लगानेके लिये कहा, फिर अभ्यासयोग बतलाया, तदनन्तर मदर्थ कर्मके लिये कहा और अन्तमें सर्वकर्मफलत्यागके लिये आज्ञा दी और एकमें असमर्थ होनेपर दूसरेका आचरण करनेके लिये कहा; भगवान्‌का इस प्रकारका यह कथन न तो फलभेदकी दृष्टिसे है, क्योंकि सभीका एक ही फल भगवत्प्राप्ति है और न एक की अपेक्षा दूसरेको सुगम ही बतलानेके लिये है, क्योंकि उपर्युक्त साधन एक-दूसरेकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सुगम नहीं हैं। जो साधन एकके लिये सुगम है, वही दूसरेके लिये कठिन हो सकता है। इस विचारसे यह समझमें आता है कि इन चारों साधनोंका वर्णन केवल अधिकारिभेदसे ही किया गया है।

जिस पुरुषमें सगुण भगवान्‌के प्रेमकी प्रधानता है, जिसकी भगवान्‌में स्वाभाविक श्रद्धा है, उनके गुण, प्रभाव और रहस्यकी बातें तथा उनकी लीलाका वर्णन जिसको स्वभावसे ही प्रिय लगता है—ऐसे पुरुषके लिये इस अध्यायके आठवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

जिस पुरुषका भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम तो नहीं है, किंतु श्रद्धा होनेके कारण जो हठपूर्वक साधन करके भगवान्‌में मन लगाना चाहता है—ऐसी प्रकृतिवाले पुरुषके लिये इस अध्यायके नवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

जिस पुरुषकी सगुण परमेश्वरमें श्रद्धा है तथा यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंमें जिसका स्वाभाविक प्रेम है और भगवान्‌की प्रतिमादिकी सेवा-पूजा करनेमें जिसकी श्रद्धा है—ऐसे पुरुषके लिये इस अध्यायके दसवें श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

जिस पुरुषका सगुण-साकार भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम और श्रद्धा नहीं है, जो ईश्वरके स्वरूपको केवल सर्वव्यापी निराकार मानता है, व्यावहारिक और लोकहितके कर्म करनेमें ही जिसका स्वाभाविक प्रेम है—ऐसे पुरुषके लिये इस श्लोकमें बतलाया हुआ साधन सुगम और उपयोगी है।

१. यहाँ 'अभ्यास' शब्द इसी अध्यायके नवें श्लोकमें बतलाये हुए अभ्यासयोगमेंसे केवल अभ्यासमात्रका वाचक है अर्थात् सकामभावसे प्राणायाम, मनोनिग्रह, स्तोत्र-पाठ, वेदाध्ययन, भगवन्नाम-जप आदिके लिये बार-बार की जानेवाली ऐसी चेष्टाओंका नाम यहाँ 'अभ्यास' है, जिनमें न तो विवेकज्ञान है, न ध्यान है और न कर्म-फलका त्याग ही है। अभिप्राय यह है कि नवें श्लोकमें जो योग यानी निष्कामभाव और विवेकज्ञानका फल भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है, वह इसमें नहीं है; क्योंकि ये दोनों जिसके अन्तर्गत हों, ऐसे अभ्यासके साथ ज्ञानकी तुलना करना और उसकी अपेक्षा अभ्यासरहित ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

इसी प्रकार यहाँ 'ज्ञान' शब्द भी सत्संग और शास्त्रसे उत्पन्न उस विवेकज्ञानका वाचक है, जिसके द्वारा मनुष्य आत्मा और परमात्माके स्वरूपको तथा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला आदिको समझता है एवं संसार और भोगोंकी अनित्यता आदि अन्य आध्यात्मिक बातोंको ही समझता है; परंतु जिसके साथ न तो अभ्यास है, न ध्यान है और न कर्मफलकी इच्छाका त्याग ही है; क्योंकि ये सब जिसके अन्तर्गत हों, उस ज्ञानके साथ अभ्यास, ध्यान और कर्मफलके त्यागका तुलनात्मक विवेचन करना और उसकी अपेक्षा ध्यानको तथा कर्मफलके त्यागको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

उपर्युक्त अभ्यास और ज्ञान दोनों ही अपने-अपने स्थानपर भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं; श्रद्धा-भक्ति और निष्कामभावके सम्बन्धसे दोनोंके द्वारा ही मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर सकता है, तथापि दोनोंकी परस्पर तुलना की जानेपर अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। विवेकहीन अभ्यास भगवत्प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं हो सकता, जितना कि अभ्यासहीन विवेकज्ञान सहायक हो सकता है; क्योंकि वह भगवत्प्राप्तिकी इच्छाका हेतु है। यही बात दिखलानेके लिये यहाँ अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाया है।

१. यहाँ 'ध्यान' शब्द भी छठेसे आठवें श्लोकतक बतलाये हुए ध्यानयोगमेंसे केवल ध्यानमात्रका वाचक है अर्थात् उपास्यदेव मानकर भगवान्‌के साकार या निराकार किसी भी स्वरूपमें सकामभावसे केवल मन-बुद्धिको स्थिर कर देनेको यहाँ 'ध्यान' कहा गया है। इसमें न तो पूर्वोक्त विवेकज्ञान है और न भोगोंकी कामनाका त्यागरूप निष्कामभाव ही है। अभिप्राय यह है कि उस ध्यानयोगमें जो समस्त कर्मोंका भगवान्‌के समर्पण कर देना, भगवान्‌को ही परम प्राप्य समझना और अनन्य प्रेमसे भगवान्‌का ध्यान करना—ये सब भाव भी सम्मिलित हैं, वे इसमें नहीं हैं; क्योंकि भगवान्‌को सर्वश्रेष्ठ समझकर अनन्य प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे किया जानेवाला जो ध्यानयोग है, उसमें विवेकज्ञान और कर्मफलके त्यागका अन्तर्भाव है। अतः उसके साथ विवेकज्ञानकी तुलना करना और उसकी अपेक्षा कर्मफलके त्यागको श्रेष्ठ बतलाना नहीं बन सकता।

उपर्युक्त विवेकज्ञान और ध्यान—दोनों ही श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभावके सम्बन्धसे परमात्माकी प्राप्ति करा देनेवाले हैं, इसलिये दोनों ही भगवान्‌की प्राप्तिमें सहायक हैं; परंतु दोनोंकी परस्पर तुलना करनेपर ध्यान और अभ्याससे रहित ज्ञानकी अपेक्षा विवेकरहित ज्ञान ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है; क्योंकि बिना ध्यान और अभ्यासके केवल विवेकज्ञान भगवान्‌की प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं हो सकता; जितना बिना विवेकज्ञानके केवल ध्यान हो सकता है। ध्यानद्वारा चित्त स्थिर होनेपर चित्तकी मलिनता और चंचलताका नाश होता है; परंतु केवल जानकारीसे वैसा नहीं होता। यही भाव दिखलानेके लिये ज्ञानसे ध्यानको श्रेष्ठ बतलाया गया है।

२. ग्यारहवें श्लोकमें जो 'सर्वकर्मफलत्याग' का स्वरूप बतलाया गया है, उसीका वाचक 'कर्मफलत्याग' है। ऊपर बतलाया हुआ ध्यान भी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक है; परंतु जबतक मनुष्यकी कामना और आसक्तिका नाश नहीं हो जाता, तबतक उसे परमात्माकी प्राप्ति सहज ही नहीं हो सकती। अतः फलासक्तिके त्यागसे रहित ध्यान परमात्माकी प्राप्तिमें उतना लाभप्रद नहीं हो सकता, जितना कि बिना ध्यानके भी समस्त कर्मोंमें फल और आसक्तिका त्याग हो सकता है।

३. इस श्लोकमें अभ्यासयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और कर्मयोगका तुलनात्मक विवेचन नहीं है; क्योंकि उन सभी साधनोंमें कर्मफलरूप भोगोंकी आसक्तिका त्यागरूप निष्कामभाव अन्तर्गत है। अतः उनका तुलनात्मक विवेचन नहीं हो सकता। यहाँ तो कर्मफलके त्यागका महत्त्व दिखलानेके लिये अभ्यास, ज्ञान और ध्यानरूप साधन, जो संसारके झंझटोंसे अलग रहकर किये जाते हैं और क्रियाकी दृष्टिसे एककी अपेक्षा दूसरा क्रमसे सात्त्विक और निवृत्तिपरक होनेके नाते श्रेष्ठ भी हैं, उनकी अपेक्षा कर्मफलके त्यागको भावकी प्रधानताके कारण श्रेष्ठ बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक उन्नतिमें क्रियाकी अपेक्षा भावका ही अधिक महत्त्व है। वर्ण-आश्रमके अनुसार यज्ञ, दान, युद्ध, वाणिज्य, सेवा आदि तथा शरीर-निर्वाहकी क्रिया; प्राणायाम, स्तोत्र-पाठ, वेद-पाठ, नाम-जप आदि अभ्यासकी क्रिया; सत्संग और शास्त्रोंके द्वारा आध्यात्मिक बातोंको जाननेके लिये ज्ञानविषयक क्रिया और मनको स्थिर करनेके लिये ध्यानविषयक क्रिया—ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होनेपर भी उनमेंसे वही श्रेष्ठ है, जिसके साथ कर्मफलका त्यागरूप निष्कामभाव है; क्योंकि निष्कामभावसे परमात्माकी प्राप्ति होती है, अतः कर्मफलका त्याग ही श्रेष्ठ है; फिर चाहे वह किसी भी शास्त्रसम्मत क्रियाके साथ क्यों न रहे, वही क्रिया दीखनेमें साधारण होनेपर भी सर्वश्रेष्ठ हो जाती है।

१. भक्तिके साधकमें आरम्भसे ही मैत्री और दयाके भाव विशेषरूपसे रहते हैं, इसलिये सिद्धावस्थामें भी उसके स्वभाव और व्यवहारमें वे सहज ही पाये जाते हैं। जैसे भगवान्‌में हेतुरहित अपार दया और प्रेम आदि रहते हैं, वैसे ही उनके सिद्ध भक्तमें भी इनका रहना उचित ही है।

२. यहाँ 'सुख-दुःख' हर्ष-शोकके हेतुओंके वाचक हैं न कि हर्ष-शोकके; क्योंकि सुख-दुःखसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंका नाम हर्ष-शोक है। अज्ञानी मनुष्योंकी सुखमें आसक्ति होती है, इस कारण सुखकी प्राप्तिमें उनको हर्ष होता है और दुःखमें उनका द्वेष होता है, इसलिये उसकी प्राप्तिमें उनको शोक होता है; पर ज्ञानी भक्तका सुख और दुःखमें समभाव हो जानेके कारण किसी भी अवस्थामें उसके अन्तःकरणमें हर्ष, शोक आदि विकार नहीं होते। श्रुतिमें भी कहा है—'हर्षशोकौ जहाति' (कठोपनिषद् १।२।१२), अर्थात् 'ज्ञानी पुरुष हर्ष-शोकोंको सर्वथा त्याग देता है।' प्रारब्ध-भोगके अनुसार शरीरमें रोग हो जानेपर उनको पीड़ारूप दुःखका बोध तो होता है और शरीर स्वस्थ रहनेसे उसमें पीड़ाके अभावका बोधरूप सुख भी होता है, किंतु राग-द्वेषका अभाव होनेके कारण हर्ष और शोक उन्हें नहीं होते। इसी तरह किसी भी अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ या घटनाके संयोग-वियोगमें किसी प्रकारसे भी उनको हर्ष-शोक नहीं होते। यही उनका सुख-दुःखमें सम रहना है।

३. अपना अपकार करनेवालेको किसी प्रकारका दण्ड देनेकी इच्छा न रखकर उसे अभय देनेवालेको 'क्षमावान्' कहते हैं। भगवान्के ज्ञानी भक्तोंमें क्षमाभाव भी असीम रहता है। क्षमाकी व्याख्या गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोककी टिप्पणीमें विस्तारसे की गयी है।

४. भक्तियोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त हुए ज्ञानी भक्तको यहाँ 'योगी' कहा गया है; ऐसा भक्त परमानन्दके अक्षय और अनन्त भण्डार श्रीभगवान्को प्रत्यक्ष कर लेता है, इस कारण वह सदा ही संतुष्ट रहता है। उसे किसी समय, किसी भी अवस्थामें, किसी भी घटनामें संसारकी किसी भी वस्तुके अभावमें असंतोषका अनुभव नहीं होता; क्योंकि वह पूर्णकाम है, यही उसका निरन्तर संतुष्ट रहना है।

५. इससे यह भाव दिखलाया है कि भगवान्के ज्ञानी भक्तोंका मन और इन्द्रियोंसहित शरीर सदा ही उनके वशमें रहता है। वे कभी मन और इन्द्रियोंके वशमें नहीं हो सकते, इसीसे उनमें किसी प्रकारके दुर्गुण और दुराचारकी सम्भावना नहीं होती।

६. जिसने बुद्धिके द्वारा परमेश्वरके स्वरूपका भलीभाँति निश्चय कर लिया है, जिसे सर्वत्र भगवान्का प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा जिसकी बुद्धि गुण, कर्म और दुःख आदिके कारण परमात्माके स्वरूपसे कभी किसी प्रकार विचलित नहीं हो सकती, उसको 'दृढनिश्चय' कहते हैं।

७. नित्य-निरन्तर मनसे भगवान्के स्वरूपका चिन्तन और बुद्धिसे उसका निश्चय करते-करते मन और बुद्धिका भगवान्के स्वरूपमें सदाके लिये तन्मय हो जाना ही उनको 'भगवान्में अर्पण करना' है।

८. जो उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न है; जिसका भगवान्में अहैतुक और अनन्य प्रेम है, जिसकी भगवान्के स्वरूपमें अटल स्थिति है, जिसका कभी भगवान्से वियोग नहीं होता, जिसके मन-बुद्धि भगवान्के अर्पित हैं, भगवान् ही जिसके जीवन, धन, प्राण एवं सर्वस्व हैं, जो भगवान्के ही हाथकी कठपुतली है—ऐसे सिद्ध भक्तको भगवान् अपना प्रिय बतलाते हैं।

९. पूर्वार्द्धमें केवल दूसरे प्राणीसे उसे उद्वेग नहीं होता, इतना ही कहा गया है। इससे परेच्छाजनित उद्वेगकी निवृत्ति तो हुई; किंतु अनिच्छा और स्वेच्छासे प्राप्त घटना और पदार्थमें भी तो मनुष्यको उद्वेग होता है, इसलिये उत्तरार्द्धमें पुनः उद्वेगसे मुक्त होनेकी बात कहकर भगवान् यह सिद्ध कर रहे हैं कि भक्तको कभी किसी प्रकार भी उद्वेग नहीं होता।

१०. सर्वत्र भगवद्बुद्धि होनेके कारण भक्त जान-बूझकर तो किसीको दुःख, संताप, भय और क्षोभ पहुँचा ही नहीं सकता, बल्कि उसके द्वारा तो स्वाभाविक ही सबकी सेवा और परम हित ही होते हैं। अतएव उसकी ओरसे किसीको कभी उद्वेग नहीं होना चाहिये। यदि भूलसे किसी व्यक्तिको उद्वेग होता है तो उसमें उस व्यक्तिके अपने अज्ञानजनित राग, द्वेष और ईर्ष्यादि दोष ही प्रधान कारण हैं, भगवद्भक्त नहीं; क्योंकि जो दया और प्रेमकी मूर्ति है एवं दूसरोंका हित करना ही जिसका स्वभाव है, वह परम दयालु प्रेमी भगवत्प्राप्त भक्त तो किसीके उद्वेगका कारण हो ही नहीं सकता।

१. ज्ञानी भक्तको भी प्रारब्धके अनुसार परेच्छासे दुःखके निमित्त तो प्राप्त हो सकते हैं, परंतु उसमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण बड़े-से-बड़े दुःखकी प्राप्तिमें भी वह विचलित नहीं होता (गीता ६।२२); इसीलिये ज्ञानी भक्तको किसी भी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता।

२. अभिप्राय यह है कि वास्तवमें मनुष्यको अपने अभिलषित मान, बड़ाई और धन आदि वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर जिस तरह हर्ष होता है, उसी तरह अपने ही समान या अपनेसे अधिक दूसरोंको भी उन वस्तुओंकी प्राप्ति होते देखकर प्रसन्नता होनी चाहिये; किंतु प्रायः ऐसा न होकर अज्ञानके कारण लोगोंको उलटा अमर्ष होता है और यह अमर्ष विवेकशील पुरुषोंके चित्तमें भी देखा जाता है। वैसे ही इच्छा, नीति और धर्मके विरुद्ध पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर उद्वेग तथा नीति और धर्मके अनुकूल भी दुःखप्रद पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर या उसकी आशंकासे भय होता देखा जाता है। दूसरोंकी तो बात ही क्या, मृत्युका भय तो विवेकियोंको भी होता है; किंतु भगवान्के ज्ञानी भक्तकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जाती है

और वह सम्पूर्ण क्रियाओंको भगवान्‌की लीला समझता है; इस कारण ज्ञानी भक्तको न अमर्ष होता है, न उद्वेग होता है और न भय ही होता है—यह भाव दिखलानेके लिये ऐसा कहा गया है।

३. परमात्माको प्राप्त भक्तका किसी भी वस्तुसे किंचित् भी प्रयोजन नहीं रहता; अतएव उसे किसी तरहकी किंचिन्मात्र भी इच्छा, स्पृहा अथवा वासना नहीं रहती। वह पूर्णकाम हो जाता है। यह भाव दिखलानेके लिये उसे आकांक्षासे रहित कहा है।

४. भगवान्‌के भक्तमें पवित्रताकी पराकाष्ठा होती है। उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, उसके आचरण और शरीर आदि इतने पवित्र हो जाते हैं कि उसके साथ वार्तालाप होनेपर तो कहना ही क्या है—उसके दर्शन और स्पर्शमात्रसे ही दूसरे लोग पवित्र हो जाते हैं। ऐसा भक्त जहाँ निवास करता है, वह स्थान पवित्र हो जाता है और उसके संगसे वहाँका वायुमण्डल, जल, स्थल आदि सब पवित्र हो जाते हैं।

५. जिस उद्देश्यकी सफलताके लिये मनुष्यशरीरकी प्राप्ति हुई है, उस उद्देश्यको पूरा कर लेना ही यथार्थ चतुरता है।

६. शरीरमें रोग आदिका होना, स्त्री-पुत्र आदिका वियोग होना और धन-गृह आदिकी हानि होना—इत्यादि दुःखके हेतु तो प्रारब्धके अनुसार उसे प्राप्त होते हैं, परंतु इन सबके होते हुए भी उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका शोक नहीं होता।

७. संसारमें जो कुछ भी हो रहा है—सब भगवान्‌की लीला है, सब उनकी मायाशक्तिका खेल है; वे जिससे जब जैसा करवाना चाहते हैं, वैसा ही करवा लेते हैं। मनुष्य मिथ्या ही ऐसा अभिमान कर लेता है कि अमुक कर्म मैं करता हूँ, मेरी ऐसी सामर्थ्य है, इत्यादि। पर भगवान्‌का भक्त इस रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, इससे वह सदा भगवान्‌के हाथकी कठपुतली बना रहता है। भगवान् उसको जब जैसा नचाते हैं, वह प्रसन्नतापूर्वक वैसे ही नाचता है। अपना तनिक भी अभिमान नहीं रखता और अपनी ओरसे कुछ भी नहीं करता, इसलिये वह लोकदृष्टिमें सब कुछ करता हुआ भी वास्तवमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होनेके कारण 'सब आरम्भोंका त्यागी' ही है।

८. भक्तके लिये सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, परम दयालु भगवान् ही परम प्रिय वस्तु हैं और वह उन्हें सदाके लिये प्राप्त है। अतएव वह सदा-सर्वदा परमानन्दमें स्थित रहता है। संसारकी किसी वस्तुमें उसका किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष नहीं होता। इस कारण लोकदृष्टिसे होनेवाले किसी प्रिय वस्तुके संयोगसे या अप्रियके वियोगसे उसके अन्तःकरणमें कभी किंचिन्मात्र भी हर्षका विकार नहीं होता।

९. भगवान्‌का भक्त सम्पूर्ण जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप समझता है, इसलिये उसका किसी भी वस्तु या प्राणीमें कभी किसी भी कारणसे द्वेष नहीं हो सकता। उसके अन्तःकरणमें द्वेषभावका सदाके लिये सर्वथा अभाव हो जाता है।

१०. अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें और इष्टके वियोगमें प्राणियोंको शोक हुआ करता है। भगवद्भक्तको लीलामय परम दयालु परमेश्वरकी दयासे भरे हुए किसी भी विधानमें कभी प्रतिकूलता प्रतीत ही नहीं होती। अतः उसे शोक कैसे हो सकता है?

१. भक्तको साक्षात् भगवान्‌की प्राप्ति हो जानेके कारण वह सदाके लिये परमानन्द और परम शान्तिमें स्थित होकर पूर्णकाम हो जाता है, उसके मनमें कभी किसी वस्तुके अभावका अनुभव होता ही नहीं, इसलिये उसके अन्तःकरणमें सांसारिक वस्तुओंकी आकांक्षा होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता।

२. यज्ञ, दान, तप और वर्णाश्रमके अनुसार जीविका तथा शरीर-निर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्मोंका वाचक यहाँ 'शुभ' शब्द है और झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि पापकर्मका वाचक 'अशुभ' शब्द है। भगवान्‌का ज्ञानी भक्त इन दोनों प्रकारके कर्मोंका त्यागी होता है; क्योंकि उसके शरीर, इन्द्रिय और मनके द्वारा किये जानेवाले समस्त शुभ कर्मोंको वह भगवान्‌के समर्पण कर देता है। उनमें उसकी किंचिन्मात्र भी ममता, आसक्ति या फलेच्छा नहीं रहती; इसीलिये ऐसे कर्म कर्म ही नहीं माने जाते (गीता ४।२०) और राग-द्वेषका अभाव हो जानेके कारण पापकर्म उसके द्वारा होते ही नहीं, इसलिये उसे 'शुभ और अशुभकर्मोंका त्यागी' कहा गया है।

३. संसारमें मनुष्यकी जो आसक्ति (स्नेह) है, वही समस्त अनर्थोंका मूल है; बाहरसे मनुष्य संसारका संसर्ग छोड़ भी दे, किंतु मनमें आसक्ति बनी रहे तो ऐसे त्यागसे विशेष लाभ नहीं हो सकता। पक्षान्तरमें मनकी आसक्ति नष्ट हो चुकनेपर बाहरसे राजा जनक आदिकी तरह सबसे ममता और आसक्तिरहित संसर्ग रहनेपर भी कोई हानि नहीं है। ऐसा आसक्तिका त्यागी ही वस्तुतः सच्चा 'संगविवर्जित' है।

४. यद्यपि भक्तकी दृष्टिमें उसका कोई शत्रु-मित्र नहीं होता, तो भी लोग अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मूर्खतावश भक्तके द्वारा अपना अनिष्ट होता हुआ समझकर या उसका स्वभाव अपने अनुकूल न दीखनेके कारण अथवा ईर्ष्यावश उसमें शत्रुभावका भी आरोप कर लेते हैं, ऐसे ही दूसरे लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्रभावका आरोप कर लेते हैं; परंतु सम्पूर्ण जगत्‌में सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन करनेवाले भक्तका सबमें समभाव ही रहता है। उसकी दृष्टिमें शत्रु-मित्रका

किंचित् भी भेद नहीं रहता, वह तो सदा-सर्वदा सबके साथ परम प्रेमका ही व्यवहार करता रहता है। सबको भगवान्का स्वरूप समझकर समभावसे सबकी सेवा करना ही उसका स्वभाव बन जाता है। जैसे वृक्ष अपनेको काटनेवाले और जल सींचनेवाले दोनोंकी ही छाया, फल और फूल आदिके द्वारा सेवा करनेमें किसी प्रकारका भेद नहीं करता, वैसे ही भक्तमें भी किसी तरहका भेदभाव नहीं रहता। भक्तका समत्व वृक्षकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वका होता है। उसकी दृष्टिमें परमेश्वरसे भिन्न कुछ भी न रहनेके कारण उसमें भेदभावकी आशंका ही नहीं रहती। इसलिये उसे शत्रु-मित्रमें सम कहा गया है।

५. मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःख आदि अनुकूल और प्रतिकूल द्वन्द्वोंका मन, इन्द्रिय और शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे उनका अनुभव होते हुए भी भगवद्भक्तके अन्तःकरणमें राग-द्वेष या हर्ष-शोक आदि किसी तरहका किंचिन्मात्र भी विकार नहीं होता। वह सदा सम रहता है।

६. जो भक्त अपना सर्वस्व भगवान्के अर्पण कर चुके हैं, जिनके घर-द्वार, शरीर, विद्या-बुद्धि आदि सभी कुछ भगवान्के हो चुके हैं—फिर वे चाहे ब्रह्मचारी हों या गृहस्थ, अथवा वानप्रस्थ हों, वे भी 'अनिकेत' ही हैं। जैसे शरीरमें अहंता, ममता और आसक्ति न होनेपर शरीर रहते हुए भी ज्ञानीको विदेह कहा जाता है—वैसे ही जिसकी घरमें ममता और आसक्ति नहीं है, वह घरमें रहते हुए भी बिना घरवाला—'अनिकेत' ही है।

७. भगवान्के भक्तका अपने नाम और शरीरमें किंचिन्मात्र भी अभिमान या ममत्व नहीं रहता। इसलिये न तो उसको स्तुतिसे हर्ष होता है और न निन्दासे किसी प्रकारका शोक ही होता है। उसका दोनोंमें ही समभाव रहता है। सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जानेके कारण स्तुति करनेवालों और निन्दा करनेवालोंमें भी उसकी जरा भी भेद-बुद्धि नहीं होती। यही उसका निन्दा-स्तुतिको समान समझना है।

८. मनुष्य केवल वाणीसे ही नहीं बोलता, मनसे भी बोलता रहता है। विषयोंका अनवरत चिन्तन ही मनका निरन्तर बोलना है। भक्तका चित्त भगवान्में इतना संलग्न हो जाता है कि उसमें भगवान्के सिवा दूसरेकी स्मृति ही नहीं होती, वह सदा-सर्वदा भगवान्के ही मननमें लगा रहता है; यही वास्तविक मौन है। बोलना बंद कर दिया जाय और मनसे विषयोंका चिन्तन होता रहे—ऐसा मौन बाह्य मौन है। मनको निर्विषय करने तथा वाणीको परिशुद्ध और संयत बनानेके उद्देश्यसे किया जानेवाला बाह्य मौन भी लाभदायक होता है; परंतु यहाँ भगवान्के प्रिय भक्तके लक्षणोंका वर्णन है, उसकी वाणी तो स्वाभाविक ही परिशुद्ध और संयत है। इससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसमें केवल वाणीका ही मौन है; बल्कि उस भक्तकी वाणीसे तो प्रायः निरन्तर भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन ही हुआ करता है, जिससे जगत्का परम उपकार होता है। इसके सिवा भगवान् अपनी भक्तिका प्रचार भी भक्तोंद्वारा ही करवाया करते हैं। अतः वाणीसे मौन रहनेवाला भगवान्का प्रिय भक्त होता है और बोलनेवाला नहीं होता, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। गीताके अठारहवें अध्यायके अड़सठवें और उनहत्तरवें श्लोकोंमें भगवान्ने गीताके प्रचार करनेवालेको अपना सबसे प्रिय कार्य करनेवाला कहा है, यह महत्कार्य वाणीके मौनीसे नहीं हो सकता। इसके सिवा गीताके सत्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें मानसिक तपके लक्षणोंमें भी 'मौन' शब्द आया है। यदि भगवान्को 'मौन' शब्दका अर्थ वाणीका मौन अभीष्ट होता तो वे उसे वाणीके तपके प्रसंगमें कहते; परंतु ऐसा नहीं किया, इससे भी यही सिद्ध है कि मुनिभावका नाम ही मौन है और यह मुनिभाव जिसमें होता है, वह मौनी या मननशील है। वाणीका मौन मनुष्य हठसे भी कर सकता है, इसलिये यह कोई विशेष महत्त्वकी बात भी नहीं है। अतः यहाँ 'मौन' शब्दका अर्थ वाणीका मौन न मानकर मनकी मननशीलता ही मानना उचित है। वाणीका संयम तो इसके अन्तर्गत आप ही आ जाता है।

१. भक्त अपने परम इष्ट भगवान्को पाकर सदा ही संतुष्ट रहता है। बाहरी वस्तुओंके आने-जानेसे उसकी तुष्टिमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ता। प्रारब्धानुसार सुख-दुःखादिके हेतुभूत जो कुछ भी पदार्थ उसे प्राप्त होते हैं, वह उन्हींमें संतुष्ट रहता है।

२. भक्तको भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन हो जानेके कारण उसके सम्पूर्ण संशय समूल नष्ट हो जाते हैं, उसका निश्चय अटल और निश्चल होता है। अतः वह साधारण मनुष्योंकी भाँति काम, क्रोध, लोभ, मोह या भय आदि विकारोंके वशमें होकर धर्मसे या भगवान्के स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता।

३. उपर्युक्त सभी लक्षण भगवद्भक्तोंके हैं तथा सभी शास्त्रानुकूल और श्रेष्ठ हैं, परंतु स्वभाव आदिके भेदसे भक्तोंके भी गुण और आचरणोंमें थोड़ा-बहुत अन्तर रह जाना स्वाभाविक है। सबमें सभी लक्षण एक-से नहीं मिलते। इतना अवश्य है कि समता और शान्ति सभीमें होती हैं तथा राग-द्वेष और हर्ष-शोक आदि विकार किसीमें भी नहीं रहते। इसीलिये इन श्लोकोंमें पुनरुक्ति पायी जाती है। विचार कर देखिये तो इन पाँचों विभागोंमें कहीं भावसे और कहीं शब्दोंसे राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव सभीमें मिलता है। पहले विभागमें 'अद्वेष्टा' से द्वेषका, 'निर्ममः' से रागका और 'समदुःखसुखः' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया गया है। दूसरेमें हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगका अभाव बतलाया है; इससे राग-द्वेष और

हर्ष-शोकका अभाव अपने-आप सिद्ध हो जाता है। तीसरेमें 'अनपेक्षः' से रागका, 'उदासीनः' से द्वेषका और 'गतव्यथः' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया है। चौथेमें 'न काङ्क्षति' से रागका, 'न द्वेष्टि' से द्वेषका, 'न हृष्यति' तथा 'न शोचति' से हर्ष-शोकका अभाव बतलाया है। इसी प्रकार पाँचवें विभागमें 'संगविवर्जितः' तथा 'संतुष्टः' से राग-द्वेषका और 'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः' से हर्ष-शोकका अभाव दिखलाया है। 'संतुष्टः' पद भी इस प्रकरणमें दो बार आया है। इससे सिद्ध है कि राग-द्वेष तथा हर्ष-शोकादि विकारोंका अभाव और समता तथा शान्ति तो सभीमें आवश्यक हैं। अन्यान्य लक्षणोंमें स्वभाव-भेदसे कुछ भेद भी रह सकता है। इसी भेदके कारण भगवान्ने भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें विभक्त करके भक्तोंके लक्षणोंको यहाँ पाँच बार पृथक्-पृथक् बतलाया है; इनमेंसे किसी एक विभागके अनुसार भी सब लक्षण जिसमें पूर्ण हों, वही भगवान्का प्रिय भक्त है।

इसके सिवा कर्मयोग, भक्तियोग अथवा ज्ञानयोग आदि किसी भी मार्गसे परम सिद्धिको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् भी उनकी वास्तविक स्थितिमें या प्राप्त किये हुए परम तत्त्वमें तो कोई अन्तर नहीं रहता; किंतु स्वभावकी भिन्नताके कारण आचरणोंमें कुछ भेद रह सकता है। 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' (गीता ३।३३) इस कथनसे भी यही सिद्ध होता है कि सब ज्ञानवानोंके आचरण और स्वभावमें ज्ञानोत्तरकालमें भी भेद रहता है।

अहंता, ममता और राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि अज्ञानजनित विकारोंका अभाव तथा समता और परम शान्ति—ये लक्षण तो सभीमें समानभावसे पाये जाते हैं; किंतु मैत्री और करुणा, ये भक्तिमार्गसे भगवान्को प्राप्त हुए महापुरुषमें विशेषरूपसे रहते हैं। संसार, शरीर और कर्मोंमें उपरामता—यह ज्ञानमार्गसे परम पदको प्राप्त महात्माओंमें विशेषरूपसे रहती है। इसी प्रकार मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए अनासक्तभावसे कर्मोंमें तत्पर रहना, यह लक्षण विशेषरूपसे कर्मयोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त हुए पुरुषोंमें रहता है।

गीताके दूसरे अध्यायके पचपनवेंसे बहत्तरवें श्लोकतक कितने ही श्लोकोंमें कर्मयोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त हुए पुरुषके तथा चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए गुणातीत पुरुषके लक्षण बतलाये गये हैं और यहाँ तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भक्तियोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

१. सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् भगवान्के अवतारोंमें, वचनोंमें एवं उनके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और चरित्रादिमें जो प्रत्यक्षके सदृश सम्मानपूर्वक विश्वास रखता हो, वह श्रद्धावान् है। परम प्रेमी और परम दयालु भगवान्को ही परम गति, परम आश्रय एवं अपने प्राणोंके आधार, सर्वस्व मानकर उन्हींपर निर्भर और उनके किये हुए विधानमें प्रसन्न रहनेवालेको भगवत्परायण पुरुष कहते हैं।

२. भगवद्भक्तोंके उपर्युक्त लक्षण ही वस्तुतः मानवधर्मका सच्चा स्वरूप है। इन्हींके पालनमें मनुष्यजन्मकी सार्थकता है, क्योंकि इनके पालनसे साधक सदाके लिये मृत्युके पंजेसे छूट जाता है और उसे अमृतस्वरूप भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। इसी भावको स्पष्ट समझानेके लिये यहाँ इस लक्षण-समुदायका नाम 'धर्ममय अमृत' रखा गया है।

३. जिन सिद्ध भक्तोंको भगवान्की प्राप्ति हो चुकी है, उनमें तो उपर्युक्त लक्षण स्वाभाविक ही रहते हैं; इसलिये उनमें इन गुणोंका होना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है; परंतु जिन साधक भक्तोंको भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुए हैं, तो भी वे भगवान्पर विश्वास करके परम श्रद्धाके साथ तन, मन, धन, सर्वस्व भगवान्के अर्पण करके उन्हींके परायण हो जाते हैं तथा भगवान्के दर्शनोंके लिये निरन्तर उन्हींका निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक चिन्तन करते रहते हैं और सतत चेष्टा करके उपर्युक्त लक्षणोंके अनुसार ही अपना जीवन बिताना चाहते हैं—बिना प्रत्यक्ष दर्शन हुए भी केवल विश्वासपर उनका इतना निर्भर हो जाना विशेष महत्त्वकी बात है। ऐसे प्रेमी भक्तोंको सिद्ध भक्तोंकी अपेक्षा भी 'अतिशय प्रिय' कहना उचित ही है।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः
(श्रीमद्भगवद्गीतायां त्रयोदशोऽध्यायः)
ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुषका वर्णन

सम्बन्ध—*गीताके बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने सगुण और निर्गुणके उपासकोंकी श्रेष्ठताके विषयमें प्रश्न किया था, उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें संक्षेपमें सगुण उपासकोंकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करके तीसरेसे पाँचवें श्लोकतक निर्गुण उपासनाका स्वरूप, उसका फल और देहाभिमानियोंके लिये उसके अनुष्ठानमें कठिनताका निरूपण किया। तदनन्तर छठेसे बीसवें श्लोकतक सगुण उपासनाका महत्त्व, फल, प्रकार और भगवद्भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते-करते ही अध्यायकी समाप्ति हो गयी; निर्गुणका तत्त्व, महिमा और उसकी प्राप्तिके साधनोंको विस्तारपूर्वक नहीं समझाया गया। अतएव निर्गुण-निराकारका तत्त्व अर्थात् ज्ञानयोगका विषय भलीभाँति समझानेके लिये तेरहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। इसमें पहले भगवान् क्षेत्र (शरीर) तथा क्षेत्रज्ञ (आत्मा)-के लक्षण बतलाते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।। १ ।।

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र'[१] इस नामसे कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ'[२] इस नामसे उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं ।। १ ।।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत् तज्ज्ञानं मतं मम ।। २ ।।

हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी भी मुझे ही जान[३] और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकार-सहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है, वह ज्ञान है —ऐसा मेरा मत है ।। २ ।।

सम्बन्ध—*क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर संसारभ्रमका नाश हो जाता है और परमात्माकी प्राप्ति होती है, अतएव 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के स्वरूप आदिको भलीभाँति विभागपूर्वक समझानेके लिये भगवान् कहते हैं—*

तत् क्षेत्रं यच्च[४] यादृक्[५] च यद्विकारि[६] यतश्च यत्[७] ।
स[८] च यो यत्प्रभावश्च[९] तत् समासेन मे शृणु ।। ३ ।।

वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारणसे जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन ।। ३ ।।

सम्बन्ध—*तीसरे श्लोकमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के जिस तत्त्वको संक्षेपमें सुननेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—अब उसके विषयमें ऋषि, वेद और ब्रह्म-सूत्रकी उक्तिका प्रमाण देकर भगवान् ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्रको आदर देते हैं—*

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः[१] पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव[२] हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।। ४ ।।

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा[३] बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है ।।

महाभूतान्यहंकारो[४] बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

इन्द्रियाणिद शैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।। ५ ।।[५]

पाँच महाभूत, अहंकार[६], बुद्धि[७] और मूल प्रकृति[१] भी; तथा दस इन्द्रियाँ[२], एक मन[३] और पाँच इन्द्रियोंके विषय[४] अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध— ।। ५ ।।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।

एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।। ६ ।।

तथा इच्छा,[५] द्वेष,[६] सुख,[७] दुःख,[८] स्थूल देहका पिण्ड, चेतना[९] और धृति[१०]—इस प्रकार विकारोंके सहित यह क्षेत्र संक्षेपमें कहा गया[११] ।। ६ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार क्षेत्रके स्वरूप और उसके विकारोंका वर्णन करनेके बाद अब जो दूसरे श्लोकमें यह बात कही थी कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतसे ज्ञान है—उस ज्ञानको प्राप्त करनेके साधनोंका 'ज्ञान' के ही नामसे पाँच श्लोकोंद्वारा वर्णन करते हैं—*

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा[१२] [१३] क्षान्तिरार्जवम् ।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।। ७ ।।

श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना[१], क्षमाभाव[२], मन-वाणी आदिकी सरलता[३], श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा[४], बाहर-भीतरकी शुद्धि[५], अन्तःकरणकी स्थिरता[६] और मन-इन्द्रियों-सहित शरीरका निग्रह[७] ।। ७ ।।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार[८] [९] एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।। ८ ।।

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना[१०] ।।

चार अवस्था

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।। (गीता १३।८)

असक्तिरनभिष्वङ्गः[१] [२] पुत्रदारगृहादिषु ।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु[३] ।। ९ ।।

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना ।। ९ ।।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि[४] [५] ।। १० ।।

मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति[६] तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना ।। १० ।।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।। ११ ।।

अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति[७] और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना[८]—यह सब ज्ञान है[१] और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान[२] है—ऐसा कहा है ।। ११ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार ज्ञानके साधनोंका 'ज्ञान' के नामसे वर्णन सुननेपर यह जिज्ञासा हो सकती है कि इन साधनोंद्वारा प्राप्त 'ज्ञान' से जाननेयोग्य वस्तु क्या है और उसे जान लेनेसे क्या होता है। उसका उत्तर देनेके लिये भगवान् अब जाननेके योग्य वस्तुके स्वरूपका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसके जाननेका फल 'अमरत्वकी प्राप्ति' बतलाकर छः श्लोकोंमें जाननेके योग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—*

ज्ञेयं[३] यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।

अनादिमत् परं ब्रह्म[४] न सत् तन्नासदुच्यते ।। १२ ।।

जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादिवाला परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही[५] ।। १२ ।।

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।। १३ ।।[१]

वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है;[२] क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है[३] ।। १३ ।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।। १४ ।।

वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परंतु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है[४] तथा आसक्ति-रहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और निर्गुण होनेपर भी

गुणोंको भोगनेवाला है[५] ।। १४ ।।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।। १५ ।।[६]

वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है[७] एवं वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है[८] तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है[१] ।। १५ ।।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।। १६ ।।

वह परमात्मा विभागरहित एक रूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है[२] तथा वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूपसे भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला है ।। १६ ।।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः[३] परमुच्यते ।

ज्ञानं ज्ञेयं[४] ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।। १७ ।।

वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति[५] एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य[६] है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है[७] ।। १७ ।।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।। १८ ।।

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जाननेयोग्य परमात्मा-का स्वरूप संक्षेपसे कहा गया[८]। मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है[९] ।। १८ ।।

सम्बन्ध—*इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने क्षेत्रके विषयमें चार बातें और क्षेत्रज्ञके विषयमें दो बातें संक्षेपमें सुननेके लिये अर्जुनसे कहा था, फिर विषय आरम्भ करते ही क्षेत्रके स्वरूपका और उसके विकारोंका वर्णन करनेके अनन्तर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके तत्त्वको भलीभाँति जाननेके उपायभूत साधनोंका और जाननेके योग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन प्रसंगवश किया गया। इससे क्षेत्रके विषयमें उसके स्वभावका और किस कारणसे कौन कार्य उत्पन्न होता है, इस विषयका तथा प्रभावसहित क्षेत्रज्ञके स्वरूपका भी वर्णन नहीं हुआ। अतः अब उन सबका वर्णन करनेके लिये भगवान् पुनः प्रकृति और पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करते हैं—*

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव[१] विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।। १९ ।।

प्रकृति[२] और पुरुष, इन दोनोंको ही तू अनादि जान[३] और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान ।। १९ ।।

सम्बन्ध—*इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें, जिससे जो उत्पन्न हुआ है, यह बात सुननेके लिये कहा गया था, उसका वर्णन पूर्वश्लोकके उत्तरार्द्धमें कुछ किया गया। अब उसीकी कुछ बात इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें कहते हुए इसके उत्तरार्द्धमें और इक्कीसवें श्लोकमें प्रकृतिमें स्थित पुरुषके स्वरूपका वर्णन किया जाता है—*

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।। २० ।।

कार्य और करणको उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है[४] और जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है[५] ।। २० ।।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।। २१ ।।

प्रकृतिमें स्थित ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है[१] और इन गुणोंका संग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है[२] ।। २१ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार प्रकृतिस्थ पुरुषके स्वरूपका वर्णन करनेके बाद अब जीवात्मा और परमात्माकी एकता करते हुए आत्माके गुणातीत स्वरूपका वर्णन करते हैं—*

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ।। २२ ।।

इस देहमें स्थित यह आत्मा वास्तवमें परमात्मा ही है[३]। वही साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मा आदिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदा-नन्दघन होनेसे परमात्मा—ऐसा कहा गया है[४] ।। २२ ।।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।। २३ ।।

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है[५], वह सब प्रकारसे कर्तव्य-कर्म करता हुआ भी[६] फिर नहीं जन्मता[७] ।। २३ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार गुणोंके सहित प्रकृति और पुरुषके ज्ञानका महत्त्व सुनकर यह इच्छा हो सकती है कि ऐसा ज्ञान कैसे होता है। इसलिये अब दो श्लोकोंद्वारा भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये तत्त्वज्ञानके भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रतिपादन करते हैं—*

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।। २४ ।।

उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं;[१] अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा[२] और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा[३] देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं ।। २४ ।।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।[४]

तेऽपि चातितरन्त्येव[५] मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।। २५ ।।

परंतु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं ।। २५ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार परमात्मसम्बन्धी तत्त्वज्ञानके भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रतिपादन करके अब तीसरे श्लोकमें जो 'यादृक्' पदसे क्षेत्रके स्वभावको सुननेके लिये कहा था, उसके अनुसार भगवान् दो श्लोकोंद्वारा उस क्षेत्रको उत्पत्ति-विनाशशील बतलाकर उसके स्वभावका वर्णन करते हुए आत्माके यथार्थ तत्त्वको जाननेवालेकी प्रशंसा करते हैं—*

यावत् संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ ।। २६ ।।

हे अर्जुन! जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न जान[१] ।। २६ ।।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।। २७ ।।

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है[२] ।। २७ ।।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ।। २८ ।।

क्योंकि जो पुरुष सबमें समभावसे स्थित परमेश्वरको समान देखता हुआ अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता[३], इससे वह परमगतिको प्राप्त होता है ।। २८ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मतत्त्वको सर्वत्र समभावसे देखनेका महत्त्व और फल बतलाकर अब अगले श्लोकमें उसे अकर्ता देखनेवालेकी महिमा कहते हैं—*

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ।। २९ ।।

और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्माको अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है[४] ।। २९ ।।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।। ३० ।।

जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है,[१] उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।। ३० ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार आत्माको सब प्राणियोंमें समभावसे स्थित, निर्विकार और अकर्ता बतलाया जानेपर यह शंका होती है कि समस्त शरीरोंमें रहता हुआ भी आत्मा उनके दोषोंसे निर्लिप्त और अकर्ता कैसे रह सकता है; इस शंकाका निवारण करनेके लिये अब भगवान्—इस अध्यायके तीसरे श्लोकमें जो 'यत्प्रभावश्च' पदसे क्षेत्रज्ञका प्रभाव सुननेका संकेत किया गया था, उसके अनुसार—तीन श्लोकोंद्वारा आत्माके प्रभावका वर्णन करते हैं—*

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः[२] ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।। ३१ ।।

हे अर्जुन! अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा[३] शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है[४] ।। ३१ ।।

सम्बन्ध—*शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा क्यों नहीं लिप्त होता? इसपर कहते हैं—*

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ।। ३२ ।।

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होनेके कारण देहके गुणोंसे लिप्त नहीं होता[५] ।।

सम्बन्ध—*शरीरमें स्थित होनेपर भी आत्मा कर्ता क्यों नहीं है? इसपर कहते हैं—*

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।। ३३ ।।

हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है[६] ।। ३३ ।।

सम्बन्ध—*तीसरे श्लोकमें जिन छः बातोंको कहनेका भगवान्‌ने संकेत किया था, उनका वर्णन करके अब इस अध्यायमें वर्णित समस्त उपदेशको भलीभाँति समझनेका फल परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाते हुए अध्यायका उपसंहार करते हैं—*

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।। ३४ ।।

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं,[१] वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।। १३ ।। भीष्मपर्वणि तु सप्तत्रिंशोऽध्यायः ।। ३७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १३ ।। भीष्मपर्वमें सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३७ ।।

---

१. जैसे खेतमें बोये हुए बीजोंका उनके अनुरूप फल समयपर प्रकट होता है, वैसे ही इस शरीरमें बोये हुए कर्म-संस्काररूप बीजोंका फल भी समयपर प्रकट होता रहता है। इसके अतिरिक्त इसका प्रतिक्षण क्षय होता रहता है, इसलिये भी इसे 'क्षेत्र' कहते हैं और इसीलिये गीताके पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें इसको 'क्षर' पुरुष कहा गया है।

२. इससे भगवान्ने अन्तरात्मा द्रष्टाका लक्ष्य करवाया है। मन, बुद्धि, इन्द्रिय, महाभूत और इन्द्रियोंके विषय आदि जितना भी ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) दृश्यवर्ग है—सब जड, विनाशी, परिवर्तनशील है। चेतन आत्मा उस जड दृश्यवर्गसे सर्वथा विलक्षण है। यह उसका ज्ञाता है, उसमें अनुस्यूत है और उसका अधिपति है। इसीलिये इसे 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। इसी ज्ञाता चेतन आत्माको गीताके सातवें अध्यायमें 'परा प्रकृति' (७।५), आठवेंमें 'अध्यात्म' (८।३) और पंद्रहवें अध्यायमें 'अक्षर पुरुष' (१५।१६) कहा गया है। यह आत्मतत्त्व बड़ा ही गहन है, इसीसे भगवान्ने भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके द्वारा कहीं स्त्रीवाचक, कहीं नपुंसकवाचक और कहीं पुरुषवाचक नामसे इसका वर्णन किया है। वास्तवमें आत्मा विकारोंसे सर्वथा रहित, अलिंग, नित्य, निर्विकार एवं चेतन—ज्ञानस्वरूप है।

३. इससे 'आत्मा' और 'परमात्मा' की एकताका प्रतिपादन किया गया है। आत्मा और परमात्मामें वस्तुतः कुछ भी भेद नहीं है, प्रकृतिके संगसे भेद-सा प्रतीत होता है; इसीलिये गीताके दूसरे अध्यायके चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें निर्गुण-निराकार परमात्माके लक्षणोंका वर्णन करते समय भी प्रायः उन्हींके भावोंके द्योतक शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

४. 'यत्' पदसे भगवान्ने क्षेत्रका स्वरूप बतलानेका संकेत किया है और उसे पाँचवें श्लोकमें बतलाया है।

५. 'यादृक्' पदसे क्षेत्रका स्वभाव बतलानेका संकेत किया है और उसका वर्णन छब्बीसवें और सत्ताईसवें श्लोकोंमें समस्त भूतोंको उत्पत्ति-विनाशशील बतलाकर किया है।

६. 'यद्विकारि' पदसे क्षेत्रके विकारोंका वर्णन करनेका संकेत किया है और उनका वर्णन छठे श्लोकमें किया है।

७. जिन पदार्थोंके समुदायका नाम 'क्षेत्र' है, उनमेंसे कौन पदार्थ किससे उत्पन्न हुआ—यह बतलानेका संकेत 'यतः च यत्' पदोंसे किया है और उसका वर्णन उन्नीसवें श्लोकके उत्तरार्द्धमें तथा बीसवेंके पूर्वार्द्धमें किया गया है।

८. 'सः' पद 'क्षेत्रज्ञ' का वाचक है तथा 'यः' पदसे उसका स्वरूप बतलानेका संकेत किया गया है और आगे चलकर उसके प्रकृतिस्थ एवं वास्तविक दोनों स्वरूपोंका वर्णन किया गया है—जैसे उन्नीसवें श्लोकमें उसे 'अनादि' बीसवेंमें 'सुख-दुःखोंका भोक्ता' एवं इक्कीसवेंमें 'अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेवाला' बतलाकर तो प्रकृतिस्थ पुरुषका स्वरूप बतलाया गया है और बाईसवेंमें तथा सत्ताईसवेंसे तीसवेंतक परमात्माके साथ एकता करके उसके वास्तविक स्वरूपका निरूपण किया गया है।

९. 'यत्प्रभावः' से क्षेत्रज्ञका प्रभाव बतलानेके लिये संकेत किया गया है और उसे इकतीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक बतलाया गया है।

१. 'विविधैः' विशेषणके सहित 'छन्दोभिः' पद ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदोंके 'संहिता' और 'ब्राह्मण' दोनों ही भागोंका वाचक है; समस्त उपनिषद् और भिन्न-भिन्न शाखाओंको भी इन्हींके अन्तर्गत समझ लेना

चाहिये।

२. ‘ब्रह्मसूत्रपदैः’ पद ‘वेदान्तदर्शन’ के जो ‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’ आदि सूत्ररूप पद हैं, उन्हींका वाचक प्रतीत होता है; क्योंकि उपर्युक्त सब लक्षण उनमें ठीक-ठीक मिलते हैं। यहाँ इस कथनका यह भाव है कि श्रुति-स्मृति आदिमें वर्णित जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा युक्तिपूर्वक समझाया गया है, उसका निचोड़ भी भगवान् यहाँ संक्षेपमें कह रहे हैं।

३. मन्त्रोंके द्रष्टा एवं शास्त्र और स्मृतियोंके रचयिता ऋषिगणोंने ‘क्षेत्र’ और ‘क्षेत्रज्ञ’ के स्वरूपको और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातोंको अपने-अपने ग्रन्थोंमें और पुराण-इतिहासोंमें बहुत प्रकारसे वर्णन करके विस्तारपूर्वक समझाया है; उन्हींका सार यहाँ बहुत थोड़े शब्दोंमें भगवान् कहते हैं।

४. स्थूल भूतोंके और शब्दादि विषयोंके कारणरूप जो पंचतन्मात्राएँ यानी सूक्ष्मपंचमहाभूत हैं—गीताके सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें जिनका ‘भूमिः’, ‘आपः’, ‘अनलः’, ‘वायुः’ और ‘खम्’ के नामसे वर्णन हुआ है—उन्हीं पाँचोंका वाचक यहाँ ‘महाभूतानि’ पद है।

५. इसीसे मिलता-जुलता वर्णन सांख्यकारिका और योगदर्शनमें भी आता है, जैसे—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।।

(सांख्यकारिका ३)

अर्थात् एक मूल प्रकृति है, वह किसीकी विकृति (विकार) नहीं है। महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धतन्मात्रा)—ये सात प्रकृति-विकृति हैं अर्थात् ये सातों पंचभूतादिके कारण होनेसे ‘प्रकृति’ भी हैं और मूल प्रकृतिके कार्य होनेसे ‘विकृति’ भी हैं। पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय और मन—ये ग्यारह इन्द्रिय और पंचमहाभूत —ये सोलह केवल विकृति (विकार) हैं, वे किसीकी प्रकृति अर्थात् कारण नहीं हैं। इनमें ग्यारह इन्द्रिय तो अहंकारके तथा पाँच स्थूल महाभूत पंचतन्मात्राओंके कार्य हैं; किंतु पुरुष न किसीका कारण है और न किसीका कार्य है, वह सर्वथा असंग है।

योगदर्शनमें कहा है—‘विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि।’ (२।१९) विशेष यानी पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, एक मन और पंच स्थूल भूत; अविशेष यानी अहंकार और पंचतन्मात्राएँ; लिंगमात्र यानी महत्तत्त्व और अलिंग यानी मूल प्रकृति—ये चौबीस तत्त्व गुणोंकी अवस्थाविशेष हैं; इन्हींको ‘दृश्य’ कहते हैं।

योगदर्शनमें जिसको ‘दृश्य’ कहा है, उसीको गीतामें ‘क्षेत्र’ कहा गया है।

६. यह समष्टि अन्तःकरणका एक भेद है। अहंकार ही पंचतन्मात्राओं, मन और समस्त इन्द्रियोंका कारण है तथा महत्तत्त्वका कार्य है; इसीको ‘अहंभाव’ भी कहते हैं। यहाँ ‘अहंकार’ शब्द उसीका वाचक है।

७. जिसे ‘महत्तत्त्व’ (महान्) और ‘समष्टि बुद्धि’ भी कहते हैं, जो समष्टि अन्तःकरणका एक भेद है, निश्चय ही जिसका स्वरूप है—उसको यहाँ ‘बुद्धि’ कहा गया है।

१. यहाँ ‘अव्यक्त’ का अर्थ मूल प्रकृति समझना चाहिये, जो महत्तत्त्व आदि समस्त पदार्थोंकी कारणरूपा है, सांख्यशास्त्रमें जिसको ‘प्रधान’ कहते हैं, भगवान्ने गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें जिसको ‘महद्ब्रह्म’ कहा है तथा इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें जिसको ‘प्रकृति’ नाम दिया गया है।

२. वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), उपस्थ और गुदा—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं तथा श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ये सब मिलकर दस इन्द्रियाँ हैं। इन सबका कारण अहंकार है।

३. यहाँ ‘एक’ शब्दसे उस मनको ही बतलाया गया है जो समष्टि अन्तःकरणकी मनन करनेवाली शक्तिविशेष है, संकल्प-विकल्प ही जिसका स्वरूप है। यह भी अहंकारका कार्य है।

४. यहाँ ‘पञ्च इन्द्रियगोचराः’ पदोंका अर्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध समझना चाहिये, जो कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके स्थूल विषय हैं। ये सूक्ष्म भूतोंके कार्य हैं।

५. जिन पदार्थोंको मनुष्य सुखके हेतु और दुःखनाशक समझता है, उनको प्राप्त करनेकी जो आसक्तियुक्त कामना है —जिसके वासना, तृष्णा, आशा, लालसा और स्पृहा आदि अनेकों भेद हैं—उसीका वाचक यहाँ ‘इच्छा’ शब्द है।

६. जिन पदार्थोंको मनुष्य दुःखमें हेतु या सुखमें बाधक समझता है, उनमें जो विरोधबुद्धि होती है—उसका नाम ‘द्वेष’ है। इसके स्थूल रूप वैर, ईर्ष्या, घृणा और क्रोध आदि हैं।

७. अनुकूलकी प्राप्ति और प्रतिकूलकी निवृत्तिसे अन्तःकरणमें जो प्रसन्नताकी वृत्ति होती है, उसका नाम ‘सुख’ है।

८. प्रतिकूलकी प्राप्ति और अनुकूलके विनाशसे जो अन्तःकरणमें व्याकुलता होती है, जिसे व्यथा भी कहते हैं—उसका वाचक ‘दुःख’ है।

९. अन्तःकरणमें जो ज्ञानशक्ति है, जिसके द्वारा प्राणी सुख-दुःख और समस्त पदार्थोंका अनुभव करते हैं, जिसे गीताके दसवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें 'चेतना' कहा गया है—उसीका वाचक यहाँ 'चेतना' है, यह भी अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है; अतएव इसकी भी गणना क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

१०. गीताके अठारहवें अध्यायके तैंतीसवें, चौंतीसवें और पैंतीसवें श्लोकोंमें जिस धारणशक्तिके सात्त्विक, राजस और तामस—तीन भेद किये गये हैं, उसीका वाचक यहाँ 'धृति' है। अन्तःकरणका विकार होनेसे इसकी गणना भी क्षेत्रके विकारोंमें की गयी है।

११. यहाँतक विकारोंसहित क्षेत्रका संक्षेपसे वर्णन हो गया अर्थात् पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रका स्वरूप संक्षेपमें बतला दिया गया और छठेमें उसके विकारोंका वर्णन संक्षेपमें कर दिया गया।

१२. अपनेको श्रेष्ठ, सम्मान्य, पूज्य या बहुत बड़ा समझना एवं मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा-पूजा आदिकी इच्छा करना अथवा बिना ही इच्छा किये इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना—यह मानित्व है। इन सबका न होना ही 'अमानित्व' है।

१३. मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजाके लिये, धनादिके लोभसे या किसीको ठगने आदिके अभिप्रायसे अपनेको धर्मात्मा, दानशील, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा विख्यात करना और बिना ही हुए धर्मपालन, उदारता, दातापन, भक्ति, योगसाधना, व्रत-उपवासादिका अथवा अन्य किसी भी प्रकारके गुणका ढोंग करना—दम्भित्व है। इसके सर्वथा अभावका नाम 'अदम्भित्व' है।

१. किसी भी प्राणीको मन, वाणी या शरीरसे किसी प्रकार भी कभी कष्ट देना—मनसे किसीका बुरा चाहना, वाणीसे किसीको गाली देना, कठोर वचन कहना, किसीकी निन्दा करना या अन्य किसी प्रकारके दुःखदायक और अहितकारक वचन कह देना; शरीरसे किसीको मारना, कष्ट पहुँचाना या किसी प्रकारसे हानि पहुँचाना आदि जो हिंसाके भाव हैं, इन सबके सर्वथा अभावका नाम 'अहिंसा' अर्थात् किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना है।

२. अपना अपराध करनेवालेके लिये किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव मनमें न रखना, उससे बदला लेनेकी अथवा अपराधके बदले उसे इस लोक या परलोकमें दण्ड मिले—ऐसी इच्छा न रखना और उसके अपराधोंको वस्तुतः अपराध ही न मानकर उन्हें सर्वथा भुला देना 'क्षमाभाव' है। गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इसकी कुछ विस्तारसे व्याख्या की गयी है।

३. जिस साधकमें मन, वाणी और शरीरकी सरलताका भाव पूर्णरूपसे आ जाता है, वह सबके साथ सरलताका व्यवहार करता है; उसमें कुटिलताका सर्वथा अभाव हो जाता है अर्थात् उसके व्यवहारमें दाव-पेंच, कपट या टेढ़ापन जरा भी नहीं रहता; वह बाहर और भीतरसे सदा समान और सरल रहता है।

४. विद्या और सदुपदेश देनेवाले गुरुका नाम 'आचार्य' है। ऐसे गुरुके पास रहकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरके द्वारा सब प्रकारसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना, नमस्कार करना, उनकी आज्ञाओंका पालन करना और उनके अनुकूल आचरण करना आदि 'आचार्योपासन' यानी गुरु-सेवा है।

५. सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी शुद्धि होती है, उस द्रव्यसे उपार्जित अन्नसे आहारकी शुद्धि होती है। यथायोग्य शुद्ध बर्तावसे आचरणोंकी शुद्धि होती है और जल-मिट्टी आदिके द्वारा प्रक्षालनादि क्रियासे शरीरकी शुद्धि होती है। यह सब बाहरकी शुद्धि है। राग-द्वेष और छल-कपट आदि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि है। दोनों ही प्रकारकी शुद्धियोंको 'शौच' कहा जाता है।

६. बड़े-से-बड़े कष्ट, विपत्ति, भय या दुःखके आ पड़नेपर भी विचलित न होना एवं काम, क्रोध, भय या लोभ आदिसे किसी प्रकार भी अपने धर्म और कर्तव्यसे जरा भी न डिगना तथा मन और बुद्धिमें किसी तरहकी चंचलताका न रहना 'अन्तःकरणकी स्थिरता' है।

७. यहाँ 'आत्मा' से अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरको समझना चाहिये। अतः इन सबको भलीभाँति अपने वशमें कर लेना ही इनका निग्रह करना है।

८. इस लोक और परलोकके जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय-पदार्थ हैं—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जिनका भोग किया जाता है और अज्ञानके कारण जिनको मनुष्य सुखके हेतु समझता है, किंतु वास्तवमें जो दुःखके कारण हैं—उन सबमें प्रीतिका सर्वथा अभाव हो जाना 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' है।

९. मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—इन सबमें जो 'अहम्' बुद्धि हो रही है—अर्थात् अज्ञानके कारण जो इन अनात्मवस्तुओंमें आत्मबुद्धि हो रही है—इस देहाभिमानका सर्वथा अभाव हो जाना 'अनहंकार' कहलाता है।

१०. जन्मका कष्ट सहज नहीं है; पहले तो असहाय जीवको माताके गर्भमें लंबे समयतक भाँति-भाँतिके क्लेश होते हैं, फिर जन्मके समय योनिद्वारसे निकलनेमें असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्म ग्रहण करनेमें ये जन्म-दुःख होते हैं। मृत्युकालमें भी महान् कष्ट होता है। जिस शरीर और घरमें आजीवन ममता रही, उसे बलात्

छोड़कर जाना पड़ता है। मरणसमयके निराश नेत्रोंको और शारीरिक पीड़ाको देखकर उस समयकी यन्त्रणाका बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। बुढ़ापेकी यन्त्रणा भी कम नहीं होती; इन्द्रियाँ शिथिल और शक्तिहीन हो जाती हैं, शरीर जर्जर हो जाता है, मनमें नित्य लालसाकी तरंगें उछलती रहती हैं, असहाय अवस्था हो जाती है। ऐसी अवस्थामें जो कष्ट होता है, वह बड़ा ही भयानक होता है। इसी प्रकार बीमारीकी पीड़ा भी बड़ी दुःखदायिनी होती है। शरीर क्षीण हो गया, नाना प्रकारके असह्य कष्ट हो रहे हैं, दूसरोंकी अधीनता है। निरुपाय स्थिति है। यही सब जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख हैं। इन दुःखोंको बार-बार स्मरण करना और इनपर विचार करना ही इनमें दुःखोंको देखना है।

जीवोंको ये जन्म, मृत्यु, जरा व्याधि प्राप्त होते हैं—पापोंके परिणामस्वरूप; अतएव ये चारों ही दोषमय हैं। इसीका बार-बार विचार करना इनमें दोषोंको देखना है।

१. यद्यपि आठवें श्लोकमें इन्द्रियोंके अर्थोंमें वैराग्य होनेकी बात कही जा चुकी, किंतु स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थोंके साथ मनुष्यका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण प्रायः इनमें उसकी विशेष आसक्ति होती है; इसीलिये इनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जानेकी बात विशेषरूपसे पृथक् कही गयी है।

२. अहंकारके अभावकी बात पूर्वश्लोकके 'अनहंकारः' पदमें स्पष्टतः आ चुकी है, इसीलिये यहाँ 'अनभिष्वङ्ग' का अर्थ 'ममताका अभाव' किया गया है।

३. अनुकूलके संयोग और प्रतिकूलके वियोगसे चित्तमें हर्ष आदि न होना तथा प्रतिकूलके संयोग और अनुकूलके वियोगसे किसी प्रकारके शोक, भय और क्रोध आदिका न होना—सदा ही निर्विकार, एकरस, सम रहना—इसको 'प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें समचित्तता' कहते हैं।

४. जहाँ किसी प्रकारका शोर—गुल या भीड़भाड़ न हो, जहाँ दूसरा कोई न रहता हो, जहाँ रहनेमें किसीको भी आपत्ति या क्षोभ न हो, जहाँ किसी प्रकारकी गंदगी न हो, जहाँ काँटे-कंकड़ और कूड़ा-कर्कट न हों, जहाँका प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हो, जल, वायु और वातावरण निर्मल और पवित्र हों, किसी प्रकारकी बीमारी न हो, हिंसक प्राणियोंका और हिंसाका अभाव हो और जहाँ स्वाभाविक ही सात्त्विकताके परमाणु भरे हों, ऐसे देवालय, तपोभूमि, गंगा आदि पवित्र नदियोंके तट और पवित्र वन, गिरि-गुहा आदि निर्जन एकान्त और शुद्ध देशको 'विविक्तदेश' कहते हैं तथा ज्ञानको प्राप्त करनेकी साधनाके लिये ऐसे स्थानमें निवास करना ही उसका सेवन करना है।

५. यहाँ 'जनसंसदि' पद 'प्रमादी' और 'विषयासक्त' सांसारिक मनुष्योंके समुदायका वाचक है। ऐसे लोगोंके संगको साधनमें सब प्रकारसे बाधक समझकर उससे विरक्त रहना ही उसमें प्रेम नहीं करना है। संत, महात्मा और साधक पुरुषोंका संग तो साधनमें सहायक होता है; अतः उनके समुदायका वाचक यहाँ 'जनसंसदि' नहीं समझना चाहिये।

६. भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी, शरण ग्रहण करनेयोग्य, परम गति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं; उनको छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्‌के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम 'अनन्य योग' है तथा इस प्रकारके सम्बन्धसे केवल भगवान्‌में ही अटल और पूर्ण विशुद्ध प्रेम करके निरन्तर भगवान्‌का ही भजन, ध्यान करते रहना ही अनन्य योगके द्वारा भगवान्‌में अव्यभिचारिणी भक्ति करना है।

७. आत्मा, नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है; उससे भिन्न जो नाशवान्, जड, विकारी और परिवर्तनशील वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—वे सब अनात्मा हैं, आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे इस प्रकार आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'अध्यात्मज्ञान' है और बुद्धिमें ठीक वैसा ही दृढ़ निश्चय करके मनसे उस आत्मतत्त्वका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना 'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थित रहना' है।

८. तत्त्वज्ञानका अर्थ है—सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमात्मा; क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उन्हींकी प्राप्ति होती है। उन सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्माका सर्वत्र समभावसे नित्य-निरन्तर अनुभव करते रहना ही उस अर्थका दर्शन करना है।

९. 'अमानित्वम्' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक जिनका वर्णन किया गया है, वे सभी ज्ञानप्राप्तिके साधन हैं; इसलिये उनका नाम भी 'ज्ञान' रखा गया है। अभिप्राय यह है कि दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने जो यह बात कही है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, वही मेरे मतसे ज्ञान है—इस कथनसे कोई ऐसा न समझ ले कि शरीरका नाम 'क्षेत्र' है और इसके अंदर रहनेवाले ज्ञाता आत्माका नाम 'क्षेत्रज्ञ' है—यह बात हमने समझ ही ली; बस, हमें ज्ञान प्राप्त हो गया; किंतु वास्तवमें सच्चा ज्ञान वही है जो उपर्युक्त बीस साधनोंके द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके स्वरूपको यथार्थरूपसे जान लेनेपर होता है। इसी बातको समझानेके लिये यहाँ इन साधनोंको 'ज्ञान' के नामसे कहा गया है। अतएव ज्ञानीमें उपर्युक्त गुणोंका समावेश पहलेसे ही होना आवश्यक है, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि ये सभी गुण सभी साधकोंमें एक ही समयमें हों। अवश्य ही, इनमें जो 'अमानित्व', 'अदम्भित्व' आदि बहुत-से सबके उपयोगी गुण हैं, वे तो सबमें रहते ही हैं। इनके अतिरिक्त

‘अव्यभिचारिणी भक्ति’, ‘एकान्तदेशसेवित्व’, ‘अध्यात्मज्ञाननित्यत्व’, ‘तत्त्वज्ञानार्थदर्शन’—इनमें अपनी-अपनी साधन-शैलीके अनुसार विकल्प भी हो सकता है।

२. उपर्युक्त अमानित्वादि गुणोंसे विपरीत जो मान-बड़ाईकी कामना, दम्भ, हिंसा, क्रोध, कपट, कुटिलता, द्रोह, अपवित्रता, अस्थिरता, लोलुपता, आसक्ति, अहंता, ममता, विषमता, अश्रद्धा और कुसंग आदि दोष हैं, वे सभी जन्म-मृत्युके हेतुभूत अज्ञानको बढ़ानेवाले और जीवका पतन करनेवाले हैं; इसलिये वे सब अज्ञान ही हैं। अतएव उन सबका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

३. यहाँ ‘ज्ञेयम्’ पद सच्चिदानन्दघन निर्गुण और सगुण ब्रह्मका वाचक है, क्योंकि इसी प्रकरणमें स्वयं भगवान्‌ने ही उसको निर्गुण और गुणोंका भोक्ता बतलाया है।

४. यहाँ ‘परम्’ विशेषणके सहित ‘ब्रह्म’ पदका प्रयोग, वह ज्ञेय तत्त्व ही निर्गुण, निराकार, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा है, यह बतलानेके उद्देश्यसे किया गया है। ‘ब्रह्म’ पद वेद, ब्रह्मा और प्रकृतिका भी वाचक हो सकता है; अतएव ज्ञेयतत्त्वका स्वरूप उनसे विलक्षण है, यह बतलानेके लिये ‘ब्रह्म’ पदके साथ ‘परम्’ विशेषण दिया गया है।

५. जो वस्तु प्रमाणोंद्वारा सिद्ध की जाती है, उसे ‘सत्’ कहते हैं। स्वतः प्रमाण नित्य अविनाशी परमात्मा किसी भी प्रमाणद्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि परमात्मासे ही सबकी सिद्धि होती है, परमात्मातक किसी भी प्रमाणकी पहुँच नहीं है। वह प्रमाणोंद्वारा जाननेमें आनेवाली वस्तुओंसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिये परमात्माको ‘सत्’ नहीं कहा जा सकता तथा जिस वस्तुका वास्तवमें अस्तित्व नहीं होता, उसे ‘असत्’ कहते हैं; किंतु परब्रह्म परमात्माका अस्तित्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है। वह अवश्य है और वह है—इसीसे अन्य सबका होना भी सिद्ध होता है; अतः उसे ‘असत्’ भी नहीं कहा जा सकता। इसीलिये परमात्मा ‘सत्’ और ‘असत्’ दोनोंसे ही परे है।

यद्यपि गीताके नवम अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें तो भगवान्‌ने कहा है कि ‘सत्’ भी मैं हूँ और ‘असत्’ भी मैं हूँ और यहाँ यह कहते हैं कि उस जाननेयोग्य परमात्माको न ‘सत्’ कहा जा सकता है और न ‘असत्’; किंतु वहाँ विधिमुखसे वर्णन है, इसलिये भगवान्‌का यह कहना कि ‘सत्’ भी मैं हूँ और ‘असत्’ भी मैं हूँ, उचित ही है। पर यहाँ निषेधमुखसे वर्णन है, किंतु वास्तवमें उस परब्रह्म परमात्माका स्वरूप वाणीके द्वारा न तो विधिमुखसे बतलाया जा सकता है और न निषेधमुखसे ही। उसके विषयमें जो कुछ भी कहा जाता है, सब केवल शाखाचन्द्रन्यायसे उसे लक्ष्य करानेके लिये ही है, उसके साक्षात् स्वरूपका वर्णन वाणीद्वारा हो ही नहीं सकता। श्रुति भी कहती है—‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह’ (तैत्तिरीय उप० २।९), अर्थात् ‘मनके सहित वाणी जिसे न पाकर वापस लौट आती है (वह ब्रह्म है)।’ इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये यहाँ भगवान्‌ने निषेधमुखसे कहा है कि वह न ‘सत्’ कहा जाता है और न ‘असत्’ ही। अर्थात् मैं जिस ज्ञेयवस्तुका वर्णन करना चाहता हूँ, उसका वास्तविक स्वरूप तो मन-वाणीका अविषय है; अतः उसका जो कुछ भी वर्णन किया जायगा, उसे उसका तटस्थ लक्षण ही समझना चाहिये।

१. यह श्लोक श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।१६)-में अक्षरशः आया है।

२. वह परब्रह्म परमात्मा सब ओर हाथवाला है। उसे कोई भी वस्तु कहींसे भी समर्पण की जाय, वह वहींसे उसे ग्रहण करनेमें समर्थ है। इसी तरह वह सब जगह पैरवाला है। कोई भी भक्त कहींसे उसके चरणोंमें प्रणामादि करते हैं, वह वहीं उसे स्वीकार कर लेता है। वह सब जगह आँखवाला है। उससे कुछ भी छिपा नहीं है। वह सब जगह सिरवाला है। जहाँ कहीं भी भक्तलोग उसका सत्कार करनेके उद्देश्यसे पुष्प आदि उसके मस्तकपर चढ़ाते हैं, वे सब ठीक उसपर चढ़ते हैं। वह सब जगह मुखवाला है। उसके भक्त जहाँ भी उसको खानेकी वस्तु समर्पण करते हैं, वह वहीं उस वस्तुको स्वीकार कर सकता है। अर्थात् वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा सबका साक्षी, सब कुछ देखनेवाला तथा सबकी पूजा और भोग स्वीकार करनेकी शक्तिवाला है। वह परमात्मा सब जगह सुननेकी शक्तिवाला है। जहाँ कहीं भी उसके भक्त उसकी स्तुति करते हैं या उससे प्रार्थना अथवा याचना करते हैं, उन सबको वह भलीभाँति सुनता है।

३. आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारण होनेसे उनको व्याप्त किये हुए स्थित है, उसी प्रकार वह ज्ञेयस्वरूप परमात्मा भी इस चराचर जीवसमूहसहित समस्त जगत्‌का कारण होनेसे सबको व्याप्त किये हुए स्थित है, अतः सब कुछ उसीसे परिपूर्ण है।

४. अभिप्राय यह है कि तेरहवें श्लोकमें जो उसको सब जगह हाथ-पैरवाला और अन्य सब इन्द्रियोंवाला बतलाया गया है, उससे यह बात नहीं समझनी चाहिये कि वह ज्ञेय परमात्मा अन्य जीवोंकी भाँति हाथ-पैर आदि इन्द्रियोंवाला है; वह इस प्रकारकी इन्द्रियोंसे सर्वथा रहित होते हुए भी सब जगह उन-उन इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ है। इसलिये उसको सब जगह सब इन्द्रियोंवाला और सब इन्द्रियोंसे रहित कहा गया है। श्रुतिमें भी कहा है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१९)

'वह परमात्मा बिना पैर-हाथके ही वेगसे चलता और ग्रहण करता है तथा बिना नेत्रोंके देखता और बिना कानोंके ही सुनता है।' अतएव उसका स्वरूप अलौकिक है, इस वर्णनमें यही बात समझायी गयी है।

५. अभिप्राय यह है कि वह परमात्मा सब गुणोंका भोक्ता होते हुए भी अन्य जीवोंकी भाँति प्रकृतिके गुणोंसे लिप्त नहीं है। वह वास्तवमें गुणोंसे सर्वथा अतीत है, तो भी प्रकृतिके सम्बन्धसे समस्त गुणोंका भोक्ता है। यही उसकी अलौकिकता है।

६. श्रुतिमें भी कहा है—'तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।। ' (ईशोपनिषद् ५) अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और समीप भी है, वह इस सम्पूर्ण जगत्के भीतर भी है और इन सबके बाहर भी है।

७. वह परमात्मा चराचर भूतोंके बाहर और भीतर भी है, इससे कोई यह बात न समझ ले कि चराचर भूत उससे भिन्न होंगे। इसीको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं कि चराचर भूत भी वही है। अर्थात् जैसे बरफके बाहर-भीतर भी जल है और स्वयं बरफ भी वस्तुतः जल ही है—जलसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार यह समस्त चराचर जगत् उस परमात्माका ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है।

८. जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित परमाणुरूप जल साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता—उनके लिये वह दुर्विज्ञेय है, उसी प्रकार वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा भी उस परमाणुरूप जलकी अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता; इसलिये वह अविज्ञेय है।

१. सम्पूर्ण जगत्में और इसके बाहर ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ परमात्मा न हों। इसलिये वह अत्यन्त समीपमें भी है और दूरमें भी है; क्योंकि जिसको मनुष्य दूर और समीप मानता है, उन सभी स्थानोंमें वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा सदा ही परिपूर्ण है। इसलिये इस तत्त्वको समझनेवाले श्रद्धालु मनुष्योंके लिये वह परमात्मा अत्यन्त समीप है और अश्रद्धालुके लिये अत्यन्त दूर है।

२. इस वाक्यसे उस जाननेयोग्य परमात्माके एकत्वका प्रतिपादन किया गया है। अभिप्राय यह है कि जैसे महाकाश वास्तवमें विभागरहित है तो भी भिन्न-भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा वास्तवमें विभागरहित है, तो भी समस्त चराचर प्राणियोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे पृथक्-पृथक्के सदृश स्थित प्रतीत होता है; किंतु यह भिन्नता केवल प्रतीतिमात्र ही है, वास्तवमें वह परमात्मा एक है और वह सर्वत्र परिपूर्ण है।

३. यहाँ 'तमसः' पद अन्धकार और अज्ञान अर्थात् मायाका वाचक है और वह परमात्मा स्वयंज्योति तथा ज्ञानस्वरूप है; अन्धकार और अज्ञान उसके निकट नहीं रह सकते, इसलिये उसे मायासे अत्यन्त परे—इनसे सर्वथा रहित—बतलाया गया है।

४. उसे पुनः 'ज्ञेय' कहकर यह भाव दिखलाया गया है कि जिस ज्ञेयका बारहवें श्लोकमें प्रकरण आरम्भ किया गया है, उस परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर लेना ही इस संसारमें मनुष्य-शरीरका परम कर्तव्य है; इस संसारमें जाननेके योग्य एकमात्र परमात्मा ही है। अतएव उसका तत्त्व जाननेके लिये सभीको पूर्णरूपसे उद्योग करना चाहिये, अपने अमूल्य जीवनको सांसारिक भोगोंमें लगाकर नष्ट नहीं कर डालना चाहिये।

५. चन्द्रमा, सूर्य, विद्युत्, तारे आदि जितनी भी बाह्य ज्योतियाँ हैं; बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ आदि जितनी आध्यात्मिक ज्योतियाँ हैं तथा विभिन्न लोकों और वस्तुओंके अधिष्ठातृदेवतारूप जो देवज्योतियाँ हैं—उन सभीका प्रकाशक वह परमात्मा है तथा उन सबमें जितनी प्रकाशनशक्ति है, वह भी उसी परब्रह्म परमात्माका एक अंशमात्र है।

६. अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त अमानित्वादि ज्ञान-साधनोंके द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञानसे वह जाना जाता है।

७. वह परमात्मा सब जगह समानभावसे परिपूर्ण होते हुए भी, हृदयमें उसकी विशेष अभिव्यक्ति है। जैसे सूर्यका प्रकाश सब जगह समानरूपसे विस्तृत रहनेपर भी दर्पण आदिमें उसके प्रतिबिम्बकी विशेष अभिव्यक्ति होती है एवं सूर्यमुखी शीशेमें उसका तेज प्रत्यक्ष प्रकट होकर अग्नि उत्पन्न कर देता है, अन्य पदार्थोंमें उस प्रकारकी अभिव्यक्ति नहीं होती, उसी प्रकार हृदय उस परमात्माकी उपलब्धिका स्थान है। ज्ञानीके हृदयमें तो वह प्रत्यक्ष ही प्रकट है। यही बात समझानेके लिये उसको सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित बतलाया गया है।

८. इस अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विकारोंसहित क्षेत्रके स्वरूपका वर्णन किया गया है, सातवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक ज्ञानके नामसे ज्ञानके बीस साधनोंका और बारहवेंसे सत्रहवेंतक ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया है।

९. क्षेत्रको प्रकृतिका कार्य, जड, विकारी, अनित्य और नाशवान् समझना, ज्ञानके साधनोंको भलीभाँति धारण करना और उनके द्वारा भगवान्के निर्गुण, सगुणरूपको भलीभाँति समझ लेना—यही क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयको जानना है तथा उस ज्ञेयस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाना ही भगवान्के स्वरूपको प्राप्त हो जाना है।

१. इसी अध्यायके छठे श्लोकमें जिन इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख आदि विकारोंका वर्णन किया गया है—उन सबका वाचक यहाँ 'विकारान्' पद है तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका और इनसे उत्पन्न समस्त जड पदार्थोंका वाचक 'गुणान्' पद है। इन दोनोंको प्रकृतिसे उत्पन्न समझनेके लिये कहकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका नाम प्रकृति नहीं है; प्रकृति अनादि है। तीनों गुण सृष्टिके आदिमें उससे उत्पन्न होते हैं (भागवत २।५।२२ तथा ११।२४।५)। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने गीताके चौदहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें सत्त्व, रज और तम—इस प्रकार तीनों गुणोंका नाम देकर तीनोंको प्रकृतिसम्भव बतलाया है।

२. यहाँ 'प्रकृति' शब्द ईश्वरकी अनादिसिद्ध मूल प्रकृतिका वाचक है। गीताके चौदहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें इसीको महद्ब्रह्मके नामसे कहा गया है। सातवें अध्यायके चौथे और पाँचवें श्लोकोंमें अपरा प्रकृतिके नामसे और इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें क्षेत्रके नामसे भी इसीका वर्णन है। भेद इतना ही है कि वहाँ सातवें अध्यायमें उसके कार्य—मन, बुद्धि, अहंकार और पंचमहाभूतादिके सहित प्रकृतिका वर्णन है और यहाँ केवल 'मूल प्रकृति' का वर्णन है।

३. जीवका जीवत्व अर्थात् प्रकृतिके साथ उसका सम्बन्ध किसी हेतुसे होनेवाला—आगन्तुक नहीं है, यह अनादिसिद्ध है और इसी प्रकार ईश्वरकी शक्ति यह प्रकृति भी अनादिसिद्ध है—ऐसा समझना चाहिये।

४. आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों सूक्ष्म महाभूत तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों इन्द्रियोंके विषय; इन दसोंका वाचक यहाँ 'कार्य' शब्द है। बुद्धि, अहंकार और मन—ये तीनों अन्तःकरण; श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ; इन तेरहका वाचक यहाँ 'करण' शब्द है। ये तेईस तत्त्व प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं, प्रकृति ही इनका उपादान कारण है; क्योंकि प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे पाँच सूक्ष्म महाभूत, मन और दस इन्द्रिय तथा पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे पाँचों इन्द्रियोंके शब्दादि पाँचों स्थूल विषयोंकी उत्पत्ति मानी जाती है। सांख्यकारिकामें भी कहा है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ।।
(सांख्यकारिका २२)

'प्रकृतिसे महत्तत्त्व (समष्टिबुद्धि)-की यानी बुद्धितत्त्वकी, उससे अहंकारकी और अहंकारसे पाँच तन्मात्राएँ, एक मन और दस इन्द्रियाँ—इन सोलहके समुदायकी उत्पत्ति हुई तथा उन सोलहमेंसे पाँच तन्मात्राओंसे पाँच स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति हुई।'

गीताके वर्णनमें पाँच तन्मात्राओंकी जगह पाँच सूक्ष्म महाभूतोंका नाम आया है और पाँच स्थूल भूतोंके स्थानमें पाँच इन्द्रियोंके विषयोंका नाम आया है, इतना ही भेद है।

५. प्रकृति जड है, उसमें भोक्तापनकी सम्भावना नहीं है और पुरुष असंग है, इसलिये उसमें भी वास्तवमें भोक्तापन नहीं है। प्रकृतिके संगसे ही पुरुषमें भोक्तापनकी प्रतीति-सी होती है और यह प्रकृति-पुरुषका रंग अनादि है, इसलिये यहाँ पुरुषको सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु यानी निमित्त माना गया है।

१. प्रकृतिसे बने हुए स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंमेंसे किसी भी शरीरके साथ जबतक इस जीवात्माका सम्बन्ध रहता है, तबतक वह प्रकृतिमें स्थित (प्रकृतिस्थ) कहलाता है, अतएव जबतक आत्माका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है, तभीतक वह प्रकृतिजनित गुणोंका भोक्ता है।

२. मनुष्यसे लेकर उससे ऊँची जितनी भी देवादि योनियाँ हैं, सब सत्-योनियाँ हैं और मनुष्यसे नीची जितनी भी पशु, पक्षी, वृक्ष और लता आदि योनियाँ हैं, वे असत् हैं। सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके साथ जो जीवका अनादिसिद्ध सम्बन्ध है एवं उनके कार्यरूप सांसारिक पदार्थोंमें जो आसक्ति है, वही गुणोंका संग है; जिस मनुष्यकी जिस गुणमें या उसके कार्यरूप पदार्थमें आसक्ति होगी, उसकी वैसी ही वासना होगी, वासनाके अनुसार ही अन्तकालमें स्मृति होगी और उसीके अनुसार उसे पुनर्जन्म प्राप्त होगा। इसीलिये यहाँ अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिमें गुणोंके संगको कारण बतलाया गया है।

३. प्रकृतिजनित शरीरोंकी उपाधिसे जो चेतन आत्मा अज्ञानके कारण जीवभावको प्राप्त-सा प्रतीत होता है, वह क्षेत्रज्ञ वास्तवमें इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत परमात्मा ही है; क्योंकि उस परब्रह्म परमात्मामें और क्षेत्रज्ञमें वस्तुतः किसी प्रकारका भेद नहीं है, केवल शरीररूप उपाधिसे ही भेदकी प्रतीति हो रही है।

४. इस कथनसे इस बातका प्रतिपादन किया गया है कि भिन्न-भिन्न निमित्तोंसे एक ही परब्रह्म परमात्मा भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जाता है। वस्तुदृष्टिसे ब्रह्ममें किसी प्रकारका भेद नहीं है।

५. जितने भी पृथक्-पृथक् क्षेत्रज्ञोंकी प्रतीति होती है, सब उस एक परब्रह्म परमात्माके ही अभिन्न स्वरूप हैं; प्रकृतिके संगसे उनमें भिन्नता-सी प्रतीत होती है, वस्तुतः कोई भेद नहीं है और वह परमात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और अविनाशी तथा प्रकृतिसे सर्वथा अतीत है—इस बातको संशयरहित यथार्थ समझ लेना एवं एकीभावसे उस सच्चिदानन्दघनमें नित्य

स्थित हो जाना ही 'पुरुषको तत्त्वसे जानना' है। तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न हैं, यह समस्त विश्व प्रकृतिका ही पसारा है और वह नाशवान्, जड, क्षणभंगुर और अनित्य है—इस रहस्यको समझ लेना ही 'गुणोंके सहित प्रकृतिको तत्त्वसे जानना' है।

६. वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—किसी भी वर्णमें एवं ब्रह्मचर्यादि किसी भी आश्रममें रहता हुआ तथा उन-उन वर्णाश्रमोंके लिये शास्त्रमें विधान किये हुए समस्त कर्मोंको यथायोग्य करता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता।

यहाँ 'सर्वथा वर्तमानः' का अर्थ निषिद्ध कर्म करता हुआ नहीं समझना चाहिये; क्योंकि आत्मतत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीमें काम-क्रोधादि दोषोंका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण (गीता ५।२६) उसके द्वारा निषिद्ध कर्मका बनना सम्भव नहीं है। इसीलिये उसके आचरण संसारमें प्रमाणरूप माने जाते हैं (गीता ३।२१)। पापोंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति काम-क्रोधादि अवगुणोंके कारण ही होती है; अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने तीसरे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकमें इस बातको स्पष्टरूपसे कह भी दिया है।

७. प्रकृति और पुरुषके तत्त्वको जान लेनेके साथ ही पुरुषका प्रकृतिसे सम्बन्ध टूट जाता है; क्योंकि प्रकृति और पुरुषका संयोग स्वप्नवत्, अवास्तविक और केवल अज्ञानजनित माना गया है। जबतक प्रकृति और पुरुषका पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तभीतक पुरुषका प्रकृतिसे और उसके गुणोंसे सम्बन्ध रहता है और तभीतक उसका बार-बार नाना योनियोंमें जन्म होता है (गीता १३।२१)। अतएव इनका तत्त्व जान लेनेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता।

१. गीताके छठे अध्यायके ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें बतलायी हुई विधिके अनुसार शुद्ध और एकान्त स्थानमें उपयुक्त आसनपर निश्चलभावसे बैठकर इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर, मनको वशमें करके तथा एक परमात्माके सिवा दृश्यमात्रको भूलकर निरन्तर परमात्माका चिन्तन करना ध्यान है। इस प्रकार ध्यान करते रहनेसे बुद्धि शुद्ध हो जाती है और उस विशुद्ध सूक्ष्मबुद्धिसे जो हृदयमें सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किया जाता है, वही ध्यानद्वारा आत्मासे आत्मामें आत्माको देखना है।

परंतु भेदभावसे सगुण-निराकारका और सगुण-साकारका ध्यान करनेवाले साधक भी यदि इस प्रकारका फल चाहते हों तो उनको भी अभेदभावसे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है।

२. सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जल अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामात्र हैं; इसलिये प्रकृतिके कार्यरूप समस्त गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हो जाना तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीकी भी भिन्न सत्ता न समझना—यह 'सांख्ययोग' नामक साधन है और इसके द्वारा जो आत्मा और परमात्माके अभेदका प्रत्यक्ष होकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अभिन्नभावसे प्राप्त हो जाना है, वही सांख्ययोगके द्वारा आत्माको आत्मामें देखना है।

यह साधन साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारीके द्वारा ही सुगमतासे किया जा सकता है। इसका विस्तार 'गीतातत्त्व-विवेचनी' में देखना चाहिये।

३. जिस साधनका गीताके दूसरे अध्यायमें चालीसवें श्लोकसे उक्त अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त फलसहित वर्णन किया गया है, उसका वाचक यहाँ 'कर्मयोग' है। अर्थात् आसक्ति और कर्मफलका सर्वथा त्याग करके सिद्धि और असिद्धिमें समत्व रखते हुए शास्त्रानुसार निष्कामभावसे अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार सब प्रकारके विहित कर्मोंका अनुष्ठान करना कर्मयोग है और इसके द्वारा जो सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको अभिन्नभावसे प्राप्त हो जाना है, वही कर्मयोगके द्वारा आत्मामें आत्माको देखना है।

४. बुद्धिकी मन्दताके कारण जो लोग पूर्वोक्त ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग—इनमेंसे किसी भी साधनको भलीभाँति नहीं समझ पाते, ऐसे साधकोंका वाचक यहाँ 'एवम् अजानन्तः' विशेषणके सहित 'अन्ये' पद है।

तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंका आदेश प्राप्त करके अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ जो जबालाके पुत्र सत्यकामकी भाँति उसके अनुसार आचरण करना है, वही दूसरोंसे सुनकर उपासना करना है।

५. तेईसवें श्लोकमें जो बात 'न स भूयोऽभिजायते' से और चौबीसवेंमें जो बात 'आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति' से कही है, वही बात यहाँ 'मृत्युम् अतितरन्ति' से कही गयी है।

१. इस अध्यायके पाँचवें श्लोकमें जिन चौबीस तत्त्वोंके समुदायको क्षेत्रका स्वरूप बतलाया गया है, गीताके सातवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें जिसको 'अपरा प्रकृति' कहा गया है, वही 'क्षेत्र' है और उसको जो जाननेवाला है, जिसको गीताके सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'परा प्रकृति' कहा गया है, वह चेतनतत्त्व ही 'क्षेत्रज्ञ' है, उसका यानी 'प्रकृतिस्थ' पुरुषका जो प्रकृतिसे बने हुए भिन्न-भिन्न सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना है, वही क्षेत्र तथा

क्षेत्रज्ञका संयोग है और इसके होते ही जो भिन्न-भिन्न योनियोंद्वारा भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें प्राणियोंका प्रकट होना है, वही उनका उत्पन्न होना है।

२. यहाँ 'परमेश्वर' शब्द प्रकृतिसे सर्वथा अतीत उस निर्विकार चेतनतत्त्वका वाचक है, जिसका वर्णन 'क्षेत्रज्ञ' के साथ एकता करते हुए इसी अध्यायके बाईसवें श्लोकमें उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्माके नामसे किया गया है। समस्त प्राणियोंके जितने भी शरीर हैं, जिनके सम्बन्धसे वे विनाशशील कहे जाते हैं, उन समस्त शरीरोंमें उनके वास्तविक स्वरूपभूत एक ही अविनाशी निर्विकार चेतनतत्त्व परमात्माको जो विनाशशील बादलोंमें आकाशकी भाँति समभावसे स्थित और नित्य देखना है—वही उस 'परमेश्वरको समस्त प्राणियोंमें विनाशरहित और समभावसे स्थित देखना' है।

३. एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र समभावसे स्थित है, अज्ञानके कारण ही भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उसकी भिन्नता प्रतीत होती है—वस्तुतः उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है—इस तत्त्वको भलीभाँति समझकर प्रत्यक्ष कर लेना ही 'सर्वत्र समभावसे स्थित परमेश्वरको सम देखना' है। जो इस तत्त्वको नहीं जानते, उनका देखना सम देखना नहीं है; क्योंकि उनकी सबमें विषमबुद्धि होती है, वे किसीको अपना प्रिय, हितैषी और किसीको अप्रिय तथा अहित करनेवाला समझते हैं एवं अपने-आपको दूसरोंसे भिन्न, एकदेशीय मानते हैं। अतएव वे शरीरोंके जन्म और मरणको अपना जन्म और मरण माननेके कारण बार-बार नाना योनियोंमें जन्म लेकर मरते रहते हैं, यही उनका अपनेद्वारा अपनेको नष्ट करना है; परंतु जो पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे एक ही परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है, वह न तो अपनेको उस परमेश्वरसे भिन्न समझता है और न इन शरीरोंसे अपना कोई सम्बन्ध ही मानता है। इसलिये वह शरीरोंके विनाशसे अपना विनाश नहीं देखता और इसीलिये वह अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता। अभिप्राय यह है कि उसकी स्थिति सर्वज्ञ, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें अभिन्नभावसे हो जाती है, अतएव वह सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है।

४. गीताके तीसरे अध्यायके सत्ताईसवें, अट्ठाईसवें और चौदहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकोंमें समस्त कर्मोंको गुणोंद्वारा किये जाते हुए बतलाया गया है तथा पाँचवें अध्यायके आठवें, नवें श्लोकोंमें सब इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतना कहा गया है और यहाँ सब कर्मोंको प्रकृतिद्वारा किये जाते हुए देखनेको कहते हैं। इस प्रकार तीन तरहके वर्णनका तात्पर्य एक ही है; क्योंकि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके ही कार्य हैं तथा समस्त इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि आदि एवं इन्द्रियोंके विषय—ये सब भी गुणोंके ही विस्तार हैं। अतएव इन्द्रियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें बरतना, गुणोंका गुणोंमें बरतना और गुणोंद्वारा समस्त कर्मोंको किये जाते हुए बतलाना भी सब कर्मोंको प्रकृतिद्वारा ही किये जाते हुए बतलाना है। अतः सभी जगहोंके कथनका अभिप्राय आत्मामें कर्तापनका अभाव दिखलाना है।

आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सब प्रकारके विकारोंसे रहित है; प्रकृतिसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अतएव वह न किसी भी कर्मका कर्ता है और न कर्मोंके फलका भोक्ता ही है—इस बातका अपरोक्षभावसे अनुभव कर लेना 'आत्माको अकर्ता समझना' है तथा जो ऐसा देखता है, वही यथार्थ देखता है।

१. जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नकालमें दिखलायी देनेवाले समस्त प्राणियोंके नानात्वको अपने-आपमें ही देखता है और यह भी समझता है कि उन सबका विस्तार मुझसे ही हुआ था; वस्तुतः स्वप्नकी सृष्टिमें मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था, एक मैं ही अपने-आपको अनेक रूपमें देख रहा था—इसी प्रकार जो समस्त प्राणियोंको केवल एक परमात्मामें ही स्थित और उसीसे सबका विस्तार देखता है, वही ठीक देखता है और इस प्रकार देखना ही सबको एकमें स्थित और उसी एकसे सबका विस्तार देखना है।

२. इस अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें जिसको 'परमेश्वर', अट्ठाईसवेंमें 'ईश्वर', उनतीसवेंमें आत्मा और तीसवेंमें 'ब्रह्म' कहा गया है, उसीको यहाँ 'परमात्मा' बतलाया गया है अर्थात् इन सबकी अभिन्नता—एकता दिखलानेके लिये यहाँ 'अयम्' पदका प्रयोग किया गया है।

३. जिसका कोई आदि यानी कारण न हो एवं जिसकी किसी भी कालमें नयी उत्पत्ति न हुई हो और जो सदासे ही हो, उसे 'अनादि' कहते हैं। प्रकृति और उसके गुणोंसे जो सर्वथा अतीत हो, गुणोंसे और गुणोंके कार्यसे जिसका किसी कालमें और किसी भी अवस्थामें वास्तविक सम्बन्ध न हो, उसे 'निर्गुण' कहते हैं। अतएव यहाँ 'अनादि' और 'निर्गुण'—इन दोनों शब्दोंका प्रयोग करके यह दिखलाया गया है कि जिसका प्रकरण चल रहा है, वह आत्मा 'अनादि' और 'निर्गुण' है; इसलिये वह अकर्ता, निर्लिप्त और अव्यय है—जन्म, मृत्यु आदि छः विकारोंसे सर्वथा अतीत है।

४. जैसे आकाश बादलोंमें स्थित होनेपर भी उनका कर्ता नहीं बनता और उनसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा कर्मोंका कर्ता नहीं बनता और शरीरोंसे लिप्त भी नहीं होता।

५. आकाशके दृष्टान्तसे आत्मामें निर्लेपता सिद्ध की गयी है। अभिप्राय यह है कि जैसे आकाश वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीमें सब जगह समभावसे व्याप्त होते हुए भी उनके गुण-दोषोंसे किसी तरह भी लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी

इस शरीरमें सब जगह व्याप्त होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म और गुणोंसे सर्वथा अतीत होनेके कारण बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरके गुण-दोषोंसे जरा भी लिपायमान नहीं होता।

६. इस श्लोकमें रवि (सूर्य)-का दृष्टान्त देकर आत्मामें अकर्तापनकी और 'रविः' पदके साथ 'एकः' विशेषण देकर आत्माके अद्वैतभावकी सिद्धि की गयी है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा समस्त क्षेत्रको—यानी इसी अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें विकारसहित क्षेत्रके नामसे जिसके स्वरूपका वर्णन किया गया है, उस समस्त जडवर्गरूप समस्त जगत्‌को प्रकाशित करता है, सबको सत्ता-स्फूर्ति देता है तथा भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंके सम्बन्धसे भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उसका भिन्न-भिन्न प्राकट्य होता-सा देखा जाता है ऐसा होनेपर भी वह आत्मा सूर्यकी भाँति न तो उनके कर्मोंको करनेवाला और न करवानेवाला ही होता है तथा न द्वैतभाव या वैषम्यादि दोषोंसे ही युक्त होता है। वह अविनाशी आत्मा प्रत्येक अवस्थामें सदा-सर्वदा शुद्ध, विज्ञानस्वरूप, अकर्ता, निर्विकार, सम और निरंजन ही रहता है।

१. इस अध्यायके दूसरे श्लोकमें भगवान्‌ने जिसको अपने मतसे 'ज्ञान' कहा है और गीताके पाँचवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें जिसको अज्ञानका नाश करनेमें कारण बतलाया है, जिसकी प्राप्ति अमानित्वादि साधनोंसे होती है, इस श्लोकमें 'ज्ञानचक्षुषा' पदमें आया हुआ 'ज्ञान' शब्द उसी 'तत्त्वज्ञान' का वाचक है।

उस ज्ञानके द्वारा जो भलीभाँति तत्त्वसे यह समझ लेना है कि महाभूतादि चौबीस तत्त्वोंके समुदायरूप समष्टिशरीरका नाम 'क्षेत्र' है; वह जाननेमें आनेवाला, परिवर्तनशील, विनाशी, विकारी, जड, परिणामी और अनित्य है तथा 'क्षेत्रज्ञ' उसका ज्ञाता (जाननेवाला), चेतन, निर्विकार, अकर्ता, नित्य, अविनाशी, असंग, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और एक है। इस प्रकार दोनोंमें विलक्षणता होनेके कारण क्षेत्रज्ञ क्षेत्रसे सर्वथा भिन्न है। जो उसकी क्षेत्रके साथ एकता प्रतीत होती है, वह अज्ञानमूलक है। वास्तवमें क्षेत्रज्ञका उससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यही ज्ञानचक्षुके द्वारा 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के भेदको जानना है।

इस श्लोकमें 'भूत' शब्द प्रकृतिके कार्यरूप समस्त दृश्यवर्गका और 'प्रकृति' उसके कारणका वाचक है। अतः कार्यसहित प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त हो जाना ही 'भूतप्रकृतिमोक्ष' है तथा उपर्युक्त प्रकारसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको जाननेके साथ-साथ जो क्षेत्रज्ञका प्रकृतिसे अलग होकर अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें अभिन्न-भावसे प्रतिष्ठित हो जाना है, यही कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त हो जानेको जानना है।

अभिप्राय यह है कि जैसे स्वप्नमें मनुष्यको किसी निमित्तसे अपनी जाग्रत्-अवस्थाकी स्मृति हो जानेसे यह मालूम हो जाता है कि यह स्वप्न है, अतः अपने असली शरीरमें जग जाना ही इसके दुःखोंसे छूटनेका उपाय है—इस भावका उदय होते ही वह जग उठता है; वैसे ही ज्ञानयोगीका क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी विलक्षणताको समझकर साथ-ही-साथ जो यह समझ लेना है कि अज्ञानवश क्षेत्रको सच्ची वस्तु समझनेके कारण ही इसके साथ मेरा सम्बन्ध-सा हो रहा था। अतः वास्तविक सच्चिदा-नन्दघन परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जाना ही इससे मुक्त होना है; यही उसका कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जानना है।

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां चतुर्दशोऽध्यायः)

ज्ञानकी महिमा और प्रकृति-पुरुषसे जगत्‌की उत्पत्तिका, सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंका, भगवत्प्राप्तिके उपायका एवं गुणातीत पुरुषके लक्षणोंका वर्णन

सम्बन्ध—*गीताके तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के लक्षणोंका निर्देश करके उन दोनोंके ज्ञानको ही ज्ञान बतलाया और उसके अनुसार क्षेत्रके स्वरूप, स्वभाव, विकार और उसके तत्त्वोंकी उत्पत्तिके क्रम आदि तथा क्षेत्रज्ञके स्वरूप और उसके प्रभावका वर्णन किया। वहाँ उन्नीसवें श्लोकसे प्रकृति-पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करके गुणोंको प्रकृतिजन्य बतलाया और इक्कीसवें श्लोकमें यह बात भी कही कि पुरुषके बार-बार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होनेमें गुणोंका संग ही हेतु है। इससे गुणोंके भिन्न-भिन्न स्वरूप क्या हैं, ये जीवात्माको कैसे शरीरमें बाँधते हैं, किस गुणके संगसे किस योनिमें जन्म होता है, गुणोंसे छूटनेके उपाय क्या हैं, गुणोंसे छूटे हुए पुरुषोंके लक्षण तथा आचरण कैसे होते हैं—ये सब बातें जाननेकी स्वाभाविक ही इच्छा होती है; अतएव इसी विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिये इस चौदहवें अध्यायका आरम्भ किया गया है। तेरहवें अध्यायमें वर्णित ज्ञानको ही स्पष्ट करके चौदहवें अध्यायमें विस्तारपूर्वक समझाते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्[१] **।**
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।। १ ।।

श्रीभगवान् बोले—ज्ञानोंमें भी अति उत्तम उस परम ज्ञानको मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसारसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं[२] ।। १ ।।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः[३] **।**
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।। २ ।।

इस ज्ञानको आश्रय करके[४] अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते[५] ।।

मम योनिर्महद्‍ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।। ३ ।।

हे अर्जुन! मेरी महत्-ब्रह्मरूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है[६] और मैं उस योनिमें चेतनसमुदायरूप गर्भको स्थापन करता हूँ[७]। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है[८] ।।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।। ४ ।।

हे अर्जुन! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं,[१] प्रकृति तो उन सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ[२] ।। ४ ।।

सम्बन्ध—*जीवोंके नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेनेकी बात तो चौथे श्लोकतक कही गयी, किंतु वहाँ गुणोंकी कोई बात नहीं आयी। इसलिये अब वे गुण क्या हैं? उनका संग क्या है? किस गुणके संगसे अच्छी योनिमें और किस गुणके संगसे बुरी योनिमें जन्म होता है?—इन सब बातोंको स्पष्ट करनेके लिये इस प्रकरणका आरम्भ करते हुए भगवान् अब पहले उन तीनों गुणोंकी प्रकृतिसे उत्पत्ति और उनके विभिन्न नाम बतलाकर फिर उनके स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बन्धन-प्रकारका क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं—*

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।। ५ ।।

हे अर्जुन! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण[३] अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं[४] ।। ५ ।।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।। ६ ।।

हे निष्पाप! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है[५], वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है[६] ।। ६ ।।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।। ७ ।।

हे अर्जुन! रागरूप रजोगुणको कामना और आसक्तिसे उत्पन्न जान[७]। वह इस जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलके सम्बन्धसे बाँधता है[८] ।। ७ ।।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।। ८ ।।

हे अर्जुन! सब देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाले[१] तमोगुणको तो अज्ञानसे उत्पन्न जान[२]। वह इस जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है[३] ।। ८ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंका स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्माके बाँधे जानेका प्रकार बतलाकर अब उन तीनों गुणोंका स्वाभाविक व्यापार बतलाते हैं—*

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।। ९ ।।

हे अर्जुन! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है[४] और रजोगुण कर्ममें[५] तथा तमोगुण तो ज्ञानको ढककर प्रमादमें भी लगाता है[६] ।। ९ ।।

सम्बन्ध—*सत्त्व आदि तीनों गुण जिस समय अपने-अपने कार्यमें जीवको नियुक्त करते हैं, उस समय वे ऐसा करनेमें किस प्रकार समर्थ होते हैं—यह बात अगले श्लोकमें बतलाते हैं—*

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।। १० ।।

हे अर्जुन! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण[७], सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण,[८]—वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण[९] होता है अर्थात् बढ़ता है[१] ।। १० ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अन्य दो गुणोंको दबाकर प्रत्येक गुणके बढ़नेकी बात कही गयी। अब प्रत्येक गुणकी वृद्धिके लक्षण जाननेकी इच्छा होनेपर क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षण बतलाये जाते हैं—*

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।। ११ ।।

जिस समय इस देहमें[२] तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है[३] ।। ११ ।।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।। १२ ।।

हे अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धिसे कर्मोंका सकामभावसे आरम्भ, अशान्ति और विषयभोगोंकी लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं[४] ।। १२ ।।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।। १३ ।।

हे अर्जुन! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्यकर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ—ये सब ही उत्पन्न होते हैं[५] ।। १३ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार तीनों गुणोंकी वृद्धिके भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाकर अब दो श्लोकोंमें उन गुणोंमेंसे किस गुणकी वृद्धिके समय मरकर मनुष्य किस गतिको प्राप्त होता है, यह बतलाया जाता है—*

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्[१] ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ।। १४ ।।

जब यह मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है[२] तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है ।। १४ ।।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।। १५ ।।

रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होकर[३] कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ[४] मनुष्य कीट, पशु आदि मूढ़योनियोंमें उत्पन्न होता है ।। १५ ।।

सम्बन्ध—*सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी वृद्धिमें मरनेके भिन्न-भिन्न फल बतलाये गये; इससे यह जाननेकी इच्छा होती है कि इस प्रकार कभी किसी गुणकी और कभी किसी गुणकी वृद्धि क्यों होती है; इसपर कहते हैं—*

कर्मणः[५] सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।। १६ ।।

श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है।[६] राजस कर्मका फल दुःख[७] एवं तामस कर्मका फल अज्ञान[८] कहा है ।। १६ ।।

सम्बन्ध—*ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकोंमें सत्त्व, रज और तमोगुणकी वृद्धिके लक्षणोंका क्रमसे वर्णन किया गया; इसपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि 'ज्ञान' आदिकी उत्पत्तिको सत्त्व आदि गुणोंकी वृद्धिके लक्षण क्यों माना गया। अतएव कार्यकी उत्पत्तिसे कारणकी सत्ताको जान लेनेके लिये ज्ञान आदिकी उत्पत्तिमें सत्त्व आदि गुणोंको कारण बतलाते हैं—*

सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।। १७ ।।

सत्त्वगुणसे ज्ञान[१] उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निस्संदेह लोभ[२] तथा तमोगुणसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है ।। १७ ।।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।। १८ ।।[३]

सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं[४] ।। १८ ।।

सम्बन्ध—*गीताके तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें जो यह बात कही थी कि गुणोंका संग ही इस मनुष्यके अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिरूप पुनर्जन्मका कारण है; उसीके अनुसार इस अध्यायमें पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक गुणोंके स्वरूप तथा गुणोंके कार्यद्वारा बँधे हुए मनुष्योंकी गति आदिका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया। इस वर्णनसे यह बात समझायी गयी कि मनुष्यको पहले तम और रजोगुणका त्याग करके सत्त्वगुणमें अपनी स्थिति करनी चाहिये और उसके बाद सत्त्वगुणका भी त्याग करके गुणातीत हो जाना चाहिये। अतएव गुणातीत होनेके उपाय और गुणातीत अवस्थाका फल अगले दो श्लोकोंद्वारा बतलाया जाता है—*

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।। १९ ।।

जिस समय द्रष्टा[५] तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता[६] और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है[७] ।। १९ ।।

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।। २० ।।

यह पुरुष शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनों गुणोंको उल्लंघन करके[१] जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दु:खोंसे मुक्त हुआ परमानन्दको प्राप्त होता है[२] ।। २० ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार जीवन-अवस्थामें ही तीनों गुणोंसे अतीत होकर मनुष्य अमृतको प्राप्त हो जाता है—इस रहस्ययुक्त बातको सुनकर गुणातीत पुरुषके लक्षण, आचरण और गुणातीत बननेके उपाय जाननेकी इच्छासे अर्जुन पूछते हैं*
—

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचार: कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ।। २१ ।।

अर्जुन बोले—इन तीनों गुणोंसे अतीत पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है और किस प्रकारके आचरणोंवाला होता है तथा हे प्रभो! मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है ।। २१ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् उनके प्रश्नोंमेंसे 'लक्षण' और 'आचरण' विषयक दो प्रश्नोंका उत्तर चार श्लोकोंद्वारा देते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।। २२ ।।

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! जो पुरुष सत्त्व-गुणके कार्यरूप प्रकाशको[३] और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको[४] तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको[५] भी न तो प्रवृत्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा करता है ।। २२ ।।

उदासीनवदासीनो[१] गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।। २३ ।।

जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता[२] और गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है[३] एवं उस स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता[४] ।। २३ ।।

समदु:खसुख: स्वस्थ: समलोष्टाश्मकाञ्चन: ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दाऽऽत्मसंस्तुति: ।। २४ ।।

जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला,[५] मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समानभाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला[६] और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समानभाववाला है[७] ।। २४ ।।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।

सर्वारम्भपरित्यागी[८] गुणातीतः स उच्यते ।। २५ ।।

जो मान और अपमानमें सम है,[१] मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है[२] एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है[३] ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अर्जुनके दो प्रश्नोंका उत्तर देकर अब गुणातीत बननेके उपायविषयक तीसरे प्रश्नका उत्तर दिया जाता है। यद्यपि इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने गुणातीत बननेका उपाय अपनेको अकर्ता समझकर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें नित्य-निरन्तर स्थित रहना बतला दिया था एवं उपर्युक्त चार श्लोकोंमें गुणातीतके जिन लक्षण और आचरणोंका वर्णन किया गया है, उनको आदर्श मानकर धारण करनेका अभ्यास भी गुणातीत बननेका उपाय माना जाता है; किंतु अर्जुनने इन उपायोंसे भिन्न दूसरा कोई सरल उपाय जाननेकी इच्छासे प्रश्न किया था, इसलिये प्रश्नके अनुकूल भगवान् दूसरा सरल उपाय बतलाते हैं—*

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। २६ ।।

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है,[४] वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है[५] ।। २६ ।।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त श्लोकमें सगुण परमेश्वरकी उपासनाका फल निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाया गया तथा इस अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें गुणातीत-अवस्थाका फल भगवद्भावकी प्राप्ति एवं बीसवें श्लोकमें 'अमृत' की प्राप्ति बतलाया गया। अतएव फलमें विषमताकी शंकाका निराकरण करनेके लिये सबकी एकताका प्रतिपादन करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—*

ब्रह्मणो[१] हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य[२] च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य[३] सुखस्यैकान्तिकस्य च ।। २७ ।।

क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ[४] ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।। १४ ।। भीष्मपर्वणि तु अष्टात्रिंशोऽध्यायः ।। ३८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्में, श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १४ ।। भीष्मपर्वमें अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३८ ।।

---

१. श्रुति-स्मृति-पुराणादिमें विभिन्न विषयोंको समझानेके लिये जो नाना प्रकारके बहुत-से उपदेश हैं, उन सभीका वाचक यहाँ 'ज्ञानानाम्' पद है। उनमेंसे प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका विवेचन करके पुरुषके वास्तविक स्वरूपको प्रत्यक्ष करा देनेवाला जो तत्त्वज्ञान है, यहाँ भगवान् उसी ज्ञानका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। वह ज्ञान परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाला और जीवात्माको प्रकृतिके बन्धनसे छुड़ाकर सदाके लिये मुक्त कर देनेवाला है, इसलिये उस ज्ञानको अन्यान्य ज्ञानोंकी अपेक्षा उतम और पर (अत्यन्त उत्कृष्ट) बतलाया गया है।

२. यहाँ 'मुनिजन' शब्दसे ज्ञानयोगके साधनद्वारा परम गतिको प्राप्त ज्ञानियोंको समझना चाहिये; तथा जिसको 'परब्रह्मकी प्राप्ति' कहते हैं, जिसका वर्णन 'परम शान्ति', 'आत्यन्तिक सुख' और 'अपुनरावृत्ति' आदि अनेक नामोंसे किया गया है, जहाँ जाकर फिर कोई वापस नहीं लौटता—यहाँ मुनिजनोंद्वारा प्राप्त की जानेवाली 'परम सिद्धि' भी वही है।

३. पिछले श्लोकमें 'परां सिद्धिं गताः' से जो बात कही गयी है, इस श्लोकमें 'मम साधर्म्यमागताः' से भी वही कही गयी है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के निर्गुण रूपको अभेदभावसे प्राप्त हो जाना ही भगवान्‌के साधर्म्यको प्राप्त होना है।

४. इस प्रकरणमें वर्णित ज्ञानके अनुसार प्रकृति और पुरुषके स्वरूपको समझकर गुणोंके सहित प्रकृतिसे सर्वथा अतीत हो जाना और निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहना ही इस ज्ञानका आश्रय लेना है।

५. इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि इन अध्यायोंमें बतलाये हुए ज्ञानका आश्रय लेकर तदनुसार साधन करके जो पुरुष परब्रह्म परमात्माके स्वरूपको अभेदभावसे प्राप्त हो चुके हैं, वे मुक्त पुरुष न तो महासर्गके आदिमें पुनः उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें पीड़ित ही होते हैं। वस्तुतः सृष्टिके सर्ग और प्रलयसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता।

६. समस्त जगत्‌की कारणरूपा जो मूल प्रकृति है, जिसे 'अव्यक्त' और 'प्रधान' भी कहते हैं; उस प्रकृतिका वाचक 'महत्' विशेषणके सहित 'ब्रह्म' शब्द है। यहाँ उसे 'योनि' नाम देकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि समस्त प्राणियोंके विभिन्न शरीरोंका यही उपादान-कारण है और यही गर्भाधानका आधार है।

७. महाप्रलयके समय अपने-अपने संस्कारोंके सहित परमेश्वरमें स्थित जीवसमुदायका जो महासर्गके आदिमें प्रकृतिके साथ विशेष सम्बन्ध कर देना है, वही उस चेतनसमुदायरूप गर्भको प्रकृतिरूप योनिमें स्थापन करना है।

८. उपर्युक्त जड-चेतनके संयोगसे जो भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें सब प्राणियोंका सूक्ष्मरूपसे प्रकट होना है, वही उनकी उत्पत्ति है।

९. यहाँ 'मूर्ति' शब्द देव, मनुष्य, राक्षस, पशु और पक्षी आदि नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न वर्ण और आकृतिवाले शरीरोंसे युक्त समस्त प्राणियोंका वाचक है। उन प्राणियोंका स्थूलरूपसे जन्म ग्रहण करना ही

उनका उत्पन्न होना है।

२. इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि उन सब मूर्तियोंके जो सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, वे सब प्रकृतिके अंशसे बने हुए हैं और उन सबमें जो चेतन आत्मा है, वह मेरा अंश है। उन दोनोंके सम्बन्धसे समस्त मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी प्रकट होते हैं, अतएव प्रकृति उनकी माता है और मैं पिता हूँ।

३. अभिप्राय यह है कि गुण तीन हैं; सत्त्व, रज और तम उनके नाम हैं और तीनों परस्पर भिन्न हैं। ये तीनों गुण प्रकृतिके कार्य हैं एवं समस्त जड पदार्थ इन्हीं तीनोंका विस्तार है।

४. जिसका शरीरमें अभिमान है, उसीपर इन गुणोंका प्रभाव पड़ता है और वास्तवमें स्वरूपसे वह सब प्रकारके विकारोंसे रहित और अविनाशी है, अतएव उसका बन्धन हो ही नहीं सकता। अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसने बन्धन मान रखा है। इन तीनों गुणोंका जो अपने अनुरूप भोगोंमें और शरीरोंमें इसका ममत्व, आसक्ति और अभिमान उत्पन्न कर देना है—यही उन तीनों गुणोंका उसको शरीरमें बाँध देना है।

५. सत्त्वगुणका स्वरूप सर्वथा निर्मल है, उसमें किसी भी प्रकारका कोई दोष नहीं है; इसी कारण वह प्रकाशक और अनामय है। उससे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें प्रकाशकी वृद्धि होती है; एवं दुःख, विक्षेप, दुर्गुण और दुराचारोंका नाश होकर शान्तिकी प्राप्ति होती है।

६. 'सुख' शब्द यहाँ गीताके अठारहवें अध्यायके छत्तीसवें और सैंतीसवें श्लोकोंमें जिसकेन लक्षण बतलाये गये हैं, उस 'सात्त्विक सुख' का वाचक है। उस सुखकी प्राप्तिके समय जो 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार अभिमान हो जाता है तथा 'ज्ञान' बोधशक्तिका नाम है; उसके प्रकट होनेपर जो उसमें 'मैं ज्ञानी हूँ', ऐसा अभिमान हो जाता है; वह उसे गुणातीत अवस्थासे वंचित रख देता है, अतः यही सत्त्वगुणका जीवात्माको सुख और ज्ञानके संगसे बाँधना है।

७. कामना और आसक्तिसे रजोगुण बढ़ता है तथा रजोगुणसे कामना और आसक्ति बढ़ती है। इनका परस्पर बीज और वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इनमें रजोगुण बीजस्थानीय और कामना, आसक्ति आदि वृक्षस्थानीय हैं। बीज वृक्षसे ही उत्पन्न होता है, तथापि वृक्षका कारण भी बीज ही है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये कहीं रजोगुणसे कामनादिकी उत्पत्ति और कहीं कामनादिसे रजोगुणकी उत्पत्ति बतलायी गयी है।

८. 'इन सब कर्मोंको मैं करता हूँ' कर्मोंमें कर्तापनके इस अभिमानपूर्वक 'मुझे इसका अमुक फल मिलेगा' ऐसा मानकर कर्मोंके और उनके फलोंके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेनेका नाम 'कर्मसंग' है; इसके द्वारा रजोगुणका जो इस जीवात्माको जन्म-मृत्युरूप संसारमें फँसाये रखना है, वही उसका कर्मसंगके द्वारा जीवात्माको बाँधना है।

१. अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें ज्ञानशक्तिका अभाव करके उनमें मोह उत्पन्न कर देना ही तमोगुणका सब देहाभिमानियोंको मोहित करना है।

२. इस अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें तो अज्ञानकी उत्पत्ति तमोगुणसे बतलायी है और यहाँ तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न बतलाया गया—इसका अभिप्राय यह है कि तमोगुणसे अज्ञान बढ़ता है और अज्ञानसे तमोगुण बढ़ता है। इन दोनोंमें भी बीज और वृक्षकी भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, अज्ञान बीजस्थानीय है और तमोगुण वृक्षस्थानीय है।

३. अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी व्यर्थ चेष्टाका एवं शास्त्रविहित कर्तव्यपालनमें अवहेलनाका नाम 'प्रमाद' है। कर्तव्यकर्मोंमें अप्रवृत्तिरूप निरुद्यमताका नाम 'आलस्य' है। तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति—इन सबका नाम 'निद्रा' है। इन सबके द्वारा जो तमोगुणका इस जीवात्माको मुक्तिके साधनसे वंचित रखकर जन्म-मृत्युरूप संसारमें फँसाये रखना है—यही उसका प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा जीवात्माको बाँधना है।

४. 'सुख' शब्द यहाँ सात्त्विक सुखका वाचक है (गीता १८।३६, ३७) और सत्त्वगुणका जो इस मनुष्यको सांसारिक भोगों और चेष्टाओंसे तथा प्रमाद, आलस्य और निद्रासे हटाकर आत्मचिन्तन आदिके द्वारा सात्त्विक सुखसे संयुक्त कर देना है—यही उसको सुखमें लगाना है।

५. 'कर्म' शब्द यहाँ (इस लोक और परलोकके भोगरूप फल देनेवाले) शास्त्रविहित सकामकर्मोंका वाचक है। नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा उत्पन्न करके उनकी प्राप्तिके लिये उन कर्मोंमें मनुष्यको प्रवृत्त कर देना ही रजोगुणका मनुष्यको उन कर्मोंमें लगाना है।

६. जब तमोगुण बढ़ता है, तब वह कभी तो मनुष्यकी कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली विवेकशक्तिको नष्ट कर देता है और कभी अन्तःकरण और इन्द्रियोंकी चेतनाको नष्ट करके निद्राकी वृत्ति उत्पन्न कर देता है—यही उसका मनुष्यके ज्ञानको आच्छादित करना है और कर्तव्यपालनमें अवहेलना कराके व्यर्थ चेष्टाओंमें नियुक्त कर देना 'प्रमाद' में लगाना है।

७. रजोगुणके कार्य लोभ, प्रवृत्ति और भोगवासनादि तथा तमोगुणके कार्य निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिको दबाकर जो सत्त्वगुणका ज्ञान, प्रकाश और सुख आदिको उत्पन्न कर देना है, यही रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुणका बढ़ जाना है।

८. जिस समय सत्त्वगुण और तमोगुणकी प्रवृत्तिको रोककर रजोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें चंचलता, अशान्ति, लोभ, भोगवासना और नाना प्रकारके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाती है—यही सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुणका बढ़ जाना है।

९. जिस समय सत्त्वगुण और रजोगुणकी प्रवृत्तिको रोककर तमोगुण अपना कार्य आरम्भ करता है, उस समय शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणमें मोह आदि बढ़ जाते हैं और प्रमादमें प्रवृत्ति हो जाती है, वृत्तियाँ विवेकशून्य हो जाती हैं—यही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुणका बढ़ना है।

१. गुणोंकी वृद्धिमें निम्नलिखित दस हेतु श्रीमद्भागवतमें बतलाये हैं—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च । ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ।।

(११।१३।४)

'शास्त्र, जल, संतान, देश, काल, कर्म, जन्म, चिन्तन, मन्त्र और संस्कार—ये दस गुणोंके हेतु हैं अर्थात् गुणोंको बढ़ानेवाले हैं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त पदार्थ जिस गुणसे युक्त होते हैं, उनका संग उसी गुणको बढ़ा देता है।'

२. अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुणकी वृद्धिका अवसर मनुष्य-शरीरमें ही मिल सकता है और इसी शरीरमें सत्त्वगुणकी सहायता पाकर मनुष्य मुक्तिलाभ कर सकता है, दूसरी योनियोंमें ऐसा अधिकार नहीं है।

३. शरीरमें चेतनता, हलकापन तथा इन्द्रिय और अन्तःकरणमें निर्मलता और चेतनाकी अधिकता हो जाना ही 'प्रकाश' का उत्पन्न होना है एवं सत्य-असत्य तथा कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेवाली विवेकशक्तिका जाग्रत् हो जाना 'ज्ञान' का उत्पन्न होना है। जिस समय प्रकाश और ज्ञान—इन दोनोंका प्रादुर्भाव होता है, उस समय अपने-आप ही संसारमें वैराग्य होकर मनमें उपरति और सुख-शान्तिकी बाढ़-सी आ जाती है तथा राग-द्वेष, दुःख-शोक, चिन्ता, भय, चंचलता, निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदिका अभाव-सा हो जाता है। उस समय मनुष्यको सावधान होकर अपना मन भजन-ध्यानमें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये; तभी सत्त्वगुणकी प्रवृत्ति अधिक समय ठहर सकती है; अन्यथा उसकी अवहेलना कर देनेसे शीघ्र ही तमोगुण या रजोगुण उसे दबाकर अपना कार्य आरम्भ कर सकते हैं।

४. जिसके कारण मनुष्य प्रतिक्षण धनकी वृद्धिके उपाय सोचता रहता है, धनके व्यय करनेका समुचित अवसर प्राप्त होनेपर भी उसका त्याग नहीं करता एवं धनोपार्जनके समय कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेचन छोड़कर दूसरेके स्वत्वपर भी अधिकार जमानेकी इच्छा या चेष्टा करने लगता है, उस धनकी लालसाका नाम 'लोभ' है। नाना प्रकारके कर्म करनेके लिये मानसिक भावोंका जाग्रत् होना 'प्रवृत्ति' है। उन कर्मोंको सकामभावसे करने लगना उनका 'आरम्भ' है। मनकी चंचलताका नाम 'अशान्ति' है और किसी भी प्रकारके सांसारिक पदार्थोंको अपने लिये आवश्यक मानना 'स्पृहा' है। रजोगुणकी वृद्धिके समय इन लोभ आदि भावोंका प्रादुर्भाव होना ही उनका उत्पन्न हो जाना है।

५. मनुष्यके इन्द्रिय और अन्तःकरणमें दीप्तिका अभाव हो जाना ही 'अप्रकाश' का उत्पन्न होना है। कोई भी कर्म अच्छा नहीं लगना, केवल पड़े रहकर ही समय बितानेकी इच्छा होना, यह 'अप्रवृत्ति' का उत्पन्न होना है। शरीर और इन्द्रियोंद्वारा व्यर्थ चेष्टा करते रहना और कर्तव्यकर्ममें अवहेलना करना, यह 'प्रमाद' का उत्पन्न होना है। मनका मोहित हो जाना; किसी बातकी स्मृति न रहना; तन्द्रा, स्वप्न या सुषुप्ति-अवस्थाका प्राप्त हो जाना; विवेकशक्तिका अभाव हो जाना; किसी विषयको समझनेकी शक्तिका न रहना —यही सब 'मोह' का उत्पन्न होना है। ये सब लक्षण तमोगुणकी वृद्धिके समय उत्पन्न होते हैं, अतएव इनमेंसे कोई-सा भी लक्षण अपनेमें देखा जाय, तब मनुष्यको समझना चाहिये कि तमोगुण बढ़ा हुआ है।

१. 'देहभृत्' पदका प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि जो देहधारी हैं, जिनकी शरीरमें अहंता और ममता है, उन्हींकी पुनर्जन्मरूप भिन्न-भिन्न गतियाँ होती हैं। जिनका शरीरमें अभिमान नहीं है, ऐसे जीवन्मुक्त महात्माओंका आवागमन नहीं होता।

२. इस प्रकरणमें ऐसे मनुष्यकी गतिका निरूपण किया जाता है, जिसकी स्वाभाविक स्थिति दूसरे गुणोंमें होते हुए भी सात्त्विक गुणकी वृद्धिमें मृत्यु हो जाती है। ऐसे मनुष्यमें जिस समय पूर्वसंस्कार आदि किसी कारणसे सत्त्वगुण बढ़ जाता है—अर्थात् जिस समय ग्यारहवें श्लोकके वर्णनानुसार उसके समस्त शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें 'प्रकाश' और 'ज्ञान' उत्पन्न हो जाता है, उस समय स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

३. सात्त्विक और तामस पुरुषके भी हृदयमें जिस समय बारहवें श्लोकके अनुसार लोभ, प्रवृत्ति आदि राजसभाव बढ़े हुए होते हैं, उस समय जो स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना है—वही रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

४. जिस समय सात्त्विक और राजस पुरुषके भी हृदयमें तेरहवें श्लोकके अनुसार 'अप्रकाश', 'अप्रवृत्ति' और 'प्रमाद' आदि तामसभाव बढ़े हुए हों, उस समय जो स्थूल शरीरसे मन, इन्द्रियों और प्राणोंके सहित जीवात्माका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना है, वही तमोगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होना है।

५. सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों प्रकारके कर्म-संस्कार प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें संचित रहते हैं; उनमेंसे जिस समय जैसे संस्कारोंका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही सात्त्विक आदि भाव बढ़ते हैं और उन्हींके अनुसार नवीन कर्म होते हैं। कर्मोंसे संस्कार, संस्कारोंसे सात्त्विकादि गुणोंकी वृद्धि और वैसे ही स्मृति, स्मृतिके अनुसार पुनर्जन्म और पुनः कर्मोंका आरम्भ—इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है।

६. जो शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म निष्कामभावसे किये जाते हैं, उन सात्त्विक कर्मोंके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें जो ज्ञान-वैराग्यादि निर्मल भावोंका बार-बार प्रादुर्भाव होता रहता है और मरनेके बाद जो दुःख और दोषोंसे रहित दिव्य प्रकाशमय लोकोंकी प्राप्ति होती है, वही उनका 'सात्त्विक और निर्मल फल' है।

७. जो कर्म भोगोंकी प्राप्तिके लिये अहंकारपूर्वक बहुत परिश्रमके साथ किये जाते हैं (गीता १८।२४), वे राजस हैं। ऐसे कर्मोंके करते समय तो परिश्रमरूप दुःख होता ही है, परंतु उसके बाद भी वे दुःख ही देते रहते हैं। उनके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें बार-बार भोग, कामना, लोभ और प्रवृत्ति आदि राजसभाव स्फुरित होते हैं—जिनसे मन विक्षिप्त होकर अशान्ति और दुःखोंसे भर जाता है। उन कर्मोंके फलस्वरूप जो भोग प्राप्त होते हैं, वे भी अज्ञानसे सुखरूप दीखनेपर भी वस्तुतः दुःखरूप ही होते हैं और फल भोगनेके लिये जो बार-बार जन्म-मरणके चक्रमें पड़े रहना पड़ता है, वह तो महान् दुःख है ही।

८. जो कर्म बिना सोचे-समझे मूर्खतावश किये जाते हैं और जिनमें हिंसा आदि दोष भरे रहते हैं (गीता १८।२५), वे 'तामस' हैं। उनके संस्कारोंसे अन्तःकरणमें मोह बढ़ता है और मरनेके बाद जिन योनियोंमें तमोगुणकी अधिकता है—ऐसी जडयोनियोंकी प्राप्ति होती है; वही उसका फल 'अज्ञान' है।

१. यहाँ 'ज्ञान' शब्दसे यह समझना चाहिये कि ज्ञान, प्रकाश और सुख, शान्ति आदि सभी सात्त्विकभावोंकी उत्पत्ति सत्त्वगुणसे होती है।

२. यहाँ 'लोभ' शब्दसे भी यही समझना चाहिये कि लोभ, प्रवृत्ति, आसक्ति, कामना, स्वार्थपूर्वक कर्मोंका आरम्भ आदि सभी राजसभावोंकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है।

३. महाभारत, अश्वमेधपर्वके उनतालीसवें अध्यायका दसवाँ श्लोक भी इसीसे मिलता-जुलता है।

४. चौदहवें और पंद्रहवें श्लोकोंमें तो दूसरे गुणोंमें स्वाभाविक स्थितिके होते हुए भी मरणकालमें जिस गुणकी वृद्धिमें मृत्यु होती है, उसीके अनुसार गति होनेकी बात कही गयी है और यहाँ जिनकी स्वाभाविक स्थायी स्थिति सत्त्वादि गुणोंमें है, उनकी गतिके भेदका वर्णन किया गया है। इसलिये ही यहाँ सदा तमोगुणके कार्योंमें स्थित रहनेवाले तामस मनुष्यको नरकादिकी प्राप्ति होनेकी बात भी कही गयी है।

५. मनुष्य स्वाभाविक तो अपनेको शरीरधारी समझकर कर्ता और भोक्ता बना रहता है, परंतु जिस समय शास्त्र और आचार्यके उपदेशद्वारा विवेक प्राप्त करके वह अपनेको द्रष्टा समझने लग जाता है, उस समयका वर्णन यहाँ किया जाता है।

६. इन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राण आदिकी श्रवण, दर्शन, खान-पान, चिन्तन-मनन, शयन-आसन और व्यवहार आदि सभी स्वाभाविक चेष्टाओंके होते समय सदा-सर्वदा अपनेको निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित देखते हुए जो ऐसे समझना है कि गुणोंके अतिरिक्त अन्य कोई कर्ता नहीं है; गुणोंके कार्य इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण आदि ही गुणोंके कार्यरूप इन्द्रियादिके विषयोंमें बरत रहे हैं (गीता ५।८, ९); अतः गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (गीता ३।२८); मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—यही गुणोंसे अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता न देखना है।

७. अपनेको निर्गुण-निराकार ब्रह्मसे अभिन्न समझ लेनेपर जो उस एकमात्र सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसी भी सत्ताका न रहना और सर्वत्र एवं सदा-सर्वदा केवल परमात्माका प्रत्यक्ष हो जाना ही उसे तत्त्वसे जानना है। ऐसी स्थितिके बाद जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी अभिन्नभावसे साक्षात् प्राप्ति हो जाती है, वही भगवद्भाव यानी भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त होना है।

१. रज और तमका सम्बन्ध छूटनेके बाद यदि सत्त्वगुणसे सम्बन्ध बना रहे तो वह भी मुक्तिमें बाधक होकर पुनर्जन्मका कारण बन सकता है; अतएव उसका सम्बन्ध भी त्याग देना चाहिये। आत्मा वास्तवमें असंग है, गुणोंके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; तथापि जो अनादिसिद्ध अज्ञानसे इनके साथ सम्बन्ध माना हुआ है, उस सम्बन्धको ज्ञानके द्वारा तोड़ देना और अपनेको निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अभिन्न और गुणोंसे सर्वथा सबन्धरहित समझ लेना अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना ही गुणोंसे अतीत हो जाना यानी तीनों गुणोंको उल्लंघन करना है।

२. जन्म और मरण तथा बाल, युवा और वृद्ध-अवस्था शरीरकी होती है एवं आधि और व्याधि आदि सब प्रकारके दुःख भी इन्द्रिय, मन और प्राण आदिके संघातरूप शरीरमें ही व्याप्त रहते हैं। अतः तत्त्वज्ञानके द्वारा शरीरसे सर्वथा सम्बन्धरहित हो जाना ही जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखोंसे सर्वथा मुक्त हो जाना है तथा जो अमृतस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको अभिन्नभावसे प्रत्यक्ष कर लेना है, जिसे उन्नीसवें श्लोकमें भगवद्भावकी प्राप्तिके नामसे कहा गया है—वही यहाँ 'अमृत' का अनुभव करना है।

३. गुणातीत पुरुषके अंदर ज्ञान, शान्ति और आनन्द नित्य रहते हैं; उनका कभी अभाव नहीं होता। इसीलिये यहाँ सत्त्वगुणके कार्योंमें केवल प्रकाशके विषयमें कहा है कि उसके शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें यदि अपने-आप सत्त्वगुणकी प्रकाशवृत्तिका प्रादुर्भाव हो जाता है तो गुणातीत पुरुष उससे द्वेष नहीं करता और जब तिरोभाव हो जाता है तो पुनः उसके आगमनकी इच्छा नहीं करता; उसके प्रादुर्भाव और तिरोभावमें सदा ही उसकी एक-सी स्थिति रहती है।

४. नाना प्रकारके कर्म करनेकी स्फुरणाका नाम प्रवृत्ति है। इसके सिवा जो काम, लोभ, स्पृहा और आसक्ति आदि रजोगुणके कार्य हैं—वे गुणातीत पुरुषमें नहीं होते। कर्मोंका आरम्भ गुणातीतके शरीर-इन्द्रियोंद्वारा भी होता है, वह 'प्रवृत्ति' के अन्तर्गत ही आ जाता है; अतएव यहाँ रजोगुणके कार्योंमेंसे केवल 'प्रवृत्ति' में ही राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी स्फुरणा और क्रियाके प्रादुर्भाव और तिरोभावमें सदा ही उसकी एक-सी ही स्थिति रहती है।

५. अन्तःकरणकी जो मोहिनीवृत्ति है—जिससे मनुष्यको तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं तथा शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें सत्त्वगुणके कार्य प्रकाशका अभाव-सा हो जाता है—उसका नाम 'मोह' है। इसके सिवा जो अज्ञान और प्रमाद आदि तमोगुणके कार्य हैं, उनका गुणातीतमें अभाव हो जाता है; क्योंकि अज्ञान तो ज्ञानके पास आ नहीं सकता और प्रमाद बिना कर्ताके करे कौन? इसलिये यहाँ तमोगुणके कार्यमें केवल 'मोह' के प्रादुर्भाव और तिरोभावमें राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जब गुणातीत पुरुषके शरीरमें तन्द्रा, स्वप्न या निद्रा आदि तमोगुणकी वृत्तियाँ व्याप्त होती हैं, तब तो गुणातीत उनसे द्वेष नहीं करता और जब वे निवृत्त हो जाती हैं, तब वह उनके पुनरागमनकी इच्छा नहीं करता। दोनों अवस्थाओंमें ही उसकी स्थिति सदा एक-सी रहती है।

१. गुणातीत पुरुषका तीनों गुणोंसे और उनके कार्यरूप शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण एवं समस्त पदार्थों और घटनाओंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रहनेके कारण वह उदासीनके सदृश स्थित कहा जाता है।

२. जिन जीवोंका गुणोंके साथ सम्बन्ध है, उनको ये तीनों गुण उनकी इच्छा न होते हुए भी बलात् नाना प्रकारके कर्मोंमें और उनके फलभोगोंमें लगा देते हैं एवं उनको सुखी-दुःखी बनाकर विक्षेप उत्पन्न कर देते हैं तथा अनेकों योनियोंमें भटकाते रहते हैं; परंतु जिसका इन गुणोंसे सम्बन्ध नहीं रहता, उसपर इन

गुणोंका कोई प्रभाव नहीं रह जाता। गुणोंके कार्यरूप शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणकी अवस्थाओंका परिवर्तन तथा नाना प्रकारके सांसारिक पदार्थोंका संयोग-वियोग होते रहनेपर भी वह अपनी स्थितिमें सदा निर्विकार एकरस रहता है; यही उसका गुणोंद्वारा विचलित नहीं किया जाना है।

३. इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण आदि समस्त करण और शब्दादि सब विषय—ये सभी गुणोंके ही विस्तार हैं; अतएव इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका जो अपने-अपने विषयोंमें विचरना है—वह गुणोंका ही गुणोंमें बरतना है, आत्माका इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा नित्य, चेतन, सर्वथा असंग, सदा एकरस, सच्चिदानन्दस्वरूप है—ऐसा समझकर निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मामें जो अभिन्नभावसे सदाके लिये नित्य स्थित हो जाना है, वही 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं यह समझकर परमात्मामें स्थित रहना' है।

४. गुणातीत पुरुषको गुण विचलित नहीं कर सकते, इतनी ही बात नहीं है; वह स्वयं भी अपनी स्थितिसे कभी किसी भी कालमें विचलित नहीं होता।

५. साधारण मनुष्योंकी स्थिति प्रकृतिके कार्यरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन प्रकारके शरीरोंमेंसे किसी एकमें रहती ही है; अतः वे 'स्वस्थ' नहीं हैं, किंतु 'प्रकृतिस्थ' हैं और ऐसे पुरुष ही प्रकृतिके गुणोंको भोगनेवाले हैं (गीता १३।२१), इसलिये वे सुख-दुःखमें सम नहीं हो सकते। गुणातीत पुरुषका प्रकृति और उसके कार्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; अतएव वह 'स्वस्थ' है—अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें स्थित है। इसलिये शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणमें सुख और दुःखोंका प्रादुर्भाव और तिरोभाव होते रहनेपर भी गुणातीत पुरुषका उनसे कुछ भी सम्बन्ध न रहनेके कारण वह उनके द्वारा सुखी-दुःखी नहीं होता; उसकी स्थिति सदा सम ही रहती है। यही उसका सुख-दुःखको समान समझना है।

६. जो पदार्थ शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिके अनुकूल हो तथा उनका पोषक, सहायक एवं सुखप्रद हो, वह लोकदृष्टिसे 'प्रिय' कहलाता है और जो पदार्थ उनके प्रतिकूल हो, उनका क्षयकारक, विरोधी एवं ताप पहुँचानेवाला हो, वह लोकदृष्टिसे 'अप्रिय' माना जाता है। साधारण मनुष्योंको प्रिय वस्तुके संयोगमें और अप्रियके वियोगमें राग और हर्ष तथा अप्रियके संयोगमें और प्रियके वियोगमें द्वेष और शोक होते हैं; किंतु गुणातीतमें ऐसा नहीं होता, वह सदा-सर्वदा राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे सर्वथा अतीत रहता है।

७. किसीके सच्चे या झूठे दोषोंका वर्णन करना निन्दा है और गुणोंका बखान करना स्तुति है; इन दोनोंका सम्बन्ध—अधिकतर नामसे और कुछ शरीरसे है। गुणातीत पुरुषका 'शरीर' और उसके 'नाम' से किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न रहनेके कारण उसे निन्दा या स्तुतिके कारण शोक या हर्ष कुछ भी नहीं होता।

८. गुणातीत पुरुषके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे जो कुछ भी शास्त्रानुकूल क्रियाएँ प्रारब्धानुसार लोकसंग्रहके लिये अर्थात् लोगोंको बुरे मार्गसे हटाकर अच्छे मार्गपर लगानेके उद्देश्यसे हुआ करती हैं, उन सबका वह किसी अंशमें भी कर्ता नहीं बनता। यही भाव दिखलानेके लिये उसे 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहा है।

१. मान और अपमानका सम्बन्ध अधिकतर शरीरसे है। अतः जिनका शरीरमें अभिमान है, वे संसारी मनुष्य मानमें राग और अपमानमें द्वेष करते हैं; इससे उनको मानमें हर्ष और अपमानमें शोक होता है तथा वे मान करनेवालेके साथ प्रेम और अपमान करनेवालेसे वैर भी करते हैं; परंतु 'गुणातीत' पुरुषका शरीरसे कुछ भी सम्बन्ध न रहनेके कारण न तो शरीरका मान होनेसे उसे हर्ष होता है और न अपमान होनेसे शोक ही होता है। उसकी दृष्टिमें जिसका मानापमान होता है, जिसके द्वारा होता है एवं जो मान-अपमानरूप कार्य है—ये सभी मायिक और स्वप्नवत् हैं; अतएव मान-अपमानसे उसमें किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष और हर्ष-शोक नहीं होते। यही उसका मान और अपमानमें सम रहना है।

२. यद्यपि गुणातीत पुरुषका अपनी ओरसे किसी भी प्राणीमें मित्र या शत्रुभाव नहीं होता, इसलिये उसकी दृष्टिमें कोई मित्र अथवा वैरी नहीं है, तथापि लोग अपनी भावनाके अनुसार उसमें मित्र और शत्रुभावकी कल्पना कर लेते हैं; किंतु वह दोनों पक्षवालोंमें समभाव रखता है, उसके द्वारा बिना राग-द्वेषके ही समभावसे सबके हितकी चेष्टा हुआ करती है, वह किसीका भी बुरा नहीं करता और उसकी किसीमें भी भेदबुद्धि नहीं होती। यही उसका मित्र और वैरीके पक्षोंमें सम रहना है।

३. अभिप्राय यह है कि इस अध्यायके बाईसवें, तेईसवें, चौबीसवें और पचीसवें श्लोकोंमें जिन लक्षणोंका वर्णन किया गया है, उन सब लक्षणोंसे जो युक्त है, उसे लोग 'गुणातीत' कहते हैं। यही गुणातीत पुरुषकी पहचानके चिह्न हैं और यही उसका आचार-व्यवहार है। अतएव जबतक अन्तःकरणमें

राम-द्वेष, विषमता, हर्ष-शोक, अविद्या और अभिमान लेशमात्र भी रहे, तबतक साधकको समझना चाहिये कि अभी गुणातीत-अवस्था नहीं प्राप्त हुई है।

४. केवलमात्र एक परमेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ हैं; वे ही हमारे स्वामी, शरण लेनेयोग्य, परम गति और परम आश्रय तथा माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी और सर्वस्व हैं; उनके अतिरिक्त हमारा कोई नहीं है—ऐसा समझकर उनमें जो स्वार्थरहित अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेम है अर्थात् जिस प्रेममें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचारका जरा भी दोष न हो, जो सर्वथा और सर्वदा पूर्ण और अटल रहे, जिसका तनिक-सा अंश भी भगवान्से भिन्न वस्तुके प्रति न हो और जिसके कारण क्षणमात्रकी भी भगवान्की विस्मृति असह्य हो जाय, उस अनन्यप्रेमका नाम 'अव्यभिचारी भक्तियोग' है।

ऐसे भक्तियोगके द्वारा जो निरन्तर भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाओंका श्रवण-कीर्तन-मनन, उनके नामोंका उच्चारण, जप तथा उनके स्वरूपका चिन्तन आदि करते रहना है एवं मन, बुद्धि और शरीर आदिको तथा समस्त पदार्थोंको भगवान्का ही समझकर निष्कामभावसे अपनेको केवल निमित्तमात्र समझते हुए उनके आज्ञानुसार उन्हींकी सेवारूपमें समस्त क्रियाओंको उन्हींके लिये करते रहना है—यही अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा भगवान्को निरन्तर भजना है।

५. गुणातीत होनेके साथ ही मनुष्य ब्रह्मभावको अर्थात् जो निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म है, जिसको पा लेनेके बाद कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता, उसको अभिन्नभावसे प्राप्त करनेके योग्य बन जाता है और तत्काल ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

१. ब्रह्मकी प्रतिष्ठा मैं हूँ, इस कथनसे भगवान्ने यहाँ यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'वह ब्रह्म मुझ सगुण परमेश्वरसे भिन्न नहीं है और मैं उससे भिन्न नहीं हूँ अर्थात् मैं और ब्रह्म दो वस्तु नहीं है, एक ही तत्त्व है। अतएव पिछले श्लोकमें जो ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है, वह मेरी ही प्राप्ति है।' क्योंकि वास्तवमें एक परब्रह्म परमात्माके ही अधिकारी-भेदसे उपासनाके लिये भिन्न-भिन्न रूप बतलाये गये हैं। उनमेंसे परमात्माका जो मायातीत, अचिन्त्य, मन-वाणीका अविषय, निर्गुणस्वरूप है, वह तो एक ही है, परन्तु सगुणरूपके साकार और निराकार—ऐसे दो भेद हैं। जिस स्वरूपसे यह सारा जगत् व्याप्त है, जो सबका आश्रय है, अपनी अचिन्त्य शक्तिसे सबका धारण-पोषण करता है, वह तो भगवान्का सगुण अव्यक्त निराकार रूप है। श्रीशिव, श्रीविष्णु एवं श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि भगवान्के साकार रूप हैं तथा यह सारा जगत् भगवान्का साकार विराट् स्वरूप है।

२. 'अमृतस्य' पद भी जिसको पाकर मनुष्य अमर हो जाता है अर्थात् जन्म-मृत्युरूप संसारसे सदाके लिये छूट जाता है, उस ब्रह्मका ही वाचक है। उसकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह दिखलाया है कि वह अमृत भी मैं ही हूँ, अतएव इस अध्यायके बीसवें श्लोकमें और गीताके तेरहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें जो 'अमृत' की प्राप्ति बतलायी गयी है, वह मेरी ही प्राप्ति है।

३. जो नित्यधर्म है, जिस धर्मको गीताके नवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'धर्म्य' कहा है और बारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें 'धर्म्यामृत' नाम दिया गया है तथा इस प्रकरणमें जो गुणातीतके लक्षणोंके नामसे वर्णित हुआ है—उसका वाचक यहाँ 'शाश्वतस्य' विशेषणके सहित 'धर्मस्य' पद है। ऐसे धर्मकी प्रतिष्ठा अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वह मेरी प्राप्तिका साधन होनेके कारण मेरा ही स्वरूप है; क्योंकि इस धर्मका आचरण करनेवाला किसी अन्य फलको न पाकर मुझको ही प्राप्त होता है।

४. गीताके पाँचवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें जो 'अक्षय सुख' के नामसे, छठे अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें 'आत्यन्तिक सुख' के नामसे और अट्ठाईसवें श्लोकमें 'अत्यन्त सुख' के नामसे कहा गया है, उसी नित्य परमानन्दको यहाँ 'ऐकान्तिक सुख' अर्थात् अखण्ड एकरस आनन्द कहा गया है। उसका आश्रय (प्रतिष्ठा) अपनेको बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वह नित्य परमानन्द मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं है; अतः उसकी प्राप्ति मेरी ही प्राप्ति है।

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां पञ्चदशोऽध्यायः)

संसारवृक्षका, भगवत्प्राप्तिके उपायका, जीवात्माका, प्रभावसहित परमेश्वरके स्वरूपका एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके तत्त्वका वर्णन

सम्बन्ध—*गीताके चौदहवें अध्यायमें पाँचवेंसे अठारहवें श्लोकतक तीनों गुणोंके स्वरूप, उनके कार्य एवं उनकी बन्धनकारिताका और बँधे हुए मनुष्योंकी उत्तम, मध्यम और अधम गति आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन करके उन्नीसवें और बीसवें श्लोकोंमें उन गुणोंसे अतीत होनेका उपाय और फल बतलाया गया। उसके बाद अर्जुनके पूछनेपर बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक गुणातीत पुरुषके लक्षणों और आचरणोंका वर्णन करके छब्बीसवें श्लोकमें सगुण परमेश्वरके अव्यभिचारी भक्तियोगको गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मप्राप्तिके लिये योग्य बननेका सरल उपाय बतलाया गया; अतएव भगवान्‌में अव्यभिचारी भक्तियोगरूप अनन्य-प्रेम उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे अब उस सगुण परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपका एवं गुणोंसे अतीत होनेमें प्रधान साधन वैराग्य और भगवत्-शरणागतिका वर्णन करनेके लिये पंद्रहवें अध्यायका आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले संसारमें वैराग्य उत्पन्न करानेके उद्देश्यसे तीन श्लोकोंद्वारा संसारका वर्णन वृक्षके रूपमें करते हुए वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा उसका छेदन करनेके लिये कहते हैं—*

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं[१] [२] प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।। १ ।।

श्रीभगवान् बोले—आदिपुरुष परमेश्वररूप मूलवाले और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले जिस संसाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी कहते हैं[३] तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं[४], उस संसाररूप वृक्षको जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है[५] ।। १ ।।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके[६] ।। २ ।।

उस संसारवृक्षकी तीनों गुणोंरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषयभोगरूप कोंपलोंवाली[७] देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ[१] नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं ।। २ ।।

संसार-वृक्ष

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।

(गीता १५।१)

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते

नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-

मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।। ३ ।।

इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है।[2] इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ मूलोंवाले संसार-रूप पीपलके वृक्षको दृढ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर[3]— ।। ३ ।।

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं

यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये

यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।। ४ ।।

उसके पश्चात् उस परम पदरूप परमेश्वरको भली-भाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ, इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये[४] ।। ४ ।।

सम्बन्ध—*अब उपर्युक्त प्रकारसे आदिपुरुष परमपदस्वरूप परमेश्वरकी शरण होकर उसको प्राप्त हो जानेवाले पुरुषोंके लक्षण बतलाये जाते हैं—*

निर्मानमोहा[१] जितसङ्गदोषा[२]

अध्यात्मनित्या[३] विनिवृत्तकामाः[४] ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-

र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।। ५ ।।

जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं, वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त[५] ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ।। ५ ।।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।

यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ।। ६ ।।

जिस परम पदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, उस स्वयंप्रकाश परम पदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही;[६] वही मेरा परम धाम है[७] ।। ६ ।।

सम्बन्ध—*पहलेसे तीसरे श्लोकतक संसारवृक्षके नामसे क्षर पुरुषका वर्णन किया, उसमें जीवरूप अक्षर पुरुषके बन्धनका हेतु उसके द्वारा मनुष्ययोनिमें अहंता-ममता और आसक्तिपूर्वक किये हुए कर्मोंको बताया तथा उस बन्धनसे छूटनेका उपाय सृष्टिकर्ता आदिपुरुष पुरुषोत्तमकी शरण ग्रहण करना बताया। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त प्रकारसे बँधे हुए जीवका क्या स्वरूप है और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, उसे कौन कैसे जानता है; अतः इन सब बातोंका स्पष्टीकरण करनेके लिये पहले जीवका स्वरूप बतलाते हैं—*

ममैवांशो जीवलोके[१] जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।। ७ ।।

इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है[२] और वही इन प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको[३] आकर्षण करता है ।। ७ ।।

सम्बन्ध—*यह जीवात्मा मनसहित छः इन्द्रियोंको किस समय, किस प्रकार और किसलिये आकर्षित करता है तथा वे मनसहित छः इन्द्रियाँ कौन-कौन हैं —ऐसी जिज्ञासा होनेपर अब दो श्लोकोंमें इसका उत्तर दिया जाता है—*

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः[४] ।
गृहीत्वैतानि[५] संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ।। ८ ।।

वायु गन्धके स्थानसे गन्धको जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है[६] ।। ८ ।।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।। ९ ।।

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके अर्थात् इन सबके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है[७] ।। ९ ।।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।। १० ।।

शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको अथवा विषयोंको भोगते हुएको—इस प्रकार तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं[८] ।। १० ।।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।। ११ ।।

यत्न करनेवाले योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं;[१] किंतु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते[२] ।। ११ ।।

सम्बन्ध—*छठे श्लोकपर दो शंकाएँ होती हैं—पहली यह कि सबके प्रकाशक सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि आदि तेजोमय पदार्थ परमात्माको क्यों नहीं प्रकाशित कर सकते और दूसरी यह कि परमधामको प्राप्त होनेके बाद पुरुष वापस क्यों नहीं लौटते। इनमेंसे दूसरी शंकाके उत्तरमें सातवें श्लोकमें जीवात्माको परमेश्वरका सनातन अंश बतलाकर ग्यारहवें श्लोकतक उसके स्वरूप, स्वभाव और व्यवहारका वर्णन करते हुए उसका यथार्थ स्वरूप जाननेवालोंकी महिमा कही गयी। अब पहली शंकाका उत्तर देनेके लिये भगवान् बारहवेंसे पंद्रहवें श्लोकोंतक गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यसहित अपने स्वरूपका वर्णन करते हैं—*

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम् ।। १२ ।।

सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, उसको तू मेरा ही तेज जान[३] ।। १२ ।।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।। १३ ।।

और मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ[४] और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियोंको अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ[५] ।। १३ ।।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।। १४ ।।

मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित रहनेवाला प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकारके अन्नको पचाता हूँ[६] ।। १४ ।।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ।। १५ ।।

मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है[१] और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ[२] तथा

वेदान्तका कर्ता[३] और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ।। १५ ।।

सम्बन्ध—*पहलेसे छठे श्लोकतक वृक्षरूपसे संसारका, दृढ़ वैराग्यके द्वारा उसके छेदनका, परमेश्वरकी शरणमें जानेका, परमात्माको प्राप्त होनेवाले पुरुषोंके लक्षणोंका और परमधामस्वरूप परमेश्वरकी महिमाका वर्णन करते हुए अश्वत्थवृक्षरूप क्षर पुरुषका प्रकरण पूरा किया गया। तदनन्तर सातवें श्लोकसे 'जीव' शब्दवाच्य उपासक अक्षर पुरुषका प्रकरण आरम्भ करके उसके स्वरूप, शक्ति, स्वभाव और व्यवहारका वर्णन करनेके बाद उसे जाननेवालोंकी महिमा कहते हुए ग्यारहवें श्लोकतक उस प्रकरणको पूरा किया। फिर बारहवें श्लोकसे उपास्यदेव 'पुरुषोत्तम' का प्रकरण आरम्भ करके पंद्रहवें श्लोकतक उसके गुण, प्रभाव और स्वरूपका वर्णन करते हुए उस प्रकरणको भी पूरा किया। अब अध्यायकी समाप्तितक पूर्वोक्त तीनों प्रकरणोंका सार संक्षेपमें बतलानेके लिये अगले श्लोकोंमें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमका वर्णन करते हैं—*

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते[४] ।। १६ ।।

इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी, ये दो प्रकारके पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ।। १६ ।।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।। १७ ।।

इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है,[५] जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है[६] ।। १७ ।।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।। १८ ।।

क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग-क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ,[१] इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ।। १८ ।।

यो मामेवमसम्मूढो[२] जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्[३] भजति मां सर्वभावेन भारत ।। १९ ।।

हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है,[४] वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता

है[५] ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं[६] शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ[७] ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अति रहस्य-युक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है[१] ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ भीष्मपर्वणि तु एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें पुरुषोत्तमयोग नामक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥ भीष्मपर्वमें उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

---

१. 'मूल' शब्द कारणका वाचक है। इस संसारवृक्षकी उत्पत्ति और इसका विस्तार आदिपुरुष नारायणसे ही हुआ है, यह बात अगले चौथे श्लोकमें और अन्यत्र भी स्थान-स्थानपर कही गयी है। वे आदिपुरुष परमेश्वर नित्य, अनन्त और सबके आधार हैं एवं सगुणरूपसे सबसे ऊपर नित्य-धाममें निवास करते हैं, इसलिये 'ऊर्ध्व' नामसे कहे जाते हैं। यह संसारवृक्ष उन्हीं मायापति सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसको 'ऊर्ध्वमूल' अर्थात् ऊपरकी ओर मूलवाला कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अन्य साधारण वृक्षोंका मूल तो नीचे पृथ्वीके अंदर रहा करता है, पर इस संसारवृक्षका मूल ऊपर है—यह बड़ी अलौकिक बात है।

२. संसारवृक्षकी उत्पत्तिके समय सबसे पहले ब्रह्माका उद्भव होता है, इस कारण ब्रह्मा ही इसकी प्रधान शाखा हैं। ब्रह्माका लोक आदिपुरुष नारायणके नित्यधामकी अपेक्षा नीचे है एवं ब्रह्माजीका अधिकार भी भगवान्‌की अपेक्षा नीचा है—ब्रह्मा उन आदिपुरुष नारायणसे ही उत्पन्न होते हैं और उन्हींके शासनमें रहते हैं—इसलिये इस संसारवृक्षको 'नीचेकी ओर शाखावाला' कहा है।

३. यद्यपि यह संसारवृक्ष परिवर्तनशील होनेके कारण नाशवान्, अनित्य और क्षणभंगुर है, तो भी इसका प्रवाह अनादिकालसे चला आता है, इसके प्रवाहका अन्त भी देखनेमें नहीं आता; इसलिये इसको अव्यय अर्थात् अविनाशी कहते हैं; क्योंकि इसका मूल सर्वशक्तिमान् परमेश्वर नित्य अविनाशी हैं, किंतु वास्तवमें यह संसारवृक्ष अविनाशी नहीं है। यदि यह अव्यय होता तो न तो अगले तीसरे श्लोकमें यह कहा जाता कि इसका जैसा स्वरूप बतलाया गया है, वैसा उपलब्ध नहीं होता और न इसको वैराग्यरूप दृढ़ शस्त्रके द्वारा छेदन करनेके लिये ही कहना बनता।

४. पत्ते वृक्षकी शाखासे उत्पन्न एवं वृक्षकी रक्षा और वृद्धि करनेवाले होते हैं। वेद भी इस संसाररूप वृक्षकी मुख्य शाखारूप ब्रह्मासे प्रकट हुए हैं और वेदविहित कर्मोंसे ही संसारकी वृद्धि और रक्षा होती है, इसलिये वेदोंको पत्तोंका स्थान दिया गया है।

५. इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जो मनुष्य मूलसहित इस संसारवृक्षको इस प्रकार तत्त्वसे जानता है कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी मायासे उत्पन्न यह संसार वृक्षकी भाँति उत्पत्ति-विनाशशील और क्षणिक है, अतएव इसकी चमक-दमकमें न फँसकर इसको उत्पन्न करनेवाले मायापति परमेश्वरकी शरणमें जाना चाहिये और ऐसा समझकर संसारसे विरक्त और उपरत होकर जो भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेता है, वही वास्तवमें वेदोंको जाननेवाला है; क्योंकि पंद्रहवें श्लोकमें सब वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य भगवान्‌को ही बतलाया है।

६. मनुष्यशरीरमें कर्म करनेका अधिकार है एवं मनुष्यशरीरके द्वारा अहंता, ममता और वासनापूर्वक किये हुए कर्म बन्धनके हेतु माने गये हैं; इसीलिये ये मूल मनुष्यलोकमें कर्मानुसार बाँधनेवाले हैं। दूसरी सभी योनियाँ भोग-योनियाँ हैं, उनमें कर्मोंका अधिकार नहीं है; अतः वहाँ अहंता, ममता और वासनारूप मूल होनेपर भी वे कर्मानुसार बाँधनेवाले नहीं बनते।

७. अच्छी और बुरी योनियोंकी प्राप्ति गुणोंके संगसे होती है (गीता १३।२१) एवं समस्त लोक और प्राणियोंके शरीर तीनों गुणोंके ही परिणाम हैं, यह भाव समझानेके लिये उन शाखाओंको गुणोंके द्वारा बढ़ी हुई कहा गया है और उन शाखा-स्थानीय देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनियोंके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंके रसोपभोगको ही यहाँ कोंपल बतलाया गया है।

१. ब्रह्मलोकसे लेकर पातालपर्यन्त जितने भी लोक और उनमें निवास करनेवाली योनियाँ हैं, वे ही सब इस संसारवृक्षकी बहुत-सी शाखाएँ हैं।

२. इस बातका पता नहीं है कि इसकी यह प्रकट होने और लय होनेकी परम्परा कबसे आरम्भ हुई और कबतक चलती रहेगी। स्थितिकालमें भी यह निरन्तर परिवर्तित होता रहता है; जो रूप पहले क्षणमें है, वह दूसरे क्षणमें नहीं रहता। इस प्रकार इस संसारवृक्षका आदि, अन्त और स्थिति—तीनों ही उपलब्ध नहीं होते।

३. इस संसारवृक्षके जो अविद्यामूलक अहंता, ममता और वासनारूप मूल हैं, वे अनादिकालसे पुष्ट होते रहनेके कारण अत्यन्त दृढ़ हो गये हैं; अतएव उस वृक्षको अति दृढ़ मूलोंसे युक्त बतलाया गया है। विवेकद्वारा समस्त संसारको नाशवान् और क्षणिक समझकर इस लोक और परलोकके स्त्री-पुत्र, धन, मकान तथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग आदि समस्त भोगोंमें सुख, प्रीति और रमणीयताका न भासना—उनमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना ही दृढ़ वैराग्य है, उसीका नाम यहाँ 'असंग-शस्त्र' है। इस असंग-शस्त्रद्वारा जो चराचर समस्त संसारके चिन्तनका त्याग कर देना—उससे उपरत हो जाना है एवं अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंका उच्छेद कर देना है—यही उस संसारवृक्षका दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रके द्वारा समूल उच्छेद करना है।

४. इस अध्यायके पहले श्लोकमें जिसे 'ऊर्ध्व' कहा गया है, गीताके चौदहवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें जो 'माम्' पदसे और सत्ताईसवें श्लोकमें 'अहम्' पदसे कहा गया है एवं अन्यान्य स्थलोंमें जिसको कहीं परम पद, कहीं अव्यय पद और कहीं परम गति तथा कहीं परम धामके नामसे भी कहा है, उसीको यहाँ परम पदके नामसे कहते हैं। उस सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरको प्राप्त करनेकी इच्छासे जो बार-बार उनके गुण और प्रभावके सहित स्वरूपका मनन और निदिध्यासनद्वारा अनुसंधान करते रहना है, यही उस परम पदको खोजना है। अतः उपर्युक्त प्रकारसे उसका अनुसंधान करनेके लिये अपने अंदर जरा भी अभिमान न आने देकर और सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी शरण लेकर—उसका अनन्य आश्रय लेकर उसीपर पूर्ण विश्वासपूर्वक निर्भर हो जाना चाहिये।

१. जो जाति, गुण, ऐश्वर्य और विद्या आदिके सम्बन्धसे अपने अंदर तनिक भी बड़प्पनकी भावना नहीं करते एवं जिनका मान, बड़ाई या प्रतिष्ठासे तथा अविवेक और भ्रम आदि तमोगुणके भावोंसे लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रह गया है—ऐसे पुरुषोंको 'निर्मानमोहाः' कहते हैं।

२. जिनकी इस लोक और परलोकके भोगोंमें जरा भी आसक्ति नहीं रह गयी है, विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी जिनके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार नहीं हो सकता—ऐसे पुरुषोंको 'जितसङ्गदोषाः' कहते हैं।

३. 'अध्यात्म' शब्द यहाँ परमात्माके स्वरूपका वाचक है। अतएव परमात्माके स्वरूपमें जिनकी नित्य स्थिति हो गयी है, जिनका क्षणमात्रके लिये भी परमात्मासे वियोग नहीं होता और जिनकी स्थिति सदा अटल बनी रहती है—ऐसे पुरुषोंको 'अध्यात्मनित्याः' कहते हैं।

४. जिनकी सब प्रकारकी कामनाएँ सर्वथा नष्ट हो गयी हैं, जिनमें इच्छा, कामना, तृष्णा या वासना आदि लेशमात्र भी नहीं रह गयी हैं—ऐसे पुरुषोंको 'विनिवृत्तकामाः' कहते हैं।

५. शीत-उष्ण, प्रिय-अप्रिय, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा—इत्यादि द्वन्द्वोंको सुख और दुःखमें हेतु होनेसे सुख-दुःखसंज्ञक कहा गया है। इन सबसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न रखना अर्थात् किसी भी द्वन्द्वके संयोग-वियोगमें जरा भी राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारका न होना ही उन द्वन्द्वोंसे सर्वथा मुक्त होना है।

६. समस्त संसारको प्रकाशित करनेवाले सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि एवं ये जिनके देवता हैं—वे चक्षु, मन और वाणी कोई भी उस परम पदको प्रकाशित नहीं कर सकते। इनके अतिरिक्त और भी जितने प्रकाशक तत्त्व माने गये हैं, उनमेंसे भी कोई या सब मिलकर भी उस परम पदको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं; क्योंकि ये सब उसीके प्रकाशसे—उसीकी सत्ता-स्फूर्तिके किसी अंशसे स्वयं प्रकाशित होते हैं (गीता १५। १२)।

७. जहाँ पहुँचनेके बाद इस संसारसे कभी किसी भी कालमें और किसी भी अवस्थामें पुनः सम्बन्ध नहीं हो सकता, वही मेरा परम धाम अर्थात् मायातीत धाम है और वही मेरा भाव और स्वरूप है। इसीको अव्यक्त, अक्षर और परम गति भी कहते हैं (गीता ८।२१)। इसीका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

'यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः ।' (बृहज्जाबाल उप० ८।६)

'जहाँ सूर्य नहीं तपता, जहाँ वायु नहीं बहता, जहाँ चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होता, जहाँ तारे नहीं चमकते, जहाँ अग्नि नहीं चलाता, जहाँ मृत्यु नहीं प्रवेश करती, जहाँ दुःख नहीं प्रवेश करते और जहाँ जाकर योगी लौटते नहीं—वह सदानन्द, परमानन्द, शान्त, सनातन, सदा कल्याणस्वरूप, ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा वन्दित, योगियोंका ध्येय परम पद है।'

१. 'जीवलोके' पद यहाँ जीवात्माके निवासस्थान 'शरीर' का वाचक है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों प्रकारके शरीरोंका इसमें अन्तर्भाव है। इनमें स्थित जीवात्माको सनातन और अपना अंश बतलाया है।

२. जैसे सर्वत्र समभावसे स्थित विभागरहित महाकाश घड़े और मकान आदिके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होने लगता है और उन घड़े आदिमें स्थित आकाश महाकाशका अंश माना जाता है, उसी प्रकार यद्यपि मैं विभागरहित समभावसे सर्वत्र व्याप्त हूँ, तो भी भिन्न-भिन्न शरीरोंके सम्बन्धसे पृथक्-पृथक् विभक्त-सा प्रतीत होता हूँ (गीता १३।१६) और उन शरीरोंमें स्थित जीव मेरा अंश माना जाता है तथा इस प्रकारका यह विभाग अनादि है, नवीन नहीं बना है। यही भाव दिखलानेके लिये जीवात्माको भगवान्ने अपना सनातन अंश बतलाया है।

३. पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन—इन छहोंकी ही सब विषयोंका अनुभव करनेमें प्रधानता है, कर्मेन्द्रियोंका कार्य भी बिना ज्ञानेन्द्रियोंके नहीं चलता; इसलिये यहाँ मनके सहित इन्द्रियोंकी संख्या छः बतलायी गयी है। अतएव पाँच कर्मेन्द्रियोंका इनमें अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये।

४. जीवात्माको ईश्वर कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि यह इन मन-बुद्धिके सहित समस्त इन्द्रियोंका शासक और स्वामी है, इसीलिये इनको आकर्षित करनेमें समर्थ है।

५. मन अन्तःकरणका उपलक्षण होनेसे बुद्धिका उसमें अन्तर्भाव है और पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच प्राणोंका अन्तर्भाव ज्ञानेन्द्रियोंमें है, अतः यहाँ 'एतानि' पद इन सत्रह तत्त्वोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीरका बोधक है।

६. यहाँ आधारके स्थानमें स्थूलशरीर है, गन्धके स्थानमें सूक्ष्मशरीर है और वायुके स्थानमें जीवात्मा है। जैसे वायु गन्धको एक स्थानसे उड़ाकर दूसरे स्थानमें ले जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राणोंके समुदायरूप सूक्ष्मशरीरको एक स्थूलशरीरसे निकालकर दूसरे स्थूलशरीरमें ले जाता है।

यद्यपि जीवात्मा परमात्माका ही अंश होनेके कारण वस्तुतः नित्य और अचल है, उसका कहीं आना-जाना नहीं बन सकता, तथापि सूक्ष्मशरीरके साथ इसका सम्बन्ध होनेके कारण सूक्ष्मशरीरके द्वारा एक स्थूलशरीरसे दूसरे स्थूलशरीरमें जीवात्माका जाना-सा प्रतीत होता है; इसलिये यहाँ 'संयाति' क्रियाका प्रयोग करके जीवात्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना बतलाया गया है। गीताके दूसरे अध्यायके २२वें श्लोकमें भी यही बात कही गयी है।

७. वास्तवमें आत्मा न तो कर्मोंका कर्ता है और न उनके फलस्वरूप विषय एवं सुख-दुःखादिका भोक्ता ही; किंतु प्रकृति और उसके कार्योंके साथ जो उसका अज्ञानसे अनादि सम्बन्ध माना हुआ है, उसके कारण वह कर्ता-भोक्ता बना हुआ है (गीता १३।२१)। श्रुतिमें भी कहा गया है—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।' (कठोपनिषद् १।३।४) अर्थात् 'मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे युक्त आत्माको ही ज्ञानीजन भोक्ता—ऐसा कहते हैं।'

८. ज्ञानीजन शरीर छोड़कर जाते समय, शरीरमें रहते समय और विषयोंका उपभोग करते समय हरेक अवस्थामें ही वह आत्मा वास्तवमें प्रकृतिसे सर्वथा अतीत, शुद्ध, बोधस्वरूप और असंग ही है—ऐसा समझते हैं।

१. जिनका अन्तःकरण शुद्ध है और अपने वशमें है तथा जो आत्मस्वरूपको जाननेके लिये निरन्तर श्रवण, मनन और निदिध्यासनादि प्रयत्न करते रहते हैं, ऐसे उच्चकोटिके साधक ही 'यत्न करनेवाले योगीजन' हैं तथा जिस जीवात्माका प्रकरण चल रहा है और जो शरीरके सम्बन्धसे हृदयमें स्थित कहा जाता है, उसके नित्य-शुद्ध-विज्ञानानन्दमय वास्तविक स्वरूपको यथार्थ जान लेना ही उनका 'इस आत्माको तत्त्वसे जानना' है।

२. जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है अर्थात् न तो निष्काम कर्म आदिके द्वारा जिनके अन्तःकरणका मल सर्वथा धुल गया है एवं न जिन्होंने भक्ति आदिके द्वारा चित्तको स्थिर करनेका ही कभी समुचित अभ्यास किया है, ऐसे मलिन और विक्षिप्त अन्तःकरणवाले पुरुषोंको 'अकृतात्मा' कहते हैं। ऐसे मनुष्य अपने अन्तःकरणको शुद्ध बनानेकी चेष्टा न करके यदि केवल उस आत्माको जाननेके लिये शास्त्रालोचनरूप प्रयत्न करते रहें तो भी उसके तत्त्वको नहीं समझ सकते।

३. सूर्य, चन्द्रमा और अग्निमें स्थित समस्त तेजको अपना तेज बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि उन तीनोंमें और वे जिनके देवता हैं—ऐसे नेत्र, मन और वाणीमें वस्तुको प्रकाशित करनेकी जो कुछ भी शक्ति है—वह मेरे ही तेजका एक अंश है। इसीलिये छठे श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि—ये सब मेरे स्वरूपको प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं।

४. इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस पृथ्वीमें जो भूतोंको धारण करनेकी शक्ति प्रतीत होती है तथा इसी प्रकार और किसीमें जो धारण करनेकी शक्ति है, वह वास्तवमें उसकी नहीं, मेरी ही शक्तिका एक अंश है। अतएव मैं स्वयं ही पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपने बलसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ।

५. 'ओषधिः' शब्द पत्र, पुष्प और फल आदि समस्त अंग-प्रत्यंगोंके सहित वृक्ष, लता और तृण आदि जिनके भेद हैं—ऐसी समस्त वनस्पतियोंका वाचक है तथा 'मैं ही चन्द्रमा बनकर समस्त ओषधियोंका पोषण करता हूँ' इससे भगवान्ने यह दिखलाया है कि जिस प्रकार चन्द्रमामें प्रकाशनशक्ति मेरे ही प्रकाशका अंश है, उसी प्रकार जो उसमें पोषण करनेकी शक्ति है, वह भी मेरी ही शक्तिका एक अंश है; अतएव मैं ही चन्द्रमाके रूपमें प्रकट होकर सबका पोषण करता हूँ।

६. यहाँ भगवान् यह बतला रहे हैं कि जिस प्रकार अग्निकी प्रकाशनशक्ति मेरे ही तेजका अंश है, उसी प्रकार उसका जो उष्णत्व है अर्थात् उसकी जो पाचन, दीपन करनेकी शक्ति है, वह भी मेरी ही शक्तिका अंश है। अतएव मैं ही प्राण और अपानसे संयुक्त प्राणियोंके शरीरमें निवास करनेवाले वैश्वानर अग्निके रूपमें भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य पदार्थोंको अर्थात् दाँतोंसे चबाकर खाये जानेवाले रोटी, भात आदि; निगलकर खाये जानेवाले रबड़ी, दूध, पानी आदि; चाटकर खाये जानेवाले शहद, चटनी आदि और चूसकर खाये जानेवाले ऊख आदि—ऐसे चार प्रकारके भोजनको पचाता हूँ।

१. पहले देखी-सुनी या किसी प्रकार भी अनुभव की हुई वस्तु या घटनादिके स्मरणका नाम 'स्मृति' है। किसी भी वस्तुको यथार्थ जान लेनेकी शक्तिका नाम 'ज्ञान' है तथा संशय, विपर्यय आदि वितर्क-चालका वाचक 'ऊहन' है और उसके दूर होनेका नाम 'अपोहन' है। ये तीनों मुझसे ही होते हैं, यह कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि सबके हृदयमें स्थित मैं अन्तर्यामी परमेश्वर ही सब प्राणियोंके कर्मानुसार उपर्युक्त स्मृति, ज्ञान और अपोहन आदि भावोंको उनके अन्तःकरणमें उत्पन्न करता हूँ।

२. इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वेदोंमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डात्मक जितने भी वर्णन हैं, उन सबका अन्तिम लक्ष्य संसारमें वैराग्य उत्पन्न करके सब प्रकारके अधिकारियोंको मेरा ही ज्ञान करा देना है। अतएव उनके द्वारा जो मनुष्य मेरे स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे ही वेदोंके

अर्थको ठीक समझते हैं। इसके विपरीत जो लोग सांसारिक भोगोंमें फँसे रहते हैं, वे उनके अर्थको ठीक नहीं समझते।

३. इससे भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि वेदोंमें प्रतीत होनेवाले विरोधोंका वास्तविक समन्वय करके मनुष्यको शान्ति प्रदान करनेवाला मैं ही हूँ।

४. जिन दोनों तत्त्वोंका वर्णन गीताके सातवें अध्यायमें 'अपरा' और 'परा' प्रकृतिके नामसे (७।४, ५), आठवें अध्यायमें 'अधिभूत' और 'अध्यात्म' के नामसे (८।४, ३), तेरहवें अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के नामसे (१३।१) और इस अध्यायमें पहले 'अश्वत्थ' और 'जीव' के नामसे किया गया है, उनमेंसे एकको 'क्षर' और दूसरेको 'अक्षर' कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि दोनों परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं; क्योंकि 'भूतानि' पद यहाँ समस्त जीवोंके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों प्रकारके शरीरोंका वाचक है और 'कूटस्थ' शब्द यहाँ समस्त शरीरोंमें रहनेवाले आत्माका वाचक है। यह सदा एक-सा रहता है, इसमें परिवर्तन नहीं होता; इसलिये इसे 'कूटस्थ' कहते हैं और इसका कभी किसी अवस्थामें क्षय, नाश या अभाव नहीं होता; इसलिये यह अक्षर है।

५. 'उत्तम पुरुष' नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वशक्तिमान्, परमदयालु, सर्वगुणसम्पन्न पुरुषोत्तम भगवान्का वाचक है, वह पूर्वोक्त क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंसे विलक्षण और अत्यन्त श्रेष्ठ है।

६. जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट रहकर उनके नाश होनेपर भी कभी नष्ट नहीं होता, सदा ही निर्विकार, एकरस रहता है तथा जो क्षर और अक्षर—इन दोनोंका नियामक और स्वामी तथा सर्वशक्तिमान् ईश्वर है एवं जो गुणातीत, शुद्ध और सबका आत्मा है—वही परमात्मा 'पुरुषोत्तम' है।

क्षर, अक्षर और ईश्वर—इन तीनों तत्त्वोंका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद्में इस प्रकार आया है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः । (१।१०)

'प्रधान यानी प्रकृतिका नाम क्षर है और उसके भोक्ता अविनाशी आत्माका नाम अक्षर है। प्रकृति और आत्मा—इन दोनोंका शासन एक देव (पुरुषोत्तम) करता है।'

१. अपनेको 'क्षर' पुरुषसे अतीत बतलाकर भगवान्ने यह दिखलाया है कि मैं क्षर पुरुषसे सर्वथा सबन्धरहित और अतीत हूँ। अक्षरसे अपनेको उत्तम बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि क्षर पुरुषकी भाँति अक्षरसे मैं अतीत तो नहीं हूँ; क्योंकि वह मेरा ही अंश होनेके कारण अविनाशी और चेतन है; किंतु उससे मैं उत्तम अवश्य हूँ; क्योंकि वह अल्पज्ञ है, मैं सर्वज्ञ हूँ; वह नियम्य है, मैं नियामक हूँ; वह मेरा उपासक है, मैं उसका स्वामी उपास्यदेव हूँ और वह अल्पशक्तिसम्पन्न है, मैं सर्वशक्तिमान् हूँ; अतएव उसकी अपेक्षा मैं सब प्रकारसे उत्तम हूँ।

२. जिसका ज्ञान संशय, विपर्यय आदि दोषोंसे शून्य हो, जिसमें मोहका जरा भी अंश न हो, उसे 'असम्मूढ' कहते हैं।

३. इस अध्यायमें क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—इस प्रकार तीन भागोंमें विभक्त करके समस्त पदार्थोंका वर्णन किया गया है। अतएव जो क्षर और अक्षर दोनोंके यथार्थ स्वरूपको समझकर उनसे भी अत्यन्त उत्तम पुरुषोत्तमके तत्त्वको जानता है, वही 'सर्वविद्' है।

४. इस कथनसे भगवान्ने यह बतलाया है कि मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, समस्त जगत्का सृजन, पालन और संहार आदि करनेवाले, सबके परम सुहृद् सबके एकमात्र नियन्ता, सर्वगुणसम्पन्न, परम दयालु, परम प्रेमी, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वरको उपर्युक्त दो श्लोकोंमें वर्णित प्रकारसे क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंसे उत्तम निर्गुण-सगुण—गुणातीत और सर्वगुणसम्पन्न साकार-निराकार, व्यक्ताव्यक्तस्वरूप परम पुरुष मान लेना ही मुझको 'पुरुषोत्तम' जानना है।

५. भगवान्को पुरुषोत्तम समझनेवाले पुरुषका जो समस्त जगत्से प्रेम हटाकर केवलमात्र परम प्रेमास्पद एक परमेश्वरमें ही पूर्ण प्रेम करना; एवं बुद्धिसे भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला, स्वरूप और महिमापर पूर्ण विश्वास करना; उनके नाम, गुण, प्रभाव, चरित्र और स्वरूप आदिका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक मनसे चिन्तन करना, कानोंसे श्रवण करना, वाणीसे कीर्तन करना, नेत्रोंसे दर्शन करना एवं उनकी आज्ञाके अनुसार सब कुछ उनका समझकर तथा सबमें उनको व्याप्त समझकर कर्तव्यकर्मोंद्वारा सबको सुख पहुँचाते हुए उनकी सेवा आदि करना है—यही भगवान्को सब प्रकारसे भजना है।

६. इसे गुह्यतम बतलाकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि इस अध्यायमें मुझ सगुण परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बात प्रधानतासे कही गयी है; इसलिये यह अतिशय गुप्त रखनेयोग्य है।

मैं हर किसीके सामने इस प्रकारसे अपने गुण, प्रभाव, तत्त्व और ऐश्वर्यको प्रकट नहीं करता; अतएव तुम्हें भी अपात्रके सामने इस रहस्यको नहीं कहना चाहिये।

७. भगवान्‌ने अर्जुनको यहाँ 'अनघ' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाया है कि तुम्हारे अंदर पाप नहीं है, तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल है, अतः तुम मेरे इस गुह्यतम उपदेशको सुनने और धारण करनेके पात्र हो।

१. इस अध्यायमें वर्णित भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूप आदिको भलीभाँति समझकर भगवान्‌को पूर्वोक्त प्रकारसे साक्षात् पुरुषोत्तम समझ लेना ही इस शास्त्रको तत्त्वसे जानना है तथा उसे जाननेवालेका जो उस पुरुषोत्तम भगवान्‌को अपरोक्षभावसे प्राप्त कर लेना है, यही उसका बुद्धिमान् अर्थात् ज्ञानवान् हो जाना है और समस्त कर्तव्योंको पूर्ण कर चुकना—सबके फलको प्राप्त हो जाना ही कृतकृत्य हो जाना है।

चत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां षोडशोऽध्यायः)

फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदाका वर्णन तथा शास्त्रविपरीत आचरणोंको त्यागने और शास्त्रके अनुकूल आचरण करनेके लिये प्रेरणा

सम्बन्ध—*गीताके सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके ग्यारहवें और बारहवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने कहा था कि 'आसुरी और राक्षसी प्रकृतिको धारण करनेवाले मूढ मेरा भजन नहीं करते, वरं मेरा तिरस्कार करते हैं' तथा नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें कहा कि 'दैवी प्रकृतिसे युक्त महात्माजन मुझे सब भूतोंका आदि और अविनाशी समझकर अनन्यप्रेमके साथ सब प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं।' परंतु दूसरा प्रसंग चलता रहनेके कारण वहाँ दैवी प्रकृति और आसुरी प्रकृतिके लक्षणोंका वर्णन नहीं किया जा सका। फिर पंद्रहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा कि 'जो ज्ञानी महात्मा मुझे 'पुरुषोत्तम' जानते हैं, वे सब प्रकारसे मेरा भजन करते हैं।' इसपर स्वाभाविक ही भगवान्‌को पुरुषोत्तम जानकर सर्वभावसे उनका भजन करनेवाले दैवी प्रकृतियुक्त महात्मा पुरुषोंके और उनका भजन न करनेवाले आसुरी प्रकृतियुक्त अज्ञानी मनुष्योंके क्या-क्या लक्षण हैं—यह जाननेकी इच्छा होती है। अतएव अब भगवान् दोनोंके लक्षण और स्वभावका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये सोलहवाँ अध्याय आरम्भ करते हैं। इसमें पहले तीन श्लोकोंद्वारा दैवी-सम्पद्‌से युक्त सात्त्विक पुरुषोंके स्वाभाविक लक्षणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है—*

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप[१] आर्जवम् ।। १ ।।

श्रीभगवान् बोले—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ।। १ ।।

अहिंसा[१] सत्यमक्रोधस्त्यागः[२] शान्तिरपैशुनम्[३] ।

दया[४] भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं[५] ह्रीरचापलम्[६] ।। २ ।।

मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चंचलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव ।। २ ।।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ।। ३ ।।

तेज,[७] क्षमा, धैर्य,[८] बाहरकी शुद्धि एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो हे अर्जुन! दैवी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं[९] ।। ३ ।।

दम्भो[१०] दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।। ४ ।।

हे पार्थ! दम्भ, घमण्ड[१] और अभिमान[२] तथा क्रोध,[३] कठोरता[४] और अज्ञान[५] भी—ये सब आसुरी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं[६] ।। ४ ।।

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।। ५ ।।

दैवी-सम्पदा मुक्तिके लिये[७] और आसुरी-सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है। इसलिये हे अर्जुन! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है ।। ५ ।।

द्वौ भूतसर्गौ[८] लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।। ६ ।।

हे अर्जुन! इस लोकमें भूतोंकी सृष्टि यानी मनुष्यसमुदाय दो ही प्रकारका है,[९] एक तो दैवी प्रकृतिवाला और दूसरा आसुरी प्रकृतिवाला। उनमेंसे दैवी प्रकृतिवाला तो विस्तारपूर्वक कहा गया, अब तू आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदायको भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन ।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।। ७ ।।

आसुरस्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनोंको ही नहीं जानते[१०]। इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है ।। ७ ।।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ।। ८ ।।

वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहा करते हैं कि जगत् आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वरके,[१] अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है, अतएव केवल काम ही इसका कारण है। इसके सिवा और क्या है? ।। ८ ।।

सम्बन्ध—*ऐसे नास्तिक सिद्धान्तके माननेवालोंके स्वभाव और आचरण कैसे होते हैं? इस जिज्ञासापर अब भगवान् अगले चार श्लोकोंमें उनके लक्षणोंका वर्णन करते हैं—*

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।। ९ ।।

इस मिथ्या ज्ञानको अवलम्बन करके—जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्‌के नाशके लिये ही समर्थ होते हैं[२] ।। ९ ।।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ।। १० ।।

वे दम्भ, मान और मदसे युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर, अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणोंको धारण करके[३] संसारमें विचरते हैं ।। १० ।।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ।। ११ ।।

तथा वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले, विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर रहनेवाले और ‘इतना ही सुख है’ इस प्रकार माननेवाले होते हैं ।।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ।। १२ ।।

वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए[४] मनुष्य काम-क्रोधके परायण होकर विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थोंको संग्रह करनेकी चेष्टा करते रहते हैं[५] ।। १२ ।।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।। १३ ।।

वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह हो जायगा ।। १३ ।।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।। १४ ।।

वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूँ। मैं सब सिद्धियोंसे युक्त हूँ और बलवान् तथा सुखी हूँ[१] ।। १४ ।।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।। १५ ।।
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।। १६ ।।

मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञानसे मोहित रहनेवाले तथा अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले मोहरूप जालसे समावृत और विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुरलोग महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं[२] ।। १५-१६ ।।

आत्मसम्भाविताः[३] स्तब्धा[४] धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।। १७ ।।

वे अपने-आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष धन और मानके मदसे युक्त होकर केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे शास्त्रविधिरहित यजन करते हैं ।। १७ ।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः[५] ।। १८ ।।

वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं[६] ।। १८ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार सातवेंसे अठारहवें श्लोकोंतक आसुरीस्वभाववालोंके दुर्गुण और दुराचार आदिका वर्णन करके अब उन दुर्गुण-दुराचारोंमें त्याज्य-बुद्धि करानेके लिये अगले दो श्लोकोंमें भगवान् वैसे लोगोंकी घोर निन्दा करते हुए उनकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—*

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।। १९ ।।

उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें[७] ही डालता हूँ ।। १९ ।।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।। २० ।।

हे अर्जुन! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर[१] जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ।। २० ।।

सम्बन्ध—*आसुरस्वभाववाले मनुष्योंको लगातार आसुरी योनियोंके और घोर नरकोंके प्राप्त होनेकी बात सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि उनके लिये इस दुर्गतिसे बचकर परम गतिको प्राप्त करनेका क्या उपाय है; इसपर कहते हैं—*

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ।। २१ ।।

काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं[२]। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ।। २१ ।।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।। २२ ।।

हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है,[३] इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है ।। २२ ।।

सम्बन्ध—*जो उपर्युक्त दैवीसम्पदाका आचरण न करके अपनी मान्यताके अनुसार कर्म करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है या नहीं? इसपर कहते हैं—*

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। २३ ।।

जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही[४] ।। २३ ।।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।। २४ ।।

इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है[१] ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ।। १६ ।। भीष्मपर्वणि तु चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद, श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें दैवासुरसम्पद्विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६ ।। भीष्मपर्वमें चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४० ।।

---

२. अपने धर्मका पालन करनेके लिये कष्ट सहन करके जो अन्तःकरण और इन्द्रियोंको तपाना है, उसीका नाम यहाँ 'तपः' पद है। गीताके सतरहवें अध्यायमें जिस शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपका निरूपण है—यहाँ 'तपः' पदसे उसका निर्देश नहीं है; क्योंकि उसमें अहिंसा, सत्य, शौच, स्वाध्याय और आर्जव आदि जिन लक्षणोंका तपके अंगरूपमें निरूपण हुआ है, यहाँ उनका अलग वर्णन किया गया है।

१. किसी भी प्राणीको कभी कहीं भी लोभ, मोह या क्रोधपूर्वक अधिक मात्रामें, मध्य मात्रामें या थोड़ा-सा भी किसी प्रकारका कष्ट स्वयं देना, दूसरेसे दिलवाना या कोई किसीको कष्ट देता हो तो उसका अनुमोदन करना—हर हालतमें हिंसा है। इस प्रकारकी हिंसाका किसी भी निमित्तसे मन, वाणी, शरीरद्वारा न करना—अर्थात् मनसे किसीका बुरा न चाहना, वाणीसे किसीको न तो गाली देना, न कठोर वचन कहना और न किसी प्रकारके हानिकारक वचन ही कहना तथा शरीरसे न किसीको मारना, न कष्ट पहुँचाना और न किसी प्रकारकी हानि ही पहुँचाना आदि—ये सभी अहिंसाके भेद हैं।

२. केवल गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, मेरा इन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा मानकर अथवा मैं तो भगवान्‌के हाथकी कठपुतलीमात्र हूँ, भगवान् ही अपने इच्छानुसार मेरे मन, वाणी और शरीरसे सब कर्म करवा रहे हैं, मुझमें न तो अपने-आप कुछ करनेकी शक्ति है और न मैं कुछ करता ही हूँ—ऐसा मानकर कर्तृत्व-अभिमानका त्याग करना ही त्याग है या कर्तव्यकर्म करते हुए उनमें ममता, आसक्ति, फल और स्वार्थका सर्वथा त्याग करना भी त्याग है एवं आत्मोन्नतिमें विरोधी वस्तु, भाव और क्रियामात्रके त्यागका नाम भी 'त्याग' कहा जा सकता है।

३. दूसरेके दोष देखना या उन्हें लोगोंमें प्रकट करना अथवा किसीकी निन्दा या चुगली करना पिशुनता है; इसके सर्वथा अभावका नाम 'अपैशुन' है।

४. किसी भी प्राणीको दुःखी देखकर उसके दुःखको जिस किसी प्रकारसे किसी भी स्वार्थकी कल्पना किये बिना ही निवारण करनेका और सब प्रकारसे उसे सुखी बनानेका जो भाव है, उसे 'दया' कहते हैं। दूसरोंको कष्ट नहीं पहुँचाना 'अहिंसा' है और उनको सुख पहुँचानेका भाव 'दया' है। यही अहिंसा और दयाका भेद है।

५. अन्तःकरण, वाणी और व्यवहारमें जो कठोरताका सर्वथा अभाव होकर उनका अतिशय कोमल हो जाना है, उसीको 'मार्दव' कहते हैं।

६. हाथ-पैर आदिको हिलाना, तिनके तोड़ना, जमीन कुरेदना, बेमतलब बकते रहना, बेसिर-पैरकी बातें सोचना आदि हाथ-पैर, वाणी और मनकी व्यर्थ चेष्टाओंका नाम चपलता है। इसीको प्रमाद भी कहते हैं। इसके सर्वथा अभावको 'अचापल' कहते हैं।

७. श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिविशेषका नाम तेज है, जिसके कारण उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

८. भारी-से-भारी आपत्ति, भय या दुःख उपस्थित होनेपर भी विचलित न होना; काम, क्रोध, भय या लोभसे किसी प्रकार भी अपने धर्म और कर्तव्यसे विमुख न होना 'धैर्य' है।

९. इस अध्यायके पहले श्लोकसे लेकर इस श्लोकके पूर्वार्द्धतक ढाई श्लोकोंमें छब्बीस लक्षणोंके रूपमें उस दैवीसम्पद्‌रूप सद्‌गुण और सदाचारका ही वर्णन किया गया है। अतः ये सब लक्षण जिसमें स्वभावसे विद्यमान हों अथवा जिसने साधनद्वारा प्राप्त कर लिये हों, वही पुरुष दैवीसम्पद्‌से युक्त है।

१०. मान, बड़ाई, पूजा और प्रतिष्ठाके लिये, धनादिके लोभसे या किसीको ठगनेके अभिप्रायसे अपनेको धर्मात्मा, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा प्रसिद्ध करना अथवा दिखाऊ धर्मपालनका, दानीपनका, भक्तिका, व्रत-उपवासादिका, योग-साधनका और जिस किसी भी रूपमें रहनेसे अपना काम सधता हो, उसीका ढोंग रचना 'दम्भ' है।

१. विद्या, धन, कुटुम्ब, जाति, अवस्था, बल और ऐश्वर्य आदिके सम्बन्धसे जो मनमें गर्व होता है—जिसके कारण मनुष्य दूसरोंको तुच्छ समझकर उनकी अवहेलना करता है, उसका नाम 'घमण्ड' है।

२. अपनेको श्रेष्ठ, बड़ा या पूज्य समझना, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और पूजा आदिकी इच्छा रखना एवं इन सबके प्राप्त होनेपर प्रसन्न होना 'अभिमान' है।

३. बुरी आदतके अथवा क्रोधी मनुष्योंके संगके कारण या किसीके द्वारा अपना तिरस्कार, अपकार या निन्दा किये जानेपर, मनके विरुद्ध कार्य होनेपर, किसीके द्वारा दुर्वचन सुनकर या किसीका अन्याय देखकर—इत्यादि किसी भी कारणसे अन्तःकरणमें जो द्वेषयुक्त उत्तेजना हो जाती है—जिसके कारण मनुष्यके मनमें प्रतिहिंसाके भाव जाग्रत् हो उठते हैं, नेत्रोंमें लाली आ जाती है, होठ फड़कने लगते हैं, मुखकी आकृति भयानक हो जाती है, बुद्धि मारी जाती है और कर्तव्यका विवेक नहीं रह जाता—इत्यादि किसी प्रकारकी भी 'उत्तेजित वृत्ति' का नाम 'क्रोध' है।

४. कोमलताके अत्यन्त अभावका नाम कठोरता है। किसीको गाली देना, कटुवचन कहना, ताने मारना आदि वाणीकी कठोरता है, विनयका अभाव शरीरकी कठोरता है तथा क्षमा और दयाके विरुद्ध प्रतिहिंसा और क्रूरताके भावको मनकी

कठोरता कहते हैं।

५. सत्य-असत्य और धर्म-अधर्म आदिको यथार्थ न समझना या उनके सम्बन्धमें विपरीत निश्चय कर लेना ही यहाँ ‘अज्ञान’ है।

६. इस श्लोकमें दुर्गुण और दुराचारोंके समुदायरूप आसुरीसम्पद् संक्षेपमें बतलायी गयी है। अतः ये सब या इनमेंसे कोई भी लक्षण जिसमें विद्यमान हो, उसे आसुरीसम्पदासे युक्त समझना चाहिये।

७. इसी अध्यायके पहले श्लोकसे लेकर तीसरे श्लोकतक सात्त्विक गुण और आचरणोंके समुदायरूप जिस दैवी-सम्पदाका वर्णन किया गया है, वह मनुष्यको संसारबन्धनसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त करके सच्चिदानन्दघन परमेश्वरसे मिला देनेवाली है—ऐसा वेद, शास्त्र और महात्मा सभी मानते हैं।

८. ‘सर्ग’ सृष्टिको कहते हैं, भूतोंकी सृष्टिको भूतसर्ग कहते हैं। यहाँ ‘अस्मिन् लोके’ से मनुष्यलोकका संकेत किया गया है तथा इस अध्यायमें मनुष्योंके लक्षण बतलाये गये हैं, इसी कारण यहाँ ‘भूतसर्गौ’ पदका अर्थ ‘मनुष्यसमुदाय’ किया गया है।

९. मनुष्योंके दो समुदायोंमेंसे जो सात्त्विक है, वह तो दैवी प्रकृतिवाला है और जो रजोमिश्रित तमःप्रधान है, वह आसुरी प्रकृतिवाला है। ‘राक्षसी’ और ‘मोहिनी’ प्रकृतिवाले मनुष्योंको यहाँ आसुरी प्रकृतिवाले समुदायके अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

१०. जिस कर्मके आचरणसे इस लोक और परलोकमें मनुष्यका यथार्थ कल्याण होता है, वही कर्तव्य है। मनुष्यको उसीमें प्रवृत्त होना चाहिये और जिस कर्मके आचरणसे अकल्याण होता है, वह अकर्तव्य है, उससे निवृत्त होना चाहिये। भगवान्‌ने यहाँ यह भाव दिखलाया है कि आसुरस्वभाववाले मनुष्य इस कर्तव्य-अकर्तव्य-सम्बन्धी प्रवृत्ति और निवृत्तिको बिलकुल नहीं समझते; इसलिये जो कुछ उनके मनमें आता है, वही करने लगते हैं।

१. यहाँ आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्योंकी मनगढ़ंत कल्पनाका वर्णन किया गया है। वे लोग ऐसा मानते हैं कि न तो इस चराचर जगत्‌का भगवान् या कोई धर्माधर्म ही आधार है तथा न इस जगत्‌की कोई नित्य सत्ता है अर्थात् न तो जन्मसे पहले या मरनेके बाद किसी भी जीवका अस्तित्व है एवं न कोई इसका रचयिता, नियामक और शासक ईश्वर ही है।

२. नास्तिक सिद्धान्तवाले मनुष्य आत्माकी सत्ता नहीं मानते, वे केवल देहवादी या भौतिकवादी ही होते हैं; इससे उनका स्वभाव भ्रष्ट हो जाता है, उनकी किसी भी सत्कार्यके करनेमें प्रवृत्ति नहीं होती। उनकी बुद्धि भी अत्यन्त मन्द होती है; वे जो कुछ निश्चय करते हैं, सब केवल भोग-सुखकी दृष्टिसे ही करते हैं। उनका मन निरन्तर सबका अहित करनेकी बात ही सोचा करता है, इससे वे अपना भी अहित ही करते हैं तथा मन, वाणी, शरीरसे चराचर जीवोंको डराने, दुःख देने और उनका नाश करनेवाले बड़े-बड़े भयानक कर्म ही करते रहते हैं।

३. जिनके खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल, व्यवसाय-वाणिज्य, देन-लेन और बर्ताव-व्यवहार आदि शास्त्रविरुद्ध और भ्रष्ट होते हैं, वे भ्रष्ट आचरणोंवाले कहे जाते हैं।

४. आसुरस्वभाववाले मनुष्य मनमें उठनेवाली कल्पनाओंकी पूर्तिके लिये भाँति-भाँतिकी सैकड़ों आशाएँ लगाये रहते हैं। उनका मन कभी किसी विषयकी आशामें लटकता है, कभी किसीमें खिंचता है और कभी किसीमें अटकता है; इस प्रकार आशाओंके बन्धनसे वे कभी छूटते ही नहीं। इसीसे उनको सैकड़ों आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे हुए कहा गया है।

५. विषय-भोगोंके उद्देश्यसे जो काम-क्रोधका अवलम्बन करके अन्यायपूर्वक अर्थात् चोरी, ठगी, डाका, झूठ, कपट, छल, दम्भ, मार-पीट, कूटनीति, जूआ, धोखेबाजी, विष-प्रयोग, झूठे मुकद्दमे और भय-प्रदान आदि शास्त्रविरुद्ध उपायोंके द्वारा दूसरोंके धनादिको हरण करनेकी चेष्टा करना है—यही विषय-भोगोंके लिये अन्यायसे अर्थसंचय करनेका प्रयत्न करना है।

१. इससे यह भाव दिखलाया गया है कि अहंकारके साथ ही वे मानमें भी चूर रहते हैं, इससे ऐसा समझते हैं कि ‘संसारमें हमसे बड़ा और है ही कौन; हम जिसे चाहें; मार दें, बचा दें, जिसकी चाहें जड़ उखाड़ दें या रोप दें।’ अतः बड़े गर्वके साथ कहते हैं—‘अरे! हम सर्वथा स्वतन्त्र हैं, सब कुछ हमारे ही हाथोंमें तो है; हमारे सिवा दूसरा कौन ऐश्वर्यवान् है, सारे ऐश्वर्योंके स्वामी हमीं तो हैं। सारे ईश्वरोंके ईश्वर परम पुरुष भी तो हमीं हैं। सबको हमारी ही पूजा करनी चाहिये। हम केवल ऐश्वर्यके स्वामी ही नहीं, समस्त ऐश्वर्यका भोग भी करते हैं। हमने अपने जीवनमें कभी विफलताका अनुभव किया ही नहीं; हमने जहाँ हाथ डाला, वहीं सफलताने हमारा अनुगमन किया। हम सदा सफलजीवन हैं, परम सिद्ध हैं, भविष्यमें होनेवाली घटना हमें पहलेसे ही मालूम हो जाती है। हम सब कुछ जानते हैं, कोई बात हमसे छिपी नहीं है। इतना ही नहीं, हम बड़े बलवान् हैं; हमारे मनोबल या शारीरिक बलका इतना प्रभाव है कि जो कोई उसका सहारा लेगा, वही उस बलसे जगत्‌पर विजय पा लेगा। इन्हीं सब कारणोंसे हम परम सुखी हैं; संसारके सारे सुख सदा हमारी सेवा करते हैं और करते रहेंगे।’

२. अभिप्राय यह है कि ऐसे मनुष्य कामोपभोगके लिये भाँति-भाँतिके पाप करते हैं और उनका फल भोगनेके लिये उन्हें विष्ठा, मूत्र, रुधिर, पीब आदि गंदी वस्तुओंसे भरे दुःखदायक कुम्भीपाक, रौरवादि घोर नरकोंमें गिरना पड़ता है।

३. जो अपने ही मनसे अपने-आपको सब बातोंमें सर्वश्रेष्ठ, सम्मान्य, उच्च और पूज्य मानते हैं, वे 'आत्मसम्भावित' हैं।

४. जो घमण्डके कारण किसीके साथ—यहाँतक कि पूजनीयोंके प्रति भी विनयका व्यवहार नहीं करते, वे 'स्तब्ध' हैं।

५. दूसरोंके दोष देखना, देखकर उनकी निन्दा करना, उनके गुणोंका खण्डन करना और गुणोंमें दोषारोपण करना एवं भगवान् और संत पुरुषोंमें भी दोष देखते रहना—इन सब दोषोंसे युक्त मनुष्यको 'अभ्यसूयक' कहते हैं।

६. सभीके अंदर अन्तर्यामीरूपसे परमेश्वर स्थित हैं। अतः किसीसे विरोध या द्वेष करना, किसीका अहित करना और किसीको दुःख पहुँचाना अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित परमेश्वरसे ही द्वेष करना है।

७. सिंह, बाघ, सर्प, बिच्छू, सूअर, कुत्ते और कौए आदि जितने भी पशु, पक्षी, कीट, पतंग हैं—ये सभी आसुरी योनियाँ हैं।

१. मनुष्ययोनिमें जीवको भगवत्प्राप्तिका अधिकार है। इस अधिकारको प्राप्त होकर भी जो मनुष्य इस बातको भूलकर, दैव-स्वभावरूप भगवत्प्राप्तिके मार्गको छोड़कर आसुरस्वभावका अवलम्बन करते हैं, वे मनुष्य-शरीरका सुअवसर पाकर भी भगवान्‌को नहीं पा सकते—यही भाव दिखलानेके लिये भगवान्‌ने अपनेको न पानेकी बात कही है।

२. स्त्री, पुत्र आदि समस्त भोगोंकी कामनाका नाम 'काम' है; इस कामनाके वशीभूत होकर ही मनुष्य चोरी, व्यभिचार और अभक्ष्य-भोजनादि नाना प्रकारके पाप करते हैं। मनके विपरीत होनेपर जो उत्तेजनामय वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका नाम 'क्रोध' है; क्रोधके आवेशमें मनुष्य हिंसा-प्रतिहिंसा आदि भाँति-भाँतिके पाप करते हैं। धनादि विषयोंकी अत्यन्त बढ़ी हुई लालसाको 'लोभ' कहते हैं। लोभी मनुष्य उचित अवसरपर धनका त्याग नहीं करते एवं अनुचितरूपसे भी उपार्जन और संग्रह करनेमें लगे रहते हैं; इसके कारण उनके द्वारा झूठ, कपट, चोरी और विश्वासघात आदि बड़े-बड़े पाप बन जाते हैं। मनुष्य जबसे काम, क्रोध, लोभके वशमें होते हैं, तभीसे वे अपने विचार, आचरण और भावोंमें गिरने लगते हैं। काम, क्रोध और लोभके कारण उनसे ऐसे कर्म होते हैं, जिनसे उनका शारीरिक पतन हो जाता है, मन बुरे विचारोंसे भर जाता है, बुद्धि बिगड़ जाती है, क्रियाएँ सब दूषित हो जाती हैं और इसके फलस्वरूप उनका वर्तमान जीवन सुख, शान्ति और पवित्रतासे रहित होकर दुःखमय बन जाता है तथा मरनेके बाद उनको आसुरी योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति होती है। इसीलिये इन त्रिविध दोषोंको 'नरकके द्वार और आत्माका नाश करनेवाले' बतलाया गया है।

३. काम, क्रोध और लोभ आदि आसुरीसम्पदाका त्याग करके शास्त्रप्रतिपादित सद्‌गुण और सदाचाररूप दैवीसम्पदाका निष्कामभावसे सेवन करना ही कल्याणके लिये आचरण करना है।

४. वेद और वेदोंके आधारपर रचित स्मृति, पुराण, इतिहासादि सभीका नाम शास्त्र है। आसुरीसम्पदाके आचार-व्यवहार आदिके त्यागका और दैवीसम्पदारूप कल्याणकारी गुण-आचरणोंके सेवनका ज्ञान शास्त्रोंसे ही होता है। कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान करानेवाले शास्त्रोंके विधानकी अवहेलना करके अपनी बुद्धिसे अच्छा समझकर जो मनमाने तौरपर मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदि किसीकी भी इच्छाविशेषको लेकर आचरण करना है, यही शास्त्रविधिको त्यागकर मनमाना आचरण करना है। ऐसे कर्म करनेवाले कर्ताको कोई भी फल नहीं मिलता अर्थात् परमगति नहीं मिलती—इसमें तो कहना ही क्या है, लौकिक अणिमादि सिद्धि और स्वर्गप्राप्तिरूप सिद्धि भी नहीं मिलती एवं संसारमें सात्त्विक सुख भी नहीं मिलता।

१. इससे यह भाव दिखलाया गया है कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इसकी व्यवस्था श्रुति, वेदमूलक स्मृति और पुराण-इतिहासादि शास्त्रोंसे प्राप्त होती है। अतएव इस विषयमें मनुष्यको मनमाना आचरण न करके शास्त्रोंको ही प्रमाण मानना चाहिये अर्थात् इन शास्त्रोंमें जिन कर्मोंके करनेका विधान है, उनको करना चाहिये और जिनका निषेध है, उन्हें नहीं करना चाहिये। तथा उन शास्त्रविहित शुभ कर्मोंका आचरण भी निष्कामभावसे ही करना चाहिये, क्योंकि शास्त्रोंमें निष्कामभावसे किये हुए शुभ कर्मोंको ही भगवत्प्राप्तिमें हेतु बतलाया है।

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तदशोऽध्यायः)

श्रद्धाका और शास्त्रविपरीत घोर तप करनेवालोंका वर्णन, आहार, यज्ञ, तप और दानके पृथक्-पृथक् भेद तथा ॐ, तत्, सत्के प्रयोगकी व्याख्या

सम्बन्ध—*गीताके सोलहवें अध्यायके आरम्भमें श्रीभगवान्ने निष्कामभावसे सेवन किये जानेवाले शास्त्रविहित गुण और आचरणोंका दैवीसम्पदाके नामसे वर्णन करके फिर शास्त्रविपरीत आसुरी सम्पत्तिका कथन किया। साथ ही आसुरस्वभाववाले पुरुषोंको नरकोंमें गिरानेकी बात कही और यह बतलाया कि काम, क्रोध, लोभ ही आसुरीसम्पदाके प्रधान अवगुण हैं और ये तीनों ही नरकोंके द्वार हैं; इनका त्याग करके जो आत्मकल्याणके लिये साधन करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है। इसके अनन्तर यह कहा कि जो शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाने ढंगसे अपनी समझसे जिसको अच्छा कर्म समझता है, वही करता है, उसे अपने उन कर्मोंका फल नहीं मिलता, यह तो ठीक ही है; परंतु ऐसे लोग भी तो हो सकते हैं, जो शास्त्रविधिका तो न जाननेके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे त्याग कर बैठते हैं तथा यज्ञ-पूजादि शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक करते हैं, उनकी क्या स्थिति होती है? इस जिज्ञासाको व्यक्त करते हुए अर्जुन भगवान्से पूछते हैं—*

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ।। १ ।।

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो श्रद्धासे युक्त मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर देवादिका पूजन करते हैं,[२] उनकी स्थिति फिर कौन-सी है? सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी[३] ।। १ ।।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा[२] ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।। २ ।।

श्रीभगवान् बोले—मनुष्योंकी वह शास्त्रीय संस्कारोंसे रहित केवल स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी—ऐसे तीनों प्रकारकी ही होती है। उसको तू मुझसे सुन ।। २ ।।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।। ३ ।।

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है[३] ।। ३ ।।

सम्बन्ध—*श्रद्धाके अनुसार मनुष्योंकी निष्ठाका स्वरूप बतलाया गया; इससे यह जाननेकी इच्छा हो सकती है कि ऐसे मनुष्योंकी पहचान कैसे हो कि कौन किस निष्ठावाला है। इसपर भगवान् कहते हैं—*

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।। ४ ।।

सात्त्विक पुरुष देवोंको पूजते हैं,[१] राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको[२] तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणोंको[३] पूजते हैं ।। ४ ।।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।। ५ ।।

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहंकारसे युक्त[४] एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं ।। ५ ।।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः[५] ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।। ६ ।।

जो शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करनेवाले हैं,[६] उन अज्ञानियोंको तू आसुरस्वभाववाले जान ।। ६ ।।

सम्बन्ध—*त्रिविध स्वाभाविक श्रद्धावालोंके तथा घोर तप करनेवाले लोगोंके लक्षण बतलाकर अब भगवान् सात्त्विकका ग्रहण और राजस-तामसका त्याग करानेके उद्देश्यसे सात्त्विक-राजस-तामस आहार, यज्ञ, तप और दानके भेद सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं—*

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ।। ७ ।।

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है। वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं।[७] उनके इस पृथक्-पृथक् भेदको तू मुझसे सुन ।। ७ ।।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः[१] स्निग्धाः[२] स्थिरा[३] हृद्या[४] आहाराः[५] सात्त्विकप्रियाः ।। ८ ।।

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले[६] रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ।। ८ ।।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।। ९ ।।

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाह-कारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ[७] राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ।।

यातयामं[८] गतरसं[९] पूति[१०] पर्युषितं[११] च यत् ।

उच्छिष्टमपि[१२] चामेध्यं[१३] भोजनं तामसप्रियम् ।। १० ।।

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है ।। १० ।।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो[१] [२] विधिदृष्टो य इज्यते ।

यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः[३] ।। ११ ।।

जो शास्त्रविधिसे नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है—इस प्रकार मनको समाधान करके, फल न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है ।।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।। १२ ।।

परंतु हे अर्जुन! केवल दम्भाचरणके लिये अथवा फलको भी दृष्टिमें रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञको तू राजस जान[४] ।। १२ ।।

विधिहीनमसृष्टान्नं[५] मन्त्रहीनमदक्षिणम्[६] ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।। १३ ।।

शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये जानेवाले यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ।। १३ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार तीन तरहके यज्ञोंके लक्षण बतलाकर, अब तपके लक्षणोंका प्रकरण आरम्भ करते हुए चार श्लोकोंद्वारा सात्त्विक तपके लक्षण बतलाते हैं—*

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं[७] शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।। १४ ।।

देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता,[८] सरलता,[१] ब्रह्मचर्य[२] और अहिंसा[३]—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है[४] ।। १४ ।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।[५]
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।। १५ ।।

जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है, वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ।।

मनःप्रसादः[६] सौम्यत्वं[७] मौनमात्मविनिग्रहः[८] [९] ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्[१०] तपो मानसमुच्यते ।। १६ ।।

मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ।। १६ ।।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः[११] सात्त्विकं परिचक्षते ।। १७ ।।

फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परमश्रद्धासे किये हुए[१२] उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं[१३] ।। १७ ।।

सम्बन्ध—*अब राजस तपके लक्षण बतलाये जाते हैं—*

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन[१] चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्[२] ।। १८ ।।

जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा अन्य किसी स्वार्थके लिये भी[३] स्वभावसे या पाखण्डसे किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है ।। १८ ।।

सम्बन्ध—*अब तामस तपके लक्षण बतलाते हैं, जो कि सर्वथा त्याज्य हैं—*

मूढग्राहेणात्मनो[४] यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम् ।। १९ ।।

जो तप मूढतापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है[५] ।। १९ ।।

सम्बन्ध—*तीन प्रकारके तपोंका लक्षण करके अब दानके तीन प्रकारके लक्षण कहते हैं—*

दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।। २० ।।

दान देना ही कर्तव्य है[६]—ऐसे भावसे जो दान देश तथा काल[७] और पात्रके प्राप्त होनेपर[८] उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है[१] ।। २० ।।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम् ।। २१ ।।

किंतु जो दान क्लेशपूर्वक[२] तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे[३] अथवा फलको दृष्टिमें रखकर[४] फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है ।। २१ ।।

अदेशकाले यद् दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम् ।। २२ ।।

जो दान बिना सत्कारके[५] अथवा तिरस्कारपूर्वक[६] अयोग्य देश-कालमें[७] और कुपात्रके[८] प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ।। २२ ।।

सम्बन्ध—*अब सात्त्विक यज्ञ, दान और तप उपादेय क्यों हैं; भगवान्‌से उनका क्या सम्बन्ध है तथा उन सात्त्विक यज्ञ, तप और दानोंमें जो अंग-वैगुण्य हो जाय, उसकी पूर्ति किस प्रकार होती है—यह सब बतलानेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—*

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।। २३ ।।

ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है;[९] उसी ब्रह्मसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि[१] रचे गये ।। २३ ।।

सम्बन्ध—*परमेश्वरके उपर्युक्त ॐ, तत् और सत्—इन तीन नामोंका यज्ञ, दान, तप आदिके साथ क्या सम्बन्ध है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—*

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।। २४ ।।

इसलिये वेदमन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं[२] ।। २४ ।।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ।। २५ ।।

तत् अर्थात् 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं[३] ।। २५ ।।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।। २६ ।।

'सत्'—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभावमें[४] और श्रेष्ठभावमें[५] प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्ममें भी[६] 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है ।। २६ ।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।। २७ ।।

तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है[७] और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है[८] ।। २७ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार श्रद्धापूर्वक किये हुए शास्त्र-विहित यज्ञ, तप, दान आदि कर्मोंका महत्त्व बतलाया गया; उसे सुनकर यह जिज्ञासा होती है कि जो शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म बिना श्रद्धाके किये जाते हैं, उनका क्या फल होता है; इसपर भगवान् इस अध्यायका उपसंहार करते हुए कहते हैं—*

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्[१] ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ।। २८ ।।

हे अर्जुन! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है—वह समस्त 'असत्'—इस प्रकार कहा जाता है; इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही[२] ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे

श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ।। १७ ।। भीष्मपर्वणि तु एकचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्‌भगवद्‌गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या और योगशास्त्ररूप श्रीमद्‌भगवद्‌गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७ ।। भीष्मपर्वमें इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४१ ।।

---

२. यद्यपि शास्त्रविधिके त्यागकी बात गीताके सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें भी कही जा चुकी थी और यहाँ भी कहते हैं; पर इन दोनोंके भावमें बड़ा अन्तर है। वहाँ अवहेलनापूर्वक किये जानेवाले शास्त्रविधिके त्यागका वर्णन है और यहाँ न जाननेके कारण होनेवाले शास्त्रविधिके त्यागका है। उनको तो शास्त्रकी परवा ही नहीं है; अतः वे मनमाने ढंगसे जिस कर्मको अच्छा समझते हैं, उसे करते हैं। इसीलिये वहाँ 'वर्तते कामकारतः' कहा गया है; परंतु यहाँ 'यजन्ते श्रद्धयान्विताः' कहा है, अतः इन लोगोंमें श्रद्धा है, जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ अवहेलना नहीं हो सकती। इन लोगोंको परिस्थिति और वातावरणकी प्रतिकूलतासे, अवकाशके अभावसे अथवा परिश्रम तथा अध्ययन आदिकी कमीसे शास्त्रविधिका ज्ञान नहीं होता और इस अज्ञताके कारण ही इनके द्वारा उसका त्याग होता है।

३. जो शास्त्रको न जाननेके कारण शास्त्रविधिका त्याग करके श्रद्धाके साथ पूजन आदि करनेवाले हैं, वे कैसे स्वभाववाले हैं—दैव स्वभाववाले या आसुरस्वभाववाले? इसका स्पष्टीकरण पहले नहीं हुआ। अतः उसीको समझनेके लिये अर्जुनका यह प्रश्न है कि ऐसे लोगोंकी स्थिति सात्त्विकी है अथवा राजसी या तामसी? अर्थात् वे दैवीसम्पदावाले हैं या आसुरीसम्पदावाले?

ऊपरके विवेचनसे यह पता लगता है कि संसारमें निम्नलिखित पाँच प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं—

(१) जिनमें श्रद्धा भी है और जो शास्त्रविधिका पालन भी करते हैं, ऐसे पुरुष दो प्रकारके हैं—एक तो निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण करनेवाले और दूसरे सकामभावसे कर्मोंका आचरण करनेवाले। निष्कामभावसे आचरण करनेवाले दैवीसम्पदायुक्त सात्त्विक पुरुष मोक्षको प्राप्त होते हैं; इनका वर्णन प्रधानतया गीताके सोलहवें अध्यायके पहले तीन श्लोकोंमें तथा इस अध्यायके ग्यारहवें, चौदहवेंसे सत्रहवें और बीसवें श्लोकोंमें है। सकामभावसे आचरण करनेवाले सत्त्वमिश्रित राजस पुरुष सिद्धि, सुख तथा स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं; इनका वर्णन गीताके दूसरे अध्यायके बयालीसवें, तैंतालीसवें और चौवालीसवेंमें, चौथे अध्यायके बारहवेंमें, सातवेंके बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवेंमें और नवें अध्यायके बीसवें, इक्कीसवें और तेईसवें तथा इस अध्यायके बारहवें, अठारहवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें है।

(२) जो लोग शास्त्रविधिका किसी अंशमें पालन करते हुए यज्ञ, दान, तप आदि कर्म तो करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा नहीं होती, उन पुरुषोंके कर्म असत् (निष्फल) होते हैं; उन्हें इस लोक और परलोकमें उन कर्मोंसे कोई भी लाभ नहीं होता। इनका वर्णन गीताके इस अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें किया गया है।

(३) जो लोग अज्ञताके कारण शास्त्रविधिका तो त्याग करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा है, ऐसे पुरुष श्रद्धाके भेदसे सात्त्विक भी होते हैं और राजस तथा तामस भी। इनकी गति भी इनके स्वरूपके अनुसार ही होती है। इनका वर्णन इस अध्यायके दूसरे, तीसरे तथा चौथे श्लोकोंमें किया गया है।

(४) जो लोग न तो शास्त्रको मानते हैं और न जिनमें श्रद्धा ही है; इससे जो काम, क्रोध और लोभके वश होकर अपना पापमय जीवन बिताते हैं, वे आसुरी-सम्पदावाले लोग नरकोंमें गिरते हैं तथा नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। उनका वर्णन गीताके सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें, नवेंके बारहवेंमें, सोलहवें अध्यायके सातवेंसे लेकर बीसवेंतकमें और इस अध्यायके पाँचवें, छठे एवं तेरहवें श्लोकोंमें है।

(५) जो लोग अवहेलनासे शास्त्रविधिका त्याग करते हैं और अपनी समझसे उन्हें जो अच्छा लगता है, वही करते हैं, उन यथेच्छाचारी पुरुषोंमें जिनके कर्म शास्त्रनिषिद्ध होते हैं, उन तामस पुरुषोंको तो नरकादि

दुर्गतिकी प्राप्ति होती है और जिनके कर्म अच्छे होते हैं, उन पुरुषोंको शास्त्रविधिका त्याग कर देनेके कारण कोई भी फल नहीं मिलता। इसका वर्णन गीताके सोलहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें किया गया है। ध्यान रहे कि इनके द्वारा जो पापकर्म किये जाते हैं, उनका फल—तिर्यक्-योनियोंकी प्राप्ति और नरकोंकी प्राप्ति—अवश्य होता है।

इन पाँच प्रकारके मनुष्योंके वर्णनमें प्रमाणस्वरूप जिन श्लोकोंका संकेत किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्यान्य श्लोकोंमें भी इनका वर्णन है; परंतु यहाँ उन सबका उल्लेख करनेसे बहुत विस्तार हो जाता, इसलिये नहीं किया गया।

२. जो श्रद्धा शास्त्रके श्रवण-पठनादिसे होती है, उसे 'शास्त्रजा' कहते हैं और जो पूर्वजन्मोंके तथा इस जन्मके कर्मोंके संस्कारानुसार स्वाभाविक होती है, वह 'स्वभावजा' कहलाती है।

३. पुरुषका वास्तविक स्वरूप तो गुणातीत ही है; परंतु यहाँ उस पुरुषकी बात है, जो प्रकृतिमें स्थित है और प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुणोंसे सम्बद्ध है; क्योंकि गुणजन्य भेद 'प्रकृतिस्थ पुरुष' में ही सम्भव है। जो गुणोंसे परे है, उसमें तो गुणोंके भेदकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यहाँ भगवान् यह बतलाते हैं कि जिसकी अन्तःकरणके अनुरूप जैसी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा होती है—वैसी ही उस पुरुषकी निष्ठा या स्थिति होती है अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है, वही उसका स्वरूप है। इससे भगवान्ने श्रद्धा, निष्ठा और स्वरूपकी एकता करते हुए 'उनकी कौन-सी निष्ठा है' अर्जुनके इस प्रश्नका उत्तर दिया है।

१. अभिप्राय यह है कि देवताओंको पूजनेवाले मनुष्य सात्त्विक हैं—सात्त्विकी निष्ठावाले हैं। देवताओंसे यहाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, यम, अश्विनीकुमार और विश्वेदेव आदि शास्त्रोक्त देव समझने चाहिये।

यहाँ देवपूजनरूप क्रिया सात्त्विक होनेके कारण उसे करनेवालोंको सात्त्विक बतलाया है; परंतु पूर्ण सात्त्विक तो वही है, जो सात्त्विक क्रियाको निष्कामभावसे करता है।

२. यक्षसे कुबेरादि और राक्षसोंसे राहु-केतु आदि समझना चाहिये।

३. मरनेके बाद जो पापकर्मवश भूत-प्रेतादिके वायुप्रधान देहको प्राप्त होते हैं, वे भूत-प्रेत कहलाते हैं।

४. जिसमें नाना प्रकारके आडम्बरोंसे शरीर और इन्द्रियोंको कष्ट पहुँचाया जाता है और जिसका स्वरूप बड़ा भयानक होता है, इस प्रकारके शास्त्रविरुद्ध भयानक तप करनेवाले मनुष्योंमें श्रद्धा नहीं होती। वे लोगोंको ठगनेके लिये और उनपर रोब जमानेके लिये पाखण्ड रचते हैं तथा सदा अहंकारसे फूले रहते हैं। इसीसे उन्हें दम्भ और अहंकारसे युक्त कहा गया है।

५. पाँच महाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, दस इन्द्रियाँ और पाँच इन्द्रियोंके विषय—इन तेईस तत्त्वोंके समूहका नाम 'भूतग्राम' है।

६. शरीरको क्षीण और दुर्बल करना तथा स्वयं अपने आत्माको या किसीके भी आत्माको दुःख पहुँचाना भूतसमुदायको और परमात्माको कृश करना है; क्योंकि सबके हृदयमें आत्मरूपसे परमात्मा ही स्थित हैं।

७. मनुष्य जैसा आहार करता है, वैसा ही उसका अन्तःकरण बनता है और अन्तःकरणके अनुरूप ही श्रद्धा भी होती है। आहार शुद्ध होगा तो उसके परिणामस्वरूप अन्तःकरण भी शुद्ध होगा—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' (छान्दोग्य० ७।२६।२)। अन्तःकरणकी शुद्धिसे ही विचार, भाव, श्रद्धादि गुण और क्रियाएँ शुद्ध होंगी। अतएव इस प्रसंगमें आहारका विवेचन करके यह भाव दिखलाया गया है कि सात्त्विक, राजस और तामस आहारोंमें जो आहार जिसको प्रिय होता है, वह उसी गुणवाला होता है। इसी भावसे श्लोकमें 'प्रिय' शब्द देकर विशेष लक्ष्य कराया गया है। अतः आहारकी दृष्टिसे भी उसकी पहचान हो सकती है। यही बात यज्ञ, दान और तपके विषयमें भी समझ लेनी चाहिये।

१. दूध, चीनी आदि रसयुक्त पदार्थोंको 'रस्याः' कहते हैं।

२. मक्खन, घी तथा सात्त्विक पदार्थोंसे निकाले हुए तैल आदि स्नेहयुक्त पदार्थोंको 'स्निग्धाः' कहते हैं।

३. जिन पदार्थोंका सार बहुत कालतक शरीरमें स्थिर रह सकता है, ऐसे ओज उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंको 'स्थिराः' कहते हैं।

४. जो गंदे और अपवित्र नहीं हैं तथा देखते ही मनमें सात्त्विक रुचि उत्पन्न करनेवाले हैं, ऐसे पदार्थोंको 'हृद्याः' कहते हैं।

५. भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—इन चार प्रकारके खानेयोग्य पदार्थोंको 'आहार' कहते हैं।

६. (१) आयुका अर्थ है उम्र या जीवन। जीवनकी अवधिका बढ़ जाना आयुका बढ़ना है।

(२) सत्त्वका अर्थ है बुद्धि। बुद्धिका निर्मल, तीक्ष्ण एवं यथार्थ तथा सूक्ष्मदर्शिनी होना ही सत्त्वका बढ़ना है।

(३) बलका अर्थ है सत्कार्यमें सफलता दिलानेवाली मानसिक और शारीरिक शक्ति। इस आन्तर एवं बाह्यशक्तिका बढ़ना ही बलका बढ़ना है।

(४) मानसिक और शारीरिक रोगोंका नष्ट होना ही आरोग्यका बढ़ना है।

(५) हृदयमें संतोष, सात्त्विक प्रसन्नता और पुष्टिका होना तथा मुखादि शरीरके अंगोंपर शुद्धभावजनित आनन्दके चिह्नोंका प्रकट होना सुख है; इनकी वृद्धि सुखका बढ़ना है।

(६) चित्तवृत्तिका प्रेमभावसम्पन्न हो जाना और शरीरमें प्रीतिकर चिह्नोंका प्रकट होना ही प्रीतिका बढ़ना है।

उपर्युक्त आयु, बुद्धि और बल आदिको बढ़ानेवाले जो दूध, घी, शाक, फल, चीनी, गेहूँ, जौ, चना, मूँग और चावल आदि सात्त्विक आहार हैं, उन सबको समझानेके लिये आहारका यह लक्षण किया गया है।

७. नीम, करेला आदि पदार्थ कड़वे हैं, इमली आदि खट्टे हैं, क्षार तथा विविध भाँतिके नमक नमकीन हैं, बहुत गरम-गरम वस्तुएँ अति उष्ण हैं, लाल मिर्च आदि तीखे हैं, भाड़में भूँजे हुए अन्नादि रूखे हैं और राई आदि पदार्थ दाहकारक हैं।

उपर्युक्त पदार्थोंको खानेके समय गले आदिमें तकलीफका होना, जीभ, तालू आदिका जलना, दाँतोंका आम जाना, चबानेमें दिक्कत होना, आँखों और नाकोंमें पानी आ जाना, हिचकी आना आदि जो कष्ट होते हैं, उन्हें 'दु:ख' कहते हैं। खानेके बाद जो पश्चात्ताप होता है, उसे 'चिन्ता' कहते हैं और खानेसे जो बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें 'रोग' कहते हैं। इन कड़वे, खट्टे आदि पदार्थोंके खानेसे ये दु:ख, चिन्ता और रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये इन्हें 'दु:ख, चिन्ता और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले' कहा है। अतएव इनका त्याग करना उचित है।

८. 'यातयाम' अर्थात् अधपका उन फलों अथवा उन खाद्य पदार्थोंको समझना चाहिये, जो पूरी तरहसे पके न हों अथवा जिनके सिद्ध होनेमें (सीझनेमें) कमी रह गयी हो।

इसी श्लोकमें 'पर्युषितम्' यानी बासी अन्नको तामस बतलाया गया है। 'यातयामम्' का अर्थ एक प्रहर पहलेका बना भोजन मान लेनेसे 'बासी' भोजनको तामस बतलानेकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती; यह सोचकर यहाँ 'यातयामम्' का अर्थ 'अधपका' किया गया है।

९. अग्नि आदिके संयोगसे, हवासे अथवा मौसिम बीत जाने आदिके कारणोंसे जिन रसयुक्त पदार्थोंका रस सूख गया हो (जैसे संतरे, ऊख आदिका रस सूख जाया करता है), उनको 'गतरस' कहते हैं।

१०. खानेकी जो वस्तुएँ स्वभावसे ही दुर्गन्धयुक्त हों (जैसे प्याज, लहसुन आदि) अथवा जिनमें किसी क्रियासे दुर्गन्ध उत्पन्न कर दी गयी हो, उन वस्तुओंको 'पूति' कहते हैं।

११. पहले दिनके बनाये हुए भोजनको 'पर्युषित' या बासी कहते हैं। उन फलोंको भी बासी समझना चाहिये, जिनमें पेड़से तोड़े बहुत समय बीत जानेके कारण विकार उत्पन्न हो गया हो।

१२. अपने या दूसरेके भोजन कर लेनेपर बची हुई जूठी चीजोंको 'उच्छिष्ट' कहते हैं।

१३. मांस, अण्डे आदि हिंसामय और शराब-ताड़ी आदि निषिद्ध मादक वस्तुएँ, जो स्वभावसे ही अपवित्र हैं अथवा जिनमें किसी प्रकारके संगदोषसे, किसी अपवित्र वस्तु, स्थान, पात्र या व्यक्तिके संयोगसे या अन्याय और अधर्मसे उपार्जित असत् धनके द्वारा प्राप्त होनेके कारण अपवित्रता आ गयी हो, उन सब वस्तुओंको 'अमेध्य' कहते हैं। ऐसे पदार्थ देव-पूजनमें भी निषिद्ध माने गये हैं। इनके सिवा गाँजा, भाँग, अफीम, तम्बाकू, सिगरेट-बीड़ी, अर्क, आसव और अपवित्र दवाइयाँ आदि तमोगुण उत्पन्न करनेवाली जितनी भी खान-पानकी वस्तुएँ हैं—सभी अपवित्र हैं।

१. यज्ञ करनेवाले जो पुरुष उस यज्ञसे स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, विजय या स्वर्ग आदिकी प्राप्ति एवं किसी प्रकारके अनिष्टकी निवृत्तिरूप इस लोक या परलोकके किसी प्रकारके सुखभोग या दु:ख-निवृत्तिकी जरा भी इच्छा नहीं करते, उनका वाचक 'अफलाकाङ्क्षिभि:' पद है (गीता ६।१)

२. देवता आदिके उद्देश्यसे घृतादिके द्वारा अग्निमें हवन करना या अन्य किसी प्रकारसे किसी भी वस्तुका समर्पण करके किसीकी यथायोग्य पूजा करना 'यज्ञ' कहलाता है।

३. अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार जिस यज्ञका जिसके लिये शास्त्रोंमें विधान है, उसको अवश्य करना चाहिये; ऐसे शास्त्रविहित कर्तव्यरूप यज्ञका न करना भगवान्‌के आदेशका उल्लंघन करना है—इस प्रकार यज्ञ करनेके लिये मनमें दृढ़ निश्चय करके निष्कामभावसे जो यज्ञ किया जाता है, वही यज्ञ सात्त्विक होता है।

४. जो यज्ञ किसी फलप्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया है, वह शास्त्रविहित और श्रद्धापूर्वक किया हुआ होनेपर भी राजस है, एवं जो दम्भपूर्वक किया जाता है, वह भी राजस है; फिर जिसमें ये दोनों दोष हों, उसके 'राजस' होनेमें तो कहना ही क्या है?

५. जो यज्ञ शास्त्रविहित न हो या जिसके सम्पादनमें शास्त्रविधिकी कमी हो अथवा जो शास्त्रोक्त विधानकी अवहेलना करके मनमाने ढंगसे किया गया हो, उसे 'विधिहीन' कहते हैं।

६. जो यज्ञ शास्त्रोक्त मन्त्रोंसे रहित हो, जिसमें मन्त्रप्रयोग हुए ही न हों या विधिवत् न हुए हों अथवा अवहेलनासे त्रुटि रह गयी हो—उस यज्ञको 'मन्त्रहीन' कहते हैं।

७. ब्रह्मा, महादेव, सूर्य, चन्द्रमा, दुर्गा, अग्नि, वरुण, यम, इन्द्र आदि जितने भी शास्त्रोक्त देवता हैं—शास्त्रोंमें जिनके पूजनका विधान है, उन सबका वाचक यहाँ 'देव' शब्द है। 'द्विज' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णोंका वाचक होनेपर भी यहाँ केवल ब्राह्मणोंहीके लिये प्रयुक्त है; क्योंकि शास्त्रानुसार ब्राह्मण ही सबके पूज्य हैं। 'गुरु' शब्द यहाँ माता, पिता, आचार्य, वृद्ध एवं अपनेसे जो वर्ण, आश्रम और आयु आदिमें किसी प्रकार भी बड़े हों, उन सबका वाचक है तथा 'प्राज्ञ' शब्द यहाँ परमेश्वरके स्वरूपको भलीभाँति जाननेवाले महात्मा ज्ञानी पुरुषोंका वाचक है। इन सबका यथायोग्य आदर-सत्कार करना; इनको नमस्कार करना; दण्डवत्-प्रणाम करना; इनके चरण धोना; इन्हें चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि समर्पण करना; इनकी यथायोग्य सेवा आदि करना और इन्हें सुख पहुँचानेकी उचित चेष्टा करना आदि इनका पूजन करना है।

८. यहाँ 'पवित्रता' केवल शारीरिक शौचका वाचक है; क्योंकि वाणीकी शुद्धिका वर्णन अगले पंद्रहवें श्लोकमें और मनकी शुद्धिका वर्णन सोलहवें श्लोकमें अलग किया गया है। जल-मृतिकादिके द्वारा शरीरको स्वच्छ और पवित्र रखना एवं शरीरसम्बन्धी समस्त चेष्टाओंका उत्तम होना ही शरीरकी पवित्रता है (गीता १६।३)

९. यहाँ शरीरकी अकड़ और ऐंठ आदि वक्रताके त्यागका नाम 'सरलता' है।

२. यहाँ 'ब्रह्मचर्य' शब्द शरीरसम्बन्धी सब प्रकारके मैथुनोंके त्याग और भलीभाँति वीर्य धारण करनेका बोधक है।

३. शरीरद्वारा किसी भी प्राणीको किसी भी प्रकारसे कभी जरा भी कष्ट न पहुँचानेका नाम ही यहाँ 'अहिंसा' है।

४. उपर्युक्त क्रियाओंमें शरीरकी प्रधानता है अर्थात् इनसे शरीरका विशेष सम्बन्ध है और ये इन्द्रियोंके सहित शरीरको उसके समस्त दोषोंका नाश करके पवित्र बना देनेवाली हैं, इसलिये इन सबको 'शरीरसम्बन्धी तप' कहते हैं।

५. जो वचन किसीके भी मनमें जरा भी उद्वेग उत्पन्न करनेवाले न हों तथा निन्दा या चुगली आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हों, उन्हें 'अनुद्वेगकर' कहते हैं। जैसा देखा, सुना और अनुभव किया हो, ठीक वैसा-का-वैसा ही भाव दूसरेको समझानेके लिये जो यथार्थ वचन बोले जायँ, उनको 'सत्य' कहते हैं। जो सुननेवालेको प्रिय लगते हों तथा कटुता, रूखापन, तीखापन, ताना और अपमानके भाव आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हों—ऐसे प्रेमयुक्त, मीठे, सरल और शान्त वचनोंको 'प्रिय' कहते हैं; तथा जिनसे परिणाममें सबका हित होता हो; जो हिंसा, द्वेष, डाह, वैरसे सर्वथा शून्य हों और प्रेम, दया तथा मंगलसे भरे हों, उनको 'हित' कहते हैं। जिस वाक्यमें उपर्युक्त सभी गुणोंका समावेश हो एवं जो शास्त्रवर्णित वाणीसम्बन्धी सब प्रकारके दोषोंसे रहित हो, उसी वाक्यके उच्चारणको 'वाचिक तप' माना जा सकता है।

६. विषाद-भय, चिन्ता-शोक, व्याकुलता-उद्विग्नता आदि दोषोंसे रहित होकर सात्त्विक प्रसन्नता, हर्ष और बोधशक्तिसे युक्त हो जाना ही 'मनका प्रसाद' है।

७. रूक्षता, डाह, हिंसा, प्रतिहिंसा, क्रूरता, निर्दयता आदि तापकारक दोषोंसे सर्वथा शून्य होकर मनका सदा-सर्वदा शान्त और शीतल बने रहना ही 'सौम्यत्व' है।

८. मनका निरन्तर भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, स्वरूप, लीला और नाम आदिके चिन्तनमें या ब्रह्मविचारमें लगे रहना ही 'मौन' है।

९. अन्तःकरणकी चंचलता सर्वथा नाश होकर उसका स्थिर तथा अच्छी प्रकार अपने वशमें हो जाना ही 'आत्मविनिग्रह' है।

१०. अन्तःकरणमें राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, ईर्ष्या-वैर, घृणा-तिरस्कार, असूया-असहिष्णुता, प्रमाद, व्यर्थ विचार, इष्टविरोध और अनिष्टचिन्तन आदि दुर्भावोंका सर्वथा नष्ट हो जाना और इनके विरोधी दया, क्षमा, प्रेम, विनय आदि समस्त सद्भावोंका सदा विकसित रहना 'भावसंशुद्धि' है।

११. जो मनुष्य इस लोक या परलोकके किसी प्रकारके भी सुखभोग अथवा दुःखकी निवृत्तिरूप फलकी कभी किसी भी कारणसे किंचिन्मात्र भी कामना नहीं करता, उसे 'अफलाकाङ्क्षी' कहते हैं और जिसके मन, बुद्धि और इन्द्रिय अनासक्त, निगृहीत तथा शुद्ध होनेके कारण कभी किसी भी प्रकारके भोगके सम्बन्धसे विचलित नहीं हो सकते, जिसमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है, उसे 'युक्त' कहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकारका तप जब ऐसे निष्काम पुरुषोंद्वारा किया जाता है, तभी वह पूर्ण सात्त्विक होता है।

१२. शास्त्रोंमें उपर्युक्त तपका जो कुछ भी महत्त्व, प्रभाव और स्वरूप बतलाया गया है, उसपर प्रत्यक्षसे भी बढ़कर सम्मानपूर्वक पूर्ण विश्वास होना 'परम श्रद्धा' है और ऐसी श्रद्धासे युक्त होकर बड़े-से-बड़े विघ्नों या कष्टोंकी कुछ भी परवा न करके सदा अविचलित रहते हुए अत्यन्त आदर और उत्साहपूर्वक उपर्युक्त तपका आचरण करते रहना ही उसे परम श्रद्धासे करना है।

१३. अभिप्राय यह है कि शरीर, वाणी और मनसम्बन्धी उपर्युक्त तप ही सात्त्विक हो सकते हैं। साथ ही यह भी दिखलाया है कि यद्यपि ये तप स्वरूपसे तो सात्त्विक हैं; परंतु वे पूर्ण सात्त्विक तब होते हैं, जब इस श्लोकमें बतलाये हुए भावसे किये जाते हैं।

१. तपमें वस्तुतः आस्था न होनेपर भी लोगोंको धोखा देकर किसी प्रकारका स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये तपस्वीका-सा स्वाँग रचकर जो किसी लौकिक या शास्त्रीय तपका बाहरसे दिखाने भरके लिये आचरण किया जाता है, उसे दम्भसे तप करना कहते हैं।

२. जिस फलकी प्राप्तिके लिये उसका अनुष्ठान किया जाता है, उसका प्राप्त होना या न होना निश्चित नहीं है; इसलिये उसे 'अध्रुव' कहा है और जो कुछ फल मिलता है, वह भी सदा नहीं रहता, उसका निश्चय ही नाश हो जाता है; इसलिये उसे 'चल' कहा है।

३. तपकी प्रसिद्धिसे जो इस प्रकार जगत्‌में बड़ाई होती है कि यह मनुष्य बड़ा भारी तपस्वी है, इसकी बराबरी कौन कर सकता है, यह बड़ा श्रेष्ठ है आदि—उसका नाम 'सत्कार' है। किसीको तपस्वी समझकर उसका स्वागत करना, उसके सामने खड़े हो जाना, प्रणाम करना, मानपत्र देना या अन्य किसी क्रियासे उसका आदर करना 'मान' है, तथा उसकी आरती उतारना, पैर धोना, पत्र-पुष्पादि षोडशोपचारसे पूजा करना, उसकी आज्ञाका पालन करना—इन सबका नाम 'पूजा' है। इन सबके लिये जो लौकिक या शास्त्रीय तपका आचरण किया जाता है, वही सत्कार, मान और पूजाके लिये तप करना है। इसके सिवा अन्य किसी स्वार्थकी सिद्धिके लिये किया जानेवाला तप भी राजस है।

४. तपके वास्तविक लक्षणोंको न समझकर जिस किसी भी क्रियाको तप मानकर उसे करनेका जो हठ या दुराग्रह है, उसे 'मूढग्राह' कहते हैं।

५. जिस तपका वर्णन इसी अध्यायके पाँचवें और छठे श्लोकोंमें किया गया है, जो अशास्त्रीय, मनःकल्पित, घोर और स्वभावसे ही तामस है, जिसमें दम्भकी प्रेरणासे या अज्ञानसे पैरोंको पेड़की डालीमें बाँधकर सिर नीचा करके लटकना, लोहेके काँटोंपर बैठना तथा इसी प्रकारकी अन्यान्य घोर क्रियाएँ करके बुरी भावनासे अर्थात् दूसरोंकी सम्पत्तिका हरण करने, उसका नाश करने, उनके वंशका उच्छेद करने अथवा उनका किसी प्रकार कुछ भी अनिष्ट करनेके लिये जो अपने मन, वाणी और शरीरको ताप पहुँचाना है—उसे 'तामस तप' कहते हैं।

६. वर्ण, आश्रम, अवस्था और परिस्थितिके अनुसार शास्त्रविहित दान करना—अपने स्वत्वको यथाशक्ति दूसरोंके हितमें लगाना मनुष्यका परम कर्तव्य है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो मनुष्यत्वसे

गिरता है और भगवान्‌के कल्याणमय आदेशका अनादर करता है। अतः जो दान केवल इस कर्तव्य बुद्धिसे ही दिया जाता है, जिसमें इस लोक और परलोकके किसी भी फलकी जरा भी अपेक्षा नहीं होती—वही दान पूर्ण सात्त्विक है।

७. जिस देश और जिस कालमें जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, उस वस्तुके दानद्वारा सबको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये वही योग्य देश और काल है। इसके अतिरिक्त कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, मथुरा, काशी, प्रयाग, नैमिषारण्य आदि तीर्थस्थान और ग्रहण, पूर्णिमा, अमावस्या, संक्रान्ति, एकादशी आदि पुण्यकाल—जो दानके लिये शास्त्रोंमें प्रशस्त माने गये हैं, वे भी योग्य देश-काल हैं।

८. जिसके पास जहाँ जिस समय जिस वस्तुका अभाव हो, वह वहीं और उसी समय उस वस्तुके दानका पात्र है। जैसे—भूखे, प्यासे, नंगे, दरिद्र, रोगी, आर्त, अनाथ और भयभीत प्राणी अन्न, जल, वस्त्र, निर्वाहयोग्य धन, औषध, आश्वासन, आश्रय और अभयदानके पात्र हैं। आर्त प्राणियोंकी पात्रतामें जाति, देश और कालका कोई बन्धन नहीं है। उनकी आतुरदशा ही पात्रताकी पहचान है। इनके सिवा जो श्रेष्ठ आचरणोंवाले विद्वान्, ब्राह्मण, उत्तम ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तथा सेवाव्रती लोग हैं—जिनको जिस वस्तुका दान देना शास्त्रमें कर्तव्य बतलाया गया है—वे भी अपने-अपने अधिकारके अनुसार यथाशक्ति धन आदि सभी आवश्यक वस्तुओंके दानपात्र हैं।

१. जिसका अपने ऊपर उपकार है, उसकी सेवा करना तथा यथासाध्य उसे सुख पहुँचानेका प्रयास करना तो मनुष्यका कर्तव्य ही है। उसे जो लोग दान समझते हैं, वे वस्तुतः उपकारीका तिरस्कार करते हैं और जो लोग उपकारीकी सेवा नहीं करना चाहते, वे तो कृतघ्नकी श्रेणीमें हैं; अतएव अपना उपकार करनेवालेकी तो सेवा करनी ही चाहिये।

यहाँ अनुपकारीको दान देनेकी बात कहकर भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि दान देनेवाला दानके पात्रसे बदलेमें किसी प्रकारके जरा भी उपकार पानेकी इच्छा न रखे। जिससे किसी भी प्रकारका अपना स्वार्थका सम्बन्ध मनमें नहीं है, उस मनुष्यको जो दान दिया जाता है—वही सात्त्विक है। इससे वस्तुतः दाताकी स्वार्थबुद्धिका ही निषेध किया गया है।

२. किसीके धरना देने, हठ करने या भय दिखलाने अथवा प्रतिष्ठित और प्रभावशाली पुरुषोंके कुछ दबाव डालनेपर बिना ही इच्छाके मनमें विषाद और दुःखका अनुभव करते हुए निरुपाय होकर जो दान दिया जाता है, वह क्लेशपूर्वक दान देना है।

३. जो मनुष्य बराबर अपने काममें आता है या आगे चलकर जिससे अपना कोई छोटा या बड़ा काम निकालनेकी सम्भावना या आशा है, ऐसे व्यक्ति या संस्थाओंको दान देना प्रत्युपकारके प्रयोजनसे दान देना है।

४. मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादि इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये या रोग आदिकी निवृत्तिके लिये जो किसी वस्तुका दान किसी व्यक्ति या संस्थाको दिया जाता है, वह फलके उद्देश्यसे दान देना है।

५. यथायोग्य अभिवादन, कुशल-प्रश्न, प्रियभाषण और आसन आदिद्वारा सम्मान न करके जो रूखाईसे दान दिया जाता है, वह बिना सत्कारके दिया जानेवाला दान है।

६. पाँच बात सुनाकर, कड़वा बोलकर, धमकाकर, फिर न आनेकी कड़ी हिदायत देकर, दिल्लगी उड़ाकर अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे वचन, शरीर या संकेतके द्वारा अपमानित करके जो दान दिया जाता है, वह तिरस्कारपूर्वक दिया जानेवाला दान है।

७. जिस देश-कालमें दान देना आवश्यक नहीं है अथवा जहाँ दान देना शास्त्रमें निषेध किया है, वे देश और काल दानके लिये अयोग्य हैं।

८. जिन मनुष्योंको दान देनेकी आवश्यकता नहीं है तथा जिनको दान देनेका शास्त्रमें निषेध है, वे धर्मध्वजी, पाखण्डी, कपटवेषधारी, हिंसा करनेवाले, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले, दूसरोंकी जीविकाका छेदन करके अपने स्वार्थसाधनमें तत्पर, बनावटी विनय दिखानेवाले, मद्य-मांस आदि अभक्ष्य वस्तुओंको भक्षण करनेवाले, चोरी, व्यभिचार आदि नीच कर्म करनेवाले, ठग, जुआरी और नास्तिक आदि सभी दानके लिये अपात्र हैं।

९. जिस परमात्मासे समस्त कर्ता, कर्म और कर्म-विधिकी उत्पति हुई है, उस भगवान्‌के वाचक 'ॐ', 'तत्' और 'सत्'—ये तीनों नाम हैं; अतः इनके उच्चारण आदिसे उन सबके अंगवैगुण्यकी पूर्ति हो जाती

है। अतएव प्रत्येक कामके आरम्भमें परमेश्वरके नामोंका उच्चारण करना परम आवश्यक है।

१. यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द ब्राह्मण आदि समस्त प्रजाका, 'वेद' चारों वेदोंका, 'यज्ञ' शब्द यज्ञ, तप, दान आदि समस्त शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका वाचक है।

२. जिस परमेश्वरसे इन यज्ञादि कर्मोंकी उत्पत्ति हुई है, उसका नाम होनेके कारण ओंकारके उच्चारणसे समस्त कर्मोंका अंगवैगुण्य दूर हो जाता है तथा वे पवित्र और कल्याणप्रद हो जाते हैं। यह भगवान्‌के नामकी अपार महिमा है।

इसीलिये वेदोक्त मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक यज्ञादि कर्म करनेके अधिकारी विद्वान् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके यज्ञ, दान, तप आदि समस्त शास्त्रविहित शुभ कर्म सदा ओंकारके उच्चारणपूर्वक ही होते हैं।

३. जो विहित कर्म करनेवाले साधारण वेदवादी हैं, वे फलकी इच्छा या अहंता-ममताका त्याग नहीं करते; किंतु जो कल्याणकामी मनुष्य हैं, जिनको परमेश्वरकी प्राप्तिके सिवा अन्य किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, वे समस्त कर्म अहंता, ममता, आसक्ति और फल-कामनाका सर्वथा त्याग करके केवल परमेश्वरके ही लिये उनके आज्ञानुसार किया करते हैं।

४. 'सद्भाव' (सत्यभाव) नित्य भावका अर्थात् जिसका अस्तित्व सदा रहता है, उस अविनाशी तत्त्वका वाचक है और वही परमेश्वरका स्वरूप है। इसलिये उसे 'सत्' नामसे कहा जाता है।

५. अन्तःकरणका जो शुद्ध और श्रेष्ठभाव है, उसका वाचक यहाँ 'साधुभाव' है। वह परमेश्वरकी प्राप्तिका हेतु है; इसलिये उसमें परमेश्वरके 'सत्' नामका प्रयोग किया जाता है अर्थात् उसे 'सद्‌भाव' कहा जाता है।

६. जो शास्त्रविहित करनेयोग्य शुभ कर्म है, वह निष्कामभावसे किये जानेपर परमात्माकी प्राप्तिका हेतु है; इसलिये उसमें परमात्माके 'सत्' नामका प्रयोग किया जाता है अर्थात् उसे 'सत् कर्म' कहा जाता है।

७. यज्ञ, तप और दानसे यहाँ सात्त्विक यज्ञ, तप और दानका निर्देश किया गया है तथा उनमें जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक आस्तिक बुद्धि है, जिसे निष्ठा भी कहते हैं, उसका वाचक यहाँ 'स्थिति' शब्द है; ऐसी स्थिति परमेश्वरकी प्राप्तिमें हेतु है, इसलिये वह 'सत्' है।

८. जो कोई भी कर्म केवल भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींके लिये किया जाता है, जिसमें कर्ताका जरा भी स्वार्थ नहीं रहता—ऐसा कर्म कर्ताके अन्तःकरणको शुद्ध बनाकर उसे परमेश्वरकी प्राप्ति करा देता है, इसलिये वह 'सत्' है।

१. 'यत्' पदसे यहाँ निषिद्ध कर्मोंका समाहार नहीं है; क्योंकि निषिद्ध कर्मोंके करनेमें श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं है और उनका फल भी श्रद्धापर निर्भर नहीं है। उनको करते भी वे ही मनुष्य हैं, जिनकी शास्त्र, महापुरुष और ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा नहीं होती। जिनको विश्वास नहीं है, उनको भी पापकर्मोंका दुःखरूप फल अवश्य ही मिलता है। अतः यहाँ यज्ञ, दान और तपरूप शुभ क्रियाओंके साथ-साथ आया हुआ 'यत् कृतम्' पद उसी जातिकी क्रियाका वाचक है।

२. हवन, दान और तप तथा अन्यान्य शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक किये जानेपर ही अन्तःकरणकी शुद्धिमें और इस लोक या परलोकके फल देनेमें समर्थ होते हैं। बिना श्रद्धाके किये हुए शुभ कर्म व्यर्थ हैं, इसीसे उनको 'असत्' और 'वे इस लोक या परलोकमें कहीं भी लाभप्रद नहीं हैं'—ऐसा कहा है।

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

(श्रीमद्भगवद्गीतायामष्टादशोऽध्यायः)

त्यागका, सांख्यसिद्धान्तका, फलसहित वर्ण-धर्मका, उपासनासहित ज्ञाननिष्ठाका, भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगका एवं गीताके माहात्म्यका वर्णन

सम्बन्ध—*गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे गीताके उपदेशका आरम्भ हुआ। वहाँसे आरम्भ करके तीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने ज्ञानयोगका उपदेश दिया और प्रसंगवश क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी कर्तव्यताका प्रतिपादन करके उनतालीसवें श्लोकसे लेकर अध्यायकी समाप्ति-पर्यन्त कर्मयोगका उपदेश दिया, उसके बाद तीसरे अध्यायसे सत्रहवें अध्यायतक कहीं ज्ञानयोगकी दृष्टिसे और कहीं कर्मयोगकी दृष्टिसे परमात्माकी प्राप्तिके बहुत-से साधन बतलाये। उन सबको सुननेके अनन्तर अब अर्जुन इस अठारहवें अध्यायमें समस्त अध्यायोंके उपदेशका सार जाननेके उद्देश्यसे भगवान्‌के सामने संन्यास यानी ज्ञानयोगका और त्याग यानी फलासक्तिके त्यागरूप कर्मयोगका तत्त्व भलीभाँति अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट करते हैं—*

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन ।। १ ।।

अर्जुन बोले—हे महाबाहो! हे अन्तर्यामिन्! हे वासुदेव! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ[3] ।। १ ।।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।। २ ।।

श्रीभगवान् बोले—कितने ही पण्डितजन तो काम्यकर्मोंके[1] त्यागको संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं[2] ।। २ ।।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ।। ३ ।।

कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं[3] और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं

हैं[४] ।। ३ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार संन्यास और त्यागके विषयोंमें विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अब भगवान् त्यागके विषयमें अपना निश्चय बतलाना आरम्भ करते हैं—*

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ।। ४ ।।

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! संन्यास और त्याग, इन दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन; क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है ।। ४ ।।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्[५] ।। ५ ।।

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है;[६] क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं ।। ५ ।।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।। ६ ।।

इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है[१] ।। ६ ।।

सम्बन्ध—*अब तीन श्लोकोंमें क्रमसे उपर्युक्त तीन प्रकारके त्यागोंके लक्षण बतलाते हैं*—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।। ७ ।।

(निषिद्ध और काम्य कर्मोंका तो स्वरूपसे त्याग करना उचित ही है) परंतु नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है[२]। इसलिये मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है[३] ।। ७ ।।

दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।। ८ ।।

जो कुछ कर्म है वह सब दुःखरूप ही है—ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर दे,[४] तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागके फलको किसी प्रकार भी नहीं पाता[५] ।। ८ ।।

कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।। ९ ।।

हे अर्जुन! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है—इसी भावसे आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है—वही सात्त्विक त्याग माना गया है[१] ।। ९ ।।

सम्बन्ध—*उपर्युक्त प्रकारसे सात्त्विक त्याग करनेवाले पुरुषका निषिद्ध और काम्यकर्मोंको स्वरूपसे छोड़नेमें और कर्तव्यकर्मोंके करनेमें कैसा भाव रहता है, इस जिज्ञासापर सात्त्विक त्यागी पुरुषकी अन्तिम स्थितिके लक्षण बतलाते हैं—*

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।। १० ।।

जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता[२] और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता,[३] वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है[४] ।। १० ।।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।। ११ ।।

क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है;[५] इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—यह कहा जाता है[६] ।। ११ ।।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।। १२ ।।

कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है;[१] किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता[२] ।। १२ ।।

सम्बन्ध—*पहले श्लोकमें अर्जुनने संन्यास और त्यागका तत्त्व अलग-अलग जाननेकी इच्छा प्रकट की थी। उसका उत्तर देते हुए भगवान्ने दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें इस विषयपर विद्वानोंके भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अपने मतके अनुसार चौथे श्लोकसे बारहवें श्लोकतक त्यागका यानी कर्मयोगका तत्त्व भलीभाँति समझाया; अब संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व समझानेके लिये पहले सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु बतलाते हैं—*

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते[३] प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्[४] ।। १३ ।।

हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु कर्मोंका अन्त करनेके लिये उपाय बतलानेवाले सांख्य-शास्त्रमें कहे गये हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान ।।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।। १४ ।।

इस विषयमें अर्थात् कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान[५] और कर्ता[६] तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके करण[७] एवं नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ[८] और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव[१] है ।। १४ ।।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं[२] वा विपरीतं[३] वा पञ्चैते तस्य हेतवः ।। १५ ।।

मनुष्य[४] मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है, उसके ये पाँचों कारण हैं[५] ।। १५ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार सांख्ययोगके सिद्धान्तसे समस्त कर्मोंकी सिद्धिके अधिष्ठानादि पाँच कारणोंका निरूपण करके अब, वास्तवमें आत्माका कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा सर्वथा शुद्ध, निर्विकार और अकर्ता है—यह बात समझानेके लिये आत्माको कर्ता माननेवालेकी निन्दा करके अकर्ता माननेवालेकी स्तुति करते हैं—*

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न[६] स पश्यति दुर्मतिः ।। १६ ।।

परंतु ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्धबुद्धि होनेके कारण उस विषयमें यानी कर्मोंके होनेमें केवल शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता[७] ।। १६ ।।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। १७ ।।

जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है[८] तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती,[१] वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है[२] ।। १७ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार संन्यास (ज्ञानयोग)-का तत्त्व समझानेके लिये आत्माके अकर्तापनका प्रतिपादन करके अब उसके अनुसार कर्मके अंग-प्रत्यंगोंको भलीभाँति समझानेके लिये कर्म-प्रेरणा, कर्म-संग्रह और उनके सात्त्विक आदि भेदोंका प्रतिपादन करते हैं—*

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।। १८ ।।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—यह तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा[३] है और कर्ता, करण तथा क्रिया—यह तीन प्रकारका कर्मसंग्रह है[४] ।। १८ ।।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ।। १९ ।।

गुणोंकी संख्या करनेवाले शास्त्रमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ता गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन[५] ।। १९ ।।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।। २० ।।

जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान[१] ।। २० ।।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।। २१ ।।

किंतु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग जानता है, उस ज्ञानको तू राजस जान[२] ।। २१ ।।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत् तामसमुदाहृतम् ।। २२ ।।

परंतु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णके सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थसे रहित और तुच्छ है, वह तामस कहा गया है[३] ।।

नियतं[४] सङ्गरहितमरागद्वेषतः[५] कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते ।। २३ ।।

जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो[६]—वह सात्त्विक कहा जाता है[७] ।। २३ ।।

यत्तु कामेप्सुना[८] कर्म साहंकारेण[९] वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद् राजसमुदाहृतम् ।। २४ ।।

परंतु जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त होता है[१] तथा भोगोंको चाहनेवाले पुरुषद्वारा या अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है[२] ।। २४ ।।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।। २५ ।।

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता हे[३] ।। २५ ।।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी[४] [५] धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।। २६ ।।

जो कर्ता संगरहित, अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित है, वह सात्त्विक कहा जाता है[६] ।। २६ ।।

रागी[१] कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो[२] [३] हिंसात्मकोऽशुचिः[४] [५] ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।। २७ ।।

जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे लिप्त है, वह राजस कहा गया है ।। २७ ।।

असुक्तः[६] प्रकृतेः[७] स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।। २८ ।।

जो कर्ता अयुक्त, शिक्षासे रहित, घमंडी[८], धूर्त[९] और दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला[१०] तथा शोक करनेवाला आलसी[११] और दीर्घसूत्री[१२] है—वह तामस कहा जाता है[१३] ।। २८ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार तत्त्वज्ञानमें सहायक सात्त्विकभावको ग्रहण करानेके लिये और उसके विरोधी राजस-तामस भावोंका त्याग करानेके लिये कर्म-प्रेरणा और कर्म संग्रहमेंसे ज्ञान, कर्म और कर्ताके सात्त्विक आदि तीन-तीन भेद क्रमसे बतलाकर अब बुद्धि और धृतिके सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार त्रिविध भेद क्रमशः बतलानेकी प्रस्तावना करते हुए बतलाते हैं—*

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ।। २९ ।।

हे धनंजय! अब तू बुद्धिका और धृतिका भी गुणोंके अनुसार तीन प्रकारका भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णतासे विभागपूर्वक कहा जानेवाला सुन[१] ।। २९ ।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।। ३० ।।

हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग[२] और निवृत्तिमार्गको[३] कर्तव्य और अकर्तव्यको,[४] भय और अभयको[५] तथा बन्धन और मोक्षको[६] यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है ।। ३० ।।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।। ३१ ।।

हे पार्थ! मनुष्य जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्मको[७] तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको[१] भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है[२] ।। ३१ ।।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।। ३२ ।।

हे अर्जुन! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है[३] तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है,[४] वह बुद्धि तामसी है ।। ३२ ।।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।। ३३ ।।

हे पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्तिसे मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है[५] ।। ३३ ।।

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।। ३४ ।।

परंतु हे पृथापुत्र अर्जुन! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है,[१] वह धारणशक्ति राजसी है ।। ३४ ।।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः[२] सा पार्थ तामसी ।। ३५ ।।

हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको तथा उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है,[३] वह धारणशक्ति तामसी है ।। ३५ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार सात्त्विकी बुद्धि और धृतिका ग्रहण तथा राजसी-तामसीका त्याग करनेके लिये बुद्धि और धृतिके सात्त्विक आदि तीन-तीन भेद क्रमसे बतलाकर अब जिसके लिये मनुष्य समस्त कर्म करता है, उस सुखके भी सात्त्विक, राजस और तामस—इस प्रकार तीन भेद क्रमसे बतलाते हैं—*

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।। ३६ ।।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।। ३७ ।।

हे भरतश्रेष्ठ! अब तीन प्रकारके सुखको भी तू मुझसे सुन। जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है[४] और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है[५]— जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत होता है,[६] परंतु परिणाममें अमृतके तुल्य है;[७] इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख[१] सात्त्विक कहा गया है ।। ३६-३७ ।।

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ।। ३८ ।।

जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है[२] ।। ३८ ।।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।। ३९ ।।

जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख[३] तामस कहा गया है ।। ३९ ।।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ।। ४० ।।

पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो[४] ।। ४० ।।

सम्बन्ध—*इस अध्यायके चौथेसे बारहवें श्लोकतक भगवान्ने अपने मतके अनुसार त्याग और त्यागीके लक्षण बतलाये। तदनन्तर तेरहवेंसे सत्रहवें श्लोकतक संन्यास (सांख्य)-के स्वरूपका निरूपण करके संन्यासमें सहायक सत्त्वगुणका ग्रहण और उसके विरोधी रज एवं तमका त्याग करानेके उद्देश्यसे अठारहवेंसे चालीसवें श्लोकतक गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता आदि मुख्य-मुख्य पदार्थोंके भेद समझाये और अन्तमें समस्त सृष्टिको गुणोंसे युक्त बतलाकर उस विषयका उपसंहार किया।*

वहाँ त्यागका स्वरूप बतलाते समय भगवान्ने यह बात कही थी कि नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है (गीता १८।७), अपितु नियत कर्मोंको आसक्ति और फलके त्यागपूर्वक करते रहना ही वास्तविक त्याग है (गीता १८।९), किंतु वहाँ यह बात नहीं बतलायी कि किसके लिये कौन-सा कर्म नियत है। अतएव अब संक्षेपमें नियत कर्मोंका स्वरूप, त्यागके नामसे वर्णित कर्मयोगमें भक्तिका सहयोग और उसका फल परम सिद्धिकी प्राप्ति बतलानेके लिये पुनः उसी त्यागरूप कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं —

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।। ४१ ।।

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके[१] कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंद्वारा विभक्त किये गये हैं[२] ।। ४१ ।।

शमो[१] दमस्तपः[२] [३] शौचं[४] क्षान्तिरार्जवमेव[५] [६] च ।

ज्ञानं[७] विज्ञानमास्तिक्यं[८ ९] ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।। ४२ ।।

अन्तः करणका निग्रह करना, इन्द्रियोंका दमन करना, धर्मपालनके लिये कष्ट सहना, बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना, दूसरोंके अपराधोंको क्षमा करना, मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना, वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदिमें श्रद्धा रखना, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्माके तत्त्वका अनुभव करना—ये सब-के-सब ही ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं[१०] ।।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।। ४३ ।।

शूरवीरता[११], तेज[१२], धैर्य[१३], चतुरता[१४] और युद्धमें न भागना[१], दान देना और स्वामिभाव[२]—ये सब-के-सब ही क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं[३] ।। ४३ ।।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।। ४४ ।।

खेती[४], गोपालन[५] और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार[६]—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णोंकी सेवा करना[७] शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार चारों वर्णोंके स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करके अब भक्तियुक्त कर्मयोगका स्वरूप और फल बतलानेके लिये, उन कर्मोंका किस प्रकार आचरण करनेसे मनुष्य अनायास परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है—यह बात दो श्लोकोंमें बतलाते हैं—*

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।। ४५ ।।

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है[१]। अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन ।। ४५ ।।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। ४६ ।।

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके[२] मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है[३] ।। ४६ ।।

सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकमें यह बात कही गयी कि मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा करके परम सिद्धिको पा लेता है; इसपर यह शंका होती है कि यदि कोई क्षत्रिय अपने युद्धादि क्रूर कर्मोंको न करके, ब्राह्मणोंकी भाँति अध्यापनादि शान्तिमय कर्मोंसे अपना निर्वाह करके परमात्माको प्राप्त करनेकी चेष्टा करे या इसी तरह कोई वैश्य*

या शूद्र अपने कर्मोंको उच्च वर्णोंके कर्मोंसे हीन समझकर उनका त्याग कर दे और अपनेसे ऊँचे वर्णकी वृत्तिसे अपना निर्वाह करके परमात्माको प्राप्त करनेका प्रयत्न करे तो उचित है या नहीं। इसपर दूसरेके धर्मकी अपेक्षा स्वधर्मको श्रेष्ठ बतलाकर उसके त्यागका निषेध करते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो[४] विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।। ४७ ।।

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे[१] गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है;[२] क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता[३] ।। ४७ ।।

सहजं[४] कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।। ४८ ।।

अतएव हे कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मको[५] नहीं त्यागना चाहिये; क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं[६] ।।

सम्बन्ध—*भगवान्‌ने तेरहवेंसे चालीसवें श्लोकतक संन्यास यानी सांख्यका निरूपण किया। फिर इकतालीसवें श्लोकसे यहाँतक कर्मयोगरूप त्यागका तत्त्व समझानेके लिये स्वाभाविक कर्मोंका स्वरूप और उनकी अवश्यकर्तव्यताका निर्देश करके तथा कर्मयोगमें भक्तिका सहयोग दिखलाकर उसका फल भगवत्प्राप्ति बतलाया; किंतु वहाँ संन्यासके प्रकरणमें यह बात नहीं कही गयी कि संन्यासका क्या फल होता है और कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान त्याग कर उपासनाके सहित सांख्ययोगका किस प्रकार साधन करना चाहिये। अतः यहाँ उपासनाके सहित विवेक और वैराग्यपूर्वक एकान्तमें रहकर साधन करनेकी विधि और उसका फल बतलानेके लिये पुनः सांख्ययोगका प्रकरण आरम्भ करते हैं—*

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।। ४९ ।।

सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष[१] सांख्ययोगके द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है[२] ।। ४९ ।।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।। ५० ।।

जो कि ज्ञानयोगकी परा निष्ठा है, उस नैष्कर्म्य-सिद्धिको[१] जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है,[४] उस प्रकारको हे कुन्तीपुत्र! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ ।। ५० ।।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।

शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।। ५१ ।।

विविक्तसेवी लघ्वाशी[५] यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।। ५२ ।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। ५३ ।।

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त[६] तथा हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करने-वाला,[७] सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके[८] मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला,[९] राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके[१०] भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला[१] ममता-रहित[२] और शान्तियुक्त पुरुष[३] सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है ।। ५१—५३ ।।

ब्रह्मभूतः[४] प्रसन्नात्मा[५] न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।। ५४ ।।

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकांक्षा ही करता है।[६] ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी परा भक्तिको[७] प्राप्त हो जाता है ।। ५४ ।।

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।। ५५ ।।

उस परा भक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है[८] तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है[९] ।। ५५ ।।

सम्बन्ध—*अर्जुनकी जिज्ञासाके अनुसार त्यागका यानी कर्मयोगका और संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व अलग-अलग समझाकर यहाँतक उस प्रकरणको समाप्त कर दिया; किंतु इस वर्णनमें भगवान्ने यह बात नहीं कही कि दोनोंमेंसे तुम्हारे लिये अमुक साधन कर्तव्य है; अतएव अर्जुनको भक्तिप्रधान कर्मयोग ग्रहण करानेके उद्देश्यसे अब भक्तिप्रधान कर्मयोगकी महिमा कहते हैं—*

सर्वकर्माण्यपि[१] सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।। ५६ ।।

मेरे परायण हुआ[२] कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको[३] प्राप्त हो जाता है[४] ।। ५६ ।।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।। ५७ ।।

सब कर्मोंका मनसे मुझमें अर्पण करके[५] तथा समबुद्धिरूप योगको[६] अवलम्बन करके मेरे परायण[७] और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो[८] ।। ५७ ।।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
अथ चेत् त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।। ५८ ।।

उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा[९] और यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको न सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा[१] ।।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।। ५९ ।।

जो तू अहंकारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा',[२] तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगा[३] ।। ५९ ।।

स्वभावजेन कौन्तेय[४] निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।। ६० ।।

हे कुन्तीपुत्र! जिस कर्मको तू मोहके कारण[५] करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा[६] ।। ६० ।।

सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकोंमें कर्म करनेमें मनुष्यको स्वभावके अधीन बतलाया गया; इसपर यह शंका हो सकती है कि प्रकृति या स्वभाव जड है, वह किसीको अपने वशमें कैसे कर सकता है; इसलिये भगवान् कहते हैं—*

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।। ६१ ।।

हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर[१] अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है[२] ।।

सम्बन्ध—*यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कर्मबन्धनसे छूटकर परम शान्तिलाभ करनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये; इसपर भगवान् कहते हैं—*

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।। ६२ ।।

हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा[३]। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा[१] ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अर्जुनको अन्तर्यामी परमेश्वरकी शरण ग्रहण करनेके लिये आज्ञा देकर अब भगवान् उक्त उपदेशका उपसंहार करते हुए कहते हैं—*

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।। ६३ ।।

इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया[२]। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया भलीभाँति विचारकर जैसे चाहता है वैसे ही कर[३] ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अर्जुनको सारे उपदेशपर विचार करके अपना कर्तव्य निर्धारित करनेके लिये कहे जानेपर भी जब अर्जुनने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और वे अपनेको अनधिकारी तथा कर्तव्य निश्चय करनेमें असमर्थ समझकर खिन्नचित्त हो गये, तब सबके हृदयकी बात जाननेवाले अन्तर्यामी भगवान् स्वयं ही अर्जुनपर दया करके कहने लगे—*

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।। ६४ ।।

सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन[४]। तू मेरा अतिशय प्रिय है,[५] इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा ।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।। ६५ ।।

हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो,[१] मेरा भक्त बन,[२] मेरा पूजन करनेवाला हो[३] और मुझको प्रणाम कर[४]। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा,[५] यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ;[६] क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ।। ६५ ।।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।। ६६ ।।

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर[७] तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा[१]। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा,[२] तू शोक मत कर[३] ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार भगवान् गीताके उपदेशका उपसंहार करके अब उस उपदेशके अध्यापन और अध्ययन आदिका माहात्म्य बतलानेके लिये पहले अनधिकारीके लक्षण बतलाकर उसे गीताका उपदेश सुनानेका निषेध करते हैं—*

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।। ६७ ।।

तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्तिरहितसे और न बिना सुननेकी इच्छावालेसे ही कहना चाहिये तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिय[४] ।। ६७ ।।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।। ६८ ।।

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त[५] गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें[६] कहेगा,[१] वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है[२] ।। ३८ ।।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।। ६९ ।।

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं[३] ।। ६९ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार उपर्युक्त दो श्लोकोंमें गीताशास्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवद्भक्तोंमें विस्तार करनेका फल और माहात्म्य बतलाया; किंतु सभी मनुष्य इस कार्यको नहीं कर सकते, इसका अधिकारी तो कोई बिरला ही होता है। इसलिये अब गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाते हैं—*

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।। ७० ।।

जो पुरुष इस धर्ममय[४] हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा,[५] उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे[६] पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ।। ७० ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाकर, अब जो उपर्युक्त प्रकारसे अध्ययन करनेमें असमर्थ हैं—ऐसे मनुष्यके लिये उसके श्रवणका फल बतलाते हैं —*

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपिमुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ।। ७१ ।।

जो मनुष्य[१] श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा[२], वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा[३] ।। ७१ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार गीताशास्त्रके कथन, पठन और श्रवणका माहात्म्य बतलाकर अब भगवान् स्वयं सब कुछ जानते हुए भी अर्जुनको सचेत करनेके लिये उससे उसकी स्थिति पूछते हैं—*

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।। ७२ ।।

हे पार्थ! क्या इस (गीताशास्त्र)-को तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया?[४] और हे धनंजय! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया?[५] ।। ७२ ।।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।। ७३ ।।

अर्जुन बोले—हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा[६] ।। ७३ ।।

मोह-नाश

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।। (गीता १८।७३)

सम्बन्ध—*इस प्रकार धृतराष्ट्रके प्रश्नानुसार भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादरूप गीताशास्त्रका वर्णन करके अब उसका उपसंहार करते हुए संजय धृतराष्ट्रके सामने गीताका महत्त्व प्रकट करते हैं—*

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।। ७४ ।।

संजय बोले—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमांचकारक संवादको सुना[१] ।। ७४ ।।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ।। ७५ ।।

श्रीव्यासजीकी कृपासे[२] दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको[३] अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना

है ।। ७५ ।।

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्‌भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।। ७६ ।।

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित होता हूँ[४] ।।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्‌भुतं हरेः[५] ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ।। ७७ ।।

हे राजन्! श्रीहरिके उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ[६] ।। ७७ ।।

सम्बन्ध—*इस प्रकार अपनी स्थितिका वर्णन करते हुए गीताके उपदेशकी और भगवान्‌के अद्भुत रूपकी स्मृतिका महत्त्व प्रकट करके, अब संजय धृतराष्ट्रसे पाण्डवोंकी विजयकी निश्चित सम्भावना प्रकट करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं—*

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।। ७८ ।।

हे राजन्! जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है[१] ।। ७८ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्‌गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ।। १८ ।। भीष्मपर्वणि तु द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके श्रीमद्भगवद्‌गीतापर्वके अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्‌गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुन-संवादमें मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८ ।। भीष्मपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४२ ।।

'श्रीमद्भगवद्‌गीता' 'आनन्दचिद्‌घन' षडैश्वर्यपूर्ण चराचरवन्दित परमपुरुषोत्तम, साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। यह अनन्त रहस्योंसे पूर्ण है। परम दयामय भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे ही किसी अंशमें इसका रहस्य समझमें आ सकता है। जो पुरुष परम श्रद्धा और प्रेममयी विशुद्ध

भक्तिसे अपने हृदयको भरकर भगवद्गीताका मनन करते हैं, वे ही भगवत्-कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करके गीताके स्वरूपका किसी अंशमें अनुभव कर सकते हैं। अतएव अपना कल्याण चाहनेवाले नर-नारियोंको उचित है कि वे भक्तवर अर्जुनको आदर्श मानकर अपनेमें अर्जुनके-से दैवी गुणोंका अर्जन करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गीताका श्रवण-मनन और अध्ययन करें एवं भगवान्‌के आज्ञानुसार यथायोग्य तत्परताके साथ साधनमें लग जायँ। जो पुरुष इस प्रकार करते हैं, उनके अन्तःकरणमें नित्य नये-नये परमानन्ददायक अनुपम और दिव्य भावोंकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं तथा वे सर्वथा शुद्धान्तःकरण होकर भगवान्‌की अलौकिक कृपा-सुधाका रसास्वादन करते हुए शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं।

---

३. अर्जुनके प्रश्नका यह भाव है कि संन्यास (ज्ञानयोग)-का क्या स्वरूप है, उसमें कौन-कौनसे भाव और कर्म सहायक एवं कौन-कौनसे बाधक हैं, उपासनासहित सांख्ययोगका और केवल सांख्ययोगका साधन किस प्रकार किया जाता है; इसी प्रकार त्याग (फलासक्तिके त्यागरूप कर्मयोग)-का क्या स्वरूप है; केवल कर्मयोगका साधन किस प्रकार होता है, क्या करना इसके लिये उपयोगी है और क्या करना इसमें बाधक है; भक्तिमिश्रित कर्मयोग कौन-सा है; भक्तिप्रधान कर्मयोग कौन-सा है तथा लौकिक और शास्त्रीय कर्म करते हुए भक्तिमिश्रित एवं भक्तिप्रधान कर्मयोगका साधन किस प्रकार किया जाता है—इन सब बातोंको भी मैं भलीभाँति जानना चाहता हूँ।

उत्तरमें भगवान्‌ने इस अध्यायके तेरहवेंसे सत्रहवें श्लोकतक संन्यास (ज्ञानयोग)-का स्वरूप बतलाया है। उन्नीसवेंसे चालीसवें श्लोकतक जो सात्त्विक भाव और कर्म बतलाये हैं, वे इसके साधनमें उपयोगी हैं और राजस, तामस इसके विरोधी हैं। पचासवेंसे पचपनवेंतक उपासनासहित सांख्ययोगकी विधि और फल बतलाया है तथा सत्रहवें श्लोकमें केवल सांख्ययोगका साधन करनेका प्रकार बतलाया है।

इसी प्रकार छठे श्लोकमें (फलासक्तिके त्यागरूप) कर्मयोगका स्वरूप बतलाया है। नवें श्लोकमें सात्त्विक त्यागके नामसे केवल कर्मयोगके साधनकी प्रणाली बतलायी है। सैंतालीसवें और अड़तालीसवें श्लोकोंमें स्वधर्मके पालनको इस साधनमें उपयोगी बतलाया है और सातवें तथा आठवें श्लोकोंमें वर्णित तामस, राजस त्यागको इसमें बाधक बतलाया है। पैंतालीसवें और छियालीसवें श्लोकोंमें भक्तिमिश्रित कर्मयोगका और छप्पनवेंसे छाछठवें श्लोकतक भक्तिप्रधान कर्मयोगका वर्णन है। छियालीसवें श्लोकमें लौकिक और शास्त्रीय समस्त कर्म करते हुए भक्तिमिश्रित कर्मयोगके साधन करनेकी रीति बतलायी है और सत्तावनवें श्लोकमें भगवान्‌ने भक्तिप्रधान कर्मयोगके साधन करनेकी रीति बतलायी है।

१. स्त्री, पुत्र, धन और स्वर्गादि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये और रोग-संकटादि अप्रियकी निवृत्तिके लिये यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि जिन शुभ कर्मोंका शास्त्रोंमें विधान किया गया है—ऐसे शुभ कर्मोंका नाम 'काम्यकर्म' है।

२. ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाके कर्म और शरीरसम्बन्धी खान-पान इत्यादि जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं, उनके अनुष्ठानसे प्राप्त होनेवाले स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गसुख आदि जितने भी इस लोक और परलोकके भोग हैं—उन सबकी कामनाका सर्वथा त्याग कर देना ही समस्त कर्मोंके फलका त्याग करना है।

३. आरम्भ (क्रिया) मात्रमें ही कुछ-न-कुछ पापका सम्बन्ध हो जाता है, अतः विहित कर्म भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं; इस भावको लेकर कितने ही विद्वानोंका कहना है कि कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको नित्य,

नैमित्तिक और काम्य आदि सभी कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना चाहिये।

४. बहुत-से विद्वानोंके मतमें यज्ञ, दान और तपरूप कर्म वास्तवमें दोषयुक्त नहीं हैं। वे मानते हैं कि उन कर्मोंके निमित्त किये जानेवाले आरम्भमें जिन अवश्यम्भावी हिंसादि पापोंका होना देखा जाता है, वे वास्तवमें पाप नहीं हैं। इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको निषिद्ध कर्मोंका ही त्याग करना चाहिये, शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये।

५. शास्त्रविधिके अनुसार अंग-उपांगोंसहित निष्कामभावसे भलीभाँति अनुष्ठान करनेवाले बुद्धिमान् मुमुक्षु पुरुषोंका वाचक यहाँ 'मनीषिणाम्' पद है।

६. शास्त्रोंमें अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जिसके लिये जिस कर्मका विधान है—जिसको जिस समय जिस प्रकार यज्ञ करनेके लिये, दान देनेके लिये और तप करनेके लिये कहा गया है—उसे उसका त्याग नहीं करना चाहिये, यानी शास्त्र-आज्ञाकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके त्यागसे किसी प्रकारका लाभ होना तो दूर रहा, उलटा प्रत्यवाय होता है। इसलिये इन कर्मोंका अनुष्ठान मनुष्यको अवश्य करना चाहिये।

१. भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि ऊपर विद्वानोंके मतानुसार जो त्याग और संन्यासके लक्षण बतलाये गये हैं, वे पूर्ण नहीं हैं; क्योंकि केवल काम्य कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेपर भी अन्य नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें और उनके फलमें मनुष्यकी ममता, आसक्ति और कामना रहनेसे वे बन्धनके हेतु बन जाते हैं। सब कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग कर देनेपर भी उन कर्मोंमें ममता और आसक्ति रह जानेसे वे बन्धनकारक हो सकते हैं। अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग किये बिना यदि समस्त कर्मोंको दोषयुक्त समझकर कर्तव्यकर्मोंका भी स्वरूपसे त्याग कर दिया जाय तो मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा करनेपर वह विहित कर्मके त्यागरूप प्रत्यवायका भागी होता है। इसी प्रकार यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको करते रहनेपर भी यदि उनमें आसक्ति और उनके फलकी कामनाका त्याग न किया जाय तो वे बन्धनके हेतु बन जाते हैं। इसलिये उन विद्वानोंके बतलाये हुए लक्षणोंवाले संन्यास और त्यागसे मनुष्य कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म स्वरूपतः बन्धनकारक नहीं हैं, उनके साथ ममता, आसक्ति और फलका सम्बन्ध ही बन्धनकारक है। अतः कर्मोंमें जो ममता और फलासक्तिका त्याग है, वही वास्तविक त्याग है; क्योंकि इस प्रकार कर्म करनेवाला मनुष्य समस्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर परमपदको प्राप्त हो जाता है।

२. वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये यज्ञ, दान, तप, अध्ययन-अध्यापन, उपदेश, युद्ध, प्रजापालन, पशुपालन, कृषि, व्यापार, सेवा और खान-पान आदि जो-जो कर्म शास्त्रोंमें अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं, उसके लिये वे नियत कर्म हैं। ऐसे कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेवाला मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन न करनेके कारण पापका भागी होता है; क्योंकि इससे कर्मोंकी परम्परा टूट जाती है और समस्त जगत्‌में विप्लव हो जाता है (गीता ३।२३-२४)। इसलिये नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है।

३. कर्तव्यकर्मके त्यागको भूलसे मुक्तिका हेतु समझकर त्याग करना मोहपूर्वक होनेके कारण तामस त्याग है; इसलिये उपर्युक्त त्याग ऐसा त्याग नहीं है; जिसके करनेसे मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है। यह तो प्रत्यवायका हेतु होनेसे उलटा अधोगतिको ले जानेवाला है।

४. कर्तव्य कर्मोंके अनुष्ठानमें मन, इन्द्रिय और शरीरको परिश्रम होता है; अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित होते हैं; बहुत-सी सामग्री एकत्र करनी पड़ती है; शरीरके आरामका त्याग करना पड़ता है; व्रत, उपवास आदि करके कष्ट सहन करना पड़ता है और बहुत-से भिन्न-भिन्न नियमोंका पालन करना पड़ता है—इस कारण समस्त कर्मोंको दुःखरूप समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके परिश्रमसे बचनेके लिये तथा आराम करनेकी इच्छासे जो यज्ञ, दान और तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करना है—यही उनको दुःखरूप समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे उनका त्याग करना है।

५. जबतक मनुष्यकी मन, इन्द्रिय और शरीरमें ममता और आसक्ति रहती है, तबतक वह किसी प्रकार भी कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। अतः यह राजस त्याग नाममात्रका ही त्याग है, सच्चा त्याग नहीं है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले साधकोंको ऐसा त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि मन, इन्द्रिय और शरीरके आराममें आसक्तिका होना रजोगुणका कार्य है। अतएव ऐसा त्याग करनेवाला मनुष्य वास्तविक त्यागके फलको, जो कि समस्त कर्मबन्धनोंसे छूटकर परमात्माको पा लेना है, नहीं पाता।

१. वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो-जो कर्म शास्त्रमें अवश्यकर्तव्य बतलाये गये हैं, वे समस्त कर्म ही नियत कर्म हैं, निषिद्ध और काम्य कर्म नियत कर्म नहीं हैं। नियत कर्मोंको न करना भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन करना है—इस भावसे भावित होकर उन कर्मोंमें और उनके फलरूप इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग करके उत्साहपूर्वक विधिवत् उनको करते रहना ही सात्त्विक त्याग है; क्योंकि कर्मोंके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें आसक्ति और कामनाका त्याग ही वास्तविक त्याग है। त्यागका परिणाम कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्धविच्छेद होना चाहिये और यह परिणाम ममता, आसक्ति और कामनाके त्यागसे ही हो सकता है—केवल स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेसे नहीं।

२. शास्त्रनिषिद्ध कर्म और काम्यकर्म सभी अकुशल कर्म हैं; क्योंकि पापकर्म तो मनुष्यको नाना प्रकारकी नीच योनियोंमें और नरकमें गिरानेवाले हैं एवं काम्यकर्म भी फलभोगके लिये पुनर्जन्म देनेवाले हैं। सात्त्विक त्यागीमें राग-द्वेषका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण वह जो निषिद्ध और काम्यकर्मोंका त्याग करता है, वह द्वेष-बुद्धिसे नहीं करता; किंतु शास्त्रदृष्टिसे लोकसंग्रहके लिये उनका त्याग करता है।

३. शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म निष्कामभावसे किये जानेपर मनुष्यके पूर्वकृत संचित पापोंका नाश करके उसे कर्मबन्धनसे छुड़ा देनेमें समर्थ हैं, इसलिये ये कुशल कहलाते हैं। सात्त्विक त्यागी जो उपर्युक्त शुभ कर्मोंका विधिवत् अनुष्ठान करता है, वह आसक्तिपूर्वक नहीं करता; किंतु शास्त्रविहित कर्मोंका करना मनुष्यका कर्तव्य है—इस भावसे ममता, आसक्ति और फलेच्छा छोड़कर लोकसंग्रहके लिये ही उनका अनुष्ठान करता है।

४. इस प्रकार राग-द्वेषसे रहित होकर केवल कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंका ग्रहण और त्याग करनेवाला शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित है, यानी उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि यह कर्मयोगरूप सात्त्विक त्याग ही कर्मबन्धनसे छूटकर परमपदको प्राप्त कर लेनेका पूर्ण साधन है। इसीलिये वह बुद्धिमान् है और वह सच्चा त्यागी है।

५. कोई भी देहधारी मनुष्य बिना कर्म किये रह नहीं सकता (गीता ३।५); क्योंकि बिना कर्म किये शरीरका निर्वाह ही नहीं हो सकता (गीता ३।८)। इसलिये मनुष्य किसी भी आश्रममें क्यों न रहता हो—जबतक वह जीवित रहेगा, तबतक उसे अपनी परिस्थितिके अनुसार खाना-पीना, सोना-बैठना, चलना-फिरना और बोलना आदि कुछ-न-कुछ कर्म तो करना ही पड़ेगा। अतएव सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका स्वरूपसे त्याग किया जाना सम्भव नहीं है।

६. जो निषिद्ध और काम्यकर्मोंका सर्वथा त्याग करके यथावश्यक शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका अनुष्ठान करते हुए उन कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी है।

ऊपरसे इन्द्रियोंकी क्रियाओंका संयम करके मनसे विषयोंका चिन्तन करनेवाला मनुष्य त्यागी नहीं है तथा अहंता, ममता और आसक्तिके रहते हुए शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि कर्तव्यकर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेवाला भी त्यागी नहीं है।

१. जिन्होंने अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग नहीं किया है; जो आसक्ति और फलेच्छापूर्वक सब प्रकारके कर्म करनेवाले हैं, उनके द्वारा किये हुए शुभ कर्मोंका जो स्वर्गादिकी प्राप्ति या अन्य किसी प्रकारके सांसारिक इष्ट भोगोंकी प्राप्तिरूप फल है, वह अच्छा फल है; तथा उनके द्वारा किये हुए पापकर्मोंका जो पशु, पक्षी, कीट, पतंग और वृक्ष आदि तिर्यक् योनियोंकी प्राप्ति या नरकोंकी प्राप्ति अथवा अन्य किसी प्रकारके दुःखोंकी प्राप्तिरूप फल है—वह बुरा फल है। इसी प्रकार जो मनुष्यादि योनियोंमें उत्पन्न होकर कभी इष्ट भोगोंको प्राप्त होना और कभी अनिष्ट भोगोंको प्राप्त होना है, वह मिश्रित फल है।

उन पुरुषोंके कर्म अपना फल भुगताये बिना नष्ट नहीं हो सकते, जन्म-जन्मान्तरोंमें शुभाशुभ फल देते रहते हैं; इसीलिये ऐसे मनुष्य संसारचक्रमें घूमते रहते हैं।

२. कर्मोंमें और उनके फलमें ममता, आसक्ति और कामनाका जिन्होंने सर्वथा त्याग कर दिया है; इस अध्यायके दसवें श्लोकमें त्यागीके नामसे जिनके लक्षण बतलाये गये हैं; गीताके छठे अध्यायके पहले श्लोकमें जिनके लिये 'संन्यासी' और 'योगी' दोनों पदोंका प्रयोग किया गया है तथा गीताके दूसरे

अध्यायके इक्यावनवें श्लोकमें जिनको अनामय पदकी प्राप्तिका होना बतलाया गया है—ऐसे कर्मयोगियोंको यहाँ 'संन्यासी' कहा गया है।

इस प्रकार कर्मफलका त्याग कर देनेवाले त्यागी मनुष्य जितने कर्म करते हैं, वे भूने हुए बीचकी भाँति होते हैं, उनमें फल उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं होती तथा इस प्रकार यज्ञार्थ किये जानेवाले निष्कामकर्मोंसे पूर्वसंचित समस्त शुभाशुभ कर्मोंका भी नाश हो जाता है (गीता ४।२३)। इस कारण उनके इस जन्ममें या जन्मान्तरोंमें किये हुए किसी भी कर्मका किसी प्रकारका भी फल किसी भी अवस्थामें, जीते हुए या मरनेके बाद कभी नहीं होता; वे कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।

३. 'कृत' नाम कर्मोंका है; अतः जिस शास्त्रमें उनका अन्त करनेका उपाय बतलाया गया हो, उसका नाम 'कृतान्त' है। 'सांख्य'-का अर्थ ज्ञान है (सम्यक् ख्यायते ज्ञायते परमात्मानेनेति सांख्यं तत्त्वज्ञानम्)। अतएव जिस शास्त्रमें तत्त्वज्ञानके साधनरूप ज्ञानयोगका प्रतिपादन किया गया हो, उसको सांख्य कहते हैं। इसलिये यहाँ 'कृतान्ते' विशेषणके सहित 'सांख्ये' पद उस शास्त्रका वाचक मालूम होता है, जिसमें ज्ञानयोगका भलीभाँति प्रतिपादन किया गया हो और उसके अनुसार समस्त कर्मोंको प्रकृतिद्वारा किये हुए एवं आत्माको सर्वथा अकर्ता समझकर कर्मोंका अभाव करनेकी रीति बतलायी गयी हो।

४. 'सर्वकर्मणाम्' पद यहाँ शास्त्रविहित और निषिद्ध, सभी प्रकारके कर्मोंका वाचक है तथा किसी कर्मका पूर्ण हो जाना यानी उसका बन जाना ही उसकी सिद्धि है।

५. 'अधिष्ठान' शब्द यहाँ मुख्यतासे करण और क्रियाके आधाररूप शरीरका वाचक है; किंतु गौणरूपसे यज्ञादि कर्मोंमें तद्विषयक क्रियाके आधाररूप भूमि आदिका वाचक भी माना जा सकता है।

६. यहाँ 'कर्ता' शब्द प्रकृतिस्थ पुरुषका वाचक है। इसीको गीताके तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भोक्ता बतलाया गया है।

७. मन, बुद्धि और अहंकार भीतरके करण हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये दस बाहरके करण हैं; इनके सिवा गौणरूपसे जैसे स्रुवा आदि उपकरण यज्ञादि कर्मोंके करनेमें सहायक होते हैं, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मोंके करनेमें जितने भी भिन्न-भिन्न द्वार अथवा सहायक हैं, उन सबको यहाँ बाह्य करण कहा जा सकता है।

८. एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन करना, हाथ-पैर आदि अंगोंका संचालन, श्वासोंका आना-जाना, अंगोंको सिकोड़ना-फैलाना, आँखोंको खोलना और मूँदना, मनमें संकल्प-विकल्पोंका होना आदि जितनी भी हलचलरूप क्रियाएँ हैं, वे ही नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ हैं।

१. पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंको 'दैव' कहते हैं, प्रारब्ध भी इसीके अन्तर्गत है।

२. वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके भेदसे जिसके लिये जो कर्म कर्तव्य माने गये हैं—उन न्यायपूर्वक किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप, विद्याध्ययन, युद्ध, कृषि, गोरक्षा, व्यापार, सेवा आदि समस्त शास्त्रविहित कर्मोंके समुदायका वाचक यहाँ 'न्याय्यम्' पद है।

३. वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिके भेदसे जिसके लिये जिन कर्मोंके करनेका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है तथा जो कर्म नीति और धर्मके प्रतिकूल हैं—ऐसे असत्यभाषण, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, मद्यपान, अभक्ष्य-भक्षण आदि समस्त पापकर्मोंका वाचक यहाँ 'विपरीतम्' पद है।

४. मनुष्यशरीरमें ही जीव पुण्य और पापरूप नवीन कर्म कर सकता है। अन्य सब भोगयोनियाँ हैं; उनमें पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगा जाता है, नवीन कर्म करनेका अधिकार नहीं है।

५. यहाँ मन, वाणी और शरीरद्वारा किये जानेवाले जितने भी पुण्य और पापरूप कर्म हैं—जिनका इस जन्म तथा जन्मान्तरमें जीवको फल भोगना पड़ता है—उन सबके 'ये पाँचों कारण हैं'—इनमेंसे किसी एकके न रहनेसे कर्म नहीं बन सकता। इसीलिये बिना कर्तापनके किया जानेवाला कर्म वास्तवमें कर्म नहीं है।

६. सत्संग और सत्-शास्त्रोंके अभ्यासद्वारा तथा विवेक, विचार और शम-दमादि आध्यात्मिक साधनोंद्वारा जिसकी बुद्धि शुद्ध की हुई नहीं है—ऐसे प्राकृत अज्ञानी मनुष्यको 'अकृतबुद्धि' कहते हैं।

७. वास्तवमें आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार और सर्वथा असंग है; प्रकृतिसे, प्रकृतिजनित पदार्थोंसे या कर्मोंसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; किंतु अनादिसिद्ध अविद्याके कारण असंग आत्माका ही इस प्रकृतिके साथ सम्बन्ध-सा हो रहा है; अतः वह दुर्मति प्रकृतिद्वारा सम्पादित क्रियाओंमें मिथ्या अभिमान करके (गीता ३।२७) स्वयं उन कर्मोंका कर्ता बन जाता है। इस प्रकार कर्ता बने हुए पुरुषका नाम ही

'प्रकृतिस्थ पुरुष' है; वह उन प्रकृतिद्वारा सम्पन्न हुई क्रियाओंका कर्ता बनता है, तभी उनकी 'कर्म' संज्ञा होती है और वे कर्म फल देनेवाले बन जाते हैं। इसीलिये उस प्रकृतिस्थ पुरुषको अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म धारण करके उन कर्मोंका फल भोगना पड़ता है (गीता १३।२१)। इसलिये चौदहवें श्लोकमें कर्मोंकी सिद्धिके पाँच हेतुओंमें एक हेतु जो 'कर्ता' माना गया है, वह प्रकृतिमें स्थित पुरुष है और यहाँ आत्माके केवल यानी संगरहित, शुद्ध स्वरूपका वर्णन है, अतः उसको अकर्ता बतलाकर उसके यथार्थ स्वरूपका लक्षण किया गया है। जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझ लेता है, उसके कर्मोंमें 'कर्ता' रूप पाँचवाँ हेतु नहीं रहता। इसी कारण उसके कर्मोंकी कर्म संज्ञा नहीं रहती। यही बात अगले श्लोकमें समझायी गयी है।

८. सांख्ययोगी पुरुषमें मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा की जानेवाली समस्त क्रियाओंमें 'अमुक कर्म मैंने किया है', 'यह मेरा कर्तव्य है' इस प्रकारके भावका लेशमात्र भी न रहना—यही 'मैं कर्ता हूँ' इस भावका न होना है।

१. कर्मोंमें और उनके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, स्वर्गसुख आदि इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका अभाव हो जाना, किसी भी कर्मसे या उसके फलसे अपना किसी प्रकारका भी सम्बन्ध न समझना तथा उन सबको स्वप्नके कर्म और भोगोंकी भाँति क्षणिक, नाशवान् और कल्पित समझ लेनेके कारण अन्तःकरणमें उनके संस्कारोंका संगृहीत न होना ही बुद्धिका लिपायमान न होना है।

२. उपर्युक्त प्रकारसे आत्मस्वरूपको भलीभाँति जान लेनेके कारण जिसका अज्ञानजनित अहंभाव सर्वथा नष्ट हो गया है; मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले कर्मोंसे या उनके फलसे जिसका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा है, उस पुरुषके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा जो लोकसंग्रहार्थ प्रारब्धानुसार कर्म होते हैं, वे सब शास्त्रानुकूल और सबका हित करनेवाले ही होते हैं। अतः जैसे अग्नि, वायु और जल आदिके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी मृत्यु हो जाय तो वे अग्नि, वायु आदि न तो वास्तवमें उस प्राणीको मारनेवाले हैं और न वे उस कर्मसे बँधते ही हैं—उसी प्रकार उपर्युक्त महापुरुष शुभकर्मोंको करके उनका कर्ता नहीं बनता और उनके फलसे नहीं बँधता, इसमें तो कहना ही क्या है; किंतु क्षात्रधर्म-जैसे—किसी कारणसे योग्यता प्राप्त हो जानेपर समस्त प्राणियोंका संहाररूप—क्रूर कर्म करके भी उसका वह कर्ता नहीं बनता और उसके फलसे भी नहीं बँधता।

जैसे भगवान् सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार आदि कार्य करते हुए भी वास्तवमें उनके कर्ता नहीं हैं (गीता ४।१३) और उन कर्मोंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है (गीता ४।१४; ९।९)—उसी प्रकार सांख्ययोगीका भी उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता; किंतु उसका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो जानेके कारण उसके द्वारा अज्ञानमूलक चोरी, व्यभिचार, मिथ्याभाषण, हिंसा, कपट, दम्भ आदि पापकर्म नहीं होते।

३. किसी भी पदार्थके स्वरूपका निश्चय करनेवालेको 'ज्ञाता' कहते हैं; वह जिस वृत्तिके द्वारा वस्तुके स्वरूपका निश्चय करता है, उसका नाम 'ज्ञान' है और जिस वस्तुके स्वरूपका निश्चय करता है, उसका नाम 'ज्ञेय' है। इन तीनोंका सम्बन्ध ही मनुष्यको कर्ममें प्रवृत्त करनेवाला है; क्योंकि जब अधिकारी मनुष्य ज्ञानवृत्तिद्वारा यह निश्चय कर लेता है कि अमुक-अमुक साधनोंद्वारा अमुक प्रकारसे अमुक सुखकी प्राप्तिके लिये अमुक कर्म मुझे करना है, तभी उसकी उस कर्ममें प्रवृत्ति होती है।

४. देखना, सुनना, समझना, स्मरण करना, खाना, पीना आदि समस्त क्रियाओंको करनेवाले प्रकृतिस्थ पुरुषको 'कर्ता' कहते हैं; उसके जिन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा उपर्युक्त समस्त क्रियाएँ की जाती हैं, उनको 'करण' और उपर्युक्त समस्त क्रियाओंको 'कर्म' कहते हैं। इन तीनोंके संयोगसे ही कर्मका संग्रह होता है; क्योंकि जब मनुष्य स्वयं कर्ता बनकर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा क्रिया करके किसी कर्मको करता है, तभी कर्म बनता है, इसके बिना कोई भी कर्म नहीं बन सकता। इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें जो कर्मकी सिद्धिके अधिष्ठानादि पाँच हेतु बतलाये गये हैं, उनमेंसे अधिष्ठान और दैवको छोड़कर शेष तीनोंको 'कर्म-संग्रह' नाम दिया गया है।

५. जिस शास्त्रमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके सम्बन्धसे समस्त पदार्थोंके भिन्न-भिन्न भेदोंकी गणना की गयी हो, ऐसे शास्त्रका वाचक 'गुणसंख्याने' पद है। अतः उसमें बतलाये हुए गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ज्ञान, कर्म और कर्ताको सुननेके लिये कहकर भगवान्ने उस शास्त्रको इस विषयमें आदर दिया है और कहे जानेवाले उपदेशको ध्यानपूर्वक सुननेके लिये अर्जुनको सावधान किया है।

ध्यान रहे कि ज्ञाता और कर्ता अलग-अलग नहीं हैं, इस कारण भगवान्‌ने ज्ञाताके भेद अलग नहीं बतलाये हैं तथा करणके भेद बुद्धिके और धृतिके नामसे एवं ज्ञेयके भेद सुखके नामसे आगे बतलायेंगे। इस कारण यहाँ पूर्वोक्त छः पदार्थोंमेंसे तीनके ही भेद पहले बतलानेका संकेत किया है।

१. जिस प्रकार आकाश-तत्त्वको जाननेवाला मनुष्य घड़ा, मकान, गुफा, स्वर्ग, पाताल और समस्त वस्तुओंके सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें एक ही आकाश-तत्त्वको देखता है, वैसे ही लोकदृष्टिसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले समस्त चराचर प्राणियोंमें गीताके छठे अध्यायके उनतीसवें और तेरहवें अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें वर्णित सांख्ययोगके साधनसे होनेवाले अनुभवके द्वारा एक अद्वितीय अविनाशी निर्विकार ज्ञानस्वरूप परमात्मभावको विभागरहित समभावसे व्याप्त देखना ही सात्त्विक ज्ञान है।

२. कीट, पतंग, पशु, पक्षी, मनुष्य, राक्षस और देवता आदि जितने भी प्राणी हैं, उन सबमें आत्माको उनके शरीरोंकी आकृतिके भेदसे और स्वभावके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक और अलग-अलग समझना ही राजस ज्ञान है।

३. जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य प्रकृतिके कार्यरूप शरीरको ही अपना स्वरूप समझ लेता है और ऐसा समझकर उस क्षणभंगुर नाशवान् शरीरमें सर्वस्वकी भाँति आसक्त रहता है—अर्थात् उसके सुखसे सुखी एवं उसके दुःखसे दुःखी होता है तथा उसके नाशसे ही सर्वनाश मानता है, आत्माको उससे भिन्न या सर्वव्यापी नहीं समझता—वह ज्ञान वास्तवमें ज्ञान नहीं है। इसलिये भगवान्‌ने इस श्लोकमें 'ज्ञान' पदका प्रयोग भी नहीं किया है; क्योंकि यह विपरीत ज्ञान वास्तवमें अज्ञान ही है।

४. नियत कर्मकी व्याख्या इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें देखनी चाहिये।

५. यहाँ 'संग' नाम आसक्तिका नहीं है; क्योंकि आसक्तिका अभाव 'अरागद्वेषतः' पदसे अलग बतलाया गया है। इसलिये यहाँ जो कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान करके उन कर्मोंसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेना है, उसका नाम 'संग' समझना चाहिये।

६. कर्मोंके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके जितने भी भोग हैं, उनमें ममता और आसक्तिका अभाव हो जानेके कारण जिसको किंचिन्मात्र भी उन भोगोंकी आकांक्षा नहीं रही है, जो किसी भी कर्मसे अपना कोई भी स्वार्थ सिद्ध करना नहीं चाहता, जो अपने लिये किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं समझता—ऐसे पुरुषद्वारा होनेवाले जो कर्म राग-द्वेषके बिना केवल लोकसंग्रहके लिये होते हैं—उन कर्मोंको 'बिना राग-द्वेषके किया हुआ कर्म' कहते हैं।

७. इसी अध्यायके नवें श्लोकमें वर्णित सात्त्विक त्यागसे इस सात्त्विक कर्ममें यह विशेषता है कि इसमें कर्तापनके अभिमानका और राग-द्वेषका भी अभाव दिखलाया गया है; किंतु नवें श्लोकमें कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छाका त्याग ही बतलाया गया है, कर्तापनके अभावकी बात नहीं कही है, बल्कि कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंको करनेके लिये कहा है। दोनोंका ही फल तत्त्वज्ञानके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति है; भेद केवल अनुष्ठानके प्रकारका है।

८. जो पुरुष समस्त कर्म—स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके भोगोंके लिये ही करता है—ऐसे स्वार्थपरायण पुरुषका वाचक यहाँ 'कामेप्सुना' पद है।

९. जिस मनुष्यका शरीरमें अभिमान है और जो प्रत्येक कर्म अहंकारपूर्वक करता है तथा 'मैं अमुक कर्मका करनेवाला हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है; मैं यह कर सकता हूँ, वह कर सकता हूँ'—इस प्रकारके भाव मनमें रखनेवाला और वाणीद्वारा इस तरहकी बातें करनेवाला है, उसका वाचक यहाँ 'साहंकारेण' पद है।

१. सात्त्विक कर्मसे राजस कर्मका यह भेद है कि सात्त्विक कर्मोंके कर्ताका शरीरमें अहंकार नहीं होता और कर्मोंमें कर्तापन नहीं होता; अतः उसे किसी भी क्रियाके करनेमें किसी प्रकारके परिश्रम या क्लेशका बोध नहीं होता। इसलिये उसके कर्म आयासयुक्त नहीं हैं; किंतु राजस कर्मके कर्ताका शरीरमें अहंकार होनेके कारण वह शरीरके परिश्रम और दुःखोंसे स्वयं दुःखी होता है। इस कारण उसे प्रत्येक क्रियामें परिश्रमका बोध होता है। इसके सिवा सात्त्विक कर्मोंके कर्ताद्वारा केवल शास्त्रदृष्टिसे या लोकदृष्टिसे कर्तव्यरूपमें प्राप्त हुए कर्म ही किये जाते हैं; अतः उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार नहीं होता; किंतु राजस कर्मका कर्ता आसक्ति और कामनासे प्रेरित होकर प्रतिदिन नये-नये कर्मोंका आरम्भ करता रहता है, इससे उसके कर्मोंका बहुत विस्तार हो जाता है। इस कारण यहाँ बहुत परिश्रमवाले कर्मोंको राजस बतलाया गया है।

२. जिस पुरुषमें भोगोंकी कामना और अहंकार दोनों हैं, उसके द्वारा किये हुए कर्म राजस हैं—इसमें तो कहना ही क्या है; किंतु इनमेंसे किसी एक दोषसे युक्त पुरुषद्वारा किये हुए कर्म भी राजस ही हैं।

३. किसी भी कर्मका आरम्भ करनेसे पहले अपनी बुद्धिसे विचार करके जो यह सोच लेना है कि अमुक कर्म करनेसे उसका भावी परिणाम अमुक प्रकारसे सुखकी प्राप्ति या अमुक प्रकारसे दुःखकी प्राप्ति होगा, यह उसके अनुबन्धका यानी परिणामका विचार करना है तथा जो यह सोचना है कि अमुक कर्ममें इतना धन व्यय करना पड़ेगा, इतने बलका प्रयोग करना पड़ेगा, इतना समय लगेगा, अमुक अंशमें धर्मकी हानि होगी और अमुक-अमुक प्रकारकी दूसरी हानियाँ होंगी—यह क्षयका यानी हानिका विचार करना है और जो यह सोचना है कि अमुक कर्मके करनेसे अमुक मनुष्योंको या अन्य प्राणियोंको अमुक प्रकारसे इतना कष्ट पहुँचेगा, अमुक मनुष्योंका या अन्य प्राणियोंका जीवन नष्ट होगा—यह हिंसाका विचार करना है। इसी तरह जो यह सोचना है कि अमुक कर्म करनेके लिये इतने सामर्थ्यकी आवश्यकता है, अतः इसे पूरा करनेकी सामर्थ्य हममें है या नहीं—यह पौरुषका यानी सामर्थ्यका विचार करना है। इस तरह परिणाम, हानि, हिंसा और पौरुष—इन चारोंका या चारोंमेंसे किसी एकका विचार न करके केवल मोहसे कर्मका आरम्भ करना ही तामस कर्म है।

४. मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं, उनमें और उनके फलरूप मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें जिसकी किंचिन्मात्र भी ममता, आसक्ति और कामना नहीं रही है—ऐसे मनुष्यको 'मुक्तसंग' कहते हैं।

५. मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर—इन अनात्म पदार्थोंमें आत्मबुद्धि न रहनेके कारण जो किसी भी कर्ममें कर्तापनका अभिमान नहीं करता तथा इसी कारण जो आसुरी प्रकृतिवालोंकी भाँति, मैंने अमुक मनोरथ सिद्ध कर लिया है, अमुकको और सिद्ध कर लूँगा, मैं ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा (गीता १६।१३, १४, १५) इत्यादि अहंकारके वचन कहनेवाला नहीं है, किंतु सरलभावसे अभिमानशून्य वचन बोलनेवाला है—ऐसे मनुष्यको 'अनहंवादी' कहते हैं।

६. शास्त्रविहित स्वधर्मपालनरूप किसी भी कर्मके करनेमें बड़ी-से-बड़ी विघ्न-बाधाओंके उपस्थित होनेपर भी विचलित न होना 'धैर्य' है और कर्म-सम्पादनमें सफलता न प्राप्त होनेपर या ऐसा समझकर कि यदि मुझे फलकी इच्छा नहीं है तो कर्म करनेकी क्या आवश्यकता है—किसी भी कर्मसे न उकताना, किंतु जैसे कोई सफलता प्राप्त कर चुकनेवाला और कर्मफलको चाहनेवाला मनुष्य करता है, उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक उसे करनेके लिये उत्सुक रहना 'उत्साह' है। इन दोनों गुणोंसे युक्त होकर जो मनुष्य न तो किसी भी कर्मके पूर्ण होनेमें हर्षित होता है और न उसमें विघ्न उपस्थित होनेपर शोक ही करता है तथा इसी तरह जिसमें अन्य किसी प्रकारका भी कोई विकार नहीं होता, जो हरेक अवस्थामें सदा-सर्वदा सम रहता है—ऐसा समतायुक्त पुरुष ही सात्त्विक कर्ता है।

१. जिस मनुष्यकी कर्मोंमें और उनके फलरूप इस लोक और परलोकके भोगोंमें ममता और आसक्ति है—ऐसे मनुष्यको 'रागी' कहते हैं।

२. जो कर्मोंके फलरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोकके नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा करता रहता है, ऐसे स्वार्थपरायण पुरुषका वाचक 'कर्मफलप्रेप्सुः' पद है।

३. धनादि पदार्थोंमें आसक्ति रहनेके कारण जो न्यायसे प्राप्त अवसरपर भी अपनी शक्तिके अनुरूप धनका व्यय नहीं करता तथा न्याय-अन्यायका विचार न करके सदा धनसंग्रहकी लालसा रखता है, यहाँतक कि दूसरोंके स्वत्वको हड़पनेकी भी इच्छा रखता है और वैसी ही चेष्टा करता है—ऐसे मनुष्यका वाचक 'लुब्धः' पद है।

४. जिस किसी भी प्रकारसे दूसरोंको कष्ट पहुँचाना ही जिसका स्वभाव है, जो अपनी अभिलाषाकी पूर्तिके लिये कर्म करते समय अपने आराम तथा भोगके लिये दूसरोंको कष्ट देता रहता है—ऐसे हिंसापरायण मनुष्यका वाचक यहाँ 'हिंसात्मकः' पद है।

५. जो न तो शास्त्रविधिके अनुसार जल-मृतिकादिसे शरीर और वस्त्रादिको शुद्ध रखता है और न यथायोग्य बर्ताव करके अपने आचरणोंको ही शुद्ध रखता है, किंतु भोगोंमें आसक्त होकर नाना प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिके लिये शौचाचार और सदाचारका त्याग कर देता है—ऐसे मनुष्यका वाचक यहाँ 'अशुचिः' पद है।

६. जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें किये हुए नहीं हैं, बल्कि जो स्वयं उनके वशीभूत हो रहा है तथा जिसमें श्रद्धा और आस्तिकताका अभाव है—ऐसे पुरुषको 'अयुक्त' कहते हैं।

७. जिसको किसी प्रकारकी सुशिक्षा नहीं मिली है, जिसका स्वभाव बालकके समान है, जिसको अपने कर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं है, जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंका सुधार नहीं हुआ है—ऐसे संस्काररहित स्वाभाविक मूर्खको 'प्राकृत' कहते हैं।

८. जिसका स्वभाव अत्यन्त कठोर है, जिसमें विनयका अत्यन्त अभाव है, जो सदा ही घमंडमें चूर रहता है—अपने सामने दूसरोंको कुछ भी नहीं समझता—ऐसे मनुष्यको 'घमंडी' कहते हैं।

९. जो दूसरोंको ठगनेवाला वंचक है, द्वेषको छिपाये रखकर गुप्तभावसे दूसरोंका अपकार करनेवाला है, मन-ही-मन दूसरोंका अनिष्ट करनेके लिये दाव-पेंच सोचता रहता है—ऐसे मनुष्यको 'धूर्त' कहते हैं।

१०. नाना प्रकारसे दूसरोंकी वृत्तिमें बाधा डालना ही जिसका स्वभाव है—ऐसे मनुष्यको दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला कहते हैं।

११. जिसका रात-दिन पड़े रहनेका स्वभाव है, किसी भी शास्त्रीय या व्यावहारिक कर्तव्यकर्ममें जिसकी प्रवृत्ति और उत्साह नहीं होते, जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें आलस्य भरा रहता है—वह मनुष्य 'आलसी' है।

१२. जो किसी कार्यका आरम्भ करके बहुत कालतक उसे पूरा नहीं करता—आज कर लेंगे, कल कर लेंगे, इस प्रकार विचार करते-करते एक रोजमें हो जानेवाले कार्यके लिये बहुत समय निकाल देता है और फिर भी उसे पूरा नहीं कर पाता—ऐसे शिथिल प्रकृतिवाले मनुष्यको 'दीर्घसूत्री' कहते हैं।

१३. जिस पुरुषमें उपर्युक्त समस्त लक्षण घटते हों या उनमेंसे कितने ही लक्षण घटते हों, उसे तामस कर्ता समझना चाहिये।

१. 'बुद्धि' शब्द यहाँ निश्चय करनेकी शक्तिविशेषका वाचक है, इस अध्यायके बीसवें, इक्कीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें जिस ज्ञानके तीन भेद बतलाये गये हैं, वह बुद्धिसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान यानी बुद्धिकी वृत्तिविशेष है और यह बुद्धि उसका कारण है। अठारहवें श्लोकमें 'ज्ञान' शब्द कर्म-प्रेरणाके अन्तर्गत आया है और बुद्धिका ग्रहण 'करण' के नामसे कर्म-संग्रहमें किया गया है। यही ज्ञानका और बुद्धिका भेद है। यहाँ कर्म-संग्रहमें वर्णित करणोंके सात्त्विक-राजस-तामस भेदोंको भलीभाँति समझानेके लिये प्रधान 'करण' बुद्धिके तीन भेद बतलाये जाते हैं।

'धृति' शब्द धारण करनेकी शक्तिविशेषका वाचक है; यह भी बुद्धिकी ही वृत्ति है। मनुष्य किसी भी क्रिया या भावको इसी शक्तिके द्वारा दृढ़तापूर्वक धारण करता है। इस कारण वह 'करण' के ही अन्तर्गत है। इस अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें सात्त्विक कर्ताके लक्षणोंमें 'धृति' शब्दका प्रयोग हुआ है, इससे यह समझनेकी गुंजाइश हो जाती है कि 'धृति' केवल सात्त्विक ही होती है; किंतु ऐसी बात नहीं है, इसके भी तीन भेद होते हैं—यही बात समझानेके लिये इस प्रकरणमें 'धृति' के तीन भेद बतलाये गये हैं।

२. गृहस्थ-वानप्रस्थादि आश्रमोंमें रहकर ममता, आसक्ति, अहंकार और फलेच्छाका त्याग करके परमात्माकी प्राप्तिके लिये उसकी उपासनाका तथा शास्त्रविहित यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंका, अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार जीविकाके कर्मोंका और शरीरसम्बन्धी खान-पान आदि कर्मोंका निष्कामभावसे आचरणरूप जो परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है—वह 'प्रवृत्तिमार्ग' है। और राजा जनक, अम्बरीष, महर्षि वसिष्ठ और याज्ञवल्क्य आदिकी भाँति उसे ठीक-ठीक समझकर उसके अनुसार चलना ही उसको यथार्थ जानना है।

३. समस्त कर्मोंका और भोगोंका बाहर-भीतरसे सर्वथा त्याग करके, संन्यास-आश्रममें रहकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारकी सांसारिक झंझटोंसे विरक्त होकर अहंता, ममता और आसक्तिके त्यागपूर्वक शम, दम, तितिक्षा आदि साधनोंके सहित निरन्तर श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना या केवल भगवान्‌के भजन, स्मरण, कीर्तन आदिमें ही लगे रहना—इस प्रकार जो परमात्माको प्राप्त करनेका मार्ग है, उसका नाम 'निवृत्तिमार्ग' है और श्रीसनकादि, नारदजी, ऋषभदेवजी और शुकदेवजीकी भाँति उसे ठीक-ठीक समझकर उसके अनुसार चलना ही उसको यथार्थ जानना है।

४. वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थितिकी तथा देश-कालकी अपेक्षासे जिसके लिये जिस समय जो कर्म करना उचित है, वही उसके लिये 'कर्तव्य' है और जिस समय जिसके लिये जिस कर्मका त्याग उचित है, वही उसके लिये 'अकर्तव्य' है। इन दोनोंको भलीभाँति समझ लेना—अर्थात् किसी भी कार्यके सामने

आनेपर यह मेरे लिये कर्तव्य है या अकर्तव्य, इस बातका यथार्थ निर्णय कर लेना ही कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ जानना है।

५. किसी दुःखप्रद वस्तुके या घटनाके उपस्थित हो जानेपर या उसकी सम्भावना होनेसे मनुष्यके अन्तःकरणमें जो एक आकुलताभरी कम्पवृत्ति होती है, उसे 'भय' कहते हैं और इससे विपरीत जो भयके अभावकी वृत्ति है, उसे 'अभय' कहते हैं। इन दोनोंके तत्त्वको भलीभाँति समझकर निर्भय हो जाना ही भय और अभय—इन दोनोंको यथार्थ जानना है।

६. शुभाशुभ कर्मोंके सम्बन्धसे जो जीवको अनादि कालसे निरन्तर परवश होकर जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकना पड़ रहा है, यही 'बन्धन' है और सत्संगके प्रभावसे कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोगादि साधनोंमेंसे किसी साधनके द्वारा भगवत्कृपासे समस्त शुभाशुभ कर्मबन्धनोंका कट जाना और जीवका भगवान्‌को प्राप्त हो जाना ही 'मोक्ष' है।

७. अहिंसा, सत्य, दया, शान्ति, ब्रह्मचर्य, शम, दम, तितिक्षा तथा यज्ञ, दान, तप एवं अध्ययन, प्रजापालन, कृषि, पशुपालन और सेवा आदि जितने भी वर्णाश्रमके अनुसार शास्त्रविहित शुभकर्म हैं—जिन आचरणोंका फल शास्त्रोंमें इस लोक और परलोकके सुख-भोग बतलाया गया है—तथा जो दूसरोंके हितके कर्म हैं, उन सबका नाम 'धर्म' है एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, दम्भ, अभक्ष्यभक्षण आदि जितने भी पापकर्म हैं—जिनका फल शास्त्रोंमें दुःख बतलाया है उन सबका नाम 'अधर्म' है। किस समय किस परिस्थितिमें कौन-सा कर्म धर्म है और कौन-सा कर्म अधर्म है—इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें बुद्धिका कुण्ठित हो जाना या संशययुक्त हो जाना आदि उन दोनोंका यथार्थ न जानना है।

१. वर्ण, आश्रम, प्रकृति, परिस्थिति तथा देश और कालकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो शास्त्रविहित करनेयोग्य कर्म है—वह कार्य (कर्तव्य) है और जिसके लिये शास्त्रमें जिस कर्मको न करनेयोग्य—निषिद्ध बतलाया है, बल्कि जिसका न करना ही उचित है—वह अकार्य (अकर्तव्य) है। इस दृष्टिसे शास्त्रनिषिद्ध पापकर्म तो सबके लिये अकार्य हैं ही, किंतु शास्त्रविहित शुभकर्मोंमें भी किसीके लिये कोई कर्म कार्य होता है और किसीके लिये कोई अकार्य। जैसे शूद्रके लिये सेवा करना कार्य है और यज्ञ, वेदाध्ययन आदि करना अकार्य है; संन्यासीके लिये विवेक, वैराग्य, शम, दमादिका साधन कार्य है और यज्ञ-दानादिका आचरण अकार्य है; ब्राह्मणके लिये यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना, वेद पढ़ना-पढ़ाना कार्य है और नौकरी करना अकार्य है; वैश्यके लिये कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यादि कार्य है और दान लेना आदि अकार्य है। इसी तरह स्वर्गादिकी कामनावाले मनुष्यके लिये काम्य-कर्म कार्य हैं और मुमुक्षुके लिये अकार्य हैं; विरक्त ब्राह्मणके लिये संन्यास ग्रहण करना कार्य है और भोगासक्तके लिये अकार्य है। इससे यह सिद्ध है कि शास्त्रविहित धर्म होनेसे ही वह सबके लिये कर्तव्य नहीं हो जाता। इस प्रकार धर्म कार्य भी हो सकता है और अकार्य भी। यही धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यका भेद है। किसी भी कर्मके करनेका या त्यागनेका अवसर आनेपर 'अमुक कर्म मेरे लिये कर्तव्य है या अकर्तव्य, मुझे कौन-सा कर्म किस प्रकार करना चाहिये और कौन-सा नहीं करना चाहिये'—इसका ठीक-ठीक निर्णय करनेमें जो बुद्धिका किंकर्तव्यविमूढ हो जाना या संशययुक्त हो जाना है—यही कर्तव्य और अकर्तव्यको यथार्थ न जानना है।

२. जिस बुद्धिसे मनुष्य धर्म-अधर्मका और कर्तव्य-अकर्तव्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकता, जो बुद्धि इसी प्रकार अन्यान्य बातोंका भी ठीक-ठीक निर्णय करनेमें समर्थ नहीं होती, वह रजोगुणके सम्बन्धसे विवेकमें अप्रतिष्ठित, विक्षिप्त और अस्थिर रहती है; इसी कारण वह राजसी है।

३. ईश्वरनिन्दा, देवनिन्दा, शास्त्रविरोध, माता-पिता-गुरु आदिका अपमान, वर्णाश्रमधर्मके प्रतिकूल आचरण, असंतोष, दम्भ, कपट, व्यभिचार, असत्यभाषण, परपीडन, अभक्ष्य भोजन, यथेच्छाचार और पर-सत्त्वापहरण आदि निषिद्ध पापकर्मोंको धर्म मान लेना और धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, ईश्वरपूजन, देवोपासना, शास्त्रसेवन, वर्णाश्रमधर्मानुसार आचरण, माता-पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन, सरलता, ब्रह्मचर्य, सात्त्विक भोजन, अहिंसा और परोपकार आदि शास्त्रविहित पुण्यकर्मोंको अधर्म मानना—यही अधर्मको धर्म और धर्मको अधर्म मानना है।

४. अधर्मको धर्म मान लेनेकी भाँति ही अकर्तव्यको कर्तव्य, दुःखको सुख, अनित्यको नित्य, अशुद्धको शुद्ध और हानिको लाभ मान लेना आदि जितनी भी विपरीत मान्यताएँ हैं, वे सब अन्य पदार्थोंको विपरीत मान लेनेके अन्तर्गत हैं।

५. किसी भी क्रिया, भाव या वृत्तिको धारण करनेकी—उसे दृढ़तापूर्वक स्थिर रखनेकी जो शक्तिविशेष है, जिसके द्वारा धारण की हुई कोई भी क्रिया, भावना या वृत्ति विचलित नहीं होती, प्रत्युत चिरकालतक स्थिर रहती है, उस शक्तिका नाम 'धृति' है; परंतु इसके द्वारा मनुष्य जबतक भिन्न-भिन्न उद्देश्योंसे, नाना विषयोंको धारण करता रहता है, तबतक इसका व्यभिचारदोष नष्ट नहीं होता; जब इसके द्वारा मनुष्य अपना एक अटल उद्देश्य स्थिर कर लेता है, उस समय यह 'अव्यभिचारिणी' हो जाती है। सात्त्विक धृतिका एक ही उद्देश्य होता है—परमात्माको प्राप्त करना। इसी कारण उसे 'अव्यभिचारिणी' कहते हैं। ऐसी धारणशक्तिसे परमात्माको प्राप्त करनेके लिये ध्यानयोगद्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको अटलरूपसे परमात्मामें रोके रखना ही 'सात्त्विक धृति' है।

१. आसक्तिपूर्वक धर्मका पालन करना धृतिके द्वारा धर्मको धारण करना है एवं धनादि पदार्थोंको और उनसे सिद्ध होनेवाले भोगोंको ही जीवनका लक्ष्य बनाकर अत्यन्त आसक्तिके कारण दृढ़तापूर्वक उनको पकड़े रखना धृतिके द्वारा अर्थ और कामोंको धारण करना है।

२. जिसकी बुद्धि अत्यन्त मन्द और मलिन हो, जिसके अन्तःकरणमें दूसरोंका अनिष्ट करने आदिके भाव भरे रहते हों—ऐसे दुष्टबुद्धि मनुष्यको 'दुर्मेधा' कहते हैं।

३. निद्रा और तन्द्रा आदि जो मन और इन्द्रियोंको तमसाच्छन्न, बाह्य क्रियासे रहित और मूढ़ बनानेवाले भाव हैं, उन सबका नाम 'निद्रा' है; धन आदि पदार्थोंके नाशकी, मृत्युकी, दुःखप्राप्तिकी, सुखके नाशकी अथवा इसी तरह अन्य किसी प्रकारके इष्टके नाश और अनिष्टप्राप्तिकी आशंकासे अन्तःकरणमें जो एक आकुलता और घबराहटभरी वृत्ति होती है, उसका नाम 'भय' है; मनमें होनेवाली नाना प्रकारकी दुश्चिन्ताओंका नाम 'शोक' है; उसके द्वारा जो इन्द्रियोंमें संताप हो जाता है, उसे 'दुःख' कहते हैं; यह शोकका ही स्थूल भाव है तथा जो धन, जन और बल आदिके कारण होनेवाली—विवेक, भविष्यके विचार और दुरदर्शितासे रहित-उन्मत्तवृत्ति है, उसे 'मद' कहते हैं; इसीका नाम गर्व, घमंड और उन्मत्तता भी है। इन सबको तथा प्रमाद आदि अन्यान्य तामसभावोंको जो अन्तःकरणसे दूर हटानेकी चेष्टा न करके इन्हींमें डूबे रहना है, यही धृतिके द्वारा इनको न छोड़ना अर्थात् धारण किये रहना है।

४. मनुष्यको इस सुखका अनुभव तभी होता है, जब वह इस लोक और परलोकके समस्त भोग-सुखोंको क्षणिक समझकर उन सबसे आसक्ति हटाकर निरन्तर परमात्मस्वरूपके चिन्तनका अभ्यास करता है (गीता ५।२१); बिना साधनके इसका अनुभव नहीं हो सकता—यही भाव दिखलानेके लिये इस सुखका 'जिसमें अभ्याससे रमण करता है' यह लक्षण किया गया है।

५. जिस सुखमें रमण करनेवाला मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सब प्रकारके दुःखोंके सम्बन्धसे सदाके लिये छूट जाता है; जिस सुखके अनुभवका फल निरतिशय सुखस्वरूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति बतलाया गया है (गीता ५।२१, २४; ६।२८)—वही सात्त्विक सुख है।

६. जिस प्रकार बालक अपने घरवालोंसे विद्याकी महिमा सुनकर विद्याभ्यासकी चेष्टा करता है, पर उसके महत्त्वका यथार्थ अनुभव न होनेके कारण आरम्भकालमें अभ्यास करते समय उसे खेल-कूदको छोड़कर विद्याभ्यासमें लगे रहना अत्यन्त कष्टप्रद और कठिन प्रतीत होता है, उसी प्रकार सात्त्विक सुखके लिये अभ्यास करनेवाले मनुष्यको भी विषयोंका त्याग करके संयमपूर्वक विवेक, वैराग्य, शम, दम और तितिक्षा आदि साधनोंमें लगे रहना अत्यन्त श्रमपूर्ण और कष्टप्रद प्रतीत होता है; यही सात्त्विक सुखका आरम्भकालमें विषके तुल्य प्रतीत होना है।

७. जब सात्त्विक सुखकी प्राप्तिके लिये साधन करते-करते साधकको उस ध्यानजनित सुखका अनुभव होने लागता है, तब उसे वह अमृतके तुल्य प्रतीत होता है; उस समय उसके सामने संसारके समस्त भोग-सुख तुच्छ, नगण्य और दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं।

१. उपर्युक्त प्रकारसे अभ्यास करते-करते निरन्तर परमात्माका ध्यान करनेके फलस्वरूप अन्तःकरणके स्वच्छ होनेपर इस सुखका अनुभव होता है, इसीलिये इस सुखको परमात्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला बतलाया गया है।

२. जब मनुष्य मनसहित इन्द्रियोंद्वारा किसी विषयका सेवन करता है, तब वह उसे आसक्तिके कारण अत्यन्त प्रिय मालूम होता है; उस समय वह उसके सामने किसी भी अदृष्ट सुखको कोई चीज नहीं समझता, परंतु यह राजस सुख प्रतीतिमात्रका ही सुख है, वस्तुतः सुख नहीं है। प्रत्युत विषयोंमें आसक्ति

बढ़ जानेसे पुनः उनकी प्राप्ति न होनेपर अभावके दुःखका अनुभव होता है तथा उनसे वियोग होते समय भी अत्यन्त दुःख होता है। इसलिये विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला यह क्षणिक सुख यद्यपि वस्तुतः सब प्रकारसे दुःखरूप ही है, तथापि जैसे रोगी मनुष्य आसक्तिके कारण स्वादके लोभसे परिणामका विचार न करके कुपथ्यका सेवन करता है और परिणाममें रोग बढ़ जानेसे दुःखी होता है या मृत्यु हो जाती है; उसी प्रकार विषयासक्त मनुष्य भी मूर्खता और आसक्तिवश परिणामका विचार न करके सुखबुद्धिसे विषयोंका सेवन करता है और परिणाममें अनेकों प्रकारसे भाँति-भाँतिके भीषण दुःख भोगता है (गीत ५।२२)।

३. निद्राके समय मन और इन्द्रियोंकी क्रिया बंद हो जानेके कारण थकावटसे होनेवाले दुःखका अभाव होनेसे तथा मन और इन्द्रियोंको विश्राम मिलनेसे जो सुखकी प्रतीति होती है, वह निद्राजनित सुख जितनी देरतक निद्रा रहती है उतनी ही देरतक रहता है, निरन्तर नहीं रहता—इस कारण क्षणिक है। इसके अतिरिक्त उस समय मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाशका अभाव हो जाता है, किसी भी वस्तुका अनुभव करनेकी शक्ति नहीं रहती। इस कारण तो वह सुख भोगकालमें आत्माको यानी अन्तःकरण और इन्द्रियोंको तथा इनके अभिमानी पुरुषको मोहित करनेवाला है और इस सुखकी आसक्तिके कारण परिणाममें मनुष्यको अज्ञानमय वृक्ष, पहाड़ आदि जड योनियोंमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है अतएव यह परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है।

इसी तरह समस्त क्रियाओंका त्याग करके पड़े रहनेके समय जो मन, इन्द्रिय और शरीरके परिश्रमका त्याग कर देनेसे आरामकी प्रतीति होती है, वह आलस्यजनित सुख भी निद्राजनित सुखकी भाँति भोगकालमें और परिणाममें भी मोहित करनेवाला है।

व्यर्थ क्रियाओंके करनेमें मनकी प्रसन्नताके कारण और कर्तव्यका त्याग करनेमें परिश्रमसे बचनेके कारण मूर्खतावश जो सुखकी प्रतीति होती है, उस प्रमादजनित सुखभोगके समय मनुष्यको कर्तव्य-अकर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, उसकी विवेकशक्ति मोहसे ढक जाती है; अतः कर्तव्यकी अवहेलना होती है। इस कारण यह प्रमादजनित सुख भोगकालमें आत्माको मोहित करनेवाला है तथा उपर्युक्त व्यर्थ कर्मोंमें अज्ञान और आसक्तिवश होनेवाले झूठ, कपद, हिंसा आदि पापकर्मोंका और कर्तव्यकर्मोंके त्यागका फल भोगनेके लिये ऐसा करनेवालोंको सूकर-कूकर आदि नीच योनियोंकी और नरकोंकी प्राप्ति होती है; इससे यह परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है।

४. 'सत्त्व' शब्द यहाँ वस्तुमात्रका यानी सब प्रकारके प्राणियोंका और समस्त पदार्थोंका वाचक है। ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो; क्योंकि समस्त जडवर्ग तो गुणोंका कार्य होनेसे गुणमय है ही और समस्त प्राणियोंका उन गुणोंसे और गुणोंके कार्यरूप पदार्थोंसे सम्बन्ध है, इससे ये सब भी तीनों गुणोंसे युक्त ही हैं; इसलिये पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक तथा देवलोकके एवं अन्य सब लोकोंके प्राणी एवं पदार्थ सभी इन तीनों गुणोंसे युक्त हैं।

१. ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों ही द्विज हैं। तीनोंका ही यज्ञोपवीतधारणपूर्वक वेदाध्ययनमें और यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार है; इसी हेतुसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनोंको सम्मिलित करके कहा गया है। शूद्र द्विज नहीं हैं, अतएव उनका यज्ञोपवीतधारणमें तथा वेदाध्ययनमें और यज्ञादि वैदिक कर्मोंमें अधिकार नहीं है—यह भाव दिखलानेके लिये उनको इन तीनोंसे अलग कहा गया है।

२. प्राणियोंके जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए कर्मोंके जो संस्कार हैं, उनका नाम स्वभाव है; उस स्वभावके अनुरूप प्राणियोंके अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाली सत्त्व, रज और तम—इन गुणवृत्तियोंके अनुसार ही ब्राह्मण आदि वर्णोंमें मनुष्य उत्पन्न होते हैं; इस कारण उन गुणोंकी अपेक्षासे ही शास्त्रमें चारों वर्णोंके कर्मोंका विभाग किया गया है। जिसके स्वभावमें केवल सत्त्वगुण अधिक होता है, वह ब्राह्मण होता है; इस कारण उसके स्वाभाविक कर्म शम-दमादि बतलाये गये हैं। जिसके स्वभावमें सत्त्वमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, वह क्षत्रिय होता है; इस कारण उसके स्वाभाविक कर्म शूरवीरता, तेज आदि बतलाये गये हैं। जिसके स्वभावमें तमोमिश्रित रजोगुण अधिक होता है, वह वैश्य होता है; इसलिये उसके स्वाभाविक कर्म कृषि, गोरक्षा आदि बतलाये गये हैं और जिसके स्वभावमें रजोमिश्रित तमोगुण प्रधान होता है, वह शूद्र होता है; इस कारण उसका स्वाभाविक कर्म तीनों वर्णोंकी सेवा करना बतलाया गया है। इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे ही वर्णविभाग बनता है, परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और

कर्म दोनों ही वर्णमें आवश्यक हैं। केवल कर्मसे वर्णको माननेवाले वस्तुतः वर्णको मानते ही नहीं। वर्ण यदि कर्मपर ही माना जाय तब तो एक दिनमें एक ही मनुष्यको न मालूम कितनी बार वर्ण बदलना पड़ेगा। फिर तो समाजमें कोई शृंखला या नियम ही न रहेगा; सर्वथा अव्यवस्था फैल जायगी, परंतु भारतीय वर्णधर्ममें ऐसी बात नहीं है।

१. अन्तःकरणको अपने वशमें करके उसे विक्षेपरहित—शान्त बना लेना तथा सांसारिक विषयोंके चिन्तनका त्याग कर देना 'शम' है।

२. समस्त इन्द्रियोंको वशमें कर लेना तथा वशमें की हुई इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंमें लगाना 'दम' है।

३. स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना—अर्थात् अहिंसादि महाव्रतोंका पालन करना, भोग-सामग्रियोंका त्याग करके सादगीसे रहना, एकादशी आदि व्रत-उपवास करना और वनमें निवास करना—ये सब 'तप' के अन्तर्गत हैं।

४. मन, इन्द्रिय और शरीरको तथा उनके द्वारा की जानेवाली क्रियाओंको पवित्र रखना, उनमें किसी प्रकारकी अशुद्धिको प्रवेश न होने देना ही 'शौच' है। इसका विस्तार गीताके तेरहवें अध्यायके सातवें श्लोककी टिप्पणीमें है।

५. दूसरोंके द्वारा किये हुए अपराधोंको क्षमा कर देनेका नाम 'क्षान्ति' है। गीताके दसवें अध्यायके चौथे श्लोककी टिप्पणीमें इसका विस्तार है।

६. मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना अर्थात् मनमें किसी प्रकारका दुराग्रह और ऐंठ नहीं रखना; जैसा मनका भाव हो, वैसा ही इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करना; इसके अतिरिक्त शरीरमें भी किसी प्रकारकी ऐंठ नहीं रखना—यह सब 'आर्जव'के अन्तर्गत है।

७. वेद-शास्त्रोंके श्रद्धापूर्वक अध्ययन-अध्यापन करनेका और उनमें वर्णित उपदेशको भलीभाँति समझनेका नाम यहाँ 'ज्ञान' है।

८. वेद-शास्त्रोंमें बतलाये हुए और महापुरुषोंसे सुने हुए साधनोंद्वारा परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार कर लेनेका नाम यहाँ 'विज्ञान' है।

९. वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक—इन सबकी सत्तामें पूर्ण विश्वास रखना; वेद-शास्त्रोंके और महात्माओंके वचनोंको यथार्थ मानना और धर्मपालनमें दृढ़ विश्वास रखना—ये सब 'आस्तिकता'के लक्षण हैं।

१०. ब्राह्मणमें केवल सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है, इस कारण उपर्युक्त कर्मोंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है; उसका स्वभाव उपर्युक्त कर्मोंके अनुकूल होता है, इस कारण उपर्युक्त कर्मोंके करनेमें उसे किसी प्रकारकी कठिनता नहीं होती। इन कर्मोंमें बहुत-से सामान्य धर्मोंका भी वर्णन हुआ है। इससे यह समझना चाहिये कि क्षत्रिय आदि अन्य वर्णोंके वे स्वाभाविक कर्म तो नहीं हैं; परंतु परमात्माकी प्राप्तिमें सबका अधिकार है, अतएव उनके लिये वे प्रयत्नसाध्य हैं।

११. बड़े-से-बड़ा बलवान् शत्रुका न्याययुक्त सामना करनेमें भय न करना तथा न्याययुक्त युद्ध करनेके लिये सदा ही उत्साहित रहना और युद्धके समय साहसपूर्वक गम्भीरतासे लड़ते रहना 'शूरवीरता' है। भीष्मपितामहका जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

१२. जिस शक्तिके प्रभावसे मनुष्य दूसरोंका दबाव मानकर किसी भी कर्तव्यपालनसे कभी विमुख नहीं होता और दूसरे लोग न्यायके और उसके प्रतिकूल व्यवहार करनेमें डरते रहते हैं, उस शक्तिका नाम 'तेज' है। इसीको प्रताप और प्रभाव भी कहते हैं।

१३. बड़े-से-बड़ा संकट उपस्थित हो जानेपर—युद्धस्थलमें शरीरपर भारी-से-भारी चोट लग जानेपर, अपने पुत्र पौत्रादिके मर जानेपर, सर्वस्वका नाश हो जानेपर या इसी तरह अन्य किसी प्रकारकी भारी-से-भारी विपत्ति आ पड़नेपर भी व्याकुल न होना और अपने कर्तव्यपालनसे कभी विचलित न होकर न्यायानुकूल कर्तव्यपालनमें संलग्न रहना—इसीका नाम 'धैर्य' है।

१४. परस्पर झगड़ा करनेवालोंका न्याय करनेमें, अपने कर्तव्यका निर्णय और पालन करनेमें, युद्ध करनेमें तथा मित्र, वैरी और मध्यस्थोंके साथ यथायोग्य व्यवहार करने आदिमें जो कुशलता है, उसीका नाम 'चतुरता' है।

१. युद्ध करते समय भारी-से-भारी संकट आ पड़नेपर भी पीठ न दिखलाना, हर हालतमें न्यायपूर्वक सामना करके अपनी शक्तिका प्रयोग करते रहना और प्राणोंकी परवा न करके युद्धमें डटे रहना ही 'युद्धमें न भागना' है। इसी धर्मको ध्यानमें रखते हुए वीर बालक अभिमन्युने छः महारथियोंसे अकेले युद्ध करके प्राण दे दिये, किंतु शस्त्र नहीं छोड़े (महा०, द्रोण० ४९।२२)।

२. शासनके द्वारा लोगोंको अन्यायाचरणसे रोककर सदाचारमें प्रवृत्त करना, दुराचारियोंको दण्ड देना, लोगोंसे अपनी आज्ञाका न्याययुक्त पालन करवाना तथा समस्त प्रजाका हित सोचकर निःस्वार्थभावसे प्रेमपूर्वक पुत्रकी भाँति उसकी रक्षा और पालन-पोषण करना—'स्वामिभाव' है।

३. उपर्युक्त कर्मोंमें क्षत्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इनका पालन करनेमें उन्हें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं होती। इन कर्मोंमें भी जो धृति, दान आदि सामान्य धर्म हैं, उनमें सबका अधिकार होनेके कारण वे अन्य वर्णवालोंके लिये अधर्म या परधर्म नहीं हैं; किंतु वे उनके स्वाभाविक कर्म नहीं हैं। इसी कारण वे उनके लिये प्रयत्नसाध्य हैं।

४. जमीनमें बीज बोकर गेहूँ, जौ, चने, मूँग, धान, मक्की, उड़द, हल्दी, धनियाँ आदि समस्त खाद्य पदार्थोंको, कपास और नाना प्रकारकी ओषधियोंको और इसी प्रकार देवता, मनुष्य और पशु आदिके उपयोगमें आनेवाली अन्य पवित्र वस्तुओंको न्यायानुकूल उत्पन्न करनेका नाम 'कृषि' यानी खेती करना है।

५. नन्द आदि गोपोंकी भाँति गौओंको अपने घरमें रखना; उनको जंगलमें चराना, घरमें भी यथावश्यक चारा देना, जल पिलाना तथा व्याघ्र आदि हिंसक जीवोंसे उनको बचाना; उनसे दूध, दही, घृत आदि पदार्थोंको उत्पन्न करके उन पदार्थोंसे लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना और उसके परिवर्तनमें प्राप्त धनसे अपनी गृहस्थीके सहित उन गौओंका भलीभाँति न्यायपूर्वक निर्वाह करना 'गौरक्ष्य' यानी गोपालन है। पशुओंमें 'गौ' प्रधान है तथा मनुष्यमात्रके लिये सबसे अधिक उपकारी पशु भी 'गौ' ही है; इसलिये भगवान्ने यहाँ 'पशुपालनम्' पदका प्रयोग न करके उसके बदलेमें 'गौरक्ष्यम्' पदका प्रयोग किया है। अतएव यह समझना चाहिये कि मनुष्यके उपयोगी भैंस, ऊँट, घोड़े और हाथी आदि अन्यान्य पशुओंका पालन करना भी वैश्योंका कर्म है; अवश्य ही गोपालन उन सबकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है।

६. मनुष्योंके और देवता, पशु, पक्षी आदि अन्य समस्त प्राणियोंके उपयोगमें आनेवाली समस्त पवित्र वस्तुओंको धर्मानुकूल खरीदना और बेचना तथा आवश्यकतानुसार उनको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँचाकर लोगोंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना 'वाणिज्य' यानी क्रय-विक्रयरूप व्यवहार है। वाणिज्य करते समय वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम दे देना या अधिक ले लेना; वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी वस्तु मिलाकर अच्छीके बदले खराब दे देना या खराबके बदले अच्छी ले लेना; नफा, आढ़त और दलाली आदि ठहराकर उससे अधिक लेना या कम देना; इसी तरह किसी भी व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीका या अन्य किसी प्रकारके अन्यायका प्रयोग करके दूसरोंके स्वत्वको हड़प लेना—ये सब वाणिज्यके दोष हैं। इन सब दोषोंसे रहित जो सत्य और न्याययुक्त पवित्र वस्तुओंका खरीदना और बेचना है, वही क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार है। तुलाधारने इस व्यवहारसे ही सिद्धि प्राप्त की थी (महाभारत, शान्तिपर्व)।

७. उपर्युक्त द्विजाति वर्णोंकी अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी दासवृत्तिसे रहना; उनकी आज्ञाओंका पालन करना; घरमें जल भर देना, स्नान करा देना, उनके जीवन-निर्वाहके कार्योंमें सुविधा कर देना, दैनिक कार्यमें यथायोग्य सहायता करना, उनके पशुओंका पालन करना, उनकी वस्तुओंको सँभालकर रखना, कपड़े साफ करना, क्षौरकर्म करना आदि जितने भी सेवाके कार्य हैं, उन सबको करके उनको संतुष्ट रखना अथवा सबके काममें आनेवाली वस्तुओंको कारीगरीके द्वारा तैयार करके उन वस्तुओंसे उनकी सेवा करके अपनी जीविका चलाना—ये सब 'परिचर्यात्मक' यानी सब वर्णोंकी सेवा करनारूप कर्मके अन्तर्गत हैं।

१. समाज-शरीरका मस्तिष्क ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है और चरण शूद्र है। चारों एक ही समाज-शरीरके चार आवश्यक अंग हैं और एक-दूसरेकी सहायतापर सुरक्षित और जीवित हैं। घृणा या अपमानकी तो बात ही क्या है, इनमेंसे किसीकी तनिक भी अवहेलना नहीं की जा सकती। न इनमें ऊँच-नीचकी कल्पना है। अपने-अपने स्थान और कार्यके अनुसार चारों ही बड़े हैं। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल या श्रमबलसे बड़ा है और चारोंकी ही पूर्ण उपयोगिता है।

एक ही घरके चार भाइयोंकी तरह एक ही घरकी सम्मिलित उन्नतिके लिये चारों भाई प्रसन्नता और योग्यताके अनुसार बाँटे हुए अपने-अपने पृथक्-पृथक् आवश्यक कर्तव्यपालनमें लगे रहते हैं। यों चारों वर्ण परस्पर—ब्राह्मण धर्मस्थापनके द्वारा, क्षत्रिय बाहुबलके द्वारा, वैश्य धनबलके द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रमबलके द्वारा एक-दूसरेका हित करते हुए, समाजकी शक्ति बढ़ाते हुए परम सिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं।

२. भगवान् इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके प्रेरक, सबके आत्मा, सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापी हैं; यह सारा जगत् उन्हींकी रचना है और वे स्वयं ही अपनी योगमायासे जगत्के रूपमें प्रकट हुए हैं, अतएव यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्का है; मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा मेरे द्वारा जो कुछ भी यज्ञ, दान आदि स्ववर्णोचित कर्म किये जाते हैं—वे सब भी भगवान्के हैं और मैं स्वयं भी भगवान्का ही हूँ; समस्त देवताओंके एवं अन्य प्राणियोंके आत्मा होनेके कारण वे ही समस्त कर्मोंके भोक्ता हैं (गीता ५।२९)—परम श्रद्धा और विश्वासके साथ इस प्रकार समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका सर्वथा त्याग करके भगवान्के आज्ञानुसार उन्हींकी प्रसन्नताके लिये अपना कर्तव्य पालन करते हुए अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा समस्त जगत्की सेवा करना—समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचाना ही अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा करना है।

३. प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रममें स्थित हो, अपने कर्मोंसे भगवान्की पूजा करके परम सिद्धि रूप परमात्माको प्राप्त कर सकता है; परमात्माको प्राप्त करनेमें सबका समान अधिकार है। अपने शम, दम आदि कर्मोंको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्के समर्पण करके उनके द्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला ब्राह्मण जिस पदको प्राप्त होता है, अपने शूरवीरता आदि कर्मोंके द्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला क्षत्रिय भी उसी पदको प्राप्त होता है; उसी प्रकार अपने कृषि आदि कर्मोंद्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला वैश्य तथा अपने सेवा-सम्बन्धी कर्मोंद्वारा भगवान्की पूजा करनेवाला शूद्र भी उसी परमपदको प्राप्त होता है। अतएव कर्मबन्धनसे छूटकर परमात्माको प्राप्त करनेका यह बहुत ही सुगम मार्ग है। इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त भावसे अपने कर्तव्य-पालनद्वारा परमेश्वरकी पूजा करनेका अभ्यास करना चाहिये।

४. वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिस मनुष्यके लिये जो कर्म विहित है, उसके लिये वही स्वधर्म है। झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, ठगी, व्यभिचार आदि निषिद्ध कर्म तो किसीके भी स्वधर्म नहीं हैं और काम्यकर्म भी किसीके लिये अवश्यकर्तव्य नहीं हैं; इस कारण उनकी गणना यहाँ किसीके स्वधर्मोंमें नहीं है। इनको छोड़कर जिस वर्ण और आश्रमके जो विशेष धर्म बतलाये गये हैं, जिनमें एकसे दूसरे वर्ण-आश्रमवालोंका अधिकार नहीं है, वे तो उन-उन वर्ण-आश्रमवालोंके अलग-अलग स्वधर्म हैं और जिन कर्मोंमें द्विजमात्रका अधिकार बतलाया गया है, वे वेदाध्ययन और यज्ञादि कर्म द्विजोंके लिये स्वधर्म हैं तथा जिनमें सभी वर्णाश्रमोंके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है, वे ईश्वरभक्ति, सत्य-भाषण, माता-पिताकी सेवा, इन्द्रियोंका संयम, ब्रह्मचर्यपालन और विनय आदि सामान्य धर्म सबके स्वधर्म हैं।

१. जो कर्म गुणयुक्त हों और जिनका अनुष्ठान भी पूर्णतया किया गया हो, किंतु वे अनुष्ठान करनेवालेके लिये विहित न हों, दूसरोंके लिये ही विहित हों—ऐसे भलीभाँति आचरित कर्मोंकी अपेक्षा अर्थात् जैसे वैश्य और क्षत्रिय आदिकी अपेक्षा ब्राह्मणके विशेष धर्मोंमें अहिंसादि सद्गुणोंकी अधिकता है, गृहस्थकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमके धर्मोंमें सद्गुणोंकी बहुलता है, इसी प्रकार शूद्रकी अपेक्षा वैश्य और क्षत्रियके कर्म गुणयुक्त हैं, ऐसे परधर्मकी अपेक्षा गुणरहित स्वधर्म श्रेष्ठ है। भाव यह है कि जैसे देखनेमें कुरूप और गुणरहित होनेपर भी स्त्रीके लिये अपने ही पतिका सेवन करना कल्याणप्रद है, उसी प्रकार देखनेमें गुणोंसे हीन होनेपर भी तथा उसके अनुष्ठानमें अंगवैगुण्य हो जानेपर भी जिसके लिये जो कर्म विहित है, वही उसके लिये कल्याणप्रद है।

२. क्षत्रियका स्वधर्म युद्ध करना और दुष्टोंको दण्ड देना आदि है; उसमें अहिंसा और शान्ति आदि गुणोंकी कमी मालूम होती है। इसी तरह वैश्यके ‘कृषि’ आदि कर्मोंमें भी हिंसा आदि दोषोंकी बहुलता है, इस कारण ब्राह्मणोंके शान्तिमय कर्मोंकी अपेक्षा वे भी विगुण यानी गुणहीन हैं एवं शूद्रोंके कर्म वैश्यों और क्षत्रियोंकी अपेक्षा भी निम्न श्रेणीके हैं। इसके सिवा उन कर्मोंके पालनमें किसी अंगका छूट जाना भी गुणकी कमी है। उपर्युक्त प्रकारसे स्वधर्ममें गुणोंकी कमी रहनेपर भी वह गुणयुक्त परधर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है।

३. दूसरेका धर्म पालन करनेसे उसमें हिंसादि दोष कम होनेपर भी परवृत्तिच्छेदन आदि पाप लगते हैं; किंतु अपने स्वाभाविक कर्मोंका न्यायपूर्वक आचरण करते समय उनमें जो आनुषंगिक हिंसादि पाप बन जाते हैं, वे उसको नहीं लगते।

४. वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिकी अपेक्षासे जिसके लिये जो कर्म बतलाये गये हैं, उसके लिये वे ही सहज कर्म हैं। अतएव इस अध्यायमें जिन कर्मोंका वर्णन स्वधर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभावनियत कर्म और स्वभावज कर्मके नामसे हुआ है, उन्हींको यहाँ 'सहज' कर्म कहा है।

५. जो स्वाभाविक कर्म श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त हों, उनका त्याग नहीं करना चाहिये—इसमें तो कहना ही क्या है; पर जिनमें साधारणतः हिंसादि दोषोंका मिश्रण दीखता हो, वे भी शास्त्रविहित एवं न्यायोचित होनेके कारण दोषयुक्त दीखनेपर भी वास्तवमें दोषयुक्त नहीं हैं। इसलिये उन कर्मोंका भी त्याग नहीं करना चाहिये।

६. जिस प्रकार धूएँसे अग्नि ओतप्रोत रहती है, धूआँ अग्निसे सर्वथा अलग नहीं हो सकता—उसी प्रकार आरम्भमात्र दोषसे ओतप्रोत हैं, क्रियामात्रमें किसी-न-किसी प्रकारसे किसी-न-किसी प्राणीकी हिंसा हो जाती है; क्योंकि संन्यास-आश्रममें भी शौच, स्नान और भिक्षाटनादि कर्मद्वारा किसी-न-किसी अंशमें प्राणियोंकी हिंसा होती ही है और ब्राह्मणके यज्ञादि कर्मोंमें भी आरम्भकी बहुलता होनेसे क्षुद्र प्राणियोंकी हिंसा होती है। इसलिये किसी भी वर्ण-आश्रमके कर्म साधारण दृष्टिसे सर्वथा दोषरहित नहीं हैं और कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता (गीता ३।५); इस कारण स्वधर्मका त्याग कर देनेपर भी कुछ-न-कुछ कर्म तो मनुष्यको करना ही पड़ेगा तथा वह जो कुछ करेगा, वही दोषयुक्त होगा। इसीलिये अमुक कर्म नीचा है या दोषयुक्त है—ऐसा समझकर मनुष्यको स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; बल्कि उसमें ममता, आसक्ति और फलेच्छारूप दोषोंका त्याग करके उनका न्याययुक्त आचरण करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

१. अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें तथा समस्त भोगोंमें और चराचर प्राणियोंके सहित समस्त जगत्‌में जिसकी आसक्तिका सर्वथा अभाव हो गया है; जिसके मन-बुद्धिकी कहीं किंचिन्मात्र भी संलग्नता नहीं रही है—वह 'सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला' है। जिसकी स्पृहाका सर्वथा अभाव हो गया है, जिसको किसी भी सांसारिक वस्तुकी किंचिन्मात्र भी परवा नहीं रही है, उसे 'स्पृहारहित' कहते हैं और जिसका इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरण अपने वशमें किया हुआ है, उसे 'जीते हुए अन्तःकरणवाला' कहते हैं। जो उपर्युक्त तीनों गुणोंसे सम्पन्न होता है, वही मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति कर सकता है।

२. संन्यास—ज्ञानयोग यानी सांख्ययोगका स्वरूप भगवान्‌ने इक्यावनवेंसे तिरपनवें श्लोकतक बतलाया है। इस साधनका फल जो कि कर्मबन्धनसे सर्वथा छूटकर सच्चिदानन्दघन निर्विकार परमात्माके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त हो जाना है, वही 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' है, जिसको संन्यासके द्वारा प्राप्त किया जाता है।

३. जो ज्ञानयोगकी अन्तिम स्थिति है, जिसको परा भक्ति और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, जो समस्त साधनोंकी अवधि है, जो पूर्वश्लोकमें 'नैष्कर्म्यसिद्धि' के नामसे कही गयी है, वही यहाँ 'सिद्धि' के नामसे तथा वही 'परा निष्ठा' के नामसे कही गयी है।

४. नित्य-निर्विकार, निर्गुण-निराकार, सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म परमात्माका वाचक यहाँ 'ब्रह्म' पद है और तत्त्वज्ञानके द्वारा पचपनवें श्लोकके वर्णनानुसार अभिन्नभावसे उसमें प्रविष्ट हो जाना ही उसको प्राप्त होना है।

५. जो साधनके उपयुक्त अनायास हजम हो जानेवाले सात्त्विक पदार्थोंका (गीता १७।८) अपनी प्रकृति, आवश्यकता और शक्तिके अनुरूप नियमित और परिमित भोजन करता है—ऐसे युक्त आहारके करनेवाले (गीता ६।१७) पुरुषको 'लघ्वाशी' कहते हैं।

६. पूर्वार्जित पापके संस्कारोंसे रहित अन्तःकरणवाला ही 'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त' कहलाता है।

७. जहाँका वायुमण्डल पवित्र हो, जहाँ बहुत लोगोंका आना-जाना न हो, जो स्वभावसे ही एकान्त और स्वच्छ हो या झाड़-बुहारकर और धोकर जिसे स्वच्छ बना लिया गया हो—ऐसे नदीतट, देवालय, वन और पहाड़की गुफा आदि स्थानोंमें निवास करना ही 'एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करना' है।

८. इन्द्रियों और अन्तःकरणका समस्त विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर देना ही उनका संयम करना है।

९. मन, वाणी और शरीरमें इच्छाचारिताका तथा बुद्धिके विचलित करनेकी शक्तिका अभाव कर देना ही उनको वशमें कर लेना है।

१०. इस लोक या परलोकके किसी भी भोगमें, किसी भी प्राणीमें तथा किसी भी पदार्थ, क्रिया अथवा घटनामें किंचिन्मात्र भी आसक्ति या द्वेष न रहने देना 'राग-द्वेषका सर्वथा नाश कर देना' है।

१. शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरणमें जो आत्मबुद्धि है, जिसके कारण मनुष्य मन, बुद्धि और शरीरद्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें अपनेको कर्ता मान लेता है, उसका नाम 'अहंकार' है। अन्यायपूर्वक बलात् जो दूसरोंपर प्रभुत्व जमानेका साहस है, उसका नाम 'बल' है। धन, जन, विद्या, जाति और शारीरिक शक्ति आदिके कारण होनेवाला जो गर्व है, उसका नाम 'दर्प' यानी घमंड है। इस लोक और परलोकके भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छाका नाम 'काम' है। अपने मनके प्रतिकूल आचरण करनेवालेपर और नीतिविरुद्ध व्यवहार करनेवालेपर जो अन्तःकरणमें उत्तेजनाका भाव उत्पन्न होता है—जिसके कारण मनुष्यके नेत्र लाल हो जाते हैं, होंठ फड़कने लगते हैं, हृदयमें जलन होने लगती है और मुख विकृत हो जाता है—उसका नाम 'क्रोध' है। भोग्यबुद्धिसे सांसारिक भोग-सामग्रियोंके संग्रहका नाम 'परिग्रह' है, अतएव इन सबका त्याग करके पूर्वोक्त प्रकारसे सात्त्विक धृतिके द्वारा मन-इन्द्रियोंकी क्रियाओंको रोककर समस्त स्फुरणाओंका सर्वथा अभाव करके, नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अभिन्नभावसे चिन्तन करना (गीता ६।२५) तथा उठते-बैठते, सोते-जागते एवं शौच-स्नान, खान-पान आदि आवश्यक क्रिया करते समय भी नित्य-निरन्तर परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं उसीको सबसे बढ़कर परम कर्तव्य समझना 'ध्यानयोगके परायण रहना' है।

२. मन और इन्द्रियोंके सहित शरीरमें, समस्त प्राणियोंमें, कर्मोंमें, समस्त भोगोंमें एवं जाति, कुल, देश, वर्ण और आश्रममें ममताका सर्वथा त्याग कर देना ही 'ममतासे रहित होना' है।

३. जिसके अन्तःकरणमें विक्षेपका सर्वथा अभाव हो गया है और जिसका अन्तःकरण अटल शान्ति और शुद्ध सात्त्विक प्रसन्नतासे व्याप्त रहता है, वह उपरत पुरुष 'शान्तियुक्त' कहा जाता है।

४. जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित हो जाता है, जिसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रहती, 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ (बृहदारण्यक उप० १।४।१०), 'सोऽहमस्मि'—वह ब्रह्म ही मैं हूँ, आदि महावाक्योंके अनुसार जिसकी परमात्मामें अभिन्नभावसे नित्य अटल स्थिति हो जाती है, ऐसे सांख्ययोगीका वाचक यहाँ 'ब्रह्मभूतः' पद है। गीताके पाँचवें अध्यायके चौबीसवें श्लोकमें और छठे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें भी इस स्थितिवाले योगीको 'ब्रह्मभूत' कहा है।

५. जिसका मन पवित्र, स्वच्छ और शान्त हो तथा निरन्तर शुद्ध प्रसन्न रहता हो, उसे 'प्रसन्नात्मा' कहते हैं।

६. ब्रह्मभूत योगीकी सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जानेके कारण संसारकी किसी भी वस्तुमें उसकी भिन्न सत्ता, रमणीय-बुद्धि और ममता नहीं रहती। अतएव शरीरादिके साथ किसीका संयोग-वियोग होनेमें उसका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं; इस कारण वह किसी भी हालतमें किसी भी कारणसे किंचिन्मात्र भी चिन्ता या शोक नहीं करता और वह पूर्णकाम हो जाता है, इसलिये वह कुछ भी नहीं चाहता।

७. जो ज्ञानयोगका फल है, जिसको ज्ञानकी परा निष्ठा और तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, उसीको 'परा भक्ति' कहा है।

८. इस परा भक्तिरूप तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेके साथ ही वह योगी उस तत्त्वज्ञानके द्वारा मेरे यथार्थ रूपको जान लेता है; मेरा निर्गुण-निराकार रूप क्या है तथा सगुण-निराकार और सगुण-साकार रूप क्या है, मैं निराकारसे साकार कैसे होता हूँ और पुनः साकारसे निराकार कैसे होता हूँ—इत्यादि कुछ भी जानना उसके लिये शेष नहीं रहता।

९. परमात्माके तत्त्वज्ञान और उनकी प्राप्तिमें अन्तर यानी व्यवधान नहीं होता, परमात्माके स्वरूपको यथार्थ जानना और उनमें प्रविष्ट होना—दोनों एक साथ होते हैं। परमात्मा सबके आत्मरूप होनेसे वास्तवमें किसीको अप्राप्त नहीं हैं, अतः उनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेके साथ ही उनकी प्राप्ति हो जाती है।

१. अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जितने भी शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म हैं—जिनका वर्णन पहले 'नियत कर्म' और 'स्वभावज कर्म' के नामसे किया गया है तथा जो भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणाके

अनुकूल हैं—उन सबका वाचक यहाँ 'सर्वकर्माणि' पद है।

२. समस्त कर्मोंका और उनके फलरूप समस्त भोगोंका आश्रय त्यागकर जो भगवान्‌के ही आश्रित हो गया है, जो अपने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको, उसके द्वारा किये जानेवाले समस्त कर्मोंको और उनके फलको भगवान्‌के समर्पण करके उन सबसे ममता, आसक्ति और कामना हटाकर भगवान्‌के ही परायण हो गया है, भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम प्रिय, परम हितैषी, परमाधार और सर्वस्व समझकर जो भगवान्‌के विधानमें सदैव प्रसन्न रहता है—किसी भी सांसारिक वस्तुके संयोग-वियोगमें और किसी भी घटनामें कभी हर्ष-शोक नहीं करता, सदा भगवान्‌पर ही निर्भर रहता है, वह भक्तिप्रधान कर्मयोगी ही भगवत्परायण है।

३. जो सदासे है और सदा रहता है, जिसका कभी अभाव नहीं होता, वह सच्चिदानन्दघन, पूर्णब्रह्म, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वर परम प्राप्य है, इसलिये उसे 'परम पद' के नामसे कहा गया है। इसीको पैंतालीसवें श्लोकमें 'संसिद्धि', छियालीसवेंमें 'सिद्धि' और पचपनवें श्लोकमें 'माम्' पदवाच्य परमेश्वर कहा गया है।

४. सांख्ययोगी समस्त परिग्रह और समस्त भोगोंका त्याग करके एकान्त देशमें निरन्तर परमात्माके ध्यानका साधन करता हुआ जिस परमात्माको प्राप्त करता है, भगवदाश्रयी कर्मयोगी स्ववर्णाश्रमोचित समस्त कर्मोंको सदा करता हुआ भी उसी परमात्माको प्राप्त हो जाता है; दोनोंके फलमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता।

५. अपने मन, इन्द्रिय और शरीरको, उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको और संसारकी समस्त वस्तुओंको भगवान्‌की समझकर उन सबमें ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना तथा मुझमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं है, भगवान् ही सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करके मेरे द्वारा अपने इच्छानुसार समस्त कर्म करवाते हैं, मैं कुछ भी नहीं करता—ऐसा समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार उन्हींके लिये, उन्हींकी प्रेरणासे, जैसे करावें वैसे ही, निमित्तमात्र बनकर समस्त कर्मोंको कठपुतलीकी भाँति करते रहना—यही समस्त कर्मोंको मनसे भगवान्‌में अर्पण कर देना है।

६. सिद्धि और असिद्धिमें, सुख और दुःखमें, लाभ और हानिमें, इसी प्रकार संसारके समस्त पदार्थोंमें और प्राणियोंमें जो समबुद्धि है, उसको 'बुद्धियोग' कहते हैं।

७. भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परम हितैषी, परम प्रिय और परमाधार मानना, उनके विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना और उनकी प्राप्तिके साधनोंमें तत्पर रहना भगवान्‌के परायण होना है।

८. मन-बुद्धिको अटलभावसे भगवान्‌में लगा देना; भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें किंचिन्मात्र भी प्रेमका सम्बन्ध न रखकर अनन्यप्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करते रहना; क्षणमात्रके लिये भी भगवान्‌की विस्मृतिका असह्य हो जाना; उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते और समस्त कर्म करते समय भी नित्य-निरन्तर मनसे भगवान्‌के दर्शन करते रहना—यही निरन्तर भगवान्‌में चित्तवाला होना है।

९. निरन्तर मुझमें मन लगा देनेके बाद तुम्हें और कुछ भी नहीं करना पड़ेगा, मेरी दयाके प्रभावसे अनायास ही तुम्हारे इस लोक और परलोकके समस्त दुःख टल जायँगे, तुम सब प्रकारके दुर्गुण और दुराचारोंसे रहित होकर सदाके लिये जन्म-मरणरूप महान् संकटसे मुक्त हो जाओगे और मुझ नित्य-आनन्दघन परमेश्वरको प्राप्त कर लोगे।

१. यद्यपि भगवान् अर्जुनसे पहले यह कह चुके हैं कि तुम मेरे भक्त हो (गीता ४।३) और यह भी कह आये हैं कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति' अर्थात् मेरे भक्तका कभी पतन नहीं होता (गीता ९।३१) और यहाँ यह कहते हैं कि तुम नष्ट हो जाओगे अर्थात् तुम्हारा पतन हो जायगा; इसमें विरोध मालूम होता है; किंतु भगवान्‌ने स्वयं ही उपर्युक्त वाक्यमें 'चेत्' पदका प्रयोग करके इस विरोधका समाधान कर दिया है। अभिप्राय यह है कि भगवान्‌के भक्तका कभी पतन नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है और यह भी सत्य है कि अर्जुन भगवान्‌के परम भक्त हैं; इसलिये वे भगवान्‌की बात न सुनें, उनकी आज्ञाका पालन न करें—यह हो ही नहीं सकता; किंतु इतनेपर भी यदि अहंकारके वशमें होकर भगवान्‌की आज्ञाकी अवहेलना कर दें तो फिर भगवान्‌के भक्त नहीं समझे जा सकते, इसलिये फिर उनका पतन होना भी युक्तिसंगत ही है।

२. पहले भगवान्‌के द्वारा युद्ध करनेकी आज्ञा दी जानेपर (गीता २।३) जो अर्जुनने भगवान्‌से यह कहा था कि 'न योत्स्ये'—मैं युद्ध नहीं करूँगा (गीता २।९), उसी बातको स्मरण कराते हुए भगवान् कहते हैं कि

तुम जो यह मानते हो कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', तुम्हारा यह मानना केवल अहंकारमात्र है; युद्ध न करना तुम्हारे हाथकी बात नहीं है।

३. जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंके संस्कार जो वर्तमान जन्ममें स्वभावरूपसे प्रादुर्भूत हुए हैं, उनके समुदायको प्रकृति यानी स्वभाव कहते हैं। इस स्वभावके अनुसार ही मनुष्यका भिन्न-भिन्न कर्मोंके अधिकारीसमुदायमें जन्म होता है और उस स्वभावके अनुसार ही भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न कर्मोंमें प्रवृत्ति हुआ करती है। अतएव यहाँ उपर्युक्त वाक्यसे भगवान्ने यह दिखलाया है कि जिस स्वभावके कारण तुम्हारा क्षत्रियकुलमें जन्म हुआ है, वह स्वभाव तुम्हारी इच्छा न रहनेपर भी तुमको जबर्दस्ती युद्धमें प्रवृत्त करा देगा। योग्यता प्राप्त होनेपर वीरतापूर्वक युद्ध करना, युद्धसे डरना या भागना नहीं—यह तुम्हारा सहज कर्म है; अतएव तुम इसे किये बिना रह नहीं सकोगे, तुमको युद्ध अवश्य करना पड़ेगा। यहाँ क्षत्रियके नाते अर्जुनको युद्धके विषयमें जो बात कही है, वही बात अन्य वर्णवालोंको अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंके विषयमें समझ लेनी चाहिये।

४. अर्जुनकी माता कुन्ती बड़ी वीर महिला थी, उसने स्वयं श्रीकृष्णके हाथ सँदेशा भेजते समय पाण्डवोंको युद्धके लिये उत्साहित किया था। अतः भगवान् यहाँ अर्जुनको 'कौन्तेय' नामसे सम्बोधित करके यह भाव दिखलाते हैं कि तुम वीर माताके पुत्र हो, स्वयं भी शूरवीर हो, इसलिये तुमसे युद्ध किये बिना नहीं रहा जायगा।

५. न्यायसे प्राप्त सहजकर्मको न करनेका अविवेकके अतिरिक्त दूसरा कोई युक्तियुक्त कारण नहीं है।

६. यहाँ भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि युद्ध तो तुम्हें अपने स्वभावके वशमें होकर करना ही पड़ेगा। इसलिये यदि मेरी आज्ञाके अनुसार अर्थात् सत्तावनवें श्लोकमें बतलायी हुई विधिके अनुसार उसे करोगे तो कर्मबन्धनसे मुक्त होकर मुझे प्राप्त हो जाओगे, नहीं तो राग-द्वेषके जालमें फँसकर जन्म-मृत्युरूप संसारसागरमें गोते लगाते रहोगे।

जिस प्रकार नदीके प्रवाहमें बहता हुआ मनुष्य उस प्रवाहका सामना करके नदीके पार नहीं जा सकता, वरं अपना नाश कर लेता है और जो किसी नौका या काठका आश्रय लेकर या तैरनेकी कलासे जलके ऊपर तैरता रहकर उस प्रवाहके अनुकूल चलता है, वह किनारे लगकर उसको पार कर जाता है; उसी प्रकार प्रकृतिके प्रवाहमें पड़ा हुआ जो मनुष्य प्रकृतिका सामना करता है, यानी हठसे कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर देता है, वह प्रकृतिसे पार नहीं हो सकता, वरं उसमें अधिक फँसता जाता है और जो परमेश्वरका या कर्मयोगका आश्रय लेकर या ज्ञानमार्गके अनुसार अपनेको प्रकृतिसे ऊपर उठाकर प्रकृतिके अनुकूल कर्म करता रहता है, वह कर्मबन्धनसे मुक्त होकर प्रकृतिके पार चला जाता है अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

१. यहाँ शरीरको यन्त्रका रूपक देकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि जैसे रेलगाड़ी आदि किन्हीं यन्त्रोंपर बैठा हुआ मनुष्य स्वयं नहीं चलता, तो भी रेलगाड़ी आदि यन्त्रके चलनेसे उसका चलना हो जाता है—उसी प्रकार यद्यपि आत्मा निश्चल है, उसका किसी भी क्रियासे वास्तवमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तो भी अनादिसिद्ध अज्ञानके कारण उसका शरीरसे सम्बन्ध होनेसे उस शरीरकी क्रिया उसकी क्रिया मानी जाती है तथा ईश्वरको सब भूतोंके हृदयमें स्थित बतलाकर यह भाव दिखलाया है कि यन्त्रको चलानेवाला प्रेरक जैसे स्वयं भी उस यन्त्रमें रहता है, उसी प्रकार ईश्वर भी समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित है।

२. समस्त प्राणियोंको उनके पूर्वार्जित कर्म-संस्कारोंके अनुसार फल भुगतानेके लिये बार-बार नाना योनियोंमें उत्पन्न करना तथा भिन्न-भिन्न पदार्थोंसे, क्रियाओंसे और प्राणियोंसे उनका संयोग-वियोग कराना और उनके स्वभाव (प्रकृति)-के अनुसार उन्हें पुनः चेष्टा करनेमें लगाना—यही भगवान्का उन प्राणियोंको अपनी मायाद्वारा भ्रमण कराना है।

यहाँ यदि कोई यह कहे कि कर्म करनेमें और न करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र? यदि परतन्त्र है तो किसके परतन्त्र है—प्रकृतिके या स्वभावके अथवा ईश्वरके? क्योंकि प्राणीको उनसठवें और साठवें श्लोकोंमें प्रकृतिके और स्वभावके अधीन बतलाया है तथा इस श्लोकमें ईश्वरके अधीन बतलाया है, तो कहना होगा कि कर्म करने और न करनेमें मनुष्य परतन्त्र है, इसीलिये यह कहा गया है कि कोई भी प्राणी क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता (गीता ३।५)। मनुष्यका जो कर्म करनेमें अधिकार बतलाया गया है, उसका अभिप्राय भी उसको स्वतन्त्र बतलाना नहीं है, बल्कि परतन्त्र बतलाना ही है; क्योंकि वहाँ कर्मोंके त्यागमें अशक्यता सूचित की गयी है तथा मनुष्यको प्रकृतिके अधीन बतलाना, स्वभावके अधीन

बतलाना और ईश्वरके अधीन बतलाना—ये तीनों बातें एक ही हैं। क्योंकि स्वभाव और प्रकृति तो पर्यायवाची शब्द हैं और ईश्वर स्वयं निरपेक्षभावसे अर्थात् सर्वथा निर्लिप्त रहते हुए ही जीवोंकी प्रकृतिके अनुरूप अपनी मायाशक्तिके द्वारा उनको कर्मोंमें नियुक्त करते हैं, इसलिये ईश्वरके अधीन बतलाना प्रकृतिके ही अधीन बतलाना है। दूसरे पक्षमें ईश्वर ही प्रकृतिके स्वामी और प्रेरक हैं, इस कारण प्रकृतिके अधीन बतलाना भी ईश्वरके ही अधीन बतलाना है।

इसपर कोई यह कहे कि यदि मनुष्य सर्वथा ही परतन्त्र है तो फिर उसके उद्धार होनेका क्या उपाय है और उसके लिये कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है; तो कहना होगा कि कर्तव्य-अकर्तव्यका विधान करनेवाले शास्त्र मनुष्यको उसके स्वाभाविक कर्मोंसे हटानेके लिये या उससे स्वभावविरुद्ध कर्म करवानेके लिये नहीं हैं, किंतु उन कर्मोंको करनेमें जो राग-द्वेषके वशमें होकर वह अन्याय कर लेता है, उस अन्यायका त्याग कराकर उसे न्यायपूर्वक कर्तव्यकर्मोंमें लगानेके लिये है। इसलिये मनुष्य कर्म करनेमें स्वभावके परतन्त्र होते हुए भी उस स्वभावका सुधार करनेमें परतन्त्र नहीं है। अतएव यदि वह शास्त्र और महापुरुषोंके उपदेशसे सचेत होकर प्रकृतिके प्रेरक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी शरण ग्रहण कर ले और राग-द्वेषादि विकारोंका त्याग करके शास्त्रविधिके अनुसार न्यायपूर्वक अपने स्वाभाविक कर्मोंको निष्कामभावसे करता हुआ अपना जीवन बिताने लगे तो उसका उद्धार हो सकता है।

३. भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका श्रद्धापूर्वक निश्चय करके भगवान्‌को ही परम प्राप्य, परम गति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना तथा उनको अपना स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी समझकर सब प्रकारसे उनपर निर्भर और निर्भय हो जाना एवं सब कुछ भगवान्‌का समझकर और भगवान्‌को सर्वव्यापी जानकर समस्त कर्मोंमें ममता, अभिमान, आसक्ति और कामनाका त्याग करके भगवान्‌के आज्ञानुसार अपने कर्मोंद्वारा समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित परमेश्वरकी सेवा करना; जो कुछ भी दुःख-सुखके भोग प्राप्त हों, उनको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर सदा ही संतुष्ट रहना; भगवान्‌के किसी भी विधानमें कभी किंचिन्मात्र भी असंतुष्ट न होना; मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग करके भगवान्‌के सिवा किसी भी सांसारिक वस्तुमें ममता और आसक्ति न रखना; अतिशय श्रद्धा और अनन्यप्रेमपूर्वक भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और स्वरूपका नित्य-निरन्तर श्रवण, चिन्तन और कथन करते रहना—ये सभी भाव तथा क्रियाएँ सब प्रकारसे परमेश्वरकी शरण ग्रहण करनेके अन्तर्गत हैं।

१. उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेवाले भक्तपर परम दयालु, परम सुहृद्, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी अपार दयाका स्रोत बहने लगता है—जो उसके समस्त दुःखों और बन्धनोंको सदाके लिये बहा ले जाता है। इस प्रकार भक्तका जो समस्त दुःखोंसे और समस्त बन्धनोंसे छूटकर सदाके लिये परमानन्दसे युक्त हो जाना और सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म सनातन परमेश्वरको प्राप्त हो जाना है, यही परमेश्वरकी कृपासे परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त हो जाना है।

२. भगवान्‌ने गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ करके यहाँतक अर्जुनको अपने गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका रहस्य भलीभाँति समझानेके लिये जितनी बातें कही हैं—उस समस्त उपदेशका वाचक यहाँ 'ज्ञान' शब्द है; वह सारा-का-सारा उपदेश भगवान्‌का प्रत्यक्ष ज्ञान करानेवाला है, इसलिये उसका नाम 'ज्ञान' रखा गया है। संसारमें और शास्त्रोंमें जितने भी गुप्त रखनेयोग्य रहस्यके विषय माने गये हैं, उन सबमें भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करा देनेवाला उपदेश सबसे बढ़कर गुप्त रखनेयोग्य माना गया है; इसलिये इस उपदेशका महत्त्व समझानेके लिये और यह बात समझानेके लिये कि अनधिकारीके सामने इन बातोंको प्रकट नहीं करना चाहिये, इस ज्ञानको अत्यन्त गोपनीय बतलाया गया है।

३. गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे उपदेश आरम्भ करके भगवान्‌ने अर्जुनको सांख्ययोग और कर्मयोग, इन दोनों ही साधनोंके अनुसार स्वधर्मरूप युद्ध करना जगह-जगह (गीता २।१८, ३७; ३।३०; ८।७; ११।३४) कर्तव्य बतलाया तथा अपनी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा। इसपर भी कोई उत्तर न मिलनेसे पुनः अर्जुनको सावधान करनेके लिये परमेश्वरको सबका प्रेरक और सबके हृदयमें स्थित बतलाकर उसकी शरण ग्रहण करनेके लिये कहा। इतनेपर भी जब अर्जुनने कुछ नहीं कहा, तब इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें उपदेशका उपसंहार करके एवं कहे हुए उपदेशका महत्त्व दिखलाकर इस वाक्यसे पुनः उसपर विचार करनेके लिये अर्जुनको सावधान करते हुए अन्तमें भगवान्‌ने यह कहा कि मैंने जो कर्मयोग,

ज्ञानयोग और भक्तियोग आदि बहुत प्रकारके साधन बतलाये हैं, उनमेंसे तुम्हें जो साधन अच्छा मालूम पड़े, उसीका पालन करो अथवा और जो कुछ तुम ठीक समझो, वही करो।

४. भगवान्‌ने यहाँतक अर्जुनको जितनी बातें कहीं, वे सभी बातें गुप्त रखनेयोग्य हैं; अतः उनको भगवान्‌ने जगह-जगह 'परम गुह्य' और 'उत्तम रहस्य' नाम दिया है। उस समस्त उपदेशमें भी जहाँ भगवान्‌ने खास अपने गुण, प्रभाव, स्वरूप, महिमा और ऐश्वर्यको प्रकट करके यानी मैं ही स्वयं सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, साक्षात् सगुण-निर्गुण परमेश्वर हूँ—इस प्रकार कहकर अर्जुनको अपना भजन करनेके लिये और अपनी शरणमें आनेके लिये कहा है, वे वचन अधिक-से-अधिक गुप्त रखनेयोग्य हैं (गीता ९।१-२)। वे पहले भी कहे जा चुके हैं (गीता ९।३४; १२।६-७; १८।५६-५७)। अतः यहाँ भगवान्‌के कहनेका यह अभिप्राय है कि पहले कहे हुए उपदेशमें भी जो अत्यन्त गुप्त रखनेयोग्य सबसे अधिक महत्त्वकी बात है, वह मैं तुम्हें अगले दो श्लोकोंमें फिर कहूँगा।

५. तिरसठवें श्लोकमें कही हुई बातको सुनकर भगवान्‌ने अर्जुनको अपने कर्तव्यका निश्चय करनेके लिये स्वतन्त्र विचार करनेको कह दिया, उसका भार उन्होंने अपने ऊपर नहीं रखा; इस बातको सुनकर जब अर्जुनके मनमें उदासी छा गयी, वे सोचने लगे कि क्या मेरा भगवान्‌पर विश्वास नहीं है, क्या मैं इनका भक्त और प्रेमी नहीं हूँ, तब अर्जुनका शोक दूर करनेके लिये उन्हें उत्साहित करते हुए भगवान् यह भाव दिखलाते हैं कि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, तुम्हारा और मेरा प्रेमका सम्बन्ध अटल है; अतः तुम किसी तरहका शोक मत करो।

१. भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर तथा अतिशय सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य आदि गुणोंके समुद्र समझकर अनन्य प्रेमपूर्वक निश्चलभावसे मनको भगवान्‌में लगा देना, क्षणमात्र भी भगवान्‌की विस्मृतिको न सह सकना 'भगवान्‌में मनवाला' होना है।

२. भगवान्‌को ही एकमात्र अपना भर्ता, स्वामी, संरक्षक, परम गति और परम आश्रय समझकर सर्वथा उनके अधीन हो जाना, किंचिन्मात्र भी अपनी स्वतन्त्रता न रखना, सब प्रकारसे उनपर निर्भर रहना, उनके प्रत्येक विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना और उनकी आज्ञाका सदा पालन करना तथा उनमें अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेम करना 'भगवान्‌का भक्त बनना' है।

३. गीताके नवें अध्यायके छब्बीसवें श्लोकके वर्णनानुसार पत्र-पुष्पादिसे श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक भगवान्‌के विग्रहका पूजन करना; मनसे भगवान्‌का आवाहन करके उनकी मानसिक पूजा करना; उनके वचनोंका, उनकी लीलाभूमिका और उनके विग्रहका सब प्रकारसे आदर-सम्मान करना तथा सबमें भगवान्‌को व्याप्त समझकर या समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी यथायोग्य सेवा-पूजा, आदर-सत्कार करना आदि सब 'भगवान्‌की पूजा' करनेके अन्तर्गत हैं।

४. जिन परमेश्वरके सगुण-निर्गुण, निराकार-साकार आदि अनेक रूप हैं; जो अर्जुनके सामने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर गीताका उपदेश सुना रहे हैं; जिन्होंने रामरूपमें प्रकट होकर संसारमें धर्मकी मर्यादाका स्थापन किया और नृसिंहरूप धारण करके भक्त प्रह्लादका उद्धार किया—उन्हीं सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, अन्तर्यामी, परमाधार, समग्र पुरुषोत्तम भगवान्‌के किसी भी रूपको, चित्रको, चरणचिह्नोंको या चरणपादुकाओंको तथा उनके गुण, प्रभाव और तत्त्वका वर्णन करनेवाले शास्त्रोंको साष्टांग प्रणाम करना या समस्त प्राणियोंमें उनको व्याप्त या समस्त प्राणियोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर सबको प्रणाम करना 'भगवान्‌को नमस्कार करना' है।

५. जिसमें चारों साधन पूर्णरूपसे होते हैं, उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है; परंतु इनमेंसे एक-एक साधनसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि भगवान्‌ने स्वयं ही गीताके आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें केवल अनन्यचिन्तनसे अपनी प्राप्तिको सुलभ बतलाया है। गीताके सातवें अध्यायके तेईसवें और नवेंके पचीसवेंमें अपने भक्तको अपनी प्राप्ति बतलायी है और नवें अध्यायके छब्बीसवेंसे अट्ठाईसवेंतक एवं इस अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें केवल पूजनसे अपनी प्राप्ति बतलायी है।

६. अर्जुन भगवान्‌के प्रिय भक्त और सखा थे, अतएव उनपर प्रेम और दया करके उनका अपने ऊपर अतिशय दृढ़ विश्वास करानेके लिये और अर्जुनके निमित्तसे अन्य अधिकारी मनुष्योंका विश्वास दृढ़ करानेके लिये भगवान्‌ने कहा है कि मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ।

७. वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जो-जो कर्म कर्तव्य बतलाये गये हैं, गीताके बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'सर्वाणि' विशेषणके सहित 'कर्माणि' पदसे और इस अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें 'सर्वकर्माणि' पदसे जिनका वर्णन किया गया है, उन शास्त्रविहित समस्त कर्मोंको जो उन दोनों श्लोकोंकी व्याख्यामें बतलाये हुए प्रकारसे भगवान्‌में समर्पण कर देना है अर्थात् सब कुछ भगवान्‌का समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरमें तथा उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलरूप समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति, अभिमान और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना और केवल भगवान्‌के ही लिये भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार, जैसे वे करवावें, वैसे कठपुतलीकी भाँति उनको करते रहना—यही यहाँ समस्त धर्मोंका परित्याग करना है, उनका स्वरूपसे त्याग करना नहीं।

१. गीताके बारहवें अध्यायके छठे श्लोकमें, नवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें तथा इस अध्यायके सत्तावनवें श्लोकमें कहे हुए प्रकारसे भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्य, परम गति, परमाधार, परम प्रिय, परम हितैषी, परम सुहृद्, परम आत्मीय तथा भर्ता, स्वामी, संरक्षक समझकर उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते और हरेक प्रकारसे उनकी आज्ञाओंका पालन करते समय परम श्रद्धापूर्वक अनन्यप्रेमसे नित्य-निरन्तर उनका चिन्तन करते रहना और उनके विधानमें सदा ही संतुष्ट रहना एवं सब प्रकारसे केवलमात्र एक भगवान्‌पर ही भक्त प्रह्लादकी भाँति निर्भर रहना एकमात्र परमेश्वरकी शरणमें चला जाना है।

२. शुभाशुभ कर्मोंका फलरूप जो कर्मबन्धन है—जिससे बँधा हुआ मनुष्य जन्म-जन्मान्तरसे नाना योनियोंमें घूम रहा है, उस कर्मबन्धनसे मुक्त कर देना ही पापोंसे मुक्त कर देना है। इसलिये गीताके तीसरे अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें 'कर्मभिः मुच्यन्ते' से, बारहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'मृत्युसंसारसागरात् समुद्धर्ता भवामि' से और इस अध्यायके अट्ठावनवें श्लोकमें 'मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि तरिष्यसि' से जो बात कही गयी है, वही बात यहाँ 'मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा' इस वाक्यसे कही गयी है।

३. गीताके दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें 'अशोच्यान्' पदसे जिस उपदेशका उपक्रम किया था, उसका 'मा शुचः' पदसे उपसंहार करके भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि गीताके दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें तुम मेरी शरणागति स्वीकार कर ही चुके हो, अब पूर्णरूपसे मेरे शरणागत होकर तुम कुछ भी चिन्ता न करो और शोकका सर्वथा त्याग करके सदा-सर्वदा मुझ परमेश्वरपर निर्भर हो रहो। यह शोकका सर्वथा अभाव और भगवत्साक्षात्कार ही गीताका मुख्य तात्पर्य है।

४. इससे भगवान्‌ने यह दिखलाया है कि यह गीताशास्त्र बड़ा ही गुप्त रखनेयोग्य विषय है, तुम मेरे अतिशय प्रेमी भक्त और दैवी सम्पदासे युक्त हो, इसलिये इसका अधिकारी समझकर मैंने तुम्हारे हितके लिये तुम्हें यह उपदेश दिया है। अतः जो मनुष्य स्वधर्मपालनरूप तप करनेवाला न हो, ऐसे मनुष्यको मेरे गुण, प्रभाव और तत्त्वके वर्णनसे भरपूर यह गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिये।

तथा जिसका मुझ परमेश्वरमें विश्वास, प्रेम और पूज्यभाव नहीं है, जो अपनेको ही सर्वे-सर्वा समझनेवाला नास्तिक है—ऐसे मनुष्यको भी यह अत्यन्त गोपनीय गीताशास्त्र नहीं सुनाना चाहिये।

इसी प्रकार यदि कोई अपने धर्मका पालनरूप तप भी करता हो; किंतु गीताशास्त्रमें श्रद्धा और प्रेम न होनेके कारण वह उसे सुनना न चाहता हो, तो उसे भी यह परम गोपनीय शास्त्र नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि ऐसा मनुष्य उसको ग्रहण नहीं कर सकता, इससे मेरे उपदेशका और मेरा अनादर होता है।

एवं संसारका उद्धार करनेके लिये सगुणरूपसे प्रकट मुझ परमेश्वरमें जिसकी दोषदृष्टि है, जो मेरे गुणोंमें दोषारोपण करके मेरी निन्दा करनेवाला है—ऐसे मनुष्यको तो किसी भी हालतमें यह उपदेश नहीं सुनाना चाहिये; क्योंकि वह मेरे गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यको न सह सकनेके कारण इस उपदेशको सुनकर मेरी पहलेसे भी अधिक अवज्ञा करेगा, अतः वह अधिक पापका भागी होगा।

५. यह उपदेश मनुष्यको संसारबन्धनसे छुड़ाकर साक्षात् परमेश्वरकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे अत्यन्त ही श्रेष्ठ और गुप्त रखनेयोग्य है।

६. इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि जो मुझको समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और पालन करनेवाले, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर समझकर मुझमें प्रेम करना है; जिसके चित्तमें मेरे गुण, प्रभाव, लीला और तत्त्वकी बातें सुननेकी उत्सुकता रहती है और सुनकर प्रसन्नता होती है—वह मेरा भक्त है। उसमें पूर्वश्लोकमें वर्णित चारों दोषोंका अभाव अपने-आप हो जाता है। इसलिये जो मेरा भक्त है, वही

इसका अधिकारी है तथा सभी मनुष्य—चाहे किसी भी वर्ण और जातिके क्यों न हों—मेरे भक्त बन सकते हैं (गीता ९।३२); अतः वर्ण और जाति आदिके कारण इसका कोई भी अनधिकारी नहीं है।

१. स्वयं भगवान्‌में या उनके वचनोंमें अतिशय श्रद्धायुक्त होकर एवं भगवान्‌के नाम, गुण, लीला, प्रभाव और स्वरूपकी स्मृतिसे उनके प्रेममें विह्वल होकर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके ही लिये निष्कामभावसे उपर्युक्त भगवद्भक्तोंमें इस गीताशास्त्रका वर्णन करना, इसके मूल श्लोकोंका अध्ययन कराना, उनकी व्याख्या करके अर्थ समझाना, शुद्ध पाठ करवाना, उनके भावोंको भलीभाँति प्रकट करना और समझाना, श्रोताओंकी शंकाओंका समाधान करके गीताके उपदेशको उनके हृदयमें जमा देना और गीताके उपदेशानुसार चलनेकी उनमें दृढ़ भावना उत्पन्न कर देना आदि सभी क्रियाएँ भगवान्‌में परम प्रेम करके भगवान्‌के भक्तोंमें गीताका कथन करना है।

२. इससे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि गीताशास्त्रका उपर्युक्त प्रकारसे प्रचार करना—यह मेरी प्राप्तिका ऐकान्तिक उपाय है; इसलिये मेरी प्राप्ति चाहनेवाले अधिकारी भक्तोंको इस गीताशास्त्रके कथन तथा प्रचारका कार्य अवश्य करना चाहिये।

३. यहाँ भगवान् यह बतलाते हैं कि यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा और जप, ध्यान आदि जितने भी मेरे प्रिय कार्य हैं, उन सबसे बढ़कर 'मेरे भावोंको मेरे भक्तोंमें विस्तार करना' मुझे अधिक प्रिय है। इस कारण जो मेरा प्रेमी भक्त मेरे भावोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें विस्तार करता है, वही सबसे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला है; उससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं। केवल इस समय ही उससे बढ़कर मेरा कोई प्रिय कार्य करनेवाला नहीं है, यही बात नहीं है; किंतु उससे बढ़कर मेरा प्यारा काम करनेवाला कोई हो सकेगा, यह भी सम्भव नहीं है। इसलिये मेरी प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सबमें यह 'भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें मेरे भावोंका विस्तार करनारूप' साधन सर्वोत्तम है—ऐसा समझकर मेरे भक्तोंको यह कार्य करना चाहिये।

४. यह साक्षात् परमेश्वरके द्वारा कहा हुआ शास्त्र है; इस कारण इसमें जो कुछ उपदेश दिया गया है, वह सब-का-सब धर्मसे ओतप्रोत है।

५. गीताका मर्म जाननेवाले भगवान्‌के भक्तोंसे इस गीताशास्त्रको पढ़ना, इसका नित्य पाठ करना, इसके अर्थका पाठ करना, अर्थपर विचार करना और इसके अर्थको जाननेवाले भक्तोंसे इसके अर्थको समझनेकी चेष्टा करना आदि सभी अभ्यास गीताशास्त्रको पढ़नेके अन्तर्गत है।

श्लोकोंका अर्थ बिना समझे इस गीताको पढ़ने और उसका नित्य पाठ करनेकी अपेक्षा उसके अर्थको भी साथ-साथ पढ़ना और अर्थज्ञानके सहित उसका नित्य पाठ करना अधिक उत्तम है, तथा उसके अर्थको समझकर पढ़ते या पाठ करते समय प्रेममें विह्वल होकर भावान्वित हो जाना उससे भी अधिक उत्तम है।

६. इस गीताशास्त्रका अध्ययन करनेसे मनुष्यको मेरे सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार तत्त्वका भलीभाँति यथार्थ ज्ञान हो जाता है। अतः इस गीताशास्त्रका अध्ययन करना ज्ञानयज्ञके द्वारा मेरी पूजा करना है; क्योंकि सभी साधनोंका अन्तिम फल भगवान्‌के तत्त्वको भलीभाँति जान लेना है और वह फल इस ज्ञानयज्ञसे अनायास ही मिल जाता है।

१. जिसके अंदर इस गीताशास्त्रको श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेकी भी रुचि नहीं है, वह तो मनुष्य कहलानेयोग्य भी नहीं है; क्योंकि उसका मनुष्यजन्म पाना व्यर्थ हो रहा है। इस कारण वह मनुष्यके रूपमें पशुके ही तुल्य है।

२. भगवान्‌की सत्तामें और उनके गुण-प्रभावमें विश्वास करके तथा यह गीताशास्त्र साक्षात् भगवान्‌की ही वाणी है, इसमें जो कुछ भी कहा गया है सब-का-सब यथार्थ है—ऐसा निश्चयपूर्वक मानकर और उसके वक्तापर विश्वास करके प्रेम और रुचिके साथ गीताजीके मूल श्लोकोंके पाठका या उसके अर्थकी व्याख्याका श्रवण करना, यह श्रद्धासे युक्त होकर गीताशास्त्रका श्रवण करना है और उसका श्रवण करते समय भगवान्‌पर या भगवान्‌के वचनोंपर किसी प्रकारका दोषारोपण न करना—यह दोषदृष्टिसे रहित होकर उसका श्रवण करना है।

३. जो अड़सठवें श्लोकके वर्णनानुसार इस गीताशास्त्रका दूसरोंको अध्ययन कराता है तथा जो सत्तरवें श्लोकके कथनानुसार स्वयं अध्ययन करता है, उन लोगोंकी तो बात ही क्या है, पर जो इसका श्रद्धापूर्वक श्रवणमात्र भी कर पाता है, वह भी जन्म-जन्मान्तरोंमें किये हुए पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंके और नरकके हेतुभूत पापकर्मसे छूटकर इन्द्रलोकसे लेकर भगवान्‌के परमधामपर्यन्त अपने-अपने प्रेम और श्रद्धाके अनुरूप भिन्न-भिन्न लोकोंको प्राप्त हो जाता है।

४. भगवान्‌के इस प्रश्नका अभिप्राय यह है कि मेरा यह उपदेश बड़ा ही दुर्लभ है, मैं हरेक मनुष्यके सामने 'मैं ही साक्षात् परमेश्वर हूँ, तू मेरी ही शरणमें आ जा' इत्यादि बातें नहीं कह सकता; इसलिये तुमने मेरे उपदेशको भलीभाँति ध्यानपूर्वक सुन तो लिया है न? क्योंकि यदि कहीं तुमने उसपर ध्यान न दिया होगा तो तुमने निःसंदेह बड़ी भूल की है।

५. भगवान्‌के इस प्रश्नका भाव यह है कि जिस मोहसे युक्त होकर तुम धर्मके विषयमें अपनेको मूढचेता बतला रहे थे (गीता २।७) तथा अपने स्वधर्मका पालन करनेमें पाप समझ रहे थे (गीता १।३६ से ३९) और समस्त कर्तव्यकर्मोंका त्याग करके भिक्षाके अन्नसे जीवन बिताना श्रेष्ठ समझ रहे थे (गीता २।५) एवं जिसके कारण तुम स्वजन-वधके भयसे व्याकुल हो रहे थे (गीता १।४५—४७) और अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं कर पाते थे (गीता २।६-७)—तुम्हारा वह अज्ञानजनित मोह अब नष्ट हो गया या नहीं? यदि मेरे उपदेशको तुमने ध्यानपूर्वक सुना होगा तो अवश्य ही तुम्हारा मोह नष्ट हो जाना चाहिये और यदि तुम्हारा मोह नष्ट नहीं हुआ है तो यही मानना पड़ेगा कि तुमने उस उपदेशको एकाग्रचित्तसे नहीं सुना।

यहाँ भगवान्‌के इन दोनों प्रश्नोंमें यह उपदेश भरा हुआ है कि मनुष्यको इस गीताशास्त्रका अध्ययन और श्रवण बड़ी सावधानीके साथ एकाग्रचित्तसे तत्पर होकर करना चाहिये और जबतक अज्ञानजनित मोहका सर्वथा नाश न हो जाय, तबतक यह समझना चाहिये कि अभीतक मैं भगवान्‌के उपदेशको यथार्थ नहीं समझ सका हूँ, अतः पुनः उसपर श्रद्धा और विवेकपूर्वक विचार करना आवश्यक है।

६. अर्जुनके कहनेका अभिप्राय यह है कि आपने यह दिव्य उपदेश सुनाकर मुझपर बड़ी भारी दया की है, आपके उपदेशको सुननेसे मेरा अज्ञानजनित मोह सर्वथा नष्ट हो गया है अर्थात् आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपको यथार्थ न जाननेके कारण जिस मोहसे व्याप्त होकर मैं आपकी आज्ञाको माननेके लिये तैयार नहीं होता था (गीता २।९) और बन्धु-बान्धवोंके विनाशका भय करके शोकसे व्याकुल हो रहा था (गीता १।२८ से ४७ तक)—वह सब मोह अब सर्वथा नष्ट हो गया है तथा मुझे आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूपकी पूर्ण स्मृति प्राप्त हो गयी है और आपका समग्र रूप मेरे प्रत्यक्ष हो गया है—मुझे कुछ भी अज्ञात नहीं रहा है। अब आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार स्वरूपके विषयमें तथा धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्य आदिके विषयमें मुझे किंचिन्मात्र भी संशय नहीं रहा है। आपकी दयासे मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, मेरे लिये अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा; अतएव आपके कथनानुसार लोकसंग्रहके लिये युद्धादि समस्त कर्म जैसे आप करवायेंगे, निमित्तमात्र बनकर लीलारूपसे मैं वैसे ही करूँगा।

१. संजयके कथनका यह भाव है कि साक्षात् नर-ऋषिके अवतार महात्मा अर्जुनके पूछनेपर सबके हृदयमें निवास करनेवाले सर्वव्यापी परमेश्वर श्रीकृष्णके द्वारा यह उपदेश दिया गया है, इस कारण यह बड़े ही महत्त्वका है तथा यह उपदेश बड़ा ही आश्चर्यजनक और असाधारण है; इससे मनुष्यको भगवान्‌के दिव्य अलौकिक गुण, प्रभाव और ऐश्वर्ययुक्त समग्ररूपका पूर्ण ज्ञान हो जाता है तथा मनुष्य इसे जैसे-जैसे सुनता और समझता है, वैसे-ही-वैसे हर्ष और आश्चर्यके कारण उसका शरीर पुलकित हो जाता है, उसके समस्त शरीरमें रोमांच हो जाता है।

२. संजयके कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान् व्यासजीने दया करके जो मुझे दिव्य दृष्टि अर्थात् दूर देशमें होनेवाली समस्त घटनाओंको देखने, सुनने और समझने आदिकी अद्भुत शक्ति प्रदान की है, उसीके कारण आज मुझे भगवान्‌का यह दिव्य उपदेश सुननेके लिये मिला; नहीं तो मुझे ऐसा सुयोग कैसे मिलता!

३. भगवान्‌की प्राप्तिके उपायभूत कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और भक्तियोग आदि साधनोंका इसमें भलीभाँति वर्णन किया गया है तथा वह स्वयं भी अर्थात् श्रद्धापूर्वक इसका पाठ भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन होनेसे योगरूप ही है।

४. संजयके कथनका यह भाव है कि भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनका दिव्य संवादरूप यह गीताशास्त्र अध्ययन, अध्यापन, श्रवण, मनन और वर्णन आदि करनेवाले मनुष्यको परम पवित्र करके उसका सब प्रकारसे कल्याण करनेवाला तथा भगवान्‌के आश्चर्यमय गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य, तत्त्व, रहस्य और स्वरूपको बतानेवाला है; अतः यह अत्यन्त ही पवित्र, दिव्य एवं अलौकिक है। इस उपदेशने मेरे हृदयको इतना आकर्षित कर लिया है कि अब मुझे दूसरी कोई बात ही अच्छी नहीं लगती; मेरे मनमें बार-बार उस उपदेशकी स्मृति हो रही है और उन भावोंके आवेशमें मैं असीम हर्षका अनुभव कर रहा हूँ, प्रेम और हर्षके कारण विह्वल हो रहा हूँ।

५. भगवान् श्रीकृष्णके गुण, प्रभाव, लीला, ऐश्वर्य, महिमा, नाम और स्वरूपका श्रवण, मनन, कीर्तन, दर्शन और स्पर्श आदिके द्वारा उनके साथ किसी प्रकारका भी सम्बन्ध हो जानेसे वे मनुष्यके समस्त पापोंको, अज्ञानको और दु:खको हरण कर लेते हैं तथा वे अपने भक्तोंके मनको चुरानेवाले हैं; इसलिये उन्हें 'हरि' कहते हैं।

६. जिस अत्यन्त आश्चर्यमय दिव्य विश्वरूपका भगवान्ने अर्जुनको दर्शन कराया था और जिसके दर्शनका महत्त्व भगवान्ने ग्यारहवें अध्यायके सैंतालीसवें और अड़तालीसमें श्लोकोंमें स्वयं बतलाया है, उसी विराट् स्वरूपको लक्ष्य करके संजय यह कह रहे हैं कि भगवान्का वह रूप मेरे चित्तसे उतरता ही नहीं, उसे मैं बार-बार स्मरण करता रहता हूँ और मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि भगवान्के अतिशय दुर्लभ उस दिव्य रूपका दर्शन मुझे कैसे हो गया! मेरा तो ऐसा कुछ भी पुण्य नहीं था, जिससे मुझे ऐसे रूपके दर्शन हो सकते। अहो! इसमें केवलमात्र भगवान्की अहैतुकी दया ही कारण है। साथ ही उस रूपके अत्यन्त अद्भुत दृश्योंको और घटनाओंको याद कर-करके भी मुझे बड़ा आश्चर्य होता है तथा उसे बार-बार याद करके मैं हर्ष और प्रेममें विह्वल भी हो रहा हूँ; मेरे आनन्दका पारावार नहीं है।

१. यहाँ संजयके कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त योगशक्तियोंके स्वामी हैं; वे अपनी योगशक्तिसे क्षणभरमें समस्त जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार कर सकते हैं; वे साक्षात् नारायण भगवान् श्रीकृष्ण जिस धर्मराज युधिष्ठिरके सहायक हैं, उसकी विजयमें क्या शंका है।

इसके सिवा अर्जुन भी नर ऋषिके अवतार, भगवान्के प्रिय सखा और गाण्डीव-धनुषके धारण करनेवाले महान् वीर पुरुष हैं; वे भी अपने भाई युधिष्ठिरकी विजयके लिये कटिबद्ध हैं। अतः आज उस युधिष्ठिरकी बराबरी दूसरा कौन कर सकता है; क्योंकि जहाँ सूर्य रहता है, प्रकाश उसके साथ ही रहता है—उसी प्रकार जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन रहते हैं, वहीं सम्पूर्ण शोभा, सारा ऐश्वर्य और अटल न्याय (धर्म)—ये सब उनके साथ-साथ रहते हैं और जिस पक्षमें धर्म रहता है, उसीकी विजय होती है। अतः पाण्डवोंकी विजयमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है। यदि अब भी तुम अपना कल्याण चाहते हो तो अपने पुत्रोंको समझाकर पाण्डवोंसे संधि कर लो।

(भीष्मवधपर्व)

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

गीताका माहात्म्य तथा युधिष्ठिरका भीष्म, द्रोण, कृप और शल्यसे अनुमति लेकर युद्धके लिये तैयार होना

वैशम्पायन उवाच

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अन्य बहुत-से शास्त्रोंका संग्रह करनेकी क्या आवश्यकता है? गीताका ही अच्छी तरहसे गान (श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण) करना चाहिये; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है ।। १ ।।

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गंगा सर्ववेदमयो मनुः ।। २ ।।

गीता सर्वशास्त्रमयी है (गीतामें सब शास्त्रोंके सार-तत्त्वका समावेश है)। भगवान् श्रीहरि सर्वदेवमय हैं। गंगा सर्वतीर्थमयी हैं और मनु (उनका धर्मशास्त्र) सर्ववेदमय हैं ।। २ ।।

गीता गंगा च गायत्री गोविन्देति हृदि स्थिते ।
चतुर्गकारसंयुक्ते पुनर्जन्म न विद्यते ।। ३ ।।

गीता, गंगा, गायत्री और गोविन्द—इन ‘ग’ कारयुक्त चार नामोंको हृदयमें धारण कर लेनेपर मनुष्यका फिर इस संसारमें जन्म नहीं होता ।। ३ ।।

षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ।
अर्जुनः सप्तपञ्चाशत् सप्तषष्टिं तु संजयः ।। ४ ।।
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते ।

इस गीतामें छः सौ बीस श्लोक भगवान् श्रीकृष्णने कहे हैं, सत्तावन श्लोक अर्जुनके कहे हुए हैं, सड़सठ श्लोक संजयने कहे हैं और एक श्लोक धृतराष्ट्रका कहा हुआ है। यह गीताका मान बताया जाता है ।। ४ १/२ ।।

भारतामृतसर्वस्वगीताया मथितस्य च ।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम् ।। ५ ।।

भारतरूपी अमृतराशिके सर्वस्व सारभूत गीताका मन्थन करके उसका सार निकालकर श्रीकृष्णने अर्जुनके मुखमें (कानोंद्वारा मन-बुद्धिमें) डाल दिया है ।। ५ ।।*

संजय उवाच

ततो धनंजयं दृष्ट्वा बाणगाण्डीवधारिणम् ।
पुनरेव महानादं व्यसृजन्त महारथाः ।। ६ ।।
पाण्डवाः सोमकाश्चैव ये चैषामनुयायिनः ।
दध्मुश्च मुदिताः शङ्खान् वीराः सागरसम्भवान् ।। ७ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर अर्जुनको गाण्डीव धनुष और बाण धारण किये देख पाण्डव महारथियों, सोमकों तथा उनके अनुगामी सैनिकोंने पुनः बड़े जोरसे सिंहनाद किया। साथ ही उन सभी वीरोंने प्रसन्नतापूर्वक समुद्रसे प्रकट होनेवाले शंखोंको बजाया ।। ६-७ ।।

ततो भेर्यश्च पेश्यश्च क्रकचा गोविषाणिकाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त ततः शब्दो महानभूत् ।। ८ ।।

तदनन्तर भेरी, पेशी, क्रकच और नरसिंहे आदि बाजे सहसा बज उठे। इससे वहाँ महान् शब्द गूँजने लगा ।। ८ ।।

तथा देवाः सगन्धर्वाः पितरश्च जनाधिप ।
सिद्धचारणसंघाश्च समीयुस्ते दिदृक्षया ।। ९ ।।
ऋषयश्च महाभागाः पुरस्कृत्य शतक्रतुम् ।
समीयुस्तत्र सहिता द्रष्टुं तद् वैशसं महत् ।। १० ।।

नरेश्वर! उस समय देवता, गन्धर्व, पितर, सिद्ध, चारण तथा महाभाग महर्षिगण देवराज इन्द्रको आगे करके उस भीषण मार-काटको देखनेके लिये एक साथ वहाँ आये ।। ९-१० ।।

ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा युद्धाय समवस्थिते ।
ते सेने सागरप्रख्ये मुहुः प्रचलिते नृप ।। ११ ।।
विमुच्य कवचं वीरो निक्षिप्य च वरायुधम् ।
अवरुह्य रथात् क्षिप्रं पद्भ्यामेव कृतांजलिः ।। १२ ।।
पितामहमभिप्रेक्ष्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
वाग्यतः प्रययौ येन प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम् ।। १३ ।।

राजन्! तदनन्तर वीर राजा युधिष्ठिरने समुद्रके समान उन दोनों सेनाओंको युद्धके लिये उपस्थित और चंचल हुई देख कवच खोलकर अपने उत्तम आयुधोंको नीचे डाल दिया और रथसे शीघ्र उतरकर वे पैदल ही हाथ जोड़े पितामह भीष्मको लक्ष्य करके चल दिये। धर्मराज युधिष्ठिर मौन एवं पूर्वाभिमुख हो शत्रुसेनाकी ओर चले गये ।। ११—१३ ।।

तं प्रयान्तमभिप्रेक्ष्य कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
अवतीर्य रथात् तूर्णं भ्रातृभिः सहितोऽन्वयात् ।। १४ ।।
वासुदेवश्च भगवान् पृष्ठतोऽनुजगाम तम् ।
तथा मुख्याश्च राजानस्तच्चित्ता जग्मुरुत्सुकाः ।। १५ ।।

कुन्तीपुत्र धनंजय उन्हें शत्रु-सेनाकी ओर जाते देख तुरंत रथसे उतर पड़े और भाइयोंसहित उनके पीछे-पीछे जाने लगे। भगवान् श्रीकृष्ण भी उनके पीछे गये तथा उन्हींमें चित्त लगाये रहनेवाले प्रधान-प्रधान राजा भी उत्सुक होकर उनके साथ गये ।। १४-१५ ।।

अर्जुन उवाच

किं ते व्यवसितं राजन् यदस्मानपहाय वै ।
पद्भ्यामेव प्रयातोऽसि प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम् ।। १६ ।।

अर्जुनने पूछा—राजन्! आपने क्या निश्चय किया है कि हमलोगोंको छोड़कर आप पूर्वाभिमुख हो पैदल ही शत्रुसेनाकी ओर चल दिये हैं? ।। १६ ।।

भीमसेन उवाच

क्व गमिष्यसि राजेन्द्र निक्षिप्तकवचायुधः ।
दंशितेष्वरिसैन्येषु भ्रातॄनुत्सृज्य पार्थिव ।। १७ ।।

भीमसेनने पूछा—महाराज! पृथ्वीनाथ! कवच और आयुध नीचे डालकर भाइयोंको भी छोड़कर कवच आदिसे सुसज्जित हुई शत्रु-सेनामें कहाँ जायँगे? ।। १७ ।।

नकुल उवाच

एवं गते त्वयि ज्येष्ठे मम भ्रातरि भारत ।
भीर्मे दुनोति हृदयं ब्रूहि गन्ता भवान् क्व नु ।। १८ ।।

नकुलने पूछा—भारत! आप मेरे बड़े भाई हैं। आपके इस प्रकार शत्रुसेनाकी ओर चल देनेपर भारी भय मेरे हृदयको पीड़ित कर रहा है। बताइये, आप कहाँ जायँगे? ।। १८ ।।

सहदेव उवाच

अस्मिन् रणसमूहे वै वर्तमाने महाभये ।
उत्सृज्य क्व नु गन्तासि शत्रूनभिमुखो नृप ।। १९ ।।

सहदेवने पूछा—नरेश्वर! इस रणक्षेत्रमें जहाँ शत्रु-सेनाका समूह जुटा हुआ है और महान् भय उपस्थित है, आप हमें छोड़कर शत्रुओंकी ओर कहाँ जायँगे? ।। १९ ।।

संजय उवाच

एवमाभाष्यमाणोऽपि भ्रातृभिः कुरुनन्दनः ।

नोवाच वाग्यतः किंचिद् गच्छत्येव युधिष्ठिरः ।। २० ।।

संजय कहते हैं—राजन्! भाइयोंके इस प्रकार कहनेपर भी कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले राजा युधिष्ठिर उनसे कुछ नहीं बोले। चुपचाप चलते ही गये ।। २० ।।

तानुवाच महाप्राज्ञो वासुदेवो महामनाः ।
अभिप्रायोऽस्य विज्ञातो मयेति प्रहसन्निव ।। २१ ।।

तब परम बुद्धिमान् महामना भगवान् वासुदेवने उन चारों भाइयोंसे हँसते हुए-से कहा —'इनका अभिप्राय मुझे ज्ञात हो गया है ।। २१ ।।

एष भीष्मं तथा द्रोणं गौतमं शल्यमेव च ।
अनुमान्य गुरून् सर्वान् योत्स्यते पार्थिवोऽरिभिः ।। २२ ।।

'ये राजा युधिष्ठिर भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और शल्य—इन समस्त गुरुजनोंसे आज्ञा लेकर शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ।। २२ ।।

श्रूयते हि पुराकल्पे गुरूननुमान्य यः ।
युध्यते स भवेद् व्यक्तमपध्यातो महत्तरैः ।। २३ ।।

'सुना जाता है कि प्राचीन कालमें जो गुरुजनोंकी अनुमति लिये बिना ही युद्ध करता था, वह निश्चय ही उन माननीय पुरुषोंकी दृष्टिमें गिर जाता था ।। २३ ।।

अनुमान्य यथाशास्त्रं यस्तु युध्येन्महत्तरैः ।
ध्रुवस्तस्य जयो युद्धे भवेदिति मतिर्मम ।। २४ ।।

'जो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार माननीय पुरुषोंसे आज्ञा लेकर युद्ध करता है, उसकी उस युद्धमें अवश्य विजय होती है, ऐसा मेरा विश्वास है' ।। २४ ।।

एवं ब्रुवति कृष्णेऽत्र धार्तराष्ट्रचमूं प्रति ।
(नेत्रैरनिमिषैः सर्वैः प्रेक्षन्ते स्म युधिष्ठिरम् ।।)
हाहाकारो महानासीन्निःशब्दास्त्वपरेऽभवन् ।। २५ ।।

जब भगवान् श्रीकृष्ण ये बातें कह रहे थे, उस समय दुर्योधनकी सेनाकी ओर आते हुए युधिष्ठिरको सब लोग अपलक नेत्रोंसे देख रहे थे। कहीं महान् हाहाकार हो रहा था और कहीं दूसरे लोग मुँहसे एक शब्द भी न बोलकर चुप हो गये थे ।। २५ ।।

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं दूराद् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकाः ।
मिथः संकथयाञ्चक्रुरेषो हि कुलपांसनः ।। २६ ।।

श्रीकृष्ण एवं भाइयोंसहित युधिष्ठिरका भीष्मको प्रणाम करके उनसे युद्धके लिये आज्ञा माँगना

युधिष्ठिरको दूरसे ही देखकर दुर्योधनके सैनिक आपसमें इस प्रकार बातचीत करने लगे—'यह युधिष्ठिर तो अपने कुलका जीता-जागता कलंक ही है ।। २६ ।।

व्यक्तं भीत इवाभ्येति राजासौ भीष्ममन्तिकम् ।

युधिष्ठिरः ससोदर्यः शरणार्थं प्रयाचकः ।। २७ ।।

'देखो, स्पष्ट ही दिखायी दे रहा है कि वह राजा युधिष्ठिर भयभीतकी भाँति भाइयोंसहित भीष्मजीके निकट शरण माँगनेके लिये आ रहा है ।। २७ ।।

धनंजये कथं नाथे पाण्डवे च वृकोदरे ।

नकुले सहदेवे च भीतिरभ्येति पाण्डवम् ।। २८ ।।

'पाण्डुनन्दन धनंजय, वृकोदर भीम तथा नकुल-सहदेव-जैसे सहायकोंके रहते हुए युधिष्ठिरके मनमें भय कैसे हो गया! ।। २८ ।।

न नूनं क्षत्रियकुले जातः सम्प्रथिते भुवि ।

यथास्य हृदयं भीतमल्पसत्त्वस्य संयुगे ।। २९ ।।

'निश्चय ही यह भूमण्डलमें विख्यात क्षत्रियोंके कुलमें उत्पन्न नहीं हुआ है। इसका मानसिक बल अत्यन्त अल्प है; इसीलिये युद्धके अवसरपर इसका हृदय इतना भयभीत है' ।। २९ ।।

ततस्ते सैनिकाः सर्वे प्रशंसन्ति स्म कौरवान् ।

हृष्टाः सुमनसो भूत्वा चैलानि दुधुवुश्च ह ।। ३० ।।

तदनन्तर वे सब सैनिक कौरवोंकी प्रशंसा करने लगे और प्रसन्नचित्त हो हर्षमें भरकर अपने कपड़े हिलाने लगे ।। ३० ।।

व्यनिन्दंश्च तथा सर्वे योधास्तव विशाम्पते ।

युधिष्ठिरं ससोदर्यं सहितं केशवेन हि ।। ३१ ।।

प्रजानाथ! आपके वे सब योद्धा भाइयों तथा श्रीकृष्णसहित युधिष्ठिरकी विशेषरूपसे निन्दा करते थे ।। ३१ ।।

ततस्तत् कौरवं सैन्यं धिक्कृत्वा तु युधिष्ठिरम् ।

निःशब्दमभवत् तूर्णं पुनरेव विशाम्पते ।। ३२ ।।

राजन्! इस प्रकार युधिष्ठिरको धिक्कार देकर सारी कौरव-सेना पुनः शीघ्र ही चुप हो गयी ।। ३२ ।।

किं नु वक्ष्यति राजासौ किं भीष्मः प्रतिवक्ष्यति ।

किं भीमः समरश्लाघी किं नु कृष्णार्जुनाविति ।। ३३ ।।

सब लोग मन-ही-मन सोचने लगे कि वह राजा क्या कहेगा और भीष्मजी क्या उत्तर देंगे? युद्धकी श्लाघा रखनेवाले भीमसेन तथा श्रीकृष्ण और अर्जुन भी क्या कहेंगे? ।। ३३ ।।

विवक्षितं किमस्येति संशयः सुमहानभूत् ।

उभयोः सेनयो राजन् युधिष्ठिरकृते तदा ।। ३४ ।।

राजन्! दोनों ही सेनाओंमें युधिष्ठिरके विषयमें महान् संशय उत्पन्न हो गया था। सब सोचते थे कि राजा युधिष्ठिर क्या कहना चाहते हैं ।। ३४ ।।

सोऽवगाह्य चमूं शत्रोः शरशक्तिसमाकुलाम् ।
भीष्ममेवाभ्ययात् तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः ।। ३५ ।।

बाण और शक्तियोंसे भरी हुई शत्रुकी सेनामें घुसकर भाइयोंसे घिरे हुए युधिष्ठिर तुरंत ही भीष्मजीके पास जा पहुँचे ।। ३५ ।।

तमुवाच ततः पादौ कराभ्यां पीड्य पाण्डवः ।
भीष्मं शान्तनवं राजा युद्धाय समुपस्थितम् ।। ३६ ।।

वहाँ जाकर उन पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने दोनों हाथोंसे पितामहके चरणोंको दबाया और युद्धके लिये उपस्थित हुए उन शान्तनुनन्दन भीष्मसे इस प्रकार कहा ।। ३६ ।।

युधिष्ठिर उवाच

आमन्त्रये त्वां दुर्धर्ष त्वया योत्स्यामहे सह ।
अनुजानीहि मां तात आशिषश्च प्रयोजय ।। ३७ ।।

युधिष्ठिर बोले—दुर्धर्ष वीर पितामह! मैं आपसे आज्ञा चाहता हूँ, मुझे आपके साथ युद्ध करना है। तात! इसके लिये आप मुझे आज्ञा और आशीर्वाद प्रदान करें ।। ३७ ।।

भीष्म उवाच

यद्येवं नाभिगच्छेथा युधि मां पृथिवीपते ।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय भारत ।। ३८ ।।

भीष्मजी बोले—पृथ्वीपते! भरतकुलनन्दन! महाराज! यदि इस युद्धके समय तुम इस प्रकार मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हें पराजित होनेके लिये शाप दे देता ।। ३८ ।।

प्रीतोऽहं पुत्र युध्यस्व जयमाप्नुहि पाण्डव ।
यत् तेऽभिलषितं चान्यत् तदवाप्नुहि संयुगे ।। ३९ ।।

पाण्डुनन्दन! पुत्र! अब मैं प्रसन्न हूँ और तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम युद्ध करो और विजय पाओ। इसके सिवा और भी जो तुम्हारी अभिलाषा हो, वह इस युद्धभूमिमें प्राप्त करो ।। ३९ ।।

व्रियतां च वरः पार्थ किमस्मत्तोऽभिकङ्क्षसि ।
एवंगते महाराज न तवास्ति पराजयः ।। ४० ।।

पार्थ! वर माँगो। तुम मुझसे क्या चाहते हो? महाराज! ऐसी स्थितिमें तुम्हारी पराजय नहीं होगी ।। ४० ।।

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ।। ४१ ।।

महाराज! पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है। यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ।। ४१ ।।

अतस्त्वां क्लीबवद् वाक्यं ब्रवीमि कुरुनन्दन ।
भृतोऽस्म्यर्थेन कौरव्य युद्धादन्यत् किमिच्छसि ।। ४२ ।।

कुरुनन्दन! इसीलिये आज मैं तुम्हारे सामने नपुंसकके समान वचन बोलता हूँ। कौरव! धृतराष्ट्रके पुत्रोंने धनके द्वारा मेरा भरण-पोषण किया है; इसलिये (तुम्हारे पक्षमें होकर) उनके साथ युद्ध करनेके अतिरिक्त तुम क्या चाहते हो, यह बताओ ।। ४२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

मन्त्रयस्व महाबाहो हितैषी मम नित्यशः ।
युध्यस्व कौरवस्यार्थे ममैष सततं वरः ।। ४३ ।।

युधिष्ठिर बोले—महाबाहो! आप सदा मेरा हित चाहते हुए मुझे अच्छी सलाह दें और दुर्योधनके लिये युद्ध करें। मैं सदाके लिये यही वर चाहता हूँ ।। ४३ ।।

भीष्म उवाच

राजन् किमत्र साह्यं ते करोमि कुरुनन्दन ।
कामं योत्स्ये परस्यार्थे ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ।। ४४ ।।

भीष्म बोले—राजन्! कुरुनन्दन! मैं यहाँ तुम्हारी क्या सहायता करूँ? युद्ध तो मैं इच्छानुसार तुम्हारे शत्रुकी ओरसे ही करूँगा; अतः बताओ, तुम क्या कहना चाहते हो? ।। ४४ ।।

युधिष्ठिर उवाच

कथं जयेयं संग्रामे भवन्तमपराजितम् ।
एतन्मे मन्त्रय हितं यदि श्रेयः प्रपश्यसि ।। ४५ ।।

युधिष्ठिर बोले—पितामह! आप तो किसीसे पराजित होनेवाले हैं नहीं, फिर मैं आपको युद्धमें कैसे जीत सकूँगा? यदि आप मेरा कल्याण देखते और सोचते हैं तो मेरे हितकी सलाह दीजिये ।। ४५ ।।

भीष्म उवाच

नैनं पश्यामि कौन्तेय यो मां युध्यन्तमाहवे ।
विजयेत पुमान् कश्चित् साक्षादपि शतक्रतुः ।। ४६ ।।

भीष्मने कहा—कुन्तीनन्दन! मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो संग्रामभूमिमें युद्ध करते समय मुझे पराजित कर सके। युद्धकालमें कोई पुरुष, साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, मुझे परास्त नहीं कर सकता ।। ४६ ।।

युधिष्ठिर उवाच

हन्त पृच्छामि तस्मात् त्वां पितामह नमोऽस्तु ते ।
वधोपायं ब्रवीहि त्वमात्मनः समरे परैः ।। ४७ ।।

युधिष्ठिर बोले—पितामह! आपको नमस्कार है। इसलिये अब मैं आपसे पूछता हूँ, आप युद्धमें शत्रुओंद्वारा अपने मारे जानेका उपाय बताइये ।। ४७ ।।

भीष्म उवाच

न स्म तं तात पश्यामि समरे यो जयेत माम् ।
न तावन्मृत्युकालोऽपि पुनरागमनं कुरु ।। ४८ ।।

भीष्म बोले—बेटा! जो समरभूमिमें मुझे जीत ले, ऐसे किसी वीरको मैं नहीं देखता हूँ। अभी मेरा मृत्युकाल भी नहीं आया है; अतः अपने इस प्रश्नका उत्तर लेनेके लिये फिर कभी आना ।। ४८ ।।

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो वाक्यं भीष्मस्य कुरुनन्दन ।

शिरसा प्रतिजग्राह भूयस्तमभिवाद्य च ।। ४९ ।।
प्रायात् पुनर्महाबाहुराचार्यस्य रथं प्रति ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां मध्येन भ्रातृभिः सह ।। ५० ।।
स द्रोणमभिवाद्याथ कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।
उवाच राजा दुर्धर्षमात्मनिःश्रेयसं वचः ।। ५१ ।।

संजय बोले—कुरुनन्दन! तदनन्तर महाबाहु युधिष्ठिरने भीष्मकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और पुनः उन्हें प्रणाम करके वे द्रोणाचार्यके रथकी ओर गये। सारी सेना देख रही थी और वे उसके बीचसे होकर भाइयोंसहित द्रोणाचार्यके पास जा पहुँचे। वहाँ राजाने उन्हें प्रणाम करके उनकी परिक्रमा की और उन दुर्जय वीर-शिरोमणिसे अपने हितकी बात पूछी — ।। ४९—५१ ।।

आमन्त्रये त्वां भगवन् योत्स्ये विगतकल्मषः ।
कथं जये रिपून् सर्वाननुज्ञातस्त्वया द्विज ।। ५२ ।।

'भगवन्! मैं सलाह पूछता हूँ, किस प्रकार आपके साथ निरपराध एवं पापरहित होकर युद्ध करूँगा? विप्रवर! आपकी आज्ञासे मैं समस्त शत्रुओंको किस प्रकार जीतूँ?' ।। ५२ ।।

द्रोण उवाच

यदि मां नाभिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः ।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय सर्वशः ।। ५३ ।।

द्रोणाचार्य बोले—महाराज! यदि युद्धका निश्चय कर लेनेपर तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हारी सर्वथा पराजय होनेके लिये तुम्हें शाप दे देता ।। ५३ ।।

तत् युधिष्ठिर तुष्टोऽस्मि पूजितश्च त्वयानघ ।
अनुजानामि युध्यस्व विजयं समवाप्नुहि ।। ५४ ।।

निष्पाप युधिष्ठिर! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुमने मेरा बड़ा आदर किया। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, शत्रुओंसे लड़ो और विजय प्राप्त करो ।। ५४ ।।

करवाणि च ते कामं ब्रूहि त्वमभिकङ्क्षितम् ।
एवंगते महाराज युद्धादन्यत् किमिच्छसि ।। ५५ ।।

महाराज! मैं तुम्हारी कामना पूर्ण करूँगा। तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ क्या है? वर्तमान परिस्थितिमें मैं तुम्हारी ओरसे युद्ध तो कर नहीं सकता; उसे छोड़कर तुम बताओ, क्या चाहते हो? ।। ५५ ।।

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ।। ५६ ।।

पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है। महाराज! यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ।। ५६ ।।

ब्रवीम्येतत् क्लीबवत् त्वां युद्धादन्यत् किमिच्छसि ।
योत्स्येऽहं कौरवस्यार्थे तवाशास्यो जयो मया ।। ५७ ।।

इसीलिये आज नपुंसककी तरह तुमसे पूछता हूँ कि तुम युद्धके सिवा और क्या चाहते हो? मैं दुर्योधनके लिये युद्ध करूँगा; परंतु जीत तुम्हारी ही चाहूँगा ।। ५७ ।।

युधिष्ठिर उवाच

जयमाशास्व मे ब्रह्मन् मन्त्रयस्व च मद्धितम् ।
युद्धयस्व कौरवस्यार्थे वर एष वृतो मया ।। ५८ ।।

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन्! आप मेरी विजय चाहें और मेरे हितकी सलाह देते रहें; युद्ध दुर्योधनकी ओरसे ही करें। यही वर मैंने आपसे माँगा है ।। ५८ ।।

द्रोण उवाच

ध्रुवस्ते विजयो राजन् यस्य मन्त्री हरिस्तव ।
अहं त्वामभिजानामि रणे शत्रून् विमोक्ष्यसे ।। ५९ ।।

द्रोणाचार्यने कहा—राजन्! तुम्हारी विजय तो निश्चित है; क्योंकि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे मन्त्री हैं। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम युद्धमें शत्रुओंको उनके प्राणोंसे विमुक्त कर दोगे ।। ५९ ।।

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ।
युद्ध्यस्व गच्छ कौन्तेय पृच्छ मां किं ब्रवीमि ते ।। ६० ।।

जहाँ धर्म है, वहाँ श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है। कुन्तीकुमार! जाओ, युद्ध करो। और भी पूछो, तुम्हें क्या बताऊँ? ।। ६० ।।

युधिष्ठिर उवाच

पृच्छामि त्वां द्विजश्रेष्ठ शृणु यन्मेऽभिकाङ्क्षितम् ।
कथं जयेयं संग्रामे भवन्तमपराजितम् ।। ६१ ।।

युधिष्ठिर बोले—द्विजश्रेष्ठ! मैं आपसे पूछता हूँ। आप मेरे मनोवांछित प्रश्नको सुनिये। आप किसीसे भी परास्त होनेवाले नहीं हैं; फिर आपको मैं युद्धमें कैसे जीत सकूँगा? ।। ६१ ।।

द्रोण उवाच

न तेऽस्ति विजयस्तावद् यावत् युद्ध्याम्यहं रणे ।
ममाशु निधने राजन् यतस्व सह सोदरैः ।। ६२ ।।

द्रोणाचार्य बोले—राजन्! मैं जबतक समरभूमिमें युद्ध करूँगा, तबतक तुम्हारी विजय नहीं हो सकती। तुम अपने भाइयोंसहित ऐसा प्रयत्न करो, जिससे शीघ्र मेरी मृत्यु हो जाय ।। ६२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

हन्त तस्मान्महाबाहो वधोपायं वदात्मनः ।
आचार्य प्रणिपत्यैष पृच्छामि त्वां नमोऽस्तु ते ।। ६३ ।।

युधिष्ठिर बोले—महाबाहु आचार्य! इसलिये अब आप अपने वधका उपाय मुझे बताइये। आपको नमस्कार है। मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करके यह प्रश्न कर रहा हूँ ।। ६३ ।।

द्रोण उवाच

न शत्रुं तात पश्यामि यो मां हन्याद् रथे स्थितम् ।
युध्यमानं सुसंरब्धं शरवर्षौघवर्षिणम् ।। ६४ ।।

द्रोणाचार्य बोले—तात! जब मैं रथपर बैठकर कुपित हो बाणोंकी वर्षा करते हुए युद्धमें संलग्न रहूँ, उस समय जो मुझे मार सके, ऐसे किसी शत्रुको नहीं देख रहा हूँ ।। ६४ ।।

ऋते प्रायगतं राजन् न्यस्तशस्त्रमचेतनम् ।
हन्यान्मां युधि योधानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। ६५ ।।

राजन्! जब मैं हथियार डालकर अचेत-सा होकर आमरण अनशनके लिये बैठ जाऊँ, उस अवस्थाको छोड़कर और किसी समय कोई मुझे नहीं मार सकता। उसी अवस्थामें कोई श्रेष्ठ योद्धा युद्धमें मुझे मार सकता है; यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ ।। ६५ ।।

शस्त्रं चाहं रणे जह्यां श्रुत्वा तु महदप्रियम् ।
श्रद्धेयवाक्यात् पुरुषादेतत् सत्यं ब्रवीमि ते ।। ६६ ।।

यदि मैं किसी विश्वसनीय पुरुषसे युद्ध-भूमिमें कोई अत्यन्त अप्रिय समाचार सुन लूँ तो हथियार नीचे डाल दूँगा। यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ ।। ६६ ।।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाराज भारद्वाजस्य धीमतः ।
अनुमान्य तमाचार्यं प्रायाच्छारद्वतं प्रति ।। ६७ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! परम बुद्धिमान् द्रोणाचार्यकी यह बात सुनकर उनका सम्मान करके राजा युधिष्ठिर कृपाचार्यके पास गये ।। ६७ ।।

सोऽभिवाद्य कृपं राजा कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
उवाच दुर्धर्षतमं वाक्यं वाक्यविदां वरः ।। ६८ ।।

उन्हें नमस्कार करके उनकी परिक्रमा करनेके पश्चात् वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने दुर्धर्ष वीर कृपाचार्यसे कहा— ।। ६८ ।।

अनुमानये त्वां योत्स्येऽहं गुरो विगतकल्मषः ।
जयेयं च रिपून् सर्वाननुज्ञातस्त्वयानघ ।। ६९ ।।

'निष्पाप गुरुदेव! मैं पापरहित रहकर आपके साथ युद्ध कर सकूँ, इसके लिये आपकी अनुमति चाहता हूँ। आपका आदेश पाकर मैं समस्त शत्रुओंको संग्राममें जीत सकता हूँ' ।। ६९ ।।

कृप उवाच

यदि मां नाभिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः ।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय सर्वशः ।। ७० ।।

कृपाचार्य बोले—महाराज! यदि युद्धका निश्चय कर लेनेपर तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हारी सर्वथा पराजय होनेके लिये तुम्हें शाप दे देता ।। ७० ।।

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ।। ७१ ।।

पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है। महाराज! यह सच्ची बात है। मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ।। ७१ ।।

तेषामर्थे महाराज योद्धव्यमिति मे मतिः ।
अतस्त्वां क्लीबवद् ब्रूयां युद्धादन्यत् किमिच्छसि ।। ७२ ।।

महाराज! मैं निश्चय कर चुका हूँ कि मुझे उन्हींके लिये युद्ध करना है; अतः तुमसे नपुंसककी तरह पूछ रहा हूँ कि तुम युद्धसम्बन्धी सहयोगको छोड़कर मुझसे और क्या चाहते हो? ।। ७२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

हन्त पृच्छामि ते तस्मादाचार्य शृणु मे वचः ।
इत्युक्त्वा व्यथितो राजा नोवाच गतचेतनः ।। ७३ ।।

युधिष्ठिर बोले—आचार्य! इसलिये अब मैं आपसे पूछता हूँ। आप मेरी बात सुनिये। इतना कहकर राजा युधिष्ठिर व्यथित और अचेत-से होकर उनसे कुछ भी बोल न सके ।। ७३ ।।

संजय उवाच

तं गौतमः प्रत्युवाच विज्ञायास्य विवक्षितम् ।
अवध्योऽहं महीपाल युद्धयस्व जयमाप्नुहि ।। ७४ ।।

संजय कहते हैं—पृथ्वीपते! कृपाचार्य यह समझ गये कि युधिष्ठिर क्या कहना चाहते हैं; अतः उन्होंने उनसे इस प्रकार कहा—'राजन्! मैं अवध्य हूँ। जाओ, युद्ध करो और विजय प्राप्त करो' ।। ७४ ।।

प्रीतस्तेऽभिगमेनाहं जयं तव नराधिप ।
आशासिष्ये सदोत्थाय सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। ७५ ।।

'नरेश्वर! तुम्हारे इस आगमनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है; अतः सदा उठकर मैं तुम्हारी विजयके लिये शुभकामना करूँगा। यह तुमसे सच्ची बात कहता हूँ' ।। ७५ ।।

एतच्छ्रुत्वा महाराज गौतमस्य विशाम्पते ।
अनुमान्य कृपं राजा प्रययौ येन मद्रराट् ।। ७६ ।।

महाराज! प्रजानाथ! कृपाचार्यकी यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर उनकी अनुमति ले जहाँ मद्रराज शल्य थे, उस ओर चले गये ।। ७६ ।।

स शल्यमभिवाद्याथ कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।
उवाच राजा दुर्धर्षमात्मनिःश्रेयसं वचः ।। ७७ ।।

दुर्जय वीर शल्यको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा करनेके पश्चात् राजा युधिष्ठिरने उनसे अपने हितकी बात कही— ।। ७७ ।।

अनुमानये त्वां दुर्धर्ष योत्स्ये विगतकल्मषः ।
जयेयं नु परान् राजन्ननुज्ञातस्त्वया रिपून् ।। ७८ ।।

'दुर्धर्ष वीर! मैं पापरहित एवं निरपराध रहकर आपके साथ युद्ध करूँगा; इसके लिये आपकी अनुमति चाहता हूँ। राजन्! आपकी आज्ञा पाकर मैं समस्त शत्रुओंको युद्धमें परास्त कर सकता हूँ' ।। ७८ ।।

शल्य उवाच

यदि मां नाभिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः ।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय वै रणे ।। ७९ ।।

शल्य बोले—महाराज! यदि युद्धका निश्चय कर लेनेपर तुम मेरे पास नहीं आते तो मैं युद्धमें तुम्हारी पराजयके लिये तुम्हें शाप दे देता ।। ७९ ।।

तुष्टोऽस्मि पूजितश्चास्मि यत् काङ्क्षसि तदस्तु ते ।
अनुजानामि चैव त्वां युध्यस्व जयमाप्नुहि ।। ८० ।।

अब मैं बहुत संतुष्ट हूँ। तुमने मेरा बड़ा सम्मान किया। तुम जो चाहते हो, वह पूर्ण हो। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम युद्ध करो और विजय प्राप्त करो ।। ८० ।।

ब्रूहि चैव परं वीर केनार्थः किं ददामि ते ।
एवंगते महाराज युद्धादन्यत् किमिच्छसि ।। ८१ ।।

वीर! तुम कुछ और बताओ, किस प्रकार तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा? मैं तुम्हें क्या दूँ? महाराज! इस परिस्थितिमें युद्धविषयक सहयोगको छोड़कर तुम मुझसे और क्या चाहते हो? ।। ८१ ।।

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ।। ८२ ।।

पुरुष अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है। महाराज! यह सच्ची बात है। कौरवोंके द्वारा मैं अर्थसे बँधा हुआ हूँ ।। ८२ ।।

करिष्यामि हि ते कामं भागिनेय यथेप्सितम् ।
ब्रवीम्यतः क्लीबवत् त्वां युद्धादन्यत् किमिच्छसि ।। ८३ ।।

इसलिये मैं तुमसे नपुंसककी भाँति कह रहा हूँ। बताओ, तुम युद्धविषयक सहयोगके सिवा और क्या चाहते हो? मेरे भानजे! मैं तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करूँगा ।। ८३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

मन्त्रयस्व महाराज नित्यं मद्धितमुत्तमम् ।
कामं युद्धय परस्यार्थे वरमेतं वृणोम्यहम् ।। ८४ ।।

युधिष्ठिर बोले—महाराज! मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि आप प्रतिदिन उत्तम हितकी सलाह मुझे देते रहें। अपने इच्छानुसार युद्ध दूसरेके लिये करें ।। ८४ ।।

शल्य उवाच

किमत्र ब्रूहि साह्यं ते करोमि नृपसत्तम ।
कामं योत्स्ये परस्यार्थे बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ।। ८५ ।।

शल्य बोले—नृपश्रेष्ठ! बताओ, इस विषयमें मैं तुम्हारी क्या सहायता करूँ? कौरवोंके द्वारा मैं अर्थसे बँधा हुआ हूँ; अतः अपने इच्छानुसार युद्ध तो मैं तुम्हारे विपक्षीकी ओरसे ही करूँगा ।। ८५ ।।

युधिष्ठिर उवाच

स एव मे वरः शल्य उद्योगे यस्त्वया कृतः ।
सूतपुत्रस्य संग्रामे कार्यस्तेजोवधस्त्वया ।। ८६ ।।
(त्वां हि योक्ष्यति सूतत्वे सूतपुत्रस्य मातुल ।
दुर्योधनो रणे शूरमिति मे नैष्ठिकी मतिः ।।)

युधिष्ठिर बोले—मामाजी! जब युद्धके लिये उद्योग चल रहा था, उन दिनों आपने मुझे जो वर दिया था, वही वर आज भी मेरे लिये आवश्यक है। सूतपुत्रका अर्जुनके साथ युद्ध

हो तो उस समय आपको उसका उत्साह नष्ट करना चाहिये। मामाजी! मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि उस युद्धमें दुर्योधन आप-जैसे शूरवीरको सूतपुत्रके सारथिका कार्य करनेके लिये अवश्य नियुक्त करेगा ।। ८६ ।।

शल्य उवाच

सम्पत्स्यत्येष ते कामः कुन्तीपुत्र यथेप्सितम् ।
गच्छ युध्यस्व विश्रब्धः प्रतिजाने वचस्तव ।। ८७ ।।

शल्य बोले—कुन्तीनन्दन! तुम्हारा यह अभीष्ट मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा। जाओ, निश्चिन्त होकर युद्ध करो। मैं तुम्हारे वचनका पालन करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ ।। ८७ ।।

संजय उवाच

अनुमान्याथ कौन्तेयो मातुलं मद्रकेश्वरम् ।
निर्जगाम महासैन्याद् भ्रातृभिः परिवारितः ।। ८८ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार अपने मामा मद्रराज शल्यकी अनुमति लेकर भाइयोंसे घिरे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उस विशाल सेनासे बाहर निकल गये ।। ८८ ।।

वासुदेवस्तु राधेयमाहवेऽभिजगाम वै ।
तत एनमुवाचेदं पाण्डवार्थे गदाग्रजः ।। ८९ ।।

इसी समय भगवान् श्रीकृष्ण उस युद्धमें राधानन्दन कर्णके पास गये। वहाँ जाकर उन गदाग्रजने पाण्डवोंके हितके लिये उससे इस प्रकार कहा— ।। ८९ ।।

श्रुतं मे कर्ण भीष्मस्य द्वेषात् किल न योत्स्यसे ।
अस्मान् वरय राधेय यावद् भीष्मो न हन्यते ।। ९० ।।

'कर्ण! मैंने सुना है, तुम भीष्मसे द्वेष होनेके कारण युद्ध नहीं करोगे। राधानन्दन! ऐसी दशामें जबतक भीष्म मारे नहीं जाते हैं, तबतक हमलोगोंका पक्ष ग्रहण कर लो ।। ९० ।।

हते तु भीष्मे राधेय पुनरेष्यसि संयुगम् ।
धार्तराष्ट्रस्य साहाय्यं यदि पश्यसि चेत् समम् ।। ९१ ।।

'राधेय! जब भीष्म मारे जायँ, उसके बाद तुम यदि ठीक समझो तो युद्धमें पुनः दुर्योधनकी सहायताके लिये चले आना' ।। ९१ ।।

कर्ण उवाच

न विप्रियं करिष्यामि धार्तराष्ट्रस्य केशव ।
त्यक्तप्राणं हि मां विद्धि दुर्योधनहितैषिणम् ।। ९२ ।।

कर्ण बोला—केशव! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं दुर्योधनका हितैषी हूँ। उसके लिये अपने प्राणोंको निछावर किये बैठा हूँ; अतः मैं उसका अप्रिय कदापि नहीं करूँगा ।। ९२ ।।

संजय उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं कृष्णः संन्यवर्तत भारत ।
युधिष्ठिरपुरोगैश्च पाण्डवैः सह संगतः ।। ९३ ।।

संजय कहते हैं—भारत! कर्णकी यह बात सुनकर श्रीकृष्ण लौट आये और युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंसे जा मिले ।। ९३ ।।

अथ सैन्यस्य मध्ये तु प्राक्रोशत् पाण्डवाग्रजः ।
योऽस्मान् वृणोति तमहं वरये साह्यकारणात् ।। ९४ ।।

तदनन्तर ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरने सेनाके बीचमें खड़े होकर पुकारा—'जो कोई वीर सहायताके लिये हमारे पक्षमें आना स्वीकार करे, उसे मैं भी स्वीकार करूँगा' ।। ९४ ।।

अथ तान् समभिप्रेक्ष्य युयुत्सुरिदमब्रवीत् ।
प्रीतात्मा धर्मराजानं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।। ९५ ।।

उस समय आपके पुत्र युयुत्सुने पाण्डवोंकी ओर देखकर प्रसन्नचित्त हो धर्मराज कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा— ।। ९५ ।।

अहं योत्स्यामि भवतः संयुगे धृतराष्ट्रजान् ।
युष्मदर्थं महाराज यदि मां वृणुषेऽनघ ।। ९६ ।।

'महाराज! निष्पाप नरेश! यदि आप मुझे स्वीकार करें तो मैं आपलोगोंके लिये युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे युद्ध करूँगा' ।। ९६ ।।

युधिष्ठिर उवाच

एह्येहि सर्वे योत्स्यामस्तव भ्रातॄनपण्डितान् ।
युयुत्सो वासुदेवश्च वयं च ब्रूम सर्वशः ।। ९७ ।।

युधिष्ठिर बोले—युयुत्सो! आओ, आओ। हम सब लोग मिलकर तुम्हारे इन मूर्ख भाइयोंसे युद्ध करेंगे। यह बात हम और भगवान् श्रीकृष्ण सभी कह रहे हैं ।। ९७ ।।

वृणोमि त्वां महाबाहो युद्ध्यस्व मम कारणात् ।
त्वयि पिण्डश्च तन्तुश्च धृतराष्ट्रस्य दृश्यते ।। ९८ ।।

महाबाहो! मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ। तुम मेरे लिये युद्ध करो। राजा धृतराष्ट्रकी वंशपरम्परा तथा पिण्डोदक-क्रिया तुमपर ही अवलम्बित दिखायी देती है ।। ९८ ।।

भजस्वास्मान् राजपुत्र भजमानान् महाद्युते ।
न भविष्यति दुर्बुद्धिर्धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः ।। ९९ ।।

महातेजस्वी राजकुमार! हम तुम्हें अपनाते हैं। तुम भी हमें स्वीकार करो। अत्यन्त क्रोधी दुर्बुद्धि दुर्योधन अब इस संसारमें जीवित नहीं रहेगा ।। ९९ ।।

संजय उवाच

ततो युयुत्सुः कौरव्यान् परित्यज्य सुतांस्तव ।

(स सत्यमिति मन्वानो युधिष्ठिरवचस्तदा ।)

जगाम पाण्डुपुत्राणां सेनां विश्राव्य दुन्दुभिम् ।। १०० ।।

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर युयुत्सु युधिष्ठिर-की बातको सच मानकर आपके सभी पुत्रोंको त्यागकर डंका पीटता हुआ पाण्डवोंकी सेनामें चला गया ।। १०० ।।

(अवसद् धार्तराष्ट्रस्य कुत्सयन् कर्म दुष्कृतम् ।

सेनामध्ये हि तैः साकं युद्धाय कृतनिश्चयः ।।)

वह दुर्योधनके पापकर्मकी निन्दा करता हुआ युद्धका निश्चय करके पाण्डवोंके साथ उन्हींकी सेनामें रहने लगा।

ततो युधिष्ठिरो राजा सम्प्रहृष्टः सहानुजः ।

जग्राह कवचं भूयो दीप्तिमत् कनकोज्ज्वलम् ।। १०१ ।।

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने भाइयोंसहित अत्यन्त प्रसन्न हो सोनेका बना हुआ चमकीला कवच धारण किया ।। १०१ ।।

प्रत्यपद्यन्त ते सर्वे स्वरथान् पुरुषर्षभाः ।

ततो व्यूहं यथापूर्वं प्रत्यव्यूहन्त ते पुनः ।। १०२ ।।

फिर वे सभी श्रेष्ठ पुरुष अपने-अपने रथपर आरूढ़ हुए; इसके बाद उन्होंने पुनः शत्रुओंके मुकाबलेमें पहलेकी भाँति ही अपनी सेनाकी व्यूह-रचना की ।। १०२ ।।

अवादयन् दुन्दुभींश्च शतशश्चैव पुष्करान् ।

सिंहनादांश्च विविधान् विनेदुः पुरुषर्षभाः ।। १०३ ।।

उन श्रेष्ठ पुरुषोंने सैकड़ों दुन्दुभियाँ और नगारे बजाये तथा अनेक प्रकारसे सिंह-गर्जनाएँ कीं ।। १०३ ।।

रथस्थान् पुरुषव्याघ्रान् पाण्डवान् प्रेक्ष्य पार्थिवाः ।

धृष्टद्युम्नादयः सर्वे पुनर्जहृषिरे तदा ।। १०४ ।।

पुरुषसिंह पाण्डवोंको पुनः रथपर बैठे देख धृष्टद्युम्न आदि राजा बड़े प्रसन्न हुए ।। १०४ ।।

गौरवं पाण्डुपुत्राणां मान्यान् मानयतां च तान् ।

दृष्ट्वा महीक्षितस्तत्र पूजयाञ्चक्रिरे भृशम् ।। १०५ ।।

माननीय पुरुषोंका सम्मान करनेवाले पाण्डवोंके उस गौरवको देखकर सब भूपाल उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगे ।। १०५ ।।

सौहृदं च कृपां चैव प्राप्तकालं महात्मनाम् ।

दयां च ज्ञातिषु परां कथयाञ्चक्रिरे नृपाः ।। १०६ ।।

सब राजा महात्मा पाण्डवोंके सौहार्द, कृपाभाव, समयोचित कर्तव्यके पालन तथा कुटुम्बियोंके प्रति परम दयाभावकी चर्चा करने लगे ।। १०६ ।।

साधु साध्विति सर्वत्र निश्चेरुः स्तुतिसंहिताः ।

वाचः पुण्याः कीर्तिमतां मनोहृदयहर्षणाः ।। १०७ ।।

यशस्वी पाण्डवोंके लिये सब ओरसे उनकी स्तुतिप्रशंसासे भरी हुई 'साधु-साधु' की बातें निकलती थीं। उन्हें ऐसी पवित्र वाणी सुननेको मिलती थी, जो मन और हृदयके हर्षको बढ़ानेवाली थी ।। १०७ ।।

म्लेच्छाश्चार्याश्च ये तत्र ददृशुः शुश्रुवुस्तथा ।
वृत्तं तत् पाण्डुपुत्राणां रुरुदुस्ते सगद्गदाः ।। १०८ ।।

वहाँ जिन-जिन म्लेच्छों और आर्योंने पाण्डवोंका वह बर्ताव देखा तथा सुना, वे सब गद्गदकण्ठ होकर रोने लगे ।। १०८ ।।

ततो जघ्नुर्महाभेरीः शतशश्च सहस्रशः ।
शङ्खांश्च गोक्षीरनिभान् दध्मुर्हृष्टा मनस्विनः ।। १०९ ।।

तदनन्तर हर्षमें भरे हुए सभी मनस्वी पुरुषोंने सैकड़ों और हजारों बड़ी-बड़ी भेरियों तथा गोदुग्धके समान श्वेत शंखोंको बजाया ।। १०९ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्पादिसम्मानने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म आदिका समादरविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४३ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके तीन श्लोक मिलाकर कुल ११२ श्लोक हैं।]

---

* उपर्युक्त पाँच श्लोक कितनी ही प्रतियोंमें नहीं हैं और कितनी ही प्रतियोंमें हैं।

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

कौरव-पाण्डवोंके प्रथम दिनके युद्धका आरम्भ

धृतराष्ट्र उवाच

एवं व्यूढेष्वनीकेषु मामकेष्वितरेषु च ।
के पूर्वं प्राहरंस्तत्र कुरवः पाण्डवा नु किम् ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! इस प्रकार जब मेरे पुत्रों और पाण्डवोंने अपनी-अपनी सेनाओंका व्यूह लगा लिया, तब वहाँ उनमेंसे पहले किन्होंने प्रहार किया, कौरवोंने या पाण्डवोंने? ।। १ ।।

संजय उवाच

भ्रातृभिः सहितो राजन् पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा प्रययौ सह सेनया ।। २ ।।

संजयने कहा—राजन्! भाइयोंसहित आपका पुत्र दुर्योधन भीष्मको आगे करके सेनासहित आगे बढ़ा ।। २ ।।

तथैव पाण्डवाः सर्वे भीमसेनपुरोगमाः ।
भीष्मेण युद्धमिच्छन्तः प्रययुर्हृष्टमानसाः ।। ३ ।।

इसी प्रकार समस्त पाण्डव भी भीमसेनको आगे करके भीष्मसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर प्रसन्न मनसे आगे बढ़े ।। ३ ।।

क्ष्वेडाः किलकिलाशब्दाः क्रकचा गोविषाणिकाः ।
भेरीमृदङ्गमुरजा हयकुञ्जरनिःस्वनाः ।। ४ ।।
उभयोः सेनयोर्ह्यासंस्ततस्तेऽस्मान् समाद्रवन् ।
वयं तान् प्रतिनर्दन्तस्तदासीत् तुमुलं महत् ।। ५ ।।

फिर तो दोनों सेनाओंमें सिंहनाद, किलकारियोंके शब्द, क्रकच, नरसिंहे, भेरी, मृदंग और ढोल आदि वाद्योंकी ध्वनि तथा घोड़ों और हाथियोंके गर्जनेके शब्द गूँजने लगे। पाण्डव सैनिक हमलोगोंपर टूट पड़े और हमलोगोंने भी विकट गर्जना करते हुए उनपर धावा बोल दिया। इस प्रकार अत्यन्त घोर युद्ध होने लगा ।। ४-५ ।।

महान्त्यनीकानि महासमुच्छ्रये
समागमे पाण्डवधार्तराष्ट्रयोः ।
चकम्पिरे शङ्खमृदङ्गनिःस्वनैः
प्रकम्पितानीव वनानि वायुना ।। ६ ।।

भीषण मारकाटसे युक्त उन महान् संग्राममें आपके पुत्रों तथा पाण्डवोंकी विशाल सेनाएँ प्रचण्ड वायुसे विकम्पित हुए वनोंकी भाँति शंख और मृदंगके शब्दोंसे काँपने लगीं ।। ६ ।।

नरेन्द्रनागाश्वरथाकुलाना-
मभ्यागतानामशिवे मुहूर्ते ।
बभूव घोषस्तुमुलश्चमूनां
वातोद्धुतानामिव सागराणाम् ।। ७ ।।

राजाओं, हाथियों, घोड़ों तथा रथोंसे भरी हुई उभय पक्षकी सेनाएँ उस अमंगलमय मुहूर्तमें जब एक-दूसरेके सम्मुख और समीप आयीं, उस समय वायुसे उद्वेलित समुद्रोंकी भाँति उनका भयंकर कोलाहल सब ओर गूँजने लगा ।। ७ ।।

तस्मिन् समुत्थिते शब्दे तुमुले लोमहर्षणे ।
भीमसेनो महाबाहुः प्राणदद् गोवृषो यथा ।। ८ ।।

उस रोमांचकारी भयंकर शब्दके प्रकट होते ही महाबाहु भीमसेन साँड़की भाँति गर्जने लगे ।। ८ ।।

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषं वारणानां च बृंहितम् ।
सिंहनादं च सैन्यानां भीमसेनरवोऽभ्यभूत् ।। ९ ।।

भीमसेनकी वह गर्जना शंख और दुन्दुभियोंके गम्भीर घोष, गजराजोंके चिग्घाड़नेकी आवाज तथा सैनिकोंके सिंहनादको भी दबाकर सब ओर सुनायी देने लगी ।। ९ ।।

हयानां ह्रेषमाणानामनीकेषु सहस्रशः ।
सर्वानभ्यभवच्छब्दान् भीमस्य नदतः स्वनः ।। १० ।।

उन सेनाओंमें हजारों घोड़े जोर-जोरसे हिनहिना रहे थे; परंतु गर्जना करते हुए भीमसेनका शब्द उन सब शब्दोंको दबाकर ऊपर उठ गया था ।। १० ।।

तं श्रुत्वा निनदं तस्य सैन्यास्तव वितत्रसुः ।
जीमूतस्येव नदतः शक्राशनिसमस्वनम् ।। ११ ।।

वे मेघके समान गम्भीर स्वरमें गर्जन-तर्जन कर रहे थे। उनका शब्द इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान भयानक था। उस सिंहनादको सुनकर आपके समस्त सैनिक संत्रस्त हो उठे थे ।। ११ ।।

वाहनानि च सर्वाणि शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः ।
शब्देन तस्य वीरस्य सिंहस्येवेतरे मृगाः ।। १२ ।।

जैसे सिंहकी आवाज सुनकर दूसरे वन्य पशु भयभीत हो जाते हैं, उसी प्रकार वीर भीमसेनकी गर्जनासे भयभीत हो कौरव-सेनाके समस्त वाहन मल-मूत्र करने लगे ।। १२ ।।

दर्शयन् घोरमात्मानं महाभ्रमिव नादयन् ।
बिभीषयंस्तव सुतान् भीमसेनः समभ्ययात् ।। १३ ।।

महान् मेघके समान अपने भयंकर रूपको प्रकट करते, गर्जते तथा आपके पुत्रोंको डराते हुए भीमसेन कौरव-सेनापर चढ़ आये ।। १३ ।।

तमायान्तं महेष्वासं सोदर्याः पर्यवारयन् ।
छादयन्तः शरव्रातैर्मेघा इव दिवाकरम् ।। १४ ।।

महान् धनुर्धर भीमसेनको आते देख दुर्योधनके भाइयों (तथा अन्य वीरों)-ने जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार बाणसमूहोंसे उन्हें आच्छादित करते हुए सब ओरसे घेर लिया ।। १४ ।।

दुर्योधनश्च पुत्रस्ते दुर्मुखो दुःशलः शलः ।
दुःशासनश्चातिरथस्तथा दुर्मर्षणो नृप ।। १५ ।।
विविंशतिश्चित्रसेनो विकर्णश्च महारथः ।
पुरुमित्रो जयो भोजः सौमदत्तिश्च वीर्यवान् ।। १६ ।।
महाचापानि धुन्वन्तो मेघा इव सविद्युतः ।
आददानाश्च नाराचान् निर्मुक्ताशीविषोपमान् ।। १७ ।।
(अग्रतः पाण्डुसेनाया ह्यतिष्ठन् पृथिवीक्षितः ।।)

नरेश्वर! आपके पुत्र दुर्योधन, दुर्मुख, दुःशल, शल, अतिरथी दुःशासन, दुर्मर्षण, विविंशति, चित्रसेन, महारथी विकर्ण, पुरुमित्र, जय, भोज तथा पराक्रमी भूरिश्रवा—ये सभी वीर अपने बड़े-बड़े धनुषोंको कँपाते और छूटनेपर विषधर सर्पके समान प्रतीत होनेवाले बाणोंको हाथमें लेते हुए बिजलियोंसहित मेघोंके समान जान पड़ते थे। ये सभी भूपाल पाण्डव-सेनाके सम्मुख (भीमसेनको घेरकर) खड़े हो गये ।। १५—१७ ।।

अथ ते द्रौपदीपुत्राः सौभद्रश्च महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।। १८ ।।
धार्तराष्ट्रान् प्रतिययुरर्दयन्तः शितैः शरैः ।
वज्रैरिव महावेगैः शिखराणि धराभृताम् ।। १९ ।।

तदनन्तर द्रौपदीके पाँचों पुत्र, महारथी अभिमन्यु, नकुल, सहदेव तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न—ये सभी योद्धा वज्रके समान महान् वेगशाली तीक्ष्ण बाणोंद्वारा पर्वत-शिखरोंकी भाँति धृतराष्ट्रपुत्रोंको पीड़ा देते हुए उनपर चढ़ आये ।। १८-१९ ।।

तस्मिन् प्रथमसंग्रामे भीमज्यातलनिःस्वने ।
तावकानां परेषां च नासीत् कश्चित् पराङ्मुखः ।। २० ।।

उस प्रथम संग्राममें जब भयानक धनुषोंकी टंकार तथा ताल ठोंकनेकी आवाज हो रही थी, आपके तथा पाण्डवोंके दलमें भी कोई युद्धसे विमुख नहीं हुआ ।। २० ।।

लाघवं द्रोणशिष्याणामपश्यं भरतर्षभ ।
निमित्तवेधिनां चैव शरानुत्सृजतां भृशम् ।। २१ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समय मैंने द्रोणाचार्यके उन शिष्योंकी फुर्ती देखी। वे बड़ी तीव्र गतिसे बाण छोड़ते और लक्ष्यको बींध डालते थे ।। २१ ।।

नोपशाम्यति निर्घोषो धनुषां कूजतां तथा ।
विनिश्चेरुः शरा दीप्ता ज्योतींषीव नभस्तलात् ।। २२ ।।

वहाँ टंकार करते हुए धनुषोंके शब्द कभी शान्त नहीं होते थे। आकाशसे नक्षत्रोंके समान उन धनुषोंसे चमकीले बाण प्रकट हो रहे थे ।। २२ ।।

सर्वे त्वन्ये महीपालाः प्रेक्षका इव भारत ।
ददृशुर्दर्शनीयं तं भीमं ज्ञातिसमागमम् ।। २३ ।।

भरतनन्दन! दूसरे सब राजालोग उस कुटुम्बीजनोंके भयंकर दर्शनीय संग्रामको दर्शककी भाँति देखने लगे ।। २३ ।।

ततस्ते जातसंरम्भाः परस्परकृतागसः ।
अन्योन्यस्यर्धया राजन् व्यायच्छन्त महारथाः ।। २४ ।।

राजन्! बाल्यावस्थामें वे सभी एक-दूसरेका अपराध कर चुके थे। सबका स्मरण हो आनेसे वे सभी महारथी रोषमें भर गये और एक-दूसरेके प्रति स्पर्धा रखनेके कारण युद्धमें विजयी होनेके लिये विशेष परिश्रम करने लगे ।। २४ ।।

कुरुपाण्डवसेने ते हस्त्यश्वरथसंकुले ।
शुशुभाते रणेऽतीव पटे चित्रार्पिते इव ।। २५ ।।

हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई कौरव-पाण्डवोंकी वे सेनाएँ पटपर अंकित हुई चित्रमयी सेनाओंकी भाँति उस रणभूमिमें विशेष शोभा पा रही थीं ।। २५ ।।

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे प्रगृहीतशरासनाः ।
सहसैन्याः समापेतुः पुत्रस्य तव शासनात् ।। २६ ।।

तदनन्तर आपके पुत्र दुर्योधनकी आज्ञासे अन्य सब राजा भी हाथमें धनुष-बाण लिये सेनाओंसहित वहाँ आ पहुँचे ।। २६ ।।

युधिष्ठिरेण चादिष्टाः पार्थिवास्ते सहस्रशः ।
विनदन्तः समापेतुः पुत्रस्य तव वाहिनीम् ।। २७ ।।

इसी प्रकार युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर सहस्रों नरेश गर्जना करते हुए आपके पुत्रकी सेनापर टूट पड़े ।। २७ ।।

उभयोः सेनयोस्तीव्रः सैन्यानां स समागमः ।
अन्तर्धीयत चादित्यः सैन्येन रजसाऽऽवृतः ।। २८ ।।

उन दोनों सेनाओंका वह संघर्ष अत्यन्त दु:सह था। सेनाकी धूलसे आच्छादित हो सूर्यदेव अदृश्य हो गये ।। २८ ।।

प्रयुद्धानां प्रभग्नानां पुनरावर्तिनामपि ।
नात्र स्वेषां परेषां वा विशेषः समदृश्यत ।। २९ ।।

कुछ लोग युद्ध करते, कुछ भागते और कुछ भागकर फिर लौट आते थे। इस बातमें अपने और शत्रुपक्षके सैनिकोंमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ।। २९ ।।

तस्मिंस्तु तुमुले युद्धे वर्तमाने महाभये ।
अतिसर्वाण्यनीकानि पिता तेऽभिव्यरोचत ।। ३० ।।

जिस समय वह अत्यन्त भयानक तुमुल युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय आपके ताऊ भीष्मजी उन समस्त सेनाओंसे ऊपर उठकर अपने तेजसे प्रकाशित हो रहे थे ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि युद्धारम्भे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें युद्धका आरम्भविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४४ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३० ½ श्लोक हैं।]

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

उभय पक्षके सैनिकोंका द्वन्द्व-युद्ध

संजय उवाच

पूर्वाह्णे तस्य रौद्रस्य युद्धमह्नो विशाम्पते ।
प्रावर्तत महाघोरं राज्ञां देहावकर्तनम् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—प्रजानाथ! उस भयंकर दिनके प्रथम भागमें महाभयानक युद्ध होने लगा, जो राजाओंके शरीरका उच्छेद करनेवाला था ।। १ ।।

कुरूणां सृञ्जयानां च जिगीषूणां परस्परम् ।
सिंहानामिव संह्रादो दिवमुर्वीं च नादयन् ।। २ ।।

कौरव और सृंजयवंशी वीर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखकर सिंहोंके समान दहाड़ रहे थे। उनका वह सिंहनाद पृथ्वी और आकाशको प्रतिध्वनित कर रहा था ।। २ ।।

आसीत् किलकिलाशब्दस्तलशङ्खरवैः सह ।
जज्ञिरे सिंहनादाश्च शूराणां प्रतिगर्जताम् ।। ३ ।।

तल और शंखोंकी ध्वनिके साथ सैनिकोंका किलकिल शब्द गूँज उठा। एक-दूसरेके प्रति गर्जना करनेवाले शूरवीरोंके सिंहनाद होने लगे ।। ३ ।।

तलत्राभिहताश्चैव ज्याशब्दा भरतर्षभ ।
पत्तीनां पादशब्दश्च वाजिनां च महास्वनः ।। ४ ।।
तोत्राङ्कुशनिपातश्च आयुधानां च निःस्वनः ।
घण्टाशब्दश्च नागानामन्योन्यमभिधावताम् ।। ५ ।।
तस्मिन् समुदिते शब्दे तुमुले लोमहर्षणे ।
बभूव रथनिर्घोषः पर्जन्यनिनदोपमः ।। ६ ।।

भरतश्रेष्ठ! तलत्राणके आघातसे टकरायी हुई प्रत्यंचाओंके शब्द, पैदल सिपाहियोंके पैरोंकी धमक, उच्चस्वरसे होनेवाली घोड़ोंकी हिनहिनाहट, हाथियोंके चाबुक और अंकुशके आघातका शब्द, हथियारोंकी झनझनाहट तथा एक-दूसरेपर धावा करनेवाले गजराजोंके घण्टानाद—ये सब शब्द मिलकर ऐसी भयंकर आवाज प्रकट करने लगे, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी। उसीमें रथोंके पहियोंकी घरघराहट होने लगी, जो मेघोंकी विकट गर्जनाके समान जान पड़ती थी ।। ४—६ ।।

ते मनः क्रूरमाधाय समभित्यक्तजीविताः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त सर्व एवोच्छ्रितध्वजाः ।। ७ ।।

वे समस्त कौरव सैनिक अपने मनको कठोर बना प्राणोंकी बाजी लगाकर ऊँची ध्वजाएँ फहराते हुए पाण्डवोंपर धावा करने लगे ।। ७ ।।

अथ शान्तनवो राजन्नभ्यधावद् धनंजयम् ।
प्रगृह्य कार्मुकं घोरं कालदण्डोपमं रणे ।। ८ ।।

राजन्! तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म उस युद्धभूमिमें कालदण्डके समान भीषण धनुष लेकर अर्जुनकी ओर दौड़े ।। ८ ।।

अर्जुनोऽपि धनुर्गृह्य गाण्डीवं लोकविश्रुतम् ।
अभ्यधावत तेजस्वी गाङ्गेयं रणमूर्धनि ।। ९ ।।

उधरसे महातेजस्वी अर्जुन भी अपना लोकविख्यात गाण्डीव धनुष लेकर युद्धके मुहानेपर गंगानन्दन भीष्मकी ओर दौड़े ।। ९ ।।

तावुभौ कुरुशार्दूलौ परस्परवधैषिणौ ।
गाङ्गेयस्तु रणे पार्थं विद्ध्वा नाकम्पयद् बली ।। १० ।।

वे दोनों कुरुकुलके सिंह थे और एक-दूसरेको मार डालनेकी इच्छा रखते थे। बलवान् भीष्म युद्धमें अर्जुनको घायल करके भी उन्हें विचलित न कर सके ।। १० ।।

तथैव पाण्डवो राजन् भीष्मं नाकम्पयद् युधि ।
सात्यकिस्तु महेष्वासः कृतवर्माणमभ्ययात् ।। ११ ।।

राजन्! उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुन भी भीष्मको युद्धमें हिला न सके। दूसरी ओर महाधनुर्धर सात्यकिने कृतवर्मापर धावा किया ।। ११ ।।

तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
सात्यकिः कृतवर्माणं कृतवर्मा च सात्यकिम् ।। १२ ।।
आनर्च्छतुः शरैर्घोरैस्तक्षमाणौ परस्परम् ।

उन दोनोंमें बड़ा भयंकर रोमांचकारी युद्ध हुआ। सात्यकिने कृतवर्माको और कृतवर्माने सात्यकिको भयंकर बाणोंसे घायल करते हुए एक-दूसरेको बड़ी पीड़ा पहुँचायी ।। १२ १/२ ।।

तौ शरार्चितसर्वाङ्गौ शुशुभाते महाबलौ ।। १३ ।।
वसन्ते पुष्पशबलौ पुष्पिताविव किंशुकौ ।

वे दोनों महाबली वीर सर्वांगमें बाणोंसे छिदे होनेके कारण वसन्त-ऋतुमें खिले हुए दो पुष्पयुक्त पलाश वृक्षोंके समान शोभा पा रहे थे ।। १३ १/२ ।।

अभिमन्युर्महेष्वासं बृहद्बलमयोधयत् ।। १४ ।।
ततः कोसलराजासावभिमन्योर्विशाम्पते ।
ध्वजं चिच्छेद समरे सारथिं च न्यपातयत् ।। १५ ।।

अभिमन्युने महान् धनुर्धर बृहद्बलके साथ युद्ध किया। प्रजानाथ! कोसलनरेश बृहद्बलने उस युद्धमें अभिमन्युके ध्वजको काट दिया और सारथिको मार गिराया ।। १४-१५ ।।

सौभद्रस्तु ततः क्रुद्धः पातिते रथसारथौ ।
बृहद्बलं महाराज विव्याध नवभिः शरैः ।। १६ ।।

महाराज! अपने रथके सारथिके मारे जानेपर सुभद्राकुमार अभिमन्यु कुपित हो उठे और उन्होंने बृहद्बलको नौ बाणोंसे घायल कर दिया ।। १६ ।।

अथापराभ्यां भल्लाभ्यां शिताभ्यामरिमर्दनः ।

ध्वजमेकेन चिच्छेद पार्ष्णिमेकेन सारथिम् ।। १७ ।।

अन्योन्यं च शरैः क्रुद्धौ ततक्षाते परस्परम् ।

तत्पश्चात् शत्रुमर्दन अभिमन्युने अन्य दो तीखे बाणोंसे बृहद्बलके ध्वजको काट डाला, फिर एक बाणसे उनके पृष्ठरक्षकको और दूसरेसे सारथिको मार डाला। फिर वे दोनों अत्यन्त कुपित हो तीखे सायकोंद्वारा एक-दूसरेको बेधने लगे ।। १७½ ।।

मानिनं समरे दृप्तं कृतवैरं महारथम् ।। १८ ।।

भीमसेनस्तव सुतं दुर्योधनमयोधयत् ।

युद्धमें अभिमान प्रकट करनेवाले, घमंडी और पहलेके वैरी आपके महारथी पुत्र दुर्योधनसे भीमसेन युद्ध करने लगे ।। १८½ ।।

तावुभौ नरशार्दूलौ कुरुमुख्यौ महाबलौ ।। १९ ।।

अन्योन्यं शरवर्षाभ्यां ववृषाते रणाजिरे ।

वे दोनों नरश्रेष्ठ महाबली वीर कुरुकुलके प्रधान व्यक्ति थे। उन्होंने समरांगणमें एक-दूसरेपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। १९½ ।।

तौ वीक्ष्य तु महात्मानौ कृतिनौ चित्रयोधिनौ ।। २० ।।

विस्मयः सर्वभूतानां समपद्यत भारत ।

भारत! वे दोनों महामनस्वी अस्त्रविद्याके विद्वान् तथा विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले थे। उन्हें देखकर समस्त प्राणियोंको बड़ा विस्मय हुआ ।। २०½ ।।

दुःशासनस्तु नकुलं प्रत्युद्याय महाबलम् ।। २१ ।।

अविध्यन्निशितैर्बाणैर्बहुभिर्मर्मभेदिभिः ।

दुःशासनने आगे बढ़कर मर्मस्थानोंको विदीर्ण करनेवाले अपने बहुसंख्यक तीखे बाणोंद्वारा महाबली नकुलको घायल कर दिया ।। २१½ ।।

तस्य माद्रीसुतः केतुं सशरं च शरासनम् ।। २२ ।।

चिच्छेद निशितैर्बाणैः प्रहसन्निव भारत ।

अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ।। २३ ।।

भारत! तब माद्रीकुमार नकुलने भी हँसते हुए-से तीखे बाण मारकर दुःशासनके धनुष-बाण और ध्वजको काट गिराया और पचीस बाण मारकर उसे घायल कर दिया ।। २२-२३ ।।

पुत्रस्तु तव दुर्धर्षो नकुलस्य महाहवे ।

तुरङ्गांश्चिच्छिदे बाणैर्ध्वजं चैवाभ्यपातयत् ।। २४ ।।

इसके बाद आपके दुर्धर्ष पुत्रने उस महायुद्धमें नकुलके घोड़ोंको अपने सायकोंद्वारा काट डाला और ध्वजको भी नीचे गिरा दिया ।। २४ ।।

दुर्मुखः सहदेवं च प्रत्युद्याय महाबलम् ।
विव्याध शरवर्षेण यतमानं महाहवे ।। २५ ।।

महाबली सहदेव उस महासमरमें अपनी विजय-के लिये बड़ा प्रयत्न कर रहे थे। उन्हें आपके पुत्र दुर्मुखने धावा करके अपने बाणोंकी वर्षासे घायल कर दिया ।। २५ ।।

सहदेवस्ततो वीरो दुर्मुखस्य महारणे ।
शरेण भृशतीक्ष्णेन पातयामास सारथिम् ।। २६ ।।

तब वीरवर सहदेवने उस महायुद्धमें अत्यन्त तीखे बाणसे दुर्मुखके सारथिको मार गिराया ।। २६ ।।

तावन्योन्यं समासाद्य समरे युद्धदुर्मदौ ।
त्रासयेतां शरैर्घोरैः कृतप्रतिकृतैषिणौ ।। २७ ।।

वे दोनों युद्धदुर्मद वीर समरांगणमें एक-दूसरेसे टक्कर लेकर पूर्वकृत अपराधोंका बदला लेनेकी इच्छा रखते हुए भयंकर बाणोंद्वारा एक-दूसरेको भयभीत करने लगे ।। २७ ।।

युधिष्ठिरः स्वयं राजा मद्रराजानमभ्ययात् ।
तस्य मद्राधिपश्चापं द्विधा चिच्छेद मारिष ।। २८ ।।

स्वयं राजा युधिष्ठिरने मद्रराज शल्यपर आक्रमण किया। राजन्! मद्रराजने युधिष्ठिरके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ।। २८ ।।

तदपास्य धनुश्छिन्नं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अन्यत् कार्मुकमादाय वेगवद् बलवत्तरम् ।। २९ ।।
ततो मद्रेश्वरं राजा शरैः संनतपर्वभिः ।
छादयामास संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।। ३० ।।

तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा वेगयुक्त एवं प्रबलतर धनुष ले लिया और झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंद्वारा मद्रराज शल्यको ढक दिया। फिर क्रोधमें भरकर कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो' ।। २९-३० ।।

धृष्टद्युम्नस्ततो द्रोणमभ्यद्रवत भारत ।
तस्य द्रोणः सुसंक्रुद्धः परासुकरणं दृढम् ।। ३१ ।।
त्रिधा चिच्छेद समरे पाञ्चाल्यस्य तु कार्मुकम् ।

भरतनन्दन! एक ओरसे धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यपर आक्रमण किया। तब द्रोणने अत्यन्त क्रुद्ध होकर युद्धमें दूसरोंके मारनेके साधनभूत धृष्टद्युम्नके सुदृढ़ धनुषके तीन टुकड़े कर डाले ।। ३१ १/२ ।।

शरं चैव महाघोरं कालदण्डमिवापरम् ।। ३२ ।।

प्रेषयामास समरे सोऽस्य काये न्यमज्जत ।

तदनन्तर उस रणक्षेत्रमें उन्होंने द्वितीय कालदण्डके समान अत्यन्त भयंकर बाण चलाया। वह बाण धृष्टद्युम्नके शरीरमें धँस गया ।। ३२ $\frac{1}{2}$ ।।

अथान्यद् धनुरादाय सायकांश्च चतुर्दश ।। ३३ ।।

द्रोणं द्रुपदपुत्रस्तु प्रतिविव्याध संयुगे ।

तावन्योन्यं सुसंक्रुद्धौ चक्रतुः सुभृशं रणम् ।। ३४ ।।

तत्पश्चात् द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर चौदह सायक चलाये और उस युद्धभूमिमें द्रोणाचार्यको घायल कर दिया। फिर तो वे दोनों एक-दूसरेपर अत्यन्त कुपित हो भीषण संग्राम करने लगे ।। ३३-३४ ।।

सौमदत्तिं रणे शङ्खो रभसं रभसो युधि ।

प्रत्युद्ययौ महाराज तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।। ३५ ।।

महाराज! वेगशाली शंखने उस युद्धमें वेगवान् वीर भूरिश्रवापर धावा किया और कहा —‘खड़े रहो, खड़े रहो’ ।। ३५ ।।

तस्य वै दक्षिणं वीरो निर्बिभेद रणे भुजम् ।

सौमदत्तिस्तथा शङ्खं जत्रुदेशे समाहनत् ।। ३६ ।।

वीर शंखने रणभूमिमें भूरिश्रवाकी दाहिनी भुजा विदीर्ण कर डाली; फिर भूरिश्रवाने भी शंखके गलेकी हँसलीपर बाण मारा ।। ३६ ।।

तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं विशाम्पते ।

दृप्तयोः समरे पूर्वं वृत्रवासवयोरिव ।। ३७ ।।

राजन्! उस समरभूमिमें इन्द्र और वृत्रासुरकी भाँति उन दोनों अभिमानी वीरोंमें बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ।। ३७ ।।

बाह्लीकं तु रणे क्रुद्धं क्रुद्धरूपो विशाम्पते ।

अभ्यद्रवदमेयात्मा धृष्टकेतुर्महारथः ।। ३८ ।।

प्रजानाथ! रणक्षेत्रमें कुपित हुए बाह्लीकपर अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न महारथी धृष्टकेतुने क्रोधपूर्वक आक्रमण किया ।। ३८ ।।

बाह्लीकस्तु रणे राजन् धृष्टकेतुममर्षणः ।

शरैर्बहुभिरानर्च्छत् सिंहनादमथानदत् ।। ३९ ।।

राजन्! अमर्षशील बाह्लीकने समरांगणमें बहुत-से बाणोंद्वारा धृष्टकेतुको पीड़ा दी और सिंहके समान गर्जना की ।। ३९ ।।

चेदिराजस्तु संक्रुद्धो बाह्लीकं नवभिः शरैः ।

विव्याध समरे तूर्णं मत्तो मत्तमिव द्विपम् ।। ४० ।।

तब चेदिराज धृष्टकेतुने अत्यन्त क्रुद्ध होकर जैसे मतवाला हाथी किसी मदोन्मत्त गजराजपर हमला करता है, उसी प्रकार तुरंत ही नौ बाण मारकर उस युद्धभूमिमें

बाह्लीकको क्षत-विक्षत कर दिया ।। ४० ।।

तौ तत्र समरे क्रुद्धौ नर्दन्तौ च पुनः पुनः ।
समीयतुः सुसंक्रुद्धावङ्गारकबुधाविव ।। ४१ ।।

उस रणभूमिमें वे दोनों वीर परस्पर कुपित हो रोषमें भरे हुए मंगल और बुधकी भाँति बारंबार गर्जते हुए युद्ध कर रहे थे ।। ४१ ।।

राक्षसं रौद्रकर्माणं क्रूरकर्मा घटोत्कचः ।
अलम्बुषं प्रत्युदियाद् बलं शक्र इवाहवे ।। ४२ ।।

जैसे इन्द्रने युद्धमें बल नामक दैत्यपर चढ़ाई की थी, उसी प्रकार क्रूरकर्मा घटोत्कचने भयंकर कर्म करनेवाले अलम्बुष नामक राक्षसपर आक्रमण किया ।। ४२ ।।

घटोत्कचस्ततः क्रुद्धो राक्षसं तं महाबलम् ।
नवत्या सायकैस्तीक्ष्णैर्दारयामास भारत ।। ४३ ।।

भरतनन्दन! क्रोधमें भरे हुए घटोत्कचने नब्बे तीखे बाणोंद्वारा उस महाबली राक्षस अलम्बुषको विदीर्ण कर दिया ।। ४३ ।।

अलम्बुषस्तु समरे भैमसेनिं महाबलम् ।
बहुधा दारयामास शरैः संनतपर्वभिः ।। ४४ ।।

तब अलम्बुषने भी महाबली भीमसेनपुत्र घटोत्कचको झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा समरांगणमें बहुत प्रकारसे घायल कर दिया ।। ४४ ।।

व्यभ्राजेतां ततस्तौ तु संयुगे शरविक्षतौ ।
यथा देवासुरे युद्धे बलशक्रौ महाबलौ ।। ४५ ।।

जैसे देवासुर-संग्राममें महाबली बलासुर और इन्द्र घायल हो गये थे, उसी प्रकार इस युद्धमें एक-दूसरेके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो अलम्बुष और घटोत्कच अद्भुत शोभा धारण कर रहे थे ।। ४५ ।।

शिखण्डी समरे राजन् द्रौणिमभ्युद्ययौ बली ।
अश्वत्थामा ततः क्रुद्धः शिखण्डिनमुपस्थितम् ।। ४६ ।।
नाराचेन सुतीक्ष्णेन भृशं विद्ध्वा ह्यकम्पयत् ।
शिखण्ड्यपि ततो राजन् द्रोणपुत्रमताडयत् ।। ४७ ।।
सायकेन सुपीतेन तीक्ष्णेन निशितेन च ।
तौ जघ्नतुस्तदान्योन्यं शरैर्बहुविधैर्मृधे ।। ४८ ।।

राजन्! बलवान् शिखण्डीने रणक्षेत्रमें द्रोणपुत्र अश्वत्थामापर धावा किया। तब अश्वत्थामाने कुपित हो एक तीखे नाराचके द्वारा निकट आये हुए शिखण्डीको अत्यन्त घायल करके कम्पित कर दिया। महाराज! तब शिखण्डीने भी पीले रंगके तेज धारवाले तीखे सायकसे द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको गहरी चोट पहुँचायी; तदनन्तर वे दोनों अनेक प्रकारके बाणोंद्वारा एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे ।। ४६—४८ ।।

भगदत्तं रणे शूरं विराटो वाहिनीपतिः ।
अभ्ययात् त्वरितो राजंस्ततो युद्धमवर्तत ।। ४९ ।।

राजन्! संग्रामशूर भगदत्तपर सेनापति विराटने बड़ी उतावलीके साथ आक्रमण किया। फिर तो उन दोनोंमें युद्ध होने लगा ।। ४९ ।।

विराटो भगदत्तं तु शरवर्षेण भारत ।
अभ्यवर्षत् सुसंक्रुद्धो मेघो वृष्ट्या इवाचलम् ।। ५० ।।

भारत! विराटने अत्यन्त कुपित होकर भगदत्तपर अपने बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो मेघ पर्वतपर जलकी बूँदें बरसा रहा हो ।। ५० ।।

भगदत्तस्ततस्तूर्णं विराटं पृथिवीपतिम् ।
छादयामास समरे मेघः सूर्यमिवोदितम् ।। ५१ ।।

तब जैसे बादल उगे हुए सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार भगदत्तने समरभूमिमें बाणोंकी वर्षाद्वारा पृथ्वीपति विराटको आच्छादित कर दिया ।। ५१ ।।

बृहत्क्षत्रं तु कैकेयं कृपः शारद्वतो ययौ ।
तं कृपः शरवर्षेण छादयामास भारत ।। ५२ ।।
गौतमं कैकयः क्रुद्धः शरवृष्ट्याभ्यपूरयत् ।

भरतनन्दन! केकयराज बृहत्क्षत्रपर शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने आक्रमण किया और अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा उन्हें ढक दिया। तब केकयराजने भी क्रुद्ध होकर अपने सायकोंकी वर्षासे कृपाचार्यको आच्छादित कर दिया ।। ५२½ ।।

तावन्योन्यं हयान् हत्वा धनुश्छित्त्वा च भारत ।। ५३ ।।
विरथावसियुद्धाय समीयतुरमर्षणौ ।
तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं सुदारुणम् ।। ५४ ।।

भारत! वे दोनों वीर एक-दूसरेके घोड़ोंको मार धनुषके टुकड़े करके रथहीन हो अमर्षमें भरकर खड्गद्वारा युद्ध करनेके लिये आमने-सामने खड़े हुए। फिर तो उन दोनोंमें अत्यन्त भयंकर एवं दारुण युद्ध होने लगा ।। ५३-५४ ।।

द्रुपदस्तु ततो राजन् सैन्धवं वै जयद्रथम् ।
अभ्युद्ययौ हृष्टरूपो हृष्टरूपं परंतपः ।। ५५ ।।

राजन्! दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले द्रुपदने बड़े हर्षके साथ सिन्धुराज जयद्रथपर धावा किया। जयद्रथ भी बहुत प्रसन्न था ।। ५५ ।।

ततः सैन्धवको राजा द्रुपदं विशिखैस्त्रिभिः ।
ताडयामास समरे स च तं प्रत्यविध्यत ।। ५६ ।।

तत्पश्चात् सिन्धुराज जयद्रथने समरांगणमें तीन बाणोंद्वारा द्रुपदको गहरी चोट पहुँचायी। द्रुपदने भी बदलेमें उसे बींध डाला ।। ५६ ।।

तयोस्तदभवद् युद्धं घोररूपं सुदारुणम् ।

ईक्षणप्रीतिजननं शुक्राङ्गारकयोरिव ।। ५७ ।।

उन दोनोंका वह घोर एवं अत्यन्त भयंकर युद्ध शुक्र और मंगलके संघर्षकी भाँति नेत्रोंके लिये हर्ष उत्पन्न करनेवाला था ।। ५७ ।।

विकर्णस्तु सुतस्तुभ्यं सुतसोमं महाबलम् ।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैस्ततो युद्धमवर्तत ।। ५८ ।।

आपके पुत्र विकर्णने तेज चलनेवाले घोड़ोंद्वारा महाबली सुतसोमपर धावा किया। तत्पश्चात् उनमें भारी युद्ध होने लगा ।। ५८ ।।

विकर्णः सुतसोमं तु विद्ध्वा नाकम्पयच्छरैः ।
सुतसोमो विकर्णं च तदद्भुतमिवाभवत् ।। ५९ ।।

विकर्ण अपने बाणोंसे सुतसोमको घायल करके भी उन्हें कम्पित न कर सका। इसी प्रकार सुतसोम भी विकर्णको विचलित न कर सके। उन दोनोंका यह पराक्रम अद्भुत-सा प्रतीत हुआ ।। ५९ ।।

सुशर्माणं नरव्याघ्रश्चेकितानो महारथः ।
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्धः पाण्डवार्थे पराक्रमी ।। ६० ।।

नरश्रेष्ठ पराक्रमी महारथी चेकितानने पाण्डवोंके लिये अत्यन्त कुपित होकर सुशर्मापर धावा किया ।। ६० ।।

सुशर्मा तु महाराज चेकितानं महारथम् ।
महता शरवर्षेण वारयामास संयुगे ।। ६१ ।।

महाराज! सुशर्माने भारी बाण-वर्षाके द्वारा महारथी चेकितानको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ।। ६१ ।।

चेकितानोऽपि संरब्धः सुशर्माणं महाहवे ।
प्राच्छादयत् तमिषुभिर्महामेघ इवाचलम् ।। ६२ ।।

तब चेकितानने भी रोषमें भरकर उस महायुद्धमें अपने बाणोंकी वर्षासे सुशर्माको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे महामेघ जलकी वर्षासे पर्वतको आच्छादित कर देता है ।। ६२ ।।

शकुनिः प्रतिविन्ध्यं तु पराक्रान्तं पराक्रमी ।
अभ्यद्रवत राजेन्द्र मत्तः सिंह इव द्विपम् ।। ६३ ।।

राजेन्द्र! पराक्रमी शकुनि पराक्रमसम्पन्न प्रतिविन्ध्यपर चढ़ आया, ठीक उसी तरह जैसे मतवाला सिंह किसी हाथीपर आक्रमण करता है ।। ६३ ।।

यौधिष्ठिरस्तु संक्रुद्धः सौबलं निशितैः शरैः ।
व्यदारयत संग्रामे मघवानिव दानवम् ।। ६४ ।।

जिस प्रकार इन्द्र संग्रामभूमिमें किसी दानवको विदीर्ण करते हैं, उसी प्रकार युधिष्ठिरके पुत्र प्रतिविन्ध्यने अत्यन्त कुपित होकर सुबलपुत्र शकुनिको अपने तीखे बाणोंसे बेध डाला ।। ६४ ।।

शकुनिः प्रतिविन्ध्यं तु प्रतिविध्यन्तमाहवे ।
व्यदारयन्महाप्राज्ञः शरैः संनतपर्वभिः ।। ६५ ।।

युद्धमें अपनेको बेधनेवाले प्रतिविन्ध्यको भी परम बुद्धिमान् शकुनिने झुके हुए गाँठवाले बाणोंसे घायल कर दिया ।। ६५ ।।

सुदक्षिणं तु राजेन्द्र काम्बोजानां महारथम् ।
श्रुतकर्मा पराक्रान्तमभ्यद्रवत संयुगे ।। ६६ ।।

राजेन्द्र! काम्बोजदेशके राजा पराक्रमी महारथी सुदक्षिणपर रणभूमिमें श्रुतकर्माने आक्रमण किया ।। ६६ ।।

सुदक्षिणस्तु समरे साहदेविं महारथम् ।
विद्ध्वा नाकम्पयत वै मैनाकमिव पर्वतम् ।। ६७ ।।

तब सुदक्षिणने समरांगणमें सहदेवपुत्र महारथी श्रुतकर्माको क्षत-विक्षत कर दिया; तो भी वह उन्हें कम्पित न कर सका। वे मैनाक पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे ।। ६७ ।।

श्रुतकर्मा ततः क्रुद्धः काम्बोजानां महारथम् ।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद् दारयन्निव सर्वशः ।। ६८ ।।

तदनन्तर श्रुतकर्माने कुपित होकर महारथी काम्बोजराजको सब ओरसे विदीर्ण-सा करते हुए अपने बहुसंख्यक बाणोंद्वारा भलीभाँति पीड़ित किया ।। ६८ ।।

इरावानथ संक्रुद्धः श्रुतायुषमरिंदमम् ।
प्रत्युद्ययौ रणे यत्तो यत्तरूपं परंतपः ।। ६९ ।।

दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले यत्नशील इरावान्ने युद्धमें कुपित होकर शत्रुदमन श्रुतायुषपर धावा किया। श्रुतायुष भी प्रयत्नपूर्वक उनका सामना कर रहा था ।। ६९ ।।

आर्जुनिस्तस्य समरे हयान् हत्वा महारथः ।
ननाद बलवन्नादं तत् सैन्यं प्रत्यपूरयत् ।। ७० ।।

अर्जुनके उस महारथी पुत्र इरावान्ने रणक्षेत्रमें श्रुतायुषके घोड़ोंको मारकर बड़े जोरसे गर्जना की और उसकी सेनाको बाणोंसे आच्छादित कर दिया ।। ७० ।।

श्रुतायुस्तु ततः क्रुद्धः फाल्गुनेः समरे हयान् ।
निजघान गदाग्रेण ततो युद्धमवर्तत ।। ७१ ।।

यह देख श्रुतायुषने भी रुष्ट होकर रणभूमिमें अर्जुनपुत्र इरावान्के घोड़ोंको अपनी गदाकी चोटसे मार डाला। तत्पश्चात् उन दोनोंमें खूब जमकर युद्ध होने लगा ।। ७१ ।।

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ कुन्तिभोजं महारथम् ।
ससेनं ससुतं वीरं संससज्जतुराहवे ।। ७२ ।।

अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्दने सेना और पुत्रसहित वीर महारथी कुन्तिभोजके साथ युद्ध आरम्भ किया ।। ७२ ।।

तत्राद्भुतमपश्याम तयोर्घोरं पराक्रमम् ।
अयुध्येतां स्थिरौ भूत्वा महत्या सेनया सह ।। ७३ ।।

वहाँ मैंने उन दोनोंका अद्‌भुत और भयंकर पराक्रम देखा। वे दोनों ही अपनी विशाल वाहिनीके साथ स्थिरतापूर्वक खड़े होकर एक-दूसरेका सामना कर रहे थे ।। ७३ ।।

अनुविन्दस्तु गदया कुन्तिभोजमताडयत् ।
कुन्तिभोजश्च तं तूर्णं शरव्रातैरवाकिरत् ।। ७४ ।।

अनुविन्दने कुन्तिभोजपर गदासे आघात किया। तब कुन्तिभोजने भी तुरंत ही अपने बाणसमूहोंद्वारा उसे आच्छादित कर दिया ।। ७४ ।।

कुन्तिभोजसुतश्चापि विन्दं विव्याध सायकैः ।
स च तं प्रतिविव्याध तदद्भुतमिवाभवत् ।। ७५ ।।

साथ ही कुन्तिभोजके पुत्रने विन्दको भी अपने सायकोंसे घायल कर दिया। विन्दने भी बदलेमें कुन्तिभोजपुत्रको क्षत-विक्षत कर दिया। वह अद्भुत-सी घटना हुई ।। ७५ ।।

केकया भ्रातरः पञ्च गान्धारान् पञ्च मारिष ।
ससैन्यास्ते ससैन्यांश्च योधयामासुराहवे ।। ७६ ।।

राजन्! पाँच भाई केकयराजकुमारोंने सेनासहित आकर युद्धमें अपनी विशाल वाहिनीके साथ खड़े हुए गान्धारदेशीय पाँच वीरोंके साथ युद्ध आरम्भ किया ।। ७६ ।।

वीरबाहुश्च ते पुत्रो वैराटिं रथसत्तमम् ।
उत्तरं योधयामास विव्याध निशितैः शरैः ।। ७७ ।।
उत्तरश्चापि तं वीरं विव्याध निशितैः शरैः ।

आपके पुत्र वीरबाहुने विराटके पुत्र श्रेष्ठ रथी उत्तरके साथ युद्ध किया और उसे तीखे बाणोंद्वारा घायल कर दिया। उत्तरने भी वीरबाहुको अपने तीक्ष्ण सायकोंका लक्ष्य बनाकर बेध डाला ।। ७७½ ।।

चेदिराट् समरे राजन्नुलूकं समभिद्रवत् ।। ७८ ।।
तथैव शरवर्षेण उलूकं समविद्ध्यत ।
उलूकश्चापि तं बाणैर्निशितैर्लोमवाहिभिः ।। ७९ ।।

राजन्! चेदिराजने समरांगणमें उलूकपर धावा किया और उसे अपने बाणोंकी वर्षासे बींध डाला। वैसे ही उलूकने भी पंखयुक्त तीखे बाणोंद्वारा चेदिराजको गहरी चोट पहुँचायी ।। ७८-७९ ।।

तयोर्युद्धं समभवद् घोररूपं विशाम्पते ।
दारयेतां सुसंक्रुद्धावन्योन्यमपराजितौ ।। ८० ।।

प्रजानाथ! फिर उन दोनोंमें बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा। किसीसे पराजित न होनेवाले वे दोनों वीर अत्यन्त कुपित होकर एक दूसरेको विदीर्ण किये देते थे ।। ८० ।।

एवं द्वन्द्वसहस्राणि रथवारणवाजिनाम् ।
पदातीनां च समरे तव तेषां च संकुले ।। ८१ ।।

इस प्रकार उस घमासान युद्धमें आपके और पाण्डवपक्षके रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सैन्यके सहस्रों योद्धाओंमें द्वन्द्व-युद्ध चल रहा था ।। ८१ ।।

मुहूर्तमिव तद् युद्धमासीन्मधुरदर्शनम् ।
तत उन्मत्तवद् राजन् न प्राज्ञायत किंचन ।। ८२ ।।

महाराज! दो घड़ीतक तो वह युद्ध देखनेमें बड़ा मनोरम प्रतीत हुआ; फिर उन्मत्तकी भाँति विकट युद्ध चलने लगा। उस समय किसीको कुछ सूझ नहीं पड़ता था ।। ८२ ।।

गजो गजेन समरे रथिनं च रथी ययौ ।
अश्वोऽश्वं समभिप्रायात् पदातिश्च पदातिनम् ।। ८३ ।।

उस समरभूमिमें हाथी हाथीके साथ भिड़ गया, रथीने रथीपर आक्रमण किया, घुड़सवार घुड़सवारपर चढ़ आया और पैदलने पैदलके साथ युद्ध किया ।। ८३ ।।

ततो युद्धं सुदुर्धर्षं व्याकुलं समपद्यत ।
शूराणां समरे तत्र समासाद्येतरेतरम् ।। ८४ ।।

कुछ ही देरमें उस रणक्षेत्रके भीतर शूरवीर सैनिकोंका एक-दूसरेसे भिड़कर अत्यन्त दुर्धर्ष एवं घमासान युद्ध होने लगा ।। ८४ ।।

तत्र देवर्षयः सिद्धाश्चारणाश्च समागताः ।
प्रैक्षन्त तद् रणं घोरं देवासुरसमं भुवि ।। ८५ ।।

वहाँ आये हुए देवर्षियों, सिद्धों तथा चारणोंने भूतलपर होनेवाले उस युद्धको देवासुर-संग्रामके समान भयंकर देखा ।। ८५ ।।

ततो दन्तिसहस्राणि रथानां चापि मारिष ।
अश्वौघाः पुरुषौघाश्च विपरीतं समाययुः ।। ८६ ।।

आर्य! तदनन्तर हजारों हाथी, रथ, घुड़सवार और पैदल सैनिक द्वन्द्व-युद्धके पूर्वोक्त क्रमका उल्लंघन करके सभी सबके साथ युद्ध करने लगे ।। ८६ ।।

तत्र तत्र प्रदृश्यन्ते रथवारणपत्तयः ।
सादिनश्च नरव्याघ्र युध्यमाना मुहुर्मुहुः ।। ८७ ।।

नरश्रेष्ठ! जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती, वहीं रथ, हाथी, घुड़सवार और पैदल सैनिक बारंबार युद्ध करते दिखायी देते थे ।। ८७ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्व-युद्धविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४५ ।।

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव-सेनाका घमासान युद्ध

संजय उवाच

राजन् शतसहस्राणि तत्र तत्र पदातिनाम् ।
निर्मर्यादं प्रयुद्धानि तत् ते वक्ष्यामि भारत ।। १ ।।

संजय कहते हैं—भरतवंशी नरेश! उस रणभूमिमें जहाँ-तहाँ लाखों सैनिकोंका मर्यादाशून्य युद्ध चल रहा था। वह सब आपको बता रहा हूँ, सुनिये ।। १ ।।

न पुत्रः पितरं जज्ञे पिता वा पुत्रमौरसम् ।
न भ्राता भ्रातरं तत्र स्वस्रीयं न च मातुलः ।। २ ।।

न पुत्र पिताको पहचानता था, न पिता अपने औरस पुत्रको। न भाई भाईको जानता था, न मामा अपने भानजेको ।। २ ।।

न मातुलं च स्वस्रीयो न सखायं सखा तथा ।
आविष्टा इव युध्यन्ते पाण्डवाः कुरुभिः सह ।। ३ ।।

न भानजेने मामाको पहचाना, न मित्रने मित्रको। उस समय पाण्डव-योद्धा कौरव-सैनिकोंके साथ इस प्रकार युद्ध करते थे, मानो उनमें किसी ग्रह आदिका आवेश हो गया हो ।। ३ ।।

रथानीकं नरव्याघ्राः केचिदभ्यपतन् रथैः ।
अभज्यन्त युगैरेव युगानि भरतर्षभ ।। ४ ।।

कुछ नरश्रेष्ठ वीर अपने रथोंद्वारा शत्रुपक्षकी रथ-सेनापर टूट पड़े। भरतश्रेष्ठ! कितने ही रथोंके जूए विपक्षी रथोंके जूओंसे ही टकराकर टूट गये ।। ४ ।।

रथेषाश्च रथेषाभिः कूबरा रथकूबरैः ।
संगतैः सहिताः केचित् परस्परजिघांसवः ।। ५ ।।
न शेकुश्चलितुं केचित् संनिपत्य रथा रथैः ।

रथोंके ईषादण्ड और कूबर भी सामने आये हुए रथोंके ईषादण्ड और कूबरोंसे भिड़कर टूक-टूक हो गये। एक दूसरेको मार डालनेकी इच्छा रखनेवाले कितने ही रथ दूसरे रथोंसे आमने-सामने भिड़कर एक पग भी इधर-उधर चल न सके ।। ५½ ।।

प्रभिन्नास्तु महाकायाः संनिपत्य गजा गजैः ।। ६ ।।
बहुधादारयन् क्रुद्धा विषाणैरितरेतरम् ।

गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले विशालकाय गजराज कुपित हो दूसरे हाथियोंसे टक्कर लेते हुए अपने दाँतोंके आघातसे एक-दूसरेको नाना प्रकारसे विदीर्ण करने लगे ।। ६½ ।।

सतोरणपताकैश्च वारणा वरवारणैः ।। ७ ।।
अभिसृत्य महाराज वेगवद्भिर्महागजैः ।
दन्तैरभिहतास्तत्र चुक्रुशुः परमातुराः ।। ८ ।।

महाराज! कितने ही हाथी तोरण और पताकाओंसहित वेगशाली महाकाय एवं श्रेष्ठ गजराजोंसे भिड़कर उनके दाँतोंके आघातसे अत्यन्त पीड़ित हो आतुर भावसे चिग्घाड़ रहे थे ।। ७-८ ।।

अभिनीताश्च शिक्षाभिस्तोत्रांकुशसमाहताः ।
अप्रभिन्नाः प्रभिन्नानां सम्मुखाभिमुखा ययुः ।। ९ ।।

जिन्हें अनेक प्रकारकी शिक्षाएँ मिली थीं तथा जिनका मद अभी प्रकट नहीं हुआ था, वे हाथी तोत्र और अंकुशोंकी चोट खाकर सम्मुख खड़े हुए मदस्रावी गजराजोंके सामने जाकर युद्धके लिये डट गये ।। ९ ।।

प्रभिन्नैरपि संसक्ताः केचित् तत्र महागजाः ।
क्रौञ्चवन्निनदं कृत्वा दुद्रुवुः सर्वतो दिशम् ।। १० ।।

कुछ महान् गजराज मदस्रावी हाथियोंसे टक्कर लेकर क्रौंच पक्षीकी भाँति चीत्कार करते हुए सब दिशाओंमें भाग गये ।। १० ।।

सम्यक् प्रणीता नागाश्च प्रभिन्नकरटामुखाः ।
ऋष्टितोमरनाराचैर्निर्विद्धा वरवारणाः ।। ११ ।।
प्रणेदुर्भिन्नमर्माणो निपेतुश्च गतासवः ।
प्राद्रवन्त दिशः केचिन्नदन्तो भैरवान् रवान् ।। १२ ।।

अच्छी तरह शिक्षा पाये हुए कितने ही हाथी तथा श्रेष्ठ गज, जिनके गण्डस्थलसे मद चू रहा था, ऋष्टि, तोमर और नाराचोंसे विद्ध होकर मर्म विदीर्ण हो जानेके कारण चिग्घाड़ते और प्राणशून्य हो धरतीपर गिर पड़ते थे। कितने ही भयानक चीत्कार करते हुए सब दिशाओंमें भाग जाते थे ।। ११-१२ ।।

गजानां पादरक्षास्तु व्यूढोरस्काः प्रहारिणः ।
ऋष्टिभिश्च धनुर्भिश्च विमलैश्च परश्वधैः ।। १३ ।।
गदाभिर्मुसलैश्चैव भिन्दिपालैः सतोमरैः ।
आयसैः परिघैश्चैव निस्त्रिंशैर्विमलैः शितैः ।। १४ ।।
प्रगृहीतैः सुसंरब्धा द्रवमाणास्ततस्ततः ।
व्यदृश्यन्त महाराज परस्परजिघांसवः ।। १५ ।।

महाराज! हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेवाले योद्धा, जिनके वक्षःस्थल विस्तृत एवं विशाल थे, अत्यन्त क्रोधमें भरकर इधर-उधर दौड़ रहे थे और हाथोंमें लिये हुए ऋष्टि, धनुष, चमकीले फरसे, गदा, मूसल, भिन्दिपाल, तोमर, लोहेकी परिघ तथा तेज धारवाले

उज्ज्वल खड्ग आदि आयुधोंद्वारा एक-दूसरेके वधके लिये उत्सुक दिखायी दे रहे थे ।। १३—१५ ।।

राजमानाश्च निस्त्रिंशाः संसिक्ता नरशोणितैः ।
प्रत्यदृश्यन्त शूराणामन्योन्यमभिधावताम् ।। १६ ।।

परस्पर धावा करनेवाले शूरवीरोंके चमकीले खड्ग मनुष्योंके रक्तसे रँगे हुए देखे जाते थे ।। १६ ।।

अवक्षिप्तावधूतानामसीनां वीरबाहुभिः ।
संजज्ञे तुमुलः शब्दः पततां परमर्मसु ।। १७ ।।

वीरोंकी भुजाओंसे घुमाकर चलाये हुए खड्ग जब दूसरोंके मर्मपर आघात करते थे, उस समय उनका भयंकर शब्द सुनायी पड़ता था ।। १७ ।।

गदामुसलरुग्णानां भिन्नानां च वरासिभिः ।
दन्तिदन्तावभिन्नानां मृदितानां च दन्तिभिः ।। १८ ।।
तत्र तत्र नरौघाणां क्रोशतामितरेतरम् ।
शुश्रुवुर्दारुणा वाचः प्रेतानामिव भारत ।। १९ ।।

उस युद्धस्थलमें गदा और मूसलके आघातसे कितने ही मनुष्योंके अंग-भंग हो गये थे, कितने ही अच्छी श्रेणीके तलवारोंसे छिन्न-भिन्न हो रहे थे, कितनोंके शरीर हाथियोंके दाँतोंसे दबकर विदीर्ण हो गये थे और कितनोंको हाथियोंने कुचल दिया था। इस प्रकार असंख्य मनुष्योंके समुदाय अधमरे-से होकर एक-दूसरेको पुकार रहे थे। भारत! उनके वे भयंकर आर्तनाद प्रेतोंके कोलाहलके समान श्रवणगोचर हो रहे थे ।। १८-१९ ।।

हयैरपि हयारोहाश्चामरापीडधारिभिः ।
हंसैरिव महावेगैरन्योन्यमभिविद्रुताः ।। २० ।।

चँवर और कलंगीसे सुशोभित हंस-तुल्य सफेद एवं महान् वेगशाली घोड़ोंपर बैठे हुए कितने ही घुड़सवार एक-दूसरेपर धावा कर रहे थे ।। २० ।।

तैर्विमुक्ता महाप्रासा जाम्बूनदविभूषणाः ।
आशुगा विमलास्तीक्ष्णाः सम्पेतुर्भुजगोपमाः ।। २१ ।।

उनके द्वारा चलाये हुए सुवर्णभूषित निर्मल और तेज धारवाले शीघ्रगामी महाप्रास (भाले) सर्पोंके समान गिर रहे थे ।। २१ ।।

अश्वैरग्र्यजवैः केचिदाप्लुत्य महतो रथान् ।
शिरांस्याददिरे वीरा रथिनामश्वसादिनः ।। २२ ।।

कितने ही वीर घुड़सवार शीघ्रगामी अश्वोंद्वारा धावा करके बड़े-बड़े रथोंपर कूद पड़ते और रथियोंके मस्तक काट लेते थे ।। २२ ।।

बहूनपि हयारोहान् भल्लैः संनतपर्वभिः ।
रथी जघान सम्प्राप्य बाणगोचरमागतान् ।। २३ ।।

इसी प्रकार एक-एक रथी झुकी हुई गाँठवाले भल्ल नामक बाणोंद्वारा निशानेपर आये हुए बहुत-से घुड़सवारोंका संहार कर डालता था ।। २३ ।।

नवमेघप्रतीकाशाश्चाक्षिप्य तुरगान् गजाः ।
पादैरेव विमृद्नन्ति मत्ताः कनकभूषणाः ।। २४ ।।

नूतन मेघोंके समान शोभा पानेवाले स्वर्णभूषित मतवाले हाथी बहुत-से घोड़ोंको सूँड़ोंसे झटककर पैरोंसे ही रौंद डालते थे ।। २४ ।।

पाट्यमानेषु कुम्भेषु पार्श्वेष्वपि च वारणाः ।
प्रासैर्विनिहताः केचिद् विनेदुः परमातुराः ।। २५ ।।

कितने ही हाथी प्रासोंकी चोट खाकर कुम्भस्थल और पार्श्वभागोंके विदीर्ण हो जानेपर अत्यन्त आतुर हो घोर चिग्घाड़ मचा रहे थे ।। २५ ।।

साश्वारोहान् हयान् कांचिदुन्मथ्य वरवारणाः ।
सहसा चिक्षिपुस्तत्र संकुले भैरवे सति ।। २६ ।।

बहुत-से बड़े-बड़े हाथी कितने ही घुड़सवारों-सहित घोड़ोंको पैरोंसे कुचलकर सहसा भयंकर युद्धमें फेंक देते थे ।। २६ ।।

साश्वारोहान् विषाणाग्रैरुत्क्षिप्य तुरगान् गजाः ।
रथौघानभिमृद्नन्तः सध्वजानभिचक्रमुः ।। २७ ।।

कितने ही हाथी अपने दाँतोंके अग्रभागसे घुड़सवारों-सहित घोड़ोंको उछालकर ध्वजोंसहित रथसमूहोंको पैरोंतले रौंदते हुए रणभूमिमें विचर रहे थे ।। २७ ।।

पुंस्त्वादतिमदत्वाच्च केचित् तत्र महागजाः ।
साश्वारोहान् हयाञ्जघ्नुः करैः सचरणैस्तथा ।। २८ ।।

वहाँ कितने ही महान् गज अत्यन्त मदोन्मत्त तथा पुरुष होनेके कारण सूँड़ों और पैरोंसे घोड़ों और घुड़सवारोंका संहार कर डालते थे ।। २८ ।।

अश्वारोहैश्च समरे हस्तिसादिभिरेव च ।
प्रतिमानेषु गात्रेषु पार्श्वेष्वभि च वारणान् ।
आशुगा विमलास्तीक्ष्णाः सम्पेतुर्भुजगोपमाः ।। २९ ।।

युद्धमें घुड़सवारों और गजारोहियोंके चलाये हुए निर्मल, तीक्ष्ण तथा सर्पोंके समान भयंकर शीघ्रगामी बाण हाथियोंके ललाटों, अन्यान्य अंगों तथा पसलियोंपर चोट करते थे ।। २९ ।।

नराश्वकायान् निर्भिद्य लौहानि कवचानि च ।
निपेतुर्विमलाः शक्त्यो वीरबाहुभिरर्पिताः ।। ३० ।।
महोल्काप्रतिमा घोरास्तत्र तत्र विशाम्पते ।

वीरोंकी भुजाओंसे चलायी हुई निर्मल शक्तियाँ, मनुष्यों और घोड़ोंकी काया तथा लोहमय कवचोंको भी विदीर्ण करके धरतीपर गिर जाती थीं। प्रजानाथ! वहाँ गिरते समय वे भयंकर शक्तियाँ बड़ी भारी उल्काओंके समान प्रतीत होती थीं ।। ३० १/२ ।।

द्वीपिचर्मावनद्धैश्च व्याघ्रचर्मच्छदैरपि ।। ३१ ।।
विकोशैर्विमलैः खड्गैरभिजग्मुः परान् रणे ।

जो चमकीली तलवारें पहले चितकबरे अथवा साधारण व्याघ्र-चर्मकी बनी हुई म्यानोंमें बंद रहती थीं, उन्हें उन म्यानोंसे निकालकर उनके द्वारा वीर पुरुष रणभूमिमें विपक्षियोंका वध कर रहे थे ।। ३१ १/२ ।।

अभिप्लुतमभिक्रुद्धमेकपार्श्वावदारितम् ।। ३२ ।।
विदर्शयन्तः सम्पेतुः खड्गचर्मपरश्वधैः ।

कितने ही योद्धा ढाल, तलवार तथा फरसोंसे निर्भय होकर शत्रुके सम्मुख जाने, क्रोधपूर्वक दाँतोंसे ओठ दबाकर आक्रमण करने तथा बायीं पसलीपर चोट करके उसे विदीर्ण करने आदिके पैंतरे दिखाते हुए शत्रुओंपर टूट पड़ते थे ।। ३२ १/२ ।।

केचिदाक्षिप्य करिणः साश्वानपि रथान् करैः ।। ३३ ।।
विकर्षन्तो दिशः सर्वाः सम्पेतुः सर्वशब्दगाः ।

प्रत्येक शब्दकी ओर गमन करनेवाले कितने ही हाथी घोड़ोंसहित रथोंकी अपनी सूँड़ोंसे खींचकर उन्हें लिये-दिये सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ रहे थे ।। ३३ १/२ ।।

शङ्कुभिर्दारिताः केचित् सम्भिन्नाश्च परश्वधैः ।। ३४ ।।
हस्तिभिर्मृदिताः केचित् क्षुण्णाश्चान्ये तुरंगमैः ।
रथनेमिनिकृत्ताश्च निकृत्ताश्च परश्वधैः ।। ३५ ।।

कुछ मनुष्य बाणोंसे विदीर्ण होकर पड़े थे, कितने ही फरसोंसे छिन्न-भिन्न हो रहे थे, कितनोंको हाथियोंने मसल डाला था, कितने ही घोड़ोंकी टापसे कुचल गये थे, कितनोंके शरीर रथके पहियोंसे कट गये थे और कितने ही कूबरोंसे काट डाले गये थे ।। ३४-३५ ।।

व्याक्रोशन्त नरा राजंस्तत्र तत्र स्म बान्धवान् ।
पुत्रानन्ये पितॄनन्ये भ्रातॄंश्च सह बन्धुभिः ।। ३६ ।।
मातुलान् भागिनेयांश्च परानपि च संयुगे ।

राजन्! रणभूमिमें जहाँ-तहाँ गिरे हुए अगणित मनुष्य अपने कुटुम्बीजनोंको पुकार रहे थे। कुछ बेटोंको, कुछ पिताको, कुछ भाई-बन्धुओंको, कुछ मामा-भाजोंको और कुछ लोग दूसरों-दूसरोंके नाम ले-लेकर विलाप कर रहे थे ।। ३६ १/२ ।।

विकीर्णान्त्राः सुबहवो भग्नसक्थाश्च भारत ।। ३७ ।।
बाहुभिश्चापरे छिन्नैः पार्श्वेषु च विदारिताः ।
क्रन्दन्तः समदृश्यन्त तृषिता जीवितेप्सवः ।। ३८ ।।

भारत! बहुतोंकी आँतें बाहर निकलकर बिखर गयी थीं, जाँघें टूट गयी थीं, कितनोंकी बाहें कट गयी थीं, बहुतोंकी पसलियाँ फट गयी थीं और कितने ही घायल अवस्थामें प्याससे पीड़ित हो जीवनके लोभसे रोते दिखायी देते थे ।। ३७-३८ ।।

तृषा परिगताः केचिदल्पसत्त्वा विशाम्पते ।
भूमौ निपतिताः संख्ये मृगयांचक्रिरे जलम् ।। ३९ ।।

राजन्! कुछ लोग धरतीपर अधमरे पड़े थे। उनमें जीवनकी शक्ति बहुत थोड़ी रह गयी थी और वे पिपासासे पीड़ित हो युद्धभूमिमें ही जलकी खोज कर रहे थे ।। ३९ ।।

रुधिरौघपरिक्लिन्नाः क्लिश्यमानाश्च भारत ।
व्यनिन्दन् भृशमात्मानं तव पुत्रांश्च संगतान् ।। ४० ।।

भरतनन्दन! लहूलुहान होकर कष्ट पाते हुए वे समस्त घायल सैनिक अपनी और आपके पुत्रोंकी अत्यन्त निन्दा करते थे ।। ४० ।।

अपरे क्षत्रियाः शूराः कृतवैराः परस्परम् ।
नैव शस्त्रं विमुञ्चन्ति नैव क्रन्दन्ति मारिष ।। ४१ ।।

माननीय महाराज! दूसरे शूरवीर क्षत्रिय आपसमें वैर बाँधे हुए उस घायल अवस्थामें भी न हथियार छोड़ते थे और न क्रन्दन ही करते थे ।। ४१ ।।

तर्जयन्ति च संहृष्टास्तत्र तत्र परस्परम् ।
आदश्य दशनैश्चापि क्रोधात् सरदनच्छदम् ।। ४२ ।।
भ्रुकुटीकुटिलैर्वक्त्रैः प्रेक्षन्ति च परस्परम् ।

वे बार-बार उत्साहित होकर एक-दूसरेको डाँट बताते और क्रोधपूर्वक ओठोंको दाँतसे दबाकर भौंहें टेढ़ी करके परस्पर दृष्टिपात करते थे ।। ४२½ ।।

अपरे क्लिश्यमानास्तु शरार्ता व्रणपीडिताः ।। ४३ ।।
निष्कूजाः समपद्यन्त दृढसत्त्वा महाबलाः ।

धैर्यको दृढ़तापूर्वक धारण किये रहनेवाले दूसरे महाबली वीर बाणोंके आघातसे पीड़ित हो क्लेश सहन करते हुए भी मौन ही रहते थे—अपनी वेदना प्रकाशित नहीं करते थे ।। ४३½ ।।

अन्ये च विरथाः शूरा रथमन्यस्य संयुगे ।। ४४ ।।
प्रार्थयाना निपतिताः संक्षुण्णा वरवारणैः ।
अशोभन्त महाराज सपुष्पा इव किंशुकाः ।। ४५ ।।

महाराज! कुछ वीर पुरुष अपना रथ भग्न हो जानेके कारण युद्धमें पृथ्वीपर गिरकर दूसरेका रथ माँग रहे थे, इतनेहीमें बड़े-बड़े हाथियोंके पैरोंसे वे कुचल गये। उस समय उनके रक्तरंजित शरीर फूले हुए पलाशके समान शोभा पा रहे थे ।। ४४-४५ ।।

सम्बभूवुरनीकेषु बहवो भैरवस्वनाः ।
वर्तमाने महाभीमे तस्मिन् वीरवरक्षये ।। ४६ ।।

निजघान पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं रणे ।
स्वस्रीयो मातुलं चापि स्वस्रीयं चापि मातुलः ।। ४७ ।।
सखा सखायं च तथा सम्बन्धी बान्धवं तथा ।

उन सेनाओंमें अनेकानेक भयंकर शब्द सुनायी पड़ते थे। बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस महाभयानक संग्राममें पिताने पुत्रको, पुत्रने पिताको, भानजेने मामाको, मामाने भानजेको, मित्रने मित्रको तथा सगे-सम्बन्धीने अपने सगे बान्धवजनोंको मार डाला ।। ४६-४७ ½ ।।

एवं युयुधिरे तत्र कुरवः पाण्डवैः सह ।। ४८ ।।
वर्तमाने तथा तस्मिन् निर्मर्यादे भयानके ।
भीष्ममासाद्य पार्थानां वाहिनी समकम्पत ।। ४९ ।।

इस प्रकार उस मर्यादाशून्य भयानक संग्राममें कौरवोंका पाण्डवोंके साथ घोर युद्ध हो रहा था। इतनेहीमें सेनापति भीष्मके पास पहुँचकर पाण्डवोंकी सारी सेना काँपने लगी ।। ४८-४९ ।।

केतुना पञ्चतारेण तालेन भरतर्षभ ।
राजतेन महाबाहुरुच्छ्रितेन महारथे ।
बभौ भीष्मस्तदा राजंश्चन्द्रमा इव मेरुणा ।। ५० ।।

भरतश्रेष्ठ! महाबाहु भीष्म अपने विशाल रथपर बैठकर चाँदीके बने हुए पाँच तारोंसे युक्त तालांकित ध्वजके द्वारा मेरुके शिखरपर स्थित हुए चन्द्रमाके समान शोभा पा रहे थे ।। ५० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें दोनों सेनाओंका घमासान युद्धविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४६ ।।

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मके साथ अभिमन्युका भयंकर युद्ध, शल्यके द्वारा उत्तरकुमारका वध और श्वेतका पराक्रम

संजय उवाच

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि दारुणे ।
वर्तमाने तथा रौद्रे महावीरवरक्षये ।। १ ।।
दुर्मुखः कृतवर्मा च कृपः शल्यो विविंशतिः ।
भीष्मं जुगुपुरासाद्य तव पुत्रेण चोदिताः ।। २ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! उस अत्यन्त भयंकर दिनका पूर्वभाग जब प्रायः व्यतीत हो गया, तब बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस भयानक संग्राममें आपके पुत्रकी आज्ञासे दुर्मुख, कृतवर्मा, कृपाचार्य, शल्य और विविंशति वहाँ आकर भीष्मकी रक्षा करने लगे ।। १-२ ।।

एतैरतिरथैर्गुप्तः पञ्चभिर्भरतर्षभः ।
पाण्डवानामनीकानि विजगाहे महारथः ।। ३ ।।

इन पाँच अतिरथी वीरोंसे सुरक्षित हो भरत-भूषण महारथी भीष्मजीने पाण्डवोंकी सेनाओंमें प्रवेश किया ।। ३ ।।

चेदिकाशिकरूषेषु पञ्चालेघु च भारत ।
भीष्मस्य बहुधा तालश्चलत्केतुरदृश्यत ।। ४ ।।

भारत! चेदि, काशि, करूष तथा पांचालोंमें विचरते हुए भीष्मका तालचिह्नित चंचल पताकाओंवाला रथ अनेक-सा दिखायी देने लगा ।। ४ ।।

स शिरांसि रणेऽरीणां रथांश्च सयुगध्वजान् ।
निचकर्त महावेगैर्भल्लैः संनतपर्वभिः ।। ५ ।।

वे युद्धमें झुकी हुई गाँठवाले अत्यन्त वेगशाली भल्लोंद्वारा शत्रुओंके मस्तक, रथ, जूआ तथा ध्वज काट-काटकर गिराने लगे ।। ५ ।।

नृत्यतो रथमार्गेषु भीष्मस्य भरतर्षभ ।
भृशमार्तस्वरं चक्रुर्नागा मर्मणि ताडिताः ।। ६ ।।

भरतश्रेष्ठ! वे रथके मार्गोंपर नृत्य-सा कर रहे थे। उनके बाणोंसे मर्मस्थानोंमें चोट खाये हुए हाथी अत्यन्त आर्तनाद करने लगे ।। ६ ।।

अभिमन्युः सुसंक्रुद्धः पिशङ्गैस्तुरगोत्तमैः ।
संयुक्तं रथमास्थाय प्रायाद् भीष्मरथं प्रति ।। ७ ।।

जाम्बूनदविचित्रेण कर्णिकारेण केतुना ।
अभ्यवर्तत भीष्मं च तांश्चैव रथसत्तमान् ।। ८ ।।

यह देख अभिमन्यु अत्यन्त कुपित हो पिंगलवर्णके श्रेष्ठ घोड़ोंसे जुते हुए रथपर बैठकर भीष्मके रथकी ओर दौड़े आये। उनका वह रथ कर्णिकारके चिह्नसे युक्त स्वर्णनिर्मित विचित्र ध्वजसे सुशोभित था। उन्होंने भीष्मपर तथा उनकी रक्षाके लिये आये हुए उन श्रेष्ठ रथियोंपर भी आक्रमण किया ।। ७-८ ।।

स तालकेतोस्तीक्ष्णेन केतुमाहत्य पत्रिणा ।
भीष्मेण युयुधे वीरस्तस्य चानुरथैः सह ।। ९ ।।

वीर अभिमन्युने तीखे बाणसे उस तालचिह्नित ध्वजको छेद डाला और भीष्म तथा उनके अनुगामी रथियोंके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया ।। ९ ।।

कृतवर्माणमेकेन शल्यं पञ्चभिराशुगैः ।
विद्ध्वा नवभिरानर्च्छच्छिताग्रैः प्रपितामहम् ।। १० ।।

उन्होंने एक बाणसे कृतवर्माको और पाँच शीघ्रगामी बाणोंसे शल्यको बेधकर तीखी धारवाले नौ बाणोंसे प्रपितामह भीष्मको भी चोट पहुँचायी ।। १० ।।

पूर्णायतविसृष्टेन सम्यक् प्रणिहितेन च ।
ध्वजमेकेन विव्याध जाम्बूनदपरिष्कृतम् ।। ११ ।।

तत्पश्चात् धनुषको अच्छी तरह खींचकर पूरे मनोयोगसे चलाये हुए एक बाणके द्वारा उनके सुवर्ण-भूषित ध्वजको भी छेद डाला ।। ११ ।।

दुर्मुखस्य तु भल्लेन सर्वावरणभेदिना ।
जहार सारथेः कायाच्छिरः संनतपर्वणा ।। १२ ।।

इसके बाद झुकी हुई गाँठवाले तथा सब प्रकारके आवरणोंका भेदन करनेवाले एक भल्लके द्वारा दुर्मुखके सारथिका मस्तक धड़से अलग कर दिया ।। १२ ।।

धनुश्चिच्छेद भल्लेन कार्तस्वरविभूषितम् ।
कृपस्य निशिताग्रेण तांश्च तीक्ष्णमुखैः शरैः ।। १३ ।।
जघान परमक्रुद्धो नृत्यन्निव महारथः ।

साथ ही कृपाचार्यके स्वर्णभूषित धनुषको भी तेज धारवाले भालासे काट गिराया; फिर सब ओर घूमकर नृत्य-सा करते हुए महारथी अभिमन्युने अत्यन्त कुपित हो तीखी नोकवाले बाणोंसे भीष्मकी रक्षा करनेवाले उन महारथियोंको भी घायल कर दिया ।। १३ १/२ ।।

तस्य लाघवमुद्वीक्ष्य तुतुषुर्देवता अपि ।। १४ ।।
लब्धलक्षतया कार्ष्णेः सर्वे भीष्ममुखा रथाः ।
सत्त्ववन्तममन्यन्त साक्षादिव धनंजयम् ।। १५ ।।

अभिमन्युके हाथोंकी यह फुर्ती देखकर देवताओंको भी बड़ी प्रसन्नता हुई। अर्जुनकुमारके इस लक्ष्य-वेधकी सफलतासे प्रभावित हो भीष्म आदि सभी रथियोंने उन्हें साक्षात् अर्जुनके समान शक्तिशाली समझा ।। १४-१५ ।।

तस्य लाघवमार्गस्थमलातसदृशप्रभम् ।
दिशः पर्यपतच्चापं गाण्डीवमिव घोषवत् ।। १६ ।।

अभिमन्युका धनुष गाण्डीवके समान टंकारध्वनि प्रकट करनेवाला, हाथोंकी फुर्ती दिखानेका उपयुक्त स्थान और खींचे जानेपर अलातचक्रके समान मण्डलाकार प्रकाशित होनेवाला था। वह वहाँ सम्पूर्ण दिशाओंमें घूम रहा था ।। १६ ।।

तमासाद्य महावेगैर्भीष्मो नवभिराशुगैः ।
विव्याध समरे तूर्णमार्जुनिं परवीरहा ।। १७ ।।

अर्जुनकुमार अभिमन्युको पाकर शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले भीष्मने समरभूमिमें नौ शीघ्रगामी महावेगवान् बाणोंद्वारा तुरंत ही उन्हें वेध दिया ।। १७ ।।

ध्वजं चास्य त्रिभिर्भल्लैश्चिच्छेद परमौजसः ।
सारथिं च त्रिभिर्बाणैराजघान यतव्रतः ।। १८ ।।

साथ ही उस महातेजस्वी वीरके ध्वजको भी तीन बाणोंसे काट गिराया; इतना ही नहीं, नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले भीष्मने तीन बाणोंसे अभिमन्युके सारथिको भी मार डाला ।। १८ ।।

तथैव कृतवर्मा च कृपः शल्यश्च मारिष ।
विद्ध्वा नाकम्पयत् कार्ष्णिं मैनाकमिव पर्वतम् ।। १९ ।।

आर्य! इसी प्रकार कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा शल्य उस मैनाक पर्वतकी भाँति स्थिर हुए अर्जुनकुमारको बाणविद्ध करके भी कम्पित न कर सके ।। १९ ।।

स तैः परिवृतः शूरो धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
ववर्ष शरवर्षाणि कार्ष्णिः पञ्चरथान् प्रति ।। २० ।।

दुर्योधनके उन महारथियोंसे घिर जानेपर भी शूरवीर अर्जुनकुमार उन पाँचों रथियोंपर बाण-वर्षा करता रहा ।। २० ।।

ततस्तेषां महास्त्राणि संवार्य शरवृष्टिभिः ।
ननाद बलवान् कार्ष्णिर्भीष्माय विसृजन् शरान् ।। २१ ।।

इस प्रकार अपने बाणोंकी वर्षासे उन सबके महान् अस्त्रोंका निवारण करके बलवान् अर्जुनकुमार अभिमन्युने भीष्मपर सायकोंका प्रहार करते हुए बड़े जोरका सिंहनाद किया ।। २१ ।।

तत्रास्य सुमहद् राजन् बाह्वोर्बलमदृश्यत ।
यतमानस्य समरे भीष्ममर्दयतः शरैः ।। २२ ।।

राजन्! उस समय समरभूमिमें प्रयत्नपूर्वक अपने बाणोंद्वारा भीष्मको पीड़ा देते हुए अभिमन्युकी भुजाओंका महान् बल प्रत्यक्ष देखा गया ।। २२ ।।

पराक्रान्तस्य तस्यैव भीष्मोऽपि प्राहिणोच्छरान् ।
स तांश्चिच्छेद समरे भीष्मचापच्युतान् शरान् ।। २३ ।।

तब भीष्मने भी उस पराक्रमी वीरपर बाणोंका प्रहार किया; परंतु अभिमन्युने रणभूमिमें भीष्मके धनुषसे छूटे हुए समस्त बाणोंको काट डाला ।। २३ ।।

ततो ध्वजममोघेषुर्भीष्मस्य नवभिः शरैः ।
चिच्छेद समरे वीरस्तत उच्चुक्रुशुर्जनाः ।। २४ ।।

अभिमन्युके बाण अमोघ थे। उस वीरने समरांगणमें नौ बाणोंद्वारा भीष्मके ध्वजको काट गिराया। यह देख सब लोग उच्च स्वरसे कोलाहल कर उठे ।। २४ ।।

स राजतो महास्कन्धस्तालो हेमविभूषितः ।
सौभद्रविशिखैश्छिन्नः पपात भुवि भारत ।। २५ ।।

भरतनन्दन! वह रजतनिर्मित, स्वर्णभूषित अत्यन्त ऊँचा ताल-चिह्नसे युक्त भीष्मका ध्वज सुभद्राकुमारके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। २५ ।।

तं तु सौभद्रविशिखैः पातितं भरतर्षभ ।
दृष्ट्वा भीमो ननादोच्चैः सौभद्रमभिहर्षयन् ।। २६ ।।

भरतश्रेष्ठ! अभिमन्युके बाणोंसे कटकर गिरे हुए उस ध्वजको देखकर भीमसेनने सुभद्राकुमारका हर्ष बढ़ाते हुए उच्चस्वरसे गर्जना की ।। २६ ।।

अथ भीष्मो महास्त्राणि दिव्यानि सुबहूनि च ।
प्रादुश्चक्रे महारौद्रे रणे तस्मिन् महाबलः ।। २७ ।।

तब महाबली भीष्मने उस अत्यन्त भयंकर संग्राममें बहुत-से महान् दिव्यास्त्र प्रकट किये ।। २७ ।।

ततः शरसहस्रेण सौभद्रं प्रपितामहः ।
अवाकिरदमेयात्मा तदद्भुतमिवाभवत् ।। २८ ।।

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न प्रपितामह भीष्मने सुभद्राकुमारपर हजारों बाणोंकी वर्षा की। वह एक अद्भुत-सी घटना प्रतीत हुई ।। २८ ।।

ततो दश महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ।
रक्षार्थमभ्यधावन्त सौभद्रं त्वरिता रथैः ।। २९ ।।
विराटः सह पुत्रेण धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
भीमश्च केकयाश्चैव सात्यकिश्च विशाम्पते ।। ३० ।।

राजन्! तब पुत्रसहित विराट, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, भीमसेन, पाँचों भाई केकयराजकुमार तथा सात्यकि—ये पाण्डव-पक्षके महान् धनुर्धर दस महारथी अभिमन्युकी रक्षाके लिये रथोंद्वारा तुरंत वहाँ दौड़े आये ।। २९-३० ।।

तेषां जवेनापततां भीष्मः शान्तनवो रणे ।
पाञ्चाल्यं त्रिभिरानर्च्छत् सात्यकिं नवभिः शरैः ।। ३१ ।।

शान्तनुनन्दन भीष्मने रणभूमिमें वेगपूर्वक आक्रमण करनेवाले उन दसों महारथियोंमेंसे धृष्टद्युम्नको तीन और सात्यकिको नौ बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी ।। ३१ ।।

पूर्णायतविसृष्टेन क्षुरेण निशितेन च ।
ध्वजमेकेन चिच्छेद भीमसेनस्य पत्रिणा ।। ३२ ।।

फिर धनुषको पूरी तरहसे खींचकर छोड़े हुए एक पंखयुक्त तीखे बाणसे भीमसेनकी ध्वजा काट डाली ।। ३२ ।।

जाम्बूनदमयः श्रीमान् केसरी स नरोत्तम ।
पपात भीमसेनस्य भीष्मेण मथितो रथात् ।। ३३ ।।

नरश्रेष्ठ! भीमसेनका वह सुवर्णमय सुन्दर ध्वज सिंहके चिह्नसे युक्त था। वह भीष्मके द्वारा काट दिये जानेपर रथसे नीचे गिर पड़ा ।। ३३ ।।

ततो भीमस्त्रिभिर्विद्ध्वा भीष्मं शान्तनवं रणे ।
कृपमेकेन विव्याध कृतवर्माणमष्टभिः ।। ३४ ।।

तब भीमसेनने उस रणक्षेत्रमें शान्तनुनन्दन भीष्मको तीन बाणोंसे घायल करके कृपाचार्यको एक और कृतवर्माको आठ बाणोंसे बेध दिया ।। ३४ ।।

प्रगृहीताग्रहस्तेन वैराटिरपि दन्तिना ।
अभ्यद्रवत राजानं मद्राधिपतिमुत्तरः ।। ३५ ।।

इसी समय जिसने अपनी सूँड़को मोड़कर मुखमें रख लिया था, उस दन्तार हाथीपर आरूढ़ हो विराट-कुमार उत्तरने मद्रदेशके स्वामी राजा शल्यपर धावा किया ।। ३५ ।।

तस्य वारणराजस्य जवेनापततो रथे ।
शल्यो निवारयामास वेगमप्रतिमं शरैः ।। ३६ ।।

वह गजराज बड़े वेगसे शल्यके रथकी ओर झपटा। उस समय शल्यने अपने बाणोंद्वारा उसके अप्रतिम वेगको रोक दिया ।। ३६ ।।

तस्य क्रुद्धः स नागेन्द्रो बृहतः साधुवाहिनः ।
पदा युगमधिष्ठाय जघान चतुरो हयान् ।। ३७ ।।

इससे वह गजेन्द्र शल्यपर अत्यन्त कुपित हो उठा और अपना एक पैर रथके जूएपर रखकर उसे अच्छी तरह वहन करनेवाले चारों विशाल घोड़ोंको मार डाला ।। ३७ ।।

स हताश्वे रथे तिष्ठन् मद्राधिपतिरायसीम् ।
उत्तरान्तकरीं शक्तिं चिक्षेप भुजगोपमाम् ।। ३८ ।।

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर बैठे हुए मद्रराज शल्यने लोहेकी बनी हुई एक शक्ति चलायी, जो सर्पके समान भयंकर और राजकुमार उत्तरका अन्त करनेवाली थी ।। ३८ ।।

तया भिन्नतनुत्राणः प्रविश्य विपुलं तमः ।
स पपात गजस्कन्धात् प्रमुक्ताङ्कुशतोमरः ।। ३९ ।।

उस शक्तिने उनके कवचको काट दिया। उसकी चोटसे उनपर अत्यन्त मोह छा गया। उनके हाथसे अंकुश और तोमर छूटकर गिर गये और वे भी अचेत होकर हाथीकी पीठसे पृथ्वीपर गिर पड़े ।। ३९ ।।

असिमादाय शल्योऽपि अवप्लुत्य रथोत्तमात् ।
तस्य वारणराजस्य चिच्छेदाथ महाकरम् ।। ४० ।।

इसी समय शल्य हाथमें तलवार लेकर अपने श्रेष्ठ रथसे कूद पड़े और उसीके द्वारा उस गजराजकी विशाल सूँड़को उन्होंने काट गिराया ।। ४० ।।

भिन्नमर्मा शरशतैश्छिन्नहस्तः स वारणः ।
भीममार्तस्वरं कृत्वा पपात च ममार च ।। ४१ ।।

सैकड़ों बाणोंसे उसके मर्म विद्ध हो गये थे और उसकी सूँड़ भी काट डाली गयी। इससे भयंकर आर्तनाद करके वह गजराज भूमिपर गिरा और मर गया ।। ४१ ।।

एतदीदृशकं कृत्वा मद्रराजो नराधिप ।
आरुरोह रथं तूर्णं भास्वरं कृतवर्मणः ।। ४२ ।।

नरेश्वर! यह पराक्रम करके मद्रराज शल्य तुरंत ही कृतवर्माके तेजस्वी रथपर चढ़ गये ।। ४२ ।।

उत्तरं वै हतं दृष्ट्वा वैराटिर्भ्रातरं तदा ।
कृतवर्मणा च सहितं दृष्ट्वा शल्यमवस्थितम् ।। ४३ ।।
श्वेतः क्रोधात् प्रजज्वाल हविषा हव्यवाडिव ।

अपने भाई उत्तरको मारा गया और शल्यको कृतवर्माके साथ रथपर बैठा हुआ देख विराटपुत्र श्वेत क्रोधसे जल उठे, मानो अग्निमें घीकी आहुति पड़ गयी हो ।। ४३ $\frac{१}{२}$ ।।

स विस्फार्य महच्चापं शक्रचापोपमं बली ।। ४४ ।।
अभ्यधावज्जिघांसन् वै शल्यं मद्राधिपं बली ।

उस बलवान् वीरने इन्द्रधनुषके समान अपने विशाल शरासनको कानोंतक खींचकर मद्रराज शल्यको मार डालनेकी इच्छासे उनपर धावा किया ।। ४४ $\frac{१}{२}$ ।।

महता रथवंशेन समन्तात् परिवारितः ।। ४५ ।।
मुञ्चन् बाणमयं वर्षं प्रायाच्छल्यरथं प्रति ।

वह विशाल रथ-सेनाके द्वारा सब ओरसे घिरकर बाणोंकी वर्षा करता हुआ शल्यके रथपर चढ़ आया ।। ४५ $\frac{१}{२}$ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मत्तवारणविक्रमम् ।। ४६ ।।
तावकानां रथाः सप्त समन्तात् पर्यवारयन् ।
मद्रराजमभीप्सन्तो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम् ।। ४७ ।।

मतवाले हाथीके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले श्वेतको धावा करते देख आपके सात रथियोंने मौतके दाँतोंमें फँसे हुए मद्रराज शल्यको बचानेकी इच्छा रखकर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ।। ४६-४७ ।।

बृहद्बलश्च कौसल्यो जयत्सेनश्च मागधः ।
तथा रुक्मरथो राजन् शल्यपुत्रः प्रतापवान् ।। ४८ ।।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
बृहत्क्षत्रस्य दायादः सैन्धवश्च जयद्रथः ।। ४९ ।।

राजन्! उन रथियोंके नाम ये हैं—कोसलनरेश बृहद्बल, मगधदेशीय जयत्सेन, शल्यके प्रतापी पुत्र रुक्मरथ, अवन्तिके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण तथा बृहत्क्षत्रके पुत्र सिन्धुराज जयद्रथ ।। ४८-४९ ।।

नानावर्णविचित्राणि धनूंषि च महात्मनाम् ।
विस्फारितानि दृश्यन्ते तोयदेष्विव विद्युतः ।। ५० ।।

इन महामना वीरोंके फैलाये हुए अनेक रूपरंगके विचित्र धनुष बादलोंमें बिजलियोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। ५० ।।

ते तु बाणमयं वर्षं श्वेतमूर्धन्यपातयन् ।
निदाघान्तेऽनिलोद्धूता मेघा इव नगे जलम् ।। ५१ ।।

उन सबने श्वेतके मस्तकपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो ग्रीष्म-ऋतुके अन्तमें वायुके द्वारा उठाये हुए मेघ पर्वतपर जल बरसा रहे हों ।। ५१ ।।

ततः क्रुद्धो महेष्वासः सप्तभल्लैः सुतेजनैः ।
धनूंषि तेषामाच्छिद्य ममर्द पृतनापतिः ।। ५२ ।।

उस समय महान् धनुर्धर सेनापति श्वेतने कुपित होकर तेज किये हुए भल्ल नामक सात बाणोंद्वारा उन सातों रथियोंके धनुष काटकर उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ।। ५२ ।।

निकृत्तान्येव तानि स्म समदृश्यन्त भारत ।
ततस्ते तु निमेषार्धात् प्रत्यपद्यन् धनूंषि च ।। ५३ ।।
सप्त चैव पृषत्कांश्च श्वेतस्योपर्यपातयन् ।
ततः पुनरमेयात्मा भल्लैः सप्तभिराशुगैः ।
निचकर्त महाबाहुस्तेषां चापानि धन्विनाम् ।। ५४ ।।

भारत! वे सातों धनुष कट जानेपर ही दृष्टिमें आये। तदनन्तर उन सबने आधे निमेषमें ही दूसरे धनुष ले लिये और श्वेतके ऊपर एक ही साथ सात बाण चलाये। तब अमेय आत्मबलसे युक्त महाबाहु श्वेतने पुनः शीघ्रगामी सात भल्ल मारकर उन धनुर्धरोंके धनुष काट दिये ।। ५३-५४ ।।

ते निकृत्तमहाचापास्त्वरमाणा महारथाः ।
रथशक्तीः परामृश्य विनेदुर्भैरवान् रवान् ।। ५५ ।।

अपने विशाल धनुषोंके कट जानेपर उन सातों महारथियोंने बड़ी उतावलीके साथ रथ-शक्तियाँ उठा लीं और भयंकर गर्जना की ।। ५५ ।।

अन्वयुर्भरतश्रेष्ठ सप्त श्वेतरथं प्रति ।
ततस्ता ज्वलिताः सप्त महेन्द्राशनिनिःस्वनाः ।। ५६ ।।

भरतश्रेष्ठ! वे सातों शक्तियाँ प्रज्वलित हो देवराज इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर शब्द करती हुई श्वेतके रथकी ओर एक साथ चलीं ।। ५६ ।।

अप्राप्ताः सप्तभिर्भल्लैश्चिच्छेद परमास्त्रवित् ।
ततः समादाय शरं सर्वकायविदारणम् ।। ५७ ।।
प्राहिणोद् भरतश्रेष्ठ श्वेतो रुक्मरथं प्रति ।

परंतु श्वेत उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता थे। उन्होंने सात भल्ल मारकर अपने निकट आनेसे पहले ही उन शक्तियोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् श्वेतने सबकी कायाको विदीर्ण कर देनेवाले एक बाणको लेकर उसे रुक्मरथकी ओर चलाया ।। ५७½ ।।

तस्य देहे निपतितो बाणो वज्रातिगो महान् ।। ५८ ।।
ततो रुक्मरथो राजन् सायकेन दृढाहतः ।
निषसाद रथोपस्थे कश्मलं चाविशन्महत् ।। ५९ ।।

वज्रसे भी अधिक प्रभावशाली वह महान् बाण रुक्मरथके शरीरपर जा गिरा। राजन्! उस बाणसे अत्यन्त घायल होकर रुक्मरथ अपने रथके पिछले भागमें बैठ गया और अत्यन्त मूर्च्छित हो गया ।। ५८-५९ ।।

तं विसंज्ञं विमनसं त्वरमाणस्तु सारथिः ।
अपोवाह न सम्भ्रान्तः सर्वलोकस्य पश्यतः ।। ६० ।।

उसे अचेत और अनमना देख सारथि तनिक भी घबराहटमें न पड़कर अत्यन्त उतावलीके साथ सबके देखते-देखते रणभूमिसे दूर हटा ले गया ।। ६० ।।

ततोऽन्यान् षट् समादाय श्वेतो हेमविभूषितान् ।
तेषां षण्णां महाबाहुर्ध्वजशीर्षाण्यपातयत् ।। ६१ ।।

तब महाबाहु श्वेतने दूसरे स्वर्णभूषित छः बाण लेकर उन छहों रथियोंके ध्वजके अग्रभाग काट गिराये ।। ६१ ।।

हयांश्च तेषां निर्भिद्य सारथींश्च परंतप ।
शरैश्चैतान् समाकीर्य प्रायाच्छल्यरथं प्रति ।। ६२ ।।

परंतप! फिर उनके घोड़ों और सारथियोंको विदीर्ण करके उनके शरीरोंमें भी बहुत-से बाण जड़ दिये। इसके बाद श्वेतने शल्यके रथपर धावा किया ।। ६२ ।।

ततो हलहलाशब्दस्तव सैन्येषु भारत ।
दृष्ट्वा सेनापतिं तूर्णं यान्तं शल्यरथं प्रति ।। ६३ ।।

भारत! तब सेनापति श्वेतको शीघ्रतापूर्वक शल्यके रथकी ओर जाते देख आपकी सेनाओंमें हाहाकार मच गया ।। ६३ ।।

ततो भीष्मं पुरस्कृत्य तव पुत्रो महाबलः ।

वृतस्तु सर्वसैन्येन प्रायाच्छ्वेतरथं प्रति ।। ६४ ।।

मृत्योरास्यमनुप्राप्तं मद्रराजममोचयत् ।

तब आपके महाबली पुत्र दुर्योधनने भीष्मजीको आगे करके सम्पूर्ण सेनाके साथ श्वेतके रथपर चढ़ाई की और मृत्युके मुखमें पहुँचे हुए मद्रराज शल्यको छुड़ा लिया ।। ६४ $\frac{१}{२}$ ।।

ततो युद्धं समभवत् तुमुलं लोमहर्षणम् ।। ६५ ।।

तावकानां परेषां च व्यतिषक्तरथद्विपम् ।

तदनन्तर आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें अत्यन्त भयंकर रोमांचकारी युद्ध होने लगा। रथसे रथ और हाथीसे हाथी गुँथ गये ।। ६५ $\frac{१}{२}$ ।।

सौभद्रे भीमसेने च सात्यकौ च महारथे ।। ६६ ।।

कैकेये च विराटे च धृष्टद्युम्ने च पार्षते ।

एतेषु नरसिंहेषु चेदिमत्स्येषु चैव ह ।

ववर्ष शरवर्षाणि कुरुवृद्धः पितामहः ।। ६७ ।।

पाण्डवपक्षकी ओरसे सुभद्राकुमार अभिमन्यु, भीमसेन, महारथी सात्यकि, केकयराजकुमार, राजा विराट तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न—ये पुरुषसिंह और चेदि एवं मत्स्यदेशके क्षत्रिय युद्ध कर रहे थे। कुरुकुलके वृद्ध पुरुष पितामह भीष्मने इन सबपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ।। ६६-६७ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि श्वेतयुद्धे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें श्वेतयुद्धविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४७ ।।

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

श्वेतका महाभयंकर पराक्रम और भीष्मके द्वारा उसका वध

धृतराष्ट्र उवाच

एवं श्वेते महेष्वासे प्राप्ते शल्यरथं प्रति ।
कुरवः पाण्डवेयाश्च किमकुर्वत संजय ।। १ ।।
भीष्मः शान्तनवः किं वा तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! इस प्रकार महान् धनुर्धर श्वेतके शल्यके रथके समीप पहुँचनेपर कौरवों तथा पाण्डवोंने क्या किया? अथवा शान्तनुनन्दन भीष्मने कौन-सा पुरुषार्थ किया? मेरे पूछनेके अनुसार ये सब बातें मुझसे कहो ।। १½ ।।

संजय उवाच

राजन् शतसहस्राणि ततः क्षत्रियपुङ्गवाः ।। २ ।।
श्वेतं सेनापतिं शूरं पुरस्कृत्य महारथाः ।
राज्ञो बलं दर्शयन्तस्तव पुत्रस्य भारत ।। ३ ।।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य त्रातुमैच्छन्महारथाः ।
अभ्यवर्तन्त भीष्मस्य रथं हेमपरिष्कृतम् ।। ४ ।।
जिघांसन्तं युधां श्रेष्ठं तदाऽऽसीत् तुमुलं महत् ।

संजय कहते हैं—राजन्! पाण्डवपक्षके लाखों क्षत्रियशिरोमणि महारथी विराट सेनापति शूरवीर श्वेतको आगे करके आपके पुत्र दुर्योधनको अपना बल दिखाते हुए शिखण्डीको सामने रखकर भीष्मके सुवर्णभूषित रथपर चढ़ आये। भारत! वे महारथी श्वेतकी रक्षा करना चाहते थे। इसलिये उसे मारनेकी इच्छावाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्मपर उन्होंने धावा किया। उस समय बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया ।। २—४½ ।।

तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि महावैशसमद्भुतम् ।। ५ ।।
तावकानां परेषां च यथा युद्धमवर्तत ।

आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें जो महान् संहारकारी युद्ध जिस प्रकार हुआ, उसका उसी रूपमें आपसे वर्णन करता हूँ ।। ५½ ।।

तत्राकरोद् रथोपस्थान् शून्यान् शान्तनवो बहून् ।। ६ ।।
तत्राद्भुतं महच्चक्रे शरैराच्छेद् रथोत्तमान् ।
समावृणोच्छरैरर्कमर्कतुल्यप्रतापवान् ।। ७ ।।

उस युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मने बहुत-से रथोंकी बैठकोंको रथियोंसे शून्य कर दिया। वहाँ उन्होंने अत्यन्त अद्भुत कार्य किया। अपने बाणोंद्वारा बहुत-से श्रेष्ठ रथियोंको बहुत

पीड़ा दी। वे सूर्यके समान तेजस्वी थे। उन्होंने अपने सायकोंद्वारा सूर्यदेवको भी आच्छादित कर दिया ।। ६-७ ।।

नुदन् समन्तात् समरे रविरुद्यन् यथा तमः ।
तेनाजौ प्रेषिता राजन् शराः शतसहस्रशः ।। ८ ।।
क्षत्रियान्तकराः संख्ये महावेगा महाबलाः ।
शिरांसि पातयामासुर्वीराणां शतशो रणे ।। ९ ।।

जैसे सूर्य उदित होकर अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार वे सब ओर समरभूमिमें शत्रु-सेनाओंका संहार कर रहे थे। राजन्! उनके द्वारा चलाये हुए महान् वेग और बलसे सम्पन्न तथा क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले लाखों बाणोंने रणभूमिमें सैकड़ों श्रेष्ठ वीरोंके मस्तक काट गिराये ।। ८-९ ।।

गजान् कण्टकसन्नाहान् वज्रेणेव शिलोच्चयान् ।
रथा रथेषु संसक्ता व्यदृश्यन्त विशाम्पते ।। १० ।।

उन बाणोंने वज्रके मारे हुए पर्वतोंकी भाँति काँटेदार कवचोंसे सुसज्जित हाथियोंको भी धराशायी कर दिया। प्रजानाथ! उस समय रथ रथोंसे सटे हुए दिखायी देते थे ।। १० ।।

एके रथं पर्यवहंस्तुरगाः सतुरङ्गमम् ।
युवानं निहतं वीरं लम्बमानं सकार्मुकम् ।। ११ ।।

कितने ही घोड़े अपनेसहित रथको लिये हुए दूर भागे जा रहे थे और उसपर मरा हुआ नवयुवक वीर रथी धनुषके साथ ही लटक रहा था ।। ११ ।।

उदीर्णाश्च हया राजन् वहन्तस्तत्र तत्र ह ।
बद्धखड्गनिषङ्गाश्च विध्वस्तशिरसो हताः ।। १२ ।।
शतशः पतिता भूमौ वीरशय्यासु शेरते ।

राजन्! वे प्रचण्ड घोड़े उस रथको लिये-दिये यत्र-तत्र घूम रहे थे। कमरमें तलवार और पीठपर तरकस बाँधे हुए सैकड़ों आहत वीर मस्तक कट जानेके कारण पृथ्वीपर गिरकर वीरोचित शय्याओंपर शयन कर रहे थे ।। १२ १/२ ।।

परस्परेण धावन्तः पतिताः पुनरुत्थिताः ।। १३ ।।
उत्थाय च प्रधावन्तो द्वन्द्वयुद्धमवाप्नुवन् ।
पीडिताः पुनरन्योन्यं लुठन्तो रणमूर्धनि ।। १४ ।।

एक-दूसरेपर धावा करनेवाले कितने ही सैनिक गिर पड़ते और फिर उठकर खड़े हो जाते थे। खड़े होकर वे दौड़ते और परस्पर द्वन्द्वयुद्ध करने लगते थे। फिर आपसके प्रहारोंसे पीड़ित हो वे युद्धके मुहानेपर ही गिरकर लुढ़क जाते थे ।। १३-१४ ।।

सचापाः सनिषङ्गाश्च जातरूपपरिष्कृताः ।
विस्रब्धहतवीराश्च शतशः परिपीडिताः ।। १५ ।।
तेन तेनाभ्यधावन्त विसृजन्तश्च भारत ।

भारत! सैकड़ों वीर धनुष और तरकस लिये सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित हो कितने ही विपक्षी वीरोंका विश्वस्त भावसे विनाश करके स्वयं भी शत्रुओंके प्रहारसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे और स्वयं भी अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करते हुए विभिन्न मार्गोंसे इधर-उधर भाग-दौड़ कर रहे थे ।। १५ १/२ ।।

मत्तो गजः पर्यवर्तद्धयांश्च हतसादिनः ।। १६ ।।

सरथा रथिनश्चापि विमृद्नन्तः समन्ततः ।

मतवाले हाथी उन घोड़ोंके पीछे पड़े थे, जिनके सवार मारे गये थे। इसी प्रकार रथोंसहित रथी चारों ओर भूतलपर पड़ी हुई लाशोंको रौंदते हुए विचरण करते थे ।। १६ १/२ ।।

स्यन्दनादपतत् कश्चिन्निहतोऽन्येन सायकैः ।। १७ ।।

हतसारथिरप्युच्चैः पपात काष्ठवद् रथः ।

कितने ही वीर दूसरोंके बाणोंसे मारे जाकर रथसे गिर पड़ते थे। कहीं सारथिके मारे जानेपर रथ साधारण काष्ठकी भाँति ऊँचेसे नीचे गिर पड़ता था ।। १७ १/२ ।।

युध्यमानस्य संग्रामे व्यूढे रजसि चोत्थिते ।। १८ ।।

धनुः कूजितविज्ञानं तत्रासीत् प्रतियुद्धयतः ।

गात्रस्पर्शेन योधानां व्यज्ञास्त परिपन्थिनम् ।। १९ ।।

उस संग्राममें इतनी धूल उड़ी कि कुछ सूझ नहीं पड़ता था। केवल धनुषकी टंकारसे ही यह जाना जाता था कि प्रतिद्वन्द्वी युद्ध कर रहा है। कितने ही योद्धा दूसरे योद्धाओंके शरीरका स्पर्श करके ही यह समझ पाते थे कि यह शत्रुदलका है ।। १८-१९ ।।

युद्धयमानं शरै राजन् सिञ्जिनीध्वजिनीरवात् ।

अन्योन्यं वीरसंशब्दो नाश्रूयत भटैः कृतः ।। २० ।।

राजन्! कुछ लोग धनुषकी टंकार और सेनाका कोलाहल सुनकर ही यह समझ पाते थे कि कोई बाणोंद्वारा युद्ध कर रहा है। योद्धा एक-दूसरेके प्रति जो वीरोचित गर्जना करते थे, वह भी उस समय अच्छी तरह सुनायी नहीं देती थी ।। २० ।।

शब्दायमाने संग्रामे पटहे कर्णदारिणि ।

युद्धयमानस्य संग्रामे कुर्वतः पौरुषं स्वकम् ।। २१ ।।

नाश्रौषं नामगोत्राणि कीर्तनं च परस्परम् ।

कानोंका परदा फाड़नेवाले डंकेकी आवाजसे सारी रणभूमि गूँज उठी थी। अतः वहाँ अपने पुरुषार्थको प्रकट करनेवाले किसी योद्धाकी बात मुझे नहीं सुनायी देती थी। वे लोग जो आपसमें नाम-गोत्र आदिका परिचय देते थे, उसे भी मैं नहीं सुन पाता था ।। २१ १/२ ।।

भीष्मचापच्युतैर्बाणैरार्तानां युध्यतां मृधे ।। २२ ।।

परस्परेषां वीराणां मनांसि समकम्पयन् ।

युद्धमें भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बाणोंसे समस्त योद्धा पीड़ित हो रहे थे। उन बाणोंने परस्पर सभी वीरोंके हृदय कँपा दिये थे ।। २२½ ।।

तस्मिन्नत्याकुले युद्धे दारुणे लोमहर्षणे ।। २३ ।।
पिता पुत्रं च समरे नाभिजानाति कश्चन ।

वह युद्ध अत्यन्त भयंकर, रोमांचकारी तथा सबको व्याकुल कर देनेवाला था। उसमें कोई पिता अपने पुत्रको भी पहचान नहीं पाता था ।। २३½ ।।

चक्रे भग्ने युगे छिन्ने एकधुर्ये हये हतः ।। २४ ।।
आक्षिप्तः स्यन्दनाद् वीरः ससारथिरजिह्मगैः ।

भीष्मके बाणोंसे पहिये टूट गये, जूआ कट गया और एकमात्र बचा हुआ रथका घोड़ा भी मारा गया। उस दशामें रथपर बैठा हुआ सारथिसहित वीर रथी भी उनके बाणोंसे आहत होकर स्वर्ग सिधारा ।। २४½ ।।

एवं च समरे सर्वे वीराश्च विरथीकृताः ।। २५ ।।
तेन तेन स्म दृश्यन्ते धावमानाः समन्ततः ।

इस प्रकार उस समरांगणमें रथहीन हुए सभी वीर भिन्न-भिन्न मार्गोंसे सब ओर दौड़ते दिखायी देते थे ।। २५½ ।।

गजो हतः शिरश्छिन्नं मर्म भिन्नं हयो हतः ।। २६ ।।
अहतः कोऽपि नैवासीद् भीष्मे निघ्नति शात्रवान् ।

किसीका हाथी मारा गया, किसीका मस्तक कट गया, किसीके मर्मस्थान विदीर्ण हो गये और किसीका घोड़ा ही नष्ट हो गया। जब भीष्मजी शत्रुओंका संहार कर रहे थे, उस समय (उनके सम्मुख आया हुआ) कोई भी ऐसा विपक्षी नहीं बचा, जो घायल न हुआ हो ।। २६½ ।।

श्वेतः कुरूणामकरोत् क्षयं तस्मिन् महाहवे ।। २७ ।।
राजपुत्रान् रथोदारानवधीच्छतसंघशः ।

इसी प्रकार उस महायुद्धमें श्वेत भी कौरवोंका संहार कर रहे थे। उन्होंने सैकड़ों श्रेष्ठ रथी राजकुमारोंका संहार कर डाला ।। २७½ ।।

चिच्छेद रथिनां बाणैः शिरांसि भरतर्षभ ।। २८ ।।

भरतश्रेष्ठ! श्वेतने अपने बाणोंद्वारा बहुत-से रथियोंके मस्तक काट डाले ।। २८ ।।

साङ्गदा बाहवश्चैव धनूंषि च समन्ततः ।
रथेषां रथचक्राणि तूणीराणि युगानि च ।। २९ ।।

उन्होंने सब ओर बाण मारकर कितने ही योद्धाओंके धनुष और बाजूबंदसहित भुजाएँ काट डालीं। रथके ईषादण्ड, रथ-चक्र, तूणीर और जूए भी छिन्न-भिन्न कर दिये ।। २९ ।।

छत्राणि च महार्हाणि पताकाश्च विशाम्पते ।
हयौघाश्च रथौघाश्च नरौघाश्चैव भारत ।। ३० ।।

वारणाः शतशश्चैव हताः श्वेतेन भारत ।

राजन्! बहुमूल्य छत्र और पताकाएँ भी उनके बाणोंसे खण्डित हो गयीं। भरतनन्दन! श्वेतने अश्वों, रथों और मनुष्योंके समुदायका तो वध किया ही; सैकड़ों हाथी भी मार गिराये ।। ३० १/२ ।।

वयं श्वेतभयाद् भीता विहाय रथसत्तमम् ।। ३१ ।।
अपयातास्तथा पश्चाद् विभुं पश्याम धृष्णवः ।
शरपातमतिक्रम्य कुरवः कुरुनन्दन ।। ३२ ।।
भीष्मं शान्तनवं युद्धे स्थिताः पश्याम सर्वशः ।

कुरुनन्दन! हमलोग भी श्वेतके भयसे महारथी भीष्मको अकेला छोड़कर भाग खड़े हुए। इसीलिये इस समय जीवित रहकर महाराजका दर्शन कर रहे हैं। हम सभी कौरव श्वेतका बाण जहाँतक पहुँच पाता था, उतनी दूरीको लाँघकर युद्धभूमिमें खड़े हो दर्शककी भाँति शान्तनुनन्दन भीष्मको देख रहे थे ।। ३१-३२ १/२ ।।

अदीनो दीनसमये भीष्मोऽस्माकं महाहवे ।। ३३ ।।
एकस्तस्थौ नरव्याघ्रो गिरिर्मेरुरिवाचलः ।

उस महान् संग्राममें हमलोगोंके लिये कातरताका समय आ गया था, तो भी अकेले नरश्रेष्ठ भीष्म ही दीनतासे रहित हो मेरुपर्वतकी भाँति वहाँ अविचलभावसे खड़े रहे ।। ३३ १/२ ।।

आददान इव प्राणान् सविता शिशिरात्यये ।। ३४ ।।
गभस्तिभिरिवादित्यस्तस्थौ शरमरीचिमान् ।

जैसे सर्दीके अन्तमें सूर्यदेव धरतीका जल सोखने लगते हैं, उसी प्रकार भीष्म समस्त सैनिकोंके प्राणोंका अपहरण-सा कर रहे थे। किरणोंसे सुशोभित सूर्यदेवकी भाँति भीष्म बाणरूपी रश्मियोंसे शोभा पाते हुए वहाँ खड़े थे ।। ३४ १/२ ।।

स मुमोच महेष्वासः शरसंघाननेकशः ।। ३५ ।।
निघ्नन्नमित्रान् समरे वज्रपाणिरिवासुरान् ।

जैसे वज्रपाणि इन्द्र असुरोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार महाधनुर्धर भीष्म उस रणक्षेत्रमें शत्रुओंका विनाश करते हुए बारंबार बाणसमूहोंकी वर्षा कर रहे थे ।। ३५ १/२ ।।

ते वध्यमाना भीष्मेण प्रजहुस्तं महाबलम् ।। ३६ ।।
स्वयूथादिव ते यूथान्मुक्तं भूमिषु दारुणम् ।

महाबली भीष्मजी अपने झुंडसे बिछुड़े हुए हाथीकी भाँति आपकी सेनासे विलग होकर उस रणभूमिमें अत्यन्त भयंकर हो रहे थे; उनकी मार खाकर सम्पूर्ण शत्रु उन्हें छोड़कर भाग गये ।। ३६ १/२ ।।

तमेवमुपलक्ष्यैको हृष्टः पुष्टः परंतप ।। ३७ ।।
दुर्योधनप्रिये युक्तः पाण्डवान् परिशोचयन् ।

जीवितं दुस्त्यजं त्यक्त्वा भयं च सुमहाहवे ।। ३८ ।।

परंतप! श्वेतको पूर्वोक्तरूपसे कौरव-सेनाका संहार करते देख एकमात्र भीष्म ही उत्साहित और प्रफुल्ल हो पाण्डवोंको शोकमें डालते हुए जीवनका मोह और भय छोड़कर उस महासमरमें दुर्योधनके प्रिय कार्यमें जुट गये ।। ३७-३८ ।।

पातयामास सैन्यानि पाण्डवानां विशाम्पते ।

प्रहरन्तमनीकानि पिता देवव्रतस्तव ।। ३९ ।।

दृष्ट्वा सेनापतिं भीष्मस्त्वरितः श्वेतमभ्ययात् ।

राजन्! भीष्मजीने पाण्डवोंके बहुत-से सैनिकोंको मार गिराया। आपके पिता देवव्रतने जब देखा कि सेनापति श्वेत हमारी सेनापर प्रहार कर रहे हैं, तब वे तुरंत उनका सामना करनेके लिये गये ।। ३९ १/२ ।।

स भीष्मं शरजालेन महता समवाकिरत् ।। ४० ।।

श्वेतं चापि तथा भीष्मः शरौघैः समवाकिरत् ।

श्वेतने अपने असंख्य बाणोंका जाल-सा बिछाकर भीष्मको ढक दिया। तब भीष्मने भी श्वेतपर बाण-समूहोंकी वर्षा की ।। ४० १/२ ।।

तौ वृषाविव नर्दन्तौ मत्ताविव महाद्विपौ ।। ४१ ।।

व्याघ्राविव सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ।

वे दोनों वीर गर्जते हुए दो साँड़ों, मदसे उन्मत्त हुए दो गजराजों तथा क्रोधमें भरे हुए दो सिंहोंकी भाँति एक-दूसरेपर चोट करने लगे ।। ४१ १/२ ।।

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य ततस्तौ पुरुषर्षभौ ।। ४२ ।।

भीष्मः श्वेतश्च युयुधे परस्परवधैषिणौ ।

तदनन्तर वे दोनों पुरुषश्रेष्ठ भीष्म और श्वेत अपने अस्त्रोंद्वारा विपक्षीके अस्त्रोंका निवारण करके एक-दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे युद्ध करने लगे ।। ४२ १/२ ।।

एकाह्ना निर्दहेद् भीष्मः पाण्डवानामनीकिनीम् ।। ४३ ।।

शरैः परमसंक्रुद्धो यदि श्वेतो न पालयेत् ।

यदि श्वेत पाण्डव-सेनाकी रक्षा न करते तो भीष्मजी अत्यन्त क्रुद्ध होकर एक ही दिनमें उसे भस्म कर डालते ।। ४३ १/२ ।।

पितामहं ततो दृष्ट्वा श्वेतेन विमुखीकृतम् ।। ४४ ।।

प्रहर्षं पाण्डवा जग्मुः पुत्रस्ते विमनाऽभवत् ।

तदनन्तर पितामह भीष्मको श्वेतके द्वारा युद्धसे विमुख किया हुआ देख समस्त पाण्डवोंको बड़ा हर्ष हुआ; परंतु आपके पुत्र दुर्योधनका मन उदास हो गया ।। ४४ १/२ ।।

ततो दुर्योधनः क्रुद्धः पार्थिवैः परिवारितः ।। ४५ ।।

ससैन्यः पाण्डवानीकमभ्यद्रवत संयुगे ।

तब दुर्योधनने कुपित हो समस्त राजाओं तथा सेनाके साथ उस युद्धभूमिमें पाण्डव-सेनापर आक्रमण किया ।। ४५ १/२ ।।

दुर्मुखः कृतवर्मा च कृपः शल्यो विशाम्पतिः ।। ४६ ।।
भीष्मं जुगुपुरासाद्य तव पुत्रेण नोदिताः ।

दुर्मुख, कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा राजा शल्य आपके पुत्रकी आज्ञासे आकर भीष्मकी रक्षा करने लगे ।। ४६ १/२ ।।

दृष्ट्वा तु पार्थिवैः सर्वैर्दुर्योधनपुरोगमैः ।। ४७ ।।
पाण्डवानामनीकानि वध्यमानानि संयुगे ।
श्वेतो गाङ्गेयमुत्सृज्य तव पुत्रस्य वाहिनीम् ।। ४८ ।।
नाशयामास वेगेन वायुर्वृक्षानिवौजसा ।

दुर्योधन आदि सब राजाओंके द्वारा पाण्डवसेनाको युद्धमें मारी जाती देख श्वेतने गंगापुत्र भीष्मको छोड़कर आपके पुत्रकी सेनाका उसी प्रकार वेगपूर्वक विनाश आरम्भ किया, जैसे आँधी अपनी शक्तिसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है ।। ४७-४८ १/२ ।।

द्रावयित्वा चमूं राजन् वैराटिः क्रोधमूर्च्छितः ।। ४९ ।।
आपतत् सहसा भूयो यत्र भीष्मो व्यवस्थितः ।

राजन्! विराटपुत्र श्वेत उस समय क्रोधसे मूर्च्छित हो रहे थे। वे आपकी सेनाको दूर भगाकर फिर सहसा वहीं आ पहुँचे, जहाँ भीष्म खड़े थे ।। ४९ १/२ ।।

तौ तत्रोपगतौ राजन् शरदीप्तौ महाबलौ ।। ५० ।।
अयुध्येतां महात्मानौ यथोभौ वृत्रवासवौ ।
अन्योन्यं तु महाराज परस्परवधैषिणौ ।। ५१ ।।

महाराज! वे दोनों महाबली महामना वीर बाणोंसे उद्दीप्त हो एक-दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे समीप आकर वृत्रासुर और इन्द्रके समान युद्ध करने लगे ।। ५०-५१ ।।

निगृह्य कार्मुकं श्वेतो भीष्मं विव्याध सप्तभिः ।
पराक्रमं ततस्तस्य पराक्रम्य पराक्रमी ।। ५२ ।।
तरसा वारयामास मत्तो मत्तमिव द्विपम् ।

श्वेतने धनुष खींचकर सात बाणोंद्वारा भीष्मको बेध डाला। तब पराक्रमी भीष्मने श्वेतके उस पराक्रमको स्वयं पराक्रम करके वेगपूर्वक रोक दिया; मानो किसी मतवाले हाथीने दूसरे मतवाले हाथीको रोक दिया हो ।। ५२ १/२ ।।

श्वेतः शान्तनवं भूयः शरैः संनतपर्वभिः ।। ५३ ।।
विव्याध पञ्चविंशत्या तदद्भुतमिवाभवत् ।

तदनन्तर श्वेतने पुनः झुकी हुई गाँठवाले पचीस बाणोंसे शान्तनुनन्दन भीष्मको बींध डाला। वह एक अद्भुत-सी घटना हुई ।। ५३ १/२ ।।

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीष्मः शान्तनवस्तदा ।। ५४ ।।

स विद्धस्तेन बलवान् नाकम्पत यथाचलः ।

तब शान्तनुनन्दन भीष्मने भी दस बाण मारकर बदला चुकाया। उनके द्वारा घायल किये जानेपर भी बलवान् श्वेत विचलित नहीं हुआ। वह पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा रहा ।। ५४ १/२ ।।

वैराटिः समरे क्रुद्धो भृशमायम्य कार्मुकम् ।। ५५ ।।
आजघान ततो भीष्मं श्वेतः क्षत्रियनन्दनः ।

तदनन्तर क्षत्रियकुलको आनन्दित करनेवाले विराटकुमार श्वेतने युद्धमें कुपित हो धनुषको जोर-जोरसे खींचकर भीष्मपर पुनः बाणोंद्वारा प्रहार किया ।। ५५ १/२ ।।

सम्प्रहस्य ततः श्वेतः सृक्किणी परिसंलिहन् ।। ५६ ।।
धनुश्चिच्छेद भीष्मस्य नवभिर्दशधा शरैः ।

इसके बाद उन्होंने हँसकर अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए नौ बाण मारकर भीष्मके धनुषके दस टुकड़े कर दिये ।। ५६ १/२ ।।

संधाय विशिखं चैव शरं लोमप्रवाहिनम् ।। ५७ ।।
उन्ममाथ ततस्तालं ध्वजशीर्षं महात्मनः ।

फिर शिखाशून्य पंखयुक्त बाणका संधान करके उसके द्वारा महात्मा भीष्मके तालचिह्नयुक्त ध्वजका ऊपरी भाग काट डाला ।। ५७ १/२ ।।

केतुं निपतितं दृष्ट्वा भीष्मस्य तनयास्तव ।। ५८ ।।
हतं भीष्मममन्यन्त श्वेतस्य वशमागतम् ।

भीष्मके ध्वजको नीचे गिरा देख आपके पुत्रोंने उन्हें श्वेतके वशमें पड़कर मरा हुआ ही माना ।। ५८ १/२ ।।

पाण्डवाश्चापि संहृष्टा दध्मुः शङ्खान् मुदा युताः ।। ५९ ।।
भीष्मस्य पतितं केतुं दृष्ट्वा तालं महात्मनः ।

महात्मा भीष्मके तालध्वजको पृथ्वीपर पड़ा देख पाण्डव हर्षसे उल्लसित हो प्रसन्नतापूर्वक शंख बजाने लगे ।। ५९ १/२ ।।

ततो दुर्योधनः क्रोधात् स्वमनीकमनोदयत् ।। ६० ।।
यत्ता भीष्मं परीप्सध्वं रक्षमाणाः समन्ततः ।
मा नः प्रपश्यमानानां श्वेतान्मृत्युमवाप्स्यति ।। ६१ ।।
भीष्मः शान्तनवः शूरस्तथा सत्यं ब्रवीमि वः ।

तब दुर्योधनने क्रोधपूर्वक अपनी सेनाको आदेश दिया—‘वीरो! सावधान होकर सब ओरसे भीष्मकी रक्षा करते हुए उन्हें घेरकर खड़े हो जाओ। कहीं ऐसा न हो कि ये हमारे देखते-देखते श्वेतके हाथों मारे जायँ। मैं तुमलोगोंको सत्य कहता हूँ कि शान्तनुनन्दन भीष्म महान् शूरवीर हैं’ ।। ६०-६१ १/२ ।।

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा त्वरमाणा महारथाः ।। ६२ ।।

बलेन चतुरङ्गेण गाङ्गेयमन्वपालयन् ।

राजा दुर्योधनकी यह बात सुनकर सब महारथी बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आये और चतुरंगिणी सेनाद्वारा गंगानन्दन भीष्मकी रक्षा करने लगे ।। ६२½ ।।

बाह्लीकः कृतवर्मा च शलः शल्यश्च भारत ।। ६३ ।।
जलसंधो विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः ।
त्वरमाणास्त्वराकाले परिवार्य समन्ततः ।। ६४ ।।
शस्त्रवृष्टिं सुतुमुलां श्वेतस्योपर्यपातयन् ।

भारत! बाह्लीक, कृतवर्मा, शल, शल्य, जलसंध, विकर्ण, चित्रसेन और विविंशति—इन सबने शीघ्रताके अवसरपर शीघ्रता करते हुए चारों ओरसे भीष्मजीको घेर लिया और श्वेतके ऊपर भयंकर शस्त्र-वर्षा करने लगे ।। ६३-६४½ ।।

तान् क्रुद्धो निशितैर्बाणैस्त्वरमाणो महारथः ।। ६५ ।।
अवारयदमेयात्मा दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

तब अपरिमित आत्मबलसे सम्पन्न महारथी श्वेतने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए बड़ी उतावलीके साथ क्रोधपूर्वक पैने बाणोंद्वारा उन सबको रोक दिया ।। ६५½ ।।

स निवार्य तु तान् सर्वान् केसरी कुञ्जरानिव ।। ६६ ।।
महता शरवर्षेण भीष्मस्य धनुराच्छिनत् ।

जैसे सिंह हाथियोंके समूहको आगे बढ़नेसे रोक देता है, उसी प्रकार उन सभी महारथियोंको रोककर भारी बाणवर्षाके द्वारा श्वेतने भीष्मका धनुष काट दिया ।। ६६½ ।।

ततोऽन्यद् धनुरादाय भीष्मः शान्तनवो युधि ।। ६७ ।।
श्वेतं विव्याध राजेन्द्र कङ्कपत्रैः शितैः शरैः ।

राजेन्द्र! तब शान्तनुनन्दन भीष्मने दूसरा धनुष लेकर युद्धस्थलमें कंकपत्रयुक्त पैने बाणोंद्वारा श्वेतको घायल कर दिया ।। ६७½ ।।

ततः सेनापतिः क्रुद्धो भीष्मं बहुभिरायसैः ।। ६८ ।।
विव्याध समरे राजन् सर्वलोकस्य पश्यतः ।

राजन्! तब सेनापति श्वेतने कुपित हो उस समरभूमिमें बहुत-से लौहमय बाणोंद्वारा सब लोगोंके देखते-देखते भीष्मको क्षत-विक्षत कर दिया ।। ६८½ ।।

ततः प्रव्यथितो राजा भीष्मं दृष्ट्वा निवारितम् ।। ६९ ।।
प्रवीरं सर्वलोकस्य श्वेतेन युधि वै तदा ।
निष्ठानकश्च सुमहांस्तव सैन्यस्य चाभवत् ।। ७० ।।

श्वेतने सम्पूर्ण विश्वके विख्यात वीर भीष्मको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया, यह देखकर राजा दुर्योधनके मनमें बड़ी व्यथा हुई। साथ ही आपकी सेनामें सब लोगोंपर महान् भय छा गया ।। ६९-७० ।।

तं वीरं वारितं दृष्ट्वा श्वेतेन शरविक्षतम् ।

हतं श्वेतेन मन्यन्ते श्वेतस्य वशमागतम् ।। ७१ ।।

श्वेतने वीरवर भीष्मको कुण्ठित कर दिया और उनका शरीर बाणोंसे क्षत-विक्षत हो गया है, यह देखकर सब लोग यह मानने लगे कि भीष्मजी श्वेतके वशमें पड़ गये हैं और अब उन्हींके हाथसे मारे जायँगे ।। ७१ ।।

ततः क्रोधवशं प्राप्तः पिता देवव्रतस्तव ।
ध्वजमुन्मथितं दृष्ट्वा तां च सेनां निवारिताम् ।। ७२ ।।

तब आपके पिता देवव्रत भीष्म अपने ध्वजको टूटकर गिरा हुआ और सेनाको निवारित की हुई देखकर क्रोधके अधीन हो गये ।। ७२ ।।

श्वेतं प्रति महाराज व्यसृजत् सायकान् बहून् ।
तानावार्य रणे श्वेतो भीष्मस्य रथिनां वरः ।। ७३ ।।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन पुनरेव पितुस्तव ।

महाराज! उन्होंने श्वेतपर बहुत-से बाणोंकी वर्षा की, परंतु रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतने रणक्षेत्रमें उन सब सायकोंका निवारण करके पुनः एक भल्लके द्वारा आपके पिता भीष्मका धनुष काट दिया ।। ७३½ ।।

उत्सृज्य कार्मुकं राजन् गाङ्गेयः क्रोधमूर्च्छितः ।। ७४ ।।
अन्यत् कार्मुकमादाय विपुलं बलवत्तरम् ।
तत्र संधाय विपुलान् भल्लान् सप्त शिलाशितान् ।। ७५ ।।
चतुर्भिश्च जघानाश्वाञ्छ्वेतस्य पृतनापतेः ।
ध्वजं द्वाभ्यां तु चिच्छेद सप्तमेन च सारथेः ।। ७६ ।।
शिरश्चिच्छेद भल्लेन संक्रुद्धो लघुविक्रमः ।

राजन्! यह देख गंगानन्दन भीष्मने क्रोधसे मूर्च्छित हो उस धनुषको फेंककर दूसरा अत्यन्त प्रबल एवं विशाल धनुष ले लिया और उसके ऊपर पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए सात विशाल भल्लोंका संधान किया। उनमेंसे चार भल्लोंके द्वारा उन्होंने सेनापति श्वेतके चार घोड़ोंको मार डाला, दोसे उनका ध्वज काट दिया और अपनी फुर्तीका परिचय देते हुए सातवें भल्लके द्वारा क्रोधपूर्वक उनके सारथिका सिर उड़ा दिया ।। ७४-७६½ ।।

हताश्वसूतात् स रथादवप्लुत्य महाबलः ।। ७७ ।।
अमर्षवशमापन्नो व्याकुलः समपद्यत ।

घोड़े और सारथिके मारे जानेपर महाबली श्वेत उस रथसे कूद पड़े और अमर्षके वशीभूत होकर व्याकुल हो उठे ।। ७७½ ।।

विरथं रथिनां श्रेष्ठं श्वेतं दृष्ट्वा पितामहः ।। ७८ ।।
ताडयामास निशितैः शरसंघैः समन्ततः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतको रथहीन हुआ देख पितामह भीष्मने चारों ओरसे पैने बाणसमूहोंद्वारा उन्हें पीड़ा देनी प्रारम्भ की ।। ७८½ ।।

स ताड्यमानः समरे भीष्मचापच्युतैः शरैः ।। ७९ ।।
स्वरथे धनुरुत्सृज्य शक्तिं जग्राह काञ्चनीम् ।

उस समरभूमिमें भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा पीड़ित होनेपर श्वेतने धनुषको रथपर ही छोड़कर सुवर्णमयी शक्ति हाथमें ले ली ।। ७९½ ।।

ततः शक्तिं रणे श्वेतो जग्राहोग्रां महाभयाम् ।। ८० ।।
कालदण्डोपमां घोरां मृत्योर्जिह्वामिव श्वसन् ।
अब्रवीच्च तदा श्वेतो भीष्मं शान्तनवं रणे ।। ८१ ।।

अत्यन्त उग्र, महाभयंकर, कालदण्डके समान घोर और मृत्युकी जिह्वा-सी प्रतीत होनेवाली उस शक्तिको श्वेतने हाथमें उठाया और लंबी साँस लेते हुए रणक्षेत्रमें शान्तनुपुत्र भीष्मसे इस प्रकार कहा— ।। ८०-८१ ।।

तिष्ठेदानीं सुसंरब्धः पश्य मां पुरुषो भव ।
एवमुक्त्वा महेष्वासो भीष्मं युधि पराक्रमी ।। ८२ ।।
ततः शक्तिममेयात्मा चिक्षेप भुजगोपमाम् ।
पाण्डवार्थे पराक्रान्तस्तवानर्थं चिकीर्षुकः ।। ८३ ।।

'भीष्म! इस समय साहसपूर्वक खड़े रहो। मुझे देखो और पुरुष बनो', ऐसा कहकर अमित आत्मबलसे सम्पन्न महाधनुर्धर और पराक्रमी वीर श्वेतने भीष्मपर वह सर्पके समान भयंकर शक्ति चलायी। श्वेत पाण्डवोंका हित और आपके पक्षका अहित करनेकी इच्छासे पराक्रम दिखा रहे थे ।। ८२-८३ ।।

हाहाकारो महानासीत् पुत्राणां ते विशाम्पते ।
दृष्ट्वा शक्तिं महाघोरां मृत्योर्दण्डसमप्रभाम् ।। ८४ ।।
श्वेतस्य करनिर्मुक्तां निर्मुक्तोरगसंनिभाम् ।

राजन्! श्वेतके हाथसे छूटकर यमदण्डके समान प्रकाशित होनेवाली और केंचुल छोड़कर निकली हुई सर्पिणीकी भाँति अत्यन्त भय उत्पन्न करनेवाली उस शक्तिको देखकर आपके पुत्रोंके दलमें महान् हाहाकार मच गया ।। ८४½ ।।

अपतत् सहसा राजन् महोल्केव नभस्तलात् ।। ८५ ।।
ज्वलन्तीमन्तरिक्षे तां ज्वालाभिरिव संवृताम् ।
असम्भ्रान्तस्तदा राजन् पिता देवव्रतस्तव ।। ८६ ।।
अष्टभिर्नवभिर्भीष्मः शक्तिं चिच्छेद पत्रिभिः ।

राजन्! वह शक्ति आकाशसे बहुत बड़ी उल्काके समान सहसा गिरी। अन्तरिक्षमें ज्वालाओंसे घिरी हुई-सी उस प्रज्वलित शक्तिको देखकर आपके पिता देवव्रतको तनिक भी घबराहट नहीं हुई। उन्होंने आठ-नौ बाण मारकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ।। ८५-८६½ ।।

उत्कृष्टहेमविकृतां निकृतां निशितैः शरैः ।। ८७ ।।
उच्चुक्रुशुस्ततः सर्वे तावका भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ! उत्तम सुवर्णकी बनी हुई उस शक्तिको भीष्मके पैने बाणोंसे नष्ट हुई देख आपके पुत्र हर्षके मारे जोर-जोरसे कोलाहल करने लगे ।। ८७½ ।।

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा वैराटिः क्रोधमूर्च्छितः ।। ८८ ।।
कालोपहतचेतास्तु कर्तव्यं नाभ्यजानत ।
क्रोधसम्मूर्च्छितो राजन् वैराटिः प्रहसन्निव ।। ८९ ।।
गदां जग्राह संहृष्टो भीष्मस्य निधनं प्रति ।

अपनी शक्तिको इस प्रकार विफल हुई देख विराटपुत्र श्वेत क्रोधसे मूर्च्छित हो गये। कालने उनकी विवेक-शक्तिको नष्ट कर दिया था; अतः उन्हें अपने कर्तव्यका भान न रहा। उन्होंने हर्षसे उत्साहित हो हँसते-हँसते भीष्मको मार डालनेके लिये हाथमें गदा उठा ली ।। ८८-८९½ ।।

क्रोधेन रक्तनयनो दण्डपाणिरिवान्तकः ।। ९० ।।
भीष्मं समभिदुद्राव जलौघ इव पर्वतम् ।

उस समय उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। वे हाथमें दण्ड लिये यमराजके समान जान पड़ते थे। जैसे महान् जलप्रवाह किसी पर्वतसे टकराता हो, उसी प्रकार वे गदा लिये भीष्मकी ओर दौड़े ।। ९० १/२ ।।

तस्य वेगमसंवार्यं मत्वा भीष्मः प्रतापवान् ।। ९१ ।।

प्रहारविप्रमोक्षार्थं सहसा धरणीं गतः ।

प्रतापी भीष्म उसके वेगको अनिवार्य समझकर उस प्रहारसे बचनेके लिये सहसा पृथ्वीपर कूद पड़े ।। ९१ १/२ ।।

श्वेतः क्रोधसमाविष्टो भ्रामयित्वा तु तां गदाम् ।। ९२ ।।

रथे भीष्मस्य चिक्षेप यथा देवो धनेश्वरः ।

उधर श्वेतने क्रोधसे व्याप्त हो उस गदाको आकाशमें घुमाकर भीष्मके रथपर फेंक दिया, मानो कुबेरने गदाका प्रहार किया हो ।। ९२ १/२ ।।

तया भीष्मनिपातिन्या स रथो भस्मसात्कृतः ।। ९३ ।।

सध्वजः सह सूतेन साश्वः सयुगबन्धुरः ।

भीष्मको मार डालनेके लिये चलायी हुई उस गदाके आघातसे ध्वज, सारथि, घोड़े, जूआ और धुरा आदिके साथ वह सारा रथ चूर-चूर हो गया ।। ९३ १/२ ।।

विरथं रथिनां श्रेष्ठं भीष्मं दृष्ट्वा रथोत्तमाः ।। ९४ ।।

अभ्यधावन्त सहिताः शल्यप्रभृतयो रथाः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मको रथहीन हुआ देख शल्य आदि उत्तम महारथी एक साथ दौड़े ।। ९४ १/२ ।।

ततोऽन्यं रथमास्थाय धनुर्विस्फार्य दुर्मनाः ।। ९५ ।।

शनकैरभ्ययाच्छ्वेतं गाङ्गेयः प्रहसन्निव ।

तब दूसरे रथपर बैठकर धनुषकी टंकार करते हुए गंगानन्दन भीष्म उदास मनसे हँसते हुए-से धीरे-धीरे श्वेतकी ओर चले ।। ९५ १/२ ।।

एतस्मिन्नन्तरे भीष्मः शुश्राव विपुलां गिरम् ।। ९६ ।।

आकाशादीरितां दिव्यामात्मनो हितसम्भवाम् ।

भीष्म भीष्म महाबाहो शीघ्रं यत्नं कुरुष्व वै ।। ९७ ।।

एष ह्यस्य जये कालो निर्दिष्टो विश्वयोनिना ।

इसी बीचमें भीष्मने अपने हितसे सम्बन्ध रखनेवाली एक दिव्य एवं गम्भीर आकाशवाणी सुनी—‘महाबाहु भीष्म! शीघ्र प्रयत्न करो। इस श्वेतपर विजय पानेके लिये ब्रह्माजीने यही समय निश्चित किया है’ ।। ९६-९७ १/२ ।।

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं देवदूतेन भाषितम् ।। ९८ ।।

सम्प्रहृष्टमना भूत्वा वधे तस्य मनो दधे ।

देवदूतका कहा हुआ यह वचन सुनकर भीष्मजीका मन प्रसन्न हो गया और उन्होंने श्वेतके वधका विचार किया ।। ९८½ ।।

विरथं रथिनां श्रेष्ठं श्वेतं दृष्ट्वा पदातिनम् ।। ९९ ।।
सहितास्त्वभ्यवर्तन्त परीप्सन्तो महारथाः ।

रथियोंमें श्रेष्ठ श्वेतको रथहीन और पैदल देख उसकी रक्षा करनेके लिये एक साथ बहुत-से महारथी दौड़े आये ।। ९९½ ।।

सात्यकिर्भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।। १०० ।।
कैकेयो धृष्टकेतुश्च अभिमन्युश्च वीर्यवान् ।

उनके नाम इस प्रकार हैं—सात्यकि, भीमसेन, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, केकयराजकुमार, धृष्टकेतु तथा पराक्रमी अभिमन्यु ।। १००½ ।।

एतानापततः सर्वान् द्रोणशल्यकृपैः सह ।। १०१ ।।
अवारयदमेयात्मा वारिवेगानिवाचलः ।

इन सबको आते देख अमेय शक्तिसम्पन्न भीष्मजीने द्रोणाचार्य, शल्य तथा कृपाचार्यके साथ जाकर उनकी गति रोक दी, मानो किसी पर्वतने जलके प्रवाहको अवरुद्ध कर दिया हो ।। १०१½ ।।

स निरुद्धेषु सर्वेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।। १०२ ।।
श्वेतः खड्गमथाकृष्य भीष्मस्य धनुराच्छिनत् ।

समस्त महामना पाण्डवोंके अवरुद्ध हो जानेपर श्वेतने तलवार खींचकर भीष्मका धनुष काट दिया ।। १०२½ ।।

तदपास्य धनुश्छिन्नं त्वरमाणः पितामहः ।। १०३ ।।
देवदूतवचः श्रुत्वा वधे तस्य मनो दधे ।

उस कटे हुए धनुषको फेंककर पितामह भीष्मने देवदूतके कथनपर ध्यान देकर तुरंत ही श्वेतके वधका निश्चय किया ।। १०३½ ।।

ततः प्रचरमाणस्तु पिता देवव्रतस्तव ।। १०४ ।।
अन्यत् कार्मुकमादाय त्वरमाणो महारथः ।
क्षणेन सज्यमकरोच्छक्रचापसमप्रभम् ।। १०५ ।।

तदनन्तर आपके पिता महारथी देवव्रतने तुरंत ही दूसरा धनुष लेकर वहाँ विचरण करते हुए ही क्षणभरमें उसपर प्रत्यंचा चढ़ा दी। वह इन्द्रधनुषके समान प्रकाशित हो रहा था ।। १०४-१०५ ।।

पिता ते भरतश्रेष्ठ श्वेतं दृष्ट्वा महारथैः ।
वृतं तं मनुजव्याघ्रैर्भीमसेनपुरोगमैः ।। १०६ ।।
अभ्यवर्तत गाङ्गेयः श्वेतं सेनापतिं द्रुतम् ।

भरतश्रेष्ठ! आपके पिता गंगानन्दन भीष्मने नरश्रेष्ठ भीमसेन आदि महारथियोंसे घिरे हुए सेनापति श्वेतको देखकर उनपर तुरंत धावा किया ।। १०६½ ।।

आपतन्तं ततो भीष्मो भीमसेनं प्रतापवान् ।। १०७ ।।
आजघ्ने विशिखैः षष्ट्या सेनान्यं स महारथः ।

उस समय सेनानायक भीमसेनको सामने आते देख प्रतापी महारथी भीष्मने उन्हें साठ बाणोंसे घायल कर दिया ।। १०७½ ।।

अभिमन्युं च समरे पिता देवव्रतस्तव ।। १०८ ।।
आजघ्ने भरतश्रेष्ठस्त्रिभिः संनतपर्वभिः ।

उस समरभूमिमें आपके पिता भरतश्रेष्ठ भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले तीन बाणोंसे अभिमन्युको चोट पहुँचायी ।। १०८½ ।।

सात्यकिं च शतेनाजौ भरतानां पितामहः ।। १०९ ।।
धृष्टद्युम्नं च विंशत्या कैकेयं चापि पञ्चभिः ।
तांश्च सर्वान् महेष्वासान् पिता देवव्रतस्तव ।। ११० ।।
वारयित्वा शरैर्घोरैः श्वेतमेवाभिदुद्रुवे ।

भरतवंशियोंके उन पितामहने युद्धस्थलमें सौ बाणोंसे सात्यकिको, बीस सायकोंद्वारा धृष्टद्युम्नको और पाँच बाणोंसे केकयराजकुमारको क्षत-विक्षत कर दिया। इस प्रकार आपके पिता भीष्मने अपने भयंकर बाणोंद्वारा उन सम्पूर्ण महाधनुर्धरोंको जहाँके तहाँ रोककर पुनः श्वेतपर ही आक्रमण किया ।। १०९-११०½ ।।

ततः शरं मृत्युसमं भारसाधनमुत्तमम् ।। १११ ।।
विकृष्य बलवान् भीष्मः समाधत्त दुरासदम् ।
ब्रह्मास्त्रेण सुसंयुक्तं तं शरं लोमवाहिनम् ।। ११२ ।।

तदनन्तर महाबली भीष्मने धनुषको खींचकर उसके ऊपर एक मृत्युके समान भयंकर, भारी-से-भारी लक्ष्यको बेधनेमें समर्थ, उत्तम और दुःसह पंखयुक्त बाण रखा; फिर उसे ब्रह्मास्त्रद्वारा अभिमन्त्रित करके छोड़ दिया ।। १११-११२ ।।

ददृशुर्देवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ।
स तस्य कवचं भित्त्वा हृदयं चामितौजसः ।। ११३ ।।
जगाम धरणीं बाणो महाशनिरिव ज्वलन् ।

उस समय देवताओं, गन्धर्वों, पिशाचों, नागों तथा राक्षसोंने भी देखा, वह बाण महान् वज्रके समान प्रज्वलित हो उठा और अमित बलशाली श्वेतके कवच तथा हृदयको भी छेदकर धरतीमें समा गया ।। ११३½ ।।

अस्तं गच्छन् यथाऽऽदित्यः प्रभामादाय सत्वरः ।। ११४ ।।
एवं जीवितमादाय श्वेतदेहाज्जगाम ह ।

जैसे डूबता हुआ सूर्य अपनी प्रभा साथ लेकर शीघ्र ही अस्त हो जाता है, उसी प्रकार वह बाण श्वेतके शरीरसे उसके प्राण लेकर चला गया ।। ११४ १/२ ।।

तं भीष्मेण नरव्याघ्रं तथा विनिहतं युधि ।। ११५ ।।

प्रपतन्तमपश्याम गिरेः शृङ्गमिव च्युतम् ।

भीष्मके द्वारा मारे गये नरश्रेष्ठ श्वेतको युद्धस्थलमें हमने देखा। वह टूटकर गिरे हुए पर्वतके समान जान पड़ता था ।। ११५ १/२ ।।

अशोचन् पाण्डवास्तत्र क्षत्रियाश्च महारथाः ।। ११६ ।।

प्रहृष्टाश्च सुतास्तुभ्यं कुरवश्चापि सर्वशः ।

महारथी पाण्डव तथा उस दलके दूसरे क्षत्रिय श्वेतके लिये शोकमें डूब गये। इधर आपके पुत्र समस्त कौरव हर्षसे उल्लसित हो उठे ।। ११६ १/२ ।।

ततो दुःशासनो राजन् श्वेतं दृष्ट्वा निपातितम् ।। ११७ ।।

वादित्रनिनदैर्घोरैर्नृत्यति स्म समन्ततः ।

राजन्! श्वेतको मारा गया देख आपका पुत्र दुःशासन बाजे-गाजेकी भयंकर ध्वनिके साथ चारों ओर नाचने लगा ।। ११७ १/२ ।।

तस्मिन् हते महेष्वासे भीष्मेणाहवशोभिना ।। ११८ ।।

प्रावेपन्त महेष्वासाः शिखण्डिप्रमुखा रथाः ।

संग्रामभूमिमें शोभा पानेवाले भीष्मजीके द्वारा महाधनुर्धर श्वेतके मारे जानेपर शिखण्डी आदि महाधनुर्धर रथी भयके मारे काँपने लगे ।। ११८ १/२ ।।

ततो धनंजयो राजन् वार्ष्णेयश्चापि सर्वशः ।। ११९ ।।

अवहारं शनैश्चक्रुर्निहते वाहिनीपतौ ।

ततोऽवहारः सैन्यानां तव तेषां च भारत ।। १२० ।।

राजन्! तब सेनापति श्वेतके मारे जानेके कारण अर्जुन और श्रीकृष्णने धीरे-धीरे अपनी सेनाको युद्धभूमिसे पीछे हटा लिया। भारत! फिर आपकी और पाण्डवोंकी सेना भी उस समय युद्धसे विरक्त हो गयी ।। ११९-१२० ।।

तावकानां परेषां च नर्दतां च मुहुर्मुहुः ।

पार्था विमनसो भूत्वा न्यवर्तन्त महारथाः ।

चिन्तयन्तो वधं घोरं द्वैरथेन परंतपाः ।। १२१ ।।

उस समय आपके और शत्रुपक्षके सैनिक भी बारंबार गर्जना कर रहे थे। उस द्वैरथ युद्धमें जो भयंकर संहार हुआ था, उसके लिये चिन्ता करते हुए शत्रुसंतापी पाण्डव महारथी उदास मनसे शिविरमें लौट आये ।। १२१ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि श्वेतवधे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें श्वेतवधविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४८ ।।

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

शंखका युद्ध, भीष्मका प्रचण्ड पराक्रम तथा प्रथम दिनके युद्धकी समाप्ति

धृतराष्ट्र उवाच

श्वेते सेनापतौ तात संग्रामे निहते परैः ।
किमकुर्वन् महेष्वासाः पञ्चालाः पाण्डवैः सह ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—तात! सेनापति श्वेतके शत्रुओंद्वारा युद्धस्थलमें मारे जानेपर महान् धनुर्धर पांचालों और पाण्डवोंने क्या किया? ।। १ ।।

सेनापतिं समाकर्ण्य श्वेतं युधि निपातितम् ।
तदर्थं यततां चापि परेषां प्रपलायिनाम् ।। २ ।।
मनः प्रीणाति मे वाक्यं जयं संजय शृण्वतः ।
प्रत्युपायं चिन्तयतो लज्जां प्राप्नोति मे न हि ।। ३ ।।
स हि वीरोऽनुरक्तश्च वृद्धः कुरुपतिस्तदा ।

संजय! सेनापति श्वेत युद्धमें मारे गये। उनकी रक्षाके लिये प्रयत्न करनेपर भी शत्रुओंको पलायन करना पड़ा तथा अपने पक्षकी विजय हुई—से सब बातें सुनकर मेरे मनमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। शत्रुओंके प्रतीकारका उपाय सोचते हुए मुझे अपने पक्षके द्वारा की गयी अनीतिका स्मरण करके भी लज्जा नहीं आती है। वे वृद्ध एवं वीर कुरुराज भीष्म हमपर सदा अनुराग रखते हैं (इस कारण ही उन्होंने श्वेतके साथ ऐसा व्यवहार किया होगा) ।। २-३ $\frac{1}{2}$ ।।

कृतं वैरं सदा तेन पितुः पुत्रेण धीमता ।। ४ ।।
तस्योद्वेगभयाच्चापि संश्रितः पाण्डवान् पुरा ।

उस बुद्धिमान् विराटपुत्र श्वेतने अपने पिताके साथ वैर बाँध रखा था, इस कारण पिताके द्वारा प्राप्त होनेवाले उद्वेग एवं भयसे श्वेतने पहले ही पाण्डवोंकी शरण ले ली थी ।। ४ $\frac{1}{2}$ ।।

सर्वं बलं परित्यज्य दुर्गं संश्रित्य तिष्ठति ।। ५ ।।
पाण्डवानां प्रतापेन दुर्गं देशं निवेश्य च ।
सपत्नान् सततं बाधन्नार्यवृत्तिमनुष्ठितः ।। ६ ।।

पहले तो वह समस्त सेनाका परित्याग करके (अकेला ही) दुर्गमें छिपा रहता था। फिर पाण्डवोंके प्रतापसे दुर्गम प्रदेशमें रहकर निरन्तर शत्रुओंको बाधा पहुँचाते हुए सदाचारका पालन करने लगा ।। ५-६ ।।

आश्चर्यं वै सदा तेषां पुरा राज्ञां सुदुर्मतिः ।
ततो युधिष्ठिरे भक्तः कथं संजय सूदितः ।। ७ ।।

क्योंकि पूर्वकालमें अपने साथ विरोध करनेवाले उन राजाओंके प्रति उसकी बुद्धिमें दुर्भाव था; पर संजय! आश्चर्य तो यह है कि ऐसा शूरवीर श्वेत, जो युधिष्ठिरका बड़ा भक्त था, मारा कैसे गया? ।। ७ ।।

प्रक्षिप्तः सम्मतः क्षुद्रः पुत्रो मे पुरुषाधमः ।
न युद्धं रोचयेद् भीष्मो न चाचार्यः कथंचन ।। ८ ।।
न कृपो न च गान्धारी नाहं संजय रोचये ।

मेरा पुत्र दुर्योधन क्षुद्र स्वभावका है। वह कर्ण आदिका प्रिय तथा चंचल बुद्धिवाला है। मेरी दृष्टिमें वह समस्त पुरुषोंमें अधम है (इसीलिये उसके मनमें युद्धके लिये आग्रह है)। संजय! मैं, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा गान्धारी—इनमेंसे कोई भी युद्ध नहीं चाहता था ।। ८½ ।।

न वासुदेवो वार्ष्णेयो धर्मराजश्च पाण्डवः ।। ९ ।।
न भीमो नार्जुनश्चैव न यमौ पुरुषर्षभौ ।

वृष्णिवंशी भगवान् वासुदेव, पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा पुरुषरत्न नकुल-सहदेव भी युद्ध नहीं पसंद करते थे ।। ९½ ।।

वार्यमाणो मया नित्यं गान्धार्या विदुरेण च ।। १० ।।
जामदग्न्येन रामेण व्यासेन च महात्मना ।
दुर्योधनो युध्यमानो नित्यमेव हि संजय ।। ११ ।।
कर्णस्य मतमास्थाय सौबलस्य च पापकृत् ।
दुःशासनस्य च तथा पाण्डवान् नान्वचिन्तयत् ।। १२ ।।

मैंने, गान्धारीने और विदुरने तो सदा ही उसे मना किया है, जमदग्निपुत्र परशुरामने तथा महात्मा व्यासजीने भी उसे युद्धसे रोकनेका प्रयत्न किया है; तथापि कई, शकुनि तथा दुःशासनके मतमें आकर पापी दुर्योधन सदा युद्धका ही निश्चय रखता आया है। उसने पाण्डवोंको कभी कुछ नहीं समझा ।। १०—१२ ।।

तस्याहं व्यसनं घोरं मन्ये प्राप्तं तु संजय ।
श्वेतस्य च विनाशेन भीष्मस्य विजयेन च ।। १३ ।।
संक्रुद्धः कृष्णसहितः पार्थः किमकरोद् युधि ।

संजय! मेरा तो विश्वास है कि दुर्योधनपर घोर संकट प्राप्त होनेवाला है। श्वेतके मारे जाने और भीष्मकी विजय होनेसे अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए श्रीकृष्णसहित अर्जुनने युद्धस्थलमें क्या किया? ।। १३½ ।।

अर्जुनाद्धि भयं भूयस्तन्मे तात न शाम्यति ।। १४ ।।
स हि शूरश्च कौन्तेयः क्षिप्रकारी धनंजयः ।

मन्ये शरैः शरीराणि शत्रूणां प्रमथिष्यति ।। १५ ।।

तात! अर्जुनसे मुझे अधिक भय बना रहता है और वह भय कभी शान्त नहीं होता; क्योंकि कुन्ती-नन्दन अर्जुन शूरवीर तथा शीघ्रतापूर्वक अस्त्र संचालन करनेवाला है। मैं समझता हूँ कि वह अपने बाणोंद्वारा शत्रुओंके शरीरोंको मथ डालेगा ।। १४-१५ ।।

ऐन्द्रिमिन्द्रानुजसमं महेन्द्रसदृशं बले ।

अमोघक्रोधसंकल्पं दृष्ट्वा वः किमभून्मनः ।। १६ ।।

इन्द्रकुमार अर्जुन भगवान् विष्णुके समान पराक्रमी और महेन्द्रके समान बलवान् है। उसका क्रोध और संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता। उसे देखकर तुमलोगोंके मनमें क्या विचार उठा था? ।। १६ ।।

तथैव वेदविच्छूरो ज्वलनार्कसमद्युतिः ।

इन्द्रास्त्रविदमेयात्मा प्रपतन् समितिंजयः ।। १७ ।।

वज्रसंस्पर्शरूपाणामस्त्राणां च प्रयोजकः ।

स खड्गाक्षेपहस्तस्तु घोषं चक्रे महारथः ।। १८ ।।

अर्जुन वेदज्ञ, शौर्यसम्पन्न, अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी, इन्द्रास्त्रका ज्ञाता, अमेय आत्मबलसे सम्पन्न, वेगपूर्वक आक्रमण करनेवाला और बड़े-बड़े संग्रामोंमें विजय पानेवाला है। वह ऐसे-ऐसे अस्त्रोंका प्रयोग करता है, जिनका हलका-सा स्पर्श भी वज्रके समान कठोर है। महारथी अर्जुन अपने हाथमें सदा तलवार खींचे ही रहता है और उसका प्रहार करके विकट गर्जना करता है ।। १७-१८ ।।

स संजय महाप्राज्ञो द्रुपदस्यात्मजो बली ।

धृष्टद्युम्नः किमकरोच्छ्वेते युधि निपातिते ।। १९ ।।

संजय! द्रुपदके परम बुद्धिमान् पुत्र बलवान् धृष्टद्युम्नने श्वेतके युद्धमें मारे जानेपर क्या किया? ।। १९ ।।

पुरा चैवापराधेन वधेन च चमूपतेः ।

मन्ये मनः प्रजज्वाल पाण्डवानां महात्मनाम् ।। २० ।।

पहले भी कौरवोंद्वारा पाण्डवोंका अपराध हुआ है; उससे तथा सेनापतिके वधसे महामना पाण्डवोंके हृदयमें आग-सी लग गयी होगी, यह मेरा विश्वास है ।। २० ।।

तेषां क्रोधं चिन्तयंस्तु अहःसु च निशासु च ।

न शान्तिमधिगच्छामि दुर्योधनकृतेन हि ।

कथं चाभून्महायुद्धं सर्वमाचक्ष्व संजय ।। २१ ।।

दुर्योधनके कारण पाण्डवोंके मनमें जो क्रोध है, उसका चिन्तन करके मुझे न तो दिनमें शान्ति मिलती है, न रात्रिमें ही। संजय! वह महायुद्ध किस प्रकार हुआ, यह सब मुझे बताओ ।। २१ ।।

संजय उवाच

शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा तवापनयनो महान् ।
न च दुर्योधने दोषमिममाधातुमर्हसि ।। २२ ।।

संजयने कहा—राजन्! स्थिर होकर सुनिये। इस युद्धके होनेमें सबसे बड़ा अन्याय आपका ही है। इसका सारा दोष आपको दुर्योधनके ही माथे नहीं मढ़ना चाहिये ।। २२ ।।

गतोदके सेतुबन्धो यादृक् तादृङ्मतिस्तव ।
संदीप्ते भवने यद्वत् कूपस्य खननं तथा ।। २३ ।।

जैसे पानीकी बाढ़ निकल जानेपर पुल बाँधनेका प्रयास किया जाय अथवा घरमें आग लग जानेपर उसे बुझानेके लिये कुआँ खोदनेकी चेष्टा की जाय, उसी प्रकार आपकी यह समझ है ।। २३ ।।

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि दारुणे ।
तावकानां परेषां च पुनर्युद्धमवर्तत ।। २४ ।।

उस भयंकर दिनके पूर्वभागका अधिकांश व्यतीत हो जानेपर आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें पुनः युद्ध आरम्भ हुआ ।। २४ ।।

श्वेतं तु निहतं दृष्ट्वा विराटस्य चमूपतिम् ।
कृतवर्मणा च सहितं दृष्ट्वा शल्यमवस्थितम् ।। २५ ।।
शङ्खः क्रोधात् प्रजज्वाल हविषा हव्यवाडिव ।

विराटके सेनापति श्वेतको मारा गया और राजा शल्यको कृतवर्माके साथ रथपर बैठा हुआ देख शंख क्रोधसे जल उठा, मानो अग्निमें घीकी आहुति पड़ गयी हो ।। २५½ ।।

स विस्फार्य महच्चापं शक्रचापोपमं बली ।। २६ ।।
अभ्यधावज्जिघांसन् वै शल्यं मद्राधिपं युधि ।

उस बलवान् वीरने इन्द्रधनुषके समान अपने विशाल शरासनको कानोंतक खींचकर मद्रराज शल्यको युद्धमें मार डालनेकी इच्छासे उनपर धावा किया ।। २६½ ।।

महता रथसंघेन समन्तात् परिरक्षितः ।। २७ ।।
सृजन् बाणमयं वर्षं प्रायाच्छल्यरथं प्रति ।

विशाल रथसेनाके द्वारा सब ओरसे घिरकर बाणोंकी वर्षा करते हुए उसने शल्यके रथपर आक्रमण किया ।। २७½ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मत्तवारणविक्रमम् ।। २८ ।।
तावकानां रथाः सप्त समन्तात् पर्यवारयन् ।
मद्रराजं परीप्सन्तो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम् ।। २९ ।।

मतवाले हाथीके समान पराक्रम प्रकट करनेवाले शंखको धावा करते देख आपके सात रथियोंने मौतके दाँतोंमें फँसे हुए मद्रराज शल्यको बचानेकी इच्छा रखकर उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ।। २८-२९ ।।

बृहद्बलश्च कौसल्यो जयत्सेनश्च मागधः ।

तथा रुक्मरथो राजन् पुत्रः शल्यस्य मानितः ।। ३० ।।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
बृहत्क्षत्रस्य दायादः सैन्धवश्च जयद्रथः ।। ३१ ।।

राजन्! उन रथियोंके नाम ये हैं—कोसलनरेश बृहद्बल, मगधदेशीय जयत्सेन, शल्यके प्रतापी पुत्र रुक्मरथ, अवन्ति-के राजकुमार विन्द और अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण तथा बृहत्क्षत्रके पुत्र सिन्धुराज जयद्रथ ।। ३०-३१ ।।

नानाधातुविचित्राणि कार्मुकाणि महात्मनाम् ।
विस्फारितान्यदृश्यन्त तोयदेष्विव विद्युतः ।। ३२ ।।

इन महामना वीरोंके फैलाये हुए अनेक रूप-रंगके विचित्र धनुष बादलोंमें बिजलियोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। ३२ ।।

ते तु बाणमयं वर्षं शङ्खमूर्ध्नि न्यपातयन् ।
निदाघान्तेऽनिलोद्धूता मेघा इव नगे जलम् ।। ३३ ।।

उन सबने शंखके मस्तकपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो ग्रीष्म-ऋतुके अन्तमें वायुद्वारा उठाये हुए मेघ पर्वतपर जल बरसा रहे हों ।। ३३ ।।

ततः क्रुद्धो महेष्वासः सप्तभल्लैः सुतेजनैः ।
धनूंषि तेषामाच्छिद्य ननर्द पृतनापतिः ।। ३४ ।।

उस समय महान् धनुर्धर सेनापति शंखने कुपित होकर तेज किये हुए भल्ल नामक सात बाणोंद्वारा उन सातों रथियोंके धनुष काटकर गर्जना की ।। ३४ ।।

ततो भीष्मो महाबाहुर्विनद्य जलदो यथा ।
तालमात्रं धनुर्गृह्य शङ्खमभ्यद्रवद् रणे ।। ३५ ।।

तदनन्तर महाबाहु भीष्मने मेघके समान गर्जना करके चार हाथ लंबा धनुष लेकर रणभूमिमें शंखपर धावा किया ।। ३५ ।।

तमुद्यन्तमुदीक्ष्याथ महेष्वासं महाबलम् ।
संत्रस्ता पाण्डवी सेना वातवेगहतेव नौः ।। ३६ ।।

उस समय महाधनुर्धर महाबली भीष्मको युद्धके लिये उद्यत देख पाण्डवसेना वायुके वेगसे डगमग होनेवाली नौकाकी भाँति काँपने लगी ।। ३६ ।।

ततोऽर्जुनः संत्वरितः शङ्खस्यासीत् पुरःसरः ।
भीष्माद् रक्ष्योऽयमद्येति ततो युद्धमवर्तत ।। ३७ ।।

यह देख अर्जुन तुरंत ही शंखके आगे आ गये। उनके आगे आनेका उद्देश्य यह था कि आज भीष्मके हाथसे शंखको बचाना चाहिये। फिर तो महान् युद्ध आरम्भ हुआ ।। ३७ ।।

हाहाकारो महानासीद् योधानां युधि युध्यताम् ।
तेजस्तेजसि सम्पृक्तमित्येवं विस्मयं ययुः ।। ३८ ।।

उस समय रणक्षेत्रमें जूझनेवाले योद्धाओंका महान् हाहाकार सब ओर फैल गया। तेजके साथ तेज टक्कर ले रहा है, यह कहते हुए सब लोग बड़े विस्मयमें पड़ गये ।। ३८ ।।

अथ शल्यो गदापाणिरवतीर्य महारथात् ।
शङ्खस्य चतुरो वाहानहनद् भरतर्षभ ।। ३९ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समय राजा शल्यने हाथमें गदा लिये अपने विशाल रथसे उतरकर शंखके चारों घोड़ोंको मार डाला ।। ३९ ।।

स हताश्वाद् रथात् तूर्णं खड्गमादाय विद्रुतः ।
बीभत्सोश्च रथं प्राप्य पुनः शान्तिमविन्दत ।। ४० ।।

घोड़े मारे जानेपर शंख तुरंत ही तलवार लेकर रथसे कूद पड़ा और अर्जुनके रथपर चढ़कर उसने पुनः शान्तिकी साँस ली ।। ४० ।।

ततो भीष्मरथात् तूर्णमुत्पतन्ति पतत्त्रिणः ।
यैरन्तरिक्षं भूमिश्च सर्वतः समवस्तृता ।। ४१ ।।

तत्पश्चात् भीष्मके रथसे शीघ्रतापूर्वक पंखयुक्त बाण पक्षीके समान उड़ने लगे, जिन्होंने पृथ्वी और आकाश सबको आच्छादित कर लिया ।। ४१ ।।

पञ्चालानथ मत्स्यांश्च केकयांश्च प्रभद्रकान् ।
भीष्मः प्रहरतां श्रेष्ठः पातयामास पत्रिभिः ।। ४२ ।।

योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म पांचाल, मत्स्य, केकय तथा प्रभद्रक वीरोंको अपने बाणोंसे मार-मारकर गिराने लगे ।। ४२ ।।

उत्सृज्य समरे राजन् पाण्डवं सव्यसाचिनम् ।
अभ्यद्रवत पाञ्चाल्यं द्रुपदं सेनया वृतम् ।। ४३ ।।
प्रियं सम्बन्धिनं राजन् शरानवकिरन् बहून् ।

राजन्! भीष्मने समरभूमिमें सव्यसाची अर्जुनको छोड़कर सेनासे घिरे हुए पांचालराज द्रुपदपर धावा किया और अपने प्रिय सम्बन्धीपर बहुत-से बाणोंकी वर्षा की ।। ४३ $\frac{१}{२}$ ।।

अग्निनेव प्रदग्धानि वनानि शिशिरात्यये ।। ४४ ।।
शरदग्धान्यदृश्यन्त सैन्यानि द्रुपदस्य ह ।

जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें आग लगनेसे सारे वन दग्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार द्रुपदकी सारी सेनाएँ भीष्मके बाणोंसे दग्ध दिखायी देने लगीं ।। ४४ $\frac{१}{२}$ ।।

अत्यतिष्ठद् रणे भीष्मो विधूम इव पावकः ।। ४५ ।।
मध्यंदिने यथाऽऽदित्यं तपन्तमिव तेजसा ।
न शेकुः पाण्डवेयस्य योधा भीष्मं निरीक्षितुम् ।। ४६ ।।

उस समय भीष्म रणभूमिमें धूमरहित अग्निके समान खड़े थे। जैसे दुपहरीमें अपने तेजसे तपते हुए सूर्यकी ओर देखना कठिन है, उसी प्रकार पाण्डव-सेनाके सैनिक भीष्मकी ओर दृष्टिपात करनेमें भी असमर्थ हो गये ।। ४५-४६ ।।

वीक्षांचक्रुः समन्तात् ते पाण्डवा भयपीडिताः ।
त्रातारं नाध्यगच्छन्त गावः शीतार्दिता इव ।। ४७ ।।

पाण्डव योद्धा भयसे पीड़ित हो सब ओर देखने लगे; परंतु सर्दीसे पीड़ित हुई गौओंकी भाँति उन्हें अपना कोई रक्षक नहीं मिला ।। ४७ ।।

सा तु यौधिष्ठिरी सेना गाङ्गेयशरपीडिता ।
सिंहेनेव विनिर्भिन्ना शुक्ला गौरिव गोपते ।। ४८ ।।

राजन्! गंगानन्दन भीष्मके बाणोंसे पीड़ित हुई वह युधिष्ठिरकी (श्वेत-परिधानविभूषित) सेना सिंहके द्वारा सतायी हुई सफेद गायके समान प्रतीत होने लगी ।। ४८ ।।

हते विप्रद्रुते सैन्ये निरुत्साहे विमर्दिते ।
हाहाकारो महानासीत् पाण्डुसैन्येषु भारत ।। ४९ ।।

भारत! पाण्डव-सेनाके सैनिक बहुत-से मारे गये, बहुतेरे भाग गये, कितने रौंद डाले गये और कितने ही उत्साहशून्य हो गये। इस प्रकार पाण्डवदलमें बड़ा हाहाकार मच गया था ।। ४९ ।।

ततो भीष्मः शान्तनवो नित्यं मण्डलकार्मुकः ।
मुमोच बाणान् दीप्ताग्रानहीनाशीविषानिव ।। ५० ।।

उस समय शान्तनुनन्दन भीष्म अपने धनुषको खींचकर गोल बना देते और उसके द्वारा विषैले सर्पोंकी भाँति भयंकर प्रज्वलित अग्रभागवाले बाणोंकी निरन्तर वर्षा करते थे ।। ५० ।।

शरैरेकायनीकुर्वन् दिशः सर्वा यतव्रतः ।
जघान पाण्डवरथानादिश्यादिश्य भारत ।। ५१ ।।

भारत! नियमपूर्वक व्रतोंका पालन करनेवाले भीष्म सम्पूर्ण दिशाओंमें बाणोंसे एक रास्ता बना देते और पाण्डवरथियोंको चुन-चुनकर—उनके नाम ले-लेकर मारते थे ।। ५१ ।।

ततः सैन्येषु भग्नेषु मथितेषु च सर्वशः ।
प्राप्ते चास्तं दिनकरे न प्राज्ञायत किंचन ।। ५२ ।।

इस प्रकार सारी सेना मथित हो उठी, व्यूह भंग हो गया और सूर्य अस्ताचलको चले गये; उस समय अँधेरेमें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ।। ५२ ।।

भीष्मं च समुदीर्यन्तं दृष्ट्वा पार्था महाहवे ।
अवहारमकुर्वन्त सैन्यानां भरतर्षभ ।। ५३ ।।

भरतश्रेष्ठ! इधर, उस महान् युद्धमें भीष्मका वेग अधिकाधिक प्रचण्ड होता जा रहा था, यह देख कुन्तीके पुत्रोंने अपनी सेनाओंको युद्धक्षेत्रसे पीछे हटा लिया ।। ५३ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि शङ्खयुद्धे प्रथमदिवसावहारे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ४९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें शंखका युद्ध तथा प्रथम दिनके युद्धका उपसंहारविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४९ ।।

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता, भगवान् श्रीकृष्णद्वारा आश्वासन, धृष्टद्युम्नका उत्साह तथा द्वितीय दिनके युद्धके लिये क्रौंचारुणव्यूहका निर्माण

संजय उवाच

कृतेऽवहारे सैन्यानां प्रथमे भरतर्षभ ।
भीष्मे च युद्धसंरब्धे हृष्टे दुर्योधने तथा ।। १ ।।
धर्मराजस्ततस्तूर्णमभिगम्य जनार्दनम् ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः सर्वैश्चैव जनेश्वरैः ।। २ ।।
शुचा परमया युक्तश्चिन्तयानः पराजयम् ।
वार्ष्णेयमब्रवीद् राजन् दृष्ट्वा भीष्मस्य विक्रमम् ।। ३ ।।

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! प्रथम दिनके युद्धमें जब पाण्डव-सेना पीछे हटा दी गयी, भीष्मजीका युद्धविषयक उत्साह बढ़ता ही गया और दुर्योधन हर्षातिरेकसे उल्लसित हो उठा, उस समय धर्मराज युधिष्ठिर अपने सभी भाइयों और सम्पूर्ण राजाओंके साथ तुरंत भगवान् श्रीकृष्णके पास गये और अत्यन्त शोकसे संतप्त हो भीष्मका पराक्रम देखकर अपनी पराजयके लिये चिन्ता करते हुए भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले— ।। १—३ ।।

कृष्ण पश्य महेष्वासं भीष्मं भीमपराक्रमम् ।
शरैर्दहन्तं सैन्यं मे ग्रीष्मे कक्षमिवानलम् ।। ४ ।।

'श्रीकृष्ण! देखिये, महान् धनुर्धर और भयंकर पराक्रमी भीष्म अपने बाणोंद्वारा मेरी सेनाको उसी प्रकार दग्ध कर रहे हैं, जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें लगी हुई आग घास-फूँसको जलाकर भस्म कर डालती है ।। ४ ।।

कथमेनं महात्मानं शक्ष्यामः प्रतिवीक्षितुम् ।
लेलिह्यमानं सैन्यं मे हविष्मन्तमिवानलम् ।। ५ ।।

'जैसे अग्निदेव प्रज्वलित होकर हविष्यकी आहुति ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार ये महामना भीष्म अपनी बाणरूपी जिह्वासे मेरी सेनाको चाटते जा रहे हैं। हमलोग कैसे इनकी ओर देख सकेंगे—किस प्रकार इनका सामना कर सकेंगे? ।। ५ ।।

एतं हि पुरुषव्याघ्रं धनुष्मन्तं महाबलम् ।
दृष्ट्वा विप्रद्रुतं सैन्यं समरे मार्गणाहतम् ।। ६ ।।

‘हाथमें धनुष लिये इन महाबली पुरुषसिंह भीष्मको देखकर और समरभूमिमें इनके बाणोंसे आहत होकर मेरी सारी सेना भागने लगती है ।। ६ ।।

शक्यो जेतुं यमः क्रुद्धो वज्रपाणिश्च संयुगे ।
वरुणः पाशभृद् वापि कुबेरो वा गदाधरः ।। ७ ।।
न तु भीष्मो महातेजाः शक्यो जेतुं महाबलः ।

‘क्रोधमें भरे हुए यमराज, वज्रधारी इन्द्र, पाशधारी वरुण अथवा गदाधारी कुबेर भी कदाचित् युद्धमें जीते जा सकते हैं; परंतु महातेजस्वी, महाबली भीष्मको जीतना अशक्य है ।। ७$\frac{1}{2}$ ।।

सोऽहमेवंगते मग्नो भीष्मागाधजलेऽप्लवे ।। ८ ।।
आत्मनो बुद्धिदौर्बल्याद् भीष्ममासाद्य केशव ।

‘केशव! ऐसी दशामें मैं तो अपनी बुद्धिकी दुर्बलताके कारण भीष्मसे टक्कर लेकर भीष्मरूपी अगाध जलराशिमें नावके बिना डूबा जा रहा हूँ ।। ८$\frac{1}{2}$ ।।

वनं यास्यामि वार्ष्णेय श्रेयो मे तत्र जीवितुम् ।। ९ ।।
न त्वेतान् पृथिवीपालान् दातुं भीष्माय मृत्यवे ।

‘वार्ष्णेय! अब मैं वनको चला जाऊँगा। वहीं जीवन बिताना मेरे लिये कल्याणकारी होगा। इन भूपालोंको व्यर्थ ही भीष्मरूपी मृत्युको सौंप देनेमें कोई भलाई नहीं है ।। ९$\frac{1}{2}$ ।।

क्षपयिष्यति सेनां मे कृष्ण भीष्मो महास्त्रवित् ।। १० ।।
यथानलं प्रज्वलितं पतङ्गाः समभिद्रुताः ।
विनाशायोपगच्छन्ति तथा मे सैनिको जनः ।। ११ ।।

‘श्रीकृष्ण! भीष्म महान् दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता हैं। वे मेरी सारी सेनाका संहार कर डालेंगे। जैसे पतिंगे मरनेके लिये ही जलती आगमें कूद पड़ते हैं, उसी प्रकार मेरे समस्त सैनिक अपने विनाशके लिये ही भीष्मके समीप जाते हैं ।। १०-११ ।।

क्षयं नीतोऽस्मि वार्ष्णेय राज्यहेतोः पराक्रमी ।
भ्रातरश्चैव मे वीराः कर्शिताः शरपीडिताः ।। १२ ।।

‘वार्ष्णेय! राज्यके लिये पराक्रम करके मैं सब प्रकारसे क्षीण होता जा रहा हूँ। मेरे वीर भ्राता बाणोंसे पीड़ित होकर अत्यन्त कृश होते जा रहे हैं ।। १२ ।।

मत्कृते भ्रातृहार्देन राज्याद् भ्रष्टास्तथा सुखात् ।
जीवितं बहु मन्येऽहं जीवितं ह्यद्य दुर्लभम् ।। १३ ।।

‘ये बन्धुजनोचित सौहार्दके कारण मेरे लिये राज्य और सुखसे वंचित हो दुःख भोग रहे हैं। इस समय मैं इनके और अपने जीवनको ही बहुत अच्छा समझता हूँ; क्योंकि अब जीवन भी दुर्लभ है ।। १३ ।।

जीवितस्य च शेषेण तपस्तप्स्यामि दुश्चरम् ।
न घातयिष्यामि रणे मित्राणीमानि केशव ।। १४ ।।

'केशव! जीवन बच जानेपर मैं दुष्कर तपस्या करूँगा; परंतु रणक्षेत्रमें इन मित्रोंकी व्यर्थ हत्या नहीं कराऊँगा ।। १४ ।।

रथान् मे बहुसाहस्रान् दिव्यैरस्त्रैर्महाबलः ।
घातयत्यनिशं भीष्मः प्रवराणां प्रहारिणाम् ।। १५ ।।

'महाबली भीष्म अपने दिव्य अस्त्रोंद्वारा मेरे पक्षके श्रेष्ठ एवं प्रहारकुशल कई सहस्र रथियोंका निरन्तर संहार कर रहे हैं ।। १५ ।।

किं नु कृत्वा हितं मे स्याद् ब्रूहि माधव माचिरम् ।
मध्यस्थमिव पश्यामि समरे सव्यसाचिनम् ।। १६ ।।

'माधव! शीघ्र बताइये, क्या करनेसे मेरा हित होगा? सव्यसाची अर्जुनको तो मैं इस युद्धमें मध्यस्थ (उदासीन)-सा देख रहा हूँ ।। १६ ।।

एको भीमः परं शक्त्या युध्यत्येव महाभुजः ।
केवलं बाहुवीर्येण क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ।। १७ ।।

'एकमात्र महाबाहु भीमसेन ही क्षत्रिय-धर्मका विचार करता हुआ केवल बाहुबलके भरोसे अपनी पूरी शक्ति लगाकर युद्ध कर रहा है ।। १७ ।।

गदया वीरघातिन्या यथोत्साहं महामनाः ।
करोत्यसुकरं कर्म रथाश्वनरदन्तिषु ।। १८ ।।

'महामना भीमसेन उत्साहपूर्वक अपनी वीरघातिनी गदाके द्वारा रथ, घोड़े, मनुष्य और हाथियोंपर अपना दुष्कर पराक्रम प्रकट कर रहा है ।। १८ ।।

नालमेष क्षयं कर्तुं परसैन्यस्य मारिष ।
आर्जवेनैव युद्धेन वीर वर्षशतैरपि ।। १९ ।।

'माननीय वीर श्रीकृष्ण! यदि इस तरह सरलतापूर्वक ही युद्ध किया जाय तो यह भीमसेन अकेला सौ वर्षोंमें भी शत्रु-सेनाका विनाश नहीं कर सकता ।। १९ ।।

एकोऽस्त्रवित् सखा तेऽयं सोऽप्यस्मान् समुपेक्षते ।
निर्दह्यमानान् भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना ।। २० ।।

'केवल आपका यह सखा अर्जुन ही दिव्यास्त्रोंका ज्ञाता है, परंतु यह भी महामना भीष्म और द्रोणके द्वारा दग्ध होते हुए हमलोगोंकी उपेक्षा कर रहा है ।। २० ।।

दिव्यान्यस्त्राणि भीष्मस्य द्रोणस्य च महात्मनः ।
धक्ष्यन्ति क्षत्रियान् सर्वान् प्रयुक्तानि पुनः पुनः ।। २१ ।।

'महामना भीष्म और द्रोणके दिव्यास्त्र बार-बार प्रयुक्त होकर सम्पूर्ण क्षत्रियोंको भस्म कर डालेंगे ।। २१ ।।

कृष्ण भीष्मः सुसंरब्धः सहितः सर्वपार्थिवैः ।
क्षपयिष्यति नो नूनं यादृशोऽस्य पराक्रमः ।। २२ ।।

‘श्रीकृष्ण! भीष्म क्रोधमें भरकर अपने पक्षके समस्त राजाओंके साथ मिलकर निश्चय ही हमलोगोंका विनाश कर देंगे। जैसा उनका पराक्रम है, उससे यही सूचित होता है ।। २२ ।।

स त्वं पश्य महाभाग योगेश्वर महारथम् ।
भीष्मं यः शमयेत् संख्ये दावाग्निं जलदो यथा ।। २३ ।।

‘महाभाग योगेश्वर! आप ऐसे किसी महारथीको ढूँढ़ निकालिये, जो संग्रामभूमिमें भीष्मको उसी प्रकार शान्त कर दे, जैसे बादल दावानलको बुझा देता है ।। २३ ।।

तव प्रसादाद् गोविन्द पाण्डवा निहतद्विषः ।
स्वराज्यमनुसम्प्राप्ता मोदिष्यन्ते सबान्धवाः ।। २४ ।।

‘गोविन्द! आपकी कृपासे ही पाण्डव अपने शत्रुओंको मारकर स्वराज्य प्राप्त करके बन्धु-बान्धवोंसहित सुखी होंगे’ ।। २४ ।।

एवमुक्त्वा ततः पार्थो ध्यायन्नास्ते महामनाः ।
चिरमन्तर्मना भूत्वा शोकोपहतचेतनः ।
शोकर्तं तमथो ज्ञात्वा दुःखोपहतचेतसम् ।। २५ ।।
अब्रवीत् तत्र गोविन्दो हर्षयन् सर्वपाण्डवान् ।

ऐसा कहकर महामना युधिष्ठिर शोकसे व्याकुल-चित्त हो बहुत देरतक मनको अन्तर्मुख करके ध्यानमग्न बैठे रहे। युधिष्ठिरको शोकसे आतुर और दुःखसे व्यथितचित्त जानकर गोविन्दने समस्त पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाते हुए कहा— ।। २५½ ।।

मा शुचो भरतश्रेष्ठ न त्वं शोचितुमर्हसि ।। २६ ।।
यस्य ते भ्रातरः शूराः सर्वलोकेषु धन्विनः ।
अहं च प्रियकृद् राजन् सात्यकिश्च महायशाः ।। २७ ।।
विराटद्रुपदौ चेमौ धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
तथैव सबलाश्चेमे राजानो राजसत्तम ।। २८ ।।
त्वत्प्रसादं प्रतीक्षन्ते त्वद्भक्ताश्च विशाम्पते ।

‘भरतश्रेष्ठ! तुम शोक न करो। इस प्रकार शोक करना तुम्हारेयोग्य नहीं है। तुम्हारे शूरवीर भाई सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात धनुर्धर हैं। राजन्! मैं भी तुम्हारा प्रिय करनेवाला ही हूँ। नृपश्रेष्ठ! महायशस्वी सात्यकि, विराट, द्रुपद, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न तथा सेनासहित ये सम्पूर्ण नरेश आपके कृपाप्रसादकी प्रतीक्षा करते हैं। महाराज! ये सब-के-सब आपके भक्त हैं ।। २६—२८½ ।।

एष ते पार्षतो नित्यं हितकामः प्रिये रतः ।। २९ ।।
सैनापत्यमनुप्राप्तो धृष्टद्युम्नो महाबलः ।

‘ये द्रुपदपुत्र महाबली धृष्टद्युम्न भी सदा आपका हित चाहते हैं और आपके प्रिय-साधनमें तत्पर होकर ही इन्होंने प्रधान सेनापतिका गुरुतर भार ग्रहण किया है ।। २९½ ।।

शिखण्डी च महाबाहो भीष्मस्य निधनं किल ।। ३० ।।
(करिष्यति न संदेहो नृपाणां युधि पश्यताम् ।)

'महाबाहो! निश्चय ही इन समस्त राजाओंके देखते-देखते यह शिखण्डी भीष्मका वध कर डालेगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है' ।। ३० ।।

एतच्छ्रुत्वा ततो राजा धृष्टद्युम्नं महारथम् ।
अब्रवीत् समितौ तस्यां वासुदेवस्य शृण्वतः ।। ३१ ।।

यह सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते ही उस सभामें महारथी धृष्टद्युम्नसे कहा— ।। ३१ ।।

धृष्टद्युम्न निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि मारिष ।
नातिक्रम्यं भवेत् तच्च वचनं मम भाषितम् ।। ३२ ।।

'आदरणीय वीर धृष्टद्युम्न! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, इसे ध्यान देकर सुनो। मेरे कहे हुए वचनोंका तुम्हें उल्लंघन नहीं करना चाहिये ।। ३२ ।।

भवान् सेनापतिर्मह्यं वासुदेवेन सम्मितः ।
कार्तिकेयो यथा नित्यं देवानामभवत् पुरा ।। ३३ ।।
तथा त्वमपि पाण्डूनां सेनानीः पुरुषर्षभ ।

'तुम मेरे सेनापति हो, भगवान् श्रीकृष्णके समान पराक्रमी हो। पुरुषरत्न! पूर्वकालमें भगवान् कार्तिकेय जिस प्रकार देवताओंके सेनापति हुए थे, उसी प्रकार तुम भी पाण्डवोंके सेनानायक होओ' ।। ३३½ ।।

(तच्छ्रुत्वा जहृषुः पार्थाः पार्थिवाश्च महारथाः ।
साधु साध्विति तद्वाक्यमूचुः सर्वे महीक्षितः ।।
पुनरप्यब्रवीद् राजा धृष्टद्युम्नं महाबलम् ।।)

युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर समस्त पाण्डव और महारथी भूपालगण सब-के-सब 'साधु-साधु' कहकर उनके इन वचनोंकी सराहना करने लगे। तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने पुनः महाबली धृष्टद्युम्नसे कहा—।

स त्वं पुरुषशार्दूल विक्रम्य जहि कौरवान् ।। ३४ ।।
अहं च तेऽनुयास्यामि भीमः कृष्णश्च मारिष ।
माद्रीपुत्रौ च सहितौ द्रौपदेयाश्च दंशिताः ।। ३५ ।।
ये चान्ये पृथिवीपालाः प्रधानाः पुरुषर्षभ ।

'पुरुषसिंह! तुम पराक्रम करके कौरवोंका नाश करो। मारिष! नरश्रेष्ठ! मैं, भीमसेन, श्रीकृष्ण, माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा अन्य प्रधान-प्रधान भूपाल कवच धारण करके तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे' ।। ३४-३५½ ।।

तत उद्धर्षयन् सर्वान् धृष्टद्युम्नोऽभ्यभाषत ।। ३६ ।।
अहं द्रोणान्तकः पार्थ विहितः शम्भुना पुरा ।

रणे भीष्मं कृपं द्रोणं तथा शल्यं जयद्रथम् ।। ३७ ।।
सर्वानद्य रणे दृप्तान् प्रतियोत्स्यामि पार्थिव ।

तब धृष्टद्युम्नने सबका हर्ष बढ़ाते हुए कहा—‘पार्थ! मुझे भगवान् शंकरने पहलेसे ही द्रोणाचार्यका काल बनाकर उत्पन्न किया है। पृथ्वीपते! आज समरांगणमें मैं भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य तथा जयद्रथ—इन समस्त अभिमानी योद्धाओंका सामना करूँगा’ ।। ३६-३७½ ।।

अथोत्क्रुष्टं महेष्वासैः पाण्डवैर्युद्धदुर्मदैः ।। ३८ ।।
समुद्यते पार्थिवेन्द्रे पार्षते शत्रुसूदने ।
तमब्रवीत् ततः पार्थः पार्षतं पृतनापतिम् ।। ३९ ।।

यह सुनकर युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले महान् धनुर्धर पाण्डवोंने उच्चस्वरमें सिंहनाद किया तथा शत्रुसूदन नृपश्रेष्ठ द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके इस प्रकार युद्धके लिये उद्यत होनेपर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने सेनापति द्रुपदकुमारसे पुनः इस प्रकार कहा— ।। ३८-३९ ।।

व्यूहः क्रौञ्चारुणो नाम सर्वशत्रुनिबर्हणः ।
यं बृहस्पतिरिन्द्राय तदा देवासुरेऽब्रवीत् ।। ४० ।।

‘सेनापते! क्रौंचारुण नामक व्यूह समस्त शत्रुओंका संहार करनेवाला है; जिसे बृहस्पतिने देवासुर-संग्रामके अवसरपर इन्द्रको बताया था ।। ४० ।।

तं यथावत् प्रतिव्यूह परानीकविनाशनम् ।
अदृष्टपूर्वं राजानः पश्यन्तु कुरुभिः सह ।। ४१ ।।

‘शत्रुसेनाका विनाश करनेवाले उस क्रौंचारुण व्यूहका तुम यथावत् रूपसे निर्माण करो। आज समस्त राजा कौरवोंके साथ उस अदृष्टपूर्व व्यूहको अपनी आँखोंसे देखें’ ।। ४१ ।।

यथोक्तः स नृदेवेन विष्णुर्वज्रभृता यथा ।
(बार्हस्पत्येन विधिना व्यूहमार्गविचक्षणः ।)
प्रभाते सर्वसैन्यानामग्रे चक्रे धनंजयम् ।। ४२ ।।

जैसे वज्रधारी इन्द्र भगवान् विष्णुसे कुछ कहते हों, उसी प्रकार नरदेव युधिष्ठिरके पूर्वोक्त बात कहनेपर व्यूह-रचनामें कुशल धृष्टद्युम्नने बृहस्पतिकी बतायी हुई विधिसे प्रातःकाल (सूर्योदयसे पूर्व) ही समस्त सेनाओंका व्यूह-निर्माण किया; उन्होंने सबसे आगे अर्जुनको खड़ा किया ।। ४२ ।।

आदित्यपथगः केतुस्तस्याद्भुतमनोरमः ।
शासनात् पुरुहूतस्य निर्मितो विश्वकर्मणा ।। ४३ ।।

उनका अद्भुत एवं मनोरम ध्वज सूर्यके पथमें (ऊँचे आकाशमें) फहरा रहा था। इन्द्रके आदेशसे साक्षात् विश्वकर्माने उसका निर्माण किया था ।। ४३ ।।

इन्द्रायुधसवर्णाभिः पताकाभिरलङ्कृतः ।

आकाशग इवाकाशे गन्धर्वनगरोपमः ।। ४४ ।।

इन्द्रधनुषके रंगकी पताकाएँ उस ध्वजकी शोभा बढ़ाती थीं। वह ध्वज आकाशमें आकाशचारी पक्षीकी भाँति बिना आधारके ही चलता था। वह दूरसे गन्धर्वनगरके समान जान पड़ता था ।। ४४ ।।

नृत्यमान इवाभाति रथचर्यासु मारिष ।
तेन रत्नवता पार्थः स च गाण्डीवधन्वना ।। ४५ ।।
बभूव परमोपेतः सुमेरुरिव भानुना ।

आर्य! रथके मार्गोंपर अर्जुनका वह ध्वज नृत्य करता-सा प्रतीत होता था। उस रत्नयुक्त ध्वजसे अर्जुनकी और गाण्डीवधारी अर्जुनसे उस ध्वजकी बड़ी शोभा होती थी, ठीक उसी तरह जैसे मेरु पर्वतसे सूर्यकी और सूर्यसे मेरु पर्वतकी शोभा होती है ।। ४५½ ।।

शिरोऽभूद् द्रुपदो राजन् महत्या सेनया वृतः ।। ४६ ।।
कुन्तिभोजश्च चैद्यश्च चक्षुर्भ्यां तौ जनेश्वरौ ।
दाशार्णकाः प्रभद्राश्च दाशेरकगणैः सह ।। ४७ ।।
अनूपकाः किराताश्च ग्रीवायां भरतर्षभ ।

राजन्! अपनी विशाल सेनाके साथ राजा द्रुपद उस व्यूहके सिरके स्थानपर थे। कुन्तिभोज और धृष्टकेतु—ये दोनों नरेश नेत्रोंके स्थानपर प्रतिष्ठित हुए। भरतश्रेष्ठ! दाशार्णक, दाशेरकसमूहोंके साथ प्रभद्रक, अनूपक और किरातगण गर्दनके स्थानमें खड़े किये गये ।। ४६-४७½ ।।

पटच्चरैश्च पौण्ड्रैश्च राजन् पौरवकैस्तथा ।। ४८ ।।
निषादैः सहितश्चापि पृष्ठमासीद् युधिष्ठिरः ।
पक्षौ तु भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।। ४९ ।।
द्रौपदेयाभिमन्युश्च सात्यकिश्च महारथः ।
पिशाचा दारदाश्चैव पुण्ड्राः कुण्डीविषैः सह ।। ५० ।।
मारुता धेनुकाश्चैव तङ्गणाः परतङ्गणाः ।
बाह्लिकास्तित्तिराश्चैव चोलाः पाण्ड्याश्च भारत ।। ५१ ।।
एते जनपदा राजन् दक्षिणं पक्षमाश्रिताः ।

पटच्चर, पौण्ड्र, पौरव तथा निषादोंके साथ स्वयं राजा युधिष्ठिर पृष्ठभागमें स्थित हुए। भीमसेन और धृष्टद्युम्न क्रौंचपक्षीके दोनों पंखोंके स्थानपर नियुक्त किये गये। राजन्! द्रौपदीके पुत्र, अभिमन्यु और महारथी सात्यकिके साथ पिशाच, दारद, पुण्ड्र, कुण्डीविष, मारुत, धेनुक, तंगण, परतंगण, बाह्लिक, तित्तिर, चोल तथा पाण्ड्य—इन जनपदोंके लोग दाहिने पंखका आश्रय लेकर खड़े हुए ।। ४८—५१½ ।।

अग्निवेश्यास्तु हुण्डाश्च मालवा दानभारयः ।। ५२ ।।

शबरा उद्धसाश्चैव वत्साश्च सह नाकुलैः ।
नकुलः सहदेवश्च वामं पक्षं समाश्रिताः ।। ५३ ।।

अग्निवेश्य, हुण्ड, मालव, दानभारि, शबर, उद्धस, वत्स तथा नाकुल जनपदोंके साथ दोनों भाई नकुल और सहदेवने बायें पंखका आश्रय लिया ।। ५२-५३ ।।

रथानामयुतं पक्षौ शिरस्तु नियुतं तथा ।
पृष्ठमर्बुदमेवासीत् सहस्राणि च विंशतिः ।। ५४ ।।
ग्रीवायां नियुतं चापि सहस्राणि च सप्ततिः ।

उस क्रौंचपक्षीके पंखभागमें दस हजार, शिरोभागमें एक[१] लाख, पृष्ठभागमें एक अर्बुद[२] बीस हजार तथा ग्रीवाभागमें एक लाख सत्तर हजार रथ मौजूद थे ।। ५४ १/२ ।।

पक्षकोटिप्रपक्षेषु पक्षान्तेषु च वारणाः ।। ५५ ।।
जग्मुः परिवृता राजंश्चलन्त इव पर्वताः ।

राजन्! पक्ष[३], कोटि[४], प्रपक्ष[५] तथा पक्षान्त-भागोंमें चलते-फिरते पर्वतोंके समान हाथियोंके झुंड चले। वे सब-के-सब सेनाओंसे घिरे हुए थे ।। ५५ १/२ ।।

जघनं पालयामास विराटः सह केकयैः ।। ५६ ।।
काशिराजश्च शैब्यश्च रथानामयुतैस्त्रिभिः ।

राजा विराट केकयराजकुमारोंके साथ उस व्यूहके जघन (कटिके अग्रभाग)-की रक्षा करते थे। काशिराज और शैब्य भी तीस हजार रथियोंके साथ उसीकी रक्षामें तत्पर थे ।। ५६ १/२ ।।

एवमेनं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः ।। ५७ ।।
सूर्योदयं त इच्छन्तः स्थिता युद्धाय दंशिताः ।

भारत! इस प्रकार पाण्डव क्रौंचारुण नामक महाव्यूहकी रचना करके सूर्योदयकी प्रतीक्षा करते हुए युद्धके लिये कवच आदिसे सुसज्जित हो खड़े हो गये ।। ५७ १/२ ।।

तेषामादित्यवर्णानि विमलानि महान्ति च ।
श्वेतच्छत्राण्यशोभन्त वारणेषु रथेषु च ।। ५८ ।।

उनके हाथियों और रथोंके ऊपर सूर्यके समान प्रकाशमान, निर्मल एवं महान् श्वेतच्छत्र शोभा पा रहे थे ।। ५८ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि क्रौञ्चव्यूहनिर्माणे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें क्रौंचव्यूहनिर्माणविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५० ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ १/२ श्लोक मिलाकर कुल ६० १/२ श्लोक हैं।]

१. यहाँ ‘नियुत’ का अर्थ एक लाख किया गया है। किसी-किसीके मतमें उसका अर्थ दस लाख भी होता है। २. दस करोड़की संख्याको अर्बुद कहते हैं। ३. पंख। ४. अग्रभाग। ५. पंखके भीतरके छोटे-छोटे पंख।

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कौरव-सेनाकी व्यूह-रचना तथा दोनों दलोंमें शंखध्वनि और सिंहनाद

संजय उवाच

क्रौञ्चं दृष्ट्वा ततो व्यूहमभेद्यं तनयस्तव ।
रक्ष्यमाणं महाघोरं पार्थेनामिततेजसा ।। १ ।।
आचार्यमुपसंगम्य कृपं शल्यं च पार्थिव ।
सौमदत्तिं विकर्णं च सोऽश्वत्थामानमेव च ।। २ ।।
दुःशासनादीत् भ्रातृंश्च सर्वानेव च भारत ।
अन्यांश्च सुबहून् शूरान् युद्धाय समुपागतान् ।। ३ ।।
प्राहेदं वचनं काले हर्षयंस्तनयस्तव ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।। ४ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! उस अत्यन्त भयंकर अभेद्य क्रौंचव्यूहको अमिततेजस्वी अर्जुनके द्वारा सुरक्षित देखकर आपका पुत्र दुर्योधन आचार्य द्रोण, कृप, शल्य, भूरिश्रवा, विकर्ण, अश्वत्थामा और दुःशासन आदि सब भाइयों तथा युद्धके लिये आये हुए अन्य बहुतेरे शूरवीरोंके पास जाकर उन सबका हर्ष बढ़ाता हुआ यह समयोचित वचन बोला—'वीरो! आप सब लोग नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारमें कुशल तथा युद्धकी कलामें निपुण हैं ।। १—४ ।।

एकैकशः समर्था हि यूयं सर्वे महारथाः ।

पाण्डुपुत्रान् रणे हन्तुं ससैन्यान् किमु संहताः ।। ५ ।।

'आप सभी महारथी हैं। आपमेंसे प्रत्येक योद्धा रणक्षेत्रमें सेनासहित पाण्डवोंका वध करनेमें समर्थ हैं। फिर सब लोग मिलकर उन्हें परास्त कर दें, इसके लिये तो कहना ही क्या है ।। ५ ।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तमिदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।। ६ ।।
संस्थानाः शूरसेनाश्च वेत्रिकाः कुकुरास्तथा ।
आरोचकास्त्रिगर्ताश्च मद्रका यवनास्तथा ।। ७ ।।
शत्रुंजयेन सहितास्तथा दुःशासनेन च ।
विकर्णेन च वीरेण तथा नन्दोपनन्दकैः ।। ८ ।।
चित्रसेनेन सहिताः सहिताः पारिभद्रकैः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु सहसैन्यपुरस्कृताः ।। ९ ।।

'भीष्मपितामहके द्वारा सुरक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है, परन्तु भीमसेनके द्वारा सुरक्षित इन पाण्डवोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है; अतः मेरी राय है कि संस्थान, शूरसेन, वेत्रिक, कुकुर, आरोचक, त्रिगर्त, मद्रक तथा यवन आदि देशोंके लोग शत्रुंजय, दुःशासन, वीर विकर्ण, नन्द, उपनन्द, चित्रसेन तथा पारिभद्रक वीरोंके साथ जाकर अपनी सेनाको आगे रखते हुए भीष्मकी ही रक्षा करें' ।। ६—९ ।।

(संजय उवाच

दुर्योधनवचः श्रुत्वा सर्व एव महारथाः ।
तथेत्येनं नृपा ऊचुस्तदा द्रोणपुरोगमाः ।।)

संजय कहते हैं—महाराज! दुर्योधनकी यह बात सुनकर द्रोण आदि सभी महारथियों एवं राजाओंने उस समय 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली।

ततो भीष्मश्च द्रोणश्च तव पुत्राश्च मारिष ।
अव्यूहन्त महाव्यूहं पाण्डूनां प्रतिबाधनम् ।। १० ।।

आर्य! तदनन्तर भीष्म, द्रोण तथा आपके पुत्रोंने मिलकर अपनी सेनाका महान् व्यूह बनाया, जो पाण्डव-सैनिकोंको बाधा पहुँचानेमें समर्थ था ।। १० ।।

भीष्मः सैन्येन महता समन्तात् परिवारितः ।
ययौ प्रकर्षन् महतीं वाहिनीं सुरराडिव ।। ११ ।।

तदनन्तर बहुत बड़ी सेनाद्वारा सब ओरसे घिरे हुए भीष्म देवराज इन्द्रकी भाँति विशाल वाहिनी साथ लिये आगे-आगे चले ।। ११ ।।

तमन्वयान्महेष्वासो भारद्वाजः प्रतापवान् ।
कुन्तलैश्च दशार्णैश्च मागधैश्च विशाम्पते ।। १२ ।।

विदर्भैर्मेकलैश्चैव कर्णप्रावरणैरपि ।
सहिताः सर्वसैन्येन भीष्ममाहवशोभिनम् ।। १३ ।।
गान्धाराः सिन्धुसौवीराः शिबयोऽथ वसातयः ।

उनके पीछे प्रतापी वीर महाधनुर्धर द्रोणाचार्यने युद्धके लिये प्रस्थान किया। महाराज! उस समय कुन्तल, दशार्ण, मागध, विदर्भ, मेकल तथा कर्णप्रावरण आदि देशोंके सैनिकोंके साथ गान्धार, सिन्धु, सौवीर, शिबि तथा वसाति देशोंके वीर क्षत्रिय युद्धमें शोभा पानेवाले भीष्मकी रक्षा करने लगे ।। १२-१३ १/२ ।।

शकुनिश्च स्वसैन्येन भारद्वाजमपालयत् ।। १४ ।।
ततो दुर्योधनो राजा सहितः सर्वसोदरैः ।
अश्वातकैर्विकर्णैश्च तथा चाम्बष्ठकोसलैः ।। १५ ।।
दरदैश्च शकैश्चैव तथा क्षुद्रकमालवैः ।
अभ्यरक्षत संहृष्टः सौबलेयस्य वाहिनीम् ।। १६ ।।

शकुनिने अपनी सेना साथ लेकर द्रोणाचार्यकी रक्षामें योग दिया। तत्पश्चात् अपने भाइयोंसहित राजा दुर्योधन अत्यन्त हर्षमें भरकर अश्वातक, विकर्ण, अम्बष्ठ, कोसल, दरद, शक, क्षुद्रक तथा मालव आदि देशोंके योद्धाओंके साथ सुबलपुत्र शकुनिकी सेनाका संरक्षण करने लगा ।। १४—१६ ।।

भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तश्च मारिषः ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ वामं पार्श्वमपालयन् ।। १७ ।।
सौमदत्तिः सुशर्मा च काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
श्रुतायुश्चाच्युतायुश्च दक्षिणं पक्षमास्थिताः ।। १८ ।।

भूरिश्रवा, शल, शल्य, आदरणीय राजा भगदत्त तथा अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द उस सारी सेनाके वामभागकी रक्षा कर रहे थे। सोमदत्तपुत्र भूरि, त्रिगर्तराज सुशर्मा, काम्बोजराज सुदक्षिण, श्रुतायु तथा अच्युतायु—ये दक्षिणभागमें स्थित होकर उस सेनाकी रक्षा कर रहे थे ।। १७-१८ ।।

अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
महत्या सेनया सार्धं सेनापृष्ठे व्यवस्थिताः ।। १९ ।।

अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा सात्वतवंशी कृतवर्मा अपनी विशाल सेनाके साथ कौरव-सेनाके पृष्ठभागमें खड़े होकर उसका संरक्षण करते थे ।। १९ ।।

पृष्ठगोपास्तु तस्यासन् नानादेश्या जनेश्वराः ।
केतुमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ।। २० ।।

केतुमान्, वसुदान, काशिराजके पुत्र अभिभू तथा अन्य अनेक देशोंके नरेश सेना पृष्ठके पोषक थे ।। २० ।।

ततस्ते तावकाः सर्वे हृष्टा युद्धाय भारत ।

दध्मुः शङ्खान् मुदा युक्ताः सिंहनादांस्तथोन्नदन् ।। २१ ।।

भारत! तदनन्तर आपकी सेनाके समस्त सैनिक हर्षसे उल्लसित हो प्रसन्नतापूर्वक शंख बजाने और सिंहनाद करने लगे ।। २१ ।।

तेषां श्रुत्वा तु हृष्टानां वृद्धः कुरुपितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।। २२ ।।

उनका हर्षनाद सुनकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह प्रतापी भीष्मने जोर-जोरसे सिंहनाद करके अपना शंख बजाया ।। २२ ।।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवा विविधाः परे ।
आनकाश्चाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।। २३ ।।

तदनन्तर शंख, भेरी, नाना प्रकारके पणव और आनक आदि अन्य बाजे सहसा बज उठे और उन सबका सम्मिलित शब्द सब ओर गूँज उठा ।। २३ ।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
प्रदध्मतुः शङ्खवरौ हेमरत्नपरिष्कृतौ ।। २४ ।।

तत्पश्चात् श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए विशाल रथपर बैठे भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन अपने सुवर्णभूषित श्रेष्ठ शंखोंको बजाने लगे ।। २४ ।।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ।। २५ ।।

हृषीकेशने पांचजन्य, अर्जुनने देवदत्त तथा भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महान् शंख बजाया ।। २५ ।।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।। २६ ।।

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय तथा नकुल-सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाया ।। २६ ।।

काशिराजश्च शैब्यश्च शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्च महारथः ।। २७ ।।
पाञ्चाल्याश्च महेष्वासा द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ।
सर्वे दध्मुर्महाशङ्खान् सिंहनादांश्च नेदिरे ।। २८ ।।

काशिराज, शैब्य, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, महारथी सात्यकि, पांचालवीर, महाधनुर्धर द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी बड़े-बड़े शंखोंको बजाने और सिंहनाद करने लगे ।। २७-२८ ।।

स घोषः सुमहांस्तत्र वीरैस्तैः समुदीरितः ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयत् ।। २९ ।।

वहाँ उन वीरोंद्वारा प्रकट किया हुआ वह महान् तुमुल घोष पृथ्वी और आकाशको निनादित करने लगा ।। २९ ।।

एवमेते महाराज प्रहृष्टाः कुरुपाण्डवाः ।
पुनर्युद्धाय संजग्मुस्तापयानाः परस्परम् ।। ३० ।।

महाराज! इस प्रकार ये हर्षमें भरे हुए कौरव-पाण्डव एक-दूसरेको संताप देते हुए पुनः युद्धके लिये रणक्षेत्रमें जा पहुँचे ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि कौरवव्यूहरचनायामेकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें कौरव-व्यूह-रचनाविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५१ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३१ श्लोक हैं।]

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्म और अर्जुनका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

एवं व्यूढेष्वनीकेषु मामकेष्वितरेषु च ।
कथं प्रहरतां श्रेष्ठाः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! इस प्रकार मेरे और पाण्डवोंके सैनिकोंकी व्यूह-रचना हो जानेपर उन श्रेष्ठ योद्धाओंने किस प्रकार युद्ध प्रारम्भ किया? ।। १ ।।

संजय उवाच

(तावकाः पाण्डवैः सार्धं यथायुध्यन्त तच्छृणु ।)
समं व्यूढेष्वनीकेषु संनद्धरुचिरध्वजम् ।
अपारमिव संदृश्य सागरप्रतिमं बलम् ।। २ ।।
तेषां मध्ये स्थितो राजन् पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अब्रवीत् तावकान् सर्वान् युद्ध्यध्वमिति दंशिताः ।। ३ ।।

संजयने कहा—राजन्! आपके पुत्रोंने पाण्डवोंके साथ जिस प्रकार युद्ध किया, वह बताता हूँ, सुनिये। जब सब सेनाओंकी व्यूह-रचना हो गयी, तब समस्त सेना एक होकर एक अपार महासागरके समान प्रतीत होने लगी। उसमें सब ओर रथ आदिमें आबद्ध सुन्दर ध्वजा फहराती दिखायी देती थी। उसे देखकर सैनिकोंके बीचमें खड़ा हुआ आपका पुत्र दुर्योधन आपके सभी योद्धाओंसे इस प्रकार बोला—'कवचधारी वीरो! युद्ध आरम्भ करो' ।। २-३ ।।

ते मनः क्रूरमाधाय समभित्यक्तजीविताः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त सर्व एवोच्छ्रितध्वजाः ।। ४ ।।

तब उन सबने मनको कठोर बनाकर प्राणोंका मोह छोड़कर ऊँची ध्वजाएँ फहराते हुए पाण्डवोंपर आक्रमण किया ।। ४ ।।

ततो युद्धं समभवत् तुमुलं लोमहर्षणम् ।
तावकानां परेषां च व्यतिषक्तरथद्विपम् ।। ५ ।।

फिर तो आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें रोमांचकारी घमासान युद्ध होने लगा। उसमें उभय पक्षके रथ और हाथी एक-दूसरेसे गुँथ गये थे ।। ५ ।।

मुक्तास्तु रथिभिर्बाणा रुक्मपुङ्खाः सुतेजसः ।
संनिपेतुरकुण्ठाग्रा नागेषु च हयेषु च ।। ६ ।।

रथियोंके छोड़े हुए सुवर्णमय पंखयुक्त तेजस्वी बाण कहीं भी कुण्ठित न होकर हाथियों और घोड़ोंपर पड़ने लगे ।। ६ ।।

तथा प्रवृत्ते संग्रामे धनुरुद्यम्य दंशितः ।
अभिपत्य महाबाहुर्भीष्मो भीमपराक्रमः ।। ७ ।।
सौभद्रे भीमसेने च सात्यकौ च महारथे ।
कैकेये च विराटे च धृष्टद्युम्ने च पार्षते ।। ८ ।।
एतेषु नरवीरेषु चेदिमत्स्येषु चाभिभूः ।
ववर्ष शरवर्षाणि वृद्धः कुरुपितामहः ।। ९ ।।

इस प्रकार युद्ध आरम्भ हो जानेपर भयंकर पराक्रमी एवं कुरुकुलके प्रभावशाली वृद्ध पितामह महाबाहु भीष्म धनुष उठाये कवच बाँधे सहसा आगे बढ़े और अभिमन्यु, भीमसेन, महारथी सात्यकि, केकय, विराट एवं द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न—इन सब नरवीरोंपर और चेदि तथा मत्स्यदेशीय योद्धाओंपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। ७—९ ।।

अभिद्यत ततो व्यूहस्तस्मिन् वीरसमागमे ।
सर्वेषामेव सैन्यानामासीद् व्यतिकरो महान् ।। १० ।।

वीरोंके इस संघर्षमें सेनाओंका व्यूह भंग हो गया और सभी सैनिकोंका आपसमें महान् सम्मिश्रण हो गया ।। १० ।।

सादिनो ध्वजिनश्चैव हताः प्रवरवाजिनः ।
विप्रद्रुतरथानीकाः समपद्यन्त पाण्डवाः ।। ११ ।।

घुड़सवार, ध्वजा धारण करनेवाले सैनिक तथा उत्तम घोड़े मारे गये। पाण्डवोंकी रथ-सेना पलायन करने लगी ।। ११ ।।

अर्जुनस्तु नरव्याघ्रो दृष्ट्वा भीष्मं महारथम् ।
वार्ष्णेयमब्रवीत् क्रुद्धो याहि यत्र पितामहः ।। १२ ।।
एष भीष्मः सुसंक्रुद्धो वार्ष्णेय मम वाहिनीम् ।
नाशयिष्यति सुव्यक्तं दुर्योधनहिते रतः ।। १३ ।।

तब नरश्रेष्ठ अर्जुनने महारथी भीष्मको देखकर भगवान् श्रीकृष्णसे कुपित होकर कहा—‘वार्ष्णेय! जहाँ पितामह भीष्म हैं, वहाँ चलिये। अन्यथा ये भीष्म अत्यन्त क्रोधमें भरकर निश्चय ही मेरी सारी सेनाका विनाश कर डालेंगे; क्योंकि इस समय ये दुर्योधनके हितमें तत्पर हैं ।। १२-१३ ।।

एष द्रोणः कृपः शल्यो विकर्णश्च जनार्दन ।
धार्तराष्ट्राश्च सहिता दुर्योधनपुरोगमाः ।। १४ ।।
पञ्चालान् निहनिष्यन्ति रक्षिता दृढधन्वना ।
सोऽहं भीष्मं वधिष्यामि सैन्यहेतोर्जनार्दन ।। १५ ।।

'जनार्दन! सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले भीष्मके द्वारा सुरक्षित हो ये द्रोण, कृप, शल्य, विकर्ण तथा दुर्योधन आदि समस्त धृतराष्ट्रपुत्र मिलकर पांचाल योद्धाओंका संहार कर डालेंगे। अतः सेनाकी रक्षाके लिये मैं भीष्मका वध कर डालूँगा' ।। १४-१५ ।।

तमब्रवीद् वासुदेवो यत्तो भव धनंजय ।
एष त्वां प्रापयिष्यामि पितामहरथं प्रति ।। १६ ।।

तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'धनंजय! सावधान हो जाओ। अभी तुम्हें भीष्मके रथके समीप पहुँचाये देता हूँ' ।। १६ ।।

एवमुक्त्वा ततः शौरी रथं तं लोकविश्रुतम् ।
प्रापयामास भीष्मस्य रथं प्रति जनेश्वर ।। १७ ।।

जनेश्वर! ऐसा कहकर श्रीकृष्णने उस विश्वविख्यात रथको भीष्मजीके रथके निकट पहुँचा दिया ।। १७ ।।

चलद्बहुपताकेन बलाकावर्णवाजिना ।
समुच्छ्रितमहाभीमनदद्वानरकेतुना ।। १८ ।।
महता मेघनादेन रथेनामिततेजसा ।
विनिघ्नन् कौरवानीकं शूरसेनांश्च पाण्डवः ।। १९ ।।
प्रायाच्छरणदः शीघ्रं सुहृदां हर्षवर्धनः ।

उस रथपर बहुत-सी पताकाएँ फहरा रही थीं। उसमें बकपंक्तिके समान श्वेतवर्णवाले चार घोड़े जुते हुए थे। उसके अत्यन्त ऊँचे ध्वजके ऊपर एक वानर भयंकर गर्जना करता था। उस रथके पहियोंकी घरघराहट मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर थी तथा वह रथ अनन्त तेज (कान्ति)-से सम्पन्न था। उस विशाल रथपर आरूढ़ हो पाण्डुनन्दन अर्जुन, जो सबको शरण देनेवाले और सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाले थे, कौरव-सेना एवं शूरसेन-देशीय योद्धाओंका वध करते हुए शीघ्रतापूर्वक भीष्मके पास गये ।। १८-१९ १/२ ।।

तमापतन्तं वेगेन प्रभिन्नमिव वारणम् ।। २० ।।
त्रासयन्तं रणे शूरान् मर्दयन्तं च सायकैः ।
सैन्धवप्रमुखैर्गुप्तः प्राच्यसौवीरकेकयैः ।। २१ ।।
सहसा प्रत्युदीयाय भीष्मः शान्तनवोऽर्जुनम् ।

मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति उन्हें वेगसे आते और रणक्षेत्रमें सायकोंद्वारा शूरवीरोंका मर्दन करके उन्हें भयभीत करते देख जयद्रथ आदि राजाओं तथा पूर्वदेश, सौवीर राज्य और केकय प्रदेशके योद्धाओंसे सुरक्षित शान्तनुनन्दन भीष्म सहसा अर्जुनकी ओर बढ़े ।। २०-२१ १/२ ।।

को हि गाण्डीवधन्वानमन्यः कुरुपितामहात् ।। २२ ।।
द्रोणवैकर्तनाभ्यां वा रथी संयातुमर्हति ।

महाराज! कुरुकुलके पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य तथा कर्णके सिवा दूसरा कौन ऐसा रथी है, जो गाण्डीवधारी अर्जुनका सामना कर सके ।। २२ १/२ ।।

ततो भीष्मो महाराज सर्वलोकमहारथः ।। २३ ।।
अर्जुनं सप्तसप्तत्या नाराचानां समाचिनोत् ।
द्रोणश्च पञ्चविंशत्या कृपः पञ्चाशता शरैः ।। २४ ।।
दुर्योधनश्चतुःषष्ट्या शल्यश्च नवभिः शरैः ।
सैन्धवो नवभिश्चैव शकुनिश्चापि पञ्चभिः ।। २५ ।।
विकर्णो दशभिर्भल्लै राजन् विव्याध पाण्डवम् ।

नरेश्वर! तदनन्तर सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात महारथी भीष्मने अर्जुनपर सतहत्तर बाण चलाये, द्रोणने पचीस, कृपाचार्यने पचास, दुर्योधनने चौंसठ, शल्यने नौ, जयद्रथने नौ, शकुनिने पाँच तथा विकर्णने दस भल्ल नामक बाणों-द्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुनको बींध डाला ।। २३—२५ १/२ ।।

स तैर्विद्धो महेष्वासः समन्तान्निशितैः शरैः ।। २६ ।।
न विव्यथे महाबाहुर्भिद्यमान इवाचलः ।

इन समस्त तीखे बाणोंद्वारा चारों ओरसे विद्ध होनेपर भी महाधनुर्धर महाबाहु अर्जुन तनिक भी व्यथित नहीं हुए। ऐसा जान पड़ता था, मानो किसी पर्वतको बाणोंसे बींध दिया हो ।। २६ १/२ ।।

स भीष्मं पञ्चविंशत्या कृपं च नवभिः शरैः ।। २७ ।।
द्रोणं षष्ट्या नरव्याघ्रो विकर्णं च त्रिभिः शरैः ।
शल्यं चैव त्रिभिर्बाणै राजानं चैव पञ्चभिः ।। २८ ।।
प्रत्यविध्यदमेयात्मा किरीटी भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न, किरीटधारी पुरुषसिंह अर्जुनने भीष्मको पचीस, कृपाचार्यको नौ, द्रोणको साठ, विकर्णको तीन, शल्यको तीन तथा राजा दुर्योधनको पाँच बाणोंसे घायल कर दिया ।। २७-२८ १/२ ।।

तं सात्यकिर्विराटश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।। २९ ।।
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च परिवव्रुर्धनंजयम् ।

उस समय सात्यकि, विराट, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और अभिमन्यु —इन सबने अर्जुनको उनकी रक्षाके लिये चारों ओरसे घेर लिया ।। २९ १/२ ।।

ततो द्रोणं महेष्वासं गाङ्गेयस्य प्रिये रतम् ।। ३० ।।
अभ्यवर्तत पाञ्चाल्यः संयुक्तः सह सोमकैः ।

तदनन्तर गंगानन्दन भीष्मका प्रिय करनेमें लगे हुए महाधनुर्धर द्रोणाचार्यपर सोमकोंसहित धृष्टद्युम्नने आक्रमण किया ।। ३० १/२ ।।

भीष्मस्तु रथिनां श्रेष्ठो राजन् विव्याध पाण्डवम् ।। ३१ ।।

अशीत्या निशितैर्बाणैस्ततोऽक्रोशन्त तावकाः ।

राजन्! तब रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने पाण्डुनन्दन अर्जुनको अस्सी पैने बाण मारकर बींध डाला। यह देखकर आपके सैनिक हर्षसे कोलाहल करने लगे ।। ३१ १/२ ।।

तेषां तु निनदं श्रुत्वा सहितानां प्रहृष्टवत् ।। ३२ ।।
प्रविवेश ततो मध्यं नरसिंहः प्रतापवान् ।
तेषां महारथानां स मध्यं प्राप्य धनंजयः ।। ३३ ।।
चिक्रीड धनुषा राजँल्लक्ष्यं कृत्वा महारथान् ।
ततो दुर्योधनो राजा भीष्ममाह जनेश्वरः ।। ३४ ।।
पीड्यमानं स्वकं सैन्यं दृष्ट्वा पार्थेन संयुगे ।

उन समस्त कौरवोंका हर्षनाद सुनकर प्रतापी पुरुषसिंह अर्जुनने उनकी सेनाके भीतर प्रवेश किया। राजन्! उन महारथियोंके भीतर पहुँचकर अर्जुन उन सबको अपने बाणोंका निशाना बनाकर धनुषसे खेल करने लगे। तब प्रजापालक राजा दुर्योधनने अर्जुनके द्वारा युद्धमें अपनी सेनाको पीड़ित हुई देख भीष्मसे कहा— ।। ३२-३४ १/२ ।।

एष पाण्डुसुतस्तात कृष्णेन सहितो बली ।। ३५ ।।
यततां सर्वसैन्यानां मूलं नः परिकृन्तति ।
त्वयि जीवति गाङ्गेय द्रोणे च रथिनां वरे ।। ३६ ।।

'तात! ये पाण्डुके बलवान् पुत्र अर्जुन श्रीकृष्णके साथ आकर समस्त सैन्योंके प्रयत्नशील होनेपर भी हमलोगोंका मूलोच्छेद कर रहे हैं। गंगानन्दन! आपके तथा रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यके जीते-जी हमारे सैनिक मारे जा रहे हैं ।। ३५-३६ ।।

त्वत्कृते चैव कर्णोऽपि न्यस्तशस्त्रो विशाम्पते ।
न युध्यति रणे पार्थं हितकामः सदा मम ।। ३७ ।।
स तथा कुरु गाङ्गेय यथा हन्येत फाल्गुनः ।

'प्रजानाथ! आपहीके कारण कर्णने भी हथियार डाल दिया है और वह रणभूमिमें अर्जुनसे युद्ध नहीं कर रहा है। कर्ण मेरा सदा हित चाहनेवाला है। गंगानन्दन! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे अर्जुन मार डाले जायँ' ।। ३७ १/२ ।।

एवमुक्तस्ततो राजन् पिता देवव्रतस्तव ।। ३८ ।।
धिक् क्षात्रं धर्ममित्युक्त्वा प्रायात् पार्थरथं प्रति ।

राजन्! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर आपके पितृ-तुल्य भीष्म 'क्षत्रिय-धर्मको धिक्कार है' ऐसा कहकर अर्जुनके रथकी ओर चले ।। ३८ १/२ ।।

उभौ श्वेतहयौ राजन् संसक्तौ प्रेक्ष्य पार्थिवाः ।। ३९ ।।
सिंहनादान् भृशं चक्रुः शङ्खान् दध्मुश्च मारिष ।

महाराज! उन दोनोंके रथोंमें श्वेत घोड़े जुते हुए थे। आर्य! उन्हें एक-दूसरेसे भिड़े हुए देख सब राजा जोर-जोरसे सिंहनाद करने और शंख फूँकने लगे ।। ३९ १/२ ।।

द्रौणिर्दुर्योधनश्चैव विकर्णश्च तवात्मजः ।। ४० ।।
परिवार्य रणे भीष्मं स्थिता युद्धाय मारिष ।

आर्य! उस समय अश्वत्थामा, दुर्योधन और आपके पुत्र विकर्ण—ये सभी समरांगणमें भीष्मको घेरकर युद्धके लिये खड़े थे ।। ४०½ ।।

तथैव पाण्डवाः सर्वे परिवार्य धनंजयम् ।। ४१ ।।
स्थिता युद्धाय महते ततो युद्धमवर्तत ।

इसी प्रकार समस्त पाण्डव भी अर्जुनको सब ओरसे घेरकर महायुद्धके लिये वहाँ डटे हुए थे, अतः उनमें भारी युद्ध छिड़ गया ।। ४१½ ।।

गाङ्गेयस्तु रणे पार्थमानर्च्छन्नवभिः शरैः ।। ४२ ।।
तमर्जुनः प्रत्यविध्यद् दशभिर्मर्मभेदिभिः ।

गंगानन्दन भीष्मने उस रणक्षेत्रमें नौ बाणोंसे अर्जुनको गहरी चोट पहुँचायी। तब अर्जुनने भी उन्हें दस मर्मभेदी बाणोंद्वारा बींध डाला ।। ४२½ ।।

ततः शरसहस्रेण सुप्रयुक्तेन पाण्डवः ।। ४३ ।।
अर्जुनः समरश्लाघी भीष्मस्यावारयद् दिशः ।

तदनन्तर युद्धकी श्लाघा रखनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने अच्छी तरह छोड़े हुए एक हजार बाणोंद्वारा भीष्मको सब ओरसे रोक दिया ।। ४३½ ।।

शरजालं ततस्तत् तु शरजालेन मारिष ।। ४४ ।।
वारयामास पार्थस्य भीष्मः शान्तनवस्तदा ।

माननीय महाराज! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मने अर्जुनके इस बाणसमूहका अपने बाणसमूहसे निवारण कर दिया ।। ४४½ ।।

उभौ परमसंहृष्टावुभौ युद्धाभिनन्दिनौ ।। ४५ ।।
निर्विशेषमयुध्येतां कृतप्रतिकृतैषिणौ ।

वे दोनों वीर अत्यन्त हर्षमें भरकर युद्धका अभिनन्दन करनेवाले थे। दोनों ही दोनोंके किये हुए प्रहारका प्रतीकार करते हुए समानभावसे युद्ध करने लगे ।। ४५½ ।।

भीष्मचापविमुक्तानि शरजालानि संघशः ।। ४६ ।।
शीर्यमाणान्यदृश्यन्त भिन्नान्यर्जुनसायकैः ।

भीष्मके धनुषसे छूटे हुए सायकोंके समूह अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर इधर-उधर बिखरे दिखायी देने लगे ।। ४६½ ।।

तथैवार्जुनमुक्तानि शरजालानि सर्वशः ।। ४७ ।।
गाङ्गेयशरनुन्नानि प्रापतन्त महीतले ।

इसी प्रकार अर्जुनके छोड़े हुए बाणसमूह गंगानन्दन भीष्मके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो पृथ्वीपर सब ओर पड़े हुए थे ।। ४७½ ।।

अर्जुनः पञ्चविंशत्या भीष्ममार्च्छच्छितैः शरैः ।। ४८ ।।

भीष्मोऽपि समरे पार्थं विव्याध निशितैः शरैः ।

अर्जुनने पचीस तीखे बाणोंसे मारकर भीष्मको पीड़ित कर दिया। फिर भीष्मने भी समरभूमिमें अपने तीक्ष्ण सायकोंद्वारा अर्जुनको बींध दिया ।। ४८ १/२ ।।

अन्योन्यस्य हयान् विद्ध्वा ध्वजौ च सुमहाबलौ ।। ४९ ।।
रथेषां रथचक्रे च चिक्रीडतुररिंदमौ ।

वे दोनों शत्रुओंका दमन करनेवाले तथा अत्यन्त बलवान् थे। अतः एक-दूसरेके घोड़ों, ध्वजाओं, रथके ईषादण्ड तथा पहियोंको बाणोंसे बींधकर खेल-सा करने लगे ।। ४९ १/२ ।।

ततः क्रुद्धो महाराज भीष्मः प्रहरतां वरः ।। ५० ।।
वासुदेवं त्रिभिर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ।

महाराज! तदनन्तर प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ भीष्मने कुपित होकर तीन बाणोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ।। ५० १/२ ।।

भीष्मचापच्युतैस्तैस्तु निर्विद्धो मधुसूदनः ।। ५१ ।।
विरराज रणे राजन् सपुष्प इव किंशुकः ।

राजन्! भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंसे विद्ध होकर भगवान् मधुसूदन रणभूमिमें रक्तरंजित हो खिले हुए पलाशके वृक्षके समान शोभा पाने लगे ।। ५१ १/२ ।।

ततोऽर्जुनो भृशं क्रुद्धो निर्विद्धं प्रेक्ष्य माधवम् ।। ५२ ।।
सारथिं कुरुवृद्धस्य निर्बिभेद शितैः शरैः ।

श्रीकृष्णको घायल हुआ देख अर्जुन अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने तीखे सायकोंद्वारा कुरुकुलवृद्ध भीष्मके सारथिको विदीर्ण कर डाला ।। ५२ १/२ ।।

यतमानौ तु तौ वीरावन्योन्यस्य वधं प्रति ।। ५३ ।।
न शक्नुतां तदान्योन्यमभिसंधातुमाहवे ।

इस प्रकार वे दोनों वीर एक-दूसरेके वधके लिये पूरा प्रयत्न कर रहे थे; तथापि वे युद्धभूमिमें परस्पर अभिसंधान (घातक प्रहार) करनेमें सफल न हो सके ।। ५३ १/२ ।।

तौ मण्डलानि चित्राणि गतप्रत्यागतानि च ।। ५४ ।।
अदर्शयेतां बहुधा सूतसामर्थ्यलाघवात् ।

वे दोनों अपने सारथिकी शक्ति तथा शीघ्रकारिताके कारण नाना प्रकारके विचित्र मण्डल, आगे बढ़ने और पीछे हटने आदिके पैंतरे दिखाने लगे ।। ५४ १/२ ।।

अन्तरं च प्रहारेषु तर्कयन्तौ परस्परम् ।। ५५ ।।
राजन्नन्तरमार्गस्थौ स्थितावास्तां मुहुर्मुहुः ।

राजन्! दोनों ही एक-दूसरेके प्रहारोंमें छिद्र ढूँढ़नेके लिये सतर्क थे। वे बारंबार छिद्रान्वेषणके मार्गमें स्थित हो छिद्र देखनेमें संलग्न रहते थे ।। ५५ १/२ ।।

उभौ सिंहरवोन्मिश्रं शङ्खशब्दं च चक्रतुः ।। ५६ ।।
तथैव चापनिर्घोषं चक्रतुस्तौ महारथौ ।

वे दोनों महारथी सिंहनादसे मिला हुआ शंखनाद करते और धनुषकी टंकार फैलाते रहते थे ।। ५६½ ।।

तयोः शङ्खनिनादेन रथनेमिस्वनेन च ।। ५७ ।।
दारिता सहसा भूमिश्चकम्पे च ननाद च ।

उनकी शंखध्वनि तथा रथके पहियोंकी घरघराहटसे पृथ्वी सहसा विदीर्ण-सी होकर काँपने और आर्तनाद करने लगी ।। ५७½ ।।

नोभयोरन्तरं कश्चिद् ददृशे भरतर्षभ ।। ५८ ।।
बलिनौ युद्धदुर्धर्षावन्योन्यसदृशावुभौ ।

भरतश्रेष्ठ! वे दोनों वीर बलवान्, युद्धमें दुर्जय तथा एक-दूसरेके अनुरूप थे। अतः ढूँढ़नेपर भी कोई उनमेंसे किसीका अन्तर न देख सका ।। ५८½ ।।

चिह्नमात्रेण भीष्मं तु प्रजज्ञुस्तत्र कौरवाः ।। ५९ ।।
तथा पाण्डुसुताः पार्थं चिह्नमात्रेण जज्ञिरे ।

उस समय कौरवोंने भीष्मको तालध्वज आदि चिह्नमात्रसे ही पहचाना। इसी प्रकार पाण्डुपुत्रोंने भी कपिध्वज आदि चिह्नमात्रसे ही पार्थकी पहचान की ।। ५९½ ।।

तयोर्नृवरयोर्दृष्ट्वा तादृशं तं पराक्रमम् ।। ६० ।।
विस्मयं सर्वभूतानि जग्मुर्भारत संयुगे ।

भारत! उस संग्राममें उन दोनों श्रेष्ठ पुरुषोंके वैसे पराक्रमको देखकर सम्पूर्ण प्राणी बड़े विस्मयमें पड़ गये ।। ६०½ ।।

न तयोर्विवरं कश्चिद् रणे पश्यति भारत ।। ६१ ।।
धर्मे स्थितस्य हि यथा न कश्चिद् वृजिनं क्वचित् ।

भरतनन्दन! जैसे कोई धर्मनिष्ठ पुरुषमें कहीं कोई पाप नहीं देख पाता, उसी प्रकार कोई भी रणक्षेत्रमें उन दोनों योद्धाओंका छिद्र नहीं देख पाता था ।। ६१½ ।।

उभौ च शरजालेन तावदृश्यौ बभूवतुः ।। ६२ ।।
प्रकाशौ च पुनस्तूर्णं बभूवतुरुभौ रणे ।

दोनों ही संग्रामभूमिमें एक-दूसरेके बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर अदृश्य हो जाते और उन्हें छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही प्रकाशमें आ जाते थे ।। ६२½ ।।

तत्र देवाः सगन्धर्वाश्चारणाश्चर्षिभिः सह ।। ६३ ।।
अन्योन्यं प्रत्यभाषन्त तयोर्दृष्ट्वा पराक्रमम् ।
न शक्यौ युधि संरब्धौ जेतुमेतौ कथञ्चन ।। ६४ ।।
सदेवासुरगन्धर्वैर्लोकैरपि महारथौ ।

वहाँ आये हुए देवता, गन्धर्व, चारण और महर्षिगण उन दोनोंका पराक्रम देखकर आपसमें कहने लगे कि ये दोनों महारथी वीर रोषावेशमें भरे हुए हैं; अतः ये देवता, असुर और गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण लोकोंके द्वारा भी किसी प्रकार जीते नहीं जा सकते ।। ६३-६४ १/२ ।।

आश्चर्यभूतं लोकेषु युद्धमेतन्महाद्भुतम् ।। ६५ ।।
नैतादृशानि युद्धानि भविष्यन्ति कथञ्चन ।
न हि शक्यो रणे जेतुं भीष्मः पार्थेन धीमता ।। ६६ ।।
सधनुः सरथः साश्वः प्रवपन् सायकान् रणे ।

यह अत्यन्त अद्भुत युद्ध सम्पूर्ण लोकोंके लिये आश्चर्यजनक घटना है। भविष्यमें ऐसे युद्ध होनेकी किसी प्रकार भी सम्भावना नहीं है। बुद्धिमान् पार्थ रणभूमिमें भीष्मको कदापि जीत नहीं सकते; क्योंकि वे समरभूमिमें रथ, घोड़े और धनुषसहित उपस्थित हो बाणोंको बीजकी भाँति बो रहे हैं ।। ६५-६६ १/२ ।।

तथैव पाण्डवं युद्धे देवैरपि दुरासदम् ।। ६७ ।।
न विजेतुं रणे भीष्म उत्सहेत धनुर्धरम् ।
आलोकादपि युद्धं हि सममेतद् भविष्यति ।। ६८ ।।

इसी प्रकार भीष्म भी युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्जय, गाण्डीवधारी पाण्डुपुत्र अर्जुनको जीतनेमें समर्थ नहीं हो सकते। यदि ये दोनों लड़ते रहें तो जबतक यह संसार स्थित है, तबतक इन दोनोंका यह युद्ध समानरूपसे ही चलता रहेगा ।। ६७-६८ ।।

इति स्म वाचोऽश्रूयन्त प्रोच्चरन्त्यस्ततस्ततः ।
गाङ्गेयार्जुनयोः संख्ये स्तवयुक्ता विशाम्पते ।। ६९ ।।

प्रजानाथ! इस प्रकार रणभूमिमें भीष्म और अर्जुनकी स्तुतिप्रशंसासे युक्त बहुत-सी बातें इधर-उधर लोगोंके मुँहसे निकलती और सुनायी देती थीं ।। ६९ ।।

त्वदीयास्तु तदा योधाः पाण्डवेयाश्च भारत ।
अन्योन्यं समरे जघ्नुस्तयोस्तत्र पराक्रमे ।। ७० ।।

भारत! उस समय वहाँ उन दोनों वीरोंके पराक्रम करते समय युद्धस्थलमें आपके और पाण्डवपक्षके योद्धा भी एक-दूसरेको मार रहे थे ।। ७० ।।

शितधारैस्तथा खड्गैर्विमलैश्च परश्वधैः ।
शरैरन्यैश्च बहुभिः शस्त्रैर्नानाविधैरपि ।। ७१ ।।
उभयोः सेनयोः शूरा न्यकृन्तन्त परस्परम् ।

तीखी धारवाले खड्गों, चमचमाते हुए फरसों, अन्य अनेक प्रकारके बाणों तथा भाँति-भाँतिके शस्त्रोंसे दोनों सेनाओंके शूरवीर एक-दूसरेको मारते थे ।। ७१ १/२ ।।

वर्तमाने तथा घोरे तस्मिन् युद्धे सुदारुणे ।
द्रोणपाञ्चाल्ययो राजन् महानासीत् समागमः ।। ७२ ।।

राजन्! जहाँ एक ओर इस प्रकार भयानक तथा अत्यन्त दारुण युद्ध चल रहा था, वहीं दूसरी ओर द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नमें भयंकर मुठभेड़ हो रही थी ।। ७२ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मार्जुनयुद्धे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म और अर्जुनका युद्धविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५२ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ७२ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं।]

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्यका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

कथं द्रोणो महेष्वासः पाञ्चाल्यश्चापि पार्षतः ।
उभौ समीयतुर्यत्तौ तन्ममाचक्ष्व संजय ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! महाधनुर्धर द्रोणाचार्य तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न—ये दोनों वीर किस प्रकार प्रयत्नपूर्वक आपसमें युद्ध कर रहे थे, वह सब वृत्तान्त मुझसे कहो ।। १ ।।

दिष्टमेव परं मन्ये पौरुषादिति मे मतिः ।
यत्र शान्तनवो भीष्मो नातरद् युधि पाण्डवम् ।। २ ।।

मैं तो पुरुषार्थसे अधिक प्रबल भाग्यको ही मानता हूँ और इसीपर विश्वास करता हूँ, जिसके अनुसार शान्तनुनन्दन भीष्म युद्धमें पाण्डुपुत्र अर्जुनसे पार न पा सके ।। २ ।।

भीष्मो हि समरे क्रुद्धो हन्याल्लोकांश्चराचरान् ।
स कथं पाण्डवं युद्धे नातरत् संजयौजसा ।। ३ ।।

संजय! भीष्म रणक्षेत्रमें कुपित हो जायँ तो वे चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण लोकोंको मार सकते हैं। फिर वे अपने पराक्रमद्वारा युद्धमें पाण्डुकुमार अर्जुनसे क्यों न पार पा सके? ।। ३ ।।

संजय उवाच

शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा युद्धमेतत् सुदारुणम् ।
न शक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः ।। ४ ।।

संजयने कहा—राजन्! पाण्डवोंको तो इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी नहीं जीत सकते। अब आप इस अत्यन्त भयंकर युद्धका वृत्तान्त स्थिर होकर सुनिये ।। ४ ।।

द्रोणस्तु निशितैर्बाणैर्धृष्टद्युम्नमविध्यत ।
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ।। ५ ।।

द्रोणाचार्यने अपने तीखे बाणोंसे धृष्टद्युम्नको घायल कर दिया और उनके सारथिको भल्लके द्वारा मारकर रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ।। ५ ।।

तथास्य चतुरो वाहांश्चतुर्भिः सायकोत्तमैः ।
पीडयामास संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नस्य मारिष ।। ६ ।।

आर्य! क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्यने चार उत्तम सायकोंसे धृष्टद्युम्नके चारों घोड़ोंको भी बहुत पीड़ा दी ।। ६ ।।

धृष्टद्युम्नस्ततो द्रोणं नवत्या निशितैः शरैः ।

विव्याध प्रहसन् वीरस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।। ७ ।।

तब धृष्टद्युम्नने हँसकर नब्बे पैने बाणोंसे द्रोणाचार्यको घायल कर दिया और कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो' ।। ७ ।।

ततः पुनरमेयात्मा भारद्वाजः प्रतापवान् ।
शरैः प्रच्छादयामास धृष्टद्युम्नममर्षणम् ।। ८ ।।

तदनन्तर अमेय आत्मबलसे सम्पन्न प्रतापी द्रोणाचार्यने पुनः अमर्षशील धृष्टद्युम्नको अपने बाणोंसे ढक दिया ।। ८ ।।

आददे च शरं घोरं पार्षतान्तचिकीर्षया ।
शक्राशनिसमस्पर्शं कालदण्डमिवापरम् ।। ९ ।।

तत्पश्चात् धृष्टद्युम्नका अन्त कर डालनेकी इच्छासे द्वितीय कालदण्डके समान एक भयंकर बाण हाथमें लिया, जिसका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान कठोर था ।। ९ ।।

हाहाकारो महानासीत् सर्वसैन्येषु भारत ।
तमिषुं संधितं दृष्ट्वा भारद्वाजेन संयुगे ।। १० ।।

भरतनन्दन! युद्धमें द्रोणाचार्यके द्वारा उस बाणका संधान होता देख सम्पूर्ण पाण्डव-सेनामें महान् हाहाकार मच गया ।। १० ।।

तत्राद्भुतमपश्याम धृष्टद्युम्नस्य पौरुषम् ।
यदेकः समरे वीरस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ।। ११ ।।

उस समय मैंने वहाँ धृष्टद्युम्नका अद्भुत पराक्रम देखा। वह वीर समरांगणमें अकेला ही पर्वतके समान अविचल भावसे खड़ा रहा ।। ११ ।।

तं च दीप्तं शरं घोरमायान्तं मृत्युमात्मनः ।
चिच्छेद शरवृष्टिं च भारद्वाजे मुमोच ह ।। १२ ।।

अपने लिये मृत्यु बनकर आते हुए उस भयंकर तेजस्वी बाणको देखकर धृष्टद्युम्नने तत्काल ही उसे काट गिराया और द्रोणाचार्यपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। १२ ।।

तत उच्चुक्रुशुः सर्वे पञ्चालाः पाण्डवैः सह ।
धृष्टद्युम्नेन तत् कर्म कृतं दृष्ट्वा सुदुष्करम् ।। १३ ।।

धृष्टद्युम्नके द्वारा किये हुए उस अत्यन्त दुष्कर कर्मको देखकर पाण्डवसहित समस्त पांचाल वीर हर्षसे कोलाहल कर उठे ।। १३ ।।

ततः शक्तिं महावेगां स्वर्णवैदूर्यभूषिताम् ।
द्रोणस्य निधनाकाङ्क्षी चिक्षेप स पराक्रमी ।। १४ ।।

तदनन्तर द्रोणाचार्यकी मृत्यु चाहनेवाले पराक्रमी वीर धृष्टद्युम्नने उनके ऊपर सुवर्ण और वैदूर्यमणिसे भूषित अत्यन्त वेगशालिनी शक्ति चलायी ।। १४ ।।

तामापतन्तीं सहसा शक्तिं कनकभूषिताम् ।
त्रिधा चिच्छेद समरे भारद्वाजो हसन्निव ।। १५ ।।

उस सुवर्णभूषित शक्तिको सहसा आती देख द्रोणाचार्यने समरभूमिमें हँसते-हँसते उसके तीन टुकड़े कर दिये ।। १५ ।।

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
ववर्ष शरवर्षाणि द्रोणं प्रति जनेश्वर ।। १६ ।।

जनेश्वर! अपनी शक्तिको नष्ट हुई देख प्रतापी धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यपर पुनः बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। १६ ।।

शरवर्षं ततस्तत् तु संनिवार्य महायशाः ।
दोणो द्रुपदपुत्रस्य मध्ये चिच्छेद कार्मुकम् ।। १७ ।।

तब महायशस्वी द्रोणने उस बाण-वर्षाका निवारण करके द्रुपदपुत्रके धनुषको बीचसे ही काट डाला ।। १७ ।।

सच्छिन्नधन्वा समरे गदां गुर्वीं महायशाः ।
द्रोणाय प्रेषयामास गिरिसारमयीं बली ।। १८ ।।

धनुष कट जानेपर महायशस्वी बलवान् वीर धृष्टद्युम्नने समरभूमिमें द्रोणाचार्यपर लोहेकी बनी हुई एक भारी गदा चलायी ।। १८ ।।

सा गदा वेगवन्मुक्ता प्रायाद् द्रोणजिघांसया ।
तत्राद्भुतमपश्याम भारद्वाजस्य विक्रमम् ।। १९ ।।

द्रोणाचार्यके वधकी इच्छासे वेगपूर्वक छोड़ी हुई वह गदा बड़े जोरसे चली; परंतु वहाँ हमलोगोंने उस समय द्रोणाचार्यका अद्भुत पराक्रम देखा ।। १९ ।।

लाघवाद् व्यंसयामास गदां हेमविभूषिताम् ।
व्यंसयित्वा गदां तां च प्रेषयामास पार्षतम् ।। २० ।।
भल्लान् सुनिशितान् पीतान् रुक्मपुंखान् सुदारुणान् ।
ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ।। २१ ।।

उन्होंने बड़ी फुर्तीसे उस स्वर्णभूषित गदाको व्यर्थ कर दिया। इस प्रकार उस गदाको निष्फल करके द्रोणाचार्यने धृष्टद्युम्नपर सुवर्णमय पंखोंसे युक्त अत्यन्त तीक्ष्ण पानीदार और भयंकर 'भल्ल' नामक बाण चलाये। वे बाण धृष्टद्युम्नका कवच छेदकर रणक्षेत्रमें उनका रक्त पीने लगे ।। २०-२१ ।।

अथान्यद् धनुरादाय धृष्टद्युम्नो महारथः ।
द्रोणं युधि पराक्रम्य शरैर्विव्याध पञ्चभिः ।। २२ ।।

तब महारथी धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर युद्धमें पराक्रमपूर्वक पाँच बाण मारकर द्रोणाचार्यको क्षत-विक्षत कर दिया ।। २२ ।।

रुधिराक्तौ ततस्तौ तु शुशुभाते नरर्षभौ ।
वसन्तसमये राजन् पुष्पिताविव किंशुकौ ।। २३ ।।

राजन्! उस समय वे दोनों नरश्रेष्ठ लहूलुहान होकर वसंत-ऋतुमें खिले हुए दो पलाश वृक्षोंकी भाँति अत्यन्त शोभा पाने लगे ।। २३ ।।

अमर्षितस्ततो राजन् पराक्रम्य चमूमुखे ।
द्रोणो द्रुपदपुत्रस्य पुनश्चिच्छेद कार्मुकम् ।। २४ ।।

राजन्! तब उस सेनाके अग्रभागमें खड़े हो अमर्षमें भरे हुए द्रोणाचार्यने पराक्रम प्रकट करते हुए पुनः धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया ।। २४ ।।

अथैनं छिन्नधन्वानं शरैः संनतपर्वभिः ।
अभ्यवर्षदमेयात्मा वृष्ट्या मेघ इवाचलम् ।। २५ ।।

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न द्रोणाचार्यने जिसका धनुष कट गया था, उन धृष्टद्युम्नपर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो मेघ किसी पर्वतपर जलकी बूँदें बरसा रहा हो ।। २५ ।।

सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ।
अथास्य चतुरो वाहांश्चतुर्भिर्निशितैः शरैः ।। २६ ।।
पातयामास समरे सिंहनादं ननाद च ।
ततोऽपरेण भल्लेन हस्ताच्चापमथाच्छिनत् ।। २७ ।।

साथ ही उन्होंने भल्ल मारकर धृष्टद्युम्नके सारथिको रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया और चार तीखे बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको भी मार गिराया। फिर वे समरांगणमें जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे। इतना ही नहीं, उन्होंने दूसरा बाण मारकर उनके हाथमें स्थित दूसरे धनुषको भी काट डाला ।। २६-२७ ।।

सच्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
गदापाणिरवारोहत् ख्यापयन् पौरुषं महत् ।। २८ ।।
तामस्य विशिखैस्तूर्णं पातयामास भारत ।
रथादनवरूढस्य तदद्भुतमिवाभवत् ।। २९ ।।

इस प्रकार धनुष कट जाने और घोड़े तथा सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुए धृष्टद्युम्न हाथमें गदा लेकर उतरने लगे। भारत! इतनेहीमें अपने महान् पौरुषका परिचय देते हुए द्रोणाचार्यने तुरंत ही बाण मारकर रथसे उतरते-उतरते ही उनकी गदाको भी गिरा दिया। वह एक अद्भुत-सी घटना हुई ।। २८-२९ ।।

ततः स विपुलं चर्म शतचन्द्रं च भानुमत् ।
खड्गं च विपुलं दिव्यं प्रगृह्य सुभुजो बली ।। ३० ।।
अभिदुद्राव वेगेन द्रोणस्य वधकाङ्क्षया ।
आमिषार्थी यथा सिंहो वने मत्तमिव द्विपम् ।। ३१ ।।

तब सुन्दर बाँहोंवाले बलवान् वीर धृष्टद्युम्नने चन्द्राकार सौ फुल्लियोंसे सुशोभित तेजस्वी और विस्तृत ढाल तथा दिव्य एवं विशाल खड्ग हाथमें लेकर द्रोणका वध करनेकी

इच्छासे उनके ऊपर वेगपूर्वक आक्रमण किया। ठीक उसी तरह, जैसे मांस चाहनेवाला सिंह वनमें किसी मतवाले हाथीपर धावा करता है ।। ३०-३१ ।।

तत्राद्भुतमपश्याम भारद्वाजस्य पौरुषम् ।
लाघवं चास्त्रयोगं च बलं बाह्वोश्च भारत ।। ३२ ।।

भारत! उस समय हमने वहाँ द्रोणाचार्यका अद्भुत हस्तलाघव, अस्त्र-प्रयोग, बाहुबल तथा पुरुषार्थ देखा ।। ३२ ।।

यदेनं शरवर्षेण वारयामास पार्षतम् ।
न शशाक ततो गन्तुं बलवानपि संयुगे ।। ३३ ।।

उन्होंने अपने बाणोंकी वर्षासे द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको सहसा आगे बढ़नेसे रोक दिया। अतः वे बलवान् होनेपर भी युद्धमें द्रोणाचार्यके पासतक न पहुँच सके ।। ३३ ।।

निवारितस्तु द्रोणेन धृष्टद्युम्नो महारथः ।
न्यवारयच्छरौघांस्तांश्चर्मणा कृतहस्तवत् ।। ३४ ।।

द्रोणाचार्यसे रोके गये महारथी धृष्टद्युम्न सिद्धहस्त वीर पुरुषकी भाँति अपनी ढालसे ही उनके बाण-समूहोंका निवारण करने लगे ।। ३४ ।।

ततो भीमो महाबाहुः सहसाभ्यपतद् बली ।
साहाय्यकारी समरे पार्षतस्य महात्मनः ।। ३५ ।।

तब बलवान् वीर महाबाहु भीम सहसा समरमें महामना धृष्टद्युम्नकी सहायता करनेके लिये आ पहुँचे ।। ३५ ।।

स द्रोणं निशितैर्बाणै राजन् विव्याध सप्तभिः ।
पार्षतं च रथं तूर्णं स्वकमारोहयत् तदा ।। ३६ ।।

राजन्! उन्होंने सात पैने बाणोंद्वारा द्रोणाचार्यको घायल कर दिया और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको तुरंत ही अपने रथपर चढ़ा लिया ।। ३६ ।।

ततो दुर्योधनो राजन् भानुमन्तमचोदयत् ।
सैन्येन महता युक्तं भारद्वाजस्य रक्षणे ।। ३७ ।।

महाराज! तब दुर्योधनने विशाल सेनासे युक्त भानुमान्‌को द्रोणाचार्यकी रक्षाके कार्यमें नियुक्त किया ।। ३७ ।।

ततः सा महती सेना कलिङ्गानां जनेश्वर ।
भीममभ्युद्ययौ तूर्णं तव पुत्रस्य शासनात् ।। ३८ ।।

जनेश्वर! उस समय आपके पुत्रकी आज्ञासे कलिंगदेशीय वीरोंकी वह विशाल सेना तुरंत ही भीमसेनके सम्मुख आ पहुँची ।। ३८ ।।

पाञ्चाल्यमथ संत्यज्य द्रोणोऽपि रथिनां वरः ।
विराटद्रुपदौ वृद्धौ वारयामास संयुगे ।। ३९ ।।

तब रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य भी धृष्टद्युम्नको छोड़कर युद्धस्थलमें विराट और द्रुपद इन दोनों वृद्ध नरेशोंको आगे बढ़नेसे रोकने लगे ।। ३९ ।।

धृष्टद्युम्नोऽपि समरे धर्मराजानमभ्ययात् ।
ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।। ४० ।।
कलिङ्गानां च समरे भीमस्य च महात्मनः ।
जगतः प्रक्षयकरं घोररूपं भयावहम् ।। ४१ ।।

इधर धृष्टद्युम्न भी उस समरांगणमें धर्मराज युधिष्ठिरके पास चले गये। तत्पश्चात् समरभूमिमें कलिंगदेशीय योद्धाओं और महामनस्वी भीमसेनका अत्यन्त भयंकर तथा रोमांचकारी युद्ध होने लगा। जो सम्पूर्ण जागत्का विनाश करनेवाला घोरस्वरूप एवं महान् भयदायक था ।। ४०-४१ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि धृष्टद्युम्नद्रोणयुद्धे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें धृष्टद्युम्न और द्रोणका युद्धविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५३ ।।

चतुष्पञ्चशत्तमोऽध्यायः

भीमसेनका कलिंगों और निषादोंसे युद्ध, भीमसेनके द्वारा शक्रदेव, भानुमान् और केतुमान्का वध तथा उनके बहुत-से सैनिकोंका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

तथा प्रतिसमादिष्टः कालिङ्गो वाहिनीपतिः ।
कथमद्भुतकर्माणं भीमसेनं महाबलम् ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! दुर्योधनकी वैसी आज्ञा पाकर सेनापति कलिंगराजने अद्भुत पराक्रमी महाबली भीमसेनके साथ किस प्रकार युद्ध किया? ।। १ ।।

चरन्तं गदया वीरं दण्डहस्तमिवान्तकम् ।
योधयामास समरे कालिङ्गः सह सेनया ।। २ ।।

वीरवर भीमसेन जब गदा हाथमें लेकर विचरते हैं, तब दण्डधारी यमराजके समान जान पड़ते हैं। उनके साथ समरांगणमें सेनासहित कलिंगराजने किस प्रकार युद्ध किया? ।। २ ।।

संजय उवाच

पुत्रेण तव राजेन्द्र स तथोक्तो महाबलः ।
महत्या सेनया गुप्तः प्रायाद् भीमरथं प्रति ।। ३ ।।

संजयने कहा—राजेन्द्र! आपके पुत्रका उपर्युक्त आदेश पाकर अपनी विशाल सेनासे सुरक्षित हो महाबली कलिंगराज भीमसेनके रथके पास गया ।। ३ ।।

तामापतन्तीं महतीं कलिङ्गानां महाचमूम् ।
रथाश्वनागकलिलां प्रगृहीतमहायुधाम् ।। ४ ।।
भीमसेनः कलिङ्गानामार्च्छद् भारत वाहिनीम् ।
केतुमन्तं च नैषादिमायान्तं सह चेदिभिः ।। ५ ।।

भारत! रथ, घोड़े, हाथी और पैदलोंसे भरी हुई कलिंगोंकी उस विशाल वाहिनीको हाथोंमें बड़े-बड़े आयुध लिये आती देख चेदिदेशीय सैनिकोंके साथ भीमसेनने उसे बाणोंद्वारा पीड़ित करना आरम्भ किया। साथ ही युद्धके लिये आते हुए निषादराजपुत्र केतुमान्को भी चोट पहुँचायी ।।

ततः श्रुतायुः संक्रुद्धो राज्ञा केतुमता सह ।
आससाद रणे भीमं व्यूढानीकेषु चेदिषु ।। ६ ।।

तब राजा केतुमान्‌के साथ क्रोधमें भरा हुआ श्रुतायु भी रणक्षेत्रमें भीमसेनके सामने आया। उस समय चेदि-देशीय सैनिकोंकी सेनाएँ व्यूहबद्ध होकर खड़ी थीं ।। ६ ।।

रथैरनेकसाहस्रैः कलिङ्गानां नराधिप ।

अयुतेन गजानां च निषादैः सह केतुमान् ।। ७ ।।

भीमसेनं रणे राजन् समन्तात् पर्यवारयत् ।

नरेश्वर! कलिंगोंके कई सहस्र रथ और दस हजार हाथियों एवं निषादोंके साथ केतुमान् उस रणस्थलमें भीमसेनको सब ओरसे रोकने लगा ।। ७½ ।।

चेदिमत्स्यकरूषाश्च भीमसेनपदानुगाः ।। ८ ।।

अभ्यधावन्त समरे निषादान् सह राजभिः ।

ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ।। ९ ।।

तब भीमसेनके पदचिह्नोंपर चलनेवाले चेदि, मत्स्य तथा करूषदेशके क्षत्रियोंने समरभूमिमें निषादों एवं उनके राजाओंपर आक्रमण किया। फिर तो दोनों दलोंमें अत्यन्त घोर और भयंकर युद्ध होने लगा ।। ८-९ ।।

न प्राजानन्त योधाः स्वान् परस्परजिघांसया ।

घोरमासीत् ततो युद्धं भीमस्य सहसा परैः ।। १० ।।

यथेन्द्रस्य महाराज महत्या दैत्यसेनया ।

महाराज! उस समय एक-दूसरोंको मार डालनेकी इच्छा रखकर सब योद्धा अपने और परायेकी पहचान नहीं कर पाते थे। शत्रुओंके साथ भीमसेनका वह युद्ध सहसा उसी प्रकार अत्यन्त भयंकर हो चला, जैसे विशाल दैत्य-सेनाके साथ देवराज इन्द्रका युद्ध हुआ करता है ।। १०½ ।।

तस्य सैन्यस्य संग्रामे युध्यमानस्य भारत ।। ११ ।।

बभूव सुमहान् शब्दः सागरस्येव गर्जतः ।

भरतनन्दन! संग्रामभूमिमें युद्ध करती हुई उस कलिंग-सेनाका महान् कोलाहल समुद्रकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ।। ११½ ।।

अन्योन्यं स्म तदा योधा विकर्षन्तो विशाम्पते ।। १२ ।।

महीं चक्रुश्चितां सर्वां शशलोहितसंनिभाम् ।

राजन्! उस समय सब योद्धाओंने छिन्न-भिन्न होकर परस्पर एक-दूसरेको खींचते हुए वहाँकी सारी भूमिको अपनी रक्तरंजित लाशोंसे पाट दिया। वह भूमि खरगोशके रक्तकी भाँति लाल दिखायी देने लगी ।। १२½ ।।

योधांश्च स्वान् परान् वापि नाभ्यजानञ्जिघांसया ।। १३ ।।

स्वानप्याददते स्वाश्च शूराः परमदुर्जयाः ।

परम दुर्जय शूर सैनिक विपक्षीको मार डालनेकी अभिलाषा लेकर अपने और परायेको भी जान नहीं पाते थे। बहुधा अपने ही पक्षके सैनिक अपने ही योद्धाओंको मारनेके लिये पकड़ लेते थे ।। १३ १/२ ।।

विमर्दः सुमहानासीदल्पानां बहुभिः सह ।। १४ ।।
कलिङ्गैः सह चेदीनां निषादैश्च विशाम्पते ।

राजन्! इस प्रकार वहाँ बहुसंख्यक कलिंगों और निषादोंके साथ अल्पसंख्यक चेदिदेशीय सैनिकोंका बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा ।। १४ १/२ ।।

कृत्वा पुरुषकारं तु यथाशक्ति महाबलाः ।। १५ ।।
भीमसेनं परित्यज्य संन्यवर्तन्त चेदयः ।

महाबली चेदि सैनिक यथाशक्ति पुरुषार्थ प्रकट करके भीमसेनको छोड़कर भाग चले ।। १५ १/२ ।।

सर्वैः कलिङ्गैरासन्नः संनिवृत्तेषु चेदिषु ।। १६ ।।
स्वबाहुबलमास्थाय न न्यवर्तत पाण्डवः ।
न चचाल रथोपस्थाद् भीमसेनो महाबलः ।। १७ ।।

चेदिदेशीय सैनिकोंके पलायन कर जानेपर समस्त कलिंग भीमसेनके निकट जा पहुँचे; तो भी महाबली पाण्डुनन्दन भीमसेन अपने बाहुबलका भरोसा करके पीछे नहीं हटे और न रथकी बैठकसे तनिक भी विचलित हुए ।। १६-१७ ।।

शितैरवाकिरद् बाणैः कलिङ्गानां वरूथिनीम् ।
कालिङ्गस्तु महेष्वासः पुत्रश्चास्य महारथः ।। १८ ।।
शक्रदेव इति ख्यातो जघ्नतुः पाण्डवं शरैः ।

वे कलिंगोंकी सेनापर अपने तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगे। महाधनुर्धर कलिंगराज और उसका महारथी पुत्र शक्रदेव दोनों मिलकर पाण्डुनन्दन भीमसेनपर बाणोंका प्रहार करने लगे ।। १८ १/२ ।।

ततो भीमो महाबाहुर्विधुन्वन् रुचिरं धनुः ।। १९ ।।
योधयामास कालिङ्गं स्वबाहुबलमाश्रितः ।

तब महाबाहु भीमने अपने बाहुबलका आश्रय लेकर सुन्दर धनुषकी टंकार फैलाते हुए कलिंगराजसे युद्ध आरम्भ किया ।। १९ १/२ ।।

शक्रदेवस्तु समरे विसृजन् सायकान् बहून् ।। २० ।।
अश्वाञ्जघान समरे भीमसेनस्य सायकैः ।

शक्रदेवने समरभूमिमें बहुत-से सायकोंकी वर्षा करते हुए उन सायकोंद्वारा भीमसेनके घोड़ोंको मार डाला ।। २० १/२ ।।

तं दृष्ट्वा विरथं तत्र भीमसेनमरिंदमम् ।। २१ ।।
शक्रदेवोऽभिदुद्राव शरैरवकिरन् शितैः ।

शत्रुदमन भीमसेनको वहाँ रथहीन हुआ देख शक्रदेव तीखे बाणोंकी वर्षा करता हुआ उनकी ओर दौड़ा ।। २१ १/२ ।।

भीमस्योपरि राजेन्द्र शक्रदेवो महाबलः ।। २२ ।।
ववर्ष शरवर्षाणि तपान्ते जलदो यथा ।

राजेन्द्र! जैसे गर्मीके अन्तमें बादल पानीकी बूँदें बरसाता है, उसी प्रकार महाबली शक्रदेव भीमसेनके ऊपर बाणोंकी वृष्टि करने लगा ।। २२ १/२ ।।

हताश्वे तु रथे तिष्ठन् भीमसेनो महाबलः ।। २३ ।।
शक्रदेवाय चिक्षेप सर्वशैक्यायसीं गदाम् ।

जिसके घोड़े मारे गये थे, उसी रथपर खड़े हुए महाबली भीमसेनने शक्रदेवको लक्ष्य करके सम्पूर्णतः लोहेके सारतत्त्वकी बनी हुई अपनी गदा चलायी ।। २३ १/२ ।।

स तया निहतो राजन् कालिङ्गतनयो रथात् ।। २४ ।।
सध्वजः सह सूतेन जगाम धरणीतलम् ।

राजन्! उस गदाकी चोट खाकर कलिंगराजकुमार प्राणशून्य हो अपने सारथि और ध्वजके साथ ही रथसे नीचे पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। २४ १/२ ।।

हतमात्मसुतं दृष्ट्वा कलिङ्गानां जनाधिपः ।। २५ ।।
रथैरनेकसाहस्रैर्भीमस्यावारयद् दिशः ।

अपने पुत्रको मारा गया देख कलिंगराजने कई हजार रथोंके द्वारा भीमसेनकी सम्पूर्ण दिशाओंको रोक लिया ।। २५ १/२ ।।

ततो भीमो महावेगां त्यक्त्वा गुर्वीं महागदाम् ।। २६ ।।
निस्त्रिंशमाददे घोरं चिकीर्षुः कर्म दारुणम् ।
चर्म चाप्रतिमं राजन्नार्षभं पुरुषर्षभ ।। २७ ।।
नक्षत्रैरर्धचन्द्रैश्च शातकुम्भमयैश्चितम् ।

नरश्रेष्ठ! तब भीमसेनने अत्यन्त वेगशालिनी एवं भारी और विशाल गदाको वहीं छोड़कर अत्यन्त भयंकर कर्म करनेकी इच्छासे तलवार खींच ली तथा ऋषभके चमड़ेकी बनी हुई अनुपम ढाल हाथमें ले ली। राजन्! उस ढालमें सुवर्णमय नक्षत्र और अर्धचन्द्रके आकारकी फूलियाँ जड़ी हुई थीं ।। २६-२७ १/२ ।।

कालिङ्गस्तु ततः क्रुद्धो धनुर्ज्यामवमृज्य च ।। २८ ।।
प्रगृह्य च शरं घोरमेकं सर्पविषोपमम् ।
प्राहिणोद् भीमसेनाय वधाकाङ्क्षी जनेश्वरः ।। २९ ।।

इधर क्रोधमें भरे हुए कलिंगराजने धनुषकी प्रत्यंचाको रगड़कर सर्पके समान विषैला एक भयंकर बाण हाथमें लिया और भीमसेनके वधकी इच्छासे उनपर चलाया ।। २८-२९ ।।

तमापतन्तं वेगेन प्रेरितं निशितं शरम् ।

भीमसेनो द्विधा राजंश्चिच्छेद विपुलासिना ।। ३० ।।
उदक्रोशच्च संहृष्टस्त्रासयानो वरूथिनीम् ।

राजन्! भीमसेनने अपने विशाल खड्गसे उसके वेगपूर्वक चलाये हुए तीखे बाणके दो टुकड़े कर दिये और कलिंगोंकी सेनाको भयभीत करते हुए हर्षमें भरकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया ।। ३० $\frac{1}{2}$ ।।

कालिङ्गोऽथ ततः क्रुद्धो भीमसेनाय संयुगे ।। ३१ ।।
तोमरान् प्राहिणोच्छीघ्रं चतुर्दश शिलाशितान् ।

तब कलिंगराजने रणक्षेत्रमें अत्यन्त कुपित हो भीमसेनपर तुरंत ही चौदह तोमरोंका प्रहार किया, जिन्हें सानपर चढ़ाकर तेज किया गया था ।। ३१ $\frac{1}{2}$ ।।

तानप्राप्तान् महाबाहुः खगतानेव पाण्डवः ।। ३२ ।।
चिच्छेद सहसा राजन्नसम्भ्रान्तो वरासिना ।

राजन्! वे तोमर अभी भीमसेनतक पहुँच ही नहीं पाये थे कि उन महाबाहु पाण्डुकुमारने बिना किसी घबराहटके अपनी अच्छी तलवारसे सहसा उन्हें आकाशमें ही काट डाला ।। ३२ $\frac{1}{2}$ ।।

निकृत्य तु रणे भीमस्तोमरान् वै चतुर्दश ।। ३३ ।।
भानुमन्तं ततो भीमः प्राद्रवत् पुरुषर्षभः ।

इस प्रकार पुरुषश्रेष्ठ भीमसेनने रणक्षेत्रमें उन चौदह तोमरोंको काटकर भानुमान्‌पर धावा किया ।। ३३ $\frac{1}{2}$ ।।

भानुमांस्तु ततो भीमं शरवर्षेण च्छादयन् ।। ३४ ।।
ननाद बलवन्नादं नादयानो नभस्तलम् ।

यह देख भानुमान्‌ने अपने बाणोंकी वर्षासे भीमसेनको आच्छादित करके आकाशको प्रतिध्वनित करते हुए बड़े जोरसे गर्जना की ।। ३४ $\frac{1}{2}$ ।।

न च तं ममृषे भीमः सिंहनादं महाहवे ।। ३५ ।।
ततः शब्देन महता विननाद महास्वनः ।
तेन नादेन वित्रस्ता कलिङ्गानां वरूथिनी ।। ३६ ।।

भीमसेन उस महासमरमें भानुमान्‌की वह गर्जना न सह सके। उन्होंने और भी अधिक जोरसे सिंहके समान दहाड़ना आरम्भ किया। उनकी उस गर्जनासे कलिंगोंकी वह विशाल वाहिनी संत्रस्त हो उठी ।। ३५-३६ ।।

न भीमं समरे मेने मानुषं भरतर्षभ ।
ततो भीमो महाबाहुर्नर्दित्वा विपुलं स्वनम् ।। ३७ ।।
सासिर्वेगवदाप्लुत्य दन्ताभ्यां वारणोत्तमम् ।
आरुरोह ततो मध्यं नागराजस्य मारिष ।। ३८ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस सेनाके सैनिकोंने भीनसेनको युद्धमें मनुष्य नहीं, कोई देवता समझा। आर्य! तदनन्तर महाबाहु भीमसेन जोर-जोरसे गर्जना करके हाथमें तलवार लिये वेगपूर्वक उछलकर गजराजके दाँतोंके सहारे उसके मस्तकपर चढ़ गये ।। ३७-३८ ।।

ततो मुमोच कालिङ्गः शक्तिं तामकरोद् द्विधा ।
खड्गेन पृथुना मध्ये भानुमन्तमथाच्छिनत् ।। ३९ ।।

इतनेहीमें कलिंगराजकुमारने उनके ऊपर शक्ति चलायी; किंतु भीमसेनने उसके दो टुकड़े कर दिये और अपने विशाल खड्गसे भानुमान्‌के शरीरको बीचसे काट डाला ।। ३९ ।।

सोऽन्तरायुधिनं हत्वा राजपुत्रमरिंदमः ।
गुरुं भारसहं स्कन्धे नागस्यासिमपातयत् ।। ४० ।।

इस प्रकार गजारूढ़ होकर युद्ध करनेवाले कलिंगराजकुमारको मारकर शत्रुदमन भीमसेनने भार सहनेमें समर्थ अपनी भारी तलवारको उस हाथीके कंधेपर भी दे मारा ।। ४० ।।

छिन्नस्कन्धः स विनदन् पपात गजयूथपः ।
आरुग्णः सिन्धुवेगेन सानुमानिव पर्वतः ।। ४१ ।।

कंधा कट जानेसे वह गजयूथपति चिग्घाड़ता हुआ समुद्रके वेगसे भग्न होकर गिरनेवाले शिखरयुक्त पर्वतके समान धराशायी हो गया ।। ४१ ।।

ततस्तस्मादवप्लुत्य गजाद् भारत भारतः ।
खड्गपाणिरदीनात्मा तस्थौ भूमौ सुदंशितः ।। ४२ ।।

भारत! फिर कवचधारी, खड्गपाणि, उदारचित्त, भरतवंशी भीमसेन उस हाथीसे सहसा कूदकर धरतीपर खड़े हो गये ।। ४२ ।।

स चचार बहून् मार्गानभितः पातयन् गजान् ।
अग्निचक्रमिवाविद्धं सर्वतः प्रत्यदृश्यत ।। ४३ ।।

फिर दोनों ओर घूम-घूमकर हाथियोंको गिराते हुए वे अनेक मार्गोंसे विचरण करने लगे। उस समय घूमते हुए अलातचक्रकी भाँति वे सब ओर दिखायी देते थे ।। ४३ ।।

अश्ववृन्देषु नागेषु रथानीकेषु चाभिभूः ।
पदातीनां च संघेषु विनिघ्नन् शोणितोक्षितः ।। ४४ ।।

शक्तिशाली भीमसेन घोड़ों, हाथियों, रथों और पैदलोंके समूहोंमें घुसकर सबका संहार करते हुए रक्तसे भीग गये ।। ४४ ।।

श्येनवद् व्यचरद् भीमो रणेऽरिषु बलोत्कटः ।
छिन्दंस्तेषां शरीराणि शिरांसि च महाबलः ।। ४५ ।।

प्रचण्डबलवाले महान् शक्तिशाली भीमसेन शत्रुओंके समूहमें घुसकर उनके शरीर और मस्तक काटते हुए बाज पक्षीकी तरह रणभूमिमें विचरने लगे ।। ४५ ।।

खड्गेन शितधारेण संयुगे गजयोधिनाम् ।
पदातिरेकः संक्रुद्धः शत्रूणां भयवर्धनः ।। ४६ ।।
सम्मोहयामास स तान् कालान्तकयमोपमः ।

उस रण-क्षेत्रमें गजारूढ़ होकर युद्ध करनेवाले योद्धाओंके मस्तकोंको अपनी तीखी धारवाली तलवारसे काटते हुए वे अकेले ही क्रोधमें भरकर पैदल विचरते और शत्रुओंके भयको बढ़ाते थे। उन्होंने प्रलयकालीन यमराजके समान भयंकर रूप धारण करके उन सबको भयसे मोहित कर दिया था ।। ४६½ ।।

मूढाश्च ते तमेवाजौ विनदन्तः समाद्रवन् ।। ४७ ।।
सासिमुत्तमवेगेन विचरन्तं महारणे ।

वे मूढ सैनिक गर्जना करते हुए उन्हींके पास दौड़े चले आते (और मारे जाते) थे। भीमसेन हाथमें तलवार लिये उस महान् संग्राममें बड़े वेगसे विचरण करते थे ।। ४७½ ।।

निकृत्य रथिनां चाजौ रथेषाश्च युगानि च ।। ४८ ।।
जघान रथिनश्चापि बलवान् रिपुमर्दनः ।

शत्रुओंका मर्दन करनेवाले बलवान् भीम युद्धमें रथारोहियोंके रथोंके ईषादण्ड और जूए काटकर उन रथियोंका भी संहार कर डालते थे ।। ४८½ ।।

भीमसेनश्चरन् मार्गान् सुबहून् प्रत्यदृश्यत ।। ४९ ।।
भ्रान्तमाविद्धमुद्भ्रान्तमाप्लुतं प्रसृतं प्लुतम् ।
सम्पातं समुदीर्णं च दर्शयामास पाण्डवः ।। ५० ।।

उस समय पाण्डुनन्दन भीमसेन अनेक मार्गोंपर विचरते हुए दिखायी देते थे। उन्होंने खड्गयुद्धके भ्रान्त, आविद्ध, उद्भ्रान्त, आप्लुत, प्रसृत, प्लुत, सम्पात तथा समुदीर्ण आदि

बहुत-से पैंतरे दिखाये* ।। ४९-५० ।।

केचिदग्रासिना छिन्नाः पाण्डवेन महात्मना ।
विनेदुर्भिन्नमर्माणो निपेतुश्च गतासवः ।। ५१ ।।

पाण्डुनन्दन महामना भीमसेनके श्रेष्ठ खड्गकी चोटसे कितने ही हाथियोंके अंग छिन्न-भिन्न हो उनके मर्मस्थल विदीर्ण हो गये और वे चिग्घाड़ते हुए प्राणशून्य होकर धरतीपर गिर पड़े ।। ५१ ।।

छिन्नदन्ताग्रहस्ताश्च भिन्नकुम्भास्तथा परे ।
वियोधाः स्वान्यनीकानि जघ्नुर्भारत वारणाः ।। ५२ ।।
निपेतुरुर्व्यां च तथा विनदन्तो महारवान् ।

भरतनन्दन! कुछ गजराजोंके दाँत और सूँड़के अग्रभाग कट गये, कुम्भस्थल फट गये और सवार मारे गये। उस अवस्थामें उन्होंने इधर-उधर भागकर अपनी ही सेनाओंको कुचल डाला और अन्तमें जोर-जोरसे चिग्घाड़ते हुए वे पृथ्वीपर गिरे और मर गये ।। ५२ १/२ ।।

छिन्नांश्च तोमरान् राजन् महामात्रशिरांसि च ।। ५३ ।।
परिस्तोमान् विचित्रांश्च कक्ष्याश्च कनकोज्ज्वलाः ।
ग्रैवेयाण्यथ शक्तीश्च पताकाः कणपांस्तथा ।। ५४ ।।
तूणीरानथ यन्त्राणि विचित्राणि धनूंषि च ।
भिन्दिपालानि शुभ्राणि तोत्राणि चाङ्कुशैः सह ।। ५५ ।।
घण्टाश्च विविधा राजन् हेमगर्भान् त्सरूनपि ।
पततः पातितांश्चैव पश्यामः सह सादिभिः ।। ५६ ।।

राजन्! हमलोगोंने वहाँ देखा, बहुत-से तोमर और महावतोंके मस्तक कटकर गिरे हैं, हाथियोंकी पीठोंपर बिछी हुई विचित्र-विचित्र झूलें पड़ी हुई हैं। हाथियोंको कसनेके उपयोगमें आनेवाली स्वर्णभूषित चमकीली रस्सियाँ गिरी हुई हैं, हाथी और घोड़ोंके गलेके आभूषण, शक्ति, पताका, कणप (अस्त्रविशेष), तरकस, विचित्र यन्त्र, धनुष, चमकीले भिन्दिपाल, तोत्र, अंकुश, भाँति-भाँतिके घंटे तथा स्वर्णजटित खड्गमुष्टि—ये सब वस्तुएँ हाथीसवारों-सहित गिरी हुई हैं और गिरती जा रही हैं ।।

छिन्नगात्रावरकरैर्निहतैश्चापि वारणैः ।
आसीद् भूमिः समास्तीर्णा पतितैर्भूधरैरिव ।। ५७ ।।

कहीं कटे हुए हाथियोंके शरीरके ऊर्ध्वभाग पड़े थे, कहीं अधोभाग पड़े थे। कहीं कटी हुई सूँड़ें पड़ी थीं और कहीं मारे गये हाथियोंकी लोथें पड़ी थीं। उनसे आच्छादित हुई वह समरभूमि ढहे हुए पर्वतोंसे ढकी-सी जान पड़ती थी ।। ५७ ।।

विमृद्यैवं महानागान् ममर्दान्यान् महाबलः ।
अश्वारोहवरांश्चैव पातयामास संयुगे ।। ५८ ।।
तद् घोरमभवद् युद्धं तस्य तेषां च भारत ।

भारत! इस प्रकार महाबली भीमसेनने कितने ही बड़े-बड़े गजराजोंको नष्ट करके दूसरे प्राणियोंका भी विनाश आरम्भ किया। उन्होंने युद्धस्थलमें बहुत-से प्रमुख अश्वारोहियोंको मार गिराया। इस प्रकार भीमसेन और कलिंग सैनिकोंका वह युद्ध अत्यन्त घोर रूप धारण करता गया ।। ५८ $\frac{1}{2}$ ।।

खलीनान्यथ योक्त्राणि कक्ष्याश्च कनकोज्ज्वलाः ।। ५९ ।।
परिस्तोमाश्च प्रासाश्च ऋष्टयश्च महाधनाः ।
कवचान्यथ चर्माणि चित्राण्यास्तरणानि च ।। ६० ।।
तत्र तत्रापविद्धानि व्यदृश्यन्त महाहवे ।

उस महासमरमें घोड़ोंकी लगाम, जोत, सुवर्णमण्डित चमकीली रस्सियाँ, पीठपर कसी जानेवाली गद्दियाँ (जीन), प्रास, बहुमूल्य ऋष्टियाँ, कवच, ढाल तथा भाँति-भाँतिके विचित्र आस्तरण इधर-उधर बिखरे दिखायी देने लगे ।। ५९-६० $\frac{1}{2}$ ।।

प्रासैर्यन्त्रैर्विचित्रैश्च शस्त्रैश्च विमलैस्तथा ।। ६१ ।।
स चक्रे वसुधां कीर्णां शबलैः कुसुमैरिव ।

भीमसेनने बहुत-से प्रासों, विचित्र यन्त्रों और चमकीले शस्त्रोंसे वहाँकी भूमिको पाट दिया, जिससे वह चितकबरे पुष्पोंसे आच्छादित-सी प्रतीत होने लगी ।। ६१ $\frac{1}{2}$ ।।

आप्लुत्य रथिनः कांश्चित् परामृश्य महाबलः ।। ६२ ।।
पातयामास खड्गेन सध्वजानपि पाण्डवः ।

महाबली पाण्डुनन्दन भीम उछलकर कितने ही रथियोंके पास पहुँच जाते और उन्हें पकड़कर ध्वजोंसहित तलवारसे काट गिराते थे ।। ६२ $\frac{1}{2}$ ।।

मुहुरुत्पततो दिक्षु धावतश्च यशस्विनः ।। ६३ ।।
मार्गांश्च चरतश्चित्रं व्यस्मयन्त रणे जनाः ।

वे बार-बार उछलते, सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ते और युद्धके विचित्र पैंतरे दिखाते हुए रणभूमिमें विचरते थे। यशस्वी भीमसेनका यह पराक्रम देखकर लोगोंको बड़ा आश्चर्य होता था ।। ६३ $\frac{1}{2}$ ।।

स जघान पदा कांश्चिद् व्याक्षिप्यान्यानपोथयत् ।। ६४ ।।
खड्गेनान्यांश्च चिच्छेद नादेनान्यांश्च भीषयन् ।
ऊरुवेगेन चाप्यन्यान् पातयामास भूतले ।। ६५ ।।

उन्होंने कितने ही योद्धाओंको पैरोंसे कुचलकर मार डाला, कितनोंको ऊपर उछालकर पटक दिया, कितनोंको तलवारसे काट दिया, दूसरे कितने ही योद्धाओंको अपनी भीषण गर्जनासे डरा दिया और कितनों-को अपने महान् वेगसे पृथ्वीपर दे मारा ।। ६४-६५ ।।

अपरे चैनमालोक्य भयात् पञ्चत्वमागताः ।
एवं सा बहुला सेना कलिङ्गानां तरस्विनाम् ।। ६६ ।।
परिवार्य रणे भीष्मं भीमसेनमुपाद्रवत् ।

दूसरे बहुत-से योद्धा इन्हें देखते ही भयके मारे निष्प्राण हो गये। इस प्रकार मारी जानेपर भी वेगशाली कलिंग वीरोंकी उस विशाल वाहिनीने रणक्षेत्रमें भीष्मकी रक्षाके लिये उन्हें चारों ओरसे घेरकर पुनः भीमसेनपर धावा किया ।। ६६ १/२ ।।

ततः कालिङ्गसैन्यानां प्रमुखे भरतर्षभ ।। ६७ ।।

श्रुतायुषमभिप्रेक्ष्य भीमसेनः समभ्ययात् ।

भरतश्रेष्ठ! कलिंगसेनाके अग्रभागमें राजा श्रुतायुको देखकर भीमसेन उसका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ।। ६७ १/२ ।।

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य कालिङ्गो नवभिः शरैः ।। ६८ ।।

भीमसेनममेयात्मा प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।

उन्हें आते देख अमेय आत्मबलसे सम्पन्न कलिंग-राज श्रुतायुने भीमसेनकी छातीमें नौ बाण मारे ।। ६८ १/२ ।।

कालिङ्गबाणाभिहतस्तोत्रार्दित इव द्विपः ।। ६९ ।।

भीमसेनः प्रजज्वाल क्रोधेनाग्निरिवैधितः ।

कलिंगराजके बाणोंसे आहत हो भीमसेन अंकुशकी मार खाये हुए हाथीके समान क्रोधसे जल उठे, मानो घीकी आहुति पाकर आग प्रज्वलित हो उठी हो ।। ६९ १/२ ।।

अथाशोकः समादाय रथं हेमपरिष्कृतम् ।। ७० ।।

भीमं सम्पादयामास रथेन रथसारथिः ।

इसी समय भीमसेनके सारथि अशोकने एक सुवर्णभूषित रथ लेकर उसे भीमके पास पहुँचाकर उन्हें भी रथसे सम्पन्न कर दिया ।। ७० १/२ ।।

तमारुह्य रथं तूर्णं कौन्तेयः शत्रुसूदनः ।। ७१ ।।

कालिङ्गमभिदुद्राव तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

शत्रुसूदन कुन्तीकुमार भीम तुरंत ही उस रथपर आरूढ़ हो कलिंगराजकी ओर दौड़े और बोले—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह' ।। ७१ १/२ ।।

ततः श्रुतायुर्बलवान् भीमाय निशितान् शरान् ।। ७२ ।।

प्रेषयामास संक्रुद्धो दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

तब बलवान् श्रुतायुने कुपित हो अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए बहुत-से पैने बाण भीमसेनपर चलाये ।। ७२ १/२ ।।

स कार्मुकवरोत्सृष्टैर्नवभिर्निशितैः शरैः ।। ७३ ।।

समाहतो महाराज कालिङ्गेन महात्मना ।

संचुक्रुशे भृशं भीमो दण्डाहत इवोरगः ।। ७४ ।।

महाराज! महामना कलिंगराजके द्वारा श्रेष्ठ धनुषसे छोड़े हुए नौ तीखे बाणोंसे घायल हो भीमसेन डंडेकी चोट खाये हुए सर्पकी भाँति अत्यन्त कुपित हो उठे ।। ७३-७४ ।।

क्रुद्धश्च चापमायम्य बलवद् बलिनां वरः ।

कालिङ्गमवधीत् पार्थो भीमः सप्तभिरायसैः ॥ ७५ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र भीमने क्रुद्ध हो अपने सुदृढ़ धनुषको बलपूर्वक खींचकर लोहेके सात बाणोंद्वारा कलिंगराज श्रुतायुको घायल कर दिया ॥ ७५ ॥

क्षुराभ्यां चक्ररक्षौ च कालिङ्गस्य महाबलौ ।
सत्यदेवं च सत्यं च प्राहिणोद् यमसादनम् ॥ ७६ ॥

तत्पश्चात् दो क्षुर नामक बाणोंसे कलिंगराजके चक्ररक्षक महाबली सत्यदेव तथा सत्यको यमलोक पहुँचा दिया ॥ ७६ ॥

ततः पुनरमेयात्मा नाराचैर्निशितैस्त्रिभिः ।
केतुमन्तं रणे भीमोऽगमयद् यमसादनम् ॥ ७७ ॥

इसके बाद अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भीमने तीन तीखे नाराचोंद्वारा रणक्षेत्रमें केतुमान्को मारकर उसे यमलोक भेज दिया ॥ ७७ ॥

ततः कलिङ्गाः संनद्धा भीमसेनममर्षणम् ।
अनीकैर्बहुसाहस्रैः क्षत्रियाः समवारयन् ॥ ७८ ॥

तब कलिंगदेशीय समस्त क्षत्रियोंने कई हजार सैनिकोंके साथ आकर युद्धके लिये उद्यत हो अमर्षशील भीमसेनको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ७८ ॥

ततः शक्तिगदाखड्गतोमरर्ष्टिपरश्वधैः ।
कलिङ्गाश्च ततो राजन् भीमसेनमवाकिरन् ॥ ७९ ॥

राजन्! उस समय कलिंग-योद्धा भीमसेनपर शक्ति, गदा, खड्ग, तोमर, ऋष्टि तथा फरसोंकी वर्षा करने लगे ॥ ७९ ॥

संनिवार्य स तां घोरां शरवृष्टिं समुत्थिताम् ।
गदामादाय तरसा संनिपत्य महाबलः ॥ ८० ॥
भीमः सप्त शतान् वीराननयद् यमसादनम् ।
पुनश्चैव द्विसाहस्रान् कलिङ्गानरिमर्दनः ॥ ८१ ॥
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय तदद्भुतमिवाभवत् ।

वहाँ होती हुई उस भयंकर बाण-वर्षाको रोककर महाबली भीमसेन हाथमें गदा ले बड़े वेगसे कलिंग-सेनामें कूद पड़े। उस सेनामें घुसकर शत्रुमर्दन भीमने पहले सात सौ वीरोंको यमलोक पहुँचाया। फिर दो हजार कलिंगोंको मृत्युके लोकमें भेज दिया। यह अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ८०-८१ $\frac{१}{२}$ ॥

एवं स तान्यनीकानि कलिङ्गानां पुनः पुनः ॥ ८२ ॥
बिभेद समरे तूर्णं प्रेक्ष्य भीष्मं महारथम् ।

इस प्रकार भीमसेनने महारथी भीष्मकी ओर देखते हुए कलिंगोंकी सेनाको बार-बार समरभूमिमें शीघ्रतापूर्वक विदीर्ण किया ॥ ८२ $\frac{१}{२}$ ॥

हतारोहाश्च मातङ्गाः पाण्डवेन कृता रणे ॥ ८३ ॥

विप्रजग्मुरनीकेषु मेघा वातहता इव ।
मृद्नन्तः स्वान्यनीकानि विनदन्तः शरातुराः ।। ८४ ।।

उस रणभूमिमें पाण्डुनन्दन भीमके द्वारा सवारोंके मार दिये जानेपर बहुत-से मतवाले हाथी वायुके थपेड़े खाये हुए बादलोंके समान कौरव-सेनामें इधर-उधर भागने तथा अपने ही सैनिकोंको कुचलते हुए बाणोंकी व्यथासे व्याकुल हो चीत्कार करने लगे ।। ८३-८४ ।।

ततो भीमो महाबाहुः खड्गहस्तो महाभुजः ।
सम्प्रहृष्टो महाघोषं शङ्खं प्राध्मापयद् बली ।। ८५ ।।

तदनन्तर महाबली महाबाहु भीमसेनने खड्ग हाथमें लिये हुए अत्यन्त प्रसन्न हो बड़े जोरसे शंख बजाया ।। ८५ ।।

सर्वकालिङ्गसैन्यानां मनांसि समकम्पयत् ।
मोहश्चापि कलिङ्गानामाविवेश परंतप ।। ८६ ।।

परंतप! उस शंखनादके द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण कलिंगोंके हृदयमें कम्प मचा दिया और उन सबपर बड़ा भारी मोह छा गया ।। ८६ ।।

प्राकम्पन्त च सैन्यानि वाहनानि च सर्वशः ।
भीमेन समरे राजन् गजेन्द्रेणेव सर्वशः ।। ८७ ।।
मार्गान् बहून् विचरता धावता च ततस्ततः ।
मुहुरुत्पतता चैव सम्मोहः समपद्यत ।। ८८ ।।

राजन्! उस समरांगणमें गजराजके समान अनेक मार्गोंपर विचरते और इधर-उधर दौड़ते हुए भीमसेनके भयसे समस्त सैनिक और वाहन थर-थर काँपने लगे। उनके बार-बार उछलनेसे सबपर मोह छा गया ।। ८७-८८ ।।

भीमसेनभयत्रस्तं सैन्यं च समकम्पत ।
क्षोभ्यमाणमसम्बाधं ग्राहेणेव महत् सरः ।। ८९ ।।

जैसे महान् तालाब किसी ग्राहके द्वारा मथित होनेपर क्षुब्ध हो उठता है, उसी प्रकार वह सारी सेना भीमसेनके द्वारा बेरोक-टोक मथित होनेपर भयसे संत्रस्त हो काँपने लगी ।। ८९ ।।

त्रासितेषु च सर्वेषु भीमेनाद्भुतकर्मणा ।
पुनरावर्तमानेषु विद्रवत्सु च सङ्घशः ।। ९० ।।
सर्वकालिङ्गयोधेषु पाण्डूनां ध्वजिनीपतिः ।
अब्रवीत् स्वान्यनीकानि युध्यध्वमिति पार्षतः ।। ९१ ।।

अद्भुतकर्मा भीमसेनके द्वारा भयभीत कर दिये जानेपर कलिंग देशके समस्त योद्धा जब दल बनाकर भागने और भाग-भागकर पुनः लौटने लगे, तब पाण्डव-सेनापति द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने अपने समस्त सैनिकोंसे कहा—‘वीरो! (उत्साहके साथ) युद्ध करो’ ।। ९०-९१ ।।

सेनापतिवचः श्रुत्वा शिखण्डिप्रमुखा गणाः ।
भीममेवाभ्यवर्तन्त रथानीकैः प्रहारिभिः ।। ९२ ।।

सेनापतिकी बात सुनकर शिखण्डी आदि महारथी प्रहारकुशल रथियोंकी सेनाओंके साथ भीमसेनका ही अनुसरण करने लगे ।। ९२ ।।

धर्मराजश्च तान् सर्वानुपजग्राह पाण्डवः ।
महता मेघवर्णेन नागानीकेन पृष्ठतः ।। ९३ ।।

तत्पश्चात् पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर मेघोंकी घटाके समान हाथियोंकी विशाल सेना साथ लिये पीछेसे आकर उन सबकी सहायता करने लगे ।। ९३ ।।

एवं संनोद्य सर्वाणि स्वान्यनीकानि पार्षतः ।
भीमसेनस्य जग्राह पार्ष्णिं सत्पुरुषैर्वृतः ।। ९४ ।।

इस प्रकार द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने अपनी सारी सेनाओंको युद्धके लिये प्रेरित करके श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ भीमसेनके पृष्ठभागकी रक्षाका कार्य हाथमें लिया ।। ९४ ।।

न हि पञ्चालराजस्य लोके कश्चन विद्यते ।
भीमसात्यकयोरन्यः प्राणेभ्यः प्रियकृत्तमः ।। ९५ ।।

जगत्में पांचालराज धृष्टद्युम्नके लिये भीम और सात्यकिको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं था, जो प्राणोंसे भी बढ़कर हो ।। ९५ ।।

सोऽपश्यच्च कलिङ्गेषु चरन्तमरिसूदनः ।
भीमसेनं महाबाहुं पार्षतः परवीरहा ।। ९६ ।।

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले वैरिविनाशक द्रुपद-कुमार धृष्टद्युम्नने महाबाहु भीमसेनको कलिंगोंकी सेनामें विचरते देखा ।। ९६ ।।

ननर्द बहुधा राजन् हृष्टश्चासीत् परंतपः ।
शङ्खं दध्मौ च समरे सिंहनादं ननाद च ।। ९७ ।।

राजन्! उन्हें देखते ही परंतप धृष्टद्युम्नके हृदयमें हर्षकी सीमा न रही। वे बारंबार गर्जना करने लगे। उन्होंने समरांगणमें शंख बजाया और सिंहनाद किया ।। ९७ ।।

स च पारावताश्वस्य रथे हेमपरिष्कृते ।
कोविदारध्वजं दृष्ट्वा भीमसेनः समाश्वसत् ।। ९८ ।।

कबूतरके समान रंगवाले घोड़े जिनके रथमें जोते जाते हैं, उन धृष्टद्युम्नके सुवर्णभूषित रथमें कचनार वृक्षके चिह्नसे युक्त ध्वजा फहराती देख भीमसेनको बड़ा आश्वासन मिला ।। ९८ ।।

धृष्टद्युम्नस्तु तं दृष्ट्वा कलिङ्गैः समभिद्रुतम् ।
भीमसेनममेयात्मा त्राणायाजौ समभ्ययात् ।। ९९ ।।

कलिंगोंने भीमसेनपर धावा किया है, यह देखकर अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न धृष्टद्युम्न भीमसेनकी रक्षाके लिये युद्धस्थलमें उनके पास जा पहुँचे ।। ९९ ।।

तौ दूरात् सात्यकिं दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नवृकोदरौ ।
कलिङ्गान् समरे वीरौ योधयेतां मनस्विनौ ।। १०० ।।

उस समरभूमिमें मनस्वी वीर धृष्टद्युम्न और भीमसेनने सात्यकिको भी दूरसे आते देखा; अतः वे अधिक उत्साहसे सम्पन्न हो कलिंगोंसे युद्ध करने लगे ।। १०० ।।

स तत्र गत्वा शैनेयो जवेन जयतां वरः ।
पार्थपार्षतयोः पार्ष्णिं जग्राह पुरुषर्षभः ।। १०१ ।।

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ पुरुषप्रवर सात्यकिने बड़े वेगसे वहाँ पहुँचकर भीमसेन और धृष्टद्युम्नके पृष्ठपोषणका कार्य सँभाला ।। १०१ ।।

स कृत्वा दारुणं कर्म प्रगृहीतशरासनः ।
आस्थितो रौद्रमात्मानं कलिङ्गानन्ववैक्षत ।। १०२ ।।

उन्होंने धनुष हाथमें लेकर भयंकर पराक्रम प्रकट करनेके पश्चात् अपने रौद्ररूपका आश्रय ले कलिंगसेनाकी ओर दृष्टिपात किया ।। १०२ ।।

कलिङ्गप्रभवां चैव मांसशोणितकर्दमाम् ।
रुधिरस्यन्दिनीं तत्र भीमः प्रावर्तयन्नदीम् ।। १०३ ।।

भीमसेनने वहाँ एक भयंकर नदी प्रकट कर दी, जो कलिंग-सेनारूपी उद्गमस्थानसे निकली थी। उसमें मांस और शोणितकी ही कीच थी। वह नदी रक्तकी ही धारा बहा रही थी ।। १०३ ।।

अन्तरेण कलिङ्गानां पाण्डवानां च वाहिनीम् ।
तां संततार दुस्तारां भीमसेनो महाबलः ।। १०४ ।।

कलिंग और पाण्डव-सेनाके बीचमें बहनेवाली उस रक्तकी दुस्तर नदीको महाबली भीमसेन अपने पराक्रमसे पार कर गये ।। १०४ ।।

भीमसेनं तथा दृष्ट्वा प्राक्रोशंस्तावका नृप ।
कालोऽयं भीमरूपेण कलिङ्गैः सह युध्यते ।। १०५ ।।

राजन्! भीमसेनको उस रूपमें देखकर आपके सैनिक पुकार-पुकारकर कहने लगे, यह साक्षात् काल ही भीमसेनके रूपमें प्रकट होकर कलिंगोंके साथ युद्ध कर रहा है ।। १०५ ।।

ततः शान्तनवो भीष्मः श्रुत्वा तं निनदं रणे ।
अभ्ययात् त्वरितो भीमं व्यूढानीकः समन्ततः ।। १०६ ।।

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म रणभूमिमें उस कोलाहलको सुनकर अपनी सेनाको सब ओरसे व्यूह-बद्ध करके तुरंत ही भीमसेनके पास आये ।। १०६ ।।

तं सात्यकिर्भीमसेनो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
अभ्यद्रवन्त भीष्मस्य रथं हेमपरिष्कृतम् ।। १०७ ।।

भीष्मके उस सुवर्णभूषित रथपर सात्यकि, भीमसेन तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने एक साथ ही धावा किया ।। १०७ ।।

परिवार्य तु ते सर्वे गाङ्गेयं तरसा रणे ।
त्रिभिस्त्रिभिः शरैर्घोरै र्भीष्ममानर्च्छुरोजसा ।। १०८ ।।

उन सब लोगोंने रणक्षेत्रमें गंगानन्दन भीष्मको वेगपूर्वक घेरकर तीन-तीन भयंकर बाणोंद्वारा उन्हें यथाशक्ति पीड़ा पहुँचायी ।। १०८ ।।

प्रत्यविध्यत तान् सर्वान् पिता देवव्रतस्तव ।
यतमानान् महेष्वासांस्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः ।। १०९ ।।

उस समय आपके पितृतुल्य भीष्मने वहाँ युद्धके लिये प्रयत्न करनेवाले उन सभी महाधनुर्धर योद्धाओं-को सीधे जानेवाले तीन-तीन बाणोंसे बींधकर बदला चुकाया ।। १०९ ।।

ततः शरसहस्रेण संनिवार्य महारथान् ।
हयान् काञ्चनसंनाहान् भीमस्य न्यहनच्छरैः ।। ११० ।।

तदनन्तर सहस्रों बाणोंकी वर्षा करके उन तीनों महारथियोंको रोककर सोनेके साज-बाज धारण करनेवाले भीमसेनके घोड़ोंको भीष्मने अपने बाणोंसे मार डाला ।। ११० ।।

हताश्वे स रथे तिष्ठन् भीमसेनः प्रतापवान् ।
शक्तिं चिक्षेप तरसा गाङ्गेयस्य रथं प्रति ।। १११ ।।

अश्वोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़े हुए प्रतापी भीमसेनने भीष्मजीके रथपर बड़े वेगसे शक्ति चलायी ।। १११ ।।

अप्राप्तामथ तां शक्तिं पिता देवव्रतस्तव ।
त्रिधा चिच्छेद समरे सा पृथिव्यामशीर्यत ।। ११२ ।।

वह शक्ति अभी पासतक पहुँची ही न थी कि आपके पितृतुल्य भीष्मने समरभूमिमें उसके तीन टुकड़े कर डाले और वह भूतलपर बिखर गयी ।। ११२ ।।

ततः शैक्यायसीं गुर्वीं प्रगृह्य बलवान् गदाम् ।
भीमसेनस्ततस्तूर्णं पुप्लुवे मनुजर्षभ ।। ११३ ।।

नरश्रेष्ठ! तब बलवान् भीमसेन पूर्णतः लोहेके सारतत्त्व (फौलाद)-की बनी हुई भारी गदा हाथमें लेकर तुरंत उस रथसे कूद पड़े ।। ११३ ।।

सात्यकोऽपि ततस्तूर्णं भीमस्य प्रियकाम्यया ।
गाङ्गेयसारथिं तूर्णं पातयामास सायकैः ।। ११४ ।।

इधर सात्यकिने भी भीमसेनका प्रिय करनेकी इच्छासे भीष्मके सारथिको तुरंत ही अपने सायकोंद्वारा मार गिराया ।। ११४ ।।

भीष्मस्तु निहते तस्मिन् सारथौ रथिनां वरः ।
वातायमानैस्तैरश्वैरपनीतो रणाजिरात् ।। ११५ ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्म सारथिके मारे जानेपर हवाके समान भागनेवाले घोड़ोंके द्वारा रणभूमिसे बाहर कर दिये गये ।। ११५ ।।

भीमसेनस्ततो राजन्नपयाते महाव्रते ।
प्रजज्वाल यथा वह्निर्दहन् कक्षमिवेधितः ।। ११६ ।।

राजन्! महान् व्रतधारी भीष्मके रणभूमिसे हट जानेपर भीमसेन घास-फूसके ढेरमें लगी हुई आगके समान अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहे थे ।। ११६ ।।

स हत्वा सर्वकालिङ्गान् सेनामध्ये व्यतिष्ठत ।
नैनमभ्युत्सहन् केचित् तावका भरतर्षभ ।। ११७ ।।

भरतश्रेष्ठ! भीमसेन सम्पूर्ण कलिंगोंका संहार करके सेनाके मध्यभागमें ही खड़े थे, परंतु आपके सैनिकोंमेंसे कोई भी उनके पास जानेका साहस न कर सके ।। ११७ ।।

धृष्टद्युम्नस्तमारोप्य स्वरथे रथिनां वरः ।
पश्यतां सर्वसैन्यानामपोवाह यशस्विनम् ।। ११८ ।।

तत्पश्चात् रथियोंमें श्रेष्ठ धृष्टद्युम्न यशस्वी भीमसेनको अपने रथपर चढ़ाकर सब सैनिकोंके देखते-देखते अपने दलमें ले गये ।। ११८ ।।

सम्पूज्यमानः पाञ्चाल्यैर्मत्स्यैश्च भरतर्षभ ।
धृष्टद्युम्नं परिष्वज्य समेयादथ सात्यकिम् ।। ११९ ।।

भरतश्रेष्ठ! वहाँ पांचालों तथा मत्स्यदेशीय नरेशोंसे पूजित हो भीमसेन धृष्टद्युम्न और सात्यकिको भुजाओंमें भरकर दोनोंसे प्रसन्नतापूर्वक मिले ।। ११९ ।।

अथाब्रवीद् भीमसेनं सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
प्रहर्षयन् यदुव्याघ्रो धृष्टद्युम्नस्य पश्यतः ।। १२० ।।

उस समय सत्यपराक्रमी यदुकुलसिंह सात्यकिने धृष्टद्युम्नके सामने ही भीमसेनका हर्ष बढ़ाते हुए उनसे इस प्रकार कहा— ।। १२० ।।

दिष्ट्या कलिङ्गराजश्च राजपुत्रश्च केतुमान् ।
शक्रदेवश्च कालिङ्गः कलिङ्गाश्च मृधे हताः ।। १२१ ।।

‘वीरवर! बड़े सौभाग्यकी बात है कि कलिंगराज भानुमान्, राजकुमार केतुमान्, कलिंगवीर शक्रदेव तथा अन्य बहुसंख्यक कलिंग-सैनिक आपके द्वारा युद्धमें मारे गये ।।

स्वबाहुबलवीर्येण नागाश्वरथसंकुलः ।
महापुरुषभूयिष्ठो धीरयोधनिषेवितः ।। १२२ ।।
महाव्यूहः कलिङ्गानामेकेन मृदितस्त्वया ।

‘आपने अकेले अपनी ही भुजाओंके बल और पराक्रमसे कलिंगोंके उस महान् व्यूहको रौंदकर मिट्टीमें मिला दिया, जिसमें बहुत-से हाथी, घोड़े और रथ भरे हुए थे। उसके अधिकांश सैनिक संसारके महान् पुरुषोंमें गिने जानेयोग्य थे। अगणित धीर-वीर योद्धा उस महान् व्यूहका सेवन करते थे’ ।। १२२½ ।।

एवमुक्त्वा शिनेर्नप्ता दीर्घबाहुररिंदम ।। १२३ ।।

रथाद् रथमभिद्रुत्य पर्यष्वजत पाण्डवम् ।

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरेश! ऐसा कहकर बड़ी भुजाओंवाले सात्यकि अपने रथसे कूदकर भीमसेनके रथपर जा चढ़े और उनको हृदयसे लगा लिया ।। १२३ 1/2 ।।

ततः स्वरथमास्थाय पुनरेव महारथः ।

तावकानवधीत् क्रुद्धो भीमस्य बलमादधत् ।। १२४ ।।

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए महारथी सात्यकिने पुनः अपने रथपर बैठकर भीमसेनका बल बढ़ाते हुए आपके सैनिकोंका संहार आरम्भ किया ।। १२४ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वितीययुद्धदिवसे कलिङ्गराजवधे चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वितीय दिनके युद्धमें कलिंगराजका वधविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५४ ।।

---

* तलवारको मण्डलाकार घुमाना 'भ्रान्त' कहलाता है। यही अधिक परिश्रमसाध्य होनेपर 'आविद्ध' कहा गया है। 'भ्रान्त' की क्रिया यदि ऊपर उठते हुए की जाय तो उसे 'उद्भ्रान्त' कहते हैं। तलवार चलाते हुए ऊपर उछलना 'आप्लुत' है। सब दिशाओंमें फैलावका नाम 'प्रसृत' है। तलवार चलाते हुए एक ही दिशामें आगे बढ़ना 'प्लुत' है। वेगको 'सम्पात' कहते हैं। समस्त शत्रुओंको मारने या चोट पहुँचानेके उद्यमको 'समुदीर्ण' कहा गया है।

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अभिमन्यु और अर्जुनका पराक्रम तथा दूसरे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि भारत ।
रथनागाश्वपत्तीनां सादिनां च महाक्षये ।। १ ।।
द्रोणपुत्रेण शल्येन कृपेण च महात्मना ।
समसज्जत पाञ्चाल्यस्त्रिभिरेतैर्महारथैः ।। २ ।।

संजय कहते हैं—भारत! उस दूसरे दिन जब पूर्वाह्णका अधिक भाग व्यतीत हो गया और बहुसंख्यक रथ, हाथी, घोड़े, पैदल और सवारोंका महान् संहार होने लगा, उस समय पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्न अकेला ही द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, शल्य तथा महामनस्वी कृपाचार्य—इन तीनों महारथियोंके साथ युद्ध करने लगा ।। १-२ ।।

स लोकविदितानश्वान् निजघान महाबलः ।
द्रौणेः पाञ्चालदायादः शितैर्दशभिराशुगैः ।। ३ ।।

महाबली पांचालराजकुमारने दस शीघ्रगामी पैने बाण मारकर अश्वत्थामाके विश्वविख्यात घोड़ोंको मार डाला ।। ३ ।।

ततः शल्यरथं तूर्णमास्थाय हतवाहनः ।
द्रौणिः पाञ्चालदायादमभ्यवर्षदथेषुभिः ।। ४ ।।

वाहनोंके मारे जानेपर अश्वत्थामा तुरंत ही शल्यके रथपर चढ़ गया और वहींसे धृष्टद्युम्नपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ।। ४ ।।

धृष्टद्युम्नं तु संयुक्तं द्रौणिना वीक्ष्य भारत ।
सौभद्रोऽभ्यपतत् तूर्णं विकिरन् निशितान् शरान् ।। ५ ।।

भरतनन्दन! धृष्टद्युम्नको अश्वत्थामाके साथ भिड़ा हुआ देख सुभद्रानन्दन अभिमन्यु भी पैने बाण बिखेरता हुआ तुरंत वहाँ आ पहुँचा ।। ५ ।।

स शल्यं पञ्चविंशत्या कृपं च नवभिः शरैः ।
अश्वत्थामानमष्टाभिर्विव्याध पुरुषर्षभः ।। ६ ।।

उस पुरुषरत्न अभिमन्युने शल्यको पचीस, कृपाचार्यको नौ और अश्वत्थामाको आठ बाणोंसे बींध डाला ।। ६ ।।

आर्जुनिं तु ततस्तूर्णं द्रौणिर्विव्याध पत्रिणा ।
शल्योऽथ दशभिश्चैव कृपश्च निशितैस्त्रिभिः ।। ७ ।।

तब अश्वत्थामाने शीघ्र ही एक बाणसे अभिमन्युको घायल कर दिया। तत्पश्चात् शल्यने दस और कृपाचार्यने तीन पैने बाण उसे मारे ।। ७ ।।

लक्ष्मणस्तव पौत्रस्तु सौभद्रं समवस्थितम् ।
अभ्यवर्तत संहृष्टस्ततो युद्धमवर्तत ।। ८ ।।

तदनन्तर आपके पौत्र लक्ष्मणने सुभद्राकुमार अभिमन्युको सामने खड़ा देख हर्ष और उत्साहमें भरकर उसपर आक्रमण किया। फिर तो दोनोंमें युद्ध आरम्भ हो गया ।। ८ ।।

दौर्योधनिः सुसंक्रुद्धः सौभद्रं परवीरहा ।
विव्याध समरे राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ।। ९ ।।

राजन्! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले दुर्योधनके पुत्र लक्ष्मणने अत्यन्त कुपित हो समरभूमिमें (अनेक बाणोंसे) अभिमन्युको बींध डाला। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ।। ९ ।।

अभिमन्युः सुसंक्रुद्धो भ्रातरं भरतर्षभ ।
शरैः पञ्चाशता राजन् क्षिप्रहस्तोऽभ्यविध्यत ।। १० ।।

महाराज! भरतश्रेष्ठ! यह देख शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाला वीर अभिमन्यु अत्यन्त कुपित हो उठा और अपने भाई लक्ष्मणको उसने पचास बाणोंसे घायल कर दिया ।। १० ।।

लक्ष्मणोऽपि पुनस्तस्य धनुश्चिच्छेद पत्रिणा ।
मुष्टिदेशे महाराज ततस्ते चुक्रुशुर्जनाः ।। ११।

राजन्! तब लक्ष्मणने भी पुनः एक बाण मारकर उसके धनुषको, जहाँ मुट्ठी रखी जाती है, वहींसे काट दिया। यह देख आपके सैनिक हर्षसे कोलाहल कर उठे ।।

तद् विहाय धनुश्छिन्नं सौभद्रः परवीरहा ।
अन्यदादत्तवांश्चित्रं कार्मुकं वेगवत्तरम् ।। १२ ।।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमारने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा विचित्र धनुष हाथमें लिया, जो अत्यन्त वेगशाली था ।। १२ ।।

तौ तत्र समरे युक्तौ कृतप्रतिकृतैषिणौ ।
अन्योन्यं विशिखैस्तीक्ष्णैर्जघ्नतुः पुरुषर्षभौ ।। १३ ।।

वे दोनों पुरुषरत्न वहाँ एक-दूसरेके अस्त्रोंका निवारण अथवा प्रतीकार करनेकी इच्छा रखकर युद्धमें संलग्न थे और पैने बाणोंद्वारा एक-दूसरेको घायल कर रहे थे ।। १३ ।।

ततो दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा पुत्रं महारथम् ।
पीडितं तव पौत्रेण प्रायात् तत्र प्रजेश्वरः ।। १४ ।।

तब प्रजाजनोंका स्वामी राजा दुर्योधन अपने महारथी पुत्रको आपके पौत्र अभिमन्युसे पीड़ित देख वहाँ स्वयं जा पहुँचा ।। १४ ।।

संनिवृत्ते तव सुते सर्व एव जनाधिपाः ।
आर्जुनिं रथवंशेन समन्तात् पर्यवारयन् ।। १५ ।।

आपके पुत्र दुर्योधनके उधर लौटनेपर कौरव-पक्षके सभी नरेशोंने विशाल रथ-सेनाके द्वारा अर्जुनकुमार अभिमन्युको सब ओरसे घेर लिया ।। १५ ।।

स तैः परिवृतः शूरैः शूरो युधि सुदुर्जयैः ।
न स्म प्रव्यथते राजन् कृष्णतुल्यपराक्रमः ।। १६ ।।

राजन्! अभिमन्युका पराक्रम भगवान् श्रीकृष्णके समान था। वह युद्धमें अत्यन्त दुर्जय उन शूरवीरोंसे घिर जानेपर भी व्यथित या चिन्तित नहीं हुआ ।। १६ ।।

सौभद्रमथ संसकं दृष्ट्वा तत्र धनंजयः ।
अभिदुद्राव वेगेन त्रातुकामः स्वमात्मजम् ।। १७ ।।

इसी समय अर्जुन सुभद्राकुमारको वहाँ युद्धमें संलग्न देख अपने पुत्रकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे दौड़े आये ।। १७ ।।

ततः सरथनागाश्वा भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।
अभ्यवर्तन्त राजानः सहिताः सव्यसाचिनम् ।। १८ ।।

यह देख भीष्म और द्रोण आदि सभी कौरव-पक्षीय नरेश रथ, हाथी और घोड़ोंकी सेनासहित एक साथ अर्जुनपर चढ़ आये ।। १८ ।।

उद्भूतं सहसा भौमं नागाश्वरथपत्तिभिः ।
दिवाकररथं प्राप्य रजस्तीव्रमदृश्यत ।। १९ ।।

उस समय हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंद्वारा उड़ायी हुई धरतीकी तीव्र धूल सहसा सूर्यके रथतक पहुँचकर सब ओर व्याप्त दिखायी देने लगी ।। १९ ।।

तानि नागसहस्राणि भूमिपालशतानि च ।
तस्य बाणपथं प्राप्य नाभ्यवर्तन्त सर्वशः ।। २० ।।
प्रणेदुः सर्वभूतानि बभूवुस्तिमिरा दिशः ।

इधर सहस्रों हाथी और सैकड़ों भूमिपाल अर्जुनके बाणोंके पथमें आकर किसी प्रकार आगे न बढ़ सके। समस्त प्राणी आर्तनाद करने लगे और सम्पूर्ण दिशाओंमें अन्धकार छा गया ।। २०½ ।।

कुरूणां चानयस्तीव्रः समदृश्यत दारुणः ।। २१ ।।
नाप्यन्तरिक्षं न दिशो न भूमिर्न च भास्करः ।
प्रजज्ञे भरतश्रेष्ठ शस्त्रसङ्घैः किरीटिनः ।। २२ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समय कौरवोंको अपने दुःसह एवं भयंकर अन्यायका परिणाम प्रत्यक्ष दिखायी देने लगा। किरीटधारी अर्जुनके शस्त्रसमूहोंसे सब कुछ आच्छादित हो जानेके कारण आकाश, दिशा, पृथ्वी और सूर्य किसीका भी भान नहीं होता था ।। २१-२२ ।।

सादिता रथनागाश्च हताश्वा रथिनो रणे ।
विप्रद्रुतरथाः केचिद् दृश्यन्ते रथयूथपाः ।। २३ ।।

उस रणभूमिमें कितने ही रथ टूट गये, बहुतेरे हाथी नष्ट हो गये, कितने ही रथियोंके घोड़े मार डाले गये और कितने ही रथ-यूथपतियोंके रथ भागते दिखायी दिये ।। २३ ।।

विरथा रथिनश्चान्ये धावमानाः समन्ततः ।
तत्र तत्रैव दृश्यन्ते सायुधाः साङ्गदैर्भुजैः ।। २४ ।।

अन्यान्य बहुत-से रथी रथहीन होकर अंगदभूषित भुजाओंमें आयुध धारण किये जहाँ-तहाँ चारों ओर दौड़ते देखे जाते थे ।। २४ ।।

हयारोहा हयांस्त्यक्त्वा गजारोहाश्च दन्तिनः ।
अर्जुनस्य भयाद् राजन् समन्ताद् विप्रदुद्रुवुः ।। २५ ।।

महाराज! अर्जुनके भयसे घुड़सवार घोड़ोंको और हाथीसवार हाथियोंको छोड़कर सब ओर भाग चले ।। २५ ।।

रथेभ्यश्च गजेभ्यश्च हयेभ्यश्च नराधिपाः ।
पतिताः पात्यमानाश्च दृश्यन्तेऽर्जुनसायकैः ।। २६ ।।

वहाँ बहुत-से नरेश अर्जुनके सायकोंसे कटकर रथों, हाथियों और घोड़ोंसे गिरे और गिराये जाते हुए दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। २६ ।।

सगदानुद्यतान् बाहून् सखड्गांश्च विशाम्पते ।
सप्रासांश्च सतूणीरान् सशरान् सशरासनान् ।। २७ ।।
साङ्कुशान् सपताकांश्च तत्र तत्रार्जुनो नृणाम् ।
निचकर्त शरैरुग्रै रौद्रं वपुरधारयत् ।। २८ ।।

प्रजानाथ! अर्जुनने उस रणक्षेत्रमें अत्यन्त भयंकर रूप धारण किया था। उन्होंने अपने उग्र बाणोंद्वारा योद्धाओंकी ऊपर उठी हुई भुजाओंको, जिनमें गदा, खड्ग, प्रास, तूणीर, धनुष-बाण, अंकुश और ध्वजा-पताका आदि शोभा पा रहे थे, काट गिराया ।। २७-२८ ।।

परिघाणां प्रदीप्तानां मुद्गराणां च मारिष ।
प्रासानां भिन्दिपालानां निस्त्रिंशानां च संयुगे ।। २९ ।।
परश्वधानां तीक्ष्णानां तोमराणां च भारत ।
वर्मणां चापविद्धानां काञ्चनानां च भूमिप ।। ३० ।।
ध्वजानां चर्मणां चैव व्यजनानां च सर्वशः ।
छत्राणां हेमदण्डानां तोमराणां च भारत ।। ३१ ।।
प्रतोदानां च योक्त्राणां कशानां चैव मारिष ।
राशयः स्मात्र दृश्यन्ते विनिकीर्णा रणक्षितौ ।। ३२ ।।

आर्य! भरतनन्दन! भूपाल! उस रणभूमिमें गिरे हुए उद्दीप्त परिघ, मुद्गर, प्रास, भिन्दिपाल, खड्ग, फरसे, तीखे तोमर, सुवर्णमय कवच, ध्वज, ढाल, सोनेके डंडोंसे विभूषित छत्र, व्यजन, चाबुक, जोते, कोड़े और अंकुश ढेर-के-ढेर बिखरे दिखायी देते थे ।। २९—३२ ।।

नासीत् तत्र पुमान् कश्चित् तव सैन्यस्य भारत ।
योऽर्जुनं समरे शूरं प्रत्युद्यायात् कथंचन ।। ३३ ।।

भारत! उस समय आपकी सेनामें कोई भी ऐसा पुरुष नहीं था, जो समरमें शूरवीर अर्जुनका सामना करनेके लिये किसी प्रकार आगे बढ़ सके ।। ३३ ।।

यो यो हि समरे पार्थं प्रत्युद्याति विशाम्पते ।
स संख्ये विशिखैस्तीक्ष्णैः परलोकाय नीयते ।। ३४ ।।

प्रजानाथ! उस युद्धभूमिमें जो-जो वीर अर्जुनकी ओर बढ़ता था, वही-वही उनके पैने बाणोंद्वारा परलोक पहुँचा दिया जाता था ।। ३४ ।।

तेषु विद्रवमाणेषु तव योधेषु सर्वशः ।
अर्जुनो वासुदेवश्च दध्मतुर्वारिजोत्तमौ ।। ३५ ।।

तदनन्तर आपके सब योद्धा सब ओर भागने लगे। यह देख अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रेष्ठ शंख बजाये ।। ३५ ।।

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा पिता देवव्रतस्तव ।
अब्रवीत् समरे शूरं भारद्वाजं स्मयन्निव ।। ३६ ।।

कौरव-सेनाको इस प्रकार भागती देख समरभूमिमें खड़े हुए आपके ताऊ भीष्मने वीरवर आचार्य द्रोणसे मुसकराते हुए-से कहा— ।। ३६ ।।

एष पाण्डुसुतो वीरः कृष्णेन सहितो बली ।
तथा करोति सैन्यानि यथा कुर्याद् धनंजयः ।। ३७ ।।

‘यह श्रीकृष्णसहित बलवान् वीर पाण्डुकुमार अर्जुन कौरव-सेनाकी वही दशा कर रहा है, जैसी उसे करनी चाहिये ।। ३७ ।।

न ह्येष समरे शक्यो विजेतुं हि कथंचन ।
यथास्य दृश्यते रूपं कालान्तकयमोपमम् ।। ३८ ।।

‘यह किसी प्रकार भी समरभूमिमें जीता नहीं जा सकता; क्योंकि इसका रूप इस समय प्रलयकालके यमराज-सा दिखायी दे रहा है ।। ३८ ।।

न निवर्तयितुं चापि शक्येयं महती चमूः ।
अन्योन्यप्रेक्षया पश्य द्रवतीयं वरूथिनी ।। ३९ ।।

‘यह विशाल सेना इस समय पीछे नहीं लौटायी जा सकती। देखिये, सारे सैनिक एक-दूसरेकी देखा-देखी भागे जा रहे हैं ।। ३९ ।।

एष चास्तं गिरिश्रेष्ठं भानुमान् प्रतिपद्यते ।
चक्षूंषि सर्वलोकस्य संहरन्निव सर्वथा ।। ४० ।।

‘इधर ये भगवान् सूर्य सम्पूर्ण जगत्के नेत्रोंकी ज्योति सर्वथा समेटते हुए-से गिरिश्रेष्ठ अस्ताचलको जा पहुँचे हैं ।। ४० ।।

तत्रावहारं सम्प्राप्तं मन्येऽहं पुरुषर्षभ ।

श्रान्ता भीताश्च नो योधा न योत्स्यन्ति कथंचन ।। ४१ ।।

'अतः नरश्रेष्ठ! मैं इस समय समस्त सैनिकोंको युद्धसे हटा लेना ही उचित समझता हूँ। हमारे सभी योद्धा थके-माँदे और डरे हुए हैं; अतः इस समय किसी तरह युद्ध नहीं कर सकेंगे' ।। ४१ ।।

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो द्रोणमाचार्यसत्तमम् ।

अवहारमथो चक्रे तावकानां महारथः ।। ४२ ।।

आचार्यप्रवर द्रोणसे ऐसा कहकर महारथी भीष्मने आपके समस्त सैनिकोंको युद्धभूमिसे लौटा लिया ।। ४२ ।।

(ततः सरथनागाश्वा जयं प्राप्य ससोमकाः ।

पञ्चालाः पाण्डवाश्चैव प्रणेदुश्च पुनः पुनः ।।

प्रययुः शिबिरायैव धनंजयपुरस्कृताः ।

वादित्रघोषैः संहृष्टाः प्रनृत्यन्तो महारथाः ।।)

तदनन्तर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित सोमक, पांचाल तथा पाण्डववीर विजय पाकर बारंबार सिंहनाद करने लगे। वे सभी महारथी विजयसूचक वाद्योंकी ध्वनिके साथ अत्यन्त हर्षमें भरकर नाचने लगे और अर्जुनको आगे करके शिविरकी ओर चल दिये।

ततोऽवहारः सैन्यानां तव तेषां च भारत ।

अस्तं गच्छति सूर्येऽभूत् संध्याकाले च वर्तति ।। ४३ ।।

भारत! इस प्रकार सूर्यके अस्ताचलको चले जानेपर संध्याके समय आपकी और पाण्डवोंकी सेनाएँ लौट आयीं ।। ४३ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वितीययुद्धदिवसावहारे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वितीय युद्धदिवसमें सेनाको लौटानेसे सम्बन्ध रखनेवाला पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५५ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४५ श्लोक हैं।]

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

तीसरे दिन—कौरव-पाण्डवोंकी व्यूह-रचना तथा युद्धका आरम्भ

संजय उवाच

प्रभातायां च शर्वर्यां भीष्मः शान्तनवस्तदा ।
अनीकान्यनुसंयाने व्यादिदेशाथ भारत ।। १ ।।

संजयने कहा—भारत! जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब शान्तनुनन्दन भीष्मने अपनी सेनाओंको युद्धभूमिमें चलनेका आदेश दिया ।। १ ।।

गारुडं च महाव्यूहं चक्रे शान्तनवस्तदा ।
पुत्राणां ते जयाकाङ्क्षी भीष्मः कुरुपितामहः ।। २ ।।

उस समय कुरुकुलके पितामह शान्तनुकुमार भीष्मने आपके पुत्रोंको विजय दिलानेकी इच्छासे महान् गरुड़व्यूहकी रचना की ।। २ ।।

गरुडस्य स्वयं तुण्डे पिता देवव्रतस्तव ।
चक्षुषी च भरद्वाजः कृतवर्मा च सात्वतः ।। ३ ।।

स्वयं आपके ताऊ भीष्म उस व्यूहके अग्रभागमें चोंचके स्थानपर खड़े हुए। आचार्य द्रोण और यदुवंशी कृतवर्मा दोनों नेत्रोंके स्थानपर स्थित हुए ।। ३ ।।

अश्वत्थामा कृपश्चैव शीर्षमास्तां यशस्विनौ ।
त्रैगर्तैरथ कैकेयैर्वाटधानैश्च संयुगे ।। ४ ।।

यशस्वी वीर अश्वत्थामा और कृपाचार्य शिरोभागमें खड़े हुए। इनके साथ त्रिगर्त, केकय और वाटधान भी युद्धभूमिमें उपस्थित थे ।। ४ ।।

भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तश्च मारिष ।
मद्रकाः सिन्धुसौवीरास्तथा पाञ्चनदाश्च ये ।। ५ ।।
जयद्रथेन सहिता ग्रीवायां संनिवेशिताः ।

आर्य! भूरिश्रवा, शल, शल्य और भगदत्त—ये जयद्रथके साथ ग्रीवाभागमें खड़े किये गये। इन्हींके साथ मद्र, सिंधु, सौवीर तथा पंचनद देशके योद्धा भी थे ।। ५½ ।।

पृष्ठे दुर्योधनो राजा सोदर्यैः सानुगैर्वृतः ।। ६ ।।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजाश्च शकैः सह ।
पुच्छमासन् महाराज शूरसेनाश्च सर्वशः ।। ७ ।।

अपने सहोदर भाइयों और अनुचरोंके साथ राजा दुर्योधन पृष्ठभागमें स्थित हुआ। महाराज! अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द तथा कम्बोज, शक एवं

शूरसेनदेशके योद्धा उस महाव्यूहके पुच्छ भागमें खड़े हुए ।। ६-७ ।।

मागधाश्च कलिङ्गाश्च दासेरकगणैः सह ।
दक्षिणं पक्षमासाद्य स्थिता व्यूहस्य दंशिताः ।। ८ ।।

मगध और कलिंगदेशके योद्धा दासेरकगणोंके साथ कवच धारण करके व्यूहके दायें पंखके स्थानमें स्थित हुए ।। ८ ।।

कारूषाश्च विकुञ्जाश्च मुण्डाः कुण्डीवृषास्तथा ।
बृहद्बलेन सहिता वामं पार्श्वमवस्थिताः ।। ९ ।।

कारूष, विकुंज, मुण्ड और कुण्डीवृष आदि योद्धा राजा बृहद्बलके साथ बायें पंखके स्थानमें खड़े हुए ।।

व्यूढं दृष्ट्वा तु तत् सैन्यं सव्यसाची परंतपः ।
धृष्टद्युम्नेन सहितः प्रत्यव्यूहत संयुगे ।। १० ।।
अर्धचन्द्रेण व्यूहेन व्यूहं तमतिदारुणम् ।
दक्षिणं शृङ्गमास्थाय भीमसेनो व्यरोचत ।। ११ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने कौरव-सेनाकी वह व्यूह-रचना देखकर युद्धभूमिमें उसका सामना करनेके लिये धृष्टद्युम्नको साथ लेकर अपनी सेनाका अत्यन्त भयंकर अर्धचन्द्राकार व्यूह बनाया। उसके दक्षिण शिखरपर भीमसेन सुशोभित हुए ।। १०-११ ।।

नानाशस्त्रौघसम्पन्नैर्नानादेश्यैर्नृपैर्वृतः ।
तदन्वेव विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।। १२ ।।

उनके साथ नाना प्रकारके शस्त्रसमुदायोंसे सम्पन्न विभिन्न देशोंके नरेश भी थे। भीमसेनके पीछे ही राजा विराट और महारथी द्रुपद खड़े हुए ।। १२ ।।

तदनन्तरमेवासीन्नीलो नीलायुधैः सह ।
नीलादनन्तरश्चैव धृष्टकेतुर्महाबलः ।। १३ ।।

उनके बाद नील आयुधधारी सैनिकोंके साथ राजा नील और नीलके बाद महाबली धृष्टकेतु खड़े हुए ।। १३ ।।

चेदिकाशिकरूषैश्च पौरवैरपि संवृतः ।
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः ।। १४ ।।
मध्ये सैन्यस्य महतः स्थिता युद्धाय भारत ।
तत्रैव धर्मराजोऽपि गजानीकेन संवृतः ।। १५ ।।

भारत! धृष्टकेतुके साथ चेदि, काशी, करूष और पौरव आदि देशोंके सैनिक भी थे। धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा पांचाल और प्रभद्रकगण उस विशाल सेनाके मध्यभागमें युद्धके लिये खड़े हुए। हाथियोंकी सेनासे घिरे हुए धर्मराज युधिष्ठिर भी वहीं थे ।। १४-१५ ।।

ततस्तु सात्यकी राजन् द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ।

अभिमन्युस्ततः शूर इरावांश्च ततः परम् ।। १६ ।।

राजन्! तदनन्तर सात्यकि और द्रौपदीके पाँचों पुत्र खड़े हुए। इनके बाद शूरवीर अभिमन्यु और अभिमन्युके बाद इरावान् थे ।। १६ ।।

भैमसेनिस्ततो राजन् केकयाश्च महारथाः ।
ततोऽभूद् द्विपदां श्रेष्ठो वामं पार्श्वमुपाश्रितः ।। १७ ।।
सर्वस्य जगतो गोप्ता गोप्ता यस्य जनार्दनः ।

नरेश्वर! इरावान्के बाद भीमसेनपुत्र घटोत्कच तथा महारथी केकय खड़े हुए। तत्पश्चात् मनुष्योंमें श्रेष्ठ अर्जुन उस व्यूहके बायें पार्श्व या शिखरके स्थानमें खड़े हुए, जिनके रक्षक सम्पूर्ण जगत्का पालन करनेवाले साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हैं ।। १७½ ।।

एवमेतं महाव्यूहं प्रत्यव्यूहन्त पाण्डवाः ।। १८ ।।
वधार्थं तव पुत्राणां तत्पक्षं ये च सङ्गताः ।

इस प्रकार पाण्डवोंने आपके पुत्रों तथा उनके पक्षमें आये हुए अन्यान्य भूपालोंके वधके लिये इस महाव्यूहकी रचना की ।। १८½ ।।

ततः प्रववृते युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम् ।। १९ ।।
तावकानां परेषां च निघ्नतामितरेतरम् ।

तदनन्तर एक-दूसरेपर प्रहार करते हुए आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंका घोर युद्ध आरम्भ हो गया, जिसमें रथसे रथ और हाथीसे हाथी भिड़ गये थे ।। १९½ ।।

हयौघाश्च रथौघाश्च तत्र तत्र विशाम्पते ।। २० ।।
सम्पतन्तो व्यदृश्यन्त निघ्नन्तस्ते परस्परम् ।

प्रजानाथ! जहाँ-तहाँ सब ओर घोड़ों और रथोंके समुदाय एक-दूसरेपर टूटते और प्रहार करते दिखायी दे रहे थे ।। २०½ ।।

धावतां च रथौघानां निघ्नतां च पृथक् पृथक् ।। २१ ।।
बभूव तुमुलः शब्दो विमिश्रो दुन्दुभिस्वनैः ।
दिवस्पृङ् नरवीराणां निघ्नतामितरेतरम् ।
सम्प्रहारे सुतुमुले तव तेषां च भारत ।। २२ ।।

भारत! दौड़ते तथा पृथक्-पृथक् प्रहार करते हुए रथसमूहोंका शब्द दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे मिलकर और भी भयंकर हो गया। आपके और पाण्डवोंके घमासान युद्धमें परस्पर आघात-प्रत्याघात करनेवाले नरवीरोंका भयानक शब्द आकाशमें व्याप्त हो रहा था ।। २१-२२ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे परस्परव्यूहरचनायां षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तीसरे दिनके युद्धमें परस्पर व्यूह-रचनाविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५६ ।।

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका घमासान युद्ध

संजय उवाच

ततो व्यूढेष्वनीकेषु तावकेषु परेषु च ।
धनंजयो रथानीकमवधीत् तव भारत ।। १ ।।

संजय कहते हैं—भारत! आपकी और पाण्डवोंकी पूर्वोक्तरूपसे व्यूह-रचना सम्पन्न हो जानेपर अर्जुनने आपके रथियोंकी सेनाका संहार आरम्भ किया ।। १ ।।

शरैरतिरथो युद्धे दारयन् रथयूथपान् ।
ते वध्यमानाः पार्थेन कालेनेव युगक्षये ।। २ ।।
धार्तराष्ट्रा रणे यत्नात् पाण्डवान् प्रत्ययोधयन् ।

वे अतिरथी वीर थे। उन्होंने अपने बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें रथयूथपतियोंको विदीर्ण करके यमलोक भेज दिया। युगान्तमें कालके समान उस युद्धमें कुन्ती-कुमार अर्जुनके द्वारा आपके सैनिकोंका भयंकर विनाश हो रहा था, तो भी वे यत्नपूर्वक पाण्डवोंके साथ युद्ध करते रहे ।। २ $\frac{१}{२}$ ।।

प्रार्थयाना यशो दीप्तं मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ।। ३ ।।
एकाग्रमनसो भूत्वा पाण्डवानां वरूथिनीम् ।
बभञ्जुर्बहुशो राजंस्ते चासज्जन्त संयुगे ।। ४ ।।

वे उज्ज्वल यश प्राप्त करना चाहते थे। अतः यह निश्चय करके कि अब मृत्यु ही हमें युद्धसे निवृत्त कर सकती है, एकाग्रचित्त होकर युद्धमें डटे रहे। राजन्! उन्होंने युद्धमें ऐसी तत्परता दिखायी कि बार-बार पाण्डव-सेनाको तितर-बितर कर दिया ।। ३-४ ।।

द्रवद्भिरथ भग्नैश्च परिवर्तद्भिरेव च ।
पाण्डवैः कौरवेयैश्च न प्राज्ञायत किंचन ।। ५ ।।

तदनन्तर क्षत-विक्षत होकर भागते और पुनः लौटकर सामना करते हुए पाण्डवों तथा कौरवोंके सैनिकोंको कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ।। ५ ।।

उदतिष्ठद् रजो भौमं छादयानं दिवाकरम् ।
न दिशः प्रदिशो वापि तत्र हन्युः कथं नराः ।। ६ ।।

भूतलसे इतनी धूल उड़ी कि सूर्यदेव आच्छादित हो गये। दिशा और प्रदिशाका कुछ भी पता नहीं चलता था। वैसी दशामें वहाँ युद्ध करनेवाले लोग कैसे किसीपर प्रहार करें ।। ६ ।।

अनुमानेन संज्ञाभिर्नामगोत्रैश्च संयुगे ।
वर्तते च तथा युद्धं तत्र तत्र विशाम्पते ।। ७ ।।

प्रजानाथ! उस रणक्षेत्रमें अनुमानसे, संकेतोंसे तथा नाम और गोत्रोंके उच्चारणसे अपने या पराये पक्षका निश्चय करके जहाँ-तहाँ युद्ध हो रहा था ।। ७ ।।

न व्यूहो भिद्यते तत्र कौरवाणां कथंचन ।
रक्षितः सत्यसंधेन भारद्वाजेन संयुगे ।। ८ ।।

सत्यप्रतिज्ञ भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण कौरव-सेनाका व्यूह किसी प्रकार भंग न हो सका ।। ८ ।।

तथैव पाण्डवानां च रक्षितः सव्यसाचिना ।
नाभिद्यत महाव्यूहो भीमेन च सुरक्षितः ।। ९ ।।

इसी तरह सव्यसाची अर्जुन और भीमसे सुरक्षित पाण्डवोंके महाव्यूहका भी भेदन न हो सका ।। ९ ।।

सेनाग्रादपि निष्पत्य प्रायुध्यंस्तत्र मानवाः ।
उभयोः सेनयो राजन् व्यतिषक्तरथद्विपाः ।। १० ।।

वहाँ सेनाके अग्रभागसे भी निकलकर (व्यूह छोड़कर) वीर सैनिक युद्ध करते थे। राजन्! दोनों सेनाओंके रथ और हाथी परस्पर भिड़ गये ।। १० ।।

हयारोहैर्हयारोहाः पात्यन्ते स्म महाहवे ।
ऋष्टिभिर्विमलाभिश्च प्रासैरपि च संयुगे ।। ११ ।।

उस महासमरमें घुड़सवार घुड़सवारोंको चमकीली ऋष्टियों और प्रासोंद्वारा मार गिराते थे ।। ११ ।।

रथी रथिनमासाद्य शरैः कनकभूषणैः ।
पातयामास समरे तस्मिन्नतिभयङ्करे ।। १२ ।।

वह संग्राम अत्यन्त भयानक हो रहा था। उसमें रथी रथियोंके सामने जाकर उन्हें स्वर्णभूषित बाणोंसे मार गिराते थे ।। १२ ।।

गजारोहा गजारोहान् नाराचशरतोमरैः ।
संसक्तान् पातयामासुस्तव तेषां च सर्वशः ।। १३ ।।

आपके और पाण्डव-पक्षके हाथीसवार अपनेसे भिड़े हुए विपक्षी हाथीसवारोंको सब ओरसे नाराच, बाण और तोमरोंकी मारसे धराशायी कर देते थे ।। १३ ।।

कश्चिदुत्पत्य समरे वरवारणमास्थितः ।
केशपक्षे परामृश्य जहार समरे शिरः ।। १४ ।।

कोई योद्धा रणक्षेत्रमें उछलकर बड़े-बड़े हाथियोंपर चढ़ जाता और विपक्षी योद्धाके केशोंको पकड़कर उसका सिर काट लेता था ।। १४ ।।

अन्ये द्विरददन्ताग्रनिर्भिन्नहृदया रणे ।
वेमुश्च रुधिरं वीरा निःश्वसन्तः समन्ततः ।। १५ ।।

बहुत-से वीर युद्धस्थलमें हाथियोंके दाँतोंके अग्रभागसे अपना हृदय विदीर्ण हो जानेके कारण सब ओर लंबी साँस खींचते हुए मुखसे रक्त वमन कर रहे थे ।। १५ ।।

कश्चित् करिविषाणस्थो वीरो रणविशारदः ।
प्रावेपच्छक्तिनिर्भिन्नो गजशिक्षास्त्रवेदिना ।। १६ ।।

कोई रणविशारद वीर हाथीके दाँतोंपर खड़ा होकर युद्ध कर रहा था। इतनेहीमें गजशिक्षा और अस्त्रविद्याके ज्ञाता किसी विपक्षी योद्धाने उसके ऊपर शक्ति चला दी। उस शक्तिके आघातसे वक्षःस्थल विदीर्ण हो जानेके कारण वह मरणोन्मुख वीर वहीं काँपने लगा ।। १६ ।।

पत्तिसङ्घा रणे पत्तीन् भिन्दिपालपरश्वधैः ।
न्यपातयन्त संहृष्टाः परस्परकृतागसः ।। १७ ।।

हर्ष और उल्लासमें भरकर एक-दूसरेका अपराध करनेवाले पैदलसमूह विपक्षके पैदल सैनिकोंको भिन्दिपाल और फरसोंसे मार-मारकर रणभूमिमें गिरा रहे थे ।। १७ ।।

रथी च समरे राजन्नासाद्य गजयूथपम् ।
सगजं पातयामास गजी स रथिनां बरम् ।। १८ ।।

राजन्! उस समरभूमिमें कोई रथी किसी गजयूथ-पतिसे भिड़ जाता और सवार तथा हाथी दोनोंको मार गिराता था। उसी प्रकार गजारोही भी रथियोंमें श्रेष्ठ वीरका वध कर देता था ।। १८ ।।

रथिनं च हयारोहः प्रासेन भरतर्षभ ।
पातयामास समरे रथी च हयसादिनम् ।। १९ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस संग्राममें घुड़सवार रथीको तथा रथी घुड़सवारको प्रासद्वारा मारकर धराशायी कर देता था ।। १९ ।।

पदाती रथिनं संख्ये रथी चापि पदातिनम् ।
न्यपातयच्छितैः शस्त्रैः सेनयोरुभयोरपि ।। २० ।।

दोनों ही सेनाओंमें पैदल वीर रथीको और रथी योद्धा पैदल सैनिकको अपने तीखे अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा रणभूमिमें मार गिराता था ।। २० ।।

गजारोहा हयारोहान् पातयाञ्चक्रिरे तदा ।
हयारोहा गजस्थांश्च तदद्भुतमिवाभवत् ।। २१ ।।

हाथीसवार घुड़सवारोंको और घुड़सवार हाथी-सवारोंको युद्धस्थलमें गिरा देते थे। ये घटनाएँ आश्चर्यजनक-सी प्रतीत होती थीं ।। २१ ।।

गजारोहवरैश्चापि तत्र तत्र पदातयः ।
पातिताः समदृश्यन्त तैश्चापि गजयोधिनः ।। २२ ।।

उस रणक्षेत्रमें जहाँ-तहाँ श्रेष्ठ गजारोहियोंद्वारा गिराये हुए पैदल और पैदलोंद्वारा गिराये हुए हाथीसवार दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। २२ ।।

एत्तिसङ्घा हयारोहैः सादिसङ्घाश्च पत्तिभिः ।
पात्यमाना व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ।। २३ ।।

घुड़सवारोंद्वारा पैदलोंके समूह और पैदलोंद्वारा घुड़सवारोंके समूह सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें गिराये जाते हुए दिखायी देते थे ।। २३ ।।

ध्वजैस्तत्रापविद्धैश्च कार्मुकैस्तोमरैस्तथा ।
प्रासैस्तथा गदाभिश्च परिघैः कम्पनैस्तथा ।। २४ ।।
शक्तिभिः कवचैश्चित्रैः कणपैरङ्कुशैरपि ।
निस्त्रिंशैर्विमलैश्चापि स्वर्णपुङ्खैः शरैस्तथा ।। २५ ।।
परिस्तोमैः कुथाभिश्च कम्बलैश्च महाधनैः ।
भूर्भाति भरतश्रेष्ठ स्रग्दामैरिव चित्रिता ।। २६ ।।

भरतश्रेष्ठ! वहाँ इधर-उधर गिरे हुए ध्वज, धनुष, तोमर, प्रास, गदा, परिघ, कम्पन, शक्ति, विचित्र कवच, कणप, अंकुश, चमचमाते हुए खड्ग, सुवर्णमय पाँखवाले बाण, शूल, गद्दी और बहुमूल्य कम्बलोंद्वारा आच्छादित हुई वहाँकी भूमि भाँति-भाँतिके पुष्पहारोंसे चित्रित हुई-सी जान पड़ती थी ।। २४—२६ ।।

नराश्वकायैः पतितैर्दन्तिभिश्च महाहवे ।
अगम्यरूपा पृथिवी मांसशोणितकर्दमा ।। २७ ।।

उस महासमरमें मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंकी लाशें पड़ी हुई थीं। मांस और रक्तकी कीचड़ जम गयी थी। वहाँकी भूमिमें जाना असम्भव हो गया था ।। २७ ।।

प्रशशाम रजो भौमं व्युक्षितं रणशोणितैः ।
दिशश्च विमलाः सर्वाः सम्बभूवुर्जनेश्वर ।। २८ ।।

जनेश्वर! रणभूमिमें बहे हुए रक्तसे सिंचकर धरतीकी धूल बैठ गयी और सारी दिशाएँ साफ हो गयीं ।।

उत्थितान्यगणेयानि कबन्धानि समन्ततः ।
चिह्नभूतानि जगतो विनाशार्थाय भारत ।। २९ ।।

भारत! उस समय जगत्‌के विनाशको सूचित करनेवाले असंख्य कबन्ध चारों ओर उठने लगे ।। २९ ।।

तस्मिन् युद्धे महारौद्रे वर्तमाने सुदारुणे ।
प्रत्यदृश्यन्त रथिनो धावमानाः समन्ततः ।। ३० ।।

उस अत्यन्त दारुण और महाभयंकर युद्धमें रथी योद्धा चारों ओर दौड़ते दिखायी देते थे ।। ३० ।।

ततो भीष्मश्च द्रोणश्च सैन्धवश्च जयद्रथः ।
पुरुमित्रो जयो भोजः शल्यश्चापि ससौबलः ।। ३१ ।।
एते समरदुर्धर्षाः सिंहतुल्यपराक्रमाः ।

पाण्डवानामनीकानि बभञ्जुः स्म पुनः पुनः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर भीष्म, द्रोण, सिन्धुराज जयद्रथ, पुरुमित्र, जय, भोज, शल्य और शकुनि—ये सिंहतुल्य पराक्रमी रणदुर्जय वीर पाण्डवोंकी सेनाको बार-बार भंग करने लगे ॥ ३१-३२ ॥

तथैव भीमसेनोऽपि राक्षसश्च घटोत्कचः ।
सात्यकिश्चेकितानश्च द्रौपदेयाश्च भारत ॥ ३३ ॥
तावकांस्तव पुत्रांश्च सहितान् सर्वराजभिः ।
द्रावयामासुराजौ ते त्रिदशा दानवानिव ॥ ३४ ॥

भरतनन्दन! इसी प्रकार भीमसेन, राक्षस घटोत्कच, सात्यकि, चेकितान तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सब मिलकर जैसे देवता दानवोंको खदेड़ते हैं, उसी प्रकार समस्त राजाओंसहित आपके पुत्रों और सैनिकोंको रणभूमिमें भगाने लगे ॥ ३३-३४ ॥

तथा ते समरेऽन्योन्यं निघ्नन्तः क्षत्रियर्षभाः ।
रक्तोक्षिता घोररूपा विरेजुर्दानवा इव ॥ ३५ ॥

संग्रामभूमिमें एक-दूसरेको मारते हुए श्रेष्ठ क्षत्रिय वीर रक्तरंजित हो भयानक रूपधारी दानवोंके समान सुशोभित होने लगे ॥ ३५ ॥

विनिर्जित्य रिपून् वीराः सेनयोरुभयोरपि ।
व्यदृश्यन्त महामात्रा ग्रहा इव नभस्तले ॥ ३६ ॥

दोनों सेनाओंके वीर शत्रुओंको जीतकर आकाशमें फैले हुए विशाल ग्रहोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३६ ॥

ततो रथसहस्रेण पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अभ्ययात् पाण्डवं युद्धे राक्षसं च घटोत्कचम् ॥ ३७ ॥

तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन सहस्रों रथियोंके साथ पाण्डववंशी राक्षस घटोत्कचके साथ युद्ध करनेके लिये वहाँ आया ॥ ३७ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे महत्या सेनया सह ।
द्रोणभीष्मौ रणे यत्तौ प्रत्युद्ययुररिंदमौ ॥ ३८ ॥

इसी प्रकार विशाल सेनाके साथ समस्त पाण्डव भी युद्धके लिये तैयार खड़े हुए शत्रुदमन द्रोणाचार्य और भीष्मसे भिड़नेके लिये आगे बढ़े ॥ ३८ ॥

किरीटी च ययौ क्रुद्धः समन्तात् पार्थिवोत्तमान् ।
आर्जुनिः सात्यकिश्चैव ययतुः सौबलं बलम् ॥ ३९ ॥

क्रोधमें भरे हुए किरीटधारी अर्जुन सब ओर खड़े हुए श्रेष्ठ राजाओंका सामना करनेके लिये चले। अभिमन्यु और सात्यकिने शकुनिकी सेनापर आक्रमण किया ॥ ३९ ॥

ततः प्रववृते भूयः संग्रामो लोमहर्षणः ।
तावकानां परेषां च समरे विजयैषिणाम् ॥ ४० ॥

इस प्रकार युद्धमें विजय चाहनेवाले आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें पुनः रोमांचकारी संग्राम छिड़ गया ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे संकुलयुद्धे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें युद्धसम्बन्धी तीसरे दिनका घमासान युद्धविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५७ ।।

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

पाण्डव-वीरोंका पराक्रम, कौरव-सेनामें भगदड़ तथा दुर्योधन और भीष्मका संवाद

संजय उवाच

ततस्ते पार्थिवाः क्रुद्धाः फाल्गुनं वीक्ष्य संयुगे ।
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् पर्यवारयन् ।। १ ।।

संजयने कहा—राजन्! तदनन्तर वे समस्त भूपाल समरभूमिमें अर्जुनको देखते ही कुपित हो उठे और उन्होंने अनेक सहस्र रथियोंके साथ उन्हें सब ओरसे घेर लिया ।। १ ।।

अथैनं रथवृन्देन कोष्ठकीकृत्य भारत ।
शरैः सुबहुसाहस्रैः समन्तादभ्यवारयन् ।। २ ।।

भरतनन्दन! उन राजाओंने रथसमूहद्वारा अर्जुनको सब ओरसे वेष्टित करके उनके ऊपर अनेक सहस्र बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ।। २ ।।

शक्तीश्च विमलास्तीक्ष्णा गदाश्च परिघैः सह ।
प्रासान् परश्वधांश्चैव मुद्गरान् मुसलानपि ।। ३ ।।
चिक्षिपुः समरे क्रुद्धाः फाल्गुनस्य रथं प्रति ।

वे क्रोधमें भरकर युद्धमें अर्जुनके रथपर चमचमाती हुई शक्ति, दुःसह गदा, परिघ, प्रास, फरसे, मुद्गर और मूसल आदि अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ।। ३½ ।।

शस्त्राणामथ तां वृष्टिं शलभानामिवायतिम् ।। ४ ।।
रुरोध सर्वतः पार्थः शरैः कनकभूषणैः ।

शलभोंकी श्रेणीके समान अस्त्र-शस्त्रोंकी उस वर्षाको अर्जुनने स्वर्णभूषित बाणोंद्वारा सब ओरसे रोक दिया ।।

तत्र तल्लाघवं दृष्ट्वा बीभत्सोरतिमानुषम् ।। ५ ।।
देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ।
साधु साध्विति राजेन्द्र फाल्गुनं प्रत्यपूजयन् ।। ६ ।।

राजेन्द्र! अर्जुनकी वह अलौकिक फुर्ती देख देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग तथा राक्षस साधु-साधु (वाह-वाह) कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे ।। ५-६ ।।

सात्यकिश्चाभिमन्युश्च महत्या सेनया वृतौ ।
गान्धारान् समरे शूराञ्जग्मतुः सहसौबलान् ।। ७ ।।

उधर विशाल सेनासे घिरे हुए सात्यकि और अभिमन्युने समरभूमिमें सुबलके पुत्रोंसहित गान्धारदेशीय शूरवीरोंपर आक्रमण किया ।। ७ ।।

तत्र सौबलकाः क्रुद्धा वार्ष्णेयस्य रथोत्तमम् ।
तिलशश्चिच्छिदुः क्रोधाच्छस्त्रैर्नानाविधैर्युधि ।। ८ ।।

वहाँ जाते ही क्रोधमें भरे हुए सुबलपुत्रोंने युद्ध-स्थलमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा सात्यकिके श्रेष्ठ रथको रोषपूर्वक तिल-तिल करके काट डाला ।। ८ ।।

सात्यकिस्तु रथं त्यक्त्वा वर्तमाने भयावहे ।
अभिमन्यो रथं तूर्णमारुरोह परंतपः ।। ९ ।।

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले सात्यकि उस समय छिड़े हुए भयंकर संग्राममें अपने टूटे हुए रथको त्यागकर तुरंत ही अभिमन्युके रथपर जा बैठे ।। ९ ।।

तावेकरथसंयुक्तौ सौबलेयस्य वाहिनीम् ।
व्यधमेतां शितैस्तूर्णं शरैः संनतपर्वभिः ।। १० ।।

फिर एक ही रथपर बैठे हुए वे दोनों वीर झुकी हुई गाँठवाले पैने बाणोंसे तुरंत ही सुबलपुत्र शकुनिकी सेनाका संहार करने लगे ।। १० ।।

द्रोणभीष्मौ रणे यत्तौ धर्मराजस्य वाहिनीम् ।
नाशयेतां शरैस्तीक्ष्णैः कङ्कपत्रपरिच्छदैः ।। ११ ।।

इसी प्रकार एक ओरसे आकर युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले द्रोणाचार्य और भीष्मने कंकपक्षीके पंखोंसे युक्त तीखे बाणोंद्वारा धर्मराज युधिष्ठिरकी सेनाका विनाश आरम्भ कर दिया ।। ११ ।।

ततो धर्मसुतो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
मिषतां सर्वसैन्यानां द्रोणानीकमुपाद्रवन् ।। १२ ।।

तब धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर तथा माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेवने समस्त सेनाओंके देखते-देखते द्रोणाचार्यकी सेनापर धावा किया ।। १२ ।।

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
यथा देवासुरं युद्धं पूर्वमासीत् सुदारुणम् ।। १३ ।।

जैसे पूर्वकालमें अत्यन्त भयंकर देवासुर-संग्राम हुआ था, उसी प्रकार वहाँ अत्यन्त भयानक रोमांचकारी युद्ध होने लगा ।। १३ ।।

कुर्वाणौ सुमहत् कर्म भीमसेनघटोत्कचौ ।
(दुर्योधनस्य महतीं द्रावयामास वाहिनीम् ।)
दुर्योधनस्ततोऽभ्येत्य तावुभावप्यवारयत् ।। १४ ।।

दूसरी ओर भीमसेनने और घटोत्कचने महान् पराक्रमका परिचय देते हुए दुर्योधनकी विशाल वाहिनीको खदेड़ना आरम्भ किया। उस समय दुर्योधनने सामने आकर उन दोनोंको रोक दिया ।। १४ ।।

तत्राद्भुतमपश्याम हैडिम्बस्य पराक्रमम् ।
अतीत्य पितरं युद्धे यदयुध्यत भारत ।। १५ ।।

भारत! वहाँ हमने हिडिम्बापुत्र घटोत्कचका अद्भुत पराक्रम देखा। वह रणक्षेत्रमें पितासे भी बढ़कर पुरुषार्थ प्रकट करते हुए युद्ध कर रहा था ।। १५ ।।

भीमसेनस्तु संक्रुद्धो दुर्योधनममर्षणम् ।

हृद्यविध्यत् पृषत्केन प्रहसन्निव पाण्डवः ।। १६ ।।

क्रोधमें भरे हुए पाण्डुनन्दन भीमसेनने हँसते हुए-से एक बाण मारकर अमर्षशील दुर्योधनकी छाती छेद डाली ।। १६ ।।

ततो दुर्योधनो राजा प्रहारवरपीडितः ।

निषसाद रथोपस्थे कश्मलं च जगाम ह ।। १७ ।।

तब उस बाणके गहरे आघातसे पीड़ित हो राजा दुर्योधन रथकी बैठकमें बैठ गया और उसे मूर्च्छा आ गयी ।। १७ ।।

तं विसंज्ञं विदित्वा तु त्वरमाणोऽस्य सारथिः ।

अपोवाह रणाद् राजंस्ततः सैन्यमभज्यत ।। १८ ।।

राजन्! उसे संज्ञाशून्य जानकर उसका सारथि बड़ी उतावलीके साथ उसे रणभूमिसे बाहर ले गया। फिर तो उसकी सेनामें भगदड़ मच गयी ।। १८ ।।

ततस्तां कौरवीं सेनां द्रवमाणां समन्ततः ।

निघ्नन् भीमः शरैस्तीक्ष्णैरनुवव्राज पृष्ठतः ।। १९ ।।

तब चारों ओर भागती हुई उस कौरव-सेनापर तीखे बाणोंका प्रहार करते हुए भीमसेन उसे पीछे-से खदेड़ने लगे ।। १९ ।।

पार्षतश्च रथश्रेष्ठो धर्मपुत्रश्च पाण्डवः ।

द्रोणस्य पश्यतः सैन्यं गाङ्गेयस्य च पश्यतः ।। २० ।।

जघ्नतुर्विशिखैस्तीक्ष्णैः परानीकविनाशनैः ।

दूसरी ओरसे रथियोंमें श्रेष्ठ द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा धर्मपुत्र युधिष्ठिर शत्रु-सेनाका विनाश करनेवाले तीखे बाणोंद्वारा द्रोणाचार्य और भीष्मके देखते-देखते कौरव-सेनाको पीड़ित करते हुए उसका पीछा करने लगे ।। २० १/२ ।।

द्रवमाणं तु तत् सैन्यं तव पुत्रस्य संयुगे ।। २१ ।।

नाशक्नुतां वारयितुं भीष्मद्रोणौ महारथौ ।

महाराज! उस युद्धस्थलमें आपके पुत्रकी भागती हुई सेनाको महारथी द्रोण और भीष्म भी रोक न सके ।। २१ १/२ ।।

वार्यमाणं च भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना ।। २२ ।।

विद्रवत्येव तत् सैन्यं पश्यतोर्द्रोणभीष्मयोः ।

महामना भीष्म और द्रोणके रोकनेपर भी उनके सामने ही वह सेना भागती ही चली जा रही थी ।। २२ १/२ ।।

ततो रथसहस्रेषु विद्रवत्सु ततस्ततः ।। २३ ।।

तावास्थितावेकरथं सौभद्रशिनिपुङ्गवौ ।
सौबलीं समरे सेनां शातयेतां समन्ततः ।। २४ ।।

उधर सहस्रों रथी जब इधर-उधर भाग रहे थे, उसी समय एक रथपर बैठे हुए अभिमन्यु और सात्यकि सुबलपुत्रकी सेनाका संग्रामभूमिमें सब ओरसे संहार करने लगे ।। २३-२४ ।।

शुशुभाते तदा तौ तु शैनेयकुरुपुङ्गवौ ।
अमावास्यां गतौ यद्वत् सोमसूर्यौ नभस्तले ।। २५ ।।

उस अवसरपर (एक रथमें बैठे हुए) सात्यकि और अभिमन्यु उसी प्रकार शोभा पा रहे थे, जैसे अमावास्या तिथिको आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा एक ही स्थानमें सुशोभित होते हैं ।। २५ ।।

अर्जुनस्तु ततः क्रुद्धस्तव सैन्यं विशाम्पते ।
ववर्ष शरवर्षेण धाराभिरिव तोयदः ।। २६ ।।

प्रजानाथ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए अर्जुन आपकी सेनापर उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, जैसे बादल पानीकी धारा बरसाता है ।। २६ ।।

वध्यमानं ततस्तत्र शरैः पार्थस्य संयुगे ।
दुद्राव कौरवं सैन्यं विषादभयकम्पितम् ।। २७ ।।

तब पार्थके बाणोंसे संग्रामभूमिमें पीड़ित हुई कौरव-सेना विषाद और भयसे काँपती हुई इधर-उधर भाग चली ।। २७ ।।

द्रवतस्तान् समालक्ष्य भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
न्यवारयेतां संरब्धौ दुर्योधनहितैषिणौ ।। २८ ।।

उन योद्धाओंको भागते देख दुर्योधनका हित चाहनेवाले महारथी भीष्म और द्रोण क्रोधपूर्वक उन्हें रोकने लगे ।। २८ ।।

ततो दुर्योधनो राजा समाश्वस्य विशाम्पते ।
न्यवर्तयत तत् सैन्यं द्रवमाणं समन्ततः ।। २९ ।।

प्रजानाथ! इसी बीचमें राजा दुर्योधनकी मूर्च्छा दूर हो गयी और उसने आश्वस्त होकर चारों ओर भागती हुई सेनाको पुनः लौटाया ।। २९ ।।

यत्र यत्र सुतस्तुभ्यं यं यं पश्यति भारत ।
तत्र तत्र न्यवर्तन्त क्षत्रियाणां महारथाः ।। ३० ।।

भारत! आपका पुत्र दुर्योधन जहाँ-जहाँ जिस-जिसकी ओर दृष्टिपात करता, वहीं-वहींसे ऐसे योद्धा भी लौट आते थे जो क्षत्रियोंमें महारथी थे ।। ३० ।।

तान् निवृत्तान् समीक्ष्यैव ततोऽन्येऽपीतरे जनाः ।
अन्योन्यस्पर्धया राजल्लँज्जया चावतस्थिरे ।। ३१ ।।

राजन्! उन सबको लौटते देख दूसरे लोग भी एक-दूसरेकी स्पर्धा तथा लज्जाके कारण ठहर गये ।। ३१ ।।

पुनरावर्ततां तेषां वेग आसीद् विशाम्पते ।
पूर्वतः सागरस्येव चन्द्रस्योदयनं प्रति ।। ३२ ।।

महाराज! पुनः लौटते हुए उन योद्धाओंका महान् वेग चन्द्रोदयके समय बढ़ते हुए महासागरके समान जान पड़ता था ।। ३२ ।।

संनिवृत्तांस्ततस्तांस्तु दृष्ट्वा राजा सुयोधनः ।
अब्रवीत् त्वरितो गत्वा भीष्मं शान्तनवं वचः ।। ३३ ।।

तब उन सबको लौटा हुआ देख राजा दुर्योधन तुरंत ही शान्तनुनन्दन भीष्मके पास जाकर बोला— ।। ३३ ।।

पितामह निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि भारत ।
नानुरूपमहं मन्ये त्वयि जीवति कौरव ।। ३४ ।।
द्रोणे चास्त्रविदां श्रेष्ठे सपुत्रे ससुहृज्जने ।
कृपे चैव महेष्वासे द्रवते यद् वरूथिनी ।। ३५ ।।

'पितामह भरतनन्दन! मैं आपसे जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनिये। कुरुनन्दन! आपके, अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यके और महाधनुर्धर कृपाचार्यके पुत्रों और सुहृदोंसहित जीते-जी जो मेरी सेना भाग रही है, इसे मैं आपलोगोंके योग्य नहीं मानता हूँ ।। ३४-३५ ।।

न पाण्डवान् प्रतिबलांस्तव मन्ये कथंचन ।
तथा द्रोणस्य संग्रामे द्रौणेश्चैव कृपस्य च ।। ३६ ।।

'मैं किसी तरह यह नहीं मान सकता कि पाण्डव संग्राममें आपके, द्रोणाचार्यके, कृपाचार्यके और अश्वत्थामाके समान बलवान् हैं ।। ३६ ।।

अनुग्राह्याः पाण्डुसुतास्तव नूनं पितामह ।
यथेमां क्षमसे वीर वध्यमानां वरूथिनीम् ।। ३७ ।।

'वीर पितामह! निश्चय ही पाण्डव आपके कृपापात्र हैं, तभी तो मेरी सेनाका वध हो रहा है और आप चुपचाप इसकी दुर्दशाको सहते चले जा रहे हैं ।।

सोऽस्मि वाच्यस्त्वया राजन् पूर्वमेव समागमे ।
न योत्स्ये पाण्डवान् संख्ये नापि पार्षतसात्यकी ।। ३८ ।।

'महाराज! यदि पाण्डवोंपर दया ही करनी थी तो आप युद्ध आरम्भ होनेके पहले ही मुझे यह बता देते कि मैं संग्रामभूमिमें पाण्डुपुत्रोंसे, धृष्टद्युम्नसे और सात्यकिसे भी युद्ध नहीं करूँगा ।। ३८ ।।

श्रुत्वा तु वचनं तुभ्यमाचार्यस्य कृपस्य च ।
कर्णेन सहितः कृत्यं चिन्तयानस्तदैव हि ।। ३९ ।।

'उस अवस्थामें आपका, आचार्यका तथा कृपका वचन सुनकर मैं कर्णके साथ उसी समय अपने कर्तव्यका निश्चय कर लेता ।। ३९ ।।

यदि नाहं परित्याज्यो युवाभ्यामिह संयुगे ।
विक्रमेणानुरूपेण युध्येतां पुरुषर्षभौ ।। ४० ।।

'यदि युद्धमें आप दोनोंको मेरा परित्याग करना उचित नहीं जान पड़ता हो तो द्रोणाचार्य और आप दोनों श्रेष्ठ पुरुष अपने योग्य पराक्रम प्रकट करते हुए युद्ध कीजिये' ।। ४० ।।

एतच्छ्रुत्वा वचो भीष्मः प्रहसन् वै मुहुर्मुहुः ।
अब्रवीत् तनयं तुभ्यं क्रोधादुद्वृत्य चक्षुषी ।। ४१ ।।

यह सुनकर भीष्म बारंबार हँसकर क्रोधसे आँखें तरेरते हुए आपके पुत्रसे बोले — ।। ४१ ।।

बहुशोऽसि मया राजंस्तथ्यमुक्तो हितं वचः ।
अजेयाः पाण्डवा युद्धे देवैरपि सवासवैः ।। ४२ ।।

'राजन्! मैंने तुमसे अनेक बार यह सत्य और हितकी बात बतायी है कि युद्धमें पाण्डवोंको इन्द्र आदि देवता भी जीत नहीं सकते ।। ४२ ।।

यत् तु शक्यं मया कर्तुं वृद्धेनाद्य नृपोत्तम ।
करिष्यामि यथाशक्ति प्रेक्षेदानीं सबान्धवः ।। ४३ ।।

'नृपश्रेष्ठ! तो भी मुझ वृद्धके द्वारा जो कुछ किया जा सकता है, उसे आज यथाशक्ति करूँगा। तुम इस समय अपने भाइयोंसहित देखो ।। ४३ ।।

अद्य पाण्डुसुतानेकः ससैन्यान् सह बन्धुभिः ।

सोऽहं निवारयिष्यामि सर्वलोकस्य पश्यतः ।। ४४ ।।

‘आज मैं अकेला ही सबके देखते-देखते सेना और बन्धुओंसहित समस्त पाण्डवोंको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा’ ।। ४४ ।।

एवमुक्ते तु भीष्मेण पुत्रास्तव जनेश्वर ।
दध्मुः शङ्खान् मुदा युक्ता भेरीः संजघ्निरे भृशम् ।। ४५ ।।

जनेश्वर! भीष्मके ऐसा कहनेपर आपके पुत्र आनन्दमग्न होकर जोर-जोरसे शंख बजाने और डंका पीटने लगे ।। ४५ ।।

पाण्डवा हि ततो राजन् श्रुत्वा तं निनदं महत् ।
दध्मुः शङ्खांश्च भेरीश्च मुरजांश्चाप्यनादयन् ।। ४६ ।।

राजन्! उनका वह महान् शंखनाद सुनकर पाण्डववीर शंख बजाने तथा नगारे और ढोल पीटने लगे ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीये युद्धदिवसे भीष्मदुर्योधनसंवादे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तृतीय युद्धदिवसमें भीष्म और दुर्योधनका संवादविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५८ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १/२ श्लोक मिलाकर कुछ ४६ १/२ श्लोक हैं]

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

भीष्मका पराक्रम, श्रीकृष्णका भीष्मको मारनेके लिये उद्यत होना, अर्जुनकी प्रतिज्ञा और उनके द्वारा कौरव-सेनाकी पराजय, तृतीय दिवसके युद्धकी समाप्ति

धृतराष्ट्र उवाच

प्रतिज्ञाते ततस्तस्मिन् युद्धे भीष्मेण दारुणे।
क्रोधितो मम पुत्रेण दुःखितेन विशेषतः ।। १ ।।
भीष्मः किमकरोत् तत्र पाण्डवेयेषु संयुगे।
पितामहे वा पञ्चालास्तन्ममाचक्ष्व संजय ।। २ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! उस भयंकर युद्धमें जब भीष्मने मेरे विशेष दुःखी हुए पुत्रके क्रोध दिलानेपर प्रतिज्ञा कर ली, तब उन्होंने उस युद्धस्थलमें पाण्डवोंके प्रति क्या किया? तथा पांचाल योद्धाओंने पितामह भीष्मके प्रति क्या किया? ।। १-२ ।।

संजय उवाच

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि भारत।
पश्चिमां दिशमास्थाय स्थिते चापि दिवाकरे ।। ३ ।।
जयं प्राप्तेषु हृष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु।
सर्वधर्मविशेषज्ञः पिता देवव्रतस्तव ।। ४ ।।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैः पाण्डवानामनीकिनीम्।
महत्या सेनया गुप्तस्तव पुत्रैश्च सर्वशः ।। ५ ।।

संजयने कहा—भारत! उस दिन जब पूर्वाह्णकालका अधिक भाग व्यतीत हो गया, सूर्यदेव पश्चिम दिशामें जाकर स्थित हुए और विजयको प्राप्त हुए महामना पाण्डव खुशी मनाने लगे, उस समय सब धर्मोंके विशेषज्ञ आपके ताऊ भीष्मजीने वेगशाली अश्वोंद्वारा पाण्डवोंकी सेनापर आक्रमण किया। उनके साथ विशाल सेना चली और आपके पुत्र सब ओरसे उनकी रक्षा करने लगे ।। ३—५ ।।

प्रावर्तत ततो युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
अस्माकं पाण्डवैः सार्धमनयात् तव भारत ।। ६ ।।

भारत! तदनन्तर आपके अन्यायसे हमलोगोंका पाण्डवोंके साथ रोमांचकारी भयंकर संग्राम होने लगा ।। ६ ।।

धनुषां कूजतां तत्र तलानां चाभिहन्यताम्।
महान् समभवच्छब्दो गिरीणामिव दीर्यताम् ।। ७ ।।

उस समय वहाँ धनुषोंकी टंकार तथा हथेलियोंके आघातसे पर्वतोंके विदीर्ण होनेके समान बड़े जोरसे शब्द होता था ।। ७ ।।

तिष्ठ स्थितोऽस्मि विद्ध्येनं निवर्तस्व स्थिरो भव ।
स्थिरोऽस्मि प्रहरस्वेति शब्दोऽश्रूयत सर्वशः ।। ८ ।।

उस समय 'खड़े रहो, खड़ा हूँ, इसे बींध डालो, लौटो, स्थिर भावसे रहो, हाँ-हाँ स्थिरभावसे ही हूँ, तुम प्रहार करो' ऐसे शब्द सब ओर सुनायी पड़ते थे ।। ८ ।।

काञ्चनेषु तनुत्रेषु किरीटेषु ध्वजेषु च ।
शिलानामिव शैलेषु पतितानामभूद् ध्वनिः ।। ९ ।।

जब सोनेके कवचों, किरीटों और ध्वजोंपर योद्धाओं-के अस्त्र-शस्त्र टकराते, तब उनसे पर्वतोंपर गिरकर टकरानेवाली शिलाओंके समान भयानक शब्द होता था ।। ९ ।।

पतितान्युत्तमाङ्गानि बाहवश्च विभूषिताः ।
व्यचेष्टन्त महीं प्राप्य शतशोऽथ सहस्रशः ।। १० ।।

सैनिकोंके सैकड़ों-हजारों मस्तक तथा स्वर्ण-भूषित भुजाएँ कट-कटकर पृथ्वीपर गिरने और तड़पने लगीं ।। १० ।।

हृतोत्तमाङ्गाः केचित् तु तथैवोद्यतकार्मुकाः ।
प्रगृहीतायुधाश्चापि तस्थुः पुरुषसत्तमाः ।। ११ ।।

कितने ही पुरुषशिरोमणि वीरोंके मस्तक तो कट गये, परंतु उनके धड़ पूर्ववत् धनुष-बाण एवं अन्य आयुध लिये खड़े ही रह गये ।। ११ ।।

प्रावर्तत महावेगा नदी रुधिरवाहिनी ।
मातङ्गाङ्गशिला रौद्रा मांसशोणितकर्दमा ।। १२ ।।
वराश्वनरनागानां शरीरप्रभवा तदा ।
परलोकार्णवमुखी गृध्रगोमायुमोदिनी ।। १३ ।।

रणक्षेत्रमें बड़े वेगसे रक्तकी नदी बह चली, जो देखनेमें बड़ी भयानक थी। हाथियोंके शरीर उसके भीतर शिलाखण्डोंके समान जान पड़ते थे। खून और मांस कीचड़के समान प्रतीत होते थे। बड़े-बड़े हाथी, घोड़े और मनुष्योंके शरीरोंसे ही वह नदी निकली थी और परलोकरूपी समुद्रकी ओर प्रवाहित हो रही थी। वह रक्त-मांसकी नदी गीधों और गीदड़ोंको आनन्द प्रदान करनेवाली थी ।। १२-१३ ।।

न दृष्टं न श्रुतं वापि युद्धमेतादृशं नृप ।
यथा तव सुतानां च पाण्डवानां च भारत ।। १४ ।।

भारत! नरेश्वर! पाण्डवों और आपके पुत्रोंका उस दिन जैसा भयानक युद्ध हुआ, वैसा न कभी देखा गया है और न सुना ही गया है ।। १४ ।।

नासीद् रथपथस्तत्र योधैर्युधि निपातितैः ।
गजैश्च पतितैर्नीलैर्गिरिशृङ्गैरिवावृतः ।। १५ ।।

वहाँ युद्धस्थलमें गिराये हुए योद्धाओं तथा पर्वतके श्याम शिखरोंके समान पड़े हुए हाथियोंसे अवरुद्ध हो जानेके कारण रथोंके आने-जानेके लिये रास्ता नहीं रह गया था ।। १५ ।।

विकीर्णैः कवचैश्चित्रैः शिरस्त्राणैश्च मारिष ।

शुशुभे तद् रणस्थानं शरदीव नभस्तलम् ।। १६ ।।

माननीय महाराज! इधर-उधर बिखरे हुए विचित्र कवचों तथा शिरस्त्राणों (लोहेके टोपों)-से वह रणभूमि शरद्-ऋतुमें तारिकाओंसे विभूषित आकाशकी भाँति शोभा पाने लगी ।। १६ ।।

विनिर्भिन्नाः शरैः केचिदन्त्रापीडप्रकर्षिणः ।

अभीताः समरे शत्रूनभ्यधावन्त दर्पिताः ।। १७ ।।

कुछ वीर बाणोंसे विदीर्ण होकर आँतोंमें उठनेवाली पीड़ासे अत्यन्त कष्ट पानेपर भी समरभूमिमें निर्भय तथा दर्पयुक्त भावसे शत्रुओंकी ओर दौड़ रहे थे ।। १७ ।।

तात भ्रातः सखे बन्धो वयस्य मम मातुल ।

मा मां परित्यजेत्यन्ये चुक्रुशुः पतिता रणे ।। १८ ।।

कितने ही योद्धा रणभूमिमें गिरकर इस प्रकार आर्तभावसे स्वजनोंको पुकार रहे थे—'तात! भ्रातः! सखे! बन्धो! मेरे मित्र! मेरे मामा! मुझे छोड़कर न जाओ' ।। १८ ।।

अथाभ्येहित्वमागच्छ किं भीतोऽसि क्व यास्यसि ।

स्थितोऽहं समरे मा भैरिति चान्ये विचुक्रुशुः ।। १९ ।।

दूसरे सैनिक यों चिल्ला रहे थे—'अरे आओ, मेरे पास आओ, क्यों डरे हुए हो? कहाँ जाओगे? मैं संग्राममें डटा हुआ हूँ। तुम भय न करो' ।। १९ ।।

तत्र भीष्मः शान्तनवो नित्यं मण्डलकार्मुकः ।

मुमोच बाणान् दीप्ताग्रानहीनाशीविषानिव ।। २० ।।

वहाँ शान्तनुनन्दन भीष्म अपने धनुषको मण्डलाकार करके विषधर सर्पोंके समान भयंकर एवं प्रज्वलित बाणोंकी निरन्तर वर्षा कर रहे थे ।। २० ।।

शरैरेकायनीकुर्वन् दिशः सर्वा यतव्रतः ।

जघान पाण्डवरथानादिश्य भरतर्षभ ।। २१ ।।

भरतश्रेष्ठ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाले भीष्म सम्पूर्ण दिशाओंको बाणोंसे व्याप्त करते हुए पाण्डव-पक्षीय रथियोंको अपना नाम सुना-सुनाकर मारने लगे ।। २१ ।।

स उत्पन् वै रथोपस्थे दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

अलातचक्रवद् राजंस्तत्र तत्र स्म दृश्यते ।। २२ ।।

राजन्! उस समय भीष्म अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए रथकी बैठकपर नृत्य-सा कर रहे थे। घूमते हुए अलातचक्रकी भाँति वे यत्र-तत्र सर्वत्र दिखायी देने लगे ।। २२ ।।

तमेकं समरे शूरं पाण्डवाः सृंजयैः सह ।

अनेकशतसाहस्रं समपश्यन्त लाघवात् ।। २३ ।।

युद्धमें शूरवीर भीष्म यद्यपि अकेले थे, तथापि सृंजयोंसहित पाण्डवोंको वे अपनी फुर्तीके कारण कई लाख व्यक्तियोंके समान दिखायी दिये ।। २३ ।।

मायाकृतात्मानमिव भीष्मं तत्र स्म मेनिरे ।
पूर्वस्यां दिशि तं दृष्ट्वा प्रतीच्यां ददृशुर्जनाः ।। २४ ।।

लोगोंको ऐसा मालूम हो रहा था कि रणक्षेत्रमें भीष्मजीने मायासे अपनेको अनेक रूपोंमें प्रकट कर लिया है। जिन लोगोंने उन्हें पूर्वदिशामें देखा था, उन्हीं लोगोंको अखि फिरते ही वे पश्चिममें दिखायी दिये ।।

उदीच्यां चैवमालोक्य दक्षिणस्यां पुनः प्रभो ।
एवं स समरे शूरो गाङ्गेयः प्रत्यदृश्यत ।। २५ ।।

प्रभो! बहुतोंने उन्हें उत्तर दिशामें देखकर तत्काल ही दक्षिण दिशामें भी देखा। इस प्रकार समरभूमिमें वे शूरवीर गंगानन्दन भीष्म सब ओर दिखायी दे रहे थे ।। २५ ।।

न चैवं पाण्डवेयानां कश्चिच्छक्नोति वीक्षितुम् ।
विशिखानेव पश्यन्ति भीष्मचापच्युतान् बहून् ।। २६ ।।

पाण्डवोंमेंसे कोई भी उन्हें देख नहीं पाता था। सब लोग भीष्मजीके धनुषसे छूटे हुए बहुसंख्यक बाणोंको ही देखते थे ।। २६ ।।

कुर्वाणं समरे कर्म सूदयानं च वाहिनीम् ।
व्याक्रोशन्त रणे तत्र नरा बहुविधा बहु ।। २७ ।।
अमानुषेण रूपेण चरन्तं पितरं तव ।

उस समय रणक्षेत्रमें अद्भुत कर्म करते हुए आपके ताऊ भीष्म अमानुषरूपसे विचरते तथा पाण्डव-सेनाका संहार करते थे। वहाँ अनेक प्रकारके मनुष्य उनके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी बातें कर रहे थे ।। २७½ ।।

शलभा इव राजानः पतन्ति विधिचोदिताः ।। २८ ।।
भीष्माग्निमभिसंक्रुद्धं विनाशाय सहस्रशः ।

वहाँ विधातासे प्रेरित होकर पतंगोंके समान सहस्रों राजा क्रोधमें भरे हुए भीष्मरूपी प्रचण्ड अग्निमें अपने विनाशके लिये स्वयं ही आ गिरते थे ।। २८½ ।।

न हि मोघः शरः कश्चिदासीद् भीष्मस्य संयुगे ।। २९ ।।
नरनागाश्वकायेषु बहुत्वाल्लघुयोधिनः ।

युद्धमें मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंके शरीरोंपर चलाया हुआ भीष्मका कोई भी बाण व्यर्थ नहीं होता था। एक तो उनके पास बाण बहुत थे और दूसरे वे बड़ी फुर्तीसे चलाते थे ।। २९½ ।।

(प्रच्छादयन् शरान् भीष्मो निशितान् कङ्कपत्रिणः ।)
भिनत्त्येकेन बाणेन सुमुखेन पतत्त्रिणा ।। ३० ।।

गजकण्टकसंनद्धं वज्रेणेव शिलोच्चयम् ।

भीष्म कंकपत्रसे युक्त बहुसंख्यक तीखे बाणोंको युद्धमें बिखेर रहे थे। वे एक ही पंखयुक्त सीधे बाणसे लोहेकी झूलसे युक्त हाथीको भी विदीर्ण कर डालते थे। जैसे इन्द्र महान् पर्वतको अपने वज्रसे विदीर्ण कर देते हैं ।। ३० १/२ ।।

द्वौ त्रीनपि गजारोहान् पिण्डितान् वर्मितानपि ।। ३१ ।।
नाराचेन सुमुक्तेन निजघान पिता तव ।

आपके ताऊ भीष्म अच्छी तरहसे छोड़े हुए एक ही नाराचके द्वारा एक जगह बैठे हुए दो-तीन हाथी-सवारोंको कवच धारण किये होनेपर भी छेद डालते थे ।। ३१ १/२ ।।

यो यो भीष्मं नरव्याघ्रमभ्येति युधि कश्चन ।। ३२ ।।
मुहूर्तदृष्टः स मया पतितो भुवि दृश्यते ।

जो कोई भी योद्धा नरश्रेष्ठ भीष्मके सम्मुख आ जाता, वह मुझे एक ही मुहूर्तमें खड़ा दिखायी देकर उसी क्षण धरतीपर लोटता दिखायी देता था ।। ३२ १/२ ।।

एवं सा धर्मराजस्य वध्यमाना महाचमूः ।। ३३ ।।
भीष्मेणातुलवीर्येण व्यशीर्यत सहस्रधा ।

इस प्रकार अतुल पराक्रमी भीष्मके द्वारा मारी जाती हुई धर्मराज युधिष्ठिरकी वह विशाल वाहिनी सहस्रों भागोंमें बिखर गयी ।। ३३ १/२ ।।

प्राकम्पत महासेना शरवर्षेण तापिता ।। ३४ ।।
पश्यतो वासुदेवस्य पार्थस्याथ शिखण्डिनः ।

उनकी बाण-वर्षासे संतप्त हो पाण्डवोंकी वह महती सेना श्रीकृष्ण, अर्जुन और शिखण्डीके देखते-देखते काँपने लगी ।। ३४ १/२ ।।

वर्तमानाऽपि ते वीरा द्रवमाणान् महारथान् ।। ३५ ।।
नाशक्नुवन् वारयितुं भीष्मबाणप्रपीडितान् ।

वे सब वीर वहाँ मौजूद होते हुए भी भीष्मके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर भागते हुए अपने महारथियोंको रोकनेमें समर्थ न हो सके ।। ३५ १/२ ।।

महेन्द्रसमवीर्येण वध्यमाना महाचमूः ।। ३६ ।।
अभज्यत महाराज न च द्वौ सह धावतः ।

महाराज! महेन्द्रके समान पराक्रमी भीष्मकी मार खाकर वह विशाल सेना इस प्रकार तितर-बितर हुई कि उसके दो-दो सैनिक भी एक साथ नहीं भाग सकते थे ।। ३६ १/२ ।।

आविद्धनरनागाश्वं पतितध्वजकूबरम् ।। ३७ ।।
अनीकं पाण्डुपुत्राणां हाहाभूतमचेतनम् ।

मनुष्य, हाथी और घोड़े सभी बाणोंसे छिद गये थे। रथके ध्वज और कूबर टूटकर गिर चुके थे। इस प्रकार पाण्डवोंकी सेना अचेत-सी होकर हाहाकार कर रही थी ।। ३७ १/२ ।।

जघानात्र पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ।। ३८ ।।

प्रियं सखायं चाक्रन्दे सखा दैवबलात्कृतः ।

इस युद्धमें दैवके वशीभूत होकर पिताने पुत्रको, पुत्रने पिताको और मित्रने प्रिय मित्रको मार डाला ।। ३८ १/२ ।।

विमुच्य कवचान्यन्ये पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः ।। ३९ ।।
विमुक्तकेशा धावन्तः प्रत्यदृश्यन्त भारत ।

भारत! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके बहुत-से सैनिक कवच खोलकर बाल बिखेरे इधर-उधर दौड़ते दिखायी देते थे ।। ३९ १/२ ।।

तद् गोकुलमिवोद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तरथयूथपम् ।। ४० ।।
ददृशे पाण्डुपुत्रस्य सैन्यमार्तस्वरं तदा ।
प्रभज्यमानं सैन्यं तु दृष्ट्वा यादवनन्दनः ।। ४१ ।।
उवाच पार्थं बीभत्सुं निगृह्य रथमुत्तमम् ।

उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी वह सेना व्याकुल होकर भटकती हुई गौओंके समूहकी भाँति आर्तस्वरसे हाहाकार करती हुई देखी गयी। कितने ही रथयूथपति भी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर घूम रहे थे। अपनी सेनामें इस प्रकार भगदड़ मची हुई देख यदुकुलनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अपने उत्तम रथको खड़ा करके कुन्तीपुत्र अर्जुनसे कहा — ।। ४०-४१ १/२ ।।

अयं स कालः सम्प्राप्तः पार्थ यस्तेऽभिकाङ्क्षितः ।। ४२ ।।
प्रहरस्व नरव्याघ्र न चेन्मोहाद् विमुह्यसे ।

‘पुरुषसिंह! जिसकी तुम दीर्घकालसे अभिलाषा करते थे, वही यह अवसर प्राप्त हुआ है। यदि तुम मोहसे किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हो गये हो तो पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करो ।। ४२ १/२ ।।

यत् त्वया कथितं वीर पुरा राज्ञां समागमे ।। ४३ ।।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान् ।
सानुबन्धान् हनिष्यामि ये मां योत्स्यन्ति संयुगे ।। ४४ ।।
इति तत् कुरु कौन्तेय सत्यं वाक्यमरिंदम ।
बीभत्सो पश्य सैन्यं स्वं भज्यमानं ततस्ततः ।। ४५ ।।

‘वीर! पहले राजाओंकी मण्डलीमें तुमने जो यह कहा था कि ‘जो मेरे साथ संग्रामभूमिमें उतरकर युद्ध करेंगे, दुर्योधनके उन भीष्म, द्रोण आदि समस्त सैनिकोंको मैं सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूँगा।’ शत्रुसूदन कुन्तीनन्दन! अपनी उस बातको सत्य कर दिखाओ। अर्जुन! देखो, तुम्हारी सेना इधर-उधर भाग रही है ।। ४३—४५ ।।

द्रवतश्च महीपालान् पश्य यौधिष्ठिरे बले ।
दृष्ट्वा हि भीष्मं समरे व्यात्ताननमिवान्तकम् ।। ४६ ।।
भयार्ताः प्रपलायन्ते सिंहात् क्षुद्रमृगा इव ।

'समरभूमिमें मुँह बाये हुए कालके समान भीष्मको देखकर युधिष्ठिरकी सेनामें भागते हुए इन राजाओंकी ओर दृष्टिपात करो। ये सिंहसे डरे हुए क्षुद्र मृगोंकी भाँति भयसे आतुर होकर पलायन कर रहे हैं' ।। ४६½ ।।

एवमुक्तः प्रत्युवाच वासुदेवं धनंजयः ।। ४७ ।।
नोदयाश्वान् यतो भीष्मो विगाहैतद् बलार्णवम् ।
पातयिष्यामि दुर्धर्षं वृद्धं कुरुपितामहम् ।। ४८ ।।

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'भगवन्! इन घोड़ोंको हाँककर वहीं ले चलिये, जहाँ भीष्म मौजूद हैं। इस सेनारूपी समुद्रमें प्रवेश कीजिये। आज मैं कुरुलके वृद्ध पितामह दुर्धर्ष वीर भीष्मको रथसे नीचे गिरा दूँगा' ।। ४७-४८ ।।

संजय उवाच

ततोऽश्वान् रजतप्रख्यान् नोदयामास माधवः ।
यतो भीष्मरथो राजन् दुष्प्रेक्ष्यो रश्मिवानिव ।। ४९ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके चाँदीके समान सफेद घोड़ोंको उसी दिशाकी ओर हाँका, जिस ओर भीष्मजीका रथ विद्यमान था। सूर्यकी भाँति उस रथकी ओर आँख उठाकर देखना भी कठिन था ।। ४९ ।।

ततस्तत् पुनरावृत्तं युधिष्ठिरबलं महत् ।
दृष्ट्वा पार्थं महाबाहुं भीष्मायोद्यतमाहवे ।। ५० ।।

उस समय महाबाहु अर्जुनको समरभूमिमें भीष्मसे लोहा लेनेके लिये उद्यत देख युधिष्ठिरकी वह विशाल सेना पुनः लौट आयी ।। ५० ।।

ततो भीष्मः कुरुश्रेष्ठ सिंहवद् विनदन् मुहुः ।
धनंजयरथं शीघ्रं शरवर्षैरवाकिरत् ।। ५१ ।।

कुरुश्रेष्ठ! तदनन्तर भीष्म सिंहके समान बारंबार गर्जना करते हुए अर्जुनके रथपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। ५१ ।।

क्षणेन स रथस्तस्य सहयः सहसारथिः ।
शरवर्षेण महता संछन्नो न प्रकाशते ।। ५२ ।।

उस महान् बाण-वर्षासे एक ही क्षणमें घोड़े और सारथिसहित आच्छादित होकर अर्जुनका रथ किसीकी दृष्टिमें नहीं आता था ।। ५२ ।।

वासुदेवस्त्वसम्भ्रान्तो धैर्यमास्थाय सत्त्ववान् ।
चोदयामास तानश्वान् विचितान् भीष्मसायकैः ।। ५३ ।।

परंतु शक्तिशाली भगवान् श्रीकृष्ण तनिक भी घबराहटमें न पड़कर धैर्यका सहारा ले उन घोड़ोंको हाँकते रहे। यद्यपि भीष्मके बाण उन अश्वोंके सभी अंगोंमें धँसे हुए

थे ।। ५३ ।।

ततः पार्थो धनुर्गृह्य दिव्यं जलदनिःस्वनम् ।
पातयामास भीष्मस्य धनुश्छित्त्वा त्रिभिः शरैः ।। ५४ ।।

तब अर्जुनने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले दिव्य धनुषको हाथमें लेकर तीन बाणोंसे भीष्मके धनुषको काट गिराया ।। ५४ ।।

स च्छिन्नधन्वा कौरव्यः पुनरन्यन्महद् धनुः ।
निमिषान्तरमात्रेण सज्यं चक्रे पिता तव ।। ५५ ।।

धनुष कट जानेपर आपके ताऊ कुरुनन्दन भीष्मने पलक मारते-मारते पुनः दूसरे विशाल धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ा दी ।। ५५ ।।

विचकर्ष ततो दोर्भ्यां धनुर्जलदनिःस्वनम् ।
अथास्य तदपि क्रुद्धश्चिच्छेद धनुरर्जुनः ।। ५६ ।।

फिर मेघके समान गम्भीर शब्द करनेवाले उस धनुषको दोनों हाथोंसे खींचा। इतनेहीमें कुपित हुए अर्जुनने उनके उस धनुषको भी काट डाला ।। ५६ ।।

तस्य तत् पूजयामास लाघवं शान्तनोः सुतः ।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भोः पाण्डुनन्दन ।। ५७ ।।
त्वय्येवैतद् युक्तरूपं महत् कर्म धनंजय ।
प्रीतोऽस्मि सुभृशं पुत्र कुरु युद्धं मया सह ।। ५८ ।।

अर्जुनकी इस फुर्तीको देखकर शान्तनुनन्दन भीष्मने बड़ी प्रशंसा की और कहा—'महाबाहु कुन्तीकुमार! तुम्हें साधुवाद। पाण्डुनन्दन! धन्यवाद। बेटा! तुम्हारी इस फुर्तीसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। धनंजय! यह महान् कर्म तुम्हारे ही योग्य है। तुम मेरे साथ युद्ध करो' ।। ५७-५८ ।।

इति पार्थं प्रशस्याथ प्रगृह्यान्यन्महद् धनुः ।
मुमोच समरे वीरः शरान् पार्थरथं प्रति ।। ५९ ।।

इस प्रकार कुन्तीकुमार अर्जुनकी प्रशंसा करके फिर दूसरा विशाल धनुष हाथमें लेकर वीर भीष्मने युद्धस्थलमें उनके रथकी ओर बाण बरसाना आरम्भ किया ।। ५९ ।।

अदर्शयद् वासुदेवो हययाने परं बलम् ।
मोघान् कुर्वन् शरांस्तस्य मण्डलान्याचरल्लघु ।। ६० ।।

भगवान् श्रीकृष्णने घोड़ोंको हाँकनेकी कलामें अपने उत्तम बलका परिचय दिया। वे भीष्मके बाणोंको व्यर्थ करते हुए बड़ी फुर्तीके साथ रथको मण्डलाकार चलाने लगे ।। ६० ।।

तथा भीष्मस्तु सुदृढं वासुदेवधनंजयौ ।
विव्याध निशितैर्बाणैः सर्वगात्रेषु भारत ।। ६१ ।।

भारत! तथापि भीष्मने श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्पूर्ण अंगोंमें अपने पैने बाणोंसे गहरे आघात किये ।। ६१ ।।

शुशुभाते नरव्याघ्रौ तौ भीष्मशरविक्षतौ ।
गोवृषाविव संरब्धौ विषाणैर्लिखिताङ्कितौ ।। ६२ ।।

भीष्मके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो वे नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुन क्रोधमें भरे हुए उन दो साँड़ोंके समान सुशोभित हुए, जिनके सम्पूर्ण शरीरमें सींगोंके आघातसे बहुत-से घाव हो गये हों ।। ६२ ।।

पुनश्चापि सुसंरब्धः शरैः शतसहस्रशः ।
कृष्णयोर्युधि संरब्धो भीष्मोऽथावारयद् दिशः ।। ६३ ।।

तत्पश्चात् रोषावेशमें भरे हुए भीष्मने सैकड़ों-हजारों बाणोंकी वर्षा करके युद्धभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित एवं अवरुद्ध कर दिया ।। ६३ ।।

वार्ष्णेयं च शरैस्तीक्ष्णैः कम्पयामास रोषितः ।
मुहुरभ्यर्दयन् भीष्मः प्रहस्य स्वनवत् तदा ।। ६४ ।।

इतना ही नहीं, रोषमें भरे हुए भीष्मने जोर-जोरसे हँसकर अपने तीखे बाणोंसे बारंबार पीड़ित करते हुए वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्णको कम्पित-सा कर दिया ।। ६४ ।।

ततस्तु कृष्णः समरे दृष्ट्वा भीष्मपराक्रमम् ।
सम्प्रेक्ष्य च महाबाहुः पार्थस्य मृदुयुद्धताम् ।। ६५ ।।
भीष्मं च शरवर्षाणि सृजन्तमनिशं युधि ।
प्रतपन्तमिवादित्यं मध्यमासाद्य सेनयोः ।। ६६ ।।
वरान् वरान् विनिघ्नन्तं पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान् ।
युगान्तमिव कुर्वाणं भीष्मं यौधिष्ठिरे बले ।। ६७ ।।

तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने उस समरांगणमें भीष्मका पराक्रम देखकर यह विचार किया कि अर्जुन तो कोमलतापूर्वक युद्ध कर रहा है और भीष्म युद्धस्थलमें निरन्तर बाणोंकी वर्षा कर रहे हैं। ये दोनों सेनाओंके बीचमें आकर तपते हुए सूर्यकी भाँति सुशोभित होते और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके अच्छे-अच्छे सैनिकोंको चुन-चुनकर मार रहे हैं। युधिष्ठिरकी सेनामें भीष्मने प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित कर दिया है ।। ६५—६७ ।।

अमृष्यमाणो भगवान् केशवः परवीरहा ।
अचिन्तयदमेयात्मा नास्ति यौधिष्ठिरं बलम् ।। ६८ ।।
एकाह्ना हि रणे भीष्मो नाशयेद् देवदानवान् ।
किं नु पाण्डुसुतान् युद्धे सबलान् सपदानुगान् ।। ६९ ।।

यह सब देख और सोचकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अप्रमेयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण सहन न कर सके। उन्होंने मन-ही-मन विचार किया कि युधिष्ठिरकी सेनाका अस्तित्व मिटना चाहता है। भीष्म रणभूमिमें एक ही दिनमें सम्पूर्ण देवताओं और दानवोंका

नाश कर सकते हैं। फिर सेना और सेवकोंसहित पाण्डवोंको युद्धमें परास्त करना इनके लिये कौन बड़ी बात है? ।। ६८-६९ ।।

द्रवते च महासैन्यं पाण्डवस्य महात्मनः ।
एते च कौरवास्तूर्णं प्रभग्नान् वीक्ष्य सोमकान् ।। ७० ।।
प्राद्रवन्ति रणे दृष्ट्वा हर्षयन्तः पितामहम् ।
सोऽहं भीष्मं निहन्म्यद्य पाण्डवार्थाय दंशितः ।। ७१ ।।

महात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी यह विशाल सेना भागी जा रही है और ये कौरवलोग रणक्षेत्रमें सोमकोंको शीघ्रतापूर्वक भागते देख पितामहका हर्ष बढ़ाते हुए उन्हें खदेड़ रहे हैं; अतः आज पाण्डवोंके लिये कवच धारण किया हुआ मैं स्वयं ही भीष्मको मारे डालता हूँ ।। ७०-७१ ।।

भारमेतं विनेष्यामि पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अर्जुनो हि शरैस्तीक्ष्णैर्वध्यमानोऽपि संयुगे ।। ७२ ।।
कर्तव्यं नाभिजानाति रणे भीष्मस्य गौरवात् ।

महामना पाण्डवोंके इस भारी भारको मैं ही दूर करूँगा। अर्जुन इस युद्धमें तीखे बाणोंकी मार खाकर भी भीष्मके प्रति गौरवबुद्धि रखनेके कारण अपने कर्तव्यको नहीं समझ रहा है ।। ७२½ ।।

तथा चिन्तयतस्तस्य भूय एव पितामहः ।
प्रेषयामास संक्रुद्धः शरान् पार्थरथं प्रति ।। ७३ ।।

भगवान् श्रीकृष्णके इस प्रकार चिन्तन करते समय अत्यन्त कुपित हुए पितामह भीष्मने अर्जुनके रथपर पुनः बहुत-से बाण चलाये ।। ७३ ।।

तेषां बहुत्वात् तु भृशं शराणां
दिशश्च सर्वाः पिहिता बभूवुः ।
न चान्तरिक्षं न दिशो न भूमि-
र्न भास्करोऽदृश्यत रश्मिमाली ।
वयुश्च वातास्तुमुलाः सधूमा
दिशश्च सर्वाः क्षुभिता बभूवुः ।। ७४ ।।

उन बाणोंकी अत्यधिकताके कारण उनसे सम्पूर्ण दिशाएँ आच्छादित हो गयीं। न आकाश दिखायी देता था, न दिशाएँ; न तो भूमि दिखायी देती थी और न मरीचिमाली भगवान् भास्करका ही दर्शन होता था। उस समय धूमयुक्त भयंकर हवा चलने लगी। सम्पूर्ण दिशाएँ क्षुब्ध हो उठीं ।। ७४ ।।

द्रोणो विकर्णोऽथ जयद्रथश्च
भूरिश्रवाः कृतवर्मा कृपश्च ।
श्रुतायुरम्बष्ठपतिश्च राजा

विन्दानुविन्दौ च सुदक्षिणश्च ।। ७५ ।।
प्राच्याश्च सौवीरगणाश्च सर्वे
वसातयः क्षुद्रकमालवाश्च ।
किरीटिनं त्वरमाणाऽभिसस्रु-
र्निदेशगाः शान्तनवस्य राज्ञः ।। ७६ ।।

तब द्रोण, विकर्ण, जयद्रथ, भूरिश्रवा, कृतवर्मा, कृपाचार्य, श्रुतायु, राजा अम्बष्ठपति, विन्द, अनुविन्द, सुदक्षिण, पूर्वीय नरेशगण, सौवीरदेशीय क्षत्रियगण, वसाति, क्षुद्रक और मालवगण—ये सभी शानानुनन्दन भीष्मकी आज्ञाके अनुसार चलते हुए तुरंत ही किरीटधारी अर्जुनका सामना करनेके लिये निकट चले आये ।। ७५-७६ ।।

तं वाजिपादातरथौघजालै-
रनेकसाहस्रशतैर्ददर्श ।
किरीटिनं सम्परिवार्यमाणं
शिनेर्नप्ता वारणयूथपैश्च ।। ७७ ।।

सात्यकिने दूरसे देखा, किरीटधारी अर्जुन घोड़े, पैदल तथा रथियोंसहित कई लाख सैनिकोंसे घिर गये हैं, गजराजयूथपतियोंने भी उन्हें सब ओरसे घेर रखा है ।।

ततस्तु दृष्ट्वार्जुनवासुदेवौ
पदातिनागाश्वरथैः समन्तात् ।
अभिद्रुतौ शस्त्रभृतां वरिष्ठौ
शिनिप्रवीरोऽभिससार तूर्णम् ।। ७८ ।।

तत्पश्चात् पैदल, हाथी, घोड़े और रथोंद्वारा चारों ओरसे आक्रान्त हुए शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुनको देखकर शिनिवंशके प्रमुख वीर सात्यकि तुरंत वहाँ आ पहुँचे ।। ७८ ।।

स तान्यनीकानि महाधनुष्मा-
ञ्शिनिप्रवीरः सहसाभिपत्य ।
चकार साहाय्यमथार्जुनस्य
विष्णुर्यथा वृत्रनिषूदनस्य ।। ७९ ।।

महाधनुर्धर शिनिवीर सात्यकिने सहसा उन सेनाओंके समीप पहुँचकर अर्जुनकी उसी प्रकार सहायता की, जैसे भगवान् विष्णु वृत्रविनाशक इन्द्रकी सहायता करते हैं ।। ७९ ।।

विशीर्णनागाश्वरथध्वजौघं
भीष्मेण वित्रासितसर्वयोधम् ।
युधिष्ठिरानीकमभिद्रवन्तं
प्रोवाच संदृश्य शिनिप्रवीरः ।। ८० ।।

युधिष्ठिरकी सेनाके हाथी, घोड़े, रथ और ध्वजाओंके समूह तितर-बितर हो गये थे। भीष्मने उनके सम्पूर्ण योद्धाओंको भयभीत कर दिया था। इस प्रकार युधिष्ठिरके सैनिकोंको भागते देख शिनिवंशके प्रमुख वीर सात्यकिने उनसे कहा— ।। ८० ।।

क्व क्षत्रिया यास्यथ नैष धर्मः
सतां पुरस्तात् कथितः पुराणैः ।
मा स्वां प्रतिज्ञां त्यजत प्रवीराः
स्व वीरधर्मं परिपालयध्वम् ।। ८१ ।।

‘क्षत्रियो! कहाँ जा रहे हो? प्राचीन महापुरुषों-द्वारा यह श्रेष्ठ क्षत्रियोंका धर्म नहीं बताया गया है। वीरो! अपनी प्रतिज्ञा न छोड़ो, अपने वीर धर्मका पालन करो’ ।। ८१ ।।

तान् वासवानन्तरजो निशाम्य
नरेन्द्रमुख्यान् द्रवतः समन्तात् ।
पार्थस्य दृष्ट्वा मृदुयुद्धतां च
भीष्मं च संख्ये समुदीर्यमाणम् ।। ८२ ।।
अमृष्यमाणः स ततो महात्मा
यशस्विनं सर्वदशार्हभर्ता ।
उवाच शैनेयमभिप्रशंसन्
दृष्ट्वा कुरूनापततः समग्रान् ।। ८३ ।।

इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णने उन श्रेष्ठ राजाओंको सब ओर भागते देखा और इस बातपर भी लक्ष्य किया कि अर्जुन तो कोमलताके साथ युद्ध कर रहा है और भीष्म इस संग्राममें अधिकाधिक प्रचण्ड होते जा रहे हैं। यह सब देखकर सम्पूर्ण यदुकुलका भरण-पोषण करनेवाले महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण सहन न कर सके। उन्होंने समस्त कौरवोंको सब ओरसे आक्रमण करते देख यशस्वी वीर सात्यकिकी प्रशंसा करते हुए कहा — ।। ८२-८३ ।।

ये यान्ति ते यान्तु शिनिप्रवीर
येऽपि स्थिताः सात्वत तेऽपि यान्तु ।
भीष्मं रथात् पश्य निपात्यमानं
द्रोणं च संख्ये सगणं मयाद्य ।। ८४ ।।

‘शिनिवंशके प्रमुख वीर! सात्वतरत्न! जो भाग रहे हैं, वे भाग जायँ। जो खड़े हैं, वे भी चले जायँ। (मैं इन लोगोंका भरोसा नहीं करता।) तुम देखो, मैं अभी संग्रामभूमिमें सहायकगणोंके साथ भीष्म और द्रोणाचार्यको रथसे मार गिराता हूँ ।। ८४ ।।

न मे रथी सात्वत कौरवाणां
क्रुद्धस्य मुच्येत रणेऽद्य कश्चित् ।
तस्मादहं गृह्य रथाङ्गमुग्रं

प्राणं हरिष्यामि महाव्रतस्य ।। ८५ ।।

'सात्वत वीर! आज कौरव-सेनाका कोई भी रथी क्रोधमें भरे हुए मुझ कृष्णके हाथसे जीवित नहीं छूट सकता। मैं अपना भयंकर चक्र लेकर महान् व्रतधारी भीष्मके प्राण हर लूँगा ।। ८५ ।।

निहत्य भीष्मं सगणं तथाऽऽजौ
द्रोणं च शैनेय रथप्रवीरौ ।
प्रीतिं करिष्यामि धनंजयस्य
राज्ञश्च भीमस्य तथाश्विनोश्च ।। ८६ ।।

'सात्यके! सहायकगणोंसहित भीष्म और द्रोण—इन दोनों वीर महारथियोंको युद्धमें मारकर मैं अर्जुन, राजा युधिष्ठिर, भीमसेन तथा नकुल-सहदेवको प्रसन्न करूँगा ।। ८६ ।।

निहत्य सर्वान् धृतराष्ट्रपुत्रां-
स्तत्पक्षिणो ये च नरेन्द्रमुख्याः ।
राज्येन राजानमजातशत्रुं
सम्पादयिष्याम्यहमद्य हृष्टः ।। ८७ ।।

'धृतराष्ट्रके सभी पुत्रों तथा उसके पक्षमें आये हुए सभी श्रेष्ठ नरेशोंको मारकर मैं प्रसन्नतापूर्वक आज अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरको राज्यसे सम्पन्न कर दूँगा' ।।

संजय उवाच

(इतीदमुक्त्वा स महानुभावः
सस्मार चक्रं निशितं पुराणम् ।
सुदर्शनं चिन्तितमात्रमेव
तस्याग्रहस्तं स्वयमारुरोह ।।)

संजय कहते हैं—ऐसा कहकर महानुभाव श्रीकृष्णने अपने पुरातन एवं तीक्ष्ण आयुध सुदर्शनचक्रका स्मरण किया। उनके चिन्तन करनेमात्रसे ही वह स्वयं उनके हाथके अग्रभागमें प्रस्तुत हो गया।

ततः सुनाभं वसुदेवपुत्रः
सूर्यप्रभं वज्रसमप्रभावम् ।
क्षुरान्तमुद्यम्य भुजेन चक्रं
रथादवप्लुत्य विसृज्य वाहान् ।। ८८ ।।
संकम्पयन् गां चरणैर्महात्मा
वेगेन कृष्णः प्रससार भीष्मम् ।
मदान्धमाजौ समुदीर्णदर्पं
सिंहो जिघांसन्निव वारणेन्द्रम् ।। ८९ ।।

उस चक्रकी नाभि बड़ी सुन्दर थी। उसका प्रकाश सूर्यके समान और प्रभाव वज्रके तुल्य था। उसके किनारे छूरेके समान तीक्ष्ण थे। वसुदेवनन्दन महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण घोड़ोंकी लगाम छोड़कर हाथमें उस चक्रको घुमाते हुए रथसे कूद पड़े और जिस प्रकार सिंह बढ़े हुए घमंडवाले मदान्ध एवं उन्मत्त गजराजको मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर झपटे, उसी प्रकार वे भी अपने पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको कँपाते हुए युद्धस्थलमें भीष्मकी ओर बड़े वेगसे दौड़े ।। ८८-८९ ।।

सोऽभिद्रवन् भीष्ममनीकमध्ये
क्रुद्धो महेन्द्रावरजः प्रमाथी ।
व्यालम्बिपीतान्तपटश्चकाशे
घनो यथा खे तडितावनद्धः ।। ९० ।।

देवराज इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्ण समस्त शत्रुओंको मथ डालनेकी शक्ति रखते थे। वे उस सेनाके मध्यभागमें कुपित होकर जिस समय भीष्मकी ओर झपटे, उस समय उनके श्याम विग्रहपर लटककर हवाके वेगसे फहराता हुआ पीताम्बरका छोर उन्हें ऐसी शोभा दे रहा था, मानो आकाशमें बिजलीसे आवेष्टित हुआ श्याम मेघ सुशोभित हो रहा हो ।। ९० ।।

सुदर्शनं चास्य रराज शौरे-
स्तच्चक्रपद्मं सुभुजोरुनालम् ।
यथादिपद्मं तरुणार्कवर्णं
रराज नारायणनाभिजातम् ।। ९१ ।।

श्रीकृष्णकी सुन्दर भुजारूपी विशाल नालसे सुशोभित वह सुदर्शनचक्र कमलके समान शोभा पा रहा था, मानो भगवान् नारायणके नाभिसे प्रकट हुआ प्रातःकालीन सूर्यके समान कान्तिवाला आदिकमल प्रकाशित हो रहा हो ।। ९१ ।।

तत् कृष्णकोपोदयसूर्यबुद्धं
क्षुरान्ततीक्ष्णाग्रसुजातपत्रम् ।
तस्यैव देहोरुसरः प्ररूढं
रराज नारायणबाहुनालम् ।। ९२ ।।

श्रीकृष्णके क्रोधरूपी सूर्योदयसे वह कमल विकसित हुआ था। उसके किनारे छूरेके समान तीक्ष्ण थे। वे ही मानो उसके सुन्दर दल थे। भगवान्के श्रीविग्रहरूपी महान् सरोवरमें ही वह बढ़ा हुआ था और नारायणस्वरूप श्रीकृष्णकी बाहुरूपी नाल उसकी शोभा बढ़ा रही थी ।। ९२ ।।

तमात्तचक्रं प्रणदन्तमुच्चैः
क्रुद्धं महेन्द्रावरजं समीक्ष्य ।
सर्वाणि भूतानि भृशं विनेदुः

क्षयं कुरूणामिव चिन्तयित्वा ।। ९३ ।।

महेन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्ण कुपित हो हाथमें चक्र उठाये बड़े चोरसे गरज रहे थे। उन्हें इस रूपमें देखकर कौरवोंके संहारका विचार करके सभी प्राणी हाहाकार करने लगे ।। ९३ ।।

स वासुदेवः प्रगृहीतचक्रः
संवर्तयिष्यन्निव सर्वलोकम् ।
अभ्युत्पतँल्लोकगुरुर्बभासे
भूतानि धक्ष्यन्निव धूमकेतुः ।। ९४ ।।

वे जगद्गुरु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हाथमें चक्र ले मानो सम्पूर्ण जगत्का संहार करनेके लिये उद्यत थे और समस्त प्राणियोंको जलाकर भस्म कर डालनेके लिये उठी हुई प्रलयाग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ।। ९४ ।।

तमाद्रवन्तं प्रगृहीतचक्रं
दृष्ट्वा देवं शान्तनवस्तदानीम् ।
असम्भ्रमं तद् विचकर्ष दोर्भ्यां
महाधनुर्गाण्डिवतुल्यघोषम् ।। ९५ ।।

भगवान्को चक्र लिये अपनी ओर वेगपूर्वक आते देख शान्तनुनन्दन भीष्म उस समय तनिक भी भय अथवा घबराहटका अनुभव न करते हुए दोनों हाथोंसे गाण्डीव धनुषके समान गम्भीर घोष करनेवाले अपने महान् धनुषको खींचने लगे ।। ९५ ।।

उवाच भीष्मस्तमनन्तपौरुषं
गोविन्दमाजावविमूढचेताः ।
एह्येहि देवेश जगन्निवास
नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणे ।। ९६ ।।
प्रसह्य मां पातय लोकनाथ
रथोत्तमात् सर्वशरण्य संख्ये ।। ९७ ।।

उस समय युद्ध स्थलमें भीष्मके चित्तमें तनिक भी मोह नहीं था। वे अनन्त पुरुषार्थशाली भगवान् श्रीकृष्णका आह्वान करते हुए बोले—'आइये, आइये, देवेश्वर! जगन्निवास! आपको नमस्कार है। हाथमें चक्र लिये आये हुए माधव! सबको शरण देनेवाले लोकनाथ! आज युद्धभूमिमें बलपूर्वक इस उत्तम रथसे मुझे मार गिराइये ।। ९६-९७ ।।

त्वया हतस्यापि ममाद्य कृष्ण
श्रेयः परस्मिन्निह चैव लोके ।
सम्भावितोऽस्म्यन्धकवृष्णिनाथ
लोकैस्त्रिभिर्वीर तवाभियानात् ।। ९८ ।।

'श्रीकृष्ण! आज आपके हाथसे यदि मैं मारा जाऊँगा तो इहलोक और परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा। अन्धक और वृष्णिकुलकी रक्षा करनेवाले वीर! आपके इस आक्रमणसे तीनों लोकोंमें मेरा गौरव बढ़ गया' ।। ९८ ।।

रथादवप्लुत्य ततस्त्वरावान्
पार्थोऽप्यनुद्रुत्य यदुप्रवीरम् ।
जग्राह पीनोत्तमलम्बबाहुं
बाह्वोर्हरिं व्यायतपीनबाहुः ।। ९९ ।।

मोटी, लंबी और उत्तम भुजाओंवाले यदुकुलके श्रेष्ठ वीर भगवान् श्रीकृष्णको आगे बढ़ते देख अर्जुन भी बड़ी उतावलीके साथ रथसे कूदकर उनके पीछे दौड़े और निकट जाकर भगवान्‌की दोनों बाहें पकड़ लीं। अर्जुनकी भुजाएँ भी मोटी और विशाल थीं ।। ९९ ।।

निगृह्यमाणश्च तदाऽऽदिदेवो
भृशं सरोषः किल चात्मयोगी ।
आदाय वेगेन जगाम विष्णु-
र्जिष्णुं महावात इवैकवृक्षम् ।। १०० ।।

आदिदेव आत्मयोगी भगवान् श्रीकृष्ण बहुत रोषमें भरे हुए थे। वे अर्जुनके पकड़नेपर भी रुक न सके। जैसे आँधी किसी वृक्षको खींचे लिये चली जाय, उसी प्रकार वे भगवान् विष्णु अर्जुनको लिये हुए ही बड़े वेगसे आगे बढ़ने लगे ।। १०० ।।

पार्थस्तु विष्टभ्य बलेन पादौ
भीष्मान्तिकं तूर्णमभिद्रवन्तम् ।
बलान्निजग्राह हरिं किरीटी
पदेऽथ राजन् दशमे कथञ्चित् ।। १०१ ।।

राजन्! तब किरीटधारी अर्जुनने भीष्मके निकट बड़े वेगसे जाते हुए श्रीहरिके चरणोंको बलपूर्वक पकड़ लिया और किसी प्रकार दसवें कदमपर पहुँचते-पहुँचते उन्हें रोका ।। १०१ ।।

अवस्थितं च प्रणिपत्य कृष्णं
प्रीतोऽर्जुनः काञ्चनचित्रमाली ।
उवाच कोपं प्रतिसंहरेति
गतिर्भवान् केशव पाण्डवानाम् ।। १०२ ।।

जब श्रीकृष्ण खड़े हो गये, तब सुवर्णका विचित्र हार पहने हुए अर्जुनने अत्यन्त प्रसन्न हो उनके चरणोंमें प्रणाम करके कहा—'केशव! आप अपना क्रोध रोकिये। प्रभो! आप ही पाण्डवोंके परम आश्रय हैं ।। १०२ ।।

न हास्यते कर्म यथाप्रतिज्ञं

पुत्रैः शपे केशव सोदरैश्च ।
अन्तं करिष्यामि यथा कुरूणां
त्वयाहमिन्द्रानुज सम्प्रयुक्तः ।। १०३ ।।

'केशव! अब मैं अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार कर्तव्यका पालन करूँगा, उसका त्याग कभी नहीं करूँगा। यह बात मैं अपने पुत्रों और भाइयोंकी शपथ खाकर कहता हूँ। उपेन्द्र! आपकी आज्ञा मिलनेपर मैं समस्त कौरवोंका अन्त कर डालूँगा' ।। १०३ ।।

ततः प्रतिज्ञां समयं च तस्य
जनार्दनः प्रीतमना निशम्य ।
स्थितः प्रिये कौरवसत्तमस्य
रथं सचक्रः पुनरारुरोह ।। १०४ ।।

अर्जुनकी यह प्रतिज्ञा और कर्तव्य-पालनका यह निश्चय सुनकर भगवान् श्रीकृष्णका मन प्रसन्न हो गया। वे कुरुश्रेष्ठ अर्जुनका प्रिय करनेके लिये उद्यत हो पुनः चक्र लिये रथपर जा बैठे ।। १०४ ।।

स तानभीषून् पुनराददानः
प्रगृह्य शङ्खं द्विषतां निहन्ता ।
निनादयामास ततो दिशश्च
स पाञ्चजन्यस्य रवेण शौरिः ।। १०५ ।।

शत्रुओंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने पुनः घोड़ोंकी बागडोर सँभाली और पांचजन्य शंख लेकर उसकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित कर दिया ।। १०५ ।।

व्याविद्धनिष्काङ्गदकुण्डलं तं
रजोविकीर्णाञ्चितपद्मनेत्रम् ।
विशुद्धदंष्ट्रं प्रगृहीतशङ्खं
विचुक्रुशुः प्रेक्ष्य कुरुप्रवीराः ।। १०६ ।।

उस समय उनके कण्ठका हार, भुजाओंके बाजू-बन्द और कानोंके कुण्डल हिलने लगे थे। उनके कमलके समान सुन्दर नेत्रोंपर सेनासे उठी हुई धूल बिखरी थी। उनकी दन्तावली शुद्ध एवं स्वच्छ थी और उन्होंने अपने हाथमें शंख ले रखा था। उस अवस्थामें श्रीकृष्णको देखकर कौरवपक्षके प्रमुख वीर कोलाहल कर उठे ।। १०६ ।।

मृदङ्गभेरीपणवप्रणादा
नेमिस्वना दुन्दुभिनिःस्वनाश्च ।
ससिंहनादाश्च बभूवुरुग्राः
सर्वेष्वनीकेषु ततः कुरूणाम् ।। १०७ ।।

तत्पश्चात् कौरवोंके सम्पूर्ण सैन्यदलोंमें मृदंग, भेरी पणव तथा दुन्दुभिकी ध्वनि होने लगी। रथके पहियोंकी घरघराहट सुनायी देने लगी। वे सभी शब्द वीरोंके सिंहनादसे

मिलकर अत्यन्त उग्र प्रतीत हो रहे थे ।। १०७ ।।

गाण्डीवघोषः स्तनयित्नुकल्पो
जगाम पार्थस्य नभो दिशश्च ।
जग्मुश्च बाणा विमलाः प्रसन्नाः
सर्वा दिशः पाण्डवचापमुक्ताः ।। १०८ ।।

अर्जुनके गाण्डीव धनुषका गम्भीर घोष मेघकी गर्जनाके समान आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल गया तथा उनके धनुषके छूटे हुए निर्मल एवं स्वच्छ बाण सम्पूर्ण दिशाओंमें बरसने लगे ।। १०८ ।।

तं कौरवाणामधिपो जवेन
भीष्मेण भूरिश्रवसा च सार्धम् ।
अभ्युद्ययावुद्यतबाणपाणिः
कक्षं दिधक्षन्निव धूमकेतुः ।। १०९ ।।

उस समय कौरवराज दुर्योधन हाथमें धनुष-बाण लिये बड़े वेगसे अर्जुनके सामने आया, मानो घास-फूँसको जलानेके लिये प्रज्वलित आग बढ़ती चली आ रही हो। भीष्म और भूरिश्रवाने भी दुर्योधनका साथ दिया ।। १०९ ।।

अथार्जुनाय प्रजिघाय भल्लान्
भूरिश्रवाः सप्त सुवर्णपुङ्खान् ।
दुर्योधनस्तोमरमुग्रवेगं
शल्यो गदां शान्तनवश्च शक्तिम् ।। ११० ।।

तदनन्तर भूरिश्रवाने सोनेके पंखसे युक्त सात भल्ल अर्जुनपर चलाये। दुर्योधनने भयंकर वेगशाली तोमरका प्रहार किया। शल्यने गदा और शान्तनुनन्दन भीष्मने शक्ति चलायी ।। ११० ।।

स सप्तभिः सप्त शरप्रवेकान्
संवार्य भूरिश्रवसा विसृष्टान् ।
शितेन दुर्योधनबाहुमुक्तं
क्षुरेण तत् तोमरमुन्ममाथ ।। १११ ।।

अर्जुनने सात बाणोंसे भूरिश्रवाके छोड़े हुए सातों भल्लोंको काटकर तीखे छूरेसे दुर्योधनकी भुजाओंसे मुक्त हुए उस तोमरको भी नष्ट कर दिया ।। १११ ।।

ततः शुभामापततीं स शक्तिं
विद्युत्प्रभां शान्तनवेन मुक्ताम् ।
गदां च मद्राधिपबाहुमुक्तां
द्वाभ्यां शराभ्यां निचकर्त वीरः ।। ११२ ।।

तत्पश्चात् वीर अर्जुनने शान्तनुनन्दन भीष्मकी छोड़ी हुई बिजलीके समान चमकीली और शोभामयी शक्तिको तथा मद्रराज शल्यकी भुजाओंसे मुक्त हुई गदाको भी दो बाणोंसे काट डाला ।। ११२ ।।

ततो भुजाभ्यां बलवद् विकृष्य
चित्रं धनुर्गाण्डिवमप्रमेयम् ।
माहेन्द्रमस्त्रं विधिवत् सुघोरं
प्रादुश्चकाराद्भुतमन्तरिक्षे ।। ११३ ।।

तदनन्तर अप्रमेय शक्तिशाली विचित्र गाण्डीव धनुषको दोनों भुजाओंसे बलपूर्वक खींचकर अर्जुनने विधिपूर्वक अत्यन्त भयंकर माहेन्द्र अस्त्रको प्रकट किया। वह अद्‌भुत अस्त्र अन्तरिक्षमें चमक उठा ।। ११३ ।।

तेनोत्तमास्त्रेण ततो महात्मा
सर्वाण्यनीकानि महाधनुष्मान् ।
शरौघजालैर्विमलाग्निवर्णै-
र्निवारयामास किरीटमाली ।। ११४ ।।

फिर किरीटधारी महामना महाधनुर्धर अर्जुनने उस उत्तम अस्त्रद्वारा निर्मल एवं अग्निके समान प्रज्वलित बाणोंका जाल-सा बिछाकर कौरवोंके समस्त सैनिकोंको आगे बढ़नेसे रोक दिया ।। ११४ ।।

शिलीमुखाः पार्थधनुःप्रमुक्ता
रथान् ध्वजाग्राणि धनूंषि बाहून् ।
निकृत्य देहान् विविशुः परेषां
नरेन्द्रनागेन्द्रतुरङ्गमाणाम् ।। ११५ ।।

अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए बाण शत्रुओंके रथ, ध्वजाग्र, धनुष और बाहु काटकर नरेशों, गजराजों तथा घोड़ोंके शरीरोंमें घुसने लगे ।। ११५ ।।

ततो दिशः सोऽनुदिशश्च पार्थः
शरैः सुधारैः समरे वितत्य ।
गाण्डीवशब्देन मनांसि तेषां
किरीटमाली व्यथयाञ्चकार ।। ११६ ।।

तदनन्तर तीखी धारवाले बाणोंसे युद्धस्थलमें सम्पूर्ण दिशाओं और कोणोंको आच्छादित करके किरीटधारी अर्जुनने गाण्डीव धनुषकी टंकारसे कौरवोंके मनमें भारी व्यथा उत्पन्न कर दी ।। ११६ ।।

तस्मिंस्तथा घोरतमे प्रवृत्ते
शङ्खस्वना दुन्दुभिनिःस्वनाश्च ।
अन्तर्हिता गाण्डिवनिःस्वनेन

बभूवुरुग्राश्वरथप्रणादाः ।। ११७ ।।

इस प्रकारके उस अत्यन्त भयंकर युद्धमें शंख-ध्वनि, दुन्दुभि-ध्वनि तथा घोड़ों और रथके पहियोंके भयंकर शब्द गाण्डीव धनुषकी टंकारके सामने दब गये ।। ११७ ।।

गाण्डीवशब्दं तमथो विदित्वा
विराटराजप्रमुखाः प्रवीराः ।
पाञ्चालराजो द्रुपदश्च वीर-
स्तं देशमाजग्मुरदीनसत्त्वाः ।। ११८ ।।

तब उस गाण्डीवके शब्दको पहचानकर राजा विराट आदि प्रमुख वीर और वीरवर पांचालराज द्रुपद—ये सभी उदारचित्त नरेश उस स्थानपर आ गये ।। ११८ ।।

सर्वाणि सैन्यानि तु तावकानि
यतो यतो गाण्डिवजः प्रणादः ।
ततस्ततः संनतिमेव जग्मु-
र्न तं प्रतीपोऽभिससार कश्चित् ।। ११९ ।।

जहाँ-जहाँ गाण्डीव धनुषकी टंकार होती, वहाँ-वहाँ आपके सारे सैनिक मस्तक टेक देते थे। कोई भी उनके प्रतिकूल आक्रमण नहीं करता था ।। ११९ ।।

तस्मिन् सुघोरे नृपसम्प्रहारे
हताः प्रवीराः सरथाश्वसूताः ।
गजाश्च नाराचनिपाततप्ता
महापताकाः शुभरुक्मकक्ष्याः ।। १२० ।।
परीतसत्त्वाः सहसा निपेतुः
किरीटिना भिन्नतनुत्रकायाः ।
दृढं हताः पत्रिभिरुग्रवेगैः
पार्थेन भल्लैर्विमलैः शिताग्रैः ।। १२१ ।।

राजाओंके उस भयानक संग्राममें रथ, घोड़े और सारथिसहित बड़े-बड़े वीर मारे गये। सुन्दर सुनहरे रस्सोंसे कसे हुए, बड़ी-बड़ी पताकाओंवाले हाथी नाराचोंकी मारसे पीड़ित हो शक्ति और चेतना खोकर सहसा धराशायी हो गये। कुन्तीकुमार अर्जुनके भयंकर वेगवाले तीखे एवं पंखयुक्त निर्मल भल्लोंसे गहरी चोट पड़नेपर कवच और शरीर दोनोंके विदीर्ण हो जानेसे कौरव सैनिक सहसा प्राणशून्य होकर गिर जाते थे ।। १२०-१२१ ।।

निकृत्तयन्त्रा निहतेन्द्रकीला
ध्वजा महान्तो ध्वजिनीमुखेषु ।
पदातिसङ्घाश्च रथाश्च संख्ये
हयाश्च नागाश्च धनंजयेन ।। १२२ ।।
बाणाहतास्तूर्णमपेतसत्त्वा

विष्टभ्य गात्राणि निपेतुरुर्व्याम् ।
ऐन्द्रेण तेनास्त्रवरेण राजन्
महाहवे भिन्नतनुत्रदेहाः ।। १२३ ।।

युद्धके मुहानेपर जिनके यन्त्र कट गये और इन्द्रकील नष्ट हो गये थे, ऐसे बड़े-बड़े ध्वज छिन्न-भिन्न होकर गिरने लगे। उस संग्राममें अर्जुनके बाणोंसे घायल पैदलोंके समूह, रथी, घोड़े और हाथी शीघ्र ही सत्त्वशून्य होकर अपने अंगोंको पकड़े हुए पृथ्वीपर गिरने लगे। राजन्! उस महान् ऐन्द्रास्त्रसे समरभूमिमें सभी सैनिकोंके शरीर और कवच छिन्न-भिन्न हो गये ।। १२२-१२३ ।।

ततः शरौघैर्निशितैः किरीटिना
नृदेहशस्त्रक्षतलोहितोदा ।
नदी सुघोरा नरमेदफेना
प्रवर्तिता तत्र रणाजिरे वै ।। १२४ ।।

उस समय समरांगणमें किरीटधारी अर्जुनने अपने तीखे बाणसमूहोंद्वारा योद्धाओंके शरीरमें लगे हुए आघातसे निकलनेवाले रक्तकी एक भयंकर नदी बहा दी; जिसमें मनुष्योंके मेदे फेनके समान जान पड़ते थे ।। १२४ ।।

वेगेन सातीव पृथुप्रवाहा
परेतनागाश्वशरीररोधा ।
नरेन्द्रमज्जोच्छ्रितमांसपङ्का
प्रभूतरक्षोगणभूतसेविता ।। १२५ ।।

वह नदी बड़े वेगसे बह रही थी। उसका प्रवाह पुष्ट था। मरे हुए हाथी, घोड़ोंके शरीर तटोंके समान प्रतीत होते थे। राजाओंके मज्जा और मांस कीचड़के समान थे। बहुत-से राक्षस और भूतगण उसका सेवन करते थे ।। १२५ ।।

शिरःकपालाकुलकेशशाद्वला
शरीरसङ्घातसहस्रवाहिनी ।
विशीर्णनानाकवचोर्मिसंकुला
नराश्वनागास्थिनिकृत्तशर्करा ।। १२६ ।।

मुर्दोंकी खोपड़ियोंके केश सेवारका भ्रम उत्पन्न करते थे। सहस्रों शरीर उसमें जल-जन्तुओंके समान बह रहे थे। छिन्न-भिन्न होकर बिखरे हुए कवच लहरोंके समान उसमें सर्वत्र व्याप्त थे। मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंकी कटी हुई हड्डियाँ छोटे-छोटे कंकड़-पत्थरोंका काम दे रही थीं ।। १२६ ।।

श्वकङ्कशालावृकगृध्रकाकैः
क्रव्यादसङ्घैश्च तरक्षुभिश्च ।
उपेतकूलां ददृशुर्मनुष्याः

क्रूरां महावैतरणीप्रकाशाम् ।। १२७ ।।

उसके दोनों किनारोंपर कुत्ते, कौवे, भेड़िये, गीध, कंक, तरक्षु* तथा अन्यान्य मांसभक्षी जन्तु निवास करते थे। उस भयानक नदीको लोगोंने महावैतरणीके समान देखा ।। १२७ ।।

प्रवर्तितामर्जुनबाणसङ्घै-
र्मेदोवसासृक्प्रवहां सुभीमाम् ।
हतप्रवीरां च तथैव दृष्ट्वा
सेनां कुरूणामथ फाल्गुनेन ।। १२८ ।।
ते चेदिपाञ्चालकरूषमत्स्याः
पार्थाश्च सर्वे सहिताः प्रणेदुः ।
जयप्रगल्भाः पुरुषप्रवीराः
संत्रासयन्तः कुरुवीरयोधान् ।। १२९ ।।

अर्जुनके बाणसमूहोंसे उस नदीका प्राकट्य हुआ था। वह चर्बी, मज्जा तथा रक्त बहानेके कारण बड़ी भयंकर जान पड़ती थी। इस प्रकार कौरवसेनाके प्रधान-प्रधान वीर अर्जुनके द्वारा मारे गये। यह देखकर चेदि, पांचाल, करूष और मत्स्यदेशके क्षत्रिय तथा कुन्तीके पुत्र—ये सभी नरवीर विजय पानेसे निर्भय हो कौरवयोद्धाओंको भयभीत करते हुए एक साथ सिंहनाद करने लगे ।।

हतप्रवीराणि बलानि दृष्ट्वा
किरीटिना शत्रुभयावहेन ।
वित्रास्य सेनां ध्वजिनीपतीनां
सिंहो मृगाणामिव यूथसङ्घान् ।। १३० ।।
विनेदतुस्तावतिहर्षयुक्तौ
गाण्डीवधन्वा च जनार्दनश्च ।

शत्रुओंको भय देनेवाले किरीटधारी अर्जुनके द्वारा कौरवसेनाके प्रमुख वीरोंको मारे गये देख पाण्डवपक्षके वीरोंको बड़ी प्रसन्नता हुई थी। गाण्डीवधारी अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्ण मृगोंके यूथोंको भयभीत करनेवाले सिंहके समान कौरवसेनापतियोंकी सारी सेनाको संत्रस्त करके अत्यन्त हर्षमें भरकर गर्जना करने लगे ।। १३० १/२ ।।

ततो रविं संवृतरश्मिजालं
दृष्ट्वा भृशं शस्त्रपरिक्षताङ्गाः ।। १३१ ।।
तदैन्द्रमस्त्रं विततं च घोर-
मसह्यमुद्वीक्ष्य युगान्तकल्पम् ।
अथापयानं कुरवः सभीष्माः
सद्रोणदुर्योधनबाह्लिकाश्च ।। १३२ ।।
चक्रुर्निशां संधिगतां समीक्ष्य

विभावसोर्लोहितरागयुक्ताम् ।

तदनन्तर शस्त्रोंके आघातसे अत्यन्त क्षत-विक्षत अंगोंवाले भीष्म, द्रोण, दुर्योधन, बाह्लिक तथा अन्य कौरवयोद्धाओंने सूर्यदेवको अपनी किरणोंको समेटते देख और उस भयंकर ऐन्द्रास्त्रको प्रलयंकर अग्निके समान सर्वत्र व्याप्त एवं असह्य हुआ जानकर सूर्यकी लालीसे युक्त संध्या एवं निशाके आरम्भकालका अवलोकन कर सेनाको युद्धभूमिसे लौटा लिया ।। १३१-१३२ ½ ।।

अवाप्य कीर्तिं च यशश्च लोके
विजित्य शत्रूंश्च धनंजयोऽपि ।। १३३ ।।
ययौ नरेन्द्रैः सह सोदरैश्च
समाप्तकर्मा शिबिरं निशायाम् ।

धनंजय भी शत्रुओंको जीतकर एवं लोकमें सुयश और सुकीर्ति पाकर भाइयों तथा राजाओंके साथ सारा कार्य समाप्त करके निशाके आरम्भमें अपने शिविरको लौट गये ।। १३३ ½ ।।

ततः प्रजज्ञे तुमुलः कुरूणां
निशामुखे घोरतमः प्रणादः ।। १३४ ।।
रणे रथानामयुतं निहत्य
हता गजाः सप्तशतार्जुनेन ।
प्राच्याश्च सौवीरगणाश्च सर्वे
निपातिताः क्षुद्रकमालवाश्च ।। १३५ ।।
महत् कृतं कर्म धनंजयेन
कर्तुं यथा नार्हति कश्चिदन्यः ।

उस समय रात्रिके आरम्भमें कौरवोंके दलमें बड़ा भयंकर कोलाहल होने लगा। वे आपसमें कहने लगे—'आज अर्जुनने रणक्षेत्रमें दस हजार रथियोंका विनाश करके सात सौ हाथी मार डाले हैं। प्राच्य, सौवीर, क्षुद्रक और मालव सभी क्षत्रियगणोंको मार गिराया है। धनंजयने जो महान् पराक्रम किया है, उसे दूसरा कोई वीर नहीं कर सकता' ।। १३४-१३५ ½ ।।

श्रुतायुरम्बष्ठपतिश्च राजा
तथैव दुर्मर्षणचित्रसेनौ ।। १३६ ।।
द्रोणः कृपः सैन्धवबाह्लिकौ च
भूरिश्रवाः शल्यशलौ च राजन् ।
अन्ये च योधाः शतशः समेताः
क्रुद्धेन पार्थेन रणस्य मध्ये ।। १३७ ।।
स्वबाहुवीर्येण जिताः सभीष्माः

किरीटिना लोकमहारथेन ।

'श्रुतायु, राजा अम्बष्ठपति, दुर्मर्षण, चित्रसेन, द्रोण, कृप, जयद्रथ, बाह्लिक, भूरिश्रवा, शल्य और शल—ये तथा और भी सैकड़ों योद्धा क्रोधमें भरे हुए लोकमहारथी, किरीटधारी कुन्तीकुमार अर्जुनके द्वारा रणभूमिमें अपनी ही भुजाओंके पराक्रमसे भीष्मसहित परास्त किये गये हैं' ।। १३६-१३७½ ।।

इति ब्रुवन्तः शिबिराणि जग्मुः
सर्वे गणा भारत ये त्वदीयाः ।। १३८ ।।
उल्कासहस्रैश्च सुसम्प्रदीप्तै-
र्विभ्राजमानैश्च तथा प्रदीपैः ।
किरीटिवित्रासितसर्वयोधा
चक्रे निवेशं ध्वजिनी कुरूणाम् ।। १३९ ।।

भारत! उपर्युक्त बातें कहते हुए आपके समस्त सैनिक सहस्रों जलती हुई मसालें तथा प्रकाशमान दीपोंके उजालेमें अपने-अपने शिबिरमें गये। कौरवसेनाके सम्पूर्ण सैनिकोंपर अर्जुनका त्रास छा रहा था। इसी अवस्थामें उस सेनाने रातमें विश्राम किया ।। १३८-१३९ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि तृतीयदिवसावहारे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ।। ५९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें तीसरे दिन सेनाके विश्रामके लिये लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५९ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १४०½ श्लोक हैं।]

---

* सेई जन्तु, जिसके बदनमें काँटे होते हैं ।

षष्टितमोऽध्यायः

चौथे दिन—दोनों सेनाओंका व्यूह-निर्माण तथा भीष्म और अर्जुनका द्वैरथ-युद्ध

संजय उवाच

व्युष्टां निशां भारत भारताना-
मनीकिनीनां प्रमुखे महात्मा ।
ययौ सपत्नान् प्रति जातकोपो
वृतः समग्रेण बलेन भीष्मः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—भारत! जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब भरतवंशियोंकी सेनाके अग्रभागमें स्थित हुए महामना भीष्म समग्रसेनासे घिरकर शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये चले। उस समय उनके मनमें शत्रुओंके प्रति बड़ा क्रोध था ।। १ ।।

तं द्रोणदुर्योधनबाह्लिकाश्च
तथैव दुर्मर्षणचित्रसेनौ ।
जयद्रथश्चातिबलो बलौघै-
र्नृपास्तथान्ये प्रययुः समन्तात् ।। २ ।।

उनके साथ चारों ओरसे द्रोण, दुर्योधन, बाह्लिक, दुर्मर्षण, चित्रसेन, अत्यन्त बलवान् जयद्रथ तथा अन्य नरेश विशाल वाहिनीको साथ लिये प्रस्थित हुए ।। २ ।।

स तैर्महद्भिश्च महारथैश्च
तेजस्विभिर्वीर्यवद्भिश्च राजन् ।
रराज राजा स तु राजमुख्यै-
र्वृतः स देवैरिव वज्रपाणिः ।। ३ ।।

राजन्! इस महान्, तेजस्वी, पराक्रमी और महारथी नरपतियोंसे घिरा हुआ राजा दुर्योधन देवताओंसहित वज्रपाणि इन्द्रके समान शोभा पा रहा था ।। ३ ।।

तस्मिन्ननीकप्रमुखे विषक्ता
दोधूयमानाश्च महापताकाः ।
सुरक्तपीतासितपाण्डुराभा
महागजस्कन्धगता विरेजुः ।। ४ ।।

इस सेनाके प्रमुख भागमें बड़े-बड़े गजराजोंके कंधोंपर लगी हुई लाल, पीली, काली और सफेद रंगकी फहराती हुई विशाल पताकाएँ शोभा पा रही थीं ।। ४ ।।

सा वाहिनी शान्तनवेन गुप्ता

महारथैर्वारणवाजिभिश्च ।
बभौ सविद्युत्स्तनयित्नुकल्पा
जलागमे द्यौरिव जातमेघा ।। ५ ।।

शान्तनुनन्दन भीष्मसे रक्षित वह विशाल वाहिनी बड़े-बड़े रथों, हाथियों और घोड़ोंसे ऐसी शोभा पा रही थी, मानो वर्षाकालमें मेघोंकी घटासे आच्छादित आकाश बिजलीसहित बादलोंसे सुशोभित हो ।। ५ ।।

ततो रणायाभिमुखी प्रयाता
प्रत्यर्जुनं शान्तनवाभिगुप्ता ।
सेना महोग्रा सहसा कुरूणां
वेगो यथा भीम इवापगायाः ।। ६ ।।

तदनन्तर नदीके भयानक वेगकी भाँति कौरवोंकी वह अत्यन्त भयंकर सेना शान्तनुनन्दन भीष्मसे सुरक्षित हो रणके लिये अर्जुनकी ओर सहसा चली ।। ६ ।।

तं व्यालनानाविधगूढसारं
गजाश्वपादातरथौघपक्षम् ।
व्यूहं महामेघसमं महात्मा
ददर्श दूरात् कपिराजकेतुः ।। ७ ।।

महामना कपिध्वज अर्जुनने दूरसे देखा कि कौरवसेना व्याल नामक व्यूहमें आबद्ध होनेके कारण अनेक प्रकारकी दिखायी दे रही है। उसकी शक्ति छिपी हुई है। उसमें हाथी, घोड़े, पैदल तथा रथियोंके समूह भरे हुए हैं। सेनाका वह व्यूह महान् मेघोंकी घटाके समान जान पड़ता है ।। ७ ।।

विनिर्ययौ केतुमता रथेन
नरर्षभः श्वेतहयेन वीरः ।
वरूथिना सैन्यमुखे महात्मा
वधे धृतः सर्वसपत्नयूनाम् ।। ८ ।।

तदनन्तर नरश्रेष्ठ महामना वीर अर्जुन समस्त शत्रुपक्षीय युवकोंके वधका संकल्प लेकर श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए ध्वज एवं आवरणसे युक्त रथपर आरूढ़ हो शत्रुसेनाके सामने चले ।। ८ ।।

सूपस्करं सोत्तरबन्धुरेषं
यत्तं यदूनामृषभेण संख्ये ।
कपिध्वजं प्रेक्ष्य विषेदुराजौ
सहैव पुत्रैस्तव कौरवेयाः ।। ९ ।।

जिसमें सब सामग्री सुन्दरतासे सजाकर रखी गयी थी, अच्छी तरह बँधी होनेके कारण जिसकी ईषा अत्यन्त मनोहर दिखायी देती है तथा यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण जिसका

संचालन करते हैं, उस वानरके चिह्नवाली ध्वजासे युक्त रथको युद्धभूमिमें उपस्थित देख आपके पुत्रोंसहित समस्त कौरवसैनिक विषादमग्न हो गये ।।

प्रकर्षता गुप्तमुदायुधेन
किरीटिना लोकमहारथेन ।
तं व्यूहराजं ददृशुस्त्वदीया-
श्चतुश्चतुर्व्यालसहस्रकर्णम् ।। १० ।।

लोकविख्यात महारथी किरीटधारी अर्जुन अस्त्र-शस्त्र लेकर जिसे सुरक्षितरूपसे अपने साथ ले आ रहे थे और जिसमें चार-चार हजार मतवाले हाथी प्रत्येक दिशामें खड़े किये गये थे, उस व्यूहराजको आपके सैनिकोंने देखा ।। १० ।।

यथा हि पूर्वेऽहनि धर्मराज्ञा
व्यूहः कृतः कौरवसत्तमेन ।
तथा न भूतो भुवि मानुषेषु
न दृष्टपूर्वो न च संश्रुतश्च ।। ११ ।।

कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने पहले दिन जैसा व्यूह बनाया था, वैसा ही वह भी था। वैसा व्यूह इस भूतलपर मनुष्योंकी सेनाओंमें न तो पहले कभी देखा गया था और न कभी सुना ही गया था ।। ११ ।।

ततो यथादेशमुपेत्य तस्थुः
पाञ्चालमुख्याः सह चेदिमुख्यैः ।
ततः समादेशसमाहतानि
भेरीसहस्राणि विनेदुराजौ ।। १२ ।।

तदनन्तर सेनापतिकी आज्ञाके अनुसार यथोचित स्थानपर पहुँचकर पांचाल और चेदिदेशके प्रमुख वीर खड़े हुए। फिर उस युद्धस्थलमें प्रधानके आदेशानुसार सहस्रों रणभेरियाँ एक साथ बज उठीं ।। १२ ।।

शङ्खस्वनास्तूर्यरथस्वनाश्च
सर्वेष्वनीकेषु ससिंहनादाः ।
ततः सबाणानि महास्वनानि
विस्फार्यमाणानि धनूंषि वीरैः ।। १३ ।।

सभी सेनाओंमें शंखनाद, तूर्यनाद (वाद्योंकी ध्वनि) तथा वीरोंके सिंहनादसहित रथोंकी घर-घराहटके शब्द होने लगे। फिर वीरोंके द्वारा खींचे जानेवाले बाणसहित धनुषके महान् टंकार-शब्द गूँज उठे ।। १३ ।।

क्षणेन भेरीपणवप्रणादा-
नन्तर्दधुः शङ्खमहास्वनाश्च ।
तच्छङ्खशब्दावृतमन्तरिक्ष-

मुद्धूतभीमाद्भुतरेणुजालम् ।। १४ ।।

क्षणभरमें भेरी और पणव आदिके शब्दोंको महान् शंखनादोंने दबा लिया तथा उस शंखध्वनिसे व्याप्त हुए आकाशमें (पृथ्वीसे) उठी हुई धूलोंका भयंकर एवं अद्भुत जाल-सा फैल गया ।। १४ ।।

महानुभावाश्च ततः प्रकाश-
मालोक्य वीराः सहसाभिपेतुः ।
रथी रथेनाभिहतःससूतः
पपात साश्वः सरथः सकेतुः ।। १५ ।।

तदनन्तर महान् प्रभावशाली वीर सूर्यदेवका प्रकाश देखकर सहसा शत्रुमण्डलीपर टूट पड़े। रथी रथीसे भड़कर सारथि, घोड़े, रथ और ध्वजसहित मरकर गिरने लगा ।। १५ ।।

गजो गजेनाभिहतः पपात
पदातिना चाभिहतः पदातिः ।
आवर्तमानान्यभिवर्तमानै-
र्घोरीकृतान्यद्भुतदर्शनानि ।
प्रासैश्च खड्गैश्च समाहतानि
सदश्ववृन्दानि सदश्ववृन्दैः ।। १६ ।।
सुवर्णतारागणभूषितानि
सूर्यप्रभाभानि शरावराणि ।
विदार्यमाणानि परश्वधैश्च
प्रासैश्च खड्गैश्च निपेतुरुर्व्याम् ।। १७ ।।

हाथी हाथीके आघातसे और पैदल पैदलकी चोटसे धराशायी होने लगे। श्रेष्ठ घोड़ोंके समूहपर उत्तम अश्वोंके समुदाय आक्रमण-प्रत्याक्रमण करते थे। ये सवारोंद्वारा किये हुए खड्ग और प्रासोंके आघातसे घायल होकर भयंकर और अद्भुत दिखायी देते थे। स्वर्णमय तारागणोंके चिह्नोंसे विभूषित सूर्यके समान चमकीले कवच फरसों, तलवारों और प्रासोंकी चोटसे विदीर्ण होकर धरतीपर गिर रहे थे ।। १६-१७ ।।

गजैर्विषाणैर्वरहस्तरुग्णाः
केचित् ससूता रथिनः प्रपेतुः ।
गजर्षभाश्चापि रथर्षभेण
निपातिता बाणहताः पृथिव्याम् ।। १८ ।।

दन्तार हाथियोंके दाँतों और सूँड़ोंके आघातसे रथ चूर-चूर हो जानेके कारण कितने ही रथी सारथि-सहित धरतीपर गिर पड़ते थे। कितने ही श्रेष्ठ रथियोंने बड़े बड़े हाथियोंको अपने बाणोंसे मारकर धराशायी कर दिया ।। १८ ।।

गजौघवेगोद्धतसादितानां

श्रुत्वा विषेदुः सहसा मनुष्याः ।
आर्तस्वनं सादिपदातियूनां
विषाणगात्रावरताडितानाम् ।। १९ ।।

हाथियोंके वेगसे कुचलकर कितने ही घुड़सवार और पैदल युवक मारे गये। वे उनके दाँतों और नीचेके अंगसे कुचलकर हताहत हो रहे थे। सहसा उनकी आर्त चीत्कार सुनकर सभी मनुष्योंको बड़ा खेद होता था ।। १९ ।।

सम्भ्रान्तनागाश्वरथे मुहूर्ते
महाक्षये सादिपदातियूनाम् ।
महारथैः सम्परिवार्यमाणो
ददर्श भीष्मः कपिराजकेतुम् ।। २० ।।

उस मुहूर्तमें जब कि घुड़सवारों और पैदल युवकोंका विकट संहार हो रहा था तथा हाथी, घोड़े और रथ सभी अत्यन्त घबराहटमें पड़े हुए थे, महा-रथियोंसे घिरे हुए भीष्मने वानरचिह्नसे युक्त ध्वजवाले अर्जुनको देखा ।। २० ।।

तं पञ्चतालोच्छ्रिततालकेतुः
सदश्ववेगाद्भुतवीर्ययानः ।
महास्त्रबाणाशनिदीप्तिमन्तं
किरीटिनं शान्तनवोऽभ्यधावत् ।। २१ ।।

भीष्मका ध्वज पाँच तालवृक्षोंसे चिह्नित और ऊँचा था। उनके रथमें अच्छे घोड़े जुते हुए थे, जिनके वेगसे वह रथ अद्भुत शक्तिशाली जान पड़ता था। उसपर आरूढ़ होकर शान्तनुनन्दन भीष्मने किरीटधारी अर्जुनपर धावा किया, जो बाण और अशनि आदि महान् दिव्यास्त्रोंकी दीप्तिसे उद्दीप्त हो रहे थे ।। २१ ।।

तथैव शक्रप्रतिमप्रभाव-
मिन्द्रात्मजं द्रोणमुखा विसस्रुः ।
कृपश्च शल्यश्च विविंशतिश्च
दुर्योधनः सौमदत्तिश्च राजन् ।। २२ ।।

राजन्! इसी प्रकार इन्द्रतुल्य प्रभावशाली इन्द्रकुमार अर्जुनपर द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, शल्य, विविंशति, दुर्योधन तथा भूरिश्रवाने भी आक्रमण किया ।। २२ ।।

ततो रथानां प्रमुखादुपेत्य
सर्वास्त्रवित् काञ्चनचित्रवर्मा ।
जवेन शूरोऽभिससार सर्वां-
स्तानर्जुनस्यात्मसुतोऽभिमन्युः ।। २३ ।।

तदनन्तर सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता, सोनेके विचित्र कवच धारण करनेवाले शूरवीर अर्जुनपुत्र अभिमन्युने एक श्रेष्ठ रथके द्वारा वेगपूर्वक वहाँ पहुँचकर उन समस्त कौरव

महारथियोंपर धावा किया ।। २३ ।।

तेषां महास्त्राणि महारथाना-
मसह्यकर्मा विनिहत्य कार्ष्णिः ।
बभौ महामन्त्रहुतार्चिमाली
सदोगतः सन् भगवानिवाग्निः ।। २४ ।।

अर्जुनकुमारका पराक्रम दूसरोंके लिये असह्य था। वह उन कौरव महारथियोंके बड़े-बड़े अस्त्रोंको नष्ट करके यज्ञ-मण्डपमें महान् मन्त्रोंद्वारा हविष्यकी आहुति पाकर प्रज्वलित हुई ज्वालामालाओंसे अलंकृत भगवान् अग्निदेवके समान शोभा पाने लगा ।। २४ ।।

ततः स तूर्णं रुधिरोदफेनां
कृत्वा नदीमाशु रणे रिपूणाम् ।
जगाम सौभद्रमतीत्य भीष्मो
महारथं पार्थमदीनसत्त्वः ।। २५ ।।

तदनन्तर उदार शक्तिशाली भीष्मने रणभूमिमें तुरंत ही शत्रुओंके रक्तरूपी जल एवं फेनसे भरी नदी बहाकर सुभद्राकुमार अभिमन्युको टालकर महारथी अर्जुनपर आक्रमण किया ।। २५ ।।

ततः प्रहस्याद्भुतविक्रमेण
गाण्डीवमुक्तेन शिलाशितेन ।
विपाठजालेन महास्त्रजालं
विनाशयामास किरीटमाली ।। २६ ।।

तब किरीटधारी अर्जुनने हँसकर अद्भुत पराक्रम दिखाते हुए गाण्डीव धनुषसे छोड़े और शिलापर रगड़कर तेज किये हुए विपाठ नामक बाणोंके समूहसे शत्रुओंके बड़े-बड़े अस्त्रोंके जालको छिन्न-भिन्न कर दिया ।। २६ ।।

तमुत्तमं सर्वधनुर्धराणा-
मसक्तकर्मा कपिराजकेतुः ।
भीष्मं महात्माभिववर्ष तूर्णं
शरौघजालैर्विमलैश्च भल्लैः ।। २७ ।।

तत्पश्चात् अप्रतिहत पराक्रमवाले महामना कपि-ध्वज अर्जुनने सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ भीष्मपर तुरंत ही निर्मल भल्लों तथा बाणसमूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। २७ ।।

तथैव भीष्माहतमन्तरिक्षे
महास्त्रजालं कपिराजकेतोः ।
विशीर्यमाणं ददृशुस्त्वदीया
दिवाकरेणेव तमोऽभिभूतम् ।। २८ ।।

इसी प्रकार आपके सैनिकोंने देखा कि आकाशमें कपिध्वज अर्जुनके बिछाये हुए महान् अस्त्रजालको भीष्मजीने अपने अस्त्रोंके आघातसे उसी प्रकार छिन्न-भिन्न कर दिया है, जैसे भगवान् सूर्य अन्धकारराशिको नष्ट कर देते हैं ।। २८ ।।

एवंविधं कार्मुकभीमनाद-
मदीनवत् सत्पुरुषोत्तमाभ्याम् ।
ददर्श लोकः कुरुसृंजयाश्च
तद् द्वैरथं भीष्मधनंजयाभ्याम् ।। २९ ।।

इस तरह सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ भीष्म और अर्जुनमें धनुषोंकी भयंकर टंकारसे युक्त, दैन्यरहित द्वैरथ-युद्ध होने लगा, जिसे कौरव और सृंजय वीरों तथा दूसरे लोगोंने भी देखा ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मार्जुनद्वैरथे षष्टितमोऽध्यायः ।। ६० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म और अर्जुनके द्वैरथ-युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६० ।।

एकषष्टितमोऽध्यायः

अभिमन्युका पराक्रम और धृष्टद्युम्नद्वारा शलके पुत्रका वध

संजय उवाच

द्रौणिर्भूरिश्रवाः शल्यश्चित्रसेनश्च मारिष ।
पुत्रः सांयमनेश्चैव सौभद्रं पर्यवारयन् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—माननीय राजन्! द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, शल्य, चित्रसेन तथा शलके पुत्रने सुभद्राकुमार अभिमन्युको आगे बढ़नेसे रोका ।। १ ।।

संसक्तमतितेजोभिस्तमेकं ददृशुर्जनाः ।
पञ्चभिर्मनुजव्याघ्रैर्गजैः सिंहशिशुं यथा ।। २ ।।

जैसे सिंहका बच्चा पाँच हाथियोंसे भिड़ा हुआहो, उसी प्रकार सुभद्राकुमार अभिमन्यु उन अत्यन्त तेजस्वी पाँच पुरुषसिंहोंसे अकेला ही युद्ध कर रहा था। यह बात वहाँ सब लोगोंने प्रत्यक्ष देखी ।। २ ।।

नातिलक्ष्यतया कश्चिन्न शौर्ये न पराक्रमे ।
बभूव सदृशः कार्ष्णेर्नास्त्रे नापि च लाघवे ।। ३ ।।

लक्ष्य वेधने, शौर्य प्रकट करने, पराक्रम दिखाने, अस्त्रज्ञान प्रदर्शित करने तथा हाथोंकी फुर्तीमें कोई भी अभिमन्युकी समानता न कर सका ।। ३ ।।

तथा तमात्मजं युद्धे विक्रमन्तमरिंदमम् ।
दृष्ट्वा पार्थः सुसंयत्तं सिंहनादमथानदत् ।। ४ ।।

अपने शत्रुसूदन पुत्र अभिमन्युको युद्धमें इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक पराक्रम प्रकट करते देख कुन्तीपुत्र अर्जुनने सिंहके समान गर्जना की ।। ४ ।।

पीडयानं तु तत् सैन्यं पौत्रं तव विशाम्पते ।
दृष्ट्वा त्वदीया राजेन्द्र समन्तात् पर्यवारयन् ।। ५ ।।

प्रजानाथ! राजेन्द्र! आपके पौत्र अभिमन्युको कौरवसेनाको पीड़ा देते देख आपके ही सैनिकोंने सब ओरसे घेर लिया ।। ५ ।।

ध्वजिनीं धार्तराष्ट्राणां दीनशत्रुरदीनवत् ।
प्रत्युद्ययौ स सौभद्रस्तेजसा च बलेन च ।। ६ ।।

अपने शत्रुओंको दीन बना देनेवाले सुभद्राकुमारने दैन्यरहित होकर अपने तेज और बलसे कौरवसेनापर धावा किया ।। ६ ।।

तस्य लाघवमार्गस्थमादित्यसदृशप्रभम् ।
व्यदृश्यत महच्चापं समरे युध्यतः परैः ।। ७ ।।

समरभूमिमें शत्रुओंके साथ युद्ध करते हुए अभिमन्युका विशाल धनुष अस्त्रलाघवके पथपर स्थित हो सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था ।। ७ ।।

स द्रौणिमिषुणैकेन विद्ध्वा शल्यं च पञ्चभिः ।
ध्वजं सांयमनेश्चैव सोऽष्टाभिश्चिच्छिदे ततः ।। ८ ।।

उसने अश्वत्थामाको एक और शल्यको पाँच बाणोंसे घायल करके शलके ध्वजको आठ बाणोंसे काट डाला ।। ८ ।।

रुक्मदण्डां महाशक्तिं प्रेषितां सौमदत्तिना ।
शितेनोरगसंकाशां पत्रिणापजहार ताम् ।। ९ ।।

फिर भूरिश्रवाकी चलायी हुई स्वर्णदण्डविभूषित सर्पसदृश महाशक्तिको तीखे बाणसे छिन्न-भिन्न कर डाला ।। ९ ।।

शल्यस्य च महावेगानस्यतः समरे शरान् ।
(धनुश्चिच्छेद भल्लेन तीव्रवेगेन फाल्गुनिः ।)
निवार्यार्जुनदायादो जघान चतुरो हयान् ।। १० ।।

शल्य समरभूमिमें बड़े वेगशाली बाणोंका प्रहार कर रहे थे; किंतु अर्जुनपुत्र अभिमन्युने तीव्र वेगवाले भल्लसे उनके धनुषके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उनकी प्रगतिको रोककर पार्थकुमारने चारों घोड़ोंको मार गिराया ।। १० ।।

भूरिश्रवाश्च शल्यश्च द्रौणिः सांयमनिः शलः ।
नाभ्यवर्तन्त संरब्धाः कार्ष्णेर्बाहुबलोदयम् ।। ११ ।।

भूरिश्रवा, शल्य, अश्वत्थामा तथा सांयमनि (सोमदत्तपुत्र) शल—ये सब लोग अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए थे, तथापि अभिमन्युके बाहुबलकी वृद्धिको रोक न सके ।। ११ ।।

ततस्त्रिगर्ता राजेन्द्र मद्राश्च सह केकयैः ।
पञ्चविंशतिसाहस्रास्तव पुत्रेण चोदिताः ।। १२ ।।
धनुर्वेदविदो मुख्या अजेयाः शत्रुभिर्युधि ।
सहपुत्रं जिघांसन्तं परिवव्रुः किरीटिनम् ।। १३ ।।

राजेन्द्र! तब आपके पुत्र दुर्योधनसे प्रेरित होकर त्रिगर्तों तथा केकयोंसहित मद्रदेशके पचीस हजार योद्धाओंने शत्रुवधकी इच्छा रखनेवाले पुत्रसहित किरीटधारी अर्जुनको घेर लिया। वे सब-के-सब धनुर्वेदके प्रधान ज्ञाता और युद्धस्थलमें शत्रुओंके लिये अजेय थे ।। १२-१३ ।।

तौ तु तत्र पितापुत्रौ परिक्षिप्तौ महारथौ ।
ददर्श राजन् पाञ्चाल्यः सेनापतिररिंदम ।। १४ ।।
स वारणरथौघानां सहस्रैर्बहुभिर्वृतः ।
वाजिभिः पत्तिभिश्चैव वृतः शतसहस्रशः ।। १५ ।।
धनुर्विस्फार्य संक्रुद्धो नोदयित्वा च वाहिनीम् ।

ययौ तं मद्रकानीकं केकयांश्च परंतप ।। १६ ।।

शत्रुदमन नरेश! पिता-पुत्र महारथी अर्जुन और अभिमन्युको शत्रुओंद्वारा घिरे हुए देख पांचालराजकुमार सेनापति धृष्टद्युम्न कई हजार हाथियों और रथों तथा सैकड़ों-हजारों घुड़सवारों एवं पैदलोंसे घिरकर अपनी विशाल वाहिनीको आगे बढ़ाते तथा क्रोधपूर्वक धनुषकी टंकार करते हुए मद्रों और केकयोंकी सेनापर चढ़ आये ।। १४—१६ ।।

तेन कीर्तिमता गुप्तमनीकं दृढधन्वना ।
संरब्धरथनागाश्वं योत्स्यमानमशोभत ।। १७ ।।

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले यशस्वी धृष्टद्युम्नसे सुरक्षित हुई वह सेना युद्धके लिये उद्यत हो बड़ी शोभा पाने लगी, उसके रथी, हाथीसवार और घुड़सवार सभी रोषावेशमें भरे हुए थे ।। १७ ।।

सोऽर्जुनप्रमुखे यान्तं पाञ्चालकुलवर्धनः ।
त्रिभिः शारद्वतं बाणैर्जत्रुदेशे समार्पयत् ।। १८ ।।

पांचालवंशकी वृद्धि करनेवाले धृष्टद्युम्नने अर्जुनके सामने जाते हुए कृपाचार्यको उनके गलेकी हँसलीपर तीन बाण मारे ।। १८ ।।

ततः स मद्रकान् हत्वा दशैव दशभिः शरैः ।
पृष्ठरक्षं जघानाशु भल्लेन कृतवर्मणः ।। १९ ।।

तत्पश्चात् दस बाणोंसे मद्रदेशीय दस योद्धाओंको मारकर तुरंत ही एक भल्लके द्वारा कृतवर्माके पृष्ठ-रक्षकको मार डाला ।। १९ ।।

दमनं चापि दायादं पौरवस्य महात्मनः ।
जघान विमलाग्रेण नाराचेन परंतपः ।। २० ।।

इसके बाद शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डव-सेनापतिने निर्मल धारवाले नाराचसे महामना पौरवके पुत्र दमनको भी मार डाला ।। २० ।।

ततः सांयमनेः पुत्रः पाञ्चाल्यं युद्धदुर्मदम् ।
अविध्यत् त्रिंशता बाणैर्दशभिश्चास्य सारथिम् ।। २१ ।।

तब शलके पुत्रने तीस बाणोंसे रणदुर्मद धृष्टद्युम्नको और दस बाणोंद्वारा उनके सारथिको घायल कर दिया ।।

सोऽतिविद्धो महेष्वासः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
भल्लेन भृशतीक्ष्णेन निचकर्तास्य कार्मुकम् ।। २२ ।।

इस प्रकार अत्यन्त घायल होकर अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नने अत्यन्त तीखे भल्लसे शलके पुत्रका धनुष काट दिया ।। २२ ।।

अथैनं पञ्चविंशत्या क्षिप्रमेव समार्पयत् ।
अश्वांश्चास्यावधीद् राजन्नुभौ तौ पार्ष्णि सारथी ।। २३ ।।

राजन्! तत्पश्चात् उन्होंने शीघ्र ही पचीस बाणोंसे शलपुत्रको घायल कर दिया तथा उसके घोड़ों एवं दोनों पृष्ठरक्षकोंको भी मृत्युके मुखमें डाल दिया ।। २३ ।।

स हताश्वे रथे तिष्ठन् ददर्श भरतर्षभ ।
पुत्रः सांयमनेः पुत्रं पाञ्चाल्यस्य महात्मनः ।। २४ ।।

भरतश्रेष्ठ! जिसके घोड़े मार दिये गये थे, उसी रथपर खड़े हुए शलके पुत्रने महामना धृष्टद्युम्नके पुत्रको देखा ।। २४ ।।

स प्रगृह्य महाघोरं निस्त्रिंशवरमायसम् ।
पदातिस्तूर्णमानर्च्छद् रथस्थं पुरुषर्षभः ।। २५ ।।

तब पुरुषश्रेष्ठ शलपुत्र तुरंत ही एक अत्यन्त भयंकर लोहेकी बनी हुई बड़ी तलवार हाथमें ले पैदल ही रथपर बैठे हुए पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्नकी ओर चला ।। २५ ।।

तं महौघमिवायान्तं खात् पतन्तमिवोरगम् ।
भ्रान्तावरणनिस्त्रिंशं कालोत्सृष्टमिवान्तकम् ।। २६ ।।
दीप्यमानमिवादित्यं मत्तवारणविक्रमम् ।
अपश्यन् पाण्डवास्तत्र धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।। २७ ।।

उस युद्धमें पाण्डवों तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने मतवाले गजराजके समान पराक्रमी और सूर्यके समान दीप्तिमान् शलपुत्रको आते देखा। वह महान् वेगशाली जलप्रवाह, आकाशसे गिरते हुए सर्प तथा कालकी भेजी हुई मृत्युके समान जान पड़ता था। उसके हाथमें नंगी तलवार थी ।। २६-२७ ।।

तस्य पाञ्चालदायादः प्रतीपमभिधावतः ।
शितनिस्त्रिंशहस्तस्य शरावरणधारिणः ।। २८ ।।
बाणवेगमतीतस्य तथाभ्याशमुपेयुषः ।
त्वरन् सेनापतिः क्रुद्धो बिभेद गदया शिरः ।। २९ ।।

वह विरोधभाव लेकर धावा कर रहा था। उसके हाथमें तीखी तलवार थी। उसने अपने अंगोंमें कवच धारण कर रखा था। वह बाणके वेगको लाँघकर अत्यन्त निकट आ पहुँचा था। उस दशामें पांचालराजकुमार सेनापति धृष्टद्युम्नने तुरंत क्रोधपूर्वक गदासे आघात करके उसके मस्तकको विदीर्ण कर दिया ।। २८-२९ ।।

तस्य राजन् सनिस्त्रिंशं सुप्रभं च शरावरम् ।
हतस्य पततो हस्ताद् वेगेन न्यपतद् भुवि ।। ३० ।।

राजन्! उसके मारे जानेपर शरीरसे चमकीला कवच और हाथसे तलवार उसके गिरनेके साथ ही वेगपूर्वक पृथ्वीपर गिरी ।। ३० ।।

तं निहत्य गदाग्रेण स लेभे परमां मुदम् ।
पुत्रः पाञ्चालराजस्य महात्मा भीमविक्रमः ।। ३१ ।।

पांचालराजका भयानक पराक्रमी पुत्र महामना धृष्टद्युम्न गदाके अग्रभागसे शलपुत्रको मारकर अत्यन्त प्रसन्न हुए ।। ३१ ।।

तस्मिन् हते महेष्वासे राजपुत्रे महारथे ।
हाहाकारो महानासीत् तव सैन्यस्य मारिष ।। ३२ ।।

आर्य! उस महाधनुर्धर महारथी राजकुमारके मारे जानेपर आपकी सेनामें महान् हाहाकार मच गया ।। ३२ ।।

ततः सांयमनिः क्रुद्धो दृष्ट्वा निहतमात्मजम् ।
अभिदुद्राव वेगेन पाञ्चाल्यं युद्धदुर्मदम् ।। ३३ ।।

अपने पुत्रको मारा गया देख संयमनकुमार शलने कुपित होकर रणदुर्मद पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्नपर बड़े वेगसे धावा किया ।। ३३ ।।

तौ तत्र समरे शूरौ समेतौ युद्धदुर्मदौ ।
ददृशुः सर्वराजानः कुरवः पाण्डवास्तथा ।। ३४ ।।

युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले वे दोनों शूरवीर उस समरभूमिमें एक दूसरेसे भिड़ गये। कौरव और पाण्डव दोनों पक्षोंके समस्त भूपाल उनका युद्ध देखने लगे ।। ३४ ।।

ततः सांयमनिः क्रुद्धः पार्षतं परवीरहा ।
आजघान त्रिभिर्बाणैस्तोत्रैरिव महाद्विपम् ।। ३५ ।।

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले शलने जैसे महावत किसी महान् गजराजको अंकुशोंसे मारे, उसी प्रकार द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नको क्रोधपूर्वक तीन बाणोंसे घायल किया ।। ३५ ।।

तथैव पार्षतं शूरं शल्यः समितिशोभनः ।
आजघानोरसि क्रुद्धस्ततो युद्धमवर्तत ।। ३६ ।।

इसी प्रकार संग्राममें शोभा पानेवाले शल्यने भी क्रुद्ध होकर शूरवीर धृष्टद्युम्नकी छातीपर प्रहार किया। फिर तो वहाँ भयंकर युद्ध छिड़ गया ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थयुद्धदिवसे सांयमनिपुत्रवधे एकषष्टितमोऽध्यायः ।। ६१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिनके युद्धमें शलपुत्रके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६१ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १/२ श्लोक मिलाकर कुल ३६ १/२ श्लोक हैं।]

द्विषष्टितमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न और शल्य आदि दोनों पक्षके वीरोंका युद्ध तथा भीमसेनके द्वारा गजसेनाका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

दैवमेव परं मन्ये पौरुषादपि संजय ।
यत् सैन्यं मम पुत्रस्य पाण्डुसैन्येन बाध्यते ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! मैं पुरुषार्थकी अपेक्षा भी दैवको ही प्रधान मानता हूँ, जिससे मेरे पुत्र दुर्योधनकी सेना पाण्डवोंकी सेनासे पीड़ित हो रही है ।। १ ।।

नित्यं हि मामकांस्तात हतानेव हि शंससि ।
अव्यग्रांश्च प्रहृष्टांश्च नित्यं शंससि पाण्डवान् ।। २ ।।

तात! तुम प्रतिदिन मेरे ही सैनिकोंके मारे जानेकी बात कहते हो और पाण्डवोंको सदा व्यग्रतासे रहित तथा हर्षोल्लाससे परिपूर्ण बताते हो ।। २ ।।

हीनान् पुरुषकारेण मामकानद्य संजय ।
पातितान् पात्यमानांश्च हतानेव च शंससि ।। ३ ।।

संजय! आजकल मेरे पुत्र और सैनिक पुरुषार्थसे हीन हो रहे हैं और शत्रुओंने उन्हें धराशायी किया एवं मार डाला है। प्रतिदिन वे शत्रुओंके हाथसे मारे ही जा रहे हैं। उनके सम्बन्धमें तुम सदा ऐसे ही समाचार देते हो ।। ३ ।।

युध्यमानान् यथाशक्ति घटमानाञ्जयं प्रति ।
पाण्डवा हि जयन्त्येव जीयन्ते चैव मामकाः ।। ४ ।।

मेरे बेटे विजयके लिये यथाशक्ति चेष्टा करते और लड़ते हैं, तो भी पाण्डव ही विजयी होते और मेरे पुत्रोंकी ही पराजय होती है ।। ४ ।।

सोऽहं तीव्राणि दुःखानि दुर्योधनकृतानि च ।
श्रोष्यामि सततं तात दुःसहानि बहूनि च ।। ५ ।।

तात! ऐसा जान पड़ता है कि मुझे दुर्योधनके कारण सदा अत्यन्त दुःसह एवं तीव्र दुःखकी ही बहुत-सी बातें सुननी पड़ेंगी ।। ५ ।।

तमुपायं न पश्यामि जीयेरन् येन पाण्डवाः ।
मामका विजयं युद्धे प्राप्नुयुर्येन संजय ।। ६ ।।

संजय! मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देखता, जिससे पाण्डव हार जायँ और मेरे पुत्रोंको युद्धमें विजय प्राप्त हो ।। ६ ।।

संजय उवाच

क्षयं मनुष्यदेहानां गजवाजिरथक्षयम् ।
शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा तवैवापनयो महान् ।। ७ ।।

संजयने कहा—राजन्! उस युद्धमें मानवशरीरोंका भारी संहार हुआ है। हाथी, घोड़े और रथोंका भी विनाश देखा गया है। वह सब आप स्थिर होकर सुनिये। यह आपके ही महान् अन्यायका फल है ।। ७ ।।

धृष्टद्युम्नस्तु शल्येन पीडितो नवभिः शरैः ।
पीडयामास संक्रुद्धो मद्राधिपतिमायसैः ।। ८ ।।

शल्यके बाणोंसे पीड़ित होकर धृष्टद्युम्न अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने लोहेके बने हुए नौ बाणोंसे मद्रराज शल्यको गहरी पीड़ा पहुँचायी ।। ८ ।।

तत्राद्भुतमपश्याम पार्षतस्य पराक्रमम् ।
न्यवारयत यस्तूर्णं शल्यं समितिशोभनम् ।। ९ ।।

वहाँ हमलोगोंने धृष्टद्युम्नका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि उन्होंने संग्रामभूमिमें शोभा पानेवाले राजा शल्यको तुरंत ही आगे बढ़नेसे रोक दिया ।। ९ ।।

नान्तरं दृश्यते तत्र तयोश्च रथिनोस्तदा ।
मुहूर्तमिव तद् युद्धं तयोः सममिवाभवत् ।। १० ।।

उस समय उन दोनों महारथियोंमें पराक्रमकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था। दो घड़ीतक दोनोंमें समान-सा युद्ध होता रहा ।। १० ।।

ततः शल्यो महाराज धृष्टद्युम्नस्य संयुगे ।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन पीतेन निशितेन च ।। ११ ।।

महाराज! तदनन्तर राजा शल्यने युद्धस्थलमें शाणपर तीक्ष्ण किये हुए पीले रंगके भल्ल नामक बाणसे धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया ।। ११ ।।

अथैनं शरवर्षेण च्छादयामास संयुगे ।
गिरिं जलागमे यद्वज्जलदा जलवृष्टिभिः ।। १२ ।।

इसके बाद जैसे बादल बरसातमें पर्वतपर जलकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने धृष्टद्युम्नपर रणभूमिमें बाणोंकी वर्षा करके उन्हें सब ओरसे ढक दिया ।। १२ ।।

अभिमन्युस्ततः क्रुद्धो धृष्टद्युम्ने च पीडिते ।
अभिदुद्राव वेगेन मद्रराजरथं प्रति ।। १३ ।।

तदनन्तर धृष्टद्युम्नके पीड़ित होनेपर क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने मद्रराज शल्यके रथपर बड़े वेगसे आक्रमण किया ।। १३ ।।

ततो मद्राधिपरथं कार्ष्णिः प्राप्यातिकोपनः ।
आर्तायनिममेयात्मा विव्याध निशितैः शरैः ।। १४ ।।

मद्रराजके रथके निकट पहुँचकर अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न अर्जुनकुमारने अपने पैने बाणोंद्वारा ऋतायनपुत्र राजा शल्यको घायल कर दिया ।। १४ ।।

ततस्तु तावका राजन् परीप्सन्तोऽर्जुनिं रणे ।
मद्रराजरथं तूर्णं परिवार्यावतस्थिरे ।। १५ ।।

राजन्! तब आपके पुत्र रणभूमिमें अभिमन्युको बन्दी बनानेकी इच्छासे तुरंत वहाँ आये और मद्रराज शल्यके रथको चारों ओरसे घेरकर युद्धके लिये खड़े हो गये ।। १५ ।।

दुर्योधनो विकर्णश्च दुःशासनविविंशती ।
दुर्मर्षणो दुःसहश्च चित्रसेनोऽथ दुर्मुखः ।। १६ ।।
सत्यव्रतश्च भद्रं ते पुरुमित्रश्च भारत ।
एते मद्राधिपरथं पालयन्तः स्थिता रणे ।। १७ ।।

भारत! आपका भला हो। दुर्योधन, विकर्ण, दुःशासन, विविंशति, दुर्मर्षण, दुःसह, चित्रसेन, दुर्मुख, सत्यव्रत तथा पुरुमित्र—ये आपके पुत्र मद्रराजके रथकी रक्षा करते हुए युद्धभूमिमें डटे हुए थे ।। १६-१७ ।।

तान् भीमसेनः संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।। १८ ।।
धार्तराष्ट्रान् दश रथान् दशैव प्रत्यवारयन् ।
नानारूपाणि शस्त्राणि विसृजन्तो विशाम्पते ।। १९ ।।

आपके इन दस महारथी पुत्रोंको क्रोधमें भरे हुए भीमसेन, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव, पाँचों भाई द्रौपदीकुमार और अभिमन्यु—इन दस ही महारथियोंने रोका। प्रजानाथ! ये सब लोग नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार कर रहे थे ।। १८-१९ ।।

अभ्यवर्तन्त संहृष्टाः परस्परवधैषिणः ।
ते वै समेयुः संग्रामे राजन् दुर्मन्त्रिते तव ।। २० ।।

राजन्! ये सब एक-दूसरेके वधकी इच्छा रखकर हर्ष और उत्साहके साथ क्षत्रियोंका सामना करते थे। आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप ही इन सब योद्धाओंकी आपसमें भिड़न्त हुई थी ।। २० ।।

तस्मिन् दशरथे क्रुद्धे वर्तमाने महाभये ।
तावकानां परेषां वा प्रेक्षका रथिनोऽभवन् ।। २१ ।।

जिस समय ये दसों महारथी क्रोधमें भरकर अत्यन्त भयंकर युद्धमें लगे हुए थे, उस समय आपकी और पाण्डवोंकी सेनाके दूसरे रथी दर्शक होकर देखते थे ।।

शस्त्राण्यनेकरूपाणि विसृजन्तो महारथाः ।
अन्योन्यमभिनर्दन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।। २२ ।।

किंतु आपके और पाण्डवोंके वे महारथी वीर एक-दूसरेपर अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए गर्जते और युद्ध करते थे ।। २२ ।।

ते तदा जातसंरम्भाः सर्वेऽन्योन्यं जिघांसवः ।

अन्योन्यमभिमर्दन्तः स्पर्धमानाः परस्परम् ।। २३ ।।

उस समय उन सबमें क्रोध भरा हुआ था। सभी एक दूसरेके वधकी इच्छा रखते थे। सबमें परस्पर लाग-डाँट थी और सभी सबको कुचलनेकी चेष्टा करते थे ।। २३ ।।

अन्योन्यस्पर्धया राजन् ज्ञातयः सङ्गता मिथः ।
महास्त्राणि विमुञ्चन्तः समापेतुरमर्षिणः ।। २४ ।।

महाराज! वे सब आपसमें कुटुम्बी—भाई-बन्धु थे, परंतु परस्पर स्पर्धा रखनेके कारण लड़ रहे थे। एक दूसरेके प्रति अमर्षमें भरकर बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रहार करते हुए आक्रमण-प्रत्याक्रमण करते थे ।। २४ ।।

दुर्योधनस्तु संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नं महारणे ।
विव्याध निशितैर्बाणैश्चतुर्भिः समरे द्रुतम् ।। २५ ।।

दुर्योधनने कुपित होकर उस महासंग्राममें अपने चार तीखे बाणोंद्वारा तुरंत ही धृष्टद्युम्नको बींध दिया ।।

दुर्मर्षणश्च विंशत्या चित्रसेनश्च पञ्चभिः ।
दुर्मुखो नवभिर्बाणैर्दुःसहश्चापि सप्तभिः ।। २६ ।।
विविंशतिः पञ्चभिश्च त्रिभिर्दुःशासनस्तथा ।
तान् प्रत्यविध्यद् राजेन्द्र पार्षतः शत्रुतापनः ।। २७ ।।
एकैकं पञ्चविंशत्या दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

दुर्मर्षणने बीस, चित्रसेनने पाँच, दुर्मुखने नौ, दुःसहने सात, विविंशतिने पाँच तथा दुःशासनने तीन बाणोंसे उन सबको बींध डाला। राजेन्द्र! तब शत्रुओंको संताप देनेवाले धृष्टद्युम्नने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए दुर्योधन आदिमेंसे प्रत्येकको पचीस-पचीस बाणोंसे घायल किया ।। २६-२७ १/२ ।।

सत्यव्रतं च समरे पुरुमित्रं च भारत ।। २८ ।।
अभिमन्युरविध्यत् तु दशभिर्दशभिः शरैः ।

भारत! अभिमन्युने समरभूमिमें सत्यव्रत और पुरुमित्रको दस-दस बाणोंसे पीड़ित किया ।। २८ १/२ ।।

माद्रीपुत्रौ तु समरे मातुलं मातृनन्दनौ ।। २९ ।।
अविध्येतां शरैस्तीक्ष्णैस्तदद्भुतमिवाभवत् ।

माताको आनन्दित करनेवाले माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने अपने मामा शल्यको पैने बाणोंसे घायल कर दिया। यह अद्भुत-सी बात हुई ।। २९ १/२ ।।

ततः शल्यो महाराज स्वस्रीयौ रथिनां वरौ ।। ३० ।।
शरैर्बहुभिरानर्च्छत् कृतप्रतिकृतैषिणौ ।
छाद्यमानौ ततस्तौ तु माद्रीपुत्रौ न चेलतुः ।। ३१ ।।

महाराज! तदनन्तर शल्यने किये हुए प्रहारका बदला चुकानेकी इच्छा रखनेवाले रथियोंमें श्रेष्ठ अपने दोनों भानजोंको अनेक बाणोंसे पीड़ित किया। उनके बाणोंसे आच्छादित होनेपर भी नकुल-सहदेव विचलित नहीं हुए ।। ३०-३१ ।।

अथ दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
विधित्सुः कलहस्यान्तं गदां जग्राह पाण्डवः ।। ३२ ।।

तदनन्तर महाबली पाण्डुपुत्र भीमसेनने दुर्योधनको देखकर झगड़ेका अन्त कर डालनेकी इच्छासे गदा उठा ली ।। ३२ ।।

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
भीमसेनं महाबाहुं पुत्रास्ते प्राद्रवन् भयात् ।। ३३ ।।

गदा उठाये हुए महाबाहु भीमसेनको एक शिखरसे युक्त कैलास पर्वतके समान उपस्थित देख आपके सभी पुत्र भयके मारे भाग गये ।। ३३ ।।

दुर्योधनस्तु संक्रुद्धो मागधं समचोदयत् ।
अनीकं दशसाहस्रं कुञ्जराणां तरस्विनाम् ।। ३४ ।।

तब दुर्योधनने कुपित होकर मगधदेशीय दस हजार हाथियोंकी वेगशाली सेनाको युद्धके लिये प्रेरित किया ।। ३४ ।।

गजानीकेन सहितस्तेन राजा सुयोधनः ।
मागधं पुरतः कृत्वा भीमसेनं समभ्ययात् ।। ३५ ।।

उस गजसेनाके साथ मागधको आगे करके दुर्योधनने भीमसेनपर आक्रमण किया ।। ३५ ।।

आपतन्तं च तं दृष्ट्वा गजानीकं वृकोदरः ।
गदापाणिरवारोहद् रथात् सिंह इवोन्नदन् ।। ३६ ।।

उस गजसेनाको आते देख भीमसेन हाथमें गदा लेकर सिंहके समान गर्जना करते हुए रथसे उतर पड़े ।। ३६ ।।

अद्रिसारमयीं गुर्वीं प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
अभ्यधावद् गजानीकं व्यादितास्य इवान्तकः ।। ३७ ।।

लोहेकी उस विशाल एवं भारी गदाको लेकर वे मुँह बाये हुए कालके समान उस गजसेनाकी ओर दौड़े ।। ३७ ।।

स गजान् गदया निघ्नन् व्यचरत् समरे बली ।
भीमसेनो महाबाहुः सवज्र इव वासवः ।। ३८ ।।

बलवान् महाबाहु भीमसेन वज्रधारी इन्द्रके समान गदासे हाथियोंका संहार करते हुए समरांगणमें विचरने लगे ।। ३८ ।।

तस्य नादेन महता मनोहृदयकम्पिना ।
व्यत्यचेष्टन्त संहत्य गजा भीमस्य गर्जतः ।। ३९ ।।

मन और हृदयको कँपा देनेवाली गर्जते हुए भीमसेनकी उस भीषण गर्जनासे सब हाथी एकत्र हो भयके मारे निश्चेष्ट एवं अचेत-से हो गये ।। ३९ ।।

ततस्तु द्रौपदीपुत्राः सौभद्रश्च महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।। ४० ।।
पृष्ठं भीमस्य रक्षन्तः शरवर्षेण वारणान् ।
अभ्यवर्षन्त धावन्तो मेघा इव गिरीन् यथा ।। ४१ ।।

तत्पश्चात् द्रौपदीके पाँचों पुत्र, महारथी अभिमन्यु, नकुल-सहदेव तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न—ये सब लोग भीमसेनके पृष्ठभागकी रक्षा करते हुए हाथियोंपर उसी प्रकार दौड़-दौड़कर बाण-वर्षा करने लगे, जैसे बादल पर्वतोंपर पानीकी बूँदें बरसाते हैं ।। ४०-४१ ।।

क्षुरैः क्षुरप्रैर्भल्लैश्च पीतैश्चाञ्जलिकैः शितैः ।
व्यहरन्नुत्तमाङ्गानि पाण्डवा गजयोधिनाम् ।। ४२ ।।

पाण्डव रथी क्षुर, क्षुरप्र, पीले रंगके भल्ल तथा तीखे आंजलिक नामक बाणोंद्वारा हाथीसवार योद्धाओंके मस्तक काट-काटकर गिराने लगे ।। ४२ ।।

शिरोभिः प्रपतद्भिश्च बाहुभिश्च विभूषितैः ।
अश्मवृष्टिरिवाभाति पाणिभिश्च सहाङ्कुशैः ।। ४३ ।।

उनके शिरों, बाजूबन्दविभूषित भुजाओं और अंकुशोंसहित हाथोंके गिरनेसे ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशसे ओले और पत्थरोंकी वर्षा हो रही हो ।।

हृतोत्तमाङ्गाः स्कन्धेषु गजानां गजयोधिनः ।
अदृश्यन्ताचलाग्रेषु द्रुमा भग्नशिखा इव ।। ४४ ।।

मस्तक कट जानेपर भी हाथियोंकी पीठपर टिके हुए गजारोही योद्धाओंके धड़ पर्वतके शिखरोंपर स्थित हुए शिखाहीन वृक्षोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। ४४ ।।

धृष्टद्युम्नहतानन्यानपश्याम महागजान् ।
पततः पात्यमानांश्च पार्षतेन महात्मना ।। ४५ ।।

हमलोगोंने धृष्टद्युम्नके द्वारा मारे गये बहुत-से हाथियोंको देखा, महामना द्रुपदकुमारकी मार खाकर बहुत-से हाथी गिरे और गिराये जा रहे थे ।। ४५ ।।

मागधोऽथ महीपालो गजमैरावणोपमम् ।
प्रेषयामास समरे सौभद्रस्य रथं प्रति ।। ४६ ।।

इसी समय मगधदेशीय भूपालने युद्धस्थलमें अभिमन्युके रथकी ओर ऐरावतके समान एक विशाल हाथीको प्रेरित किया ।। ४६ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मागधस्य महागजम् ।
जघानैकेषुणा वीरः सौभद्रः परवीरहा ।। ४७ ।।

मगधनरेशके उस विशाल गजको आते देख शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले वीर सुभद्राकुमारने उसे एक ही बाणसे मार डाला ।। ४७ ।।

तस्यावर्जितनागस्य कार्ष्णिः परपुरंजयः ।
राज्ञो रजतपुङ्खेन भल्लेनापाहरच्छिरः ।। ४८ ।।

फिर शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले अर्जुनपुत्र अभिमन्युने मरनेपर भी हाथीको न छोड़नेवाले मगधराजका मस्तक रजतमय पंखवाले भल्लके द्वारा काट गिराया ।। ४८ ।।

विगाह्य तद् गजानीकं भीमसेनोऽपि पाण्डवः ।
व्यचरत् समरे मृद्नन् गजानिन्द्रो गिरीनिव ।। ४९ ।।

उधर पाण्डुनन्दन भीमसेन भी गजसेनामें घुसकर पर्वतोंको विदीर्ण करनेवाले देवेन्द्रके समान हाथियोंको रौंदते हुए समरांगणमें विचरने लगे ।। ४९ ।।

एकप्रहारनिहतान् भीमसेनेन दन्तिनः ।
अपश्याम रणे तस्मिन् गिरीन् वज्रहतानिव ।। ५० ।।

महाराज! उस युद्धस्थलमें हमने वज्रके मारे हुए पर्वतोंकी भाँति भीमसेनके एक ही प्रहारसे दन्तार हाथियोंको भी मरते देखा था ।। ५० ।।

भग्नदन्तान् भग्नकरान् भग्नसक्थांश्च वारणान् ।
भग्नपृष्ठत्रिकानन्यान् निहतान् पर्वतोपमान् ।। ५१ ।।
नदतः सीदतश्चान्यान् विमुखान् समरे गतान् ।
विद्रुतान् भयसंविग्नांस्तथा विशकृतोऽपरान् ।। ५२ ।।

किन्हींके दाँत टूट गये, किन्हींकी सूँड़ कट गयी, कितनोंकी जाँघें टूट गयीं, किन्हींकी पीठ टूट गयी और कितने ही पर्वतोंके समान विशालकाय गजराज मारे गये, कुछ चिग्घाड़ रहे थे, कुछ कष्टसे कराह रहे थे, कुछ युद्धभूमिसे विमुख होकर भागने लगे थे और कुछ भयसे व्याकुल होकर मल-मूत्र कर रहे थे। इन सबको मैंने अपनी आँखों देखा था ।। ५१-५२ ।।

भीमसेनस्य मार्गेषु पतितान् पर्वतोपमान् ।
अपश्यं निहतान् नागान् राजन् निष्ठीवतोऽपरान् ।। ५३ ।।

भीमसेनके मार्गोंमें उनके द्वारा मारे गये पर्वतोपम हाथी पड़े दिखायी दिये। राजन्! अन्य बहुत-से हाथियोंको मैंने मुँहसे फेन फेंकते देखा था ।। ५३ ।।

वमन्तो रुधिरं चान्ये भिन्नकुम्भा महागजाः ।
विह्वलन्तो गता भूमिं शैला इव धरातले ।। ५४ ।।

कितने ही विशालकाय हाथी खून उगल रहे थे और उनके कुम्भस्थल फट गये थे। बहुत-से व्याकुल होकर इस भूतलपर पर्वतोंके समान पड़े थे ।। ५४ ।।

मेदोरुधिरदिग्धाङ्गो वसामज्जासमुक्षितः ।
व्यचरत् समरे भीमो दण्डपाणिरिवान्तकः ।। ५५ ।।

भीमसेनका सारा शरीर मेदा तथा रक्तसे लिए हो रहा था। वे वसा और मज्जासे नहा गये थे और हाथमें गदा लिये दण्डपाणि यमराजके समान उस युद्धभूमिमें विचर रहे थे ।। ५५ ।।

गजानां रुधिरक्लिन्नां गदां बिभ्रद् वृकोदरः ।
घोरः प्रतिभयश्चासीत् पिनाकीव पिनाकधृक् ।। ५६ ।।

हाथियोंके खूनसे भीगी हुई गदा धारण किये भीमसेन पिनाकधारी भगवान् रुद्रके समान घोर एवं भयंकर दिखायी देते थे ।। ५६ ।।

सम्मथ्यमानाः क्रुद्धेन भीमसेनेन दन्तिनः ।
सहसा प्राद्रवन् क्लिष्टा मृद्नन्तस्तव वाहिनीम् ।। ५७ ।।

क्रोधमें भरे हुए भीमसेन हाथियोंको मथे डालते थे; अतः वे उनके द्वारा अत्यन्त क्लेश पाकर आपकी सेनाको कुचलते हुए सहसा युद्धस्थलसे भाग चले ।। ५७ ।।

तं हि वीरं महेष्वासं सौभद्रप्रमुखा रथाः ।

पर्यरक्षन्त युध्यन्तं वज्रायुधमिवामराः ।। ५८ ।।

जैसे देवता वज्रधारी इन्द्रकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सुभद्राकुमार आदि पाण्डव योद्धा युद्धमें तत्पर हुए महाधनुर्धर वीर भीमसेनकी सब ओरसे रक्षा करते थे ।। ५८ ।।

शोणिताक्तां गदां बिभ्रदुक्षितां गजशोणितैः ।

कृतान्त इव रौद्रात्मा भीमसेनो व्यदृश्यत ।। ५९ ।।

खूनमें सनी तथा हाथियोंके रक्तसे भीगी हुई गदा लिये रौद्ररूपधारी भीमसेन यमराजके समान दिखायी देते थे ।। ५९ ।।

व्यायच्छमानं गदया दिक्षु सर्वासु भारत ।

अपश्याम रणे भीमं नृत्यन्तमिव शंकरम् ।। ६० ।।

भारत! भीमसेन गदा लेकर सम्पूर्ण दिशाओंमें व्यायाम-सा कर रहे थे। समरभूमिमें भीमको हमलोगोंने ताण्डव-नृत्य करते हुए भगवान् शंकरके समान देखा था ।। ६० ।।

यमदण्डोपमां गुर्वीमिन्द्राशनिसमस्वनाम् ।

अपश्याम महाराज रौद्रां विशसनीं गदाम् ।। ६१ ।।

महाराज! भीमसेनकी भारी और भयंकर गदा सबका संहार करनेवाली है। हमें तो वह यमदण्डके समान दिखायी देती थी। प्रहार करनेपर उससे इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान आवाज होती थी ।। ६१ ।।

विमिश्रां केशमज्जाभिः प्रदिग्धां रुधिरेण च ।

पिनाकमिव रुद्रस्य क्रुद्धस्याभिघ्नतः पशून् ।। ६२ ।।

रक्तसे भीगी तथा केश और मज्जासे मिली हुई उस गदाको हमने प्रलयकालमें क्रोधसे भरकर समस्त पशुओं (जीवों)-का संहार करनेवाले रुद्रदेवके पिनाकके समान समझा था ।। ६२ ।।

यथा पशूनां संघातं यष्ट्या पालः प्रकालयेत् ।

तभा भीमो गजानीकं गदया समकालयत् ।। ६३ ।।

जैसे चरवाहा पशुओंके झुंडको डंडेसे हाँकता है, उसी प्रकार भीमसेन हाथियोंके समूहको अपनी गदासे हाँक रहे थे ।। ६३ ।।

गदया वध्यमानास्ते मार्गणैश्च समन्ततः ।

स्वान्यनीकानि मृद्नन्तः प्राद्रवन् कुञ्जरास्तव ।। ६४ ।।

महाराज! चारों ओरसे गदा और बाणोंकी मार पड़नेपर आपकी सेनाके वे समस्त हाथी अपने ही सैनिकोंको कुचलते हुए भाग रहे थे ।। ६४ ।।

महावात इवाभ्राणि विधमित्वा स वारणान् ।

अतिष्ठत् तुमुले भीमः श्मशान इव शूलभृत् ।। ६५ ।।

जैसे आँधी बादलोंको छिन्न-भिन्न करके उड़ा देती है, उसी प्रकार भीमसेन उस भयंकर युद्धमें हाथियोंकी सेनाको नष्ट करके श्मशानभूमिमें त्रिशूलधारी भगवान् शंकरके समान खड़े थे ।। ६५ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थदिवसे भीमयुद्धे द्विषष्टितमोऽध्यायः ।। ६२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिन भीमसेनका युद्धविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६२ ।।

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

युद्धस्थलमें प्रचण्ड पराक्रमकारी भीमसेनका भीष्मके साथ युद्ध तथा सात्यकि और भूरिश्रवाकी मुठभेड़

संजय उवाच

हते तस्मिन् गजानीके पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
भीमसेनं घ्नतेत्येवं सर्वसैन्यान्यचोदयत् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! हाथियोंकी उस सेनाके मारे जानेपर आपके पुत्र दुर्योधनने समस्त सैनिकोंको आज्ञा दी कि सब मिलकर भीमसेनको मार डालो ।। १ ।।

ततः सर्वाण्यनीकानि तव पुत्रस्य शासनात् ।
अभ्यद्रवन् भीमसेनं नदन्तं भैरवान् रवान् ।। २ ।।

तदनन्तर आपके पुत्रकी आज्ञासे समस्त सेनाएँ भैरव गर्जना करती हुई भीमसेनपर टूट पड़ीं ।। २ ।।

तं बलौघमपर्यन्तं देवैरपि सुदुःसहम् ।
आपतन्तं सुदुष्पारं समुद्रमिव पर्वणि ।। ३ ।।

सेनाका वह अनन्त वेग देवताओंके लिये भी दुःसह था। पूर्णिमाको बढ़े हुए समुद्रके समान अपार जान पड़ता था ।।

रथनागाश्वकलिलं शङ्खदुन्दुभिनादितम् ।
अनन्तरथपादातं रजसा सर्वतो वृतम् ।। ४ ।।

वह सैन्य-समुद्र रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरा हुआ था। शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे कोलाहलपूर्ण हो रहा था। उसमें रथ और पैदलोंकी संख्या नहीं बतायी जा सकती थी तथा उस सेनामें सब ओर धूल व्याप्त हो रही थी ।। ४ ।।

तं भीमसेनः समरे महोदधिमिवापरम् ।
सेनासागरमक्षोभ्यं वेलेव समवारयत् ।। ५ ।।

दूसरे महासागरके समान उस अक्षोभ्य सैन्यसमुद्रको युद्धमें भीमसेनने तटप्रदेशकी भाँति रोक दिया ।। ५ ।।

तदाश्चर्यमपश्याम पाण्डवस्य महात्मनः ।
भीमसेनस्य समरे राजन् कर्मातिमानुषम् ।। ६ ।।

राजन्! उस समय संग्रामभूमिमें हमलोगोंने महामना पाण्डुनन्दन भीमसेनका अत्यन्त आश्चर्यमय अतिमानुष कर्म देखा था ।। ६ ।।

उदीर्णान् पार्थिवान् सर्वान् साश्वान् सरथकुञ्जरान् ।

असम्भ्रमं भीमसेनो गदया समवारयत् ।। ७ ।।

घोड़े, हाथी तथा रथसहित जितने भी भूपाल वहाँ आगे बढ़ रहे थे, उन सबको केवल गदाकी सहायतासे भीमसेनने बिना किसी घबराहटके रोक दिया ।। ७ ।।

स संवार्य बलौघांस्तान् गदया रथिनां वरः ।
अतिष्ठत् तुमुले भीमो गिरिर्मेरुरिवाचलः ।। ८ ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन उस सारे सैन्यसमूहको गदाद्वारा रोककर उस भयंकर युद्धमें मेरु पर्वतके समान अविचलभावसे खड़े रहे ।। ८ ।।

तस्मिन् सुतुमुले घोरे काले परमदारुणे ।
भ्रातरश्चैव पुत्राश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।। ९ ।।
द्रौपदेयाऽभिमन्युश्च शिखण्डी चापराजितः ।
न प्राजहन् भीमसेनं भये जाते महाबलम् ।। १० ।।

उस महान् भयंकर तथा अत्यन्त दारुण भयके समय महाबली भीमसेनको उनके भाई, पुत्र, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, अभिमन्यु और अपराजित वीर शिखण्डी—ये कोई भी छोड़कर नहीं गये ।। ९-१० ।।

ततः शैक्यायसीं गुर्वीं प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
अधावत् तावकान् योधान् दण्डपाणिरिवान्तकः ।। ११ ।।

तत्पश्चात् पूर्णतः फौलादकी बनी हुई विशाल एवं भारी गदा हाथमें लेकर भीमसेन दण्डपाणि यमराजकी भाँति आपके सैनिकोंपर टूट पड़े ।। ११ ।।

पोथयन् रथवृन्दानि वाजिवृन्दानि चाभिभूः ।
कर्षयन् रथवृन्दानि बाहुवेगेन पाण्डवः ।। १२ ।।
विनिघ्नन् व्यचरत् संख्ये युगान्ते कालवद् विभुः ।

फिर वे प्रभावशाली बलवान् पाण्डुनन्दन रथियों और घोड़ोंके समूहको नष्ट करके अपनी भुजाओंके वेगसे रथोंके समुदायको खींचते और नष्ट करते हुए प्रलयकालके यमराजकी भाँति संग्रामभूमिमें विचरने लगे ।। १२½ ।।

ऊरुवेगेन संकर्षन् रथजालानि पाण्डवः ।। १३ ।।
बलानि सम्ममर्दाशु नड्वलानीव कुञ्जरः ।

पाण्डुनन्दन भीम अपने महान् वेगसे रथसमूहोंको खींचकर नष्ट कर देते और शीघ्र ही सारी सेनाको उसी प्रकार रौंद डालते थे, जैसे हाथी नरकुलके पौधोंको ।।

मृद्नन् रथेभ्यो रथिनो गजेभ्यो गजयोधिनः ।। १४ ।।
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चापि पदातिनः ।
गदया व्यधमत् सर्वान् वातो वृक्षानिवौजसा ।। १५ ।।
भीमसेनो महाबाहुस्तव पुत्रस्य वै बले ।

महाबाहु भीमसेन रथोंसे रथियोंको, हाथियोंसे हाथी-सवारोंको, घोड़ोंकी पीठोंसे घुड़सवारोंको और पृथ्वीपर पैदलोंको मसलते हुए गदासे आपके पुत्रकी सेनाके सब लोगोंको उसी प्रकार नष्ट कर देते थे, जैसे हवा अपने वेगसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है ।।

सापि मज्जावसामांसैः प्रदिग्धा रुधिरेण च ।। १६ ।।

अदृश्यत महारौद्रा गदा नागाश्वपातनी ।

हाथियों और घोड़ोंको मार गिरानेवाली उनकी वह गदा भी मज्जा, वसा, मांस तथा रक्तमें सनकर बड़ी भयानक दिखायी देती थी ।। १६½ ।।

तत्र तत्र हतैश्चापि मनुष्यगजवाजिभिः ।। १७ ।।

रणाङ्गणं समभवन्मृत्योरावाससंनिभम् ।

जहाँ-तहाँ मरकर गिरे हुए मनुष्य, हाथी और घोड़ोंसे वह सारी रणभूमि मृत्युके निवासस्थान-सी प्रतीत होती थी ।। १७½ ।।

पिनाकमिव रुद्रस्य क्रुद्धस्याभिघ्नतः पशून् ।। १८ ।।

यमदण्डोपमामुग्रामिन्द्राशनिसमस्वनाम् ।

ददृशुर्भीमसेनस्य रौद्रीं विशसनीं गदाम् ।। १९ ।।

भीमसेनकी उस संहारकारिणी भयंकर गदाको लोगोंने प्रलयकालमें पशुओं (जीवों)-का संहार करनेवाले रुद्रके पिनाक और यमदण्डके समान भयंकर देखा। उसकी आवाज इन्द्रके वज्रके समान थी ।। १८-१९ ।।

आविद्धयतो गदां तस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।

बभौ रूपं महाघोरं कालस्येव युगक्षये ।। २० ।।

अपनी गदाको घुमाते हुए महामना कुन्तीकुमार भीमसेनका रूप युगान्त-कालके यमराजके समान अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता था ।। २० ।।

तं तथा महतीं सेनां द्रावयन्तं पुनः पुनः ।

दृष्ट्वा मृत्युमिवायान्तं सर्वे विमनसोऽभवन् ।। २१ ।।

उस विशाल सेनाको बारंबार भगानेवाले भीमसेनको मौतके समान सामने आते देख समस्त योद्धाओंका मन उदास हो जाता था ।। २१ ।।

यतो यतः प्रेक्षते स्म गदामुद्यम्य पाण्डवः ।

तेन तेन स्म दीर्यन्ते सर्वसैन्यानि भारत ।। २२ ।।

भारत! भीमसेन गदा उठाकर जिस-जिस ओर देखते थे, उधर-उधरसे सारी सेनाओंमें दरार पड़ जाती थी (वहाँके सैनिक भागकर स्थान खाली कर देते थे) ।। २२ ।।

प्रदारयन्तं सैन्यानि बलेनामितविक्रमम् ।

ग्रसमानमनीकानि व्यादितास्यमिवान्तकम् ।। २३ ।।

तं तथा भीमकर्माणं प्रगृहीतमहागदम् ।

दृष्ट्वा वृकोदरं भीष्मः सहसैव समभ्ययात् ।। २४ ।।

अपने बलसे सेनाको विदीर्ण करनेवाले भीमसेन सम्पूर्ण सैनिकोंको अपना ग्रास बनानेके लिये मुँह बाये हुए कालके समान जान पड़ते थे। उस समय बड़ी भारी गदा उठाये हुए भयंकर पराक्रमी भीमसेनको देखकर भीष्मजी सहसा वहाँ पहुँचे ।। २३-२४ ।।

महता रथघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
छादयन् शरवर्षेण पर्जन्य इव वृष्टिमान् ।। २५ ।।

वे सूर्यके समान तेजस्वी तथा पहियोंके गम्भीर घोषसे युक्त विशाल रथपर आरूढ़ हो बरसते हुए मेघके समान बाणोंकी वर्षासे सबको आच्छादित करते हुए वहाँ आये थे ।। २५ ।।

तमायान्तं तथा दृष्ट्वा व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
भीष्मं भीमो महाबाहुः प्रत्युदीयादमर्षितः ।। २६ ।।

मुँह फैलाये हुए यमराजके समान भीष्मजीको आते देख महाबाहु भीमसेन अमर्षमें भरकर उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ।। २६ ।।

तस्मिन् क्षणे सात्यकिः सत्यसंधः
शिनिप्रवीरोऽभ्यपतत् पितामहम् ।
निघ्नन्नमित्रान् धनुषा दृढेन
संकम्पयंस्तव पुत्रस्य सैन्यम् ।। २७ ।।

उस समय शिनिवंशके प्रमुख वीर सत्यप्रतिज्ञ सात्यकि अपने सुदृढ़ धनुषसे शत्रुओंका संहार करते और आपके पुत्रकी सेनाको कँपाते हुए पितामह भीष्मपर चढ़ आये ।। २७ ।।

तं यान्तमश्वै रजतप्रकाशैः
शरान् वपन्तं निशितान् सुपुङ्खान् ।
नाशक्नुवन् धारयितुं तदानीं
सर्वे गणा भारत ये त्वदीयाः ।। २८ ।।

भारत! चाँदीके समान श्वेत घोड़ोंद्वारा जाते और सुन्दर पंखयुक्त तीखे बाणोंकी वर्षा करते हुए सात्यकिको उस समय आपके समस्त सैनिकगण रोक न सके ।। २८ ।।

अविध्यदेनं दशभिः पृषत्कै-
रलम्बुषो राक्षसऽसौ तदानीम् ।
शरैश्चतुर्भिः प्रतिविद्धय तं च
नप्ता शिनेरभ्यपतद् रथेन ।। २९ ।।

केवल अलम्बुष नामक राक्षसने उस समय उन्हें दस बाणोंसे घायल किया। तब शिनिके पौत्रने भी उस राक्षसको चार बाणोंसे बींधकर बदला चुकाया और रथके द्वारा भीष्मपर धावा किया ।। २९ ।।

अन्वागतं वृष्णिवरं निशम्य
तं शत्रुमध्ये परिवर्तमानम् ।

प्रद्रावयन्तं कुरुपुङ्गवांश्च
पुनः पुनश्च प्रणदन्तमाजौ ।। ३० ।।
योधास्त्वदीयाः शरवर्षैरवर्षन्
मेघा यथा भूधरमम्बुवेगैः ।
तथापि तं धारयितुं न शेकु-
र्मध्यन्दिने सूर्यमिवातपन्तम् ।। ३१ ।।

वृष्णिवंशके श्रेष्ठ पुरुष सात्यकि आकर शत्रुओंके बीचमें विचर रहे हैं और युद्धस्थलमें कौरवसेनाके मुख्य-मुख्य वीरोंको भगाते हुए बारंबार गर्जना कर रहे हैं; यह सुनकर आपके योद्धा उनपर उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, जैसे मेघ पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराते हैं, इतनेपर भी वे दोपहरके तपते हुए सूर्यकी भाँति उन्हें रोक न सके ।। ३०-३१ ।।

न तत्र कश्चिन्नविषण्ण आसी-
दृते राजन् सोमदत्तस्य पुत्रात् ।
स वै समादाय धनुर्महात्मा
भूरिश्रवा भारत सौमदत्तिः ।। ३२ ।।
दृष्ट्वा रथान् स्वान् व्यपनीयमानान्
प्रत्युद्ययौ सात्यकिं योद्धुमिच्छन् ।। ३३ ।।

राजन्! उस समय वहाँ सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवाको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा योद्धा नहीं था, जो विषाद-ग्रस्त न हुआ हो। भारत! सोमदत्तकुमार महामना भूरिश्रवाने अपने रथियोंको विवश होकर भागते देख धनुष ले युद्ध करनेकी इच्छासे सात्यकिपर चढ़ाई की ।। ३२-३३ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सात्यकिभूरिश्रवःसमागमे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ।। ६३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सात्यकिभूरिश्रवा-समागमविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६३ ।।

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

भीमसेन और घटोत्कचका पराक्रम, कौरवोंकी पराजय तथा चौथे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

ततो भूरिश्रवा राजन् सात्यकिं नवभिः शरैः ।
प्राविध्यद् भृशसंक्रुद्धस्तोत्रैरिव महाद्विपम् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! तब भूरिश्रवाने अत्यन्त क्रुद्ध होकर सात्यकिको नौ बाणोंसे उसी प्रकार बींध डाला, जैसे महान् गजराजको अंकुशोंद्वारा पीड़ित किया जाता है ।। १ ।।

कौरवं सात्यकिश्चैव शरैः संनतपर्वभिः ।
अवारयदमेयात्मा सर्वलोकस्य पश्यतः ।। २ ।।

तब अमेय आत्मबलसम्पन्न सात्यकिने भी झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे सब लोगोंके देखते-देखते कुरुवंशी भूरिश्रवाको रोक दिया ।। २ ।।

ततो दुर्योधनो राजा सोदर्यैः परिवारितः ।
सौमदत्तिं रणे यत्तः समन्तात् पर्यवारयत् ।। ३ ।।

यह देख भाइयोंसहित राजा दुर्योधनने युद्धके लिये उद्यत होकर भूरिश्रवाको चारों ओरसे घेरकर उसकी रक्षामें तत्पर हो गये ।। ३ ।।

तं चैव पाण्डवाः सर्वे सात्यकिं रभसं रणे ।
परिवार्य स्थिताः संख्ये समन्तात् सुमहौजसः ।। ४ ।।

उधर महान् तेजस्वी समस्त पाण्डव भी युद्धमें वेगपूर्वक आगे बढ़नेवाले सात्यकिको सब ओरसे घेरकर समरभूमिमें डट गये ।। ४ ।।

भीमसेनस्तु संक्रुद्धो गदामुद्यम्य भारत ।
दुर्योधनमुखान् सर्वान् पुत्रांस्ते पर्यवारयत् ।। ५ ।।

भारत! क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने गदा उठाकर आपके दुर्योधन आदि सब पुत्रोंको अकेले ही रोक दिया ।।

रथैरनेकसाहस्रैः क्रोधामर्षसमन्वितः ।
नन्दकस्तव पुत्रस्तु भीमसेनं महाबलम् ।। ६ ।।
विव्याध विशिखैः षड्भिः कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ।

तब क्रोध और अमर्षमें भरे हुए आपके पुत्र नन्दकने कई हजार रथियोंके साथ आकर शिलापर तेज किये हुए कंकपत्रयुक्त छः बाणोंसे महाबली भीमसेनको बींध डाला ।। ६ $\frac{1}{2}$ ।।

दुर्योधनश्च समरे भीमसेनं महारथम् ।। ७ ।।
आजघानोरसि क्रुद्धो मार्गणैर्नवभिः शितैः ।

कुपित हुए दुर्योधनने भी महारथी भीमसेनको उस युद्धमें उनकी छातीको लक्ष्य करके नौ तीखे बाण मारे ।। ७½ ।।

ततो भीमो महाबाहुः स्वरथं सुमहाबलः ।। ८ ।।
आरुरोह रथश्रेष्ठं विशोकं चेदमब्रवीत् ।

तब महाबली महाबाहु भीमसेन अपने श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो गये और सारथि विशोकसे इस प्रकार बोले— ।। ८½ ।।

एते महारथाः शूरा धार्तराष्ट्राः समागताः ।। ९ ।।
मामेव भृशसंक्रुद्धा हन्तुमभ्युद्यता युधि ।

'ये महारथी शूरवीर धृतराष्ट्रपुत्र अत्यन्त कुपित हो युद्धमें मुझे ही मारनेके लिये उद्यत हो यहाँ आये हैं ।। ९½ ।।

मनोरथद्रुमोऽस्माकं चिन्तितो बहुवार्षिकः ।। १० ।।
सफलः सूत चाद्येह योऽहं पश्यामि सोदरान् ।

'सूत! मेरे मनमें बहुत वर्षोंसे जिसका चिन्तन हो रहा था, वह मनोरथरूपी वृक्ष आज सफल होना चाहता है; क्योंकि इस समय यहाँ मैं दुर्योधनके भाइयोंको एकत्र देख रहा हूँ ।। १०½ ।।

यत्राशोक समुत्क्षिप्ता रेणवो रथनेमिभिः ।। ११ ।।
प्रयास्यन्त्यन्तरिक्षं हि शरवृन्दैर्दिगन्तरे ।
तत्र तिष्ठति संनद्धः स्वयं राजा सुयोधनः ।। १२ ।।

'विशोक! जहाँ रथके पहियोंसे ऊपर उड़ी हुई धूल बाणसमूहोंके साथ अन्तरिक्ष और दिगन्तमें फैल रही है, वहीं स्वयं राजा दुर्योधन कवच आदिसे सुसज्जित होकर युद्धके लिये खड़ा है ।। ११-१२ ।।

भ्रातरश्चास्य संनद्धाः कुलपुत्रा मदोत्कटाः ।
एतानद्य हनिष्यामि पश्यतस्ते न संशयः ।। १३ ।।
तस्मान्ममाश्वान् संग्रामे यत्तः संयच्छ सारथे ।

'उसके कुलीन और मदोन्मत्त भाई भी वहीं कवच बाँधकर खड़े हैं। आज तुम्हारे देखते-देखते मैं इन सबका विनाश करूँगा, इसमें संशय नहीं है। अतः सारथे! तुम सावधान होकर संग्राममें मेरे घोड़ोंको काबूमें रखो' ।। १३½ ।।

एवमुक्त्वा ततः पार्थस्तव पुत्रं विशाम्पते ।। १४ ।।
विव्याध दशभिस्तीक्ष्णैः शरैः कनकभूषणैः ।
नन्दकं च त्रिभिर्बाणैरभ्यविध्यत् स्तनान्तरे ।। १५ ।।

राजन्! ऐसा कहकर कुन्तीकुमार भीमने स्वर्णभूषित दस तीखे बाणोंद्वारा आपके पुत्र दुर्योधनको बींध डाला और नन्दककी छातीमें भी तीन बाणोंसे गहरी चोट पहुँचायी ।। १४-१५ ।।

तं तु दुर्योधनःषष्ट्या विद्ध्वा भीमं महाबलम् ।
त्रिभिरन्यैः सुनिशितैर्विशोकं प्रत्यविध्यत ।। १६ ।।

यह देख दुर्योधनने साठ बाणोंसे महाबली भीमसेनको घायल करके अन्य तीन पैने बाणोंसे सारथि विशोकको भी घायल कर दिया ।। १६ ।।

भीमस्य च रणे राजन् धनुश्चिच्छेद भासुरम् ।
मुष्टिदेशे भृशं तीक्ष्णैस्त्रिभिर्भल्लैर्हसन्निव ।। १७ ।।

राजन्! इसके बाद दुर्योधनने युद्धस्थलमें तीन अत्यन्त तीखे भल्लोंद्वारा हँसते हुए-से भीमके तेजस्वी धनुषको भी बीचसे काट दिया ।। १७ ।।

समरे प्रेक्ष्य यन्तारं विशोकं तु वृकोदरः ।
पीडितं विशिखैस्तीक्ष्णैस्तव पुत्रेण धन्विना ।। १८ ।।
अमृष्यमाणः संरब्धो धनुर्दिव्यं परामृशत् ।
पुत्रस्य ते महाराज वधार्थं भरतर्षभ ।। १९ ।।
समाधत्त सुसंकुद्धः क्षुरप्रं लोमवाहिनम् ।
तेन चिच्छेद नृपतेर्भीमः कार्मुकमुत्तमम् ।। २० ।।

आपके धनुर्धर पुत्रद्वारा समरांगणमें अपने सारथि विशोकको तीखे बाणोंके आघातसे पीड़ित होता देख भीमसेन सह न सके। उन्होंने कुपित होकर अपना दिव्य धनुष हाथमें लिया। महाराज! भरतश्रेष्ठ! फिर आपके पुत्रके वधके लिये अत्यन्त कुपित होकर उन्होंने पंखयुक्त क्षुरप्रका संधान किया और उसके द्वारा राजा दुर्योधनके उत्तम धनुषको काट डाला ।। १८—२० ।।

सोऽपविद्ध्य धनुश्छिन्नं पुत्रस्ते क्रोधमूर्च्छितः ।
अन्यत् कार्मुकमादत्त सत्वरं वेगवत्तरम् ।। २१ ।।

राजन्! धनुष कटनेपर आपका पुत्र क्रोधसे मूर्च्छित हो उठा। उसने उस कटे हुए धनुषको फेंककर तुरंत ही उससे भी अधिक वेगशाली दूसरा धनुष ले लिया ।। २१ ।।

संदधे विशिखं घोरं कालमृत्युसमप्रभम् ।
तेनाजघान संक्रुद्धो भीमसेनं स्तनान्तरे ।। २२ ।।

फिर उसके ऊपर काल और मृत्युके समान तेजस्वी भयंकर बाण रखा और कुपित हो उसके द्वारा भीमसेनकी छातीमें गहरा आघात किया ।। २२ ।।

स गाढविद्धो व्यथितः स्यन्दनोपस्थ आविशत् ।
स निषण्णो रथोपस्थे मूर्च्छामभिजगाम ह ।। २३ ।।

उस बाणसे अत्यन्त घायल हो भीमसेन व्यथाके मारे रथकी बैठकमें बैठ गये। वहाँ बैठते ही उन्हें मूर्च्छा आ गयी ।। २३ ।।

तं दृष्ट्वा व्यथितं भीममभिमन्युपुरोगमाः ।
नामृष्यन्त महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ।। २४ ।।

भीमसेनको प्रहारसे पीड़ित हुआ देख अभिमन्यु आदि महाधनुर्धर पाण्डव महारथी यह सहन न कर सके ।। २४ ।।

ततस्तु तुमुलां वृष्टिं शस्त्राणां तिग्मतेजसाम् ।
पातयामासुरव्यग्राः पुत्रस्य तव मूर्धनि ।। २५ ।।

फिर तो सब लोगोंने आपके पुत्रके मस्तकपर निर्भय होकर तेजस्वी शस्त्रोंकी भयंकर वर्षा प्रारम्भ कर दी ।। २५ ।।

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां भीमसेनो महाबलः ।
दुर्योधनं त्रिभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ।। २६ ।।

तत्पश्चात् होशमें आनेपर महाबली भीमसेनने दुर्योधनको पहले तीन बाणोंसे बींधकर फिर पाँच बाणोंसे घायल किया ।। २६ ।।

शल्यं च पञ्चविंशत्या शरैर्विव्याध पाण्डवः ।
रुक्मपुङ्खैर्महेष्वासः स विद्धो व्यपयाद् रणात् ।। २७ ।।

फिर महाधनुर्धर पाण्डुपुत्र भीमने सुवर्णमय पंखसे युक्त पचीस बाणोंद्वारा राजा शल्यको बींध दिया। उन बाणोंसे घायल होकर वे रणभूमिसे भाग गये ।। २७ ।।

प्रत्युद्ययुस्ततो भीमं तव पुत्राश्चतुर्दश ।
सेनापतिः सुषेणश्च जलसंधः सुलोचनः ।। २८ ।।
उग्रो भीमरथो भीमो वीरबाहुरलोलुपः ।
दुर्मुखो दुष्प्रधर्षश्च विवित्सुर्विकटः समः ।। २९ ।।
विसृजन्तो बहून् बाणान् क्रोधसंरक्तलोचनाः ।
भीमसेनमभिद्रुत्य विव्यधुः सहिता भृशम् ।। ३० ।।

राजन्! तब आपके चौदह पुत्रोंने भीमसेनपर धावा किया। उनके नाम ये हैं—सेनापति, सुषेण, जलसंध, सुलोचन, उग्र, भीमरथ, भीम, वीरबाहु, अलोलुप, दुर्मुख, दुष्प्रधर्ष, विवित्सु, विकट और सम—ये सब क्रोधसे लाल आँखें करके बहुत-से बाणोंकी वर्षा करते हुए भीमसेनपर टूट पड़े और एक साथ होकर उन्हें अत्यन्त घायल करने लगे ।। २८—३० ।।

पुत्रांस्तु तव सम्प्रेक्ष्य भीमसेनो महाबलः ।
सृक्किणी विलिहन् वीरः पशुमध्ये यथा वृकः ।। ३१ ।।
अभिपत्य महाबाहुर्गरुत्मानिव वेगितः ।
सेनापतेः क्षुरप्रेण शिरश्चिच्छेद पाण्डवः ।। ३२ ।।

महाबली महाबाहु वीर भीमसेन आपके पुत्रोंको देखकर पशुओंके बीचमें खड़े हुए भेड़ियेके समान अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए गरुड़के समान बड़े वेगसे उनके सामने गये। वहाँ पहुँचकर पाण्डुकुमारने क्षुरप्र नामक बाणसे सेनापतिका सिर काट लिया ।। ३१-३२ ।।

सम्प्रहस्य च हृष्टात्मा त्रिभिर्बाणैर्महाभुजः ।
जलसंधं विनिर्भिद्य सोऽनयद् यमसादनम् ।। ३३ ।।

तत्पश्चात् प्रसन्नचित्त हो उन महाबाहुने हँसते-हँसते जलसंधको तीन बाणोंसे विदीर्ण करके यमलोक पहुँचा दिया ।। ३३ ।।

सुषेणं च ततो हत्वा प्रेषयामास मृत्यवे ।
उग्रस्य सशिरस्त्राणं शिरश्चन्द्रोपमं भुवि ।। ३४ ।।
पातयामास भल्लेन कुण्डलाभ्यां विभूषितम् ।

तदनन्तर सुषेणको मारकर मौतके घर भेज दिया और उग्रके कुण्डलमण्डित चन्द्रोपम मस्तकको एक भल्लके द्वारा शिरस्त्राणसहित काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया ।। ३४ $\frac{1}{2}$ ।।

वीरबाहुं च सप्तत्या साश्वकेतुं ससारथिम् ।। ३५ ।।
निनाय समरे वीरः परलोकाय पाण्डवः ।

इसके बाद पाण्डुनन्दन वीरवर भीमसेनने समरभूमिमें घोड़े, ध्वज और सारथिसहित वीरबाहुको सत्तर बाणोंसे मारकर परलोक पहुँचा दिया ।। ३५ $\frac{1}{2}$ ।।

भीमभीमरथौ चोभौ भीमसेनो हसन्निव ।। ३६ ।।
पुत्रौ ते दुर्मदौ राजन्ननयद् यमसादनम् ।

राजन्! तत्पश्चात् भीमसेनने हँसते हुए-से आपके दो पुत्र भीम और भीमरथको भी, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे, यमलोक भेज दिया ।। ३६ $\frac{1}{2}$ ।।

ततः सुलोचनं भीमः क्षुरप्रेण महामृधे ।। ३७ ।।
मिषतां सर्वसैन्यानामनयद् यमसादनम् ।

इसके बाद उस महासमरमें भीमसेनने सम्पूर्ण सेनाओंके देखते-देखते क्षुरप्रसे मारकर सुलोचनको भी यमलोकका अतिथि बना दिया ।। ३७ $\frac{1}{2}$ ।।

पुत्रास्तु तव तं दृष्ट्वा भीमसेनपराक्रमम् ।। ३८ ।।
शेषा येऽन्येऽभवंस्तत्र ते भीमस्य भयार्दिताः ।
विप्रद्रुता दिशो राजन् वध्यमाना महात्मना ।। ३९ ।।

राजन्! आपके जो अन्य शेष पुत्र वहाँ मौजूद थे, वे भीमसेनका पराक्रम देखकर उनके भयसे पीड़ित हो उन महामना पाण्डुकुमारके बाणकी मार खाते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ।। ३८-३९ ।।

ततोऽब्रवीच्छान्तनवः सर्वानेव महारथान् ।
एष भीमो रणे क्रुद्धो धार्तराष्ट्रान् महारथान् ।। ४० ।।

यथा प्राग्र्यान् यथा ज्येष्ठान् यथा शूरांश्च संगतान् ।
निपातयत्युग्रधन्वा तं प्रगृह्णीत माचिरम् ।। ४१ ।।

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्मने सभी महारथियोंसे कहा—'ये भयंकर धनुर्धर भीमसेन युद्धमें क्रुद्ध होकर सामने आये हुए श्रेष्ठ, ज्येष्ठ एवं शूर महारथी धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार गिराते हैं। अतः तुम सब लोग मिलकर इन्हें शीघ्र काबूमें करो' ।। ४०-४१ ।।

एवमुक्तास्ततः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य सैनिकाः ।
अभ्यद्रवन्त संक्रुद्धा भीमसेनं महाबलम् ।। ४२ ।।

उनके ऐसा कहनेपर दुर्योधनके सभी सैनिक कुपित हो महाबली भीमसेनकी ओर दौड़े ।। ४२ ।।

भगदत्तः प्रभिन्नेन कुञ्जरेण विशाम्पते ।
अभ्ययात् सहसा तत्र यत्र भीमो व्यवस्थितः ।। ४३ ।।

प्रजानाथ! राजा भगदत्त मदवर्षी गजराजपर आरूढ़ हो सहसा उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ भीमसेन खड़े थे ।। ४३ ।।

आपतन्नेव च रणे भीमसेनं शिलीमुखैः ।
अदृश्यं समरे चक्रे जीमूत इव भास्करम् ।। ४४ ।।

युद्धमें आते ही उन्होंने अपने बाणोंसे भीमसेनको अदृश्य कर दिया, मानो सूर्य बादलोंसे ढक गये हों ।।

अभिमन्युमुखास्तत् तु नामृष्यन्त महारथाः ।
भीमस्याच्छादनं संख्ये स्वबाहुबलमाश्रिताः ।। ४५ ।।
त एनं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवारयन् ।
गजं च शरवृष्ट्या तु बिभिदुस्ते समन्ततः ।। ४६ ।।

उस समय अभिमन्यु आदि महारथी भीमका इस प्रकार बाणोंसे आच्छादित हो जाना सहन न कर सके। वे अपने बाहुबलका आश्रय ले युद्धमें भगदत्तपर सब ओरसे बाणोंकी वर्षा करते हुए उन्हें रोकने लगे। उन्होंने अपने बाणोंकी वृष्टिसे भगदत्तके हाथीको भी सब ओरसे छेद डाला ।। ४५-४६ ।।

स शस्त्रवृष्ट्याभिहतः समस्तैस्तैर्महारथैः ।
प्राग्ज्योतिषगजो राजन् नानालिङ्गैः सुतेजनैः ।। ४७ ।।
संजातरुधिरोत्पीडः प्रेक्षणीयोऽभवद् रणे ।
गभस्तिभिरिवार्कस्य संस्यूतो जलदो महान् ।। ४८ ।।

राजन्! जो नाना प्रकारके चिह्न धारण करनेवाले और अत्यन्त तेजस्वी थे, उन समस्त महारथियोंद्वारा की हुई अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षासे बहुत ही घायल होकर प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्तका वह हाथी मस्तकपर रक्तसे रंजित हो रणक्षेत्रमें देखने ही योग्य हो रहा था, मानो सूर्यकी अरुण किरणोंसे व्याप्त रँगा हुआ महामेघ हो ।।

संचोदितो मदस्रावी भगदत्तेन वारणः ।
अभ्यधावत तान् सर्वान् कालोत्सृष्ट इवान्तकः ।। ४९ ।।
द्विगुणं जवमास्थाय कम्पयंश्चरणैर्महीम् ।

भगदत्तसे प्रेरित होकर कालके भेजे हुए यमराजकी भाँति वह मदस्रावी गजराज दूने वेगका आश्रय ले अपने पैरोंकी धमकसे इस पृथ्वीको कँपाता हुआ उन सबकी ओर दौड़ा ।। ४९ $\frac{1}{2}$ ।।

तस्य तत् सुमहद् रूपं दृष्ट्वा सर्वे महारथाः ।। ५० ।।
असह्यं मन्यमानाश्च नातिप्रमनसोऽभवन् ।

उसके उस विशाल रूपको देखकर सब महारथी अपने लिये असह्य मानते हुए हतोत्साह हो गये ।। ५० $\frac{1}{2}$ ।।

ततस्तु नृपतिः क्रुद्धो भीमसेनं स्तनान्तरे ।। ५१ ।।
आजघान महाराज शरेणानतपर्वणा ।

महाराज! तत्पश्चात् राजा भगदत्तने कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले बाणसे भीमसेनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ।। ५१ $\frac{1}{2}$ ।।

सोऽतिविद्धो महेष्वासस्तेन राज्ञा महारथः ।। ५२ ।।
मूर्च्छयाभिपरीतात्मा ध्वजयष्टिं समाश्रयत् ।

राजा भगदत्तसे इस प्रकार अत्यन्त घायल किये गये महाधनुर्धर महारथी भीमसेनने मूर्च्छासे व्याप्त हो ध्वजका डंडा थाम लिया ।। ५२ $\frac{1}{2}$ ।।

तांस्तु भीतान् समालक्ष्य भीमसेनं च मूर्च्छितम् ।। ५३ ।।
ननाद बलवन्नादं भगदत्तः प्रतापवान् ।

उन सब महारथियोंको भयभीत और भीमसेनको मूर्च्छित हुआ देख प्रतापी भगदत्तने बड़े जोरसे सिंहनाद किया ।। ५३ $\frac{1}{2}$ ।।

ततो घटोत्कचो राजन् प्रेक्ष्य भीमं तथागतम् ।। ५४ ।।
संक्रुद्धो राक्षसो घोरस्तत्रैवान्तरधीयत ।

राजन्! तदनन्तर भीमको वैसी अवस्थामें देखकर भयंकर राक्षस घटोत्कच अत्यन्त कुपित हो वहीं अदृश्य हो गया ।। ५४ $\frac{1}{2}$ ।।

स कृत्वा दारुणां मायां भीरूणां भयवर्धिनीम् ।। ५५ ।।
अदृश्यत निमेषार्धाद् घोररूपं समास्थितः ।
ऐरावणं समारूढः स वै मायाकृतं स्वयम् ।। ५६ ।।
(कैलासगिरिसंकाशं वज्रपाणिरिवाभ्ययात् ।)

फिर उसने कायरोंका भय बढ़ानेवाली अत्यन्त दारुण माया प्रकट की। वह आधे निमेषमें ही भयंकर रूप धारण करके दृष्टिगोचर हुआ। घटोत्कच अपनी ही मायाद्वारा

निर्मित कैलासपर्वतके समान श्वेत वर्णवाले ऐरावत हाथीपर बैठकर वज्रधारी इन्द्रके समान वहाँ आया था ।। ५५-५६ ।।

तस्य चान्येऽपि दिङ्नागा बभूवुरनुयायिनः ।
अञ्जनो वामनश्चैव महापद्मश्च सुप्रभः ।। ५७ ।।
त्रय एते महानागा राक्षसैः समधिष्ठिताः ।

उसके पीछे अंजन, वामन और उत्तम कान्तिसे युक्त महापद्म—से तीन दिग्गज और थे, जिनपर उसके साथी राक्षस सवार थे ।। ५७½ ।।

महाकायास्त्रिधा राजन् प्रस्रवन्तो मदं बहु ।। ५८ ।।
तेजोवीर्यबलोपेता महाबलपराक्रमाः ।

राजन्! वे सभी विशालकाय दिग्गज तीन स्थानोंसे बहुत मद बहा रहे थे और तेज, वीर्य एवं बलसे सम्पन्न तथा महाबली और महापराक्रमी थे ।। ५८½ ।।

घटोत्कचस्तु स्वं नागं चोदयामास तं तदा ।। ५९ ।।
सगजं भगदत्तं तु हन्तुकामः परंतपः ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले घटोत्कचने अपने हाथीको गजारूढ़ राजा भगदत्तकी ओर बढ़ाया। वह उन्हें हाथीसहित मार डालना चाहता था ।। ५९½ ।।

ते चान्ये चोदिता नागा राक्षसैस्तैर्महाबलैः ।। ६० ।।
परिपेतुः सुसंरब्धाश्चतुर्दंष्ट्राश्चतुर्दिशम् ।

महाबली राक्षसोंद्वारा प्रेरित अन्यान्य दिग्गज भी जिनके चार-चार दाँत थे, अत्यन्त कुपित हो चारों दिशाओंमें टूट पड़े ।। ६०½ ।।

भगदत्तस्य तं नागं विषाणैरभ्यपीडयन् ।। ६१ ।।
स पीड्यमानस्तैर्नागैर्वेदनार्तः शराहतः ।
अनदत् सुमहानादमिन्द्राशनिसमस्वनम् ।। ६२ ।।

वे सब-के-सब भगदत्तके हाथीको अपने दाँतोंसे पीड़ा देने लगे। वह बाणोंसे बहुत घायल हो चुका था; अतः इन हाथियोंद्वारा पीड़ित होनेपर वेदनासे व्याकुल हो बड़े जोर-जोरसे चीत्कार करने लगा। उसकी आवाज इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी ।। ६१-६२ ।।

तस्य तं नदतो नादं सुघोरं भीमनिःस्वनम् ।
श्रुत्वा भीष्मोऽब्रवीद् द्रोणं राजानं च सुयोधनम् ।। ६३ ।।

भयंकर आवाजके साथ अत्यन्त घोर शब्द करनेवाले हाथीके उस चीत्कारको सुनकर भीष्मने द्रोणाचार्य तथा राजा दुर्योधनसे कहा— ।। ६३ ।।

एष युध्यति संग्रामे हैडिम्बेन दुरात्मना ।
भगदत्तो महेष्वासः कृच्छ्रे च परिवर्तते ।। ६४ ।।

'ये महाधनुर्धर राजा भगदत्त युद्धमें दुरात्मा घटोत्कचके साथ जूझ रहे हैं और संकटमें पड़ गये हैं ।। ६४ ।।

राक्षसश्च महाकायः स च राजातिकोपनः ।
एतौ समेतौ समरे कालमृत्युसमावुभौ ।। ६५ ।।

'वह राक्षस विशालकाय है और वे राजा भी अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए हैं। वे दोनों समरमें काल और मृत्युके समान हैं ।। ६५ ।।

श्रूयते चैव हृष्टानां पाण्डवानां महास्वनः ।
हस्तिनश्चैव सुमहान् भीतस्य रुदितध्वनिः ।। ६६ ।।

'देखो, हर्षमें भरे हुए पाण्डवोंका महान् सिंहनाद सुनायी पड़ता है और भगदत्तके डरे हुए हाथीके रोनेकी ध्वनि भी बड़े जोर-जोरसे कानोंमें आ रही है ।। ६६ ।।

तत्र गच्छाम भद्रं वो राजानं परिरक्षितुम् ।
अरक्ष्यमाणः समरे क्षिप्रं प्राणान् विमोक्ष्यति ।। ६७ ।।

'तुम सब लोगोंका कल्याण हो। हम राजा भगदत्तकी रक्षा करनेके लिये वहाँ चलें; अन्यथा अरक्षित होनेपर वे समरभूमिमें शीघ्र ही प्राण त्याग देंगे ।। ६७ ।।

ते त्वरध्वं महावीर्याः किं चिरेण प्रयामहे ।
महान् हि वर्तते रौद्रः संग्रामो लोमहर्षणः ।। ६८ ।।

'महापराक्रमी वीरो! जल्दी करो। विलम्बसे क्या लाभ? हमें जल्दी चलना चाहिये; क्योंकि वह संग्राम अत्यन्त भयंकर तथा रोमांचकारी है ।। ६८ ।।

भक्तश्च कुलपुत्रश्च शूरश्च पृतनापतिः ।
युक्तं तस्य परित्राणं कर्तुमस्माभिरच्युत ।। ६९ ।।

'राजा भगदत्त कुलीन, शूरवीर, हमारे भक्त और सेनापति हैं। अतः अच्युत! हमें उनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये' ।। ६९ ।।

भीष्मस्य तद् वचः श्रुत्वा सर्व एव महारथाः ।
द्रोणभीष्मौ पुरस्कृत्य भगदत्तपरीप्सया ।। ७० ।।
उत्तमं जवमास्थाय प्रययुर्यत्र सोऽभवत् ।

भीष्मका यह वचन सुनकर सभी महारथी द्रोणाचार्य और भीष्मको आगे करके भगदत्तकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे उस स्थानपर गये, जहाँ भगदत्त थे ।। ७० $\frac{१}{२}$ ।।

तान् प्रयातान् समालोक्य युधिष्ठिरपुरोगमाः ।। ७१ ।।
पञ्चालाः पाण्डवैः सार्धं पृष्ठतोऽनुययुः परान् ।

उन्हें जाते देख युधिष्ठिर आदि पाण्डवों तथा पांचालोंने भी शत्रुओंका पीछा किया ।। ७१ $\frac{१}{२}$ ।।

तान्यनीकान्यथालोक्य राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ।। ७२ ।।
ननाद सुमहानादं विस्फोटमशनेरिव ।

उन सेनाओंको आते देख प्रतापी राक्षसराज घटोत्कचने बड़े जोरसे सिंहनाद किया, मानो वज्र फट पड़ा हो ।। ७२ १/२ ।।

तस्य तं निनदं श्रुत्वा दृष्ट्वा नागांश्च युध्यतः ।। ७३ ।।
भीष्मः शान्तनवो भूयो भारद्वाजमभाषत ।

घटोत्कचकी वह गर्जना सुनकर तथा जूझते हुए हाथियोंको देखकर शान्तनुनन्दन भीष्मने पुनः द्रोणाचार्यसे कहा— ।। ७३ १/२ ।।

न रोचते मे संग्रामो हैडिम्बेन दुरात्मना ।। ७४ ।।
बलवीर्यसमाविष्टः ससहायश्च साम्प्रतम् ।

'मुझे इस समय दुरात्मा घटोत्कचके साथ युद्ध करना अच्छा नहीं लगता; क्योंकि वह बल और पराक्रमसे सम्पन्न है और इस समय उसे प्रबल सहायक भी मिल गये हैं ।। ७४ १/२ ।।

नैष शक्यो युधा जेतुमपि वज्रभृता स्वयम् ।। ७५ ।।
लब्धलक्ष्यः प्रहारी च वयं च श्रान्तवाहनाः ।
पाञ्चालैः पाण्डवेयैश्च दिवसं क्षतविक्षताः ।। ७६ ।।

'ऐसी दशामें साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी उसे युद्धमें पराजित नहीं कर सकते। यह प्रहार करनेमें कुशल तथा लक्ष्य भेदनेमें सफल है। इधर हमलोगोंके वाहन थक गये हैं। पाण्डवों और पांचालोंके द्वारा दिनभर क्षत-विक्षत होते रहे हैं ।। ७५-७६ ।।

तन्न मे रोचते युद्धं पाण्डवैर्जितकाशिभिः ।
घुष्यतामवहारोऽद्य श्वो योत्स्यामः परैः सह ।। ७७ ।।

'इसलिये विजयसे सुशोभित होनेवाले पाण्डवोंके साथ इस समय युद्ध करना मुझे पसंद नहीं आता। आज युद्धका विराम घोषित कर दिया जाय। कल सबेरे हमलोग शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे' ।। ७७ ।।

पितामहवचः श्रुत्वा तथा चक्रुः स्म कौरवाः ।
उपायेनापयानं ते घटोत्कचभयार्दिताः ।। ७८ ।।

पितामह भीष्मकी यह बात सुनकर कौरवोंने उपाय-पूर्वक युद्धसे हट जाना स्वीकार कर लिया; क्योंकि उस समय वे घटोत्कचके भयसे पीड़ित थे ।। ७८ ।।

कौरवेषु निवृत्तेषु पाण्डवा जितकाशिनः ।
सिंहनादान् भृशं चक्रुः शङ्खान् दध्मुश्च भारत ।। ७९ ।।

भारत! कौरवोंके निवृत्त हो जानेपर विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डव बारंबार सिंहनाद करने और शंख बजाने लगे ।। ७९ ।।

एवं तदभवद् युद्धं दिवसं भरतर्षभ ।
पाण्डवानां कुरूणां च पुरस्कृत्य घटोत्कचम् ।। ८० ।।

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार उस दिन दिनभर घटोत्कचको आगे करके कौरवों और पाण्डवोंका युद्ध चलता रहा ।। ८० ।।

कौरवास्तु ततो राजन् प्रययुः शिबिरं स्वकम् ।
व्रीडमाना निशाकाले पाण्डवेयैः पराजिताः ।। ८१ ।।

राजन्! तदनन्तर निशाके प्रारम्भकालमें पाण्डवोंसे पराजित होकर कौरव लज्जित हो अपने शिबिरको गये ।।

शरविक्षतगात्रास्तु पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
युद्धे सुमनसो भूत्वा जग्मुः स्वशिबिरं प्रति ।। ८२ ।।

महारथी पाण्डवोंके शरीर भी युद्धमें बाणोंसे क्षत-विक्षत हो गये थे, तथापि वे प्रसन्नचित्त होकर अपने शिबिरको लौटे ।। ८२ ।।

पुरस्कृत्य महाराज भीमसेनघटोत्कचौ ।
पूजयन्तस्तदान्योन्यं मुदा परमया युताः ।। ८३ ।।
नदन्तो विविधान् नादांस्तूर्यस्वनविमिश्रितान् ।
सिंहनादांश्च कुर्वन्तो विमिश्रान् शङ्खनिःस्वनैः ।। ८४ ।।

महाराज! भीमसेन और घटोत्कचको आगे करके परस्पर एक दूसरेकी प्रशंसा करते हुए पाण्डवसैनिक बड़ी प्रसन्नताके साथ नाना प्रकारके सिंहनाद करते हुए गये। उनकी उस गर्जनाके साथ विविध वाद्योंकी ध्वनि तथा शंखोंके शब्द भी मिले हुए थे ।। ८३-८४ ।।

विनदन्तो महात्मानः कम्पयन्तश्च मेदिनीम् ।
घट्टयन्तश्च मर्माणि तव पुत्रस्य मारिष ।। ८५ ।।
प्रयाताः शिबिरायैव निशाकाले परंतप ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रेष्ठ नरेश! महात्मा पाण्डव गर्जते, पृथ्वीको कँपाते और आपके पुत्रके मर्मस्थानोंपर चोट पहुँचाते हुए निशाकालमें शिबिरको ही लौट गये ।। ८५ १/२ ।।

दुर्योधनस्तु नृपतिर्दीनो भ्रातृवधेन च ।। ८६ ।।
मुहूर्तं चिन्तयामास बाष्पशोकसमाकुलः ।

अपने भाइयोंके मारे जानेसे राजा दुर्योधन अत्यन्त दीन हो रहा था। वह नेत्रोंसे आँसू बहाता हुआ शोकसे व्याकुल हो दो घड़ीतक भारी चिन्तामें पड़ा रहा ।। ८६ १/२ ।।

ततः कृत्वा विधिं सर्वं शिबिरस्य यथाविधि ।
प्रदध्यौ शोकसंतप्तो भ्रातृव्यसनकर्शितः ।। ८७ ।।

वह शिबिरकी यथायोग्य सारी आवश्यक व्यवस्था करके भाइयोंके मारे जानेसे दुःखी एवं शोकसंतप्त हो चिन्तामें डूब गया ।। ८७ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि चतुर्थदिवसावहारे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ।। ६४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें चौथे दिनका युद्धविरामविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६४ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ८७$\frac{१}{२}$ श्लोक हैं।]

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र-संजय-संवादके प्रसंगमें दुर्योधनके द्वारा पाण्डवोंकी विजयका कारण पूछनेपर भीष्मका ब्रह्माजीके द्वारा की हुई भगवत्-स्तुतिका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

भयं मे सुमहज्जातं विस्मयश्चैव संजय ।

श्रुत्वा पाण्डुकुमाराणां कर्म देवैः सुदुष्करम् ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! पाण्डवोंका देवताओंके लिये भी दुष्कर पराक्रम सुनकर मुझे बड़ा भारी भय और विस्मय हो रहा है ।। १ ।।

पुत्राणां च पराभावं श्रुत्वा संजय सर्वशः ।

चिन्ता मे महती सूत भविष्यति कथं त्विति ।। २ ।।

सूत संजय! अपने पुत्रोंकी सब प्रकारसे पराजयका हाल सुनकर मेरी चिन्ता बढ़ती ही जा रही है। सोचता हूँ कैसे उनकी विजय होगी ।। २ ।।

ध्रुवं विदुरवाक्यानि धक्ष्यन्ति हृदयं मम ।

यथा हि दृश्यते सर्वं दैवयोगेन संजय ।। ३ ।।

संजय! निश्चय ही विदुरके वाक्य मेरे हृदयको जलाकर भस्म कर डालेंगे, क्योंकि उन्होंने जैसा कहा था, दैवयोगसे वह सब वैसा ही होता दिखायी देता है ।। ३ ।।

यत्र भीष्ममुखान् सर्वान् शस्त्रज्ञान् योधसत्तमान् ।

पाण्डवानामनीकेषु योधयन्ति प्रहारिणः ।। ४ ।।

पाण्डवोंकी सेनाओंमें ऐसे-ऐसे प्रहारकुशल योद्धा हैं, जो शस्त्रविद्याके ज्ञाता एवं योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म आदि समस्त महारथियोंके साथ भी युद्ध कर लेते हैं ।।

केनावध्या महात्मानः पाण्डुपुत्रा महाबलाः ।

केन दत्तवरास्तात किं वा ज्ञानं विदन्ति ते ।। ५ ।।

तात! महाबली महात्मा पाण्डव किस कारणसे अवध्य हैं? किसने उन्हें वर दिया है अथवा कौन-सा ज्ञान वे जानते हैं? ।। ५ ।।

येन क्षयं न गच्छन्ति दिवि तारागणा इव ।

पुनः पुनर्न मृष्यामि हतं सैन्यं तु पाण्डवैः ।। ६ ।।

जिससे आकाशके तारोंके समान वे नष्ट नहीं हो रहे हैं। मैं पाण्डवोंके द्वारा बारंबार अपनी सेनाके मारे जानेकी बात सुनकर सहन नहीं कर पाता हूँ ।। ६ ।।

मय्येव दण्डः पतति दैवात् परमदारुणः ।

यथावध्याः पाण्डुसुता यथा वध्याश्च मे सुताः ।। ७ ।।

एतन्मे सर्वमाचक्ष्व याथातथ्येन संजय ।

दैववश मेरे ही ऊपर अत्यन्त भयंकर दण्ड पड़ रहा है। संजय! क्यों पाण्डव अवध्य हैं और क्यों मेरे पुत्र मारे जा रहे हैं? यह सब यथार्थरूपसे मुझे बताओ ।।

न हि पारं प्रपश्यामि दुःखस्यास्य कथंचन ।। ८ ।।

समुद्रस्येव महतो भुजाभ्यां प्रतरन् नरः ।

जैसे अपनी भुजाओंसे तैरनेवाला मनुष्य महासागरका पार नहीं पा सकता, उसी प्रकार मैं इस दुःखका अन्त किसी प्रकार नहीं देखता हूँ ।। ८ १/२ ।।

पुत्राणां व्यसनं मन्ये ध्रुवं प्राप्तं सुदारुणम् ।। ९ ।।

घातयिष्यति मे सर्वान् पुत्रान् भीमो न संशयः ।

निश्चय ही मेरे पुत्रोंपर अत्यन्त भयंकर संकट प्राप्त हो गया है। मेरा विश्वास है कि भीमसेन मेरे सभी पुत्रोंको मार डालेंगे, इसमें संशय नहीं है ।। ९ १/२ ।।

न हि पश्यामि तं वीरं यो मे रक्षेत् सुतान् रणे ।। १० ।।

ध्रुवं विनाशः सम्प्राप्तः पुत्राणां मम संजय ।

मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो रणक्षेत्रमें मेरे पुत्रोंकी रक्षा कर सके। संजय! अवश्य ही मेरे पुत्रोंके विनाशकी घड़ी आ पहुँची है ।। १० १/२ ।।

तस्मान्मे कारणं सूत शक्तिं चैव विशेषतः ।। ११ ।।

पृच्छतो वै यथातत्त्वं सर्वमाख्यातुमर्हसि ।

अतः सूत! मैं तुमसे शक्ति[१] और कारणके[२] विषयमें जो विशेष प्रश्न कर रहा हूँ, वह सब यथार्थरूपसे बताओ ।।

दुर्योधनश्च यच्चक्रे दृष्ट्वा स्वान् विमुखान् रणे ।। १२ ।।

भीष्मद्रोणौ कृपश्चैव सौबलश्च जयद्रथः ।

द्रौणिर्वापि महेष्वासो विकर्णो वा महाबलः ।। १३ ।।

निश्चयो वापि कस्तेषां तदा ह्यासीन्महात्मनाम् ।

विमुखेषु महाप्राज्ञ मम पुत्रेषु संजय ।। १४ ।।

युद्धमें अपने सैनिकोंको विमुख हुआ देख दुर्योधनने क्या किया? भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, शकुनि, जयद्रथ, महाधनुर्धर अश्वत्थामा और महाबली विकर्णने भी क्या किया? महाप्राज्ञ संजय! मेरे पुत्रोंके विमुख होनेपर उन महामना महारथियोंने उस समय क्या निश्चय किया? ।। १२—१४ ।।

संजय उवाच

शृणु राजन्नवहितः श्रुत्वा चैवावधारय ।

नैव मन्त्रकृतं किंचिन्नैव मायां तथाविधाम् ।। १५ ।।

संजयने कहा—महाराज! सावधान होकर सुनिये और सुनकर स्वयं ही पाण्डवोंकी शक्ति और अपनी पराजयके कारणके विषयमें निश्चय कीजिये। पाण्डवोंमें न कोई मन्त्रका प्रभाव है और न कोई वैसी माया ही वे करते हैं ।। १५ ।।

न वै विभीषिकां कांचिद् राजन् कुर्वन्ति पाण्डवाः ।
युध्यन्ति ते यथान्यायं शक्तिमन्तश्च संयुगे ।। १६ ।।

राजन्! पाण्डवलोग युद्धमें किसी विभीषिकाका प्रदर्शन नहीं करते। अर्थात् किसी भी प्रकारसे भयभीत नहीं होते। वे न्यायपूर्वक युद्ध करते हैं। शक्तिशाली तो वे हैं ही ।। १६ ।।

धर्मेण सर्वकार्याणि जीवितादीनि भारत ।
आरभन्ते सदा पार्थाः प्रार्थयाना महद् यशः ।। १७ ।।

भारत! कुन्तीके पुत्र जीवन-निर्वाह आदिके सभी कार्य सदा धर्मपूर्वक ही आरम्भ करते हैं। कारण कि वे जगत्‌में अपना महान् यश फैलाना चाहते हैं ।। १७ ।।

न ते युद्धान्निवर्तन्ते धर्मोपेता महाबलाः ।
श्रिया परमया युक्ता यतो धर्मस्ततो जयः ।। १८ ।।

वे युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते हैं। धर्मबलसे सम्पन्न होनेके कारण ही वे महाबली और उत्तम समृद्धिसे युक्त हैं। जहाँ धर्म होता है, उसी पक्षकी विजय होती है ।। १८ ।।

तेनावध्या रणे पार्था जययुक्ताश्च पार्थिव ।
तव पुत्रा दुरात्मानः पापेष्वभिरताः सदा ।। १९ ।।
निष्ठुरा हीनकर्माणस्तेन हीयन्ति संयुगे ।

महाराज! धर्मके ही कारण कुन्तीके पुत्र युद्धमें अवध्य और विजयी हो रहे हैं। इधर आपके दुरात्मा पुत्र सदा पापोंमें ही तत्पर रहते हैं। निर्दय होनेके साथ ही निकृष्ट कर्ममें लगे रहते हैं। इसीलिये युद्धस्थलमें उन्हें हानि उठानी पड़ती है ।। १९ $\frac{१}{२}$ ।।

सुबहूनि नृशंसानि पुत्रैस्तव जनेश्वर ।। २० ।।
निकृतानीह पाण्डूनां नीचैरिव यथा नरैः ।
सर्वं च तदनादृत्य पुत्राणां तव किल्बिषम् ।। २१ ।।
सापह्नवाः सदैवासन् पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज ।
न चैतान् बहु मन्यन्ते पुत्रास्तव विशाम्पते ।। २२ ।।

जनेश्वर! आपके पुत्रोंने नीच मनुष्योंकी भाँति पाण्डवोंके प्रति बहुत-से क्रूरतापूर्ण बर्ताव तथा छल-कपट किये हैं, परंतु आपके पुत्रोंका वह सारा अपराध भुलाकर पाण्डव सदा उन दोषोंपर पर्दा ही डालते आये हैं। पाण्डुके बड़े भाई महाराज! इसपर भी आपके पुत्र इन पाण्डवोंको अधिक आदर नहीं देते हैं ।। २०—२२ ।।

तस्य पापस्य सततं क्रियमाणस्य कर्मणः ।
साम्प्रतं सुमहद् घोरं फलं प्राप्तं जनेश्वर ।। २३ ।।

जनेश्वर! निरन्तर किये जानेवाले उसी पाप-कर्मका इस समय यह अत्यन्त भयंकर फल प्राप्त हुआ है ।। २३ ।।

स त्वं भुङ्क्ष्व महाराज सपुत्रः ससुहृज्जनः ।
नावबुध्यसि यद् राजन् वार्यमाणः सुहृज्जनैः ।। २४ ।।

महाराज! आप सुहृदोंके मना करनेपर भी जो ध्यान नहीं देते हैं, इससे अब स्वयं ही पुत्रों और सुहृदोंसहित अपनी अनीतिका फल भोगिये ।। २४ ।।

विदुरेणाथ भीष्मेण द्रोणेन च महात्मना ।
तथा मया चाप्यसकृद् वार्यमाणो न बुध्यसे ।। २५ ।।

विदुर, भीष्म तथा महात्मा द्रोणने और मैंने भी बारंबार आपको मना किया है; किंतु आप कभी समझ नहीं पाते थे ।। २५ ।।

वाक्यं हितं च पथ्यं च मर्त्याः पथ्यमिवौषधम् ।
पुत्राणां मतमाज्ञाय जितान् मन्यसि पाण्डवान् ।। २६ ।।

जैसे मरणासन्न मनुष्य हितकारी औषधको भी फेंक देते हैं, उसी प्रकार आपने हमलोगोंके कहे हुए लाभकारी और हितकर वचनोंको भी ठुकरा दिया एवं अब अपने पुत्रोंकी बातमें आकर यह मान रहे हैं कि हमने पाण्डवोंको जीत लिया ।। २६ ।।

शृणु भूयो यथातत्त्वं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
कारणं भरतश्रेष्ठ पाण्डवानां जयं प्रति ।। २७ ।।
तत् तेऽहं कथयिष्यामि यथाश्रुतमरिंदम ।

भरतश्रेष्ठ! आप पाण्डवोंकी विजय और अपनी पराजयका जो कारण पूछते हैं, उसके विषयमें यथार्थ बातें सुनिये। शत्रुदमन! मैंने जैसा सुन रखा है, वह आपको बताऊँगा ।। २७ १/२ ।।

दुर्योधनेन सम्पृष्ट एतमर्थं पितामहः ।। २८ ।।
दृष्ट्वा भ्रातृन् रणे सर्वान् निर्जितांस्तु महारथान् ।
शोकसम्मूढहृदयो निशाकाले स्म कौरवः ।। २९ ।।
पितामहं महाप्राज्ञं विनयेनोपगम्य ह ।
यदब्रवीत् सुतस्तेऽसौ तन्मे शृणु जनेश्वर ।। ३० ।।

दुर्योधनने यही बात पितामह भीष्मसे पूछी थी। महाराज! युद्धमें अपने समस्त महारथी भाइयोंको पराजित हुआ देख आपके पुत्र कुरुराज दुर्योधनका हृदय शोकसे मोहित हो गया। उसने रातमें महाज्ञानी पितामह भीष्मके पास विनयपूर्वक जाकर जो कुछ पूछा था, वह बताता हूँ, मुझसे सुनिये ।। २८—३० ।।

दुर्योधन उवाच

द्रोणश्च त्वं च शल्यश्च कृपो द्रोणिस्तथैव च ।

कृतवर्मा च हार्दिक्यः काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।। ३१ ।।
भूरिश्रवा विकर्णश्च भगदत्तश्च वीर्यवान् ।
महारथाः समाख्याताः कुलपुत्रास्तनुत्यजः ।। ३२ ।।

दुर्योधनने पूछा—पितामह! आप, द्रोणाचार्य, शल्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, हृदिकपुत्र कृतवर्मा, कम्बोजराज सुदक्षिण, भूरिश्रवा, विकर्ण तथा पराक्रमी भगदत्त—ये सब महारथी कहे जाते हैं। सभी कुलीन और युद्धमें मेरे लिये अपना शरीर निछावर करनेको तैयार हैं ।। ३१-३२ ।।

त्रयाणामपि लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ।
पाण्डवानां समस्ताश्च नातिष्ठन्त पराक्रमे ।। ३३ ।।

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि आप सब लोग मिल जायँ तो तीनों लोकोंपर भी विजय पानेमें समर्थ हो सकते हैं, परंतु पाण्डवोंके पराक्रमके सामने आप सब लोग टिक नहीं पाते हैं। इसका क्या कारण है? ।। ३३ ।।

तत्र मे संशयो जातस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।
यं समाश्रित्य कौन्तेया जयन्त्यस्मान् क्षणे क्षणे ।। ३४ ।।

इस विषयमें मुझे बड़ा भारी संदेह है; अतः मेरे प्रश्नके अनुसार आप उसका उत्तर दीजिये। किसका आश्रय लेकर ये कुन्तीके पुत्र क्षण-क्षणमें हमलोगोंपर विजय पा रहे हैं ।। ३४ ।।

भीष्म उवाच

शृणु राजन् वचो मह्यं यथा वक्ष्यामि कौरव ।
बहुशश्च मयोक्तोऽसि न च मे तत् त्वया कृतम् ।। ३५ ।।

भीष्मजीने कहा—कुरुनन्दन! नरेश्वर! मेरी बात सुनो। इस विषयमें जो यथार्थ बात है, उसे बताता हूँ। मैंने अनेक बार पहले भी तुमसे ये बातें कही हैं, परंतु तुमने उन्हें माना नहीं है ।। ३५ ।।

क्रियतां पाण्डवैः सार्धं शमो भरतसत्तम ।
एतत् क्षेममहं मन्ये पृथिव्यास्तव वा विभो ।। ३६ ।।

भरतश्रेष्ठ! तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। प्रभो! इसीमें मैं तुम्हारा और भूमण्डलका कल्याण समझता हूँ ।। ३६ ।।

भुङ्क्ष्वेमां पृथिवीं राजन् भ्रातृभिः सहितः सुखी ।
दुर्हृदस्तापयन् सर्वान् नन्दयंश्चापि बान्धवान् ।। ३७ ।।

राजन्! तुम अपने सभी शत्रुओंको संताप और बन्धु-बान्धवोंको आनन्द प्रदान करते हुए भाइयोंके साथ मिलकर सुखी रहो और इस पृथ्वीका राज्य भोगो ।। ३७ ।।

न च मे क्रोशतस्तात श्रुतवानसि वै पुरा ।

तदिदं समनुप्राप्तं यत् पाण्डूनवमन्यसे ।। ३८ ।।

तात! इस तरहकी बातें मैंने पहले पुकार-पुकारकर कही हैं, परंतु तुमने उन सबको अनसुनी कर दिया है। तुम जो पाण्डवोंका अपमान करते आये हो, आज उसीका यह फल प्राप्त हुआ है ।। ३८ ।।

यश्च हेतुरवध्यत्वे तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तं शृणुष्व महाबाहो मम कीर्तयतः प्रभो ।। ३९ ।।

महाबाहो! प्रभो! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले पाण्डवोंके अवध्य होनेमें जो हेतु है, उसे बताता हूँ, सुनो ।। ३९ ।।

नास्ति लोकेषु तद् भूतं भविता नो भविष्यति ।
यो जयेत् पाण्डवान् सर्वान् पालिताञ्छार्ङ्गधन्वना ।। ४० ।।
(ससुरासुरमर्त्येषु यो विद्यात् तत्त्वतो हरिम् ।)

लोकमें ऐसा कोई प्राणी न हुआ है, न है और न होगा, जो शार्ङ्ग-धनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित इन सब पाण्डवोंपर विजय पा सके तथा देवता, असुर और मनुष्योंमें ऐसा भी कोई नहीं है, जो उन भगवान् श्रीहरिको यथार्थरूपसे जान सके ।। ४० ।।

यत् तु मे कथितं तात मुनिभिर्भावितात्मभिः ।
पुराणगीतं धर्मज्ञ तच्छृणुष्व यथातथम् ।। ४१ ।।

तात धर्मज्ञ! पवित्र अन्तःकरणवाले मुनियोंने मुझसे जो पुराणप्रतिपादित यथार्थ बातें कही हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ।। ४१ ।।

पुरा किल सुराः सर्वे ऋषयश्च समागताः ।
पितामहमुपासेदुः पर्वते गन्धमादने ।। ४२ ।।

पहलेकी बात है, समस्त देवता और महर्षि गन्धमादन पर्वतपर आकर पितामह ब्रह्माजीके पास बैठे ।। ४२ ।।

तेषां मध्ये समासीनः प्रजापतिरपश्यत ।
विमानं प्रज्वलद् भासा स्थितं प्रवरमम्बरे ।। ४३ ।।

उस समय उनके बीचमें बैठे हुए प्रजापति ब्रह्माने आकाशमें खड़ा हुआ एक श्रेष्ठ विमान देखा, जो अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहा था ।। ४३ ।।

ध्यानेनावेद्य तद् ब्रह्मा कृत्वा च नियतोऽञ्जलिम् ।
नमश्चकार हृष्टात्मा पुरुषं परमेश्वरम् ।। ४४ ।।

अपने मनको संयममें रखनेवाले ब्रह्माजीने ध्यानसे यथार्थ बात जानकर हाथ जोड़ लिये और प्रसन्नचित्त होकर उन परम पुरुष परमेश्वरको नमस्कार किया ।। ४४ ।।

ऋषयस्त्वथ देवाश्च दृष्ट्वा ब्रह्माणमुत्थितम् ।
स्थिताः प्राञ्जलयः सर्वे पश्यन्तो महदद्भुतम् ।। ४५ ।।

ऋषि तथा देवता ब्रह्माजीको खड़े (और हाथ जोड़े) हुए देख स्वयं भी उस परम अद्‌भुत तेजका दर्शन करते हुए हाथ जोड़कर खड़े हो गये ।। ४५ ।।

यथावच्च तमभ्यर्च्य ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ।
जगाद जगतः स्रष्टा परं परमधर्मवित् ।। ४६ ।।

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, परम धर्मज्ञ, जगत्स्रष्टा ब्रह्माजीने उन तेजोमय परम पुरुषका यथावत् पूजन करके उनकी स्तुति की ।। ४६ ।।

विश्वावसुर्विश्वमूर्तिर्विश्वेशो
विष्वक्सेनो विश्वकर्मा वशी च ।
विश्वेश्वरो वासुदेवोऽसि तस्माद्
योगात्मानं दैवतं त्वामुपैमि ।। ४७ ।।

प्रभो! आप सम्पूर्ण विश्वको आच्छादित करनेवाले, विश्वस्वरूप और विश्वके स्वामी हैं। विश्वमें सब ओर आपकी सेना है। यह विश्व आपका कार्य है। आप सबको अपने वशमें रखनेवाले हैं। इसीलिये आपको विश्वेश्वर और वासुदेव कहते हैं। आप योगस्वरूप देवता हैं, मैं आपकी शरणमें आया हूँ ।। ४७ ।।

जय विश्व महादेव जय लोकहिते रत ।
जय योगीश्वर विभो जय योगपरावर ।। ४८ ।।

विश्वरूप महादेव! आपकी जय हो, लोकहितमें लगे रहनेवाले परमेश्वर! आपकी जय हो। सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले योगीश्वर! आपकी जय हो। योगके आदि और अन्त! आपकी जय हो ।। ४८ ।।

पद्मगर्भ विशालाक्ष जय लोकेश्वरेश्वर ।
भूतभव्यभवन्नाथ जय सौम्यात्मजात्मज ।। ४९ ।।
असंख्येयगुणाधार जय सर्वपरायण ।
नारायण सुदुष्पार जय शार्ङ्गधनुर्धर ।। ५० ।।

आपकी नाभिसे आदि कमलकी उत्पत्ति हुई है, आपके नेत्र विशाल हैं, आप लोकेश्वरोंके भी ईश्वर हैं; आपकी जय हो। भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी! आपकी जय हो। आपका स्वरूप सौम्य है, मैं स्वयम्भू ब्रह्मा आपका पुत्र हूँ। आप असंख्य गुणोंके आधार और सबको शरण देनेवाले हैं, आपकी जय हो। शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले नारायण! आपकी महिमाका पार पाना बहुत ही कठिन है, आपकी जय हो ।। ४९-५० ।।

जय सर्वगुणोपेत विश्वमूर्ते निरामय ।
विश्वेश्वर महाबाहो जय लोकार्थतत्पर ।। ५१ ।।

आप समस्त कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न, विश्वमूर्ति और निरामय हैं; आपकी जय हो। जगत्का अभीष्ट साधन करनेवाले महाबाहु विश्वेश्वर! आपकी जय हो ।। ५१ ।।

महोरग वराहाद्य हरिकेश विभो जय ।

हरिवास दिशामीश विश्ववासामिताव्यय ।। ५२ ।।

आप महान् शेषनाग और महावाराह-रूप धारण करनेवाले हैं, सबके आदि कारण हैं। हरिकेश! प्रभो! आपकी जय हो, आप पीताम्बरधारी, दिशाओंके स्वामी, विश्वके आधार, अप्रमेय और अविनाशी हैं ।। ५२ ।।

व्यक्ताव्यक्तामितस्थान नियतेन्द्रिय सत्क्रिय ।
असंख्येयात्मभावज्ञ जय गम्भीर कामद ।। ५३ ।।

व्यक्त और अव्यक्त—सब आपहीका स्वरूप है, आपके रहनेका स्थान असीम-अनन्त है, आप इन्द्रियोंके नियन्ता हैं। आपके सभी कर्म शुभ-ही-शुभ हैं। आपकी कोई इयत्ता नहीं है, आप आत्मस्वरूपके ज्ञाता, स्वभावतः गम्भीर और भक्तोंकी कामनाएँ पूर्ण करनेवाले हैं; आपकी जय हो ।। ५३ ।।

अनन्तविदित ब्रह्मन् नित्य भूतविभावन ।
कृतकार्य कृतप्रज्ञ धर्मज्ञ विजयावह ।। ५४ ।।

ब्रह्मन्! आप अनन्तबोधस्वरूप हैं, नित्य हैं और सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाले हैं। आपको कुछ करना बाकी नहीं है, आपकी बुद्धि पवित्र है, आप धर्मका तत्त्व जाननेवाले और विजयप्रदाता हैं ।। ५४ ।।

गुह्यात्मन् सर्वयोगात्मन् स्फुटं सम्भूतसम्भव ।
भूताद्य लोकतत्त्वेश जय भूतविभावन ।। ५५ ।।

पूर्णयोगस्वरूप परमात्मन्! आपका स्वरूप गूढ होता हुआ भी स्पष्ट है। अबतक जो हो चुका है और जो हो रहा है, सब आपका ही रूप है। आप सम्पूर्ण भूतोंके आदि कारण और लोकतत्त्वके स्वामी हैं। भूतभावन! आपकी जय हो ।। ५५ ।।

आत्मयोने महाभाग कल्पसंक्षेप तत्पर ।
उद्भावनमनोभाव जय ब्रह्म जनप्रिय ।। ५६ ।।

आप स्वयम्भू हैं, आपका सौभाग्य महान् है। आप इस कल्पका संहार करनेवाले एवं विशुद्ध परब्रह्म हैं। ध्यान करनेसे अन्तःकरणमें आपका आविर्भाव होता है, आप जीवमात्रके प्रियतम परब्रह्म हैं, आपकी जय हो ।। ५६ ।।

निसर्गसर्गनिरत कामेश परमेश्वर ।
अमृतोद्भव सद्भाव मुक्तात्मन् विजयप्रद ।। ५७ ।।

आप स्वभावतः संसारकी सृष्टिमें प्रवृत्त रहते हैं, आप ही सम्पूर्ण कामनाओंके स्वामी परमेश्वर हैं। अमृतकी उत्पत्तिके स्थान, सत्यस्वरूप, मुक्तात्मा और विजय देनेवाले आप ही हैं ।। ५७ ।।

प्रजापतिपते देव पद्मनाभ महाबल ।
आत्मभूत महाभूत सत्त्वात्मन् जय सर्वदा ।। ५८ ।।

देव! आप ही प्रजापतियोंके भी पति, पद्मनाभ और महाबली हैं। आत्मा और महाभूत भी आप ही हैं। सत्त्वस्वरूप परमेश्वर! सदा आपकी जय हो ।। ५८ ।।

पादौ तव धरा देवी दिशो बाहू दिवं शिरः ।
मूर्तिस्तेऽहं सुराः कायश्चन्द्रादित्यौ च चक्षुषी ।। ५९ ।।

पृथ्वीदेवी आपके चरण हैं, दिशाएँ बाहु हैं और द्युलोक मस्तक है। मैं ब्रह्मा आपका शरीर, देवता अंग-प्रत्यंग और चन्द्रमा तथा सूर्य नेत्र हैं ।। ५९ ।।

बलं तपश्च सत्यं च कर्म धर्मात्मकं तव ।
तेजोऽग्निः पवनः श्वास आपस्ते स्वेदसम्भवाः ।। ६० ।।

तप और सत्य आपका बल है तथा धर्म और कर्म आपका स्वरूप है। अग्नि आपका तेज, वायु साँस और जल पसीना है ।। ६० ।।

अश्विनौ श्रवणौ नित्यं देवी जिह्वा सरस्वती ।
वेदाः संस्कारनिष्ठा हि त्वयीदं जगदाश्रितम् ।। ६१ ।।

अश्विनीकुमार आपके कान और सरस्वती देवी आपकी जिह्वा हैं। वेद आपकी संस्कारनिष्ठा हैं। यह जगत् सदा आपहीके आधारपर टिका हुआ है ।। ६१ ।।

न संख्यानं परीमाणं न तेजो न पराक्रमम् ।
न बलं योगयोगीश जानीमस्ते न सम्भवम् ।। ६२ ।।

योग-योगीश्वर! हम न तो आपकी संख्या जानते हैं, न परिमाण। आपके तेज, पराक्रम और बलका भी हमें पता नहीं है। हम यह भी नहीं जानते कि आपका आविर्भाव कैसे होता है ।। ६२ ।।

त्वद्भक्तिनिरता देव नियमैस्त्वां समाश्रिताः ।
अर्चयामः सदा विष्णो परमेशं महेश्वरम् ।। ६३ ।।
ऋषयो देवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
पिशाचा मानुषाश्चैव मृगपक्षिसरीसृपाः ।। ६४ ।।
एवमादि मया सृष्टं पृथिव्यां त्वत्प्रसादजम् ।

देव! हम तो आपकी उपासनामें लगे रहते हैं। आपके नियमोंका पालन करते हुए आपके ही शरण हैं। विष्णो! हम सदा आप परमेश्वर एवं महेश्वरका पूजन ही करते हैं। आपकी ही कृपासे हमने पृथ्वीपर ऋषि, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, पिशाच, मनुष्य, मृग, पक्षी तथा कीड़े-मकोड़े आदिकी सृष्टि की है ।। ६३-६४½ ।।

पद्मनाभ विशालाक्ष कृष्ण दुःखप्रणाशन ।। ६५ ।।
त्वं गतिः सर्वभूतानां त्वं नेता त्वं जगद्गुरुः ।
त्वत्प्रसादेन देवेश सुखिनो विबुधाः सदा ।। ६६ ।।

पद्मनाभ! विशाललोचन! दुःखहारी श्रीकृष्ण! आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंके आश्रय और नेता हैं, आप ही संसारके गुरु हैं। देवेश्वर! आपकी कृपादृष्टि होनेसे ही सब देवता सदा सुखी

रहते हैं ।। ६५-६६ ।।

पृथिवी निर्भया देव त्वत्प्रसादात् सदाभवत् ।
तस्माद् भव विशालाक्ष यदुवंशविवर्धनः ।। ६७ ।।

देव! आपके ही प्रसादसे पृथ्वी सदा निर्भय रही है, इसलिये विशाललोचन! आप पुनः पृथ्वीपर यदुवंशमें अवतार लेकर उसकी कीर्ति बढ़ाइये ।। ६७ ।।

धर्मसंस्थापनार्थाय दैत्यानां च वधाय च ।
जगतो धारणार्थाय विज्ञाप्यं कुरु मे विभो ।। ६८ ।।

प्रभो! धर्मकी स्थापना, दैत्योंके वध और जगत्की रक्षाके लिये हमारी प्रार्थना अवश्य स्वीकार कीजिये ।।

यत् तत् परमकं गुह्यं त्वत्प्रसादादिदं विभो ।
वासुदेव तदेतत् ते मयोद्गीतं यथातथम् ।। ६९ ।।

वासुदेव! आप ही पूर्णतम परमेश्वर हैं। आपका जो परम गुह्य यथार्थस्वरूप है, उसीका यहाँ इस रूपमें आपकी कृपासे ही गान किया गया है ।। ६९ ।।

सृष्ट्वा संकर्षणं देवं स्वयमात्मानमात्मना ।
कृष्ण त्वमात्मनास्राक्षीः प्रद्युम्नं चात्मसम्भवम् ।। ७० ।।

श्रीकृष्ण! आपने आत्माद्वारा स्वयं अपने-आपको ही संकर्षणदेवके रूपमें प्रकट करके अपने ही द्वारा आत्मजस्वरूप प्रद्युम्नकी सृष्टि की है ।। ७० ।।

प्रद्युम्नादनिरुद्धं त्वं यं विदुर्विष्णुमव्ययम् ।
अनिरुद्धोऽसृजन्मां वै ब्रह्माणं लोकधारिणम् ।। ७१ ।।

प्रद्युम्नसे आपने ही उन अनिरुद्धको प्रकट किया है जिन्हें ज्ञानीजन अविनाशी विष्णुरूपसे जानते हैं। उन विष्णुरूप अनिरुद्धने ही मुझ लोकधाता ब्रह्माकी सृष्टि की है ।। ७१ ।।

वासुदेवमयः सोऽहं त्वयैवास्मि विनिर्मितः ।
(तस्माद् याचामि लोकेश चतुरात्मानमात्मना ।)
विभज्य भागशोऽऽत्मानं व्रज मानुषतां विभो ।। ७२ ।।

प्रभो! इस प्रकार आपने ही मेरी सृष्टि की है। आपसे अभिन्न होनेके कारण मैं भी वासुदेवमय हूँ। लोकेश्वर! इसलिये याचना करता हूँ कि आप अपने-आपको स्वयं ही (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध)—इन चार रूपोंमें विभक्त करके मानव-शरीर ग्रहण कीजिये ।। ७२ ।।

तत्रासुरवधं कृत्वा सर्वलोकसुखाय वै ।
धर्मं प्राप्य यशः प्राप्य योगं प्राप्स्यसि तत्त्वतः ।। ७३ ।।

वहाँ सब लोगोंके सुखके लिये असुरोंका वध करके धर्म और यशका विस्तार कीजिये। अन्तमें अवतारका उद्देश्य पूर्ण करके आप पुनः अपने पारमार्थिक स्वरूपसे संयुक्त हो

जायँगे ।। ७३ ।।

त्वां हि ब्रह्मर्षयो लोके देवाश्चामितविक्रम ।
तैस्तैर्हि नामभिर्युक्ता गायन्ति परमात्मकम् ।। ७४ ।।

अमित पराक्रमी परमेश्वर! संसारमें महर्षि और देवगण एकाग्रचित्त हो उन-उन लीलानुसारी नामोंद्वारा आपके परमात्मस्वरूपका गान करते रहते हैं ।। ७४ ।।

स्थिताश्च सर्वे त्वयि भूतसंघाः
कृत्वाऽऽश्रयं त्वां वरदं सुबाहो ।
अनादिमध्यान्तमपारयोगं
लोकस्य सेतुं प्रवदन्ति विप्राः ।। ७५ ।।

सुबाहो! आप वरदायक प्रभुका ही आश्रय लेकर समस्त प्राणिसमुदाय आपमें ही स्थित हैं। ब्राह्मणलोग आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित, किसी सीमाके सम्बन्धसे शून्य (असीम) तथा लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये सेतुस्वरूप बताते हैं ।। ७५ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ।। ६५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६५ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ७६ श्लोक हैं।]

---

१. शक्तिसे तात्पर्य यहाँ पाण्डवोंकी शक्तिसे है।
२. मेरे पुत्रोंकी बार-बार पराजयका क्या कारण है, वही कारणविषयक प्रश्न है।

षट्षष्टितमोऽध्यायः

नारायणावतार श्रीकृष्ण एवं नरावतार अर्जुनकी महिमाका प्रतिपादन

भीष्म उवाच

ततः स भगवान् देवो लोकानामीश्वरेश्वरः ।
ब्रह्माणं प्रत्युवाचेदं स्निग्धगम्भीरया गिरा ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—दुर्योधन! तब लोकेश्वरोंके भी ईश्वर दिव्यरूपधारी श्रीभगवान्‌ने स्नेहमधुर गम्भीर वाणीमें ब्रह्माजीसे इस प्रकार कहा— ।। १ ।।

विदितं तात योगासे सर्वमेतत् तवेप्सितम् ।
तथा तद् भवितेत्युक्त्वा तत्रैवान्तरधीयत ।। २ ।।

'तात! तुम्हारे मनमें जैसी इच्छा है, वह सब मुझे योगबलसे ज्ञात हो गयी है। उसके अनुसार ही सब कार्य होगा'—ऐसा कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये ।। २ ।।

ततो देवर्षिगन्धर्वा विस्मयं परमं गताः ।
कौतूहलपराः सर्वे पितामहमथाब्रुवन् ।। ३ ।।

तब देवता, ऋषि और गन्धर्व सभी बड़े विस्मयमें पड़े। उन सबने अत्यन्त उत्सुक होकर पितामह ब्रह्माजीसे कहा— ।। ३ ।।

को न्वयं यो भगवता प्रणम्य विनयाद् विभो ।
वाग्भिः स्तुतो वरिष्ठाभिः श्रोतुमिच्छाम तं वयम् ।। ४ ।।

'प्रभो! आपने विनयपूर्वक प्रणाम करके श्रेष्ठ वचनोंद्वारा जिनकी स्तुति की है, ये कौन थे? हम उनके विषयमें सुनना चाहते हैं' ।।४ ।।

एवमुक्तस्तु भगवान् प्रत्युवाच पितामहः ।
देवब्रह्मर्षिगन्धर्वान् सर्वान् मधुरया गिरा ।। ५ ।।

उनके इस प्रकार पूछनेपर भगवान् ब्रह्माने उन समस्त देवताओं, ब्रह्मर्षियों और गन्धर्वोंसे मधुर वाणीमें कहा— ।। ५ ।।

यत् तत् परं भविष्यं च भवितव्यं च यत्परम् ।
भूतात्मा च प्रभुश्चैव ब्रह्म यच्च परं पदम् ।। ६ ।।
तेनास्मि कृतसंवादः प्रसन्नेन सुरर्षभाः ।
जगतोऽनुग्रहार्थाय याचितो मे जगत्पतिः ।। ७ ।।
मानुषं लोकमातिष्ठ वासुदेव इति श्रुतः ।
असुराणां वधार्थाय सम्भवस्व महीतले ।। ८ ।।

'श्रेष्ठ देवताओ! जो परम तत्त्व हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों जिनके उत्कृष्ट स्वरूप हैं तथा जो इन सबसे विलक्षण हैं, जिन्हें सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा और सर्वशक्तिमान् प्रभु कहा गया है, जो परम ब्रह्म और परम पदके नामसे विख्यात हैं, उन्हीं परमात्माने मुझे

दर्शन देकर मुझसे प्रसन्न हो बातचीत की है। मैंने उन जगदीश्वरसे सम्पूर्ण जगत्पर कृपा करनेके लिये यों प्रार्थना की है कि प्रभो! आप वासुदेव नामसे विख्यात होकर कुछ कालतक मनुष्यलोकमें रहें और असुरोंके वधके लिये इस भूतलपर अवतीर्ण हों ।। ६—८ ।।

संग्रामे निहता ये ते दैत्यदानवराक्षसाः ।
त इमे नृषु सम्भूता घोररूपा महाबलाः ।। ९ ।।

'जो-जो दैत्य, दानव तथा राक्षस संग्रामभूमिमें मारे गये थे, वे मनुष्यलोकमें उत्पन्न हुए हैं और अत्यन्त बलवान् होकर जगत्के लिये भयंकर बन बैठे हैं ।। ९ ।।

तेषां वधार्थं भगवान् नरेण सहितो वशी ।
मानुषीं योनिमास्थाय चरिष्यति महीतले ।। १० ।।

'उन सबका वध करनेके लिये सबको वशमें करनेवाले भगवान् नारायण नरके साथ मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण होकर भूतलपर विचरेंगे ।। १० ।।

नरनारायणौ यौ तौ पुराणावृषिसत्तमौ ।
सहितौ मानुषे लोके सम्भूतावमितद्युती ।। ११ ।।

'ऋषियोंमें श्रेष्ठ जो पुरातन महर्षि अमित तेजस्वी नर और नारायण हैं, वे एक साथ मानवलोकमें अवतीर्ण होंगे ।।

अजेयौ समरे यत्तौ सहितैरमरैरपि ।
मूढास्त्वेतौ न जानन्ति नरनारायणावृषी ।। १२ ।।

'युद्धभूमिमें यदि वे विजयके लिये यत्नशील हों तो सम्पूर्ण देवता भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते। मूढ़ मनुष्य उन नर-नारायण ऋषिको नहीं जान सकेंगे ।।

तस्याहमग्रजः पुत्रः सर्वस्य जगतः प्रभुः ।
वासुदेवोऽर्चनीयो वः सर्वलोकमहेश्वरः ।। १३ ।।

'सम्पूर्ण जगत्का स्वामी मैं ब्रह्मा उन भगवान्का ज्येष्ठ पुत्र हूँ। तुम सब लोगोंको उन सर्वलोकमहेश्वर भगवान् वासुदेवकी आराधना करनी चाहिये ।। १३ ।।

तथा मनुष्योऽयमिति कदाचित् सुरसत्तमाः ।
नावज्ञेयो महावीर्यः शङ्खचक्रगदाधरः ।। १४ ।।

'सुरश्रेष्ठगण! शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले उन महापराक्रमी भगवान् वासुदेवका 'ये मनुष्य हैं' ऐसा समझकर अनादर नहीं करना चाहिये ।। १४ ।।

एतत् परमकं गुह्यमेतत् परमकं पदम् ।
एतत् परमकं ब्रह्म एतत् परमकं यशः ।। १५ ।।
एतदक्षरमव्यक्तमेतद् वै शाश्वतं महः ।

'ये भगवान् ही परम गुह्य हैं। ये ही परम पद हैं। ये ही परम ब्रह्म हैं। ये ही परम यश हैं और ये ही अक्षर, अव्यक्त एवं सनातन तेज हैं ।। १५½ ।।

यत् तत् पुरुषसंज्ञं वै गीयते ज्ञायते न च ।। १६ ।।
एतत् परमकं तेज एतत् परमकं सुखम् ।
एतत् परमकं सत्यं कीर्तितं विश्वकर्मणा ।। १७ ।।

‘ये ही पुरुष नामसे कहे जाते हैं, किंतु इनका वास्तविक रूप जाना नहीं जा सकता। ये ही विश्वस्रष्टा ब्रह्माजीके द्वारा परम सुख, परम तेज और परम सत्य कहे गये हैं ।। १६-१७ ।।

तस्मात् सेन्द्रैः सुरैः सर्वैर्लोकैश्चामितविक्रमः ।
नावज्ञेयो वासुदेवो मानुषोऽयमिति प्रभुः ।। १८ ।।

‘इसलिये ‘ये मनुष्य हैं,’ ऐसा समझकर इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओं तथा संसारके मनुष्योंको अमित पराक्रमी भगवान् वासुदेवकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये ।।

यश्च मानुषमात्रोऽयमिति ब्रूयात् स मन्दधीः ।
हृषीकेशमवज्ञानात् तमाहुः पुरुषाधमम् ।। १९ ।।

‘जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी इन भगवान् वासुदेवको केवल मनुष्य कहता है, वह मूर्ख है। भगवान्‌की अवहेलना करनेके कारण उसे नराधम कहा गया है ।। १९ ।।

योगिनं तं महात्मानं प्रविष्टं मानुषीं तनुम् ।
अवमन्येद् वासुदेवं तमाहुस्तामसं जनाः ।। २० ।।

‘भगवान् वासुदेव साक्षात् परमात्मा हैं और योगशक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण उन्होंने मानव-शरीरमें प्रवेश किया है। जो उनकी अवहेलना करता है, उसे ज्ञानी पुरुष तमोगुणी बताते हैं ।। २० ।।

देवं चराचरात्मानं श्रीवत्साङ्कं सुवर्चसम् ।
पद्मनाभं च जानाति तमाहुस्तामसं बुधाः ।। २१ ।।

‘जो चराचरस्वरूप श्रीवत्सचिह्नभूषित उत्तम कान्तिसे सम्पन्न भगवान् पद्मनाभको नहीं जानता, उसे विद्वान् पुरुष तमोगुणी कहते हैं ।। २१ ।।

किरीटकौस्तुभधरं मित्राणामभयंकरम् ।
अवजानम् महात्मानं घोरे तमसि मज्जति ।। २२ ।।

‘जो किरीट और कौस्तुभमणि धारण करनेवाले तथा मित्रों (भक्तजनों)-को अभय देनेवाले हैं, उन परमात्माकी अवहेलना करनेवाला मनुष्य घोर नरकमें डूबता है ।। २२ ।।

एवं विदित्वा तत्त्वार्थं लोकानामीश्वरेश्वरः ।
वासुदेवो नमस्कार्यः सर्वलोकैः सुरोत्तमाः ।। २३ ।।

‘सुरश्रेष्ठगण! इस प्रकार तात्त्विक वस्तुको समझकर सब लोगोंको लोकेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् वासुदेवको नमस्कार करना चाहिये’ ।। २३ ।।

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् देवान् सर्षिगणान् पुरा ।
विसृज्य सर्वभूतात्मा जगाम भवनं स्वकम् ।। २४ ।।

भीष्मजी कहते हैं—दुर्योधन! देवताओं तथा ऋषियोंसे ऐसा कहकर पूर्वकालमें सर्वभूतात्मा भगवान् ब्रह्माने उन सबको विदा कर दिया। फिर वे अपने लोकको चले गये ।। २४ ।।

ततो देवाः सगन्धर्वा मुनयोऽप्सरसोऽपि च ।
कथां तां ब्रह्मणा गीतां श्रुत्वा प्रीता दिवं ययुः ।। २५ ।।

तत्पश्चात् ब्रह्माजीकी कही हुई उस परमार्थ-चर्चाको सुनकर देवता, गन्धर्व, मुनि और अप्सराएँ—ये सभी प्रसन्नतापूर्वक स्वर्गलोकमें चले गये ।। २५ ।।

एतच्छ्रुतं मया तात ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
वासुदेवं कथयतां समवाये पुरातनम् ।। २६ ।।

तात! एक समय शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका एक समाज जुटा हुआ था, जिसमें वे पुरातन भगवान् वासुदेवकी माहात्म्य-कथा कह रहे थे। उन्हींके मुँहसे मैंने ये सब बातें सुनी हैं ।। २६ ।।

रामस्य जामदग्न्यस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः ।
व्यासनारदयोश्चापि सकाशाद् भरतर्षभ ।। २७ ।।

भरतश्रेष्ठ! इसके सिवा जमदग्निनन्दन परशुराम, बुद्धिमान् मार्कण्डेय, व्यास तथा नारदसे भी मैंने यह बात सुनी है ।। २७ ।।

एतमर्थं च विज्ञाय श्रुत्वा च प्रभुमव्ययम् ।
वासुदेवं महात्मानं लोकानामीश्वरेश्वरम् ।। २८ ।।
(जानामि भरतश्रेष्ठ कृष्णं नारायणं प्रभुम् ।)

भरतकुलभूषण! इस विषयको सुन और समझकर मैं वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको अविनाशी प्रभु परमात्मा लोकेश्वरेश्वर और सर्वशक्तिमान् नारायण जानता हूँ ।। २८ ।।

यस्य चैवात्मजो ब्रह्मा सर्वस्य जगतः पिता ।
कथं न वासुदेवोऽयमर्च्यश्चेज्यश्च मानवैः ।। २९ ।।

सम्पूर्ण जगत्के पिता ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं, वे भगवान् वासुदेव मनुष्योंके लिये आराधनीय तथा पूजनीय कैसे नहीं हैं? ।। २९ ।।

वारितोऽसि मया तात मुनिभिर्वेदपारगैः ।
मा गच्छ संयुगं तेन वासुदेवेन धन्विना ।। ३० ।।
मा पाण्डवैः सार्धमिति तत् त्वं मोहान्न बुध्यसे ।
मन्ये त्वां राक्षसं क्रूरं तथा चासि तमोवृतः ।। ३१ ।।

तात! वेदोंके पारंगत विद्वान् महर्षियोंने तथा मैंने तुमको मना किया था कि तुम धनुर्धर भगवान् वासुदेवके साथ विरोध न करो, पाण्डवोंके साथ लोहा न लो; परंतु मोहवश तुमने इन बातोंका कोई मूल्य नहीं समझा। मैं समझता हूँ, तुम कोई क्रूर राक्षस हो; क्योंकि राक्षसोंके ही समान तुम्हारी बुद्धि सदा तमोगुणसे आच्छन्न रहती है ।। ३०-३१ ।।

यस्माद् द्विषसि गोविन्दं पाण्डवं तं धनंजयम् ।
नरनारायणौ देवौ कोऽन्यो द्विष्याद्धि मानवः ।। ३२ ।।

तुम भगवान् गोविन्द तथा पाण्डुनन्दन धनंजयसे द्वेष करते हो। वे दोनों ही नर और नारायण देव हैं। तुम्हारे सिवा दूसरा कौन मनुष्य उनसे द्वेष कर सकता है? ।। ३२ ।।

तस्माद् ब्रवीमि ते राजन्नेष वै शाश्वतोऽव्ययः ।
सर्वलोकमयो नित्यः शास्ता धात्रीधरो ध्रुवः ।। ३३ ।।

राजन्! इसलिये तुम्हें यह बता रहा हूँ कि ये भगवान् श्रीकृष्ण सनातन, अविनाशी, सर्वलोकस्वरूप, नित्य शासक, धरणीधर एवं अविचल हैं ।। ३३ ।।

यो धारयति लोकांस्त्रींश्चराचरगुरुः प्रभुः ।
योद्धा जयश्च जेता च सर्वप्रकृतिरीश्वरः ।। ३४ ।।

ये चराचरगुरु भगवान् श्रीहरि तीनों लोकोंको धारण करते हैं। ये ही योद्धा हैं, ये ही विजय हैं और ये ही विजयी हैं। सबके कारणभूत परमेश्वर भी ये ही हैं ।। ३४ ।।

राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जितः ।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः ।। ३५ ।।

राजन्! ये श्रीहरि सर्वस्वरूप और तम एवं रागसे रहित हैं। जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है ।। ३५ ।।

तस्य माहात्म्ययोगेन योगेनात्ममयेन च ।
धृताः पाण्डुसुता राजन् जयश्चैषां भविष्यति ।। ३६ ।।

उनके माहात्म्ययोगसे तथा आत्मस्वरूपयोगसे समस्त पाण्डव सुरक्षित हैं। राजन्! इसीलिये इनकी विजय होगी ।। ३६ ।।

श्रेयोयुक्तां सदा बुद्धिं पाण्डवानां दधाति यः ।
बलं चैव रणे नित्यं भयेभ्यश्चैव रक्षति ।। ३७ ।।

वे पाण्डवोंको सदा कल्याणमयी बुद्धि प्रदान करते हैं, युद्धमें बल देते हैं और भयसे नित्य उनकी रक्षा करते हैं ।। ३७ ।।

स एष शाश्वतो देवः सर्वगुह्यमयः शिवः ।
वासुदेव इति ज्ञेयो यन्मां पृच्छसि भारत ।। ३८ ।।

भारत! जिनके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे हो, वे सनातन देवता सर्वगुह्यमय कल्याणस्वरूप परमात्मा ही ‘वासुदेव’ नामसे जाननेयोग्य हैं ।। ३८ ।।

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः ।

सेव्यतेऽभ्यर्च्यते चैव नित्ययुक्तैः स्वकर्मभिः ।। ३९ ।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुभ लक्षणसम्पन्न शूद्र—ये सभी नित्य तत्पर होकर अपने कर्मोंद्वारा इन्हींकी सेवा-पूजा करते हैं ।। ३९ ।।

द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च ।
सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन वै ।। ४० ।।
(कृष्णेति नाम्ना विख्यात इमं लोकं स रक्षति ।)

द्वापरयुगके अन्त और कलियुगके आदिमें संकर्षणने श्रीकृष्णोपासनाकी विधिका आश्रय ले इन्हींकी महिमाका गान किया है। ये ही श्रीकृष्णनामसे विख्यात होकर इस लोककी रक्षा करते हैं ।। ४० ।।

स एष सर्वं सुरमर्त्यलोकं
समुद्रकक्ष्यान्तरितां पुरीं च ।
युगे युगे मानुषं चैव वासं
पुनः पुनः सृजते वासुदेवः ।। ४१ ।।

ये भगवान् वासुदेव ही युग-युगमें देवलोक, मर्त्यलोक तथा समुद्रसे घिरी हुई द्वारिका नगरीका निर्माण करते हैं और ये ही बारंबार मनुष्यलोकमें अवतार ग्रहण करते हैं ।। ४१ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने षट्षष्टितमोऽध्यायः ।। ६६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६६ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं।]

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा

दुर्योधन उवाच

वासुदेवो महद् भूतं सर्वलोकेषु कथ्यते ।
तस्यागमं प्रतिष्ठां च ज्ञातुमिच्छे पितामह ।। १ ।।

दुर्योधनने पूछा—पितामह! वासुदेव श्रीकृष्णको सम्पूर्ण लोकोंमें महान् बताया जाता है; अतः मैं उनकी उत्पत्ति और स्थितिके विषयमें जानना चाहता हूँ ।। १ ।।

भीष्म उवाच

वासुदेवो महद् भूतं सर्वदैवतदैवतम् ।
न परं पुण्डरीकाक्षाद् दृश्यते भरतर्षभ ।। २ ।।

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण वास्तवमें महान् हैं। वे सम्पूर्ण देवताओंके भी देवता हैं। कमलनयन श्रीकृष्णसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ।। २ ।।

मार्कण्डेयश्च गोविन्दे कथयत्यद्भुतं महत् ।
सर्वभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः ।। ३ ।।

आपो वायुश्च तेजश्च त्रयमेतदकल्पयत् ।

मार्कण्डेयजी भगवान् गोविन्दके विषयमें अत्यन्त अद्भुत बातें कहते हैं। वे भगवान् ही सर्वभूतमय हैं और वे ही सबके आत्मस्वरूप महात्मा पुरुषोत्तम हैं। सृष्टिके आरम्भमें इन्हीं परमात्माने जल, वायु और तेज—इन तीन भूतों तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि की थी ।। ३ १/२ ।।

स सृष्ट्वा पृथिवीं देवीं सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ।। ४ ।।
अप्सु वै शयनं चक्रे महात्मा पुरुषोत्तमः ।
सर्वतेजोमयो देवो योगात् सुष्वाप तत्र ह ।। ५ ।।

सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वर इन भगवान् श्रीहरिने पृथ्वीदेवी-की सृष्टि करके जलमें शयन किया। वे महात्मा पुरुषोत्तम सर्वतेजोमय देवता योगशक्तिसे उस जलमें सोये ।। ४-५ ।।

मुखतः सोऽग्निमसृजत् प्राणाद् वायुमथापि च ।
सरस्वतीं च वेदांश्च मनसः ससृजेऽच्युतः ।। ६ ।।

उन अच्युतने अपने मुखसे अग्निकी, प्राणसे वायुकी तथा मनसे सरस्वतीदेवी और वेदोंकी रचना की ।। ६ ।।

एष लोकान् ससर्जादौ देवांश्च ऋषिभिः सह ।
निधनं चैव मृत्युं च प्रजानां प्रभवाप्ययौ ।। ७ ।।

इन्होंने ही सर्गके आरम्भमें सम्पूर्ण लोकों तथा ऋषियोंसहित देवताओंकी रचना की थी। ये ही प्रलयके अधिष्ठान और मृत्युस्वरूप हैं। प्रजाकी उत्पत्ति और विनाश इन्हींसे होते हैं ।। ७ ।।

एष धर्मश्च धर्मज्ञो वरदः सर्वकामदः ।
एष कर्ता च कार्यं च पूर्वदेवः स्वयम्प्रभुः ।। ८ ।।

ये धर्मज्ञ, वरदाता, सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले तथा धर्मस्वरूप हैं। ये ही कर्ता, कार्य, आदिदेव तथा स्वयं सर्वसमर्थ हैं ।। ८ ।।

भूतं भव्यं भविष्यच्च पूर्वमेतदकल्पयत् ।
उभे संध्ये दिशः खं च नियमांश्च जनार्दनः ।। ९ ।।

भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी सृष्टि भी पूर्वकालमें इन्हींके द्वारा हुई है। इन जनार्दनने ही दोनों संध्याओं, दसों दिशाओं, आकाश तथा नियमोंकी रचना की है ।। ९ ।।

ऋषींश्चैव हि गोविन्दस्तपश्चैवाभ्यकल्पयत् ।
स्रष्टारं जगतश्चापि महात्मा प्रभुरव्ययः ।। १० ।।

महात्मा अविनाशी प्रभु गोविन्दने ही ऋषियों तथा तपस्याकी रचना की है। जगत्स्रष्टा प्रजापतिको भी उन्होंने ही उत्पन्न किया है ।। १० ।।

अग्रजं सर्वभूतानां संकर्षणमकल्पयत् ।
तस्मान्नारायणो जज्ञे देवदेवः सनातनः ।। ११ ।।

उन पूर्णतम परमात्मा श्रीकृष्णने पहले सम्पूर्ण भूतोंके अग्रज संकर्षणको प्रकट किया, उनसे सनातन देवाधिदेव नारायणका प्रादुर्भाव हुआ ।। ११ ।।

नाभौ पद्मं बभूवास्य सर्वलोकस्य सम्भवात् ।
तस्मात् पितामहो जातस्तस्माज्जातास्त्विमाः प्रजाः ।। १२ ।।

नारायणकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ। सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके स्थानभूत उस कमलसे पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीसे ये सारी प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं ।। १२ ।।

शेषं चाकल्पयद् देवमनन्तं विश्वरूपिणम् ।
यो धारयति भूतानि धरां चेमां सपर्वताम् ।। १३ ।।

जो सम्पूर्ण भूतोंको तथा पर्वतोंसहित इस पृथ्वीको धारण करते हैं, जिन्हें विश्वरूपी अनन्तदेव तथा शेष कहा गया है, उन्हें भी उन परमात्माने ही उत्पन्न किया है ।।

ध्यानयोगेन विप्राश्च तं विदन्ति महौजसम् ।
कर्णस्रोतोद्भवं चापि मधुं नाम महासुरम् ।। १४ ।।
तमुग्रमुग्रकर्माणमुग्रां बुद्धिं समास्थितम् ।
ब्रह्मणोऽपचितिं कुर्वन् जघान पुरुषोत्तमः ।। १५ ।।

ब्राह्मणलोग ध्यानयोगके द्वारा इन्हीं परम तेजस्वी वासुदेवका ज्ञान प्राप्त करते हैं। जलशायी नारायणके कानकी मैलसे महान् असुर मधुका प्राकट्य हुआ था। वह मधु बड़े ही उग्र स्वभावका तथा क्रूरकर्मा था। उसने ब्रह्माजीका समादर करते हुए अत्यन्त भयंकर बुद्धिका आश्रय लिया था। इसलिये ब्रह्माजीका समादर करते हुए भगवान् पुरुषोत्तमने मधुको मार डाला था ।।

तस्य तात वधादेव देवदानवमानवाः ।
मधुसूदनमित्याहुर्ऋषयश्च जनार्दनम् ।। १६ ।।

तात! मधुका वध करनेके कारण ही देवता, दानव, मनुष्य तथा ऋषिगण श्रीजनार्दनको मधुसूदन कहते हैं ।।

वराहश्चैव सिंहश्च त्रिविक्रमगतिः प्रभुः ।
एष माता पिता चैव सर्वेषां प्राणिनां हरिः ।। १७ ।।

वे ही भगवान् समय-समयपर वाराह, नृसिंह और वामनके रूपमें प्रकट हुए हैं। ये श्रीहरि ही समस्त प्राणियोंके पिता और माता हैं ।। १७ ।।

परं हि पुण्डरीकाक्षान्न भूतं न भविष्यति ।
मुखतः सोऽसृजद् विप्रान् बाहुभ्यां क्षत्रियांस्तथा ।। १८ ।।
वैश्यांश्चाप्यूरुतो राजन् शूद्रान् वै पादतस्तथा ।

इन कमलनयन भगवान्से बढ़कर दूसरा कोई तत्त्व न हुआ है, न होगा। राजन्! इन्होंने अपने मुखसे ब्राह्मणों, दोनों भुजाओंसे क्षत्रियों, जंघासे वैश्यों और चरणोंसे शूद्रोंको उत्पन्न किया है ।। १८½ ।।

तपसा नियतो देवं विधानं सर्वदेहिनाम् ।। १९ ।।
ब्रह्मभूतममावास्यां पौर्णमास्यां तथैव च ।
योगभूतं परिचरन् केशवं महदाप्नुयात् ।। २० ।।

जो मनुष्य तपस्यामें तत्पर हो संयम-नियमका पालन करते हुए अमावास्या और पूर्णिमाको समस्त देहधारियोंके आश्रय, ब्रह्म एवं योगस्वरूप भगवान् केशवकी[१] आराधना करता है, वह परम पदको प्राप्त कर लेता है ।। १९-२० ।।

केशवः परमं तेजः सर्वलोकपितामहः ।
एनमाहुर्हृषीकेशं मुनयो वै नराधिप ।। २१ ।।

नरेश्वर! सम्पूर्ण लोकोंके पितामह भगवान् श्रीकृष्ण परम तेज हैं। मुनिजन इन्हें हृषीकेश कहते हैं ।। २१ ।।

एवमेनं विजानीहि आचार्यं पितरं गुरुम् ।
कृष्णो यस्य प्रसीदेत लोकास्तेनाक्षया जिताः ।। २२ ।।

इस प्रकार इन भगवान् गोविन्दको तुम आचार्य, पिता और गुरु समझो। भगवान् श्रीकृष्ण जिसके ऊपर प्रसन्न हो जायँ, वह अक्षय लोकोंपर विजय पा जाता है ।।

यश्चैवैनं भयस्थाने केशवं शरणं व्रजेत् ।
सदा नरः पठंश्चेदं स्वस्तिमान् स सुखी भवेत् ।। २३ ।।

जो मनुष्य भयके समय इन भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेता है और सर्वदा इस स्तुतिका पाठ करता है, वह सुखी एवं कल्याणका भागी होता है ।। २३ ।।

ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः ।
भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः ।। २४ ।।

जो मानव भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते। जनार्दन महान् भयमें निमग्न भगवान् उन मनुष्योंकी सदा रक्षा करते हैं ।। २४ ।।

स तं युधिष्ठिरो ज्ञात्वा याथातथ्येन भारत ।
सर्वात्मना महात्मानं केशवं जगदीश्वरम् ।
प्रपन्नः शरणं राजन् योगानां प्रभुमीश्वरम् ।। २५ ।।

भरतवंशी नरेश! इस बातको अच्छी तरह समझकर राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण हृदयसे योगोंके स्वामी, सर्वसमर्थ, जगदीश्वर एवं महात्मा भगवान् केशवकी शरण ली है ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ।। ६७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६७ ।।

१. केशव नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—क=ब्रह्मा, अ=विष्णु, ईश=शिव जिनके वपु हैं।

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

ब्रह्मभूतस्तोत्र तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महत्ता

भीष्म उवाच

शृणु चेदं महाराज ब्रह्मभूतं स्तवं मम ।
ब्रह्मर्षिभिश्च देवैश्च यः पुरा कथितो भुवि ।। १ ।।

भीष्मजी कहते हैं—महाराज दुर्योधन! पूर्वकालमें इस भूतलपर ब्रह्मर्षियों तथा देवताओंने इनका जो ब्रह्मभूतस्तोत्र कहा है, उसे तुम मुझसे सुनो— ।। १ ।।

साध्यानामपि देवानां देवदेवेश्वरः प्रभुः ।
लोकभावनभावज्ञ इति त्वां नारदोऽब्रवीत् ।। २ ।।

'प्रभो! आप साध्यगण और देवताओंके भी स्वामी एवं देवदेवेश्वर हैं। आप सम्पूर्ण जगत्के हृदयके भावोंको जाननेवाले हैं। आपके विषयमें नारदजीने ऐसा ही कहा है ।। २ ।।

भूतं भव्यं भविष्यं च मार्कण्डेयोऽभ्युवाच ह ।
यज्ञं त्वां चैव यज्ञानां तपश्च तपसामपि ।। ३ ।।

'मार्कण्डेयजीने आपको भूत, भविष्य और वर्तमान स्वरूप बताया है। वे आपको यज्ञोंका यज्ञ और तपस्याओंका भी सारभूत तप बताया करते हैं ।। ३ ।।

देवानामपि देवं च त्वामाह भगवान् भृगुः ।
पुराणं चैव परमं विष्णो रूपं तवेति च ।। ४ ।।

'भगवान् भृगुने आपको देवताओंका भी देवता कहा है। विष्णो! आपका रूप अत्यन्त पुरातन और उत्कृष्ट है ।।

वासुदेवो वसूनां त्वं शक्रं स्थापयिता तथा ।
देव देवोऽसि देवानामिति द्वैपायनोऽब्रवीत् ।। ५ ।।

'प्रभो! आप वसुओंके वासुदेव तथा इन्द्रको स्वर्गके राज्यपर स्थापित करनेवाले हैं। देव! आप देवताओंके भी देवता हैं। महर्षि द्वैपायन आपके विषयमें ऐसा ही कहते हैं ।। ५ ।।

पूर्वे प्रजानिसर्गे च दक्षमाहुः प्रजापतिम् ।
स्रष्टारं सर्वलोकानामङ्गिरास्त्वां तथाब्रवीत् ।। ६ ।।

'प्रथम प्रजासृष्टिके समय आपको ही दक्ष प्रजापति कहा गया है। आप ही सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा हैं—इस प्रकार अंगिरा मुनि आपके विषयमें कहते हैं ।। ६ ।।

अव्यक्तं ते शरीरोत्थं व्यक्तं ते मनसि स्थितम् ।
देवास्त्वत्सम्भवाश्चैव देवलस्त्वसितोऽब्रवीत् ।। ७ ।।

'अव्यक्त (प्रधान) आपके शरीरसे उत्पन्न हुआ है, व्यक्त महत्तत्त्व आदि कार्यवर्ग आपके मनमें स्थित है तथा सम्पूर्ण देवता भी आपसे ही उत्पन्न हुए हैं; ऐसा असित और देवलका कथन है ।। ७ ।।

शिरसा ते दिवं व्याप्तं बाहुभ्यां पृथिवी तथा ।
जठरं ते त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ।। ८ ।।
एवं त्वामभिजानन्ति तपसा भाविता नराः ।
आत्मदर्शनतृप्तानामृषीणां चासि सत्तमः ।। ९ ।।

'आपके मस्तकसे द्युलोक और भुजाओंसे भूलोक व्याप्त है। तीनों लोक आपके उदरमें स्थित हैं। आप ही सनातन पुरुष हैं। तपस्यासे शुद्ध अन्तःकरण-वाले महात्मा पुरुष आपको ऐसा ही जानते हैं। आत्मसाक्षात्कारसे तृप्त हुए ज्ञानी महर्षियोंकी दृष्टिमें भी आप सबसे श्रेष्ठ हैं ।। ८-९ ।।

राजर्षीणामुदाराणामाहवेष्वनिवर्तिनाम् ।
सर्वधर्मप्रधानानां त्वं गतिर्मधुसूदन ।। १० ।।

'मधुसूदन! जो सम्पूर्ण धर्मोंमें प्रधान और संग्रामसे कभी पीछे हटनेवाले नहीं हैं, उन उदार राजर्षियोंके परम आश्रय भी आप ही हैं ।। १० ।।

इति नित्यं योगविद्भिर्भगवान् पुरुषोत्तमः ।
सनत्कुमारप्रमुखैः स्तूयतेऽभ्यर्च्यते हरिः ।। ११ ।।

'इस प्रकार सनत्कुमार आदि योगवेत्ता पापापहारी आप भगवान् पुरुषोत्तमकी सदा ही स्तुति और पूजा करते हैं' ।। ११ ।।

एष ते विस्तरस्तात संक्षेपश्च प्रकीर्तितः ।
केशवस्य यथातत्त्वं सुप्रीतो भज केशवम् ।। १२ ।।

तात! दुर्योधन! इस तरह विस्तार और संक्षेपसे मैंने तुम्हें भगवान् केशवकी यथार्थ महिमा बतायी है। अब तुम अत्यन्त प्रसन्न होकर उनका भजन करो ।। १२ ।।

संजय उवाच

पुण्यं श्रुत्वैतदाख्यानं महाराज सुतस्तव ।
केशवं बहु मेने स पाण्डवांश्च महारथान् ।। १३ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! भीष्मजीके मुखसे यह पवित्र आख्यान सुनकर तुम्हारे पुत्रने भगवान् श्रीकृष्ण तथा महारथी पाण्डवोंको बहुत महत्त्वशाली समझा ।। १३ ।।

तमब्रवीन्महाराज भीष्मः शान्तनवः पुनः ।
माहात्म्यं ते श्रुतं राजन् केशवस्य महात्मनः ।। १४ ।।
नरस्य च यथातत्त्वं यन्मां त्वं पृच्छसे नृप ।

राजन्! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मजीने पुनः दुर्योधनसे कहा—‘नरेश्वर! तुमने महात्मा केशव तथा नरस्वरूप अर्जुनका यथार्थ माहात्म्य, जिसके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे थे, मुझसे अच्छी तरह सुन लिया ।। १४ $\frac{1}{2}$ ।।

यदर्थं नृषु सम्भूतौ नरनारायणावृषी ।। १५ ।।
अवध्यौ च यथा वीरौ संयुगेष्वपराजितौ ।
यथा च पाण्डवा राजन्नवध्या युधि कस्यचित् ।। १६ ।।

‘ऋषि नर और नारायण जिस उद्देश्यसे मनुष्योंमें अवतीर्ण हुए हैं, वे दोनों अपराजित वीर जिस प्रकार युद्धमें अवध्य हैं तथा समस्त पाण्डव भी जिस प्रकार समरभूमिमें किसीके लिये भी वध्य नहीं हैं, वह सब विषय तुमने अच्छी तरह सुन लिया ।। १५-१६ ।।

प्रीतिमान् हि दृढ़ कृष्णः पाण्डवेषु यशस्विषु ।
तस्माद् ब्रवीमि राजेन्द्र शमो भवतु पाण्डवैः ।। १७ ।।

‘राजेन्द्र! भगवान् श्रीकृष्ण यशस्वी पाण्डवोंपर बहुत प्रसन्न हैं। इसीलिये मैं कहता हूँ कि पाण्डवोंके साथ तुम्हारी संधि हो जाय ।। १७ ।।

पृथिवीं भुङ्क्ष्व सहितो भ्रातृभिर्बलिभिर्वशी ।
नरनारायणौ देवाववज्ञाय नशिष्यसि ।। १८ ।।

‘वे तुम्हारे बलवान् भाई हैं। तुम अपने मनको वशमें रखते हुए उनके साथ मिलकर पृथ्वीका राज्य भोगो। भगवान् नर-नारायण (अर्जुन और श्रीकृष्ण)-की अवहेलना करके तुम नष्ट हो जाओगे ।। १८ ।।

एवमुक्त्वा तव पिता तूष्णीमासीद् विशाम्पते ।
व्यसर्जयच्च राजानं शयनं च विवेश ह ।। १९ ।।

प्रजानाथ! ऐसा कहकर आपके ताऊ भीष्मजी चुप हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने राजा दुर्योधनको विदा किया और स्वयं शयन करने चले गये ।। १९ ।।

राजा च शिबिरं प्रायात् प्रणिपत्य महात्मने ।
शिश्ये च शयने शुभ्रे रात्रिं तां भरतर्षभ ।। २० ।।

भरतश्रेष्ठ! राजा दुर्योधन भी महात्मा भीष्मको प्रणाम करके अपने शिविरमें चला आया और अपनी शुभ्र शय्यापर सो गया ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि विश्वोपाख्याने अष्टषष्टितमोऽध्यायः ।। ६८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें विश्वोपाख्यानविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६८ ।।

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

कौरवोंद्वारा मकरव्यूह तथा पाण्डवोंद्वारा श्येनव्यूहका निर्माण एवं पाँचवें दिनके युद्धका आरम्भ

संजय उवाच

व्युषितायां तु शर्वर्यामुदिते च दिवाकरे ।
उभे सेने महाराज युद्धायैव समीयतुः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! वह रात बीतनेपर जब सूर्योदय हुआ, तब दोनों ओरकी सेनाएँ आमने-सामने आकर युद्धके लिये डट गयीं ।। १ ।।

अभ्यधावन्त संक्रुद्धाः परस्परजिगीषवः ।
ते सर्वे सहिता युद्धे समालोक्य परस्परम् ।। २ ।।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च राजन् दुर्मन्त्रिते तव ।
व्यूहौ च व्यूह्य संरब्धाः सम्प्रहृष्टाः प्रहारिणः ।। ३ ।।

सबने एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अत्यन्त क्रोधमें भरकर विपक्षी सेनापर आक्रमण किया। राजन्! आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप आपके पुत्र और पाण्डव एक-दूसरेको देखकर कुपित हो सब-के-सब अपने सहायकोंके साथ आकर सेनाकी व्यूह-रचना करके हर्ष और उत्साहमें भरकर परस्पर प्रहार करनेको उद्यत हो गये ।। २-३ ।।

अरक्षन्मकरव्यूहं भीष्मो राजन् समन्ततः ।
तथैव पाण्डवा राजन्नरक्षन् व्यूहमात्मनः ।। ४ ।।

राजन्! भीष्म सेनाका मकरव्यूह बनाकर सब ओरसे उसकी रक्षा करने लगे। इसी प्रकार पाण्डवोंने भी अपने व्यूहकी रक्षा की ।। ४ ।।

(अजातशत्रुः शत्रूणां मनांसि समकम्पयत् ।
श्येनवद् व्यूह्य तं व्यूहं धौम्यस्य वचनात् स्वयम् ।।
स हि तस्य सुविज्ञात अग्निचित्येषु भारत ।
मकरस्तु महाव्यूहस्तव पुत्रस्य धीमतः ।।
स्वयं सर्वेण सैन्येन द्रोणेनानुमतस्तदा ।
यथाव्यूहं शान्तनवः सोऽन्ववर्तत तत् पुनः ।।)
स निर्ययौ महाराज पिता देवव्रतस्तव ।
महता रथवंशेन संवृतो रथिनां वरः ।। ५ ।।

स्वयं अजातशत्रु युधिष्ठिरने धौम्य मुनिकी आज्ञासे श्येनव्यूहकी रचना करके शत्रुओंके हृदयमें कँपकँपी पैदा कर दी। भारत! अग्निचयनसम्बन्धी कर्मोंमें रहते हुए उन्हें

श्येनव्यूहका विशेष परिचय था। आपके बुद्धिमान् पुत्रकी सेनाका मकर नामक महाव्यूह निर्मित हुआ था। द्रोणाचार्यकी अनुमति लेकर उसने स्वयं सारी सेनाके द्वारा उस व्यूहकी रचना की थी। फिर शान्तनुनन्दन भीष्मने व्यूहकी विधिके अनुसार निर्मित हुए उस महाव्यूहका स्वयं भी अनुसरण किया था। महाराज! रथियोंमें श्रेष्ठ आपके ताऊ भीष्म विशाल रथसेनासे घिरे हुए युद्धके लिये निकले ।। ५ ।।

इतरेतरमन्वीयुर्यथाभागमवस्थिताः ।
रथिनः पत्तयश्चैव दन्तिनः सादिनस्तथा ।। ६ ।।

फिर यथाभाग खड़े हुए रथी, पैदल, हाथीसवार और घुड़सवार सब एक-दूसरेका अनुसरण करते हुए चल दिये ।। ६ ।।

तान् दृष्ट्वाभ्युद्यतान् संख्ये पाण्डवा हि यशस्विनः ।
श्येनेन व्यूहराजेन तेनाजय्येन संयुगे ।। ७ ।।
अशोभत मुखे तस्य भीमसेनो महाबलः ।
नेत्रे शिखण्डी दुर्धर्षो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।। ८ ।।

शत्रुओंको युद्धके लिये उद्यत हुए देख यशस्वी पाण्डव युद्धमें अजेय व्यूहराज श्येनके रूपमें संगठित हो शोभा पाने लगे। उस व्यूहके मुखभागमें महाबली भीमसेन शोभा पा रहे थे। नेत्रोंके स्थानमें दुर्धर्ष वीर शिखण्डी तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न खड़े थे ।। ७-८ ।।

शीर्षे तस्याभवद् वीरः सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
विधुन्वन् गाण्डिवं पार्थो ग्रीवायामभवत् तदा ।। ९ ।।

शिरोभागमें सत्यपराक्रमी वीर सात्यकि और ग्रीवाभागमें गाण्डीवधनुषकी टंकार करते हुए कुन्तीकुमार अर्जुन खड़े हुए ।। ९ ।।

अक्षौहिण्या समं तत्र वामपक्षोऽभवत् तदा ।
महात्मा द्रुपदः श्रीमान् सह पुत्रेण संयुगे ।। १० ।।

पुत्रसहित श्रीमान् महात्मा द्रुपद एक अक्षौहिणी सेनाके साथ युद्धमें बायें पंखके स्थानमें खड़े थे ।। १० ।।

दक्षिणश्चाभवत् पक्षः कैकेयोऽक्षौहिणीपतिः ।
पृष्ठतो द्रौपदेयाश्च सौभद्रश्चापि वीर्यवान् ।। ११ ।।

एक अक्षौहिणी सेनाके अधिपति केकय दाहिने पंखमें स्थित हुए। द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी सुभद्राकुमार अभिमन्यु—ये पृष्ठभागमें खड़े हुए ।। ११ ।।

पृष्ठे समभवच्छ्रीमान् स्वयं राजा युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभ्यां सहितो वीरो यमाभ्यां चारुविक्रमः ।। १२ ।।

उत्तम पराक्रमसे सम्पन्न स्वयं श्रीमान् वीर राजा युधिष्ठिर भी अपने दो भाई नकुल और सहदेवके साथ पृष्ठभागमें ही सुशोभित हुए ।। १२ ।।

प्रविश्य तु रणे भीमो मकरं मुखतस्तदा ।

भीष्ममासाद्य संग्रामे छादयामास सायकैः ।। १३ ।।

तदनन्तर भीमसेनने रणक्षेत्रमें प्रवेश करके मकर-व्यूहके मुखभागमें खड़े हुए भीष्मको अपने सायकोंसे आच्छादित कर दिया ।। १३ ।।

ततो भीष्मो महास्त्राणि पातयामास भारत ।
मोहयन् पाण्डुपुत्राणां व्यूढं सैन्यं महाहवे ।। १४ ।।

भारत! तब उस महासमरमें पाण्डवोंकी उस व्यूहबद्ध सेनाको मोहित करते हुए भीष्म उसपर बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रयोग करने लगे ।। १४ ।।

सम्मुह्यति तदा सैन्ये त्वरमाणो धनंजयः ।
भीष्मं शरसहस्रेण विव्याध रणमूर्धनि ।। १५ ।।

उस समय अपनी सेनाको मोहित होती देख अर्जुनने बड़ी उतावलीके साथ युद्धके मुहानेपर एक हजार बाणोंकी वर्षा करके भीष्मको घायल कर दिया ।। १५ ।।

प्रतिसंवार्य चास्त्राणि भीष्ममुक्तानि संयुगे ।
स्वेनानीकेन हृष्टेन युद्धाय समुपस्थितः ।। १६ ।।

संग्राममें भीष्मके छोड़े हुए सम्पूर्ण अस्त्रोंका निवारण करके हर्षमें भरी हुई अपनी सेनाके साथ वे युद्धके लिये उपस्थित हुए ।। १६ ।।

ततो दुर्योधनो राजा भारद्वाजमभाषत ।
पूर्वं दृष्ट्वा वधं घोरं बलस्य बलिनां वरः ।। १७ ।।
भ्रातृणां च वधं युद्धे स्मरमाणो महारथः ।
आचार्य सततं हि त्वं हितकामो ममानघ ।। १८ ।।

तब बलवानोंमें श्रेष्ठ महारथी राजा दुर्योधनने पहले जो अपनी सेनाका घोर संहार हुआ था, उसको दृष्टिमें रखते हुए और युद्धमें भाइयोंके वधका स्मरण करते हुए भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यसे कहा—‘निष्पाप आचार्य! आप सदा ही मेरा हित चाहनेवाले हैं ।। १७-१८ ।।

वयं हि त्वां समाश्रित्य भीष्मं चैव पितामहम् ।
देवानपि रणे जेतुं प्रार्थयामो न संशयः ।। १९ ।।
किमु पाण्डुसुतान् युद्धे हीनवीर्यपराक्रमान् ।
स तथा कुरु भद्रं ते यथा वध्यन्ति पाण्डवाः ।। २० ।।

‘हमलोग आप तथा पितामह भीष्मकी शरण लेकर देवताओंको भी समरभूमिमें जीतनेकी अभिलाषा रखते हैं, इसमें संशय नहीं है। फिर जो बल और पराक्रममें हीन हैं, उन पाण्डवोंको जीतना कौन बड़ी बात है। आपका कल्याण हो। आप ऐसा प्रयत्न करें जिससे पाण्डव मारे जायँ’ ।। १९-२० ।।

एवमुक्तस्ततो द्रोणस्तव पुत्रेण मारिष ।
(उवाच तत्र राजानं संक्रुद्ध इव निःश्वसन् ।

आर्य! आपके पुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर द्रोणाचार्य कुछ कुपित-से हो उठे और लंबी साँस खींचते हुए राजा दुर्योधनसे बोले।

द्रोण उवाच

बालिशस्त्वं न जानीषे पाण्डवानां पराक्रमम् ।
न शक्या हि यथा जेतुं पाण्डवा हि महाबलाः ।।
यथाबलं यथावीर्यं कर्म कुर्यामहं हि ते ।

द्रोणाचार्यने कहा—तुम नादान हो। पाण्डवोंका पराक्रम कैसा है, यह नहीं जानते। महाबली पाण्डवोंको युद्धमें जीतना असम्भव है, तथापि मैं अपने बल और पराक्रमके अनुसार तुम्हारा कार्य कर सकता हूँ।

संजय उवाच

इत्युक्त्वा ते सुतं राजन्नभ्यपद्यत वाहिनीम् ।)
अभिनत् पाण्डवानीकं प्रेक्षमाणस्य सात्यकेः ।। २१ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! आपके पुत्रसे ऐसा कहकर द्रोणाचार्य पाण्डवोंकी सेनाका सामना करनेके लिये गये। वे सात्यकिके देखते-देखते पाण्डवसेनाको विदीर्ण करने लगे ।। २१ ।।

सात्यकिस्तु ततो द्रोणं वारयामास भारत ।
तयोः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ।। २२ ।।

भारत! उस समय सात्यकिने आगे बढ़कर द्रोणाचार्यको रोका। फिर तो उन दोनोंमें अत्यन्त भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया ।। २२ ।।

शैनेयं तु रणे क्रुद्धो भारद्वाजः प्रतापवान् ।
अविध्यन्निशितैर्बाणैर्जत्रुदेशे हसन्निव ।। २३ ।।

प्रतापी द्रोणाचार्यने युद्धमें कुपित होकर सात्यकिके गलेकी हँसलीमें हँसते हुए-से पैने बाणोंद्वारा प्रहार किया ।। २३ ।।

भीमसेनस्ततः क्रुद्धो भारद्वाजमविध्यत ।
संरक्षन् सात्यकिं राजन् द्रोणाच्छस्त्रभृतां वरात् ।। २४ ।।

राजन्! तब भीमसेनने कुपित होकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे सात्यकिकी रक्षा करते हुए आचार्यको अपने बाणोंसे बींध डाला ।। २४ ।।

ततो द्रोणश्च भीष्मश्च तथा शल्यश्च मारिष ।
भीमसेनं रणे क्रुद्धाश्छादयांचक्रिरे शरैः ।। २५ ।।

आर्य! तदनन्तर द्रोणाचार्य, भीष्म तथा शल्य तीनोंने कुपित होकर भीमसेनको युद्धस्थलमें अपने बाणोंसे ढक दिया ।। २५ ।।

तत्राभिमन्युः संक्रुद्धो द्रौपदेयाश्च मारिष ।

विव्यधुर्निशितैर्बाणैः सर्वांस्तानुद्यतायुधान् ।। २६ ।।

महाराज! तब वहाँ क्रोधमें भरे हुए अभिमन्यु और द्रौपदीके पुत्रोंने आयुध लेकर खड़े हुए उन सब कौरव महारथियोंको तीखे बाणोंसे घायल कर दिया ।। २६ ।।

द्रोणभीष्मौ तु संक्रुद्धावापतन्तौ महाबलौ ।
प्रत्युद्ययौ शिखण्डी तु महेष्वासो महाहवे ।। २७ ।।

उस समय कुपित होकर आक्रमण करते हुए महा-बली द्रोणाचार्य और भीष्मका उस महासमरमें सामना करनेके लिये महाधनुर्धर शिखण्डी आगे बढ़ा ।।

प्रगृह्य बलवद् वीरो धनुर्जलदनिःस्वनम् ।
अभ्यवर्षच्छरैस्तूर्णं छादयानो दिवाकरम् ।। २८ ।।

उस वीरने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले अपने धनुषको बलपूर्वक खींचकर बड़ी शीघ्रताके साथ इतने बाणोंकी वर्षा की कि सूर्य भी आच्छादित हो गये ।। २८ ।।

शिखण्डिनं समासाद्य भरतानां पितामहः ।
अवर्जयत संग्रामं स्त्रीत्वं तस्यानुसंस्मरन् ।। २९ ।।

भरतकुलके पितामह भीष्मने शिखण्डीके सामने पहुँचकर उसके स्त्रीत्वका बारंबार स्मरण करते हुए युद्ध बंद कर दिया ।। २९ ।।

ततो द्रोणो महाराज अभ्यद्रवत तं रणे ।
रक्षमाणस्तदा भीष्मं तव पुत्रेण चोदितः ।। ३० ।।

महाराज! यह देखकर द्रोणाचार्य युद्धमें आपके पुत्रके कहनेसे भीष्मकी रक्षाके लिये शिखण्डीकी ओर दौड़े ।। ३० ।।

शिखण्डी तु समासाद्य द्रोणं शस्त्रभृतां वरम् ।
अवर्जयत संत्रस्तो युगान्ताग्निमिवोल्बणम् ।। ३१ ।।

शिखण्डी प्रलयकालकी प्रचण्ड अग्निके समान शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणका सामना पड़नेपर भयभीत हो युद्ध छोड़कर चल दिया ।। ३१ ।।

ततो बलेन महता पुत्रस्तव विशाम्पते ।
जुगोप भीष्ममासाद्य प्रार्थयानो महद् यशः ।। ३२ ।।

प्रजानाथ! तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन महान् यश पानेकी इच्छा रखता हुआ अपनी विशाल सेनाके साथ भीष्मके पास पहुँचकर उनकी रक्षा करने लगा ।।

तथैव पाण्डवा राजन् पुरस्कृत्य धनंजयम् ।
भीष्ममेवाभ्यवर्तन्त जये कृत्वा दृढ़ां मतिम् ।। ३३ ।।

राजन्! इसी प्रकार पाण्डव भी विजय-प्राप्तिके लिये दृढ़ निश्चय करके अर्जुनको आगे कर भीष्मपर ही टूट पड़े ।। ३३ ।।

तद् युद्धमभवद् घोरं देवानां दानवैरिव ।
जयमाकाङ्क्षतां संख्ये यशश्च सुमहाद्भुतम् ।। ३४ ।।

उस युद्धमें विजय तथा अत्यन्त अद्भुत यशकी अभिलाषा रखनेवाले पाण्डवोंका कौरवोंके साथ उसी प्रकार भयंकर युद्ध हुआ, जैसे देवताओंका दानवोंके साथ हुआ था ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चम दिवसयुद्धारम्भे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ।। ६९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिवसके युद्धका आरम्भविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६९ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ १/२ श्लोक मिलाकर कुल ३९ १/२ श्लोक हैं।]

सप्ततितमोऽध्यायः

भीष्म और भीमसेनका घमासान युद्ध

संजय उवाच

अकरोत् तुमुलं युद्धं भीष्मः शान्तनवस्तदा ।
भीमसेनभयादिच्छन् पुत्रांस्तारयितुं तव ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! आपके पुत्रोंको भीमसेनके भयसे छुड़ानेकी इच्छा रखकर उस दिन शान्तनुनन्दन भीष्मने बड़ा भयंकर युद्ध किया ।। १ ।।

पूर्वाह्णे तन्महारौद्रं राज्ञां युद्धमवर्तत ।
कुरूणां पाण्डवानां च मुख्यशूरविनाशनम् ।। २ ।।

पूर्वाह्णकालमें कौरव-पाण्डव नरेशोंका वह महा-भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ, जो बड़े-बड़े शूरवीरोंका विनाश करनेवाला था ।। २ ।।

तस्मिन्नाकुलसंग्रामे वर्तमाने महाभये ।
अभवत् तुमुलः शब्दः संस्पृशन् गगनं महत् ।। ३ ।।

उस अत्यन्त भयानक घमासान युद्धमें बड़ा भयंकर कोलाहल होने लगा, जिससे अनन्त आकाश गूँज उठा ।। ३ ।।

नदद्भिश्च महानागैर्ह्रेषमाणैश्च वाजिभिः ।
भेरीशङ्खनिनादैश्च तुमुलं समपद्यत ।। ४ ।।

चिग्घाड़ते हुए बड़े-बड़े गजराजों, हिनहिनाते हुए घोड़ों तथा भेरी और शंखकी ध्वनियोंसे भयंकर कोलाहल छा गया ।। ४ ।।

युयुत्सवस्ते विक्रान्ता विजयाय महाबलाः ।
अन्योन्यमभिगर्जन्तो गोष्ठेष्विव महर्षभाः ।। ५ ।।

जैसे बड़े-बड़े साँड़ गोशालाओंमें गरजते हुए एक-दूसरेसे भिड़ जाते हैं, उसी प्रकार पराक्रमी और महाबली सैनिक विजयके लिये युद्धकी इच्छा रखकर गरजते हुए एक-दूसरेके सामने आये ।। ५ ।।

शिरसां पात्यमानानां समरे निशितैः शरैः ।
अश्मवृष्टिरिवाकाशे बभूव भरतर्षभ ।। ६ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समरभूमिमें तीखे बाणोंसे गिराये जानेवाले मस्तकोंकी वर्षा होने लगी, मानो आकाशसे पत्थरोंकी वृष्टि हो रही है ।। ६ ।।

कुण्डलोष्णीषधारीणि जातरूपोज्ज्वलानि च ।
पतितानि स्म दृश्यन्ते शिरांसि भरतर्षभ ।। ७ ।।

भरतवंशी नरेश! कुण्डल और पगड़ी धारण करनेवाले तथा स्वर्णमय मुकुट आदिसे उद्भासित होनेवाले अगणित मस्तक कटकर धरतीपर पड़े दिखायी देते थे ।। ७ ।।

विशिखोन्मथितैर्गात्रैर्बाहुभिश्च सकार्मुकैः ।
सहस्ताभरणैश्चान्यैरभवच्छादिता मही ।। ८ ।।

सारी पृथ्वी बाणोंसे छिन्न-भिन्न हुई लाशों, धनुष तथा हस्ताभरणोंसहित कटी हुई दोनों भुजाओंसे पट गयी थी ।। ८ ।।

कवचोपहितैर्गात्रैर्हस्तैश्च समलंकृतैः ।
मुखैश्च चन्द्रसंकाशै रक्तान्तनयनैः शुभैः ।। ९ ।।
गजवाजिमनुष्याणां सर्वगात्रैश्च भूपते ।
आसीत् सर्वा समास्तीर्णा मुहूर्तेन वसुंधरा ।। १० ।।

भूपाल! दो ही घड़ीमें वहाँकी सारी वसुधा कवचसे ढके हुए शरीरों, आभूषणोंसे विभूषित हाथों, चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखों, जिनके अन्तभागमें कुछ-कुछ लाली थी, ऐसे सुन्दर नेत्रों तथा हाथी, घोड़े और मनुष्योंके सम्पूर्ण अंगोंसे बिछ गयी थी ।। ९-१० ।।

रजोमेघैश्च तुमुलैः शस्त्रविद्युत्प्रकाशिभिः ।
आयुधानां च निर्घोषः स्तनयिन्तुसमोऽभवत् ।। ११ ।।

धूलके भयंकर बादल छा रहे थे। उनमें अस्त्र-शस्त्ररूपी विद्युत्के प्रकाश देखे जाते थे। धनुष आदि आयुधोंका जो गम्भीर घोष होता था, वह मेघगर्जनाके समान प्रतीत होता था ।। ११ ।।

स सम्प्रहारस्तुमुलः कटुकः शोणितोदकः ।
प्रावर्तत कुरूणां च पाण्डवानां च भारत ।। १२ ।।

भारत! कौरवों और पाण्डवोंका वह भयानक युद्ध बड़ा ही कटु और रक्तको पानीकी तरह बहानेवाला था ।। १२ ।।

तस्मिन् महाभये घोरे तुमुले लोमहर्षणे ।
ववृषुः शरवर्षाणि क्षत्रिया युद्धदुर्मदाः ।। १३ ।।

उस महान् भयदायक, घोर, रोमांचकारी एवं तुमुल संग्राममें रणदुर्मद क्षत्रिय बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। १३ ।।

आक्रोशन् कुञ्जरास्तत्र शरवर्षप्रतापिताः ।
तावकानां परेषां च संयुगे भरतर्षभ ।। १४ ।।

भरतश्रेष्ठ! बाणोंकी वर्षासे पीड़ित हुए आपके और पाण्डवोंके हाथी उस युद्धमें चिग्घाड़ मचा रहे थे ।।

संरब्धानां च वीराणां धीराणाममितौजसाम् ।
धनुर्ज्यातलशब्देन न प्राज्ञायत किंचन ।। १५ ।।

क्रोधावेशमें भरे हुए अमित तेजस्वी धीर-वीरोंके धनुषोंकी टंकारसे वहाँ कुछ भी सुनायी नहीं पड़ता था ।।

उत्थितेषु कबन्धेषु सर्वतः शोणितोदके ।
समरे पर्यधावन्त नृपा रिपुवधोद्यताः ।। १६ ।।

चारों ओर केवल कबन्ध (बिना सिरके शरीर) खड़े थे। रक्तका प्रवाह पानीके समान बह रहा था। शत्रुओंका वध करनेके लिये उद्यत हुए नरेशगण समरभूमिमें चारों ओर दौड़ लगा रहे थे ।। १६ ।।

शरशक्तिगदाभिस्ते खड्गैश्चामिततेजसः ।
निजघ्नुः समरेऽन्योन्यं शूराः परिघबाहवः ।। १७ ।।

परिघके समान मोटी भुजाओंवाले अमित तेजस्वी शूरवीर योद्धा बाण, शक्ति और गदाओंद्वारा रणक्षेत्रमें एक-दूसरेको मार रहे थे ।। १७ ।।

बभ्रमुः कुञ्जराश्चात्र शरैर्विद्धा निरङ्कुशाः ।
अश्वाश्च पर्यधावन्त हतारोहा दिशो दश ।। १८ ।।

जिनके सवार मारे गये थे, वे अंकुशरहित गजराज बाणविद्ध होकर वहाँ इधर-उधर चक्कर काट रहे थे। सवारोंके मारे जानेसे घोड़े भी शराघातसे पीड़ित हो चारों ओर दौड़ लगा रहे थे ।। १८ ।।

उत्पत्य निपतन्त्यन्ये शरघातप्रपीडिताः ।
तावकानां परेषां च योधा भरतसत्तम ।। १९ ।।

भरतश्रेष्ठ! आपके और शत्रुपक्षके कितने ही योद्धा बाणोंके गहरे आघातसे अत्यन्त पीड़ित हो उछलकर गिर पड़ते थे ।। १९ ।।

वाहानामुत्तमाङ्गानां कार्मुकाणां च भारत ।
गदानां परिघाणां च हस्तानां चोरुभिः सह ।। २० ।।
पादानां भूषणानां च केयूराणां च संघशः ।
राशयस्तत्र दृश्यन्ते भीष्मभीमसमागमे ।। २१ ।।

भारत! भीष्म और भीमके उस संग्राममें मरे हुए वाहनों, कटे हुए मस्तकों, धनुषों, गदाओं, परिघों, हाथों, जाँघों, पैरों, आभूषणों तथा बाजूबन्द आदिके ढेर-के-ढेर दिखायी दे रहे थे ।। २०-२१ ।।

अश्वानां कुञ्जराणां च रथानां चानिवर्तिनाम् ।
संघाताः स्म प्रदृश्यन्ते तत्र तत्र विशाम्पते ।। २२ ।।

प्रजानाथ! उस युद्धस्थलमें जहाँ-तहाँ घोड़ों, हाथियों तथा युद्धसे पीछे न हटनेवाले रथोंके समूह दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। २२ ।।

गदाभिरसिभिः प्रासैर्बाणैश्च नतपर्वभिः ।
जघ्नुः परस्परं तत्र क्षत्रियाः काल आगते ।। २३ ।।

क्षत्रियगण गदा, खड्ग, प्रास तथा झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा एक-दूसरेको मार रहे थे; क्योंकि उन सबका काल आ गया था ।। २३ ।।

अपरे बाहुभिर्वीरा नियुद्धकुशला युधि ।
बहुधा समसज्जन्त आयसैः परिघैरिव ।। २४ ।।

कितने ही मल्लयुद्धमें कुशल वीर उस युद्धस्थलमें लोहेके परिघोंके समान मोटी भुजाओंसे परस्पर भिड़कर अनेक प्रकारके दाँव-पेंच दिखाते हुए लड़ रहे थे ।। २४ ।।

मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव तलैश्चैव विशाम्पते ।
अन्योन्यं जघ्निरे वीरास्तावकाः पाण्डवैः सह ।। २५ ।।

प्रजानाथ! आपके वीर सैनिक पाण्डवोंके साथ युद्ध करते समय मुक्कों, घुटनों और तमाचोंसे एक-दूसरेपर चोट करते थे ।। २५ ।।

पतितैः पात्यमानैश्च विचेष्टद्भिश्च भूतले ।
घोरमायोधनं जज्ञे तत्र तत्र जनेश्वर ।। २६ ।।

जनेश्वर! कुछ लोग पृथ्वीपर गिरे हुए थे, कुछ गिराये जा रहे थे और कितने ही गिरकर छटपटा रहे थे। इस प्रकार यत्र-तत्र भयंकर युद्ध चल रहा था ।।

विरथा रथिनश्चात्र निस्त्रिंशवरधारिणः ।
अन्योन्यमभिधावन्तः परस्परवधैषिणः ।। २७ ।।

कितने ही रथी रथहीन होकर हाथमें सुदृढ़ तलवार लिये एक-दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे परस्पर टूट पड़ते थे ।। २७ ।।

ततो दुर्योधनो राजा कलिङ्गैर्बहुभिर्वृतः ।
पुरस्कृत्य रणे भीष्मं पाण्डवानभ्यवर्तत ।। २८ ।।

उस समय बहुसंख्यक कलिंगोंसे घिरे हुए राजा दुर्योधनने युद्धमें भीष्मको आगे करके पाण्डवोंपर आक्रमण किया ।। २८ ।।

तथैव पाण्डवाः सर्वे परिवार्य वृकोदरम् ।
भीष्ममभ्यद्रवन् क्रुद्धास्ततो युद्धमवर्तत ।। २९ ।।

इसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए समस्त पाण्डवोंने भी भीमसेनको घेरकर भीष्मपर धावा किया। फिर दोनों पक्षोंमें भयंकर युद्ध होने लगा ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे सप्ततितमोऽध्यायः ।। ७० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुल-युद्धविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७० ।।

एकसप्ततितमोऽध्यायः

भीष्म, अर्जुन आदि योद्धाओंका घमासान युद्ध

संजय उवाच

दृष्ट्वा भीष्मेण संसक्तान् भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान् ।
समभ्यधावद् गाङ्गेयमुद्यतास्त्रो धनंजयः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! अपने भाइयों तथा दूसरे राजाओंको भीष्मके साथ उलझा हुआ देख अस्त्र उठाये हुए अर्जुनने भी गंगानन्दन भीष्मपर धावा किया ।। १ ।।

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं धनुषो गाण्डिवस्य च ।
ध्वजं च दृष्ट्वा पार्थस्य सर्वान् नो भयमाविशत् ।। २ ।।

पांचजन्यशंख और गाण्डीवधनुषका शब्द सुनकर तथा अर्जुनके ध्वजको देखकर हमारे सब सैनिकोंके मनमें भय समा गया ।। २ ।।

सिंहलाङ्गूलमाकाशे ज्वलन्तमिव पर्वतम् ।
असज्जमानं वृक्षेषु धूमकेतुमिवोत्थितम् ।। ३ ।।
बहुवर्णं विचित्रं च दिव्यं वानरलक्षणम् ।
अपश्याम महाराज ध्वजं गाण्डीवधन्वनः ।। ४ ।।

महाराज! अर्जुनका ध्वज सिंहपुच्छके समान वानरकी पूँछसे युक्त था। वह प्रज्वलित पर्वत-सा दिखायी देता था। वृक्षोंमें कहीं भी अटकता नहीं था। आकाशमें उदित हुए धूमकेतु-सा दृष्टिगोचर होता था। वह अनेक रंगोंसे सुशोभित, विचित्र, दिव्य एवं वानर-चिह्नसे युक्त था। इस प्रकार हमने गाण्डीवधारी अर्जुनके उस ध्वजको उस समय देखा ।। ३-४ ।।

विद्युतं मेघमध्यस्थां भ्राजमानामिवाम्बरे ।
ददृशुर्गाण्डिवं योधा रुक्मपृष्ठं महामृधे ।। ५ ।।

उस महान् समरमें हमारे पक्षके योद्धाओंने सुवर्णमय पीठसे युक्त गाण्डीवधनुषको आकाशके भीतर मेघोंकी घटामें चमकती हुई बिजलीके समान देखा ।। ५ ।।

अशुश्रुम भृशं चास्य शक्रस्येवाभिगर्जतः ।
सुघोरं तलयोः शब्दं निघ्नतस्तव वाहिनीम् ।। ६ ।।

अर्जुन आपकी सेनाका संहार करते हुए इन्द्रके समान गर्जना कर रहे थे। इस समय हमलोगोंने उनके हस्ततलोंका बड़ा भयंकर शब्द सुना ।। ६ ।।

चण्डवातो यथा मेघः सविद्युत्स्तनयित्नुमान् ।
दिशः सम्प्लावयन् सर्वाः शरवर्षैः समन्ततः ।। ७ ।।
समभ्यधावद् गाङ्गेयं भैरवास्त्रो धनंजयः ।

भयंकर अस्त्रवाले अर्जुनने प्रचण्ड आँधी, बिजली तथा गर्जनासे युक्त मेघके समान सम्पूर्ण दिशाओंको अपनी बाणवर्षासे आप्लावित करते हुए गंगानन्दन भीष्मपर सब ओरसे धावा किया ।। ७$\frac{१}{२}$ ।।

दिशं प्राचीं प्रतीचीं च न जानीमोऽस्त्रमोहिताः ।। ८ ।।

कांदिग्भूताः श्रान्तपत्रा हताश्वा हतचेतसः ।

अन्योन्यमभिसंश्लिष्य योधास्ते भरतर्षभ ।। ९ ।।

भीष्ममेवाभ्यलीयन्त सह सर्वैस्तवात्मजैः ।

तेषामार्तायनमभूद् भीष्मः शान्तनवो रणे ।। १० ।।

उस समय हमलोग उनके अस्त्रोंसे इतने मोहित हो गये थे कि हमें पूर्व और पश्चिमका भी पता नहीं चलता था। भरतश्रेष्ठ! आपके सभी योद्धा घबराकर यह सोचने लगे कि हम किस दिशामें जायँ। उनके सारे वाहन थक गये थे। कितनोंके घोड़े मार डाले गये थे। उन सबका हार्दिक उत्साह नष्ट हो गया था। वे सब-के-सब एक-दूसरेसे सटकर आपके पुत्रोंके साथ भीष्मजीकी ही शरणमें छिपने लगे। उस युद्धस्थलमें उन्हें केवल शान्तनुनन्दन भीष्म ही आर्त सैनिकोंको शरण देनेवाले प्रतीत हुए ।। ८—१० ।।

समुत्पतन्ति वित्रस्ता रथेभ्यो रथिनस्तथा ।

सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चापि पदातयः ।। ११ ।।

वे सभी लोग ऐसे भयभीत हो गये कि रथी रथोंसे और घुड़सवार घोड़ोंकी पीठोंसे गिरने लगे तथा पैदल सैनिक भी पृथ्वीपर लोट-पोट हो गये ।। ११ ।।

श्रुत्वा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।

सर्वसैन्यानि भीतानि व्यवालीयन्त भारत ।। १२ ।।

भारत! बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान गाण्डीवका गम्भीर घोष सुनकर हमारे समस्त सैनिक भयभीत हो लुकने-छिपने लगे ।। १२ ।।

भीमसेन और भीष्मका युद्ध

अथ काम्बोजजैरश्वैर्महद्भिः शीघ्रगामिभिः ।

गोपानां बहुसाहस्रैर्बलैर्गोपायनैर्वृतः ।। १३ ।।

तत्पश्चात् काम्बोजराज सुदक्षिण काम्बोजदेशीय विशाल एवं शीघ्रगामी घोड़ोंपर आरूढ़ हो युद्धके लिये चले। उनके साथ गोपायन नामवाले कई हजार गोप-सैनिक थे ।। १३ ।।

मद्रसौवीरगान्धारैस्त्रैगर्तैश्च विशाम्पते ।
सर्वकालिङ्गमुख्यैश्च कलिङ्गाधिपतिर्वृतः ।। १४ ।।

प्रजानाथ! समस्त कलिंगदेशीय प्रमुख वीरोंसे घिरे हुए कलिंगराज भी युद्धके लिये आगे बढ़े। उनके साथ मद्र, सौवीर, गान्धार और त्रिगर्तदेशीय योद्धा भी मौजूद थे ।। १४ ।।

नानानरगणौघैश्च दुःशासनपुरःसरः ।
जयद्रथश्च नृपतिः सहितः सर्वराजभिः ।। १५ ।।

इनके सिवा राजा जयद्रथ सम्पूर्ण राजाओंको साथ ले दुःशासनको आगे करके चला। उसके साथ भी अनेक जनपदोंके लोगोंकी पैदल सेना मौजूद थी ।। १५ ।।

हयारोहवराश्चैव तव पुत्रेण चोदिताः ।
चतुर्दश सहस्राणि सौबलं पर्यवारयन् ।। १६ ।।

इसके सिवा आपके पुत्रकी आज्ञासे चौदह हजार अच्छे घुड़सवार सुबलपुत्र शकुनिको घेरकर खड़े हुए ।।

ततस्ते सहिताः सर्वे विभक्तरथवाहनाः ।
अर्जुनं समरे जघ्नुस्तावका भरतर्षभ ।। १७ ।।

भरतश्रेष्ठ! फिर पृथक्-पृथक् रथ और वाहन लिये आपके पक्षके ये सब महारथी वीर समरांगणमें अर्जुनपर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे ।। १७ ।।

(चेदिकाशिपदातैश्च रथैः पाञ्चालसृंजयैः ।
सहिताः पाण्डवाः सर्वे धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।।
तावकान् समरे जघ्नुर्धर्मपुत्रेण चोदिताः ।)

इधर चेदि और काशिदेशके पैदलसैनिकोंके तथा पांचाल और सृंजयदेशके रथियोंसहित धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाण्डववीर धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी आज्ञासे समरभूमिमें आपके सैनिकोंका संहार करने लगे।

रथिभिर्वारणैरश्वैः पादातैश्च समीरितम् ।
घोरमायोधनं चक्रे महाभ्रसदृशं रजः ।। १८ ।।

रथियों, हाथियों, घोड़ों और पैदलोंके पैरोंसे उड़ी हुई धूलराशिने मेघोंकी भारी घटाके समान आकाशमें व्याप्त होकर उस युद्धको भयंकर बना दिया ।। १८ ।।

तोमरप्रासनाराचगजाश्वरथयोधिनाम् ।
बलेन महता भीष्मः समसज्जत् किरीटिना ।। १९ ।।

भीष्म तोमर, नाराच और प्रास आदि धारण करनेवाले हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथारोही योद्धाओंकी विशाल वाहिनीके साथ किरीटधारी अर्जुनसे भिड़ गये ।।

आवन्त्यः काशिराजेन भीमसेनेन सैन्धवः ।
अजातशत्रुर्मद्राणामृषभेण यशस्विना ।। २० ।।
सहपुत्रः सहामात्यः शल्येन समसज्जत ।

फिर, अवन्तीनरेश काशिराजके साथ, सिन्धुराज जयद्रथ भीमसेनके साथ तथा पुत्रों और मन्त्रियोंसहित अजातशत्रु राजा युधिष्ठिर यशस्वी मद्रराज शल्यके साथ युद्ध करने लगे ।। २०$\frac{१}{२}$ ।।

विकर्णः सहदेवेन चित्रसेनः शिखण्डिना ।। २१ ।।
मत्स्या दुर्योधनं जग्मुः शकुनिं च विशाम्पते ।
द्रुपदश्चेकितानश्च सात्यकिश्च महारथः ।। २२ ।।
द्रोणेन समसज्जन्त सपुत्रेण महात्मना ।

प्रजानाथ! विकर्ण सहदेवके साथ और चित्रसेन शिखण्डीके साथ भिड़ गये। मत्स्यदेशीय योद्धाओंने दुर्योधन और शकुनिका सामना किया। द्रुपद, चेकितान और महारथी सात्यकि—ये अश्वत्थामासहित महामना द्रोणसे भिड़ गये ।। २१-२२$\frac{१}{२}$ ।।

कृपश्च कृतवर्मा च धृष्टद्युम्नमभिद्रुतौ ।। २३ ।।
एवं प्रव्रजिताश्वानि भ्रान्तनागरथानि च ।
सैन्यानि समसज्जन्त प्रयुद्धानि समन्ततः ।। २४ ।।

कृपाचार्य और कृतवर्मा—इन दोनोंने धृष्टद्युम्नपर धावा किया। इस प्रकार अपने-अपने घोड़ोंको आगे बढ़ाकर तथा हाथी एवं रथोंको घुमाकर समस्त सैनिक सब ओर युद्ध करने लगे ।। २३-२४ ।।

निरभ्रे विद्युतस्तीव्रा दिशश्च रजसाऽऽवृताः ।
प्रादुरासन् महोल्काश्च सनिर्घाता विशाम्पते ।। २५ ।।

प्रजानाथ! बिना बादलके ही दुःसह बिजलियाँ चमकने लगीं, सम्पूर्ण दिशाएँ धूलसे भर गयीं और भयंकर वज्रपातकी-सी आवाजके साथ बड़ी-बड़ी उल्काएँ गिरने लगीं ।। २५ ।।

प्रादुर्भूतो महावातः पांसुवर्षं पपात च ।
नभस्यन्तर्दधे सूर्यः सैन्येन रजसाऽऽवृतः ।। २६ ।।

बड़े जोरकी आँधी उठ गयी। धूलकी वर्षा होने लगी। सेनाके द्वारा उड़ायी हुई धूलसे आकाशमें सूर्यदेव छिप गये ।। २६ ।।

प्रमोहः सर्वसत्त्वानामतीव समपद्यत ।
रजसा चाभिभूतानामस्त्रजालैश्च तुद्यताम् ।। २७ ।।

उस समय समस्त प्राणियोंपर बड़ा भारी मोह छा गया; क्योंकि वे धूलसे तो दबे ही थे, अस्त्रोंके समुदायसे भी पीड़ित हो रहे थे ।। २७ ।।

वीरबाहुविसृष्टानां सर्वावरणभेदिनाम् ।
संघातः शरजालानां तुमुलः समपद्यत ।। २८ ।।

वीरोंकी भुजाओंसे छूटकर सब प्रकारके आवरणों (कवच आदि)-का भेदन करनेवाले बाणसमूहोंके भयानक आघात सब ओर हो रहे थे ।। २८ ।।

प्रकाशं चक्रुराकाशमुद्यतानि भुजोत्तमैः ।
नक्षत्रविमलाभानि शस्त्राणि भरतर्षभ ।। २९ ।।

भरतश्रेष्ठ! उत्तम भुजाओंद्वारा ऊपर उठाये हुए नक्षत्रोंके समान निर्मल एवं चमकीले अस्त्र आकाशमें प्रकाश फैला रहे थे ।। २९ ।।

आर्षभाणि विचित्राणि रुक्मजालावृतानि च ।
सम्पेतुर्दिक्षु सर्वासु चर्माणि भरतर्षभ ।। ३० ।।

भरतभूषण! सोनेकी जालीसे ढकी और ऋषभ-चर्मकी बनी हुई विचित्र ढालें सम्पूर्ण दिशाओंमें गिर रही थीं ।। ३० ।।

सूर्यवर्णैश्च निस्त्रिंशैः पात्यमानानि सर्वशः ।
दिक्षु सर्वास्वदृश्यन्त शरीराणि शिरांसि च ।। ३१ ।।

सूर्यके समान चमकीले खड्गोंसे सब ओर काटकर गिराये जानेवाले शरीर और मस्तक सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। ३१ ।।

भग्नचक्राक्षनीडाश्च निपातितमहाध्वजाः ।
हताश्वाः पृथिवीं जग्मुस्तत्र तत्र महारथाः ।। ३२ ।।

कितने ही महारथियोंके रथोंके पहिये, धुरे और भीतरकी बैठकें टूट-फूटकर नष्ट हो गयीं, बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ खण्डित होकर गिर गयीं, घोड़े मार दिये गये और वे महारथी स्वयं भी मारे जाकर धरतीपर जहाँ-तहाँ गिर पड़े ।। ३२ ।।

परिपेतुर्हयाश्चात्र केचिच्छस्त्रकृतव्रणाः ।
रथान् विपरिकर्षन्तो हतेषु रथयोधिषु ।। ३३ ।।

उस युद्धस्थलमें कितने ही घोड़े अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे घायल होकर अपने रथियोंके मारे जानेके बाद भी रथ खींचते हुए भागते और गिर पड़ते थे ।। ३३ ।।

शराहता भिन्नदेहा बद्धयोक्त्रा हयोत्तमाः ।
युगानि पर्यकर्षन्त तत्र तत्र स्म भारत ।। ३४ ।।

भारत! कितने ही उत्तम घोड़ोंके शरीर बाणोंसे आहत होकर क्षत-विक्षत हो गये थे, तो भी रथके साथ रस्सीमें बँधे हुए थे, इसलिये रथके जूओंको इधर-उधर खींचते रहते थे ।। ३४ ।।

अदृश्यन्त ससूताश्च साश्वाः सरथयोधिनः ।
एकेन बलिना राजन् वारणेन विमर्दिताः ।। ३५ ।।

राजन्! कितने ही रथारोही युद्धस्थलमें एक ही महाबली गजराजके द्वारा घोड़ों और सारथियोंसहित कुचले हुए दिखायी पड़ते थे ।। ३५ ।।

गन्धहस्तिमदस्रावमाघ्राय बहवो रणे ।

संनिपाते बलौघानां वीतमाददिरे गजाः ।। ३६ ।।

समस्त सेनाओंमें भीषण मार-काट मची हुई थी और बहुत-से हाथी गन्धयुक्त गजराजके मदकी गन्ध सूँघकर उसीके भ्रमसे निर्बल हाथीको भी मार गिरानेके लिये पकड़ लेते थे ।। ३६ ।।

सतोमरैर्महामात्रैर्निपतद्भिर्गतासुभिः ।

बभूवायोधनं छन्नं नाराचाभिहतैर्गजैः ।। ३७ ।।

तोमरोंसहित प्राणशून्य होकर गिरे हुए महावतों और नाराचोंकी मारसे मरकर गिरनेवाले हाथियोंसे वह रणभूमि आच्छादित हो गयी थी ।। ३७ ।।

संनिपाते बलौघानां प्रेषितैर्वरवारणैः ।

निपेतुर्युधि सम्भग्नाः सयोधाः सध्वजा गजाः ।। ३८ ।।

सैन्यसमूहोंके उस भीषण संघर्षमें आगे बढ़ाये हुए बड़े-बड़े हाथियोंसे टकराकर युद्धमें कितने ही छोटे-छोटे हाथी अंग-भंग हो जानेके कारण सवारों और ध्वजोंसहित गिर जाते थे ।। ३८ ।।

नागराजोपमैर्हस्तैर्नागैराक्षिप्य संयुगे ।

व्यदृश्यन्त महाराज सम्भग्ना रथकूबराः ।। ३९ ।।

महाराज! उस युद्धमें कितने ही हाथियोंके द्वारा विशाल सर्पराजके समान सूँड़ोंसे खींचकर फेंके हुए रथोंके ध्वज और कूबर चूर-चूर होकर गिरते देखे जाते थे ।।

विशीर्णरथसंघाश्च केशेष्वाक्षिप्य दन्तिभिः ।

द्रुमशाखा इवाविध्य निष्पिष्टा रथिनो रणे ।। ४० ।।

कितने ही दन्तार हाथी रथसमूहोंको तोड़-फोड़कर उनमें बैठे हुए रथियोंको उनके केश पकड़कर खींच लेते और वृक्षकी शाखाकी भाँति उन्हें घुमाकर धरतीपर दे मारते थे। इस प्रकार उस युद्धमें उन रथियोंकी धज्जियाँ उड़ जाती थीं ।। ४० ।।

रथेषु च रथात् युद्धे संसक्तान् वरवारणाः ।

विकर्षन्तो दिशः सर्वाः सम्पेतुः सर्वशब्दगाः ।। ४१ ।।

कितने ही बड़े-बड़े गजराज रथसमूहोंमें घुसकर युद्धमें उलझे हुए रथोंको पकड़ लेते और सब प्रकारके शब्दोंका अनुसरण करते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें उन रथोंको खींचे फिरते थे ।। ४१ ।।

तेषां तथा कर्षतां तु गजानां रूपमाबभौ ।

सरःसु नलिनीजालं विषक्तमिव कर्षताम् ।। ४२ ।।

इस प्रकार रथोंसे रथियोंको खींचनेवाले उन हाथियोंका स्वरूप ऐसा जान पड़ता था, मानो वे तालाबमें वहाँ उगे हुए कमलोंका समूह खींच रहे हों ।।

एवं संछादितं तत्र बभूवायोधनं महत् ।
सादिभिश्च पदातैश्च सध्वजैश्च महारथैः ।। ४३ ।।

इस तरह सवारों, पैदलों और ध्वजोंसहित महारथियोंके शरीरोंसे वह विशाल युद्धस्थल पट गया था ।। ४३ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे एकसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७१ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ४४ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं।]

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

दोनों सेनाओंका परस्पर घोर युद्ध

संजय उवाच

शिखण्डी सह मत्स्येन विराटेन विशाम्पते ।
भीष्ममाशु महेष्वासमाससाद सुदुर्जयम् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! मत्स्यनरेश विराटके साथ मिलकर शिखण्डीने अत्यन्त दुर्जय महाधनुर्धर भीष्मपर शीघ्रतापूर्वक चढ़ाई की ।। १ ।।

द्रोणं कृपं विकर्णं च महेष्वासं महाबलम् ।
राज्ञश्चान्यान् रणे शूरान् बहूनार्च्छद् धनंजयः ।। २ ।।

उस समय अर्जुनने उस रणभूमिमें महाधनुर्धर एवं महाबली द्रोण, कृपाचार्य, विकर्ण तथा अन्यान्य बहुत-से शूरवीर नरेशोंको अपने बाणोंद्वारा पीड़ा पहुँचायी ।। २ ।।

सैन्धवं च महेष्वासं सामात्यं सह बन्धुभिः ।
प्राच्यांश्च दाक्षिणात्यांश्च भूमिपान् भूमिपर्षभ ।। ३ ।।
पुत्रं च ते महेष्वासं दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःसहं चैव समरे भीमसेनोऽभ्यवर्तत ।। ४ ।।

नृपश्रेष्ठ! इसी प्रकार मन्त्री और बन्धुओंसहित महाधनुर्धर सिंधुराज जयद्रथपर, पूर्व और दक्षिणके भूमिपालोंपर तथा आपके अमर्षशील पुत्र महाधनुर्धर दुर्योधन एवं दुःसहपर भीमसेनने आक्रमण किया ।।

सहदेवस्तु शकुनिमुलूकं च महारथम् ।
पितापुत्रौ महेष्वासावभ्यवर्तत दुर्जयौ ।। ५ ।।

सहदेवने शकुनि और महारथी उलूक—इन दोनों दुर्जय महाधनुर्धर पिता-पुत्रोंपर धावा किया ।। ५ ।।

युधिष्ठिरो महाराज गजानीकं महारथः ।
समवर्तत संग्रामे पुत्रेण निकृतस्तव ।। ६ ।।

महाराज! आपके पुत्रद्वारा ठगे गये महारथी राजा युधिष्ठिरने संग्राममें गजसेनापर आक्रमण किया ।। ६ ।।

माद्रीपुत्रस्तु नकुलः शूरसंक्रन्दनो युधि ।
त्रिगर्तानां बलैः सार्धं समसज्जत पाण्डवः ।। ७ ।।

माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल युद्धमें बड़े-बड़े शूरवीरोंको रुलानेवाले थे। उन्होंने त्रिगर्तोंकी सेनाके साथ युद्ध ठाना ।। ७ ।।

अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धाः समरे शाल्वकेकयान् ।

सात्यकिश्चेकितानश्च सौभद्रश्च महारथः ।। ८ ।।

सात्यकि, चेकितान और महारथी अभिमन्युने समरभूमिमें कुपित होकर शाल्वों तथा केकयोंपर धावा किया ।। ८ ।।

धृष्टकेतुश्च समरे राक्षसश्च घटोत्कचः ।
(नाकुलिश्च शतानीकः समरे रथपुङ्गवः ।)
पुत्राणां ते रथानीकं प्रत्युद्याताः सुदुर्जयाः ।। ९ ।।

धृष्टकेतु, राक्षस घटोत्कच और नकुलपुत्र श्रेष्ठ रथी शतानीक—इन अत्यन्त दुर्जय वीरोंने समरांगणमें आपकी रथसेनापर आक्रमण किया ।। ९ ।।

सेनापतिरमेयात्मा धृष्टद्युम्नो महाबलः ।
द्रोणेन समरे राजन् समियायोग्रकर्मणा ।। १० ।।

राजन्! अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डव-सेनापति महाबली धृष्टद्युम्नने संग्रामभूमिमें भयंकर कर्म करनेवाले द्रोणाचार्यसे लोहा लिया ।। १० ।।

एवमेते महेष्वासास्तावकाः पाण्डवैः सह ।
समेत्य समरे शूराः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।। ११ ।।

इस प्रकार ये आपके महाधनुर्धर शूरवीर योद्धा पाण्डवोंके साथ समरभूमिमें युद्ध करने लगे ।। ११ ।।

मध्यंदिनगते सूर्ये नभस्याकुलतां गते ।
कुरवः पाण्डवेयाश्च निजघ्नुरितरेतरम् ।। १२ ।।

सूर्यदेव दिनके मध्यभागमें आ गये। आकाश तपने लगा। परंतु उस समय भी कौरव तथा पाण्डव एक-दूसरेको मार रहे थे ।। १२ ।।

ध्वजिनो हेमचित्राङ्गा विचरन्तो रणाजिरे ।
सपताका रथा रेजुर्वैयाघ्रपरिवारणाः ।। १३ ।।
समेतानां च समरे जिगीषूणां परस्परम् ।
बभूव तुमुलः शब्दः सिंहानामिव नर्दताम् ।। १४ ।।

जिनपर ध्वजा और पताकाएँ फहरा रही थीं, जिनका एक-एक अवयव सुवर्णभूषित हो विचित्र शोभा धारण करता था तथा जिनपर व्याघ्रके चर्मका आवरण पड़ा हुआ था, ऐसे अनेक रथ उस समरांगणमें विचरते हुए शोभा पा रहे थे। समरमें एक-दूसरेसे भिड़कर परस्पर विजय पानेकी इच्छावाले शूरवीर सिंहके समान गर्जना कर रहे थे और उनका वह तुमुल नाद सब ओर गूँज रहा था ।। १३-१४ ।।

तत्राद्भुतमपश्याम सम्प्रहारं सुदारुणम् ।
यदकुर्वन् रणे शूराः संजयाः कुरुभिः सह ।। १५ ।।
नैव खं न दिशो राजन् न सूर्यं शत्रुतापन ।
विदिशो वापि पश्यामः शरैर्मुक्तैः समन्ततः ।। १६ ।।

राजन्! हमने वहाँ अत्यन्त भयंकर और अद्भुत संग्राम देखा, जिसे रणवीर सृंजयोंने कौरवोंके साथ किया था। शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! वहाँ चारों ओर इतने बाण छोड़े गये थे कि उनसे आच्छादित हो जानेके कारण हम आकाश, सूर्य, दिशा तथा विदिशाओंको भी नहीं देख पाते थे ।। १५-१६ ।।

शक्तीनां विमलाग्राणां तोमराणां तथास्यताम् ।
निस्त्रिंशानां च पीतानां नीलोत्पलनिभाः प्रभाः ।। १७ ।।

चमकती हुई धारवाली शक्तियाँ, चलाये जाते हुए तोमरों और पानीदार तलवारोंकी प्रभा नील कमलके समान सुशोभित हो रही थीं ।। १७ ।।

कवचानां विचित्राणां भूषणानां प्रभास्तथा ।
खं दिशः प्रदिशश्चैव भासयामासुरोजसा ।। १८ ।।

वे तथा विचित्र कवचों और आभूषणोंके प्रभा-समूह आकाश, दिशा एवं कोणोंको अपने तेजसे प्रकाशित कर रहे थे ।। १८ ।।

वपुर्भिश्च नरेन्द्राणां चन्द्रसूर्यसमप्रभैः ।
विरराज तदा राजंस्तत्र तत्र रणाङ्गणम् ।। १९ ।।

राजन्! चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले राजाओंके शरीरोंसे वह समरांगण यत्र-तत्र सर्वत्र शोभा पा रहा था ।। १९ ।।

रथसङ्घा नरव्याघ्राः समायान्तश्च संयुगे ।
विरेजुः समरे राजन् ग्रहा इव नभस्तले ।। २० ।।

राजन्! रथोंके समूह और नरश्रेष्ठ नरेशगण युद्धमें आते हुए उसी प्रकार शोभा पा रहे थे, जैसे आकाशमें ग्रह-नक्षत्र सुशोभित होते हैं ।। २० ।।

भीष्मस्तु रथिनां श्रेष्ठो भीमसेनं महाबलम् ।
अवारयत संक्रुद्धः सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।। २१ ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने कुपित होकर सब सेनाओंके देखते-देखते महाबली भीमसेनको रोक दिया ।। २१ ।।

ततो भीष्मविनिर्मुक्ता रुक्मपुङ्खाः शिलाशिताः ।
अभ्यघ्नन् समरे भीमं तैलधौताः सुतेजनाः ।। २२ ।।

उस समय पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए, सुवर्णमय पंखसे युक्त और तेलके धोये तीखे बाण भीष्मके हाथोंसे छूटकर समरभूमिमें भीमसेनको चोट पहुँचाने लगे ।। २२ ।।

तस्य शक्तिं महावेगां भीमसेनो महाबलः ।
क्रुद्धाशीविषसंकाशां प्रेषयामास भारत ।। २३ ।।

भारत! तब महाबली भीमसेनने क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान भयंकर महावेगशालिनी शक्ति भीष्मपर छोड़ी ।। २३ ।।

तामापतन्तीं सहसा रुक्मदण्डां दुरासदाम् ।

चिच्छेद समरे भीष्मः शरैः संनतपर्वभिः ।। २४ ।।

उसमें सोनेका डंडा लगा हुआ था। उसको सह लेना बहुत ही कठिन था। उसे सहसा आते देख भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा युद्धभूमिमें काट गिराया ।।

ततोऽपरेण भल्लेन पीतेन निशितेन च ।

कार्मुकं भीमसेनस्य द्विधा चिच्छेद भारत ।। २५ ।।

भरतनन्दन! तदनन्तर एक तीखे और पानीदार भल्लसे उन्होंने भीमसेनके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ।।

(अपास्य तु धनुश्छिन्नं भीमसेनो महाबलः ।

शरैर्बहुभिरानर्च्छद् भीष्मं शान्तनवं युधि ।)

महाबली भीमसेनने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा धनुष ले बहुत-से बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें शान्तनुनन्दन भीष्मको अत्यन्त पीड़ा दी।

सात्यकिस्तु ततस्तूर्णं भीष्ममासाद्य संयुगे ।

आकर्णप्रहितैस्तीक्ष्णैर्निशितैस्तिग्मतेजनैः ।। २६ ।।

शरैर्बहुभिरानर्च्छत् पितरं ते जनेश्वर ।

जनेश्वर! तत्पश्चात् उस युद्धमें सात्यकिने शीघ्र ही आपके ताऊ भीष्मके पास पहुँचकर धनुषको कानोंतक खींचकर चलाये हुए बहुत-से तीखे एवं तेज सायकोंद्वारा उन्हें बहुत पीड़ा दी ।। २६½ ।।

ततः संधाय वै तीक्ष्णं शरं परमदारुणम् ।। २७ ।।

वार्ष्णेयस्य रथाद् भीष्मः पातयामास सारथिम् ।

तब भीष्मने अत्यन्त भयंकर तीक्ष्ण बाणका संधान करके सात्यकिके रथसे उनके सारथिको मार गिराया ।।

तस्याश्वाः प्रद्रुता राजन् निहते रथसारथौ ।। २८ ।।

राजन्! रथ-सारथिके मारे जानेपर सात्यकिके घोड़े वहाँसे भाग चले ।। २८ ।।

तेन तेनैव धावन्ति मनोमारुतरंहसः ।

ततः सर्वस्य सैन्यस्य निस्वनस्तुमुलोऽभवत् ।। २९ ।।

मन और वायुके समान वेगवाले वे घोड़े जिधर राह मिली, उधर ही दौड़ने लगे। इससे सारी सेनामें कोलाहल मच गया ।। २९ ।।

हाहाकारश्च संजज्ञे पाण्डवानां महात्मनाम् ।

अभ्यद्रवत गृह्णीत हयान् यच्छत धावत ।। ३० ।।

इत्यासीत् तुमुलः शब्दो युयुधानरथं प्रति ।

महात्मा पाण्डवोंके दलमें हाहाकार होने लगा। अरे! दौड़ो, पकड़ो, घोड़ोंको रोको, भागो। सात्यकिके रथकी ओर इस तरहका शब्द गूँजने लगा ।। ३०½ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु भीष्मः शान्तनवस्तदा ।। ३१ ।।

न्यहनत् पाण्डवीं सेनामासुरीमिव वृत्रहा ।

इसी बीचमें शान्तनुनन्दन भीष्मने पाण्डव-सेनाका उसी प्रकार विनाश आरम्भ किया, जैसे देवराज इन्द्र आसुरीसेनाका संहार करते हैं ।। ३१ १/२ ।।

ते वध्यमाना भीष्मेण पञ्चालाः सोमकैः सह ।। ३२ ।।

स्थिरां युद्धे मतिं कृत्वा भीष्ममेवाभिदुद्रुवुः ।

भीष्मके द्वारा पीड़ित हुए पांचाल और सोमक युद्धका दृढ़ निश्चय लेकर भीष्मकी ही ओर दौड़े ।।

धृष्टद्युम्नमुखाश्चापि पार्थाः शान्तनवं रणे ।। ३३ ।।

अभ्यधावञ्जिगीषन्तस्तव पुत्रस्य वाहिनीम् ।

धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाण्डव योद्धा आपके पुत्रकी सेनाको जीतनेकी इच्छासे युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मपर ही चढ़ आये ।। ३३ १/२ ।।

तथैव कौरवा राजन् भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।। ३४ ।।

अभ्यधावन्त वेगेन ततो युद्धमवर्तत ।। ३५ ।।

राजन्! इसी प्रकार भीष्म, द्रोण आदि कौरव योद्धा भी बड़े वेगसे पाण्डव-सेनापर टूट पड़े; फिर तो दोनों दलोंमें भयंकर युद्ध होने लगा ।। ३४-३५ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चमदिवसयुद्धे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७२ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ १/२ श्लोक मिलाकर कुल ३६ १/२ श्लोक हैं।]

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

विराट-भीष्म, अश्वत्थामा-अर्जुन, दुर्योधन-भीमसेन तथा अभिमन्यु और लक्ष्मणके द्वन्द्व-युद्ध

संजय उवाच

विराटोऽथ त्रिभिर्बाणैर्भीष्ममार्च्छन्महारथम् ।
विव्याध तुरगांश्चास्य त्रिभिर्बाणैर्महारथः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! महारथी राजा विराटने तीन बाण मारकर महारथी भीष्मको पीड़ित किया और तीन ही बाणोंसे उनके घोड़ोंको भी घायल कर दिया ।। १ ।।

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीष्मः शान्तनवः शरैः ।
रुक्मपुङ्खैर्महेष्वासः कृतहस्तो महाबलः ।। २ ।।

तब महाधनुर्धर महाबली तथा शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने सोनेके पंखवाले दस बाण मारकर विराटको भी घायल कर दिया ।। २ ।।

द्रौणिर्गाण्डीवधन्वानं भीमधन्वा महारथः ।
अविध्यदिषुभिः षड्भिर्दृढहस्तः स्तनान्तरे ।। ३ ।।

भयंकर धनुष धारण करनेवाले महारथी अश्वत्थामाने अपने हाथकी दृढ़ताका परिचय देते हुए गाण्डीवधारी अर्जुनकी छातीमें छः बाणोंसे प्रहार किया ।। ३ ।।

कार्मुकं तस्य चिच्छेद फाल्गुनः परवीरहा ।
अविध्यच्च भृशं तीक्ष्णैः पत्रिभिः शत्रुकर्शनः ।। ४ ।।

तब शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले शत्रुसूदन अर्जुनने अश्वत्थामाका धनुष काट दिया और उसे तीन तीखे बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल कर दिया ।। ४ ।।

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय वेगवान् क्रोधमूर्च्छितः ।
अमृष्यमाणः पार्थेन कार्मुकच्छेदमाहवे ।। ५ ।।
अविध्यत् फाल्गुनं राजन् नवत्या निशितैः शरैः ।
वासुदेवं च सप्तत्या विव्याध परमेषुभिः ।। ६ ।।

राजन्! युद्धमें अर्जुनके द्वारा अपने धनुषका काटा जाना अश्वत्थामाको सहन नहीं हुआ। उस वेगशाली वीरने क्रोधसे मूर्च्छित होकर तुरंत ही दूसरा धनुष ले नब्बे पैने बाणोंद्वारा अर्जुनको और सत्तर श्रेष्ठ सायकोंद्वारा श्रीकृष्णको घायल कर दिया ।। ५-६ ।।

ततः क्रोधाभिताम्राक्षः कृष्णेन सह फाल्गुनः ।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य चिन्तयित्वा पुनः पुनः ।। ७ ।।
धनुः प्रपीड्य वामेन करेणामित्रकर्शनः ।

गाण्डीवधन्वा संक्रुद्धः शितान् संनतपर्वणः ।। ८ ।।
जीवितान्तकरान् घोरान् समादत्त शिलीमुखान् ।
तैस्तूर्णं समरेऽविध्यद् द्रौणिं बलवतां वरः ।। ९ ।।

तब श्रीकृष्णसहित अर्जुनने क्रोधसे लाल आँखें करके बारंबार गरम-गरम लंबी साँस खींचकर सोच-विचार करनेके पश्चात् धनुषको बायें हाथसे दबाया। फिर उन शत्रुसूदन गाण्डीवधारी पार्थने कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले कुछ भयंकर बाण हाथमें लिये, जो जीवनका अन्त कर देनेवाले थे। बलवानोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने उन बाणोंद्वारा तुरंत ही समरांगणमें अश्वत्थामाको घायल किया ।। ७—९ ।।

तस्य ते कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ।
न विव्यथे च निर्भिन्नो द्रौणिर्गाण्डीवधन्वना ।। १० ।।

वे बाण उसका कवच फाड़कर उस युद्धस्थलसे उसके शरीरका रक्त पीने लगे, किंतु गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा विदीर्ण किये जानेपर भी अश्वत्थामा व्यथित नहीं हुआ ।। १० ।।

तथैव च शरान् द्रौणिः प्रविमुञ्चन्नविह्वलः ।
तस्थौ स समरे राजंस्त्रातुमिच्छन् महाव्रतम् ।। ११ ।।

राजन्! द्रोणकुमार तनिक भी विह्वल हुए बिना ही पूर्ववत् समरभूमिमें बाणोंकी वर्षा करता रहा और अपने महान् व्रतकी रक्षाकी इच्छासे समरांगणमें डटा रहा ।। ११ ।।

तस्य तत् सुमहत् कर्म शशंसुः कुरुसत्तमाः ।
यत् कृष्णाभ्यां समेताभ्यामभ्यापतत संयुगे ।। १२ ।।

अश्वत्थामा युद्धभूमिमें जो श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंका सामना करता रहा, उसके इस महान् कर्मकी श्रेष्ठ कौरवोंने बड़ी प्रशंसा की ।। १२ ।।

(तथार्जुनोऽपि संहृष्ट अश्वत्थामानमाहवे ।
शशंस सर्वभूतानां शृण्वतामपि भारत ।।)

भारत! अर्जुनने भी अत्यन्त हर्षमें भरकर रण-भूमिमें सम्पूर्ण भूतोंके सुनते हुए अश्वत्थामाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ।

स हि नित्यमनीकेषु युध्यतेऽभयमास्थितः ।
अस्त्रग्रामं ससंहारं द्रोणात् प्राप्य सुदुर्लभम् ।। १३ ।।

वह द्रोणाचार्यसे उपसंहारसहित सुदुर्लभ अस्त्र-समुदायकी शिक्षा पाकर निर्भय हो सदा ही पाण्डव-सैनिकोंके साथ युद्ध करता था ।। १३ ।।

ममैष आचार्यसुतो द्रोणस्यापि प्रियः सुतः ।
ब्राह्मणश्च विशेषेण माननीयो ममेति च ।। १४ ।।
समास्थाय मतिं वीरो बीभत्सुः शत्रुतापनः ।
कृपां चक्रे रथश्रेष्ठो भारद्वाजसुतं प्रति ।। १५ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले रथियोंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुनने यह सोचकर कि अश्वत्थामा मेरे आचार्यका पुत्र है, द्रोणका लाड़ला बेटा है तथा ब्राह्मण होनेके कारण भी विशेषरूपसे मेरे लिये माननीय है; आचार्यपुत्रपर कृपा की ।। १४-१५ ।।

द्रौणिं त्यक्त्वा ततो युद्धे कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।
युयुधे तावकान् निघ्नंस्त्वरमाणः पराक्रमी ।। १६ ।।

तदनन्तर श्वेत घोड़ोंवाले कुन्तीकुमार पराक्रमी अर्जुनने अश्वत्थामाको वहीं युद्धस्थलमें छोड़कर बड़ी उतावलीके साथ आपके दूसरे सैनिकोंका संहार करते हुए उनके साथ युद्ध आरम्भ किया ।। १६ ।।

दुर्योधनस्तु दशभिर्गार्ध्रपत्रैः शिलाशितैः ।
भीमसेनं महेष्वासं रुक्मपुङ्खैः समार्पयत् ।। १७ ।।

दुर्योधनने शान चढ़ाकर तेज किये हुए गृध्र-पंखयुक्त अथवा सुवर्णमय पंखवाले दस बाण मारकर महाधनुर्धर भीमसेनको बड़ी चोट पहुँचायी ।। १७ ।।

भीमसेनः सुसंक्रुद्धः परासुकरणं दृढम् ।
चित्रं कार्मुकमादत्त शरांश्च निशितान् दश ।। १८ ।।
आकर्णप्रहितैस्तीक्ष्णैर्वेगवद्भिरजिह्मगैः ।
अविध्यत् तूर्णमव्यग्रः कुरुराजं महोरसि ।। १९ ।।

इससे भीमसेन अत्यन्त क्रोधसे जल उठे। उन्होंने एक विचित्र धनुष हाथमें लिया, जो अत्यन्त सुदृढ़ और शत्रुओंके प्राण लेनेमें समर्थ था। उसके ऊपर उन्होंने दस तीखे बाण रखे; फिर धनुषको कानतक खींचकर वे बाण छोड़ दिये। उन सीधे जानेवाले वेगवान् एवं तीक्ष्ण बाणोंद्वारा भीमने बिना किसी व्यग्रताके तुरंत ही कुरुराज दुर्योधनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ।।

तस्य काञ्चनसूत्रस्थः शरैः संछादितो मणिः ।
रराजोरसि खे सूर्यो ग्रहैरिव समावृतः ।। २० ।।

दुर्योधनकी छातीपर एक मणि शोभा पाती थी, जो सुवर्णमय सूत्रमें पिरोयी हुई थी। वह भीमसेनके बाणोंसे आच्छादित होकर वैसे ही शोभा पाने लगी, जैसे आकाशमें ग्रहोंसे घिरे हुये सूर्य सुशोभित होते हैं ।। २० ।।

पुत्रस्तु तव तेजस्वी भीमसेनेन ताडितः ।
नामृष्यत यथा नागस्तलशब्दं मदोत्कटः ।। २१ ।।

भीमसेनके बाणोंसे पीड़ित होकर आपका तेजस्वी पुत्र उनके द्वारा किये गये आघातको उसी प्रकार नहीं सह सका, जैसे मतवाला हाथी तालीकी आवाज नहीं सहन करता है ।। २१ ।।

अभिमन्युका युद्ध-कौशल

ततः शरैर्महाराज रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः ।
भीमं विव्याध संक्रुद्धस्त्रासयानो वरूथिनीम् ।। २२ ।।

महाराज! तदनन्तर पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए स्वर्णपंखयुक्त बाणोंद्वारा क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनने भीमसेनको बींध डाला और पाण्डवसेनाको भयभीत करने लगा ।। २२ ।।

तौ युध्यमानौ समरे भृशमन्योन्यविक्षतौ ।
पुत्रौ ते देवसंकाशौ व्यरोचेतां महाबलौ ।। २३ ।।

उस समरांगणमें परस्पर युद्ध करके अत्यन्त क्षत-विक्षत हुए आपके दोनों महाबली पुत्र दुर्योधन और भीमसेन देवताओंके समान शोभा पाने लगे ।। २३ ।।

चित्रसेनं नरव्याघ्रं सौभद्रः परवीरहा ।
अविध्यद् दशभिर्बाणैः पुरुमित्रं च सप्तभिः ।। २४ ।।

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युने नरश्रेष्ठ चित्रसेनको दस और पुरुमित्रको सात बाणोंसे बींध डाला ।। २४ ।।

सत्यव्रतं च सप्तत्या विद्‌ध्वा शक्रसमो युधि ।
नृत्यन्निव रणे वीर आर्तिं नः समजीजनत्‌ ।। २५ ।।

युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी वीर अभिमन्युने सत्यव्रतको सत्तर बाणोंसे घायल करके रणांगणमें नृत्य-सा करते हुए हम सब लोगोंको अत्यन्त पीड़ित कर दिया ।। २५ ।।

तं प्रत्यविध्यद्‌ दशभिश्चित्रसेनः शिलीमुखैः ।
सत्यव्रतश्च नवभिः पुरुमित्रश्च सप्तभिः ।। २६ ।।

तब चित्रसेनने दस, सत्यव्रतने नौ और पुरुमित्रने सात बाणोंसे मारकर अभिमन्युको घायल कर दिया ।। २६ ।।

स विद्धो विक्षरन्‌ रक्तं शत्रुसंवारणं महत्‌ ।
चिच्छेद चित्रसेनस्य चित्रं कार्मुकमार्जुनिः ।। २७ ।।

उन दोनोंके द्वारा घायल होकर अपने शरीरसे रक्त बहाते हुए अभिमन्युने चित्रसेनके शत्रुनिवारक महान्‌ एवं विचित्र धनुषको काट डाला ।। २७ ।।

भित्त्वा चास्य तनुत्राणं शरेणोरस्यताडयत्‌ ।
ततस्ते तावका वीरा राजपुत्रा महारथाः ।। २८ ।।
समेत्य युधि संरब्धा विव्यधुर्निशितैः शरैः ।
तांश्च सर्वान्‌ शरैस्तीक्ष्णैर्जघान परमास्त्रवित्‌ ।। २९ ।।

साथ ही चित्रसेनके कवचको विदीर्ण करके उसकी छातीमें भी एक बाण मारा। तदनन्तर आपके वीर एवं महारथी राजकुमार युद्धमें एकत्र हो क्रोधमें भरकर अभिमन्युको तीखे बाणोंसे बेधने लगे; परंतु उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता अभिमन्युने अपने पैने बाणोंद्वारा उन सबको घायल कर दिया ।। २८-२९ ।।

तस्य दृष्ट्वा तु तत्‌ कर्म परिवव्रुः सुतास्तव ।
दहन्तं समरे सैन्यं वने कक्षं यथोल्बणम्‌ ।। ३० ।।

जैसे वनमें लगी हुई प्रचण्ड आग तृणसमूहको अनायास ही जलाकर भस्म कर डालती है, उसी प्रकार अभिमन्यु उस समरांगणमें कौरवसेनाको दग्ध कर रहा था। उसके इस महान्‌ कर्मको देखकर आपके पुत्रोंने उसे सब ओरसे घेर लिया ।। ३० ।।

अपेतशिशिरे काले समिद्धमिव पावकम्‌ ।
अत्यरोचत सौभद्रस्तव सैन्यानि नाशयन्‌ ।। ३१ ।।

महाराज! आपकी सेनाका संहार करता हुआ सुभद्राकुमार अभिमन्यु ग्रीष्म-ऋतुमें प्रज्वलित हुई प्रचण्ड अग्निसे भी बढ़कर शोभा पा रहा था ।। ३१ ।।

तत्‌ तस्य चरितं दृष्ट्वा पौत्रस्तव विशाम्पते ।
लक्ष्मणोऽभ्यपतत्‌ तूर्णं सात्वतीपुत्रमाहवे ।। ३२ ।।

प्रजानाथ! उसका वह पराक्रम देखकर आपका पौत्र लक्ष्मण तुरंत ही युद्धमें सुभद्राकुमारका सामना करनेके लिये आ पहुँचा ।। ३२ ।।

अभिमन्युस्तु संक्रुद्धो लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
विव्याध निशितैः षड्भिः सारथिं च त्रिभिः शरैः ।। ३३ ।।

तब क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने उत्तम लक्षणोंसे युक्त लक्ष्मणको छः और उसके सारथिको तीन तीखे बाणोंसे बींध डाला ।। ३३ ।।

तथैव लक्ष्मणो राजन् सौभद्रं निशितैः शरैः ।
अविध्यत महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ।। ३४ ।।

राजन्! इसी प्रकार लक्ष्मणने भी सुभद्राकुमारको अपने तीखे बाणोंसे घायल कर दिया। महाराज! वह अद्भुत-सी बात हुई ।। ३४ ।।

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सारथिं च महाबलः ।
अभ्यद्रवत सौभद्रो लक्ष्मणं निशितैः शरैः ।। ३५ ।।

यह देख महाबली सुभद्राकुमारने लक्ष्मणके चारों घोड़ों और सारथिको मारकर तीखे बाणोंद्वारा उसपर भी आक्रमण किया ।। ३५ ।।

हताश्वे तु रथे तिष्ठँल्लक्ष्मणः परवीरहा ।
शक्तिं चिक्षेप संक्रुद्धः सौभद्रस्य रथं प्रति ।। ३६ ।।

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले लक्ष्मणने उस अश्वहीन रथपर खड़े-खड़े ही क्रोधमें भरकर अभिमन्युके रथकी ओर एक शक्ति चलायी ।। ३६ ।।

तामापतन्तीं सहसा घोररूपां दुरासदाम् ।
अभिमन्युः शरैस्तीक्ष्णैश्चिच्छेद भुजगोपमाम् ।। ३७ ।।

उस भयंकर एवं दुर्जय सर्पिणीके समान शक्तिको सहसा अपनी ओर आते देख अभिमन्युने तीखे बाणोंद्वारा उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ।। ३७ ।।

ततः स्वरथमारोप्य लक्ष्मणं गौतमस्तदा ।
अपोवाह रथेनाजौ सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।। ३८ ।।

तब कृपाचार्य सब सैनिकोंके देखते-देखते लक्ष्मणको अपने रथपर बिठाकर युद्धभूमिमें वहाँसे अन्यत्र हटा ले गये ।।

ततः समाकुले तस्मिन् वर्तमाने महाभये ।
अभ्यद्रवञ्जिघांसन्तः परस्परवधैषिणः ।। ३९ ।।

तदनन्तर उस महाभयंकर संघर्षमें सब योद्धा विपक्षीको मारनेकी इच्छा रखकर एक-दूसरेका वध करनेके लिये परस्पर टूट पड़े ।। ३९ ।।

तावकाश्च महेष्वासाः पाण्डवाश्च महारथाः ।
जुह्वन्तः समरे प्राणान् निजघ्नुरितरेतरम् ।। ४० ।।

आपके और पाण्डवपक्षके महाधनुर्धर महारथी वीर समरांगणमें प्राणोंकी आहुति देते हुए एक-दूसरेको मार रहे थे ।। ४० ।।

मुक्तकेशा विकवचा विरथाश्छिन्नकार्मुकाः ।

बाहुभिः समयुध्यन्त सृंजयाः कुरुभिः सह ।। ४१ ।।

कवच और रथसे रहित हो धनुष कट जानेपर अपने बाल खोले हुए कितने ही सृंजय वीर कौरवोंके साथ केवल भुजाओंद्वारा मल्लयुद्ध कर रहे थे ।। ४१ ।।

ततो भीष्मो महाबाहुः पाण्डवानां महात्मनाम् ।
सेनां जघान संक्रुद्धो दिव्यैरस्त्रैर्महाबलः ।। ४२ ।।

तब महाबली महाबाहु भीष्म अत्यन्त कुपित हो अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा महामना पाण्डवोंकी सेनाका संहार करने लगे ।। ४२ ।।

हतैरश्वैर्गजैस्तत्र नरैरश्वैश्च पातितैः ।
रथिभिः सादिभिश्चैव समास्तीर्यत मेदिनी ।। ४३ ।।

उस समय वहाँ मारे और गिराये गये हाथी, घोड़े, मनुष्य, रथी और सवारोंद्वारा सारी पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी ।। ४३ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७३ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४४ श्लोक हैं।]

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

सात्यकि और भूरिश्रवाका युद्ध, भूरिश्रवाद्वारा सात्यकिके दस पुत्रोंका वध, अर्जुनका पराक्रम तथा पाँचवें दिनके युद्धका उपसंहार

संजय उवाच

अथ राजन् महाबाहुः सात्यकिर्युद्धदुर्मदः ।
विकृष्य चापं समरे भारसाहमनुत्तमम् ।। १ ।।
प्रामुञ्चत् पुङ्खसंयुक्तान् शरानाशीविषोपमान् ।

संजय कहते हैं—राजन्! महाबाहु सात्यकि युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे। उन्होंने युद्धमें भार सहन करनेमें समर्थ और परम उत्तम धनुषको बलपूर्वक खींचकर विषधर सर्पके समान भयानक पंखयुक्त बाण छोड़े ।। १½ ।।

प्रगाढं लघु चित्रं च दर्शयन् हस्तलाघवम् ।। २ ।।
(यत् तत् सख्युस्तु पूर्वेण अर्जुनादुपशिक्षितम् ।)

बाणोंको छोड़ते समय सात्यकिने अपने उस प्रगाढ़, शीघ्रकारी और विचित्र हस्तलाघवका परिचय दिया, जिसे उन्होंने पूर्वकालमें अपने सखा अर्जुनसे सीखा था ।। २ ।।

तस्य विक्षिपतश्चापं शरानन्यांश्च मुञ्चतः ।
आददानस्य भूयश्च संदधानस्य चापरान् ।। ३ ।।
क्षिपतश्च परांस्तस्य रणे शत्रून् विनिघ्नतः ।
ददृशे रूपमत्यर्थं मेघस्येव प्रवर्षतः ।। ४ ।।

जब वे धनुषको खींचते, दूसरे-दूसरे बाण छोड़ते, फिर नये-नये बाण हाथमें लेते, धनुषपर रखते, उन्हें शत्रुओंपर चलाते और उनका संहार करते थे, उस समय वर्षा करनेवाले मेघके समान उनका स्वरूप अत्यन्त अद्भुत दिखायी देता था ।। ३-४ ।।

तमुदीर्यन्तमालोक्य राजा दुर्योधनस्ततः ।
रथानामयुतं तस्य प्रेषयामास भारत ।। ५ ।।

भारत! उस समय उन्हें युद्धमें बढ़ते देख राजा दुर्योधनने उनका सामना करनेके लिये दस हजार रथियोंकी सेना भेजी ।। ५ ।।

तांस्तु सर्वान् महेष्वासान् सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
जघान परमेष्वासो दिव्येनास्त्रेण वीर्यवान् ।। ६ ।।

परंतु श्रेष्ठ धनुर्धर सत्यपराक्रमी शक्तिशाली सात्यकिने उन समस्त धनुर्धर योद्धाओंको अपने दिव्यास्त्रके द्वारा मार डाला ।। ६ ।।

स कृत्वा दारुणं कर्म प्रगृहीतशरासनः ।
आससाद ततो वीरो भूरिश्रवसमाहवे ।। ७ ।।

यह भयंकर कर्म करके फिर धनुष लिये वीर सात्यकिने युद्धस्थलमें भूरिश्रवापर आक्रमण किया ।। ७ ।।

स हि संदृश्य सेनां ते युयुधानेन पातिताम् ।
अभ्यधावत संक्रुद्धः कुरूणां कीर्तिवर्धनः ।। ८ ।।

सात्यकिने आपकी सेनाको मार गिराया है, यह देखकर कुरुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाला भूरिश्रवा अत्यन्त कुपित हो उनकी ओर दौड़ा ।। ८ ।।

इन्द्रायुधसवर्णं तु विस्फार्य सुमहद् धनुः ।
सृष्टवान् वज्रसंकाशान् शरानाशीविषोपमान् ।। ९ ।।
सहस्रशो महाराज दर्शयन् पाणिलाघवम् ।

उसका विशाल धनुष इन्द्रधनुषके समान बहुरंगा था। महाराज! उसे खींचकर भूरिश्रवाने अपने हस्त-लाघवका परिचय देते हुए वज्रके समान दुःसह और विषैले सर्पोंके तुल्य भयंकर सहस्रों बाण छोड़े ।। ९½ ।।

शरांस्तान् मृत्युसंस्पर्शान् सात्यकेश्च पदानुगाः ।। १० ।।
न विषेहुस्तदा राजन् दुद्रुवुस्ते समन्ततः ।
विहाय सात्यकिं राजन् समरे युद्धदुर्मदम् ।। ११ ।।

उन बाणोंका स्पर्श मृत्युके तुल्य था। राजन्! उस समय सात्यकिके साथ आये हुए सैनिक उन सायकोंका वेग न सह सके। नरेश्वर! युद्धभूमिमें वे रण-दुर्मद सात्यकिको वहीं छोड़कर सब ओर भाग निकले ।।

तं दृष्ट्वा युयुधानस्य सुता दश महाबलाः ।
महारथाः समाख्याताश्चित्रवर्मायुधध्वजाः ।। १२ ।।
समासाद्य महेष्वासं भूरिश्रवसमाहवे ।
ऊचुः सर्वे सुसंरब्धा यूपकेतुं महारणे ।। १३ ।।

सात्यकिके दस महाबलवान् पुत्र थे। उनके कवच, आयुध और ध्वज सभी विचित्र थे। वे सब-के-सब महारथी कहे जाते थे। वे युद्धस्थलमें यूपचिह्नित ध्वजवाले महारथी भूरिश्रवाको देखकर उसके पास आये और अत्यन्त क्रोधपूर्वक उससे इस प्रकार बोले — ।। १२-१३ ।।

भो भोः कौरवदायाद सहास्माभिर्महाबल ।
एहि युध्यस्व संग्रामे समस्तैः पृथगेव वा ।। १४ ।।

'महाबली कौरवपुत्र! आओ, इस संग्रामभूमिमें हम सब लोगोंके साथ अथवा पृथक्-पृथक् एक-एकके साथ युद्ध करो ।। १४ ।।

अस्मान् वा त्वं पराजित्य यशः प्राप्नुहि संयुगे ।
वयं वा त्वां पराजित्य प्रीतिं धास्यामहे पितुः ।। १५ ।।

'या तो तुम युद्धमें हमें पराजित करके यश प्राप्त करो अथवा हम तुम्हें परास्त करके पिताकी प्रसन्नता बढ़ायेंगे' ।। १५ ।।

एवमुक्तस्तदा शूरैस्तानुवाच महाबलः ।
वीर्यश्लाघी नरश्रेष्ठस्तान् दृष्ट्वा समवस्थितान् ।। १६ ।।

तब उन शूरवीरोंके ऐसा कहनेपर अपने पराक्रमकी श्लाघा करनेवाला महाबली नरश्रेष्ठ भूरिश्रवा उन्हें युद्धके लिये उपस्थित देख उनसे इस प्रकार बोला— ।। १६ ।।

साध्विदं कथ्यते वीरा यद्येवं मतिरद्य वः ।
युध्यध्वं सहिता यत्ता निहनिष्यामि वो रणे ।। १७ ।।

'वीरो! यदि तुम्हारा ऐसा विचार है तो तुमलोगोंने यह बड़ी अच्छी बात कही है। तुम सब लोग एक साथ सावधान होकर यत्नपूर्वक युद्ध करो। मैं इस रणभूमिमें तुम सब लोगोंको मार गिराऊँगा' ।। १७ ।।

एवमुक्ता महेष्वासास्ते वीराः क्षिप्रकारिणः ।
महता शरवर्षेण अभ्यधावन्नरिंदमम् ।। १८ ।।

भूरिश्रवाके ऐसा कहनेपर शीघ्रता करनेवाले उन महाधनुर्धर वीरोंने बड़ी भारी बाण-वर्षा करते हुए शत्रुदमन भूरिश्रवापर आक्रमण किया ।। १८ ।।

सोऽपराह्णे महाराज संग्रामस्तुमुलोऽभवत् ।
एकस्य च बहूनां च समेतानां रणाजिरे ।। १९ ।।

महाराज! अपराह्णकालमें उस समरांगणमें एकत्र हुए बहुत-से वीरोंके साथ एक वीरका भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ ।। १९ ।।

तमेकं रथिनां श्रेष्ठं शरैस्ते समवाकिरन् ।
प्रावृषीव यथा मेरुं सिषिचुर्जलदा नृप ।। २० ।।

नरेश्वर! जैसे मेघ वर्षाकालमें मेरुपर्वतपर जलकी बूँदें बरसाते हैं, उसी प्रकार उन सबने मिलकर रथियोंमें श्रेष्ठ एकमात्र भूरिश्रवापर बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ।। २० ।।

तैस्तु मुक्तान् शरान् घोरान् यमदण्डाशनिप्रभान् ।
असम्प्राप्तानसम्भ्रान्तश्चिच्छेदाशु महारथः ।। २१ ।।

उनके छोड़े हुए यमदण्ड और वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले भयंकर बाणोंको अपने पास पहुँचनेसे पहले ही महारथी भूरिश्रवाने बिना किसी घबराहटके शीघ्रतापूर्वक काट गिराया ।। २१ ।।

तत्राद्भुतमपश्याम सौमदत्तेः पराक्रमम् ।

यदेको बहुभिर्युद्धे समसज्जदभीतवत् ।। २२ ।।

वहाँ हम सबने सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवाका अद्‌भुत पराक्रम देखा। वह अकेला होनेपर भी बहुत-से वीरोंके साथ निर्भीक-सा युद्ध करता रहा ।। २२ ।।

विसृज्य शरवृष्टिं तां दश राजन् महारथाः ।
परिवार्य महाबाहुं निहन्तुमुपचक्रमुः ।। २३ ।।

राजन्! उन दस महारथियोंने वहाँ बाणोंकी वर्षा करके महाबाहु भूरिश्रवाको चारों ओरसे घेरकर उसे मार डालनेकी तैयारी की ।। २३ ।।

सौमदत्तिस्ततः क्रुद्धस्तेषां चापानि भारत ।
चिच्छेद समरे राजन् युध्यमानो महारथैः ।। २४ ।।

भरतवंशीनरेश! उस समय क्रोधमें भरे हुए भूरिश्रवाने उन महारथियोंके साथ युद्ध करते हुए ही समरभूमिमें उनके धनुष काट डाले ।। २४ ।।

अथैषां छिन्नधनुषां शरैः संनतपर्वभिः ।
चिच्छेद समरे राजन् शिरांसि भरतर्षभ ।। २५ ।।

भरतश्रेष्ठ! इनके धनुष कट जानेपर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे भूरिश्रवाने उनके मस्तक भी समर-भूमिमें काट गिराये ।। २५ ।।

ते हता न्यपतन् राजन् वज्रभग्ना इव द्रुमाः ।
तान् दृष्ट्वा निहतान् वीरो रणे पुत्रान् महाबलान् ।। २६ ।।
वार्ष्णेयो विनदन् राजन् भूरिश्रवसमभ्ययात् ।

राजन्! वे दसों वीर वज्रके मारे हुए वृक्षोंकी भाँति रणभूमिमें मरकर गिर पड़े। उन महाबली पुत्रोंको संग्राममें मारा गया देख वीरवर सात्यकिने गर्जना करते हुए वहाँ भूरिश्रवापर आक्रमण किया ।। २६½ ।।

रथं रथेन समरे पीडयित्वा महाबलौ ।। २७ ।।
तावन्योन्यं हि समरे निहत्य रथवाजिनः ।
विरथावभिवल्गन्तौ समेयातां महारथौ ।। २८ ।।

वे दोनों महाबली समरांगणमें अपने रथके द्वारा दूसरेके रथको पीड़ा देने लगे। उन्होंने आपसमें एक-दूसरेके रथ और घोड़ोंको नष्ट कर दिया। इस प्रकार रथहीन हुए वे दोनों महारथी उछलते-कूदते हुए एक-दूसरेका सामना करने लगे ।। २७-२८ ।।

प्रगृहीतमहाखड्गौ तौ चर्मवरधारिणौ ।
शुशुभाते नरव्याघ्रौ युद्धाय समवस्थितौ ।। २९ ।।

वे दोनों पुरुषसिंह हाथमें बड़ी-बड़ी तलवारें और सुन्दर ढालें लिये युद्धके लिये उद्यत होकर बड़ी शोभा पा रहे थे ।। २९ ।।

(खड्गप्रहारैः सुभृशं जघ्नतुश्च परस्परम् ।
पीडितौ खड्गघाताभ्यां स्रवद् रक्तौ क्षितौ भृशम् ।।

शुशुभाते महावीर्यावुभौ समरदुर्जयौ ।
असृगुक्षितसर्वाङ्गौ पुष्पिताविव किंशुकौ ।।)

वे तलवारोंकी मारसे एक-दूसरेको अत्यन्त घायल करने लगे। खड्गके आघातसे पीड़ित हो दोनों ही पृथ्वीपर रक्त बहाने लगे। उनके सारे अंग रक्तरंजित हो रहे थे। अतः वे रणदुर्जय महापराक्रमी वीर खिले हुए दो पलाश-वृक्षोंकी भाँति अत्यन्त सुशोभित होने लगे।

ततः सात्यकिमभ्येत्य निस्त्रिंशवरधारिणम् ।
भीमसेनस्त्वरन् राजन् रथमारोपयत् तदा ।। ३० ।।

राजन्! तदनन्तर उत्तम खड्ग धारण करनेवाले सात्यकिके पास पहुँचकर भीमसेनने उस समय तुरंत उन्हें अपने रथपर बिठा लिया ।। ३० ।।

तवापि तनयो राजन् भूरिश्रवसमाहवे ।
आरोपयद् रथं तूर्णं पश्यतां सर्वधन्विनाम् ।। ३१ ।।

महाराज! इसी प्रकार आपके पुत्र दुर्योधनने भी युद्धस्थलमें समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते भूरिश्रवाको तुरंत अपने रथपर चढ़ा लिया ।। ३१ ।।

तस्मिंस्तथा वर्तमाने रणे भीष्मं महारथम् ।
अयोधयन्त संरब्धाः पाण्डवा भरतर्षभ ।। ३२ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समय क्रोधमें भरे हुए पाण्डव उस युद्धमें महारथी भीष्मके साथ युद्ध करने लगे ।। ३२ ।।

लोहितायति चादित्ये त्वरमाणो धनंजयः ।
पञ्चविंशतिसाहस्रान् निजघान महारथान् ।। ३३ ।।

जब सूर्य अस्ताचलके पास पहुँचकर लाल होने लगे, उस समय अर्जुनने बड़ी उतावलीके साथ बाण-वर्षा करके पचीस हजार महारथियोंको मार डाला ।।

ते हि दुर्योधनादिष्टास्तदा पार्थनिबर्हणे ।
सम्प्राप्यैव गता नाशं शलभा इव पावकम् ।। ३४ ।।

वे सब-के-सब दुर्योधनकी आज्ञासे अर्जुनका संहार करनेके लिये आये थे। परंतु वे उस समय आगमें गिरे हुए पतंगोंकी भाँति उनके पास आते ही नष्ट हो गये ।।

ततो मत्स्याः केकयाश्च धनुर्वेदविशारदाः ।
परिवव्रुस्तदा पार्थं सहपुत्रं महारथम् ।। ३५ ।।

तदनन्तर धनुर्विद्यामें प्रवीण मत्स्य और केकयदेशके वीर अभिमन्यु आदि पुत्रोंसे युक्त महारथी अर्जुनको घेरकर कौरवोंसे युद्धके लिये खड़े हो गये ।। ३५ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु सूर्येऽस्तमुपगच्छति ।
सर्वेषां चैव सैन्यानां प्रमोहः समजायत ।। ३६ ।।

इसी समय सूर्य अस्ताचलको चले गये। तब आपके समस्त सैनिकोंपर मोह छा गया ।। ३६ ।।

अवहारं ततश्चक्रे पिता देवव्रतस्तव ।
संध्याकाले महाराज सैन्यानां श्रान्तवाहनः ।। ३७ ।।

महाराज! तब आपके ताऊ देवव्रतने संध्याके समय अपनी सेनाको पीछे हटा लिया। उनके वाहन बहुत थक गये थे ।। ३७ ।।

पाण्डवानां कुरूणां च परस्परसमागमे ।
ते सेने भृशसंविग्ने ययतुः स्वं निवेशनम् ।। ३८ ।।

पाण्डवों और कौरवोंके पारस्परिक संघर्षमें दोनों ही सेनाएँ अत्यन्त उद्विग्न हो उठी थीं। अतः वे अपनी-अपनी छावनीको चली गयीं ।। ३८ ।।

ततः स्वशिबिरं गत्वा न्यविशंस्तत्र भारत ।
पाण्डवाः सृंजयैः सार्धं कुरवश्च यथाविधि ।। ३९ ।।

भारत! तदनन्तर सृंजयोंसहित पाण्डव और कौरव अपने शिविरमें जाकर वहाँ विधिपूर्वक विश्राम करने लगे ।। ३९ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चमदिवसावहारे चतुःसप्ततितमोध्यायः ।। ७४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें पाँचवें दिवसके युद्धकी समाप्तिविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७४ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ ½ श्लोक मिलाकर कुल ४१ ½ श्लोक हैं।]

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

छठे दिनके युद्धका आरम्भ, पाण्डव तथा कौरव-सेनाका क्रमशः मकरव्यूह एवं क्रौंचव्यूह बनाकर युद्धमें प्रवृत्त होना

संजय उवाच

ते विश्रम्य ततो राजन् सहिताः कुरुपाण्डवाः ।
व्यतीतायां तु शर्वर्यां पुनर्युद्धाय निर्ययुः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! रातको विश्राम करनेके अनन्तर जब वह रात बीत गयी, तब कौरव और पाण्डव पुनः युद्धके लिये साथ-साथ निकले ।। १ ।।

तत्र शब्दो महानासीत् तव तेषां च भारत ।
युज्यतां रथमुख्यानां कल्प्यतां चैव दन्तिनाम् ।। २ ।।
संनह्यतां पदातीनां हयानां चैव भारत ।
शङ्खदुन्दुभिनादश्च तुमुलः सर्वतोऽभवत् ।। ३ ।।

भारत! उस समय वहाँ आपके और पाण्डव-पक्षके सैनिकोंमें बड़ा कोलाहल मचा। कुछ लोग श्रेष्ठ रथोंको जोत रहे थे, कुछ लोग हाथियोंको सुसज्जित करते थे, कहीं पैदल सैनिक और घोड़े कवच बाँधकर साज-बाज धारण कर तैयार किये जा रहे थे। शंखों और दुन्दुभियोंकी ध्वनि बड़े चोर-जोरसे हो रही थी। इन सबका सम्मिलित शब्द सब ओर गूँज उठा था ।। २-३ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा धृष्टद्युम्नमभाषत ।
व्यूहं व्यूह महाबाहो मकरं शत्रुनाशनम् ।। ४ ।।

तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्नसे कहा—'महाबाहो! तुम शत्रुनाशक मकरव्यूहकी रचना करो' ।। ४ ।।

एवमुक्तस्तु पार्थेन धृष्टद्युम्नो महारथः ।
व्यादिदेश महाराज रथिनो रथिनां वरः ।। ५ ।।

महाराज! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर रथियोंमें श्रेष्ठ महारथी धृष्टद्युम्नने अपने समस्त रथियोंको मकरव्यूह बनानेके लिये आज्ञा दे दी ।। ५ ।।

शिरोऽभूद् द्रुपदस्तस्य पाण्डवश्च धनंजयः ।
चक्षुषी सहदेवश्च नकुलश्च महारथः ।। ६ ।।

उसके मस्तकके स्थानपर राजा द्रुपद तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन खड़े हुए। महारथी नकुल और सहदेव नेत्रोंके स्थानमें स्थित हुए ।। ६ ।।

तुण्डमासीन्महाराज भीमसेनो महाबलः ।

सौभद्रो द्रौपदेयाश्च राक्षसश्च घटोत्कचः ।। ७ ।।
सात्यकिर्धर्मराजश्च व्यूहग्रीवां समास्थिताः ।

महाराज! महाबली भीमसेन उसके मुखकी जगह खड़े हुए। सुभद्राकुमार अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँच पुत्र, राक्षस घटोत्कच, सात्यकि और धर्मराज युधिष्ठिर—ये उस मकरव्यूहके ग्रीवाभागमें स्थित हुए ।। ७½ ।।

पृष्ठमासीन्महाराज विराटो वाहिनीपतिः ।। ८ ।।
धृष्टद्युम्नेन सहितो महत्या सेनयावृतः ।

नरेश्वर! सेनापति विराट विशाल सेनासे घिरकर धृष्टद्युम्नके साथ उस व्यूहके पृष्ठ भागमें खड़े हुए ।।

केकया भ्रातरः पञ्च वामपार्श्वं समाश्रिताः ।। ९ ।।
धृष्टकेतुर्नरव्याघ्रश्चेकितानश्च वीर्यवान् ।
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य स्थितौ व्यूहस्य रक्षणे ।। १० ।।

पाँच भाई केकयराजकुमार उनके वामपार्श्वमें खड़े थे। नरश्रेष्ठ धृष्टकेतु और पराक्रमी चेकितान—ये व्यूहके दाहिने भागमें स्थित होकर उसकी रक्षा करते थे ।। ९-१० ।।

पादयोस्तु महाराज स्थितः श्रीमान् महारथः ।
कुन्तिभोजः शतानीको महत्या सेनयावृतः ।। ११ ।।

महाराज! उसके दोनों पैरोंकी जगह महारथी श्रीमान् कुन्तिभोज और विशाल सेनासहित शतानीक खड़े थे ।। ११ ।।

शिखण्डी तु महेष्वासः सोमकैः संवृतो बली ।
इरावांश्च ततः पुच्छे मकरस्य व्यवस्थितौ ।। १२ ।।

सोमकोंसे घिरा हुआ महाधनुर्धर शिखण्डी और बलवान् इरावान्—ये दोनों उस मकरव्यूहके पुच्छ-भागमें खड़े थे ।। १२ ।।

एवमेतं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः ।
सूर्योदये महाराज पुनर्युद्धाय दंशिताः ।। १३ ।।

महाराज! भरतनन्दन! इस प्रकार उस महान् मकरव्यूहकी रचना करके पाण्डव कवच बाँधकर सूर्योदयके समय पुनः युद्धके लिये तैयार हो गये ।। १३ ।।

कौरवानभ्ययुस्तूर्णं हस्त्यश्वरथपत्तिभिः ।
समुच्छ्रितैर्ध्वजैश्छत्रैः शस्त्रैश्च विमलैः शितैः ।। १४ ।।

ऊँची-ऊँची ध्वजाओं, छत्रों तथा चमकीले और तीखे अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंकी चतुरंगिणी सेनाके साथ पाण्डवोंने कौरवोंपर शीघ्रतापूर्वक आक्रमण किया ।। १४ ।।

व्यूढं दृष्ट्वा तु तत् सैन्यं पिता देवव्रतस्तव ।
क्रौञ्चेन महता राजन् प्रत्यव्यूहत वाहिनीम् ।। १५ ।।

राजन्! तब आपके ताऊ देवव्रतने पाण्डवोंका वह व्यूह देखकर उसके मुकाबिलेमें अपनी सेनाको महान् क्रौंचव्यूहके रूपमें संगठित किया ।। १५ ।।

तस्य तुण्डे महेष्वासो भारद्वाजो व्यरोचत ।
अश्वत्थामा कृपश्चैव चक्षुरासीन्नरेश्वर ।। १६ ।।

उसकी चोंचके स्थानमें महाधनुर्धर द्रोणाचार्य सुशोभित हुए। नरेश्वर! अश्वत्थामा और कृपाचार्य नेत्रोंके स्थानमें खड़े हुए ।। १६ ।।

कृतवर्मा तु सहितः काम्बोजवरबाह्लिकैः ।
शिरस्यासीन्नरश्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ।। १७ ।।

काम्बोज और बाह्लिकदेशके उत्तम सैनिकोंके साथ समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ नरप्रवर कृतवर्मा व्यूहके शिरोभागमें स्थित हुए ।। १७ ।।

ग्रीवायां शूरसेनश्च तव पुत्रश्च मारिष ।
दुर्योधनो महाराज राजभिर्बहुभिर्वृतः ।। १८ ।।

आर्य! महाराज! राजा शूरसेन तथा आपका पुत्र दुर्योधन—ये दोनों बहुत-से राजाओंके साथ क्रौंचव्यूहके ग्रीवाभागमें स्थित हुए ।। १८ ।।

प्राग्ज्योतिषस्तु सहितो मद्रसौवीरकेकयैः ।
उरस्यभून्नरश्रेष्ठ महत्या सेनयावृतः ।। १९ ।।

नरश्रेष्ठ! मद्र, सौवीर और केकय योद्धाओंके साथ विशाल सेनासे घिरे हुए प्राग्ज्योतिषपुरके राजा भगदत्त उस व्यूहके वक्षःस्थलमें स्थित हुए ।। १९ ।।

स्वसेनया च सहितः सुशर्मा प्रस्थलाधिपः ।
वामपक्षं समाश्रित्य दंशितः समवस्थितः ।। २० ।।

प्रस्थलाधिपति (त्रिगर्तराज) सुशर्मा कवच धारण करके अपनी सेनाके साथ व्यूहके वामपक्षका आश्रय लेकर खड़े थे ।। २० ।।

तुषारा यवनाश्चैव शकाश्च सह चूचुपैः ।
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य स्थिता व्यूहस्य भारत ।। २१ ।।

भारत! तुषार, यवन, शक और चूचुपदेशके सैनिक व्यूहके दाहिने पक्षका आश्रय लेकर स्थित हुए ।।

श्रुतायुश्च शतायुश्च सौमदत्तिश्च मारिष ।
व्यूहस्य जघने तस्थू रक्षमाणाः परस्परम् ।। २२ ।।

मारिष! श्रुतायु, शतायु तथा सोमदत्तकुमार भूरिश्रवा—ये परस्पर एक-दूसरेकी रक्षा करते हुए व्यूहके जघनप्रदेशमें स्थित हुए ।। २२ ।।

ततो युद्धाय संजग्मुः पाण्डवाः कौरवैः सह ।
सूर्योदये महाराज ततो युद्धमभून्महत् ।। २३ ।।

महाराज! तत्पश्चात् सूर्योदयकालमें पाण्डवोंने कौरवोंके साथ युद्धके लिये उनकी सेनापर आक्रमण किया; फिर तो बड़ा भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ ।। २३ ।।

प्रतीयू रथिनो नागा नागांश्च रथिनो ययुः ।
हयारोहान् रथारोहा रथिनश्चापि सादिनः ।। २४ ।।

रथियोंकी ओर हाथी और हाथियोंकी ओर रथी बढ़े। घुड़सवारोंपर रथारोही तथा रथारोहियोंपर घुड़-सवार चढ़ आये ।। २४ ।।

सादिनश्च हयान् राजन् रथिनश्च महारणे ।
हस्त्यारोहान् हयारोहा रथिनः सादिनस्तथा ।। २५ ।।

राजन्! उस महायुद्धमें घुड़सवार योद्धा घुड़सवारों तथा रथियोंपर भी चढ़ दौड़े । इसी प्रकार अश्वारोही हाथीसवारों तथा रथियोंपर भी टूट पड़े ।। २५ ।।

रथिनः पत्तिभिः सार्धं सादिनश्चापि पत्तिभिः ।
अन्योन्यं समरे राजन् प्रत्यधावन्नमर्षिताः ।। २६ ।।

रथी और घुड़सवार दोनों ही पैदल सेनाओंपर आक्रमण करने लगे। राजन्! इस प्रकार अमर्षमें भरे हुए ये समस्त सैनिक एक-दूसरेपर धावा करने लगे ।।

भीमसेनार्जुनयमैर्गुप्ता चान्यैर्महारथैः ।
शुशुभे पाण्डवी सेना नक्षत्रैरिव शर्वरी ।। २७ ।।

भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा अन्य महारथियोंसे सुरक्षित हुई पाण्डवसेना नक्षत्रोंसे रात्रिकी भाँति सुशोभित हो रही थी ।। २७ ।।

तथा भीष्मकृपद्रोणशल्यदुर्योधनादिभिः ।
तवापि च बभौ सेना ग्रहैर्द्यौरिव संवृता ।। २८ ।।

इसी प्रकार भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य और दुर्योधन आदिसे घिरी हुई आपकी सेना ग्रहोंसे आकाशकी भाँति शोभा पा रही थी ।। २८ ।।

भीमसेनस्तु कौन्तेयो द्रोणं दृष्ट्वा पराक्रमी ।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैर्भारद्वाजस्य वाहिनीम् ।। २९ ।।

पराक्रमी कुन्तीकुमार भीमसेनने द्रोणाचार्यको देखकर वेगशाली अश्वोंद्वारा द्रोणकी सेनापर धावा किया ।। २९ ।।

द्रोणस्तु समरे क्रुद्धो भीमं नवभिरायसैः ।
विव्याध समरश्लाघी मर्माण्युद्दिश्य वीर्यवान् ।। ३० ।।

युद्धकी स्पृहा रखनेवाले पराक्रमी द्रोणाचार्यने रणभूमिमें कुपित हो भीमके मर्मस्थानोंको लोहेके नौ बाणोंसे घायल कर दिया ।। ३० ।।

दृढाहतस्ततो भीमो भारद्वाजस्य संयुगे ।
सारथिं प्रेषयामास यमस्य सदनं प्रति ।। ३१ ।।

तब युद्धमें द्रोणाचार्यके द्वारा अत्यन्त आहत होकर भीमसेनने उनके सारथिको यमलोक भेज दिया ।। ३१ ।।

स संगृह्य स्वयं वाहान् भारद्वाजः प्रतापवान् ।
व्यधमत् पाण्डवीं सेनां तूलराशिमिवानलः ।। ३२ ।।

तब प्रतापी द्रोणाचार्य स्वयं ही घोड़ोंकी बागडोर सँभालते हुए पाण्डवसेनाका उसी प्रकार संहार करने लगे, जैसे आग रुईके ढेरको भस्म कर डालती है ।। ३२ ।।

ते वध्यमाना द्रोणेन भीष्मेण च नरोत्तमाः ।
सृञ्जयाः केकयैः सार्धं पलायनपराऽभवन् ।। ३३ ।।

वे नरश्रेष्ठ सृंजय और केकय द्रोणाचार्य तथा भीष्मकी मार खाकर रणभूमिसे भागने लगे ।। ३३ ।।

तथैव तावकं सैन्यं भीमार्जुनपरिक्षतम् ।
मुह्यते तत्र तत्रैव समदेव वराङ्गना ।। ३४ ।।

इसी प्रकार भीम और अर्जुनके बाणोंसे क्षत-विक्षत हुई आपकी सेना मतवाली स्त्रीकी भाँति जहाँ-तहाँ मूर्च्छित होने लगी ।। ३४ ।।

अभिद्येतां ततो व्यूहौ तस्मिन् वीरवरक्षये ।
आसीद् व्यतिकरो घोरस्तव तेषां च भारत ।। ३५ ।।

भारत! बड़े-बड़े वीरोंका संहार करनेवाले उस युद्धमें दोनों सेनाओंके व्यूह टूट गये और आपके तथा पाण्डवोंके सैनिकोंका भयंकर सम्मिश्रण हो गया ।। ३५ ।।

तदद्भुतमपश्याम तावकानां परैः सह ।
एकायनगताः सर्वे यदयुध्यन्त भारत ।। ३६ ।।

भरतनन्दन! हमने आपके पुत्रोंका शत्रुओंके साथ अद्भुत पराक्रम देखा था। वे सब-के-सब एक पंक्तिमें खड़े होकर युद्ध कर रहे थे ।। ३६ ।।

प्रतिसंवार्य चास्त्राणि तेऽन्योन्यस्य विशाम्पते ।
युयुधुः पाण्डवाश्चैव कौरवाश्च महाबलाः ।। ३७ ।।

प्रजानाथ! महाबली कौरव तथा पाण्डव एक-दूसरेके अस्त्र-शस्त्रोंका निवारण करते हुए जूझ रहे थे ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि षष्ठदिवसयुद्धारम्भे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें छठे दिनके युद्धका आरम्भविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७५ ।।

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रकी चिन्ता

धृतराष्ट्र उवाच

एवं बहुगुणं सैन्यमेवं बहुविधं पुरा ।
व्यूढमेवं यथाशास्त्रममोघं चैव संजय ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! इस प्रकार हमारी सेना अनेक गुणोंसे सम्पन्न है। अनेक अंगोंसे युक्त और अनेक प्रकारसे संगठित है तथा शास्त्रीय विधिसे उसकी व्यूहरचना की गयी है। अतः वह अमोघ (विजय पानेमें विफल न होनेवाली) है ।। १ ।।

हृष्टमस्माकमत्यन्तमभिकामं च नः सदा ।
प्रह्वमव्यसनोपेतं पुरस्ताद् दृष्टविक्रमम् ।। २ ।।

हमारी यह सेना हमलोगोंपर सदा प्रसन्न और अनुरक्त रहनेवाली है। हमारे प्रति सर्वदा विनीतभाव रखती आयी है। यह किसी भी व्यसनमें नहीं फँसी है। पूर्वकालमें इसका पराक्रम देखा जा चुका है ।। २ ।।

नातिवृद्धमबालं च न कृशं न च पीवरम् ।
लघुवृत्तायतप्रायं सारयोधमनामयम् ।। ३ ।।

इसमें न कोई अत्यन्त बूढ़ा है, न बालक है, न अत्यन्त दुबला है और न अत्यन्त मोटा ही है। इसमें शीघ्र कार्य करनेवाले, प्रायः ऊँचे कदके लोग हैं। इस सेनाका प्रत्येक सैनिक सारवान् योद्धा और नीरोग है ।।

आत्तसंनाहशस्त्रं च बहुशस्त्रपरिग्रहम् ।
असियुद्धे नियुद्धे च गदायुद्धे च कोविदम् ।। ४ ।।

यहाँ सबने कवच एवं अस्त्र-शस्त्र धारण कर रखा है। अनेक प्रकारके बहुसंख्यक शस्त्रोंका संग्रह किया गया है। यहाँका एक-एक योद्धा खड्गयुद्ध, मल्लयुद्ध और गदायुद्धमें कुशल है ।। ४ ।।

प्रासर्ष्टितोमरेष्वाजौ परिघेष्वायसेषु च ।
भिन्दिपालेषु शक्तीषु मुसलेषु च सर्वशः ।। ५ ।।
कम्पनेषु च चापेषु कणपेषु च सर्वशः ।
क्षेपणीयेषु चित्रेषु मुष्टियुद्धेषु च क्षमम् ।। ६ ।।

ये सैनिक प्रास, ऋष्टि, तोमर, लोहमय परिघ, भिन्दिपाल, शक्ति, मुसल, कम्पन, चाप तथा कणप आदि दूसरोंपर चलानेयोग्य विचित्र अस्त्रोंका युद्धमें प्रयोग करनेकी कलामें कुशल तथा मुष्टियुद्धमें भी सब प्रकारसे समर्थ हैं ।। ५-६ ।।

अपरोक्षं च विद्यासु व्यायामे च कृतश्रमम् ।

शस्त्रग्रहणविद्यासु सर्वासु परिनिष्ठितम् ।। ७ ।।

हमारी इस सेनाको धनुर्वेदका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त है। इसके सैनिकोंने व्यायाम (अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यास)-में भी अधिक परिश्रम किया है। ये शस्त्रग्रहणसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी विद्याओंमें पारंगत हैं ।। ७ ।।

आरोहे पर्यवस्कन्दे सरणे सान्तप्लुते ।
सम्यक् प्रहरणे याने व्यपयाने च कोविदम् ।। ८ ।।

ये हाथी, घोड़े आदि सवारियोंपर चढ़ने, उतरने, आगे बढ़ने, बीचमें ही कूद पड़ने, अच्छी तरह प्रहार करने, चढ़ाई करने और पीछे हटनेमें भी प्रवीण हैं ।।

नागाश्वरथयानेषु बहुशः सुपरीक्षितम् ।
परीक्ष्य च यथान्यायं वेतनेनोपपादितम् ।। ९ ।।

हाथी, घोड़े, रथ आदिकी सवारियोंद्वारा रणयात्रा करनेमें इस सेनाकी अनेक प्रकार परीक्षा की जा चुकी है। परीक्षा करके प्रत्येक सैनिकको उसकी योग्यताके अनुकूल यथोचित वेतन दे दिया गया है ।। ९ ।।

न गोष्ठ्या नोपकारेण न च बन्धुनिमित्ततः ।
न सौहृदबलैर्वापि नाकुलीनपरिग्रहैः ।। १० ।।

इनमेंसे किसीको मित्रोंकी गोष्ठीसे लाकर, सामान्य उपकार करके, भाई-बन्धु होनेके कारण, सौहार्दवश अथवा बलप्रयोग करके सेनामें सम्मिलित नहीं किया गया है। जो कुलीन नहीं हैं, ऐसे लोगोंका भी इस सेनामें संग्रह नहीं हुआ है ।। १० ।।

समृद्धजनमार्यं च तुष्टसम्बन्धिबान्धवम् ।
कृतोपकारभूयिष्ठं यशस्वि च मनस्वि च ।। ११ ।।

हमारी सेनामें जो लोग हैं, वे सब समृद्धिशाली और श्रेष्ठ हैं। उनके सगे-सम्बन्धी, भाई-बन्धु भी संतुष्ट हैं। इन सबपर हमारी ओरसे विशेष उपकार किया गया है। ये सभी यशस्वी और मनस्वी हैं ।। ११ ।।

स्वजनैस्तु नरैर्मुख्यैर्बहुशो दृष्टकर्मभिः ।
लोकपालोपमैस्तात पालितं लोकविश्रुतम् ।। १२ ।।

तात! जिनके कार्य और व्यवहारको कई बार देखा गया है, ऐसे मुख्य-मुख्य स्वजनोंद्वारा, जो लोकपालके समान पराक्रमी हैं, इस सेनाका पालन-पोषण होता है। यह सम्पूर्ण जगत्में विख्यात है ।। १२ ।।

बहुभिः क्षत्रियैर्गुप्तं पृथिव्यां लोकसम्मतैः ।
अस्मानभिगतैः कामात् सबलैः सपदानुगैः ।। १३ ।।

जो अपने वीरताके लिये भूमण्डलमें विख्यात तथा लोकमें सम्मानित हैं, ऐसे बहुत-से क्षत्रिय अपनी इच्छासे ही सेना और सेवकोंके साथ हमारे पास आये हैं, उनके द्वारा यह कौरव-सेना सुरक्षित है ।। १३ ।।

महोदधिमिवापूर्णमापगाभिः समन्ततः ।
अपक्षैः पक्षिसंकाशै रथैर्नागैश्च संवृतम् ।। १४ ।।

हमारी यह सेना महासागरके समान सब ओरसे परिपूर्ण है। इसमें बिना पंखके ही पक्षियोंके समान तीव्र गतिसे चलनेवाले रथ और हाथी इस प्रकार आकर मिलते हैं, जैसे समुद्रमें सब ओरसे नदियाँ आकर गिरती हैं ।।

नानायोधजलं भीमं वाहनोर्मितरङ्गिणम् ।
क्षेपण्यसिगदाशक्तिशरप्राससमाकुलम् ।। १५ ।।

नाना प्रकारके योद्धा ही इस सैन्यसागरके जल हैं, वाहन ही उसमें उठती हुई छोटी-बड़ी तरंगें हैं। इसमें क्षेपणी, खड्ग, गदा, शक्ति, बाण और प्रास आदि अस्त्र-शस्त्र जल-जन्तुओंके समान भरे पड़े हैं ।। १५ ।।

ध्वजभूषणसम्बाधं रत्नपट्टसुसंचितम् ।
परिधावद्भिरश्वैश्च वायुवेगविकम्पितम् ।। १६ ।।
अपारमिव गर्जन्तं सागरप्रतिमं महत् ।

ध्वज और आभूषणोंसे भरी हुई यह सेना रत्नजटित पताकाओंसे व्याप्त है। दौड़ते हुए घोड़ोंसे जो इस सेनाका चंचल होना है, वही वायुवेगसे इस समुद्रका कम्पन है। सागरसदृश यह विशाल सेना देखनेमें अपार है और निरन्तर गर्जन करती रहती है ।। १६½ ।।

द्रोणभीष्माभिसंगुप्तं गुप्तं च कृतवर्मणा ।। १७ ।।
कृपदुःशासनाभ्यां च जयद्रथमुखैस्तथा ।
भगदत्तविकर्णाभ्यां द्रौणिसौबलबाह्लिकैः ।। १८ ।।
गुप्तं प्रवीरैर्लोकैश्च सारवद्भिर्महात्मभिः ।
यदहन्यत संग्रामे दैवमत्र पुरातनम् ।। १९ ।।

द्रोणाचार्य, भीष्म, कृतवर्मा, कृपाचार्य, दुःशासन, जयद्रथ, भगदत्त, विकर्ण, अश्वत्थामा, शकुनि तथा बाह्लिक आदि प्रमुख वीरों तथा अन्य शक्तिशाली महामनस्वी लोगोंद्वारा मेरी सेना सदा सुरक्षित रहती है। ऐसी सेना भी यदि संग्राममें मारी गयी तो इसमें हमलोगोंका पुरातन प्रारब्ध ही कारण है ।। १७—१९ ।।

नैतादृशं समुद्योगं दृष्टवन्तो हि मानुषाः ।
ऋषयो वा महाभागाः पुराणा भुवि संजय ।। २० ।।

संजय! इस भूतलपर इतनी बड़ी सेनाका जमाव मनुष्योंने कभी नहीं देखा होगा अथवा प्राचीन महाभाग ऋषियोंने भी नहीं देखा होगा ।। २० ।।

ईदृशोऽपि बलौघस्तु संयुक्तः शस्त्रसम्पदा ।
वध्यते यत्र संग्रामे किमन्यद् भागधेयतः ।। २१ ।।

इतना बड़ा सैन्यसमुदाय शस्त्रसम्पत्तिसे संयुक्त होनेपर भी यदि संग्राममें विनष्ट हो रहा है, तो इसमें भाग्यके सिवा और क्या कारण हो सकता है? ।। २१ ।।

विपरीतमिदं सर्वं प्रतिभाति हि संजय ।
यत्रेदृशं बलं घोरं पाण्डवान्नातरद् रणे ।। २२ ।।

संजय! यह सब कुछ मुझे विपरीत जान पड़ता है कि ऐसा भयंकर सैन्यसमूह भी वहाँ युद्धमें पाण्डवोंसे पार नहीं पा सका ।। २२ ।।

पाण्डवार्थाय नियतं देवास्तत्र समागताः ।
युध्यन्ते मामकं सैन्यं यथावध्यत संजय ।। २३ ।।

संजय! निश्चय ही पाण्डवोंके लिये देवता आकर मेरी सेनाके साथ युद्ध करते हैं, तभी तो वह प्रतिदिन मारी जा रही है ।। २३ ।।

उक्तो हि विदुरेणाहं हितं पथ्यं च नित्यशः ।
न च जग्राह तन्मन्दः पुत्रो दुर्योधनो मम ।। २४ ।।
तस्य मन्ये मतिः पूर्वं सर्वज्ञस्य महात्मनः ।
आसीद् यथागतं तात येन दृष्टमिदं पुरा ।। २५ ।।

विदुरने नित्य ही हित और लाभकी बातें बतायीं; परंतु मेरे मूर्ख पुत्र दुर्योधनने नहीं माना। तात! मैं समझता हूँ, महात्मा विदुर सर्वज्ञ हैं। इसीलिये पहले ही उनकी बुद्धिमें ये सब बातें आ गयी थीं। आज जो कुछ प्राप्त हुआ है, यह पहले ही उनकी दृष्टिमें आ गया था ।। २४-२५ ।।

अथवा भाव्यमेवं हि संजयैतेन सर्वथा ।
पुरा धात्रा यथा सृष्टं तत् तथा नैतदन्यथा ।। २६ ।।

संजय! अथवा यह सब प्रकारसे ऐसा ही होनेवाला था। विधाताने जो पहलेसे रच रखा है, वह उसी रूपमें होता है, उसे कोई बदल नहीं सकता ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि धृतराष्ट्रचिन्तायां षट्सप्ततितमोऽध्यायः ।। ७६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें धृतराष्ट्रकी चिन्ताविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७६ ।।

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेन, धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्यका पराक्रम

संजय उवाच

आत्मदोषात् त्वया राजन् प्राप्तं व्यसनमीदृशम् ।
न हि दुर्योधनस्तानि पश्यते भरतर्षभ ।। १ ।।
यानि त्वं दृष्टवान् राजन् धर्मसंकरकारिते ।
तव दोषात् पुरा वृत्तं द्यूतमेव विशाम्पते ।। २ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! आपने अपने ही दोषसे यह संकट प्राप्त किया है। भरतश्रेष्ठ! जिन धर्म और अधर्मके सम्मिश्रणसे उत्पन्न दोषोंको आप देखते थे, उन्हें दुर्योधन नहीं देख सका था। प्रजानाथ! आपके अपराधसे ही पहले द्यूतक्रीड़ाकी घटना घटी थी ।।

तव दोषेण युद्धं च प्रवृत्तं सह पाण्डवैः ।
त्वमेवाद्य फलं भुङ्क्षे कृत्वा किल्बिषमात्मना ।। ३ ।।

तथा आपके ही दोषसे आज पाण्डवोंके साथ युद्ध आरम्भ हुआ। आपने स्वयं ही जो पाप किया है, उसका फल आज आप ही भोग रहे हैं ।। ३ ।।

आत्मनैव कृतं कर्म आत्मनैवोपभुज्यते ।
इह च प्रेत्य वा राजंस्त्वया प्राप्तं यथातथम् ।। ४ ।।

राजन्! इहलोक अथवा परलोकमें अपने किये हुए कर्मका फल अपने-आपको ही भोगना पड़ता है; अतः आपको जैसेका तैसा प्राप्त हुआ है ।। ४ ।।

तस्माद् राजन् स्थिरो भूत्वा प्राप्येदं व्यसनं महत् ।
शृणु युद्धं यथावृत्तं शंसतो मे नराधिप ।। ५ ।।

राजन्! नरेश्वर! इस महान् संकटको पाकर भी स्थिरता-पूर्वक युद्धका यथावत् वृतान्त जैसा मैं बता रहा हूँ सुनिये ।।

भीमसेनः सुनिशितैर्बाणैर्भित्त्वा महाचमूम् ।
आससाद ततो वीरः सर्वान् दुर्योधनानुजान् ।। ६ ।।

वीर भीमसेनने तीखे बाणोंसे आपकी विशाल सेनाको विदीर्ण करके दुर्योधनके सभी भाइयोंपर आक्रमण किया ।। ६ ।।

दुःशासनं दुर्विषहं दुःसहं दुर्मदं जयम् ।
जयत्सेनं विकर्णं च चित्रसेनं सुदर्शनम् ।। ७ ।।
चारुचित्रं सुवर्माणं दुष्कर्णं कर्णमेव च ।
एतांश्चान्यांश्च सुबहून् समीपस्थान् महारथान् ।। ८ ।।
धार्तराष्ट्रान् सुसंक्रुद्धान् दृष्ट्वा भीमो महारथः ।

भीष्मेण समरे गुप्तां प्रविवेश महाचमूम् ।। ९ ।।

दु:शासन, दुर्विषह, दु:सह, दुर्मद, जय, जयत्सेन, विकर्ण, चित्रसेन, सुदर्शन, चारुचित्र, सुवर्मा, दुष्कर्ण तथा कर्ण—ये तथा और भी बहुत-से आपके जो महारथी पुत्र समीप खड़े थे, उन्हें कुपित देखकर महारथी भीमसेनने समरभूमिमें भीष्मके द्वारा सुरक्षित विशाल कौरवसेनामें प्रवेश किया ।। ७—९ ।।

अथालोक्य प्रविष्टं तमूचुस्ते सर्व एव तु ।
जीवग्राहं निगृह्णीमो वयमेनं नराधिपाः ।। १० ।।

भीमसेनको सेनाके भीतर प्रविष्ट हुआ देख उन सब नरेशोंने आपसमें कहा कि हमलोग इन्हें जीवित ही पकड़ कर बंदी बना लें ।। १० ।।

स तैः परिवृतः पार्थो भ्रातृभिः कृतनिश्चयैः ।
प्रजासंहरणे सूर्यः क्रूरैरिव महाग्रहैः ।। ११ ।।

ऐसा निश्चय करके उन सब भाइयोंने कुन्ती-कुमार भीमसेनको घेर लिया, मानो प्रजाके संहारकालमें सूर्यदेवको बड़े-बड़े क्रूर ग्रहोंने घेर रखा हो ।। ११ ।।

सम्प्राप्य मध्यं सैन्यस्य न भीः पाण्डवमाविशत् ।
यथा देवासुरे युद्धे महेन्द्रं प्राप्य दानवान् ।। १२ ।।

कौरवसेनाके भीतर पहुँच जानेपर भी पाण्डुनन्दन भीमसेनको तनिक भी भय नहीं हुआ, जैसे देवासुर-संग्राममें दानवोंकी सेनामें घुसनेपर देवराज इन्द्रको भयका स्पर्श नहीं होता है ।। १२ ।।

ततः शतसहस्राणि रथिनां सर्वशः प्रभो ।
उद्यतानि शरैस्तीव्रैस्तमेकं परिवव्रिरे ।। १३ ।।

प्रभो! तदनन्तर एकमात्र भीमसेनको उनपर तीव्र बाणोंकी वर्षा करते हुए सैकड़ों-हजारों रथियोंने युद्धके लिये उद्यत होकर सब ओरसे घेर लिया ।। १३ ।।

स तेषां प्रवरान् योधान् हस्त्यश्वरथसादिनः ।
जघान समरे शूरो धार्तराष्ट्रानचिन्तयन् ।। १४ ।।

शूरवीर भीमसेन आपके पुत्रोंकी तनिक भी परवा न करते हुए हाथी, घोड़े एवं रथपर बैठकर युद्ध करनेवाले कौरवोंके मुख्य-मुख्य योद्धाओंको समर-भूमिमें मारने लगे ।। १४ ।।

तेषां व्यवसितं ज्ञात्वा भीमसेनो जिघृक्षताम् ।
समस्तानां वधे राजन् मतिं चक्रे महामनाः ।। १५ ।।

राजन्! उन्हें कैद करनेकी इच्छावाले क्षत्रियोंके उस निश्चयको जानकर महामना भीमसेनने उन सबके वधका विचार कर लिया ।। १५ ।।

ततो रथं समुत्सृज्य गदामादाय पाण्डवः ।
जघान धार्तराष्ट्राणां तं बलौघं महार्णवम् ।। १६ ।।

तदनन्तर पाण्डुनन्दन भीमसेन हाथमें गदा ले रथको त्यागकर उस विशाल सेनामें घुसकर उस महासागरतुल्य सैन्यसमुदायका विनाश करने लगे ।। १६ ।।

(गदया भीमसेनेन ताडिता वारणोत्तमाः ।
भिन्नकुम्भा महाकाया भिन्नपृष्ठास्तथैव च ।।
भिन्नगात्राः सहारोहाः शेरते पर्वता इव ।

भीमसेनकी गदाके आघातसे बड़े-बड़े विशालकाय गजराजोंके कुम्भस्थल फट गये, पृष्ठभाग विदीर्ण हो गये तथा उनका एक-एक अंग छिन्न-भिन्न हो गया और उसी अवस्थामें वे सवारोंसहित धराशायी हो गये, मानो पर्वत ढह गये हों।

रथाश्च भग्नास्तिलशः सयोधाः शतशो रणे ।।
अश्वाश्च सादिनश्चैव पदातैः सह भारत ।

भारत! उन्होंने उस रणक्षेत्रमें सैकड़ों रथोंको उनके सवारोंसहित तिल-तिल करके तोड़ डाला। घोड़ों, घुड़सवारों तथा पैदलोंकी भी धज्जियाँ उड़ा दीं।

तत्राद्भुतमपश्याम भीमसेनस्य विक्रमम् ।।
यदेकः समरे राजन् बहुभिः समयोधयत् ।
अन्तकाले प्रजाः सर्वा दण्डपाणिरिवान्तकः ।।)

राजन्! उस युद्धमें हमलोगोंने भीमसेनका अद्भुत पराक्रम देखा, जैसे प्रलयकालमें यमराज हाथमें दण्ड लिये समस्त प्रजाका संहार करते हैं, उसी प्रकार वे अकेले आपके बहुसंख्यक योद्धाओंके साथ युद्ध कर रहे थे।

भीमसेने प्रविष्टे तु धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः ।
द्रोणमुत्सृज्य तरसा प्रययौ यत्र सौबलः ।। १७ ।।

भीमसेनके कौरवसेनामें प्रवेश करनेपर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न भी द्रोणाचार्यको छोड़कर बड़े वेगसे उस स्थानपर गये, जहाँ शकुनि युद्ध कर रहा था ।। १७ ।।

निवार्य महतीं सेनां तावकानां नरर्षभः ।
आससाद रथं शून्यं भीमसेनस्य संयुगे ।। १८ ।।

वहाँ आपकी विशाल सेनाको आगे बढ़नेसे रोककर नरश्रेष्ठ धृष्टद्युम्न युद्धस्थलमें भीमसेनके सूने रथके पास जा पहुँचे ।। १८ ।।

दृष्ट्वा विशोकं समरे भीमसेनस्य सारथिम् ।
धृष्टद्युम्नो महाराज दुर्मना गतचेतनः ।। १९ ।।

महाराज! भीमसेनके सारथि विशोकको समर-भूमिमें अकेला खड़ा देख धृष्टद्युम्न मन-ही-मन बहुत दुःखी और अचेत हो गये ।। १९ ।।

अपृच्छद् वाष्पसंरुद्धो निःश्वसन् वाचमीरयन् ।
मम प्राणैः प्रियतमः क्व भीम इति दुःखितः ।। २० ।।

वे लंबी साँस खींचते और आँसू बहाते हुए गद्‌गदकण्ठसे पूछने लगे—‘विशोक! मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे भीमसेन कहाँ हैं?’ इतना कहते-कहते वे बहुत दुःखी हो गये ।। २० ।।

विशोकस्तमुवाचेदं धृष्टद्युम्नं कृताञ्जलिः ।
संस्थाप्य मामिह बली पाण्डवेयः पराक्रमी ।। २१ ।।
प्रविष्टो धार्तराष्ट्राणामेतद् बलमहार्णवम् ।

तब विशोकने हाथ जोड़कर धृष्टद्युम्नसे कहा—‘प्रभो! पराक्रमी और बलवान् पाण्डुनन्दन मुझे यहीं खड़ा करके कौरवोंके इस सैन्यसागरमें घुस गये हैं ।।

मामुक्त्वा पुरुषव्याघ्रः प्रीतियुक्तमिदं वचः ।। २२ ।।
प्रतिपालय मां सूत नियम्याश्वान् मुहूर्तकम् ।
यावदेतान् निहन्म्यद्य य इमे मद्वधोद्यताः ।। २३ ।।

‘जाते समय पुरुषसिंह भीमसेनने मुझसे प्रेमपूर्वक यह बात कही कि सूत! तुम दो घड़ीतक इन घोड़ोंको रोककर यहीं मेरी प्रतीक्षा करो। जबतक कि ये जो लोग मेरा वध करनेके लिये उद्यत हैं, इन्हें अभी मार न डालूँ ।। २२-२३ ।।

ततो दृष्ट्वा प्रधावन्तं गदाहस्तं महाबलम् ।
सर्वेषामेव सैन्यानां संहर्षः समजायत ।। २४ ।।

‘तदनन्तर गदा हाथमें लिये महाबली भीमसेनको धावा करते देख समस्त सैनिकोंके रोंगटे खड़े हो गये ।।

तस्मिन् सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयानके ।
भित्त्वा राजन् महाव्यूहं प्रविवेश वृकोदरः ।। २५ ।।

‘राजन्! उस भयंकर एवं तुमुल युद्धमें भीमसेनने इस महाव्यूहका भेदन करके इसके भीतर प्रवेश किया था’ ।।

विशोकस्य वचः श्रुत्वा धृष्टद्युम्नोऽथ पार्षतः ।
प्रत्युवाच ततः सूतं रणमध्ये महाबलः ।। २६ ।।

विशोककी यह बात सुनकर महाबली द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने उस समरांगणमें उनके सारथिसे इस प्रकार कहा— ।। २६ ।।

न हि मे जीवितेनापि विद्यतेऽद्य प्रयोजनम् ।
भीमसेनं रणे हित्वा स्नेहमुत्सृज्य पाण्डवैः ।। २७ ।।

‘सारथे! युद्धस्थलमें भीमसेनको छोड़कर और पाण्डवोंसे स्नेह तोड़कर अब मेरे जीवनसे कोई प्रयोजन नहीं है ।। २७ ।।

यदि यामि विना भीमं किं मां क्षत्रं वदिष्यति ।
एकायनगते भीमे मयि चावस्थिते युधि ।। २८ ।।

‘भीम एकमात्र युद्धके पथपर गये हैं और मैं भी युद्धस्थलमें उपस्थित हूँ। ऐसी दशामें यदि भीमसेनके बिना ही लौट जाऊँ तो क्षत्रियसमाज मुझे क्या कहेगा? ।। २८ ।।

अस्वस्ति तस्य कुर्वन्ति देवाः शक्रपुरोगमाः ।
यः सहायान् परित्यज्य स्वस्तिमानाव्रजेद् गृहम् ।। २९ ।।

‘जो अपने सहायकोंको छोड़कर स्वयं कुशल-पूर्वक घरको लौट आता है, उसका इन्द्र आदि देवता अनिष्ट करते हैं ।। २९ ।।

मम भीमः सखा चैव सम्बन्धी च महाबलः ।
भक्तोऽस्मान् भक्तिमांश्चाहं तमप्यरिनिषूदनम् ।। ३० ।।

‘महाबली भीम मेरे सखा और सम्बन्धी हैं। वे हम लोगोंके भक्त हैं और मैं भी उन शत्रुसूदन भीमका भक्त हूँ ।।

सोऽहं तत्र गमिष्यामि यत्र यातो वृकोदरः ।
निघ्नन्तं मां रिपून् पश्य दानवानिव वासवम् ।। ३१ ।।

‘अतः मैं भी वहीं जाऊँगा जहाँ भीमसेन गये हैं। देखो जैसे इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार मैं भी शत्रुसेनाका विनाश कर रहा हूँ’ ।। ३१ ।।

एवमुक्त्वा ततो वीरो ययौ मध्येन भारत ।
भीमसेनस्य मार्गेषु गदाप्रमथितैर्गजैः ।। ३२ ।।

भारत! ऐसा कहकर वीरवर धृष्टद्युम्न भीमसेनके बनाये हुए मार्गोंसे कौरव-सेनाके भीतर गये। उन मार्गोंपर गदाके मारे हुए हाथी पड़े थे ।। ३२ ।।

स ददर्श तदा भीमं दहन्तं रिपुवाहिनीम् ।
वातो वृक्षानिव बलात् प्रभञ्जन्तं रणे रिपून् ।। ३३ ।।

उस समय कुछ दूर जाकर धृष्टद्युम्नने शत्रुसेनाको दग्ध करते हुए भीमसेनको देखा। जैसे आँधी वृक्षोंको बलपूर्वक तोड़ देती या उखाड़ डालती है, उसी प्रकार भीमसेन भी रणभूमिमें शत्रुओंका संहार कर रहे थे ।।

ते वध्यमानाः समरे रथिनः सादिनस्तथा ।
पादाता दन्तिनश्चैव चक्रुरार्तस्वरं महत् ।। ३४ ।।

समरांगणमें भीमसेनके मारे हुए रथी, घुड़सवार, पैदल और सवारोंसहित हाथी बड़े जोरसे आर्तनाद कर रहे थे ।। ३४ ।।

हाहाकारश्च संजज्ञे तव सैन्यस्य मारिष ।
वध्यतो भीमसेनेन कृतिना चित्रयोधिना ।। ३५ ।।

आर्य! विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले विद्वान् भीमसेनके द्वारा मारी जाती हुई आपकी सेनामें हाहाकार मच गया ।। ३५ ।।

ततः कृतास्त्रास्ते सर्वे परिवार्य वृकोदरम् ।
अभीताः समवर्तन्त शस्त्रवृष्ट्या परंतप ।। ३६ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! तदनन्तर अस्त्रोंके ज्ञाता समस्त कौरव-सैनिक भीमसेनको सब ओरसे घेरकर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए बिना किसी भयके उनपर चढ़ आये ।। ३६ ।।

अभिद्रुतं शस्त्रभृतां वरिष्ठं
समन्ततः पाण्डवं लोकवीरः ।
सैन्येन घोरेण सुसंहितेन
दृष्ट्वा बली पार्षतो भीमसेनम् ।। ३७ ।।
अथोपगच्छच्छरविक्षताङ्गं
पदातिनं क्रोधविषं वमन्तम् ।
आश्वासयन् पार्षतो भीमसेनं
गदाहस्तं कालमिवान्तकाले ।। ३८ ।।

विश्वके विख्यात वीर बलवान् द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने देखा—शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन भीमसेनपर सब ओरसे धावा हो रहा है। अत्यन्त संगठित हुई भयंकर सेनाने उनपर आक्रमण किया है। यह देखकर धृष्टद्युम्न भीमसेनको आश्वासन देते हुए उनके पास गये। उनका प्रत्येक अंग बाणोंसे क्षत-विक्षत हो रहा था। वे पैदल ही क्रोधरूपी विष उगल रहे थे और गदा हाथमें लिये प्रलयकालके यमराजके समान जान पड़ते थे ।।

विशल्यमेनं च चकार तूर्ण-
मारोपयच्चात्मरथे महात्मा ।
भृशं परिष्वज्य च भीमसेन-
माश्वासयामास स शत्रुमध्ये ।। ३९ ।।

महामना धृष्टद्युम्नने तुरंत ही उन्हें अपने रथपर बिठा लिया और उनके शरीरमें धँसे हुए बाणोंको निकाल दिया। शत्रुओंके बीचमें ही भीमसेनको हृदयसे लगाकर उन्हें पूर्णतः सान्त्वना दी ।। ३९ ।।

भ्रातॄनथोपेत्य तवापि पुत्र-
स्तस्मिन् विमर्दे महति प्रवृत्ते ।
अयं दुरात्मा द्रुपदस्य पुत्रः
समागतो भीमसेनेन सार्धम् ।। ४० ।।
तं याम सर्वे महता बलेन
मा वो रिपुः प्रार्थयतामनीकम् ।

वह महान् संघर्ष आरम्भ होनेपर आपका पुत्र दुर्योधन भाइयोंके पास आकर बोला—‘यह दुरात्मा द्रुपदपुत्र आकर भीमसेनसे मिल गया है। हम सब लोग बहुत बड़ी सेनाके साथ इसपर आक्रमण करें, जिससे हमारा और तुम्हारा यह शत्रु हमलोगोंकी इस सेनाको हानि पहुँचानेका विचार न कर सके’ ।। ४०½ ।।

श्रुत्वा तु वाक्यं तममृष्यमाणा
ज्येष्ठाज्ञया नोदिता धार्तराष्ट्राः ।। ४१ ।।
वधाय निष्पेतुरुदायुधास्ते
युगक्षये केतवो यद्वदुग्राः ।
प्रगृह्य चास्त्राणि धनूंषि वीरा
ज्यां नेमिघोषैः प्रविकम्पयन्तः ।। ४२ ।।

दुर्योधनका यह कथन सुनकर आपके सभी वीर पुत्र, जो धृष्टद्युम्नका आगमन नहीं सह सके थे, बड़े भाईकी आज्ञासे प्रेरित हो प्रलयकालके भयंकर केतुओंकी भाँति हाथमें आयुध लिये धृष्टद्युम्नके वधके लिये उनपर टूट पड़े। उन्होंने अपने हाथोंमें धनुष-बाण ले रखे थे और वे रथके पहियोंकी घरघराहटके साथ-साथ धनुषकी प्रत्यंचाको भी कँपाते हुए उसकी टंकार फैला रहे थे ।। ४१-४२ ।।

शरैरवर्षन् द्रुपदस्य पुत्रं
यथाम्बुदा भूधरं वारिजालैः ।
निहत्य तांश्चापि शरैः सुतीक्ष्णै-
र्न विव्यथे समरे चित्रयोधी ।। ४३ ।।

जैसे मेघ पर्वतपर जलकी बूँदें बरसाते हैं, उसी प्रकार वे द्रुपदपुत्रपर बाणोंकी वृष्टि करने लगे। परंतु विचित्र युद्ध करनेवाले धृष्टद्युम्न उस समरांगणमें अपने पैने बाणोंद्वारा उन सबको अत्यन्त घायल करके स्वयं तनिक भी व्यथित नहीं हुए ।। ४३ ।।

समभ्युदीर्णांश्च तवात्मजांस्तथा
निशम्य वीरानभितः स्थितान् रणे ।
जिघांसुरुग्रं द्रुपदात्मजो युवा
प्रमोहनास्त्रं युयुजे महारथः ।। ४४ ।।

युद्धमें सामने खड़े हुए आपके वीर पुत्रोंको आगे बढ़ते और प्रचण्ड होते देख नवयुवक महारथी द्रुपदकुमारने उनके वधके लिये भयंकर प्रमोहनास्त्रका प्रयोग किया ।। ४४ ।।

क्रुद्धो भृशं तव पुत्रेषु राजन्
दैत्येषु यद्वत् समरे महेन्द्रः ।
ततो व्यमुह्यन्त रणे नृवीराः
प्रमोहनास्त्राहतबुद्धिसत्त्वाः ।। ४५ ।।

राजन्! जैसे युद्धमें देवराज इन्द्र दैत्योंपर कुपित होते हैं, उसी प्रकार आपके पुत्रोंपर धृष्टद्युम्नका क्रोध बहुत बढ़ा हुआ था। उसके मोहनास्त्रके प्रयोगसे अपनी चेतना और धैर्य खोकर आपके नरवीर पुत्र रणभूमिमें मोहित हो गये ।।

प्रदुद्रुवुः कुरवश्चैव सर्वे
सवाजिनागाः सरथाः समन्तात् ।

परीतकालानिव नष्टसंज्ञान्

मोहोपेतांस्तव पुत्रान् निशम्य ।। ४६ ।।

आपके पुत्रोंको मोहसे युक्त एवं मरे हुएके समान अचेत हुआ देख समस्त कौरव-सैनिक हाथी, घोड़े तथा रथसहित सब ओर भाग चले ।। ४६ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ।

द्रुपदं त्रिभिरासाद्य शरैर्विव्याध दारुणैः ।। ४७ ।।

इसी समय दूसरी ओर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यने द्रुपदके पास जाकर उनको तीन भयंकर बाणोंद्वारा बींध डाला ।।

सोऽतिविद्धस्ततो राजन् रणे द्रोणेन पार्थिवः ।

अपायाद् द्रुपदो राजन् पूर्ववैरमनुस्मरन् ।। ४८ ।।

राजन्! तब रणभूमिमें द्रोणके द्वारा अत्यन्त घायल हो राजा द्रुपद पहलेके वैरका स्मरण करते हुए वहाँसे दूर हट गये ।। ४८ ।।

जित्वा तु द्रुपदं द्रोणः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।

तस्य शङ्खस्वनं श्रुत्वा वित्रेसुः सर्वसोमकाः ।। ४९ ।।

द्रुपदको जीतकर प्रतापी द्रोणाचार्यने अपना शंख बजाया। उस शंखनादको सुनकर समस्त सोमक क्षत्रिय अत्यन्त भयभीत हो गये ।। ४९ ।।

अथ शुश्राव तेजस्वी द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ।

प्रमोहनास्त्रेण रणे मोहितानात्मजांस्तव ।। ५० ।।

तदनन्तर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी द्रोणाचार्यने सुना कि आपके पुत्र रणभूमिमें प्रमोहनास्त्रसे मोहित होकर पड़े हैं ।। ५० ।।

ततो द्रोणो महाराज त्वरितोऽभ्याययौ रणात् ।

तत्रापश्यन्महेष्वासो भारद्वाजः प्रतापवान् ।। ५१ ।।

धृष्टद्युम्नं च भीमं च विचरन्तौ महारणे ।

मोहाविष्टांश्च ते पुत्रानपश्यत् स महारथः ।। ५२ ।।

महाराज! यह सुनते ही महाधनुर्धर प्रतापी भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य तुरंत उस युद्धस्थलसे चलकर वहाँ आ पहुँचे। आकर उन महारथीने देखा कि धृष्टद्युम्न और भीमसेन उस महायुद्धमें विचर रहे हैं और आपके पुत्र मोहाविष्ट होकर पड़े हुए हैं ।। ५१-५२ ।।

ततः प्रज्ञास्त्रमादाय मोहनास्त्रं व्यनाशयत् ।

अथ प्रत्यागतप्राणास्तव पुत्रा महारथाः ।। ५३ ।।

तब उन्होंने प्रज्ञास्त्र लेकर उसके द्वारा मोहनास्त्रका नाश कर दिया। इससे आपके महारथी पुत्रोंमें पुनः चेतनाशक्ति लौट आयी ।। ५३ ।।

पुनर्युद्धाय समरे प्रययुर्भीमपार्षतौ ।

ततो युधिष्ठिरः प्राह समाहूय स्वसैनिकान् ।। ५४ ।।

गच्छन्तु पदवीं शक्त्या भीमपार्षतयोर्युधि ।
सौभद्रप्रमुखा वीरा रथा द्वादश दंशिताः ।। ५५ ।।
प्रवृत्तिमधिगच्छन्तु न हि शुद्ध्यति मे मनः ।

वे समरभूमिमें पुनः युद्धके लिये भीमसेन और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नकी ओर चले। तब राजा युधिष्ठिरने अपने सैनिकोंको बुलाकर कहा—‘तुमलोग पूरी शक्ति लगाकर युद्धस्थलमें भीमसेन और धृष्टद्युम्नके पथका अनुसरण करो। अभिमन्यु आदि बारह वीर महारथी कवच आदिसे सुसज्जित हो भीमसेन और धृष्टद्युम्नका समाचार प्राप्त करें। मेरा मन उनके विषयमें निश्चिन्त नहीं हो रहा है’ ।। ५४-५५½ ।।

त एवं समनुज्ञाताः शूरा विक्रान्तयोधिनः ।। ५६ ।।
बाढमित्येवमुक्त्वा तु सर्वे पुरुषमानिनः ।
मध्यन्दिनगते सूर्ये प्रययुः सर्व एव हि ।। ५७ ।।

युधिष्ठिरकी ऐसी आज्ञा पाकर पराक्रमपूर्वक युद्ध करनेवाले वे पुरुषमानी समस्त शूरवीर ‘बहुत अच्छा’ कहकर दोपहर होते-होते वहाँसे चल दिये ।। ५६-५७ ।।

केकया द्रौपदेयाश्च धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ।
अभिमन्युं पुरस्कृत्य महत्या सेनयावृताः ।। ५८ ।।
ते कृत्वा समरव्यूहं सूचीमुखमरिंदमाः ।
बिभिदुर्धार्तराष्ट्राणां तद् रथानीकमाहवे ।। ५९ ।।

अभिमन्युको आगे करके विशाल सेनासे घिरे हुए पाँच केकयराजकुमार, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी धृष्टकेतु—ये शत्रुओंका दमन करनेवाले शूरवीर सूचीमुख नामक समरव्यूह बनाकर आपके पुत्रोंकी उस सेनाको रणक्षेत्रमें विदीर्ण करने लगे ।। ५८-५९ ।।

तान् प्रयातान् महेष्वासानभिमन्युपुरोगमान् ।
भीमसेनभयाविष्टा धृष्टद्युम्नविमोहिता ।। ६० ।।
न संवारयितुं शक्ता तव सेना जनाधिप ।
मदमूर्च्छान्वितात्मा वै प्रमदेवाध्वनि स्थिता ।। ६१ ।।

जनेश्वर! आपकी सेना भीमसेनके भयसे व्याकुल और धृष्टद्युम्नके बाणोंसे मोहित हो रही थी। अतः आक्रमण करनेवाले अभिमन्यु आदि महाधनुर्धर वीरोंको वह रोकनेमें समर्थ न हो सकी। मद और मूर्च्छाके वशीभूत हुई मतवाली स्त्रीकी भाँति वह मार्गमें चुपचाप खड़ी रही ।। ६०-६१ ।।

तेऽभिजाता महेष्वासाः सुवर्णविकृतध्वजाः ।
परीप्सन्तोऽभ्यधावन्त धृष्टद्युम्नवृकोदरौ ।। ६२ ।।

सुवर्णनिर्मित ध्वजाओंसे सुशोभित होनेवाले वे महाधनुर्धर कुलीन योद्धा धृष्टद्युम्न और भीमसेनकी रक्षाके लिये बड़े वेगसे दौड़े ।। ६२ ।।

तौ च दृष्ट्वा महेष्वासावभिमन्युपुरोगमान् ।

बभूवतुर्मुदा युक्तौ निघ्नन्तौ तव वाहिनीम् ।। ६३ ।।

वे दोनों महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न और भीमसेन भी अभिमन्यु आदि वीरोंको सहायताके लिये आते देख हर्ष और उत्साहमें भर गये और आपकी सेनाका विनाश करने लगे ।। ६३ ।।

(द्रोणमिष्वस्त्रकुशलं सर्वविद्यासु पारगम् ।)
दृष्ट्वा तु सहसाऽऽयान्तं पाञ्चाल्यो गुरुमात्मनः ।
नाशंसत वधं वीरः पुत्राणां तव भारत ।। ६४ ।।

भारत! पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्नने धनुर्वेदमें कुशल और समस्त विद्याओंके पारंगत विद्वान् अपने गुरु द्रोणाचार्यको सहसा वहाँ आये देख आपके पुत्रोंके वधकी इच्छा छोड़ दी ।। ६४ ।।

ततो रथं समारोप्य कैकेयस्य वृकोदरम् ।
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धो द्रोणमिष्वस्त्रपारगम् ।। ६५ ।।

फिर भीमसेनको केकयके रथपर बिठाकर क्रोधमें भरे हुए धृष्टद्युम्नने अस्त्रविद्याके पारगामी विद्वान् द्रोणाचार्यपर धावा किया ।। ६५ ।।

तस्याभिपततस्तूर्णं भारद्वाजः प्रतापवान् ।
क्रुद्धश्चिच्छेद बाणेन धनुः शत्रुनिबर्हणः ।। ६६ ।।

तब शत्रुओंका नाश करनेवाले प्रतापी द्रोणाचार्यने कुपित होकर अपनी ओर आनेवाले धृष्टद्युम्नके धनुषको एक बाणसे तुरंत काट दिया ।। ६६ ।।

अन्यांश्च शतशो बाणान् प्रेषयामास पार्षते ।
दुर्योधनहितार्थाय भर्तृपिण्डमनुस्मरन् ।। ६७ ।।

उसके बाद दुर्योधनके हितके लिये स्वामीके अन्नका विचार करते हुए धृष्टद्युम्नपर और भी सैकड़ों बाण चलाये ।। ६७ ।।

अथान्यद् धनुरादाय पार्षतः परवीरहा ।
द्रोणं विव्याध विंशत्या रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः ।। ६८ ।।

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए सोनेकी पाँखवाले बीस बाणोंसे द्रोणाचार्यको घायल कर दिया ।। ६८ ।।

तस्य द्रोणः पुनश्चापं चिच्छेदामित्रकर्शनः ।
हयांश्च चतुरस्तूर्णं चतुर्भिः सायकोत्तमैः ।। ६९ ।।
वैवस्वतक्षयं घोरं प्रेषयामास भारत ।
सारथिं चास्य भल्लेन प्रेषयामास मृत्यवे ।। ७० ।।

तब शत्रुसूदन द्रोणने पुनः धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया और चार उत्तम सायकोंद्वारा उनके चारों घोड़ोंको तुरंत ही भयानक यमलोकको भेज दिया। भारत! फिर एक भल्लके द्वारा उनके सारथिको भी मृत्युके हवाले कर दिया ।। ६९-७० ।।

हताश्वात् स रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः ।
आरुरोह महाबाहुरभिमन्योर्महारथम् ।। ७१ ।।

घोड़ों और सारथिके मारे जानेपर महारथी महाबाहु धृष्टद्युम्न तुरंत उस रथसे कूद पड़े और अभिमन्युके विशाल रथपर आरूढ़ हो गये ।। ७१ ।।

ततः सरथनागाश्वा समकम्पत वाहिनी ।
पश्यतो भीमसेनस्य पार्षतस्य च पश्यतः ।। ७२ ।।

तदनन्तर भीमसेन और धृष्टद्युम्नके देखते-देखते रथ, हाथी और घुड़सवारोंसहित सारी पाण्डव-सेना काँपने लगी ।। ७२ ।।

तत्प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा द्रोणेनामिततेजसा ।
नाशक्नुवन् वारयितुं समस्तास्ते महारथाः ।। ७३ ।।

अमिततेजस्वी आचार्य द्रोणके द्वारा अपनी सेनाका व्यूह भंग हुआ देख वे सम्पूर्ण महारथी प्रयत्न करनेपर भी उसे रोकनेमें सफल न हो सके ।। ७३ ।।

वध्यमानं तु तत् सैन्यं द्रोणेन निशितैः शरैः ।
व्यभ्रमत् तत्र तत्रैव क्षोभ्यमाण इवार्णवः ।। ७४ ।।

द्रोणाचार्यके पैने बाणोंसे पीड़ित हुई वह सेना विक्षुब्ध महासागरके समान वहीं चक्कर काटने लगी ।।

तथा दृष्ट्वा च तत्सैन्यं जहृषे तावकं बलम् ।
दृष्ट्वाऽऽचार्यं सुसंक्रुद्धं पतन्तं रिपुवाहिनीम् ।
चुक्रुशुः सर्वतो योधाः साधु साध्विति भारत ।। ७५ ।।

द्रोणाचार्यको अत्यन्त कुपित होकर शत्रुसेनापर टूटते और पाण्डव-सेनाको भागते देख आपके सैनिकोंको बड़ा हर्ष हुआ। भारत! आपके सभी योद्धा सब ओरसे द्रोणाचार्यको साधुवाद देने लगे ।। ७५ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे द्रोणपराक्रमे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धमें द्रोणपराक्रमविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७७ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ७९ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं।]

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका संकुल युद्ध

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा मोहात् प्रत्यागतस्तदा ।
शरवर्षैः पुनर्भीमं प्रत्यवारयदच्युतम् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर (मोहनास्त्र-जनित) मोहसे जगनेपर राजा दुर्योधनने युद्धभूमिसे पीछे न हटनेवाले भीमसेनको पुनः बाणोंकी वर्षासे रोक दिया ।।

एकीभूतास्ततश्चैव तव पुत्रा महारथाः ।
समेत्य समरे भीमं योधयामासुरुद्यताः ।। २ ।।

फिर आपके सभी महारथी पुत्र समरभूमिमें एकत्र होकर पूर्ण प्रयत्नपूर्वक भीमसेनके साथ युद्ध करने लगे ।। २ ।।

भीमसेनोऽपि समरे सम्प्राप्य स्वरथं पुनः ।
समारुह्य महाबाहुर्ययौ येन तवात्मजः ।। ३ ।।

महाबाहु भीमसेन भी समरभूमिमें पुनः अपने रथपर सवार हो उधर ही चल दिये, जिस मार्गसे आपका पुत्र दुर्योधन गया था ।। ३ ।।

प्रगृह्य च महावेगं परासुकरणं दृढम् ।
सज्जं शरासनं संख्ये शरैर्विव्याध ते सुतम् ।। ४ ।।

उन्होंने युद्धस्थलमें मृत्युकी प्राप्ति करानेवाले महान् वेगशाली सुदृढ़ धनुषको लेकर उसपर प्रत्यंचा चढ़ायी और अनेक बाणोंद्वारा आपके पुत्रको घायल कर दिया ।। ४ ।।

ततो दुर्योधनो राजा भीमसेनं महाबलम् ।
नाराचेन सुतीक्ष्णेन भृशं मर्मण्यताडयत् ।। ५ ।।

तब राजा दुर्योधनने महाबली भीमसेनके मर्मस्थलोंमें अत्यन्त तीखे नाराचसे गहरी चोट पहुँचायी ।। ५ ।।

सोऽतिविद्धो महेष्वासस्तव पुत्रेण धन्विना ।
क्रोधसंरक्तनयनो वेगेनाक्षिप्य कार्मुकम् ।। ६ ।।
दुर्योधनं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।
स तत्र शुशुभे राजा शिखरैर्गिरिराडिव ।। ७ ।।

आपके धनुर्धर पुत्रके द्वारा चलाये हुए बाणसे अत्यन्त पीड़ित हो महाधनुर्धर भीमसेनने क्रोधसे लाल आँखें करके वेगपूर्वक धनुषको खींचा और तीन बाणोंसे दुर्योधनकी दोनों भुजाओं तथा छातीमें चोट पहुँचायी। उन बाणोंद्वारा राजा दुर्योधन तीन शिखरोंसे युक्त गिरिराजकी भाँति शोभा पाने लगा ।। ६-७ ।।

तौ दृष्ट्वा समरे क्रुद्धौ विनिघ्नन्तौ परस्परम् ।
दुर्योधनानुजाः सर्वे शूराः संत्यक्तजीविताः ।। ८ ।।
संस्मृत्य मन्त्रितं पूर्वं निग्रहे भीमकर्मणः ।
निश्चयं परमं कृत्वा निग्रहीतुं प्रचक्रमुः ।। ९ ।।

क्रोधमें भरे हुए इन दोनों वीरोंको समरभूमिमें एक-दूसरेपर प्रहार करते देख दुर्योधनके सभी शूरवीर छोटे भाई प्राणोंका मोह छोड़कर भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनको जीवित पकड़नेके विषयमें की हुई पहली सलाहको याद करके एक दृढ़ निश्चयपर पहुँचकर उन्हें पकड़नेका उद्योग करने लगे ।। ८-९ ।।

तानापतत एवाजौ भीमसेनो महाबलः ।
प्रत्युद्ययौ महाराज गजः प्रतिगजानिव ।। १० ।।

महाराज! उन्हें युद्धमें आक्रमण करते देख जैसे हाथी अपने विपक्षी हाथियोंकी ओर दौड़ता है, उसी प्रकार महावली भीमसेन उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़े ।। १० ।।

भृशं क्रुद्धश्च तेजस्वी नाराचेन समार्पयत् ।
चित्रसेनं महाराज तव पुत्रं महायशाः ।। ११ ।।

नरेश्वर! महायशस्वी और तेजस्वी भीमसेन अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए थे। उन्होंने आपके पुत्र चित्रसेनपर एक नाराचके द्वारा प्रहार किया ।। ११ ।।

तथेतरांस्तव सुतांस्ताडयामास भारत ।
शरैर्बहुविधैः संख्ये रुक्मपुङ्खैः सुतेजनैः ।। १२ ।।

भारत! इसी प्रकार रणभूमिमें सोनेकी पाँखवाले अत्यन्त तीखे और बहुसंख्यक बाणोंद्वारा उन्होंने आपके अन्य पुत्रोंको भी पीड़ित किया ।। १२ ।।

ततः संस्थाप्य समरे तान्यनीकानि सर्वशः ।
अभिमन्युप्रभृतयस्ते द्वादश महारथाः ।। १३ ।।
प्रेषिता धर्मराजेन भीमसेनपदानुगाः ।
प्रतिजग्मुर्महाराज तव पुत्रान् महाबलान् ।। १४ ।।

महाराज! तत्पश्चात् अपनी सेनाओंको सब प्रकारसे समरभूमिमें स्थापित करके भीमसेनके पद-चिह्नोंपर चलनेवाले उन अभिमन्यु आदि बारह महारथियोंने, जिन्हें धर्मराज युधिष्ठिरने भेजा था, आपके महाबली पुत्रोंपर धावा किया ।। १३-१४ ।।

दृष्ट्वा रथस्थांस्तान् शूरान् सूर्याग्निसमतेजसः ।
सर्वानेव महेष्वासान् भ्राजमानान् श्रिया वृतान् ।। १५ ।।
महाहवे दीप्यमानान् सुवर्णमुकुटोज्ज्वलान् ।
तत्यजुः समरे भीमं तव पुत्रा महाबलाः ।। १६ ।।

वे सब-के-सब रथपर बैठे हुए शूरवीर, सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी, महाधनुर्धर, उत्तम शोभासे प्रकाशमान, सुवर्णमय मुकुटसे जगमग प्रतीत होनेवाले और अत्यन्त

कान्तिमान् थे। उस महासमरमें उन्हें आते देखकर आपके महाबली पुत्र भीमसेनको छोड़कर वहाँसे दूर हट गये ।। १५-१६ ।।

तान् नामृष्यत कौन्तेयो जीवमाना गता इति ।
अन्वीय च पुनः सर्वांस्तव पुत्रानपीडयत् ।। १७ ।।

परंतु वे जीवित लौट गये; यह बात भीमसेनसे नहीं सही गयी। उन्होंने पुनः आपके उन सब पुत्रोंका पीछा करके उन्हें अपने बाणोंसे पीड़ित कर दिया ।। १७ ।।

अथाभिमन्युं समरे भीमसेनेन संगतम् ।
पार्षतेन च सम्प्रेक्ष्य तव सैन्ये महारथाः ।। १८ ।।
दुर्योधनप्रभृतयः प्रगृहीतशरासनाः ।
भृशमश्वैः प्रजवितैः प्रययुर्यत्र ते रथाः ।। १९ ।।

इधर, उस समरभूमिमें अभिमन्युको भीमसेन तथा धृष्टद्युम्नसे मिला हुआ देख आपकी सेनाके दुर्योधन आदि महारथी हाथोंमें धनुष लिये अत्यन्त वेगशाली अश्वोंद्वारा वहाँ जा पहुँचे, जहाँ वे बारह पाण्डवपक्षीय महारथी विद्यमान थे ।। १८-१९ ।।

अपराह्णे महाराज प्रावर्तत महारणः ।
तावकानां च बलिनां परेषां चैव भारत ।। २० ।।

महाराज! भरतनन्दन! तब अपराह्णकालमें आपके और पाण्डवपक्षके अत्यन्त बलवान् योद्धाओंमें बड़ा भारी युद्ध आरम्भ हुआ ।। २० ।।

अभिमन्युर्विकर्णस्य हयान् हत्वा महाहवे ।
अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ।। २१ ।।

अभिमन्युने उस महायुद्धमें विकर्णके घोड़ोंको मारकर स्वयं विकर्णको भी पचीस बाणोंसे घायल कर दिया ।। २१ ।।

हताश्वं रथमुत्सृज्य विकर्णस्तु महारथः ।
आरुरोह रथं राजंश्चित्रसेनस्य भारत ।। २२ ।।

भरतवंशी नरेश! घोड़ोंके मारे जानेपर महारथी विकर्ण अपना रथ छोड़कर चित्रसेनके रथपर जा बैठा ।। २२ ।।

स्थितावेकरथे तौ तु भ्रातरौ कुलवर्धनौ ।
आर्जुनिः शरजालेन च्छादयामास भारत ।। २३ ।।

भरतनन्दन! अभिमन्युने एक रथपर बैठे हुए उन दोनों वंशवर्धक भ्राताओंको अपने बाणोंके जालसे आच्छादित कर दिया ।। २३ ।।

चित्रसेनो विकर्णश्च कार्ष्णिं पञ्चभिरायसैः ।
विव्याध तेन चाकम्पत् कार्ष्णिर्मेरुरिव स्थितः ।। २४ ।।

चित्रसेन और विकर्णने भी लोहेके पाँच बाणोंसे अभिमन्युको बींध डाला। उस आघातसे अर्जुनकुमार अभिमन्यु विचलित नहीं हुआ। मेरु पर्वतकी भाँति अडिग खड़ा

रहा ।। २४ ।।

दुःशासनस्तु समरे केकयान् पञ्च मारिष ।
योधयामास राजेन्द्र तदद्भुतमिवाभवत् ।। २५ ।।

आर्य! राजेन्द्र! दुःशासनने अकेले ही समरभूमिमें पाँच केकयराजकुमारोंके साथ युद्ध किया। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ।। २५ ।।

द्रौपदेया रणे क्रुद्धा दुर्योधनमवारयन् ।
शरैराशीविषाकारैः पुत्रं तव विशाम्पते ।। २६ ।।

प्रजानाथ! युद्धमें कुपित हुए द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंने विषधर सर्पके समान आकारवाले भयंकर बाणोंद्वारा आपके पुत्र दुर्योधनको आगे बढ़नेसे रोक दिया ।। २६ ।।

पुत्रोऽपि तव दुर्धर्षो द्रौपद्यास्तनयान् रणे ।
सायकैर्निशितै राजन्नाजघान पृथक् पृथक् ।। २७ ।।

राजन्! तब आपके दुर्धर्ष पुत्रने भी तीखे सायकों-द्वारा रणभूमिमें द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंपर पृथक्-पृथक् प्रहार किया ।। २७ ।।

तैश्चापि विद्धः शुशुभे रुधिरेण समुक्षितः ।
गिरिः प्रस्रवणैर्यद्वद् गैरिकादिविमिश्रितैः ।। २८ ।।

फिर उनके द्वारा भी अत्यन्त घायल किये जानेपर आपका पुत्र रक्तसे नहा उठा और गेरु आदि धातुओंसे मिश्रित झरनोंके जलसे युक्त पर्वतकी भाँति शोभा पाने लगा ।। २८ ।।

भीष्मोऽपि समरे राजन् पाण्डवानामनीकिनीम् ।
कालयामास बलवान् पालः पशुगणानिव ।। २९ ।।

राजन्! तदनन्तर बलवान् भीष्म भी संग्रामभूमिमें पाण्डव-सेनाको उसी प्रकार खदेड़ने लगे, जैसे चरवाहा पशुओंको हाँकता है ।। २९ ।।

ततो गाण्डीवनिर्घोषः प्रादुरासीद् विशाम्पते ।
दक्षिणेन वरूथिन्याः पार्थस्यारीन् विनिघ्नतः ।। ३० ।।

प्रजानाथ! तदनन्तर शत्रुओंका संहार करते हुए अर्जुनके गाण्डीवधनुषका घोष सेनाके दक्षिणभागसे प्रकट हुआ ।। ३० ।।

उत्तस्थुः समरे तत्र कबन्धानि समन्ततः ।
कुरूणां चैव सैन्येषु पाण्डवानां च भारत ।। ३१ ।।

भारत! वहाँ समरमें कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंमें चारों ओर कबन्ध उठने लगे ।। ३१ ।।

शोणितोदं शरावर्तं गजद्वीपं हयोर्मिणम् ।
रथनौभिर्नरव्याघ्राः प्रतेरुः सैन्यसागरम् ।। ३२ ।।

वह सेना एक समुद्रके समान थी। रक्त ही वहाँ जलके समान था। बाणोंकी भँवर उठती थी। हाथी द्वीपके समान जान पड़ते थे और घोड़े तरंगकी शोभा धारण करते थे। रथरूपी

नौकाओंके द्वारा नरश्रेष्ठ वीर उस सैन्य-सागरको पार करते थे ।। ३२ ।।

छिन्नहस्ता विकवचा विदेहाश्च नरोत्तमाः ।
दृश्यन्ते पतितास्तत्र शतशोऽथ सहस्रशः ।। ३३ ।।

वहाँ सैकड़ों और हजारों नरश्रेष्ठ धरतीपर पड़े दिखायी देते थे। उनमेंसे कितनोंके हाथ कट गये थे, कितने ही कवचहीन हो रहे थे और बहुतोंके शरीर छिन्न-भिन्न हो गये थे ।। ३३ ।।

निहतैर्मत्तमातङ्गैः शोणितौघपरिप्लुतैः ।
भूर्भाति भरतश्रेष्ठ पर्वतैराचिता यथा ।। ३४ ।।

भरतश्रेष्ठ! मरकर गिरे हुए मतवाले हाथी खूनसे लथपथ हो रहे थे। उनसे ढकी हुई वहाँकी भूमि पर्वतोंसे व्याप्त-सी जान पड़ती थी ।। ३४ ।।

तत्राद्भुतमपश्याम तव तेषां च भारत ।
न तत्रासीत् पुमान् कश्चिद् यो युद्धं नाभिकाङ्‌क्षति ।। ३५ ।।

भारत! हमने वहाँ आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंका अद्भुत उत्साह देखा। वहाँ ऐसा कोई पुरुष नहीं था, जो युद्ध न चाहता हो ।। ३५ ।।

एवं युयुधिरे वीराः प्रार्थयाना महद् यशः ।
तावकाः पाण्डवैः सार्धमाकाङ्‌क्षन्तो जयं युधि ।। ३६ ।।

इस प्रकार महान् यशकी अभिलाषा रखते और युद्धमें विजय चाहते हुए आपके वीर सैनिक पाण्डवोंके साथ युद्ध करते थे ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७८ ।।

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा दुर्योधनकी पराजय, अभिमन्यु और द्रौपदीपुत्रोंका धृतराष्ट्रपुत्रोंके साथ युद्ध तथा छठे दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा लोहितायति भास्करे ।
संग्रामरभसो भीमं हन्तुकामोऽभ्यधावत ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर जब सूर्यदेवपर संध्याकी लाली छाने लगी, उस समय संग्रामके लिये उत्साह रखनेवाले राजा दुर्योधनने भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे उनपर धावा किया ।। १ ।।

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य नृवीरं दृढवैरिणम् ।
भीमसेनः सुसंक्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ।। २ ।।

अपने पक्के वैरी नरवीर दुर्योधनको आते देख भीमसेनका क्रोध बहुत बढ़ गया और वे उससे यह वचन बोले— ।। २ ।।

अयं स कालः सम्प्राप्तो वर्षपूगाभिवाञ्छितः ।
अद्य त्वां निहनिष्यामि यदि नोत्सृजसे रणम् ।। ३ ।।

'दुर्योधन! मैं बहुत वर्षोंसे जिसकी अभिलाषा और प्रतीक्षा कर रहा था, वही यह अवसर आज प्राप्त हुआ है। यदि तू युद्ध छोड़कर भाग नहीं जायगा तो आज तुझे अवश्य मार डालूँगा ।। ३ ।।

अद्य कुन्त्याः परिक्लेशं वनवासं च कृत्स्नशः ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं प्रणेष्यामि हते त्वयि ।। ४ ।।

'माता कुन्तीको जो क्लेश उठाना पड़ा है, हमने वनवासका जो कष्ट भोगा है और सभामें द्रौपदीको जो अपमानका दुःख सहन करना पड़ा है, उन सबका बदला आज मैं तेरे मारे जानेपर चुका लूँगा ।। ४ ।।

यत् पुरा मत्सरी भूत्वा पाण्डवानवमन्यसे ।
तस्य पापस्य गान्धारे पश्य व्यसनमागतम् ।। ५ ।।

'गान्धारीपुत्र! पूर्वकालमें डाह रखकर तू जो हम पाण्डवोंका तिरस्कार करता आया है, उसी पापके फलस्वरूप यह संकट तेरे ऊपर आया है। तू आँख खोलकर देख ले ।। ५ ।।

कर्णस्य मतमास्थाय सौबलस्य च यत् पुरा ।
अचिन्त्य पाण्डवान् कामाद् यथेष्टं कृतवानसि ।। ६ ।।

याचमानं च यन्मोहाद् दाशार्हमवमन्यसे ।
उलूकस्य समादेशं यद् ददासि च हृष्टवत् ।। ७ ।।
तेन त्वां निहनिष्यामि सानुबन्धं सबान्धवम् ।
समीकरिष्ये तत् पापं यत् पुरा कृतवानसि ।। ८ ।।

'पहले कर्ण और शकुनिके बहकावेमें आकर पाण्डवोंको कुछ भी न गिनते हुए जो तूने इच्छानुसार मनमाना बर्ताव किया है, भगवान् श्रीकृष्ण संधिके लिये प्रार्थना करने आये थे, परंतु तूने मोहवश जो उनका भी तिरस्कार किया और बड़े हर्षमें भरकर उलूकके द्वारा जो तूने यह संदेश दिया था कि तुम मुझे और मेरे भाइयोंको मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो, उसके अनुसार तुझे भाइयों तथा सगे-सम्बन्धियोंसहित अवश्य मार डालूँगा। पहले तूने जो-जो पाप किये हैं, उन सबका बदला चुकाकर बराबर कर दूँगा' ।। ६—८ ।।

एवमुक्त्वा धनुर्घोरं विकृष्योद्भ्राम्य चासकृत् ।
समाधत्त शरान् घोरान् महाशनिसमप्रभान् ।। ९ ।।

ऐसा कहकर भीमसेनने अपने भयंकर धनुषको बारंबार घुमाकर उसे बलपूर्वक खींचा और वज्रके समान तेजस्वी भयंकर बाणोंको उसके ऊपर रखा ।। ९ ।।

षड्विंशतिमथ क्रुद्धो मुमोचाशु सुयोधने ।
ज्वलिताग्निशिखाकारान् वज्रकल्पानजिह्मगान् ।। १० ।।

वे सीधे जानेवाले बाण वज्र तथा प्रज्वलित आगकी लपटोंके समान जान पड़ते थे। उनकी संख्या छब्बीस थी। कुपित हुए भीमसेनने उन सबको शीघ्रतापूर्वक दुर्योधनपर छोड़ दिया ।। १० ।।

ततोऽस्य कार्मुकं द्वाभ्यां सूतं द्वाभ्यां च विव्यधे ।
चतुर्भिरश्वान् जवनाननयद् यमसादनम् ।। ११ ।।

तत्पश्चात् भीमसेनने दो बाणोंसे दुर्योधनका धनुष काट दिया, दोसे उसके सारथिको पीड़ित किया और चार बाणोंसे उसके वेगशाली घोड़ोंको यमलोक भेज दिया ।।

द्वाभ्यां च सुविकृष्टाभ्यां शराभ्यामरिमर्दनः ।
छत्रं चिच्छेद समरे राज्ञस्तस्य नरोत्तम ।। १२ ।।

नरश्रेष्ठ! फिर शत्रुमर्दन भीमने धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए दो बाणोंद्वारा समरभूमिमें राजा दुर्योधनके छत्रको काट दिया ।। १२ ।।

षड्भिश्च तस्य चिच्छेद ज्वलन्तं ध्वजमुत्तमम् ।
छित्त्वा तं च ननादोच्चैस्तव पुत्रस्य पश्यतः ।। १३ ।।

इसके बाद अपनी प्रभासे प्रकाशित होनेवाले उसके उत्तम ध्वजको छः बाणोंसे खण्डित कर दिया। आपके पुत्रके देखते-देखते उस ध्वजको काटकर भीमसेन उच्चस्वरसे सिंहनाद करने लगे ।। १३ ।।

रथाच्च स ध्वजः श्रीमान् नानारत्नविभूषितात् ।

पपात सहसा भूमौ विद्युज्जलधरादिव ।। १४ ।।

दुर्योधनके नाना रत्नविभूषित रथसे वह शोभाशाली ध्वज सहसा कटकर पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो मेघोंकी घटासे भूमिपर बिजली गिरी हो ।। १४ ।।

ज्वलन्तं सूर्यसंकाशं नागं मणिमयं शुभम् ।
ध्वजं कुरुपतेश्छिन्नं ददृशुः सर्वपार्थिवाः ।। १५ ।।

कुरुराज दुर्योधनके उस सूर्यके समान प्रज्वलित नागचिह्नित मणिमय सुन्दर ध्वजको कटकर गिरते समय समस्त राजाओंने देखा ।। १५ ।।

अथैनं दशभिर्बाणैस्तोत्रैरिव महाद्विपम् ।
आजघान रणे वीरं स्मयन्निव महारथः ।। १६ ।।

इसके बाद महारथी भीमने मुसकराते हुए-से रणभूमिमें वीरवर दुर्योधनको दस बाणोंसे उसी तरह घायल किया, जैसे महावत अंकुशोंसे महान् गजराजको पीड़ा देता है ।। १६ ।।

ततः स राजा सिन्धूनां रथश्रेष्ठो महारथः ।
दुर्योधनस्य जग्राह पार्ष्णिं सत्पुरुषैर्वृतः ।। १७ ।।

तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ सिन्धुराज महारथी जयद्रथने कुछ सत्पुरुषोंके साथ आकर दुर्योधनके पृष्ठभागकी रक्षाका कार्य सँभाला ।। १७ ।।

कृपश्च रथिनां श्रेष्ठः कौरव्यममितौजसम् ।
आरोपयद् रथं राजन् दुर्योधनममर्षणम् ।। १८ ।।

राजन्! इसी प्रकार रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने अमर्षमें भरे हुए अमिततेजस्वी कुरुवंशी दुर्योधनको अपने रथपर चढ़ा लिया ।। १८ ।।

स गाढविद्धो व्यथितो भीमसेनेन संयुगे ।
निषसाद रथोपस्थे राजन् दुर्योधनस्तदा ।। १९ ।।

नरेश्वर! भीमसेनने उस युद्धमें दुर्योधनको बहुत घायल कर दिया था। अतः उस समय वह व्यथासे व्याकुल होकर रथके पिछले भागमें जा बैठा ।। १९ ।।

परिवार्य ततो भीमं जेतुकामो जयद्रथः ।
रथैरनेकसाहस्रैर्भीमस्यावारयद् दिशः ।। २० ।।

तत्पश्चात् जयद्रथने भीमसेनको जीतनेकी इच्छा रखकर कई हजार रथोंके द्वारा उन्हें घेर लिया और उनकी सम्पूर्ण दिशाओंको अवरुद्ध कर दिया ।। २० ।।

धृष्टकेतुस्ततो राजन्नभिमन्युश्च वीर्यवान् ।
केकया द्रौपदेयाश्च तव पुत्रानयोधयन् ।। २१ ।।

महाराज! इसी समय धृष्टकेतु, पराक्रमी अभिमन्यु, पाँच केकयराजकुमार तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र आपके पुत्रोंके साथ युद्ध करने लगे ।। २१ ।।

चित्रसेनः सुचित्रश्च चित्राङ्गश्चित्रदर्शनः ।
चारुचित्रः सुचारुश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ।। २२ ।।

अष्टावेते महेष्वासाः सुकुमारा यशस्विनः ।
अभिमन्युरथं राजन् समन्तात् पर्यवारयन् ।। २३ ।।

उस युद्धमें चित्रसेन, सुचित्र, चित्रांग, चित्रदर्शन, चारुचित्र, सुचारु, नन्द और उपनन्द—इन आठ यशस्वी सुकुमार एवं महाधनुर्धर वीरोंने अभिमन्युके रथको चारों ओरसे घेर लिया ।। २२-२३ ।।

आजघान ततस्तूर्णमभिमन्युर्महामनाः ।
एकैकं पञ्चभिर्बाणैः शितैः संनतपर्वभिः ।। २४ ।।

उस समय महामना अभिमन्युने तुरंत ही झुकी हुई गाँठवाले पाँच-पाँच तीखे बाणोंद्वारा प्रत्येकको बींध डाला ।। २४ ।।

वज्रमृत्युप्रतीकाशैर्विचित्रायुधनिःसृतैः ।
अमृष्यमाणास्ते सर्वे सौभद्रं रथसत्तमम् ।। २५ ।।
ववृषुर्मार्गणैस्तीक्ष्णैर्गिरिं मेरुमिवाम्बुदाः ।

वे सभी बाण विचित्र धनुषद्वारा छोड़े गये थे और सब-के-सब वज्र एवं मृत्युके तुल्य भयंकर थे। उन बाणोंके आघातको आपके पुत्र सहन न कर सके। उन सबने मिलकर रथियोंमें श्रेष्ठ सुभद्राकुमार अभिमन्युपर तीखे बाणोंकी वर्षा आरम्भ की, मानो बादल मेरुगिरिपर जलकी वर्षा कर रहे हों ।। २५½ ।।

स पीड्यमानः समरे कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ।। २६ ।।
अभिमन्युर्महाराज तावकान् समकम्पयत् ।
यथा देवासुरे युद्धे वज्रपाणिर्महासुरान् ।। २७ ।।

महाराज! अभिमन्यु अस्त्रविद्याका ज्ञाता और युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाला है। उसने समरभूमिमें बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी आपके सैनिकोंमें कँपकँपी उत्पन्न कर दी। ठीक उसी तरह, जैसे देवासुर-संग्राममें वज्रधारी इन्द्रने बड़े-बड़े असुरोंको भयसे पीड़ित कर दिया था ।। २६-२७ ।।

विकर्णस्य ततो भल्लान् प्रेषयामास भारत ।
चतुर्दश रथश्रेष्ठो घोरानाशीविषोपमान् ।। २८ ।।
स तैर्विकर्णस्य रथात् पातयामास वीर्यवान् ।
ध्वजं सूतं हयांश्चैव नृत्यमान इवाहवे ।। २९ ।।

भारत! तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ पराक्रमी अभिमन्युने विकर्णके ऊपर सर्पके समान आकारवाले चौदह भयंकर भल्ल चलाये और उनके द्वारा विकर्णके रथसे ध्वज, सारथि और घोड़ोंको मार गिराया। उस समय वह युद्धमें नृत्य-सा कर रहा था ।। २८-२९ ।।

पुनश्चान्यान् शरान् पीतानकुण्ठाग्रान् शिलाशितान् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो विकर्णाय महाबलः ।। ३० ।।

तत्पश्चात् उस महाबली वीरने अत्यन्त कुपित हो शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए अप्रतिहत धारवाले दूसरे पानीदार बाण विकर्णपर चलाये ।। ३० ।।

ते विकर्णं समासाद्य कङ्कबर्हिणवाससः ।
भित्त्वा देहं गता भूमिं ज्वलन्त इव पन्नगाः ।। ३१ ।।

उन बाणोंके पुच्छभागमें मोरके पंख लगे हुए थे। वे विकर्णके शरीरको विदीर्ण करके भीतर घुस गये और वहाँसे भी निकलकर प्रज्वलित सर्पोंकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े ।। ३१ ।।

ते शरा हेमपुङ्खाग्रा व्यदृश्यन्त महीतले ।
विकर्णरुधिरक्लिन्ना वमन्त इव शोणितम् ।। ३२ ।।

उन बाणोंके पुच्छ और अग्रभाग सुनहरे थे। वे विकर्णके रुधिरमें भीगे हुए बाण पृथ्वीपर रक्त वमन करते हुए-से दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। ३२ ।।

विकर्णं वीक्ष्य निर्भिन्नं तस्यैवान्ये सहोदराः ।
अभ्यद्रवन्त समरे सौभद्रप्रमुखान् रथान् ।। ३३ ।।

विकर्णको क्षत-विक्षत हुआ देख उसके दूसरे भाइयोंने समरभूमिमें अभिमन्यु आदि रथियोंपर धावा किया ।। ३३ ।।

अभियात्वा तथैवान्यान् रथांस्तान् सूर्यवर्चसः ।
अविध्यन् समरेऽन्योन्यं संरम्भाद् युद्धदुर्मदाः ।। ३४ ।।

वे सब-के-सब युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे। उन्होंने दूसरे-दूसरे रथियोंपर भी, जो अभिमन्युकी ही भाँति सूर्यके समान तेजस्वी थे, आक्रमण किया। फिर वे सब लोग अत्यन्त क्रोधमें भरकर एक-दूसरेको अपने बाणोंद्वारा घायल करने लगे ।। ३४ ।।

दुर्मुखः श्रुतकर्माणं विद्ध्वा सप्तभिराशुगैः ।
ध्वजमेकेन चिच्छेद सारथिं चास्य सप्तभिः ।। ३५ ।।

दुर्मुखने श्रुतकर्माको सात शीघ्रगामी बाणोंद्वारा बींधकर एकसे उसका ध्वज काट डाला और सात बाणोंसे उसके सारथिको घायल कर दिया ।। ३५ ।।

अश्वान् जाम्बूनदैर्जालैः प्रच्छन्नान् वातरंहसः ।
जघान षड्भिरासाद्य सारथिं चाभ्यपातयत् ।। ३६ ।।

उसके घोड़े वायुके समान वेगशाली तथा सोनेकी जालीसे आच्छादित थे। दुर्मुखने उन घोड़ोंको छः बाणोंसे मार डाला और सारथिको भी रथसे नीचे गिरा दिया ।। ३६ ।।

स हताश्वे रथे तिष्ठन् श्रुतकर्मा महारथः ।
शक्तिं चिक्षेप संक्रुद्धो महोल्कां ज्वलितामिव ।। ३७ ।।

महारथी श्रुतकर्मा घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़ा रहा और अत्यन्त क्रोधमें भरकर उसने दुर्मुखपर प्रज्वलित उल्काके समान एक शक्ति चलायी ।। ३७ ।।

सा दुर्मुखस्य विमलं वर्म भित्त्वा यशस्विनः ।

विदार्य प्राविशद् भूमिं दीप्यमाना स्वतेजसा ।। ३८ ।।

वह शक्ति अपने तेजसे उद्दीप्त हो रही थी। उसने यशस्वी दुर्मुखके चमकीले कवचको फाड़ डाला। फिर वह धरतीको चीरती हुई उसमें समा गयी ।। ३८ ।।

तं दृष्ट्वा विरथं तत्र सुतसोमो महारथः ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां रथमारोपयत् स्वकम् ।। ३९ ।।

भीमसेनके बाणसे मूर्च्छित दुर्योधन

महारथी सुतसोमने अपने भाई श्रुतकर्माको युद्धमें रथहीन हुआ देख समस्त सैनिकोंके देखते-देखते उसे अपने रथपर चढ़ा लिया ।। ३९ ।।

श्रुतकीर्तिस्तथा वीरो जयत्सेनं सुतं तव ।
अभ्ययात् समरे राजन् हन्तुकामो यशस्विनम् ।। ४० ।।

राजन्! इसी प्रकार वीरवर श्रुतकीर्तिने युद्धभूमिमें आपके यशस्वी पुत्र जयत्सेनको मार डालनेकी इच्छासे उसपर आक्रमण किया ।। ४० ।।

तस्य विक्षिपतश्चापं श्रुतकीर्तेर्महास्वनम् ।
चिच्छेद समरे तूर्णं जयत्सेनः सुतस्तव ।। ४१ ।।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन प्रहसन्निव भारत ।

भारत! श्रुतकीर्ति जब बड़े जोर-जोरसे खींचकर अपने विशाल धनुषकी गम्भीर टंकार फैला रहा था, उसी समय रणभूमिमें आपके पुत्र जयत्सेनने हँसते हुए-से एक तीखे क्षुरप्रद्वारा तुरंत उसका धनुष काट दिया ।।

तं दृष्ट्वा छिन्नधन्वानं शतानीकः सहोदरम् ।। ४२ ।।
अभ्यपद्यत तेजस्वी सिंहवन्निनदन् मुहुः ।

अपने भाईका धनुष कटा हुआ देख तेजस्वी शतानीक बारंबार सिंहके समान गर्जना करता हुआ वहाँ आ पहुँचा ।। ४२ $\frac{१}{२}$ ।।

शतानीकस्तु समरे दृढं विस्फार्य कार्मुकम् ।। ४३ ।।
विव्याध दशभिस्तूर्णं जयत्सेनं शिलीमुखैः ।
ननाद सुमहानादं प्रभिन्न इव वारणः ।। ४४ ।।

शतानीकने संग्रामभूमिमें अपने धनुषको जोरसे खींचकर शीघ्रतापूर्वक दस बाण मारकर जयत्सेनको घायल कर दिया। फिर उसने मदवर्षी गजराजके समान बड़े जोरसे गर्जना की ।। ४३-४४ ।।

अथान्येन सुतीक्ष्णेन सर्वावरणभेदिना ।
शतानीको जयत्सेनं विव्याध हृदये भृशम् ।। ४५ ।।

तत्पश्चात् समस्त आवरणोंका भेदन करनेमें समर्थ दूसरे तीक्ष्ण बाणद्वारा शतानीकने जयत्सेनके वक्षःस्थलमें गहरी चोट पहुँचायी ।। ४५ ।।

तथा तस्मिन् वर्तमाने दुष्कर्णो भ्रातुरन्तिके ।
चिच्छेद समरे चापं नाकुलेः क्रोधमूर्च्छितः ।। ४६ ।।

उसके इस प्रकार करनेपर अपने भाईके पास खड़ा हुआ दुष्कर्ण क्रोधसे व्याकुल हो उठा। उसने समरभूमिमें नकुलपुत्र शतानीकका धनुष काट दिया ।।

अथान्यद् धनुरादाय भारसाहमनुत्तमम् ।
समादत्त शरान् घोरान् शतानीको महाबलः ।। ४७ ।।

तब महाबली शतानीकने भार सहन करनेमें समर्थ दूसरा अत्यन्त उत्तम धनुष लेकर उसपर भयंकर बाणोंका अनुसंधान किया ।। ४७ ।।

तिष्ठ तिष्ठेति चामन्त्र्य दुष्कर्णं भ्रातुरग्रतः ।
मुमोचास्मै शितान् बाणान् ज्वलितान् पन्नगानिव ।। ४८ ।।

फिर भाईके सामने ही दुष्कर्णसे 'खड़ा रह, खड़ा रह' ऐसा कहकर उसके ऊपर प्रज्वलित सर्पोंके समान तीखे बाणोंका प्रहार किया ।। ४८ ।।

ततोऽस्य धनुरेकेन द्वाभ्यां सूतं च मारिष ।
चिच्छेद समरे तूर्णं तं च विव्याध सप्तभिः ।। ४९ ।।

आर्य! तदनन्तर एक बाणसे उसके धनुषको काट दिया, दोसे उसके सारथिको क्षत-विक्षत कर दिया और सात बाणोंसे उस युद्धस्थलमें स्वयं दुष्कर्णको भी तुरंत घायल कर दिया ।। ४९ ।।

अश्वान् मनोजवांस्तस्य कर्बुरान् वातरंहसः ।
जघान निशितैस्तूर्णं सर्वान् द्वादशभिः शरैः ।। ५० ।।

दुष्कर्णके घोड़े मन और वायुके समान वेगशाली थे। उनका रंग चितकबरा था। शतानीकने बारह तीखे बाणोंसे उन सब घोड़ोंको भी तुरंत मार डाला ।। ५० ।।

अथापरेण भल्लेन सुयुक्तेनाशुपातिना ।
दुष्कर्णं सुदृढं क्रुद्धो विव्याध हृदये भृशम् ।। ५१ ।।
स पपात ततो भूमौ वज्राहत इव द्रुमः ।

तत्पश्चात् लक्ष्यको शीघ्र मार गिरानेवाले एक दूसरे भल्ल नामक बाणका उत्तम रीतिसे प्रयोग करके क्रोधमें भरे हुए शतानीकने दुष्कर्णके हृदयमें अत्यन्त गहरा आघात किया। इससे दुष्कर्ण वज्राहत वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। ५१½ ।।

दुष्कर्णं व्यथितं दृष्ट्वा पञ्च राजन् महारथाः ।। ५२ ।।
जिघांसन्तः शतानीकं सर्वतः पर्यवारयन् ।

राजन्! दुष्कर्णको आघातसे पीड़ित देख पाँच महारथियोंने शतानीकको मार डालनेकी इच्छासे उसे सब ओरसे घेर लिया ।। ५२½ ।।

छाद्यमानं शरव्रातैः शतानीकं यशस्विनम् ।। ५३ ।।
अभ्यधावन्त संक्रुद्धाः केकयाः पञ्च सोदराः ।

उनके बाणसमूहोंसे यशस्वी शतानीकको आच्छादित होते देख क्रोधमें भरे हुए पाँच भाई केकयराजकुमारोंने उन पाँचों महारथियोंपर धावा किया ।। ५३½ ।।

तानभ्यापततः प्रेक्ष्य तव पुत्रा महारथाः ।। ५४ ।।
प्रत्युद्ययुर्महाराज गजानिव महागजाः ।

महाराज! उन्हें आते देख आपके महारथी पुत्र उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े, जैसे हाथी दूसरे हाथियोंसे भिड़नेके लिये आगे बढ़ते हैं ।। ५४½ ।।

दुर्मुखो दुर्जयश्चैव तथा दुर्मर्षणो युवा ।। ५५ ।।
शत्रुञ्जयः शत्रुसहः सर्वे क्रुद्धा यशस्विनः ।
प्रत्युद्याता महाराज केकयान् भ्रातरः समम् ।। ५६ ।।

नरेश्वर! दुर्मुख, दुर्जय, युवा वीर दुर्मर्षण, शत्रुंजय तथा शत्रुसह—ये सब-के-सब यशस्वी वीर क्रोधमें भरकर पाँचों भाई केकयोंका सामना करनेके लिये एक साथ आगे बढ़े ।। ५५-५६ ।।

रथैर्नगरसंकाशैर्हयैर्युक्तैर्मनोजवैः ।
नानावर्णविचित्राभिः पताकाभिरलंकृतैः ।। ५७ ।।
वरचापधरा वीरा विचित्रकवचध्वजाः ।
विविशुस्ते परं सैन्यं सिंहा इव वनाद् वनम् ।। ५८ ।।

उनके रथ नगरोंके समान प्रतीत होते थे। उनमें मनके समान वेगशाली घोड़े जुते हुए थे। नाना प्रकारके रूप-रंगवाली और विचित्र पताकाएँ उन्हें अलंकृत कर रही थीं। ऐसे रथोंपर आरूढ़ सुन्दर धनुष धारण किये विचित्र कवच और ध्वजोंसे सुशोभित उन वीरोंने शत्रुकी सेनामें उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे सिंह एक वनसे दूसरे वनमें प्रवेश करते हैं ।। ५७-५८ ।।

तेषां सुतुमुलं युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम् ।
अवर्तत महारौद्रं निघ्नतामितरेतरम् ।। ५९ ।।

फिर तो एक-दूसरेपर प्रहार करते हुए उन सभी महारथियोमें अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्ध होने लगा। रथोंसे रथ और हाथियोंसे हाथी भिड़ गये ।। ५९ ।।

अन्योन्यागस्कृतां राजन् यमराष्ट्रविवर्धनम् ।
मुहूर्तास्तमिते सूर्ये चक्रुर्युद्धं सुदारुणम् ।। ६० ।।

राजन्! एक-दूसरेपर प्रहार करनेवाले उन महारथियोंका वह युद्ध यमलोककी वृद्धि करनेवाला था। सूर्यास्तके दो घड़ी बादतक उन सब लोगोंने बड़ा भयंकर युद्ध किया ।। ६० ।।

रथिनः सादिनश्चाथ व्यकीर्यन्त सहस्रशः ।
ततः शान्तनवः क्रुद्धः शरैः संनतपर्वभिः ।। ६१ ।।
नाशयामास सेनां तां भीष्मस्तेषां महात्मनाम् ।
पञ्चालानां च सैन्यानि शरैर्निन्ये यमक्षयम् ।। ६२ ।।

उसमें सहस्रों रथी और घुड़सवार प्राणशून्य होकर बिखर गये। तब शान्तनुनन्दन भीष्मने कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उन महामना वीरोंकी सेनाका विनाश कर डाला; पांचालोंकी सेनाकी कितनी ही टुकड़ियोंको अपने बाणोंद्वारा यमलोक पहुँचा दिया ।।

एवं भित्त्वा महेष्वासः पाण्डवानामनीकिनीम् ।
कृत्वावहारं सैन्यानां ययौ स्वशिबिरं नृप ।। ६३ ।।

नरेश्वर! महाधनुर्धर भीष्म इस प्रकार पाण्डव-सेनाका संहार करके अपनी समस्त सेनाओंको युद्धसे लौटाकर अपने शिविरको चले गये ।। ६३ ।।

(नाशयामासतुर्वीरौ धृष्टद्युम्नवृकोदरौ ।
कौरवाणामनीकानि शरैः संनतपर्वभिः ।।)

इसी प्रकार धृष्टद्युम्न और भीमसेन—इन दोनों वीरोंने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा कौरवसेनाओंका विनाश कर डाला।

धर्मराजोऽपि सम्प्रेक्ष्य धृष्टद्युम्नवृकोदरौ ।
मूर्ध्नि चैतावुपाघ्राय प्रहृष्टः शिबिरं ययौ ।। ६४ ।।

धर्मराज युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्न और भीमसेन दोनोंसे मिलकर उनका मस्तक सूँघा और बड़े हर्षके साथ अपने शिविरको प्रस्थान किया ।। ६४ ।।

(अर्जुनो वासुदेवश्च कौरवाणामनीकिनीम् ।
हत्वा विद्राव्य च शरैः शिबिरायैव जग्मतुः ।।)

अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण भी कौरव-सेनाको बाणोंद्वारा मारकर तथा रणभूमिसे भगाकर शिविरको ही चल दिये।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि षष्ठदिवसावहारे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ।। ७९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें छठे दिनके युद्धमें सेनाके शिविरके लिये लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७९ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ६६ श्लोक हैं।]

अशीतितमोऽध्यायः

भीष्मद्वारा दुर्योधनको आश्वासन तथा सातवें दिनके युद्धके लिये कौरव-सेनाका प्रस्थान

संजय उवाच

अथ शूरा महाराज परस्परकृतागसः ।
जग्मुः स्वशिबिराण्येव रुधिरेण समुक्षिताः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! आपसमें एक-दूसरेको चोट पहुँचानेवाले वे सभी शूरवीर खूनसे लथपथ हो अपने शिविरोंको ही चले गये ।। १ ।।

विश्रम्य च यथान्यायं पूजयित्वा परस्परम् ।
संनद्धाः समदृश्यन्त भूयो युद्धचिकीर्षया ।। २ ।।

यथायोग्य विश्राम करके एक-दूसरेकी प्रशंसा करते हुए वे लोग पुनः युद्ध करनेकी इच्छासे तैयार दिखायी देने लगे ।। २ ।।

ततस्तव सुतो राजंश्चिन्तयाभिपरिप्लुतः ।
विस्रवच्छोणिताक्ताङ्गः पप्रच्छेदं पितामहम् ।। ३ ।।

राजन्! तदनन्तर आपके पुत्र दुर्योधनने, जिसका शरीर बहते हुए रक्तसे भीगा हुआ था, चिन्तामग्न होकर पितामह भीष्मके पास जाकर इस प्रकार पूछा— ।। ३ ।।

सैन्यानि रौद्राणि भयानकानि
व्यूढानि सम्यग् बहुलध्वजानि ।
विदार्य हत्वा च निपीड्य शूरा-
स्ते पाण्डवानां त्वरिता महारथाः ।। ४ ।।

‘दादाजी! हमारी सेनाएँ अत्यन्त भयंकर तथा रौद्ररूप धारण करनेवाली हैं। उनकी व्यूह-रचना भी अच्छे ढंगसे की जाती है। इन सेनाओंमें ध्वजोंकी संख्या बहुत अधिक है, तथापि शूरवीर पाण्डव महारथी उनमें प्रवेश करके तुरंत हमारे सैनिकोंको विदीर्ण करते, मारते और पीड़ा देकर चले जाते हैं ।। ४ ।।

सम्मोह्य सर्वान् युधि कीर्तिमन्तो
व्यूहं च तं मकरं वज्रकल्पम् ।
प्रविश्य भीमेन रणे हतोऽस्मि
घोरैः शरैर्मृत्युदण्डप्रकाशैः ।। ५ ।।

‘वे युद्धमें सबको मोहित करके अपनी कीर्तिका विस्तार करते हैं। देखिये न, भीमसेनने वज्रके समान दुर्भेद्य मकर-व्यूहमें प्रवेश करके मृत्युदण्डके समान भयंकर बाणोंद्वारा मुझे

युद्धस्थलमें क्षत-विक्षत कर दिया है ।। ५ ।।

क्रुद्धं तमुद्वीक्ष्य भयेन राजन्
सम्मूर्च्छितो न लभे शान्तिमद्य ।
इच्छे प्रसादात् तव सत्यसंध
प्राप्तुं जयं पाण्डवेयांश्च हन्तुम् ।। ६ ।।

'राजन्! भीमसेनको कुपित देखकर मैं भयसे व्याकुल हो उठता हूँ। आज मुझे शान्ति नहीं मिल रही है। सत्यप्रतिज्ञ पितामह! मैं आपकी कृपासे पाण्डवोंको मारना और उनपर विजय पाना चाहता हूँ' ।। ६ ।।

तेनैवमुक्तः प्रहसन् महात्मा
दुर्योधनं मन्युगतं विदित्वा ।
तं प्रत्युवाचाविमना मनस्वी
गङ्गासुतः शस्त्रभृतां वरिष्ठः ।। ७ ।।

दुर्योधनके ऐसा कहनेपर और उसे क्रोधमें भरा हुआ जानकर शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ मनस्वी महात्मा गंगानन्दन भीष्मने जोर-जोरसे हँसते हुए प्रसन्न मनसे उसे इस प्रकार उत्तर दिया— ।। ७ ।।

परेण यत्नेन विगाह्य सेनां
सर्वात्मनाहं तव राजपुत्र ।
इच्छामि दातुं विजयं सुखं च
न चात्मानं छादयेऽहं त्वदर्थे ।। ८ ।।

'राजकुमार! मैं अपनी पूरी शक्ति लगाकर महान् प्रयत्नके साथ पाण्डवोंकी सेनामें प्रवेश करके तुम्हें विजय और सुख देना चाहता हूँ। तुम्हारे लिये अपने-आपको छिपाकर नहीं रखता हूँ ।। ८ ।।

एते तु रौद्रा बहवो महारथा
यशस्विनः शूरतमाः कृतास्त्राः ।
ये पाण्डवानां समरे सहाया
जितक्लमा रोषविषं वमन्ति ।। ९ ।।

'जो समरभूमिमें पाण्डवोंके सहायक हुए हैं, उनमें बहुत-से ये महारथी वीर अत्यन्त भयंकर, परम शौर्यसम्पन्न, शस्त्रविद्याके विद्वान् तथा यशस्वी हैं। इन्होंने थकावटको जीत लिया है और ये हमलोगोंपर रोषरूपी विष उगल रहे हैं ।। ९ ।।

ते नैव शक्याः सहसा विजेतुं
वीर्योद्धताः कृतवैरास्त्वया च ।
अहं सेनां प्रतियोत्स्यामि राजन्
सर्वात्मना जीवितं त्यज्य वीर ।। १० ।।

'ये बल-पराक्रममें प्रचण्ड और तुम्हारे साथ वैर बाँधे हुए हैं। इन्हें सहसा पराजित नहीं किया जा सकता है। राजन्! वीरवर! मैं सम्पूर्ण शरीरसे अपने प्राणोंकी परवा छोड़कर पाण्डवोंकी सेनाके साथ युद्ध करूँगा ।। १० ।।

रणे तवार्थाय महानुभाव
न जीवितं रक्ष्यतमं ममाद्य ।
सर्वांस्तवार्थाय सदेवदैत्यान्
घोरान् दहेयं किमु शत्रुसेनाम् ।। ११ ।।

'महानुभाव! तुम्हारे कार्यकी सिद्धिके लिये अब युद्धमें मुझे अपने जीवनकी रक्षा भी अत्यन्त आवश्यक नहीं जान पड़ती है। मैं तुम्हारे मनोरथकी सिद्धिके लिये देवताओंसहित समस्त भयंकर दैत्योंको भी दग्ध कर सकता हूँ; फिर शत्रुओंकी सेनाकी तो बात ही क्या है? ।।

तान् पाण्डवान् योधयिष्यामि राजन्
प्रियं च ते सर्वमहं करिष्ये ।
श्रुत्वैव चैतद् वचनं तदानीं
दुर्योधनः प्रीतमना बभूव ।। १२ ।।

'राजन्! मैं उन पाण्डवोंसे भी युद्ध करूँगा और तुम्हारा सम्पूर्ण प्रिय कार्य सिद्ध करूँगा।' उस समय भीष्मजीकी यह बात सुनते ही दुर्योधनका मन प्रसन्न हो गया ।। १२ ।।

सर्वाणि सैन्यानि ततः प्रहृष्टो
निर्गच्छतेत्याह नृपांश्च सर्वान् ।

तदाज्ञया तानि विनिर्ययुर्द्रुतं
गजाश्वपादातरथायुतानि ।। १३ ।।

तदनन्तर दुर्योधनने हर्षमें भरकर सम्पूर्ण राजाओं तथा सारी सेनाओंसे कहा—'युद्धके लिये निकलो।' राजा दुर्योधनकी आज्ञा पाकर सहस्रों हाथी, घोड़े, पैदल तथा रथोंसे भरी हुई वे सारी सेनाएँ तुरंत रणके लिये प्रस्थित हुईं ।। १३ ।।

प्रहर्षयुक्तानि तु तानि राजन्
महान्ति नानाविधशस्त्रवन्ति ।
स्थितानि नागाश्वपदातिमन्ति
विरेजुराजौ तव राजन् बलानि ।। १४ ।।

महाराज! आपकी वे विशाल सेनाएँ नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो अत्यन्त हर्ष एवं उत्साहमें भरी हुई थीं। राजन्! घोड़े, हाथी और पैदलोंसे युक्त हो रणभूमिमें खड़ी हुई उन सेनाओंकी बड़ी शोभा होती थी ।। १४ ।।

शस्त्रास्त्रविद्भिर्नरवीरयोधै-
रधिष्ठिताः सैन्यगणास्त्वदीयाः ।
रथौघपादातगजाश्वसंघैः
प्रयाद्भिराजौ विधिवत् प्रणुन्नैः ।। १५ ।।
समुद्धतं वै तरुणार्कवर्णं
रजो बभौच्छादयन् सूर्यरश्मीन् ।
रेजुः पताका रथदन्तिसंस्था
वातेरिता भ्राम्यमाणाः समन्तात् ।। १६ ।।

आपकी सेनाओंके सेनापति अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता एवं नरवीर योद्धा थे। उनसे विधिपूर्वक अनुशासित हो रथसमूह, पैदल, हाथी और घोड़ोंके समुदाय जब युद्ध-भूमिमें जाने लगे, तब उनके पैरोंसे उठी हुई धूल सूर्यकी किरणोंको आच्छादित करके प्रातःकालिक सूर्यकी प्रभाके समान कान्तिमती प्रतीत होने लगी। रथों और हाथियोंपर खड़ी की हुई पताकाएँ चारों ओर वायुकी प्रेरणासे फहराती हुई बड़ी शोभा पा रही थीं ।।

नानारङ्गाः समरे तत्र राजन्
मेघैर्युता विद्युतः खे यथैव ।
वृन्दैः स्थिताश्चापि सुसम्प्रयुक्ता-
श्चकाशिरे दन्तिगणाः समन्तात् ।। १७ ।।

राजन्! जैसे आकाशमें बादलोंके साथ बिजलियाँ चमक रही हों, उसी प्रकार उस समरांगणमें चारों ओर अनेक रंगोंके दन्तार हाथी झुंड-के-झुंड खड़े हुए शोभा पा रहे थे। उनका संचालन सुन्दर ढंगसे हो रहा था ।। १७ ।।

धनूंषि विस्फारयतां नृपाणां

बभूव शब्दस्तुमुलोऽतिघोरः ।
विमथ्यतो देवमहासुरौघै-
र्यथार्णवस्यादियुगे तदानीम् ।। १८ ।।

जैसे आदियुगमें देवताओं और दैत्योंके समूहद्वारा समुद्रके मथे जाते समय अत्यन्त घोर शब्द होता था, उसी प्रकार उस समय युद्धस्थलमें अपने धनुषोंकी टंकार करनेवाले राजाओंका अत्यन्त भयानक तुमुल शब्द प्रकट हो रहा था ।।

तदुग्रनागं बहुरूपवर्णं
तवात्मजानां समुदीर्णमेवम् ।
बभूव सैन्यं रिपुसैन्यहन्तृ
युगान्तमेघौघनिभं तदानीम् ।। १९ ।।

महाराज! आपके पुत्रोंकी वह सेना भयंकर गजराजोंसे भरी थी। वह अनेक रूप-रंगोंकी दिखायी देती थी। उसका वेग बढ़ता ही जा रहा था। वह उस समय प्रलयकालके मेघसमुदायकी भाँति शत्रु-सेनाका संहार करनेमें समर्थ प्रतीत होती थी ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मदुर्योधनसंवादे अशीतितमोऽध्यायः ।। ८० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-दुर्योधन-संवादविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८० ।।

एकाशीतितमोऽध्यायः

सातवें दिनके युद्धमें कौरव-पाण्डव-सेनाओंका मण्डल और वज्रव्यूह बनाकर भीषण संघर्ष

संजय उवाच

अथात्मजं तव पुनर्गाङ्गेयो ध्यानमास्थितम् ।
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठः सम्प्रहर्षकरं वचः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर आपके पुत्रको चिन्तामें निमग्न देख भरतश्रेष्ठ गंगानन्दन भीष्मने उससे पुनः हर्ष बढ़ानेवाली बात कही— ।। १ ।।

अहं द्रोणश्च शल्यश्च कृतवर्मा च सात्वतः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च भगदत्तोऽथ सौबलः ।। २ ।।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ बाह्लीकः सह बाह्लिकैः ।
त्रिगर्तराजो बलवान् मागधश्च सुदुर्जयः ।। ३ ।।
बृहद्बलश्च कौसल्यश्चित्रसेनो विविंशतिः ।
रथाश्च बहुसाहस्राः शोभनाश्च महाध्वजाः ।। ४ ।।
देशजाश्च हया राजन् स्वारूढा हयसादिभिः ।
गजेन्द्राश्च मदोद्वृत्ताः प्रभिन्नकरटामुखाः ।। ५ ।।
पादाताश्च तथा शूरा नानाप्रहरणध्वजाः ।
नानादेशसमुत्पन्नास्त्वदर्थे योद्धुमुद्यताः ।। ६ ।।

'राजन्! मैं, द्रोणाचार्य, शल्य, यदुवंशी कृतवर्मा, अश्वत्थामा, विकर्ण, भगदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, अवन्तिदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, बाह्लिकदेशीय वीरोंके साथ राजा बाह्लीक, बलवान् त्रिगर्तराज, अत्यन्त दुर्जय मगधराज, कोसलनरेश बृहद्बल, चित्रसेन, विविंशति तथा विशाल ध्वजाओंवाले परम सुन्दर कई हजार रथ, घुड़सवारोंसे युक्त देशीय घोड़े, गण्डस्थलसे मदकी धारा बहानेवाले मदोन्मत्त गजराज और भाँति-भाँतिके आयुध एवं ध्वज धारण करनेवाले विभिन्न देशोंके शूरवीर पैदल सैनिक तुम्हारे लिये युद्ध करनेको उद्यत हैं ।। २—६ ।।

एते चान्ये च बहवस्त्वदर्थे त्यक्तजीविताः ।
देवानपि रणे जेतुं समर्था इति मे मतिः ।। ७ ।।

'ये तथा और भी बहुत-से ऐसे सैनिक हैं, जिन्होंने तुम्हारे लिये अपना जीवन निछावर कर दिया है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि ये सब मिलकर युद्धस्थलमें देवताओंको भी जीतनेमें समर्थ हैं ।। ७ ।।

अवश्यं हि मया राजंस्तव वाच्यं हितं सदा ।
अशक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः ।। ८ ।।

'राजन्! मुझे सदा तुम्हारे हितकी बात अवश्य कहनी चाहिये; इसीलिये कहता हूँ—पाण्डवोंको इन्द्र-सहित सम्पूर्ण देवता भी जीत नहीं सकते ।। ८ ।।

वासुदेवसहायाश्च महेन्द्रसमविक्रमाः ।
सर्वथाहं तु राजेन्द्र करिष्ये वचनं तव ।। ९ ।।

'राजेन्द्र! एक तो वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी हैं, दूसरे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण उनके सहायक हैं, (अतः उन्हें जीतना असम्भव है तथापि) मैं सर्वथा तुम्हारे वचनका पालन करूँगा ।। ९ ।।

पाण्डवांश्च रणे जेष्ये मां वा जेष्यन्ति पाण्डवाः ।
एवमुक्त्वा ददावस्मै विशल्यकरणीं शुभाम् ।। १० ।।
ओषधीं वीर्यसम्पन्नां विशल्यश्चाभवत् तदा ।

'पाण्डवोंको मैं युद्धमें जीतूँगा अथवा पाण्डव ही मुझे परास्त कर देंगे।' ऐसा कहकर भीष्मजीने दुर्योधनको विशल्यकरणी नामक शुभ एवं शक्तिशालिनी ओषधि प्रदान की। उस समय उसके प्रभावसे दुर्योधनके शरीरमें धँसे हुए बाण आसानीसे निकल गये और वह आघातजनित घाव तथा उसकी पीड़ासे मुक्त हो गया ।। १०½ ।।

ततः प्रभाते विमले स्वेन सैन्येन वीर्यवान् ।। ११ ।।
अव्यूहत स्वयं व्यूहं भीष्मो व्यूहविशारदः ।
मण्डलं मनुजश्रेष्ठो नानाशस्त्रसमाकुलम् ।। १२ ।।

तदनन्तर निर्मल प्रभातकी बेलामें व्यूहविशारद नरश्रेष्ठ बलवान् भीष्मने अपनी सेनाके द्वारा स्वयं ही मण्डल नामक व्यूहका निर्माण किया, जो नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न था ।। ११-१२ ।।

सम्पूर्णं योधमुख्यैश्च तथा दन्तिपदातिभिः ।
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् परिवारितम् ।। १३ ।।

वह व्यूह हाथी और पैदल आदि मुख्य-मुख्य योद्धाओंसे भरा हुआ था। कई सहस्र रथोंने उसे सब ओरसे घेर रखा था ।। १३ ।।

अश्ववृन्दैर्महद्भिश्च ऋष्टितोमरधारिभिः ।
नागे नागे रथाः सप्त सप्त चाश्वा रथे रथे ।। १४ ।।
अन्वश्वं दश धानुष्का धानुष्के दश चर्मिणः ।

वह व्यूह ऋष्टि और तोमर धारण करनेवाले अश्वारोहियोंके महान् समुदायोंसे भरा था। एक-एक हाथीके पीछे सात-सात रथ, एक-एक रथके साथ सात-सात घुड़सवार, प्रत्येक घुड़सवारके पीछे दस-दस धनुर्धर और प्रत्येक धनुर्धरके साथ दस-दस ढाल-तलवार लिये रहनेवाले वीर खड़े थे ।। १४½ ।।

एवं व्यूढं महाराज तव सैन्यं महारथैः ।। १५ ।।
स्थितं रणाय महते भीष्मेण युधि पालितम् ।

महाराज! इस प्रकार महारथियोंके द्वारा व्यूहबद्ध होकर आपकी सेना महायुद्धके लिये खड़ी थी और भीष्म युद्धस्थलमें उसकी रक्षा करते थे ।। १५½ ।।

दशाश्वानां सहस्राणि दन्तिनां च तथैव च ।। १६ ।।
रथानामयुतं चापि पुत्राश्च तव दंशिताः ।
चित्रसेनादयः शूरा अभ्यरक्षन् पितामहम् ।। १७ ।।

उसमें दस हजार घोड़े, उतने ही हाथी और दस हजार रथ तथा आपके चित्रसेन आदि शूरवीर पुत्र कवच धारण करके पितामह भीष्मकी रक्षा कर रहे थे ।।

रक्ष्यमाणः स तैः शूरैर्गोप्यमानाश्च तेन ते ।
संनद्धाः समदृश्यन्त राजानश्च महाबलाः ।। १८ ।।

उन वीरोंसे भीष्म सुरक्षित थे और भीष्मसे उन शूरवीरोंकी रक्षा हो रही थी। वहाँ बहुत-से महाबली नरेश कवच बाँधकर युद्धके लिये तैयार दिखायी देते थे ।। १८ ।।

दुर्योधनस्तु समरे दंशितो रथमास्थितः ।
व्यराजत श्रिया जुष्टो यथा शक्रस्त्रिविष्टपे ।। १९ ।।

शोभासम्पन्न राजा दुर्योधन भी युद्धस्थलमें कवच बाँधकर रथपर आरूढ़ हो ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो देवराज इन्द्र स्वर्गमें अपनी दिव्य प्रभासे प्रकाशित हो रहे हों ।। १९ ।।

ततः शब्दो महानासीत् पुत्राणां तव भारत ।
रथघोषश्च विपुलो वादित्राणां च निस्वनः ।। २० ।।

भारत! तदनन्तर आपके पुत्रोंका महान् सिंहनाद सुनायी देने लगा, साथ ही रथों और वाद्योंका गम्भीर घोष गूँज उठा ।। २० ।।

भीष्मेण धार्तराष्ट्राणां व्यूढः प्रत्यङ्मुखो युधि ।
मण्डलः स महाव्यूहो दुर्भेद्योऽमित्रघातनः ।। २१ ।।

भीष्मने युद्धस्थलमें कौरव-सैनिकोंका पश्चिमाभिमुख व्यूह बनाया था। वह मण्डल नामक महाव्यूह दुर्भेद्य होनेके साथ ही शत्रुओंका संहार करनेवाला था ।। २१ ।।

सर्वतः शुशुभे राजन् रणेऽरीणां दुरासदः ।
मण्डलं तु समालोक्य व्यूहं परमदुर्जयम् ।। २२ ।।
स्वयं युधिष्ठिरो राजा वज्रं व्यूहमथाकरोत् ।

राजन्! उस रणभूमिमें सब ओर उस व्यूहकी बड़ी शोभा हो रही थी। वह शत्रुओंके लिये सर्वथा दुर्गम था। कौरवोंके परम दुर्जय मण्डलव्यूहको देखकर राजा युधिष्ठिरने स्वयं अपनी सेनाके लिये वज्रव्यूहका निर्माण किया ।। २२½ ।।

तथा व्यूढेष्वनीकेषु यथास्थानमवस्थिताः ।। २३ ।।

रथिनः सादिनः सर्वे सिंहनादमथानदन् ।

इस प्रकार सेनाओंकी व्यूह-रचना हो जानेपर यथास्थान खड़े हुए रथी और घुड़सवार आदि सब सैनिक सिंहनाद करने लगे ।। २३ $\frac{1}{2}$ ।।

बिभित्सवस्ततो व्यूहं निर्ययुर्युद्धकाङ्‌क्षिणः ।। २४ ।।

इतरेतरतः शूराः सहसैन्याः प्रहारिणः ।

तत्पश्चात् प्रहार करनेमें कुशल सभी शूरवीर एक-दूसरेका व्यूह तोड़ने और परस्पर युद्ध करनेकी इच्छासे सेनासहित आगे बढ़े ।। २४ $\frac{1}{2}$ ।।

भारद्वाजो ययौ मत्स्यं द्रौणिश्चापि शिखण्डिनम् ।। २५ ।।

स्वयं दुर्योधनो राजा पार्षतं समुपाद्रवत् ।

द्रोणाचार्यने विराटपर और अश्वत्थामाने शिखण्डीपर धावा किया। स्वयं राजा दुर्योधनने द्रुपदपर चढ़ाई की ।।

नकुलः सहदेवश्च मद्रराजानमीयतुः ।। २६ ।।

विन्दानुविन्दावावन्त्याविरावन्तमभिद्रुतौ ।

नकुल और सहदेवने अपने मामा मद्रराज शल्यपर धावा किया। अवन्तीके विन्द और अनुविन्दने इरावान्‌पर आक्रमण किया ।। २६ $\frac{1}{2}$ ।।

सर्वे नृपास्तु समरे धनंजयमयोधयन् ।। २७ ।।

भीमसेनो रणे यान्तं हार्दिक्यं समवारयत् ।

समस्त नरेशोंने संग्रामभूमिमें अर्जुनके साथ युद्ध किया। भीमसेनने युद्धमें विचरते हुए कृतवर्माको आगे बढ़नेसे रोका ।। २७ $\frac{1}{2}$ ।।

चित्रसेनं विकर्णं च तथा दुर्मर्षणं विभुः ।। २८ ।।

आर्जुनिः समरे राजंस्तव पुत्रानयोधयत् ।

राजन्! शक्तिशाली अर्जुनकुमार अभिमन्युने संग्रामभूमिमें आपके तीन पुत्र चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षणके साथ युद्ध आरम्भ किया ।। २८ $\frac{1}{2}$ ।।

प्राग्ज्योतिषो महेष्वासो हैडिम्बं राक्षसोत्तमम् ।। २९ ।।

अभिदुद्राव वेगेन मत्तो मत्तमिव द्विपम् ।

महाधनुर्धर भगदत्तने राक्षसप्रवर घटोत्कचपर बड़े वेगसे आक्रमण किया, मानो एक मतवाला हाथी दूसरे मतवाले हाथीपर टूट पड़ा हो ।। २९ $\frac{1}{2}$ ।।

अलम्बुषस्तदा राजन् सात्यकिं युद्धदुर्मदम् ।। ३० ।।

ससैन्यं समरे क्रुद्धो राक्षसः समुपाद्रवत् ।

राजन्! उस समय राक्षस अलम्बुषने युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले सेनासहित सात्यकिपर क्रोधपूर्वक धावा किया ।। ३० $\frac{1}{2}$ ।।

भूरिश्रवा रणे यत्तो धृष्टकेतुमयोधयत् ।। ३१ ।।

श्रुतायुषं च राजानं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।

अर्जुनका व्यूहबद्ध कौरव-सेनाकी ओर श्रीकृष्णका ध्यान आकृष्ट करना

भूरिश्रवाने रणभूमिमें प्रयत्नपूर्वक धृष्टकेतुके साथ युद्ध छेड़ दिया। धर्मपुत्र युधिष्ठिरने राजा श्रुतायुपर धावा किया ।। ३१ १/२ ।।

चेकितानश्च समरे कृपमेवान्वयोधयत् ।। ३२ ।।

शेषाः प्रतिययुर्यत्ता भीष्ममेव महारथम् ।

चेकितानने समरमें कृपाचार्यके ही साथ युद्ध छेड़ दिया। शेष योद्धा प्रयत्नपूर्वक महारथी भीष्मका ही सामना करने लगे ।। ३२ १/२ ।।

ततो राजसमूहास्ते परिवव्रुर्धनंजयम् ।। ३३ ।।

शक्तितोमरनाराचगदापरिघपाणयः ।

तदनन्तर उन राजसमूहोंने कुन्तीपुत्र धनंजयको सब ओरसे घेर लिया। उन सबके हाथोंमें शक्ति, तोमर, नाराच, गदा और परिघ आदि आयुध शोभा पा रहे थे ।।

अर्जुनोऽथ भृशं क्रुद्धो वार्ष्णेयमिदमब्रवीत् ।। ३४ ।।

पश्य माधव सैन्यानि धार्तराष्ट्रस्य संयुगे ।

व्यूढानि व्यूहविदुषा गाङ्गेयेन महात्मना ।। ३५ ।।

तत्पश्चात् अर्जुनने अत्यन्त क्रुद्ध होकर भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—'माधव! युद्धस्थलमें दुर्योधनकी इन सेनाओंको देखिये, व्यूहके विद्वान् महात्मा गंगानन्दनने इनका व्यूह रचा है ।। ३४-३५ ।।

युद्धाभिकामान् शूरांश्च पश्य माधव दंशितान् ।
त्रिगर्तराजं सहितं भ्रातृभिः पश्य केशव ।। ३६ ।।

'माधव! युद्धकी इच्छासे कवच बाँधकर आये हुए इन शूरवीरोंपर दृष्टिपात कीजिये। केशव! यह देखिये, यह भाइयोंसहित त्रिगर्तराज खड़ा है ।। ३६ ।।

अद्यैतान् नाशयिष्यामि पश्यतस्ते जनार्दन ।
य इमे मां यदुश्रेष्ठ योद्धुकामा रणाजिरे ।। ३७ ।।

'जनार्दन! यदुश्रेष्ठ! ये जो रणक्षेत्रमें मुझसे युद्ध करना चाहते हैं, मैं इन सबको आज आपके देखते-देखते नष्ट कर दूँगा' ।। ३७ ।।

एतदुक्त्वा तु कौन्तेयो धनुर्ज्यामवमृज्य च ।
ववर्ष शरवर्षाणि नराधिपगणान् प्रति ।। ३८ ।।

ऐसा कहकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने अपने धनुषकी प्रत्यंचापर हाथ फेरा और विपक्षी नरेशोंपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ।। ३८ ।।

तेऽपि तं परमेष्वासाः शरवर्षैरपूरयन् ।
तडागं वारिधाराभिर्यथा प्रावृषि तोयदाः ।। ३९ ।।

जैसे बादल वर्षा-ऋतुमें जलकी धाराओंसे तालाबको भरते हैं, उसी प्रकार वे महाधनुर्धर नरेश भी बाणोंकी वृष्टिसे अर्जुनको भरपूर करने लगे ।। ३९ ।।

हाहाकारो महानासीत् तव सैन्ये विशाम्पते ।
छाद्यमानौ रणे कृष्णौ शरैर्दृष्ट्वा महारणे ।। ४० ।।

प्रजानाथ! उस महायुद्धमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको बाणोंसे आच्छादित देख आपकी सेनामें बड़े जोरसे कोलाहल होने लगा ।। ४० ।।

देवा देवर्षयश्चैव गन्धर्वाश्च सहोरगैः ।
विस्मयं परमं जग्मुर्दृष्ट्वा कृष्णौ तथागतौ ।। ४१ ।।

श्रीकृष्ण और अर्जुनको उस अवस्थामें देखकर देवताओं, देवर्षियों, गन्धर्वों और नागोंको महान् आश्चर्य हुआ ।। ४१ ।।

ततः क्रुद्धोऽर्जुनो राजन्नैन्द्रमस्त्रमुदैरयत् ।
तत्राद्भुतमपश्याम विजयस्य पराक्रमम् ।। ४२ ।।

राजन्! तब अर्जुनने कुपित होकर इन्द्रास्त्रका प्रयोग किया। उस समय हमलोगोंने अर्जुनका अद्भुत पराक्रम देखा ।। ४२ ।।

शस्त्रवृष्टिं परैर्मुक्तां शरौघैर्यदवारयत् ।
न च तत्राप्यनिर्भिन्नः कश्चिदासीद् विशाम्पते ।। ४३ ।।

उन्होंने अपने बाणसमूहद्वारा शत्रुओंकी की हुई बाण-वर्षाको रोक दिया। महाराज! उस समय वहाँ कोई भी योद्धा ऐसा नहीं रह गया था, जो उनके बाणोंसे क्षत-विक्षत न हो गया हो ।। ४३ ।।

तेषां राजसहस्राणां हयानां दन्तिनां तथा ।
द्वाभ्यां त्रिभिः शरैश्चान्यान् पार्थो विव्याध मारिष ।। ४४ ।।

आर्य! कुन्तीकुमार अर्जुनने उन सहस्रों राजाओंके घोड़ों तथा हाथियोंमेंसे किन्हींको दो-दो और किन्हींको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया ।। ४४ ।।

ते हन्यमानाः पार्थेन भीष्मं शान्तनवं ययुः ।
अगाधे मज्जमानानां भीष्मः पोतोऽभवत् तदा ।। ४५ ।।

अर्जुनकी मार खाकर वे सब-के-सब शान्तनुनन्दन भीष्मकी शरणमें गये। उस समय अगाध विपत्तिसमुद्रमें डूबते हुए सैनिकोंके लिये भीष्म जहाज बन गये ।।

आपतद्भिस्तु तैस्तत्र प्रभग्नं तावकं बलम् ।
संचुक्षुभे महाराज वातैरिव महार्णवः ।। ४६ ।।

महाराज! पाण्डवोंके आक्रमण करनेपर आपकी सेनाका व्यूह भंग हो गया। वह सेना प्रचण्ड वायुके वेगसे समुद्रकी भाँति विक्षुब्ध हो उठी ।। ४६ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे एकाशीतितमोऽध्यायः ।। ८१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनका युद्धविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८१ ।।

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और अर्जुनसे डरकर कौरवसेनामें भगदड़, द्रोणाचार्य और विराटका युद्ध, विराटपुत्र शंखका वध, शिखण्डी और अश्वत्थामाका युद्ध, सात्यकिके द्वारा अलम्बुषकी पराजय, धृष्टद्युम्नके द्वारा दुर्योधनकी हार तथा भीमसेन और कृतवर्माका युद्ध

संजय उवाच

तथा प्रवृत्ते संग्रामे निवृत्ते च सुशर्मणि ।
भग्नेषु चापि वीरेषु पाण्डवेन महात्मना ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार संग्राम आरम्भ होनेपर महामना पाण्डुनन्दन अर्जुनसे पराजित हो सुशर्मा युद्धभूमिसे दूर हो गया और अन्यान्य वीर भी भाग खड़े हुए ।। १ ।।

क्षुभ्यमाणे बले तूर्णं सागरप्रतिमे तव ।
प्रत्युद्याते च गाङ्गेये त्वरितं विजयं प्रति ।। २ ।।

आपकी समुद्र-जैसी विशाल वाहिनीमें तुरंत ही हलचल मच गयी। उस समय गंगानन्दन भीष्मने शीघ्रतापूर्वक अर्जुनपर आक्रमण किया ।। २ ।।

दृष्ट्वा दुर्योधनो राजा रणे पार्थस्य विक्रमम् ।
त्वरमाणः समभ्येत्य सर्वांस्तानब्रवीन्नृपान् ।। ३ ।।

राजा दुर्योधनने रणभूमिमें अर्जुनका पराक्रम देखकर बड़ी उतावलीके साथ निकट जा उन समस्त नरेशोंसे कहा ।। ३ ।।

तेषां तु प्रमुखे शूंर सुशर्माणं महाबलम् ।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य भृशं संहर्षयन्निव ।। ४ ।।

उन नरेशोंके सम्मुख सारी सेनाके बीचमें शूरवीर महाबली सुशर्माको अत्यन्त हर्ष प्रदान करता हुआ-सा दुर्योधन यों बोला— ।। ४ ।।

एष भीष्मः शान्तनवो योद्धुकामो धनंजयम् ।
सर्वात्मना कुरुश्रेष्ठस्त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।। ५ ।।

‘वीरो! ये शान्तनुनन्दन कुरुश्रेष्ठ भीष्म अपना जीवन निछावर करके सम्पूर्ण हृदयसे अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहते हैं ।। ५ ।।

तं प्रयान्तं रणे वीरं सर्वसैन्येन भारतम् ।
संयत्ताः समरे सर्वे पालयध्वं पितामहम् ।। ६ ।।

‘सारी सेनाके साथ युद्धके लिये यात्रा करते हुए मेरे वीर पितामह भरतनन्दन भीष्मकी आप सब लोग प्रयत्नपूर्वक रक्षा करें’ ।। ६ ।।

बाढमित्येवमुक्त्वा तु तान्यनीकानि सर्वशः ।
नरेन्द्राणां महाराज समाजग्मुः पितामहम् ।। ७ ।।

महाराज! ‘बहुत अच्छा’ कहकर राजाओंकी वे सम्पूर्ण सेनाएँ पितामह भीष्मके पास गयीं ।। ७ ।।

ततः प्रयातः सहसा भीष्मः शान्तनवोऽर्जुनम् ।
रणे भारतमायान्तमाससाद महाबलः ।। ८ ।।

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म युद्धभूमिमें सहसा अर्जुनके सामने गये। भरतवंशी भीष्मको आते देख महाबली अर्जुन उनके पास जा पहुँचे ।। ८ ।।

महाश्वेताश्वयुक्तेन भीमवानरकेतुना ।
महता मेघनादेन रथेनातिविराजता ।। ९ ।।

वे जिस रथपर आरूढ़ होकर आये थे, वह अत्यन्त शोभायमान था। उसमें श्वेतवर्णके विशाल घोड़े जुते हुए थे। उसपर भयंकर वानरसे उपलक्षित ध्वजा फहरा रही थी और उसके पहियोंसे मेघके समान गम्भीर शब्द हो रहा था ।। ९ ।।

समरे सर्वसैन्यानामुपयान्तं धनंजयम् ।
अभवत् तुमुलो नादो भयाद् दृष्ट्वा किरीटिनम् ।। १० ।।

किरीटधारी अर्जुनको युद्धमें समीप आते देख भयके मारे समस्त सैनिकोंके मुँहसे भयानक हाहाकार प्रकट होने लगा ।। १० ।।

अभीषुहस्तं कृष्णं च दृष्ट्वाऽऽदित्यमिवापरम् ।
मध्यन्दिनगतं संख्ये न शेकुः प्रतिवीक्षितुम् ।। ११ ।।

हाथमें बागडोर लिये मध्याह्नकालके दूसरे सूर्यके समान तेजस्वी श्रीकृष्णको युद्धभूमिमें उपस्थित देख कोई भी योद्धा उन्हें भर आँख देख भी न सके ।। ११ ।।

तथा शान्तनवं भीष्मं श्वेताश्वं श्वेतकार्मुकम् ।
न शेकुः पाण्डवा द्रष्टुं श्वेतं ग्रहमिवोदितम् ।। १२ ।।

इसी प्रकार श्वेत घोड़े तथा श्वेत धनुषवाले शान्तनुनन्दन भीष्मको श्वेत ग्रहके समान उदित देख पाण्डवसैनिक उनसे आँख न मिला सके ।। १२ ।।

स सर्वतः परिवृतस्त्रिगर्तैः सुमहात्मभिः ।
भ्रातृभिः सह पुत्रैश्च तथान्यैश्च महारथैः ।। १३ ।।

महामना त्रिगर्तोंने अपने भाइयों, पुत्रों तथा अन्य महारथियोंके साथ उपस्थित होकर भीष्मको सब ओरसे घेर रखा था ।। १३ ।।

भारद्वाजस्तु समरे मत्स्यं विव्याध पत्रिणा ।
ध्वजं चास्य शरेणाजौ धनुश्चैकेन चिच्छिदे ।। १४ ।।

दूसरी ओर द्रोणाचार्यने मत्स्यराज विराटको युद्धमें एक बाणसे बींध डाला तथा एक बाणसे उनका ध्वज और एकसे धनुष काट डाला ।। १४ ।।

तदपास्य धनुश्छिन्नं विराटो वाहिनीपतिः ।
अन्यदादत्त वेगेन धनुर्भारसहं दृढम् ।। १५ ।।

सेनापति विराटने वह कटा हुआ धनुष फेंककर वेगपूर्वक दूसरे सुदृढ़ धनुषको हाथमें लिया, जो भार सहन करनेमें समर्थ था ।। १५ ।।

शरांश्चाशीविषाकाराञ्ज्वलितान् पन्नगानिव ।
द्रोणं त्रिभिश्च विव्याध चतुर्भिश्चास्य वाजिनः ।। १६ ।।

उन्होंने उसके द्वारा प्रज्वलित सर्पोंकी भाँति विषैले नागोंकी-सी आकृतिवाले बाण छोड़कर तीनसे द्रोणाचार्यको और चार बाणोंसे उनके घोड़ोंको बींध डाला ।। १६ ।।

ध्वजमेकेन विव्याध सारथिं चास्य पञ्चभिः ।
धनुरेकेषुणाविध्यत् तत्राक्रुध्यद् द्विजर्षभः ।। १७ ।।

फिर एक बाणसे ध्वजको, पाँच बाणोंसे सारथिको और एकसे धनुषको बींध डाला। इससे द्विजश्रेष्ठ द्रोणाचार्यको बड़ा क्रोध हुआ ।। १७ ।।

तस्य द्रोणोऽवधीदश्वान् शरैः संनतपर्वभिः ।
अष्टाभिर्भरतश्रेष्ठ सूतमेकेन पत्रिणा ।। १८ ।।

भरतश्रेष्ठ! फिर द्रोणने झुकी हुई गाँठवाले आठ बाणोंद्वारा विराटके घोड़ोंको और एक बाणसे सारथिको मार डाला ।। १८ ।।

स हताश्वादवप्लुत्य स्यन्दनाद्धतसारथिः ।
आरुरोह रथं तूर्णं पुत्रस्य रथिनां वरः ।। १९ ।।

सारथि और घोड़ोंके मारे जानेपर रथियोंमें श्रेष्ठ विराट अपने रथसे तुरंत कूद पड़े और पुत्रके रथपर आरूढ़ हो गये ।। १९ ।।

ततस्तु तौ पितापुत्रौ भारद्वाजं रथे स्थितौ ।
महता शरवर्षेण वारयामासतुर्बलात् ।। २० ।।

अब उन दोनों पिता-पुत्रोंने एक ही रथपर बैठकर महान् बाणवर्षाके द्वारा द्रोणाचार्यको बलपूर्वक आगे बढ़नेसे रोक दिया ।। २० ।।

भारद्वाजस्ततः क्रुद्धः शरमाशीविषोपमम् ।
चिक्षेप समरे तूर्णं शङ्खं प्रति जनेश्वर ।। २१ ।।

जनेश्वर! तब द्रोणाचार्यने कुपित होकर युद्धभूमिमें विषधर सर्पके समान एक भयंकर बाण शंखपर शीघ्रतापूर्वक चलाया ।। २१ ।।

स तस्य हृदयं भित्त्वा पीत्वा शोणितमाहवे ।
जगाम धरणीं बाणो लोहितार्द्रवरच्छदः ।। २२ ।।

वह बाण शंखकी छाती छेदकर रणभूमिमें उसका रक्त पीकर धरतीमें समा गया। उसके श्रेष्ठ पंख लोहूमें भीगकर लाल हो रहे थे ।। २२ ।।

स पपात रणे तूर्णं भारद्वाजशराहतः ।
धनुस्त्यक्त्वा शरांश्चैव पितुरेव समीपतः ।। २३ ।।

द्रोणाचार्यके बाणोंसे घायल होकर शंख पिताके पास ही धनुष-बाण छोड़कर तुरंत ही रणभूमिमें गिर पड़ा ।। २३ ।।

हतं तमात्मजं दृष्ट्वा विराटः प्राद्रवद् भयात् ।
उत्सृज्य समरे द्रोणं व्यात्ताननमिवान्तकम् ।। २४ ।।

अपने पुत्रको मारा गया देख मुँह बाये हुए कालके समान भयंकर द्रोणाचार्यको समरभूमिमें छोड़कर विराट भयके मारे भाग गये ।। २४ ।।

भारद्वाजस्ततस्तूर्णं पाण्डवानां महाचमूम् ।
दारयामास समरे शतशोऽथ सहस्रशः ।। २५ ।।

तब द्रोणाचार्यने संग्रामभूमिमें तुरंत ही पाण्डवोंकी विशाल वाहिनीको विदीर्ण करना आरम्भ किया। सैकड़ों-हजारों योद्धा धराशायी हो गये ।। २५ ।।

शिखण्डी तु महाराज द्रौणिमासाद्य संयुगे ।
आजघान भ्रुवोर्मध्ये नाराचैस्त्रिभिराशुगैः ।। २६ ।।

महाराज! दूसरी ओर शिखण्डीने युद्धभूमिमें अश्वत्थामाके पास पहुँचकर तीन शीघ्रगामी नाराचोंद्वारा उसके भौंहोंके मध्यभागमें आघात किया ।। २६ ।।

स बभौ रथशार्दूलो ललाटे संस्थितैस्त्रिभिः ।
शिखरैः काञ्चनमयैर्मेरुस्त्रिभिरिवोच्छ्रितैः ।। २७ ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा ललाटमें लगे हुए उन तीनों बाणोंके द्वारा तीन ऊँचे सुवर्णमय शिखरोंसे युक्त मेरुपर्वतके समान शोभा पाने लगा ।। २७ ।।

अश्वत्थामा ततः क्रुद्धो निमेषार्धाच्छिखण्डिनः ।
ध्वजं सूतमथो राजंस्तुरगानायुधानि च ।। २८ ।।
शरैर्बहुभिराच्छिद्य पातयामास संयुगे ।

राजन्! तदनन्तर क्रोधमें भरे अश्वत्थामाने आधे निमेषमें बहुत-से बाणोंद्वारा शिखण्डीके ध्वज, सारथि, घोड़ों और आयुधोंको रणभूमिमें काट गिराया ।। २८½ ।।

स हताश्वादवप्लुत्य रथाद् वै रथिनां वरः ।। २९ ।।
खड्गमादाय सुशितं विमलं च शरावरम् ।
श्येनवद् व्यचरत् क्रुद्धः शिखण्डी शत्रुतापनः ।। ३० ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ शत्रुसंतापी शिखण्डी घोड़ोंके मारे जानेपर उस रथसे कूद पड़ा और बहुत तीखी एवं चमकीली तलवार और ढाल हाथमें लेकर कुपित हुए श्येन पक्षीकी भाँति सब ओर विचरने लगा ।। २९-३० ।।

सखड्गस्य महाराज चरतस्तस्य संयुगे ।
नान्तरं ददृशे द्रौणिस्तदद्भुतमिवाभवत् ।। ३१ ।।

महाराज! तलवार लेकर युद्धमें विचरते हुए शिखण्डीका थोड़ा-सा भी छिद्र अश्वत्थामाको नहीं दिखायी दिया। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ।। ३१ ।।

ततः शरसहस्राणि बहूनि भरतर्षभ ।
प्रेषयामास समरे द्रौणिः परमकोपनः ।। ३२ ।।

भरतश्रेष्ठ! तब परम क्रोधी अश्वत्थामाने समरभूमिमें शिखण्डीपर कई हजार बाणोंकी वर्षा की ।। ३२ ।।

तामापतन्तीं समरे शरवृष्टिं सुदारुणाम् ।
असिना तीक्ष्णधारेण चिच्छेद बलिनां वरः ।। ३३ ।।

बलवानोंमें श्रेष्ठ शिखण्डीने समरभूमिमें होनेवाली उस अत्यन्त भयंकर बाणवर्षाको तीखी धारवाली तलवारसे काट डाला ।। ३३ ।।

ततोऽस्य विमलं द्रौणिः शतचन्द्रं मनोरमम् ।
चर्माच्छिनदसिं चास्य खण्डयामास संयुगे ।। ३४ ।।

तब अश्वत्थामाने सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे सुशोभित शिखण्डीकी परम सुन्दर ढाल और चमकीली तलवारको युद्धस्थलमें टूक-टूक कर दिया ।। ३४ ।।

शितैस्तु बहुशो राजंस्तं च विव्याध पत्त्रिभिः ।
शिखण्डी तु ततः खड्गं खण्डितं तेन सायकैः ।। ३५ ।।
आविध्य व्यसृजत् तूर्णं ज्वलन्तमिव पन्नगम् ।
तमापतन्तं सहसा कालानलसमप्रभम् ।। ३६ ।।
चिच्छेद समरे द्रौणिर्दर्शयन् पाणिलाघवम् ।
शिखण्डिनं च विव्याध शरैर्बहुभिरायसैः ।। ३७ ।।

राजन्! तत्पश्चात् पंखयुक्त तीखे बाणोंद्वारा शिखण्डीको भी बहुत घायल कर दिया। अश्वत्थामाद्वारा सायकोंकी मारसे खण्डित किये हुए उस खड्गको शिखण्डीने घुमाकर तुरंत ही उसके ऊपर चला दिया। वह खड्ग प्रज्वलित सर्प-सा प्रकाशित हो उठा। अपने ऊपर आते हुए प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी उस खड्गको अश्वत्थामाने युद्धमें अपना हस्त-लाघव दिखाते हुए सहसा काट डाला। तत्पश्चात् बहुत-से लोहमय बाणोंद्वारा उसने शिखण्डीको भी घायल कर दिया ।। ३५—३७ ।।

शिखण्डी तु भृशं राजंस्ताड्यमानः शितैः शरैः ।
आरुरोह रथं तूर्णं माधवस्य महात्मनः ।। ३८ ।।

राजन्! अश्वत्थामाके तीखे बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर शिखण्डी तुरंत ही महामना सात्यकिके रथपर चढ़ गया ।। ३८ ।।

सात्यकिश्चापि संक्रुद्धो राक्षसं क्रूरमाहवे ।

अलम्बुषं शरैस्तीक्ष्णैर्विव्याध बलिनां वरः ।। ३९ ।।

इधर बलवानोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने भी अत्यन्त कुपित होकर अपने तीखे बाणोंद्वारा संग्रामभूमिमें क्रूर राक्षस अलम्बुषको बींध डाला ।। ३९ ।।

राक्षसेन्द्रस्ततस्तस्य धनुश्चिच्छेद भारत ।

अर्धचन्द्रेण समरे तं च विव्याध सायकैः ।। ४० ।।

भारत! तब राक्षसराज अलम्बुषने रणक्षेत्रमें अर्धचन्द्राकार बाणके द्वारा सात्यकिके धनुषको काट दिया और अनेक सायकोंका प्रहार करके उन्हें भी घायल कर दिया ।। ४० ।।

मायां च राक्षसीं कृत्वा शरवर्षैरवाकिरत् ।

तत्राद्भुतमपश्याम शैनेयस्य पराक्रमम् ।। ४१ ।।

तत्पश्चात् उसने राक्षसी माया फैलाकर उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ की। उस समय हमने सात्यकिका अद्भुत पराक्रम देखा ।। ४१ ।।

असम्भ्रमस्तु समरे वध्यमानः शितैः शरैः ।

ऐन्द्रमस्त्रं च वार्ष्णेयो योजयामास भारत ।। ४२ ।।

विजयाद् यदनुप्राप्तं माधवेन यशस्विना ।

भारत! वे समरभूमिमें तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी घबराये नहीं। उन यशस्वी यदुकुलरत्न सात्यकिने अर्जुनसे जिसकी शिक्षा प्राप्त की थी, उस ऐन्द्रास्त्रका प्रयोग किया ।। ४२½ ।।

तदस्त्रं भस्मसात् कृत्वा मायां तां राक्षसीं तदा ।। ४३ ।।

अलम्बुषं शरैरन्यैरभ्याकिरत सर्वतः ।

पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ।। ४४ ।।

उस समय उस दिव्यास्त्रने उस राक्षसी मायाको तत्काल भस्म करके अलम्बुषके ऊपर सब ओरसे दूसरे-दूसरे बाणोंकी उसी प्रकार वर्षा आरम्भ की, जैसे वर्षा-ऋतुमें मेघ पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराता है ।। ४३-४४ ।।

तत् तथा पीडितं तेन माधवेन यशस्विना ।

प्रदुद्राव भयाद् रक्षस्त्यक्त्वा सात्यकिमाहवे ।। ४५ ।।

परमयशस्वी मधुवंशी सात्यकिके द्वारा इस प्रकार पीड़ित होनेपर वह राक्षस भयसे युद्धस्थलमें उन्हें छोड़कर भाग गया ।। ४५ ।।

तमजेयं राक्षसेन्द्रं संख्ये मघवता अपि ।

शैनेयः प्राणदज्जित्वा योधानां तव पश्यताम् ।। ४६ ।।

जिसे इन्द्र भी युद्धमें हरा नहीं सकते थे, उसी राक्षसराज अलम्बुषको आपके योद्धाओंके देखते-देखते परास्त करके सात्यकि सिंहनाद करने लगे ।। ४६ ।।

न्यहनत् तावकांश्चापि सात्यकिः सत्यविक्रमः ।

निशितैर्बहुभिर्बाणैस्तेऽद्रवन्त भयार्दिताः ।। ४७ ।।

तत्पश्चात् सत्यपराक्रमी सात्यकिने अपने बहुसंख्यक तीखे बाणोंद्वारा आपके अन्य योद्धाओंको भी मारना आरम्भ किया। उस समय उनके भयसे पीड़ित हो वे सब योद्धा भागने लगे ।। ४७ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु द्रुपदस्यात्मजो बली ।
धृष्टद्युम्नो महाराज पुत्रं तव जनेश्वरम् ।। ४८ ।।
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ।

महाराज! इसी समय द्रुपदके बलवान् पुत्र धृष्टद्युम्नने आपके पुत्र राजा दुर्योधनको रणक्षेत्रमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे आच्छादित कर दिया ।। ४८½ ।।

स च्छाद्यमानो विशिखैर्धृष्टद्युम्नेन भारत ।। ४९ ।।
विव्यथे न च राजेन्द्र तव पुत्रो जनेश्वर ।
धृष्टद्युम्नं च समरे तूर्णं विव्याध पत्रिभिः ।। ५० ।।
षष्ट्या च त्रिंशता चैव तदद्भुतमिवाभवत् ।

भरतनन्दन! राजेन्द्र! जनेश्वर! धृष्टद्युम्नके बाणोंसे आच्छादित होनेपर भी आपके पुत्र दुर्योधनके मनमें व्यथा नहीं हुई। उसने युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नको तुरंत ही नब्बे बाणोंसे घायल कर दिया। वह एक अद्भुत-सी बात थी ।। ४९-५०½ ।।

तस्य सेनापतिः क्रुद्धो धनुश्चिच्छेद मारिष ।। ५१ ।।
हयांश्च चतुरः शीघ्रं निजघान महाबलः ।
शरैश्चैनं सुनिशितैः क्षिप्रं विव्याध सप्तभिः ।। ५२ ।।

आर्य! तब महाबली पाण्डवसेनापतिने भी कुपित होकर दुर्योधनके धनुषको काट दिया और शीघ्रतापूर्वक उसके चारों घोड़ोंको भी मार डाला। तत्पश्चात् अत्यन्त तीखे सात बाणोंद्वारा तुरंत ही दुर्योधनको घायल कर दिया ।।

स हताश्वान्महाबाहुरवप्लुत्य रथाद् बली ।
पदातिरसिमुद्यम्य प्राद्रवत् पार्षतं प्रति ।। ५३ ।।

घोड़े मारे जानेपर बलवान् महाबाहु दुर्योधन अपने रथसे कूद पड़ा और तलवार उठाकर धृष्टद्युम्नकी ओर पैदल ही दौड़ा ।। ५३ ।।

शकुनिस्तं समभ्येत्य राजगृद्धी महाबलः ।
राजानं सर्वलोकस्य रथमारोपयत् स्वकम् ।। ५४ ।।

उस समय महाबली शकुनिने, जो राजाको बहुत चाहता था, निकट आकर सम्पूर्ण जगत्के अधिपति दुर्योधनको अपने रथपर चढ़ा लिया ।। ५४ ।।

ततो नृपं पराजित्य पार्षतः परवीरहा ।
न्यहनत् तावकं सैन्यं वज्रपाणिरिवासुरान् ।। ५५ ।।

तब शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले धृष्टद्युम्नने राजा दुर्योधनको पराजित करके आपकी सेनाका उसी प्रकार विनाश आरम्भ किया, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंका विनाश करते

हैं ।। ५५ ।।

कृतवर्मा रणे भीमं शरैरार्च्छन्महारथः ।

प्रच्छादयामास च तं महामेघो रविं यथा ।। ५६ ।।

महारथी कृतवर्माने रणमें भीमसेनको अपने बाणोंसे बहुत पीड़ित किया और महामेघ जैसे सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार उसने भीमसेनको आच्छादित कर दिया ।। ५६ ।।

ततः प्रहस्य समरे भीमसेनः परंतपः ।

प्रेषयामास संक्रुद्धः सायकान् कृतवर्मणे ।। ५७ ।।

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमसेनने युद्धमें हँसकर अत्यन्त क्रोधपूर्वक कृतवर्मापर अनेकों सायकों-का प्रहार किया ।। ५७ ।।

तैरर्द्यमानोऽतिरथः सात्वतः सत्यकोविदः ।

नाकम्पत महाराज भीमं चार्च्छच्छितैः शरैः ।। ५८ ।।

महाराज! उन सायकोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेपर भी अतिरथी एवं सत्यकोविद सात्वतवंशी कृतवर्मा विचलित नहीं हुआ। उसने भीमसेनको पुनः तीखे बाणोंसे पीड़ित किया ।। ५८ ।।

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा भीमसेनो महारथः ।

सारथिं पातयामास सध्वजं सुपरिष्कृतम् ।। ५९ ।।

फिर महारथी भीमसेनने उनके चारों घोड़ोंको मारकर ध्वजसहित सुसज्जित सारथिको भी काट गिराया ।।

शरैर्बहुविधैश्चैनमाचिनोत् परवीरहा ।

शकलीकृतसर्वाङ्गो हताश्वः प्रत्यदृश्यत ।। ६० ।।

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले भीमसेनने अनेक प्रकारके बाणोंसे कृतवर्माके सारे शरीरको क्षत-विक्षत कर दिया। उसके घोड़े मारे जा चुके थे। उस समय भीमसेनके बाणोंसे उसका सारा शरीर छिन्न-भिन्न-सा दिखायी देता था ।। ६० ।।

हताश्वश्च ततस्तूर्णं वृषकस्य रथं ययौ ।

श्यालस्य ते महाराज तव पुत्रस्य पश्यतः ।। ६१ ।।

महाराज! तब घोड़ोंके मारे जानेपर कृतवर्मा आपके पुत्रके देखते-देखते तुरंत ही आपके साले वृषकके रथपर सवार हो गया ।। ६१ ।।

भीमसेनोऽपि संक्रुद्धस्तव सैन्यमुपाद्रवत् ।

निजघान च संक्रुद्धो दण्डपाणिरिवान्तकः ।। ६२ ।।

इधर भीमसेन भी अत्यन्त कुपित होकर आपकी सेनापर टूट पड़े और दण्डपाणि यमराजकी भाँति उसका संहार करने लगे ।। ६२ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वैरथे द्वयशीतितमोऽध्यायः ।। ८२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वैरथयुद्धविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८२ ।।

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

इरावान्‌के द्वारा विन्द और अनुविन्दकी पराजय, भगदत्तसे घटोत्कचका हारना तथा मद्रराजपर नकुल और सहदेवकी विजय

धृतराष्ट्र उवाच

बहूनि हि विचित्राणि द्वैरथानि स्म संजय ।
पाण्डूनां मामकैः सार्धमश्रौषं तव जल्पतः ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! मैंने तुम्हारे मुखसे अबतक पाण्डवोंके मेरे पुत्रोंके साथ जो बहुत-से विचित्र द्वैरथ युद्ध हुए हैं, उनका वर्णन सुना ।। १ ।।

न चैव मापकं किंचिद्‌धृष्टं शंससि संजय ।
नित्यं पाण्डुसुतान् हृष्टानभग्नान् सम्प्रशंससि ।। २ ।।

परंतु सूत! तुमने अभीतक मेरे पक्षमें घटित हुई कोई हर्षकी बात नहीं कही है; उलटे पाण्डवोंको प्रतिदिन हर्षसे पूर्ण और अभग्न (अपराजित) बताते हो ।। २ ।।

जीयमानान् विमनसो मामकान् विगतौजसः ।
वदसे संयुगे सूत दिष्टमेतन्न संशयः ।। ३ ।।

मेरे पुत्रोंको तेज और बलसे हीन, खिन्नचित्त और युद्धमें पराजित बताते हो। संजय! यह सब प्रारब्धका ही खेल है, इसमें संशय नहीं है ।। ३ ।।

संजय उवाच

यथाशक्ति यथोत्साहं युद्धे चेष्टन्ति तावकाः ।
दर्शयानाः परं शक्त्या पौरुषं पुरुषर्षभ ।। ४ ।।

संजय बोले—पुरुषश्रेष्ठ! आपके पुत्र भी पूरी शक्तिसे पुरुषार्थ दिखाते हुए अपने बल और उत्साहके अनुसार युद्धमें सफलता प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं ।। ४ ।।

गङ्गायाः सुरनद्या वै स्वादु भूत्वा यथोदकम् ।
महोदधेर्गुणाभ्यासाल्लवणत्वं निगच्छति ।। ५ ।।
तथा तत् पौरुषं राजंस्तावकानां परंतप ।
प्राप्य पाण्डुसुतान् वीरान् व्यर्थं भवति संयुगे ।। ६ ।।

परंतप! नरेश! जैसे देवनदी गंगाजीका जल स्वादिष्ट होकर भी महासागरके संयोगसे उसीके गुणका सम्मिश्रण हो जानेके कारण खारा हो जाता है, उसी प्रकार आपके पुत्रोंका पुरुषार्थ युद्धमें वीर पाण्डवोंतक पहुँचकर व्यर्थ हो जाता है ।। ५-६ ।।

घटमानान् यथाशक्ति कुर्वाणान् कर्म दुष्करम् ।

न दोषेण कुरुश्रेष्ठ कौरवान् गन्तुमर्हसि ।। ७ ।।

कुरुश्रेष्ठ! कौरव यथाशक्ति प्रयत्न करते और दुष्कर कर्म कर दिखाते हैं। अतः उनके ऊपर आपको दोषारोपण नहीं करना चाहिये ।। ७ ।।

तवापराधात् सुमहान् सपुत्रस्य विशाम्पते ।
पृथिव्याः प्रक्षयो घोरो यमराष्ट्रविवर्धनः ।। ८ ।।

प्रजानाथ! पुत्रसहित आपके अपराधसे ही यह भूमण्डलका घोर एवं महान् संहार हो रहा है, जो यमलोककी वृद्धि करनेवाला है ।। ८ ।।

आत्मदोषात् समुत्पन्नं शोचितुं नार्हसे नृप ।
न हि रक्षन्ति राजानः सर्वथात्रापि जीवितम् ।। ९ ।।

नरेश्वर! अपने ही अपराधसे जो संकट प्राप्त हुआ है, उसके लिये आपको शोक नहीं करना चाहिये। (आपके अपराधके कारण) राजालोग भी इस भूतलमें सर्वथा अपने जीवनकी रक्षा नहीं कर पाते हैं ।। ९ ।।

युद्धे सुकृतिनां लोकानिच्छन्तो वसुधाधिपाः ।
चमूं विगाह्य युध्यन्ते नित्यं स्वर्गपरायणाः ।। १० ।।

वसुधाके नरेश युद्धमें पुण्यात्माओंके लोकोंकी इच्छा करते हुए शत्रुकी सेनामें घुसकर युद्ध करते हैं और सदा स्वर्गको ही परम लक्ष्य मानते हैं ।। १० ।।

पूर्वाह्णे तु महाराज प्रावर्तत जनक्षयः ।
तं त्वमेकमना भूत्वा शृणु देवासुरोपमम् ।। ११ ।।

महाराज! उस दिन पूर्वाह्णकालमें बड़ा भारी जनसंहार हुआ था। आप एकचित्त होकर देवासुर-संग्रामके समान उस भयंकर युद्धका वृत्तान्त सुनिये ।। ११ ।।

आवन्त्यौ तु महेष्वासौ महासेनौ महाबलौ ।
इरावन्तमभिप्रेक्ष्य समेयातां रणोत्कटौ ।। १२ ।।

अवन्तीके महाबली महाधनुर्धर और विशाल सेनासे युक्त राजकुमार विन्द और अनुविन्द, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं, अर्जुनपुत्र इरावान्‌को सामने देखकर उसीसे भिड़ गये ।। १२ ।।

तेषां प्रववृते युद्धं सुमहल्लोमहर्षणम् ।
इरावांस्तु सुसंक्रुद्धो भ्रातरौ देवरूपिणौ ।। १३ ।।
विव्याध निशितैस्तूर्णं शरैः संनतपर्वभिः ।
तावेनं प्रत्यविध्येतां समरे चित्रयोधिनौ ।। १४ ।।

उन तीनों वीरोंका युद्ध अत्यन्त रोमांचकारी हुआ। इरावान्‌ने कुपित होकर देवताओंके समान रूपवान् दोनों भाई विन्द और अनुविन्दको झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणोंसे तुरंत घायल कर दिया। वे भी समरांगणमें विचित्र युद्ध करनेवाले थे। अतः उन्होंने भी इरावान्‌को बींध डाला ।। १३-१४ ।।

युध्यतां हि तथा राजन् विशेषो न व्यदृश्यत ।
यततां शत्रुनाशाय कृतप्रतिकृतैषिणाम् ।। १५ ।।

नरेश्वर! दोनों ही पक्षवाले अपने शत्रुका नाश करनेके लिये प्रयत्नशील थे। दोनों ही एक-दूसरेके अस्त्रोंका निवारण करनेकी इच्छा रखते थे। अतः युद्ध करते समय उनमें कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ।। १५ ।।

इरावांस्तु ततो राजन्ननुविन्दस्य सायकैः ।
चतुर्भिश्चतुरो वाहाननयद् यमसादनम् ।। १६ ।।

राजन्! उस समय इरावान्ने अपने चार बाणोंद्वारा अनुविन्दके चारों घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया ।। १६ ।।

भल्लाभ्यां च सुतीक्ष्णाभ्यां धनुः केतुं च मारिष ।
चिच्छेद समरे राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ।। १७ ।।

आर्य! राजन्! तदनन्तर दो तीखे भल्लोंद्वारा उन्होंने युद्धस्थलमें उसके धनुष और ध्वज काट डाले। वह अद्भुत-सी बात हुई ।। १७ ।।

त्यक्त्वानुविन्दोऽथ रथं विन्दस्य रथमास्थितः ।
धनुर्गृहीत्वा परमं भारसाधनमुत्तमम् ।। १८ ।।

तत्पश्चात् अनुविन्द अपना रथ त्यागकर विन्दके रथपर जा बैठा और भार वहन करनेमें समर्थ दूसरा परम उत्तम धनुष लेकर युद्धके लिये डट गया ।। १८ ।।

तावेकस्थौ रणे वीरावावन्त्यौ रथिनां वरौ ।
शरान् मुमुचतुस्तूर्णमिरावति महात्मनि ।। १९ ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ वे दोनों आवन्त्य वीर रणभूमिमें एक ही रथपर बैठकर बड़ी शीघ्रताके साथ महामना इरावान्पर बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। १९ ।।

ताभ्यां मुक्ता महावेगाः शराः काञ्चनभूषणाः ।
दिवाकरपथं प्राप्य च्छादयामासुरम्बरम् ।। २० ।।

उन दोनोंके छोड़े हुए महान् वेगशाली सुवर्णभूषित बाणोंने सूर्यके पथपर पहुँचकर आकाशको आच्छादित कर दिया ।। २० ।।

इरावांस्तु रणे क्रुद्धो भ्रातरौ तौ महारथौ ।
ववर्ष शरवर्षेण सारथिं चाप्यपातयत् ।। २१ ।।

तब इरावान्ने भी रणक्षेत्रमें क्रुद्ध होकर उन दोनों महारथी बन्धुओंपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी और उनके सारथिको मार गिराया ।। २१ ।।

तस्मिंस्तु पतिते भूमौ गतसत्त्वे तु सारथौ ।
रथः प्रदुद्राव दिशः समुद्भ्रान्तहयस्ततः ।। २२ ।।

सारथिके प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर जानेके पश्चात् उस रथके घोड़े घबराकर भागने लगे और इस प्रकार वह रथ सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ने लगा ।। २२ ।।

तौ स जित्वा महाराज नागराजसुतासुतः ।
पौरुषं ख्यापयंस्तूर्णं व्यधमत् तव वाहिनीम् ।। २३ ।।

महाराज! इरावान् नागराजकन्या उलूपीका पुत्र था। उसने विन्द और अनुविन्दको जीतकर अपने पुरुषार्थका परिचय देते हुए तुरंत ही आपकी सेनाका संहार आरम्भ कर दिया ।। २३ ।।

सा वध्यमाना समरे धार्तराष्ट्री महाचमूः ।
वेगान् बहुविधांश्चक्रे विषं पीत्वेव मानवः ।। २४ ।।

युद्धक्षेत्रमें इरावान्से पीड़ित होकर आपकी विशाल सेना विषपान किये हुए मनुष्यकी भाँति नाना प्रकारसे उद्वेग प्रकट करने लगी ।। २४ ।।

हैडिम्बो राक्षसेन्द्रस्तु भगदत्तं समाद्रवत् ।
रथेनादित्यवर्णेन सध्वजेन महाबलः ।। २५ ।।

दूसरी ओर राक्षसराज महाबली घटोत्कचने सूर्यके समान तेजस्वी एवं ध्वजयुक्त रथके द्वारा भगदत्तपर आक्रमण किया ।। २५ ।।

ततः प्राग्ज्योतिषो राजा नागराजं समास्थितः ।
यथा वज्रधरः पूर्वं संग्रामे तारकामये ।। २६ ।।

जैसे पूर्वकालमें तारकामय-संग्रामके अवसरपर वज्रधारी इन्द्र ऐरावत नामक हाथीपर आरूढ़ होकर युद्धके लिये गये थे, उसी प्रकार इस महायुद्धमें प्राग्ज्योतिषपुरके स्वामी राजा भगदत्त एक गजराजपर चढ़कर आये थे ।। २६ ।।

तत्र देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च समागताः ।
विशेषं न स्म विविदुर्हैडिम्बभगदत्तयोः ।। २७ ।।

वहाँ युद्ध देखनेके लिये आये हुए देवताओं, गन्धर्वों तथा ऋषियोंकी भी समझमें यह नहीं आया कि घटोत्कच और भगदत्तमें पराक्रमकी दृष्टिसे क्या अन्तर है ।। २७ ।।

यथा सुरपतिः शक्रस्त्रासयामास दानवान् ।
तथैव समरे राजा द्रावयामास पाण्डवान् ।। २८ ।।

जैसे देवराज इन्द्रने दानवोंको भयभीत किया था, उसी प्रकार भगदत्तने पाण्डवसैनिकोंको भयभीत करके भगाना आरम्भ किया ।। २८ ।।

तेन विद्राव्यमाणास्ते पाण्डवाः सर्वतो दिशम् ।
त्रातारं नाभ्यगच्छन्तः स्वेष्वनीकेषु भारत ।। २९ ।।

भारत! भगदत्तके द्वारा खदेड़े हुए पाण्डवसैनिक सम्पूर्ण दिशाओंमें भागते हुए अपनी सेनाओंमें भी कहीं कोई रक्षक नहीं पाते थे ।। २९ ।।

भैमसेनिं रथस्थं तु तत्रापश्याम भारत ।
शेषा विमनसो भूत्वा प्राद्रवन्त महारथाः ।। ३० ।।

भरतनन्दन! उस समय वहाँ हमलोगोंने केवल भीमपुत्र घटोत्कचको ही रथपर स्थिरभावसे बैठा देखा। शेष महारथी खिन्नचित्त होकर वहींसे भाग रहे थे ।। ३० ।।

निवृत्तेषु तु पाण्डूनां पुनः सैन्येषु भारत ।
आसीन्निष्ठानको घोरस्तव सैन्यस्य संयुगे ।। ३१ ।।

भारत! जब पाण्डवोंकी सेनाएँ पुनः युद्धभूमिमें लौट आयीं, तब उस युद्धक्षेत्रमें आपकी सेनाके भीतर घोर हाहाकार होने लगा ।। ३१ ।।

घटोत्कचस्ततो राजन् भगदत्तं महारणे ।
शरैः प्रच्छादयामास मेरुं गिरिमिवाम्बुदः ।। ३२ ।।

राजन्! उस समय उस महायुद्धमें घटोत्कचने अपने बाणोंद्वारा भगदत्तको उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे बादल मेरुपर्वतको ढक लेता है ।। ३२ ।।

निहत्य तान् शरान् राजा राक्षसस्य धनुश्च्युतान् ।
भैमसेनिं रणे तूर्णं सर्वमर्मस्वताडयत् ।। ३३ ।।

राक्षस घटोत्कचके धनुषसे छूटे हुए उन सभी बाणोंको नष्ट करके राजा भगदत्तने रणक्षेत्रमें तुरंत ही घटोत्कचके सभी मर्मस्थानोंपर प्रहार किया ।। ३३ ।।

स ताड्यमानो बहुभिः शरैः संनतपर्वभिः ।
न विव्यथे राक्षसेन्द्रो भिद्यमान इवाचलः ।। ३४ ।।

झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाणोंद्वारा आहत होकर भी विदीर्ण किये जानेवाले पर्वतकी भाँति राक्षसराज घटोत्कच व्यथित एवं विचलित नहीं हुआ ।। ३४ ।।

तस्य प्राग्ज्योतिषः क्रुद्धस्तोमरांश्च चतुर्दश ।
प्रेषयामास समरे तांश्चिच्छेद स राक्षसः ।। ३५ ।।

प्राग्ज्योतिषपुरके नरेशने कुपित हो उस राक्षसपर चौदह तोमर चलाये, परंतु उसने समरभूमिमें उन सबको काट दिया ।।

स तांश्छित्त्वा महाबाहुस्तोमरान् निशितैः शरैः ।
भगदत्तं च विव्याध सप्तत्या कङ्कपत्रिभिः ।। ३६ ।।

उन तोमरोंको तीखे बाणोंसे काटकर महाबाहु घटोत्कचने कंकपत्रयुक्त सत्तर बाणोंद्वारा भगदत्तको भी घायल कर दिया ।। ३६ ।।

ततः प्राग्ज्योतिषो राजा प्रहसन्निव भारत ।
तस्याश्वांश्चतुरः संख्ये पातयामास सायकैः ।। ३७ ।।

भारत! तब राजा प्राग्ज्योतिष (भगदत्त)-ने हँसते हुए-से उस युद्धमें अपने सायकोंद्वारा घटोत्कचके चारों घोड़ोंको मार गिराया ।। ३७ ।।

स हताश्वे रथे तिष्ठन् राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ।
शक्तिं चिक्षेप वेगेन प्राग्ज्योतिषगजं प्रति ।। ३८ ।।

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथपर खड़े हुए प्रतापी राक्षसराज घटोत्कचने भगदत्तके हाथीपर बड़े वेगसे शक्तिका प्रहार किया ।। ३८ ।।

तामापतन्तीं सहसा हेमदण्डां सुवेगिनीम् ।
त्रिधा चिच्छेद नृपतिः सा व्यकीर्यत मेदिनीम् ।। ३९ ।।

उस शक्तिमें सोनेका डंडा लगा हुआ था। वह अत्यन्त वेगशालिनी थी। उसे सहसा आती देख राजा भगदत्तने उसके तीन टुकड़े कर डाले। फिर वह पृथ्वीपर बिखर गयी ।।

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा हैडिम्बः प्राद्रवद् भयात् ।
यथेन्द्रस्य रणात् पूर्वं नमुचिर्दैत्यसत्तमः ।। ४० ।।

अपनी शक्तिको कटी हुई देखकर हिडिम्बाकुमार घटोत्कच भगदत्तके भयसे उसी प्रकार भाग गया, जैसे पूर्वकालमें देवराज इन्द्रके साथ युद्ध करते समय दैत्यराज नमुचि रणभूमिसे भागा था ।। ४० ।।

तं विजित्य रणे शूरं विक्रान्तं ख्यातपौरुषम् ।
अजेयं समरे वीरं यमेन वरुणेन च ।। ४१ ।।
पाण्डवीं समरे सेनां सम्ममर्द स कुञ्जरः ।
यथा वनगजो राजन् मृद्नंश्चरति पद्मिनीम् ।। ४२ ।।

राजन्! घटोत्कच अपने पौरुषके लिये विख्यात, पराक्रमी, शूरवीर था। वरुण और यमराज भी उस वीरको समरभूमिमें परास्त नहीं कर सकते थे। उसीको वहाँ रणक्षेत्रमें जीतकर भगदत्तका वह हाथी समरांगणमें पाण्डवसेनाका उसी प्रकार मर्दन करने लगा, जैसे वनैला हाथी सरोवरमें कमलिनीको रौंदता हुआ विचरता है ।। ४१-४२ ।।

मद्रेश्वरस्तु समरे यमाभ्यां समसज्जत ।
स्वस्रीयौ छादयांचक्रे शरौघैः पाण्डुनन्दनौ ।। ४३ ।।

दूसरी ओर मद्रराज शल्य युद्धमें अपने भानजे नकुल और सहदेवसे उलझे हुए थे। उन्होंने पाण्डुकुलको आनन्दित करनेवाले भानजोंको अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित कर दिया ।। ४३ ।।

सहदेवस्तु समरे मातुलं दृश्य संगतम् ।
अवारयच्छरौघेण मेघो यद्वद् दिवाकरम् ।। ४४ ।।

सहदेवने समरभूमिमें अपने मामाको युद्धमें आसक्त देखकर जैसे बादल सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार उन्हें अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित करके आगे बढ़नेसे रोक दिया ।। ४४ ।।

छाद्यमानः शरौघेण हृष्टरूपतरोऽभवत् ।
तयोश्चाप्यभवत् प्रीतिरतुला मातृकारणात् ।। ४५ ।।

उनके बाणसमूहोंसे आच्छादित होकर भी शल्य अत्यन्त प्रसन्न ही हुए। माताके नाते नकुल और सहदेवके मनमें भी उनके प्रति अनुपम प्रेमका भाव था ।। ४५ ।।

ततः प्रहस्य समरे नकुलस्य महारथः ।
(ध्वजं चिच्छेद बाणेन धनुश्चैकेन मारिष ।
अथैनं छिन्नधन्वानं छादयन्निव भारत ।।
निजघान रणे तं तु सूतं चास्य न्यपातयत् ।।)
अश्वांश्च चतुरो राजंश्चतुर्भिः सायकोत्तमैः ।। ४६ ।।
प्रेषयामास समरे यमस्य सदनं प्रति ।
हताश्वात् तु रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः ।। ४७ ।।
आरुरोह ततो यानं भ्रातुरेव यशस्विनः ।

आर्य! तब महारथी शल्यने समरभूमिमें हँसकर एक बाणसे नकुलके ध्वजको और दूसरेसे उनके धनुषको भी काट दिया। भारत! धनुष कट जानेपर उन्हें बाणोंसे आच्छादित-से करते हुए युद्धस्थलमें उनके सारथिको भी मार गिराया। राजन्! फिर उन्होंने उस युद्धमें चार उत्तम सायकोंद्वारा नकुलके चारों घोड़ोंको यमराजके घर भेज दिया। घोड़ोंके मारे जानेपर महारथी नकुल उस रथसे तुरंत ही कूदकर अपने यशस्वी भाई सहदेवके ही रथपर जा बैठे ।।

एकस्थौ तु रणे शूरौ दृढे विक्षिप्य कार्मुकौ ।। ४८ ।।
मद्रराजरथं तूर्णं छादयामासतुः क्षणात् ।

तदनन्तर एक ही रथपर बैठे हुए उन दोनों शूरवीरोंने क्षणभरमें अपने सुदृढ़ धनुषको खींचकर रणभूमिमें मद्रराजके रथको तुरंत ही आच्छादित कर दिया ।। ४८ १/२ ।।

स छाद्यमानो बहुभिः शरैः संनतपर्वभिः ।। ४९ ।।
स्वस्रीयाभ्यां नरव्याघ्रो नाकम्पत यथाचलः ।
प्रहसन्निव तां चापि शस्त्रवृष्टिं जघान ह ।। ५० ।।

अपने भानजोंके चलाये हुए झुकी हुई गाँठवाले बहुसंख्यक बाणोंसे आच्छादित होनेपर भी नरश्रेष्ठ शल्य पर्वतकी भाँति अडिगभावसे खड़े रहे; कम्पित या विचलित नहीं हुए। उन्होंने हँसते हुए-से उस शस्त्र-वर्षाको भी नष्ट कर दिया ।। ४९-५० ।।

सहदेवस्ततः क्रुद्धः शरमुद्गृह्य वीर्यवान् ।
मद्रराजमभिप्रेक्ष्य प्रेषयामास भारत ।। ५१ ।।

भारत! तब पराक्रमी सहदेवने कुपित होकर एक बाण हाथमें लिया और उसे मद्रराजको लक्ष्य करके चला दिया ।। ५१ ।।

स शरः प्रेषितस्तेन गरुडानिलवेगवान् ।
मद्रराजं विनिर्भिद्य निपपात महीतले ।। ५२ ।।

उनके द्वारा चलाया हुआ वह बाण गरुड और वायुके समान वेगशाली था। वह मद्रराजको विदीर्ण करके पृथ्वीपर जा गिरा ।। ५२ ।।

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थे महारथः ।

निषसाद महाराज कश्मलं च जगाम ह ।। ५३ ।।

महाराज! उसके गहरे आघातसे पीड़ित एवं व्यथित होकर महारथी शल्य रथके पिछले भागमें जा बैठे और मूर्च्छित हो गये ।। ५३ ।।

तं विसंज्ञं निपतितं सूतः सम्प्रेक्ष्य संयुगे ।
अपोवाह रथेनाजौ यमाभ्यामभिपीडितम् ।। ५४ ।।

युद्धस्थलमें नकुल और सहदेवद्वारा पीड़ित होकर उन्हें अचेत हो रथपर गिरा हुआ देख सारथि रथद्वारा रणभूमिसे बाहर हटा ले गया ।। ५४ ।।

दृष्ट्वा मद्रेश्वररथं धार्तराष्ट्राः पराङ्मुखम् ।
सर्वे विमनसो भूत्वा नेदमस्तीत्यचिन्तयन् ।। ५५ ।।

मद्रराजके रथको युद्धसे विमुख हुआ देख आपके सभी पुत्र मन-ही-मन दुःखी हो सोचने लगे—शायद अब मद्रराजका जीवन शेष नहीं है ।। ५५ ।।

निर्जित्य मातुलं संख्ये माद्रीपुत्रौ महारथौ ।
दध्यतुर्मुदितौ शङ्खौ सिंहनादं च नेदतुः ।। ५६ ।।

महारथी माद्रीपुत्र युद्धमें अपने मामाको परास्त करके प्रसन्नतापूर्वक शंख बजाने और सिंहनाद करने लगे ।। ५६ ।।

अभिदुद्रुवतुर्हृष्टौ तव सैन्यं विशाम्पते ।
यथा दैत्यचमूं राजन्निन्द्रोपेन्द्राविवामरौ ।। ५७ ।।

प्रजानाथ! जैसे इन्द्रदेव और उपेन्द्रदेव दैत्योंकी सेनाको मार भगाते हैं, उसी प्रकार नकुल-सहदेव हर्षमें भरकर आपकी सेनाको खदेड़ने लगे ।। ५७ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे त्र्यशीतितमोऽध्यायः ।। ८३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८३ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ १/२ श्लोक मिलाकर कुल ५८ १/२ श्लोक हैं।]

चतुरशीतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरसे राजा श्रुतायुका पराजित होना, युद्धमें चेकितान और कृपाचार्यका मूर्च्छित होना, भूरिश्रवासे धृष्टकेतुका और अभिमन्युसे चित्रसेन आदिका पराजित होना एवं सुशर्मा आदिसे अर्जुनका युद्धारम्भ

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ।
श्रुतायुषमभिप्रेक्ष्य प्रेषयामास वाजिनः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! जब सूर्यदेव दिनके मध्यभागमें आ गये, तब राजा युधिष्ठिरने श्रुतायुको देखकर उसकी ओर अपने घोड़ोंको बढ़ाया ।। १ ।।

अभ्यधावत् ततो राजा श्रुतायुषमरिंदमम् ।
विनिघ्नन् सायकैस्तीक्ष्णैर्नवभिर्नतपर्वभिः ।। २ ।।

उस समय झुकी हुई गाँठवाले नौ तीखे सायकोंद्वारा शत्रुदमन श्रुतायुको घायल करते हुए राजा युधिष्ठिरने उसपर धावा किया ।। २ ।।

स संवार्य रणे राजा प्रेषितान् धर्मसूनुना ।
शरान् सप्त महेष्वासः कौन्तेयाय समार्पयत् ।। ३ ।।

तब महाधनुर्धर राजा श्रुतायुने युद्धमें धर्मपुत्र युधिष्ठिरके चलाये हुए बाणोंका निवारण करके उन कुन्तीकुमारको सात बाण मारे ।। ३ ।।

ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ।
असूनिव विचिन्वन्तो देहे तस्य महात्मनः ।। ४ ।।

संग्राममें वे बाण महात्मा युधिष्ठिरके शरीरमें उनके प्राणोंको ढूँढ़ते हुए-से कवच छेदकर घुस गये और उनका रक्त पीने लगे ।। ४ ।।

पाण्डवस्तु भृशं क्रुद्धो विद्धस्तेन महात्मना ।
रणे वराहकर्णेन राजानं हृद्यविध्यत ।। ५ ।।

महामना श्रुतायुके बाणोंसे घायल होनेपर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने रणक्षेत्रमें वराहकर्ण नामक एक बाण चलाकर राजा श्रुतायुकी छातीमें चोट पहुँचायी ।। ५ ।।

अथापरेण भल्लेन केतुं तस्य महात्मनः ।
रथश्रेष्ठो रथात् तूर्णं भूमौ पार्थो न्यपातयत् ।। ६ ।।

तत्पश्चात् रथियोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने भल्ल नामक दूसरे बाणसे महामना श्रुतायुके ध्वजको काटकर तुरंत ही रथसे पृथ्वीपर गिरा दिया ।। ६ ।।

केतुं विपतितं दृष्ट्वा श्रुतायुः स तु पार्थिवः ।
पाण्डवं विशिखैस्तीक्ष्णै राजन् विव्याध सप्तभिः ।। ७ ।।

राजन्! ध्वजको गिरा हुआ देख राजा श्रुतायुने अपने सात तीखे बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको घायल कर दिया ।। ७ ।।

ततः क्रोधात् प्रजज्वाल धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यथा युगान्ते भूतानि दिधक्षुरिव पावकः ।। ८ ।।

यह देख धर्मपुत्र युधिष्ठिर प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूतोंको जला डालनेकी इच्छावाले अग्निदेवके समान क्रोधसे प्रज्वलित हो उठे ।। ८ ।।

क्रुद्धं तु पाण्डवं दृष्ट्वा देवगन्धर्वराक्षसाः ।
प्रविव्यथुर्महाराज व्याकुलं चाप्यभूज्जगत् ।। ९ ।।

महाराज! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको कुपित देख देवता, गन्धर्व और राक्षस व्यथित हो उठे तथा सारा जगत् भी भयसे व्याकुल हो गया ।। ९ ।।

सर्वेषां चैव भूतानामिदमासीन्मनोगतम् ।
त्रीँल्लोकानद्य संक्रुद्धो नृपोऽयं धक्ष्यतीति वै ।। १० ।।

उस समय समस्त प्राणियोंके मनमें यह विचार उठा कि आज निश्चय ही ये राजा युधिष्ठिर कुपित होकर तीनों लोकोंको भस्म कर डालेंगे ।। १० ।।

ऋषयश्चैव देवाश्च चक्रुः स्वस्त्ययनं महत् ।
लोकानां नृप शान्त्यर्थं क्रोधिते पाण्डवे तदा ।। ११ ।।

नरेश्वर! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके कुपित होनेपर उस समय सम्पूर्ण लोकोंकी शान्तिके लिये देवता तथा ऋषिलोग श्रेष्ठ स्वस्तिवाचन करने लगे ।। ११ ।।

स च क्रोधसमाविष्टः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
दधारात्मवपुर्घोरं युगान्तादित्यसंनिभम् ।। १२ ।।

उन्होंने क्रोधसे व्याप्त हो मुखके दोनों कोनोंको चाटते हुए अपने शरीरको प्रलयकालके सूर्यके समान अत्यन्त भयंकर बना लिया ।। १२ ।।

ततः सैन्यानि सर्वाणि तावकानि विशाम्पते ।
निराशान्यभवंस्तत्र जीवितं प्रति भारत ।। १३ ।।

प्रजानाथ! भरतनन्दन! उस समय आपकी सारी सेनाएँ वहाँ अपने जीवनसे निराश हो गयीं ।। १३ ।।

स तु धैर्येण तं कोपं संनिवार्य महायशाः ।
श्रुतायुषः प्रचिच्छेद मुष्टिदेशे महाधनुः ।। १४ ।।

परंतु महायशस्वी युधिष्ठिरने धैर्यपूर्वक अपने क्रोधको दबा दिया और श्रुतायुके विशाल धनुषको, जहाँ उसे मुट्ठीसे पकड़ा जाता है, उसी जगहसे काट दिया ।। १४ ।।

अथैनं छिन्नधन्वानं नाराचेन स्तनान्तरे ।
निर्बिभेद रणे राजा सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।। १५ ।।
सत्वरं च रणे राजंस्तस्य वाहान् महात्मनः ।
निजघान शरैः क्षिप्रं सूतं च सुमहाबलः ।। १६ ।।

राजन्! धनुष कट जानेपर महाबली राजा युधिष्ठिरने श्रुतायुकी छातीमें नाराचसे प्रहार किया। फिर उन्होंने समस्त सेनाओंके देखते-देखते रणक्षेत्रमें महामना श्रुतायुके घोड़ोंको तुरंत मार डाला और उसके सारथिको भी शीघ्र ही मौतके मुखमें डाल दिया ।। १५-१६ ।।

हताश्वं तु रथं त्यक्त्वा दृष्ट्वा राज्ञोऽस्य पौरुषम् ।
विप्रदुद्राव वेगेन श्रुतायुः समरे तदा ।। १७ ।।

रथके घोड़े मारे गये, यह देखकर तथा युद्धमें राजा युधिष्ठिरके पुरुषार्थका भी अवलोकन करके श्रुतायु उस समय बड़े वेगसे रथ छोड़कर भाग गया ।। १७ ।।

तस्मिञ्जिते महेष्वासे धर्मपुत्रेण संयुगे ।
दुर्योधनबलं राजन् सर्वमासीत् पराङ्मुखम् ।। १८ ।।

राजन्! संग्राममें धर्मपुत्र युधिष्ठिरद्वारा महाधनुर्धर श्रुतायुके पराजित होनेपर दुर्योधनकी सारी सेना पीठ दिखाकर भागने लगी ।। १८ ।।

एतत् कृत्वा महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
व्यात्ताननो यथा कालस्तव सैन्यं जघान ह ।। १९ ।।

महाराज! ऐसा पराक्रम करके धर्मपुत्र युधिष्ठिर मुँह फैलाये कालके समान आपकी सेनाका संहार करने लगे ।। १९ ।।

चेकितानस्तु वार्ष्णेयो गौतमं रथिनां वरम् ।
प्रेक्षतां सर्वसैन्यानां छादयामास सायकैः ।। २० ।।

उधर वृष्णिवंशी चेकितानने रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यको सब सेनाओंके देखते-देखते अपने सायकोंसे आच्छादित कर दिया ।। २० ।।

संनिवार्य शरांस्तांस्तु कृपः शारद्वतो युधि ।
चेकितानं रणे यत्तं राजन् विव्याध पत्रिभिः ।। २१ ।।

राजन्! शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने युद्धमें उन सब बाणोंको काटकर सावधानीके साथ युद्ध करनेवाले चेकितानको पंखवाले बाणोंसे बींध डाला ।। २१ ।।

अथापरेण भल्लेन धनुश्चिच्छेद मारिष ।
सारथिं चास्य समरे क्षिप्रहस्तो न्यपातयत् ।। २२ ।।

आर्य! फिर दूसरे भल्लसे उसका धनुष काट दिया और अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए समरमें उसके सारथिको भी मार गिराया ।। २२ ।।

अश्वांश्चास्यावधीद् राजन्नुभौ तौ पार्ष्णिसारथी ।
सोऽवप्लुत्य रथात् तूर्णं गदां जग्राह सात्वतः ।। २३ ।।

राजन्! तदनन्तर चेकितानके चारों घोड़ों और दोनों पृष्ठरक्षकोंको भी कृपाचार्यने मार डाला। तब सात्वतवंशी चेकितानने रथसे कूदकर तुरंत ही गदा हाथमें ले ली ।। २३ ।।

स तया वीरघातिन्या गदया गदिनां वरः ।
गौतमस्य हयान् हत्वा सारथिं च न्यपातयत् ।। २४ ।।

गदाधारियोंमें श्रेष्ठ चेकितानने उस वीरघातिनी गदासे कृपाचार्यके घोड़ोंको मारकर उनके सारथिको भी धराशायी कर दिया ।। २४ ।।

भूमिष्ठो गौतमस्तस्य शरांश्चिक्षेप षोडश ।
शरास्ते सात्वतं भित्त्वा प्राविशन् धरणीतलम् ।। २५ ।।

तब कृपाचार्यने भूमिपर ही खड़े होकर चेकितानको सोलह बाण मारे। वे बाण चेकितानको छेदकर धरतीमें समा गये ।। २५ ।।

चेकितानस्ततः क्रुद्धः पुनश्चिक्षेप तां गदाम् ।
गौतमस्य वधाकाङ्क्षी वृत्रस्येव पुरंदरः ।। २६ ।।

तब क्रोधमें भरे हुए चेकितानने कृपाचार्यके वधकी इच्छासे उनपर पुनः वैसे ही गदाका प्रहार किया, जैसे इन्द्र वृत्रासुरपर प्रहार करते हैं ।। २६ ।।

तामापतन्तीं विमलामश्मगर्भां महागदाम् ।
शरैरनेकसाहस्रैर्वारयामास गौतमः ।। २७ ।।

उस निर्मल एवं लोहेकी बनी हुई विशाल गदाको अपने ऊपर आती देख कृपाचार्यने अनेक सहस्र बाणोंद्वारा दूर गिरा दिया ।। २७ ।।

चेकितानस्ततः खड्गं क्रोधादुद्धृत्य भारत ।
लाघवं परमास्थाय गौतमं समुपाद्रवत् ।। २८ ।।

भारत! तब चेकितानने क्रोधपूर्वक तलवार खींच ली और बड़ी फुर्तीके साथ कृपाचार्यपर धावा किया ।। २८ ।।

गौतमोऽपि धनुस्त्यक्त्वा प्रगृह्यासिं सुसंयतः ।
वेगेन महता राजंश्चेकितानमुपाद्रवत् ।। २९ ।।

राजन्! यह देख कृपाचार्यने भी धनुष फेंककर तलवार हाथमें ले ली और पूरी सावधानीके साथ वे बड़े वेगसे चेकितानकी ओर दौड़े ।। २९ ।।

तावुभौ बलसम्पन्नौ निस्त्रिंशवरधारिणौ ।
निस्त्रिंशाभ्यां सुतीक्ष्णाभ्यामन्योन्यं संततक्षतुः ।। ३० ।।

वे दोनों ही बलवान् थे। दोनोंने ही उत्तम खड्ग धारण कर रखे थे। अतः अपनी उन अत्यन्त तीखी तलवारोंसे वे एक-दूसरेको काटने लगे ।। ३० ।।

निस्त्रिंशवेगाभिहतौ ततस्तौ पुरुषर्षभौ ।

धरणीं समनुप्राप्तौ सर्वभूतनिषेविताम् ।। ३१ ।।

तलवारकी गहरी चोटसे घायल होकर वे दोनों पुरुषश्रेष्ठ सम्पूर्ण भूतोंकी निवासभूत पृथ्वीपर गिर पड़े ।। ३१ ।।

मूर्छयाभिपरीताङ्गौ व्यायामेन तु मोहितौ ।
ततोऽभ्यधावद् वेगेन करकर्षः सुहृत्तया ।। ३२ ।।
चेकितानं तथाभूतं दृष्ट्वा समरदुर्मदः ।
रथमारोपयच्चैनं सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।। ३३ ।।

उनके सारे अंगोंमें मूर्च्छा व्याप्त हो रही थी। दोनों ही अधिक परिश्रमके कारण अचेत हो गये थे। उस समय युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाला करकर्ष चेकितानको वैसी अवस्थामें पड़ा देख सौहार्दके नाते बड़े वेगसे दौड़ा और सम्पूर्ण सेनाके देखते-देखते उसने उन्हें अपने रथपर चढ़ा लिया ।। ३२-३३ ।।

तथैव शकुनिः शूरः श्यालस्तव विशाम्पते ।
आरोपयद् रथं तूर्णं गौतमं रथिनां वरम् ।। ३४ ।।

प्रजानाथ! इसी प्रकार आपके साले शूरवीर शकुनिने रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यको शीघ्र ही अपने रथपर बैठा लिया ।। ३४ ।।

सौमदत्तिं तथा क्रुद्धो धृष्टकेतुर्महाबलः ।
नवत्या सायकैः क्षिप्रं राजन् विव्याध वक्षसि ।। ३५ ।।

राजन्! दूसरी ओर महाबली धृष्टकेतुने क्रोधमें भरकर नब्बे बाणोंसे शीघ्रतापूर्वक भूरिश्रवाकी छातीमें चोट पहुँचायी ।। ३५ ।।

सौमदत्तिरुरःस्थैस्तैर्भृशं बाणैरशोभत ।
मध्यन्दिने महाराज रश्मिभिस्तपनो यथा ।। ३६ ।।

महाराज! छातीमें धँसे हुए उन बाणोंसे भूरिश्रवा उसी प्रकार शोभा पाने लगा, जैसे दोपहरके समय सूर्य अपनी किरणोंद्वारा अधिक प्रकाशित होता है ।। ३६ ।।

भूरिश्रवास्तु समरे धृष्टकेतुं महारथम् ।
हतसूतहयं चक्रे विरथं सायकोत्तमैः ।। ३७ ।।

तब भूरिश्रवाने समरभूमिमें उत्तम सायकोंद्वारा महारथी धृष्टकेतुके घोड़ों और सारथिको मारकर उन्हें रथहीन कर दिया ।। ३७ ।।

विरथं तं समालोक्य हताश्वं हतसारथिम् ।
महता शरवर्षेण च्छादयामास संयुगे ।। ३८ ।।

भूरिश्रवाने धृष्टकेतुको घोड़े और सारथिके मारे जानेसे रथहीन हुआ देख युद्धस्थलमें बाणोंकी बड़ी भारी वर्षा करके ढक दिया ।। ३८ ।।

स तु तं रथमुत्सृज्य धृष्टकेतुर्महामनाः ।
आरुरोह ततो यानं शतानीकस्य मारिष ।। ३९ ।।

आर्य! तत्पश्चात् महामना धृष्टकेतु उस रथको छोड़कर शतानीककी सवारीपर जा बैठे ।। ३९ ।।

चित्रसेनो विकर्णश्च राजन् दुर्मर्षणस्तथा ।
रथिनो हेमसंनाहाः सौभद्रमभिदुद्रुवुः ।। ४० ।।

राजन्! इसी समय चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षण—इन तीन रथियोंने सोनेके कवच बाँधकर सुभद्राकुमार अभिमन्युपर धावा किया ।। ४० ।।

अभिमन्योस्ततस्तैस्तु घोरं युद्धमवर्तत ।
शरीरस्य यथा राजन् वातपित्तकफैस्त्रिभिः ।। ४१ ।।

नरेश्वर! तब उनके साथ अभिमन्युका भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ, ठीक उसी तरह, जैसे शरीरका वात, पित्त और कफ—इन तीनों धातुओंके साथ युद्ध होता रहता है ।। ४१ ।।

विरथांस्तव पुत्रांस्तु कृत्वा राजन् महाहवे ।
न जघान नरव्याघ्रः स्मरन् भीमवचस्तदा ।। ४२ ।।

राजन्! उस महासमरमें आपके पुत्रोंको रथहीन करके पुरुषसिंह अभिमन्युने उस समय भीमसेनकी प्रतिज्ञाका स्मरण करके उनका वध नहीं किया ।। ४२ ।।

ततो राज्ञां बहुशतैर्गजाश्वरथयायिभिः ।
संवृतं समरे भीष्मं देवैरपि दुरासदम् ।। ४३ ।।
प्रयान्तं शीघ्रमुद्वीक्ष्य परित्रातुं सुतांस्तव ।
अभिमन्युं समुद्दिश्य बालमेकं महारथम् ।। ४४ ।।
वासुदेवमुवाचेदं कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।

तदनन्तर हाथी, घोड़े और रथपर यात्रा करनेवाले करोड़ों राजाओंसे घिरे हुए भीष्म, जो युद्धमें देवताओंके लिये भी दुर्जय थे, आपके पुत्रोंको बचानेके लिये एकमात्र बालक महारथी अभिमन्युको लक्ष्य करके तीव्र वेगसे आगे बढ़े। उनको उस ओर जाते देख श्वेतवाहन कुन्तीपुत्र अर्जुनने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा— ।। ४३-४४ १/२ ।।

चोदयाश्वान् हृषीकेश यत्रैते बहुला रथाः ।। ४५ ।।
एते हि बहवः शूराः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ।
यथा हन्युर्न नः सेनां तथा माधव चोदय ।। ४६ ।।

‘हृषीकेश! जहाँ ये बहुत-से रथ जा रहे हैं, उधर ही अपने घोड़ोंको हाँकिये। माधव! ये अस्त्र-विद्याके विद्वान् तथा रण-दुर्मद बहुसंख्यक शूरवीर जिस प्रकार हमारी सेनाका विनाश न कर सकें, उसी तरह इस रथको वहाँ ले चलिये’ ।। ४५-४६ ।।

एवमुक्तः स वार्ष्णेयः कौन्तेयेनामितौजसा ।
रथं श्वेतहयैर्युक्तं प्रेषयामास संयुगे ।। ४७ ।।

अमिततेजस्वी कुन्तीकुमार अर्जुनके इस प्रकार कहनेपर वृष्णिकुलनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने युद्धमें श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए रथको आगे बढ़ाया ।। ४७ ।।

निष्ठानको महानासीत् तव सैन्यस्य मारिष ।
यदर्जुनो रणे क्रुद्धः संयातस्तावकान् प्रति ।। ४८ ।।

आर्य! रणभूमिमें क्रुद्ध हुए अर्जुन आपके सैनिकोंकी ओर जाने लगे, उस समय आपकी सेनामें बड़े जोरसे हाहाकार होने लगा ।। ४८ ।।

समासाद्य तु कौन्तेयो राज्ञस्तान् भीष्मरक्षिणः ।
सुशर्माणमथो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ।। ४९ ।।

राजन्! कुन्तीकुमार अर्जुनने भीष्मकी रक्षा करनेवाले उन राजाओंके पास जाकर सुशर्मासे इस प्रकार कहा— ।। ४९ ।।

जानामि त्वां युधां श्रेष्ठमत्यन्तं पूर्ववैरिणम् ।
अनयस्याद्य सम्प्राप्तं फलं पश्य सुदारुणम् ।। ५० ।।
अद्य ते दर्शयिष्यामि पूर्वप्रेतान् पितामहान् ।

'वीर! मैं जानता हूँ, तुम पाण्डवोंके पूर्ववैरी और योद्धाओंमें अत्यन्त उत्तम हो। तुमलोगोंने जो अन्याय किया है, उसका यह अत्यन्त भयंकर फल आज प्राप्त हुआ है, इसे देखो। आज मैं तुम्हें तुम्हारे पहलेके मरे हुए पितामहोंका दर्शन कराऊँगा' ।। ५० १/२ ।।

एवं संजल्पतस्तस्य बीभत्सोः शत्रुघातिनः ।। ५१ ।।
श्रुत्वापि परुषं वाक्यं सुशर्मा रथयूथपः ।
न चैनमब्रवीत् किंचिच्छुभं वा यदि वाशुभम् ।। ५२ ।।

ऐसा कहते हुए शत्रुघाती अर्जुनके परुष वचनको सुनकर भी रथयूथपति सुशर्मा उनसे भला या बुरा कुछ भी न बोला ।। ५१-५२ ।।

अभिगम्यार्जुनं वीरं राजभिर्बहुभिर्वृतः ।
पुरस्तात् पृष्ठतश्चैव पार्श्वतश्चैव सर्वतः ।। ५३ ।।
परिवार्यार्जुनं संख्ये तव पुत्रैर्महारथः ।
शरैः संछादयामास मेघैरिव दिवाकरम् ।। ५४ ।।

अनेक राजाओंसे घिरे हुए उस महारथीने आपके पुत्रोंको साथ ले युद्धमें वीर अर्जुनके सामने जाकर उन्हें आगे, पीछे और पार्श्वभाग—सब ओरसे घेर लिया और जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार बाणोंसे अर्जुनको आच्छादित कर दिया ।। ५३-५४ ।।

ततः प्रवृत्तः सुमहान् संग्रामः शोणितोदकः ।
तावकानां च समरे पाण्डवानां च भारत ।। ५५ ।।

भारत! तत्पश्चात् रणक्षेत्रमें आपके पुत्रों और पाण्डवोंमें खूनको पानीकी तरह बहानेवाला महान् संग्राम छिड़ गया ।। ५५ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे सुशर्मार्जुनसमागमे चतुरशीतितमोऽध्यायः ।। ८४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धमें सुशर्मा और अर्जुनकी भिड़ंतसे सम्बन्ध रखनेवाला चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८४ ।।

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनका पराक्रम, पाण्डवोंका भीष्मपर आक्रमण, युधिष्ठिरका शिखण्डीको उपालम्भ और भीमका पुरुषार्थ

संजय उवाच

स ताड्यमानस्तु शरैर्धनंजयः
पदा हतो नाग इव श्वसन् बली ।
बाणेन बाणेन महारथानां
चिच्छेद चापानि रणे प्रसह्य ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार शत्रुओंके बाणोंसे आहत होकर बलवान् अर्जुन पैरसे कुचले हुए सर्पकी भाँति क्रोधसे लंबी साँस खींचने लगे। उन्होंने बलपूर्वक पृथक्-पृथक् बाण मारकर युद्धमें सभी महारथियोंके धनुष काट डाले ।। १ ।।

संछिद्य चापानि च तानि राज्ञां
तेषां रणे वीर्यवतां क्षणेन ।
विव्याध बाणैर्युगपन्महात्मा
निःशेषतां तेष्वथ मन्यमानः ।। २ ।।

रणक्षेत्रमें उन पराक्रमी नरेशोंके धनुषोंको क्षणभरमें काटकर महामना अर्जुनने उनका पूर्णतः संहार कर देनेकी इच्छासे एक ही साथ सबको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ।। २ ।।

निपेतुराजौ रुधिरप्रदिग्धा-
स्ते ताडिताः शक्रसुतेन राजन् ।
विभिन्नगात्राः पतितोत्तमाङ्गा
गतासवश्छिन्नतनुत्रकायाः ।। ३ ।।

राजन्! इन्द्रपुत्र अर्जुनके द्वारा ताड़ित होकर वे सभी नरेश खूनसे लथपथ हो युद्धभूमिमें गिर पड़े। उनके अंग छिन्न-भिन्न हो गये थे, मस्तक कटकर दूर जा गिरे थे, कवच और शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे और इस अवस्थामें पहुँचकर उन्हें अपने प्राण खो देने पड़े थे ।। ३ ।।

महीं गताः पार्थबलाभिभूता
विचित्ररूपा युगपद् विनेशुः ।
दृष्ट्वा हतांस्तात् युधि राजपुत्रां-
स्त्रिगर्तराजः प्रययौ रथेन ।। ४ ।।

पार्थके बलसे अभिभूत होकर वे विचित्ररूपधारी राजकुमार एक साथ ही पृथ्वीपर गिरकर नष्ट हो गये। उन राजपुत्रोंको युद्धमें मारा गया देख त्रिगर्तराज सुशर्माने रथके द्वारा अर्जुनपर आक्रमण किया ।। ४ ।।

तेषां रथानामथ पृष्ठगोपा
द्वात्रिंशदन्येऽभ्यपतन्त पार्थम् ।
तथैव ते तं परिवार्य पार्थं
विकृष्य चापानि महारवाणि ।। ५ ।।
अवीवृषन् बाणमहौघवृष्ट्या
यथा गिरिं तोयधरा जलौघैः ।
सम्पीड्यमानस्तु शरौघवृष्ट्या
धनंजयस्तान् युधि जातरोषः ।। ६ ।।

उन राजपुत्रोंके रथोंके जो दूसरे-दूसरे बत्तीस पृष्ठरक्षक थे, वे भी (सुशर्माके साथ ही) अर्जुनपर टूट पड़े। इसी प्रकार उन सबने अर्जुनको चारों ओरसे घेरकर महान् टंकारध्वनि करनेवाले अपने धनुष खींचे और जैसे मेघ पर्वतपर जलराशिकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार अर्जुनपर बाणसमूहोंकी वृष्टि करने लगे। उनके बाणसमूहोंकी वर्षासे पीड़ित होकर युद्धस्थलमें अर्जुनके हृदयमें बड़ा भारी रोष हुआ ।। ५-६ ।।

षष्ट्या शरैः संयति तैलधौतै-
र्जघान तानप्यथ पृष्ठगोपान् ।
रथांश्च तांस्तानवजित्य संख्ये
धनंजयः प्रीतमना यशस्वी ।। ७ ।।
अथात्वरद् भीष्मवधाय जिष्णु-
र्बलानि राजन् समरे निहत्य ।

उन्होंने रणक्षेत्रमें तेलके धोये हुए साठ बाण मारकर उन पृष्ठरक्षकोंका भी संहार कर दिया। इस प्रकार युद्धभूमिमें उन सभी रथियोंको जीतकर और कौरव-सेनाओंका समरमें संहार करके प्रसन्नचित्त हुए यशस्वी विजयी अर्जुनने भीष्मके वधके लिये शीघ्रता की ।। ७ १/२ ।।

त्रिगर्तराजो निहतान् समीक्ष्य
महात्मना तानथ बन्धुवर्गान् ।। ८ ।।
रणे पुरस्कृत्य नराधिपांस्तान्
जगाम पार्थं त्वरितो वधाय ।

महामना अर्जुनके द्वारा अपने बन्धुसमूहोंको मारा गया देख त्रिगर्तराज सुप्रसिद्ध नरपतियोंको युद्धके लिये आगे करके तुरंत ही अर्जुनका वध करनेके लिये उनके सामने आया ।। ८ १/२ ।।

अभिद्रुतं चास्त्रभृतां वरिष्ठं
धनंजयं वीक्ष्य शिखण्डिमुख्याः ।। ९ ।।
अभ्युद्ययुस्ते शितशस्त्रहस्ता
रिरक्षिषन्तो रथमर्जुनस्य ।

अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ वीर अर्जुनपर आक्रमण होता देख शिखण्डी आदि महारथी उनके रथकी रक्षा करनेके लिये तीखे अस्त्र-शस्त्र हाथमें लिये आगे बढ़े ।। ९½ ।।

पार्थोऽपि तानापततः समीक्ष्य
त्रिगर्तराज्ञा सहितान् नृवीरान् ।। १० ।।
विध्वंसयित्वा समरे धनुष्मान्
गाण्डीवमुक्तैर्निशितैः पृषत्कैः ।
भीष्मं यियासुर्युधि संददर्श
दुर्योधनं सैन्धवादींश्च राज्ञः ।। ११ ।।

इधर धनुर्धर अर्जुन भी त्रिगर्तराजके साथ उन नरवीरोंको आते देख संग्रामशूमिमें गाण्डीव धनुषसे छोड़े हुए तीखे बाणोंद्वारा उन्हें नष्ट करके भीष्मजीके पास जाना चाहते थे, इतनेहीमें उन्होंने युद्धस्थलमें राजा दुर्योधन और सिन्धुराज जयद्रथ आदिको देखा ।। १०-११ ।।

संवारयिष्णूनभिवारयित्वा
मुहूर्तमायोध्य बलेन वीरः ।
उत्सृज्य राजानमनन्तवीर्यो
जयद्रथादींश्च नृपान् महौजाः ।। १२ ।।
ययौ ततो भीमबलो मनस्वी
गाङ्गेयमाजौ शरचापपाणिः ।

दुर्योधन और जयद्रथ आदि योद्धा अर्जुनको रोकनेके प्रयत्नमें लगे थे; अतः उस समय अनन्त पराक्रमी एवं महातेजस्वी वीर अर्जुनने दो घड़ीतक बलपूर्वक युद्ध करके उन सबको रोक दिया। तत्पश्चात् राजा दुर्योधन और जयद्रथ आदि नरेशोंको वहीं छोड़कर भयंकर बलसे सम्पन्न एवं मनस्वी अर्जुन हाथमें धनुष-बाण ले युद्धस्थलमें गंगानन्दन भीष्मकी ओर चल दिये ।। १२½ ।।

(भीष्मोऽपि दृष्ट्वा समरे कृतास्त्रान्
स पाण्डवानां रथिनो ह्युदारान् ।
विहाय संग्राममुखे धनंजयं
जवेन पार्थं पुनराजगाम ।।)

भीष्म भी अस्त्र-विद्याके विद्वान् एवं उदार पाण्डवरथियोंको युद्धस्थलमें अपने सामने देखते हुए भी उन सबको वहीं छोड़कर बड़े वेगसे पुनः अर्जुनके पास आये।

युधिष्ठिरश्च प्रबलो महात्मा
समाययौ त्वरितो जातकोपः ।। १३ ।।
मद्राधिपं समभित्यज्य संख्ये
स्वभागमाप्तं तमनन्तकीर्तिः ।
सार्धं स माद्रीसुतभीमसेनै-
र्भीष्मं ययौ शान्तनवं रणाय ।। १४ ।।

उस समय उत्कृष्ट बलशाली अनन्तकीर्ति महात्मा युधिष्ठिर भी युद्धमें अपने भागके रूपमें प्राप्त हुए मद्रराज शल्यको छोड़कर नकुल, सहदेव और भीमसेनके साथ क्रोधपूर्वक तुरंत वहाँसे चल दिये और युद्धके लिये शान्तनुनन्दन भीष्मके पास जा पहुँचे ।। १३-१४ ।।

तैः सम्प्रयुक्तैः स महारथाग्र्यै-
र्गङ्गासुतः समरे चित्रयोधी ।
न विव्यथे शान्तनवो महात्मा
समागतैः पाण्डुसुतैः समस्तैः ।। १५ ।।

महारथियोंमें श्रेष्ठ समस्त पाण्डव संगठित होकर वहाँ आ पहुँचे थे तो भी उनसे समरांगणमें विचित्र युद्ध करनेवाले गंगापुत्र शान्तनुनन्दन महात्मा भीष्मको व्यथा नहीं हुई ।। १५ ।।

अथैत्य राजा युधि सत्यसंधो
जयद्रथोऽत्युग्रबलो मनस्वी ।
चिच्छेद चापानि महारथानां
प्रसह्य तेषां धनुषा वरेण ।। १६ ।।

तत्पश्चात् सत्यप्रतिज्ञ अत्यन्त भयंकर शक्तिशाली मनस्वी राजा जयद्रथने रणमें सामने आकर उत्तम धनुषद्वारा बलपूर्वक उन महारथियोंके धनुष काट डाले ।। १६ ।।

युधिष्ठिरं भीमसेनं यमौ च
पार्थं कृष्णं युधि संजातकोपः ।
दुर्योधनः क्रोधविषो महात्मा
जघान बाणैरनलप्रकाशैः ।। १७ ।।

क्रोधरूपी विष उगलनेवाले महामनस्वी दुर्योधनने युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल, सहदेव, अर्जुन तथा श्रीकृष्णपर युद्धमें कुपित हो अग्निके समान तेजस्वी बाणोंका प्रहार किया ।। १७ ।।

कृपेण शल्येन शलेन चैव
तथा विभो चित्रसेनेन चाजौ ।
विद्धाः शरैस्तेऽतिविवृद्धकोपै-
र्देवा यथा दैत्यगणैः समेतैः ।। १८ ।।

प्रभो! जैसे क्रोधमें भरे हुए दैत्यगण एकत्र हो देवताओंपर प्रहार करते हैं, उसी प्रकार कृपाचार्य, शल्य, शल तथा चित्रसेनने युद्धस्थलमें अत्यन्त क्रोधमें भरकर समस्त पाण्डवोंको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ।। १८ ।।

छिन्नायुधं शान्तनवेन राजा
शिखण्डिनं प्रेक्ष्य च जातकोपः ।
अजातशत्रुः समरे महात्मा
शिखण्डिनं क्रुद्ध उवाच वाक्यम् ।। १९ ।।

शान्तनुनन्दन भीष्मने जब शिखण्डीका धनुष काट दिया,* तब समरांगणमें अजातशत्रु महात्मा युधिष्ठिर शिखण्डीकी ओर देखकर कुपित हो उठे और उससे क्रोधपूर्वक इस प्रकार बोले— ।। १९ ।।

उक्त्वा तथा त्वं पितुरग्रतो मा-
महं हनिष्यामि महाव्रतं तम् ।
भीष्मं शरौघैर्विमलार्कवर्णैः
सत्यं वदामीति कृता प्रतिज्ञा ।। २० ।।
त्वया च नैनां सफलां करोषि
देवव्रतं यन्न निहंसि युद्धे ।
मिथ्याप्रतिज्ञो भव मात्र वीर
रक्ष स्वधर्मं स्वकुलं यशश्च ।। २१ ।।

'वीर! तुमने अपने पिताके सामने प्रतिज्ञापूर्वक मुझसे यह कहा था कि 'मैं महान् व्रतधारी भीष्मको निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी बाणसमूहोंद्वारा अवश्य मार डालूँगा, यह बात मैं सत्य कहता हूँ।' ऐसी प्रतिज्ञा तुमने की थी; परंतु तुम इस प्रतिज्ञाको सफल नहीं करते हो। कारण कि युद्धमें देवव्रत भीष्मका वध नहीं कर रहे हो। झूठी प्रतिज्ञा करनेवाला न बनो। अपने धर्म, कुल और यशकी रक्षा करो ।। २०-२१ ।।

प्रेक्षस्व भीष्मं युधि भीमवेगं
सर्वांस्तपन्तं मम सैन्यसंघान् ।
शरौघजालैरतितिग्मवेगैः
कालं यथा कालकृतं क्षणेन ।। २२ ।।

'देखो! जैसे यमराज समयानुसार उपस्थित होकर क्षणभरमें देहधारीका विनाश कर देते हैं, उसी प्रकार ये युद्धमें भयंकर वेगशाली भीष्म अत्यन्त प्रचण्ड वेगवाले बाणसमूहोंके द्वारा मेरी समस्त सेनाओंको कितना संताप दे रहे हैं ।। २२ ।।

निकृत्तचापः समरेऽनपेक्षः
पराजितः शान्तनवेन चाजौ ।
विहाय बन्धूनथ सोदरांश्च

क्व यास्यसे नानुरूपं तवेदम् ।। २३ ।।

'युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मने तुम्हारा धनुष काटकर तुम्हें पराजित कर दिया; फिर भी तुम उनकी ओरसे निरपेक्ष हो रहे हो। अपने सगे भाइयोंको छोड़कर कहाँ जाओगे? यह कायदा तुम्हारे अनुरूप नहीं है ।। २३ ।।

दृष्ट्वा हि भीष्मं तमनन्तवीर्यं
भग्नं च सैन्यं द्रवमाणमेवम् ।
भीतोऽसि नूनं द्रुपदस्य पुत्र
तथा हि ते मुखवर्णोऽप्रहृष्टः ।। २४ ।।

'द्रुपदकुमार! अनन्त पराक्रमी भीष्मको तथा उनके डरसे इस प्रकार हतोत्साह होकर भागती हुई मेरी इस सेनाको देखकर निश्चय ही तुम डर गये हो; क्योंकि तुम्हारे मुखकी कान्ति कुछ ऐसी ही अप्रसन्न दिखायी देती है ।। २४ ।।

अज्ञायमाने च धनंजयेऽपि
महाहवे सम्प्रसक्ते नृवीरे ।
कथं हि भीष्मात् प्रथितः पृथिव्यां
भयं त्वमद्य प्रकरोषि वीर ।। २५ ।।

'वीर! नरवीर अर्जुन कहीं महायुद्धमें फँसे हुए हैं। उनका इस समय पता नहीं है। ऐसे समयमें तुम आज भूमण्डलके विख्यात वीर होकर भीष्मसे भय कैसे कर रहे हो?' ।। २५ ।।

स धर्मराजस्य वचो निशम्य
रूक्षाक्षरं विप्रलापानुबद्धम् ।
प्रत्यादेशं मन्यमानो महात्मा
प्रतत्वरे भीष्मवधाय राजन् ।। २६ ।।

राजन्! धर्मराजके इस वचनमें प्रत्येक अक्षर रूखेपनसे भरा हुआ था। उसके द्वारा उन्होंने कितनी ही मनके विपरीत बातें कही थीं, तथापि उस वचनको सुनकर महामना शिखण्डीने इसे अपने लिये आदेश माना और तुरंत ही भीष्मका वध करनेके लिये सचेष्ट हो गया ।। २६ ।।

तमापतन्तं महता जवेन
शिखण्डिनं भीष्ममभिद्रवन्तम् ।
निवारयामास हि शल्य एन-
मस्त्रेण घोरेण सुदुर्जयेन ।। २७ ।।

शिखण्डीको बड़े वेगसे आते और भीष्मपर धावा करते देख शल्यने अत्यन्त दुर्जय एवं भयंकर अस्त्रसे उसे रोक दिया! ।। २७ ।।

स चापि दृष्ट्वा समुदीर्यमाण-

मस्त्रं युगान्ताग्निसमप्रकाशम् ।
न सम्मुमोह द्रुपदस्य पुत्रो
राजन् महेन्द्रप्रतिमप्रभावः ।। २८ ।।

राजन्! प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी उस अस्त्रको प्रकट हुआ देखकर देवराज इन्द्रके समान प्रभावशाली द्रुपदकुमार शिखण्डी घबराया नहीं ।। २८ ।।

तस्थौ च तत्रैव महाधनुष्मान्-
शरैस्तदस्त्रं प्रतिबाधमानः ।
अथाददे वारुणमन्यदस्त्रं
शिखण्ड्यथोग्रं प्रतिघातमस्य ।। २९ ।।

वह महाधनुर्धर वीर अपने बाणोंद्वारा शल्यके अस्त्रका निवारण करता हुआ वहीं डटा रहा। फिर शिखण्डीने शल्यके अस्त्रका प्रतिघात करनेवाले अन्य भयंकर वारुणास्त्रको हाथमें लिया ।। २९ ।।

तदस्त्रमस्त्रेण विदार्यमाणं
खस्थाः सुरा ददृशुः पार्थिवाश्च ।
भीष्मस्तु राजन् समरे महात्मा
धनुश्च चित्रं ध्वजमेव चापि ।। ३० ।।
छित्त्वानदत् पाण्डुसुतस्य वीरो
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ।

आकाशमें खड़े हुए देवताओं तथा रणक्षेत्रमें आये हुए राजाओंने देखा, शिखण्डीके दिव्यास्त्रसे शल्यका अस्त्र विदीर्ण हो रहा है। राजन्! महात्मा एवं वीर भीष्म युद्धस्थलमें अजमीढ़कुलनन्दन पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरके विचित्र धनुष और ध्वजको काटकर गर्जना करने लगे ।। ३० १/२ ।।

ततः समुत्सृज्य धनुः सबाणं
युधिष्ठिरं वीक्ष्य भयाभिभूतम् ।। ३१ ।।
गदां प्रगृह्याभिपपात संख्ये
जयद्रथं भीमसेनः पदातिः ।

तब धनुष-बाण फेंककर भयसे दबे हुए युधिष्ठिरको देखकर भीमसेन गदा लेकर युद्धमें पैदल ही राजा जयद्रथपर टूट पड़े ।। ३१ १/२ ।।

तमापतन्तं सहसा जवेन
जयद्रथः सगदं भीमसेनम् ।। ३२ ।।
विव्याध घोरैर्यमदण्डकल्पैः
शितैःशरैः पञ्चशतैः समन्तात् ।

इस प्रकार सहसा हाथमें गदा लिये भीमसेनको वेगपूर्वक आते देख जयद्रथने यमदण्डके समान भयंकर पाँच सौ तीखे बाणोंद्वारा सब ओरसे उन्हें घायल कर दिया ।। ३२½ ।।

अचिन्तयित्वा स शरांस्तरस्वी
वृकोदरः क्रोधपरीतचेताः ।। ३३ ।।
जघान वाहान् समरे समन्तात्
पारावतान् सिन्धुराजस्य संख्ये ।

वेगशाली भीमसेन उसके बाणोंकी कोई परवा न करते हुए मन-ही-मन क्रोधसे जल उठे। तत्पश्चात् उन्होंने समरभूमिमें सिन्धुराजके कबूतरके समान रंगवाले घोड़ोंको मार डाला ।। ३३½ ।।

ततोऽभिवीक्ष्याप्रतिमप्रभाव-
स्तवात्मजस्त्वरमाणो रथेन ।। ३४ ।।
अभ्याययौ भीमसेनं निहन्तुं
समुद्यतास्त्रः सुरराजकल्पः ।

यह देखकर आपका अनुपम प्रभावशाली पुत्र देवराजसदृश दुर्योधन भीमसेनको मारनेके लिये हथियार उठाये बड़ी उतावलीके साथ रथके द्वारा वहाँ आ पहुँचा ।। ३४½ ।।

भीमोऽप्यथैनं सहसा विनद्य
प्रत्युद्ययौ गदया तर्जयानः ।। ३५ ।।

तब भीमसेन भी सहसा सिंहनाद करके गदाद्वारा गर्जन-तर्जन करते हुए जयद्रथकी ओर बढ़े ।। ३५ ।।

(जयद्रथो भग्नवाहो रथं तं
त्यक्त्वा ययौ यत्र राजा कुरूणाम् ।
स सौबलः सानुगः सानुजश्च
दृष्ट्वा भीमं मूढचेता भयार्तः ।।

घोड़ोंके मारे जानेपर जयद्रथ उस रथको छोड़कर जहाँ शकुनि, सेवकवृन्द तथा छोटे भाइयोंसहित कुरुराज दुर्योधन था, वहीं चला गया। भीमसेनको देखकर जयद्रथका मन किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। वह भयसे पीड़ित हो रहा था।

भीमोऽप्यथैनं सहसा विनद्य
प्रत्युद्ययौ गदया हन्तुकामः ।
स सौबलं तव पुत्रं निरीक्ष्य
दुर्योधनं सानुजं रोषयुक्तः ।।)

भीमसेन भी शकुनि और भाइयोंसहित आपके पुत्र दुर्योधनको देखकर रोषमें भर गये और सहसा गर्जना करके गदाद्वारा जयद्रथको मार डालनेकी इच्छासे आगे बढ़े।

समुद्यतां तां यमदण्डकल्पां
दृष्ट्वा गदां ते कुरवः समन्तात् ।
विहाय सर्वे तव पुत्रमुग्रं
पातं गदायाः परिहर्तुकामाः ।। ३६ ।।
अपक्रान्तास्तुमुले सम्प्रमर्दे
सुदारुणे भारत मोहनीये ।
अमूढचेतास्त्वथ चित्रसेनो
महागदामापतन्तीं निरीक्ष्य ।। ३७ ।।

यमदण्डके समान भयंकर उस गदाको उठी हुई देख समस्त कौरव आपके पुत्रको वहीं छोड़कर गदाके उग्र आघातसे बचनेके लिये चारों ओर भाग गये। भारत! मोहमें डालनेवाले उस अत्यन्त दारुण एवं भयंकर जनसंहारमें उस महागदाको आती देख केवल चित्रसेनका चित्त किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हुआ था ।। ३६-३७ ।।

रथं स्वमुत्सृज्य पदातिराजौ
प्रगृह्य खड्गं विपुलं च चर्म ।
अवप्लुतः सिंह इवाचलाग्रा-
ज्जगामान्यं भूमिप भूमिदेशम् ।। ३८ ।।

राजन्! वह अपने रथको छोड़कर हाथमें बहुत बड़ी ढाल और तलवार ले पर्वतके शिखरसे सिंहकी भाँति कूद पड़ा और पैदल ही विचरता हुआ युद्धस्थलके दूसरे प्रदेशमें चला गया ।। ३८ ।।

गदापि सा प्राप्य रथं सुचित्रं
साश्वंससूतं विनिहत्य संख्ये ।
जगाम भूमिं ज्वलिता महोल्का
भ्रष्टाम्बराद् गामिव सम्पतन्ती ।। ३९ ।।

वह गदा भी चित्रसेनके विचित्र रथपर पहुँचकर उसे घोड़े और सारथिसहित चूर-चूर करके आकाशसे टूटकर पृथ्वीपर गिरनेवाली जलती हुई विशाल उल्काके समान रणभूमिमें जा गिरी ।। ३९ ।।

आश्चर्यभूतं समहत् त्वदीया
दृष्ट्वैव तद् भारत सम्प्रहृष्टाः ।
सर्वे विनेदुः सहिताः समन्तात्
पुपूजिरे तव पुत्रस्य शौर्यम् ।। ४० ।।

भारत! इस समय आपके समस्त सैनिक चित्रसेनका वह महान् आश्चर्यमय कार्य देखकर बड़े प्रसन्न हुए। वे सभी सब ओरसे एक साथ आपके पुत्रके शौर्यकी प्रशंसा और गर्जना करने लगे ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमयुद्धदिवसे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ।। ८५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८५ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके तीन श्लोक मिलाकर कुल ४३ श्लोक हैं।]

---

* भीष्मपितामहने शिखण्डीको अपने ऊपर प्रहार करनेके लिये आया देखकर ही उसके धनुषको काट दिया था, उसके शरीरपर कोई प्रहार नहीं किया। अतः कोई दोष नहीं है।

षडशीतितमोऽध्यायः

भीष्म और युधिष्ठिरका युद्ध, धृष्टद्युम्न और सात्यकिके साथ विन्द और अनुविन्दका संग्राम, द्रोण आदिका पराक्रम और सातवें दिनके युद्धकी समाप्ति

संजय उवाच

विरथं तं समासाद्य चित्रसेनं यशस्विनम् ।
रथमारोपयामास विकर्णस्तनयस्तव ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! रथहीन हुए अपने यशस्वी भाई चित्रसेनके पास जाकर आपके पुत्र विकर्णने उसे अपने रथपर चढ़ा लिया ।। १ ।।

तस्मिंस्तथा वर्तमाने तुमुले संकुले भृशम् ।
भीष्मः शान्तनवस्तूर्णं युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ।। २ ।।

जब इस प्रकार भयंकर और घमासान युद्ध होने लगा, उसी समय शान्तनुनन्दन भीष्मने तुरंत ही राजा युधिष्ठिरपर धावा किया ।। २ ।।

ततः सरथनागाश्वाः समकम्पन्त सृंजयाः ।
मृत्योरास्यमनुप्राप्तं मेनिरे च युधिष्ठिरम् ।। ३ ।।

यह देख सृंजयवीर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित काँप उठे। उन्होंने युधिष्ठिरको मौतके मुखमें पड़ा हुआ ही समझा ।। ३ ।।

युधिष्ठिरोऽपि कौरव्यो यमाभ्यां सहितः प्रभुः ।
महेष्वासं नरव्याघ्रं भीष्मं शान्तनवं ययौ ।। ४ ।।

कुरुनन्दन राजा युधिष्ठिर भी नकुल और सहदेवके साथ महाधनुर्धर पुरुषसिंह शान्तनुनन्दन भीष्मका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ।। ४ ।।

ततः शरसहस्राणि प्रमुञ्चन् पाण्डवो युधि ।
भीष्मं संछादयामास यथा मेघो दिवाकरम् ।। ५ ।।

जैसे मेघ सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें हजारों बाणोंकी वर्षा करते हुए पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने भीष्मको आच्छादित कर दिया ।। ५ ।।

तेन सम्यक् प्रणीतानि शरजालानि मारिष ।
प्रतिजग्राह गाङ्गेयः शतशोऽथ सहस्रशः ।। ६ ।।

आर्य! उनके द्वारा अच्छी तरह चलाये हुए सैकड़ों और हजारों बाणोंके समूहको गंगानन्दन भीष्मने ग्रहण कर लिया (अपने बाणोंद्वारा विफल कर दिया) ।। ६ ।।

तथैव शरजालानि भीष्मेणास्तानि मारिष ।

आकाशे समदृश्यन्त खगमानां व्रजा इव ।। ७ ।।

आर्य! इसी प्रकार भीष्मके चलाये हुए बाणसमूह भी आकाशमें पक्षियोंके झुंडके समान दिखायी देने लगे ।। ७ ।।

निमेषार्धेन कौन्तेयं भीष्मः शान्तनवो युधि ।
अदृश्यं समरे चक्रे शरजालेन भागशः ।। ८ ।।

शान्तनुनन्दन भीष्मने युद्धस्थलमें आधे निमेषमें ही पृथक्-पृथक् बाणोंका जाल-सा बिछाकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको अदृश्य कर दिया ।। ८ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा कौरव्यस्य महात्मनः ।
नाराचं प्रेषयामास क्रुद्ध आशीविषोपमम् ।। ९ ।।

तब क्रोधमें भरे हुए राजा युधिष्ठिरने कुरुवंशी महात्मा भीष्मपर विषधर सर्पके समान नाराचका प्रहार किया ।।

असम्प्राप्तं ततस्तं तु क्षुरप्रेण महारथः ।
चिच्छेद समरे राजन् भीष्मस्तस्य धनुश्च्युतम् ।। १० ।।

राजन्! परंतु महारथी भीष्मने युधिष्ठिरके धनुषसे छूटे हुए उस नाराचको अपने पास पहुँचनेसे पहले ही समरभूमिमें एक क्षुरप्रद्वारा काट गिराया ।। १० ।।

तं तु छित्त्वा रणे भीष्मो नाराचं कालसम्मितम् ।
निजघ्ने कौरवेन्द्रस्य हयान् काञ्चनभूषणान् ।। ११ ।।

इस प्रकार रणभूमिमें कालके समान भयंकर उस नाराचको काटकर भीष्मने कौरवराज युधिष्ठिरके सुवर्णाभूषणोंसे युक्त घोड़ोंको मार डाला ।। ११ ।।

(हताश्वे तु रथे तिष्ठन् शक्तिं चिक्षेप धर्मराट् ।
तामापतन्तीं सहसा कालपाशोपमां शिताम् ।।
चिच्छेद समरे भीष्मः शरैः संनतपर्वभिः ।।)

घोड़ोंके मारे जानेपर भी उसी रथमें खड़े हुए धर्मराज युधिष्ठिरने भीष्मपर शक्ति चलायी। कालपाशके समान तीखी एवं भयंकर उस शक्तिको सहसा अपनी ओर आती देख भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उसे रणभूमिमें काट गिराया।

हताश्वं तु रथं त्यक्त्वा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आरुरोह रथं तूर्णं नकुलस्य महात्मनः ।। १२ ।।

तदनन्तर जिसके घोड़े मारे गये थे, उस रथको त्यागकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर तुरंत ही महामना नकुलके रथपर आरूढ़ हो गये ।। १२ ।।

यमावपि हि संक्रुद्धः समासाद्य रणे तदा ।
शरैः संछादयामास भीष्मः परपुरंजयः ।। १३ ।।

उस समय रणक्षेत्रमें नकुल और सहदेवको पाकर शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले भीष्मने अत्यन्त कुपित हो उन्हें बाणोंसे आच्छादित कर दिया ।। १३ ।।

तौ तु दृष्ट्वा महाराज भीष्मबाणप्रपीडितौ ।
जगाम परमां चिन्तां भीष्मस्य वधकाङ्क्षया ।। १४ ।।

महाराज! नकुल और सहदेवको भीष्मके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित देख युधिष्ठिर अपने मनमें भीष्मके वधकी इच्छा लेकर गहन विचार करने लगे ।। १४ ।।

ततो युधिष्ठिरो वश्यान् राज्ञस्तान् समचोदयत् ।
भीष्मं शान्तनवं सर्वे निहतेति सुहृद्गणान् ।। १५ ।।

तदनन्तर युधिष्ठिरने अपने वशवर्ती नरेशों तथा सुहृद्गणोंको यह आदेश दिया कि सब लोग मिलकर शान्तनुनन्दन भीष्मको मार डालो ।। १५ ।।

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ।
महता रथवंशेन परिवव्रुः पितामहम् ।। १६ ।।

तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका यह कथन सुनकर समस्त राजाओंने विशाल रथसमूहके द्वारा पितामह भीष्मको चारों ओरसे घेर लिया ।। १६ ।।

स समन्तात् परिवृतः पिता देवव्रतस्तव ।
चिक्रीड धनुषा राजन् पातयानो महारथान् ।। १७ ।।

राजन्! सब ओरसे घिरे हुए आपके ताऊ देवव्रत सब महारथियोंको धराशायी करते हुए अपने धनुषके द्वारा क्रीड़ा करने लगे ।। १७ ।।

तं चरन्तं रणे पार्था ददृशुः कौरवं युधि ।
मृगमध्यं प्रविश्येव यथा सिंहशिशुं वने ।। १८ ।।

जैसे सिंहका बच्चा वनके भीतर मृगोंके झुंडमें घुसकर खेल कर रहा हो, उसी प्रकार कुन्तीकुमारोंने युद्धमें विचरते हुए कुरुवंशी भीष्मको वहाँ देखा ।। १८ ।।

तर्जयानं रणे वीरांस्त्रासयानं च सायकैः ।
दृष्ट्वा त्रेसुर्महाराज सिंहं मृगगणा इव ।। १९ ।।

महाराज! वे रणभूमिमें वीरोंको डाँटते और बाणोंके द्वारा उन्हें त्रास देते थे। जैसे मृगोंके समूह सिंहको देखकर डर जाते हैं, उसी प्रकार सब राजा भीष्मको देखकर भयभीत हो गये ।। १९ ।।

रणे भारतसिंहस्य ददृशुः क्षत्रिया गतिम् ।
अग्नेर्वायुसहायस्य यथा कक्षं दिधक्षतः ।। २० ।।

जैसे वायुकी सहायतासे घास-फूसको जलानेकी इच्छावाली अग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार भरतवंशके सिंह भीष्मके स्वरूपको रणक्षेत्रमें क्षत्रियोंने अत्यन्त तेजस्वी देखा ।। २० ।।

शिरांसि रथिनां भीष्मः पातयामास संयुगे ।
तालेभ्यः परिपक्वानि फलानि कुशलो नरः ।। २१ ।।

भीष्म उस युद्धस्थलमें रथियोंके मस्तक काट-काटकर उसी प्रकार गिराने लगे, जैसे कोई कुशल मनुष्य ताड़के वृक्षोंसे पके हुए फलोंको गिरा रहा हो ।। २१ ।।

पतद्भिश्च महाराज शिरोभिर्धरणीतले ।

बभूव तुमुलः शब्दः पततामश्मनामिव ।। २२ ।।

महाराज! भूतलपर पटापट गिरते हुए मस्तकोंका आकाशसे पृथ्वीपर पड़नेवाले पत्थरोंके समान भयंकर शब्द हो रहा था ।। २२ ।।

तस्मिन् सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयानके ।

सर्वेषामेव सैन्यानामासीद् व्यतिकरो महान् ।। २३ ।।

उस भयानक तुमुल युद्धके होते समय सभी सेनाओंका आपसमें भारी संघर्ष हो गया ।। २३ ।।

भिन्नेषु तेषु व्यूहेषु क्षत्रिया इतरेतरम् ।

एकमेकं समाहूय युद्धायैवावतस्थिरे ।। २४ ।।

उन सबका व्यूह भंग हो जानेपर भी सम्पूर्ण क्षत्रिय परस्पर एक-एकको ललकारते हुए युद्धके लिये डटे ही रहे ।। २४ ।।

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम् ।

अभिदुद्राव वेगेन तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।। २५ ।।

शिखण्डी भरतवंशके पितामह भीष्मके पास पहुँचकर उनकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा और बोला—‘खड़ा रह, खड़ा रह’ ।। २५ ।।

अनादृत्य ततो भीष्मस्तं शिखण्डिनमाहवे ।

प्रययौ सृंजयान् क्रुद्धः स्त्रीत्वं चिन्त्य शिखण्डिनः ।। २६ ।।

किंतु भीष्मने शिखण्डीके स्त्रीत्वका चिन्तन करके युद्धमें उसकी अवहेलना कर दी और सृंजयवंशी क्षत्रियोंपर क्रोधपूर्वक आक्रमण किया ।। २६ ।।

सृंजयास्तु ततो दृष्ट्वा हृष्टं भीष्मं महारणे ।

सिंहनादांश्च विविधांश्चक्रुः शङ्खविमिश्रितान् ।। २७ ।।

तब सृंजयगण उस महायुद्धमें हर्ष और उत्साहसे भरे हुए भीष्मको देखकर शंखध्वनिके साथ नाना प्रकारसे सिंहनाद करने लगे ।। २७ ।।

ततः प्रववृते युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम् ।

पश्चिमां दिशमासाद्य स्थिते सवितरि प्रभो ।। २८ ।।

प्रभो! जब सूर्य पश्चिम दिशामें ढलने लगे, उस समय युद्धका रूप और भी भयंकर हो गया। रथ-से-रथ और हाथी-से-हाथी भिड़ गये ।। २८ ।।

धृष्टद्युम्नोऽथ पाञ्चाल्यः सात्यकिश्च महारथः ।

पीडयन्तौ भृशं सैन्यं शक्तितोमरवृष्टिभिः ।। २९ ।।

पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्न तथा महारथी सात्यकि—ये दोनों शक्ति और तोमरोंकी वर्षासे कौरव-सेनाको अत्यन्त पीड़ा देने लगे ।। २९ ।।

शस्त्रैश्च बहुभी राजन् जघ्नतुस्तावकान् रणे ।
ते हन्यमानाः समरे तावका भरतर्षभ ।। ३० ।।
आर्यां युद्धे मतिं कृत्वा न त्यजन्ति स्म संयुगम् ।
यथोत्साहं तु समरे निजघ्नुस्तावका रणे ।। ३१ ।।

राजन्! उन दोनोंने युद्धमें अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा आपके सैनिकोंका संहार करना आरम्भ किया। भरतश्रेष्ठ! उनके द्वारा समरमें मारे जाते हुए आपके सैनिक युद्धविषयक श्रेष्ठ बुद्धिका सहारा लेकर ही संग्राम छोड़कर भाग नहीं रहे थे। आपके योद्धा भी रणक्षेत्रमें पूर्ण उत्साहके साथ शत्रुओंका संहार करते थे ।। ३०-३१ ।।

तत्राक्रन्दो महानासीत् तावकानां महात्मनाम् ।
वध्यतां समरे राजन् पार्षतेन महात्मना ।। ३२ ।।

राजन्! महामना धृष्टद्युम्न समरांगणमें जब आपके योद्धाओंका वध कर रहे थे, उस समय उन महामनस्वी वीरोंका आर्तक्रन्दन बड़े जोरसे सुनायी देता था ।। ३२ ।।

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तावकानां महारथौ ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पार्षतं प्रत्युपस्थितौ ।। ३३ ।।

आपके सैनिकोंका वह घोर आर्तनाद सुनकर अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द धृष्टद्युम्नका सामना करनेके लिये उपस्थित हुए ।। ३३ ।।

तौ तस्य तुरगान् हत्वा त्वरमाणौ महारथौ ।
छादयामासतुरुभौ शरवर्षेण पार्षतम् ।। ३४ ।।

उन दोनों महारथियोंने बड़ी उतावलीके साथ धृष्टद्युम्नके घोड़ोंको मारकर उन्हें भी अपने बाणोंकी वर्षासे ढक दिया ।।

अवप्लुत्याथ पाञ्चाल्यो रथात् तूर्णं महाबलः ।
आरुरोह रथं तूर्णं सात्यकेस्तु महात्मनः ।। ३५ ।।

तब महाबली धृष्टद्युम्न तुरंत ही अपने रथसे कूदकर महामना सात्यकिके रथपर शीघ्रतापूर्वक चढ़ गये ।। ३५ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा महत्या सेनया वृतः ।
आवन्त्यौ समरे क्रुद्धावभ्ययात् स परंतपौ ।। ३६ ।।

तदनन्तर विशाल सेनासे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरने शत्रुओंको तपानेवाले और क्रोधमें भरे हुए विन्द-अनुविन्दपर आक्रमण किया ।। ३६ ।।

तथैव तव पुत्रोऽपि सर्वोद्योगेन मारिष ।
विन्दानुविन्दौ समरे परिवार्यावतस्थिवान् ।। ३७ ।।

आर्य! इसी प्रकार आपका पुत्र दुर्योधन भी सम्पूर्ण उद्योगसे समरभूमिमें विन्द और अनुविन्दकी रक्षाके लिये उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़ा हो गया ।। ३७ ।।

अर्जुनश्चापि संक्रुद्धः क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ।
अयोधयत संग्रामे वज्रपाणिरिवासुरान् ।। ३८ ।।

क्षत्रियशिरोमणि अर्जुन भी अत्यन्त कुपित होकर क्षत्रियोंके साथ संग्रामभूमिमें उसी प्रकार युद्ध करने लगे, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंके साथ करते हैं ।। ३८ ।।

द्रोणस्तु समरे क्रुद्धः पुत्रस्य प्रियकृत् तव ।
व्यधमत् सर्वपञ्चालांस्तूलराशिमिवानलः ।। ३९ ।।

आपके पुत्रका प्रिय करनेवाले द्रोणाचार्य भी युद्धमें कुपित होकर समस्त पांचालोंका विनाश करने लगे, मानो आग रूईके ढेरको जला रही हो ।। ३९ ।।

दुर्योधनपुरोगास्तु पुत्रास्तव विशाम्पते ।
परिवार्य रणे भीष्मं युयुधुः पाण्डवैः सह ।। ४० ।।

प्रजानाथ! आपके दुर्योधन आदि पुत्र रणक्षेत्रमें भीष्मको घेरकर पाण्डवोंके साथ युद्ध करने लगे ।। ४० ।।

ततो दुर्योधनो राजा लोहितायति भास्करे ।
अब्रवीत् तावकान् सर्वांस्त्वरध्वमिति भारत ।। ४१ ।।

भारत! तदनन्तर जब सूर्यदेवपर संध्याकी लाली छाने लगी, तब राजा दुर्योधनने आपके सभी योद्धाओंसे कहा—जल्दी करो ।। ४१ ।।

युध्यतां तु तथा तेषां कुर्वतां कर्म दुष्करम् ।
अस्तं गिरिमथारूढे अप्रकाशति भास्करे ।। ४२ ।।
प्रावर्तत नदी घोरा शोणितौघतरङ्गिणी ।
गोमायुगणसंकीर्णा क्षणेन क्षणदामुखे ।। ४३ ।।

फिर तो वे सब योद्धा वेगसे युद्ध करते हुए दुष्कर पराक्रम प्रकट करने लगे। उसी समय सूर्य अस्ताचलको चले गये और उनका प्रकाश लुप्त हो गया। इस प्रकार संध्या होते-होते क्षणभरमें रक्तके प्रवाहसे परिपूर्ण भयानक नदी बह चली और उसके तटपर गीदड़ोंकी भीड़ जमा हो गयी ।। ४२-४३ ।।

शिवाभिरशिवाभिश्च रुवद्भिर्भैरवं रवम् ।
घोरमायोधनं जज्ञे भूतसंघैः समाकुलम् ।। ४४ ।।

भैरव रव फैलानेवाली अमंगलमयी सियारिनों तथा भूतगणोंसे व्याप्त होकर वह युद्धका मैदान अत्यन्त भयानक हो गया ।। ४४ ।।

राक्षसाश्च पिशाचाश्च तथान्ये पिशिताशिनः ।
समन्ततो व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ।। ४५ ।।

चारों ओर राक्षस, पिशाच तथा अन्य मांसाहारी जन्तु सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें दिखायी देने लगे ।। ४५ ।।

अर्जुनोऽथ सुशर्मादीन् राज्ञस्तान् सपदानुगान् ।
विजित्य पृतनामध्ये ययौ स्वशिबिरं प्रति ।। ४६ ।।

तदनन्तर अर्जुन राजा दुर्योधनके पीछे चलनेवाले सुशर्मा आदिको सेनामें पराजित करके अपने शिविरको चले गये ।।

युधिष्ठिरोऽपि कौरव्यो भ्रातृभ्यां सहितस्तथा ।
ययौ स्वशिबिरं राजा निशायां सेनया वृतः ।। ४७ ।।

तथा सेनासे घिरे हुए कुरुकुलनन्दन राजा युधिष्ठिर भी दोनों भाई नकुल-सहदेवके साथ रातमें अपने शिविरमें पधारे ।। ४७ ।।

भीमसेनोऽपि राजेन्द्र दुर्योधनमुखान् रथान् ।
अवजित्य ततः संख्ये ययौ स्वशिबिरं प्रति ।। ४८ ।।

राजेन्द्र! तब भीमसेन भी दुर्योधन आदि रथियोंको युद्धमें जीतकर अपने शिविरको लौट गये ।। ४८ ।।

दुर्योधनोऽपि नृपतिः परिवार्य महारणे ।
भीष्मं शान्तनवं तूर्णं प्रयातः शिबिरं प्रति ।। ४९ ।।

राजा दुर्योधन भी महायुद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मको घेरकर तुरंत ही अपने शिविरको लौट गया ।। ४९ ।।

दोणो द्रौणिः कृपः शल्यः कृतवर्मा च सात्वतः ।
परिवार्य चमूं सर्वां प्रययुः शिबिरं प्रति ।। ५० ।।

द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, शल्य तथा यदुवंशी कृतवर्मा—ये सारी सेनाको घेरकर अपने शिविरकी ओर चल दिये ।। ५० ।।

तथैव सात्यकी राजन् धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
परिवार्य रणे योधान् ययतुः शिबिरं प्रति ।। ५१ ।।

राजन्! इसी प्रकार सात्यकि और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न भी युद्धमें अपने योद्धाओंको घेरकर शिविरकी ओर प्रस्थित हुए ।। ५१ ।।

एवमेते महाराज तावकाः पाण्डवैः सह ।
पर्यवर्तन्त सहिता निशाकाले परंतप ।। ५२ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज! इस प्रकार रातके समय आपके योद्धा पाण्डवोंके साथ अपने-अपने शिविरमें लौट आये ।। ५२ ।।

ततः स्वशिबिरं गत्वा पाण्डवाः कुरवस्तथा ।
न्यवसन्त महाराज पूजयन्तः परस्परम् ।। ५३ ।।

महाराज! तत्पश्चात् पाण्डव तथा कौरव अपने शिविरमें जाकर आपसमें एक-दूसरेकी प्रशंसा करते हुए विश्राम करने लगे ।। ५३ ।।

रक्षां कृत्वा ततः शूरान्यस्य गुल्मान् यथाविधि ।
अपनीय च शल्यानि स्नात्वा च विविधैर्जलैः ।। ५४ ।।
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे संस्तूयन्तश्च वन्दिभिः ।
गीतवादित्रशब्देन व्यक्रीडन्त यशस्विनः ।। ५५ ।।

तदनन्तर उभय पक्षके शूरवीरोंने सब ओर सैनिक गुल्मोंको[*] नियुक्त करके विधिपूर्वक अपने-अपने शिविरोंकी रक्षाकी व्यवस्था की। फिर अपने शरीरसे बाणोंको निकालकर भाँति-भाँतिके जलसे स्नान करके स्वस्तिवाचन करानेके अनन्तर बन्दीजनोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए वे सभी यशस्वी वीर गीत और वाद्योंके शब्दोंसे क्रीड़ा-विनोद करने लगे ।। ५४-५५ ।।

मुहूर्तादिव तत् सर्वमभवत् स्वर्गसंनिभम् ।
न हि युद्धकथां कांचित् तत्राकुर्वन् महारथाः ।। ५६ ।।

दो घड़ीतक वहाँका सब कुछ स्वर्गसदृश जान पड़ा। उस समय वहाँ महारथियोंने युद्धकी कोई बातचीत नहीं की ।। ५६ ।।

ते प्रसुप्ते बले तत्र परिश्रान्तजने नृप ।
हस्त्यश्वबहुले रात्रौ प्रेक्षणीये बभूवतुः ।। ५७ ।।

नरेश्वर! जिनमें हाथी और घोड़ोंकी अधिकता थी, उन दोनों पक्षकी सेनाओंमें सब लोग परिश्रमसे चूर-चूर हो रहे थे। रातके समय जब दोनों सेनाएँ सो गयीं, उस समय वे देखनेयोग्य हो गयीं ।। ५७ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सप्तमदिवसयुद्धावहारे षडशीतितमोऽध्यायः ।। ८६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सातवें दिनके युद्धका विरामविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८६ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ १/२ श्लोक मिलाकर कुल ५८ १/२ श्लोक हैं।]

---

[*] गुल्मका अर्थ है—प्रधान पुरुषोंसे युक्त रक्षकदल, जिसमें ९ हाथी, ९ रथ, २७ घुड़सवार और ४५ पैदल सैनिक होते हैं।

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

आठवें दिन व्यूहबद्ध कौरव-पाण्डव-सेनाओंकी रणयात्रा और उनका परस्पर घमासान युद्ध

संजय उवाच

परिणाम्य निशां तां तु सुखं प्राप्ता जनेश्वराः ।
कुरवः पाण्डवाश्चैव पुनर्युद्धाय निर्ययुः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! नरेश्वर कौरव और पाण्डव निद्रासुखका अनुभव करके वह रात बिताकर पुनः युद्धके लिये निकले ।। १ ।।

ततः शब्दो महानासीत् सैन्ययोरुभयोर्नृप ।
निर्गच्छमानयोः संख्ये सागरप्रतिमो महान् ।। २ ।।

महाराज! वे दोनों सेनाएँ जब युद्धके लिये शिविरसे बाहर निकलने लगीं, उस समय संग्रामभूमिमें महासागरकी गर्जनाके समान महान् घोष होने लगा ।। २ ।।

ततो दुर्योधनो राजा चित्रसेनो विविंशतिः ।
भीष्मश्च रथिनां श्रेष्ठो भारद्वाजश्च वै नृप ।। ३ ।।
एकीभूताः सुसंयत्ताः कौरवाणां महाचमूम् ।
व्यूहाय विदधू राजन् पाण्डवान् प्रति दंशिताः ।। ४ ।।

नरेश्वर! तत्पश्चात् राजा दुर्योधन, चित्रसेन, विविंशति, रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्म तथा द्रोणाचार्य—ये सब संगठित एवं सावधान होकर पाण्डवोंसे युद्ध करनेके लिये कवच बाँधकर कौरवोंके विशाल सैन्यकी व्यूह-रचना करने लगे ।। ३-४ ।।

भीष्मः कृत्वा महाव्यूहं पिता तव विशाम्पते ।
सागरप्रतिमं घोरं वाहनोर्मितरङ्गिणम् ।। ५ ।।

प्रजानाथ! आपके ताऊ भीष्मने समुद्रके समान विशाल एवं भयंकर महाव्यूहका निर्माण किया, जिसमें हाथी, घोड़े आदि वाहन उत्ताल तरंगोंके समान प्रतीत होते थे ।। ५ ।।

अग्रतः सर्वसैन्यानां भीष्मः शान्तनवो ययौ ।
मालवैर्दाक्षिणात्यैश्च आवन्त्यैश्च समन्वितः ।। ६ ।।

शान्तनुनन्दन भीष्म सम्पूर्ण सेनाओंके आगे-आगे चले। उनके साथ मालवा, दक्षिण प्रान्त तथा अवन्तीदेशके योद्धा थे ।। ६ ।।

ततोऽनन्तरमेवासीद् भारद्वाजः प्रतापवान् ।
पुलिन्दैः पारदैश्चैव तथा क्षुद्रकमालवैः ।। ७ ।।

उनके पीछे पुलिन्द, पारद, क्षुद्रक तथा मालवदेशीय वीरोंके साथ प्रतापी द्रोणाचार्य थे ।। ७ ।।

द्रोणादनन्तरं यत्तो भगदत्तः प्रतापवान् ।
मगधैश्च कलिङ्गैश्च पिशाचैश्च विशाम्पते ।। ८ ।।

प्रजेश्वर! द्रोणके पीछे मागध, कलिंग और पिशाच सैनिकोंके साथ प्रतापी राजा भगदत्त जा रहे थे, जो बड़े सावधान थे ।। ८ ।।

प्राग्ज्योतिषादनु नृपः कौसल्योऽथ बृहद्बलः ।
मेकलैः कुरुविन्दैश्च त्रैपुरैश्च समन्वितः ।। ९ ।।

प्राग्ज्योतिषपुरनरेशके पीछे कोसलदेशके राजा बृहद्बल थे, जो मेकल, कुरुविन्द तथा त्रिपुराके सैनिकोंके साथ थे ।। ९ ।।

बृहद्बलात् ततः शूरस्त्रिगर्तः प्रस्थलाधिपः ।
काम्बोजैर्बहुभिः सार्धं यवनैश्च सहस्रशः ।। १० ।।

बृहद्बलके बाद शूरवीर त्रिगर्त थे, जो प्रस्थलाके अधिपति थे। उनके साथ बहुत-से काम्बोज और सहस्रों यवन योद्धा थे ।। १० ।।

द्रौणिस्तु रभसः शूरस्त्रैगर्तादनु भारत ।
प्रययौ सिंहनादेन नादयानो धरातलम् ।। ११ ।।

भारत! त्रिगर्तके पीछे वेगशाली वीर अश्वत्थामा चल रहे थे, जो अपने सिंहनादसे समस्त धरातलको निनादित कर रहे थे ।। ११ ।।

तथा सर्वेण सैन्येन राजा दुर्योधनस्तदा ।
द्रौणेरनन्तंर प्रायात् सौदर्यैः परिवारितः ।। १२ ।।

अश्वत्थामाके पीछे सम्पूर्ण सेना तथा भाइयोंसे घिरा हुआ राजा दुर्योधन चल रहा था ।। १२ ।।

दुर्योधनादनु ततः कृपः शारद्वतो ययौ ।
एवमेष महाव्यूहः प्रययौ सागरोपमः ।। १३ ।।

दुर्योधनके पीछे शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य चल रहे थे। इस प्रकार यह सागरके समान महाव्यूह युद्धके लिये प्रस्थान कर रहा था ।। १३ ।।

रेजुस्तत्र पताकाश्च श्वेतच्छत्राणि वा विभो ।
अंगदान्यत्र चित्राणि महार्हाणि धनूंषि च ।। १४ ।।

प्रभो! उस सेनामें बहुत-सी पताकाएँ और श्वेतच्छत्र शोभा पा रहे थे। विचित्र रंगके बहुमूल्य बाजूबन्द और धनुष सुशोभित होते थे ।। १४ ।।

तं तु दृष्ट्वा महाव्यूहं तावकानां महारथः ।
युधिष्ठिरोऽब्रवीत् तूर्णं पार्षतं पृतनापतिम् ।। १५ ।।

राजन्! आपके सैनिकोंका वह महाव्यूह देखकर महारथी युधिष्ठिरने तुरंत ही सेनापति धृष्टद्युम्नसे कहा— ।। १५ ।।

पश्य व्यूहं महेष्वास निर्मितं सागरोपमम् ।
प्रतिव्यूहं त्वमपि हि कुरु पार्षत सत्वरम् ।। १६ ।।

'महाधनुर्धर द्रुपदकुमार! देखो, शत्रुसेनाका व्यूह सागरके समान बनाया गया है। तुम भी उसके मुकाबिलेमें शीघ्र ही अपनी सेनाका व्यूह बना लो' ।। १६ ।।

ततः स पार्षतः क्रूरो व्यूहं चक्रे सुदारुणम् ।
शृङ्गाटकं महाराज परव्यूहविनाशनम् ।। १७ ।।

महाराज! तदनन्तर क्रूर स्वभाववाले धृष्टद्युम्नने अत्यन्त दारुण शृंगाटक (सिंघाड़े)-के आकारवाला व्यूह बनाया, जो शत्रुके व्यूहका विनाश करनेवाला था ।। १७ ।।

शृङ्गाभ्यां भीमसेनश्च सात्यकिश्च महारथः ।
रथैरनेकसाहस्रैस्तथा हयपदातिभिः ।। १८ ।।

उसके दोनों शृंगोंके स्थानमें भीमसेन और महारथी सात्यकि कई हजार रथियों, घुड़सवारों और पैदलोंके साथ मौजूद थे ।। १८ ।।

ताभ्यां बभौ नरश्रेष्ठः श्वेताश्वः कृष्णसारथिः ।
मध्ये युधिष्ठिरो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।। १९ ।।

भीमसेन और सात्यकिके बीचमें यानी उस व्यूहके अग्रभागमें नरश्रेष्ठ श्वेतवाहन अर्जुन खड़े हुए, जिनके सारथि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण थे। मध्य-देशमें राजा युधिष्ठिर तथा माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेव थे ।। १९ ।।

अथोत्तरे महेष्वासाः सहसैन्या नराधिपाः ।
व्यूहं तं पूरयामासुर्व्यूहशास्त्रविशारदाः ।। २० ।।

इनके बाद सेनासहित अनेक महाधनुर्धर नरेश खड़े थे, जो व्यूहशास्त्रके पूर्ण विद्वान् थे। उन्होंने उस व्यूहको प्रत्येक अंग और उपांगसे परिपूर्ण किया था ।। २० ।।

अभिमन्युस्ततः पश्चाद् विराटश्च महारथः ।
द्रौपदेयाश्च संहृष्टा राक्षसश्च घटोत्कचः ।। २१ ।।

उस व्यूहके पिछले भागमें अभिमन्यु, महारथी विराट, हर्षमें भरे हुए द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा राक्षस घटोत्कच विद्यमान थे ।। २१ ।।

एवमेतं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः ।
अतिष्ठन् समरे शूरा योद्धुकामा जयैषिणः ।। २२ ।।

भरतनन्दन! इस प्रकार अपनी सेनाके इस महाव्यूहका निर्माण करके युद्धकी कामना और विजयकी अभिलाषा रखनेवाले शूरवीर पाण्डव समरभूमिमें खड़े थे ।। २२ ।।

भेरीशब्दैश्च विमलैर्विमिश्रैः शङ्खनिःस्वनैः ।
क्ष्वेडितास्फोटितोत्क्रुष्टैर्नादिताः सर्वतो दिशः ।। २३ ।।

उस समय रणभेरियाँ बज रही थीं। उनके निर्मल शब्दोंसे मिली हुई शंख-ध्वनियों तथा गर्जनसे, ताल ठोंकने और उच्चस्वरसे पुकारने आदिके शब्दोंसे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठी थीं ।। २३ ।।

ततः शूराः समासाद्य समरे ते परस्परम् ।
नेत्रैरनिमिषै राजन्नवैक्षन्त परस्परम् ।। २४ ।।

राजन्! तदनन्तर समस्त शूरवीर समरभूमिमें पहुँचकर परस्पर एक-दूसरेको एकटक नेत्रोंसे देखने लगे ।। २४ ।।

नामभिस्ते मनुष्येन्द्र पूर्वं योधाः परस्परम् ।
युद्धाय समवर्तन्त समाहूयेतरेतरम् ।। २५ ।।

नरेन्द्र! पहले उन योद्धाओंने एक-दूसरेके नाम ले-लेकर पुकार-पुकारकर युद्धके लिये परस्पर आक्रमण किया ।। २५ ।।

ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ।
तावकानां परेषां च निघ्नतामितरेतरम् ।। २६ ।।

तत्पश्चात् आपके और पाण्डवोंके सैनिक एक-दूसरेपर अस्त्रोंद्वारा आघात-प्रत्याघात करने लगे। उस समय उनमें अत्यन्त भयंकर घोर युद्ध होने लगा ।। २६ ।।

नाराचा निशिताः संख्ये सम्पतन्ति स्म भारत ।
व्यात्तानना भयकरा उरगा इव संघशः ।। २७ ।।

भारत! उस समय युद्धमें तीखे नाराच नामक बाण इस प्रकार पड़ते थे, मानो मुख फैलाये हुए भयंकर नाग झुंड-के-झुंड गिर रहे हों ।। २७ ।।

निष्पेतुर्विमलाः शक्त्यस्तैलधौताः सुतेजनाः ।
अम्बुदेभ्यो यथा राजन् भ्राजमानाः शतह्रदाः ।। २८ ।।

राजन्! तेलकी धोयी चमचमाती हुई तीखी शक्तियाँ बादलोंसे गिरनेवाली कान्तिमती बिजलियोंके समान सब ओर गिर रही थीं ।। २८ ।।

गदाश्च विमलैः पट्टैः पिनद्धाः स्वर्णभूषितैः ।
पतन्त्यस्तत्र दृश्यने गिरिशृङ्गोपमाः शुभाः ।। २९ ।।

सुवर्णभूषित निर्मल लोहपत्रसे जड़ी हुई सुन्दर गदाएँ पर्वत-शिखरोंके समान वहाँ गिरती दिखायी देती थीं ।। २९ ।।

निस्त्रिंशाश्च व्यदृश्यन्त विमलाम्बरसंनिभाः ।
आर्षभाणि विचित्राणि शतचन्द्राणि भारत ।। ३० ।।
अशोभन्त रणे राजन् पात्यमानानि सर्वशः ।

भारत! स्वच्छ आकाशके सदृश खड्ग और सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे विभूषित ऋषभचर्मकी विचित्र ढालें दृष्टिगोचर हो रही थीं। राजन्! रणभूमिमें गिरायी जाती हुई वे सब-की-सब तलवारें और ढालें बड़ी शोभा पा रही थीं ।। ३०½ ।।

तेऽन्योन्यं समरे सेने युध्यमाने नराधिप ।। ३१ ।।
अशोभेतां यथा देवदैत्यसेने समुद्यते ।

नरेश्वर! दोनों पक्षोंकी सेनाएँ समरभूमिमें एक-दूसरीसे जूझ रही थीं। उस समय परस्पर युद्धके लिये उद्यत हुई देवसेना और दैत्यसेनाके समान उनकी शोभा हो रही थी ।। ३१ १/२ ।।

अभ्यद्रवन्त समरे तेऽन्योन्यं वै समन्ततः ।। ३२ ।।

वे कौरव-पाण्डव सैनिक सब ओर समरांगणमें एक-दूसरेपर धावा करने लगे ।। ३२ ।।

रथास्तु रथिभिस्तूर्णं प्रेषिताः परमाहवे ।
युगैर्युगानि संश्लिष्य युयुधुः पार्थिवर्षभाः ।। ३३ ।।

रथी अपने रथोंको तुरंत ही उस महायुद्धमें दौड़ाकर ले आये। श्रेष्ठ नरेश रथके जुओंसे जुए भिड़ाकर युद्ध करने लगे ।। ३३ ।।

दन्तिनां युध्यमानानां संघर्षात् पावकोऽभवत् ।
दन्तेषु भरतश्रेष्ठ सधूमः सर्वतोदिशम् ।। ३४ ।।

भरतश्रेष्ठ! सम्पूर्ण दिशाओंमें परस्पर जूझते हुए दन्तार हाथियोंके दाँतोंके आपसमें टकरानेसे उनमें धूमसहित अग्नि प्रकट हो जाती थी ।। ३४ ।।

प्रासैरभिहताः केचिद् गजयोधाः समन्ततः ।
पतमानाः स्म दृश्यन्ते गिरिशृङ्गान्नगा इव ।। ३५ ।।

कितने ही हाथीसवार प्रासोंसे घायल होकर पर्वतशिखरसे गिरनेवाले वृक्षोंके समान सब ओर हाथियोंकी पीठोंसे गिरते दिखायी देते थे ।। ३५ ।।

पादाताश्चाप्यदृश्यन्त निघ्नन्तोऽथ परस्परम् ।
चित्ररूपधराः शूरा नखरप्रासयोधिनः ।। ३६ ।।

बघनखों एवं प्रासोंद्वारा युद्ध करनेवाले शूरवीर पैदल सैनिक एक-दूसरेपर प्रहार करते हुए विचित्र रूपधारी दिखायी देते थे ।। ३६ ।।

अन्योन्यं ते समासाद्य कुरुपाण्डवसैनिकाः ।
अस्त्रैर्नानाविधैर्घोरै रणे निन्युर्यमक्षयम् ।। ३७ ।।

इस प्रकार कौरव तथा पाण्डव-सैनिक रणक्षेत्रमें एक-दूसरेसे भिड़कर नाना प्रकारके भयंकर अस्त्रोंद्वारा विपक्षियोंको यमलोक पहुँचाने लगे ।। ३७ ।।

ततः शान्तनवो भीष्मो रथघोषेण नादयन् ।
अभ्यागमद् रणे पार्थान् धनुःशब्देन मोहयन् ।। ३८ ।।

इतनेहीमें शान्तनुनन्दन भीष्म अपने रथकी घर-घराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते और धनुषकी टंकारसे लोगोंको मूर्च्छित करते हुए समरभूमिमें पाण्डव-सैनिकोंपर चढ़ आये ।। ३८ ।।

पाण्डवानां रथाश्चापि नदन्तो भैरवं स्वनम् ।
अभ्यद्रवन्त संयत्ता धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।। ३९ ।।

उस समय धृष्टद्युम्न आदि पाण्डव महारथी भी भयंकर नाद करते हुए युद्धके लिये संनद्ध होकर उनका सामना करनेको दौड़े ।। ३९ ।।

ततः प्रववृते युद्धं तव तेषां च भारत ।
नराश्वरथनागानां व्यतिषक्तं परस्परम् ।। ४० ।।

भरतनन्दन! फिर तो आपके और पाण्डवोंके योद्धाओंमें परस्पर घमासान युद्ध छिड़ गया। पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथी एक-दूसरेसे गुँथ गये ।। ४० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धारम्भे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ।। ८७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८७ ।।

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

भीष्मका पराक्रम, भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके आठ पुत्रोंका वध तथा दुर्योधन और भीष्मकी युद्धविषयक बातचीत

संजय उवाच

भीष्मं तु समरे क्रुद्धं प्रतपन्तं समन्ततः ।
न शेकुः पाण्डवा द्रष्टुं तपन्तमिव भास्करम् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! जैसे तपते हुए सूर्यकी ओर देखना कठिन होता है, उसी प्रकार जब भीष्म उस समरमें कुपित हो सब ओर अपना प्रताप प्रकट करने लगे, उस समय पाण्डवसैनिक उनकी ओर देख न सके ।। १ ।।

ततः सर्वाणि सैन्यानि धर्मपुत्रस्य शासनात् ।
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं मर्दयन्तं शितैः शरैः ।। २ ।।

तदनन्तर धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी आज्ञासे समस्त सेनाएँ गंगानन्दन भीष्मपर टूट पड़ीं, जो अपने तीखे बाणोंसे पाण्डव-सेनाका मर्दन कर रहे थे ।। २ ।।

स तु भीष्मो रणश्लाघी सोमकान् सहसृञ्जयान् ।
पञ्चालांश्च महेष्वासान् पातयामास सायकैः ।। ३ ।।

युद्धकी स्पृहा रखनेवाले भीष्म अपने बाणोंके द्वारा सोमक, सृंजय और पांचाल महाधनुर्धरोंको रणभूमिमें गिराने लगे ।। ३ ।।

ते वध्यमाना भीष्मेण पञ्चालाः सोमकैः सह ।
भीष्ममेवाभ्ययुस्तूर्णं त्यक्त्वा मृत्युकृतं भयम् ।। ४ ।।

भीष्मके द्वारा घायल किये जाते हुए वे सोमक (सृंजय) और पांचाल भी मृत्युका भय छोड़कर तुरंत भीष्मपर ही टूट पड़े ।। ४ ।।

स तेषां रथिनां वीरो भीष्मः शान्तनवो युधि ।
चिच्छेद सहसा राजन् बाहूनथ शिरांसि च ।। ५ ।।

राजन्! वीर शान्तनुनन्दन भीष्म उस युद्धके मैदानमें सहसा उन रथियोंकी भुजाओं और मस्तकोंको काट-काटकर गिराने लगे ।। ५ ।।

विरथान् रथिनश्चक्रे पिता देवव्रतस्तव ।
पतितान्युत्तमाङ्गानि हयेभ्यो हयसादिनाम् ।। ६ ।।

आपके ताऊ देवव्रतने बहुत-से रथियोंको रथहीन कर दिया। घोड़ोंसे घुड़सवारोंके मस्तक कट-कटकर गिरने लगे ।। ६ ।।

निर्मनुष्यांश्च मातङ्गान् शयानान् पर्वतोपमान् ।

अपश्याम महाराज भीष्मास्त्रेण प्रमोहितान् ।। ७ ।।

महाराज! हमने देखा, भीष्मके अस्त्रसे मूर्च्छित हो बहुत-से पर्वताकार गजराज रणभूमिमें पड़े हैं और उनके पास कोई मनुष्य नहीं है ।। ७ ।।

न तत्रासीत् पुमान् कश्चित् पाण्डवानां विशाम्पते ।
अन्यत्र रथिनां श्रेष्ठाद् भीमसेनान्महाबलात् ।। ८ ।।

प्रजानाथ! उस समय वहाँ रथियोंमें श्रेष्ठ महाबली भीमसेनके सिवा पाण्डवपक्षका कोई भी वीर भीष्मके सामने नहीं ठहर सका ।। ८ ।।

स हि भीष्मं समासाद्य ताडयामास संयुगे ।
ततो निष्ठानको घोरो भीष्मभीमसमागमे ।। ९ ।।
बभूव सर्वसैन्यानां घोररूपो भयानकः ।
तथैव पाण्डवा हृष्टाः सिंहनादमथानदन् ।। १० ।।

वे ही युद्धमें भीष्मका सामना करते हुए उनपर अपने बाणोंका प्रहार कर रहे थे। भीष्म और भीमसेनमें युद्ध होते समय सम्पूर्ण सेनाओंमें भयंकर कोलाहल मच गया और पाण्डव हर्षमें भरकर जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ।। ९-१० ।।

ततो दुर्योधनो राजा सोदर्यैः परिवारितः ।
भीष्मं जुगोप समरे वर्तमाने जनक्षये ।। ११ ।।

जिस समय युद्धमें वह जनसंहार हो रहा था, उसी समय राजा दुर्योधन अपने भाइयोंसे घिरा हुआ वहाँ आ पहुँचा और भीष्मकी रक्षा करने लगा ।। ११ ।।

भीमस्तु सारथिं हत्वा भीष्मस्य रथिनां वरः ।
प्रद्रुताश्वे रथे तस्मिन् द्रवमाणे समन्ततः ।। १२ ।।

इसी समय रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने भीष्मके सारथिको मार डाला। फिर तो उनके घोड़े उस रथको लेकर रणभूमिमें चारों ओर दौड़ लगाने लगे ।। १२ ।।

(चचार युधि राजेन्द्र भीमो भीमपराक्रमः ।
सुनाभस्तव पुत्रो वै भीमसेनमुपाद्रवत् ।।
जघान निशितैर्बाणैर्भीमं विव्याध सप्तभिः ।
भीमसेनः सुसंक्रुद्धः शरेण नतपर्वणा ।।)
सुनाभस्य शरेणाशु शिरश्चिच्छेद भारत ।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन स हतो न्यपतद् भुवि ।। १३ ।।

राजेन्द्र! भयंकर पराक्रमी भीमसेन युद्धमें सब ओर विचरने लगे। उस समय आपके पुत्र सुनाभने भीमसेनपर धावा किया और उन्हें सात तीखे बाणोंसे बींध डाला। भारत! तब भीमसेनने भी अत्यन्त कुपित होकर झुकी हुई गाँठवाले क्षुरप्र नामक बाणसे शीघ्र ही सुनाभका सिर काट दिया। उस तीखे क्षुरप्रसे मारा जाकर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। १३ ।।

हते तस्मिन् महाराज तव पुत्रे महारथे ।

नामृष्यन्त रणे शूराः सोदराः सप्त संयुगे ।। १४ ।।

महाराज! आपके उस महारथी पुत्रके मारे जानेपर उसके सात रणवीर भाई, जो वहीं मौजूद थे, भीमसेनका यह अपराध सहन न कर सके ।। १४ ।।

आदित्यकेतुर्बह्वाशी कुण्डधारो महोदरः ।
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षः सुदुर्जयः ।। १५ ।।
पाण्डवं चित्रसंनाहा विचित्रकवचध्वजाः ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे योद्धुकामारिमर्दनाः ।। १६ ।।

आदित्यकेतु, बह्वाशी, कुण्डधार, महोदर, अपराजित, पण्डितक और अत्यन्त दुर्जय वीर विशालाक्ष—ये सातों शत्रुमर्दन भाई विचित्र वेशभूषासे सुसज्जित हो विचित्र कवच और ध्वज धारण किये संग्राम-भूमिमें युद्धकी इच्छासे पाण्डुपुत्र भीमसेनपर टूट पड़े ।। १५-१६ ।।

महोदरस्तु समरे भीमं विव्याध पत्रिभिः ।
नवभिर्वज्रसंकाशैर्नमुचिं वृत्रहा यथा ।। १७ ।।

जैसे वृत्रविनाशक इन्द्रने नमुचि नामक दैत्यपर प्रहार किया था, उसी प्रकार महोदरने समरभूमिमें अपने वज्रसरीखे नौ बाणोंसे भीमसेनको घायल कर दिया ।। १७ ।।

आदित्यकेतुः सप्तत्या बह्वाशी चापि पञ्चभिः ।
नवत्या कुण्डधारश्च विशालाक्षश्च पञ्चभिः ।। १८ ।।
अपराजितो महाराज पराजिष्णुर्महारथम् ।
शरैर्बहुभिरानर्च्छद् भीमसेनं महाबलम् ।। १९ ।।

महाराज! आदित्यकेतुने सत्तर, बह्वाशीने पाँच, कुण्डधारने नब्बे, विशालाक्षने पाँच और अपराजितने महारथी महाबली भीमसेनको पराजित करनेके लिये उन्हें बहुत-से बाणोंद्वारा पीड़ित किया ।। १८-१९ ।।

रणे पण्डितकश्चैनं त्रिभिर्बाणैः समार्पयत् ।
स तन्न ममृषे भीमः शत्रुभिर्वधमाहवे ।। २० ।।

पण्डितकने उस युद्धमें तीन बाणोंसे भीमसेनको घायल कर दिया। तब भीम उस रणक्षेत्रमें शत्रुओंद्वारा किये हुए प्रहारको सहन न कर सके ।। २० ।।

धनुः प्रपीड्य वामेन करेणामित्रकर्शनः ।
शिरश्चिच्छेद समरे शरेणानतपर्वणा ।। २१ ।।
अपराजितस्य सुनसं तव पुत्रस्य संयुगे ।

उन शत्रुसूदन वीरने बायें हाथसे धनुषको अच्छी तरह दबाकर झुकी हुई गाँठवाले बाणसे समरभूमिमें आपके पुत्र अपराजितका सुन्दर नासिकासे युक्त मस्तक काट डाला ।। २१ $\frac{1}{2}$ ।।

पराजितस्य भीमेन निपपात शिरो महीम् ।। २२ ।।

अथापरेण भल्लेन कुण्डधारं महारथम् ।

प्राहिणोन्मृत्युलोकाय सर्वलोकस्य पश्यतः ।। २३ ।।

भीमसेनसे पराजित हुए अपराजितका मस्तक धरतीपर जा गिरा। तत्पश्चात् भीमसेनने एक-दूसरे भल्लके द्वारा सब लोगोंके देखते-देखते महारथी कुण्डधारको यमराजके लोकमें भेज दिया ।। २२-२३ ।।

ततः पुनरमेयात्मा प्रसंधाय शिलीमुखम् ।

प्रेषयामास समरे पण्डितं प्रति भारत ।। २४ ।।

भरतनन्दन! तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भीमने समरमें पुनः एक बाणका संधान करके उसे पण्डितककी ओर चलाया ।। २४ ।।

स शरः पण्डितं हत्वा विवेश धरणीतलम् ।

यथा नरं निहत्याशु भुजगः कालचोदितः ।। २५ ।।

जैसे कालप्रेरित सर्प किसी मनुष्यको शीघ्र ही डँसकर लापता हो जाता है, उसी प्रकार वह बाण पण्डितककी हत्या करके धरतीमें समा गया ।। २५ ।।

विशालाक्षशिरश्छित्त्वा पातयामास भूतले ।

त्रिभिः शरैरदीनात्मा स्मरन् क्लेशं पुरातनम् ।। २६ ।।

उसके बाद उदार हृदयवाले भीमने अपने पूर्व-क्लेशोंका स्मरण करके तीन बाणोंद्वारा विशालाक्षके मस्तकको काटकर धरतीपर गिरा दिया ।। २६ ।।

महोदरं महेष्वासं नाराचेन स्तनान्तरे ।

विव्याध समरे राजन् स हतो न्यपतद् भुवि ।। २७ ।।

राजन्! तत्पश्चात् उन्होंने महाधनुर्धर महोदरकी छातीमें एक नाराचसे प्रहार किया। उससे मारा जाकर वह युद्धमें धरतीपर गिर पड़ा ।। २७ ।।

आदित्यकेतोः केतुं च छित्त्वा बाणेन संयुगे ।

भल्लेन भृशतीक्ष्णेन शिरश्चिच्छेद भारत ।। २८ ।।

भारत! तदनन्तर भीमने रणक्षेत्रमें एक बाणसे आदित्यकेतुकी ध्वजा काटकर अत्यन्त तीखे भल्लके द्वारा उसका मस्तक भी काट दिया ।। २८ ।।

बह्वाशिनं ततो भीमः शरेणानतपर्वणा ।

प्रेषयामास संक्रुद्धो यमस्य सदनं प्रति ।। २९ ।।

इसके बाद क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे मारकर बह्वाशीको यमलोक भेज दिया ।। २९ ।।

प्रदुद्रुवुस्ततस्तेऽन्ये पुत्रास्तव विशाम्पते ।

मन्यमाना हि तत् सत्यं सभायां तस्य भाषितम् ।। ३० ।।

प्रजानाथ! तब आपके दूसरे पुत्र भीमसेनके द्वारा सभामें की हुई उस प्रतिज्ञाको सत्य मानकर वहाँसे भाग खड़े हुए ।। ३० ।।

ततो दुर्योधनो राजा भ्रातृव्यसनकर्शितः ।
अब्रवीत् तावकान् योधान् भीमोऽयं युधि वध्यताम् ।। ३१ ।।

भाइयोंके मरनेसे राजा दुर्योधनको बड़ा कष्ट हुआ। अतः उसने आपके समस्त सैनिकोंको आज्ञा दी कि इस भीमसेनको युद्धमें मार डालो ।। ३१ ।।

एवमेते महेष्वासाः पुत्रास्तव विशाम्पते ।
भ्रातॄन् संदृश्य निहतान् प्रास्मरंस्ते हि तद् वचः ।। ३२ ।।
यदुक्तवान् महाप्राज्ञः क्षत्ता हितमनामयम् ।
तदिदं समनुप्राप्तं वचनं दिव्यदर्शिनः ।। ३३ ।।

प्रजानाथ! इस प्रकार ये आपके महाधनुर्धर पुत्र अपने भाइयोंको मारा गया देख उन बातोंकी याद करने लगे, जिन्हें महाज्ञानी विदुरने कहा था। वे सोचने लगे—दिव्यदर्शी विदुरने हमारे कुशल एवं हितके लिये जो बात कही थी, वह आज सिरपर आ गयी ।। ३२-३३ ।।

लोभमोहसमाविष्टः पुत्रप्रीत्या जनाधिप ।
न बुध्यसे पुरा यत् तत् तथ्यमुक्तं वचो महत् ।। ३४ ।।

जनेश्वर! आपने अपने पुत्रोंके प्रति प्रेमके कारण लोभ और मोहके वशीभूत हो, विदुरने पहले जो सत्य एवं हितकी महत्त्वपूर्ण बात बतायी थी, उसपर ध्यान नहीं दिया ।। ३४ ।।

तथैव च वधार्थाय पुत्राणां पाण्डवो बली ।
नूनं जातो महाबाहुर्यथा हन्ति स्म कौरवान् ।। ३५ ।।

उनके कथनानुसार ही बलवान् पाण्डुपुत्र महाबाहु भीम आपके पुत्रोंके वधका कारण बनते जा रहे हैं और उसी प्रकार वे कौरवोंका सर्वनाश कर रहे हैं ।। ३५ ।।

ततो दुर्योधनो राजा भीष्ममासाद्य संयुगे ।
दुःखेन महताऽऽविष्टो विललाप सुदुःखितः ।। ३६ ।।

उस समय राजा दुर्योधन युद्धभूमिमें भीष्मके पास जाकर महान् दुःखसे व्याप्त एवं अत्यन्त शोकमग्न होकर विलाप करने लगा— ।। ३६ ।।

निहता भ्रातरः शूरा भीमसेनेन मे युधि ।
यतमानास्तथान्येऽपि हन्यन्ते सर्वसैनिकाः ।। ३७ ।।

'पितामह! भीमसेनने युद्धमें मेरे शूरवीर बन्धुओंको मार डाला और दूसरे भी समस्त सैनिक विजयके लिये पूर्ण प्रयत्न करते हुए भी असफल हो उनके हाथसे मारे जा रहे हैं ।। ३७ ।।

भवांश्च मध्यस्थतया नित्यमस्मानुपेक्षते ।
सोऽहं कुपथमारूढः पश्य दैवमिदं मम ।। ३८ ।।

'आप मध्यस्थ बने रहनेके कारण सदा हम-लोगोंकी उपेक्षा करते हैं। मैं बड़े बुरे मार्गपर चढ़ आया। मेरे इस दुर्भाग्यको देखिये' ।। ३८ ।।

एतच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं पिता देवव्रतस्तव ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत् साश्रुलोचनः ।। ३९ ।।

यह क्रूरतापूर्ण वचन सुनकर आपके ताऊ भीष्म अपने नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए वहाँ दुर्योधनसे इस प्रकार बोले— ।। ३९ ।।

उक्तमेतन्मया पूर्वं द्रोणेन विदुरेण च ।
गान्धार्या च यशस्विन्या तत् त्वं तात न बुद्धवान् ।। ४० ।।

'तात! मैंने, द्रोणाचार्यने, विदुरने तथा यशस्विनी गान्धारी देवीने भी पहले ही यह सब बात कह दी थी, परंतु तुमने इसपर ध्यान नहीं दिया ।। ४० ।।

समयश्च मया पूर्वं कृतो वै शत्रुकर्शन ।
नाहं युधि नियोक्तव्यो नाप्याचार्यः कथंचन ।। ४१ ।।

'शत्रुसूदन! मैंने पहले ही यह निश्चय प्रकट कर दिया था कि तुम्हें मुझे या द्रोणाचार्यको युद्धमें किसी प्रकार भी नहीं लगाना चाहिये (क्योंकि हमलोगोंका कौरवों तथा पाण्डवोंके प्रति समान स्नेह है) ।। ४१ ।।

यं यं हि धार्तराष्ट्राणां भीमो द्रक्ष्यति संयुगे ।
हनिष्यति रणे नित्यं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। ४२ ।।

'मैं तुमसे यह सत्य कहता हूँ कि भीमसेन धृतराष्ट्रके पुत्रोंमेंसे जिस-जिसको युद्धमें (अपने सामने आया हुआ) देख लेंगे, उसे प्रतिदिनके संग्राममें अवश्य मार डालेंगे ।। ४२ ।।

स त्वं राजन् स्थिरो भूत्वा रणे कृत्वा दृढां मतिम् ।
योधयस्व रणे पार्थान् स्वर्गं कृत्वा परायणम् ।। ४३ ।।

'अतः राजन्! तुम स्थिर होकर युद्धके विषयमें अपना दृढ़ निश्चय बना लो और स्वर्गको ही अन्तिम आश्रय मानकर रणभूमिमें पाण्डवोंके साथ युद्ध करो ।।

न शक्याः पाण्डवा जेतुं सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ।
तस्माद् युद्धे स्थिरां कृत्वा मतिं युद्धयस्व भारत ।। ४४ ।।

'भारत! इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी पाण्डवोंको जीत नहीं सकते। अतः युद्धके लिये पहले अपनी बुद्धिको स्थिर कर लो। उसके बाद युद्ध करो' ।। ४४ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि सुनाभादिधृतराष्ट्रपुत्रवधे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ।। ८८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सुनाभ आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंका वधविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८८ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४६ श्लोक हैं]

एकोननवतितमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव-सेनाका घमासान युद्ध और भयानक जनसंहार

धृतराष्ट्र उवाच

दृष्ट्वा मे निहतान् पुत्रान् बहूनेकेन संजय ।
भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव किमकुर्वत संयुगे ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! एकमात्र भीमसेनके द्वारा युद्धमें मेरे बहुत-से पुत्रोंको मारा गया देख भीष्म, द्रोण और कृपाचार्यने क्या किया? ।। १ ।।

अहन्यहनि मे पुत्राः क्षयं गच्छन्ति संजय ।
मन्येऽहं सर्वथा सूत दैवेनोपहता भृशम् ।। २ ।।

मेरे पुत्र प्रतिदिन नष्ट होते जा रहे हैं। सूत! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि हमलोग सर्वथा अत्यन्त दुर्भाग्यके मारे हुए हैं ।। २ ।।

यत्र मे तनयाः सर्वे जीयन्ते न जयन्त्युत ।
यत्र भीष्मस्य द्रोणस्य कृपस्य च महात्मनः ।। ३ ।।
सौमदत्तेश्च वीरस्य भगदत्तस्य चोभयोः ।
अश्वत्थाम्नस्तथा तात शूराणामनिवर्तिनाम् ।। ४ ।।
अन्येषां चैव शूराणां मध्यगास्तनया मम ।
यदहन्यन्त संग्रामे किमन्यद् भागधेयतः ।। ५ ।।

दुर्भाग्यके अधीन होनेके कारण ही मेरे पुत्र हारते जा रहे हैं; विजयी नहीं हो रहे हैं। जहाँ भीष्म, द्रोण, महामना कृपाचार्य, वीरवर भूरिश्रवा, भगदत्त, अश्वत्थामा तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाले अन्य शूरवीरोंके बीचमें रहकर भी मेरे पुत्र प्रतिदिन संग्राममें मारे जाते हैं, वहाँ दुर्भाग्यके सिवा और क्या कारण हो सकता है? ।। ३—५ ।।

न हि दुर्योधनो मन्दः पुरा प्रोक्तमबुध्यत ।
वार्यमाणो मया तात भीष्मेण विदुरेण च ।। ६ ।।
गान्धार्या चैव दुर्मेधाः सततं हितकाम्यया ।
नाबुध्यत पुरा मोहात् तस्य प्राप्तमिदं फलम् ।। ७ ।।
यद् भीमसेनः समरे पुत्रान् मम विचेतसः ।
अहन्यहनि संक्रुद्धो नयते यमसादनम् ।। ८ ।।

मूर्ख दुर्योधनने पहले मेरी कही हुई बातोंपर ध्यान नहीं दिया। तात! मैंने, भीष्मने, विदुरने तथा गान्धारीने भी सदा हितकी इच्छासे दुर्बुद्धि दुर्योधनको बार-बार मना किया;

परंतु मोहवश पूर्वकालमें हमारी ये बातें उसके समझमें नहीं आयीं। उसीका यह फल अब प्राप्त हुआ है, जिससे भीमसेन समरांगणमें कुपित होकर मेरे मूर्ख पुत्रोंको प्रतिदिन यमलोक भेज रहा है ।। ६—८ ।।

संजय उवाच

इदं तत् समनुप्राप्तं क्षत्तुर्वचनमुत्तमम् ।
न बुद्धवानसि विभो प्रोच्यमानं हितं तदा ।। ९ ।।

संजयने कहा—प्रभो! उस समय आपने जो विदुरजीके कहे हुए उत्तम एवं हितकारक वचनको नहीं सुना (सुनकर भी उसपर ध्यान नहीं दिया), उसीका यह फल प्राप्त हुआ है ।। ९ ।।

निवारय सुतान् द्यूतात् पाण्डवान् मा द्रुहेति च ।
सुहृदां हितकामानां ब्रुवतां तत् तदेव च ।। १० ।।
न शुश्रूषसि तद् वाक्यं मर्त्यः पथ्यमिवौषधम् ।
तदेव त्वामनुप्राप्तं वचनं साधुभाषितम् ।। ११ ।।

उन्होंने कहा था कि 'आप अपने पुत्रोंको जूआ खेलनेसे रोकिये। पाण्डवोंसे द्रोह न कीजिये।' आपका हित चाहनेवाले अन्यान्य सुहृदोंने भी आपसे वे ही बातें कही थीं; परंतु जैसे मरणासन्न पुरुषको हितकारक ओषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार आप उन हितकर वचनोंको सुनना भी नहीं चाहते थे। अतः श्रेष्ठ विदुरने जैसा बताया था, वैसा ही परिणाम आपके सामने आया है ।। १०-११ ।।

विदुरद्रोणभीष्माणां तथान्येषां हितैषिणाम् ।
अकृत्वा वचनं पथ्यं क्षयं गच्छन्ति कौरवाः ।। १२ ।।

विदुर, द्रोण, भीष्म तथा अन्य हितैषियोंके हितकर वचनोंको न माननेके कारण इन कौरवोंका विनाश हो रहा है ।। १२ ।।

तदेतत् समनुप्राप्तं पूर्वमेव विशाम्पते ।
तस्मात् त्वं शृणु तत्त्वेन यथा युद्धमवर्तत ।। १३ ।।

प्रजापालक नरेश! यह सब तो पहलेसे ही प्राप्त है। अब आप जिस प्रकार युद्ध हुआ, उसका यथावत् समाचार सुनिये ।। १३ ।।

मध्याह्ने सुमहारौद्रः संग्रामः समपद्यत ।
लोकक्षयकरो राजंस्तन्मे निगदतः शृणु ।। १४ ।।

राजन्! उस दिन दोपहर होते-होते बड़ा भयंकर संग्राम होने लगा, जो सम्पूर्ण जगत्के योद्धाओंका विनाश करनेवाला था। वह सब मैं कह रहा हूँ, सुनिये ।। १४ ।।

ततः सर्वाणि सैन्यानि धर्मपुत्रस्य शासनात् ।
संरब्धान्यभ्यवर्तन्त भीष्ममेव जिघांसया ।। १५ ।।

तदनन्तर धर्मपुत्र युधिष्ठिरके आदेशसे क्रोधमें भरी हुई उनकी सारी सेनाएँ भीष्मपर ही टूट पड़ीं। वे भीष्मको मार डालना चाहती थीं ।। १५ ।।

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः ।
युक्तानीका महाराज भीष्ममेव समभ्ययुः ।। १६ ।।

महाराज! धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा महारथी सात्यकि—इन सबने अपनी सेनाओंके साथ भीष्मपर ही आक्रमण किया ।। १६ ।।

विराटो द्रुपदश्चैव सहिताः सर्वसोमकैः ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे भीष्ममेव महारथम् ।। १७ ।।

राजा विराट और सम्पूर्ण सोमकोंसहित द्रुपदने संग्राममें महारथी भीष्मपर ही चढ़ाई की ।। १७ ।।

केकया धृष्टकेतुश्च कुन्तिभोजश्च दंशितः ।
युक्तानीका महाराज भीष्ममेव समभ्ययुः ।। १८ ।।

नरेश्वर! केकय, धृष्टकेतु और कवचधारी कुन्तिभोज—इन सबने अपनी सेनाओंके साथ भीष्मपर ही धावा किया ।। १८ ।।

अर्जुनो द्रौपदेयाश्च चेकितानश्च वीर्यवान् ।
दुर्योधनसमादिष्टान् राज्ञः सर्वान् समभ्ययुः ।। १९ ।।

अर्जुन, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी चेकितान—ये दुर्योधनके भेजे हुए समस्त राजाओंपर चढ़ आये ।। १९ ।।

अभिमन्युस्तथा शूरो हैडिम्बश्च महारथः ।
भीमसेनश्च संक्रुद्धस्तेऽभ्यधावन्त कौरवान् ।। २० ।।

शूरवीर अभिमन्यु, महारथी घटोत्कच तथा क्रोधमें भरे हुए भीमसेन—इन सबने कौरवोंपर धावा किया ।। २० ।।

त्रिधाभूतैरवध्यन्त पाण्डवैः कौरवा युधि ।
तथैव कौरवै राजन्नवध्यन्त परे रणे ।। २१ ।।

राजन्! पाण्डवोंने तीन दलोंमें विभक्त होकर कौरवोंका वध आरम्भ किया। इसी प्रकार कौरव भी रणभूमिमें शत्रुओंका नाश करने लगे ।। २१ ।।

द्रोणस्तु रथिनः श्रेष्ठान् सोमकान् सृंजयैः सह ।
अभ्यधावत संक्रुद्धः प्रेषयिष्यन् यमक्षयम् ।। २२ ।।

द्रोणाचार्यने श्रेष्ठ रथी सोमकों और सृंजयोंको यमलोक भेजनेके लिये क्रोधपूर्वक उनके ऊपर धावा बोल दिया ।। २२ ।।

तत्राक्रन्दो महानासीत् सृंजयानां महात्मनाम् ।
वध्यतां समरे राजन् भारद्वाजेन धन्विना ।। २३ ।।

राजन्! धनुर्धर द्रोणाचार्यके द्वारा समरभूमिमें मारे जाते हुए महामना सृंजयोंका महान् आर्तनाद सुनायी देने लगा ।। २३ ।।

द्रोणेन निहतास्तत्र क्षत्रिया बहवो रणे ।
विचेष्टन्तो ह्यदृश्यन्त व्याधिक्लिष्टा नरा इव ।। २४ ।।

द्रोणाचार्यके मारे हुए बहुत-से क्षत्रिय रणभूमिमें व्याधिग्रस्त मनुष्योंकी भाँति छटपटाते हुए दिखायी देते थे ।। २४ ।।

कूजतां क्रन्दतां चैव स्तनतां चैव भारत ।
अनिशं शुश्रुवे शब्दः क्षुत्क्लिष्टानां नृणामिव ।। २५ ।।

भरतनन्दन! भूखसे पीड़ित मनुष्योंकी भाँति कूजते, क्रन्दन करते और गरजते हुए योद्धाओंका शब्द निरन्तर सुनायी देता था ।। २५ ।।

तथैव कौरवेयाणां भीमसेनो महाबलः ।
चकार कदनं घोरं क्रुद्धः काल इवापरः ।। २६ ।।

इसी प्रकार महाबली भीमसेन क्रोधमें भरे हुए दूसरे कालके समान कौरव सैनिकोंका घोर संहार करने लगे ।।

वध्यतां तत्र सैन्यानामन्योन्येन महारणे ।
प्रावर्तत नदी घोरा रुधिरौघप्रवाहिनी ।। २७ ।।

उस महायुद्धमें परस्पर मारकाट करनेवाले सैनिकोंकी रक्तराशिको प्रवाहित करनेवाली एक भयंकर नदी बह चली ।। २७ ।।

स संग्रामो महाराज घोररूपोऽभवन्महान् ।
कुरूणां पाण्डवानां च यमराष्ट्रविवर्धनः ।। २८ ।।

महाराज! कौरवों और पाण्डवोंका वह घोर महा-संग्राम यमलोककी वृद्धि करनेवाला था ।। २८ ।।

ततो भीमो रणे क्रुद्धो रभसश्च विशेषतः ।
गजानीकं समासाद्य प्रेषयामास मृत्यवे ।। २९ ।।

तब युद्धमें विशेष वेगशाली भीमसेनने कुपित हो हाथियोंकी सेनामें प्रवेशकर उन्हें कालके गालमें भेजना आरम्भ किया ।। २९ ।।

तत्र भारत भीमेन नाराचाभिहता गजाः ।
पेतुर्नेदुश्च सेदुश्च दिशश्च परिबभ्रमुः ।। ३० ।।

भारत! वहाँ भीमके नाराचोंसे पीड़ित हुए हाथी गिरते, चिग्घाड़ते, बैठ जाते अथवा सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्कर लगाने लगते थे ।। ३० ।।

छिन्नहस्ता महानागाश्छिन्नगात्राश्च मारिष ।
क्रौञ्चवद् व्यनदन् भीताः पृथिवीमधिशेरते ।। ३१ ।।

आर्य! सूँड़ तथा दूसरे-दूसरे अंगोंके कट जानेसे हाथी भयभीत हो क्रौंच पक्षीकी भाँति चीत्कार करते और धराशायी हो जाते थे ।। ३१ ।।

नकुलः सहदेवश्च हयानीकमभिद्रुतौ ।
ते हयाः काञ्चनापीडा रुक्मभाण्डपरिच्छदाः ।। ३२ ।।
वध्यमाना व्यदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ।

नकुल और सहदेवने घुड़सवारोंकी सेनापर आक्रमण किया। राजन्! उन घोड़ोंने सोनेकी कलँगी तथा सोनेके ही अन्यान्य आभूषण धारण किये थे। वे सब सैकड़ों और सहस्रोंकी संख्यामें मरकर गिरते दिखायी देते थे ।। ३२ १/२ ।।

पतद्भिस्तुरगै राजन् समास्तीर्यत मेदिनी ।। ३३ ।।
निर्जिह्वैश्च श्वसद्भिश्च कूजद्भिश्च गतासुभिः ।
हयैर्बभौ नरश्रेष्ठ नानारूपधरैर्धरा ।। ३४ ।।

राजन्! वहाँ गिरते हुए घोड़ोंकी लाशोंसे सारी पृथ्वी पट गयी। किन्हींकी जीभ निकल आयी थी, कोई लंबी साँस खींच रहे थे, कोई धीरे-धीरे अव्यक्त शब्द करते और कितनोंके प्राण निकल गये थे। नरश्रेष्ठ! इस प्रकार विभिन्न रूपधारी घोड़ोंसे आच्छादित होनेके कारण इस पृथ्वीकी अद्भुत शोभा हो रही थी ।। ३३-३४ ।।

अर्जुनेन हतैः संख्ये तथा भारत राजभिः ।
प्रबभौ वसुधा घोरा तत्र तत्र विशाम्पते ।। ३५ ।।

भारत! प्रजानाथ! जहाँ-तहाँ अर्जुनके द्वारा युद्धमें मारे गये राजाओंसे भरी हुई वह रणभूमि बड़ी भयानक जान पड़ती थी ।। ३५ ।।

रथैर्भग्नैर्ध्वजैश्छिन्नैर्निकृत्तैश्च महायुधैः ।
चामरैर्व्यजनैश्चैव छत्रैश्च सुमहाप्रभैः ।। ३६ ।।
हारैर्निष्कैः सकेयूरैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
उष्णीषैरपविद्धैश्च पताकाभिश्च सर्वशः ।। ३७ ।।
अनुकर्षैः शुभै राजन् योक्त्रैश्चैव सरश्मिभिः ।
संकीर्णा वसुधा भाति वसन्ते कुसुमैरिव ।। ३८ ।।

राजन्! टूटे हुए रथ, कटे हुए ध्वज, छिन्न-भिन्न हुए बड़े-बड़े आयुध, चँवर, व्यजन, अत्यन्त प्रकाशमान छत्र, सोनेके हार, केयूर, कुण्डलमण्डित मस्तक, गिरे हुए शिरोभूषण (पगड़ी आदि), पताका, सुन्दर अनुकर्ष,* जोत और बागडोर आदिसे आच्छादित हुई वह संग्रामभूमि ऐसी जान पड़ती थी, मानो वसन्तऋतुमें उसपर भाँति-भाँतिके फूल गिरे हुए हों ।। ३६—३८ ।।

एवमेष क्षयो वृत्तः पाण्डूनामपि भारत ।
क्रुद्धे शान्तनवे भीष्मे द्रोणे च रथसत्तमे ।। ३९ ।।
अश्वत्थाम्नि कृपे चैव तथैव कृतवर्मणि ।

तथेतरेषु क्रुद्धेषु तावकानामपि क्षयः ।। ४० ।।

भारत! शान्तनुनन्दन भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा—इनके कुपित होनेसे पाण्डव सैनिकोंका भी इस प्रकार यह संहार हुआ था। साथ ही पाण्डवोंके कुपित होनेसे आपके योद्धाओंका भी ऐसा ही विकट विनाश हुआ था ।। ३९-४० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धे एकोननवतितमोऽध्यायः ।। ८९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८९ ।।

नवतितमोऽध्यायः

इरावान्‌के द्वारा शकुनिके भाइयोंका तथा राक्षस अलम्बुषके द्वारा इरावान्‌का वध

संजय उवाच

वर्तमाने तथा रौद्रे राजन् वीरवरक्षये ।
शकुनिः सौबलः श्रीमान् पाण्डवान् समुपाद्रवत् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! जिस समय बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाला वह भयंकर संग्राम चल रहा था, उसी समय सुबलपुत्र श्रीमान् शकुनिने पाण्डवोंपर आक्रमण किया ।। १ ।।

तथैव सात्वतो राजन् हार्दिक्यः परवीरहा ।
अभ्यद्रवत संग्रामे पाण्डवानां वरूथिनीम् ।। २ ।।

नरेश्वर! इसी प्रकार शत्रुवीरोंका विनाश करनेवाले सात्वतवंशी कृतवर्माने उस संग्राममें पाण्डवोंकी सेनापर आक्रमण किया ।। २ ।।

ततः काम्बोजमुख्यानां नदीजानां च वाजिनाम् ।
आरट्टानां महीजानां सिन्धुजानां च सर्वशः ।। ३ ।।
वनायुजानां शुभ्राणां तथा पर्वतवासिनाम् ।
वाजिनां बहुभिः संख्ये समन्तात् परिवारयन् ।। ४ ।।
ये चापरे तित्तिरिजा जवना वातरंहसः ।
सुवर्णालंकृतैरेतैर्वर्मवद्भिः सुकल्पितैः ।। ५ ।।
हयैर्वातजवैर्मुख्यैः पाण्डवस्य सुतो बली ।
अभ्यवर्तत तत् सैन्यं हृष्टरूपः परंतपः ।। ६ ।।

तत्पश्चात् काम्बोज देशके अच्छे घोड़े, दरियाई घोड़े, मही, स्विन्धु, वनायु, आरट्ट तथा पर्वतीय प्रान्तोंमें होनेवाले सुन्दर घोड़े—इन सबकी बहुत बड़ी सेनाके द्वारा सब ओरसे घिरा हुआ शत्रुओंको संताप देनेवाला पाण्डुनन्दन अर्जुनका बलवान् पुत्र इरावान् हर्षमें भरकर रणभूमिमें कौरवोंकी उस सेनापर चढ़ आया। उसके साथ तित्तिर प्रदेशके शीघ्रगामी घोड़े भी मौजूद थे, जो वायुके समान वेगशाली थे। वे सब-के-सब सोनेके आभूषणोंसे विभूषित थे। उनके शरीरोंमें कवच बँधे हुए थे और उन्हें सुन्दर साज-बाजसे सजाया गया था। वे सभी घोड़े अच्छी जातिके तथा वायुके तुल्य शीघ्रगामी थे ।। ३—६ ।।

अर्जुनस्य सुतः श्रीमानिरावान् नाम वीर्यवान् ।
सुतायां नागराजस्य जातः पार्थेन धीमता ।। ७ ।।

अर्जुनका पराक्रमी पुत्र श्रीमान् इरावान् नागराज कौरव्यकी पुत्रीके गर्भसे बुद्धिमान् अर्जुनद्वारा उत्पन्न किया गया था ।। ७ ।।

ऐरावतेन सा दत्ता अनपत्या महात्मना ।
पतौ हते सुपर्णेन कृपणा दीनचेतना ।। ८ ।।
भार्यार्थं तां च जग्राह पार्थः कामवशानुगाम् ।
एवमेष समुत्पन्नः परपक्षेऽर्जुनात्मजः ।। ९ ।।

नागराजकी वह पुत्री संतानहीन थी। उसके मनोनीत पतिको* गरुड़ने मार डाला था, जिससे वह अत्यन्त दीन एवं दयनीय हो रही थी। ऐरावतवंशी कौरव्यनागने उसे अर्जुनको अर्पित किया और अर्जुनने कामके अधीन हुई उस नागकन्याको भार्यारूपमें ग्रहण किया था। इस प्रकार यह अर्जुनपुत्र उत्पन्न हुआ था। वह सदा मातृकुलमें ही रहा ।। ८-९ ।।

स नागलोके संवृद्धो मात्रा च परिरक्षितः ।
पितृव्येण परित्यक्तः पार्थद्वेषाद् दुरात्मना ।। १० ।।

वह नागलोकमें ही माताद्वारा पाल-पोसकर बड़ा किया गया और सब प्रकारसे वहीं उसकी रक्षा की गयी थी। उस बालकके किसी दुरात्मा वयोवृद्ध सम्बन्धीने अर्जुनके प्रति द्वेष होनेके कारण इनके उस पुत्रको त्याग दिया था ।। १० ।।

रूपवान् बलसम्पन्नो गुणवान् सत्यविक्रमः ।
इन्द्रलोकं जगामाशु श्रुत्वा तत्रार्जुनं गतम् ।। ११ ।।

इरावान् भी रूपवान्, बलवान्, गुणवान् और सत्यपराक्रमी था, बड़े होनेपर जब उसने सुना कि मेरे पिता अर्जुन इस समय इन्द्रलोकमें गये हुए हैं, तब वह शीघ्र ही वहाँ जा पहुँचा ।। ११ ।।

सोऽभिगम्य महाबाहुः पितरं सत्यविक्रमः ।
अभ्यवादयदव्यग्रो विनयेन कृताञ्जलिः ।। १२ ।।
न्यवेदयत चात्मानमर्जुनस्य महात्मनः ।
इरावानस्मि भद्रं ते पुत्रश्चाहं तव प्रभो ।। १३ ।।
मातुः समागमो यश्च तत् सर्वं प्रत्यवेदयत् ।
तच्च सर्वं यथावृत्तमनुसस्मार पाण्डवः ।। १४ ।।

उस सत्यपराक्रमी महाबाहु वीरने अपने पिताके पास पहुँचकर शान्तभावसे उन्हें प्रणाम किया और विनयपूर्वक हाथ जोड़ महामना अर्जुनके समक्ष अपना परिचय देते हुए बोला—'प्रभो! आपका कल्याण हो। मैं आपका ही पुत्र इरावान् हूँ।' उसकी माताके साथ अर्जुनका जो समागम हुआ था, वह सब उसने निवेदन किया। पाण्डुनन्दन अर्जुनको वह सब वृत्तान्त यथार्थ-रूपसे स्मरण हो आया ।। १२—१४ ।।

परिष्वज्य सुतं चापि आत्मनः सदृशं गुणैः ।
प्रीतिमाननयत् पार्थो देवराजनिवेशने ।। १५ ।।

गुणोंमें अपने ही समान उस पुत्रको हृदयसे लगाकर अर्जुन बड़ी प्रसन्नताके साथ उसे देवराजके भवनमें ले गये ।। १५ ।।

सोऽर्जुनेन समाज्ञप्तो देवलोके तदा नृप ।
प्रीतिपूर्वं महाबाहुः स्वकार्यं प्रति भारत ।। १६ ।।

नरेश्वर! भरतनन्दन! उन दिनों देवलोकमें अर्जुनने प्रेमपूर्वक अपने महाबाहु पुत्रको अपना सब कार्य बताते हुए कहा— ।। १६ ।।

युद्धकाले त्वयास्माकं साह्यं देयमिति प्रभो ।
बाढमित्येवमुक्त्वा तु युद्धकाल इहागतः ।। १७ ।।

'शक्तिशाली पुत्र! युद्धके अवसरपर तुम हमलोगोंको सहायता देना।' तब बहुत अच्छा कहकर इरावान् चला गया और अब युद्धके अवसरपर यहाँ आया है ।। १७ ।।

कामवर्णजवैरश्वैर्बहुभिः संवृतो नृप ।
ते हयाः काञ्चनापीडा नानावर्णा मनोजवाः ।। १८ ।।

नरेश्वर! इरावान्‌के साथ इच्छानुसार रूप-रंग और वेगवाले बहुत-से घोड़े मौजूद थे। वे सब-के-सब सोनेके शिरोभूषण धारण करनेवाले तथा मनके समान वेगशाली थे। उनके रंग अनेक प्रकारके थे ।। १८ ।।

उत्पेतुः सहसा राजन् हंसा इव महोदधौ ।
ते त्वदीयान् समासाद्य हयसंघान् मनोजवान् ।। १९ ।।
क्रोडैः कोडानभिघ्नन्तो घोणाभिश्च परस्परम् ।
निपेतुः सहसा राजन् सुवेगाभिहता भुवि ।। २० ।।

राजन्! वे घोड़े महासागरमें उड़नेवाले हंसोंके समान सहसा उछले और आपके मनके समान वेगशाली अश्वोंके समुदायमें पहुँचकर छातीसे उनकी छातीमें तथा नासिकासे एक-दूसरेकी नासिकापर चोट करने लगे। वे सहसा वेगपूर्वक टकराकर पृथ्वीपर गिरते थे ।। १९-२० ।।

निपतद्भिस्तथा तैश्च हयसंघैः परस्परम् ।
शुश्रुवे दारुणः शब्दः सुपर्णपतने यथा ।। २१ ।।

वे अश्वोंके समुदाय परस्पर टकराकर जब गिरते थे, उस समय गरुड़के वेगपूर्वक उतरनेके समान भयंकर शब्द सुनायी देता था ।। २१ ।।

तथैव तावका राजन् समेत्यान्योन्यमाहवे ।
परस्परवधं घोरं चक्रुस्ते हयसादिनः ।। २२ ।।

राजन्! इसी प्रकार आपके और पाण्डवोंके घुड़-सवार युद्धमें एक-दूसरेसे भिड़कर आपसमें भयंकर मार-काट करते थे ।। २२ ।।

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संकुले तुमुले भृशम् ।
उभयोरपि संशान्ता हयसङ्घाः समन्ततः ।। २३ ।।

इस प्रकार अत्यन्त भयानक घमासान युद्ध छिड़ जानेपर दोनों पक्षोंके अश्वसमूह चारों ओर नष्ट हो गये ।। २३ ।।

प्रक्षीणसायकाः शूरा निहताश्वाः श्रमातुराः ।
विलयं समनुप्राप्तास्तक्षमाणाः परस्परम् ।। २४ ।।

शूरवीर योद्धाओंके पास बाण समाप्त हो गये। उनके घोड़े मारे गये। वे परिश्रमसे पीड़ित हो परस्पर घात-प्रतिघात करते हुए विनष्ट हो गये ।। २४ ।।

ततः क्षीणे हयानीके किंचिच्छेषे च भारत ।
सौबलस्यानुजाः शूरा निर्गता रणमूर्धनि ।। २५ ।।

भारत! इस प्रकार जब घुड़सवारोंकी सेना नष्ट हो गयी और उसका अल्पभाग ही अवशिष्ट रह गया; उस अवस्थामें शकुनिके शूरवीर भाई युद्धके मुहानेपर निकले ।। २५ ।।

वायुवेगसमस्पर्शाञ्चवे वायुसमांश्च ते ।
आरुह्य बलसम्पन्नान् वयःस्थांस्तुरगोत्तमान् ।। २६ ।।
गजो गवाक्षो वृषभश्चर्मवानार्जवः शुकः ।
षडेते बलसम्पन्ना निर्ययुर्महतो बलात् ।। २७ ।।

जिनका स्पर्श वायुवेगके समान दुःसह था, जो वेगमें वायुकी समानता करते थे, ऐसे बलसम्पन्न नयी अवस्थावाले उत्तम घोड़ोंपर सवार हो गज, गवाक्ष, वृषभ, चर्मवान्, आर्जव और शुक—ये छः बलवान् वीर अपनी विशाल सेनासे बाहर निकले ।। २६-२७ ।।

वार्यमाणाः शकुनिना तैश्च योधैर्महाबलैः ।
संनद्धा युद्धकुशला रौद्ररूपा महाबलाः ।। २८ ।।

यद्यपि शकुनिने उन्हें मना किया, अन्यान्य महाबली योद्धाओंने भी उन्हें रोका, तथापि वे युद्धकुशल, महाबली रौद्ररूपधारी क्षत्रिय कवच आदिसे सुसज्जित हो युद्धके लिये निकल पड़े ।। २८ ।।

तदनीकं महाबाहो भित्त्वा परमदुर्जयम् ।
बलेन महता युक्ताः स्वर्गाय विजयैषिणः ।। २९ ।।
विविशुस्ते तदा हृष्टा गान्धारा युद्धदुर्मदाः ।

महाबाहो! उस समय उन युद्धदुर्मद गान्धार-देशीय वीरोंने विजय अथवा स्वर्गकी अभिलाषा लेकर विशाल सेनाके साथ पाण्डव-वाहिनीके परम दुर्जयव्यूहका भेदन करके हर्ष और उत्साहसे परिपूर्ण हो उसके भीतर प्रवेश किया ।। २९$\frac{१}{२}$ ।।

तान् प्रविष्टांस्तदा दृष्ट्वा इरावानपि वीर्यवान् ।। ३० ।।
अब्रवीत् समरे योधान् विचित्रान् दारुणायुधान् ।
यथैते धार्तराष्ट्रस्य योधाः सानुगवाहनाः ।। ३१ ।।
हन्यन्ते समरे सर्वे तथा नीतिर्विधीयताम् ।

तब उन्हें सेनाके भीतर प्रविष्ट हुआ देख पराक्रमी इरावान्ने भी समरभूमिमें भयंकर अस्त्र-शस्त्रवाले अपने विचित्र योद्धाओंसे कहा—'वीरो! तुम सब लोग संग्राममें ऐसी नीति बना लो, जिससे दुर्योधनके ये समस्त योद्धा अपने सेवकों और सवारियोंसहित मार डाले जायँ' ।। ३०-३१½ ।।

बाढमित्येवमुक्त्वा ते सर्वे योधा इरावतः ।। ३२ ।।
जघ्नुस्तेषां बलानीकं दुर्जयं समरे परैः ।

तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर इरावान्के समस्त सैनिकोंने उन छहों वीरोंके सैन्यसमूहको, जो समरांगणमें दूसरोंके लिये दुर्जय था, मार डाला ।। ३२½ ।।

तदनीकमनीकेन समरे वीक्ष्य पातितम् ।। ३३ ।।
अमृष्यमाणास्ते सर्वे सुबलस्यात्मजा रणे ।
इरावन्तमभिद्रुत्य सर्वतः पर्यवारयन् ।। ३४ ।।

अपनी सेनाको समरभूमिमें शत्रुकी सेनाद्वारा मार गिरायी गयी देख सुबलके सभी पुत्र इसे सह न सके। उन्होंने इरावान्पर धावा करके उसे सब ओरसे घेर लिया ।। ३३-३४ ।।

ताडयन्तः शितैः प्रासैश्चोदयन्तः परस्परम् ।
ते शूराः पर्यधावन्त कुर्वन्तो महदाकुलम् ।। ३५ ।।

वे छहों शूर तीखे प्रासोंसे मारते और एक-दूसरेको बढ़ावा देते हुए इरावान्पर टूट पड़े तथा उसे अत्यन्त व्याकुल करने लगे ।। ३५ ।।

इरावानथ निर्भिन्नः प्रासैस्तीक्ष्णैर्महात्मभिः ।
स्रवता रुधिरेणाक्तस्तोत्रैर्विद्ध इव द्विपः ।। ३६ ।।

उन महामनस्वी वीरोंके तीखे प्रासोंसे क्षत-विक्षत होकर इरावान् बहते हुए रक्तसे नहा उठा। अंकुशोंसे घायल हुए हाथीके समान व्याकुल हो गया ।। ३६ ।।

पुरतोऽपि च पृष्ठे च पार्श्वयोश्च भृशाहतः ।
एको बहुभिरत्यर्थं धैर्याद् राजन् न विव्यथे ।। ३७ ।।

राजन्! वह अकेला था और उसपर प्रहार करनेवालोंकी संख्या बहुत थी। वह आगे-पीछे और अगल-बगलमें अत्यन्त घायल हो गया था; तो भी धैर्यके कारण व्यथित नहीं हुआ ।। ३७ ।।

इरावानपि संक्रुद्धः सर्वांस्तान् निशितैः शरैः ।
मोहयामास समरे विद्ध्वा परपुरंजयः ।। ३८ ।।

अब इरावान्को भी बड़ा क्रोध हुआ। शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले उस वीरने समरमें तीखे बाणोंद्वारा बींधकर उन सबको मूर्च्छित कर दिया ।। ३८ ।।

प्रासानुत्कृत्य तरसा स्वशरीरादरिंदमः ।
तैरेव ताडयामास सुबलस्यात्मजान् रणे ।। ३९ ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले इरावान्ने अपने शरीरसे वेगपूर्वक प्रासोंको निकालकर उन्हींके द्वारा रणभूमिमें सुबलपुत्रोंपर प्रहार किया ।। ३९ ।।

विकृष्य च शितं खड्गं गृहीत्वा च शरावरम् ।
पदातिर्द्रुतमागच्छज्जिघांसुः सौबलान् युधि ।। ४० ।।

तत्पश्चात् तीखी तलवार और ढाल निकालकर इरावान्ने युद्धमें सुबलपुत्रोंको मार डालनेकी इच्छासे तुरंत उनके ऊपर पैदल ही धावा किया ।। ४० ।।

ततः प्रत्यागतप्राणाः सर्वे ते सुबलात्मजाः ।
भूयः क्रोधसमाविष्टा इरावन्तमभिद्रुताः ।। ४१ ।।

तदनन्तर सुबलपुत्रोंमें प्राणशक्ति पुनः लौट आयी। अतः वे सब-के-सब सचेत होनेपर पुनः क्रोधमें भर गये और इरावान्पर दौड़े ।। ४१ ।।

इरावानपि खड्गेन दर्शयन् पाणिलाघवम् ।
अभ्यवर्तत तान् सर्वान् सौबलान् बलदर्पितः ।। ४२ ।।

इरावान् भी बलके अभिमानमें उन्मत्त हो अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाता हुआ खड्गके द्वारा उन समस्त सुबलपुत्रोंका सामना करने लगा ।। ४२ ।।

लाघवेनाथ चरतः सर्वे ते सुबलात्मजाः ।
अन्तरं नाभ्यगच्छन्त चरन्तः शीघ्रगैर्हयैः ।। ४३ ।।

वह अकेला बड़ी फुर्तीसे पैंतरे बदल रहा था और वे सभी सुबलपुत्र शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा विचर रहे थे, तो भी वे अपनेमें उसकी अपेक्षा कोई विशेषता न ला सके ।। ४३ ।।

भूमिष्ठमथ तं संख्ये सम्प्रदृश्य ततः पुनः ।
परिवार्य भृशं सर्वे ग्रहीतुमुपचक्रमुः ।। ४४ ।।

तदनन्तर इरावान्को भूमिपर स्थित देख वे सभी सुबलपुत्र युद्धमें उसे पुनः भलीभाँति घेरकर बन्दी बनानेकी तैयारी करने लगे ।। ४४ ।।

अथाभ्याशगतानां स खड्गेनामित्रकर्शनः ।
असिहस्तापहस्ताभ्यां तेषां गात्राण्यकृन्तत ।। ४५ ।।

तब शत्रुसूदन इरावान्ने निकट आनेपर कभी दाहिने और कभी बायें हाथसे तलवार घुमाकर उसके द्वारा शत्रुओंके अंगोंको छिन्न-भिन्न कर दिया ।। ४५ ।।

आयुधानि च सर्वेषां बाहूनपि विभूषितान् ।
अपतन्त निकृत्ताङ्गा मृता भूमौ गतासवः ।। ४६ ।।

उन सबके आयुधों और भूषणभूषित भुजाओंको भी उसने काट डाला। इस प्रकार अंग-अंग कट जानेसे वे प्राणशून्य हो मरकर धरतीपर गिर पड़े ।। ४६ ।।

वृषभस्तु महाराज बहुधा विपरिक्षतः ।
अमुच्यत महारौद्रात् तस्माद् वीरावकर्तनात् ।। ४७ ।।

महाराज! वृषभ बहुत घायल हो गया था तो भी वीरोंका उच्छेद करनेवाले उस महाभयंकर संग्रामसे उसने अपने-आपको किसी प्रकार मुक्त कर लिया ।। ४७ ।।

तान् सर्वान् पतितान् दृष्ट्वा भीतो दुर्योधनस्ततः ।
अभ्यधावत संक्रुद्धो राक्षसं घोरदर्शनम् ।। ४८ ।।
आर्ष्यशृङ्गिं महेष्वासं मायाविनमरिंदमम् ।
वैरिणं भीमसेनस्य पूर्वं बकवधेन वै ।। ४९ ।।

उन सबको मार गिराया गया देख दुर्योधन भयभीत हो उठा और वह अत्यन्त क्रोधमें भरकर भयंकर दीखनेवाले राक्षस ऋष्यशृंगपुत्र (अलम्बुष)-के पास दौड़ा गया। वह राक्षस शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ, मायावी और महान् धनुर्धर था। पूर्वकालमें किये गये बकासुरवधके कारण वह भीमसेनका वैरी बन बैठा था ।। ४८-४९ ।।

पश्य वीर यथा ह्येष फाल्गुनस्य सुतो बली ।
मायावी विप्रियं कर्तुमकार्षीन्मे बलक्षयम् ।। ५० ।।

उसके पास जाकर दुर्योधनने कहा—'वीर! देखो, अर्जुनका यह बलवान् पुत्र बड़ा मायावी है। इसने मेरा अप्रिय करनेके लिये मेरी सेनाका संहार कर डाला है ।। ५० ।।

त्वं च कामगमस्तात मायास्त्रे च विशारदः ।
कृतवैरश्च पार्थेन तस्मादेनं रणे जहि ।। ५१ ।।

'तात! तुम इच्छानुसार चलनेवाले तथा मायामय अस्त्रोंके प्रयोगमें कुशल हो। कुन्तीकुमार भीमने तुम्हारे साथ वैर भी किया है। अतः तुम युद्धमें इस इरावान्‌को अवश्य मार डालो' ।। ५१ ।।

बाढमित्येवमुक्त्वा तु राक्षसो घोरदर्शनः ।
प्रययौ सिंहनादेन यत्रार्जुनसुतो युवा ।। ५२ ।।

'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर वह भयानक दिखायी देनेवाला राक्षस सिंहनाद करके जहाँ नवयुवक अर्जुन-कुमार इरावान् था, उस स्थानपर गया ।। ५२ ।।

आरूढैर्युद्धकुशलैर्विमलप्रासयोधिभिः ।
वीरैः प्रहारिभिर्युक्तैः स्वैरनीकैः समावृतः ।। ५३ ।।
हतशेषैर्महाराज द्विसाहस्रैर्हयोत्तमैः ।
निहन्तुकामः समरे इरावन्तं महाबलम् ।। ५४ ।।

उसके साथ निर्मल प्रास नामक अस्त्रसे युद्ध करनेवाले संग्रामकुशल तथा प्रहार करनेमें समर्थ वीरोंसे युक्त बहुत-सी सेनाएँ थीं। उसके सभी सैनिक सवारियोंपर बैठे हुए थे। उन सबसे घिरा हुआ वह समरभूमिमें महाबली इरावान्‌को मार डालनेकी इच्छासे युद्धस्थलमें गया। महाराज! मरनेसे बचे हुए दो हजार उत्तम घोड़े उसके साथ थे ।। ५३-५४ ।।

इरावानपि संक्रुद्धस्त्वरमाणः पराक्रमी ।
हन्तुकामममित्रघ्नो राक्षसं प्रत्यवारयत् ।। ५५ ।।

शत्रुओंका नाश करनेवाला पराक्रमी इरावान् भी क्रोधमें भरा हुआ था। उसने उसे मारनेकी इच्छा रखनेवाले उस राक्षसका बड़ी उतावलीके साथ निवारण किया ।। ५५ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राक्षसः सुमहाबलः ।
त्वरमाणस्ततो मायां प्रयोक्तुमुपचक्रमे ।। ५६ ।।

इरावान्को आते देख उस महाबली राक्षसने शीघ्रतापूर्वक मायाका प्रयोग आरम्भ किया ।। ५६ ।।

तेन मायामयाः सृष्टा हयास्तावन्त एव हि ।
स्वारूढा राक्षसैर्घोरैः शूलपट्टिशधारिभिः ।। ५७ ।।

उसने मायामय दो हजार घोड़े उत्पन्न किये, जिनपर शूल और पट्टिश धारण करनेवाले भयंकर राक्षस सवार थे ।। ५७ ।।

ते संरब्धाः समागम्य द्विसाहस्राः प्रहारिणः ।
अचिराद् गमयामासुः प्रेतलोकं परस्परम् ।। ५८ ।।

वे दो हजार प्रहारकुशल योद्धा क्रोधमें भरे हुए आकर इरावान्के सैनिकोंके साथ युद्ध करने लगे। इस प्रकार दोनों ओरके योद्धाओंने परस्पर प्रहार करके शीघ्र ही एक-दूसरेको यमलोक पहुँचा दिया ।। ५८ ।।

तस्मिंस्तु निहते सैन्ये तावुभौ युद्धदुर्मदौ ।
संग्रामे समतिष्ठेतां यथा वै वृत्रवासवौ ।। ५९ ।।

इस प्रकार जब दोनों ओरकी सेनाएँ मार डाली गयीं, तब युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले वे दोनों वीर इरावान् तथा अलम्बुष राक्षस ही युद्धभूमिमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान डटे रहे ।। ५९ ।।

आद्रवन्तमभिप्रेक्ष्य राक्षसं युद्धदुर्मदम् ।
इरावानथ संरब्धः प्रत्यधावन्महाबलः ।। ६० ।।

रणदुर्मद राक्षस अलम्बुषको अपने ऊपर धावा करते देख महाबली इरावान् भी क्रोधमें भरकर उसके ऊपर टूट पड़ा ।। ६० ।।

समभ्याशगतस्याजौ तस्य खड्गेन दुर्मतेः ।
चिच्छेद कार्मुकं दीप्तं शरावापं च सत्वरम् ।। ६१ ।।

एक बार जब वह दुर्बुद्धि राक्षस बहुत निकट आ गया, तब इरावान्ने अपने खड्गसे उसके देदीप्यमान धनुष और भाथेको शीघ्र ही काट डाला ।। ६१ ।।

स निकृत्तं धनुर्दृष्ट्वा खं जवेन समाविशत् ।
इरावन्तमभिक्रुद्धं मोहयन्निव मायया ।। ६२ ।।

धनुषको कटा हुआ देख वह राक्षस क्रोधमें भरे हुए इरावान्को अपनी मायासे मोहित-सा करता हुआ बड़े वेगसे आकाशमें उड़ गया ।। ६२ ।।

ततोऽन्तरिक्षमुत्पत्य इरावानपि राक्षसम् ।

विमोहयित्वा मायाभिस्तस्य गात्राणि सायकैः ।। ६३ ।।
चिच्छेद सर्वमर्मज्ञः कामरूपो दुरासदः ।
तथा स राक्षसश्रेष्ठः शरैः कृत्तः पुनः पुनः ।। ६४ ।।
सम्बभूव महाराज समवाप च यौवनम् ।
माया हि सहजा तेषां वयो रूपं च कामजम् ।। ६५ ।।

तब इरावान् भी आकाशमें उछलकर उस राक्षसको अपनी मायाओंसे मोहित करके उसके अंगोंको सायकोंद्वारा छिन्न-भिन्न करने लगा। वह कामरूपधारी श्रेष्ठ राक्षस सम्पूर्ण मर्मस्थानोंको जानने-वाला और दुर्जय था। वह बाणोंसे कटनेपर भी पुनः ठीक हो जाता था। महाराज! वह नयी जवानी प्राप्त कर लेता था; क्योंकि राक्षसोंमें मायाका बल स्वाभाविक होता है और वे इच्छानुसार रूप तथा अवस्था धारण कर लेते हैं ।। ६३—६५ ।।

एवं तद् राक्षसस्याङ्गं छिन्नं छिन्नं बभूव ह ।
इरावानपि संक्रुद्धो राक्षसं तं महाबलम् ।। ६६ ।।
परश्वधेन तीक्ष्णेन चिच्छेद च पुनः पुनः ।

इस प्रकार उस राक्षसका जो-जो अंग कटता, वह पुनः नये सिरेसे उत्पन्न हो जाता था। इरावान् भी अत्यन्त कुपित होकर उस महाबली राक्षसको बारंबार तीखे फरसेसे काटने लगा ।। ६६½ ।।

स तेन बलिना वीरश्छिद्यमान इरावता ।। ६७ ।।
राक्षसोऽप्यनदद् घोरं स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।

बलवान् इरावान्‌के फरसेसे छिन्न-भिन्न हुआ वह वीर राक्षस घोर आर्तनाद करने लगा। उसका वह शब्द बड़ा भयंकर प्रतीत होता था ।। ६७½ ।।

परश्वधक्षतं रक्षः सुस्राव बहु शोणितम् ।। ६८ ।।
ततश्चुक्रोध बलवांश्चक्रे वेगं च संयुगे ।
आर्ष्यशृङ्गिस्तथा दृष्ट्वा समरे शत्रुमूर्जितम् ।। ६९ ।।
कृत्वा घोरं महद् रूपं ग्रहीतुमुपचक्रमे ।
अर्जुनस्य सुतं वीरमिरावन्तं यशस्विनम् ।। ७० ।।

फरसेसे बारंबार छिदनेके कारण राक्षसके शरीरसे बहुत-सा रक्त बह गया। इससे राक्षस ऋष्यशृंगके बलवान् पुत्र अलम्बुषने समरभूमिमें अत्यन्त क्रोध और वेग प्रकट किया। उसने युद्धस्थलमें अपने शत्रुको प्रबल हुआ देख अत्यन्त भयंकर एवं विशाल रूप धारण करके अर्जुनके वीर एवं यशस्वी पुत्र इरावान्‌को कैद करनेका प्रयत्न आरम्भ किया ।। ६८—७० ।।

संग्रामशिरसो मध्ये सर्वेषां तत्र पश्यताम् ।
तां दृष्ट्वा तादृशीं मायां राक्षसस्य दुरात्मनः ।। ७१ ।।

इरावानपि संक्रुद्धो मायां स्रष्टुं प्रचक्रमे ।

युद्धके मुहानेपर समस्त योद्धाओंके देखते-देखते वह इरावान्‌को पकड़ना चाहता था। उस दुरात्मा राक्षसकी वैसी माया देखकर क्रोधमें भरे हुए इरावान्‌ने भी मायाका प्रयोग आरम्भ किया ।। ७१ ½ ।।

तस्य क्रोधाभिभूतस्य समरेष्वनिवर्तिनः ।। ७२ ।।
योऽन्वयो मातृकस्तस्य स एनमभिपेदिवान् ।

संग्राममें पीठ न दिखानेवाला इरावान् जब क्रोधमें भरकर युद्ध कर रहा था, उसी समय उसके मातृकुलके नागोंका समुदाय उसकी सहायताके लिये वहाँ आ पहुँचा ।। ७२ ½ ।।

स नागैर्बहुभी राजन्निरावान् संवृतो रणे ।। ७३ ।।
दधार सुमहद् रूपमनन्त इव भोगवान् ।

राजन्! रणभूमिमें बहुतेरे नागोंसे घिरे हुए इरावान्‌ने विशाल शरीरवाले शेषनागकी भाँति बहुत बड़ा रूप धारण कर लिया ।। ७३ ½ ।।

ततो बहुविधैर्नागैश्छादयामास राक्षसम् ।। ७४ ।।
छाद्यमानस्तु नागैः स ध्यात्वा राक्षसपुङ्गवः ।
सौपर्णं रूपमास्थाय भक्षयामास पन्नगान् ।। ७५ ।।

तदनन्तर उसने बहुत-से नागोंद्वारा राक्षसको आच्छादित कर दिया। नागोंद्वारा आच्छादित होनेपर उस राक्षसराजने कुछ सोच-विचारकर गरुड़का रूप धारण कर लिया और समस्त नागोंको भक्षण करना आरम्भ किया ।। ७४-७५ ।।

मायया भक्षिते तस्मिन्नन्वये तस्य मातृके ।
विमोहितमिरावन्त न्यहनद् राक्षसोऽसिना ।। ७६ ।।

जब उस राक्षसने इरावान्‌के मातृकुलके सब नागोंको भक्षण कर लिया, तब मोहित हुए इरावान्‌को तलवारसे मार डाला ।। ७६ ।।

सकुण्डलं समुकुटं पद्मेन्दुसदृशप्रभम् ।
इरावतः शिरो रक्षाः पातयामास भूतले ।। ७७ ।।

इरावान्‌के कमल और चन्द्रमाके समान कान्तिमान् तथा कुण्डल एवं मुकुटसे मण्डित मस्तकको काटकर राक्षसने धरतीपर गिरा दिया ।। ७७ ।।

तस्मिंस्तु विहते वीरे राक्षसेनार्जुनात्मजे ।
विशोकाः समपद्यन्त धार्तराष्ट्राः सराजकाः ।। ७८ ।।

इस प्रकार राक्षसद्वारा अर्जुनके वीर पुत्र इरावान्‌के मारे जानेपर राजा दुर्योधनसहित आपके सभी पुत्र शोकरहित हो गये ।। ७८ ।।

तस्मिन् महति संग्रामे तादृशे भैरवे पुनः ।
महान् व्यतिकरो घोरः सेनयोः समपद्यत ।। ७९ ।।

फिर तो उस भयंकर एवं महान् संग्राममें दोनों सेनाओंका अत्यन्त भयंकर सम्मिश्रण हो गया ।। ७९ ।।

गजा हयाः पदाताश्च विमिश्रा दन्तिभिर्हताः ।
रथाश्वा दन्तिनश्चैव पत्तिभिस्तत्र सूदिताः ।। ८० ।।
तथा पत्तिरथौघाश्च हयाश्च बहवो रणे ।
रथिभिर्निहता राजंस्तव तेषां च संकुले ।। ८१ ।।

राजन्! आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंके उस संकुल युद्धमें दोनों पक्षोंके मिले हुए हाथी, घोड़े और पैदल दन्तार हाथियोंद्वारा मारे गये। रथ, घोड़े और हाथियोंको पैदल योद्धाओंने मार गिराया तथा बहुत-से पैदल, रथियोंके समूह और घुड़सवार रथी योद्धाओंके द्वारा मार डाले गये ।। ८०-८१ ।।

अजानन्नर्जुनश्चापि निहतं पुत्रमौरसम् ।
जघान समरे शूरान् राज्ञस्तान् भीष्मरक्षिणः ।। ८२ ।।

अर्जुनको अपने औरस पुत्र इरावान्के मारे जानेका पता नहीं लगा था। वे समरांगणमें भीष्मकी रक्षा करनेवाले शूरवीर नरेशोंका संहार कर रहे थे ।। ८२ ।।

तथैव तावका राजन् सृंजयाश्च सहस्रशः ।
जुह्वतः समरे प्राणान् निजघ्नुरितरेतरम् ।। ८३ ।।

राजन्! इसी प्रकार आपके पुत्र और सैनिक तथा सहस्रों सृंजय वीर समराग्निमें प्राणोंकी आहुति देते हुए एक-दूसरेको मार रहे थे ।। ८३ ।।

मुक्तकेशा विकवचा विरथाश्छिन्नकार्मुकाः ।
बाहुभिः समयुध्यन्त समवेताः परस्परम् ।। ८४ ।।

कवच, रथ और धनुषके नष्ट हो जानेपर बाल बिखेरे हुए बहुतेरे योद्धा परस्पर भिड़कर भुजाओंद्वारा मल्लयुद्ध करने लगे ।। ८४ ।।

तथा मर्मातिगैर्भीष्मो निजघान महारथान् ।
कम्पयन् समरे सेनां पाण्डवानां परंतपः ।। ८५ ।।

दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले भीष्म समरांगणमें अपने मर्मभेदी बाणोंद्वारा पाण्डव-सेनाको कम्पित करते हुए उसके बड़े-बड़े रथियोंको मार रहे थे ।। ८५ ।।

तेन यौधिष्ठिरे सैन्ये बहवो मानवा हताः ।
दन्तिनः सादिनश्चैव रथिनोऽथ हयास्तथा ।। ८६ ।।

उन्होंने युधिष्ठिरकी सेनाके बहुत-से पैदलों, सवारोंसहित हाथियों, रथारोहियों और घुड़सवारोंको मार डाला ।। ८६ ।।

तत्र भारत भीष्मस्य रणे दृष्ट्वा पराक्रमम् ।
अत्यद्भुतमपश्याम शक्रस्येव पराक्रमम् ।। ८७ ।।

भारत! हमने उस युद्धमें भीष्मका इन्द्रके समान अत्यन्त अद्‌भुत पराक्रम देखा था ।। ८७ ।।

तथैव भीमसेनस्य पार्षतस्य च भारत ।

रौद्रमासीद् रणे युद्धं सात्यकस्य च धन्विनः ।। ८८ ।।

भरतनन्दन! इसी प्रकार उस रणक्षेत्रमें भीमसेन, धृष्टद्युम्न तथा धनुर्धर सात्यकिका भयानक युद्ध चल रहा था ।। ८८ ।।

दृष्ट्वा द्रोणस्य विक्रान्तं पाण्डवान् भयमाविशत् ।

एक एव रणे शक्तो निहन्तुं सर्वसैनिकान् ।। ८९ ।।

किं पुनः पृथिवीशूरैर्योधव्रातैः समावृतः ।

इत्यब्रुवन् महाराज रणे द्रोणेन पीडिताः ।। ९० ।।

द्रोणाचार्यका पराक्रम देखकर तो पाण्डवोंके मनमें भय समा गया। महाराज! वे युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यसे पीड़ित होकर कहने लगे कि 'रणभूमिमें अकेले द्रोणाचार्य ही समस्त सैनिकोंको मार डालनेकी शक्ति रखते हैं। फिर जब ये भूमण्डलके सुविख्यात शूरवीर योद्धाओंके समुदायोंसे घिरे हुए हैं, तब तो इनकी विजयके लिये कहना ही क्या है?' ।। ८९-९० ।।

वर्तमाने तथा रौद्रे संग्रामे भरतर्षभ ।

उभयोः सेनयोः शूरा नामृष्यन्त परस्परम् ।। ९१ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस भयंकर संग्राममें दोनों सेनाओंके शूरवीर एक-दूसरेका उत्कर्ष नहीं सह सके ।। ९१ ।।

आविष्टा इव युध्यन्ते रक्षोभूता महाबलाः ।

तावकाः पाण्डवेयाश्च संरब्धास्तात धन्विनः ।। ९२ ।।

तात! आपके और पाण्डवपक्षके महाबली धनुर्धर वीर भूतोंसे आविष्ट-से होकर राक्षसोंके समान बनकर क्रोधपूर्वक एक-दूसरेसे जूझ रहे थे ।। ९२ ।।

न स्म पश्यामहे कंचित् प्राणान् यः परिरक्षति ।

संग्रामे दैत्यसंकाशे तस्मिन् वीरवरक्षये ।। ९३ ।।

बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस दैत्योंके तुल्य संग्राममें हमने किसीको ऐसा नहीं देखा जो अपने प्राणोंकी रक्षा कर रहा हो ।। ९३ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि इरावद्वधे नवतितमोऽध्यायः ।। ९० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें इरावान्‌का वधविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९० ।।

* रथके नीचे रहनेवाली लकड़ीको अनुकर्ष कहते हैं, जिसके सहारे पहिये रहते हैं।

* यहाँ मूलमें ‘पतौ’ पाठ है। व्याकरणके अनुसार ‘पति’ शब्दका सप्तमीके एक वचनमें ‘पत्यौ’ रूप होता है। अतः जहाँ ‘पतौ’ पदका प्रयोग है, वहाँ मुख्य ‘पति’का वाचक पति शब्द नहीं है। ‘पतिरिवाचरतीति पतिः’ इस व्युत्पत्तिके अनुसार आचारक्विबन्त ‘पति’ शब्दका यहाँ प्रयोग है, जिसका अर्थ है—पतिसदृश। तात्पर्य यह कि जिसके लिये कन्याका वाग्दान किया गया है, वह मनोनीत पति ही विवाहके पहलेतक ‘पतितुल्य’ है। विवाहके बाद साक्षात् ‘पति’ होता है। इस नागकन्याके मनोनीत पतिको गरुड़ने मार डाला था, इसीलिये ‘नष्टे मृते प्रव्रजिते’ इस पाराशर-वचनके अनुसार उसका अर्जुनके साथ सम्बन्ध हुआ और धर्मात्मा अर्जुनने उसे पत्नीरूपसे ग्रहण किया।

एकनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कच और दुर्योधनका भयानक युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

इरावन्तं तु निहतं दृष्ट्वा पार्था महारथाः ।
संग्रामे किमकुर्वन्त तन्ममाचक्ष्व संजय ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! इरावान्‌को संग्राममें मारा गया देख महारथी कुन्तीपुत्रोंने क्या किया? यह मुझसे कहो ।। १ ।।

संजय उवाच

इरावन्तं तु निहतं संग्रामे वीक्ष्य राक्षसः ।
व्यनदत् सुमहानादं भैमसेनिर्घटोत्कचः ।। २ ।।

संजय बोले—राजन्! इरावान्‌को युद्धभूमिमें मारा गया देख भीमसेनका पुत्र राक्षस घटोत्कच बड़े जोरसे सिंहनाद करने लगा ।। २ ।।

नदतस्तस्य शब्देन पृथिवी सागराम्बरा ।
सपर्वतवना राजंश्चचाल सुभृशं तदा ।। ३ ।।
अन्तरिक्षं दिशश्चैव सर्वाश्च प्रदिशस्तथा ।

नरेश्वर! उस राक्षसकी गर्जनासे समुद्र, आकाश, पर्वत और वनोंसहित यह सारी पृथ्वी जोर-जोरसे हिलने लगी। अन्तरिक्ष, दिशाएँ तथा समस्त कोणोंके प्रदेश भी काँपने लगे ।। ३२ १/२ ।।

तं श्रुत्वा सुमहानादं तव सैन्यस्य भारत ।। ४ ।।
ऊरुस्तम्भः समभवद् वेपथुः स्वेद एव च ।

भारत! घटोत्कचका महान् सिंहनाद सुनकर आपके सैनिकोंकी जाँघें अकड़ गयीं, शरीर काँपने लगा और सम्पूर्ण अंगोंसे पसीना निकलने लगा ।। ४ १/२ ।।

सर्व एव महाराज तावका दीनचेतसः ।। ५ ।।
सर्वतः समचेष्टन्त सिंहभीता गजा इव ।

महाराज! आपके सभी सैनिक सब ओरसे दीन-चित्त हो सिंहसे डरे हुए हाथियोंकी भाँति भयपूर्ण चेष्टाएँ करने लगे ।। ५ १/२ ।।

नर्दित्वा सुमहानादं निर्घातमिव राक्षसः ।। ६ ।।
ज्वलितं शूलमुद्यम्य रूपं कृत्वा विभीषणम् ।
नानारूपप्रहरणैर्वृतो राक्षसपुङ्गवैः ।। ७ ।।
आजघान सुसंक्रुद्धः कालान्तकयमोपमः ।

वज्रकी गड़गड़ाहटके समान भयंकर गर्जना करके काल, अन्तक और यमके समान क्रोधमें भरे हुए उस राक्षसने भीषणरूप बना प्रज्वलित त्रिशूल हाथमें ले भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न बड़े-बड़े राक्षसोंके साथ आकर आपकी सेनाका संहार आरम्भ किया ।। ६-७ १/२ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं भीमदर्शनम् ।। ८ ।।
स्वबलं च भयात् तस्य प्रायशो विमुखीकृतम् ।

अत्यन्त क्रोधमें भरे भयंकर दिखायी देनेवाले उस राक्षसको आक्रमण करते देख उसके भयसे अपनी सेना प्रायः युद्धसे विमुख होकर भाग चली ।। ८ १/२ ।।

ततो दुर्योधनो राजा घटोत्कचमुपाद्रवत् ।। ९ ।।
प्रगृह्य विपुलं चापं सिंहवद् विनदन् मुहुः ।

तब राजा दुर्योधनने विशाल धनुष लेकर बारंबार सिंहके समान गर्जना करते हुए वहाँ घटोत्कचपर धावा किया ।। ९ १/२ ।।

पृष्ठतोऽनुययौ चैनं स्रवद्भिः पर्वतोपमैः ।। १० ।।
कुञ्जरैर्दशसाहस्रैर्वङ्गानामधिपः स्वयम् ।

उसके पीछे मदकी धारा बहानेवाले पर्वताकार दस हजार गजराजोंकी सेना लिये स्वयं वंगदेशका राजा भी गया ।। १० १/२ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य गजानीकेन संवृतम् ।। ११ ।।
पुत्रं तव महाराज चुकोप स निशाचरः ।

महाराज! हाथियोंकी सेनासे घिरे हुए आपके पुत्र दुर्योधनको आते हुए देख वह निशाचर कुपित हो उठा ।। ११ १/२ ।।

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।। १२ ।।
राक्षसानां च राजेन्द्र दुर्योधनबलस्य च ।

राजेन्द्र! फिर तो दुर्योधनकी सेना तथा राक्षसोंमें भयंकर एवं रोमांचकारी युद्ध होने लगा ।। १२ १/२ ।।

गजानीकं च सम्प्रेक्ष्य मेघवृन्दमिवोदितम् ।। १३ ।।
अभ्यधावन्त संक्रुद्धा राक्षसाः शस्त्रपाणयः ।

घिरी हुई मेघोंकी घटाके समान हाथियोंकी सेनाको देखकर क्रोधमें भरे हुए राक्षस हाथमें अस्त्र-शस्त्र लिये उसकी ओर दौड़े ।। १३ १/२ ।।

नदन्तो विविधान् नादान् मेघा इव सविद्युतः ।। १४ ।।
शरशक्त्यृष्टिनाराचैर्निघ्नन्तो गजयोधिनः ।
भिन्दिपालैस्तथा शूलैर्मुद्गरैः सपरश्वधैः ।। १५ ।।
पर्वताग्रैश्च वृक्षैश्च निजघ्नुस्ते महागजान् ।

वे भाँति-भाँतिकी गर्जना करते हुए बिजलीसहित मेघोंके समान शोभा पाते थे। बाण, शक्ति, ऋष्टि, नाराच, भिन्दिपाल, शूल, मुद्‌गर, फरसों, पर्वतशिखर तथा वृक्षोंका प्रहार करके वे गजारोहियों तथा विशाल गजोंका वध करने लगे ।। १४-१५ 1/2 ।।

भिन्नकुम्भान् विरुधिरान् भिन्नगात्रांश्च वारणान् ।। १६ ।।

अपश्याम महाराज वध्यमानान् निशाचरैः ।

महाराज! निशाचरोंद्वारा मारे जानेवाले गजराजोंको हमने देखा था। उनके कुम्भस्थल फट गये थे, शरीर रक्तहीन हो गये और उनके भिन्न-भिन्न अंग छिन्न-भिन्न हो गये थे ।। १६ 1/2 ।।

तेषु प्रक्षीयमाणेषु भग्नेषु गजयोधिषु ।। १७ ।।

दुर्योधनो महाराज राक्षसान् समुपाद्रवत् ।

अमर्षवशमापन्नस्त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।। १८ ।।

महाराज! इस प्रकार गजारोहियोंके भग्न एवं नष्ट हो जानेपर दुर्योधनने अमर्षके वशीभूत हो अपने जीवनका मोह छोड़कर उन राक्षसोंपर धावा किया ।। १७-१८ ।।

मुमोच निशितान् बाणान् राक्षसेषु परंतप ।

जघान च महेष्वासः प्रधानांस्तत्र राक्षसान् ।। १९ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! महाधनुर्धर दुर्योधनने राक्षसोंपर तीखे बाणोंका प्रहार किया और उनमेंसे प्रधान-प्रधान राक्षसोंको मार डाला ।। १९ ।।

संक्रुद्धो भरतश्रेष्ठ पुत्रो दुर्योधनस्तव ।

वेगवन्तं महारौद्रं विद्युज्जिह्वं प्रमाथिनम् ।। २० ।।

शरैश्चतुर्भिश्चतुरो निजघान महाबलः ।

भरतश्रेष्ठ! क्रोधमें भरे हुए आपके महाबली पुत्र दुर्योधनने वेगवान्, महारौद्र, विद्युज्जिह्व और प्रमाथी—इन चार राक्षसोंको चार बाणोंसे मार डाला ।। २० 1/2 ।।

ततः पुनरमेयात्मा शरवर्षं दुरासदम् ।। २१ ।।

मुमोच भरतश्रेष्ठो निशाचरबलं प्रति ।

तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भरतश्रेष्ठ दुर्योधनने उस निशाचरसेनाके ऊपर दुर्धर्ष बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ।। २१ 1/2 ।।

तत् तु दृष्ट्वा महत् कर्म पुत्रस्य तव मारिष ।। २२ ।।

क्रोधेनाभिप्रजज्वाल भैमसेनिर्महाबलः ।

आर्य! आपके पुत्रका वह महान् कर्म देखकर भीमसेनका महाबली पुत्र घटोत्कच क्रोधसे जल उठा ।।

स विस्फार्य महच्चापमिन्द्राशनिसमप्रभम् ।। २३ ।।

अभिदुद्राव वेगेन दुर्योधनमरिंदमम् ।

उसने इन्द्रके वज्रके समान कान्तिमान् विशाल धनुषको खींचकर शत्रुदमन दुर्योधनपर बड़े वेगसे धावा किया ।।

तमापतन्तमुद्वीक्ष्य कालसृष्टमिवान्तकम् ।। २४ ।।
न विव्यथे महाराज पुत्रो दुर्योधनस्तव ।

महाराज! कालप्रेरित मृत्युके समान उस घटोत्कचको आते देख आपका पुत्र दुर्योधन तनिक भी व्यथित नहीं हुआ ।। २४½ ।।

अथैनमब्रवीत् क्रुद्धः क्रूरः संरक्तलोचनः ।। २५ ।।
अद्यानृण्यं गमिष्यामि पितृणां मातुरेव च ।
ये त्वया सुनृशंसेन दीर्घकालं प्रवासिताः ।। २६ ।।
यच्च ते पाण्डवा राजंश्छलद्यूते पराजिताः ।
यच्चैव द्रौपदी कृष्णा एकवस्त्रा रजस्वला ।। २७ ।।
सभामानीय दुर्बुद्धे बहुधा क्लेशिता त्वया ।
तव च प्रियकामेन आश्रमस्था दुरात्मना ।। २८ ।।
सैन्धवेन परामृष्टा परिभूय पितॄन् मम ।
एतेषामपमानानामन्येषां च कुलाधम ।। २९ ।।
अन्तमद्य गमिष्यामि यदि नोत्सृजसे रणम् ।

तदनन्तर क्रूर घटोत्कच क्रोधसे लाल आँखें करके दुर्योधनसे बोला—‘ओ दुष्ट! आज मैं अपने उन पितरों और माताके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा, जिन्हें तूने दीर्घकालतक वनमें रहनेके लिये विवश कर दिया था। तू बड़ा क्रूर है। दुर्बुद्धि नरेश! तूने जो पाण्डवोंको द्यूतमें छलपूर्वक हराया था और जो एक ही वस्त्र धारण करनेवाली द्रुपदकुमारी कृष्णाको रजस्वला-अवस्थामें सभाके भीतर ले जाकर नाना प्रकारके क्लेश दिये थे तथा तेरा ही प्रिय करनेकी इच्छावाले दुरात्मा सिन्धुराजने मेरे पितरोंकी अवहेलना करके आश्रममें रहनेवाली द्रौपदीका अपहरण किया था, कुलाधम! यदि तू युद्ध छोड़कर भाग नहीं जायगा तो इन अपमानोंका और अन्य सब अत्याचारोंका भी आज मैं बदला चुका लूँगा’ ।। २५—२९½ ।।

एवमुक्त्वा तु हैडिम्बो महद् विस्फार्य कार्मुकम् ।। ३० ।।
संदश्य दशनैरोष्ठं सृक्किणी परिसंलिहन् ।
शरवर्षेण महता दुर्योधनमवाकिरत् ।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ।। ३१ ।।

ऐसा कहकर हिडिम्बाकुमारने दाँतोंसे ओठ चबाते और जीभसे मुँहके कोनोंको चाटते हुए अपने विशाल धनुषको खींचकर दुर्योधनपर बाणोंकी बड़ी भारी वृष्टि की। ठीक उसी तरह, जैसे वर्षा-ऋतुमें मेघ पर्वतके शिखरपर जलकी धाराएँ गिराता है ।। ३०-३१ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि हैडिम्बयुद्धे एकनवतितमोऽध्यायः ।। ९१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें घटोत्कच-युद्धविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९१ ।।

द्विनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कचका दुर्योधन एवं द्रोण आदि प्रमुख वीरोंके साथ भयंकर युद्ध

संजय उवाच

ततस्तद् बाणवर्षं तु दुःसहं दानवैरपि ।
दधार युधि राजेन्द्रो यथा वर्षं महाद्विपः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! दानवोंके लिये भी दुःसह उस बाण-वर्षाको राजाधिराज दुर्योधनने युद्धमें उसी प्रकार धारण किया, जैसे महान् गजराज जलकी वर्षाको अपने ऊपर धारण करता है ।। १ ।।

ततः क्रोधसमाविष्टो निःश्वसन्निव पन्नगः ।
संशयं परमं प्राप्तः पुत्रस्ते भरतर्षभ ।। २ ।।

भरतश्रेष्ठ! उस समय क्रोधमें भरकर फुफकारते हुए सर्पके समान लंबी साँस खींचता हुआ आपका पुत्र दुर्योधन जीवन-रक्षाको लेकर भारी संशयमें पड़ गया ।। २ ।।

मुमोच निशितांस्तीक्ष्णान् नाराचान् पञ्चविंशतिम् ।
तेऽपतन् सहसा राजंस्तस्मिन् राक्षसपुङ्गवे ।। ३ ।।
आशीविषा इव क्रुद्धाः पर्वते गन्धमादने ।

उसने अत्यन्त तीखे पचीस नाराच छोड़े। महाराज! वे सब सहसा उस राक्षसराज घटोत्कचपर जाकर गिरे, मानो गन्धमादन पर्वतपर क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्प कहींसे आ पड़े हों ।। ३½ ।।

स तैर्विद्धः स्रवन् रक्तं प्रभिन्न इव कुञ्जरः ।। ४ ।।
दध्रे मतिं विनाशाय राज्ञः स पिशिताशनः ।

उन बाणोंसे घायल होकर वह राक्षस कुम्भ-स्थलसे मदकी धारा बहानेवाले गजराजकी भाँति अपने शरीरसे रक्तकी धारा प्रवाहित करने लगा। उसने राजा दुर्योधनका विनाश करनेके लिये दृढ़ निश्चय कर लिया ।। ४½ ।।

जग्राह च महाशक्तिं गिरीणामपि दारिणीम् ।। ५ ।।
सम्प्रदीप्तां महोल्काभामशनिं ज्वलितामिव ।

तत्पश्चात् उसने पर्वतोंको भी विदीर्ण कर डालनेवाली प्रज्वलित उल्का एवं वज्रके समान प्रकाशित होनेवाली एक महाशक्ति हाथमें ली ।। ५½ ।।

समुद्यच्छन् महाबाहुर्जिघांसुस्तनयं तव ।। ६ ।।
तामुद्यतामभिप्रेक्ष्य वङ्गानामधिपस्त्वरन् ।

कुञ्जरं गिरिसंकाशं राक्षसं प्रत्यचोदयत् ।। ७ ।।

महाबाहु घटोत्कच आपके पुत्रको मार डालनेकी इच्छासे वह शक्ति ऊपरको उठा रहा था। उसे उठी हुई देख वंगदेशके राजाने बड़ी उतावलीके साथ अपने पर्वताकार गजराजको उस राक्षसकी ओर बढ़ाया ।।

स नागप्रवरेणाजौ बलिना शीघ्रगामिना ।
यतो दुर्योधनरथस्तं मार्गं प्रत्यवर्तत ।। ८ ।।

वे वंगनरेश उस शीघ्रगामी महाबली गजराजपर आरूढ़ हो युद्धके मैदानमें उसी मार्गपर चले जहाँ दुर्योधनका रथ खड़ा था ।। ८ ।।

रथं च वारयामास कुञ्जरेण सुतस्य ते ।
मार्गमावारितं दृष्ट्वा राज्ञा वङ्गेन धीमता ।। ९ ।।
घटोत्कचो महाराज क्रोधसंरक्तलोचनः ।

उन्होंने अपने हाथीके द्वारा आपके पुत्रका मार्ग रोक दिया। महाराज! बुद्धिमान् वंगनरेशके द्वारा दुर्योधनके रथका मार्ग रुका हुआ देख घटोत्कचके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये ।। ९½ ।।

उद्यतां तां महाशक्तिं तस्मिंश्चिक्षेप वारणे ।। १० ।।
स तयाभिहतो राजंस्तेन बाहुप्रमुक्तया ।
संजातरुधिरोत्पीडः पपात च ममार च ।। ११ ।।

उसने उस उठायी हुई महाशक्तिको उस हाथीपर ही चला दिया। राजन्! घटोत्कचकी भुजाओंसे छूटी हुई उस शक्तिके आघातसे हाथीका कुम्भस्थल फट गया और उससे रक्तका स्रोत बहने लगा। फिर वह तत्काल ही भूमिपर गिरा और मर गया ।। १०-११ ।।

पतत्यथ गजे चापि वङ्गानामीश्वरो बली ।
जवेन समभिद्रुत्य जगाम धरणीतलम् ।। १२ ।।

हाथीके गिरते समय बलवान् वंगनरेश उसकी पीठसे वेगपूर्वक कूदकर धरतीपर आ गये ।। १२ ।।

दुर्योधनोऽपि सम्प्रेक्ष्य पतितं वरवारणम् ।
प्रभग्नं च बलं दृष्ट्वा जगाम परमां व्यथाम् ।। १३ ।।

उस श्रेष्ठ गजराजको गिरा हुआ देख सारी कौरवसेना भाग खड़ी हुई। यह सब देखकर दुर्योधनके मनमें बड़ी व्यथा हुई ।। १३ ।।

(अशक्तः प्रतियोद्धुं वै दृष्ट्वा तस्य पराक्रमम् ।)
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य आत्मनश्चाभिमानिताम् ।
प्राप्तेऽपक्रमणे राजा तस्थौ गिरिरिवाचलः ।। १४ ।।

वह घटोत्कचके पराक्रमपर दृष्टिपात करके उसका सामना करनेमें असमर्थ हो गया। क्षत्रियधर्म तथा अपने अभिमानको सामने रखकर पलायनका अवसर प्राप्त होनेपर भी

राजा दुर्योधन पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा रहा ।। १४ ।।

संधाय च शितं बाणं कालाग्निसमतेजसम् ।
मुमोच परमक्रुद्धस्तस्मिन् घोरे निशाचरे ।। १५ ।।

तत्पश्चात् उसने प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी एवं तीखे बाणको धनुषपर रखकर उसे अत्यन्त क्रोधपूर्वक उस घोर निशाचरपर छोड़ दिया ।। १५ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य बाणमिन्द्राशनिप्रभम् ।
लाघवान्मोचयामास महात्मा वै घटोत्कचः ।। १६ ।।

इन्द्रके वज्रके समान प्रकाशित होनेवाले उस बाणको अपनी ओर आता देख महामना राक्षस घटोत्कचने अपनी फुर्तीके कारण अपने-आपको उससे बचा लिया ।। १६ ।।

भूयश्च विननादोग्रं क्रोधसंरक्तलोचनः ।
त्रासयामास सैन्यानि युगान्ते जलदो यथा ।। १७ ।।

इसके बाद क्रोधसे आँखें लाल करके वह पुनः भयंकर गर्जना करने लगा। जैसे प्रलयकालमें संवर्तक मेघकी गर्जना होती है, वैसी ही गर्जना करके उसने सारी कौरवसेनाको दहला दिया ।। १७ ।।

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तस्य भीमस्य रक्षसः ।
आचार्यमुपसङ्गम्य भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ।। १८ ।।
यथैष निनदो घोरः श्रूयते राक्षसेरितः ।
हैडिम्बो युध्यते नूनं राज्ञा दुर्योधनेन ह ।। १९ ।।

उस भयानक राक्षसकी वह घोर गर्जना सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने द्रोणाचार्यके पास जाकर इस प्रकार कहा—'आचार्य! यह राक्षसके मुखसे निकली हुई जैसी घोर गर्जना सुनायी दे रही है, उससे अनुमान होता है कि अवश्य ही हिडिम्बाका पुत्र घटोत्कच राजा दुर्योधनके साथ जूझ रहा है ।। १८-१९ ।।

नैष शक्यो हि संग्रामे जेतुं भूतेन केनचित् ।
तत्र गच्छत भद्रं वो राजानं परिरक्षत ।। २० ।।

'इसे कोई भी प्राणी संग्राममें जीत नहीं सकता, अतः आपका कल्याण हो, वहाँ जाइये और राजा दुर्योधनकी रक्षा कीजिये ।। २० ।।

अभिद्रुतो महाभागो राक्षसेन महात्मना ।
एतद्धि वः परं कृत्यं सर्वेषां नः परंतपाः ।। २१ ।।

'जान पड़ता है महाभाग दुर्योधन उस महाकाय राक्षसके आक्रमणका शिकार हो रहा है। शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरो! आपके तथा हम सब लोगोंके लिये यही सर्वोत्तम कृत्य है' ।। २१ ।।

पितामहवचः श्रुत्वा त्वरमाणा महारथाः ।
उत्तमं जवमास्थाय प्रययुर्यत्र कौरवः ।। २२ ।।

भीष्मकी यह बात सुनकर सब महारथी उत्तम वेगका आश्रय ले बड़ी उतावलीके साथ उस स्थानपर गये, जहाँ कुरुराज दुर्योधन मौजूद था ।। २२ ।।

द्रोणश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकोऽथ जयद्रथः ।
कृपो भूरिश्रवाः शल्य आवन्त्यः सबृहद्बलः ।। २३ ।।
अश्वत्थामा विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः ।
रथाश्चानेकसाहस्रा ये तेषामनुयायिनः ।। २४ ।।
अभिद्रुतं परीप्सन्तः पुत्रं दुर्योधनं तव ।
तदनीकमनाधृष्यं पालितं तु महारथैः ।। २५ ।।

द्रोणाचार्य, सोमदत्त, बाह्लीक, जयद्रथ, कृपाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य, अवन्तीका राजकुमार, बृहद्बल, अश्वत्थामा, विकर्ण, चित्रसेन, विविंशति तथा उनके अनुयायी अनेक सहस्र रथी—ये सब लोग राक्षसके द्वारा आक्रान्त हुए आपके पुत्र दुर्योधनकी रक्षा करनेके लिये गये। उन महारथियोंसे पालित होकर वह सेना अजेय हो गयी ।। २३—२५ ।।

आततायिनमायान्तं प्रेक्ष्य राक्षससत्तमः ।
नाकम्पत महाबाहुर्मैनाक इव पर्वतः ।। २६ ।।

युद्धमें आततायी दुर्योधनको आते देख राक्षसशिरोमणि महाबाहु घटोत्कच मैनाक पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा रहा ।। २६ ।।

प्रगृह्य विपुलं चापं ज्ञातिभिः परिवारितः ।
शूलमुद्गरहस्तैश्च नानाप्रहरणैरपि ।। २७ ।।

उसके जाति-बन्धु हाथोंमें शूल, मुद्गर आदि नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर उसे सब ओरसे घेरे हुए थे और उसने एक विशाल धनुष ले रखा था ।। २७ ।।

ततः समभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
राक्षसानां च मुख्यस्य दुर्योधनबलस्य च ।। २८ ।।

तदनन्तर राक्षसशिरोमणि घटोत्कच तथा दुर्योधनकी सेनामें रोमांचकारी एवं भयंकर युद्ध होने लगा ।। २८ ।।

धनुषां कूजतां शब्दः सर्वतस्तुमुलो रणे ।
अश्रूयत महाराज वंशानां दह्यतामिव ।। २९ ।।

महाराज! रणभूमिमें सब ओर बाँसोंके दग्ध होनेके समान धनुषोंकी टंकारका भयंकर शब्द सुनायी देने लगा ।। २९ ।।

अस्त्राणां पात्यमानानां कवचेषु शरीरिणाम् ।
शब्दः समभवद् राजन् गिरीणामिव भिद्यताम् ।। ३० ।।

राजन्! देहधारियोंके कवचोंपर पड़नेवाले अस्त्रोंका ऐसा शब्द होता था, मानो पर्वत विदीर्ण हो रहे हों ।। ३० ।।

वीरबाहुविसृष्टानां तोमराणां विशाम्पते ।

रूपमासीद् वियत्स्थानां सर्पाणामिव सर्पताम् ।। ३१ ।।

प्रजानाथ! वीरोंकी भुजाओंसे छोड़े गये तोमर जब आकाशमें आते, उस समय उनका स्वरूप तीव्र गतिसे उड़नेवाले सर्पोंके समान जान पड़ता था ।। ३१ ।।

ततः परमसंक्रुद्धो विस्फार्य सुमहद् धनुः ।
राक्षसेन्द्रो महाबाहुर्विनदन् भैरवं रवम् ।। ३२ ।।
आचार्यस्यार्धचन्द्रेण क्रुद्धश्चिच्छेद कार्मुकम् ।
सोमदत्तस्य भल्लेन ध्वजं चोन्मथ्य चानदत् ।। ३३ ।।

तदनन्तर महाबाहु राक्षसराज घटोत्कचने अत्यन्त क्रुद्ध हो भैरव गर्जना करते हुए अपने विशाल धनुषको खींचकर अर्धचन्द्राकार बाणसे द्रोणाचार्यके धनुषको काट डाला। फिर एक भल्लके द्वारा सोमदत्तके ध्वजको खण्डित करके सिंहनाद किया ।। ३२-३३ ।।

बाह्लीकं च त्रिभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।
कृपमेकेन विव्याध चित्रसेनं त्रिभिः शरैः ।। ३४ ।।

तत्पश्चात् तीन बाणोंसे बाह्लीककी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी। एक बाणसे कृपाचार्यको और तीनसे चित्रसेनको भी बींध डाला ।। ३४ ।।

पूर्णायतविसृष्टेन सम्यक् प्रणिहितेन च ।
जत्रुदेशे समासाद्य विकर्णं समताडयत् ।। ३५ ।।

इसके बाद उसने धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर उसपर उत्तम रीतिसे बाणोंका संधान करके विकर्णके गलेकी हँसलीमें गहरी चोट पहुँचायी ।। ३५ ।।

न्यषीदत् स्वरथोपस्थे शोणितेन परिप्लुतः ।
ततः पुनरमेयात्मा नाराचान् दश पञ्च च ।। ३६ ।।
भूरिश्रवसि संक्रुद्धः प्राहिणोद् भरतर्षभ ।

इससे विकर्ण अपने रथके पिछले भागमें व्याकुल होकर बैठ गया, उसका सारा शरीर रक्तसे नहा उठा था। भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न घटोत्कचने क्रुद्ध होकर भूरिश्रवापर पंद्रह नाराच चलाये ।। ३६ १/२ ।।

ते वर्म भित्त्वा तस्याशु विविशुर्धरणीतलम् ।। ३७ ।।
विविंशतेश्च द्रौणेश्च यन्तारौ समताडयत् ।
तौ पेततू रथोपस्थे रश्मीनुत्सृज्य वाजिनाम् ।। ३८ ।।

वे नाराच उसके कवचको छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही धरतीमें समा गये। साथ ही घटोत्कचने विविंशति और अश्वत्थामाके सारथियोंपर गहरा आघात किया। वे दोनों घोड़ोंकी बागडोर छोड़कर रथकी बैठकमें गिर पड़े ।। ३७-३८ ।।

सिंधुराज्ञोऽर्धचन्द्रेण वाराहं स्वर्णभूषितम् ।
उन्ममाथ महाराज द्वितीयेनाच्छिनद् धनुः ।। ३९ ।।

महाराज! उसने एक अर्धचन्द्राकार बाणसे सिन्धुराज जयद्रथकी वाराहचिह्नसे युक्त सुवर्णभूषित ध्वजा काट डाली और दूसरे बाणसे उसके धनुषके दो टुकड़े कर दिये ।। ३९ ।।

चतुर्भिरथ नाराचैरावन्त्यस्य महात्मनः ।
जघान चतुरो वाहान् क्रोधसंरक्तलोचनः ।। ४० ।।

इसके बाद क्रोधसे लाल आँखें करके घटोत्कचने चार नाराचोंद्वारा महामना अवन्तीनरेशके चारों घोड़ोंको मार डाला ।। ४० ।।

पूर्णायतविसृष्टेन पीतेन निशितेन च ।
निर्बिभेद महाराज राजपुत्रं बृहद्बलम् ।। ४१ ।।

राजेन्द्र! तदनन्तर धनुषको पूर्णरूपसे खींचकर छोड़े गये पानीदार तीखे बाणसे उसने राजकुमार बृहद्बलको विदीर्ण कर दिया ।। ४१ ।।

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ।
भृशं क्रोधेन चाविष्टो रथस्थो राक्षसाधिपः ।। ४२ ।।

उस बाणसे वह गहराईतक बिंध गया और व्यथित होकर रथके पिछले भागमें जा बैठा। इधर राक्षसराज घटोत्कच अत्यन्त क्रोधसे आविष्ट हो रथपर बैठा रहा ।।

चिक्षेप निशितांस्तीक्ष्णाञ्छरानाशीविषोपमान् ।
बिभिदुस्ते महाराज शल्यं युद्धविशारदम् ।। ४३ ।।

महाराज! रथपर बैठे-ही-बैठे उसने विषधर सर्पोंके समान अत्यन्त तीखे बाण चलाये। उन बाणोंने युद्धविशारद राजा शल्यको पूर्णरूपसे घायल कर दिया ।। ४३ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि हैडिम्बयुद्धे द्विनवतितमोऽध्यायः ।। ९२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें घटोत्कचका युद्धविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९२ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १/२ श्लोक मिलाकर कुल ४३ १/२ श्लोक हैं]

त्रिनवतितमोऽध्यायः

घटोत्कचकी रक्षाके लिये आये हुए भीम आदि शूरवीरोंके साथ कौरवोंका युद्ध और उनका पलायन

संजय उवाच

विमुखीकृत्य सर्वांस्तु तावकान् युधि राक्षसः ।
जिघांसुर्भरतश्रेष्ठ दुर्योधनमुपाद्रवत् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! वह राक्षस युद्धस्थलमें आपके समस्त सैनिकोंको संग्रामसे विमुख करके दुर्योधनको मार डालनेकी इच्छा रखकर उसकी ओर दौड़ा ।। १ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राजानं प्रति वेगितम् ।
अभ्यधावञ्जिघांसन्तस्तावका युद्धदुर्मदाः ।। २ ।।

उसे राजा दुर्योधनकी ओर बड़े वेगसे आते देख आपके रणदुर्मद पुत्र और सैनिक मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर दौड़े ।। २ ।।

तालमात्राणि चापानि विकर्षन्तो महारथाः ।
तमेकमभ्यधावन्त नदन्तः सिंहसंघवत् ।। ३ ।।

उन सभी महारथियोंने चार-चार हाथके धनुष खींचते और सिंहोंके समुदायकी भाँति गर्जना करते हुए उस एकमात्र योद्धा घटोत्कचपर धावा किया ।। ३ ।।

अथैनं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवाकिरन् ।
पर्वतं वारिधाराभिः शरदीव बलाहकाः ।। ४ ।।

जैसे शरद्ऋतुमें बादल पर्वतके शिखरपर जलकी धाराएँ गिराते हैं, उसी प्रकार उन सब कौरव वीरोंने चारों ओरसे घटोत्कचपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ।।

स गाढविद्धो व्यथितस्तोत्रार्दित इव द्विपः ।
उत्पपात तदाऽऽकाशं समन्ताद् वैनतेयवत् ।। ५ ।।

उस समय उन बाणोंके गहरे आघातसे वह अंकुशकी मार खाये हुए हाथीकी भाँति व्यथित हो उठा और तुरंत ही गरुड़के समान आकाशमें सब ओर उड़ने लगा ।।

व्यनदत् सुमहानादं जीमूत इव शारदः ।
दिशः खं विदिशश्चैव नादयन् भैरवस्वनः ।। ६ ।।

आकाशमें स्थित होकर शरद्ऋतुके बादलकी भाँति वह अपने भयंकर स्वरसे अन्तरिक्ष, दिशाओं तथा विदिशाओंको गुँजाता हुआ जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ।। ६ ।।

राक्षसस्य तु तं शब्दं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः ।
उवाच भरतश्रेष्ठ भीमसेनमरिंदमम् ।। ७ ।।

भरतश्रेष्ठ! राक्षस घटोत्कचकी उस गर्जनाको सुनकर राजा युधिष्ठिरने शत्रुदमन भीमसेनसे इस प्रकार कहा— ।। ७ ।।

युध्यते राक्षसो नूनं धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
यथास्य श्रूयते शब्दो नदतो भैरवं स्वनम् ।। ८ ।।

‘राक्षस घटोत्कच कौरव महारथियोंसे निश्चय ही युद्ध कर रहा है। भैरवनाद करते हुए उस राक्षसका जैसा शब्द सुनायी देता है, उससे यही जान पड़ता है ।। ८ ।।

आकाशमें स्थित हुए घटोत्कचकी गर्जना और दुर्योधनके साथ उसका युद्ध

अतिभारं च पश्यामि तस्मिन् राक्षसपुङ्गवे ।

पितामहश्च संक्रुद्धः पञ्चालान् हन्तुमुद्यतः ।। ९ ।।

'मैं उस राक्षसशिरोमणिपर बहुत बड़ा भार देख रहा हूँ। उधर पितामह भीष्म भी अत्यन्त क्रोधमें भरकर पांचालोंको मार डालनेके लिये उद्यत हैं ।। ९ ।।

तेषां च रक्षणार्थाय युध्यते फाल्गुनः परैः ।
एतज्ज्ञात्वा महाबाहो कार्यद्वयमुपस्थितम् ।। १० ।।
गच्छ रक्षस्व हैडिम्बं संशयं परमं गतम् ।

'उनकी रक्षाके लिये अर्जुन शत्रुओंसे युद्ध करते हैं। महाबाहो! अपने ऊपर दो कार्य उपस्थित हैं, ऐसा जानकर तुम जाओ और अत्यन्त संशयमें पड़े हुए हिडिम्बाकुमारकी रक्षा करो' ।।१० १/२ ।।

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय त्वरमाणो वृकोदरः ।। ११ ।।
प्रययौ सिंहनादेन त्रासयन् सर्वपार्थिवान् ।

भाईकी यह आज्ञा मानकर भीमसेन सिंहनादसे सम्पूर्ण नरेशोंको भयभीत करते हुए बड़ी उतावलीके साथ वहाँसे चल दिये ।। ११ १/२ ।।

वेगेन महता राजन् पर्वकाले यथोदधिः ।। १२ ।।
तमन्वगात् सत्यधृतिः सौचित्तिर्युद्धदुर्मदः ।
श्रेणिमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ।। १३ ।।
अभिमन्युमुखाश्चैव द्रौपदेया महारथाः ।
क्षत्रदेवश्च विक्रान्तः क्षत्रधर्मा तथैव च ।। १४ ।।
अनूपाधिपतिश्चैव नीलः स्वबलमास्थितः ।
महता रथवंशेन हैडिम्बं पर्यवारयन् ।। १५ ।।

राजन्! जैसे पूर्णिमाको समुद्र बड़े वेगसे बढ़ता है, उसी प्रकार भीमसेन अत्यन्त वेगसे आगे बढ़े। उनके पीछे सत्यधृति, रणदुर्मद सौचित्ति, श्रेणिमान्, वसुदान, काशिराजके पुत्र अभिभू, अभिमन्यु आदि योद्धा, द्रौपदीके पाँचों महारथी पुत्र, पराक्रमी क्षत्रदेव, क्षत्रधर्मा, अनूपदेशके राजा नील, जिन्हें अपने बलका पूरा भरोसा था—इन सब वीरोंने विशाल रथसेनाके साथ हिडिम्बाकुमार घटोत्कचको सब ओरसे घेर लिया ।। १२—१५ ।।

कुञ्जरैश्च सदा मत्तैः षट्सहस्रैः प्रहारिभिः ।
अभ्यरक्षन्त सहिता राक्षसेन्द्रं घटोत्कचम् ।। १६ ।।

सदा उन्मत्त रहनेवाले, प्रहारकुशल छः हजार गजराजोंके साथ आकर उपर्युक्त वीरोंने एक साथ ही राक्षसराज घटोत्कचकी रक्षा की ।। १६ ।।

सिंहनादेन महता नेमिघोषेण चैव ह ।
खुरशब्दनिपातैश्च कम्पयन्तो वसुन्धराम् ।। १७ ।।

वे महान् सिंहनाद, रथके पहियोंकी घरघराहट और घोड़ोंकी टाप पड़नेसे होनेवाले महान् शब्दके द्वारा वसुधाको कम्पित कर रहे थे ।। १७ ।।

तेषामापततां श्रुत्वा शब्दं तं तावकं बलम् ।
भीमसेनभयोद्विग्नं विवर्णवदनं तथा ।। १८ ।।

उन सबके आनेसे जो कोलाहल हुआ, उसे सुनकर भीमसेनके भयसे उद्विग्न हुए आपके सैनिकोंका मुख उदास हो गया ।। १८ ।।

परिवृत्तं महाराज परित्यज्य घटोत्कचम् ।
ततः प्रववृते युद्धं तत्र तेषां महात्मनाम् ।। १९ ।।
तावकानां परेषां च संग्रामेष्वनिवर्तिनाम् ।

महाराज! उस समय रक्षकोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए घटोत्कचको छोड़कर संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले आपके तथा शत्रुपक्षके उन महामनस्वी योद्धाओंमें भारी युद्ध छिड़ गया ।। १९½ ।।

नानारूपाणि शस्त्राणि विसृजन्तो महारथाः ।। २० ।।
अन्योन्यमभिधावन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।

नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको छोड़ते और एक-दूसरेकी ओर दौड़ते हुए उभय पक्षके महारथी भीषण युद्ध करने लगे ।। २०½ ।।

व्यतिषक्तं महारौद्रं युद्धं भीरुभयावहम् ।। २१ ।।
हया गजैः समाजग्मुः पादाता रथिभिः सह ।

धीरे-धीरे अत्यन्त भयंकर युद्ध छिड़ गया, जो भीरु मनुष्योंको डरानेवाला था। घुड़सवार हाथीसवारोंके और पैदल रथियोंके साथ भिड़ गये ।। २१½ ।।

अन्योन्यं समरे राजन् प्रार्थयानाः समभ्ययुः ।। २२ ।।
सहसा चाभवत् तीव्रं संनिपातान्महद् रजः ।
गजाश्वरथपत्तीनां पदनेमिसमुद्धतम् ।। २३ ।।

राजन्! वे समरांगणमें एक-दूसरेको ललकारते हुए जूझ रहे थे। उस समय उस भीषण संघर्षसे सहसा बड़े जोरकी धूल उठी, जो हाथी, घोड़े और पैदलोंके पैरों तथा रथके पहियोंके धक्केसे उठायी गयी थी ।।

धूम्रारुणं रजस्तीव्रं रणभूमिं समावृणोत् ।
नैव स्वे न परे राजन् समजानम् परस्परम् ।। २४ ।।

महाराज! काले और लाल रंगकी उस दुःसह धूलने समस्त रणभूमिको ढक लिया। उस समय अपने और शत्रुपक्षके योद्धा एक-दूसरेको पहचान नहीं पाते थे ।। २४ ।।

पिता पुत्रं न जानीते पुत्रो वा पितरं तथा ।
निर्मर्यादे तथाभूते वैशसे लोमहर्षणे ।। २५ ।।

उस मर्यादाशून्य रोमांचकारी जनसंहारमें पिता पुत्रको और पुत्र पिताको नहीं पहचान पाता था ।। २५ ।।

शस्त्राणां भरतश्रेष्ठ मनुष्याणां च गर्जताम् ।

सुमहानभवच्छब्दः प्रेतानामिव भारत ।। २६ ।।

भरतश्रेष्ठ! शस्त्रोंके आघात और मनुष्योंकी गर्जनाका महान् शब्द भूत-प्रेतोंकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ।। २६ ।।

गजवाजिमनुष्याणां शोणितान्त्रतरङ्गिणी ।
प्रावर्तत नदी तत्र केशशैवलशाद्वला ।। २७ ।।

हाथी, घोड़े और मनुष्योंके रक्त और आँतोंकी एक भयंकर नदी बह चली, जिसमें केश सेवार और घासके समान जान पड़ते थे ।। २७ ।।

नराणां चैव कायेभ्यः शिरसां पततां रणे ।
शुश्रुवे सुमहाञ्छब्दः पततामश्मनामिव ।। २८ ।।

मनुष्योंके शरीरोंसे रणभूमिमें कटकर गिरते हुए मस्तकोंका महान् शब्द पत्थरोंकी वर्षाके समान जान पड़ता था ।। २८ ।।

विशिरस्कैर्मनुष्यैश्च च्छिन्नगात्रैश्च वारणैः ।
अश्वैः सम्भिन्नदेहैश्च संकीर्णाभूद् वसुन्धरा ।। २९ ।।

बिना सिरके मनुष्यों, कटे हुए अंगोंवाले हाथियों तथा छिन्न-भिन्न शरीरवाले घोड़ोंसे वहाँकी सारी भूमि पट गयी थी ।। २९ ।।

नानाविधानि शस्त्राणि विसृजन्तो महारथाः ।
अन्योन्यमभिधावन्तः सम्प्रहारार्थमुद्यताः ।। ३० ।।

नाना प्रकारके शस्त्रोंको चलाते और एक-दूसरेकी ओर दौड़ते हुए महारथी सर्वथा युद्धके लिये उद्यत थे ।।

हया हयान् समासाद्य प्रेषिता हयसादिभिः ।
समाहत्य रणेऽन्योन्यं निपेतुर्गतजीविताः ।। ३१ ।।

घुड़सवारोंद्वारा प्रेरित हुए घोड़े घोड़ोंसे भिड़कर आपसमें टक्कर लेकर प्राणशून्य हो रणक्षेत्रमें गिर पड़ते थे ।। ३१ ।।

नरा नरान् समासाद्य क्रोधरक्तेक्षणा भृशम् ।
उरांस्युरोभिरन्योन्यं समाश्लिष्य निजघ्निरे ।। ३२ ।।

मनुष्य मनुष्योंपर आक्रमण करके अत्यन्त क्रोधसे लाल आँखें किये छातीसे छाती भिड़ाकर एक-दूसरेको मारने लगे ।। ३२ ।।

प्रेषिताश्च महामात्रैर्वारणाः परवारणैः।
अभ्यघ्नन्त विषाणाग्रैर्वारणानेव संयुगे ।। ३३ ।।

महावतोंके द्वारा आगे बढ़ाने हुए हाथी विपक्षी हाथियोंसे टक्कर लेकर युद्धस्थलमें अपने दाँतोंके अग्रभागसे हाथियोंपर ही चोट करते थे ।। ३३ ।।

ते जातरुधिरोत्पीडाः पताकाभिरलंकृताः ।
संसक्ताः प्रत्यदृश्यन्त मेघा इव सविद्युतः ।। ३४ ।।

उस समय उनके मस्तकसे रक्तकी धारा बहने लगती थी। परस्पर भिड़े हुए वे हाथी पताकाओंसे अलंकृत होनेके कारण विद्युत्सहित मेघोंके समान दिखायी देते थे ।। ३४ ।।

केचिद् भिन्ना विषाणाग्रैर्भिन्नकुम्भाश्च तोमरैः ।
विनदन्तोऽभ्यधावन्त गर्जमाना घना इव ।। ३५ ।।

कितने ही हाथी दाँतोंके अग्रभागसे विदीर्ण हो रहे थे। कितनोंके कुम्भस्थल तोमरोंकी मारसे फट गये थे और वे गर्जते हुए बादलोंके समान चीत्कार करते हुए इधर-उधर भाग रहे थे ।। ३५ ।।

केचिद्धस्तैर्द्विधा च्छिन्नैश्छिन्नगात्रास्तथापरे ।
निपेतुस्तुमुले तस्मिंश्छिन्नपक्षा इवाद्रयः ।। ३६ ।।

किन्हींकी सूँड़ोंके दो टुकड़े हो गये थे, किन्हींके सभी अंग छिन्न-भिन्न हो गये थे, ऐसे हाथी पंख कटे पर्वतोंके समान उस भयानक युद्धमें धड़ाधड़ गिर रहे थे ।। ३६ ।।

पार्श्वैस्तु दारितैरन्ये वारणैर्वरवारणाः ।
मुमुचुः शोणितं भूरि धातूनिव महीधराः ।। ३७ ।।

बहुत-से श्रेष्ठ हाथी हाथियोंके आघातसे ही अपना पार्श्वभाग विदीर्ण हो जानेके कारण उसी प्रकार प्रचुरमात्रामें अपना रक्त बहा रहे थे, जैसे पर्वत गेरु आदि धातुओंसे मिश्रित झरने बहाते हों ।। ३७ ।।

नाराचनिहतास्त्वन्ये तथा विद्धाश्च तोमरैः ।
विनदन्तोऽभ्यधावन्त विशृंगा इव पर्वताः ।। ३८ ।।

कुछ हाथी नाराचोंसे घायल किये गये थे, कितनोंके शरीरोंमें तोमर धँसे हुए थे और वे सब-के-सब घोर चीत्कार करते हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे। उस समय वे शृंगहीन पर्वतोंके समान जान पड़ते थे ।।

केचित् क्रोधसमाविष्टा मदान्धा निरवग्रहाः ।
रथान् हयान् पदातींश्च ममृदुः शतशो रणे ।। ३९ ।।

कितने ही मदान्ध गजराज क्रोधमें भरे होनेके कारण काबूमें नहीं आते थे। उन्होंने रणभूमिमें सैकड़ों रथों, घोड़ों और पैदल सिपाहियोंको पैरों तले रौंद डाला ।। ३९ ।।

तथा हया हयारोहैस्ताडिताः प्रासतोमरैः ।
तेन तेनाभ्यवर्तन्त कुर्वन्तो व्याकुला दिशः ।। ४० ।।

इसी प्रकार घुड़सवारोंद्वारा प्रास और तोमरोंकी मारसे घायल किये हुए घोड़े सम्पूर्ण दिशाओंको व्याकुल करते हुए इधर-उधर भाग रहे थे ।। ४० ।।

रथिनो रथिभिः सार्धं कुलपुत्रास्तनुत्यजः ।
परां शक्तिं समास्थाय चक्रुः कर्माण्यभीतवत् ।। ४१ ।।

कितने ही कुलीन रथी अपने शरीरोंको निछावर करके भारी-से-भारी शक्ति लगाकर विपक्षी रथियोंके साथ निर्भयकी भाँति महान् पराक्रम प्रकट कर रहे थे ।।

स्वयंवर इवामर्दे प्रजह्रुरितरेतरम् ।

प्रार्थयाना यशो राजन् स्वर्गं वा युद्धशालिनः ।। ४२ ।।

राजन्! युद्धमें शोभा पानेवाले वीर स्वर्ग अथवा यश पानेकी इच्छा रखकर स्वयंवरकी भाँति उस युद्धमें एक-दूसरेपर प्रहार कर रहे थे ।। ४२ ।।

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संग्रामे लोमहर्षणे ।

धार्तराष्ट्रं महत् सैन्यं प्रायशो विमुखीकृतम् ।। ४३ ।।

इस प्रकार चलनेवाले उस रोमांचकारी संग्राममें दुर्योधनकी विशाल सेना प्रायः युद्धसे विमुख होकर भाग गयी ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे त्रिनवतितमोऽध्यायः ।। ९३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९३ ।।

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

दुर्योधन और भीमसेनका एवं अश्वत्थामा और राजा नीलका युद्ध तथा घटोत्कचकी मायासे मोहित होकर कौरव-सेनाका पलायन

संजय उवाच

स्वसैन्यं निहतं दृष्ट्वा राजा दुर्योधनः स्वयम् ।
अभ्यधावत संक्रुद्धो भीमसेनमरिंदमम् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! अपनी अधिकांश सेनाको मारी गयी देख क्रोधमें भरे हुए स्वयं राजा दुर्योधनने शत्रुदमन भीमसेनपर धावा किया ।। १ ।।

प्रगृह्य सुमहच्चापमिन्द्राशनिसमस्वनम् ।
महता शरवर्षेण पाण्डवं समवाकिरत् ।। २ ।।

उसने इन्द्रके वज्रकी भाँति भयानक टंकार करनेवाले विशाल धनुषको हाथमें लेकर पाण्डुनन्दन भीमसेनपर बाणोंकी भारी वर्षा आरम्भ की ।। २ ।।

अर्धचन्द्रं च संधाय सुतीक्ष्णं लोमवाहिनम् ।
भीमसेनस्य चिच्छेद चापं क्रोधसमन्वितः ।। ३ ।।

इतना ही नहीं, उसने कुपित होकर पंखयुक्त अत्यन्त तीखे अर्धचन्द्राकार बाणका प्रयोग करके भीमसेनके धनुषको काट दिया ।। ३ ।।

तदन्तरं च सम्प्रेक्ष्य त्वरमाणो महारथः ।
प्रसंदधे शितं बाणं गिरीणामपि दारणम् ।। ४ ।।

फिर उसीको उपयुक्त अवसर समझकर महारथी दुर्योधनने बड़ी उतावलीके साथ एक तीखे बाणका संधान किया, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाला था ।। ४ ।।

तेनोरसि महाराज भीमसेनमताडयत् ।
स गाढविद्धो व्यथितः सृक्किणी परिसंलिहन् ।। ५ ।।
समाललम्बे तेजस्वी ध्वजं हेमपरिष्कृतम् ।

महाराज! उस बाणके द्वारा दुर्योधनने भीमसेनकी छातीपर गहरी चोट पहुँचायी। उससे अत्यन्त घायल होकर तेजस्वी भीमसेन व्यथित हो उठे और मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए उन्होंने अपने सुवर्णभूषित ध्वजका सहारा ले लिया ।। ५½ ।।

तथा विमनसं दृष्ट्वा भीमसेनं घटोत्कचः ।। ६ ।।
क्रोधेनाभिप्रजज्वाल दिधक्षन्निव पावकः ।

भीमसेनको इस प्रकार व्यथितचित्त देखकर घटोत्कच जलानेकी इच्छावाले अग्निदेवकी भाँति क्रोधसे प्रज्वलित हो उठा ।। ६½ ।।

अभिमन्युमुखाश्चापि पाण्डवानां महारथाः ।। ७ ।।

समभ्यधावन् क्रोशन्तो राजानं जातसम्भ्रमाः ।

साथ ही अभिमन्यु आदि पाण्डव महारथी भी बड़े वेगसे राजा दुर्योधनको ललकारते हुए उसकी ओर दौड़े ।। ७½ ।।

सम्प्रेक्ष्यैतान् सम्पततः संक्रुद्धाञ्जातसम्भ्रमान् ।। ८ ।।

भारद्वाजोऽब्रवीद् वाक्यं तावकानां महारथान् ।

क्षिप्रं गच्छत भद्रं वो राजानं परिरक्षत ।। ९ ।।

संशयं परमं प्राप्तं मज्जन्तं व्यसनार्णवे ।

क्रोधमें भरे हुए इन समस्त योद्धाओंको वेगपूर्वक धावा करते देख द्रोणाचार्यने आपके महारथियोंसे कहा—'वीरो! तुम्हारा कल्याण हो। शीघ्र जाओ और संकटके समुद्रमें डूबकर महान् प्राणसंशयमें पड़े हुए राजा दुर्योधनकी रक्षा करो ।। ८-९½ ।।

एते क्रुद्धा महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ।। १० ।।

भीमसेनं पुरस्कृत्य दुर्योधनमुपाद्रवन् ।

नानाविधानि शस्त्राणि विसृजन्तो जये धृताः ।। ११ ।।

नदन्तो भैरवान् नादांस्त्रासयन्तश्च भूमिपान् ।

'ये महाधनुर्धर पाण्डव महारथी कुपित हो भीमसेनको आगे करके दुर्योधनपर धावा कर रहे हैं और विजयका दृढ़ संकल्प ले नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए भैरव गर्जना करते तथा भूमिपालोंको त्रास पहुँचाते हैं' ।। १०-११½ ।।

तदाचार्यवचः श्रुत्वा सौमदत्तिपुरोगमाः ।। १२ ।।

तावकाः समवर्तन्त पाण्डवानामनीकिनीम् ।

आचार्यका यह वचन सुनकर भूरिश्रवा आदि आपके प्रमुख योद्धाओंने पाण्डवसेनापर आक्रमण किया ।।

कृपो भूरिश्रवाः शल्यो द्रोणपुत्रो विविंशतिः ।। १३ ।।

चित्रसेनो विकर्णश्च सैन्धवोऽथ बृहद्बलः ।

आवन्त्यौ च महेष्वासौ कौरवं पर्यवारयन् ।। १४ ।।

कृपाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य, अश्वत्थामा, विविंशति, चित्रसेन, विकर्ण, सिंधुराज जयद्रथ, बृहद्बल तथा अवन्तीके राजकुमार महाधनुर्धर विन्द और अनुविन्द—इन सबने दुर्योधनको उसकी रक्षाके लिये सब ओरसे घेर लिया ।।

ते विंशतिपदं गत्वा सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।

पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च परस्परजिघांसवः ।। १५ ।।

वे बीस कदम आगे बढ़कर प्रहार करने लगे, फिर तो पाण्डव तथा कौरव योद्धा एक-दूसरेको मार डालनेकी इच्छासे युद्ध करने लगे ।। १५ ।।

एवमुक्त्वा महाबाहुर्महद् विस्फार्य कार्मुकम् ।
भारद्वाजस्ततो भीमं षड्विंशत्या समार्पयत् ।। १६ ।।

कौरव महारथियोंसे पूर्वोक्त बात कहनेके पश्चात् महाबाहु भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्यने अपने विशाल धनुषको खींचकर भीमसेनको छब्बीस बाण मारे ।। १६ ।।

भूयश्चैनं महाबाहुः शरैः शीघ्रमवाकिरत् ।
पर्वतं वारिधाराभिः प्रावृषीव बलाहकः ।। १७ ।।

साथ ही उन महाबाहुने उनके ऊपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो वर्षाऋतुमें मेघ पर्वत-शिखरपर जलकी धारा गिरा रहा हो ।। १७ ।।

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीमसेनः शिलीमुखैः ।
त्वरमाणो महेष्वासः सव्ये पार्श्वे महाबलः ।। १८ ।।

तब महाबली महाधनुर्धर भीमसेनने भी बड़ी उतावलीके साथ द्रोणाचार्यकी बायीं पसलीमें दस बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया ।। १८ ।।

स गाढविद्धो व्यथितो वयोवृद्धश्च भारत ।
प्रणष्टसंज्ञः सहसा रथोपस्थ उपाविशत् ।। १९ ।।

भरतनन्दन! उन बाणोंसे उन्हें गहरा आघात लगा। वे वयोवृद्ध तो थे ही, सहसा व्यथित एवं अचेत होकर रथके पिछले भागमें बैठ गये ।। १९ ।।

गुरुं प्रव्यथितं दृष्ट्वा राजा दुर्योधनः स्वयम् ।
द्रौणायनिश्च संक्रुद्धौ भीमसेनमभिद्रुतौ ।। २० ।।

आचार्य द्रोणको व्यथासे पीड़ित देख स्वयं राजा दुर्योधन और अश्वत्थामा दोनों अत्यन्त कुपित हो भीमसेनपर टूट पड़े ।। २० ।।

तावापतन्तौ सम्प्रेक्ष्य कालान्तकयमोपमौ ।
भीमसेनो महाबाहुर्गदामादाय सत्वरम् ।। २१ ।।
अवप्लुत्य रथात् तूर्णं तस्थौ गिरिरिवाचलः ।

प्रलयकालीन यमराजके समान भयंकर उन दोनों महारथियोंको आक्रमण करते देख महाबाहु भीमसेनने तुरंत ही गदा हाथमें ले ली और वे रथसे कूदकर पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये ।। २१½ ।।

समुद्यम्य गदां गुर्वीं यमदण्डोपमां रणे ।। २२ ।।
तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
कौरवो द्रोणपुत्रश्च सहितावभ्यधावताम् ।। २३ ।।

उन्होंने हाथमें जो भारी गदा उठायी थी, वह रणभूमिमें यमदण्डके समान भयानक जान पड़ती थी। शृंगधारी कैलास पर्वतके समान ऊपर गदा उठाये हुए भीमसेनको देखकर

दुर्योधन और अश्वत्थामाने एक साथ उनपर धावा किया ।। २२-२३ ।।

तावापतन्तौ सहितौ त्वरितौ बलिनां वरौ ।
अभ्यधावत वेगेन त्वरमाणो वृकोदरः ।। २४ ।।

बलवानोंमें श्रेष्ठ उन दोनों वीरोंको एक साथ शीघ्रतापूर्वक आते देख भीमसेन भी उतावले होकर बड़े वेगसे उनकी ओर बढ़े ।। २४ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं भीमदर्शनम् ।
समभ्यधावंस्त्वरिताः कौरवाणां महारथाः ।। २५ ।।

क्रोधमें भरकर भयंकर दिखायी देनेवाले भीमसेनको देखकर कौरव महारथी बड़ी उतावलीके साथ उनकी ओर दौड़े ।। २५ ।।

भारद्वाजमुखाः सर्वे भीमसेनजिघांसया ।
नानाविधानि शस्त्राणि भीमस्योरस्यपातयन् ।। २६ ।।

द्रोणाचार्य आदि सभी योद्धा भीमसेनके वधकी इच्छासे उनकी छातीपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे ।। २६ ।।

सहिताः पाण्डवं सर्वे पीडयन्तः समन्ततः ।
तं दृष्ट्वा संशयं प्राप्तं पीड्यमानं महारथम् ।। २७ ।।
अभिमन्युप्रभृतयः पाण्डवानां महारथाः ।
अभ्यधावन् परीप्सन्तः प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ।। २८ ।।

वे सब एक साथ होकर चारों ओरसे पाण्डुकुमार भीमसेनको पीड़ा देने लगे। महारथी भीमसेनको पीड़ित और उनके प्राणोंको संकटमें पड़ा देख अभिमन्यु आदि पाण्डव महारथी अपने दुस्त्यज प्राणोंका मोह छोड़कर उनकी रक्षाके लिये दौड़े आये ।। २७-२८ ।।

अनूपाधिपतिः शूरो भीमस्य दयितः सखा ।
नीलो नीलाम्बुदप्रख्यः संक्रुद्धो द्रौणिमभ्ययात् ।। २९ ।।

अनूप देशका शूरवीर राजा नील भीमसेनका प्रिय सखा था। उसकी अंगकान्ति श्याम मेघके समान सुन्दर थी। उसने अत्यन्त कुपित होकर अश्वत्थामापर आक्रमण किया ।। २९ ।।

स्पर्धते हि महेष्वासो नित्यं द्रोणसुतेन सः ।
स विस्फार्य महच्चापं द्रौणिं विव्याध पत्रिणा ।। ३० ।।
यथा शक्रो महाराज पुरा विव्याध दानवम् ।
विप्रचित्तिं दुराधर्षं देवतानां भयंकरम् ।। ३१ ।।
येन लोकत्रयं क्रोधात् त्रासितं स्वेन तेजसा ।

वह महाधनुर्धर वीर प्रतिदिन द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके साथ स्पर्धा रखता था। महाराज! उसने अपने विशाल धनुषको खींचकर एक पंखयुक्त बाणसे अश्वत्थामाको उसी प्रकार घायल कर दिया, जैसे इन्द्रने पूर्वकालमें देवताओंके लिये भयंकर विप्रचित्ति नामक दुर्धर्ष दानवको घायल किया था, उस दानवने अपने क्रोध एवं तेजसे तीनों लोकोंको भयभीत कर रखा था ।। ३०-३१ १/२ ।।

तथा नीलेन निर्भिन्नः सुमुक्तेन पतत्त्रिणा ।। ३२ ।।

संजातरुधिरोत्पीडो द्रौणिः क्रोधसमन्वितः ।

नीलके छोड़े हुए उस पंखयुक्त बाणसे विदीर्ण होकर अश्वत्थामाके शरीरसे रक्तका प्रवाह बह चला। इससे अश्वत्थामाको बड़ा क्रोध हुआ ।। ३२ १/२ ।।

स विस्फार्य धनुश्चित्रमिन्द्राशनिसमस्वनम् ।। ३३ ।।

दध्रे नीलविनाशाय मतिं मतिमतां वरः ।

तदनन्तर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामाने इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर टंकार करनेवाले अपने विचित्र धनुषको खींचकर नीलको मार डालनेका विचार किया ।। ३३ १/२ ।।

ततः संधाय विमलान् भल्लान् कर्मारमार्जितान् ।। ३४ ।।

जघान चतुरो वाहान् सारथिं ध्वजमेव च ।

सप्तमेन च भल्लेन नीलं विव्याध वक्षसि ।। ३५ ।।

तत्पश्चात् उसने लोहारके माँजे हुए सात चमकीले भल्लोंको धनुषपर रखकर चलाया। उनमेंसे चारके द्वारा उसने नीलके चारों घोड़ोंको और पाँचवेंसे सारथिको मार डाला। छठेसे ध्वजको काट गिराया और सातवें भल्लसे नीलकी छातीमें प्रहार किया ।। ३४-३५ ।।

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ।

मोहितं वीक्ष्य राजानं नीलमभ्रचयोपमम् ।। ३६ ।।

घटोत्कचोऽभिसंक्रुद्धो ज्ञातिभिः परिवारितः ।

अभिदुद्राव वेगेन द्रौणिमाहवशोभिनम् ।। ३७ ।।

तथेतरे चाभ्यधावन् राक्षसा युद्धदुर्मदाः ।

उस बाणसे अधिक घायल हो जानेके कारण वे व्यथित हो रथके पिछले भागमें बैठ गये। नील मेघसमूहके समान श्याम वर्णवाले राजा नीलको अचेत हुआ देख अपने भाई-बन्धुओंसे घिरा हुआ घटोत्कच अत्यन्त कुपित हो युद्धमें शोभा पानेवाले अश्वत्थामाकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा। उसके साथ ही दूसरे-दूसरे रणदुर्मद राक्षसोंने भी उसपर धावा किया ।। ३६-३७ १/२ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राक्षसं घोरदर्शनम् ।। ३८ ।।

अभ्यधावत तेजस्वी भारद्वाजात्मजस्त्वरन् ।

देखनेमें अत्यन्त भयंकर राक्षस घटोत्कचको धावा करते देख तेजस्वी अश्वत्थामाने बड़ी उतावलीके साथ उसपर आक्रमण किया ।। ३८ १/२ ।।

निजघान च संक्रुद्धो राक्षसान् भीमदर्शनान् ।। ३९ ।।

येऽभवन्नग्रतः क्रुद्धा राक्षसस्य पुरःसराः ।

उसने कुपित हो उन भयंकर राक्षसोंको मारना आरम्भ किया, जो घटोत्कचके आगे खड़े होकर क्रोधपूर्वक युद्ध कर रहे थे ।। ३९½ ।।

विमुखांश्चैव तान् दृष्ट्वा द्रौणिचापच्युतैःशरैः ।। ४० ।।

अक्रुद्ध्यत महाकायो भैमसेनिर्घटोत्कचः ।

अश्वत्थामाके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा घायल हो उन राक्षसोंको भागते देख विशालकाय भीमसेनकुमार घटोत्कच कुपित हो उठा ।। ४०½ ।।

प्रादुश्चक्रे ततो मायां घोररूपां सुदारुणाम् ।। ४१ ।।

मोहयन् समरे द्रौणिं मायावी राक्षसाधिपः ।

तत्पश्चात् उस मायावी राक्षसराजने समरांगणमें अश्वत्थामाको मोहित करते हुए अत्यन्त दारुण घोर माया प्रकट की ।। ४१½ ।।

ततस्ते तावकाः सर्वे मायया विमुखीकृताः ।। ४२ ।।

अन्योन्यं समपश्यन्त निकृत्ता मेदिनीतले ।

विचेष्टमानाः कृपणाः शोणितेन परिप्लुताः ।। ४३ ।।

द्रोणं दुर्योधनं शल्यमश्वत्थामानमेव च ।

प्रायशश्च महेष्वासा ये प्रधानाः स्म कौरवाः ।। ४४ ।।

विध्वस्ता रथिनः सर्वे राजानश्च निपातिताः ।

हयाश्चैव हयारोहाः संनिकृत्ताः सहस्रशः ।। ४५ ।।

तब उस मायासे डरकर आपके सभी सैनिक युद्धसे विमुख हो गये। उन्होंने एक-दूसरेको तथा द्रोण, दुर्योधन, शल्य और अश्वत्थामाको भी इस प्रकार देखा—सब-के-सब छिन्न-भिन्न हो पृथ्वीपर गिरकर छटपटा रहे हैं और खूनसे लथपथ होकर दयनीय दशाको पहुँच गये हैं। कौरवोंमें जो महान् धनुर्धर एवं प्रधान वीर हैं, प्रायः वे सभी रथी विध्वंसको प्राप्त हो गये हैं। सब राजा मार गिराये गये हैं तथा हजारों घोड़े और घुड़सवार टुकड़े-टुकड़े होकर पड़े हैं ।। ४२—४५ ।।

तद् दृष्ट्वा तावकं सैन्यं विद्रुतं शिबिरं प्रति ।

मम प्राक्रोशतो राजंस्तथा देवव्रतस्य च ।। ४६ ।।

युध्यध्वं मा पलायध्वं मायैषा राक्षसी रणे ।

घटोत्कचप्रमुक्तेति नातिष्ठन्त विमोहिताः ।। ४७ ।।

यह सब देखकर आपकी सेना शिविरकी ओर भाग चली। राजन्! उस समय मैं और देवव्रत भीष्म भी पुकार-पुकारकर कह रहे थे—'वीरो! युद्ध करो। भागो मत। रणभूमिमें तुम जो कुछ देख रहे हो, वह घटोत्कचद्वारा छोड़ी हुई राक्षसी माया है।' परंतु वे अचेत होनेके कारण ठहर न सके ।। ४६-४७ ।।

नैव ते श्रद्दधुर्भीता वदतोरावयोर्वचः ।
तांश्च प्रद्रवतो दृष्ट्वा जयं प्राप्ताश्च पाण्डवाः ।। ४८ ।।
घटोत्कचेन सहिताः सिंहनादान् प्रचक्रिरे ।

वे इतने डर गये थे कि हम दोनोंकी बातोंपर विश्वास नहीं करते थे। उन्हें भागते देख विजयी पाण्डव घटोत्कचके साथ सिंहनाद करने लगे ।। ४८½ ।।

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः समन्तान्नेदिरे भृशम् ।। ४९ ।।
एवं तव बलं सर्वं हैडिम्बेन दुरात्मना ।
सूर्यास्तमनवेलायां प्रभग्नं विद्रुतं दिशः ।। ५० ।।

चारों ओर शंख और दुन्दुभि आदि बाजे जोर-जोरसे बजने लगे। इस प्रकार सूर्यास्तके समय दुरात्मा घटोत्कचसे खदेड़ी गयी आपकी सारी सेना सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गयी ।। ४९-५० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमयुद्धदिवसे घटोत्कचयुद्धे चतुर्नवतितमोऽध्यायः ।। ९४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धमें घटोत्कचका युद्धविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९४ ।।

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

दुर्योधनके अनुरोध और भीष्मजीकी आज्ञासे भगदत्तका घटोत्कच, भीमसेन और पाण्डव-सेनाके साथ घोर युद्ध

संजय उवाच

तस्मिन् महति संक्रन्दे राजा दुर्योधनस्तदा ।
(पराजयं राक्षसेन नामृष्यत परंतपः ।)
गाङ्गेयमुपसंगम्य विनयेनाभिवाद्य च ।। १ ।।
तस्य सर्वं यथावृत्तमाख्यातुमुपचक्रमे ।
घटोत्कचस्य विजयमात्मनश्च पराजयम् ।। २ ।।
कथयामास दुर्धर्षो विनिःश्वस्य पुनः पुनः ।

संजय कहते हैं—महाराज! शत्रुओंको संताप देनेवाला राजा दुर्योधन उस महान् युद्धमें एक राक्षसके द्वारा प्राप्त हुई अपनी पराजयको नहीं सह सका। उसने गंगानन्दन भीष्मजीके पास जाकर उन्हें विनीतभावसे प्रणाम करनेके पश्चात् सारा वृत्तान्त यथावत् रूपसे कह सुनाया। उस दुर्धर्ष वीरने बारंबार लम्बी साँस खींचकर घटोत्कचकी विजय और अपनी पराजयकी कथा कही ।। १-२½ ।।

अब्रवीच्च तदा राजन् भीष्मं कुरुपितामहम् ।। ३ ।।
भवन्तं समुपाश्रित्य वासुदेवं यथा परैः ।
पाण्डवैर्विग्रहो घोरः समारब्धो मया प्रभो ।। ४ ।।

राजन्! फिर उसने कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मसे कहा—‘प्रभो! जैसे मेरे शत्रु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका आश्रय लेकर युद्ध करते हैं, उसी प्रकार मैंने केवल आपका सहारा लेकर पाण्डवोंके साथ भयंकर युद्ध छेड़ा है ।। ३-४ ।।

एकादश समाख्याता अक्षौहिण्यश्च या मम ।
निदेशे तव तिष्ठन्ति मया सार्धं परंतप ।। ५ ।।

‘परंतप! मेरे साथ ही मेरी ये प्रसिद्ध ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ आपकी आज्ञाके अधीन हैं ।। ५ ।।

सोऽहं भरतशार्दूल भीमसेनपुरोगमैः ।
घटोत्कचं समाश्रित्य पाण्डवैर्युधि निर्जितः ।। ६ ।।

‘भरतश्रेष्ठ! ऐसा शक्तिशाली होनेपर भी मुझे भीमसेन आदि पाण्डवोंने घटोत्कचका सहारा लेकर युद्धमें परास्त कर दिया है ।। ६ ।।

तन्मे दहति गात्राणि शुष्कवृक्षमिवानलः ।

यदिच्छामि महाभाग त्वत्प्रसादात् परंतप ।। ७ ।।
राक्षसापसदं हन्तुं स्वयमेव पितामह ।
त्वां समाश्रित्य दुर्धर्षं तन्मे कर्तुं त्वमर्हसि ।। ८ ।।

'महाभाग! जैसे आग सूखे पेड़को जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार यह अपमान मेरे अंग-अंगको दग्ध कर रहा है। शत्रुओंको संताप देनेवाले पितामह! मैं आपकी कृपासे स्वयं ही उस नीच एवं दुर्धर्ष राक्षसको मारना चाहता हूँ। आपका सहारा लेकर उसपर विजयी होना चाहता हूँ। अतः आप मेरे इस मनोरथको पूर्ण करें' ।। ७-८ ।।

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं राज्ञो भरतसत्तम ।
दुर्योधनमिदं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ।। ९ ।।

भरतश्रेष्ठ! राजा दुर्योधनका यह वचन सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने उससे इस प्रकार कहा— ।। ९ ।।

शृणु राजन् मम वचो यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव ।
यथा त्वया महाराज वर्तितव्यं परंतप ।। १० ।।

'राजन्! कुरुनन्दन! मैं तुमसे जो कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो। शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज! तुम्हें जिस प्रकार बर्ताव करना चाहिये, वह सुनो ।। १० ।।'

आत्मा रक्ष्यो रणे तात सर्वावस्थास्वरिंदम ।
धर्मराजेन संग्रामस्त्वया कार्यः सदानघ ।। ११ ।।

'तात! शत्रुदमन! तुम युद्धमें सदा अपनी रक्षा करो। अनघ! तुम्हें सदा धर्मराज युधिष्ठिरसे ही संग्राम करना चाहिये ।। ११ ।।

अर्जुनेन यमाभ्यां वा भीमसेनेन वा पुनः ।
राजधर्मं पुरस्कृत्य राजा राजानमार्छति ।। १२ ।।

'अर्जुन, नकुल, सहदेव अथवा भीमसेनके साथ भी तुम युद्ध कर सकते हो। राजधर्मको सामने रखकर यह बात कही गयी है। राजा राजासे ही युद्ध करता है ।। १२ ।।

(न तु कार्यस्त्वया राजन् हैडिम्बेन दुरात्मना ।।)
अहं द्रोणः कृपो द्रौणिः कृतवर्मा च सात्वतः ।
शल्यश्च सौमदत्तिश्च विकर्णश्च महारथः ।। १३ ।।
तव च भ्रातर श्रेष्ठा दुःशासनपुरोगमाः ।
त्वदर्थे प्रतियोत्स्यामो राक्षसं तं महाबलम् ।। १४ ।।

'राजन्! तुम्हें दुरात्मा घटोत्कचके साथ कदापि युद्ध नहीं करना चाहिये। मैं, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, सात्वतवंशी कृतवर्मा, शल्य, भूरिश्रवा, महारथी विकर्ण तथा दुःशासन आदि तुम्हारे अच्छे भ्राता—ये सब लोग तुम्हारे लिये उस महाबली राक्षससे युद्ध करेंगे ।। १३-१४ ।।

रौद्रे तस्मिन् राक्षसेन्द्रे यदि तेऽनुशयो महान् ।

अयं वा गच्छतु रणे तस्य युद्धाय दुर्मतेः ।। १५ ।।

भगदत्तो महीपालः पुरन्दरसमो युधि ।

'यदि उस भयंकर राक्षसराज घटोत्कचपर तुम्हारा अधिक रोष है तो उस दुष्टके साथ युद्ध करनेके लिये राजा भगदत्त जायँ; क्योंकि युद्धमें ये इन्द्रके समान पराक्रमी हैं' ।। १५ $\frac{१}{२}$ ।।

एतावदुक्त्वा राजानं भगदत्तमथाब्रवीत् ।। १६ ।।

समक्षं पार्थिवेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।

इतना कहकर बोलनेमें कुशल भीष्मने राजाधिराज दुर्योधनके सामने ही राजा भगदत्तसे यह बात कही— ।। १६ $\frac{१}{२}$

गच्छ शीघ्रं महाराज हैडिम्बं युद्धदुर्मदम् ।। १७ ।।

वारयस्व रणे यत्तो मिषतां सर्वधन्विनाम् ।

'महाराज! तुम रणदुर्मद घटोत्कचका सामना करनेके लिये शीघ्र जाओ और समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते प्रयत्नपूर्वक उसे रणक्षेत्रमें आगे बढ़नेसे रोको ।। १७ $\frac{१}{२}$ ।।

राक्षसं क्रूरकर्माणं यथेन्द्रस्तारकं पुरा ।। १८ ।।

तव दिव्यानि चास्त्राणि विक्रमश्च परंतप ।

समागमश्च बहुभिः पुराभूदमरैः सह ।। १९ ।।

'पूर्वकालमें इन्द्रने जैसे तारकासुरकी प्रगति रोक दी थी, उसी प्रकार तुम भी उस क्रूरकर्मा राक्षसको रोक दो। परंतप! तुम्हारे पास दिव्य अस्त्र हैं। तुममें पराक्रम भी महान् है और पूर्वकालमें बहुत-से देवताओंके साथ तुम्हारा युद्ध भी हो चुका है ।। १८-१९ ।।

त्वं तस्य नृपशार्दूल प्रतियोद्धा महाहवे ।

स्वबलेनोच्छ्रितो राजञ्जहि राक्षसपुङ्गवम् ।। २० ।।

'नृपश्रेष्ठ! इस महायुद्धमें घटोत्कचका सामना करनेवाले योद्धा केवल तुम्हीं हो। राजन्! तुम अपने ही बलसे उत्कर्षको प्राप्त होकर राक्षस-शिरोमणि घटोत्कचको मार डालो' ।।२० ।।

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं भीष्मस्य पृतनापतेः ।

प्रययौ सिंहनादेन परानभिमुखो द्रुतम् ।। २१ ।।

सेनापति भीष्मका यह वचन सुनकर राजा भगदत्त सिंहनाद करते हुए तुरंत ही शत्रुओंका सामना करनेके लिये चल दिये ।। २१ ।।

तमाद्रवन्तं सम्प्रेक्ष्य गर्जन्तमिव तोयदम् ।

अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धाः पाण्डवानां महारथाः ।। २२ ।।

भीमसेनोऽभिमन्युश्च राक्षसश्च घटोत्कचः ।

द्रौपदेयाः सत्यधृतिः क्षत्रदेवश्च भारत ।। २३ ।।

चेदिपो वसुदानश्च दशार्णाधिपतिस्तथा ।

भारत! गर्जते हुए मेघके समान राजा भगदत्तको धावा करते देख भीमसेन, अभिमन्यु, राक्षस घटोत्कच, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, सत्यधृति, क्षत्रदेव, चेदिराज धृष्टकेतु, वसुदान और दशार्णराज—ये सभी पाण्डवपक्षीय महारथी क्रोधमें भरकर उनका सामना करनेके लिये आये ।।

सुप्रतीकेन तांश्चापि भगदत्तोऽप्युपाद्रवत् ।। २४ ।।
ततः समभवद् युद्धं घोररूपं भयानकम् ।
पाण्डूनां भगदत्तेन यमराष्ट्रविवर्धनम् ।। २५ ।।

भगदत्तने भी सुप्रतीक नामक हाथीपर आरूढ़ होकर उनपर धावा किया। फिर तो पाण्डवोंका भगदत्तके साथ घोर एवं भयानक युद्ध होने लगा, जो यमराजके राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला था ।। २४-२५ ।।

प्रयुक्ता रथिभिर्बाणा भीमवेगाः सुतेजनाः ।
ते निपेतुर्महाराज नागेषु च रथेषु च ।। २६ ।।

महाराज! रथियोंद्वारा प्रयुक्त हुए भयंकर वेगशाली तेज बाण हाथियों और रथोंपर गिरने लगे ।। २६ ।।

प्रभिन्नाश्च महानागा विनीता हस्तिसादिभिः ।
परस्परं समासाद्य संनिपेतुरभीतवत् ।। २७ ।।

जिनके मस्तकसे मदकी धारा बहती थी, ऐसे बड़े-बड़े गजराज गजारोहियोंद्वारा प्रेरित हो एक-दूसरेके पास पहुँचकर निर्भीक हो परस्पर भिड़ जाते थे ।। २७ ।।

मदान्धा रोषसंरब्धा विषाणाग्रैर्महाहवे ।
बिभिदुर्दन्तमुसलैः समासाद्य परस्परम् ।। २८ ।।

उस महायुद्धमें रोषपूर्ण मदान्ध हाथी अपने दाँतोंके अग्रभागसे अथवा दाँतरूपी मूसलोंसे परस्पर भिड़कर एक-दूसरेको विदीर्ण करने लगे ।। २८ ।।

हयाश्च चामरापीडाः प्रासपाणिभिरास्थिताः ।
चोदिताः सादिभिः क्षिप्रं निपेतुरितरेतरम् ।। २९ ।।

चामरभूषित अश्व प्रासधारी सवारोंसे संचालित हो तुरंत ही एक-दूसरेपर टूट पड़ते थे ।। २९ ।।

पादाताश्च पदात्योघैस्ताडिताः शक्तितोमरैः ।
न्यपतन्त तदा भूमौ शतशोऽथ सहस्रशः ।। ३० ।।

उस समय पैदल सिपाही पैदलोंद्वारा ही शक्ति और तोमरोंसे घायल हो सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें धराशायी हो रहे थे ।। ३० ।।

रथिनश्च रथै राजन् कर्णिनालीकसायकैः ।
निहत्य समरे वीरान् सिंहनादान् विनेदिरे ।। ३१ ।।

राजन्! रथी लोग रथोंपर आरूढ़ हो कर्णी, नालीक और सायकोंद्वारा समरमें वीरोंका वध करके सिंहनाद कर रहे थे ।। ३१ ।।

तस्मिंस्तथा वर्तमाने संग्रामे लोमहर्षणे ।
भगदत्तो महेष्वासो भीमसेनमथाद्रवत् ।। ३२ ।।

जब इस प्रकार रोंगटे खड़े कर देनेवाला भयंकर संग्राम चल रहा था, उसी समय महाधनुर्धर भगदत्तने भीमसेनपर धावा किया ।। ३२ ।।

कुञ्जरेण प्रभिन्नेन सप्तधा स्रवता मदम् ।
पर्वतेन यथा तोयं स्रवमाणेन सर्वशः ।। ३३ ।।

वे जिस हाथीपर आरूढ़ थे, उसके कुम्भस्थलसे मदकी सात धाराएँ गिर रही थीं। वह सब ओरसे जलके झरने बहानेवाले पर्वतके समान जान पड़ता था ।। ३३ ।।

किरञ्छरसहस्राणि सुप्रतीकशिरोगतः ।
ऐरावतस्थो मघवान् वारिधारा इवानघ ।। ३४ ।।

निष्पाप नरेश! भगदत्त सुप्रतीककी पीठपर बैठकर सहस्रों बाणोंकी वर्षा करने लगे, मानो देवराज इन्द्र ऐरावतपर आरूढ़ हो झलकी धारा गिरा रहे हों ।। ३४ ।।

स भीमं शरधाराभिस्ताडयामास पार्थिवः ।
पर्वतं वारिधाराभिस्तपान्ते जलदो यथा ।। ३५ ।।

जैसे वर्षा-ऋतुमें बादल पर्वतके शिखरपर जलकी धारा गिराता है, उसी प्रकार राजा भगदत्त भीमसेनपर बाणोंकी वर्षा करते हुए उन्हें पीड़ित करने लगे ।। ३५ ।।

भीमसेनस्तु संक्रुद्धः पादरक्षान् परःशतान् ।
निजघान महेष्वासः संरब्धः शरवृष्टिभिः ।। ३६ ।।

तब महाधनुर्धर भीमसेनने अत्यन्त कुपित हो अपने बाणोंकी बौछारसे हाथीके पैरोंकी रक्षा करनेवाले सैकड़ों योद्धाओंको मार गिराया ।। ३६ ।।

तान् दृष्ट्वा निहतान् क्रुद्धो भगदत्तः प्रतापवान् ।
चोदयामास नागेन्द्रं भीमसेनरथं प्रति ।। ३७ ।।

उन सबको मारा गया देख प्रतापी भगदत्तने कुपित हो उस गजराजको भीमसेनके रथकी ओर बढ़ाया ।। ३७ ।।

स नागः प्रेषितस्तेन बाणो ज्याचोदितो यथा ।
अभ्यधावत वेगेन भीमसेनमरिंदमम् ।। ३८ ।।

उनके द्वारा प्रेरित होकर वह गजराज धनुषकी प्रत्यंचासे छोड़े हुए बाणकी भाँति शत्रुदमन भीमसेनकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा ।। ३८ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य पाण्डवानां महारथाः ।
अभ्यवर्तन्त वेगेन भीमसेनपुरोगमाः ।। ३९ ।।

उस हाथीको आते देख भीमसेन आदि पाण्डव महारथी शीघ्रतापूर्वक उसके चारों ओर खड़े हो गये ।। ३९ ।।

केकयाश्चाभिमन्युश्च द्रौपदेयाश्च सर्वशः ।
दशार्णाधिपतिः शूरः क्षत्रदेवश्च मारिष ।। ४० ।।
चेदिपश्चित्रकेतुश्च संरब्धाः सर्व एव ते ।
उत्तमास्त्राणि दिव्यानि दर्शयन्तो महाबलाः ।। ४१ ।।
तमेकं कुञ्जरं क्रुद्धाः समन्तात् पर्यवारयन् ।

आर्य! केकयराजकुमार, अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, शूरवीर दशार्णराज, क्षत्रदेव, चेदिराज धृष्टकेतु तथा चित्रकेतु—ये सभी महाबली वीर रोषावेषमें भरकर अपने उत्तम दिव्यास्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए उस एकमात्र हाथीको क्रोधपूर्वक चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ।। ४०-४१ $\frac{1}{2}$ ।।

स विद्धो बहुभिर्बाणैर्व्यरोचत महाद्विपः ।। ४२ ।।
संजातरुधिरोत्पीडो धातुचित्र इवाद्रिराट् ।

अनेक बाणोंसे घायल हुआ वह महान् गज रक्तरंजित होकर गेरु आदि धातुओंसे विचित्र दिखायी देनेवाले गिरिराजके समान सुशोभित हुआ ।। ४२ $\frac{1}{2}$ ।।

दशार्णाधिपतिश्चापि गजं भूमिधरोपमम् ।। ४३ ।।
समास्थितोऽभिदुद्राव भगदत्तस्य वारणम् ।

तदनन्तर दशार्णदेशके राजा भी एक पर्वताकार हाथीपर आरूढ़ हो भगदत्तके हाथीकी ओर बढ़े ।। ४३ $\frac{1}{2}$ ।।

तमापतन्तं समरे गजं गजपतिः स च ।। ४४ ।।
दधार सुप्रतीकोऽपि वेलेव मकरालयम् ।

समरभूमिमें अपनी ओर आते हुए उस हाथीको गजराज सुप्रतीकने उसी प्रकार रोक दिया, जैसे तटकी भूमि समुद्रको आगे बढ़नेसे रोके रहती है ।। ४४ $\frac{1}{2}$ ।।

वारितं प्रेक्ष्य नागेन्द्रं दशार्णस्य महात्मनः ।। ४५ ।।
साधु साध्विति सैन्यानि पाण्डवेयान्यपूजयन् ।

महामना दशार्णनरेशके गजराजको रोका गया देख समस्त पाण्डव सैनिक भी साधु-साधु कहकर सुप्रतीककी प्रशंसा करने लगे ।। ४५ $\frac{1}{2}$ ।।

ततः प्राग्ज्योतिषः क्रुद्धस्तोमरान् वै चतुर्दश ।। ४६ ।।
प्राहिणोत् तस्य नागस्य प्रमुखे नृपसत्तम ।

नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर प्राग्ज्योतिषनरेशने कुपित होकर दशार्णनरेशके हाथीको सामनेसे चौदह तोमर मारे ।। ४६ $\frac{1}{2}$ ।।

वर्म मुख्यं तनुत्राणं शातकुम्भपरिष्कृतम् ।। ४७ ।।
विदार्य प्राविशन् क्षिप्रं वल्मीकमिव पन्नगाः ।

जैसे सर्प बाँबीमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार वे तोमर हाथीपर पड़े हुए सुवर्णभूषित श्रेष्ठ कवचको छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही उसके शरीरमें घुस गये ।। ४७ १/२ ।।

स गाढविद्धो व्यथितो नागो भरतसत्तम ।। ४८ ।।

उपावृत्तमदः क्षिप्रमभ्यवर्तत वेगितः ।

भरतश्रेष्ठ! उन तोमरोंसे अत्यन्त घायल हो वह हाथी व्यथित हो उठा। उसका सारा मद उतर गया और वह बड़े वेगसे पीछेकी ओर लौट पड़ा ।। ४८ १/२ ।।

स प्रदुद्राव वेगेन प्रणदन् भैरवं रवम् ।। ४९ ।।

सम्मर्दयानः स्वबलं वायुर्वृक्षानिवौजसा ।

जैसे वायु अपनी शक्तिसे वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है, उसी प्रकार वह हाथी भयानक स्वरमें चिग्घाड़ता और अपनी ही सेनाको रौंदता हुआ बड़े वेगसे भाग चला ।।

तस्मिन् पराजिते नागे पाण्डवानां महारथाः ।। ५० ।।

सिंहनादं विनद्योच्चैर्युद्धायैवावतस्थिरे ।

उस हाथीके पराजित हो जानेपर भी पाण्डव महारथी उच्च स्वरसे सिंहनाद करके युद्धके लिये ही खड़े रहे ।। ५० १/२ ।।

ततो भीमं पुरस्कृत्य भगदत्तमुपाद्रवन् ।। ५१ ।।

किरन्तो विविधान् बाणान् शस्त्राणि विविधानि च ।

तत्पश्चात् पाण्डव-सैनिक भीमसेनको आगे करके नाना प्रकारके बाणों तथा अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए भगदत्तपर टूट पड़े ।। ५१ १/२ ।।

तेषामापततां राजन् संक्रुद्धानाममर्षिणाम् ।। ५२ ।।

श्रुत्वा स निनदं घोरममर्षाद् गतसाध्वसः ।

भगदत्तो महेष्वासः स्वनागं प्रत्यचोदयत् ।। ५३ ।।

राजन्! क्रोधमें भरकर आक्रमण करनेवाले, अमर्षशील उन पाण्डवोंका वह घोर सिंहनाद सुनकर महाधनुर्धर भगदत्तने अमर्षवश बिना किसी भयके अपने हाथीको उनकी ओर बढ़ाया ।। ५२-५३ ।।

अङ्कुशाङ्गुष्ठनुदितः स गजप्रवरो युधि ।

तस्मिन् क्षणे समभवत् सांवर्तक इवानलः ।। ५४ ।।

उस समय उनके अंकुशों और पैरके अँगूठोंसे प्रेरित हो वह गजराज युद्धस्थलमें संवर्तक* अग्निकी भाँति भयंकर हो उठा ।। ५४ ।।

रथसंघांस्तथा नागान् हयांश्च हयसादिभिः ।

पादातांश्च सुसंक्रुद्धः शतशोऽथ सहस्रशः ।। ५५ ।।

अमृद्नात् समरे नागः सम्प्रधावंस्ततस्ततः ।

उस हाथीने अत्यन्त कुपित होकर रथके समूहों, हाथियों, घुड़सवारोंसहित घोड़ों तथा सैकड़ों-हजारों पैदल सिपाहियोंको भी समरांगणमें इधर-उधर दौड़ते हुए रौंद डाला ।। ५५ १/२ ।।

तेन संलोड्यमानं तु पाण्डवानां बलं महत् ।। ५६ ।।

संचुकोच महाराज चर्मेवाग्नौ समाहितम् ।

महाराज! उस हाथीके द्वारा आलोडित होकर पाण्डवोंकी वह विशाल सेना आगपर रखे हुए चमड़ेकी भाँति संकुचित हो गयी ।। ५६ १/२ ।।

भग्नं तु स्वबलं दृष्ट्वा भगदत्तेन धीमता ।। ५७ ।।

घटोत्कचोऽथ संक्रुद्धो भगदत्तमुपाद्रवत् ।

बुद्धिमान् भगदत्तके द्वारा अपनी सेनामें भगदड़ पड़ी हुई देख घटोत्कचने अत्यन्त कुपित होकर भगदत्तपर धावा किया ।। ५७ १/२ ।।

विकटः परुषो राजन् दीप्तास्यो दीप्तलोचनः ।। ५८ ।।

रूपं विभीषणं कृत्वा रोषेण प्रज्वलन्निव ।

राजन्! उस समय वह अत्यन्त भयानक रूप बनाकर रोषसे प्रज्वलित-सा हो उठा। उसकी आकृति विकट एवं निष्ठुर दिखायी देती थी तथा मुख और नेत्र उज्ज्वल एवं प्रकाशित हो रहे थे ।। ५८ १/२ ।।

जग्राह विमलं शूलं गिरीणामपि दारणम् ।। ५९ ।।

नागं जिघांसुः सहसा चिक्षेप च महाबलः ।

उस महाबली निशाचरने हाथीको मार डालनेकी इच्छासे एक निर्मल त्रिशूल हाथमें लिया, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाला था। फिर सहसा उसे चला दिया ।। ५९ १/२ ।।

स विस्फुलिङ्गमालाभिः समन्तात् परिवेष्टितः ।। ६० ।।

तमापतन्तं सहसा दृष्ट्वा प्राग्ज्योतिषो नृपः ।

चिक्षेप रुचिरं तीक्ष्णमर्धचन्द्रं सुदारुणम् ।। ६१ ।।

वह त्रिशूल चारों ओरसे आगकी चिनगारियोंके समूहसे घिरा हुआ था। उसे सहसा अपने ऊपर आते देख प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश भगदत्तने अत्यन्त भयंकर तीक्ष्ण और सुन्दर एक अर्धचन्द्राकार बाण चलाया ।। ६०-६१ ।।

चिच्छेद तन्महच्छूलं तेन बाणेन वेगवान् ।

उत्पपात द्विधा च्छिन्नं शूलं हेमपरिष्कृतम् ।। ६२ ।।

महाशनिर्यथा भ्रष्टा शक्रमुक्ता नभोगता ।

उन वेगवान् नरेशने उक्त बाणके द्वारा उस महान् त्रिशूलको काट डाला। वह सुवर्णभूषित त्रिशूल दो टुकड़ोंमें कटकर ऊपरकी ओर उछला। उस समय वह इन्द्रके हाथसे छूटकर आकाशसे गिरते हुए महान् वज्रके समान सुशोभित हुआ ।। ६२ १/२ ।।

शूलं निपतितं दृष्ट्वा द्विधा कृत्तं च पार्थिवः ।। ६३ ।।

रुक्मदण्डां महाशक्तिं जग्राहाग्निशिखोपमाम् ।
चिक्षेप तां राक्षसस्य तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।। ६४ ।।

त्रिशूलको दो टुकड़ोंमें कटकर गिरा हुआ देख राजा भगदत्तने आगकी लपटोंसे वेष्टित तथा सुवर्णमय दण्डसे विभूषित एक महाशक्ति हाथमें ली और उसे राक्षसपर चला दिया। फिर वे बोले—खड़ा रह, खड़ा रह ।। ६३-६४ ।।

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य वियत्स्थामशनीमिव ।
उत्पत्य राक्षसस्तूर्णं जग्राह च ननाद च ।। ६५ ।।

आकाशमें प्रकाशित होनेवाली अशनि (वज्र)-के समान उस महाशक्तिको गिरती हुई देख राक्षस घटोत्कचने उछलकर तुरंत ही उसे पकड़ लिया और सिंहके समान गर्जना की ।। ६५ ।।

बभञ्च चैनां त्वरितो जानुन्यारोप्य भारत ।
पश्यतः पार्थिवेन्द्रस्य तदद्भुतमिवाभवत् ।। ६६ ।।

भारत! फिर उसने तुरंत ही राजा भगदत्तके देखते-देखते उस शक्तिको घुटनेपर रखकर तोड़ डाला। वह एक अद्भुत-सी बात हुई ।। ६६ ।।

तदवेक्ष्य कृतं कर्म राक्षसेन बलीयसा ।
दिवि देवाः सगन्धर्वा मुनयश्चापि विस्मिताः ।। ६७ ।।

महाबली राक्षसके द्वारा किये गये इस महान् कर्मको देखकर आकाशमें खड़े हुए देवता, गन्धर्व और मुनि बड़े विस्मित हुए ।। ६७ ।।

पाण्डवाश्च महाराज भीमसेनपुरोगमाः ।
साधु साध्विति नादेन पृथिवीमन्वनादयन् ।। ६८ ।।

महाराज! उस समय भीमसेन आदि पाण्डवोंने वाह-वाह कहते हुए अपने सिंहनादसे पृथ्वीको गुँजा दिया ।। ६८ ।।

तं तु श्रुत्वा महानादं प्रहृष्टानां महात्मनाम् ।
नामृष्यत महेष्वासो भगदत्तः प्रतापवान् ।। ६९ ।।

हर्षमें भरे हुए उन महामना वीरोंका महान् सिंहनाद सुनकर महाधनुर्धर एवं प्रतापी राजा भगदत्त न सह सके ।। ६९ ।।

स विस्फार्य महच्चापमिन्द्राशनिसमप्रभम् ।
तर्जयामास वेगेन पाण्डवानां महारथान् ।। ७० ।।

उन्होंने इन्द्रके वज्रकी भाँति प्रकाशित होनेवाले अपने विशाल धनुषको खींचकर पाण्डव महारथियोंको वेगपूर्वक डाँट बतायी ।। ७० ।।

विसृजन् विमलांस्तीक्ष्णान् नाराचाञ्ज्वलनप्रभान् ।
भीममेकेन विव्याध राक्षसं नवभिः शरैः ।। ७१ ।।

तत्पश्चात् अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले निर्मल और तीखे नाराचोंका प्रहार करते हुए एकके द्वारा भीमसेनको घायल किया और नौ बाणोंसे राक्षस घटोत्कचको बींध डाला ।। ७१ ।।

अभिमन्युं त्रिभिश्चैव केकयान् पञ्चभिस्तथा ।
पूर्णायतविसृष्टेन शरेणानतपर्वणा ।। ७२ ।।
बिभेद दक्षिणं बाहुं क्षत्रदेवस्य चाहवे ।
पपात सहसा तस्य सशरं धनुरुत्तमम् ।। ७३ ।।

फिर तीन बाणोंसे अभिमन्युको और पाँचसे केकयराजकुमारोंको घायल किया। तत्पश्चात् धनुषको अच्छी तरह खींचकर छोड़े हुए झुकी हुई गाँठवाले बाणके द्वारा उन्होंने युद्धमें क्षत्रदेवकी दाहिनी बाँह काट डाली। उसके कटनेके साथ ही सहसा उनका बाणसहित उत्तम धनुष पृथ्वीपर गिर पड़ा ।। ७२-७३ ।।

द्रौपदेयांस्ततः पञ्च पञ्चभिः समताडयत् ।
भीमसेनस्य च क्रोधान्निजघान तुरङ्गमान् ।। ७४ ।।

इसके बाद भगदत्तने द्रौपदीके पाँच पुत्रोंको पाँच बाणोंसे घायल कर दिया और क्रोधपूर्वक भीमसेनके घोड़ोंको मार डाला ।। ७४ ।।

ध्वजं केसरिणं चास्य चिच्छेद विशिखैस्त्रिभिः ।
निर्बिभेद त्रिभिश्चान्यैः सारथिं चास्य पत्रिभिः ।। ७५ ।।

फिर तीन बाणोंसे उनके सिंहचिह्नित ध्वजको काट दिया और अन्य तीन पंखयुक्त बाण मारकर उनके सारथिको भी विदीर्ण कर डाला ।। ७५ ।।

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ।
विशोको भरतश्रेष्ठ भगदत्तेन संयुगे ।। ७६ ।।

भरतश्रेष्ठ! भगदत्तके द्वारा युद्धमें अधिक घायल होकर भीमसेनका सारथि विशोक व्यथित हो उठा और रथके पिछले भागमें चुपचाप बैठ गया ।। ७६ ।।

ततो भीमो महाबाहुर्विरथो रथिनां वरः ।
गदां प्रगृह्य वेगेन प्रचस्कन्द रथोत्तमात् ।। ७७ ।।

इस प्रकार रथहीन होनेपर रथियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु भीमसेन हाथमें गदा लेकर उस उत्तम रथसे वेगपूर्वक कूद पड़े ।। ७७ ।।

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा सशृङ्गमिव पर्वतम् ।
तावकानां भयं घोरं समपद्यत भारत ।। ७८ ।।

भारत! शृंगयुक्त पर्वतके समान उन्हें गदा उठाये आते देख आपके सैनिकोंके मनमें घोर भय समा गया ।। ७८ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु पाण्डवः कृष्णसारथिः ।
आजगाम महाराज निघ्नन् शत्रून् समन्ततः ।। ७९ ।।

यत्र तौ पुरुषव्याघ्रौ पितापुत्रौ महाबलौ ।
प्राग्ज्योतिषेण संयुक्तौ भीमसेनघटोत्कचौ ।। ८० ।।

महाराज! इसी समय श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, वे पाण्डुनन्दन अर्जुन सब ओरसे शत्रुओंका संहार करते हुए वहाँ आ पहुँचे, जहाँ वे दोनों पुरुषसिंह महाबली पिता-पुत्र भीमसेन और घटोत्कच भगदत्तके साथ युद्ध कर रहे थे ।। ७९-८० ।।

दृष्ट्वा च पाण्डवो भ्रातॄन् युध्यमानान् महारथान् ।
त्वरितो भरतश्रेष्ठ तत्रायुध्यत् किरञ्छरान् ।। ८१ ।।

भरतश्रेष्ठ! पाण्डुनन्दन अर्जुन अपने महारथी भाइयोंको युद्ध करते देख स्वयं भी बाणोंकी वर्षा करते हुए तुरंत ही युद्धमें प्रवृत्त हो गये ।। ८१ ।।

ततो दुर्योधनो राजा त्वरमाणो महारथः ।
सेनामचोदयत् क्षिप्रं रथनागाश्वसंकुलाम् ।। ८२ ।।

तब महारथी राजा दुर्योधनने बड़ी उतावलीके साथ रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई अपनी सेनाको शीघ्र ही युद्धके लिये प्रेरित किया ।। ८२ ।।

तामापतन्तीं सहसा कौरवाणां महाचमूम् ।
अभिदुद्राव वेगेन पाण्डवः श्वेतवाहनः ।। ८३ ।।

कौरवोंकी उस विशाल वाहिनीको आती देख श्वेत घोड़ोंवाले पाण्डुपुत्र अर्जुन सहसा बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े ।। ८३ ।।

भगदत्तश्च समरे तेन नागेन भारत ।
विमृद्नन् पाण्डवबलं युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ।। ८४ ।।

भारत! भगदत्तने भी समरभूमिमें उस हाथीके द्वारा पाण्डवसेनाको कुचलते हुए युधिष्ठिरपर धावा किया ।। ८४ ।।

तदाऽऽसीत् सुमहद् युद्धं भगदत्तस्य मारिष ।
पञ्चालैः पाण्डवेयैश्च केकयैश्चोद्यतायुधैः ।। ८५ ।।

आर्य! उस समय हथियार उठाये हुए पांचालों, पाण्डवों तथा केकयोंके साथ भगदत्तका बड़ा भारी युद्ध हुआ ।। ८५ ।।

भीमसेनोऽपि समरे तावुभौ केशवार्जुनौ ।
अश्रावयद् यथावृत्तमिरावद्वधमुत्तमम् ।। ८६ ।।

भीमसेनने भी समरभूमिमें श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंको इरावान्‌के वधका यथावत् वृत्तान्त अच्छी तरह सुना दिया ।। ८६ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भगदत्तयुद्धे पञ्चनवतितमोऽध्यायः ।। ९५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भगदत्तका युद्धविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९५ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ८७ श्लोक हैं।]

---

* प्रलयकालकी अग्निका नाम संवर्तक है।

षण्णवतितमोऽध्यायः

इरावान्‌के वधसे अर्जुनका दुःखपूर्ण उद्‌गार, भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके नौ पुत्रोंका वध, अभिमन्यु और अम्बष्ठका युद्ध, युद्धकी भयानक स्थितिका वर्णन तथा आठवें दिनके युद्धका उपसंहार

संजय उवाच

पुत्रं विनिहतं श्रुत्वा इरावन्तं धनंजयः ।
दुःखेन महताऽऽविष्टो निःश्वसन् पन्नगो यथा ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! अपने पुत्र इरावान्‌के वधका वृत्तान्त सुनकर अर्जुनको बड़ा दुःख हुआ। वे सर्पके समान लंबी साँस खींचने लगे ।। १ ।।

अब्रवीत् समरे राजन् वासुदेवमिदं वचः ।
इदं नूनं महाप्राज्ञो विदुरो दृष्टवान् पुरा ।। २ ।।

नरेश्वर! तब उन्होंने समरभूमिमें भगवान् वासुदेवसे इस प्रकार कहा—'भगवन्! निश्चय ही महाज्ञानी विदुरने पहले ही यह सब देख लिया था ।। २ ।।

कुरूणां पाण्डवानां च क्षयं घोरं महामतिः ।
स ततो निवारितवान् धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।। ३ ।।

'कौरवों और पाण्डवोंका यह भयंकर विनाश परम बुद्धिमान् विदुरकी दृष्टिमें पहले ही आ गया था। इसलिये उन्होंने राजा धृतराष्ट्रको मना किया था ।। ३ ।।

अन्ये च बहवो वीराः संग्रामे मधुसूदन ।
निहताः कौरवैः संख्ये तथास्माभिश्च कौरवाः ।। ४ ।।

'मधुसूदन! और भी बहुत-से वीरोंको संग्राममें कौरवोंने मारा और हमने कौरव सैनिकोंका संहार किया ।।

अर्थहेतोर्नरश्रेष्ठ क्रियते कर्म कुत्सितम् ।
धिगर्थान् यत्कृते ह्येवं क्रियते ज्ञातिसंक्षयः ।। ५ ।।

'नरश्रेष्ठ! धनके लिये यह कुत्सित कर्म किया जा रहा है। धिक्कार है उस धनको, जिसके लिये इस प्रकार जाति-भाइयोंका विनाश किया जाता है ।। ५ ।।

अधनस्य मृतं श्रेयो न च ज्ञातिवधाद् धनम् ।
किं नु प्राप्स्यामहे कृष्ण हत्वा ज्ञातीन् समागतान् ।। ६ ।।

'मनुष्यका निर्धन रहकर मर जाना अच्छा है, परंतु जाति-भाइयोंके वधसे धन प्राप्त करना कदापि अच्छा नहीं है। कृष्ण! हम यहाँ आये हुए इन जाति-भाइयोंको मारकर क्या

प्राप्त कर लेंगे ।। ६ ।।

दुर्योधनापराधेन शकुनेः सौबलस्य च ।
क्षत्रिया निधनं यान्ति कर्णदुर्मन्त्रितेन च ।। ७ ।।

'दुर्योधनके अपराधसे और सुबलपुत्र शकुनि तथा कर्णकी कुमन्त्रणासे ये क्षत्रिय मारे जा रहे हैं ।। ७ ।।

इदानीं च विजानामि सुकृतं मधुसूदन ।
कृतं राज्ञा महाबाहो याचता च सुयोधनम् ।। ८ ।।

महाबाहु मधुसूदन! राजा युधिष्ठिरने दुर्योधनसे पहले जो याचना की थी, वही उत्तम कार्य था; यह बात अब मेरी समझमें आ रही है ।। ८ ।।

राज्यार्धं पञ्च वा ग्रामान् नाकार्षीत् स च दुर्मतिः ।
दृष्ट्वा हि क्षत्रियान् शूरान् शयानान् धरणीतले ।। ९ ।।
निन्दामि भृशमात्मानं धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ।

'युधिष्ठिरने आधा राज्य अथवा पाँच गाँव माँगे थे, परंतु दुर्बुद्धि दुर्योधनने उनकी माँग पूरी नहीं की। आज क्षत्रिय वीरोंको रणभूमिमें सोते देख मैं सबसे अधिक अपनी निन्दा करता हूँ। क्षत्रियोंकी इस जीविकाको धिक्कार है ।। ९½ ।।

अशक्तमिति मामेते ज्ञास्यन्ते क्षत्रिया रणे ।। १० ।।
युद्धं तु मे न रुचितं ज्ञातिभिर्मधुसूदन ।

'मधुसूदन! रणक्षेत्रमें मेरे मुखसे ऐसी बात सुनकर ये क्षत्रिय मुझे असमर्थ समझेंगे, परंतु इन जाति-भाइयोंके साथ युद्ध करना मुझे अच्छा नहीं लगता है ।। १०½ ।।

संचोदय हयान् शीघ्रं धार्तराष्ट्रचमूं प्रति ।। ११ ।।
प्रतरिष्ये महापारं भुजाभ्यां समरोदधिम् ।

(तथापि मैं आपके आदेशानुसार युद्ध करूँगा; अतः) 'आप शीघ्र ही अपने घोड़ोंको दुर्योधनकी सेनाकी ओर हाँकिये, जिससे इन दोनों भुजाओंद्वारा अपार सैन्यसागरको पार करूँ ।। ११½ ।।

नायं यापयितुं कालो विद्यते माधव क्वचित् ।। १२ ।।
एवमुक्तस्तु पार्थेन केशवः परवीरहा ।
चोदयामास तानश्वान् पाण्डुरान् वातरंहसः ।। १३ ।।

'माधव! यह समयको व्यर्थ बितानेका अवसर नहीं है।' अर्जुनके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका विनाश करनेवाले केशवने वायुके समान वेगशाली उन श्वेत घोड़ोंको आगे बढ़ाया ।। १२-१३ ।।

अथ शब्दो महानासीत् तव सैन्यस्य भारत ।
मारुतोद्धतवेगस्य सागरस्येव पर्वणि ।। १४ ।।

भारत! तदनन्तर जैसे पूर्णिमाको वायुकी प्रेरणासे समुद्रका वेग बढ़ जानेसे उसकी भीषण गर्जना सुनायी पड़ती है, उसी प्रकार आपकी सेनाका महान् कोलाहल प्रकट हुआ ।। १४ ।।

अपराह्णे महाराज संग्रामः समपद्यत ।
पर्जन्यसमनिर्घोषो भीष्मस्य सह पाण्डवैः ।। १५ ।।

महाराज! अपराह्णकालमें पाण्डवोंके साथ भीष्मका भीषण संग्राम आरम्भ हुआ, जिसमें मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर घोष हो रहा था ।। १५ ।।

ततो राजंस्तव सुता भीमसेनमुपाद्रवन् ।
परिवार्य रणे द्रोणं वसवो वासवं यथा ।। १६ ।।

राजन्! तब आपके पुत्र, जैसे वसुगण इन्द्रके सब ओर खड़े होते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्यको चारों ओरसे घेरकर रणभूमिमें भीमसेनपर टूट पड़े ।। १६ ।।

ततः शान्तनवो भीष्मः कृपश्च रथिनां वरः ।
भगदत्तः सुशर्मा च धनंजयमुपाद्रवन् ।। १७ ।।

तत्पश्चात् शान्तनुनन्दन भीष्म, रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्य, भगदत्त और सुशर्माने अर्जुनपर धावा किया ।। १७ ।।

हार्दिक्यो बाह्लिकश्चैव सात्यकिं समभिद्रुतौ ।
अम्बष्ठकस्तु नृपतिरभिमन्युमवस्थितः ।। १८ ।।

कृतवर्मा और बाह्लीक सात्यकिपर टूट पड़े। राजा अम्बष्ठने अभिमन्युका सामना किया ।। १८ ।।

शेषास्त्वन्ये महाराज शेषानेव महारथान् ।
ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ।। १९ ।।

महाराज! शेष अन्य महारथियोंने शत्रुपक्षके शेष महारथियोंपर आक्रमण किया। फिर तो उनमें घोर एवं भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ ।। १९ ।।

भीमसेनस्तु सम्प्रेक्ष्य पुत्रांस्तव जनेश्वर ।
प्रजज्वाल रणे क्रुद्धो हविषा हव्यवाडिव ।। २० ।।

जनेश्वर! जैसे घीकी आहुति देनेसे अग्निदेव प्रज्वलित हो उठते हैं, उसी प्रकार रणक्षेत्रमें आपके पुत्रोंको देखकर भीमसेन क्रोधसे जल उठे ।। २० ।।

पुत्रास्तु तव कौन्तेयं छादयाञ्चक्रिरे शरैः ।
प्रावृषीव महाराज जलदा इव पर्वतम् ।। २१ ।।

परंतु महाराज! आपके पुत्रोंने कुन्तीनन्दन भीमको अपने बाणोंसे उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे वर्षा-ऋतुमें बादल पर्वतको जलकी धाराओंसे ढक लेते हैं ।। २१ ।।

स च्छाद्यमानो बहुधा पुत्रैस्तव विशाम्पते ।

सृक्किणी संलिहन् वीरः शार्दूल इव दर्पितः ।। २२ ।।
व्यूढोरस्कं ततो भीमः पातयामास भारत ।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन सोऽभवद् गतजीवितः ।। २३ ।।

प्रजानाथ! भरतनन्दन! आपके पुत्रोंद्वारा बारंबार बाणोंकी वर्षासे आच्छादित किये जानेपर क्रोधपूर्वक अपने मुँहके कोनोंको चाटते हुए सिंहके समान शौर्यका अभिमान रखनेवाले वीर भीमसेनने एक अत्यन्त तीखे क्षुरप्रके द्वारा आपके पुत्र व्यूढोरस्कको मार गिराया। उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी ।। २२-२३ ।।

अपरेण तु भल्लेन पीतेन निशितेन तु ।
अपातयत् कुण्डलिनं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ।। २४ ।।

तत्पश्चात् जैसे सिंह छोटे-से मृगको दबोच लेता है, उसी प्रकार भीमने दूसरे पानीदार एवं तीखे भल्लसे आपके पुत्र कुण्डलीको धराशायी कर दिया ।। २४ ।।

ततः सुनिशितान् पीतान् समादत्त शिलीमुखान् ।
ससर्ज त्वरया युक्तः पुत्रांस्ते प्राप्य मारिष ।। २५ ।।

आर्य! इसके बाद भीमने बड़ी उतावलीके साथ बहुत-से तीखे और पानीदार बाण हाथमें लिये और आपके पुत्रोंको लक्ष्य करके छोड़ दिये ।। २५ ।।

प्रेषिता भीमसेनेन शरास्ते दृढधन्वना ।
अपातयन्त पुत्रांस्ते रथेभ्यः सुमहारथान् ।। २६ ।।

सुदृढ़ धनुर्धर भीमसेनके द्वारा चलाये हुए उन बाणोंने आपके बहुत-से महारथी पुत्रोंको मारकर रथोंसे नीचे गिरा दिया ।। २६ ।।

अनाधृष्टिं कुण्डभेदिं वैराटं दीर्घलोचनम् ।
दीर्घबाहुं सुबाहुं च तथैव कनकध्वजम् ।। २७ ।।

उनके नाम इस प्रकार हैं—अनाधृष्टि, कुण्डभेदि, वैराट, दीर्घलोचन, दीर्घबाहु, सुबाहु तथा कनकध्वज ।। २७ ।।

प्रपतन्त स्म वीरास्ते विरेजुर्भरतर्षभ ।
वसन्ते पुष्पशबलाश्चूताः प्रपतिता इव ।। २८ ।।

भरतश्रेष्ठ! वे सभी वीर वहाँ गिरकर वसन्त-ऋतुमें धराशायी हुए पुष्पयुक्त आम्रवृक्षोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ।। २८ ।।

ततः प्रदुद्रुवुः शेषास्तव पुत्रा महाहवे ।
तं कालमिव मन्यन्तो भीमसेनं महाबलम् ।। २९ ।।

तब उस महायुद्धमें आपके शेष पुत्र महाबली भीमसेनको कालके समान समझकर वहाँसे भाग चले ।। २९ ।।

द्रोणस्तु समरे वीरं निर्दहन्तं सुतांस्तव ।
यथाद्रिं वारिधाराभिः समन्ताद् व्यकिरच्छरैः ।। ३० ।।

तदनन्तर युद्धस्थलमें आपके पुत्रोंको दग्ध करते हुए वीर भीमसेनपर द्रोणाचार्यने सब ओरसे उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा आरम्भ की, जैसे बादल पर्वतपर जलकी धाराएँ गिराते हैं ।। ३० ।।

तत्राद्भुतमपश्याम कुन्तीपुत्रस्य पौरुषम् ।
द्रोणेन वार्यमाणोऽपि निजघ्ने यत् सुतांस्तव ।। ३१ ।।

महाराज! उस समय हमने कुन्तीपुत्र भीमका अद्भुत पराक्रम देखा। यद्यपि द्रोणाचार्य बाणोंकी वर्षा करके उन्हें रोक रहे थे, तो भी उन्होंने आपके पुत्रोंको मार डाला ।।

यथा गोवृषभो वर्षं संधारयति खात् पतत् ।
भीमस्तथा द्रोणमुक्तं शरवर्षमदीधरत् ।। ३२ ।।

जैसे साँड़ आकाशसे गिरती हुई जल-वर्षाको अपने शरीरपर शान्त भावसे धारण और सहन करता है, उसी प्रकार भीमसेन द्रोणाचार्यकी छोड़ी हुई बाण-वर्षाको धारण कर रहे थे ।। ३२ ।।

अद्भुतं च महाराज तत्र चक्रे वृकोदरः ।
यत् पुत्रांस्तेऽवधीत् संख्ये द्रोणं चैव न्यवारयत् ।। ३३ ।।

महाराज! भीमसेनने उस युद्धस्थलमें आपके पुत्रोंका वध तो किया ही, द्रोणाचार्यको भी आगे बढ़नेसे रोक रखा था। यह उन्होंने अद्भुत पराक्रम किया ।। ३३ ।।

पुत्रेषु तव वीरेषु चिक्रीडार्जुनपूर्वजः ।
मृगेष्विव महाराज चरन् व्याघ्रो महाबलः ।। ३४ ।।

राजन्! जैसे महाबली व्याघ्र मृगोंके झुंडमें विचरता हो, उसी प्रकार भीमसेन आपके वीर पुत्रोंके समुदायमें खेल रहे थे ।। ३४ ।।

यथा हि पशुमध्यस्थो दारयेत पशून् वृकः ।
वृकोदरस्तव सुतांस्तथा व्यद्रावयद् रणे ।। ३५ ।।

जैसे भेड़िया पशुओंके बीचमें रहकर भी उन्हें विदीर्ण कर डालता है, उसी प्रकार भीमसेन रणभूमिमें आपके पुत्रोंको भगा रहे थे ।। ३५ ।।

गाङ्गेयो भगदत्तश्च गौतमश्च महारथाः ।
पाण्डवं रभसं युद्धे वारयामासुरर्जुनम् ।। ३६ ।।

दूसरी ओर गंगानन्दन भीष्म, भगदत्त और कृपाचार्य—ये तीनों महारथी युद्धमें वेगसे आगे बढ़नेवाले पाण्डुकुमार अर्जुनका निवारण कर रहे थे ।। ३६ ।।

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य तेषां सोऽतिरथो रणे ।
प्रवीरांस्तव सैन्येषु प्रेषयामास मृत्यवे ।। ३७ ।।

परंतु अतिरथी वीर अर्जुनने रणभूमिमें उनके अस्त्रोंका अस्त्रोंद्वारा निवारण करके आपकी सेनाके प्रमुख वीरोंको यमराजके पास भेज दिया ।। ३७ ।।

अभिमन्युस्तु राजानमम्बष्ठं लोकविश्रुतम् ।

विरथं रथिनां श्रेष्ठं वारयामास सायकैः ।। ३८ ।।

अभिमन्युने रथियोंमें श्रेष्ठ लोकविख्यात राजा अम्बष्ठको सायकोंद्वारा रथहीन करके आगे बढ़नेसे रोक दिया ।। ३८ ।।

विरथो वध्यमानस्तु सौभद्रेण यशस्विना ।
अवप्लुत्य रथात् तूर्णमम्बष्ठो वसुधाधिपः ।। ३९ ।।
असिं चिक्षेप समरे सौभद्रस्य महात्मनः ।
आरुरोह रथं चैव हार्दिक्यस्य महाबलः ।। ४० ।।

यशस्वी सुभद्राकुमार अभिमन्युसे पीड़ित एवं रथहीन होकर राजा अम्बष्ठ अपने रथसे कूद पड़े और महामना सुभद्राकुमारपर उन्होंने रणक्षेत्रमें तलवार चलायी। फिर वे महाबली नरेश कृतवर्माके रथपर जा बैठे ।। ३९-४० ।।

आपतन्तं तु निस्त्रिंशं युद्धमार्गविशारदः ।
लाघवाद् व्यंसयामास सौभद्रः परवीरहा ।। ४१ ।।

युद्धके पैतरोंको जाननेमें कुशल तथा शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमारने अपनी ओर आती हुई अम्बष्ठकी तलवारको अपनी फुर्तीके कारण निष्फल कर दिया ।। ४१ ।।

व्यंसितं वीक्ष्य निस्त्रिंशं सौभद्रेण रणे तदा ।
साधु साध्विति सैन्यानां प्रणादोऽभूद् विशाम्पते ।। ४२ ।।

प्रजानाथ! उस समय रणक्षेत्रमें अम्बष्ठकी चलायी हुई तलवारको सुभद्राकुमारद्वारा निष्फल की गयी देख समस्त सैनिकोंके मुखसे निकली हुई ‘साधु-साधु’ (वाह-वाह)-की ध्वनि गूँज उठी ।। ४२ ।।

धृष्टद्युम्नमुखास्त्वन्ये तव सैन्यमयोधयन् ।
तथैव तावकाः सर्वे पाण्डुसैन्यमयोधयन् ।। ४३ ।।

धृष्टद्युम्न आदि अन्य महारथी आपकी सेनाके साथ तथा आपके प्रमुख सैनिक पाण्डव-सेनाके साथ युद्ध करने लगे ।। ४३ ।।

तत्राक्रन्दो महानासीत् तव तेषां च भारत ।
(पाण्डवानां च राजेन्द्र सैनिकानां सुदारुणः ।)
निघ्नतां दृढमन्योन्यं कुर्वतां कर्म दुष्करम् ।। ४४ ।।

भारत! राजेन्द्र! एक-दूसरेपर सुदृढ़ प्रहार और दुष्कर पराक्रम करनेवाले आपके और पाण्डवोंके सैनिकोंमें अत्यन्त भयंकर महान् संग्राम होने लगा ।। ४४ ।।

अन्योन्यं हि रणे शूराः केशेष्वाक्षिप्य मानिनः ।
नखदन्तैरयुध्यन्त मुष्टिभिर्जानुभिस्तथा ।। ४५ ।।

कितने ही मानी शूरवीर उस रणक्षेत्रमें एक-दूसरेके केश पकड़कर नखों, दाँतों, मुक्कों और घुटनोंसे प्रहार करते हुए लड़ रहे थे ।। ४५ ।।

तलैश्चैवाथ निस्त्रिंशैर्बाहुभिश्च सुसंस्थितैः ।
विवरं प्राप्य चान्योन्यमनयन् यमसादनम् ।। ४६ ।।

अवसर पाकर वे थप्पड़ों, तलवारों तथा सुदृढ़ भुजाओंद्वारा भी एक-दूसरेको यमलोक पहुँचा देते थे ।। ४६ ।।

न्यहनच्च पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ।
व्याकुलीकृतसर्वाङ्गा युयुधुस्तत्र मानवाः ।। ४७ ।।

उस युद्धमें पिताने पुत्रको और पुत्रने पिताको मार डाला। सबके सभी अंग व्याकुल हो गये थे, तो भी सब लोग युद्ध कर रहे थे ।। ४७ ।।

रणे चारूणि चापानि हेमपृष्ठानि मारिष ।
हतानामपविद्धानि कलापाश्च महाधनाः ।। ४८ ।।

आर्य! उस रणक्षेत्रमें मारे गये नरेशोंके सुवर्णमय पृष्ठसे विभूषित सुन्दर धनुष तथा बहुमूल्य तरकस जहाँ-तहाँ पड़े हुए थे ।। ४८ ।।

जातरूपमयैः पुङ्खै राजतैर्निशिताः शराः ।
तैलधौता व्यराजन्त निर्मुक्तभुजगोपमाः ।। ४९ ।।

सोने अथवा चाँदीके पंखोंसे युक्त तथा तेलके धोये हुए तीखे बाण केचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान सुशोभित होते थे ।। ४९ ।।

हस्तिदन्तत्सरून् खड्गाञ्जातरूपपरिष्कृतान् ।
चर्माणि चापविद्धानि रुक्मचित्राणि धन्विनाम् ।। ५० ।।

हमने देखा कि रणभूमिमें धनुर्धर वीरोंकी तलवारें और ढालें फेंकी पड़ी हैं। तलवारोंमें हाथीके दाँतकी मूँठें लगी थीं और उनमें यथास्थान सुवर्ण जड़ा हुआ था। इसी प्रकार ढालोंमें सुवर्णमय विचित्र तारक चिह्न दिखायी देते थे ।। ५० ।।

सुवर्णविकृतप्रासान् पट्टिशान् हेमभूषितान् ।
जातरूपमयाश्चर्ष्टीः शक्तीश्च कनकोज्ज्वलाः ।। ५१ ।।

सुवर्णभूषित प्रास, स्वर्णजटित पट्टिश, सोनेकी बनी हुई ऋष्टियाँ तथा स्वर्णभूषित चमकीली शक्तियाँ यत्र-तत्र पड़ी हुई थीं ।। ५१ ।।

सुसंनाहाश्च पतिता मुसलानि गुरूणि च ।
परिघान् पट्टिशांश्चैव भिन्दिपालांश्च मारिष ।। ५२ ।।

आर्य! वहाँ सुन्दर कवच पड़े थे। भारी मूसल, परिघ, पट्टिश और भिन्दिपाल भी इधर-उधर बिखरे दिखायी देते थे ।। ५२ ।।

पतितान् विविधांश्चापांश्चित्रान् हेमपरिष्कृतान् ।
कुथा बहुविधाकाराश्चामरान् व्यजनानि च ।। ५३ ।।

नाना प्रकारके विचित्र एवं स्वर्णभूषित धनुष गिरे हुए थे। हाथीकी पीठपर बिछाये जानेवाले भाँति-भाँतिके कम्बल तथा चँवर और व्यजन भी यत्र-तत्र गिरे दिखायी देते

थे ।। ५३ ।।

नानाविधानि शस्त्राणि प्रगृह्य पतिता नराः ।
जीवन्त इव दृश्यन्ते गतसत्त्वा महारथाः ।। ५४ ।।

भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंको हाथोंमें लेकर पृथ्वीपर पड़े हुए प्राणहीन महारथी सैनिक जीवित-से दिखायी देते थे ।। ५४ ।।

गदाविमथितैर्गात्रैर्मुसलैर्भिन्नमस्तकाः ।
गजवाजिरथक्षुण्णाः शेरते स्म नराः क्षितौ ।। ५५ ।।

किन्हींके शरीर गदाकी चोटसे चूर-चूर हो गये थे, किन्हींके मस्तक मूसलोंकी मारसे फट गये थे तथा कितने ही मनुष्य घोड़े, हाथी एवं रथोंसे कुचल गये थे। ये सभी वहाँ पृथ्वीपर प्राणहीन होकर सो गये थे ।। ५५ ।।

तथैवाश्वनृनागानां शरीरैर्विबभौ तदा ।
संछन्ना वसुधा राजन् पर्वतैरिव सर्वशः ।। ५६ ।।

राजन्! इसी प्रकार घोड़े, हाथी और मनुष्योंके मृत शरीरोंसे सारी वसुधा आच्छादित हो उस समय पर्वतोंसे ढकी हुई-सी जान पड़ती थी ।। ५६ ।।

समरे पतितैश्चैव शक्त्यृष्टिशरतोमरैः ।
निस्त्रिंशैः पट्टिशैः प्रासैरयस्कुन्तैः परश्वधैः ।। ५७ ।।
परिघैर्भिन्दिपालैश्च शतघ्नीभिश्च मारिष ।
शरीरैः शस्त्रनिर्भिन्नैः समास्तीर्यत मेदिनी ।। ५८ ।।

आर्य! समरभूमिमें गिरे हुए बाण, तोमर, शक्ति, ऋष्टि, खड्ग, पट्टिश, प्रास, लोहेके भाले, फरसे, परिघ, भिन्दिपाल तथा शतघ्नी (तोप)—इन अस्त्र-शस्त्रों तथा इनके द्वारा विदीर्ण हुए मृत शरीरोंसे सारी पृथ्वी पट गयी थी ।। ५७-५८ ।।

विशब्दैरल्पशब्दैश्च शोणितौघपरिप्लुतैः ।
गतासुभिरमित्रघ्न विबभौ निचिता मही ।। ५९ ।।

शत्रुओंका नाश करनेवाले महाराज! वहाँ पृथ्वीपर कुछ ऐसे लोग गिरे थे, जिनके मुखसे शब्द नहीं निकल पाता था। कुछ ऐसे थे, जो बहुत थोड़ा बोल पाते थे। प्रायः सभी लोग खूनसे लथपथ हो रहे थे और बहुत-से ऐसे शरीर पड़े थे, जो सर्वथा प्राणहीन हो चुके थे। इन सबके द्वारा वहाँकी भूमि मानो चुन दी गयी थी ।। ५९ ।।

सतलत्रैः सकेयूरैर्बाहुभिश्चन्दनोक्षितैः ।
हस्तिहस्तोपमैश्छिन्नैरूरुभिश्च तरस्विनाम् ।। ६० ।।
बद्धचूडामणिवरैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
पातितैर्ऋषभाक्षाणां बभौ भारत मेदिनी ।। ६१ ।।

भारत! रणभूमिमें गिरे हुए बैलके समान विशाल नेत्रोंवाले वेगशाली वीरोंकी दस्तानों और केयूरोंसे युक्त चन्दनचर्चित भुजाओंसे, हाथीकी सूँड़के समान प्रतीत होनेवाली छिन्न-

भिन्न हुई जाँघोंसे तथा उत्तम चूड़ामणि (मुकुट)-से आबद्ध कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे वहाँकी भूमि अद्भुत शोभा पा रही थी ।। ६०-६१ ।।

कवचैः शोणितादिग्धैर्विप्रकीर्णैश्च काञ्चनैः ।
रराज सुभृशं भूमिः शान्तार्चिभिरिवानलैः ।। ६२ ।।

रक्तमें सनकर इधर-उधर बिखरे हुए सुवर्णमय कवचोंसे वह युद्धभूमि ऐसे सुशोभित हो रही थी, मानो वहाँ जिसकी लपटें शान्त हो गयी हैं, ऐसी आग जगह-जगह पड़ी हो ।। ६२ ।।

विप्रविद्धैः कलापैश्च पतितैश्च शरासनैः ।
विप्रकीर्णैः शरैश्चैव रुक्मपुङ्खैः समन्ततः ।। ६३ ।।

चारों ओर तरकस फेंके पड़े थे, धनुष गिरे थे और सोनेके पंखवाले बाण बिखरे हुए थे ।। ६३ ।।

रथैश्च सर्वतो भग्नैः किङ्किणीजालभूषितैः ।
वाजिभिश्च हतैर्बाणैः स्रस्तजिह्वैः सशोणितैः ।। ६४ ।।

सब ओर क्षुद्रघण्टिकाओंके जालसे विभूषित टूटे-फूटे रथ पड़े थे। बाणोंसे मारे गये घोड़े खूनसे लथपथ हो जीभ निकाले ढेर हो रहे थे ।। ६४ ।।

अनुकर्षैः पताकाभिरुपासङ्गैर्ध्वजैरपि ।
प्रवीराणां महाशङ्खैर्विप्रकीर्णैश्च पाण्डुरैः ।। ६५ ।।

अनुकर्ष, पताका, उपासंग, ध्वज तथा बड़े-बड़े वीरोंके श्वेत महाशंख बिखरे पड़े थे ।। ६५ ।।

स्रस्तहस्तैश्च मातङ्गैः शयानैर्विबभौ मही ।
नानारूपैरलंकारैः प्रमदेवाभ्यलंकृता ।। ६६ ।।

जिनकी सूँड़ें कट गयी थीं, ऐसे मतवाले हाथी धराशायी हो रहे थे। उन सबके द्वारा वह रणभूमि भाँति-भाँतिके अलंकारोंसे अलंकृत युवतीके समान सुशोभित हो रही थी ।। ६६ ।।

दन्तिभिश्चापरैस्तत्र सप्रासैर्गाढवेदनैः ।
करैः शब्दं विमुञ्चद्भिः शीकरं मुहुर्मुहुः ।। ६७ ।।

कुछ दन्तार हाथी प्रास धँस जानेके कारण गहरी व्यथासे युक्त सूँड़ोंद्वारा बारंबार शब्द करते और पानीके कण फेंकते थे ।। ६७ ।।

विबभौ तद् रणस्थानं स्यन्दमानैरिवाचलैः ।
नानारागैः कम्बलैश्च परिस्तोमैश्च दन्तिनाम् ।। ६८ ।।
वैदूर्यमणिदण्डैश्च पतितैरङ्कुशैः शुभैः ।

उनके कारण वह युद्धस्थल जलके स्रोत बहानेवाले पर्वतोंसे युक्त-सा प्रतीत होता था। वहाँ नाना प्रकारके रंगवाले कम्बल, हाथियोंके झूल तथा वैदूर्यमणिके दण्डवाले सुन्दर अंकुश गिरे हुए थे ।। ६८$\frac{१}{२}$ ।।

घण्टाभिश्च गजेन्द्राणां पतिताभिः समन्ततः ।। ६९ ।।
विपाटितविचित्राभिः कुथाभिरङ्कुशैस्तथा ।
ग्रैवेयैश्चित्ररूपैश्च रुक्मकक्ष्याभिरेव च ।। ७० ।।

चारों ओर गजराजोंके घंटे पड़े हुए थे। हाथियोंकी पीठपर बिछाये जानेवाले फटे हुए विचित्र कम्बल और अंकुश सब ओर गिरे हुए थे। गलेके विचित्र आभूषण और सुनहरे रस्से भी जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े थे ।। ६९-७० ।।

यन्त्रैश्च बहुधाच्छिन्नैस्तोमरैश्चापि काञ्चनैः ।
अश्वानां रेणुकपिलै रुक्मच्छन्नैरुरश्छदैः ।। ७१ ।।
सादिनां भुजगैश्छिन्नैः पतितैः साङ्गदैस्तथा ।
प्रासैश्च विमलैस्तीक्ष्णैर्विमलाभिस्तथर्ष्टिभिः ।। ७२ ।।

अनेक टुकड़ोंमें कटे हुए यन्त्र, सुवर्णमय तोमर, धूलसे कपिल वर्णके दिखायी देनेवाले अश्वोंकी छातीको ढकनेवाले सुनहरे कवच, बाजूबंदसहित घुड़सवारोंके हाथोंमें धारण किये हुए तीखे और चमकीले प्रास तथा चमचमाती हुई ऋष्टियाँ छिन्न-भिन्न होकर यत्र-तत्र पड़ी थीं ।। ७१-७२ ।।

उष्णीषैश्च तथा चित्रैर्विप्रविद्धैस्ततस्ततः ।
विचित्रैर्बाणवषैश्च जातरूपपरिष्कृतैः ।। ७३ ।।
अश्वास्तरपरिस्तोमै राङ्कवैर्मृदितैस्तथा ।
नरेन्द्रचूडामणिभिर्विचित्रैश्च महाधनैः ।। ७४ ।।

जहाँ-तहाँ गिरे हुए विचित्र उष्णीष (पगड़ी आदि), पानीकी तरह बरसाये गये सुवर्णभूषित नाना प्रकारके बाण, घोड़ोंकी जीन, झूल और उनकी पीठपर बिछाने योग्य रंकु नामक मृगोंके कोमल चर्ममय आसन, जो पैरोंसे कुचलकर धूलमें सन गये थे तथा नरेशोंके मुकुटमें आबद्ध बहुमूल्य एवं विचित्र मणिरत्न सब ओर बिखरे पड़े थे ।। ७३-७४ ।।

छत्रैस्तथापविद्धैश्च चामरैर्व्यजनैरपि ।
पद्मेन्दुद्युतिभिश्चैव वदनैश्चारुकुण्डलैः ।। ७५ ।।
क्लृप्तश्मश्रुभिरत्यर्थं वीराणां समलंकृतैः ।
अपविद्धैर्महाराज सुवर्णोज्ज्वलकुण्डलैः ।। ७६ ।।
ग्रहनक्षत्रशबला द्यौरिवासीद् वसुन्धरा ।

इधर-उधर गिरे हुए राजाओंके छत्र, चँवर, व्यजन, वीर योद्धाओंके मनोहर कुण्डलोंसे विभूषित, कमल एवं चन्द्रमाके समान कान्तिमान् तथा मूँछोंसे युक्त और अत्यन्त अलंकृत कटे हुए मस्तक, जिनमें सोनेके सुन्दर कुण्डल जगमगा रहे थे, फेंके हुए-से पड़े थे। महाराज! इन सब वस्तुओंसे आच्छादित हुई वहाँकी भूमि ग्रहों और नक्षत्रोंसे भरे हुए आकाशके समान विचित्र शोभा धारण कर रही थी ।। ७५-७६ १/२ ।।

एवमेते महासेने मृदिते तत्र भारत ।। ७७ ।।

परस्परं समासाद्य तव तेषां च संयुगे ।

भारत! इस प्रकार आपकी और पाण्डवोंकी वे दोनों विशाल सेनाएँ एक-दूसरीसे भिड़कर युद्धस्थलमें रौंदी जा रही थी ।। ७७½ ।।

तेषु श्रान्तेषु भग्नेषु मृदितेषु च भारत ।। ७८ ।।
रात्रिः समभवत् तत्र नापश्याम ततोऽनुगान् ।
ततोऽवहारं सैन्यानां प्रचक्रुः कुरुपाण्डवाः ।। ७९ ।।

भरतनन्दन! उस समय जब अधिकांश सैनिक परिश्रमसे चूर-चूर हो रहे थे, कितने ही भाग गये थे और बहुतेरे योद्धा रौंद डाले गये थे, रात हो गयी थी एवं हमें अपने सेवक नहीं दिखायी दे रहे थे, तब कौरवों और पाण्डवोंने अपनी-अपनी सेनाको युद्धभूमिसे लौटनेका आदेश दे दिया ।। ७८-७९ ।।

रजनीमुखे सुरौद्रे तु वर्तमाने महाभये ।
अवहारं ततः कृत्वा सहिताः कुरुपाण्डवाः ।
न्यविशन्त यथाकालं गत्वा स्वशिबिरं तदा ।। ८० ।।

फिर उस महाभयानक तथा अत्यन्त रौद्र रूपवाले प्रदोषकालमें कौरव तथा पाण्डव एक साथ अपनी सेनाओंको लौटाकर यथासमय शिविरमें जा पहुँचे और विश्राम करने लगे ।। ८० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अष्टमदिवसयुद्धावहारे षण्णवतितमोऽध्यायः ।। ९६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें आठवें दिनके युद्धमें सेनाके शिविरमें लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९६ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ८०$\frac{१}{२}$ श्लोक हैं।]

सप्तनवतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका अपने मन्त्रियोंसे सलाह करके भीष्मसे पाण्डवोंको मारने अथवा कर्णको युद्धके लिये आज्ञा देनेका अनुरोध करना

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ।
दुःशासनश्च पुत्रस्ते सूतपुत्रश्च दुर्जयः ।। १ ।।
समागम्य महाराज मन्त्रं चक्रुर्विवक्षितम् ।
कथं पाण्डुसुताः संख्ये जेतव्याः सगणा इति ।। २ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर राजा दुर्योधन, सुबलपुत्र शकुनि, आपका पुत्र दुःशासन, दुर्जयवीर सूतपुत्र कर्ण—ये सभी मिलकर अभीष्ट कार्यके विषयमें गुप्त परामर्श करने लगे। उनकी मन्त्रणाका मुख्य विषय यह था कि पाण्डवोंको दल-बलसहित युद्धमें कैसे जीता जा सकता है? ।। १-२ ।।

ततो दुर्योधनो राजा सर्वांस्तानाह मन्त्रिणः ।
सूतपुत्रं समाभाष्य सौबलं च महाबलम् ।। ३ ।।

उस समय राजा दुर्योधनने सूतपुत्र कर्ण तथा महाबली शकुनिको सम्बोधित करके उन सब मन्त्रियोंसे कहा— ।। ३ ।।

द्रोणो भीष्मः कृपः शल्यः सौमदत्तिश्च संयुगे ।

न पार्थान् प्रतिबाधन्ते न जाने तच्च कारणम् ।। ४ ।।

'मित्रो! द्रोणाचार्य, भीष्म, कृपाचार्य, शल्य तथा भूरिश्रवा—ये लोग युद्धमें कुन्तीके पुत्रोंको कभी कोई बाधा नहीं पहुँचाते हैं। इसका क्या कारण है, यह मैं नहीं जानता ।। ४ ।।

अवध्यमानास्ते चापि क्षपयन्ति बलं मम ।

सोऽस्मि क्षीणबलः कर्ण क्षीणशस्त्रश्च संयुगे ।। ५ ।।

'वे पाण्डव स्वयं अवध्य रहकर मेरी सेनाका संहार कर रहे हैं। कर्ण! इस प्रकार मेरी सेना तथा अस्त्र-शस्त्रोंका युद्धमें क्षय होता चला जा रहा है ।। ५ ।।

(त्वयि युद्धविमुखे चापि जितश्चास्मि हि पाण्डवैः ।

द्रोणस्य प्रमुखे वीरा हतास्ते भ्रातरो मम ।।

भीमसेनेन राधेय मम चैवानुपश्यतः ।)

'राधानन्दन! तुम युद्धसे मुँह मोड़कर बैठ रहे हो, इसलिये पाण्डवोंने मुझे परास्त कर दिया। द्रोणाचार्यके सामने ही मेरे देखते-देखते भीमसेनने मेरे वीर भाइयोंको मार डाला।

निकृतः पाण्डवैः शूरैरवध्यैर्दैवतैरपि ।

सोऽहं संशयमापन्नः प्रहरिष्ये कथं रणे ।। ६ ।।

'पाण्डव शूरवीर और देवताओंके लिये भी अवध्य हैं। उनके द्वारा पराजित होकर मैं जीवनके संशयमें पड़ गया हूँ। ऐसी दशामें रणक्षेत्रमें मैं कैसे युद्ध करूँगा?' ।। ६ ।।

(एवमुक्तस्तु राधेयो दुर्योधनमरिंदमम् ।)

तमब्रवीन्महाराजं सूतपुत्रो नराधिपम् ।

यह सुनकर सूत्रपुत्र कर्णने शत्रुदमन नरनाथ महाराज दुर्योधनसे इस प्रकार कहा ।। ६ $\frac{1}{2}$ ।।

कर्ण उवाच

मा शोच भरतश्रेष्ठ करिष्येऽहं प्रियं तव ।। ७ ।।

भीष्मः शान्तनवस्तूर्णमपयातु महारणात् ।

कर्ण बोला—भरतश्रेष्ठ! शोक न करो। मैं तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा, परंतु शान्तनुनन्दन भीष्म शीघ्र ही महायुद्धसे हट जायँ ।। ७ $\frac{1}{2}$ ।।

निवृत्ते युधि गाङ्गेये न्यस्तशस्त्रे च भारत ।। ८ ।।

अहं पार्थान् हनिष्यामि सहितान् सर्वसोमकैः ।

पश्यतो युधि भीष्मस्य शपे सत्येन ते नृप ।। ९ ।।

भरतवंशी नरेश! जब युद्धमें गंगानन्दन भीष्म हथियार डाल देंगे और उससे सर्वथा निवृत्त हो जायँगे, उस समय मैं युद्धमें भीष्मके देखते-देखते सोमकोंसहित समस्त कुन्तीपुत्रोंको एक साथ मार डालूँगा, यह मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ ।। ८-९ ।।

पाण्डवेषु दयां नित्यं स हि भीष्मः करोति वै ।
अशक्तश्च रणे भीष्मो जेतुमेतान् महारथान् ।। १० ।।

भीष्म सदा ही पाण्डवोंपर दया करते हैं; अतः युद्धमें वे इन महारथियोंको जीतनेमें सर्वथा असमर्थ हैं ।। १० ।।

अभिमानी रणे भीष्मो नित्यं चापि रणप्रियः ।
स कथं पाण्डवान् युद्धे जेष्यते तात संगतान् ।। ११ ।।

तात! भीष्म युद्धमें अभिमान रखनेवाले तथा सदा युद्धको प्रिय माननेवाले हैं; तथापि पाण्डवोंपर दया रखनेके कारण वे उन सबको संग्राममें कैसे जीत सकेंगे? ।। ११ ।।

स त्वं शीघ्रमितो गत्वा भीष्मस्य शिबिरं प्रति ।
अनुमान्य गुरुं वृद्धं शस्त्रं न्यासय भारत ।। १२ ।।

भारत! अतः तुम शीघ्र ही यहाँसे भीष्मजीके शिविरमें जाकर अपने उन पूजनीय वृद्ध पितामहको राजी करके उनसे हथियार रखवा दो ।। १२ ।।

न्यस्तशस्त्रे ततो भीष्मे निहतान् पश्य पाण्डवान् ।
मयैकेन रणे राजन् ससुहृद्गणबान्धवान् ।। १३ ।।

राजन्! भीष्मके हथियार डाल देनेपर पाण्डवोंको केवल मेरे द्वारा युद्धमें सुहृदों और बान्धवोंसहित मारा गया समझो ।। १३ ।।

एवमुक्तस्तु कर्णेन पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अब्रवीद् भ्रातरं तत्र दुःशासनमिदं वचः ।। १४ ।।
अनुयात्रं यथा सर्वं सज्जीभवति सर्वशः ।
दुःशासन तथा क्षिप्रं सर्वमेवोपपादय ।। १५ ।।

कर्णके ऐसा कहनेपर आपके पुत्र दुर्योधनने वहीं अपने भाई दुःशासनसे इस प्रकार कहा—‘दुःशासन! तुम शीघ्र सब प्रकारसे ऐसी व्यवस्था करो, जिससे यात्रासम्बन्धी सब आवश्यक तैयारी सम्पन्न हो जाय’ ।। १४-१५ ।।

एवमुक्त्वा ततो राजन् कर्णमाह जनेश्वरः ।
अनुमान्य रणे भीष्ममेषोऽहं द्विपदां वरम् ।। १६ ।।
आगमिष्ये ततः क्षिप्रं त्वत्सकाशमरिंदम ।
अपक्रान्ते ततो भीष्मे प्रहरिष्यसि संयुगे ।। १७ ।।

राजन्! दुःशासनसे ऐसा कहकर जनेश्वर दुर्योधनने कर्णसे कहा—‘शत्रुदमन! मैं मनुष्योंमें श्रेष्ठ भीष्मको युद्धसे हटनेके लिये राजी करके अभी तुम्हारे पास लौट आता हूँ। फिर भीष्मके हट जानेपर तुम युद्धके मैदानमें शत्रुओंपर प्रहार करना’ ।। १६-१७ ।।

निष्पपात ततस्तूर्णं पुत्रस्तव विशाम्पते ।
सहितो भ्रातृभिस्तैस्तु देवैरिव शतक्रतुः ।। १८ ।।

प्रजानाथ! तदनन्तर आपका पुत्र दुर्योधन तुरंत ही अपने भाइयोंके साथ शिविरसे बाहर निकला, मानो देवताओंके साथ इन्द्र अपने भवनसे बाहर आये हों ।। १८ ।।

ततस्तं नृपशार्दूलं शार्दूलसमविक्रमम् ।
आरोहयद्धयं तूर्णं भ्राता दुःशासनस्तदा ।। १९ ।।

उस समय भाई दुःशासनने अपने ज्येष्ठ भ्राता सिंहके समान पराक्रमी नृपश्रेष्ठ दुर्योधनको घोड़ेपर चढ़ाया ।। १९ ।।

अंगदी बद्धमुकुटो हस्ताभरणवान् नृप ।
धार्तराष्ट्रो महाराज विबभौ स पथि व्रजन् ।। २० ।।

नरेश्वर! महाराज! माथेपर मुकुट, भुजाओंमें अंगद तथा हाथोंमें वलय आदि आभूषण धारण किये मार्गपर जाता हुआ आपका पुत्र दुर्योधन बड़ी शोभा पा रहा था ।। २० ।।

भण्डीपुष्पनिकाशेन तपनीयनिभेन च ।
अनुलिप्तः परार्घ्येन चन्दनेन सुगन्धिना ।। २१ ।।

उसने शिरीषपुष्प एवं सुवर्णके समान पीतवर्णका बहुमूल्य सुगन्धित चन्दन लगा रखा था ।। २१ ।।

अरजोऽम्बरसंवीतः सिंहखेलगतिर्नृप ।
शुशुभे विमलार्चिष्मान् नभसीव दिवाकरः ।। २२ ।।

राजन्! उसके सारे अंग निर्मल वस्त्रसे ढके हुए थे। वह सिंहके समान मस्तानी चालसे चलता था और अपनी निर्मल प्रभाके कारण आकाशमें प्रकाशित होनेवाले सूर्यके समान शोभा पा रहा था ।। २२ ।।

तं प्रयान्तं नरव्याघ्रं भीष्मस्य शिबिरं प्रति ।
अनुजग्मुर्महेष्वासाः सर्वलोकस्य धन्विनः ।। २३ ।।
भ्रातरश्च महेष्वासास्त्रिदशा इव वासवम् ।

भीष्मके शिविरकी ओर जाते हुए पुरुषश्रेष्ठ दुर्योधनके पीछे सारे जगत्के महाधनुर्धर कौरवपक्षीय नरेश तथा विशाल धनुष धारण करनेवाले उसके भाई उसी प्रकार जा रहे थे, जैसे इन्द्रके पीछे देवता चलते हैं ।। २३ १/२ ।।

हयानन्ये समारुह्य गजानन्ये च भारत ।। २४ ।।
रथानन्ये नरश्रेष्ठं परिवव्रुः समन्ततः ।

भारत! कुछ लोग घोड़ोंपर और कुछ लोग हाथियोंपर चढ़े थे। दूसरे लोग रथोंपर आरूढ़ हो सब ओरसे नरश्रेष्ठ दुर्योधनको घेरे हुए थे ।। २४ १/२ ।।

आत्तशस्त्राश्च सुहृदो रक्षणार्थं महीपतेः ।। २५ ।।
प्रादुर्बभूवुः सहिताः शक्रस्येवामरा दिवि ।

राजा दुर्योधनकी रक्षाके लिये समस्त सुहृद् अस्त्र-शस्त्र लेकर उसी प्रकार उसके साथ हो गये थे, जैसे स्वर्गमें देवता इन्द्रकी रक्षाके लिये उनके साथ रहते हैं ।। २५ १/२ ।।

स पूज्यमानः कुरुभिः कौरवाणां महाबलः ।। २६ ।।
प्रययौ सदनं राजा गाङ्गेयस्य यशस्विनः ।
अन्वीयमानः सततं सोदरैः परिवारितः ।। २७ ।।

इस प्रकार कौरवोंसे पूजित हो महाबली कौरवराज दुर्योधन यशस्वी भीष्मके शिविरमें गया। उसके भाई उसे घेरकर निरन्तर उसीके साथ-साथ रहे ।। २६-२७ ।।

दक्षिणं दक्षिणः काले सम्भृत्य स्वभुजं तदा ।
हस्तिहस्तोपमं शैक्षं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।। २८ ।।
प्रगृह्णन्नञ्जलीन् नृणामुद्यतान् सर्वतो दिशः ।
शुश्राव मधुरा वाचो नानादेशनिवासिनाम् ।। २९ ।।

उदार स्वभाववाले राजा दुर्योधनने उस समय सम्पूर्ण शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ, हाथीकी सूँड़के समान विशाल तथा अस्त्र-प्रहारकी शिक्षामें निपुणताको प्राप्त हुई अपनी दाहिनी भुजाको ऊपर उठाकर सम्पूर्ण दिशाओंमें उठी हुई विभिन्न देशके निवासी मनुष्योंकी प्रणामांजलियोंको स्वीकार करते हुए उनकी मधुर बातें सुनीं ।। २८-२९ ।।

संस्तूयमानः सूतैश्च मागधैश्च महायशाः ।
पूजयानश्च तान् सर्वान् सर्वलोकेश्वरेश्वरः ।। ३० ।।
(एवं स प्रययौ राजा सर्वसैन्यसमावृतः ।)

सम्पूर्ण जगत्का अधीश्वर महायशस्वी राजा दुर्योधन सम्पूर्ण सेनाओंसे घिरकर सूतों और मागधोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनता और सब लोगोंका समादर करता हुआ (भीष्मके शिविरकी ओर) आगे बढ़ता गया ।। ३० ।।

प्रदीपैः काञ्चनैस्तत्र गन्धतैलावसेचितैः ।
परिवव्रुर्महाराजं प्रज्वलद्भिः समन्ततः ।। ३१ ।।

सुगन्धित तेलसे भरे हुए सोनेके जलते दीपक लिये बहुत-से सेवक महाराज दुर्योधनको सब ओरसे घेरकर चल रहे थे ।। ३१ ।।

स तैः परिवृतो राजा प्रदीपैः काञ्चनैर्ज्वलन् ।
शुशुभे चन्द्रमा युक्तो दीप्तैरिव महाग्रहैः ।। ३२ ।।

उन सुवर्णमय प्रदीपोंसे घिरकर प्रकाशित होनेवाला राजा दुर्योधन दीप्तिमान् महाग्रहोंसे संयुक्त चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा था ।। ३२ ।।

काञ्चनोष्णीषिणस्तत्र वेत्रझर्झरपाणयः ।
प्रोत्सारयन्तः शनकैस्तं जनं सर्वतो दिशम् ।। ३३ ।।

सुनहरी पगड़ी धारण करके हाथोंमें बेंत और झर्झर लिये बहुतेरे सिपाही धीरे-धीरे सब ओरसे लोगोंकी भीड़को हटाते हुए चल रहे थे ।। ३३ ।।

सम्प्राप्य तु ततो राजा भीष्मस्य सदनं शुभम् ।
अवतीर्य हयाच्चापि भीष्मं प्राप्य जनेश्वरः ।। ३४ ।।

अभिवाद्य ततो भीष्मं निषण्णः परमासने ।
काञ्चने सर्वतोभद्रे स्पर्द्ध्यास्तरणसंवृते ।। ३५ ।।

तत्पश्चात् राजा दुर्योधन भीष्मके सुन्दर निवास-स्थानके निकट पहुँचकर घोड़ेसे उतर पड़ा और भीष्मजीके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके बहुमूल्य बिछौनोंसे युक्त सर्वतोभद्र नामक सर्वोत्तम स्वर्णमय सिंहासनपर बैठ गया ।। ३४-३५ ।।

उवाच प्राञ्जलिर्भीष्मं बाष्पकण्ठोऽश्रुलोचनः ।
त्वां वयं हि समाश्रित्य संयुगे शत्रुसूदन ।। ३६ ।।
उत्सहेम रणे जेतुं सेन्द्रानपि सुरासुरान् ।
किमु पाण्डुसुतान् वीरान् ससुहृद्गणबान्धवान् ।। ३७ ।।
तस्मादर्हसि गाङ्गेय कृपां कर्तुं मयि प्रभो ।
जहि पाण्डुसुतान् वीरान् महेन्द्र इव दानवान् ।। ३८ ।।

इसके बाद नेत्रोंमें आँसू भरकर हाथ जोड़े हुए गद्गद कण्ठसे वह भीष्मसे इस प्रकार बोला—'शत्रुसूदन! हमलोग आपका आश्रय लेकर युद्धके मैदानमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंको भी जीतनेका उत्साह रखते हैं; फिर मित्रों और बान्धवोंसहित वीर पाण्डवोंको जीतना कौन बड़ी बात है। अतः प्रभो! गंगानन्दन! आपको मुझपर कृपा करनी चाहिये। जैसे देवराज इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार आप वीर पाण्डवोंको मार डालिये ।। ३६—३८ ।।

अहं सर्वान् महाराज निहनिष्यामि सोमकान् ।
पञ्चालान् केकयैः सार्धं करूषांश्चेति भारत ।। ३९ ।।
त्वद्वचः सत्यमेवास्तु जहि पार्थान् समागतान् ।
सोमकांश्च महेष्वासान् सत्यवाग् भव भारत ।। ४० ।।

'महाराज! भरतनन्दन! मैं केकयोंसहित सम्पूर्ण सोमकों, पांचालों और करूषोंको मार डालूँगा—आपकी यह बात सत्य हो। भारत! आप युद्धमें सामने आये हुए कुन्तीपुत्रों और महाधनुर्धर सोमकोंका वध कीजिये और ऐसा करके अपने वचनको सत्य कीजिये ।। ३९-४० ।।

दयया यदि वा राजन् द्वेष्यभावान्मम प्रभो ।
मन्दभाग्यतया वापि मम रक्षसि पाण्डवान् ।। ४१ ।।
अनुजानीहि समरे कर्णमाहवशोभिनम् ।
स जेष्यति रणे पार्थान् ससुहृद्गणबान्धवान् ।। ४२ ।।

'शक्तिशाली राजन्! यदि पाण्डवोंके प्रति दयाभाव अथवा मेरे दुर्भाग्यवश मेरे प्रति द्वेषभाव रखनेके कारण आप पाण्डवोंकी रक्षा करते हैं तो समरभूमिमें शोभा पानेवाले कर्णको युद्धके लिये आज्ञा दे दीजिये। वह सुहृदों और बान्धवोंसहित कुन्तीपुत्रोंको अवश्य जीत लेगा' ।। ४१-४२ ।।

स एवमुक्त्वा नृपतिः पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
नोवाच वचनं किञ्चिद् भीष्मं सत्यपराक्रमम् ।। ४३ ।।

सत्यपराक्रमी भीष्मसे ऐसा कहकर आपका पुत्र राजा दुर्योधन और कुछ नहीं बोला ।। ४३ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मं प्रति दुर्योधनवाक्ये सप्तनवतितमोऽध्यायः ।। ९७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मके प्रति दुर्योधनका वचनविषयक सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९७ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ ½ श्लोक मिलाकर कुल ४५ ½ श्लोक हैं।]

अष्टनवतितमोऽध्यायः

भीष्मका दुर्योधनको अर्जुनका पराक्रम बताना और भयंकर युद्धके लिये प्रतिज्ञा करना तथा प्रातःकाल दुर्योधनके द्वारा भीष्मकी रक्षाकी व्यवस्था

संजय उवाच

वाक् शल्यैस्तव पुत्रेण सोऽतिविद्धो महामनाः ।
दुःखेन महताऽऽविष्टो नोवाचाप्रियमण्वपि ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! आपके पुत्रद्वारा वाग्बाणोंसे अत्यन्त विद्ध होकर महामना भीष्मको महान् दुःख हुआ; तथापि उन्होंने उससे कोई किंचिन्मात्र भी अप्रिय वचन नहीं कहा ।। १ ।।

स ध्यात्वा सुचिरं कालं दुःखरोषसमन्वितः ।
श्वसमानो यथा नागः प्रणुन्नो वाक्शलाकया ।। २ ।।

वे दुःख और रोषसे युक्त होकर दीर्घकालतक कुछ सोचते हुए लंबी साँस खींचते रहे। वाणीरूपी अंकुशसे पीड़ित होकर वे हाथीके समान व्यथाका अनुभव करने लगे ।। २ ।।

उद्वृत्य चक्षुषी कोपान्निर्दहन्निव भारत ।
सदेवासुरगन्धर्वं लोकं लोकविदां वरः ।। ३ ।।

भारत! फिर क्रोधसे दोनों आँखें चढ़ाकर लोकवेत्ताओंमें श्रेष्ठ भीष्म इस प्रकार देखने लगे, मानो देवताओं, असुरों और गन्धर्वोंसहित सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध कर डालेंगे ।।

अब्रवीत् तव पुत्रं स सामपूर्वमिदं वचः ।
किं त्वं दुर्योधनैवं मां वाक्शल्यैरपकृन्तसि ।। ४ ।।
घटमानं यथाशक्ति कुर्वाणं च तव प्रियम् ।
जुह्वानं समरे प्राणांस्तव वै प्रियकाम्यया ।। ५ ।।

फिर आपके पुत्रको सान्त्वना देते हुए वे उससे इस प्रकार बोले—'बेटा दुर्योधन! तुम इस प्रकार वाग्बाणोंसे मुझे क्यों छेद रहे हो? मैं तो यथाशक्ति शत्रुओंपर विजय पानेकी चेष्टा करता हूँ और तुम्हारे प्रिय साधनमें लगा हुआ हूँ। इतना ही नहीं, तुम्हारा प्रिय करनेकी इच्छासे मैं समराग्निमें अपने प्राणोंको होम देनेके लिये भी तैयार हूँ ।। ४-५ ।।

यदा तु पाण्डवः शूरः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ।
पराजित्य रणे शक्रं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।। ६ ।।

'परंतु तुम्हें याद होगा, जब शूरवीर पाण्डुनन्दन अर्जुनने युद्धमें देवराज इन्द्रको परास्त करके खाण्डव-वनमें अग्निको तृप्त किया था, वही उनकी अजेयताका पूरा प्रमाण

है ।। ६ ।।

यदा च त्वां महाबाहो गन्धर्वैर्हृतमोजसा ।
अमोचयत् पाण्डुसुतः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।। ७ ।।

'महाबाहो! जब गन्धर्वलोग तुम्हें बलपूर्वक पकड़ ले गये थे, उस समय भी पाण्डुपुत्र अर्जुनने ही तुम्हें छुड़ाया था। उनके अनन्त पराक्रमको समझनेके लिये यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा ।। ७ ।।

द्रवमाणेषु शूरेषु सोदरेषु तव प्रभो ।
सूतपुत्रे च राधेये पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।। ८ ।।

'प्रभो! उस अवसरपर तुम्हारे ये शूरवीर भाई और राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण तो मैदान छोड़कर भाग गये थे। यह अर्जुनकी अद्भुत शक्तिका पर्याप्त उदाहरण है ।। ८ ।।

यच्च नः सहितान् सर्वान् विराटनगरे तदा ।
एक एव समुद्यातः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।। ९ ।।

'उन दिनों विराटनगरमें हम सब लोग एक साथ युद्धके लिये डटे हुए थे, परंतु अर्जुनने अकेले ही हमलोगोंपर आक्रमण किया। यह उनकी अपरिमित शक्तिका पर्याप्त उदाहरण है ।। ९ ।।

द्रोणं य युधि संरब्धं मां च निर्जित्य संयुगे ।
वासांसि स समादत्त पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।। १० ।।

'अर्जुनने क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्यको तथा मुझे भी युद्धमें परास्त करके सबके वस्त्र छीन लिये थे। यह उनकी अजेयताका पर्याप्त प्रमाण है ।। १० ।।

तथा द्रौणिं महेष्वासं शारद्वतमथापि च ।
गोग्रहे जितवान् पूर्वं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।। ११ ।।

'पूर्वकालमें उसी गोग्रहके अवसरपर पाण्डु-कुमारने महाधनुर्धर अश्वत्थामा तथा कृपाचार्यको भी परास्त कर दिया था। यह दृष्टान्त उन्हें समझनेके लिये पर्याप्त है ।। ११ ।।

विजित्य च यदा कर्णं सदा पुरुषमानिनम् ।
उत्तरायै ददौ वस्त्रं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।। १२ ।।

'उन दिनों सदा अपने पुरुषार्थका अभिमान रखनेवाले कर्णको भी जीतकर अर्जुनने उसके वस्त्र छीनकर उत्तराको अर्पित किये थे। यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा ।। १२ ।।

निवातकवचान् युद्धे वासवेनापि दुर्जयान् ।
जितवान् समरे पार्थः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।। १३ ।।

'जिन्हें परास्त करना इन्द्रके लिये भी कठिन था, उन निवातकवचोंको अर्जुनने युद्धमें परास्त कर दिया था। उनकी अलौकिक शक्तिको समझनेके लिये यह दृष्टान्त पर्याप्त होगा ।। १३ ।।

को हि शक्तो रणे जेतुं पाण्डवं रभसं तदा ।

यस्य गोप्ता जगद्गोप्ता शङ्खचक्रगदाधरः ।। १४ ।।
वासुदेवोऽनन्तशक्तिः सृष्टिसंहारकारकः ।
सर्वेश्वरो देवदेवः परमात्मा सनातनः ।। १५ ।।

'विश्वरक्षक, शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले अनन्तशक्ति, सृष्टि और संहारके एकमात्र कर्ता देवाधिदेव सनातन परमात्मा सर्वेश्वर भगवान् वासुदेव जिनकी रक्षा करनेवाले हैं, उन वेगशाली वीर पाण्डुपुत्र अर्जुनको युद्धके मैदानमें कौन जीत सकता है ।। १४-१५ ।।

उक्तोऽसि बहुशो राजन् नारदाद्यैर्महर्षिभिः ।
त्वं तु मोहान्न जानीषे वाच्यावाच्यं सुयोधन ।। १६ ।।

'राजन्! सुयोधन! यह बात नारद आदि महर्षियोंने तुमसे कई बार कही है, परंतु तुम मोहवश कहने और न कहनेयोग्य बातको समझते ही नहीं हो ।। १६ ।।

मुमूर्षुर्हि नरः सर्वान् वृक्षान् पश्यति काञ्चनान् ।
तथा त्वमपि गान्धारे विपरीतानि पश्यसि ।। १७ ।।

'गान्धारीनन्दन! जैसे मरणासन्न मनुष्य सभी वृक्षोंको सुनहरे रंगका देखता है, उसी प्रकार तुम भी सब कुछ विपरीत ही देख रहे हो ।। १७ ।।

स्वयं वैरं महत् कृत्वा पाण्डवैः सह सृंजयैः ।
युद्ध्यस्व तानद्य रणे पश्यामः पुरुषो भव ।। १८ ।।
(अशक्याः पाण्डवा जेतुं देवैरपि सवासवैः ।)

'तुमने स्वयं ही पाण्डवों तथा सृंजयोंके साथ महान् वैर ठाना है। अतः अब तुम्हीं युद्ध करो। हम सब लोग देखते हैं। तुम स्वयं पुरुषत्वका परिचय दो। पाण्डवोंको तो इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी नहीं जीत सकते ।। १८ ।।

अहं तु सोमकान् सर्वान् पञ्चालांश्च समागतान् ।
निहनिष्ये नरव्याघ्र वर्जयित्वा शिखण्डिनम् ।। १९ ।।

'किंतु पुरुषसिंह! मैं केवल शिखण्डीको छोड़कर युद्धमें आये हुए समस्त सोमकों और पांचालोंको भी मार डालूँगा ।। १९ ।।

तैर्वाहं निहतः संख्ये गमिष्ये यमसादनम् ।
तान् वा निहत्य समरे प्रीतिं दास्याम्यहं तव ।। २० ।।

'या तो उन्हींके हाथों युद्धमें मारा जाकर मैं यमलोकका रास्ता लूँगा अथवा उन्हींको समरांगणमें मारकर मैं तुम्हें हर्ष प्रदान करूँगा ।। २० ।।

पूर्वं हि स्त्री समुत्पन्ना शिखण्डी राजवेश्मनि ।
वरदानात् पुमाञ्जातः सैषा वै स्त्री शिखण्डिनी ।। २१ ।।

'शिखण्डी पहले राजभवनमें स्त्रीके रूपमें उत्पन्न हुआ था; फिर वरदानसे पुरुष हो गया, अतः मेरी दृष्टिमें तो यह स्त्रीरूपा शिखण्डिनी ही है ।। २१ ।।

तमहं न हनिष्यामि प्राणत्यागेऽपि भारत ।
यासौ प्राङ्‌निर्मिता धात्रा सैषा वै स्त्री शिखण्डिनी ।। २२ ।।

'भारत! मेरे प्राणोंपर संकट आ जाय तो भी मैं उसे नहीं मारूँगा। जिसे विधाताने पहले स्त्री बनाया था, वह शिखण्डिनी आज भी मेरी दृष्टिमें स्त्री ही है ।। २२ ।।

सुखं स्वपिहि गान्धारे श्वोऽपि कर्ता महारणम् ।
यं जनाः कथयिष्यन्ति यावत् स्थास्यति मेदिनी ।। २३ ।।

'गान्धारीनन्दन! अब तुम सुखसे जाकर सो रहो। कल मैं बड़ा भीषण युद्ध करूँगा, जिसकी चर्चा लोग तबतक करते रहेंगे, जबतक कि यह पृथ्वी बनी रहेगी' ।।

एवमुक्तस्तव सुतो निर्जगाम जनेश्वर ।
अभिवाद्य गुरुं मूर्ध्ना प्रययौ स्वं निवेशनम् ।। २४ ।।

जनेश्वर! भीष्मके ऐसा कहनेपर आपका पुत्र दुर्योधन अपने उन गुरुजनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करनेके पश्चात् अपने शिविरको चला गया ।। २४ ।।

आगम्य तु ततो राजा विसृज्य च महाजनम् ।
प्रविवेश ततस्तूर्णं क्षयं शत्रुक्षयङ्करः ।। २५ ।।

वहाँ आकर शत्रुओंका विनाश करनेवाले राजा दुर्योधनने लोगोंके उस महान् समुदायको तुरंत विदा कर दिया और स्वयं शिविरके भीतर प्रवेश किया ।। २५ ।।

प्रविष्टः स निशां तां च गमयामास पार्थिवः ।
प्रभातायां च शर्वर्यां प्रातरुत्थाय तान् नृपः ।। २६ ।।
राज्ञः समाज्ञापयत सेनां योजयतेति ह ।
अद्य भीष्मो रणे क्रुद्धो निहनिष्यति सोमकान् ।। २७ ।।

भूपाल! वहाँ जाकर राजाने सुखसे रात बितायी और सबेरा होनेपर उसने प्रातःकाल उठकर राजाओंको यह आज्ञा दी—'राजसिंहो! तुम सब लोग सेनाको युद्धके लिये तैयार करो, आज पितामह भीष्म रणभूमिमें कुपित होकर सोमकोंका संहार करेंगे' ।। २६-२७ ।।

दुर्योधनस्य तच्छ्रुत्वा रात्रौ विलपितं बहु ।
मन्यमानः स तं राजन् प्रत्यादेशमिवात्मनः ।। २८ ।।

राजन्! रातमें दुर्योधनके अनेक प्रकारके विलापको सुनकर भीष्मने यह समझ लिया कि अब दुर्योधन मुझे युद्धसे हटाना चाहता है ।। २८ ।।

निर्वेदं परमं गत्वा विनिन्द्य परवश्यताम् ।
दीर्घं दध्यौ शान्तनवो योद्धुकामोऽर्जुनं रणे ।। २९ ।।

इससे उनके मनमें बड़ा खेद हुआ। भीष्मने पराधीनताकी भूरि-भूरि निन्दा करके रणभूमिमें अर्जुनके साथ युद्ध करनेका संकल्प लेकर दीर्घकालतक विचार किया ।। २९ ।।

इङ्गितेन तु तज्ज्ञात्वा गाङ्गेयेन विचिन्तितम् ।
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमचोदयत् ।। ३० ।।

महाराज! गंगानन्दन भीष्मने क्या सोचा है? इस बातको संकेतसे समझकर दुर्योधनने दु:शासनसे कहा— ।। ३० ।।

दु:शासन रथास्तूर्णं युज्यन्तां भीष्मरक्षिण: ।
द्वाविंशतिमनीकानि सर्वाण्येवाभिचोदय ।। ३१ ।।

'दु:शासन! तुम शीघ्र ही भीष्मकी रक्षा करनेवाले रथोंको जोतकर तैयार कराओ। अपने पास कुल बाईस सेनाएँ हैं। उन सबको भीष्मकी रक्षामें ही नियुक्त कर दो ।। ३१ ।।

इदं हि समनुप्राप्तं वर्षपूगाभिचिन्तितम् ।
पाण्डवानां ससैन्यानां वधो राज्यस्य चागम: ।। ३२ ।।

'आज वह अवसर प्राप्त हुआ है, जिसके लिये हम बहुत वर्षोंसे विचार करते आ रहे हैं। आज सेनासहित समस्त पाण्डवोंका वध तथा राज्यका लाभ होगा ।। ३२ ।।

तत्र कार्यतमं मन्ये भीष्मस्यैवाभिरक्षणम् ।
स नो गुप्त: सहाय: स्याद्धन्यात् पार्थांश्च संयुगे ।। ३३ ।।

'इस विषयमें मैं भीष्मकी रक्षाको ही अपना प्रधान कर्तव्य समझता हूँ। वे सुरक्षित रहनेपर हमारे सहायक होंगे और संग्रामभूमिमें कुन्तीकुमारोंका वध कर सकेंगे ।। ३३ ।।

अब्रवीद्धि विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
स्त्रीपूर्वको ह्यसौ राजंस्तस्माद् वर्ज्यो मया रणे ।। ३४ ।।

'विशुद्ध अन्त:करणवाले महात्मा भीष्मने मुझसे कहा है कि 'राजन्! मैं शिखण्डीको नहीं मार सकता; क्योंकि वह पहले स्त्रीरूपमें उत्पन्न हुआ था और इसीलिये युद्धमें मुझे उसका परित्याग कर देना है ।। ३४ ।।

लोकस्तद् वेद यदहं पितु: प्रियचिकीर्षया ।
राज्यं स्फीतं महाबाहो स्त्रियश्च त्यक्तवान् पुरा ।। ३५ ।।

'महाबाहो! सारा संसार यह जानता है कि मैंने पूर्वकालमें पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे समृद्धिशाली राज्य तथा स्त्रियोंका परित्याग कर दिया था ।। ३५ ।।

नैवं चाहं स्त्रियं जातु न स्त्रीपूर्वं कथंचन ।
हन्यां युधि नरश्रेष्ठ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। ३६ ।।

'नरश्रेष्ठ! मैं कभी किसी स्त्रीको अथवा जो पहले स्त्री रहा हो, उस पुरुषको भी किसी प्रकार युद्धमें मार नहीं सकता; यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ।। ३६ ।।

अयं स्त्रीपूर्वको राजञ्छिखण्डी यदि ते श्रुत: ।
उद्योगे कथितं यत्तत् तथा जाता शिखण्डिनी ।। ३७ ।।
कन्या भूत्वा पुमाञ्जात: स च मां योधयिष्यति ।
तस्याहं प्रमुखे बाणान् न मुञ्चेयं कथंचन ।। ३८ ।।

'राजन्! तुमने भी सुना होगा, यह शिखण्डी पहले स्त्रीरूपमें पैदा हुआ था। यह बात मैंने तुमसे युद्धकी तैयारीके समय बता दी थी। इस प्रकार कन्यारूपमें उत्पन्न हुई

शिखण्डिनी पहले स्त्री होकर अब पुरुष हो गयी है। वह पुरुष बना हुआ शिखण्डी यदि मुझसे युद्ध करेगा तो मैं उसके ऊपर किसी प्रकार भी बाण नहीं चलाऊँगा ।। ३७-३८ ।।

युद्धे हि क्षत्रियांस्तात पाण्डवानां जयैषिणः ।
सर्वानन्यान् हनिष्यामि सम्प्राप्तान् रणमूर्धनि ।। ३९ ।।

'तात! पाण्डवपक्षके दूसरे जो-जो विजयाभिलाषी क्षत्रिय युद्धके मुहानेपर मेरे सामने आयेंगे, उन सबका मैं वध करूँगा' ।। ३९ ।।

एवं मां भरतश्रेष्ठ गाङ्गेयः प्राह शास्त्रवित् ।
तत्र सर्वात्मना मन्ये गाङ्गेयस्यैव पालनम् ।। ४० ।।

'भरतश्रेष्ठ दुःशासन! शास्त्रोंके ज्ञाता गंगानन्दन भीष्मने इस प्रकार मुझसे कहा है। अतः युद्धभूमिमें सब प्रकारसे भीष्मकी रक्षाको ही मैं अपना मुख्य कर्तव्य मानता हूँ ।। ४० ।।

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाहवे ।
मा वृकेणेव गाङ्गेयं घातयेम शिखण्डिना ।। ४१ ।।

'यदि महायुद्धमें सिंहकी रक्षा नहीं की जाय तो उसे एक भेड़िया मार सकता है, परंतु हम भेड़ियेके सदृश शिखण्डीके हाथसे सिंहके समान भीष्मका वध नहीं होने देंगे ।। ४१ ।।

मातुलः शकुनिः शल्यः कृपो द्रोणो विविंशतिः ।
यत्ता रक्षन्तु गाङ्गेयं तस्मिन् गुप्ते ध्रुवो जयः ।। ४२ ।।

'(अतः उनकी रक्षाके लिये सारी आवश्यक व्यवस्था करो।) मामा शकुनि, शल्य, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और विविंशति—ये सब लोग सावधान होकर गंगानन्दन भीष्मकी रक्षा करें। उनके सुरक्षित रहनेपर हमारी विजय निश्चित है' ।। ४२ ।।

एतच्छ्रुत्वा तु ते सर्वे दुर्योधनवचस्तदा ।
सर्वतो रथवंशेन गाङ्गेयं पर्यवारयन् ।। ४३ ।।

उस समय दुर्योधनकी यह बात सुनकर उन सब वीरोंने रथकी विशाल सेनाद्वारा गंगानन्दन भीष्मको सब ओरसे घेर लिया ।। ४३ ।।

पुत्राश्च तव गाङ्गेयं परिवार्य ययुर्मुदा ।
कम्पयन्तो भुवं द्यां च क्षोभयन्तश्च पाण्डवान् ।। ४४ ।।

आपके सब पुत्र भी भीष्मको चारों ओरसे घेरकर प्रसन्नतापूर्वक चले। वे उस समय भूलोक और स्वर्ग-लोकको भी कँपाते हुए पाण्डवोंके मनमें क्षोभ उत्पन्न कर रहे थे ।। ४४ ।।

ते रथैः सुसम्प्रयुक्तैर्दन्तिभिश्च महारथाः ।
परिवार्य रणे भीष्मं दंशिताः समवस्थिताः ।। ४५ ।।

वे समस्त कौरव महारथी सुशिक्षित रथों और हाथियोंसे भीष्मको घेरकर कवच आदिसे सुसज्जित हो युद्धके लिये खड़े हो गये ।। ४५ ।।

यथा देवासुरे युद्धे त्रिदशा वज्रधारिणम् ।
सर्वे ते स्म व्यतिष्ठन्त रक्षन्तस्तं महारथम् ।। ४६ ।।

जिस प्रकार देवासुर-संग्रामके समय देवताओंने वज्रधारी इन्द्रकी रक्षा की थी, उसी प्रकार वे सब कौरव योद्धा महारथी भीष्मकी रक्षा करने लगे ।। ४६ ।।

ततो दुर्योधनो राजा पुनर्भ्रातरमब्रवीत् ।
सव्यं चक्रं युधामन्युरुत्तमौजाश्च दक्षिणम् ।। ४७ ।।
गोप्तारावर्जुनस्यैतावर्जुनोऽपि शिखण्डिनः ।
रक्ष्यमाणः स पार्थेन तथास्माभिर्विवर्जितः ।। ४८ ।।
यथा भीष्मं न नो हन्याद् दुःशासन तथा कुरु ।

तब राजा दुर्योधनने अपने भाईसे पुनः इस प्रकार कहा—'दुःशासन! अर्जुनके रथके बायें पहियेकी रक्षा युधामन्यु और दाहिने पहियेकी रक्षा उत्तमौजा करते हैं। इस प्रकार अर्जुनके ये दो रक्षक हैं और अर्जुन भी शिखण्डीकी रक्षा करते हैं। अर्जुनसे सुरक्षित और हमलोगोंसे उपेक्षित होकर शिखण्डी हमारे भीष्मको जिस प्रकार मार न सके, ऐसी व्यवस्था करो' ।। ४७-४८ १/२ ।।

भ्रातुस्तद् वचनं श्रुत्वा पुत्रो दुःशासनस्तव ।। ४९ ।।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा प्रययौ सह सेनया ।

बड़े भाईकी यह बात सुनकर आपका पुत्र दुःशासन भीष्मको आगे करके सेनाके साथ युद्धके मैदानमें गया ।। ४९ १/२ ।।

भीष्मं तु रथवंशेन दृष्ट्वा समभिसंवृतम् ।। ५० ।।
अर्जुनो रथिनां श्रेष्ठो धृष्टद्युम्नमुवाच ह ।

भीष्मको रथोंके समूहसे घिरा हुआ देख रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने धृष्टद्युम्नसे कहा— ।। ५० १/२ ।।

शिखण्डिनं नरव्याघ्रं भीष्मस्य प्रमुखे नृप ।
स्थापयस्वाद्य पाञ्चाल्य तस्य गोप्ताहमित्युत ।। ५१ ।।

'नरेश्वर! पांचालराजकुमार! आज तुम पुरुषसिंह शिखण्डीको भीष्मके सामने उपस्थित करो। मैं उसकी रक्षा करूँगा' ।। ५१ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मदुर्योधनसंवादे अष्टनवतितमोऽध्यायः ।। ९८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-दुर्योधनसंवादविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९८ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १/२ श्लोक मिलाकर कुल ५१ १/२ श्लोक हैं।]

एकोनशततमोऽध्यायः

नवें दिनके युद्धके लिये उभयपक्षकी सेनाओंकी व्यूह-रचना और उनके घमासान युद्धका आरम्भ तथा विनाशसूचक उत्पातोंका वर्णन

संजय उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो निर्ययौ सह सेनया ।
व्यूहं चाव्यूहत महत् सर्वतोभद्रमात्मनः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर शान्तनु-नन्दन भीष्म सेनाके साथ शिविरसे बाहर निकले। उन्होंने अपनी सेनाको सर्वतोभद्र नामक महान् व्यूहके रूपमें संगठित किया ।। १ ।।

कृपश्च कृतवर्मा च शैब्यश्चैव महारथः ।
शकुनिः सैन्धवश्चैव काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।। २ ।।
भीष्मेण सहिताः सर्वे पुत्रैश्च तव भारत ।
अग्रतः सर्वसैन्यानां व्यूहस्य प्रमुखे स्थिताः ।। ३ ।।

भारत! कृपाचार्य, कृतवर्मा, महारथी शैब्य, शकुनि, सिन्धुराज जयद्रथ तथा काम्बोजराज सुदक्षिण—ये सब नरेश भीष्म तथा आपके पुत्रोंके साथ सम्पूर्ण सेनाके आगे तथा व्यूहके प्रमुख भागमें खड़े हुए थे ।। २-३ ।।

द्रोणो भूरिश्रवाः शल्यो भगदत्तश्च मारिष ।
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य स्थिता व्यूहस्य दंशिताः ।। ४ ।।

आर्य! द्रोणाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य तथा भगदत्त—ये कवच बाँधकर व्यूहके दाहिने पक्षका आश्रय लेकर खड़े थे ।। ४ ।।

अश्वत्थामा सोमदत्तश्चावन्त्यौ च महारथौ ।
महत्या सेनया युक्ता वामं पक्षमपालयन् ।। ५ ।।

अश्वत्थामा, सोमदत्त तथा अवन्तीके दोनों राजकुमार महारथी विन्द और अनुविन्द—ये विशाल सेनाके साथ व्यूहके वाम पक्षका संरक्षण कर रहे थे ।।

दुर्योधनो महाराज त्रिगर्तैः सर्वतो वृतः ।
व्यूहमध्ये स्थितो राजन् पाण्डवान् प्रति भारत ।। ६ ।।

महाराज! भरतवंशी नरेश! त्रिगर्तदेशीय सैनिकोंके द्वारा सब ओरसे घिरा हुआ दुर्योधन पाण्डवोंका सामना करनेके लिये व्यूहके मध्यभागमें खड़ा हुआ ।। ६ ।।

अलम्बुषो रथश्रेष्ठः श्रुतायुश्च महारथः ।

पृष्ठतः सर्वसैन्यानां स्थितौ व्यूहस्य दंशितौ ।। ७ ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ अलम्बुष और महारथी श्रुतायु—ये दोनों कवच धारण करके सम्पूर्ण सेनाओं तथा व्यूहके पृष्ठभागमें खड़े थे ।। ७ ।।

एवं च तं तदा व्यूहं कृत्वा भारत तावकाः ।
संनद्धाः समदृश्यन्त प्रतपन्त इवाग्नयः ।। ८ ।।

भारत! इस प्रकार व्यूहरचना करके उस समय आपके पुत्र कवच आदिसे सुसज्जित हो प्रज्वलित अग्नियोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। ८ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा भीमसेनश्च पाण्डवः ।
नकुलः सहदेवश्च माद्रीपुत्रावुभावपि ।। ९ ।।
अग्रतः सर्वसैन्यानां स्थिता व्यूहस्य दंशिताः ।

उधर राजा युधिष्ठिर, पाण्डुकुमार भीमसेन, माद्रीके दोनों पुत्र नकुल और सहदेव सब सेनाओं तथा व्यूहके अग्र भागमें कवच बाँधकर खड़े हुए ।। ९ १/२ ।।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्च महारथः ।। १० ।।
स्थिताः सैन्येन महता परानीकविनाशनाः ।

धृष्टद्युम्न, राजा विराट और महारथी सात्यकि—ये शत्रुसेनाका विनाश करनेवाले वीर भी विशाल सेनाके साथ व्यूहमें य थास्थान स्थित थे ।। १० १/२ ।।

शिखण्डी विजयश्चैव राक्षसश्च घटोत्कचः ।। ११ ।।
चेकितानो महाबाहुः कुन्तिभोजश्च वीर्यवान् ।
स्थिता रणे महाराज महत्या सेनया वृताः ।। १२ ।।

महाराज! शिखण्डी, अर्जुन, राक्षस घटोत्कच, महाबाहु चेकितान तथा पराक्रमी कुन्तिभोज—ये विशाल सेनासे घिरे हुए वीर युद्धभूमिमें यथायोग्य स्थानपर खड़े थे ।। ११-१२ ।।

अभिमन्युर्महेष्वासो द्रुपदश्च महाबलः ।
युयुधानो महेष्वासो युधामन्युश्च वीर्यवान् ।। १३ ।।
केकया भ्रातरश्चैव स्थिता युद्धाय दंशिताः ।

महाधनुर्धर अभिमन्यु, महाबली द्रुपद, विशाल धनुष धारण करनेवाले युयुधान, पराक्रमी युधामन्यु और पाँचों भाई केकयराजकुमार—ये कवच धारण करके युद्धके लिये तैयार खड़े थे ।। १३ १/२ ।।

एवं तेऽपि महाव्यूहं प्रतिव्यूह्य सुदुर्जयम् ।। १४ ।।
पाण्डवाः समरे शूराः स्थिता युद्धाय दंशिताः ।

इस प्रकार शूरवीर पाण्डव भी समरांगणमें अत्यन्त दुर्जय महाव्यूहकी रचना करके कवच बाँध युद्धके लिये तैयार थे ।। १४ १/२ ।।

तावकास्तु रणे यत्ताः सहसेना नराधिपाः ।। १५ ।।

अभ्युद्ययू रणे पार्थान् भीष्मं कृत्वाग्रतो नृप ।
तथैव पाण्डवा राजन् भीमसेनपुरोगमाः ।। १६ ।।

राजन्! आपकी सेनाके नरेश अपनी-अपनी सेनाओंके साथ युद्धके लिये उद्यत हो भीष्मको आगे करके पाण्डवोंपर चढ़ आये। नरेश्वर! उसी प्रकार भीमसेन आदि पाण्डवोंने भी आपकी सेनापर आक्रमण किया ।। १५-१६ ।।

भीष्मं योद्धुमभीप्सन्तः संग्रामे विजयैषिणः ।
क्ष्वेडाः किलकिलाः शङ्खान् क्रकचान् गोविषाणिकाः ।। १७ ।।
भेरीमृदङ्गपणवान् नादयन्तश्च पुष्करान् ।
पाण्डवा अभ्यवर्तन्त नदन्तो भैरवान् रवान् ।। १८ ।।

संग्राममें भीष्मके साथ युद्धकी इच्छा रखनेवाले विजयाभिलाषी पाण्डव सिंहनाद, किल-किल शब्द, शंखध्वनि, क्रकच, गोशृंग, भेरी, मृदंग, पणव तथा पुष्कर आदि बाजोंको बजाते तथा भैरव-गर्जना करते हुए कौरव-सेनापर चढ़ आये ।। १७-१८ ।।

भेरीमृदङ्गशङ्खानां दुन्दुभीनां च निःस्वनैः ।
उत्कृष्टसिंहनादैश्च वल्गितैश्च पृथग्विधैः ।। १९ ।।
वयं प्रतिनदन्तस्तानगच्छाम त्वरान्विताः ।
सहसैवाभिसंक्रुद्धास्तदाऽऽसीत् तुमुलं महत् ।। २० ।।

भेरी, मृदंग, शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि एवं उच्चस्वरसे सिंहनाद करते तथा अनेक प्रकारसे अपनी शेखी बघारते हुए हमलोगोंने भी बड़ी उतावलीके साथ अत्यन्त क्रुद्ध हो सहसा उनपर आक्रमण किया और उनकी गर्जनाका उत्तर हम भी अपनी गर्जनाद्वारा ही देने लगे। उस समय उभय पक्षके सैनिकोंमें महान् युद्ध होने लगा ।। १९-२० ।।

ततोऽन्योन्यं प्रधावन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।
ततः शब्देन महता प्रचकम्पे वसुन्धरा ।। २१ ।।

दोनों पक्षके योद्धा एक-दूसरेपर धावा करते हुए अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करने लगे। उस समय जो महान् कोलाहल हुआ, उससे सारी पृथ्वी काँपने लगी ।। २१ ।।

पक्षिणश्च महाघोरं व्याहरन्तो विबभ्रमुः ।
सप्रभश्चोदितः सूर्यो निष्प्रभः समपद्यत ।। २२ ।।

पक्षी अत्यन्त घोर शब्द करते हुए आकाशमें चक्कर काटने लगे। सूर्य यद्यपि तेजस्वी रूपमें उदित हुआ था, तथापि उस समय निस्तेज हो गया ।। २२ ।।

ववुश्च वातास्तुमुलाः शंसन्तः सुमहद् भयम् ।
घोराश्च घोरनिर्ह्रादाः शिवास्तत्र ववाशिरे ।। २३ ।।

महान् भयकी सूचना देनेवाली भयंकर वायु बड़े वेगसे बहने लगी। घोर वज्रपातके-से भयानक शब्द सुनायी देने लगे। सियारिनें अशुभ बोली बोलने लगीं ।। २३ ।।

वेदयन्त्यो महाराज महद् वैशसमागतम् ।

दिशः प्रज्वलिता राजन् पांसुवर्षं पपात च ।। २४ ।।
रुधिरेण समुन्मिश्रमस्थिवर्षं तथैव च ।
रुदतां वाहनानां च नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ।। २५ ।।

महाराज! वे गीदड़ियाँ सिरपर आये हुए विकट विनाशकी सूचना दे रही थीं। राजन्! दिशाएँ जलती प्रतीत होने लगीं। सब ओर धूलकी वर्षा होने लगी। रक्तमिश्रित हड्डियाँ बरसने लगीं। रोते हुए वाहनोंके नेत्रोंसे आँसू गिरने लगे ।। २४-२५ ।।

सुस्रुवुश्च शकृन्मूत्रं प्रध्यायन्तो विशाम्पते ।
अन्तर्हिता महानादाः श्रूयन्ते भरतर्षभ ।। २६ ।।
रक्षसां पुरुषादानां नदतां भैरवान् रवान् ।

प्रजानाथ! वे सारे वाहन भारी चिन्तामें पड़कर मल-मूत्र करने लगे। भरतश्रेष्ठ! भयंकर गर्जना करनेवाले नरभक्षी राक्षसोंके महान् शब्द सुनायी पड़ते थे; परंतु उनके बोलनेवाले अदृश्य थे ।। २६½ ।।

सम्पतन्तश्च दृश्यन्ते गोमायुबलवायसाः ।। २७ ।।
श्वानश्च विविधैर्नादैर्वाशन्तस्तत्र मारिष ।

चारों ओरसे गीदड़ और बलशाली कौए वहाँ टूटे पड़ते थे। आर्य! वहाँ कुत्ते भी नाना प्रकारकी आवाजमें भूँकते देखे जाते थे ।। २७½ ।।

ज्वलिताश्च महोल्का वै समाहत्य दिवाकरम् ।
निपेतुः सहसा भूमौ वेदयन्त्यो महद् भयम् ।। २८ ।।

बड़ी-बड़ी प्रज्वलित उल्काएँ सूर्यदेवसे टकरा-कर महान् भयकी सूचना देती हुई सहसा पृथ्वीपर गिर रही थीं ।। २८ ।।

महान्त्यनीकानि महासमुच्छ्रये
ततस्तयोः पाण्डवधार्तराष्ट्रयोः ।
चकम्पिरे शङ्खमृदङ्गनिःस्वनैः
प्रकम्पितानीव वनानि वायुना ।। २९ ।।
नरेन्द्रनागाश्वसमाकुलाना-
मभ्यायतीनामशिवे मुहूर्ते ।
बभूव घोषस्तुमुलश्चमूनां
वातोद्धुतानामिव सागराणाम् ।। ३० ।।

उस महान् संग्राममें पाण्डव तथा कौरवपक्षकी विशाल सेनाएँ शंख और मृदंगकी ध्वनियोंसे उसी प्रकार काँप रही थीं, जैसे वायुके वेगसे समूचा वन-प्रान्त हिलने लगता है। उस अमंगलजनक मुहूर्तमें नरेशों, हाथियों और अश्वोंसे परिपूर्ण हो परस्पर आक्रमण करती हुई उभय पक्षकी उन विशाल सेनाओंका भयंकर शब्द वायुसे विक्षुब्ध हुए समुद्रोंकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ।। २९-३० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि परस्परव्यूहरचनायामुत्पातदर्शने एकोनशततमोऽध्यायः ।। ९९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें परस्पर व्यूह-रचनाके पश्चात् उत्पातदर्शनविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९९ ।।

शततमोऽध्यायः

द्रौपदीके पाँचों पुत्रों और अभिमन्युका राक्षस अलम्बुषके साथ घोर युद्ध एवं अभिमन्युके द्वारा नष्ट होती हुई कौरव-सेनाका युद्धभूमिसे पलायन

संजय उवाच

अभिमन्यू रथोदारः पिशङ्गैस्तुरगोत्तमैः ।
अभिदुद्राव तेजस्वी दुर्योधनबलं महत् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! रथियोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी अभिमन्यु पिंगल वर्णवाले श्रेष्ठ घोड़ोंसे जुते हुए रथद्वारा दुर्योधनकी विशाल सेनापर टूट पड़ा ।। १ ।।

विकिरञ्शरवर्षाणि वारिधारा इवाम्बुदः ।
न शेकुः समरे क्रुद्धं सौभद्रमरिसूदनम् ।। २ ।।
(क्रोडरूपं हरिमिव प्रविशन्तं महार्णवम् ।)
शस्त्रौघिणं गाहमानं सेनासागरमक्षयम् ।
निवारयितुमप्याजौ त्वदीयाः कुरुनन्दन ।। ३ ।।

जैसे बादल जलकी धारा बरसाता है, उसी प्रकार वह बाणोंकी वृष्टि कर रहा था। जैसे वाराहरूपधारी भगवान् विष्णुने महासागरमें प्रवेश किया था, उसी प्रकार शत्रुसूदन सुभद्राकुमार समरमें कुपित हो शस्त्रोंके प्रवाहसे युक्त कौरवोंके अक्षय सैन्यसमुद्रमें प्रवेश कर रहा था। कुरुनन्दन! उस समय आपके सैनिक उसे युद्धमें रोक न सके ।। २-३ ।।

तेन मुक्ता रणे राजञ्शराः शत्रुनिबर्हणाः ।
क्षत्रियाननयञ्शूरान् प्रेतराजनिवेशनम् ।। ४ ।।

राजन्! रणक्षेत्रमें अभिमन्युके छोड़े हुए शत्रुनाशक बाणोंने बहुत-से शूरवीर क्षत्रियोंको यमराजके लोकमें पहुँचा दिया ।। ४ ।।

यमदण्डोपमान् घोरञ्ज्वलिताशीविषोपमान् ।
सौभद्रः समरे क्रुद्धः प्रेषयामाससायकान् ।। ५ ।।

सुभद्राकुमार समरांगणमें क्रुद्ध होकर यमदण्डके समान घोर तथा प्रज्वलित मुखवाले विषधर सर्पोंके समान भयंकर सायकोंका प्रहार कर रहा था ।। ५ ।।

सरथान् रथिनस्तूर्णं हयांश्चैव ससादिनः ।
गजारोहांश्च सगजान् दारयामास फाल्गुनिः ।। ६ ।।

अर्जुनकुमारने रथोंसहित रथियों, सवारोंसहित घोड़ों और हाथियोंसहित गजारोहियोंको तुरंत ही विदीर्ण कर डाला ।। ६ ।।

तस्य तत् कुर्वतः कर्म महत् संख्ये महीभृतः ।
पूजयांचक्रिरे हृष्टाः प्रशशंसुश्च फाल्गुनिम् ।। ७ ।।

युद्धमें ऐसा महान् पराक्रम करते हुए अभिमन्यु और उसके कर्मकी सभी राजाओंने प्रसन्न होकर भूरि-भूरि प्रशंसा की ।। ७ ।।

तान्यनीकानि सौभद्रो द्रावयामास भारत ।
तूलराशीनिवाकाशे मारुतः सर्वतो दिशम् ।। ८ ।।

भारत! जैसे हवा रूईके ढेरको आकाशमें उड़ा देती है, उसी प्रकार सुभद्राकुमारने सम्पूर्ण सेनाओंको चारों दिशाओंमें भगा दिया ।। ८ ।।

तेन विद्राव्यमाणानि तव सैन्यानि भारत ।
त्रातारं नाध्यगच्छन्त पङ्के मग्ना इव द्विपाः ।। ९ ।।

भरतनन्दन! अभिमन्युके द्वारा खदेड़ी जाती हुई आपकी सेनाएँ कीचड़में फँसे हुए हाथियोंके समान किसीको अपना रक्षक न पा सकीं ।। ९ ।।

विद्राव्य सर्वसैन्यानि तावकानि नरोत्तम ।
अभिमन्युः स्थितो राजन् विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ।। १० ।।

नरश्रेष्ठ! आपकी सम्पूर्ण सेनाओंको खदेड़कर अभिमन्यु धूमरहित अग्निकी भाँति प्रकाशित हो रहा था ।। १० ।।

न चैनं तावका राजन् विषेहुररिघातिनम् ।
प्रदीप्तं पावकं यद्वत् पतङ्गाः कालचोदिताः ।। ११ ।।

राजन्! आपके सैनिक शत्रुघाती अभिमन्युका वेग नहीं सह सके। जैसे कालप्रेरित फतिंगे प्रज्वलित अग्निकी आँच नहीं सह पाते (उसीमें झुलसकर मर जाते हैं), वही दशा आपके सैनिकोंकी थी ।। ११ ।।

प्रहरन् सर्वशत्रुभ्यः पाण्डवानां महारथः ।
अदृश्यत महेष्वासः सवज्र इव वासवः ।। १२ ।।

सम्पूर्ण शत्रुओंपर प्रहार करता हुआ पाण्डव-महारथी महाधनुर्धर अभिमन्यु वज्रधारी इन्द्रके समान दृष्टिगोचर हो रहा था ।। १२ ।।

हेमपृष्ठं धनुश्चास्य ददृशे विचरद् दिशः ।
तोयदेषु यथा राजन् राजमाना शतह्रदा ।। १३ ।।

राजन्! अभिमन्युके धनुषका पृष्ठभाग सुवर्णसे जटित था, वह सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरण करता हुआ बादलोंमें चमकनेवाली बिजलीके समान सुशोभित होता था ।। १३ ।।

शराश्च निशिताः पीता निश्चरन्ति स्म संयुगे ।
वनात् फुल्लद्रुमाद् राजन् भ्रमराणामिव व्रजाः ।। १४ ।।

युद्धके मैदानमें उसके धनुषसे तीखे और चमचमाते बाण इस प्रकार छूटते थे, मानो विकसित वृक्षावलियोंसे भरे हुए वनप्रान्तसे भ्रमरोंके समूह निकल रहे हों ।। १४ ।।

तथैव चरतस्तस्य सौभद्रस्य महात्मनः ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन ददृशुर्नान्तरं जनाः ।। १५ ।।

महामना सुभद्राकुमार अभिमन्यु सुवर्णमय रथके द्वारा पूर्ववत् रणभूमिमें विचरता रहा; लोगोंने उसकी गतिमें कोई अन्तर नहीं देखा ।। १५ ।।

मोहयित्वा कृपं द्रोणं द्रौणिं च सबृहद्बलम् ।
सैन्धवं च महेष्वासो व्यचरल्लघु सुष्ठु च ।। १६ ।।

महाधनुर्धर अभिमन्यु कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, बृहद्बल और सिन्धुराज जयद्रथ—सबको मोहित करके सुन्दर और शीघ्र गतिसे सब ओर विचरता रहा ।। १६ ।।

मण्डलीकृतमेवास्य धनुः पश्याम भारत ।
सूर्यमण्डलसंकाशं दहतस्तव वाहिनीम् ।। १७ ।।

भारत! आपकी सेनाको भस्म करते हुए उस अभिमन्युके धनुषको हम सदा सूर्यमण्डलके सदृश मण्डलाकार हुआ ही देखते थे ।। १७ ।।

तं दृष्ट्वा क्षत्रियाः शूराः प्रतपन्तं तरस्विनम् ।
द्विफाल्गुनमिमं लोकं मेनिरे तस्य कर्मभिः ।। १८ ।।

सबको संताप देते हुए उस वेगशाली वीरको देखकर समस्त शूरवीर क्षत्रिय उसके कर्मोंद्वारा यह मानने लगे कि इस लोकमें दो अर्जुन हो गये हैं ।। १८ ।।

तेनार्दिता महाराज भारती सा महाचमूः ।
व्यभ्रमत् तत्र तत्रैव योषिन्मदवशादिव ।। १९ ।।

महाराज! अभिमन्युसे पीड़ित हुई भरतवंशियोंकी वह विशाल सेना मदोन्मत्त युवतीकी भाँति वहीं चक्कर काट रही थी ।। १९ ।।

द्रावयित्वा महासैन्यं कम्पयित्वा महारथान् ।

नन्दयामास सुहृदो मयं जित्वेव वासवः ।। २० ।।

मयासुरपर विजय पानेवाले इन्द्रकी भाँति अभिमन्युने उस विशाल सेनाको भगाकर, महारथियोंको कँपाकर अपने सुहृदोंको आनन्दित किया ।। २० ।।

तेन विद्राव्यमाणानि तव सैन्यानि संयुगे ।
चक्रुरार्तस्वनं घोरं पर्जन्यनिनदोपमम् ।। २१ ।।

उसके द्वारा युद्धमें खदेड़े हुए आपके सैनिक मेघोंकी गर्जनाके समान घोर आर्तनाद करने लगे ।। २१ ।।

तं श्रुत्वा निनदं घोरं तव सैन्यस्य भारत ।
मारुतोद्धूतवेगस्य सागरस्येव पर्वणि ।। २२ ।।
दुर्योधनस्तदा राजन्नार्ष्यशृङ्गिमभाषत ।
एष कार्ष्णिर्महाबाहो द्वितीय इव फाल्गुनः ।। २३ ।।

भरतवंशी नरेश! पूर्णिमाके दिन वायुके थपेड़ोंसे उद्वेलित हुए समुद्रकी गर्जनाके समान आपकी सेनाका वह भयंकर चीत्कार सुनकर उस समय दुर्योधनने राक्षस ऋष्यशृंगपुत्र अलम्बुषसे इस प्रकार कहा—'महाबाहो! यह अर्जुनका पुत्र द्वितीय अर्जुनके समान पराक्रमी है ।। २२-२३ ।।

चमूं द्रावयते क्रोधाद् वृत्रो देवचमूमिव ।
तस्य चान्यन्न पश्यामि संयुगे भेषजं महत् ।। २४ ।।
ऋते त्वां राक्षसश्रेष्ठं सर्वविद्यासु पारगम् ।

'जैसे वृत्रासुर देवताओंकी सेनाको मार भगाता था, उसी प्रकार वह भी क्रोधपूर्वक मेरी सेनाको खदेड़ रहा है। मैं युद्धस्थलमें सम्पूर्ण विद्याओंके पारंगत तथा राक्षसोंमें सर्वश्रेष्ठ तुम-जैसे वीरको छोड़कर दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो उस रोगकी सबसे उत्तम दवा हो सके ।। २४ १/२ ।।

स गत्वा त्वरितं वीरं जहि सौभद्रमाहवे ।। २५ ।।
वयं पार्थं हनिष्यामो भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।

'अतः तुम तुरंत जाकर युद्धके मैदानमें वीर सुभद्राकुमारका वध करो और हमलोग भीष्म तथा द्रोणाचार्यको आगे करके अर्जुनको मार डालेंगे' ।। २५ १/२ ।।

स एवमुक्तो बलवान् राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ।। २६ ।।
प्रययौ समरे तूर्णं तव पुत्रस्य शासनात् ।
नर्दमानो महानादं प्रावृषीव बलाहकः ।। २७ ।।

आपके पुत्र दुर्योधनके ऐसा कहनेपर उसकी आज्ञासे बलवान् एवं प्रतापी राक्षसराज अलम्बुष तुरंत ही वर्षाकालके मेघकी भाँति जोर-जोरसे गर्जना करता हुआ समरभूमिमें गया ।। २६-२७ ।।

तस्य शब्देन महता पाण्डवानां बलं महत् ।

प्राचलत् सर्वतो राजन् वातोद्धूत इवार्णवः ।। २८ ।।

राजन्! उसके महान् गर्जनसे वायुसे विक्षुब्ध हुए समुद्रके समान पाण्डवोंकी विशाल सेनामें सब ओर हलचल मच गयी ।। २८ ।।

बहवश्च महाराज तस्य नादेन भीषिताः ।
प्रियान् प्राणान् परित्यज्य निपेतुर्धरणीतले ।। २९ ।।

महाराज! उसके सिंहनादसे भयभीत हो बहुत-से सैनिक अपने प्यारे प्राणोंको त्यागकर पृथ्वीपर गिर पड़े ।।

कार्ष्णिश्चापि मुदा युक्तः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
नृत्यन्निव रथोपस्थे तद् रक्षः समुपाद्रवत् ।। ३० ।।

अभिमन्यु भी हर्ष और उत्साहमें भरकर हाथमें धनुष-बाण लिये रथकी बैठकमें नृत्य-सा करता हुआ उस राक्षसकी ओर दौड़ा ।। ३० ।।

ततः स राक्षसः क्रुद्धः सम्प्राप्यैवार्जुनिं रणे ।
नातिदूरे स्थितां तस्य द्रावयामास वै चमूम् ।। ३१ ।।

तत्पश्चात् क्रोधमें भरा हुआ वह राक्षस युद्धमें अभिमन्युके समीप पहुँचकर पास ही खड़ी हुई उसकी सेनाको भगाने लगा ।। ३१ ।।

तां वध्यमानां च तथा पाण्डवानां महाचमूम् ।
प्रत्युद्ययौ रणे रक्षो देवसेनां यथा बलः ।। ३२ ।।

इस प्रकार पीड़ित हुई पाण्डवोंकी विशाल वाहिनीपर उस राक्षसने युद्धमें उसी प्रकार धावा किया, जैसे बल नामक दैत्यने देवसेनापर आक्रमण किया था ।। ३२ ।।

विमर्दः सुमहानासीत् तस्य सैन्यस्य मारिष ।
रक्षसा घोररूपेण वध्यमानस्य संयुगे ।। ३३ ।।

आर्य! युद्धस्थलमें भयंकर राक्षसके द्वारा मारी जाती हुई उस सेनाका महान् संहार होने लगा ।। ३३ ।।

ततः शरसहस्रैस्तां पाण्डवानां महाचमूम् ।
व्यद्रावयद् रणे रक्षो दर्शयन् स्वपराक्रमम् ।। ३४ ।।

उस समय राक्षसने अपना पराक्रम दिखाते हुए रणक्षेत्रमें सहस्रों बाणोंद्वारा पाण्डवोंकी उस विशाल सेनाको खदेड़ना आरम्भ किया ।। ३४ ।।

सा वध्यमाना च तथा पाण्डवानामनीकिनी ।
रक्षसा घोररूपेण प्रदुद्राव रणे भयात् ।। ३५ ।।

उस घोर राक्षसके द्वारा उस प्रकार मारी जाती हुई वह पाण्डवसेना भयके मारे रणभूमिसे भाग चली ।। ३५ ।।

प्रमृद्य च रणे सेनां
पद्मिनीं वारणो यथा ।

ततोऽभिदुद्राव रणे

द्रौपदेयान् महाबलान् ।। ३६ ।।

जैसे हाथी कमलमण्डित सरोवरको मथ डालता है, उसी प्रकार रणभूमिमें पाण्डवसेनाको रौंदकर अलम्बुषने महाबली द्रौपदीपुत्रोंपर धावा किया ।। ३६ ।।

ते तु क्रुद्धा महेष्वासा द्रौपदेयाः प्रहारिणः ।

राक्षसं दुद्रुवुः संख्ये ग्रहाः पञ्च रविं यथा ।। ३७ ।।

द्रौपदीके पाँचों पुत्र महान् धनुर्धर तथा प्रहार करनेमें कुशल थे। उन्होंने संग्रामभूमिमें कुपित हो उस राक्षसपर उसी प्रकार धावा किया, मानो पाँच ग्रह सूर्यदेवपर आक्रमण कर रहे हों ।। ३७ ।।

वीर्यवद्भिस्ततस्तैस्तु पीडितो राक्षसोत्तमः ।

यथा युगक्षये घोरे चन्द्रमाः पञ्चभिर्ग्रहैः ।। ३८ ।।

उस समय उन पराक्रमी द्रौपदीपुत्रोंद्वारा वह श्रेष्ठ राक्षस उसी प्रकार पीड़ित होने लगा, जैसे भयानक प्रलयकाल आनेपर चन्द्रमा पाँच ग्रहोंद्वारा पीड़ित होते हैं ।।

प्रतिविन्ध्यस्ततो रक्षो बिभेद निशितैः शरैः ।

सर्वपारशवैस्तूर्णैरकुण्ठाग्रैर्महाबलः ।। ३९ ।।

तत्पश्चात् महाबली प्रतिविन्ध्यने पूर्णतः लोहेके बने हुए अप्रतिहत धारवाले शीघ्रगामी तीखे बाणोंद्वारा उस राक्षसको विदीर्ण कर डाला ।। ३९ ।।

स तैर्भिन्नतनुत्राणः शुशुभे राक्षसोत्तमः ।

मरीचिभिरिवार्कस्य संस्यूतो जलदो महान् ।। ४० ।।

वे बाण उसके कवचको छेदकर शरीरमें धँस गये। उनके द्वारा राक्षसराज अलम्बुषकी वैसी ही शोभा हुई, मानो महान् मेघ सूर्यकी किरणोंसे ओतप्रोत हो रहा हो ।। ४० ।।

विषक्तैः स शरैश्चापि तपनीयपरिच्छदैः ।

आर्ष्यशृङ्गिर्बभौ राजन् दीप्तशृङ्ग इवाचलः ।। ४१ ।।

राजन्! शरीरमें धँसे हुए उन सुवर्णभूषित बाणों-द्वारा राक्षस अलम्बुष चमकीले शिखरोंवाले पर्वतकी भाँति सुशोभित हुआ ।। ४१ ।।

ततस्ते भ्रातरः पञ्च राक्षसेन्द्रं महाहवे ।

विव्यधुर्निशितैर्बाणैस्तपनीयविभूषितैः ।। ४२ ।।

तदनन्तर उन पाँचों भाइयोंने उस महासमरमें सुवर्णभूषित तीक्ष्ण बाणोंद्वारा राक्षसराज अलम्बुषको क्षत-विक्षत कर दिया ।। ४२ ।।

स निर्भिन्नः शरैर्घोरैर्भुजगैः कोपितैरिव ।

अलम्बुषो भृशं राजन् नागेन्द्र इव चुक्रुधे ।। ४३ ।।

राजन्! क्रोधमें भरे हुए सर्पोंके समान उन घोर सायकोंद्वारा अत्यन्त घायल हुआ अलम्बुष अंकुशविद्ध गजराजकी भाँति कुपित हो उठा ।। ४३ ।।

सोऽतिविद्धो महाराज मुहूर्तमथ मारिष ।
प्रविवेश तमो दीर्घं पीडितस्तैर्महारथैः ।। ४४ ।।

महाराज! उन महारथियोंके बाणोंसे अत्यन्त आहत और पीड़ित हो अलम्बुष दो घड़ीतक भारी मोह (मूर्च्छा)-में डूबा रहा ।। ४४ ।।

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां क्रोधेन द्विगुणीकृतः ।
चिच्छेद सायकांस्तेषां ध्वजांश्चैव धनूंषि च ।। ४५ ।।

तदनन्तर होशमें आकर वह दूने क्रोधसे जल उठा। फिर उसने उनके सायकों, ध्वजों और धनुषोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ।। ४५ ।।

एकैकं पञ्चभिर्बाणैराजघान स्मयन्निव ।
अलम्बुषो रथोपस्थे नृत्यन्निव महारथः ।। ४६ ।।

इसके बाद रथकी बैठकमें नृत्य-सा करते हुए महारथी अलम्बुषने मुसकराते हुए उनमेंसे एक-एकको पाँच-पाँच बाणोंद्वारा घायल कर दिया ।। ४६ ।।

त्वरमाणः सुसंरब्धो हयांस्तेषां महात्मनाम् ।
जघान राक्षसः क्रुद्धः सारथींश्च महाबलः ।। ४७ ।।

फिर अत्यन्त उतावलीके साथ रोषावेशमें भरे हुए उस महाबली राक्षसने कुपित हो उन महामनस्वी पाँचों भाइयोंके घोड़ों और सारथियोंको भी मार डाला ।। १७ ।।

बिभेद च सुसंरब्धः पुनश्चैनान् सुसंशितैः ।
शरैर्बहुविधाकारैः शतशोऽथ सहस्रशः ।। ४८ ।।

इसके बाद पुनः कुपित हो भाँति-भाँतिके सैकड़ों और हजारों तीखे बाणोंद्वारा उन सबको गहरी चोट पहुँचायी ।। ४८ ।।

विरथांश्च महेष्वासान् कृत्वा तत्र स राक्षसः ।
अभिदुद्राव वेगेन हन्तुकामो निशाचरः ।। ४९ ।।

उन महाधनुर्धर वीरोंको रथहीन करके युद्धमें उन्हें मार डालनेकी इच्छासे निशाचर अलम्बुषने बड़े वेगसे उनपर धावा किया ।। ४९ ।।

तानर्दितान् रणे तेन राक्षसेन दुरात्मना ।
दृष्ट्वार्जुनसुतः संख्ये राक्षसं समुपाद्रवत् ।। ५० ।।

उन पाँचों भाइयोंको रणक्षेत्रमें दुरात्मा राक्षसके द्वारा अत्यन्त पीड़ित देख अर्जुनकुमार अभिमन्युने पुनः उसके ऊपर आक्रमण किया ।। ५० ।।

तयोः समभवद् युद्धं वृत्रवासवयोरिव ।
ददृशुस्तावकाः सर्वे पाण्डवाश्च महारथाः ।। ५१ ।।

फिर उन दोनोंमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान भयंकर युद्ध होने लगा। आपके और पाण्डवपक्षके सभी महारथी उस युद्धको देखने लगे ।। ५१ ।।

तौ समेतौ महायुद्धे क्रोधदीप्तौ परस्परम् ।

महाबलौ महाराज क्रोधसंरक्तलोचनौ ।। ५२ ।।

परस्परमवेक्षेतां कालानलसमौ युधि ।

तयोः समागमो घोरो बभूव कटुकोदयः ।। ५३ ।।

यथा देवासुरे युद्धे शक्रशम्बरयोः पुरा ।। ५४ ।।

महाराज! उस महायुद्धमें क्रोधसे उद्दीप्त हो आँखें लाल-लाल करके एक-दूसरेसे भिड़े हुए वे दोनों महाबली वीर युद्धमें काल और अग्निके समान परस्पर देखने लगे। उनका वह घोर संग्राम अत्यन्त कटु परिणामको प्रकट करनेवाला था। पूर्वकालमें देवासुर-संग्रामके अवसरपर इन्द्र और शम्बरासुरमें जैसा भयंकर युद्ध हुआ था, वैसा ही उनमें भी हुआ ।। ५२—५४ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अलम्बुषाभिमन्युसमागमे शततमोऽध्यायः ।। १०० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें अलम्बुष और अभिमन्युका संग्रामविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०० ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५४ ½ श्लोक हैं।]

एकाधिकशततमोऽध्यायः

अभिमन्युके द्वारा अलम्बुषकी पराजय, अर्जुनके साथ भीष्मका तथा कृपाचार्य, अश्वत्थामा और द्रोणाचार्यके साथ सात्यकिका युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

आर्जुनिं समरे शूरं विनिघ्नन्तं महारथान् ।
अलम्बुषः कथं युद्धे प्रत्ययुध्यत संजय ।। १ ।।
आर्ष्यशृङ्गिं कथं चैव सौभद्रः परवीरहा ।
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन यथावृत्तं स्म संयुगे ।। २ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! समरमें बड़े-बड़े महारथियोंका संहार करते हुए शूरवीर अर्जुनकुमार अभिमन्युके साथ राक्षस अलम्बुषने किस प्रकार युद्ध किया? इसी प्रकार शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले सुभद्रा-कुमारने राक्षस अलम्बुषके साथ कैसे युद्ध किया? युद्धस्थलमें उन दोनोंसे सम्बन्ध रखनेवाला जो भी वृत्तान्त हो, वह मुझे ठीक-ठीक बताओ ।। १-२ ।।

धनंजयश्च किं चक्रे मम सैन्येषु संयुगे ।
भीमो वा रथिनां श्रेष्ठो राक्षसो वा घटोत्कचः ।। ३ ।।
नकुलः सहदेवो वा सात्यकिर्वा महारथः ।
एतदाचक्ष्व मे सत्यं कुशलो ह्यसि संजय ।। ४ ।।

उस युद्धके मैदानमें अर्जुनने मेरी सेनाओंके साथ क्या किया? रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन अथवा राक्षस घटोत्कच या नकुल-सहदेव एवं महारथी सात्यकिने क्या किया? संजय! यह सब मुझे यथार्थरूपसे बताओ; क्योंकि तुम इन बातोंके बतानेमें कुशल हो ।। ३-४ ।।

संजय उवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि संग्रामं लोमहर्षणम् ।
यथाभूद् राक्षसेन्द्रस्य सौभद्रस्य च मारिष ।। ५ ।।
अर्जुनश्च यथा संख्ये भीमसेनश्च पाण्डवः ।
नकुलः सहदेवश्च रणे चक्रुः पराक्रमम् ।। ६ ।।
तथैव तावकाः सर्वे भीष्मद्रोणपुरःसराः ।
अद्भुतानि विचित्राणि चक्रुः कर्माण्यभीतवत् ।। ७ ।।

संजयने कहा—आर्य! मैं बड़े दुःखके साथ उस रोमांचकारी संग्रामका वर्णन करूँगा, जो राक्षसराज अलम्बुष और सुभद्राकुमार अभिमन्युमें हुआ था तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन,

भीमसेन, नकुल और सहदेवने युद्धमें किस प्रकार पराक्रम किया और उसी प्रकार भीष्म, द्रोण आदि आपके सभी योद्धाओंने निर्भीक-से होकर अद्भुत और विचित्र कर्म किये—यह सब भी मुझसे सुनिये ।। ५—७ ।।

अलम्बुषस्तु समरे अभिमन्युं महारथम् ।
विनद्य सुमहानादं तर्जयित्वा मुहुर्मुहुः ।। ८ ।।
अभिदुद्राव वेगेन तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

अलम्बुषने समरभूमिमें महारथी अभिमन्युको जोर-जोरसे गर्जना करके बारंबार डाँट बतायी और 'खड़ा रह, खड़ा रह' ऐसा कहकर बड़े वेगसे उसपर धावा किया ।। ८½ ।।

अभिमन्युश्च वेगेन सिंहवद् विनदन् मुहुः ।। ९ ।।
आर्ष्यशृङ्गिं महेष्वासं पितुरत्यन्तवैरिणम् ।

इसी प्रकार वीर अभिमन्युने भी बारंबार सिंहनाद करते हुए अपने पितृव्य भीमसेनके अत्यन्त वैरी महाधनुर्धर अलम्बुषपर वेगसे आक्रमण किया ।। ९½ ।।

ततः समीयतुः संख्ये त्वरितौ नरराक्षसौ ।। १० ।।
रथाभ्यां रथिनौ श्रेष्ठौ यथा वै देवदानवौ ।

फिर तो वे मनुष्य तथा राक्षस दोनों वीर तुरंत ही युद्धस्थलमें एक-दूसरेसे भिड़ गये। दोनों ही रथियोंमें श्रेष्ठ थे, अतः देवता और दानवकी भाँति रथोंद्वारा एक-दूसरेका सामना करने लगे ।। १०½ ।।

मायावी राक्षसश्रेष्ठो दिव्यास्त्रश्चैव फाल्गुनिः ।। ११ ।।

राक्षसश्रेष्ठ अलम्बुष मायावी था और अर्जुनकुमार अभिमन्युको दिव्यास्त्रोंका ज्ञान था ।। ११ ।।

ततः कार्ष्णिर्महाराज निशितैः सायकैस्त्रिभिः ।
आर्ष्यशृङ्गिं रणे विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ।। १२ ।।

महाराज! तदनन्तर अर्जुनपुत्र अभिमन्युने तीन तीखे सायकोंसे रणक्षेत्रमें अलम्बुषको बींधकर पुनः पाँच बाणोंसे घायल कर दिया ।। १२ ।।

अलम्बुषोऽपि संक्रुद्धः कार्ष्णिं नवभिराशुगैः ।
हृदि विव्याध वेगेन तोत्रैरिव महाद्विपम् ।। १३ ।।

तब क्रोधमें भरे हुए अलम्बुषने भी नौ शीघ्रगामी बाणोंद्वारा अर्जुनपुत्र अभिमन्युकी छातीमें उसी प्रकार वेगपूर्वक प्रहार किया, जैसे अंकुशद्वारा गजराजपर प्रहार किया जाता है ।। १३ ।।

ततः शरसहस्रेण क्षिप्रकारी निशाचरः ।
अर्जुनस्य सुतं संख्ये पीडयामास भारत ।। १४ ।।

भारत! तत्पश्चात् शीघ्रतापूर्वक सारे कार्य करनेवाले निशाचरने एक हजार बाण मारकर युद्धस्थलमें अर्जुनके पुत्रको पीड़ित कर दिया ।। १४ ।।

अभिमन्युस्ततः क्रुद्धो नवभिर्नतपर्वभिः ।
बिभेद निशितैर्बाणै राक्षसेन्द्रं महोरसि ।। १५ ।।

इससे क्रुद्ध होकर अभिमन्युने राक्षसराज अलम्बुषकी चौड़ी छातीमें झुकी हुई गाँठवाले नौ पैने बाण मारे ।। १५ ।।

ते तस्य विविशुस्तूर्णं कायं निर्भिद्य मर्मसु ।
स तैर्विभिन्नसर्वाङ्गः शुशुभे राक्षसोत्तमः ।। १६ ।।
पुष्पितैः किंशुकै राजन् संस्तीर्ण इव पर्वतः ।

वे बाण राक्षसके शरीरको विदीर्ण करके उसके मर्मस्थानोंमें धँस गये। राजन्! उन बाणोंसे सम्पूर्ण अंगोंके क्षत-विक्षत हो जानेपर राक्षसराज अलम्बुष खिले हुए पलाशके वृक्षोंसे आच्छादित पर्वतकी भाँति सुशोभित होने लगा ।। १६½ ।।

संधारयाणश्च शरान् हेमपुङ्खान् महाबलः ।। १७ ।।
विबभौ राक्षसश्रेष्ठः सज्वाल इव पर्वतः ।

सुवर्णमय पंखसे युक्त उन बाणोंको अपने अंगोंमें धारण किये महाबली राक्षसश्रेष्ठ अलम्बुष अग्निकी ज्वालाओंसे युक्त पर्वतकी भाँति शोभा पा रहा था ।। १७½ ।।

ततः क्रुद्धो महाराज आर्ष्यशृङ्गिरमर्षणः ।। १८ ।।
महेन्द्रप्रतिमं कार्ष्णिं छादयामास पत्रिभिः ।

महाराज! तब अमर्षशील अलम्बुषने कुपित होकर देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनकुमारको पंखवाले बाणोंसे आच्छादित कर दिया ।। १८½ ।।

तेन ते विशिखा मुक्ता यमदण्डोपमाः शिताः ।। १९ ।।
अभिमन्युं विनिर्भिद्य प्राविशन्त धरातलम् ।

उसके द्वारा छोड़े हुए यमदण्डके समान भयंकर एवं तीखे बाण अभिमन्युके शरीरको छेदकर धरतीमें समा गये ।। १९½ ।।

तथैवार्जुनिना मुक्ताः शराः कनकभूषणाः ।। २० ।।
अलम्बुषं विनिर्भिद्य प्राविशन्त धरातलम् ।

उसी प्रकार अभिमन्युके छोड़े हुए सुवर्णभूषित बाण भी अलम्बुषको विदीर्ण करके पृथ्वीमें समा गये ।।

सौभद्रस्तु रणे रक्षः शरैः संनतपर्वभिः ।। २१ ।।
चक्रे विमुखमासाद्य मयं शक्र इवाहवे ।

जैसे इन्द्र युद्धस्थलमें मयासुरको विमुख कर देते हैं, उसी प्रकार सुभद्राकुमार अभिमन्युने रणक्षेत्रमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा मारकर उस राक्षसको युद्धसे विमुख कर दिया ।। २१½ ।।

विमुखं च ततो रक्षो वध्यमानं रणेऽरिणा ।। २२ ।।
प्रादुश्चक्रे महामायां तामसीं परतापनाम् ।

फिर समरांगणमें शत्रुसे पीड़ित एवं विमुख हुए राक्षसने शत्रुओंको तपानेवाली अपनी (अन्धकारमयी) तामसी महामाया प्रकट की ।। २२½ ।।

ततस्ते तमसा सर्वे वृताश्चासन् महीपते ।। २३ ।।
नाभिमन्युमपश्यन्त नैव स्वान् न परान् रणे ।

महीपते! तब वे समस्त पाण्डव सैनिक अन्धकारसे आच्छादित हो गये। अतः न तो रणक्षेत्रमें अभिमन्युको देख पाते थे और न अपने तथा शत्रुपक्षके सैनिकोंको ही ।।

अभिमन्युश्च तद् दृष्ट्वा घोररूपं महत्तमः ।। २४ ।।
प्रादुश्चक्रेऽस्त्रमत्युग्रं भास्करं कुरुनन्दनः ।
ततः प्रकाशमभवज्जगत् सर्वं महीपते ।। २५ ।।

यह भयंकर एवं महान् अन्धकार देखकर कुरु-कुलको आनन्दित करनेवाले अभिमन्युने अत्यन्त उग्र भास्करास्त्रको प्रकट किया। राजन्! इससे सम्पूर्ण जगत्‌में प्रकाश छा गया ।। २४-२५ ।।

तां चाभिजघ्निवान् मायां राक्षसस्य दुरात्मनः ।
संक्रुद्धश्च महावीर्यो राक्षसेन्द्रं नरोत्तमः ।। २६ ।।
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ।

इस प्रकार महापराक्रमी नरश्रेष्ठ अभिमन्युने उस दुरात्मा राक्षसकी मायाको नष्ट कर दिया और अत्यन्त कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा उसे समरभूमिमें आच्छादित कर दिया ।। २६½ ।।

बह्वीस्तथान्या मायाश्च प्रयुक्तास्तेन रक्षसा ।। २७ ।।
सर्वास्त्रविदमेयात्मा वारयामास फाल्गुनिः ।

उस राक्षसने और भी बहुत-सी जिन-जिन मायाओंका प्रयोग किया, उन सबको सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न अभिमन्युने नष्ट कर दिया ।। २७½ ।।

हतमायं ततो रक्षो वध्यमानं च सायकैः ।। २८ ।।
रथं तत्रैव संत्यज्य प्राद्रवन्महतो भयात् ।

अपनी माया नष्ट हो जानेपर सायकोंकी मार खाता हुआ राक्षस अलम्बुष अत्यन्त भयके कारण अपने रथको वहीं छोड़कर भाग गया ।। २८½ ।।

तस्मिन् विनिर्जिते तूर्णं कूटयोधिनि राक्षसे ।। २९ ।।
आर्जुनिः समरे सैन्यं तावकं सम्ममर्द ह ।
मदान्धो गन्धनागेन्द्रः सपद्मां पद्मिनीमिव ।। ३० ।।

मायाद्वारा युद्ध करनेवाले उस राक्षसके पराजित हो जानेपर अर्जुनकुमार अभिमन्युने तुरंत ही रणक्षेत्रमें आपकी सेनाका उसी प्रकार मर्दन आरम्भ किया, जैसे गन्धयुक्त मदान्ध गजराज कमलोंसे भरी हुई पुष्करिणीको मथ डालता है ।। २९-३० ।।

ततः शान्तनवो भीष्मः सैन्यं दृष्ट्वाभिविद्रुतम् ।

महता शरवर्षेण सौभद्रं पर्यवारयत् ।। ३१ ।।

तदनन्तर अपनी सेनाको भागती हुई देख शान्तनु-नन्दन भीष्मने बड़ी भारी बाण-वर्षा करके सुभद्राकुमार अभिमन्युको रोक दिया ।। ३१ ।।

कोष्ठीकृत्य च तं वीरं धार्तराष्ट्रा महारथाः ।
एकं सुबहवो युद्धे ततक्षुः सायकैर्दृढम् ।। ३२ ।।

फिर आपके महारथी पुत्रोंने वीर अभिमन्युको सब ओरसे घेर लिया और युद्धस्थलमें उस अकेलेको बहुत-से योद्धाओंने सायकोंद्वारा जोर-जोरसे घायल करना आरम्भ किया ।। ३२ ।।

स तेषां रथिनां वीरः पितुस्तुल्यपराक्रमः ।
सदृशो वासुदेवस्य विक्रमेण बलेन च ।। ३३ ।।
उभयोः सदृशं कर्म स पितुर्मातुलस्य च ।
रणे बहुविधं चक्रे सर्वशस्त्रभृतां वरः ।। ३४ ।।

वीर अभिमन्यु अपने पिता अर्जुनके समान पराक्रमी था। बल और विक्रममें वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी समानता करता था। सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ उस वीरने रणक्षेत्रमें उन कौरव रथियोंके साथ अपने पिता और मामा दोनोंके सदृश अनेक प्रकारका शौर्यपूर्ण कार्य किया ।। ३३-३४ ।।

ततो धनंजयो वीरो विनिघ्नंस्तव सैनिकान् ।
आससाद रणे भीष्मं अत्रप्रेप्सुरमर्षणः ।। ३५ ।।

तत्पश्चात् वीर अर्जुन समरांगणमें आपके सैनिकोंका संहार करते हुए अपने पुत्रकी रक्षाके लिये अमर्षमें भरकर भीष्मके पास आ पहुँचे ।। ३५ ।।

तथैव समरे राजन् पिता देवव्रतस्तव ।
आससाद रणे पार्थं स्वर्भानुरिव भास्करम् ।। ३६ ।।

राजन्! जैसे सूर्यपर राहु आक्रमण करता है, उसी प्रकार आपके पितृव्य देवव्रत भीष्मने समरभूमिमें कुन्तीकुमार अर्जुनपर धावा किया ।। ३६ ।।

ततः सरथनागाश्वाः पुत्रास्तव जनेश्वर ।
परिवव्रू रणे भीष्मं जुगुपुश्च समन्ततः ।। ३७ ।।

जनेश्वर! उस समय आपके पुत्र रथ, हाथी, घोड़ोंकी सेना साथ लेकर युद्धस्थलमें भीष्मको घेरकर खड़े हो गये और सब ओरसे उनकी रक्षा करने लगे ।। ३७ ।।

तथैव पाण्डवा राजन् परिवार्य धनंजयम् ।
रणाय महते युक्ता दंशिता भरतर्षभ ।। ३८ ।।

राजन्! भरतश्रेष्ठ! उसी प्रकार पाण्डव अर्जुनको सब ओरसे घेरकर कवच आदिसे सुसज्जित हो महायुद्धके लिये तैयार हो गये ।। ३८ ।।

शारद्वतस्ततो राजन् भीष्मस्य प्रमुखे स्थितम् ।

अर्जुनं पञ्चविंशत्या सायकानां समाचिनोत् ।। ३९ ।।

राजन्! उस समय भीष्मके सामने खड़े हुए अर्जुनको कृपाचार्यने पचीस बाण मारे ।। ३९ ।।

प्रत्युद्गम्याथ विव्याध सात्यकिस्तं शितैः शरैः ।
पाण्डवप्रियकामार्थं शार्दूल इव कुञ्जरम् ।। ४० ।।

तब जैसे सिंह हाथीपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार सात्यकिने आगे बढ़कर पाण्डुनन्दन अर्जुनका प्रिय करनेके लिये कृपाचार्यको अपने तीखे बाणोंसे घायल कर दिया ।। ४० ।।

गौतमोऽपि त्वरायुक्तो माधवं नवभिः शरैः ।
हृदि विव्याध संक्रुद्धः कङ्कपत्रपरिच्छदैः ।। ४१ ।।

यह देख कृपाचार्यने भी अत्यन्त कुपित हो बड़ी उतावलीके साथ सात्यकिकी छातीमें कंकपत्रविभूषित नौ बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया ।। ४१ ।।

शैनेयोऽपि ततः क्रुद्धश्चापमानम्य वेगवान् ।
गौतमान्तकरं तूर्णं समाधत्त शिलीमुखम् ।। ४२ ।।

तब वेगशाली सात्यकिने भी क्रोधमें भरकर अपने धनुषको झुकाया और तुरंत ही उसपर कृपाचार्यका अन्त करनेवाला बाण रखा ।। ४२ ।।

तमापतन्तं वेगेन शक्राशनिसमद्युतिम् ।
द्विधा चिच्छेद संक्रुद्धो द्रौणिः परमकोपनः ।। ४३ ।।

उस बाणका प्रकाश इन्द्रके वज्रके समान था। उसे वेगसे आते देख परम क्रोधी अश्वत्थामाने अत्यन्त कुपित हो उसके दो टुकड़े कर डाले ।। ४३ ।।

समुत्सृज्याथ शैनेयो गौतमं रथिनां वरः ।
अभ्यद्रवद् रणे द्रौणिं राहुः खे शशिनं यथा ।। ४४ ।।

तब रथियोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने कृपाचार्यको छोड़कर जैसे आकाशमें राहु चन्द्रमापर आक्रमण करता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें अश्वत्थामापर धावा किया ।। ४४ ।।

तस्य द्रोणसुतश्चापं द्विधा चिच्छेद भारत ।
अथैनं छिन्नधन्वानं ताडयामास सायकैः ।। ४५ ।।

भारत! उस द्रोणपुत्रने सात्यकिके धनुषके दो टुकड़े कर दिये और धनुष कट जानेपर उन्हें सायकोंसे घायल करना आरम्भ किया ।। ४५ ।।

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय शत्रुघ्नं भारसाधनम् ।
द्रौणिं षष्ट्या महाराज बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।। ४६ ।।

महाराज! तब सात्यकिने भार-साधनमें समर्थ एवं शत्रुविनाशक दूसरा धनुष हाथमें लेकर साठ बाणोंद्वारा अश्वत्थामाकी भुजाओं तथा छातीको छेद डाला ।। ४६ ।।

स विद्धो व्यथितश्चैव मुहूर्तं कश्मलायुतः ।

निषसाद रथोपस्थे ध्वजयष्टिं समाश्रितः ।। ४७ ।।

इससे अत्यन्त घायल और व्यथित होकर मूर्च्छित हो ध्वजका सहारा ले वह दो घड़ीतक रथके पिछले भागमें बैठा रहा ।। ४७ ।।

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ।
वार्ष्णेयं समरे क्रुद्धो नाराचेन समार्पयत् ।। ४८ ।।

तत्पश्चात् प्रतापी द्रोणपुत्रने होशमें आकर कुपित हो समरभूमिमें सात्यकिको नाराचसे घायल कर दिया ।।

शैनेयं स तु निर्भिद्य प्राविशद् धरणीतलम् ।
वसन्तकाले बलवान् बिलं सर्पशिशुर्यथा ।। ४९ ।।

वह नाराच सात्यकिको छेदकर उसी प्रकार धरतीमें समा गया, जैसे वसन्त-ऋतुमें बलवान् सर्प-शिशु बिलमें घुसता है ।। ४९ ।।

अथापरेण भल्लेन माधवस्य ध्वजोत्तमम् ।
चिच्छेद समरे द्रौणिः सिंहनादं मुमोच ह ।। ५० ।।

इसके बाद दूसरे भल्लसे समरभूमिमें अश्वत्थामाने सात्यकिके उत्तम ध्वजको काट डाला और बड़े जोरसे सिंहनाद किया ।। ५० ।।

पुनश्चैनं शरैर्घोरैश्छादयामास भारत ।
निदाघान्ते महाराज यथा मेघो दिवाकरम् ।। ५१ ।।

भारत! महाराज! तदनन्तर जैसे वर्षा-ऋतुमें बादल सूर्यको ढक लेता है, उसी प्रकार उसने पुनः अपने भयंकर बाणोंद्वारा सात्यकिको आच्छादित कर दिया ।। ५१ ।।

सात्यकोऽपि महाराज शरजालं निहत्य तत् ।
द्रौणिमभ्यकिरत् तूर्णं शरजालैरनेकधा ।। ५२ ।।

नरेश्वर! उस समय सात्यकिने भी उस बाण-समूहको नष्ट करके तुरंत ही अश्वत्थामाके ऊपर अनेक प्रकारके बाणोंका जाल-सा बिछा दिया ।। ५२ ।।

तापयामास च द्रौणिं शैनेयः परवीरहा ।
विमुक्तो मेघजालेन यथैव तपनस्तथा ।। ५३ ।।

फिर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले युयुधानने मेघोंकी घटासे मुक्त हुए सूर्यकी भाँति द्रोणपुत्रको संताप देना आरम्भ किया ।। ५३ ।।

शराणां च सहस्रेण पुनरेव समुद्यतः ।
सात्यकिश्छादयामास ननाद च महाबलः ।। ५४ ।।

महाबली सात्यकिने पुनः एक हजार बाणोंकी वर्षा करके अश्वत्थामाको ढक दिया और बड़े जोरसे गर्जना की ।। ५४ ।।

दृष्ट्वा पुत्रं च तं ग्रस्तं राहुणेव निशाकरम् ।
अभ्यद्रवत शैनेयं भारद्वाजः प्रतापवान् ।। ५५ ।।

जैसे राहु चन्द्रमाको ग्रस लेता है, उसी प्रकार सात्यकिके द्वारा अपने पुत्रपर ग्रहण लगा हुआ देख प्रतापी द्रोणाचार्यने उनके ऊपर धावा किया ।। ५५ ।।

विव्याध च सुतीक्ष्णेन पृषत्केन महामृधे ।

परीप्सन् स्वसुतं राजन् वार्ष्णेयेनाभिपीडितम् ।। ५६ ।।

राजन्! उस महायुद्धमें सात्यकिद्वारा पीड़ित हुए अपने पुत्रकी रक्षा करनेके लिये आचार्यने तीखे बाणसे उन्हें घायल कर दिया ।। ५६ ।।

सात्यकिस्तु रणे हित्वा गुरुपुत्रं महारथम् ।

द्रोणं विव्याध विंशत्या सर्वपारशवैः शरैः ।। ५७ ।।

तब सात्यकिने रणक्षेत्रमें गुरुपुत्र महारथी अश्वत्थामाको छोड़कर पूर्णतः लोहेके बने हुए बीस बाणोंसे द्रोणाचार्यको बींध डाला ।। ५७ ।।

तदन्तरममेयात्मा कौन्तेयः शत्रुतापनः ।

अभ्यद्रवद् रणे क्रुद्धो द्रोणं प्रति महारथः ।। ५८ ।।

इसी समय शत्रुओंको संताप देनेवाले अमेय आत्मबलसे सम्पन्न महारथी कुन्तीपुत्र अर्जुन युद्धस्थलमें कुपित हो द्रोणाचार्यपर टूट पड़े ।। ५८ ।।

ततो द्रोणश्च पार्थश्च समेयातां महामृधे ।

यथा बुधश्च शुक्रश्च महाराज नभस्तले ।। ५९ ।।

महाराज! तत्पश्चात् द्रोणाचार्य और अर्जुन उस महासमरमें एक-दूसरेसे भिड़ गये, मानो आकाशमें बुध और शुक्र एक-दूसरेपर आक्रमण कर रहे हों ।। ५९ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अलम्बुषाभिमन्युयुद्धे एकाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें अलम्बुष और अभिमन्युका युद्धविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०१ ।।

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्य और सुशर्माके साथ अर्जुनका युद्ध तथा भीमसेनके द्वारा गजसेनाका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

कथं द्रोणो महेष्वासः पाण्डवश्च धनंजयः ।
समीयतू रणे यत्तौ तावुभौ पुरुषर्षभौ ।। १ ।।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! महाधनुर्धर द्रोण और पाण्डुनन्दन अर्जुन—इन दोनों पुरुषसिंहोंने रण-क्षेत्रमें किस प्रकार प्रयत्नपूर्वक एक-दूसरेका सामना किया? ।। १ ।।

प्रियो हि पाण्डवो नित्यं भारद्वाजस्य धीमतः ।
आचार्यश्च रणे नित्यं प्रियः पार्थस्य संजय ।। २ ।।

सूत! युद्धस्थलमें बुद्धिमान् द्रोणाचार्यको पाण्डुपुत्र अर्जुन सदा ही प्रिय लगते हैं और अर्जुनको भी आचार्य रणक्षेत्रमें सदा ही प्रिय रहे हैं ।। २ ।।

तावुभौ रथिनौ संख्ये हृष्टौ सिंहाविवोत्कटौ ।
कथं समीयतुर्यत्तौ भारद्वाजधनंजयौ ।। ३ ।।

उस दिन संग्रामभूमिमें दो प्रचण्ड सिंहोंकी भाँति हर्ष और उत्साहमें भरे हुए वे दोनों रथी द्रोणाचार्य और धनंजय किस प्रकार प्रयत्नपूर्वक एक-दूसरेसे युद्ध करते थे? ।। ३ ।।

संजय उवाच

न द्रोणः समरे पार्थं जानीते प्रियमात्मनः ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य पार्थो वा गुरुमाहवे ।। ४ ।।

संजयने कहा—महाराज! समरभूमिमें द्रोणाचार्य अर्जुनको अपना प्रिय नहीं समझते हैं और अर्जुन भी क्षत्रियधर्मको आगे रखकर युद्धस्थलमें गुरुको अपना प्रिय नहीं मानते हैं ।। ४ ।।

न क्षत्रिया रणे राजन् वर्जयन्ति परस्परम् ।
निर्मर्यादं हि युध्यन्ते पितृभिर्भ्रातृभिः सह ।। ५ ।।

राजन्! क्षत्रियलोग रणक्षेत्रमें आपसमें किसीको नहीं छोड़ते हैं। वे पिता और भाइयोंके साथ भी मर्यादाशून्य* होकर युद्ध करते हैं ।। ५ ।।

रणे भारत पार्थेन द्रोणो विद्धस्त्रिभिः शरैः ।
नाचिन्तयच्च तान् बाणान् पार्थचापच्युतान् युधि ।। ६ ।।

भारत! उस रणक्षेत्रमें अर्जुनने द्रोणाचार्यको तीन बाणोंसे घायल किया; परंतु अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंको युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यने कुछ भी नहीं समझा ।। ६ ।।

शरवृष्ट्या पुनः पार्थश्छादयामास तं रणे ।
स प्रजज्वाल रोषेण गहनेऽग्निरिवोर्जितः ।। ७ ।।

तब अर्जुनने समरभूमिमें अपने बाणोंकी वर्षासे पुनः द्रोणाचार्यको ढक दिया। यह देख वे रोषसे जल उठे, मानो वनमें दावानल प्रज्वलित हो उठा हो ।। ७ ।।

ततोऽर्जुनं रणे द्रोणः शरैः संनतपर्वभिः ।
छादयामास राजेन्द्र नचिरादेव भारत ।। ८ ।।

भरतनन्दन! राजेन्द्र! तब द्रोणाचार्यने युद्धमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे अर्जुनको शीघ्र ही आच्छादित कर दिया ।। ८ ।।

ततो दुर्योधनो राजा सुशर्माणमचोदयत् ।
द्रोणस्य समरे राजन् पार्ष्णिग्रहणकारणात् ।। ९ ।।

राजन्! तब राजा दुर्योधनने सुशर्माको समरभूमिमें द्रोणाचार्यके पृष्ठभागकी रक्षाके लिये प्रेरित किया ।। ९ ।।

त्रिगर्तराडपि क्रुद्धो भृशमायम्य कार्मुकम् ।
छादयामास समरे पार्थं बाणैरयोमुखैः ।। १० ।।

उसकी आज्ञा पाकर त्रिगर्तराज सुशर्माने भी समरमें क्रोधपूर्वक धनुषको अत्यन्त खींचकर लोहमुख बाणोंके द्वारा अर्जुनको ढक दिया ।। १० ।।

ताभ्यां मुक्ताः शरा राजन्नन्तरिक्षे विरेजिरे ।
हंसा इव महाराज शरत्काले नभस्तले ।। ११ ।।

महाराज! जैसे शरद्-ऋतुके आकाशमें हंस उड़ते दिखायी देते हैं, उसी प्रकार उन दोनोंके छोड़े हुए बाण आकाशमें सुशोभित हो रहे थे ।। ११ ।।

ते शराः प्राप्य कौन्तेयं समन्ताद् विविशुः प्रभो ।
फलभारनतं यद्वत् स्वादुवृक्षं विहङ्गमाः ।। १२ ।।

प्रभो! वे बाण सब ओरसे कुन्तीकुमार अर्जुनके ऊपर पड़कर उनके शरीरमें धँसने लगे, मानो फलोंके भारसे झुके स्वादिष्ट वृक्षपर चारों ओरसे पक्षी टूटे पड़ते हों ।। १२ ।।

अर्जुनस्तु रणे नादं विनद्य रथिनां वरः ।
त्रिगर्तराजं समरे सपुत्रं विव्यधे शरैः ।। १३ ।।

तब रथियोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने सिंहनाद करके समरांगणमें पुत्रसहित त्रिगर्तराज सुशर्माको अपने बाणोंसे घायल कर दिया ।। १३ ।।

ते वध्यमानाः पार्थेन कालेनेव युगक्षये ।
पार्थमेवाभ्यवर्तन्त मरणे कृतनिश्चयाः ।। १४ ।।

जैसे प्रलयकालमें साक्षात् काल सबको मार डालता है, उसी प्रकार अर्जुनकी मार खाकर त्रिगर्तदेशीय सैनिक मरनेका निश्चय करके पुनः उन्हींपर टूट पड़े ।।

मुमुचुः शरवृष्टिं च पाण्डवस्य रथं प्रति ।

शरवृष्टिं ततस्तां तु शरवर्षैः समन्ततः ।। १५ ।।
प्रतिजग्राह राजेन्द्र तोयवृष्टिमिवाचलः ।

उन्होंने पाण्डुनन्दन अर्जुनके रथपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी। राजेन्द्र! अर्जुनने सब ओरसे होनेवाली उस बाण-वर्षाको उसी प्रकार ग्रहण किया, जैसे पर्वत जलकी वर्षाको धारण करता है ।। १५½ ।।

तत्राद्भुतमपश्याम बीभत्सोर्हस्तलाघवम् ।। १६ ।।
विमुक्तां बहुभिर्योधैः शस्त्रवृष्टिं दुरासदाम् ।
यदेको वारयामास मारुतोऽभ्रगणानिव ।। १७ ।।

उस युद्धमें हमने अर्जुनके हाथोंकी अद्भुत फुर्ती देखी, जैसे हवा बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार बहुत-से योद्धाओंद्वारा की हुई उस दुःसह बाण-वर्षाका उन्होंने अकेले ही निवारण कर दिया ।। १६-१७ ।।

कर्मणा तेन पार्थस्य तुतुषुर्देवदानवाः ।
अथ क्रुद्धो रणे पार्थस्त्रिगर्तान् प्रति भारत ।। १८ ।।
मुमोचास्त्रं महाराज वायव्यं पृतनामुखे ।
प्रादुरासीत् ततो वायुः क्षोभयाणो नभस्तलम् ।। १९ ।।
पातयन् वै तरुगणान् विनिघ्नंश्चैव सैनिकान् ।

महाराज! अर्जुनके उस पराक्रमसे देवता और दानव सभी संतुष्ट हुए। भारत! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने युद्धके मुहानेपर त्रिगर्त-सेनाओंको लक्ष्य करके वायव्यास्त्रका प्रयोग किया; फिर तो आकाशको विक्षुब्ध कर देनेवाली वायु प्रकट हुई, जो वृक्षोंको गिराने और सैनिकोंको नष्ट करने लगी ।। १८-१९½ ।।

ततो द्रोणोऽभिवीक्ष्यैव वायव्यास्त्रं सुदारुणम् ।। २० ।।
शैलमन्यन्महाराज घोरमस्त्रं मुमोच ह ।

महाराज! तदनन्तर द्रोणाचार्यने अत्यन्त भयंकर वायव्यास्त्रको देखकर उसका निवारण करनेके लिये भयानक पर्वतास्त्रका प्रयोग किया ।। २०½ ।।

द्रोणेन युधि निर्मुक्ते तस्मिन्नस्त्रे नराधिप ।। २१ ।।
प्रशशाम ततो वायुः प्रसन्नाश्च दिशो दश ।

नरेश्वर! द्रोणाचार्यके द्वारा युद्धमें पर्वतास्त्रका प्रयोग होनेपर वायु शान्त और सम्पूर्ण दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं ।। २१½ ।।

ततः पाण्डुसुतो वीरस्त्रिगर्तस्य रथव्रजान् ।। २२ ।।
निरुत्साहान् रणे चक्रे विमुखान् विपराक्रमान् ।

तब वीरवर पाण्डुपुत्र अर्जुनने त्रिगर्तराजके रथ-समूहोंको उत्साहरहित एवं पराक्रमशून्य करके उन्हें युद्धसे विमुख कर दिया ।। २२½ ।।

ततो दुर्योधनश्चैव कृपश्च रथिनां वरः ।। २३ ।।

अश्वत्थामा तथा शल्यः काम्बोजश्च सुदक्षिणः ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ बाह्लिकः सह बाह्लिकैः ।। २४ ।।
महता रथवंशेन पार्थस्यावारयन् दिशः ।

तब रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्य, दुर्योधन, अश्वत्थामा, शल्य, काम्बोजराज सुदक्षिण, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द तथा बाह्लीकदेशीय सैनिकोंके साथ राजा बाह्लीक—इन सबने रथियोंकी विशाल सेना साथ लेकर उसके द्वारा पार्थकी सम्पूर्ण दिशाओंको अर्थात् उनके सभी मार्गोंको रोक दिया ।। २३-२४½ ।।

तथैव भगदत्तश्च श्रुतायुश्च महाबलः ।। २५ ।।
गजानीकेन भीमस्य ताववारयतां दिशः ।

उसी प्रकार भगदत्त तथा महाबली श्रुतायुने हाथियोंकी सेनाद्वारा भीमसेनकी सम्पूर्ण दिशाओंको रोक लिया ।।

भूरिश्रवाः शलश्चैव सौबलश्च विशाम्पते ।। २६ ।।
शरौघैर्विमलैस्तीक्ष्णैर्माद्रीपुत्राववारयन् ।

प्रजानाथ! भूरिश्रवा, शल और शकुनिने तीखे और चमकीले बाण-समूहोंकी वर्षा करके माद्रीकुमार नकुल और सहदेवको रोका ।। २६½ ।।

भीष्मस्तु संहतः संख्ये धार्तराष्ट्रैः ससैनिकैः ।। २७ ।।
युधिष्ठिरं समासाद्य सर्वतः पर्यवारयत् ।

भीष्मने सैनिकोंसहित आपके पुत्रोंके साथ संगठित होकर युद्धमें राजा युधिष्ठिरके पास जाकर उन्हें सब ओरसे घेर लिया ।। २७½ ।।

आपतन्तं गजानीकं दृष्ट्वा पार्थो वृकोदरः ।। २८ ।।
लेलिहन् सृक्किणी वीरो मृगराडिव कानने ।

हाथियोंकी सेनाको आते देख वीर कुन्तीकुमार भीमसेन जैसे वनमें सिंह अपने जबड़ोंको चाटता है, उसी प्रकार मुँहके दोनों कोनोंको चाटने लगे ।। २८½ ।।

भीमस्तु रथिनां श्रेष्ठो गदां गृह्य महाहवे ।। २९ ।।
अवप्लुत्य रथात् तूर्णं तव सैन्यान्यभीषयत् ।

तत्पश्चात् उस महासमरमें रथियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन गदा लेकर तुरंत रथसे कूद पड़े और आपकी सेनाओंको भयभीत करने लगे ।। २९½ ।।

तमुद्वीक्ष्य गदाहस्तं ततस्ते गजसादिनः ।। ३० ।।
परिवव्रू रणे यत्ता भीमसेनं समन्ततः ।

गदा हाथमें लिये हुए भीमसेनको देखकर उन गजारोही सैनिकोंने उन्हें यत्नपूर्वक चारों ओरसे घेर लिया ।। ३०½ ।।

गजमध्यमनुप्राप्तः पाण्डवः स व्यराजत ।। ३१ ।।
मेघजालस्य महतो यथा मध्यगतो रविः ।

उस गजसेनाके बीचमें पड़े हुए पाण्डुनन्दन भीमसेन महान् मेघसमूहके मध्यमें स्थित हुए सूर्यके समान प्रकाशित होने लगे ।। ३१½ ।।

व्यधमत् स गजानीकं गदया पाण्डवर्षभः ।। ३२ ।।
महाभ्रजालमतुलं मातरिश्वेव संततम् ।

पाण्डवश्रेष्ठ भीमसेनने अपनी गदाकी चोटसे सारी गजसेनाको उसी प्रकार नष्ट कर दिया, जैसे वायु महान् मेघोंकी सब ओर फैली हुई अनुपम घटाको छिन्न-भिन्न कर देती है ।। ३२½ ।।

ते वध्यमाना बलिना भीमसेनेन दन्तिनः ।। ३३ ।।
आर्तनादं रणे चक्रुर्गर्जन्तो जलदा इव ।

महाबली भीमसेनकी गदासे आहत हुए दन्तार हाथी युद्धस्थलमें गरजते हुए मेघोंके समान आर्तनाद करने लगे ।।

बहुधा दारितश्चैव विषाणैस्तत्र दन्तिभिः ।। ३४ ।।
फुल्लाशोकनिभः पार्थः शुशुभे रणमूर्धनि ।

हाथियोंके दाँतोंसे अनेक बार विदीर्ण हुए भीमसेन युद्धके मुहानेपर खिले हुए अशोकके समान शोभा पा रहे थे ।। ३४½ ।।

विषाणे दन्तिनं गृह्य निर्विषाणमथाकरोत् ।। ३५ ।।
विषाणेन च तेनैव कुम्भेऽभ्याहत्य दन्तिनम् ।
पातयामास समरे दण्डहस्त इवान्तकः ।। ३६ ।।

उन्होंने किसी दन्तार हाथीका दाँत पकड़कर उखाड़ लिया और उस हाथीको दन्तहीन बना दिया। फिर उसी दाँतके द्वारा उसके कुम्भस्थलमें प्रहार करके दण्डधारी यमराजकी भाँति समरांगणमें उसे मार गिराया ।। ३५-३६ ।।

शोणिताक्तां गदां बिभ्रन्मेदोमज्जाकृतच्छविः ।
कृताभ्यङ्गः शोणितेन रुद्रवत् प्रत्यदृश्यत ।। ३७ ।।

खूनसे रँगी हुई गदा लेकर मेदा और मज्जाके लेपसे अपनी शोभा बिगाड़कर रक्तका उबटन लगाये हुए भीमसेन भगवान् रुद्रके समान दिखायी दे रहे थे ।। ३७ ।।

एवं ते वध्यमानाश्च हतशेषा महागजाः ।
प्राद्रवन्त दिशो राजन् विमृद्नन्तः स्वकं बलम् ।। ३८ ।।

राजन्! इस प्रकार भीमसेनकी मार खाकर मरनेसे बचे हुए महान् गज अपनी ही सेनाको रौंदते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें भागने लगे ।। ३८ ।।

द्रवद्भिस्तैर्महानागैः समन्ताद् भरतर्षभ ।
दुर्योधनबलं सर्वं पुनरासीत् पराङ्मुखम् ।। ३९ ।।

भरतश्रेष्ठ! सब ओर भागते हुए उन महान् गजराजोंके साथ ही दुर्योधनकी सारी सेना युद्धभूमिसे विमुख हो चली ।। ३९ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीमपराक्रमे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १०२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीमपराक्रमविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०२ ।।

---

* यहाँपर ‘मर्यादा’ शब्द सम्बन्धकी मर्यादाके लिये प्रयुक्त हुआ है।

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका घमासान युद्ध और रक्तमयी रणनदीका वर्णन

संजय उवाच

मध्यन्दिने महाराज संग्रामः समपद्यत ।
लोकक्षयकरो रौद्रो भीष्मस्य सह सोमकैः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! दोपहर होते-होते भीष्मका सोमकोंके साथ लोकविनाशक भयंकर संग्राम होने लगा ।। १ ।।

गाङ्गेयो रथिनां श्रेष्ठः पाण्डवानामनीकिनीम् ।
व्यधमन्निशितैर्बाणैः शतशोऽथ सहस्रशः ।। २ ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ गंगानन्दन भीष्मने सैकड़ों और हजारों तीखे बाणोंकी वर्षा करके पाण्डवोंकी विशाल सेनाको नष्ट करना आरम्भ किया ।। २ ।।

सम्ममर्द च तत् सैन्यं पिता देवव्रतस्तव ।
धान्यानामिव लूनानां प्रकरं गोगणा इव ।। ३ ।।

राजन्! जैसे बैलोंके समुदाय कटे हुए धानके बोझोंका मर्दन करते हैं, उसी प्रकार आपके ताऊ देवव्रतने उस सेनाको रौंद डाला ।। ३ ।।

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च विराटो द्रुपदस्तथा ।
भीष्ममासाद्य समरे शरैर्जघ्नुर्महारथम् ।। ४ ।।

तब धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, विराट और द्रुपदने समरभूमिमें महारथी भीष्मके पास पहुँचकर उन्हें बाणोंसे घायल करना आरम्भ किया ।। ४ ।।

धृष्टद्युम्नं ततो विद्ध्वा विराटं च शरैस्त्रिभिः ।
द्रुपदस्य च नाराचं प्रेषयामास भारत ।। ५ ।।

भारत! तदनन्तर भीष्मने विराट और धृष्टद्युम्नको तीन बाणोंसे घायल करके द्रुपदपर नाराचका प्रहार किया ।। ५ ।।

तेन विद्धा महेष्वासा भीष्मेणामित्रकर्षिणा ।
चुक्रुधुः समरे राजन् पादस्पृष्टा इवोरगाः ।। ६ ।।

राजन्! शत्रुसूदन भीष्मके द्वारा घायल हुए वे महाधनुर्धर वीर पैरोंसे कुचले हुए सर्पोंकी भाँति समरांगणमें अत्यन्त कुपित हो उठे ।। ६ ।।

शिखण्डी तं च विव्याध भरतानां पितामहम् ।
स्त्रीमयं मनसा ध्यात्वा नास्मै प्राहरदच्युतः ।। ७ ।।

शिखण्डीने भरतवंशियोंके पितामह भीष्मको बींध डाला; परंतु मन-ही-मन उसे स्त्रीरूप मानकर अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले भीष्मने उसपर प्रहार नहीं किया ।। ७ ।।

धृष्टद्युम्नस्तु समरे क्रोधेनाग्निरिव ज्वलन् ।
पितामहं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।। ८ ।।

धृष्टद्युम्न रणक्षेत्रमें क्रोधसे अग्निकी भाँति जल उठे। उन्होंने तीन बाणोंसे पितामह भीष्मको उनकी छाती और भुजाओंमें चोट पहुँचायी ।। ८ ।।

द्रुपदः पञ्चविंशत्या विराटो दशभिः शरैः ।
शिखण्डी पञ्चविंशत्या भीष्मं विव्याध सायकैः ।। ९ ।।

द्रुपदने पचीस, विराटने दस और शिखण्डीने पचीस सायकोंद्वारा भीष्मको घायल कर दिया ।। ९ ।।

सोऽतिविद्धो महाराज शोणितौघपरिप्लुतः ।
वसन्ते पुष्पशबलो रक्ताशोक इवाबभौ ।। १० ।।

महाराज! उनके सायकोंसे अत्यन्त घायल होनेके कारण वे रक्तप्रवाहसे नहा उठे और वसन्तऋतुमें पुष्पोंसे भरे हुए रक्ताशोककी भाँति शोभा पाने लगे ।।

तान् प्रत्यविध्यद् गाङ्गेयस्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः ।
द्रुपदस्य च भल्लेन धनुश्चिच्छेद मारिष ।। ११ ।।

आर्य! उस समय गंगानन्दन भीष्मने उन सबको तीन-तीन सीधे जानेवाले बाणोंसे घायल कर दिया और एक भल्लके द्वारा द्रुपदका धनुष काट दिया ।। ११ ।।

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय भीष्मं विव्याध पञ्चभिः ।
सारथिं च त्रिभिर्बाणैः सुशितै रणमूर्धनि ।। १२ ।।

तब उन्होंने दूसरा धनुष हाथमें लेकर युद्धके मुहानेपर पाँच तीखे बाणोंद्वारा भीष्मको और तीन बाणोंसे उनके सारथिको भी घायल कर दिया ।। १२ ।।

तथा भीमो महाराज द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ।
केकया भ्रातरः पञ्च सात्यकिश्चैव सात्वतः ।। १३ ।।
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं युधिष्ठिरपुरोगमाः ।।
रिरक्षिषन्तः पाञ्चाल्यं धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।। १४ ।।

महाराज! भीम, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, पाँचों भाई केकयराजकुमार, सात्वतवंशी सात्यकि, युधिष्ठिर आदि पाण्डव-सैनिक तथा धृष्टद्युम्न आदि पांचाल-सैनिक द्रुपदकी रक्षाके लिये गंगानन्दन भीष्मपर टूट पड़े ।।

तथैव तावकाः सर्वे भीष्मरक्षार्थमुद्यताः ।
प्रत्युद्ययुः पाण्डुसेनां सहसैन्या नराधिप ।। १५ ।।

नरेश्वर! इसी प्रकार आपके समस्त सैनिक भीष्मकी रक्षाके लिये सेनासहित उद्यत हो पाण्डव-सेनापर चढ़ आये ।। १५ ।।

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं तव तेषां च संकुलम् ।
नराश्वरथनागानां यमराष्ट्रविवर्धनम् ।। १६ ।।

तब वहाँ उन सबके पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथीसवारोंमें अत्यन्त भयंकर घमासान युद्ध होने लगा, जो यमराजके राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला था ।। १६ ।।

रथी रथिनमासाद्य प्राहिणोद् यमसादनम् ।
तथेतरान् समासाद्य नरनागाश्वसादिनः ।। १७ ।।

रथीने रथीका सामना करके उसे यमलोक पहुँचा दिया। पैदल, हाथीसवार और घुड़सवारोंने भी एक-दूसरेसे भिड़कर ऐसा ही किया ।। १७ ।।

अनयन् परलोकाय शरैः संनतपर्वभिः ।
शरैश्च विविधैर्घोरैस्तत्र तत्र विशाम्पते ।। १८ ।।

प्रजानाथ! उस युद्धस्थलमें जहाँ-तहाँ सब योद्धा झुकी हुई गाँठवाले नाना प्रकारके भयंकर बाणोंद्वारा अपने विपक्षियोंको परलोकके अतिथि बनाने लगे ।।

रथास्तु रथिभिर्हीना हतसारथयस्तथा ।
विप्रद्रुताश्वाः समरे दिशो जग्मुः समन्ततः ।। १९ ।।

कितने ही रथ रथियों और सारथियोंसे शून्य हो भागते हुए घोड़ोंके साथ सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्कर काट रहे थे ।। १९ ।।

मृद्नन्तस्ते नरान् राजन् हयांश्च सुबहून् रणे ।
वातायमाना दृश्यने गन्धर्वनगरोपमाः ।। २० ।।

राजन्! वे रथ उस रणक्षेत्रमें आपके बहुत-से पैदल मनुष्यों तथा घोड़ोंको कुचलते हुए हवाके समान तीव्र गतिसे भाग रहे थे और गन्धर्वनगरके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। २० ।।

रथिनश्च रथैर्हीना वर्मिणस्तेजसा युताः ।
कुण्डलोष्णीषिणः सर्वे निष्काङ्गदविभूषणाः ।। २१ ।।
देवपुत्रसमाः सर्वे शौर्ये शक्रसमा युधि ।
ऋद्ध्या वैश्रवणं चाति नयेन च बृहस्पतिम् ।। २२ ।।
सर्वलोकेश्वराः शूरास्तत्र तत्र विशाम्पते ।
विप्रद्रुता व्यदृश्यन्त प्राकृता इव मानवाः ।। २३ ।।

प्रजानाथ! कितने ही रथी रथोंसे हीन हो गये थे। वे कवच, कुण्डल और पगड़ी धारण किये बड़े तेजस्वी दिखायी देते थे। उन सबने कण्ठमें स्वर्णमय पदक और भुजाओंमें बाजूबंद धारण कर रखे थे। वे देखनेमें देवकुमारोंके समान सुन्दर और युद्धमें इन्द्रके समान शौर्यसम्पन्न थे। वे समृद्धिमें कुबेर और नीतिज्ञतामें बृहस्पतिजीसे भी बढ़कर थे। ऐसे सर्वलोकेश्वर शूरवीर भी रथहीन हो गँवार मनुष्योंकी भाँति जहाँ-तहाँ भागते दिखायी देते थे ।। २१—२३ ।।

दन्तिनश्च नरश्रेष्ठ हीनाः परमसादिभिः ।
मृद्नन्तः स्वान्यनीकानि निपेतुः सर्वशब्दगाः ।। २४ ।।

नरश्रेष्ठ! कितने ही दन्तार हाथी अपने श्रेष्ठ सवारोंसे रहित हो अपनी ही सेनाको कुचलते हुए प्रत्येक शब्दके पीछे दौड़ते थे ।। २४ ।।

चर्मभिश्चामरैश्चित्रैः पताकाभिश्च मारिष ।
छत्रैः सितैर्हेमदण्डैश्चामरैश्च समन्ततः ।। २५ ।।
विशीर्णैर्विप्रधावन्तो दृश्यन्ते स्म दिशो दश ।
नवमेघप्रतीकाशा जलदोपमनिःस्वनाः ।। २६ ।।

माननीय महाराज! ढाल, विचित्र चँवर, पताका, श्वेत छत्र, सुवर्णदण्डभूषित चामर—ये चारों ओर बिखरे पड़े थे और (इन्हींके ऊपरसे) नूतन मेघोंकी घटाके सदृश हाथी मेघोंके समान भयंकर गर्जना करते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ते दिखायी देते थे ।। २५-२६ ।।

तथैव दन्तिभिर्हीना गजारोहा विशाम्पते ।
प्रधावन्तोऽन्वदृश्यन्त तव तेषां च संकुले ।। २७ ।।

प्रजानाथ! इसी प्रकार हाथियोंसे रहित हाथीसवार भी आपके और पाण्डवोंके भयानक युद्धमें इधर-उधर दौड़ते दिखायी देते थे ।। २७ ।।

नानादेशसमुत्थांश्च तुरगान् हेमभूषितान् ।
वातायमानानद्राक्षं शतशोऽथ सहस्रशः ।। २८ ।।

अनेक देशोंमें उत्पन्न, सुवर्णभूषित और वायुके समान वेगशाली सैकड़ों और हजारों घोड़ोंको हमने रणभूमिसे भागते देखा है ।। २८ ।।

अश्वारोहान् हतैरश्वैर्गृहीतासीन् समन्ततः ।
द्रवमाणानपश्याम द्राव्यमाणांश्च संयुगे ।। २९ ।।

हमने युद्धमें बहुत-से घुड़सवारोंको देखा, जो घोड़ोंके मारे जानेपर हाथमें तलवार लिये सब ओर भागते और शत्रुओंद्वारा खदेड़े जाते थे ।। २९ ।।

गजो गजं समासाद्य द्रवमाणं महाहवे ।
ययौ प्रमृद्य तरसा पादातान् वाजिनस्तथा ।। ३० ।।

उस महायुद्धमें एक हाथी भागते हुए दूसरे हाथीके पास पहुँचकर अपने वेगसे बहुतेरे पैदल सिपाहियों तथा घोड़ोंको कुचलता हुआ उसका अनुसरण करता था ।। ३० ।।

तथैव च रथान् राजन् प्रममर्द रणे गजः ।
रथाश्चैव समासाद्य पतितांस्तुरगान् भुवि ।। ३१ ।।

राजन्! इसी प्रकार उस रणक्षेत्रमें एक हाथी बहुत-से रथोंको रौंद डालता था और रथ पृथ्वीपर पड़े हुए घोड़ोंको कुचलकर भागते जाते थे ।। ३१ ।।

व्यमृद्नन् समरे राजंस्तुरगाश्च नरान् रणे ।
एवं ते बहुधा राजन् प्रत्यमृद्नन् परस्परम् ।। ३२ ।।

नरेश्वर! समरांगणमें बहुत-से घोड़ोंने पैदल मनुष्योंको कुचल दिया। राजन्! इस प्रकार वे सैनिक अनेक बार एक-दूसरेको कुचलते रहे ।। ३२ ।।

तस्मिन् रौद्रे तथा युद्धे वर्तमाने महाभये ।
प्रावर्तत नदी घोरा शोणितान्त्रतरङ्गिणी ।। ३३ ।।

उस महाभयंकर घोर युद्धमें रक्त, आँत और तरंगोंसे युक्त एक भयानक नदी बह चली ।। ३३ ।।

अस्थिसंघातसम्बाधा केशशैवलशाद्वला ।
रथह्रदा शरावर्ता हयमीना दुरासदा ।। ३४ ।।

वह हड्डियोंके समूहरूपी शिलाखण्डोंसे भरी थी। केश ही उसमें सेवार और घासके समान जान पड़ते थे। रथ कुण्ड और बाण भँवरके समान प्रतीत होते थे। घोड़े ही उस दुर्गम नदीके मत्स्य थे ।। ३४ ।।

शीर्षोपलसमाकीर्णा हस्तिग्राहसमाकुला ।
कवचोष्णीषफेनौघा धनुर्वेगासिकच्छपा ।। ३५ ।।

कटे हुए मस्तक पत्थरोंके टुकड़ोंके समान बिखरे थे। हाथी ही उसमें विशाल ग्राहके समान जान पड़ते थे, कवच और पगड़ी फेनराशिके समान थे, धनुष ही उसका वेगयुक्त प्रवाह और खड्ग ही वहाँ कच्छपके समान प्रतीत होते थे ।। ३५ ।।

पताकाध्वजवृक्षाढ्या मर्त्यकूलापहारिणी ।
क्रव्यादहंससंकीर्णा यमराष्ट्रविवर्धनी ।। ३६ ।।

पताका और ध्वजाएँ किनारेके वृक्षोंके समान जान पड़ती थीं। मनुष्योंकी लाशें ही उसके कगारें थीं, जिन्हें वह अपने वेगसे तोड़-तोड़कर बहा रही थी। मांसाहारी पक्षी ही उसके आस-पास हंसोंके समान भरे हुए थे। वह नदी यमके राज्यको बढ़ा रही थी ।। ३६ ।।

तां नदीं क्षत्रियाः शूरा रथनागहयप्लवैः ।
प्रतेरुर्बहवो राजन् भयं त्यक्त्वा महारथाः ।। ३७ ।।

राजन्! बहुत-से शूरवीर महारथी क्षत्रिय नौकाके समान घोड़े, रथ, हाथी आदिपर चढ़कर भयसे रहित हो उस नदीके पार जा रहे थे ।। ३७ ।।

अपोवाह रणे भीरून् कश्मलेनाभिसंवृतान् ।
यथा वैतरणी प्रेतान् प्रेतराजपुरं प्रति ।। ३८ ।।

जैसे वैतरणी नदी मरे हुए प्राणियोंको प्रेतराजके नगरमें पहुँचाती है, उसी प्रकार वह रक्तमयी नदी डरपोक और कायरोंको मूर्च्छित-से करके रणभूमिसे दूर हटाने लगी ।। ३८ ।।

प्राक्रोशन् क्षत्रियास्तत्र दृष्ट्वा तद् वैशसं महत् ।
दुर्योधनापराधेन गच्छन्ति क्षत्रियाः क्षयम् ।। ३९ ।।

वहाँ खड़े हुए क्षत्रिय वह अत्यन्त भयंकर मारकाट देखकर यह पुकार-पुकारकर कह रहे थे कि दुर्योधनके अपराधसे ही सारे क्षत्रिय विनाशको प्राप्त हो रहे हैं ।। ३९ ।।

गुणवत्सु कथं द्वेषं धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
कृतवान् पाण्डुपुत्रेषु पापात्मा लोभमोहितः ।। ४० ।।

पापात्मा राजा धृतराष्ट्रने लोभसे मोहित होकर गुणवान् पाण्डवोंसे द्वेष क्यों किया? ।। ४० ।।

एवं बहुविधा वाचः श्रूयन्ते स्म परस्परम् ।
पाण्डवस्तवसंयुक्ताः पुत्राणां ते सुदारुणाः ।। ४१ ।।

महाराज! इस प्रकार वहाँ परस्पर कही हुई पाण्डवोंकी प्रशंसा तथा आपके पुत्रोंकी अत्यन्त भयंकर निन्दासे युक्त नाना प्रकारकी बातें सुनायी पड़ती थीं ।। ४१ ।।

ता निशम्य ततो वाचः सर्वयोधैरुदाहृताः ।
आगस्कृत् सर्वलोकस्य पुत्रो दुर्योधनस्तव ।। ४२ ।।
भीष्मं द्रोणं कृपं चैव शल्यं चोवाच भारत ।
युध्यध्वमनहंकाराः किं चिरं कुरुथेति च ।। ४३ ।।

भारत! तब सम्पूर्ण योद्धाओंके मुखसे निकली हुई उन बातोंको सुनकर सम्पूर्ण लोकोंका अपराध करनेवाले आपके पुत्र दुर्योधनने भीष्म, द्रोण, कृप और शल्यसे कहा—'आपलोग अहंकार छोड़कर युद्ध करें; विलम्ब क्यों कर रहे हैं?' ।। ४२-४३ ।।

ततः प्रववृते युद्धं कुरूणां पाण्डवैः सह ।
अक्षद्यूतकृतं राजन् सुघोरं वैशसं तदा ।। ४४ ।।

राजन्! तदनन्तर कौरवोंका पाण्डवोंके साथ अत्यन्त भयंकर युद्ध होने लगा, जो कपटपूर्ण द्यूतके कारण सम्भव हुआ था और जिसमें बड़ी भारी मारकाट मच रही थी ।।

यत् पुरा न निगृह्णासि वार्यमाणो महात्मभिः ।
वैचित्रवीर्य तस्येदं फलं पश्य सुदारुणम् ।। ४५ ।।

विचित्रवीर्यनन्दन महाराज धृतराष्ट्र! पूर्वकालमें महात्मा पुरुषोंके मना करनेपर भी जो आपने उनकी बातें नहीं मानीं, उसीका यह भयंकर फल प्राप्त हुआ है, इसे देखिये ।। ४५ ।।

न हि पाण्डुसुता राजन् ससैन्याः सपदानुगाः ।
रक्षन्ति समरे प्राणान् कौरवा वापि संयुगे ।। ४६ ।।

राजन्! सेना और सेवकोंसहित पाण्डव अथवा कौरव समरभूमिमें अपने प्राणोंकी रक्षा नहीं करते हैं—प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध कर रहे हैं ।। ४६ ।।

एतस्मात् कारणाद् घोरो वर्तते स्वजनक्षयः ।
दैवाद् वा पुरुषव्याघ्र तव चापनयान्नृप ।। ४७ ।।

पुरुषसिंह! नरेश्वर! इस कारणसे अथवा दैवकी प्रेरणासे या आपके ही अन्यायसे होनेवाले इस युद्धमें स्वजनोंका घोर संहार हो रहा है ।। ४७ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १०३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें घमासान युद्धविषयक एक सौ तीसरा अध्याय पूरा हुआ ।। १०३ ।।

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा त्रिगर्तोंकी पराजय, कौरव-पाण्डव-सैनिकोंका घोर युद्ध, अभिमन्युसे चित्रसेनकी, द्रोणसे द्रुपदकी और भीमसेनसे बाह्लीककी पराजय तथा सात्यकि और भीष्मका युद्ध

संजय उवाच

अर्जुनस्तान् नरव्याघ्रः सुशर्मानुचरान् नृपान् ।
अनयत् प्रेतराजस्य सदनं सायकैः शितैः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! पुरुषसिंह अर्जुन अपने तीखे बाणोंसे सुशर्माके अनुगामी नरेशोंको यमलोक भेजने लगे ।। १ ।।

सुशर्मापि ततो बाणैः पार्थं विव्याध संयुगे ।
वासुदेवं च सप्तत्या पार्थं च नवभिः पुनः ।। २ ।।

तब सुशर्माने भी युद्धस्थलमें अनेक बाणोंद्वारा कुन्तीकुमार अर्जुनको घायल कर दिया। फिर उसने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको सत्तर और अर्जुनको नौ बाण मारे ।।

तं निवार्य शरौघेण शक्रसूनुर्महारथः ।
सुशर्मणो रणे योद्धान् प्राहिणोद् यमसादनम् ।। ३ ।।

यह देख इन्द्रपुत्र महारथी अर्जुनने अपने बाण-समूहोंके द्वारा सुशर्माको रोककर रणक्षेत्रमें उसके योद्धाओंको यमलोक पहुँचाना आरम्भ किया ।। ३ ।।

ते वध्यमानाः पार्थेन कालेनेव युगक्षये ।
व्यद्रवन्त रणे राजन् भये जाते महारथाः ।। ४ ।।

राजन्! जैसे युगान्तमें साक्षात् कालके द्वारा सारी प्रजा मारी जाती है, उसी प्रकार रणक्षेत्रमें अर्जुनके द्वारा मारे जाते हुए सारे महारथी युद्धका मैदान छोड़कर भागने लगे ।। ४ ।।

उत्सृज्य तुरगान् केचिद् रथान् केचिच्च मारिष ।
गजानन्ये समुत्सृज्य प्राद्रवन्त दिशो दश ।। ५ ।।

आर्य! कुछ लोग घोड़ोंको, कुछ दूसरे लोग रथोंको और इसी प्रकार कुछ लोग हाथियोंको छोड़कर दसों दिशाओंमें भागने लगे ।। ५ ।।

अपरे तु तदाऽऽदाय वाजिनागरथान् रणे ।
त्वरया परया युक्ताः प्राद्रवन्त विशाम्पते ।। ६ ।।
पादाताश्चापि शस्त्राणि समुत्सृज्य महारणे ।

निरपेक्षा व्यधावन्त तेन तेन स्म भारत ।। ७ ।।

प्रजानाथ! दूसरे लोग उस समय बड़ी उतावलीके साथ अपने हाथी, घोड़े एवं रथको साथ ले रणभूमिसे भाग निकले। भारत! उस महायुद्धमें पैदल सिपाही भी अपने अस्त्र-शस्त्रोंको फेंककर उनकी कोई अपेक्षा न रखकर जिधरसे राह मिली, उधरसे ही भागने लगे ।।

वार्यमाणाः सुबहुशस्त्रैगर्तेन सुशर्मणा ।

तथान्यैः पार्थिवश्रेष्ठैर्न व्यतिष्ठन्त संयुगे ।। ८ ।।

यद्यपि त्रिगर्तराज सुशर्मा तथा अन्य श्रेष्ठ नरेशोंने भी बारंबार रोकनेका प्रयत्न किया, तथापि वे सैनिक युद्धमें ठहर न सके ।। ८ ।।

तद् बलं प्रद्रुतं दृष्ट्वा पुत्रो दुर्योधनस्तव ।

पुरस्कृत्य रणे भीष्मं सर्वसैन्यपुरस्कृतः ।। ९ ।।

सर्वोद्योगेन महता धनंजयमुपाद्रवत् ।

त्रिगर्ताधिपतेरर्थे जीवितस्य विशाम्पते ।। १० ।।

उस सेनाको भागती देख आपके पुत्र दुर्योधनने रणभूमिमें भीष्मको आगे करके सम्पूर्ण सेनाओंके साथ महान् प्रयत्नपूर्वक धनंजयपर धावा किया। प्रजानाथ! उसके आक्रमणका उद्देश्य था त्रिगर्तराजके जीवनकी रक्षा ।। ९-१० ।।

स एकः समरे तस्थौ किरन् बहुविधाञ्शरान् ।

भ्रातृभिः सहितः सर्वैः शेषा हि प्रद्रुता नराः ।। ११ ।।

केवल दुर्योधन ही अपने समस्त भाइयोंके साथ नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करता हुआ समरभूमिमें खड़ा रहा। शेष सब मनुष्य भाग गये ।। ११ ।।

तथैव पाण्डवा राजन् सर्वोद्योगेन दंशिताः ।

प्रययुः फाल्गुनार्थाय यत्र भीष्मो व्यतिष्ठत ।। १२ ।।

राजन्! उसी प्रकार पाण्डव भी कवच बाँधकर सम्पूर्ण उद्योगके साथ अर्जुनकी रक्षाके लिये उसी स्थानपर गये, जहाँ भीष्म स्थित थे ।। १२ ।।

ज्ञायमाना रणे वीर्यं घोरं गाण्डीवधन्वनः ।

हाहाकारकृतोत्साहा भीष्मं जग्मुः समन्ततः ।। १३ ।।

गाण्डीवधारी अर्जुनके भयंकर पराक्रमको जाननेके कारण वे लोग उत्साहके साथ कोलाहल और सिंहनाद करते हुए सब ओरसे भीष्मपर आक्रमण करने लगे ।।

ततस्तालध्वजः शूरः पाण्डवानां वरूथिनीम् ।

छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ।। १४ ।।

तदनन्तर तालचिह्नित ध्वजावाले शूरवीर भीष्मने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे युद्धमें पाण्डवसेनाको आच्छादित कर दिया ।। १४ ।।

एकीभूतास्ततः सर्वे कुरवः सह पाण्डवैः ।

अयुध्यन्त महाराज मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ।। १५ ।।

महाराज! तत्पश्चात् समस्त कौरव एकत्र संगठित होकर दोपहर होते-होते पाण्डवोंके साथ घोर युद्ध करने लगे ।। १५ ।।

सात्यकिः कृतवर्माणं विद्ध्वा पञ्चभिराशुगैः ।
अतिष्ठदाहवे शूरः किरन् बाणान् सहस्रशः ।। १६ ।।

श्हवीर सात्यकि कृतवर्माको पाँच बाणोंसे घायल करके समरभूमिमें सहस्रों बाणोंकी वर्षा करते हुए खड़े रहे ।। १६ ।।

तथैव द्रुपदो राजा द्रोणं विद्ध्वा शितैः शरैः ।
पुनर्विव्याध सप्तत्या सारथिं चास्थ पञ्चभिः ।। १७ ।।

इसी प्रकार राजा द्रुपदने द्रोणाचार्यको तीखे बाणोंसे एक बार घायल करके सत्तर बाणोंद्वारा पुनः घायल किया और पाँच बाणोंसे उनके सारथिको भी भारी चोट पहुँचायी ।। १७ ।।

भीमसेनस्तु राजानं बाह्लीकं प्रपितामहम् ।
विद्ध्वा नदन्महानादं शार्दूल इव कानने ।। १८ ।।

भीमसेनने अपने प्रपितामह राजा बाह्लीकको बाणोंद्वारा घायल करके वनमें सिंहके समान बड़े जोरसे गर्जना की ।। १८ ।।

आर्जुनिश्चित्रसेनेन विद्धो बहुभिराशुगैः ।
अतिष्ठदाहवे शूरः किरन् बाणान् सहस्रशः ।। १९ ।।

अर्जुनकुमार अभिमन्युको चित्रसेनने बहुत-से बाणों-द्वारा घायल कर दिया था, तो भी शूरवीर अभिमन्यु सहस्रों बाणोंकी वर्षा करता हुआ युद्धभूमिमें डटा रहा ।। १९ ।।

चित्रसेनं त्रिभिर्बाणैर्विव्याध समरे भृशम् ।
समागतौ तौ तु रणे महामात्रौ व्यरोचताम् ।। २० ।।
यथा दिवि महाघोरौ राजन् बुधशनैश्चरौ ।

उसने तीन बाणोंसे समरांगणमें चित्रसेनको अत्यन्त घायल कर दिया। राजन्! जैसे आकाशमें दो महाघोर ग्रह बुध और शनैश्चर सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार दो महान् वीर चित्रसेन और अभिमन्यु रण-भूमिमें शोभा पा रहे थे ।। २०½ ।।

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सूतं च नवभिः शरैः ।। २१ ।।
ननाद बलवन्नादं सौभद्रः परवीरहा ।

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युने चित्रसेनके चारों घोड़ोंको मारकर नौ बाणोंसे उसके सारथिको भी नष्ट कर दिया। तत्पश्चात् बड़े जोरसे सिंहनाद किया ।। २१½ ।।

हताश्वात् तु रथात् तूर्णं सोऽवप्लुत्य महारथः ।। २२ ।।
आरुरोह रथं तूर्णं दुर्मुखस्य विशाम्पते ।

प्रजानाथ! घोड़ोंके मारे जानेपर महारथी चित्रसेन तुरंत ही रथसे कूद पड़े और दुर्मुखके रथपर आरूढ़ हो गये ।। २२ १/२ ।।

द्रोणश्च द्रुपदं भित्त्वा शरैः संनतपर्वभिः ।। २३ ।।
सारथिं चास्य विव्याध त्वरमाणः पराक्रमी ।

पराक्रमी द्रोणाचार्यने भी झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे द्रुपदको घायल करके बड़ी उतावलीके साथ उनके सारथिको भी बींध डाला ।। २३ १/२ ।।

पीड्यमानस्ततो राजा द्रुपदो वाहिनीमुखे ।। २४ ।।
अपायाज्जवनैरश्वैः पूर्ववैरमनुस्मरन् ।

इस प्रकार युद्धके मुहानेपर द्रोणाचार्यसे पीड़ित हो राजा द्रुपद पूर्व वैरका स्मरण करते हुए शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा वहाँसे भाग गये ।। २४ १/२ ।।

भीमसेनस्तु राजानं मुहूर्तादिव बाह्लिकम् ।। २५ ।।
व्यश्वसूतरथं चक्रे सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।

भीमसेनने दो ही घड़ीमें सारी सेनाके देखते-देखते राजा बाह्लीकको घोड़े, सारथि तथा रथसे शून्य कर दिया ।। २५ १/२ ।।

ससम्भ्रमो महाराज संशयं परमं गतः ।। २६ ।।
अवप्लुत्य ततो वाहाद् बाह्लीकः पुरुषोत्तमः ।
आरुरोह रथं तूर्णं लक्ष्मणस्य महारणे ।। २७ ।।

महाराज! नरश्रेष्ठ बाह्लीक बड़ी घबराहटमें पड़ गये। उनका जीवन अत्यन्त संशयमें पड़ गया। उस अवस्थामें वे रथसे कूदकर शीघ्र ही उस महायुद्धमें लक्ष्मणके रथपर आरूढ़ हो गये ।। २६-२७ ।।

सात्यकिः कृतवर्माणं वारयित्वा महारणे ।
शरैर्बहुविधै राजन्नाससाद पितामहम् ।। २८ ।।

राजन्! दूसरी ओर उस महायुद्धमें सात्यकिने कृतवर्माको रोककर नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करते हुए पितामह भीष्मपर धावा किया ।। २८ ।।

स विद्ध्वा भारतं षष्ट्य निशितैर्लोमवाहिभिः ।
नृत्यन्निव रथोपस्थे विधुन्वानो महद् धनुः ।। २९ ।।

उन्होंने अपने विशाल धनुषकी टंकार फैलाते तथा रथकी बैठकमें नृत्य करते हुए-से पंखयुक्त साठ तीखे बाणोंद्वारा भरतवंशी पितामह भीष्मको घायल कर दिया ।। २९ ।।

तस्यायसीं महाशक्तिं चिक्षेपाथ पितामहः ।
हेमचित्रां महावेगां नागकन्योपमां शुभाम् ।। ३० ।।

पितामहने सात्यकिपर लोहेकी बनी हुई एक विशाल शक्ति चलायी, जो सुवर्णजटित, अत्यन्त वेगशालिनी तथा सर्पिणीके समान आकारवाली एवं सुन्दर थी ।। ३० ।।

तामापतन्तीं सहसा मृत्युकल्पां सुदुर्जयाम् ।

व्यंसयामास वार्ष्णेयो लाघवेन महायशाः ।। ३१ ।।

उस अत्यन्त दुर्जय मृत्युस्वरूपा शक्तिको सहसा आती देख महायशस्वी सात्यकिने अपनी फुर्तीके कारण उसको असफल कर दिया ।। ३१ ।।

अनासाद्य तु वार्ष्णेयं शक्तिः परमदारुणा ।
न्यपतद् धरणीपृष्ठे महोल्केव महाप्रभा ।। ३२ ।।

वह परम भयंकर शक्ति सात्यकितक न पहुँचकर अत्यन्त तेजस्विनी बड़ी भारी उल्काके समान पृथ्वीपर गिर पड़ी ।। ३२ ।।

वार्ष्णेयस्तु ततो राजन्
स्वां शक्तिं कनकप्रभाम् ।
वेगवद् गृह्य चिक्षेप
पितामहरथं प्रति ।। ३३ ।।

राजन्! तब सात्यकिने भी अपनी सुनहरी प्रभावाली शक्ति लेकर उसे भीष्मके रथपर बड़े वेगसे चलाया ।। ३३ ।।

वार्ष्णेयभुजवेगेन प्रणुन्ना सा महाहवे ।
अभिदुद्राव वेगेन कालरात्रिर्यथा नरम् ।। ३४ ।।

उस महासमरमें सात्यकिकी भुजाओंके वेगसे चलायी हुई वह शक्ति अत्यन्त वेगपूर्वक भीष्मकी ओर चली, मानो कालरात्रि मनुष्यकी ओर जा रही हो ।। ३४ ।।

तामापतन्तीं सहसा द्विधा चिच्छेद भारतः ।
क्षुरप्राभ्यां सुतीक्ष्णाभ्यां सा व्यशीर्यत मेदिनीम् ।। ३५ ।।

परंतु भरतवंशी भीष्मने अपने अत्यन्त तीखे दो क्षुरप्रोंसे उस सहसा आती हुई शक्तिको दो जगहसे काट दिया। वह छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ।। ३५ ।।

छित्त्वा शक्तिं तु गाङ्गेयः सात्यकिं नवभिः शरैः ।
आजघानोरसि क्रुद्धः प्रहसञ्छत्रुकर्शनः ।। ३६ ।।

शक्तिको काटकर हँसते हुए शत्रुसूदन गंगानन्दन भीष्मने कुपित हो सात्यकिकी छातीमें नौ बाण मारे ।। ३६ ।।

ततः सरथनागाश्वाः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज ।
परिवव्रू रणे भीष्मं माधवत्राणकारणात् ।। ३७ ।।

पाण्डुके बड़े भाई महाराज धृतराष्ट्र! उस समय मधुवंशी सात्यकिको बचानेके लिये पाण्डवोंने रथ, घोड़े और हाथियोंकी सेनाके साथ आकर युद्धभूमिमें भीष्मको चारों ओरसे घेर लिया ।। ३७ ।।

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
पाण्डवानां कुरूणां च समरे विजयैषिणाम् ।। ३८ ।।

तत्पश्चात् युद्धमें विजयकी अभिलाषा रखनेवाले कौरवों तथा पाण्डवोंमें परस्पर घोर युद्ध हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ।। ३८ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि वार्ष्णेययुद्धे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ।। १०४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें सात्यकिका युद्धविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०४ ।।

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका दुःशासनको भीष्मकी रक्षाके लिये आदेश, युधिष्ठिर और नकुल-सहदेवके द्वारा शकुनिकी घुड़सवार-सेनाकी पराजय तथा शल्यके साथ उन सबका युद्ध

संजय उवाच

दृष्ट्वा भीष्मं रणे क्रुद्धं पाण्डवैरभिसंवृतम् ।
यथा मेघैर्महाराज तपान्ते दिवि भास्करम् ।। १ ।।
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमभाषत ।

संजय कहते हैं—महाराज! ग्रीष्म-ऋतुके अन्तमें (वर्षारम्भ होनेपर) जैसे मेघ आकाशमें सूर्यदेवको ढक लेते हैं, उसी प्रकार पाण्डवोंने युद्धभूमिमें क्रुद्ध हुए भीष्मको सब ओरसे घेर लिया है। यह देखकर आपके पुत्र दुर्योधनने दुःशासनसे कहा— ।। १½ ।।

एष शूरो महेष्वासो भीष्मः शूरनिषूदनः ।। २ ।।
छादितः पापडवैः शूरैः समन्ताद् भरतर्षभ ।

'भरतश्रेष्ठ! ये शूरवीरोंका नाश करनेवाले महाधनुर्धर शौर्यसम्पन्न भीष्म पराक्रमी पाण्डवोंद्वारा चारों ओरसे घेर लिये गये हैं ।। २½ ।।

तस्य कार्यं त्वया वीर रक्षणं सुमहात्मनः ।। ३ ।।
रक्ष्यमाणो हि समरे भीष्मोऽस्माकं पितामहः ।
निहन्यात् समरे यत्तान् पञ्चालान् पाण्डवैः सह ।। ४ ।।

'वीर! तुम्हें उन महात्मा भीष्मकी रक्षा करनी चाहिये। युद्धमें सुरक्षित रहनेपर हमारे पितामह भीष्म समरांगणमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले पाण्डवोंसहित पांचालोंका संहार कर डालेंगे ।। ३-४ ।।

तत्र कार्यतमं मन्ये भीष्मस्यैवाभिरक्षणम् ।
गोप्ता ह्येष महेष्वासो भीष्मोऽस्माकं महाव्रतः ।। ५ ।।

'अतः इस अवसरपर मैं भीष्मजीकी रक्षाको ही प्रधान कार्य समझता हूँ; क्योंकि ये महाव्रती महाधनुर्धर भीष्म हमलोगोंके रक्षक हैं ।। ५ ।।

स भवान् सर्वसैन्येन परिवार्य पितामहम् ।
समरे कर्म कुर्वाणं दुष्करं परिरक्षतु ।। ६ ।।

'अतः तुम सम्पूर्ण सेनाके साथ समरभूमिमें दुष्कर कर्म करनेवाले पितामह भीष्मको चारों ओरसे घेरकर उनकी रक्षा करो' ।। ६ ।।

स एवमुक्तः समरे पुत्रो दुःशासनस्तव ।

परिवार्य स्थितो भीष्मं सैन्येन महता वृतः ।। ७ ।।

(पालयामास महता यत्नेन च सुसंयतः ।)

दुर्योधनके ऐसा कहनेपर आपका पुत्र दुःशासन समरभूमिमें अपनी विशाल सेनाके साथ जा भीष्मको सब ओरसे घेरकर खड़ा हो गया और बड़े यत्नसे सावधान रहकर उनकी रक्षा करने लगा ।। ७ ।।

ततः शतसहस्राणां हयानां सुबलात्मजः ।

विमलप्रासहस्तानामृष्टितोमरधारिणाम् ।। ८ ।।

दर्पितानां सुवेशानां बलस्थानां पताकिनाम् ।

शिक्षितैर्युद्धकुशलैरुपेतानां नरोत्तमैः ।। ९ ।।

तदनन्तर सुबलपुत्र शकुनि एक लाख घुड़सवारोंकी सेनाके साथ युद्धके लिये आ पहुँचा। वे सभी सैनिक अपने हाथोंमें चमकते हुए प्रास, ऋष्टि और तोमर लिये हुए थे। सबको अपने शौर्यका अभिमान था। सभी बलवान्, सुन्दर वेशभूषासे सुसज्जित और ध्वजा-पताकासे सुशोभित थे। अस्त्र-विद्याकी शिक्षा पाये हुए युद्धकुशल श्रेष्ठ पैदल सिपाहियोंकी भी बहुत बड़ी संख्या उन घुड़सवारोंके साथ थी ।। ८-९ ।।

(एवं बहुसहस्रैश्च योधानां युद्धशालिनाम् ।

संवृतः शकुनिस्तस्थौ युद्धायैव सुदंशितः ।।)

इस प्रकार युद्धभूमिमें शोभा पानेवाले कई हजार योद्धाओंसे घिरा हुआ शकुनि कवच धारण करके युद्धके लिये ही वहाँ खड़ा हो गया।

नकुलं सहदेवं च धर्मराजं च पाण्डवम् ।

न्यवारयन्नरश्रेष्ठान् परिवार्य समन्ततः ।। १० ।।

राजन्! शकुनि नकुल, सहदेव तथा धर्मराज युधिष्ठिर—इन तीनों श्रेष्ठ पुरुषोंको सब ओरसे घेरकर इन्हें आगे बढ़नेसे रोकने लगा ।। १० ।।

ततो दुर्योधनो राजा शूराणां हयसादिनाम् ।

अयुतं प्रेषयामास पाण्डवानां निवारणे ।। ११ ।।

तदनन्तर राजा दुर्योधनने पाण्डवोंकी प्रगतिको रोकने-के लिये दस हजार घुड़सवार सैनिक और भेजे ।। ११ ।।

तैः प्रविष्टैर्महावेगैर्गरुत्मद्भिरिवाहवे ।

(शुशुभे स महातेजाः शकुनिः सुबलात्मजः ।

तैरश्वैः सुमहावेगैर्मरुद्भिरिव वासवः ।।)

गरुड़के समान अत्यन्त वेगशाली वे अश्व रणभूमिमें यथास्थान पहुँच गये। जैसे मरुद्‌गणोंसे महातेजस्वी इन्द्रकी शोभा होती है, उसी प्रकार उन अत्यन्त वेगशाली अश्वोंके द्वारा अत्यन्त तेजस्वी सुबलपुत्र शकुनि सुशोभित होने लगा ।। ११ १/२ ।।

खुराहता धरा राजंश्चकम्पे च ननाद च ।। १२ ।।

राजन्! उन घोड़ोंकी टापसे आहत होकर यह पृथ्वी काँपने और भयंकर शब्द करने लगी ।। १२ ।।

खुरशब्दश्च सुमहान् वाजिनां शुश्रुवे तदा ।
महावंशवनस्येव दह्यमानस्य पर्वते ।। १३ ।।

उस समय घोड़ोंकी टापोंका महान् शब्द सब ओर उसी प्रकार सुनायी देने लगा, मानो पर्वतपर जलते हुए बड़े-बड़े बाँसोंके जंगलमें उनके पोरोंके फटनेका शब्द हो रहा हो ।। १३ ।।

उत्पतद्भिश्च तैस्तत्र समुद्भूतं महद् रजः ।
दिवाकररथं प्राप्य छादयामास भास्करम् ।। १४ ।।

वहाँ घोड़ोंके उछलने-कूदनेसे जो बड़े जोरकी धूलि ऊपरको उठी, उसने मानो सूर्यके रथके समीप पहुँचकर उन्हें आच्छादित कर दिया ।। १४ ।।

वेगवद्भिर्हयैस्तैस्तु क्षोभिता पाण्डवी चमूः ।
निपतद्भिर्महावेगैर्हंसैरिव महत् सरः ।। १५ ।।

उन वेगशाली अश्वोंने पाण्डवसेनाको उसी प्रकार क्षुब्ध कर दिया, जैसे महान् वेगसे उड़नेवाले हंस किसी विशाल जलाशयमें पड़कर उसे मथ डालते हैं ।। १५ ।।

(तुरगैर्वायुवेगैश्च तत् सैन्यं व्याकुलीकृतम् ।)
ह्रेषतां चैव शब्देन न प्राज्ञायत किञ्चन ।

वायुके समान वेगवाले उन अश्वोंने पाण्डव-सेनाको व्याकुल कर दिया। उनके हिनहिनानेकी आवाजसे दबकर दूसरा कोई शब्द नहीं सुनायी पड़ता था ।। १५ १/२ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।। १६ ।।
प्रत्यघ्नंस्तरसा वेगं समरे हयसादिनाम् ।
उद्वृत्तस्य महाराज प्रावृट्कालेऽतिपूर्यतः ।। १७ ।।
पौर्णमास्यामम्बुवेगं यथा वेला महोदधेः ।

महाराज! तब राजा युधिष्ठिर तथा पाण्डुपुत्र माद्रीनन्दन नकुल-सहदेवने समरभूमिमें उन घुड़सवारोंका वेग नष्ट कर दिया। ठीक उसी तरह, जैसे वर्षा-ऋतुमें अधिक जलसे परिपूर्ण होकर मर्यादा तोड़नेवाले समुद्रके पूर्णिमा तिथिमें बढ़े हुए वेगको तटकी भूमि रोक देती है ।। १६-१७ १/२ ।।

ततस्ते रथिनो राजञ्छरैः संनतपर्वभिः ।। १८ ।।
न्यकृन्तन्नुत्तमाङ्गानि कायेभ्यो हयसादिनाम् ।

राजन्! तत्पश्चात् वे रथी झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा घुड़सवारोंके मस्तक काटने लगे ।। १८ १/२ ।।

ते निपेतुर्महाराज निहता दृढधन्विभिः ।। १९ ।।
नागैरिव महानागा यथावद् गिरिगह्वरे ।

महाराज! उन सुदृढ़ धनुर्धरोंद्वारा मारे गये वे घुड़सवार रणभूमिमें उसी प्रकार गिरते थे, जैसे पर्वतोंकी कन्दरामें बड़े-बड़े हाथी हाथियोंसे ही मारे जाकर गिरते हैं ।। १९ १/२ ।।

तेऽपि प्रासैः सुनिशितैः शरैः संनतपर्वभिः ।। २० ।।

न्यकृन्तन्नुत्तमाङ्गानि विचरन्तो दिशो दश ।

वे घुड़सवार भी दसों दिशाओंमें विचरते हुए झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणों तथा प्रासोंद्वारा शत्रु-पक्षके सैनिकोंके मस्तक काट गिराते थे ।। २० १/२ ।।

अभ्याहता हयारोहा ऋष्टिभिर्भरतर्षभ ।। २१ ।।

अत्यजन्नुत्तमाङ्गानि फलानीव महाद्रुमाः ।

भरतश्रेष्ठ! ऋष्टियोंद्वारा मारे गये घुड़सवार अपने मस्तकोंको उसी प्रकार गिराते थे, जैसे बड़े-बड़े वृक्ष अपने पके हुए फलोंको गिराते हैं ।। २१ १/२ ।।

ससादिनो हया राजंस्तत्र तत्र निषूदिताः ।। २२ ।।

पतिताः पात्यमानाश्च प्रत्यदृश्यन्त सर्वशः ।

राजन्! सवारोंसहित वहाँ मारे गये बहुत-से घोड़े सब ओर गिरे और गिराये जाते हुए दिखायी देते थे ।।

वध्यमाना हयाश्चैव प्राद्रवन्त भयार्दिताः ।। २३ ।।

यथा सिंहं समासाद्य मृगाः प्राणपरायणाः ।

जैसे सिंहका सामना पड़ जानेपर मृग भयभीत हो अपने प्राण बचानेके लिये भागते हैं, उसी प्रकार मारे जाते हुए घोड़े भयसे व्याकुल हो इधर-उधर भाग रहे थे ।। २३ १/२ ।।

पाण्डवाश्च महाराज जित्वा शत्रून् महामृधे ।। २४ ।।

दध्मुः शङ्खांश्च भेरीश्च ताडयामासुराहवे ।

महाराज! पाण्डव उस महासमरमें शत्रुओंको जीतकर शंख फूँकने और नगाड़े पीटने लगे ।। २४ १/२ ।।

ततो दुर्योधनो दीनो दृष्ट्वा सैन्यं पराजितम् ।। २५ ।।

अब्रवीद् भरतश्रेष्ठ मद्रराजमिदं वचः ।

भरतश्रेष्ठ! तब अपनी सेनाको पराजित देख दुर्योधनने दीन होकर मद्रराज शल्यसे इस प्रकार कहा— ।। २५ १/२ ।।

एष पाण्डुसुतो ज्येष्ठो यमाभ्यां सहितो रणे ।। २६ ।।

पश्यतां वो महाबाहो सेनां द्रावयति प्रभो ।

तं वारय महाबाहो वेलेव मकरालयम् ।। २७ ।।

त्वं हि संश्रूयसेऽत्यर्थमसह्यबलविक्रमः ।

'महाबाहो! ये ज्येष्ठ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर नकुल और सहदेवको साथ लेकर रणभूमिमें आपलोगोंके देखते-देखते मेरी सेनाको खदेड़ रहे हैं। प्रभो! महाबाहो! जैसे तटप्रान्त समुद्रको आगे बढ़नेसे रोकता है, उसी प्रकार आप भी युधिष्ठिरको आगे बढ़नेसे रोकिये; क्योंकि आपका बल और पराक्रम अत्यन्त असह्य सुना जाता है' ।। २६-२७½ ।।

पुत्रस्य तव तद् वाक्यं श्रुत्वा शल्यः प्रतापवान् ।। २८ ।।

स ययौ रथवंशेन यत्र राजा युधिष्ठिरः ।

राजन्! आपके पुत्रकी यह बात सुनकर प्रतापी राजा शल्य रथसमूहके साथ उसी स्थानपर गये, जहाँ राजा युधिष्ठिर विद्यमान थे ।। २८½ ।।

तदापतद् वै सहसा शल्यस्य सुमहद् बलम् ।। २९ ।।

महौघवेगं समरे वारयामास पाण्डवः ।

मद्रराजं च समरे धर्मराजो महारथः ।। ३० ।।

उस समय सहसा अपनी ओर आती हुई राजा शल्यकी उस विशाल वाहिनी तथा स्वयं मद्रराजको भी पाण्डुपुत्र महारथी धर्मराज युधिष्ठिरने महान् जल-प्रवाहके समान समरभूमिमें रोक दिया ।। २९-३० ।।

दशभिः सायकैस्तूर्णमाजघान स्तनान्तरे ।

नकुलः सहदेवश्च तं सप्तभिरजिह्मगैः ।। ३१ ।।

उन्होंने शल्यकी छातीमें तुरंत ही दस बाण मारे तथा नकुल और सहदेवने भी सीधे जानेवाले सात बाणोंद्वारा उन्हें घायल कर दिया ।। ३१ ।।

मद्रराजोऽपि तान् सर्वानाजघान त्रिभिस्त्रिभिः ।

युधिष्ठिरं पुनः षष्ट्या विव्याध निशितैः शरैः ।। ३२ ।।

तब मद्रराज शल्यने भी उनको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया। फिर युधिष्ठिरको उन्होंने साठ तीखे बाण मारे ।। ३२ ।।

माद्रीपुत्रौ च सम्भ्रान्तौ द्वाभ्यां द्वाभ्यामताडयत् ।

(पुनः स बहुभिर्बाणैराजघान युधिष्ठिरम् ।)

इसके बाद दो-दो बाणोंसे उन्होंने उत्तम कुलमें उत्पन्न माद्रीकुमारोंको घायल किया तथा अनेक बाणोंद्वारा राजा युधिष्ठिरको भी पुनः चोट पहुँचायी ।। ३२½ ।।

ततो भीमो महाबाहुर्दृष्ट्वा राजानमाहवे ।। ३३ ।।

मद्रराजरथं प्राप्तं मृत्योरास्यगतं यथा ।

अभ्यपद्यत संग्रामे युधिष्ठिरममित्रजित् ।। ३४ ।।

तब शत्रुविजयी महाबाहु भीमसेन समरभूमिमें राजा युधिष्ठिरको मृत्युके मुखमें पड़े हुएके समान मद्रराजके रथके समीप पहुँचा हुआ देखकर युद्धके लिये वहाँ आ पहुँचे ।। ३३-३४ ।।

(आपतन्नेव भीमस्तु मद्रराजमताडयत् ।

सर्वपारशवैस्तीक्ष्णैर्नाराचैर्मर्मभेदिभिः ।।
ततो भीष्मश्च द्रोणश्च सैन्येन महता वृतौ ।
राजानमभ्यपद्येतामञ्जसा शरवर्षिणौ ।।)

भीमसेनने आते ही पूर्णतः लोहेके बने हुए और मर्मस्थानोंको विदीर्ण करनेमें समर्थ तीखे नाराचोंसे मद्रराज शल्यको गहरी चोट पहुँचायी। तब भीष्म और द्रोणाचार्य दोनों महारथी विशाल सेनाके साथ अनायास ही बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ राजा शल्यकी रक्षाके लिये आ पहुँचे।

ततो युद्धं महाघोरं प्रावर्तत सुदारुणम् ।
अपरां दिशमास्थाय पतमाने दिवाकरे ।। ३५ ।।

तदनन्तर जब सूर्यदेव पश्चिम दिशाका आश्रय लेकर अस्ताचलको जा रहे थे, उसी समय दोनों सेनाओंमें अत्यन्त दारुण महाघोर युद्ध आरम्भ हुआ ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०५ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ १/२ श्लोक मिलाकर कुल ४० १/२ श्लोक हैं।]

षडधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा पराजित पाण्डवसेनाका पलायन और भीष्मको मारनेके लिये उद्यत हुए श्रीकृष्णको अर्जुनका रोकना

संजय उवाच

ततः पिता तव क्रुद्धो निशितैः सायकोत्तमैः ।

आजघान रणे पार्थान् सहसेनान् समन्ततः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! तब आपके ताऊ देवव्रत कुपित हो रणभूमिमें अपने तीखे एवं श्रेष्ठ सायकोंद्वारा सेनासहित कुन्तीकुमारोंको सब ओरसे घायल करने लगे ।। १ ।।

भीमं द्वादशभिर्विद्ध्वा सात्यकिं नवभिः शरैः ।

नकुलं च त्रिभिर्विद्ध्वा सहदेवं च सप्तभिः ।। २ ।।

युधिष्ठिरं द्वादशभिर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।

उन्होंने भीमसेनको बारह, सात्यकिको नौ, नकुलको तीन और सहदेवको सात बाणोंसे घायल करके राजा युधिष्ठिरकी दोनों भुजाओं और छातीमें बारह बाण मारे ।। २ १/२ ।।

धृष्टद्युम्नं ततो विद्ध्वा ननाद सुमहाबलः ।। ३ ।।

तं द्वादशाख्यैर्नकुलो माधवश्च त्रिभिः शरैः ।

धृष्टद्युम्नश्च सप्तत्या भीमसेनश्च सप्तभिः ।। ४ ।।

युधिष्ठिरो द्वादशभिः प्रत्यविध्यत् पितामहम् ।

तदनन्तर धृष्टद्युम्नको भी अपने बाणोंद्वारा बींधकर महाबली भीष्मने सिंहके समान गर्जना की। तब नकुलने बारह, सात्यकिने तीन, धृष्टद्युम्नने सत्तर, भीमसेनने सात तथा युधिष्ठिरने बारह बाण मारकर पितामह भीष्मको घायल कर दिया ।। ३-४ १/२ ।।

द्रोणस्तु सात्यकिं विद्ध्वा भीमसेनमविध्यत ।। ५ ।।

एकैकं पञ्चभिर्बाणैर्यमदण्डोपमैः शितैः ।

द्रोणाचार्यने यमदण्डके समान भयंकर एवं तीखे पाँच-पाँच बाणोंद्वारा सात्यकि और भीमसेनमेंसे प्रत्येकको घायल किया। पहले सात्यकिको चोट पहुँचाकर फिर भीमसेनपर गहरा आघात किया ।। ५ १/२ ।।

तौ च तं प्रत्यविध्येतां त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः ।। ६ ।।

तोत्रैरिव महानागं द्रोणं ब्राह्मणपुङ्गवम् ।

तब उन दोनोंने भी अंकुशोंसे महान् गजराजके समान सीधे जानेवाले तीन-तीन बाणोंद्वारा ब्राह्मणप्रवर द्रोणाचार्यको घायल करके तुरंत बदला चुकाया ।। ६ १/२ ।।

सौवीराः कितवाः प्राच्याः प्रतीच्योदीच्यमालवाः ।। ७ ।।
अभीषाहाः शूरसेनाः शिवयोऽथ वसातयः ।
संग्रामे नाजहुर्भीष्मं वध्यमानाः शितैः शरैः ।। ८ ।।

सौवीर, कितव, प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य, मालव, अभीषाह, शूरसेन, शिबि और वसाति देशके योद्धा शत्रुओंके तीखे बाणोंसे पीड़ित होनेपर भी संग्रामभूमिमें भीष्मको छोड़कर नहीं भागे ।। ७-८ ।।

तथैवान्ये महीपाला नानादेशसमागताः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त विविधायुधपाणयः ।। ९ ।।

इसी प्रकार विभिन्न देशोंसे आये हुए अन्य भूपाल भी हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये पाण्डवोंपर आक्रमण करने लगे ।। ९ ।।

तथैव पाण्डवा राजन् परिवव्रुः पितामहम् ।
स समन्तात् परिवृतो रथौघैरपराजितः ।। १० ।।
गहनेऽग्निरिवोत्सृष्टः प्रजज्वाल दहन् परान् ।

राजन्! पाण्डवोंने भी पितामह भीष्मको घेर लिया। चारों ओरसे रथसमूहोंद्वारा घिरे हुए अपराजित वीर भीष्म गहन वनमें लगायी हुई आगके समान शत्रुओंको दग्ध करते हुए प्रज्वलित हो उठे ।। १० १/२ ।।

रथाग्न्यगारश्चापार्चिरसिशक्तिगदेन्धनः ।। ११ ।।
शरस्फुलिङ्गो भीष्माग्निर्ददाह क्षत्रियर्षभान् ।

रथ ही उनके लिये अग्निशालाके समान था, धनुष ज्वालाओंके समान प्रकाशित होता था, खड्ग, शक्ति और गदा आदि अस्त्र-शस्त्र समिधाका काम कर रहे थे। बाण चिनगारियोंके समान थे। इस प्रकार भीष्मरूपी अग्नि वहाँ क्षत्रियशिरोमणियोंको दग्ध करने लगी ।। ११ १/२ ।।

सुवर्णपुङ्खैरिषुभिर्गार्ध्रपक्षैः सुतेजनैः ।। १२ ।।
कर्णिनालीकनाराचैश्छादयामास तद् बलम् ।
अपातयद् ध्वजांश्चैव रथिनश्च शितैः शरैः ।। १३ ।।

उन्होंने स्वर्णभूषित गृध्रपंखयुक्त तेज बाणों तथा कर्णी, नालीक और नाराचोंद्वारा पाण्डवोंकी सेनाको आच्छादित कर दिया। तीखे बाणोंसे ध्वजोंको काट डाला और रथियोंको भी मार गिराया ।। १२-१३ ।।

मुण्डतालवनानीव चकार स रथव्रजान् ।
निर्मनुष्यान् रथान् राजन् गजानश्वांश्च संयुगे ।। १४ ।।
अकरोत् स महाबाहुः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।

ध्वजाएँ काटकर उन्होंने रथसमूहोंको मुण्डित ताल-वनोंके समान कर दिया। राजन्! युद्धस्थलमें समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु भीष्मने बहुत-से रथों, हाथियों और घोड़ोंको मनुष्योंसे रहित कर दिया ।। १४ $\frac{1}{2}$ ।।

तस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।। १५ ।।
निशम्य सर्वभूतानि समकम्पन्त भारत ।
अमोघा ह्यपतन् बाणाः पितुस्ते भरतर्षभ ।। १६ ।।

उनके धनुषकी प्रत्यंचाकी टंकारध्वनि वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी। भारत! उसे सुनकर समस्त प्राणी काँप उठते थे। भरतश्रेष्ठ! आपके ताऊ भीष्मके बाण कभी खाली नहीं जाते थे ।। १५-१६ ।।

नासज्जन्त तनुत्रेषु भीष्मचापच्युताः शराः ।
हतवीरान् रथात् राजन् संयुक्ताञ्जवनैर्हयैः ।। १७ ।।
अपश्याम महाराज ह्रियमाणान् रणाजिरे ।

राजन्! भीष्मके धनुषसे छूटे हुए बाण कवचोंमें नहीं अटकते थे (उन्हें छिन्न-भिन्न करके भीतर घुस जाते थे)। महाराज! हमने समरांगणमें ऐसे बहुत-से रथ देखे, जिनके रथी और सारथि तो मार दिये गये थे; परंतु वेगशाली घोड़ोंसे जुते हुए होनेके कारण वे इधर-उधर खींचकर ले जाये जा रहे थे ।। १७ $\frac{1}{2}$ ।।

चेदिकाशिकरूषाणां सहस्राणि चतुर्दश ।। १८ ।।
महारथाः समाख्याताः कुलपुत्रास्तनुत्यजः ।
अपरावर्तिनः सर्वे सुवर्णविकृतध्वजाः ।। १९ ।।
संग्रामे भीष्ममासाद्य व्यादितास्यमिवान्तकम् ।
निमग्नाः परलोकाय सवाजिरथकुञ्जराः ।। २० ।।

चेदि, काशि और करूष देशके चौदह हजार विख्यात महारथी थे। वे उच्चकुलमें उत्पन्न होकर पाण्डवोंके लिये अपना शरीर निछावर कर चुके थे। उनमेंसे कोई भी युद्धमें पीठ दिखानेवाला नहीं था। उन सबकी ध्वजाएँ सोनेकी बनी हुई थीं। मुँह बाये हुए कालके समान भीष्मजीके सामने पहुँचकर वे सब-के-सब महारथी युद्धरूपी समुद्रमें डूब गये। भीष्मजीने घोड़े, रथ और हाथियोंसहित उन सबको परलोकका पथिक बना दिया ।। १८—२० ।।

भग्नाक्षोपस्करान् कांश्चिद् भग्नचक्रांश्च भारत ।
अपश्याम महाराज शतशोऽथ सहस्रशः ।। २१ ।।

भरतनन्दन! महाराज! हमने वहाँ सैकड़ों और हजारों ऐसे रथ देखे, जिनके धुरे आदि सामान टूट गये थे और पहियोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे ।। २१ ।।

सवरूथै रथैर्भग्नै रथिभिश्च निपातितैः ।
शरैः सुकवचैश्छिन्नैः पट्टिशैश्च विशाम्पते ।। २२ ।।

गदाभिर्भिन्दिपालैश्च निशितैश्च शिलीमुखैः ।
अनुकर्षैरुपासङ्गैश्चक्रैर्भग्नैश्च मारिष ।। २३ ।।
बाहुभिः कार्मुकैः खड्गैः शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
तलत्रैरङ्गुलित्रैश्च ध्वजैश्च विनिपातितैः ।। २४ ।।
चापैश्च बहुधा च्छिन्नैः समास्तीर्यत मेदिनी ।

माननीय प्रजानाथ! वरूथोंसहित टूटे हुए रथ, मारे गये रथी, कटे हुए बाण, कवच, पट्टिश, गदा, भिन्दिपाल, तीखे सायक, छिन्न-भिन्न हुए अनुकर्ष, उपासंग, पहिये, कटी हुई बाँह, धनुष, खड्ग, कुण्डलोंसहित मस्तक, तलत्राण, अंगुलित्राण, गिराये गये ध्वज और अनेक टुकड़ोंमें कटकर गिरे हुए चाप—इन सबके द्वारा वहाँकी पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी ।। २२—२४½ ।।

हतारोहा गजा राजन् हयाश्च हतसादिनः ।। २५ ।।
न्यपतन्त गतप्राणाः शतशोऽथ सहस्रशः ।

राजन्! जिनके सवार मार दिये गये थे, ऐसे हाथी और घोड़े सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें निष्प्राण होकर पड़े थे ।। २५½ ।।

यतमानाश्च ते वीरा द्रवमाणान् महारथान् ।। २६ ।।
नाशक्नुवन् वारयितुं भीष्मबाणप्रपीडितान् ।

पाण्डव वीर बहुत प्रयत्न करनेपर भी भीष्मके बाणोंसे पीड़ित होकर भागते हुए अपने महारथियोंको रोक नहीं पा रहे थे ।। २६½ ।।

महेन्द्रसमवीर्येण वध्यमाना महाचमूः ।। २७ ।।
अभज्यत महाराज न च द्वौ सह धावतः ।

महाराज! महेन्द्रके समान पराक्रमी भीष्मजीके द्वारा मारी जाती हुई उस विशाल सेनामें भगदड़ मच गयी थी। दो आदमी भी एक साथ नहीं भागते थे ।। २७½ ।।

आविद्धरथनागाश्वं पतितध्वजसंकुलम् ।। २८ ।।
अनीकं पाण्डुपुत्राणां हाहाभूतमचेतनम् ।

पाण्डवोंकी सेना अचेत-सी होकर हाहाकार कर रही थी। उसके रथ, हाथी और घोड़े बाणोंसे क्षत-विक्षत हो रहे थे। ध्वजाएँ कटकर धराशायी हो गयी थीं ।। २८½ ।।

जघानात्र पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा ।। २९ ।।
प्रियं सखायं चाक्रन्दे सखा दैवबलात् कृतः ।

उस भीषण मार-काटमें दैवसे प्रेरित होकर पिताने पुत्रको, पुत्रने पिताको और मित्रने प्यारे मित्रको मार डाला ।। २९½ ।।

विमुच्य कवचानन्ये पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः ।। ३० ।।
प्रकीर्य केशान् धावन्तः प्रत्यदृश्यन्त सर्वशः ।

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके दूसरे सैनिक कवच उतारकर केश बिखेरे हुए सब ओर भागते दिखायी देते थे ।। ३०½ ।।

तद् गोकुलमिवोद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तरथकूबरम् ।। ३१ ।।
ददृशे पाण्डुपुत्रस्य सैन्यमार्तस्वरं तदा ।

उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सारी सेना (सिंहसे डरी हुई) गौओंके समुदायकी भाँति घबराहटमें पड़ गयी थी। रथके कूबर उलट-पलट हो गये थे और समस्त सैनिक आर्तनाद कर रहे थे ।। ३१½ ।।

प्रभज्यमानं सैन्यं तु दृष्ट्वा यादवनन्दनः ।। ३२ ।।
उवाच पार्थं बीभत्सुं निगृह्य रथमुत्तमम् ।

उस सेनामें भगदड़ पड़ी देख यादवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अपने उत्तम रथको रोककर कुन्तीकुमार अर्जुनसे कहा— ।। ३२½ ।।

अयं स कालः सम्प्राप्तः पार्थ यः काङ्क्षितस्तव ।। ३३ ।।
प्रहरास्मिन् नरव्याघ्र न चेन्मोहाद् विमुह्यसे ।

'पार्थ! तुम्हें जिस अवसरकी अभिलाषा और प्रतीक्षा थी, वह आ पहुँचा। पुरुषसिंह! यदि तुम मोहसे मोहित नहीं हो रहे हो तो इन भीष्मपर प्रहार करो ।। ३३½ ।।

यत् पुरा कथितं वीर राज्ञां तेषां समागमे ।। ३४ ।।
विराटनगरे तात संजयस्य समीपतः ।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वान् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान् ।। ३५ ।।
सानुबन्धान् हनिष्यामि ये मां योत्स्यन्ति संगरे ।
इति तत् कुरु कौन्तेय सत्यं वाक्यमरिंदम ।। ३६ ।।
क्षत्रधर्ममनुस्मृत्य युध्यस्व विगतज्वरः ।

'वीर! तात! पूर्वकालमें विराटनगरके भीतर जब सम्पूर्ण राजा एकत्र हुए थे, उनके सामने और संजयके समीप जो तुमने यह कहा था कि 'मैं युद्धमें, जो मेरा सामना करने आयेंगे, दुर्योधनके उन भीष्म, द्रोण आदि सम्पूर्ण सैनिकोंको सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूँगा।' शत्रुदमन कुन्तीनन्दन! अपने उस कथनको सत्य कर दिखाओ। तुम क्षत्रियधर्मका स्मरण करके सारी चिन्ताएँ छोड़कर युद्ध करो' ।। ३४—३६½ ।।

इत्युक्तो वासुदेवेन तिर्यग्दृष्टिरधोमुखः ।। ३७ ।।
अकाम इव बीभत्सुरिदं वचनमब्रवीत् ।

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने मुँह नीचे किये तिरछी दृष्टिसे देखते हुए अनिच्छुककी भाँति उनसे इस प्रकार कहा— ।। ३७½ ।।

अवध्यानां वधं कृत्वा राज्यं वा नरकोत्तरम् ।। ३८ ।।
दुःखानि वनवासे वा किं नु मे सुकृतं भवेत् ।

'प्रभो! अवध्य महापुरुषोंका वध करके नरकसे भी बढ़कर निन्दनीय राज्य प्राप्त करूँ अथवा वनवासमें रहकर कष्ट भोगूँ—इन दोनोंमें कौन मेरे लिये पुण्य-दायक होगा? ।। ३८ १/२ ।।

चोदयाश्वान् यतो भीष्मः करिष्ये वचनं तव ।। ३९ ।।
पातयिष्यामि दुर्धर्षं भीष्मं कुरुपितामहम् ।

'अच्छा, जहाँ भीष्म हैं, उसी ओर घोड़ोंको बढ़ाइये। आज मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। कुरुकुलके वृद्ध पितामह दुर्धर्ष वीर भीष्मको मार गिराऊँगा' ।। ३९ १/२ ।।

स चाश्वान् रजतप्रख्यांश्चोदयामास माधवः ।। ४० ।।
यतो भीष्मस्ततो राजन् दुष्प्रेक्ष्यो रश्मिवानिव ।

राजन्! तब भगवान् श्रीकृष्णने चाँदीके समान श्वेत वर्णवाले घोड़ोंको उसी ओर हाँका, जहाँ अंशुमाली सूर्यके समान दुर्निरीक्ष्य भीष्म युद्ध कर रहे थे ।। ४० १/२ ।।

ततस्तत् पुनरावृत्तं युधिष्ठिरबलं महत् ।। ४१ ।।
दृष्ट्वा पार्थं महाबाहुं भीष्मायोद्यतमाहवे ।

महाबाहु कुन्तीकुमार अर्जुनको भीष्मके साथ युद्ध करनेके लिये उद्यत देख युधिष्ठिरकी वह भागती हुई विशाल सेना पुनः लौट आयी ।। ४१ १/२ ।।

ततो भीष्मः कुरुश्रेष्ठः सिंहवद् विनदन् मुहुः ।। ४२ ।।
धनंजयरथं शीघ्रं शरवर्षैरवाकिरत् ।

तब बारंबार सिंहनाद करते हुए कुरुश्रेष्ठ भीष्मने धनंजयके रथपर शीघ्र ही बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। ४२ १/२ ।।

क्षणेन स रथस्तस्य सहयः सहसारथिः ।। ४३ ।।
शरवर्षेण महता न प्राज्ञायत भारत ।

भारत! एक ही क्षणमें बाणोंकी उस भारी वर्षाके कारण सारथि और घोड़ोंसहित उनका वह रथ ऐसा अदृश्य हो गया कि उसका कुछ पता ही नहीं चलता था ।। ४३ १/२ ।।

वासुदेवस्त्वसम्भ्रान्तो धैर्यमास्थाय सत्वरः ।। ४४ ।।
चोदयामास तानश्वान् विनुन्नान् भीष्मसायकैः ।

भगवान् श्रीकृष्ण बिना किसी घबराहटके धैर्य धारणकर भीष्मके सायकोंसे क्षत-विक्षत हुए उन घोड़ोंको शीघ्रतापूर्वक हाँक रहे थे ।। ४४ १/२ ।।

ततः पार्थो धनुर्गृह्य दिव्यं जलदनिःस्वनम् ।। ४५ ।।
पातयामास भीष्मस्य धनुश्छित्त्वा शितैः शरैः ।

तब कुन्तीकुमारने मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले अपने दिव्य धनुषको हाथमें लेकर तीखे बाणोंद्वारा भीष्मके धनुषको काट गिराया ।। ४५ १/२ ।।

स च्छिन्नधन्वा कौरव्यः पुनरन्यन्महद् धनुः ।। ४६ ।।
निमेषान्तरमात्रेण सज्यं चक्रे पिता तव ।

धनुष कट जानेपर आपके ताऊ कुरुकुलरत्न भीष्मने पुनः दूसरा धनुष हाथमें ले पलक मारते-मारते उसके ऊपर प्रत्यंचा चढ़ा दी ।। ४६½ ।।

चकर्ष च ततो दोर्भ्यां धनुर्जलदनिःस्वनम् ।। ४७ ।।

अथास्य तदपि क्रुद्धश्चिच्छेद धनुरर्जुनः ।

तदनन्तर मेघोंके समान गम्भीर नाद करनेवाले उस धनुषको उन्होंने दोनों हाथोंसे खींचा। इतनेहीमें कुपित हुए अर्जुनने उनके उस धनुषको भी काट दिया ।। ४७½ ।।

तस्य तत् पूजयामास लाघवं शान्तनोः सुतः ।। ४८ ।।

गाङ्गेयस्त्वब्रवीत् पार्थं धन्विश्रेष्ठमरिंदम ।

शत्रुदमन नरेश! उस समय शान्तनुकुमार गंगानन्दन भीष्मने धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र अर्जुनकी उस फुर्तीके लिये उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और इस प्रकार कहा— ।। ४८½ ।।

साधु साधु महाबाहो साधु कुन्तीसुतेति च ।। ४९ ।।

समाभाष्यैवमपरं प्रगृह्य रुचिरं धनुः ।

मुमोच समरे भीष्मः शरान् पार्थरथं प्रति ।। ५० ।।

'महाबाहो! कुन्तीकुमार! बहुत अच्छा, बहुत अच्छा, तुम्हें साधुवाद।' ऐसा कहकर भीष्मने पुनः दूसरा सुन्दर धनुष लेकर समरांगणमें अर्जुनके रथकी ओर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। ४९-५० ।।

अदर्शयद् वासुदेवो हययाने परं बलम् ।

मोघान् कुर्वञ्शरांस्तस्य मण्डलानि निदर्शयन् ।। ५१ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने घोड़ोंके हाँकनेकी कलामें अपनी अद्भुत शक्ति दिखायी। वे भाँति-भाँतिके पैंतरे दिखाते हुए भीष्मके बाणोंको व्यर्थ करते जा रहे थे ।। ५१ ।।

(सारथ्यं निपुणं कुर्वन् प्रत्यदृश्यत संयुगे ।

भीष्मस्तावत् सुसंक्रुद्धः पुनर्बाणान् मुमोच ह ।।

पार्थाय युधि राजेन्द्र तदद्भुतमिवाभवत् ।

अर्जुनस्तु सुसंक्रुद्धः पितामहमरिंदमः ।

अवर्षद् बाणवर्षेण योद्धुं ह्यभिमुखे स्थितम् ।।

तावुभौ युधि दुर्धर्षौ युयुधाते परस्परम् ।)

युद्धस्थलमें भगवान् श्रीकृष्ण कुशलतापूर्वक सारथ्य-कर्म करते दिखायी दिये। राजेन्द्र! भीष्म अत्यन्त क्रोधमें भरकर युद्धमें पार्थके ऊपर बारंबार बाणोंकी वर्षा करते रहे। वह अद्भुत-सी बात थी। फिर शत्रुदमन अर्जुनने भी क्रोधमें भरकर युद्धके लिये अपने सामने खड़े हुए भीष्मपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी। वे दोनों रण-दुर्जय वीर एक-दूसरेसे युद्ध कर रहे थे।

शुशुभाते नरव्याघ्रौ तौ भीष्मशरविक्षतौ ।

गोवृषाविव संरब्धौ विषाणोल्लिखिताङ्कितौ ।। ५२ ।।

उस समय पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही भीष्मके बाणोंसे क्षत-विक्षत हो सींगोंके आघातसे घायल हुए दो रोषभरे साँड़ोंके समान सुशोभित हो रहे थे ।। ५२ ।।

(भीष्मोऽतीव सुसंक्रुद्धः पृषत्कैरर्जुनं बलात् ।
जघान समरे मुर्ध्नि सिंहवद् विनदन् मुहुः ।।)

तत्पश्चात् भीष्मने भी रणक्षेत्रमें अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपने बाणोंद्वारा बलपूर्वक अर्जुनके मस्तकपर आघात किया। उसके बाद वे बारंबार सिंहके समान गर्जना करने लगे।

वासुदेवस्तु सम्प्रेक्ष्य पार्थस्य मृदुयुद्धताम् ।
भीष्मं च शरवर्षाणि सृजन्तमनिशं युधि ।। ५३ ।।
प्रतपन्तमिवादित्यं मध्यमासाद्य सेनयोः ।
वरान् वरान् विनिघ्नन्तं पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान् ।। ५४ ।।
युगान्तमिव कुर्वाणं भीष्मं यौधिष्ठिरे बले ।

भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि अर्जुन मन लगाकर युद्ध नहीं कर रहे हैं। वे भीष्मके प्रति कोमलता दिखा रहे हैं और उधर भीष्म युद्धमें सेनाके मध्यभागमें खड़े हो निरन्तर बाणोंकी वर्षा करते हुए दोपहरके सूर्यके समान तप रहे हैं। पाण्डवसेनाके चुने हुए उत्तमोत्तम वीरोंको मार रहे हैं और युधिष्ठिरसेनामें प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित कर रहे हैं ।। ५३-५४½ ।।

नामृष्यत महाबाहुर्माधवः परवीरहा ।। ५५ ।।
उत्सृज्य रजतप्रख्यान् हयान् पार्थस्य मारिष ।
वासुदेवस्ततो योगी प्रचस्कन्द महारथात् ।। ५६ ।।
अभिदुद्राव भीष्मं स भुजप्रहरणो बली ।
प्रतोदपाणिस्तेजस्वी सिंहवद् विनदन् मुहुः ।। ५७ ।।

तब शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले महाबाहु माधवको यह सहन नहीं हुआ। आर्य! वे योगेश्वर भगवान् वासुदेव चाँदीके समान सफेद रंगवाले अर्जुनके घोड़ोंको छोड़कर उस विशाल रथसे कूद पड़े और केवल भुजाओंका ही आयुध लिये हाथोंमें चाबुक उठाये बारंबार सिंहनाद करते हुए बलवान् एवं तेजस्वी श्रीहरि भीष्मकी ओर बड़े वेगसे दौड़े ।। ५५—५७ ।।

दारयन्निव पद्भ्यां स जगतीं जगदीश्वरः ।
क्रोधताम्रेक्षणः कृष्णो जिघांसुरमितद्युतिः ।। ५८ ।।

सम्पूर्ण जगत्के स्वामी, अमित तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्ण क्रोधसे लाल आँखें करके भीष्मको मार डालनेकी इच्छा लेकर पैरोंकी धमकसे वसुधाको विदीर्ण-सी कर रहे थे ।। ५८ ।।

ग्रसन्तमिव चेतांसि तावकानां महाहवे ।

दृष्ट्वा माधवमाक्रन्दे भीष्मायोद्यतमन्तिके ।। ५९ ।।
हतो भीष्मो हतो भीष्मस्तत्र तत्र वचो महत् ।
अश्रूयत महाराज वासुदेवभयात् तदा ।। ६० ।।

भगवान् श्रीकृष्ण उस महायुद्धमें आपके पुत्रों और सैनिकोंकी चेतनाको मानो अपना ग्रास बनाये ले रहे थे। महाराज! उस मार-काटमें माधवको समीप आकर भीष्मके वधके लिये उद्यत हुआ देख उस समय उन वासुदेवके भयसे चारों ओर यह महान् कोलाहल सुनायी देने लगा कि 'भीष्म मारे गये, भीष्म मारे गये' ।। ५९-६० ।।

पीतकौशेयसंवीतो मणिश्यामो जनार्दनः ।
शुशुभे विद्रवन् भीष्मं विद्युन्माली यथाम्बुदः ।। ६१ ।।

रेशमी पीताम्बर धारण किये इन्द्रनीलमणिके समान श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण भीष्मकी ओर दौड़ते समय ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो विद्युन्मालासे अलंकृत श्याममेघ जा रहा हो ।। ६१ ।।

स सिंह इव मातङ्गं यूथर्षभ इवर्षभम् ।
अभिदुद्राव वेगेन विनदन् यादवर्षभः ।। ६२ ।।

यादवशिरोमणि बारंबार गर्जना करते हुए भीष्मके ऊपर उसी प्रकार वेगसे धावा कर रहे थे, जैसे सिंह गजराजपर और गोयूथका स्वामी साँड़ दूसरे साँड़पर आक्रमण करता है ।। ६२ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य पुण्डरीकाक्षमाहवे ।
असम्भ्रमं रणे भीष्मो विचकर्ष महद् धनुः ।। ६३ ।।

उस महासमरमें कमलनयन श्रीकृष्णको आते देख भीष्म उस रणक्षेत्रमें तनिक भी भयभीत न होकर अपने विशाल धनुषको खींचने लगे ।। ६३ ।।

उवाच चैव गोविन्दमसम्भ्रान्तेन चेतसा ।
एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते ।। ६४ ।।

साथ ही व्यग्रताशून्य मनसे भगवान् गोविन्दको सम्बोधित करके बोले—'आइये, आइये, कमलनयन! देवदेव! आपको नमस्कार है ।। ६४ ।।

मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे ।
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ ।। ६५ ।।
श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः ।

'सात्वतशिरोमणे! इस महासमरमें आज मुझे मार गिराइये। देव! निष्पाप श्रीकृष्ण! आपके द्वारा संग्राममें मारे जानेपर भी संसारमें सब ओर मेरा परम कल्याण ही होगा ।। ६५ १/२ ।।

सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे ।। ६६ ।।
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ ।

'गोविन्द! आज इस युद्धमें मैं तीनों लोकोंद्वारा सम्मानित हो गया। अनघ! मैं आपका दास हूँ। आप अपनी इच्छाके अनुसार मुझपर प्रहार कीजिये' ।। ६६ १/२ ।।

अन्वगेव ततः पार्थः समभिद्रुत्य केशवम् ।। ६७ ।।
निजग्राह महाबाहुर्बाहुभ्यां परिगृह्य वै ।

इधर महाबाहु अर्जुन श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। उन्होंने अपनी दोनों भुजाओंसे उन्हें पकड़कर काबूमें कर लिया ।। ६७ १/२ ।।

निगृह्यमाणः पार्थेन कृष्णो राजीवलोचनः ।। ६८ ।।
जगामैवैनमादाय वेगेन पुरुषोत्तमः ।

अर्जुनके द्वारा पकड़े जानेपर भी कमलनयन पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें लिये-दिये ही वेगपूर्वक आगे बढ़ने लगे ।। ६८ १/२ ।।

पार्थस्तु विष्टभ्य बलाच्चरणौ परवीरहा ।। ६९ ।।
निजग्राह हृषीकेशं कथंचिद् दशमे पदे ।

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने बलपूर्वक भगवान्‌के चरणोंको पकड़ लिया और इस प्रकार दसवें कदमतक जाते-जाते वे किसी प्रकार हृषीकेशको रोकनेमें सफल हो सके ।। ६९ १/२ ।।

तत एवमुवाचार्तः क्रोधपर्याकुलेक्षणम् ।। ७० ।।
निःश्वसन्तं यथा नागमर्जुनः प्रणयात् सखा ।
निवर्तस्व महाबाहो नानृतं कर्तुमर्हसि ।। ७१ ।।

उस समय श्रीकृष्णके नेत्र क्रोधसे व्याप्त हो रहे थे और वे फुफकारते हुए सर्पके समान लम्बी साँस खींच रहे थे। उनके सखा अर्जुन आर्तभावसे प्रेमपूर्वक बोले—'महाबाहो! लौटिये, अपनी प्रतिज्ञाको झूठी न कीजिये ।। ७०-७१ ।।

यत् त्वया कथितं पूर्वं न योत्स्यामीति केशव ।
मिथ्यावादीति लोकास्त्वां कथयिष्यन्ति माधव ।। ७२ ।।

'केशव! आपने पहले जो यह कहा था कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' उस वचनकी रक्षा कीजिये। अन्यथा माधव! लोग आपको मिथ्यावादी कहेंगे ।। ७२ ।।

ममैष भारः सर्वो हि हनिष्यामि पितामहम् ।
शपे केशव शस्त्रेण सत्येन सुकृतेन च ।। ७३ ।।

'केशव! यह सारा भार मुझपर है। मैं अपने अस्त्र-शस्त्र, सत्य और सुकृतकी शपथ खाकर कहता हूँ कि पितामह भीष्मका वध करूँगा ।। ७३ ।।

अन्तं यथा गमिष्यामि शत्रूणां शत्रुसूदन ।
अद्यैव पश्य दुर्धर्षं पात्यमानं महारथम् ।। ७४ ।।
तारापतिमिवापूर्णमन्तकाले यदृच्छया ।

'शत्रुसूदन! मैं सब शत्रुओंका अन्त कर डालूँगा। देखिये, आज ही मैं पूर्ण चन्द्रमाके समान दुर्जय वीर महारथी भीष्मको उनके अन्तिम समयमें इच्छानुसार मार गिराता हूँ' ।। ७४ $\frac{1}{2}$ ।।

माधवस्तु वचः श्रुत्वा फाल्गुनस्य महात्मनः ।। ७५ ।।
(अभवत् परमप्रीतो ज्ञात्वा पार्थस्य विक्रमम् ।)
न किंचिदुक्त्वा सक्रोध आरुरोह रथं पुनः ।

महामना अर्जुनका यह वचन सुनकर उनके पराक्रमको जानते हुए भगवान् श्रीकृष्ण मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हुए और ऊपरसे कुछ भी न बोलकर पुनः क्रोधपूर्वक ही रथपर जा बैठे ।। ७४ $\frac{1}{2}$ ।।

तौ रथस्थौ नरव्याघ्रौ भीष्मः शान्तनवः पुनः ।। ७६ ।।
ववर्ष शरवर्षेण मेघो वृष्ट्या यथाचलौ ।

पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुनको रथपर बैठे देख शान्तनुनन्दन भीष्मने पुनः उनपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, मानो मेघ दो पर्वतोंपर जलकी धारा गिरा रहा हो ।। ७६ $\frac{1}{2}$ ।।

प्राणानादत्त योधानां पिता देवव्रतस्तव ।। ७७ ।।
गभस्तिभिरिवादित्यस्तेजांसि शिशिरात्यये ।

राजन्! आपके ताऊ देवव्रत उसी प्रकार पाण्डव योद्धाओंके प्राण लेने लगे, जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें सूर्य अपनी किरणोंद्वारा सबके तेज हर लेते हैं ।। ७७ $\frac{1}{2}$ ।।

यथा कुरूणां सैन्यानि बभञ्जुर्युधि पाण्डवाः ।। ७८ ।।
तथा पाण्डवसैन्यानि बभञ्ज युधि ते पिता ।

महाराज! जैसे पाण्डवोंने युद्धमें कौरव-सेनाओंको खदेड़ा था, उसी प्रकार आपके ताऊ भीष्मने भी पाण्डव-सेनाओंको मार भगाया ।। ७८ $\frac{1}{2}$ ।।

हतविद्रुतसैन्यास्तु निरुत्साहा विचेतसः ।। ७९ ।।
निरीक्षितुं न शेकुस्ते भीष्ममप्रतिमं रणे ।
मध्यंगतमिवादित्यं प्रतपन्तं स्वतेजसा ।। ८० ।।

घायल होकर भागे हुए सैनिक उत्साहशून्य और अचेत हो रहे थे। वे रणक्षेत्रमें अनुपम वीर भीष्मजीकी ओर आँख उठाकर देख भी न सके, ठीक उसी तरह, जैसे दोपहरमें अपने तेजसे तपते हुए सूर्यकी ओर कोई भी देख नहीं पाता ।। ७९-८० ।।

ते वध्यमाना भीष्मेण शतशोऽथ सहस्रशः ।
कुर्वाणं समरे कर्माण्यतिमानुषविक्रमम् ।। ८१ ।।
वीक्षांचक्रुर्महाराज पाण्डवा भयपीडिताः ।

महाराज! भीष्मके द्वारा मारे जाते हुए सैकड़ों और हजारों पाण्डव सैनिक समरमें अलौकिक पराक्रम प्रकट करनेवाले भीष्मको भयसे पीड़ित होकर देख रहे थे ।। ८१ $\frac{1}{2}$ ।।

तथा पाण्डवसैन्यानि द्राव्यमाणानि भारत ।। ८२ ।।

त्रातारं नाध्यगच्छन्त गावः पङ्कगता इव ।
पिपीलिका इव क्षुण्णा दुर्बला बलिना रणे ।। ८३ ।।

भारत! भागती हुई पाण्डव-सेनाएँ कीचड़में फँसी हुई गायोंकी भाँति किसीको अपना रक्षक नहीं पाती थीं। समरभूमिमें बलवान् भीष्मने उन दुर्बल सैनिकोंको चींटियोंकी भाँति मसल डाला ।। ८२-८३ ।।

महारथं भारत दुष्प्रकम्पं
शरौघिणं प्रतपन्तं नरेन्द्रान् ।
भीष्मं न शेकुः प्रतिवीक्षितुं ते
शरार्चिषं सूर्यमिवातपन्तम् ।। ८४ ।।

भारत! महारथी भीष्म अविचलभावसे खड़े होकर बाणोंकी वर्षा करते और पाण्डव-पक्षीय नरेशोंको संताप देते थे। बाणरूपी किरणावलियोंसे सुशोभित और सूर्यकी भाँति तपते हुए भीष्मकी ओर वे देख भी नहीं पाते थे ।। ८४ ।।

विमृद्नतस्तस्य तु पाण्डुसेना-
मस्तं जगामाथ सहस्ररश्मिः ।
ततो बलानां श्रमकर्शितानां
मनोऽवहारं प्रति सम्बभूव ।। ८५ ।।

भीष्म पाण्डव-सेनाको जब इस प्रकार रौंद रहे थे, उसी समय सहस्रों किरणोंसे सुशोभित भगवान् सूर्य अस्ताचलको चले गये। उस समय परिश्रमसे थकी हुई समस्त सेनाओंके मनमें यही इच्छा हो रही थी कि अब युद्ध बंद हो जाय ।। ८५ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि नवमदिवसयुद्धसमाप्तौ षडधिकशततमोऽध्यायः ।। १०६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें नवें दिनके युद्धका समाप्तिविषयक एक सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ।। १०६ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ८९ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं।]

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

नवें दिनके युद्धकी समाप्ति, रातमें पाण्डवोंकी गुप्त मन्त्रणा तथा श्रीकृष्णसहित पाण्डवोंका भीष्मसे मिलकर उनके वधका उपाय जानना

संजय उवाच

युध्यतामेव तेषां तु भास्करेऽस्तमुपागते ।
संध्या समभवद् घोरा नापश्याम ततो रणम् ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! कौरवों और पाण्डवोंके युद्ध करते समय ही सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और भयंकर संध्याकाल आ गया। फिर हमलोगोंने युद्ध नहीं देखा ।। १ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा संध्यां संदृश्य भारत ।
वध्यमानं च भीष्मेण त्यक्तास्त्रं भयविह्वलम् ।। २ ।।
(निरुत्साहं बलं दृष्ट्वा पीडितं शरविक्षतम् ।)
स्वसैन्यं च परावृत्तं पलायनपरायणम् ।
भीष्मं च युधि संरब्धं पीडयन्तं महारथम् ।। ३ ।।
सोमकांश्च जितान् दृष्ट्वा निरुत्साहान् महारथान् ।
(निशामुखं च सम्प्रेक्ष्य घोररूपं भयानकम् ।)
चिन्तयित्वा ततो राजा अवहारमरोचयत् ।। ४ ।।

भरतनन्दन! तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने देखा कि संध्या हो गयी। भीष्मके द्वारा गहरी चोट खाकर मेरी सेनाने भयसे व्याकुल हो हथियार डाल दिया है। किसीमें लड़नेका उत्साह नहीं रह गया है। सारी सेना बाणोंसे क्षत-विक्षत हो अत्यन्त पीड़ित हो गयी है। कितने ही सैनिक युद्धसे विमुख हो भागने लग गये हैं। उधर महारथी भीष्म क्रोधमें भरकर युद्धस्थलमें सबको पीड़ा दे रहे हैं। सोमकवंशी महारथी पराजित होकर अपना उत्साह खो बैठे हैं और घोररूप भयानक प्रदोषकाल आ पहुँचा है। इन सब बातोंपर विचार करके राजा युधिष्ठिरने सेनाको युद्धसे लौटा लेना ही ठीक समझा ।। २—४ ।।

(कथं जयेम भीष्मं वै महाबलपराक्रमम् ।
बुद्धिं स्वशिबिरं गन्तुं चक्रे राजा युधिष्ठिरः ।।)

महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न भीष्मको हम किस प्रकार जीत सकेंगे, यही सोचते हुए राजा युधिष्ठिरने अपने शिविरमें जानेका विचार किया।

ततोऽवहारं सैन्यानां चक्रे राजा युधिष्ठिरः ।

तथैव तव सैन्यानामवहारो ह्यभूत् तदा ।। ५ ।।

इसके बाद महाराज युधिष्ठिरने अपनी सेनाको पीछे लौटा लिया। इसी प्रकार आपकी सेना भी उस समय युद्धस्थलसे शिविरकी ओर लौट चली ।। ५ ।।

ततोऽवहारं सैन्यानां कृत्वा तत्र महारथाः ।
न्यविशन्त कुरुश्रेष्ठ संग्रामे क्षतविक्षताः ।। ६ ।।

कुरुश्रेष्ठ! इस प्रकार संग्राममें क्षत-विक्षत हुए वे सब महारथी सेनाको लौटाकर शिविरमें विश्राम करने लगे ।। ६ ।।

भीष्मस्य समरे कर्म चिन्तयानास्तु पाण्डवाः ।
नालभन्त तदा शान्तिं भीष्मबाणप्रपीडिताः ।। ७ ।।

पाण्डव भीष्मके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे। उन्हें समरांगणमें भीष्मके पराक्रमका चिन्तन करके तनिक भी शान्ति नहीं मिलती थी ।। ७ ।।

भीष्मोऽपि समरे जित्वा पाण्डवान् सहसृंजयान् ।
पूज्यमानस्तव सुतैर्वन्द्यमानश्च भारत ।। ८ ।।
न्यविशत् कुरुभिः सार्धं हृष्टरूपैः समन्ततः ।

भारत! भीष्म भी समरभूमिमें सृंजयों तथा पाण्डवोंको जीतकर आपके पुत्रोंद्वारा प्रशंसित और अभिवन्दित हो अत्यन्त हर्षमें भरे हुए कौरवोंके साथ शिविरमें गये ।।

ततो रात्रिः समभवत् सर्वभूतप्रमोहिनी ।। ९ ।।
तस्मिन् रात्रिमुखे घोरे पाण्डवा वृष्णिभिः सह ।
सृंजयाश्च दुराधर्षा मन्त्राय समुपाविशन् ।। १० ।।

तत्पश्चात् सम्पूर्ण भूतोंको मोहमयी निद्रामें डालनेवाली रात्रि आ गयी। उस भयंकर रात्रिके आरम्भकालमें वृष्णिवंशियोंसहित दुर्धर्ष सृंजय और पाण्डव गुप्तमन्त्रणाके लिये एक साथ बैठे ।। ९-१० ।।

आत्मनिःश्रेयसं सर्वे प्राप्तकालं महाबलाः ।
मन्त्रयामासुरव्यग्रा मन्त्रनिश्चयकोविदाः ।। ११ ।।

उस समय वे समस्त महाबली वीर समयानुसार अपनी भलाईके प्रश्नपर स्वस्थचित्तसे विचार करने लगे। वे सभी लोग मन्त्रणा करके किसी निश्चयपर पहुँच जानेमें कुशल थे ।। ११ ।।

(हनिष्याम यथा भीष्मं जयेम पृथिवीमिमाम् ।।)
ततो युधिष्ठिरो राजा मन्त्रयित्वा चिरं नृप ।
वासुदेवं समुद्वीक्ष्य वचनं चेदमाददे ।। १२ ।।

उनमें यह विचार होने लगा कि हम भीष्मको कैसे मार सकेंगे और किस प्रकार इस पृथ्वीपर विजय प्राप्त करेंगे। नरेश्वर! उस समय राजा युधिष्ठिरने दीर्घकालतक गुप्तमन्त्रणा करनेके पश्चात् वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर यह बात कही— ।। १२ ।।

कृष्ण पश्य महात्मानं भीष्मं भीमपराक्रमम् ।
गजं नलवनानीव विमृद्नन्तं बलं मम ।। १३ ।।

'श्रीकृष्ण! देखिये, भयंकर पराक्रमी महात्मा भीष्म हमारी सेनाका उसी प्रकार विनाश कर रहे हैं, जैसे हाथी सरकंडोंके जंगलोंको रौंद डालते हैं ।। १३ ।।

(मम माधव सैन्येषु वध्यमानेषु तेन वै ।
कथं योत्स्याम दुर्धर्षं श्रेयो मेऽत्र विधीयताम् ।।
त्वमेव गतिरस्माकं नान्यां गतिमुपास्महे ।
न युद्धं रोचते मह्यं भीष्मेण सह माधव ।
हन्ति भीष्मो महावीरो मम सैन्यं च संयुगे ।।)

'माधव! इनके द्वारा जब हमारी सेनाएँ मारी जा रही हैं, उस अवस्थामें इन दुर्धर्ष वीर भीष्मके साथ हमलोग कैसे युद्ध करें? यहाँ जिस प्रकार हमारा भला हो, वह उपाय कीजिये। माधव! आप ही हमारे आश्रय हैं। हम दूसरे किसीका सहारा नहीं लेते। हमें भीष्मजीके साथ युद्ध करना अच्छा नहीं लगता है। इधर महावीर भीष्म युद्धस्थलमें हमारी सेनाका संहार करते चले जा रहे हैं।

न चैवैनं महात्मानमुत्सहामो निरीक्षितुम् ।
लेलिह्यमानं सैन्येषु प्रवृद्धमिव पावकम् ।। १४ ।।

'ये प्रज्वलित अग्निके समान बाणोंकी लपटोंसे हमारी सेनामें सबको चाटते (भस्म करते) जा रहे हैं, हमलोग इन महात्माकी ओर देख भी नहीं पा रहे हैं ।। १४ ।।

यथा घोरो महानागस्तक्षको वै विषोल्बणः ।
तथा भीष्मो रणे क्रुद्धस्तीक्ष्णशस्त्रः प्रतापवान् ।। १५ ।।
गृहीतचापः समरे प्रमुञ्चन् निशिताञ्छरान् ।

'जैसे महानाग तक्षक अपने प्रचण्ड विषके कारण भयंकर प्रतीत होता है, उसी प्रकार क्रोधमें भरे हुए प्रतापी भीष्म युद्धस्थलमें जब हाथमें धनुष लेकर पैने बाणोंकी वर्षा करने लगते हैं, उस समय अपने तीखे अस्त्र-शस्त्रोंके कारण बड़े भयानक जान पड़ते हैं ।। १५ $\frac{1}{2}$ ।।

शक्यो जेतुं यमः क्रुद्धो वज्रपाणिश्च देवराट् ।। १६ ।।
वरुणः पाशभृच्चापि सगदो वा धनेश्वरः ।
न तु भीष्मः सुसंक्रुद्धः शक्यो जेतुं महाहवे ।। १७ ।।

'समरभूमिमें क्रोधमें भरे हुए यमराज, वज्रधारी इन्द्र, पाशधारी वरुण अथवा गदाधारी कुबेरको भी जीता जा सकता है; परंतु इस महासमरमें कुपित भीष्मको पराजित करना असम्भव है ।। १६-१७ ।।

सोऽहमेवंगते कृष्ण निमग्नः शोकसागरे ।
आत्मनो बुद्धिदौर्बल्याद् भीष्ममासाद्य संयुगे ।। १८ ।।

‘श्रीकृष्ण! ऐसी स्थितिमें मैं अपनी बुद्धिकी दुर्बलताके कारण युद्धस्थलमें भीष्मको सामने देखकर शोकके समुद्रमें डूबा जा रहा हूँ ।। १८ ।।

वनं यास्यामि दुर्धर्ष श्रेयो वै तत्र मे गतम् ।
न युद्धं रोचते कृष्ण हन्ति भीष्मो हि नः सदा ।। १९ ।।

‘दुर्धर्ष वीर श्रीकृष्ण! अब मैं वनको चला जाऊँगा। मेरे लिये वनमें जाना ही कल्याणकारी होगा। मुझे युद्ध अच्छा नहीं लग रहा है; क्योंकि उसमें भीष्म सदा ही हमारे सैनिकोंका विनाश करते आ रहे हैं ।। १९ ।।

यथा प्रज्वलितं वह्निं पतङ्गः समभिद्रवन् ।
एकतो मृत्युमभ्येति तथाहं भीष्ममीयिवान् ।। २० ।।

‘जैसे पतंग प्रज्वलित आगकी ओर दौड़ा जाकर एकमात्र मृत्युको ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार हमने भी भीष्मपर आक्रमण करके मृत्युका ही वरण किया है ।। २० ।।

क्षयं नीतोऽस्मि वार्ष्णेय राज्यहेतोः पराक्रमी ।
भ्रातरश्चैव मे शूराः सायकैर्भृशपीडिताः ।। २१ ।।

‘वार्ष्णेय! राज्यके लिये पराक्रम करके मैं क्षीण होता जा रहा हूँ। मेरे शूरवीर भाई बाणोंकी मारसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे हैं ।। २१ ।।

मत्कृते भ्रातृसौहार्दाद् राज्यभ्रष्टा वनं गताः ।
परिक्लिष्टा तथा कृष्णा मत्कृते मधुसूदन ।। २२ ।।

‘मधुसूदन! मेरे लिये भ्रातृस्नेहवश ये भाई राज्यसे वंचित हुए और वनमें भी गये। मेरे ही कारण कृष्णाको भरी सभामें अपमानका कष्ट भोगना पड़ा ।। २२ ।।

जीवितं बहु मन्येऽहं जीवितं ह्यद्य दुर्लभम् ।
जीवितस्याद्य शेषेण चरिष्ये धर्ममुत्तमम् ।। २३ ।।

‘इस समय मैं जीवनको ही बहुत मानता हूँ। आज तो जीवन भी दुर्लभ हो रहा है। अबसे जीवनके जितने दिन शेष हैं, उनके द्वारा मैं उत्तम धर्मका ही आचरण करूँगा ।। २३ ।।

यदि तेऽहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सह केशव ।
स्वधर्मस्याविरोधेन हितं व्याहर केशव ।। २४ ।।

‘केशव! यदि भाइयोंसहित मुझपर आपका अनुग्रह है तो मुझे स्वधर्मके अनुकूल कोई हितकारक सलाह दीजिये’ ।। २४ ।।

एवं श्रुत्वा वचस्तस्य कारुण्याद् बहुविस्तरम् ।
प्रत्युवाच ततः कृष्णः सान्त्वयानो युधिष्ठिरम् ।। २५ ।।

करुणासे प्रेरित होकर कहे हुए युधिष्ठिरके ये विस्तृत वचन सुनकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको सान्त्वना देते हुए कहा ।। २५ ।।

धर्मपुत्र विषादं त्वं मा कृथाः सत्यसङ्गर ।

यस्य ते भ्रातरः शूरा दुर्जयाः शत्रुसूदनाः ।। २६ ।।

'धर्मपुत्र! सत्यप्रतिज्ञ कुन्तीकुमार! विषाद न कीजिये, आपके भाई बड़े ही शूरवीर, दुर्जय तथा शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं ।। २६ ।।

अर्जुनो भीमसेनश्च वाय्वग्निसमतेजसौ ।
माद्रीपुत्रौ च विक्रान्तौ त्रिदशानामिवेश्वरौ ।। २७ ।।

'अर्जुन और भीमसेन वायु तथा अग्निके समान तेजस्वी हैं। माद्रीकुमार नकुल और सहदेव भी पराक्रममें दो इन्द्रोंके समान हैं ।। २७ ।।

मां वा नियुङ्क्ष्व सौहार्दाद् योत्स्ये भीष्मेण पाण्डव ।
त्वत्प्रयुक्तो महाराज किं न कुर्यां महाहवे ।। २८ ।।

'पाण्डुनन्दन! महाराज! आप सौहार्दवश मुझे भी आज्ञा दीजिये। मैं भीष्मके साथ युद्ध करूँगा। भला आपकी आज्ञा मिल जानेपर मैं इस महासमरमें क्या नहीं कर सकता ।। २८ ।।

हनिष्यामि रणे भीष्ममाहूय पुरुषर्षभम् ।
पश्यतां धार्तराष्ट्राणां यदि नेच्छति फाल्गुनः ।। २९ ।।

'यदि अर्जुन भीष्मको मारना नहीं चाहते हैं तो मैं युद्धमें पुरुषप्रवर भीष्मको ललकारकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके देखते-देखते मार डालूँगा ।। २९ ।।

यदि भीष्मे हते वीरे जयं पश्यसि पाण्डव ।
हन्तास्म्येकरथेनाद्य कुरुवृद्धं पितामहम् ।। ३० ।।

'पाण्डुनन्दन! यदि भीष्मके मारे जानेपर ही आपको अपनी विजय दिखायी दे रही है तो मैं एकमात्र रथकी सहायतासे आज कुरुकुलवृद्ध पितामह भीष्मको मार डालूँगा ।। ३० ।।

पश्य मे विक्रमं राजन् महेन्द्रस्येव संयुगे ।
विमुञ्चन्तं महास्त्राणि पातयिष्यामि तं रथात् ।। ३१ ।।

'राजन्! कल युद्धमें इन्द्रके समान मेरा पराक्रम देखियेगा। मैं बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्रहार करनेवाले भीष्मको रथसे मार गिराऊँगा ।। ३१ ।।

यः शत्रुः पाण्डुपुत्राणां मच्छत्रुः स न संशयः ।
मदर्था भवदीया ये ये मदीयास्तवैव ते ।। ३२ ।।

'जो पाण्डवोंका शत्रु है, वह मेरा भी शत्रु है, इसमें संदेह नहीं है। जो आपके सुहृद् हैं, वे मेरे हैं और जो मेरे सुहृद् हैं, वे आपके ही हैं ।। ३२ ।।

तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च ।
मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते ।। ३३ ।।

'राजन्! आपके भाई अर्जुन मेरे सखा, सम्बन्धी और शिष्य हैं। मैं अर्जुनके लिये अपना मांस भी काटकर दे दूँगा ।। ३३ ।।

एष चापि नरव्याघ्रो मत्कृते जीवितं त्यजेत् ।
एष नः समयस्तात तारयेम परस्परम् ।। ३४ ।।

'ये पुरुषसिंह अर्जुन भी मेरे लिये अपने प्राणोंतकका परित्याग कर सकते हैं। तात! हमलोगोंमें यह प्रतिज्ञा हो चुकी है कि हम एक-दूसरेको संकटसे उबारेंगे ।। ३४ ।।

स मां नियुङ्क्ष्व राजेन्द्र यथा योद्धा भवाम्यहम् ।
प्रतिज्ञातमुपप्लव्ये यत् तत् पार्थेन पूर्वतः ।। ३५ ।।
घातयिष्यामि गाङ्गेयमिति लोकस्य संनिधौ ।
परिरक्ष्यमिदं तावद् वचः पार्थस्य धीमतः ।। ३६ ।।

'राजेन्द्र! आप मुझे युद्धके काममें नियुक्त कीजिये। मैं आपका योद्धा बनूँगा। युद्धके पहले उपप्लव्यनगरमें सब लोगोंके सामने अर्जुनने जो यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं गंगानन्दन भीष्मका वध करूँगा, बुद्धिमान् पार्थके उस वचनका पालन करना मेरे लिये आवश्यक है ।। ३५-३६ ।।

अनुज्ञातं तु पार्थेन मया कार्यं न संशयः ।
अथवा फाल्गुनस्यैष भारः परिमितो रणे ।। ३७ ।।

'अर्जुनने जिस बातके लिये प्रतिज्ञा की हो, उसकी पूर्ति करना मेरा कर्तव्य है, इसमें संशय नहीं है अथवा रणक्षेत्रमें अर्जुनके लिये यह बहुत थोड़ा भार है ।। ३७ ।।

स हनिष्यति संग्रामे भीष्मं परपुरञ्जयम् ।
अशक्यमपि कुर्याद्धि रणे पार्थः समुद्यतः ।। ३८ ।।

'वे शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले भीष्मको युद्धमें अवश्य मार डालेंगे। कुन्तीपुत्र अर्जुन उद्यत हो जायँ तो युद्धमें असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं ।। ३८ ।।

त्रिदशान् वा समुद्युक्तान् सहितान् दैत्यदानवैः ।
निहन्यादर्जुनः संख्ये किमु भीष्मं नराधिप ।। ३९ ।।

'नरेश्वर! दैत्यों और दानवोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी अर्जुन युद्धमें मार सकते हैं; फिर भीष्मको मारना कौन बड़ी बात है ।। ३९ ।।

विपरीतो महावीर्यो गतसत्त्वोऽल्पजीवनः ।
भीष्मः शान्तनवो नूनं कर्तव्यं नावबुध्यते ।। ४० ।।

'महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्म तो हमारे विपरीत पक्षका आश्रय लेनेवाले और बलहीन हैं। इनके जीवनके दिन अब बहुत थोड़े रह गये हैं, तथापि यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि वे अपने कर्तव्यको नहीं समझ रहे हैं' ।। ४० ।।

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि माधव ।
सर्वे ह्येते न पर्याप्तास्तव वेगविधारणे ।। ४१ ।।

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहो! माधव! आप जैसा कहते हैं, ठीक ऐसी ही बात है। ये समस्त कौरव आपका वेग धारण करनेमें समर्थ नहीं हैं ।। ४१ ।।

नियतं समवाप्स्यामि सर्वमेतद् यथेप्सितम् ।
यस्य मे पुरुषव्याघ्र भवान् पक्षे व्यवस्थितः ।। ४२ ।।

पुरुषसिंह! जिसके पक्षमें आप खड़े हैं, वह मैं यह सब अभीष्ट मनोरथ अवश्य पूर्ण कर लूँगा ।। ४२ ।।

सेन्द्रानपि रणे देवाञ्जयेयं जयतां वर ।
त्वया नाथेन गोविन्द किमु भीष्मं महारथम् ।। ४३ ।।

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ गोविन्द! आपको अपना रक्षक पाकर मैं युद्धमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी जीत सकता हूँ; फिर महारथी भीष्मपर विजय पाना कौन बड़ी बात है ।। ४३ ।।

न तु त्वामनृतं कर्तुमुत्सहे स्वात्मगौरवात् ।
अयुध्यमानः साहाय्यं यथोक्तं कुरु माधव ।। ४४ ।।

माधव! परंतु मैं अपनी गुरुताका प्रभाव डालकर आपको असत्यवादी नहीं बना सकता। आप युद्ध किये बिना ही पूर्वोक्त सहायता करते रहिये ।। ४४ ।।

समयस्तु कृतः कश्चिन्मम भीष्मेण संयुगे ।
मन्त्रयिष्ये तवार्थाय न तु योत्स्ये कथञ्चन ।। ४५ ।।
दुर्योधनार्थं योत्स्यामि सत्यमेतदिति प्रभो ।

मेरी भीष्मजीके साथ एक शर्त हो चुकी है। उन्होंने कहा है कि 'मैं युद्धमें तुम्हारे हितके लिये सलाह दे सकता हूँ, परंतु तुम्हारी ओरसे किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा। युद्ध तो मैं केवल दुर्योधनके लिये ही करूँगा।' प्रभो! यह बिलकुल सच्ची बात है ।। ४५½ ।।

स हि राज्यस्य मे दाता मन्त्रस्यैव च माधव ।। ४६ ।।
तस्माद् देवव्रतं भूयो वधोपायार्थमात्मनः ।
भवता सहिताः सर्वे प्रयाम मधुसूदन ।। ४७ ।।

अतः माधव! भीष्मजी मुझे राज्य और मन्त्र (हितकर सलाह) दोनों देंगे। इसलिये मधुसूदन! हम सब लोग पुनः आपके साथ देवव्रत भीष्मके पास उन्हींसे उनके वधका उपाय पूछने चलें ।। ४६-४७ ।।

तद् वयं सहिता गत्वा भीष्ममाशु नरोत्तमम् ।
नचिरात् सर्वे वार्ष्णेय मन्त्रं पृच्छाम कौरवम् ।। ४८ ।।

वृष्णिनन्दन! हम सब लोग शीघ्र ही एक साथ कुरुवंशी नरश्रेष्ठ भीष्मके पास चलें और उनसे सलाह लें ।। ४८ ।।

स वक्ष्यति हितं वाक्यं सत्यमस्माञ्जनार्दन ।
यथा च वक्ष्यते कृष्ण तथा कर्तास्मि संयुगे ।। ४९ ।।

जनार्दन! पूछनेपर वे हमें सत्य और हितकर बात बतायेंगे। श्रीकृष्ण! वे जैसा कहेंगे, युद्धमें वैसा ही करूँगा ।।

स नो जयस्य दाता स्यान्मन्त्रस्य च दृढव्रतः ।

बालाः पित्रा विहीनाश्च तेन संवर्धिता वयम् ।। ५० ।।

दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले भीष्मजी हमारे लिये विजय और सलाहके भी दाता हो सकते हैं। बाल्यावस्थामें जब हम पितृहीन हो गये थे, उस समय उन्होंने ही हमारा पालन-पोषण किया था ।। ५० ।।

तं चेत् पितामहं वृद्धं हन्तुमिच्छामि माधव ।

पितुः पितरमिष्टं च धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ।। ५१ ।।

माधव! यद्यपि वे हमारे पिताके भी पिता और प्रिय हैं, तो भी उन बूढ़े पितामह भीष्मको भी मैं मारना चाहता हूँ। क्षत्रियकी इस जीविकाको धिक्कार है! ।। ५१ ।।

संजय उवाच

ततोऽब्रवीन्महाराज वार्ष्णेयः कुरुनन्दनम् ।

रोचते मे महाप्राज्ञ राजेन्द्र तव भाषितम् ।। ५२ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! तब भगवान् श्रीकृष्णने कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे कहा—‘महामते राजेन्द्र! आपका कथन मुझे ठीक जान पड़ता है ।। ५२ ।।

देवव्रतः कृती भीष्मः प्रेक्षितेनापि निर्दहेत् ।

गम्यतां स वधोपायं प्रष्टुं सागरगासुतः ।। ५३ ।।

‘देवव्रत भीष्म पुण्यात्मा पुरुष हैं। वे दृष्टिपातमात्रसे सबको दग्ध कर सकते हैं; अतः गंगानन्दन भीष्मसे उनके वधका उपाय पूछनेके लिये आप अवश्य उनके पास चलें ।। ५३ ।।

वक्तुमर्हति सत्यं स त्वया पृष्टो विशेषतः ।

ते वयं तत्र गच्छामः प्रष्टुं कुरुपितामहम् ।। ५४ ।।

गत्वा शान्तनवं वृद्धं मन्त्रं पृच्छाम भारत ।

स वो दास्यति मन्त्रं यं तेन योत्स्यामहे परान् ।। ५५ ।।

‘विशेषतः आपके पूछनेपर वे अवश्य सच्ची बात बतायेंगे। अतः हम सब लोग मिलकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मसे अभीष्ट प्रश्न पूछनेके लिये साथ-साथ वहाँ चलें और भारत! चलकर उनसे हितकारक मन्त्रणा पूछें। वे आपको ऐसी मन्त्रणा देंगे, जिससे हमलोग शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ।। ५४-५५ ।।

एवमामन्त्र्य ते वीराः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वजम् ।

जग्मुस्ते सहिताः सर्वे वासुदेवश्च वीर्यवान् ।। ५६ ।।

वे वीर पाण्डव इस प्रकार सलाह करके सब एक साथ मिलकर अपने पिता पाण्डुके भी पितृतुल्य भीष्मपितामहके पास गये; उनके साथ पराक्रमी भगवान् वासुदेव भी थे ।। ५६ ।।

विमुक्तशस्त्रकवचा भीष्मस्य सदनं प्रति ।
प्रविश्य च तदा भीष्मं शिरोभिः प्रणिपेदिरे ।। ५७ ।।

उन सबने अस्त्र-शस्त्र और कवच रख दिये थे। वे भीष्मके शिविरकी ओर गये और उसके भीतर प्रवेश करके उन्होंने भीष्मको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया ।। ५७ ।।

पूजयन्तो महाराज पाण्डवा भरतर्षभम् ।
प्रणम्य शिरसा चैनं भीष्मं शरणमभ्ययुः ।। ५८ ।।

महाराज! पाण्डवोंने भरतश्रेष्ठ भीष्मकी पूजा करते हुए उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और उन्हींकी शरण ली ।। ५८ ।।

तानुवाच महाबाहुर्भीष्मः कुरुपितामहः ।
स्वागतं तव वार्ष्णेय स्वागतं ते धनंजय ।। ५९ ।।
स्वागतं धर्मपुत्राय भीमाय यमयोस्तथा ।
किं वा कार्यं करोम्यद्य युष्माकं प्रीतिवर्धनम् ।। ६० ।।
(युद्धादन्यत्र हे वत्साः व्रियन्तां मा विशङ्कथ ।)
सर्वात्मनापि कर्तास्मि यदपि स्यात् सुदुष्करम् ।

उस समय कुरुकुलके पितामह महाबाहु भीष्मने उन सब लोगोंसे कहा—'वृष्णिनन्दन! आपका स्वागत है। धनंजय! तुम्हारा भी स्वागत है। धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन और नकुल-सहदेव सबका स्वागत है। आज मैं तुम सब लोगोंकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाला कौन-सा कार्य करूँ। पुत्रो! युद्धके अतिरिक्त जो चाहो, माँग लो, संकोच न करो। तुम्हारी माँग अत्यन्त दुष्कर हो तो भी मैं उसे सब प्रकारसे पूर्ण करूँगा' ।। ५९-६० $\frac{1}{2}$ ।।

तथा ब्रुवाणं गाङ्गेयं प्रीतियुक्तं पुनः पुनः ।। ६१ ।।
उवाच राजा दीनात्मा प्रीतियुक्तमिदं वचः ।

गंगानन्दन भीष्म जब बारंबार इस प्रकार प्रसन्नता-पूर्वक कह रहे थे, उस समय राजा युधिष्ठिरने दीन हृदयसे प्रेमपूर्वक यह बात कही— ।। ६१ $\frac{1}{2}$ ।।

कथं जयेम सर्वज्ञ कथं राज्यं लभेमहि ।। ६२ ।।

'सर्वज्ञ! युद्धमें हमारी जीत कैसे हो? हम किस प्रकार राज्य प्राप्त करें? ।। ६२ ।।

प्रजानां संशयो न स्यात् कथं तन्मे वद प्रभो ।
भवान् हि नो वधोपायं ब्रवीतु स्वयमात्मनः ।। ६३ ।।

प्रभो! हमारी प्रजाका जीवन संकटमें न पड़े, यह कैसे सम्भव हो सकता है? कृपया यह सब मुझे बताइये। आप स्वयं ही हमें अपने वधका उपाय बताइये ।। ६३ ।।

भवन्तं समरे वीर विषहेम कथं वयम् ।

न हि ते सूक्ष्ममप्यस्ति रन्ध्रं कुरुपितामह ।। ६४ ।।

'वीर! समरभूमिमें हमलोग आपका वेग कैसे सह सकते हैं? कुरुकुलके वृद्ध पितामह! आपमें कोई छोटा-सा भी छिद्र (दोष) नहीं दृष्टिगोचर होता है ।। ६४ ।।

मण्डलेनैव धनुषा दृश्यसे संयुगे सदा ।
आददानं संदधानं विकर्षन्तं धनुर्न च ।। ६५ ।।
पश्यामस्त्वां महाबाहो रथे सूर्यमिवापरम् ।

'आप युद्धमें सदा मण्डलाकार धनुषके साथ ही परिलक्षित होते हैं। महाबाहो! आप रथपर दूसरे सूर्यके समान विराजमान होकर कब बाण हाथमें लेते हैं, कब धनुषपर रखते हैं और कब उसकी डोरीको खींचते हैं, यह सब हमलोग नहीं देख पाते हैं ।। ६५½ ।।

रथाश्वनरनागानां हन्तारं परवीरहन् ।। ६६ ।।
कोऽथ वोत्सहते जेतुं त्वां पुमान् भरतर्षभ ।

'शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले भरतश्रेष्ठ! आप रथ, अश्व, पैदल मनुष्य और हाथियोंका भी संहार करनेवाले हैं। कौन पुरुष आपको जीतनेका साहस कर सकता है? ।। ६६½ ।।

वर्षता शरवर्षाणि संयुगे वैशसं कृतम् ।। ६७ ।।
क्षयं नीता हि पृतना संयुगे महती मम ।

'आपने युद्धस्थलमें बाणोंकी वर्षा करके भारी संहार मचा रखा है। रणक्षेत्रमें मेरी विशाल सेना आपके द्वारा नष्ट हो चुकी है ।। ६७½ ।।

यथा युधि जयेम त्वां यथा राज्यं भृशं मम ।। ६८ ।।
मम सैन्यस्य च क्षेमं तन्मे ब्रूहि पितामह ।

'पितामह! हमलोग युद्धमें जिस प्रकार आपको जीत सकें, जिस प्रकार हमें विपुल राज्यकी प्राप्ति हो सके और जिस प्रकार मेरी सेना भी सकुशल रह सके, वह उपाय मुझे बताइये' ।। ६८½ ।।

ततोऽब्रवीच्छान्तनवः पाण्डवान् पाण्डुपूर्वजः ।। ६९ ।।
न कथञ्चन कौन्तेय मयि जीवति संयुगे ।
जयो भवति सर्वज्ञ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। ७० ।।

तब पाण्डुके पितृतुल्य शान्तनुकुमार भीष्मजीने पाण्डवोंसे इस प्रकार कहा —'कुन्तीकुमार! मेरे जीते-जी युद्धमें किसी प्रकार तुम्हारी विजय नहीं हो सकती। सर्वज्ञ! मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ ।। ६९-७० ।।

निर्जिते मयि युद्धेन रणे जेष्यथ पाण्डवाः ।
क्षिप्रं मयि प्रहरध्वं यदीच्छथ रणे जयम् ।। ७१ ।।

'पाण्डवो! यदि युद्धके द्वारा मैं किसी प्रकार जीत लिया जाऊँ, तभी तुमलोग रणक्षेत्रमें विजयी हो सकोगे। यदि युद्धमें विजय चाहते हो तो मुझपर शीघ्र ही (घातक) प्रहार करो ।। ७१ ।।

अनुजानामि वः पार्थाः प्रहरध्वं यथासुखम् ।
एवं हि सुकृतं मन्ये भवतां विदितो ह्यहम् ।। ७२ ।।
हते मयि हतं सर्वं तस्मादेवं विधीयताम् ।

‘कुन्तीकुमारो! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम सुख-पूर्वक मेरे ऊपर प्रहार करो। मैं तुम्हारे लिये यह पुण्यकी बात मानता हूँ कि तुम्हें मेरे इस प्रभावका ज्ञान हो गया कि मेरे मारे जानेपर सारी कौरव-सेना मरी हुई ही हो जायगी; अतः ऐसा ही करो (मुझे मार डालो)’ ।। ७२ १/२ ।।

युधिष्ठिर उवाच

ब्रूहि तस्मादुपायं नो यथा युद्धे जयेमहि ।। ७३ ।।
भवन्तं समरे क्रुद्धं दण्डहस्तमिवान्तकम् ।

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! हमलोग युद्धमें दण्डधारी यमराजकी भाँति क्रोधमें भरे हुए आपको जिस प्रकार जीत सकें, वैसा उपाय हमें आप ही बताइये ।। ७३ १/२ ।।

शक्यो वज्रधरो जेतुं वरुणोऽथ यमस्तथा ।। ७४ ।।
न भवान् समरे शक्यः सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ।

वज्रधारी इन्द्र, वरुण और यम—इन सबको जीता जा सकता है; परंतु आपको तो समरभूमिमें इन्द्र आदि देवता और असुर भी नहीं जीत सकते ।। ७४ १/२ ।।

भीष्म उवाच

सत्यमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ।। ७५ ।।
नाहं जेतुं रणे शक्यः सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ।
आत्तशस्त्रो रणे यत्तो गृहीतवरकार्मुकः ।। ७६ ।।

भीष्मने कहा—महाबाहो! पाण्डुनन्दन! तुम जैसा कहते हो, यह सत्य है। जबतक मेरे हाथमें शस्त्र होगा, जबतक मैं श्रेष्ठ धनुष लेकर युद्धके लिये सावधान एवं प्रयत्नशील रहूँगा, तबतक इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी रणक्षेत्रमें मुझे जीत नहीं सकते ।। ७५-७६ ।।

ततो मां न्यस्तशस्त्रं तु एते हन्युर्महारथाः ।
निक्षिप्तशस्त्रे पतिते विमुक्तकवचध्वजे ।। ७७ ।।
द्रवमाणे च भीते च तवास्मीति च वादिनि ।
स्त्रियां स्त्रीनामधेये च विकले चैकपुत्रके ।। ७८ ।।
अप्रशस्ते नरे चैव न युद्धं रोचते मम ।

जब मैं अस्त्र-शस्त्र डाल दूँ, उस अवस्थामें ये महारथी मुझे मार सकते हैं। जिसने शस्त्र नीचे डाल दिया हो, जो गिर पड़ा हो, जो कवच और ध्वजसे शून्य हो गया हो, जो भयभीत होकर भागता हो, अथवा 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कह रहा हो, जो स्त्री हो, स्त्रियों-जैसा नाम रखता हो, विकल हो, जो अपने पिताका इकलौता पुत्र हो अथवा जो नीच जातिका हो, ऐसे मनुष्यके साथ युद्ध करना मुझे अच्छा नहीं लगता है ।। ७७-७८ १/२ ।।

इमं मे शृणु राजेन्द्र संकल्पं पूर्वचिन्तितम् ।। ७९ ।।
अमङ्गल्यध्वजं दृष्ट्वा न युध्येयं कदाचन ।

राजेन्द्र! मेरे पहलेसे सोचे हुए इस संकल्पको सुनो, जिसकी ध्वजामें कोई अमंगलसूचक चिह्न हो, ऐसे पुरुषको देखकर मैं कभी उसके साथ युद्ध नहीं कर सकता ।। ७९ १/२ ।।

य एष द्रौपदो राजंस्तव सैन्ये महारथः ।। ८० ।।
शिखण्डी समरामर्षी शूरश्च समितिञ्जयः ।
यथाभवच्च स्त्री पूर्वं पश्चात् पुंस्त्वं समागतः ।। ८१ ।।

राजन्! तुम्हारी सेनामें जो यह द्रुपदपुत्र महारथी शिखण्डी है, वह समरभूमिमें अमर्षशील, शौर्यसम्पन्न तथा युद्धविजयी है। वह पहले स्त्री था, फिर पुरुषभावको प्राप्त हुआ है ।। ८०-८१ ।।

जानन्ति च भवन्तोऽपि सर्वमेतद् यथातथम् ।
अर्जुनः समरे शूरः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।। ८२ ।।
मामेव विशिखैस्तीक्ष्णैरभिद्रवतु दंशितः ।

ये सारी बातें जैसे हुई हैं, वह सब तुमलोग भी जानते हो। शूरवीर अर्जुन समरांगणमें कवच धारण करके शिखण्डीको आगे रखकर मुझपर तीखे बाणोंद्वारा आक्रमण करे ।। ८२ १/२ ।।

अमङ्गल्यध्वजे तस्मिन् स्त्रीपूर्वे च विशेषतः ।। ८३ ।।
न प्रहर्तुमभीप्सामि गृहीतेषुः कथञ्चन ।

शिखण्डीकी ध्वजा अमांगलिक चिह्नसे युक्त है तथा विशेषतः वह पहले स्त्री रहा है; इसलिये मैं हाथमें बाण लिये रहनेपर भी किसी प्रकार उसके ऊपर प्रहार नहीं करना चाहता ।। ८३ १/२ ।।

तदन्तरं समासाद्य पाण्डवो मां धनंजयः ।। ८४ ।।
शरैर्घातयतु क्षिप्रं समन्ताद् भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ! इसी अवसरका लाभ लेकर पाण्डुपुत्र अर्जुन मुझे चारों ओरसे शीघ्रतापूर्वक बाणोंद्वारा मार डालनेका प्रयत्न करे ।। ८४ १/२ ।।

न तं पश्यामि लोकेषु मां हन्याद् यः समुद्यतम् ।। ८५ ।।
ऋते कृष्णान्महाभागात् पाण्डवाद् वा धनञ्जयात् ।

मैं महाभाग भगवान् श्रीकृष्ण अथवा पाण्डुपुत्र धनंजयके सिवा दूसरे किसीको जगत्में ऐसा नहीं देखता, जो युद्धके लिये उद्यत होनेपर मुझे मार सके ।। ८५ १/२ ।।

एष तस्मात् पुरोधाय कञ्चिदन्यं ममाग्रतः ।। ८६ ।।

आत्तशस्त्रो रणे यत्तो गृहीतवरकार्मुकः ।

मां पातयतु बीभत्सुरेवं तव जयो ध्रुवम् ।। ८७ ।।

इसलिये यह अर्जुन श्रेष्ठ धनुष तथा दूसरे अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्धमें सावधानीके साथ प्रयत्नशील हो और उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त किसी पुरुषको अथवा शिखण्डीको मेरे सामने खड़ा करके स्वयं बाणोंद्वारा मुझे मार गिरावे। इसी प्रकार तुम्हारी निश्चितरूपसे विजय हो सकती है ।। ८६-८७ ।।

एतत् कुरुष्व कौन्तेय यथोक्तं मम सुव्रत ।

संग्रामे धार्तराष्ट्रांश्च हन्याः सर्वान् समागतान् ।। ८८ ।।

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर! तुम मेरे ऊपर जैसे मैंने बतायी है, वैसी ही नीतिका प्रयोग करो। ऐसा करके ही तुम रणक्षेत्रमें आये हुए सम्पूर्ण धृतराष्ट्रपुत्रों एवं उनके सैनिकोंको मार सकते हो ।। ८८ ।।

संजय उवाच

ते तु ज्ञात्वा ततः पार्था जग्मुः स्वशिबिरं प्रति ।

अभिवाद्य महात्मानं भीष्मं कुरुपितामहम् ।। ८९ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! यह सब जानकर कुन्तीके सभी पुत्र कुरुकुलके वृद्ध पितामह महात्मा भीष्मको प्रणाम करके अपने शिविरकी ओर चले गये ।।

तथोक्तवति गाङ्गेये परलोकाय दीक्षिते ।

अर्जुनो दुःखसंतप्तः सव्रीडमिदमब्रवीत् ।। ९० ।।

गंगानन्दन भीष्म परलोककी दीक्षा ले चुके थे। उन्होंने जब पूर्वोक्त बात बतायी, तब अर्जुन दुःखसे संतप्त एवं लज्जित होकर श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले— ।। ९० ।।

गुरुणा कुरुवृद्धेन कृतप्रज्ञेन धीमता ।

पितामहेन संग्रामे कथं योद्धास्मि माधव ।। ९१ ।।

'माधव! कुरुकुलके वृद्ध गुरुजन विशुद्ध-बुद्धि, मतिमान् पितामह भीष्मसे मैं रणक्षेत्रमें कैसे युद्ध करूँगा ।। ९१ ।।

क्रीडता हि मया बाल्ये वासुदेव महामनाः ।

पांसुरूषितगात्रेण महात्मा परुषीकृतः ।। ९२ ।।

'वासुदेव! बचपनमें खेलते समय मैंने अपने धूलि-धूसर शरीरसे उन महामनस्वी महात्माको सदा दूषित किया है ।। ९२ ।।

यस्याहमधिरुह्याङ्कं बालः किल गदाग्रज ।

तातेत्यवोचं पितरं पितुः पाण्डोर्महात्मनः ।। ९३ ।।
नाहं तातस्तव पितुस्तातोऽस्मि तव भारत ।
इति मामब्रवीद् बाल्ये यः स वध्यः कथं मया ।। ९४ ।।

'गदाग्रज! कहते हैं, मैं बचपनमें अपने पिता महात्मा पाण्डुके भी पितृतुल्य भीष्मजीकी गोदमें चढ़कर जब उन्हें तात कहकर पुकारता था, उस समय उस बाल्यावस्थामें ही वे मुझसे इस प्रकार कहते थे—'भरतनन्दन! मैं तुम्हारा तात नहीं, तुम्हारे पिताका तात हूँ।' वे ही वृद्ध पितामह मेरे द्वारा मारनेयोग्य कैसे हो सकते हैं? ।। ९३-९४ ।।

कामं वध्यतु सैन्यं मे नाहं योत्स्ये महात्मना ।
जयो वास्तु वधो वा मे कथं वा कृष्ण मन्यसे ।। ९५ ।।

'भले ही वे मेरी सेनाका नाश कर डालें, मेरी विजय हो अथवा मृत्यु; परंतु मैं उन महात्मा भीष्मके साथ युद्ध नहीं करूँगा; अथवा श्रीकृष्ण! आप कैसा ठीक समझते हैं? ।। ९५ ।।

(कथमस्मद्विधः कृष्ण जानन् धर्मं सनातनम् ।
न्यस्तशस्त्रे च वृद्धे च प्रहरेद्धि पितामहे ।।)

'श्रीकृष्ण! अपने सनातन धर्मको जाननेवाला मेरे-जैसा पुरुष हथियार डालकर बैठे हुए अपने बूढ़े पितामहपर प्रहार कैसे करेगा?'

वासुदेव उवाच

प्रतिज्ञाय वधं जिष्णो पुरा भीष्मस्य संयुगे ।
क्षत्रधर्मे स्थितः पार्थ कथं नैनं हनिष्यसि ।। ९६ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—विजयी कुन्तीकुमार! तुम क्षत्रियधर्ममें स्थित हो। युद्धमें तुम पहले भीष्मके वधकी प्रतिज्ञा करके अब उन्हें कैसे नहीं मारोगे? ।। ९६ ।।

पातयैनं रथात् पार्थ क्षत्रियं युद्धदुर्मदम् ।
नाहत्वा युधि गाङ्गेयं विजयस्ते भविष्यति ।। ९७ ।।

पार्थ! तुम युद्धदुर्मद क्षत्रियप्रवर भीष्मको रथसे मार गिराओ। रणक्षेत्रमें गंगानन्दन भीष्मको मारे बिना तुम्हारी विजय नहीं होगी ।। ९७ ।।

दृष्टमेतत् पुरा देवैर्गमिष्यति यमक्षयम् ।
यद् दृष्टं हि पुरा पार्थ तत् तथा न तदन्यथा ।। ९८ ।।

इस बातको देवताओंने पहलेसे ही देख रखा है। भीष्म इसी प्रकार यमलोकको जायँगे। पार्थ! जिसे देवताओंने देखा है, वह उसी प्रकार होगा। उसे कोई बदल नहीं सकता ।। ९८ ।।

न हि भीष्मं दुराधर्षं व्यात्ताननमिवान्तकम् ।
त्वदन्यः शक्नुयाद् योद्धुमपि वज्रधरः स्वयम् ।। ९९ ।।

दुर्धर्ष वीर भीष्म मुँह फैलाये हुए कालके समान प्रतीत होते हैं। तुम्हारे सिवा दूसरा कोई, भले ही वह साक्षात् वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, उनके साथ युद्ध नहीं कर सकता ।। ९९ ।।

जहि भीष्मं स्थिरो भूत्वा शृणु चेदं वचो मम ।

यथोवाच पुरा शक्रं महाबुद्धिर्बृहस्पतिः ।। १०० ।।

अर्जुन! तुम स्थिर होकर भीष्मको मारो और मेरी यह बात सुनो, जिसे पूर्वकालमें महाबुद्धिमान् बृहस्पतिजीने देवराज इन्द्रको बताया था ।। १०० ।।

ज्यायांसमपि चेद् वृद्धं गुणैरपि समन्वितम् ।

आततायिनमायान्तं हन्याद् घातकमात्मनः ।। १०१ ।।

कोई बड़े-से-बड़े गुरुजन, वृद्ध और सर्वगुणसम्पन्न पुरुष ही क्यों न हों, यदि शस्त्र उठाकर अपना वध करनेके लिये आ रहे हों तो उस आततायीको अवश्य मार डालना चाहिये ।। १०१ ।।

शाश्वतोऽयं स्थितो धर्मः क्षत्रियाणां धनंजय ।

योद्धव्यं रक्षितव्यं च यष्टव्यं चानसूयुभिः ।। १०२ ।।

धनंजय! यह क्षत्रियोंका निश्चित सनातन धर्म है। उन्हें किसीके प्रति दोषदृष्टि न रखकर सदा युद्ध, प्रजाओंकी रक्षा और यज्ञ करते रहने चाहिये ।। १०२ ।।

अर्जुन उवाच

शिखण्डी निधनं कृष्ण भीष्मस्य भविता ध्रुवम् ।

दृष्ट्वैव हि सदा भीष्मः पाञ्चाल्यं विनिवर्तते ।। १०३ ।।

अर्जुनने कहा—श्रीकृष्ण! शिखण्डी निश्चय ही भीष्मकी मृत्युका कारण होगा; क्योंकि भीष्म उस पांचाल-राजकुमारको देखते ही सदा युद्धसे निवृत्त हो जाते हैं ।।

ते वयं प्रमुखे तस्य पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।

गाङ्गेयं पातयिष्याम उपायेनेति मे मतिः ।। १०४ ।।

अतः हम सब लोग उनके सामने शिखण्डीको खड़ा करके शस्त्रप्रहाररूप उपायद्वारा गंगानन्दन भीष्मको मार गिरायेंगे, यही मेरा विचार है ।। १०४ ।।

अहमन्यान् महेष्वासान् वारयिष्यामि सायकैः ।

शिखण्ड्यपि युधां श्रेष्ठं भीष्ममेवाभियोधयेत् ।। १०५ ।।

मैं बाणोंद्वारा अन्य महाधनुर्धरोंको रोकूँगा। शिखण्डी भी योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्मके साथ ही युद्ध करे ।। १०५ ।।

श्रुतं हि कुरुमुख्यस्य नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।

कन्या ह्येषा पुरा भूत्वा पुरुषः समपद्यत ।। १०६ ।।

कुरुकुलके प्रधान वीर भीष्मका यह निश्चय है कि मैं शिखण्डीको नहीं मारूँगा; क्योंकि वह पहले कन्यारूपमें उत्पन्न होकर पीछे पुरुष हुआ है ।। १०६ ।।

(अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा भीष्मस्य वधसंयुतम् ।
जहृषुर्हृष्टरोमाणः सकृष्णाः पाण्डवास्तदा ।।)

अर्जुनका भीष्मके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला यह वचन सुनकर श्रीकृष्णसहित समस्त पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए। उस समय हर्षातिरेकके कारण उनके शरीरोंमें रोमांच हो आया।

इत्येवं निश्चयं कृत्वा पाण्डवाः सहमाधवाः ।
अनुमान्य महात्मानं प्रययुर्हृष्टमानसाः ।
शयनानि यथास्वानि भेजिरे पुरुषर्षभाः ।। १०७ ।।

ऐसा निश्चय करके श्रीकृष्णसहित पाण्डव मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट हो महात्मा भीष्मसे विदा लेकर चले गये और उन पुरुषशिरोमणियोंने अपनी-अपनी शय्याओंका आश्रय लिया ।। १०७ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि नवमदिवसावहारोत्तरमन्त्रे सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ।। १०७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें नवें दिनके युद्धके समाप्त होनेके पश्चात् परस्पर गुप्तमन्त्रणाविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०७ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ १/२ श्लोक मिलाकर कुल ११४ १/२ श्लोक हैं।]

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

दसवें दिन उभयपक्षकी सेनाका रणके लिये प्रस्थान तथा भीष्म और शिखण्डीका समागम एवं अर्जुनका शिखण्डीको भीष्मका वध करनेके लिये उत्साहित करना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं शिखण्डी गाङ्गेयमभ्यवर्तत संयुगे ।
पाण्डवांश्च कथं भीष्मस्तन्ममाचक्ष्व संजय ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! शिखण्डीने युद्धमें गंगानन्दन भीष्मपर किस प्रकार आक्रमण किया और भीष्मने भी पाण्डवोंपर किस तरह चढ़ाई की? यह सब मुझे बताओ ।। १ ।।

संजय उवाच

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सूर्यस्योदयनं प्रति ।
ताड्यमानासु भेरीषु मृदङ्गेष्वानकेषु च ।। २ ।।
ध्मायत्सु दधिवर्णेषु जलजेषु समन्ततः ।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य निर्याताः पाण्डवा युधि ।। ३ ।।

संजयने कहा—राजन्! तदनन्तर सूर्योदय होनेपर रणभेरियाँ बज उठीं, मृदंग और ढोल पीटे जाने लगे, दहीके समान श्वेतवर्णवाले शंख सब ओर बजाये जाने लगे। उस समय समस्त पाण्डव शिखण्डीको आगे करके युद्धके लिये शिविरसे बाहर निकले ।। २-३ ।।

कृत्वा व्यूहं महाराज सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।
शिखण्डी सर्वसैन्यानामग्र आसीद् विशाम्पते ।। ४ ।।

महाराज! प्रजानाथ! उस दिन शिखण्डी समस्त शत्रुओंका संहार करनेवाले व्यूहका निर्माण करके स्वयं सब सेनाके सामने खड़ा हुआ ।। ४ ।।

चक्ररक्षौ ततस्तस्य भीमसेनधनंजयौ ।
पृष्ठतो द्रौपदेयाश्च सौभद्रश्चैव वीर्यवान् ।। ५ ।।

उस समय भीमसेन और अर्जुन शिखण्डीके रथके पहियोंके रक्षक बन गये। द्रौपदीके पाँचों पुत्र और पराक्रमी सुभद्राकुमार अभिमन्युने उसके पृष्ठभागकी रक्षाका कार्य सँभाला ।। ५ ।।

सात्यकिश्चेकितानश्च तेषां गोप्ता महारथः ।
धृष्टद्युम्नस्ततः पश्चात् पञ्चालैरभिरक्षितः ।। ६ ।।

सात्यकि और चेकितान भी उन्हींके साथ थे। पांचाल वीरोंसे सुरक्षित महारथी धृष्टद्युम्न उन सबके पीछे रहकर सबकी रक्षा करते रहे ।। ६ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा यमाभ्यां सहितः प्रभुः ।
प्रययौ सिंहनादेन नादयन् भरतर्षभ ।। ७ ।।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिर नकुल-सहदेवके साथ अपने सिंहनादसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए युद्धके लिये चले ।। ७ ।।

विराटस्तु ततः पश्चात् स्वेन सैन्येन संवृतः ।
द्रुपदश्च महाबाहो ततः पश्चादुपाद्रवत् ।। ८ ।।

उनके पीछे अपनी सेनाके साथ राजा विराट चलने लगे। महाबाहो! विराटके पीछे द्रुपदने धावा किया ।। ८ ।।

केकया भ्रातरः पञ्च धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ।
जघनं पालयामासुः पाण्डुसैन्यस्य भारत ।। ९ ।।

भारत! इसके बाद पाँचों भाई केकय तथा पराक्रमी धृष्टकेतु—ये पाण्डवसेनाके जघनभागकी रक्षा करने लगे ।। ९ ।।

एवं व्यूह्य महासैन्यं पाण्डवास्तव वाहिनीम् ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।। १० ।।

इस प्रकार पाण्डवोंने अपनी विशाल सेनाके व्यूहका निर्माण करके संग्राममें अपने जीवनका मोह छोड़कर आपकी सेनापर धावा किया ।। १० ।।

तथैव कुरवो राजन् भीष्मं कृत्वा महारथम् ।
अग्रतः सर्वसैन्यानां प्रययुः पाण्डवान् प्रति ।। ११ ।।

राजन्! इसी प्रकार कौरवोंने भी महारथी भीष्मको सब सेनाओंके आगे करके पाण्डवोंपर चढ़ाई की ।। ११ ।।

पुत्रैस्तव दुराधर्षो रक्षितः सुमहाबलैः ।
(प्रययौ पाण्डवानीकं भीष्मः शान्तनुनन्दनः ।)
ततो द्रोणो महेष्वासः पुत्रश्चास्य महाबलः ।। १२ ।।

दुर्धर्ष वीर शान्तनुनन्दन भीष्म आपके महाबली पुत्रोंसे सुरक्षित हो पाण्डवोंकी सेनाकी ओर बढ़े। उनके पीछे महाधनुर्धर द्रोणाचार्य और महाबली अश्वत्थामा चले ।। १२ ।।

भगदत्तस्ततः पश्चाद् गजानीकेन संवृतः ।
कृपश्च कृतवर्मा च भगदत्तमनुव्रतौ ।। १३ ।।

इन दोनोंके पीछे हाथियोंकी विशाल सेनासे घिरे हुए राजा भगदत्त चले। कृपाचार्य और कृतवर्माने भगदत्तका अनुसरण किया ।। १३ ।।

काम्बोजराजो बलवांस्ततः पश्चात् सुदक्षिणः ।
मागधश्च जयत्सेनः सौबलश्च बृहद्बलः ।। १४ ।।

तत्पश्चात् बलवान् काम्बोजराज सुदक्षिण, मगध-देशीय जयत्सेन तथा सुबलपुत्र बृहद्बल चले ।। १४ ।।

तथैवान्ये महेष्वासाः सुशर्मप्रमुखा नृपाः ।
जघनं पालयामासुस्तव सैन्यस्य भारत ।। १५ ।।

भारत! इसी प्रकार सुशर्मा आदि अन्य महाधनुर्धर राजाओंने आपकी सेनाके जघनभागकी रक्षाका कार्य सँभाला ।। १५ ।।

दिवसे दिवसे प्राप्ते भीष्मः शान्तनवो युधि ।
आसुरानकरोद् व्यूहान् पैशाचानथ राक्षसान् ।। १६ ।।

शान्तनुनन्दन भीष्म युद्धमें प्रतिदिन असुर, पिशाच तथा राक्षसव्यूहोंका निर्माण किया करते थे ।। १६ ।।

ततः प्रववृते युद्धं तव तेषां च भारत ।
अन्योन्यं निघ्नतां राजन् यमराष्ट्रविवर्धनम् ।। १७ ।।

भारत! (उस दिन भी व्यूह-रचनाके बाद) आपके और पाण्डवोंकी सेनामें युद्ध आरम्भ हुआ। राजन्! परस्पर घातक प्रहार करनेवाले उन वीरोंका युद्ध यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाला था ।। १७ ।।

अर्जुनप्रमुखाः पार्थाः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
भीष्मं युद्धेऽभ्यवर्तन्त किरन्तो विविधाञ्छरान् ।। १८ ।।

अर्जुन आदि कुन्तीकुमारोंने शिखण्डीको आगे करके युद्धमें नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करते हुए वहाँ भीष्मपर चढ़ाई की ।। १८ ।।

तत्र भारत भीमेन ताडितास्तावकाः शरैः ।
रुधिरौघपरिक्लिन्नाः परलोकं ययुस्तदा ।। १९ ।।

भारत! वहाँ भीमसेनके द्वारा बाणोंसे ताड़ित हुए आपके सैनिक खूनसे लथपथ होकर परलोकगामी होने लगे ।।

नकुलः सहदेवश्च सात्यकिश्च महारथः ।
तव सैन्यं समासाद्य पीडयामासुरोजसा ।। २० ।।

नकुल, सहदेव और महारथी सात्यकिने आपकी सेनापर धावा करके उसे बलपूर्वक पीड़ित किया ।। २० ।।

ते वध्यमानाः समरे तावका भरतर्षभ ।
नाशक्नुवन् वारयितुं पाण्डवानां महद् बलम् ।। २१ ।।

भरतश्रेष्ठ! आपके सैनिक समरभूमिमें मारे जाने लगे। वे पाण्डवोंकी विशाल सेनाको रोक न सके ।। २१ ।।

ततस्तु तावकं सैन्यं वध्यमानं समन्ततः ।
सुसम्प्राप्तं दश दिशः काल्यमानं महारथैः ।। २२ ।।

उन महारथी वीरोंद्वारा सब ओरसे मारी और खदेड़ी जाती हुई आपकी सेना सब दिशाओंमें भाग खड़ी हुई ।। २२ ।।

त्रातारं नाध्यगच्छन्त तावका भरतर्षभ ।

वध्यमानाः शितैर्बाणैः पाण्डवैः सहसृंजयैः ।। २३ ।।

भरतश्रेष्ठ! पाण्डवों और सृंजयोंके तीखे बाणोंसे घायल होनेवाले आपके सैनिकोंको कोई रक्षक नहीं मिलता था ।। २३ ।।

धृतराष्ट्र उवाच

पीड्यमानं बलं दृष्ट्वा पार्थैर्भीष्मः पराक्रमी ।

यदकार्षीद् रणे क्रुद्धस्तन्ममाचक्ष्व संजय ।। २४ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! कुन्तीकुमारोंके द्वारा अपनी सेनाको पीड़ित हुई देख युद्धमें क्रुद्ध हुए पराक्रमी भीष्मने क्या किया? यह मुझे बताओ ।। २४ ।।

कथं वा पाण्डवान् युद्धे प्रत्युद्यातः परंतपः ।

विनिघ्नन् सोमकान् वीरस्तदाचक्ष्व ममानघ ।। २५ ।।

अनघ! शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरवर भीष्मने युद्धस्थलमें सोमकोंका संहार करते हुए उस समय पाण्डवोंपर किस प्रकार आक्रमण किया? वह सब भी मुझे बताओ ।। २५ ।।

संजय उवाच

आचक्षे ते महाराज यदकार्षीत् पिता तव ।

पीडिते तव पुत्रस्य सैन्ये पाण्डवसृंजयैः ।। २६ ।।

संजयने कहा—महाराज! पाण्डवों तथा सृंजयों-द्वारा आपके पुत्रकी सेनाके पीड़ित होनेपर आपके ताऊ भीष्मने जो कुछ किया था, वह सब आपको बता रहा हूँ ।। २६ ।।

प्रहृष्टमनसः शूराः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज ।

अभ्यवर्तन्त निघ्नन्तस्तव पुत्रस्य वाहिनीम् ।। २७ ।।

पाण्डुके बड़े भैया! शूरवीर पाण्डव मनमें हर्ष और उत्साह भरकर आपके पुत्रकी सेनाका संहार करते हुए आगे बढ़े ।। २७ ।।

तं विनाशं मनुष्येन्द्र नरवारणवाजिनाम् ।

नामृष्यत तदा भीष्मः सैन्यघातं रणे परैः ।। २८ ।।

नरेन्द्र! उस समय मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंके उस विनाशको—रणक्षेत्रमें शत्रुओंद्वारा किये जानेवाले अपनी सेनाके संहारको भीष्मजी नहीं सह सके ।। २८ ।।

स पाण्डवान् महेष्वासः पञ्चालांश्चैव सृंजयान् ।

नाराचैर्वत्सदन्तैश्च शितैरञ्जलिकैस्तथा ।। २९ ।।

अभ्यवर्षत दुर्धर्षस्त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।

वे महाधनुर्धर दुर्धर्ष वीर भीष्म अपने जीवनका मोह छोड़कर पाण्डवों, पांचालों तथा सृंजयोंपर तीखे नाराच, वत्सदन्त और अंजलिक आदि बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। २९½ ।।

स पाण्डवानां प्रवरान् पञ्च राजन् महारथान् ।। ३० ।।

आत्तशस्त्रो रणे यत्नाद् वारयामास सायकैः ।

राजन्! वे अस्त्र-शस्त्र लेकर पाण्डवपक्षके पाँच श्रेष्ठ महारथियोंका रणक्षेत्रमें बाणोंद्वारा यत्नपूर्वक निवारण करने लगे ।। ३०½ ।।

नानाशस्त्रास्त्रवर्षैस्तान् वीर्यामर्षप्रवेरितैः ।। ३१ ।।

निजघ्ने समरे क्रुद्धो हस्त्यश्वं चामितं बहु ।

उन्होंने बल और क्रोधसे चलाये हुए नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षाद्वारा समरांगणमें उन पाँचों महारथियोंको मार डाला और कुपित होकर असंख्य हाथी-घोड़ोंका भी संहार कर डाला ।। ३१½ ।।

रथिनोऽपातयद् राजन् रथेभ्यः पुरुषर्षभः ।। ३२ ।।

सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यः पादातांश्च समागतान् ।

गजारोहान् गजेभ्यश्च परेषां जयकारिणः ।। ३३ ।।

राजन्! पुरुषश्रेष्ठ भीष्मने कितने ही रथियोंको रथोंसे, घुड़सवारोंको घोड़ोंकी पीठोंसे, शत्रुओंपर विजय पानेवाले हाथीसवारोंको हाथियोंसे तथा सामने आये हुए पैदल सिपाहियोंको भी मार गिराया ।। ३२-३३ ।।

तमेकं समरे भीष्मं त्वरमाणं महारथम् ।

पाण्डवाः समवर्तन्त वज्रहस्तमिवासुराः ।। ३४ ।।

समरभूमिमें फुर्ती दिखानेवाले एकमात्र महारथी भीष्मपर समस्त पाण्डवोंने उसी प्रकार धावा किया, जैसे असुर वज्रधारी इन्द्रपर आक्रमण करते हैं ।। ३४ ।।

शक्राशनिसमस्पर्शान् विमुञ्चन् निशिताञ्छरान् ।

दिक्ष्वदृश्यत सर्वासु घोरं संधारयन् वपुः ।। ३५ ।।

भीष्म इन्द्रके वज्रके समान दुःसह स्पर्शवाले पैने बाणोंकी वर्षा कर रहे थे और सम्पूर्ण दिशाओंमें भयंकर स्वरूप धारण किये दिखायी देते थे ।। ३५ ।।

मण्डलीभूतमेवास्य नित्यं धनुरदृश्यत ।

संग्रामे युद्ध्यमानस्य शक्रचापोपमं महत् ।। ३६ ।।

संग्रामभूमिमें युद्ध करते हुए भीष्मका इन्द्रधनुषके समान विशाल धनुष सदा मण्डलाकार ही दिखायी देता था ।।

तद् दृष्ट्वा समरे कर्म पुत्रास्तव विशाम्पते ।

विस्मयं परमं गत्वा पितामहमपूजयन् ।। ३७ ।।

प्रजानाथ! रणक्षेत्रमें आपके पुत्र पितामहके उस कर्मको देखकर अत्यन्त आश्चर्यमें पड़ गये और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ।। ३७ ।।

पार्था विमनसो भूत्वा प्रैक्षन्त पितरं तव ।। ३८ ।।

युध्यमानं रणे शूरं विप्रचित्तिमिवामराः ।

उस समय कुन्तीके पुत्र खिन्नचित्त होकर रणक्षेत्रमें युद्ध करते हुए आपके ताऊ शूरवीर भीष्मकी ओर उसी प्रकार देखने लगे, जैसे देवता विप्रचित्ति नामक दानवको देखते हैं ।। ३८½ ।।

न चैनं वारयामासुर्व्यात्ताननमिवान्तकम् ।। ३९ ।।

दशमेऽहनि सम्प्राप्ते रथानीकं शिखण्डिनः ।

अदहन्निशितैर्बाणैः कृष्णवर्त्मेव काननम् ।। ४० ।।

वे मुँह फैलाये हुए कालके समान भीष्मको रोक न सके। दसवाँ दिन आनेपर भीष्म जैसे दावाग्नि वनको जला देती है, उसी प्रकार शिखण्डीकी रथसेनाको तीखे बाणोंकी आगमें भस्म करने लगे ।। ३९-४० ।।

तं शिखण्डी त्रिभिर्बाणैरभ्यविध्यत् स्तनान्तरे ।

आशीविषमिव क्रुद्धं कालसृष्टमिवान्तकम् ।। ४१ ।।

तब शिखण्डीने तीन बाणोंसे भीष्मकी छातीमें प्रहार किया। उस समय वे कालप्रेरित मृत्यु तथा क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान जान पड़ते थे ।। ४१ ।।

स तेनातिभृशं विद्धः प्रेक्ष्य भीष्मः शिखण्डिनम् ।

अनिच्छन्निव संक्रुद्धः प्रहसन्निदमब्रवीत् ।। ४२ ।।

शिखण्डीके द्वारा अत्यन्त घायल हो भीष्म उसकी ओर देखकर अत्यन्त कुपित हो बिना इच्छाके ही हँसते हुए इस प्रकार बोले— ।। ४२ ।।

काममभ्यस वा मा वा न त्वां योत्स्ये कथंचन ।

यैव हि त्वं कृता धात्रा सैव हि त्वं शिखण्डिनी ।। ४३ ।।

'अरे, तू इच्छानुसार प्रहार कर या न कर। मैं तेरे साथ किसी तरह युद्ध नहीं करूँगा। विधाताने जिस रूपमें तुझे उत्पन्न किया था, तू वही शिखण्डिनी है' ।। ४३ ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शिखण्डी क्रोधमूर्च्छितः ।

उवाचैनं तथा भीष्मं सृक्किणी परिसंलिहन् ।। ४४ ।।

उनकी यह बात सुनकर शिखण्डी क्रोधसे मूर्च्छित-सा हो गया और अपने मुँहके कोनोंको चाटता हुआ भीष्मसे इस प्रकार बोला— ।। ४४ ।।

जानामि त्वां महाबाहो क्षत्रियाणां क्षयंकर ।

मया श्रुतं च ते युद्धं जामदग्न्येन वै सह ।। ४५ ।।

'क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले महाबाहु भीष्म! मैं भी आपको जानता हूँ। मैंने सुना है कि आपने जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध किया था ।। ४५ ।।

दिव्यश्च ते प्रभावोऽयं मया च बहुशः श्रुतः ।
जानन्नपि प्रभावं ते योत्स्येऽद्याहं त्वया सह ।। ४६ ।।

'आपका यह दिव्य प्रभाव बहुत बार मेरे सुननेमें आया है। आपके उस प्रभावको जानकर भी मैं आज आपके साथ युद्ध करूँगा ।। ४६ ।।

पाण्डवानां प्रियं कुर्वन्नात्मनश्च नरोत्तम ।
अद्य त्वां योधयिष्यामि रणे पुरुषसत्तम ।। ४७ ।।

'नरश्रेष्ठ! पुरुषप्रवर! आज पाण्डवोंका और अपना भी प्रिय करनेके लिये रणक्षेत्रमें खूब डटकर आपका सामना करूँगा ।। ४७ ।।

ध्रुवं च त्वां हनिष्यामि शपे सत्येन तेऽग्रतः ।
एतच्छ्रुत्वा च मद्वाक्यं यत् कृत्यं तत् समाचर ।। ४८ ।।

'मैं आपके सामने सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि आज आपको निश्चय ही मार डालूँगा। मेरी यह बात सुनकर आपको जो कुछ करना हो, वह कीजिये ।। ४८ ।।

काममभ्यस वा मा वा न मे जीवन् प्रमोक्ष्यसे ।
सुदृष्टः क्रियतां भीष्म लोकोऽयं समितिंजय ।। ४९ ।।

'युद्धविजयी भीष्मजी! आप मुझपर इच्छानुसार प्रहार कीजिये या न कीजिये; परंतु आज आप मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकेंगे। अब इस संसारको अच्छी तरह देख लीजिये' ।। ४९ ।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो भीष्मं पञ्चभिर्नतपर्वभिः ।
अविध्यत रणे भीष्मं प्रणुन्नं वाक्यसायकैः ।। ५० ।।

संजय कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर शिखण्डीने जिन्हें पहले वचनरूपी बाणोंसे पीड़ित किया था, उन्हीं भीष्मको झुकी हुई गाँठवाले पाँच सायकोंद्वारा घायल कर दिया ।। ५० ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सव्यसाची महारथः ।
कालोऽयमिति संचिन्त्य शिखण्डिनमचोदयत् ।। ५१ ।।

उसके उस कथनको सुनकर महारथी सव्यसाची अर्जुनने यह सोचकर कि यही इसके उत्साह बढ़ानेका अवसर है, शिखण्डीसे इस प्रकार कहा— ।। ५१ ।।

अहं त्वामनुयास्यामि परान् विद्रावयञ्शरैः ।
अभिद्रव सुसंरब्धो भीष्मं भीमपराक्रमम् ।। ५२ ।।

'वीर! मैं बाणोंद्वारा शत्रुओंको भगाता हुआ सदा तुम्हारा साथ दूँगा। अतः तुम भयंकर पराक्रमी भीष्मपर रोषपूर्वक आक्रमण करो ।। ५२ ।।

न हि ते संयुगे पीडां शक्तः कर्तुं महाबलः ।

तस्मादद्य महाबाहो यत्नाद् भीष्ममभिद्रव ।। ५३ ।।

भीष्मजीका शिखण्डीसे युद्ध न करनेकी इच्छा प्रकट करना

'महाबाहो! युद्धमें महाबली भीष्म तुम्हें पीड़ा नहीं दे सकते, इसलिये आज यत्नपूर्वक इनके ऊपर धावा करो ।।

अहत्वा समरे भीष्मं यदि यास्यसि मारिष ।
अवहास्योऽस्य लोकस्य भविष्यसि मया सह ।। ५४ ।।

'आर्य! यदि समरभूमिमें भीष्मको मारे बिना लौट जाओगे तो मेरे सहित तुम इस लोकमें उपहासके पात्र बन जाओगे ।। ५४ ।।

नावहास्या यथा वीर भवेम परमाहवे ।
तथा कुरु रणे यत्नं साधयस्व पितामहम् ।। ५५ ।।

'वीर! इस महायुद्धमें जैसे भी हमलोग हँसीके पात्र न बनें, वैसा प्रयत्न करो। रणक्षेत्रमें पितामह भीष्मको अवश्य मार डालो ।। ५५ ।।

अहं ते रक्षणं युद्धे करिष्यामि महाबल ।
वारयन् रथिनः सर्वान् साधयस्व पितामहम् ।। ५६ ।।

'महाबली वीर! इस युद्धमें मैं सब रथियोंको रोककर सदा तुम्हारी रक्षा करता रहूँगा। तुम पितामहको मारनेका कार्य सिद्ध कर लो ।। ५६ ।।

द्रोणं च द्रोणपुत्रं च कृपं चाथ सुयोधनम् ।
चित्रसेनं विकर्णं च सैन्धवं च जयद्रथम् ।। ५७ ।।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ काम्बोजं च सुदक्षिणम् ।
भगदत्तं तथा शूरं मागधं च महाबलम् ।। ५८ ।।
सौमदत्तिं तथा शूरमार्ष्यशृङ्गिं च राक्षसम् ।
त्रिगर्तराजं च रणे सह सर्वैर्महारथैः ।। ५९ ।।
अहमावारयिष्यामि वेलेव मकरालयम् ।

'मैं द्रोणाचार्य, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, कृपाचार्य, दुर्योधन, चित्रसेन, विकर्ण, सिन्धुराज जयद्रथ, अवन्तीके राजकुमार विन्द-अनुविन्द, काम्बोजराज सुदक्षिण, शूरवीर भगदत्त, महाबली मगधराज, सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा, राक्षस अलम्बुष तथा त्रिगर्तराज सुशर्माको रणक्षेत्रमें सब महारथियोंके साथ उसी प्रकार रोक रखूँगा, जैसे तटभूमि समुद्रको आगे बढ़ने नहीं देती है ।। ५७—५९½ ।।

कुरूंश्च सहितान् सर्वान् युध्यमानान् महाबलान् ।
निवारयिष्यामि रणे साधयस्व पितामहम् ।। ६० ।।

'युद्धमें एक साथ लगे हुए समस्त महाबली कौरवोंको भी मैं युद्धस्थलमें आगे बढ़नेसे रोक दूँगा। तुम पितामह भीष्मके वधका कार्य सिद्ध करो' ।। ६० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मशिखण्डीसमागमे अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म और शिखण्डीका समागमविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०८ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६०½ श्लोक हैं।]

नवाधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और दुर्योधनका संवाद तथा भीष्मके द्वारा लाखों सैनिकोंका संहार

धृतराष्ट्र उवाच

कथं शिखण्डी गाङ्गेयमभ्यधावत् पितामहम् ।
पाञ्चाल्यः समरे क्रुद्धो धर्मात्मानं यतव्रतम् ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! पांचालराजकुमार शिखण्डीने समरभूमिमें कुपित होकर नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले धर्मात्मा पितामह गंगानन्दन भीष्मपर किस प्रकार धावा किया? ।। १ ।।

केऽरक्षन् पाण्डवानीके शिखण्डिनमुदायुधाः ।
त्वरमाणास्त्वराकाले जिगीषन्तो महारथाः ।। २ ।।

पाण्डवोंकी सेनाके किन-किन वीर महारथियोंने अस्त्र-शस्त्र लेकर विजयकी अभिलाषासे उस शीघ्रताके समय अपनी शीघ्रकारिताका परिचय देते हुए शिखण्डीका संरक्षण किया? ।। २ ।।

कथं शान्तनवो भीष्मः स तस्मिन् दशमेऽहनि ।
अयुध्यत महावीर्यः पाण्डवैः सहसृंजयैः ।। ३ ।।

महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्मने दसवें दिन पाण्डवों तथा सृंजयोंके साथ किस प्रकार युद्ध किया? ।। ३ ।।

न मृष्यामि रणे भीष्मं प्रत्युद्यातं शिखण्डिना ।
कच्चिन्न रथभङ्गोऽस्य धनुर्वाशीर्यतास्यतः ।। ४ ।।

रणक्षेत्रमें शिखण्डीने भीष्मपर आक्रमण किया, यह मुझसे सहन नहीं हो रहा है। कहीं उनका रथ तो नहीं टूट गया था अथवा बाणोंका प्रहार करते-करते उनके धनुषके टुकड़े-टुकड़े तो नहीं हो गये थे? ।। ४ ।।

संजय उवाच

नाशीर्यत धनुश्चास्य रथभङ्गो न चाप्यभूत् ।
युध्यमानस्य संग्रामे भीष्मस्य भरतर्षभ ।। ५ ।।
निघ्नतः समरे शत्रूञ्शरैः संनतपर्वभिः ।

संजयने कहा—भरतश्रेष्ठ! संग्राममें युद्ध करते समय भीष्मके न तो धनुषके ही टुकड़े-टुकड़े हुए थे और न उनका रथ ही टूटा था। वे समरभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा शत्रुओंका संहार करते जा रहे थे ।।

अनेकशतसाहस्रास्तावकानां महारथाः ।। ६ ।।
तथा दन्तिगणा राजन् हयाश्चैव सुसज्जिताः ।
अभ्यवर्तन्त युद्धाय पुरस्कृत्य पितामहम् ।। ७ ।।

राजन्! आपके कई लाख महारथी, हाथी और घोड़े सुसज्जित हो पितामह भीष्मको आगे करके युद्धके लिये बढ़ रहे थे ।। ६-७ ।।

यथाप्रतिज्ञं कौरव्य स चापि समितिञ्जयः ।
पार्थानामकरोद् भीष्मः सततं समितिक्षयम् ।। ८ ।।

कुरुनन्दन! युद्धविजयी भीष्म अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार रणक्षेत्रमें कुन्तीकुमारोंके सैनिकोंका निरन्तर संहार कर रहे थे ।। ८ ।।

युध्यमानं महेष्वासं विनिघ्नन्तं पराञ्शरैः ।
पञ्चालाः पाण्डवैः सार्धं सर्वे ते नाभ्यवारयन् ।। ९ ।।

बाणोंद्वारा शत्रुओंको मारते हुए युद्धपरायण महा-धनुर्धर भीष्मको पाण्डवोंसहित सारे पांचाल योद्धा भी आगे बढ़नेसे रोक न सके ।। ९ ।।

दशमेऽहनि सम्प्राप्ते ततस्तां रिपुवाहिनीम् ।
कीर्यमाणां शितैर्बाणैः शतशोऽथ सहस्रशः ।। १० ।।

दसवें दिन शत्रुकी सेनापर भीष्मके द्वारा सैकड़ों और हजारों पैने बाणोंकी वर्षा की जाने लगी परंतु पाण्डव इसे रोक न सके ।। १० ।।

न हि भीष्मं महेष्वासं पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज ।
अशक्नुवन् रणे जेतुं पाशहस्तमिवान्तकम् ।। ११ ।।

पाण्डुके ज्येष्ठ भ्राता धृतराष्ट्र! पाशधारी यमराजके समान महाधनुर्धर भीष्मको युद्धमें जीतनेके लिये पाण्डव कभी समर्थ न हो सके ।। ११ ।।

अथोपायान्महाराज सव्यसाची धनंजयः ।
त्रासयन् रथिनः सर्वान् बीभत्सुरपराजितः ।। १२ ।।

महाराज! तदनन्तर किसीसे परास्त न होनेवाले और बायें हाथसे भी बाण चलानेमें समर्थ धनंजय अर्जुन समस्त रथियोंको भयभीत करते हुए उनके निकट आये ।। १२ ।।

सिंहवद् विनदन्नुच्चैर्धनुर्ज्यां विक्षिपन् मुहुः ।
शरौघान् विसृजन् पार्थो व्यचरत् कालवद् रणे ।। १३ ।।

वे कुन्तीकुमार सिंहके समान उच्चस्वरसे गर्जना करते हुए बारंबार अपने धनुषकी डोरी खींचते और बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए रणक्षेत्रमें कालके समान विचरते थे ।। १३ ।।

तस्य शब्देन वित्रस्तास्तावका भरतर्षभ ।
सिंहस्येव मृगा राजन् व्यद्रवन्त महाभयात् ।। १४ ।।

राजन्! भरतश्रेष्ठ! जैसे सिंहके शब्दसे अत्यन्त भयभीत होकर मृग भाग जाते हैं, उसी प्रकार अर्जुनके सिंहनादसे संत्रस्त हुए आपके सैनिक महान् भयके कारण भागने

लगे ।। १४ ।।

जयन्तं पाण्डवं दृष्ट्वा त्वत्सैन्यं चाभिपीडितम् ।

दुर्योधनस्ततो भीष्ममब्रवीद् भृशपीडितः ।। १५ ।।

पाण्डुनन्दन अर्जुनको जीतते और आपकी सेनाको पीड़ित होती देख दुर्योधन अत्यन्त पीड़ित होकर भीष्मसे बोला— ।। १५ ।।

एष पाण्डुसुतस्तात श्वेताश्वः कृष्णसारथिः ।

दहते मामकान् सर्वान् कृष्णवर्त्मेव काननम् ।। १६ ।।

'तात! ये श्वेत घोड़ोंवाले पाण्डुपुत्र अर्जुन, जिनके सारथि श्रीकृष्ण हैं, मेरे सारे सैनिकोंको उसी प्रकार दग्ध करते हैं, जैसे दावानल वनको ।। १६ ।।

पश्य सैन्यानि गाङ्गेय द्रवमाणानि सर्वशः ।

पाण्डवेन युधां श्रेष्ठ काल्यमानानि संयुगे ।। १७ ।।

'योद्धाओंमें श्रेष्ठ गंगानन्दन! देखिये, मेरी सेनाएँ सब ओर भाग रही हैं और अर्जुन युद्धस्थलमें खड़े हो उन्हें खदेड़ रहे हैं ।। १७ ।।

यथा पशुगणान् पालः संकालयति कानने ।

तथेदं मापकं सैन्यं काल्यते शत्रुतापन ।। १८ ।।

'शत्रुओंको संताप देनेवाले पितामह! जैसे चरवाहा जंगलमें पशुओंको हाँकता है, उसी प्रकार मेरी यह सेना अर्जुनके द्वारा हाँकी जा रही है ।। १८ ।।

धनंजयशरैर्भग्नं द्रवमाणं ततस्ततः ।

भीमोऽप्येवं दुराधर्षो विद्रावयति मे बलम् ।। १९ ।।

'धनंजयके बाणोंसे आहत हो व्यूह भंग करके इधर-उधर भागनेवाली मेरी सेनाको ये दुर्धर्ष वीर भीमसेन भी पीछेसे खदेड़ रहे हैं ।। १९ ।।

सात्यकिश्चेकितानश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।

अभिमन्युः सुविक्रान्तो वाहिनीं द्रवते मम ।। २० ।।

'सात्यकि, चेकितान, पाण्डु और माद्रीके पुत्र नकुल-सहदेव और पराक्रमी अभिमन्यु भी मेरी सेनाको भगा रहे हैं ।।

धृष्टद्युम्नस्तथा शूरो राक्षसश्च घटोत्कचः ।

व्यद्रावयेतां सहसा सैन्यं मम महारणे ।। २१ ।।

'धृष्टद्युम्न तथा शूरवीर राक्षस घटोत्कचने भी सहसा इस महासमरमें आकर मेरी सेनाको मार भगाया है ।। २१ ।।

वध्यमानस्य सैन्यस्य सर्वैरेतैर्महारथैः ।

नान्यां गतिं प्रपश्यामि स्थाने युद्धे च भारत ।। २२ ।।

ऋते त्वां पुरुषव्याघ्र देवतुल्यपराक्रम ।

पर्याप्तस्तु भवाञ्शीघ्रं पीडितानां गतिर्भव ।। २३ ।।

'भारत! इन सब महारथियोंद्वारा मारी जाती हुई अपनी सेनाको मैं युद्धमें ठहरानेके लिये आपके सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं देखता। देवतुल्य पराक्रमी पुरुषसिंह! केवल आप ही उसकी रक्षामें समर्थ हैं। अतः हम पीड़ितोंके लिये आप शीघ्र ही आश्रयदाता होइये' ।। २२-२३ ।।

संजय उवाच

एवमुक्तो महाराज पिता देवव्रतस्तव ।
चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु कृत्वा निश्चयमात्मनः ।। २४ ।।
तव संधारयन् पुत्रमब्रवीच्छान्तनोः सुतः ।
दुर्योधन विजानीहि स्थिरो भूत्वा विशाम्पते ।। २५ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर आपके ताऊ शान्तनुनन्दन देवव्रतने दो घड़ीतक कुछ चिन्तन करनेके पश्चात् अपना एक निश्चय करके आपके पुत्र दुर्योधनको सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—'प्रजानाथ दुर्योधन! सुस्थिर होकर इधर ध्यान दो ।।

पूर्वकालं तव मया प्रतिज्ञातं महाबल ।
हत्वा दशसहस्राणि क्षत्रियाणां महात्मनाम् ।। २६ ।।
संग्रामाद् व्यपयातव्यमेतत् कर्म ममाह्निकम् ।
इति तत् कृतवांश्चाहं यथोक्तं भरतर्षभ ।। २७ ।।

'महाबली नरेश! पूर्वकालमें मैंने तुम्हारे लिये यह प्रतिज्ञा की थी कि दस हजार महामनस्वी क्षत्रियोंका वध करके ही मुझे संग्रामभूमिसे हटना होगा और यह मेरा दैनिक कर्म होगा। भरतश्रेष्ठ! जैसा मैंने कहा था, वैसा अबतक करता आया हूँ ।। २६-२७ ।।

अद्य चापि महत् कर्म प्रकरिष्ये महाबल ।
अहं वाद्य हतः शेष्ये हनिष्ये वाद्य पाण्डवान् ।। २८ ।।

'महाबली वीर! आज भी मैं महान् कर्म करूँगा। या तो आज मैं ही मारा जाकर रणभूमिमें सो जाऊँगा या पाण्डवोंका ही संहार करूँगा ।। २८ ।।

अद्य ते पुरुषव्याघ्र प्रतिमोक्ष्ये ऋणं तव ।
भर्तृपिण्डकृतं राजन् निहतः पृतनामुखे ।। २९ ।।

'पुरुषसिंह! नरेश! तुम स्वामी हो, मुझपर तुम्हारे अन्नका ऋण है; आज युद्धके मुहानेपर मारा जाकर मैं तुम्हारे उस ऋणको उतार दूँगा' ।। २९ ।।

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठ क्षत्रियान् प्रवपञ्छरैः ।
आससाद दुराधर्षः पाण्डवानामनीकिनीम् ।। ३० ।।

भरतश्रेष्ठ! ऐसा कहकर दुर्धर्ष वीर भीष्मने क्षत्रियोंपर अपने बाणोंकी वर्षा करते हुए पाण्डवोंकी सेनापर आक्रमण किया ।। ३० ।।

अनीकमध्ये तिष्ठन्तं गाङ्गेयं भरतर्षभ ।

आशीविषमिव क्रुद्धं पाण्डवाः प्रत्यवारयन् ।। ३१ ।।

सेनाके मध्यभागमें स्थित हुए विषधर सर्पके समान कुपित भीष्मको पाण्डव सैनिक रोकने लगे ।। ३१ ।।

दशमेऽहनि भीष्मस्तु दर्शयञ्शक्तिमात्मनः ।

राजञ्छतसहस्राणि सोऽवधीत् कुरुनन्दन ।। ३२ ।।

किंतु राजन्! कुरुनन्दन! दसवें दिन भीष्मने अपनी शक्तिका परिचय देते हुए लाखों पाण्डव-सैनिकोंका संहार कर डाला ।। ३२ ।।

पञ्चालानां च ये श्रेष्ठा राजपुत्रा महारथाः ।

तेषामादत्त तेजांसि जलं सूर्य इवांशुभिः ।। ३३ ।।

जैसे सूर्य अपनी किरणोंद्वारा धरतीका जल सोख लेते हैं, उसी प्रकार भीष्मजीने पांचालोंमें जो श्रेष्ठ महारथी राजकुमार थे, उन सबके तेज हर लिये ।। ३३ ।।

हत्वा दश सहस्राणि कुञ्जराणां तरस्विनाम् ।

सारोहाणां महाराज हयानां चायुतं तथा ।। ३४ ।।

पूर्णे शतसहस्रे द्वे पादातानां नरोत्तमः ।

प्रजज्वाल रणे भीष्मो विधूम इव पावकः ।। ३५ ।।

महाराज! सवारोंसहित दस हजार वेगशाली हाथियों, उतने ही घोड़ों और घुड़सवारों तथा दो लाख पैदल सैनिकोंको नरश्रेष्ठ भीष्मने रणभूमिमें धूमरहित अग्निकी भाँति फूँक डाला ।। ३४-३५ ।।

न चैनं पाण्डवेयानां केचिच्छेकुर्निरीक्षितुम् ।

उत्तरं मार्गमास्थाय तपन्तमिव भास्करम् ।। ३६ ।।

उत्तरायणका आश्रय लेकर तपते हुए सूर्यकी भाँति प्रतापी भीष्मकी ओर पाण्डवोंमेंसे कोई देखनेमें समर्थ न हो सके ।। ३६ ।।

ते पाण्डवेयाः संरब्धा महेष्वासेन पीडिताः ।

वधायाभ्यद्रवन् भीष्मं सृंजयाश्च महारथाः ।। ३७ ।।

महाधनुर्धर भीष्मके बाणोंसे पीड़ित हो अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए पाण्डव तथा सृंजय महारथी भीष्मके वधके लिये उनपर टूट पड़े ।। ३७ ।।

संयुद्ध्यमानो बहुभिर्भीष्मः शान्तनवस्तथा ।

अवकीर्णो महामेरुः शैलो मेघैरिवावृतः ।। ३८ ।।

बहुत-से योद्धाओंके साथ अकेले युद्ध करते हुए शान्तनुनन्दन भीष्म उस समय बाणोंसे आच्छादित हो मेघोंके समूहसे आवृत हुए महान् पर्वत मेरुकी भाँति शोभा पा रहे थे ।। ३८ ।।

पुत्रास्तु तव गाङ्गेयं समन्तात् पर्यवारयन् ।

महत्या सेनया सार्धं ततो युद्धमवर्तत ।। ३९ ।।

राजन्! आपके पुत्रोंने विशाल सेनाके साथ आकर गंगानन्दन भीष्मको सब ओरसे घेर लिया। तत्पश्चात् वहाँ विकट युद्ध होने लगा ।। ३९ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मदुर्योधनसंवादे नवाधिकशततमोऽध्यायः ।। १०९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-दुर्योधन-संवादविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १०९ ।।

दशाधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके प्रोत्साहनसे शिखण्डीका भीष्मपर आक्रमण और दोनों सेनाओंके प्रमुख वीरोंका परस्पर युद्ध तथा दुःशासनका अर्जुनके साथ घोर युद्ध

संजय उवाच

अर्जुनस्तु रणे राजन् दृष्ट्वा भीष्मस्य विक्रमम् ।
शिखण्डिनमथोवाच समभ्येहि पितामहम् ।। १ ।।
न चापि भीस्त्वया कार्या भीष्मादद्य कथंचन ।
अहमेनं शरैस्तीक्ष्णैः पातयिष्ये रथोत्तमात् ।। २ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! रणभूमिमें भीष्मका पराक्रम देखकर अर्जुनने शिखण्डीसे कहा—'वीर! तुम पितामहका सामना करनेके लिये आगे बढ़ो। आज भीष्मजीसे तुम्हें किसी प्रकार भय नहीं करना चाहिये। मैं स्वयं अपने पैने बाणोंद्वारा इनको उत्तम रथसे मार गिराऊँगा' ।। १-२ ।।

एवमुक्तस्तु पार्थेन शिखण्डी भरतर्षभ ।
अभ्यद्रवत गाङ्गेयं श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ।। ३ ।।

भरतश्रेष्ठ! जब अर्जुनने शिखण्डीसे ऐसा कहा, तब उसने पार्थके उस कथनको सुनकर गंगानन्दन भीष्मपर धावा किया ।। ३ ।।

धृष्टद्युम्नस्तथा राजन् सौभद्रश्च महारथः ।
हृष्टावाद्रवतां भीष्मं श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ।। ४ ।।

राजन्! पार्थका वह भाषण सुनकर धृष्टद्युम्न तथा सुभद्राकुमार महारथी अभिमन्यु—ये दोनों वीर हर्ष और उत्साहमें भरकर भीष्मकी ओर दौड़े ।। ४ ।।

विराटद्रुपदौ वृद्धौ कुन्तिभोजश्च दंशितः ।
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं पुत्रस्य तव पश्यतः ।। ५ ।।

दोनों वृद्ध नरेश विराट और द्रुपद तथा कवचधारी कुन्तिभोज भी आपके पुत्रके देखते-देखते गंगानन्दन भीष्मपर टूट पड़े ।। ५ ।।

नकुलः सहदेवश्च धर्मराजश्च वीर्यवान् ।
तथेतराणि सैन्यानि सर्वाण्येव विशाम्पते ।। ६ ।।
समाद्रवन्त गाङ्गेयं श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ।

प्रजानाथ! नकुल, सहदेव, पराक्रमी धर्मराज युधिष्ठिर तथा दूसरे समस्त सैनिक अर्जुनका उपर्युक्त वचन सुनकर भीष्मजीकी ओर बढ़ने लगे ।। ६$\frac{1}{2}$ ।।

प्रत्युद्ययुस्तावकाश्च समेतांस्तान् महारथान् ।। ७ ।।
यथाशक्ति यथोत्साहं तन्मे निगदतः शृणु ।

इस प्रकार एकत्र हुए पाण्डव महारथियोंपर आपके पुत्रोंने भी जिस प्रकार अपनी शक्ति और उत्साहके अनुसार आक्रमण किया, वह सब बताता हूँ, सुनिये ।।

चित्रसेनो महाराज चेकितानं समभ्ययात् ।। ८ ।।
भीष्मप्रेप्सुं रणे यान्तं वृषं व्याघ्रशिशुर्यथा ।

महाराज! चित्रसेनने भीष्मके पास पहुँचनेकी इच्छासे रणमें जाते हुए चेकितानका सामना किया, मानो बाघका बच्चा बैलका सामना कर रहा हो ।। ८½ ।।

धृष्टद्युम्नं महाराज भीष्मान्तिकमुपागतम् ।। ९ ।।
त्वरमाणं रणे यत्तं कृतवर्मा न्यवारयत् ।

राजन्! कृतवर्माने भीष्मजीके निकट पहुँचकर युद्धके लिये उतावलीपूर्वक प्रयत्न करनेवाले धृष्टद्युम्नको रोका ।।

भीमसेनं सुसंक्रुद्धं गाङ्गेयस्य वधैषिणम् ।। १० ।।
त्वरमाणो महाराज सौमदत्तिर्न्यवारयत् ।

महाराज! भीमसेन भी अत्यन्त क्रोधमें भरकर गंगानन्दन भीष्मका वध करना चाहते थे; परंतु सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवाने तुरंत आकर उन्हें आगे बढ़नेसे रोक दिया ।। १०½ ।।

तथैव नकुलं शूरं किरन्तं सायकान् बहून् ।। ११ ।।
विकर्णो वारयामास इच्छन् भीष्मस्य जीवितम् ।

इसी प्रकार शूरवीर नकुल बहुत-से सायकोंकी वर्षा कर रहे थे, परंतु भीष्मके जीवनकी रक्षा चाहनेवाले विकर्णने उन्हें रोक दिया ।। ११½ ।।

सहदेवं तथा राजन् यान्तं भीष्मरथं प्रति ।। १२ ।।
वारयामास संक्रुद्धः कृपः शारद्वतो युधि ।

राजन्! युद्धस्थलमें भीष्मके रथकी ओर जाते हुए सहदेवको कुपित हुए शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने रोक दिया ।। १२½ ।।

राक्षसं क्रूरकर्माणं भैमसेनिं महाबलम् ।। १३ ।।
भीष्मस्य निधनं प्रेप्सुं दुर्मुखोऽभ्यद्रवद् बली ।

भीष्मकी मृत्यु चाहनेवाले क्रूरकर्मा राक्षस महाबली भीमसेनकुमार घटोत्कचपर बलवान् दुर्मुखने आक्रमण किया ।। १३½ ।।

सात्यकिं समरे यान्तं तव पुत्रो न्यवारयत् ।। १४ ।।
(भीष्मस्य वधमिच्छन्तं पाण्डवप्रीतिकाम्यया ।)

पाण्डवोंकी प्रसन्नताके लिये भीष्मका वध चाहनेवाले सात्यकिको युद्धके लिये जाते देख आपके पुत्र दुर्योधनने रोका ।। १४ ।।

अभिमन्युं महाराज यान्तं भीष्मरथं प्रति ।

सुदक्षिणो महाराज काम्बोजः प्रत्यवारयत् ।। १५ ।।

महाराज! भीष्मके रथकी ओर अग्रसर होनेवाले अभिमन्युको काम्बोजराज सुदक्षिणने रोका ।। १५ ।।

विराटद्रुपदौ वृद्धौ समेतावरिमर्दनौ ।
अश्वत्थामा ततः क्रुद्धौ वारयामास भारत ।। १६ ।।

भारत! एक साथ आये हुए शत्रुमर्दन बूढ़े नरेश विराट और द्रुपदको क्रोधमें भरे हुए अश्वत्थामाने रोक दिया ।।

तथा पाण्डुसुतं ज्येष्ठं भीष्मस्य वधकाङ्क्षिणम् ।
भारद्वाजो रणे यत्तो धर्मपुत्रमवारयत् ।। १७ ।।

भीष्मके वधकी अभिलाषा रखनेवाले ज्येष्ठ पाण्डव धर्मपुत्र युधिष्ठिरको युद्धमें द्रोणाचार्यने यत्नपूर्वक रोका ।। १७ ।।

अर्जुनं रभसं युद्धे पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
भीष्मप्रेप्सुं महाराज भासयन्तं दिशो दश ।। १८ ।।
दुःशासनो महेष्वासो वारयामास संयुगे ।

महाराज! दसों दिशाओंको प्रकाशित करते हुए वेगशाली वीर अर्जुन युद्धमें शिखण्डीको आगे करके भीष्मको मारना चाहते थे। उस समय महाधनुर्धर दुःशासनने युद्धके मैदानमें आकर उन्हें रोका ।। १८ १/२ ।।

अन्ये च तावका योधाः पाण्डवानां महारथान् ।। १९ ।।
भीष्मस्याभिमुखान् यातान् वारयामासुराहवे ।

राजन्! इसी प्रकार आपके अन्य योद्धाओंने भीष्मके सम्मुख गये हुए पाण्डव महारथियोंको युद्धमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ।। १९ १/२ ।।

धृष्टद्युम्नस्तु सैन्यानि प्राक्रोशत पुनः पुनः ।। २० ।।
अभिद्रवत संरब्धा भीष्ममेकं महाबलम् ।
एषोऽर्जुनो रणे भीष्मं प्रयाति कुरुनन्दनः ।। २१ ।।
अभिद्रवत मा भैष्ट भीष्मो हि प्राप्स्यते न वः ।
अर्जुनं समरे योद्धुं नोत्सहेतापि वासवः ।। २२ ।।
किमु भीष्मो रणे वीरा गतसत्त्वोऽल्पजीवितः ।

धृष्टद्युम्न अपने सैनिकोंसे बारंबार पुकार-पुकारकर कहने लगे—'वीरो! तुम सब लोग उत्साहित होकर एकमात्र महाबली भीष्मपर आक्रमण करो। ये कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले अर्जुन रणक्षेत्रमें भीष्मपर चढ़ाई करते हैं। तुम भी उनपर टूट पड़ो। डरो मत। भीष्म तुमलोगोंको नहीं पा सकेंगे। इन्द्र भी समरांगणमें अर्जुनके साथ युद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकते; फिर ये धैर्य और शक्तिसे शून्य भीष्म रणक्षेत्रमें उनका सामना कैसे कर सकते हैं? अब इनका जीवन थोड़ा ही शेष रहा है' ।। २०—२२ १/२ ।।

इति सेनापतेः श्रुत्वा पाण्डवानां महारथाः ।। २३ ।।
अभ्यद्रवन्त संहृष्टा गाङ्गेयस्य रथं प्रति ।

सेनापतिका यह वचन सुनकर पाण्डव महारथी अत्यन्त हर्षमें भरकर गंगानन्दन भीष्मके रथपर टूट पड़े ।।

आगच्छमानान् समरे वार्योघान् प्रलयानिव ।। २४ ।।
अवारयन्त संहृष्टास्तावकाः पुरुषर्षभाः ।

युद्धमें प्रलयकालीन जलप्रवाहके समान आते हुए उन वीरोंको आपकी सेनाके श्रेष्ठ पुरुषोंने हर्ष और उत्साहमें भरकर रोका ।। २४ $\frac{1}{2}$ ।।

दुःशासनो महाराज भयं त्यक्त्वा महारथः ।। २५ ।।
भीष्मस्य जीविताकाङ्क्षी धनंजयमुपाद्रवत् ।

महाराज! महारथी दुःशासनने भय छोड़कर भीष्मकी जीवन-रक्षाके लिये धनंजयपर धावा किया ।। २५ $\frac{1}{2}$ ।।

तथैव पाण्डवाः शूरा गाङ्गेयस्य रथं प्रति ।। २६ ।।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे तव पुत्रान् महारथाः ।

इसी प्रकार शूरवीर महारथी पाण्डवोंने युद्धमें गंगानन्दन भीष्मके रथकी ओर खड़े हुए आपके पुत्रोंपर आक्रमण किया ।। २६ $\frac{1}{2}$ ।।

तत्राद्भुतमपश्याम चित्ररूपं विशाम्पते ।। २७ ।।
दुःशासनरथं प्राप्य यत् पार्थो नात्यवर्तत ।

प्रजानाथ! वहाँ हमने सबसे अद्भुत और विचित्र बात यह देखी कि अर्जुन दुःशासनके रथके पास पहुँचकर वहाँसे आगे न बढ़ सके ।। २७ $\frac{1}{2}$ ।।

यथा वारयते वेला क्षुब्धतोयं महार्णवम् ।। २८ ।।
तथैव पाण्डवं क्रुद्धं तव पुत्रो न्यवारयत् ।

जैसे तटकी भूमि विक्षुब्ध जलराशिवाले महासागरको रोके रहती है, उसी प्रकार आपके पुत्रने क्रोधमें भरे हुए अर्जुनको रोक दिया था ।। २८ $\frac{1}{2}$ ।।

उभौ तौ रथिनां श्रेष्ठावुभौ भारत दुर्जयौ ।। २९ ।।
उभौ चन्द्रार्कसदृशौ कान्त्या दीप्त्या च भारत ।
तथा तौ जातसंरम्भावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ ।। ३० ।।
(दुःशासनार्जुनौ वीरौ वृत्रेन्द्रसमतेजसौ ।)
समीयतुर्महासंख्ये मयशक्रौ यथा पुरा ।

भारत! वे दोनों रथियोंमें श्रेष्ठ और दुर्जय वीर थे। दोनों ही कान्ति और दीप्तिमें चन्द्रमा और सूर्यके समान जान पड़ते थे और भारत! दुःशासन तथा अर्जुन दोनों वीर वृत्रासुर एवं इन्द्रके समान तेजस्वी थे। वे दोनों क्रोधमें भरकर एक-दूसरेके वधकी अभिलाषा रखते थे। उस महायुद्धमें वे उसी प्रकार एक-दूसरेसे भिड़े हुए थे, जैसे पूर्वकालमें मयासुर और इन्द्र आपसमें लड़ते थे ।। २९-३० १/२ ।।

दुःशासनो महाराज पाण्डवं विशिखैस्त्रिभिः ।। ३१ ।।
वासुदेवं च विंशत्या ताडयामास संयुगे ।

महाराज! दुःशासनने तीन बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुनको और बीस बाणोंसे वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको युद्धमें घायल किया ।। ३१ १/२ ।।

ततोऽर्जुनो जातमन्युर्वार्ष्णेयं वीक्ष्य पीडितम् ।। ३२ ।।
दुःशासनं शतेनाजौ नाराचानां समार्पयत् ।

भगवान् श्रीकृष्णको बाणोंसे पीड़ित हुआ देख अर्जुनका क्रोध उभड़ आया और उन्होंने दुःशासनको युद्धमें सौ नाराचोंसे घायल कर दिया ।। ३२ १/२ ।।

ते तस्य कवचं भित्त्वा पपुः शोणितमाहवे ।। ३३ ।।
(यथैव पन्नगा राजंस्तटाकं तृषितास्तथा ।)

वे नाराच रणक्षेत्रमें दुःशासनका कवच विदीर्ण करके उसका रक्त पीने लगे, मानो प्यासे सर्प तालाबमें घुस गये हों ।। ३३ ।।

दुःशासनस्त्रिभिः क्रुद्धः पार्थं विव्याध पत्रिभिः ।
ललाटे भरतश्रेष्ठ शरैः संनतपर्वभिः ।। ३४ ।।

भरतश्रेष्ठ! तब दुःशासनने कुपित होकर अर्जुनके ललाटमें झुकी हुई गाँठवाले तीन पंखयुक्त बाण मारे ।। ३४ ।।

ललाटस्थैस्तु तैर्बाणैः शुशुभे पाण्डवो रणे ।
यथा मेरुर्महाराज शृङ्गैरत्यर्थमुच्छ्रितैः ।। ३५ ।।

ललाटमें लगे हुए उन बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुन युद्धमें उसी प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे मेरुपर्वत अपने तीन अत्यन्त ऊँचे शिखरोंसे सुशोभित होता है ।। ३५ ।।

सोऽतिविद्धो महेष्वासः पुत्रेण तव धन्विना ।
व्यराजत रणे पार्थः किंशुकः पुष्पवानिव ।। ३६ ।।

आपके धनुर्धर पुत्रद्वारा युद्धमें अधिक घायल किये जानेपर महाधनुर्धर अर्जुन खिले हुए पलाशवृक्षके समान शोभा पाने लगे ।। ३६ ।।

दुःशासनं ततः क्रुद्धः पीडयामास पाण्डवः ।
पर्वणीय सुसंक्रुद्धो राहुः पूर्णं निशाकरम् ।। ३७ ।।

तदनन्तर कुपित हुए पाण्डुपुत्र अर्जुन दुःशासनको उसी प्रकार पीड़ा देने लगे, जैसे पूर्णिमाके दिन अत्यन्त क्रोधमें भरा हुआ राहु पूर्ण चन्द्रमाको पीड़ा देता है ।। ३७ ।।

पीड्यमानो बलवता पुत्रस्तव विशाम्पते ।
विव्याध समरे पार्थं कङ्कपत्रैः शिलाशितैः ।। ३८ ।।

प्रजानाथ! बलवान् अर्जुनके द्वारा पीड़ित होनेपर आपके पुत्रने शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए कंक-पत्रयुक्त बाणोंद्वारा समरभूमिमें उन कुन्तीकुमारको बींध डाला ।। ३८ ।।

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा रथं चास्य त्रिभिः शरैः ।
आजघान ततः पश्चात् पुत्रं ते निशितैः शरैः ।। ३९ ।।

तब अर्जुनने तीन बाणोंसे दुःशासनके रथ और धनुषको छिन्न-भिन्न करके आपके उस पुत्रको पैने बाणोंद्वारा अच्छी तरह घायल किया ।। ३९ ।।

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय भीष्मस्य प्रमुखे स्थितः ।
अर्जुनं पञ्चविंशत्या बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।। ४० ।।

तब दुःशासनने दूसरा धनुष ले भीष्मके सामने खड़े होकर अर्जुनकी दोनों भुजाओं और छातीमें पचीस बाण मारे ।। ४० ।।

तस्य क्रुद्धो महाराज पाण्डवः शत्रुतापनः ।
अप्रैषीद् विशिखान् घोरान् यमदण्डोपमान् बहून् ।। ४१ ।।

महाराज! तब शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने कुपित हो दुःशासनपर यमदण्डके समान भयंकर बहुत-से बाण चलाये ।। ४१ ।।

अप्राप्तानेव तान् बाणांश्चिच्छेद तनयस्तव ।
यतमानस्य पार्थस्य तदद्भुतमिवाभवत् ।। ४२ ।।

परंतु आपके पुत्रने अर्जुनके प्रयत्नशील होते हुए भी उन बाणोंको अपने पास आनेके पहले ही काट डाला। वह एक अद्भुत-सी बात थी ।। ४२ ।।

पार्थं च निशितैर्बाणैरविध्यत् तनयस्तव ।
ततः क्रुद्धो रणे पार्थः शरान् संधाय कार्मुके ।। ४३ ।।
प्रेषयामास समरे स्वर्णपुङ्खाञ्छिलाशितान् ।

बाणोंको काटनेके पश्चात् आपके पुत्रने कुन्तीकुमार अर्जुनको तीखे बाणोंद्वारा बींध डाला, तब रणक्षेत्रमें अर्जुनने कुपित होकर अपने धनुषपर स्वर्णमय पंखसे युक्त एवं शिलापर रगड़कर तेज किये हुए बाणोंका संधान किया और उन्हें दुःशासनपर चलाया ।। ४३ $\frac{१}{२}$ ।।

न्यमज्जंस्ते महाराज तस्य काये महात्मनः ।। ४४ ।।
यथा हंसा महाराज तडागं प्राप्य भारत ।

महाराज! भरतनन्दन! जैसे हंस तालाबमें पहुँचकर उसके भीतर गोते लगाते हैं, उसी प्रकार वे बाण महामना दुःशासनके शरीरमें धँस गये ।। ४४ $\frac{१}{२}$ ।।

पीडितश्चैव पुत्रस्ते पाण्डवेन महात्मना ।। ४५ ।।
हित्वा पार्थं रणे तूर्णं भीष्मस्य रथमाव्रजत् ।

अगाधे मज्जतस्तस्य द्वीपो भीष्मोऽभवत् तदा ।। ४६ ।।

इस प्रकार महामना पाण्डुनन्दन अर्जुनके द्वारा पीड़ित होकर आपका पुत्र दुःशासन युद्धमें अर्जुनको छोड़कर तुरंत ही भीष्मके रथपर जा बैठा। उस समय अगाध समुद्रमें डूबते हुए दुःशासनके लिये भीष्मजी द्वीप हो गये ।। ४५-४६ ।।

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां पुत्रस्तव विशाम्पते ।
अवारयत् ततः शूरो भूय एव पराक्रमी ।। ४७ ।।
शरैः सुनिशितैः पार्थं यथा वृत्रं पुरंदरः ।
निर्बिभेद महाकायो विव्यथे नैव चार्जुनः ।। ४८ ।।

प्रजानाथ! तदनन्तर होश-हवास ठीक होनेपर आपके पराक्रमी एवं शूरवीर पुत्र दुःशासनने पुनः अत्यन्त तीखे बाणोंद्वारा कुन्तीकुमार अर्जुनको रोका, मानो इन्द्रने वृत्रासुरकी गतिको अवरुद्ध कर दिया हो। महाकाय दुःशासनने अर्जुनको अपने बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया; परंतु वे तनिक भी व्यथित नहीं हुए ।। ४७-४८ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि अर्जुनदुःशासनसमागमे दशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें अर्जुन और दुःशासनका युद्धविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११० ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके १ $\frac{१}{२}$ श्लोक मिलाकर कुल ४९ $\frac{१}{२}$ श्लोक हैं।]

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डवपक्षके प्रमुख महारथियोंके द्वन्द्व-युद्धका वर्णन

संजय उवाच

सात्यकिं दंशितं युद्धे भीष्मायाभ्युद्यतं रणे ।
आर्ष्यशृङ्गिर्महेष्वासो वारयामास संयुगे ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! युद्धस्थलमें कवचधारी सात्यकिको भीष्मसे युद्ध करनेके लिये उद्यत देख महाधनुर्धर राक्षस अलम्बुषने आकर उन्हें रोका ।। १ ।।

माधवस्तु सुसंक्रुद्धो राक्षसं नवभिः शरैः ।
आजघान रणे राजन् प्रहसन्निव भारत ।। २ ।।

राजन्! भरतनन्दन! यह देख सात्यकिने अत्यन्त कुपित हो उस रणक्षेत्रमें राक्षस अलम्बुषको हँसते हुए-से नौ बाण मारे ।। २ ।।

तथैव राक्षसो राजन् माधवं नवभिः शरैः ।
अर्दयामास राजेन्द्र संक्रुद्धः शिनिपुङ्गवम् ।। ३ ।।

राजेन्द्र! तब उस राक्षसने भी अत्यन्त कुपित होकर मधुवंशी सात्यकिको नौ बाणोंसे पीड़ित किया ।। ३ ।।

शैनेयः शरसंघं तु प्रेषयामास संयुगे ।
राक्षसाय सुसंक्रुद्धो माधवः परवीरहा ।। ४ ।।

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले मधुवंशी सात्यकि-का क्रोध बहुत बढ़ गया और समरभूमिमें उन्होंने राक्षसपर बाणसमूहोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ।। ४ ।।

ततो रक्षो महाबाहुं सात्यकिं सत्यविक्रमम् ।
विव्याध विशिखैस्तीक्ष्णैः सिंहनादं ननाद च ।। ५ ।।

तदनन्तर राक्षसने सत्यपराक्रमी महाबाहु सात्यकिको तीखे सायकोंसे बींध डाला और सिंहके समान गर्जना की ।।

माधवस्तु भृशं विद्धो राक्षसेन रणे तदा ।
वार्यमाणश्च तेजस्वी जहास च ननाद च ।। ६ ।।

उस समय राक्षसके द्वारा रणक्षेत्रमें रोके जाने और अत्यन्त घायल होनेपर भी मधुवंशी तेजस्वी सात्यकि हँसने और गर्जना करने लगे ।। ६ ।।

भगदत्तस्ततः क्रुद्धो माधवं निशितैः शरैः ।
ताडयामास समरे तोत्रैरिव महागजम् ।। ७ ।।

तब क्रोधमें भरे हुए भगदत्तने पैने बाणोंद्वारा मधुवंशी सात्यकिको समरभूमिमें उसी प्रकार पीड़ित किया, जैसे महावत अंकुशोंद्वारा महान् गजराजको पीड़ा देता है ।।

विहाय राक्षसं युद्धे शैनेयो रथिनां वरः ।

प्राग्ज्योतिषाय चिक्षेप शरान् संनतपर्वणः ।। ८ ।।

तब रथियोंमें श्रेष्ठ सात्यकिने युद्धमें उस राक्षसको छोड़कर प्राग्ज्योतिषपुरनरेश भगदत्तपर झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाण चलाये ।। ८ ।।

तस्य प्राग्ज्योतिषो राजा माधवस्य महद् धनुः ।

चिच्छेद शतधारेण भल्लेन कृतहस्तवत् ।। ९ ।।

यह देख प्राग्ज्योतिषपुरनरेश भगदत्तने सात्यकिके विशाल धनुषको एक सिद्धहस्त योद्धाकी भाँति सौ धारवाले भल्लके द्वारा काट डाला ।। ९ ।।

अथान्यद् धनुरादाय वेगवत् परवीरहा ।

भगदत्तं रणे क्रुद्धं विव्याध निशितैः शरैः ।। १० ।।

तब शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले सात्यकिने दूसरा वेगवान् धनुष लेकर पैने बाणोंद्वारा युद्धमें क्रुद्ध हुए भगदत्तको बींध डाला ।। १० ।।

सोऽतिविद्धो महेष्वासः सृक्किणी परिसंलिहन् ।

शक्तिं कनकवैदूर्यभूषितामायसीं दृढाम् ।। ११ ।।

यमदण्डोपमां घोरां चिक्षेप परमाहवे ।

इस प्रकार अत्यन्त घायल होनेपर महाधनुर्धर भगदत्त अपने मुँहके दोनों कोने चाटने लगे। फिर उन्होंने उस महायुद्धमें कनक और वैदूर्य मणियोंसे विभूषित लोहेकी बनी हुई सुदृढ़ एवं यमदण्डके समान भयंकर शक्ति चलायी ।। ११½ ।।

तामापतन्तीं सहसा तस्य बाहुबलेरिताम् ।। १२ ।।

सात्यकिः समरे राजन् द्विधा चिच्छेद सायकैः ।

उनके बाहुबलसे प्रेरित होकर समरभूमिमें सहसा अपने ऊपर गिरती हुई उस शक्तिके सात्यकिने बाणों-द्वारा दो टुकड़े कर दिये ।। १२½ ।।

ततः पपात सहसा महोल्केव हतप्रभा ।। १३ ।।

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा पुत्रस्तव विशाम्पते ।

महता रथवंशेन वारयामास माधवम् ।। १४ ।।

तब वह शक्ति प्रभाहीन हुई बहुत बड़ी उल्काके समान सहसा भूमिपर गिर पड़ी। प्रजानाथ! भगदत्तकी शक्तिको नष्ट हुई देख आपके पुत्रने विशाल रथसेनाके साथ आकर सात्यकिको रोका ।। १३-१४ ।।

तथा परिवृतं दृष्ट्वा वार्ष्णेयानां महारथम् ।

दुर्योधनो भृशं क्रुद्धो भ्रातृन् सर्वानुवाच ह ।। १५ ।।

वृष्णिवंशी महारथी सात्यकिको रथसेनासे घिरा हुआ देख दुर्योधनने अत्यन्त कुपित होकर अपने समस्त भाइयोंसे कहो— ।। १५ ।।

तथा कुरुत कौरव्या यथा वः सात्यको युधि ।
न जीवन् प्रतिनिर्याति महतोऽस्माद् रथव्रजात् ।। १६ ।।

'कौरवो! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे इस समरांगणमें आये हुए सात्यकि हमारे इस महान् रथ-समुदायसे जीवित न निकलने पावें ।। १६ ।।

तस्मिन् हते हतं मन्ये पाण्डवानां महद् बलम् ।
तथेति च वचस्तस्य परिगृह्य महारथाः ।। १७ ।।
शैनेयं योधयामासुर्भीष्मायाभ्युद्यतं रणे ।

'सात्यकिके मारे जानेपर मैं पाण्डवोंकी विशाल सेनाको मरी हुई ही मानता हूँ।' दुर्योधनकी इस बातको मानकर कौरव महारथियोंने रणभूमिमें भीष्मका सामना करनेके लिये उद्यत हुए सात्यकिसे युद्ध आरम्भ किया ।। १७ १/२ ।।

(अभिमन्युं तथाऽऽयान्तं भीष्मस्याभ्युद्यतं वधे ।)
काम्बोजराजो बलवान् वारयामास संयुगे ।। १८ ।।

इसी प्रकार भीष्मका वध करनेके लिये उद्यत होकर आते हुए अर्जुनकुमार अभिमन्युको बलवान् काम्बोजराजने युद्धके मैदानमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ।। १८ ।।

आर्जुनिं नृपतिर्विद्ध्वा शरैः संनतपर्वभिः ।
पुनरेव चतुःषष्ट्या राजन् विव्याध तं नृप ।। १९ ।।

राजन्! नरेश्वर! काम्बोजराजने झुकी हुई गाँठवाले अनेक बाणोंद्वारा अभिमन्युको घायल करके पुनः चौंसठ बाणोंसे मारकर उन्हें गहरी चोट पहुँचायी ।। १९ ।।

सुदक्षिणस्तु समरे पुनर्विव्याध पञ्चभिः ।
सारथिं चास्य नवभिरिच्छन् भीष्मस्य जीवितम् ।। २० ।।

तदनन्तर समरांगणमें भीष्मके जीवनकी रक्षा चाहनेवाले काम्बोजराज सुदक्षिणने अभिमन्युको पुनः पाँच बाण मारे और नौ बाणोंद्वारा उनके सारथिको भी घायल कर दिया ।। २० ।।

तद् युद्धमासीत् सुमहत् तयोस्तत्र समागमे ।
यदाभ्यधावद् गाङ्गेयं शिखण्डी शत्रुकर्शनः ।। २१ ।।

जब शत्रुसूदन शिखण्डीने गंगानन्दन भीष्मपर धावा किया था, उस समय उन दोनों (अभिमन्यु और सुदक्षिण)-के संघर्षमें वहाँ बड़ा भारी युद्ध आरम्भ हो गया ।। २१ ।।

विराटद्रुपदौ वृद्धौ वारयन्तौ महाचमूम् ।
भीष्मं च युधि संरब्धावाद्रवन्तौ महारथौ ।। २२ ।।

बूढ़े राजा महारथी विराट और द्रुपद दुर्योधनकी उस विशाल सेनाको रोकते हुए अत्यन्त क्रोधमें भरकर युद्धस्थलमें भीष्मपर चढ़ आये ।। २२ ।।

अश्वत्थामा रणे क्रुद्धः समायाद्रथसत्तमः ।
ततः प्रववृते युद्धं तयोस्तस्य च भारत ।। २३ ।।

तब रथियोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा रणभूमिमें कुपित होकर आया। भारत! फिर अश्वत्थामाका विराट और द्रुपदके साथ भारी युद्ध छिड़ गया ।। २३ ।।

विराटो दशभिर्भल्लैराजघान परंतप ।
यतमानं महेष्वासं द्रौणिमाहवशोभिनम् ।। २४ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! राजा विराटने संग्राममें शोभा पानेवाले प्रयत्नशील एवं महाधनुर्धर अश्वत्थामाको भल्ल नामक दस बाणोंसे घायल किया ।।

द्रुपदश्च त्रिभिर्बाणैर्विव्याध निशितैस्तदा ।
गुरुपुत्रं समासाद्य प्रहरन्तौ महाबलौ ।। २५ ।।
अश्वत्थामा ततस्तौ तु विव्याध बहुभिः शरैः ।
विराटद्रुपदौ वीरौ भीष्मं प्रति समुद्यतौ ।। २६ ।।

उस समय द्रुपदने भी तीन तीखे बाणोंद्वारा अश्वत्थामाको घायल कर दिया। इस प्रकार प्रहार करते हुए उन दोनों महाबली नरेशोंको अश्वत्थामाने अनेक बाणोंद्वारा बींध डाला। विराट और द्रुपद दोनों वीर भीष्मका वध करनेके लिये उद्यत थे ।। २५-२६ ।।

तत्राद्भुतमपश्याम वृद्धयोश्चरितं महत् ।
यद् द्रौणिसायकान् घोरान् प्रत्यवारयतां युधि ।। २७ ।।

राजन्! वहाँ उन दोनों बूढ़े नरेशोंका हमने अद्भुत एवं महान् पराक्रम यह देखा कि वे युद्धमें अश्वत्थामाके भयंकर बाणोंका निवारण करते जा रहे थे ।। २७ ।।

सहदेवं तथा यान्तं कृपः शारद्वतोऽभ्ययात् ।
यथा नागो वने नागं मत्तो मत्तमुपाद्रवत् ।। २८ ।।

इसी प्रकार भीष्मपर चढ़ाई करनेवाले सहदेवको शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यने सामने आकर रोका, मानो वनमें किसी मतवाले हाथीपर मदोन्मत्त गजराजने आक्रमण किया हो ।।

कृपश्च समरे शूरो माद्रीपुत्रं महारथम् ।
आजघान शरैस्तूर्णं सप्तत्या रुक्मभूषणैः ।। २९ ।।

शूरवीर कृपाचार्यने समरभूमिमें महारथी माद्रीकुमार सहदेवको सुवर्णभूषित सत्तर बाणोंसे तुरंत घायल कर दिया ।। २९ ।।

तस्य माद्रीसुतश्चापं द्विधा चिच्छेद सायकैः ।
अथैनं छिन्नधन्वानं विव्याध नवभिः शरैः ।। ३० ।।

तब माद्रीकुमार सहदेवने भी अपने सायकोंद्वारा उनके धनुषके दो टुकड़े कर दिये और धनुष कट जानेपर उन्हें नौ बाणोंसे घायल कर दिया ।। ३० ।।

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय समरे भारसाधनम् ।

माद्रीपुत्रं सुसंहृष्टो दशभिर्निशितैः शरैः ।। ३१ ।।
आजघानोरसि क्रुद्ध इच्छन् भीष्मस्य जीवितम् ।

तदनन्तर भीष्मके जीवनकी रक्षा चाहनेवाले कृपाचार्यने समरांगणमें भार सहन करनेमें समर्थ दूसरा धनुष लेकर अत्यन्त हर्षके साथ सहदेवकी छातीमें क्रोधपूर्वक दस तीखे बाण मारे ।। ३१½ ।।

तथैव पाण्डवो राजञ्छारद्वतममर्षणम् ।। ३२ ।।
आजघानोरसि क्रुद्धो भीष्मस्य वधकाङ्क्षया ।
तयोर्युद्धं समभवद् घोररूपं भयावहम् ।। ३३ ।।

राजन्! इसी प्रकार पाण्डुकुमार सहदेवने भी कुपित हो भीष्मके वधकी इच्छासे अमर्षशील कृपाचार्यकी छातीमें अपने बाणोंद्वारा प्रहार किया। उन दोनोंका वह युद्ध अत्यन्त घोर एवं भयंकर हो चला ।। ३२-३३ ।।

नकुलं तु रणे क्रुद्धो विकर्णः शत्रुतापनः ।
विव्याध सायकैः षष्ट्या रक्षन् भीष्मं महाबलम् ।। ३४ ।।

दूसरी ओर क्रोधमें भरे हुए शत्रुसंतापी विकर्णने युद्धके मैदानमें महाबली भीष्मकी रक्षामें तत्पर हो साठ बाणोंद्वारा नकुलको घायल कर दिया ।। ३४ ।।

नकुलोऽपि भृशं विद्धस्तव पुत्रेण धीमता ।
विकर्णं सप्तसप्तत्या निर्बिभेद शिलीमुखैः ।। ३५ ।।

आपके बुद्धिमान् पुत्र विकर्णद्वारा अत्यन्त घायल होकर नकुलने भी सतहत्तर बाणोंसे विकर्णको क्षत-विक्षत कर दिया ।। ३५ ।।

तत्र तौ नरशार्दूलौ भीष्महेतोः परंतपौ ।
अन्योन्यं जघ्नतुर्वीरौ गोष्ठे गोवृषभाविव ।। ३६ ।।

जैसे गोशालामें दो साँड़ आपसमें लड़ते हों, उसी प्रकार शत्रुओंको संताप देनेवाले दोनों पुरुषसिंह वीर विकर्ण और नकुल भीष्मकी रक्षाके लिये एक-दूसरेपर घातक प्रहार कर रहे थे ।। ३६ ।।

घटोत्कचं रणे यान्तं निघ्नन्तं तव वाहिनीम् ।
दुर्मुखः समरे प्रायाद् भीष्महेतोः पराक्रमी ।। ३७ ।।

उसी समय पराक्रमी दुर्मुखने समरभूमिमें भीष्मकी रक्षाके लिये राक्षस घटोत्कचपर आक्रमण किया, जो युद्धके मैदानमें आपकी सेनाका संहार करता हुआ आगे बढ़ रहा था ।। ३७ ।।

हैडिम्बस्तु रणे राजन् दुर्मुखं शत्रुतापनम् ।
आजघानोरसि क्रुद्धः शरेणानतपर्वणा ।। ३८ ।।

राजन्! उस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले दुर्मुखको क्रोधमें भरे हुए हिडिम्बाकुमारने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे उसकी छातीमें चोट पहुँचायी ।। ३८ ।।

भीमसेनसुतं चापि दुर्मुखः सुमुखैः शरैः ।

षष्ट्या वीरो नदन् हृष्टो विव्याध रणमूर्धनि ।। ३९ ।।

तब वीर दुर्मुखने हर्षपूर्वक गर्जना करते हुए अपने तीखी नोकवाले बाणोंद्वारा भीमसेनके पुत्र घटोत्कचको युद्धके मुहानेपर साठ बाणोंसे बींध डाला ।। ३९ ।।

धृष्टद्युम्नं तथाऽऽयान्तं भीष्मस्य वधकाङ्क्षिणम् ।

हार्दिक्यो वारयामास रथश्रेष्ठं महारथः ।। ४० ।।

इसी प्रकार भीष्मके वधकी इच्छासे आते हुए रथियोंमें श्रेष्ठ धृष्टद्युम्नको महारथी कृतवर्माने रोक दिया ।। ४० ।।

हार्दिक्यः पार्षतं चापि विद्ध्वा पञ्चभिरायसैः ।

पुनः पञ्चाशता तूर्णं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।। ४१ ।।

कृतवर्माने द्रुपदकुमारको लोहेके बने हुए पाँच बाणोंसे बींधकर फिर तुरंत ही पचास बाणोंसे घायल किया और कहा—‘खड़ा रह, खड़ा रह’ ।। ४१ ।।

आजघान महाबाहुः पार्षतं तं महारथम् ।

तं चैव पार्षतो राजन् हार्दिक्यं नवभिः शरैः ।। ४२ ।।

विव्याध निशितैस्तीक्ष्णैः कङ्कपत्रैरजिह्मगैः ।

इस प्रकार महाबाहु कृतवर्माने महारथी धृष्टद्युम्नको गहरी चोट पहुँचायी। राजन्! तब धृष्टद्युम्नने भी कंकपत्रविभूषित सीधे जानेवाले तीखे एवं पैने नौ बाणोंसे कृतवर्माको क्षत-विक्षत कर दिया ।। ४२ १/२ ।।

तयोः समभवद् युद्धं भीष्महेतोर्महाहवे ।। ४३ ।।

अन्योन्यातिशये युक्तं यथा वृत्रमहेन्द्रयोः ।

उस समय भीष्मजीके निमित्त उस महान् संग्राममें वृत्रासुर और इन्द्रके समान उन दोनों वीरोंका घोर युद्ध होने लगा, जिसमें वे एक-दूसरेसे आगे बढ़ जानेके प्रयत्नमें लगे थे ।। ४३ १/२ ।।

भीमसेनं तथाऽऽयान्तं भीष्मं प्रति महारथम् ।। ४४ ।।

भूरिश्रवाभ्ययात् तूर्णं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

इसी तरह महारथी भीष्मकी ओर आते हुए भीमसेनपर भूरिश्रवाने तुरंत आक्रमण किया और कहा—‘खड़ा रह, खड़ा रह’ ।। ४४ १/२ ।।

सौमदत्तिरथो भीममाजघान स्तनान्तरे ।। ४५ ।।

नाराचेन सुतीक्ष्णेन रुक्मपुङ्खेन संयुगे ।

तदनन्तर सोमदत्तकुमारने युद्धस्थलमें सुवर्णमय पंखसे युक्त अत्यन्त तीखे नाराचद्वारा भीमसेनकी छातीमें प्रहार किया ।। ४५ १/२ ।।

उरःस्थेन बभौ तेन भीमसेनः प्रतापवान् ।। ४६ ।।

स्कन्दशक्त्या यथा क्रौञ्चः पुरा नृपतिसत्तम ।

नृपश्रेष्ठ! छातीमें लगे हुए उस बाणसे प्रतापी भीमसेन वैसे ही सुशोभित हुए, जैसे पूर्वकालमें कार्तिकेयकी शक्तिसे आविद्ध होनेपर क्रौंच पर्वतकी शोभा हुई थी ।। ४६ $\frac{1}{2}$ ।।

तौ शरान् सूर्यसंकाशान् कर्मारपरिमार्जितान् ।। ४७ ।।
अन्योन्यस्य रणे क्रुद्धौ चिक्षिपाते नरर्षभौ ।

क्रोधमें भरे हुए वे दोनों नरश्रेष्ठ युद्धमें एक-दूसरेपर लोहारके द्वारा माँजकर साफ किये हुए सूर्यके समान तेजस्वी बाणोंका प्रहार कर रहे थे ।। ४७ $\frac{1}{2}$ ।।

भीमो भीष्मवधाकाङ्क्षी सौमदत्तिं महारथम् ।। ४८ ।।
तथा भीष्मजये गृध्नुः सौमदत्तिस्तु पाण्डवम् ।
कृतप्रतिकृते यत्तौ योधयामासतू रणे ।। ४९ ।।

भीमसेन भीष्मके वधकी इच्छा रखकर महारथी भूरिश्रवापर चोट करते थे और भूरिश्रवा भीष्मकी विजय चाहता हुआ पाण्डुकुमार भीमसेनपर प्रहार करता था। वे दोनों युद्धमें एक-दूसरेके अस्त्रोंका प्रतीकार करते हुए लड़ रहे थे ।। ४८-४९ ।।

युधिष्ठिरं तु कौन्तेयं महत्या सेनया वृतम् ।
भीष्माभिमुखमायान्तं भारद्वाजो न्यवारयत् ।। ५० ।।
(तत्र युद्धमभूद् घोरं तयोः पुरुषसिंहयोः ।)

दूसरी ओर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको विशाल सेनाके साथ भीष्मके सम्मुख आते देख द्रोणाचार्यने रोक दिया; वहाँ उन दोनों पुरुषसिंहोंमें घोर युद्ध हुआ ।। ५० ।।

द्रोणस्य रथनिर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम् ।
श्रुत्वा प्रभद्रका राजन् समकम्पन्त मारिष ।। ५१ ।।

राजन्! द्रोणाचार्यके रथकी घरघराहट मेघकी गर्जनाके समान जान पड़ती थी। आर्य! उसे सुनकर प्रभद्रक वीर काँप उठे ।। ५१ ।।

सा सेना महती राजन् पाण्डुपुत्रस्य संयुगे ।
द्रोणेन वारिता यत्ता न चचाल पदात् पदम् ।। ५२ ।।

महाराज! उस युद्धस्थलमें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी वह विशाल सेना द्रोणके द्वारा जब रोक दी गयी, तब प्रयत्न करनेपर भी वह एक पग भी आगे न बढ़ सकी ।। ५२ ।।

चेकितानं रणे यत्तं भीष्मं प्रति जनेश्वर ।
चित्रसेनस्तव सुतः क्रुद्धरूपमवारयत् ।। ५३ ।।

जनेश्वर! दूसरी ओर भीष्मके प्रति प्रयत्नपूर्वक आक्रमण करनेवाले क्रोधमें भरे हुए चेकितानको रणभूमिमें आपके पुत्र चित्रसेनने रोक दिया ।। ५३ ।।

भीष्महेतोः पराक्रान्तश्चित्रसेनः पराक्रमी ।
चेकितानं परं शक्त्या योधयामास भारत ।। ५४ ।।
तथैव चेकितानोऽपि चित्रसेनमवारयत् ।
तद् युद्धमासीत् सुमहत् तयोस्तत्र समागमे ।। ५५ ।।

पराक्रमी चित्रसेन भीष्मकी रक्षाके लिये पराक्रम दिखा रहा था। भारत! उसने पूरी शक्ति लगाकर चेकितानके साथ युद्ध किया। इसी प्रकार चेकितानने भी चित्रसेनकी गति रोक दी। उन दोनोंकी मुठभेड़में वहाँ महान् युद्ध होने लगा ।। ५४-५५ ।।

अर्जुनो वार्यमाणस्तु बहुशस्तत्र भारत ।
विमुखीकृत्य पुत्रं ते सेनां तव ममर्द ह ।। ५६ ।।

भरतनन्दन! वहाँ बारंबार रोके जानेपर भी अर्जुनने आपके पुत्रको युद्धसे विमुख करके आपकी सेनाको रौंद डाला ।। ५६ ।।

दुःशासनोऽपि परया शक्त्या पार्थमवारयत् ।
कथं भीष्मं न नो हन्यादिति निश्चित्य भारत ।। ५७ ।।

भारत! उस समय दुःशासन भी यह निश्चय करके कि ये किसी प्रकार हमारे भीष्मको मार न सकें, पूरी शक्ति लगाकर अर्जुनको रोकनेका प्रयत्न करता रहा ।। ५७ ।।

(पार्थोऽपि समरे राजन् दुःशासनमताडयत् ।
ताडिते बहुधा पुत्रे पार्थबाणैरजिह्मगैः ।।
बभूव व्यथिता सेना दृष्ट्वा पार्थपराक्रमम् ।
पुनश्च ताडिता तेन पार्थेनामिततेजसा ।।)

राजन्! अर्जुनने भी समरमें दुःशासनको अपने बाणोंसे बहुत घायल किया। सीधे जानेवाले अर्जुनके बाणोंसे आपके पुत्रके बार-बार घायल होनेपर पार्थके उस पराक्रमको देखकर आपकी सारी सेना व्यथित हो उठी। अमित तेजस्वी अर्जुनने उसे बारंबार पीड़ित किया।

सा वध्यमाना समरे पुत्रस्य तव वाहिनी ।
लोड्यते रथिभिः श्रेष्ठैस्तत्र तत्रैव भारत ।। ५८ ।।

भरतनन्दन! उस संग्राममें आपके पुत्रकी सारी सेनाको जहाँ-तहाँ श्रेष्ठ रथियोंने बाणोंसे विद्ध करके मथ डाला था ।। ५८ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्वन्द्वयुद्धे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ।। १११ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्वन्द्वयुद्धविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १११ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ६१ श्लोक हैं।]

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यका अश्वत्थामाको अशुभ शकुनोंकी सूचना देते हुए उसे भीष्मकी रक्षाके लिये धृष्टद्युम्नसे युद्ध करनेका आदेश देना

संजय उवाच

अथ वीरो महेष्वासो मत्तवारणविक्रमः ।
समादाय महच्चापं मत्तवारणवारणम् ।। १ ।।
विधुन्वानो नरश्रेष्ठो द्रावयाणो वरूथिनीम् ।
पृतनां पाण्डवेयानां गाहमाना महाबलः ।। २ ।।
निमित्तानि निमित्तज्ञः सर्वतो वीक्ष्य वीर्यवान् ।
प्रतपन्तमनीकानि द्रोणः पुत्रमभाषत ।। ३ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर महाधनुर्धर, मतवाले हाथीके समान पराक्रमी, वीर, नरश्रेष्ठ, महाबली तथा शुभाशुभ निमित्तोंके ज्ञाता एवं अद्भुत शक्तिशाली द्रोणाचार्य मतवाले हाथियोंकी गतिको कुण्ठित कर देनेवाले विशाल धनुषको हाथमें लेकर उसे खींचने और विपक्षी सेनाको भगाने लगे। उन्होंने पाण्डवोंकी सेनामें प्रवेश करते समय सब ओर बुरे निमित्त (शकुन) देखकर शत्रुसेनाको संताप देते हुए पुत्र अश्वत्थामासे इस प्रकार कहा— ।।

अयं हि दिवसस्तात यत्र पार्थो महाबलः ।
जिघांसुः समरे भीष्मं परं यत्नं करिष्यति ।। ४ ।।

‘तात! यही वह दिन है, जब कि महाबली अर्जुन समरभूमिमें भीष्मको मार डालनेकी इच्छासे महान् प्रयत्न करेंगे ।। ४ ।।

उत्पतन्ति हि मे बाणा धनुः प्रस्फुरतीव च ।
योगमस्त्राणि गच्छन्ति क्रूरे मे वर्तते मतिः ।। ५ ।।

‘मेरे बाण तरकससे उछले पड़ते हैं, धनुष फड़क उठता है, अस्त्र स्वयं ही धनुषसे संयुक्त हो जाते हैं और मेरे मनमें क्रूरकर्म करनेका संकल्प हो रहा है ।। ५ ।।

दिक्ष्वशान्तानि घोराणि व्याहरन्ति मृगद्विजाः ।
नीचैर्गृध्रा निलीयन्ते भारतानां चमूं प्रति ।। ६ ।।

‘सम्पूर्ण दिशाओंमें पशु और पक्षी अशान्तिपूर्ण भयंकर बोली बोल रहे हैं। गीध नीचे आकर कौरव-सेनामें छिप रहे हैं ।। ६ ।।

नष्टप्रभ इवादित्यः सर्वतो लोहिता दिशः ।
रसते व्यथते भूमिः कम्पतीव च सर्वशः ।। ७ ।।

'सूर्यकी प्रभा मन्द-सी पड़ गयी है। सम्पूर्ण दिशाएँ लाल हो रही हैं। पृथिवी सब ओरसे कोलाहलपूर्ण, व्यथित और कम्पित-सी हो रही है ।। ७ ।।

कङ्का गृध्रा बलाकाश्च व्याहरन्ति मुहुर्मुहुः ।
शिवाश्चैवाशिवा घोरा वेदयन्त्यो महद् भयम् ।। ८ ।।
(ववाशिरे भयकरा दीप्तास्याभिमुखे रवेः ।)

'कंक, गीध और बगले बारंबार बोल रहे हैं। अमंगलमयी घोररूपवाली गीदड़ियाँ महान् भयकी सूचना देती हुई सूर्यकी ओर मुँह करके भयानक बोली बोला करती हैं और उनका मुँह प्रज्वलित-सा जान पड़ता है ।। ८ ।।

पपात महती चोल्का मध्येनादित्यमण्डलात् ।
सकबन्धश्च परिघो भानुमावृत्य तिष्ठति ।। ९ ।।

'सूर्यमण्डलके मध्यभागसे बड़ी-बड़ी उल्काएँ गिरी हैं। कबन्धयुक्त परिघ सूर्यको चारों ओरसे घेरकर स्थित है ।। ९ ।।

परिवेषस्तथा घोरश्चन्द्रभास्करयोरभूत् ।
वेदयानो भयं घोरं राज्ञां देहावकर्तनम् ।। १० ।।

'चन्द्रमा और सूर्यके चारों ओर भयंकर घेरा पड़ने लगा है, जो क्षत्रियोंके शरीरका विनाश करनेवाले घोर भयकी सूचना दे रहा है ।। १० ।।

देवतायतनस्थाश्च कौरवेन्द्रस्य देवताः ।
कम्पन्ते च हसन्ते च नृत्यन्ति च रुदन्ति च ।। ११ ।।

'कौरवराज धृतराष्ट्रके देवालयोंकी देवमूर्तियाँ हिलती, हँसती, नाचती तथा रोती जान पड़ती हैं ।। ११ ।।

अपसव्यं ग्रहाश्चक्रुरलक्ष्माणं दिवाकरम् ।
अवाक्शिराश्च भगवानुपातिष्ठत चन्द्रमाः ।। १२ ।।

'ग्रहोंने सूर्यकी वामावर्त परिक्रमा करके उन्हें अशुभ लक्षणोंका सूचक बना दिया है, भगवान् चन्द्रमा अपने दोनों कोनोंके सिरे नीचे करके उदित हुए हैं ।। १२ ।।

वपूंषि च नरेन्द्राणां विगताभानि लक्षये ।
धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु न च भ्राजन्ति दंशिताः ।। १३ ।।

'राजाओंके शरीरोंको मैं श्रीहीन देख रहा हूँ। दुर्योधनकी सेनाओंमें जो लोग कवच धारण करके स्थित हैं, उनकी शोभा नहीं हो रही है ।। १३ ।।

सेनयोरुभयोश्चापि समन्ताच्छ्रूयते महान् ।
पाञ्चजन्यस्य निर्घोषो गाण्डीवस्य च निःस्वनः ।। १४ ।।

'दोनों ही सेनाओंमें चारों ओर पांचजन्य शंखका गम्भीर घोष और गाण्डीवधनुषकी टंकारध्वनि सुनायी देती है ।। १४ ।।

ध्रुवमास्थाय बीभत्सुरुत्तमास्त्राणि संयुगे ।

अपास्यान्यान् रणे योधानभ्येष्यति पितामहम् ।। १५ ।।

'इससे यह निश्चय जान पड़ता है कि अर्जुन युद्धस्थलमें उत्तम अस्त्रोंका आश्रय ले दूसरे योद्धाओंको दूर हटाकर रणभूमिमें पितामह भीष्मके पास पहुँच जायँगे ।। १५ ।।

हृष्यन्ति रोमकूपाणि सीदतीव च मे मनः ।
चिन्तयित्वा महाबाहो भीष्मार्जुनसमागमम् ।। १६ ।।

'महाबाहो! भीष्म और अर्जुनके युद्धका विचार करके मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं और मन शिथिल-सा होता जा रहा है ।। १६ ।।

तं चेह निकृतिप्रज्ञं पाञ्चाल्यं पापचेतसम् ।
पुरस्कृत्य रणे पार्थो भीष्मस्यायोधनं गतः ।। १७ ।।

'शठताके पूरे पण्डित उस पापात्मा पांचाल-राजकुमार शिखण्डीको यहाँ रणमें आगे करके कुन्तीकुमार अर्जुन भीष्मसे युद्ध करनेके लिये गये हैं ।। १७ ।।

अब्रवीच्च पुरा भीष्मो नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
स्त्री ह्येषा विहिता धात्रा दैवाच्च स पुनः पुमान् ।। १८ ।।

'भीष्मने पहले ही यह कह दिया था कि मैं शिखण्डीको नहीं मारूँगा; क्योंकि विधाताने इसे स्त्री ही बनाया था। फिर भाग्यवश यह पुरुष हो गया ।। १८ ।।

अमङ्गल्यध्वजश्चैव याज्ञसेनिर्महाबलः ।
न चामङ्गलिके तस्मिन् प्रहरेदापगासुतः ।। १९ ।।

'इसके सिवा द्रुपदका यह महाबली पुत्र अपनी ध्वजामें अमंगलसूचक चिह्न धारण करता है। अतः इस अमांगलिक शिखण्डीपर गंगानन्दन भीष्म कभी प्रहार नहीं करेंगे ।। १९ ।।

एतद् विचिन्तयानस्य प्रज्ञा सीदति मे भृशम् ।
अभ्युद्यतो रणे पार्थः कुरुवृद्धमुपाद्रवत् ।। २० ।।

'इन सब बातोंपर जब मैं विचार करता हूँ, तब मेरी बुद्धि अत्यन्त शिथिल हो जाती है। आज अर्जुनने पूरी तैयारीके साथ रणभूमिमें कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भीष्मजीपर धावा किया है ।। २० ।।

युधिष्ठिरस्य च क्रोधो भीष्मश्चार्जुनसङ्गतः ।
मम चास्त्रसमारम्भः प्रजानामशिवं ध्रुवम् ।। २१ ।।

'युधिष्ठिरका क्रोध करना, भीष्म और अर्जुनका संघर्ष होना और मेरा अपने विविध अस्त्रोंके प्रयोगके लिये उद्योग करना—ये तीनों बातें निश्चय ही प्रजाजनोंके अमंगलकी सूचना देनेवाली हैं ।। २१ ।।

मनस्वी बलवाञ्छूरः कृतास्त्रो लघुविक्रमः ।
दूरपाती दृढेषुश्च निमित्तज्ञश्च पाण्डवः ।। २२ ।।

'पाण्डुनन्दन अर्जुन मनस्वी, बलवान्, शूरवीर, अस्त्रविद्याके पण्डित, शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले, दूरतकका लक्ष्य बेधनेवाले, सुदृढ़ बाणोंका संग्रह रखनेवाले तथा शुभाशुभ निमित्तोंके ज्ञाता हैं ।। २२ ।।

अजेयः समरे चापि देवैरपि सवासवैः ।
बलवान् बुद्धिमांश्चैव जितक्लेशो युधां वरः ।। २३ ।।

'इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी उन्हें युद्धमें पराजित नहीं कर सकते। वे बलवान्, बुद्धिमान्, क्लेशोंपर विजय पानेवाले और योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं ।। २३ ।।

विजयी च रणे नित्यं भैरवास्त्रश्च पाण्डवः ।
तस्य मार्गं परिहरन् द्रुतं गच्छ यतव्रत ।। २४ ।।

'उन्हें युद्धमें सदा विजय प्राप्त होती है। पाण्डुनन्दन अर्जुनके अस्त्र बड़े भयंकर हैं। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुत्र! इसलिये तुम उनका रास्ता छोड़कर शीघ्र भीष्मजीकी रक्षाके लिये चले जाओ ।। २४ ।।

पश्याद्यैतन्महाघोरे संयुगे वैशसं महत् ।
हेमचित्राणि शूराणां महान्ति च शुभानि च ।। २५ ।।
कवचान्यवदीर्यन्ते शरैः संनतपर्वभिः ।
छिद्यन्ते च ध्वजाग्राणि तोमराश्च धनूंषि च ।। २६ ।।

'देखो, इस महाघोर संग्राममें आज यह कैसा महान् जनसंहार हो रहा है? शूरवीरोंके स्वर्णजटित, शुभ एवं महान् कवच अर्जुनके झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा विदीर्ण किये जा रहे हैं। ध्वजके अग्रभाग, तोमर और धनुषोंके टुकड़े-टुकड़े किये जा रहे हैं ।। २५-२६ ।।

प्रासाश्च विमलास्तीक्ष्णाः शक्त्यश्च कनकोज्ज्वलाः ।
वैजयन्त्यश्च नागानां संक्रुद्धेन किरीटिना ।। २७ ।।

'चमकीले प्रास, सुवर्णजटित होनेके कारण सुनहरी कान्तिसे प्रकाशित होनेवाली तीखी शक्तियाँ और हाथियोंपर फहराती हुई वैजयन्ती पताकाएँ क्रोधमें भरे हुए किरीटधारी अर्जुनके द्वारा छिन्न-भिन्न की जा रही हैं ।। २७ ।।

नायं संरक्षितुं कालः प्राणान् पुत्रोपजीविभिः ।
याहि स्वर्गं पुरस्कृत्य यशसे विजयाय च ।। २८ ।।

'बेटा! आश्रित रहकर जीविका चलानेवाले पुरुषोंके लिये यह अपने प्राणोंकी रक्षाका अवसर नहीं है। तुम स्वर्गको सामने रखकर यश और विजयकी प्राप्तिके लिये भीष्मजीके पास जाओ ।। २८ ।।

रथनागहयावर्तां महाघोरां सुदुर्गमाम् ।
रथेन संग्रामनदीं तरत्येष कपिध्वजः ।। २९ ।।

'यह युद्ध एक महाघोर और अत्यन्त दुर्गम नदीके समान है। उसमें रथ, हाथी और घोड़े भँवर हैं, कपिध्वज अर्जुन रथरूपी नौकाके द्वारा इसे पार कर रहे हैं ।। २९ ।।

ब्रह्मण्यता दमो दानं तपश्च चरितं महत् ।
इहैव दृश्यते पार्थे भ्राता यस्य धनंजयः ।। ३० ।।
भीमसेनश्च बलवान् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
वासुदेवश्च वार्ष्णेयो यस्य नाथो व्यवस्थितः ।। ३१ ।।

'यहाँ केवल कुन्तीकुमार युधिष्ठिरमें ही ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति, इन्द्रियसंयम, दान, तप और श्रेष्ठ सदाचार आदि सद्‌गुण दिखायी देते हैं, जिनके फलस्वरूप उन्हें अर्जुन, बलवान् भीम तथा माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल और सहदेव-जैसे भाई मिले हैं एवं वृष्णिनन्दन भगवान् वासुदेव उनके रक्षक और सहायक बनकर सदा साथ रहते हैं ।। ३०-३१ ।।

तस्यैष मन्युप्रभवो धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।
तपोदग्धशरीरस्य कोपो दहति भारतीम् ।। ३२ ।।

'इस दुर्बुद्धि दुर्योधनका शरीर उन्हींकी तपस्यासे दग्धप्राय हो गया है और इसकी भारती सेनाको उन्हींकी क्रोधाग्नि जलाकर भस्म किये देती है ।। ३२ ।।

एष संदृश्यते पार्थो वासुदेवव्यपाश्रयः ।
दारयन् सर्वसैन्यानि धार्तराष्ट्राणि सर्वशः ।। ३३ ।।

'देखो, भगवान् वासुदेवकी शरणमें रहनेवाले ये अर्जुन कौरवोंकी सम्पूर्ण सेनाओंको सब ओरसे विदीर्ण करते हुए इधर ही आते दिखायी देते हैं ।। ३३ ।।

एतदालोक्यते सैन्यं क्षोभ्यमाणं किरीटिना ।
महोर्मिनद्धं सुमहत् तिमिनेव महाजलम् ।। ३४ ।।

'जैसे तिमि नामक महामत्स्य उत्तालतरंगोंसे युक्त महासागरके जलको मथ डालता है, उसी प्रकार किरीटधारी अर्जुनके द्वारा मथित हो यह कौरवसेना विक्षुब्ध होती दिखायी देती है ।। ३४ ।।

हाहाकिलकिलाशब्दाः श्रूयन्ते च चमूमुखे ।
याहि पाञ्चालदायादमहं यास्ये युधिष्ठिरम् ।। ३५ ।।

'सेनाके प्रमुख भागमें हाहाकार और किलकिलाहटके शब्द सुनायी देते हैं। तुम द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नका सामना करनेके लिये जाओ और मैं युधिष्ठिरपर चढ़ाई करूँगा ।।

दुर्गमं ह्यन्तरं राज्ञो व्यूहस्यामिततेजसः ।
समुद्रकुक्षिप्रतिमं सर्वतोऽतिरथैः स्थितैः ।। ३६ ।।

'अमित तेजस्वी राजा युधिष्ठिरके व्यूहके भीतर प्रवेश करना समुद्रके अंदर प्रवेश करनेके समान बहुत कठिन है; क्योंकि उनके चारों ओर अतिरथी योद्धा खड़े हैं ।। ३६ ।।

सात्यकिश्चाभिमन्युश्च धृष्टद्युम्नवृकोदरौ ।
पर्यरक्षन्त राजानं यमौ च मनुजेश्वरम् ।। ३७ ।।

'सात्यकि, अभिमन्यु, धृष्टद्युम्न, भीमसेन और नकुल, सहदेव नरेश्वर राजा युधिष्ठिरकी रक्षा कर रहे हैं ।। ३७ ।।

उपेन्द्रसदृशः श्यामो महाशाल इवोद्‌गतः ।

एष गच्छत्यनीकाग्रे द्वितीय इव फाल्गुनः ।। ३८ ।।

'यह देखो, भगवान् विष्णुके समान श्याम और महान् शालवृक्षके समान ऊँचा अभिमन्यु द्वितीय अर्जुनके समान सेनाके आगे-आगे चल रहा है ।। ३८ ।।

उत्तमास्त्राणि चाधत्स्व गृहीत्वा च महद् धनुः ।

पार्षतं याहि राजानं युध्यस्व च वृकोदरम् ।। ३९ ।।

'तुम अपने उत्तम अस्त्रोंको धारण करो और विशाल धनुष लेकर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा भीमसेनके साथ युद्ध करो ।। ३९ ।।

को हि नेच्छेत् प्रियं पुत्रं जीवन्तं शाश्वतीः समाः ।

क्षत्रधर्मं तु सम्प्रेक्ष्य ततस्त्वां नियुनज्म्यहम् ।। ४० ।।

'अपना प्यारा पुत्र नित्य-निरन्तर जीवित रहे, यह कौन नहीं चाहता है तथापि क्षत्रिय-धर्मपर दृष्टि रखकर मैं तुम्हें इस कार्यमें नियुक्त कर रहा हूँ ।। ४० ।।

एष चातिरणे भीष्मो दहते वै महाचमूम् ।

युद्धेषु सदृशस्तात यमस्य वरुणस्य च ।। ४१ ।।

'तात! ये भीष्म रणक्षेत्रमें यमराज और वरुणके समान पराक्रम दिखाते हुए पाण्डवोंकी विशाल सेनाको अत्यन्त दग्ध कर रहे हैं' ।। ४१ ।।

(पुत्रं समनुशास्यैवं भारद्वाजः प्रतापवान् ।

महारणे महाराज धर्मराजमयोधयत् ।।)

महाराज! अपने पुत्रको इस प्रकार आदेश देकर प्रतापी द्रोणाचार्य इस महायुद्धमें धर्मराजके साथ युद्ध करने लगे।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि द्रोणाश्वत्थामसंवादे द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें द्रोण और अश्वत्थामाका संवादविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११२ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके १ ½ श्लोक मिलाकर कुल ४२ ½ श्लोक हैं।]

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके दस प्रमुख महारथियोंके साथ अकेले घोर युद्ध करते हुए भीमसेनका अद्भुत पराक्रम

संजय उवाच

भगदत्तः कृपः शल्यः कृतवर्मा तथैव च ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्धवश्च जयद्रथः ।। १ ।।
चित्रसेनो विकर्णश्च तथा दुर्मर्षणादयः ।
दशैते तावका योधा भीमसेनमयोधयन् ।। २ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! भगदत्त, कृपाचार्य, शल्य, कृतवर्मा, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, सिन्धुराज जयद्रथ, चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षण—ये दस योद्धा भीमसेनके साथ युद्ध कर रहे थे ।। १-२ ।।

महत्या सेनया युक्ता नानादेशसमुत्थया ।
भीष्मस्य समरे राजन् प्रार्थयाना महद् यशः ।। ३ ।।

नरेश्वर! इनके साथ अनेक देशोंसे आयी हुई विशाल सेना मौजूद थी। ये समरभूमिमें भीष्मके महान् यशकी रक्षा करना चाहते थे ।। ३ ।।

शल्यस्तु नवभिर्बाणैर्भीमसेनमताडयत् ।
कृतवर्मा त्रिभिर्बाणैः कृपश्च नवभिः शरैः ।। ४ ।।

शल्यने नौ बाणोंसे भीमसेनको गहरी चोट पहुँचायी। फिर कृतवर्माने तीन और कृपाचार्यने उन्हें नौ बाण मारे ।। ४ ।।

चित्रसेनो विकर्णश्च भगदत्तश्च मारिष ।
दशभिर्दशभिर्बाणैर्भीमसेनमताडयन् ।। ५ ।।

आर्य! फिर लगे हाथ चित्रसेन, विकर्ण और भगदत्तने भी दस-दस बाण मारकर भीमसेनको घायल कर दिया ।।

सैन्धवश्च त्रिभिर्बाणैर्भीमसेनमताडयत् ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः ।। ६ ।।
दुर्मर्षणस्तु विंशत्या पाण्डवं निशितैः शरैः ।

फिर सिन्धुराज जयद्रथने तीन, अवन्तीके विन्द और अनुविन्दने पाँच-पाँच तथा दुर्मर्षणने बीस तीखे बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन भीमसेनको चोट पहुँचायी ।। ६½ ।।

स तान् सर्वान् महाराज राजमानान् पृथक् पृथक् ।। ७ ।।
प्रवीरान् सर्वलोकस्य धार्तराष्ट्रान् महारथान् ।

जघान समरे वीरः पाण्डवः परवीरहा ।। ८ ।।

महाराज! तब शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले पाण्डुकुमार वीर भीमसेनने सम्पूर्ण जगत्के उन समस्त राजाओं, प्रमुख वीरों तथा आपके महारथी पुत्रोंको पृथक्-पृथक् बाण मारकर समरांगणमें घायल कर दिया ।। ७-८ ।।

सप्तभिः शल्यमाविध्यत् कृतवर्माणमष्टभिः ।
कृपस्य सशरं चापं मध्ये चिच्छेद भारत ।। ९ ।।

भारत! भीमसेनने शल्यको सात और कृतवर्माको आठ बाणोंसे बींध डाला। फिर कृपाचार्यके बाणसहित धनुषको बीचसे ही काट दिया ।। ९ ।।

अथैनं छिन्नधन्वानं पुनर्विव्याध सप्तभिः ।
विन्दानुविन्दौ च तथा त्रिभिस्त्रिभिरताडयत् ।। १० ।।

धनुष कट जानेपर उन्होंने पुनः सात बाणोंसे कृपाचार्यको घायल किया। फिर विन्द और अनुविन्दको तीन-तीन बाण मारे ।। १० ।।

दुर्मर्षणं च विंशत्या चित्रसेनं च पञ्चभिः ।
विकर्णं दशभिर्बाणैः पञ्चभिश्च जयद्रथम् ।। ११ ।।
विद्ध्वा भीमोऽनदद्धृष्टः सैन्धवं च पुनस्त्रिभिः ।

तत्पश्चात् दुर्मर्षणको बीस, चित्रसेनको पाँच, विकर्णको दस तथा जयद्रथको पाँच बाणोंसे बींधकर भीमसेनने बड़े हर्षके साथ सिंहनाद किया और जयद्रथको पुनः तीन बाणोंसे बींध डाला ।। ११ १/२ ।।

अथान्यद् धनुरादाय गौतमो रथिनां वरः ।। १२ ।।
भीमं विव्याध संरब्धो दशभिर्निशितैः शरैः ।

तदनन्तर रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्यने दूसरा धनुष लेकर क्रोधपूर्वक चलाये हुए दस तीखे बाणोंद्वारा भीमसेनको बींध डाला ।। १२ १/२ ।।

स विद्धो दशभिर्बाणैस्तोत्रैरिव महाद्विपः ।। १३ ।।
(व्यनदत् समरे शूरः सिंहवद् रणमूर्धनि ।)

जैसे महान् गजराज अंकुशोंसे पीड़ित होनेपर चिग्घाड़ उठता है, उसी प्रकार उन दस बाणोंसे घायल होनेपर शूरवीर भीमसेनने युद्धके मुहानेपर सिंहके समान गर्जना की ।। १३ ।।

ततः क्रुद्धो महाराज भीमसेनः प्रतापवान् ।
गौतमं ताडयामास शरैर्बहुभिराहवे ।। १४ ।।

महाराज! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए प्रतापी भीमसेनने रणक्षेत्रमें कृपाचार्यको अनेक बाणोंद्वारा घायल किया ।। १४ ।।

सैन्धवस्य तथाश्वांश्च सारथिं च त्रिभिः शरैः ।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय कालान्तकसमद्युतिः ।। १५ ।।

इसके बाद प्रलयकालीन यमराजके समान तेजस्वी भीमसेनने तीन बाणोंद्वारा सिन्धुराज जयद्रथके घोड़ों तथा सारथिको यमलोक भेज दिया ।। १५ ।।

हताश्वात् तु रथात् तूर्णमवप्लुत्य महारथः ।
शरांश्चिक्षेप निशितान् भीमसेनस्य संयुगे ।। १६ ।।

तब उस अश्वहीन रथसे तुरंत ही कूदकर महारथी जयद्रथने युद्धस्थलमें भीमसेनके ऊपर बहुत-से तीखे बाण चलाये ।। १६ ।।

तस्य भीमो धनुर्मध्ये द्वाभ्यां चिच्छेद मारिष ।
भल्लाभ्यां भरतश्रेष्ठ सैन्धवस्य महात्मनः ।। १७ ।।

माननीय भरतश्रेष्ठ! उस समय भीमसेनने दो भल्ल मारकर महामना सिन्धुराजके धनुषको बीचसे ही काट दिया ।। १७ ।।

स छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
चित्रसेनरथं राजन्नारुरोह त्वरान्वितः ।। १८ ।।

राजन्! धनुषके कटने तथा घोड़ों और सारथिके मारे जानेपर रथहीन हुआ जयद्रथ तुरंत ही चित्रसेनके रथपर जा बैठा ।। १८ ।।

अत्यद्भुतं रणे कर्म कृतवांस्तत्र पाण्डवः ।
महारथाञ्शरैर्विद्ध्वा वारयित्वा च मारिष ।। १९ ।।
विरथं सैन्धवं चक्रे सर्वलोकस्य पश्यतः ।

आर्य! वहाँ पाण्डुनन्दन भीमसेनने रणक्षेत्रमें यह अद्भुत कर्म किया कि सब महारथियोंको बाणोंसे घायल करके रोक दिया और सब लोगोंके देखते-देखते सिन्धुराजको रथहीन कर दिया ।। १९½ ।।

तदा न ममृषे शल्यो भीमसेनस्य विक्रमम् ।। २० ।।
स संधाय शरांस्तीक्ष्णान् कर्मारपरिमार्जितान् ।
भीमं विव्याध समरे तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।। २१ ।।

उस समय राजा शल्य भीमसेनके उस पराक्रमको न सह सके। उन्होंने लोहारके माँजे हुए पैने बाणोंका संधान करके समरभूमिमें भीमसेनको बींध डाला और कहा—‘खड़ा रह, खड़ा रह’ ।। २०-२१ ।।

कृपश्च कृतवर्मा च भगदत्तश्च वीर्यवान् ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ चित्रसेनश्च संयुगे ।। २२ ।।
दुर्मर्षणो विकर्णश्च सिन्धुराजश्च वीर्यवान् ।
भीमं ते विव्यधुस्तूर्णं शल्यहेतोररिंदमाः ।। २३ ।।

तत्पश्चात् कृपाचार्य, कृतवर्मा, पराक्रमी भगदत्त, अवन्तीके विन्द और अनुविन्द, चित्रसेन, दुर्मर्षण, विकर्ण और पराक्रमी सिन्धुराज जयद्रथ शत्रुओंका दमन करनेवाले इन वीरोंने राजा शल्यकी रक्षाके लिये भीमसेनको तुरंत ही घायल कर दिया ।। २२-२३ ।।

स च तान् प्रतिविव्याध पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः ।
शल्यं विव्याध सप्तत्या पुनश्च दशभिः शरैः ।। २४ ।।

फिर भीमसेनने भी उन सबको पाँच-पाँच बाणोंसे घायल करके तुरंत ही बदला लिया। इसके बाद उन्होंने शल्यको पहले सत्तर और फिर दस बाणोंसे बींध डाला ।। २४ ।।

तं शल्यो नवभिर्भित्त्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ।
सारथिं चास्य भल्लेन गाढं विव्याध मर्मणि ।। २५ ।।

यह देख शल्यने भीमसेनको पहले नौ बाणोंसे विदीर्ण करके फिर पाँच बाणोंद्वारा घायल किया। साथ ही एक भल्लके द्वारा उनके सारथिके भी मर्मस्थानोंमें अधिक चोट पहुँचायी ।। २५ ।।

विशोकं प्रेक्ष्य निर्भिन्नं भीमसेनः प्रतापवान् ।
मद्रराजं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।। २६ ।।

उस समय प्रतापी भीमसेनने अपने सारथि विशोकको अत्यन्त क्षत-विक्षत हुआ देख तीन बाणोंसे मद्रराज शल्यकी भुजाओं तथा छातीमें प्रहार किया ।। २६ ।।

(भगदत्तं तथा वीरं कृतवर्माणमाहवे ।)
तथेतरान् महेष्वासांस्त्रिभिस्त्रिभिरजिह्मगैः ।
ताडयामास समरे सिंहवद् विननाद च ।। २७ ।।

भगदत्त, वीरवर कृतवर्मा तथा अन्य महाधनुर्धर वीरोंको उन्होंने तीन-तीन सीधे जानेवाले सायकोंद्वारा समरभूमिमें मारा और सिंहके समान गर्जना की ।। २७ ।।

ते हि यत्ता महेष्वासाः पाण्डवं युद्धकोविदम् ।
त्रिभिस्त्रिभिरकुण्ठाग्रैर्भृशं मर्मस्वताडयन् ।। २८ ।।

तब उन सभी महाधनुर्धरोंने एक साथ प्रयत्न करके तीखे अग्रभागवाले तीन-तीन बाणोंद्वारा युद्धकुशल पाण्डुपुत्र भीमके मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी ।।

सोऽतिविद्धो महेष्वासो भीमसेनो न विव्यथे ।
पर्वतो वारिधाराभिर्वर्षमाणैरिवाम्बुदैः ।। २९ ।।

उनके द्वारा अत्यन्त घायल होनेपर भी महाधनुर्धर भीमसेन बादलोंकी बरसायी हुई जलधाराओंसे पर्वतकी भाँति तनिक भी व्यथित एवं विचलित नहीं हुए ।। २९ ।।

स तु क्रोधसमाविष्टः पाण्डवानां महारथः ।
मद्रेश्वरं त्रिभिर्बाणैर्भृशं विद्ध्वा महायशाः ।। ३० ।।
कृपं च नवभिर्बाणैर्भृशं विद्ध्वा समन्ततः ।
प्राग्ज्योतिषं शतैराजौ राजन् विव्याध सायकैः ।। ३१ ।।

राजन्! तब क्रोधमें भरे हुए पाण्डवोंके महारथी महायशस्वी भीमसेनने मद्रराज शल्यको तीन और कृपाचार्यको नौ बाणोंद्वारा सब ओरसे अत्यन्त घायल करके प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्तको सैकड़ों बाणोंद्वारा समरभूमिमें बींध डाला ।। ३०-३१ ।।

ततस्तु सशरं चापं सात्वतस्य महात्मनः ।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन चिच्छेद कृतहस्तवत् ।। ३२ ।।

तत्पश्चात् सिद्धहस्त पुरुषकी भाँति भीमसेनने अत्यन्त तीखे क्षुरप्रके द्वारा महामना कृतवर्माके बाणसहित धनुषको काट डाला ।। ३२ ।।

तथान्यद् धनुरादाय कृतवर्मा वृकोदरम् ।
आजघान भ्रुवोर्मध्ये नाराचेन परंतपः ।। ३३ ।।

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले कृतवर्माने दूसरा धनुष लेकर भीमसेनकी दोनों भौंहोंके मध्यभागमें नाराचके द्वारा प्रहार किया ।। ३३ ।।

भीमस्तु समरे विद्ध्वा शल्यं नवभिरायसैः ।
भगदत्तं त्रिभिश्चैव कृतवर्माणमष्टभिः ।। ३४ ।।
द्वाभ्यां द्वाभ्यां तु विव्याध गौतमप्रभृतीन् रथान् ।
तेऽपि तं समरे राजन् विव्यधुर्निशितैः शरैः ।। ३५ ।।

तत्पश्चात् भीमसेनने समरांगणमें लोहेके बने हुए नौ बाणोंसे राजा शल्यको बेधकर तीन बाणोंसे भगदत्तको, आठसे कृतवर्माको और दो-दो बाणोंद्वारा कृपाचार्य आदि रथियोंको बींध डाला। राजन्! फिर उन्होंने भी अपने तीखे बाणोंद्वारा भीमसेनको घायल कर दिया ।। ३४-३५ ।।

स तथा पीड्यमानोऽपि सर्वशस्त्रैर्महारथैः ।
मत्वा तृणेन तांस्तुल्यान् विचचार गतव्यथः ।। ३६ ।।

उन महारथियोंद्वारा सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे पीड़ित किये जानेपर भी भीमसेन उन्हें तिनकोंके समान मानकर व्यथारहित हो विचरण करने लगे ।। ३६ ।।

ते चापि रथिनां श्रेष्ठा भीमाय निशिताञ्छरान् ।
प्रेषयामासुरव्यग्राः शतशोऽथ सहस्रशः ।। ३७ ।।

रथियोंमें श्रेष्ठ उन वीरोंने भी व्यग्रतारहित हो भीमसेनपर सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें तीखे बाण चलाये ।। ३७ ।।

तस्य शक्तिं महावेगां भगदत्तो महारथः ।
चिक्षेप समरे वीरः स्वर्णदण्डां महामते ।। ३८ ।।

महामते! उस समरभूमिमें वीर महारथी भगदत्तने भीमसेनपर स्वर्णमय दण्डसे विभूषित एक महावेगशालिनी शक्ति चलायी ।। ३८ ।।

तोमरं सैन्धवो राजा पट्टिशं च महाभुजः ।
शतघ्नीं च कृपो राजञ्छरं शल्यश्च संयुगे ।। ३९ ।।

सिन्धुदेशके राजा महाबाहु जयद्रथने तोमर और पट्टिश चलाया। राजन्! कृपाचार्यने शतघ्नीका प्रयोग किया तथा राजा शल्पने युद्धस्थलमें एक बाण मारा ।। ३९ ।।

अथेतरे महेष्वासाः पञ्च पञ्च शिलीमुखान् ।

भीमसेनं समुद्दिश्य प्रेषयामासुरोजसा ।। ४० ।।

इनके सिवा दूसरे धनुर्धर वीरोंने भी भीमसेनको लक्ष्य करके बलपूर्वक पाँच-पाँच बाण चलाये ।। ४० ।।

तोमरं च द्विधा चक्रे क्षुरप्रेणानिलात्मजः ।
पट्टिशं च त्रिभिर्बाणैश्चिच्छेद तिलकाण्डवत् ।। ४१ ।।

परंतु वायुपुत्र भीमसेनने एक क्षुरप्रसे जयद्रथके चलाये हुए तोमरके दो टुकड़े कर दिये; फिर तीन बाण मारकर पट्टिशको तिलके डंठलके समान टूक-टूक कर डाला ।। ४१ ।।

स बिभेद शतघ्नीं च नवभिः कङ्कपत्रिभिः ।
मद्रराजप्रयुक्तं च शरं छित्त्वा महारथः ।। ४२ ।।
शक्तिं चिच्छेद सहसा भगदत्तेरितां रणे ।

तत्पश्चात् कंकपत्रयुक्त नौ बाणोंद्वारा शतघ्नीको छिन्न-भिन्न कर दिया। इसके बाद महारथी भीमसेनने मद्रराज शल्यके चलाये हुए बाणको काटकर रणक्षेत्रमें भगदत्तकी चलायी हुई शक्तिके भी सहसा टुकड़े-टुकड़े कर डाले ।। ४२½ ।।

तथेतराञ्छरान् घोरान् शरैः संनतपर्वभिः ।। ४३ ।।
भीमसेनो रणश्लाघी त्रिधैकैकं समाच्छिनत् ।
तांश्च सर्वान् महेष्वासांस्त्रिभिस्त्रिभिरताडयत् ।। ४४ ।।

तदनन्तर झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाणोंद्वारा अन्यान्य योद्धाओंके चलाये हुए भयंकर शरसमूहोंको भी युद्धकी श्लाघा रखनेवाले भीमसेनने काटकर एक-एकके तीन-तीन टुकड़े कर दिये। इस प्रकार शत्रुओंके अस्त्र-शस्त्रोंका निवारण करके भीमसेनने उन सभी महाधनुर्धर वीरोंको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया ।।

ततो धनंजयस्तत्र वर्तमाने महारणे ।
आजगाम रथेनाजौ भीमं दृष्ट्वा महारथम् ।। ४५ ।।
निघ्नन्तं समरे शत्रून् योधयानं च सायकैः ।

तब उस महासमरमें महारथी भीमसेनको, जो समरभूमिमें सायकोंद्वारा शत्रुओंका संहार करते हुए उनके साथ युद्ध कर रहे थे, देखकर रथके द्वारा अर्जुन भी वहीं आ पहुँचे ।। ४५½ ।।

तौ तु तत्र महात्मानौ समेतौ वीक्ष्य पाण्डवौ ।। ४६ ।।
न शशंसुर्जयं तत्र तावकाः पुरुषर्षभाः ।

उन दोनों महामनस्वी पाण्डव बन्धुओंको एकत्र हुआ देख आपकी सेनाके श्रेष्ठ पुरुषोंने वहाँ अपनी विजयकी आशा त्याग दी ।। ४६½ ।।

अथार्जुनो रणे भीमं योधयन्तं महारथान् ।। ४७ ।।
भीष्मस्य निधनाकाङ्क्षी पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
आससाद रणे वीरांस्तावकान् दश भारत ।। ४८ ।।

भरतनन्दन! उस रणक्षेत्रमें भीम जिनके साथ युद्ध कर रहे थे, आपके पक्षके उन दस महारथी वीरोंके सामने भीष्मके वधकी इच्छा रखनेवाले अर्जुन भी शिखण्डीको आगे किये आ पहुँचे ।। ४७-४८ ।।

ये स्म भीमं रणे राजन् योधयन्तो व्यवस्थिताः ।
बीभत्सुस्तानथाविध्यद् भीमस्य प्रियकाम्यया ।। ४९ ।।

राजन्! जो लोग रणक्षेत्रमें भीमसेनके साथ युद्ध करते हुए खड़े थे, उन सबको अर्जुनने भीमका प्रिय करनेकी इच्छासे अच्छी तरह घायल कर दिया ।। ४९ ।।

ततो दुर्योधनो राजा सुशर्माणमचोदयत् ।
अर्जुनस्य वधार्थाय भीमसेनस्य चोभयोः ।। ५० ।।

तब राजा दुर्योधनने अर्जुन और भीमसेन दोनोंके वधके लिये सुशर्माको भेजा ।। ५० ।।

सुशर्मन् गच्छ शीघ्रं त्वं बलौघैः परिवारितः ।
जहि पाण्डुसुतावेतौ धनंजयवृकोदरौ ।। ५१ ।।

भेजते समय उसने कहा—‘सुशर्मन्! तुम विशाल सेनाके साथ शीघ्र जाओ और अर्जुन तथा भीमसेन इन दोनों पाण्डुकुमारोंको मार डालो’ ।। ५१ ।।

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य त्रैगर्तः प्रस्थलाधिपः ।
अभिद्रुत्य रणे भीममर्जुनं चैव धन्विनौ ।। ५२ ।।
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् पर्यवारयत् ।
ततः प्रववृते युद्धमर्जुनस्य परैः सह ।। ५३ ।।

दुर्योधनकी यह बात सुनकर प्रस्थलाके स्वामी त्रिगर्तराज सुशर्माने रणक्षेत्रमें धावा करके भीमसेन और अर्जुन दोनों धनुर्धर वीरोंको अनेक सहस्र रथोंद्वारा सब ओरसे घेर लिया। उस समय अर्जुनका शत्रुओंके साथ घोर युद्ध होने लगा ।। ५२-५३ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीमपराक्रमे त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीमसेनका पराक्रमविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११३ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५४ श्लोक हैं।]

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके प्रमुख महारथियोंके साथ युद्धमें भीमसेन और अर्जुनका अद्भुत पुरुषार्थ

संजय उवाच

अर्जुनस्तु रणे शल्यं यतमानं महारथम् ।
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! उस समय रणक्षेत्रमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले महारथी शल्यको अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंकी वर्षा करके ढक दिया ।। १ ।।

सुशर्माणं कृपं चैव त्रिभिस्त्रिभिरविध्यत ।
प्राग्ज्योतिषं च समरे सैन्धवं च जयद्रथम् ।। २ ।।
चित्रसेनं विकर्णं च कृतवर्माणमेव च ।
दुर्मर्षणं च राजेन्द्र ह्यावन्त्यौ च महारथौ ।। ३ ।।
एकैकं त्रिभिरानर्च्छत् कङ्कबर्हिणवाजितैः ।

उसके बाद सुशर्मा और कृपाचार्यको भी तीन-तीन बाणोंसे बींध डाला। राजेन्द्र! फिर समरांगणमें प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त, सिन्धुराज जयद्रथ, चित्रसेन, विकर्ण, कृतवर्मा, दुर्मर्षण तथा महारथी विन्द और अनुविन्द—इनमेंसे प्रत्येकको गीधकी पाँखसे युक्त तीन-तीन बाणोंद्वारा विशेष पीड़ा दी ।। २-३½ ।।

शरैरतिरथो युद्धे पीडयन् वाहिनीं तव ।। ४ ।।
जयद्रथो रणे पार्थं विद्ध्वा भारत सायकैः ।
भीमं विव्याध तरसा चित्रसेनरथे स्थितः ।। ५ ।।

तत्पश्चात् अतिरथी वीर अर्जुनने युद्धमें आपकी सेनाको बाणसमूहोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित कर दिया। भारत! चित्रसेनके रथपर बैठे हुए जयद्रथने रणक्षेत्रमें कुन्तीकुमार अर्जुनको घायल करके भीमसेनको भी बहुत-से सायकोंद्वारा वेगपूर्वक बींध डाला ।। ४-५ ।।

शल्यश्च समरे जिष्णुं कृपश्च रथिनां वरः ।
विव्यधाते महाराज बहुधा मर्मभेदिभिः ।। ६ ।।

महाराज! फिर रथियोंमें श्रेष्ठ कृपाचार्य तथा शल्यने भी समरांगणमें मर्मस्थलको विदीर्ण करनेवाले बाणोंद्वारा अर्जुनको बारंबार घायल किया ।। ६ ।।

चित्रसेनादयश्चैव पुत्रास्तव विशाम्पते ।
पञ्चभिः पञ्चभिस्तूर्णं संयुगे निशितैः शरैः ।। ७ ।।

आजघ्नुरर्जुनं संख्ये भीमसेनं च मारिष ।

माननीय प्रजानाथ! चित्रसेन आदि आपके पुत्रोंने भी युद्धस्थलमें तुरंत ही पाँच-पाँच तीखे बाणोंद्वारा अर्जुन और भीमसेनको घायल कर दिया ।। ७½ ।।

तौ तत्र रथिनां श्रेष्ठौ कौन्तेयौ भरतर्षभौ ।। ८ ।।

अपीडयेतां समरे त्रिगर्तानां महद् बलम् ।

उस समय वहाँ रथियोंमें श्रेष्ठ भरतकुलभूषण कुन्तीकुमार भीमसेन और अर्जुनने समरभूमिमें त्रिगर्तोंकी विशाल सेनाको पीड़ित कर दिया ।। ८½ ।।

सुशर्मापि रणे पार्थं शरैर्नवभिराशुगैः ।। ९ ।।

ननाद बलवन्नादं त्रासयानो महद् बलम् ।

इधर सुशर्माने भी रणक्षेत्रमें नौ शीघ्रगामी बाणोंद्वारा अर्जुनको घायल करके पाण्डवोंकी विशाल सेनाको भयभीत करते हुए बड़े जोरसे सिंहनाद किया ।। ९½ ।।

अन्ये च रथिनः शूरा भीमसेनधनंजयौ ।। १० ।।

विव्यधुर्निशितैर्बाणै रुक्मपुङ्खैरजिह्मगैः ।

इसी प्रकार अन्य शूरवीर महारथियोंने भीमसेन और अर्जुनको सुवर्णपंखयुक्त, सीधे जानेवाले पैने बाणोंद्वारा बींध डाला ।। १०½ ।।

तेषां च रथिनां मध्ये कौन्तेयौ भरतर्षभौ ।। ११ ।।

क्रीडमानौ रथोदारौ चित्ररूपौ व्यदृश्यताम् ।

उन समस्त रथियोंके बीचमें खड़े होकर खेल-से करते हुए भरतभूषण उदार महारथी कुन्तीकुमार भीमसेन और अर्जुन विचित्र दिखायी देते थे ।। ११½ ।।

आमिषेप्सू गवां मध्ये सिंहाविव मदोत्कटौ ।। १२ ।।

जैसे मांसकी इच्छा रखनेवाले दो मदोन्मत्त सिंह गौओंके झुंडमें खड़े हुए हों, उसी प्रकार भीमसेन और अर्जुन उस रणभूमिमें सुशोभित हो रहे थे ।। १२ ।।

छित्त्वा धनूंषि शूराणां शरांश्च बहुधा रणे ।

पातयामासतुर्वीरौ शिरांसि शतशो नृणाम् ।। १३ ।।

उन दोनों वीरोंने रणक्षेत्रमें सैकड़ों शूरवीर मनुष्योंके धनुष और बाणोंको बारंबार छिन्न-भिन्न करके उनके मस्तकोंको भी काट गिराया ।। १३ ।।

रथाश्च बहवो भग्ना हयाश्च शतशो हताः ।

गजाश्च सगजारोहाः पेतुरुर्व्यां महाहवे ।। १४ ।।

उस महासमरमें बहुत-से रथ टूट गये, सैकड़ों घोड़े मारे गये तथा कितने ही हाथी और हाथीसवार धराशायी हो गये ।। १४ ।।

रथिनः सादिनश्चापि तत्र तत्र निषूदिताः ।

दृश्यन्ते बहवो राजन् वेपमानाः समन्ततः ।। १५ ।।

राजन्! बहुत-से रथी और घुड़सवार जहाँ-तहाँ चारों ओर मारे जाकर काँपते और छटपटाते हुए दिखायी देते थे ।। १५ ।।

हतैर्गजपदात्योघैर्वाजिभिश्च निषूदितैः ।
रथैश्च बहुधा भग्नैः समास्तीर्यत मेदिनी ।। १६ ।।

वहाँ मरकर गिरे हुए हाथियों, पैदल सिपाहियों, घोड़ों तथा टूटे हुए बहुत-से रथोंद्वारा पृथ्वी आच्छादित हो गयी थी ।। १६ ।।

छत्रैश्च बहुधा छिन्नैर्ध्वजैश्च विनिपातितैः ।
(चामरैर्हेमदण्डैश्च समास्तीर्यत मेदिनी ।)
अङ्कुशैरपविद्धैश्च परिस्तोमैश्च भारत ।। १७ ।।
(घण्टाभिश्च कशाभिश्च समास्तीर्यत मेदिनी ।)

भारत! अनेक टुकड़ोंमें कटकर गिरे हुए छत्रों, ध्वजाओं, स्वर्णमय दण्डसे विभूषित चामरों, फेंके हुए अंकुशों, चाबुकों, घण्टों और झूलोंसे वहाँकी भूमि ढक गयी थी ।।

केयूरैरङ्गदैर्हारै राङ्कवैर्मृदितैस्तथा ।
(कुण्डलैर्मणिचित्रैश्च समास्तीर्यत मेदिनी ।)
उष्णीषैर्ऋष्टिभिश्चैव चामरव्यजनैरपि ।। १८ ।।

केयूर, अंगद, हार तथा मणिजटित कुण्डल आदि आभूषणों, रंकु मृगके कोमल चर्म, वीरोंकी पगड़ियों, ऋष्टि आदि अस्त्रों तथा चामर और व्यजन आदिसे भी वहाँकी धरती आच्छादित हो गयी थी ।। १८ ।।

तत्र तत्रापविद्धैश्च बाहुभिश्चन्दनोक्षितैः ।
ऊरुभिश्च नरेन्द्राणां समास्तीर्यत मेदिनी ।। १९ ।।

जहाँ-तहाँ गिरी हुई राजाओंकी चन्दनचर्चित भुजाओं और जाँघोंसे वह रणभूमि पट गयी थी ।। १९ ।।

तत्राद्भुतमपश्याम रणे पार्थस्य विक्रमम् ।
शरैः संवार्य तान् वीरान् यज्जघान महाबलः ।। २० ।।

महाराज! मैंने उस रणक्षेत्रमें अर्जुनका अद्‌भुत पराक्रम यह देखा कि उन महाबली वीरने शत्रुपक्षके उन सब प्रमुख वीरोंको बाणोंद्वारा रोककर अनेकों वीरोंको मार डाला था ।। २० ।।

पुत्रस्तु तव तं दृष्ट्वा भीमार्जुनपराक्रमम् ।
गाङ्गेयस्य रथाभ्याशमुपजग्मे महाबलः ।। २१ ।।

आपका पुत्र महाबली दुर्योधन भीमसेन और अर्जुनका वह पराक्रम देखकर स्वयं भी गंगानन्दन भीष्मके रथके समीप जा पहुँचा ।। २१ ।।

कृपश्च कृतवर्मा च सैन्धवश्च जयद्रथः ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ नाजहुः संयुगं तदा ।। २२ ।।

उस समय कृपाचार्य, कृतवर्मा, सिन्धुराज जयद्रथ तथा अवन्तीके विन्द और अनुविन्दने भी युद्धको नहीं छोड़ा ।। २२ ।।

ततो भीमो महेष्वासः फाल्गुनश्च महारथः ।
कौरवाणां चमूं घोरां भृशं दुद्रुवतू रणे ।। २३ ।।

तदनन्तर महाधनुर्धर भीमसेन तथा महारथी अर्जुन रणक्षेत्रमें कौरवोंकी उस भयंकर सेनाको जोर-जोरसे खदेड़ने लगे ।। २३ ।।

ततो बर्हिणवाजानामयुतान्यर्बुदानि च ।
धनंजयरथे तूर्णं पातयन्ति स्म भूमिपाः ।। २४ ।।

तब बहुत-से भूमिपाल मिलकर तुरंत ही अर्जुनके रथपर मोरपंखयुक्त अनेक अयुत एवं अर्बुद बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। २४ ।।

ततस्ताञ्शरजालेन संनिवार्य महारथान् ।
पार्थः समन्तात् समरे प्रेषयामास मृत्यवे ।। २५ ।।

तब अर्जुनने सब ओरसे बाणोंका जाल-सा बिछाकर उन महारथी भूमिपालोंको रोक दिया और तुरंत ही उन्हें मृत्युके लोकमें पहुँचा दिया ।। २५ ।।

शल्यस्तु समरे जिष्णुं क्रीडन्निव महारथः ।
आजघानोरसि क्रुद्धो भल्लैः संनतपर्वभिः ।। २६ ।।

तब महारथी शल्यने क्रीड़ा करते हुए-से कुपित हो समरभूमिमें झुकी हुई गाँठवाले भल्लोंद्वारा अर्जुनकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ।। २६ ।।

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा हस्तावापं च पञ्चभिः ।
अथैनं सायकैस्तीक्ष्णैर्भृशं विव्याध मर्मणि ।। २७ ।।

यह देख अर्जुनने पाँच बाणोंसे उनके धनुष और दस्तानेको काटकर तीखे सायकोंद्वारा उनके मर्मस्थलमें गहरी चोट पहुँचायी ।। २७ ।।

अथान्यद् धनुरादाय समरे भारसाधनम् ।
मद्रेश्वरो रणे जिष्णुं ताडयामास रोषितः ।। २८ ।।
त्रिभिः शरैर्महाराज वासुदेवं च पञ्चभिः ।
भीमसेनं च नवभिर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।। २९ ।।

महाराज! फिर मद्रराजने भी भारसाधनमें समर्थ दूसरा धनुष लेकर रणभूमिमें अर्जुनपर रोषपूर्वक तीन बाणोंद्वारा प्रहार किया। वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको पाँच बाणोंसे घायल करके उन्होंने भीमसेनकी भुजाओं तथा छातीमें नौ बाण मारे ।। २८-२९ ।।

ततो द्रोणो महाराज मागधश्च महारथः ।
दुर्योधनसमादिष्टौ तं देशमुपजग्मतुः ।। ३० ।।
यत्र पार्थो महाराज भीमसेनश्च पाण्डवः ।
कौरव्यस्य महासेनां जघ्नतुः सुमहारथौ ।। ३१ ।।

नरेश्वर! तदनन्तर दुर्योधनकी आज्ञा पाकर द्रोण तथा महारथी मगधनरेश उसी स्थानपर आये, जहाँ पाण्डुकुमार अर्जुन और भीमसेन—ये दोनों महारथी दुर्योधनकी विशाल सेनाका संहार कर रहे थे ।। ३०-३१ ।।

जयत्सेनस्तु समरे भीमं भीमायुधं युधि ।
विव्याध निशितैर्बाणैरष्टभिर्भरतर्षभ ।। ३२ ।।

भरतश्रेष्ठ! मगधराज जयत्सेनने* युद्धके मैदानमें भयानक अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले भीमसेनको आठ पैने बाणोंद्वारा बींध डाला ।। ३२ ।।

तं भीमो दशभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ।
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ।। ३३ ।।

तब भीमसेनने जयत्सेनको दस बाणोंसे बींधकर फिर पाँच बाणोंसे घायल कर दिया और एक भल्ल मारकर उसके सारथिको भी रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया ।।

उद्भ्रान्तैस्तुरगैः सोऽथ द्रवमाणैः समन्ततः ।
मागधोऽपसृतो राजा सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।। ३४ ।।

फिर तो उसके घबराये हुए घोड़े चारों ओर भागने लगे और इस प्रकार वह मगधदेशका राजा सारी सेनाके देखते-देखते रणभूमिसे दूर हटा दिया गया ।। ३४ ।।

द्रोणश्च विवरं दृष्ट्वा भीमसेनं शिलीमुखैः ।
विव्याध बाणैर्निशितैः पञ्चषष्टिभिरायसैः ।। ३५ ।।

इसी समय द्रोणाचार्यने अवसर देखकर लोहेके बने हुए पैंसठ पैने बाणोंद्वारा भीमसेनको बींध डाला ।। ३५ ।।

तं भीमः समरश्लाघी गुरुं पितृसमं रणे ।
विव्याध पञ्चभिर्भल्लैस्तथा षष्ट्या च भारत ।। ३६ ।।

भारत! तब युद्धकी श्लाघा रखनेवाले भीमसेनने भी रणक्षेत्रमें पिताके समान पूजनीय गुरु द्रोणाचार्यको पैंसठ भल्लोंद्वारा घायल कर दिया ।। ३६ ।।

अर्जुनस्तु सुशर्माणं विद्ध्वा बहुभिरायसैः ।
व्यधमत् तस्य तत्सैन्यं महाभ्राणि यथानिलः ।। ३७ ।।

इधर अर्जुनने लोहेके बने हुए बहुत-से बाणोंद्वारा सुशर्माको घायल करके जैसे वायु महान् मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार उसकी सेनाकी धज्जियाँ उड़ा दीं ।। ३७ ।।

ततो भीष्मश्च राजा च कौसल्यश्च बृहद्बलः ।
समवर्तन्त संक्रुद्धा भीमसेनधनंजयौ ।। ३८ ।।

तब भीष्म, राजा दुर्योधन और कोसलनरेश बृहद्बल—ये तीनों अत्यन्त कुपित होकर भीमसेन और अर्जुनपर चढ़ आये ।। ३८ ।।

तथैव पाण्डवाः शूरा धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।

अभ्यद्रवन् रणे भीष्मं व्यादितास्यमिवान्तकम् ।। ३९ ।।

इसी प्रकार शूरवीर पाण्डव तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न—ये रणक्षेत्रमें मुँह फैलाये हुए यमराजके समान प्रतीत होनेवाले भीष्मपर टूट पड़े ।। ३९ ।।

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम् ।
अभ्यद्रवत संहृष्टो भयं त्यक्त्वा महारथात् ।। ४० ।।

शिखण्डीने भरतकुलके पितामह भीष्मके निकट पहुँचकर उन महारथी भीष्मसे सम्भावित भयको त्यागकर बड़े हर्षके साथ उनपर धावा किया ।। ४० ।।

युधिष्ठिरमुखाः पार्थाः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
अयोधयन् रणे भीष्मं सहिताः सर्वसृंजयैः ।। ४१ ।।

युधिष्ठिर आदि कुन्तीपुत्र रणभूमिमें शिखण्डीको आगे करके समस्त सृंजयोंको साथ ले भीष्मके साथ युद्ध करने लगे ।। ४१ ।।

तथैव तावकाः सर्वे पुरस्कृत्य यतव्रतम् ।
शिखण्डिप्रमुखान् पार्थान् योधयन्ति स्म संयुगे ।। ४२ ।।

इसी प्रकार आपके समस्त योद्धा ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले भीष्मको युद्धमें आगे रखकर शिखण्डी आदि पाण्डव महारथियोंका सामना करने लगे ।। ४२ ।।

ततः प्रववृते युद्धं कौरवाणां भयावहम् ।
तत्र पाण्डुसुतैः सार्धं भीष्मस्य विजयं प्रति ।। ४३ ।।

तदनन्तर वहाँ भीष्मकी विजयके उद्देश्यसे कौरवोंका पाण्डवोंके साथ भयंकर युद्ध होने लगा ।। ४३ ।।

तावकानां जये भीष्मो ग्लह आसीद् विशाम्पते ।
तत्र हि द्यूतमासक्तं विजयायेतराय वा ।। ४४ ।।

प्रजानाथ! उस युद्धरूपी जूएमें आपके पुत्रोंकी ओरसे विजयके लिये भीष्मको ही दाँवपर लगाया था। इस प्रकार वहाँ विजय अथवा पराजयके लिये रणद्यूत उपस्थित हो गया ।। ४४ ।।

धृष्टद्युम्नस्तु राजेन्द्र सर्वसैन्यान्यचोदयत् ।
अभ्यद्रवत गाङ्गेयं मा भैष्ट रथसत्तमाः ।। ४५ ।।

राजेन्द्र! उस समय धृष्टद्युम्नने अपनी समस्त सेनाओंको प्रेरणा देते हुए कहा—‘श्रेष्ठ रथियो! गंगानन्दन भीष्मपर धावा करो। उनसे तनिक भी भय न मानो’ ।। ४५ ।।

सेनापतिवचः श्रुत्वा पाण्डवानां वरूथिनी ।
भीष्मं समभ्ययात् तूर्णं प्राणांस्त्यक्त्वा महाहवे ।। ४६ ।।

सेनापतिका यह वचन सुनकर पाण्डवोंकी विशाल वाहिनी उस महासमरमें प्राणोंका मोह छोड़कर तुरंत ही भीष्मकी ओर बढ़ चली ।। ४६ ।।

भीष्मोऽपि रथिनां श्रेष्ठः प्रतिजग्राह तां चमूम् ।

आपतन्तीं महाराज वेलामिव महोदधिः ।। ४७ ।।

महाराज! रथियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने भी अपने ऊपर आती हुई उस विशाल सेनाको युद्धके लिये उसी प्रकार ग्रहण किया, जैसे तटभूमिको महासागर ।। ४७ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीमार्जुनपराक्रमे चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीमसेन और अर्जुनका पराक्रमविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११४ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके १ १/२ श्लोक मिलाकर कुल ४८ १/२ श्लोक हैं।]

---

* जयत्सेन नामके दो व्यक्ति प्रतीत होते हैं, एक पाण्डवपक्षमें और दूसरे कौरवपक्षमें रहे होंगे।

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मके आदेशसे युधिष्ठिरका उनपर आक्रमण तथा कौरव-पाण्डव-सैनिकोंका भीषण युद्ध

धृतराष्ट्र उवाच

कथं शान्तनवो भीष्मो दशमेऽहनि संजय ।
अयुध्यत महावीर्यः पाण्डवैः सहसृंजयैः ।। १ ।।
कुरवश्च कथं युद्धे पाण्डवान् प्रत्यवारयन् ।
आचक्ष्व मे महायुद्धं भीष्मस्याहवशोभिनः ।। २ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! दसवें दिन महापराक्रमी शान्तनुकुमार भीष्मने पाण्डवों तथा सृंजयोंके साथ किस प्रकार युद्ध किया तथा कैरवोंने पाण्डवोंको युद्धमें किस प्रकार रोका? रणक्षेत्रमें शोभा पानेवाले भीष्मके उस महायुद्धका वृत्तान्त मुझसे कहो ।। १-२ ।।

संजय उवाच

कुरवः पाण्डवैः सार्धं यदयुध्यन्त भारत ।
यथा च तदभूद् युद्धं तत् तु वक्ष्यामि साम्प्रतम् ।। ३ ।।

संजयने कहा—भारत! कौरवोंने पाण्डवोंके साथ जो युद्ध किया और जिस प्रकार वह युद्ध हुआ, वह सब इस समय बताता हूँ ।। ३ ।।

गमिताः परलोकाय परमास्त्रैः किरीटिना ।
अहन्यहनि संक्रुद्धास्तावकानां महारथाः ।। ४ ।।

किरीटधारी अर्जुनने प्रतिदिन अपने उत्तम अस्त्रोंद्वारा क्रोधमें भरे हुए आपके महारथियोंको परलोकमें पहुँचाया है ।। ४ ।।

यथाप्रतिज्ञं कौरव्यः स चापि समितिंजयः ।
पार्थानामकरोद् भीष्मः सततं समितिक्षयम् ।। ५ ।।

इसी प्रकार युद्धविजयी कुरुकुलनन्दन भीष्मने भी सदा अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार युद्धमें कुन्तीपुत्रोंके सैनिकोंका संहार किया है ।। ५ ।।

कुरुभिः सहितं भीष्मं युध्यमानं परंतप ।
अर्जुनं च सपाञ्चाल्यं संशयो विजयेऽभवत् ।। ६ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! एक ओरसे कौरवोंसहित भीष्म युद्ध कर रहे थे और दूसरी ओरसे पांचालदेशीय वीरोंके सहित अर्जुन उनका सामना कर रहे थे, यह देखकर सबके मनमें संशय हो गया कि किस पक्षकी विजय होगी ।। ६ ।।

दशमेऽहनि तस्मिंस्तु भीष्मार्जुनसमागमे ।

अवर्तत महारौद्रः सततं समितिक्षयः ।। ७ ।।

दसवें दिन भीष्म और अर्जुनके उस युद्धमें निरन्तर महाभयंकर जनसंहार होने लगा ।। ७ ।।

तस्मिन्नयुतशो राजन् भूयशश्च परंतपः ।
भीष्मः शान्तनवो योधाञ्जघान परमास्त्रवित् ।। ८ ।।

राजन्! उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने उस युद्धमें कई अयुत योद्धाओंका संहार कर डाला ।। ८ ।।

येषामज्ञातकल्पानि नामगोत्राणि पार्थिव ।
ते हतास्तत्र भीष्मेण शूराः सर्वेऽनिवर्तिनः ।। ९ ।।

भूपाल! जिनके नाम और गोत्र प्रायः अज्ञात थे तथा जो सभी युद्धमें कभी पीठ नहीं दिखाते थे, वे शूरवीर वहाँ भीष्मके हाथों मारे गये ।। ९ ।।

दशाहानि ततस्तप्त्वा भीष्मः पाण्डववाहिनीम् ।
निरविद्यत धर्मात्मा जीवितेन परंतप ।। १० ।।

परंतप! इस प्रकार दस दिनोंतक धर्मात्मा भीष्म पाण्डवसेनाको संतप्त करके अन्ततोगत्वा अपने जीवनसे ही ऊब गये ।। १० ।।

स क्षिप्रं वधमन्विच्छन्नात्मनोऽभिमुखो रणे ।
न हन्यां मानवश्रेष्ठान् संग्रामे सुबहूनिति ।। ११ ।।
चिन्तयित्वा महाबाहुः पिता देवव्रतस्तव ।
अभ्याशस्थं महाराज पाण्डवं वाक्यमब्रवीत् ।। १२ ।।

अब वे रणक्षेत्रमें सम्मुख रहकर शीघ्र ही अपने वधकी इच्छा करने लगे। महाराज! आपके ताऊ महाबाहु देवव्रतने यह सोचकर कि अब मैं संग्राममें बहुसंख्यक श्रेष्ठ मानवोंका वध न करूँ, अपने निकटवर्ती पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले— ।। ११-१२ ।।

युधिष्ठिर महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
शृणुष्व वचनं तात धर्म्यं स्वर्ग्यं च जल्पतः ।। १३ ।।

'सम्पूर्ण शास्त्रोंके निपुण विद्वान्, महाज्ञानी तात युधिष्ठिर! मैं तुम्हें धर्मके अनुकूल तथा स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली एक बात बता रहा हूँ, तुम मेरे उस वचनको सुनो ।। १३ ।।

निर्विण्णोऽस्मि भृशं तात देहेनानेन भारत ।
घ्नतश्च मे गतः कालः सुबहून् प्राणिनो रणे ।। १४ ।।

'तात भरतनन्दन! अब मैं इस देहसे ऊब गया हूँ; क्योंकि रणभूमिमें बहुत-से प्राणियोंका वध करते हुए ही मेरा समय बीता है ।। १४ ।।

तस्मात् पार्थं पुरोधाय पञ्चालान् सृंजयांस्तथा ।
मद्वधे क्रियतां यत्नो मम चेदिच्छसि प्रियम् ।। १५ ।।

‘इसलिये यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो अर्जुन तथा पांचालों और सृंजयोंको आगे करके मेरे वधके लिये प्रयत्न करो’ ।। १५ ।।

तस्य तन्मतमाज्ञाय पाण्डवः सत्यदर्शनः ।
भीष्मं प्रति ययौ राजा संग्रामे सह सृंजयैः ।। १६ ।।

भीष्मके इस अभिप्रायको जानकर सत्यदर्शी पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिर रणभूमिमें सृंजयवीरोंको साथ ले भीष्मकी ओर आगे बढ़े ।। १६ ।।

धृष्टद्युम्नस्ततो राजन् पाण्डवश्च युधिष्ठिरः ।
श्रुत्वा भीष्मस्य तां वाचं चोदयामासतुर्बलम् ।। १७ ।।
अभिद्रवध्वं युध्यध्वं भीष्मं जयत संयुगे ।
रक्षिताः सत्यसंधेन जिष्णुना रिपुजिष्णुना ।। १८ ।।

राजन्! उस समय भीष्मजीका वह वचन सुनकर धृष्टद्युम्न और पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपनी सेनाको आज्ञा दी—‘वीरो! आगे बढ़ो। युद्ध करो और संग्राममें भीष्मपर विजय पाओ। तुम सब लोग शत्रुविजयी सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनके द्वारा सुरक्षित हो ।। १७-१८ ।।

अयं चापि महेष्वासः पार्षतो वाहिनीपतिः ।
भीमसेनश्च समरे पालयिष्यति वो ध्रुवम् ।। १९ ।।

‘ये महाधनुर्धर सेनापति धृष्टद्युम्न तथा भीमसेन भी समरांगणमें निश्चय ही तुम सब लोगोंकी रक्षा करेंगे ।। १९ ।।

मा वो भीष्माद् भयं किञ्चिदस्त्वद्य युधि सृंजयाः ।
ध्रुवं भीष्मं विजेष्यामः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।। २० ।।

‘सृंजय वीरो! आज तुम युद्धमें भीष्मजीसे तनिक भी भय न करो। हम शिखण्डीको आगे करके भीष्मपर अवश्य ही विजय पायेंगे’ ।। २० ।।

ते तथा समयं कृत्वा दशमेऽहनि पाण्डवाः ।
ब्रह्मलोकपरा भूत्वा संजग्मुः क्रोधमूर्च्छिताः ।। २१ ।।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य पाण्डवं च धनंजयम् ।
भीष्मस्य पातने यत्नं परमं ते समास्थिताः ।। २२ ।।

तब वे पाण्डव सैनिक दसवें दिन वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा करके ब्रह्मलोकको अपना लक्ष्य बनाकर क्रोधसे मूर्च्छित हो शिखण्डी तथा पाण्डुपुत्र अर्जुनको आगे करके आगे बढ़े और भीष्मको मार गिरानेका महान् प्रयत्न करने लगे ।। २१-२२ ।।

ततस्तव सुतादिष्टा नानाजनपदेश्वराः ।
द्रोणेन सहपुत्रेण सहसेना महाबलाः ।। २३ ।।

तदनन्तर आपके पुत्रकी आज्ञा पाकर नाना देशोंके स्वामी महाबली नरेशगण अपनी विशाल सेनासहित द्रोण तथा अश्वत्थामाके साथ अग्रसर हुए ।। २३ ।।

दुःशासनश्च बलवान् सह सर्वैः सहोदरैः ।

भीष्मं समरमध्यस्थं पालयाञ्चक्रिरे तदा ।। २४ ।।

उस समय वे सब वीर और समस्त भाइयोंसहित बलवान् दुःशासन समरभूमिमें खड़े हुए भीष्मकी रक्षा करने लगे ।। २४ ।।

ततस्तु तावकाः शूराः पुरस्कृत्य महाव्रतम् ।
शिखण्डिप्रमुखान् पार्थान् योधयन्ति स्म संयुगे ।। २५ ।।

तदनन्तर आपके पक्षके शूरवीर सैनिक महाव्रती भीष्मको आगे करके रणक्षेत्रमें शिखण्डी आदि पाण्डवसैनिकोंके साथ युद्ध करने लगे ।। २५ ।।

चेदिभिस्तु सपञ्चालैः सहितो वानरध्वजः ।
ययौ शान्तनवं भीष्मं पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।। २६ ।।

वानरचिह्नित ध्वजासे विभूषित अर्जुनने चेदि तथा पांचालदेशके वीरोंके साथ शिखण्डीको आगे करके शान्तनुनन्दन भीष्मपर चढ़ाई की ।। २६ ।।

द्रोणपुत्रं शिनेर्नप्ता धृष्टकेतुस्तु पौरवम् ।
अभिमन्युः सहामात्यं दुर्योधनमयोधयत् ।। २७ ।।

सात्यकि अश्वत्थामाके साथ, धृष्टकेतु पौरवके साथ तथा मन्त्रियोंसहित दुर्योधनके साथ अभिमन्यु युद्ध करने लगे ।। २७ ।।

विराटस्तु सहानीकः सहसेनं जयद्रथम् ।
वृद्धक्षत्रस्य दायादमाससाद परंतप ।। २८ ।।

परंतप! सेनासहित विराटने सैनिकोंसहित वृद्धक्षत्रके पुत्र जयद्रथपर आक्रमण किया ।। २८ ।।

मद्रराजं महेष्वासं सहसैन्यं युधिष्ठिरः ।
भीमसेनोऽभिगुप्तस्तु नागानीकमुपाद्रवत् ।। २९ ।।

युधिष्ठिरने महाधनुर्धर मद्रराज शल्य तथा उनकी सेनापर धावा किया। सब ओरसे सुरक्षित हुए भीमसेन हाथियोंकी सेनापर टूट पड़े ।। २९ ।।

अप्रधृष्यमनावार्यं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
द्रौणिं प्रति ययौ यत्तः पाञ्चाल्यः सह सोदरैः ।। ३० ।।

समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अनिवार्य और दुर्धर्ष वीर अश्वत्थामापर भाइयोंसहित धृष्टद्युम्नने प्रयत्नपूर्वक आक्रमण किया ।। ३० ।।

कर्णिकारध्वजं चैव सिंहकेतुररिंदमः ।
प्रत्युज्जगाम सौभद्रं राजपुत्रो बृहद्बलः ।। ३१ ।।

कर्णिकारके चिह्नसे युक्त ध्वजवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युपर सिंहचिह्नित ध्वजावाले शत्रुदमन राजकुमार बृहद्बलने आक्रमण किया ।। ३१ ।।

शिखण्डिनं च पुत्रास्ते पाण्डवं च धनंजयम् ।
राजभिः समरे पार्थमभिपेतुर्जिघांसवः ।। ३२ ।।

शिखण्डी तथा पाण्डुपुत्र अर्जुनपर आपके पुत्रोंने समस्त राजाओंको साथ लेकर युद्धस्थलमें आक्रमण किया। वे उन दोनोंको मार डालना चाहते थे ।। ३२ ।।

तस्मिन्नतिमहाभीमे सेनयोर्वै पराक्रमे ।
सम्प्रधावत्स्वनीकेषु मेदिनी समकम्पत ।। ३३ ।।

इस प्रकार उन दोनों सेनाओंके वीर जब अत्यन्त भयानक पराक्रम प्रकट करने लगे और समस्त सैनिक इधर-उधर दौड़ने लगे; उस समय यह सारी पृथ्वी काँपने लगी ।। ३३ ।।

तान्यनीकान्यनीकेषु समसज्जन्त भारत ।
तावकानां परेषां च दृष्ट्वा शान्तनवं रणे ।। ३४ ।।

भारत! आपके और शत्रुपक्षके सब सैनिक युद्धमें शान्तनुनन्दन भीष्मको देखकर विरोधी सैनिकोंके साथ जमकर युद्ध करने लगे ।। ३४ ।।

ततस्तेषां प्रतप्तानामन्योन्यमभिधावताम् ।
प्रादुरासीन्महाशब्दो दिक्षु सर्वासु भारत ।। ३५ ।।

भरतनन्दन! एक दूसरेपर धावा करनेवाले उन संतप्त सैनिकोंका महान् कोलाहल सम्पूर्ण दिशाओंमें व्याप्त हो गया ।। ३५ ।।

शङ्खदुन्दुभिघोषश्च वारणानां च बृंहितैः ।
सिंहनादश्च सैन्यानां दारुणः समपद्यत ।। ३६ ।।

शंखों और दुन्दुभियोंका गम्भीर घोष तथा हाथियोंकी गर्जनाके साथ सैनिकोंका सिंहनाद बड़ा भयंकर जान पड़ता था ।। ३६ ।।

सा च सर्वनरेन्द्राणां चन्द्रार्कसदृशी प्रभा ।
वीराङ्गदकिरीटेषु निष्प्रभा समपद्यत ।। ३७ ।।

समस्त राजाओंकी चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाली प्रभा वीरोंके अंगद और किरीटोंके सामने अत्यन्त फीकी पड़ गयी ।। ३७ ।।

रजोमेघास्तु संजज्ञुः शस्त्रविद्युद्भिरावृताः ।
धनुषां चापि निर्घोषो दारुणः समपद्यत ।। ३८ ।।

धूल मेघोंकी घटा-सी छा गयी। उसमें अस्त्र-शस्त्रोंकी चमक बिजलीकी प्रभाके समान व्याप्त हो रही थी, धनुषोंकी टंकारध्वनि अत्यन्त भयंकर प्रतीत होने लगी ।।

बाणशङ्खप्रणादाश्च भेरीणां च महास्वनाः ।
रथघोषश्च संजज्ञे सेनयोरुभयोरपि ।। ३९ ।।

बाणों, शंखों तथा भेरियोंके सम्मिलित शब्द जोर-जोरसे सुनायी देने लगे। साथ ही दोनों सेनाओंमें रथोंकी घरघराहट भी दूरतक फैलने लगी ।। ३९ ।।

प्रासशक्त्यृष्टिसङ्घैश्च बाणौघैश्च समाकुलम् ।
निष्प्रकाशमिवाकाशं सेनयोः समपद्यत ।। ४० ।।

दोनों सेनाओंके प्रास, शक्ति, ऋष्टि और बाणोंके समुदायोंसे भरा हुआ वहाँका आकाश प्रकाशहीन-सा जान पड़ता था ।। ४० ।।

अन्योन्यं रथिनः पेतुर्वाजिनश्च महाहवे ।

कुञ्जरान् कुञ्जरा जघ्नुः पादातांश्च पदातयः ।। ४१ ।।

उस महासमरमें रथी और घोड़े एक-दूसरेपर टूटे पड़ते थे। हाथी हाथियोंको और पैदल पैदल सिपाहियोंको मार रहे थे ।। ४१ ।।

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं कुरूणां पाण्डवैः सह ।

भीष्महेतोर्नरव्याघ्र श्येनयोरामिषे यथा ।। ४२ ।।

पुरुषसिंह! जैसे मांसके टुकड़ेके लिये दो श्येन पक्षी आपसमें लड़ते हैं, उसी प्रकार वहाँ भीष्मके लिये कौरवोंका पाण्डवोंके साथ बड़ा भारी युद्ध हो रहा था ।। ४२ ।।

तेषां समागमो घोरो बभूव युधि संगतः ।

अन्योन्यस्य वधार्थाय जिगीषूणां महाहवे ।। ४३ ।।

उस महासमरमें एक दूसरेके वधके लिये एकत्र हुए विजयाभिलाषी सैनिकोंका बड़ा भयंकर संग्राम हुआ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मोपदेशे पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मका उपदेशविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११५ ।।

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डव महारथियोंके द्वन्द्वयुद्धका वर्णन तथा भीष्मका पराक्रम

संजय उवाच

अभिमन्युर्महाराज तव पुत्रमयोधयत् ।
महत्या सेनया युक्तं भीष्महेतोः पराक्रमी ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! भीष्मजीको पराजित करनेके लिये पराक्रमी अभिमन्युने विशाल सेनासहित आये हुए आपके पुत्रके साथ युद्ध आरम्भ किया ।। १ ।।

दुर्योधनो रणे कार्ष्णिं नवभिर्नतपर्वभिः ।
आजघानोरसि क्रुद्धः पुनश्चैनं त्रिभिः शरैः ।। २ ।।

दुर्योधनने रणक्षेत्रमें झुकी हुई गाँठवाले नौ बाणोंसे अभिमन्युकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी। फिर कुपित होकर उसने उन्हें तीन बाण और मारे ।। २ ।।

तस्य शक्तिं रणे कार्ष्णिर्मृत्योर्घोरां स्वसामिव ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो दुर्योधनरथं प्रति ।। ३ ।।

तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए अभिमन्युने रणक्षेत्रमें दुर्योधनके रथपर एक भयंकर शक्ति चलायी, जो मृत्युकी बहिन-सी प्रतीत होती थी ।। ३ ।।

तामापतन्तीं सहसा घोररूपां विशाम्पते ।
द्विधा चिच्छेद ते पुत्रः क्षुरप्रेण महारथः ।। ४ ।।
तां शक्तिं पतितां दृष्ट्वा कार्ष्णिः परमकोपनः ।
दुर्योधनं त्रिभिर्बाणैर्बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।। ५ ।।

प्रजानाथ! उस भयंकर शक्तिको सहसा अपनी ओर आती देख आपके महारथी पुत्र दुर्योधनने एक क्षुरप्रके द्वारा उसके दो टुकड़े कर डाले। उस शक्तिको गिरी हुई देख अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए अर्जुनकुमारने दुर्योधनकी छाती तथा भुजाओंमें चोट पहुँचायी ।। ४-५ ।।

पुनश्चैनं शरैर्घोरैराजघान स्तनान्तरे ।
दशभिर्भरतश्रेष्ठ भरतानां महारथः ।। ६ ।।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर भरतकुलके महारथी वीर अभिमन्युने पुनः दुर्योधनकी छातीमें दस भयानक बाण मारे ।। ६ ।।

तद् युद्धमभवद् घोरं चित्ररूपं च भारत ।
इन्द्रियप्रीतिजननं सर्वपार्थिवपूजितम् ।। ७ ।।

भरतनन्दन! उन दोनोंका वह भयंकर युद्ध विचित्र एवं सम्पूर्ण इन्द्रियोंको प्रसन्न करनेवाला था। समस्त भूपाल उस युद्धकी प्रशंसा करते थे ।। ७ ।।

भीष्मस्य निधनार्थाय पार्थस्य विजयाय च ।
युयुधाते रणे वीरौ सौभद्रकुरुपुङ्गवौ ।। ८ ।।

भीष्मके वध और अर्जुनकी विजयके लिये उस युद्धके मैदानमें सुभद्राकुमार अभिमन्यु और कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन—ये दोनों वीर युद्ध कर रहे थे ।। ८ ।।

सात्यकिं रभसं युद्धे द्रौणिर्ब्राह्मणपुङ्गवः ।
आजघानोरसि क्रुद्धो नाराचेन परंतपः ।। ९ ।।

दूसरी ओर शत्रुओंको संताप देनेवाले ब्राह्मण-शिरोमणि द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने कुपित हो युद्धमें अत्यन्त वेगशाली सात्यकिको लक्ष्य करके उनकी छातीमें एक नाराचसे प्रहार किया ।। ९ ।।

शैनेयोऽपि गुरोः पुत्रं सर्वमर्मसु भारत ।
अताडयदमेयात्मा नवभिः कङ्कवाजितैः ।। १० ।।

भारत! तब अनन्त आत्मबलसे सम्पन्न सात्यकिने भी गुरुपुत्र अश्वत्थामाके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें नौ कंकपत्रयुक्त बाण मारे ।। १० ।।

अश्वत्थामा तु समरे सात्यकिं नवभिः शरैः ।
त्रिंशता च पुनस्तूर्णं बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।। ११ ।।

अश्वत्थामाने समरभूमिमें सात्यकिको पहले नौ बाणोंसे घायल करके फिर तुरंत ही तीस बाणोंद्वारा उनकी भुजाओं तथा छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ।। ११ ।।

सोऽतिविद्धो महेष्वासो द्रोणपुत्रेण सात्वतः ।
द्रोणपुत्रं त्रिभिर्बाणैराजघान महायशाः ।। १२ ।।

द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके द्वारा अत्यन्त घायल होकर महायशस्वी महाधनुर्धर सात्यकिने तीन बाणोंसे उसे भी घायल कर दिया ।। १२ ।।

पौरवो धृष्टकेतुं च शरैराच्छाद्य संयुगे ।
बहुधा दारयांचक्रे महेष्वासं महारथः ।। १३ ।।

महारथी पौरवने युद्धमें महाधनुर्धर धृष्टकेतुको बाणोंद्वारा आच्छादित करके उन्हें बारंबार घायल किया ।।

तथैव पौरवं युद्धे धृष्टकेतुर्महारथः ।
त्रिंशता निशितैर्बाणैर्विव्याधाशु महाभुजः ।। १४ ।।

उसी प्रकार महारथी महाबाहु धृष्टकेतुने युद्धस्थलमें तीस पैने बाणोंद्वारा पौरवको भी तुरंत ही घायल कर दिया ।। १४ ।।

पौरवस्तु धनुश्छित्त्वा धृष्टकेतोर्महारथः ।
ननाद बलवन्नादं विव्याध च शितैः शरैः ।। १५ ।।

तब महारथी पौरवने धृष्टकेतुके धनुषको काटकर बड़े जोरसे सिंहनाद किया और उसे तीखे बाणोंसे बींध डाला ।। १५ ।।

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय पौरवं निशितैः शरैः ।
आजघान महाराज त्रिसप्तत्या शिलीमुखैः ।। १६ ।।

महाराज! धृष्टकेतुने दूसरा धनुष लेकर तिहत्तर तीखे शिलीमुख बाणोंद्वारा पौरवको गहरी चोट पहुँचायी ।।

तौ तु तत्र महेष्वासौ महामात्रौ महारथौ ।
महता शरवर्षेण परस्परमविध्यताम् ।। १७ ।।

वे दोनों महाधनुर्धर, महाबली और महारथी वीर एक-दूसरेको युद्धमें भारी बाणवर्षाद्वारा घायल कर रहे थे ।। १७ ।।

अन्योन्यस्य धनुश्छित्त्वा हयान् हत्वा च भारत ।
विरथावसियुद्धाय समीयतुरमर्षणौ ।। १८ ।।

भारत! दोनोंने एक-दूसरेका धनुष काटकर घोड़ोंको भी मार डाला और रथहीन हो दोनों ही एक-दूसरेपर कुपित हो परस्पर खड्गयुद्धके लिये आमने-सामने आये ।। १८ ।।

आर्षभे चर्मणी चित्रे शतचन्द्रपुरस्कृते ।
तारकाशतचित्रे च निस्त्रिंशौ सुमहाप्रभौ ।। १९ ।।

उनके हाथोंमें सौ-सौ चन्द्र और तारकाके चिह्नोंसे युक्त ऋषभके चर्मकी बनी हुई ढालें और चमकीले खड्ग शोभा पाते थे ।। १९ ।।

प्रगृह्य विमलौ राजंस्तावन्योन्यमभिद्रुतौ ।
वासितासंगमे यत्तौ सिंहाविव महावने ।। २० ।।

राजन्! जैसे महान् वनमें एक सिंहनीके लिये दो सिंह लड़ते हों, उसी प्रकार चमकीले खड्ग लेकर धृष्टकेतु और पौरव दोनों विजयके लिये प्रयत्नशील हो एक-दूसरेपर टूट पड़े ।। २० ।।

मण्डलानि विचित्राणि गतप्रत्यागतानि च ।
चेरतुर्दर्शयन्तौ च प्रार्थयन्तौ परस्परम् ।। २१ ।।

वे आगे बढ़ने और पीछे हटने आदि विचित्र पैंतरे दिखाते एवं एक-दूसरेको ललकारते हुए रणभूमिमें विचरते थे ।। २१ ।।

पौरवो धृष्टकेतुं तु शङ्खदेशे महासिना ।
ताडयामास संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।। २२ ।।

पौरवने अपने महान् खड्गसे धृष्टकेतुकी कनपटी-पर क्रोधपूर्वक प्रहार किया और कहा—‘खड़ा रह, खड़ा रह’ ।। २२ ।।

चेदिराजोऽपि समरे पौरवं पुरुषर्षभम् ।
आजघान शिताग्रेण जत्रुदेशे महासिना ।। २३ ।।

तब चेदिराज धृष्टकेतुने भी समरमें पुरुषरत्न पौरवके गलेकी हँसलीपर तीखी धारवाले महान् खड्गसे गहरी चोट पहुँचायी ।। २३ ।।

तावन्योन्यं महाराज समासाद्य महाहवे ।
अन्योन्यवेगाभिहतौ निपेततुररिंदमौ ।। २४ ।।

महाराज! शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों वीर उस महायुद्धमें परस्पर भिड़कर एक-दूसरेके वेगपूर्वक किये हुए आघातसे अत्यन्त घायल हो पृथ्वीपर गिरे पड़े ।। २४ ।।

ततः स्वरथमारोप्य पौरवं तनयस्तव ।
जयत्सेनो रथेनाजावपोवाह रणाजिरात् ।। २५ ।।

तब आपके पुत्र जयत्सेनने पौरवको अपने रथपर बिठा लिया और उस रथके द्वारा ही वह उसे समरांगणसे बाहर हटा ले गया ।। २५ ।।

धृष्टकेतुं तु समरे माद्रीपुत्रः प्रतापवान् ।
अपोवाह रणे क्रुद्धः सहदेवः पराक्रमी ।। २६ ।।

इसी प्रकार प्रतापी एवं पराक्रमी माद्रीकुमार सहदेव कुपित हो धृष्टकेतुको अपने रथपर चढ़ाकर समरभूमिसे बाहर हटा ले गये ।। २६ ।।

चित्रसेनः सुशर्माणं विद्ध्वा बहुभिरायसैः ।
पुनर्विव्याध तं षष्ट्या पुनश्च नवभिः शरैः ।। २७ ।।

चित्रसेनने पाण्डवदलके सुशर्मा नामक राजाको लोहेके बने हुए बहुत-से बाणोंद्वारा घायल करके पुनः साठ तथा नौ सायकोंद्वारा उन्हें पीड़ित कर दिया ।। २७ ।।

सुशर्मा तु रणे क्रुद्धस्तव पुत्रं विशाम्पते ।
दशभिर्दशभिश्चैव विव्याध निशितैः शरैः ।। २८ ।।

प्रजानाथ! तब सुशर्माने रणभूमिमें कुपित होकर आपके पुत्र चित्रसेनको दस-दस तीखे बाणोंद्वारा दो बार घायल किया ।। २८ ।।

चित्रसेनश्च तं राजंस्त्रिंशता नतपर्वभिः ।
आजघान रणे क्रुद्धः स च तं प्रत्यविध्यत ।। २९ ।।
भीष्मस्य समरे राजन् यशो मानं च वर्धयन् ।

राजन्! चित्रसेनने कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले तीस बाणोंसे रणक्षेत्रमें सुशर्माको गहरी चोट पहुँचायी। महाराज! उसने समरमें भीष्मके यश और सम्मान दोनोंको बढ़ाया ।। २९½ ।।

सौभद्रो राजपुत्रं तु बृहद्बलमयोधयत् ।। ३० ।।
पार्थहेतोः पराक्रान्तो भीष्मस्यायोधनं प्रति ।

राजन्! भीष्मजीके साथ युद्ध करनेमें अर्जुनकी सहायताके लिये पराक्रम करनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्युने राजकुमार बृहद्बलके साथ युद्ध किया ।। ३०½ ।।

आर्जुनिं कोसलेन्द्रस्तु विद्ध्वा पञ्चभिरायसैः ।। ३१ ।।

पुनर्विव्याध विंशत्या शरैः संनतपर्वभिः ।

कोसलनरेशने लोहेके बने हुए पाँच बाणोंसे अर्जुनकुमारको घायल करके पुनः झुकी हुई गाँठवाले बीस बाणोंद्वारा उन्हें क्षत-विक्षत कर दिया ।। ३१ १/२ ।।

सौभद्रः कोसलेन्द्रं तु विव्याधाष्टभिरायसैः ।। ३२ ।।
नाकम्पयत संग्रामे विव्याध च पुनः शरैः ।

तब सुभद्राकुमारने कोसलनरेशको लोहेके आठ बाणोंसे बींध डाला तो भी संग्राममें उसे विचलित न कर सका। इसके बाद उसने फिर अनेक बाणोंद्वारा बृहद्बलको घायल कर दिया ।। ३२ १/२ ।।

कौसल्यस्य धनुश्चापि पुनश्चिच्छेद फाल्गुनिः ।। ३३ ।।
आजघान शरैश्चापि त्रिंशता कङ्कपत्रिभिः ।

तदनन्तर अर्जुनकुमारने कोसलनरेशका धनुष भी काट दिया और कंकपत्रयुक्त तीस सायकोंद्वारा उनपर गहरा प्रहार किया ।। ३३ १/२ ।।

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय राजपुत्रो बृहद्बलः ।। ३४ ।।
फाल्गुनिं समरे क्रुद्धो विव्याध बहुभिः शरैः ।

तब राजकुमार बृहद्बलने दूसरा धनुष लेकर समरभूमिमें कुपित हो अर्जुनकुमार अभिमन्युको बहुतेरे बाणोंद्वारा बींध डाला ।। ३४ १/२ ।।

तयोर्युद्धं समभवद् भीष्महेतोः परंतप ।। ३५ ।।
संरब्धयोर्महाराज समरे चित्रयोधिनोः ।
यथा देवासुरे युद्धे बलिवासवयोरभूत् ।। ३६ ।।

परंतप! महाराज! इस प्रकार समरांगणमें क्रोधपूर्वक विचित्र युद्ध करनेवाले उन दोनों वीरोंमें भीष्मके लिये बड़ा भारी युद्ध हुआ, मानो देवासुरसंग्राममें राजा बलि और इन्द्रमें द्वन्द्वयुद्ध हो रहा हो ।। ३५-३६ ।।

भीमसेनो गजानीकं योधयन् बह्वशोभत ।
यथा शक्रो वज्रपाणिर्दारयन् पर्वतोत्तमान् ।। ३७ ।।

तथा जैसे वज्रधारी इन्द्र बड़े-बड़े पर्वतोंको विदीर्ण कर डालते हैं, उसी प्रकार भीमसेन हाथियोंकी सेनाके साथ युद्ध करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ।। ३७ ।।

ते वध्यमाना भीमेन मातङ्गा गिरिसंनिभाः ।
निपेतुरुर्व्यां सहिता नादयन्तो वसुन्धराम् ।। ३८ ।।

भीमसेनके द्वारा मारे जाते हुए वे पर्वत-सरीखे बहुसंख्यक गजराज (अपने चीत्कारसे) इस पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए एक साथ ही धराशायी हो जाते थे ।। ३८ ।।

गिरिमात्रा हि ते नागा भिन्नाञ्जनचयोपमाः ।
विरेजुर्वसुधां प्राप्ता विकीर्णा इव पर्वताः ।। ३९ ।।

कटे हुए कोयलेकी राशिके समान काले और गिरिराजके समान ऊँचे शरीरवाले वे हाथी पृथ्वीपर गिरकर इधर-उधर बिखरे हुए पर्वतोंके समान शोभा पाते थे ।। ३९ ।।

युधिष्ठिरो महेष्वासो मद्रराजानमाहवे ।
महत्या सेनया गुप्तं पीडयामास संगतम् ।। ४० ।।

महाधनुर्धर युधिष्ठिरने विशाल सेनासे सुरक्षित मद्रराज शल्यको उस युद्धमें सामने पाकर बाणोंद्वारा अत्यन्त पीड़ित कर दिया ।। ४० ।।

मद्रेश्वरश्च समरे धर्मपुत्रं महारथम् ।
पीडयामास संरब्धो भीष्महेतोः पराक्रमी ।। ४१ ।।

भीष्मकी रक्षाके लिये पराक्रम करनेवाले मद्रराज शल्यने भी युद्धमें कुपित हो महारथी धर्मराज युधिष्ठिरको पीड़ित किया ।। ४१ ।।

विराटं सैन्धवो राजा विद्ध्वा संनतपर्वभिः ।
नवभिः सायकैस्तीक्ष्णैस्त्रिंशता पुनरार्पयत् ।। ४२ ।।

सिन्धुराज जयद्रथने झुकी हुई गाँठवाले नौ तीखे सायकोंद्वारा राजा विराटको घायल करके पुनः उन्हें तीस बाण मारे ।। ४२ ।।

विराटश्च महाराज सैन्धवं वाहिनीपतिः ।
त्रिंशद्भिर्निशितैर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ।। ४३ ।।

महाराज! सेनापति विराटने भी सिन्धुराज जयद्रथकी छातीमें तीस तीखे बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ।। ४३ ।।

चित्रकार्मुकनिस्त्रिंशौ चित्रवर्मायुधध्वजौ ।
रेजतुश्चित्ररूपौ तौ संग्रामे मत्स्यसैन्धवौ ।। ४४ ।।

उस संग्राममें मत्स्यराज और सिन्धुराज दोनोंके ही धनुष और खड्ग विचित्र थे। दोनोंने विचित्र कवच, आयुध और ध्वज धारण किये थे। वे दोनों ही विचित्र रूप धारण करके बड़ी शोभा पा रहे थे ।। ४४ ।।

द्रोणः पाञ्चालपुत्रेण समागम्य महारणे ।
महासमुदयं चक्रे शरैः संनतपर्वभिः ।। ४५ ।।

द्रोणाचार्यने उस महासमरमें पांचालराजकुमार धृष्टद्युम्नसे भिड़कर झुकी हुई गाँठवाले बहुसंख्यक बाणोंद्वारा बड़ा भारी युद्ध किया ।। ४५ ।।

ततो द्रोणो महाराज पार्षतस्य महद् धनुः ।
छित्त्वा पञ्चाशतेषूणां पार्षतं समविध्यत ।। ४६ ।।

महाराज! तत्पश्चात् द्रोणाचार्यने धृष्टद्युम्नके विशाल धनुषको काटकर पचास बाणोंद्वारा उन्हें बींध डाला ।। ४६ ।।

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय पार्षतः परवीरहा ।
द्रोणस्य मिषतो युद्धे प्रेषयामास सायकान् ।। ४७ ।।

तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले धृष्टद्युम्नने दूसरा धनुष लेकर रणभूमिमें द्रोणाचार्यके देखते-देखते उनके ऊपर बहुत-से बाण चलाये ।। ४७ ।।

ताञ्छराञ्छरघातेन चिच्छेद स महारथः ।
द्रोणो द्रुपदपुत्राय प्राहिणोत् पञ्च सायकान् ।। ४८ ।।

तदनन्तर महारथी द्रोणने अपने बाणोंके आघातसे धृष्टद्युम्नके सारे बाणोंको काट दिया और द्रुपदपुत्रपर पाँच बाण चलाये ।। ४८ ।।

ततः क्रुद्धो महाराज पार्षतः परवीरहा ।
द्रोणाय चिक्षेप गदां यमदण्डोपमां रणे ।। ४९ ।।

महाराज! तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले धृष्टद्युम्नने कुपित हो द्रोणाचार्यपर गदा चलायी, जो रणभूमिमें यमदण्डके समान भयंकर थी ।। ४९ ।।

तामापतन्तीं सहसा हेमपट्टविभूषिताम् ।
शरैः पञ्चाशता द्रोणो वारयामास संयुगे ।। ५० ।।

उस स्वर्णपत्रविभूषित गदाको सहसा अपनी ओर आती देख द्रोणाचार्यने युद्धस्थलमें पचासों बाण मारकर उसे दूर गिरा दिया ।। ५० ।।

सा छिन्ना बहुधा राजन् द्रोणचापच्युतैः शरैः ।
चूर्णीकृता विशीर्यन्ती पपात वसुधातले ।। ५१ ।।

राजन्! द्रोणाचार्यके धनुषसे छूटे हुए उन बाणोंद्वारा नाना प्रकारसे छिन्न-भिन्न हुई वह गदा चूर-चूर होकर पृथ्वीपर बिखर गयी ।। ५१ ।।

गदां विनिहतां दृष्ट्वा पार्षतः शत्रुतापनः ।
द्रोणाय शक्तिं चिक्षेप सर्वपारशवीं शुभाम् ।। ५२ ।।

अपनी गदाको निष्फल हुई देख शत्रुओंको संताप देनेवाले धृष्टद्युम्नने द्रोणके ऊपर पूर्णतः लोहेकी बनी हुई सुन्दर शक्ति चलायी ।। ५२ ।।

तां द्रोणो नवभिर्बाणैश्चिच्छेद युधि भारत ।
पार्षतं च महेष्वासं पीडयामास संयुगे ।। ५३ ।।

भारत! द्रोणाचार्यने युद्धस्थलमें नौ बाण मारकर उस शक्तिके टुकड़े-टुकड़े कर दिये और महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नको भी उस रणक्षेत्रमें बहुत पीड़ित किया ।। ५३ ।।

एवमेतन्महायुद्धं द्रोणपार्षतयोरभूत् ।
भीष्मं प्रति महाराज घोररूपं भयानकम् ।। ५४ ।।

महाराज! इस प्रकार द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्नमें भीष्मके लिये यह घोररूप एवं भयानक महायुद्ध हुआ ।।

अर्जुनः प्राप्य गाङ्गेयं पीडयन् निशितैः शरैः ।
अभ्यद्रवत संयत्तो वने मत्तमिव द्विपम् ।। ५५ ।।

अर्जुनने गंगानन्दन भीष्मके निकट पहुँचकर उन्हें तीखे बाणोंद्वारा पीड़ित करते हुए बड़ी सावधानीके साथ उनपर चढ़ाई की। ठीक वैसे ही, जैसे वनमें कोई मतवाला हाथी किसी मदोन्मत्त गजराजपर आक्रमण कर रहा हो ।।

प्रत्युद्ययौ च तं राजा भगदत्तः प्रतापवान् ।
त्रिधा भिन्नेन नागेन मदान्धेन महाबलः ।। ५६ ।।

तब प्रतापी एवं महाबली राजा भगदत्तने मदान्ध गजराजपर आरूढ़ हो अर्जुनके ऊपर धावा किया। उस हाथीके कुम्भस्थलमें तीन जगहसे मदकी धारा चू रही थी ।। ५६ ।।

तमापतन्तं सहसा महेन्द्रगजसंनिभम् ।
परं यत्नं समास्थाय बीभत्सुः प्रत्यपद्यत ।। ५७ ।।

देवराज इन्द्रके ऐरावत हाथीके समान उस गजराजको सहसा आते देख अर्जुनने बड़ा यत्न करके उसका सामना किया ।। ५७ ।।

ततो गजगतो राजा भगदत्तः प्रतापवान् ।
अर्जुनं शरवर्षेण वारयामास संयुगे ।। ५८ ।।

तब हाथीपर बैठे हुए प्रतापी राजा भगदत्तने युद्धमें बाणोंकी वर्षा करके अर्जुनको आगे बढ़नेसे रोक दिया ।।

अर्जुनस्तु ततो नागमायान्तं रजतोपमैः ।
विमलैरायसैस्तीक्ष्णैरविध्यत महारणे ।। ५९ ।।

अर्जुनने भी अपने सामने आते हुए उस हाथीको चाँदीके समान चमकीले लोहमय तीखे बाणोंद्वारा उस महासमरमें बींध डाला ।। ५९ ।।

शिखण्डिनं च कौन्तेयो याहि याहीत्यचोदयत् ।
भीष्मं प्रति महाराज जह्येनमिति चाब्रवीत् ।। ६० ।।

महाराज! कुन्तीकुमार अर्जुन शिखण्डीको बार-बार यह प्रेरणा देते और कहते थे कि तुम भीष्मकी ओर बढ़ो और इन्हें मार डालो ।। ६० ।।

प्राग्ज्योतिषस्ततो हित्वा पाण्डवं पाण्डुपूर्वज ।
प्रययौ त्वरितो राजन् द्रुपदस्य रथं प्रति ।। ६१ ।।

पाण्डुके ज्येष्ठ भ्राता महाराज! तदनन्तर प्राग्ज्योतिष-नरेश भगदत्त पाण्डुनन्दन अर्जुनको छोड़कर तुरंत ही द्रुपदके रथकी ओर चल दिये ।। ६१ ।।

ततोऽर्जुनो महाराज भीष्ममभ्यद्रवद् द्रुतम् ।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य ततो युद्धमवर्तत ।। ६२ ।।

महाराज! तब अर्जुनने शिखण्डीको आगे करके बड़े वेगसे भीष्मपर धावा किया। फिर तो भारी युद्ध छिड़ गया ।। ६२ ।।

ततस्ते तावकाः शूराः पाण्डवं रभसं युधि ।
समभ्यधावन् क्रोशन्तस्तदद्भुतमिवाभवत् ।। ६३ ।।

तदनन्तर युद्धमें आपके शूरवीर सैनिक कोलाहल करते और ललकारते हुए वेगशाली पाण्डुकुमार अर्जुनकी ओर दौड़ पड़े। वह एक अद्भुत-सी बात थी ।। ६३ ।।

नानाविधान्यनीकानि पुत्राणां ते जनाधिप ।

अर्जुनो व्यधमत् काले दिवीवाभ्राणि मारुतः ।। ६४ ।।

जनेश्वर! जैसे आकाशमें फैले हुए बादलोंको हवा छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनने उस अवसरपर आपके पुत्रोंकी विविध सेनाओंको विनष्ट कर दिया ।। ६४ ।।

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम् ।

इषुभिस्तूर्णमव्यग्रो बहुभिः स समाचिनोत् ।। ६५ ।।

उसी समय शिखण्डीने भरतकुलके पितामह भीष्मके सामने पहुँचकर स्वस्थचित्तसे अनेक बाणोंद्वारा तुरंत ही उन्हें आच्छादित कर दिया ।। ६५ ।।

रथाग्न्यगारश्चापार्चिरसिशक्तिगदेन्धनः ।

शरसंघमहाज्वालः क्षत्रियान् समरेऽदहत् ।। ६६ ।।

वे अग्निके समान प्रज्वलित हो समरभूमिमें क्षत्रियोंको दग्ध कर रहे थे। रथ ही अग्निशाला थी, धनुष लपटके समान प्रतीत होता था, खड्ग, शक्ति और गदाएँ ईंधनका काम दे रही थीं, बाणोंका समुदाय ही उस अग्निकी महाज्वाला थी ।। ६६ ।।

यथाग्निः सुमहानिद्धः कक्षे चरति सानिलः ।

तथा जज्वाल भीष्मोऽपि दिव्यान्यस्त्राण्युदीरयन् ।। ६७ ।।

जैसे प्रज्वलित अग्नि वायुका सहारा पाकर घास-फूँसके जंगलमें विचरती है, इसी प्रकार दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते हुए भीष्मजी भी शत्रुसेनामें प्रज्वलित हो रहे थे ।।

सोमकांश्च रणे भीष्मो जघ्ने पार्थपदानुगान् ।

न्यवारयत तत् सैन्यं पाण्डवस्य महारथः ।। ६८ ।।

भीष्मने युद्धमें अर्जुनका अनुसरण करनेवाले सोमकवंशियोंको भी बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी। साथ ही उन महारथी वीरने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सेनाको भी आगे बढ़नेसे रोक दिया ।। ६८ ।।

सुवर्णपुङ्खैरिषुभिः शितैः संनतपर्वभिः ।

नादयन् स दिशो भीष्मः प्रदिशश्च महाहवे ।। ६९ ।।

झुकी हुई गाँठवाले, सुवर्णपंखयुक्त तीखे बाणोंद्वारा शत्रुओंको मारकर भीष्म उस महायुद्धमें सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंको भी शब्दायमान करने लगे ।। ६९ ।।

पातयन् रथिनो राजन् हयांश्च सहसादिभिः ।

मुण्डतालवनानीव चकार स रथव्रजान् ।। ७० ।।

राजन्! रथियोंको गिराकर और सवारोंसहित घोड़ोंको मारकर उन्होंने रथोंके समुदायको मुण्डित ताड़वनके समान कर दिया ।। ७० ।।

निर्मनुष्यान् रथान् राजन् गजानश्वांश्च संयुगे ।

चकार समरे भीष्मः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।। ७१ ।।

नरेश्वर! समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने उस समरांगणमें रथों, हाथियों और घोड़ोंको मनुष्योंसे शून्य कर दिया ।। ७१ ।।

तस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
निशम्य सर्वतो राजन् समकम्पन्त सैनिकाः ।। ७२ ।।

राजन्! वज्रकी गड़गड़ाहटके समान उनके धनुषकी प्रत्यंचाकी टंकारध्वनि सुनकर सब ओरके सैनिक काँपने लगे ।। ७२ ।।

अमोघा न्यपतन् बाणाः पितुस्ते मनुजेश्वर ।
नासज्जन्त शरीरेषु भीष्मचापच्युताः शराः ।। ७३ ।।

मनुजेश्वर! आपके ताऊके द्वारा चलाये हुए बाण कभी खाली नहीं जाते थे। भीष्मके धनुषसे छूटे हुए सायक मनुष्योंके शरीरोंमें नहीं अटकते थे ।। ७३ ।।

निर्मनुष्यान् रथान् राजन् सुयुक्ताञ्जवनैर्हयैः ।
वातायमानानद्राक्षं ह्रियमाणान् विशाम्पते ।। ७४ ।।

प्रजानाथ! हमने तेज घोड़ोंसे जुते हुए बहुत-से ऐसे रथ देखे, जिनमें कोई मनुष्य नहीं था और वे रथ वायुके समान शीघ्र गतिसे इधर-उधर खींचकर ले जाये जा रहे थे ।। ७४ ।।

चेदिकाशिकरूषाणां सहस्राणि चतुर्दश ।
महारथाः समाख्याताः कुलपुत्रास्तनुत्यजः ।। ७५ ।।

वहाँ चेदि, काशि और करूष देशोंके चौदह हजार महारथी मौजूद थे, जिनकी बड़ी ख्याति थी, जो कुलीन होनेके साथ ही पाण्डवोंके लिये प्राणोंका परित्याग करनेको उद्यत थे ।। ७५ ।।

अपरावर्तिनः शूराः सुवर्णविकृतध्वजाः ।
संग्रामे भीष्ममासाद्य सवाजिरथकुञ्जराः ।। ७६ ।।
जग्मुस्ते परलोकाय व्यादितास्यमिवान्तकम् ।

वे युद्धसे पीठ न दिखानेवाले, शौर्यसम्पन्न तथा सुवर्णमय ध्वज धारण करनेवाले थे। वे सब-के-सब युद्धमें मुँह फैलाये हुए कालके समान भीष्मके पास पहुँचकर घोड़े, रथ और हाथियोंसहित परलोकके पथिक हो गये ।। ७६½ ।।

न तत्रासीद् रणे राजन् सोमकानां महारथः ।। ७७ ।।
यः सम्प्राप्य रणे भीष्मं जीविते स्म मनो दधे ।

राजन्! उस समय सोमकोंमें एक भी महारथी ऐसा नहीं था, जो युद्धभूमिमें भीष्मके पास पहुँचकर अपने मनमें जीवन-रक्षाकी आशा रखता हो ।। ७७½ ।।

तांश्च सर्वान् रणे योधान् प्रेतराजपुरं प्रति ।। ७८ ।।
नीतानमन्यन्त जना दृष्ट्वा भीष्मस्य विक्रमम् ।

उस समय लोगोंने भीष्मका अद्भुत पराक्रम देखकर यह मान लिया कि युद्धके मैदानमें जितने योद्धा उपस्थित हैं, वे सब यमराजके लोकमें गये हुएके ही समान हैं ।। ७८½ ।।

न कश्चिदेनं समरे प्रत्युद्याति महारथः ।। ७९ ।।

ऋते पाण्डुसुतं वीरं श्वेताश्वं कृष्णसारथिम् ।

शिखण्डिनं च समरे पाञ्चाल्यममितौजसम् ।। ८० ।।

उस समय श्रीकृष्ण जिनके सारथि थे और श्वेत घोड़े जिनके रथमें जुते हुए थे, उन पाण्डुनन्दन वीर अर्जुनको तथा अमित तेजस्वी पांचालराजपुत्र शिखण्डीको छोड़कर दूसरा कोई महारथी ऐसा नहीं था, जो समरांगणमें भीष्मके सामने जानेका साहस करता ।। ७९-८० ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११६ ।।

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका युद्ध, दुःशासनका पराक्रम तथा अर्जुनके द्वारा भीष्मका मूर्च्छित होना

संजय उवाच

शिखण्डी तु रणे भीष्ममासाद्य पुरुषर्षभम् ।
दशभिर्निशितैर्भल्लैराजघान स्तनान्तरे ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! शिखण्डीने रणक्षेत्रमें पुरुषरत्न भीष्मजीके सामने पहुँचकर उनकी छातीमें दस तीखे भल्ल नामक बाण मारे ।। १ ।।

शिखण्डिनं तु गाङ्गेयः क्रोधदीप्तेन चक्षुषा ।
सम्प्रैक्षत कटाक्षेण निर्दहन्निव भारत ।। २ ।।

भारत! गंगानन्दन भीष्मने क्रोधसे प्रज्वलित हुई दृष्टि एवं कनखियोंसे शिखण्डीकी ओर इस प्रकार देखा, मानो वे उसे भस्म कर डालेंगे ।। २ ।।

स्त्रीत्वं तस्य स्मरन् राजन् सर्वलोकस्य पश्यतः ।
नाजघान रणे भीष्मः स च तन्नावबुद्धवान् ।। ३ ।।

राजन्! किंतु उसके स्त्रीत्वका विचार करके भीष्मजीने युद्धस्थलमें उसपर कोई आघात नहीं किया। इस बातको सब लोगोंने देखा; पर शिखण्डी इस बातको नहीं समझ सका ।। ३ ।।

अर्जुनस्तु महाराज शिखण्डिनमभाषत ।
अभिद्रवस्व त्वरितं जहि चैनं पितामहम् ।। ४ ।।

महाराज! उस समय अर्जुनने शिखण्डीसे कहा—‘वीर! तुम झटपट आगे बढ़ो और इन पितामह भीष्मका वध कर डालो ।। ४ ।।

किं ते विवक्षया वीर जहि भीष्मं महारथम् ।
न ह्यन्यमनुपश्यामि कञ्चिद् यौधिष्ठिरे बले ।। ५ ।।
यः शक्तः समरे भीष्मं प्रतियोद्धुमिहाहवे ।
ऋते त्वां पुरुषव्याघ्र सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।। ६ ।।

‘वीर! इस विषयमें बार-बार विचारने या संदेह निवारणके लिये कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम महारथी भीष्मको शीघ्र मार डालो। युधिष्ठिरकी सेनामें तुम्हारे सिवा दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो समरभूमिमें भीष्मका सामना कर सके। पुरुषसिंह! मैं तुमसे यह सच्ची बात कह रहा हूँ’ ।। ५—६ ।।

एवमुक्तस्तु पार्थेन शिखण्डी भरतर्षभ ।

शरैर्नानाविधैस्तूर्णं पितामहमवाकिरत् ।। ७ ।।

भरतश्रेष्ठ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर शिखण्डी तुरंत ही पितामह भीष्मपर नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करने लगा ।। ७ ।।

अचिन्तयित्वा तान् बाणान् पिता देवव्रतस्तव ।
अर्जुनं समरे क्रुद्धं वारयामास सायकैः ।। ८ ।।

परंतु आपके पितृतुल्य देवव्रतने उन बाणोंकी कुछ भी परवा न करके समरमें कुपित हुए अर्जुनको अपने बाणोंद्वारा रोक दिया ।। ८ ।।

तथैव च चमूं सर्वां पाण्डवानां महारथः ।
अप्रैषीत् स शरैस्तीक्ष्णैः परलोकाय मारिष ।। ९ ।।

आर्य! इसी प्रकार महारथी भीष्मने पाण्डवोंकी उस सारी सेनाको (जो उनके सामने मौजूद थी) अपने तीखे बाणोंद्वारा मारकर परलोक भेज दिया ।। ९ ।।

तथैव पाण्डवा राजन् सैन्येन महता वृताः ।
भीष्मं संछादयामासुर्मेघा इव दिवाकरम् ।। १० ।।

राजन्! फिर विशाल सेनासे घिरे हुए पाण्डवोंने अपने बाणोंद्वारा भीष्मको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे बादल सूर्यदेवको आच्छादित कर देते हैं ।। १० ।।

स समन्तात् परिवृतो भारतो भरतर्षभ ।
निर्ददाह रणे शूरान् वने वह्निरिव ज्वलन् ।। ११ ।।

भरतभूषण! उस रणक्षेत्रमें सब ओरसे घिरे हुए भीष्म वनमें प्रज्वलित हुए दावानलके समान शूरवीरोंको दग्ध करने लगे ।। ११ ।।

तत्राद्भुतमपश्याम तव पुत्रस्य पौरुषम् ।
अयोधयच्च यत् पार्थं जुगोप च पितामहम् ।। १२ ।।

उस समय वहाँ हमने आपके पुत्र दुःशासनका अद्भुत पराक्रम देखा! एक तो वह अर्जुनके साथ युद्ध कर रहा था और दूसरे पितामह भीष्मकी रक्षामें भी तत्पर था ।। १२ ।।

कर्मणा तेन समरे तव पुत्रस्य धन्विनः ।
दुःशासनस्य तुतुषुः सर्वे लोका महात्मनः ।। १३ ।।

राजन्! युद्धमें आपके धनुर्धर महामनस्वी पुत्र दुःशासनके उस पराक्रमसे सब लोग बड़े संतुष्ट हुए ।। १३ ।।

यदेकः समरे पार्थान् सार्जुनान् समयोधयत् ।
न चैनं पाण्डवा युद्धे वारयामासुरुल्बणम् ।। १४ ।।

वह समरभूमिमें अकेला ही अर्जुनसहित समस्त कुन्तीकुमारोंसे युद्ध कर रहा था; वहाँ पाण्डव उस प्रचण्ड पराक्रमी दुःशासनको रोक नहीं पाते थे ।। १४ ।।

दुःशासनेन समरे रथिनो विरथीकृताः ।
सादिनश्च महेष्वासा हस्तिनश्च महाबलाः ।। १५ ।।

विनिर्भिन्नाः शरैस्तीक्ष्णैर्निपेतुर्वसुधातले ।

दुःशासनने वहाँ युद्धके मैदानमें कितने ही रथियोंको रथहीन कर दिया। उसके तीखे बाणोंसे विदीर्ण होकर बहुत-से महाधनुर्धर घुड़सवार और महाबली गजारोही पृथ्वीपर गिर पड़े ।। १५½ ।।

शरातुरास्तथैवान्ये दन्तिनो विद्रुता दिशः ।। १६ ।।
यथाग्निरिन्धनं प्राप्य ज्वलेद् दीप्तार्चिरुल्बणम् ।
तथा जज्वाल पुत्रस्ते पाण्डुसेनां विनिर्दहन् ।। १७ ।।

उसके बाणोंसे आतुर होकर बहुत-से दन्तार हाथी भी चारों दिशाओंमें भागने लगे। जैसे आग ईंधन पाकर दहकती हुई लपटोंके साथ प्रचण्ड वेगसे प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार पाण्डव-सेनाको दग्ध करता हुआ आपका पुत्र दुःशासन अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहा था ।। १६-१७ ।।

तं भारतमहामात्रं पाण्डवानां महारथः ।
जेतुं नोत्सहते कश्चिन्नाभ्युद्यातुं कथंचन ।। १८ ।।
ऋते महेन्द्रतनयाच्छ्वेताश्वात् कृष्णसारथेः ।

कृष्णसारथि, श्वेतवाहन महेन्द्रकुमार अर्जुनको छोड़कर दूसरा कोई भी पाण्डव महारथी भरतकुलके उस महाबली वीरको जीतने या उसके सामने जानेका साहस किसी प्रकार न कर सका ।। १८½ ।।

स हि तं समरे राजन् निर्जित्य विजयोऽर्जुनः ।। १९ ।।
भीष्ममेवाभिदुद्राव सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।

राजन्! विजयी अर्जुनने समरभूमिमें दुःशासनको जीतकर समस्त सेनाओंके देखते-देखते भीष्मपर ही आक्रमण किया ।। १९½ ।।

विजितस्तव पुत्रोऽपि भीष्मबाहुव्यपाश्रयः ।। २० ।।
पुनः पुनः समाश्वस्य प्रायुध्यत मदोत्कटः ।
अर्जुनस्तु रणे राजन् योधयन् संव्यराजत ।। २१ ।।

भीष्मकी भुजाओंके आश्रयमें रहनेवाला आपका मदोन्मत्त पुत्र दुःशासन पराजित होनेपर भी बार-बार सुस्ताकर बड़े वेगसे युद्ध करता था। राजन्! अर्जुन उस रणक्षेत्रमें युद्ध करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे ।। २०-२१ ।।

शिखण्डी तु रणे राजन् विव्याधैव पितामहम् ।
शरैरशनिसंस्पर्शैस्तथा सर्पविषोपमैः ।। २२ ।।

महाराज! उस समय रणक्षेत्रमें शिखण्डी वज्रके समान स्पर्शवाले तथा सर्पविषके समान भयंकर बाणोंद्वारा पितामह भीष्मको घायल करने लगा ।। २२ ।।

न च स्म ते रुजं चक्रुः पितुस्तव जनेश्वर ।
स्मयमानस्तु गाङ्गेयस्तान् बाणाञ्जगृहे तदा ।। २३ ।।

परंतु जनेश्वर! उसके चलाये हुए वे बाण आपके ताऊके शरीरमें कोई घाव या वेदना नहीं उत्पन्न कर पाते थे। गंगानन्दन भीष्म उस समय मुसकराते हुए उन बाणोंकी चोट सह रहे थे ।। २३ ।।

उष्णार्तो हि नरो यद्वज्जलधाराः प्रतीच्छति ।

तथा जग्राह गाङ्गेयः शरधाराः शिखण्डिनः ।। २४ ।।

जैसे गर्मीसे कष्ट पानेवाला मनुष्य अपने ऊपर जलकी धारा ग्रहण करता है, उसी प्रकार गंगानन्दन भीष्म शिखण्डीकी बाणधाराको ग्रहण कर रहे थे ।। २४ ।।

तं क्षत्रिया महाराज ददृशुर्घोरमाहवे ।

भीष्मं दहन्तं सैन्यानि पाण्डवानां महात्मनाम् ।। २५ ।।

महाराज! उस युद्धस्थलमें समस्त क्षत्रियोंने देखा, भयंकर रूपधारी भीष्म महामना पाण्डवोंकी सेनाओंको दग्ध कर रहे थे ।। २५ ।।

ततोऽब्रवीत्तव सुतः सर्वसैन्यानि मारिष ।

अभिद्रवत संग्रामे फाल्गुनं सर्वतो रणे ।। २६ ।।

आर्य! उस समय आपके पुत्रने अपने समस्त सैनिकोंसे कहा—'वीरो! तुमलोग समरभूमिमें अर्जुनपर चारों ओरसे धावा करो ।। २६ ।।

भीष्मो वः समरे सर्वान् पालयिष्यति धर्मवित् ।

ते भयं सुमहत् त्यक्त्वा पाण्डवान् प्रति युध्यत ।। २७ ।।

'धर्मज्ञ भीष्म समरांगणमें तुम सब लोगोंकी रक्षा करेंगे। अतः तुमलोग महान् भयका परित्याग करके पाण्डवोंके साथ युद्ध करो ।। २७ ।।

हेमतालेन महता भीष्मस्तिष्ठति पालयन् ।

सर्वेषां धार्तराष्ट्राणां समरे शर्म वर्म च ।। २८ ।।

'सुवर्णमय तालचिह्नसे युक्त विशाल ध्वजसे सुशोभित होनेवाले भीष्मजी हम सबकी रक्षा करते हुए युद्धके मैदानमें खड़े हैं। हम सभी धृतराष्ट्रपुत्रोंके लिये ये ही कल्याणकारी आश्रय और कवच हैं ।। २८ ।।

त्रिदशाऽपि समुद्युक्ता नालं भीष्मं समासितुम् ।

किमु पार्था महात्मानं मर्त्यभूता महाबलाः ।। २९ ।।

'यदि सम्पूर्ण देवता भी एकत्र हो युद्धके लिये उद्योग करें तो वे भी भीष्मका सामना करनेमें समर्थ नहीं हो सकते; फिर कुन्तीके महाबली पुत्र तो मरणधर्मा मनुष्य ही हैं। वे उन महात्मा भीष्मका सामना क्या कर सकते हैं? ।। २९ ।।

तस्माद् द्रवत मा योधाः फाल्गुनं प्राप्य संयुगे ।

अहमद्य रणे यत्तो योधयिष्यामि पाण्डवम् ।। ३० ।।

सहितः सर्वतो यत्तैर्भवद्भिर्वसुधाधिपैः ।

'अतः योद्धाओ! युद्धभूमिमें अर्जुनको सामने पाकर पीछे न भागो। मैं स्वयं समरांगणमें प्रयत्नपूर्वक आज पाण्डुकुमार अर्जुनके साथ युद्ध करूँगा। तुम सब नरेश सब ओरसे सावधान होकर मेरे साथ रहो' ।। ३० ½ ।।

तच्छ्रुत्वा तु वचो राजंस्तव पुत्रस्य धन्विनः ।। ३१ ।।
सर्वे योधाः सुसंरब्धा बलवन्तो महाबलाः ।

राजन्! आपके धनुर्धर पुत्रकी ये जोशभरी बातें सुनकर वे सभी महाबली और शक्तिशाली योद्धा रोषमें भर गये ।। ३१ ½ ।।

ते विदेहाः कलिङ्गाश्च दासेरकगणाश्च ह ।। ३२ ।।
अभिपेतुर्निषादाश्च सौवीराश्च महारणे ।
बाह्लीका दरदाश्चैव प्रतीच्योदीच्यमालवाः ।। ३३ ।।
अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः ।
शाल्वाः शकास्त्रिगर्ताश्च अम्बष्ठाः केकयैः सह ।। ३४ ।।
अभिपेतू रणे पार्थं पतङ्गा इव पावकम् ।

वे विदेह, कलिंग, दासेरक, निषाद, सौवीर, बाह्लीक, दरद, प्रतीच्य, उदीच्य, मालव, अभीषाह, शूरसेन, शिबि, वसाति, शाल्व, शक, त्रिगर्त, अम्बष्ठ और केकयदेशोंके नरेशगण उस महायुद्धमें कुन्तीकुमार अर्जुनपर उसी प्रकार धावा करने लगे, जैसे पतंग प्रज्वलित आगपर टूटे पड़ते हैं ।। ३२—३४ ½ ।।

शलभा इव राजेन्द्र पार्थमप्रतिमं रणे ।
एतान् सर्वान् सहानीकान् महाराज महारथान् ।। ३५ ।।
दिव्यान्यस्त्राणि संचिन्त्य प्रसंधाय धनंजयः ।
स तैरस्त्रैर्महावेगैर्ददाह सुमहाबलः ।। ३६ ।।
शरप्रतापैर्बीभत्सुः पतङ्गानिव पावकः ।

राजेन्द्र! उस रणक्षेत्रमें कुन्तीकुमार अर्जुन अप्रतिम तेजस्वी वीर थे और पूर्वोक्त नरेश उनके सामने पतंगोंके समान दौड़े चले आ रहे थे। महाराज! महाबली धनंजयने दिव्यास्त्रोंका चिन्तन करके उनका धनुषपर संधान किया और उन महावेगशाली अस्त्रोंद्वारा सेनासहित इन समस्त महारथियोंको जलाकर भस्म कर डाला। जैसे आग पतंगोंको जलाती है, उसी प्रकार अर्जुनने अपने बाणोंके प्रतापसे उन सबको दग्ध कर दिया ।। ३५-३६ ½ ।।

तस्य बाणसहस्राणि सृजतो दृढधन्विनः ।। ३७ ।।
दीप्यमानमिवाकाशे गाण्डीवं समदृश्यत ।

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले अर्जुन जब सहस्रों बाणोंकी सृष्टि करने लगे, उस समय उनका गाण्डीव धनुष आकाशमें प्रज्वलित-सा दिखायी देने लगा ।। ३७ ½ ।।

ते शरार्ता महाराज विप्रकीर्णमहाध्वजाः ।। ३८ ।।

नाभ्यवर्तन्त राजानः सहिता वानरध्वजम् ।

महाराज! वे सब नरेश बाणोंसे पीड़ित हो गये थे। उनके विशाल ध्वज छिन्न-भिन्न होकर बिखर गये थे। वे सब राजा एक साथ मिलकर भी कपिध्वज अर्जुनके सामने टिक न सके ।। ३८½ ।।

सध्वजा रथिनः पेतुर्हयारोहा हयैः सह ।। ३९ ।।
सगजाश्च गजारोहाः किरीटिशरताडिताः ।
ततोऽर्जुनभुजोत्सृष्टैरावृताऽऽसीद् वसुन्धरा ।। ४० ।।
विद्रवद्भिश्च बहुधा बलै राज्ञां समन्ततः ।

किरीटधारी अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हो रथी अपने ध्वजोंके साथ ही पृथ्वीपर गिर पड़े, घुड़सवार घोड़ोंके साथ ही धराशायी हो गये और हाथियोंसहित हाथीसवार भी ढह गये। अर्जुनकी भुजाओंसे छूटे हुए बाणोंसे एवं अनेक भागोंमें विभक्त होकर चारों ओर भागती हुई राजाओंकी सेनाओंसे वहाँकी सारी पृथ्वी व्याप्त हो रही थी ।। ३९-४०½ ।।

अथ पार्थो महाराज द्रावयित्वा वरूथिनीम् ।। ४१ ।।
दुःशासनाय सुबहून् प्रेषयामास सायकान् ।

महाराज! उस समय अर्जुनने आपकी सेनाको भगाकर दुःशासनपर बहुत-से सायकोंका प्रहार किया ।। ४१½ ।।

ते तु भित्त्वा तव सुतं दुःशासनमयोमुखाः ।। ४२ ।।
धरणीं विविशुः सर्वे वल्मीकमिव पन्नगाः ।

वे समस्त लोहमुख बाण आपके पुत्र दुःशासनको विदीर्ण करके उसी प्रकार धरतीमें समा गये, जैसे सर्प बाँबीमें प्रवेश करते हैं ।। ४२½ ।।

हयांश्चास्य ततो जघ्ने सारथिं च न्यपातयत् ।। ४३ ।।
विविंशतिं च विंशत्या विरथं कृतवान् प्रभुः ।
आजघान भृशं चैव पञ्चभिर्नतपर्वभिः ।। ४४ ।।

तत्पश्चात् शक्तिशाली अर्जुनने दुःशासनके घोड़ों तथा सारथिको भी मार गिराया और विविंशतिको भी बीस बाणोंसे मारकर उसे रथहीन कर दिया। इसके बाद पुनः झुकी हुई गाँठवाले पाँच बाणोंद्वारा उसे अत्यन्त घायल कर दिया ।। ४३-४४ ।।

कृपं विकर्णं शल्यं च विद्ध्वा बहुभिरायसैः ।
चकार विरथांश्चैव कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।। ४५ ।।

तदनन्तर श्वेतवाहन कुन्तीकुमार अर्जुनने कृपाचार्य, विकर्ण तथा शल्यको भी लोहेके बने हुए बहुत-से बाणोंद्वारा रथहीन कर दिया ।। ४५ ।।

एवं ते विरथाः सर्वे कृपः शल्यश्च मारिष ।
दुःशासनो विकर्णश्च तथैव च विविंशतिः ।। ४६ ।।
सम्प्राद्रवन्त समरे निर्जिताः सव्यसाचिना ।

माननीय नरेश! इस प्रकार रथहीन हुए वे सब महारथी कृपाचार्य, शल्य, विकर्ण, दुःशासन तथा विविंशति अर्जुनसे परास्त हो उस समरभूमिमें इधर-उधर भाग गये ।। ४६½ ।।

पूर्वाह्णे भरतश्रेष्ठ पराजित्य महारथान् ।। ४७ ।।
प्रजज्वाल रणे पार्थो विधूम इव पावकः ।

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार दसवें दिनके पूर्वाह्णकालमें उन महारथियोंको पराजित करके कुन्तीकुमार अर्जुन रणभूमिमें धूमरहित अग्निके समान प्रकाशित होने लगे ।। ४७½ ।।

तथैव शरवर्षेण भास्करो रश्मिवानिव ।। ४८ ।।
अन्यानपि महाराज तापयामास पार्थिवान् ।

महाराज! इसी प्रकार अंशुमाली सूर्यके समान अन्यान्य राजाओंको भी वे अपने बाणोंकी वर्षासे संतप्त करने लगे ।। ४८½ ।।

पराङ्मुखीकृत्य तथा शरवर्षैर्महारथान् ।। ४९ ।।
प्रावर्तयत संग्रामे शोणितोदां महानदीम् ।
मध्येन कुरुसैन्यानां पाण्डवानां च भारत ।। ५० ।।

और भारत! उन सब महारथियोंको बाणवर्षाद्वारा विमुख करके अर्जुनने संग्रामभूमिमें कौरव-पाण्डवोंकी सेनाओंके बीच रक्तकी बहुत बड़ी नदी बहा दी ।। ४९-५० ।।

गजाश्च रथसङ्घाश्च बहुधा रथिभिर्हताः ।
रथाश्च निहता नागैर्हयाश्चैव पदातिभिः ।। ५१ ।।

रथियोंद्वारा बहुत-से हाथी तथा रथसमूह नष्ट कर दिये गये। हाथियोंने कितने ही रथ चौपट कर दिये और पैदल सिपाहियोंने सवारोंसहित बहुत-से घोड़े मार गिराये ।। ५१ ।।

अन्तराच्छिद्यमानानि शरीराणि शिरांसि च ।
निपेतुर्दिक्षु सर्वासु गजाश्वरथयोधिनाम् ।। ५२ ।।

हाथी, घोड़े तथा रथोंपर बैठकर युद्ध करनेवाले सैनिकोंके शरीर और मस्तक बीच-बीचसे कटकर सब दिशाओंमें गिर रहे थे ।। ५२ ।।

छन्नमायोधनं राजन् कुण्डलाङ्गदधारिभिः ।
पतितैः पात्यमानैश्च राजपुत्रैर्महारथैः ।। ५३ ।।

राजन्! वहाँ गिरे और गिराये जाते हुए कुण्डल और अंगदधारी महारथी राजकुमारोंके मृत शरीरोंसे सारी युद्धभूमि आच्छादित हो रही थी ।। ५३ ।।

रथनेमिनिकृत्तैश्च गजैश्चैवावपोथितैः ।
पादाताश्चाप्यधावन्त साश्वाश्च हययोधिनः ।। ५४ ।।

उनमेंसे कितने ही रथोंके पहियोंसे कट गये थे और कितनोंहीको हाथियोंने अपनी सूँड़ोंसे पकड़कर धरतीपर दे मारा था एवं कितने ही पैदल सैनिक तथा अपने अश्वोंसहित घुड़सवार योद्धा वहाँसे भाग गये थे ।। ५४ ।।

गजाश्च रथयोधाश्च परिपेतुः समन्ततः ।
विकीर्णाश्च रथा भूमौ भग्नचक्रयुगध्वजाः ।। ५५ ।।

वहाँ सब ओर हाथी तथा रथयोद्धा धराशायी हो रहे थे। पहिये, जुए और ध्वजोंके छिन्न-भिन्न हो जानेसे बहुसंख्यक रथ धरतीपर बिखरे पड़े थे ।। ५५ ।।

तद् गजाश्वरथौघानां रुधिरेण समुक्षितम् ।
छन्नमायोधनं रेजे रक्ताभ्रमिव शारदम् ।। ५६ ।।

हाथी, घोड़े तथा रथियोंके समुदायके रक्तसे ढकी और भीगी हुई वह सारी युद्धभूमि शरद्-ऋतुकी संध्याके लाल बादलोंके समान शोभा पा रही थी ।। ५६ ।।

श्वानः काकाश्च गृध्राश्च वृका गोमायुभिः सह ।
प्रणेदुर्भक्ष्यमासाद्य विकृताश्च मृगद्विजाः ।। ५७ ।।

कुत्ते, कौए, गीध, भेड़िये तथा गीदड़ आदि विकराल पशु-पक्षी वहाँ अपना आहार पाकर हर्षनाद करने लगे ।। ५७ ।।

ववुर्बहुविधाश्चैव दिक्षु सर्वासु मारुताः ।
दृश्यमानेषु रक्षःसु भूतेषु च नदत्सु च ।। ५८ ।।

सम्पूर्ण दिशाओंमें अनेक प्रकारकी वायु प्रवाहित हो रही थी। सब ओर राक्षस और भूतगण गरजते दिखायी देते थे ।। ५८ ।।

काञ्चनानि च दामानि पताकाश्च महाधनाः ।
धूयमाना व्यदृश्यन्त सहसा मारुतेरिताः ।। ५९ ।।

सोनेके हार बिखरे पड़े थे, बहुमूल्य पताकाएँ सहसा वायुसे प्रेरित होकर फहराती दिखायी देती थीं ।। ५९ ।।

श्वेतच्छत्रसहस्राणि सध्वजाश्च महारथाः ।
विकीर्णाः समदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ।। ६० ।।

सहस्रों सफेद छत्र इधर-उधर गिरे थे, ध्वजों-सहित सैकड़ों और हजारों महारथी सब ओर बिखरे दिखायी देते थे ।। ६० ।।

सपताकाश्च मातङ्गा दिशो जग्मुः शरातुराः ।
क्षत्रियाश्च मनुष्येन्द्र गदाशक्तिधनुर्धराः ।। ६१ ।।
समन्ततश्च दृश्यन्ते पतिता धरणीतले ।

बाणोंकी वेदनासे आतुर हो पताकाओंसहित बड़े-बड़े हाथी चारों दिशाओंमें चक्कर काट रहे थे। नरेन्द्र! गदा, शक्ति और धनुष धारण किये हुए बहुत-से क्षत्रिय सब ओर पृथ्वीपर पड़े दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। ६१ १/२ ।।

ततो भीष्मो महाराज दिव्यमस्त्रमुदीरयन् ।। ६२ ।।
अभ्यधावत कौन्तेयं मिषतां सर्वधन्विनाम् ।

महाराज! तदनन्तर भीष्मने दिव्य अस्त्र प्रकट करते हुए वहाँ समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते कुन्तीकुमार अर्जुनपर धावा किया ।। ६२½ ।।

तं शिखण्डी रणे यान्तमभ्यद्रवत दंशितः ।। ६३ ।।

ततः समाहरद् भीष्मस्तदस्त्रं पावकोपमम् ।

उस समय कवचधारी शिखण्डीने युद्धके लिये आगे बढ़ते हुए भीष्मपर आक्रमण किया। शिखण्डीको सामने देख भीष्मने अपने अग्निके समान तेजस्वी उस दिव्यास्त्रको समेट लिया ।। ६३½ ।।

त्वरितः पाण्डवो राजन् मध्यमः श्वेतवाहनः ।

निजघ्ने तावकं सैन्यं मोहयित्वा पितामहम् ।। ६४ ।।

राजन्! इसी बीचमें मध्यम पाण्डव श्वेतवाहन अर्जुन तुरंत ही पितामह भीष्मको मूर्च्छित करके आपकी सेनाका संहार करने लगे ।। ६४ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि संकुलयुद्धे सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें संकुलयुद्धविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११७ ।।

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मका अद्‌भुत पराक्रम करते हुए पाण्डव-सेनाका भीषण संहार

संजय उवाच

समं व्यूढेष्वनीकेषु भूयिष्ठेष्वनिवर्तिनः ।
ब्रह्मलोकपराः सर्वे समपद्यन्त भारत ।। १ ।।

संजय कहते हैं—भरतनन्दन! दोनों पक्षकी सेनाओंको समानरूपसे व्यूहबद्ध करके खड़ा किया गया था। अधिकांश सैनिक उस व्यूहमें ही स्थित थे। वे सब-के-सब युद्धमें पीठ न दिखानेवाले तथा ब्रह्मलोकको ही अपना परम लक्ष्य मानकर युद्धमें तत्पर रहनेवाले थे ।। १ ।।

न ह्यनीकमनीकेन समसज्जत संकुले ।
रथा न रथिभिः सार्धं पादाता न पदातिभिः ।। २ ।।

परंतु उस घमासान युद्धमें (सेनाओंका व्यूह भंग हो गया और युद्धके निश्चित नियमोंका उल्लंघन होने लगा) सेना सेनाके साथ योग्यतानुसार नहीं लड़ती थी, न रथी रथियोंके साथ युद्ध करते थे, न पैदल पैदलोंके साथ ।। २ ।।

अश्वा नाश्वैरयुध्यन्त गजा न गजयोधिभिः ।
उन्मत्तवन्महाराज युध्यन्ते तत्र भारत ।। ३ ।।

घुड़सवार घुड़सवारोंके साथ और हाथीसवार हाथीसवारोंके साथ नहीं लड़ते थे। भरतवंशी महाराज! सब लोग उन्मत्त-से होकर वहाँ योग्यताका विचार किये बिना सबके साथ युद्ध करते थे ।। ३ ।।

महान् व्यतिकरो रौद्रः सेनयोः समपद्यत ।
नरनागगणेष्वेवं विकीर्णेषु च सर्वशः ।। ४ ।।

उन दोनों सेनाओंमें अत्यन्त भयंकर घोलमेल हो गया। इसी तरह मनुष्य और हाथियोंके समूह सब ओर बिखर गये थे ।। ४ ।।

क्षये तस्मिन् महारौद्रे निर्विशेषमजायत ।
ततः शल्यः कृपश्चैव चित्रसेनश्च भारत ।। ५ ।।
दुःशासनो विकर्णश्च रथानास्थाय भास्वरान् ।
पाण्डवानां रणे शूरा ध्वजिनीं समकम्पयन् ।। ६ ।।

उस महाभयंकर युद्धमें किसीकी कोई विशेष पहचान नहीं रह गयी थी। भारत! तदनन्तर शल्य, कृपाचार्य, चित्रसेन, दुःशासन और विकर्ण—ये कौरववीर चमचमाते हुए

रथोंपर बैठकर पाण्डवोंपर चढ़ आये और रणक्षेत्रमें उनकी सेनाको कँपाने लगे ।। ५-६ ।।

सा वध्यमाना समरे पाण्डुसेना महात्मभिः ।
भ्राम्यते बहुधा राजन् मारुतेनेव नौर्जले ।। ७ ।।

राजन्! जैसे वायुके थपेड़े खाकर नौका जलमें चक्कर काटने लगती है, उसी प्रकार उन महामनस्वी वीरोंद्वारा समरांगणमें मारी जाती हुई पाण्डवसेना बहुधा इधर-उधर भटक रही थी ।। ७ ।।

यथा हि शैशिरः कालो गवां मर्माणि कृन्तति ।
तथा पाण्डुसुतानां वै भीष्मो मर्माणि कृन्तति ।। ८ ।।

जैसे शिशिरकाल गौओंके मर्मस्थानोंका उच्छेद करने लगता है, उसी प्रकार भीष्म पाण्डवोंके मर्मस्थानोंको विदीर्ण करने लगे ।। ८ ।।

तथैव तव सैन्यस्य पार्थेन च महात्मना ।
नवमेघप्रतीकाशाः पातिता बहुधा गजाः ।। ९ ।।

इसी प्रकार महात्मा अर्जुनने आपकी सेनाके नूतन मेघके समान काले रंगवाले बहुत-से हाथी मार गिराये ।। ९ ।।

मृद्यमानाश्च दृश्यन्ते पार्थेन नरयूथपाः ।
इषुभिस्ताड्यमानाश्च नाराचैश्च सहस्रशः ।। १० ।।
पेतुरार्तस्वरं घोरं कृत्वा तत्र महागजाः ।

अर्जुनके द्वारा बहुत-से पैदलोंके यूथपति मिट्टीमें मिलते दिखायी दे रहे थे। नाराचों और बाणोंसे पीड़ित हुए सहस्रों महान् गज घोर आर्तनाद करके पृथ्वीपर गिर रहे थे ।। १० $\frac{1}{2}$ ।।

आनद्धाभरणैः कायैर्निहतानां महात्मनाम् ।। ११ ।।
छन्नमायोधनं रेजे शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।

मारे गये महामनस्वी वीरोंके आभरणभूषित शरीरों और कुण्डलमण्डित मस्तकोंसे आच्छादित हुई वह रणभूमि बड़ी शोभा पा रही थी ।। ११ $\frac{1}{2}$ ।।

तस्मिन्नेव महाराज महावीरवरक्षये ।। १२ ।।
भीष्मे च युधि विक्रान्ते पाण्डवे च धनंजये ।
ते पराक्रान्तमालोक्य राजन् युधि पितामहम् ।। १३ ।।
अभ्यवर्तन्त ते पुत्राः सर्वे सैन्यपुरस्कृताः ।
इच्छन्तो निधनं युद्धे स्वर्गं कृत्वा परायणम् ।। १४ ।।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त तस्मिन् वीरवरक्षये ।

महाराज! बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस महायुद्धमें जब एक ओर भीष्म और दूसरी ओर पाण्डुनन्दन धनंजय पराक्रम प्रकट कर रहे थे, उस समय पितामह भीष्मको महान् पराक्रममें प्रवृत्त देख आपके सभी पुत्र सेनाओंके साथ स्वर्गको अपना परम लक्ष्य बनाकर युद्धमें मृत्यु चाहते हुए पाण्डवोंपर चढ़ आये ।। १२—१४ $\frac{1}{2}$ ।।

पाण्डवाऽपि महाराज स्मरन्तो विविधान् बहून् ।। १५ ।।
क्लेशान् कृतान् सपुत्रेण त्वया पूर्वं नराधिप ।
भयं त्यक्त्वा रणे शूरा ब्रह्मलोकाय तत्पराः ।। १६ ।।
तावकांस्तव पुत्रांश्च योधयन्ति प्रहृष्टवत् ।

राजन्! नरेश्वर! शूरवीर पाण्डव भी पुत्रोंसहित आपके दिये हुए नाना प्रकारके अनेक क्लेशोंका स्मरण करके युद्धमें भय छोड़कर ब्रह्मलोक जानेके लिये उत्सुक हो बड़ी प्रसन्नताके साथ आपके सैनिकों और पुत्रोंके साथ युद्ध करने लगे ।। १५-१६½ ।।

सेनापतिस्तु समरे प्राह सेनां महारथः ।। १७ ।।
अभिद्रवत गाङ्गेयं सोमकाः सृञ्जयैः सह ।

उस समय समरभूमिमें पाण्डव-सेनापति महारथी धृष्टद्युम्नने अपनी सेनासे कहा—‘सोमको! तुम संजय वीरोंको साथ लेकर गंगानन्दन भीष्मपर टूट पड़ो’ ।।

सेनापतिवचः श्रुत्वा सोमकाः सृञ्जयाश्च ते ।। १८ ।।
अभ्यद्रवन्त गाङ्गेयं शरवृष्ट्या समाहताः ।

सेनापतिकी यह बात सुनकर सोमक और संजय वीर बाणोंकी भारी वर्षासे घायल होनेपर भी गंगानन्दन भीष्मकी ओर दौड़े ।। १८½ ।।

वध्यमानस्ततो राजन् पिता शान्तनवस्तव ।। १९ ।।
अमर्षवशमापन्नो योधयामास सृञ्जयान् ।

राजन्! तब आपके पितृतुल्य शान्तनुनन्दन भीष्म बाणोंकी मार खाकर अमर्षमें भर गये और संजयोंके साथ युद्ध करने लगे ।। १९½ ।।

तस्य कीर्तिमतस्तात पुरा रामेण धीमता ।। २० ।।
सम्प्रदत्तास्त्रशिक्षा वै परानीकविनाशनी ।
स तां शिक्षामधिष्ठाय कुर्वन् परबलक्षयम् ।। २१ ।।
अहन्यहनि पार्थानां वृद्धः कुरुपितामहः ।
भीष्मो दश सहस्राणि जघान परवीरहा ।। २२ ।।

तात! पूर्वकालमें परम बुद्धिमान् परशुरामजीने उन यशस्वी भीष्मको शत्रु-सेनाका विनाश करनेवाली जो अस्त्रशिक्षा प्रदान की थी, उसका आश्रय लेकर पाण्डवपक्षीय शत्रु-सेनाका संहार करते हुए कुरुकुलके वृद्ध पितामह एवं शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले भीष्म नित्यप्रति दस हजार मुख्य योद्धाओंका वध करते आ रहे थे ।। २०—२२ ।।

तस्मिंस्तु दशमे प्राप्ते दिवसे भरतर्षभ ।
भीष्मेणैकेन मत्स्येषु पञ्चालेषु च संयुगे ।। २३ ।।
गजाश्वममितं हत्वा हताः सप्त महारथाः ।
हत्वा पञ्च सहस्राणि रथानां प्रपितामहः ।। २४ ।।
नराणां च महायुद्धे सहस्राणि चतुर्दश ।

दन्तिनां च सहस्राणि हयानामयुतं पुनः ।। २५ ।।
शिक्षाबलेन निहतं पित्रा तव विशाम्पते ।

भरतश्रेष्ठ! उस दसवें दिनके आनेपर एकमात्र भीष्मने युद्धमें मत्स्य और पांचालदेशकी सेनाओंके अगणित हाथी, घोड़ोंको मारकर सात महारथियोंका वध कर डाला। प्रजानाथ! फिर पाँच हजार रथियोंका वध करके आपके पितृतुल्य भीष्मने अपने अस्त्र-शिक्षाबलसे उस महायुद्धमें चौदह हजार पैदल सिपाहियों, एक हजार हाथियों और दस हजार घोड़ोंका संहार कर डाला ।। २३—२५½ ।।

ततः सर्वमहीपानां क्षपयित्वा वरूथिनीम् ।। २६ ।।
विराटस्य प्रियो भ्राता शतानीको निपातितः ।
शतानीकं च समरे हत्वा भीष्मः प्रतापवान् ।। २७ ।।
सहस्राणि महाराज राज्ञां भल्लैरपातयत् ।

तदनन्तर समस्त भूमिपालोंकी सेनाका उच्छेद करके राजा विराटके प्रिय भाई शतानीकको मार गिराया। महाराज! शतानीकको रणक्षेत्रमें मारकर प्रतापी भीष्मने भल्ल नामक बाणोंद्वारा एक हजार नरेशोंको धराशायी कर दिया ।। २६-२७½ ।।

उद्विग्नाः समरे योधा विक्रोशन्ति धनंजयम् ।। २८ ।।
ये च केचन पार्थानामभियाता धनंजयम् ।
राजानो भीष्ममासाद्य गतास्ते यमसादनम् ।। २९ ।।

उस रणक्षेत्रमें समस्त योद्धा भीष्मके भयसे उद्विग्न हो अर्जुनको पुकारने लगे। पाण्डवपक्षके जो कोई नरेश अर्जुनके साथ गये थे, वे भीष्मके सामने पहुँचते ही यमलोकके पथिक हो गये ।। २८-२९ ।।

एवं दश दिशो भीष्मः शरजालैः समन्ततः ।
अतीत्य सेनां पार्थानामवतस्थे चमूमुखे ।। ३० ।।

इस प्रकार भीष्मने दसों दिशाओंमें सब ओर अपने बाणोंका जाल-सा बिछा दिया और कुन्तीकुमारोंकी सेनाको परास्त करके वे सेनाके प्रमुख भागमें स्थित हो गये ।। ३० ।।

स कृत्वा सुमहत् कर्म तस्मिन् वै दशमेऽहनि ।
सेनयोरन्तरे तिष्ठन् प्रगृहीतशरासनः ।। ३१ ।।

दसवें दिन यह महान् पराक्रम करके हाथमें धनुष लिये वे दोनों सेनाओंके बीचमें खड़े हो गये ।। ३१ ।।

न चैनं पार्थिवाः केचिच्छक्ता राजन् निरीक्षितुम् ।
मध्यं प्राप्तं यथा ग्रीष्मे तपन्तं भास्करं दिवि ।। ३२ ।।

राजन्! जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें आकाशके मध्यभागमें पहुँचे हुए दोपहरके तपते हुए सूर्यकी ओर देखना कठिन होता है, उसी प्रकार उस समय कोई राजा भीष्मकी ओर आँख उठाकर देखनेका भी साहस न कर सके ।। ३२ ।।

यथा दैत्यचमूं शक्रस्तापयामास संयुगे ।
तथा भीष्मः पाण्डवेयांस्तापयामास भारत ।। ३३ ।।

भारत! जैसे पूर्वकालमें देवराज इन्द्रने संग्रामभूमिमें दैत्योंकी सेनाको संतप्त किया था, उसी प्रकार भीष्मजी पाण्डवयोद्धाओंको संताप दे रहे थे ।। ३३ ।।

तथा चैनं पराक्रान्तमालोक्य मधुसूदनः ।
उवाच देवकीपुत्रः प्रीयमाणो धनंजयम् ।। ३४ ।।

उन्हें इस प्रकार पराक्रम करते देख मधु दैत्यको मारनेवाले देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे प्रसन्नतापूर्वक कहा— ।। ३४ ।।

एष शान्तनवो भीष्मः सेनयोरन्तरे स्थितः ।
संनिहत्य बलादेनं विजयस्ते भविष्यति ।। ३५ ।।

'अर्जुन! ये शान्तनुनन्दन भीष्म दोनों सेनाओंके बीचमें खड़े हैं। यदि तुम बलपूर्वक इन्हें मार सको तो तुम्हारी विजय हो जायगी ।। ३५ ।।

बलात् संस्तम्भयस्वैनं यत्रैषा भिद्यते चमूः ।
न हि भीष्मशरानन्यः सोढुमुत्सहते विभो ।। ३६ ।।

'जहाँ ये इस सेनाका संहार कर रहे हैं, वहीं पहुँचकर इन्हें बलपूर्वक स्तम्भित कर दो (जिससे ये आगे या पीछे किसी ओर हट न सकें)। विभो! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो भीष्मके बाणोंकी चोट सह सके' ।। ३६ ।।

ततस्तस्मिन् क्षणे राजंश्चोदितो वानरध्वजः ।
सध्वजं सरथं साश्वं भीष्ममन्तर्दधे शरैः ।। ३७ ।।

राजन्! इस प्रकार भगवान्से प्रेरित होकर कपिध्वज अर्जुनने उसी क्षण अपने बाणोंद्वारा ध्वज, रथ और घोड़ोंसहित भीष्मको आच्छादित कर दिया ।। ३७ ।।

स चापि कुरुमुख्यानामृषभः पाण्डवेरितान् ।
शरव्रातैः शरव्रातान् बहुधा विदुधाव तान् ।। ३८ ।।

कुरुश्रेष्ठ वीरोंमें प्रधान भीष्मने भी अपने बाणसमूहोंद्वारा अर्जुनके चलाये हुए बाणसमुदायके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ।। ३८ ।।

(तथा पुनर्जघानाशु पाण्डवानां महारथान् ।
शरैरशनिकल्पैश्च शिताग्रैश्च सुपर्वभिः ।।)

तत्पश्चात् उत्तम गाँठ और तीखी धारवाले वज्रतुल्य बाणोंद्वारा वे पुनः पाण्डव महारथियोंका शीघ्रतापूर्वक वध करने लगे।

ततः पञ्चालराजश्च धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ।
पाण्डवो भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।। ३९ ।।
यमौ च चेकितानश्च केकयाः पञ्च चैव ह ।
सात्यकिश्च महाबाहुः सौभद्रोऽथ घटोत्कचः ।। ४० ।।

द्रौपदेयाः शिखण्डी च कुन्तिभोजश्च वीर्यवान् ।
सुशर्मा च विराटश्च पाण्डवेया महाबलाः ।। ४१ ।।
एते चान्ये च बहवः पीडिता भीष्मसायकैः ।
समुद्धृताः फाल्गुनेन निमग्नाः शोकसागरे ।। ४२ ।।

इसी समय पांचालराज द्रुपद, पराक्रमी धृष्टकेतु, पाण्डुनन्दन भीमसेन, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, नकुल-सहदेव, चेकितान, पाँच केकयराजकुमार, महाबाहु सात्यकि, सुभद्राकुमार अभिमन्यु, घटोत्कच, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, शिखण्डी, पराक्रमी कुन्तिभोज, सुशर्मा तथा विराट—ये और दूसरे भी बहुत-से महाबली पाण्डव-सैनिक भीष्मके बाणोंसे पीड़ित हो शोकके समुद्रमें डूब रहे थे; परंतु अर्जुनने उन सबका उद्धार कर दिया ।। ३९—४२ ।।

ततः शिखण्डी वेगेन प्रगृह्य परमायुधम् ।
भीष्ममेवाभिदुद्राव रक्ष्यमाणः किरीटिना ।। ४३ ।।

तब शिखण्डी अपने उत्तम अस्त्र-शस्त्रोंको लेकर बड़े वेगसे भीष्मकी ही ओर दौड़ा। उस समय किरीटधारी अर्जुन उसकी रक्षा कर रहे थे ।। ४३ ।।

ततोऽस्यानुचरान् हत्वा सर्वान् रणविभागवित् ।
भीष्ममेवाभिदुद्राव बीभत्सुरपराजितः ।। ४४ ।।

तत्पश्चात् युद्धविभागके अच्छे ज्ञाता और किसीसे भी परास्त न होनेवाले अर्जुनने भीष्मके पीछे चलनेवाले समस्त योद्धाओंको मारकर स्वयं भी भीष्मपर ही धावा किया ।। ४४ ।।

सात्यकिश्चेकितानश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
विराटो द्रुपदश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।। ४५ ।।
दुद्रुवुर्भीष्ममेवाजौ रक्षिता दृढधन्वना ।

इनके साथ सात्यकि, चेकितान, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, विराट, द्रुपद, माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेवने भी युद्धमें भीष्मपर ही आक्रमण किया। ये सब-के-सब सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले अर्जुनसे सुरक्षित थे ।।

अभिमन्युश्च समरे द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ।। ४६ ।।
दुद्रुवुः समरे भीष्मं समुद्यतमहायुधाः ।

द्रौपदीके पाँचों पुत्र और अभिमन्यु भी महान् अस्त्र-शस्त्र लिये उस समरांगणमें भीष्मकी ही ओर दौड़े ।।

ते सर्वे दृढधन्वानः संयुगेष्वपलायिनः ।। ४७ ।।
बहुधा भीष्ममानर्च्छुर्मार्गणैः क्षतमार्गणैः ।

ये सभी वीर सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले और युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले थे। इन्होंने शत्रुओंके बाणोंको नष्ट करनेवाले सायकोंद्वारा भीष्मको बारंबार पीड़ित किया ।। ४७½ ।।

विधूय तान् बाणगणान् ये मुक्ताः पार्थिवोत्तमैः ।। ४८ ।।
पाण्डवानामदीनात्मा व्यगाहत वरूथिनीम् ।

परंतु उदारचेता भीष्म उन श्रेष्ठ राजाओंके छोड़े हुए समस्त बाणसमूहोंका नाश करके पाण्डवोंकी विशाल सेनामें घुस गये ।। ४८ १/२ ।।

चक्रे शरविघातं च क्रीडन्निव पितामहः ।। ४९ ।।
नाभिसंधत्त पाञ्चाल्ये स्मयमानो मुहुर्मुहुः ।
स्त्रीत्वं तस्यानुसंस्कृत्य भीष्मो बाणात् शिखण्डिने ।। ५० ।।

वहाँ पितामह भीष्म खेल-सा करते हुए अपने बाणोंद्वारा पाण्डवसैनिकोंके अस्त्र-शस्त्रोंका विनाश करने लगे। परंतु शिखण्डीके स्त्रीत्वका स्मरण करके वे बारंबार मुसकराकर रह जाते थे; उसपर बाण नहीं चलाते थे ।। ४९-५० ।।

जघान द्रुपदानीके रथान् सप्त महारथः ।
ततः किलकिलाशब्दः क्षणेन समभूत् तदा ।। ५१ ।।
मत्स्यपाञ्चालचेदीनां तमेकमभिधावताम् ।

महारथी भीष्मने द्रुपदकी सेनाके सात रथियोंको मार डाला। तब एकमात्र भीष्मपर धावा करनेवाले मत्स्य, पांचाल और चेदिदेशके योद्धाओंका महान् कोलाहल क्षणभरमें वहाँ गूँज उठा ।। ५१ १/२ ।।

ते नराश्वरथव्रातैर्मार्गणैश्च परंतप ।। ५२ ।।
तमेकं छादयामासुर्मेघा इव दिवाकरम् ।
भीष्मं भागीरथीपुत्रं प्रतपन्तं रणे रिपून् ।। ५३ ।।

परंतप! जैसे बादल सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार उन वीरोंने पैदल, घुड़सवार तथा रथियोंके समुदायसे एवं बहुसंख्यक बाणोंद्वारा भीष्मको आच्छादित कर दिया। उस समय गंगानन्दन भीष्म अकेले युद्धके मैदानमें शत्रुओंको अत्यन्त संतप्त कर रहे थे ।। ५२-५३ ।।

ततस्तस्य च तेषां च युद्धे देवासुरोपमे ।
किरीटी भीष्ममागच्छत् पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।। ५४ ।।

तदनन्तर भीष्म तथा उन योद्धाओंमें देवासुर-संग्रामके समान भयंकर युद्ध होने लगा। इसी बीचमें किरीटधारी अर्जुन शिखण्डीको आगे करके भीष्मके समीप जा पहुँचे ।। ५४ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मपराक्रमे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ।। ११८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मपराक्रमविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११८ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं।]

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके प्रमुख महारथियोंद्वारा सुरक्षित होनेपर भी अर्जुनका भीष्मको रथसे गिराना, शरशय्यापर स्थित भीष्मके समीप हंसरूपधारी ऋषियोंका आगमन एवं उनके कथनसे भीष्मका उत्तरायणकी प्रतीक्षा करते हुए प्राण धारण करना

संजय उवाच

एवं ते पाण्डवाः सर्वे पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
विव्यधुः समरे भीष्मं परिवार्य समन्ततः ।। १ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार शिखण्डीको आगे करके सभी पाण्डवोंने समरभूमिमें भीष्मको सब ओरसे घेरकर बींधना आरम्भ किया ।। १ ।।

शतघ्नीभिः सुघोराभिः परिघैश्च परश्वधैः ।
मुद्गरैर्मुसलैः प्रासैः क्षेपणीयैश्च सर्वशः ।। २ ।।
शरैः कनकपुङ्खैश्च शक्तितोमरकम्पनैः ।
नाराचैर्वत्सदन्तैश्च भुशुण्डीभिश्च सर्वशः ।। ३ ।।
अताडयन् रणे भीष्मं सहिताः सर्वसृञ्जयाः ।

समस्त सृंजय वीर एक साथ संगठित हो भयंकर शतघ्नी, परिघ, फरसे, मुद्गर, मुसल, प्रास, गोफन, स्वर्णमय पंखवाले बाण, शक्ति, तोमर, कम्पन, नाराच, वत्सदन्त और भुशुण्डी आदि अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा रणभूमिमें भीष्मको सब ओरसे पीड़ा देने लगे ।। २-३½ ।।

स विशीर्णतनुत्राणः पीडितो बहुभिस्तदा ।। ४ ।।
न विव्यथे तदा भीष्मो भिद्यमानेषु मर्मसु ।

उस समय बहुसंख्यक योद्धाओंके द्वारा अनेक प्रकारके अस्त्रोंसे पीड़ित होनेके कारण भीष्मका कवच छिन्न-भिन्न हो गया। उनके मर्मस्थान विदीर्ण होने लगे, तो भी उनके मनमें व्यथा नहीं हुई ।। ४½ ।।

संदीप्तशरचापाग्निरस्त्रप्रसृतमारुतः ।। ५ ।।
नेमिनिर्ह्रादसंतापो महास्त्रोदयपावकः ।
चित्रचापमहाज्वालो वीरक्षयमहेन्धनः ।। ६ ।।
युगान्ताग्निसमप्रख्यः परेषां समपद्यत ।

वे शत्रुओंके लिये प्रलयकालकी अग्निके समान अद्भुत तेजसे प्रज्वलित हो उठे। धनुष और बाण ही धधकती हुई आग थे। अस्त्रोंका प्रसार ही वायुका सहारा था। रथोंके

पहियोंकी घरघराहट उस आगकी आँच थी। बड़े-बड़े अस्त्रोंका प्राकट्य अंगारके समान था। विचित्र चाप ही उस आगकी प्रचण्ड ज्वालाओंके समान था। बड़े-बड़े वीर ही ईंधनके समान उसमें गिरकर भस्म हो रहे थे ।।

विवृत्य रथसङ्घानामन्तरेण विनिःसृतः ।। ७ ।।
दृश्यते स्म नरेन्द्राणां पुनर्मध्यगतश्चरन् ।

पितामह भीष्म एक ही क्षणमें रथकी पंक्ति तोड़कर घेरेसे बाहर निकल आते और पुनः राजाओंकी सेनाके मध्यभागमें प्रवेश करके वहाँ विचरते दिखायी देते थे ।।

ततः पञ्चालराजं च धृष्टकेतुमचिन्त्य च ।। ८ ।।
पाण्डवानीकिनीमध्यमाससाद विशाम्पते ।

प्रजानाथ! तत्पश्चात् पांचालराज द्रुपद तथा धृष्टकेतुकी कुछ भी परवा न करके वे पाण्डव-सेनाके भीतर घुस आये ।। ८ $\frac{१}{२}$ ।।

ततः सात्यकिभीमौ च पाण्डवं च धनंजयम् ।। ९ ।।
द्रुपदं च विराटं च धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।
भीमघोषैर्महावेगैर्मर्मावरणभेदिभिः ।। १० ।।
षडेतान् निशितैर्भीष्मः प्रविव्याधोत्तमैः शरैः ।

फिर भयंकर शब्द करनेवाले, महान् वेगशाली, मर्मस्थानों और कवचोंको भी विदीर्ण कर देनेवाले, तीखे एवं उत्तम बाणोंद्वारा उन्होंने सात्यकि, भीमसेन, पाण्डुपुत्र अर्जुन, विराट, द्रुपद तथा उनके पुत्र धृष्टद्युम्न—इन छः महारथियोंको अत्यन्त घायल कर दिया ।। ९-१० $\frac{१}{२}$ ।।

तस्य ते निशितान् बाणान् संनिवार्य महारथाः ।। ११ ।।
दशभिर्दशभिर्भीष्ममर्दयामासुरोजसा ।

तब उन महारथी वीरोंने भीष्मके उन तीखे बाणोंका निवारण करके पुनः दस-दस बाणोंद्वारा भीष्मको बलपूर्वक पीड़ित किया ।। ११ $\frac{१}{२}$ ।।

शिखण्डी तु महाबाणान् यान् मुमोच महारथः ।। १२ ।।
न चक्रुस्ते रुजं तस्य स्वर्णपङ्खाः शिलाशिताः ।

महारथी शिखण्डीने जिन महान् बाणोंका प्रयोग किया था, वे सब सुवर्णमय पंखसे युक्त और शिलापर रगड़कर तेज किये गये थे, तो भी भीष्मजीके शरीरमें घाव या पीड़ा नहीं उत्पन्न कर सके ।। १२ $\frac{१}{२}$ ।।

ततः किरीटी संरब्धो भीष्ममेवाभ्यधावत ।। १३ ।।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य धनुश्चास्य समाच्छिनत् ।

तब किरीटधारी अर्जुनने कुपित हो शिखण्डीको आगे किये हुए ही भीष्मपर धावा किया और उनके धनुषको काट डाला ।। १३ $\frac{१}{२}$ ।।

भीष्मस्य धनुषश्छेदं नामृष्यन्त महारथाः ।। १४ ।।

द्रोणश्च कृतवर्मा च सैन्धवश्च जयद्रथः ।
भूरिश्रवाः शलः शल्यो भगदत्तस्तथैव च ।। १५ ।।
सप्तैते परमक्रुद्धाः किरीटिनमभिद्रुताः ।
तत्र शस्त्राणि दिव्यानि दर्शयन्तो महारथाः ।। १६ ।।
अभिपेतुर्भृशं क्रुद्धाश्छादयन्तश्च पाण्डवम् ।

भीष्मके धनुषका काटा जाना कौरव महारथियोंको सहन नहीं हुआ। द्रोण, कृतवर्मा, सिन्धुराज जयद्रथ, भूरिश्रवा, शल, शल्य और भगदत्त—ये सात महारथी अत्यन्त क्रुद्ध हो किरीटधारी अर्जुनकी ओर दौड़े तथा अपने दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंका प्रदर्शन करते हुए पाण्डुनन्दन अर्जुनको अत्यन्त क्रोधपूर्वक बाणोंसे आच्छादित करने लगे ।। १४—१६ $\frac{1}{2}$ ।।

तेषामापततां शब्दः शुश्रुवे फाल्गुनं प्रति ।। १७ ।।
उद्‌वृत्तानां यथा शब्दः समुद्राणां युगक्षये ।

अर्जुनके प्रति आक्रमण करते हुए उन वीरोंका सिंहनाद उसी प्रकार सुनायी पड़ा, जैसे प्रलयकालमें अपनी मर्यादा छोड़कर बढ़नेवाले समुद्रोंकी भीषण गर्जना सुनायी पड़ती है ।। १७ $\frac{1}{2}$ ।।

घ्नतानयत गृह्णीत विद्ध्यध्वमवकर्तत ।। १८ ।।
इत्यासीत् तुमुलः शब्दः फाल्गुनस्य रथं प्रति ।

अर्जुनके रथके समीप 'मार डालो, ले आओ, पकड़ लो, बींध डालो, टुकड़े-टुकड़े कर दो' इस प्रकार भयंकर शब्द गूँजने लगा ।। १८ $\frac{1}{2}$ ।।

तं शब्दं तुमुलं श्रुत्वा पाण्डवानां महारथाः ।। १९ ।।
अभ्यधावन् परीप्सन्तः फाल्गुनं भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ! उस भयानक शब्दको सुनकर पाण्डव महारथी अर्जुनकी रक्षाके लिये दौड़े ।। १९ $\frac{1}{2}$ ।।

सात्यकिर्भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।। २० ।।
विराटद्रुपदौ चोभौ राक्षसश्च घटोत्कचः ।
अभिमन्युश्च संक्रुद्धः सप्तैते क्रोधमूर्च्छिताः ।। २१ ।।
समभ्यधावंस्त्वरिताश्चित्रकार्मुकधारिणः ।

सात्यकि, भीमसेन, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, विराट, द्रुपद, राक्षस घटोत्कच और अभिमन्यु—ये सात वीर क्रोधसे मूर्च्छित हो तुरंत ही विचित्र धनुष धारण किये वहाँ दौड़े आये ।। २०-२१ $\frac{1}{2}$ ।।

तेषां समभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।। २२ ।।
संग्रामे भरतश्रेष्ठ देवानां दानवैरिव ।

भरतभूषण! उनका वह भयंकर युद्ध देवासुरसंग्रामके समान रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ।। २२ $\frac{1}{2}$ ।।

शिखण्डी तु रणे श्रेष्ठो रक्ष्यमाणः किरीटिना ।। २३ ।।
अविध्यद् दशभिर्भीष्मं छिन्नधन्वानमाहवे ।
सारथिं दशभिश्चास्य ध्वजं चैकेन चिच्छिदे ।। २४ ।।
सोऽन्यत् कार्मुकमादाय गाङ्गेयो वेगवत्तरम् ।
(जघान निशितैर्बाणैरर्जुनं परवीरहा ।)
तदप्यस्य शितैर्बाणैस्त्रिभिश्चिच्छेद फाल्गुनः ।। २५ ।।

भीष्मजीका धनुष कट गया था। उसी अवस्थामें अर्जुनसे सुरक्षित शिखण्डीने दस बाणोंसे उन्हें और दस बाणोंसे उनके सारथिको भी घायल कर दिया। तत्पश्चात् एक बाणसे ध्वजको काट गिराया। तब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले गंगानन्दन भीष्मने दूसरा अत्यन्त वेगशाली धनुष लेकर तीखे बाणोंसे अर्जुनको घायल करना आरम्भ किया। यह देख अर्जुनने उस धनुषको भी तीन पैने बाणोंद्वारा काट डाला ।। २३—२५ ।।

एवं स पाण्डवः क्रुद्ध आत्तमात्तं पुनः पुनः ।
धनुश्चिच्छेद भीष्मस्य सव्यसाची परंतपः ।। २६ ।।

इस प्रकार क्रोधमें भरे हुए शत्रुसंतापी, सव्यसाची पाण्डुनन्दन अर्जुन जो-जो धनुष भीष्म लेते, उसी-उसीको काट डालते थे ।। २६ ।।

स छिन्नधन्वा संक्रुद्धः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
शक्तिं जग्राह तरसा गिरीणामपि दारणीम् ।। २७ ।।

धनुष कट जानेपर क्रोधपूर्वक अपने मुँहके दोनों कोनोंको चाटते हुए भीष्मने बलपूर्वक एक शक्ति हाथमें ली, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण करनेवाली थी ।। २७ ।।

तां च चिक्षेप संक्रुद्धः फाल्गुनस्य रथं प्रति ।
तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य ज्वलन्तीमशनीमिव ।। २८ ।।
समादत्त शितान् भल्लान् पञ्च पाण्डवनन्दनः ।
तस्य चिच्छेद तां शक्तिं पञ्चधा पञ्चभिः शरैः ।। २९ ।।
संक्रुद्धो भरतश्रेष्ठ भीष्मबाहुप्रवेरिताम् ।

भरतश्रेष्ठ! फिर उसे क्रोधपूर्वक उन्होंने अर्जुनके रथकी ओर चला दिया। प्रज्वलित वज्रके समान उस शक्तिको आती देख पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले अर्जुनने अपने हाथमें भल्ल नामक पाँच तीखे बाण लिये और कुपित हो उन पाँच बाणोंद्वारा भीष्मकी भुजाओंसे प्रेषित हुई उस शक्तिके पाँच टुकड़े कर दिये ।। २८-२९ $\frac{1}{2}$ ।।

सा पपात तथा च्छिन्ना संक्रुद्धेन किरीटिना ।। ३० ।।
मेघवृन्दपरिभ्रष्टा विच्छिन्नेव शतह्रदा ।

क्रोधमें भरे हुए अर्जुनद्वारा काटी हुई वह शक्ति मेघोंके समूहसे निर्मुक्त होकर गिरी हुई बिजलीके समान पृथ्वीपर गिर पड़ी ।। ३० $\frac{1}{2}$ ।।

छिन्नां तां शक्तिमालोक्य भीष्मः क्रोधसमन्वितः ।। ३१ ।।

अचिन्तयद् रणे वीरो बुद्धया परपुरंजयः ।

अपनी उस शक्तिको छिन्न-भिन्न हुई देख भीष्मजी क्रोधमें निमग्न हो गये और शत्रुनगरविजयी उन वीर-शिरोमणिने रणक्षेत्रमें अपनी बुद्धिके द्वारा इस प्रकार विचार किया — ।। ३१½ ।।

शक्तोऽहं धनुषैकेन निहन्तुं सर्वपाण्डवान् ।। ३२ ।।

यद्येषां न भवेद् गोप्ता विष्वक्सेनो महाबलः ।

'यदि महाबली भगवान् श्रीकृष्ण उन पाण्डवोंकी रक्षा न करते तो मैं इन सबको केवल एक धनुषके ही द्वारा मार सकता था ।। ३२½ ।।

(अजय्यश्चैव लोकानां सर्वेषामिति मे मतिः ।)

कारणद्वयमास्थाय नाहं योत्स्यामि पाण्डवान् ।। ३३ ।।

अवध्यत्वाच्च पाण्डूनां स्त्रीभावाच्च शिखण्डिनः ।

'भगवान् सम्पूर्ण लोकोंके लिये अजेय हैं; ऐसा मेरा विश्वास है। इस समय मैं दो कारणोंका आश्रय लेकर पाण्डवोंसे युद्ध नहीं करूँगा। एक तो ये पाण्डुकी संतान होनेके कारण मेरे लिये अवध्य हैं और दूसरे मेरे सामने शिखण्डी आ गया है, जो पहले स्त्री था ।। ३३½ ।।

पित्रा तुष्टेन मे पूर्वं यदा कालीमुदावहम् ।। ३४ ।।

स्वच्छन्दमरणं दत्तमवध्यत्वं रणे तथा ।

तस्मान्मृत्युमहं मन्ये प्राप्तकालमिवात्मनः ।। ३५ ।।

'पूर्वकालमें जब मैंने माता सत्यवतीका विवाह पिताजीके साथ कराया था, उस समय मेरे पिताने संतुष्ट होकर मुझे दो वर दिये थे—'जब तुम्हारी इच्छा होगी, तभी तुम मरोगे तथा युद्धमें कोई भी तुम्हें मार न सकेगा।' ऐसी दशामें मुझे स्वेच्छासे ही मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिये। मैं समझता हूँ कि अब उसका अवसर आ गया है' ।। ३४-३५ ।।

एवं ज्ञात्वा व्यवसितं भीष्मस्यामिततेजसः ।

ऋषयो वसवश्चैव वियत्स्था भीष्ममब्रुवन् ।। ३६ ।।

अमिततेजस्वी भीष्मके इस निश्चयको जानकर आकाशमें खड़े हुए ऋषियों और वसुओंने उनसे इस प्रकार कहा— ।। ३६ ।।

यत् ते व्यवसितं तात तदस्माकमपि प्रियम् ।

तत् कुरुष्व महाराज युद्धे बुद्धिं निवर्तय ।। ३७ ।।

'तात! तुमने जो निश्चय किया है, वह हमलोगोंको भी बहुत प्रिय है। महाराज! अब तुम वही करो। युद्धकी ओरसे अपनी चित्तवृत्ति हटा लो' ।। ३७ ।।

अस्य वाक्यस्य निधने प्रादुरासीच्छिवोऽनिलः ।

अनुलोमः सुगन्धी च पृषतैश्च समन्वितः ।। ३८ ।।

यह बात समाप्त होते ही जलकी बूँदोंके साथ सुखद, शीतल, सुगन्धित एवं मनके अनुकूल वायु चलने लगी ।। ३८ ।।

देवदुन्दुभयश्चैव सम्प्रणेदुर्महास्वनाः ।
पपात पुष्पवृष्टिश्च भीष्मस्योपरि मारिष ।। ३९ ।।

आर्य! देवताओंकी दुन्दुभियाँ जोर-जोरसे बज उठीं। भीष्मके ऊपर फूलोंकी वर्षा होने लगी ।। ३९ ।।

न च तच्छुश्रुवे कश्चित् तेषां संवदतां नृप ।
ऋते भीष्मं महाबाहुं मां चापि मुनितेजसा ।। ४० ।।

राजन्! उस समय उपर्युक्त बातें कहनेवाले ऋषियोंका शब्द महाबाहु भीष्म तथा मुझको छोड़कर और कोई नहीं सुन सका। मुझे तो महर्षि व्यासके प्रभावसे ही वह बात सुनायी पड़ी ।। ४० ।।

सम्भ्रमश्च महानासीत् त्रिदशानां विशाम्पते ।
पतिष्यति रथाद् भीष्मे सर्वलोकप्रिये तदा ।। ४१ ।।

प्रजानाथ! सम्पूर्ण लोकोंके प्रिय भीष्म रथसे गिरना चाहते हैं, यह जानकर उस समय सम्पूर्ण देवताओंको भी महान् आश्चर्य हुआ ।। ४१ ।।

इति देवगणानां च वाक्यं श्रुत्वा महातपाः ।
ततः शान्तनवो भीष्मो बीभत्सुं नात्यवर्तत ।। ४२ ।।
भिद्यमानः शितैर्बाणैः सर्वावरणभेदिभिः ।

देवताओंकी वह बात सुनकर महातपस्वी शान्तनुनन्दन भीष्म समस्त आवरणोंका भेदन करनेवाले तीखे बाणोंद्वारा विदीर्ण होनेपर भी अर्जुनको जीतनेका प्रयत्न न कर सके ।। ४२½ ।।

शिखण्डी तु महाराज भरतानां पितामहम् ।। ४३ ।।
आजघानोरसि क्रुद्धो नवभिर्निशितैः शरैः ।

महाराज! उस समय शिखण्डीने कुपित होकर भरतवंशियोंके पितामह भीष्मजीकी छातीमें नौ पैने बाण मारे ।। ४३½ ।।

स तेनाभिहतः संख्ये भीष्मः कुरुपितामहः ।। ४४ ।।
नाकम्पत महाराज क्षितिकम्पे यथाचलः ।

नरेश्वर! युद्धमें शिखण्डीके द्वारा आहत होकर भी कुरुवंशियोंके पितामह भीष्म उसी प्रकार कम्पित नहीं हुए, जैसे भूकम्प होनेपर भी पर्वत नहीं हिलता ।। ४४½ ।।

ततः प्रहस्य बीभत्सुर्व्याक्षिपन् गाण्डिवं धनुः ।। ४५ ।।
गाङ्गेयं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ।

तदनन्तर अर्जुनने हँसकर गाण्डीव धनुषकी टंकार करते हुए गंगानन्दन भीष्मको पचीस बाण मारे ।। ४५½ ।।

पुनः पुनः शतैरेनं त्वरमाणो धनंजयः ।। ४६ ।।
सर्वगात्रेषु संक्रुद्धः सर्वमर्मस्वताडयत् ।

तत्पश्चात् पुनः उन्होंने अत्यन्त कुपित हो शीघ्रतापूर्वक सौ बाणोंद्वारा भीष्मके सम्पूर्ण अंगों और सभी मर्मस्थानोंमें आघात किया ।। ४६½ ।।

एवमन्यैरपि भृशं विद्ध्यमानः सहस्रशः ।। ४७ ।।
तानप्याशु शरैर्भीष्मः प्रविव्याध महारथः ।

इसी प्रकार दूसरे लोगोंने भी सहस्रों बाणोंद्वारा भीष्मजीको घायल किया। तब महारथी भीष्मने भी तुरंत ही अपने बाणोंद्वारा उन सबको बींध डाला ।। ४७½ ।।

तैश्च मुक्ताञ्छरान् भीष्मो युधि सत्यपराक्रमः ।। ४८ ।।
निवारयामास शरैः समं संनतपर्वभिः ।

सत्यपराक्रमी भीष्म युद्धस्थलमें अन्य सब राजाओं-द्वारा छोड़े हुए बाणोंका झुकी हुई गाँठवाले अपने बाणोंद्वारा तुरंत ही निवारण कर देते थे ।। ४८½ ।।

शिखण्डी तु रणे बाणान् यान् मुमोच महारथः ।। ४९ ।।
न चक्रुस्ते रुजं तस्य रुक्मपुङ्खाः शिलाशिताः ।

महारथी शिखण्डीने रणक्षेत्रमें जिनका प्रयोग किया था, वे शानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखयुक्त बाण भीष्मजीके शरीरमें कोई घाव या पीड़ा नहीं उत्पन्न कर सके ।। ४९½ ।।

ततः किरीटी संक्रुद्धो भीष्ममेवाभ्यवर्तत ।। ५० ।।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य धनुश्चास्य समाच्छिनत् ।

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए अर्जुन शिखण्डीको आगे रखकर पुनः भीष्मकी ही ओर बढ़े। उन्होंने भीष्मजीके धनुषको काट दिया ।। ५०½ ।।

अथैनं नवभिर्विद्ध्वा ध्वजमेकेन चिच्छिदे ।। ५१ ।।
सारथिं विशिखैश्चास्य दशभिः समकम्पयत् ।

तदनन्तर नौ बाणोंसे उन्हें घायल करके एक बाणसे उनके ध्वजको भी काट डाला। फिर दस बाणोंद्वारा उनके सारथिको कम्पित कर दिया ।। ५१½ ।।

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय गाङ्गेयो बलवत्तरम् ।। ५२ ।।
तदप्यस्य शितैर्भल्लैस्त्रिधा त्रिभिरघातयत् ।

तब गंगानन्दन भीष्मने दूसरा अत्यन्त प्रबल धनुष हाथमें लिया; परंतु अर्जुनने तीन तीखे भल्लोंद्वारा मारकर उसे भी तीन जगहसे खण्डित कर दिया ।। ५२½ ।।

निमेषार्धेन कौन्तेय आत्तमात्तं महारणे ।। ५३ ।।
एवमस्य धनूंष्याजौ चिच्छेद सुबहून्यथ ।

उस महायुद्धमें भीष्म जो-जो धनुष हाथमें लेते थे कुन्तीकुमार अर्जुन उसे आधे निमेषमें काट डालते थे। इस प्रकार उन्होंने रणक्षेत्रमें उनके बहुत-से धनुष खण्डित कर दिये ।। ५३½ ।।

ततः शान्तनवो भीष्मो बीभत्सुं नात्यवर्तत ।। ५४ ।।

अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ।

तब शान्तनुनन्दन भीष्मने अर्जुनपर हाथ उठाना बंद कर दिया। फिर भी अर्जुनने उन्हें पचीस बाण मारे ।। ५४½ ।।

सोऽतिविद्धो महेष्वासो दुःशासनमभाषत ।। ५५ ।।

एष पार्थो रणे क्रुद्धः पाण्डवानां महारथः ।

शरैरनेकसाहस्रैर्मामेवाभ्यहनद् रणे ।। ५६ ।।

इस प्रकार अत्यन्त घायल होनेपर महाधनुर्धर भीष्मने दुःशासनसे कहा—'ये पाण्डव महारथी अर्जुन युद्धमें क्रुद्ध होकर अनेक सहस्र बाणोंद्वारा मुझे घायल कर चुके हैं ।। ५५-५६ ।।

न चैष समरे शक्यो जेतुं वज्रभृता अपि ।

न चापि सहिता वीरा देवदानवराक्षसाः ।। ५७ ।।

मां चापि शक्ता निर्जेतुं किमु मर्त्या महारथाः ।

'इन्हें वज्रधारी इन्द्र भी युद्धमें जीत नहीं सकते। इसी प्रकार समस्त देवता, दानव तथा राक्षस वीर एक साथ आ जायँ तो मुझे भी वे युद्धमें परास्त नहीं कर सकते; फिर दूसरे मानव महारथियोंकी तो बात ही क्या है?' ।। ५७½ ।।

एवं तयोः संवदतोः फाल्गुनो निशितैः शरैः ।। ५८ ।।

शिखण्डिनं पुरस्कृत्य भीष्मं विव्याध संयुगे ।

इस प्रकार दुःशासन और भीष्ममें जब बातचीत हो रही थी, उसी समय अर्जुनने अपने तीखे बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें शिखण्डीको आगे करके भीष्मको क्षत-विक्षत कर दिया ।। ५८½ ।।

ततो दुःशासनं भूयः स्मयमान इवाब्रवीत् ।। ५९ ।।

अतिविद्धः शितैर्बाणैर्भृशं गाण्डीवधन्वना ।

वज्राशनिसमस्पर्शा अर्जुनेन शरा युधि ।। ६० ।।

मुक्ताः सर्वेऽव्यवच्छिन्ना नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।

तब वे पुनः दुःशासनसे मुसकराते हुए-से बोले—'गाण्डीवधारी अर्जुनने युद्धस्थलमें ऐसे बाण छोड़े हैं, जिनका स्पर्श वज्र और विद्युत्के समान असह्य है। उनके तीखे बाणोंसे मैं अत्यन्त घायल हो गया हूँ। ये अविच्छिन्न रूपसे छूटनेवाले समस्त बाण शिखण्डीके नहीं हो सकते; ।। ५९-६०½ ।।

निकृन्तमाना मर्माणि दृढावरणभेदिनः ।। ६१ ।।

मुसला इव मे घ्नन्ति नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।
वज्रदण्डसमस्पर्शा वज्रवेगदुरासदाः ।। ६२ ।।

'क्योंकि ये मेरे सुदृढ़ कवचको छेदकर मर्मस्थानोंमें आघात कर रहे हैं, ये बाण मेरे शरीरपर मुसलके समान चोट करते हैं। इनका स्पर्श वज्र और यमदण्डके समान असह्य है। इनका वेग वज्रके समान होनेके कारण निवारण करना कठिन है। ये शिखण्डीके बाण कदापि नहीं ।। ६१-६२ ।।

मम प्राणानारुजन्ति नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।
नाशयन्तीव मे प्राणान् यमदूता इवाहिताः ।। ६३ ।।

'ये मेरे प्राणोंमें व्यथा उत्पन्न कर देते हैं। अहितकारी यमदूतोंके समान मेरे प्राणोंका विनाश-सा कर रहे हैं। ये शिखण्डीके बाण कदापि नहीं हो सकते ।।

गदापरिघसंस्पर्शा नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।
भुजगा इव संक्रुद्धा लेलिहाना विषोल्बणाः ।। ६४ ।।

'इनका स्पर्श गदा और परिघकी चोटके समान प्रतीत होता है, ये क्रोधमें भरे हुए प्रचण्ड विषवाले सर्पोंके समान डसे लेते हैं। ये शिखण्डीके बाण नहीं हैं ।। ६४ ।।

समाविशन्ति मर्माणि नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।
अर्जुनस्य इमे बाणा नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।। ६५ ।।
कृन्तन्ति मम गात्राणि माघमां सेगवा इव ।

'ये बाण मेरे मर्मस्थानोंमें प्रवेश कर रहे हैं, अतः शिखण्डीके नहीं हैं। ये अर्जुनके बाण हैं। ये शिखण्डीके बाण नहीं हैं। जैसे केंकड़ीके बच्चे अपनी माताका उदर विदीर्ण करके बाहर निकलते हैं, उसी प्रकार ये बाण मेरे सम्पूर्ण अंगोंको छेदे डालते हैं ।। ६५ $\frac{१}{२}$ ।।

सर्वे ह्यपि न मे दुःखं कुर्युरन्ये नराधिपाः ।। ६६ ।।
वीरं गाण्डीवधन्वानमृते जिष्णुं कपिध्वजम् ।

'गाण्डीवधारी वीर कपिध्वज अर्जुनको छोड़कर अन्य सभी नरेश अपने प्रहारोंद्वारा मुझे इतनी पीड़ा नहीं दे सकते' ।। ६६ $\frac{१}{२}$ ।।

इति ब्रुवञ्छान्तनवो दिधक्षुरिव पाण्डवान् ।। ६७ ।।
शक्तिं भीष्मः स पार्थाय ततश्चिक्षेप भारत ।
तामस्य विशिखैश्छित्त्वा त्रिधा त्रिभिरपातयत् ।। ६८ ।।

भारत! ऐसा कहते हुए शान्तनुनन्दन भीष्मने पाण्डवोंकी ओर इस प्रकार देखा, मानो उन्हें भस्म कर डालेंगे। फिर उन्होंने अर्जुनपर एक शक्ति चलायी; परंतु अर्जुनने तीन बाणोंद्वारा उनकी उस शक्तिको तीन जगहसे काट गिराया ।। ६७-६८ ।।

पश्यतां कुरुवीराणां सर्वेषां तव भारत ।
चर्माथादत्त गाङ्गेयो जातरूपपरिष्कृतम् ।। ६९ ।।
खड्गं चान्यतरप्रेप्सुर्मृत्योरग्रे जयाय वा ।

भरतनन्दन! समस्त कौरव वीरोंके देखते-देखते गंगानन्दन भीष्मने मृत्यु अथवा विजय इन दोमेंसे किसी एकका वरण करनेके लिये अपने हाथमें सुवर्णभूषित ढाल और तलवार ले ली ।। ६९½ ।।

तस्य तच्छतधा चर्म व्यधमत् सायकैस्तथा ।। ७० ।।
रथादनवरूढस्य तदद्भुतमिवाभवत् ।

परंतु वे अभी अपने रथसे उतर भी नहीं पाये थे कि अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा उनकी ढालके सौ टुकड़े कर दिये, वह एक अद्भुत-सी बात हुई ।। ७०½ ।।

ततो युधिष्ठिरो राजा स्वान्यनीकान्यचोदयत् ।। ७१ ।।
अभिद्रवत गाङ्गेयं मा वोऽस्तु भयमण्वपि ।

इसी समय राजा युधिष्ठिरने अपने सैनिकोंको आज्ञा दी—'वीरो! गंगानन्दन भीष्मपर आक्रमण करो। उनकी ओरसे तुम्हारे मनमें तनिक भी भय नहीं होना चाहिये' ।। ७१½ ।।

अथ ते तोमरैः प्रासैर्बाणौघैश्च समन्ततः ।। ७२ ।।
पट्टिशैश्च सुनिस्त्रिंशैर्नाराचैश्च तथा शितैः ।
वत्सदन्तैश्च भल्लैश्च तमेकमभिदुद्रुवुः ।। ७३ ।।

तदनन्तर वे पाण्डव-सैनिक सब ओरसे तोमर, प्रास, बाणसमुदाय, पट्टिश, खड्ग, तीखे नाराच, वत्सदन्त तथा भल्लोंका प्रहार करते हुए एकमात्र भीष्मकी ओर दौड़े ।। ७२-७३ ।।

सिंहनादस्ततो घोरः पाण्डवानामभूत् तदा ।
तथैव तव पुत्राश्च नेदुर्भीष्मजयैषिणः ।। ७४ ।।

तदनन्तर पाण्डवोंकी सेनामें घोर सिंहनाद हुआ। इसी प्रकार भीष्मकी विजय चाहनेवाले आपके पुत्र भी उस समय गर्जना करने लगे ।। ७४ ।।

तमेकमभ्यरक्षन्त सिंहनादांश्च चक्रिरे ।
तत्रासीत् तुमुलं युद्धं तावकानां परैः सह ।। ७५ ।।

आपके सैनिक एकमात्र भीष्मकी रक्षा और सिंहनाद करने लगे। वहाँ आपके योद्धाओंका शत्रुओंके साथ भयंकर युद्ध हुआ ।। ७५ ।।

दशमेऽहनि राजेन्द्र भीष्मार्जुनसमागमे ।
आसीद् गाङ्ग इवावर्तो मुहूर्तमुदधेरिव ।। ७६ ।।

राजेन्द्र! दसवें दिन भीष्म और अर्जुनके संघर्षमें दो घड़ीतक ऐसा दृश्य दिखायी दिया, मानो समुद्रमें गंगाजीके गिरते समय उनके जलमें भारी भँवर उठ रही हो ।। ७६ ।।

सैन्यानां युध्यमानानां निघ्नतामितरेतरम् ।
असौम्यरूपा पृथिवी शोणिताक्ताभवत् तदा ।। ७७ ।।

उस समय एक-दूसरेको मारनेवाले युद्धपरायण सैनिकोंके रक्तसे रंजित हो वहाँकी सारी पृथ्वी भयानक हो गयी थी ।। ७७ ।।

समं च विषमं चैव न प्राज्ञायत किंचन ।
योधानामयुतं हत्वा तस्मिन् स दशमेऽहनि ।। ७८ ।।
अतिष्ठदाहवे भीष्मो भिद्यमानेषु मर्मसु ।

वहाँ ऊँची और नीची भूमिका भी कुछ ज्ञान नहीं हो पाता था, दसवें दिनके उस युद्धमें अपने मर्मस्थानोंके विदीर्ण होते रहनेपर भी भीष्मजी दस हजार योद्धाओंको मारकर वहाँ खड़े हुए थे ।। ७८½ ।।

ततः सेनामुखे तस्मिन् स्थितः पार्थो धनुर्धरः ।। ७९ ।।
मध्येन कुरुसैन्यानां द्रावयामास वाहिनीम् ।

उस समय सेनाके अग्रभागमें खड़े हुए धनुर्धर अर्जुनने कौरव-सेनाके भीतर प्रवेश करके आपके सैनिकोंको खदेड़ना आरम्भ किया ।। ७९½ ।।

(तथा च तव सैन्यानि तापयामासुरोजसा ।
शरैरशनिसंकाशैः पाण्डवाश्चेतरे नृपाः ।।
तत्राद्भुतमपश्याम पाण्डवानां पराक्रमम् ।
द्रावयामासुरिषुभिः सर्वान् भीष्मपदानुगान् ।।)

पाण्डवों तथा अन्य राजाओंने वज्रके समान बाणोंद्वारा आपकी सेनाओंको बलपूर्वक पीड़ित किया। वहाँ हमने पाण्डवोंका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि उन्होंने अपने बाणोंकी वर्षासे भीष्मका अनुगमन करनेवाले समस्त योद्धाओंको मार भगाया।

वयं श्वेतहयाद् भीताः कुन्तीपुत्राद् धनंजयात् ।। ८० ।।
पीड्यमानाः शितैः शस्त्रैः प्राद्रवाम रणे तदा ।

राजन्! उस समय श्वेतवाहन कुन्तीपुत्र धनंजयसे डरकर उनके तीखे अस्त्र-शस्त्रोंसे पीड़ित हो हम सभी लोग रणभूमिसे भागने लगे थे ।। ८०½ ।।

सौवीराः कितवाः प्राच्याः प्रतीच्योदीच्यमालवाः ।। ८१ ।।
अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः ।
शाल्वाश्रयास्त्रिगर्ताश्च अम्बष्ठाः केकयैः सह ।। ८२ ।।
सर्व एते महात्मानः शरार्ता व्रणपीडिताः ।
संग्रामे न जहुर्भीष्मं युध्यमानं किरीटिना ।। ८३ ।।

सौवीर, कितव, प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य, मालव, अभीषाह, शूरसेन, शिबि, वसाति, शाल्वाश्रय, त्रिगर्त, अम्बष्ठ और केकय—इन सभी देशोंके ये सारे महामनस्वी वीर बाणोंसे घायल और घावोंसे पीड़ित होनेपर भी अर्जुनके साथ युद्ध करनेवाले भीष्मको संग्रामभूमिमें छोड़ न सके ।। ८१—८३ ।।

ततस्तमेकं बहवः परिवार्य समन्ततः ।
परिकाल्य कुरून् सर्वान् शरवर्षैरवाकिरन् ।। ८४ ।।

तदनन्तर एकमात्र भीष्मको पाण्डव-पक्षीय बहुत-से योद्धाओंने चारों ओरसे घेर लिया और समस्त कौरवोंको सब ओर खदेड़कर उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। ८४ ।।

निपातयत गृह्णीत युध्यध्वमवकृन्तत ।
इत्यासीत् तुमुलः शब्दो राजन् भीष्मरथं प्रति ।। ८५ ।।

राजन्! उस समय भीष्मके रथके समीप 'मार गिराओ, पकड़ लो, युद्ध करो, टुकड़े-टुकड़े कर डालो' इत्यादि भयंकर शब्द गूँज रहे थे ।। ८५ ।।

निहत्य समरे राजन् शतशोऽथ सहस्रशः ।
न तस्यासीदनिर्भिन्नं गात्रे द्वयङ्गुलमन्तरम् ।। ८६ ।।

महाराज! समरमें भीष्म सैकड़ों और हजारों वीरोंका वध करके स्वयं इस स्थितिमें पहुँच गये थे कि उनके शरीरमें दो अंगुल भी ऐसा स्थान नहीं रह गया था, जो बाणोंसे विद्ध न हुआ हो ।। ८६ ।।

एवंभूतस्तव पिता शरैर्विशकलीकृतः ।
शिताग्रैः फाल्गुनेनाजौ प्राक्शिराः प्रापतद् रथात् ।। ८७ ।।
किंचिच्छेषे दिनकरे पुत्राणां तव पश्यताम् ।

इस प्रकार आपके ताऊ भीष्म युद्धस्थलमें अर्जुनके तीखे बाणोंसे अत्यन्त विद्ध हो गये थे—उनका शरीर छिदकर छलनी हो रहा था। वे उसी अवस्थामें, जब कि दिन थोड़ा ही शेष था, आपके पुत्रोंके देखते-देखते पूर्व दिशाकी ओर मस्तक किये रथसे नीचे गिर पड़े ।। ८७ १/२ ।।

हाहेति दिवि देवानां पार्थिवानां च भारत ।। ८८ ।।
पतमाने रथाद् भीष्मे बभूव सुमहास्वनः ।

भारत! रथसे भीष्मके गिरते समय आकाशमें खड़े हुए देवताओं तथा भूतलवर्ती राजाओंमें बड़े जोरसे हाहाकार मच गया ।। ८८ १/२ ।।

सम्पतन्तमभिप्रेक्ष्य महात्मानं पितामहम् ।। ८९ ।।
सह भीष्मेण सर्वेषां प्रापतन् हृदयानि नः ।

महाराज! महात्मा पितामह भीष्मको रथसे नीचे गिरते देखकर हम सब लोगोंके हृदय भी उनके साथ ही गिर पड़े ।। ८९ १/२ ।।

स पपात महाबाहुर्वसुधामनुनादयन् ।। ९० ।।
इन्द्रध्वज इवोत्सृष्टः केतुः सर्वधनुष्मताम् ।
धरणीं न स पस्पर्श शरसंघैः समावृतः ।। ९१ ।।

वे महाबाहु भीष्म सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ थे। वे कटी हुई इन्द्रकी ध्वजाके समान पृथ्वीको शब्दायमान करते हुए गिर पड़े। उनके सारे अंगोंमें सब ओर बाण बिंधे हुए थे। इसलिये गिरनेपर भी उनका धरतीसे स्पर्श नहीं हुआ ।। ९०-९१ ।।

शरतल्पे महेष्वासं शयानं पुरुषर्षभम् ।

रथात् प्रपतितं चैनं दिव्यो भावः समाविशत् ।। ९२ ।।

रथसे गिरकर बाणशय्यापर सोये हुए पुरुषप्रवर महाधनुर्धर भीष्मके भीतर दिव्यभावका आवेश हुआ ।। ९२ ।।

अभ्यवर्षच्च पर्जन्यः प्राकम्पत च मेदिनी ।

पतन् स ददृशे चापि दक्षिणेन दिवाकरम् ।। ९३ ।।

आकाशसे मेघ वर्षा करने लगा, धरती काँपने लगी, गिरते-गिरते उन्होंने देखा, अभी सूर्य दक्षिणायनमें हैं (यह मृत्युके लिये उत्तम समय नहीं है) ।। ९३ ।।

संज्ञां चोपालभद् वीरः कालं संचिन्त्य भारत ।

अन्तरिक्षे च शुश्राव दिव्या वाचः समन्ततः ।। ९४ ।।

भारत! समयका विचार करके वीरवर भीष्मने अपने होश-हवाशको ठीक रखा। उस समय आकाशमें सब ओरसे दिव्य वाणी सुनायी दी ।। ९४ ।।

कथं महात्मा गाङ्गेयः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।

कालकर्ता नरव्याघ्रः सम्प्राप्ते दक्षिणायने ।। ९५ ।।

महात्मा गंगानन्दन भीष्म सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ, मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी तथा कालपर भी प्रभुत्व रखनेवाले थे। इन्होंने दक्षिणायनमें मृत्यु क्यों स्वीकार की? ।। ९५ ।।

स्थितोऽस्मीति च गाङ्गेयस्तच्छ्रुत्वा वाक्यमब्रवीत् ।

धारयामास च प्राणान् पतितोऽपि महीतले ।। ९६ ।।

उत्तरायणमन्विच्छन् भीष्मः कुरुपितामहः ।

तस्य तन्मतमाज्ञाय गंगा हिमवतः सुता ।। ९७ ।।

महर्षीन् हंसरूपेण प्रेषयामास तत्र वै ।

उनकी वह बात सुनकर गंगानन्दन भीष्मने कहा—‘मैं अभी जीवित हूँ।’ कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्म पृथ्वीपर गिरकर भी उत्तरायणकी प्रतीक्षा करते हुए अपने प्राणोंको रोके हुए हैं। उनके इस अभिप्रायको जानकर हिमालयनन्दिनी गंगादेवीने महर्षियोंको हंसरूपसे वहाँ भेजा ।। ९६-९७½ ।।

ततः सम्पातिनो हंसास्त्वरिता मानसौकसः ।। ९८ ।।

आजग्मुः सहिता द्रष्टुं भीष्मं कुरुपितामहम् ।

यत्र शेते नरश्रेष्ठः शरतल्पे पितामहः ।। ९९ ।।

वे मानससरोवरमें निवास करनेवाले हंसरूपधारी महर्षि एक साथ उड़ते हुए बड़ी उतावलीके साथ कुरुकुलके वृद्धपितामह भीष्मका दर्शन करनेके लिये उस स्थानपर आये, जहाँ वे नरश्रेष्ठ बाणशय्यापर सो रहे थे ।।

ते तु भीष्मं समासाद्य ऋषयो हंसरूपिणः ।

अपश्यञ्छरतल्पस्थं भीष्मं कुरुकुलोद्वहम् ।। १०० ।।

उन हंसरूपधारी ऋषियोंने वहाँ पहुँचकर कुरुकुल-धुरन्धर वीर भीष्मको बाणशय्यापर सोये हुए देखा ।। १०० ।।

ते तं दृष्ट्वा महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
गाङ्गेयं भरतश्रेष्ठं दक्षिणेन च भास्करम् ।। १०१ ।।
इतरेतरमामन्त्र्य प्राहुस्तत्र मनीषिणः ।

उन भरतश्रेष्ठ महात्मा गंगानन्दन भीष्मका दर्शन करके ऋषियोंने उनकी प्रदक्षिणा की। फिर दक्षिणायन-युक्त सूर्यके सम्बन्धमें परस्पर सलाह करके वे मनीषी मुनि इस प्रकार बोले — ।। १०१½ ।।

भीष्मः कथं महात्मा सन् संस्थाता दक्षिणायने ।। १०२ ।।
इत्युक्त्वा प्रस्थिता हंसा दक्षिणामभितो दिशम् ।

'भीष्मजी महात्मा होकर दक्षिणायनमें कैसे अपनी मृत्यु स्वीकार करेंगे' ऐसा कहकर वे हंसगण दक्षिणदिशाकी ओर चले गये ।। १०२½ ।।

सम्प्रेक्ष्य वै महाबुद्धिश्चिन्तयित्वा च भारत ।। १०३ ।।
तानब्रवीच्छान्तनवो नाहं गन्ता कथंचन ।
दक्षिणावर्त आदित्ये एतन्मे मनसि स्थितम् ।। १०४ ।।

भारत! हंसोंके जाते समय उन्हें देखकर परम बुद्धिमान् भीष्मने कुछ चिन्तन करके उनसे कहा—'मैं सूर्यके दक्षिणायन रहते किसी प्रकार यहाँसे प्रस्थान नहीं करूँगा। यह मेरे मनका निश्चित विचार है ।। १०३-१०४ ।।

गमिष्यामि स्वकं स्थानमासीद् यन्मे पुरातनम् ।
उदगायन आदित्ये हंसाः सत्यं ब्रवीमि वः ।। १०५ ।।

'हंसो! सूर्यके उत्तरायण होनेपर ही मैं उस लोककी यात्रा करूँगा, जो मेरा पुरातन स्थान है। यह मैं आपलोगोंसे सच्ची बात कह रहा हूँ ।। १०५ ।।

धारयिष्याम्यहं प्राणानुत्तरायणकाङ्क्षया ।
ऐश्वर्यभूतः प्राणानामुत्सर्गो हि यतो मम ।। १०६ ।।

'मैं उत्तरायणकी प्रतीक्षामें अपने प्राणोंको धारण किये रहूँगा; क्योंकि मैं जब इच्छा करूँ, तभी अपने प्राणोंको छोड़ूँ, यह शक्ति मुझे प्राप्त है ।। १०६ ।।

तस्मात् प्राणान् धारयिष्ये मुमूर्षुरुदगायने ।
यश्च दत्तो वरो मह्यं पित्रा तेन महात्मना ।। १०७ ।।
छन्दतो मृत्युरित्येवं तस्य चास्तु वरस्तथा ।
धारयिष्ये ततः प्राणानुत्सर्गे नियते सति ।। १०८ ।।

'अतः उत्तरायणमें मृत्यु प्राप्त करनेकी इच्छासे मैं अपने प्राणोंको धारण करूँगा। मेरे महात्मा पिताने मुझे जो वर दिया था कि तुम्हें अपनी इच्छा होनेपर ही मृत्यु प्राप्त होगी,

उनका वह वरदान सफल हो। मैं प्राणत्यागका नियत समय आनेतक अवश्य इन प्राणोंको रोक रखूँगा' ।। १०७-१०८ ।।

इत्युक्त्वा तांस्तदा हंसान् स शेते शरतल्पगः ।
एवं कुरूणां पतिते शृङ्गे भीष्मे महौजसि ।। १०९ ।।
पाण्डवाः सृंजयाश्चैव सिंहनादं प्रचक्रिरे ।

उस समय उन हंसोंसे ऐसा कहकर वे बाण-शय्यापर पूर्ववत् सोये रहे। इस प्रकार कुरुकुलशिरोमणि महापराक्रमी भीष्मके गिर जानेपर पाण्डव और सृंजय हर्षसे सिंहनाद करने लगे ।। १०९ १/२ ।।

तस्मिन् हते महासत्त्वे भरतानां पितामहे ।। ११० ।।
न किंचित् प्रत्यपद्यन्त पुत्रास्ते भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ! उन महान् शक्तिशाली एवं भरत-वंशियोंके पितामह भीष्मके मारे जानेपर आपके पुत्रोंको कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ।। ११० १/२ ।।

सम्मोहश्चैव तुमुलः कुरूणामभवत् तदा ।। १११ ।।
कृपदुर्योधनमुखा निःश्वस्य रुरुदुस्ततः ।

उस समय कौरवोंपर बड़ा भयंकर मोह छा गया। कृपाचार्य और दुर्योधन आदि सब लोग सिसक-सिसककर रोने लगे ।। १११ १/२ ।।

विषादाच्च चिरं कालमतिष्ठन् विगतेन्द्रियाः ।। ११२ ।।
दध्युश्चैव महाराज न युद्धे दधिरे मनः ।
ऊरुग्राहगृहीताश्च नाभ्यधावन्त पाण्डवान् ।। ११३ ।।

वे सब लोग विषादके कारण दीर्घकालतक ऐसी अवस्थामें पड़े रहे, मानो उनकी सारी इन्द्रियाँ नष्ट हो गयी हों। महाराज! वे भारी चिन्तामें डूब गये। युद्धमें उनका मन नहीं लगता था। वे पाण्डवोंपर धावा न कर सके, मानो किसी महान् ग्राहने उन्हें पकड़ लिया हो ।। ११२-११३ ।।

अवध्ये शन्तनोः पुत्रे हते भीष्मे महौजसि ।
अभावः सहसा राजन् कुरुराजस्य तर्कितः ।। ११४ ।।

राजन्! महातेजस्वी शान्तनुपुत्र भीष्म अवध्य थे, तो भी मारे गये। इससे सहसा सब लोगोंने यही अनुमान किया कि कुरुराज दुर्योधनका विनाश भी अवश्यम्भावी है ।। ११४ ।।

हतप्रवीरास्तु वयं निकृत्ताश्च शितैः शरैः ।
कर्तव्यं नाभिजानीमो निर्जिताः सव्यसाचिना ।। ११५ ।।

सव्यसाची अर्जुनने हम सब लोगोंपर विजय पायी। उनके तीखे बाणोंसे हमलोग क्षत-विक्षत हो रहे थे और हमारे प्रमुख वीर उनके हाथों मारे गये थे। उस अवस्थामें हमें अपना कर्तव्य नहीं सूझता था ।। ११५ ।।

पाण्डवाश्च जयं लब्ध्वा परत्र च परां गतिम् ।

सर्वे दध्मुर्महाशङ्खान् शूराः परिघबाहवः ।। ११६ ।।

परिघके समान मोटी भुजाओंवाले शूरवीर पाण्डवोंने इहलोकमें विजय पाकर परलोकमें भी उत्तम गति निश्चित कर ली। वे सब-के-सब बड़े-बड़े शंख बजाने लगे ।।

सोमकाश्च सपञ्चालाः प्राहृष्यन्त जनेश्वर ।
ततस्तूर्यसहस्रेषु नदत्सु स महाबलः ।। ११७ ।।
आस्फोटयामास भृशं भीमसेनो ननाद च ।

जनेश्वर! पांचालों और सोमकोंके तो हर्षकी सीमा न रही। सहस्रों रणवाद्य बजने लगे। उस समय महाबली भीमसेन जोर-जोरसे ताल ठोकने और सिंहके समान दहाड़ने लगे ।। ११७½ ।।

सेनयोरुभयोश्चापि गाङ्गेये निहते विभौ ।। ११८ ।।
संन्यस्य वीराः शस्त्राणि प्राध्यायन्त समन्ततः ।

शक्तिशाली गंगानन्दन भीष्मके मारे जानेपर सब ओर दोनों सेनाओंके सब वीर अपने अस्त्र-शस्त्र नीचे डालकर भारी चिन्तामें निमग्न हो गये ।। ११८½ ।।

प्राक्रोशन् प्राद्रवंश्चान्ये जग्मुर्मोहं तथापरे ।। ११९ ।।

कुछ फूट-फूटकर रोने-चिल्लाने लगे, कुछ इधर-उधर भागने लगे और कुछ वीर मोहको प्राप्त (मूर्च्छित) हो गये ।। ११९ ।।

क्षत्रं चान्येऽभ्यनिन्दन्त भीष्मं चान्येऽभ्यपूजयन् ।
ऋषयः पितरश्चैव प्रशशंसुर्महाव्रतम् ।। १२० ।।

कुछ लोग क्षात्रधर्मकी निन्दा कर रहे थे और कुछ भीष्मजीकी प्रशंसा कर रहे थे। ऋषियों और पितरोंने महान् व्रतधारी भीष्मकी बड़ी प्रशंसा की ।। १२० ।।

भरतानां च ये पूर्वे ते चैनं प्रशशंसिरे ।
महोपनिषदं चैव योगमास्थाय वीर्यवान् ।। १२१ ।।
जपञ्शान्तनवो धीमान् कालाकाङ्क्षी स्थितोऽभवत् ।। १२२ ।।

भरतवंशके पूर्वजोंने भी भीष्मजीकी बड़ी बड़ाई की। परम पराक्रमी एवं बुद्धिमान् शान्तनुनन्दन भीष्म महान् उपनिषदोंके सारभूत योगका आश्रय ले प्रणवका जप करते हुए उत्तरायणकालकी प्रतीक्षामें बाणशय्यापर सोये रहे ।। १२१-१२२ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मनिपातने एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। ११९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मजीके रथसे गिरनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ११९ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल १२५ श्लोक हैं।]

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मजीकी महत्ता तथा अर्जुनके द्वारा भीष्मको तकिया देना एवं उभय पक्षकी सेनाओंका अपने शिबिरमें जाना और श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर-संवाद

धृतराष्ट्र उवाच

कथमासंस्तदा योधा हीना भीष्मेण संजय ।
बलिना देवकल्पेन गुर्वर्थे ब्रह्मचारिणा ।। १ ।।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! भीष्मजी बलवान् और देवताके समान थे। उन्होंने अपने पिताके लिये आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया था। उस दिन उनके रथसे गिर जानेके कारण उनके सहयोगसे वंचित हुए मेरे पक्षके योद्धाओंकी क्या दशा हुई? ।। १ ।।

तदैव निहतान् मन्ये कुरूनन्यांश्च पाण्डवैः ।
न प्राहरद् यदा भीष्मो घृणित्वाद् द्रुपदात्मजम् ।। २ ।।

भीष्मजीने अपनी दयालुताके कारण जब द्रुपदकुमार शिखण्डीपर प्रहार करनेसे हाथ खींच लिया, तभी मैंने यह समझ लिया था कि अब पाण्डवोंके हाथसे अन्य कौरव भी अवश्य मारे जायँगे ।। २ ।।

ततो दुःखतरं मन्ये किमन्यत् प्रभविष्यति ।
अद्याहं पितरं श्रुत्वा निहतं स्म सुदुर्मतिः ।। ३ ।।

मेरी समझमें इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या होगी कि आज अपने ताऊ भीष्मके मारे जानेका समाचार सुनकर भी जीवित हूँ। मेरी बुद्धि बहुत ही खोटी है ।। ३ ।।

अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम संजय ।
श्रुत्वा विनिहतं भीष्मं शतधा यन्न दीर्यते ।। ४ ।।

संजय! निश्चय ही मेरा हृदय लोहेका बना हुआ है; क्योंकि आज भीष्मजीके मारे जानेका समाचार सुनकर भी यह सैकड़ों टुकड़ोंमें विदीर्ण नहीं हो रहा है ।। ४ ।।

यदन्यन्निहतेनाजौ भीष्मेण जयमिच्छता ।
चेष्टितं कुरुसिंहेन तन्मे कथय सुव्रत ।। ५ ।।

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले संजय! विजयकी अभिलाषा रखनेवाले कुरुकुलसिंह भीष्म जब युद्धमें मारे गये, उस समय उन्होंने दूसरी कौन-कौन-सी चेष्टाएँ की थीं? वह सब मुझसे कहो ।। ५ ।।

पुनःपुनर्न मृष्यामि हतं देवव्रतं रणे ।
न हतो जामदग्न्येन दिव्यैरस्त्रैरयं पुरा ।। ६ ।।

स हतो द्रौपदेयेन पाञ्चाल्येन शिखण्डिना ।

रणभूमिमें देवव्रत भीष्मका मारा जाना मुझे बारंबार असह्य हो उठता है। जो भीष्म पूर्वकालमें जमदग्निनन्दन परशुरामके दिव्यास्त्रोंद्वारा भी नहीं मारे जा सके, वे ही द्रुपदकुमार पांचालदेशीय शिखण्डीके हाथसे मारे गये; यह कितने दुःखकी बात है ।। ६ १/२ ।।

संजय उवाच

सायाह्ने निहतो भूमौ धार्तराष्ट्रान् विषादयन् ।। ७ ।।

पञ्चालानां ददौ हर्षं भीष्मः कुरुपितामहः ।

संजयने कहा—महाराज! कुरुकुलवृद्ध पितामह भीष्म सायंकालमें जब रणभूमिमें गिरे, उस समय उन्होंने आपके पुत्रोंको बड़े विषादमें डाल दिया और पांचालोंको हर्ष मनानेका अवसर दे दिया ।। ७ १/२ ।।

स शेते शरतल्पस्थो मेदिनीमस्पृशंस्तदा ।। ८ ।।

भीष्मे रथात् प्रपतिते प्रच्युते धरणीतले ।

हाहेति तुमुलः शब्दो भूतानां समपद्यत ।। ९ ।।

वे पृथ्वीका स्पर्श किये बिना ही उस समय बाणशय्यापर सो रहे थे। भीष्मके रथसे गिरकर धरतीपर पड़ जानेपर समस्त प्राणियोंमें भयंकर हाहाकार मच गया ।। ८-९ ।।

सीमावृक्षे निपतिते कुरूणां समितिंजये ।

सेनयोरुभयो राजन् क्षत्रियान् भयमाविशत् ।। १० ।।

राजन्! कुरुकुलके युद्धविजयी वीर भीष्म दोनों दलोंके लिये सीमावर्ती वृक्षके समान थे। उनके गिर जानेसे उभय पक्षकी सेनाओंमें जो क्षत्रिय थे, उनके मनमें भारी भय समा गया ।। १० ।।

भीष्मं शान्तनवं दृष्ट्वा विशीर्णकवचध्वजम् ।

कुरवः पर्यवर्तन्त पाण्डवाश्च विशाम्पते ।। ११ ।।

प्रजानाथ! जिनके कवच और ध्वज छिन्न-भिन्न हो गये थे, उन शान्तनुनन्दन भीष्मजीको उस अवस्थामें देखकर कौरव और पाण्डव दोनों ही उन्हें घेरकर खड़े हो गये ।। ११ ।।

खं तमःसंवृतमभूदासीद् भानुर्गतप्रभः ।

ररास पृथिवी चैव भीष्मे शान्तनवे हते ।। १२ ।।

उस समय आकाशमें अन्धकार छा गया। सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी। शान्तनुनन्दन भीष्मके मारे जानेपर यह सारी पृथ्वी भयानक शब्द करने लगी ।। १२ ।।

अयं ब्रह्मविदां श्रेष्ठो ह्ययं ब्रह्मविदां वरः ।

इत्यभाषन्त भूतानि शयानं पुरुषर्षभम् ।। १३ ।।

वहाँ सोये हुए पुरुषप्रवर भीष्मको देखकर कुछ दिव्य प्राणी कहने लगे, 'ये ब्रह्मज्ञानियोंके शिरोमणि हैं, ये ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं ।। १३ ।।

अयं पितरमाज्ञाय कामार्तं शान्तनुं पुरा ।

ऊर्ध्वरेतसमात्मानं चकार पुरुषर्षभः ।। १४ ।।

'इन्हीं पुरुषसिंहने पूर्वकालमें अपने पिता शान्तनुको कामासक्त जानकर अपने-आपको ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) बना लिया' ।। १४ ।।

इति स्म शरतल्पस्थं भरतानां महत्तमम् ।

ऋषयस्त्वभ्यभाषन्त सहिताः सिद्धचारणैः ।। १५ ।।

इस प्रकार सिद्धों और चारणोंसहित ऋषिगण भरतकुलके महापुरुष भीष्मको बाणशय्यापर स्थित देख पूर्वोक्त बातें कहते थे ।। १५ ।।

हते शान्तनवे भीष्मे भरतानां पितामहे ।

न किंचित् प्रत्यपद्यन्त पुत्रास्तव हि मारिष ।। १६ ।।

आर्य! भरतवंशियोंके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मके मारे जानेपर आपके पुत्रोंको कुछ भी नहीं सूझता था ।। १६ ।।

विषण्णवदनाश्चासन् हतश्रीकाश्च भारत ।

अतिष्ठन् व्रीडिताश्चैव ह्रिया युक्ता ह्यधोमुखाः ।। १७ ।।

भारत! उनके मुखपर विषाद छा गया था। वे श्रीहीन और लज्जित हो नीचेकी ओर मुँह लटकाये खड़े थे ।। १७ ।।

पाण्डवाश्च जयं लब्ध्वा संग्रामशिरसि स्थिताः ।

सर्वे दध्मुर्महाशङ्खान् हेमजालपरिष्कृतान् ।। १८ ।।

पाण्डव विजय पाकर युद्धके मुहानेपर खड़े थे और सब-के-सब सोनेकी जालियोंसे विभूषित बड़े-बड़े शंखोंको बजा रहे थे ।। १८ ।।

हर्षात् तूर्यसहस्रेषु वाद्यमानेषु चानघ ।

अपश्याम महाराज भीमसेनं महाबलम् ।। १९ ।।

विक्रीडमानं कौन्तेयं हर्षेण महता युतम् ।

निहत्य तरसा शत्रुं महाबलसमन्वितम् ।। २० ।।

निष्पाप महाराज! जब हर्षातिरेकसे सहस्रों बाजे बज रहे थे, उस समय हमने कुन्तीकुमार महाबली भीमसेनको देखा। वे महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न शत्रुको वेगपूर्वक मार देनेके कारण अत्यन्त हर्षके साथ नाच रहे थे ।। १९-२० ।।

सम्मोहश्चापि तुमुलः कुरूणामभवत् ततः ।

कर्णदुर्योधनौ चापि निःश्वसेतां मुहुर्मुहुः ।। २१ ।।

उस समय कौरवोंपर भयंकर मोह छा गया था। कर्ण और दुर्योधन भी बारंबार लंबी साँसें खींच रहे थे ।।

तथा निपतिते भीष्मे कौरवाणां पितामहे ।
हाहाभूतमभूत् सर्वं निर्मर्यादमवर्तत ।। २२ ।।

कौरवपितामह भीष्मके इस प्रकार रथसे गिर जानेपर सर्वत्र हाहाकार मच गया। कहीं कोई मर्यादा नहीं रह गयी ।। २२ ।।

दृष्ट्वा च पतितं भीष्मं पुत्रो दुःशासनस्तव ।
उत्तमं जवमास्थाय द्रोणानीकमुपाद्रवत् ।। २३ ।।
भ्रात्रा प्रस्थापितो वीरः स्वेनानीकेन दंशितः ।
प्रययौ पुरुषव्याघ्रः स्वसैन्यं स विषादयन् ।। २४ ।।

भीष्मजीको रणभूमिमें गिरा देख आपका वीर पुत्र पुरुषसिंह दुःशासन अपने भाईके भेजनेपर अपनी ही सेनासे घिरा हुआ बड़े वेगसे द्रोणाचार्यकी सेनाकी ओर दौड़ा गया। उस समय वह कौरव-सेनाको विषादमें डाल रहा था ।। २३-२४ ।।

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य कुरवः पर्यवारयन् ।
दुःशासनं महाराज किमयं वक्ष्यतीति च ।। २५ ।।

महाराज! दुःशासनको आते देख समस्त कौरव-सैनिक उसे चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये कि देखें, यह क्या कहता है ।। २५ ।।

ततो द्रोणाय निहतं भीष्ममाचष्ट कौरवः ।
द्रोणस्तत्राप्रियं श्रुत्वा मुमोह भरतर्षभ ।। २६ ।।

भरतश्रेष्ठ! दुःशासनने द्रोणाचार्यसे भीष्मके मारे जानेका समाचार बताया। वह अप्रिय बात सुनते ही द्रोणाचार्य मूर्च्छित हो गये ।। २६ ।।

स संज्ञामुपलभ्याशु भारद्वाजः प्रतापवान् ।
निवारयामास तदा स्वान्यनीकानि मारिष ।। २७ ।।

आर्य! सचेत होनेपर प्रतापी द्रोणाचार्यने शीघ्र ही अपनी सेनाओंको युद्धसे रोक दिया ।। २७ ।।

विनिवृत्तान् कुरून् दृष्ट्वा पाण्डवाऽपि स्वसैनिकान् ।
दूतैः शीघ्राश्वसंयुक्तैः समन्तात् पर्यवारयन् ।। २८ ।।

कौरवोंको युद्धसे लौटते देख पाण्डवोंने भी शीघ्रगामी अश्वोंपर चढ़े हुए दूतोंद्वारा सब ओर आदेश भेजकर अपने सैनिकोंका भी युद्ध बंद करा दिया ।। २८ ।।

निवृत्तेषु च सैन्येषु पारम्पर्येण सर्वशः ।
निर्मुक्तकवचाः सर्वे भीष्ममीयुर्नराधिपाः ।। २९ ।।

बारी-बारीसे सब सेनाओंके युद्धसे निवृत्त हो जाने-पर सब राजा कवच खोलकर भीष्मके पास आये ।। २९ ।।

व्युपरम्य ततो युद्धाद् योधाः शतसहस्रशः ।
उपतस्थुर्महात्मानं प्रजापतिमिवामराः ।। ३० ।।

तदनन्तर लाखों योद्धा युद्धसे विरत होकर जैसे देवता प्रजापतिकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार महात्मा भीष्मके पास आये ।। ३० ।।

ते तु भीष्मं समासाद्य शयानं भरतर्षभम् ।
अभिवाद्यावतिष्ठन्त पाण्डवाः कुरुभिः सह ।। ३१ ।।

वे पाण्डव तथा कौरव बाणशय्यापर सोये हुए भरतश्रेष्ठ भीष्मकी सेवामें पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके खड़े हो गये ।। ३१ ।।

अथ पाण्डून् कुरूंश्चैव प्रणिपत्याग्रतः स्थितान् ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भीष्मः शान्तनवस्तदा ।। ३२ ।।

पाण्डव तथा कौरव जब प्रणाम करके उनके सामने खड़े हुए, तब शान्तनुनन्दन धर्मात्मा भीष्मने उनसे इस प्रकार कहा— ।। ३२ ।।

स्वागतं वो महाभागाः स्वागतं वो महारथाः ।
तुष्यामि दर्शनाच्चाहं युष्माकममरोपमाः ।। ३३ ।।

‘महाभाग नरेशगण! आपलोगोंका स्वागत है। देवोपम महारथियो! आपका स्वागत है। मैं आपलोगोंके दर्शनसे बहुत संतुष्ट हूँ’ ।। ३३ ।।

अभिमन्त्र्याथ तानेवं शिरसा लम्बताब्रवीत् ।
शिरो मे लम्बतेऽत्यर्थमुपधानं प्रदीयताम् ।। ३४ ।।

इस प्रकार उन सब लोगोंसे स्वागत-भाषण करके अपने लटकते हुए सिरके द्वारा ही वे बोले—‘राजाओ! मेरा सिर बहुत लटक रहा है। इसके लिये आपलोग मुझे तकिया दें’ ।। ३४ ।।

ततो नृपाः समाजह्रुस्तनूनि च मृदूनि च ।
उपधानानि मुख्यानि नैच्छत् तानि पितामहः ।। ३५ ।।

तब राजालोग तत्काल बढ़िया, कोमल और महीन वस्त्रके बने हुए बहुत-से तकिये ले आये; परंतु पितामह भीष्मने उन्हें लेनेकी इच्छा नहीं की ।। ३५ ।।

अथाब्रवीन्नरव्याघ्रः प्रहसन्निव तान् नृपान् ।
नैतानि वीरशय्यासु युक्तरूपाणि पार्थिवाः ।। ३६ ।।

तदनन्तर पुरुषसिंह भीष्मने हँसते हुए-से उन राजाओंसे कहा—‘भूमिपालो! ये तकिये वीरशय्याके अनुरूप नहीं हैं’ ।। ३६ ।।

ततो वीक्ष्य नरश्रेष्ठमभ्यभाषत पाण्डवम् ।
धनंजयं दीर्घबाहुं सर्वलोकमहारथम् ।। ३७ ।।

इसके बाद वे सम्पूर्ण लोकोंके विख्यात महारथी नरश्रेष्ठ महाबाहु पाण्डुपुत्र धनंजयकी ओर देखकर इस प्रकार बोले— ।। ३७ ।।

धनंजय महाबाहो शिरो मे तात लम्बते ।
दीयतामुपधानं वै यद् युक्तमिह मन्यसे ।। ३८ ।।

'महाबाहु धनंजय! मेरा सिर लटक रहा है। बेटा! यहाँ इसके अनुरूप जो तकिया तुम्हें ठीक जान पड़े, वह ला दो' ।। ३८ ।।

संजय उवाच

समारोप्य महच्चापमभिवाद्य पितामहम् ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ।। ३९ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! तब अर्जुनने पितामह भीष्मको प्रणाम करके अपना विशाल धनुष चढ़ा लिया और आँसूभरे नेत्रोंसे देखकर इस प्रकार कहा— ।। ३९ ।।

आज्ञापय कुरुश्रेष्ठ सर्वशस्त्रभृतां वर ।
प्रेष्योऽहं तव दुर्धर्ष क्रियतां किं पितामह ।। ४० ।।

'समस्त शस्त्रधारियोंमें अग्रगण्य कुरुश्रेष्ठ! दुर्जय वीर पितामह! मैं आपका सेवक हूँ; आज्ञा दीजिये; क्या सेवा करूँ?' ।। ४० ।।

तमब्रवीच्छान्तनवः शिरो मे तात लम्बते ।
उपधानं कुरुश्रेष्ठ फाल्गुनोपदधत्स्व मे ।। ४१ ।।

तब शान्तनुनन्दनने उनसे कहा—'तात! मेरा सिर लटक रहा है। कुरुश्रेष्ठ फाल्गुन! तुम मेरे लिये तकिया लगा दो ।। ४१ ।।

शयनस्यानुरूपं वै शीघ्रं वीर प्रयच्छ मे ।
त्वं हि पार्थ समर्थो वै श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ।। ४२ ।।
क्षत्रधर्मस्य वेत्ता च बुद्धिसत्त्वगुणान्वितः ।

'वीर कुन्तीकुमार! इस शय्याके अनुरूप शीघ्र मुझे तकिया दो। तुम्हीं उसे देनेमें समर्थ हो; क्योंकि सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें तुम्हारा बहुत ऊँचा स्थान है। तुम क्षत्रियधर्मके ज्ञाता तथा बुद्धि और सत्त्व आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न हो' ।। ४२½ ।।

फाल्गुनोऽपि तथेत्युक्त्वा व्यवसायमरोचयत् ।। ४३ ।।
गृह्यानुमन्त्र्य गाण्डीवं शरान् संनतपर्वणः ।
अनुमान्य महात्मानं भरतानां महारथम् ।। ४४ ।।
त्रिभिस्तीक्ष्णैर्महावेगैरन्वगृह्णाच्छिरः शरैः ।

अर्जुनने 'जो आज्ञा' कहकर इस कार्यके लिये प्रयत्न करना स्वीकार किया और गाण्डीव धनुष ले उसे अभिमन्त्रित करके झुकी हुई गाँठवाले तीन बाणोंको धनुषपर रखा। तत्पश्चात् भरतकुलके महात्मा महारथी भीष्मकी अनुमति ले उन अत्यन्त वेगशाली तीन तीखे बाणोंद्वारा उनके मस्तकको अनुगृहीत किया (कुछ ऊँचा करके स्थिर कर दिया) ।। ४३-४४½ ।।

अभिप्राये तु विदिते धर्मात्मा सव्यसाचिना ।। ४५ ।।
अतुष्यद् भरतश्रेष्ठो भीष्मो धर्मार्थतत्त्ववित् ।

सव्यसाची अर्जुनने उनके अभिप्रायको समझकर जब ठीक तकिया लगा दिया, तब धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले धर्मात्मा भरतश्रेष्ठ भीष्म बहुत संतुष्ट हुए ।। ४५ १/२ ।।

उपधानेन दत्तेन प्रत्यनन्दद् धनंजयम् ।। ४६ ।।

प्राह सर्वान् समुद्वीक्ष्य भरतान् भारतं प्रति ।

कुन्तीपुत्रं युधां श्रेष्ठं सुहृदां प्रीतिवर्धनम् ।। ४७ ।।

उन्होंने वह तकिया देनेसे अर्जुनकी प्रशंसा करके उन्हें प्रसन्न किया और समस्त भरतवंशियोंकी ओर देखकर योद्धाओंमें श्रेष्ठ, सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाले, भरतकुलभूषण, कुन्तीपुत्र अर्जुनसे इस प्रकार कहा— ।। ४६-४७ ।।

शयनस्यानुरूपं मे पाण्डवोपहितं त्वया ।

यद्यन्यथा प्रपद्येथाः शपेयं त्वामहं रुषा ।। ४८ ।।

'पाण्डुनन्दन! तुमने मेरी शय्याके अनुरूप मुझे तकिया प्रदान किया है। यदि इसके विपरीत तुमने और कोई तकिया दिया होता तो मैं कुपित होकर तुम्हें शाप दे देता ।। ४८ ।।

एवमेव महाबाहो धर्मेषु परितिष्ठता ।

स्वप्तव्यं क्षत्रियेणाजौ शरतल्पगतेन वै ।। ४९ ।।

'महाबाहो! अपने धर्ममें स्थित रहनेवाले क्षत्रियको युद्धस्थलमें इसी प्रकार बाणशय्यापर शयन करना चाहिये' ।।

एवमुक्त्वा तु बीभत्सुं सर्वांस्तानब्रवीद् वचः ।

राज्ञश्च राजपुत्रांश्च पाण्डवानभिसंस्थितान् ।। ५० ।।

अर्जुनसे ऐसा कहकर भीष्मने पाण्डवोंके पास खड़े हुए उन समस्त राजाओं और राजपुत्रोंसे कहा— ।। ५० ।।

पश्यध्वमुपधानं मे पाण्डवेनाभिसंधितम् ।

शिश्येऽहमस्यां शय्यायां यावदावर्तनं रवेः ।। ५१ ।।

'पाण्डुनन्दन अर्जुनने मेरे सिरमें यह तकिया लगाया है, उसे आपलोग देखें। मैं इस शय्यापर तबतक शयन करूँगा, जबतक कि सूर्य उत्तरायणमें नहीं लौट आते हैं ।। ५१ ।।

ये तदा मां गमिष्यन्ति ते च प्रेक्ष्यन्ति मां नृपाः ।

दिशं वैश्रवणाक्रान्तां यदाऽऽगन्ता दिवाकरः ।। ५२ ।।

नूनं सप्ताश्वयुक्तेन रथेनोत्तमतेजसा ।

विमोक्ष्येऽहं तदा प्राणान् सुहृदः सुप्रियानिव ।। ५३ ।।

'सात घोड़ोंसे जुते हुए उत्तम तेजस्वी रथके द्वारा जब सूर्य कुबेरकी निवासभूत उत्तरदिशाके पथपर आ जायँगे, उस समय जो राजा मेरे पास आयेंगे, वे मेरी ऊर्ध्व गतिको देख सकेंगे। निश्चय ही उसी समय मैं अत्यन्त प्रियतम सुहृदोंकी भाँति अपने प्यारे प्राणोंका त्याग करूँगा ।। ५२-५३ ।।

परिखा खन्यतामत्र ममावसदने नृपाः ।

उपासिष्ये विवस्वन्तमेवं शरशताचितः ।। ५४ ।।

‘राजाओ! मेरे इस स्थानके चारों ओर खाई खोद दो। मैं यहीं इसी प्रकार सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त शरीरके द्वारा भगवान् सूर्यकी उपासना करूँगा ।। ५४ ।।

उपारमध्वं संग्रामाद् वैरमुत्सृज्य पार्थिवाः ।

‘भूपालगण! अब आपलोग आपसका वैरभाव छोड़कर युद्धसे विरत हो जायँ’ ।। ५४½ ।।

संजय उवाच

उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः ।। ५५ ।।

सर्वोपकरणैर्युक्ताः कुशलैः साधु शिक्षिताः ।

संजय कहते हैं—महाराज! तदनन्तर शरीरसे बाणको निकाल फेंकनेकी कलामें कुशल वैद्य भीष्मजीकी सेवामें उपस्थित हुए। वे समस्त आवश्यक उपकरणोंसे युक्त और कुशल पुरुषोंद्वारा भलीभाँति शिक्षा पाये हुए थे ।। ५५½ ।।

तान् दृष्ट्वा जाह्नवीपुत्रः प्रोवाच तनयं तव ।। ५६ ।।

धनं दत्त्वा विसृज्यन्तां पूजयित्वा चिकित्सकाः ।

एवंगते मयेदानीं वैद्यैः कार्यमिहास्ति किम् ।। ५७ ।।

उन्हें देखकर गंगानन्दन भीष्मने आपके पुत्र दुर्योधनसे कहा—‘वत्स! इन चिकित्सकोंको धन देकर सम्मानपूर्वक विदा कर दो। मुझे यहाँ इस अवस्थामें अब इन वैद्योंसे क्या काम है? ।। ५६-५७ ।।

क्षत्रधर्मे प्रशस्तां हि प्राप्तोऽस्मि परमां गतिम् ।

नैष धर्मो महीपालाः शरतल्पगतस्य मे ।। ५८ ।।

एभिरेव शरैश्चाहं दग्धव्योऽस्मि नराधिपाः ।

‘क्षत्रियधर्ममें जिसकी प्रशंसा की गयी है, उस उत्तम गतिको मैं प्राप्त हुआ हूँ। भूपालो! मैं बाणशय्यापर सोया हुआ हूँ। अब मेरा यह धर्म नहीं है कि इन बाणोंको निकालकर चिकित्सा कराऊँ। नरेश्वरो! मेरे इस शरीरको इन बाणोंके साथ ही दग्ध कर देना चाहिये’ ।। ५८½ ।।

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य पुत्रो दुर्योधनस्तव ।। ५९ ।।

वैद्यान् विसर्जयामास पूजयित्वा यथार्हतः ।

भीष्मकी यह बात सुनकर आपके पुत्र दुर्योधनने यथायोग्य सम्मान करके वैद्योंको विदा किया ।। ५९½ ।।

ततस्ते विस्मयं जग्मुर्नानाजनपदेश्वराः ।। ६० ।।

स्थितिं धर्मे परां दृष्ट्वा भीष्मस्यामिततेजसः ।

तदनन्तर विभिन्न जनपदोंके स्वामी नरेशगण अमिततेजस्वी भीष्मकी यह धर्मविषयक उत्तम निष्ठा देखकर बड़े विस्मित हुए ।। ६० ½ ।।

उपधानं ततो दत्त्वा पितुस्ते मनुजेश्वराः ।। ६१ ।।
सहिताः पाण्डवाः सर्वे कुरवश्च महारथाः ।
उपगम्य महात्मानं शयानं शयने शुभे ।। ६२ ।।
तेऽभिवाद्य ततो भीष्मं कृत्वा च त्रिः प्रदक्षिणम् ।
विधाय रक्षां भीष्मस्य सर्व एव समन्ततः ।। ६३ ।।
वीराः स्वशिबिराण्येव ध्यायन्तः परमातुराः ।
निवेशायाभ्युपागच्छन् सायाह्ने रुधिरोक्षिताः ।। ६४ ।।

राजन्! आपके पितृतुल्य भीष्मको उपर्युक्त तकिया देकर उन नरेश, पाण्डव तथा महारथी कौरव सभीने एक साथ सुन्दर बाणशय्यापर सोये हुए महात्मा भीष्मके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके उनकी तीन बार प्रदक्षिणा की और सब ओरसे भीष्मकी रक्षाकी व्यवस्था करके सभी वीर अपने शिविरको ही चल दिये। वे अत्यन्त आतुर होकर भीष्मका ही चिन्तन कर रहे थे। सायंकालमें खूनसे लथपथ हुए वे सब लोग अपने निवासस्थानपर गये ।। ६१—६४ ।।

निविष्टान् पाण्डवांश्चैव प्रीयमाणान् महारथान् ।
भीष्मस्य पतने हृष्टानुपगम्य महाबलः ।। ६५ ।।
उवाच माधवः काले धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
दिष्ट्या जयसि कौरव्य दिष्ट्या भीष्मो निपातितः ।। ६६ ।।

पाण्डव महारथी भीष्मके गिर जानेसे बहुत प्रसन्न थे और हर्षमें भरकर विश्राम कर रहे थे। उस समय महाबली भगवान् श्रीकृष्ण यथासमय उनके पास पहुँचकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—‘कुरुनन्दन! सौभाग्यकी बात है कि तुम जीत रहे हो। यह भी भाग्यकी ही बात है कि भीष्म रथसे गिरा दिये गये ।। ६५-६६ ।।

अवध्यो मानुषैरेव सत्यसंधो महारथः ।
अथवा दैवतैः सार्धं सर्वशास्त्रस्य पारगः ।। ६७ ।।
त्वां तु चक्षुर्हणं प्राप्य दग्धो घोरेण चक्षुषा ।

‘ये सत्यप्रतिज्ञ महारथी भीष्म सम्पूर्ण शास्त्रोंके पारंगत विद्वान् थे। इन्हें मनुष्य तथा सम्पूर्ण देवता मिलकर भी मार नहीं सकते थे। आप दृष्टिपातमात्रसे ही दूसरोंको भस्म करनेमें समर्थ हैं। आपके पास पहुँचकर भीष्म आपकी घोर दृष्टिसे ही नष्ट हो गये हैं’ ।। ६७ ½ ।।

एवमुक्तो धर्मराजः प्रत्युवाच जनार्दनम् ।। ६८ ।।
तव प्रसादाद् विजयः क्रोधात् तव पराजयः ।
त्वं हि नः शरणं कृष्ण भक्तानामभयंकरः ।। ६९ ।।

उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णको इस प्रकार उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण! आप हमारे आश्रय हैं तथा आप ही भक्तोंको अभय दान करनेवाले हैं। आपके ही कृपा-प्रसादसे विजय होती है और आपके ही रोषसे पराजय प्राप्त होती है ।। ६८-६९ ।।

अनाश्चर्यो जयस्तेषां येषां त्वमसि केशव ।
रक्षिता समरे नित्यं नित्यं चापि हिते रतः ।। ७० ।।
सर्वथा त्वां समासाद्य नाश्चर्यमिति मे मतिः ।

'केशव! आप समरभूमिमें सदा जिनकी रक्षा करते हैं और नित्यप्रति जिनके हितमें तत्पर रहते हैं, उनकी विजय हो तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आपकी शरण लेनेपर सर्वथा विजयकी प्राप्ति कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, ऐसा मेरा निश्चय है' ।।

एवमुक्तः प्रत्युवाच स्मयमानो जनार्दनः ।
तवैवैतद् युक्तरूपं वचनं पार्थिवोत्तम ।। ७१ ।।

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर जनार्दन श्रीकृष्णने मुसकराते हुए कहा—'नृपश्रेष्ठ! आपका कथन सर्वथा युक्तिसंगत है' ।। ७१ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मोपधानदाने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्मको तकिया देनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२० ।।

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका दिव्य जल प्रकट करके भीष्मजीकी प्यास बुझाना तथा भीष्मजीका अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए दुर्योधनको संधिके लिये समझाना

संजय उवाच

व्युष्टायां तु महाराज शर्वर्यां सर्वपार्थिवाः ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च उपातिष्ठन् पितामहम् ।। १ ।।
तं वीरशयने वीरं शयानं कुरुसत्तम ।
अभिवाद्योपतस्थुर्वै क्षत्रिया: क्षत्रियर्षभम् ।। २ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! जब रात बीती और सबेरा हुआ, उस समय सब राजा, पाण्डव तथा आपके पुत्र पुनः वीर-शय्यापर सोये हुए वीर पितामह भीष्मकी सेवामें उपस्थित हुए। कुरुश्रेष्ठ! वे सब क्षत्रिय क्षत्रियशिरोमणि भीष्मजीको प्रणाम करके उनके समीप खड़े हो गये ।। १-२ ।।

कन्याश्चन्दनचूर्णैश्च लाजैर्माल्यैश्च सर्वशः ।
अवाकिरञ्छान्तनवं तत्र गत्वा सहस्रशः ।। ३ ।।

सहस्रों कन्याएँ वहाँ जाकर चन्दन-चूर्ण, लाजा (खील) और माला-फूल आदि सब प्रकारकी शुभ सामग्री शान्तनुनन्दन भीष्मके ऊपर बिखेरने लगीं ।। ३ ।।

स्त्रियो वृद्धास्तथा बालाः प्रेक्षकाश्च पृथग्जनाः ।
समभ्ययुः शान्तनवं भूतानीव तमोनुदम् ।। ४ ।।

स्त्रियाँ, बूढ़े, बालक तथा अन्य साधारण जन शान्तनुकुमार भीष्मजीका दर्शन करनेके लिये वहाँ आये, मानो समस्त प्रजा अन्धकारनाशक भगवान् सूर्यकी उपासनाके लिये उपस्थित हुई हो ।। ४ ।।

तूर्याणि शतसंख्यानि तथैव नटनर्तकाः ।
शिल्पिनश्च तथाऽऽजग्मुः कुरुवृद्धं पितामहम् ।। ५ ।।

सैकड़ों बाजे और बजानेवाले, नट, नर्तक और बहुत-से शिल्पी कुरुवंशके वृद्ध पुरुष पितामह भीष्मके पास आये ।। ५ ।।

उपारम्य च युद्धेभ्यः संनाहान् विप्रमुच्य ते ।
आयुधानि न निक्षिप्य सहिताः कुरुपाण्डवाः ।। ६ ।।
अन्वासन्त दुराधर्षं देवव्रतमरिंदमम् ।
अन्योन्यं प्रीतिमन्तस्ते यथापूर्वं यथावयः ।। ७ ।।

कौरव तथा पाण्डव युद्धसे निवृत्त हो कवच खोलकर अस्त्र-शस्त्र नीचे डालकर पहलेकी भाँति परस्पर प्रेमभाव रखते हुए अवस्थाकी छोटाई-बड़ाईके अनुसार यथोचित क्रमसे शत्रुदमन दुर्जय वीर देवव्रत भीष्मके समीप एक साथ बैठ गये ।। ६-७ ।।

सा पार्थिवशताकीर्णा समितिर्भीष्मशोभिता ।
शुशुभे भारती दीप्ता दिवीवादित्यमण्डलम् ।। ८ ।।

सैकड़ों राजाओंसे भरी और भीष्मसे सुशोभित हुई वह भरतवंशियोंकी दीप्तिशालिनी सभा आकाशमें सूर्यमण्डलकी भाँति उस रणभूमिमें शोभा पाने लगी ।। ८ ।।

विबभौ च नृपाणां सा गंगासुतमुपासताम् ।
देवानामिव देवेशं पितामहमुपासताम् ।। ९ ।।

गंगानन्दन भीष्मके पास बैठी हुई राजाओंकी वह मण्डली देवेश्वर ब्रह्माजीकी उपासना करनेवाले देवताओंके समान सुशोभित हो रही थी ।। ९ ।।

भीष्मस्तु वेदनां धैर्यान्निगृह्य भरतर्षभ ।
अभितप्तः शरैश्चैव निःश्वसन्नुरगो यथा ।। १० ।।
शराभितप्तकायोऽपि शस्त्रसम्पातमूर्च्छितः ।
पानीयमिति सम्प्रेक्ष्य राज्ञस्तान् प्रत्यभाषत ।। ११ ।।

भरतश्रेष्ठ! भीष्मजी बाणोंसे संतप्त होकर सर्पके समान लम्बी साँस खींच रहे थे। वे अपनी वेदनाको धैर्यपूर्वक सह रहे थे। बाणोंकी जलनसे उनका सारा शरीर जल रहा था। वे शस्त्रोंके आघातसे मूर्च्छित-से हो रहे थे। उस समय उन्होंने राजाओंकी ओर देखकर केवल इतना ही कहा 'पानी' ।। १०-११ ।।

ततस्ते क्षत्रिया राजन्नुपाजह्रुः समन्ततः ।
भक्ष्यानुच्चावचान् राजन् वारिकुम्भांश्च शीतलान् ।। १२ ।।

राजन्! तब वे क्षत्रियनरेश चारों ओरसे भोजनकी उत्तमोत्तम सामग्री और शीतल जलसे भरे हुए घड़े ले आये ।। १२ ।।

उपानीतं तु पानीयं दृष्ट्वा शान्तनवोऽब्रवीत् ।
नाद्यातीता मया शक्या भोगाः केचन मानुषाः ।। १३ ।।
अपक्रान्तो मनुष्येभ्यः शरशय्यां गतो ह्यहम् ।
प्रतीक्षमाणस्तिष्ठामि निवृत्तिं शशिसूर्ययोः ।। १४ ।।

उनके द्वारा लाये हुए उस जलको देखकर शान्तनुनन्दन भीष्मने कहा—'अब मैं मनुष्यलोकके कोई भी भोग अपने उपयोगमें नहीं ला सकता, मैं उन्हें छोड़ चुका हूँ। यद्यपि यहाँ बाणशय्यापर सो रहा हूँ, तथापि मनुष्यलोकसे ऊपर उठ चुका हूँ। केवल सूर्य-चन्द्रमाके उत्तरपथपर आनेकी प्रतीक्षामें यहाँ रुका हुआ हूँ' ।। १३-१४ ।।

एवमुक्त्वा शान्तनवो निन्दन् वाक्येन पार्थिवान् ।
अर्जुनं द्रष्टुमिच्छामीत्यभ्यभाषत भारत ।। १५ ।।

भारत! ऐसा कहकर शान्तनुनन्दन भीष्मने अपनी वाणीद्वारा अन्य राजाओंकी निन्दा करते हुए कहा—'अब मैं अर्जुनको देखना चाहता हूँ' ।। १५ ।।

अथोपेत्य महाबाहुरभिवाद्य पितामहम् ।
अतिष्ठत् प्राञ्जलिः प्रह्वः किं करोमीति चाब्रवीत् ।। १६ ।।

तब महाबाहु अर्जुन पितामह भीष्मके पास जाकर उन्हें प्रणाम करके हाथ जोड़े खड़े हो गये और विनयपूर्वक बोले—'मेरे लिये क्या आज्ञा है, मैं कौन-सी सेवा करूँ?' ।। १६ ।।

तं दृष्ट्वा पाण्डवं राजन्नभिवाद्याग्रतः स्थितम् ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भीष्मः प्रीतो धनंजयम् ।। १७ ।।

राजन्! प्रणाम करके आगे खड़े हुए पाण्डुपुत्र अर्जुनको देखकर धर्मात्मा भीष्म बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले— ।। १७ ।।

दह्यतीव शरीरं मे संवृतस्य तवेषुभिः ।
मर्माणि परिदूयन्ते मुखं च परिशुष्यति ।। १८ ।।

'अर्जुन! तुम्हारे बाणोंसे मेरे सम्पूर्ण अंग बिंधे हुए हैं; अतः मेरा यह शरीर दग्ध-सा हो रहा है। सारे मर्मस्थानोंमें अत्यन्त पीड़ा हो रही है। मुँह सूखता जा रहा है ।। १८ ।।

वेदनार्तशरीरस्य प्रयच्छापो ममार्जुन ।
त्वं हि शक्तो महेष्वास दातुमापो यथाविधि ।। १९ ।।

'महाधनुर्धर अर्जुन! वेदनासे पीड़ित शरीरवाले मुझ वृद्धको तुम पानी लाकर दो। तुम्हीं विधिपूर्वक मेरे लिये दिव्य जल प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो' ।। १९ ।।

अर्जुनस्तु तथेत्युक्त्वा रथमारुह्य वीर्यवान् ।
अधिज्यं बलवत् कृत्वा गाण्डीवं व्याक्षिपद् धनुः ।। २० ।।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर पराक्रमी अर्जुन रथपर आरूढ़ हो गये और गाण्डीव धनुषपर बलपूर्वक प्रत्यंचा चढ़ाकर उसे खींचने लगे ।। २० ।।

तस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
वित्रेसुः सर्वभूतानि सर्वे श्रुत्वा च पार्थिवाः ।। २१ ।।

उनके धनुषकी टंकारध्वनि वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ती थी। उसे सुनकर सभी प्राणी और समस्त भूपाल डर गये ।। २१ ।।

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा रथेन रथिनां वरः ।
शयानं भरतश्रेष्ठं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।। २२ ।।
संधाय च शरं दीप्तमभिमन्त्र्य स पाण्डवः
पर्जन्यास्त्रेण संयोज्य सर्वलोकस्य पश्यतः ।। २३ ।।
अविध्यत् पृथिवीं पार्थः पार्श्वे भीष्मस्य दक्षिणे ।

अर्जुनका बाणद्वारा पृथ्वीसे जल प्रकट करके भीष्मजीको पिलाना

तब रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुपुत्र अर्जुनने शरशय्यापर सोये हुए सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें उत्तम भरतशिरोमणि भीष्मकी रथद्वारा ही परिक्रमा करके अपने धनुषपर एक तेजस्वी बाणका संधान किया और सब लोगोंके देखते-देखते मन्त्रोच्चारणपूर्वक उस बाणको पर्जन्यास्त्रसे संयुक्त करके भीष्मके दाहिने पार्श्वमें पृथ्वीपर उसे चलाया ।। २२-२३ १/२ ।।

उत्पपात ततो धारा वारिणो विमला शुभा ।। २४ ।।
शीतस्यामृतकल्पस्य दिव्यगन्धरसस्य च ।
अतर्पयत् ततः पार्थः शीतया जलधारया ।। २५ ।।
भीष्मं कुरूणामृषभं दिव्यकर्मपराक्रमम् ।

फिर तो शीतल, अमृतके समान मधुर तथा दिव्य सुगन्ध एवं दिव्यरससे संयुक्त जलकी सुन्दर स्वच्छ धारा ऊपरकी ओर उठ-(कर भीष्मके मुखमें पड़)-ने लगी। उस शीतल जलधारासे अर्जुनने दिव्यकर्म एवं पराक्रमवाले कुरुश्रेष्ठ भीष्मको तृप्त कर दिया ।। २४-२५ १/२ ।।

कर्मणा तेन पार्थस्य शक्रस्येव विकुर्वतः ।। २६ ।।

विस्मयं परमं जग्मुस्ततस्ते वसुधाधिपाः ।

इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनके उस अद्भुत कर्मसे वहाँ बैठे हुए समस्त भूपाल बड़े विस्मयको प्राप्त हुए ।। २६ १/२ ।।

तत् कर्म प्रेक्ष्य बीभत्सोरतिमानुषविक्रमम् ।। २७ ।।

सम्प्रावेपन्त कुरवो गावः शीतार्दिता इव ।

अर्जुनका वह अलौकिक कर्म देखकर समस्त कौरव सर्दीकी सतायी हुई गौओंके समान थर-थर काँपने लगे ।। २७ १/२ ।।

विस्मयाच्चोत्तरीयाणि व्याविध्यन् सर्वतो नृपाः ।। २८ ।।

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषस्तुमुलः सर्वतोऽभवत् ।

वहाँ बैठे हुए नरेशगण आश्चर्यसे चकित हो सब ओर अपने दुपट्टे हिलाने लगे। चारों ओर शंख और नगाड़ोंकी गम्भीर ध्वनि गूँज उठी ।। २८ १/२ ।।

तृप्तः शान्तनवश्चापि राजन् बीभत्सुमब्रवीत् ।। २९ ।।

सर्वपार्थिववीराणां संनिधौ पूजयन्निव ।

राजन्! उस जलसे तृप्त होकर शान्तनुनन्दन भीष्मने अर्जुनसे समस्त वीरनरेशोंके समीप उनकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहा— ।। २९ १/२ ।।

नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि कौरवनन्दन ।। ३० ।।

कथितो नारदेनासि पूर्वर्षिरमितद्युते ।

वासुदेवसहायस्त्वं महत् कर्म करिष्यसि ।। ३१ ।।

यन्नोत्सहति देवेन्द्रः सह देवैरपि ध्रुवम् ।

'महाबाहु कौरवनन्दन! तुममें ऐसे पराक्रमका होना आश्चर्यकी बात नहीं है। अमिततेजस्वी वीर! मुझे नारदजीने पहले ही बता दिया था कि तुम पुरातन महर्षि नर हो और नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे इस भूतलपर ऐसे-ऐसे महान् कर्म करोगे, जिन्हें निश्चय ही सम्पूर्ण देवताओंके साथ देवराज इन्द्र भी नहीं कर सकते ।। ३०-३१ १/२ ।।

विदुस्त्वां निधनं पार्थ सर्वक्षत्रस्य तद्विदः ।। ३२ ।।

धनुर्धराणामेकस्त्वं पृथिव्यां प्रवरो नृषु ।। ३३ ।।

'पार्थ! जानकार लोग तुम्हें सम्पूर्ण क्षत्रियोंकी मृत्युरूप जानते हैं। तुम भूतलपर मनुष्योंमें श्रेष्ठ और धनुर्धरोंमें प्रधान हो ।। ३२-३३ ।।

मनुष्या जगति श्रेष्ठाः पक्षिणां पतगेश्वरः ।

सरितां सागरः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ।। ३४ ।।

'जंगम प्राणियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ हैं, पक्षियोंमें पक्षिराज गरुड़ श्रेष्ठ माने जाते हैं, सरिताओंमें समुद्र श्रेष्ठ हैं और चौपायोंमें गौ उत्तम मानी गयी है ।। ३४ ।।

आदित्यस्तेजसां श्रेष्ठो गिरीणां हिमवान् वरः ।

जातीनां ब्राह्मणः श्रेष्ठः श्रेष्ठस्त्वमसि धन्विनाम् ।। ३५ ।।

'तेजोमय पदार्थोंमें सूर्य श्रेष्ठ हैं, पर्वतोंमें हिमालय महान् है, जातियोंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ है और तुम सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ हो ।। ३५ ।।

न वै श्रुतं धार्तराष्ट्रेण वाक्यं
मयोच्यमानं विदुरेण चैव ।
द्रोणेन रामेण जनार्दनेन
मुहुर्मुहुः संजयेनापि चोक्तम् ।। ३६ ।।

'मैंने, विदुरने, द्रोणाचार्यने, परशुरामजीने, भगवान् श्रीकृष्णने तथा संजयने भी बारंबार युद्ध न करनेकी सलाह दी है; परंतु दुर्योधनने हमलोगोंकी बातें नहीं सुनीं ।।

परीतबुद्धिर्हि विसंज्ञकल्पो
दुर्योधनो न च तच्छ्रद्दधाति ।
स शेष्यते वै निहतश्चिराय
शास्त्रातिगो भीमबलाभिभूतः ।। ३७ ।।

'दुर्योधनकी बुद्धि विपरीत हो गयी है, वह अचेत-सा हो रहा है; इसलिये हमलोगोंकी बातपर विश्वास नहीं करता है। वह शास्त्रोंकी मर्यादाका उल्लंघन कर रहा है। इसलिये भीमसेनके बलसे पराजित हो मारा जाकर रणभूमिमें दीर्घकालके लिये सो जायगा' ।। ३७ ।।

एतच्छ्रुत्वा तद्वचः कौरवेन्द्रो
दुर्योधनो दीनमना बभूव ।
तमब्रवीच्छान्तनवोऽभिवीक्ष्य
निबोध राजन् भव वीतमन्युः ।। ३८ ।।

भीष्मजीकी यह बात सुनकर कौरवराज दुर्योधन मन-ही-मन बहुत दुःखी हो गया। तब शान्तनुनन्दन भीष्मने उसकी ओर देखकर कहा—'राजन्! मेरी बातपर ध्यान दो और क्रोधशून्य हो जाओ ।। ३८ ।।

दृष्टं दुर्योधनैतत् ते यथा पार्थेन धीमता ।
जलस्य धारा जनिता शीतस्यामृतगन्धिनः ।। ३९ ।।

'दुर्योधन! बुद्धिमान् अर्जुनने जिस प्रकार शीतल, अमृतके समान मधुर गन्धयुक्त जलकी धारा प्रकट की है, उसे तुमने प्रत्यक्ष देख लिया है ।। ३९ ।।

एतस्य कर्ता लोकेऽस्मिन् नान्यः कश्चन विद्यते ।
आग्नेयं वारुणं सौम्यं वायव्यमथ वैष्णवम् ।। ४० ।।
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं पारमेष्ठ्यं प्रजापतेः ।
धातुस्त्वष्टुश्च सवितुर्वैवस्वतमथापि वा ।। ४१ ।।
सर्वस्मिन् मानुषे लोके वेत्त्येको हि धनंजयः ।

कृष्णो वा देवकीपुत्रो नान्यो वेदेह कश्चन ।। ४२ ।।

'इस संसारमें ऐसा पराक्रम करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। आग्नेय, वारुण, सौम्य, वायव्य, वैष्णव, ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म, पारमेष्ठ्य, प्राजापत्य, धात्र, त्वाष्ट्र, सावित्र और वैवस्वत आदि सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंको इस समस्त मानव-जगत्‌में एकमात्र अर्जुन अथवा देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण जानते हैं। दूसरा कोई यहाँ इन अस्त्रोंको नहीं जानता है ।। ४०—४२ ।।

अशक्यः पाण्डवस्तात युद्धे जेतुं कथंचन ।
अमानुषाणि कर्माणि यस्यैतानि महात्मनः ।। ४३ ।।
तेन सत्त्ववता संख्ये शूरेणाहवशोभिना ।
कृतिना समरे राजन् संधिर्भवतु मा चिरम् ।। ४४ ।।

'तात! पाण्डुपुत्र अर्जुनको युद्धमें किसी प्रकार भी जीतना असम्भव है। जिन महामनस्वी पुरुषके ये अलौकिक कर्म प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं; जो धैर्यवान्, युद्धमें शूरता दिखानेवाले तथा संग्राममें सुशोभित होनेवाले हैं, राजन्! उन अस्त्र-विद्याके विद्वान् अर्जुनके साथ इस समरभूमिमें तुम्हारी शीघ्र संधि हो जानी चाहिये। इसमें विलम्ब न हो ।। ४३-४४ ।।

यावत् कृष्णो महाबाहुः स्वाधीनः कुरुसत्तम ।
तावत् पार्थेन शूरेण संधिस्ते तात युज्यताम् ।। ४५ ।।

'तात! कुरुश्रेष्ठ! जबतक महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण अपने लोगोंके प्रेमके अधीन हैं, तभीतक शूरवीर अर्जुनके साथ तुम्हारी संधि हो जाय तो ठीक है ।। ४५ ।।

यावन्न ते चमूः सर्वाः शरैः संनतपर्वभिः ।
नाशयत्यर्जुनस्तावत् संधिस्ते तात युज्यताम् ।। ४६ ।।

'तात! जबतक अर्जुन झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा तुम्हारी सारी सेनाका विनाश नहीं कर डालते हैं, तभीतक उनके साथ तुम्हारी संधि हो जानी चाहिये ।। ४६ ।।

यावत् तिष्ठन्ति समरे हतशेषाः सहोदराः ।
नृपाश्च बहवो राजंस्तावत् संधिः प्रयुज्यताम् ।। ४७ ।।

'राजन्! इस समरभूमिमें मरनेसे बचे हुए तुम्हारे सहोदर भाई जबतक मौजूद हैं और जबतक बहुत-से नरेश भी जीवन धारण कर रहे हैं, तभीतक तुम अर्जुनके साथ संधि कर लो ।। ४७ ।।

न निर्दहति ते यावत् क्रोधदीप्तेक्षणश्चमूम् ।
युधिष्ठिरो रणे तावत् संधिस्ते तात युज्यताम् ।। ४८ ।।

'तात! जबतक युधिष्ठिर रणभूमिमें क्रोधसे प्रज्वलितनेत्र होकर तुम्हारी सारी सेनाको भस्म नहीं कर डालते हैं, तभीतक उनके साथ तुम्हें संधि कर लेनी चाहिये ।। ४८ ।।

नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ।

यावच्चमूं महाराज नाशयन्ति न सर्वशः ।। ४९ ।।
तावत् ते पाण्डवैर्वीरैः सौहार्दं मम रोचते ।
युद्धं मदन्तमेवास्तु तात संशाम्य पाण्डवैः ।। ५० ।।

'महाराज! नकुल-सहदेव तथा पाण्डुपुत्र भीमसेन—ये सब मिलकर जबतक तुम्हारी सेनाका सर्वनाश नहीं कर डालते हैं, तभीतक पाण्डववीरोंके साथ तुम्हारा सौहार्द स्थापित हो जाय, यही मुझे अच्छा लगता है। तात! मेरे साथ ही इस युद्धका भी अन्त हो जाय। तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ।। ४९-५० ।।

एतत् तु रोचतां वाक्यं यदुक्तोऽसि मयानघ ।
एतत् क्षेममहं मन्ये तव चैव कुलस्य च ।। ५१ ।।

'अनघ! मैंने जो बातें तुमसे कही हैं, वे तुम्हें रुचिकर प्रतीत हों। मैं संधिको ही तुम्हारे तथा कौरवकुलके लिये कल्याणकारी मानता हूँ ।। ५१ ।।

त्यक्त्वा मन्युं व्युपशाम्यस्व पार्थैः
पर्याप्तमेतद् यत् कृतं फाल्गुनेन ।
भीष्मस्यान्तादस्तु वः सौहृदं च
जीवन्तु शेषाः साधु राजन् प्रसीद ।। ५२ ।।

'राजन्! तुम क्रोध छोड़कर कुन्तीकुमारोंके साथ संधि स्थापित कर लो। अर्जुनने आजतक जो कुछ किया है, उतना ही बहुत है। मुझ भीष्मके जीवनका अन्त होनेसे (तुम्हारे वैरका भी अन्त हो जाय) तुमलोगोंमें प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो और जो लोग मरनेसे बचे हैं, वे अच्छी तरह जीवित रहें। इसके लिये तुम प्रसन्न हो जाओ ।। ५२ ।।

राज्यस्यार्धं दीयतां पाण्डवाना-
मिन्द्रप्रस्थं धर्मराजोऽभियातु ।
मा मित्रध्रुक् पार्थिवानां जघन्यः
पापां कीर्तिं प्राप्स्यसे कौरवेन्द्र ।। ५३ ।।

'तुम पाण्डवोंका आधा राज्य दे दो। धर्मराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ चले जायँ। कौरवराज! ऐसा करनेसे तुम राजाओंमें मित्रद्रोही और नीच नहीं कहलाओगे तथा तुम्हें पापपूर्ण अपयश नहीं प्राप्त होगा ।। ५३ ।।

ममावसानाच्छान्तिरस्तु प्रजानां
संगच्छन्तां पार्थिवाः प्रीतिमन्तः ।
पिता पुत्रं मातुलं भागिनेयो
भ्राता चैव भ्रातरं प्रैतु राजन् ।। ५४ ।।

'राजन्! मेरे जीवनका अन्त होनेसे प्रजाओंमें शान्ति हो जाय। सब राजा प्रसन्नतापूर्वक एक-दूसरेसे मिलें। पिता पुत्रसे, भानजा मामासे और भाई भाईसे मिले ।। ५४ ।।

न चेदेवं प्राप्तकालं वचो मे

मोहाविष्टः प्रतिपत्स्यस्यबुद्धया ।
तप्स्यस्यन्ते एतदन्ताः स्थ सर्वे
सत्यामेतां भारतीमीरयामि ।। ५५ ।।

'दुर्योधन! यदि तुम मोहवश अपनी मूर्खताके कारण मेरे इस समयोचित वचनको नहीं मानोगे तो अन्तमें पछताओगे और इस युद्धमें ही तुम सब लोगोंका अन्त हो जायगा। यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ' ।। ५५ ।।

एतद् वाक्यं सौहृदादापगेयो
मध्ये राज्ञां भारतं श्रावयित्वा ।
तूष्णीमासीच्छल्यसंतप्तमर्मा
योज्यात्मानं वेदनां संनियम्य ।। ५६ ।।

गंगानन्दन भीष्म समस्त राजाओंके बीच सौहार्दवश दुर्योधनको यह बात सुनाकर मौन हो गये। बाणोंसे उनके मर्मस्थलोंमें अत्यन्त पीड़ा हो रही थी। उन्होंने उस व्यथाको किसी प्रकार काबूमें करके अपने मनको परमात्माके चिन्तनमें लगा दिया ।। ५६ ।।

संजय उवाच

धर्मार्थसहितं वाक्यं श्रुत्वा हितमनामयम् ।
नारोचयत पुत्रस्ते मुमूर्षुरिव भेषजम् ।। ५७ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! जैसे मरणासन्न पुरुषको कोई दवा अच्छी नहीं लगती है, उसी प्रकार महात्मा भीष्मका वह धर्म और अर्थसे युक्त परम हितकर और निर्दोष वचन भी आपके पुत्रको पसंद नहीं आया ।। ५७ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि दुर्योधनं प्रति भीष्मवाक्ये एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें दुर्योधनके प्रति भीष्मका कथनविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२१ ।।

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और कर्णका रहस्यमय संवाद

संजय उवाच

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे जग्मुः स्वानालयान् पुनः ।
तूष्णीम्भूते महाराज भीष्मे शान्तनुनन्दने ।। १ ।।

संजय कहते हैं—महाराज! शान्तनुनन्दन भीष्मके चुप हो जानेपर सब राजा वहाँसे उठकर अपने-अपने विश्रामस्थानको चले गये ।। १ ।।

श्रुत्वा तु निहतं भीष्मं राधेयः पुरुषर्षभः ।
ईषदागतसंत्रासस्त्वरयोपजगाम ह ।। २ ।।

भीष्मजीको रथसे गिराया गया सुनकर पुरुषप्रवर राधानन्दन कर्णके मनमें कुछ भय समा गया। वह बड़ी उतावलीके साथ उनके पास आया ।। २ ।।

स ददर्श महात्मानं शरतल्पगतं तदा ।
जन्मशय्यागतं वीरं कार्तिकेयमिव प्रभुम् ।। ३ ।।

उस समय उसने देखा, महात्मा भीष्म शरशय्यापर सो रहे हैं, ठीक उसी तरह जैसे वीरवर भगवान् कार्तिकेय जन्मकालमें शरशय्या (सरकण्डोंके बिछावन)-पर सोये थे ।। ३ ।।

निमीलिताक्षं तं वीरं साश्रुकण्ठस्तदा वृषः ।
भीष्म भीष्म महाबाहो इत्युवाच महाद्युतिः ।। ४ ।।
राधेयोऽहं कुरुश्रेष्ठ नित्यमक्षिगतस्तव ।
द्वेष्योऽहं तव सर्वत्र इति चैनमुवाच ह ।। ५ ।।

वीर भीष्मके नेत्र बंद थे। उन्हें देखकर महातेजस्वी कर्णकी आँखोंमें आँसू छलक आये और अश्रुगद्गदकण्ठ होकर उसने कहा—'भीष्म! भीष्म! महाबाहो! कुरुश्रेष्ठ! मैं वही राधापुत्र कर्ण हूँ, जो सदा आपकी आँखोंमें गड़ा रहता था और जिसे आप सर्वत्र द्वेषदृष्टिसे देखते थे।' कर्णने यह बात उनसे कही ।। ४-५ ।।

तच्छ्रुत्वा कुरुवृद्धो हि बली संवृतलोचनः ।
शनैरुद्वीक्ष्य सस्नेहमिदं वचनमब्रवीत् ।। ६ ।।
रहितं धिष्ण्यमालोक्य समुत्सार्य च रक्षिणः ।
पितेव पुत्रं गाङ्गेयः परिरभ्यैकपाणिना ।। ७ ।।

उसकी बात सुनकर बंद नेत्रोंवाले बलवान् कुरुवृद्ध भीष्मने धीरेसे आँखें खोलकर देखा और उस स्थानको एकान्त देख पहरेदारोंको दूर हटाकर एक हाथसे कर्णका उसी

प्रकार सस्नेह आलिंगन किया, जैसे पिता अपने पुत्रको गलेसे लगाता है। तत्पश्चात् उन्होंने इस प्रकार कहा— ।। ६-७ ।।

एह्येहि मे विप्रतीप स्पर्धसे त्वं मया सह ।
यदि मां नाधिगच्छेथा न ते श्रेयो ध्रुवं भवेत् ।। ८ ।।

'आओ, आओ, कर्ण! तुम सदा मुझसे लाग-डाँट रखते रहे। सदा मेरे साथ स्पर्धा करते रहे। आज यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो निश्चय ही तुम्हारा कल्याण नहीं होता ।। ८ ।।

कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाधिरथः पिता ।
सूर्यजस्त्वं महाबाहो विदितो नारदान्मया ।। ९ ।।

'वत्स! तुम राधाके नहीं, कुन्तीके पुत्र हो। तुम्हारे पिता अधिरथ नहीं हैं। महाबाहो! तुम सूर्यके पुत्र हो। मैंने नारदजीसे तुम्हारा परिचय प्राप्त किया था ।। ९ ।।

कृष्णद्वैपायनाच्चैव तच्च सत्यं न संशयः ।
न च द्वेषोऽस्ति मे तात त्वयि सत्यं ब्रवीमि ते ।। १० ।।

'तात! श्रीकृष्णद्वैपायन व्याससे भी तुम्हारे जन्मका वृत्तान्त ज्ञात हुआ था और जो कुछ ज्ञात हुआ, वह सत्य है। इसमें संदेह नहीं है। तुम्हारे प्रति मेरे मनमें द्वेष नहीं है; यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ।। १० ।।

तेजोवधनिमित्तं तु परुषं त्वाहमब्रुवम् ।
अकस्मात् पाण्डवान् सर्वानवाक्षिपसि सुव्रत ।। ११ ।।
येनासि बहुशो राज्ञा चोदितः सूतनन्दन ।

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वीर! मैं कभी-कभी तुमसे जो कठोर वचन बोल दिया करता था, उसका उद्देश्य था, तुम्हारे उत्साह और तेजको नष्ट करना; क्योंकि सूतनन्दन! तुम राजा दुर्योधनके उकसानेसे अकारण ही समस्त पाण्डवोंपर बहुत बार आक्षेप किया करते थे ।। ११$\frac{१}{२}$ ।।

जातोऽसि धर्मलोपेन ततस्ते बुद्धिरीदृशी ।। १२ ।।
नीचाश्रयान्मत्सरेण द्वेषिणी गुणिनामपि ।
तेनासि बहुशो रूक्षं श्रावितः कुरुसंसदि ।। १३ ।।

'तुम्हारा जन्म (कन्यावस्थामें ही कुन्तीके गर्भसे उत्पन्न होनेके कारण) धर्मलोपसे हुआ है; इसीलिये नीच पुरुषोंके आश्रयसे तुम्हारी बुद्धि इस प्रकार ईर्ष्यावश गुणवान् पाण्डवोंसे भी द्वेष रखनेवाली हो गयी है और इसीके कारण कौरवसभामें मैंने तुम्हें अनेक बार कटुवचन सुनाये हैं ।। १२-१३ ।।

जानामि समरे वीर्यं शत्रुभिर्दुःसहं भुवि ।
ब्रह्मण्यतां च शौर्यं च दाने च परमां स्थितिम् ।। १४ ।।

'मैं जानता हूँ, तुम्हारा पराक्रम समरभूमिमें शत्रुओंके लिये दुःसह है। तुम ब्राह्मणभक्त, शूरवीर तथा दानमें उत्तम निष्ठा रखनेवाले हो ।। १४ ।।

न त्वया सदृशः कश्चित् पुरुषेष्वमरोपम ।
कुलभेदभयाच्चाहं सदा परुषमुक्तवान् ।। १५ ।।

'देवोपम वीर! मनुष्योंमें तुम्हारे समान कोई नहीं है। मैं सदा अपने कुलमें फूट पड़नेके डरसे तुम्हें कटुवचन सुनाता रहा ।। १५ ।।

इष्वस्त्रे चास्त्रसंधाने लाघवेऽस्त्रबले तथा ।
सदृशः फाल्गुनेनासि कृष्णेन च महात्मना ।। १६ ।।

'बाण चलाने, दिव्यास्त्रोंका संधान करने, फुर्ती दिखाने तथा अस्त्रबलमें तुम अर्जुन तथा महात्मा श्रीकृष्णके समान हो ।। १६ ।।

कर्ण काशिपुरं गत्वा त्वयैकेन धनुष्मता ।
कन्यार्थे कुरुराजस्य राजानो मृदिता युधि ।। १७ ।।

'कर्ण! तुमने कुरुराज दुर्योधनके लिये कन्या लानेके निमित्त अकेले काशीपुरमें जाकर केवल धनुषकी सहायतासे वहाँ आये हुए समस्त राजाओंको युद्धमें परास्त कर दिया था ।। १७ ।।

तथा च बलवान् राजा जरासंधो दुरासदः ।
समरे समरश्लाघिन् न त्वया सदृशोऽभवत् ।। १८ ।।

'युद्धकी श्लाघा रखनेवाले वीर! यद्यपि राजा जरासंध दुर्जय एवं बलवान् था, तथापि वह रणभूमिमें तुम्हारी समानता न कर सका ।। १८ ।।

ब्रह्मण्यः सत्त्वयोधी च तेजसा च बलेन च ।
देवगर्भसमः संख्ये मनुष्यैरधिको युधि ।। १९ ।।

'तुम ब्राह्मणभक्त, धैर्यपूर्वक युद्ध करनेवाले तथा तेज और बलसे सम्पन्न हो। संग्रामभूमिमें देवकुमारोंके समान जान पड़ते हो और प्रत्येक युद्धमें मनुष्योंसे अधिक पराक्रमी हो ।। १९ ।।

व्यपनीतोऽद्य मन्युर्मे यस्त्वां प्रति पुरा कृतः ।
दैवं पुरुषकारेण न शक्यमतिवर्तितुम् ।। २० ।।

'मैंने पहले जो तुम्हारे प्रति क्रोध किया था, वह अब दूर हो गया है; क्योंकि प्रारब्धके विधानको कोई पुरुषार्थद्वारा नहीं टाल सकता ।। २० ।।

सोदर्याः पाण्डवा वीरा भ्रातरस्तेऽरिसूदन ।
संगच्छ तैर्महाबाहो मम चेदिच्छसि प्रियम् ।। २१ ।।

'शत्रुसूदन! वीर पाण्डव तुम्हारे सगे भाई हैं। महाबाहो! यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो अपने उन भाइयोंसे मिल जाओ ।। २१ ।।

मया भवतु निर्वृत्तं वैरमादित्यनन्दन ।
पृथिव्यां सर्वराजानो भवन्त्वद्य निरामयाः ।। २२ ।।

'सूर्यनन्दन! मेरी मृत्युके द्वारा ही यह वैरकी आग बुझ जाय और भूमण्डलके समस्त नरेश अब दु:ख-शोकसे रहित एवं निर्भय हो जायँ' ।। २२ ।।

कर्ण उवाच

जानाम्येव महाबाहो सर्वमेतन्न संशयः ।
यथा वदसि मे भीष्म कौन्तेयोऽहं न सूतजः ।। २३ ।।

कर्णने कहा—महाबाहो! भीष्म! आप जो कुछ कह रहे हैं, उसे मैं भी जानता हूँ। यह सब ठीक है, इसमें संशय नहीं है। वास्तवमें मैं कुन्तीका ही पुत्र हूँ, सूतपुत्र नहीं हूँ ।। २३ ।।

अवकीर्णस्त्वहं कुन्त्या सूतेन च विवर्धितः ।
(पुरा दुर्योधनेनाहं स्नेहं वै कृतवान् मुदा ।
तव कार्यं करिष्यामि यद् यत् सर्वं दुरासदम् ।।
इत्येवं वै प्रतिज्ञातं वचनं वै सुयोधने ।)
भुक्त्वा दुर्योधनैश्वर्यं न मिथ्याकर्तुमुत्सहे ।। २४ ।।

परंतु माता कुन्तीने तो मुझे पानीमें बहा दिया और सूतने मुझे पाल-पोषकर बड़ा किया। पूर्वकालसे ही मैं दुर्योधनके साथ स्नेह करता आया हूँ और प्रसन्नतापूर्वक रहा हूँ। दुर्योधनसे मैंने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि तुम्हारा जो-जो दुष्कर कार्य होगा, वह सब मैं पूरा करूँगा। दुर्योधनका ऐश्वर्य भोगकर मैं उसे निष्फल नहीं कर सकता ।। २४ ।।

वसुदेवसुतो यद्वत् पाण्डवाय दृढव्रतः ।
वसु चैव शरीरं च पुत्रदारं तथा यशः ।। २५ ।।
सर्वं दुर्योधनस्यार्थे त्यक्तं मे भूरिदक्षिण ।
मा चैतद् व्याधिमरणं क्षत्रं स्यादिति कौरव ।। २६ ।।
कोपिताः पाण्डवा नित्यं समाश्रित्य सुयोधनम् ।

जैसे वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण पाण्डुपुत्र अर्जुनकी सहायताके लिये दृढ़प्रतिज्ञ हैं, उसी प्रकार मेरे धन, शरीर, स्त्री, पुत्र तथा यश सब कुछ दुर्योधनके लिये निछावर हैं। यज्ञोंमें प्रचुर दक्षिणा देनेवाले कुरुनन्दन भीष्म! मैंने दुर्योधनका आश्रय लेकर पाण्डवोंका क्रोध सदा इसलिये बढ़ाया है कि यह क्षत्रिय-जाति रोगोंका शिकार होकर न मरे (युद्धमें वीर गति प्राप्त करे) ।।

अवश्यभावी ह्यर्थोऽयं यो न शक्यो निवर्तितुम् ।। २७ ।।
दैवं पुरुषकारेण को निवर्तितुमुत्सहेत् ।

यह युद्ध अवश्यम्भावी है। इसे कोई टाल नहीं सकता। भला, दैवको पुरुषार्थके द्वारा कौन मिटा सकता है ।। २७१/२ ।।

पृथिवीक्षयशंसीनि निमित्तानि पितामह ।। २८ ।।
भवद्भिरुपलब्धानि कथितानि च संसदि ।

पितामह! आपने भी तो ऐसे निमित्त (लक्षण) देखे थे, जो भूमण्डलके विनाशकी सूचना देनेवाले थे। आपने कौरवसभामें उनका वर्णन भी किया था ।। २८½ ।।

पाण्डवा वासुदेवश्च विदिता मम सर्वशः ।। २९ ।।
अजेयाः पुरुषैरन्यैरिति तांश्चोत्सहामहे ।
विजयिष्ये रणे पाण्डूनिति मे निश्चितं मनः ।। ३० ।।

पाण्डवों तथा भगवान् वासुदेवको मैं सब प्रकारसे जानता हूँ, वे दूसरे पुरुषोंके लिये सर्वथा अजेय हैं, तथापि मैं उनसे युद्ध करनेका उत्साह रखता हूँ और मेरे मनका यह निश्चित विश्वास है कि मैं युद्धमें पाण्डवोंको जीत लूँगा ।। २९-३० ।।

न च शक्यमवस्रष्टुं वैरमेतत् सुदारुणम् ।
धनंजयेन योत्स्येऽहं स्वधर्मप्रीतमानसः ।। ३१ ।।

पाण्डवोंके साथ हमलोगोंका यह वैर अत्यन्त भयंकर हो गया है। अब इसे दूर नहीं किया जा सकता। मैं अपने धर्मके अनुसार प्रसन्नचित्त होकर अर्जुनके साथ युद्ध करूँगा ।। ३१ ।।

अनुजानीष्व मां तात युद्धाय कृतनिश्चयम् ।
अनुज्ञातस्त्वया वीर युद्धयेयमिति मे मतिः ।। ३२ ।।

तात! मैं युद्धके लिये निश्चय कर चुका हूँ। वीर! मेरा विचार है कि आपकी आज्ञा लेकर युद्ध करूँ; अतः आप मुझे इसके लिये आज्ञा देनेकी कृपा करें ।। ३२ ।।

दुरुक्तं विप्रतीपं वा रभसाच्चापलात् तथा ।
यन्मयेह कृतं किंचित् तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ।। ३३ ।।

मैंने क्रोधके आवेगसे अथवा चपलताके कारण यहाँ जो कुछ आपके प्रति कटुवचन कहा हो या आपके प्रतिकूल आचरण किया हो, वह सब आप कृपापूर्वक क्षमा कर दें ।। ३३ ।।

भीष्म उवाच

न चेच्छक्यमवस्रष्टुं वैरमेतत् सुदारुणम् ।
अनुजानामि कर्ण त्वां युद्धयस्व स्वर्गकाम्यया ।। ३४ ।।

भीष्मने कहा—कर्ण! यदि यह भयंकर वैर अब नहीं छोड़ा जा सकता तो मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे युद्ध करो ।। ३४ ।।

निर्मन्युर्गतसंरम्भः कृतकर्मा रणे स्म ह ।
यथाशक्ति यथोत्साहं सतां वृत्तेषु वृत्तवान् ।। ३५ ।।

दीनता और क्रोध छोड़कर अपनी शक्ति और उत्साहके अनुसार सत्पुरुषोंके आचारमें स्थित रहकर युद्ध करो। तुम रणक्षेत्रमें पराक्रम कर चुके हो और आचारवान् तो हो ही ।। ३५ ।।

अहं त्वामनुजानामि यदिच्छसि तदाप्नुहि ।
क्षत्रधर्मजिताँल्लोकानवाप्स्यसि धनंजयात् ।। ३६ ।।

कर्ण! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम जो चाहते हो, वह प्राप्त करो। धनंजयके हाथसे मारे जानेपर तुम्हें क्षत्रियधर्मके पालनसे प्राप्त होनेवाले लोकोंकी उपलब्धि होगी ।। ३६ ।।

युध्यस्व निरहङ्कारो बलवीर्यव्यपाश्रयः ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।। ३७ ।।

तुम अभिमानशून्य होकर बल और पराक्रमका सहारा ले युद्ध करो, क्षत्रियके लिये धर्मानुकूल युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी साधन नहीं है ।। ३७ ।।

प्रशमे हि कृतो यत्नः सुमहान् सुचिरं मया ।
न चैव शकितः कर्तुं कर्ण सत्यं ब्रवीमि ते ।। ३८ ।।

कर्ण! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ। मैंने कौरवों और पाण्डवोंमें शान्ति स्थापित करनेके लिये दीर्घकालतक महान् प्रयत्न किया था; किंतु मैं उसमें कृतकार्य न हो सका ।। ३८ ।।

संजय उवाच

इत्युक्तवति गाङ्गेये अभिवाद्योपमन्त्र्य च ।
राधेयो रथमारुह्य प्रायात् तव सुतं प्रति ।। ३९ ।।

संजय कहते हैं—राजन्! गंगानन्दन भीष्मके ऐसा कहनेपर राधानन्दन कर्ण उन्हें प्रणाम करके उनकी आज्ञा ले रथपर आरूढ़ हो आपके पुत्र दुर्योधनके पास चला गया ।। ३९ ।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मकर्णसंवादे द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ।। १२२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्वके अन्तर्गत भीष्मवधपर्वमें भीष्म-कर्णसंवादविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १२२ ।।

[दाक्षिणात्य अधिक पाठके १ ½ श्लोक मिलाकर कुल ४० ½ श्लोक हैं।]

।। भीष्मपर्व सम्पूर्णम् ।।

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	५६१०॥	(२९९॥)	४११॥।—	६०२२।—
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	७१॥	(४॥)	६≈	७७॥≈
भीष्मपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या				६१००

श्रवणमहिमा

वैशम्पायन उवाच

इत्येतद् बहुवृत्तान्तं भीष्मपर्वाखिलं मया ।
शृण्वते ते महाराज प्रोक्तं पापहरं शुभम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज! बहुत-से वृत्तान्तोंसे भरा हुआ यह सम्पूर्ण भीष्मपर्व मैंने तुमसे कहा है और तुमने श्रोता बनकर सुना है। यह पर्व सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला और शुभ है ।। १ ।।

यः श्रावयेत् सदा राजन् ब्राह्मणान् वेदपारगान् ।
श्रद्धावन्तश्च ये चापि श्रोष्यन्ति मनुजा भुवि ।। २ ।।
विधूय सर्वपापानि विहायान्ते कलेवरम् ।
प्रयान्ति तत् पदं विष्णोर्यत् प्राप्य न निवर्तते ।। ३ ।।

राजन्! जो सदा वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणोंको इस पर्वकी कथा सुनायेगा और जो मनुष्य इस भूतलपर श्रद्धापूर्वक इस पर्वको सुनेंगे, वे सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करके अन्तमें यह शरीर छोड़कर भगवान् विष्णुके उस परमपदको प्राप्त कर लेंगे, जहाँ जाकर जीव इस जगत्में नहीं लौटता है ।। २-३ ।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन भारतं भरतर्षभ ।
शृणुयात् सिद्धिमन्विच्छन्निह वामुत्र मानवः ।। ४ ।।

भरतश्रेष्ठ! अतः इस लोक या परलोकमें सिद्धिकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य पूर्ण प्रयत्नपूर्वक महाभारतको अवश्य सुने ।। ४ ।।

भोजनं भोजयेद् विप्रान् गन्धमाल्यैरलंकृतान् ।
भीष्मपर्वणि राजेन्द्र दद्यात् पानीयमुत्तमम् ।। ५ ।।

राजेन्द्र! भीष्मपर्व सुन लेनेपर मनुष्य ब्राह्मणोंको गन्ध और माल्य आदिसे अलंकृत करके उत्तम भोजन कराये तथा पवित्र जलका दान करे ।। ५ ।।

।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः ।।

महाभारत-सार

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे ।।

'मनुष्य इस जगत्‌में हजारों माता-पिताओं तथा सैकड़ों स्त्री-पुत्रोंके संयोग-वियोगका अनुभव कर चुके हैं, करते हैं और करते रहेंगे।'

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ।।

'अज्ञानी पुरुषको प्रतिदिन हर्षके हजारों और भयके सैकड़ों अवसर प्राप्त होते रहते हैं; किन्तु विद्वान् पुरुषके मनपर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।'

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।।

'मैं दोनों हाथ ऊपर उठाकर पुकार-पुकारकर कह रहा हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्मसे मोक्ष तो सिद्ध होता ही है; अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं तो भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते!'

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।।

'कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी धर्मका त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धनका हेतु अनित्य।'

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति ।।

'यह महाभारतका सारभूत उपदेश 'भारत-सावित्री' के नामसे प्रसिद्ध है। जो प्रतिदिन सबेरे उठकर इसका पाठ करता है, वह सम्पूर्ण महाभारतके अध्ययनका फल पाकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

—महाभारत, स्वर्गारोहण० ५।६०—६४